प्र० सं० १०००० सं० १९८५
द्वि० सं० ५००० सं० १९८६
तृ० सं० ५००० सं० १९८७
च० सं० ५००० सं० १९८९
पं० सं० ५००० सं० १९९०
ष० सं० ८००० सं० १९९१
स० सं० ८००० सं० १९९२
अ० सं० १०००० सं० १९९४
न० सं० ९००० सं० १९९६
कुल ६५०००

मुद्रक तथा प्रकाशक—
घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

वक्तव्य

श्रीस्वामी शङ्कराचार्यजीकी प्रश्नोत्तर-मणि-माला बहुत ही उपादेय पुस्तिका है। इसके प्रत्येक प्रश्न और उत्तरपर मननपूर्वक विचार करना आवश्यक है। संसारमें स्त्री, धन और पुत्रादि पदार्थोंके कारण ही मनुष्य विशेषरूपसे बन्धनमें रहता है, इन पदार्थोंसे वैराग्य होनेमें ही कल्याण है, यही समझकर उन्होंने स्त्री, धन और पुत्रादिकी निन्दा की है। स्त्रीके लिये विशेष जोर देनेका कारण भी स्पष्ट है। धन, पुत्रादि छोड़नेवाले भी प्रायः स्त्रियोंमें आसक्त देखे जाते हैं, वास्तवमें यह दोष स्त्रियोंका नहीं है, यह दोष तो पुरुषोंके बिगड़े हुए मनका है परन्तु मन बड़ा चञ्चल है इसलिये संन्यासियोंको तो स्त्रियोंसे

हर तरहसे अलग ही रहना चाहिये। जान पड़ता है कि यह पुस्तिका खासकर संन्यासियोंके लिये ही लिखी गयी थी। इसमें बहुत-सी बातें ऐसी हैं जो सभीके कामकी हैं। अतः उनसे हमलोगोंको पूरा लाभ उठाना चाहिये। स्त्री, पुत्र, धन आदि संसारके सभी पदार्थोंसे यथा-साध्य ममताका त्याग करना आवश्यक है।

श्रीपरमात्मने नमः

प्रश्नोत्तरी

अपारसंसारसमुद्रमध्ये
सम्मज्जतो मे शरणं किमस्ति ।
गुरो कृपालो कृपया वदैत-
द्विश्वेशपादाम्बुजदीर्घनौका ।१।

प्रश्न	उत्तर
हे दयामय गुरुदेव! कृपा करके यह बताइये कि अपार संसाररूपी समुद्रमें मुझ डूबते हुएका आश्रय क्या है ?	विश्वपति परमात्माके चरणकमलरूपी जहाज।

बद्धो हि को यो विषयानुरागी
का वा विमुक्तिर्विषये विरक्तिः ।

को वास्ति घोरो नरकः स्वदेहः
तृष्णाक्षयः स्वर्गपदं किमस्ति ।२।

प्रश्न	उत्तर
वास्तवमें बँधा कौन है ?	विषयोंमें आसक्त ।
विमुक्ति क्या है ?	विषयोंसे वैराग्य ।
घोर नरक क्या है ?	अपना शरीर ।
स्वर्गका पद क्या है ?	तृष्णाका नाश होना ।

संसारहृत्कः श्रुतिजात्मबोधः
को मोक्षहेतुः कथितः स एव ।
द्वारं किमेकं नरकस्य नारी
का स्वर्गदा प्राणभृतामहिंसा ।३।

प्रश्न	उत्तर
संसारको हरनेवाला कौन है ?	वेदसे उत्पन्न आत्मज्ञान ।
मोक्षका कारण क्या कहा गया है ?	वही आत्मज्ञान ।

नरकका प्रधान द्वार क्या है ?	नारी ।
स्वर्गको देनेवाली क्या है ?	जीवमात्रकी अहिंसा ।

शेते सुखं कस्तु समाधिनिष्ठो
जागर्ति को वा सदसद्विवेकी ।
के शत्रवः सन्ति निजेन्द्रियाणि
तान्येव मित्राणि जितानि यानि ।४।

प्रश्न	उत्तर
(वास्तवमें) सुखसे कौन सोता है ?	जो परमात्माके स्वरूपमें स्थित है ।
और कौन जागता है ?	सत् और असत्के तत्त्वका जाननेवाला ।
शत्रु कौन हैं ?	अपनी इन्द्रियाँ । परन्तु जो जीती हुई हों तो वही मित्र हैं ।

को वा दरिद्रो हि विशालतृष्णः
श्रीमांश्च को यस्य समस्ततोषः ।
जीवन्मृतः कस्तु निरुद्यमो यः
किं वामृतं स्यात्सुखदा निराशा ।५।

प्रश्न	उत्तर
दरिद्र कौन है ?	भारी तृष्णावाला ।
और धनवान् कौन है ?	जिसेसबतरहसेसन्तोषहै ।
(वास्तवमें) जीते जी मरा कौन है ?	जो पुरुषार्थहीन है ।
और अमृत क्या हो सकता है ?	सुख देनेवाली निराशा । (आशासे रहित होना)

पाशो हि को यो ममताभिमानः
सम्मोहयत्येव सुरेव का स्त्री ।
को वा महान्धो मदनातुरो यो
मृत्युश्च को वापयशः स्वकीयम् ।६।

प्रश्न	उत्तर
वास्तवमें फाँसी क्या है ?	जो 'मै' और 'मेरा' पन है।
मदिराकी तरह क्या चीज निश्चय ही मोहित कर देती है ?	नारी ही ।
और बड़ा भारी अन्धा कौन है ?	जो कामवश व्याकुल है।
मृत्यु क्या है ?	अपनी अपकीर्ति ।

को वा गुरुर्यो हि हितोपदेष्टा
शिष्यस्तु को यो गुरुभक्त एव ।
को दीर्घरोगो भव एव साधो
किमौषधं तस्य विचार एव ।७।

प्रश्न	उत्तर
गुरु कौन है ?	जो केवल हितका ही उपदेश करनेवाला है ।
शिष्य कौन है ?	जो गुरुका भक्त है, वही ।

बड़ा भारी रोग क्या है ?	हे साधो ! बार-बार जन्म लेना ही ।
उसकी दवा क्या है ?	परमात्माके स्वरूपका मनन ही ।

किं भूषणाद्भूषणमस्ति शीलं
तीर्थं परं किं स्वमनो विशुद्धम् ।
किमत्र हेयं कनकं च कान्ता
श्राव्यं सदा किं गुरुवेदवाक्यम् ।८।

प्रश्न	उत्तर
भूषणोंमें उत्तम भूषण क्या है ?	उत्तम चरित्र ।
सबसे उत्तम तीर्थ क्या है?	अपना मन जो विशेषरूप-से शुद्ध किया हुआ हो।
इस संसारमें त्यागने योग्य क्या है ?	काञ्चन और कामिनी ।
सदा (मन लगाकर) सुनने योग्य क्या हैं ?	वेद और गुरुका वचन ।

के हेतवो ब्रह्मगतेस्तु सन्ति
सत्सङ्गतिर्दानविचारतोषाः ।
के सन्ति सन्तोऽखिलवीतरागा
अपास्तमोहाः शिवतत्त्वनिष्ठाः ।९।

प्रश्न	उत्तर
परमात्माकी प्राप्तिके क्या-क्या साधन हैं ?	सत्सङ्ग, सात्त्विक दान, परमेश्वरके स्वरूपका मनन और सन्तोष ।
महात्मा कौन हैं ?	संपूर्ण संसारसे जिनकी आसक्ति नष्ट हो गयी है, जिनका अज्ञान नाश हो चुका है और जो कल्याणरूप परमात्म-तत्त्वमें स्थित हैं ।

को वा ज्वरः प्राणभृतां हि चिन्ता
मूर्खोऽस्ति को यस्तु विवेकहीनः ।

कार्या प्रिया का शिवविष्णुभक्तिः
किं जीवनं दोषविवर्जितं यत् ।१०।

प्रश्न	उत्तर
प्राणियोंके लिये वास्तवमें ज्वर क्या है ?	चिन्ता ।
मूर्ख कौन है ?	जो विचारहीन है ।
करने योग्य प्यारी क्रिया क्या है ?	शिव और विष्णुकी भक्ति।
वास्तवमें जीवन कौन-सा है ?	जो सर्वथा निर्दोष है ।

विद्या हि का ब्रह्मगतिप्रदा या
बोधो हि को यस्तु विमुक्तिहेतुः ।
को लाभ आत्मावगमो हि यो वै
जितं जगत्केन मनो हि येन ।११।

प्रश्न	उत्तर
वास्तवमें विद्या कौन-सी है ?	जो परमात्माको प्राप्त करा देनेवाली है ।

वास्तविक ज्ञान क्या है ?	जो (यथार्थ) मुक्तिका कारण है ।
यथार्थ लाभ क्या है ?	जो परमात्माकी प्राप्ति है, वही ।
जगत्को किसने जीता ?	जिसने मनको जीता ।

शूरान्महाशूरतमोऽस्ति को वा
मनोजबाणैर्व्यथितो न यस्तु ।
प्राज्ञोऽथ धीरश्च समस्तु को वा
प्राप्तो न मोहं ललनाकटाक्षैः ।१२।

प्रश्न	उत्तर
वीरोंमें सबसे बड़ा वीर कौन है ?	जो कामबाणोंसे पीड़ित नहीं होता ।
बुद्धिमान्, समदर्शी और धीर पुरुष कौन है ?	जो स्त्रियोंके कटाक्षोंसे मोहको प्राप्त न हो ।

विषाद्विषं किं विषयाः समस्ता
दुःखी सदा को विषयानुरागी ।

धन्योऽस्ति को यस्तु परोपकारी
कः पूजनीयः शिवतत्त्वनिष्ठः ।१३।

प्रश्न	उत्तर
विषसे भी भारी विष कौन है ?	सारे विषयभोग ।
सदा दुःखी कौन है ?	जो संसारके भोगोंमें आसक्त है ।
और धन्य कौन है ?	जो परोपकारी है ।
पूजनीय कौन है ?	कल्याणरूप परमात्म-तत्त्वमें स्थित महात्मा ।

सर्वास्ववस्थास्वपि किन्न कार्यं
किं वा विधेयं विदुषा प्रयत्नात् ।
स्नेहं च पापं पठनं च धर्मं
संसारमूलं हि किमस्ति चिन्ता ।१४।

प्रश्न	उत्तर
सभी अवस्थाओंमें विद्वानोंको बड़े जतनसे क्या नहीं करना चाहिये और क्या करना चाहिये? संसारकी जड़ क्या है ?	संसारसे स्नेह और पाप नहीं करना तथा सद्-ग्रन्थोंका पठन और धर्मका पालन करना चाहिये । (उसका) चिन्तन ही ।

विज्ञान्महाविज्ञतमोऽस्ति को वा
नार्या पिशाच्या न च वञ्चितो यः ।
का शृङ्खला प्राणभृतां हि नारी
दिव्यं व्रतं किं च समस्तदैन्यम् ।१५।

प्रश्न	उत्तर
समझदारोंमें सबसेअच्छा समझदार कौन है ?	जो स्त्रीरूप पिशाचिनी-से नहीं ठगा गया है ।
प्राणियोंके लिये साँकल क्या है ?	नारी ही ।
श्रेष्ठ व्रत क्या है ?	पूर्णरूपसे विनयभाव ।

ज्ञातुं न शक्यं च किमस्ति सर्वै-
र्योषिन्मनो यच्चरितं तदीयम् ।
का दुस्त्यजा सर्वजनैर्दुराशा
विद्याविहीनः पशुरस्ति को वा ।१६।

प्रश्न	उत्तर
सब किसीके लिये क्या जानना सम्भव नहीं है ?	स्त्रीका मन और उसका चरित्र ।
सब लोगोंके लिये क्या त्यागना अत्यन्त कठिन है ?	बुरी वासना (विषयभोग और पापकी इच्छाएँ) ।
पशु कौन है ?	जो सद्विद्यासे रहित (मूर्ख) है ।

वासो न सङ्गः सह कैर्विधेयो
मूर्खैश्च नीचैश्च खलैश्च पापैः ।

मुमुक्षुणा किं त्वरितं विधेयं
सत्सङ्गतिर्निर्ममतेशभक्तिः ।१७।

प्रश्न	उत्तर
किन-किनके साथ निवास और संग नहीं करना चाहिये ?	मूर्ख, नीच, दुष्ट और पापियोंके साथ।
मुक्ति चाहनेवालोंको तुरन्त क्या करना चाहिये?	सत्संग, ममताका त्याग और परमेश्वरकी भक्ति।

लघुत्वमूलं च किमर्थितैव
गुरुत्वमूलं यदयाचनं च ।
जातो हि को यस्य पुनर्न जन्म
को वा मृतो यस्य पुनर्न मृत्युः ।१८।

प्रश्न	उत्तर
छोटेपनकी जड़ क्या है?	याचना ही।
बड़प्पनकी जड़ क्या है?	कुछ भी न माँगना।

किसका जन्म सराहनीय है ?	जिसका फिर जन्म न हो ।
किसकी मृत्यु सराहनीय है ?	जिसकी फिर मृत्यु नहीं होती ।

मूकोऽस्ति को वा बधिरश्च को वा
वक्तुं न युक्तं समये समर्थः ।
तथ्यं सुपथ्यं न शृणोति वाक्यं
विश्वासपात्रं न किमस्ति नारी ।१६।

प्रश्न	उत्तर
गूँगा कौन है ?	जो समयपर उचित वचन कहनेमें समर्थ नहीं है ।
और बहिरा कौन है ?	जो यथार्थ और हितकर वचन नहीं सुनता ।
विश्वासके योग्य कौन नहीं है ?	नारी ।

तत्त्वं किमेकं शिवमद्वितीयं
किमुत्तमं सच्चरितं यदस्ति।
त्याज्यं सुखं किं स्त्रियमेव सम्य-
ग्देयं परं किं त्वभयं सदैव।२०।

प्रश्न	उत्तर
एक तत्त्व क्या है ?	अद्वितीय कल्याण-तत्त्व (परमात्मा)।
सबसे उत्तम क्या है ?	जो उत्तम आचरण है।
कौन-सा सुख तज देना चाहिये ?	सब प्रकारसे स्त्रीका सुख ही।
देने योग्य उत्तम दान क्या है ?	सदा अभय ही।

शत्रोर्महाशत्रुतमोऽस्ति को वा
कामः सकोपानृतलोभतृष्णः।
न पूर्यते को विषयैः स एव
किं दुःखमूलं ममताभिधानम्।२१।

प्रश्न	उत्तर
शत्रुओंमें सबसे बड़ा भारी शत्रु कौन है ?	क्रोध, झूठ, लोभ और तृष्णासहित काम ।
विषयभोगोंसे कौन तृप्त नहीं होता ?	वही काम ।
दुःखकी जड़ क्या है ?	ममता नामक दोष ।

किं मण्डनं साक्षरता मुखस्य
सत्यं च किं भूतहितं सदैव ।
किं कर्म कृत्वा न हि शोचनीयं
कामारिकंसारिसमर्चनाख्यम् ।२२।

प्रश्न	उत्तर
मुखका भूषण क्या है ?	विद्वत्ता ।
सच्चा कर्म क्या है ?	सदा ही प्राणियोंका हित करना ।
कौन-सा कर्म करके पछताना नहीं पड़ता ?	भगवान् शिव और श्री-कृष्णका पूजनरूप कर्म।

कस्यास्ति नाशे मनसो हि मोक्षः
क्व सर्वथा नास्ति भयं विमुक्तौ।
शल्यं परं किं निजमूर्खतैव
के के ह्युपास्या गुरुदेववृद्धाः।२३।

प्रश्न	उत्तर
किसके नाशमें मोक्ष है?	मनके ही।
किसमेंसर्वथा भय नहीं है?	मोक्षमें।
सबसे अधिक चुभनेवाली कौन चीज है?	अपनी मूर्खता ही।
उपासनाके योग्य कौन-कौन हैं?	देवता, गुरु और वृद्ध।

उपस्थिते प्राणहरे कृतान्ते
किमाशु कार्यं सुधिया प्रयत्नात्।
वाक्कायचित्तैः सुखदं यमघ्नं
मुरारिपादाम्बुजचिन्तनं च।२४।

प्रश्न	उत्तर
प्राण हरनेवाले कालके उपस्थित होनेपर अच्छी बुद्धिवालोंको बड़े जतन-से तुरन्त क्या करना उचित है ?	सुख देनेवाले और मृत्युका नाश करनेवाले भगवान् मुरारिके चरणकमलोंका तन, मन, वचनसे चिन्तन करना ।

के दस्यवः सन्ति कुवासनाख्याः
कः शोभते यः सदसि प्रविद्यः ।
मातेव का या सुखदा सुविद्या
किमेधते दानवशात्सुविद्या ।२५।

प्रश्न	उत्तर
डाकू कौन हैं ?	बुरी वासनाएँ ।
सभामें शोभा कौन पाता है ?	जो अच्छा विद्वान् है ।
माताके समान सुख देने-वाली कौन है ?	उत्तम विद्या ।
देनेसे क्या बढ़ती है ?	अच्छी विद्या ।

कुतो हि भीतिः सततं विधेया
लोकापवादाद्भवकाननाच्च ।
को वातिबन्धुः पितरश्च के वा
विपत्सहायः परिपालका ये ।२६।

प्रश्न	उत्तर
निरन्तर किससे डरना चाहिये ?	लोक-निन्दासे और संसाररूपी वनसे ।
अत्यन्त प्यारा बन्धु कौन है ?	जो विपत्तिमें सहायता करे ।
और पिता कौन हैं ?	जो सब प्रकारसे पालन-पोषण करें ।

बुद्ध्वा न बोध्यं परिशिष्यते किं
शिवप्रसादं सुखबोधरूपम् ।
ज्ञाते तु कस्मिन्विदितं जगत्स्या-
त्सर्वात्मके ब्रह्मणि पूर्णरूपे ।२७।

प्रश्न	उत्तर
क्या समझनेके बाद कुछ भी समझना बाकी नहीं रहता ?	शुद्ध, विज्ञान, आनन्दघन कल्याणरूप परमात्माको।
किसको जान लेनेपर (वास्तवमें) जगत् जाना जाता है ?	सर्वात्मरूप परिपूर्ण ब्रह्म-के स्वरूपको ।

किं दुर्लभं सद्गुरुरस्ति लोके
सत्सङ्गतिर्ब्रह्मविचारणा च ।
त्यागो हि सर्वस्य शिवात्मबोधः
को दुर्जयः सर्वजनैर्मनोजः ।२८।

प्रश्न	उत्तर
संसारमें दुर्लभ क्या है ?	सद्गुरु, सत्सङ्ग, ब्रह्म-विचार, सर्वस्वका त्याग और कल्याणरूप परमात्माका ज्ञान ।

सबके लिये क्या जीतना कठिन है ?	कामदेव ।

पशोः पशुः को न करोति धर्मं
प्राधीतशास्त्रोऽपि न चात्मबोधः।
किन्तद्विषं भाति सुधोपमं स्त्री
के शत्रवो मित्रवदात्मजाद्याः ।२९।

प्रश्न	उत्तर
पशुओंसे भी बढ़कर पशु कौन है ?	शास्त्रका खूब अध्ययन करके जो धर्मका पालन नहीं करता और जिसे आत्मज्ञान नहीं हुआ ।
वह कौन-सा विष है जो अमृत-सा जान पड़ता है?	नारी ।
शत्रु कौन है जो मित्र-सा लगता है ?	पुत्र आदि ।

विद्युच्चलं किं धनयौवनायु-
र्दानं परं किञ्च सुपात्रदत्तम् ।
कण्ठङ्गतैरप्यसुभिर्न कार्यं
किं किं विधेयं मलिनं शिवार्चा ।३०।

प्रश्न	उत्तर
बिजलीकी तरह क्षणिक क्या है ?	धन, यौवन और आयु।
सबसे उत्तम दान कौन-सा है ?	जो सुपात्रको दिया जाय।
कण्ठगत प्राण होनेपर भी क्या नहीं करना चाहिये और क्या करना चाहिये ?	पाप नहीं करना चाहिये और कल्याणरूप परमात्माकी पूजा करनी चाहिये ।

अहर्निशं किं परिचिन्तनीयं
संसारमिथ्यात्वशिवात्मतत्त्वम् ।
किं कर्म यत्प्रीतिकरं मुरारेः
क्वास्था न कार्या सततं भवाब्धौ ।३१।

प्रश्न	उत्तर
रात-दिन विशेषरूपसे क्या चिन्तन करना चाहिये ?	संसारका मिथ्यापन और कल्याणरूप परमात्मा-का तत्त्व ।
वास्तवमें कर्म क्या है ?	जो भगवान् श्रीकृष्णको प्रिय हो ।
सदैव किसमें विश्वास नहीं करना चाहिये ?	संसार-समुद्रमें ।

कण्ठङ्गता वा श्रवणङ्गता वा
प्रश्नोत्तराख्या मणिरत्नमाला ।

तनोतु मोदं विदुषां सुरम्यं
रमेशगौरीशकथेव सद्यः ।३२।

यह प्रश्नोत्तरनामकी मणिरत्नमाला कण्ठमें या कानोंमें जाते ही लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु और उमापति भगवान् शंकरकी कथाकी तरह विद्वानोंके सुन्दर आनन्दको बढ़ावे ।

गीताप्रेस, गोरखपुरकी गीताएँ

गीता शांकरभाष्य सरल हिन्दी-अनुवादसहित मू० २॥) स० २॥)

गीता बड़ी भाषासहित सजिल्द पृ० ५७०, १।)

गीता मराठी टीका-सहित सजिल्द १।)

गीता मझली, भाषाटीका-सहित ॥≡) स० ॥=)

गीता बंगला टीका-सहित पृ० ५३५, ॥।)

गीता मोटे अक्षरवाली अर्थसहित ॥) स० ॥≡)

गीता—१।) वाली गीताकी टीक नकल ॥)

गीता केवल मूल मोटे अक्षरवाली ।-) स० ।≡)

पञ्चरत्न गीता मूल, मोटे अक्षर, सजिल्द ।)

गीता केवल भाषा ।) सजिल्द ... ।=)

गीता—भाषा माहात्म्य-सहित मू० ।) स० ।-)

गीता छोटी अर्थ-सहित =)॥ स० ≡)॥

गीता मूल तात्पीजी =)

गीता मूल विष्णुसहस्र-नामसहित सजिल्द -)॥

गीता दो पन्नेमें संपूर्ण -)

श्रीकृष्णविज्ञान,गीता पद्या-नुवाद ॥।) स० १)

गीता-सूची ॥)

गीतामें भक्ति-योग ।-)

गीता-डायरी ।) स० ।-)

गीता-निबन्धावली =)॥

गीताका सूक्ष्म विषय -)।

गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग)॥

गजलगीता आधा पैसा

सप्तश्लोकी गीता ,, ,,

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

कुछ प्राचीन शास्त्र

श्रीविष्णुपुराण–सटीक पृ० ५४८, चित्र ८, मू० २॥), बढ़िया २।॥)

अध्यात्मरामायण–सार्थ पृष्ठ ४०२, चित्र ८, १॥॥), बढ़िया जिल्द २)

एकादश स्कन्ध–सानुवाद पृष्ठ ४२०, मू० ॥।) १)

विष्णुसहस्रनाम–शांकर-भाष्य, हिन्दी-अ० ॥=)

श्रुति-रत्नावली–श्रुतियोंका सार्थसंग्रह, पृ० २८४, ॥)

ईशावास्योपनिषद्– ≡)

केनोपनिषद्– मृ० ॥)

कठोपनिषद्– ॥–)

मुण्डकोपनिषद्– ।≡)

प्रश्नोपनिषद्– ।≡)

माण्डूक्योपनिषद्– १)

तैत्तिरीयोपनिषद् ।॥–)

ऐतरेयोपनिषद् ।=)

उपनिषदोंके चौदहरत्न।=)

प्रेम-दर्शन–पृ० २००,।–)

मूलरामायण–मू० –)।

मनुस्मृति द्वितीय अध्याय सार्थ, मूल्य –)॥

विष्णुसहस्रनाम–मू०)॥।

श्रीरामगीता– मूल्य)॥।

सन्ध्या)॥

नारद-भक्ति-सूत्र)।

बलिवैश्वदेवविधि)॥

पातञ्जलयोगदर्शन)।

पता–गीताप्रेस, गोरखपुर

परमार्थ-ग्रन्थमालाकी कुछ मणियाँ

तत्त्व-चिन्तामणि (भाग १)–श्रीजयदयालजी गोयन्दका, पृष्ठ ३५०, मूल्य ॥=) सजिल्द ॥।-)
गुटका संस्करण–पृ० ४४८, मू० ।-) स० ।=)

तत्त्व-चिन्तामणि (भाग २)–श्रीगोयन्दकाजीके लेखोंका सचित्र संग्रह, पृ० ६३२, मू० ॥।=) स० १=)
गुटका संस्करण–पृष्ठ ७५०, मू० ।=) स० ॥)

तत्त्व-चिन्तामणि (भाग ३)–श्रीजयदयालजीगोयन्दकाके लेखोंका नया संग्रह मू० ॥≡) सजिल्द ॥।=)
गुटका संस्करण–पृष्ठ ५६०, मूल्य ।-) सजिल्द ।=)

मानव-धर्म–धर्मके दश प्रकारके भेद बड़ी सरल, सुबोध भाषामें उदाहरणोंसहित समझाये हैं । मू०≡)

साधन-पथ–इसमें साधन-पथके विघ्नों, उनके निवारणके उपायोंका वर्णन है, पृष्ठ ७२, मूल्य =)॥

तुलसीदल–सचित्र, श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके लेखोंका संग्रह, पृ० २९२, मू० ॥) स० ॥≡)

परमार्थ-पत्रावली–श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ५१ कल्याणकारी पत्रोंका संग्रह, पृ० १४४, मू० ।)

नैवेद्य–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके कुछ और चुने हुए लेखोंका संग्रह, पृ० ३५०, मू० ॥) स० ॥≡)

ईश्वर–लेखक–श्रीमालवीयजी, पृष्ठ ३२, मूल्य -)।

पता–गीताप्रेस, गोरखपुर

साधारणभाषाटीकासहित

श्रीमद्भगवद्गीता

मोटे अक्षरवाली

गीताप्रेस, गोरखपुर

साधारणभाषाटीकासहित
श्रीमद्भगवद्गीता
मोठे अक्षरघाली

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९८७ से २००८ तक ९५,२५०
सं० २००९ त्रयोदश संस्करण २५,०००
सं० २०१४ चतुर्दश संस्करण १५,०००

कुल १,३५,२५०
एक लाख पैंतीस हजार दो सौ पचास

मूल्य ॥) सजिल्द ॥।=)

पता—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

श्रीपरमात्मने नमः

अथ श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यम्

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान् ।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः ॥ १ ॥
गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च ।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च ॥ २ ॥
मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने ।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥ ३ ॥
गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥ ४ ॥
भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम् ।
ोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ५ ॥
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ ६ ॥

एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीत-
मेको देवो देवकीपुत्र एव ।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥ ७ ॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीगीताजीकी महिमा

वास्तवमें श्रीमद्भगवद्गीताका माहात्म्य वाणीद्वारा वर्णन करनेके लिये किसीका भी सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि यह एक परम रहस्यमय ग्रन्थ है। इसमें संपूर्ण वेदोंका सार सार संग्रह किया गया है, इसका संस्कृत इतना सुन्दर और सरल है कि थोड़ा अभ्यास करनेसे मनुष्य उसको सहज ही समझ सकता है, परन्तु इसका आशय इतना गम्भीर है कि आजीवन निरन्तर अभ्यास करते रहनेपर भी उसका अन्त नहीं आता। प्रतिदिन नये नये भाव उत्पन्न होते रहते हैं, इससे यह सदा ही नवीन बना रहता है। एवं एकाग्रचित्त होकर श्रद्धा-भक्तिसहित विचार करनेसे इसके पद-पदमें परम रहस्य भरा हुआ प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव और मर्मका वर्णन जिस प्रकार इस गीताशास्त्रमें किया गया है, वैसा अन्य ग्रन्थोंमें मिलना कठिन है; क्योंकि प्रायः ग्रन्थोंमें कुछ-न-कुछ सांसारिक विषय मिला रहता है; परन्तु "श्रीमद्भगवद्गीता"

एक ऐसा अनुपमेय शास्त्र भगवान्‌ने कहा है कि जिसमें एक भी शब्द सदुपदेशसे खाली नहीं है । इसीलिये श्रीवेदव्यासजीने महाभारतमें गीताजीका वर्णन करनेके उपरान्त कहा है कि—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

गीता सुगीता करने योग्य है, अर्थात् श्रीगीताजीको भली प्रकार पढ़कर अर्थ और भावसहित अन्तःकरणमें धारण कर लेना मुख्य कर्तव्य है, जो कि स्वयं श्रीपद्मनाभ विष्णुभगवान्‌के मुखारविन्दसे निकली हुई है (फिर) अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है ? तथा स्वयं भगवान्‌ने भी इसका माहात्म्य अन्तमें वर्णन किया है । (अ० १८ श्लो० ६८ से ७१ तक)

इस गीताशास्त्रमें मनुष्यमात्रका अधिकार है, चाहे वह किसी भी वर्ण, आश्रममें स्थित होवे, परन्तु भगवान्‌में श्रद्धालु और भक्तियुक्त अवश्य होना चाहिये, क्योंकि अपने भक्तोंमें ही इसका प्रचार करनेके लिये भगवान्‌ने आज्ञा दी है तथा यह भी कहा है कि स्त्री, वैश्य, शूद्र और पापयोनि-वाले मनुष्य भी मेरे परायण होकर परमगतिको प्राप्त होते हैं (अ० ९ श्लो० ३२) एवं अपने-अपने स्वाभाविक

कर्मोंद्वारा मेरी पूजा करके मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होते हैं (अ० १८ श्लो० ४६)। इन सबपर विचार करनेसे यही ज्ञात होता है कि, परमात्माकी प्राप्तिमें सभीका अधिकार है।

परन्तु उक्त विषयके मर्मको न समझनेके कारण बहुतसे मनुष्य जिन्होंने श्रीगीताजीका केवल नाममात्र ही सुना है, वे कह दिया करते हैं, कि गीता तो केवल संन्यासियोंके लिये ही है और वे अपने बालकोंको भी इसी भयसे श्रीगीताजीका अभ्यास नहीं कराते कि गीताके ज्ञानसे कदाचित् लड़का घर छोड़कर संन्यासी न हो जाय; किन्तु उनको विचार करना चाहिये कि मोहके कारण अपने क्षात्रधर्मसे विमुख होकर भिक्षाके अन्नसे निर्वाह करनेके लिये तैयार हुए अर्जुनने जिस परम रहस्यमय गीताके उपदेशसे आजीवन गृहस्थमें रहकर अपने कर्तव्यका पालन किया, उस गीताशास्त्रका यह उलटा परिणाम किस प्रकार हो सकता है।

अतएव कल्याणकी इच्छावाले मनुष्योंको उचित है कि मोहको त्याग करके अतिशय श्रद्धा, भक्तिपूर्वक अपने बालकोंको अर्थ और भावके सहित श्रीगीताजीका अध्ययन करावें, एवं स्वयं भी इसका पठन और मनन करते हुए भगवान्‌की आज्ञानुसार साधन करनेमें तत्पर हो जायं।

क्योंकि अति दुर्लभ मनुष्यके शरीरको प्राप्त होकर अपने अमूल्य समयका एक क्षण भी दुःखमूलक क्षणभंगुर भोगोंके भोगनेमें नष्ट करना उचित नहीं है।

श्रीगीताका प्रधान विषय

श्रीगीताजीमें भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके लिये मुख्य दो मार्ग बताये हैं। एक सांख्ययोग, दूसरा कर्मयोग। उनमें—

(१) संपूर्ण पदार्थ मृगतृष्णाके जलकी भांति अथवा स्वप्नकी सृष्टिके सदृश मायामय होनेसे मायाके कार्यरूप संपूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं, ऐसे समझकर मन, इन्द्रियों और शरीरद्वारा होनेवाले संपूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमान-से रहित होना (अ० ५ श्लोक ८, ९) तथा सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे नित्य स्थित रहते हुए एक सच्चिदानन्दघन वासुदेवके सिवाय अन्य किसीके भी होनेपनेका भाव न रहना। यह तो सांख्ययोगका साधन है।

(२) और सब कुछ भगवान्‌का समझकर सिद्धि, असिद्धिमें समत्वभाव रखते हुए आसक्ति और फलकी इच्छाका त्याग करके भगवत्-आज्ञानुसार केवल भगवान्‌के ही लिये सब कर्मोंका आचरण करना (अ० २ श्लो० ४८,

अ० ५ श्लो० १०) तथा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मन, वाणी और शरीरसे सब प्रकार भगवान्‌के शरण होकर नाम, गुण और प्रभावसहित उनके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना (अ० ६ श्लो० ४७) यह निष्काम कर्मयोगका साधन है ।

उक्त दोनों साधनोंका परिणाम एक होनेके कारण वास्तवमें अभिन्न माने गये हैं (अ० ५ श्लो० ४,५) । परन्तु साधनकालमें अधिकारी भेदसे दोनोंका भेद होनेके कारण दोनों मार्ग भिन्न-भिन्न बताये गये हैं (अ०३ श्लो० ३) । इसलिये एक पुरुष दोनों मार्गोंद्वारा एक कालमें नहीं चल सकता, जैसे श्रीगङ्गाजीपर जानेके लिये दो मार्ग होते हुए भी एक मनुष्य दोनों मार्गोंद्वारा एक कालमें नहीं जा सकता। उक्त साधनोंमें कर्मयोगका साधन संन्यास आश्रममें नहीं बन सकता, क्योंकि संन्यास आश्रममें कर्मोंका स्वरूपसे भी त्याग कहा है । और सांख्ययोगका साधन सभी आश्रमोंमें बन सकता है ।

यदि कहो कि, सांख्ययोगको भगवान्‌ने संन्यासके नामसे कहा है, इसलिये उसका संन्यास आश्रममें ही अधिकार है, गृहस्थमें नहीं, तो यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि दूसरे अध्यायमें श्लोक ११ से ३० तक जो सांख्यनिष्ठाका उपदेश किया गया है, उसके अनुसार भी भगवान्‌ने जगह-जगह अर्जुनको युद्ध करनेकी योग्यता दिखायी है । यदि गृहस्थमें

सांख्ययोगका अधिकार ही नहीं होता तो इस प्रकार भगवान्‌का कहना कैसे बन सकता ? हां, इतनी विशेषता अवश्य है कि सांख्यमार्गका अधिकारी देहाभिमानसे रहित होना चाहिये। क्योंकि जबतक शरीरमें अहंभाव रहता है, तबतक सांख्ययोगका साधन भली प्रकार समझमें नहीं आता। इसीसे भगवान्‌ने सांख्ययोगको कठिन बताया है (गीता अ० ५ श्लो० ६) और निष्काम कर्मयोग साधनमें सुगम होनेके कारण अर्जुनके प्रति जगह जगह कहा है कि, तूं निरन्तर मेरा चिन्तन करता हुआ निष्काम कर्मयोगका आचरण कर।

अथ ध्यानम्

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम्।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम्॥

अर्थ—जिसकी आकृति अतिशय शान्त है, जो शेषनाग-की शय्यापर शयन किये हुए है, जिसकी नाभिमें कमल है, जो देवताओंका भी ईश्वर और सम्पूर्ण जगत्‌का आधार है, जो आकाशके सदृश सर्वत्र व्याप्त है, नील मेघके समान जिसका वर्ण है, अतिशय सुन्दर जिसके सम्पूर्ण अङ्ग हैं, जो योगियों-

द्वारा ध्यान करके प्राप्त किया जाता है, जो सम्पूर्ण लोकोंका स्वामी है, जो जन्ममरणरूप भयका नाश करनेवाला है, ऐसे श्रीलक्ष्मीपति, कमलनेत्र विष्णु भगवान्‌को मैं (शिरसे) प्रणाम करता हूँ ।

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

अर्थ—ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र और मरुद्गण दिव्य स्तोत्रोंद्वारा जिसकी स्तुति करते हैं, सामवेदके गानेवाले अङ्ग, पद, क्रम और उपनिषदोंके सहित वेदोंद्वारा जिसका गायन करते हैं, योगीजन ध्यानमें स्थित तद्गत हुए मनसे जिसका दर्शन करते हैं, देवता और असुरगण (कोई भी) जिसके अन्तको नहीं जानते, उस (परम पुरुष नारायण) देवके लिये मेरा नमस्कार है ।

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

श्रीमद्भगवद्गीताके प्रधान विषयोंकी

अनुक्रमणिका

अर्जुनविषादयोग नामक पहिला अध्याय ॥१॥

श्लोक विषय

१–११ दोनों सेनाओंके प्रधान-प्रधान शूरवीरोंकी गणना और सामर्थ्यका कथन।

१२–१९ दोनों सेनाओंकी शङ्खध्वनिका कथन।

२०–२७ अर्जुनद्वारा सेनानिरीक्षणका प्रसङ्ग।

२८–४७ मोहसे व्याप्त हुए अर्जुनके कायरता, स्नेह और शोकयुक्त वचन।

सांख्ययोग नामक दूसरा अध्याय ॥ २ ॥

१–१० अर्जुनकी कायरताके विषयमें श्रीकृष्णार्जुनका संवाद।

११–३० सांख्ययोगका विषय।

३१–३८ क्षात्रधर्मके अनुसार युद्ध करनेकी आवश्यकताका निरूपण।

श्लोक विषय

३९–५३ निष्काम कर्मयोगका विषय ।
५४–७२ स्थिरबुद्धि पुरुषके लक्षण और उसकी महिमा ।

कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय ॥ ३ ॥

१–८ ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोगके अनुसार अनासक्तभावसे नियतकर्म करनेकी श्रेष्ठताका निरूपण ।
९–१६ यज्ञादि कर्म करनेकी आवश्यकताका निरूपण ।
१७–२४ ज्ञानवान् और भगवान्‌के लिये भी लोकसंग्रहार्थ कर्म करनेकी आवश्यकता ।
२५–३५ अज्ञानी और ज्ञानवान्‌के लक्षण तथा रागद्वेषसे रहित होकर कर्म करनेका विषय ।
३६–४३ कामके निरोधका विषय ।

ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नामक चौथा अध्याय ॥ ४ ॥

१–१८ सगुण भगवान्‌का प्रभाव और निष्काम कर्मयोगका विषय ।
१९–२३ योगी महात्मा पुरुषोंके आचरण और उनकी महिमा ।
२४–३२ फलसहित पृथक्-पृथक् यज्ञोंका कथन ।
३३–४२ ज्ञानकी महिमा ।

श्लोक विषय

कर्मसंन्यासयोग नामक पांचवां अध्याय ॥५॥

१–६ सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोगका निर्णय ।
७–१२ सांख्ययोगी और निष्काम कर्मयोगीके लक्षण और उनकी महिमा ।
१३–२६ ज्ञानयोगका विषय ।
२७–२९ भक्तिसहित ध्यानयोगका वर्णन ।

आत्मसंयमयोग नामक छठा अध्याय ॥६॥

१–४ निष्कामकर्मयोगका विषय और योगारूढ़ पुरुषके लक्षण ।
५–१० आत्म-उद्धारके लिये प्रेरणा और भगवत्-प्राप्तिवाले पुरुषके लक्षण ।
११–३२ विस्तारसे ध्यानयोगका विषय
३३–३६ मनके निग्रहका विषय ।
३७–४७ योगभ्रष्ट पुरुषकी गतिका विषय और ध्यानयोगीकी महिमा ।

ज्ञानविज्ञानयोग नामक सातवां अध्याय ॥७॥

१–७ विज्ञानसहित ज्ञानका विषय ।
८–१२ संपूर्ण पदार्थोंमें कारणरूपसे भगवान्‌की व्यापकताका कथन ।

श्लोक विषय

१३–१९ आसुरी स्वभाववालोंकी निन्दा और भगवद्भक्तोंकी प्रशंसा ।

२०–२३ अन्य देवताओंकी उपासनाका विषय ।

२४–३० भगवान्‌के प्रभाव और स्वरूपको न जाननेवालोंकी निन्दा और जाननेवालोंकी महिमा ।

अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवां अध्याय ॥८॥

१–७ ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मादिके विषयमें अर्जुनके ७ प्रश्न और उनका उत्तर ।

८–२२ भक्तियोगका विषय ।

२३–२८ शुक्ल और कृष्ण मार्गका विषय ।

राजविद्याराजगुह्ययोग नामक नवां अध्याय ॥९॥

१–६ प्रभावसहित ज्ञानका विषय ।

७–१० जगत्‌की उत्पत्तिका विषय ।

११–१५ भगवान्‌का तिरस्कार करनेवाले आसुरी प्रकृतिवालोंकी निन्दा और दैवी प्रकृतिवालोंके भगवत्-भजनका प्रकार ।

१६–१९ सर्वात्मरूपसे प्रभावसहित भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन ।

श्लोक विषय

२०–२५ सकाम और निष्काम उपासनाका फल।

२६–३४ निष्काम भगवद्भक्तिकी महिमा।

विभूतियोग नामक दशवां अध्याय ॥१०॥

१–७ भगवान्‌की विभूति और योगशक्तिका कथन तथा उनके जाननेका फल।

८–११ फल और प्रभावसहित भक्तियोगका कथन।

१२–१८ अर्जुनद्वारा भगवान्‌की स्तुति एवं विभूति और योगशक्तिको कहनेके लिये प्रार्थना।

१९–४२ भगवान्‌द्वारा अपनी विभूतियोंका और योगशक्तिका कथन।

विश्वरूपदर्शनयोग नामक ग्यारहवां अध्याय ॥ ११ ॥

१–४ विश्वरूपका दर्शन करानेके लिये अर्जुनकी प्रार्थना।

५–८ भगवान्‌द्वारा अपने विश्वरूपका वर्णन।

९–१४ धृतराष्ट्रके प्रति संजयद्वारा विश्वरूपका वर्णन।

१५–३१ अर्जुनद्वारा भगवान्‌के विश्वरूपका देखा जाना और उनकी स्तुति करना।

श्लोक विषय

३२–३४ भगवान्‌द्वारा अपने प्रभावका वर्णन और युद्धके लिये अर्जुनको उत्साहित करना।

३५–४६ भयभीत हुए अर्जुनद्वारा भगवान्‌की स्तुति और चतुर्भुजरूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना।

४७–५० भगवान्‌द्वारा अपने विश्वरूपके दर्शनकी महिमाका कथन तथा चतुर्भुज और सौम्यरूपका दिखाया जाना।

५१–५५ बिना अनन्यभक्तिके चतुर्भुजरूपके दर्शनकी दुर्लभताका और फलसहित अनन्यभक्तिका कथन।

भक्तियोग नामक बारहवां अध्याय ॥१२॥

१–१२ साकार और निराकारके उपासकोंकी उत्तमताका निर्णय और भगवत्-प्राप्तिके उपायका विषय।

१३–२० भगवत्-प्राप्तिवाले पुरुषोंके लक्षण।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग नामक तेरहवां अध्याय ॥१३॥

१–१८ ज्ञानसहित क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विषय।

१९–३४ ज्ञानसहित प्रकृति-पुरुषका विषय।

श्लोक विषय

गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवां अध्याय ॥ १४ ॥

१–४ ज्ञानकी महिमा और प्रकृति-पुरुषसे जगत्‌की उत्पत्ति ।
५–१८ सत्, रज, तम तीनों गुणोंका विषय ।
१९–२७ भगवत्-प्राप्तिका उपाय और गुणातीत पुरुषके लक्षण ।

पुरुषोत्तमयोग नामक पंद्रहवां अध्याय ॥ १५ ॥

१–६ संसारवृक्षका कथन और भगवत्-प्राप्तिका उपाय ।
७–११ जीवात्माका विषय ।
१२–१५ प्रभावसहित परमेश्वरके स्वरूपका विषय ।
१६–२० क्षर, अक्षर, पुरुषोत्तमका विषय ।

दैवासुरसंपद्विभागयोग नामक सोलहवां अध्याय ॥ १६ ॥

१–५ फलसहित दैवी और आसुरी संपदाका कथन ।
६–२० आसुरी संपदावालोंके लक्षण और उनकी अधोगतिका कथन ।

श्लोक विषय

२१–२४ शास्त्रविपरीत आचरणोंको त्यागने और शास्त्रके अनुकूल आचरण करनेके लिये प्रेरणा ।

श्रद्धात्रयविभागयोग नामक सत्रहवां अध्याय ॥ १७ ॥

१–६ श्रद्धाका और शास्त्रविपरीत घोर तप करनेवालोंका विषय ।
७–२२ आहार, यज्ञ, तप और दानके पृथक्-पृथक् भेद ।
२३–२८ ॐ तत्सत्के प्रयोगकी व्याख्या ।

मोक्षसंन्यासयोग नामक अठारहवां अध्याय । १८ ।

१–१२ त्यागका विषय ।
१३–१८ कर्मोंके होनेमें सांख्यसिद्धान्तका कथन ।
१९–४० तीनों गुणोंके अनुसार ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुखके पृथक्-पृथक् भेद ।
४१–४८ फलसहित वर्णधर्मका विषय ।
४९–५५ ज्ञाननिष्ठाका विषय ।
५६–६६ भक्तिसहित निष्काम कर्मयोगका विषय ।
६७–७८ श्रीगीताजीका माहात्म्य ।

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

अथ श्रीमद्भगवद्गीता

भाषाटीकासहित

प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोला, हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें इकट्ठे हुए युद्धकी इच्छावाले मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

इसपर संजय बोला, उस समय राजा दुर्योधनने व्यूहरचनायुक्त पाण्डवोंकी सेनाको देखकर और द्रोणाचार्यके पास जाकर यह वचन कहा ॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नद्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥ ४ ॥

इस सेनामें बड़े-बड़े धनुषोंवाले युद्धमें भीम और अर्जुनके समान बहुत-से शूरवीर हैं, जैसे सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद ॥ ४ ॥

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ५ ॥

और धृष्टकेतु, चेकितान तथा बलवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज और मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य ॥ ५ ॥

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥ ६ ॥

और पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान् उत्तमौजा,

सुभद्रापुत्र अभिमन्यु और द्रौपदीके पांचों पुत्र यह सब ही महारथी हैं ॥ ६ ॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! हमारे पक्षमें भी जो जो प्रधान हैं, उनको आप समझ लीजिये, आपके जाननेके लिये मेरी सेनाके जो जो सेनापति हैं उनको कहता हूं ॥ ७ ॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥

एक तो स्वयं आप और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा ।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥

तथा और भी बहुत-से शूरवीर अनेक प्रकारके शस्त्र-अस्त्रोंसे युक्त मेरे लिये जीवनकी आशाको त्यागनेवाले सबके सब युद्धमें चतुर हैं ॥ ९ ॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

और भीष्मपितामहद्वारा रक्षित हमारी वह सेना सब प्रकारसे अजेय है और भीमद्वारा रक्षित इन लोगोंकी यह सेना जीतनेमें सुगम है ॥ १० ॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

इसलिये सब मोर्चोंपर अपनी अपनी जगह स्थित रहते हुए आप लोग सबके सब ही निःसन्देह भीष्मपितामहकी ही सब ओरसे रक्षा करें ॥ ११ ॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥१२॥

इस प्रकार द्रोणाचार्यसे कहते हुए दुर्योधनके वचनोंको सुनकर कौरवोंमें वृद्ध बड़े प्रतापी पितामह भीष्मने उस दुर्योधनके हृदयमें हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्चस्वरसे सिंहकी नादके समान गर्जकर शङ्ख बजाया ॥ १२ ॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

उसके उपरान्त शङ्ख और नगारे तथा ढोल, मृदङ्ग और नृसिंहादि बाजे एक साथ ही बजे, उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ ॥ १३ ॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥१४॥

इसके अनन्तर सफेद घोड़ोंसे युक्त उत्तम रथमें बैठे हुए श्रीकृष्ण महाराज और अर्जुनने भी अलौकिक शङ्ख बजाये ॥ १४ ॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

उनमें श्रीकृष्ण महाराजने पाञ्चजन्य नामक शङ्ख और अर्जुनने देवदत्त नामक शङ्ख बजाया, भयानक कर्मवाले भीमसेनने पौण्ड्र नामक महाशङ्ख बजाया॥ १५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय नामक

शङ्ख और नकुल तथा सहदेवने सुघोष और मणि-पुष्पक नामवाले शङ्ख बजाये ॥ १६ ॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

श्रेष्ठ धनुषवाला काशिराज और महारथी शिखण्डी और धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट और अजेय सात्यकि।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्॥१८।

तथा राजा द्रुपद और द्रौपदीके पांचों पुत्र और बड़ी भुजावाला सुभद्रापुत्र अभिमन्यु, इन सबने हे राजन्! अलग अलग शङ्ख बजाये ॥ १८ ॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

और उस भयानक शब्दने आकाश और पृथ्वी-को भी शब्दायमान करते हुए धृतराष्ट्र-पुत्रोंके हृदय विदीर्ण कर दिये ॥ १९ ॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥२०॥

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

हे राजन् ! उसके उपरान्त कपिध्वज अर्जुनने खड़े हुए धृतराष्ट्रपुत्रोंको देखकर उस शस्त्र चलनेकी तैयारीके समय धनुष उठाकर हृषीकेश श्रीकृष्ण महाराजसे यह वचन कहा, हे अच्युत ! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करिये ॥ २०, २१ ॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥२२॥

जबतक मैं इन स्थित हुए युद्धकी कामनावालोंको अच्छी प्रकार देख लूं कि इस युद्धरूप व्यापारमें मुझे किन किनके साथ युद्ध करना योग्य है ॥ २२ ॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

और दुर्बुद्धि दुर्योधनका युद्धमें कल्याण चाहनेवाले जो जो ये राजालोग इस सेनामें आये हैं, उन युद्ध करनेवालोंको मैं देखूंगा ॥ २३ ॥

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥२५॥

संजय बोला, हे धृतराष्ट्र ! अर्जुनद्वारा इस प्रकार कहे हुए महाराज श्रीकृष्णचन्द्रने दोनों सेनाओंके बीचमें भीष्म और द्रोणाचार्यके सामने और संपूर्ण राजाओंके सामने उत्तम रथको खड़ा करके ऐसे कहा कि हे पार्थ! इन इकट्ठे हुए कौरवोंको देख॥ २४, २५ ॥

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।

उसके उपरान्त पृथापुत्र अर्जुनने उन दोनों ही सेनाओंमें स्थित हुए पिताके भाइयोंको, पितामहोंको, आचार्योंको, मामोंको, भाइयोंको, पुत्रोंको, पौत्रोंको तथा मित्रोंको, ससुरोंको और सुहृदोंको भी देखा ।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

इस प्रकार उन खड़े हुए संपूर्ण बन्धुओंको देखकर वह अत्यन्त करुणासे युक्त हुआ कुन्तीपुत्र अर्जुन शोक करता हुआ यह बोला ।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

हे कृष्ण ! इस युद्धकी इच्छावाले खड़े हुए स्वजनसमुदायको देखकर मेरे अङ्ग शिथिल हुए जाते हैं और मुख भी सूखा जाता है और मेरे शरीरमें कम्प तथा रोमाञ्च होता है ॥ २८, २९ ॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

तथा हाथसे गाण्डीव धनुष गिरता है और त्वचा भी बहुत जलती है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है, इसलिये मैं खड़ा रहनेको भी समर्थ नहीं हूं ॥ ३० ॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

और हे केशव ! लक्षणोंको भी विपरीत ही देखता हूं तथा युद्धमें अपने कुलको मारकर कल्याण भी नहीं देखता ॥ ३१ ॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥

और हे कृष्ण ! मैं विजयको नहीं चाहता और राज्य तथा सुखोंको भी नहीं चाहता, हे गोविन्द ! हमें राज्यसे क्या प्रयोजन है अथवा भोगोंसे और जीवनसे भी क्या प्रयोजन है ॥ ३२ ॥

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥

क्योंकि हमें जिनके लिये राज्य, भोग और सुखादिक इच्छित हैं, वे ही यह सब धन और जीवनकी आशाको त्याग कर युद्धमें खड़े हैं ॥ ३३ ॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ॥

जो कि गुरुजन, ताऊ, चाचे, लड़के और वैसे ही दादा, मामा, ससुर, पोते, साले तथा और भी संबन्धी लोग हैं ॥ ३४ ॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥

इसलिये हे मधुसूदन! मुझे मारनेपर भी अथवा तीन लोकके राज्यके लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता, फिर पृथ्वीके लिये तो कहना ही क्या है। ३५।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥३६॥

हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर भी हमें क्या प्रसन्नता होगी, इन आततायियोंको मारकर तो हमें पाप ही लगेगा ॥ ३६ ॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥

इससे हे माधव ! अपने बान्धव धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारनेके लिये हम योग्य नहीं हैं, क्योंकि अपने कुटुम्बको मारकर हम कैसे सुखी होंगे ॥ ३७ ॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

यद्यपि लोभसे भ्रष्टचित्त हुए यह लोग कुलके

नाशकृत दोषको और मित्रोंके साथ विरोध करनेमें पापको नहीं देखते हैं ॥ ३८ ॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

परन्तु हे जनार्दन ! कुलके नाश करनेसे होते हुए दोषको जाननेवाले हमलोगोंको इस पापसे हटनेके लिये क्यों नहीं विचार करना चाहिये ॥ ३९ ॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

क्योंकि कुलके नाश होनेसे सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्मके नाश होनेसे संपूर्ण कुलको पाप भी बहुत दबा लेता है ॥ ४० ॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

तथा हे कृष्ण ! पापके अधिक बढ़ जानेसे कुलकी स्त्रियां दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय ! स्त्रियोंके दूषित होनेपर वर्णसंकर उत्पन्न होता है ।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

और वह वर्णसंकर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेके लिये ही होता है । लोप हुई पिण्ड और जलकी क्रियावाले इनके पितरलोग भी गिर जाते हैं ॥ ४२ ॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥

और इन वर्णसंकरकारक दोषोंसे कुलघातियोंके सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं ॥४३॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

तथा हे जनार्दन ! नष्ट हुए कुलधर्मवाले मनुष्योंका अनन्त कालतक नरकमें वास होता है, ऐसा हमने सुना है ॥ ४४ ॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

अहो ! शोक है कि हमलोग बुद्धिमान् होकर

भी महान् पाप करनेको तैयार हुए हैं जो कि, राज्य और सुखके लोभसे अपने कुलको मारनेके लिये उद्यत हुए हैं ॥ ४५ ॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

यदि मुझ शस्त्ररहित, न सामना करनेवालेको शस्त्रधारी धृतराष्ट्रके पुत्र रणमें मारें तो वह मारना भी मेरे लिये अति कल्याणकारक होगा ॥ ४६ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

संजय बोला कि, रणभूमिमें शोकसे उद्विग्न मनवाला अर्जुन इस प्रकार कहकर बाणसहित धनुषको त्यागकर रथके पिछले भागमें बैठ गया। ४७।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म-
विद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुन-
विषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्

अथ द्वितीयोऽध्यायः

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

संजय बोला कि, पूर्वोक्त प्रकारसे करुणा करके व्याप्त और आंसुओंसे पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रोंवाले शोकयुक्त उस अर्जुनके प्रति भगवान् मधुसूदनने यह वचन कहा ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥ २ ॥

हे अर्जुन ! तुमको इस विषमस्थलमें यह अज्ञान किस हेतुसे प्राप्त हुआ ? क्योंकि यह न तो श्रेष्ठ पुरुषोंसे आचरण किया गया है, न स्वर्गको देनेवाला है, न कीर्तिको करनेवाला है ॥ २ ॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

इसलिये हे अर्जुन ! नपुंसकताको मत प्राप्त हो,

यह तेरेमें योग्य नहीं है, हे परंतप ! तुच्छ हृदयकी दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

तब अर्जुन बोला कि हे मधुसूदन ! मैं रणभूमिमें भीष्मपितामह और द्रोणाचार्यके प्रति किस प्रकार बाणोंकरके युद्ध करूंगा, क्योंकि हे अरिसूदन ! वे दोनों ही पूजनीय हैं ॥ ४ ॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

इसलिये इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर इस लोकमें भिक्षाका अन्न भी भोगना कल्याणकारक समझता हूं, क्योंकि गुरुजनोंको मारकर भी इस लोकमें रुधिरसे सने हुए अर्थ और कामरूप भोगोंको ही तो भोगूंगा ॥ ५ ॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

और हमलोग यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये क्या करना श्रेष्ठ है अथवा यह भी नहीं जानते कि हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्रके पुत्र हमारे सामने खड़े हैं ॥ ६ ॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

इसलिये कायरतारूप दोष करके उपहत हुए स्वभाववाला और धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं, आपको पूछता हूं जो कुछ निश्चय किया हुआ कल्याणकारक साधन हो, वह मेरे लिये कहिये, क्योंकि मैं आपका शिष्य हूं, इसलिये आपके शरण हुए मेरेको शिक्षा दीजिये ॥ ७ ॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

क्योंकि भूमिमें निष्कण्टक धनधान्यसंपन्न राज्यको और देवताओंके स्वामीपनेको प्राप्त होकर भी, मैं उस उपायको नहीं देखता हूं जो कि मेरी इन्द्रियोंके सुखानेवाले शोकको दूर कर सके ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ ९॥

संजय बोला, हे राजन् ! निद्राको जीतनेवाला अर्जुन अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराजके प्रति इस प्रकार कहकर फिर श्रीगोविन्द भगवान्को युद्ध नहीं करूंगा ऐसे स्पष्ट कहकर चुप हो गया ॥ ९ ॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

उसके उपरान्त हे भरतवंशी धृतराष्ट्र ! अन्तर्यामी

श्रीकृष्ण महाराजने दोनों सेनाओंके बीचमें उस शोकयुक्त अर्जुनको हंसते हुए-से यह वचन कहा। १०।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥११॥

हे अर्जुन! तूं न शोक करने योग्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है परन्तु पण्डितजन जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिये भी नहीं शोक करते हैं॥ ११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥१२॥

क्योंकि आत्मा नित्य है, इसलिये शोक करना अयुक्त है। वास्तवमें न तो ऐसा ही है कि, मैं किसी कालमें नहीं था अथवा तूं नहीं था अथवा यह राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि, इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे॥ १२॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

किन्तु जैसे जीवात्माकी इस देहमें कुमार, युवा और वृद्ध अवस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है, उस विषयमें धीर पुरुष नहीं मोहित होता है अर्थात् जैसे कुमार, युवा और जरा अवस्था-रूप स्थूल शरीरका विकार अज्ञानसे आत्मामें भासता है, वैसे ही एक शरीरसे दूसरे शरीरको प्राप्त होनारूप सूक्ष्म शरीरका विकार भी अज्ञानसे ही आत्मामें भासता है, इसलिये तत्त्वको जाननेवाला धीर पुरुष इस विषयमें नहीं मोहित होता है ॥ १३ ॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥

हे कुन्तीपुत्र ! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो क्षणभङ्गुर और अनित्य हैं, इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन ! उनको तूं सहन कर ॥ १४ ॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको यह इन्द्रियोंके विषय व्याकुल नहीं कर सकते वह मोक्षके लिये योग्य होता है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥१६॥

और हे अर्जुन ! असत् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं है और सत्का अभाव नहीं है, इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है ॥ १६ ॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

इस न्यायके अनुसार नाशरहित तो उसको जान कि, जिससे यह संपूर्ण जगत् व्याप्त है, क्योंकि इस अविनाशीका विनाश करनेको कोई भी समर्थ नहीं है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

और इस नाशरहित अप्रमेय नित्यस्वरूप जीवात्माके यह सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं, इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन ! तू युद्ध कर ॥ १८ ॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

और जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते हैं, क्योंकि यह आत्मा न मारता है और न मारा जाता है ॥ १९ ॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

यह आत्मा किसी कालमें भी न जन्मता है और न मरता है अथवा न यह आत्मा हो करके फिर होनेवाला है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है, शरीरके नाश होनेपर भी यह नाश नहीं होता है ॥ २० ॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! जो पुरुष इस आत्माको

नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है ॥ २१ ॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

और यदि तू कहे कि मैं तो शरीरोंके वियोगका शोक करता हूं, तो यह भी उचित नहीं है; क्योंकि जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है ॥२२॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

और हे अर्जुन ! इस आत्माको शस्त्रादि नहीं काट सकते हैं और इसको आग नहीं जला सकती है तथा इसको जल नहीं गीला कर सकते हैं और वायु नहीं सुखा सकता है ॥ २३ ॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥२४॥

क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है तथा यह आत्मा निःसन्देह नित्य, सर्वव्यापक अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है ॥ २४ ॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

और यह आत्मा अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियोंका अविषय और यह आत्मा अचिन्त्य अर्थात् मनका अविषय और यह आत्मा विकाररहित अर्थात् न बदलनेवाला कहा जाता है, इससे हे अर्जुन ! इस आत्माको ऐसा जानकर तूं शोक करनेको योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है ॥ २५ ॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

और यदि तूं इसको सदा जन्मने और सदा मरनेवाला माने तो भी, हे अर्जुन ! इस प्रकार शोक करनेको योग्य नहीं है ॥ २६ ॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

क्योंकि ऐसा होनेसे तो जन्मनेवालेकी निश्चित मृत्यु और मरनेवालेका निश्चित जन्म होना सिद्ध हुआ, इससे भी तूं इस बिना उपायवाले विषयमें शोक करनेको योग्य नहीं है ॥ २७ ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

और यह भीष्मादिकोंके शरीर मायामय होनेसे अनित्य हैं, इससे शरीरोंके लिये भी शोक करना उचित नहीं, क्योंकि हे अर्जुन ! संपूर्ण प्राणी जन्मसे पहिले बिना शरीरवाले और मरनेके बाद भी बिना शरीरवाले ही हैं, केवल बीचमें ही शरीरवाले प्रतीत होते हैं, फिर उस विषयमें क्या चिन्ता है ॥ २८ ॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

और हे अर्जुन ! यह आत्मतत्त्व बड़ा गहन है, इसलिये कोई महापुरुष ही इस आत्माको आश्चर्यकी ज्यों देखता है और वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही आश्चर्यकी ज्यों इसके तत्त्वको कहता है और दूसरा कोई ही इस आत्माको आश्चर्यकी ज्यों सुनता है और कोई-कोई सुनकर भी इस आत्माको नहीं जानता ।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥३०॥

हे अर्जुन ! यह आत्मा सबके शरीरमें सदा ही अवध्य है* इसलिये संपूर्ण भूतप्राणियोंके लिये तूं शोक करनेको योग्य नहीं है ॥ ३० ॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।३१।

और अपने धर्मको देखकर भी तूं भय करनेको योग्य नहीं है, क्योंकि धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारक कर्तव्य क्षत्रियके लिये नहीं है।३१।

---

* जिसका वध नहीं किया जा सके ।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।३२।

और हे पार्थ ! अपने-आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्गके द्वाररूप इस प्रकारके युद्धको भाग्यवान् क्षत्रियलोग ही पाते हैं ॥ ३२ ॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥३३॥

और यदि तू इस धर्मयुक्त संग्रामको नहीं करेगा तो स्वधर्मको और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

और सब लोग तेरी बहुत कालतक रहनेवाली अपकीर्तिको भी कथन करेंगे और वह अपकीर्ति माननीय पुरुषके लिये मरणसे भी अधिक बुरी होती है ॥ ३४॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥३५॥

और जिनके तू बहुत माननीय होकर भी अब तुच्छताको प्राप्त होगा, वे महारथीलोग तुझे भयके

कारण युद्धसे उपराम हुआ मानेंगे ॥ ३५ ॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ।३६।

और तेरे वैरीलोग तेरे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए बहुत-से न कहने योग्य वचनोंको कहेंगे, फिर उससे अधिक दुःख क्या होगा ? ॥ ३६ ॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

इससे युद्ध करना तेरे लिये सब प्रकारसे अच्छा है, क्योंकि या तो मरकर स्वर्गको प्राप्त होगा अथवा जीतकर पृथ्वीको भोगेगा, इससे हे अर्जुन ! युद्धके लिये निश्चयवाला होकर खड़ा हो ॥ ३७ ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

यदि तुझे स्वर्ग तथा राज्यकी इच्छा न हो तो भी सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजयको समान समझकर उसके उपरान्त युद्धके लिये तैयार हो, इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा ॥३८॥

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥

हे पार्थ ! यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके* विषयमें कही गयी और इसीको अब निष्कामकर्मयोगके† विषयमें सुन, कि जिस बुद्धिसे युक्त हुआ तू कर्मोंके बन्धनको अच्छी तरहसे नाश करेगा ॥ ३९ ॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

और इस निष्कामकर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं होता है, इसलिये इस निष्कामकर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा भी साधन जन्ममृत्युरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है ॥ ४० ॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥

और हे अर्जुन ! इस कल्याणमार्गमें निश्चयात्मक

*-†अध्याय ३ श्लोक ३ की टिप्पणीमें इसका विस्तार देखना चाहिये ।

बुद्धि एक ही है और अज्ञानी (सकामी) पुरुषोंकी बुद्धियां बहुत भेदोंवाली अनन्त होती हैं ॥ ४१ ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

और हे अर्जुन ! जो सकामी पुरुष केवल फल-श्रुतिमें प्रीति रखनेवाले, स्वर्गको ही परमश्रेष्ठ माननेवाले, इससे बढ़कर और कुछ नहीं है ऐसे कहनेवाले हैं वे अविवेकीजन जन्मरूप कर्मफलको देनेवाली और भोग तथा ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये बहुत-सी क्रियाओंके विस्तारवाली, इस प्रकारकी जिस दिखाऊ शोभायुक्त वाणीको कहते हैं ॥ ४२, ४३ ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥४४॥

उस वाणीद्वारा हरे हुए चित्तवाले तथा भोग और ऐश्वर्यमें आसक्तिवाले, उन पुरुषोंके अन्तःकरणमें निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती है ॥ ४४ ॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

हे अर्जुन ! सब वेद तीनों गुणोंके कार्यरूप संसारको विषय करनेवाले अर्थात् प्रकाश करनेवाले हैं, इसलिये तूं असंसारी अर्थात् निष्कामी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित नित्य वस्तुमें स्थित तथा योग* क्षेमको† न चाहनेवाला और आत्मपरायण हो ॥४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

क्योंकि मनुष्यका सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयके प्राप्त होनेपर छोटे जलाशयमें जितना प्रयोजन रहता है, अच्छी प्रकार ब्रह्मको जाननेवाले ब्राह्मणका भी सब वेदोंमें उतना ही प्रयोजन रहता है, अर्थात् जैसे बड़े जलाशयके प्राप्त हो जानेपर जलके लिये छोटे जलाशयोंकी आवश्यकता नहीं रहती, वैसे ही ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होनेपर आनन्दके लिये

*अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम योग है। †प्राप्त वस्तुकी रक्षाका नाम क्षेम है।

वेदोंकी आवश्यकता नहीं रहती ॥ ४६॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

इससे तेरा कर्म करनेमात्रमें ही अधिकार होवे, फलमें कभी नहीं और तूं कर्मोंके फलकी वासनावाला भी मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी प्रीति न होवे॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

हे धनंजय ! आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको कर, यह समत्वभाव* ही योग नामसे कहा जाता है ॥ ४८ ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

इस समत्वरूप बुद्धियोगसे सकाम कर्म अत्यन्त तुच्छ है, इसलिये हे धनंजय ! समत्व-बुद्धियोगका

---

* जो कुछ भी कर्म किया जाय उसके पूर्ण होने और न होनेमें तथा उसके फलमें समभाव रहनेका नाम 'समत्व' है ।

आश्रय ग्रहण कर, क्योंकि फलकी वासनावाले अत्यन्त दीन हैं ॥ ४९ ॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥

और समत्व-बुद्धियुक्त पुरुष पुण्य, पाप दोनोंको इस लोकमें ही त्याग देता है अर्थात् उनसे लिपायमान नहीं होता, इससे समत्व-बुद्धियोगके लिये ही चेष्टा कर, यह समत्व-बुद्धिरूप योग ही कर्मोंमें चतुरता है अर्थात् कर्मबन्धनसे छूटनेका उपाय है ।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥

क्योंकि बुद्धियोगयुक्त ज्ञानीजन कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्यागकर जन्मरूप बन्धनसे छूटे हुए निर्दोष अर्थात् अमृतमय परमपदको प्राप्त होते हैं ॥ ५१ ॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥

और हे अर्जुन ! जिस कालमें तेरी बुद्धि मोह-

रूप दलदलको बिल्कुल तर जायगी तब तूं सुनने योग्य और सुने हुएके वैराग्यको प्राप्त होगा ॥ ५२ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

और जब तेरी अनेक प्रकारके सिद्धान्तोंको सुननेसे विचलित हुई बुद्धि परमात्माके स्वरूपमें अचल और स्थिर ठहर जायगी तब तूं समत्वरूप योगको प्राप्त होगा ॥ ५३ ॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥

इस प्रकार भगवान्‌के वचनोंको सुनकर अर्जुनने पूछा हे केशव ! समाधिमें स्थित स्थिरबुद्धिवाले पुरुषका क्या लक्षण है ? और स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है ? कैसे बैठता है ? कैसे चलता है ? ॥ ५४ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥५५॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण महाराज बोले, हे अर्जुन! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित संपूर्ण कामनाओंको त्याग देता है, उस कालमें आत्मासे ही आत्मामें संतुष्ट हुआ स्थिरबुद्धिवाला कहा जाता है ॥ ५५ ॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

तथा दुःखोंकी प्राप्तिमें उद्वेगरहित है मन जिसका और सुखोंकी प्राप्तिमें दूर हो गयी है स्पृहा जिसकी तथा नष्ट हो गये हैं राग, भय और क्रोध जिसके, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है ॥ ५६ ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

और जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ, उस-उस शुभ तथा अशुभ वस्तुओंको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥५८॥

और कछुआ अपने अङ्गोंको जैसे समेट लेता है, वैसे ही यह पुरुष जब सब ओरसे अपनी इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके विषयोंसे समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ ५८ ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

यद्यपि इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको न ग्रहण करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु राग नहीं निवृत्त होता और इस पुरुषका तो राग भी परमात्माको साक्षात् करके निवृत्त हो जाता है ॥ ५९ ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

और हे अर्जुन ! जिससे कि यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके भी मनको यह प्रमथन स्वभाववाली इन्द्रियां बलात्कारसे हर लेती हैं ॥ ६० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

इसलिये मनुष्यको चाहिये कि उन संपूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण स्थित होवे, क्योंकि जिस पुरुषके इन्द्रियां वशमें होती हैं, उसकी ही बुद्धि स्थिर होती है ॥ ६१॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।६२।

और हे अर्जुन ! मनसहित इन्द्रियोंको वशमें करके मेरे परायण न होनेसे मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन होता है और विषयोंको चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है और आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

और क्रोधसे अविवेक अर्थात् मूढभाव उत्पन्न होता है और अविवेकसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है और स्मृतिके भ्रमित हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिके नाश

होनेसे यह पुरुष अपने श्रेय-साधनसे गिर जाता है। ६३।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

परन्तु स्वाधीन अन्तःकरणवाला पुरुष रागद्वेषसे रहित अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंद्वारा विषयोंको भोगता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नता अर्थात् स्वच्छताको प्राप्त होता है ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

और उस निर्मलताके होनेपर इसके संपूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न चित्तवाले पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही अच्छी प्रकार स्थिर हो जाती है ॥ ६५ ॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

और हे अर्जुन ! साधनरहित पुरुषके अन्तःकरणमें श्रेष्ठ बुद्धि नहीं होती है और उस अयुक्तके अन्तःकरणमें आस्तिक भाव भी नहीं होता है और बिना

आस्तिकभाववाले पुरुषको शान्ति भी नहीं होती, फिर शान्तिरहित पुरुषको सुख कैसे हो सकता है ?

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

क्योंकि जलमें वायु नावको जैसे हर लेता है वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंके बीचमें जिस इन्द्रियके साथ मन रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हरण कर लेती है ॥ ६७ ॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

इससे हे महाबाहो ! जिस पुरुषकी इन्द्रियां सब प्रकार इन्द्रियोंके विषयोंसे वशमें की हुई होती हैं, उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ ६८ ॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

और हे अर्जुन ! संपूर्ण भूतप्राणियोंके लिये जो रात्रि है उस नित्य शुद्ध बोधस्वरूप परमानन्दमें भगवत्को प्राप्त हुआ योगी पुरुष जागता है और

जिस नाशवान् क्षणभङ्गुर सांसारिक सुखमें सब भूतप्राणी जागते हैं, तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रि है ॥ ६९ ॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

जैसे सब ओरसे परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रके प्रति नाना नदियोंके जल, उसको चलायमान न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही जिस स्थिरबुद्धि पुरुषके प्रति संपूर्ण भोग किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वह पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, न कि भोगोंको चाहनेवाला ॥ ७० ॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

क्योंकि जो पुरुष संपूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित और अहंकाररहित, स्पृहारहित हुआ

बर्तता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है ॥ ७१ ॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

हे अर्जुन ! यह ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषकी स्थिति है, इसको प्राप्त होकर मोहित नहीं होता है और अन्तकालमें भी इस निष्ठामें स्थित होकर ब्रह्मानन्द-को प्राप्त हो जाता है ॥ ७२ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

इसपर अर्जुनने प्रश्न किया, कि हे जनार्दन ! यदि कर्मोंकी अपेक्षा ज्ञान आपके श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव ! मुझे भयंकर कर्ममें क्यों लगाते हैं ?

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

तथा आप मिले हुए-से वचनसे मेरी बुद्धिको मोहित-सी करते हैं, इसलिये उस एक बातको निश्चय-करके कहिये, कि जिससे मैं कल्याणको प्राप्त होऊं।

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर भगवान् श्रीकृष्ण महाराज बोले, हे निष्पाप अर्जुन ! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा* मेरे द्वारा पहिले कही गयी है, ज्ञानियोंकी ज्ञानयोगसे† और योगियोंकी निष्काम कर्मयोगसे‡ ॥ ३ ॥

---

* साधनकी परिपक्व अवस्था अर्थात् पराकाष्ठाका नाम 'निष्ठा' है।

† मायासे उत्पन्न हुए संपूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं, ऐसे समझकर तथा मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली संपूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर सर्वव्यापी, सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभाव-से स्थित रहनेका नाम 'ज्ञानयोग' है। इसीको 'संन्यास', 'सांख्ययोग' इत्यादि नामोंसे कहा है।

‡ फल और आसक्तिको त्यागकर भगवत्-आज्ञानुसार केवल

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

परन्तु किसी भी मार्गके अनुसार कर्मोंको स्वरूपसे त्यागनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मनुष्य न तो कर्मोंके न करनेसे निष्कर्मताको* प्राप्त होता है और न कर्मोंको त्यागनेमात्रसे भगवत्साक्षात्काररूप सिद्धिको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

तथा सर्वथा कर्मोंका स्वरूपसे त्याग हो भी नहीं सकता, क्योंकि कोई भी पुरुष किसी कालमें क्षण-मात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता है, निःसन्देह

भगवत्-अर्थ समत्वबुद्धिसे कर्म करनेका नाम 'निष्कामकर्मयोग' है। इसीको 'समत्वयोग', 'बुद्धियोग', 'कर्मयोग', 'तदर्थकर्म', 'मदर्थकर्म', 'मत्कर्म' इत्यादि नामोंसे कहा है।

* जिस अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् फल उत्पन्न नहीं कर सकते, उस अवस्थाका नाम 'निष्कर्मता' है।

सब ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंद्वारा परवश हुए कर्म करते हैं॥ ५॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

इसलिये जो मूढ़बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको हठसे रोककर इन्द्रियोंके भोगोंको मनसे चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥७॥

और हे अर्जुन! जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोगका आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है॥ ७॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥८॥

इसलिये तूं शास्त्रविधिसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको कर, क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करनेसे तेरा शरीरनिर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा॥ ८॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥९॥

हे अर्जुन ! बन्धनके भयसे भी कर्मोंका त्याग करना योग्य नहीं है, क्योंकि यज्ञ अर्थात् विष्णुके निमित्त किये हुए कर्मके सिवाय, अन्य कर्ममें लगा हुआ ही यह मनुष्य कर्मोंद्वारा बंधता है, इसलिये हे अर्जुन ! आसक्तिसे रहित हुआ, उस परमेश्वरके निमित्त कर्मका भलीप्रकार आचरण कर ॥ ९ ॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेनप्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

तथा कर्म न करनेसे तूं पापको भी प्राप्त होगा, क्योंकि प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाको रचकर कहा, कि इस यज्ञद्वारा तुमलोग वृद्धिको प्राप्त होवो और यह यज्ञ तुमलोगोंको इच्छित कामनाओंके देनेवाला होवे ॥ १० ॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

तथा तुमलोग इस यज्ञद्वारा देवताओंकी उन्नति

करो और वे देवतालोग तुमलोगोंकी उन्नति करें, इस प्रकार आपसमें कर्तव्य समझकर उन्नति करते हुए परम कल्याणको प्राप्त होवोगे ॥ ११ ॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

तथा यज्ञद्वारा बढ़ाये हुए देवतालोग तुम्हारे लिये बिना मांगे ही प्रिय भोगोंको देंगे, उनके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष इनके लिये बिना दिये ही भोगता है वह निश्चय चोर है॥ १२ ॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

कारण कि यज्ञसे शेष बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे छूटते हैं और जो पापीलोग अपने शरीरपोषणके लिये ही पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं ॥ १३ ॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

क्योंकि संपूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं और

अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है और वृष्टि यज्ञसे होती है और वह यज्ञ कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है ॥ १४॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५॥

तथा उस कर्मको तू वेदसे उत्पन्न हुआ जान और वेद अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ है, इससे सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है ॥ १५ ॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६॥

हे पार्थ ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार चलाये हुए सृष्टिचक्रके अनुसार नहीं बर्तता है अर्थात् शास्त्र-अनुसार कर्मोंको नहीं करता है, वह इन्द्रियोंके सुखको भोगनेवाला पाप आयु पुरुष व्यर्थ ही जीता है ॥ १६ ॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७॥

परन्तु जो मनुष्य आत्माहीमें प्रीतिवाला और आत्माहीमें तृप्त तथा आत्मामें ही संतुष्ट होवे, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है ॥ १७ ॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥१८॥

क्योंकि इस संसारमें उस पुरुषका किये जानेसे भी कोई प्रयोजन नहीं है और न किये जानेसे भी कोई प्रयोजन नहीं है तथा इसका संपूर्ण भूतोंमें कुछ भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है, तो भी उसके द्वारा केवल लोकहितार्थ कर्म किये जाते हैं ॥ १८ ॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१९॥

इससे तूं अनासक्त हुआ, निरन्तर कर्तव्य कर्मका अच्छी प्रकार आचरण कर, क्योंकि अनासक्त पुरुष, कर्म करता हुआ परमात्माको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥२०॥

इस प्रकार जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं, इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखता हुआ भी तूं कर्म करनेको ही योग्य है ॥२०॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है अन्य पुरुष भी उस-उसके ही अनुसार बर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसके अनुसार बर्तते हैं ॥ २१ ॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

इसलिये हे अर्जुन ! यद्यपि मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथा किंचित् भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है, तो भी मैं कर्ममें ही बर्तता हूं ॥ २२ ॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

क्योंकि यदि मैं सावधान हुआ कदाचित् कर्ममें न बर्तूं तो हे अर्जुन! सब प्रकारसे मनुष्य मेरे बर्तावके अनुसार बर्तते हैं अर्थात् बर्तने लग जायं ॥ २३ ॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥२४॥

तथा यदि मैं कर्म न करूं तो यह सब लोक भ्रष्ट हो जायं और मैं वर्णसंकरका करनेवाला होऊं तथा इस सारी प्रजाको हनन करूं अर्थात् मारनेवाला बनूं ॥ २४ ॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

इसलिये हे भारत ! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जैसे कर्म करते हैं, वैसे ही अनासक्त हुआ विद्वान् भी लोकशिक्षाको चाहता हुआ कर्म करे ॥ २५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

ज्ञानी पुरुषको चाहिये, कि कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा

उत्पन्न न करे; किन्तु स्वयं परमात्माके स्वरूपमें स्थित हुआ और सब कर्मोंको अच्छी प्रकार करता हुआ उनसे भी वैसे ही करावे ॥ २६ ॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

और हे अर्जुन ! वास्तवमें संपूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये हुए हैं तो भी अहंकारसे मोहित हुए अन्तःकरणवाला पुरुष, मैं कर्ता हूं ऐसे मान लेता है ॥ २७ ॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

परन्तु हे महाबाहो ! गुणविभाग* और कर्म-विभागके† तत्त्वको‡ जाननेवाला ज्ञानी पुरुष संपूर्ण

---

*-†त्रिगुणात्मक मायाके कार्यरूप पांच महाभूत और मन, बुद्धि, अहंकार तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और शब्दादि पांच विषय इन सबके समुदायका नाम 'गुणविभाग' है और इनकी परस्परकी चेष्टाओंका नाम 'कर्मविभाग' है ।

‡ उपरोक्त 'गुणविभाग' और 'कर्मविभाग'से आत्माको पृथक् अर्थात् निर्लेप जानना ही इनका तत्त्व जानना है ।

गुण गुणोंमें बर्तते हैं ऐसे मानकर नहीं आसक्त होता है ॥ २८ ॥

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ।२९।

और प्रकृतिके गुणोंसे मोहित हुए पुरुष गुण और कर्मोंमें आसक्त होते हैं । उन अच्छी प्रकार न समझनेवाले मूर्खोंको अच्छी प्रकार जाननेवाला ज्ञानी पुरुष चलायमान न करे ॥ २९ ॥

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

इसलिये हे अर्जुन ! तूं ध्याननिष्ठ चित्तसे संपूर्ण कर्मोंको मुझमें समर्पण करके, आशारहित और ममतारहित होकर संतापरहित हुआ युद्ध कर ॥ ३० ॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥

और हे अर्जुन ! जो कोई भी मनुष्य दोषबुद्धिसे रहित और श्रद्धासे युक्त हुए सदा ही मेरे इस मतके अनुसार बर्तते हैं, वे पुरुष संपूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं ॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

और जो दोषदृष्टिवाले मूर्खलोग इस मेरे मतके अनुसार नहीं बर्तते हैं, उन संपूर्ण ज्ञानोंमें मोहित चित्तवालोंको तू कल्याणसे भ्रष्ट हुए ही जान॥ ३२॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

क्योंकि सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभावसे परवश हुए कर्म करते हैं, ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है, फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा॥ ३३॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥३४॥

इसलिये मनुष्यको चाहिये कि इन्द्रिय इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् सभी इन्द्रियोंके भोगोंमें स्थित जो राग और द्वेष हैं उन दोनोंके वशमें नहीं होवे, क्योंकि इसके वे दोनों ही कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं॥ ३४॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

इसलिये उन दोनोंको जीतकर सावधान हुआ स्वधर्मका आचरण करे, क्योंकि अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है, अपने धर्ममें मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥३६॥

इसपर अर्जुनने पूछा कि हे कृष्ण ! फिर यह पुरुष बलात्कारसे लगाये हुएके सदृश न चाहता हुआ भी किससे प्रेरा हुआ पापका आचरण करता है ?। ३६ ।

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्ण महाराज बोले, हे अर्जुन ! रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम

ही क्रोध है, यह ही महा अशन अर्थात् अग्निके सदृश भोगोंसे न तृप्त होनेवाला और बड़ा पापी है, इस विषयमें इसको ही तू बैरी जान ॥ ३७ ॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जैसे धुएंसे अग्नि और मलसे दर्पण ढका जाता है तथा जैसे जेरसे गर्भ ढका हुआ है, वैसे ही उस कामके द्वारा यह ज्ञान ढका हुआ है ॥ ३८ ॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥

और हे अर्जुन ! इस अग्निसदृश न पूर्ण होनेवाले कामरूप ज्ञानियोंके नित्य बैरीसे ज्ञान ढका हुआ है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥

तथा इन्द्रियां, मन और बुद्धि इसके वास-स्थान कहे जाते हैं और यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा ही ज्ञानको आच्छादित करके इस जीवात्माको मोहित करता है ॥ ४० ॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इसलिये हे अर्जुन ! तूं पहिले इन्द्रियोंको वशमें करके ज्ञान और विज्ञानके नाश करनेवाले इस काम पापीको निश्चयपूर्वक मार ॥ ४१ ॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

और यदि तूं समझे कि इन्द्रियोंको रोककर कामरूप बैरीको मारनेकी मेरी शक्ति नहीं है, तो तेरी यह भूल है, क्योंकि इस शरीरसे तो इन्द्रियोंको परे (श्रेष्ठ बलवान् और सूक्ष्म) कहते हैं और इन्द्रियोंसे परे मन है और मनसे परे बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त परे है, वह आत्मा है ॥ ४२ ॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥

इस प्रकार बुद्धिसे परे अर्थात् सूक्ष्म तथा सब प्रकार बलवान् और श्रेष्ठ अपने आत्माको जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके, हे महाबाहो !

अपनी शक्तिको समझकर इस दुर्जय कामरूप शत्रुको मार ॥ ४३ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

इसके उपरान्त श्रीकृष्ण महाराज बोले, हे अर्जुन ! मैंने इस अविनाशी योगको कल्पके आदिमें सूर्यके प्रति कहा था और सूर्यने अपने पुत्र मनुके प्रति कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुके प्रति कहा ॥ १ ॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

इस प्रकार परम्परासे प्राप्त हुए इस योगको राजर्षियोंने जाना, परन्तु हे अर्जुन ! वह योग बहुत कालसे इस पृथ्वीलोकमें लोप (प्रायः) हो गया था ॥ २ ॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥ ३ ॥

वह ही यह पुरातन योग अब मैंने तेरे लिये वर्णन किया है, क्योंकि तूं मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये तथा यह योग बहुत उत्तम और रहस्य अर्थात् अति मर्मका विषय है ॥ ३ ॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराजके वचन सुनकर अर्जुनने पूछा, हे भगवन् ! आपका जन्म तो आधुनिक अर्थात् अब हुआ है और सूर्यका जन्म बहुत पुराना है, इसलिये इस योगको कल्पके आदिमें आपने कहा था, यह मैं कैसे जानूं ? ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

इसपर श्रीकृष्ण महाराज बोले, हे अर्जुन ! मेरे

और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं, परन्तु हे परंतप ! उन सबको तूं नहीं जानता है और मैं जानता हूं॥ ५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

तथा मेरा जन्म प्राकृत मनुष्योंके सदृश नहीं है, मैं अविनाशीस्वरूप, अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूत-प्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको आधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूं ॥ ६ ॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥ ७ ॥

हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूं अर्थात् प्रकट करता हूं ॥ ७ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

क्योंकि साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करनेके लिये तथा धर्म स्थापन करनेके लिये युग-युगमें प्रकट होता हूं।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥९॥

इसलिये हे अर्जुन ! मेरा वह जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे* जानता है, वह शरीरको त्याग कर फिर जन्म-को नहीं प्राप्त होता है, किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है॥९॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

और हे अर्जुन ! पहिले भी राग, भय और क्रोधसे रहित अनन्य भावसे मेरेमें स्थितिवाले मेरे शरण हुए बहुत-से पुरुष, ज्ञानरूप तपसे पवित्र हुए मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं ॥ १० ॥

---

* सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्दघन परमात्मा अज, अविनाशी और सर्व भूतोंके परम गति तथा परम आश्रय हैं, वे केवल धर्मको स्थापन करने और संसारका उद्धार करनेके लिये ही अपनी योगमायासे सगुणरूप होकर प्रकट होते हैं। इसलिये परमेश्वरके समान सुहृद्, प्रेमी और पतितपावन दूसरा कोई नहीं है, ऐसा समझकर जो पुरुष परमेश्वरका अनन्य प्रेमसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ आसक्तिरहित संसारमें बर्तता है, वही उनको तत्त्वसे जानता है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

क्योंकि हे अर्जुन ! जो मेरेको जैसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूं, इस रहस्यको जानकर ही बुद्धिमान् मनुष्यगण सब प्रकारसे मेरे मार्गके अनुसार बर्तते हैं ॥ ११ ॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

और जो मेरेको तत्त्वसे नहीं जानते हैं, वे पुरुष इस मनुष्यलोकमें कर्मोंके फलको चाहते हुए देवताओं-को पूजते हैं और उनके कर्मोंसे उत्पन्न हुई सिद्धि भी शीघ्र ही होती है; परन्तु उनको मेरी प्राप्ति नहीं होती इसलिये तूं मेरेको ही सब प्रकारसे भज ॥१२॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

तथा हे अर्जुन ! गुण और कर्मोंके विभागसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मेरेद्वारा रचे गये हैं, उनके कर्ताको भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तूं अकर्ता ही जान ॥ १३ ॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥ १४॥

क्योंकि कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है इसलिये मेरेको कर्म लिपायमान नहीं करते, इस प्रकार जो मेरेको तत्त्वसे जानता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बंधता है ॥ १४ ॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५॥

तथा पहिले होनेवाले मुमुक्षु पुरुषोंद्वारा भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किया गया है, इससे तूं भी पूर्वजोंद्वारा सदासे किये हुए कर्मको ही कर ॥ १५ ॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् १६

परंतु कर्म क्या है और अकर्म क्या है ? ऐसे इस विषयमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हैं, इसलिये मैं, वह कर्म अर्थात् कर्मोंका तत्त्व तेरे लिये अच्छी प्रकार कहूंगा, कि जिसको जानकर तूं अशुभ अर्थात् संसारबन्धनसे छूट जायगा ॥ १६ ॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये और अकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये, तथा निषिद्ध कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये, क्योंकि कर्मकी गति गहन है ।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥१८॥

जो पुरुष कर्ममें अर्थात् अहंकाररहित की हुई संपूर्ण चेष्टाओंमें, अकर्म अर्थात् वास्तवमें उनका न होनापना देखे और जो पुरुष अकर्ममें अर्थात् अज्ञानीपुरुषद्वारा किये हुए संपूर्ण क्रियाओंके त्यागमें भी, कर्मको अर्थात् त्यागरूप क्रियाको देखे, वह पुरुष मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और वह योगी संपूर्ण कर्मोंका करनेवाला है ॥ १८ ॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

और हे अर्जुन ! जिसके संपूर्ण कार्य कामना और संकल्पसे रहित हैं, ऐसे उस ज्ञानरूप अग्निद्वारा भस्म

हुए कर्मोंवाले पुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥२०॥

और जो पुरुष सांसारिक आश्रयसे रहित सदा परमानन्द परमात्मामें तृप्त है, वह कर्मोंके फल और सङ्ग अर्थात् कर्तृत्व-अभिमानको त्यागकर कर्ममें अच्छी प्रकार बर्तता हुआ भी कुछ भी नहीं करता है।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

और जीत लिया है अन्तःकरण और शरीर जिसने तथा त्याग दी है संपूर्ण भोगोंकी सामग्री जिसने ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीरसम्बन्धी कर्मको करता हुआ भी पापको नहीं प्राप्त होता है॥ २१॥

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥२२॥

और अपने आप जो कुछ आ प्राप्त हो उसमें ही सन्तुष्ट रहनेवाला और हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे अतीत हुआ तथा मत्सरता अर्थात् ईर्ष्यासे रहित सिद्धि

और असिद्धिमें समत्वभाववाला पुरुष, कर्मोंको करके भी नहीं बंधता है ॥ २२ ॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

क्योंकि आसक्तिसे रहित ज्ञानमें स्थित हुए चित्तवाले यज्ञके लिये आचरण करते हुए, मुक्त पुरुषके संपूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ २३ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

उन यज्ञके लिये आचरण करनेवाले पुरुषोंमेंसे कोई तो इस भावसे यज्ञ करते हैं, कि अर्पण अर्थात् स्रुवादिक भी ब्रह्म है और हवि अर्थात् हवन करने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है और ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा जो हवन किया गया है वह भी ब्रह्म ही है, इसलिये ब्रह्मरूप कर्ममें समाधिस्थ हुए उस पुरुष-द्वारा जो प्राप्त होनेयोग्य है वह भी ब्रह्म ही है ।२४।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

और दूसरे योगीजन देवताओंके पूजनरूप यज्ञको ही अच्छी प्रकार उपासते हैं, अर्थात् करते हैं और दूसरे ज्ञानीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्निमें यज्ञके द्वारा ही यज्ञको हवन करते हैं* ॥२५॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥

और अन्य योगीजन श्रोत्रादिक सब इन्द्रियोंको संयम अर्थात् स्वाधीनतारूप अग्निमें हवन करते हैं, अर्थात् इन्द्रियोंको विषयोंसे रोककर अपने वशमें कर लेते हैं और दूसरे योगीलोग शब्दादिक विषयोंको इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करते हैं, अर्थात् रागद्वेषरहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंको ग्रहण करते हुए भी भस्मरूप करते हैं ॥ २६ ॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

और दूसरे योगीजन संपूर्ण इन्द्रियोंकी चेष्टाओं-

---

* परब्रह्म परमात्मामें ज्ञानद्वारा एकीभावसे स्थित होना ही, ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञके द्वारा यज्ञको हवन करना है।

को तथा प्राणोंके व्यापारको ज्ञानसे प्रकाशित हुई, परमात्मामें स्थितिरूप योगाग्निमें हवन करते हैं*॥२७॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

और दूसरे कई पुरुष ईश्वर-अर्पण-बुद्धिसे लोकसेवामें द्रव्य लगानेवाले हैं, वैसे ही कई पुरुष स्वधर्म-पालनरूप तपयज्ञको करनेवाले हैं, और कई अष्टाङ्ग योगरूप यज्ञको करनेवाले हैं और दूसरे अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त यत्नशील पुरुष भगवान्‌के नामका जप तथा भगवत्प्राप्तिविषयक शास्त्रोंका अध्ययनरूप ज्ञानयज्ञके करनेवाले हैं ॥२८॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥

और दूसरे योगीजन अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायुमें अपानवायुको हवन करते हैं तथा अन्य योगीजन

* सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवाय अन्य किसीका भी न चिन्तन करना ही उन सबका हवन करना है ।

प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणायामके परायण होते हैं ॥ २९ ॥

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥

और दूसरे नियमित आहार* करनेवाले योगीजन प्राणोंको प्राणोंमें ही हवन करते हैं, इस प्रकार यज्ञोंद्वारा नाश हो गया है पाप जिनका, ऐसे यह सब ही पुरुष यज्ञोंको जाननेवाले हैं ॥ ३० ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥

और हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! यज्ञोंके परिणामरूप ज्ञानामृतको भोगनेवाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं और यज्ञरहित पुरुषको यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक होगा ॥ ३१ ॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।३२।

* गीता अध्याय ६ श्लोक १७ में देखना चाहिये ।

ऐसे बहुत प्रकारके यज्ञ वेदकी वाणीमें विस्तार किये गये हैं, उन सबको शरीर, मन और इन्द्रियों-की क्रियाद्वारा ही उत्पन्न होनेवाले जान, इस प्रकार तत्त्वसे जानकर निष्काम कर्मयोगद्वारा संसारबन्धनसे मुक्त हो जायगा ॥ ३२ ॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

और हे अर्जुन ! सांसारिक वस्तुओंसे सिद्ध होनेवाले यज्ञसे ज्ञानरूप यज्ञ सब प्रकार श्रेष्ठ है, क्योंकि हे पार्थ ! संपूर्ण यावन्मात्र कर्म ज्ञानमें शेष होते हैं, अर्थात् ज्ञानं उनकी पराकाष्ठा है ॥३३॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

इसलिये तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंसे भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान, वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

कि जिसको जानकर तूं फिर इस प्रकार मोहको प्राप्त नहीं होगा और हे अर्जुन ! जिस ज्ञानके द्वारा सर्वव्यापी अनन्त चेतनरूप हुआ अपने अन्तर्गत* समष्टि बुद्धिके आधार संपूर्ण भूतोंको देखेगा और उसके उपरान्त मेरेमें† अर्थात् सच्चिदानन्दस्वरूपमें एकीभाव हुआ सच्चिदानन्दमय ही देखेगा ॥३५॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

और यदि तूं सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है, तो भी ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसन्देह संपूर्ण पापोंको अच्छी प्रकार तर जायगा ॥ ३६ ॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

क्योंकि हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि इन्धन-

* गीता अध्याय ६ श्लोक २९ में देखना चाहिये ।
† गीता अध्याय ६ श्लोक ३० में देखना चाहिये ।

को भस्ममय कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि संपूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देता है ॥ ३७ ॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

इसलिये इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है, उस ज्ञानको कितनेक कालसे अपने आप समत्व-बुद्धिरूप योगके द्वारा अच्छी प्रकार शुद्धान्तःकरण हुआ पुरुष आत्मामें अनुभव करता है ॥ ३८ ॥

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।३९।

और हे अर्जुन ! जितेन्द्रिय, तत्पर हुआ श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है, ज्ञानको प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्-प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ३९

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।४०।

और हे अर्जुन ! भगवत्-विषयको न जाननेवाला तथा श्रद्धारहित और संशययुक्त पुरुष परमार्थसे भ्रष्ट

हो जाता है, उनमें भी, संशययुक्त पुरुषके लिये तो न सुख है और न यह लोक है, न परलोक है, अर्थात् यह लोक और परलोक दोनों ही उसके लिये भ्रष्ट हो जाते हैं।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

और हे धनंजय ! समत्व-बुद्धिरूप योगद्वारा भगवत्-अर्पण कर दिये हैं संपूर्ण कर्म जिसने और ज्ञानद्वारा नष्ट हो गये हैं सब संशय जिसके, ऐसे परमात्मपरायण पुरुषको कर्म नहीं बांधते हैं ॥ ४१ ॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इससे हे भरतवंशी अर्जुन ! तू समत्व-बुद्धिरूप योगमें स्थित हो और अज्ञानसे उत्पन्न हुए, हृदयमें स्थित इस अपने संशयको ज्ञानरूप तलवारद्वारा छेदन करके युद्धके लिये खड़ा हो ॥ ४२ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥

उसके उपरान्त अर्जुनने पूछा हे कृष्ण ! आप कर्मोंके संन्यासकी और फिर निष्काम कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं, इसलिये इन दोनोंमें एक जो निश्चय किया हुआ कल्याणकारक होवे, उसको मेरे लिये कहिये ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ २ ॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्ण महाराज बोले, हे अर्जुन ! कर्मोंका संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रियों और शरीरद्वारा होनेवाले संपूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग और निष्कामकर्मयोग अर्थात् समत्व-बुद्धिसे भगवत्-अर्थ कर्मोंका करना

यह दोनों ही परम कल्याणके करनेवाले हैं परन्तु उन दोनोंमें भी कर्मोंके संन्याससे निष्काम कर्मयोग साधनमें सुगम होनेसे श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥

इसलिये हे अर्जुन ! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा करता है, वह निष्कामकर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है, क्योंकि रागद्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित हुआ पुरुष सुखपूर्वक संसाररूप बन्धसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥

और हे अर्जुन ! ऊपर कहे हुए संन्यास और निष्कामकर्मयोगको मूर्खलोग अलग-अलग फलवाले कहते हैं न कि पण्डितजन; क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी अच्छी प्रकार स्थित हुआ पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

तथा ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, निष्कामकर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है, इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और निष्कामकर्मयोगको फलरूपसे एक देखता है, वह ही यथार्थ देखता है ॥ ५ ॥

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥६॥

परन्तु हे अर्जुन ! निष्कामकर्मयोगके बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रियों और शरीरद्वारा होनेवाले संपूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग प्राप्त होना कठिन है और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला निष्काम कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥७॥

तथा वशमें किया हुआ है शरीर जिसके ऐसा

जितेन्द्रिय और विशुद्ध अन्तःकरणवाला एवं संपूर्ण प्राणियोंके आत्मरूप परमात्मामें एकीभाव हुआ निष्कामकर्मयोगी कर्म करता हुआ भी, लिपायमान नहीं होता ॥ ७ ॥

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ८
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥९॥

और हे अर्जुन ! तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आंखोंको खोलता और मीचता हुआ भी सब इन्द्रियां अपने-अपने अर्थोंमें बर्त रही हैं, इस प्रकार समझता हुआ, निःसन्देह ऐसे माने, कि मैं कुछ भी नहीं करता हूं ॥ ८,९ ॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

परन्तु हे अर्जुन ! देहाभिमानियोंद्वारा यह साधन होना कठिन है और निष्कामकर्मयोग सुगम है, क्योंकि जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके और आसक्तिको त्यागकर, कर्म करता है वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेकी सदृश पापसे लिपायमान नहीं होता ॥ १० ॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥ ११॥

इसलिये निष्काम कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं ॥ ११ ॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

इसीसे निष्काम कर्मयोगी कर्मोंके फलको परमेश्वरके अर्पण करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकामी पुरुष फलमें आसक्त

हुआ कामनाके द्वारा बंधता है, इसलिये निष्काम कर्मयोग उत्तम है ॥ १२ ॥

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

और हे अर्जुन ! वशमें है अन्तःकरण जिसके ऐसा सांख्ययोगका आचरण करनेवाला पुरुष तो, निःसन्देह न करता हुआ और न करवाता हुआ नवद्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर अर्थात् इन्द्रियां इन्द्रियोंके अर्थोंमें बर्तती हैं ऐसे मानता हुआ आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है ॥ १३ ॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

और परमेश्वर भी भूतप्राणियोंके न कर्तापनको और न कर्मोंको तथा न कर्मोंके फलके संयोगको वास्तवमें रचता है, किन्तु परमात्माके सकाशसे प्रकृति ही बर्तती है, अर्थात् गुण ही गुणोंमें बर्त रहे हैं॥ १४॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

और सर्वव्यापी परमात्मा, न किसीके पापकर्मको और न किसीके शुभकर्मको भी ग्रहण करता है, किन्तु मायाके द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, इससे सब जीव मोहित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

परन्तु जिनका वह अन्तःकरणका अज्ञान आत्मज्ञानद्वारा नाश हो गया है, उनका वह ज्ञान सूर्यके सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्रकाशता है अर्थात् परमात्माके स्वरूपको साक्षात् कराता है।१६।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

और हे अर्जुन ! तद्रूप है बुद्धि जिनकी तथा तद्रूप है मन जिनका और उस सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही है निरन्तर एकीभावसे स्थिति जिनकी, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित हुए

अपुनरावृत्तिको अर्थात् परम गतिको प्राप्त होते हैं १७

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

ऐसे वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समभावसे देखनेवाले* ही होते हैं॥ १८ ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥१९॥

इसलिये जिनका मन समत्वभावमें स्थित है उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही संपूर्ण संसार जीत लिया गया अर्थात् वे जीते हुए ही संसारसे मुक्त हैं, क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं ॥ १९ ॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्यं नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

* इसका विस्तार गीता अ० ६ श्लोक ३२ की टिप्पणीमें देखना चाहिये।

और जो पुरुष प्रियको अर्थात् जिसको लोग प्रिय समझते हैं, उसको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको अर्थात् जिसको लोग अप्रिय समझते हैं उसको प्राप्त होकर उद्वेगवान् न हो, ऐसा स्थिर-बुद्धि, संशयरहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है ॥२०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

और बाहरके विषयोंमें अर्थात् सांसारिक भोगोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला पुरुष अन्तःकरणमें जो भगवत्-ध्यानजनित आनन्द है, उसको प्राप्त होता है और वह पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मारूप योगमें एकीभावसे स्थित हुआ अक्षय आनन्दको अनुभव करता है ॥ २१ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

और जो यह इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी

पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी निःसन्देह दुःखके ही हेतु हैं और आदि अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं, इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान्, विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ॥ २२ ॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

जो मनुष्य शरीरके नाश होनेसे पहिले ही काम और क्रोधसे उत्पन्न हुए वेगको सहन करनेमें समर्थ है अर्थात् काम-क्रोधको जिसने सदाके लिये जीत लिया है, वह मनुष्य इस लोकमें योगी है और वही सुखी है ॥ २३ ॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

जो पुरुष निश्चय करके अन्तर आत्मामें ही सुखवाला है और आत्मामें ही आरामवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, ऐसा वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभाव हुआ सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

और नाश हो गये हैं सब पाप जिनके तथा ज्ञान करके निवृत्त हो गया है संशय जिनका और संपूर्ण भूतप्राणियोंके हितमें है रति जिनकी, एकाग्र हुआ है भगवान्‌के ध्यानमें चित्त जिनका ऐसे ब्रह्म-वेत्ता पुरुष शान्त परब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

और काम-क्रोधसे रहित जीते हुए चित्तवाले परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही प्राप्त है ॥ २६ ॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥

और हे अर्जुन ! बाहरके विषयभोगोंको न चिन्तन करता हुआ बाहर ही त्यागकर और नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थित करके तथा नासिकामें

विचरनेवाले प्राण और अपान वायुको सम करके ॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

जीती हुई हैं इन्द्रियां, मन और बुद्धि जिसकी ऐसा जो मोक्ष-परायण मुनि* इच्छा, भय और क्रोधसे रहित है, वह सदा मुक्त ही है ॥ २८ ॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥२९॥

और हे अर्जुन ! मेरा भक्त मेरेको यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला और संपूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा संपूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है और सच्चिदानन्दघन परिपूर्ण शान्त ब्रह्मके सिवाय उसकी दृष्टिमें और कुछ भी नहीं रहता, केवल वासुदेव ही वासुदेव रह जाता है ॥२९॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

* परमेश्वरके स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला ।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण महाराज बोले, हे अर्जुन ! जो पुरुष कर्मके फलको न चाहता हुआ करने योग्य कर्म करता है वह संन्यासी और योगी है और केवल अग्निको त्यागनेवाला संन्यासी, योगी नहीं है, तथा केवल क्रियाओंको त्यागनेवाला भी संन्यासी, योगी नहीं है ॥ १ ॥

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

इसलिये हे अर्जुन ! जिसको संन्यास* ऐसा कहते हैं उसीको तूं योग† जान, क्योंकि संकल्पोंको न त्यागनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

---

*-†गीता अ० ३ श्लोक ३ की टिप्पणीमें इसका खुलासा अर्थ लिखा है ।

और समत्व-बुद्धिरूप योगमें आरूढ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये योगकी प्राप्तिमें निष्कामभावसे कर्म करना ही हेतु कहा है और योगारूढ़ हो जानेपर उस योगारूढ़ पुरुषके लिये सर्व संकल्पोंका अभाव ही कल्याणमें हेतु कहा है॥ ३ ॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

और जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्त होता है तथा न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्व संकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है ॥ ४ ॥

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥५॥

और यह योगारूढ़ता कल्याणमें हेतु कही है, इसलिये मनुष्यको चाहिये कि अपनेद्वारा आपका संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपने आत्माको अधोगतिमें न पहुंचावे, क्योंकि यह जीवात्मा आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है,

अर्थात् और कोई दूसरा शत्रु या मित्र नहीं है ॥ ५ ॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

उस जीवात्माका तो वह आप ही मित्र है, कि जिस जीवात्माद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है और जिसके द्वारा मन और इन्द्रियों-सहित शरीर नहीं जीता गया है उसका वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें बर्तता है ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥

और हे अर्जुन! सर्दी, गर्मी और सुख, दुःखादिकों-में तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियां अच्छी प्रकार शान्त हैं, अर्थात् विकार-रहित हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित है, अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं ॥ ७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

और ज्ञान विज्ञानसे तृप्त है अन्तःकरण जिसका तथा विकाररहित है स्थिति जिसकी और अच्छी प्रकार जीती हुई हैं इन्द्रियां जिसकी तथा समान है मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण जिसके, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्‌की प्राप्तिवाला है, ऐसे कहा जाता है ॥ ८ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

और जो पुरुष सुहृद्*, मित्र, वैरी, उदासीन†, मध्यस्थ‡, द्वेषी और बन्धुगणोंमें तथा धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी, समान भाववाला है वह अति श्रेष्ठ है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

इसलिये उचित है कि जिसका मन और इन्द्रियों-

---

* स्वार्थरहित सबका हित करनेवाला ।

† पक्षपातरहित ।

‡ दोनों ओरकी भलाई चाहनेवाला ।

सहित शरीर जीता हुआ है, ऐसा वासनारहित और संग्रहरहित योगी अकेला ही एकान्त स्थानमें स्थित हुआ निरन्तर आत्माको परमेश्वरके ध्यानमें लगावे।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचंचैलाजिनकुशोत्तरम्॥११॥

कैसे कि शुद्ध भूमिमें कुशा, मृगछाला और वस्त्र हैं उपरोपरि जिसके ऐसे अपने आसनको न अति ऊंचा और न अति नीचा स्थिर स्थापन करके ॥११॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

और उस आसनपर बैठकर तथा मनको एकाग्र करके, चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें किया हुआ अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे ॥ १२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥१३॥

उसकी विधि इस प्रकार है, कि काया, शिर और ग्रीवाको समान और अचल धारण किये हुए

दृढ़ होकर अपने नासिकाके अग्रभागको देखकर, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ ॥ १३ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥१४॥

और ब्रह्मचर्यके व्रतमें स्थित रहता हुआ भयरहित तथा अच्छी प्रकार शान्त अन्तःकरणवाला और सावधान होकर मनको वशमें करके, मेरेमें लगे हुए चित्तवाला और मेरे परायण हुआ स्थित होवे ॥१४॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिंनिर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥१५॥

इस प्रकार आत्माको निरन्तर परमेश्वरके स्वरूपमें लगाता हुआ स्वाधीन मनवाला योगी मेरेमें स्थितिरूप परमानन्द पराकाष्ठावाली शान्तिको प्राप्त होता है॥१५॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

परन्तु हे अर्जुन ! यह योग न तो बहुत खानेवालेका सिद्ध होता है और न बिल्कुल न खानेवालेका तथा न अति शयन करनेके स्वभाववालेका और

न अत्यन्त जागनेवालेका ही सिद्ध होता है ॥ १६॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

यह दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथा-योग्य आहार और विहार करनेवालेका तथा कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य शयन करने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है ॥ १७॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥१८॥

इस प्रकार योगके अभ्याससे अत्यन्त वशमें किया हुआ चित्त, जिस कालमें परमात्मामें ही भली प्रकार स्थित हो जाता है उस कालमें संपूर्ण कामनाओंसे स्पृहारहित हुआ पुरुष, योगयुक्त ऐसा कहा जाता है॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

और जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें स्थित दीपक नहीं चलायमान होता है, वैसी ही उपमा परमात्माके ध्यानमें लगे हुए योगीके जीते हुए चित्तकी कही गयी है॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥

और हे अर्जुन! जिस अवस्थामें, योगके अभ्याससे निरुद्ध हुआ चित्त उपराम हो जाता है और जिस अवस्थामें परमेश्वरके ध्यानसे शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा परमात्माको साक्षात् करता हुआ, सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही संतुष्ट होता है ॥ २०॥

सुखमात्यन्तिकंयत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

तथा इन्द्रियोंसे अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करने योग्य जो अनन्त आनन्द है उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित हुआ यह योगी भगवत्स्वरूपसे नहीं चलायमान होता है ॥ २१ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥२२॥

और परमेश्वरकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता है

और भगवत्प्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित हुआ योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता है ॥

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।२३।

और जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये, वह योग न उकताये हुए चित्तसे अर्थात् तत्पर हुए चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है ॥ २३ ॥

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

इसलिये मनुष्यको चाहिये कि संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली संपूर्ण कामनाओंको निःशेषतासे अर्थात् वासना और आसक्तिसहित त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सब ओरसे ही अच्छी प्रकार वशमें करके ॥ २४ ॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥

क्रम क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरामताको

प्राप्त होवे तथा धैर्ययुक्त बुद्धिद्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके, परमात्माके सिवाय और कुछ भी चिन्तन न करे ॥ २५ ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैत दात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

परन्तु जिसका मन वशमें नहीं हुआ हो उसको चाहिये कि यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस जिस कारणसे सांसारिक पदार्थोंमें विचरता है, उस उससे रोककर बारम्बार परमात्मामें ही निरोध करे।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

क्योंकि जिसका मन अच्छी प्रकार शान्त है और जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ एकीभाव हुए योगीको अति उत्तम आनन्द प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

और वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दको अनुभव करता है ॥ २८ ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

और हे अर्जुन ! सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त हुए आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको संपूर्ण भूतोंमें बर्फमें जलके सदृश व्यापक देखता है, और संपूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है, अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है, वैसे ही वह पुरुष संपूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्माके अन्तर्गत संकल्पके आधार देखता है ॥२९॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

और जो पुरुष संपूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप

मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और संपूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत* देखता है उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूं और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है, क्योंकि वह मेरेमें एकीभावसे स्थित है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

इस प्रकार जो पुरुष एकीभावमें स्थित हुआ संपूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी मेरेमें ही बर्तता है, क्योंकि उसके अनुभवमें मेरे सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं ॥३१॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

और हे अर्जुन! जो योगी अपनी सादृश्यतासे†

---

* गीता अध्याय ९ श्लोक ६ देखना चाहिये।

† जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ, पैर और गुदादिके साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और म्लेच्छादिकोंका-सा बर्ताव करता हुआ भी उनमें आत्मभाव अर्थात् अपनापना समान होनेसे सुख और

संपूर्ण भूतोंमे सम देखता है, और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है. वह योगी परमश्रेष्ठ माना गया है

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥

इस प्रकार भगवान्के वाक्योंको सुनकर अर्जुन बोला, हे मधुसूदन ! जो यह ध्यानयोग आपने समत्व-भावसे कहा है, इसकी मैं मनके चञ्चल होनेसे बहुत कालतक ठहरनेवाली स्थितिको नहीं देखता हूं ॥ ३३ ॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

क्योंकि हे कृष्ण ! यह मन बड़ा चञ्चल और प्रमथन स्वभाववाला है तथा बड़ा दृढ़ और बलवान् है, इसलिये इसका वशमें करना मैं वायुकी भांति अति दुष्कर मानता हूं ॥ ३४ ॥

दुःखको समान ही देखता है, वैसे ही सब भूतोंमें देखना "अपनी सादृश्यतासे" सम देखना है ।

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे महाबाहो ! निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है, परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! अभ्यास* अर्थात् स्थितिके लिये बारम्बार यत्न करनेसे और वैराग्यसे वशमें होता है, इसलिये इसको अवश्य वशमें करना चाहिये ॥ ३५ ॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥३६॥

क्योंकि मनको वशमें न करनेवाले पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है अर्थात् प्राप्त होना कठिन है और स्वाधीन मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधन करनेसे प्राप्त होना सहज है, यह मेरा मत है॥३६॥

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ।३७।

* गीता अ० १२ श्लोक ९ की टिप्पणीमें इसका विस्तार देखना चाहिये ।

इसपर अर्जुन बोला, हे कृष्ण ! योगसे चलायमान हो गया है मन जिसका, ऐसा शिथिल यत्नवाला श्रद्धायुक्त पुरुष योगकी सिद्धिको अर्थात् भगवत्-साक्षात्कारताको न प्राप्त होकर किस गतिको प्राप्त होता है ? ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

और हे महाबाहो ! क्या वह भगवत्प्राप्तिके मार्गमें मोहित हुआ आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादलकी भांति दोनों ओरसे अर्थात् भगवत्प्राप्ति और सांसारिक भोगोंसे भ्रष्ट हुआ नष्ट तो नहीं हो जाता है ?

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

हे कृष्ण ! मेरे इस संशयको संपूर्णतासे छेदन करनेके लिये आप ही योग्य हैं, क्योंकि आपके सिवाय दूसरा इस संशयका छेदन करनेवाला मिलना संभव नहीं है ॥ ३९ ॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।४०।

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे पार्थ ! उस पुरुषका, न तो इस लोकमें और न परलोकमें ही नाश होता है, क्योंकि हे प्यारे ! कोई भी शुभकर्म करनेवाला अर्थात् भगवत्-अर्थ कर्म करनेवाला दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

किन्तु वह योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानोंके लोकोंको अर्थात् स्वर्गादिक उत्तम लोकोंको प्राप्त होकर, उनमें बहुत वर्षोंतक वास करके शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषोंके घरमें जन्म लेता है ॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अथवा वैराग्यवान् पुरुष उन लोकोंमें न जाकर, ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेता है, परन्तु

इस प्रकारका जो यह जन्म है, सो संसारमें निःसन्देह अति दुर्लभ है ॥ ४२ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

और वह पुरुष, वहां उस पहिले शरीरमें साधन किये हुए बुद्धिके संयोगको अर्थात् समत्वबुद्धियोगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन ! उसके प्रभावसे फिर अच्छी प्रकार भगवत्प्राप्तिके निमित्त यत्न करता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

और वह* विषयोंके वशमें हुआ भी उस पहिलेके अभ्याससे ही निःसन्देह भगवत्की ओर आकर्षित किया जाता है तथा समत्वबुद्धिरूप योगका जिज्ञासु भी वेदमें कहे हुए सकाम कर्मोंके फलको उल्लङ्घन कर जाता है ॥ ४४ ॥

---

* यहां "वह" शब्दसे श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पुरुष समझना चाहिये ।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

जब कि इस प्रकार मन्द प्रयत्न करनेवाला योगी भी परमगतिको प्राप्त हो जाता है, तब क्या कहना है कि अनेक जन्मोंसे अन्तःकरणकी शुद्धिरूप सिद्धिको प्राप्त हुआ और अति प्रयत्नसे अभ्यास करनेवाला योगी संपूर्ण पापोंसे अच्छी प्रकार शुद्ध होकर, उस साधनके प्रभावसे परमगतिको प्राप्त होता है, अर्थात् परमात्माको प्राप्त होता है ॥ ४५॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।४६।

क्योंकि योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है और शास्त्रके ज्ञानवालोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है तथा सकाम कर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है, इससे हे अर्जुन ! तूं योगी हो ॥ ४६ ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

और हे प्यारे ! संपूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धा-

वान् योगी मेरेमें लगे हुए अन्तरात्मासे मेरेको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परमश्रेष्ठ मान्य है ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे पार्थ ! तूं मेरेमें अनन्य प्रेमसे आसक्त हुए मनवाला और अनन्यभावसे मेरे परायण योगमें लगा हुआ मुझको संपूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्यादि गुणोंसे युक्त सबका आत्मरूप जिस प्रकार संशयरहित जानेगा, उसको सुन ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥ २ ॥

मैं तेरे लिये इस रहस्यसहित तत्त्वज्ञानको संपूर्णतासे कहूंगा, कि जिसको जानकर संसारमें

फिर और कुछ भी जानने योग्य शेष नहीं रहता है॥२॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३ ॥

परन्तु हजारों मनुष्योंमें कोई ही मनुष्य मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई ही पुरुष मेरे परायण हुआ मेरेको तत्त्वसे जानता है अर्थात् यथार्थ मर्मसे जानता है॥३॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

और हे अर्जुन ! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा मन, बुद्धि और अहंकार भी ऐसे यह आठ प्रकारसे विभक्त हुई मेरी प्रकृति है ॥ ४ ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

सो यह आठ प्रकारके भेदोंवाली तो अपरा है, अर्थात् मेरी जड़ प्रकृति है और हे महाबाहो ! इससे दूसरीको मेरी जीवरूप परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान, कि जिससे यह संपूर्ण जगत् धारण किया जाता है॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥६॥

और हे अर्जुन ! तूं ऐसा समझ, कि संपूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियोंसे ही उत्पत्तिवाले हैं और मैं संपूर्ण जगत्का उत्पत्ति तथा प्रलयरूप हूं अर्थात् संपूर्ण जगत्का मूल कारण हूं ॥ ६ ॥

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय ।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

इसलिये हे धनंजय ! मेरेसे सिवाय किंचित् मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है, यह संपूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंके सदृश मेरेमें गुंथा हुआ है ॥ ७ ॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥८॥

कैसे कि हे अर्जुन ! जलमें मैं रस हूं तथा चन्द्रमा और सूर्यमें प्रकाश हूं और संपूर्ण वेदोंमें ओंकार हूं तथा आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पुरुषत्व हूं ॥ ८ ॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

तथा पृथ्वीमें पवित्र* गन्ध और अग्निमें तेज हूं और संपूर्ण भूतोंमें उनका जीवन हूं अर्थात् जिससे वे जीते हैं, वह मैं हूं और तपस्वियोंमें तप हूं ॥९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥

तथा हे अर्जुन ! तूं संपूर्ण भूतोंका सनातन कारण मेरेको ही जान, मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज हूं ॥ १० ॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

और हे भरतश्रेष्ठ ! मैं बलवानोंका आसक्ति और कामनाओंसे रहित बल अर्थात् सामर्थ्य हूं और सब भूतोंमें धर्मके अनुकूल अर्थात् शास्त्रके अनुकूल काम हूं ॥ ११ ॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

* शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धसे इस प्रसङ्गमें इनके कारणरूप तन्मात्राओंका ग्रहण है, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये उनके साथ पवित्र शब्द जोड़ा गया है।

तथा और भी जो सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेवाले भाव हैं और जो रजोगुणसे तथा तमोगुणसे होनेवाले भाव हैं. उन सबको तूं मेरेसे ही होनेवाले हैं, ऐसा जान, परन्तु वास्तवमें* उनमें मैं और वे मेरेमें नहीं हैं ॥ १२ ॥

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥१३॥

किन्तु गुणोंके कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस इन तीनों प्रकारके भावोंसे अर्थात् राग-द्वेषादि विकारोंसे और संपूर्ण विषयोंसे यह सब संसार मोहित हो रहा है, इसलिये इन तीनों गुणोंसे परे मुझ अविनाशीको तत्त्वसे नहीं जानता ॥ १३ ॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है, परन्तु जो पुरुष मेरेको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको

* गीता अध्याय ९ श्लोक ४-५ में देखना चाहिये ।

उल्लङ्घन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं॥१४॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥

ऐसा सुगम उपाय होनेपर भी मायाद्वारा हरे हुए ज्ञानवाले और आसुरी स्वभावको धारण किये हुए तथा मनुष्योंमें नीच और दूषित कर्म करनेवाले मूढ़-लोग तो मेरेको नहीं भजते हैं ॥ १५ ॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

और हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! उत्तम कर्म-वाले अर्थार्थी*, आर्त्त†, जिज्ञासु‡ और ज्ञानी अर्थात् निष्कामी ऐसे चार प्रकारके भक्त जन मेरेको भजते हैं ॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

उनमें भी नित्य मेरेमें एकीभावसे स्थित हुआ

---

* सांसारिक पदार्थोंके लिये भजनेवाला।

† सङ्कटनिवारणके लिये भजनेवाला।

‡ मेरेको यथार्थरूपसे जाननेकी इच्छासे भजनेवाला।

अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मेरेको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूं और वह ज्ञानी मेरेको अत्यन्त प्रिय है ॥१७॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

यद्यपि यह सब ही उदार हैं अर्थात् श्रद्धासहित मेरे भजनके लिये समय लगानेवाले होनेसे उत्तम हैं, परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है ऐसा मेरा मत है, क्योंकि वह स्थिरबुद्धि ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मेरेमें ही अच्छी प्रकार स्थित है ॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

और जो बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है अर्थात् वासुदेवके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं, इस प्रकार मेरेको भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है ॥१९॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥

और हे अर्जुन ! जो विषयासक्त पुरुष हैं वे तो अपने स्वभावसे प्रेरे हुए तथा उन उन भोगोंकी कामनाद्वारा ज्ञानसे भ्रष्ट हुए उस उस नियमको धारण करके अर्थात् जिस देवताकी पूजाके लिये जो जो नियम लोकमें प्रसिद्ध है उस उस नियमको धारण करके अन्य देवताओंको भजते हैं अर्थात् पूजते हैं ॥ २० ॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥

जो जो सकामी भक्त जिस जिस देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उस उस भक्तकी मैं उस ही देवताके प्रति श्रद्धाको स्थिर करता हूं ॥२१॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥२२॥

तथा वह पुरुष उस श्रद्धासे युक्त हुआ, उस देवताके पूजनकी चेष्टा करता है और उस देवतासे मेरेद्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगोंको निःसन्देह प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥२३॥

परन्तु उन अल्प बुद्धिवालोंका वह फल नाशवान् है तथा वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, शेषमें वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

ऐसा होनेपर भी सब मनुष्य मेरा भजन नहीं करते, इसका कारण यह है, कि बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अर्थात् जिससे उत्तम और कुछ भी नहीं ऐसे अविनाशी परमभावको अर्थात् अजन्मा, अविनाशी हुआ भी अपनी मायासे प्रकट होता हूं, ऐसे प्रभावको तत्त्वसे न जानते हुए मन, इन्द्रियोंसे परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्माको मनुष्यकी भांति जन्मकर, व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ मानते हैं ॥ २४ ॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

तथा अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता हूं, इसलिये यह अज्ञानी मनुष्य मुझ जन्मरहित, अविनाशी परमात्माको तत्त्वसे नहीं जानता है अर्थात् मेरेको जन्मने, मरनेवाला समझता है ॥ २५ ॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥

और हे अर्जुन ! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमान-में स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूं, परन्तु मेरेको कोई भी श्रद्धा, भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता है ॥ २६ ॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

क्योंकि हे भरतवंशी अर्जुन ! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न हुए सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे संपूर्ण प्राणी अति अज्ञानताको प्राप्त हो रहे हैं ॥२७॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

परन्तु निष्काम भावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग, द्वेषादि द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त हुए और दृढ़ निश्चयवाले पुरुष मेरेको सब प्रकारसे भजते हैं॥२८॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥२९॥

और जो मेरे शरण होकर जरा और मरणसे छूटनेके लिये यत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्मको तथा संपूर्ण अध्यात्मको और संपूर्ण कर्मको जानते हैं

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥३०॥

और जो पुरुष अधिभूत और अधिदैवके सहित तथा अधियज्ञके सहित सबका आत्मरूप मेरेको जानते हैं अर्थात् जैसे भाफ, बादल, धूम, पानी और बर्फ यह सभी जलस्वरूप हैं, वैसे ही अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ आदि सब कुछ वासुदेव-स्वरूप हैं, ऐसे जो जानते हैं, वे युक्तचित्तवाले

पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं ॥ ३० ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

इस प्रकार भगवान्के वचनोंको न समझकर अर्जुन बोला, हे पुरुषोत्तम ! जिसका आपने वर्णन किया, वह ब्रह्म क्या है ? और अध्यात्म क्या है ? तथा कर्म क्या है ? और अधिभूत नामसे क्या कहा गया है ? तथा अधिदैव नामसे क्या कहा जाता है ? ॥ १ ॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

और हे मधुसूदन ! यहां अधियज्ञ कौन है ? और वह इस शरीरमें कैसे है ? और युक्तचित्तवाल

पुरुषोंद्वारा अन्त समयमें आप किस प्रकार जाननेमें आते हो ? ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

इस प्रकार अर्जुनके प्रश्न करनेपर श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे अर्जुन ! परम अक्षर अर्थात् जिसका कभी नाश नहीं हो, ऐसा सच्चिदानन्दघन परमात्मा तो ब्रह्म है और अपना स्वरूप अर्थात् जीवात्मा अध्यात्म नाममे कहा जाता है तथा भूतोंके भावको उत्पन्न करनेवाला शास्त्रविहित यज्ञ, दान और होम आदिके निमित्त जो द्रव्यादिकोंका त्याग है, वह कर्म नामसे कहा गया है ॥ ३ ॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

तथा उत्पत्ति, विनाश धर्मवाले सब पदार्थ अधिभूत हैं और हिरण्यमय पुरुष* अधिदैव है और हे

* जिसको शास्त्रोंमें "सूत्रात्मा" "हिरण्यगर्भ" "प्रजापति" "ब्रह्मा" इत्यादि नामोंसे कहा है ।

देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! इस शरीरमें मैं वासुदेव ही विष्णुरूपसे अधियज्ञ हूं ॥ ४ ॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ ५ ॥

और जो पुरुष अन्तकालमें मेरेको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ५ ॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

कारण कि हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागता है, उस उसको ही प्राप्त होता है, परन्तु सदा उस ही भावको चिन्तन करता हुआ, क्योंकि सदा जिस भावका चिन्तन करता है, अन्तकालमें भी प्रायः उसीका स्मरण होता है ॥६॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

इसलिये हे अर्जुन ! तूं सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर, इस प्रकार मेरेमें अर्पण किये हुए मन, बुद्धिसे युक्त हुआ, निःसन्देह मेरेको ही प्राप्त होगा ॥ ७ ॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

और हे पार्थ ! यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त, अन्य तरफ न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ पुरुष परम प्रकाशस्वरूप, दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥

इससे जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता*, सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-

* अन्तर्यामीरूपसे सब प्राणियोंके शुभ और अशुभ कर्मके अनुसार शासन करनेवाला ।

पोषण करनेवाले, अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश, नित्य चेतन प्रकाशरूप, अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माको स्मरण करता है ॥ ९ ॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापन करके फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्य-स्वरूप परमपुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है ॥ १० ॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥

और हे अर्जुन ! वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपदको ओंकार नामसे कहते हैं और आसक्तिरहित यत्नशील महात्माजन

जिसमें प्रवेश करते हैं तथा जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उस परमपदको तेरे लिये संक्षेपसे कहूंगा ॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥

हे अर्जुन ! सब इन्द्रियोंके द्वारोंको रोककर अर्थात् इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर तथा मनको हृदयमें स्थिर करके और अपने प्राणको मस्तकमें स्थापन करके योगधारणामें स्थित हुआ ॥ १२ ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

जो पुरुष, ॐ ऐसे इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मेरेको चिन्तन करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है, वह पुरुष परमगतिको प्राप्त होता है ॥ १३ ॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥

और हे अर्जुन ! जो पुरुष मेरेमें अनन्यचित्तसे

स्थित हुआ, सदा ही निरन्तर मेरेको स्मरण करता है उस निरन्तर मेरेमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूं अर्थात् सहज ही प्राप्त हो जाता हूं ॥ १४ ॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥१५॥

और वे परम सिद्धिको प्राप्त हुए महात्माजन मेरेको प्राप्त होकर दुःखके स्थानरूप क्षणभङ्गुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते हैं ॥ १५ ॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥

क्योंकि हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकसे लेकर सब लोक पुनरावर्ती स्वभाववाले अर्थात् जिनको प्राप्त होकर पीछा संसारमें आना पड़े ऐसे हैं, परन्तु हे कुन्तीपुत्र ! मेरेको प्राप्त होकर उसका पुनर्जन्म नहीं होता है; क्योंकि मैं कालातीत हूं और यह सब ब्रह्मादिकोंके लोक काल करके अवधिवाले होनेसे अनित्य हैं॥१६॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥१७॥

हे अर्जुन ! ब्रह्माका जो एक दिन है, उसको हजार चौकड़ी युगतक अवधिवाला और रात्रिको भी हजार चौकड़ी युगतक अवधिवाली जो पुरुष तत्त्वसे जानते हैं, अर्थात् काल करके अवधिवाला होनेसे ब्रह्मलोकको भी अनित्य जानते हैं, वे योगीजन कालके तत्त्वको जाननेवाले हैं ॥ १७ ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

इसलिये वे यह भी जानते हैं, कि संपूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लय होते हैं ॥ १८ ॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

और वह ही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो होकर, प्रकृतिके वशमें हुआ रात्रिके प्रवेशकालमें लय होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है,

हे अर्जुन ! इस प्रकार ब्रह्माके एक सौ वर्ष पूर्ण होनेसे अपने लोकसहित ब्रह्मा भी शान्त हो जाता है॥ १९ ॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

परन्तु उस अव्यक्तसे भी अतिपरे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्त भाव है, वह सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा, सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नहीं नष्ट होता है ॥२०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥

और जो वह अव्यक्त, अक्षर ऐसे कहा गया है, उस ही अक्षर नामक अव्यक्तभावको परमगति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य पीछे नहीं आते हैं, वह मेरा परमधाम है।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥

और हे पार्थ ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह

सब जगत् परिपूर्ण है* वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष अनन्य भक्तिसे† प्राप्त होने योग्य है ॥ २२ ॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

और हे अर्जुन ! जिस कालमें‡ शरीर त्यागकर गये हुए योगीजन पीछा न आनेवाली गतिको और पीछा आनेवाली गतिको भी प्राप्त होते हैं, उस कालको अर्थात् मार्गको कहूंगा ॥ २३ ॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥

उन दो प्रकारके मार्गोंमेंसे जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्नि अभिमानी देवता है और दिनका अभिमानी देवता है तथा शुक्लपक्षका अभिमानी देवता है और उत्तरायणके छ महीनोंका अभिमानी देवता है, उस

---

* गीता अध्याय ९ श्लोक ४ में देखना चाहिये ।

† गीता अध्याय ११ श्लोक ५५ में इसका विस्तार देखना चाहिये ।

‡ यहां काल शब्दसे मार्ग समझना चाहिये; क्योंकि आगेके श्लोकोंमें भगवान्ने इसका नाम "सृति" "गति" ऐसा कहा है ।

मार्गमें मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता अर्थात् परमेश्वरकी उपासनासे परमेश्वरको परोक्षभावसे जाननेवाले योगीजन उपरोक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गये हुए ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥

तथा जिस मार्गमें धूमाभिमानी देवता है और रात्रि अभिमानी देवता है तथा कृष्णपक्षका अभिमानी देवता है, और दक्षिणायनके छ महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गया हुआ सकाम कर्मयोगी उपरोक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गया हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर स्वर्गमें अपने शुभ कर्मोंका फल भोगकर पीछा आता है ॥ २५ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

क्योंकि जगत्के यह दो प्रकारके शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयान मार्ग सनातन माने

गये हैं, इनमें एकके द्वारा गया हुआ* पीछा न आनेवाली परमगतिको प्राप्त होता है और दूसरेद्वारा गया हुआ† पीछा आता है अर्थात् जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥

और हे पार्थ ! इस प्रकार इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जानता हुआ कोई भी योगी मोहित नहीं होता है अर्थात् फिर वह निष्काम भावसे ही साधन करता है, कामनाओंमें नहीं फंसता, इस कारण हे अर्जुन ! तूं सब कालमें समत्वबुद्धिरूप योगसे युक्त हो अर्थात् निरन्तर मेरी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाला हो ॥ २७ ॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

---

* अर्थात् इसी अध्यायके श्लोक २४ के अनुसार अर्चिमार्गसे गया हुआ सकाम कर्मयोगी ।

† अर्थात् इसी अध्यायके श्लोक २५ के अनुसार धूममार्गसे गया हुआ सकाम कर्मयोगी ।

क्योंकि योगी पुरुष इस रहस्यको तत्त्वसे जानकर वेदोंके पढ़नेमें तथा यज्ञ, तप और दानादिकोंके करनेमें जो पुण्यफल कहा है, उस सबको निःसन्देह उल्लङ्घन कर जाता है और सनातन परम पदको प्राप्त होता है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे अर्जुन! तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय ज्ञानको रहस्यके सहित कहूंगा, कि जिसको जानकर तूं दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा ॥ १ ॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

यह ज्ञान सब विद्याओंका राजा तथा सब

गोपनीयोंका भी राजा एवं अति पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला और धर्मयुक्त है, साधन करनेको बड़ा सुगम और अविनाशी है ॥ २ ॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

और हे परंतप ! इस तत्त्वज्ञानरूप धर्ममें श्रद्धा-रहित पुरुष मेरेको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते हैं ॥ ३ ॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४ ॥

और हे अर्जुन ! मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह सब जगत् जलसे बर्फके सदृश परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं इसलिये वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूं ॥ ४ ॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥

और वे सब भूत मेरेमें स्थित नहीं हैं, किन्तु मेरी योगमाया और प्रभावको देख, कि भूतोंका

धारणपोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

क्योंकि जैसे आकाशसे उत्पन्न हुआ, सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा ही आकाशमें स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्पद्वारा उत्पत्तिवाले होनेसे संपूर्ण भूत मेरेमें स्थित हैं, ऐसे जान ॥ ६ ॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥

और हे अर्जुन ! कल्पके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रकृतिमें लय होते हैं और कल्पके आदिमें उनको मैं फिर रचता हूं ॥ ७ ॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

कैसे कि अपनी त्रिगुणमयी मायाको अङ्गीकार करके, स्वभावके वशसे परतन्त्र हुए इस संपूर्ण भूतसमुदायको बारम्बार उनके कर्मोंके अनुसार रचता हूं ।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! उन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश* स्थित हुए मुझ परमात्माको वे कर्म नहीं बांधते हैं ॥ ९ ॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

और हे अर्जुन ! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे यह मेरी माया चराचरसहित सर्व जगत्को रचती है और इस ऊपर कहे हुए हेतुसे ही यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता है ॥ १० ॥

अवजानन्तिमां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

ऐसा होनेपर भी संपूर्ण भूतोंके महान् ईश्वर-रूप मेरे परम भावको† न जाननेवाले मूढ़लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको

* जिसके संपूर्ण कार्य कर्तृत्वभावके बिना अपने आप सत्तामात्रसे ही होते हैं, उसका नाम उदासीनके सदृश है।

† गीता अध्याय ७ श्लोक २४ में देखना चाहिये।

तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुएको साधारण मनुष्य मानते हैं ॥ ११ ॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

जो कि वृथा आशा, वृथा कर्म और वृथा ज्ञानवाले अज्ञानीजन राक्षसोंके और असुरोंके जैसे मोहित करनेवाले तामसी स्वभावको* ही धारण किये हुए हैं ॥ १२ ॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥१३॥

परन्तु हे कुन्तीपुत्र ! दैवी प्रकृतिके†आश्रित हुए जो महात्माजन हैं, वे तो मेरेको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त हुए निरन्तर भजते हैं ॥१३॥

---

* जिसको आसुरी संपदाके नामसे विस्तारपूर्वक भगवान्ने गीता अध्याय १६ श्लोक ४ तथा श्लोक ७ से २१ तक कहा है।

† इसका विस्तारपूर्वक वर्णन गीता अध्याय १६ श्लोक १, २, ३ में देखना चाहिये।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥१४॥

और वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मेरेको बारम्बार प्रणाम करते हुए, सदा मेरे ध्यानमें युक्त हुए, अनन्य भक्तिसे मुझे उपासते हैं ॥ १४ ॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

उनमें कोई तो मुझ विराट्स्वरूप परमात्माको ज्ञानयज्ञके द्वारा पूजन करते हुए एकत्वभावसे अर्थात् जो कुछ है, सब वासुदेव ही है, इस भावसे उपासते हैं और दूसरे पृथक्त्वभावसे अर्थात् स्वामी-सेवक-भावसे और कोई-कोई बहुत प्रकारसे भी उपासते हैं ॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥

क्योंकि क्रतु अर्थात् श्रौतकर्म मैं हूं, यज्ञ अर्थात् पञ्चमहायज्ञादिक स्मार्तकर्म मैं हूं, स्वधा अर्थात्

पितरोंके निमित्त दिया जानेवाला अन्न मैं हूं, ओषधि अर्थात् सब वनस्पतियां मैं हूं, एवं मन्त्र मैं हूं, घृत मैं हूं, अग्नि मैं हूं और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूं ॥१६॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥

और हे अर्जुन ! मैं ही इस संपूर्ण जगत्का धाता अर्थात् धारण-पोषण करनेवाला एवं कर्मोंके फलको देनेवाला तथा पिता, माता और पितामह हूं और जानने योग्य* पवित्र ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूं ॥ १७ ॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

और हे अर्जुन ! प्राप्त होनेयोग्य तथा भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, शुभाशुभका देखनेवाला, सबका वासस्थान और शरण लेनेयोग्य तथा प्रति उपकार न चाहकर हित करनेवाला और उत्पत्ति, प्रलयरूप तथा सबका आधार,

* गीता अध्याय १३ श्लोक १२ से १७ तकमें देखना चाहिये ।

निधान* और अविनाशी कारण भी मैं ही हूं ॥ १८ ॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

और मैं ही सूर्यरूप हुआ तपता हूं तथा वर्षाको आकर्षण करता हूं और वर्षाता हूं और हे अर्जुन ! मैं ही अमृत और मृत्यु एवं सत् और असत् भी सब कुछ मैं ही हूं ॥ १९ ॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥

परन्तु जो तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकाम कर्मोंको करनेवाले और सोमरसको पीनेवाले एवं पापोंसे पवित्र हुए पुरुष† मेरेको यज्ञोंके द्वारा, पूजकर स्वर्गकी प्राप्तिको चाहते हैं, वे पुरुष

* प्रलयकालमें संपूर्ण भूत सूक्ष्मरूपसे जिसमें लय होते हैं उसका नाम "निधान" है ।

† यहां स्वर्गप्राप्तिके प्रतिबन्धक देवऋणरूप पापसे पवित्र होना समझना चाहिये ।

अपने पुण्योंके फलरूप इन्द्रलोकको प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं ॥२०॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

और वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर, पुण्य क्षीण होनेपर, मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं, इस प्रकार स्वर्गके साधनरूप तीनों वेदोंमें कहे हुए सकाम कर्मके शरण हुए और भोगोंकी कामनावाले पुरुष बारम्बार जाने आनेको प्राप्त होते हैं अर्थात् पुण्यके प्रभावसे स्वर्गमें जाते हैं और पुण्य क्षीण होनेसे मृत्युलोकमें आते हैं ॥ २१ ॥

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

और जो अनन्यभावसे मेरेमें स्थित हुए भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्काम भावसे भजते हैं उन नित्य एकीभावसे मेरेमें स्थितिवाले

पुरुषोंका योगक्षेम* मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूं ॥२२॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

और हे अर्जुन ! यद्यपि श्रद्धासे युक्त हुए जो सकामी भक्त दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी मेरेको ही पूजते हैं; किन्तु उनका वह पूजना अविधिपूर्वक है अर्थात् अज्ञानपूर्वक है ॥ २३ ॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥

क्योंकि संपूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूं, परन्तु वे मुझ अधियज्ञस्वरूप परमेश्वरको तत्त्वसे नहीं जानते हैं, इसीसे गिरते हैं अर्थात् पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्

कारण, यह नियम है, कि देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंको पूजनेवाले

* भगवत्के स्वरूपकी प्राप्तिका नाम "योग" है और भगवत्-प्राप्तिके निमित्त किये हुए साधनकी रक्षाका नाम "क्षेम" है ।

पितरोंको प्राप्त होते हैं, भूतोंको पूजनेवाले भूतोंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त मेरेको ही प्राप्त होते हैं, इसीलिये मेरे भक्तोंका पुनर्जन्म नहीं होता* ॥२५॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

तथा हे अर्जुन ! मेरे पूजनमें यह सुगमता भी है कि पत्र, पुष्प, फल, जल इत्यादि जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे अर्पण करता है, उस शुद्ध-बुद्धि, निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादिक मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर, प्रीतिसहित खाता हूं ॥ २६ ॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

इसलिये हे अर्जुन ! तूं जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है, जो कुछ स्वधर्माचरणरूप तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर ॥ २७ ॥

---

* गीता अध्याय ८ श्लोक १६ में देखना चाहिये ।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥२८॥

इस प्रकार कर्मोंको मेरे अर्पण करनेरूप संन्यास-योगसे युक्त हुए मनवाला तूं शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त हुआ मेरेको ही प्राप्त होवेगा ॥ २८ ॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

यद्यपि मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूं, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है, परन्तु जो भक्त मेरेको प्रेमसे भजते हैं, वे मेरेमें और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूं* ॥ २९ ॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

तथा और भी मेरी भक्तिका प्रभाव सुन, यदि

* जैसे सूक्ष्मरूपसे सब जगह व्यापक हुआ भी अग्नि साधनोंद्वारा प्रकट करनेसे ही प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही सब जगह स्थित हुआ भी परमेश्वर भक्तिसे भजनेवालेके ही अन्तःकरणमें प्रत्यक्षरूपसे प्रकट होता है।

कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त हुआ मेरेको निरन्तर भजता है, वह साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भली प्रकार निश्चय कर लिया है कि परमेश्वर-के भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है ॥३०॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

इसलिये वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परमशान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! तूं निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता ॥ ३१ ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

क्योंकि हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य और शूद्रादिक तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवें वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

फिर क्या कहना है, कि पुण्यशील ब्राह्मणजन तथा राजर्षि भक्तजन परमगतिको प्राप्त होते हैं, इसलिये तूं सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर, अर्थात् मनुष्य-शरीर बड़ा दुर्लभ है; परन्तु है नाशवान् और सुखरहित, इसलिये कालका भरोसा न करके तथा अज्ञानसे सुखरूप भासनेवाले विषय-भोगोंमें न फंसकर निरन्तर मेरा ही भजन कर ॥ ३३ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

केवल मुझ सच्चिदानंन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्यप्रेमसे नित्य निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही श्रद्धा-प्रेमसहित, निष्काम भावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मेरा (शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और किरीट, कुण्डलादि भूषणोंसे युक्त पीताम्बर, वनमाला और कौस्तुभ-मणिधारी विष्णुका) मन, वाणी और शरीरके द्वारा

सर्वस्व अर्पण करके, अतिशय श्रद्धा-भक्ति और प्रेमसे विह्वलतापूर्वक पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वशक्तिमान्, विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे सम्पन्न, सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक, भक्तिसहित साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम कर, इस प्रकार मेरे शरण हुआ तूं आत्माको मेरेमें एकीभाव करके मेरेको ही प्राप्त होवेगा ॥ ३४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः ।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी बोले, हे महाबाहो ! फिर भी मेरे परम रहस्य और प्रभावयुक्त वचन श्रवण कर जो कि मैं तुझ अतिशय प्रेम रखनेवालेके लिये हितकी इच्छासे कहूंगा ॥ १ ॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

हे अर्जुन ! मेरी उत्पत्तिको अर्थात् विभूतिसहित लीलासे प्रकट होनेको, न देवतालोग जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते हैं, क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओंका और महर्षियोंका भी आदि कारण हूं॥२॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

और जो मेरेको अजन्मा अर्थात् वास्तवमें जन्म-रहित और अनादि* तथा लोकोंका महान् ईश्वर तत्त्वसे जानता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् पुरुष संपूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥

और हे अर्जुन ! निश्चय करनेकी शक्ति एवं तत्त्वज्ञान और अमूढ़ता, क्षमा, सत्य तथा इन्द्रियोंका वशमें करना और मनका निग्रह तथा सुख, दुःख,

* अनादि उसे कहते हैं, कि जो आदिरहित होवे और सबका कारण होवे।

उत्पत्ति और प्रलय एवं भय और अभय भी ॥ ४ ॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

तथा अहिंसा, समता, संतोष, तप*, दान, कीर्ति और अपकीर्ति ऐसे यह प्राणियोंके नाना प्रकारके भाव मेरेसे ही होते हैं ॥ ५ ॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥

और हे अर्जुन ! सात तो महर्षिजन और चार उनसे भी पूर्वमें होनेवाले सनकादि तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु, यह मेरेमें भाववाले सबके सब, मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं, कि जिनकी संसारमें यह संपूर्ण प्रजा है ॥ ६ ॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

और जो पुरुष इस मेरी परमैश्वर्यरूप विभूतिको

* स्वधर्मके आचरणसे इन्द्रियादिको तपाकर शुद्ध करनेका नाम तप है।

और योगशक्तिको तत्त्वसे जानता है*, वह पुरुष निश्चल ध्यानयोगद्वारा मेरेमें ही एकीभावसे स्थित होता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ७ ॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८ ॥

मैं वासुदेव ही संपूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिका कारण हूं और मेरेसे ही सब जगत् चेष्टा करता है इस प्रकार तत्त्वसे समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त हुए, बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं ॥ ८ ॥

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

वे निरन्तर मेरेमें मन लगानेवाले और मेरेमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले† भक्तजन सदा ही

---

* जो कुछ दृश्यमात्र संसार है, सो सब भगवान्‌की माया है और एक वासुदेव भगवान् ही सर्वत्र परिपूर्ण है, यह जानना ही तत्त्वसे जानना है ।

† मुझ वासुदेवके लिये ही जिन्होंने अपना जीवन अर्पण कर दिया है, उनका नाम है "मद्गतप्राणाः"।

मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं ॥ ९ ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको, मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूं, कि जिससे वे मेरेको ही प्राप्त होते हैं ॥१०॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

और हे अर्जुन ! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये ही, मैं स्वयं उनके अन्तःकरणमें एकीभावसे स्थित हुआ, अज्ञानसे उत्पन्न हुए अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकद्वारा नष्ट करता हूं।११।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासःस्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

इस प्रकार भगवान्के वचनोंको सुनकर अर्जुन बोला, हे भगवन्! आप परम ब्रह्म और परम धाम एवं परम पवित्र हैं, क्योंकि आपको सब ऋषिजन सनातन दिव्य पुरुष एवं देवोंका भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं, वैसे ही देवर्षि नारद तथा असित और देवलऋषि तथा महर्षि व्यास और स्वयम् आप भी मेरे प्रति कहते हैं ॥१२, १३॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

और हे केशव ! जो कुछ भी मेरे प्रति आप कहते हैं, इस समस्तको मैं सत्य मानता हूं, हे भगवन् ! आपके लीलामय* स्वरूपको न दानव जानते हैं और न देवता ही जानते हैं ॥ १४ ॥

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

* गीता अध्याय ४ श्लोक ६ में इसका विस्तार देखना चाहिये ।

हे भूतोंको उत्पन्न करनेवाले ! हे भूतोंके ईश्वर ! हे देवोंके देव ! हे जगत्के स्वामी ! हे पुरुषोत्तम ! आप स्वयम् ही अपनेसे आपको जानते हैं ॥ १५ ॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥

इसलिये हे भगवन् ! आप ही उन अपनी दिव्य विभूतियोंको संपूर्णतासे कहनेके लिये योग्य हैं, कि जिन विभूतियोंके द्वारा इन सब लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं ॥ १६ ॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥

हे योगेश्वर ! मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूं और हे भगवन् ! आप किन किन भावोंमें मेरेद्वारा चिन्तन करने योग्य हैं ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥

और हे जनार्दन ! अपनी योगशक्तिको और परमैश्वर्यरूप विभूतिको फिर भी विस्तारपूर्वक कहिये,

क्योंकि आपके अमृतमय वचनोंको सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती है अर्थात् सुननेकी उत्कण्ठा बनी ही रहती है ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्णभगवान् बोले, हे कुरुश्रेष्ठ ! अब मैं तेरे लिये अपनी दिव्य विभूतियोंको प्रधानतासे कहूंगा, क्योंकि मेरे विस्तारका अन्त नहीं है ॥ १९ ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥

हे अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूं तथा संपूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूं ॥ २० ॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥

और हे अर्जुन ! मैं अदितिके बारह पुत्रोंमें विष्णु

अर्थात् वामन अवतार और ज्योतियोंमें किरणोंवाला सूर्य हूं तथा मैं उन्चास वायु देवताओंमें मरीचि नामक वायुदेवता और नक्षत्रोंमें नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्रमा हूं ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥

और मैं वेदोंमें सामवेद हूं, देवोंमें इन्द्र हूं और इन्द्रियोंमें मन हूं, भूतप्राणियोंमें चेतनता अर्थात् ज्ञानशक्ति हूं ॥ २२ ॥

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥

और मैं एकादश रुद्रोंमें शङ्कर हूं और यक्ष तथा राक्षसोंमें धनका स्वामी कुबेर हूं और मैं आठ वसुओंमें अग्नि हूं तथा शिखरवाले पर्वतोंमें सुमेरु पर्वत हूं ॥ २३ ॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

और पुरोहितोंमें मुख्य अर्थात् देवताओंका पुरोहित बृहस्पति मेरेको जान तथा हे पार्थ ! मैं सेना-

पतियोंमें स्वामिकार्तिक और जलाशयोंमें समुद्र हूं ।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥

और हे अर्जुन ! मैं महर्षियोंमें भृगु और वचनोंमें एक अक्षर अर्थात् ओंकार हूं तथा सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय पहाड़ हूं ।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।२६।

और सब वृक्षोंमें पीपलका वृक्ष और देवऋषियोंमें नारदमुनि तथा गन्धर्वोंमें चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिलमुनि हूं ॥ २६ ॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

और हे अर्जुन ! तूं घोड़ोंमें अमृतसे उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवानामक घोड़ा और हाथियोंमें ऐरावत नामक हाथी तथा मनुष्योंमें राजा मेरेको ही जान॥ २७॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥

और हे अर्जुन ! मैं शस्त्रोंमें वज्र और गौओंमें कामधेनु हूं और शास्त्रोक्तरीतिसे संतानकी उत्पत्तिका हेतु कामदेव हूं, सर्पोंमें सर्पराज वासुकि हूं ॥२८॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

तथा मैं नागोंमें*शेषनाग और जलचरोंमें उनका अधिपति वरुण देवता हूं और पितरोंमें अर्यमानामक पित्रेश्वर तथा शासन करनेवालोंमें यमराज मैं हूं ॥२९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥

और हे अर्जुन ! मैं दैत्योंमें प्रह्लाद और गिनती करनेवालोंमें समय†हूं तथा पशुओंमें मृगराज (सिंह) और पक्षियोंमें गरुड़ मैं हूं ॥ ३० ॥

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥

और मैं पवित्र करनेवालोंमें वायु और शस्त्र-

---

* नाग और सर्प यह दो प्रकारकी सर्पोंकी ही जाति हैं ।

† क्षण, घड़ी, दिन, पक्ष, मास आदिमें जो समय है सो मैं हूं ।

धारियोंमें राम हूं तथा मछलियोंमें मगरमच्छ हूं और नदियोंमें श्रीभागीरथी गङ्गा हूं ॥ ३१ ॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥

और हे अर्जुन ! सृष्टियोंका आदि, अन्त और मध्य भी मैं ही हूं तथा मैं विद्याओंमें अध्यात्मविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या एवं परस्परमें विवाद करनेवालोंमें तत्त्वनिर्णयके लिये किया जानेवाला वाद हूं ॥३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥

तथा मैं अक्षरोंमें अकार और समासोंमें द्वन्द्व नामक समास हूं तथा अक्षय काल अर्थात् कालका भी महाकाल और विराट्स्वरूप सबका धारण-पोषण करनेवाला भी मैं ही हूं ॥ ३३ ॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥

हे अर्जुन ! मैं सबका नाश करनेवाला मृत्यु और आगे होनेवालोंकी उत्पत्तिका कारण हूं तथा स्त्रियोंमें

कीर्ति*, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूं।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥

तथा मैं गायन करने योग्य श्रुतियोंमें बृहत्साम और छन्दोंमें गायत्री छन्द तथा महीनोंमें मार्गशीर्षका महीना और ऋतुओंमें वसन्त ऋतु मैं हूं ॥ ३५ ॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥

हे अर्जुन ! मैं छल करनेवालोंमें जुवा और प्रभावशाली पुरुषोंका प्रभाव हूं तथा मैं जीतनेवालोंका विजय हूं और निश्चय करनेवालोंका निश्चय एवं सात्त्विक पुरुषोंका सात्त्विक भाव हूं ॥ ३६ ॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥

और वृष्णिवंशियोंमें† वासुदेव अर्थात् मैं स्वयम्

---

* कीर्ति आदि यह सात देवताओंकी स्त्रियां और स्त्रीवाचक नामवाले गुण भी प्रसिद्ध हैं, इसलिये दोनों प्रकारसे ही भगवान्‌की विभूतियां हैं।

† यादवोंके ही अन्तर्गत एक वृष्णिवंश भी था।

तुम्हारा सखा और पाण्डवोंमें धनंजय अर्थात् तूं एवं मुनियोंमें वेदव्यास और कवियोंमें शुक्राचार्य कवि भी मैं ही हूं ॥ ३७ ॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥

और दमन करनेवालोंका दण्ड अर्थात् दमन करनेकी शक्ति हूं, जीतनेकी इच्छावालोंकी नीति हूं और गोपनीयोंमें अर्थात् गुप्त रखने योग्य भावोंमें मौन हूं तथा ज्ञानवानोंका तत्त्वज्ञान मैं ही हूं॥ ३८ ॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥

और हे अर्जुन ! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, वह भी मैं ही हूं क्योंकि ऐसा वह चर और अचर कोई भी भूत नहीं है, कि जो मेरेसे रहित होवे, इसलिये सब कुछ मेरा ही स्वरूप है ॥ ३९ ॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥

हे परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं

है, यह तो मैंने अपनी विभूतियोंका विस्तार तेरे लिये एक देशमें अर्थात् संक्षेपसे कहा है॥ ४० ॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥४१॥

इसलिये हे अर्जुन! जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त एवं कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई जान॥४१॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेनस्थितो जगत् ॥४२॥

अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं इस संपूर्ण जगत्को अपनी योगमायाके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूं, इसलिये मेरेको ही तत्त्वसे जानना चाहिये ॥ ४२ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १०

अथैकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

इस प्रकार भगवान्‌के वचन सुनकर अर्जुन बोला, हे भगवन् ! मेरेपर अनुग्रह करनेके लिये, परम गोपनीय, अध्यात्मविषयक वचन अर्थात् उपदेश आपके द्वारा जो कहा गया, उससे मेरा यह अज्ञान नष्ट हो गया है ॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥

क्योंकि हे कमलनेत्र ! मैंने भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय आपसे विस्तारपूर्वक सुने हैं तथा आपका अविनाशी प्रभाव भी सुना है ॥ २ ॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

हे परमेश्वर ! आप अपनेको जैसा कहते हो यह ठीक ऐसा ही है; परन्तु हे पुरुषोत्तम ! आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजयुक्त रूपको प्रत्यक्ष देखना चाहता हूं ॥ ३ ॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

इसलिये हे प्रभो !* मेरे द्वारा वह आपका रूप देखा जाना शक्य है ऐसा यदि मानते हैं, तो हे योगेश्वर ! आप अपने अविनाशी स्वरूपका मुझे दर्शन कराइये ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥

इस प्रकार अर्जुनके प्रार्थना करनेपर श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे पार्थ ! मेरे सैकड़ों तथा हजारों नाना प्रकारके और नाना वर्ण तथा आकृतिवाले अलौकिक रूपोंको देख ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

और हे भरतवंशी अर्जुन ! मेरेमें आदित्योंको अर्थात् अदितिके द्वादश पुत्रोंको और आठ वसुओंको, एकादश रुद्रोंको तथा दोनों अश्विनीकुमारोंको और उनचास मरुद्गणोंको देख तथा और भी बहुत-से

---

* उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तथा अन्तर्यामीरूपसे शासन करनेवाला होनेसे भगवान्का नाम "प्रभु" है ।

पहिले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपोंको देख ॥ ६ ॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश*यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

और हे अर्जुन ! अब इस मेरे शरीरमें एक जगह स्थित हुए चराचरसहित संपूर्ण जगत्को देख तथा और भी जो कुछ देखना चाहता है, सो देख ॥ ७ ॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

परन्तु मेरेको इन अपने प्राकृत नेत्रोंद्वारा देखनेको निःसन्देह समर्थ नहीं है, इसीसे मैं तेरे लिये दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूं, उससे तू मेरे प्रभावको और योगशक्तिको देख ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

संजय बोला, हे राजन् ! महायोगेश्वर और सब पापोंके नाश करनेवाले भगवान्ने इस प्रकार कहकर

* निद्राको जीतनेवाला होनेसे अर्जुनका नाम "गुडाकेश" हुआ था ।

उसके उपरान्त अर्जुनके लिये परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्य स्वरूप दिखाया ॥ ९ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

और उस अनेक मुख और नेत्रोंसे युक्त तथा अनेक अद्भुत दर्शनोंवाले एवं बहुत-से दिव्य भूषणोंसे युक्त और बहुत-से दिव्य शस्त्रोंको हाथोंमें उठाये हुए

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

तथा दिव्य माला और वस्त्रोंको धारण किये हुए और दिव्य गन्धका अनुलेपन किये हुए एवं सब प्रकारके आश्चर्योंसे युक्त, सीमारहित, विराट्स्वरूप, परमदेव परमेश्वरको अर्जुनने देखा ॥ ११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥

और हे राजन् ! आकाशमें हजार सूर्योंके एक साथ उदय होनेसे उत्पन्न हुआ जो प्रकाश होवे, वह भी उस विश्वरूप परमात्माके प्रकाशके सदृश

कदाचित् ही होवे ॥ १२ ॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

ऐसे आश्चर्यमय रूपको देखते हुए पाण्डुपुत्र अर्जुनने उस कालमें अनेक प्रकारसे विभक्त हुए अर्थात् पृथक्-पृथक् हुए, संपूर्ण जगत्को, उस देवोंके देव श्रीकृष्ण भगवान्के शरीरमें एक जगह स्थित देखा।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः ।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥१४॥

और उसके अनन्तर वह आश्चर्यसे युक्त हुआ, हर्षित रोमोंवाला अर्जुन विश्वरूप परमात्माको श्रद्धा-भक्तिसहित सिरसे प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए बोला ।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

हे देव ! आपके शरीरमें संपूर्ण देवोंको तथा अनेक

भूतोंके समुदायोंको और कमलके आसनपर बैठे हुए ब्रह्माको तथा महादेवको और संपूर्ण ऋषियोंको तथा दिव्य सर्पोंको देखता हूं ॥ १५ ॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

और हे संपूर्ण विश्वके स्वामिन् ! आपको अनेक हाथ, पेट, मुख और नेत्रोंसे युक्त तथा सब ओरसे अनन्त रूपोंवाला देखता हूं, हे विश्वरूप ! आपके न तो अन्तको देखता हूं तथा न मध्यको और न आदिको ही देखता हूं ॥ १६ ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

और हे विष्णो ! आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त तथा सब ओरसे प्रकाशमान तेजका

पुञ्ज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके सदृश ज्योति-युक्त, देखनेमें अति गहन और अप्रमेयस्वरूप सब ओरसे देखता हूं ॥ १७ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

इसलिये हे भगवन् ! आप ही जानने योग्य परम अक्षर हैं अर्थात् परब्रह्म परमात्मा हैं और आप ही इस जगत्के परम आश्रय हैं तथा आप ही अनादि धर्मके रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं ऐसा मेरा मत है ॥ १८ ॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

हे परमेश्वर ! मैं आपको आदि, अन्त और मध्यसे रहित तथा अनन्त सामर्थ्यसे युक्त और अनन्त

हाथोंवाला तथा चन्द्र-सूर्यरूप नेत्रोंवाला और प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाला तथा अपने तेजसे इस जगत्को तपायमान करता हुआ देखता हूं ॥१९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

और हे महात्मन् ! यह स्वर्ग और पृथिवीके बीचका संपूर्ण आकाश तथा सब दिशाएं एक आपसे ही परिपूर्ण हैं तथा आपके इस अलौकिक और भयंकर रूपको देखकर तीनों लोक अति व्यथाको प्राप्त हो रहे हैं।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

और हे गोविन्द ! वे सब देवताओंके समूह आपमें ही प्रवेश करते हैं और कई एक भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपके नाम और गुणोंका उच्चारण करते हैं

तथा महर्षि और सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण होवे' ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंद्वारा आपकी स्तुति करते हैं ॥ २१ ॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥

और हे परमेश्वर ! जो एकादश रुद्र और द्वादश आदित्य तथा आठ वसु और साध्यगण, विश्वेदेव तथा अश्विनीकुमार और मरुद्गण और पितरोंका समुदाय तथा गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धगणोंके समुदाय हैं, वे सब ही विस्मित हुए आपको देखते हैं ॥२२॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥

और हे महाबाहो ! आपके बहुत मुख और नेत्रोंवाले तथा बहुत हाथ, जंघा और पैरोंवाले और बहुत

उदरोंवाले तथा बहुत-सी विकराल जाड़ोंवाले महान् रूपको देखकर सब लोक व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूं ॥ २३ ॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥२४॥

क्योंकि हे विष्णो ! आकाशके साथ स्पर्श किये हुए देदीप्यमान अनेक रूपोंसे युक्त तथा फैलाये हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रोंसे युक्त आपको देखकर भयभीत अन्तःकरणवाला मैं धीरज और शान्तिको नहीं प्राप्त होता हूं ॥ २४ ॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥

और हे भगवन् ! आपके विकराल जाड़ोंवाले और प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित मुखों-

को देखकर दिशाओंको नहीं जानता हूं, और सुखको भी नहीं प्राप्त होता हूं, इसलिये हे देवेश ! हे जगन्निवास ! आप प्रसन्न होवें ॥ २५ ॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसंघैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥२६॥

और मैं देखता हूं कि, वे सब ही धृतराष्ट्रके पुत्र राजाओंके समुदायसहित, आपमें प्रवेश करते हैं और भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य तथा वह कर्ण और हमारे पक्षके भी प्रधान योधाओंके सहित सबके सब ॥ २६ ॥

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

वेगयुक्त हुए आपके विकराल जाड़ोंवाले भयानक मुखोंमें प्रवेश करते हैं और कई एक चूर्ण हुए सिरों-सहित आपके दांतोंके बीचमें लगे हुए दीखते हैं। २७।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

और हे विश्वमूर्ते ! जैसे नदियोंके बहुत-से जलके प्रवाह समुद्रके ही सन्मुख दौड़ते हैं अर्थात् समुद्रमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही वे शूरवीर मनुष्योंके समुदाय भी आपके प्रज्वलित हुए मुखोंमें प्रवेश करते हैं । २८।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

अथवा जैसे पतंग मोहके वश होकर नष्ट होनेके लिये प्रज्वलित अग्निमें अति वेगसे युक्त हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही यह सब लोग भी अपने नाशके लिये आपके मुखोंमें अति वेगसे युक्त हुए प्रवेश करते हैं ॥ २९ ॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

और आप उन संपूर्ण लोकोंको प्रज्वलित मुखों-द्वारा ग्रसन करते हुए, सब ओरसे चाट रहे हैं । हे विष्णो ! आपका उग्र प्रकाश संपूर्ण जगत्को तेजके द्वारा परिपूर्ण करके तपायमान करता है ॥ ३० ॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

हे भगवन् ! कृपा करके मेरे प्रति कहिये कि आप उग्ररूपवाले कौन हैं ? हे देवोंमें श्रेष्ठ ! आपको नमस्कार होवे, आप प्रसन्न होइये, आदिस्वरूप आपको मैं तत्त्वसे जानना चाहता हूं, क्योंकि आपकी प्रवृत्तिको मैं नहीं जानता ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्णभगवान् बोले, हे अर्जुन ! मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ महाकाल हूं, इस समय इन लोकोंको नष्ट करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूं, इसलिये जो प्रतिपक्षियोंकी सेनामें स्थित हुए योधालोग हैं, वे सब तेरे बिना ही नहीं रहेंगे अर्थात् तेरे युद्ध न करनेसे भी इन सबका नाश हो जायगा ॥ ३२ ॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

इससे तूं खड़ा हो और यशको प्राप्त कर तथा शत्रुओंको जीतकर धनधान्यसे सम्पन्न राज्यको भोग और यह सब शूरवीर पहिलेसे ही मेरे द्वारा मारे हुए हैं,

हे सव्यसाचिन्!* तूं तो केवल निमित्तमात्र ही हो जा।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥

तथा इन द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह तथा जयद्रथ और कर्ण तथा और भी बहुत-से मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीर योधाओंको तूं मार और भय मत कर, निःसन्देह तूं युद्धमें वैरियोंको जीतेगा, इसलिये युद्ध कर ॥३४॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥३५॥

इसके उपरान्त संजय बोला कि, हे राजन्! केशव

* बायें हाथसे भी बाण चलानेका अभ्यास होनेसे अर्जुनका नाम "सव्यसाची" हुआ था।

भगवान्‌के इस वचनको सुनकर, मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़े हुए, कांपता हुआ नमस्कार करके, फिर भी भयभीत हुआ प्रणाम करके, भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गद्गद वाणीसे बोला ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥३६॥

कि हे अन्तर्यामिन् ! यह योग्य ही है, कि जो आपके नाम और प्रभावके कीर्तनसे जगत् अति हर्षित होता है और अनुरागको भी प्राप्त होता है तथा भयभीत हुए राक्षसलोग दिशाओंमें भागते हैं और सब सिद्धगणोंके समुदाय नमस्कार करते हैं ॥ ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥३७॥

हे महात्मन् ! ब्रह्माके भी आदिकर्ता और सबसे बड़े आपके लिये वे कैसे नमस्कार नहीं करें ? क्योंकि हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास ! जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है, वह आप ही हैं ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥३८॥

और हे प्रभो ! आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत्के परम आश्रय और जाननेवाले तथा जानने योग्य और परमधाम हैं, हे अनन्तरूप ! आपसे यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥

और हे हरे ! आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा तथा प्रजाके स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्माके भी पिता हैं, आपके लिये हजारों बार नमस्कार, नमस्कार होवे, आपके लिये फिर भी बारम्बार नमस्कार, नमस्कार होवे ॥ ३९ ॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥

और हे अनन्त सामर्थ्यवाले ! आपके लिये आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार होवे, हे सर्वात्मन् ! आपके लिये सब ओरसे ही नमस्कार होवे, क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप सब संसारको व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं ॥४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

हे परमेश्वर ! सखा ऐसे मानकर, आपके इस प्रभावको न जानते हुए मेरे द्वारा प्रेमसे अथवा प्रमादसे भी हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे ! इस प्रकार जो कुछ हठपूर्वक कहा गया है ॥ ४१ ॥

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

और हे अच्युत ! जो आप हंसीके लिये विहार, शय्या, आसन और भोजनादिकोंमें, अकेले अथवा उन सखाओंके सामने भी अपमानित किये गये हैं, वह सब अपराध अप्रमेयस्वरूप अर्थात् अचिन्त्य प्रभाववाले आपसे मैं क्षमा कराता हूं ॥ ४२ ॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

हे विश्वेश्वर ! आप इस चराचर जगत्के पिता

और गुरुसे भी बड़े गुरु एवं अति पूजनीय हैं, हे अतिशय प्रभाववाले ! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक कैसे होवे ?॥ ४३॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

इससे हे प्रभो ! मैं शरीरको अच्छी प्रकार चरणोंमें रखके और प्रणाम करके, स्तुति करने योग्य आप ईश्वरको प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूं, हे देव ! पिता जैसे पुत्रके और सखा जैसे सखाके और पति जैसे प्रिय स्त्रीके, वैसे ही आप भी मेरे अपराधको सहन करनेके लिये योग्य हैं ॥ ४४॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे ।
तदेव मे दर्शय देव रूपं
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥

हे विश्वमूर्ते ! मैं पहिले न देखे हुए आश्चर्यमय

आपके इस रूपको देखकर हर्षित हो रहा हूं और मेरा मन भयसे अति व्याकुल भी हो रहा है, इसलिये हे देव ! आप उस अपने चतुर्भुजरूपको ही मेरे लिये दिखाइये, हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न होइये ॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

और हे विष्णो ! मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूं, इसलिये हे विश्वस्वरूप ! हे सहस्रबाहो ! आप उस ही चतुर्भुजरूपसे युक्त होइये ॥४६॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

इस प्रकार अर्जुनकी प्रार्थनाको सुनकर श्रीकृष्ण

भगवान् बोले, हे अर्जुन ! अनुग्रहपूर्वक मैंने अपनी योगशक्तिके प्रभावसे यह मेरा परम तेजोमय, सबका आदि और सीमारहित विराट्रूप तेरेको दिखाया है जो कि तेरे सिवाय दूसरेसे पहिले नहीं देखा गया ॥४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

हे अर्जुन ! मनुष्यलोकमें इस प्रकार विश्वरूप-वाला मैं, न वेद और यज्ञोंके अध्ययनसे तथा न दानसे और न क्रियाओंसे और न उग्र तपोंसे ही तेरे सिवाय दूसरेसे देखा जानेको शक्य हूं ॥४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

इस प्रकारके मेरे इस विकराल रूपको देखकर तेरेको व्याकुलता न होवे और मूढ़भाव भी न होवे

और भयरहित, प्रीतियुक्त मनवाला तूं उस ही मेरे इस शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मसहित चतुर्भुजरूपको फिर देख ॥ ४९ ॥

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

उसके उपरान्त संजय बोला, हे राजन् ! वासुदेव भगवान्ने अर्जुनके प्रति इस प्रकार कहकर, फिर वैसे ही अपने चतुर्भुजरूपको दिखाया और फिर महात्मा कृष्णने सौम्यमूर्ति होकर, इस भयभीत हुए अर्जुनको धीरज दिया ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

उसके उपरान्त अर्जुन बोला, हे जनार्दन ! आपके इस अति शान्त मनुष्यरूपको देखकर अब

मैं शान्तचित्त हुआ अपने स्वभावको प्राप्त हो गया हूं ॥ ५१ ॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ।५२।

इस प्रकार अर्जुनके वचनको सुनकर श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे अर्जुन ! मेरा यह चतुर्भुजरूप देखनेको अति दुर्लभ है कि जिसको तुमने देखा है, क्योंकि देवता भी सदा इस रूपके दर्शन करनेकी इच्छावाले हैं॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

और हे अर्जुन ! न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं देखा जानेको शक्य हूं, कि जैसे मेरेको तुमने देखा है । ५३।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

परन्तु हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन ! अनन्य भक्ति*

* अनन्य भक्तिका भाव अगले श्लोकमें विस्तारपूर्वक कहा है।

करके तो इस प्रकार चतुर्भुज रूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूं ॥ ५४ ॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये, सब कुछ मेरा समझता हुआ, यज्ञ, दान और तप आदि संपूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है और मेरे परायण है अर्थात् मेरेको परम आश्रय और परम गति मानकर, मेरी प्राप्तिके लिये तत्पर है तथा मेरा भक्त है, अर्थात् मेरे नाम, गुण, प्रभाव और रहस्यके श्रवण, कीर्तन, मनन, ध्यान और पठनपाठनका प्रेमसहित, निष्कामभावसे निरन्तर अभ्यास करनेवाला है और आसक्तिरहित है अर्थात् स्त्री, पुत्र और धनादि संपूर्ण सांसारिक पदार्थोंमें स्नेहरहित है और संपूर्ण भूत-प्राणियोंमें वैरभावसे रहित है* ऐसा वह अनन्य-

* सर्वत्र भगवत्-बुद्धि हो जानेसे उस पुरुषका अति अपराध करनेवालेमें भी वैरभाव नहीं होता है, फिर औरोंमें तो कहना ही क्या है ।

भक्तिवाला पुरुष मेरेको ही प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

इस प्रकार भगवान्‌के वचनोंको सुनकर अर्जुन बोला, हे मनमोहन ! जो अनन्यप्रेमी भक्तजन इस पूर्वोक्त प्रकारसे, निरन्तर आपके भजन, ध्यानमें लगे हुए आप सगुणरूप परमेश्वरको अति श्रेष्ठ भावसे उपासते हैं और जो अविनाशी सच्चिदानन्द-घन, निराकारको ही उपासते हैं उन दोनों प्रकारके भक्तोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं ? ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर, श्रीकृष्ण भगवान्

बोले, हे अर्जुन! मेरेमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन ध्यानमें लगे हुए* जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त हुए मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मेरेको योगियोंमें भी अति उत्तम योगी मान्य हैं अर्थात् उनको मैं अति श्रेष्ठ मानता हूं॥२॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

और जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको अच्छी प्रकार वशमें करके मन, बुद्धिसे परे, सर्वव्यापी, अकथनीय-स्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य-अचल, निराकार, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए उपासते हैं वे संपूर्ण भूतोंके हितमें रत हुए और सबमें समान भाववाले योगी भी मेरेको ही प्राप्त होते हैं ।

* अर्थात् गीता अध्याय ११ श्लोक ५५ में लिखे हुए प्रकारसे निरन्तर मेरेमें लगे हुए ।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

किन्तु उन सच्चिदानन्दघन, निराकार ब्रह्ममें आसक्त हुए चित्तवाले पुरुषोंके साधनमें क्लेश अर्थात् परिश्रम विशेष है, क्योंकि देहाभिमानियोंसे अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है अर्थात् जबतक शरीरमें अभिमान रहता है, तबतक शुद्ध, सच्चिदानन्दघन, निराकार ब्रह्ममें स्थिति होनी कठिन है ॥ ५ ॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

और जो मेरे परायण हुए भक्तजन, संपूर्ण कर्मोंको मेरेमें अर्पण करके, मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही तैलधाराके सदृश अनन्य ध्यानयोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं* ॥ ६ ॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

* इस श्लोकका विशेष भाव जाननेके लिये गीता अध्याय ११ श्लोक ५५ देखना चाहिये ।

हे अर्जुन ! उन मेरेमें चित्तको लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसमुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूं ॥ ७ ॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

इसलिये हे अर्जुन ! तूं मेरेमें मनको लगा और मेरेमें ही बुद्धिको लगा, इसके उपरान्त तूं मेरेमें ही निवास करेगा अर्थात् मेरेको ही प्राप्त होगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है ॥ ८ ॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥९॥

और यदि तूं मनको मेरेमें अचल स्थापन करनेके लिये समर्थ नहीं है, तो हे अर्जुन ! अभ्यासरूप* योगके द्वारा मेरेको प्राप्त होनेके लिये इच्छा कर ॥ ९ ॥

---

* भगवान्‌के नाम और गुणोंका श्रवण, कीर्तन, मनन तथा श्वासके द्वारा जप और भगवत्प्राप्तिविषयक शास्त्रोंका पठन-पाठन इत्यादिक चेष्टाएं भगवत्प्राप्तिके लिये बारम्बार करनेका नाम 'अभ्यास' है ।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

और यदि तूं ऊपर कहे हुए अभ्यासमें भी असमर्थ है, तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण* हो, इस प्रकार मेरे अर्थ कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा॥१०॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

और यदि इसको भी करनेके लिये असमर्थ है, तो जीते हुए मनवाला और मेरी प्राप्तिरूप योगके शरण हुआ सब कर्मोंके फलका मेरे लिये त्याग† कर।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् १२

---

* स्वार्थको त्याग कर तथा परमेश्वरको ही परम आश्रय और परम गति समझकर निष्काम प्रेमभावसे, सतीशिरोमणि, पतिव्रता स्त्रीकी भांति मन, वाणी और शरीरद्वारा परमेश्वरके ही लिये यज्ञ, दान और तपादि संपूर्ण कर्तव्यकर्मोंके करनेका नाम 'भगवत्-अर्थ कर्म करनेके परायण होना' है ।

† गीता अध्याय ९ श्लोक २७ में इसका विस्तार देखना चाहिये।

क्योंकि मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे परोक्षज्ञान* श्रेष्ठ है और परोक्षज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है तथा ध्यानसे भी, सब कर्मोंके फलका मेरे लिये त्याग करना† श्रेष्ठ है और त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है ॥१२॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥

इस प्रकार शान्तिको प्राप्त हुआ जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित एवं स्वार्थरहित सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित एवं अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय देनेवाला है ॥ १३ ॥

---

* सुननेसे और शास्त्र पठन करनेसे परमेश्वरके स्वरूपका जो अनुमान-ज्ञान होता है, उसीका नाम "परोक्षज्ञान" है ।

† केवल भगवत्-अर्थ कर्म करनेवाले पुरुषका भगवत्में प्रेम और श्रद्धा तथा भगवत्का चिन्तन भी बना रहता है, इसलिये ध्यानसे "कर्म-फलका त्याग" श्रेष्ठ कहा है ।

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

तथा जो ध्यानयोगमें युक्त हुआ, निरन्तर लाभ-हानिमें संतुष्ट है तथा मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए मेरेमें दृढ़ निश्चयवाला है, वह मेरेमें अर्पण किये हुए मन, बुद्धिवाला मेरा भक्त मेरेको प्रिय है ॥ १४ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

तथा जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता है और जो स्वयम् भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता है तथा जो हर्ष, अमर्ष*, भय और उद्वेगादिकोंसे रहित है, वह भक्त मेरेको प्रिय है ॥ १५ ॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

और जो पुरुष आकांक्षासे रहित तथा बाहर-भीतरसे शुद्ध† और चतुर है अर्थात् जिस कामके

* दूसरेकी उन्नतिको देखकर संताप होनेका नाम "अमर्ष" है ।
† गीता अ० १३ श्लोक ७ की टिप्पणीमें इसका विस्तार देखना चाहिये ।

लिये आया था, उसको पूरा कर चुका है, एवं पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है, वह सर्व आरम्भोंका त्यागी अर्थात् मन, वाणी और शरीरद्वारा प्रारब्धसे होनेवाले संपूर्ण स्वाभाविक कर्मोंमें कर्तापन-के अभिमानका त्यागी मेरा भक्त मेरेको प्रिय है ॥१६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥

और जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न शोच करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ संपूर्ण कर्मोंके फलका त्यागी है, वह भक्तियुक्त पुरुष मेरेको प्रिय है ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥

और जो पुरुष शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखादिक द्वन्द्वोंमें सम है और सब संसारमें आसक्तिसे रहित है ॥१८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥

तथा जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला और मननशील है अर्थात् ईश्वरके स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला है एवं जिस किस प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही संतुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममतासे रहित है, वह स्थिर-बुद्धिवाला भक्तिमान् पुरुष मेरेको प्रिय है ॥१९॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥२०॥

और जो मेरे परायण हुए अर्थात् मेरेको परम आश्रय और परम गति एवं सबका आत्मरूप और सबसे परे, परमपूज्य समझकर विशुद्ध प्रेमसे मेरी प्राप्तिके लिये तत्पर हुए श्रद्धायुक्त* पुरुष, इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको निष्कामभावसे सेवन करते हैं, वे भक्त मेरेको अतिशय प्रिय हैं ॥ २० ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो
नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

* वेद, शास्त्र, महात्माके और गुरुजनोंके तथा परमेश्वरके वचनोंमें प्रत्यक्षके सदृश विश्वासका नाम "श्रद्धा" है ।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण भगवान् फिर बोले, हे अर्जुन ! यह शरीर क्षेत्र* है ऐसे कहा जाता है और इसको जो जानता है, उसको क्षेत्रज्ञ, ऐसा उनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं ॥ १ ॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

और हे अर्जुन ! तू सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मेरेको ही जान† और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका अर्थात् विकारसहित प्रकृतिका और पुरुषका जो

---

* जैसे खेतमें बोये हुए बीजोंका उनके अनुरूप फल समयपर प्रकट होता है, वैसे ही इसमे बोये हुए कर्मोंके संस्काररूप बीजोंका फल समयपर प्रकट होता है, इसलिये इसका नाम 'क्षेत्र' ऐसा कहा है।

† गीता अध्याय १५ श्लोक ७ और उसकी टिप्पणी देखनी चाहिये।

तत्त्वसे जानना है* वह ज्ञान है, ऐसा मेरा मत है ॥ २॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

इसलिये वह क्षेत्र जो है और जैसा है तथा जिन विकारोंवाला है और जिस कारणसे जो हुआ है तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो है और जिस प्रभाववाला है, वह सब संक्षेपसे मेरेसे सुन ॥ ३ ॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे कहा गया है अर्थात् समझाया गया है और नाना प्रकारके वेदमन्त्रोंसे विभागपूर्वक कहा गया है तथा अच्छी प्रकार निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी वैसे ही कहा गया है ॥ ४ ॥

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

और हे अर्जुन ! वही मैं तेरे लिये कहता हूं कि,

* गीता अध्याय १३ श्लोक २३ और उसकी टिप्पणी देखनी चाहिये।

पांच महाभूत अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवीका सूक्ष्मभाव, अहंकार, बुद्धि और मूल प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया भी तथा दस इन्द्रियां अर्थात् श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा। एक मन और पांच इन्द्रियोंके विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ॥ ५ ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और स्थूल देहका पिण्ड एवं चेतनता* और धृति† इस प्रकार यह क्षेत्र-विकारोंके सहित‡ संक्षेपसे कहा गया ॥ ६ ॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

---

* शरीर और अन्तःकरणकी एक प्रकारकी चेतनशक्ति।

† गीता अध्याय १८ श्लोक ३३-३४-३५ में देखना चाहिये।

‡ पांचवें श्लोकमें कहा हुआ तो क्षेत्रका स्वरूप समझना चाहिये और इस श्लोकमें कहे हुए इच्छादि क्षेत्रके विकार समझने चाहिये।

और हे अर्जुन ! श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, प्राणीमात्रको किसी प्रकार भी न सताना और क्षमाभाव तथा मन, वाणीकी सरलता, श्रद्धा-भक्तिसहित गुरुकी सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि*, अन्तःकरणकी स्थिरता, मन और इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह ॥ ७ ॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

तथा इस लोक और परलोकके संपूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव एवं जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख-दोषोंका बारम्बार विचार करना ॥ ८ ॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

* सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी और उसके अन्नसे आहारकी तथा यथायोग्य बर्तावसे आचरणोंकी और जलमृत्तिकादिसे शरीरकी शुद्धिको बाहरकी शुद्धि कहते हैं तथा राग, द्वेष और कपट आदि विकारोंका नाश होकर अन्तःकरणका स्वच्छ हो जाना भीतरकी शुद्धि कही जाती है ।

तथा पुत्र, स्त्री, घर और धनादिमें आसक्तिका अभाव और ममताका न होना तथा प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना अर्थात् मनके अनुकूल तथा प्रतिकूलके प्राप्त होनेपर, हर्ष-शोकादि विकारोंका न होना ॥ ९ ॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

और मुझ परमेश्वरमें एकीभावसे स्थितिरूप ध्यानयोगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति* तथा एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना ॥ १० ॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

तथा अध्यात्मज्ञानमें† नित्य स्थिति और

---

* केवल एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको ही अपना स्वामी मानते हुए, स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके श्रद्धा और भावके सहित, परम प्रेमसे भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करना "अव्यभिचारिणी भक्ति" है ।

† जिस ज्ञानके द्वारा आत्मवस्तु और अनात्मवस्तु जानी जाय उस ज्ञानका नाम "अध्यात्मज्ञान" है ।

तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको सर्वत्र देखना, यह सब तो ज्ञान* है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान† है ऐसे कहा है ॥ ११ ॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥

और हे अर्जुन ! जो जाननेके योग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको अच्छी प्रकार कहूंगा, वह आदिरहित परम ब्रह्म अकथनीय होनेसे न 'सत्' कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है ॥ १२ ॥

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

परन्तु वह सब ओरसे हाथ-पैरवाला एवं सब ओर-

---

* इस अध्यायके श्लोक ७ से लेकर यहांतक जो साधन कहे हैं, वे सब तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें हेतु होनेसे "ज्ञान" नामसे कहे गये हैं ।

† ऊपर कहे हुए ज्ञानके साधनोंसे विपरीत जो मान, दम्भ, हिंसा आदि हैं, वे अज्ञानकी वृद्धिमें हेतु होनेसे "अज्ञान" नामसे कहे गये हैं ।

से नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओरसे श्रोत्रवाला है; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है*।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

और संपूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है, परन्तु वास्तवमें सब इन्द्रियोंसे रहित है तथा आसक्तिरहित और गुणोंसे अतीत हुआ भी अपनी योगमायासे सबको धारण-पोषण करनेवाला और गुणोंको भोगनेवाला है ॥ १४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

तथा वह परमात्मा चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचर रूप भी वही है और

---

* आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथिवीका कारणरूप होनेसे उनको व्याप्त करके स्थित है, वैसे ही परमात्मा भी सबका कारणरूप होनेसे संपूर्ण चराचर जगत्‌को व्याप्त करके स्थित है।

वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है* तथा अति समीपमें† और दूरमें‡ भी स्थित वही है ॥ १५ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

और वह विभागरहित एकरूपसे आकाशके सदृश परिपूर्ण हुआ भी चराचर संपूर्ण भूतोंमें पृथक्-पृथक्के सदृश स्थित प्रतीत होता है§ तथा वह जानने योग्य परमात्मा, विष्णुरूपसे भूतोंको धारण-पोषण करनेवाला और रुद्ररूपसे संहार करनेवाला तथा ब्रह्मारूपसे सबको उत्पन्न करनेवाला है ॥ १६ ॥

---

* जैसे सूर्यकी किरणोंमें स्थित हुआ जल सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता है, वैसे ही सर्वव्यापी परमात्मा भी सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता है ।

† वह परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण और सर्वका आत्मा होनेसे अत्यन्त समीप है।

‡ श्रद्धारहित, अज्ञानी पुरुषोंके लिये न जाननेके कारण बहुत दूर है ।

§ जैसे महाकाश विभागरहित स्थित हुआ भी घड़ोंमें पृथक्-पृथक्के सदृश प्रतीत होता है, वैसे ही परमात्मा सब भूतोंमें एकरूपसे स्थित हुआ भी पृथक्-पृथक्की भांति प्रतीत होता है ।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

और वह ब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति* एवं मायासे अति परे कहा जाता है तथा वह परमात्मा बोधस्वरूप और जाननेके योग्य है एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाला और सबके हृदयमें स्थित है॥ १७ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

हे अर्जुन ! इस प्रकार क्षेत्र† तथा ज्ञान‡ और जानने योग्य परमात्माका स्वरूप§ संक्षेपसे कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मेरा भक्त मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ १८ ॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥

और हे अर्जुन ! प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी मेरी

* गीता अध्याय १५ श्लोक १२ में देखना चाहिये।
† श्लोक ५-६ में विकारसहित क्षेत्रका स्वरूप कहा है।
‡ श्लोक ७ से ११ तक ज्ञान अर्थात् ज्ञानका साधन कहा है।
§ श्लोक १२ से १७ तक ज्ञेयका स्वरूप कहा है।

माया और जीवात्मा अर्थात् क्षेत्रज्ञ, इन दोनोंको ही तू अनादि जान और रागद्वेषादि विकारोंको तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न हुए जान ॥ १९ ॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

क्योंकि कार्य* और करणके† उत्पन्न करनेमें हेतु प्रकृति कही जाती है और जीवात्मा सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें अर्थात् भोगनेमें हेतु कहा जाता है ॥ २० ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

परन्तु प्रकृतिमें‡ स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृतिसे

---

* आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इनका नाम कार्य है ।

† बुद्धि, अहंकार और मन तथा श्रोत्र, त्वचा, रसना नेत्र और घ्राण एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा—इन १३ का नाम करण है ।

‡ प्रकृति शब्दका अर्थ गीता अध्याय ७ श्लोक १४ में कही हुई भगवान्‌की त्रिगुणमयी माया समझनी चाहिये ।

उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका सङ्ग ही इस जीवात्माके अच्छी, बुरी योनियोंमें जन्म लेनेमें कारण है* ॥ २१ ॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

वास्तवमें तो यह पुरुष इस देहमें स्थित हुआ भी पर अर्थात् त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत ही है, केवल साक्षी होनेसे उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता एवं सबको धारण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता तथा ब्रह्मादिकोंका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा, ऐसा कहा गया है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको

* सत्त्वगुणके सङ्गसे देवयोनिमें एवं रजोगुणके सङ्गसे मनुष्ययोनिमें और तमोगुणके सङ्गसे पशु, पक्षी आदि नीच योनियोंमें जन्म होता है।

जो मनुष्य तत्त्वसे जानता है* वह सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी फिर नहीं जन्मता है अर्थात् पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

हे अर्जुन ! उस परम पुरुष परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा† हृदयमें देखते हैं तथा अन्य कितने ही ज्ञान-योगके‡ द्वारा देखते हैं और अपर कितने ही निष्काम

---

* दृश्यमात्र संपूर्ण जगत् मायाका कार्य होनेसे क्षणभङ्गुर, नाशवान्, जड़ और अनित्य है तथा जीवात्मा नित्य, चेतन, निर्विकार और अविनाशी एवं शुद्ध, बोधस्वरूप, सच्चिदानन्दघन परमात्माका ही सनातन अंश है, इस प्रकार समझकर संपूर्ण मायिक पदार्थोंके सङ्गका सर्वथा त्याग करके परम पुरुष परमात्मामें ही एकीभावसे नित्य स्थित रहनेका नाम उनको "तत्त्वसे जानना" है ।

† जिसका वर्णन गीता अध्याय ६ में श्लोक ११ से ३२ तक विस्तार-पूर्वक किया है ।

‡ जिसका वर्णन गीता अध्याय २ में श्लोक ११ से ३० तक विस्तार-पूर्वक किया है ।

कर्मयोगके* द्वारा देखते हैं ॥ २४ ॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥

परन्तु इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए, दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही उपासना करते हैं अर्थात् उन पुरुषोंके कहनेके अनुसार ही श्रद्धासहित तत्पर हुए साधन करते हैं और वे सुननेके परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं ॥ २५ ॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

हे अर्जुन ! यावन्मात्र जो कुछ भी स्थावर, जङ्गम वस्तु उत्पन्न होती है, उस संपूर्णको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न हुई जान अर्थात् प्रकृति और पुरुषके परस्परके सम्बन्धसे ही संपूर्ण जगत्की स्थिति है, वास्तवमें तो संपूर्ण जगत्

* जिसका वर्णन गीता अध्याय २ में श्लोक ४० से अध्याय-समाप्ति-पर्यन्त विस्तारपूर्वक किया है ।

नाशवान् और क्षणभङ्गुर होनेसे अनित्य है ॥ २६ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥२७॥

इस प्रकार जानकर जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें नाशरहित परमेश्वरको समभावसे स्थित देखता है, वही देखता है ॥ २७ ॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥

क्योंकि वह पुरुष सबमें समभावसे स्थित हुए परमेश्वरको समान देखता हुआ अपने द्वारा आपको नष्ट नहीं करता है, अर्थात् शरीरका नाश होनेसे अपने आत्माका नाश नहीं मानता है इससे वह परमगतिको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

और जो पुरुष संपूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिसे ही किये हुए देखता है अर्थात् इस बातको तत्त्वसे समझ लेता है, कि प्रकृतिसे उत्पन्न हुए संपूर्ण

गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं तथा आत्माको अकर्ता देखता है, वही देखता है ॥ २९ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

और यह पुरुष जिस कालमें भूतोंके न्यारे-न्यारे भावको एक परमात्माके संकल्पके आधार स्थित देखता है तथा उस परमात्माके संकल्पसे ही संपूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उस कालमें सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ३० ॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥३१॥

हे अर्जुन ! अनादि होनेसे और गुणातीत होनेसे यह अविनाशी परमात्मा, शरीरमें स्थित हुआ भी वास्तवमें न करता है और न लिपायमान होता है॥३१॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ भी आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिपायमान नहीं होता है, वैसे

ही सर्वत्र देहमें स्थित हुआ भी आत्मा गुणातीत होनेके कारण देहके गुणोंसे लिपायमान नहीं होता है।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस संपूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है उसी प्रकार एक ही आत्मा संपूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है अर्थात् नित्य बोधस्वरूप एक आत्माकी ही सत्तासे संपूर्ण जड़वर्ग प्रकाशित होता है ॥ ३३ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको* तथा विकारसहित प्रकृतिसे छूटनेके उपायको जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे महात्माजन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं ॥ ३४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३॥

* क्षेत्रको जड़, विकारी, क्षणिक और नाशवान् तथा क्षेत्रज्ञको नित्य, चेतन, अविकारी और अविनाशी जानना ही उनके "भेदको जानना" है।

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १ ॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे अर्जुन! ज्ञानोंमें भी अति उत्तम परम ज्ञानको मैं फिर भी तेरे लिये कहूंगा, कि जिसको जानकर सब मुनिजन, इस संसारसे मुक्त होकर परम सिद्धिको प्राप्त हो गये हैं॥१॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

हे अर्जुन ! इस ज्ञानको आश्रय करके अर्थात् धारण करके, मेरे स्वरूपको प्राप्त हुए पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते हैं; क्योंकि उनकी दृष्टिमें मुझ वासुदेवसे भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं ॥ २ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया संपूर्ण भूतोंकी योनि है अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतनरूप बीजको स्थापन करता हूं, उस जड़ चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

तथा हे अर्जुन ! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियां अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भको धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूं। ४।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

तथा हे अर्जुन ! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ऐसे यह प्रकृतिसे उत्पन्न हुए तीनों गुण इस अविनाशी जीवात्माको शरीरमें बांधते हैं ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६ ॥

हे निष्पाप ! उन तीनों गुणोंमें प्रकाश करनेवाला, निर्विकार सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण सुखकी आसक्तिसे और ज्ञानकी आसक्तिसे अर्थात् ज्ञानके अभिमानसे बांधता है ॥ ६ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥७॥

तथा हे अर्जुन ! रागरूप रजोगुणको, कामना और आसक्तिसे उत्पन्न हुआ जान, वह इस जीवात्माको कर्मोंकी और उनके फलकी आसक्तिसे बांधता है ।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥८॥

और हे अर्जुन ! सर्व देहाभिमानियोंके मोहनेवाले तमोगुणको अज्ञानसे उत्पन्न हुआ जान, वह इस जीवात्माको प्रमाद*, आलस्य† और निद्राके द्वारा बांधता है ॥ ८ ॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥९॥

* इन्द्रियां और अन्तःकरणकी व्यर्थ चेष्टाओंका नाम "प्रमाद" है।
† कर्तव्यकर्ममें अप्रवृत्तिरूप निरुद्यमताका नाम "आलस्य" है ।

क्योंकि हे अर्जुन ! सत्त्वगुण सुखमें लगाता है और रजोगुण कर्ममें लगाता है तथा तमोगुण तो ज्ञानको आच्छादन करके अर्थात् ढकके प्रमादमें भी लगाता है ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥१०॥

और हे अर्जुन ! रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण होता है अर्थात् बढ़ता है तथा रजोगुण और सत्त्वगुणको दबाकर तमोगुण बढ़ता है, वैसे ही तमोगुण और सत्त्वगुणको दबाकर रजोगुण बढ़ता है ।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥११॥

इसलिये जिस कालमें इस देहमें तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें, चेतनता और बोधशक्ति उत्पन्न होती है, उस कालमें ऐसा जानना चाहिये कि, सत्त्वगुण बढ़ा है ॥ ११ ॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

और हे अर्जुन ! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ और प्रवृत्ति अर्थात् सांसारिक चेष्टा तथा सब प्रकारके कर्मोंका स्वार्थबुद्धिसे आरम्भ एवं अशान्ति अर्थात् मनकी चञ्चलता और विषयभोगोंकी लालसा, यह सब उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

तथा हे अर्जुन ! तमोगुणके बढ़नेपर अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश एवं कर्तव्यकर्मोंमें अप्रवृत्ति और प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रादि अन्तःकरणकी मोहिनी वृत्तियां यह सब ही उत्पन्न होते हैं ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥१४॥

और हे अर्जुन ! जब यह जीवात्मा सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करनेवालोंके मलरहित अर्थात् दिव्य, स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

और रजोगुणके बढ़नेपर, अर्थात् जिस कालमें रजोगुण बढ़ता है उस कालमें मृत्युको प्राप्त होकर, कर्मोंकी आसक्तिवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होता है तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरा हुआ पुरुष कीट, पशु आदि मूढ योनियोंमें उत्पन्न होता है ॥ १५ ॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥१६॥

क्योंकि सात्त्विक कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है और राजस कर्मका फल दुःख एवं तामस कर्मका फल अज्ञान कहा है ॥ १६ ॥

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

तथा सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुणसे निःसन्देह लोभ उत्पन्न होता है तथा तमोगुणसे प्रमाद* और मोह† उत्पन्न होते हैं और

*-† इसी अध्यायके श्लोक १३ में देखना चाहिये ।

अज्ञान भी होता है ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

इसलिये सत्त्वगुणमें स्थित हुए पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं और रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं एवं तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादि-में स्थित हुए तामस पुरुष, अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं। १८।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

और हे अर्जुन ! जिस कालमें द्रष्टा, अर्थात् समष्टि चेतनमें एकीभावसे स्थित हुआ साक्षी पुरुष तीनों गुणोंके सिवाय अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता है अर्थात् गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं*, ऐसा देखता है और तीनों गुणोंसे अति परे सच्चिदानन्द-घनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस

* त्रिगुणमयी मायासे उत्पन्न हुए अन्तःकरणके सहित इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंमें विचरना ही "गुणोंका गुणोंमें बर्तना" है।

कालमें वह पुरुष, मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

तथा यह पुरुष इन स्थूल* शरीरकी उत्पत्तिके कारणरूप तीनों गुणोंको उल्लङ्घन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त हुआ परमानन्दको प्राप्त होता है ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

इस प्रकार भगवान्के रहस्ययुक्त वचनोंको सुनकर अर्जुनने पूछा कि हे पुरुषोत्तम ! इन तीनों गुणोंसे अतीत हुआ पुरुष किन किन लक्षणोंसे युक्त होता है ? और किस प्रकारके आचरणोंवाला

---

*बुद्धि, अहंकार और मन तथा पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच भूत, पांच इन्द्रियोंके विषय—इस प्रकार इन २३ तत्त्वोंका पिण्डरूप यह स्थूल शरीर प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंका ही कार्य है, इसलिये इन तीनों गुणोंको इसकी उत्पत्तिका कारण कहा है ।

होता है ? तथा हे प्रभो ! मनुष्य किस उपायसे इन तीनों गुणोंसे अतीत होता है ? ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे अर्जुन ! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशको* और रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिको तथा तमोगुणके कार्यरूप मोहको† भी न तो प्रवृत्त होनेपर बुरा समझता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकांक्षा करता है‡ ॥ २२ ॥

---

* अन्तःकरण और इन्द्रियादिकोंमें आलस्यका अभाव होकर जो एक प्रकारकी चेतनता होती है, उसका नाम "प्रकाश" है ।

† निद्रा और आलस्य आदिकी बहुलतासे अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनशक्तिके लय होनेको यहां "मोह" नामसे समझना चाहिये ।

‡ जो पुरुष एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही नित्य, एकीभावसे स्थित हुआ इस त्रिगुणमयी मायाके प्रपञ्चरूप संसारसे सर्वथा अतीत हो गया है, उस गुणातीत पुरुषके अभिमानरहित अन्तःकरणमें तीनों गुणोंके

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥२३॥

तथा जो साक्षीके सदृश स्थित हुआ गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता है और गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं* ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहता है एवं उस स्थितिसे चलायमान नहीं होता है ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।२४।

और जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ दुःख-सुखको समान समझनेवाला है तथा मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समान भाववाला और धैर्यवान् है तथा जो प्रिय और अप्रियको बराबर समझता है और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है ॥२४॥

कार्यरूप प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहादि वृत्तियोंके प्रकट होने और न होनेपर किसी कालमें भी इच्छा, द्वेष आदि विकार नहीं होते हैं। यही उसके गुणोंसे अतीत होनेके प्रधान लक्षण हैं।

* इसी अध्यायके श्लोक १९ की टिप्पणीमें देखना चाहिये ।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

तथा जो मान और अपमानमें सम है, एवं मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है, वह संपूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हुआ पुरुष गुणातीत कहा जाता है ॥ २५ ॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

और जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तिरूप योगके* द्वारा, मेरेको निरन्तर भजता है, वह इन तीनों गुणोंको अच्छी प्रकार उल्लङ्घन करके, सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभाव होनेके लिये योग्य होता है ॥ २६ ॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥

तथा हे अर्जुन ! उस अविनाशी परब्रह्मका

---

* केवल एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर वासुदेव भगवान्को ही अपना स्वामी मानता हुआ, स्वार्थ और अभिमानको त्यागकर, श्रद्धा और भावके सहित परम प्रेमसे निरन्तर चिन्तन करनेको 'अव्यभिचारी भक्तियोग' कहते हैं।

और अमृतका तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एक-रस आनन्दका मैं ही आश्रय हूं अर्थात् उपरोक्त ब्रह्म, अमृत, अव्यय और शाश्वतधर्म तथा ऐकान्तिक सुख, यह सब मेरे ही नाम हैं, इसलिये इनका मैं परम आश्रय हूं ॥ २७ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

उसके उपरान्त, श्रीकृष्ण भगवान् फिर बोले कि हे अर्जुन ! आदिपुरुष, परमेश्वररूप मूलवाले*

* आदिपुरुष नारायण वासुदेव भगवान् ही, नित्य और अनन्त तथा सबके आधार होनेके कारण और सबके ऊपर नित्यधाममें सगुणरूपसे वास करनेके कारण ऊर्ध्वनामसे कहे गये हैं और वे मायापति सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही, इस संसाररूपवृक्षके कारण हैं, इसलिये इस संसारवृक्षको 'ऊर्ध्वमूलवाला' कहते हैं ।

और ब्रह्मारूप मुख्य शाखावाले* जिस संसाररूप पीपलके वृक्षको अविनाशी† कहते हैं तथा जिसके वेद पत्ते‡ कहे गये हैं, उस संसाररूप वृक्षको, जो पुरुष मूलसहित तत्त्वसे जानता है, वह वेदके तात्पर्यको जाननेवाला है§ ॥ १ ॥

---

* उस आदिपुरुष परमेश्वरसे उत्पत्तिवाला होनेके कारण तथा नित्यधामसे नीचे ब्रह्मलोकमें वास करनेके कारण, हिरण्यगर्भरूप ब्रह्माको परमेश्वरकी अपेक्षा अधः कहा है और वही इस संसारका विस्तार करनेवाला होनेसे इसकी मुख्य शाखा है, इसलिये इस संसारवृक्षको "अधःशाखावाला" कहते हैं ।

† इस वृक्षका मूल कारण परमात्मा अविनाशी है तथा अनादिकालसे इसकी परम्परा चली आती है, इसलिये इस संसारवृक्षको "अविनाशी" कहते हैं ।

‡ इस वृक्षकी शाखारूप ब्रह्मासे प्रकट होनेवाले और यज्ञादिक कर्मोंके द्वारा इस संसारवृक्षकी रक्षा और वृद्धिके करनेवाले एवं शोभाको बढ़ानेवाले होनेसे वेद "पत्ते" कहे गये हैं ।

§ भगवान्‌की योगमायासे उत्पन्न हुआ संसार क्षणभङ्गुर, नाशवान् और दुःखरूप है, इसके चिन्तनको त्यागकर, केवल परमेश्वरका ही नित्य, निरन्तर अनन्य प्रेमसे चिन्तन करना "वेदके तात्पर्यको जानना" है ।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

और हे अर्जुन ! उस संसारवृक्षकी तीनों गुणरूप जलके द्वारा बढ़ी हुई एवं विषय* भोगरूप कोंपलोंवाली, देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएं† नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्ययोनिमें‡ कर्मोंके अनुसार बांधनेवाली अहंता,

---

* शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध यह पांचों, स्थूल देह और इन्द्रियोंकी अपेक्षा सूक्ष्म होनेके कारण, उन शाखाओंकी 'कोंपलोंके' रूपमें कहे गये हैं ।

† मुख्यशाखारूप ब्रह्मासे, संपूर्ण लोकोंके सहित देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनियोंकी उत्पत्ति और विस्तार हुआ है, इसलिये उनका यहां 'शाखाओंके' रूपमें वर्णन किया है ।

‡ अहंता, ममता और वासनारूप मूलोंको, केवल मनुष्ययोनिमें कर्मोंके अनुसार बांधनेवाली कहनेका कारण यह है कि अन्य सब योनियोंमें तो केवल पूर्वकृत कर्मोंके फलको भोगनेका ही अधिकार है और मनुष्ययोनिमें नवीन कर्मोंके करनेका भी अधिकार है

ममता और वासनारूप जड़ें भी, नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त हो रही हैं ॥ २ ॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

परन्तु इस संसारवृक्षका स्वरूप जैसा कहा है वैसा यहां विचारकालमें नहीं पाया जाता है*; क्योंकि न तो इसका आदि है † और न अन्त है‡ तथा न अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है§, इसलिये इस अहंता,

---

* इस संसारका जैसा स्वरूप शास्त्रोंमें वर्णन किया गया है और जैसा देखा, सुना जाता है, वैसा तत्त्वज्ञान होनेके उपरान्त नहीं पाया जाता, जिस प्रकार आंख खुलनेके उपरान्त स्वप्नका संसार नहीं पाया जाता ।

† इसका आदि नहीं है, यह कहनेका प्रयोजन यह है कि इसकी परम्परा कबसे चली आती है, इसका कोई पता नहीं है ।

‡ इसका अन्त नहीं है, यह कहनेका प्रयोजन यह है कि इसकी परम्परा कबतक चलती रहेगी, इसका कोई पता नहीं है ।

§ इसकी अच्छी प्रकार स्थिति भी नहीं है, यह कहनेका यह प्रयोजन है कि वास्तवमें यह क्षणभङ्गुर और नाशवान् है ।

ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप* शस्त्रद्वारा काटकर†

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

उसके उपरान्त उस परमपदरूप परमेश्वरको अच्छी प्रकार खोजना चाहिये कि जिसमें गये हुए पुरुष फिर पीछे संसारमें नहीं आते हैं और जिस परमेश्वरसे यह पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उस ही आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूं, इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके ॥ ४ ॥

---

* ब्रह्मलोकतकके भोग क्षणिक और नाशवान हैं, ऐसा समझकर इस संसारके समस्त विषयभोगोंमें सत्ता, सुख, प्रीति और रमणीयताका न भासना ही "दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्र" है।

† स्थावर, जङ्गमरूप यावन्मात्र संसारके चिन्तनका तथा अनादिकालसे अज्ञानके द्वारा दृढ़ हुई अहंता, ममता और वासनारूप मूलोंका त्याग करना ही संसारवृक्षका अच्छान्तर "मूलोंके सहित काटना" है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

नष्ट हो गया है मान और मोह जिनका तथा जीत लिया है आसक्तिरूप दोष जिनने और परमात्माके स्वरूपमें है निरन्तर स्थिति जिनकी तथा अच्छी प्रकारसे नष्ट हो गयी है कामना जिनकी, ऐसे वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त हुए ज्ञानीजन, उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥

और उस स्वयं प्रकाशमय परमपदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही प्रकाशित कर सकता है तथा जिस परमपदको प्राप्त होकर मनुष्य पीछे संसारमें नहीं आते हैं वही मेरा परमधाम है* ॥ ६ ॥

* परमधामका अर्थ गीता अध्याय ८ श्लोक २१ में देखना चाहिये ।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

और हे अर्जुन ! इस देहमें यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है* और वही इन त्रिगुणमयी मायामें स्थित हुई मनसहित पांचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है ॥ ७ ॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

कैसे कि, वायु गन्धके स्थानसे गन्धको, जैसे ग्रहण करके ले जाता है वैसे ही देहादिकोंका स्वामी जीवात्मा भी जिस पहिले शरीरको त्यागता है, उससे इन मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके, फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है, उसमें जाता है ॥ ८ ॥

* जैसे विभागरहित स्थित हुआ भी महाकाश घटोंमें पृथक्-पृथक् की भांति प्रतीत होता है, वैसे ही सब भूतोंमें एकीरूपसे स्थित हुआ भी परमात्मा पृथक्-पृथक्की भांति प्रतीत होता है, इसीसे देहमें स्थित जीवात्माको भगवान्ने अपना "सनातन अंश" कहा है ।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

और उस शरीरमें स्थित हुआ यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचाको तथा रसना, घ्राण और मनको आश्रय करके अर्थात् इन सबके सहारेसे ही विषयोंको सेवन करता है ॥ ९ ॥

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

परन्तु शरीर छोड़कर जाते हुएको अथवा शरीरमें स्थित हुएको और विषयोंको भोगते हुएको अथवा तीनों गुणोंसे युक्त हुएको भी अज्ञानीजन नहीं जानते हैं, केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानीजन ही तत्त्वसे जानते हैं ॥ १० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥

क्योंकि योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित हुए इस आत्माको यत्न करते हुए ही तत्त्वसे जानते हैं और जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया

है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते हुए भी इस आत्माको नहीं जानते हैं ॥ ११ ॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥१२॥

और हे अर्जुन ! जो तेज सूर्यमें स्थित हुआ संपूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें स्थित है और जो तेज अग्निमें स्थित है उसको तूं मेरा ही तेज जान ॥ १२ ॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥

और मैं ही पृथिवीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे सब भूतोंको धारण करता हूं और रसस्वरूप अर्थात् अमृतमय चन्द्रमा होकर संपूर्ण ओषधियों-को अर्थात् वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूं ॥ १३ ॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥१४॥

तथा मैं ही सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित हुआ, वैश्वानर अग्निरूप होकर प्राण और अपानसे युक्त

हुआ, चार* प्रकारके अन्नको पचाता हूं ॥ १४ ॥

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

और मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूप-से स्थित हूं तथा मेरेसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन† होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य‡ हूं तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूं ॥ १५ ॥

---

* भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य, ऐसे चार प्रकारके अन्न होते हैं, उनमें जो चबाकर खाया जाता है वह भक्ष्य है, जैसे रोटी आदि और जो निगला जाता है वह भोज्य है, जैसे दूध आदि तथा जो चाटा जाता है वह लेह्य है, जैसे चटनी आदि और जो चूसा जाता है वह चोष्य है, जैसे ऊख आदि।

† विचारके द्वारा बुद्धिमें रहनेवाले संशय, विपर्यय आदि दोषोंको हटानेका नाम 'अपोहन' है।

‡ सर्व वेदोंका तात्पर्य परमेश्वरको जनानेका है, इसलिये सब वेदोंद्वारा "जाननेके योग्य" एक परमेश्वर ही है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥

तथा हे अर्जुन ! इस संसारमें नाशवान् और अविनाशी भी यह दो प्रकारके* पुरुष हैं, उनमें संपूर्ण भूतप्राणियोंके शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है ॥ १६ ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥

तथा उन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है कि जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके, सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा ऐसे कहा गया है ॥ १७ ॥

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

* गीता अध्याय ७ श्लोक ४-५ में, जो अपरा और परा प्रकृतिके नामसे कहे गये हैं तथा अध्याय १३ श्लोक १ में, जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके नामसे कहे गये हैं, उन्हीं दोनोंको यहां क्षर और अक्षरके नामसे वर्णन किया है।

क्योंकि मैं नाशवान्, जड़वर्ग क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूं और मायामें स्थित अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूं, इसलिये लोकमें और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूं ॥ १८ ॥

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

हे भारत ! इस प्रकार तत्त्वसे जो ज्ञानी पुरुष मेरेको पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है ॥ १९ ॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत २०

हे निष्पाप अर्जुन ! ऐसे यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरेद्वारा कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है, अर्थात् उसको और कुछ भी करना शेष नहीं रहता २०

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस अध्यायमें भगवान्ने अपना परम गोपनीय

प्रभाव भली प्रकारसे कहा है। जो मनुष्य उक्त प्रकारसे भगवान्‌को सर्वोत्तम समझ लेता है, फिर उसका मन एक क्षण भी भगवान्‌के चिन्तनका त्याग नहीं कर सकता, क्योंकि जिस वस्तुको मनुष्य उत्तम समझता है उसीमें उसका प्रेम होता है और जिसमें प्रेम होता है उसीका चिन्तन होता है, अतएव सबका मुख्य कर्तव्य है कि भगवान्‌के परम गोपनीय प्रभावको भली प्रकार समझनेके लिये नाशवान्, क्षणभङ्गुर संसारकी आसक्तिका सर्वथा त्याग करके एवं परमात्माके शरण होकर भजन और सत्सङ्गकी ही विशेष चेष्टा करें।

अथ षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥

उसके उपरान्त श्रीकृष्णभगवान् फिर बोले, हे अर्जुन! दैवी संपदा जिन पुरुषोंको प्राप्त है तथा

जिनको आसुरी संपदा प्राप्त है, उनके लक्षण पृथक्-पृथक् कहता हूं, उनमेंसे सर्वथा भयका अभाव, अन्तःकरणकी अच्छी प्रकारसे स्वच्छता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति* और सात्त्विक दान† तथा इन्द्रियोंका दमन, भगवत्पूजा और अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंके पठनपाठनपूर्वक भगवत्के नाम और गुणोंका कीर्तन तथा स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहन करना एवं शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता ॥ १ ॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

तथा मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना तथा यथार्थ और प्रिय

---

* परमात्माके स्वरूपको तत्त्वसे जाननेके लिये सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे ध्यानकी निरन्तर गाढ़ स्थितिका ही नाम "ज्ञानयोगव्यवस्थिति" समझना चाहिये ।

† गीता अध्याय १७ श्लोक २० में जिसका विस्तार किया है ।

भाषण*, अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग एवं अन्तःकरणकी उपरामता अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव और किसीकी भी निन्दादि न करना तथा सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी आसक्तिका न होना और कोमलता तथा लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव ॥ २ ॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥ ३ ॥

तथा तेज†, क्षमा, धैर्य और बाहर-भीतरकी शुद्धि‡ एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें

---

* अन्तःकरण और इन्द्रियोंके द्वारा जैसा निश्चय किया हो, वैसेका वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहनेका नाम "सत्यभाषण" है ।

† श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिका नाम "तेज" है कि जिसके प्रभावसे उनके सामने विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः अन्यायाचरणसे रुककर, उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं ।

‡ गीता अध्याय १३ श्लोक ७ की टिप्पणी देखनी चाहिये ।

पूज्यताके अभिमानका अभाव, यह सब तो हे अर्जुन ! दैवी संपदाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं। ३ ।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम् ॥ ४ ॥

और हे पार्थ ! पाखण्ड, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध और कठोर वाणी एवं अज्ञान भी यह सब आसुरी संपदाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं ॥ ४ ॥

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

उन दोनों प्रकारकी संपदाओंमें, दैवी संपदा तो मुक्तिके लिये और आसुरी संपदा बांधनेके लिये मानी गयी है, इसलिये हे अर्जुन ! तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी संपदाको प्राप्त हुआ है ॥ ५ ॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

और हे अर्जुन ! इस लोकमें भूतोंके स्वभाव दो प्रकारके माने गये हैं—एक तो देवोंके जैसा और दूसरा असुरोंके जैसा, उनमें देवोंका स्वभाव ही

विस्तारपूर्वक कहा गया है, इसलिये अब असुरोंके स्वभावको भी विस्तारपूर्वक मेरेसे सुन ॥ ६ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

हे अर्जुन ! आसुरी स्वभाववाले मनुष्य कर्तव्य-कार्यमें प्रवृत्त होनेको और अकर्तव्यकार्यसे निवृत्त होनेको भी नहीं जानते हैं, इसलिये उनमें न तो बाहर-भीतरकी शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्यभाषण ही है ॥ ७ ॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

तथा वे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य कहते हैं कि जगत् आश्रयरहित और सर्वथा झूठा एवं बिना ईश्वरके अपने आप स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न हुआ है; इसलिये केवल भोगोंको भोगनेके लिये ही है; इसके सिवाय और क्या है ॥ ८ ॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

इस प्रकार इस मिथ्या ज्ञानको अवलम्बन करके नष्ट हो गया है स्वभाव जिनका तथा मन्द है बुद्धि जिनकी ऐसे वे सबका अपकार करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत्का नाश करनेके लिये ही उत्पन्न होते हैं।९।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः।१०।

और वे मनुष्य दम्भ, मान और मदसे युक्त हुए किसी प्रकार भी न पूर्ण होनेवाली कामनाओंका आसरा लेकर तथा अज्ञानसे मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहण करके भ्रष्ट आचरणोंसे युक्त हुए संसारमें बर्तते हैं ॥ १० ॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥११॥

तथा वे मरणपर्यन्त रहनेवाली अनन्त चिन्ताओंका आश्रय किये हुए और विषयभोगोंके भोगनेमें तत्पर हुए एवं इतनामात्र ही आनन्द है, ऐसे माननेवाले हैं।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥१२॥

इसलिये, आशारूप सैकड़ों फांसियोंसे बंधे

हुए और काम-क्रोधके परायण हुए विषयभोगोंकी पूर्तिके लिये अन्यायपूर्वक धनादिक बहुत-से पदार्थों-को संग्रह करनेकी चेष्टा करते हैं ॥ १२ ॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३॥

और उन पुरुषोंके विचार इस प्रकारके होते हैं कि मैंने आज यह तो पाया है और इस मनोरथको प्राप्त होऊंगा तथा मेरे पास यह इतना धन है और फिर भी यह होवेगा ॥ १३ ॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥१४॥

तथा वह शत्रु मेरेद्वारा मारा गया और दूसरे शत्रुओंको भी मैं मारूंगा तथा मैं ईश्वर और ऐश्वर्यको भोगनेवाला हूं, और मैं सब सिद्धियोंसे युक्त एवं बलवान् और सुखी हूं ॥ १४ ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥

तथा मैं बड़ा धनवान् और बड़े कुटुम्बवाला हूं, मेरे

समान दूसरा कौन है, मैं यज्ञ करूंगा, दान देऊंगा, हर्षको प्राप्त होऊंगा, इस प्रकारके अज्ञानसे मोहित हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

इसलिये वे अनेक प्रकारसे भ्रमित हुए चित्त-वाले अज्ञानीजन मोहरूप जालमें फंसे हुए एवं विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त हुए महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं ॥ १६ ॥

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

तथा वे अपने आपको ही श्रेष्ठ माननेवाले घमण्डी पुरुष धन और मानके मदसे युक्त हुए, शास्त्रविधिसे रहित केवल नाममात्रके यज्ञोंद्वारा पाखण्डसे यजन करते हैं ॥ १७ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

तथा वे अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादिके परायण हुए एवं दूसरोंकी निन्दा करने-

वाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले हैं ॥ १८ ॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

ऐसे उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूर-कर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बारंबार आसुरी योनियोंमें ही गिराता हूं अर्थात् शूकर, कूकर आदि नीच योनियोंमें ही उत्पन्न करता हूं ॥ १९ ॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

इसलिये हे अर्जुन ! वे मूढ़ पुरुष जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त हुए मेरेको न प्राप्त होकर, उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं ॥ २० ॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

और हे अर्जुन ! काम, क्रोध तथा लोभ यह

तीन प्रकारके नरकके द्वार* आत्माका नाश करनेवाले हैं अर्थात् अधोगतिमें ले जानेवाले हैं, इससे इन तीनोंको त्याग देना चाहिये ॥ २१ ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ।२२।

क्योंकि हे अर्जुन ! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त हुआ अर्थात् काम, क्रोध और लोभ आदि विकारोंसे छूटा हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है† इससे वह परमगतिको जाता है अर्थात् मेरेको प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥

और जो पुरुष शास्त्रकी विधिको त्यागकर अपनी इच्छासे बर्तता है, वह न तो सिद्धिको प्राप्त होता है और न परमगतिको तथा न सुखको ही प्राप्त होता है

* सर्व अनर्थोंके मूल और नरककी प्राप्तिमें हेतु होनेसे यहां काम, क्रोध और लोभको "नरकका द्वार" कहा है।

† अपने उद्धारके लिये भगवत्-आज्ञानुसार बर्तना ही "अपने कल्याणका आचरण करना" है।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ।२४।

इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है, ऐसा जानकर तूं शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्मको ही करनेके लिये योग्य है ॥ २४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥

इस प्रकार भगवान्‌के वचनोंको सुनकर अर्जुन बोला, हे कृष्ण ! जो मनुष्य शास्त्रविधिको त्यागकर केवल श्रद्धासे युक्त हुए देवादिकोंका पूजन करते हैं, उनकी स्थिति फिर कौनसी है ? क्या सात्त्विकी है ? अथवा राजसी किंवा तामसी है ? ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर, श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे अर्जुन ! मनुष्योंकी वह बिना शास्त्रीय संस्कारोंके, केवल स्वभावसे उत्पन्न हुई श्रद्धा* सात्त्विकी और राजसी तथा तामसी ऐसे तीनों प्रकारकी ही होती है, उसको तू मेरेसे सुन ॥ २ ॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

हे भारत ! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा, उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है तथा यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा है, वैसा ही उसका स्वरूप है ॥ ३ ॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥

* अनन्त जन्मोंमें किये हुए कर्मोंके सञ्चित संस्कारोंसे उत्पन्न हुई श्रद्धा "स्वभावजा श्रद्धा" कही जाती है।

उनमें सात्त्विक पुरुष तो देवोंको पूजते हैं और राजस पुरुष यक्ष और राक्षसोंको पूजते हैं तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेत और भूतगणोंको पूजते हैं ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥

और हे अर्जुन ! जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित, केवल मनोकल्पित घोर तपको तपते हैं तथा दम्भ और अहंकारसे युक्त एवं कामना, आसक्ति और बलके अभिमानसे भी युक्त हैं ॥ ५ ॥

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

तथा जो शरीररूपसे स्थित भूतसमुदायको अर्थात् शरीर, मन और इन्द्रियादिकोंके रूपमें परिणत हुए आकाशादि पांच भूतोंको और अन्तःकरणमें स्थित मुझ अन्तर्यामीको भी कृश करनेवाले हैं*, उन अज्ञानियोंको तू आसुरी स्वभाववाले जान ॥ ६ ॥

---

* शास्त्रसे विरुद्ध उपवासादि घोर आचरणोंद्वारा शरीरको सुखाना एवं भगवान्‌के अंशस्वरूप जीवात्माको क्लेश देना, भूतसमुदायको और अन्तर्यामी परमात्माको "कृश करना" है ।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥७॥

और हे अर्जुन ! जैसे श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है, वैसे ही भोजन भी सबको अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार तीन प्रकारका प्रिय होता है और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकारके होते हैं, उनके इस न्यारे-न्यारे भेदको तूं मेरेसे सुन ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले एवं रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले* तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय ऐसे आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ तो सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥

---

* जिस भोजनका सार शरीरमें बहुत कालतक रहता है, उसको "स्थिर रहनेवाला" कहते हैं ।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥९॥

और कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त और अति गरम तथा तीक्ष्ण, रूखे और दाहकारक एवं दुःख, चिन्ता और रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

तथा जो भोजन अधपका, रसरहित और दुर्गन्धयुक्त एवं बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है ॥ १० ॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

और हे अर्जुन ! जो यज्ञ शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ है तथा करना ही कर्तव्य है ऐसे मनको समाधान करके फलको न चाहनेवाले पुरुषोंद्वारा

किया जाता है वह यज्ञ तो सात्त्विक है ॥११॥

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

और हे अर्जुन ! जो यज्ञ केवल दम्भाचरणके ही लिये अथवा फलको भी उद्देश्य रखकर किया जाता है उस यज्ञको तूं राजस जान ॥१२॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

तथा शास्त्रविधिसे हीन और अन्नदानसे रहित एवं बिना मन्त्रोंके, बिना दक्षिणाके और बिना श्रद्धाके किये हुए यज्ञको तामस यज्ञ कहते हैं ॥१३॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

तथा हे अर्जुन ! देवता, ब्राह्मण, गुरु*और ज्ञानी-जनोंका पूजन एवं पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा, यह शरीरसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥१४॥

---

* यहां गुरु शब्दसे माता, पिता, आचार्य और वृद्ध एवं अपनेसे जो किसी प्रकार भी बड़े हों, उन सबको समझना चाहिये ।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

तथा जो उद्वेगको न करनेवाला, प्रिय और हित-कारक एवं यथार्थ भाषण है* और जो वेद-शास्त्रोंके पढ़नेका एवं परमेश्वरके नाम जपनेका अभ्यास है, वह निःसन्देह वाणीसम्बन्धी तप कहा जाता है ।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

तथा मनकी प्रसन्नता और शान्तभाव एवं भगवत्-चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणकी पवित्रता, ऐसे यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है ॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥१७॥

परंतु हे अर्जुन ! फलको न चाहनेवाले निष्कामी योगी पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किये हुए, उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको तो सात्त्विक कहते हैं ।

---

* मन और इन्द्रियोंद्वारा जैसा अनुभव किया हो ठीक वैसा ही कहनेका नाम "यथार्थ भाषण" है ।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

और जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये अथवा केवल पाखण्डसे ही किया जाता है, वह अनिश्चित* और क्षणिक फलवाला तप यहां राजस कहा गया है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

और जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे मन, वाणी और शरीरकी पीड़ाके सहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।२०।

और हे अर्जुन ! दान देना ही कर्तव्य है, ऐसे भावसे जो दान देश†, काल‡ और पात्र-

* "अनिश्चित फलवाला" उसको कहते हैं कि जिसका फल होने न होनेमें शङ्का हो।

†-‡ जिस देश, कालमें जिस वस्तुका अभाव हो, वही देश, काल उस वस्तुद्वारा प्राणियोंकी सेवा करनेके लिये योग्य समझा जाता है।

के* प्राप्त होनेपर, प्रत्युपकार न करनेवालेके लिये दिया जाता है, वह दान तो सात्त्विक कहा गया है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

और जो दान क्लेशपूर्वक† तथा प्रत्युपकारके प्रयोजनसे अर्थात् बदलेमें अपना सांसारिक कार्य सिद्ध करनेकी आशासे अथवा फलको उद्देश्य रखकर‡ फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

---

* भूखे, अनाथ, दुखी, रोगी और असमर्थ तथा भिक्षुक आदि तो अन्न, वस्त्र और ओषधि एवं जिस वस्तुका जिसके पास अभाव हो उस वस्तु-द्वारा सेवा करनेके लिये योग्य पात्र समझे जाते हैं और श्रेष्ठ आचरणोंवाले विद्वान् ब्राह्मणजन धनादि सब प्रकारके पदार्थोंद्वारा सेवा करनेके लिये योग्य पात्र समझे जाते हैं।

† जैसे प्रायः वर्तमान समयके चन्दे-चिट्टे आदिमें धन दिया जाता है।

‡ अर्थात् मान, बड़ाई प्रतिष्ठा और स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये अथवा रोगादिकी निवृत्तिके लिये।

और जो दान बिना सत्कार किये, अथवा तिरस्कारपूर्वक, अयोग्य देशकालमें, कुपात्रोंके लिये अर्थात् मद्य, मांसादि अभक्ष्य वस्तुओंके खानेवालों एवं चोरी, जारी आदि नीचकर्म करनेवालोंके लिये दिया जाता है वह दान तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

और हे अर्जुन ! ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है, उसीसे सृष्टिके आदिकालमें, ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादिक रचे गये हैं ॥ २३ ॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

इसलिये वेदको कथन करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत की हुई यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ, सदा ॐ, ऐसे इस परमात्माके नामको उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं ॥ २४ ॥

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥

और तत् अर्थात् तत् नामसे कहे जानेवाले परमात्माका ही यह सब है, ऐसे इस भावसे फलको न चाहकर, नाना प्रकारकी यज्ञ, तपरूप क्रियाएं तथा दानरूप क्रियाएं कल्याणकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा की जाती हैं ॥ २५ ॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

और सत् ऐसे यह परमात्माका नाम, सत्य भावमें और श्रेष्ठभावमें प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ ! उत्तम कर्ममें भी सत् शब्द प्रयोग किया जाता है ॥ २६ ॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी सत् है, ऐसे कही जाती है और उस परमात्माके अर्थ किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत् है, ऐसे कहा जाता है ॥ २७ ॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

और हे अर्जुन ! बिना श्रद्धाके होमा हुआ हवन तथा दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ कर्म है, वह समस्त असत् ऐसे कहा जाता है, इसलिये वह न तो इस लोकमें लाभदायक है और न मरनेके पीछे ही लाभदायक है, इसलिये मनुष्यको चाहिये कि सच्चिदानन्दघन परमात्माके नामका निरन्तर चिन्तन करता हुआ, निष्कामभावसे केवल परमेश्वरके लिये शास्त्रविधिसे नियत किये हुए कर्मोंका परम श्रद्धा और उत्साहके सहित आचरण करे ॥ २८ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥

उसके उपरान्त अर्जुन बोला, हे महाबाहो ! हे अन्तर्यामिन् ! हे वासुदेव ! मैं संन्यास और त्यागके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूं ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

इस प्रकार अर्जुनके पूछनेपर श्रीकृष्णभगवान् बोले, हे अर्जुन ! कितने ही पण्डितजन तो काम्य-कर्मोंके* त्यागको संन्यास जानते हैं और कितने ही विचारकुशल पुरुष सब कर्मोंके फलके त्याग-को† त्याग कहते हैं ॥ २ ॥

---

* स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये तथा रोग-सङ्कटादिकी निवृत्तिके लिये जो यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि कर्म किये जाते हैं, उनका नाम "काम्यकर्म" है ।

† ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान और तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार आजीविकाद्वारा गृहस्थ-का निर्वाह एवं शरीर-सम्बन्धी खानपान इत्यादिक जितने कर्तव्य कर्म हैं, उन सबमें इस लोक और परलोककी संपूर्ण कामनाओंके त्यागका नाम "सब कर्मोंके फलका त्याग" है ।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

तथा कई एक विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्म सभी दोषयुक्त हैं, इसलिये त्यागनेके योग्य हैं और दूसरे विद्वान् ऐसे कहते हैं कि यज्ञ, दान और तप-रूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं ॥ ३ ॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

परन्तु हे अर्जुन! उस त्यागके विषयमें तू मेरे निश्चय-को सुन. हे पुरुषश्रेष्ठ! वह त्याग सात्त्विक, राजस और तामस ऐसे तीनों प्रकारका ही कहा गया है ॥४॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

तथा यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागनेके योग्य नहीं हैं, किन्तु वह निःसन्देह करना कर्तव्य है, क्योंकि यज्ञ, दान और तप यह तीनों ही बुद्धिमान् पुरुषोंको* पवित्र करनेवाले हैं ॥ ५ ॥

* वह मनुष्य "बुद्धिमान्" है, जो कि फल और आसक्तिको त्यागकर केवल भगवत्-अर्थ कर्म करता है ।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

इसलिये हे पार्थ ! यह यज्ञ, दान और तपरूप कर्म तथा और भी संपूर्ण श्रेष्ठ कर्म, आसक्तिको और फलोंको त्यागकर, अवश्य करने चाहिये, ऐसा मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ॥ ६ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

और हे अर्जुन ! नियत कर्मका* त्याग करना योग्य नहीं है, इसलिये मोहसे उसका त्याग करना तामस त्याग कहा गया है ॥ ७ ॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥

और यदि कोई मनुष्य जो कुछ कर्म है, वह सब ही दुःखरूप है ऐसे समझकर, शारीरिक क्लेशके भयसे कर्मोंका त्याग कर दे, तो वह पुरुष उस राजस त्यागको करके भी त्यागके फलको प्राप्त नहीं होता है,

* इसी अध्यायके श्लोक ४८ की टिप्पणीमें इसका अर्थ देखना चाहिये।

अर्थात् उसका वह त्याग करना व्यर्थ ही होता है।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥९

और हे अर्जुन! करना कर्तव्य है ऐसे समझकर ही जो शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ कर्तव्य कर्म आसक्तिको और फलको त्यागकर किया जाता है, वह ही सात्त्विक त्याग माना गया है अर्थात् कर्तव्य-कर्मोंको स्वरूपसे न त्यागकर उनमें जो आसक्ति और फलका त्यागना है, वही सात्त्विक त्याग माना गया है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥१०॥

और हे अर्जुन! जो पुरुष अकल्याणकारक कर्मसे तो द्वेष नहीं करता है और कल्याणकारक कर्ममें आसक्त नहीं होता है, वह शुद्ध सत्त्वगुणसे युक्त हुआ पुरुष संशयरहित, ज्ञानवान् और त्यागी है १०

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥११॥

क्योंकि देहधारी पुरुषके द्वारा संपूर्णतासे सब

कर्म त्यागे जानेको शक्य नहीं हैं, इससे जो पुरुष कर्मोंके फलका त्यागी है, वह ही त्यागी है, ऐसे कहा जाता है ॥ ११ ॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ।१२।

तथा सकामी पुरुषोंके कर्मका ही अच्छा, बुरा और मिला हुआ ऐसे तीन प्रकारका फल, मरनेके पश्चात् भी होता है और त्यागी* पुरुषोंके कर्मोंका फल, किसी कालमें भी नहीं होता, क्योंकि उनके द्वारा होनेवाले कर्म वास्तवमें कर्म नहीं हैं ॥१२॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।१३।

और हे महाबाहो ! संपूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके लिये अर्थात् संपूर्ण कर्मोंके सिद्ध होनेमें, यह पांच हेतु सांख्यसिद्धान्तमें कहे गये हैं, उनको तूं मेरेसे भली प्रकार जान ॥ १३ ॥

---

* संपूर्ण कर्तव्यकर्मोंमें फल, आसक्ति और कर्तापनके अभिमानको जिसने त्याग दिया है, उसीका नाम "त्यागी" है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

हे अर्जुन ! इस विषयमें आधार* और कर्ता तथा न्यारे न्यारे करण† और नाना प्रकारकी न्यारी न्यारी चेष्टा एवं वैसे ही पांचवां हेतु दैव‡ कहा गया है ॥ १४ ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

क्योंकि मनुष्य मन, वाणी और शरीरसे शास्त्रके अनुसार अथवा विपरीत भी जो कुछ कर्म आरम्भ करता है, उसके यह पांचों ही कारण हैं ॥ १५ ॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

---

* जिसके आश्रय कर्म किये जायं उसका नाम "आधार" है ।

† जिन-जिन इन्द्रियादिकोंके और साधनोंके द्वारा कर्म किये जाते हैं, उनका नाम "करण" है ।

‡ पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारोंका नाम "दैव" है ।

परन्तु ऐसा होनेपर भी जो पुरुष अशुद्ध बुद्धि* होनेके कारण, उस विषयमें केवल शुद्धस्वरूप आत्माको कर्ता देखता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ नहीं देखता है ॥ १६ ॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

और हे अर्जुन ! जिस पुरुषके अन्तःकरणमें मैं कर्ता हूं, ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और संपूर्ण कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बंधता है† १७

---

* सत्संग और शास्त्रके अभ्याससे तथा भगवत्-अर्थ कर्म और उपासनाके करनेसे, मनुष्यकी बुद्धि शुद्ध होती है, इसलिये जो उपरोक्त साधनोंसे रहित है, उसकी बुद्धि अशुद्ध है, ऐसा समझना चाहिये ।

† जैसे अग्नि, वायु और जलके द्वारा प्रारब्धवश किसी प्राणीकी हिंसा होती देखनेमें आवे, तो भी वह वास्तवमें हिंसा नहीं है, वैसे ही जिस पुरुषका देहमें अभिमान नहीं है और स्वार्थरहित केवल संसारके हितके लिये ही जिसकी संपूर्ण क्रियाएं होती हैं, उस पुरुषके शरीर और

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

तथा हे भारत ! ज्ञाता*, ज्ञान† और ज्ञेय‡ यह तीनों तो कर्मके प्रेरक हैं अर्थात् इन तीनोंके संयोगसे तो कर्ममें प्रवृत्त होनेकी इच्छा उत्पन्न होती है और कर्ता§, करण× और क्रिया+ यह तीनों कर्मके संग्रह हैं अर्थात् इन तीनोंके संयोगसे कर्म बनता है ।

इन्द्रियोंद्वारा यदि किसी प्राणीकी हिंसा होती हुई लोकदृष्टिमें देखी जाय तो भी वह वास्तवमें हिंसा नहीं है; क्योंकि आसक्ति, स्वार्थ और अहंकारके न होनेसे किसी प्राणीकी हिंसा हो ही नहीं सकती तथा बिना कर्तृत्व अभिमानके किया हुआ कर्म वास्तवमें अकर्म ही है, इसलिये वह पुरुष पापसे नहीं बंधता है ।

* जाननेवालेका नाम "ज्ञाता" है ।

† जिसके द्वारा जाना जाय उसका नाम "ज्ञान" है ।

‡ जाननेमें आनेवाली वस्तुका नाम "ज्ञेय" है ।

§ कर्म करनेवालेका नाम "कर्ता" है ।

× जिन साधनोंसे कर्म किया जाय, उनका नाम "करण" है ।

+ करनेका नाम "क्रिया" है ।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

उन सबमें ज्ञान और कर्म तथा कर्ता भी गुणोंके भेदसे सांख्यशास्त्रमें तीन-तीन प्रकारसे कहे गये हैं, उनको भी तूं मेरेसे भली प्रकार सुन ॥ १९ ॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ।२०।

हे अर्जुन ! जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें, एक अविनाशी परमात्मभावको विभाग-रहित, समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तूं सात्त्विक जान ॥ २० ॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ।२१।

और जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा, मनुष्य संपूर्ण भूतोंमें, भिन्न-भिन्न प्रकारके अनेक भावोंको न्यारा-न्यारा करके जानता है, उस ज्ञानको तूं राजस जान ॥ २१ ॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

और जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीरमें ही संपूर्णताके सदृश आसक्त है अर्थात् जिस विपरीत ज्ञानके द्वारा मनुष्य एक क्षणभङ्गुर नाशवान् शरीरको ही आत्मा मानकर, उसमें सर्वस्वकी भांति आसक्त रहता है तथा जो बिना युक्तिवाला, तत्त्व अर्थसे रहित और तुच्छ है, वह ज्ञान तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

तथा हे अर्जुन ! जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित, फलको न चाहनेवाले पुरुषद्वारा, बिना रागद्वेषसे किया हुआ है, वह कर्म तो सात्त्विक कहा जाता है।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

और जो कर्म बहुत परिश्रमसे युक्त है तथा फलको चाहनेवाले और अहंकारयुक्त पुरुषद्वार

किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है ॥ २४ ॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

तथा जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न विचारकर, केवल अज्ञानसे आरम्भ किया जाता है वह कर्म तामस कहा जाता है ॥ २५ ॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥

तथा हे अर्जुन ! जो कर्ता आसक्तिसे रहित और अहंकारके वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साहसे युक्त एवं कार्यके सिद्ध होने और न होनेमें हर्ष, शोकादि विकारोंसे रहित है, वह कर्ता तो सात्त्विक कहा जाता है ॥ २६ ॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

और जो आसक्तिसे युक्त, कर्मोंके फलको चाहनेवाला और लोभी है तथा दूसरोंको कष्ट देनेके स्वभाववाला अशुद्धाचारी और हर्ष, शोकसे

लिपायमान है, वह कर्ता राजस कहा गया है ॥२७॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

तथा जो विक्षेपयुक्त चित्तवाला, शिक्षासे रहित, घमण्डी, धूर्त और दूसरेकी आजीविकाका नाशक एवं शोक करनेके स्वभाववाला, आलसी और दीर्घसूत्री* है, वह कर्ता तामस कहा जाता है ॥ २८ ॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥

तथा हे अर्जुन ! तूं बुद्धिका और धारणशक्तिका भी गुणोंके कारण तीन प्रकारका भेद संपूर्णतासे विभागपूर्वक मेरेसे कहा हुआ सुन ॥ २९ ॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

---

* "दीर्घसूत्री" उसको कहा जाता है कि जो थोड़े कालमें होने लायक साधारण कार्यको भी फिर कर लेंगे, ऐसी आशासे बहुत कालतक नहीं पूरा करता ।

हे पार्थ ! प्रवृत्तिमार्ग* और निवृत्तिमार्गको† तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको एवं भय और अभयको तथा बन्धन और मोक्षको जो बुद्धि तत्त्वसे जानती है, वह बुद्धि तो सात्त्विकी है ॥ ३० ॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥३१॥

और हे पार्थ ! जिस बुद्धिके द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्मको तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको भी यथार्थ नहीं जानता है, वह बुद्धि राजसी है ॥ ३१ ॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥३२॥

और हे अर्जुन ! जो तमोगुणसे आवृत हुई बुद्धि अधर्मको धर्म ऐसा मानती है, तथा और भी संपूर्ण अर्थोंको विपरीत ही मानती है, वह बुद्धि तामसी है ।

---

* गृहस्थमें रहते हुए, फल और आसक्तिको त्यागकर, भगवत्-अर्पण बुद्धिसे केवल लोकशिक्षाके लिये, राजा जनककी भांति बर्तनेका नाम "प्रवृत्तिमार्ग" है ।

† देहाभिमानको त्यागकर, केवल सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित हुए, श्रीशुकदेवजी और सनकादिकोंकी भांति संसारसे उपराम होकर विचरनेका नाम "निवृत्तिमार्ग" है ।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

और हे पार्थ ! ध्यानयोगके द्वारा जिस अव्यभिचारिणी धारणासे* मनुष्य मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको† धारण करता है, वह धारणा तो सात्त्विकी है ॥ ३३ ॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ।३४।

और हे पृथापुत्र अर्जुन ! फलकी इच्छावाला मनुष्य अति आसक्तिसे जिस धारणाके द्वारा धर्म, अर्थ और कामोंको धारण करता है, वह धारणा राजसी है ॥३४॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

---

* भगवद्-विषयके सिवाय अन्य सांसारिक विषयोंको धारण करना ही व्यभिचार-दोष है, उस दोषसे जो रहित है, वह "अव्यभिचारिणी धारणा" है।

† मन, प्राण और इन्द्रियोंको भगवत्-प्राप्तिके लिये भजन, ध्यान और निष्काम कर्मोंमें लगानेका नाम "उनकी क्रियाओंको धारण करना" है ।

तथा हे पार्थ ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धारणाके द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता और दुःखको एवं उन्मत्तताको भी नहीं छोड़ता है अर्थात् धारण किये रहता है, वह धारणा तामसी है ॥ ३५ ॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥३६॥

हे अर्जुन ! अब सुख भी तू तीन प्रकारका मेरेसे सुन, हे भरतश्रेष्ठ ! जिस सुखमें साधक पुरुष भजन, ध्यान और सेवादिके अभ्याससे रमण करता है और दुःखोंके अन्तको प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥३७॥

वह सुख प्रथम साधनके आरम्भकालमें यद्यपि विषके सदृश भासता है* परन्तु परिणाममें अमृतके तुल्य है, इसलिये जो भगवत्-विषयक बुद्धिके प्रसादसे

* जैसे खेलमें आसक्तिवाले बालकको विद्याका अभ्यास मूढ़ताके कारण प्रथम विषके तुल्य भासता है, वैसे ही विषयोंमें आसक्तिवाले पुरुषको भगवत्-भजन, ध्यान, सेवा आदि साधनोंका अभ्यास, मर्म न जाननेके कारण, प्रथम विषके सदृश भासता है ।

उत्पन्न हुआ सुख है वह सात्त्विक कहा गया है ॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

और जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है वह यद्यपि भोगकालमें अमृतके सदृश भासता है, परन्तु परिणाममें विषके सदृश है*, इसलिये वह सुख राजस कहा गया है ॥ ३८ ॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

तथा जो सुख भोगकालमें और परिणाममें भी आत्माको मोहनेवाला है, वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न हुआ सुख तामस कहा गया है ॥३९॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥४०॥

और हे अर्जुन ! पृथ्वीमें या स्वर्गमें अथवा

* बल, वीर्य, बुद्धि, धन, उत्साह और परलोकका नाशक होनेसे विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाले सुखको "परिणाममें विषके सदृश" कहा है।

देवताओंमें, ऐसा वह कोई भी प्राणी नहीं है, कि जो इन प्रकृतिसे उत्पन्न हुए, तीनों गुणोंसे रहित हो, क्योंकि यावन्मात्र सर्व जगत् त्रिगुणमयी मायाका ही विकार है ॥ ४० ॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

इसलिये हे परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके तथा शूद्रोंके भी कर्म, स्वभावसे उत्पन्न हुए गुणों करके विभक्त किये गये हैं अर्थात् पूर्वकृत कर्मोंके संस्काररूप स्वभावसे उत्पन्न हुए गुणोंके अनुसार विभक्त किये गये हैं ॥ ४१ ॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

उनमें अन्तःकरणका निग्रह, इन्द्रियोंका दमन, बाहर-भीतरकी शुद्धि*, धर्मके लिये कष्ट सहन करना और क्षमाभाव एवं मन, इन्द्रियां और शरीरकी सरलता, आस्तिक बुद्धि, शास्त्रविषयक ज्ञान और

* गीता अध्याय १३ श्लोक ७ की टिप्पणीमें देखना चाहिये ।

परमात्मतत्त्वका अनुभव भी, ये तो ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४२ ॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

और शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्धमें भी न भागनेका स्वभाव एवं दान और स्वामीभाव अर्थात् निःस्वार्थभावसे सबका हित सोचकर, शास्त्राज्ञानुसार शासनद्वारा प्रेमके सहित पुत्रतुल्य प्रजाको पालन करनेका भाव—ये सब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४३ ॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

तथा खेती, गोपालन और क्रयविक्रयरूप सत्य व्यवहार* ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं और सब वर्णों-

* वस्तुओंके खरीदने और बेचनेमें तौल, नाप और गिनती आदिसे कम देना अथवा अधिक लेना एवं वस्तुको बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी (खराब) वस्तु मिलाकर दे देना अथवा (अच्छी) ले लेना तथा नफा, आढ़त और दलाली ठहराकर, उससे अधिक दाम लेना या कम देना तथा झूठ, कपट, चोरी और जबरदस्तीसे अथवा अन्य किसी प्रकारसे दूसरेके

की सेवा करना, यह शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

एवं इस अपने-अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य, भगवत्-प्राप्तिरूप परमसिद्धिको प्राप्त होता है, परन्तु जिस प्रकारसे अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य, परमसिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तूं मेरेसे सुन ॥ ४५ ॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।४६।

हे अर्जुन ! जिस परमात्मासे सर्वभूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्व जगत् व्याप्त है* उस परमेश्वरको अपने स्वाभाविक कर्मद्वारा पूज-

---

हकको ग्रहण कर लेना इत्यादि दोषोंसे रहित जो सत्यतापूर्वक पवित्र वस्तुओंका व्यापार है, उसका नाम "सत्य व्यवहार" है।

* जैसे बर्फ जलसे व्याप्त है, वैसे ही संपूर्ण संसार सच्चिदानन्दघन परमात्मासे व्याप्त है।

कर*, मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त होता है ॥ ४६ ॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

इसलिये अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभावसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य, पापको नहीं प्राप्त होता ॥ ४७॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

अतएव हे कुन्तीपुत्र ! दोषयुक्त भी स्वाभाविक† कर्मको नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि धुएंसे अग्निके

---

* जैसे पतिव्रता स्त्री पतिको ही सर्वस्व समझकर, पतिका चिन्तन करती हुई, पतिकी आज्ञानुसार, पतिके ही लिये, मन, वाणी, शरीरसे कर्म करती है, वैसे ही परमेश्वरको ही सर्वस्व समझकर, परमेश्वरका चिन्तन करते हुए, परमेश्वरकी आज्ञाके अनुसार मन, वाणी और शरीरसे परमेश्वरके ही लिये स्वाभाविक कर्तव्य कर्मका आचरण करना "कर्मद्वारा परमेश्वरको पूजना" है ।

† प्रकृतिके अनुसार शास्त्रविधिसे नियत किये हुए, जो वर्णाश्रमके धर्म और सामान्य धर्मरूप स्वाभाविक कर्म हैं, उनको ही यहां 'स्वधर्म' 'सहज कर्म' 'स्वकर्म' 'नियत कर्म' 'स्वभावज कर्म' 'स्वभावनियत कर्म' इत्यादि नामोंसे कहा है ।

सदृश सब ही कर्म किसी न किसी दोषसे आवृत हैं ।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

तथा हे अर्जुन ! सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष, सांख्ययोगके द्वारा भी परम नैष्कर्म्य सिद्धिको प्राप्त होता है अर्थात् क्रियारहित शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माकी प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त होता है ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

इसलिये हे कुन्तीपुत्र ! अन्तःकरणकी शुद्धि-रूप सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष, जैसे सांख्ययोगके द्वारा, सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होता है तथा जो तत्त्वज्ञानकी परानिष्ठा है, उसको भी तू मेरेसे संक्षेपसे जान ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

हे अर्जुन ! विशुद्ध बुद्धिसे युक्त एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला तथा मिताहारी*, जीते हुए मन, वाणी, शरीरवाला और दृढ़ वैराग्यको भली प्रकार प्राप्त हुआ पुरुष निरन्तर ध्यानयोगके परायण हुआ, सात्त्विक धारणासे†, अन्तःकरणको वशमें करके तथा शब्दादिक विषयोंको त्यागकर और रागद्वेषोंको नष्ट करके ॥ ५१, ५२ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

तथा अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और संग्रहको त्यागकर ममतारहित और शान्त अन्तःकरण हुआ, सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभाव होनेके लिये योग्य होता है ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित हुआ, प्रसन्न चित्तवाला पुरुष न तो किसी

* हल्का और अल्प आहार करनेवाला ।
† गीता अध्याय १८ श्लोक ३३ में जिसका विस्तार है ।

सदृश सब ही कर्म किसी न किसी दोषसे आवृत हैं ।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥

तथा हे अर्जुन ! सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष, सांख्ययोगके द्वारा भी परम नैष्कर्म्य सिद्धिको प्राप्त होता है अर्थात् क्रियारहित शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माकी प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त होता है ॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥

इसलिये हे कुन्तीपुत्र ! अन्तःकरणकी शुद्धि-रूप सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष, जैसे सांख्ययोगके द्वारा, सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होता है तथा जो तत्त्वज्ञानकी परानिष्ठा है, उसको भी तू मेरेसे संक्षेपसे जान ॥ ५० ॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

हे अर्जुन ! विशुद्ध बुद्धिसे युक्त एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला तथा मिताहारी*, जीते हुए मन, वाणी, शरीरवाला और दृढ़ वैराग्यको भली प्रकार प्राप्त हुआ पुरुष निरन्तर ध्यानयोगके परायण हुआ, सात्त्विक धारणासे†, अन्तःकरणको वशमें करके तथा शब्दादिक विषयोंको त्यागकर और रागद्वेषोंको नष्ट करके ॥ ५१, ५२ ॥

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

तथा अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और संग्रहको त्यागकर ममतारहित और शान्त अन्तःकरण हुआ, सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभाव होनेके लिये योग्य होता है ॥ ५३ ॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित हुआ, प्रसन्न चित्तवाला पुरुष न तो किसी

* हल्का और अल्प आहार करनेवाला ।
† गीता अध्याय १८ श्लोक ३३ में जिसका विस्तार है ।

वस्तुके लिये शोक करता है और न किसीकी आकांक्षा ही करता है एवं सब भूतोंमें समभाव हुआ*, मेरी पराभक्तिको† प्राप्त होता है ॥ ५४ ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

और उस पराभक्तिके द्वारा मेरेको तत्त्वसे भली प्रकार जानता है कि मैं जो और जिस प्रभाववाला हूं तथा उस भक्तिसे मेरेको तत्त्वसे जानकर, तत्काल ही मेरेमें प्रवेश हो जाता है अर्थात् अनन्यभावसे मेरेको प्राप्त हो जाता है, फिर उसकी दृष्टिमें मुझ वासुदेवके सिवा और कुछ भी नहीं रहता ॥ ५५ ॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥

और मेरे परायण हुआ निष्काम कर्मयोगी तो

---

* गीता अध्याय ६ श्लोक २९ में देखना चाहिये ।

† जो तत्त्वज्ञानकी पराकाष्ठा है तथा जिसको प्राप्त होकर और कुछ जानना बाकी नहीं रहता, वही यहां "पराभक्ति" "ज्ञानकी परानिष्ठा" "परमनैष्कर्म्यसिद्धि" और "परमसिद्धि" इत्यादि नामोंसे कही गयी है ।

संपूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन, अविनाशी परम पदको प्राप्त हो जाता है ।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

इसलिये हे अर्जुन ! तूं सब कर्मोंको मनसे मेरेमें अर्पण करके*, मेरे परायण हुआ, समत्व-बुद्धिरूप निष्काम कर्मयोगको अवलम्बन करके, निरन्तर मेरेमें चित्तवाला हो ॥ ५७ ॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥५८॥

इस प्रकार तूं मेरेमें निरन्तर मनवाला हुआ, मेरी कृपासे जन्म, मृत्यु आदि सब संकटोंको अनायास ही तर जायगा और यदि अहंकारके कारण, मेरे वचनोंको नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा अर्थात् परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा ॥ ५८ ॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।५९।

* गीता अध्याय ९ श्लोक २७ में जिसकी विधि कही है ।

और जो तूं अहंकारको अवलम्बन करके ऐसे मानता है कि मैं युद्ध नहीं करूंगा, तो यह तेरा निश्चय मिथ्या है, क्योंकि क्षत्रियपनका स्वभाव तेरेको जबरदस्ती युद्धमें लगा देगा ॥ ५९ ॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥

और हे अर्जुन ! जिस कर्मको तूं मोहसे नहीं करना चाहता है, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बंधा हुआ परवश होकर करेगा ।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

क्योंकि हे अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए संपूर्ण प्राणियोंको, अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूतप्राणियोंके हृदयमें स्थित है ॥६१॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

इसलिये हे भारत ! सब प्रकारसे उस परमेश्वर-

की ही अनन्यशरणको* प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे ही परम शान्तिको और सनातन परम धामको प्राप्त होगा ॥ ६२ ॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

इस प्रकार यह गोपनीयसे भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तेरे लिये कहा है, इस रहस्ययुक्त ज्ञानको संपूर्णतासे अच्छी प्रकार विचारके, फिर तूं जैसे चाहता है वैसे ही कर अर्थात् जैसी तेरी इच्छा हो, वैसे ही कर ॥ ६३ ॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥

* लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्तिको त्यागकर एवं शरीर और संसारमें अहंता, ममतासे रहित होकर, केवल एक परमात्माको ही परम आश्रय, परम गति और सर्वस्व समझना तथा अनन्यभावसे, अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक, निरन्तर भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना एवं भगवान्‌का भजन, स्मरण रखते हुए ही उनकी आज्ञानुसार कर्तव्यकर्मोंका निःस्वार्थभावसे केवल परमेश्वरके लिये आचरण करना, यह "सब प्रकारसे परमात्माके अनन्यशरण" होना है ।

इतना कहनेपर भी अर्जुनका कोई उत्तर नहीं मिलनेके कारण, श्रीकृष्ण भगवान् फिर बोले कि हे अर्जुन ! संपूर्ण गोपनीयोंसे भी अति गोपनीय, मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तूं फिर भी सुन; क्योंकि तूं मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन, मैं तेरे लिये कहूंगा ॥ ६४ ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

हे अर्जुन ! तूं केवल मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्य प्रेमसे नित्य-निरन्तर अचल मनवाला हो और मुझ परमेश्वरको ही अतिशय श्रद्धा-भक्तिसहित, निष्काम भावसे नाम, गुण और प्रभावके श्रवण, कीर्तन, मनन और पठन-पाठनद्वारा निरन्तर भजनेवाला हो तथा मेरा (शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और किरीट, कुण्डल आदि भूषणोंसे युक्त, पीताम्बर, वनमाला और कौस्तुभमणिधारी विष्णुका) मन, वाणी और शरीरके द्वारा सर्वस्व अर्पण करके अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमसे विह्वलता-

पूर्वक पूजन करनेवाला हो और मुझ सर्वशक्तिमान्, विभूति, बल, ऐश्वर्य, माधुर्य, गम्भीरता, उदारता, वात्सल्य और सुहृदता आदि गुणोंसे सम्पन्न सबके आश्रयरूप वासुदेवको विनयभावपूर्वक भक्तिसहित साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम कर, ऐसा करनेसे तू मेरेको ही प्राप्त होगा, यह मैं तेरे लिये सत्य प्रतिज्ञा करता हूं, क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय सखा है ॥६५॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

इसलिये सर्व धर्मोंको अर्थात् संपूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर, केवल एक मुझ सच्चिदानन्द-घन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्यशरणको* प्राप्त हो, मैं तेरेको संपूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूंगा, तू शोक मत कर ॥ ६६ ॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥

हे अर्जुन! इस प्रकार तेरे हितके लिये कहे हुए

* इसी अध्यायके श्लोक ६२ की टिप्पणीमें "अनन्यशरण" का भाव देखना चाहिये ।

इस गीतारूप परम रहस्यको, किसी कालमें भी न तो तपरहित मनुष्यके प्रति कहना चाहिये और न भक्ति* रहितके प्रति तथा न बिना सुननेकी इच्छावालेके ही प्रति कहना चाहिये एवं जो मेरी निन्दा करता है, उसके प्रति भी नहीं कहना चाहिये, परन्तु जिनमें यह सब दोष नहीं हों, ऐसे भक्तोंके प्रति प्रेमपूर्वक, उत्साहके सहित कहना चाहिये ॥ ६७ ॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

क्योंकि जो पुरुष मेरेमें परम प्रेम करके, इस परम रहस्ययुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा अर्थात् निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक मेरे भक्तोंको पढ़ावेगा, या अर्थकी व्याख्याद्वारा इसका प्रचार करेगा, वह निःसन्देह मेरेको ही प्राप्त होगा ॥ ६८ ॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

और न तो उससे बढ़कर मेरा अतिशय प्रिय

* वेद, शास्त्र और परमेश्वर तथा महात्मा और गुरुजनोंमें श्रद्धा, प्रेम और पूज्यभावका नाम "भक्ति" है ।

कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई है और न उससे बढ़-कर, मेरा अत्यन्त प्यारा पृथ्वीमें दूसरा कोई होवेगा ।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

तथा हे अर्जुन ! जो पुरुष, इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा अर्थात् नित्य पाठ करेगा, उसके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञसे* पूजित होऊंगा, ऐसा मेरा मत है ॥ ७० ॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥

तथा जो पुरुष श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित हुआ, इस गीताशास्त्रका श्रवणमात्र भी करेगा वह भी पापोंसे मुक्त हुआ, उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होवेगा ॥ ७१ ॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

इस प्रकार गीताका माहात्म्य कहकर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दने अर्जुनसे पूछा, हे

* गीता अध्याय ४ श्लोक ३३ का अर्थ देखना चाहिये ।

पार्थ ! क्या यह मेरा वचन तैंने एकाग्रचित्तसे श्रवण किया ? और हे धनंजय ! क्या तेरा अज्ञानसे उत्पन्न हुआ मोह नष्ट हुआ ? ॥ ७२ ॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।७३।

इस प्रकार भगवान्‌के पूछनेपर अर्जुन बोला, हे अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और मुझे स्मृति प्राप्त हुई है, इसलिये मैं संशयरहित हुआ स्थित हूं और आपकी आज्ञा पालन करूंगा ।७३।

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

इसके उपरान्त संजय बोला, हे राजन् ! इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेवके और महात्मा अर्जुनके, इस अद्भुत रहस्ययुक्त और रोमाञ्चकारक संवादको सुना ॥७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥

कैसे कि श्रीव्यासजीकी कृपासे दिव्य दृष्टिद्वारा, मैंने इस परम रहस्ययुक्त गोपनीय योगको साक्षात्

कहते हुए स्वयम् योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान्से सुना है

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

इसलिये हे राजन्! श्रीकृष्णभगवान् और अर्जुनके, इस रहस्ययुक्त कल्याणकारक और अद्भुत संवादको पुनः पुनः स्मरण करके मैं बारम्बार हर्षित होता हूं।७६।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ।७७।

तथा हे राजन् ! श्रीहरिके* उस अति अद्भुत रूपको भी पुनः पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं बारम्बार हर्षित होता हूं॥७७॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

हे राजन् ! विशेष क्या कहूं, जहां योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् हैं और जहां गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन है, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है ऐसा मेरा मत है ॥ ७८ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन-संवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

* जिसका स्मरण करनेसे पापोंका नाश होता है, उसका नाम "हरि" है

"श्रीमद्भगवद्गीता" यह एक परम रहस्यका विषय है। इसको परम कृपालु श्रीकृष्ण भगवान्‌ने अर्जुनको निमित्त करके सभी प्राणियोंके हितके लिये कहा है। परन्तु इसके प्रभावको वे ही पुरुष जान सकते हैं कि जो भगवान्‌के शरण होकर श्रद्धा, भक्तिसहित इसका अभ्यास करते हैं, इसलिये अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको उचित है, कि जितना शीघ्र हो सके अज्ञाननिद्रासे चेतकर एवं अपना मुख्य कर्तव्य समझकर श्रद्धाभक्तिसहित सदा इसका श्रवण, मनन और पठनपाठनद्वारा अभ्यास करते हुए भगवान्‌की आज्ञानुसार साधनमें लग जायं। क्योंकि जो मनुष्य श्रद्धाभक्तिसहित इसका मर्म जाननेके लिये इसके अन्तर प्रवेश करके सदा इसका मनन करते हैं, एवं भगवत्-आज्ञानुसार साधन करनेमें तत्पर रहते हैं, उनके अन्तःकरणमें प्रतिदिन नये नये सद्भाव उत्पन्न होते हैं और वे शुद्धान्तःकरण हुए शीघ्र ही परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं।

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्

श्रीविष्णु

सशङ्खचक्रं सकिरीटकुण्डलं सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम् ।

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

त्यागसे भगवत्-प्राप्ति

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥

गृहस्थाश्रममें रहता हुआ भी मनुष्य त्यागके द्वारा परमात्माको प्राप्त कर सकता है । परमात्माको प्राप्त करनेके लिये "त्याग" ही मुख्य साधन है । अतएव सात श्रेणियोंमें विभक्त करके त्यागके लक्षण संक्षेपमें लिखे जाते हैं ।

(१) निषिद्ध कर्मोंका सर्वथा त्याग ।

चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, जबरदस्ती, हिंसा, अभक्ष्य-भोजन और प्रमाद आदि शास्त्रविरुद्ध नीच कर्मोंको मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी न करना । यह पहिली श्रेणीका त्याग है ।

(२) काम्यकर्मोंका त्याग ।

स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे एवं रोग, संकटादिकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप और उपासनादि सकाम कर्मोंको अपने स्वार्थके लिये न करना* । यह दूसरी श्रेणीका त्याग है ।

(३) तृष्णाका सर्वथा त्याग ।

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं स्त्री, पुत्र और धनादि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए हों उनके बढ़नेकी इच्छाको भगवत्-प्राप्तिमें बाधक समझकर उसका त्याग करना । यह तीसरी श्रेणीका त्याग है ।

(४) स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेका त्याग ।

अपने सुखके लिये किसीसे भी धनादि पदार्थोंकी अथवा सेवा करानेकी याचना करना एवं बिना याचनाके दिये हुए पदार्थोंको या की हुई सेवाको स्वीकार करना तथा किसी प्रकार भी किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी मनमें इच्छा रखना इत्यादि, जो स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेके भाव हैं

---

* यदि कोई लौकिक अथवा शास्त्रीय ऐसा कर्म संयोगवश प्राप्त हो जाय जो कि स्वरूपसे तो सकाम हो, परन्तु उसके न करनेसे किसीको कष्ट पहुंचता हो या कर्म-उपासनाकी परम्परामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो स्वार्थका त्याग करके केवल लोकसंग्रहके लिये उसका कर लेना सकाम कर्म नहीं है ।

उन सबका त्याग करना* । यह चौथी श्रेणीका त्याग है ।

(५) संपूर्ण कर्तव्यकर्मोंमें आलस्य और फलकी इच्छाका सर्वथा त्याग ।

ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरु-जनोंकी सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार आजीविकाद्वारा गृहस्थका निर्वाह एवं शरीरसम्बन्धी खान-पान इत्यादि जितने कर्तव्य कर्म हैं उन सबमें आलस्यका और सब प्रकारकी कामनाका त्याग करना ।

(क) ईश्वर-भक्तिमें आलस्यका त्याग ।

अपने जीवनका परम कर्तव्य मानकर परम दयालु सबके सुहृद्, परम प्रेमी अन्तर्यामी परमेश्वरके गुण, प्रभाव और प्रेमकी रहस्यमयी कथाका श्रवण, मनन और पठनपाठन करना तथा आलस्यरहित होकर उनके परम पुनीत नामका उत्साहपूर्वक ध्यानसहित निरन्तर जप करना ।

---

* यदि कोई ऐसा अवसर योग्यतासे प्राप्त हो जाय कि शरीर-सम्बन्धी सेवा अथवा भोजनादि पदार्थोंके स्वीकार न करनेसे किसीको कष्ट पहुंचता हो या लोकशिक्षामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो उस अवसरपर स्वार्थका त्याग करके केवल उनकी प्रीतिके लिये सेवादिका स्वीकार करना दोषयुक्त नहीं है । क्योंकि स्त्री, पुत्र और नौकर आदिसे की हुई सेवा एवं बन्धु-बान्धव और मित्र आदिद्वारा दिये हुए भोजनादि पदार्थ स्वीकार न करनेसे उनको कष्ट होना एवं लोकमर्यादामें बाधा पड़ना सम्भव है ।

(ख) ईश्वर-भक्तिमें कामनाका त्याग ।

इस लोक और परलोकके संपूर्ण भोगोंको क्षणभंगुर, नाशवान् और भगवान्‌की भक्तिमें बाधक समझकर किसी भी वस्तुकी प्राप्तिके लिये न तो भगवान्‌से प्रार्थना करना और न मनमें इच्छा ही रखना । तथा किसी प्रकारका सङ्कट आ जानेपर भी उसके निवारणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना न करना, अर्थात् हृदयमें ऐसा भाव रखना कि प्राण भले ही चले जायं, परन्तु इस मिथ्या जीवनके लिये विशुद्ध भक्तिमें कलङ्क लगाना उचित नहीं है । जैसे भक्त प्रह्लादने पिताद्वारा बहुत सताये जानेपर भी अपने कष्ट-निवारणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना नहीं की । अपना अनिष्ट करने-वालोंको भी, "भगवान् तुम्हारा बुरा करें" इत्यादि किसी प्रकारके कठोर शब्दोंसे सराप न देना और उनका अनिष्ट होनेकी मनमें इच्छा भी न रखना । भगवान्‌की भक्तिके अभिमानमें आकर किसीको वरदानादि भी न देना, जैसे कि "भगवान् तुम्हें आरोग्य करें" "भगवान् तुम्हारा दुःख दूर करें" "भगवान् तुम्हारी आयु बढ़ावें" इत्यादि ।

पत्रव्यवहारमें भी सकाम शब्दोंका न लिखना अर्थात् जैसे "अठे उठे श्रीठाकुरजी सहाय छै" "ठाकुरजी बिक्री चलासी" "ठाकुरजी वर्षा करसी" "ठाकुरजी आराम करसी" इत्यादि सांसारिक वस्तुओंके लिये ठाकुरजीसे प्रार्थना करने-

के रूपमें सकाम शब्द मारवाड़ी समाजमें प्रायः लिखे जाते हैं, वैसे न लिखकर "श्रीपरमात्मादेव आनन्दरूपसे सर्वत्र विराजमान हैं" "श्रीपरमेश्वरका भजन सार है" इत्यादि निष्काम माङ्गलिक शब्द लिखना तथा इसके सिवाय अन्य किसी प्रकारसे भी लिखने, बोलने आदिमें सकाम शब्दोंका प्रयोग न करना।

(ग) देवताओंके पूजनमें आलस्य और कामनाका त्याग।

शास्त्र-मर्यादासे अथवा लोक-मर्यादासे पूजनेके योग्य देवताओंको पूजनेका नियत समय आनेपर उनका पूजन करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा है एवं भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना परम कर्तव्य है ऐसा समझकर उत्साहपूर्वक विधिके सहित उनका पूजन करना एवं उनसे किसी प्रकारकी भी कामना न करना।

उनके पूजनके उद्देश्यसे रोकड़ बहीखाते आदिमें भी सकाम शब्द न लिखना अर्थात् जैसे मारवाड़ी समाजमें नये बसनेके दिन अथवा दीपमालिकाके दिन श्रीलक्ष्मीजीका पूजन करके "श्रीलक्ष्मीजी लाभ मोकलो देसी" "भण्डार भरपूर राखसी" "ऋद्धि सिद्धि करसी" "श्रीकालीजीके आसरे" "श्रीगङ्गाजीके आसरे" इत्यादि बहुत-से सकाम शब्द लिखे जाते हैं, वैसे न लिखकर "श्रीलक्ष्मीनारायणजी सब जगह आनन्दरूपसे विराजमान हैं" तथा

"बहुत आनन्द और उत्साहके सहित श्रीलक्ष्मीजीका पूजन किया" इत्यादि निष्काम माङ्गलिक शब्द लिखना और नित्य रोकड़ नकल आदिके आरम्भ करनेमें भी उपर्युक्त रीतिसे ही लिखना।

(घ) माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवामें आलस्य और कामनाका त्याग।

माता, पिता, आचार्य एवं और भी जो पूजनीय पुरुष वर्ण, आश्रम, अवस्था और गुणोंमें किसी प्रकार भी अपनेसे बड़े हों उन सबकी सब प्रकारसे नित्य सेवा करना और उनको नित्य प्रणाम करना मनुष्यका परम कर्तव्य है इस भावको हृदयमें रखते हुए आलस्यका सर्वथा त्याग करके निष्कामभावसे उत्साहपूर्वक भगवदाज्ञानुसार उनकी सेवा करनेमें तत्पर रहना।

(ङ) यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग।

पञ्च महायज्ञादि* नित्यकर्म एवं अन्यान्य नैमित्तिक कर्मरूप यज्ञादिका करना तथा अन्न, वस्त्र, विद्या, औषध और धनादि पदार्थोंके दानद्वारा सम्पूर्ण जीवोंको यथायोग्य

* पञ्च महायज्ञ यह हैं—देवयज्ञ (अग्निहोत्रादि), ऋषियज्ञ (वेदपाठ, सन्ध्या, गायत्रीजपादि), पितृयज्ञ (तर्पण-श्राद्धादि), मनुष्ययज्ञ (अतिथिसेवा) और भूतयज्ञ (बलिवैश्व)।

सुख पहुंचानेके लिये मन, वाणी और शरीरसे अपनी शक्तिके अनुसार चेष्टा करना तथा अपने धर्मका पालन करनेके लिये हर प्रकारसे कष्ट सहन करना इत्यादि शास्त्र-विहित कर्मोंमें इस लोक और परलोकके संपूर्ण भोगोंकी कामनाका सर्वथा त्याग करके एवं अपना परम कर्तव्य मानकर श्रद्धासहित, उत्साहपूर्वक भगवदाज्ञानुसार, केवल भगवदर्थ ही उनका आचरण करना।

(च) आजीविकाद्वारा गृहस्थनिर्वाहके उपर्युक्त कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग।

आजीविकाके कर्म जैसे वैश्यके लिये कृषि, गोरक्ष्य और वाणिज्य आदि कहे हैं वैसे ही जो अपने-अपने वर्ण, आश्रमके अनुसार शास्त्रमें विधान किये गये हों उन सबके पालनद्वारा संसारका हित करते हुए ही गृहस्थका निर्वाह करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा है। इसलिये अपना कर्तव्य मानकर लाभ-हानिको समान समझते हुए, सब प्रकारकी कामनाओंका त्याग करके उत्साहपूर्वक उपरोक्त कर्मोंका करना*।

---

* उपरोक्त भावसे करनेवाले पुरुषके कर्म लोभसे रहित होनेके कारण उनमें किसी प्रकारका भी दोष नहीं आ सकता, क्योंकि आजीविकाके कर्मोंमें लोभ ही विशेषरूपसे पाप करानेका हेतु है इसलिये मनुष्यको चाहिये कि गीता अध्याय १८ श्लोक ४४ की टिप्पणीमें जैसे वैश्यके प्रति वाणिज्यके दोषोंका त्याग करनेके लिये विस्तारपूर्वक लिखा है उसी प्रकार

(छ) शरीरसम्बन्धी कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग ।

शरीरनिर्वाहके लिये शास्त्रोक्त रीतिसे भोजन, वस्त्र और औषधादिके सेवनरूप जो शरीरसम्बन्धी कर्म हैं उनमें सब प्रकारके भोग-विलासोंकी कामनाका त्याग करके एवं सुख-दुःख, लाभ-हानि और जीवन-मरण आदिको समान समझकर केवल भगवत्-प्राप्तिके लिये ही योग्यताके अनुसार उनका आचरण करना ।

पूर्वोक्त चार श्रेणियोंके त्यागसहित इस पांचवीं श्रेणीके त्यागानुसार संपूर्ण दोषोंका और सब प्रकारकी कामनाओंका नाश होकर केवल एक भगवत्-प्राप्तिकी ही तीव्र इच्छाका होना ज्ञानकी पहिली भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण समझने चाहिये ।

(६) संसारके संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग ।

धन, भवन और वस्त्रादि संपूर्ण वस्तुएं तथा स्त्री, पुत्र और मित्रादि संपूर्ण बान्धवजन एवं मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा इत्यादि इस लोकके और परलोकके जितने विषय-भोगरूप पदार्थ हैं उन सबको क्षणभंगुर और नाशवान्

अपने-अपने वर्ण, आश्रमके अनुसार संपूर्ण कर्मोंमें सब प्रकारके दोषोंका त्याग करके केवल भगवान्‌की आज्ञा समझकर भगवान्‌के लिये निष्काम भावसे ही संपूर्ण कर्मोंका आचरण करे ।

होनेके कारण अनित्य समझकर उनमें ममता और आसक्तिका न रहना तथा केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही अनन्यभावसे विशुद्ध प्रेम होनेके कारण मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाली संपूर्ण क्रियाओंमें और शरीरमें भी ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना। यह छठी श्रेणीका त्याग है*।

उक्त छठी श्रेणीके त्यागको प्राप्त हुए पुरुषोंका संसारके संपूर्ण पदार्थोंमें वैराग्य होकर केवल एक परम प्रेममय भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम हो जाता है। इसलिये उनको भगवान्‌के गुण, प्रभाव और रहस्यसे भरी हुई विशुद्ध प्रेमके विषयकी कथाओंका सुनना-सुनाना और मनन करना तथा एकान्त देशमें रहकर निरन्तर भगवान्‌का भजन, ध्यान और शास्त्रोंके मर्मका विचार करना ही प्रिय लगता है। विषयासक्त मनुष्योंमें रहकर हास्य, विलास, प्रमाद, निन्दा, विषयभोग और व्यर्थ वार्तादिमें अपने अमूल्य समयका

* संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छाका त्याग तो तीसरी और पांचवीं श्रेणीके त्यागमें कहा गया, परन्तु उपरोक्त त्यागके होनेपर भी उनमें ममता और आसक्ति शेष रह जाती है, जैसे भजन, ध्यान और सत्संगके अभ्याससे भरतमुनिका सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छाका त्याग होनेपर भी हरिणमें और हरिणके पालनरूप कर्ममें ममता और आसक्ति बनी रही। इसलिये संसारके संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिके त्यागको छठी श्रेणीका त्याग कहा है।

एक क्षण भी बिताना अच्छा नहीं लगता। एवं उनके द्वारा संपूर्ण कर्तव्य कर्म भगवान्‌के स्वरूप और नामका मनन रहते हुए ही बिना आसक्तिके केवल भगवदर्थ होते हैं।

इस प्रकार संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिका त्याग होकर केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही विशुद्ध प्रेमका होना ज्ञानकी दूसरी भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण समझने चाहिये।

(७) संसार, शरीर और संपूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासना और अहंभावका सर्वथा त्याग।

संसारके संपूर्ण पदार्थ मायाके कार्य होनेसे सर्वथा अनित्य हैं और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण है, ऐसा दृढ़ निश्चय होकर शरीरसहित संसारके संपूर्ण पदार्थोंमें और संपूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासनाका सर्वथा अभाव हो जाना अर्थात् अन्तःकरणमें उनके चित्रोंका संस्काररूपसे भी न रहना एवं शरीरमें अहंभावका सर्वथा अभाव होकर मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले संपूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका लेशमात्र भी न रहना। यह सातवीं श्रेणीका त्याग है* ।

* संपूर्ण संसारके पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छाका एवं ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव होनेपर भी उनमें सूक्ष्म वासना और कर्तृत्व अभिमान शेष रह जाता है। इसलिये सूक्ष्म वासना और अहंभावके त्यागको सातवीं श्रेणीका त्याग कहा है।

इस सातवीं श्रेणीके त्यागरूप परवैराग्यको* प्राप्त हुए पुरुषोंके अन्तःकरणकी वृत्तियां संपूर्ण संसारसे अत्यन्त उपराम हो जाती हैं। यदि किसी कालमें कोई सांसारिक फुरना हो भी जाती है तो भी उसके संस्कार नहीं जमते, क्योंकि उनकी एक सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्यभावसे गाढ़ स्थिति निरन्तर बनी रहती है।

इसलिये उनके अन्तःकरणमें संपूर्ण अवगुणोंका अभाव होकर अहिंसा १, सत्य २, अस्तेय ३, ब्रह्मचर्य ४, अपैशुनता ५, लज्जा, अमानित्व ६, निष्कपटता, शौच ७,

* पूर्वोक्त छठी श्रेणीके त्यागको प्राप्त हुए पुरुषकी तो विषयोंका विशेष संसर्ग होनेसे कदाचित् उनमें कुछ आसक्ति हो भी सकती है, परन्तु इस सातवीं श्रेणीके त्यागी पुरुषका विषयोंके साथ संसर्ग होनेपर भी उनमें आसक्ति नहीं हो सकती; क्योंकि उसके निश्चयमें एक परमात्माके सिवाय अन्य कोई वस्तु रहती नहीं। इसलिये इस त्यागको परवैराग्य कहा है।

१ मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार किसीको कष्ट न देना।

२ अन्तःकरण और इन्द्रियोंके द्वारा जैसा निश्चय किया हो वैसे-का-वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहना।

३ चोरीका सर्वथा अभाव।

४ आठ प्रकारके मैथुनोंका अभाव।

५ किसीकी भी निन्दा न करना।

६ सत्कार, मान और पूजादिका न चाहना।

७ बाहर और भीतरकी पवित्रता (सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी और उसके अन्नसे आहारकी एवं यथायोग्य बर्तावसे आचरणोंकी और जल-मृत्तिकादिसे शरीरकी शुद्धिको तो बाहरकी शुद्धि कहते हैं और राग-द्वेष तथा कपटादि विकारोंका नाश होकर अन्तःकरणका स्वच्छ और शुद्ध हो जाना, भीतरकी शुद्धि कहलाती है)।

सन्तोष १, तितिक्षा २, सत्सङ्ग, सेवा, यज्ञ, दान, तप ३, स्वाध्याय ४, शम ५, दम ६, विनय, आर्जव ७, दया ८, श्रद्धा ९, विवेक १०, वैराग्य ११, एकान्तवास, अपरिग्रह१२, समाधान १३, उपरामता, तेज १४, क्षमा १५, धैर्य १६,

---

१ तृष्णाका सर्वथा अभाव।

२ शीत, उष्ण, सुख, दुःखादि द्वन्द्वोंका सहन करना।

३ स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहना।

४ वेद और सत्-शास्त्रोंका अध्ययन एवं भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन।

५ मनका वशमें होना।

६ इन्द्रियोंका वशमें होना।

७ शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता।

८ दुःखियोंमें करुणा।

९ वेद, शास्त्र, महात्मा, गुरु और परमेश्वरके वचनोंमें प्रत्यक्षके सदृश विश्वास।

१० सत् और असत् पदार्थका यथार्थ ज्ञान।

११ ब्रह्मलोकतकके संपूर्ण पदार्थोंमें आसक्तिका अत्यन्त अभाव।

१२ ममत्वबुद्धिसे संग्रहका अभाव।

१३ अन्तःकरणमें संशय और विक्षेपका अभाव।

१४ श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिका नाम तेज है कि जिसके प्रभावसे विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः पापाचरणसे रुककर उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं।

१५ अपना अपराध करनेवालेको किसी प्रकार भी दण्ड देनेका भाव न रखना।

१६ भारी विपत्ति आनेपर भी अपनी स्थितिसे चलायमान न होना।

अद्रोह १, अभय २, निरहंकारता, शान्ति ३ और ईश्वरमें अनन्यभक्ति इत्यादि सद्गुणोंका आविर्भाव स्वभावसे ही हो जाता है। इस प्रकार शरीरसहित संपूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें वासना और अहंभावका अत्यन्त अभाव होकर एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें ही एकीभावसे नित्य निरन्तर दृढ़ स्थिति रहना ज्ञानकी तीसरी भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषोंके लक्षण हैं।

उपरोक्त गुणोंमेंसे कितने ही तो पहली और दूसरी भूमिकामें ही प्राप्त हो जाते हैं; परन्तु संपूर्ण गुणोंका आविर्भाव तो प्रायः तीसरी भूमिकामें ही होता है। क्योंकि यह सब भगवत्-प्राप्तिके अति समीप पहुंचे हुए पुरुषोंके लक्षण एवं भगवत्-स्वरूपके साक्षात् ज्ञानमें हेतु हैं। इसीलिये श्रीकृष्ण भगवान्ने प्रायः इन्हीं गुणोंको श्रीगीताजीके १६ वें अध्यायमें (श्लोक ७ से ११ तक) ज्ञानके नामसे तथा १६ वें अध्यायमें (श्लोक १ से ३ तक) दैवी संपदाके नामसे कहा है।

तथा उक्त गुणोंको शास्त्रकारोंने सामान्य धर्म माना है। इसलिये मनुष्यमात्रका ही इनमें अधिकार है। अतएव

---

१ अपने साथ द्वेष रखनेवालोंमें भी द्वेषका न होना।

२ सर्वथा भयका अभाव।

३ इच्छा और वासनाओंका अत्यन्त अभाव होना और अन्तःकरणमें नित्य-निरन्तर प्रसन्नताका रहना।

उपरोक्त सद्गुणोंका अपने अन्तःकरणमें आविर्भाव करनेके लिये सभीको भगवान्‌के शरण होकर विशेषरूपसे प्रयत्न करना चाहिये।

उपसंहार

इस लेखमें सात श्रेणियोंके त्यागद्वारा भगवत्-प्राप्तिका होना कहा गया है। उनमें पहिली ५ श्रेणियोंके त्यागतक तो ज्ञानकी प्रथम भूमिकाके लक्षण और छठी श्रेणीके त्यागतक दूसरी भूमिकाके लक्षण तथा सातवीं श्रेणीके त्यागतक तीसरी भूमिकाके लक्षण बताये गये हैं। उक्त तीसरी भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुआ पुरुष तत्काल ही सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। फिर उसका इस क्षणभङ्गुर, नाशवान् अनित्य संसारसे कुछ भी संबन्ध नहीं रहता, अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगे हुए पुरुषका स्वप्नके संसारसे कुछ भी संबन्ध नहीं रहता, वैसे ही अज्ञाननिद्रासे जगे हुए पुरुषका भी मायाके कार्यरूप अनित्य संसारसे कुछ भी संबन्ध नहीं रहता। यद्यपि लोकदृष्टिमें उस ज्ञानी पुरुषके शरीरद्वारा प्रारब्धसे संपूर्ण कर्म होते हुए दिखायी देते हैं एवं उन कर्मोंद्वारा संसारमें बहुत ही लाभ पहुंचता है। क्योंकि कामना, आसक्ति और कर्तृत्व अभिमानसे रहित होनेके कारण उस महात्माके मन, वाणी और शरीरद्वारा किये हुए आचरण लोकमें

प्रमाणस्वरूप समझे जाते हैं और ऐसे पुरुषोंके भावसे ही शास्त्र बनते हैं, परन्तु यह सब होते हुए भी वह सच्चिदानन्दघन वासुदेवको प्राप्त हुआ पुरुष तो इस त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत ही है। इसलिये वह न तो गुणोंके कार्यरूप प्रकाश, प्रवृत्ति और निद्रा आदिके प्राप्त होनेपर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकांक्षा ही करता है। क्योंकि सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान और निन्दा-स्तुति आदिमें एवं मिट्टी-पत्थर और सुवर्ण आदिमें सर्वत्र उसका समभाव हो जाता है, इसलिये उस महात्माको न तो किसी प्रिय वस्तुकी प्राप्ति और अप्रिय-की निवृत्तिमें हर्ष होता है, न किसी अप्रियकी प्राप्ति और प्रियके वियोगमें शोक ही होता है। यदि उस धीर पुरुषका शरीर किसी कारणसे शस्त्रोंद्वारा काटा भी जाय या उसको कोई अन्य प्रकारका भारी दुःख आकर प्राप्त हो जाय तो भी वह सच्चिदानन्दघन वासुदेवमें अनन्यभावसे स्थित हुआ पुरुष उस स्थितिसे चलायमान नहीं होता। क्योंकि उसके अन्तःकरणमें संपूर्ण संसार मृगतृष्णाके जलकी भांति प्रतीत होता है और एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीका भी होनापना नहीं भासता। विशेष क्या कहा जाय, वास्तवमें उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषका भाव वह स्वयं ही जानता

है। मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा प्रकट करनेके लिये किसी-का भी सामर्थ्य नहीं है। अतएव जितना शीघ्र हो सके अज्ञाननिद्रासे चेतकर उक्त सात श्रेणियोंमें कहे हुए त्याग-द्वारा परमात्माको प्राप्त करनेके लिये सत्पुरुषोंकी शरण ग्रहण करके उनके कथनानुसार साधन करनेमें तत्पर होना चाहिये। क्योंकि यह अति दुर्लभ मनुष्यका शरीर बहुत जन्मोंके अन्तमें परम दयालु भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है। इसलिये नाशवान्, क्षणभङ्गुर संसारके अनित्य भोगोंको भोगनेमें अपने जीवनका अमूल्य समय नष्ट नहीं करना चाहिये।

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्

शान्तिः शान्तिः शान्तिः

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुरकी गीताएँ

श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्वविवेचनी–हिंदी-टीका, पृष्ठ ६८४, रंगीन चित्र ४, मूल्य ४.००

श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य–[हिंदी-अनुवादसहित] पृष्ठ ५२०, तिरंगे चित्र ३, मूल्य २.७५

श्रीमद्भगवद्गीता रामानुजभाष्य–[हिंदी-अनुवादसहित] डिमाई आठपेजी, पृष्ठ ६०८, तीन तिरंगे चित्र, सजिल्द, मूल्य ... २.५०

श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, मोटा टाइप, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७६, रंगीन चित्र ४, मू० १.२५

श्रीमद्भगवद्गीता–प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित, सटीक, मोटे अक्षरोंमें, लाहोरी ढंगकी तिरंगा चित्र, पृष्ठ ४२४, मूल्य .८७, सजिल्द १.२५

श्रीमद्भगवद्गीता–[मझली] प्रायः सभी विषय १.२५ वाली नं० ४ के समान, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, रंगीन चित्र ४, मूल्य अजिल्द ७०, सजिल्द ... १.००

श्रीमद्भगवद्गीता–सटीक, मोटा टाइप, पृ० ३१६, मू० .५०, सजि० .८७

श्रीमद्भगवद्गीता–मूल, मोटे अक्षरवाली, पृ० २१६, मू० .३१, सजि० .५६

श्रीमद्भगवद्गीता–केवल भाषा, अक्षर मोटे हैं, १ चित्र, पृष्ठ १९२, मू० .२५

श्रीपञ्चरत्न-गीता–सचित्र, गुटका साइज, पृष्ठ १८४, मूल्य ... .२०

श्रीमद्भगवद्गीता–साधारण भाषाटीका, पाकेट-साइज, पृष्ठ ३५२, मूल्य .१६, सजिल्द ... ... .२८

श्रीमद्भगवद्गीता–ताबीजी, मूल, पृष्ठ २९६, मूल्य ... .१२

श्रीमद्भगवद्गीता–विष्णुसहस्रनामसहित, पृष्ठ १२८, सचित्र, मूल्य .१०, सजिल्द ... ... .१६

पता–**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

श्रीमद्भागवत-महापुराणके विभिन्न संस्करण

श्रीमद्भागवतमहापुराण–(दो खण्डोंमें)—इसमें मूल श्लोक, श्लोकोंके सामने उनमें आये हुए प्रत्येक शब्दके भावकी रक्षा करते हुए छोटे-छोटे वाक्योंमें सरल व्याख्या दी गयी है। आकार २२×२९ आठपेजी, पृष्ठ २०३२, चित्र २५ बहुरंगे, १ सुनहरा, सजिल्द, मूल्य ... १५.००

श्रीशुक-सुधा-सागर–आकार बहुत बड़ा, टाइप बहुत बड़े, पृष्ठ १३६०, चित्र रंगीन २०, सजिल्द, मूल्य ... २०.००

श्रीभागवत-सुधा-सागर–यह भाषामें शुकोक्तिसुधासागर अथवा शुकसागर या सुखसागरके नामसे प्रचलित ग्रन्थके ही ढंग-की पुस्तक है। आकार २२×२९ आठपेजी, पृष्ठ १०१६, चित्र २५ बहुरंगे, १ सुनहरा, सजिल्द, मूल्य ... ८.५०

श्रीमद्भागवतमहापुराण–मूल, मोटा टाइप, आकार २२×२९ आठपेजी, पृष्ठ ६९२, सचित्र, सजिल्द, मूल्य ... ६.००

श्रीमद्भागवतमहापुराण–मूल, गुटका, पृष्ठ ७६८, सजिल्द, मूल्य ३.००

श्रीप्रेमसुधा-सागर–श्रीमद्भागवतके केवल दशम स्कन्धकी श्लोकाङ्कसहित और विविध टिप्पणियोंसे समन्वित सरल हिंदी व्याख्या, आकार २२×२९ आठपेजी, पृष्ठ ३१६, चित्र १ सुनहरा, १४ बहुरंगे, सजिल्द, मूल्य ... ३.५०

पता—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

श्रीरामचरितमानसके मूल तथा सटीक संस्करण

श्रीरामचरितमानस—मोटा टाइप, बृहदाकार भाषाटीकासहित, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ ९८४, सजिल्द, मूल्य १५.००

श्रीरामचरितमानस—मोटा टाइप, सानुवाद, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ १२००, सजिल्द, मूल्य ... ७.५०

श्रीरामचरितमानस—बड़े अक्षरोंमें केवल मूल पाठ, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ ५१६, सजिल्द, मूल्य ... ४.००

श्रीरामचरितमानस—मूल, मोटा टाइप, पाठभेदवाली, सचित्र, पृष्ठ ८००, सचित्र, मूल्य ... ३.००

श्रीरामचरितमानस—सटीक, मझला साइज, महीन टाइप, रंगीन चित्र ८, पृष्ठ १००८, सजिल्द, मूल्य ... ३.५०

श्रीरामचरितमानस—मूल, मझला साइज, पृष्ठ ६०८, सचित्र, मूल्य २.००

श्रीरामचरितमानस—मूल, गुटका, पृष्ठ-संख्या ६८८, श्रीरामदरबारका चित्र और ७ लाइन ब्लाक, सजिल्द, मूल्य ... .७५

श्रीरामचरितमानस—बालकाण्ड—मूल, पृष्ठ १९२, सचित्र, मूल्य .६२

,, ,, —सटीक, पृष्ठ ३१२, सचित्र, मूल्य १.१२

,, अयोध्याकाण्ड—मूल, पृष्ठ १६०, सचित्र, मूल्य ... .५०

,, ,, —सटीक, पृष्ठ २६४, सचित्र, मूल्य .८१

,, अरण्यकाण्ड—मूल, पृष्ठ ४०, मूल्य ... .२०

,, ,, —सटीक, पृष्ठ ६४, मूल्य ... .२५

,, किष्किन्धाकाण्ड—मूल, पृष्ठ २४, मूल्य ... .१२

,, ,, —सटीक, पृष्ठ ३६, मूल्य ... .१२

,, सुन्दरकाण्ड—सटीक, पृष्ठ ६०, मूल्य ... .२५

,, लंकाकाण्ड—मूल, पृष्ठ ८२, मूल्य ... .२५

,, ,, —सटीक, पृष्ठ १३२, मूल्य ... .५०

उत्तरकाण्ड—मूल, पृष्ठ ८८, मूल्य ... .२५

,, ,, —सटीक, पृष्ठ १४४, मूल्य ... .५०

पता—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

श्रीहरिः

सचित्र, संक्षिप्त भक्त-चरित-मालाकी पुस्तकें

सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार

भक्त बालक—पाँच बालक भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ७६, सचित्र, मूल्य .३१
भक्त नारी—पाँच स्त्री भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ६८, चित्र ६, मूल्य ... .३१
भक्त-पञ्चरत्न—पाँच भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ८८, चित्र २, मूल्य ... .३१
आदर्श भक्त—सात भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ९८, चित्र १२, मूल्य ... .३१
भक्त-चन्द्रिका—छः भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ८८, सचित्र, मूल्य ... .३१
भक्त-सप्तरत्न—सात भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ८८, सचित्र, मूल्य ... .३१
भक्त-कुसुम—छः भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ८४, सचित्र, मूल्य ... .३१
प्रेमी भक्त—पाँच भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ८८, सचित्र, मूल्य ... .३१
प्राचीन भक्त—पंद्रह भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ १५२, चित्र ४, मूल्य ... .५०
भक्त-सौरभ—पाँच भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ११०, सचित्र, मूल्य ... .३१
भक्त-सरोज—दस भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ १०४, सचित्र, मूल्य ... .३७
भक्त-सुमन—दस भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ११२, चित्र ४, मूल्य ... .३७
भक्त-सुधाकर—बारह भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र १२, मूल्य .५०
भक्त-महिलारत्न—नौ भक्त महिलाओंकी कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र ७, मू० .४५
भक्त-दिवाकर—आठ भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र ८, मूल्य .४५
भक्त-रत्नाकर—चौदह भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ १००, चित्र ८, मूल्य .४५

ये बूढ़े-बालक, स्त्री-पुरुष सबके पढ़ने योग्य, बड़ी सुन्दर और शिक्षाप्रद पुस्तकें हैं। एक-एक प्रति अवश्य पास रखने योग्य है।

अन्य पुस्तकोंका सूचीपत्र अलग मुफ्त मँगाइये।

पता—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

गीता-माहात्म्य

जो मनुष्य शुद्धचित्त होकर प्रेमपूर्वक इस पवित्र गीता-शास्त्रका पाठ करता है, वह भय और शोक आदिसे रहित होकर विष्णुधामको प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

जो मनुष्य सदा गीताका पाठ करनेवाला है तथा प्राणायाम-में तत्पर रहता है, उसके इस जन्म और पूर्वजन्ममें किये हुए समस्त पाप निस्सन्देह नष्ट हो जाते हैं ॥ २ ॥

जलमें प्रतिदिन किया हुआ स्नान मनुष्योंके केवल शारीरिक मलका नाश करता है, परन्तु गीताज्ञानरूप जलमें एक बार भी किया हुआ स्नान संसारमलको नष्ट करनेवाला है ॥ ३ ॥

जो साक्षात् कमलनाभ भगवान् विष्णुके मुखकमलसे प्रकट हुई है, उस गीताका ही भलीभाँति गान (अर्थसहित स्वाध्याय) करना चाहिये, अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है ? ॥ ४ ॥

जो महाभारतका अमृतोपम सार है तथा जो भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे प्रकट हुआ है, उस गीतारूप गङ्गाजलको पी लेनेपर पुनः इस संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण उपनिषदें गौके समान हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण दुहनेवाले हैं, अर्जुन बछड़ा है तथा महान् गीतामृत ही उस गौका दुग्ध है और शुद्ध बुद्धिवाला श्रेष्ठ मनुष्य ही इसका भोक्ता है ॥ ६ ॥

देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका कहा हुआ गीताशास्त्र ही एकमात्र उत्तम शास्त्र है, भगवान् देवकीनन्दन ही एकमात्र महान् देवता हैं, उनके नाम ही एकमात्र मन्त्र हैं और उन भगवान्‌की सेवा ही एकमात्र कर्तव्य कर्म है ॥ ७ ॥

॥ श्रीहरिः ॥

साधारण भाषाटीकासहित

श्रीमद्भगवद्गीता

(मोटे अक्षरवाली)

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

गीताप्रेस, गोरखपुर

प्रकाशक एवं मुद्रक—**गीताप्रेस, गोरखपुर**—२७३००५
गोबिन्दभवन-कार्यालय, कोलकाता का संस्थान
फोन : (०५५१) २३३४७२१; फैक्स २३३६९९७
website: **www.gitapress.org** | e-mail: **booksales@gitapress.org**

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

श्रीगीताजीकी महिमा

वास्तवमें श्रीमद्भगवद्गीताका माहात्म्य वाणीद्वारा वर्णन करनेके लिये किसीकी भी सामर्थ्य नहीं है; क्योंकि यह एक परम रहस्यमय ग्रन्थ है। इसमें सम्पूर्ण वेदोंका सार-सार संग्रह किया गया है। इसकी संस्कृत इतनी सुन्दर और सरल है कि थोड़ा अभ्यास करनेसे मनुष्य उसको सहज ही समझ सकता है; परन्तु इसका आशय इतना गम्भीर है कि आजीवन निरन्तर अभ्यास करते रहनेपर भी उसका अन्त नहीं आता। प्रतिदिन नये-नये भाव उत्पन्न होते रहते हैं, इससे यह सदैव नवीन बना रहता है एवं एकाग्रचित्त होकर श्रद्धा-भक्तिसहित विचार करनेसे इसके पद-पदमें परम रहस्य भरा हुआ प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव और मर्मका वर्णन जिस प्रकार इस गीताशास्त्रमें किया गया है, वैसा अन्य ग्रन्थोंमें मिलना कठिन है; क्योंकि प्रायः ग्रन्थोंमें कुछ-न-कुछ सांसारिक विषय मिला रहता है। भगवान्‌ने 'श्रीमद्भगवद्गीता' रूप एक ऐसा अनुपमेय शास्त्र कहा है कि जिसमें एक भी शब्द सदुपदेशसे खाली नहीं है। श्रीवेदव्यासजीने महाभारतमें गीताजीका वर्णन करनेके उपरान्त कहा है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

'गीता सुगीता करनेयोग्य है अर्थात् श्रीगीताजीको भली प्रकार पढ़कर अर्थ और भावसहित अन्तःकरणमें धारण कर लेना मुख्य कर्तव्य है, जो कि स्वयं पद्मनाभ भगवान् श्रीविष्णुके मुखारविन्दसे निकली हुई है; (फिर) अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है?' स्वयं श्रीभगवान्‌ने भी इसके माहात्म्यका वर्णन किया है (अ० १८ श्लोक ६८ से ७१ तक)।

इस गीताशास्त्रमें मनुष्यमात्रका अधिकार है, चाहे वह किसी भी वर्ण, आश्रममें स्थित हो; परंतु भगवान्‌में श्रद्धालु और भक्तियुक्त अवश्य होना चाहिये; क्योंकि भगवान्‌ने अपने भक्तोंमें ही इसका प्रचार करनेके लिये आज्ञा दी है तथा यह भी कहा है कि स्त्री, वैश्य, शूद्र और पापयोनि भी मेरे

परायण होकर परमगतिको प्राप्त होते हैं (अ० ९ श्लोक ३२); अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा मेरी पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त होते हैं (अ० १८ श्लोक ४६)—इन सबपर विचार करनेसे यही ज्ञात होता है कि परमात्माकी प्राप्तिमें सभीका अधिकार है।

परन्तु उक्त विषयके मर्मको न समझनेके कारण बहुत-से मनुष्य, जिन्होंने श्रीगीताजीका केवल नाममात्र ही सुना है, कह दिया करते हैं कि गीता तो केवल संन्यासियोंके लिये ही है; वे अपने बालकोंको भी इसी भयसे श्रीगीताजीका अभ्यास नहीं कराते कि गीताके ज्ञानसे कदाचित् लड़का घर छोड़कर संन्यासी न हो जाय; किन्तु उनको विचार करना चाहिये कि मोहके कारण क्षात्रधर्मसे विमुख होकर भिक्षाके अन्नसे निर्वाह करनेके लिये तैयार हुए अर्जुनने जिस परम रहस्यमय गीताके उपदेशसे आजीवन गृहस्थमें रहकर अपने कर्तव्यका पालन किया, उस गीताशास्त्रका यह उलटा परिणाम किस प्रकार हो सकता है?

अतएव कल्याणकी इच्छावाले मनुष्योंको उचित है कि मोहका त्यागकर अतिशय श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अपने बालकोंको अर्थ और भावके सहित श्रीगीताजीका अध्ययन करायें एवं स्वयं भी इसका पठन और मनन करते हुए भगवान्‌के आज्ञानुसार साधन करनेमें तत्पर हो जायँ; क्योंकि अति दुर्लभ मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर अपने अमूल्य समयका एक क्षण भी दुःखमूलक क्षणभंगुर भोगोंके भोगनेमें नष्ट करना उचित नहीं है।

श्रीगीताजीका प्रधान विषय

श्रीगीताजीमें भगवान्‌ने अपनी प्राप्तिके लिये मुख्य दो मार्ग बतलाये हैं—एक सांख्ययोग, दूसरा कर्मयोग। उनमें—

(१) सम्पूर्ण पदार्थ मृग-तृष्णाके जलकी भाँति अथवा स्वप्नकी सृष्टिके सदृश मायामय होनेसे मायाके कार्यरूप सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं, ऐसे समझकर मन, इन्द्रियों और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होना (अ० ५ श्लोक ८-९) तथा सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे नित्य स्थित रहते हुए एक सच्चिदानन्दघन

वासुदेवके सिवाय अन्य किसीके भी होनेपनेका भाव न रहना, यह तो सांख्ययोगका साधन है तथा—

(२) सब कुछ भगवान्‌का समझकर सिद्धि-असिद्धिमें समत्वभाव रखते हुए आसक्ति और फलकी इच्छाका त्याग कर भगवदाज्ञानुसार केवल भगवान्‌के ही लिये सब कर्मोंका आचरण करना (अ० २ श्लोक ४८, अ० ५ श्लोक १०) तथा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मन, वाणी और शरीरसे सब प्रकार भगवान्‌के शरण होकर नाम, गुण और प्रभावसहित उनके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना (अ० ६ श्लोक ४७), यह कर्मयोगका साधन है।

उक्त दोनों साधनोंका परिणाम एक होनेके कारण वे वास्तवमें अभिन्न माने गये हैं (अ० ५ श्लोक ४-५)। परन्तु साधनकालमें अधिकारी-भेदसे दोनोंका भेद होनेके कारण दोनों मार्ग भिन्न-भिन्न बतलाये गये हैं (अ० ३ श्लोक ३)। इसलिये एक पुरुष दोनों मार्गोंद्वारा एक कालमें नहीं चल सकता, जैसे श्रीगंगाजीपर जानेके लिये दो मार्ग होते हुए भी एक मनुष्य दोनों मार्गोंद्वारा एक कालमें नहीं जा सकता। उक्त साधनोंमें कर्मयोगका साधन संन्यास-आश्रममें नहीं बन सकता; क्योंकि संन्यास-आश्रममें कर्मोंका स्वरूपसे भी त्याग कहा गया है और सांख्ययोगका साधन सभी आश्रमोंमें बन सकता है।

यदि कहो कि सांख्ययोगको भगवान्‌ने संन्यासके नामसे कहा है, इसलिये उसका संन्यास-आश्रममें ही अधिकार है, गृहस्थमें नहीं, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि दूसरे अध्यायमें श्लोक ११ से ३० तक जो सांख्यनिष्ठाका उपदेश किया गया है, उसके अनुसार भी भगवान्‌ने जगह-जगह अर्जुनको युद्ध करनेकी योग्यता दिखायी है। यदि गृहस्थमें सांख्ययोगका अधिकार ही नहीं होता तो भगवान्‌का इस प्रकार कहना कैसे बन सकता? हाँ, इतनी विशेषता अवश्य है कि सांख्यमार्गका अधिकारी देहाभिमानसे रहित होना चाहिये; क्योंकि जबतक शरीरमें अहंभाव रहता है, तबतक सांख्ययोगका साधन भली प्रकार समझमें नहीं आता। इसीसे भगवान्‌ने सांख्ययोगको कठिन बतलाया है (अ० ५ श्लोक ६) तथा (कर्मयोग) साधनमें सुगम होनेके कारण अर्जुनके प्रति जगह-जगह कहा है कि तू निरन्तर मेरा चिन्तन करता हुआ कर्मयोगका आचरण कर।

अथ ध्यानम्

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम्।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम्॥

अर्थ—जिनकी आकृति अतिशय शान्त है, जो शेषनागकी शय्यापर शयन किये हुए हैं, जिनकी नाभिमें कमल है, जो देवताओंके भी ईश्वर और सम्पूर्ण जगत्‌के आधार हैं, जो आकाशके सदृश सर्वत्र व्याप्त हैं, नील मेघके समान जिनका वर्ण है, अतिशय सुन्दर जिनके सम्पूर्ण अंग हैं, जो योगियोंद्वारा ध्यान करके प्राप्त किये जाते हैं, जो सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी हैं, जो जन्म-मरणरूप भयका नाश करनेवाले हैं, ऐसे लक्ष्मीपति, कमलनेत्र भगवान् श्रीविष्णुको मैं (सिरसे) प्रणाम करता हूँ।

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो-
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥

अर्थ—ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, रुद्र और मरुद्‌गण दिव्य स्तोत्रोंद्वारा जिनकी स्तुति करते हैं, सामवेदके गानेवाले अंग, पद, क्रम और उपनिषदोंके सहित वेदोंद्वारा जिनका गान करते हैं, योगीजन ध्यानमें स्थित तद्‌गत हुए मनसे जिनका दर्शन करते हैं, देवता और असुरगण (कोई भी) जिनके अन्तको नहीं जानते, उन (परमपुरुष नारायण) देवके लिये मेरा नमस्कार है।

वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम्।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्‌गुरुम्॥

अर्थ—कंस और चाणूरका वध करनेवाले, देवकीके आनन्दवर्द्धन, वसुदेवनन्दन, जगद्‌गुरु श्रीकृष्णचन्द्रकी मैं वन्दना करता हूँ।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथ श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यम्

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान्।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः॥ १॥
गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च॥ २॥
मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम्॥ ३॥
गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥ ४॥
भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम्।
गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥ ५॥
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥ ६॥
एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा॥

गीता-माहात्म्य

जो मनुष्य शुद्धचित्त होकर प्रेमपूर्वक इस पवित्र गीताशास्त्रका पाठ करता है, वह भय और शोक आदिसे रहित होकर विष्णुधामको प्राप्त कर लेता है॥ १॥

जो मनुष्य सदा गीताका पाठ करनेवाला है तथा प्राणायाममें तत्पर रहता है, उसके इस जन्म और पूर्वजन्ममें किये हुए समस्त पाप नि:सन्देह नष्ट हो जाते हैं॥ २॥

जलमें प्रतिदिन किया हुआ स्नान मनुष्योंके केवल शारीरिक मलका नाश करता है, परंतु गीताज्ञानरूप जलमें एक बार भी किया हुआ स्नान संसार-मलको नष्ट करनेवाला है॥ ३॥

जो साक्षात् कमलनाभ भगवान् विष्णुके मुखकमलसे प्रकट हुई है, उस गीताका ही भलीभाँति गान (अर्थसहित स्वाध्याय) करना चाहिये, अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है॥ ४॥

जो महाभारतका अमृतोपम सार है तथा जो भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे प्रकट हुआ है, उस गीतारूप गंगाजलको पी लेनेपर पुन: इस संसारमें जन्म नहीं लेना पड़ता॥ ५॥

सम्पूर्ण उपनिषदें गौके समान हैं, गोपालनन्दन श्रीकृष्ण दुहनेवाले हैं, अर्जुन बछड़ा है तथा महान् गीतामृत ही उस गौका दुग्ध है और शुद्ध बुद्धिवाला श्रेष्ठ मनुष्य ही इसका भोक्ता है॥ ६॥

देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णका कहा हुआ गीताशास्त्र ही एकमात्र उत्तम शास्त्र है, भगवान् देवकीनन्दन ही एकमात्र महान् देवता हैं, उनके नाम ही एकमात्र मन्त्र हैं और उन भगवान्‌की सेवा ही एकमात्र कर्तव्य कर्म है॥ ७॥

श्रीमद्भगवद्गीताके

प्रधान विषयोंकी अनुक्रमणिका

श्लोक	विषय
	अर्जुनविषादयोग-नामक १ला अ०॥
१—११	दोनों सेनाओंके प्रधान-प्रधान शूरवीरोंकी गणना और सामर्थ्यका कथन।
१२—१९	दोनों सेनाओंकी शंख-ध्वनिका कथन।
२०—२७	अर्जुनद्वारा सेना-निरीक्षणका प्रसंग।
२८—४७	मोहसे व्याप्त हुए अर्जुनके कायरता, स्नेह और शोकयुक्त वचन।
	सांख्ययोग-नामक २रा अ०॥
१—१०	अर्जुनकी कायरताके विषयमें श्रीकृष्णार्जुन-संवाद।
११—३०	सांख्ययोगका विषय।
३१—३८	क्षात्रधर्मके अनुसार युद्ध करनेकी आवश्यकताका निरूपण।
३९—५३	कर्मयोगका विषय।
५४—७२	स्थिरबुद्धि पुरुषके लक्षण और उसकी महिमा।
	कर्मयोग-नामक ३रा अ०॥
१—८	ज्ञानयोग और कर्मयोगके अनुसार अनासक्तभावसे नियत कर्म करनेकी श्रेष्ठताका निरूपण।
९—१६	यज्ञादि कर्मोंकी आवश्यकताका निरूपण।
१७—२४	ज्ञानवान् और भगवान्‌के लिये भी लोकसंग्रहार्थ कर्मोंकी आवश्यकता।
२५—३५	अज्ञानी और ज्ञानवान्‌के लक्षण तथा राग-द्वेषसे रहित होकर कर्म करनेके लिये प्रेरणा।
३६—४३	कामके निरोधका विषय।
	ज्ञानकर्मसंन्यासयोग-नामक ४था अ०॥
१—१८	सगुण भगवान्‌का प्रभाव और कर्मयोगका विषय।
१९—२३	योगी महात्मा पुरुषोंके आचरण और उनकी महिमा।
२४—३२	फलसहित पृथक्-पृथक् यज्ञोंका कथन।
३३—४२	ज्ञानकी महिमा।

श्लोक	विषय
	कर्मसंन्यासयोग-नामक ५वाँ अ०॥
१—६	सांख्ययोग और कर्मयोगका निर्णय।
७—१२	सांख्ययोगी और कर्मयोगीके लक्षण और उनकी महिमा।
१३—२६	ज्ञानयोगका विषय।
२७—२९	भक्तिसहित ध्यानयोगका वर्णन।
	आत्मसंयमयोग-नामक ६ठा अ०॥
१—४	कर्मयोगका विषय और योगारूढ़ पुरुषके लक्षण।
५—१०	आत्म-उद्धारके लिये प्रेरणा और भगवत्प्राप्त पुरुषके लक्षण।
११—३२	विस्तारसे ध्यानयोगका विषय।
३३—३६	मनके निग्रहका विषय।
३७—४७	योगभ्रष्ट पुरुषकी गतिका विषय और ध्यानयोगीकी महिमा।
	ज्ञानविज्ञानयोग-नामक ७वाँ अ०॥
१—७	विज्ञानसहित ज्ञानका विषय।
८—१२	सम्पूर्ण पदार्थोंमें कारणरूपसे भगवान्‌की व्यापकताका कथन।
१३—१९	आसुरी स्वभाववालोंकी निन्दा और भगवद्भक्तोंकी प्रशंसा।
२०—२३	अन्य देवताओंकी उपासनाका विषय।
२४—३०	भगवान्‌के प्रभाव और स्वरूपको न जाननेवालोंकी निन्दा और जाननेवालोंकी महिमा।
	अक्षरब्रह्मयोग-नामक ८वाँ अ०॥
१—७	ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मादिके विषयमें अर्जुनके ७ प्रश्न और उनका उत्तर।
८—२२	भक्तियोगका विषय।
२३—२८	शुक्ल और कृष्णमार्गका विषय।
	राजविद्याराजगुह्ययोग-नामक ९वाँ अ०॥
१—६	प्रभावसहित ज्ञानका विषय।
७—१०	जगत्‌की उत्पत्तिका विषय।
११—१५	भगवान्‌का तिरस्कार करनेवाले आसुरी प्रकृतिवालोंकी निन्दा और दैवी प्रकृतिवालोंके भगवद्भजनका प्रकार।
१६—१९	सर्वात्मरूपसे प्रभावसहित भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन।
२०—२५	सकाम और निष्काम उपासनाका फल।

श्लोक	विषय
२६—३४	निष्काम भगवद्भक्तिकी महिमा।

विभूतियोग-नामक १०वाँ अ०॥

१—७	भगवान्‌की विभूति और योगशक्तिका कथन तथा उनके जाननेका फल।
८—११	फल और प्रभावसहित भक्तियोगका कथन।
१२—१८	अर्जुनद्वारा भगवान्‌की स्तुति तथा विभूति और योगशक्तिको कहनेके लिये प्रार्थना।
१९—४२	भगवान्‌द्वारा अपनी विभूतियोंका और योगशक्तिका कथन।

विश्वरूपदर्शनयोग-नामक ११वाँ अ०॥

१—४	विश्वरूपके दर्शन-हेतु अर्जुनकी प्रार्थना।
५—८	भगवान्‌द्वारा अपने विश्वरूपका वर्णन।
९—१४	संजयद्वारा धृतराष्ट्रके प्रति विश्वरूपका वर्णन।
१५—३१	अर्जुनद्वारा भगवान्‌के विश्वरूपका देखा जाना और उनकी स्तुति करना।
३२—३४	भगवान्‌द्वारा अपने प्रभावका वर्णन और अर्जुनको युद्धके लिये उत्साहित करना।
३५—४६	भयभीत हुए अर्जुनद्वारा भगवान्‌की स्तुति और चतुर्भुजरूपका दर्शन करानेके लिये प्रार्थना।
४७—५०	भगवान्‌द्वारा अपने विश्वरूपके दर्शनकी महिमाका कथन तथा चतुर्भुज और सौम्यरूपका दिखाया जाना।
५१—५५	बिना अनन्यभक्तिके चतुर्भुजरूपके दर्शनकी दुर्लभताका और फलसहित अनन्यभक्तिका कथन।

भक्तियोग-नामक १२वाँ अ०॥

१—१२	साकार और निराकारके उपासकोंकी उत्तमताका निर्णय और भगवत्प्राप्तिके उपायका विषय।
१३—२०	भगवत्-प्राप्त पुरुषोंके लक्षण।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग-नामक १३वाँ अ०॥

१—१८	ज्ञानसहित क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विषय।
१९—३४	ज्ञानसहित प्रकृति-पुरुषका विषय।

गुणत्रयविभागयोग-नामक १४वाँ अ०॥

१—४	ज्ञानकी महिमा और प्रकृति-पुरुषसे जगत्‌की उत्पत्ति।

श्लोक	विषय
५—१८	सत्, रज, तम—तीनों गुणोंका विषय।
१९—२७	भगवत्प्राप्तिका उपाय और गुणातीत पुरुषके लक्षण।

पुरुषोत्तमयोग-नामक १५वाँ अ०॥

१—६	संसारवृक्षका कथन और भगवत्प्राप्तिका उपाय।
७—११	जीवात्माका विषय।
१२—१५	प्रभावसहित परमेश्वरके स्वरूपका विषय।
१६—२०	क्षर, अक्षर, पुरुषोत्तमका विषय।

दैवासुरसम्पद्विभागयोग-नामक १६वाँ अ०॥

१—५	फलसहित दैवी और आसुरी सम्पदाका कथन।
६—२०	आसुरी सम्पदावालोंके लक्षण और उनकी अधोगतिका कथन।
२१—२४	शास्त्रविपरीत आचरणोंको त्यागने और शास्त्रानुकूल आचरणोंके लिये प्रेरणा।

श्रद्धात्रयविभागयोग-नामक १७वाँ अ०॥

१—६	श्रद्धाका और शास्त्रविपरीत घोर तप करनेवालोंका विषय।
७—२२	आहार, यज्ञ, तप और दानके पृथक्-पृथक् भेद।
२३—२८	ॐतत्सत्के प्रयोगकी व्याख्या।

मोक्षसंन्यासयोग-नामक १८वाँ अ०॥

१—१२	त्यागका विषय।
१३—१८	कर्मोंके होनेमें सांख्यसिद्धान्तका कथन।
१९—४०	तीनों गुणोंके अनुसार ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुखके पृथक्-पृथक् भेद।
४१—४८	फलसहित वर्णधर्मका विषय।
४९—५५	ज्ञाननिष्ठाका विषय।
५६—६६	भक्तिसहित कर्मयोगका विषय।
६७—७८	श्रीगीताजीका माहात्म्य।

*** हरिः ॐ तत्सत् ***

ॐ

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता

अथ प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय॥

धृतराष्ट्र बोले—हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें एकत्रित, युद्धकी इच्छावाले मेरे और पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया?॥ १ ॥

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्॥

संजय बोले—उस समय राजा दुर्योधनने व्यूहरचनायुक्त पाण्डवोंकी सेनाको देखकर और द्रोणाचार्यके पास जाकर यह वचन कहा॥ २ ॥

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता॥

हे आचार्य! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नद्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रोंकी इस बड़ी भारी सेनाको देखिये॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥

इस सेनामें बड़े-बड़े धनुषोंवाले तथा युद्धमें भीम और अर्जुनके समान शूरवीर सात्यकि और विराट तथा महारथी राजा द्रुपद, धृष्टकेतु और चेकितान तथा बलवान् काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज और मनुष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य, पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्र—ये सभी महारथी हैं॥ ४—६॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य सञ्ज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते॥

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! अपने पक्षमें भी जो प्रधान हैं, उनको आप समझ लीजिये। आपकी जानकारीके लिये मेरी सेनाके जो-जो सेनापति हैं, उनको बतलाता हूँ॥ ७॥

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥

आप—द्रोणाचार्य और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्रामविजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्तका पुत्र भूरिश्रवा॥ ८॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥

और भी मेरे लिये जीवनकी आशा त्याग देनेवाले बहुत-से शूरवीर अनेक प्रकारके शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित और सब-के-सब युद्धमें चतुर हैं॥ ९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥

भीष्मपितामहद्वारा रक्षित हमारी वह सेना सब प्रकारसे अजेय है और भीमद्वारा रक्षित इन लोगोंकी यह सेना जीतनेमें सुगम है॥ १०॥

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥

इसलिये सब मोर्चोंपर अपनी-अपनी जगह स्थित रहते हुए आपलोग सभी निःसन्देह भीष्मपितामहकी ही सब ओरसे रक्षा करें॥ ११॥

तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्॥

कौरवोंमें वृद्ध बड़े प्रतापी पितामह भीष्मने उस दुर्योधनके हृदयमें हर्ष उत्पन्न करते हुए उच्च स्वरसे सिंहकी दहाड़के समान गरजकर शंख बजाया॥ १२॥

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्॥

इसके पश्चात् शंख और नगारे तथा ढोल, मृदंग और नरसिंघे आदि बाजे एक साथ ही बज उठे। उनका वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ॥ १३॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः॥

इसके अनन्तर सफेद घोड़ोंसे युक्त उत्तम रथमें बैठे हुए श्रीकृष्ण महाराज और अर्जुनने भी अलौकिक शंख बजाये॥ १४॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः॥

श्रीकृष्ण महाराजने पाञ्चजन्यनामक, अर्जुनने देवदत्तनामक और भयानक कर्मवाले भीमसेनने पौण्ड्रनामक महाशंख बजाया॥ १५॥

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ॥

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजयनामक और नकुल तथा सहदेवने सुघोष और मणिपुष्पकनामक शंख बजाये॥ १६॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक् पृथक्॥

श्रेष्ठ धनुषवाले काशिराज और महारथी शिखण्डी एवं धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट और अजेय सात्यकि, राजा द्रुपद एवं द्रौपदीके पाँचों पुत्र और बड़ी भुजावाले सुभद्रापुत्र अभिमन्यु—इन सभीने, हे राजन्! सब ओरसे अलग-अलग शंख बजाये॥ १७-१८॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥

और उस भयानक शब्दने आकाश और पृथ्वीको भी गुँजाते हुए धार्तराष्ट्रोंके अर्थात् आपके पक्षवालोंके हृदय विदीर्ण कर दिये॥ १९॥

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥

हे राजन्! इसके बाद कपिध्वज अर्जुनने मोर्चा बाँधकर डटे हुए धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको देखकर, उस शस्त्र चलनेकी तैयारीके समय धनुष उठाकर हृषीकेश श्रीकृष्ण महाराजसे यह वचन कहा—हे अच्युत! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कीजिये॥ २०-२१॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे॥

और जबतक कि मैं युद्धक्षेत्रमें डटे हुए युद्धके अभिलाषी इन विपक्षी योद्धाओंको भलीप्रकार देख लूँ कि इस युद्धरूप व्यापारमें मुझे किन-किनके साथ युद्ध करना योग्य है तबतक उसे खड़ा रखिये॥ २२॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥

दुर्बुद्धि दुर्योधनका युद्धमें हित चाहनेवाले जो-जो ये राजा लोग इस सेनामें आये हैं, इन युद्ध करनेवालोंको मैं देखूँगा॥ २३॥

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति॥

संजय बोले—हे धृतराष्ट्र! अर्जुनद्वारा इस प्रकार कहे हुए महाराज श्रीकृष्णचन्द्रने दोनों सेनाओंके बीचमें भीष्म और द्रोणाचार्यके सामने तथा सम्पूर्ण राजाओंके सामने उत्तम रथको खड़ा करके इस प्रकार कहा कि हे पार्थ! युद्धके लिये जुटे हुए इन कौरवोंको देख॥ २४-२५॥

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

इसके बाद पृथापुत्र अर्जुनने उन दोनों ही सेनाओंमें स्थित ताऊ-चाचोंको, दादों-परदादोंको, गुरुओंको, मामाओंको, भाइयोंको, पुत्रोंको, पौत्रोंको तथा मित्रोंको, ससुरोंको और सुहृदोंको भी देखा॥ २६ और २७वेंका पूर्वार्ध॥

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

उन उपस्थित सम्पूर्ण बन्धुओंको देखकर वे कुन्तीपुत्र अर्जुन अत्यन्त करुणासे युक्त होकर शोक करते हुए यह वचन बोले॥ २७ वेंका उत्तरार्ध और २८ वेंका पूर्वार्ध॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! युद्धक्षेत्रमें डटे हुए युद्धके अभिलाषी इस स्वजनसमुदायको देखकर मेरे अंग शिथिल हुए जा रहे हैं और मुख सूखा जा रहा है तथा मेरे शरीरमें कम्प एवं रोमाञ्च हो रहा है॥ २८ वेंका उत्तरार्ध और २९॥

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥

हाथसे गाण्डीव धनुष गिर रहा है और त्वचा भी बहुत जल रही है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है; इसलिये मैं खड़ा रहनेको भी समर्थ नहीं हूँ॥ ३०॥

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे॥

हे केशव! मैं लक्षणोंको भी विपरीत ही देख रहा हूँ तथा युद्धमें स्वजनसमुदायको मारकर कल्याण भी नहीं देखता॥ ३१॥

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥

हे कृष्ण! मैं न तो विजय चाहता हूँ और न राज्य तथा सुखोंको ही। हे गोविन्द! हमें ऐसे राज्यसे क्या प्रयोजन है अथवा ऐसे भोगोंसे और जीवनसे भी क्या लाभ है?॥ ३२॥

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥

हमें जिनके लिये राज्य, भोग और सुखादि अभीष्ट हैं, वे ही ये सब धन और जीवनकी आशाको त्यागकर युद्धमें खड़े हैं॥ ३३॥

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा॥

गुरुजन, ताऊ-चाचे, लड़के और उसी प्रकार दादे, मामे, ससुर, पौत्र, साले तथा और भी सम्बन्धी लोग हैं॥ ३४॥

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते॥

हे मधुसूदन! मुझे मारनेपर भी अथवा तीनों लोकोंके राज्यके लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता; फिर पृथ्वीके लिये तो कहना ही क्या है?॥ ३५॥

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः॥

हे जनार्दन! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर हमें क्या

प्रसन्नता होगी? इन आततायियोंको मारकर तो हमें पाप ही लगेगा॥ ३६॥

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव॥

अतएव हे माधव! अपने ही बान्धव धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारनेके लिये हम योग्य नहीं हैं; क्योंकि अपने ही कुटुम्बको मारकर हम कैसे सुखी होंगे?॥ ३७॥

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥

यद्यपि लोभसे भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुलके नाशसे उत्पन्न दोषको और मित्रोंसे विरोध करनेमें पापको नहीं देखते, तो भी हे जनार्दन! कुलके नाशसे उत्पन्न दोषको जाननेवाले हमलोगोंको इस पापसे हटनेके लिये क्यों नहीं विचार करना चाहिये?॥ ३८-३९॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥

कुलके नाशसे सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्मके नाश हो जानेपर सम्पूर्ण कुलमें पाप भी बहुत फैल जाता है॥ ४०॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः॥

हे कृष्ण! पापके अधिक बढ़ जानेसे कुलकी स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं और हे वार्ष्णेय! स्त्रियोंके दूषित हो जानेपर वर्णसंकर उत्पन्न होता है॥ ४१॥

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥

वर्णसंकर कुलघातियोंको और कुलको नरकमें ले जानेके लिये ही होता है। लुप्त हुई पिण्ड और जलकी क्रियावाले अर्थात् श्राद्ध और तर्पणसे वञ्चित इनके पितरलोग भी अधोगतिको प्राप्त होते हैं॥ ४२॥

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥

इन वर्णसंकरकारक दोषोंसे कुलघातियोंके सनातन कुल-धर्म और जाति-धर्म नष्ट हो जाते हैं॥ ४३॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥

हे जनार्दन! जिनका कुल-धर्म नष्ट हो गया है, ऐसे मनुष्योंका अनिश्चित कालतक नरकमें वास होता है, ऐसा हम सुनते आये हैं॥ ४४॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥

हा! शोक! हमलोग बुद्धिमान् होकर भी महान् पाप करनेको तैयार हो गये हैं, जो राज्य और सुखके लोभसे स्वजनोंको मारनेके लिये उद्यत हो गये हैं॥ ४५॥

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥

यदि मुझ शस्त्ररहित एवं सामना न करनेवालेको शस्त्र हाथमें लिये हुए धृतराष्ट्रके पुत्र रणमें मार डालें तो वह मारना भी मेरे लिये अधिक कल्याणकारक होगा॥ ४६॥

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥

संजय बोले—रणभूमिमें शोकसे उद्विग्न मनवाले अर्जुन इस प्रकार कहकर, बाणसहित धनुषको त्यागकर रथके पिछले भागमें बैठ गये॥ ४७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥

संजय बोले—उस प्रकार करुणासे व्याप्त और आँसुओंसे पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रोंवाले शोकयुक्त उस अर्जुनके प्रति भगवान् मधुसूदनने यह वचन कहा॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! तुझे इस असमयमें यह मोह किस हेतुसे प्राप्त हुआ? क्योंकि न तो यह श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा आचरित है, न स्वर्गको देनेवाला है और न कीर्तिको करनेवाला ही है॥ २॥

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥

इसलिये हे अर्जुन! नपुंसकताको मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती। हे परंतप! हृदयकी तुच्छ दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो जा॥ ३॥

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! मैं रणभूमिमें किस प्रकार बाणोंसे भीष्मपितामह और द्रोणाचार्यके विरुद्ध लड़ूँगा? क्योंकि हे अरिसूदन! वे दोनों ही पूजनीय हैं॥ ४॥

गुरूनहत्वा हि महानुभावा-
ञ्छ्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्॥

इसलिये इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर मैं इस लोकमें भिक्षाका अन्न भी खाना कल्याणकारक समझता हूँ; क्योंकि गुरुजनोंको मारकर भी इस लोकमें रुधिरसे सने हुए अर्थ और कामरूप भोगोंको ही तो भोगूँगा॥ ५॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो-
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः॥

हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये युद्ध करना और न करना—इन दोनोंमेंसे कौन-सा श्रेष्ठ

है, अथवा यह भी नहीं जानते कि उन्हें हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे। और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही हमारे आत्मीय धृतराष्ट्रके पुत्र हमारे मुकाबलेमें खड़े हैं॥ ६॥

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

इसलिये कायरतारूप दोषसे उपहत हुए स्वभाववाला तथा धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये॥ ७॥

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या-
द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं-
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्॥

क्योंकि भूमिमें निष्कण्टक, धन-धान्यसम्पन्न राज्यको और देवताओंके स्वामीपनेको प्राप्त होकर भी मैं उस उपायको नहीं देखता हूँ, जो मेरी इन्द्रियोंके सुखानेवाले शोकको दूर कर सके॥ ८॥

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥

संजय बोले—हे राजन्! निद्राको जीतनेवाले अर्जुन अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराजके प्रति इस प्रकार कहकर फिर श्रीगोविन्दभगवान्‌से 'युद्ध नहीं करूँगा' यह स्पष्ट कहकर चुप हो गये॥ ९॥

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥

हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराज दोनों सेनाओंके बीचमें शोक करते हुए उस अर्जुनको हँसते हुए-से यह वचन बोले॥ १०॥

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! तू न शोक करनेयोग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है; परंतु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते॥ ११॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी कालमें नहीं था, तू नहीं था अथवा ये राजालोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे॥ १२॥

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

जैसे जीवात्माकी इस देहमें बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; उस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता॥ १३॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥

हे कुन्तीपुत्र! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं, इसलिये हे भारत! उनको तू सहन कर॥ १४॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ! दुःख-सुखको समान

समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं करते, वह मोक्षके योग्य होता है॥ १५॥

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥

असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है॥ १६॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥

नाशरहित तो तू उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्यवर्ग व्याप्त है। इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है॥ १७॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत॥

इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर॥ १८॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥

जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा

जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है॥ १९॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो-
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता॥ २०॥

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥

हे पृथापुत्र अर्जुन! जो पुरुष इस आत्माको नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है?॥ २१॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है॥ २२॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥

इस आत्माको शस्त्र नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता॥ २३॥

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और निःसन्देह अशोष्य है तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है॥ २४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥

यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है और यह आत्मा विकाररहित कहा जाता है। इससे हे अर्जुन! इस आत्माको उपर्युक्त प्रकारसे जानकर तू शोक करनेको योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है॥ २५॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि॥

किन्तु यदि तू इस आत्माको सदा जन्मनेवाला तथा सदा मरनेवाला मानता हो, तो भी हे महाबाहो! तू इस प्रकार शोक करनेको योग्य नहीं है॥ २६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि॥

क्योंकि इस मान्यताके अनुसार जन्मे हुएकी मृत्यु निश्चित है और मरे हुएका जन्म निश्चित है। इससे भी इस बिना उपायवाले विषयमें तू शोक करनेको योग्य नहीं है॥ २७॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जन्मसे पहले अप्रकट थे और मरनेके बाद भी अप्रकट हो जानेवाले हैं, केवल बीचमें ही प्रकट हैं; फिर ऐसी स्थितिमें क्या शोक करना है?॥ २८॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

कोई एक महापुरुष ही इस आत्माको आश्चर्यकी भाँति देखता है और वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही इसके तत्त्वका आश्चर्यकी भाँति वर्णन करता है तथा दूसरा कोई अधिकारी पुरुष ही इसे आश्चर्यकी भाँति सुनता है और कोई-कोई तो सुनकर भी इसको नहीं जानता॥ २९॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥

हे अर्जुन! यह आत्मा सबके शरीरोंमें सदा ही अवध्य* है। इस कारण सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये तू शोक करनेके योग्य नहीं है॥ ३०॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥

तथा अपने धर्मको देखकर भी तू भय करनेयोग्य नहीं है अर्थात् तुझे भय नहीं करना चाहिये; क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त युद्धसे बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है॥ ३१॥

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥

हे पार्थ! अपने-आप प्राप्त हुए और खुले हुए

* जिसका वध नहीं किया जा सके।

स्वर्गके द्वाररूप इस प्रकारके युद्धको भाग्यवान् क्षत्रियलोग ही पाते हैं॥ ३२॥

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥

किन्तु यदि तू इस धर्मयुक्त युद्धको नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा॥ ३३॥

अकीर्तिं चापि भूतानि
कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्ति-
र्मरणादतिरिच्यते॥

तथा सब लोग तेरी बहुत कालतक रहनेवाली अपकीर्तिका भी कथन करेंगे और माननीय पुरुषके लिये अपकीर्ति मरणसे भी बढ़कर है॥ ३४॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥

और जिनकी दृष्टिमें तू पहले बहुत सम्मानित होकर अब लघुताको प्राप्त होगा, वे महारथीलोग तुझे भयके कारण युद्धसे हटा हुआ मानेंगे॥ ३५॥

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥

तेरे वैरीलोग तेरे सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए तुझे बहुत-से न कहने योग्य वचन भी कहेंगे; उससे अधिक दुःख और क्या होगा?॥ ३६॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥

या तो तू युद्धमें मारा जाकर स्वर्गको प्राप्त होगा अथवा संग्राममें जीतकर पृथ्वीका राज्य भोगेगा। इस कारण हे अर्जुन! तू युद्धके लिये निश्चय करके खड़ा हो जा॥ ३७॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान समझकर, उसके बाद युद्धके लिये तैयार हो जा; इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको नहीं प्राप्त होगा॥ ३८॥

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥

हे पार्थ! यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञानयोगके[१] विषयमें कही गयी और अब तू इसको कर्मयोगके[२] विषयमें सुन—जिस बुद्धिसे युक्त हुआ तू कर्मोंके

१-२ अध्याय ३ श्लोक ३ की टिप्पणीमें इसका विस्तार देखना चाहिये।

बन्धनको भलीभाँति त्याग देगा अर्थात् सर्वथा नष्ट कर डालेगा॥ ३९॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं है, बल्कि इस कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है॥ ४०॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

हे अर्जुन! इस कर्मयोगमें निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है; किन्तु अस्थिर विचारवाले विवेकहीन सकाम मनुष्योंकी बुद्धियाँ निश्चय ही बहुत भेदोंवाली और अनन्त होती हैं॥ ४१॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

हे अर्जुन! जो भोगोंमें तन्मय हो रहे हैं, जो

कर्मफलके प्रशंसक वेदवाक्योंमें ही प्रीति रखते हैं, जिनकी बुद्धिमें स्वर्ग ही परम प्राप्य वस्तु है और जो स्वर्गसे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है—ऐसा कहनेवाले हैं, वे अविवेकीजन इस प्रकारकी जिस पुष्पित अर्थात् दिखाऊ शोभायुक्त वाणीको कहा करते हैं जो कि जन्मरूप कर्मफल देनेवाली एवं भोग तथा ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये नाना प्रकारकी बहुत-सी क्रियाओंका वर्णन करनेवाली है, उस वाणीद्वारा जिनका चित्त हर लिया गया है, जो भोग और ऐश्वर्यमें अत्यन्त आसक्त हैं; उन पुरुषोंकी परमात्मामें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती॥ ४२—४४॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥

हे अर्जुन! वेद उपर्युक्त प्रकारसे तीनों गुणोंके कार्यरूप समस्त भोगों एवं उनके साधनोंका प्रतिपादन करनेवाले हैं; इसलिये तू उन भोगों एवं उनके साधनोंमें आसक्तिहीन, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्यवस्तु परमात्मामें स्थित, योग[१]-क्षेमको[२]

१. अप्राप्तकी प्राप्तिका नाम 'योग' है।
२. प्राप्त वस्तुकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है।

न चाहनेवाला और स्वाधीन अन्तः-करणवाला हो॥ ४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

सब ओरसे परिपूर्ण जलाशयके प्राप्त हो जानेपर छोटे जलाशयमें मनुष्यका जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्मको तत्त्वसे जाननेवाले ब्राह्मणका समस्त वेदोंमें उतना ही प्रयोजन रह जाता है॥ ४६॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो॥ ४७॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

हे धनञ्जय! तू आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्तव्यकर्मोंको कर, समत्व* ही योग कहलाता है॥ ४८॥

---

* जो कुछ भी कर्म किया जाय उसके पूर्ण होने और न होनेमें तथा उसके फलमें समभाव रहनेका नाम 'समत्व' है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥

इस समत्वरूप बुद्धियोगसे सकाम कर्म अत्यन्त ही निम्न श्रेणीका है। इसलिये हे धनञ्जय! तू समबुद्धिमें ही रक्षाका उपाय ढूँढ़ अर्थात् बुद्धियोगका ही आश्रय ग्रहण कर; क्योंकि फलके हेतु बननेवाले अत्यन्त दीन हैं॥ ४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनोंको इसी लोकमें त्याग देता है अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है। इससे तू समत्वरूप योगमें लग जा; यह समत्वरूप योग ही कर्मोंमें कुशलता है अर्थात् कर्मबन्धनसे छूटनेका उपाय है॥ ५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

क्योंकि समबुद्धिसे युक्त ज्ञानीजन कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्यागकर जन्मरूप बन्धनसे मुक्त हो निर्विकार परमपदको प्राप्त हो जाते हैं॥ ५१॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥

जिस कालमें तेरी बुद्धि मोहरूप दलदलको भलीभाँति पार कर जायगी, उस समय तू सुने हुए और सुननेमें आनेवाले इस लोक और परलोकसम्बन्धी सभी भोगोंसे वैराग्यको प्राप्त हो जायगा॥ ५२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

भाँति-भाँतिके वचनोंको सुननेसे विचलित हुई तेरी बुद्धि जब परमात्मामें अचल और स्थिर ठहर जायगी, तब तू योगको प्राप्त हो जायगा अर्थात् तेरा परमात्मासे नित्य संयोग हो जायगा॥ ५३॥

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥

अर्जुन बोले—हे केशव! समाधिमें स्थित परमात्माको प्राप्त हुए स्थिरबुद्धि पुरुषका क्या लक्षण है? वह स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है?॥ ५४॥

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है॥ ५५॥

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है॥ ५६॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर है॥ ५७॥

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

और कछुवा सब ओरसे अपने अंगोंको जैसे समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सब प्रकारसे हटा लेता है, तब

उसकी बुद्धि स्थिर है (ऐसा समझना चाहिये) ॥ ५८ ॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है॥ ५९ ॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

हे अर्जुन! आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात् हर लेती हैं॥ ६० ॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

इसलिये साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यानमें बैठे, क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर हो जाती है॥ ६१ ॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥

विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है॥ ६२॥

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

क्रोधसे अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़भावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है॥ ६३॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है॥ ६४॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥

अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्तवाले

कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है॥ ६५॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

न जीते हुए मन और इन्द्रियोंवाले पुरुषमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्यके अन्तःकरणमें भावना भी नहीं होती तथा भावनाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्यको सुख कैसे मिल सकता है?॥ ६६॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

क्योंकि जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है॥ ६७॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

इसलिये हे महाबाहो! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है॥ ६८॥

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये जो रात्रिके समान है, उस नित्य ज्ञानस्वरूप परमानन्दकी प्राप्तिमें स्थितप्रज्ञ योगी जागता है और जिस नाशवान् सांसारिक सुखकी प्राप्तिमें सब प्राणी जागते हैं, परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रिके समान है॥ ६९॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं-
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परमशान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं॥ ७०॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित,

अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्तिको प्राप्त है॥ ७१॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

हे अर्जुन! यह ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषकी स्थिति है, इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता और अन्तकालमें भी इस ब्राह्मी स्थितिमें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है॥ ७२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्म-
विद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

~~○~~

अथ तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥

अर्जुन बोले—हे जनार्दन! यदि आपको कर्मकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव! मुझे भयंकर कर्ममें क्यों लगाते हैं?॥ १॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥

आप मिले हुए-से वचनोंसे मेरी बुद्धिको मानो मोहित कर रहे हैं। इसलिये उस एक बातको निश्चित करके कहिये जिससे मैं कल्याणको प्राप्त हो जाऊँ॥ २॥

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

श्रीभगवान् बोले—हे निष्पाप! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा[१] मेरेद्वारा पहले कही गयी है। उनमेंसे सांख्ययोगियोंकी निष्ठा तो ज्ञानयोगसे[२] और योगियोंकी निष्ठा कर्मयोगसे[३] होती है॥ ३॥

---

१. साधनकी परिपक्व अवस्था अर्थात् पराकाष्ठाका नाम 'निष्ठा' है।

२. मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरतते हैं, ऐसे समझकर तथा मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहनेका नाम 'ज्ञानयोग' है, इसीको 'संन्यास', 'सांख्ययोग' आदि नामोंसे कहा गया है।

३. फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदाज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्व बुद्धिसे कर्म करनेका नाम 'निष्काम कर्मयोग' है, इसीको 'समत्वयोग', 'बुद्धियोग', 'कर्मयोग', 'तदर्थकर्म', 'मदर्थकर्म', 'मत्कर्म' आदि नामोंसे कहा गया हैं।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

मनुष्य न तो कर्मोंका आरम्भ किये बिना निष्कर्मताको* यानी योगनिष्ठाको प्राप्त होता है और न कर्मोंके केवल त्यागमात्रसे सिद्धि यानी सांख्यनिष्ठाको ही प्राप्त होता है॥ ४॥

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥

निःसन्देह कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता; क्योंकि सारा मनुष्यसमुदाय प्रकृतिजनित गुणोंद्वारा परवश हुआ कर्म करनेके लिये बाध्य किया जाता है॥ ५॥

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

जो मूढ़बुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियोंको हठपूर्वक ऊपरसे रोककर मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है॥ ६॥

---

* जिस अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् फल उत्पन्न नहीं कर सकते, उस अवस्थाका नाम 'निष्कर्मता' है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

किन्तु हे अर्जुन! जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियोंद्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है॥ ७॥

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥

तू शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म कर; क्योंकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करनेसे तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा॥ ८॥

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥

यज्ञके निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे अतिरिक्त दूसरे कर्मोंमें लगा हुआ ही यह मनुष्यसमुदाय कर्मोंसे बँधता है। इसलिये हे अर्जुन! तू आसक्तिसे रहित होकर उस यज्ञके निमित्त ही भलीभाँति कर्तव्यकर्म कर॥ ९॥

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

प्रजापति ब्रह्माने कल्पके आदिमें यज्ञसहित प्रजाओंको रचकर उनसे कहा कि तुमलोग इस

यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुमलोगोंको इच्छित भोग प्रदान करनेवाला हो॥ १०॥

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥

तुमलोग इस यज्ञके द्वारा देवताओंको उन्नत करो और वे देवता तुमलोगोंको उन्नत करें। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे एक-दूसरेको उन्नत करते हुए तुमलोग परम कल्याणको प्राप्त हो जाओगे॥ ११॥

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥

यज्ञके द्वारा बढ़ाये हुए देवता तुमलोगोंको बिना माँगे ही इच्छित भोग निश्चय ही देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओंके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उनको बिना दिये स्वयं भोगता है, वह चोर ही है॥ १२॥

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

यज्ञसे बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं और जो पापीलोग अपना शरीर-पोषण करनेके लिये ही अन्न पकाते हैं, वे तो पापको ही खाते हैं॥ १३॥

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है और यज्ञ विहित कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है। कर्मसमुदायको तू वेदसे उत्पन्न और वेदको अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ जान। इससे सिद्ध होता है कि सर्वव्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है॥ १४-१५॥

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

हे पार्थ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे प्रचलित सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है॥ १६॥

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

परन्तु जो मनुष्य आत्मामें ही रमण करनेवाला

और आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है॥ १७॥

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है। तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किञ्चिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता॥ १८॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह। क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है॥ १९॥

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥

जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे। इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तू कर्म करनेको ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है॥ २०॥

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है*॥ २१॥

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

हे अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ॥ २२॥

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

क्योंकि हे पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं॥ २३॥

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥

---

* यहाँ क्रियामें एकवचन है, परंतु 'लोक' शब्द समुदायवाचक होनेसे भाषामें बहुवचनकी क्रिया लिखी गयी है।

इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ॥ २४॥

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम्॥

हे भारत! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे॥ २५॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥

परमात्माके स्वरूपमें अटल स्थित हुए ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह शास्त्रविहित कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियोंकी बुद्धिमें भ्रम अर्थात् कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न न करे। किन्तु स्वयं शास्त्रविहित समस्त कर्म भलीभाँति करता हुआ उनसे भी वैसे ही करवावे॥ २६॥

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥

वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म सब प्रकारसे प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये जाते हैं तो भी जिसका अन्तःकरण

अहंकारसे मोहित हो रहा है, ऐसा अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है॥ २७॥

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

परन्तु हे महाबाहो! गुणविभाग और कर्मविभाग[१] के तत्त्व[२] को जाननेवाला ज्ञानयोगी सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा समझकर उनमें आसक्त नहीं होता॥ २८॥

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥

प्रकृतिके गुणोंसे अत्यन्त मोहित हुए मनुष्य गुणोंमें और कर्मोंमें आसक्त रहते हैं, उन पूर्णतया न समझनेवाले मन्दबुद्धि अज्ञानियोंको पूर्णतया जाननेवाला ज्ञानी विचलित न करे॥ २९॥

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

---

१. त्रिगुणात्मक मायाके कार्यरूप पाँच महाभूत और मन, बुद्धि, अहंकार तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और शब्दादि पाँच विषय—इन सबके समुदायका नाम 'गुणविभाग' है और इनकी परस्परकी चेष्टाओंका नाम 'कर्मविभाग' है।

२. उपर्युक्त 'गुणविभाग' और 'कर्मविभाग'से आत्माको पृथक् अर्थात् निर्लेप जानना ही इनका तत्त्व जानना है।

मुझ अन्तर्यामी परमात्मामें लगे हुए चित्तद्वारा सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके आशारहित, ममतारहित और सन्तापरहित होकर युद्ध कर॥ ३०॥

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥

जो कोई मनुष्य दोषदृष्टिसे रहित और श्रद्धायुक्त होकर मेरे इस मतका सदा अनुसरण करते हैं, वे भी सम्पूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं॥ ३१॥

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः॥

परन्तु जो मनुष्य मुझमें दोषारोपण करते हुए मेरे इस मतके अनुसार नहीं चलते हैं, उन मूर्खोंको तू सम्पूर्ण ज्ञानोंमें मोहित और नष्ट हुए ही समझ॥ ३२॥

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभावके परवश हुए कर्म करते हैं। ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है। फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा?॥ ३३॥

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥

इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष छिपे हुए स्थित हैं। मनुष्यको उन दोनोंके वशमें नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे दोनों ही इसके कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं॥ ३४॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

अच्छी प्रकार आचरणमें लाये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें तो मरना भी कल्याणकारक है और दूसरेका धर्म भयको देनेवाला है॥ ३५॥

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! तो फिर यह मनुष्य स्वयं न चाहता हुआ भी बलात् लगाये हुएकी भाँति किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है?॥ ३६॥

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

श्रीभगवान् बोले—रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला अर्थात् भोगोंसे कभी न अघानेवाला और बड़ा पापी है, इसको ही तू इस विषयमें वैरी जान॥ ३७॥

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥

जिस प्रकार धूएँसे अग्नि और मैलसे दर्पण ढका जाता है तथा जिस प्रकार जेरसे गर्भ ढका रहता है, वैसे ही उस कामके द्वारा यह ज्ञान ढका रहता है॥ ३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥

और हे अर्जुन! इस अग्निके समान कभी न पूर्ण होनेवाले कामरूप ज्ञानियोंके नित्य वैरीके द्वारा मनुष्यका ज्ञान ढका हुआ है॥ ३९॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—ये सब इसके वासस्थान कहे जाते हैं। यह काम इन मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा ही ज्ञानको आच्छादित करके जीवात्माको मोहित करता है॥ ४०॥

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥

इसलिये हे अर्जुन! तू पहले इन्द्रियोंको वशमें करके इस ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले महान् पापी कामको अवश्य ही बलपूर्वक मार डाल॥ ४१॥

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

इन्द्रियोंको स्थूल शरीरसे पर यानी श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म कहते हैं; इन इन्द्रियोंसे पर मन है, मनसे भी पर बुद्धि है और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त पर है वह आत्मा है॥ ४२॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

इस प्रकार बुद्धिसे पर अर्थात् सूक्ष्म, बलवान् और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्माको जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके हे महाबाहो! तू इस कामरूप दुर्जय शत्रुको मार डाल॥ ४३॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

~~○~~

अथ चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

श्रीभगवान् बोले—मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा थ; सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे कहा और मनुने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुसे कहा॥ १॥

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥

हे परंतप अर्जुन! इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना; किन्तु उसके बाद वह योग बहुत कालसे इस पृथ्वीलोकमें लुप्तप्राय हो गया॥ २॥

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है, इसलिये वही यह पुरातन योग आज मैंने तुझको कहा है; क्योंकि यह बड़ा ही उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखनेयोग्य विषय है॥ ३॥

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति॥

अर्जुन बोले—आपका जन्म तो अर्वाचीन—अभी हालका है और सूर्यका जन्म बहुत पुराना है अर्थात् कल्पके आदिमें हो चुका था। तब मैं इस बातको कैसे समझूँ कि आपहीने कल्पके आदिमें सूर्यसे यह योग कहा था?॥ ४॥

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥

श्रीभगवान् बोले—हे परंतप अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं। उन सबको तू नहीं जानता, किन्तु मैं जानता हूँ॥ ५॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

मैं अजन्मा और अविनाशीस्वरूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियोंका ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके अपनी योगमायासे प्रकट होता हूँ॥ ६॥

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् साकाररूपसे लोगोंके सम्मुख प्रकट होता हूँ॥ ७॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये, पापकर्म करनेवालोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी अच्छी तरहसे स्थापना करनेके लिये मैं युग-युगमें प्रकट हुआ करता हूँ॥ ८॥

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् निर्मल और अलौकिक हैं—इस प्रकार जो मनुष्य तत्त्वसे* जान लेता है, वह शरीरको त्यागकर फिर जन्मको प्राप्त नहीं होता, किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है॥ ९॥

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥

---

* सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्दघन परमात्मा अज, अविनाशी और सर्वभूतोंके परम गति तथा परम आश्रय हैं, वे केवल धर्मको स्थापन करने और संसारका उद्धार करनेके लिये ही अपनी योगमायासे सगुणरूप होकर प्रकट होते हैं, इसलिये परमेश्वरके समान सुहृद्, प्रेमी और पतितपावन दूसरा कोई नहीं है, ऐसा समझकर जो पुरुष परमेश्वरका अनन्य प्रेमसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ आसक्तिरहित संसारमें बर्तता है, वही उनको तत्त्वसे जानता है।

पहले भी, जिनके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये थे और जो मुझमें अनन्यप्रेमपूर्वक स्थित रहते थे, ऐसे मेरे आश्रित रहनेवाले बहुत-से भक्त उपर्युक्त ज्ञानरूप तपसे पवित्र होकर मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं॥ १०॥

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

हे अर्जुन! जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ; क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं॥ ११॥

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥

इस मनुष्यलोकमें कर्मोंके फलको चाहनेवाले लोग देवताओंका पूजन किया करते हैं; क्योंकि उनको कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धि शीघ्र मिल जाती है॥ १२॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंका समूह, गुण और कर्मोंके विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। इस प्रकार उस सृष्टि-रचनादि कर्मका कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी परमेश्वरको तू वास्तवमें अकर्ता ही जान॥ १३॥

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥

कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसलिये मुझे कर्म लिप्त नहीं करते—इस प्रकार जो मुझे तत्त्वसे जान लेता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता॥ १४॥

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्॥

पूर्वकालमें मुमुक्षुओंने भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किये हैं। इसलिये तू भी पूर्वजोंद्वारा सदासे किये जानेवाले कर्मोंको ही कर॥ १५॥

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

कर्म क्या है? और अकर्म क्या है?—इस प्रकार इसका निर्णय करनेमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। इसलिये वह कर्मतत्त्व मैं तुझे भलीभाँति समझाकर कहूँगा, जिसे जानकर तू अशुभसे अर्थात् कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा॥ १६॥

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये और अकर्मका

स्वरूप भी जानना चाहिये तथा विकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये; क्योंकि कर्मकी गति गहन है॥ १७॥

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

जो मनुष्य कर्ममें अकर्म देखता है और जो अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और वह योगी समस्त कर्मोंको करनेवाला है॥ १८॥

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं॥ १९॥

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥

जो पुरुष समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्य तृप्त है, वह कर्मोंमें भलीभाँति बर्तता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता॥ २०॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

जिसका अन्तःकरण और इन्द्रियोंके सहित शरीर जीता हुआ है और जिसने समस्त भोगोंकी सामग्रीका परित्याग कर दिया है, ऐसा आशारहित पुरुष केवल शरीर-सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पापोंको नहीं प्राप्त होता॥ २१॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥

जो बिना इच्छाके अपने-आप प्राप्त हुए पदार्थमें सदा सन्तुष्ट रहता है, जिसमें ईर्ष्याका सर्वथा अभाव हो गया है, जो हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत हो गया है—ऐसा सिद्धि और असिद्धिमें सम रहनेवाला कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी उनसे नहीं बँधता॥ २२॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गयी है, जो देहाभिमान और ममतासे रहित हो गया है, जिसका चित्त निरन्तर परमात्माके ज्ञानमें स्थित रहता है—ऐसा केवल यज्ञसम्पादनके लिये

कर्म करनेवाले मनुष्यके सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं॥ २३॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥

जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि भी ब्रह्म है और हवन किये जानेयोग्य द्रव्य भी ब्रह्म है तथा ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा ब्रह्मरूप अग्निमें आहुति देनारूप क्रिया भी ब्रह्म है—उस ब्रह्मकर्ममें स्थित रहनेवाले योगीद्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य फल भी ब्रह्म ही है॥ २४॥

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥

दूसरे योगीजन देवताओंके पूजनरूप यज्ञका ही भलीभाँति अनुष्ठान किया करते हैं और अन्य योगीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्निमें अभेददर्शनरूप यज्ञके द्वारा ही आत्मरूप यज्ञका हवन किया करते हैं*॥ २५॥

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥

अन्य योगीजन श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियोंको

* परब्रह्म परमात्मामें ज्ञानद्वारा एकीभावसे स्थित होना ही ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञके द्वारा यज्ञको हवन करना है।

संयमरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं और दूसरे योगीलोग शब्दादि समस्त विषयोंको इन्द्रियरूप अग्नियोंमें हवन किया करते हैं॥ २६॥

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥

दूसरे योगीजन इन्द्रियोंकी सम्पूर्ण क्रियाओंको और प्राणोंकी समस्त क्रियाओंको ज्ञानसे प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें हवन किया करते हैं*॥ २७॥

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥

कई पुरुष द्रव्यसम्बन्धी यज्ञ करनेवाले हैं, कितने ही तपस्यारूप यज्ञ करनेवाले हैं तथा दूसरे कितने ही योगरूप यज्ञ करनेवाले हैं, कितने ही अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्यायरूप ज्ञानयज्ञ करनेवाले हैं॥ २८॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥

---

* सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवाय अन्य किसीका भी न चिन्तन करना ही उन सबका हवन करना है।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥

दूसरे कितने ही योगीजन अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायुमें अपानवायुको हवन करते हैं तथा अन्य कितने ही नियमित आहार* करनेवाले प्राणायामपरायण पुरुष प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणोंको प्राणोंमें ही हवन किया करते हैं। ये सभी साधक यज्ञोंद्वारा पापोंका नाश कर देनेवाले और यज्ञोंको जाननेवाले हैं॥ २९-३०॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम॥

हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञसे बचे हुए अमृतका अनुभव करनेवाले योगीजन सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं। और यज्ञ न करनेवाले पुरुषके लिये तो यह मनुष्यलोक भी सुखदायक नहीं है, फिर परलोक कैसे सुखदायक हो सकता है?॥ ३१॥

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे॥

इसी प्रकार और भी बहुत तरहके यज्ञ वेदकी

* गीता अध्याय ६ श्लोक १७ में देखना चाहिये।

वाणीमें विस्तारसे कहे गये हैं। उन सबको तू मन, इन्द्रिय और शरीरकी क्रियाद्वारा सम्पन्न होनेवाले जान, इस प्रकार तत्त्वसे जानकर उनके अनुष्ठानद्वारा तू कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जायगा॥ ३२॥

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥

हे परंतप अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है, तथा यावन्मात्र सम्पूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं॥ ३३॥

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियोंके पास जाकर समझ, उनको भलीभाँति दण्डवत्-प्रणाम करनेसे, उनकी सेवा करनेसे और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करनेसे वे परमात्मतत्त्वको भलीभाँति जाननेवाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्त्वज्ञानका उपदेश करेंगे॥ ३४॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥

जिसको जानकर फिर तू इस प्रकार मोहको नहीं प्राप्त होगा तथा हे अर्जुन! जिस ज्ञानके द्वारा तू सम्पूर्ण

भूतोंको निःशेषभावसे पहले अपनेमें[1] और पीछे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें देखेगा[2]॥ ३५॥

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥

यदि तू अन्य सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है; तो भी तू ज्ञानरूप नौकाद्वारा निःसंदेह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे भलीभाँति तर जायगा॥ ३६॥

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥

क्योंकि हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनोंको भस्ममय कर देता है, वैसे ही ज्ञानरूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देता है॥ ३७॥

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। उस ज्ञानको कितने ही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्धान्तःकरण हुआ मनुष्य अपने-आप ही आत्मामें पा लेता है॥ ३८॥

---

१. गीता अ० ६ श्लोक २९ में देखना चाहिये।
२. गीता अ० ६ श्लोक ३० में देखना चाहिये।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है॥ ३९॥

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

विवेकहीन और श्रद्धारहित संशययुक्त मनुष्य परमार्थसे अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशययुक्त मनुष्यके लिये न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है॥ ४०॥

योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥

हे धनञ्जय! जिसने कर्मयोगकी विधिसे समस्त कर्मोंका परमात्मामें अर्पण कर दिया है और जिसने विवेकद्वारा समस्त संशयोंका नाश कर दिया है, ऐसे वशमें किये हुए अन्तःकरणवाले पुरुषको कर्म नहीं बाँधते॥ ४१॥

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥

इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! तू हृदयमें स्थित इस अज्ञानजनित अपने संशयका विवेकज्ञानरूप तलवारद्वारा छेदन करके समत्वरूप कर्मयोगमें स्थित हो जा और युद्धके लिये खड़ा हो जा॥ ४२॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसन्न्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

~~०~~

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! आप कर्मोंके संन्यासकी और फिर कर्मयोगकी प्रशंसा करते हैं। इसलिये इन दोनोंमेंसे जो एक मेरे लिये भलीभाँति निश्चित कल्याणकारक साधन हो, उसको कहिये॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥

श्रीभगवान् बोले—कर्मसंन्यास और कर्मयोग—

ये दोनों ही परम कल्याणके करनेवाले हैं, परन्तु उन दोनोंमें भी कर्मसंन्याससे कर्मयोग साधनमें सुगम होनेसे श्रेष्ठ है॥ २॥

ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥

हे अर्जुन! जो पुरुष न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकांक्षा करता है, वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है; क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित पुरुष सुखपूर्वक संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है॥ ३॥

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥

उपर्युक्त संन्यास और कर्मयोगको मूर्खलोग पृथक्-पृथक् फल देनेवाले कहते हैं न कि पण्डितजन, क्योंकि दोनोंमेंसे एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलरूप परमात्माको प्राप्त होता है॥ ४॥

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥

ज्ञानयोगियोंद्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। इसलिये जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें

एक देखता है, वही यथार्थ देखता है॥ ५॥

सन्न्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥

परन्तु हे अर्जुन! कर्मयोगके बिना संन्यास अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका त्याग प्राप्त होना कठिन है और भगवत्स्वरूपको मनन करनेवाला कर्मयोगी परब्रह्म परमात्माको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है॥ ६॥

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

जिसका मन अपने वशमें है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरणवाला है और सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मरूप परमात्मा ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता॥ ७॥

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ,

भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मूँदता हुआ भी, सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं—इस प्रकार समझकर निःसन्देह ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ॥ ८-९॥

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता॥ १०॥

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥

कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं॥ ११॥

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकाम-

पुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है॥ १२॥

सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥

अन्तःकरण जिसके वशमें है ऐसा सांख्ययोगका आचरण करनेवाला पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नवद्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है॥ १३॥

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

परमेश्वर मनुष्योंके न तो कर्तापनकी, न कर्मोंकी और न कर्मफलके संयोगकी ही रचना करते हैं; किन्तु स्वभाव ही बर्त रहा है॥ १४॥

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

सर्वव्यापी परमेश्वर भी न किसीके पापकर्मको और न किसीके शुभकर्मको ही ग्रहण करता है; किन्तु अज्ञानके द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, उसीसे सब अज्ञानी मनुष्य मोहित हो रहे हैं॥ १५॥

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥

परन्तु जिनका वह अज्ञान परमात्माके तत्त्वज्ञानद्वारा नष्ट कर दिया गया है, उनका वह ज्ञान सूर्यके सदृश उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्रकाशित कर देता है॥ १६॥

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं॥ १७॥

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समदर्शी* ही होते हैं॥ १८॥

---

* इसका विस्तार गीता अध्याय ६ श्लोक ३२ की टिप्पणीमें देखना चाहिये।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

जिनका मन समभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है, क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम है, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही स्थित हैं॥१९॥

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥

जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि, संशयरहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है॥ २०॥

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरणवाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है; तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है॥ २१॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता॥ २२॥

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

जो साधक इस मनुष्यशरीरमें, शरीरका नाश होनेसे पहले-पहले ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, वही पुरुष योगी है और वही सुखी है॥ २३॥

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

जो पुरुष अन्तरात्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है॥ २४॥

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥

जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं, जिनके सब

संशय ज्ञानके द्वारा निवृत्त हो गये हैं, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत हैं और जिनका जीता हुआ मन निश्चलभावसे परमात्मामें स्थित है, वे ब्रह्मवेत्ता पुरुष शान्त ब्रह्मको प्राप्त होते हैं॥ २५॥

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥

काम-क्रोधसे रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं॥ २६॥

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥

बाहरके विषय-भोगोंको न चिन्तन करता हुआ बाहर ही निकालकर और नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थित करके तथा नासिकामें विचरनेवाले प्राण और अपानवायुको सम करके, जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जीती हुई हैं, ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि* इच्छा, भय और क्रोधसे रहित हो गया है,

* परमेश्वरके स्वरूपका निरन्तर मनन करनेवाला।

वह सदा मुक्त ही है॥ २७-२८॥

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है॥ २९॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मसन्न्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

~~○~~

अथ षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

श्रीभगवान् बोले—जो पुरुष कर्मफलका आश्रय न लेकर करनेयोग्य कर्म करता है, वह संन्यासी तथा योगी है और केवल अग्निका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है तथा केवल क्रियाओंका त्याग करनेवाला योगी नहीं है॥ १॥

यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥

हे अर्जुन! जिसको संन्यास[१] ऐसा कहते हैं, उसीको तू योग[२] जान; क्योंकि संकल्पोंका त्याग न करनेवाला कोई भी पुरुष योगी नहीं होता॥ २॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

योगमें आरूढ़ होनेकी इच्छावाले मननशील पुरुषके लिये योगकी प्राप्तिमें निष्कामभावसे कर्म करना ही हेतु कहा जाता है और योगारूढ़ हो जानेपर उस योगारूढ़ पुरुषका जो सर्वसंकल्पोंका अभाव है, वही कल्याणमें हेतु कहा जाता है॥ ३॥

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, उस कालमें सर्वसंकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है॥ ४॥

---

१. -२. गीता अध्याय ३ श्लोक ३ की टिप्पणीमें इसका खुलासा अर्थ लिखा है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

अपने द्वारा अपना संसार-समुद्रसे उद्धार करे और अपनेको अधोगतिमें न डाले; क्योंकि यह मनुष्य आप ही तो अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु है॥ ५॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

जिस जीवात्माद्वारा मन और इन्द्रियोंसहित शरीर जीता हुआ है, उस जीवात्माका तो वह आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिये वह आप ही शत्रुके सदृश शत्रुतामें बर्तता है॥ ६॥

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥

सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित है अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं॥ ७॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥

जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है, ऐसे कहा जाता है॥ ८॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

सुहृद्[१], मित्र, वैरी, उदासीन[२], मध्यस्थ[३], द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समानभाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है॥ ९॥

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥

मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें रखनेवाला, आशारहित और संग्रहरहित योगी अकेला ही एकान्त स्थानमें स्थित होकर आत्माको निरन्तर परमात्मामें लगावे॥ १०॥

---

१. स्वार्थरहित सबका हित करनेवाला।
२. पक्षपातरहित।
३. दोनों ओरकी भलाई चाहनेवाला।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥

शुद्ध भूमिमें, जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा है और न बहुत नीचा, ऐसे अपने आसनको स्थिर स्थापन करके— ॥ ११ ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥

उस आसनपर बैठकर चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे॥ १२ ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥

काया, सिर और गलेको समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर, अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ— ॥ १३ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥

ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति

शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे॥ १४॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥

वशमें किये हुए मनवाला योगी इस प्रकार आत्माको निरन्तर मुझ परमेश्वरके स्वरूपमें लगाता हुआ मुझमें रहनेवाली परमानन्दकी पराकाष्ठारूप शान्तिको प्राप्त होता है॥ १५॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥

हे अर्जुन! यह योग न तो बहुत खानेवालेका, न बिलकुल न खानेवालेका, न बहुत शयन करनेके स्वभाववालेका और न सदा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है॥ १६॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है॥ १७॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥

अत्यन्त वशमें किया हुआ चित्त जिस कालमें परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित हो जाता है, उस कालमें सम्पूर्ण भोगोंसे स्पृहारहित पुरुष योगयुक्त है, ऐसा कहा जाता है॥ १८॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥

जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें स्थित दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा परमात्माके ध्यानमें लगे हुए योगीके जीते हुए चित्तकी कही गयी है॥ १९॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥

योगके अभ्याससे निरुद्ध चित्त जिस अवस्थामें उपराम हो जाता है और जिस अवस्थामें परमात्माके ध्यानसे शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा परमात्माको साक्षात् करता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही सन्तुष्ट रहता है॥ २०॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥

इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है; उसको जिस अवस्थामें

अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं॥ २१॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्मप्राप्तिरूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता॥ २२॥

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥

जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है; उसको जानना चाहिये। वह योग न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है॥ २३॥

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥

संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे त्यागकर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर— ॥ २४॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे॥ २५॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे॥ २६॥

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥

क्योंकि जिसका मन भली प्रकार शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ एकीभाव हुए योगीको उत्तम आनन्द प्राप्त होता है॥ २७॥

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है॥ २८॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखता है॥ २९॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत* देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता॥ ३०॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है॥ ३१॥

* गीता अध्याय ९ श्लोक ६में देखना चाहिये।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति* सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है॥ ३२॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्॥

अर्जुन बोले—हे मधुसूदन! जो यह योग आपने समभावसे कहा है, मनके चञ्चल होनेसे मैं इसकी नित्य स्थितिको नहीं देखता हूँ॥ ३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

क्योंकि हे श्रीकृष्ण! यह मन बड़ा चञ्चल, प्रमथन स्वभाववाला, बड़ा दृढ़ और बलवान् है। इसलिये उसका वशमें करना मैं वायुको रोकनेकी भाँति अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ॥ ३४॥

---

* जैसे मनुष्य अपने मस्तक, हाथ, पैर और गुदादिके साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र और म्लेच्छादिकोंका-सा बर्ताव करता हुआ भी उनमें आत्मभाव अर्थात् अपनापन समान होनेसे सुख और दुःखको समान ही देखता है, वैसे ही सब भूतोंमें देखना 'अपनी भाँति' सम देखना है।

श्रीभगवानुवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो! निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है; परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह अभ्यास* और वैराग्यसे वशमें होता है॥ ३५॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

जिसका मन वशमें किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुषद्वारा योग दुष्प्राप्य है और वशमें किये हुए मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधनसे उसका प्राप्त होना सहज है—यह मेरा मत है॥ ३६॥

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥

अर्जुन बोले—हे श्रीकृष्ण! जो योगमें श्रद्धा रखनेवाला है; किन्तु संयमी नहीं है, इस कारण जिसका मन अन्तकालमें योगसे विचलित

* गीता अध्याय १२ श्लोक ९ की टिप्पणीमें इसका विस्तार देखना चाहिये।

हो गया है, ऐसा साधक योगकी सिद्धिको अर्थात् भगवत्साक्षात्कारको न प्राप्त होकर किस गतिको प्राप्त होता है॥ ३७॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि॥

हे महाबाहो! क्या वह भगवत्प्राप्तिके मार्गमें मोहित और आश्रयरहित पुरुष छिन्न-भिन्न बादलकी भाँति दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं हो जाता?॥ ३८॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते॥

हे श्रीकृष्ण! मेरे इस संशयको सम्पूर्णरूपसे छेदन करनेके लिये आप ही योग्य हैं, क्योंकि आपके सिवा दूसरा इस संशयका छेदन करनेवाला मिलना सम्भव नहीं है॥ ३९॥

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ! उस पुरुषका न तो इस लोकमें नाश होता है और न परलोकमें ही। क्योंकि हे प्यारे! आत्मोद्धारके लिये अर्थात्

भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करनेवाला कोई भी मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता॥ ४०॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥

योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानोंके लोकोंको अर्थात् स्वर्गादि उत्तम लोकोंको प्राप्त होकर, उनमें बहुत वर्षोंतक निवास करके फिर शुद्ध आचरणवाले श्रीमान् पुरुषोंके घरमें जन्म लेता है॥ ४१॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥

अथवा वैराग्यवान् पुरुष उन लोकोंमें न जाकर ज्ञानवान् योगियोंके ही कुलमें जन्म लेता है। परन्तु इस प्रकारका जो यह जन्म है, सो संसारमें निःसन्देह अत्यन्त दुर्लभ है॥ ४२॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

वहाँ उस पहले शरीरमें संग्रह किये हुए बुद्धि-संयोगको अर्थात् समबुद्धिरूप योगके संस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन! उसके प्रभावसे वह फिर परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये पहलेसे भी बढ़कर प्रयत्न करता है॥ ४३॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥

वह* श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पराधीन हुआ भी उस पहलेके अभ्याससे ही निःसन्देह भगवान्‌की ओर आकर्षित किया जाता है, तथा समबुद्धिरूप योगका जिज्ञासु भी वेदमें कहे हुए सकाम कर्मोंके फलको उल्लंघन कर जाता है॥ ४४॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

परन्तु प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाला योगी तो पिछले अनेक जन्मोंके संस्कारबलसे इसी जन्ममें संसिद्ध होकर सम्पूर्ण पापोंसे रहित हो फिर तत्काल ही परमगतिको प्राप्त हो जाता है॥ ४५॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी
तस्माद्योगी भवार्जुन॥

योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है और सकाम कर्म करनेवालोंसे भी योगी

* यहाँ 'वह' शब्दसे श्रीमानोंके घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पुरुष समझना चाहिये।

श्रेष्ठ है; इससे हे अर्जुन! तू योगी हो॥ ४६॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है॥ ४७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ! अनन्यप्रेमसे मुझमें आसक्तचित्त तथा अनन्यभावसे मेरे परायण होकर योगमें लगा हुआ तू जिस प्रकारसे सम्पूर्ण विभूति, बल, ऐश्वर्यादि गुणोंसे युक्त, सबके आत्मरूप मुझको संशयरहित जानेगा, उसको सुन॥ १॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते॥

मैं तेरे लिये इस विज्ञानसहित तत्त्वज्ञानको सम्पूर्णतया कहूँगा, जिसको जानकर संसारमें फिर और कुछ भी जाननेयोग्य शेष नहीं रह जाता॥ २॥

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

हजारों मनुष्योंमें कोई एक मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करता है और उन यत्न करनेवाले योगियोंमें भी कोई एक मेरे परायण होकर मुझको तत्त्वसे अर्थात् यथार्थरूपसे जानता है॥ ३॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार भी—इस प्रकार यह आठ प्रकारसे विभाजित मेरी प्रकृति है। यह आठ प्रकारके भेदोंवाली तो अपरा अर्थात् मेरी जड़ प्रकृति है और हे महाबाहो! इससे दूसरीको, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है, मेरी जीवरूपा परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान॥ ४-५॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥

हे अर्जुन! तू ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियोंसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं और मैं सम्पूर्ण जगत्का प्रभव तथा प्रलय हूँ अर्थात् सम्पूर्ण जगत्का मूलकारण हूँ॥ ६॥

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥

हे धनञ्जय! मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मनियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है॥ ७॥

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु॥

हे अर्जुन! मैं जलमें रस हूँ, चन्द्रमा और सूर्यमें प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदोंमें ओंकार हूँ, आकाशमें शब्द और पुरुषोंमें पुरुषत्व हूँ॥ ८॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु॥

मैं पृथ्वीमें पवित्र* गन्ध और अग्निमें तेज हूँ

---

* शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धसे इस प्रसङ्गमें इनके कारणरूप तन्मात्राओंका ग्रहण है, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये उनके साथ पवित्र शब्द जोड़ा गया है।

तथा सम्पूर्ण भूतोंमें उनका जीवन हूँ और तपस्वियोंमें तप हूँ॥ ९॥

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्॥

हे अर्जुन! तू सम्पूर्ण भूतोंका सनातन बीज मुझको ही जान। मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियोंका तेज हूँ॥ १०॥

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥

हे भरतश्रेष्ठ! मैं बलवानोंका आसक्ति और कामनाओंसे रहित बल अर्थात् सामर्थ्य हूँ और सब भूतोंमें धर्मके अनुकूल अर्थात् शास्त्रके अनुकूल काम हूँ॥ ११॥

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥

और भी जो सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेवाले भाव हैं और जो रजोगुणसे तथा तमोगुणसे होनेवाले भाव हैं, उन सबको तू 'मुझसे ही होनेवाले हैं' ऐसा जान, परन्तु वास्तवमें* उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं॥ १२॥

* गीता अ० ९ श्लोक ४-५ में देखना चाहिये।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्॥

गुणोंके कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीनों प्रकारके भावोंसे यह सारा संसार—प्राणिसमुदाय मोहित हो रहा है, इसीलिये इन तीनों गुणोंसे परे मुझ अविनाशीको नहीं जानता॥ १३॥

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

क्योंकि यह अलौकिक अर्थात् अति अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है; परन्तु जो पुरुष केवल मुझको ही निरन्तर भजते हैं, वे इस मायाको उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं॥ १४॥

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥

मायाके द्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है ऐसे आसुर-स्वभावको धारण किये हुए, मनुष्योंमें नीच, दूषित कर्म करनेवाले मूढ़लोग मुझको नहीं भजते॥ १५॥

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! उत्तम कर्म करनेवाले

अर्थार्थी[१], आर्त[२], जिज्ञासु[३] और ज्ञानी—ऐसे चार प्रकारके भक्तजन मुझको भजते हैं॥ १६॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥

उनमें नित्य मुझमें एकीभावसे स्थित अनन्य प्रेमभक्तिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम है, क्योंकि मुझको तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अत्यन्त प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्रिय है॥ १७॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

ये सभी उदार हैं, परन्तु ज्ञानी तो साक्षात् मेरा स्वरूप ही है—ऐसा मेरा मत है; क्योंकि वह मद्गत मन-बुद्धिवाला ज्ञानी भक्त अति उत्तम गतिस्वरूप मुझमें ही अच्छी प्रकार स्थित है॥ १८॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त

---

१. सांसारिक पदार्थोंके लिये भजनेवाला।
२. संकट-निवारणके लिये भजनेवाला।
३. मेरेको यथार्थरूपसे जाननेकी इच्छासे भजनेवाला।

पुरुष, सब कुछ वासुदेव ही है—इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है॥ १९॥

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया॥

उन-उन भोगोंकी कामनाद्वारा जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, वे लोग अपने स्वभावसे प्रेरित होकर उस-उस नियमको धारण करके अन्य देवताओंको भजते हैं अर्थात् पूजते हैं॥ २०॥

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥

जो-जो सकाम भक्त जिस-जिस देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उस-उस भक्तकी श्रद्धाको मैं उसी देवताके प्रति स्थिर करता हूँ॥ २१॥

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्॥

वह पुरुष उस श्रद्धासे युक्त होकर उस देवताका पूजन करता है और उस देवतासे मेरे द्वारा ही विधान किये हुए उन इच्छित भोगोंको निःसन्देह प्राप्त करता है॥ २२॥

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि॥

परन्तु उन अल्प बुद्धिवालोंका वह फल नाशवान् है तथा वे देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं और मेरे भक्त चाहे जैसे ही भजें, अन्तमें वे मुझको ही प्राप्त होते हैं॥ २३॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्॥

बुद्धिहीन पुरुष मेरे अनुत्तम अविनाशी परम भावको न जानते हुए मन-इन्द्रियोंसे परे मुझ सच्चिदानन्दघन परमात्माको मनुष्यकी भाँति जन्मकर व्यक्तिभावको प्राप्त हुआ मानते हैं॥ २४॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

अपनी योगमायासे छिपा हुआ मैं सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित अविनाशी परमेश्वरको नहीं जानता अर्थात् मुझको जन्मने-मरनेवाला समझता है॥ २५॥

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन॥

हे अर्जुन! पूर्वमें व्यतीत हुए और वर्तमानमें स्थित तथा आगे होनेवाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ, परन्तु

मुझको कोई भी श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुष नहीं जानता॥ २६॥

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप॥

हे भरतवंशी अर्जुन! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अत्यन्त अज्ञताको प्राप्त हो रहे हैं॥ २७॥

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः॥

परन्तु निष्कामभावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषजनित द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त दृढ़निश्चयी भक्त मुझको सब प्रकारसे भजते हैं॥ २८॥

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्॥

जो मेरे शरण होकर जरा और मरणसे छूटनेके लिये यत्न करते हैं, वे पुरुष उस ब्रह्मको, सम्पूर्ण अध्यात्मको, सम्पूर्ण कर्मको जानते हैं॥ २९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥

जो पुरुष अधिभूत और अधिदैवके सहित तथा अधियज्ञके सहित (सबका आत्मरूप) मुझे अन्तकालमें

भी जानते हैं, वे युक्तचित्तवाले पुरुष मुझे जानते हैं अर्थात् प्राप्त हो जाते हैं॥ ३०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

अथाष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते॥

अर्जुनने कहा—हे पुरुषोत्तम! वह ब्रह्म क्या है? अध्यात्म क्या है? कर्म क्या है? अधिभूत नामसे क्या कहा गया है और अधिदैव किसको कहते हैं॥ १॥

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः॥

हे मधुसूदन! यहाँ अधियज्ञ कौन है? और वह इस शरीरमें कैसे है? तथा युक्तचित्तवाले पुरुषोंद्वारा अन्त समयमें आप किस प्रकार जाननेमें आते हैं॥ २॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः॥

श्रीभगवान्‌ने कहा—परम अक्षर 'ब्रह्म' है, अपना स्वरूप अर्थात् जीवात्मा 'अध्यात्म' नामसे कहा जाता है तथा भूतोंके भावको उत्पन्न करनेवाला जो त्याग है, वह 'कर्म' नामसे कहा गया है॥ ३॥

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥

उत्पत्ति-विनाश धर्मवाले सब पदार्थ अधिभूत हैं, हिरण्यमय पुरुष* अधिदैव है और हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! इस शरीरमें मैं वासुदेव ही अन्तर्यामीरूपसे अधियज्ञ हूँ॥ ४॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है॥ ५॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-

---

* जिसको शास्त्रोंमें 'सूत्रात्मा', 'हिरण्यगर्भ', 'प्रजापति', 'ब्रह्मा' इत्यादि नामोंसे कहा गया है।

जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह सदा उसी भावसे भावित रहा है॥ ६॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥

इसलिये हे अर्जुन! तू सब समयमें निरन्तर मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर। इस प्रकार मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिसे युक्त होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा॥ ७॥

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥

हे पार्थ! यह नियम है कि परमेश्वरके ध्यानके अभ्यासरूप योगसे युक्त, दूसरी ओर न जानेवाले चित्तसे निरन्तर चिन्तन करता हुआ मनुष्य परम प्रकाशरूप दिव्य पुरुषको अर्थात् परमेश्वरको ही प्राप्त होता है॥ ८॥

कविं पुराणमनुशासितार-
मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥

जो पुरुष सर्वज्ञ, अनादि, सबके नियन्ता*, सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, सबके धारण-पोषण करनेवाले अचिन्त्यस्वरूप, सूर्यके सदृश नित्य चेतन प्रकाशरूप और अविद्यासे अति परे, शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमेश्वरका स्मरण करता है॥ ९॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्-
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापित करके, फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्य रूप परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है॥ १०॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये॥

---

* अन्तर्यामीरूपसे सब प्राणियोंके शुभ और अशुभ कर्मके अनुसार शासन करनेवाला।

वेदके जाननेवाले विद्वान् जिस सच्चिदानन्दघनरूप परमपदको अविनाशी कहते हैं, आसक्तिरहित यत्नशील संन्यासी महात्माजन जिसमें प्रवेश करते हैं और जिस परमपदको चाहनेवाले ब्रह्मचारी लोग ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उस परमपदको मैं तेरे लिये संक्षेपसे कहूँगा॥ ११ ॥

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

सब इन्द्रियोंके द्वारोंको रोककर तथा मनको हृदेशमें स्थिर करके, फिर उस जीते हुए मनके द्वारा प्राणको मस्तकमें स्थापित करके, परमात्मसम्बन्धी योगधारणामें स्थित होकर जो पुरुष 'ॐ' इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मुझ निर्गुण ब्रह्मका चिन्तन करता हुआ शरीरको त्याग कर जाता है, वह पुरुष परमगतिको प्राप्त होता है॥ १२-१३॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

हे अर्जुन! जो पुरुष मुझमें अनन्य चित्त होकर

सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ॥ १४॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥

परम सिद्धिको प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखोंके घर एवं क्षणभंगुर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते॥ १५॥

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥

हे अर्जुन! ब्रह्मलोकपर्यन्त सब लोक पुनरावर्ती हैं, परन्तु हे कुन्तीपुत्र! मुझको प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता; क्योंकि मैं कालातीत हूँ और ये सब ब्रह्मादिके लोक कालके द्वारा सीमित होनेसे अनित्य हैं॥ १६॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥

ब्रह्माका जो एक दिन है, उसको एक हजार चतुर्युगीतककी अवधिवाला और रात्रिको भी एक हजार चतुर्युगीतककी अवधिवाली जो पुरुष तत्त्वसे जानते हैं, वे योगीजन कालके तत्त्वको जाननेवाले हैं॥ १७॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके॥

सम्पूर्ण चराचर भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्मशरीरमें ही लीन हो जाते हैं॥ १८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥

हे पार्थ! वही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिके वशमें हुआ रात्रिके प्रवेशकालमें लीन होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है॥ १९॥

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥

उस अव्यक्तसे भी अति परे दूसरा अर्थात् विलक्षण जो सनातन अव्यक्तभाव है, वह परम दिव्य पुरुष सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता॥ २०॥

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

जो अव्यक्त 'अक्षर' इस नामसे कहा गया है, उसी अक्षर नामक अव्यक्तभावको परमगति कहते हैं तथा जिस सनातन अव्यक्तभावको प्राप्त होकर मनुष्य वापस नहीं आते, वह मेरा परम धाम है॥ २१॥

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥

हे पार्थ! जिस परमात्माके अन्तर्गत सर्वभूत हैं और जिस सच्चिदानन्दघन परमात्मासे यह समस्त जगत् परिपूर्ण है[१], वह सनातन अव्यक्त परम पुरुष तो अनन्य[२] भक्तिसे ही प्राप्त होने योग्य है॥ २२॥

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥

हे अर्जुन! जिस कालमें[३] शरीर त्याग कर गये हुए योगीजन तो वापस न लौटनेवाली गतिको और जिस कालमें गये हुए वापस लौटनेवाली गतिको ही प्राप्त होते हैं, उस कालको अर्थात् दोनों मार्गोंको कहूँगा॥ २३॥

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥

जिस मार्गमें ज्योतिर्मय अग्नि-अभिमानी देवता है, दिनका अभिमानी देवता है, शुक्लपक्षका अभिमानी

१. गीता अ० ९ श्लोक ४ में देखना चाहिये।

२. गीता अ० ११ श्लोक ५५ में इसका विस्तार देखना चाहिये।

३. यहाँ काल शब्दसे मार्ग समझना चाहिये; क्योंकि आगेके श्लोकोंमें भगवान्‌ने इसका नाम 'सृति', 'गति' ऐसा कहा है।

देवता है और उत्तरायणके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गये हुए ब्रह्मवेत्ता योगीजन उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले जाये जाकर ब्रह्मको प्राप्त होते हैं॥ २४॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥

जिस मार्गमें धूमाभिमानी देवता है, रात्रि अभिमानी देवता है तथा कृष्णपक्षका अभिमानी देवता है और दक्षिणायनके छः महीनोंका अभिमानी देवता है, उस मार्गमें मरकर गया हुआ सकाम कर्म करनेवाला योगी उपर्युक्त देवताओंद्वारा क्रमसे ले गया हुआ चन्द्रमाकी ज्योतिको प्राप्त होकर स्वर्गमें अपने शुभकर्मोंका फल भोगकर वापस आता है॥ २५॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥

क्योंकि जगत्के ये दो प्रकारके—शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयान मार्ग सनातन माने गये हैं। इनमें एकके द्वारा गया हुआ*—जिससे वापस नहीं लौटना पड़ता, उस परम गतिको प्राप्त होता

* अर्थात् इसी अध्यायके श्लोक २४ के अनुसार अर्चिमार्गसे गया हुआ योगी।

है और दूसरेके द्वारा गया हुआ* फिर वापस आता है अर्थात् जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है॥ २६॥

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥

हे पार्थ! इस प्रकार इन दोनों मार्गोंको तत्त्वसे जानकर कोई भी योगी मोहित नहीं होता। इस कारण हे अर्जुन! तू सब कालमें समबुद्धिरूप योगसे युक्त हो अर्थात् निरन्तर मेरी प्राप्तिके लिये साधन करनेवाला हो॥ २७॥

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

योगी पुरुष इस रहस्यको तत्त्वसे जानकर वेदोंके पढ़नेमें तथा यज्ञ, तप और दानादिके करनेमें जो पुण्यफल कहा है, उन सबको निःसन्देह उल्लंघन कर जाता है और सनातन परमपदको प्राप्त होता है॥ २८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

* अर्थात् इसी अध्यायके श्लोक २५ के अनुसार धूममार्गसे गया हुआ सकाम कर्मयोगी।

अथ नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

श्रीभगवान् बोले—तुझ दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये इस परम गोपनीय विज्ञानसहित ज्ञानको पुनः भलीभाँति कहूँगा, जिसको जानकर तू दुःखरूप संसारसे मुक्त हो जायगा॥ १॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

यह विज्ञानसहित ज्ञान सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, साधन करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी है॥ २॥

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥

हे परंतप! इस उपर्युक्त धर्ममें श्रद्धारहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्युरूप संसारचक्रमें भ्रमण करते रहते हैं॥ ३॥

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

मुझ निराकार परमात्मासे यह सब जगत् जलसे बरफके सदृश परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत संकल्पके आधार स्थित हैं, किन्तु वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ॥ ४॥

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥

वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं; किन्तु मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख कि भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला और भूतोंको उत्पन्न करनेवाला भी मेरा आत्मा वास्तवमें भूतोंमें स्थित नहीं है॥ ५॥

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥

जैसे आकाशसे उत्पन्न सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा आकाशमें ही स्थित है, वैसे ही मेरे संकल्पद्वारा उत्पन्न होनेसे सम्पूर्ण भूत मुझमें स्थित हैं, ऐसा जान॥ ६॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

हे अर्जुन! कल्पोंके अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं अर्थात् प्रकृतिमें लीन होते हैं और कल्पोंके आदिमें उनको मैं फिर रचता हूँ॥ ७॥

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥

अपनी प्रकृतिको अंगीकार करके स्वभावके बलसे परतन्त्र हुए इस सम्पूर्ण भूतसमुदायको बार-बार उनके कर्मोंके अनुसार रचता हूँ॥ ८॥

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥

हे अर्जुन! उन कर्मोंमें आसक्तिरहित और उदासीनके सदृश[1] स्थित मुझ परमात्माको वे कर्म नहीं बाँधते॥ ९॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥

हे अर्जुन! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे प्रकृति चराचरसहित सर्व जगत्को रचती है और इस हेतुसे ही यह संसारचक्र घूम रहा है॥ १०॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

मेरे परमभावको[2] न जाननेवाले मूढ़लोग मनुष्यका

---

१. जिसके सम्पूर्ण कार्य कर्तृत्वभावके बिना अपने-आप सत्तामात्रसे ही होते हैं, उसका नाम 'उदासीनके सदृश' है।

२. गीता अध्याय ७ श्लोक २४ में देखना चाहिये।

शरीर धारण करनेवाले मुझ सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वरको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझ परमेश्वरको साधारण मनुष्य मानते हैं॥ ११॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥

वे व्यर्थ आशा, व्यर्थ कर्म और व्यर्थ ज्ञानवाले विक्षिप्तचित्त अज्ञानीजन राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिको[1] ही धारण किये रहते हैं॥ १२॥

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

परन्तु हे कुन्तीपुत्र! दैवी प्रकृतिके[1] आश्रित महात्माजन मुझको सब भूतोंका सनातन कारण और नाशरहित अक्षरस्वरूप जानकर अनन्य मनसे युक्त होकर निरन्तर भजते हैं॥ १३॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

१. जिसको आसुरी सम्पदाके नामसे विस्तारपूर्वक भगवान्‌ने गीता अध्याय १६ श्लोक ४ तथा श्लोक ७ से २१ तकमें कहा है।

२. इसका विस्तारपूर्वक वर्णन गीता अध्याय १६ श्लोक १ से ३ तकमें देखना चाहिये।

वे दृढ़ निश्चयवाले भक्तजन निरन्तर मेरे नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए तथा मेरी प्राप्तिके लिये यत्न करते हुए और मुझको बार-बार प्रणाम करते हुए सदा मेरे ध्यानमें युक्त होकर अनन्य प्रेमसे मेरी उपासना करते हैं॥ १४॥

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥

दूसरे ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण-निराकार ब्रह्मका ज्ञानयज्ञके द्वारा अभिन्नभावसे पूजन करते हुए भी मेरी उपासना करते हैं और दूसरे मनुष्य बहुत प्रकारसे स्थित मुझ विराट्स्वरूप परमेश्वरकी पृथक् भावसे उपासना करते हैं॥ १५॥

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥

क्रतु मैं हूँ, यज्ञ मैं हूँ, स्वधा मैं हूँ, ओषधि मैं हूँ, मन्त्र मैं हूँ, घृत मैं हूँ, अग्नि मैं हूँ और हवनरूप क्रिया भी मैं ही हूँ॥ १६॥

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च॥

इस सम्पूर्ण जगत्का धाता अर्थात् धारण करनेवाला एवं कर्मोंके फलको देनेवाला, पिता, माता, पितामह,

जाननेयोग्य,[१] पवित्र ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मैं ही हूँ॥ १७॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

प्राप्त होनेयोग्य परम धाम, भरण-पोषण करनेवाला, सबका स्वामी, शुभाशुभका देखनेवाला, सबका वासस्थान, शरण लेनेयोग्य, प्रत्युपकार न चाहकर हित करनेवाला, सबकी उत्पत्ति-प्रलयका हेतु, स्थितिका आधार, निधान[२] और अविनाशी कारण भी मैं ही हूँ॥ १८॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥

मैं ही सूर्यरूपसे तपता हूँ, वर्षाका आकर्षण करता हूँ और उसे बरसाता हूँ। हे अर्जुन! मैं ही अमृत और मृत्यु हूँ और सत्-असत् भी मैं ही हूँ॥ १८॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा-
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।

---

१. गीता अध्याय १३ श्लोक १२ से १७ तकमें देखना चाहिये।

२. प्रलयकालमें सम्पूर्ण भूत सूक्ष्मरूपसे जिसमें लय होते हैं, उसका नाम 'निधान' है।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥

तीनों वेदोंमें विधान किये हुए सकामकर्मोंको करनेवाले, सोमरसको पीनेवाले, पापरहित पुरुष* मुझको यज्ञोंके द्वारा पूजकर स्वर्गकी प्राप्ति चाहते हैं; वे पुरुष अपने पुण्योंके फलरूप स्वर्गलोकको प्राप्त होकर स्वर्गमें दिव्य देवताओंके भोगोंको भोगते हैं॥ २०॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं-
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना-
गतागतं कामकामा लभन्ते॥

वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार स्वर्गके साधनरूप तीनों वेदोंमें कहे हुए सकामकर्मका आश्रय लेनेवाले और भोगोंकी कामनावाले पुरुष बार-बार आवागमनको प्राप्त होते हैं, अर्थात् पुण्यके प्रभावसे स्वर्गमें जाते हैं और पुण्य क्षीण होनेपर मृत्युलोकमें आते हैं॥ २१॥

---

* यहाँ स्वर्गप्राप्तिके प्रतिबन्धक देवऋणरूप पापसे पवित्र होना समझना चाहिये।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम* मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ॥ २२॥

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥

हे अर्जुन! यद्यपि श्रद्धासे युक्त जो सकाम भक्त दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी मुझको ही पूजते हैं; किन्तु उनका वह पूजन अविधिपूर्वक अर्थात् अज्ञानपूर्वक है॥ २३॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥

क्योंकि सम्पूर्ण यज्ञोंका भोक्ता और स्वामी भी मैं ही हूँ; परन्तु वे मुझ परमेश्वरको तत्त्वसे नहीं जानते, इसीसे गिरते हैं अर्थात् पुनर्जन्मको प्राप्त होते हैं॥ २४॥

---

* भगवत्स्वरूपकी प्राप्तिका नाम 'योग' है और भगवत्प्राप्तिके निमित्त किये हुए साधनकी रक्षाका नाम 'क्षेम' है।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥

देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, पितरोंको पूजनेवाले पितरोंको प्राप्त होते हैं, भूतोंको पूजनेवाले भूतोंको प्राप्त होते हैं और मेरा पूजन करनेवाले भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं। इसलिये मेरे भक्तोंका पुनर्जन्म नहीं होता*॥ २५॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ॥ २६॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर॥ २७॥

* गीता अध्याय ८ श्लोक १६ में देखना चाहिये।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

इस प्रकार, जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा॥ २८॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परन्तु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट* हूँ॥ २९॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि

---

* जैसे सूक्ष्मरूपसे सब जगह व्यापक हुआ भी अग्नि साधनोंद्वारा प्रकट करनेसे ही प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही सब जगह स्थित हुआ भी परमेश्वर भक्तिसे भजनेवालेके ही अन्तःकरणमें प्रत्यक्षरूपसे प्रकट होता है।

परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है॥ ३०॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता॥ ३१॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

हे अर्जुन! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरे शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं॥ ३२॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

फिर इसमें तो कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन मेरी शरण होकर परमगतिको प्राप्त होते हैं। इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन कर॥ ३३॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा॥ ३४॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

अथ दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥

श्रीभगवान् बोले—हे महाबाहो! फिर भी मेरे परम रहस्य और प्रभावयुक्त वचनको सुन, जिसे मैं तुझ अतिशय प्रेम रखनेवालेके लिये हितकी इच्छासे कहूँगा॥ १॥

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥

मेरी उत्पत्तिको अर्थात् लीलासे प्रकट होनेको न देवतालोग जानते हैं और न महर्षिजन ही जानते

हैं, क्योंकि मैं सब प्रकारसे देवताओंका और महर्षियोंका भी आदिकारण हूँ॥ २॥

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

जो मुझको अजन्मा अर्थात् वास्तवमें जन्मरहित, अनादि[1] और लोकोंका महान् ईश्वर तत्त्वसे जानता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् पुरुष सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है॥ ३॥

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥

निश्चय करनेकी शक्ति, यथार्थ ज्ञान, असम्मूढ़ता, क्षमा, सत्य, इन्द्रियोंका वशमें करना, मनका निग्रह तथा सुख-दुःख, उत्पत्ति-प्रलय और भय-अभय तथा अहिंसा, समता, सन्तोष, तप[2], दान, कीर्ति और अपकीर्ति—ऐसे ये प्राणियोंके नाना प्रकारके भाव मुझसे ही होते हैं॥ ४-५॥

---

१. अनादि उसको कहते हैं कि जो आदिरहित हो एवं सबका कारण हो।

२. स्वधर्मके आचरणसे इन्द्रियादिको तपाकर शुद्ध करनेका नाम 'तप' है।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥

सात महर्षिजन, चार उनसे भी पूर्वमें होनेवाले सनकादि तथा स्वायम्भुव आदि चौदह मनु—ये मुझमें भाववाले सब-के-सब मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसारमें यह सम्पूर्ण प्रजा है॥ ६॥

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥

जो पुरुष मेरी इस परमैश्वर्यरूप विभूतिको और योगशक्तिको तत्त्वसे जानता है*, वह निश्चल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है॥ ७॥

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

मैं वासुदेव ही सम्पूर्ण जगत्‌की उत्पत्तिका कारण हूँ और मुझसे ही सब जगत् चेष्टा करता है, इस प्रकार समझकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त बुद्धिमान् भक्तजन मुझ परमेश्वरको ही निरन्तर भजते हैं॥ ८॥

---

* जो कुछ दृश्यमात्र संसार है, वह सब भगवान्‌की माया है और एक वासुदेवभगवान् ही सर्वत्र परिपूर्ण है, यह जानना ही तत्त्वसे जानना है।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले* भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं॥ ९॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं॥ १०॥

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

हे अर्जुन! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप

* मुझ वासुदेवके लिये ही जिन्होंने अपना जीवन अर्पण कर दिया है, उनका नाम 'मद्गतप्राणाः' है।

दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ॥ ११॥

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥

अर्जुन बोले—आप परम ब्रह्म, परम धाम और परम पवित्र हैं, क्योंकि आपको सब ऋषिगण सनातन, दिव्य पुरुष एवं देवोंका भी आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापी कहते हैं। वैसे ही देवर्षि नारद तथा असित और देवल ऋषि तथा महर्षि व्यास भी कहते हैं और आप भी मेरे प्रति कहते हैं॥ १२-१३॥

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥

हे केशव! जो कुछ भी मेरे प्रति आप कहते हैं, इस सबको मैं सत्य मानता हूँ। हे भगवन्! आपके लीलामय* स्वरूपको न तो दानव जानते हैं और न देवता ही॥ १४॥

* गीता अध्याय ४ श्लोक ६ में इसका विस्तार देखना चाहिये।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥

हे भूतोंको उत्पन्न करनेवाले! हे भूतोंके ईश्वर! हे देवोंके देव! हे जगत्के स्वामी! हे पुरुषोत्तम! आप स्वयं ही अपनेसे अपनेको जानते हैं॥ १५॥

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥

इसलिये आप ही उन अपनी दिव्य विभूतियोंको सम्पूर्णतासे कहनेमें समर्थ हैं, जिन विभूतियोंके द्वारा आप इन सब लोकोंको व्याप्त करके स्थित हैं॥ १६॥

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥

हे योगेश्वर! मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ आपको जानूँ और हे भगवन्! आप किन-किन भावोंमें मेरेद्वारा चिन्तन करनेयोग्य हैं?॥ १७॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥

हे जनार्दन! अपनी योगशक्तिको और विभूतिको फिर भी विस्तारपूर्वक कहिये, क्योंकि आपके अमृतमय वचनोंको सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती अर्थात् सुननेकी उत्कण्ठा बनी ही रहती है॥ १८॥

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥

श्रीभगवान् बोले—हे कुरुश्रेष्ठ! अब मैं जो मेरी दिव्य विभूतियाँ हैं, उनको तेरे लिये प्रधानतासे कहूँगा; क्योंकि मेरे विस्तारका अन्त नहीं है॥ १९॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥

हे अर्जुन! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ॥ २०॥

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥

मैं अदितिके बारह पुत्रोंमें विष्णु और ज्योतियोंमें किरणोंवाला सूर्य हूँ तथा मैं उनचास वायुदेवताओंका तेज और नक्षत्रोंका अधिपति चन्द्रमा हूँ॥ २१॥

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥

मैं वेदोंमें सामवेद हूँ, देवोंमें इन्द्र हूँ, इन्द्रियोंमें मन हूँ और भूतप्राणियोंकी चेतना अर्थात् जीवनशक्ति हूँ॥ २२॥

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥

मैं एकादश रुद्रोंमें शंकर हूँ और यक्ष तथा राक्षसोंमें धनका स्वामी कुबेर हूँ। मैं आठ वसुओंमें अग्नि हूँ और शिखरवाले पर्वतोंमें सुमेरु पर्वत हूँ॥ २३॥

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥

पुरोहितोंमें मुखिया बृहस्पति मुझको जान। हे पार्थ! मैं सेनापतियोंमें स्कन्द और जलाशयोंमें समुद्र हूँ॥ २४॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥

मैं महर्षियोंमें भृगु और शब्दोंमें एक अक्षर अर्थात् ओंकार हूँ। सब प्रकारके यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थिर रहनेवालोंमें हिमालय पहाड़ हूँ॥ २५॥

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥

मैं सब वृक्षोंमें पीपलका वृक्ष, देवर्षियोंमें नारद मुनि, गन्धर्वोंमें चित्ररथ और सिद्धोंमें कपिल मुनि हूँ॥ २६॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥

घोड़ोंमें अमृतके साथ उत्पन्न होनेवाला उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा, श्रेष्ठ हाथियोंमें ऐरावत नामक हाथी और मनुष्योंमें राजा मुझको जान॥ २७॥

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥

मैं शस्त्रोंमें वज्र और गौओंमें कामधेनु हूँ। शास्त्रोक्त रीतिसे सन्तानकी उत्पत्तिका हेतु कामदेव हूँ और सर्पोंमें सर्पराज वासुकि हूँ॥ २८॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥

मैं नागोंमें[1] शेषनाग और जलचरोंका अधिपति वरुण देवता हूँ और पितरोंमें अर्यमा नामक पितर तथा शासन करनेवालोंमें यमराज मैं हूँ॥ २९॥

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥

मैं दैत्योंमें प्रह्लाद और गणना करनेवालोंका समय[2] हूँ तथा पशुओंमें मृगराज सिंह और पक्षियोंमें मैं गरुड़ हूँ॥ ३०॥

---

१. नाग और सर्प यह दो प्रकारकी सर्पोंकी ही जाति हैं।
२. क्षण, घड़ी, दिन, पक्ष, मास आदिमें जो समय है, वह मैं हूँ।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्त्रोतसामस्मि जाह्नवी॥

मैं पवित्र करनेवालोंमें वायु और शस्त्रधारियोंमें श्रीराम हूँ तथा मछलियोंमें मगर हूँ और नदियोंमें श्रीभागीरथी गंगाजी हूँ॥ ३१॥

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥

हे अर्जुन! सृष्टियोंका आदि और अन्त तथा मध्य भी मैं ही हूँ। मैं विद्याओंमें अध्यात्मविद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या और परस्पर विवाद करनेवालोंका तत्त्व-निर्णयके लिये किया जानेवाला वाद हूँ॥ ३२॥

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥

मैं अक्षरोंमें अकार हूँ और समासोंमें द्वन्द्व नामक समास हूँ। अक्षयकाल अर्थात् कालका भी महाकाल तथा सब ओर मुखवाला, विराट्स्वरूप, सबका धारण-पोषण करनेवाला भी मैं ही हूँ॥ ३३॥

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥

मैं सबका नाश करनेवाला मृत्यु और उत्पन्न

होनेवालोंका उत्पत्ति हेतु हूँ तथा स्त्रियोंमें कीर्ति[१], श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ॥ ३४॥

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥

तथा गायन करनेयोग्य श्रुतियोंमें मैं बृहत्साम और छन्दोंमें गायत्री छन्द हूँ तथा महीनोंमें मार्गशीर्ष और ऋतुओंमें वसन्त मैं हूँ॥ ३५॥

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥

मैं छल करनेवालोंमें जूआ और प्रभावशाली पुरुषोंका प्रभाव हूँ। मैं जीतनेवालोंका विजय हूँ, निश्चय करनेवालोंका निश्चय और सात्त्विक पुरुषोंका सात्त्विक भाव हूँ॥ ३६॥

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥

वृष्णिवंशियोंमें[२] वासुदेव अर्थात् मैं स्वयं तेरा सखा, पाण्डवोंमें धनञ्जय अर्थात् तू, मुनियोंमें वेदव्यास और

---

१. कीर्ति आदि ये सात देवताओंकी स्त्रियाँ और स्त्री-वाचक नामवाले गुण भी प्रसिद्ध हैं, इसलिये दोनों प्रकारसे ही भगवान्‌की विभूतियाँ हैं।

२. यादवोंके ही अन्तर्गत एक वृष्णिवंश भी था।

कवियोंमें शुक्राचार्य कवि भी मैं ही हूँ॥ ३७॥

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥

मैं दमन करनेवालोंका दण्ड अर्थात् दमन करनेकी शक्ति हूँ, जीतनेकी इच्छावालोंकी नीति हूँ, गुप्त रखनेयोग्य भावोंका रक्षक मौन हूँ और ज्ञानवानोंका तत्त्वज्ञान मैं ही हूँ॥ ३८॥

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥

और हे अर्जुन! जो सब भूतोंकी उत्पत्तिका कारण है, वह भी मैं ही हूँ; क्योंकि ऐसा चर और अचर कोई भी भूत नहीं है, जो मुझसे रहित हो॥ ३९॥

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥

हे परंतप! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, मैंने अपनी विभूतियोंका यह विस्तार तो तेरे लिये एकदेशसे अर्थात् संक्षेपसे कहा है॥ ४०॥

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त,

कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान॥ ४१ ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है। मैं इस सम्पूर्ण जगत्को अपनी योगशक्तिके एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ॥ ४२ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः॥ १० ॥

~~०~~

अथैकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसञ्ज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥

अर्जुन बोले—मुझपर अनुग्रह करनेके लिये आपने जो परम गोपनीय अध्यात्मविषयक वचन अर्थात् उपदेश कहा, उससे मेरा यह अज्ञान नष्ट हो गया है॥ १ ॥

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥

क्योंकि हे कमलनेत्र! मैंने आपसे भूतोंकी उत्पत्ति

और प्रलय विस्तारपूर्वक सुने हैं तथा आपकी अविनाशी महिमा भी सुनी है॥ २॥

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥

हे परमेश्वर! आप अपनेको जैसा कहते हैं, यह ठीक ऐसा ही है; परन्तु हे पुरुषोत्तम! आपके ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजसे युक्त ऐश्वर-रूपको मैं प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ॥ ३॥

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥

हे प्रभो*! यदि मेरे द्वारा आपका वह रूप देखा जाना शक्य है—ऐसा आप मानते हैं, तो हे योगेश्वर! उस अविनाशी स्वरूपका मुझे दर्शन कराइये॥ ४॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥

श्रीभगवान् बोले—हे पार्थ! अब तू मेरे सैकड़ों-हजारों नाना प्रकारके और नाना वर्ण तथा नाना

* उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तथा अन्तर्यामीरूपसे शासन करनेवाला होनेसे भगवान्‌का नाम 'प्रभु' है।

आकृतिवाले अलौकिक रूपोंको देख॥ ५॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥

हे भरतवंशी अर्जुन! तू मुझमें आदित्योंको अर्थात् अदितिके द्वादश पुत्रोंको, आठ वसुओंको, एकादश रुद्रोंको, दोनों अश्विनीकुमारोंको और उनचास मरुद्-गणोंको देख तथा और भी बहुत-से पहले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपोंको देख॥ ६॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश * यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि॥

हे अर्जुन! अब इस मेरे शरीरमें एक जगह स्थित चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्को देख तथा और भी जो कुछ देखना चाहता हो सो देख॥ ७॥

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥

परन्तु मुझको तू इन अपने प्राकृत नेत्रोंद्वारा देखनेमें निःसन्देह समर्थ नहीं है; इसीसे मैं तुझे दिव्य अर्थात् अलौकिक चक्षु देता हूँ; इससे तू मेरी ईश्वरीय योगशक्तिको देख॥ ८॥

* निद्राको जीतनेवाला होनेसे अर्जुनका नाम 'गुडाकेश' हुआ था।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥

संजय बोले—हे राजन्! महायोगेश्वर और सब पापोंके नाश करनेवाले भगवान्ने इस प्रकार कहकर उसके पश्चात् अर्जुनको परम ऐश्वर्ययुक्त दिव्यस्वरूप दिखलाया॥ ९॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्॥

अनेक मुख और नेत्रोंसे युक्त, अनेक अद्भुत दर्शनोंवाले, बहुत-से दिव्य भूषणोंसे युक्त और बहुत-से दिव्य शस्त्रोंको हाथोंमें उठाये हुए, दिव्य माला और वस्त्रोंको धारण किये हुए और दिव्य गन्धका सारे शरीरमें लेप किये हुए, सब प्रकारके आश्चर्योंसे युक्त, सीमारहित और सब ओर मुख किये हुए विराट्-स्वरूप परमदेव परमेश्वरको अर्जुनने देखा॥ १०-११॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥

आकाशमें हजार सूर्योंके एक साथ उदय होनेसे

उत्पन्न जो प्रकाश हो, वह भी उस विश्वरूप परमात्माके प्रकाशके सदृश कदाचित् ही हो॥ १२॥

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥

पाण्डुपुत्र अर्जुनने उस समय अनेक प्रकारसे विभक्त अर्थात् पृथक्-पृथक् सम्पूर्ण जगत्को देवोंके देव श्रीकृष्ण-भगवान्के उस शरीरमें एक जगह स्थित देखा॥ १३॥

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥

उसके अनन्तर वे आश्चर्यसे चकित और पुलकितशरीर अर्जुन प्रकाशमय विश्वरूप परमात्माको श्रद्धा-भक्तिसहित सिरसे प्रणाम करके हाथ जोड़कर बोले—॥ १४॥

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥

अर्जुन बोले—हे देव! मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण देवोंको तथा अनेक भूतोंके समुदायोंको, कमलके आसनपर विराजित ब्रह्माको, महादेवको और सम्पूर्ण

ऋषियोंको तथा दिव्य सर्पोंको देखता हूँ॥ १५॥

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं-
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं-
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥

हे सम्पूर्ण विश्वके स्वामिन्! आपको अनेक भुजा, पेट, मुख और नेत्रोंसे युक्त तथा सब ओरसे अनन्त रूपोंवाला देखता हूँ। हे विश्वरूप! मैं आपके न अन्तको देखता हूँ, न मध्यको और न आदिको ही॥ १६॥

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥

आपको मैं मुकुटयुक्त, गदायुक्त और चक्रयुक्त तथा सब ओरसे प्रकाशमान तेजके पुञ्ज, प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके सदृश ज्योतियुक्त, कठिनतासे देखे जानेयोग्य और सब ओरसे अप्रमेयस्वरूप देखता हूँ॥ १७॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं-
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥

आप ही जाननेयोग्य परम अक्षर अर्थात् परब्रह्म परमात्मा हैं, आप ही इस जगत्के परम आश्रय हैं, आप ही अनादि धर्मके रक्षक हैं और आप ही अविनाशी सनातन पुरुष हैं। ऐसा मेरा मत है॥ १८॥

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं-
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥

आपको आदि, अन्त और मध्यसे रहित, अनन्त सामर्थ्यसे युक्त, अनन्त भुजावाले, चन्द्र-सूर्यरूप नेत्रोंवाले, प्रज्वलित अग्निरूप मुखवाले और अपने तेजसे इस जगत्को संतप्त करते हुए देखता हूँ॥ १९॥

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं-
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥

हे महात्मन्! यह स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका सम्पूर्ण आकाश तथा सब दिशाएँ एक आपसे ही परिपूर्ण हैं तथा आपके इस अलौकिक और भयंकर रूपको देखकर तीनों लोक अति व्यथाको

प्राप्त हो रहे हैं॥ २०॥

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥

वे ही देवताओंके समूह आपमें प्रवेश करते हैं और कुछ भयभीत होकर हाथ जोड़े आपके नाम और गुणोंका उच्चारण करते हैं तथा महर्षि और सिद्धोंके समुदाय 'कल्याण हो' ऐसा कहकर उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंद्वारा आपकी स्तुति करते हैं॥ २१॥

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या-
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घ-
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥

जो ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य तथा आठ वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार तथा मरुद्गण और पितरोंका समुदाय तथा गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धोंके समुदाय हैं—वे सब ही विस्मित होकर आपको देखते हैं॥ २२॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं-
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।

बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं-
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥

हे महाबाहो! आपके बहुत मुख और नेत्रोंवाले, बहुत हाथ, जंघा और पैरोंवाले, बहुत उदरोंवाले और बहुत-सी दाढ़ोंके कारण अत्यन्त विकराल महान् रूपको देखकर सब लोग व्याकुल हो रहे हैं तथा मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ॥ २३॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं-
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥

क्योंकि हे विष्णो! आकाशको स्पर्श करनेवाले, देदीप्यमान, अनेक वर्णोंसे युक्त तथा फैलाये हुए मुख और प्रकाशमान विशाल नेत्रोंसे युक्त आपको देखकर भयभीत अन्तःकरणवाला मैं धीरज और शान्ति नहीं पाता हूँ॥ २४॥

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥

दाढ़ोंके कारण विकराल और प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित आपके मुखोंको देखकर मैं दिशाओंको नहीं जानता हूँ और सुख भी नहीं पाता हूँ। इसलिये हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न हों॥ २५॥

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः॥

वे सभी धृतराष्ट्रके पुत्र राजाओंके समुदायसहित आपमें प्रवेश कर रहे हैं और भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य तथा वह कर्ण और हमारे पक्षके भी प्रधान योद्धाओंके सहित सब-के-सब आपके दाढ़ोंके कारण विकराल भयानक मुखोंमें बड़े वेगसे दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं और कई एक चूर्ण हुए सिरोंसहित आपके दाँतोंके बीचमें लगे हुए दीख रहे हैं॥ २६-२७॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः
समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।

तथा तवामी नरलोकवीरा-
विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति॥

जैसे नदियोंके बहुत-से जलके प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्रके ही सम्मुख दौड़ते हैं अर्थात् समुद्रमें प्रवेश करते हैं, वैसे ही वे नरलोकके वीर भी आपके प्रज्वलित मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं॥ २८॥

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा-
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका-
स्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः॥

जैसे पतंग मोहवश नष्ट होनेके लिये प्रज्वलित अग्निमें अतिवेगसे दौड़ते हुए प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये सब लोग भी अपने नाशके लिये आपके मुखोंमें अतिवेगसे दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं॥ २९॥

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं-
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो॥

आप उन सम्पूर्ण लोकोंको प्रज्वलित मुखोंद्वारा ग्रास करते हुए सब ओरसे बार-बार चाट रहे हैं, हे विष्णो! आपका उग्र प्रकाश सम्पूर्ण जगत्को

तेजके द्वारा परिपूर्ण करके तपा रहा है॥ ३०॥

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो-
नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं-
न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्॥

मुझे बतलाइये कि आप उग्ररूपवाले कौन हैं? हे देवोंमें श्रेष्ठ! आपको नमस्कार हो। आप प्रसन्न होइये। आदिपुरुष आपको मैं विशेषरूपसे जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जानता॥ ३१॥

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो-
लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे
येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः॥

श्रीभगवान् बोले—मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ महाकाल हूँ। इस समय इन लोकोंको नष्ट करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। इसलिये जो प्रतिपक्षियोंकी सेनामें स्थित योद्धा लोग हैं वे सब तेरे बिना भी नहीं रहेंगे अर्थात् तेरे युद्ध न करनेपर भी इन सबका नाश हो जायगा॥ ३२॥

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥

अतएव तू उठ! यश प्राप्त कर और शत्रुओंको जीतकर धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोग। ये सब शूरवीर पहलेहीसे मेरे द्वारा मारे हुए हैं। हे सव्यसाचिन्!* तू तो केवल निमित्तमात्र बन जा॥ ३३॥

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा-
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥

द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह तथा जयद्रथ और कर्ण तथा और भी बहुत-से मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीर योद्धाओंको तू मार। भय मत कर। निःसन्देह तू युद्धमें वैरियोंको जीतेगा। इसलिये युद्ध कर॥ ३४॥

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य
कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।

---

* बायें हाथसे भी बाण चलानेका अभ्यास होनेसे अर्जुनका नाम 'सव्यसाची' हुआ था।

नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं-
सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥

संजय बोले—केशवभगवान्‌के इस वचनको सुनकर मुकुटधारी अर्जुन हाथ जोड़कर काँपता हुआ नमस्कार करके, फिर भी अत्यन्त भयभीत होकर प्रणाम करके भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गद्‌गद वाणीसे बोले— ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या
जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति
सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः॥

अर्जुन बोले—हे अन्तर्यामिन्! यह योग्य ही है कि आपके नाम, गुण और प्रभावके कीर्तनसे जगत् अति हर्षित हो रहा है और अनुरागको भी प्राप्त हो रहा है तथा भयभीत राक्षसलोग दिशाओंमें भाग रहे हैं और सब सिद्धगणोंके समुदाय नमस्कार कर रहे हैं॥ ३६ ॥

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्
गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास
त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥

हे महात्मन्! ब्रह्माके भी आदिकर्ता और सबसे

बड़े आपके लिये वे कैसे नमस्कार न करें, क्योंकि हे अनन्त! हे देवेश! हे जगन्निवास! जो सत्, असत् और उनसे परे अक्षर अर्थात् सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है, वह आप ही हैं॥ ३७॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥

आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत्के परम आश्रय और जाननेवाले तथा जाननेयोग्य और परम धाम हैं। हे अनन्तरूप! आपसे यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है॥ ३८॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥

आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजाके स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्माके भी पिता हैं। आपके लिये हजारों बार नमस्कार! नमस्कार हो!! आपके लिये फिर भी बार-बार नमस्कार! नमस्कार!!॥ ३९॥

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं-
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥

हे अनन्त सामर्थ्यवाले! आपके लिये आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार! हे सर्वात्मन्! आपके लिये सब ओरसे ही नमस्कार हो। क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप समस्त संसारको व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं॥ ४०॥

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं-
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं-
मया प्रमादात्प्रणयेन वापि॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं-
तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥

आपके इस प्रभावको न जानते हुए, आप मेरे सखा हैं ऐसा मानकर प्रेमसे अथवा प्रमादसे भी मैंने 'हे कृष्ण!', 'हे यादव!', 'हे सखे!' इस प्रकार जो कुछ बिना सोचे-समझे हठात् कहा है और हे अच्युत! आप जो मेरे द्वारा

विनोदके लिये विहार, शय्या, आसन और भोजनादिमें अकेले अथवा उन सखाओंके सामने भी अपमानित किये गये हैं—वह सब अपराध अप्रमेयस्वरूप अर्थात् अचिन्त्य प्रभाववाले आपसे मैं क्षमा करवाता हूँ॥ ४१-४२॥

पितासि लोकस्य चराचरस्य
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो-
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥

आप इस चराचर जगत्के पिता और सबसे बड़े गुरु एवं अति पूजनीय हैं, हे अनुपम प्रभाववाले! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक तो कैसे हो सकता है॥ ४३॥

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं-
प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः
प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥

अतएव हे प्रभो! मैं शरीरको भलीभाँति चरणोंमें निवेदित कर, प्रणाम करके, स्तुति करनेयोग्य आप ईश्वरको प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ। हे देव! पिता जैसे पुत्रके, सखा जैसे सखाके और पति जैसे प्रियतमा पत्नीके अपराध सहन करते हैं—वैसे ही

आप भी मेरे अपराधको सहन करनेयोग्य हैं॥ ४४॥

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं-
प्रसीद देवेश जगन्निवास॥

मैं पहले न देखे हुए आपके इस आश्चर्यमय रूपको देखकर हर्षित हो रहा हूँ और मेरा मन भयसे अति व्याकुल भी हो रहा है, इसलिये आप उस अपने चतुर्भुज विष्णुरूपको ही मुझे दिखलाइये! हे देवेश! हे जगन्निवास! प्रसन्न होइये॥ ४५॥

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥

मैं वैसे ही आपको मुकुट धारण किये हुए तथा गदा और चक्र हाथमें लिये हुए देखना चाहता हूँ, इसलिये हे विश्वस्वरूप! हे सहस्रबाहो! आप उसी चतुर्भुजरूपसे प्रकट होइये॥ ४६॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं-
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।

तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं-
यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! अनुग्रहपूर्वक मैंने अपनी योगशक्तिके प्रभावसे यह मेरा परम तेजोमय, सबका आदि और सीमारहित विराट् रूप तुझको दिखलाया है, जिसे तेरे अतिरिक्त दूसरे किसीने पहले नहीं देखा था॥ ४७॥

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर॥

हे अर्जुन! मनुष्यलोकमें इस प्रकार विश्वरूपवाला मैं न वेद और यज्ञोंके अध्ययनसे, न दानसे, न क्रियाओंसे और न उग्र तपोंसे ही तेरे अतिरिक्त दूसरेके द्वारा देखा जा सकता हूँ॥ ४८॥

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो-
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं-
तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य॥

मेरे इस प्रकारके इस विकराल रूपको देखकर तुझको व्याकुलता नहीं होनी चाहिये और मूढ़भाव

भी नहीं होना चाहिये। तू भयरहित और प्रीतियुक्त मनवाला होकर उसी मेरे इस शंख-चक्र-गदा-पद्मयुक्त चतुर्भुज रूपको फिर देख॥ ४९॥

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा
स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं-
भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा॥

संजय बोले—वासुदेवभगवान्ने अर्जुनके प्रति इस प्रकार कहकर फिर वैसे ही अपने चतुर्भुज रूपको दिखलाया और फिर महात्मा श्रीकृष्णने सौम्यमूर्ति होकर इस भयभीत अर्जुनको धीरज दिया॥ ५०॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः॥

अर्जुन बोले—हे जनार्दन! आपके इस अति शान्त मनुष्यरूपको देखकर अब मैं स्थिरचित्त हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ॥ ५१॥

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः॥

श्रीभगवान् बोले—मेरा जो चतुर्भुज रूप तुमने देखा है, यह सुदुर्दर्श है अर्थात् इसके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं। देवता भी सदा इस रूपके दर्शनकी आकांक्षा करते रहते हैं॥ ५२॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥

जिस प्रकार तुमने मुझको देखा है—इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे और न यज्ञसे ही देखा जा सकता हूँ॥ ५३॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥

परन्तु हे परंतप अर्जुन! अनन्यभक्तिके* द्वारा इस प्रकार चतुर्भुजरूपवाला मैं प्रत्यक्ष देखनेके लिये, तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकीभावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ॥ ५४॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

हे अर्जुन! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्त्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें

* अनन्यभक्तिका भाव अगले श्लोकमें विस्तारपूर्वक कहा है।

वैरभावसे रहित है*, वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है॥ ५५॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः॥ ११॥

अथ द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥

अर्जुन बोले—जो अनन्यप्रेमी भक्तजन पूर्वोक्त प्रकारसे निरन्तर आपके भजन-ध्यानमें लगे रहकर आप सगुणरूप परमेश्वरको और दूसरे जो केवल अविनाशी सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्मको ही अतिश्रेष्ठ भावसे भजते हैं—उन दोनों प्रकारके उपासकोंमें अति उत्तम योगवेत्ता कौन हैं?॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

---

* सर्वत्र भगवद्बुद्धि हो जानेसे उस पुरुषका अति अपराध करनेवालेमें भी वैरभाव नहीं होता है, फिर औरोंमें तो कहना ही क्या है।

श्रीभगवान् बोले—मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए* जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं॥ २॥

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

परन्तु जो पुरुष इन्द्रियोंके समुदायको भली प्रकार वशमें करके मन-बुद्धिसे परे, सर्वव्यापी, अकथनीयस्वरूप और सदा एकरस रहनेवाले, नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी, सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको निरन्तर एकीभावसे ध्यान करते हुए भजते हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत और सबमें समान भाववाले योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं॥ ३-४॥

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्ममें आसक्त चित्तवाले पुरुषोंके साधनमें परिश्रम विशेष है;

* अर्थात् गीता अध्याय ११ श्लोक ५५ में लिखे हुए प्रकारसे निरन्तर मेरेमें लगे हुए।

क्योंकि देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्तविषयक गति दु:खपूर्वक प्राप्त की जाती है॥ ५॥

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥

परन्तु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं*॥ ६॥

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ॥ ७॥

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

मुझमें मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा; इसके उपरान्त तू मुझमें ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है॥ ८॥

---

* इस श्लोकका विशेष भाव जाननेके लिये गीता अध्याय ११ श्लोक ५५ देखना चाहिये।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥

यदि तू मनको मुझमें अचल स्थापन करनेके लिये समर्थ नहीं है तो हे अर्जुन! अभ्यासरूप[१] योगके द्वारा मुझको प्राप्त होनेके लिये इच्छा कर॥ ९॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥

यदि तू उपर्युक्त अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण[२] हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा॥ १०॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥

यदि मेरी प्राप्तिरूप योगके आश्रित होकर उपर्युक्त

---

१. भगवान्‌के नाम और गुणोंका श्रवण, कीर्तन, मनन तथा श्वासके द्वारा जप और भगवत्प्राप्तिविषयक शास्त्रोंका पठन-पाठन इत्यादिक चेष्टाएँ भगवत्प्राप्तिके लिये बारंबार करनेका नाम 'अभ्यास' है।

२. स्वार्थको त्यागकर तथा परमेश्वरको ही परम आश्रय और परमगति समझकर, निष्काम प्रेमभावसे सती-शिरोमणि, पतिव्रता स्त्रीकी भाँति मन, वाणी और शरीरद्वारा परमेश्वरके ही लिये यज्ञ, दान और तपादि सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंके करनेका नाम ''भगवदर्थ कर्म करनेके परायण होना'' है।

साधनको करनेमें भी तू असमर्थ है तो मन-बुद्धि आदिपर विजय प्राप्त करनेवाला होकर सब कर्मोंके फलका त्याग[१] कर॥ ११॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

मर्मको न जानकर किये हुए अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है; ज्ञानसे मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यानसे भी सब कर्मोंके फलका त्याग[२] श्रेष्ठ है; क्योंकि त्यागसे तत्काल ही परम शान्ति होती है॥ १२॥

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी॥
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

जो पुरुष सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, स्वार्थरहित, सबका प्रेमी और हेतुरहित दयालु है तथा ममतासे रहित, अहंकारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है अर्थात् अपराध करनेवालेको भी अभय

---

१. गीता अध्याय ९ श्लोक २७ में इसका विस्तार देखना चाहिये।

२. केवल भगवदर्थ कर्म करनेवाले पुरुषका भगवान्‌में प्रेम और श्रद्धा तथा भगवान्‌का चिन्तन भी बना रहता है, इसलिये ध्यानसे ''कर्मफलका त्याग'' श्रेष्ठ कहा है।

देनेवाला है; तथा जो योगी निरन्तर संतुष्ट है, मन-इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें दृढ़ निश्चयवाला है—वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है॥ १३-१४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥

जिससे कोई भी जीव उद्वेगको प्राप्त नहीं होता और जो स्वयं भी किसी जीवसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता; तथा जो हर्ष, अमर्ष[१], भय और उद्वेगादिसे रहित है—वह भक्त मुझको प्रिय है॥ १५॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

जो पुरुष आकांक्षासे रहित, बाहर-भीतरसे शुद्ध[२] चतुर, पक्षपातसे रहित और दुःखोंसे छूटा हुआ है—वह सब आरम्भोंका त्यागी मेरा भक्त मुझको प्रिय है॥ १६॥

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः॥

जो न कभी हर्षित होता है, न द्वेष करता है, न

१. दूसरेकी उन्नतिको देखकर संताप होनेका नाम 'अमर्ष' है।

२. गीता अध्याय १३ श्लोक ७ की टिप्पणीमें इसका विस्तार देखना चाहिये।

शोक करता है, न कामना करता है तथा जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मोंका त्यागी है—वह भक्तियुक्त पुरुष मुझको प्रिय है॥ १७॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥

जो शत्रु-मित्रमें और मान-अपमानमें सम है तथा सरदी, गरमी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें सम है और आसक्तिसे रहित है॥ १८॥

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥

जो निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मननशील और जिस किसी प्रकारसे भी शरीरका निर्वाह होनेमें सदा ही सन्तुष्ट है और रहनेके स्थानमें ममता और आसक्तिसे रहित है—वह स्थिरबुद्धि भक्तिमान् पुरुष मुझको प्रिय है॥ १९॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः॥

परन्तु जो श्रद्धायुक्त* पुरुष मेरे परायण होकर इस ऊपर कहे हुए धर्ममय अमृतको निष्काम प्रेमभावसे

---

* वेद, शास्त्र, महात्मा और गुरुजनोंके तथा परमेश्वरके वचनोंमें प्रत्यक्षके सदृश विश्वासका नाम 'श्रद्धा' है।

सेवन करते हैं, वे भक्त मुझको अतिशय प्रिय हैं॥ २०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः॥ १२॥

~~○~~

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! यह शरीर 'क्षेत्र'[१] इस नामसे कहा जाता है और इसको जो जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ' इस नामसे उनके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन कहते हैं॥ १॥

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥

हे अर्जुन! तू सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझे ही जान[२] और क्षेत्र-क्षेत्रज्ञको अर्थात् विकारसहित प्रकृतिका और पुरुषका जो तत्त्वसे

१. जैसे खेतमें बोये हुए बीजोंका उनके अनुरूप फल समयपर प्रकट होता है, वैसे ही इसमें बोये हुए कर्मोंके संस्काररूप बीजोंका फल समयपर प्रकट होता है, इसलिये इसका नाम 'क्षेत्र' ऐसा कहा है।

२. गीता अध्याय १५ श्लोक ७ और उसकी टिप्पणी देखनी चाहिये।

जानना है*, वह ज्ञान है—ऐसा मेरा मत है॥ २॥

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥

वह क्षेत्र जो और जैसा है तथा जिन विकारोंवाला है, और जिस कारणसे जो हुआ है; तथा वह क्षेत्रज्ञ भी जो और जिस प्रभाववाला है—वह सब संक्षेपमें मुझसे सुन॥ ३॥

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥

यह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे कहा गया है और विविध वेदमन्त्रोंद्वारा भी विभागपूर्वक कहा गया है तथा भलीभाँति निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी कहा गया है॥ ४॥

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥

पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि और मूल प्रकृति भी तथा दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध— ॥ ५॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

* गीता अध्याय १३ श्लोक २३ और उसकी टिप्पणी देखनी चाहिये।

तथा इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, स्थूल देहका पिण्ड चेतना[१] और धृति[२]—इस प्रकार विकारों[३] के सहित यह क्षेत्र संक्षेपमें कहा गया॥ ६॥

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥

श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी आदिकी सरलता, श्रद्धा-भक्तिसहित गुरुकी सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि,[४] अन्तःकरणकी स्थिरता और मन-इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह॥ ७॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥

इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका

---

१. शरीर और अन्तःकरणकी एक प्रकारकी चेतन-शक्ति।

२. गीता अध्याय १८ श्लोक ३४ से ३५ तक देखना चाहिये।

३. पाँचवें श्लोकमें कहा हुआ तो क्षेत्रका स्वरूप समझना चाहिये और इस श्लोकमें कहे हुए इच्छादि क्षेत्रक विकार समझने चाहिये।

४. सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी और उसके अन्नसे आहारकी तथा यथायोग्य बर्तावसे आचरणोंकी और जल-मृत्तिकादिसे शरीरकी शुद्धिको बाहरकी शुद्धि कहते हैं तथा राग, द्वेष और कपट आदि विकारोंका नाश होकर अन्तःकरणका स्वच्छ हो जाना भीतरकी शुद्धि कही जाती है।

अभाव और अहंकारका भी अभाव, जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दु:ख और दोषोंका बार-बार विचार करना॥ ८॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥

पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव, ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना॥ ९॥

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥

मुझ परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति* तथा एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना॥ १०॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥

---

* केवल एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको ही अपना स्वामी मानते हुए स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके, श्रद्धा और भावके सहित परमप्रेमसे भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन करना 'अव्यभिचारिणी' भक्ति है।

अध्यात्मज्ञानमें[१] नित्यस्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना—यह सब ज्ञान[२] है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान[३] है—ऐसा कहा है॥ ११॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥

जो जाननेयोग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको भलीभाँति कहूँगा। वह अनादिवाला परमब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही॥ १२॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है। क्योंकि

---

१. जिस ज्ञानके द्वारा आत्मवस्तु और अनात्मवस्तु जानी जाय, उस ज्ञानका नाम 'अध्यात्मज्ञान' है।

२. इस अध्यायके श्लोक ७ से लेकर यहाँतक जो साधन कहे हैं, वे सब तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिमें हेतु होनेसे 'ज्ञान' नामसे कहे गये हैं।

३. ऊपर कहे हुए ज्ञानके साधनोंसे विपरीत जो मान, दम्भ, हिंसा आदि हैं, वे अज्ञानकी वृद्धिमें हेतु होनेसे 'अज्ञान' नामसे कहे गये हैं।

वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है[१] ॥ १३ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥

वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है, परन्तु वास्तवमें सब इन्द्रियोंसे रहित है तथा आसक्ति-रहित होनेपर भी सबका धारण-पोषण करनेवाला और निर्गुण होनेपर भी गुणोंको भोगनेवाला है॥ १४॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥

वह चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचर भी वही है। और वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय[२] है तथा अति समीपमें[३] और दूरमें[४] भी स्थित वही है॥ १५॥

---

१. आकाश जिस प्रकार वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीका कारणरूप होनेसे उनको व्याप्त करके स्थित है, वैसे ही परमात्मा भी सबका कारणरूप होनेसे सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को व्याप्त करके स्थित है।

२. जैसे सूर्यकी किरणोंमें स्थित हुआ जल सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता है, वैसे ही सर्वव्यापी परमात्मा भी सूक्ष्म होनेसे साधारण मनुष्योंके जाननेमें नहीं आता है।

३. वह परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण और सबका आत्मा होनेसे अत्यन्त समीप है।

४. श्रद्धारहित, अज्ञानी पुरुषोंके लिये न जाननेके कारण बहुत दूर है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥

वह परमात्मा विभागरहित एक रूपसे आकाशके सदृश परिपूर्ण होनेपर भी चराचर सम्पूर्ण भूतोंमें विभक्त-सा स्थित प्रतीत होता है[१] तथा वह जाननेयोग्य परमात्मा विष्णुरूपसे भूतोंको धारण-पोषण करनेवाला और रुद्ररूपसे संहार करनेवाला तथा ब्रह्मारूपसे सबको उत्पन्न करनेवाला है॥ १६॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥

वह परब्रह्म ज्योतियोंका भी ज्योति[२] एवं मायासे अत्यन्त परे कहा जाता है। वह परमात्मा बोधस्वरूप, जाननेके योग्य एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त करनेयोग्य है और सबके हृदयमें विशेषरूपसे स्थित है॥ १७॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥

---

१. जैसे महाकाश विभागरहित स्थित हुआ भी घड़ोंमें पृथक्-पृथक्के सदृश प्रतीत होता है, वैसे ही परमात्मा सब भूतोंमें एकरूपसे स्थित हुआ भी पृथक्-पृथक्की भाँति प्रतीत होता है।

२. गीता अध्याय १५ श्लोक १२ में देखना चाहिये।

इस प्रकार क्षेत्र[१] तथा ज्ञान[२] और जाननेयोग्य परमात्माका स्वरूप[३] संक्षेपसे कहा गया। मेरा भक्त इसको तत्त्वसे जानकर मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है॥ १८॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥

प्रकृति और पुरुष—इन दोनोंको ही तू अनादि जान और राग-द्वेषादि विकारोंको तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थोंको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न जान॥ १९॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥

कार्य[४] और करण[५] को उत्पन्न करनेमें हेतु प्रकृति कही जाती है और जीवात्मा सुख-दुःखोंके भोक्तापनमें अर्थात् भोगनेमें हेतु कहा जाता है॥ २०॥

---

१. श्लोक ५-६ में विकारसहित क्षेत्रका स्वरूप कहा है।

२. श्लोक ७ से ११ तक ज्ञान अर्थात् ज्ञानका साधन कहा है।

३. श्लोक १२ से १७ तक ज्ञेयका स्वरूप कहा है।

४. आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इनका नाम 'कार्य' है।

५. बुद्धि, अहंकार और मन तथा श्रोत्र, त्वचा, रसना, नेत्र और घ्राण एवं वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा—इन १३ का नाम 'करण' है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥

प्रकृतिमें[1] स्थित ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका संग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेका कारण है[2]॥ २१॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥

इस देहमें स्थित यह आत्मा वास्तवमें परमात्मा ही है। वह साक्षी होनेसे उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता, सबका धारण-पोषण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता, ब्रह्मा आदिका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा—ऐसा कहा गया है॥ २२॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥

---

१. प्रकृति शब्दका अर्थ गीता अध्याय ७ श्लोक १४ में कही हुई भगवान्‌की त्रिगुणमयी माया समझना चाहिये।

२. सत्त्वगुणके संगसे देवयोनिमें एवं रजोगुणके संगसे मनुष्य-योनिमें और तमोगुणके संगसे पशु, पक्षी आदि नीच योनियोंमें जन्म होता है।

इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जो मनुष्य तत्त्वसे जानता है[1], वह सब प्रकारसे कर्तव्यकर्म करता हुआ भी फिर नहीं जन्मता॥ २३॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके[2] द्वारा हृदयमें देखते हैं; अन्य कितने ही ज्ञानयोगके[3] द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके[4] द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं॥ २४॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

---

१. दृश्यमात्र सम्पूर्ण जगत् मायाका कार्य होनेसे क्षणभंगुर, नाशवान्, जड और अनित्य है तथा जीवात्मा नित्य, चेतन, निर्विकार और अविनाशी एवं शुद्ध, बोधस्वरूप, सच्चिदानन्दघन परमात्माका ही सनातन अंश है, इस प्रकार समझकर सम्पूर्ण मायिक पदार्थोंके संगका सर्वथा त्याग करके परमपुरुष परमात्मामें ही एकीभावसे नित्य स्थित रहनेका नाम उनको 'तत्त्वसे जानना' है।

२. जिसका वर्णन गीता अध्याय ६ में श्लोक ११ से ३२ तक विस्तारपूर्वक किया है।

३. जिसका वर्णन गीता अध्याय २ में श्लोक ११ से ३० तक विस्तारपूर्वक किया है।

४. जिसका वर्णन गीता अध्याय २ में श्लोक ४० से अध्याय समाप्तिपर्यन्त विस्तारपूर्वक किया है।

परन्तु इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसन्देह तर जाते हैं॥ २५॥

यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥

हे अर्जुन! यावन्मात्र जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही उत्पन्न जान॥ २६॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति॥

जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतोंमें परमेश्वरको नाशरहित और समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है॥ २७॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्॥

क्योंकि जो पुरुष सबमें समभावसे स्थित परमेश्वरको समान देखता हुआ अपने द्वारा अपनेको नष्ट नहीं करता, इससे वह परम गतिको प्राप्त होता है॥ २८॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥

और जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हुए देखता है और आत्माको अकर्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है॥ २९॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है॥ ३०॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥

हे अर्जुन! अनादि होनेसे और निर्गुण होनेसे यह अविनाशी परमात्मा शरीरमें स्थित होनेपर भी वास्तवमें न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है॥ ३१॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देहमें सर्वत्र स्थित आत्मा निर्गुण होनेके कारण देहके गुणोंसे लिप्त नहीं होता॥ ३२॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥

हे अर्जुन! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है॥ ३३॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥

इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेदको* तथा कार्यसहित प्रकृतिसे मुक्त होनेको जो पुरुष ज्ञान-नेत्रोंद्वारा तत्त्वसे जानते हैं, वे महात्माजन परम ब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं॥ ३४॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभाग-योगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः॥ १३॥

~~○~~

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥

---

* क्षेत्रको जड, विकारी, क्षणिक और नाशवान् तथा क्षेत्रज्ञको नित्य, चेतन, अविकारी और अविनाशी जानना ही 'उनके भेदको जानना' है।

श्रीभगवान् बोले—ज्ञानोंमें भी अति उत्तम उस परम ज्ञानको मैं फिर कहूँगा, जिसको जानकर सब मुनिजन इस संसारसे मुक्त होकर परम सिद्धिको प्राप्त हो गये हैं॥ १॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥

इस ज्ञानको आश्रय करके अर्थात् धारण करके मेरे स्वरूपको प्राप्त हुए पुरुष सृष्टिके आदिमें पुनः उत्पन्न नहीं होते और प्रलयकालमें भी व्याकुल नहीं होते॥ २॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

हे अर्जुन! मेरी महत्-ब्रह्मरूप मूल प्रकृति सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतन समुदायरूप गर्भको स्थापन करता हूँ। उस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है॥ ३॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

हे अर्जुन! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं, प्रकृति तो उन सबकी गर्भ धारण करनेवाली माता

है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ॥ ४॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥

हे अर्जुन! सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—ये प्रकृतिसे उत्पन्न तीनों गुण अविनाशी जीवात्माको शरीरमें बाँधते हैं॥ ५॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥

हे निष्पाप! उन तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण तो निर्मल होनेके कारण प्रकाश करनेवाला और विकाररहित है, वह सुखके सम्बन्धसे और ज्ञानके सम्बन्धसे अर्थात् उसके अभिमानसे बाँधता है॥ ६॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥

हे अर्जुन! रागरूप रजोगुणको कामना और आसक्तिसे उत्पन्न जान। वह इस जीवात्माको कर्मोंके और उनके फलके सम्बन्धसे बाँधता है॥ ७॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥

हे अर्जुन! सब देहाभिमानियोंको मोहित करनेवाले

तमोगुणको तो अज्ञानसे उत्पन्न जान। वह इस जीवात्माको प्रमाद[१], आलस्य[२] और निद्राके द्वारा बाँधता है॥ ८॥

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत॥

हे अर्जुन! सत्त्वगुण सुखमें लगाता है और रजोगुण कर्ममें तथा तमोगुण तो ज्ञानको ढककर प्रमादमें भी लगाता है॥ ९॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥

हे अर्जुन! रजोगुण और तमोगुणको दबाकर सत्त्वगुण, सत्त्वगुण और तमोगुणको दबाकर रजोगुण, वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुणको दबाकर तमोगुण होता है अर्थात् बढ़ता है॥ १०॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥

जिस समय इस देहमें तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनता और विवेकशक्ति उत्पन्न होती है, उस समय

१. इन्द्रियों और अन्तःकरणकी व्यर्थ चेष्टाओंका नाम 'प्रमाद' है।
२. कर्तव्य-कर्ममें अप्रवृत्तिरूप निरुद्यमताका नाम 'आलस्य' है।

ऐसा जानना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ा है॥ ११॥

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥

हे अर्जुन! रजोगुणके बढ़नेपर लोभ, प्रवृत्ति, स्वार्थबुद्धिसे कर्मोंका सकामभावसे आरम्भ, अशान्ति और विषयभोगोंकी लालसा—ये सब उत्पन्न होते हैं॥ १२॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥

हे अर्जुन! तमोगुणके बढ़नेपर अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें अप्रकाश, कर्तव्य-कर्मोंमें अप्रवृत्ति और प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रादि अन्तःकरणकी मोहिनी वृत्तियाँ—ये सब ही उत्पन्न होते हैं॥ १३॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥

जब यह मनुष्य सत्त्वगुणकी वृद्धिमें मृत्युको प्राप्त होता है, तब तो उत्तम कर्म करनेवालोंके निर्मल दिव्य स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होता है॥ १४॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥

रजोगुणके बढ़नेपर मृत्युको प्राप्त होकर कर्मोंकी आसक्तिवाले मनुष्योंमें उत्पन्न होता है; तथा तमोगुणके बढ़नेपर मरा हुआ मनुष्य कीट, पशु आदि मूढ़योनियोंमें उत्पन्न होता है॥ १५॥

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥

श्रेष्ठ कर्मका तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि निर्मल फल कहा है; राजस कर्मका फल दुःख एवं तामस कर्मका फल अज्ञान कहा है॥ १६॥

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥

सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है और रजोगुणसे निस्सन्देह लोभ तथा तमोगुणसे प्रमाद[१] और मोह[२] उत्पन्न होते हैं और अज्ञान भी होता है॥ १७॥

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

सत्त्वगुणमें स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकोंको जाते हैं, रजोगुणमें स्थित राजस पुरुष मध्यमें अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं और तमोगुणके

१.-२. इसी अध्यायके श्लोक १३ में देखना चाहिये।

कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको तथा नरकोंको प्राप्त होते हैं॥ १८॥

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति॥

जिस समय द्रष्टा तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणोंसे अत्यन्त परे सच्चिदानन्दघनस्वरूप मुझ परमात्माको तत्त्वसे जानता है, उस समय वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है॥ १९॥

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते॥

यह पुरुष शरीरकी* उत्पत्तिके कारणरूप इन तीनों गुणोंको उल्लंघन करके जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त हुआ परमानन्दको प्राप्त होता है॥ २०॥

---

* बुद्धि, अहंकार और मन तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच भूत, पाँच इन्द्रियोंके विषय—इस प्रकार इन तेईस तत्त्वोंका पिण्डरूप यह स्थूल शरीर प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंका ही कार्य है, इसलिये इन तीनों गुणोंको इसकी उत्पत्तिका कारण कहा है।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते॥

अर्जुन बोले—इन तीनों गुणोंसे अतीत पुरुष किन-किन लक्षणोंसे युक्त होता है और किस प्रकारके आचरणोंवाला होता है तथा हे प्रभो! मनुष्य किस उपायसे इन तीनों गुणोंसे अतीत होता है? ॥ २१ ॥

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति॥

श्रीभगवान् बोले—हे अर्जुन! जो पुरुष सत्त्वगुणके कार्यरूप प्रकाशको[१] और रजोगुणके कार्यरूप प्रवृत्तिको तथा तमोगुणके कार्यरूप मोहको[२] भी न तो प्रवृत्त होनेपर उनसे द्वेष करता है और न निवृत्त होनेपर उनकी आकांक्षा करता है[३] ॥ २२ ॥

---

१. अन्तःकरण और इन्द्रियादिकोंमें आलस्यका अभाव होकर जो एक प्रकारकी चेतनता होती है, उसका नाम 'प्रकाश' है।

२. निद्रा और आलस्य आदिकी बहुलतासे अन्तःकरण और इन्द्रियोंमें चेतनशक्तिके लय होनेको यहाँ 'मोह' नामसे समझना चाहिये।

३. जो पुरुष एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही नित्य, एकीभावसे स्थित हुआ इस त्रिगुणमयी मायाके प्रपंचरूप संसारसे सर्वथा अतीत

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥

जो साक्षीके सदृश स्थित हुआ गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किया जा सकता और गुण ही गुणोंमें बरतते* हैं—ऐसा समझता हुआ जो सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित रहता है एवं उस स्थितिसे कभी विचलित नहीं होता॥ २३॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥

जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित, दुःख-सुखको समान समझनेवाला, मिट्टी, पत्थर और स्वर्णमें समान भाववाला, ज्ञानी, प्रिय तथा अप्रियको एक-सा माननेवाला और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है॥ २४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

हो गया है, उस गुणातीत पुरुषके अभिमानरहित अन्तःकरणमें तीनों गुणोंके कार्यरूप प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहादि वृत्तियोंके प्रकट होने और न होनेपर किसी कालमें भी इच्छा-द्वेष आदि विकार नहीं होते हैं,यही उसके गुणोंसे अतीत होनेके प्रधान लक्षण हैं।

* त्रिगुणमयी मायासे उत्पन्न हुए अन्तःकरणके सहित इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंमें विचरना ही 'गुणोंका गुणोंमें बरतना' है।

जो मान और अपमानमें सम है, मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है एवं सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित है, वह पुरुष गुणातीत कहा जाता है॥ २५॥

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

और जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके* द्वारा मुझको निरन्तर भजता है, वह भी इन तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त होनेके लिये योग्य बन जाता है॥ २६॥

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

क्योंकि उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं हूँ॥ २७॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः॥ १४॥

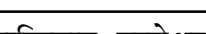

* केवल एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर वासुदेवभगवान्‌को ही अपना स्वामी मानता हुआ, स्वार्थ और अभिमानको त्यागकर, श्रद्धा और भावके सहित, परम प्रेमसे निरन्तर चिन्तन करनेको 'अव्यभिचारी भक्तियोग' कहते हैं।

ॐ

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

श्रीभगवान् बोले—आदिपुरुष परमेश्वररूप मूलवाले[१] और ब्रह्मारूप मुख्य शाखावाले[२] जिस संसाररूप पीपलके वृक्षको अविनाशी[३] कहते हैं, तथा वेद

---

१. आदिपुरुष नारायण वासुदेवभगवान् ही नित्य और अनन्त तथा सबके आधार होनेके कारण और सबसे ऊपर नित्यधाममें सगुणरूपसे वास करनेके कारण ऊर्ध्व नामसे कहे गये हैं और वे मायापति, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही इस संसाररूप वृक्षके कारण हैं, इसलिये इस संसार-वृक्षको 'ऊर्ध्वमूलवाला' कहते हैं।

२. उस आदिपुरुष परमेश्वरसे उत्पत्तिवाला होनेके कारण तथा नित्यधामसे नीचे ब्रह्मलोकमें वास करनेके कारण, हिरण्यगर्भरूप ब्रह्माको परमेश्वरकी अपेक्षा 'अधः' कहा है और वही इस संसारका विस्तार करनेवाला होनेसे इसकी मुख्य शाखा है, इसलिये इस संसारवृक्षको 'अधःशाखावाला' कहते हैं।

३. इस वृक्षका मूल कारण परमात्मा अविनाशी है तथा अनादिकालसे इसकी परम्परा चली आती है, इसलिये इस संसारवृक्षको 'अविनाशी' कहते हैं।

जिसके पत्ते[1] कहे गये हैं—उस संसाररूप वृक्षको जो पुरुष मूलसहित तत्त्वसे जानता है, वह वेदके तात्पर्यको जाननेवाला है[2] ॥ १ ॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥

उस संसारवृक्षकी तीनों गुणोंरूप जलके द्वारा बढ़ी हुई एवं विषय[3]-भोगरूप कोंपलोंवाली देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनिरूप शाखाएँ[4] नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं तथा मनुष्य-

---

१. इस वृक्षकी शाखारूप ब्रह्मासे प्रकट होनेवाले और यज्ञादिक कर्मोंके द्वारा इस संसारवृक्षकी रक्षा और वृद्धि करनेवाले एवं शोभाको बढ़ानेवाले होनेसे वेद 'पत्ते' कहे गये हैं।

२. भगवान्‌की योगमायासे उत्पन्न हुआ संसार क्षणभंगुर, नाशवान् और दुःखरूप है, इसके चिन्तनको त्यागकर, केवल परमेश्वरका ही नित्य-निरन्तर, अनन्यप्रेमसे चिन्तन करना 'वेदके तात्पर्यको जानना' है।

३. शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँचों स्थूलदेह और इन्द्रियोंकी अपेक्षा सूक्ष्म होनेके कारण उन शाखाओंकी 'कोंपलों' के रूपमें कहे गये हैं।

४. मुख्य शाखारूप ब्रह्मासे सम्पूर्ण लोकोंके सहित देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनियोंकी उत्पत्ति और विस्तार हुआ है, इसलिये उनका यहाँ 'शाखाओं' के रूपमें वर्णन किया है।

लोकमें[१] कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाली अहंता-ममता और वासनारूप जड़ें भी नीचे और ऊपर सभी लोकोंमें व्याप्त हो रही हैं॥ २॥

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल-
मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा॥

इस संसारवृक्षका स्वरूप जैसा कहा है वैसा यहाँ विचारकालमें नहीं पाया जाता[२], क्योंकि न तो इसका आदि है[३] और न अन्त है[४] तथा

---

१. अहंता, ममता और वासनारूप मूलोंको केवल मनुष्ययोनिमें कर्मोंके अनुसार बाँधनेवाली कहनेका कारण यह है कि अन्य सब योनियोंमें तो केवल पूर्वकृत कर्मोंके फलको भोगनेका ही अधिकार है और मनुष्ययोनिमें नवीन कर्मोंके करनेका भी अधिकार है।

२. इस संसारका जैसा स्वरूप शास्त्रोंमें वर्णन किया गया है और जैसा देखा-सुना जाता है, वैसा तत्त्वज्ञान होनेके पश्चात् नहीं पाया जाता, जिस प्रकार आँख खुलनेके पश्चात् स्वप्नका संसार नहीं पाया जाता।

३. इसका आदि नहीं है, यह कहनेका प्रयोजन यह है कि इसकी परम्परा कबसे चली आती है, इसका कोई पता नहीं है।

४. इसका अन्त नहीं है, यह कहनेका प्रयोजन यह है कि इसकी परम्परा कबतक चलती रहेगी, इसका कोई पता नहीं है।

न इसकी अच्छी प्रकारसे स्थिति ही है[१]। इसलिये इस अहंता, ममता और वासनारूप अति दृढ़ मूलोंवाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप[२] शस्त्रद्वारा काटकर[३]— ॥ ३ ॥

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं
यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥

उसके पश्चात् उस परम-पदरूप परमेश्वरको भलीभाँति खोजना चाहिये, जिसमें गये हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते और जिस परमेश्वरसे इस पुरातन संसारवृक्षकी प्रवृत्ति विस्तारको प्राप्त हुई है, उसी आदिपुरुष नारायणके मैं शरण हूँ—

---

१. इसकी अच्छी प्रकार स्थिति भी नहीं है, यह कहनेका प्रयोजन यह है कि वास्तवमें यह क्षणभङ्गुर और नाशवान् है।

२. ब्रह्मलोकतकके भोग क्षणिक और नाशवान् हैं, ऐसा समझकर, इस संसारके समस्त विषयभोगोंमें सत्ता, सुख, प्रीति और रमणीयताका न भासना ही दृढ़ ''वैराग्यरूप शस्त्र'' है।

३. स्थावर, जङ्गमरूप यावन्मात्र संसारके चिन्तनका तथा अनादिकालसे अज्ञानके द्वारा दृढ़ हुई अहंता, ममता और वासनारूप मूलोंका त्याग करना ही संसारवृक्षका अवान्तर 'मूलोंके सहित काटना' है।

इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके उस परमेश्वरका मनन और निदिध्यासन करना चाहिये॥ ४॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा-
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥

जिसका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं—वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं॥ ५॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

जिस परमपदको प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसारमें नहीं आते, उस स्वयंप्रकाश परमपदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न अग्नि ही; वही मेरा परमधाम है*॥ ६॥

---

* 'परमधाम' का अर्थ गीता अध्याय ८ श्लोक २१ में देखना चाहिये।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥

इस देहमें यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है* और वही इन प्रकृतिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षण करता है॥ ७॥

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥

वायु गन्धके स्थानसे गन्धको जैसे ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही देहादिका स्वामी जीवात्मा भी जिस शरीरका त्याग करता है, उससे इन मनसहित इन्द्रियोंको ग्रहण करके फिर जिस शरीरको प्राप्त होता है—उसमें जाता है॥ ८॥

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥

यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचाको तथा रसना, घ्राण और मनको आश्रय करके—अर्थात् इन सबके सहारेसे ही विषयोंका सेवन करता है॥ ९॥

---

* जैसे विभागरहित स्थित हुआ भी महाकाश घटोंमें पृथक्-पृथक्की भाँति प्रतीत होता है, वैसे ही सब भूतोंमें एकीरूपसे स्थित हुआ भी परमात्मा पृथक्-पृथक्की भाँति प्रतीत होता है, इसीसे देहमें स्थित जीवात्माको भगवान्ने अपना 'सनातन अंश' कहा है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः॥

शरीरको छोड़कर जाते हुएको अथवा शरीरमें स्थित हुएको अथवा विषयोंको भोगते हुएको इस प्रकार तीनों गुणोंसे युक्त हुएको भी अज्ञानीजन नहीं जानते, केवल ज्ञानरूप नेत्रोंवाले विवेकशील ज्ञानी ही तत्त्वसे जानते हैं॥ १०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥

यत्न करनेवाले योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित इस आत्माको तत्त्वसे जानते हैं; किन्तु जिन्होंने अपने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यत्न करते रहनेपर भी इस आत्माको नहीं जानते॥ ११॥

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

सूर्यमें स्थित जो तेज सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता है तथा जो तेज चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है—उसको तू मेरा ही तेज जान॥ १२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥

और मैं ही पृथ्वीमें प्रवेश करके अपनी शक्तिसे सब भूतोंको धारण करता हूँ और रसस्वरूप अर्थात् अमृतमय चन्द्रमा होकर सम्पूर्ण ओषधियोंको अर्थात् वनस्पतियोंको पुष्ट करता हूँ॥ १३॥

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥

मैं ही सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित रहनेवाला प्राण और अपानसे संयुक्त वैश्वानर अग्निरूप होकर चार* प्रकारके अन्नको पचाता हूँ॥ १४॥

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो-
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो-
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामी-रूपसे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और

---

* भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य—ऐसे चार प्रकारके अन्न होते हैं, उनमें जो चबाकर खाया जाता है, वह 'भक्ष्य' है—जैसे रोटी आदि और जो निगला जाता है, वह 'भोज्य' है—जैसे दूध आदि तथा जो चाटा जाता है, वह 'लेह्य' है—जैसे चटनी आदि और जो चूसा जाता है, वह 'चोष्य' है—जैसे ईख आदि।

अपोहन[१] होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेके योग्य[२] हूँ तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ॥ १५॥

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥

इस संसारमें नाशवान् और अविनाशी भी ये दो प्रकारके[३] पुरुष हैं। इनमें सम्पूर्ण भूतप्राणियोंके शरीर तो नाशवान् और जीवात्मा अविनाशी कहा जाता है॥ १६॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥

इन दोनोंसे उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है एवं अविनाशी परमेश्वर और परमात्मा—इस प्रकार कहा गया है॥ १७॥

---

१. विचारके द्वारा बुद्धिमें रहनेवाले संशय-विपर्यय आदि दोषोंको हटानेका नाम 'अपोहन' है।

२. सर्ववेदोंका तात्पर्य परमेश्वरको जनानेका है, इसलिये सब वेदोंद्वारा 'जाननेके योग्य' एक परमेश्वर ही है।

३. गीता अध्याय ७ श्लोक ४-५ में जो अपरा और परा प्रकृतिके नामसे कहे गये हैं तथा अ० १३ श्लोक १ में जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके नामसे कहे गये हैं, उन्हीं दोनोंका यहाँ क्षर और अक्षरके नामसे वर्णन किया है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥

क्योंकि मैं नाशवान् जडवर्ग-क्षेत्रसे तो सर्वथा अतीत हूँ और अविनाशी जीवात्मासे भी उत्तम हूँ, इसलिये लोकमें और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ॥ १८॥

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥

भारत! जो ज्ञानी पुरुष मुझको इस प्रकार तत्त्वसे पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सब प्रकारसे निरन्तर मुझ वासुदेव परमेश्वरको ही भजता है॥ १९॥

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत॥

हे निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया, इसको तत्त्वसे जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है॥ २०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

ॐ

अथ षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥

श्रीभगवान् बोले—भयका सर्वथा अभाव, अन्तःकरणकी पूर्ण निर्मलता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति[1] और सात्त्विक दान[2], इन्द्रियोंका दमन, भगवान्, देवता और गुरुजनोंकी पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन तथा भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्टसहन और शरीर तथा इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता॥ १॥

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥

---

१. परमात्माके स्वरूपको तत्त्वसे जाननेके लिये सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे ध्यानकी निरन्तर गाढ़ स्थितिका ही नाम 'ज्ञानयोगव्यवस्थिति' समझना चाहिये।

२. गीता अध्याय १७ श्लोक २० में जिसका विस्तार किया है।

मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण[१], अपना अपकार करनेवालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग, अन्त:करणकी उपरति अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव, किसीकी भी निन्दादि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी उनमें आसक्तिका न होना, कोमलता, लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव॥ २॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

तेज[२], क्षमा, धैर्य, बाहरकी शुद्धि[३] एवं किसीमें भी शत्रुभावका न होना और अपनेमें पूज्यताके अभिमानका अभाव—ये सब तो हे अर्जुन! दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं॥ ३॥

---

१. अन्त:करण और इन्द्रियोंके द्वारा जैसा निश्चय किया हो, वैसे-का-वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहनेका नाम 'सत्यभाषण' है।

२. श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिका नाम 'तेज' है कि जिसके प्रभावसे उनके सामने विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्राय: अन्यायाचरणसे रुककर उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं।

३. गीता अध्याय १३ श्लोक ७ की टिपण्णी देखनी चाहिये।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥

हे पार्थ! दम्भ, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध, कठोरता और अज्ञान भी—ये सब आसुरी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं॥ ४॥

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव॥

दैवी सम्पदा मुक्तिके लिये और आसुरी-सम्पदा बाँधनेके लिये मानी गयी है। इसलिये हे अर्जुन! तू शोक मत कर, क्योंकि तू दैवी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुआ है॥ ५॥

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु॥

हे अर्जुन! इस लोकमें भूतोंकी सृष्टि यानी मनुष्यसमुदाय दो ही प्रकारका है, एक तो दैवी प्रकृतिवाला और दूसरा आसुरी प्रकृतिवाला। उनमेंसे दैवी प्रकृतिवाला तो विस्तारपूर्वक कहा गया, अब तू आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्यसमुदायको भी विस्तारपूर्वक मुझसे सुन॥ ६॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥

आसुर-स्वभाववाले मनुष्य प्रवृत्ति और निवृत्ति—इन दोनोंको ही नहीं जानते। इसलिये उनमें न तो बाहर-भीतरकी शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण है और न सत्यभाषण ही है॥ ७॥

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥

वे आसुरी प्रकृतिवाले मनुष्य कहा करते हैं कि जगत् आश्रयरहित, सर्वथा असत्य और बिना ईश्वरके, अपने-आप केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न है, अतएव केवल काम ही इसका कारण है। इसके सिवा और क्या है?॥ ८॥

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥

इस मिथ्या ज्ञानको अवलम्बन करके—जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है तथा जिनकी बुद्धि मन्द है, वे सबका अपकार करनेवाले क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत्के नाशके लिये ही समर्थ होते हैं॥ ९॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥

वे दम्भ, मान और मदसे युक्त मनुष्य किसी

प्रकार भी पूर्ण न होनेवाली कामनाओंका आश्रय लेकर, अज्ञानसे मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहण करके और भ्रष्ट आचरणोंको धारण करके संसारमें विचरते हैं॥ १०॥

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥

तथा वे मृत्युपर्यन्त रहनेवाली असंख्य चिन्ताओंका आश्रय लेनेवाले, विषयभोगोंके भोगनेमें तत्पर रहनेवाले और 'इतना ही सुख है' इस प्रकार माननेवाले होते हैं॥ ११॥

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥

वे आशाकी सैकड़ों फाँसियोंसे बँधे हुए मनुष्य काम-क्रोधके परायण होकर विषय भोगोंके लिये अन्यायपूर्वक धनादि पदार्थोंका संग्रह करनेकी चेष्टा करते हैं॥ १२॥

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥

वे सोचा करते हैं कि मैंने आज यह प्राप्त कर लिया है और अब इस मनोरथको प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास यह इतना धन है और फिर भी यह हो जायगा॥ १३॥

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥

वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और उन दूसरे शत्रुओंको भी मैं मार डालूँगा। मैं ईश्वर हूँ, ऐश्वर्यको भोगनेवाला हूँ। मैं सब सिद्धियोंसे युक्त हूँ और बलवान् तथा सुखी हूँ॥ १४॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

मैं बड़ा धनी और बड़े कुटुम्बवाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है? मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा और आमोद-प्रमोद करूँगा। इस प्रकार अज्ञानसे मोहित रहनेवाले तथा अनेक प्रकारसे भ्रमित चित्तवाले मोहरूप जालसे समावृत और विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त आसुरलोग महान् अपवित्र नरकमें गिरते हैं॥ १५-१६॥

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥

वे अपने-आपको ही श्रेष्ठ माननेवाले घमण्डी पुरुष

धन और मानके मदसे युक्त होकर केवल नाममात्रके यज्ञोंद्वारा पाखण्डसे शास्त्रविधिरहित यजन करते हैं॥ १७॥

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥

वे अहंकार, बल, घमण्ड, कामना और क्रोधादिके परायण और दूसरोंकी निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले होते हैं॥ १८॥

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥

उन द्वेष करनेवाले पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको मैं संसारमें बार-बार आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ॥ १९॥

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥

हे अर्जुन! वे मूढ़ मुझको न प्राप्त होकर ही जन्म-जन्ममें आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, फिर उससे भी अति नीच गतिको ही प्राप्त होते हैं अर्थात् घोर नरकोंमें पड़ते हैं॥ २०॥

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

काम, क्रोध तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार[१] आत्माका नाश करनेवाले अर्थात् उसको अधोगतिमें ले जानेवाले हैं। अतएव इन तीनोंको त्याग देना चाहिये॥ २१॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्॥

हे अर्जुन! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है[२], इससे वह परमगतिको जाता है अर्थात् मुझको प्राप्त हो जाता है॥ २२॥

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परमगतिको और न सुखको ही॥ २३॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

---

१. सर्व अनर्थोंके मूल और नरककी प्राप्तिमें हेतु होनेसे यहाँ काम, क्रोध और लोभको 'नरकके द्वार' कहा है।

२. अपने उद्धारके लिये भगवदाज्ञानुसार बरतना ही "अपने कल्याणका आचरण करना" है।

इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करनेयोग्य है॥ २४॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसम्पद्-विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः॥ १६॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥

अर्जुन बोले—हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्रविधिको त्यागकर श्रद्धासे युक्त हुए देवादिका पूजन करते हैं, उनकी स्थिति फिर कौन-सी है? सात्त्विकी है अथवा राजसी किंवा तामसी?॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥

श्रीभगवान् बोले—मनुष्योंकी वह शास्त्रीय संस्कारोंसे रहित केवल स्वभावसे उत्पन्न श्रद्धा*

* अनन्त जन्मोंमें किये हुए कर्मोंके सञ्चित संस्कारसे उत्पन्न हुई श्रद्धा 'स्वभावजा' श्रद्धा कही जाती है।

सात्त्विकी और राजसी तथा तामसी—ऐसे तीनों प्रकारकी ही होती है। उसको तू मुझसे सुन॥ २॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तः-करणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है॥ ३॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥

सात्त्विक पुरुष देवोंको पूजते हैं, राजस पुरुष यक्ष और राक्षसोंको तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं, वे प्रेत और भूतगणोंको पूजते हैं॥ ४॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥

जो मनुष्य शास्त्रविधिसे रहित केवल मनःकल्पित घोर तपको तपते हैं तथा दम्भ और अहंकारसे युक्त एवं कामना, आसक्ति और बलके अभिमानसे भी युक्त हैं॥ ५॥

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥

जो शरीररूपसे स्थित भूतसमुदायको और अन्तः-करणमें स्थित मुझ परमात्माको भी कृश करनेवाले हैं[1], उन अज्ञानियोंको तू आसुर-स्वभाववाले जान॥ ६॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥

भोजन भी सबको अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार तीन प्रकारका प्रिय होता है। और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन-तीन प्रकारके होते हैं। उनके इस पृथक्-पृथक् भेदको तू मुझसे सुन॥ ७॥

आयुःसत्त्वबलारोग्य-
सुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या-
आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ाने-वाले, रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहनेवाले[2] तथा स्वभावसे ही मनको प्रिय—ऐसे आहार अर्थात् भोजन

१. शास्त्रसे विरुद्ध उपवासादि घोर आचरणोंद्वारा शरीरको सुखाना एवं भगवान्‌के अंशस्वरूप जीवात्माको क्लेश देना, भूतसमुदायको और अन्तर्यामी परमात्माको 'कृश करना' है।

२. जिस भोजनका सार शरीरमें बहुत कालतक रहता है, उसको 'स्थिर रहनेवाला' कहते हैं।

करनेके पदार्थ सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं॥ ८॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥

कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं॥ ९॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है॥ १०॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥

जो शास्त्रविधिसे नियत, यज्ञ करना ही कर्तव्य है—इस प्रकार मनको समाधान करके, फल न चाहने-वाले पुरुषोंद्वारा किया जाता है, वह सात्त्विक है॥ ११॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥

परन्तु हे अर्जुन! केवल दम्भाचरणके लिये अथवा फलको भी दृष्टिमें रखकर जो यज्ञ किया

जाता है, उस यज्ञको तू राजस जान॥ १२॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥

शास्त्रविधिसे हीन, अन्नदानसे रहित, बिना मन्त्रोंके, बिना दक्षिणाके और बिना श्रद्धाके किये जानेवाले यज्ञको तामस यज्ञ कहते हैं॥ १३॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु[1] और ज्ञानीजनोंका पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा—यह शरीर-सम्बन्धी तप कहा जाता है॥ १४॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

जो उद्वेग न करनेवाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण है[2] तथा जो वेद-शास्त्रोंके पठनका एवं परमेश्वरके नाम-जपका अभ्यास है—वही वाणी-सम्बन्धी तप कहा जाता है॥ १५॥

---

१. यहाँ 'गुरु' शब्दसे माता, पिता, आचार्य और वृद्ध एवं अपनेसे जो किसी प्रकार भी बड़े हों, उन सबको समझना चाहिये।

२. मन और इन्द्रियोंद्वारा जैसा अनुभव किया हो, ठीक वैसा ही कहनेका नाम 'यथार्थ भाषण' है।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

मनकी प्रसन्नता, शान्तभाव, भगवच्चिन्तन करनेका स्वभाव, मनका निग्रह और अन्तःकरणके भावोंकी भलीभाँति पवित्रता—इस प्रकार यह मनसम्बन्धी तप कहा जाता है॥ १६॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥

फलको न चाहनेवाले योगी पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किये हुए उस पूर्वोक्त तीन प्रकारके तपको सात्त्विक कहते हैं॥ १७॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥

जो तप सत्कार, मान और पूजाके लिये तथा अन्य किसी स्वार्थके लिये भी स्वभावसे या पाखण्डसे किया जाता है, वह अनिश्चित* एवं क्षणिक फलवाला तप यहाँ राजस कहा गया है॥ १८॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥

* 'अनिश्चित फलवाला' उसको कहते हैं कि जिसका फल होने-न-होनेमें शंका हो।

जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे, मन, वाणी और शरीरकी पीड़ाके सहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है—वह तप तामस कहा गया है॥ १९॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥

दान देना ही कर्तव्य है—ऐसे भावसे जो दान देश[१] तथा काल[२] और पात्रके[३] प्राप्त होनेपर उपकार न करनेवालेके प्रति दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है॥ २०॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥

किन्तु जो दान क्लेशपूर्वक[४] तथा प्रत्युपकारके

१.-२. जिस देश-कालमें जिस वस्तुका अभाव हो, वही देश-काल, उस वस्तुद्वारा प्राणियोंकी सेवा करनेके लिये योग्य समझा जाता है।

३. भूखे, अनाथ, दुःखी, रोगी और असमर्थ तथा भिक्षुक आदि तो अन्न, वस्त्र और ओषधि एवं जिस वस्तुका जिसके पास अभाव हो, उस वस्तुद्वारा सेवा करनेके लिये योग्य पात्र समझे जाते हैं और श्रेष्ठ आचरणोंवाले विद्वान् ब्राह्मणजन धनादि सब प्रकारके पदार्थोंद्वारा सेवा करनेके लिये योग्य पात्र समझे जाते हैं।

४. जैसे प्रायः वर्तमान समयके चन्दे-चिट्ठे आदिमें धन दिया जाता है।

प्रयोजनसे अथवा फलको दृष्टिमें* रखकर फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है॥ २१॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥

जो दान बिना सत्कारके अथवा तिरस्कारपूर्वक अयोग्य देश-कालमें और कुपात्रके प्रति दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है॥ २२॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥

ॐ, तत्, सत्—ऐसे यह तीन प्रकारका सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका नाम कहा है; उसीसे सृष्टिके आदिकालमें ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गये॥ २३॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥

इसलिये वेद-मन्त्रोंका उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंकी शास्त्रविधिसे नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ॐ' इस परमात्माके नामको उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं॥ २४॥

---

*अर्थात् मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये अथवा रोगादिकी निवृत्तिके लिये।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥

तत् अर्थात् 'तत्' नामसे कहे जानेवाले परमात्माका ही यह सब है—इस भावसे फलको न चाहकर नाना प्रकारकी यज्ञ, तपरूप क्रियाएँ तथा दानरूप क्रियाएँ कल्याणकी इच्छावाले पुरुषोंद्वारा की जाती हैं॥ २५॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥

'सत्'—इस प्रकार यह परमात्माका नाम सत्यभावमें और श्रेष्ठभावमें प्रयोग किया जाता है तथा हे पार्थ! उत्तम कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है॥ २६॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी 'सत्' इस प्रकार कही जाती है और उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चयपूर्वक सत्—ऐसे कहा जाता है॥ २७॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

हे अर्जुन! बिना श्रद्धाके किया हुआ हवन,

दिया हुआ दान एवं तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ शुभ कर्म है—वह समस्त 'असत्'—इस प्रकार कहा जाता है; इसलिये वह न तो इस लोकमें लाभदायक है और न मरनेके बाद ही॥ २८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः॥ १७॥

अथाष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

सन्न्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥

अर्जुन बोले—हे महाबाहो! हे अन्तर्यामिन्! हे वासुदेव! मैं संन्यास और त्यागके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥

श्रीभगवान् बोले—कितने ही पण्डितजन तो

काम्य कर्मोंके[१] त्यागको संन्यास समझते हैं तथा दूसरे विचारकुशल पुरुष सब कर्मोंके फलके त्यागको[२] त्याग कहते हैं॥ २॥

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे॥

कई एक विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त हैं, इसलिये त्यागनेके योग्य हैं और दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागनेयोग्य नहीं हैं॥ ३॥

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः॥

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन! संन्यास और त्याग, इन

---

१. स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये तथा रोग-संकटादिकी निवृत्तिके लिये जो यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि कर्म किये जाते हैं, उनका नाम 'काम्यकर्म' है।

२. ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान और तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार आजीविकाद्वारा गृहस्थका निर्वाह एवं शरीरसम्बन्धी खान-पान इत्यादि जितने कर्तव्यकर्म हैं, उन सबमें इस लोक और परलोककी सम्पूर्ण कामनाओंके त्यागका नाम 'सब कर्मोंके फलका त्याग' है।

दोनोंमेंसे पहले त्यागके विषयमें तू मेरा निश्चय सुन। क्योंकि त्याग सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारका कहा गया है॥ ४॥

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्याग करनेके योग्य नहीं है, बल्कि वह तो अवश्य कर्तव्य है, क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये तीनों ही कर्म बुद्धिमान् पुरुषोंको* पवित्र करनेवाले हैं॥ ५॥

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

इसलिये हे पार्थ! इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मोंको तथा और भी सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको आसक्ति और फलोंका त्याग करके अवश्य करना चाहिये; यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है॥ ६॥

नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥

(निषिद्ध और काम्य कर्मोंका तो स्वरूपसे

---

* वह मनुष्य 'बुद्धिमान्' है, जो फल और आसक्तिको त्यागकर केवल भगवदर्थ कर्म करता है।

त्याग करना उचित ही है) परन्तु नियत कर्मका* स्वरूपसे त्याग करना उचित नहीं है। इसलिये मोहके कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है॥ ७॥

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥

जो कुछ कर्म है, वह सब दुःखरूप ही है— ऐसा समझकर यदि कोई शारीरिक क्लेशके भयसे कर्तव्यकर्मोंका त्याग कर दे, तो वह ऐसा राजस त्याग करके त्यागके फलको किसी प्रकार भी नहीं पाता॥ ८॥

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥

हे अर्जुन! जो शास्त्रविहित कर्म करना कर्तव्य है— इसी भावसे आसक्ति और फलका त्याग करके किया जाता है—वही सात्त्विक त्याग माना गया है॥ ९॥

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥

जो मनुष्य अकुशल कर्मसे तो द्वेष नहीं करता और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता—वह शुद्ध

* इसी अध्यायके श्लोक ४८ की टिप्पणीमें इसका अर्थ देखना चाहिये।

सत्त्वगुणसे युक्त पुरुष संशयरहित, बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है॥ १०॥

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥

क्योंकि शरीरधारी किसी भी मनुष्यके द्वारा सम्पूर्णतासे सब कर्मोंका त्याग किया जाना शक्य नहीं है; इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वही त्यागी है—यह कहा जाता है॥ ११॥

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित्॥

कर्मफलका त्याग न करनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका तो अच्छा-बुरा और मिला हुआ ऐसे तीन प्रकारका फल मरनेके पश्चात् अवश्य होता है, किन्तु कर्मफलका त्याग कर देनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका फल किसी कालमें भी नहीं होता॥ १२॥

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥

हे महाबाहो! सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके ये पाँच हेतु कर्मोंका अन्त करनेके लिये उपाय बतलानेवाले सांख्यशास्त्रमें कहे गये हैं, उनको तू मुझसे भलीभाँति जान॥ १३॥

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥

इस विषयमें अर्थात् कर्मोंकी सिद्धिमें अधिष्ठान[१] और कर्ता तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके करण[२] एवं नाना प्रकारकी अलग-अलग चेष्टाएँ और वैसे ही पाँचवाँ हेतु दैव[३] है॥ १४॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥

मनुष्य मन, वाणी और शरीरसे शास्त्रानुकूल अथवा विपरीत जो कुछ भी कर्म करता है—उसके ये पाँचों कारण हैं॥ १५॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

परन्तु ऐसा होनेपर भी जो मनुष्य अशुद्ध बुद्धि[४]

---

१. जिसके आश्रय कर्म किये जायँ, उसका नाम 'अधिष्ठान' है।

२. जिन-जिन इन्द्रियादिकों और साधनोंके द्वारा कर्म किये जाते हैं, उनका नाम 'करण' है।

३. पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके संस्कारोंका नाम 'दैव' है।

४. सत्सङ्ग और शास्त्रके अभ्याससे तथा भगवदर्थ कर्म और उपासनाके करनेसे मनुष्यकी बुद्धि शुद्ध होती है, इसलिये जो उपर्युक्त साधनोंसे रहित है, उसकी बुद्धि अशुद्ध है, ऐसा समझना चाहिये।

होनेके कारण उस विषयमें यानी कर्मोंके होनेमें केवल शुद्धस्वरूप आत्माको कर्ता समझता है, वह मलिन बुद्धिवाला अज्ञानी यथार्थ नहीं समझता॥ १६॥

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

जिस पुरुषके अन्त:करणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिपायमान नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है*॥ १७॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः॥

---

* जैसे अग्नि, वायु और जलके द्वारा प्रारब्धवश किसी प्राणीकी हिंसा होती देखनेमें आवे तो भी वह वास्तवमें हिंसा नहीं है, वैसे ही जिस पुरुषका देहमें अभिमान नहीं है और स्वार्थरहित केवल संसारके हितके लिये ही जिसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ होती हैं, उस पुरुषके शरीर और इन्द्रियोंद्वारा यदि किसी प्राणीकी हिंसा होती हुई लोकदृष्टिमें देखी जाय, तो भी वह वास्तवमें हिंसा नहीं है; क्योंकि आसक्ति, स्वार्थ और अहंकारके न होनेसे किसी प्राणीकी हिंसा हो ही नहीं सकती तथा बिना कर्तृत्वाभिमानके किया हुआ कर्म वास्तवमें अकर्म ही है, इसलिये वह पुरुष 'पापसे नहीं बँधता'।

ज्ञाता[१], ज्ञान[२] और ज्ञेय[३]—ये तीन प्रकारकी कर्म-प्रेरणा हैं और कर्ता[४], करण[५] तथा क्रिया[६]—ये तीन प्रकारका कर्म-संग्रह है॥ १८॥

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि॥

गुणोंकी संख्या करनेवाले शास्त्रमें ज्ञान और कर्म तथा कर्ता गुणोंके भेदसे तीन-तीन प्रकारके ही कहे गये हैं, उनको भी तू मुझसे भलीभाँति सुन॥ १९॥

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्॥

जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक्-पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्मभावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस ज्ञानको तो तू सात्त्विक जान॥ २०॥

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्॥

---

१. जाननेवालेका नाम 'ज्ञाता' है।
२. जिसके द्वारा जाना जाय, उसका नाम 'ज्ञान' है।
३. जाननेमें आनेवाली वस्तुका नाम 'ज्ञेय' है।
४. कर्म करनेवालेका नाम 'कर्ता' है।
५. जिन साधनोंसे कर्म किया जाय, उनका नाम 'करण' है।
६. करनेका नाम 'क्रिया' है।

किन्तु जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके नाना भावोंको अलग-अलग जानता है, उस ज्ञानको तू राजस जान॥ २१॥

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥

परन्तु जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीरमें ही सम्पूर्णके सदृश आसक्त है तथा जो बिना युक्तिवाला, तात्त्विक अर्थसे रहित और तुच्छ है—वह तामस कहा गया है॥ २२॥

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते॥

जो कर्म शास्त्रविधिसे नियत किया हुआ और कर्तापनके अभिमानसे रहित हो तथा फल न चाहनेवाले पुरुषद्वारा बिना राग-द्वेषके किया गया हो—वह सात्त्विक कहा जाता है॥ २३॥

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्॥

परन्तु जो कर्म बहुत परिश्रमसे युक्त होता है तथा भोगोंको चाहनेवाले पुरुषद्वारा या अहंकारयुक्त पुरुषद्वारा

किया जाता है, वह कर्म राजस कहा गया है॥ २४॥

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥

जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्यको न विचारकर केवल अज्ञानसे आरम्भ किया जाता है, वह तामस कहा जाता है॥ २५॥

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥

जो कर्ता संगरहित, अहंकारके वचन न बोलनेवाला, धैर्य और उत्साहसे युक्त तथा कार्यके सिद्ध होने और न होनेमें हर्ष-शोकादि विकारोंसे रहित है—वह सात्त्विक कहा जाता है॥ २६॥

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः॥

जो कर्ता आसक्तिसे युक्त, कर्मोंके फलको चाहनेवाला और लोभी है तथा दूसरोंको कष्ट देनेके स्वभाववाला, अशुद्धाचारी और हर्ष-शोकसे लिप्त है—वह राजस कहा गया है॥ २७॥

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते॥

जो कर्ता अयुक्त, शिक्षासे रहित, घमंडी, धूर्त और दूसरोंकी जीविकाका नाश करनेवाला तथा शोक करनेवाला, आलसी और दीर्घसूत्री[१] है—वह तामस कहा जाता है॥ २८॥

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय॥

हे धनञ्जय! अब तू बुद्धिका और धृतिका भी गुणोंके अनुसार तीन प्रकारका भेद मेरे द्वारा सम्पूर्णतासे विभागपूर्वक कहा जानेवाला सुन॥ २९॥

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्तिमार्ग[२] और निवृत्ति-मार्गको[३], कर्तव्य और अकर्तव्यको, भय और

---

१. 'दीर्घसूत्री' उसको कहा जाता है कि जो थोड़े कालमें होने लायक साधारण कार्यको भी फिर कर लेंगे, ऐसी आशासे बहुत कालतक नहीं पूरा करता।

२. गृहस्थमें रहते हुए फल और आसक्तिको त्यागकर भगवदर्पणबुद्धिसे केवल लोकशिक्षाके लिये राजा जनककी भाँति बरतनेका नाम 'प्रवृत्तिमार्ग' है।

३. देहाभिमानको त्यागकर केवल सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित हुए श्रीशुकदेवजी और सनकादिकोंकी भाँति संसारसे उपराम होकर विचरनेका नाम 'निवृत्तिमार्ग' है।

अभयको तथा बन्धन और मोक्षको यथार्थ जानती है—वह बुद्धि सात्त्विकी है॥ ३०॥

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥

हे पार्थ! मनुष्य जिस बुद्धिके द्वारा धर्म और अधर्मको तथा कर्तव्य और अकर्तव्यको भी यथार्थ नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है॥ ३१॥

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

हे अर्जुन! जो तमोगुणसे घिरी हुई बुद्धि अधर्मको भी 'यह धर्म है' ऐसा मान लेती है तथा इसी प्रकार अन्य सम्पूर्ण पदार्थोंको भी विपरीत मान लेती है, वह बुद्धि तामसी है॥ ३२॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥

हे पार्थ! जिस अव्यभिचारिणी धारणशक्तिसे[१] मनुष्य ध्यानयोगके द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको[२] धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है॥ ३३॥

---

१. भगवद्विषयके सिवाय अन्य सांसारिक विषयोंको धारण करना ही व्यभिचारदोष है, उस दोषसे जो रहित है, वह 'अव्यभिचारिणी धारणा' है।

२. मन, प्राण और इन्द्रियोंको भगवत्प्राप्तिके लिये भजन, ध्यान और

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी॥

परंतु हे पृथापुत्र अर्जुन! फलकी इच्छावाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा अत्यन्त आसक्तिसे धर्म, अर्थ और कामोंको धारण करता है, वह धारणशक्ति राजसी है॥ ३४॥

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी॥

हे पार्थ! दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य जिस धारणशक्तिके द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता और दुःखको तथा उन्मत्तताको भी नहीं छोड़ता अर्थात् धारण किये रहता है—वह धारणशक्ति तामसी है॥ ३५॥

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति॥
यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥

हे भरतश्रेष्ठ! अब तीन प्रकारके सुखको भी तू मुझसे सुन। जिस सुखमें साधक मनुष्य भजन, ध्यान और सेवादिके अभ्याससे रमण करता है और जिससे दुःखोंके अन्तको प्राप्त हो जाता है—जो ऐसा सुख

निष्काम कर्मोंमें लगानेका नाम 'उनकी क्रियाओंको धारण करना' है।

है, वह आरम्भकालमें यद्यपि विषके तुल्य प्रतीत[१] होता है, परन्तु परिणाममें अमृतके तुल्य है; इसलिये वह परमात्मविषयक बुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न होनेवाला सुख सात्त्विक कहा गया है॥ ३६-३७॥

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्॥

जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह पहले—भोगकालमें अमृतके तुल्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें विषके तुल्य[२] है; इसलिये वह सुख राजस कहा गया है॥ ३८॥

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्॥

जो सुख भोगकालमें तथा परिणाममें भी आत्माको मोहित करनेवाला है—वह निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न सुख तामस कहा गया है॥ ३९॥

---

१. जैसे खेलमें आसक्तिवाले बालकको विद्याका अभ्यास मूढ़ताके कारण प्रथम विषके तुल्य भासता है, वैसे ही विषयोंमें आसक्तिवाले पुरुषको भगवद्भजन, ध्यान, सेवा आदि साधनोंका अभ्यास मर्म न जाननेके कारण प्रथम 'विषके तुल्य प्रतीत होता' है।

२. बल, वीर्य, बुद्धि, धन, उत्साह और परलोकका नाशक होनेसे विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाले सुखको 'परिणाममें विषके तुल्य' कहा है।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः॥

पृथ्वीमें या आकाशमें अथवा देवताओंमें तथा इनके सिवा और कहीं भी ऐसा कोई भी सत्त्व नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे रहित हो॥ ४०॥

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

हे परंतप! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके तथा शूद्रोंके कर्म स्वभावसे उत्पन्न गुणोंद्वारा विभक्त किये गये हैं॥ ४१॥

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

अन्तःकरणका निग्रह करना, इन्द्रियोंका दमन करना, धर्मपालनके लिये कष्ट सहना, बाहर-भीतरसे शुद्ध* रहना, दूसरोंके अपराधोंको क्षमा करना, मन, इन्द्रिय और शरीरको सरल रखना; वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक आदिमें श्रद्धा रखना, वेद-शास्त्रोंका अध्ययन-अध्यापन करना और परमात्माके तत्त्वका अनुभव करना—ये सब-

* गीता अ० १३ श्लोक ७ की टिप्पणीमें देखना चाहिये।

के-सब ही ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं॥ ४२॥

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्धमें न भागना, दान देना और स्वामिभाव—ये सब-के-सब ही क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं॥ ४३॥

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥

खेती, गोपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार*—ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं। तथा सब वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है॥ ४४॥

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥

अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा

---

* वस्तुओंके खरीदने और बेचनेमें तौल, नाप और गिनती आदिसे कम देना अथवा अधिक लेना एवं वस्तुको बदलकर या एक वस्तुमें दूसरी (खराब) वस्तु मिलाकर दे देना अथवा (अच्छी) ले लेना तथा नफा, आढ़त और दलाली ठहराकर, उनसे अधिक दाम लेना या कम देना तथा झूठ, कपट, चोरी और जबरदस्तीसे अथवा अन्य किसी प्रकारसे दूसरेके हकको ग्रहण कर लेना इत्यादि दोषोंसे रहित जो सत्यतापूर्वक पवित्र वस्तुओंका व्यापार है, उसका नाम 'सत्यव्यवहार' है।

हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन॥ ४५॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है[१], उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके[२] मनुष्य परमसिद्धिको प्राप्त हो जाता है॥ ४६॥

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥

अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना धर्म श्रेष्ठ है; क्योंकि स्वभावसे

---

१. जैसे बर्फ जलसे व्याप्त है, वैसे ही सम्पूर्ण संसार सच्चिदानन्दघन परमात्मासे व्याप्त है।

२. जैसे पतिव्रता स्त्री पतिको ही सर्वस्व समझकर पतिका चिन्तन करती हुई, पतिके आज्ञानुसार पतिके ही लिये मन, वाणी, शरीरसे कर्म करती है, वैसे ही परमेश्वरको ही सर्वस्व समझकर परमेश्वरका चिन्तन करते हुए परमेश्वरकी आज्ञाके अनुसार मन, वाणी और शरीरसे परमेश्वरके ही लिये स्वाभाविक कर्तव्यकर्मका आचरण करना 'कर्मद्वारा परमेश्वरको पूजना' है।

नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं प्राप्त होता॥ ४७॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

अतएव हे कुन्तीपुत्र! दोषयुक्त होनेपर भी सहज* कर्मको नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि धूएँसे अग्निकी भाँति सभी कर्म किसी-न-किसी दोषसे युक्त हैं॥ ४८॥

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति॥

सर्वत्र आसक्तिरहित बुद्धिवाला, स्पृहारहित और जीते हुए अन्तःकरणवाला पुरुष सांख्ययोगके द्वारा उस परम नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त होता है॥ ४९॥

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥

जो कि ज्ञानयोगकी परानिष्ठा है, उस नैष्कर्म्य

---

* प्रकृतिके अनुसार शास्त्रविधिसे नियत किये हुए जो वर्णाश्रमके धर्म और सामान्य धर्मरूप स्वाभाविक कर्म हैं, उनको ही यहाँ 'स्वधर्म', 'सहजकर्म', 'स्वकर्म', 'नियतकर्म', 'स्वभावजकर्म', 'स्वभावनियतकर्म' इत्यादि नामोंसे कहा है।

सिद्धिको जिस प्रकारसे प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त होता है, उस प्रकारको हे कुन्तीपुत्र! तू संक्षेपमें ही मुझसे समझ॥ ५०॥

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हलका, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणशक्तिके* द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहंकार, बल, घमण्ड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला, ममतारहित और शान्तियुक्त

* इसी अध्यायके श्लोक ३३ में जिसका विस्तार है।

पुरुष सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है॥ ५१—५३॥

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकांक्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला[१] योगी मेरी पराभक्तिको[२] प्राप्त हो जाता है॥ ५४॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

उस पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है; तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है॥ ५५॥

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

---

१. गीता अ० ६ श्लोक २९ में देखना चाहिये।

२. जो तत्त्वज्ञानकी पराकाष्ठा है तथा जिसको प्राप्त होकर और कुछ जानना बाकी नहीं रहता, वही यहाँ 'पराभक्ति', 'ज्ञानकी परानिष्ठा', 'परम नैष्कर्म्यसिद्धि' और 'परमसिद्धि' इत्यादि नामोंसे कही गयी है।

मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है॥ ५६॥

चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥

सब कर्मोंको मनसे मुझमें अर्पण करके* तथा समबुद्धिरूप योगको अवलम्बन करके मेरे परायण और निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो॥ ५७॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि॥

उपर्युक्त प्रकारसे मुझमें चित्तवाला होकर तू मेरी कृपासे समस्त संकटोंको अनायास ही पार कर जायगा और यदि अहंकारके कारण मेरे वचनोंको न सुनेगा तो नष्ट हो जायगा अर्थात् परमार्थसे भ्रष्ट हो जायगा॥ ५८॥

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥

जो तू अहंकारका आश्रय लेकर यह मान रहा है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है; क्योंकि तेरा स्वभाव तुझे जबर्दस्ती युद्धमें लगा देगा॥ ५९॥

* गीता अ० ९ श्लोक २७ में जिसकी विधि कही है।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥

हे कुन्तीपुत्र! जिस कर्मको तू मोहके कारण करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्मसे बँधा हुआ परवश होकर करेगा॥ ६०॥

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

हे अर्जुन! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमण कराता हुआ सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है॥ ६१॥

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

हे भारत! तू सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही शरणमें* जा। उस परमात्माकी कृपासे ही तू परम

* लज्जा, भय, मान, बड़ाई और आसक्तिको त्यागकर एवं शरीर और संसारमें अहंता, ममतासे रहित होकर केवल एक परमात्माको ही परम आश्रय, परमगति और सर्वस्व समझना तथा अनन्यभावसे अतिशय श्रद्धा, भक्ति और प्रेमपूर्वक निरन्तर भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव और स्वरूपका चिन्तन करते रहना एवं भगवान्‌का भजन, स्मरण रखते हुए ही उनके आज्ञानुसार कर्तव्यकर्मोंका निःस्वार्थभावसे केवल परमेश्वरके लिये आचरण करना यह 'सब प्रकारसे परमात्माके ही शरण' होना है।

शान्तिको तथा सनातन परमधामको प्राप्त होगा॥ ६२॥

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥

इस प्रकार यह गोपनीयसे भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तुमसे कह दिया। अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञानको पूर्णतया भलीभाँति विचारकर, जैसे चाहता है वैसे ही कर॥ ६३॥

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥

सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा॥ ६४॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है॥ ६५॥

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें[१] आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर॥ ६६॥

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति॥

तुझे यह गीतारूप रहस्यमय उपदेश किसी भी कालमें न तो तपरहित मनुष्यसे कहना चाहिये, न भक्ति[२] रहितसे और न बिना सुननेकी इच्छावालेसे ही कहना चाहिये; तथा जो मुझमें दोषदृष्टि रखता है उससे तो कभी भी नहीं कहना चाहिये॥ ६७॥

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥

जो पुरुष मुझमें परम प्रेम करके इस परम रहस्य-युक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुझको ही प्राप्त होगा—इसमें कोई सन्देह नहीं है॥ ६८॥

---

१. इसी अध्यायके श्लोक ६२ की टिप्पणीमें 'शरण' का भाव देखना चाहिये।

२. वेद, शास्त्र और परमेश्वर तथा महात्मा और गुरुजनोंमें श्रद्धा, प्रेम और पूज्य-भावका नाम 'भक्ति' है।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥

उससे बढ़कर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है; तथा पृथ्वीभरमें उससे बढ़कर मेरा प्रिय दूसरा कोई भविष्यमें होगा भी नहीं॥ ६९॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं सम्वादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥

जो पुरुष इस धर्ममय हम दोनोंके संवादरूप गीताशास्त्रको पढ़ेगा, उसके द्वारा भी मैं ज्ञानयज्ञसे* पूजित होऊँगा—ऐसा मेरा मत है॥ ७०॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥

जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और दोषदृष्टिसे रहित होकर इस गीताशास्त्रका श्रवण भी करेगा, वह भी पापोंसे मुक्त होकर उत्तम कर्म करनेवालोंके श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त होगा॥ ७१॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय॥

हे पार्थ! क्या इस (गीताशास्त्र)-को तूने

* गीता अध्याय ४ श्लोक ३३ का अर्थ देखना चाहिये।

एकाग्रचित्तसे श्रवण किया? और हे धनंजय! क्या तेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया?॥ ७२॥

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

अर्जुन बोले—हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा॥ ७३॥

सञ्जय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥

संजय बोले—इस प्रकार मैंने श्रीवासुदेवके और महात्मा अर्जुनके इस अद्भुत रहस्ययुक्त, रोमाञ्चकारक संवादको सुना॥ ७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥

श्रीव्यासजीकी कृपासे दिव्य दृष्टि पाकर मैंने इस परम गोपनीय योगको अर्जुनके प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णसे प्रत्यक्ष सुना है॥ ७५॥

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य सम्वादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥

हे राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस रहस्ययुक्त, कल्याणकारक और अद्भुत संवादको पुनः-पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ॥ ७६॥

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः॥

हे राजन्! श्रीहरिके* उस अत्यन्त विलक्षण रूपको भी पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्तमें महान् आश्चर्य होता है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ॥ ७७॥

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

हे राजन्! जहाँ योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहींपर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है—ऐसा मेरा मत है॥ ७८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसन्न्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

* जिसका स्मरण करनेसे पापोंका नाश होता है, उसका नाम 'हरि' है।

'श्रीमद्भगवद्गीता' आनन्दचिद्घन, षडैश्वर्यपूर्ण, चराचरवन्दित, परमपुरुषोत्तम साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य वाणी है। यह अनन्त रहस्योंसे पूर्ण है। परम दयामय भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे ही किसी अंशमें इसका रहस्य समझमें आ सकता है। जो पुरुष परम श्रद्धा और प्रेममयी विशुद्ध भक्तिसे अपने हृदयको भरकर भगवद्गीताका मनन करते हैं, वे ही भगवत्कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव करके गीताके स्वरूपकी किसी अंशमें झाँकी कर सकते हैं। अतएव अपना कल्याण चाहनेवाले नर-नारियोंको उचित है कि वे भक्तवर अर्जुनको आदर्श मानकर अपनेमें अर्जुनके-से दैवी गुणोंका अर्जन करते हुए श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गीताका श्रवण, मनन, अध्ययन करें एवं भगवान्‌के आज्ञानुसार यथायोग्य तत्परताके साथ साधनमें लग जायँ। जो पुरुष इस प्रकार करते हैं, उनके अन्तःकरणमें नित्य नये-नये परमानन्ददायक अनुपम और दिव्य भावोंकी स्फुरणाएँ होती रहती हैं तथा वे सर्वथा शुद्धान्तःकरण होकर भगवान्‌की अलौकिक कृपासुधाका रसास्वादन करते हुए शीघ्र ही भगवान्‌को प्राप्त हो जाते हैं।

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्

आरती

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते।
हरि-हिय-कमल विहारिणि, सुन्दर सुपुनीते॥ जय०॥
कर्म-सुमर्म-प्रकाशिनि, कामासक्तिहरा।
तत्त्वज्ञान-विकाशिनि, विद्या ब्रह्म परा॥ जय०॥
निश्चल-भक्ति-विधायिनि, निर्मल मलहारी।
शरण-रहस्य-प्रदायिनि, सब विधि सुखकारी॥ जय०॥
राग-द्वेष-विदारिणि, कारिणि मोद सदा।
भव-भय-हारिणि, तारिणि परमानन्दप्रदा॥ जय०॥
आसुर-भाव-विनाशिनि, नाशिनि तम-रजनी।
दैवी सद्गुणदायिनि, हरि-रसिका सजनी॥ जय०॥
समता-त्याग सिखावनि, हरि-मुखकी बानी।
सकल शास्त्रकी स्वामिनि, श्रुतियोंकी रानी॥ जय०॥
दया-सुधा बरसावनि मातु! कृपा कीजै।
हरिपद-प्रेम दान कर अपनो कर लीजै॥ जय०॥

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

त्यागसे भगवत्प्राप्ति

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥

गृहस्थाश्रममें रहता हुआ भी मनुष्य त्यागके द्वारा परमात्माको प्राप्त कर सकता है। परमात्माको प्राप्त करनेके लिये 'त्याग' ही मुख्य साधन है। अतएव सात श्रेणियोंमें विभक्त करके त्यागके लक्षण संक्षेपमें लिखे जाते हैं—

(१) निषिद्ध कर्मोंका सर्वथा त्याग—

चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, जबरदस्ती, हिंसा, अभक्ष्यभोजन और प्रमाद आदि शास्त्रविरुद्ध नीच कर्मोंको मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी न करना, यह पहली श्रेणीका त्याग है।

(२) काम्य कर्मोंका त्याग—

स्त्री, पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे एवं रोग-संकटादिकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप और उपासनादि सकाम कर्मोंको अपने स्वार्थके लिये न करना*, यह दूसरी श्रेणीका त्याग है।

(३) तृष्णाका सर्वथा त्याग—

मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा एवं स्त्री, पुत्र और धनादि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए हों, उनके बढ़नेकी इच्छाको भगवत्प्राप्तिमें

---

* यदि कोई लौकिक अथवा शास्त्रीय ऐसा कर्म संयोगवश प्राप्त हो जाय जो कि स्वरूपसे तो सकाम हो, परंतु उसके न करनेसे किसीको कष्ट पहुँचता हो या कर्मोपासनाकी परम्परामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो स्वार्थका त्याग करके केवल लोक-संग्रहके लिये उसका कर लेना सकाम कर्म नहीं है।

बाधक समझकर उसका त्याग करना, यह तीसरी श्रेणीका त्याग है।

(४) स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेका त्याग—

अपने सुखके लिये किसीसे भी धनादि पदार्थोंकी अथवा सेवा करानेकी याचना करना एवं बिना याचनाके दिये हुए पदार्थोंको या की हुई सेवाको स्वीकार करना तथा किसी प्रकार भी किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी मनमें इच्छा रखना इत्यादि जो स्वार्थके लिये दूसरोंसे सेवा करानेके भाव हैं, उन सबका त्याग करना*, यह चौथी श्रेणीका त्याग है।

(५) सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंमें आलस्य और फलकी इच्छाका सर्वथा त्याग—

ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार आजीविकाद्वारा गृहस्थका निर्वाह एवं शरीरसम्बन्धी खान-पान इत्यादि जितने कर्तव्यकर्म हैं, उन सबमें आलस्यका और सब प्रकारकी कामनाका त्याग करना—

(क) ईश्वर-भक्तिमें आलस्यका त्याग—

अपने जीवनका परमकर्तव्य मानकर परमदयालु, सबके सुहृद्, परमप्रेमी, अन्तर्यामी परमेश्वरके गुण, प्रभाव और प्रेमकी रहस्यमयी कथाका श्रवण, मनन और पठन-पाठन करना तथा आलस्यरहित होकर उनके परम पुनीत नामका उत्साहपूर्वक ध्यानसहित निरन्तर जप करना।

(ख) ईश्वर-भक्तिमें कामनाका त्याग—

इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंको क्षणभङ्गुर, नाशवान् और

---

* यदि कोई ऐसा अवसर योग्यतासे प्राप्त हो जाय कि शरीरसम्बन्धी सेवा अथवा भोजनादि पदार्थोंके स्वीकार न करनेसे किसीको कष्ट पहुँचता हो या लोकशिक्षामें किसी प्रकारकी बाधा आती हो तो उस अवसरपर स्वार्थका त्याग करके केवल उनकी प्रीतिके लिये सेवादिका स्वीकार करना दोषयुक्त नहीं है; क्योंकि स्त्री, पुत्र और नौकर आदिसे की हुई सेवा एवं बन्धु-बान्धव और मित्र आदिद्वारा दिये हुए भोजनादि पदार्थ स्वीकार न करनेसे उनको कष्ट होना एवं लोक-मर्यादामें बाधा पड़ना सम्भव है।

भगवान्‌की भक्तिमें बाधक समझकर किसी भी वस्तुकी प्राप्तिके लिये न तो भगवान्‌से प्रार्थना करना और न मनमें इच्छा ही रखना तथा किसी प्रकारका संकट आ जानेपर भी उसके निवारणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना न करना अर्थात् हृदयमें ऐसा भाव रखना कि प्राण भले ही चले जायँ, परंतु इस मिथ्या जीवनके लिये विशुद्ध भक्तिमें कलंक लगाना उचित नहीं है। जैसे भक्त प्रह्लादने पिताद्वारा बहुत सताये जानेपर भी अपने कष्टनिवारणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना नहीं की। अपना अनिष्ट करनेवालोंको भी 'भगवान् तुम्हारा बुरा करें' इत्यादि किसी प्रकारके कठोर शब्दोंसे शाप न देना और उनका अनिष्ट होनेकी मनमें इच्छा भी न रखना। भगवान्‌की भक्तिके अभिमानमें आकर किसीको वरदानादि भी न देना, जैसे कि 'भगवान् तुम्हें आरोग्य करें', 'भगवान् तुम्हारा दुःख दूर करें', 'भगवान् तुम्हारी आयु बढ़ावें' इत्यादि।

पत्र-व्यवहारमें भी सकाम शब्दोंका न लिखना अर्थात् जैसे 'अठे उठे श्रीठाकुरजी सहाय छै', 'ठाकुरजी बिक्री चलासी', 'ठाकुरजी वर्षा करसी', 'ठाकुरजी आराम करसी' इत्यादि सांसारिक वस्तुओंके लिये ठाकुरजीसे प्रार्थना करनेके रूपमें सकाम शब्द मारवाड़ीसमाजमें प्रायः लिखे जाते हैं, वैसे न लिखकर 'श्रीपरमात्मदेव आनन्दरूपसे सर्वत्र विराजमान हैं', 'श्रीपरमेश्वरका भजन सार है' इत्यादि निष्काम मांगलिक शब्द लिखना तथा इसके सिवाय अन्य किसी प्रकारसे भी लिखने-बोलने आदिमें सकाम शब्दोंका प्रयोग न करना।

(ग) देवताओंके पूजनमें आलस्य और कामनाका त्याग—

शास्त्र-मर्यादासे अथवा लोक-मर्यादासे पूजनेके योग्य देवताओंको पूजनेका नियत समय आनेपर उनका पूजन करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा है एवं भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना परम कर्तव्य है, ऐसा समझकर उत्साहपूर्वक विधिके सहित उनका पूजन करना एवं उनसे किसी प्रकारकी भी कामना न करना।

उनके पूजनके उद्देश्यसे रोकड़, बहीखाते आदिमें भी सकाम शब्द न लिखना अर्थात् जैसे मारवाड़ीसमाजमें नये बसनेके दिन अथवा दीपमालिकाके दिन श्रीलक्ष्मीजीका पूजन करके 'श्रीलक्ष्मीजी लाभ मोकलो देसी', 'भण्डार

भरपूर राखसी', 'ऋद्धि-सिद्धि करसी', 'श्रीकालीजीके आसरे', 'श्रीगङ्गाजीके आसरे' इत्यादि बहुत-से सकाम शब्द लिखे जाते हैं, वैसे न लिखकर 'श्रीलक्ष्मीनारायणजी सब जगह आनन्दरूपसे विराजमान हैं' तथा 'बहुत आनन्द और उत्साहके सहित श्रीलक्ष्मीजीका पूजन किया' इत्यादि निष्काम मांगलिक शब्द लिखना और नित्य रोकड़, नकल आदिके आरम्भ करनेमें भी उपर्युक्त रीतिसे ही लिखना।

(घ) माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवामें आलस्य और कामनाका त्याग—

माता, पिता, आचार्य एवं और भी जो पूजनीय वर्ण, आश्रम, अवस्था और गुणोंमें किसी प्रकार भी अपनेसे बड़े हों, उन सबकी सब प्रकारसे नित्य सेवा करना और उनको नित्य प्रणाम करना मनुष्यका परम कर्तव्य है। इस भावको हृदयमें रखते हुए आलस्यका सर्वथा त्याग करके, निष्काम-भावसे उत्साहपूर्वक भगवदाज्ञानुसार उनकी सेवा करनेमें तत्पर रहना।

(ङ) यज्ञ, दान और तप आदि शुभ कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग—

पञ्चमहायज्ञादि* नित्यकर्म एवं अन्यान्य नैमित्तिक कर्मरूप यज्ञादिका करना तथा अन्न, वस्त्र, विद्या, औषध और धनादि पदार्थोंके दानद्वारा सम्पूर्ण जीवोंको यथायोग्य सुख पहुँचानेके लिये मन, वाणी और शरीरसे अपनी शक्तिके अनुसार चेष्टा करना तथा अपने धर्मका पालन करनेके लिये हर प्रकारसे कष्ट सहन करना इत्यादि शास्त्रविहित कर्मोंमें इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंकी कामनाका सर्वथा त्याग करके एवं अपना परम कर्तव्य मानकर श्रद्धासहित उत्साहपूर्वक भगवदाज्ञानुसार केवल भगवदर्थ ही उनका आचरण करना।

(च) आजीविकाद्वारा गृहस्थ-निर्वाहके उपयुक्त कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग—

आजीविकाके कर्म जैसे वैश्यके लिये कृषि, गौरक्ष्य और वाणिज्य

* पञ्चमहायज्ञ ये हैं—देवयज्ञ (अग्निहोत्रादि), ऋषियज्ञ (वेदपाठ, संध्या, गायत्री-जपादि), पितृयज्ञ (तर्पण-श्राद्धादि), मनुष्ययज्ञ (अतिथिसेवा) और भूतयज्ञ (बलिवैश्वदेव)।

आदि कहे हैं, वैसे ही जो अपने-अपने वर्ण, आश्रमके अनुसार शास्त्रोंमें विधान किये गये हों, उन सबके पालनद्वारा संसारका हित करते हुए ही गृहस्थका निर्वाह करनेके लिये भगवान्‌की आज्ञा है। इसलिये अपना कर्तव्य मानकर लाभ-हानिको समान समझते हुए सब प्रकारकी कामनाओंका त्याग करके उत्साहपूर्वक उपर्युक्त कर्मोंका करना*।

(छ) शरीरसम्बन्धी कर्मोंमें आलस्य और कामनाका त्याग—

शरीर-निर्वाहके लिये शास्त्रोक्त रीतिसे भोजन, वस्त्र और औषधादिके सेवनरूप जो शरीरसम्बन्धी कर्म हैं, उनमें सब प्रकारके भोगविलासोंकी कामनाका त्याग करके एवं सुख-दुःख, लाभ-हानि और जीवन-मरण आदिको समान समझकर केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही योग्यताके अनुसार उनका आचरण करना।

पूर्वोक्त चार श्रेणियोंके त्यागसहित इस पाँचवीं श्रेणीके त्यागानुसार सम्पूर्ण दोषोंका और सब प्रकारकी कामनाओंका नाश होकर केवल एक भगवत्प्राप्तिकी ही तीव्र इच्छाका होना ज्ञानकी पहली भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण समझने चाहिये।

(६) संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिका सर्वथा त्याग—

धन, भवन और वस्त्रादि सम्पूर्ण वस्तुएँ तथा स्त्री, पुत्र और मित्रादि सम्पूर्ण बान्धवजन एवं मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा इत्यादि इस लोकके और परलोकके जितने विषयभोगरूप पदार्थ हैं, उन सबको क्षणभङ्गुर और नाशवान् होनेके कारण अनित्य समझकर उनमें ममता और आसक्तिका न रहना तथा केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही अनन्यभावसे विशुद्ध प्रेम होनेके कारण मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें

---

* उपर्युक्त भावसे करनेवाले पुरुषके कर्म लोभसे रहित होनेके कारण उनमें किसी प्रकारका भी दोष नहीं आ सकता; क्योंकि आजीविकाके कर्मोंमें लोभ ही विशेषरूपसे पाप करानेका हेतु है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि गीता अध्याय १८ श्लोक ४४ की टिप्पणीमें जैसे वैश्यके प्रति वाणिज्यके दोषोंका त्याग करनेके लिये विस्तारपूर्वक लिखा है, उसी प्रकार अपने-अपने वर्ण-आश्रमके अनुसार सम्पूर्ण कर्मोंमें सब प्रकारके दोषोंका त्याग करके केवल भगवान्‌की आज्ञा समझकर भगवान्‌के लिये निष्कामभावसे ही सम्पूर्ण कर्मोंका आचरण करे।

और शरीरमें भी ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाना, यह छठी श्रेणीका त्याग है*।

उक्त छठी श्रेणीके त्यागको प्राप्त हुए पुरुषोंका संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें वैराग्य होकर केवल एक परम प्रेममय भगवान्‌में ही अनन्य प्रेम हो जाता है। इसलिये उनको भगवान्‌के गुण, प्रभाव और रहस्यसे भरी हुई विशुद्ध प्रेमके विषयकी कथाओंका सुनना-सुनाना और मनन करना तथा एकान्त देशमें रहकर निरन्तर भगवान्‌का भजन, ध्यान और शास्त्रोंके मर्मका विचार करना ही प्रिय लगता है। विषयासक्त मनुष्योंमें रहकर हास्य, विलास, प्रमाद, निन्दा, विषयभोग और व्यर्थ वार्तादिमें अपने अमूल्य समयका एक क्षण भी बिताना अच्छा नहीं लगता एवं उनके द्वारा सम्पूर्ण कर्तव्यकर्म भगवान्‌के स्वरूप और नामका मनन रहते हुए ही बिना आसक्तिके केवल भगवदर्थ होते हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिका त्याग होकर केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही विशुद्ध प्रेमका होना ज्ञानकी दूसरी भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण समझने चाहिये।

(७) संसार, शरीर और सम्पूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासना और अहंभावका सर्वथा त्याग—

संसारके सम्पूर्ण पदार्थ मायाके कार्य होनेसे सर्वथा अनित्य हैं और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण है; ऐसा दृढ़ निश्चय होकर शरीरसहित संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और सम्पूर्ण कर्मोंमें सूक्ष्म वासनाका सर्वथा अभाव हो जाना अर्थात् अन्तःकरणमें उनके चित्रोंका संस्काररूपसे भी न रहना एवं शरीरमें अहंभावका सर्वथा अभाव होकर मन,

* सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छाका त्याग तो तीसरी और पाँचवीं श्रेणीके त्यागमें कहा गया, परंतु उपर्युक्त त्यागके होनेपर भी उनमें ममता और आसक्ति शेष रह जाती है; जैसे भजन, ध्यान और सत्संगके अभ्याससे भरतमुनिका सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छाका त्याग होनेपर भी हरिणमें और हरिणके पालनरूप कर्ममें ममता और आसक्ति बनी रही। इसलिये संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें ममता और आसक्तिके त्यागको 'छठी श्रेणीका त्याग' कहा है।

वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका लेशमात्र भी न रहना, यह सातवीं श्रेणीका त्याग है[१]।

इस सातवीं श्रेणीके त्यागरूप परवैराग्यको[२] प्राप्त हुए पुरुषोंके अन्त:करणकी वृत्तियाँ सम्पूर्ण संसारसे अत्यन्त उपराम हो जाती हैं। यदि किसी कालमें कोई सांसारिक फुरना हो भी जाती है तो भी उसके संस्कार नहीं जमते; क्योंकि उनकी एक सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्मामें ही अनन्यभावसे गाढ़ स्थिति निरन्तर बनी रहती है।

इसलिये उनके अन्त:करणमें सम्पूर्ण अवगुणोंका अभाव होकर अहिंसा १, सत्य २, अस्तेय ३, ब्रह्मचर्य ४, अपैशुनता ५, लज्जा, अमानित्व ६, निष्कपटता, शौच ७, सन्तोष ८, तितिक्षा ९, सत्संग,

---

१. सम्पूर्ण संसारके पदार्थोंमें और कर्मोंमें तृष्णा और फलकी इच्छाका एवं ममता और आसक्तिका सर्वथा अभाव होनेपर भी उनमें सूक्ष्म वासना और कर्तृत्वाभिमान शेष रह जाता है, इसलिये सूक्ष्म वासना और अहंभावके त्यागको 'सातवीं श्रेणीका त्याग' कहा है।

२. पूर्वोक्त छठी श्रेणीके त्यागको प्राप्त हुए पुरुषकी तो विषयोंका विशेष संसर्ग होनेसे कदाचित् उनमें कुछ आसक्ति हो भी सकती है, परंतु इस सातवीं श्रेणीके त्यागी पुरुषका विषयोंके साथ संसर्ग होनेपर भी उनमें आसक्ति नहीं हो सकती; क्योंकि उसके निश्चयमें एक परमात्माके सिवाय अन्य कोई वस्तु रहती ही नहीं, इसलिये इस त्यागको 'परवैराग्य' कहा है।

१. मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार किसीको कष्ट न देना।

२. अन्त:करण और इन्द्रियोंके द्वारा जैसा निश्चय किया हो, वैसा-का-वैसा ही प्रिय शब्दोंमें कहना।

३. चोरीका सर्वथा अभाव।

४. आठ प्रकारके मैथुनोंका अभाव।

५. किसीकी भी निन्दा न करना।

६. सत्कार, मान और पूजादिका न चाहना।

७. बाहर और भीतरकी पवित्रता (सत्यतापूर्वक शुद्ध व्यवहारसे द्रव्यकी और उसके अन्नसे आहारकी एवं यथायोग्य बर्तावसे आचरणोंकी और जल-मृत्तिकादिसे शरीरकी शुद्धिको तो बाहरकी शुद्धि कहते हैं और राग-द्वेष तथा कपटादि विकारोंका नाश होकर अन्त:करणका स्वच्छ और शुद्ध हो जाना भीतरकी शुद्धि कहलाती है)।

८. तृष्णाका सर्वथा अभाव।

९. शीत-उष्ण, सुख-दु:ख आदि द्वन्द्वोंका सहन करना।

सेवा, यज्ञ, दान, तप १०, स्वाध्याय ११, शम १२, दम १३, विनय, आर्जव १४, दया १५, श्रद्धा १६, विवेक १७, वैराग्य १८, एकान्तवास, अपरिग्रह १९, समाधान २०, उपरामता, तेज २१, क्षमा २२, धैर्य २३, अद्रोह २४, अभय २५, निरहंकारता, शान्ति २६ और ईश्वरमें अनन्य भक्ति इत्यादि सद्गुणोंका आविर्भाव स्वभावसे ही हो जाता है। इस प्रकार शरीरसहित सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें वासना और अहंभावका अत्यन्त अभाव होकर एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें ही एकीभावसे नित्य-निरन्तर दृढ़ स्थिति रहना ज्ञानकी तीसरी भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं।

उपर्युक्त गुणोंमेंसे कितने ही तो पहली और दूसरी भूमिकामें ही प्राप्त हो जाते हैं, परंतु सम्पूर्ण गुणोंका आविर्भाव तो प्रायः तीसरी भूमिकामें ही होता

---

१०. स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहना।

११. वेद और सत्-शास्त्रोंका अध्ययन एवं भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन।

१२. मनका वशमें होना।

१३. इन्द्रियोंका वशमें होना।

१४. शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता।

१५. दुःखियोंमें करुणा।

१६. वेद, शास्त्र, महात्मा, गुरु और परमेश्वरके वचनोंमें प्रत्यक्षके सदृश विश्वास।

१७. सत् और असत् पदार्थका यथार्थ ज्ञान।

१८. ब्रह्मलोकतकके सम्पूर्ण पदार्थोंमें आसक्तिका अत्यन्त अभाव।

१९. ममत्वबुद्धिसे संग्रहका अभाव।

२०. अन्तःकरणमें संशय और विक्षेपका अभाव।

२१. श्रेष्ठ पुरुषोंकी उस शक्तिका नाम तेज है कि जिसके प्रभावसे विषयासक्त और नीच प्रकृतिवाले मनुष्य भी प्रायः पापाचरणसे रुककर उनके कथनानुसार श्रेष्ठ कर्मोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं।

२२. अपना अपराध करनेवालेको किसी प्रकार भी दण्ड देनेका भाव न रखना।

२३. भारी विपत्ति आनेपर भी अपनी स्थितिसे चलायमान न होना।

२४. अपने साथ द्वेष रखनेवालोंमें भी द्वेषका न होना।

२५. सर्वथा भयका अभाव।

२६. इच्छा और वासनाओंका अत्यन्त अभाव होना और अन्तःकरणमें नित्य-निरन्तर प्रसन्नताका रहना।

है; क्योंकि यह सब भगवत्प्राप्तिके अति समीप पहुँचे हुए पुरुषोंके लक्षण एवं भगवत्स्वरूपके साक्षात् ज्ञानमें हेतु है; इसीलिये श्रीकृष्णभगवान्‌ने प्रायः इन्हीं गुणोंको श्रीगीताजीके १३ वें अध्यायमें श्लोक ७ से ११ तक ज्ञानके नामसे तथा १६वें अध्यायमें श्लोक १ से ३ तक दैवीसम्पदाके नामसे कहा है।

तथा उक्त गुणोंको शास्त्रकारोंने सामान्य धर्म माना है, इसलिये मनुष्यमात्रका ही इनमें अधिकार है, अतएव उपर्युक्त सद्‌गुणोंका अपने अन्तःकरणमें आविर्भाव करनेके लिये सभीको भगवान्‌के शरण होकर विशेषरूपसे प्रयत्न करना चाहिये।

उपसंहार

इस लेखमें सात श्रेणियोंके त्यागद्वारा भगवत्प्राप्तिका होना कहा गया है। उनमें पहली ५ श्रेणियोंके त्यागतक तो ज्ञानकी प्रथम भूमिकाके लक्षण और छठी श्रेणीके त्यागतक दूसरी भूमिकाके लक्षण तथा सातवीं श्रेणीके त्यागतक तीसरी भूमिकाके लक्षण बताये गये हैं। उक्त तीसरी भूमिकामें परिपक्व अवस्थाको प्राप्त हुआ पुरुष तत्काल ही सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है। फिर उसका इस क्षणभंगुर, नाशवान्, अनित्य संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, अर्थात् जैसे स्वप्नसे जगे हुए पुरुषका स्वप्नके संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, वैसे ही अज्ञाननिद्रासे जगे हुए पुरुषका भी मायाके कार्यरूप अनित्य संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। यद्यपि लोकदृष्टिमें उस ज्ञानी पुरुषके शरीरद्वारा प्रारब्धसे सम्पूर्ण कर्म होते हुए दिखायी देते हैं एवं उन कर्मोंद्वारा संसारमें बहुत ही लाभ पहुँचता है; क्योंकि कामना, आसक्ति और कर्तृत्वाभिमानसे रहित होनेके कारण उस महात्माके मन, वाणी और शरीरद्वारा किये हुए आचरण लोकमें प्रमाणस्वरूप समझे जाते हैं और ऐसे पुरुषोंके भावसे ही शास्त्र बनते हैं; परंतु यह सब होते हुए भी वह सच्चिदानन्दघन वासुदेवको प्राप्त हुआ पुरुष तो इस त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत ही है। इसलिये वह न तो गुणोंके कार्यरूप प्रकाश, प्रवृत्ति और निद्रा आदिके प्राप्त होनेपर उनसे द्वेष करता है और न

निवृत्त होनेपर उनकी आकांक्षा ही करता है; क्योंकि सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान और निन्दा-स्तुति आदिमें एवं मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण आदिमें सर्वत्र उसका समभाव हो जाता है, इसलिये उस महात्माको न तो किसी प्रिय वस्तुकी प्राप्ति और अप्रियकी निवृत्तिमें हर्ष होता है, न किसी अप्रियकी प्राप्ति और प्रियके वियोगमें शोक ही होता है। यदि उस धीर पुरुषका शरीर किसी कारणसे शस्त्रोंद्वारा काटा भी जाय या उसको कोई अन्य प्रकारका भारी दुःख आकर प्राप्त हो जाय तो भी वह सच्चिदानन्दघन वासुदेवमें अनन्यभावसे स्थित हुआ पुरुष उस स्थितिसे चलायमान नहीं होता; क्योंकि उसके अन्तःकरणमें सम्पूर्ण संसार मृगतृष्णाके जलकी भाँति प्रतीत होता है और एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीका भी होनापना नहीं भासता। विशेष क्या कहा जाय, वास्तवमें उस सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषका भाव वह स्वयं ही जानता है। मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा प्रकट करनेके लिये किसीका भी सामर्थ्य नहीं है। अतएव जितना शीघ्र हो सके, अज्ञाननिद्रासे चेतकर उक्त सात श्रेणियोंमें कहे हुए त्यागद्वारा परमात्माको प्राप्त करनेके लिये सत्पुरुषोंकी शरण ग्रहण करके उनके कथनानुसार साधन करनेमें तत्पर होना चाहिये; क्योंकि यह अति दुर्लभ मनुष्यका शरीर बहुत जन्मोंके अन्तमें परम दयालु भगवान्‌की कृपासे ही मिलता है। इसलिये नाशवान् क्षणभंगुर संसारके अनित्य भोगोंको भोगनेमें अपने जीवनका अमूल्य समय नष्ट नहीं करना चाहिये।

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्

शान्तिः शान्तिः शान्तिः

॥ श्रीहरिः ॥

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित विभिन्न गीताएँ

(१) श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्व-विवेचनी—(टीकाकार—श्रीजयदयालजी गोयन्दका) गीता-विषयक २५१५ प्रश्न और उनके उत्तररूपमें विवेचनात्मक टीकाके कई संस्करण—

(क) बृहदाकार—मोटे टाइपोंमें।
(ख) ग्रन्थाकार—विशेष संस्करण।
(ग) ग्रन्थाकार—सामान्य संस्करण।
(घ) संस्कृतमें श्लोक, अंग्रेजीमें व्याख्या।
(ङ) ग्रन्थाकार—तमिल, तेलुगु, ओड़िआ, कन्नड़, गुजराती, मराठी, बंगला अनुवाद।

(२) गीता-साधक-संजीवनी—परिशिष्टसहित (टीकाकार—स्वामी श्रीरामसुखदासजी) गीताके मर्मको समझने-हेतु व्याख्यात्मक शैली एवं सरल, सुबोध भाषामें टीका—

(क) बृहदाकार—मोटे टाइपोंमें हिन्दी।
(ख) ग्रन्थाकार—विशेष संस्करण हिन्दी।
(ग) ग्रन्थाकार—मराठी अनुवाद।
(घ) ग्रन्थाकार—गुजराती अनुवाद।
(ङ) पुस्तकाकार—अंग्रेजी अनुवाद—दो खंडोंमें।
(च) ग्रन्थाकार—बँगला अनुवाद।
(छ) ग्रन्थाकार—ओड़िआ।

(३) गीता-दर्पण—(स्वामी श्रीरामसुखदासजीद्वारा) गीताके तत्त्वोंपर प्रकाश, लेख, गीता-व्याकरण और छन्द-सम्बन्धी गूढ-विवेचन, सचित्र, सजिल्द।
(ग्रन्थाकार हिन्दी, मराठी, बँगला, गुजराती तथा ओड़िआ संस्करण भी उपलब्ध है।)

(४) गीता-शांकरभाष्य—गीतापर आचार्य शंकरका भाष्य।

(५) गीता-रामानुजभाष्य—गीतापर आचार्य रामानुजका भाष्य।

(६) ज्ञानेश्वरी गीता—(क) ग्रन्थाकार—गूढार्थ-दीपिका, (मराठी)।
(ख) मूल मझला पारायणप्रति (मराठी) **(ग) मूल गुटका पारायणप्रति** (मराठी)।

(७) गीता-माधुर्य—स्वामी श्रीरामसुखदासजीद्वारा सरल प्रश्नोत्तर-शैलीमें हिन्दी, तमिल, कन्नड, मराठी, गुजराती, उर्दू, नेपाली, बँगला, असमिया, तेलुगु, ओड़िआ, संस्कृत एवं अंग्रेजी अनुवाद भी उपलब्ध है।

(८) गीता-चिन्तन—(ले०—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)।

(९) गीता-अन्वयार्थ—(पॉकेट साइज) साधक-संजीवनीके अनुसार अन्वय और हिन्दी अर्थसहित।

(१०) श्रीमद्भगवद्गीता-पदच्छेद—(मूल, अन्वय, भाषाटीकासहित) हिन्दी, गुजराती, बँगला, मराठी, कन्नड, तेलुगु, तमिल।

(११) श्रीमद्भगवद्गीता—(श्लोक, अर्थ तथा प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित) हिन्दी, मराठीमें उपलब्ध।

(१२) श्रीमद्भगवद्गीता—(सटीक) मोटे अक्षरोंमें आकर्षक बहुरंगा आवरणसहित। हिन्दी, तेलुगु ओड़िआ, कन्नड एवं तमिल।

(१३) श्रीमद्भगवद्गीता—केवल भाषा। (हिन्दी, तेलुगु, तमिल) (हिन्दीमें पॉकेट साइजमें भी)।

(१४) श्रीमद्भगवद्गीता—भाषाटीका गुटका (हिन्दी, अंग्रेजी, असमिया, ओड़िआ, तेलुगु, कन्नड, मराठी, बँगला एवं गुजराती) (हिन्दी, गुजराती एवं अंग्रेजीके सजिल्द संस्करण भी)।

(१५) श्रीपञ्चरत्नगीता—गीता, विष्णुसहस्रनाम, भीष्मस्तवराज, अनुस्मृति, गजेन्द्रमोक्ष (मोटे अक्षरोंमें, केवल मूल पाठ) ओड़िआ।

(१६) गीता मूल—मोटा टाइप (मोटे अक्षरोंमें, केवल मूल पाठ)।

(१७) गीता मूल विष्णुसहस्रनामसहित—(नित्य-स्तुतिसहित विशेष संस्करण संस्कृत, कन्नड, तमिल, तेलुगु, ओड़िआ एवं मलयालममें भी)।

(१८) गीता रोमन—संस्कृतमें श्लोक, रोमनमें मूल एवं अंग्रेजी अनुवाद।

(१९) गीता ताबीजी मूल—(क) माचिस-आकार—हिन्दी, बंगला। (ख) सम्पूर्ण गीता एक पन्नेमें। (ग) लघु आकार—हिन्दी, ओड़िआ।

(२०) गीता-ज्ञान-प्रवेशिका—गीता-शिक्षार्थियोंके लिये गीताके अध्यायों एवं श्लोकोंमें आये सभी विषयोंपर संक्षेपमें पूरा प्रकाश।

(२१) गीता-दैनन्दिनी—सम्पूर्ण गीता एवं अनेक उपयोगी सूचनाएँ और जीवनोपयोगी सूत्र।

॥ श्रीहरिः ॥

1958

गीता-संग्रह

[पचीस विभिन्न गीता-ग्रन्थोंका सानुवाद संकलन]

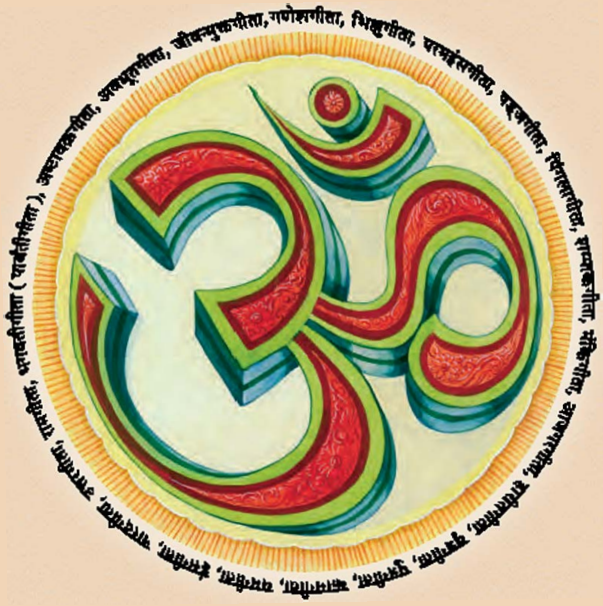

गीताप्रेस, गोरखपुर

॥ श्रीहरिः ॥

1958

गीता-संग्रह

[पच्चीस विभिन्न गीता-ग्रन्थोंका सानुवाद संकलन]

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०७४ छठा पुनर्मुद्रण ६,०००
कुल मुद्रण ३१,०००

❖ **मूल्य— ₹ ९०**
(नब्बे रुपये)

प्रकाशक एवं मुद्रक—
गीताप्रेस, गोरखपुर— २७३००५
(गोबिन्दभवन-कार्यालय, कोलकाता का संस्थान)
फोन : (०५५१) २३३४७२१, २३३१२५० ; फैक्स : (०५५१) २३३६९९७
web : **gitapress.org** e-mail : **booksales@gitapress.org**
गीताप्रेस प्रकाशन gitapressbookshop. in से online खरीदें।

निवेदन

'गीता'—इस शब्दका सनातन-धर्म और संस्कृतिमें अत्यन्त विशिष्ट महत्त्व है। कुरुक्षेत्रमें युद्धके लिये कौरवों और पाण्डवोंकी सेनाएँ भयानक अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित होकर खड़ी थीं। महाविनाशकी स्पष्ट सम्भावना तथा स्वजनोंके मोहके कारण अर्जुन अपने कर्तव्यसे विचलित होकर किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये थे। इन्हीं विषम परिस्थितियोंमें भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको जिस ज्ञानामृतका पान कराकर उत्साहित एवं स्वस्थचित्त किया, वही भगवद्गीता है। महाभारतमें समाहित सात सौ श्लोकोंवाली इस दिव्य रचनामें जो ज्ञान समाहित है, वह मनुष्यमात्रके लिये विषम-से-विषम परिस्थितियोंमें भी संजीवनीतुल्य है। इसी कारण यह जन-जनमें लोकप्रिय होकर मात्र 'गीता' के नामसे प्रख्यात हुई।

युद्धके बाद बहुत काल बीतनेपर जब अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे भगवद्गीताके रूपमें सुने गये ज्ञानको पुनः सुननेकी इच्छा व्यक्त की तो भगवान् कृष्णको अर्जुनका विचलित चित्त होकर वह दिव्यज्ञान भूलना अप्रिय लगा तब उन्होंने अर्जुनसे कहा—

स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने।
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः॥
परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया।
इतिहासं तु वक्ष्यामि तस्मिन्नर्थे पुरातनम्॥

(महाभारत आश्वमेधिकपर्व १६।१२-१३)

'वह धर्म ब्रह्मपदकी प्राप्ति करानेके लिये पर्याप्त था, वह सारा-का-सारा धर्म उसी रूपमें फिर दुहरा देना अब मेरे वशकी बात भी नहीं है। उस समय योगयुक्त होकर मैंने परमात्मतत्त्वका वर्णन किया था। अब उस विषयका ज्ञान करानेके लिये मैं एक प्राचीन इतिहासका वर्णन करता हूँ।' फिर भगवान्ने अर्जुनको जो नवीन उपदेश दिया, वह उत्तरगीताके रूपमें उपलब्ध होता है,

जिसका विद्वानोंमें बड़ा आदर रहा है। उत्तरगीतापर तो श्रीआद्यशंकराचार्यके गुरु श्रीगौड़पादाचार्यका भाष्य भी सौभाग्यसे उपलब्ध है।

शास्त्र तो अनन्त है; रुचियाँ, आवश्यकताएँ, मनःस्थितियाँ, परिस्थितियाँ इत्यादि भी भिन्न-भिन्न होती हैं। इसीलिये नाना इतिहास-पुराणादि ग्रन्थोंमें विभिन्न श्रेष्ठ जनोंद्वारा समय-समयपर दिये गये उपदेशोंके साररूपमें अन्यान्य गीताएँ प्राप्त होती हैं। कुछ प्राचीन गीताएँ स्वतन्त्र ग्रन्थके रूपमें भी उपलब्ध हैं। कुल मिलाकर इनकी संख्या शताधिक है। इनमें कई गीताएँ अत्यन्त प्रसिद्ध तथा बड़े महत्त्वकी हैं।

वस्तुतः वेदोंके तीन भाग हैं—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड। इसमें ज्ञानकाण्ड अन्तिम है इसलिये इसे 'वेदान्त' भी कहते हैं। उपनिषदोंका मुख्य विषय प्रायः यही है। उपनिषदोंमें गूढ़ भाषाशैलीमें वर्णित इसी ज्ञानतत्त्वको प्रायः विभिन्न गीताओंमें सरल, सुबोध भाषाशैलीमें अभिव्यक्त किया गया है। कहीं-कहीं उसे समझानेके लिये मनोरंजक दृष्टान्तों अथवा सहायक अनुकूल पृष्ठभूमिका भी सम्यक् उपयोग किया गया है।

'गीता' के मूलमें संस्कृतका 'गीतम्' शब्द है, परंतु 'उपनिषद्' शब्द स्त्रीलिंग होने तथा उसके अनुकरणके कारण 'गीता' शब्द बना माना जाता है। इसीलिये विभिन्न गीताओंकी पुष्पिकाओंमें भगवद्गीतोपनिषद्, भगवतीगोतोपनिषद्, शिवगोतोपनिषद् इत्यादि पाया जाता है। विभिन्न गीताओंमें भगवान्‌के भिन्न-भिन्न स्वरूपोंकी विभूतियोंका भी विशद् विवरण तथा श्रोताद्वारा विस्मित होकर की गयी उनकी स्तुतियाँ भी मिलती हैं अतएव 'गीयते स्तुयते यः स गीता'—ऐसा भी कह सकते हैं।

गीताप्रेसद्वारा सर्वमान्य श्रीमद्भगवद्गीता तो विभिन्न भाष्यों, टीकाओंके साथ विभिन्न रूपोंमें प्रारम्भसे ही सतत प्रकाशित हो रही है, परंतु अन्यान्य महत्त्वपूर्ण गीताएँ आज भी जनसामान्यके लिये दुर्लभ हैं। अधिकाधिक गीता-ग्रन्थ प्रमाणिक पाठ तथा सुबोध

हिन्दी अनुवादके साथ विज्ञ पाठकोंको एकत्र उपलब्ध हो जायँ तथा हमारी आर्ष ज्ञानराशि भी सुरक्षित तथा संरक्षित रहे इसी भावनासे विभिन्न गीताओंका सानुवाद संग्रह प्रकाशित किया जा रहा है। सुविधाजनक आकारवाले प्रस्तुत गुच्छकमें गणेशगीता, हंसगीता, नारदगीता, रामगीता, उत्तरगीता, अष्टावक्रगीता, अवधूतगीता, हारीतगीता, यमगीता, भगवतीगीता इत्यादि **कुल २५ गीताओंको सानुवाद संकलित किया गया है। आशा है आर्ष साहित्यके प्रेमी तथा आत्मकल्याणके इच्छुक सभी पाठक इसका अध्ययन करके लाभान्वित होंगे।**

—राधेश्याम खेमका

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ-संख्या
१. **गणेशगीता**	[गणेशपुराणात्]	७
२. **भिक्षुगीता**	[श्रीमद्भागवतमहापुराणात्]	८५
३. **परमहंसगीता**	[श्रीमद्भागवतमहापुराणात्]	१०२
४. **षड्जगीता**	[महाभारतात्]	१४९
५. **पिंगलागीता**	[महाभारतात्]	१६२
६. **शम्पाकगीता**	[महाभारतात्]	१७७
७. **मंकिगीता**	[महाभारतात्]	१८३
८. **आजगरगीता**	[महाभारतात्]	१९५
९. **हारीतगीता**	[महाभारतात्]	२०५
१०. **वृत्रगीता**	[महाभारतात्]	२११
११. **पुत्रगीता**	[महाभारतात्]	२४१
१२. **कामगीता**	[महाभारतात्]	२५१
१३. **यमगीता (१)**	[विष्णुमहापुराणात्]	२५७
१४. **यमगीता (२)**	[अग्निमहापुराणात्]	२६९
१५. **हंसगीता (१)**	[श्रीमद्भागवतमहापुराणात्]	२७७
१६. **हंसगीता (२)**	[महाभारतात्]	२८९
१७. **नारदगीता**	[महाभारतात्]	३०३
१८. **उत्तरगीता**	[महाभारतात्]	३३७
१९. **रामगीता (१)**	[अध्यात्मरामायणात्]	३७६
२०. **रामगीता (२)**	[अद्भुतरामायणात्]	३९८
२१. **भगवतीगीता (पार्वतीगीता)**	[देवीपुराणात्]	४२८
२२. **अष्टावक्रगीता**	[श्रीअष्टावक्रमुनिकृता]	४७२
२३. **अवधूतगीता (१)**	[भगवान् श्रीदत्तात्रेयकृता]	५३७
२४. **अवधूतगीता (२)**	[श्रीमद्भागवतमहापुराणात्]	६२०
२५. **जीवन्मुक्तगीता**	[भगवान् श्रीदत्तात्रेयकृता]	६६७

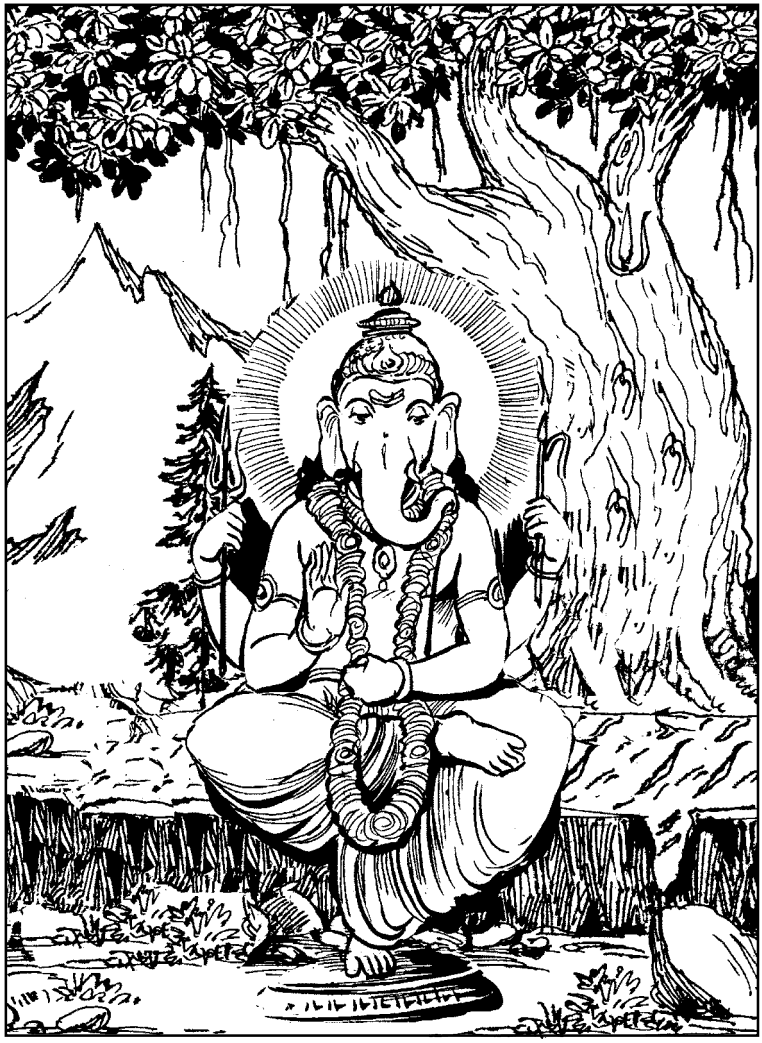

भगवान् श्रीगणेशजीद्वारा ब्रह्मविद्याका उपदेश

गणेशगीता

[गणेशगीता गणेशपुराणके क्रीडाखण्डके अन्तर्गत कुल ग्यारह अध्यायोंमें विस्तृत है। इसमें मूलरूपसे सम्पूर्ण विघ्नोंके नाशक गणेशजीद्वारा राजा वरेण्यको दिये गये ब्रह्मविद्यारूपी उपदेशोंका वर्णन है, जिसे व्यासजीद्वारा अनादि सिद्धयोग कहा गया है। इसे सुनकर राजाको मुक्तिपद प्राप्त हो गया। इसी परम ज्ञानको व्यासजीने सूतजीको सुनाया, फिर क्रमशः ऋषि शौनक तथा परमभागवत शुकदेवजीने इसे प्राप्त किया। उपदेशोंके विषय प्रायः भगवद्गीताके समान ही हैं। इस गीतामें कर्मयोग, सांख्ययोग, भक्तियोग, योगसाधना, प्राणायाम, मानसपूजा, सगुणोपासना, विभूतियोग, गणेशजीके विश्वरूपका दर्शन, त्रिविध प्रकृति तथा उसके अनुसार जीवकी गति आदि अन्यान्य महत्त्वपूर्ण विषयोंका वर्णन है, जो साधन एवं तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे बड़ा कल्याणकारी है। इस गीताके अन्तमें इसके पाठ तथा मनन करनेका माहात्म्य भी वर्णित है। गाणपत्य-सम्प्रदायके अत्यन्त सम्माननीय इस ग्रन्थपर संस्कृत तथा मराठीमें कई टीकाएँ भी मिलती हैं, जो इसकी विशिष्टताकी परिचायक हैं। इसी गणेशगीताको यहाँ सानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है—]

पहला अध्याय

सूत-शौनक-संवादमें गणेशगीताका उपक्रम

शुक उवाच

एवमेव पुरा पृष्टः शौनकेन महात्मना।
स सूतः कथयामास गीतां व्यासमुखाच्छ्रुताम्॥ १॥

शुकदेवजी बोले—पूर्वकालमें महात्मा शौनकके पूछनेपर सूतजीने व्यासजीके मुखसे श्रवण की हुई गीताका वर्णन किया था॥ १॥

सूत उवाच

अष्टादशपुराणोक्तममृतं प्राशितं त्वया।
ततोऽतिरसवत्पातुमिच्छाम्यमृतमुत्तमम् ॥ २॥

सूतजी बोले—हे भगवन्! आपने अष्टादश पुराणोंके साररूप

अमृतका मुझे पान कराया, परंतु अब उससे भी अधिक रसीले उत्तम अमृतका पान करनेकी मेरी इच्छा है॥ २॥

येनामृतमयो भूत्वा पुमान् ब्रह्मामृतं यतः।
योगामृतं महाभाग तन्मे करुणया वद॥ ३॥

जिस अमृतको पाकर मनुष्य ब्रह्मरूप हो जाते हैं, हे महाभाग! उस योगामृतका कृपाकर आप मुझसे वर्णन कीजिये॥ ३॥

व्यास उवाच

अथ गीतां प्रवक्ष्यामि योगमार्गप्रकाशिनीम्।
नियुक्ता पृच्छते सूत राज्ञे गजमुखेन या॥ ४॥

व्यासजी बोले—हे सूतजी! योगमार्गको प्रकाशित करनेवाली गीताका अब तुमसे वर्णन करता हूँ, जिसको राजा वरेण्यके पूछनेपर सम्पूर्ण विघ्नोंके नाशक गणेशजीने कहा था॥ ४॥

वरेण्य उवाच

विघ्नेश्वर महाबाहो सर्वविद्याविशारद।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञ योगं मे वक्तुमर्हसि॥ ५॥

राजा वरेण्य बोले—हे विघ्नेश्वर! हे महाभुज! हे सर्वविद्याओंके पण्डित! हे सम्पूर्ण शास्त्रके तत्त्वको जाननेवाले! आप मुझसे योगमार्गका वर्णन कीजिये॥ ५॥

श्रीगजानन उवाच

सम्यग्व्यवसिता राजन् मतिस्तेऽनुग्रहान्मम।
शृणु गीतां प्रवक्ष्यामि योगामृतमयीं नृप॥ ६॥

श्रीगजानन बोले—हे राजन्! मेरी कृपासे तुम्हारी बुद्धि निर्मल और स्थिर हो गयी है, सुनो, मैं योगामृतसे परिपूर्ण गीता तुमसे कहता हूँ॥ ६॥

न योगं योगमित्याहुर्योगो योगो न च श्रियः।
न योगो विषयैर्योगो न च मात्रादिभिस्तथा॥ ७॥

'योग' इस शब्दका ही अर्थ योग नहीं, लक्ष्मीकी प्राप्ति होनेका

नाम योग नहीं, विषय-सुखकी प्राप्ति होनेका नाम योग नहीं और इन्द्रियसम्पन्न होनेका नाम भी योग नहीं है॥ ७॥

योगो यः पितृमात्रादेर्न स योगो नराधिप।
यो योगो बन्धुपुत्रादेर्यश्चाष्टभूतिभिः सह॥ ८॥

हे राजन्! माता-पिताके समागमका नाम योग नहीं है। आठ प्रकारकी सिद्धि और बन्धुपुत्रादिकी प्राप्तिका नाम भी योग नहीं है॥ ८॥

न स योगः स्त्रिया योगो जगदद्भुतरूपया।
राज्ययोगश्च नो योगो न योगो गजवाजिभिः॥ ९॥

अत्यन्त रूपवती स्त्रीकी प्राप्तिका नाम योग नहीं है, राज्यकी प्राप्ति तथा हाथी-घोड़ेकी प्राप्तिका नाम भी योग नहीं है॥ ९॥

योगो नेन्द्रपदस्यापि योगो योगार्थिनः प्रियः।
योगो यः सत्यलोकस्य न स योगो मतो मम॥ १०॥

इन्द्रपदकी प्राप्तिका नाम योग नहीं है, योगद्वारा प्रिय सिद्धिकी इच्छा अथवा सत्यलोककी प्राप्तिको भी मैं योग नहीं मानता॥ १०॥

शैवस्य योगो नो योगो वैष्णवस्य पदस्य यः।
न योगो भूप सूर्यत्वं चन्द्रत्वं न कुबेरता॥ ११॥

हे राजन्! शिवपदकी प्राप्ति होना, वैष्णवपदकी प्राप्ति होना, सूर्य-चन्द्र और कुबेरके पदकी प्राप्ति होनेका भी नाम योग नहीं है॥ ११॥

नानिलत्वं नानलत्वं नामरत्वं न कालता।
न वारुण्यं न नैर्ऋत्यं योगो न सार्वभौमता॥ १२॥

वायुस्वरूप, अग्निस्वरूप, देवस्वरूप, कालस्वरूप, वरुणस्वरूप, निर्ऋतिस्वरूप अथवा सम्पूर्ण पृथ्वीके आधिपत्य पानेका नाम भी योग नहीं है॥ १२॥

योगं नानाविधं भूप युञ्जन्ति ज्ञानिनस्ततम्।
भवन्ति वितृषा लोके जिताहारा विरेतसः॥ १३॥

हे राजन्! योग अनेक प्रकारका है, परंतु [यथार्थ योग वही है] जिसको पाकर ज्ञानीलोग विषयोंको जीतकर ब्रह्मचर्यपूर्वक संसारसे विरक्त हो जाते हैं॥ १३॥

पावयन्त्यखिलांल्लोकान् वशीकृतजगत्त्रयः।
करुणापूर्णहृदया बोधयन्त्यपि कांश्चन॥ १४॥

ज्ञानीलोग तीनों लोकोंको वशमें करके सम्पूर्ण जगत्को पवित्र करते हैं, उनका हृदय दयासे पूर्ण होता है और वे सत्पात्रोंको ज्ञान भी प्रदान करते हैं॥ १४॥

जीवन्मुक्ता हृदे मग्नाः परमानन्दरूपिणी।
निमील्याक्षीणि पश्यन्तः परं ब्रह्म हृदि स्थितम्॥ १५॥

वे जीवन्मुक्त होकर परमानन्दरूपी सरोवरमें मग्न रहते हैं और नेत्र मूँदकर अपने हृदयमें स्थित परब्रह्मका दर्शन करते रहते हैं॥ १५॥

ध्यायन्तः परमं ब्रह्म चित्ते योगवशीकृते।
भूतानि स्वात्मना तुल्यं सर्वाणि गणयन्ति ते॥ १६॥

योगसे वशीभूत किये अपने चित्तमें परब्रह्मका ध्यान करते हुए वे सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने समान समझते हैं॥ १६॥

येन केनचिदाच्छिन्ना येन केनचिदाहताः।
येन केनचिदाकृष्टा येन केनचिदाश्रिताः॥ १७॥
करुणापूर्णहृदया भ्रमन्ति धरणीतले।
अनुग्रहाय लोकानां जितक्रोधा जितेन्द्रियाः॥ १८॥

कहीं किसी प्रकारसे स्वयंको छिपाये हुए, कहीं किसीसे प्रताडित, कहीं किसीसे बुलाये गये और कहीं किसीसे आश्रित होकर दयापूर्ण हृदयसे क्रोधको जीते हुए जितेन्द्रिय वे योगी लोकोंपर अनुग्रह करनेके

लिये ही पृथ्वीपर विचरते हैं॥ १७-१८॥

देहमात्रभृतो भूप समलोष्टाश्मकाञ्चनाः।
एतादृशा महाभाग्याः स्युश्चक्षुर्गोचराः प्रिय॥ १९॥
तमिदानीमहं वक्ष्ये शृणु योगमनुत्तमम्।
श्रुत्वा यं मुच्यते जन्तुः पापेभ्यो भवसागरात्॥ २०॥

प्रिय राजन्! वे केवल देहमात्रको ही धारण करनेवाले, मिट्टी-पत्थर तथा स्वर्णमें समान दृष्टि रखनेवाले—इस प्रकारके महाभाग पुरुष जिस योगके द्वारा दृष्टिगोचर हो जाते हैं, उस श्रेष्ठ योगको मैं तुमसे अब कहता हूँ; सुनो, जिसके श्रवण करनेसे प्राणी पापोंसे और भवसागरसे मुक्त हो जाता है॥ १९-२०॥

शिवे विष्णौ च शक्तौ च सूर्ये मयि नराधिप।
याभेदबुद्धिर्योगः स सम्यग्योगो मतो मम॥ २१॥

हे राजन्! शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य और मुझमें जो अभेदबुद्धिरूप योग है, उसीको मैं यथार्थ योग मानता हूँ॥ २१॥

अहमेव जगद्यस्मात्सृजामि पालयामि च।
कृत्वा नानाविधं वेषं संहरामि स्वलीलया॥ २२॥

मैं ही अपनी लीलासे अनेक वेष धारण करता हुआ इस जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहार करता हूँ॥ २२॥

अहमेव महाविष्णुरहमेव सदाशिवः।
अहमेव महाशक्तिरहमेवार्यमा प्रिय॥ २३॥

हे प्रिय! मैं ही महाविष्णु, मैं ही सदाशिव, मैं ही महाशक्ति और मैं ही सूर्य हूँ॥ २३॥

अहमेको नृणां नाथो जातः पञ्चविधः पुरा।
अज्ञानान्मां न जानन्ति जगत्कारणकारणम्॥ २४॥

एकमात्र मैं ही मनुष्योंका स्वामी हूँ, [विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य

तथा गणेश—] इन पाँच प्रकारसे मैं पूर्वकालमें उत्पन्न हुआ हूँ, मैं जगत्के कारणका भी कारण हूँ, मुझको अज्ञानीलोग नहीं जानते॥ २४॥

मत्तोऽग्निरापो धरणी मत्त आकाशमारुतौ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च लोकपाला दिशो दश॥ २५॥
वसवो मुनयो गावो मनवः पशवोऽपि च।
सरितः सागरा यक्षा वृक्षाः पक्षिगणा अपि॥ २६॥
तथैकविंशतिः स्वर्गा नागाः सप्त वनानि च।
मनुष्याः पर्वताः साध्याः सिद्धा रक्षोगणास्तथा॥ २७॥

अग्नि, जल, पृथ्वी, आकाश, वायु, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, लोकपाल और दसों दिशाएँ, आठ वसु, मुनि, गौ, मनु, पशु, नदी, समुद्र, यक्ष, वृक्ष, पक्षियोंके समूह, इक्कीस स्वर्ग, नाग, सात वन, मनुष्य, पर्वत, साध्य, सिद्ध, राक्षस इत्यादि सब मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं॥ २५—२७॥

अहं साक्षी जगच्चक्षुरलिप्तः सर्वकर्मभिः।
अविकारोऽप्रमेयोऽहमव्यक्तो विश्वगोऽव्ययः॥ २८॥

मैं ही सबका साक्षी, सम्पूर्ण जगत्का नेत्र, सभी कर्मोंसे अलिप्त, निर्विकार, अप्रमेय, अव्यक्त, सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त और अविनाशी हूँ॥ २८॥

अहमेव परं ब्रह्माव्ययानन्दात्मकं नृप।
मोहयत्यखिलान् माया श्रेष्ठान् मम नरानमून्॥ २९॥

हे राजन्! मैं ही अव्यय आनन्दस्वरूप परब्रह्म हूँ, मेरी माया सम्पूर्ण जगत्को तथा श्रेष्ठ पुरुषोंको भी मोहित करती है॥ २९॥

सर्वदा षड्विकारेषु तानियं योजयेद् भृशम्।
हित्वाजापटलं जग्मुरनेकैर्जन्मभिः शनैः॥ ३०॥
विरज्य विन्दति ब्रह्म विषयेषु सुबोधतः।
अच्छेद्यं शस्त्रसङ्घातैरदाह्यमनलेन च॥ ३१॥

अक्लेद्यं भूप भुवनैरशोष्यं मारुतेन च।
अवध्यं वध्यमानेऽपि शरीरेऽस्मिन्नराधिप॥ ३२॥

वह माया सदा काम-क्रोधादि छः विकारोंमें इन प्राणियोंको लगा देती है। (योग)-से जब शनैः-शनैः अनेक जन्मके मायाके कपाट दूर हो जाते हैं, तब यह प्राणी विषयोंसे जागकर और उनसे विरक्त होकर [इस] ब्रह्मको जानता है, जो ब्रह्म शस्त्रसमूहोंसे कट नहीं सकता और अग्निसे दग्ध नहीं हो सकता, जलसे गल नहीं सकता, पवनसे सूख नहीं सकता और हे राजन्! जो इस शरीरके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता॥ ३०—३२॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रशंसन्ति श्रुतीरिताम्।
त्रयीवादरता मूढास्ततोऽन्यन्मन्वतेऽपि न॥ ३३॥

वेदत्रयीमें श्रद्धा रखनेवाले तथा केवल कर्म करनेवाले मूढ लोग श्रुतिमें कही हुई फलप्रतिपादक वाणीकी ही प्रशंसा करते हैं, दूसरी बातको स्वीकार नहीं करते॥ ३३॥

कुर्वन्ति सततं कर्म जन्ममृत्युफलप्रदम्।
स्वर्गैश्वर्यरता ध्वस्तचेतना भोगबुद्धयः॥ ३४॥

इसी कारण वे जन्म और मृत्युके फलको देनेवाले कर्मोंको सदा करते रहते हैं, वे स्वर्गके ऐश्वर्योंके भोगमें ही लगे रहते हैं, उन भोगबुद्धिवालोंकी चेतना नष्ट हो जाती है॥ ३४॥

सम्पादयन्ति ते भूप स्वात्मना निजबन्धनम्।
संसारचक्रं युञ्जन्ति जडाः कर्मपरा नराः॥ ३५॥

हे राजन्! वे स्वयं ही अपने निमित्त बन्धन बनाते हैं, मूढ़ और कर्मपरायण मनुष्य संसारचक्रमें पड़े रहते हैं॥ ३५॥

यस्य यद्विहितं कर्म तत्कर्तव्यं मदर्पणम्।
ततोऽस्य कर्मबीजानामुच्छिन्नाः स्युर्महाङ्कुराः॥ ३६॥

जिसके लिये जो कर्मविधान है, वह कर्म मुझे अर्पण कर देना

चाहिये, तभी इन प्राणियोंके कर्मरूप बीजोंके महान् अंकुर नष्ट हो सकते हैं॥ ३६॥

चित्तशुद्धिश्च महती विज्ञानसाधिका भवेत्।
विज्ञानेन हि विज्ञातं परं ब्रह्म मुनीश्वरैः॥ ३७॥

चित्तकी शुद्धि ही विज्ञानकी प्राप्तिमें प्रधान साधन होती है, विज्ञानके द्वारा ही ऋषियोंने परब्रह्मको जाना है॥ ३७॥

तस्मात्कर्माणि कुर्वीत बुद्धियुक्तो नराधिप।
न त्वकर्मा भवेत्कोऽपि स्वधर्मत्यागवांस्तथा॥ ३८॥

हे राजन्! इस कारण जो भी कर्म करे, वह बुद्धियुक्त होकर करे। किसीको स्वकर्म और स्वधर्मका त्याग नहीं करना चाहिये॥ ३८॥

जहाति यदि कर्माणि ततः सिद्धिं न विन्दति।
आदौ ज्ञानेनाधिकारः कर्मण्येव स युज्यते॥ ३९॥

यदि कोई कर्मका त्याग करेगा तो उससे उसे सिद्धिकी प्राप्ति नहीं होगी। ज्ञानमें प्रथम अधिकार भी कर्मसे ही प्राप्त होता है॥ ३९॥

कर्मणा शुद्धहृदयोऽभेदबुद्धिमुपैष्यति।
स च योगः समाख्यातोऽमृतत्वाय हि कल्पते॥ ४०॥

कर्मसे शुद्धहृदय होकर (साधक) अभेदबुद्धिको प्राप्त होता है, उसीका नाम योग है, जिससे प्राणी अमर हो जाता है॥ ४०॥

योगमन्यं प्रवक्ष्यामि शृणु भूप तदुत्तमम्।
पशौ पुत्रे तथा मित्रे शत्रौ बन्धौ सुहृज्जने॥ ४१॥
बहिर्दृष्ट्या च समया हृत्स्थयालोकयेत्पुमान्।
सुखे दुःखे तथामर्षे हर्षे भीतौ समो भवेत्॥ ४२॥

हे राजन्! मैं दूसरा उत्तम योग कहता हूँ, तुम उसे सुनो। पशु, मित्र, पुत्र, शत्रु, बन्धु तथा प्रियजनमें समान दृष्टि करनी चाहिये, बाहर-भीतर एक-सी दृष्टि रखते हुए, सुख-दुःख, क्रोध, हर्ष, भय—इनमें समान रहना चाहिये॥ ४१-४२॥

रोगाप्तौ चैव भोगाप्तौ वा जये विजयेऽपि च।
श्रियोऽयोगे च योगे च लाभालाभे मृतावपि॥ ४३॥

रोगकी प्राप्ति हो चाहे भोगकी प्राप्ति हो, जय हो या विजय हो, लक्ष्मीकी प्राप्ति हो या अप्राप्ति हो, हानि-लाभ, जन्म-मरण—इन सबमें मनको समान रखना उचित है॥ ४३॥

समो मां वस्तुजातेषु पश्यन्नन्तर्बहिः स्थितम्।
सूर्ये सोमे जले वह्नौ शिवे शक्तौ तथानिले॥ ४४॥
द्विजे ह्रदे महानद्यां तीर्थे क्षेत्रेऽघनाशिनि।
विष्णौ च सर्वदेवेषु तथा यक्षोरगेषु च॥ ४५॥
गन्धर्वेषु मनुष्येषु तथा तिर्यग्भवेषु च।
सततं मां हि यः पश्येत्सोऽयं योगविदुच्यते॥ ४६॥

सम्पूर्ण वस्तुओंमें समान भावसे बाहर-भीतर मुझे स्थित जानना, सूर्य, चन्द्रमा, जल, अग्नि, शिव, शक्ति, वायु, ब्राह्मण, सरोवर, पापहारी महानदी, तीर्थ, क्षेत्र, विष्णु, सम्पूर्ण देवता, यक्ष, उरग, गन्धर्व, मनुष्य और पक्षी—इन सबमें जो मुझे सदा समान दृष्टिसे देखता है, वही योगको जाननेवाला कहलाता है॥ ४४—४६॥

सम्पराहृत्य स्वार्थेभ्य इन्द्रियाणि विवेकतः।
सर्वत्र समताबुद्धिः स योगी भूप मे मतः॥ ४७॥

हे राजन्! जो ज्ञानद्वारा इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर सर्वत्र समान बुद्धि रखता है, वही मेरी दृष्टिमें योगी है॥ ४७॥

आत्मानात्मविवेकेन या बुद्धिर्दैवयोगतः।
स्वधर्मासक्तचित्तस्य तद्योगो योग उच्यते॥ ४८॥
धर्माधर्मौ जहातीह तया त्यक्त उभावपि।
अतो योगाय युञ्जीत योगो वैधिषु कौशलम्॥ ४९॥

अपने धर्ममें आसक्त चित्तवाले प्राणीकी दैवयोगसे जो आत्मा

और अनात्माके विचारकी बुद्धि उत्पन्न होती है, उस बुद्धिके योगका ही नाम योग है और उसी बुद्धिके न होनेसे यह प्राणी धर्म-अधर्मका त्याग कर देता है, इस कारण योगमें बुद्धि लगाना उचित है, कर्तव्य कर्मोंमें कुशलता ही योग है॥ ४८-४९॥

धर्माधर्मफले त्यक्त्वा मनीषी विजितेन्द्रियः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्तः स्थानं संयात्यनामयम्॥ ५०॥

जितेन्द्रिय और बुद्धिमान् व्यक्ति धर्म और अधर्मके फलका त्याग करके जन्म-बन्धनसे मुक्त होकर अनामय परमपदको प्राप्त होता है॥ ५०॥

यदा ह्यज्ञानकालुष्यं जन्तोर्बुद्धिः क्रमिष्यति।
तदासौ याति वैराग्यं वेदवाक्यादिषु क्रमात्॥ ५१॥

जब इस प्राणीकी बुद्धि अविद्याके अन्धकारसे—अविद्यासे रहित होगी, तब क्रमसे इस प्राणीका सकाम वेदवाक्यादिकोंमें वैराग्य हो जाता है॥ ५१॥

त्रयीविप्रतिपन्नस्य स्थाणुत्वं यास्यते यदा।
परात्मन्यचला बुद्धिस्तदासौ योगमाप्नुयात्॥ ५२॥

जब तीनों वेदोंमें प्रतिपादित किये गये सकाम कर्मसे यह बुद्धि पूर्णतः और परमात्मामें लगकर निश्चल हो जाती है, तब इस प्राणीको योगकी प्राप्ति होती है॥ ५२॥

मानसानखिलान् कामान् यदा धीमांस्त्यजेत्प्रिय।
स्वात्मनि स्वेन सन्तुष्टः स्थिरबुद्धिस्तदोच्यते॥ ५३॥

हे प्रिय! जब यह बुद्धिमान् व्यक्ति मनकी सम्पूर्ण इच्छाओंका त्याग कर दे और अपने आत्मामें आपहीसे सन्तुष्ट हो जाय, तब यह स्थिरबुद्धि कहलाता है॥ ५३॥

वितृष्णः सर्वसौख्येषु नोद्विग्नो दुःखसङ्गमे।
गतसाध्वसरुड्रागः स्थिरबुद्धिस्तदोच्यते॥ ५४॥

किसी प्रकारके भी संसारी सुखोंमें तृष्णा न रखनेवाला, दुःखमें

अनुद्विग्न, भय, क्रोध और रागसे रहित व्यक्ति ही स्थिरबुद्धि कहा गया है॥ ५४॥

यथायं कमठोऽङ्गानि सङ्कोचयति सर्वतः।
विषयेभ्यस्तथा खानि सङ्कर्षेद्योगतत्परः॥ ५५॥

जिस प्रकारसे कछुआ सब ओरसे अपने अंगोंको सिकोड़ लेता है, इसी प्रकारसे योगीको उचित है कि वह विषयोंसे इन्द्रियोंको समेट ले॥ ५५॥

व्यावर्तन्तेऽस्य विषयास्त्यक्ताहारस्य वर्ष्मिणः।
विना रागं न रागोऽपि दृष्ट्वा ब्रह्म विनश्यति॥ ५६॥

भोजन त्यागनेवाले साधकके विषय तो नष्ट हो जाते हैं, परंतु उनका अनुभव बना रहता है। ब्रह्मकी प्राप्ति होनेसे वह राग भी नष्ट हो जाता है॥ ५६॥

विपश्चिद्यतते भूप स्थितिमास्थाय योगिनः।
मन्थयित्वेन्द्रियाण्यस्य हरन्ति बलतो मनः॥ ५७॥

हे राजन्! इन्द्रियगण मोक्षके लिये प्रयत्न करनेवाले विद्वान् पुरुषका भी मन बलात् हर लेती हैं। इस कारण बुद्धिमान् पुरुषको इन्द्रियोंको वशमें करनेका यत्न करना चाहिये॥ ५७॥

युक्तस्तानि वशे कृत्वा सर्वदा मत्परो भवेत्।
संयतानीन्द्रियाणीह यस्यासौ कृतधीर्मतः॥ ५८॥

इन्द्रियोंको वशमें करके योगीको सदा मेरे परायण होना चाहिये। जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हो गयी हैं, उसीको स्थितप्रज्ञ कहते हैं॥ ५८॥

चिन्तयानस्य विषयान् सङ्गस्तेषूपजायते।
कामः सञ्जायते तस्मात्ततः क्रोधोऽभिवर्धते॥ ५९॥

विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषको उनमें अनुराग हो जाता है, आसक्ति (अनुराग)-से कामना होती है और उससे क्रोधकी उत्पत्ति होती है॥ ५९॥

क्रोधादज्ञानसम्भूतिर्विभ्रमस्तु ततः स्मृतेः।
भ्रंशात्स्मृतेर्मतेर्ध्वंसस्तद्ध्वंसात्सोऽपि नश्यति॥ ६०॥

क्रोधसे अज्ञानकी उत्पत्ति और इससे स्मृतिभ्रंश होता है, स्मृतिभ्रंशसे बुद्धि नष्ट होती है और बुद्धि नष्ट होनेसे वह प्राणी भी नष्ट हो जाता है॥ ६०॥

विना द्वेषं च रागं च गोचरान् यस्तु खैश्चरेत्।
स्वाधीनहृदयो वश्यैः सन्तोषं स समृच्छति॥ ६१॥

अनुराग और द्वेषसे रहित अपने वशमें आयी इन्द्रियोंसे विषयोंका भोग करके भी चित्तको अपने वशमें रखनेवाले महापुरुष सन्तोष और शान्तिको प्राप्त होते हैं॥ ६१॥

त्रिविधस्यापि दुःखस्य सन्तोषे विलयो भवेत्।
प्रज्ञया संस्थितश्चायं प्रसन्नहृदयो भवेत्॥ ६२॥

सन्तोषकी प्राप्ति होनेसे तीनों प्रकारके दुःख नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार स्थिरप्रज्ञावाले योगीका मन प्रसन्न रहता है॥ ६२॥

विना प्रसादं न मतिर्विना मत्या न भावना।
विना तां न समो भूप विना तेन कुतः सुखम्॥ ६३॥

हे राजन्! बिना चित्त प्रसन्न हुए बुद्धिकी प्राप्ति नहीं होती और बुद्धिके बिना श्रद्धा नहीं होती, श्रद्धाके बिना शान्ति नहीं होती और शान्तिके बिना सुख नहीं होता॥ ६३॥

इन्द्रियाश्वान् विचरतो विषयाननुवर्तते।
यन्मनस्तन्मतिं हन्यादप्सु नावं मरुद्यथा॥ ६४॥

पवन जिस प्रकार नावको जलमें डुबो देता है, वैसे ही जो मन विषयोंमें विचरनेवाले अवशीभूत इन्द्रियरूपी घोड़ोंके पीछे भागता है, वह प्रज्ञाको हर लेता है॥ ६४॥

या रात्रिः सर्वभूतानां तस्यां निद्राति नैव सः।
न स्वपन्तीह ते यत्र ता रात्रिस्तस्य भूमिप॥ ६५॥

हे राजन्! अज्ञानसे आच्छादित सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये जो आत्मज्ञान रात्रिस्वरूप है, उसमें इन्द्रियको वशमें करनेवाले संयमी योगी जागते हैं और जिस विषयबुद्धिमें सम्पूर्ण प्राणी जागते हैं, वह विषयभोग ज्ञानियोंके लिये रात्रिस्वरूप है॥ ६५॥

सरितां पतिमायान्ति वनानि सर्वतो यथा।
अयान्ति यं तथा कामा न स शान्तिं क्वचिल्लभेत्॥ ६६॥

जिस प्रकारसे [नदियों आदिके] सभी जल समुद्रमें प्रवेश कर जाते हैं और उसकी तृप्ति नहीं होती, इसी प्रकार सब कामना पूर्ण होनेवालेको भी शान्ति नहीं होती॥ ६६॥

अतस्तानीह संरुध्य सर्वतः खानि मानवः।
स्वस्वार्थेभ्यः प्रधावन्ति बुद्धिरस्य स्थिरा तदा॥ ६७॥

इस कारण प्राणीको उचित है कि सब प्रकारसे विषयोंकी ओर दौड़ती हुई इन्द्रियोंको वशमें करे, तब उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है॥ ६७॥

ममताहंकृती त्यक्त्वा सर्वान् कामांश्च यस्त्यजेत्।
नित्यं ज्ञानरतो भूत्वा ज्ञानान्मुक्तिं स यास्यति॥ ६८॥

जो ममत्व, अहंकार और सब कामनाओंका त्याग करता है, नित्य ज्ञानमें मग्न रहता है, वह ज्ञानसे मुक्तिको प्राप्त हो जाता है॥ ६८॥

एवं ब्रह्मधियं भूप यो विजानाति दैवतः।
तुर्यामवस्थां प्राप्यापि जीवन्मुक्तिं प्रयास्यति॥ ६९॥

हे राजन्! जो वृद्धावस्थाको प्राप्त होकर भी दैवगतिसे इस ब्रह्मज्ञानयुक्त बुद्धिको प्राप्त हो जाता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है॥ ६९॥

॥ इति श्रीगणेशपुराणे गजाननवरेण्यसंवादे गणेशगीतायां सांख्यसारार्थयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

दूसरा अध्याय

कर्मयोग

वरेण्य उवाच

ज्ञाननिष्ठा कर्मनिष्ठा द्वयं प्रोक्तं त्वया विभो।
अवधार्य वदैकं मे निःश्रेयसकरं नु किम्॥ १॥

वरेण्यने कहा—हे भगवन्! आपने ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा दोनोंका वर्णन किया, आप दोनोंमेंसे एक निश्चयकर जो कल्याणदायक हो, उसे कहिये॥ १॥

गजानन उवाच

अस्मिंश्चराचरे स्थित्यौ पुरोक्ते द्वे मया प्रिय।
सांख्यानां बुद्धियोगेन वैधयोगेन कर्मणाम्॥ २॥

श्रीगजानन बोले—हे प्रिय! इस चराचर जगत्में मेरे द्वारा पहले वर्णित दो प्रकारकी स्थिति है, सांख्यशास्त्र जाननेवालोंकी ज्ञानयोगसे और कर्मके अधिकारीजनोंकी कर्मयोगसे शुद्धि होती है॥ २॥

अनारम्भेण वैधानां निष्क्रियः पुरुषो भवेत्।
न सिद्धिं याति सन्त्यागात्केवलात्कर्मणो नृप॥ ३॥

कर्ममें आसक्तजन कर्मोंके आरम्भ न करनेसे निष्क्रिय हो जाते हैं। हे राजन्! केवल कर्मोंके ही त्याग देनेसे सिद्धि नहीं होती॥ ३॥

कदाचिदक्रियः कोऽपि क्षणं नैवावतिष्ठते।
अस्वतन्त्रः प्रकृतिजैर्गुणैः कर्म च कार्यते॥ ४॥

किसी दशामें क्षणमात्र भी कर्म बिना किये कोई नहीं रह सकता है। प्रकृतिके स्वाभाविक तीनों गुण सबको ही अवश्य करके कर्म कराते हैं॥ ४॥

कर्मकारीन्द्रियग्रामं नियम्यास्ते स्मरन् पुमान्।
तद्गोचरान् मन्दचित्तो धिगाचारः स भाष्यते॥ ५॥

जो कर्म करनेवाला, इन्द्रियोंको रोककर मन-ही-मनमें इन्द्रियोंके

विषयोंका स्मरण करता है, उस इन्द्रियलोलुप दुरात्माको तुच्छ आचारवाला कहा जाता है॥ ५॥

तद् ग्रामं सन्नियम्यादौ मनसा कर्म चारभेत्।
इन्द्रियैः कर्मयोगं यो वितृष्णः स परो नृप॥ ६॥

हे राजन्! जो मनसे इन्द्रियोंका संयम करके कर्मेन्द्रियोंसे निष्काम कर्मयोगका अनुष्ठान करता है, वही श्रेष्ठ पुरुष है॥ ६॥

अकर्मणः श्रेष्ठतमं कर्मानीहाकृतं तु यत्।
वर्ष्मणः स्थितिरप्यस्याकर्मणो नैव सेत्स्यति॥ ७॥

कर्म न करनेसे तो फलकी कामना करके भी कर्म करना श्रेष्ठ है, कारण कि सब कर्मोंका त्याग करनेसे तो शरीरयात्रा भी नहीं हो सकती॥ ७॥

असमर्प्य निबध्यन्ते कर्म तेन जना मयि।
कुर्वीत सततं कर्मनाशोऽसङ्गो मदर्पणम्॥ ८॥

जो प्राणी कर्मोंका फल मुझमें समर्पण नहीं करते, वे बन्धनमें पड़ते हैं, इस कारणसे निष्काम कर्मका अनुष्ठान करते हुए निरन्तर मुझे अर्पण करके कर्मबन्धनका नाश करना चाहिये॥ ८॥

मदर्थे यानि कर्माणि तानि बध्नन्ति न क्वचित्।
सवासनमिदं कर्म बध्नाति देहिनं बलात्॥ ९॥

जो कर्म मेरे निमित्त किये जाते हैं, वे कहीं और कभी बन्धनके कारण नहीं होते, किंतु जो वासनापूर्वक (फलासक्तिपूर्वक) किये गये कर्म हैं, वे ही बलात् प्राणीको बाँधते हैं॥ ९॥

वर्णान् सृष्ट्वावदं चाहं सयज्ञांस्तान् पुरा प्रिय।
यज्ञेन ऋध्यतामेष कामदः कल्पवृक्षवत्॥ १०॥

पूर्वकालमें मैंने यज्ञरूप नित्यकर्मके ही साथ-साथ मनुष्योंके वर्णोंको रचकर कहा—हे मनुष्यो! तुम यज्ञसे वृद्धिको प्राप्त हो, यह

शिक्षा कल्पवृक्षके समान तुम्हारी इष्टसिद्धिको देनेवाली हो॥ १०॥

सुरांश्चान्नेन प्रीणध्वं सुरास्ते प्रीणयन्तु वः।
लभत्वं परमं स्थानमन्योन्यप्रीणनात्स्थिरम्॥ ११॥

तुम देवताओंको अन्नसे तृप्त करो, देवता तुमको (वर्षा आदिसे) प्रसन्न करें, इस प्रकार परस्पर वृद्धि करते हुए तुम और देवता सब श्रेष्ठ स्थानको प्राप्त हों॥ ११॥

इष्टा देवाः प्रदास्यन्ति भोगानिष्टान् सुतर्पिताः।
तैर्दत्तांस्तान्नरस्तेभ्योऽदत्त्वा भुङ्क्ते स तस्करः॥ १२॥

देवता प्रसन्न होकर तुम्हारे मनोवांछित मनोरथोंको पूर्ण करेंगे, उन देवताओंके दिये पदार्थोंसे उनकी आराधना किये बिना जो भोग भोगता है, वह चोर है॥ १२॥

हुतावशिष्टभोक्तारो मुक्ताः स्युः सर्वपातकैः।
अदन्त्येनो महापापा आत्महेतोः पचन्ति ये॥ १३॥

जो देवाराधनरूप यज्ञ करके अवशिष्ट अन्नका भोजन करते हैं, वे सब पापोंसे मुक्त होते हैं और जो अपने निमित्त ही भोजन बनाते हैं, वे पापी मानो पापका ही भोजन करते हैं॥ १३॥

ऊर्जो भवन्ति भूतानि देवादन्नस्य सम्भवः।
यज्ञाच्च देवसम्भूतिस्तदुत्पत्तिश्च वैधतः॥ १४॥

अन्नसे ही प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न वर्षासे उत्पन्न होता है, वर्षा यज्ञसे उत्पन्न होती है और कर्मसे यज्ञकी उत्पत्ति होती है॥ १४॥

ब्रह्मणो वैधमुत्पन्नं मत्तो ब्रह्मसमुद्भवः।
अतो यज्ञे च विश्वस्मिन् स्थितं मां विद्धि भूमिप॥ १५॥

कर्म ब्रह्मासे उत्पन्न होता है और ब्रह्मा मुझसे उत्पन्न होते हैं—इस कारण हे राजन्! आप इस यज्ञमें और विश्वमें स्थित मुझे ही जानिये॥ १५॥

संसृतीनां महाचक्रं क्रामितव्यं विचक्षणैः।
स मुदा प्रीणते भूपेन्द्रियक्रीडोऽधमो जनः॥ १६॥

इस आवागमनरूपी संसारचक्रसे बुद्धिमानोंको पार जाना उचित है, हे राजन्! जो अधम प्राणी है, वह इसमें इन्द्रियोंकी क्रीडासे सुख मानता है॥ १६॥

अन्तरात्मनि यः प्रीत आत्मारामोऽखिलप्रियः।
आत्मतृप्तो नरो यः स्यात्तस्यार्थो नैव विद्यते॥ १७॥

जो अन्तरात्मामें प्रीति करनेवाला है, वही आत्माराम और सबका प्यारा है, जो प्राणी आत्मतृप्त है, उसे किसी बातकी इच्छा नहीं रहती॥ १७॥

कार्याकार्यकृतीनां स नैवाप्नोति शुभाशुभे।
किञ्चिदस्य न साध्यं स्यात्सर्वजन्तुषु सर्वदा॥ १८॥

इस प्रकारका प्राणी कार्याकार्य करके भी शुभ-अशुभ फलको नहीं प्राप्त होता तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें इसका कभी कुछ साध्य नहीं होता॥ १८॥

अतोऽसक्ततया भूप कर्तव्यं कर्म जन्तुभिः।
सक्तोऽगतिमवाप्नोति मामवाप्नोति तादृशः॥ १९॥

इस कारण, हे राजन्! प्राणियोंको आसक्तिरहित होकर कर्म करना उचित है, जो आसक्त होता है, उसकी दुर्गति होती है और अनासक्त मुझे प्राप्त हो जाता है॥ १९॥

परमां सिद्धिमापन्नाः पुरा राजर्षयो द्विजाः।
सङ्ग्रहाय हि लोकानां तादृशं कर्म चारभेत्॥ २०॥

[हे राजन्!] प्राचीन कालमें कर्म करनेसे बहुतसे राजर्षि और ब्रह्मर्षि परमसिद्धिको प्राप्त हुए हैं। लोकसंग्रहके निमित्त ही अनासक्त होकर कर्म करना उचित है॥ २०॥

श्रेयान् यत्कुरुते कर्म तत्करोत्यखिलो जनः।
मनुते यत्प्रमाणं स तदेवानुसरत्यसौ॥ २१॥

जो कर्म महान् पुरुष करते हैं, वही कर्म अन्य सब करते हैं, वह जिसको प्रमाण मानते हैं, दूसरे भी उसीको मानते हैं॥ २१॥

विष्टपे मे न साध्योऽस्ति कश्चिदर्थो नराधिप।
अनालब्धश्च लब्धव्यः कुर्वे कर्म तथाप्यहम्॥ २२॥

हे राजन्! मुझे कोई वस्तु स्वर्गादिमें भी दुर्लभ नहीं है और मैं कर्म करके किसी अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करनेकी भी इच्छा नहीं करता हूँ, फिर भी मैं कर्म करता हूँ॥ २२॥

न कुर्वेऽहं यदा कर्म स्वतन्त्रोऽलसभावितः।
करिष्यन्ति मम ध्यानं सर्वे वर्णा महामते॥ २३॥

और हे महामते! यदि मैं आलसी तथा स्वच्छन्द होकर कर्म न करूँ तो सभी वर्ण कर्म छोड़कर केवल मेरा अनुगमन करने लगेंगे॥ २३॥

भविष्यन्ति ततो लोका उच्छिन्नाः सम्प्रदायिनः।
हन्ता स्यामस्य लोकस्य विधाता सङ्करस्य च॥ २४॥

तब मेरे ऐसा करनेसे सब वर्ण आचारभ्रष्ट होकर नष्ट हो जायँगे। इससे इस संसारका नाश करनेवाला और वर्णसंकरको उत्पन्न करनेवाला भी मैं ही होऊँगा॥ २४॥

कामिनो हि सदा कामैरज्ञानात्कर्मकारिणः।
लोकानां सङ्ग्रहायैतद्विद्वान् कुर्यादसक्तधीः॥ २५॥

जिस प्रकारसे कामनावाले अज्ञानसे सदा कर्म करते रहते हैं, इसी प्रकार विद्वान्को उचित है कि लोकसंग्रहके निमित्त आसक्तिरहित होकर वह कर्म करता रहे॥ २५॥

विभिन्नत्वमतिं जह्यादज्ञानां कर्मचारिणाम्।
योगयुक्तः सर्वकर्माण्यर्पयेन्मयि कर्मकृत्॥ २६॥

अज्ञानसे कर्म करनेवालोंकी भेदबुद्धिका त्याग करे तथा योगयुक्त होकर कर्म करता हुआ वे सब कर्म मुझे अर्पण कर दे॥ २६॥

अविद्यागुणसाचिव्यात्कुर्वन् कर्माण्यतन्द्रितः।
अहङ्काराद्विन्नबुद्धिरहं कर्तेति योऽब्रवीत्॥ २७॥

[हे राजन्!] अविद्या और गुणोंके वशीभूत हुआ निरन्तर कर्म करनेमें लगा हुआ व्यक्ति अहंकारसे मूढ़ होकर अपनेको कर्ता बताता है॥ २७॥

यस्तु वेत्त्यात्मनस्तत्त्वं विभागाद्गुणकर्मणोः।
करणं विषये वृत्तमिति मत्वा न सज्जते॥ २८॥

जो कोई आत्मज्ञ सत्त्वादि गुण तथा उनके कर्मोंके विभागको इस प्रकार जानते हैं कि इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें वर्तमान हैं तो वे ऐसा जानकर कर्ममें लिप्त नहीं होते॥ २८॥

कुर्वन्ति सफलं कर्म गुणैस्त्रिभिर्विमोहिताः।
अविश्वस्तः स्वात्मद्रुहो विश्वविन्नैव लङ्घयेत्॥ २९॥

सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंसे मोहित हुए प्राणी फलकी इच्छासे कर्म करते हैं, उन अविश्वासी और आत्मद्रोहियोंको सर्वज्ञ पुरुष कर्ममार्गसे चलायमान न करे॥ २९॥

नित्यं नैमित्तिकं तस्मान्मयि कर्मार्पयेद्बुधः।
त्यक्त्वाहं ममताबुद्धिं परां गतिमवाप्नुयात्॥ ३०॥

इस प्रकार पण्डितको उचित है कि मुझमें ही नित्य-नैमित्तिक कर्मको अर्पण कर दे तो वह अहं और ममता बुद्धिका त्याग करके परमगतिको प्राप्त हो जायगा॥ ३०॥

अनीर्ष्यन्तो भक्तिमन्तो ये मयोक्तमिदं शुभम्।
अनुतिष्ठन्ति ये सर्वे मुक्तास्तेऽखिलकर्मभिः॥ ३१॥

ईर्ष्या न करनेवाले जो भक्तिमान् मनुष्य मेरे कहे हुए इस शुभ मार्गका अनुष्ठान करते हैं, वे सब कर्मोंसे मुक्त हो जाते हैं॥ ३१॥

ये चैव नानुतिष्ठन्ति त्वशुभा हतचेतसः।
ईर्ष्यमाणान् महामूढान्नष्टांस्तान् विद्धि मे रिपून्॥ ३२॥

जो अज्ञानसे चित्तके नष्ट होनेके कारण इस मार्गका अनुष्ठान नहीं करते हैं, उन ईर्ष्यालु, मूर्ख और नष्टबुद्धियोंको मेरा शत्रु जानो॥ ३२॥

तुल्यं प्रकृत्या कुरुते कर्म यज्ज्ञानवानपि।
अनुयाति च तामेवाग्रहस्तत्र मुधा मतः॥ ३३॥

जब ज्ञानवान् भी अपने स्वभावके अनुसार चेष्टा करता है और उसी स्वभावका अनुगमन करता है तो स्वभावको ग्रहण न करना व्यर्थ है॥ ३३॥

कामश्चैव तथा क्रोधः खानामर्थेषु जायते।
नैतयोर्वश्यतां यायादस्य विध्वंसकौ यतः॥ ३४॥

कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियके विषयोंमें काम और क्रोध उत्पन्न होते हैं, इनके वशमें नहीं होना चाहिये, कारण कि यही प्राणीके शत्रुरूप हैं॥ ३४॥

शस्तोऽगुणो निजो धर्मः साङ्गादन्यस्य धर्मतः।
निजे तस्मिन् मृतिः श्रेयोऽपरत्र भयदः परः॥ ३५॥

अपना धर्म यदि गुणरहित हो तो भी अच्छा है और दूसरेका धर्म गुणयुक्त होनेसे भी भला नहीं, अपने धर्ममें मरना भी परलोकमें कल्याणकारी है, परंतु दूसरेका श्रेष्ठ धर्म भी भय प्रदान करता है॥ ३५॥

वरेण्य उवाच

पुमान् यत्कुरुते पापं स हि केन नियुज्यते।
अकाङ्क्षन्नपि हेरम्ब प्रेरितः प्रबलादिव॥ ३६॥

वरेण्यने कहा—हे गणेशजी! प्राणी जो पाप करता है, वह किसके द्वारा प्रेरित होता है? इच्छा नहीं करता हुआ भी बलात् किससे प्रेरित होता हुआ वह पापाचरण करता है?॥ ३६॥

श्रीगजानन उवाच

कामक्रोधौ महापापौ गुणद्वयसमुद्भवौ।
नयन्तौ वश्यतां लोकान् विद्ध्येतौ द्वेषिणौ वरौ॥ ३७॥

श्रीगणेशजी बोले—रजोगुण और तमोगुणसे उत्पन्न हुए ये काम और क्रोध ही दो महापापी हैं। ये लोगोंको अपने वशमें करते हैं, इन्हीं दोनोंको तुम महान् शत्रु जानो॥ ३७॥

आवृणोति यथा माया जगद्वाष्पो जलं यथा।
वर्षामेघो यथा भानुं तद्वत्कामोऽखिलांश्च रुट्॥ ३८॥

जिस प्रकार माया जगत्को ढकती है, जैसे भाप जलको और जैसे वर्षाकालका मेघ सूर्यको ढक लेता है, इसी प्रकार कामने सबको ढक लिया है॥ ३८॥

प्रतिपत्तिमतो ज्ञानं छादितं सततं द्विषा।
इच्छात्मकेन तरसा दुष्पोषेण च शुष्मिणा॥ ३९॥

महाबली, सदैव द्वेष करनेवाले और कभी पूरा न हो सकनेवाले इस इच्छारूप कामने ही बुद्धिमानोंके ज्ञानको भी ढक रखा है॥ ३९॥

आश्रित्य बुद्धिमनसी इन्द्रियाणि स तिष्ठति।
तैरेवाच्छादितप्रज्ञो ज्ञानिनं मोहयत्यसौ॥ ४०॥

यह काम बुद्धि, मन तथा इन्द्रियोंके आश्रित होकर रहता है, उन्हींसे ज्ञानको आच्छादित करके यह ज्ञानियोंको भी मोहित करता है॥ ४०॥

तस्मान्नियम्य तान्यादौ स मनांसि नरो जयेत्।
ज्ञानविज्ञानयोः शान्तिकरं पापं मनोभवम्॥ ४१॥

अतः पहले मनके सहित इन्द्रियोंको वशमें करके ज्ञान और विज्ञानके नाश करनेवाले इस मनोद्भव पापी कामको जीतना चाहिये॥ ४१॥

यतस्तानि पराण्याहुस्तेभ्यश्च परमं मनः।
ततोऽपि हि परा बुद्धिरात्मा बुद्धेः परो मतः॥ ४२॥

स्थूल देहसे इन्द्रियाँ परे हैं, इन्द्रियोंसे परे मन है, मनसे परे बुद्धि है और बुद्धिसे परे आत्मा है॥ ४२॥

बुद्ध्वैवमात्मनात्मानं संस्तभ्यात्मानमात्मना।
हत्वा शत्रुं कामरूपं परं पदमवाप्नुयात्॥ ४३॥

इस प्रकार बुद्धिसे आत्माको जानकर, बुद्धिसे ही मनको स्थिर करके कामरूपी शत्रुको मारकर परम पदको प्राप्त करना चाहिये॥ ४३॥

॥ इति श्रीगणेशपुराणे गजाननवरेण्यसंवादे गणेशगीतायां कर्मयोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

तीसरा अध्याय

ज्ञानयोग

श्रीगजानन उवाच

पुरा सर्गादिसमये त्रैगुण्यं त्रितनूरुहम्।
निर्माय चैनमवदं विष्णवे योगमुत्तमम्॥ १॥

श्रीगणेशजी बोले—पूर्वकालमें सृष्टि उत्पन्न करनेके समय तीन गुणोंसे युक्त तीन शरीरमें रहनेवाले उत्तम योगका निर्माण करके मैंने विष्णुसे इसका वर्णन किया था॥ १॥

अर्यम्णे सोऽब्रवीत्सोऽपि मनवे निजसूनवे।
ततः परम्परायातं विदुरेनं महर्षयः॥ २॥

विष्णुने यही योग सूर्यसे कहा। सूर्यने अपने पुत्र वैवस्वत मनुसे

कहा। इसके उपरान्त परम्परासे प्राप्त हुए इस योगको महर्षिगण जानते रहे॥ २॥

कालेन बहुना चायं नष्टः स्याच्चरमे युगे।
अश्रद्धेयो ह्यविश्वास्यो विगीतव्यश्च भूमिप॥ ३॥

हे राजन्! कलियुगमें यह बहुत काल बीत जानेसे नष्ट हो गया तथा इसे श्रद्धा-विश्वासके अयोग्य तथा निन्दनीय समझा गया॥ ३॥

एवं पुरातनं योगं श्रुतवानसि मन्मुखात्।
गुह्याद्गुह्यतरं वेदरहस्यं परमं शुभम्॥ ४॥

अब फिर तुमने मेरे मुखसे इस पुरातन योगको सुना है, यह गुप्त-से-गुप्त, अत्यन्त कल्याणकारक और सम्पूर्ण वेदोंका सार है॥ ४॥

वरेण्य उवाच

साम्प्रतं चावतीर्णोऽसि गर्भतस्त्वं गजानन।
प्रोक्तवान् कथमेतं त्वं विष्णवे योगमुत्तमम्॥ ५॥

राजा वरेण्य बोले—हे गजानन! आप तो इस समय गर्भसे उत्पन्न हुए हैं, फिर आपने विष्णुसे यह उत्तम योग किस प्रकारसे वर्णन किया?॥ ५॥

गणेश उवाच

अनेकानि च ते जन्मान्यतीतानि ममापि च।
संस्मरे तानि सर्वाणि न स्मृतिस्तव वर्तते॥ ६॥

गणेशजी बोले—[हे राजन्!] मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म बीत चुके हैं, मैं उन सबको जानता हूँ, परंतु तुम नहीं जानते॥ ६॥

मत्त एव महाबाहो जाता विष्ण्वादयः सुराः।
मय्यैव लयं यान्ति प्रलयेषु युगे युगे॥ ७॥

हे महाबाहो! मुझसे ही विष्णु आदि देवता उत्पन्न हुए हैं और युग-युगमें प्रलयके समय मुझमें ही लय हो जाते हैं॥ ७॥

अहमेव परो ब्रह्मा महारुद्रोऽहमेव च।
अहमेव जगत्सर्वं स्थावरं जङ्गमं च यत्॥ ८॥

मैं ही श्रेष्ठ ब्रह्मा हूँ, मैं ही महारुद्र हूँ, मैं ही स्थावर-जंगमरूप सम्पूर्ण जगत् हूँ॥ ८॥

अजोऽव्ययोऽहं भूतात्मानादिरीश्वर एव च।
आस्थाय त्रिगुणां मायां भवामि बहुयोनिषु॥ ९॥

मैं अजन्मा, अविनाशी तथा सभी जीवोंका आत्मा अनादि ईश्वर हूँ और त्रिगुणात्मक मायामें स्थित होकर मैं ही अनेक अवतार धारण करता हूँ॥ ९॥

अधर्मोपचयो धर्मापचयो हि यदा भवेत्।
साधून् संरक्षितुं दुष्टांस्ताडितुं सम्भवाम्यहम्॥ १०॥

जिस समय अधर्मकी वृद्धि और धर्मकी हानि होती है, उस समय साधुओंकी रक्षा और दुष्टोंको मारनेके लिये मैं अवतार लेता हूँ॥ १०॥

उच्छिद्याधर्मनिचयं धर्मं संस्थापयामि च।
हन्मि दुष्टांश्च दैत्यांश्च नानालीलाकरो मुदा॥ ११॥

मैं अधर्मके समूहको नष्टकर धर्मका स्थापन करता हूँ और अनेक प्रकारकी लीलाकर आनन्दसे दुष्टों तथा दैत्योंका वध करता हूँ॥ ११॥

वर्णाश्रमान् मुनीन् साधून् पालये बहुरूपधृक्।
एवं यो वेत्ति सम्भूतिर्मम दिव्या युगे युगे॥ १२॥
तत्तत्कर्म च वीर्यं च मम रूपं समासतः।
त्यक्त्वाहं ममताबुद्धिं न पुनर्भूः स जायते॥ १३॥

अनेक रूप धारणकर मैं वर्ण, आश्रम, मुनि और साधुओंका पालन करता हूँ, इस प्रकारसे जो युग-युगमें मेरी दिव्य विभूतिको, मेरे कर्म, वीर्य और रूपको जानता है तथा अहंकार और ममताबुद्धिका त्याग कर देता है, वह मुक्त हो जाता है॥ १२-१३॥

निरीहा निर्भयारोषा मत्परा मद्व्यपाश्रयाः।
विज्ञानतपसा शुद्धा अनेके मामुपागताः॥ १४॥

इच्छारहित, निर्भय, क्रोधहीन, मुझमें ही आश्रित, मेरी ही उपासना करनेवाले विज्ञान और तपस्यासे शुद्ध होकर अनेक प्राणी मुझको प्राप्त हो गये हैं॥ १४॥

येन येन हि भावेन संसेवन्ते नरोत्तमाः।
तथा तथा फलं तेभ्यः प्रयच्छाम्यव्ययः स्फुटम्॥ १५॥

श्रेष्ठजन जिस-जिस भावसे मेरा सेवन करते हैं, मैं अविनश्वर उनको वैसा फल निश्चय ही देता हूँ॥ १५॥

जनाः स्युरितरे राजन् मम मार्गानुयायिनः।
तथैव व्यवहारं ते स्वेषु चान्येषु कुर्वते॥ १६॥

हे राजन्! जिस प्रकारसे दूसरे लोग भी मेरे अनुयायी हो जायँ, इसी प्रकारका व्यवहार वे अपने तथा दूसरे मनुष्योंमें करते हैं॥ १६॥

कुर्वन्ति देवताप्रीतिं काङ्क्षन्तः कर्मणां फलम्।
प्राप्नुवन्तीह ते लोके शीघ्रं सिद्धिं हि कर्मजाम्॥ १७॥

जो कर्मोंके फल प्राप्त होनेकी इच्छासे देवोपासना करते हैं, उन-उन कर्मोंके अनुसार उनको शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है॥ १७॥

चत्वारो हि मया वर्णा रजःसत्त्वतमोंऽशतः।
कर्मांशतश्च संसृष्टा मृत्युलोके मयानघ॥ १८॥

हे पापरहित! मृत्युलोकमें मैंने चारों वर्णोंको सत्त्व, रज, तम—इन गुणोंसे और कर्मोंके अंशसे उत्पन्न किया है॥ १८॥

कर्तारमपि तेषां मामकर्तारं विदुर्बुधाः।
अनादिमीश्वरं नित्यमलिप्तं कर्मजैर्गुणैः॥ १९॥

यद्यपि मैं इनका कर्ता हूँ, परंतु पण्डितजन मुझे अकर्ता जानते

हैं। वे मुझे अनादि, ईश्वर, नित्य और कर्मोंके गुणोंसे अलिप्त मानते हैं॥ १९॥

निरीहं योऽभिजानाति कर्म बध्नाति नैव तम्।
चक्रुः कर्माणि बुद्ध्वैवं पूर्वं पूर्वं मुमुक्षवः॥ २०॥

जो मुझे इच्छारहित जानता है, उसको कर्मबन्धन नहीं होता। ऐसा जानकर पूर्वमें मुमुक्षुजन कर्म करते थे॥ २०॥

वासनासहितादाद्यात्संसारकारणाद्दृढात्।
अज्ञानबन्धनाज्जन्तुर्बुद्ध्वायं मुच्यतेऽखिलात्॥ २१॥

वासना जो कि संसारका मूल और दृढ़ कारण है, और वही अज्ञानका बन्धन है, इसे जानकर प्राणी सबसे मुक्त हो जाता है॥ २१॥

तदकर्म च कर्मापि कथयाम्यधुना तव।
यत्र मौनं गता मोहादृषयो बुद्धिशालिनः॥ २२॥

क्या कर्म और क्या अकर्म है, यह मैं अब तुमसे कहता हूँ। इसके जाननेमें बुद्धिमान् ऋषिगण भी मोहको प्राप्त होकर मौन रह गये हैं॥ २२॥

तत्त्वं मुमुक्षुणा ज्ञेयं कर्माकर्मविकर्मणाम्।
त्रिविधानीह कर्माणि सुनिम्नैषां गतिः प्रिय॥ २३॥

हे प्रिय! कर्म, अकर्म और विकर्मका तत्त्व मुक्तिकी इच्छा करनेवालोंको जानना आवश्यक है, वे तीनों ही कर्म हैं। इनकी गति जानना महाकठिन है॥ २३॥

क्रियायामक्रियाज्ञानमक्रियायां क्रियामतिः।
यस्य स्यात्स हि मर्त्येऽस्मिल्लोके मुक्तोऽखिलार्थकृत्॥ २४॥

क्रियामें अक्रियाका ज्ञान और अक्रियामें क्रियाकी बुद्धि जिसकी होती है, वही इस लोकमें सभी कर्मोंका करनेवाला होकर भी मुक्त हो जाता है॥ २४॥

कर्माङ्कुरवियोगेन यः कर्माण्यारभेन्नरः।
तत्त्वदर्शननिर्दग्धक्रियमाहुर्बुधा बुधम्॥ २५॥

जो कर्मोंके अंकुरसे रहित अर्थात् संकल्प और कामनारहित कर्म करते हैं, तत्त्वके जाननेसे उस बुद्धिमान्‌की सारी क्रियाएँ दग्ध हो जाती हैं, ऐसा पण्डितजन कहते हैं॥ २५॥

फलतृष्णां विहाय स्यात्सदा तृप्तो विसाधनः।
उद्युक्तोऽपि क्रियां कर्तुं किञ्चिन्नैव करोति सः॥ २६॥

जो फलकी इच्छाको छोड़कर साधनहीन होकर भी सदा तृप्त रहते हैं। यदि वे कर्म करनेमें लगे हों तो भी वे कुछ नहीं करते हैं॥ २६॥

निरीहो निगृहीतात्मा परित्यक्तपरिग्रहः।
केवलं वै गृहं कर्माचरन्नायाति पातकम्॥ २७॥

जो इच्छारहित, आत्मजित् एवं सम्पूर्ण परिग्रहका परित्याग किये हैं, ऐसे प्राणी यदि घरमें रहकर कर्म भी करें तो उन्हें कुछ पातक नहीं लगता॥ २७॥

अद्वन्द्वोऽमत्सरो भूत्वा सिद्ध्यसिद्ध्योः समश्च यः।
यथा प्राप्येऽहं सन्तुष्टः कुर्वन् कर्म न बद्ध्यते॥ २८॥

जो द्वन्द्व और ईर्ष्याहीन होकर सिद्धि-असिद्धिमें समान दृष्टि रखते हुए जो कुछ प्राप्ति हो, उसीमें सन्तुष्ट रहते हैं, ऐसे प्राणी कर्म करते हुए भी लिप्त नहीं होते॥ २८॥

अखिलैर्विषयैर्मुक्तो ज्ञानविज्ञानवानपि।
यज्ञार्थं तस्य सकलं कृतं कर्म विलीयते॥ २९॥

सम्पूर्ण विषयोंसे मुक्त और ज्ञान-विज्ञानयुक्त प्राणीके सारे कर्म यज्ञ ही हैं और उसकी सारी क्रियाएँ विलीन हो जाती हैं॥ २९॥

अहमग्निर्हविर्होता हुतं यन्मयि चार्पितम्।
ब्रह्माप्तव्यं च तेनाथ ब्रह्मण्येव यतो रतः॥ ३०॥

अग्नि, होमका द्रव्य, हवन करनेवाले और जो आहुति मुझे अर्पण की जाती है वह, सब मैं ही हूँ। इसे ब्रह्मस्वरूपसे देखकर जो हवन करता है, वह ब्रह्मको ही प्राप्त होता है; क्योंकि वह ब्रह्ममें ही लगा है॥ ३०॥

योगिनः केचिदपरे दिष्टं यज्ञं वदन्ति च।
ब्रह्माग्निरेव यज्ञो वै इति केचन मेनिरे॥ ३१॥

कोई योगी देवयजनको यज्ञ कहते हैं, दूसरे ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञ करनेको यज्ञ मानते हैं॥ ३१॥

संयमाग्नौ परे भूप इन्द्रियाण्युपजुह्वति।
खाग्निष्वन्ये तद्विषयांश्छन्दादीनुपजुह्वति॥ ३२॥

हे राजन्! कोई योगी संयमरूप अग्निमें श्रोत्रादि इन्द्रियोंका हवन करते हैं, कोई इन्द्रियरूपी अग्निमें शब्दादि विषयोंकी आहुति देते हैं॥ ३२॥

प्राणानामिन्द्रियाणां च परे कर्माणि कृत्स्नशः।
निजामरतिरूपेऽग्नौ ज्ञानदीप्ते प्रजुह्वति॥ ३३॥

कोई दूसरे ज्ञानमें जलती हुई वैराग्यरूपी अग्निमें सम्पूर्ण इन्द्रिय, कर्म और प्राणोंका हवन करते हैं॥ ३३॥

द्रव्येण तपसा वापि स्वाध्यायेनापि केचन।
तीव्रव्रतेन यतिनो ज्ञानेनापि यजन्ति माम्॥ ३४॥

कोई द्रव्ययज्ञका अनुष्ठानकर, कोई तपस्यासे, कोई स्वाध्यायसे, कोई महात्मा तीव्र व्रतसे और कोई ज्ञानसे मेरा यजन करते हैं॥ ३४॥

प्राणेऽपानं तथा प्राणमपाने प्रक्षिपन्ति ये।
रुद्धा गतीश्चोभयोस्ते प्राणायामपरायणाः॥ ३५॥

जो पूरकसे प्राणवायुमें अपानको और रेचकसे प्राणका अपानमें

हवन करते हैं और कुम्भकके अनुष्ठानसे प्राणापानकी गतिको रोक लेते हैं, वे प्राणायाममें परायण होते हैं॥ ३५॥

जित्वा प्राणान् प्राणगतीरुपजुह्वति तेषु च।
एवं नानायज्ञरता यज्ञध्वंसितपातकाः॥ ३६॥
नित्यं ब्रह्म प्रयान्त्येते यज्ञशिष्टामृताशिनः।
अयज्ञकारिणो लोको नायमन्यः कुतो भवेत्॥ ३७॥

दूसरे नियताहार होकर पाँचों प्राणोंमें पाँचों प्राणोंकी आहुति देते हैं, इस प्रकार अनेक प्रकारके यज्ञोंमें निरत योगी यज्ञद्वारा पापोंका नाश करते हैं। अन्य दूसरे नित्य ही यज्ञसे बचे अमृत पदार्थका भोजनकर नित्य ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। यज्ञ न करनेवालोंको तो यह लोक भी नहीं मिलता, परलोक कहाँ मिलेगा?॥ ३६-३७॥

कायिकादि त्रिधाभूतान् यज्ञान् वेदे प्रतिष्ठितान्।
ज्ञात्वा तानखिलान् भूप मोक्ष्यसेऽखिलबन्धनात्॥ ३८॥

हे राजन्! वेदोंमें मन, वचन, कर्मके बहुत प्रकारके यज्ञ वर्णित हैं, उन्हें पूर्णतया जानकर तुम सारे बन्धनोंसे मुक्त हो जाओगे॥ ३८॥

सर्वेषां भूप यज्ञानां ज्ञानयज्ञः परो मतः।
अखिलं लीयते कर्म ज्ञाने मोक्षस्य साधने॥ ३९॥

हे राजन्! सब यज्ञोंमें ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। मोक्षसाधक ज्ञानयज्ञमें सब कर्म क्षीण हो जाते हैं॥ ३९॥

तज्ज्ञेयं पुरुषव्याघ्र प्रश्नेन नतितः सताम्।
शुश्रूषया वदिष्यन्ति सन्तस्तत्त्वविशारदाः॥ ४०॥

हे पुरुषश्रेष्ठ! उस ज्ञानयज्ञको सत्पुरुषोंकी सेवा और प्रश्नसे प्राप्त करो। तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन तुम्हें शुश्रूषासे उसको कहेंगे॥ ४०॥

नानासङ्गाञ्जनः कुर्वन्नैकं साधुसमागमम्।
करोति तेन संसारे बन्धनं समुपैति सः॥ ४१॥

जो मनुष्य अनेक प्रकारकी संगति करता है, पर किसी साधुकी

संगति नहीं करता, वह संसारमें बन्धनको प्राप्त होता है॥ ४१॥

सत्सङ्गाद्गुणसम्भूतिरापदां लय एव च।
स्वहितं प्राप्यते सर्वैरिह लोके परत्र च॥ ४२॥

सत्संगसे गुणोंकी प्राप्ति और आपदाका नाश होता है तथा लोक और परलोकमें अपना कल्याण प्राप्त होता है॥ ४२॥

इतरत्सुलभं राजन् सत्सङ्गोऽतीव दुर्लभः।
यज्ज्ञात्वा न पुनर्बन्धमेति ज्ञेयं ततस्ततः॥ ४३॥

हे राजन्! अन्य सब तो सुलभ है, परंतु सत्संग बड़ा दुर्लभ है। जिसके जाननेसे फिर संसारके बन्धनमें नहीं आना होता, उसे जानना आवश्यक है॥ ४३॥

ततः सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येवापि पश्यति।
अतिपापरतो जन्तुस्ततस्तस्मात्प्रमुच्यते॥ ४४॥

सत्संगसे ज्ञान मिलनेपर यह सब प्राणियोंको अपनेमें ही देखता है। इससे अतिपापी प्राणी भी मुक्त हो जाता है॥ ४४॥

द्विविधान्यपि कर्माणि ज्ञानाग्निर्दहति क्षणात्।
प्रसिद्धोऽग्निर्यथा सर्वं भस्मतां नयति क्षणात्॥ ४५॥

जिस प्रकारसे प्रचण्ड जलती अग्नि सबको क्षणमें भस्म कर देती है, इसी प्रकार ज्ञानाग्निमें पाप-पुण्य दोनों प्रकारके कर्म सद्यः नष्ट हो जाते हैं॥ ४५॥

न ज्ञानसमतामेति पवित्रमितरन्नृप।
आत्मन्येवावगच्छन्ति योगात्कालेन योगिनः॥ ४६॥

हे राजन्! ज्ञानके समान और कोई वस्तु पवित्र नहीं है, योगसिद्ध महात्मा उस ज्ञानको यथासमय स्वयं ही प्राप्त करते हैं॥ ४६॥

भक्तिमानिन्द्रियजयी तत्परो ज्ञानमाप्नुयात्।
लब्ध्वा तत्परमं मोक्षं स्वल्पकालेन यात्यसौ॥ ४७॥

इन्द्रियोंको वशमें करनेवाला भक्तिमान्, तत्पर पुरुष ही ज्ञानको

प्राप्त कर सकता है और ज्ञान प्राप्त होनेसे थोड़े समयमें ही वह मुक्तिको प्राप्त हो जाता है॥ ४७॥

भक्तिहीनोऽश्रद्दधानः सर्वत्र संशयी तु यः।
तस्य शं नापि विज्ञानमिह लोकोऽथ वा परः॥ ४८॥

जो भक्तिहीन, श्रद्धारहित और सर्वत्र संदिग्धचित्तवाला है, उसे कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती, न ज्ञान होता है तथा उसका इहलोक और परलोक नष्ट हो जाता है॥ ४८॥

आत्मज्ञानरतं ज्ञाननाशिताखिलसंशयम्।
योगास्ताखिलकर्माणं बध्नन्ति भूप तानि न॥ ४९॥

हे राजन्! जो आत्मज्ञानमें रत हैं, जिन्होंने ज्ञानसे सभी सन्देह दूर कर लिये हैं तथा योगमें स्थित होकर जिनके कर्म क्षीण हो गये हैं, वे बन्धनमें नहीं पड़ते॥ ४९॥

ज्ञानखड्गप्रहारेण सम्भूतामज्ञतां बलात्।
छित्त्वान्तःसंशयं तस्माद्योगयुक्तो भवेन्नरः॥ ५०॥

इस कारण ज्ञानरूपी खड्गसे मनके अज्ञान तथा संशयको बलपूर्वक काटकर मनुष्यको योगका आश्रय लेना उचित है॥ ५०॥

॥ इति श्रीगणेशपुराणे गजाननवरेण्यसंवादे गणेशगीतायां ज्ञानयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

चौथा अध्याय

संन्यासयोग

वरेण्य उवाच

संन्यस्तिश्चैव योगश्च कर्मणां वर्ण्यते त्वया।
उभयोर्निश्चितं त्वेकं श्रेयो यद्वद मे प्रभो॥ १॥

वरेण्य बोले—हे भगवन्! आप कर्मसंन्यास (अर्थात् निष्कामभावसे कर्म करते-करते विशुद्ध चित्त होनेपर कर्मत्याग करने)-को ज्ञानका

कारण कहकर फिर कर्मयोगको ज्ञानका कारण कहते हैं, इन दोनोंमें जो हितकारी हो, उसे कहिये॥ १॥

श्रीगजानन उवाच

क्रियायोगो वियोगश्चाप्युभौ मोक्षस्य साधने।
तयोर्मध्ये क्रियायोगस्त्यागात्तस्य विशिष्यते॥ २॥

श्रीगणेशजी बोले—(अधिकारियोंके भेदसे) कर्मयोग और कर्मसंन्यास दोनों ही मुक्तिके साधन हैं, उन दोनोंमें कर्मसंन्याससे कर्मयोगमें विशेषता है॥ २॥

द्वन्द्वदुःखसहोऽद्वेष्टा यो न काङ्क्षति किञ्चन।
मुच्यते बन्धनात्सद्यो नित्यं संन्यासवान् सुखम्॥ ३॥

जो द्वन्द्व और दुःखको सहकर किसीसे द्वेष नहीं करता और किसी बातकी इच्छा नहीं करता, ऐसा प्राणी अनायास तत्काल कर्मबन्धनसे सदा मुक्त हो जाता है॥ ३॥

वदन्ति भिन्नफलकौ कर्मणस्त्यागसङ्ग्रहौ।
मूढाल्पज्ञास्तयोरेकं सयुञ्जीत विचक्षणः॥ ४॥

कर्मसंन्यास और कर्मयोगको मूढ़ और अज्ञानी ही पृथक्-पृथक् कहते हैं, परंतु पण्डितगण उन्हें एक ही मानते हैं॥ ४॥

यदेव प्राप्यते त्यागात्तदेव योगतः फलम्।
सङ्ग्रहं कर्मणो योगं यो विन्दति स विन्दति॥ ५॥

जो फल कर्मसंन्याससे मिलता है, वही फल कर्मयोगसे प्राप्त होता है, कर्मसंन्यास और कर्मयोगको जो एक जानता है, वही यथार्थ ज्ञाता है॥ ५॥

केवलं कर्मणां न्यासं संन्यासं न विदुर्बुधाः।
कुर्वन्निच्छया कर्म योगी ब्रह्मैव जायते॥ ६॥

पण्डितजन केवल कर्मके संन्यासको ही संन्यास नहीं कहते, यदि

योगी अनिच्छासे कर्म करे तो वह ब्रह्म ही हो जाता है॥ ६॥

निर्मलो यतचित्तात्मा जितगो योगतत्परः।
आत्मानं सर्वभूतस्थं पश्यन् कुर्वन्न लिप्यते॥ ७॥

शुद्धचित्त, मनको वशमें करनेवाले, जितेन्द्रिय, योगमें तत्पर और सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित आत्माको देखनेवाले कर्म करते हुए भी लिप्त नहीं होते॥ ७॥

तत्त्वविद्योगयुक्तात्मा करोमीति न मन्यते।
एकादशानीन्द्रियाणि कुर्वन्ति कर्म संख्यया॥ ८॥

तत्त्वको जाननेवाला योगयुक्त आत्मवान् पुरुष 'मैं कर्ता हूँ', ऐसा नहीं मानता, अपितु मनसहित एकादश इन्द्रियाँ कर्म करती हैं, ऐसा मानता है॥ ८॥

तत्सर्वमर्पयेद्ब्रह्मण्यपि कर्म करोति यः।
न लिप्यते पुण्यपापैर्भानुर्जलगतो यथा॥ ९॥

जो कर्म करनेवाला सारे कर्म ब्रह्ममें अर्पण कर देता है, वह उसी प्रकार पाप-पुण्यसे लिप्त नहीं होता, जैसे जलमें पड़ा हुआ सूर्यका बिम्ब उससे लिप्त नहीं होता॥ ९॥

कायिकं वाचिकं बौद्धमैन्द्रियं मानसं तथा।
त्यक्त्वाशां कर्म कुर्वन्ति योगज्ञाश्चित्तशुद्धये॥ १०॥

योगके जाननेवाले चित्तशुद्धिके निमित्त आशा (फलाशा)-का त्यागकर शरीर, वचन, बुद्धि, इन्द्रिय और मनसे कर्म करते हैं॥ १०॥

योगहीनो नरः कर्म फलेहया करोत्यलम्।
बध्यते कर्मबीजैः स ततो दुःखं समश्नुते॥ ११॥

योगहीन मनुष्य कर्मोंको फलकी इच्छासे करता है, वह कर्मबीजसे बँध जाता है और इसीसे दुःखको प्राप्त होता है॥ ११॥

मनसा सकलं कर्म त्यक्त्वा योगी सुखं वसेत्।
न कुर्वन् कारयन् वापि नन्दञ्श्वभ्रे सुपत्तने॥ १२॥
न क्रिया न च कर्तृत्वं कस्यचित्सृज्यते मया।
न क्रियाबीजसम्पर्कः शक्त्या तत्क्रियतेऽखिलम्॥ १३॥
कस्यचित्पुण्यपापानि न स्पृशामि विभुर्नृप।
ज्ञानमूढा विमुह्यन्ते मोहेनावृतबुद्धयः॥ १४॥

योगीको उचित है कि मनसे सम्पूर्ण कर्मोंको त्यागकर सुखसे रहे तथा उत्तम नगरमें आनन्दसे वास करता हुआ भी न कुछ करे, न कराये और ऐसा जाने कि न कोई क्रिया करता हूँ, न कोई कर्तृत्वपना मुझमें है, न मैं कोई निर्माण करता हूँ, न मेरा क्रियाके बीजसे सम्बन्ध है, यह सब कुछ शक्ति अर्थात् प्रकृतिसे स्वयं होता रहता है। हे राजन्! मैं विभु आत्मा किसीके पुण्य और पापोंको स्पर्श नहीं करता हूँ, मोहसे मलिन बुद्धिवाले अज्ञानी ही मोहको प्राप्त होते हैं॥ १२—१४॥

विवेकेनात्मनोऽज्ञानं येषां नाशितमात्मना।
तेषां विकाशमायाति ज्ञानमादित्यवत्परम्॥ १५॥

जिन्होंने विवेकके द्वारा स्वयं ही अपना अज्ञान नष्ट किया है, उनका ज्ञान सूर्यके समान परम प्रकाशित होता है॥ १५॥

मन्निष्ठा मद्धियोऽत्यन्तं मच्चित्ता मयि तत्पराः।
अपुनर्भवमायान्ति विज्ञानान्नाशितैनसः॥ १६॥

जिनकी निष्ठा और बुद्धि मुझमें ही है, जिनका चित्त मुझमें अत्यन्त आसक्त है और जो सदा मेरे परायण हैं, वे श्रेष्ठ ज्ञानद्वारा पापका नाश करके मुक्त हो जाते हैं॥ १६॥

ज्ञानविज्ञानसंयुक्ते द्विजे गवि गजादिषु।
समेक्षणा महात्मानः पण्डिताः श्वपचे शुनि॥ १७॥

महात्मा पण्डितजन ज्ञानविज्ञानयुक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी आदि

प्राणी, चाण्डाल और श्वान—इन सबमें समान दृष्टि रखते हैं॥ १७॥

वश्यः स्वर्गो जगत्तेषां जीवन्मुक्ताः समेक्षणाः।
यतोऽदोषं ब्रह्म समं तस्मात्तैर्विषयीकृतम्॥ १८॥

जिनका मन समतामें स्थित है, वे जीवन्मुक्त संसार और स्वर्गको जीत चुके हैं, कारण कि ब्रह्म निर्दोष और समतायुक्त है, इस कारण वे ब्रह्ममें स्थित रहते हैं॥ १८॥

प्रियाप्रिये प्राप्य हर्षद्वेषौ ये प्राप्नुवन्ति न।
ब्रह्माश्रिता असम्मूढा ब्रह्मज्ञाः समबुद्धयः॥ १९॥

जो महात्मा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें हर्ष-शोक नहीं करते, वे समत्वबुद्धिसे युक्त ज्ञानीजन ब्रह्ममें स्थित तथा ब्रह्मके जाननेवाले हैं॥ १९॥

वरेण्य उवाच

किं सुखं त्रिषु लोकेषु देवगन्धर्वयोनिषु।
भगवन् कृपया तन्मे वद विद्याविशारद॥ २०॥

वरेण्य बोले—भगवन्! तीनों लोकों तथा देवता और गन्धर्व आदि योनियोंमें यथार्थ सुख क्या है? हे विद्याविशारद! कृपाकर आप मुझसे यह वर्णन कीजिये॥ २०॥

श्रीगजानन उवाच

आनन्दमश्नुतेऽसक्तः स्वात्मारामो निजात्मनि।
अविनाशि सुखं तद्धि न सुखं विषयादिषु॥ २१॥

श्रीगणेशजी बोले—जो अपनी आत्मामें ही रमण करते हैं और कहीं आसक्त नहीं होते, वे ही आनन्द भोगते हैं, उसीका नाम अविनाशी सुख है, विषयादिकोंमें (वास्तविक) सुख नहीं है॥ २१॥

विषयोत्थानि सौख्यानि दुःखानां तानि हेतवः।
उत्पत्तिनाशयुक्तानि तत्रासक्तो न तत्त्ववित्॥ २२॥

विषयोंसे उत्पन्न हुए सुख तो दुःखके ही कारण हैं और उत्पत्ति

तथा नाशवाले हैं। तत्त्ववित् उनमें आसक्त नहीं होते॥ २२॥

कारणे सति कामस्य क्रोधस्य सहते च यः।
तौ जेतुं वर्ष्मविरहात्स सुखं चिरमश्नुते॥ २३॥

काम, क्रोध आदिका कारण उपस्थित रहनेपर भी जो उनके आवेगको रोक लेता है तथा शरीरके प्रति अनासक्त होकर उन्हें जीतनेका प्रयत्न करता है, वह बहुत कालतक सुख भोगता है॥ २३॥

अन्तर्निष्ठोऽन्तःप्रकाशोऽन्तःसुखोऽन्तारतिर्लभेत्।
असन्दिग्धोऽक्षयं ब्रह्म सर्वभूतहितार्थकृत्॥ २४॥

जिनके हृदयमें निष्ठा है, ज्ञानका प्रकाश है, सुख है तथा वैराग्य है, जो सब प्राणियोंका हित करता है, वह निश्चय ही अक्षय ब्रह्मको प्राप्त करता है॥ २४॥

जेतारः षड्रिपूणां ये शमिनो दमिनस्तथा।
तेषां समन्ततो ब्रह्म स्वात्मज्ञानां विभात्यहो॥ २५॥

जो काम-क्रोधादि छहों शत्रुओंको जीत चुके हैं, जो शम और दमका पालन करते हैं, उन आत्मज्ञानियोंको सर्वत्र ब्रह्म ही दीखता है॥ २५॥

आसनेषु समासीनस्त्यक्त्वेमान् विषयान् बहिः।
संस्तभ्य भ्रुकुटीमास्ते प्राणायामपरायणः॥ २६॥

सब बाह्य विषयोंका त्यागकर एकान्तमें आसनमें स्थित हो, दृष्टिको भ्रूमध्यमें स्थिरकर प्राणायाम करे॥ २६॥

प्राणायामं तु संरोधं प्राणापानसमुद्भवम्।
वदन्ति मुनयस्तं च त्रिधाभूतं विपश्चितः॥ २७॥

प्राण और अपान वायुके रोकनेको प्राणायाम कहते हैं, बुद्धिमान् ऋषियोंने उसके तीन भेद कहे हैं॥ २७॥

प्रमाणं भेदतो विद्धि लघुमध्यममुत्तमम्।
दशभिर्द्वादशैकैर्वर्णैः प्राणायामो लघुः स्मृतः॥ २८॥

प्रमाणके भेदसे प्राणायाम लघु, मध्यम और उत्तम—तीन प्रकारका है, बारह अक्षरका प्राणायाम लघु कहलाता है॥ २८॥

चतुर्विंशत्यक्षरो यो मध्यमः स उदाहृतः।
षट्त्रिंशल्लघुवर्णो य उत्तमः सोऽभिधीयते॥ २९॥

चौबीस अक्षरोंका मध्यम और छत्तीस अक्षरोंका उत्तम कहा जाता है॥ २९॥

सिंहं शार्दूलकं वापि मत्तेभं मृदुतां यथा।
नयन्ति प्राणिनस्तद्वत्प्राणापानौ सुसाधयेत्॥ ३०॥

सिंह, व्याघ्र अथवा मतवाले हाथीको जैसे मनुष्य नम्र करके अपने अधीन करता है, इसी प्रकार प्राण और अपान वायुको साधना चाहिये॥ ३०॥

पीडयन्ति मृगांस्ते न लोकान् वश्यंगतान्नृप।
दहत्येनस्तथा वायुः संस्तब्धो न च तत्तनुम्॥ ३१॥

हे राजन्! जिस प्रकार अपने वशमें हुए सिंहादि मृगोंको सताते हैं, किंतु वशमें करनेवाले लोगोंको पीड़ा नहीं देते, इसी प्रकार यह वायु प्राणायामसे स्थिर होकर पापोंको भस्म करता है, परंतु शरीरको नहीं जलाता॥ ३१॥

यथा यथा नरः कश्चित्सोपानावलिमाक्रमेत्।
तथा तथा वशीकुर्यात्प्राणापानौ हि योगवित्॥ ३२॥

जिस प्रकार क्रमसे मनुष्य सीढ़ियोंपर चढ़ता है, इसी प्रकार योगीके लिये क्रमसे प्राणापानको वशमें करना उचित है॥ ३२॥

पूरकं कुम्भकं चैव रेचकं च ततोऽभ्यसेत्।
अतीतानागतज्ञानी ततः स्याज्जगतीतले॥ ३३॥

* पूरक-कुम्भक और रेचकका अभ्यास करके यह प्राणी इस जगत्में भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालका ज्ञाता हो जाता है॥ ३३॥

प्राणायामैर्द्वादशभिरुत्तमैर्धारणा मता।
योगस्तु धारणे द्वे स्याद्योगीशस्ते सदाभ्यसेत्॥ ३४॥

बारह उत्तम प्राणायामसे उत्तम धारणा होती है, दो धारणासे योग सिद्ध होता है, योगी निरन्तर धारणाका अभ्यास करे॥ ३४॥

एवं यः कुरुते राजंस्त्रिकालज्ञः स जायते।
अनायासेन तस्य स्याद्वश्यं लोकत्रयं नृप॥ ३५॥

हे राजन्! जो इस प्रकार साधना करते हैं, उन्हें त्रिकालका ज्ञान हो जाता है और अनायास त्रिलोकी उनके वशमें हो जाती है॥ ३५॥

ब्रह्मरूपं जगत्सर्वं पश्यति स्वान्तरात्मनि।
एवं योगश्च संन्यासः समानफलदायिनौ॥ ३६॥

वह अपने अन्तरात्मामें सब जगत्को ब्रह्मरूप देखता है। इस प्रकारसे कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों समान फलके देनेवाले हैं॥ ३६॥

जन्तूनां हितकर्तारं कर्मणां फलदायिनम्।
मां ज्ञात्वा मुक्तिमाप्नोति त्रैलोक्यस्येश्वरं विभुम्॥ ३७॥

सब प्राणियोंके हितकारी और कर्मका फल देनेवाले एवं त्रिलोकीके व्यापक मुझ ईश्वरको जानकर मनुष्य मुक्त हो जाते हैं॥ ३७॥

॥ इति श्रीगणेशपुराणे गजाननवरेण्यसंवादे गणेशगीतायां वैधसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

* पूरक—वायुको ऊपर खींचना, कुम्भक—वायुका रोध करना, रेचक—वायुका त्याग करना—ये तीन प्राणायामके अंग हैं।

पाँचवाँ अध्याय

योगवृत्तिकी प्रशंसा

श्रीगजानन उवाच

श्रौतस्मार्तानि कर्माणि फलं नेच्छन् समाचरेत्।
शस्तः स योगी राजेन्द्र अक्रियायोगमाश्रितात्॥ १॥

श्रीगणेशजी बोले—हे राजन्! जो श्रुति और स्मृतिमें कहे हुए कर्मोंको फलकी इच्छा न करके करता है, वह योगी कर्मका त्याग करनेवाले योगियोंसे श्रेष्ठ है॥ १॥

योगप्राप्त्यै महाबाहो हेतुः कर्मैव मे मतम्।
सिद्धियोगस्य संसिद्ध्यै हेतुः शमदमौ मतौ॥ २॥

हे महाभुज! मेरे मतमें योगप्राप्तिके निमित्त कर्म ही कारण है, योगसिद्धिकी सिद्धिके निमित्त शम और दम ही कारण हैं॥ २॥

इन्द्रियार्थांश्च सङ्कल्प्य कुर्वन् स्वस्य रिपुर्भवेत्।
एताननिच्छन् यः कुर्वन् सिद्धिं योगी च सिद्ध्यति॥ ३॥

इन्द्रियोंके विषयोंका संकल्पकर कर्म करनेवाला अपना शत्रु होता है और जो इनकी इच्छा न कर कर्म करता है, वही योगी सिद्धिको प्राप्त होता है॥ ३॥

सुहृत्त्वे च रिपुत्वे च उद्धारे चैव बन्धने।
आत्मनैवात्मनो ह्यात्मा नात्मा भवति कश्चन॥ ४॥

एकमात्र आत्मा ही आत्माका मित्र और शत्रु है, यही ज्ञान होनेसे उद्धार करता है और यही अज्ञान होनेसे बन्धनमें डालता है, दूसरा कोई नहीं॥ ४॥

मानेऽपमाने दुःखे च सुखे सुहृदि साधुषु।
मित्रेऽमित्रेऽप्युदासीने द्वेष्ये लोष्ठे च काञ्चने॥ ५॥

समो जितात्मा विज्ञानी ज्ञानीन्द्रियजयावहः।
अभ्यसेत्सततं योगं यदा युक्ततमो हि सः॥ ६॥

मान, अपमान, सुख, दुःख, बन्धु, साधु, मित्र, अमित्र, उदासीन, द्वेषी, मिट्टीके ढेले और सुवर्ण इत्यादिमें समान बुद्धि रखनेवाला, जितेन्द्रिय, विज्ञानी, जितात्मा सदा योगका अभ्यास करता रहे, जबतक कि उसको योगकी सिद्धि न हो जाय॥ ५-६॥

तप्तः श्रान्तो व्याकुलो वा क्षुधितो व्यग्रचित्तकः।
कालेऽतिशीतेऽत्युष्णे वानिलाग्न्यम्बुसमाकुले॥ ७॥
सध्वनावतिजीर्णे गोः स्थाने साग्नौ जलान्तिके।
कूपकूले श्मशाने च नद्यां भित्तौ च मर्मरे॥ ८॥
चैत्ये सवल्मिके देशे पिशाचादिसमावृते।
नाभ्यसेद्योगविद्योगं योगध्यानपरायणः॥ ९॥

जो संतप्त हो, श्रान्त हो, व्याकुल, क्षुधित अथवा व्यग्रचित्त हो, वह योगाभ्यास न करे। अतिशीतकाल अथवा अति उष्णकाल, अग्नि, वायु और जलकी अधिकतावाले देशमें, जिस स्थानमें ध्वनि अधिक हो, जो टूटा-फूटा हो, गोष्ठ, अग्निके निकट, जलके निकट, कूपके निकट, श्मशान, नदी, दीवारके निकट तथा जहाँ शुष्क पर्णका शब्द सुनायी पड़ता हो, चैत्य वृक्षके नीचे, वल्मीक (बाँबी)-वाले स्थानमें और पिशाचादिसे युक्त स्थानमें योगध्यानपरायण योगी योगाभ्यास न करे॥ ७—९॥

स्मृतिलोपश्च मूकत्वं बाधिर्यं मन्दता ज्वरः।
जडता जायते सद्यो दोषाज्ञानाद्धि योगिनः॥ १०॥

स्मृतिका लोप होना, गूँगापन, बधिरता, मन्दता, ज्वर, जड़ता—ये सब दोष अज्ञानसे योगीको होते हैं॥ १०॥

एते दोषाः परित्याज्या योगाभ्यसनशालिना।
अनादरे हि चैतेषां स्मृतिलोपादयो ध्रुवम्॥ ११॥

योगाभ्यासीको ये सब दोषपूर्ण स्थान त्याग देने चाहिये, ऐसा न करनेसे अवश्य स्मृतिलोप आदि दोष होते हैं (अतः उपर्युक्त स्थानोंमें योगसाधन न करे)॥ ११॥

नातिभुञ्जन् सदा योगी नाभुञ्जन्नातिनिद्रितः।
नातिजाग्रत्सिद्धिमेति भूप योगं सदाभ्यसन्॥ १२॥

हे राजन्! योगी सदा थोड़ा भोजन करे, बिना भोजन किये भी न रहे, न बहुत सोये, न बहुत जागे—इस प्रकार सदा योगाभ्यास करनेसे सिद्धिको प्राप्त हो जाता है॥ १२॥

सङ्कल्पजांस्त्यजेत्कामान्नियताहारजागरः ।
नियम्य खगणं बुद्ध्या विरमेत शनैः शनैः॥ १३॥

सम्पूर्ण इच्छा और कामनाओंका त्याग करे, थोड़ा भोजन करे, जागरणशील हो, बुद्धिसे सब इन्द्रियोंको वशमें करके शनैः-शनैः शान्तिको प्राप्त हो॥ १३॥

ततस्ततः कृषेदेतद्यत्र यत्रानुगच्छति।
धृत्यात्मवशगं कुर्याच्चित्तं चञ्चलमादृतः॥ १४॥

जिस-जिस स्थानमें मन जाय, उस-उस स्थानसे उसे खींचे और धैर्यसे उसे अपने वशमें करे, क्योंकि वह महाचंचल है॥ १४॥

एवं कुर्वन् सदा योगी परां निर्वृतिमृच्छति।
विश्वस्मिन्निजमात्मानं विश्वं च स्वात्मनीक्षते॥ १५॥

योगी सदा इस प्रकार करनेसे परम शान्तिको प्राप्त होता है और वह संसारमें अपनी आत्माको और अपनी आत्मामें संसारको देखता है॥ १५॥

योगेन यो मामुपैति तमुपैम्यहमादरात्।
मोचयामि न मुञ्चामि तमहं मां स न त्यजेत्॥ १६॥

योगसे जो मुझको प्राप्त होता है, उसको मैं आदरपूर्वक प्राप्त होता हूँ और जो मुझे नहीं छोड़ता है, उसको मैं नहीं छोड़ता हूँ तथा संसारसे मुक्त कर देता हूँ॥ १६॥

सुखे सुखेतरे द्वेषे क्षुधि तोषे समस्तृषि।
आत्मसाम्येन भूतानि सर्वगं मां च वेत्ति यः॥ १७॥
जीवन्मुक्तः स योगीन्द्रः केवलं मयि सङ्गतः।
ब्रह्मादीनां च देवानां स वन्द्यः स्याज्जगत्त्रये॥ १८॥

सुख-दुःख, द्वेष, क्षुधा, सन्तोष और तृषा—इनमें जो आत्माके समान सब प्राणियोंको देखता है, जो मुझ सर्वव्यापीको जानता है और जो केवल मुझमें संलग्न है, वह जीवन्मुक्त है और वह त्रिलोकीमें ब्रह्मादिक देवताओंद्वारा नमस्कार करनेयोग्य है॥ १७-१८॥

वरेण्य उवाच

द्विविधोऽपि हि योगोऽयमसम्भाव्यो हि मे मतः।
यतोऽन्तःकरणं दुष्टं चञ्चलं दुर्ग्रहं विभो॥ १९॥

वरेण्य बोले—हे भगवन्! इन दोनों प्रकारके योगोंको मैं महाकठिन देखता हूँ, कारण कि मन बड़ा दुष्ट और चंचल है तथा इसका निग्रह करना कठिन है॥ १९॥

श्रीगजानन उवाच

यो निग्रहं दुर्ग्रहस्य मनसः सम्प्रकल्पयेत्।
घटीयन्त्रसमादस्मान्मुक्तः संसृतिचक्रकात्॥ २०॥

श्रीगणेशजी बोले—[हे राजन्!] जो निग्रह करनेमें कठिन इस मनका नियमन करता है, वह घटीयन्त्रके समान घूमनेवाले इस संसारचक्रसे मुक्त हो जाता है॥ २०॥

विषयैः क्रकचैरेतत्संसृष्टं चक्रकं दृढम्।
जनश्छेत्तुं न शक्नोति कर्मकीलैः सुसंवृतम्॥ २१॥

विषयरूपी अरोंसे यह दृढ़ चक्र बना हुआ है और कर्मरूपी कीलोंसे अच्छी प्रकार जड़ा हुआ है, इस कारण साधारण मनुष्य इसके छेदन करनेमें समर्थ नहीं होते॥ २१॥

अतिदुःखं च वैराग्यं भोगाद्वैतृष्ण्यमेव च।
गुरुप्रसादः सत्सङ्ग उपायास्तज्जये अमी॥ २२॥

अतिशय दुःख, वैराग्य, भोगमें तृष्णाका त्याग, गुरुकी कृपा, सत्संग—ये इस (मन)-के जीतनेके उपाय हैं॥ २२॥

अभ्यासाद्वा वशीकुर्यान्मनो योगस्य सिद्धये।
वरेण्य दुर्लभो योगो विनास्य मनसो जयात्॥ २३॥

योगसिद्धिके निमत्त अभ्याससे मनको अपने वशमें करे, हे वरेण्य! बिना मनके जीते योग महाकठिन है॥ २३॥

वरेण्य उवाच

योगभ्रष्टस्य को लोकः का गतिः किं फलं भवेत्।
विभो सर्वज्ञ मे छिन्धि संशयं बुद्धिचक्रभृत्॥ २४॥

वरेण्य बोले—हे भगवन्! योगभ्रष्टको किस लोककी प्राप्ति होती है, उसकी क्या गति होती है और क्या फल होता है? हे सर्वज्ञ! हे बुद्धिरूपी चक्रको धारण करनेवाले! मेरे इस सन्देहका छेदन कीजिये॥ २४॥

श्रीगजानन उवाच

दिव्यदेहधरो योगाद् भ्रष्टः स्वर्भोगमुत्तमम्।
भुक्त्वा योगिकुले जन्म लभेच्छुद्धिमतां कुले॥ २५॥

श्रीगणेशजी बोले—[हे राजन्!] योगभ्रष्ट पुरुष दिव्य देह धारणकर स्वर्गमें जाते हैं, वहाँ उत्तम सुख भोगकर पुनः शुद्ध

योगियोंके कुलमें जन्म लेते हैं॥ २५॥

पुनर्योगी भवत्येष संस्कारात्पूर्वकर्मजात्।
न हि पुण्यकृतां कश्चिन्नरकं प्रतिपद्यते॥ २६॥

और फिर पूर्व जन्मोंके संस्कारसे यह योगी होता है। कोई भी पुण्यकर्म करनेवाला नरकको नहीं जाता॥ २६॥

ज्ञाननिष्ठात्तपोनिष्ठात्कर्मनिष्ठान्नराधिप ।
श्रेष्ठो योगी श्रेष्ठतमो भक्तिमान् मयि तेषु यः॥ २७॥

हे राजन्! ज्ञाननिष्ठासे, तपकी निष्ठासे अथवा कर्मनिष्ठासे जो मुझमें भक्ति करता है, वह अत्यन्त श्रेष्ठ योगी है॥ २७॥

॥ इति श्रीगणेशपुराणे गजाननवरेण्यसंवादे गणेशगीतायां योगवृत्तिप्रशंसनं नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

छठा अध्याय

श्रीगणेशजीका राजा वरेण्यको अपने तात्त्विक स्वरूपका परिचय देना

श्रीगजानन उवाच

ईदृशं विद्धि मे तत्त्वं मद्गतेनान्तरात्मना।
यज्ज्ञात्वा मामसन्दिग्धं वेत्सि मोक्ष्यसि सर्वगम्॥ १॥

श्रीगणेशजी बोले—[हे राजन्!] इस प्रकार मुझमें मन लगाकर मेरा वह तत्त्व जानो, जिसके जाननेसे मुझे सर्वगत और यथार्थ जानकर मुक्त हो जाओगे॥ १॥

तत्तेऽहं शृणु वक्ष्यामि लोकानां हितकाम्यया।
अस्ति ज्ञेयं यतो नान्यन्मुक्तेश्च साधनं नृप॥ २॥

हे राजन्! लोगोंके ऊपर अनुग्रहकी इच्छासे वह तत्त्व मैं तुमसे वर्णन करता हूँ, जिसके जाननेसे दूसरे मुक्तिके साधन जाननेकी आवश्यकता नहीं रहती॥ २॥

ज्ञेया मत्प्रकृतिः पूर्वं ततः स्याज्ज्ञानगोचरः।
ततो विज्ञानसम्पत्तिर्मयि ज्ञाते नृणां भवेत्॥ ३॥

प्रथम तो मेरी प्रकृतिको जानना चाहिये, उससे ज्ञान प्राप्त होता है, इसके उपरान्त मेरा ज्ञान होनेसे प्राणियोंको विज्ञान-सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है॥ ३॥

भ्वानलौ खमहङ्कारः कं चित्तं धीसमीरणौ।
रवीन्दू यागकृच्चैकादशधा प्रकृतिर्मम॥ ४॥

पृथ्वी, अग्नि, आकाश, अहंकार, जल, चित्त, बुद्धि, वायु, रवि, चन्द्र, यजमान—यह ग्यारह प्रकारकी मेरी (अपरा) प्रकृति है॥ ४॥

अन्यां मत्प्रकृतिं वृद्धा मुनयः सङ्गिरन्ति च।
तथा त्रिविष्टपं व्याप्तं जीवत्वं गतयानया॥ ५॥

और भी वृद्ध मुनिजन ऐसा वर्णन करते हैं कि आने-जानेवाली, जीवत्वको प्राप्त हुई तथा त्रिलोकीमें व्याप्त भी मेरी दूसरी (परा) प्रकृति है॥ ५॥

आभ्यामुत्पद्यते सर्वं चराचरमयं जगत्।
सङ्गाद्विश्वस्य सम्भूतिः परित्राणं लयोऽप्यहम्॥ ६॥

इन दोनोंसे ही समस्त चराचर जगत् उत्पन्न होता है और इस जगत्की उत्पत्ति, पालन और नाशका कर्ता मैं ही हूँ॥ ६॥

तत्त्वमेतन्निबोद्धुं मे यतते कश्चिदेव हि।
वर्णाश्रमवतां पुंसां पुरा चीर्णेन कर्मणा॥ ७॥

मेरे इस तत्त्वको जाननेके निमित्त वर्णाश्रमी पुरुषोंमें पूर्वजन्मके कर्मोंके अनुसार कोई एक यत्न करता है॥ ७॥

साक्षात्करोति मां कश्चिद्यत्नवत्स्वपि तेषु च।
मत्तोऽन्यन्नेक्षते किञ्चिन्मयि सर्वं च वीक्षते॥ ८॥

उन यत्नवानोंमें कोई एक मेरा साक्षात् करता है, मुझसे अन्य और किसीको नहीं देखता और मुझमें सम्पूर्ण जगत्को देखता है॥ ८॥

क्षितौ सुगन्धरूपेण तेजोरूपेण चाग्निषु।
प्रभारूपेण पूष्ण्यब्जे रसरूपेण चाप्सु च॥ ९ ॥
धीतपोबलिनां चाहं धीस्तपो बलमेव च।
त्रिविधेषु विकारेषु मदुत्पन्नेष्वहं स्थितः॥ १०॥

पृथ्वीमें सुगन्धिरूपसे, अग्निमें तेजरूपसे, सूर्य और चन्द्रमें प्रभारूपसे, जलमें रसरूपसे, बुद्धिमान्, तपस्वी एवं बलिष्ठोंमें बुद्धि, तप और बलरूपसे और मुझसे ही उत्पन्न हुए तीन प्रकारके विकारोंमें मैं ही स्थित हूँ॥ ९-१०॥

न मां विन्दति पापीयान् मायामोहितचेतनः।
त्रिविकारा मोहयति प्रकृतिर्मे जगत्त्रयम्॥ ११॥

मायासे मोहित चित्तवाले पापी मुझे नहीं जानते, तीन प्रकारके विकार (सत्, रज, तम)-वाली मेरी प्रकृति त्रिलोकीको मोहित करती रहती है॥ ११॥

यो मे तत्त्वं विजानाति मोहं त्यजति सोऽखिलम्।
अनेकैर्जन्मभिश्चैवं ज्ञात्वा मां मुच्यते ततः॥ १२॥

जो मेरे तत्त्वको जानता है, वह सम्पूर्ण मोहका त्याग करता है और अनेक जन्मोंमें मुझे जानकर प्राणी मुक्त हो जाता है॥ १२॥

अन्ये नानाविधान् देवान् भजन्ते तान् व्रजन्ति ते।
यथा यथा मतिं कृत्वा भजते मां जनोऽखिलः॥ १३॥
तथा तथास्य तं भावं पूरयाम्यहमेव तम्।
अहं सर्वं विजानामि मां न कश्चिद्विबुद्ध्यते॥ १४॥

जो अनेक प्रकारके देवताओंका भजन करते हैं, वे उन्हींको प्राप्त होते हैं। सम्पूर्ण मनुष्य जैसी-जैसी मति करके मेरा भजन करते हैं, उसी प्रकारसे मैं उनके भावको पूर्ण करता हूँ। मैं सबको जानता हूँ, किंतु मुझे कोई पूरी तरह नहीं जानता॥ १३-१४॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं न विदुः काममोहिताः।
नाहं प्रकाशतां यामि अज्ञानां पापकर्मणाम्॥ १५॥

मुझ अव्यक्तके व्यक्त स्वरूपको कामसे मोहित दृष्टिवाले नहीं जानते, अज्ञानी और पापी पुरुषोंके लिये मैं प्रकट नहीं होता हूँ॥ १५॥

यः स्मृत्वा त्यजति प्राणमन्ते मां श्रद्धयान्वितः।
स यात्यपुनरावृत्तिं प्रसादान्मम भूभुज॥ १६॥

जो अन्त समयमें श्रद्धायुक्त होकर मेरा स्मरण करते हुए अपना शरीर त्याग करता है, हे राजन्! वह मेरी कृपासे मुक्त हो जाता है॥ १६॥

यं यं देवं स्मरन् भक्त्या त्यजति स्वं कलेवरम्।
तत्तत्सालोक्यमायाति तत्तद्भक्त्या नराधिप॥ १७॥

भक्तिपूर्वक जिस-जिस देवताको स्मरण करता हुआ प्राणी अपने कलेवरका त्याग करता है, हे राजन्! उनकी भक्ति करनेसे उन्हींके लोकको प्राप्त होता है॥ १७॥

अतश्चाहर्निशं भूप स्मर्तव्योऽनेकरूपवान्।
सर्वेषामप्यहं गम्यः स्रोतसामर्णवो यथा॥ १८॥

इस कारण हे राजन्! रात-दिन मेरे अनेक रूप स्मरण करनेयोग्य हैं, उन सबसे मैं ही उसी प्रकार प्राप्त होता हूँ, जैसे नदियोंका जल सागरमें ही जाता है॥ १८॥

ब्रह्मविष्णुशिवेन्द्राद्याँल्लोकान् प्राप्य पुनः पतेत्।
यो मामुपैत्यसन्दिग्धः पतनं तस्य न क्वचित्॥ १९॥

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्रादि लोकोंको प्राप्त होकर वह फिर संसारमें जन्म लेता है, किंतु जो असन्दिग्ध होकर मुझको प्राप्त होता है, उसका फिर जन्म नहीं होता॥ १९॥

अनन्यशरणो यो मां भक्त्या भजति भूमिप।
योगक्षेमौ च तस्याहं सर्वदा प्रतिपादये॥ २०॥

हे राजन्! जो अनन्यशरण होकर भक्तिसे मेरा भजन करता है, मैं सदा उसके योगक्षेम (मंगल)-का विधान करता हूँ॥ २०॥

विविधा गतिरुद्दिष्टा शुक्ला कृष्णा नृणां नृप।
एकया परमं ब्रह्म परया याति संसृतिम्॥ २१॥

हे राजन्! मनुष्योंकी कृष्ण और शुक्लपक्षके भेदसे अनेक गतियाँ हैं, एकसे प्राणी संसारमें आता है और दूसरीसे परब्रह्मको प्राप्त होता है॥ २१॥

॥ इति श्रीगणेशपुराणे गजाननवरेण्यसंवादे गणेशगीतायां बुद्धियोगो नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

सातवाँ अध्याय

श्रीगणेशजीका राजा वरेण्यसे उपासना-योगका वर्णन करना

वरेण्य उवाच

का शुक्ला गतिरुद्दिष्टा का च कृष्णा गजानन।
किं ब्रह्म संसृतिः का मे वक्तुमर्हस्यनुग्रहात्॥ १॥

वरेण्य बोले—हे गजानन! शुक्लागति और कृष्णागति किसको कहते हैं, ब्रह्म क्या है और संसृति क्या है, यह सब आप मुझसे कृपाकर कहिये॥ १॥

श्रीगजानन उवाच

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्ला कर्मार्हमयनं गतिः।
चान्द्रं ज्योतिस्तथा धूमो रात्रिश्च दक्षिणायनम्॥ २॥
कृष्णैते ब्रह्मसंसृत्योरवाप्तेः कारणं गती।
दृश्यादृश्यमिदं सर्वं ब्रह्मैवेत्यवधारय॥ ३॥

श्रीगणेशजी बोले—अग्नि, ज्योति और दिवास्वरूपा शुक्लागति

होती है, जो उत्तरायण है, चन्द्र, ज्योति, धूम और रात्रिस्वरूपा कृष्णागति दक्षिणायन कही गयी है। ये दोनों गतियाँ कर्मानुसार जीवोंको ब्रह्म और संसारकी प्राप्तिमें कारण हैं। यह सब दृश्य और अदृश्य ब्रह्म ही है—ऐसा जानो॥ २-३॥

क्षरं पञ्चात्मकं विद्धि तदन्तरमक्षरं स्मृतम्।
उभाभ्यां यदतिक्रान्तं शुद्धं विद्धि सनातनम्॥ ४॥

पंचमहाभूतोंको क्षर कहते हैं, उसके अनन्तर अक्षर है, इन दोनोंका अतिक्रमणकर शुद्ध सनातन ब्रह्मको जानो॥ ४॥

अनेकजन्मसम्भूतिः संसृतिः परिकीर्तिता।
संसृतिं प्राप्नुवन्त्येते ये तु मां गणयन्ति न॥ ५॥

अनेक जन्मोंकी सम्भूति (आवागमन)-को संसृति कहते हैं, इस संसृतिको वे प्राप्त होते हैं, जो मुझे नहीं मानते॥ ५॥

ये मां सम्यगुपासन्ते परं ब्रह्म प्रयान्ति ते।
ध्यानाद्यैरुपचारैर्मां तथा पञ्चामृतादिभिः॥ ६॥

जो ध्यान, पूजन और पंचामृतादि उपचारोंसे सम्यक् प्रकारसे मेरी उपासना करते हैं, वे परब्रह्मको प्राप्त होते हैं॥ ६॥

स्नानवस्त्राद्यलङ्कारसुगन्धधूपदीपकैः ।
नैवेद्यैः फलताम्बूलैर्दक्षिणाभिश्च योऽर्चयेत्॥ ७॥
भक्त्यैकचेतसा चैव तस्येष्टं पूरयाम्यहम्।
एवं प्रतिदिनं भक्त्या मद्भक्तो मां समर्चयेत्॥ ८॥

स्नान, वस्त्र, अलंकार, उत्तम गन्ध, धूप, दीप, नैवेद्य, फल, ताम्बूल, दक्षिणा आदिसे भक्तिपूर्वक एकचित्तसे जो मेरी पूजा करता है, मैं उसके मनोरथको पूर्ण करता हूँ। इस प्रकार प्रतिदिन भक्तिपूर्वक मेरे भक्तको मेरी पूजा करनी चाहिये॥ ७-८॥

अथवा मानसीं पूजां कुर्वीत स्थिरचेतसा।
अथवा फलपत्राद्यैः पुष्पमूलजलादिभिः॥ ९॥

पूजयेन्मां प्रयत्नेन तत्तदिष्टं फलं लभेत्।
त्रिविधास्वपि पूजासु श्रेयसी मानसी मता॥ १०॥

अथवा स्थिरचित्तसे मानसीपूजा करे अथवा फल, पत्र, पुष्प, मूल, जल आदिसे जो यत्नपूर्वक मेरी पूजा करता है, वह इष्ट फलको प्राप्त करता है। तीनों प्रकारकी पूजामें मानसी पूजा श्रेष्ठ है॥ ९-१०॥

साप्युत्तमा मता पूजानिच्छया या कृता मम।
ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थो यतिश्च यः॥ ११॥
एकां पूजां प्रकुर्वाणोऽप्यन्यो वा सिद्धिमृच्छति।
मदन्यदेवं यो भक्त्या द्विषन्मामन्यदेवताम्॥ १२॥
सोऽपि मामेव यजते परं त्वविधितो नृप।
यो ह्यन्यदेवतां मां च द्विषन्नन्यां समर्चयेत्॥ १३॥
याति कल्पसहस्रं स निरयान् दुःखभाक् सदा।

वह भी यदि कामनारहित होकर की जाय तो अति उत्तम है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ या संन्यासी अथवा और कोई मेरी एक पूजाको करता है, वह सिद्धिको प्राप्त होता है। मुझे छोड़कर और मुझसे द्वेषकर जो अन्य किसी देवताका भक्तिसे पूजन करता है। हे राजन्! वह भी मेरी ही पूजा करता है, किंतु विधिपूर्वक नहीं, जो अन्य देवताका अथवा मेरा पूजन करके द्वेष करता है, वह सहस्र कल्पवर्षतक नरकमें पड़कर सदा दुःख भोगता है॥ ११—१३ $\frac{१}{२}$॥

भूतशुद्धिं विधायादौ प्राणानां स्थापनं ततः॥ १४॥
आकृष्य चेतसो वृत्तिं ततो न्यासमुपक्रमेत्।
कृत्वान्तर्मातृकान्यासं बहिश्चाथ षडङ्गमम्॥ १५॥

प्रथम भूतशुद्धि करके फिर प्राणायाम करे। फिर चित्तकी वृत्तियोंका निरोध करके न्यास करे, अन्तर्मातृकान्यास करके फिर बहिर्मातृकान्यास तथा षडंग न्यास करे॥ १४-१५॥

न्यासं च मूलमन्त्रस्य ततो ध्यात्वा जपेन्मनुम्।
स्थिरचित्तो जपेन्मन्त्रं यथा गुरुमुखागतम्॥ १६॥

इसके उपरान्त मूलमन्त्रका न्यास करके ध्यान करे और स्थिरचित्तसे गुरुमुखसे सुने हुए मन्त्रका जप करे॥ १६॥

जपं निवेद्य देवाय स्तुत्वा स्तोत्रैरनेकधा।
एवं मां य उपासीत स लभेन्मोक्षमव्ययम्॥ १७॥

फिर देवताके निमित्त जपको निवेदनकर अनेक प्रकारसे स्तोत्रका पाठ करे, इस प्रकारसे जो मेरी उपासना करता है, वह सनातनी मुक्तिको प्राप्त होता है॥ १७॥

य उपासनया हीनो धिङ्नरो व्यर्थजन्मभाक्।
यज्ञोऽहमौषधं मन्त्रोऽग्निराज्यं च हविर्हुतम्॥ १८॥

जो मनुष्य उपासनासे हीन है, उसे धिक्कार है और उसका जन्म वृथा है। यज्ञ, औषध, मन्त्र, अग्नि, आज्य, हवि और हुत—सब मेरा ही स्वरूप है॥ १८॥

ध्यानं ध्येयं स्तुतिं स्तोत्रं नतिर्भक्तिरुपासना।
त्रयी ज्ञेयं पवित्रं च पितामहपितामहः॥ १९॥

ध्यान, ध्येय, स्तुति, स्तोत्र, नमस्कार, भक्ति, उपासना, वेदत्रयीसे जाननेयोग्य, पवित्र, पितामहका पितामह—सब मैं ही हूँ॥ १९॥

ॐकारः पावनः साक्षी प्रभुर्मित्रं गतिर्लयः।
उत्पत्तिः पोषको बीजं शरणं वा स एव च॥ २०॥
असन्मृत्युः सदमृतमात्मा ब्रह्माहमेव च।
दानं होमस्तपो भक्तिर्जपः स्वाध्याय एव च॥ २१॥

ओंकार, पावन, साक्षी, प्रभु, मित्र, गति, लय, उत्पत्ति, पोषक, बीज, शरण, इसी प्रकार असत्, सत्, मृत्यु, अमृत, आत्मा, ब्रह्म, दान, होम, तप, भक्ति, जप, स्वाध्याय—यह सब मैं ही हूँ॥ २०-२१॥

यद्यत्करोति तत्सर्वं समे मयि निवेदयेत्।
योषितोऽथ दुराचाराः पापास्त्रैवर्णिकास्तथा॥ २२॥
मदाश्रया विमुच्यन्ते किं मद्भक्त्या द्विजातयः।
न विनश्यति मद्भक्तो ज्ञात्वेमा मद्विभूतयः॥ २३॥

यह जो कुछ भी करे, सब मुझे निवेदन कर दे। मेरा आश्रय करनेवाले स्त्री, दुराचारी, पापी, क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रादि भी मुक्त हो जाते हैं, फिर मेरे भक्त द्विजातिकी तो बात ही क्या है? मेरा भक्त मेरी इन विभूतियोंको जानकर कभी नष्ट नहीं होता॥ २२-२३॥

प्रभवं मे विभूतिश्च न देवा ऋषयो विदुः।
नानाविभूतिभिरहं व्याप्य विश्वं प्रतिष्ठितः॥ २४॥
यद्यच्छ्रेष्ठतमं लोके सा विभूतिर्निबोध मे॥ २५॥

मेरे प्रभव (उत्पत्ति) और मेरी विभूतियोंको देवता और ऋषि भी नहीं जानते। मैं अनेक विभूतियोंसे विश्वमें व्याप्त होकर स्थित हूँ। जो-जो इस लोकमें श्रेष्ठतम हैं, वे सब मेरी विभूति हैं—ऐसा समझो॥ २४-२५॥

॥ इति श्रीगणेशपुराणे गजाननवरेण्यसंवादे गणेशगीतायां उपासनायोगो नाम सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

आठवाँ अध्याय

श्रीगणेशजीका राजा वरेण्यको अपने विराट्‌रूपका दर्शन कराना

वरेण्य उवाच

भगवन्नारदो मह्यं तव नाना विभूतयः।
उक्तवांस्ता अहं वेद न सर्वाः सोऽपि वेत्ति ताः॥ १॥

वरेण्य बोले—हे भगवन्! नारदजीके मुखसे मैंने आपकी अनेक

विभूतियोंका श्रवण किया है, उन्हें मैं जानता हूँ, सब नहीं जानते; क्योंकि सम्पूर्ण विभूति तो नारदजी भी नहीं जानते॥ १॥

त्वमेव तत्त्वतः सर्वा वेत्सि ता द्विरदानन।
निजं रूपमिदानीं मे व्यापकं चारु दर्शय॥ २॥

हे गजानन! आप ही उन सबको तत्त्वसे जानते हैं, इस समय आप अपना मनोहर और व्यापक रूप मुझे दिखाइये॥ २॥

श्रीगजानन उवाच

एकस्मिन् मयि पश्य त्वं विश्वमेतच्चराचरम्।
नानाश्चर्याणि दिव्यानि पुरा दृष्टानि केनचित्॥ ३॥

श्रीगणेशजी बोले—अकेले मुझमें ही तुम यह चराचर संसार देखो और अनेक प्रकारके दिव्य आश्चर्य देखो, जो पूर्वकालमें किसीने नहीं देखे हैं॥ ३॥

ज्ञानचक्षुरहं तेऽद्य सृजामि स्वप्रभावतः।
चर्मचक्षुः कथं पश्येन्मां विभुं ह्यजमव्ययम्॥ ४॥

मैं अपने प्रभावसे तुमको ज्ञाननेत्र देता हूँ, क्योंकि मुझ सर्वव्यापक, अजन्मा और अव्ययको चर्मचक्षु नहीं देख सकते॥ ४॥

ब्रह्मोवाच

ततो राजा वरेण्यः स दिव्यचक्षुरवैक्षत।
ईशितुः परमं रूपं गजास्यस्य महाद्भुतम्॥ ५॥

ब्रह्माजी बोले—तब वे राजा वरेण्य दिव्य दृष्टिको प्राप्त होकर भगवान् गणेशजीके महान् अद्भुत परमरूपको देखनेमें समर्थ हुए॥ ५॥

असंख्यवक्त्रं ललितमसंख्याङ्घ्रिकरं महत्।
अनुलिप्तं सुगन्धेन दिव्यभूषाम्बरस्रजम्॥ ६॥
असंख्यनयनं कोटिसूर्यरश्मिधृतायुधम्।
तद्वर्ष्मणि त्रयो लोका दृष्टास्तेन पृथग्विधाः॥ ७॥

असंख्य शोभायमान मुख, असंख्य सूँड एवं हाथ और सुगन्धिसे लिप्त, दिव्य भूषण, वसन और मालासे शोभित, असंख्य नेत्र, करोड़ों

सूर्यकी किरणोंके समान प्रकाशित आयुध धारण किये उनके शरीरमें राजाने अलग-अलग तीनों लोक देखे॥ ६-७॥

वरेण्य उवाच

दृष्ट्वैश्वरं परं रूपं प्रणम्य स नृपोऽब्रवीत्।
वीक्षेऽहं तव देहेऽस्मिन् देवानृषिगणान् पितॄन्॥ ८॥

यह ईश्वरका परम रूप देख प्रणाम करके राजा (वरेण्य) बोले—हे भगवन्! मैं आपकी इस देहमें देवता-ऋषिगण और पितरोंको देख रहा हूँ॥ ८॥

पातालानां समुद्राणां द्वीपानां चैव भूभृताम्।
महर्षीणां सप्तकं च नानार्थैः सङ्कुलं विभो॥ ९॥

हे विभो! मैं सात पाताल, सात समुद्र, सात द्वीप, सात पर्वत, सात महर्षि और अनेक पदार्थोंके समूह देख रहा हूँ॥ ९॥

भुवोऽन्तरिक्षं स्वर्गांश्च मनुष्योरगराक्षसान्।
ब्रह्मविष्णुमहेशेन्द्रान् देवाञ्जन्तूननेकधा॥ १०॥

मैं पृथ्वी, अन्तरिक्ष, स्वर्ग, मनुष्य, सर्प, राक्षस, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, देवता और अनेक प्रकारके जन्तुओंको देख रहा हूँ॥ १०॥

अनाद्यनन्तं लोकादिमनन्तभुजशीर्षकम्।
प्रदीप्तानलसङ्काशमप्रमेयं पुरातनम्॥ ११॥

मैं अनादि, अनन्त, लोकादि, अनन्त भुजा और सिरोंसे युक्त तथा जलती हुई अग्निके समान प्रकाशमान अप्रमेय पुरातन आपको देख रहा हूँ॥ ११॥

किरीटकुण्डलधरं दुर्निरीक्ष्यं मुदावहम्।
एतादृशं च वीक्षे त्वां विशालवक्षसं प्रभुम्॥ १२॥

मैं किरीट-कुण्डल धारण किये, कठिनाईसे देखनेयोग्य, आनन्ददायक तथा विशाल वक्षःस्थलयुक्त आप प्रभुका दर्शन कर रहा हूँ॥ १२॥

सुरविद्याधरैर्यक्षैः किन्नरैर्मुनिमानुषैः।
नृत्यद्भिरप्सरोभिश्च गन्धर्वैर्गानतत्परैः॥ १३॥

देवता, विद्याधर, यक्ष, किन्नर, मुनि, मनुष्य, नृत्य करती हुई अप्सराओं और गान करते हुए गन्धर्वोंसे आपका स्वरूप सेवित है॥ १३॥

वसुरुद्रादित्यगणैः सिद्धैः साध्यैर्मुदायुतैः।
सेव्यमानमहाभक्त्यावीक्ष्यमाणं सुविस्मितैः॥ १४॥

आठ वसु, बारह आदित्योंके गण, सिद्ध, साध्य—ये सब प्रसन्नतापूर्वक आपकी सेवा करते और महाभक्तिसे विस्मयको प्राप्त होकर आपको देखते हैं॥ १४॥

वेत्तारमक्षरं वेद्यं धर्मगोप्तारमीश्वरम्।
पातालानि दिशः स्वर्गान् भुवं व्याप्याखिलं स्थितम्॥ १५॥

ये आपको ज्ञाता, अक्षर, वेद्य, धर्मके रक्षक, पाताल, दिशा, स्वर्ग और पृथ्वीमें व्यापक और ईश्वर जानते हैं॥ १५॥

भीता लोकास्तथा चाहमेवं त्वां वीक्ष्य रूपिणम्।
नानादंष्ट्राकरालं च नानाविद्याविशारदम्॥ १६॥

आपके रूपको देखकर सम्पूर्ण लोक तथा मैं भी डर गया हूँ, यह आपका मुख अनेक तीक्ष्ण दाढ़ोंसे भयंकर है तथा आप अनेक विद्याओंके पारगामी हैं॥ १६॥

प्रलयानलदीप्तास्यं जटिलं च नभःस्पृशम्।
दृष्ट्वा गणेश ते रूपमहं भ्रान्त इवाभवम्॥ १७॥

प्रलयकी अग्निके समान दीप्तिमान् आपका मुख है, जिसकी जटाएँ आकाशको छूती हैं, हे गणेशजी! आपका यह रूप देखकर मैं भ्रान्त हो गया हूँ॥ १७॥

देवा मनुष्या नागाद्याः खगास्त्वदुदरेशयाः।
नानायोनिभुजश्चान्ते त्वय्येव प्रविशन्ति च।
अब्धेरुत्पद्यमानास्ते यथा जीमूतबिन्दवः॥ १८॥

देवता, मनुष्य, नागादि और खग तुम्हारे उदरमें शयन करते हैं,

वे अनेक योनियोंको भोगकर अन्तमें आपमें ही उसी प्रकार प्रवेश करते हैं, जैसे सागरसे उत्पन्न हुए मेघके जलबिन्दु फिर उसीमें लीन होते हैं॥ १८॥

त्वमिन्द्रोऽग्निर्यमश्चैव निर्ऋतिर्वरुणो मरुत्॥ १९॥
गुह्यकेशस्तथेशानः सोमः सूर्योऽखिलं जगत्।
नमामि त्वामतः स्वामिन् प्रसादं कुरु मेऽधुना॥ २०॥

इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर, ईशान, सोम, सूर्य और सम्पूर्ण जगत्—यह सब आप ही हैं, हे स्वामिन्! मैं आपको नमस्कार करता हूँ, आप मेरे ऊपर अब कृपा करें॥ १९-२०॥

दर्शयस्व निजं रूपं सौम्यं यत्पूर्वमीक्षितम्।
को वेद लीलास्ते भूमन् क्रियमाणा निजेच्छया॥ २१॥

आप मेरेद्वारा पूर्वमें देखा हुआ अपना सौम्य रूप मुझे दिखाइये, हे भूमन्! अपनी इच्छासे क्रीडा करनेवाले आपकी लीलाको कौन जान सकता है?॥ २१॥

अनुग्रहान् मया दृष्टमैश्वरं रूपमीदृशम्।
ज्ञानचक्षुर्यतो दत्तं प्रसन्नेन त्वया मम॥ २२॥

आपकी कृपासे मैंने इस प्रकारका ऐश्वर्यशाली रूप देखा; क्योंकि आपने प्रसन्न होकर मुझे ज्ञानचक्षु दिये थे॥ २२॥

श्रीगजानन उवाच

नेदं रूपं महाबाहो मम पश्यन्त्ययोगिनः।
सनकाद्या नारदाद्याः पश्यन्ति मदनुग्रहात्॥ २३॥

श्रीगणेशजी बोले—हे महाबाहु! योग न करनेवाले इस मेरे रूपका कभी भी दर्शन नहीं पाते, सनकादि तथा नारदादि मेरे अनुग्रहसे इस रूपका दर्शन करते हैं॥ २३॥

चतुर्वेदार्थतत्त्वज्ञाश्चतुःशास्त्रविशारदाः ।
यज्ञदानतपोनिष्ठा न मे रूपं विदन्ति ते॥ २४॥

चारों वेदोंके अर्थके तत्त्वको जाननेवाले, सम्पूर्ण शास्त्रोंमें कुशल, यज्ञ, दान और तप करनेवाले भी मेरे रूपको [यथार्थतः] नहीं जानते॥ २४॥

शक्योऽहं वीक्षितुं ज्ञातुं प्रवेष्टुं भक्तिभावतः।
त्यज भीतिं च मोहं च पश्य मां सौम्यरूपिणम्॥ २५॥

मैं भक्तिभावसे जानने, दीखने, प्राप्त होनेके योग्य हूँ, अब तुम भय और मोहको त्यागकर मेरे सौम्य रूपको देखो॥ २५॥

मद्भक्तो मत्परः सर्वसङ्गहीनो मदर्थकृत्।
निष्क्रोधः सर्वभूतेषु समो मामेति भूभुज॥ २६॥

हे राजन्! जो भक्त मेरे परायण एवं सर्व संगत्यागी होकर सब कर्म मुझमें ही समर्पित करते हैं और क्रोध त्यागकर सर्व प्राणियोंमें समान दृष्टि रखते हैं, वे मुझको ही प्राप्त होते हैं॥ २६॥

॥ इति श्रीगणेशपुराणे गजाननवरेण्यसंवादे गणेशगीतायां विश्वरूपदर्शनो नामाष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

नवाँ अध्याय

सगुणोपासनाकी श्रेष्ठता; क्षेत्र, ज्ञान तथा ज्ञेयका वर्णन

वरेण्य उवाच

अनन्यभावास्त्वां सम्यङ्मूर्तिमन्तमुपासते।
योऽक्षरं परमव्यक्तं तयोः कस्ते मतोऽधिकः॥ १॥

वरेण्य बोले—[हे भगवन्!] मूर्तिमान् आपकी जो अनन्यभावसे उपासना करते हैं और जो अक्षर एवं परम अव्यक्त आपकी उपासना करते हैं, उनमें श्रेष्ठ कौन है?॥ १॥

असि त्वं सर्ववित्साक्षी भूतभावन ईश्वरः।
अतस्त्वां परिपृच्छामि वद मे कृपया विभो॥ २॥

हे विभो! आप सब जाननेवाले, सबके साक्षी, भूतभावन ईश्वर हैं, इस कारण मैं आपसे पूछता हूँ, आप कृपाकर कहिये॥ २॥

श्रीगजानन उवाच

यो मां मूर्तिधरं भक्त्या मद्भक्तः परिषेवते।
स मे मान्योऽनन्यभक्तिर्नियुज्य हृदयं मयि॥ ३॥

श्रीगणेशजी बोले—जो भक्त मूर्तिमान् मेरी भक्तिपूर्वक उपासना करता है, वह हृदयमें मुझे धारण करनेवाला अनन्य भक्तिमान् मुझे [विशेष] मान्य है॥ ३॥

खगणं स्ववशं कृत्वाखिलभूतहितार्थकृत्।
ध्येयमक्षरमव्यक्तं सर्वगं कूटगं स्थिरम्॥ ४॥
सोऽपि मामेत्यनिर्देश्यं मत्परो य उपासते।
संसारसागरादस्मादुद्धरामि तमप्यहम्॥ ५॥

सम्पूर्ण इन्द्रियोंको अपने वशमें करके सब प्राणियोंका हित करता हुआ जो अक्षर, अव्यक्त, सर्वव्यापी और कूटस्थ स्थिर ब्रह्मका ध्यान करता है तथा जो जाननेमें अशक्य मेरी उपासना करता है, वह भी मुझे ही प्राप्त करता है, उसका भी मैं संसारसागरसे उद्धार करता हूँ॥ ४-५॥

अव्यक्तोपासनादुःखमधिकं तेन लभ्यते।
व्यक्तस्योपासनात्साध्यं तदेवाव्यक्तभक्तितः॥ ६॥

अव्यक्त ब्रह्मकी उपासना करनेवाले जनोंको अधिक क्लेश भोगना पड़ता है। जो व्यक्तस्वरूपकी भक्तिसे प्राप्त होता है, वही अव्यक्तकी उपासनासे होता है॥ ६॥

भक्तिश्चैवादरश्चात्र कारणं परमं मतम्।
सर्वेषां विदुषां श्रेष्ठो ह्यकिञ्चिज्ज्ञोऽपि भक्तिमान्॥ ७॥

थोड़ा जाननेवाला भी यदि भक्तिमान् हो तो वह सम्पूर्ण विद्वानोंमें श्रेष्ठ है। इसमें मुख्य कारण भक्ति ही है॥ ७॥

भजन् भक्त्या विहीनो यः स चाण्डालोऽभिधीयते।
चाण्डालोऽपि भजन् भक्त्या ब्राह्मणेभ्योऽधिको मम॥ ८॥

जो भक्तिविहीन होकर भजन करता है, वह चाण्डाल है और जो जन्मसे चाण्डाल होकर भी मेरा भक्तिपूर्वक भजन करता है, वह उस ब्राह्मणसे श्रेष्ठ है॥ ८॥

शुकाद्याः सनकाद्याश्च पुरा मुक्ता हि भक्तितः।
भक्त्यैव मामनुप्राप्ता नारदाद्याश्चिरायुषः॥ ९॥

शुकादि तथा सनकादि ऋषिगण भक्तिसे ही मुक्त हुए हैं और भक्तिसे ही नारद और चिरजीवी मार्कण्डेयादि मुझको प्राप्त हुए हैं॥ ९॥

अतो भक्त्या मयि मनो निधेहि बुद्धिमेव च।
भक्त्या यजस्व मां राजंस्ततो मामेव यास्यसि॥ १०॥

इस कारण भक्तिसे मन और बुद्धि मुझमें लगानी चाहिये, हे राजन्! भक्तिपूर्वक मेरा यजन करोगे तो मुझको ही प्राप्त होओगे॥ १०॥

असमर्थोऽर्पितुं स्वान्तमेवं मयि नराधिप।
अभ्यासेन च योगेन ततो गन्तुं यतस्व माम्॥ ११॥

हे राजन्! यदि मुझमें अपना मन न लगा सको तो अभ्यासयोगसे मुझे प्राप्त होनेका यत्न करो॥ ११॥

तत्रापि त्वमशक्तश्चेत्कुरु कर्म मदर्पणम्।
ममानुग्रहतश्चैवं परां निर्वृतिमेष्यसि॥ १२॥

और जो यह भी न हो सके तो जो कुछ कर्म करो, उसे मुझे अर्पित करो, मेरी कृपासे तुम परम शान्तिको प्राप्त होओगे॥ १२॥

अथैतदप्यनुष्ठातुं न शक्तोऽसि तदा कुरु।
प्रयत्नतः फलत्यागं त्रिविधानां हि कर्मणाम्॥ १३॥

और यदि यह भी न कर सको तो यत्नपूर्वक तीनों प्रकारके

कर्मोंके फलका त्याग करो॥ १३॥

श्रेयसी बुद्धिरावृत्तेस्ततो ध्यानं परं मतम्।
ततोऽखिलपरित्यागस्ततः शान्तिर्गरीयसी॥ १४॥

प्रथम मुझमें बुद्धि लगना श्रेष्ठ है, उससे ध्यान श्रेष्ठ है, उससे सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग श्रेष्ठ है, इससे अत्यन्त श्रेष्ठ शान्ति है॥ १४॥

निरहं ममताबुद्धिरद्वेषः करुणा समः।
लाभालाभे सुखे दुःखे मानामाने स मे प्रियः॥ १५॥

जो अहंकारका त्याग करनेवाला, ममता बुद्धिसे रहित, द्वेष न करनेवाला, सबमें करुणा रखनेवाला और लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, मान-अपमानमें एक दृष्टि रखनेवाला है, वह मेरा प्रिय है॥ १५॥

यं वीक्ष्य न भयं याति जनस्तस्मान्न च स्वयम्।
उद्वेगभीः कोपमुद्धीरहितो यः स मे प्रियः॥ १६॥

जिसको देखकर किसीको भय नहीं होता और जो मनुष्योंसे भययुक्त नहीं होता है; उद्वेग, भय, क्रोध और हर्षसे जो रहित हो, वही मेरा प्रिय है॥ १६॥

रिपौ मित्रेऽथ गर्हायां स्तुतौ शोके समः समुत्।
मौनी निश्चलधीभक्तिरसङ्गः स च मे प्रियः॥ १७॥

शत्रु-मित्र, निन्दा-स्तुति, हर्ष-शोकमें जिसका चित्त एक है, जो मौनी, स्थिरचित्त, भक्तिमान् और असंग है, वह मेरा प्रिय है॥ १७॥

संशीलयति यश्चैनमुपदेशं मया कृतम्।
स वन्द्यः सर्वलोकेषु मुक्तात्मा मे प्रियः सदा॥ १८॥

जो मेरे इस उपदेशका पालन करता है, वह त्रिलोकीमें नमस्कारके योग्य है और वह मुक्तात्मा मेरा सदा प्रिय है॥ १८॥

अनिष्टाप्तौ च न द्वेष्टीष्टप्राप्तौ न च तुष्यति।
क्षेत्रतज्ज्ञौ च यो वेत्ति स मे प्रियतमो भवेत्॥ १९॥

जो अनिष्टकी प्राप्तिमें द्वेष और इष्टकी प्राप्तिमें हर्ष नहीं करता

है तथा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञको जानता है, वही मेरा सबसे प्रिय है॥ १९॥

वरेण्य उवाच

किं क्षेत्रं कश्च तद्वेत्ति किं तज्ज्ञानं गजानन।
एतदाचक्ष्व मह्यं त्वं पृच्छते करुणाम्बुधे॥ २०॥

वरेण्य बोले—हे गजानन! क्षेत्र क्या है और उसको जाननेवाला कौन है, उसका ज्ञान क्या है, हे करुणासागर! मुझ प्रश्न करनेवालेको यह सब आप बताइये॥ २०॥

श्रीगजानन उवाच

पञ्चभूतानि तन्मात्राः पञ्चकर्मेन्द्रियाणि च।
अहङ्कारो मनो बुद्धिः पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि च॥ २१॥
इच्छाव्यक्तं धृतिद्वेषौ सुखदुःखे तथैव च।
चेतनासहितश्चायं समूहः क्षेत्रमुच्यते॥ २२॥

श्रीगणेशजी बोले—[पृथ्वी, जल आदि] पाँच महाभूत और उनकी [गन्ध, रस आदि] तन्मात्राएँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, अहंकार, मन, बुद्धि और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, अव्यक्त (मूल प्रकृति), इच्छा, धैर्य, द्वेष, सुख-दुःख और चेतनासहित यह सारा समूह क्षेत्र कहलाता है॥ २१-२२॥

तज्ज्ञं त्वं विद्धि मां भूप सर्वान्तर्यामिणं विभुम्।
अयं समूहोऽहं चापि यज्ज्ञानविषयौ नृप॥ २३॥

हे राजन्! उसको जाननेवाला सर्वान्तर्यामी सर्वव्यापक तुम मुझको जानो। मैं और यह समूह—ये दोनों ज्ञानके विषय हैं॥ २३॥

आर्जवं गुरुशुश्रूषा विरक्तिश्चेन्द्रियार्थतः।
शौचं क्षान्तिरदम्भश्च जन्मादिदोषवीक्षणम्॥ २४॥
समदृष्टिर्दृढा भक्तिरेकान्तित्वं शमो दमः।
एतैर्यच्च युतं ज्ञानं तज्ज्ञानं विद्धि बाहुज॥ २५॥

सरलता, गुरुशुश्रूषा, इन्द्रियोंका विषयोंसे वैराग्य, पवित्रता,

सहनशीलता, पाखण्डका त्याग, जन्ममरणादिमें दोषदृष्टि, समदृष्टि, दृढ़भक्ति, एकान्तता तथा शम-दमसहित जो ज्ञान है, हे राजन्! उसीको यथार्थ ज्ञान समझो॥ २४-२५॥

तज्ज्ञानविषयं राजन् ब्रवीमि त्वं शृणुष्व मे।
यज्ज्ञात्वेति च निर्वाणं मुक्त्वा संसृतिसागरम्॥ २६॥

हे राजन्! इस ज्ञानके विषयको मैं कहता हूँ, तुम श्रवण करो, जिसके जाननेसे संसारसागरसे छूटकर मुक्त हो जाओगे॥ २६॥

यदनादीन्द्रियैर्हीनं गुणभुग्गुणवर्जितम्।
अव्यक्तं सदसद्भिन्नमिन्द्रियार्थावभासकम्॥ २७॥
विश्वभृच्चाखिलव्यापि त्वेकं नानेव भासते।
बाह्याभ्यन्तरतः पूर्णमसङ्गं तमसः परम्॥ २८॥

जो अनादि, इन्द्रियरहित, सत्-रज-तम आदि गुणोंका भोक्ता, किंतु गुणवर्जित, अव्यक्त, सत्-असत्से परे तथा इन्द्रियोंके विषयोंका प्रकाशक है। विश्वको धारण करनेवाला, सर्वत्र व्यापक, एक होकर अनेक रूपसे भासता है, वह बाहर-भीतरसे पूर्ण, असंग और अन्धकारसे परे है॥ २७-२८॥

दुर्ज्ञेयं चादिसूक्ष्मत्वाद्दीप्तानामपि भासकम्।
ज्ञेयमेतादृशं विद्धि ज्ञानगम्यं पुरातनम्॥ २९॥

अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे वह जाना नहीं जाता, ज्योतियोंको भी प्रकाशित करनेवाला है, इस प्रकार ज्ञानसे जाननेयोग्य पुरातन पुरुषको ज्ञेय ब्रह्म जानो॥ २९॥

एतदेव परं ब्रह्म ज्ञेयमात्मा परोऽव्ययः।
गुणान् प्रकृतिजान् भुङ्क्ते पुरुषः प्रकृतेः परः॥ ३०॥

यही परब्रह्म ज्ञेय है, यही आत्मा, पर, अव्यय तथा प्रकृतिसे परे पुरुष कहलाता है। यह प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंको भोगता है॥ ३०॥

गुणैस्त्रिभिरियं देहे बध्नाति पुरुषं दृढम्।
यदा प्रकाशः क्षान्तिश्च वृद्धे सत्त्वे तदाधिकम्॥ ३१॥

प्रकृतिके तीन गुण ही इस पुरुषको देहमें बाँधते हैं, जिस समय देहमें शान्ति और प्रकाशकी वृद्धि हो, तब सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है॥ ३१॥

लोभोऽशमः स्पृहारम्भः कर्मणां रजसो गुणः।
मोहोऽप्रवृत्तिश्चाज्ञानं प्रमादस्तमसो गुणः॥ ३२॥

लोभ, अशान्ति, स्पृहा और कर्मारम्भ—ये रजोगुणके धर्म हैं। मोह, आलस्य, अज्ञान और प्रमाद—इन्हें ही तमोगुण जानना चाहिये॥ ३२॥

सत्त्वाधिकः सुखं ज्ञानं कर्मसङ्गं रजोऽधिकः।
तमोऽधिकश्च लभते निद्रालस्यं सुखेतरत्॥ ३३॥

सत्त्वगुण अधिक होनेसे सुख और ज्ञानकी, रजोगुण अधिक होनेसे कर्मकी और तमोगुण अधिक होनेसे सुखसे इतर निद्रा और आलस्यकी प्राप्ति होती है॥ ३३॥

एषु त्रिषु प्रवृद्धेषु मुक्तिसंसृतिदुर्गतीः।
प्रयान्ति मानवा राजंस्तस्मात्सत्त्वयुतो भव॥ ३४॥

इन तीनोंकी वृद्धिमें क्रमसे मुक्ति, संसार और दुर्गतिकी प्राप्ति मनुष्योंको होती है, इस कारण हे राजन्! सत्त्वगुणयुक्त होओ॥ ३४॥

ततश्च सर्वभावेन भज त्वं मां नरेश्वर।
भक्त्या चाव्यभिचारिण्या सर्वत्रैव च संस्थितम्॥ ३५॥

हे नरेश्वर! तदनन्तर सर्वभावसे तुम मेरा भजन करो और निश्चल भक्तिसे सर्वत्र स्थित मुझे स्थित जानो॥ ३५॥

अग्नौ सूर्ये तथा सोमे यच्च तारासु संस्थितम्।
विदुषि ब्राह्मणे तेजो विद्धि तन्मामकं नृप॥ ३६॥

हे राजन्! अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारागण और विद्वान् ब्राह्मणमें

जो तेज है, उसे मेरा ही तेज जानो॥ ३६॥

अहमेवाखिलं विश्वं सृजामि विसृजामि च।
औषधींस्तेजसा सर्वा विश्वं चाप्याययाम्यहम्॥ ३७॥

मैं ही सम्पूर्ण संसारको उत्पन्नकर उसका संहार करता हूँ और अपने तेजसे औषधि और जगत्को मैं ही पुष्ट करता हूँ॥ ३७॥

सर्वेन्द्रियाण्यधिष्ठाय जाठरं च धनञ्जयम्।
भुनज्मि चाखिलान् भोगान् पुण्यपापविवर्जितः॥ ३८॥

सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें तथा उदरमें स्थित होकर धनंजय नामक प्राण और जठराग्निरूपसे पाप-पुण्यरहित होकर मैं ही सम्पूर्ण भोगोंको भोगता हूँ॥ ३८॥

अहं विष्णुश्च रुद्रश्च ब्रह्मा गौरी गणेश्वरः।
इन्द्राद्या लोकपालाश्च ममैवांशसमुद्भवाः॥ ३९॥

मैं ही विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा, गौरी और गणपति हूँ, इन्द्रादि देवता तथा लोकपाल मेरे ही अंशसे उत्पन्न हुए हैं॥ ३९॥

येन येन हि रूपेण जनो मां पर्युपासते।
तथा तथा दर्शयामि तस्मै रूपं सुभक्तितः॥ ४०॥

जिस-जिस रूपसे प्राणी मेरी भक्तिपूर्वक उपासना करते हैं, उनकी भक्तिके अनुसार मैं उन्हें वैसा ही रूप दिखाता हूँ॥ ४०॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयं मयेरितम्।
अखिलं भूपते सम्यगुपपन्नाय पृच्छते॥ ४१॥

हे राजन्! इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेयका विषय तुमसे मैंने वर्णन किया, जो तुमने पूछा था, वह सब मैंने बता दिया॥ ४१॥

॥ इति श्रीगणेशपुराणे गजाननवरेण्यसंवादे गणेशगीतायां क्षेत्रज्ञातृज्ञानज्ञेयविवेकयोगो नाम नवमोऽध्यायः॥ ९॥

दसवाँ अध्याय

दैवी और आसुरी प्रकृति

श्रीगजानन उवाच

दैव्यासुरी राक्षसी च प्रकृतिस्त्रिविधा नृणाम्।
तासां फलानि चिह्नानि सङ्क्षेपात्तेऽधुना ब्रुवे॥ १॥

श्रीगणेशजी बोले—दैवी, आसुरी, राक्षसी—तीन प्रकारकी मनुष्योंकी प्रकृति होती है, उनके फल और चिह्न संक्षेपसे अब तुम्हारे लिये वर्णन करता हूँ॥ १॥

आद्या संसाधयेन्मुक्तिं द्वे परे बन्धनं नृप।
चिह्नं ब्रवीमि चाद्यायास्तन्मे निगदतः शृणु॥ २॥

दैवी प्रकृति मुक्तिकी साधना करती है, आगेकी दोनों बन्धनमें डालती हैं। इनमें पहले दैवी प्रकृतिके चिह्न कहता हूँ, उन्हें तुम सुनो॥ २॥

अपैशुन्यं दयाक्रोधोऽचापल्यं धृतिरार्जवम्।
तेजोऽभयमहिंसा च क्षमा शौचममानिता।
इत्यादि चिह्नमाद्याया आसुर्याः शृणु साम्प्रतम्॥ ३॥

चुगली न करना, दया, अक्रोध, अचपलता, धैर्य, सरलता, तेज, अभय, अहिंसा, क्षमा, शौच, निरभिमानिता इत्यादि चिह्न दैवी प्रकृतिके समझने चाहिये। अब आसुरीके चिह्न सुनो॥ ३॥

अतिवादोऽभिमानश्च दर्पोऽज्ञानं सकोपता।
आसुर्या एवमाद्यानि चिह्नानि प्रकृतेर्नृप॥ ४॥

हे राजन्! अतिवाद, अभिमान, दर्प, अज्ञान और क्रोध—ये आसुरी प्रकृतिके चिह्न हैं॥ ४॥

निष्ठुरत्वं मदो मोहोऽहङ्कारो गर्व एव च॥ ५॥
द्वेषो हिंसादया क्रोध औद्धत्यं दुर्विनीतता।
अभिचारिककर्तृत्वं क्रूरकर्मरतिस्तथा॥ ६॥

(राक्षसी प्रकृतिके ये चिह्न हैं—) निष्ठुरता, मद, मोह, अहंकार,

गर्व, द्वेष, हिंसा, क्रूरता, क्रोध, उद्धतता, विनयहीनता, दूसरोंके नाशके निमित्त अभिचारकर्म, क्रूर कर्मोंमें प्रीति॥ ५-६॥

अविश्वासः सतां वाक्येऽशुचित्वं कर्महीनता।
निन्दकत्वं च वेदानां भक्तानामसुरद्विषाम्॥ ७॥
मुनिश्रोत्रियविप्राणां तथा स्मृतिपुराणयोः।
पाखण्डवाक्ये विश्वासः सङ्गतिर्मलिनात्मनाम्॥ ८॥

श्रेष्ठ पुरुषोंके वाक्यमें अविश्वास, अपवित्रता, कर्मोंका न करना, वेद, भक्त, देवता, मुनि, श्रोत्रिय, ब्राह्मण तथा स्मृति और पुराणकी निन्दा करना, पाखण्ड-वाक्यमें विश्वास, दुष्टों तथा मलिन पुरुषोंकी संगति करना॥ ७-८॥

सदम्भकर्मकर्तृत्वं स्पृहा च परवस्तुषु।
अनेककामनावत्त्वं सर्वदानृतभाषणम्॥ ९॥
परोत्कर्षासहिष्णुत्वं परकृत्यपराहतिः।
इत्याद्या बहवश्चान्ये राक्षस्याः प्रकृतेर्गुणाः॥ १०॥

पाखण्डसहित कर्म करना, दूसरेकी वस्तुओंको पानेकी इच्छा, अनेक कामनायुक्त होना, सदा झूठ बोलना, दूसरेका उत्कर्ष न सहना, दूसरेके कृत्यको नष्ट करना इत्यादि बहुत सारे दूसरे भी राक्षसी प्रकृतिके गुण हैं॥ ९-१०॥

पृथिव्यां स्वर्गलोके च परिवृत्य वसन्ति ते।
मद्भक्तिरहिता लोका राक्षसीं प्रकृतिं श्रिताः॥ ११॥

पृथ्वी और स्वर्गलोकमें ये सब गुण रहते हैं, जो लोग मेरी भक्तिसे रहित हैं, वे ही राक्षसी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं॥ ११॥

तामसीं ये श्रिता राजन् यान्ति ते रौरवं ध्रुवम्।
अनिर्वाच्यं च ते दुःखं भुञ्जते तत्र संस्थिताः॥ १२॥

हे राजन्! जो इस तामसी प्रकृतिको प्राप्त हैं, वे रौरवनरकको

प्राप्त होते हैं और वहाँ अकथनीय दुःखको भोगते हैं॥ १२॥

दैवान्निःसृत्य नरकाज्जायन्ते भुवि कुब्जकाः।
जात्यन्धाः पङ्गवो दीना हीनजातिषु ते नृप॥ १३॥

हे राजन्! कदाचित् दैववश नरकसे निकलकर पृथ्वीमें जन्म लेते हैं तो वे कुबड़े होते हैं या जन्मान्ध, लँगड़े, दीन और हीन जातिमें जन्म लेते हैं॥ १३॥

पुनः पापसमाचारा मय्यभक्ताः पतन्ति ते।
उत्पतन्ति हि मद्भक्ता यां काञ्चिद्योनिमाश्रिताः॥ १४॥

पापाचरणवाले तथा मुझमें भक्ति न करनेवाले पतित होते हैं, परंतु मेरे भक्त चाहे किसी योनिमें जन्म लें, नष्ट नहीं होते, उनका उद्धार हो जाता है॥ १४॥

लभन्ते स्वर्गतिं यज्ञैरन्यैर्धर्मैश्च भूमिप।
सुलभा सा सकामानां मयि भक्तिः सुदुर्लभा॥ १५॥

हे राजन्! यज्ञसे अथवा दूसरे कर्मोंसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है, जो सकामी पुरुषोंको सुलभ है, परंतु मुझमें भक्ति होना दुर्लभ है॥ १५॥

विमूढा मोहजालेन बद्धाः स्वेन च कर्मणा।
अहं हन्ता अहं कर्ता अहं भोक्तेति वादिनः॥ १६॥

मूर्ख लोग मोहजाल तथा अपने कर्मोंसे बन्धनमें पड़ते हैं, वे मैं ही हन्ता, मैं ही कर्ता, मैं ही भोक्ता हूँ— ऐसा कहा करते हैं॥ १६॥

अहमेवेश्वरः शास्ता अहं वेत्ता अहं सुखी।
एतादृशी मतिर्नृणामधः पातयतीह तान्॥ १७॥

मैं ही ईश्वर, मैं शासक, मैं जाननेवाला, मैं सुखी हूँ—इस प्रकारकी मति मनुष्योंको नरकमें ले जाती है॥ १७॥

तस्मादेतत्समुत्सृज्य दैवीं प्रकृतिमाश्रय।
भक्तिं कुरु मदीयां त्वमनिशं दृढचेतसा॥ १८॥

इस कारण इस (तामसी प्रकृति)-को छोड़कर दैवी प्रकृतिका

आश्रय करो और तुम दृढ़ चित्तसे मेरी निरन्तर भक्ति करो॥ १८॥

सापि भक्तिस्त्रिधा राजन् सात्त्विकी राजसी तमा।
यद्देवान् भजते भक्त्या सात्त्विकी सा मता शुभा॥ १९॥

हे राजन्! वह भक्ति भी सात्त्विकी, राजसी और तामसी—इन भेदोंसे तीन प्रकारकी है, जिस भक्तिसे देवताओंका भजन किया जाता है, वह कल्याणकारिणी सात्त्विकी भक्ति कही गयी है॥ १९॥

राजसी सा तु विज्ञेया भक्तिर्जन्ममृतिप्रदा।
यद्यक्षाँश्चैव रक्षांसि यजन्ते सर्वभावतः॥ २०॥

जन्म-मृत्यु देनेवाली राजसी कही गयी भक्ति वह है, जिसमें सर्व भावसे यक्ष और राक्षसोंकी पूजा होती है॥ २०॥

वेदेनाविहितं क्रूरं साहङ्कारं सदम्भकम्।
भजन्ते प्रेतभूतादीन् कर्म कुर्वन्ति कामुकम्॥ २१॥
शोषयन्तो निजं देहमन्तःस्थं मां दृढाग्रहाः।
तामस्येतादृशी भक्तिर्नृणां सा निरयप्रदा॥ २२॥

वेदविधानसे रहित, क्रूर, अहंकार तथा दम्भसहित जो प्रेतभूतादिकोंको भजते हैं और कामुक कर्म करते हैं तथा दुराग्रहपूर्वक अपने शरीर और उसमें स्थित मुझे भी क्लेश पहुँचाते हैं, उनकी यह तामसी भक्ति नरक देनेवाली है॥ २१-२२॥

कामो लोभस्तथा क्रोधो दम्भश्चत्वार इत्यमी।
महाद्वाराणि वीचीनां तस्मादेतांस्तु वर्जयेत्॥ २३॥

काम, लोभ, क्रोध, दम्भ—ये नरकके चार महाद्वार हैं, इस कारण इनको त्यागना चाहिये॥ २३॥

॥ इति श्रीगणेशपुराणे गजाननवरेण्यसंवादे गणेशगीतायां उपदेशयोगो नाम दशमोऽध्यायः॥ १०॥

ग्यारहवाँ अध्याय

तप, दान, ज्ञान, कर्म, कर्ता, सुख-दुःख, ब्रह्म एवं वर्णानुसार कर्मोंके भेद तथा गणेशगीताकी महिमा

श्रीगजानन उवाच

तपोऽपि त्रिविधं राजन् कायिकादिप्रभेदतः।
ऋजुतार्जवशौचानि ब्रह्मचर्यमहिंसनम्॥ १॥
गुरुविज्ञद्विजातीनां पूजनं चासुरद्विषाम्।
स्वधर्मपालनं नित्यं कायिकं तप ईदृशम्॥ २॥

श्रीगणेशजी बोले—हे राजन्! कायिक, वाचिक और मानसिक—इन भेदोंसे तप भी तीन प्रकारका है। ऋजुता, आर्जव, पवित्रता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, गुरु-पण्डित-ब्राह्मण एवं देवताका पूजन करना तथा नित्य स्वधर्मका पालन करना—यह कायिक तप है॥ १-२॥

मर्मास्पृक्च्च प्रियं वाक्यमनुद्वेगं हितं ऋतम्।
अधीतिर्वेदशास्त्राणां वाचिकं तप ईदृशम्॥ ३॥

मर्मस्पर्शी प्रिय वचन बोलना, उद्वेगरहित हितकारी और सत्य भाषण करना, वेद-शास्त्रोंका पढ़ना—यह वाचिक तप है॥ ३॥

अन्तःप्रसादः शान्तत्वं मौनमिन्द्रियनिग्रहः।
निर्मलाशयता नित्यं मानसं तप ईदृशम्॥ ४॥

अन्तःकरणमें प्रसन्नता, शान्ति, मौन, जितेन्द्रियता, सदा निर्मल भाव रखना—यह मानसिक तप है॥ ४॥

अकामतः श्रद्धया च यत्तपः सात्त्विकं च तत्।
ऋद्ध्यै सत्कारपूजार्थं सदम्भं राजसं तपः॥ ५॥

निष्काम भाव और श्रद्धासे जो तप किया जाता है, वह सात्त्विक है। ऐश्वर्य और सत्कार-पूजाके निमित्त तथा दम्भसहित जो किया

जाता है, वह राजसी तप है॥ ५॥

तदस्थिरं जन्ममृती प्रयच्छति न संशयः।
परात्मपीडकं यच्च तपस्तामसमुच्यते॥ ६॥

राजसी तप निश्चय ही जन्म-मृत्यु और अस्थिरताको देनेवाला है और जिसमें दूसरेको तथा अपनेको पीड़ा हो, वह तामस तप कहा गया है॥ ६॥

विधिवाक्यप्रमाणार्थं सत्पात्रे देशकालतः।
श्रद्धया दीयमानं यद्दानं तत्सात्त्विकं मतम्॥ ७॥

विधियुक्त, उत्तम देश-कालमें सत्पात्रको श्रद्धापूर्वक जो दान दिया जाता है, वह सात्त्विक दान कहा गया है॥ ७॥

उपकारं फलं वापि काङ्क्षद्भिर्दीयते नरैः।
क्लेशतो दीयमानं वा भक्त्या राजसमुच्यते॥ ८॥

उपकार या फलकी कामनासे मनुष्य जो दान करते हैं तथा ऐसा दान जो क्लेशपूर्वक अथवा भक्तिके कारण दिया जाय, वह राजसी दान कहलाता है॥ ८॥

अकालदेशतोऽपात्रेऽवज्ञया दीयते तु यत्।
असत्काराच्च यद्दत्तं तद्दानं तामसं स्मृतम्॥ ९॥

जो देश-कालरहित, अपात्रमें अवज्ञापूर्वक दिया जाता है और जो दान अपमानपूर्वक दिया जाता है, वह तमोगुणी दान कहा गया है॥ ९॥

ज्ञानं च त्रिविधं राजन् शृणुष्व स्थिरचेतसा।
त्रिधा कर्म च कर्तारं ब्रवीमि ते प्रसङ्गतः॥ १०॥

हे राजन्! मन लगाकर सुनो, ज्ञान भी तीन प्रकारका है, कर्म और कर्ता भी तीन प्रकारके हैं, वह मैं प्रसंगसे कहता हूँ॥ १०॥

नानाविधेषु भूतेषु मामेकं वीक्षते तु यः।
नाशवत्सु च नित्यं मां तज्ज्ञानं सात्त्विकं नृप॥ ११॥

जो अनेक प्रकारके प्राणियोंमें एक मुझको ही देखता है तथा

नाशवान् भूतोंमें मुझ नित्यको जानता है, हे राजन्! वह सात्त्विक ज्ञान है॥ ११॥

तेषु वेत्ति पृथग्भूतं विविधं भावमाश्रितः।
मामव्ययं च तज्ज्ञानं राजसं परिकीर्तितम्॥ १२॥

जो अनेक उन भूतोंसे मुझे पृथक् भावका आश्रय लेकर और अव्यय जानते हैं, इस ज्ञानका नाम राजस है॥ १२॥

हेतुहीनमसत्यं च देहात्मविषयं च यत्।
असदल्पार्थविषयं तामसं ज्ञानमुच्यते॥ १३॥

हेतुरहित, असत्य तथा देह और मनके सुखके लिये असत् और अल्प अर्थयुक्त विषयोंमें लगना—इस ज्ञानका नाम तामस है॥ १३॥

भेदतस्त्रिविधं कर्म विद्धि राजन् मयेरितम्।
कामनाद्वेषदम्भैर्यद्रहितं नित्यकर्म यत्।
कृतं विना फलेच्छां यत्कर्म सात्त्विकमुच्यते॥ १४॥

हे राजन्! सत्, रज, तम—इन भेदोंसे कर्म भी तीन प्रकारका है, जिसे मैं बताता हूँ, सुनो, कामना, द्वेष और दम्भरहित जो नित्य कर्म है और फलकी इच्छासे रहित जो कर्म किया जाता है, वह सात्त्विक कहलाता है॥ १४॥

यद्बहुक्लेशतः कर्म कृतं यच्च फलेच्छया।
क्रियमाणं नृभिर्दम्भात्कर्म राजसमुच्यते॥ १५॥
अनपेक्ष्य स्वशक्तिं यदर्थक्षयकरं च यत्।
अज्ञानात्क्रियमाणं यत्कर्म तामसमीरितम्॥ १६॥

जो बहुत क्लेशपूर्वक तथा फलकी इच्छासे किया गया है और जिसको मनुष्य दम्भपूर्वक करते हैं, वह राजस कर्म कहलाता है और जो अपनी शक्तिके बाहर तथा अर्थका क्षय करनेवाला कर्म अज्ञानपूर्वक किया जाता है, वह तामस कर्म कहा गया है॥ १५-१६॥

कर्तारं त्रिविधं विद्धि कथ्यमानं मया नृप॥ १७॥
धैर्योत्साही समोऽसिद्धौ सिद्धौ चाविक्रियस्तु यः।
अहङ्कारविमुक्तो यः स कर्ता सात्त्विको नृप॥ १८॥

इसी प्रकार हे राजन्! तीन प्रकारके कर्ता होते हैं, जिन्हें मैं बताता हूँ। हे राजन्! धैर्य और उत्साहयुक्त, सिद्धि-असिद्धिमें समान दृष्टिवाला, विकार और अहंकारसे रहित सात्त्विक कर्ता कहलाता है॥ १७-१८॥

कुर्वन् हर्षं च शोकं च हिंसां फलस्पृहां च यः।
अशुचिर्लुब्धको यश्च राजसोऽसौ निगद्यते॥ १९॥

जो हर्ष-शोकसहित कर्म करता है, हिंसा और फलमें इच्छा रखता है, जिसमें अपवित्रता और लोभ है, वह राजसी कर्ता कहा जाता है॥ १९॥

प्रमादाज्ञानसहितः परोच्छेदपरः शठः।
अलसस्तर्कवान् यस्तु कर्तासौ तामसो मतः॥ २०॥

प्रमाद और अज्ञानयुक्त, दूसरोंका नाश करनेवाला दुष्ट, आलसी और जो कुतर्क करनेवाला है, वह तामसी कर्ता कहा जाता है॥ २०॥

सुखं च त्रिविधं राजन् दुःखं च क्रमतः शृणु।
सात्त्विकं राजसं चैव तामसं च मयोच्यते॥ २१॥

हे राजन्! इसी प्रकार सुख-दुःख भी तीन प्रकारके हैं, वह तुम क्रमसे सुनो, इनके भी सात्त्विक, राजस, तामस भेद हैं, उन्हें मैं कहता हूँ॥ २१॥

विषवद्भासते पूर्वं दुःखस्यान्तकरं च यत्।
इच्छमानं तथा वृत्त्या यदन्तेऽमृतवद्भवेत्।
प्रसादात्स्वस्य बुद्धेर्यत्सात्त्विकं सुखमीरितम्॥ २२॥

जो पहले तो विषके समान प्रतीत हो, किंतु दुःखका अन्त करनेवाला हो और मनोवृत्तिसे इच्छा किया हुआ जो अन्तमें अमृतके समान हो तथा जो अपनी बुद्धिको आनन्द देनेवाला हो, वह सात्त्विक सुख कहा गया है॥ २२॥

विषयाणां तु यो भोगो भासतेऽमृतवत्पुरा।
हालाहलमिवान्ते यद्राजसं सुखमीरितम्॥ २३॥

विषयोंका जो भोग प्रथम तो अमृतके समान विदित हो और अन्तमें विषके समान फल दे, उसे राजसी सुख कहते हैं॥ २३॥

तन्द्राप्रमादसम्भूतमालस्यप्रभवं च यत्।
सर्वदा मोहकं स्वस्य सुखं तामसमीदृशम्॥ २४॥
न तदस्ति यदेतैर्यन्मुक्तं स्यात्त्रिविधैर्गुणैः॥ २५॥

जो तन्द्रा तथा प्रमादसे उत्पन्न हुआ हो, आलस्यसे भरा हुआ हो तथा अपनेको सदा मोह उत्पन्न करता हो, उसका नाम तामसी सुख है। ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जो इन तीनों गुणोंसे मुक्त हो॥ २४-२५॥

राजन् ब्रह्मापि त्रिविधमोन्तत्सदिति भेदतः।
त्रिलोकेषु त्रिधाभूतमखिलं भूप वर्तते॥ २६॥

हे राजन्! ब्रह्म भी ओम्, तत्, सत्—इस भेदसे तीन प्रकारका है और हे राजन्! इस त्रिलोकीमें सब कुछ तीन होकर ही व्याप्त हैं॥ २६॥

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्राः स्वभावाद्भिन्नकर्मिणः।
तानि तेषां तु कर्माणि सङ्क्षेपात्तेऽधुना वदे॥ २७॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये स्वभावसे ही भिन्न कर्म करनेवाले हैं, इनके कर्म संक्षेपसे मैं तुमसे कहता हूँ॥ २७॥

अन्तर्बाह्येन्द्रियाणां च वश्यत्वमार्जवं क्षमा।
नानातपांसि शौचं च द्विविधं ज्ञानमात्मनः॥ २८॥
वेदशास्त्रपुराणानां स्मृतीनां ज्ञानमेव च।
अनुष्ठानं तदर्थानां कर्म ब्राह्ममुदाहृतम्॥ २९॥

बाह्य और अन्तः इन्द्रियोंको वशमें करना, सरलता, क्षमा, अनेक

प्रकारके तप, पवित्रता, दोनों प्रकार (अन्वय-व्यतिरेक)-से आत्माका ज्ञान, वेद, शास्त्र, पुराण और स्मृतियोंका ज्ञान होना तथा उनके अर्थोंका अनुष्ठान करना—ये ब्राह्मणके कर्म हैं॥ २८-२९॥

दार्ढ्यं शौर्यं च दाक्ष्यं च युद्धे पृष्ठाप्रदर्शनम्।
शरण्यपालनं दानं धृतिस्तेजः स्वभावजम्॥ ३०॥
प्रभुता मन औन्नत्यं सुनीतिर्लोकपालनम्।
पञ्चकर्माधिकारित्वं क्षात्रं कर्म समीरितम्॥ ३१॥

दृढ़ता, शूरता, चतुरता, युद्धसे पलायन न करना, शरणागतकी रक्षा, दान, धैर्य, स्वाभाविक तेज, प्रभुता, मनकी उदारता, अच्छी नीति, लोकपालन (तथा राज्यपालन)-के पाँच कर्मोंमें अधिकार—ये क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म हैं॥ ३०-३१॥

नानावस्तुक्रयो भूमेः कर्षणं रक्षणं गवाम्।
त्रिधा कर्माधिकारित्वं वैश्यकर्म समीरितम्॥ ३२॥

अनेक प्रकारकी वस्तुओंका क्रय-विक्रय, पृथ्वीकर्षण अर्थात् खेती आदि करना, गायोंकी रक्षा करना—ये तीन प्रकारके वैश्यके कर्म कहे गये हैं॥ ३२॥

दानं द्विजानां शुश्रूषा सर्वदा शिवसेवनम्।
एतादृशं नरव्याघ्र कर्म शौद्रमुदीरितम्॥ ३३॥

दान, ब्राह्मणोंकी सेवा, सदा शिवजीकी उपासना, हे राजन्! यह शूद्रोंका कर्म कहा गया है॥ ३३॥

स्वस्वकर्मरता एते मय्यर्प्याखिलकारिणः।
मत्प्रसादात्स्थिरं स्थानं यान्ति ते परमं नृप॥ ३४॥

हे राजन्! ये सब वर्ण अपने-अपने कर्म यथावत् करते हुए और सम्पूर्ण कर्म मुझे अर्पण करते हुए मेरी कृपासे निश्चल परम स्थानको प्राप्त करते हैं॥ ३४॥

इति ते कथितो राजन् प्रसादाद्योग उत्तमः।
साङ्गोपाङ्गः सविस्तारोऽनादिसिद्धो मया प्रिय॥ ३५॥

प्रिय राजन्! इस प्रकार तुम्हारे स्नेहसे मैंने अंग-उपांगसहित विस्तार-पूर्वक अनादि सिद्धयोगका वर्णन किया, यह योग परमोत्तम है॥ ३५॥

युंक्ष्व योगं मयाख्यातं नाख्यातं कस्यचिन्नृप।
गोपयैनं ततः सिद्धिं परां यास्यस्यनुत्तमाम्॥ ३६॥

हे राजन्! मेरे द्वारा कहे गये इस योगको धारण करो और किसीसे इसे मत कहो, तुम इसे गुप्त रखोगे तो परम उत्तम सिद्धिको प्राप्त करोगे॥ ३६॥

व्यास उवाच

इति तस्य वचः श्रुत्वा प्रसन्नस्य महात्मनः।
गणेशस्य वरेण्यः स चकार च यथोदितम्॥ ३७॥

व्यासजी बोले—इस प्रकार प्रसन्नचित्त महात्मा गणेशजीके वचन सुनकर राजा वरेण्यने उनके वचनके अनुसार आचरण किया॥ ३७॥

त्यक्त्वा राज्यं कुटुम्बं च कान्तारं प्रययौ रयात्।
उपदिष्टं यथा योगमास्थाय मुक्तिमाप्तवान्॥ ३८॥

राज्य और कुटुम्बको त्यागकर वेगसे वह वनको चला गया और उपदेश किये गये योगमें स्थित होकर मुक्त हो गया॥ ३८॥

इमं गोप्यतमं योगं शृणोति श्रद्धया तु यः।
सोऽपि कैवल्यमाप्नोति यथा योगी तथैव सः॥ ३९॥

इस महागुप्त योगका जो कोई श्रद्धासे श्रवण करता है, वह भी मुक्तिको प्राप्त हो जाता है, जिस प्रकार योगी होते हैं॥ ३९॥

य इमं श्रावयेद्योगं कृत्वा स्वार्थं सुबुद्धिमान्।
यथा योगी तथा सोऽपि परं निर्वाणमृच्छति॥ ४०॥

जो बुद्धिमान् इस योगको स्वयं प्राप्त करके दूसरोंको सुनाता है, वह भी योगीके समान मुक्त हो जाता है॥ ४०॥

यो गीतां सम्यगभ्यस्य ज्ञात्वा चार्थं गुरोर्मुखात्।
कृत्वा पूजां गणेशस्य प्रत्यहं पठते तु यः॥ ४१॥
एककालं द्विकालं वा त्रिकालं वापि यः पठेत्।
ब्रह्मीभूतस्य तस्यापि दर्शनान्मुच्यते नरः॥ ४२॥

जो इस गीताका भलीप्रकार अभ्यासकर तथा गुरुमुखसे इसका अर्थ जानकर गणेशजीकी पूजाकर प्रतिदिन एक काल, दो काल अथवा तीनों कालमें पाठ करता है, वह ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है और उसके दर्शनसे भी मनुष्य मुक्त हो जाता है॥ ४१-४२॥

न यज्ञैर्न व्रतैर्दानैर्नाग्निहोत्रैर्महाधनैः।
न वेदैः सम्यगभ्यस्तैः सम्यग्ज्ञातैः सहाङ्गकैः॥ ४३॥
पुराणश्रवणैर्नैव न शास्त्रैः साधुचिन्तितैः।
प्राप्यते ब्रह्म परममनया प्राप्यते नरैः॥ ४४॥

न यज्ञ, न व्रत, न दान, न अग्निहोत्र, न महाधन, न सांगोपांग वेदोंके उत्तम ज्ञान और अभ्यास, न पुराणोंके श्रवण, न भलीभाँति चिन्तन किये हुए शास्त्रोंसे भी ऐसे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, जैसे इस गीतासे मनुष्योंको प्राप्त होती है॥ ४३-४४॥

ब्रह्मघ्नो मद्यपस्तेयी गुरुतल्पगमोऽपि यः।
चतुर्णां यस्तु संसर्गी महापातककारिणाम्॥ ४५॥
स्त्रीहिंसागोवधादीनां कर्तारो ये च पापिनः।
ते सर्वे प्रतिमुच्यन्ते गीतामेतां पठन्ति चेत्॥ ४६॥

ब्रह्महत्यारा, मद्यपी, चोर, गुरुदारगामी तथा इन चारों महापाप करनेवालोंका साथ करनेवाले और स्त्रीहिंसा, गोवध आदि करनेवाले पापी भी इस गीताके पढ़नेसे पापमुक्त हो जाते हैं॥ ४५-४६॥

यः पठेत्प्रयतो नित्यं स गणेशो न संशयः।
चतुर्थ्यां च पठेद्भक्त्या सोऽपि मोक्षाय कल्पते॥ ४७॥

जो नियमसे इसे नित्य पढ़ता है, वह निःसन्देह श्रीगणेशस्वरूप

हो जाता है और जो चतुर्थीके दिन इसे भक्तिसे पढ़ता है, वह भी मुक्त हो जाता है॥ ४७॥

तत्तत्क्षेत्रं समासाद्य स्नात्वाभ्यर्च्य गजाननम्।
सकृद्गीतां पठन् भक्त्या ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ४८॥

उन-उन पुण्यक्षेत्रोंमें जाकर स्नानकर गणेशजीका पूजनकर एक बार भी भक्तिपूर्वक इस गीताका पाठ करनेवाला ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है॥ ४८॥

भाद्रे मासे सिते पक्षे चतुर्थ्यां भक्तिमान्नरः।
कृत्वा महीमयीं मूर्तिं गणेशस्य चतुर्भुजाम्॥ ४९॥
सवाहनां सायुधां च समभ्यर्च्य यथाविधि।
यः पठेत्सप्तकृत्वस्तु गीतामेतां प्रयत्नतः॥ ५०॥
ददाति तस्य सन्तुष्टो गणेशो भोगमुत्तमम्।
पुत्रान् पौत्रान् धनं धान्यं पशुरत्नादिसम्पदः॥ ५१॥

भाद्रपदमासके शुक्लपक्षमें चतुर्थीके दिन भक्तिपूर्वक वाहन और आयुधसहित श्रीगणेशकी मृत्तिकाकी चतुर्भुज मूर्ति बनाकर विधिपूर्वक पूजन करके जो यत्नपूर्वक सात बार इस गणेशगीताका पाठ करता है, उसपर सन्तुष्ट होकर गणेशजी पुत्र, पौत्र, धन-धान्य, पशु, रत्नादि सम्पत्ति और उत्तम भोग उसे प्रदान करते हैं॥ ४९—५१॥

विद्यार्थिनो भवेद्विद्या सुखार्थी सुखमाप्नुयात्।
कामानन्याँल्लभेत्कामी मुक्तिमन्ते प्रयान्ति ते॥ ५२॥

विद्यार्थीको विद्या, सुखार्थीको सुख, कामार्थीको कामकी प्राप्ति होती है और अन्तमें वे मुक्तिको प्राप्त होते हैं॥ ५२॥

॥ इति श्रीगणेशपुराणे गजाननवरेण्यसंवादे गणेशगीतायां त्रिविधवस्तुविवेक-निरूपणयोगो नामैकादशोऽध्यायः॥ ११॥

भिक्षुगीता

[श्रीमद्भागवतमहापुराणके एकादश स्कन्धमें भिक्षुगीता प्राप्त है। इसमें भगवान् श्रीकृष्णने अपने परमसखा उद्धवजीको एक भिक्षुके प्राचीन आख्यानके माध्यमसे मनोजयके उपाय समझाये हैं। यदि दुर्जन लोग मनको क्षुब्ध करनेवाले आचरण भी करें तो भी मुमुक्षु मनुष्यको उद्वेलित न होकर उन्हें पूर्ण क्षमा कर देना चाहिये; क्योंकि सुख अथवा दु:खका कारण कोई और नहीं अपितु मन ही है। यही मोहासक्त मन जीवको कर्मबन्धनमें डालता है। इस मनका किसी भी प्रकार एकाग्र होकर भगवान्‌में लग जाना ही परम योग है। मार्मिक ज्ञानोपदेशवाली यह साधकोपयोगी भिक्षुगीता यहाँ सानुवाद प्रस्तुत की जा रही है—]

बादरायणिरुवाच

स एवमाशंसित उद्धवेन
भागवतमुख्येन दाशार्हमुख्यः।
सभाजयन् भृत्यवचो मुकुन्द-
स्तमाबभाषे श्रवणीयवीर्यः॥ १॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—[परीक्षित्!] वास्तवमें भगवान्‌की लीलाकथा ही श्रवण करनेयोग्य है। वे ही प्रेम और मुक्तिके दाता हैं। जब उनके परमप्रेमी भक्त उद्धवजीने इस प्रकार प्रार्थना की, तब यदुवंशविभूषण श्रीभगवान्‌ने उनके प्रश्नकी प्रशंसा करके उनसे इस प्रकार कहा— ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

बार्हस्पत्य स वै नात्र साधुर्वै दुर्जनेरितैः।
दुरुक्तैर्भिन्नमात्मानं यः समाधातुमीश्वरः॥ २॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—देवगुरु बृहस्पतिके शिष्य उद्धवजी! इस संसारमें प्रायः ऐसे सन्त पुरुष नहीं मिलते, जो दुर्जनोंकी कटुवाणीसे

बिंधे हुए अपने हृदयको सँभाल सकें॥ २॥

न तथा तप्यते विद्धः पुमान् बाणैः सुमर्मगैः।
यथा तुदन्ति मर्मस्था ह्यसतां परुषेषवः॥ ३॥

मनुष्यका हृदय मर्मभेदी बाणोंसे बिंधनेपर भी उतनी पीड़ाका अनुभव नहीं करता, जितनी पीड़ा उसे दुष्टजनोंके मर्मान्तक एवं कठोर वाग्बाण पहुँचाते हैं॥ ३॥

कथयन्ति महत्पुण्यमितिहासमिहोद्धव।
तमहं वर्णयिष्यामि निबोध सुसमाहितः॥ ४॥

उद्धवजी! इस विषयमें महात्मालोग एक बड़ा पवित्र प्राचीन इतिहास कहा करते हैं; मैं वही तुम्हें सुनाऊँगा, तुम मन लगाकर उसे सुनो॥ ४॥

केनचिद् भिक्षुणा गीतं परिभूतेन दुर्जनैः।
स्मरता धृतियुक्तेन विपाकं निजकर्मणाम्॥ ५॥

एक भिक्षुकको दुष्टोंने बहुत सताया था। उस समय भी उसने अपना धैर्य न छोड़ा और उसे अपने पूर्वजन्मके कर्मोंका फल समझकर कुछ अपने मानसिक उद्‌गार प्रकट किये थे। उन्हींका इस इतिहासमें वर्णन है॥ ५॥

अवन्तिषु द्विजः कश्चिदासीदाढ्यतमः श्रिया।
वार्तावृत्तिः कदर्यस्तु कामी लुब्धोऽतिकोपनः॥ ६॥

प्राचीन समयकी बात है, उज्जैनमें एक ब्राह्मण रहता था। उसने खेती-व्यापार आदि करके बहुत-सी धन-सम्पत्ति इकट्ठी कर ली थी। वह बहुत ही कृपण, कामी और लोभी था। क्रोध तो उसे बात-बातमें आ जाया करता था॥ ६॥

ज्ञातयोऽतिथयस्तस्य वाङ्मात्रेणापि नार्चिताः।
शून्यावसथ आत्मापि काले कामैरनर्चितः॥ ७॥

उसने अपने जाति-बन्धु और अतिथियोंको कभी मीठी बातसे

भी प्रसन्न नहीं किया, खिलाने-पिलानेकी तो बात ही क्या है। वह धर्म-कर्मसे रीते घरमें रहता और स्वयं भी अपनी धन-सम्पत्तिके द्वारा समयपर अपने शरीरको भी सुखी नहीं करता था॥ ७॥

दुःशीलस्य कदर्यस्य द्रुह्यन्ते पुत्रबान्धवाः।
दारा दुहितरो भृत्या विषण्णा नाचरन् प्रियम्॥ ८॥

उसकी कृपणता और बुरे स्वभावके कारण उसके बेटे-बेटी, भाई-बन्धु, नौकर-चाकर और पत्नी आदि सभी दुःखी रहते और मन-ही-मन उसका अनिष्टचिन्तन किया करते थे। कोई भी उसके मनको प्रिय लगनेवाला व्यवहार नहीं करता था॥ ८॥

तस्यैवं यक्षवित्तस्य च्युतस्योभयलोकतः।
धर्मकामविहीनस्य चुक्रुधुः पञ्चभागिनः॥ ९॥

वह लोक-परलोक दोनोंसे ही गिर गया था। बस, यक्षोंके समान धनकी रखवाली करता रहता था। उस धनसे वह न तो धर्म कमाता था और न भोग ही भोगता था। बहुत दिनोंतक इस प्रकार जीवन बितानेसे उसपर पंचमहायज्ञके भागी देवता बिगड़ उठे॥ ९॥

तदवध्यानविस्रस्तपुण्यस्कन्धस्य भूरिद।
अर्थोऽप्यगच्छन्निधनं बह्वायासपरिश्रमः॥ १०॥

उदार उद्धवजी ! पंचमहायज्ञके भागियोंके तिरस्कारसे उसके पूर्व-पुण्योंका सहारा—जिसके बलसे अबतक धन टिका हुआ था, जाता रहा और जिसे उसने बड़े उद्योग और परिश्रमसे इकट्ठा किया था, वह धन उसकी आँखोंके सामने ही नष्ट-भ्रष्ट हो गया॥ १०॥

ज्ञातयो जगृहुः किञ्चित् किञ्चिद् दस्यव उद्धव।
दैवतः कालतः किञ्चिद् ब्रह्मबन्धोर्नृपार्थिवात्॥ ११॥

उद्धवजी! उस नीच ब्राह्मणका कुछ धन तो उसके कुटुम्बियोंने ही छीन लिया, कुछ चोर चुरा ले गये। कुछ आग लग जाने आदि दैवी कोपसे

नष्ट हो गया, कुछ समयके फेरसे मारा गया। कुछ साधारण मनुष्योंने ले लिया और बचा-खुचा कर और दण्डके रूपमें शासकोंने हड़प लिया॥ ११॥

स एवं द्रविणे नष्टे धर्मकामविवर्जितः।
उपेक्षितश्च स्वजनैश्चिन्तामाप दुरत्ययाम्॥ १२॥

इस प्रकार उसकी सारी सम्पत्ति जाती रही। न तो उसने धर्म ही कमाया और न भोग ही भोगे। इधर उसके सगे-सम्बन्धियोंने भी उसकी ओरसे मुँह मोड़ लिया। अब उसे बड़ी भयानक चिन्ताने घेर लिया॥ १२॥

तस्यैवं ध्यायतो दीर्घं नष्टरायस्तपस्विनः।
खिद्यतो बाष्पकण्ठस्य निर्वेदः सुमहानभूत्॥ १३॥

धनके नाशसे उसके हृदयमें बड़ी जलन हुई। उसका मन खेदसे भर गया। आँसुओंके कारण गला रुँध गया। परन्तु इस तरह चिन्ता करते-करते ही उसके मनमें संसारके प्रति महान् दुःखबुद्धि और उत्कट वैराग्यका उदय हो गया॥ १३॥

स चाहेदमहो कष्टं वृथात्मा मेऽनुतापितः।
न धर्माय न कामाय यस्यार्थायास ईदृशः॥ १४॥

अब वह ब्राह्मण मन-ही-मन कहने लगा—हाय! हाय!! बड़े खेदकी बात है, मैंने इतने दिनोंतक अपनेको व्यर्थ ही इस प्रकार सताया। जिस धनके लिये मैंने सरतोड़ परिश्रम किया, वह न तो धर्मकर्ममें लगा और न मेरे सुखभोगके ही काम आया॥ १४॥

प्रायेणार्थाः कदर्याणां न सुखाय कदाचन।
इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च॥ १५॥

प्रायः देखा जाता है कि कृपण पुरुषोंको धनसे कभी सुख नहीं मिलता। इस लोकमें तो वे धन कमाने और रक्षाकी चिन्तासे जलते रहते हैं और मरनेपर धर्म न करनेके कारण नरकमें जाते हैं॥ १५॥

यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः।
लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्॥ १६॥

जैसे थोड़ा-सा भी कोढ़ सर्वांगसुन्दर स्वरूपको बिगाड़ देता है, वैसे ही तनिक-सा भी लोभ यशस्वियोंके शुद्ध यश और गुणियोंके प्रशंसनीय गुणोंपर पानी फेर देता है॥ १६॥

अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥ १७॥

धन कमानेमें, कमा लेनेपर उसको बढ़ाने, रखने एवं खर्च करनेमें तथा उसके नाश और उपभोगमें—जहाँ देखो वहीं निरन्तर परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रमका ही सामना करना पड़ता है॥ १७॥

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥ १८॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥ १९॥

चोरी, हिंसा, झूठ बोलना, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, अहंकार, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, लम्पटता, जुआ और शराब—ये पन्द्रह अनर्थ मनुष्योंमें धनके कारण ही माने गये हैं। इसलिये कल्याणकामी पुरुषको चाहिये कि स्वार्थ एवं परमार्थके विरोधी अर्थनामधारी अनर्थको दूरसे ही छोड़ दे॥ १८-१९॥

भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा।
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः॥ २०॥

भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, माता-पिता, सगे-सम्बन्धी—जो स्नेहबन्धनसे बँधकर बिलकुल एक हुए रहते हैं—सब-के-सब कौड़ीके कारण इतने फट जाते हैं कि तुरंत एक-दूसरेके शत्रु बन जाते हैं॥ २०॥

अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः।
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम्॥ २१॥

ये लोग थोड़े-से धनके लिये भी क्षुब्ध और क्रुद्ध हो जाते हैं।

बात-की-बातमें सौहार्द-सम्बन्ध छोड़ देते हैं, लाग-डाँट रखने लगते हैं और एकाएक प्राण लेने-देनेपर उतारू हो जाते हैं। यहाँतक कि एक-दूसरेका सर्वनाश कर डालते हैं॥ २१॥

लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद् द्विजाग्र्यताम्।
तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम्॥ २२॥

देवताओंके भी प्रार्थनीय मनुष्य-जन्मको और उसमें भी श्रेष्ठ ब्राह्मण-शरीर प्राप्त करके जो उसका अनादर करते हैं और अपने सच्चे स्वार्थ-परमार्थका नाश करते हैं, वे अशुभ गतिको प्राप्त होते हैं॥ २२॥

स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान्।
द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि॥ २३॥

यह मनुष्यशरीर मोक्ष और स्वर्गका द्वार है, इसको पाकर भी ऐसा कौन बुद्धिमान् मनुष्य है, जो अनर्थोंके धाम धनके चक्करमें फँसा रहे॥ २३॥

देवर्षिपितृभूतानि ज्ञातीन् बन्धूंश्च भागिनः।
असंविभज्य चात्मानं यक्षवित्तः पतत्यधः॥ २४॥

जो मनुष्य देवता, ऋषि, पितर, प्राणी, जाति-भाई, कुटुम्बी और धनके दूसरे भागीदारोंको उनका भाग देकर सन्तुष्ट नहीं रखता और न स्वयं ही उसका उपभोग करता है, वह यक्षके समान धनकी रखवाली करनेवाला कृपण तो अवश्य ही अधोगतिको प्राप्त होता है॥ २४॥

व्यर्थयार्थेहया वित्तं प्रमत्तस्य वयो बलम्।
कुशला येन सिध्यन्ति जरठः किं नु साधये॥ २५॥

मैं अपने कर्तव्यसे च्युत हो गया हूँ। मैंने प्रमादमें अपनी आयु, धन और बल-पौरुष खो दिये। विवेकीलोग जिन साधनोंसे मोक्षतक प्राप्त कर लेते हैं, उन्हींको मैंने धन इकट्ठा करनेकी व्यर्थ चेष्टामें

खो दिया। अब बुढ़ापेमें मैं कौन-सा साधन करूँगा?॥ २५॥

कस्मात् संक्लिश्यते विद्वान् व्यर्थयार्थेहयासकृत्।
कस्यचिन्मायया नूनं लोकोऽयं सुविमोहितः॥ २६॥

मुझे मालूम नहीं होता कि बड़े-बड़े विद्वान् भी धनकी व्यर्थ तृष्णासे निरन्तर क्यों दुःखी रहते हैं? हो-न-हो, अवश्य ही यह संसार किसीकी मायासे अत्यन्त मोहित हो रहा है॥ २६॥

किं धनैर्धनदैर्वा किं कामैर्वा कामदैरुत।
मृत्युना ग्रस्यमानस्य कर्मभिर्वोत जन्मदैः॥ २७॥

यह मनुष्य-शरीर कालके विकराल गालमें पड़ा हुआ है। इसको धनसे, धन देनेवाले देवताओं और लोगोंसे, भोगवासनाओं और उनको पूर्ण करनेवालोंसे तथा पुनः-पुनः जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाले सकाम कर्मोंसे लाभ ही क्या है?॥ २७॥

नूनं मे भगवांस्तुष्टः सर्वदेवमयो हरिः।
येन नीतो दशामेतां निर्वेदश्चात्मनः प्लवः॥ २८॥

इसमें सन्देह नहीं कि सर्वदेवस्वरूप भगवान् मुझपर प्रसन्न हैं। तभी तो उन्होंने मुझे इस दशामें पहुँचाया है और मुझे इस जगत्के प्रति यह दुःख-बुद्धि और वैराग्य दिया है। वस्तुतः वैराग्य ही इस संसार-सागरसे पार होनेके लिये नौकाके समान है॥ २८॥

सोऽहं कालावशेषेण शोषयिष्येऽङ्गमात्मनः।
अप्रमत्तोऽखिलस्वार्थे यदि स्यात् सिद्ध आत्मनि॥ २९॥

मैं अब ऐसी अवस्थामें पहुँच गया हूँ। यदि मेरी आयु शेष हो तो मैं आत्मलाभमें ही सन्तुष्ट रहकर अपने परमार्थके सम्बन्धमें सावधान हो जाऊँगा और अब जो समय बच रहा है, उसमें अपने शरीरको तपस्याके द्वारा सुखा डालूँगा॥ २९॥

तत्र मामनुमोदेरन् देवास्त्रिभुवनेश्वराः।
मुहूर्तेन ब्रह्मलोकं खट्वाङ्गः समसाधयत्॥ ३०॥

तीनों लोकोंके स्वामी देवगण मेरे इस संकल्पका अनुमोदन करें। अभी निराश होनेकी कोई बात नहीं है; क्योंकि राजा खट्वांगने तो दो घड़ीमें ही भगवद्धामकी प्राप्ति कर ली थी॥ ३०॥

श्रीभगवानुवाच

इत्यभिप्रेत्य मनसा ह्यावन्त्यो द्विजसत्तमः।
उन्मुच्य हृदयग्रन्थीन् शान्तो भिक्षुरभून्मुनिः॥ ३१॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—[उद्धवजी!] उस उज्जैननिवासी ब्राह्मणने मन-ही-मन इस प्रकार निश्चय करके 'मैं' और 'मेरे'पनकी गाँठ खोल दी। इसके बाद वह शान्त होकर मौनी संन्यासी हो गया॥ ३१॥

स चचार महीमेतां संयतात्मेन्द्रियानिलः।
भिक्षार्थं नगरग्रामानसङ्गोऽलक्षितोऽविशत्॥ ३२॥

अब उसके चित्तमें किसी भी स्थान, वस्तु या व्यक्तिके प्रति आसक्ति न रही। उसने अपने मन, इन्द्रिय और प्राणोंको वशमें कर लिया। वह पृथ्वीपर स्वच्छन्दरूपसे विचरने लगा। वह भिक्षाके लिये नगर और गाँवोंमें जाता अवश्य था, परन्तु इस प्रकार जाता था कि कोई उसे पहचान न पाता था॥ ३२॥

तं वै प्रवयसं भिक्षुमवधूतमसज्जनाः।
दृष्ट्वा पर्यभवन् भद्र बह्वीभिः परिभूतिभिः॥ ३३॥

उद्धवजी! वह भिक्षुक अवधूत बहुत बूढ़ा हो गया था। दुष्ट उसे देखते ही टूट पड़ते और तरह-तरहसे उसका तिरस्कार करके उसे तंग करते॥ ३३॥

केचित्त्रिवेणुं जगृहुरेके पात्रं कमण्डलुम्।
पीठं चैकेऽक्षसूत्रं च कन्थां चीराणि केचन॥ ३४॥

कोई उसका दण्ड छीन लेता तो कोई भिक्षापात्र ही झटक ले जाता। कोई कमण्डलु उठा ले जाता तो कोई आसन, रुद्राक्षमाला और कन्था ही लेकर भाग जाता। कोई तो उसकी लँगोटी और वस्त्रको ही इधर-उधर डाल देता॥ ३४॥

प्रदाय च पुनस्तानि दर्शितान्याददुर्मुनेः।
अन्नं च भैक्ष्यसम्पन्नं भुञ्जानस्य सरित्तटे॥ ३५॥
मूत्रयन्ति च पापिष्ठाः ष्ठीवन्त्यस्य च मूर्धनि।
यतवाचं वाचयन्ति ताडयन्ति न वक्ति चेत्॥ ३६॥

कोई-कोई वे वस्तुएँ देकर और कोई दिखला-दिखलाकर फिर छीन लेते। जब वह अवधूत मधुकरी माँगकर लाता और बाहर नदी-तटपर भोजन करने बैठता तो पापीलोग कभी उसके सिरपर मूत देते तो कभी थूक देते। वे लोग उस मौनी अवधूतको तरह-तरहसे बोलनेके लिये विवश करते और जब वह इसपर भी न बोलता तो उसे पीटते॥ ३५-३६॥

तर्जयन्त्यपरे वाग्भिः स्तेनोऽयमिति वादिनः।
बध्नन्ति रज्ज्वा तं केचिद् बध्यतां बध्यतामिति॥ ३७॥

कोई उसे चोर कहकर डाँटने-डपटने लगता। कोई कहता 'इसे बाँध लो, बाँध लो' और फिर उसे रस्सीसे बाँधने लगते॥ ३७॥

क्षिपन्त्येकेऽवजानन्त एष धर्मध्वजः शठः।
क्षीणवित्त इमां वृत्तिमग्रहीत् स्वजनोज्झितः॥ ३८॥

कोई उसका तिरस्कार करके इस प्रकार ताना कसते कि देखो-देखो, अब इस कृपणने धर्मका ढोंग रचा है। धन-सम्पत्ति जाती रही, स्त्री-पुत्रोंने घरसे निकाल दिया; तब इसने भीख माँगनेका रोजगार लिया है॥ ३८॥

अहो एष महासारो धृतिमान् गिरिराडिव।
मौनेन साधयत्यर्थं बकवद् दृढनिश्चयः॥ ३९॥

ओहो! देखो तो सही, यह मोटा-तगड़ा भिखारी धैर्यमें बड़े भारी पर्वतके समान है। यह मौन रहकर अपना काम बनाना चाहता है। सचमुच यह बगुलेसे भी बढ़कर ढोंगी और दृढ़निश्चयी है॥ ३९॥

इत्येके विहसन्त्येनमेके दुर्वातयन्ति च।
तं बबन्धुर्निरुरुधुर्यथा क्रीडनकं द्विजम्॥ ४०॥

कोई उस अवधूतकी हँसी उड़ाता तो कोई उसपर अधोवायु छोड़ता। जैसे लोग तोता-मैना आदि पालतू पक्षियोंको बाँध लेते या पिंजड़ेमें बन्द कर लेते हैं, वैसे ही उसे भी वे लोग बाँध देते और घरोंमें बन्द कर देते॥ ४०॥

एवं स भौतिकं दुःखं दैविकं दैहिकं च यत्।
भोक्तव्यमात्मनो दिष्टं प्राप्तं प्राप्तमबुध्यत॥ ४१॥

किन्तु वह सब कुछ चुपचाप सह लेता। उसे कभी ज्वर आदिके कारण दैहिक पीड़ा सहनी पड़ती, कभी गरमी-सर्दी आदिसे दैवी कष्ट उठाना पड़ता और कभी दुर्जन लोग अपमान आदिके द्वारा उसे भौतिक पीड़ा पहुँचाते; परन्तु भिक्षुकके मनमें इससे कोई विकार न होता। वह समझता कि यह सब मेरे पूर्वजन्मके कर्मोंका फल है और इसे मुझे अवश्य भोगना पड़ेगा॥ ४१॥

परिभूत इमां गाथामगायत नराधमैः।
पातयद्भिः स्वधर्मस्थो धृतिमास्थाय सात्त्विकीम्॥ ४२॥

यद्यपि नीच मनुष्य तरह-तरहके तिरस्कार करके उसे उसके धर्मसे गिरानेकी चेष्टा किया करते, फिर भी वह बड़ी दृढ़तासे अपने धर्ममें स्थिर रहता और सात्त्विक धैर्यका आश्रय लेकर कभी-कभी ऐसे उद्‌गार प्रकट किया करता॥ ४२॥

द्विज उवाच

नायं जनो मे सुखदुःखहेतु-
र्न देवतात्मा ग्रहकर्मकालाः।
मनः परं कारणमामनन्ति
संसारचक्रं परिवर्तयेद् यत्॥ ४३॥

ब्राह्मण कहता—मेरे सुख अथवा दुःखका कारण न ये मनुष्य हैं, न देवता हैं, न शरीर है और न ग्रह, कर्म एवं काल आदि ही हैं। श्रुतियाँ और महात्माजन मनको ही इसका परम कारण बताते हैं और मन ही इस सारे संसारचक्रको चला रहा है॥ ४३॥

मनो गुणान् वै सृजते बलीय-
स्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि।
शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि
तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति॥ ४४॥

सचमुच यह मन बहुत बलवान् है। इसीने विषयों, उनके कारण गुणों और उनसे सम्बन्ध रखनेवाली वृत्तियोंकी सृष्टि की है। उन वृत्तियोंके अनुसार ही सात्त्विक, राजस और तामस—अनेक प्रकारके कर्म होते हैं और कर्मोंके अनुसार ही जीवकी विविध गतियाँ होती हैं॥ ४४॥

अनीह आत्मा मनसा समीहता
हिरण्मयो मत्सख उद्विचष्टे।
मनः स्वलिङ्गं परिगृह्य कामान्
जुषन् निबद्धो गुणसङ्गतोऽसौ॥ ४५॥

मन ही समस्त चेष्टाएँ करता है। उसके साथ रहनेपर भी आत्मा निष्क्रिय ही है। वह ज्ञानशक्तिप्रधान है, मुझ जीवका सनातन सखा है और अपने अलुप्त ज्ञानसे सब कुछ देखता रहता है। मनके द्वारा

ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। जब वह मनको स्वीकार करके उसके द्वारा विषयोंका भोक्ता बन बैठता है, तब कर्मोंके साथ आसक्ति होनेके कारण वह उनसे बँध जाता है॥ ४५॥

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः॥ ४६॥

दान, अपने धर्मका पालन, नियम, यम, वेदाध्ययन, सत्कर्म और ब्रह्मचर्यादि श्रेष्ठ व्रत—इन सबका अन्तिम फल यही है कि मन एकाग्र हो जाय, भगवान्‌में लग जाय। मनका समाहित हो जाना ही परम योग है॥ ४६॥

समाहितं यस्य मनः प्रशान्तं
दानादिभिः किं वद तस्य कृत्यम्।
असंयतं यस्य मनो विनश्यद्
दानादिभिश्चेदपरं किमेभिः॥ ४७॥

जिसका मन शान्त और समाहित है, उसे दान आदि समस्त सत्कर्मोंका फल प्राप्त हो चुका है। अब उनसे कुछ लेना बाकी नहीं है। और जिसका मन चंचल है अथवा आलस्यसे अभिभूत हो रहा है, उसको इन दानादि शुभकर्मोंसे अबतक कोई लाभ नहीं हुआ॥ ४७॥

मनोवशेऽन्ये ह्यभवन् स्म देवा
मनश्च नान्यस्य वशं समेति।
भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्
युञ्ज्याद् वशे तं स हि देवदेवः॥ ४८॥

सभी इन्द्रियाँ मनके वशमें हैं। मन किसी भी इन्द्रियके वशमें नहीं है। यह मन बलवान्‌से भी बलवान्, अत्यन्त भयंकर देव है। जो इसको अपने वशमें कर लेता है, वही देवदेव—इन्द्रियोंका विजेता है॥ ४८॥

तं दुर्जयं शत्रुमसह्यवेग-
मरुन्तुदं तन्न विजित्य केचित्।
कुर्वन्त्यसद्विग्रहमत्र मर्त्यै-
र्मित्राण्युदासीनरिपून् विमूढाः॥ ४९॥

सचमुच मन बहुत बड़ा शत्रु है। इसका आक्रमण असह्य है। यह बाहरी शरीरको ही नहीं, हृदयादि मर्मस्थानोंको भी बेधता रहता है। इसे जीतना बहुत ही कठिन है। मनुष्यको चाहिये कि सबसे पहले इसी शत्रुपर विजय प्राप्त करे; परन्तु होता है यह कि मूर्ख लोग इसे तो जीतनेका प्रयत्न करते नहीं, दूसरे मनुष्योंसे झूठमूठ झगड़ा-बखेड़ा करते रहते हैं और इस जगत्के लोगोंको ही मित्र-शत्रु-उदासीन बना लेते हैं॥ ४९॥

देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा
ममाहमित्यन्धधियो मनुष्याः।
एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण
दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति॥ ५०॥

साधारणतः मनुष्योंकी बुद्धि अन्धी हो रही है। तभी तो वे इस मनःकल्पित शरीरको 'मैं' और 'मेरा' मान बैठते हैं और फिर इस भ्रमके फन्देमें फँस जाते हैं कि 'यह मैं हूँ और यह दूसरा।' इसका परिणाम यह होता है कि वे इस अनन्त अज्ञानान्धकारमें ही भटकते रहते हैं॥ ५०॥

जनस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनश्चात्र ह भौमयोस्तत्।
जिह्वां क्वचित् संदशति स्वदद्भि-
स्तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत्॥ ५१॥

यदि मान लें कि मनुष्य ही सुख-दुःखका कारण है तो भी उनसे आत्माका क्या सम्बन्ध? क्योंकि सुख-दुःख पहुँचानेवाला भी मिट्टीका शरीर है और भोगनेवाला भी। कभी भोजन आदिके समय

यदि अपने दाँतोंसे ही अपनी जीभ कट जाय और उससे पीड़ा होने लगे तो मनुष्य किसपर क्रोध करेगा?॥ ५१॥

दुःखस्य हेतुर्यदि देवतास्तु
किमात्मनस्तत्र विकारयोस्तत्।
यदङ्गमङ्गेन निहन्यते क्वचित्
क्रुध्येत कस्मै पुरुषः स्वदेहे॥ ५२॥

यदि ऐसा मान लें कि देवता ही दुःखके कारण हैं तो भी इस दुःखसे आत्माकी क्या हानि? क्योंकि यदि दुःखके कारण देवता हैं तो इन्द्रियाभिमानी देवताओंके रूपमें उनके भोक्ता भी तो वे ही हैं और देवता सभी शरीरोंमें एक हैं; जो देवता एक शरीरमें हैं; वे ही दूसरेमें भी हैं। ऐसी दशामें यदि अपने ही शरीरके किसी एक अंगसे दूसरे अंगको चोट लग जाय तो भला, किसपर क्रोध किया जायगा?॥ ५२॥

आत्मा यदि स्यात् सुखदुःखहेतुः
किमन्यतस्तत्र निजस्वभावः।
न ह्यात्मनोऽन्यद् यदि तन्मृषा स्यात्
क्रुध्येत कस्मान्न सुखं न दुःखम्॥ ५३॥

यदि ऐसा मानें कि आत्मा ही सुख-दुःखका कारण है तो वह तो अपना आप ही है, कोई दूसरा नहीं; क्योंकि आत्मासे भिन्न कुछ और है ही नहीं। यदि दूसरा कुछ प्रतीत होता है तो वह मिथ्या है। इसलिये न सुख है, न दुःख; फिर क्रोध कैसा? क्रोधका निमित्त ही क्या?॥ ५३॥

ग्रहा निमित्तं सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनोऽजस्य जनस्य ते वै।
ग्रहैर्ग्रहस्यैव वदन्ति पीडां
क्रुध्येत कस्मै पुरुषस्ततोऽन्यः॥ ५४॥

यदि ग्रहोंको सुख-दुःखका निमित्त मानें तो उनसे भी अजन्मा

आत्माकी क्या हानि? उनका प्रभाव भी जन्म-मृत्युशील शरीरपर ही होता है। ग्रहोंकी पीड़ा तो उनका प्रभाव ग्रहण करनेवाले शरीरको ही होती है और आत्मा उन ग्रहों और शरीरोंसे सर्वथा परे है। तब भला वह किसपर क्रोध करे?॥ ५४॥

कर्मास्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनस्तद्धि जडाजडत्वे।
देहस्त्वचित् पुरुषोऽयं सुपर्णः
क्रुध्येत कस्मै न हि कर्ममूलम्॥ ५५॥

यदि कर्मोंको ही सुख-दुःखका कारण मानें तो उनसे आत्माका क्या प्रयोजन? क्योंकि वे तो एक पदार्थके जड और चेतन—उभयरूप होनेपर ही हो सकते हैं। (जो वस्तु विकारयुक्त और अपना हिताहित जाननेवाली होती है, उसीसे कर्म हो सकते हैं; अतः वह विकारयुक्त होनेके कारण जड होनी चाहिये और हिताहितका ज्ञान रखनेके कारण चेतन।) किन्तु देह तो अचेतन है और उसमें पक्षीरूपसे रहनेवाला आत्मा सर्वथा निर्विकार और साक्षीमात्र है। इस प्रकार कर्मोंका तो कोई आधार ही सिद्ध नहीं होता। फिर क्रोध किसपर करें?॥ ५५॥

कालस्तु हेतुः सुखदुःखयोश्चेत्
किमात्मनस्तत्र तदात्मकोऽसौ।
नाग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत् स्यात्
क्रुध्येत कस्मै न परस्य द्वन्द्वम्॥ ५६॥

यदि ऐसा मानें कि काल ही सुख-दुःखका कारण है तो आत्मापर उसका क्या प्रभाव? क्योंकि काल तो आत्मस्वरूप ही है। जैसे आग आगको नहीं जला सकती और बर्फ बर्फको नहीं गला सकता, वैसे ही आत्मस्वरूप काल अपने आत्माको ही सुख-दुःख नहीं पहुँचा सकता। फिर किसपर क्रोध किया जाय? आत्मा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे सर्वथा अतीत है॥ ५६॥

न केनचित् क्वापि कथञ्चनास्य
द्वन्द्वोपरागः परतः परस्य।
यथाहमः संसृतिरूपिणः स्या-
देवं प्रबुद्धो न बिभेति भूतैः॥ ५७॥

आत्मा प्रकृतिके स्वरूप, धर्म, कार्य, लेश, सम्बन्ध और गन्धसे भी रहित है। उसे कभी कहीं किसीके द्वारा किसी भी प्रकारसे द्वन्द्वका स्पर्श ही नहीं होता। वह तो जन्म-मृत्युके चक्रमें भटकनेवाले अहंकारको ही होता है। जो इस बातको जान लेता है, वह फिर किसी भी भयके निमित्तसे भयभीत नहीं होता॥ ५७॥

एतां स आस्थाय परात्मनिष्ठा-
मध्यासितां पूर्वतमैर्महर्षिभिः।
अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं
तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव॥ ५८॥

बड़े-बड़े प्राचीन ऋषि-मुनियोंने इस परमात्मनिष्ठाका आश्रय ग्रहण किया है। मैं भी इसीका आश्रय ग्रहण करूँगा और मुक्ति तथा प्रेमके दाता भगवान्‌के चरणकमलोंकी सेवाके द्वारा ही इस दुरन्त अज्ञानसागरको अनायास ही पार कर लूँगा॥ ५८॥

श्रीभगवानुवाच

निर्विद्य नष्टद्रविणो गतक्लमः
प्रव्रज्य गां पर्यटमान इत्थम्।
निराकृतोऽसद्भिरपि स्वधर्मा-
दकम्पितोऽमुं मुनिराह गाथाम्॥ ५९॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—[उद्धवजी!] उस ब्राह्मणका धन क्या नष्ट हुआ, उसका सारा क्लेश ही दूर हो गया। अब वह संसारसे विरक्त हो गया था और संन्यास लेकर पृथ्वीमें स्वच्छन्द विचर रहा था। यद्यपि दुष्टोंने उसे बहुत सताया, फिर भी वह अपने धर्ममें अटल

रहा, तनिक भी विचलित न हुआ। उस समय वह मौनी अवधूत मन-ही-मन इस प्रकारका गीत गाया करता था॥ ५९॥

सुखदुःखप्रदो नान्यः पुरुषस्यात्मविभ्रमः।
मित्रोदासीनरिपवः संसारस्तमसः कृतः॥ ६०॥

इस संसारमें मनुष्यको कोई दूसरा सुख या दुःख नहीं देता, यह तो उसके चित्तका भ्रममात्र है। यह सारा संसार और इसके भीतर मित्र, उदासीन और शत्रुके भेद अज्ञानकल्पित हैं ॥ ६०॥

तस्मात् सर्वात्मना तात निगृहाण मनो धिया।
मय्यावेशितया युक्त एतावान् योगसंग्रहः॥ ६१॥

इसलिये प्यारे उद्धव! अपनी वृत्तियोंको मुझमें तन्मय कर दो और इस प्रकार अपनी सारी शक्ति लगाकर मनको वशमें कर लो और फिर मुझमें ही नित्ययुक्त होकर स्थित हो जाओ। बस, सारे योगसाधनका इतना ही सार-संग्रह है॥ ६१॥

य एतां भिक्षुणा गीतां ब्रह्मनिष्ठां समाहितः।
धारयञ्छ्रावयञ्छृण्वन् द्वन्द्वैर्नैवाभिभूयते॥ ६२॥

यह भिक्षुकका गीत क्या है, मूर्तिमान् ब्रह्मज्ञान-निष्ठा ही है। जो पुरुष एकाग्रचित्तसे इसे सुनता, सुनाता और धारण करता है, वह कभी सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंके वशमें नहीं होता। उनके बीचमें भी वह सिंहके समान दहाड़ता रहता है॥ ६२॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे भिक्षुगीता सम्पूर्णा॥

जडभरतद्वारा राजा रहूगणको उपदेश

परमहंसगीता

[जडभरत-रहूगण-संवाद]

[परमहंसगीता श्रीमद्भागवतमहापुराणके पंचम स्कन्धके अन्तर्गत रहूगणोपाख्यानके रूपमें प्राप्त होती है। इसमें परमहंस-अवस्थामें विचरण करते परमज्ञानी ब्राह्मण भरतकी सिन्धुनरेश रहूगणसे भेंट होने तथा उनके द्वारा राजाको दिये गये गूढ़ तात्त्विक उपदेशोंका वर्णन है। भरत नामक वे ब्राह्मणश्रेष्ठ सर्वदा अद्वैतभावमें स्थित रहनेके कारण बाह्यतः जड़ प्रतीत होते थे, अतः उन्हें जडभरत भी कहा जाता है। इस गीतामें दस इन्द्रियाँ तथा अहंकार—ये ग्यारह वृत्तियाँ मनकी बतायी गयी हैं, जो मायाके वशीभूत होकर सुख-दुःखका अनुभव कराती हैं। जब ज्ञानोदयद्वारा मायाका तिरस्कारकर आसक्तिको छोड़नेसे आत्मतत्त्वका ज्ञान होता है, तब मनुष्य सुख-दुःखसे परे हो जाता है, वह सदा परम आत्मानन्दमें डूबा रहता है। इस गीतामें विषयवार्ताका त्याग, आत्मानुसन्धान, अनासक्ति तथा गुरु एवं श्रीहरिके चरणोंका आश्रय ही मायासे बचनेके उपाय बताये गये हैं। पुनर्जन्मविषयक संक्षिप्त दृष्टान्त तथा भवाटवीके विस्तृत रूपकके कारण यह गीता रोचक तथा सुबोध भी हो गयी है। पाँच अध्यायोंवाली यह परमहंसगीता यहाँ सानुवाद प्रस्तुत की जा रही है—]

पहला अध्याय

जडभरत और राजा रहूगणकी भेंट

श्रीशुक उवाच

अथ सिन्धुसौवीरपते रहूगणस्य व्रजत इक्षुमत्यास्तटे तत्कुलपतिना शिबिकावाहपुरुषान्वेषणसमये दैवेनोपसादितः स द्विजवर उपलब्ध एष पीवा युवा संहननाङ्गो गोखरवद्धुरं वोढुमलमिति पूर्वविष्टिगृहीतैः सह गृहीतः प्रसभमतदर्ह उवाह

शिबिकां स महानुभावः ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—[राजन्!] एक बार सिन्धुसौवीर देशका स्वामी राजा रहूगण पालकीपर चढ़कर जा रहा था। जब वह इक्षुमती नदीके किनारे पहुँचा, तब उसकी पालकी उठानेवाले कहारोंके जमादारको एक कहारकी आवश्यकता पड़ी। कहारकी खोज करते समय दैववश उसे ये ब्राह्मणदेवता मिल गये। इन्हें देखकर उसने सोचा, 'यह मनुष्य हृष्ट-पुष्ट, जवान और गठीले अंगोंवाला है। इसलिये यह तो बैल या गधेके समान अच्छी तरह बोझा ढो सकता है।' यह सोचकर उसने बेगारमें पकड़े हुए अन्य कहारोंके साथ इन्हें भी बलात् पकड़कर पालकीमें जोड़ दिया। महात्मा भरतजी यद्यपि किसी प्रकार इस कार्यके योग्य नहीं थे, तो भी वे बिना कुछ बोले चुपचाप पालकीको उठा ले चले॥ १ ॥

यदा हि द्विजवरस्येषुमात्रावलोकानुगतेर्न समाहिता पुरुषगतिस्तदा विषमगतां स्वशिबिकां रहूगण उपधार्य पुरुषानधिवहत आह हे वोढारः साध्वतिक्रमत किमिति विषममुह्यते यानमिति॥ २ ॥

वे द्विजवर, कोई जीव पैरोंतले दब न जाय—इस डरसे आगेकी एक बाण पृथ्वी देखकर चलते थे। इसलिये दूसरे कहारोंके साथ उनकी चालका मेल नहीं खाता था; अतः जब पालकी टेढ़ी-सीधी होने लगी, तब यह देखकर राजा रहूगणने पालकी उठानेवालोंसे कहा—'अरे कहारो! अच्छी तरह चलो, पालकीको इस प्रकार ऊँची-नीची करके क्यों चलते हो?'॥ २ ॥

अथ त ईश्वरवचः सोपालम्भमुपाकर्ण्योपायतुरीयाच्छङ्कितमनसस्तं विज्ञापयाम्बभूवुः ॥ ३ ॥

तब अपने स्वामीका यह आक्षेपयुक्त वचन सुनकर कहारोंको डर

लगा कि कहीं राजा उन्हें दण्ड न दें। इसलिये उन्होंने राजासे इस प्रकार निवेदन किया॥ ३॥

न वयं नरदेव प्रमत्ता भवन्नियमानुपथाः साध्वेव वहामः। अयमधुनैव नियुक्तोऽपि न द्रुतं व्रजति नानेन सह वोढुमु ह वयं पारयाम इति॥ ४॥

'महाराज! यह हमारा प्रमाद नहीं है, हम आपकी नियम-मर्यादाके अनुसार ठीक-ठीक ही पालकी ले चल रहे हैं। यह एक नया कहार अभी-अभी पालकीमें लगाया गया है तो भी यह जल्दी-जल्दी नहीं चलता। हमलोग इसके साथ पालकी नहीं ले जा सकते'॥ ४॥

सांसर्गिको दोष एव नूनमेकस्यापि सर्वेषां सांसर्गिकाणां भवितुमर्हतीति निश्चित्य निशम्य कृपणवचो राजा रहूगण उपासितवृद्धोऽपि निसर्गेण बलात्कृत ईषदुत्थितमन्युर-विस्पष्टब्रह्मतेजसं जातवेदसमिव रजसावृतमतिराह॥ ५॥

कहारोंके ये दीन वचन सुनकर राजा रहूगणने सोचा, 'संसर्गसे उत्पन्न होनेवाला दोष एक व्यक्तिमें होनेपर भी उससे सम्बन्ध रखनेवाले सभी पुरुषोंमें आ सकता है। इसलिये यदि इसका प्रतीकार न किया गया तो धीरे-धीरे ये सभी कहार अपनी चाल बिगाड़ लेंगे।' ऐसा सोचकर राजा रहूगणको कुछ क्रोध हो आया। यद्यपि उसने महापुरुषोंका सेवन किया था तथापि क्षत्रियस्वभाववश बलात् उसकी बुद्धि रजोगुणसे व्याप्त हो गयी और वह उन द्विजश्रेष्ठसे, जिनका ब्रह्मतेज भस्मसे ढके हुए अग्निके समान प्रकट नहीं था, इस प्रकार व्यंग्यभरे वचन कहने लगा— ॥ ५॥

अहो कष्टं भ्रातर्व्यक्तमुरु परिश्रान्तो दीर्घमध्वानमेक एव ऊहिवान् सुचिरं नातिपीवा न संहननाङ्गो जरसा चोपद्रुतो भवान् सखे नो एवापर एते सङ्कट्टिन इति बहु विप्रलब्धोऽप्यविद्यया रचितद्रव्यगुणकर्माशयस्वचरमकलेवरेऽवस्तुनि संस्थानविशेषेऽहं-

ममेत्यनध्यारोपितमिथ्याप्रत्ययो ब्रह्मभूतस्तूष्णीं शिबिकां पूर्ववदुवाह॥ ६॥

'अरे भैया! बड़े दु:खकी बात है, अवश्य ही तुम बहुत थक गये हो। ज्ञात होता है, तुम्हारे इन साथियोंने तुम्हें तनिक भी सहारा नहीं लगाया। इतनी दूरसे तुम अकेले ही बड़ी देरसे पालकी ढोते चले आ रहे हो। तुम्हारा शरीर भी तो विशेष मोटा-ताजा और हट्टा-कट्टा नहीं है, और मित्र! बुढ़ापेने अलग तुम्हें दबा रखा है।' इस प्रकार बहुत ताना मारनेपर भी वे पहलेकी ही भाँति चुपचाप पालकी उठाये चलते रहे! उन्होंने इसका कुछ भी बुरा न माना; क्योंकि उनकी दृष्टिमें तो पंचभूत, इन्द्रिय और अन्त:करणका संघात यह अपना अन्तिम शरीर अविद्याका ही कार्य था। वह विविध अंगोंसे युक्त दिखायी देनेपर भी वस्तुत: था ही नहीं, इसलिये उसमें उनका मैं-मेरेपनका मिथ्या अध्यास सर्वथा निवृत्त हो गया था और वे ब्रह्मरूप हो गये थे॥ ६॥

अथ पुनः स्वशिबिकायां विषमगतायां प्रकुपित उवाच रहूगणः किमिदमरे त्वं जीवन्मृतो मां कदर्थीकृत्य भर्तृशासनमतिचरसि प्रमत्तस्य च ते करोमि चिकित्सां दण्डपाणिरिव जनताया यथा प्रकृतिं स्वां भजिष्यस इति॥ ७॥

(किन्तु) पालकी अब भी सीधी चालसे नहीं चल रही है—यह देखकर राजा रहूगण क्रोधसे आग-बबूला हो गया और कहने लगा, 'अरे! यह क्या? क्या तू जीता ही मर गया है? तू मेरा निरादर करके (मेरी) आज्ञाका उल्लंघन कर रहा है! मालूम होता है, तू सर्वथा प्रमादी है। अरे! जैसे दण्डपाणि यमराज जनसमुदायको उसके अपराधोंके लिये दण्ड देते हैं, उसी प्रकार मैं भी अभी तेरा इलाज किये देता हूँ। तब तेरे होश ठिकाने आ जायँगे'॥ ७॥

एवं बह्वबद्धमपि भाषमाणं नरदेवाभिमानं रजसा तमसानुविद्धेन मदेन तिरस्कृताशेषभगवत्प्रियनिकेतं पण्डितमानिनं स भगवान् ब्राह्मणो ब्रह्मभूतः सर्वभूतसुहृदात्मा योगेश्वरचर्यायां नातिव्युत्पन्नमतिं स्मयमान इव विगतस्मय इदमाह॥ ८॥

रहूगणको राजा होनेका अभिमान था, इसलिये वह इसी प्रकार बहुत-सी अनाप-शनाप बातें बोल गया। वह अपनेको बड़ा पण्डित समझता था, अतः रज-तमयुक्त अभिमानके वशीभूत होकर उसने भगवान्‌के अनन्य प्रीतिपात्र भक्तवर भरतजीका तिरस्कार कर डाला। योगेश्वरोंकी विचित्र कहनी-करनीका तो उसे कुछ पता ही न था। उसकी ऐसी कच्ची बुद्धि देखकर वे सम्पूर्ण प्राणियोंके सुहृद् एवं आत्मा, ब्रह्मभूत ब्राह्मणदेवता मुसकराये और बिना किसी प्रकारका अभिमान किये इस प्रकार कहने लगे॥ ८॥

ब्राह्मण उवाच

त्वयोदितं व्यक्तमविप्रलब्धं
भर्तुः स मे स्याद्यदि वीर भारः।
गन्तुर्यदि स्यादधिगम्यमध्वा
पीवेति राशौ न विदां प्रवादः॥ ९॥

जडभरतने कहा—राजन्! तुमने जो कुछ कहा वह यथार्थ है। उसमें कोई उलाहना नहीं है। यदि भार नामकी कोई वस्तु है तो ढोनेवालेके लिये है, यदि कोई मार्ग है तो वह चलनेवालेके लिये है। मोटापन भी उसीका है, यह सब शरीरके लिये कहा जाता है, आत्माके लिये नहीं। ज्ञानीजन ऐसी बात नहीं करते॥ ९॥

स्थौल्यं कार्श्यं व्याधय आधयश्च
क्षुत्तृड्भयं कलिरिच्छा जरा च।

निद्रा रतिर्मन्युरहंमदः शुचो
देहेन जातस्य हि मे न सन्ति॥ १०॥

स्थूलता, कृशता, आधि, व्याधि, भूख, प्यास, भय, कलह, इच्छा, बुढ़ापा, निद्रा, प्रेम, क्रोध, अभिमान और शोक—ये सब धर्म देहाभिमानको लेकर उत्पन्न होनेवाले जीवमें रहते हैं; मुझमें इनका लेश भी नहीं है॥ १०॥

जीवन्मृतत्वं नियमेन राजन्
आद्यन्तवद्यद्विकृतस्य दृष्टम्।
स्वस्वाम्यभावो ध्रुव ईड्य यत्र
तर्ह्युच्यतेऽसौ विधिकृत्ययोगः॥ ११॥

राजन्! तुमने जो जीने-मरनेकी बात कही—सो जितने भी विकारी पदार्थ हैं, उन सभीमें नियमितरूपसे ये दोनों बातें देखी जाती हैं; क्योंकि वे सभी आदि-अन्तवाले हैं। यशस्वी नरेश! जहाँ स्वामी-सेवकभाव स्थिर हो, वहीं आज्ञापालनादिका नियम भी लागू हो सकता है॥ ११॥

विशेषबुद्धेर्विवरं मनाक् च
पश्याम यन्न व्यवहारतोऽन्यत्।
क ईश्वरस्तत्र किमीशितव्यं
तथापि राजन् करवाम किं ते॥ १२॥

'तुम राजा हो और मैं प्रजा हूँ' इस प्रकारकी भेदबुद्धिके लिये मुझे व्यवहारके सिवा और कहीं तनिक भी अवकाश नहीं दिखायी देता। परमार्थदृष्टिसे देखा जाय तो किसे स्वामी कहें और किसे सेवक? फिर भी राजन्! तुम्हें यदि स्वामित्वका अभिमान है तो कहो, मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ?॥ १२॥

उन्मत्तमत्तजडवत्स्वसंस्थां
गतस्य मे वीर चिकित्सितेन।

अर्थः कियान् भवता शिक्षितेन
स्तब्धप्रमत्तस्य च पिष्टपेषः॥ १३॥

वीरवर! मैं मत्त, उन्मत्त और जडके समान अपनी ही स्थितिमें रहता हूँ। मेरा इलाज करके तुम्हें क्या हाथ लगेगा? यदि मैं वास्तवमें जड और प्रमादी ही हूँ तो भी मुझे शिक्षा देना पिसे हुएको पीसनेके समान व्यर्थ ही होगा॥ १३॥

श्रीशुक उवाच

एतावदनुवादपरिभाषया प्रत्युदीर्य मुनिवर उपशमशील उपरतानात्म्यनिमित्त उपभोगेन कर्मारब्धं व्यपनयन् राजयानमपि तथोवाह॥ १४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—[परीक्षित्!] मुनिवर जडभरत यथार्थ तत्त्वका उपदेश करते हुए इतना उत्तर देकर मौन हो गये। उनका देहात्मबुद्धिका हेतुभूत अज्ञान निवृत्त हो चुका था, इसलिये वे परम शान्त हो गये थे। अतः इतना कहकर भोगद्वारा प्रारब्धक्षय करनेके लिये वे फिर पहलेके ही समान उस पालकीको कन्धेपर लेकर चलने लगे॥ १४॥

स चापि पाण्डवेय सिन्धुसौवीरपतिस्तत्त्वजिज्ञासायां सम्यक्श्रद्धयाधिकृताधिकारस्तद्धृदयग्रन्थिमोचनं द्विजवच आश्रुत्य बहुयोगग्रन्थसम्मतं त्वरयावरुह्य शिरसा पादमूलमुपसृतः क्षमापयन् विगतनृपदेवस्मय उवाच॥ १५॥

परीक्षित्! सिन्धु-सौवीरनरेश रहूगण भी अपनी उत्तम श्रद्धाके कारण तत्त्वजिज्ञासाका पूरा अधिकारी था। जब उसने उन द्विजश्रेष्ठके अनेकों योग-ग्रन्थोंसे समर्थित और हृदयकी ग्रन्थिका छेदन करनेवाले ये वाक्य सुने, तब वह तत्काल पालकीसे उतर पड़ा। उसका राजमद सर्वथा दूर हो गया और वह उनके चरणोंमें सिर रखकर अपना अपराध

क्षमा कराते हुए इस प्रकार कहने लगा॥ १५॥

कस्त्वं निगूढश्चरसि द्विजानां
बिभर्षि सूत्रं कतमोऽवधूतः।
कस्यासि कुत्रत्य इहापि कस्मात्
क्षेमाय नश्चेदसि नोत शुक्लः॥ १६॥

[देव!] आपने द्विजोंका चिह्न यज्ञोपवीत धारण कर रखा है, बतलाइये इस प्रकार प्रच्छन्नभावसे विचरनेवाले आप कौन हैं? क्या आप दत्तात्रेय आदि अवधूतोंमेंसे कोई हैं? आप किसके पुत्र हैं, आपका कहाँ जन्म हुआ है और यहाँ कैसे आपका पदार्पण हुआ है? यदि आप हमारा कल्याण करने पधारे हैं तो क्या आप साक्षात् सत्त्वमूर्ति भगवान् कपिलजी ही तो नहीं हैं?॥ १६॥

नाहं विशङ्के सुरराजवज्रा-
न्न त्र्यक्षशूलान्न यमस्य दण्डात्।
नाग्न्यर्कसोमानिलवित्तपास्त्रा-
च्छङ्के भृशं ब्रह्मकुलावमानात्॥ १७॥

मुझे इन्द्रके वज्रका कोई डर नहीं है, न मैं महादेवजीके त्रिशूलसे डरता हूँ और न यमराजके दण्डसे। मुझे अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु और कुबेरके अस्त्र-शस्त्रोंका भी कोई भय नहीं है; परन्तु मैं ब्राह्मणकुलके अपमानसे बहुत ही डरता हूँ॥ १७॥

तद् ब्रूह्यसङ्गो जडवन्निगूढ-
विज्ञानवीर्यो विचरस्यपारः।
वचांसि योगग्रथितानि साधो
न नः क्षमन्ते मनसापि भेत्तुम्॥ १८॥

अतः कृपया बतलाइये, इस प्रकार अपने विज्ञान और शक्तिको छिपाकर मूर्खोंकी भाँति विचरनेवाले आप कौन हैं? विषयोंसे तो आप

सर्वथा अनासक्त जान पड़ते हैं। मुझे आपकी कोई थाह नहीं मिल रही है। हे साधो! आपके योगयुक्त वाक्योंकी बुद्धिद्वारा आलोचना करनेपर भी मेरा सन्देह दूर नहीं होता॥ १८॥

अहं च योगेश्वरमात्मतत्त्व-
विदां मुनीनां परमं गुरुं वै।
प्रष्टुं प्रवृत्तः किमिहारणं तत्
साक्षाद्धरिं ज्ञानकलावतीर्णम्॥ १९॥

मैं आत्मज्ञानी मुनियोंके परम गुरु और साक्षात् श्रीहरिकी ज्ञानशक्तिके अवतार योगेश्वर भगवान् कपिलसे यह पूछनेके लिये जा रहा था कि इस लोकमें एकमात्र शरण लेनेयोग्य कौन है?॥ १९॥

स वै भवाँल्लोकनिरीक्षणार्थ-
मव्यक्तलिङ्गो विचरत्यपिस्वित्।
योगेश्वराणां गतिमन्धबुद्धिः
कथं विचक्षीत गृहानुबन्धः॥ २०॥

क्या आप वे कपिलमुनि ही हैं, जो लोकोंकी दशा देखनेके लिये इस प्रकार अपना रूप छिपाकर विचर रहे हैं? भला, घरमें आसक्त रहनेवाला विवेकहीन पुरुष योगेश्वरोंकी गति कैसे जान सकता है?॥ २०॥

दृष्टः श्रमः कर्मत आत्मनो वै
भर्तुर्गन्तुर्भवतश्चानुमन्ये ।
यथासतोदानयनाद्यभावात्
समूल इष्टो व्यवहारमार्गः॥ २१॥

मैंने युद्धादि कर्मोंमें अपनेको श्रम होते देखा है, इसलिये मेरा अनुमान है कि बोझा ढोने और मार्गमें चलनेसे आपको भी अवश्य ही होता होगा। मुझे तो व्यवहार-मार्ग भी सत्य ही जान पड़ता है; क्योंकि मिथ्या घड़ेसे जल लाना आदि कार्य नहीं होता॥ २१॥

स्थाल्यग्नितापात्पयसोऽभिताप-
स्तत्तापतस्तण्डुलगर्भरन्धिः ।
देहेन्द्रियास्वाशयसन्निकर्षात्
तत्संसृतिः पुरुषस्यानुरोधात्॥ २२॥

(देहादिके धर्मोंका आत्मापर कोई प्रभाव ही नहीं होता, ऐसी बात भी नहीं है) चूल्हेपर रखी हुई बटलोई जब अग्निसे तपने लगती है, तब उसका जल भी खौलने लगता है और फिर उस जलसे चावलका भीतरी भाग भी पक जाता है। इसी प्रकार अपनी उपाधिके धर्मोंका अनुवर्तन करनेके कारण देह, इन्द्रिय, प्राण और मनकी सन्निधिसे आत्माको भी उनके धर्म श्रमादिका अनुभव होता ही है॥ २२॥

शास्ताभिगोप्ता नृपतिः प्रजानां
यः किङ्करो वै न पिनष्टि पिष्टम्।
स्वधर्ममाराधनमच्युतस्य
यदीहमानो विजहात्यघौघम्॥ २३॥

आपने जो दण्डादिकी व्यर्थता बतायी, सो राजा तो प्रजाका शासन और पालन करनेके लिये नियुक्त किया हुआ उसका दास ही है। उसका उन्मत्तादिको दण्ड देना पिसे हुएको पीसनेके समान व्यर्थ नहीं हो सकता; क्योंकि अपने धर्मका आचरण करना भगवान्‌की सेवा ही है, उसे करनेवाला व्यक्ति अपनी सम्पूर्ण पापराशिको नष्ट कर देता है॥ २३॥

तन्मे भवान्नरदेवाभिमान-
मदेन तुच्छीकृतसत्तमस्य।
कृषीष्ट मैत्रीदृशमार्तबन्धो
यथा तरे सदवध्यानमंहः॥ २४॥

दीनबन्धो! राजत्वके अभिमानसे उन्मत्त होकर मैंने आप-जैसे

परम साधुकी अवज्ञा की है। अब आप ऐसी कृपादृष्टि कीजिये, जिससे इस साधु-अवज्ञारूप अपराधसे मैं मुक्त हो जाऊँ॥ २४॥

न विक्रिया विश्वसुहृत्सखस्य
साम्येन वीताभिमतेस्तवापि।
महद्विमानात् स्वकृताद्धि मादृङ्
नङ्क्ष्यत्यदूरादपि शूलपाणिः॥ २५॥

आप देहाभिमानशून्य और विश्वबन्धु श्रीहरिके अनन्य-भक्त हैं; इसलिये सबमें समान दृष्टि होनेसे इस मानापमानके कारण आपमें कोई विकार नहीं हो सकता तथापि एक महापुरुषका अपमान करनेके कारण मेरे-जैसा पुरुष साक्षात् त्रिशूलपाणि महादेवजीके समान प्रभावशाली होनेपर भी, अपने अपराधसे अवश्य थोड़े ही कालमें नष्ट हो जायगा॥ २५॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहंसगीतायां प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

दूसरा अध्याय

राजा रहूगणको भरतजीका उपदेश

ब्राह्मण उवाच

अकोविदः कोविदवादवादान्
वदस्यथो नातिविदां वरिष्ठः।
न सूरयो हि व्यवहारमेनं
तत्त्वावमर्शेन सहामनन्ति॥ १॥

जडभरतने कहा—[राजन्!] तुम अज्ञानी होनेपर भी पण्डितोंके समान ऊपर-ऊपरकी तर्क-वितर्कयुक्त बात कह रहे हो। इसलिये श्रेष्ठ ज्ञानियोंमें तुम्हारी गणना नहीं हो सकती। तत्त्वज्ञानी पुरुष इस

अविचारसिद्ध स्वामी-सेवक आदि व्यवहारको तत्त्वविचारके समय सत्यरूपसे स्वीकार नहीं करते॥ १॥

तथैव राजन्नुरुगार्हमेध-
वितानविद्योरुविजृम्भितेषु ।
न वेदवादेषु हि तत्त्ववादः
प्रायेण शुद्धो नु चकास्ति साधुः॥ २॥

राजन्! लौकिक व्यवहारके समान ही वैदिक व्यवहार भी सत्य नहीं है, क्योंकि वेदवाक्य भी अधिकतर गृहस्थजनोचित यज्ञविधिके विस्तारमें ही व्यस्त हैं, राग-द्वेषादि दोषोंसे रहित विशुद्ध तत्त्वज्ञानकी पूरी-पूरी अभिव्यक्ति प्रायः उनमें भी नहीं हुई है॥ २॥

न तस्य तत्त्वग्रहणाय साक्षाद्
वरीयसीरपि वाचः समासन्।
स्वप्ने निरुक्त्या गृहमेधिसौख्यं
न यस्य हेयानुमितं स्वयं स्यात्॥ ३॥

जिसे गृहस्थोचित यज्ञादि कर्मोंसे प्राप्त होनेवाला स्वर्गादि सुख स्वप्नके समान हेय नहीं जान पड़ता, उसे तत्त्वज्ञान करानेमें साक्षात् उपनिषद्-वाक्य भी समर्थ नहीं है॥ ३॥

यावन्मनो रजसा पूरुषस्य
सत्त्वेन वा तमसा वानुरुद्धम्।
चेतोभिराकूतिभिरातनोति
निरङ्कुशं कुशलं चेतरं वा॥ ४॥

जबतक मनुष्यका मन सत्त्व, रज अथवा तमोगुणके वशीभूत रहता है, तबतक वह बिना किसी अंकुशके उसकी ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंसे शुभाशुभ कर्म कराता रहता है॥ ४॥

स वासनात्मा विषयोपरक्तो
गुणप्रवाहो विकृतः षोडशात्मा।
बिभ्रत्पृथङ्नामभि रूपभेद-
मन्तर्बहिष्ट्वं च पुरैस्तनोति॥ ५॥

यह मन वासनामय, विषयासक्त, गुणोंसे प्रेरित, विकारी और भूत एवं इन्द्रियरूप सोलह कलाओंमें मुख्य है। यही भिन्न-भिन्न नामोंसे देवता और मनुष्यादिरूप धारण करके शरीररूप उपाधियोंके भेदसे जीवकी उत्तमता और अधमताका कारण होता है॥ ५॥

दुःखं सुखं व्यतिरिक्तं च तीव्रं
कालोपपन्नं फलमाव्यनक्ति।
आलिङ्ग्य मायारचितान्तरात्मा
स्वदेहिनं संसृतिचक्रकूटः॥ ६॥

यह मायामय मन संसारचक्रमें छलनेवाला है, यही अपनी देहके अभिमानी जीवसे मिलकर उसे कालक्रमसे प्राप्त हुए सुख-दुःख और इनसे व्यतिरिक्त मोहरूप अवश्यम्भावी फलोंकी अभिव्यक्ति करता है॥ ६॥

तावानयं व्यवहारः सदावि:
क्षेत्रज्ञसाक्ष्यो भवति स्थूलसूक्ष्मः।
तस्मान्मनो लिङ्गमदो वदन्ति
गुणागुणत्वस्य परावरस्य॥ ७॥

जबतक यह मन रहता है, तभीतक जाग्रत् और स्वप्नावस्थाका व्यवहार प्रकाशित होकर जीवका दृश्य बनता है। इसलिये पण्डितजन मनको ही त्रिगुणमय अधम संसारका और गुणातीत परमोत्कृष्ट मोक्षपदका कारण बताते हैं॥ ७॥

गुणानुरक्तं व्यसनाय जन्तोः
क्षेमाय नैर्गुण्यमथो मनः स्यात्।
यथा प्रदीपो घृतवर्तिमश्नन्
शिखाः सधूमा भजति ह्यन्यदा स्वम्।
पदं तथा गुणकर्मानुबद्धं
वृत्तीर्मनः श्रयतेऽन्यत्र तत्त्वम्॥ ८॥

विषयासक्त मन जीवको संसार-संकटमें डाल देता है, विषयहीन होनेपर वही उसे शान्तिमय मोक्षपद प्राप्त करा देता है। जिस प्रकार घीसे भीगी हुई बत्तीको खानेवाले दीपकसे तो धुएँवाली शिखा निकलती रहती है और जब घी समाप्त हो जाता है, तब वह अपने कारण अग्नितत्त्वमें लीन हो जाता है—उसी प्रकार विषय और कर्मोंसे आसक्त हुआ मन तरह-तरहकी वृत्तियोंका आश्रय लिये रहता है और इनसे मुक्त होनेपर वह अपने तत्त्वमें लीन हो जाता है॥ ८॥

एकादशासन्मनसो हि वृत्तय
आकूतयः पञ्च धियोऽभिमानः।
मात्राणि कर्माणि पुरं च तासां
वदन्ति हैकादश वीर भूमीः॥ ९॥

वीरवर! पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक अहंकार—ये ग्यारह मनकी वृत्तियाँ हैं तथा पाँच प्रकारके कर्म, पाँच तन्मात्र और एक शरीर—ये ग्यारह उनके आधारभूत विषय कहे जाते हैं॥ ९॥

गन्धाकृतिस्पर्शरसश्रवांसि
विसर्गरत्यर्त्यभिजल्पशिल्पाः ।
एकादशं स्वीकरणं ममेति
शय्यामहं द्वादशमेक आहुः॥ १०॥

गन्ध, रूप, स्पर्श, रस और शब्द—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके विषय

हैं; मलत्याग, सम्भोग, गमन, भाषण और लेना-देना आदि व्यापार—ये पाँच कर्मेन्द्रियोंके विषय हैं तथा शरीरको 'यह मेरा है' इस प्रकार स्वीकार करना अहंकारका विषय है। कुछ लोग अहंकारको मनकी बारहवीं वृत्ति और उसके आश्रय शरीरको बारहवाँ विषय मानते हैं॥ १०॥

द्रव्यस्वभावाशयकर्मकालै-
रेकादशामी मनसो विकाराः।
सहस्त्रशः शतशः कोटिशश्च
क्षेत्रज्ञतो न मिथो न स्वतः स्युः॥ ११॥

ये मनकी ग्यारह वृत्तियाँ द्रव्य (विषय), स्वभाव, आशय (संस्कार), कर्म और कालके द्वारा सैकड़ों, हजारों और करोड़ों भेदोंमें परिणत हो जाती हैं। किन्तु इनकी सत्ता क्षेत्रज्ञ आत्माकी सत्तासे ही है, स्वतः या परस्पर मिलकर नहीं है॥ ११॥

क्षेत्रज्ञ एता मनसो विभूती-
र्जीवस्य मायारचितस्य नित्याः।
आविर्हिताः क्वापि तिरोहिताश्च
शुद्धो विचष्टे ह्यविशुद्धकर्तुः॥ १२॥

ऐसा होनेपर भी मनसे क्षेत्रज्ञका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो जीवकी ही मायानिर्मित उपाधि है। यह प्रायः संसारबन्धनमें डालनेवाले अविशुद्ध कर्मोंमें ही प्रवृत्त रहता है। इसकी उपर्युक्त वृत्तियाँ प्रवाहरूपसे नित्य ही रहती हैं; जाग्रत् और स्वप्नके समय वे प्रकट हो जाती हैं और सुषुप्तिमें छिप जाती हैं। इन दोनों ही अवस्थाओंमें क्षेत्रज्ञ, जो विशुद्ध चिन्मात्र है, मनकी इन वृत्तियोंको साक्षीरूपसे देखता रहता है॥ १२॥

क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः पुराणः
साक्षात्स्वयंज्योतिरजः परेशः।

नारायणो भगवान् वासुदेवः
स्वमाययात्मन्यवधीयमानः ॥ १३ ॥

यह क्षेत्रज्ञ परमात्मा सर्वव्यापक, जगत्का आदिकारण, परिपूर्ण, अपरोक्ष, स्वयंप्रकाश, अजन्मा, ब्रह्मादिका भी नियन्ता और अपने अधीन रहनेवाली मायाके द्वारा सबके अन्तःकरणोंमें रहकर जीवोंको प्रेरित करनेवाला समस्त भूतोंका आश्रयरूप भगवान् वासुदेव है॥ १३॥

यथानिलः स्थावरजङ्गमाना-
मात्मस्वरूपेण निविष्ट ईशेत्।
एवं परो भगवान् वासुदेवः
क्षेत्रज्ञ आत्मेदमनुप्रविष्टः॥ १४॥

जिस प्रकार वायु सम्पूर्ण स्थावर-जंगम प्राणियोंमें प्राणरूपसे प्रविष्ट होकर उन्हें प्रेरित करती है, उसी प्रकार वह परमेश्वर भगवान् वासुदेव सर्वसाक्षी आत्मस्वरूपसे इस सम्पूर्ण प्रपंचमें ओतप्रोत है॥ १४॥

न यावदेतां तनुभृन्नरेन्द्र
विधूय मायां वयुनोदयेन।
विमुक्तसङ्गो जितषट्सपत्नो
वेदात्मतत्त्वं भ्रमतीह तावत्॥ १५॥
न यावदेतन्मन आत्मलिङ्गं
संसारतापावपनं जनस्य।
यच्छोकमोहामयरागलोभ-
वैरानुबन्धं ममतां विधत्ते॥ १६॥

राजन्! जबतक मनुष्य ज्ञानोदयके द्वारा इस मायाका तिरस्कार कर, सबकी आसक्ति छोड़कर तथा काम-क्रोधादि छः शत्रुओंको जीतकर आत्मतत्त्वको नहीं जान लेता और जबतक वह आत्माके उपाधिरूप मनको संसारदुःखका क्षेत्र नहीं समझता, तबतक वह इस

लोकमें यों ही भटकता रहता है; क्योंकि यह चित्त उसके शोक, मोह, रोग, राग, लोभ और वैर आदिके संस्कार तथा ममताकी वृद्धि करता रहता है॥ १५-१६॥

भ्रातृव्यमेनं तददभ्रवीर्य-
मुपेक्षयाध्येधितमप्रमत्तः ।
गुरोर्हरेश्चरणोपासनास्त्रो
जहि व्यलीकं स्वयमात्ममोषम्॥ १७॥

यह मन ही तुम्हारा बड़ा बलवान् शत्रु है। तुम्हारे उपेक्षा करनेसे इसकी शक्ति और भी बढ़ गयी है। यह यद्यपि स्वयं तो सर्वथा मिथ्या है तथापि इसने तुम्हारे आत्मस्वरूपको आच्छादित कर रखा है। इसलिये तुम सावधान होकर श्रीगुरु और हरिके चरणोंकी उपासनाके अस्त्रसे इसे मार डालो॥ १७॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहंसगीतायां द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

तीसरा अध्याय

रहूगणका प्रश्न और भरतजीका समाधान

रहूगण उवाच

नमो नमः कारणविग्रहाय
स्वरूपतुच्छीकृतविग्रहाय ।
नमोऽवधूत द्विजबन्धुलिङ्ग-
निगूढनित्यानुभवाय तुभ्यम्॥ १॥

राजा रहूगणने कहा—हे योगेश्वर! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आपने जगत्का उद्धार करनेके लिये ही यह देह धारण की है। अपने परमानन्दमय स्वरूपका अनुभव करके आप इस स्थूलशरीरसे

उदासीन हो गये हैं तथा एक जड ब्राह्मणके वेषसे अपने नित्यज्ञानमय स्वरूपको जनसाधारणकी दृष्टिसे ओझल किये हुए हैं। मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ॥ १॥

ज्वरामयार्तस्य यथागदं सत्
निदाघदग्धस्य यथा हिमाम्भः।
कुदेहमानाहिविदष्टदृष्टे-
र्ब्रह्मन् वचस्तेऽमृतमौषधं मे॥ २॥

हे ब्रह्मन्! जिस प्रकार ज्वरसे पीड़ित रोगीके लिये मीठी ओषधि और धूपसे तपे हुए पुरुषके लिये शीतल जल अमृततुल्य होता है, उसी प्रकार मेरे लिये, जिसकी विवेकबुद्धिको देहाभिमानरूप विषैले सर्पने डस लिया है, आपके वचन अमृतमय ओषधिके समान हैं॥ २॥

तस्माद्भवन्तं मम संशयार्थं
प्रक्ष्यामि पश्चादधुना सुबोधम्।
अध्यात्मयोगग्रथितं तवोक्त-
माख्याहि कौतूहलचेतसो मे॥ ३॥

इसलिये मैं आपसे अपने संशयोंकी निवृत्ति तो पीछे कराऊँगा। पहले तो इस समय आपने जो अध्यात्मयोगमय उपदेश दिया है, उसीको सरल करके समझाइये, उसे समझनेकी मुझे बड़ी उत्कण्ठा है॥ ३॥

यदाह योगेश्वर दृश्यमानं
क्रियाफलं सद्व्यवहारमूलम्।
न ह्यञ्जसा तत्त्वविमर्शनाय
भवानमुष्मिन् भ्रमते मनो मे॥ ४॥

हे योगेश्वर! आपने जो यह कहा कि भार उठानेकी क्रिया तथा उससे जो श्रमरूप फल होता है, वे दोनों ही प्रत्यक्ष होनेपर भी केवल व्यवहारमूलके ही हैं, वास्तवमें सत्य नहीं है—वे तत्त्वविचारके सामने

कुछ भी नहीं ठहरते—सो इस विषयमें मेरा मन चक्कर खा रहा है, आपके इस कथनका मर्म मेरी समझमें नहीं आ रहा है॥ ४॥

ब्राह्मण उवाच

अयं जनो नाम चलन् पृथिव्यां
यः पार्थिवः पार्थिव कस्य हेतोः।
तस्यापि चाङ्घ्र्योरधि गुल्फजङ्घा-
जानूरुमध्योरशिरोधरांसाः ॥ ५॥

जडभरतने कहा—हे पृथ्वीपते! यह देह पृथ्वीका विकार है, पाषाणादिसे इसका क्या भेद है? जब यह किसी कारणसे पृथ्वीपर चलने लगता है, तब इसके भारवाही आदि नाम पड़ जाते हैं। इसके दो चरण हैं; उनके ऊपर क्रमशः टखने, पिंडली, घुटने, जाँघ, कमर, वक्षःस्थल, गर्दन और कंधे आदि अंग हैं॥ ५॥

अंसेऽधि दार्वी शिबिका च यस्यां
सौवीरराजेत्यपदेश आस्ते।
यस्मिन् भवान् रूढनिजाभिमानो
राजास्मि सिन्धुष्विति दुर्मदान्धः॥ ६॥

कंधोंके ऊपर लकड़ीकी पालकी रखी हुई है; उसमें भी सौवीरराज नामका एक पार्थिव विकार ही है, जिसमें आत्मबुद्धिरूप अभिमान करनेसे तुम 'मैं सिन्धुदेशका राजा हूँ' इस प्रबल मदसे अंधे हो रहे हो॥ ६॥

शोच्यानिमांस्त्वमधिकष्टदीनान्
विष्ट्या निगृह्णन्निरनुग्रहोऽसि।
जनस्य गोप्तास्मि विकत्थमानो
न शोभसे वृद्धसभासु धृष्टः॥ ७॥

किन्तु इसीसे तुम्हारी कोई श्रेष्ठता सिद्ध नहीं होती, वास्तवमें तो तुम बड़े क्रूर और धृष्ट ही हो। तुमने इन बेचारे दीन-दुखिया

कहारोंको बेगारमें पकड़कर पालकीमें जोत रखा है और फिर महापुरुषोंकी सभामें बढ़-बढ़कर बातें बनाते हो कि मैं लोकोंकी रक्षा करनेवाला हूँ। यह तुम्हें शोभा नहीं देता॥ ७॥

यदा क्षितावेव चराचरस्य
विदाम निष्ठां प्रभवं च नित्यम्।
तन्नामतोऽन्यद् व्यवहारमूलं
निरूप्यतां सत् क्रिययानुमेयम्॥ ८॥

हम देखते हैं कि सम्पूर्ण चराचर भूत सर्वदा पृथ्वीसे ही उत्पन्न होते हैं और पृथ्वीमें ही लीन होते हैं; अतः उनके क्रियाभेदके कारण जो अलग-अलग नाम पड़ गये हैं—बताओ तो, उनके सिवा व्यवहारका और क्या मूल है?॥ ८॥

एवं निरुक्तं क्षितिशब्दवृत्त-
मसन्निधानात्परमाणवो ये।
अविद्यया मनसा कल्पितास्ते
येषां समूहेन कृतो विशेषः॥ ९॥

इस प्रकार 'पृथ्वी' शब्दका व्यवहार भी मिथ्या ही है; वास्तविक नहीं है; क्योंकि यह अपने उपादानकारण सूक्ष्म परमाणुओंमें लीन हो जाती है। और जिनके मिलनेसे पृथ्वीरूप कार्यकी सिद्धि होती है, वे परमाणु अविद्यावश मनसे ही कल्पना किये हुए हैं। वास्तवमें उनकी भी सत्ता नहीं है॥ ९॥

एवं कृशं स्थूलमणुर्बृहद्यद्
असच्च सज्जीवमजीवमन्यत्।
द्रव्यस्वभावाशयकालकर्म-
नाम्नाजयावेहि कृतं द्वितीयम्॥ १०॥

इसी प्रकार और भी जो कुछ पतला-मोटा, छोटा-बड़ा, कार्य-

कारण तथा चेतन और अचेतन आदि गुणोंसे युक्त द्वैत-प्रपंच है—उसे भी द्रव्य, स्वभाव, आशय, काल और कर्म आदि नामोंवाली भगवान्‌की मायाका ही कार्य समझो॥ १०॥

ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेक-
मनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम्।
प्रत्यक् प्रशान्तं भगवच्छब्दसंज्ञं
यद्वासुदेवं कवयो वदन्ति॥ ११॥

विशुद्ध परमार्थरूप, अद्वितीय तथा भीतर-बाहरके भेदसे रहित परिपूर्ण ज्ञान ही सत्य वस्तु है। वह सर्वान्तर्वर्ती और सर्वथा निर्विकार है। उसीका नाम 'भगवान्' है और उसीको पण्डितजन 'वासुदेव' कहते हैं॥ ११॥

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥ १२॥

हे रहूगण! महापुरुषोंके चरणोंकी धूलिसे अपनेको नहलाये बिना केवल तप, यज्ञादि वैदिक कर्म, अन्नादिके दान, अतिथिसेवा, दीनसेवा आदि गृहस्थोचित धर्मानुष्ठान, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि या सूर्यकी उपासना आदि किसी भी साधनसे यह परमात्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता॥ १२॥

यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः
प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो-
र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे॥ १३॥

इसका कारण यह है कि महापुरुषोंके समाजमें सदा पवित्रकीर्ति

श्रीहरिके गुणोंकी चर्चा होती रहती है, जिससे विषयवार्ता तो पास ही नहीं फटकने पाती। और जब भगवत्कथाका नित्यप्रति सेवन किया जाता है, तब वह मोक्षाकांक्षी पुरुषकी शुद्ध बुद्धिको भगवान् वासुदेवमें लगा देती है॥ १३॥

अहं पुरा भरतो नाम राजा
विमुक्तदृष्टश्रुतसङ्गबन्धः ।
आराधनं भगवत ईहमानो
मृगोऽभवं मृगसङ्गाद्धतार्थः॥ १४॥

पूर्वजन्ममें मैं भरत नामका राजा था। ऐहिक और पारलौकिक दोनों प्रकारके विषयोंसे विरक्त होकर भगवान्‌की आराधनामें ही लगा रहता था; तो भी एक मृगमें आसक्ति हो जानेसे मुझे परमार्थसे भ्रष्ट होकर अगले जन्ममें मृग बनना पड़ा॥ १४॥

सा मां स्मृतिर्मृगदेहेऽपि वीर
कृष्णार्चनप्रभवा नो जहाति।
अथो अहं जनसङ्गादसङ्गो
विशङ्कमानोऽविवृतश्चरामि ॥ १५॥

हे वीर! भगवान् श्रीकृष्णकी आराधनाके प्रभावसे उस मृगयोनिमें भी मेरी पूर्वजन्मकी स्मृति लुप्त नहीं हुई। इसीसे अब मैं जनसंसर्गसे डरकर सर्वदा असंगभावसे गुप्तरूपसे ही विचरता रहता हूँ॥ १५॥

तस्मान्नरोऽसङ्गसुसङ्गजात-
ज्ञानासिनैहैव विवृक्णमोहः।
हरिं तदीहाकथनश्रुताभ्यां
लब्धस्मृतिर्यात्यतिपारमध्वनः ॥ १६॥

इसलिये विरक्त महापुरुषोंके सत्संगसे प्राप्त ज्ञानरूप खड्गके द्वारा मनुष्यको इस लोकमें ही अपने मोहबन्धनको काट डालना चाहिये।

फिर श्रीहरिकी लीलाओंके कथन और श्रवणसे भगवत्स्मृति बनी रहनेके कारण वह सुगमतासे ही संसारमार्गको पार करके भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है॥ १६॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहंसगीतायां तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

चौथा अध्याय

भवाटवीका वर्णन और रहूगणका संशयनाश

ब्राह्मण उवाच

दुरत्ययेऽध्वन्यजया निवेशितो
रजस्तमःसत्त्वविभक्तकर्मदृक्।
स एष सार्थोऽर्थपरः परिभ्रमन्
भवाटवीं याति न शर्म विन्दति॥ १॥

जडभरतने कहा—[राजन्!] यह जीवसमूह सुखरूप धनमें आसक्त देश-देशान्तरमें घूम-फिरकर व्यापार करनेवाले व्यापारियोंके दलके समान है। इसे मायाने दुस्तर प्रवृत्तिमार्गमें लगा दिया है; इसलिये इसकी दृष्टि सात्त्विक, राजस, तामस भेदसे नाना प्रकारके कर्मोंपर ही जाती है। उन कर्मोंमें भटकता-भटकता यह संसाररूप जंगलमें पहुँच जाता है। वहाँ इसे तनिक भी शान्ति नहीं मिलती॥ १॥

यस्यामिमे षण्नरदेव दस्यवः
सार्थं विलुम्पन्ति कुनायकं बलात्।
गोमायवो यत्र हरन्ति सार्थिकं
प्रमत्तमाविश्य यथोरणं वृकाः॥ २॥

महाराज! उस जंगलमें छः डाकू हैं। इस वणिक्-समाजका नायक बड़ा दुष्ट है। उसके नेतृत्वमें जब यह वहाँ पहुँचता है, तब ये लुटेरे बलात्

इसका सब माल-मत्ता लूट लेते हैं तथा भेड़िये जिस प्रकार भेड़ोंके झुंडमें घुसकर उन्हें खींच ले जाते हैं, उसी प्रकार इसके साथ रहनेवाले गीदड़ ही इसे असावधान देखकर इसके धनको इधर-उधर खींचने लगते हैं॥ २॥

प्रभूतवीरुत्तृणगुल्मगह्वरे
कठोरदंशैर्मशकैरुपद्रुतः ।
क्वचित्तु गन्धर्वपुरं प्रपश्यति
क्वचित्क्वचिच्चाशुरयोल्मुकग्रहम् ॥ ३॥

वह जंगल बहुत-सी लता, घास और झाड़-झंखाड़के कारण बहुत दुर्गम हो रहा है। उसमें तीव्र डाँस और मच्छर इसे चैन नहीं लेने देते। वहाँ इसे कभी तो गन्धर्वनगर दीखने लगता है और कभी-कभी चमचमाता हुआ अति चंचल अगिया-बेताल आँखोंके सामने आ जाता है॥ ३॥

निवासतोयद्रविणात्मबुद्धि-
स्ततस्ततो धावति भो अटव्याम्।
क्वचिच्च वात्योत्थितपांसुधूम्रा
दिशो न जानाति रजस्वलाक्षः॥ ४॥

यह वणिक्-समुदाय इस वनमें निवासस्थान, जल और धनादिमें आसक्त होकर इधर-उधर भटकता रहता है। कभी बवंडरसे उठी हुई धूलके द्वारा जब सारी दिशाएँ धूमाच्छादित-सी हो जाती हैं और इसकी आँखोंमें भी धूल भर जाती है तो इसे दिशाओंका ज्ञान भी नहीं रहता॥ ४॥

अदृश्यझिल्लीस्वनकर्णशूल
उलूकवाग्भिर्व्यथितान्तरात्मा ।
अपुण्यवृक्षान् श्रयते क्षुधार्दितो
मरीचितोयान्यभिधावति क्वचित्॥ ५॥

कभी इसे दिखायी न देनेवाले झींगुरोंका कर्णकटु शब्द सुनायी

देता है, कभी उल्लुओंकी बोलीसे इसका चित्त व्यथित हो जाता है। कभी इसे भूख सताने लगती है तो यह निन्दनीय वृक्षोंका ही सहारा टटोलने लगता है और कभी प्याससे व्याकुल होकर मृगतृष्णाकी ओर दौड़ लगाता है॥ ५॥

क्वचिद्वितोयाः सरितोऽभियाति
परस्परं चालषते निरन्धः।
आसाद्य दावं क्वचिदग्नितप्तो
निर्विद्यते क्व च यक्षैर्हृतासुः॥ ६॥

कभी जलहीन नदियोंकी ओर जाता है, कभी अन्न न मिलनेपर आपसमें एक-दूसरेसे भोजनप्राप्तिकी इच्छा करता है, कभी दावानलमें घुसकर अग्निसे झुलस जाता है और कभी यक्षलोग इसके प्राण खींचने लगते हैं तो यह खिन्न होने लगता है॥ ६॥

शूरैर्हृतस्वः क्व च निर्विण्णचेताः
शोचन् विमुह्यन्नुपयाति कश्मलम्।
क्वचिच्च गन्धर्वपुरं प्रविष्टः
प्रमोदते निर्वृतवन्मुहूर्तम्॥ ७॥

कभी अपनेसे अधिक बलवान् लोग इसका धन छीन लेते हैं तो यह दुःखी होकर शोक और मोहसे अचेत हो जाता है और कभी गन्धर्वनगरमें पहुँचकर घड़ीभरके लिये सब दुःख भूलकर खुशी मनाने लगता है॥ ७॥

चलन् क्वचित्कण्टकशर्कराङ्घ्रि-
र्नगारुरुक्षुर्विमना इवास्ते।
पदे पदेऽभ्यन्तरवह्निनार्दितः
कौटुम्बिकः क्रुध्यति वै जनाय॥ ८॥

कभी पर्वतोंपर चढ़ना चाहता है तो काँटे और कंकड़ोंद्वारा पैर

चलनी हो जानेसे उदास हो जाता है। कुटुम्ब बहुत बढ़ जाता है और उदरपूर्तिका साधन नहीं होता तो भूखकी ज्वालासे सन्तप्त होकर अपने ही बन्धु-बान्धवोंपर खीझने लगता है॥ ८॥

क्वचिन्निगीर्णोऽजगराहिना जनो
नावैति किञ्चिद्विपिनेऽपविद्धः।
दष्टः स्म शेते क्व च दन्दशूकै-
रन्धोऽन्धकूपे पतितस्तमिस्रे॥ ९॥

कभी अजगर सर्पका ग्रास बनकर वनमें फेंके हुए मुर्देके समान पड़ा रहता है। उस समय इसे कोई सुध-बुध नहीं रहती। कभी दूसरे विषैले जन्तु इसे काटने लगते हैं तो उनके विषके प्रभावसे अन्धा होकर किसी अन्धे कुएँमें गिर पड़ता है और घोर दुःखमय अन्धकारमें बेहोश पड़ा रहता है॥ ९॥

कर्हि स्म चित्क्षुद्ररसान् विचिन्वं-
स्तन्मक्षिकाभिर्व्यथितो विमानः।
तत्रातिकृच्छ्रात्प्रतिलब्धमानो
बलाद्विलुम्पन्त्यथ तं ततोऽन्ये॥ १०॥

कभी मधु खोजने लगता है तो मक्खियाँ इसके नाकमें दम कर देती हैं और इसका सारा अभिमान नष्ट हो जाता है। यदि किसी प्रकार अनेकों कठिनाइयोंका सामना करके वह मिल भी गया तो बलात् दूसरे लोग उसे छीन लेते हैं॥ १०॥

क्वचिच्च शीतातपवातवर्ष-
प्रतिक्रियां कर्तुमनीश आस्ते।
क्वचिन्मिथो विपणन् यच्च किञ्चिद्
विद्वेषमृच्छत्युत वित्तशाठ्यात्॥ ११॥

कभी शीत, घाम, आँधी और वर्षासे अपनी रक्षा करनेमें असमर्थ

हो जाता है। कभी आपसमें थोड़ा-बहुत व्यापार करता है तो धनके लोभसे दूसरोंको धोखा देकर उनसे वैर ठान लेता है॥ ११॥

क्वचित्क्वचित्क्षीणधनस्तु तस्मिन्
शय्यासनस्थानविहारहीनः ।
याचन् परादप्रतिलब्धकामः
पारक्यदृष्टिर्लभतेऽवमानम् ॥ १२॥

कभी-कभी उस संसारवनमें इसका धन नष्ट हो जाता है तो इसके पास शय्या, आसन, रहनेके लिये स्थान और सैर-सपाटेके लिये सवारी आदि भी नहीं रहते। तब दूसरोंसे याचना करता है; माँगनेपर भी दूसरेसे जब उसे अभिलषित वस्तु नहीं मिलती, तब परायी वस्तुओंपर अनुचित दृष्टि रखनेके कारण इसे बड़ा तिरस्कार सहना पड़ता है॥ १२॥

अन्योन्यवित्तव्यतिषङ्गवृद्ध-
वैरानुबन्धो विवहन्मिथश्च।
अध्वन्यमुष्मिन्नुरुकृच्छ्रवित्त-
बाधोपसर्गैर्विहरन् विपन्नः॥ १३॥

इस प्रकार व्यावहारिक सम्बन्धके कारण एक-दूसरेसे द्वेषभाव बढ़ जानेपर भी वह वणिक्-समूह आपसमें विवाहादि सम्बन्ध स्थापित करता है और फिर इस मार्गमें तरह-तरहके कष्ट और धनक्षय आदि संकटोंको भोगते-भोगते मृतकवत् हो जाता है॥ १३॥

तांस्तान् विपन्नान् स हि तत्र तत्र
विहाय जातं परिगृह्य सार्थः।
आवर्ततेऽद्यापि न कश्चिदत्र
वीराध्वनः पारमुपैति योगम्॥ १४॥

हे वीरवर! साथियोंमेंसे जो-जो मरते जाते हैं, उन्हें जहाँ-का-तहाँ छोड़कर नवीन उत्पन्न हुओंको साथ लिये वह बनजारोंका समूह

बराबर आगे ही बढ़ता रहता है। उनमेंसे कोई भी प्राणी न तो आजतक वापस लौटा है और न किसीने इस संकटपूर्ण मार्गको पार करके परमानन्दमय योगकी ही शरण ली है॥ १४॥

मनस्विनो निर्जितदिग्गजेन्द्रा
ममेति सर्वे भुवि बद्धवैराः।
मृधे शयीरन्न तु तद्व्रजन्ति
यन्न्यस्तदण्डो गतवैरोऽभियाति॥ १५॥

जिन्होंने बड़े-बड़े दिक्पालोंको जीत लिया है, वे धीर-वीर पुरुष भी पृथ्वीमें 'यह मेरी है' ऐसा अभिमान करके आपसमें वैर ठानकर संग्रामभूमिमें जूझ जाते हैं तो भी उन्हें भगवान् विष्णुका वह अविनाशी पद नहीं मिलता, जो वैरहीन परमहंसोंको प्राप्त होता है॥ १५॥

प्रसज्जति क्वापि लताभुजाश्रय-
स्तदाश्रयाव्यक्तपदद्विजस्पृहः।
क्वचित्कदाचिद्धरिचक्रतस्त्रसन्
सख्यं विधत्ते बककङ्कगृध्रैः॥ १६॥

इस भवाटवीमें भटकनेवाला यह बनिजारोंका दल कभी किसी लताकी डालियोंका आश्रय लेता है और उसपर रहनेवाले मधुरभाषी पक्षियोंके मोहमें फँस जाता है। कभी सिंहोंके समूहसे भय मानकर बगुला, कंक और गिद्धोंसे प्रीति करता है॥ १६॥

तैर्वञ्चितो हंसकुलं समाविश-
न्नरोचयन् शीलमुपैति वानरान्।
तज्जातिरासेन सुनिर्वृतेन्द्रियः
परस्परोद्वीक्षणविस्मृतावधिः॥ १७॥

जब उनसे धोखा उठाता है, तब हंसोंकी पंक्तिमें प्रवेश करना चाहता है; किन्तु उसे उनका आचार नहीं सुहाता, इसलिये

वानरोंमें मिलकर उनके जातिस्वभावके अनुसार दाम्पत्य सुखमें रत रहकर विषयभोगोंसे इन्द्रियोंको तृप्त करता रहता है और एक-दूसरेका मुख देखते-देखते अपनी आयुकी अवधिको भूल जाता है॥ १७॥

द्रुमेषु रंस्यन् सुतदारवत्सलो
व्यवायदीनो विवशः स्वबन्धने।
क्वचित्प्रमादाद्गिरिकन्दरे पतन्
वल्लीं गृहीत्वा गजभीत आस्थितः॥ १८॥

वहाँ वृक्षोंमें क्रीडा करता हुआ पुत्र और स्त्रीके स्नेहपाशमें बँध जाता है। इसमें मैथुनकी वासना इतनी बढ़ जाती है कि तरह-तरहके दुर्व्यवहारोंसे दीन होनेपर भी यह विवश होकर अपने बन्धनको तोड़नेका साहस नहीं कर सकता। कभी असावधानीसे पर्वतकी गुफामें गिरने लगता है तो उसमें रहनेवाले हाथीसे डरकर किसी लताके सहारे लटका रहता है॥ १८॥

अतः कथञ्चित्स विमुक्त आपदः
पुनश्च सार्थं प्रविशत्यरिन्दम।
अध्वन्यमुष्मिन्नजया निवेशितो
भ्रमञ्जनोऽद्यापि न वेद कश्चन॥ १९॥

शत्रुदमन! यदि किसी प्रकार इसे उस आपत्तिसे छुटकारा मिल जाता है तो यह फिर अपने गोलमें मिल जाता है। जो मनुष्य मायाकी प्रेरणासे एक बार इस मार्गमें पहुँच जाता है, उसे भटकते-भटकते अन्ततक अपने परम पुरुषार्थका पता नहीं लगता॥ १९॥

रहूगण त्वमपि ह्यध्वनोऽस्य
संन्यस्तदण्डः कृतभूतमैत्रः।

असज्जितात्मा हरिसेवया शितं
ज्ञानासिमादाय तरातिपारम्॥ २०॥

रहूगण! तुम भी इसी मार्गमें भटक रहे हो, इसलिये अब प्रजाको दण्ड देनेका कार्य छोड़कर समस्त प्राणियोंके सुहृद् हो जाओ और विषयोंमें अनासक्त होकर भगवत्सेवासे तीक्ष्ण किया हुआ ज्ञानरूप खड्ग लेकर इस मार्गको पार कर लो॥ २०॥

राजोवाच

अहो नृजन्माखिलजन्मशोभनं
किं जन्मभिस्त्वपरैरप्यमुष्मिन्।
न यद्धृषीकेशयशःकृतात्मनां
महात्मनां वः प्रचुरः समागमः॥ २१॥

राजा रहूगणने कहा—अहो! समस्त योनियोंमें यह मनुष्य-जन्म ही श्रेष्ठ है। अन्यान्य लोकोंमें प्राप्त होनेवाले देवादि उत्कृष्ट जन्मोंसे भी क्या लाभ है, जहाँ भगवान् हृषीकेशके पवित्र यशसे शुद्ध अन्तःकरणवाले आप-जैसे महात्माओंका अधिकाधिक समागम नहीं मिलता॥ २१॥

न ह्यद्भुतं त्वच्चरणाब्जरेणुभि-
र्हतांहसो भक्तिरधोक्षजेऽमला।
मौहूर्तिकाद्यस्य समागमाच्च मे
दुस्तर्कमूलोऽपहतोऽविवेकः॥ २२॥

आपके चरणकमलोंकी रजका सेवन करनेसे जिनके सारे पाप-ताप नष्ट हो गये हैं, उन महानुभावोंको भगवान्‌की विशुद्ध भक्ति प्राप्त होना कोई विचित्र बात नहीं है। मेरा तो आपके दो घड़ीके सत्संगसे ही सारा कुतर्कमूलक अज्ञान नष्ट हो गया है॥ २२॥

नमो महद्भ्योऽस्तु नमः शिशुभ्यो
नमो युवभ्यो नम आ वटुभ्यः।

ये ब्राह्मणा गामवधूतलिङ्गा-
श्चरन्ति तेभ्यः शिवमस्तु राज्ञाम्॥ २३॥

ब्रह्मज्ञानियोंमें जो वयोवृद्ध हों, उन्हें नमस्कार है; जो शिशु हों, उन्हें नमस्कार है; जो युवा हों, उन्हें नमस्कार है और जो क्रीडारत बालक हों, उन्हें भी नमस्कार है। जो ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण अवधूतवेषसे पृथ्वीपर विचरते हैं, उनसे हम-जैसे ऐश्वर्योन्मत्त राजाओंका कल्याण हो॥ २३॥

श्रीशुक उवाच

इत्येवमुत्तरामातः स वै ब्रह्मर्षिसुतः सिन्धुपतय आत्मसतत्त्वं विगणयतः परानुभावः परमकारुणिकतयोपदिश्य रहूगणेन सकरुणमभिवन्दितचरण आपूर्णार्णव इव निभृतकरणोर्म्याशयो धरणिमिमां विचचार॥ २४॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—उत्तरानन्दन! इस प्रकार उन परम प्रभावशाली ब्रह्मर्षिपुत्रने अपना अपमान करनेवाले सिन्धुनरेश रहूगणको भी अत्यन्त करुणावश आत्मतत्त्वका उपदेश दिया। तब राजा रहूगणने दीनभावसे उनके चरणोंकी वन्दना की। फिर वे परिपूर्ण समुद्रके समान शान्तचित्त और उपरतेन्द्रिय होकर पृथ्वीपर विचरने लगे॥ २४॥

सौवीरपतिरपि सुजनसमवगतपरमात्मसतत्त्व आत्मन्यविद्याध्यारोपितां च देहात्ममतिं विससर्ज। एवं हि नृप भगवदाश्रिताश्रितानुभावः॥ २५॥

उनके सत्संगसे परमात्मतत्त्वका ज्ञान पाकर सौवीरपति रहूगणने भी अन्तःकरणमें अविद्यावश आरोपित देहात्मबुद्धिको त्याग दिया। राजन्! जो लोग भगवदाश्रित अनन्य भक्तोंकी शरण ले लेते हैं, उनका ऐसा ही प्रभाव होता है—उनके पास अविद्या ठहर नहीं सकती॥ २५॥

राजोवाच

यो ह वा इह बहुविदा महाभागवत त्वयाभिहितः परोक्षेण वचसा जीवलोकभवाध्वा स ह्यार्यमनीषया कल्पितविषयो नाञ्जसाव्युत्पन्नलोकसमधिगमः। अथ तदेवैतदुरवगमं समवेतानुकल्पेन निर्दिश्यतामिति॥ २६॥

राजा परीक्षित्‌ने कहा—[महाभागवत मुनिश्रेष्ठ!] आप परम विद्वान् हैं। आपने रूपकादिके द्वारा अप्रत्यक्षरूपसे जीवोंके जिस संसाररूप मार्गका वर्णन किया है, उस विषयकी कल्पना विवेकी पुरुषोंकी बुद्धिने की है; वह अल्पबुद्धिवाले पुरुषोंकी समझमें सुगमतासे नहीं आ सकता। अतः मेरी प्रार्थना है कि इस दुर्बोध विषयको रूपकका स्पष्टीकरण करनेवाले शब्दोंसे खोलकर समझाइये॥ २६॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहंसगीतायां चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

पाँचवाँ अध्याय

भवाटवीका स्पष्टीकरण

स होवाच

य एष देहात्ममानिनां सत्त्वादिगुणविशेषविकल्पित-कुशलाकुशलसमवहारविनिर्मितविविधदेहावलिभिर्वियोग-संयोगाद्यनादिसंसारानुभवस्य द्वारभूतेन षडिन्द्रियवर्गेण तस्मिन्दुर्गाध्ववदसुगमेऽध्वन्यापतित ईश्वरस्य भगवतो विष्णो-र्वशवर्तिन्या मायया जीवलोकोऽयं यथा वणिक्सार्थोऽर्थपरः स्वदेहनिष्पादितकर्मानुभवः श्मशानवदशिवतमायां संसाराटव्यां गतो नाद्यापि विफलबहुप्रतियोगेहस्तत्तापोपशमनीं हरिगुरु-चरणारविन्दमधुकरानुपदवीमवरुन्धे यस्यामु ह वा एते

षडिन्द्रियनामानः कर्मणा दस्यव एव ते॥ १॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन्! देहाभिमानी जीवोंके द्वारा सत्त्वादि गुणोंके भेदसे शुभ, अशुभ और मिश्र—तीन प्रकारके कर्म होते रहते हैं। उन कर्मोंके द्वारा ही निर्मित नाना प्रकारके शरीरोंके साथ होनेवाला जो संयोग-वियोगादिरूप अनादि संसार जीवको प्राप्त होता है, उसके अनुभवके छः द्वार हैं—मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। उनसे विवश होकर यह जीवसमूह मार्ग भूलकर भयंकर वनमें भटकते हुए धनके लोभी बनजारोंके समान परमसमर्थ भगवान् विष्णुके आश्रित रहनेवाली मायाकी प्रेरणासे बीहड़ वनके समान दुर्गम मार्गमें पड़कर संसार-वनमें जा पहुँचता है। यह वन श्मशानके समान अत्यन्त अशुभ है। इसमें भटकते हुए उसे अपने शरीरसे किये हुए कर्मोंका फल भोगना पड़ता है। यहाँ अनेकों विघ्नोंके कारण उसे अपने व्यापारमें सफलता भी नहीं मिलती तो भी यह उसके श्रमको शान्त करनेवाले श्रीहरि एवं गुरुदेवके चरणारविन्द-मकरन्द-मधुके रसिक भक्त-भ्रमरोंके मार्गका अनुसरण नहीं करता। इस संसारवनमें मनसहित छः इन्द्रियाँ ही अपने कर्मोंकी दृष्टिसे डाकुओंके समान हैं॥ १॥

तद्यथा पुरुषस्य धनं यत्किञ्चिद्धर्मौपयिकं बहुकृच्छ्राधिगतं साक्षात्परमपुरुषाराधनलक्षणो योऽसौ धर्मस्तं तु साम्पराय उदाहरन्ति। तद्धर्म्यं धनं दर्शनस्पर्शनश्रवणास्वादनावघ्राणसङ्कल्प-व्यवसायगृहग्राम्योपभोगेन कुनाथस्याजितात्मनो यथा सार्थस्य विलुम्पन्ति॥ २॥

पुरुष बहुत-सा कष्ट उठाकर जो धन कमाता है, उसका उपयोग धर्ममें होना चाहिये; वही धर्म यदि साक्षात् भगवान् परमपुरुषकी आराधनाके रूपमें होता है तो उसे परलोकमें निःश्रेयसका हेतु बतलाया गया है। किन्तु जिस मनुष्यका बुद्धिरूप सारथि विवेकहीन होता है

और मन वशमें नहीं होता, उसके उस धर्मोपयोगी धनको ये मनसहित छः इन्द्रियाँ देखना, स्पर्श करना, सुनना, स्वाद लेना, सूँघना, संकल्प-विकल्प करना और निश्चय करना—इन वृत्तियोंके द्वारा गृहस्थोचित विषयभोगोंमें फँसाकर उसी प्रकार लूट लेती हैं, जिस प्रकार बेईमान मुखियाका अनुगमन करनेवाले एवं असावधान बनजारोंके दलका धन चोर-डाकू लूट ले जाते हैं॥ २॥

अथ च यत्र कौटुम्बिका दारापत्यादयो नाम्ना कर्मणा वृकसृगाला एवानिच्छतोऽपि कदर्यस्य कुटुम्बिन उरणकवत्संरक्ष्यमाणं मिषतोऽपि हरन्ति॥ ३॥

ये ही नहीं, उस संसार-वनमें रहनेवाले उसके कुटुम्बी भी—जो नामसे तो स्त्री-पुत्रादि कहे जाते हैं, किन्तु कर्म जिनके साक्षात् भेड़ियों और गीदड़ोंके समान होते हैं—उस अर्थलोलुप कुटुम्बीके धनको उसकी इच्छा न रहनेपर भी उसके देखते-देखते इस प्रकार छीन ले जाते हैं, जैसे भेड़िये गड़रियोंसे सुरक्षित भेड़ोंको उठा ले जाते हैं॥ ३॥

यथा ह्यनुवत्सरं कृष्यमाणमप्यदग्धबीजं क्षेत्रं पुनरेवावपनकाले गुल्मतृणवीरुद्भिर्गह्वरमिव भवत्येवमेव गृहाश्रमः कर्मक्षेत्रं यस्मिन्न हि कर्माण्युत्सीदन्ति यदयं कामकरण्ड एष आवसथः॥ ४॥

जिस प्रकार यदि किसी खेतके बीजोंको अग्निद्वारा जला न दिया गया हो तो प्रतिवर्ष जोतनेपर भी खेतीका समय आनेपर वह फिर झाड़-झंखाड़, लता और तृण आदिसे गहन हो जाता है—उसी प्रकार यह गृहस्थाश्रम भी कर्मभूमि है, इसमें भी कर्मोंका सर्वथा उच्छेद कभी नहीं होता; क्योंकि यह घर कामनाओंकी पिटारी है॥ ४॥

तत्र गतो दंशमशकसमापसदैर्मनुजैः शलभशकुन्ततस्करमूषकादिभिरुपरुध्यमानबहिःप्राणः क्वचित् परिवर्तमानोऽस्मिन्-

ध्वन्यविद्याकामकर्मभिरुपरक्तमनसानुपपन्नार्थं नरलोकं गन्धर्व-नगरमुपपन्नमिति मिथ्यादृष्टिरनुपश्यति॥ ५॥

उस गृहस्थाश्रममें आसक्त हुए व्यक्तिके धनरूप बाहरी प्राणोंको डाँस और मच्छरोंके समान नीच पुरुषोंसे तथा टिड्डी, पक्षी, चोर और चूहे आदिसे क्षति पहुँचती रहती है। कभी इस मार्गमें भटकते-भटकते यह अविद्या, कामना और कर्मोंसे कलुषित हुए अपने चित्तसे दृष्टिदोषके कारण इस मर्त्यलोकको, जो गन्धर्वनगरके समान असत् है, सत्य समझने लगता है॥ ५॥

तत्र च क्वचिदातपोदकनिभान् विषयानुपधावति पानभोजनव्यवायादिव्यसनलोलुपः॥ ६॥

फिर खान-पान और स्त्री-प्रसंगादि व्यसनोंमें फँसकर मृगतृष्णाके समान मिथ्या विषयोंकी ओर दौड़ने लगता है॥ ६॥

क्वचिच्चाशेषदोषनिषदनं पुरीषविशेषं तद्वर्णगुण-निर्मितमतिः सुवर्णमुपादित्सत्यग्निकामकातर इवोल्मुक-पिशाचम्॥ ७॥

कभी बुद्धिके रजोगुणसे प्रभावित होनेपर सारे अनर्थोंकी जड़ अग्निके मलरूप सोनेको ही सुखका साधन समझकर उसे पानेके लिये लालायित हो इस प्रकार दौड़-धूप करने लगता है, जैसे वनमें जाड़ेसे ठिठुरता हुआ पुरुष अग्निके लिये व्याकुल होकर उल्मुक-पिशाचकी (अगिया-बेतालकी) ओर उसे आग समझकर दौड़े॥ ७॥

अथ कदाचिन्निवासपानीयद्रविणाद्यनेकात्मोपजीवनाभिनिवेश एतस्यां संसाराटव्यामितस्ततः परिधावति॥ ८॥

कभी इस शरीरको जीवित रखनेवाले घर, अन्न-जल और धन आदिमें अभिनिवेश करके इस संसारारण्यमें इधर-उधर दौड़-धूप करता

रहता है॥ ८॥

क्वचिच्च वात्यौपम्यया प्रमदयारोहमारोपितस्तत्कालरजसा रजनीभूत इवासाधुमर्यादो रजस्वलाक्षोऽपि दिग्देवता अतिरजस्वलमतिर्न विजानाति॥ ९॥

कभी बवंडरके समान आँखोंमें धूल झोंक देनेवाली स्त्री गोदमें बैठा लेती है तो तत्काल रागान्ध-सा होकर सत्पुरुषोंकी मर्यादाका भी विचार नहीं करता। उस समय नेत्रोंमें रजोगुणकी धूल भर जानेसे बुद्धि ऐसी मलिन हो जाती है कि अपने कर्मोंके साक्षी दिशाओंके देवताओंको भी भुला देता है॥ ९॥

क्वचित्सकृदवगतविषयवैतथ्यः स्वयं पराभिध्यानेन विभ्रंशितस्मृतिस्तयैव मरीचितोयप्रायांस्तानेवाभिधावति॥ १०॥

कभी अपने-आप ही एकाध बार विषयोंका मिथ्यात्व जान लेनेपर भी अनादिकालसे देहमें आत्मबुद्धि रहनेसे विवेक-बुद्धि नष्ट हो जानेके कारण उन मरुमरीचिकातुल्य विषयोंकी ओर ही फिर दौड़ने लगता है॥ १०॥

क्वचिदुलूकझिल्लीस्वनवदतिपरुषरभसाटोपं प्रत्यक्षं परोक्षं वा रिपुराजकुलनिर्भर्त्सितेनातिव्यथितकर्णमूलहृदयः॥ ११॥

कभी प्रत्यक्ष शब्द करनेवाले उल्लूके समान शत्रुओंकी और परोक्षरूपसे बोलनेवाले झींगुरोंके समान राजाकी अति कठोर एवं दिलको दहला देनेवाली डरावनी डाँट-डपटसे इसके कान और मनको बड़ी व्यथा होती है॥ ११॥

स यदा दुग्धपूर्वसुकृतस्तदा कारस्करकाकतुण्डाद्यपुण्य-द्रुमलताविषोदपानवदुभयार्थशून्यद्रविणाञ्जीवन्मृतान् स्वयं जीवन्म्रियमाण उपधावति॥ १२॥

पूर्वपुण्य क्षीण हो जानेपर यह जीवित ही मुर्देके समान हो

जाता है; और जो कारस्कर एवं काकतुण्ड आदि जहरीले फलोंवाले पापवृक्षों, इसी प्रकारकी दूषित लताओं और विषैले कुओंके समान हैं तथा जिनका धन इस लोक और परलोक दोनोंके ही काममें नहीं आता और जो जीते हुए भी मुर्देके समान हैं—उन कृपण पुरुषोंका आश्रय लेता है॥ १२॥

एकदासत्प्रसङ्गान्निकृतमतिर्व्युदकस्रोतः स्खलनवदुभयतोऽपि दुःखदं पाखण्डमभियाति॥ १३॥

कभी असत् पुरुषोंके संगसे बुद्धि बिगड़ जानेके कारण सूखी नदीमें गिरकर दुःखी होनेके समान इस लोक और परलोकमें दुःख देनेवाले पाखण्डमें फँस जाता है॥ १३॥

यदा तु परबाधयान्ध आत्मने नोपनमति तदा हि पितृपुत्रबर्हिष्मतः पितृपुत्रान् वा स खलु भक्षयति॥ १४॥

जब दूसरोंको सतानेसे उसे अन्न भी नहीं मिलता, तब वह अपने सगे पिता-पुत्रोंको अथवा पिता या पुत्र आदिका एक तिनका भी जिनके पास देखता है, उनको फाड़ खानेके लिये तैयार हो जाता है॥ १४॥

क्वचिदासाद्य गृहं दाववत्प्रियार्थविधुरमसुखोदर्कं शोकाग्निना दह्यमानो भृशं निर्वेदमुपगच्छति॥ १५॥

कभी दावानलके समान प्रिय विषयोंसे शून्य एवं परिणाममें दुःखमय घरमें पहुँचता है तो वहाँ इष्टजनोंके वियोगादिसे उसके शोककी आग भड़क उठती है; उससे सन्तप्त होकर वह बहुत ही खिन्न होने लगता है॥ १५॥

क्वचित्कालविषमितराजकुलरक्षसापहृतप्रियतमधनासुःप्रमृतक इव विगतजीवलक्षण आस्ते॥ १६॥

कभी कालके समान भयंकर राजकुलरूप राक्षस इसके परम प्रिय

धनरूप प्राणोंको हर लेता है तो यह मरे हुएके समान निर्जीव हो जाता है॥ १६॥

कदाचिन्मनोरथोपगतपितृपितामहाद्यसत्सदिति स्वप्न-निर्वृतिलक्षणमनुभवति॥ १७॥

कभी मनोरथके पदार्थोंके समान अत्यन्त असत् पिता-पितामह आदि सम्बन्धोंको सत्य समझकर उनके सहवाससे स्वप्नके समान क्षणिक सुखका अनुभव करता है॥ १७॥

क्वचिद् गृहाश्रमकर्मचोदनातिभरगिरिमारुरुक्षमाणो लोकव्यसनकर्षितमनाः कण्टकशर्कराक्षेत्रं प्रविशन्निव सीदति॥ १८॥

गृहस्थाश्रमके लिये जिस कर्मविधिका महान् विस्तार किया गया है, उसका अनुष्ठान किसी पर्वतकी कड़ी चढ़ाईके समान ही है। लोगोंको उस ओर प्रवृत्त देखकर उनकी देखा-देखी जब यह भी उसे पूरा करनेका प्रयत्न करता है, तब तरह-तरहकी कठिनाइयोंसे क्लेशित होकर काँटे और कंकड़ोंसे भरी भूमिमें पहुँचे हुए व्यक्तिके समान दुःखी हो जाता है॥ १८॥

क्वचिच्च दुःसहेन कायाभ्यन्तरवह्निना गृहीतसारः स्वकुटुम्बाय क्रुध्यति॥ १९॥

कभी पेटकी असह्य ज्वालासे अधीर होकर अपने कुटुम्बपर ही बिगड़ने लगता है॥ १९॥

स एव पुनर्निद्राजगरगृहीतोऽन्धे तमसि मग्नः शून्यारण्य इव शेते नान्यत् किञ्चन वेद शव इवापविद्धः॥ २०॥

फिर जब निद्रारूप अजगरके चंगुलमें फँस जाता है, तब अज्ञानरूप घोर अन्धकारमें डूबकर सूने वनमें फेंके हुए मुर्देके समान सोया पड़ा रहता है। उस समय इसे किसी बातकी सुधि नहीं रहती॥ २०॥

कदाचिद् भग्नमानदंष्ट्रो दुर्जनदन्दशूकैरलब्धनिद्राक्षणो व्यथितहृदयेनानुक्षीयमाणविज्ञानोऽन्धकूपेऽन्धवत्पतति॥ २१॥

कभी दुर्जनरूप काटनेवाले जीव इतना काटते—तिरस्कार करते हैं कि इसके गर्वरूप दाँत, जिनसे यह दूसरोंको काटता था, टूट जाते हैं। तब इसे अशान्तिके कारण नींद भी नहीं आती तथा मर्मवेदनाके कारण क्षण-क्षणमें विवेकशक्ति क्षीण होते रहनेसे अन्तमें अन्धेकी भाँति यह नरकरूप अन्धे कुएँमें जा गिरता है॥ २१॥

कर्हि स्म चित्काममधुलवान् विचिन्वन् यदा परदारपर-द्रव्याण्यवरुन्धानो राज्ञा स्वामिभिर्वा निहतः पतत्यपारे निरये॥ २२॥

कभी विषयसुखरूप मधुकणोंको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते जब यह लुक-छिपकर परस्त्री या परधनको उड़ाना चाहता है, तब उनके स्वामी या राजाके हाथसे मारा जाकर ऐसे नरकमें जा गिरता है, जिसका ओर-छोर नहीं है॥ २२॥

अथ च तस्मादुभयथापि हि कर्मास्मिन्नात्मनः संसारावपनमुदाहरन्ति॥ २३॥

इसीसे ऐसा कहते हैं कि प्रवृत्तिमार्गमें रहकर किये हुए लौकिक और वैदिक दोनों ही प्रकारके कर्म जीवको संसारकी ही प्राप्ति करानेवाले हैं॥ २३॥

मुक्तस्ततो यदि बन्धाद्देवदत्त उपाच्छिनत्ति तस्मादपि विष्णुमित्र इत्यनवस्थितिः॥ २४॥

यदि किसी प्रकार राजा आदिके बन्धनसे छूट भी गया तो अन्यायसे अपहरण किये हुए उन स्त्री और धनको देवदत्त नामका कोई दूसरा व्यक्ति छीन लेता है और उससे विष्णुमित्र नामका कोई तीसरा व्यक्ति झटक लेता है। इस प्रकार वे भोग एक पुरुषसे दूसरे

पुरुषके पास जाते रहते हैं, एक स्थानपर नहीं ठहरते॥ २४॥

क्वचिच्च शीतवाताद्यनेकाधिदैविकभौतिकात्मीयानां दशानां प्रतिनिवारणेऽकल्पो दुरन्तचिन्तया विषण्ण आस्ते॥ २५॥

कभी-कभी शीत और वायु आदि अनेकों आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखकी स्थितियोंके निवारण करनेमें समर्थ न होनेसे यह अपार चिन्ताओंके कारण उदास हो जाता है॥ २५॥

क्वचिन्मिथो व्यवहरन् यत्किञ्चिद्धनमन्येभ्यो वा काकिणिकामात्रमप्यपहरन् यत्किञ्चिद्वा विद्वेषमेति वित्तशाठ्यात्॥ २६॥

कभी परस्पर लेन-देनका व्यवहार करते समय किसी दूसरेका थोड़ा-सा—दमड़ीभर अथवा इससे भी कम धन चुरा लेता है तो इस बेईमानीके कारण उससे वैर ठन जाता है॥ २६॥

अध्वन्यमुष्मिन्निम उपसर्गास्तथा सुखदुःखरागद्वेषभयाभिमानप्रमादोन्मादशोकमोहलोभमात्सर्येर्ष्यावमानक्षुत्पिपासाधिव्याधिजन्मजरामरणादयः॥ २७॥

इस मार्गमें पूर्वोक्त विघ्नोंके अतिरिक्त सुख-दुःख, राग-द्वेष, भय, अभिमान, प्रमाद, उन्माद, शोक, मोह, लोभ, मात्सर्य, ईर्ष्या, अपमान, क्षुधा-पिपासा, आधि-व्याधि, जन्म, जरा और मृत्यु आदि और भी अनेकों विघ्न हैं॥ २७॥

क्वापि देवमायया स्त्रिया भुजलतोपगूढः प्रस्कन्नविवेकविज्ञानो यद्विहारगृहारम्भाकुलहृदयस्तदाश्रयावसक्तसुतदुहितृकलत्रभाषितावलोकविचेष्टितापहृतहृदय आत्मानमजितात्मापारेऽन्धे तमसि प्रहिणोति॥ २८॥

(इस विघ्नबहुल मार्गमें इस प्रकार भटकता हुआ यह जीव) किसी समय देवमायारूपिणी स्त्रीके बाहुपाशमें पड़कर विवेकहीन हो

जाता है। तब उसीके लिये विहारभवन आदि बनवानेकी चिन्तामें ग्रस्त रहता है तथा उसीके आश्रित रहनेवाले पुत्र, पुत्री और अन्यान्य स्त्रियोंके मीठे-मीठे बोल, चितवन और चेष्टाओंमें आसक्त होकर, उन्हींमें चित्त फँस जानेसे वह इन्द्रियोंका दास अपार अन्धकारमय नरकोंमें गिरता है॥ २८॥

कदाचिदीश्वरस्य भगवतो विष्णोश्चक्रात् परमाण्वादिद्विपरार्धापवर्गकालोपलक्षणात्परिवर्तितेन वयसा रंहसा हरत आब्रह्मतृणस्तम्बादीनां भूतानामनिमिषतो मिषतां वित्रस्तहृदयस्तमेवेश्वरं कालचक्रनिजायुधं साक्षाद्भगवन्तं यज्ञपुरुषमनादृत्य पाखण्डदेवताः कङ्कगृध्रबकवटप्राया आर्यसमयपरिहृताः साङ्क्त्येनाभिधत्ते॥ २९॥

कालचक्र साक्षात् भगवान् विष्णुका आयुध है। वह परमाणुसे लेकर द्विपरार्धपर्यन्त क्षण-घटी आदि अवयवोंसे युक्त है। वह निरन्तर सावधान रहकर घूमता रहता है, जल्दी-जल्दी बदलनेवाली बाल्य, यौवन आदि अवस्थाएँ ही उसका वेग हैं। उसके द्वारा वह ब्रह्मासे लेकर क्षुद्रातिक्षुद्र तृणपर्यन्त सभी भूतोंका निरन्तर संहार करता रहता है। कोई भी उसकी गतिमें बाधा नहीं डाल सकता। उससे भय मानकर भी जिनका यह कालचक्र निज आयुध है, उन साक्षात् भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना छोड़कर यह मन्दमति मनुष्य पाखण्डियोंके चक्करमें पड़कर उनके कंक, गिद्ध, बगुला और बटेरके समान आर्यशास्त्र-बहिष्कृत देवताओंका आश्रय लेता है—जिनका केवल वेदबाह्य अप्रामाणिक आगमोंने ही उल्लेख किया है॥ २९॥

यदा पाखण्डिभिरात्मवञ्चितैस्तैरुरु वञ्चितो ब्रह्मकुलं समावसंस्तेषां शीलमुपनयनादिश्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानेन भगवतो यज्ञपुरुषस्याराधनमेव तदरोचयन् शूद्रकुलं भजते निगमा-

चारेऽशुद्धितो यस्य मिथुनीभावः कुटुम्बभरणं यथा वानरजातेः॥ ३०॥

ये पाखण्डी तो स्वयं ही धोखेमें हैं; जब यह भी उनकी ठगाईमें आकर दुःखी होता है, तब ब्राह्मणोंकी शरण लेता है। किन्तु उपनयन-संस्कारके अनन्तर श्रौत-स्मार्तकर्मोंसे भगवान् यज्ञपुरुषकी आराधना करना आदि जो उनका शास्त्रोक्त आचार है, वह इसे अच्छा नहीं लगता; इसलिये वेदोक्त आचारके अनुकूल अपनेमें शुद्धि न होनेके कारण यह कर्मशून्य शूद्रकुलमें प्रवेश करता है, जिसका स्वभाव वानरोंके समान केवल कुटुम्बपोषण और स्त्रीसेवन करना ही है॥ ३०॥

तत्रापि निरवरोधः स्वैरेण विहरन्नतिकृपण-बुद्धिरन्योन्यमुखनिरीक्षणादिना ग्राम्यकर्मणैव विस्मृत-कालावधिः॥ ३१॥

वहाँ बिना रोक-टोक स्वच्छन्द विहार करनेसे इसकी बुद्धि अत्यन्त दीन हो जाती है और एक-दूसरेका मुख देखना आदि विषय-भोगोंमें फँसकर इसे अपने मृत्युकालका भी स्मरण नहीं होता॥ ३१॥

क्वचिद् द्रुमवदैहिकार्थेषु गृहेषु रंस्यन् यथा वानरः सुतदारवत्सलो व्यवायक्षणः॥ ३२॥

वृक्षोंके समान जिनका लौकिक सुख ही फल है—उन घरोंमें ही सुख मानकर वानरोंकी भाँति स्त्री-पुत्रादिमें आसक्त होकर यह अपना सारा समय मैथुनादि विषय-भोगोंमें ही बिता देता है॥ ३२॥

एवमध्वन्यवरुन्धानो मृत्युगजभयात्तमसि गिरिकन्दर-प्राये॥ ३३॥

इस प्रकार प्रवृत्तिमार्गमें पड़कर सुख-दुःख भोगता हुआ यह जीव रोगरूपी गिरिगुहामें फँसकर उसमें रहनेवाले मृत्युरूप हाथीसे डरता रहता है॥ ३३॥

क्वचिच्छीतवाताद्यनेकदैविकभौतिकात्मीयानां दुःखानां प्रतिनिवारणेऽकल्पो दुरन्तविषयविषण्ण आस्ते॥ ३४॥

कभी-कभी शीत, वायु आदि अनेक प्रकारके आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक दुःखोंकी निवृत्ति करनेमें जब असफल हो जाता है, तब उस समय अपार विषयोंकी चिन्तासे यह खिन्न हो उठता है॥ ३४॥

क्वचिन्मिथो व्यवहरन् यत्किञ्चिद्धनमुपयाति वित्तशाठ्येन॥ ३५॥

कभी आपसमें क्रय-विक्रय आदि व्यापार करनेपर बहुत कंजूसी करनेसे इसे थोड़ा-सा धन हाथ लग जाता है॥ ३५॥

क्वचित्क्षीणधनः शय्यासनाशनाद्युपभोगविहीनो यावदप्रतिलब्धमनोरथोपगतादानेऽवसितमतिस्ततस्ततोऽवमानादीनि जनादभिलभते॥ ३६॥

कभी धन नष्ट हो जानेसे जब इसके पास सोने, बैठने और खाने आदिकी भी कोई सामग्री नहीं रहती, तब अपने अभीष्ट भोग न मिलनेसे यह उन्हें चोरी आदि बुरे उपायोंसे पानेका निश्चय करता है। इससे इसे जहाँ-तहाँ दूसरोंके हाथसे बहुत अपमानित होना पड़ता है॥ ३६॥

एवं वित्तव्यतिषङ्गविवृद्धवैरानुबन्धोऽपि पूर्ववासनया मिथ उद्वहत्यथापवहति॥ ३७॥

इस प्रकार धनकी आसक्तिसे परस्पर वैरभाव बढ़ जानेपर भी यह अपनी पूर्ववासनाओंसे विवश होकर आपसमें विवाहादि सम्बन्ध करता और छोड़ता रहता है॥ ३७॥

एतस्मिन् संसाराध्वनि नानाक्लेशोपसर्गबाधित आपन्नविपन्नो यत्र यस्तमु ह वावेतरस्तत्र विसृज्य जातं जातमुपादाय शोचन्मुह्यन् बिभ्यद्विवदन् क्रन्दन् संहृष्यन्गायन्नह्यमानः साधुवर्जितो नैवावर्ततेऽद्यापि यत आरब्ध एष

नरलोकसार्थो यमध्वनः पारमुपदिशन्ति॥ ३८॥

इस संसारमार्गमें चलनेवाला यह जीव अनेक प्रकारके क्लेश और विघ्न-बाधाओंसे बाधित होनेपर भी मार्गमें जिसपर जहाँ आपत्ति आती है अथवा जो कोई मर जाता है; उसे जहाँ-का-तहाँ छोड़ देता है; तथा नये जन्मे हुओंको साथ लगाता है, कभी किसीके लिये शोक करता है, किसीका दुःख देखकर मूर्च्छित हो जाता है, किसीके वियोग होनेकी आशंकासे भयभीत हो उठता है, किसीसे झगड़ने लगता है, कोई आपत्ति आती है तो रोने-चिल्लाने लगता है, कहीं कोई मनके अनुकूल बात हो गयी तो प्रसन्नताके मारे फूला नहीं समाता, कभी गाने लगता है और कभी उन्हींके लिये बँधनेमें भी नहीं हिचकता। साधुजन इसके पास कभी नहीं आते, यह साधुसंगसे सदा वंचित रहता है। इस प्रकार यह निरन्तर आगे ही बढ़ रहा है। जहाँसे इसकी यात्रा आरम्भ हुई है और जिसे इस मार्गकी अन्तिम अवधि कहते हैं, उस परमात्माके पास यह अभीतक नहीं लौटा है॥ ३८॥

यदिदं योगानुशासनं न वा एतदवरुन्धते यन्न्यस्तदण्डा मुनय उपशमशीला उपरतात्मानः समवगच्छन्ति॥ ३९॥

परमात्मातक तो योगशास्त्रकी भी गति नहीं है; जिन्होंने सब प्रकारके दण्ड (शासन)-का त्याग कर दिया है, वे निवृत्तिपरायण संयतात्मा मुनिजन ही उसे प्राप्त कर पाते हैं॥ ३९॥

यदपि दिगिभजयिनो यज्विनो ये वै राजर्षयः किं तु परं मृधे शयीरन्नस्यामेव ममेयमिति कृतवैरानुबन्धायां विसृज्य स्वयमुपसंहृताः॥ ४०॥

जो दिग्गजोंको जीतनेवाले और बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले राजर्षि हैं, उनकी भी वहाँतक गति नहीं है। वे संग्रामभूमिमें शत्रुओंका सामना करके केवल प्राणपरित्याग ही करते हैं तथा जिसमें 'यह' मेरी है, ऐसा अभिमान करके वैर ठाना था—उस पृथ्वीमें ही

अपना शरीर छोड़कर स्वयं परलोकको चले जाते हैं। इस संसारसे वे भी पार नहीं होते॥ ४०॥

कर्मवल्लीमवलम्ब्य तत आपदः कथञ्चिन्नरकाद्विमुक्तः पुनरप्येवं संसाराध्वनि वर्तमानो नरलोकसार्थमुपयाति एवमुपरि गतोऽपि॥ ४१॥

अपने पुण्यकर्मरूप लताका आश्रय लेकर यदि किसी प्रकार यह जीव इन आपत्तियोंसे अथवा नरकसे छुटकारा पा भी जाता है तो फिर इसी प्रकार संसारमार्गमें भटकता हुआ इस जनसमुदायमें मिल जाता है। यही दशा स्वर्गादि ऊर्ध्वलोकोंमें जानेवालोंकी भी है॥ ४१॥

तस्येदमुपगायन्ति—

आर्षभस्येह राजर्षेर्मनसापि महात्मनः।
नानुवर्त्मार्हति नृपो मक्षिकेव गरुत्मतः॥ ४२॥

[राजन्!] राजर्षि भरतके विषयमें पण्डितजन ऐसा कहते हैं—जैसे गरुडजीकी होड़ कोई मक्खी नहीं कर सकती, उसी प्रकार राजर्षि महात्मा भरतके मार्गका कोई अन्य राजा मनसे भी अनुसरण नहीं कर सकता॥ ४२॥

यो दुस्त्यजान्दारसुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृशः।
जहौ युवैव मलवदुत्तमश्लोकलालसः॥ ४३॥

उन्होंने पुण्यकीर्ति श्रीहरिमें अनुरक्त होकर अति मनोरम स्त्री, पुत्र, मित्र और राज्यादिको युवावस्थामें ही विष्ठाके समान त्याग दिया था; दूसरोंके लिये तो इन्हें त्यागना बहुत ही कठिन है॥ ४३॥

यो दुस्त्यजान् क्षितिसुतस्वजनार्थदारान्
प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम्।
नैच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्-
सेवानुरक्तमनसामभवोऽपि फल्गुः॥ ४४॥

उन्होंने अति दुस्त्यज पृथ्वी, पुत्र, स्वजन, सम्पत्ति और स्त्रीकी

तथा जिसके लिये बड़े-बड़े देवता भी लालायित रहते हैं, किन्तु जो स्वयं उनकी दयादृष्टिके लिये उनपर दृष्टिपात करती रहती थी—उस लक्ष्मीकी भी, लेशमात्र इच्छा नहीं की। यह सब उनके लिये उचित ही था; क्योंकि जिन महानुभावोंका चित्त भगवान् मधुसूदनकी सेवामें अनुरक्त हो गया है, उनकी दृष्टिमें मोक्षपद भी अत्यन्त तुच्छ है॥ ४४॥

यज्ञाय धर्मपतये विधिनैपुणाय
योगाय सांख्यशिरसे प्रकृतीश्वराय।
नारायणाय हरये नम इत्युदारं
हास्यन्मृगत्वमपि यः समुदाजहार॥ ४५॥

उन्होंने मृगशरीर छोड़नेकी इच्छा होनेपर उच्चस्वरसे कहा था कि धर्मकी रक्षा करनेवाले, धर्मानुष्ठानमें निपुण, योगगम्य, सांख्यके प्रतिपाद्य, प्रकृतिके अधीश्वर, यज्ञमूर्ति सर्वान्तर्यामी श्रीहरिको नमस्कार है।॥ ४५॥

य इदं भागवतसभाजितावदातगुणकर्मणो राजर्षेर्भरतस्यानुचरितं स्वस्त्ययनमायुष्यं धन्यं यशस्यं स्वर्ग्यापवर्ग्यं वानुशृणोत्याख्यास्यत्यभिनन्दति च सर्वा एवाशिष आत्मन आशास्ते न काञ्चन परत इति॥ ४६॥

राजन्! राजर्षि भरतके पवित्र गुण और कर्मोंकी भक्तजन भी प्रशंसा करते हैं। उनका यह चरित्र बड़ा कल्याणकारी, आयु और धनकी वृद्धि करनेवाला, लोकमें सुयश बढ़ानेवाला और अन्तमें स्वर्ग तथा मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला है। जो पुरुष इसे सुनता या सुनाता है और इसका अभिनन्दन करता है, उसकी सारी कामनाएँ स्वयं ही पूर्ण हो जाती हैं; दूसरोंसे उसे कुछ भी नहीं माँगना पड़ता॥ ४६॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे परमहंसगीतायां पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

॥ परमहंसगीता सम्पूर्णा॥

षड्जगीता

[षड्जगीता महाभारतके शान्तिपर्वमें विद्यमान है। इस गीताका मुख्य प्रतिपाद्य-विषय पुरुषार्थ-चतुष्टय अर्थात् धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षकी तुलनात्मक विवेचना करके उसमें श्रेष्ठतमका अनुसन्धान करना है। धर्मराज युधिष्ठिरने पूर्वपक्षके रूपमें अपने चारों भाइयों तथा विदुरजीसे उनका मत जानकर फिर उत्तरपक्षके रूपमें अपना मत बताया है। फलतः इस छोटी-सी गीतामें जीवनके सभी पक्षोंसे सम्बद्ध तर्कोंका विश्लेषण भी है और निष्कर्षस्वरूप मोक्षप्राप्तिका गूढ़ उपाय (ज्ञान) भी बताया गया है। पाँचों पाण्डव और छठे महात्मा विदुरके विचार ग्रथित होनेसे इसे 'षड्जगीता' कहा गया है। इसी षड्जगीताको यहाँ सानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है—]

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तवति भीष्मे तु तूष्णींभूते युधिष्ठिरः।
पप्रच्छावसथं गत्वा भ्रातॄन् विदुरपञ्चमान्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—[हे जनमेजय!] यह कहकर जब भीष्मजी चुप हो गये, तब राजा युधिष्ठिरने घर जाकर अपने चारों भाइयों तथा पाँचवें विदुरजीसे प्रश्न किया—॥ १॥

धर्मे चार्थे च कामे च लोकवृत्तिः समाहिता।
तेषां गरीयान् कतमो मध्यमः को लघुश्च कः॥ २॥

लोगोंकी प्रवृत्ति प्रायः धर्म, अर्थ और कामकी ओर होती है। इन तीनोंमें कौन सबसे श्रेष्ठ, कौन मध्यम और कौन लघु है?॥ २॥

कस्मिंश्चात्मा निधातव्यस्त्रिवर्गविजयाय वै।
संहृष्टा नैष्ठिकं वाक्यं यथावद् वक्तुमर्हथ॥ ३॥

इन तीनोंपर विजय पानेके लिये विशेषतः किसमें मन लगाना चाहिये?

आप सब लोग हर्ष और उत्साहके साथ इस प्रश्नका यथावत्‌रूपसे उत्तर दें और वही बात कहें, जिसपर आपकी पूरी आस्था हो॥ ३॥

ततोऽर्थगतितत्त्वज्ञः प्रथमं प्रतिभानवान्।
जगाद विदुरो वाक्यं धर्मशास्त्रमनुस्मरन्॥ ४॥

तब अर्थकी गति और तत्त्वको जाननेवाले प्रतिभाशाली विदुरजीने धर्मशास्त्रका स्मरण करके सबसे पहले कहना आरम्भ किया॥ ४॥

विदुर उवाच

बाहुश्रुत्यं तपस्त्यागः श्रद्धा यज्ञक्रिया क्षमा।
भावशुद्धिर्दया सत्यं संयमश्चात्मसम्पदः॥ ५॥

विदुरजी बोले—[राजन्!] बहुत-से शास्त्रोंका अनुशीलन, तपस्या, त्याग, श्रद्धा, यज्ञकर्म, क्षमा, भावशुद्धि, दया, सत्य और संयम—ये सब आत्माकी सम्पत्ति हैं॥ ५॥

एतदेवाभिपद्यस्व मा तेऽभूच्चलितं मनः।
एतन्मूलौ हि धर्मार्थावेतदेकपदं हि मे॥ ६॥

[युधिष्ठिर!] तुम इन्हींको प्राप्त करो। इनकी ओरसे तुम्हारा मन विचलित नहीं होना चाहिये। धर्म और अर्थकी जड़ ये ही हैं। मेरे मतमें ये ही परम पद हैं॥ ६॥

धर्मेणैवर्षयस्तीर्णा धर्मे लोकाः प्रतिष्ठिताः।
धर्मेण देवा ववृधुर्धर्मे चार्थः समाहितः॥ ७॥

धर्मसे ही ऋषियोंने संसार-समुद्रको पार किया है। धर्मपर ही सम्पूर्ण लोक टिके हुए हैं। धर्मसे ही देवताओंकी उन्नति हुई है और धर्ममें ही अर्थकी भी स्थिति है॥ ७॥

धर्मो राजन् गुणः श्रेष्ठो मध्यमो ह्यर्थ उच्यते।
कामो यवीयानिति च प्रवदन्ति मनीषिणः॥ ८॥

राजन्! धर्म ही श्रेष्ठ गुण है, अर्थको मध्यम बताया जाता है

और काम सबकी अपेक्षा लघु है; ऐसा मनीषी पुरुष कहते हैं॥ ८॥

तस्माद् धर्मप्रधानेन भवितव्यं यतात्मना।
तथा च सर्वभूतेषु वर्तितव्यं यथात्मनि॥ ९॥

अत: मनको वशमें करके धर्मको अपना प्रधान ध्येय बनाना चाहिये और सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिये, जैसा हम अपने लिये चाहते हैं॥ ९॥

वैशम्पायन उवाच

समाप्तवचने तस्मिन्नर्थशास्त्रविशारदः।
पार्थो धर्मार्थतत्त्वज्ञो जगौ वाक्यं प्रचोदितः॥ १०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—[जनमेजय!] विदुरजीकी बात समाप्त होनेपर धर्म और अर्थके तत्त्वको जाननेवाले अर्थशास्त्रविशारद अर्जुनने युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर कहा॥ १०॥

अर्जुन उवाच

कर्मभूमिरियं राजन्निह वार्ता प्रशस्यते।
कृषिर्वाणिज्यगोरक्षं शिल्पानि विविधानि च॥ ११॥

अर्जुन बोले—राजन्! यह कर्मभूमि है। यहाँ जीविकाके साधनभूत कर्मोंकी ही प्रशंसा होती है। खेती, व्यापार, गोपालन तथा भाँति-भाँतिके शिल्प—ये सब अर्थप्राप्तिके साधन हैं॥ ११॥

अर्थ इत्येव सर्वेषां कर्मणामव्यतिक्रमः।
न ह्यृतेऽर्थेन वर्तेते धर्मकामाविति श्रुतिः॥ १२॥

अर्थ ही समस्त कर्मोंकी मर्यादाके पालनमें सहायक है। अर्थके बिना धर्म और काम भी सिद्ध नहीं होते, ऐसा श्रुतिका कथन है॥ १२॥

विषयैरर्थवान् धर्ममाराधयितुमुत्तमम्।
कामं च चरितुं शक्तो दुष्प्रापमकृतात्मभिः॥ १३॥

धनवान् मनुष्य धनके द्वारा उत्तम धर्मका पालन और अजितेन्द्रिय

पुरुषोंके लिये दुर्लभ कामनाओंकी प्राप्ति कर सकता है॥ १३॥

अर्थस्यावयवावेतौ धर्मकामाविति श्रुतिः।
अर्थसिद्ध्या विनिर्वृत्तावुभावेतौ भविष्यतः॥ १४॥

श्रुतिका कथन है कि धर्म और काम अर्थके ही दो अवयव हैं। अर्थकी सिद्धिसे उन दोनोंकी भी सिद्धि हो जायगी॥ १४॥

तद्गतार्थं हि पुरुषं विशिष्टतरयोनयः।
ब्रह्माणमिव भूतानि सततं पर्युपासते॥ १५॥

जैसे सब प्राणी सदा ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार उत्तम जातिके मनुष्य भी सदा धनवान् पुरुषकी उपासना किया करते हैं॥ १५॥

जटाजिनधरा दान्ताः पङ्कदिग्धा जितेन्द्रियाः।
मुण्डा निस्तन्तवश्चापि वसन्त्यर्थार्थिनः पृथक्॥ १६॥

जटा और मृगचर्म धारण करनेवाले जितेन्द्रिय संयतचित्त शरीरमें पंक धारण किये मुण्डितमस्तक नैष्ठिक ब्रह्मचारी भी अर्थकी अभिलाषा रखकर पृथक्-पृथक् निवास करते हैं॥ १६॥

काषायवसनाश्चान्ये श्मश्रुला ह्रीनिषेविणः।
विद्वांसश्चैव शान्ताश्च मुक्ताः सर्वपरिग्रहैः॥ १७॥
अर्थार्थिनः सन्ति केचिदपरे स्वर्गकाङ्क्षिणः।
कुलप्रत्यागमाश्चैके स्वं स्वं धर्ममनुष्ठिताः॥ १८॥

सब प्रकारके संग्रहसे रहित, संकोचशील, शान्त, गेरुआ वस्त्रधारी, दाढ़ी-मूँछ बढ़ाये विद्वान् पुरुष भी धनकी अभिलाषा करते देखे गये हैं। कुछ दूसरे प्रकारके ऐसे लोग हैं, जो स्वर्ग पानेकी इच्छा रखते हैं और कुलपरम्परागत नियमोंका पालन करते हुए अपने-अपने वर्ण तथा आश्रमके धर्मोंका अनुष्ठान कर रहे हैं; किंतु वे भी धनकी इच्छा रखते हैं॥ १७-१८॥

आस्तिका नास्तिकाश्चैव नियताः संयमे परे।
अप्रज्ञानं तमोभूतं प्रज्ञानं तु प्रकाशिता॥ १९॥

दूसरे बहुत-से आस्तिक-नास्तिक संयम-नियमपरायण पुरुष हैं, जो अर्थके इच्छुक होते हैं। अर्थकी प्रधानताको न जानना तमोमय अज्ञान है। अर्थकी प्रधानताका ज्ञान प्रकाशमय है॥ १९॥

भृत्यान् भोगैर्द्विषो दण्डैर्यो योजयति सोऽर्थवान्।
एतन्मतिमतां श्रेष्ठ मतं मम यथातथम्।
अनयोस्तु निबोध त्वं वचनं वाक्यकण्ठयोः॥ २०॥

धनवान् वही है, जो अपने भृत्योंको उत्तम भोग और शत्रुओंको दण्ड देकर उनको वशमें रखता है। बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ महाराज! मुझे तो यही मत ठीक जँचता है। अब आप इन दोनोंकी बात सुनिये। इनकी वाणी कण्ठतक आ गयी है अर्थात् ये दोनों भाई बोलनेके लिये उतावले हो रहे हैं॥ २०॥

वैशम्पायन उवाच

ततो धर्मार्थकुशलौ माद्रीपुत्रावनन्तरम्।
नकुलः सहदेवश्च वाक्यं जगदतुः परम्॥ २१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—[राजन्!] तदनन्तर धर्म और अर्थके ज्ञानमें कुशल माद्रीकुमार नकुल और सहदेवने अपनी उत्तम बात इस प्रकार उपस्थित की॥ २१॥

नकुलसहदेवावूचतुः

आसीनश्च शयानश्च विचरन्नपि वा स्थितः।
अर्थयोगं दृढं कुर्याद् योगैरुच्चावचैरपि॥ २२॥

नकुल-सहदेव बोले—[महाराज!] मनुष्यको बैठते, सोते, घूमते-फिरते अथवा खड़े होते समय भी छोटे-बड़े हर तरहके उपायोंसे धनकी आयको सुदृढ़ बनाना चाहिये॥ २२॥

अस्मिंस्तु वै विनिर्वृत्ते दुर्लभे परमप्रिये।
इह कामानवाप्नोति प्रत्यक्षं नात्र संशयः॥ २३॥

धन अत्यन्त प्रिय और दुर्लभ वस्तु है। इसकी प्राप्ति अथवा सिद्धि हो जानेपर मनुष्य संसारमें अपनी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण कर सकता है, इसका सभीको प्रत्यक्ष अनुभव है—इसमें संशय नहीं है॥ २३॥

योऽर्थो धर्मेण संयुक्तो धर्मो यश्चार्थसंयुतः।
तद्धि त्वामृतसंवादं तस्मादेतौ मताविह॥ २४॥

जो धन धर्मसे युक्त हो और जो धर्म धनसे सम्पन्न हो, वह निश्चितरूपसे आपके लिये अमृतके समान होगा, यह हम दोनोंका मत है॥ २४॥

अनर्थस्य न कामोऽस्ति तथार्थोऽधर्मिणः कुतः।
तस्मादुद्विजते लोको धर्मार्थाद् यो बहिष्कृतः॥ २५॥

निर्धन मनुष्यकी कामना पूर्ण नहीं होती और धर्महीन मनुष्यको धन भी कैसे मिल सकता है। जो पुरुष धर्मयुक्त अर्थसे वंचित है, उससे सब लोग उद्विग्न रहते हैं॥ २५॥

तस्माद् धर्मप्रधानेन साध्योऽर्थः संयतात्मना।
विश्वस्तेषु हि भूतेषु कल्पते सर्वमेव हि॥ २६॥

इसलिये मनुष्य अपने मनको संयममें रखकर जीवनमें धर्मको प्रधानता देते हुए पहले धर्माचरण करके ही फिर धनका साधन करे; क्योंकि धर्मपरायण पुरुषपर ही समस्त प्राणियोंका विश्वास होता है और जब सभी प्राणी विश्वास करने लगते हैं, तब मनुष्यका सारा काम स्वतः सिद्ध हो जाता है॥ २६॥

धर्मं समाचरेत् पूर्वं ततोऽर्थं धर्मसंयुतम्।
ततः कामं चरेत् पश्चात् सिद्धार्थः स हि तत्परम्॥ २७॥

अतः सबसे पहले धर्मका आचरण करे; फिर धर्मयुक्त धनका

संग्रह करे। इसके बाद दोनोंकी अनुकूलता रखते हुए कामका सेवन करे। इस प्रकार त्रिवर्गका संग्रह करनेसे मनुष्य सफलमनोरथ हो जाता है॥ २७॥

वैशम्पायन उवाच

विरेमतुस्तु तद् वाक्यमुक्त्वा तावश्विनोः सुतौ।
भीमसेनस्तदा वाक्यमिदं वक्तुं प्रचक्रमे॥ २८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—[जनमेजय!] इतना कहकर नकुल और सहदेव चुप हो गये। तब भीमसेनने इस तरह कहना आरम्भ किया॥ २८॥

भीमसेन उवाच

नाकामः कामयत्यर्थं नाकामो धर्ममिच्छति।
नाकामः कामयानोऽस्ति तस्मात् कामो विशिष्यते॥ २९॥

भीमसेन बोले—[धर्मराज!] जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, उसे न तो धन कमानेकी इच्छा होती है और न धर्म करनेकी ही। कामनाहीन पुरुष तो काम (भोग) भी नहीं चाहता है; इसलिये त्रिवर्गमें काम ही सबसे बढ़कर है॥ २९॥

कामेन युक्ता ऋषयस्तपस्येव समाहिताः।
पलाशफलमूलादा वायुभक्षाः सुसंयताः॥ ३०॥

किसी-न-किसी कामनासे संयुक्त होकर ही ऋषिलोग तपस्यामें मन लगाते हैं। फल, मूल और पत्ते चबाकर रहते हैं। वायु पीकर मन और इन्द्रियोंका संयम करते हैं॥ ३०॥

वेदोपवेदेष्वपरे युक्ताः स्वाध्यायपारगाः।
श्राद्धयज्ञक्रियायां च तथा दानप्रतिग्रहे॥ ३१॥

कामनासे ही लोग वेद और उपवेदोंका स्वाध्याय करते तथा उसमें पारंगत विद्वान् हो जाते हैं। कामनासे ही श्राद्धकर्म, यज्ञकर्म,

दान और प्रतिग्रहमें लोगोंकी प्रवृत्ति होती है॥ ३१॥

वणिजः कर्षका गोपाः कारवः शिल्पिनस्तथा।
देवकर्मकृतश्चैव युक्ताः कामेन कर्मसु॥ ३२॥

व्यापारी, किसान, ग्वाले, कारीगर और शिल्पी तथा देव-सम्बन्धी कार्य करनेवाले लोग भी कामनासे ही अपने-अपने कर्मोंमें लगे रहते हैं॥ ३२॥

समुद्रं वा विशन्त्यन्ये नराः कामेन संयुताः।
कामो हि विविधाकारः सर्वं कामेन सन्ततम्॥ ३३॥

कामनासे युक्त हुए दूसरे मनुष्य समुद्रमें भी घुस जाते हैं। कामनाके विविध रूप हैं तथा सारा कार्य ही कामनासे व्याप्त है॥ ३३॥

नास्ति नासीन्नाभविष्यद् भूतं कामात्मकात् परम्।
एतत् सारं महाराज धर्मार्थावत्र संस्थितौ॥ ३४॥

महाराज! सभी प्राणी कामना रखते हैं। उससे भिन्न कामनारहित प्राणी न कहीं है, न कभी था और न भविष्यमें होगा ही; अतः यह काम ही त्रिवर्गका सार है। धर्म और अर्थ भी इसीमें स्थित हैं॥ ३४॥

नवनीतं यथा दध्नस्तथा कामोऽर्थधर्मतः।
श्रेयस्तैलं हि पिण्याकाद् घृतं श्रेय उदश्वितः।
श्रेयः पुष्पफलं काष्ठात् कामो धर्मार्थयोर्वरः॥ ३५॥

जैसे दहीका सार माखन है, उसी प्रकार धर्म और अर्थका सार काम है। जैसे खलीसे श्रेष्ठ तेल है, तक्रसे श्रेष्ठ घी है और वृक्षके काष्ठसे श्रेष्ठ उसका फूल और फल है, उसी प्रकार धर्म और अर्थ दोनोंसे श्रेष्ठ काम है॥ ३५॥

पुष्पतो मध्विव रसः काम आभ्यां तथा स्मृतः।
कामो धर्मार्थयोर्योनिः कामश्चाथ तदात्मकः॥ ३६॥

जैसे फूलसे उसका मधु-तुल्य रस श्रेष्ठ है, उसी प्रकार धर्म

और अर्थसे काम श्रेष्ठ माना गया है। काम धर्म और अर्थका कारण है, अतः वह धर्म और अर्थरूप है॥ ३६॥

नाकामतो ब्राह्मणाः स्वन्नमर्था-
न्नाकामतो ददति ब्राह्मणेभ्यः।
नाकामतो विविधा लोकचेष्टा
तस्मात् कामः प्राक् त्रिवर्गस्य दृष्टः॥ ३७॥

बिना किसी कामनाके ब्राह्मण अच्छे अन्नका भी भोजन नहीं करते और बिना कामनाके कोई ब्राह्मणोंको धनका दान नहीं करते हैं। जगत्के प्राणियोंकी जो नाना प्रकारकी चेष्टा होती है, वह बिना कामनाके नहीं होती; अतः त्रिवर्गमें कामका ही प्रथम एवं प्रधान स्थान देखा गया है॥ ३७॥

सुचारुवेषाभिरलंकृताभि-
र्मदोत्कटाभिः प्रियदर्शनाभिः।
रमस्व योषाभिरुपेत्य कामं
कामो हि राजन् परमो भवेन्नः॥ ३८॥

अतः राजन्! आप कामका अवलम्बन करके सुन्दर वेषवाली, आभूषणोंसे विभूषित तथा देखनेमें मनोहर एवं मदमत्त युवतियोंके साथ विहार कीजिये। हमलोगोंको इस जगत्में कामको ही श्रेष्ठ मानना चाहिये॥ ३८॥

बुद्धिर्ममैषा परिखास्थितस्य
मा भूद् विचारस्तव धर्मपुत्र।
स्यात् संहितं सद्भिरफल्गुसारं
ममेति वाक्यं परमानृशंसम्॥ ३९॥

धर्मपुत्र! मैंने गहराईमें पैठकर ऐसा निश्चय किया है। मेरे इस कथनमें आपको कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये। मेरा यह

वचन उत्तम, कोमल, श्रेष्ठ, तुच्छतारहित एवं सारभूत है; अतः श्रेष्ठ पुरुष भी इसे स्वीकार कर सकते हैं॥ ३९॥

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या
यो ह्येकभक्तः स नरो जघन्यः।
तयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं
स उत्तमो योऽभिरतस्त्रिवर्गे॥ ४०॥

मेरे विचारसे धर्म, अर्थ और काम तीनोंका एक साथ ही सेवन करना चाहिये। जो इनमेंसे एकका ही भक्त है, वह मनुष्य अधम है, जो दोके सेवनमें निपुण है, उसे मध्यम श्रेणीका बताया गया है और जो त्रिवर्गमें समानरूपसे अनुरक्त है, वह मनुष्य उत्तम है॥ ४०॥

प्राज्ञः सुहृच्चन्दनसारलिप्तो
विचित्रमाल्याभरणैरुपेतः ।
ततो वचः संग्रहविस्तरेण
प्रोक्त्वाथ वीरान् विरराम भीमः॥ ४१॥

बुद्धिमान्, सुहृद्, चन्दनसारसे चर्चित तथा विचित्र मालाओं और आभूषणोंसे विभूषित भीमसेन उन वीरबन्धुओंसे संक्षेप और विस्तारपूर्वक पूर्वोक्त वचन कहकर चुप हो गये॥ ४१॥

ततो मुहूर्तादथ धर्मराजो
वाक्यानि तेषामनुचिन्त्य सम्यक्।
उवाच वाचावितथं स्मयन् वै
लब्धश्रुतां धर्मभृतां वरिष्ठः॥ ४२॥

जिन्होंने महात्माओंके मुखसे धर्मका उपदेश सुना है, उन धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरने दो घड़ीतक पूर्व वक्ताओंके वचनोंपर भलीभाँति विचार करके मुसकराते हुए यह यथार्थ बात कही॥ ४२॥

युधिष्ठिर उवाच

निःसंशयं निश्चितधर्मशास्त्राः
सर्वे भवन्तो विदितप्रमाणाः।
विज्ञातुकामस्य ममेह वाक्य-
मुक्तं यद्वै नैष्ठिकं तच्छ्रुतं मे।
इदं त्ववश्यं गदतो ममापि
वाक्यं निबोधध्वमनन्यभावाः॥ ४३॥

युधिष्ठिर बोले—[बन्धुओ!] इसमें संदेह नहीं कि आपलोग धर्मशास्त्रोंके सिद्धान्तोंपर विचार करके एक निश्चयपर पहुँच चुके हैं। आपलोगोंको प्रमाणोंका भी ज्ञान प्राप्त है। मैं सबके विचार जानना चाहता था, इसलिये मेरे सामने यहाँ आपलोगोंने जो अपना-अपना निश्चित सिद्धान्त बताया है, वह सब मैंने ध्यानसे सुना है। अब आप, मैं जो कुछ कह रहा हूँ, मेरी उस बातको भी अनन्यचित्त होकर अवश्य सुनिये॥ ४३॥

यो वै न पापे निरतो न पुण्ये
नार्थे न धर्मे मनुजो न कामे।
विमुक्तदोषः समलोष्टकाञ्चनो
विमुच्यते दुःखसुखार्थसिद्धेः॥ ४४॥

जो न पापमें लगा हो और न पुण्यमें, न तो अर्थोपार्जनमें तत्पर हो न धर्ममें, न काममें ही। वह सब प्रकारके दोषोंसे रहित मनुष्य दुःख और सुखको देनेवाली सिद्धियोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है, उस समय मिट्टीके ढेले और सोनेमें उसका समान भाव हो जाता है॥ ४४॥

भूतानि जातिस्मरणात्मकानि
जराविकारैश्च समन्वितानि।
भूयश्च तैस्तैः प्रतिबोधितानि
मोक्षं प्रशंसन्ति न तं च विद्मः॥ ४५॥

जो पूर्वजन्मकी बातोंको स्मरण करनेवाले तथा वृद्धावस्थाके

विकारसे युक्त हैं, वे मनुष्य नाना प्रकारके सांसारिक दुःखोंके उपभोगसे निरन्तर पीड़ित हो मुक्तिकी ही प्रशंसा करते हैं, परंतु हमलोग उस मोक्षके विषयमें जानते ही नहीं हैं॥ ४५॥

स्नेहेन युक्तस्य न चास्ति मुक्ति-
रिति स्वयम्भूर्भगवानुवाच।
बुधाश्च निर्वाणपरा भवन्ति
तस्मान्न कुर्यात् प्रियमप्रियं च॥ ४६॥

स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माजीका कथन है कि जिसके मनमें आसक्ति है, उसकी कभी मुक्ति नहीं होती। आसक्तिशून्य ज्ञानी मनुष्य ही मोक्षको प्राप्त होते हैं; अतः मुमुक्षु पुरुषको चाहिये कि वह किसीका प्रिय अथवा अप्रिय न करे॥ ४६॥

एतत् प्रधानं च न कामकारो
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।
भूतानि सर्वाणि विधिर्नियुङ्क्ते
विधिर्बलीयानिति वित्त सर्वे॥ ४७॥

इस प्रकार विचार करना ही मोक्षका प्रधान उपाय है, स्वेच्छाचार नहीं। विधाताने मुझे जिस कार्यमें लगा दिया है, मैं उसे ही करता हूँ। विधाता सभी प्राणियोंको विभिन्न कार्योंके लिये प्रेरित करता है। अतः आप सब लोगोंको ज्ञात होना चाहिये कि विधाता ही प्रबल है॥ ४७॥

न कर्मणाप्नोत्यनवाप्यमर्थं
यद्भावि तद्वै भवतीति वित्त।
त्रिवर्गहीनोऽपि हि विन्दतेऽर्थं
तस्मादहो लोकहिताय गुह्यम्॥ ४८॥

मनुष्य कर्मद्वारा अप्राप्य अर्थ नहीं पा सकता। जो होनहार है,

वही होती है; इस बातको तुम सब लोग जान लो। मनुष्य त्रिवर्गसे रहित होनेपर भी आवश्यक पदार्थको प्राप्त कर लेता है; अतः मोक्षप्राप्तिका गूढ़ उपाय (ज्ञान) ही जगत्का वास्तविक कल्याण करनेवाला है॥ ४८॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तदग्र्यं वचनं मनोनुगं
समस्तमाज्ञाय ततो हि हेतुमत्।
तदा प्रणेदुश्च जहर्षिरे च ते
कुरुप्रवीराय च चक्रिरेऽञ्जलिम्॥ ४९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—[जनमेजय!] राजा युधिष्ठिरकी कही हुई बात बड़ी उत्तम, युक्तियुक्त और मनमें बैठनेवाली हुई। उसे पूर्णरूपसे समझकर वे सब भाई बड़े प्रसन्न हो हर्षनाद करने लगे। उन सबने कुरुकुलके प्रमुख वीर युधिष्ठिरको अंजलि बाँधकर प्रणाम किया॥ ४९॥

सुचारुवर्णाक्षरचारुभूषितां
मनोनुगां निर्धुतवाक्यकण्टकाम्।
निशम्य तां पार्थिव पार्थभाषितां
गिरं नरेन्द्राः प्रशशंसुरेव ते॥ ५०॥

जनमेजय! युधिष्ठिरकी उस वाणीमें किसी प्रकारका दोष नहीं था। वह अत्यन्त सुन्दर स्वर और व्यंजनके संनिवेशसे विभूषित तथा मनके अनुरूप थी, उसे सुनकर समस्त राजाओंने युधिष्ठिरकी भूरि-भूरि प्रशंसा की॥ ५०॥

॥ इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि आपद्धर्मपर्वणि षड्जगीता सम्पूर्णा॥

पिंगलागीता

[पिंगलागीता महाभारतके शान्तिपर्वके अन्तर्गत पितामह भीष्म एवं धर्मराज युधिष्ठिरके संवादरूपमें प्राप्त होती है। उसमें धन-सम्पत्तिके नष्ट होने अथवा किसी प्रियजनकी मृत्यु होनेपर उत्पन्न शोकके निवारणका उपाय एक प्राचीन आख्यानके माध्यमसे बताया गया है। आख्यानमें शोकाकुल राजा सेनजित्‌को एक हितैषी ब्राह्मणने युक्तियोंके माध्यमसे बहुत मार्मिक तथा प्रभावी उपदेश दिये हैं। इसी क्रममें पिंगला नामक एक गणिकाका भी वर्णन आया है, जो निराशाके कारण विरक्त होकर परमसुखको प्राप्त हो गयी थी। इसी प्रसंगके कारण इसे 'पिंगलागीता' कहा जाता है। यह गीता यहाँ सानुवाद प्रस्तुत की जा रही है—]

युधिष्ठिर उवाच

धर्माः पितामहेनोक्ता राजधर्माश्रिताः शुभाः।
धर्ममाश्रमिणां श्रेष्ठं वक्तुमर्हसि पार्थिव॥ १॥

राजा युधिष्ठिरने कहा—[हे पितामह!] आपने राजधर्मसम्बन्धी श्रेष्ठ धर्मोंका उपदेश दिया। हे पृथ्वीनाथ! अब आप आश्रमियोंके उत्तम धर्मका वर्णन कीजिये॥ १॥

भीष्म उवाच

सर्वत्र विहितो धर्मः स्वर्ग्यः सत्यफलं तपः।
बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया॥ २॥

भीष्मजी बोले—[युधिष्ठिर!] वेदोंमें सर्वत्र सभी आश्रमोंके लिये स्वर्गसाधक यथार्थ फलकी प्राप्ति करानेवाली तपस्याका उल्लेख है। धर्मके बहुत-से द्वार हैं। संसारमें कोई ऐसी क्रिया नहीं है, जिसका कोई फल न हो॥ २॥

यस्मिन् यस्मिंस्तु विषये यो यो याति विनिश्चयम्।
स तमेवाभिजानाति नान्यं भरतसत्तम॥ ३॥

भरतश्रेष्ठ! जो-जो पुरुष जिस-जिस विषयोंमें पूर्ण निश्चयको

पहुँच जाता है (जिसके द्वारा उसे अभीष्ट सिद्धिका विश्वास हो जाता है), उसीको वह कर्तव्य समझता है। दूसरे विषयको नहीं॥ ३॥

यथा यथा च पर्येति लोकतन्त्रमसारवत्।
तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशयः॥ ४॥

मनुष्य जैसे-जैसे संसारके पदार्थोंको सारहीन समझता है, वैसे-ही-वैसे इनमें उसका वैराग्य होता जाता है, इसमें संशय नहीं है॥ ४॥

एवं व्यवसिते लोके बहुदोषे युधिष्ठिर।
आत्ममोक्षनिमित्तं वै यतेत मतिमान् नरः॥ ५॥

युधिष्ठिर! इस प्रकार यह जगत् अनेक दोषोंसे परिपूर्ण है, ऐसा निश्चय करके बुद्धिमान् पुरुष अपने मोक्षके लिये प्रयत्न करे॥ ५॥

युधिष्ठिर उवाच

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते।
यया बुद्ध्या नुदेच्छोकं तन्मे ब्रूहि पितामह॥ ६॥

युधिष्ठिरने पूछा—दादाजी! धनके नष्ट हो जानेपर अथवा स्त्री, पुत्र या पिताके मर जानेपर किस बुद्धिसे मनुष्य अपने शोकका निवारण करे? यह मुझे बताइये॥ ६॥

भीष्म उवाच

नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते।
अहो दुःखमिति ध्यायञ्शोकस्यापचितिं चरेत्॥ ७॥

भीष्मजीने कहा—[वत्स!] जब धन नष्ट हो जाय अथवा स्त्री, पुत्र या पिताकी मृत्यु हो जाय, तब 'ओह! संसार कैसा दुःखमय है' यह सोचकर मनुष्य शोकको दूर करनेवाले शम-दम आदि साधनोंका अनुष्ठान करे॥ ७॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
यथा सेनजितं विप्रः कश्चिदेत्याब्रवीत् सुहृत्॥ ८॥

इस विषयमें किसी हितैषी ब्राह्मणने राजा सेनजित्के पास आकर

उन्हें जैसा उपदेश दिया था, उसी प्राचीन इतिहासको विज्ञ पुरुष दृष्टान्तके रूपमें प्रस्तुत किया करते हैं॥ ८॥

पुत्रशोकाभिसन्तप्तं राजानं शोकविह्वलम्।
विषण्णमनसं दृष्ट्वा विप्रो वचनमब्रवीत्॥ ९॥

राजा सेनजित्के पुत्रकी मृत्यु हो गयी थी। वे उसीके शोककी आगसे जल रहे थे। उनका मन विषादमें डूबा हुआ था। उन शोकविह्वल नरेशको देखकर ब्राह्मणने इस प्रकार कहा— ॥ ९॥

किं नु मुह्यसि मूढस्त्वं शोच्यः किमनुशोचसि।
यदा त्वामपि शोचन्तः शोच्या यास्यन्ति तां गतिम्॥ १०॥

[राजन्!] तुम मूढ़ मनुष्यकी भाँति क्यों मोहित हो रहे हो? शोकके योग्य तो तुम स्वयं ही हो, फिर दूसरोंके लिये क्यों शोक करते हो? अजी! एक दिन ऐसा आयेगा, जब कि दूसरे शोचनीय मनुष्य तुम्हारे लिये भी शोक करते हुए उसी गतिको प्राप्त होंगे॥ १०॥

त्वं चैवाहं च ये चान्ये त्वामुपासन्ति पार्थिव।
सर्वे तत्र गमिष्यामो यत एवागता वयम्॥ ११॥

'पृथ्वीनाथ! तुम, मैं और ये दूसरे लोग जो इस समय तुम्हारे पास बैठे हैं, सब वहीं जायँगे, जहाँसे हम आये हैं'॥ ११॥

सेनजिदुवाच

का बुद्धिः किं तपो विप्र कः समाधिस्तपोधन।
किं ज्ञानं किं श्रुतं चैव यत् प्राप्य न विषीदसि॥ १२॥

सेनजित्ने पूछा—तपस्याके धनी ब्राह्मणदेव! आपके पास ऐसी कौन-सी बुद्धि, कौन-सा तप, कौन-सी समाधि, कैसा ज्ञान और कौन-सा शास्त्र है, जिसे पाकर आपको किसी प्रकारका विषाद नहीं है॥ १२॥

(हृष्यन्तमवसीदन्तं सुखदुःखविपर्यये।
आत्मानमनुशोचामि ममैष हृदि संस्थितः॥)

सुख और दुःखका चक्र घूमता रहता है। मैं सुखमें हर्षसे फूल

उठता हूँ और दुःखमें खिन्न हो जाता हूँ। ऐसी अवस्थामें पड़े हुए अपने आपके लिये मुझे निरन्तर शोक होता है। यह शोक मेरे हृदयमें डेरा डाले बैठा है।

ब्राह्मण उवाच

पश्य भूतानि दुःखेन व्यतिषिक्तानि सर्वशः।
उत्तमाधममध्यानि तेषु तेष्विह कर्मसु॥ १३॥

ब्राह्मणने कहा—[राजन्!] देखो, इस संसारमें उत्तम, मध्यम और अधम सभी प्राणी भिन्न-भिन्न कर्मोंमें आसक्त हो दुःखसे ग्रस्त हो रहे हैं॥ १३॥

(अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित्।
न तं पश्यामि यस्याहं तं न पश्यामि यो मम॥)

मैं तो अकेला हूँ। न तो दूसरा कोई मेरा है और न मैं किसी दूसरेका हूँ। मैं उस पुरुषको नहीं देखता, जिसका मैं होऊँ तथा उसको भी नहीं देखता, जो मेरा हो (न मुझपर किसीकी ममता है, न मेरा ही किसीपर ममत्व है)।

आत्मापि चायं न मम सर्वा वा पृथिवी मम।
यथा मम तथान्येषामिति चिन्त्य न मे व्यथा।
एतां बुद्धिमहं प्राप्य न प्रहृष्ये न च व्यथे॥ १४॥

यह शरीर भी मेरा नहीं अथवा सारी पृथ्वी भी मेरी नहीं है। ये सब वस्तुएँ जैसे मेरी हैं, वैसे ही दूसरोंकी भी हैं। ऐसा सोचकर इनके लिये मेरे मनमें कोई व्यथा नहीं होती। इस बुद्धिको पाकर न मुझे हर्ष होता है, न शोक॥ १४॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः॥ १५॥

जिस प्रकार समुद्रमें बहते हुए दो काष्ठ कभी-कभी एक-दूसरेसे

मिल जाते हैं और मिलकर फिर अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार इस लोकमें प्राणियोंका समागम होता है॥ १५॥

एवं पुत्राश्च पौत्राश्च ज्ञातयो बान्धवास्तथा।
तेषां स्नेहो न कर्तव्यो विप्रयोगो ध्रुवो हि तैः॥ १६॥

इसी तरह पुत्र, पौत्र, जाति-बान्धव और सम्बन्धी भी मिल जाते हैं। उनके प्रति कभी आसक्ति नहीं बढ़ानी चाहिये; क्योंकि एक दिन उनसे बिछोह होना निश्चित है॥ १६॥

अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः।
न त्वासौ वेद न त्वं तं कः सन् किमनुशोचसि॥ १७॥

तुम्हारा पुत्र किसी अज्ञात स्थितिसे आया था और अब अज्ञात स्थितिमें ही चला गया है। न तो वह तुम्हें जानता था और न तुम उसे जानते थे; फिर तुम उसके कौन होकर किसलिये शोक करते हो?॥ १७॥

तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम्।
सुखात् सञ्जायते दुःखं दुःखमेवं पुनः पुनः॥ १८॥

संसारमें विषयोंकी तृष्णासे जो व्याकुलता होती है, उसीका नाम दुःख है और उस दुःखका विनाश ही सुख है। उस सुखके बाद (पुनः कामनाजनित) दुःख होता है। इस प्रकार बारम्बार दुःख ही होता रहता है॥ १८॥

सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
सुखदुःखे मनुष्याणां चक्रवत् परिवर्ततः॥ १९॥

सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आता है। मनुष्योंके सुख और दुःख चक्रकी भाँति घूमते रहते हैं॥ १९॥

सुखात् त्वं दुःखमापन्नः पुनरापत्स्यसे सुखम्।
न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम्॥ २०॥

इस समय तुम सुखसे दुःखमें आ पड़े हो। अब फिर तुम्हें सुखकी

प्राप्ति होगी। यहाँ किसी भी प्राणीको न तो सदा सुख ही प्राप्त होता है और न सदा दुःख ही॥ २०॥

शरीरमेवायतनं सुखस्य
दुःखस्य चाप्यायतनं शरीरम्।
यद्यच्छरीरेण करोति कर्म
तेनैव देही समुपाश्नुते तत्॥ २१॥

यह शरीर ही सुखका आधार है और यही दुःखका भी आधार है। देहाभिमानी पुरुष शरीरसे जो-जो कर्म करता है, उसीके अनुसार वह सुख एवं दुःखरूप फल भोगता है॥ २१॥

जीवितं च शरीरेण जात्यैव सह जायते।
उभे सह विवर्तेते उभे सह विनश्यतः॥ २२॥

यह जीवन स्वभावतः शरीरके साथ ही उत्पन्न होता है। दोनों साथ-साथ विविध रूपोंमें रहते हैं और साथ-ही-साथ नष्ट हो जाते हैं॥ २२॥

स्नेहपाशैर्बहुविधैराविष्टविषया जनाः।
अकृतार्थाश्च सीदन्ते जलैः सैकतसेतवः॥ २३॥

मनुष्य नाना प्रकारके स्नेह-बन्धनोंमें बँधे हुए हैं, अतः वे सदा विषयोंकी आसक्तिसे घिरे रहते हैं; इसीलिये जैसे बालूद्वारा बनाये हुए पुल जलके वेगसे बह जाते हैं, उसी प्रकार उन मनुष्योंकी विषयकामना सफल नहीं होती; जिससे वे दुःख पाते रहते हैं॥ २३॥

स्नेहेन तिलवत् सर्वं सर्गचक्रे निपीड्यते।
तिलपीडैरिवाक्रम्य क्लेशैरज्ञानसम्भवैः॥ २४॥

तेलीलोग तेलके लिये जैसे तिलोंको कोल्हूमें पेरते हैं, उसी प्रकार स्नेहके कारण सब लोग अज्ञानजनित क्लेशोंद्वारा सृष्टिचक्रमें पिस रहे हैं॥ २४॥

सञ्चिनोत्यशुभं कर्म कलत्रापेक्षया नरः।
एकः क्लेशानवाप्नोति परत्रेह च मानवः॥ २५॥

मनुष्य स्त्री-पुत्र आदि कुटुम्बके लिये चोरी आदि पापकर्मोंका संग्रह करता है; किंतु इस लोक और परलोकमें उसे अकेले ही उन समस्त कर्मोंका क्लेशमय फल भोगना पड़ता है॥ २५॥

पुत्रदारकुटुम्बेषु प्रसक्ताः सर्वमानवाः।
शोकपङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव॥ २६॥

स्त्री, पुत्र और कुटुम्बमें आसक्त हुए सभी मनुष्य उसी प्रकार शोकके समुद्रमें डूब जाते हैं, जैसे बूढ़े जंगली हाथी दलदलमें फँसकर नष्ट हो जाते हैं॥ २६॥

पुत्रनाशे वित्तनाशे ज्ञातिसम्बन्धिनामपि।
प्राप्यते सुमहद् दुःखं दावाग्निप्रतिमं विभो।
दैवायत्तमिदं सर्वं सुखदुःखे भवाभवौ॥ २७॥

प्रभो! यहाँ सब लोगोंको पुत्र, धन, कुटुम्बी तथा सम्बन्धियोंका नाश होनेपर दावानलके समान दाह उत्पन्न करनेवाला महान् दुःख प्राप्त होता है; परंतु सुख-दुःख और जन्म-मृत्यु आदि यह सब कुछ प्रारब्धके ही अधीन है॥ २७॥

असुहृत् ससुहृच्चापि सशत्रुर्मित्रवानपि।
सप्रज्ञः प्रज्ञया हीनो दैवेन लभते सुखम्॥ २८॥

मनुष्य हितैषी सुहृदोंसे युक्त हो या न हो, वह शत्रुके साथ हो या मित्रके, बुद्धिमान् हो या बुद्धिहीन, दैवकी अनुकूलता होनेपर ही सुख पाता है॥ २८॥

नालं सुखाय सुहृदो नालं दुःखाय शत्रवः।
न च प्रज्ञालमर्थानां न सुखानामलं धनम्॥ २९॥

अन्यथा न तो सुहृद् सुख देनेमें समर्थ हैं, न शत्रु दुःख देनेमें समर्थ हैं, न तो बुद्धि धन देनेकी शक्ति रखती है और न धन ही

सुख देनेमें समर्थ होता है॥ २९॥

न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये।
लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः॥ ३०॥

न तो बुद्धि धनकी प्राप्तिमें कारण है, न मूर्खता निर्धनतामें, वास्तवमें संसारचक्रकी गतिका वृत्तान्त कोई ज्ञानी पुरुष ही जान पाता है, दूसरा नहीं॥ ३०॥

बुद्धिमन्तं च शूरं च मूढं भीरुं जडं कविम्।
दुर्बलं बलवन्तं च भागिनं भजते सुखम्॥ ३१॥

बुद्धिमान्, शूरवीर, मूढ़, डरपोक, गूँगा, विद्वान्, दुर्बल और बलवान् जो भी भाग्यवान् होगा—दैव जिसके अनुकूल होगा, उसे बिना यत्नके ही सुख प्राप्त होगा॥ ३१॥

धेनुर्वत्सस्य गोपस्य स्वामिनस्तस्करस्य च।
पयः पिबति यस्तस्या धेनुस्तस्येति निश्चयः॥ ३२॥

दूध देनेवाली गौ बछड़ेकी है या उसे दुहने अथवा चरानेवाले ग्वालेकी है या रखनेवाले मालिककी है अथवा उसे चुराकर ले जानेवाले चोरकी है? वास्तवमें जो उसका दूध पीता है, उसीकी वह गाय है; ऐसा विद्वानोंका निश्चय है॥ ३२॥

ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः।
ते नराः सुखमेधन्ते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥ ३३॥

इस संसारमें जो अत्यन्त मूढ़ हैं और जो बुद्धिसे परे पहुँच गये हैं, वे ही मनुष्य सुखी हैं। बीचके सभी लोग कष्ट भोगते हैं॥ ३३॥

अन्त्येषु रेमिरे धीरा न ते मध्येषु रेमिरे।
अन्त्यप्राप्तिं सुखामाहुर्दुःखमन्तरमन्त्ययोः॥ ३४॥

ज्ञानी पुरुष अन्तिम स्थितियोंमें रमण करते हैं, मध्यवर्ती स्थितिमें नहीं। अन्तिम स्थितिकी प्राप्ति सुखस्वरूप बतायी जाती है और उन

दोनोंके मध्यकी स्थिति दुःखरूप कही गयी है॥ ३४॥

(सुखं स्वपिति दुर्मेधाः स्वानि कर्माण्यचिन्तयन्।
अविज्ञानेन महता कम्बलेनेव संवृतः॥)

खोटी बुद्धिवाला मूर्ख मनुष्य अपने कर्मोंके शुभाशुभ परिणामकी कोई परवा न करके सुखसे सोता है; क्योंकि वह कम्बलसे ढके हुए पुरुषकी भाँति महान् अज्ञानसे आवृत रहता है।

ये च बुद्धिसुखं प्राप्ता द्वन्द्वातीता विमत्सराः।
तान् नैवार्था न चानर्था व्यथयन्ति कदाचन॥ ३५॥

किंतु जिन्हें ज्ञानजनित सुख प्राप्त है, जो द्वन्द्वोंसे अतीत हैं तथा जिनमें मत्सरताका भी अभाव है, उन्हें अर्थ और अनर्थ कभी पीड़ा नहीं देते हैं॥ ३५॥

अथ ये बुद्धिमप्राप्ता व्यतिक्रान्ताश्च मूढताम्।
तेऽतिवेलं प्रहृष्यन्ति सन्तापमुपयान्ति च॥ ३६॥

जो मूढ़ताको तो लाँघ चुके हैं, परंतु जिनको ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, वे सुखकी परिस्थिति आनेपर अत्यन्त हर्षसे फूल उठते हैं और दुःखकी परिस्थितिमें अतिशय सन्तापका अनुभव करने लगते हैं॥ ३६॥

नित्यं प्रमुदिता मूढा दिवि देवगणा इव।
अवलेपेन महता परिभूत्या विचेतसः॥ ३७॥

मूर्ख मनुष्य स्वर्गमें देवताओंकी भाँति सदा विषयसुखमें मग्न रहते हैं; क्योंकि उनका चित्त विषयासक्तिके कीचड़में लथपथ होकर मोहित हो जाता है॥ ३७॥

सुखं दुःखान्तमालस्यं दुःखं दाक्ष्यं सुखोदयम्।
भूतिस्त्वेवं श्रिया सार्धं दक्षे वसति नालसे॥ ३८॥

आरम्भमें आलस्य सुख-सा जान पड़ता है, परंतु वह अन्तमें

दुःखदायी होता है और कार्यकौशल दुःख-सा लगता है, परंतु वह सुखका उत्पादक है। कार्यकुशल पुरुषमें ही लक्ष्मीसहित ऐश्वर्य निवास करता है, आलसीमें नहीं॥ ३८॥

सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाप्रियम्।
प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः॥ ३९॥

अतः बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि सुख या दुःख, प्रिय अथवा अप्रिय, जो-जो प्राप्त हो जाय, उसका हृदयसे स्वागत करे, कभी हिम्मत न हारे॥ ३९॥

शोकस्थानसहस्त्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥ ४०॥

शोकके हजारों स्थान हैं और भयके सैकड़ों स्थान हैं; किंतु वे प्रतिदिन मूर्खोंपर ही प्रभाव डालते हैं, विद्वानोंपर नहीं॥ ४०॥

बुद्धिमन्तं कृतप्रज्ञं शुश्रूषुमनसूयकम्।
दान्तं जितेन्द्रियं चापि शोको न स्पृशते नरम्॥ ४१॥

जो बुद्धिमान्, ऊहापोहमें कुशल एवं शिक्षित बुद्धिवाला, अध्यात्मशास्त्रके श्रवणकी इच्छा रखनेवाला, किसीके दोष न देखनेवाला, मनको वशमें रखनेवाला और जितेन्द्रिय है, उस मनुष्यको शोक कभी छू भी नहीं सकता॥ ४१॥

एतां बुद्धिं समास्थाय गुप्तचित्तश्चरेद् बुधः।
उदयास्तमयज्ञं हि न शोकः स्प्रष्टुमर्हति॥ ४२॥

विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह इसी विचारका आश्रय लेकर मनको काम, क्रोध आदि शत्रुओंसे सुरक्षित रखते हुए उत्तम बर्ताव करे। जो उत्पत्ति और विनाशके तत्त्वको जानता है, उसे शोक छू नहीं सकता॥ ४२॥

यन्निमित्तं भवेच्छोकस्तापो वा दुःखमेव च।
आयासो वा यतो मूलमेकाङ्गमपि तत् त्यजेत्॥ ४३॥

जिसके कारण शोक, ताप अथवा दुःख हो या जिसके कारण

अधिक श्रम उठाना पड़े, वह दुःखका मूल कारण अपने शरीरका एक अंग भी हो तो उसे त्याग देना चाहिये॥ ४३॥

किञ्चिदेव ममत्वेन यदा भवति कल्पितम्।
तदेव परितापार्थं सर्वं सम्पद्यते तथा॥ ४४॥

मनुष्य जब किसी भी पदार्थमें ममत्व कर लेता है, तब वे ही सब उसके वैसे दुःखके कारण बन जाते हैं॥ ४४॥

यद् यत् यजति कामानां तत् सुखस्याभिपूर्यते।
कामानुसारी पुरुषः कामाननुविनश्यति॥ ४५॥

वह कामनाओंमेंसे जिस-जिसका परित्याग कर देता है, वही उसके सुखकी पूर्ति करनेवाली हो जाती है। जो पुरुष कामनाओंका अनुसरण करता है, वह उन्हींके पीछे नष्ट हो जाता है॥ ४५॥

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥ ४६॥

संसारमें जो कुछ इस लोकके भोगोंका सुख है और जो स्वर्गका महान् सुख है, वे दोनों तृष्णाक्षयसे होनेवाले सुखकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हैं॥ ४६॥

पूर्वदेहकृतं कर्म शुभं वा यदि वाशुभम्।
प्राज्ञं मूढं तथा शूरं भजते यादृशं कृतम्॥ ४७॥

मनुष्य बुद्धिमान् हो, मूर्ख हो अथवा शूरवीर हो, उसने पूर्वजन्ममें जैसा शुभ या अशुभ कर्म किया है, उसका वैसा ही फल उसे भोगना पड़ता है॥ ४७॥

एवमेव किलैतानि प्रियाण्येवाप्रियाणि च।
जीवेषु परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च॥ ४८॥

इस प्रकार जीवोंको प्रिय-अप्रिय और सुख-दुःखकी प्राप्ति बार-बार क्रमसे होती ही रहती है, इसमें सन्देह नहीं है॥ ४८॥

एतां बुद्धिं समास्थाय सुखमास्ते गुणान्वितः।
सर्वान् कामान् जुगुप्सेत कामान् कुर्वीत पृष्ठतः॥ ४९॥

ऐसी बुद्धिका आश्रय लेकर कामनाओंके त्यागरूपी गुणसे युक्त हुआ मनुष्य सुखसे रहता है; इसलिये सब प्रकारके भोगोंसे विरक्त होकर उन्हें पीठ-पीछे कर दे अर्थात् उनसे विमुख हो जाय ॥ ४९॥

वृत्त एष हृदि प्रौढो मृत्युरेष मनोभवः।
क्रोधो नाम शरीरस्थो देहिनां प्रोच्यते बुधैः॥ ५०॥

हृदयसे उत्पन्न होनेवाला यह काम हृदयमें ही पुष्ट होता है, फिर यही मृत्युका रूप धारण कर लेता है; क्योंकि (जब इसकी सिद्धिमें कोई बाधा आती है, तब)विद्वानोंद्वारा यही प्राणियोंके शरीरके भीतर क्रोधके नामसे पुकारा जाता है॥ ५०॥

यदा संहरते कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
तदात्मज्योतिरात्मायमात्मन्येव प्रपश्यति॥ ५१॥

कछुआ जैसे अपने अंगोंको सब ओरसे समेट लेता है, उसी प्रकार यह जीव जब अपनी सब कामनाओंका संकोच कर देता है, तब यह अपने विशुद्ध अन्तःकरणमें ही स्वयं प्रकाशस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है॥ ५१॥

न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान्न बिभ्यति।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ५२॥

जब यह किसीसे भय नहीं मानता और इससे भी किसीको भय नहीं होता तथा जब यह किसी वस्तुको न तो चाहता है और न उससे द्वेष ही करता है, तब परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है॥ ५२॥

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा शोकानन्दौ भयाभये।
प्रियाप्रिये परित्यज्य प्रशान्तात्मा भविष्यति॥ ५३॥

जब यह साधक सत्य और असत्य अर्थात् जगत्के व्यक्त और

अव्यक्त पदार्थोंका, शोक और हर्षका, भय और अभयका तथा प्रिय और अप्रिय आदि समस्त द्वन्द्वोंका परित्याग कर देता है, तब उसका चित्त शान्त हो जाता है॥ ५३॥

यदा न कुरुते धीरः सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ५४॥

जब धैर्यसम्पन्न ज्ञानवान् पुरुष किसी भी प्राणीके प्रति मन, वाणी और क्रियाद्वारा पापपूर्ण बर्ताव नहीं करता, तब परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है॥ ५४॥

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः।
योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥ ५५॥

खोटी बुद्धिवाले मनुष्योंके लिये जिसका त्याग करना कठिन है, जो मनुष्यके जीर्ण (वृद्ध) हो जानेपर भी स्वयं कभी जीर्ण नहीं होती तथा जो प्राणोंके साथ जानेवाला रोग बनकर रहती है, उस तृष्णाको जो त्याग देता है, उसीको सुख मिलता है॥ ५५॥

अत्र पिङ्गलया गीता गाथाः श्रूयन्ति पार्थिव।
यथा सा कृच्छ्रकालेऽपि लेभे धर्मं सनातनम्॥ ५६॥

राजन्! इस विषयमें पिंगलाकी गायी हुई गाथाएँ सुनी जाती हैं, जिसके अनुसार चलकर संकटकालमें भी उसने सनातन धर्मको प्राप्त कर लिया था॥ ५६॥

संकेते पिङ्गला वेश्या कान्तेनासीद् विनाकृता।
अथ कृच्छ्रगता शान्ता बुद्धिमास्थापयत् तदा॥ ५७॥

एक बार पिंगला वेश्या बहुत देरतक संकेत-स्थानपर बैठी रही, तब भी उसका प्रियतम उसके पास नहीं आया; इससे वह बड़े कष्टमें पड़ गयी तथापि शान्त रहकर इस प्रकार विचार करने लगी॥ ५७॥

पिङ्गलोवाच

उन्मत्ताहमनुन्मत्तं कान्तमन्ववसं चिरम्।
अन्तिके रमणं सन्तं नैनमध्यगमं पुरा॥ ५८॥

पिंगला बोली—मेरे सच्चे प्रियतम चिरकालसे मेरे निकट ही रहते हैं। मैं सदासे उनके साथ ही रहती आयी हूँ। वे कभी उन्मत्त नहीं होते; परंतु मैं ऐसी मतवाली हो गयी थी कि आजसे पहले उन्हें पहचान ही न सकी॥ ५८॥

एकस्थूणं नवद्वारमपिधास्याम्यगारकम्।
का हि कान्तमिहायान्तमयं कान्तेति मंस्यते॥ ५९॥

जिसमें एक ही खम्भा और नौ दरवाजे हैं, उस शरीररूपी घरको आजसे मैं दूसरोंके लिये बन्द कर दूँगी। यहाँ आनेवाले उस सच्चे प्रियतमको जानकर भी कौन नारी किसी हाड़-मांसके पुतलेको अपना प्राणवल्लभ मानेगी?॥ ५९॥

अकामां कामरूपेण धूर्ता नरकरूपिणः।
न पुनर्वञ्चयिष्यन्ति प्रतिबुद्धास्मि जागृमि॥ ६०॥

अब मैं मोहनिद्रासे जग गयी हूँ और निरन्तर सजग हूँ—कामनाओंका भी त्याग कर चुकी हूँ। अतः वे नरकरूपी धूर्त मनुष्य कामका रूप धारण करके अब मुझे धोखा नहीं दे सकेंगे॥ ६०॥

अनर्थो हि भवेदर्थो दैवात् पूर्वकृतेन वा।
सम्बुद्धाहं निराकारा नाहमद्याजितेन्द्रिया॥ ६१॥

भाग्यसे अथवा पूर्वकृत शुभ कर्मोंके प्रभावसे कभी-कभी अनर्थ भी अर्थरूप हो जाता है, जिससे आज निराश होकर मैं उत्तम ज्ञानसे सम्पन्न हो गयी हूँ। अब मैं अजितेन्द्रिय नहीं रही हूँ॥ ६१॥

सुखं निराशः स्वपिति नैराश्यं परमं सुखम्।
आशामनाशां कृत्वा हि सुखं स्वपिति पिङ्गला॥ ६२॥

वास्तवमें जिसे किसी प्रकारकी आशा नहीं है, वही सुखसे सोता है। आशाका न होना ही परम सुख है। देखो, आशाको निराशाके रूपमें परिणत करके पिंगला सुखकी नींद सोने लगी॥ ६२॥

भीष्म उवाच

एतैश्चान्यैश्च विप्रस्य हेतुमद्भिः प्रभाषितैः।
पर्यवस्थापितो राजा सेनजिन्मुमुदे सुखी॥ ६३॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! ब्राह्मणके कहे हुए इन पूर्वोक्त तथा अन्य युक्तियुक्त वचनोंसे राजा सेनजित्का चित्त स्थिर हो गया। वे शोक छोड़कर सुखी हो गये और प्रसन्नतापूर्वक रहने लगे॥ ६३॥

॥ इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि पिङ्गलागीता सम्पूर्णा॥

शम्पाकगीता

[शम्पाकगीता महाभारतके शान्तिपर्वके अन्तर्गत आती है। इसमें पितामह भीष्मने शम्पाक नामक एक त्यागी ब्राह्मणके अनुभूत उपदेशोंको उन्हींके शब्दोंमें युधिष्ठिरको बताकर त्यागके लिये प्रेरित किया है। संसारमें धनी हो अथवा निर्धन सुख-दुःख प्रत्येक मनुष्यको होता है। त्यागके बिना न वास्तविक सुख मिलता है न ही परमात्मा। त्यागवृत्ति अपनाकर सुखी होनेका उपदेश देनेवाली यह शम्पाकगीता यहाँ सानुवाद प्रस्तुत की जा रही है—]

युधिष्ठिर उवाच

धनिनश्चाधना ये च वर्तयन्ते स्वतन्त्रिणः।
सुखदुःखागमस्तेषां कः कथं वा पितामह॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! धनी और निर्धन—दोनों स्वतन्त्रता-पूर्वक व्यवहार करते हैं; फिर उन्हें किस रूपमें और कैसे सुख और दुःखकी प्राप्ति होती है?॥ १॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
शम्पाकेनेह मुक्तेन गीतं शान्तिगतेन च॥ २॥

भीष्मजीने कहा—[युधिष्ठिर!] इस विषयमें विद्वान् पुरुष इस पुरातन इतिहासका उदाहरण देते हैं, जिसे परम शान्त जीवन्मुक्त शम्पाकने यहाँ कहा था॥ २॥

अब्रवीन्मां पुरा कश्चिद् ब्राह्मणस्त्यागमाश्रितः।
क्लिश्यमानः कुदारेण कुचैलेन बुभुक्षया॥ ३॥

पहलेकी बात है, फटे-पुराने वस्त्रों एवं अपनी दुष्टा स्त्रीके और भूखके कारण अत्यन्त कष्ट पानेवाले एक त्यागी ब्राह्मणने जिसका नाम शम्पाक था, मुझसे इस प्रकार कहा—॥ ३॥

उत्पन्नमिह लोके वै जन्मप्रभृति मानवम्।
विविधान्युपवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च॥ ४॥

इस संसारमें जो भी मनुष्य उत्पन्न होता है (वह धनी हो या निर्धन) उसे जन्मसे ही नाना प्रकारके सुख-दुःख प्राप्त होने लगते हैं॥ ४॥

तयोरेकतरे मार्गे यदेनमभिसन्नयेत्।
न सुखं प्राप्य संहृष्येन्नासुखं प्राप्य सञ्ज्वरेत्॥ ५॥

विधाता यदि उसे सुख और दुःख इन दोनोंमेंसे किसी एकके मार्गपर ले जाय तो वह न तो सुख पाकर प्रसन्न हो और न दुःखमें पड़कर परितप्त हो॥ ५॥

न वै चरसि यच्छ्रेय आत्मनो वा यदीशिषे।
अकामात्मापि हि सदा धुरमुद्यम्य चैव ह॥ ६॥

तुम जो कामनारहित होकर भी अपने कल्याणका साधन नहीं कर रहे हो और मनको वशमें नहीं कर रहे हो, इसका कारण यही है कि तुमने राज्यका बोझा अपनेपर उठा रखा है॥ ६॥

अकिञ्चनः परिपतन् सुखमास्वादयिष्यसि।
अकिञ्चनः सुखं शेते समुत्तिष्ठति चैव ह॥ ७॥

यदि तुम सब कुछ त्यागकर किसी वस्तुका संग्रह नहीं रखोगे तो सर्वत्र विचरते हुए सुखका ही अनुभव करोगे; क्योंकि जो अकिंचन होता है—जिसके पास कुछ नहीं रहता है, वह सुखसे सोता और जागता है॥ ७॥

आकिञ्चन्यं सुखं लोके पथ्यं शिवमनामयम्।
अनमित्रपथो ह्येष दुर्लभः सुलभो मतः॥ ८॥

संसारमें अकिंचनता ही सुख है। वही हितकारक, कल्याणकारी और निरापद है। इस मार्गमें किसी प्रकारके शत्रुका भी खटका नहीं

है। यह दुर्लभ होनेपर भी सुलभ है॥ ८॥

अकिञ्चनस्य शुद्धस्य उपपन्नस्य सर्वतः।
अवेक्षमाणस्त्रीँल्लोकान् न तुल्यमिह लक्षये॥ ९॥

मैं तीनों लोकोंपर दृष्टि डालकर देखता हूँ तो मुझे अकिंचन, शुद्ध एवं सब ओरसे वैराग्यसम्पन्न पुरुषके समान दूसरा कोई नहीं दिखायी देता है॥ ९॥

आकिञ्चन्यं च राज्यं च तुलया समतोलयम्।
अत्यरिच्यत दारिद्र्यं राज्यादपि गुणाधिकम्॥ १०॥

मैंने अकिंचनता तथा राज्यको बुद्धिकी तराजूपर रखकर तौला तो गुणोंमें अधिक होनेके कारण राज्यसे भी अकिंचनताका ही पलड़ा भारी निकला॥ १०॥

आकिञ्चन्ये च राज्ये च विशेषः सुमहानयम्।
नित्योद्विग्नो हि धनवान् मृत्योरास्यगतो यथा॥ ११॥

अकिंचनता तथा राज्यमें बड़ा भारी अन्तर यह है कि धनी राजा सदा इस प्रकार उद्विग्न रहता है, मानो मौतके मुखमें पड़ा हुआ हो॥ ११॥

नैवास्याग्निर्न चारिष्टो न मृत्युर्न च दस्यवः।
प्रभवन्ति धनत्यागाद् विमुक्तस्य निराशिषः॥ १२॥

परंतु जो मनुष्य धनको त्यागकर उसकी आसक्तिसे मुक्त हो गया है और मनमें किसी तरहकी कामना नहीं रखता, उसपर न अग्निका जोर चलता है, न अरिष्टकारी ग्रहोंका, न मृत्यु उसका कुछ बिगाड़ सकती है, न डाकू और लुटेरे ही॥ १२॥

तं वै सदा कामचरमनुपस्तीर्णशायिनम्।
बाहूपधानं शाम्यन्तं प्रशंसन्ति दिवौकसः॥ १३॥

वह सदा दैव-इच्छाके अनुसार विचरता है। बिना बिछौनेके

भूतलपर सोता है। बाँहोंका ही तकिया लगाता है और सदा शान्तभावसे रहता है। देवतालोग भी उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं॥ १३॥

धनवान् क्रोधलोभाभ्यामाविष्टो नष्टचेतनः।
तिर्यगीक्षः शुष्कमुखः पापको भ्रुकुटीमुखः॥ १४॥

जो धनवान् है, वह क्रोध और लोभके आवेशमें आकर अपनी विचारशक्तिको खो बैठता है, टेढ़ी आँखोंसे देखता है, उसका मुँह सूखा रहता है, भौंहें चढ़ी होती हैं और वह पापमें ही मग्न रहा करता है॥ १४॥

निर्दशन्नधरोष्ठं च क्रुद्धो दारुणभाषिता।
कस्तमिच्छेत् परिद्रष्टुं दातुमिच्छति चेन्महीम्॥ १५॥

क्रोधके कारण वह ओठ चबाता रहता है और अत्यन्त कठोर वचन बोलता है। ऐसा मनुष्य सारी पृथ्वीका राज्य ही दे देना चाहता हो तो भी उसकी ओर कौन देखना चाहेगा?॥ १५॥

श्रिया ह्यभीक्ष्णं संवासो मोहयत्यविचक्षणम्।
सा तस्य चित्तं हरति शारदाभ्रमिवानिलः॥ १६॥

सदा धन-सम्पत्तिका सहवास मूर्ख मनुष्यके चित्तको लुभाकर उसे मोहमें ही डाले रहता है। जैसे वायु शरद्-ऋतुके बादलोंको उड़ा ले जाती है, उसी प्रकार वह सम्पत्ति मनुष्यके मनको हर लेती है॥ १६॥

अथैनं रूपमानश्च धनमानश्च विन्दति।
अभिजातोऽस्मि सिद्धोऽस्मि नास्मि केवलमानुषः॥ १७॥

फिर उसके ऊपर रूपका अहंकार और धनका मद सवार हो जाता है और वह ऐसा मानने लगता है कि मैं बड़ा कुलीन हूँ, सिद्ध हूँ, कोई साधारण मनुष्य नहीं हूँ॥ १७॥

इत्येभिः कारणैस्तस्य त्रिभिश्चित्तं प्रमाद्यति।
सम्प्रसक्तमना भोगान् विसृज्य पितृसञ्चितान्।
परिक्षीणः परस्वानामादानं साधु मन्यते॥ १८॥

रूप, धन और कुल—इन तीनोंके अभिमानके कारण उसके चित्तमें प्रमाद भर जाता है, वह भोगोंमें आसक्त होकर बाप-दादोंके जोड़े हुए पैसोंको खो बैठता है और दरिद्र होकर दूसरोंके धनको हड़प लाना अच्छा मानने लगता है॥ १८॥

तमतिक्रान्तमर्यादमाददानं ततस्ततः।
प्रतिषेधन्ति राजानो लुब्धा मृगमिवेषुभिः॥ १९॥

इस तरह मर्यादाका उल्लंघन करके जब वह इधर-उधरसे लूट-खसोटकर धन ले आता है, तब राजा उसे उसी प्रकार कठोर दण्ड देकर रोकते हैं, जैसे व्याध बाणोंसे मारकर मृगोंकी गति रोक देते हैं॥ १९॥

एवमेतानि दुःखानि तानि तानीह मानवम्।
विविधान्युपपद्यन्ते गात्रसंस्पर्शजान्यपि॥ २०॥

इस प्रकार मनको तप्त करनेवाले और शरीरके स्पर्शसे होनेवाले ये नाना प्रकारके दुःख मनुष्यको प्राप्त होते हैं॥ २०॥

तेषां परमदुःखानां बुद्ध्या भैषज्यमाचरेत्।
लोकधर्ममवज्ञाय ध्रुवाणामध्रुवैः सह॥ २१॥

अतः अनित्य शरीरोंके साथ सदैव लगे रहनेवाले पुत्रैषणा आदि लोकधर्मोंकी अवहेलना करके अवश्य प्राप्त होनेवाले पूर्वोक्त महान् दुःखोंकी विचारपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये॥ २१॥

नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम्।
नात्यक्त्वा चाभयः शेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भव॥ २२॥

कोई मनुष्य त्याग किये बिना सुख नहीं पाता, त्याग किये बिना

परमात्माको नहीं पा सकता और त्याग किये बिना निर्भय सो नहीं सकता; इसलिये तुम भी सब कुछ त्यागकर सुखी हो जाओ॥ २२॥

इत्येतद्धास्तिनपुरे ब्राह्मणेनोपवर्णितम्।
शम्पाकेन पुरा मह्यं तस्मात् त्यागः परो मतः॥ २३॥

इस प्रकार पूर्वकालमें शम्पाक नामक ब्राह्मणने हस्तिनापुरमें मुझसे त्यागकी महिमाका वर्णन किया था। अतः त्याग ही सबसे श्रेष्ठ माना गया है॥ २३॥

॥ इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि शम्पाकगीता सम्पूर्णा॥

मङ्किगीता

[मङ्किगीता महाभारतके शान्तिपर्वके अन्तर्गत भीष्म-युधिष्ठिर-संवादके क्रममें प्राप्त होती है। इसमें मङ्कि नामक एक प्राचीन मुनिका रोचक एवं शिक्षाप्रद आख्यान वर्णित है, जिसके माध्यमसे कामना, विशेषकर धनकी तृष्णाको ही सभी दु:खोंका मूल तथा कामनाके त्यागको ही सुखका हेतु बताया गया है। विषयके प्रतिपादनमें दृष्टान्तके अतिरिक्त बहुत-से सबल तर्क भी उपस्थित किये गये हैं। यह मङ्किगीता यहाँ सानुवाद प्रस्तुत की जा रही है—]

युधिष्ठिर उवाच

ईहमानः समारम्भान् यदि नासादयेद् धनम्।
धनतृष्णाभिभूतश्च किं कुर्वन् सुखमाप्नुयात्॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—[दादाजी!] यदि कोई मनुष्य धनकी तृष्णासे ग्रस्त होकर तरह-तरहके उद्योग करनेपर भी धन न पा सके तो वह क्या करे, जिससे उसे सुखकी प्राप्ति हो सके?॥ १॥

भीष्म उवाच

सर्वसाम्यमनायासं सत्यवाक्यं च भारत।
निर्वेदश्चाविधित्सा च यस्य स्यात् स सुखी नरः॥ २॥

भीष्मजीने कहा—भारत! सबमें समताका भाव, व्यर्थ परिश्रमका अभाव, सत्यभाषण, संसारसे वैराग्य और कर्मासक्तिका अभाव—ये पाँचों जिस मनुष्यमें होते हैं, वह सुखी होता है॥ २॥

एतान्येव पदान्याहुः पञ्च वृद्धाः प्रशान्तये।
एष स्वर्गश्च धर्मश्च सुखं चानुत्तमं मतम्॥ ३॥

ज्ञानवृद्ध पुरुष इन्हीं पाँच वस्तुओंको शान्तिका कारण बताते हैं। यही

स्वर्ग है, यही धर्म है और यही परम उत्तम सुख माना गया है॥ ३॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
निर्वेदान्मङ्किना गीतं तन्निबोध युधिष्ठिर॥ ४॥

युधिष्ठिर! इस विषयमें जानकार पुरुष एक प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। मङ्कि नामक मुनिने भोगोंसे विरक्त होकर जो उद्‌गार प्रकट किया था, वही इस इतिहासमें वर्णित है। उसे बताता हूँ, सुनो॥ ४॥

ईहमानो धनं मङ्किर्भग्नेहश्च पुनः पुनः।
केनचिद् धनशेषेण क्रीतवान् दम्यगोयुगम्॥ ५॥

मङ्कि धनके लिये अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ करते थे; परंतु हर बार उनका प्रयत्न व्यर्थ हो जाता था। अन्तमें जब बहुत थोड़ा धन शेष रह गया तो उसे देकर उन्होंने दो नये बछड़े खरीदे॥ ५॥

सुसम्बद्धौ तु तौ दम्यौ दमनायाभिनिःसृतौ।
आसीनमुष्ट्रं मध्येन सहसैवाभ्यधावताम्॥ ६॥

एक दिन उन दोनों बछड़ोंको परस्पर जोड़कर वे हल चलानेकी शिक्षा देनेके लिये ले जा रहे थे। जब वे दोनों बछड़े गाँवसे बाहर निकले तो बैठे हुए एक ऊँटको बीचमें करके सहसा दौड़ पड़े॥ ६॥

तयोः सम्प्राप्तयोरुष्ट्रः स्कन्धदेशममर्षणः।
उत्थायोत्क्षिप्य तौ दम्यौ प्रससार महाजवः॥ ७॥

जब वे उसकी गर्दनके पास पहुँचे तो ऊँटके लिये यह असह्य हो उठा। वह रोषमें भरकर खड़ा हो गया और उन दोनों बछड़ोंको ऊपर लटकाये बड़े जोरसे भागने लगा॥ ७॥

ह्रियमाणौ तु तौ दम्यौ तेनोष्ट्रेण प्रमाथिना।
म्रियमाणौ च सम्प्रेक्ष्य मङ्किस्तत्राब्रवीदिदम्॥ ८॥

बलपूर्वक अपहरण करनेवाले उस ऊँटके द्वारा उन दोनों बछड़ोंको

अपहृत होते और मरते देख मङ्किने इस प्रकार कहा— ॥ ८ ॥

न चैवाविहितं शक्यं दक्षेणापीहितुं धनम्।
युक्तेन श्रद्धया सम्यगीहां समनुतिष्ठता॥ ९ ॥

मनुष्य कैसा ही चतुर क्यों न हो, जो उसके भाग्यमें नहीं है, उस धनको वह श्रद्धापूर्वक भलीभाँति प्रयत्न करके भी नहीं पा सकता॥ ९ ॥

कृतस्य पूर्वं चानर्थैर्युक्तस्याप्यनुतिष्ठतः।
इमं पश्यत सङ्गत्या मम दैवमुपप्लवम्॥ १० ॥

पहले मैंने जो प्रयत्न किया था, उसमें अनेक प्रकारके अनर्थ खड़े हो गये थे। उन अनर्थोंसे युक्त होनेपर भी मैं धनोपार्जनकी ही चेष्टामें लगा रहा; परंतु देखो, आज इन बछड़ोंकी संगतिसे मुझपर कैसा दैवी उपद्रव आ गया?॥ १० ॥

उद्यम्योद्यम्य मे दम्यौ विषमेणैव गच्छतः।
उत्क्षिप्य काकतालीयमुत्पथेनैव धावतः॥ ११ ॥
मणी वोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम।
शुद्धं हि दैवमेवेदं हठेनैवास्ति पौरुषम्॥ १२ ॥

यह ऊँट मेरे बछड़ोंको उछाल-उछालकर विषम मार्गसे ही जा रहा है। काकतालीयन्यायसे* (अर्थात् दैवसंयोगसे) इन्हें गर्दनपर उठाकर बुरे मार्गसे ही दौड़ रहा है। इस ऊँटके गलेमें मेरे दोनों प्यारे बछड़े दो मणियोंके समान लटक रहे हैं। यह केवल दैवकी ही लीला है। हठपूर्वक किये हुए पुरुषार्थसे क्या होता है?॥ ११-१२ ॥

---

* एक ताड़के वृक्षके नीचे एक बटोही बैठा था। उसी वृक्षके ऊपर एक काक भी आ बैठा। काकके आते ही ताड़का एक पका हुआ फल नीचे गिरा। यद्यपि फल पककर आप-से-आप ही गिरा था, पर पथिक दोनों बातोंको साथ होते देख, यही समझ गया कि कौवेके आनेसे ही ताड़का फल गिरा है; अतः जहाँ संयोगवश अचानक कोई घटना घटित हो जाय, वहाँ उसे काकतालीयन्यायसे घटित हुई बताया जाता है। यहाँ बछड़ोंका आना और ऊँटका रास्तेमें बैठे रहना—ये बातें संयोगवश हो गयी थीं।

यदि वाप्युपपद्येत पौरुषं नाम कर्हिचित्।
अन्विष्यमाणं तदपि दैवमेवावतिष्ठते॥ १३॥

यदि कभी कोई पुरुषार्थ सफल होता दिखायी देता है तो वहाँ भी खोज करनेपर दैवका ही सहयोग सिद्ध होता है॥ १३॥

तस्मान्निर्वेद एवेह गन्तव्यः सुखमिच्छता।
सुखं स्वपिति निर्विण्णो निराशश्चार्थसाधने॥ १४॥

अतः सुखकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको धन आदिकी ओरसे वैराग्यका ही आश्रय लेना चाहिये। धनोपार्जनकी चेष्टासे निराश होकर जो विरक्त हो जाता है, वह सुखकी नींद सोता है॥ १४॥

अहो सम्यक् शुकेनोक्तं सर्वतः परिमुच्यता।
प्रतिष्ठता महारण्यं जनकस्य निवेशनात्॥ १५॥

अहो! शुकदेव मुनिने जनकके राजमहलसे विशाल वनकी ओर जाते समय सब ओरसे बन्धनमुक्त हो क्या ही अच्छा कहा था?॥ १५॥

यः कामानाप्नुयात् सर्वान् यश्चैतान् केवलांस्त्यजेत्।
प्रापणात् सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते॥ १६॥

जो मनुष्य अपनी समस्त कामनाओंको पा लेता है तथा जो इन सबका केवल त्याग कर देता है—इन दोनोंके कार्योंमें समस्त कामनाओंको प्राप्त करनेकी अपेक्षा उनका त्याग ही श्रेष्ठ है॥ १६॥

नान्तं सर्वविधित्सानां गतपूर्वोऽस्ति कश्चन।
शरीरे जीविते चैव तृष्णा मन्दस्य वर्धते॥ १७॥

कोई भी पहले कभी धन आदिके लिये होनेवाली सम्पूर्ण प्रवृत्तियोंका अन्त नहीं पा सका है। शरीर और जीवनके प्रति मूर्ख मनुष्यकी ही तृष्णा बढ़ती है॥ १७॥

निवर्तस्व विधित्साभ्यः शाम्य निर्विद्य कामुक।
असकृच्चासि निकृतो न च निर्विद्यसे ततः॥ १८॥

ओ कामनाओंके दास मन! तू सब प्रकारकी चेष्टाओंसे निवृत्त हो जा और वैराग्यपूर्वक शान्ति धारण कर। तू धनकी चेष्टा करके बारम्बार ठगा गया है तो भी उसकी ओरसे वैराग्य नहीं होता है॥ १८॥

यदि नाहं विनाश्यस्ते यद्येवं रमसे मया।
मा मां योजय लोभेन वृथा त्वं वित्तकामुक॥ १९॥

ओ धनकी कामनावाले मन! यदि तुझे मेरा विनाश नहीं करना है। यदि तू इसी प्रकार मेरे साथ आनन्दपूर्वक रहना चाहता है तो मुझे व्यर्थ लोभमें न फँसा॥ १९॥

सञ्चितं सञ्चितं द्रव्यं नष्टं तव पुनः पुनः।
कदाचिन्मोक्ष्यसे मूढ धनेहां धनकामुक॥ २०॥

तूने बार-बार द्रव्यका संचय किया और वह बारम्बार नष्ट होता चला गया। धनकी इच्छा रखनेवाले मूढ! क्या कभी तू धनकी इस तृष्णा और चेष्टाका त्याग भी करेगा?॥ २०॥

अहो नु मम बालिश्यं योऽहं क्रीडनकस्तव।
किं नैवं जातु पुरुषः परेषां प्रेष्यतामियात्॥ २१॥

अहो! यह मेरी कैसी नादानी है? जो मैं तेरे हाथका खिलौना बना हुआ हूँ। यदि ऐसी बात न होती तो क्या कोई समझदार पुरुष कभी दूसरोंकी दासता स्वीकार कर सकता है?॥ २१॥

न पूर्वे नापरे जातु कामानामन्तमाप्नुवन्।
त्यक्त्वा सर्वसमारम्भान् प्रतिबुद्धोऽस्मि जागृमि॥ २२॥

पूर्वकालके तथा पीछेके मनुष्य भी कभी कामनाओंका अन्त नहीं पा सके हैं, अतः मैं समस्त कर्मोंका आयोजन त्यागकर सावधान हो गया हूँ और मैं पूर्णतः जग गया हूँ॥ २२॥

नूनं ते हृदयं काम वज्रसारमयं दृढम्।
यदनर्थशताविष्टं शतधा न विदीर्यते॥ २३॥

काम! निश्चय ही तेरा हृदय फौलादका बना हुआ है, अतएव अत्यन्त सुदृढ़ है। यही कारण है कि सैकड़ों अनर्थोंसे व्याप्त होनेपर भी इसके सैकड़ों टुकड़े नहीं हो जाते॥ २३॥

जानामि काम त्वां चैव यच्च किञ्चित् प्रियं तव।
तवाहं प्रियमन्विच्छन्नात्मन्युपलभे सुखम्॥ २४॥

काम! मैं तुझे अच्छी तरह जानता हूँ और जो कुछ तुझे प्रिय लगता है, उससे भी परिचित हूँ। चिरकालसे तेरा प्रिय करनेकी चेष्टा करता चला आ रहा हूँ; परंतु कभी मेरे मनमें सुखका अनुभव नहीं हुआ॥ २४॥

काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि समूलो न भविष्यसि॥ २५॥

काम! मैं तेरी जड़को जानता हूँ। निश्चय ही तू संकल्पसे उत्पन्न होता है। अब मैं तेरा संकल्प ही नहीं करूँगा, जिससे तू समूल नष्ट हो जायगा॥ २५॥

ईहा धनस्य न सुखा लब्ध्वा चिन्ता च भूयसी।
लब्धनाशे यथा मृत्युर्लब्धं भवति वा न वा॥ २६॥

धनकी इच्छा अथवा चेष्टा सुखदायिनी नहीं है। यदि धन मिल भी जाय तो उसकी रक्षा आदिके लिये बड़ी भारी चिन्ता बढ़ जाती है और यदि एक बार मिलकर वह नष्ट हो जाय, तब तो मृत्युके समान ही भयंकर कष्ट होता है और उद्योग करनेपर भी धन मिलेगा या नहीं, यह निश्चय नहीं होता॥ २६॥

परित्यागे न लभते ततो दुःखतरं नु किम्।
न च तुष्यति लब्धेन भूय एव च मार्गति॥ २७॥

शरीरको निछावर कर देनेपर भी मनुष्य जब धन नहीं पाता है

तो उसके लिये इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या हो सकता है? यदि धनकी उपलब्धि हो भी जाय तो उतनेसे ही वह सन्तुष्ट नहीं होता है, अपितु अधिक धनकी तलाश करने लग जाता है॥ २७॥

अनुतर्षुल एवार्थः स्वादु गाङ्गमिवोदकम्।
मद्विलापनमेतत्तु प्रतिबुद्धोऽस्मि सन्त्यज॥ २८॥

काम! स्वादिष्ट गंगाजलके समान यह धन तृष्णाकी ही वृद्धि करनेवाला है, मैं अच्छी तरह जान गया हूँ कि यह तृष्णाकी वृद्धि मेरे विनाशका कारण है; अतः तू मेरा पिण्ड छोड़ दे॥ २८॥

य इमं मामकं देहं भूतग्रामः समाश्रितः।
स यात्वितो यथाकामं वसतां वा यथासुखम्॥ २९॥

मेरे इस शरीरका आश्रय लेकर जो पाँचों भूतोंका समुदाय स्थित है, वह इसमेंसे अपनी इच्छाके अनुसार सुखपूर्वक चला जाय या इसमें रहे, इसकी मुझे परवा नहीं है॥ २९॥

न युष्मास्विह मे प्रीतिः कामलोभानुसारिषु।
तस्मादुत्सृज्य कामान् वै सत्त्वमेवाश्रयाम्यहम्॥ ३०॥

पंचभूतगण! अहंकार आदिके साथ तुम सब लोग काम और लोभके पीछे लगे रहनेवाले हो। अतः तुमपर यहाँ मेरा रत्तीभर भी स्नेह नहीं है। इसलिये मैं समस्त कामनाओंको छोड़कर केवल अब सत्त्वगुणका आश्रय ले रहा हूँ॥ ३०॥

सर्वभूतान्यहं देहे पश्यन् मनसि चात्मनः।
योगे बुद्धिं श्रुते सत्त्वं मनो ब्रह्मणि धारयन्॥ ३१॥
विहरिष्याम्यनासक्तः सुखी लोकान् निरामयः।
यया मां त्वं पुनर्नैवं दुःखेषु प्रणिधास्यसि॥ ३२॥

मैं अपने शरीरमें मनके अंदर सम्पूर्ण भूतोंको देखता हुआ बुद्धिको योगमें, एकाग्रचित्तको श्रवण-मनन आदि साधनोंमें और मनको परब्रह्म

परमात्मामें लगाकर रोग-शोकसे रहित एवं सुखी हो सम्पूर्ण लोकोंमें अनासक्त भावसे विचरूँगा, जिससे तू फिर मुझे इस प्रकार दुःखोंमें न डाल सकेगा॥ ३१-३२॥

त्वया हि मे प्रणुन्नस्य गतिरन्या न विद्यते।
तृष्णाशोकश्रमाणां हि त्वं काम प्रभवः सदा॥ ३३॥

काम! तृष्णा, शोक और परिश्रम—इनका उत्पत्तिस्थान सदा तू ही है। जबतक तू मुझे प्रेरित करके इधर-उधर भटकाता रहेगा, तबतक मेरे लिये दूसरी कोई गति नहीं है॥ ३३॥

धननाशेऽधिकं दुःखं मन्ये सर्वमहत्तरम्।
ज्ञातयो ह्यवमन्यन्ते मित्राणि च धनाच्च्युतम्॥ ३४॥

मैं तो समझता हूँ कि धनका नाश होनेपर जो अत्यन्त दुःख होता है, वही सबसे बढ़कर है; क्योंकि जो धनसे वंचित हो जाता है, उसे अपने भाई-बन्धु और मित्र भी अपमानित करने लगते हैं॥ ३४॥

अवज्ञानसहस्रैस्तु दोषाः कष्टतराऽधने।
धने सुखकला या तु सापि दुःखैर्विधीयते॥ ३५॥

दरिद्रको सहस्र-सहस्र तिरस्कार सहने पड़ते हैं; अतः निर्धन अवस्थामें बहुत-से कष्टदायक दोष हैं; और धनमें जो सुखका लेश प्रतीत होता है, वह भी दुःखोंसे ही सम्पादित होता है॥ ३५॥

धनमस्येति पुरुषं पुरो निघ्नन्ति दस्यवः।
क्लिश्यन्ति विविधैर्दण्डैर्नित्यमुद्वेजयन्ति च॥ ३६॥

जिस पुरुषके पास धन होनेका संदेह होता है, उसे उसका धन लूटनेके लिये लुटेरे मार डालते हैं अथवा उसे तरह-तरहकी पीड़ाएँ देकर सताते और सदा उद्वेगमें डाले रहते हैं॥ ३६॥

अर्थलोलुपता दुःखमिति बुद्धं चिरान्मया।
यद् यदालम्बसे काम तत्तदेवानुरुध्यसे॥ ३७॥

धनलोलुपता दुःखका कारण है, यह बात बहुत देरके बाद मेरी समझमें आयी हैं। काम! तू जिस-जिसका आश्रय लेता है, उसी-उसीके पीछे पड़ जाता है॥ ३७॥

अतत्त्वज्ञोऽसि बालश्च दुस्तोषोऽपूरणोऽनलः।
नैव त्वं वेत्थ सुलभं नैव त्वं वेत्थ दुर्लभम्॥ ३८॥

तू तत्त्वज्ञानसे रहित और बालकके समान मूढ़ है, तुझे सन्तोष देना कठिन है। आगके समान तेरा पेट भरना असम्भव है। तू यह नहीं जानता कि कौन-सी वस्तु सुलभ है और कौन-सी दुर्लभ॥ ३८॥

पाताल इव दुष्पूरो मां दुःखैर्योक्तुमिच्छसि।
नाहमद्य समावेष्टुं शक्यः काम पुनस्त्वया॥ ३९॥

काम! पातालके समान तुझे भरना कठिन है। तू मुझे दुःखोंमें फँसाना चाहता है; किंतु अब तू फिर मेरे भीतर प्रवेश नहीं कर सकता॥ ३९॥

निर्वेदमहमासाद्य द्रव्यनाशाद् यदृच्छया।
निर्वृत्तिं परमां प्राप्य नाद्य कामान् विचिन्तये॥ ४०॥

अकस्मात् धनका नाश हो जानेसे वैराग्यको प्राप्त होकर मुझे परम सुख मिल गया है। अब मैं भोगोंका चिन्तन नहीं करूँगा॥ ४०॥

अतिक्लेशान् सहामीह नाहं बुद्ध्याम्यबुद्धिमान्।
निकृतो धननाशेन शये सर्वाङ्गविज्वरः॥ ४१॥

पहले मैं बड़े-बड़े क्लेश सहता था, परंतु ऐसा बुद्धिहीन हो गया था कि 'धनकी कामनामें कष्ट है,' इस बातको समझ ही नहीं पाता था। परंतु अब धनका नाश होनेसे उससे वंचित होकर मैं सम्पूर्ण अंगोंमें क्लेश और चिन्ताओंसे मुक्त होकर सुखसे सोता हूँ॥ ४१॥

परित्यजामि काम त्वां हित्वा सर्वमनोगतीः।
न त्वं मया पुनः काम वत्स्यसे न च रंस्यसे॥ ४२॥

काम! मैं अपनी सम्पूर्ण मनोवृत्तियोंको दूर हटाकर तेरा परित्याग कर रहा हूँ। अब तू फिर मेरे साथ न तो रह सकेगा और न मौज ही कर सकेगा॥ ४२॥

क्षमिष्ये क्षिपमाणानां न हिंसिष्ये विहिंसितः।
द्वेष्ययुक्तः प्रियं वक्ष्याम्यनादृत्य तदप्रियम्॥ ४३॥

अब जो लोग मुझपर आक्षेप या मेरा तिरस्कार करेंगे, उनके उस बर्तावको मैं चुपचाप सह लूँगा। जो लोग मुझे मारे-पीटेंगे या कष्ट देंगे, उनके साथ भी मैं बदलेमें वैसा बर्ताव नहीं करूँगा। द्वेषके योग्य पुरुषका भी यदि साथ हो जाय और वह मुझे अप्रिय वचन कहने लगे तो मैं उसपर ध्यान न देकर उससे अप्रिय वचन नहीं बोलूँगा॥ ४३॥

तृप्तः स्वस्थेन्द्रियो नित्यं यथालब्धेन वर्तयन्।
न सकामं करिष्यामि त्वामहं शत्रुमात्मनः॥ ४४॥

मैं सदा सन्तुष्ट एवं स्वस्थ इन्द्रियोंसे सम्पन्न रहकर भाग्यवश जो कुछ मिल जाय, उसीसे जीवन-निर्वाह करता रहूँगा; परंतु तुझे कभी सफल न होने दूँगा; क्योंकि तू मेरा शत्रु है॥ ४४॥

निर्वेदं निर्वृतिं तृप्तिं शान्तिं सत्यं दमं क्षमाम्।
सर्वभूतदयां चैव विद्धि मां समुपागतम्॥ ४५॥

तू यह अच्छी तरह समझ ले कि मुझे वैराग्य, सुख, तृप्ति, शान्ति, सत्य, दम, क्षमा और समस्त प्राणियोंके प्रति दयाभाव—ये सभी सद्गुण प्राप्त हो गये हैं॥ ४५॥

तस्मात् कामश्च लोभश्च तृष्णा कार्पण्यमेव च।
त्यजन्तु मां प्रतिष्ठन्तं सत्त्वस्थो ह्यस्मि साम्प्रतम्॥ ४६॥

अतः काम, लोभ, तृष्णा और कृपणताको चाहिये कि वे मोक्षकी

ओर प्रस्थान करनेवाले मुझ साधकको छोड़कर चले जायँ। अब मैं सत्त्वगुणमें स्थित हो गया हूँ॥ ४६॥

प्रहाय कामं लोभं च सुखं प्राप्तोऽस्मि साम्प्रतम्।
नाद्य लोभवशं प्राप्तो दुःखं प्राप्स्याम्यनात्मवान्॥ ४७॥

इस समय काम और लोभका त्याग करके मैं प्रत्यक्ष ही सुखी हो गया हूँ; अतः अजितेन्द्रिय पुरुषकी भाँति अब लोभमें फँसकर दुःख नहीं उठाऊँगा॥ ४७॥

यद् यत् त्यजति कामानां तत् सुखस्याभिपूर्यते।
कामस्य वशगो नित्यं दुःखमेव प्रपद्यते॥ ४८॥

मनुष्य जिस-जिस कामनाको छोड़ देता है, उस-उसकी ओरसे सुखी हो जाता है। कामनाके वशीभूत होकर तो वह सर्वदा दुःख ही पाता है॥ ४८॥

कामानुबन्धं नुदते यत् किञ्चित् पुरुषो रजः।
कामक्रोधोद्भवं दुःखमह्रीररतिरेव च॥ ४९॥

मनुष्य कामसे सम्बन्ध रखनेवाला जो कुछ भी रजोगुण हो, उसे दूर कर दे। दुःख, निर्लज्जता और असन्तोष—ये काम और क्रोधसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं॥ ४९॥

एष ब्रह्मप्रतिष्ठोऽहं ग्रीष्मे शीतमिव ह्रदम्।
शाम्यामि परिनिर्वामि सुखं मामेति केवलम्॥ ५०॥

जैसे ग्रीष्म-ऋतुमें लोग शीतल जलवाले सरोवरमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार अब मैं परब्रह्ममें प्रतिष्ठित हो गया हूँ, अतः शान्त हूँ, सब ओरसे निर्वाणको प्राप्त हो गया हूँ। अब मुझे केवल सुख-ही-सुख मिल रहा है॥ ५०॥

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥ ५१॥

इस लोकमें जो विषयोंका सुख है तथा परलोकमें जो दिव्य एवं

महान् सुख है, ये दोनों प्रकारके सुख तृष्णाके क्षयसे होनेवाले सुखकी सोलहवीं कलाके भी बराबर नहीं हैं॥ ५१॥

आत्मना सप्तमं कामं हत्वा शत्रुमिवोत्तमम्।
प्राप्यावध्यं ब्रह्मपुरं राजेव स्यामहं सुखी॥ ५२॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य और ममता—ये देहधारियोंके सात शत्रु हैं। इनमें सातवाँ कामरूप शत्रु सबसे प्रबल है। उन सबके साथ इस महान् शत्रु कामका नाश करके मैं अविनाशी ब्रह्मपुरमें स्थित हो राजाके समान सुखी होऊँगा॥ ५२॥

एतां बुद्धिं समास्थाय मङ्किर्निर्वेदमागतः।
सर्वान् कामान् परित्यज्य प्राप्य ब्रह्म महत्सुखम्॥ ५३॥

[राजन्!] इसी बुद्धिका आश्रय लेकर मंकि धन और भोगोंसे विरक्त हो गये और समस्त कामनाओंका परित्याग करके उन्होंने परमानन्दस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त कर लिया॥ ५३॥

दम्यनाशकृते मङ्किरमृतत्वं किलागमत्।
अच्छिनत् काममूलं स तेन प्राप महत्सुखम्॥ ५४॥

बछड़ोंके नाशको निमित्त बनाकर ही मङ्कि अमृतत्वको प्राप्त हो गये। उन्होंने कामकी जड़ काट डाली; इसीलिये महान् सुख प्राप्त कर लिया॥ ५४॥

॥ इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि मङ्किगीता सम्पूर्णा॥

आजगरगीता

[आजगरगीतामें एक विरक्त अवधूतद्वारा राजा प्रह्लादको दिये गये उपदेशोंका वर्णन है। यह प्रकरण महाभारतके शान्तिपर्वमें भीष्मद्वारा युधिष्ठिरको दिये गये उपदेशोंके मध्य आया है। यह गीता न केवल विरक्त संन्यासियोंके लिये उपयोगी है, अपितु उन वृद्धजनोंके लिये भी विशेष उपयोगी है, जो प्रायः अपने सभी पारिवारिक दायित्वोंको पूर्ण कर चुके हैं तथा शेष जीवन सुख-शान्तिसे बिताना चाहते हैं। सुविधाओं तथा अभावोंमें सम रहनेकी प्रेरणा देनेवाली यह गीता सानुवाद यहाँ प्रस्तुत की जा रही है—]

युधिष्ठिर उवाच

केन वृत्तेन वृत्तज्ञ वीतशोकश्चरेन्महीम्।
किञ्च कुर्वन्नरो लोके प्राप्नोति गतिमुत्तमाम्॥ १॥

राजा युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! आप सदाचारके स्वरूपको जाननेवाले हैं। कृपया यह बताइये, किस तरहके आचारको अपनाकर मनुष्य शोकरहित हो इस पृथ्वीपर विचरण कर सकता है? और इस जगत्‌में कौन-सा कर्म करके वह उत्तम गति पा सकता है?॥ १॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराजगरस्य च॥ २॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! इस विषयमें भी प्रह्लाद तथा अजगरवृत्तिसे रहनेवाले एक मुनिके संवादरूप प्राचीन इतिहासका दृष्टान्त दिया जाता है॥ २॥

चरन्तं ब्राह्मणं कञ्चित् कल्पचित्तमनामयम्।
पप्रच्छ राजा प्रह्लादो बुद्धिमान् बुद्धिसम्मतम्॥ ३॥

एक सुदृढ़चित्त, दुःख-शोकसे रहित तथा बुद्धिसम्मत ब्राह्मणको

पृथ्वीपर विचरते देख बुद्धिमान् राजा प्रह्लादने उससे इस प्रकार पूछा॥ ३॥

प्रह्लाद उवाच

स्वस्थः शक्तो मृदुर्दान्तो निर्विधित्सोऽनसूयकः।
सुवाक् प्रगल्भो मेधावी प्राज्ञश्चरसि बालवत्॥ ४॥

प्रह्लाद बोले—ब्रह्मन्! आप स्वस्थ, शक्तिमान्, मृदु, जितेन्द्रिय, कर्मारम्भसे दूर रहनेवाले, दूसरोंके दोषोंपर दृष्टि न डालनेवाले, सुन्दर और मधुर वचन बोलनेवाले, निर्भीक, प्रतिभाशाली, मेधावी तथा तत्त्वज्ञ होकर भी बालकोंके समान विचर रहे हैं॥ ४॥

नैव प्रार्थयसे लाभं नालाभेष्वनुशोचसि।
नित्यतृप्त इव ब्रह्मन् न किञ्चिदिव मन्यसे॥ ५॥

न आप कोई लाभ चाहते हैं और न हानि होनेपर उसके लिये ही शोक करते हैं। ब्रह्मन्! आप नित्यतृप्त-से रहते हुए न किसी वस्तुको प्रिय मानते हैं और न अप्रिय॥ ५॥

स्रोतसा ह्रियमाणासु प्रजासु विमना इव।
धर्मकामार्थकार्येषु कूटस्थ इव लक्ष्यसे॥ ६॥

सारी प्रजा काम-क्रोध आदिके प्रवाहमें पड़कर बही जा रही है; परंतु आप उधरसे उदासीन-जैसे जान पड़ते हैं तथा धर्म, अर्थ एवं काम-सम्बन्धी कार्योंके प्रति भी निश्चेष्ट-से दिखायी देते हैं॥ ६॥

नानुतिष्ठसि धर्मार्थौ न कामे चापि वर्तसे।
इन्द्रियार्थाननादृत्य मुक्तश्चरसि साक्षिवत्॥ ७॥

धर्म और अर्थ-सम्बन्धी कार्योंका आप अनुष्ठान नहीं करते हैं, काममें भी आपकी प्रवृत्ति नहीं है। आप इन्द्रियोंके सम्पूर्ण विषयोंकी उपेक्षा करके साक्षीके समान मुक्तरूपसे विचरते हैं॥ ७॥

का नु प्रज्ञा श्रुतं वा किं वृत्तिर्वा का नु ते मुने।
क्षिप्रमाचक्ष्व मे ब्रह्मन् श्रेयो यदिह मन्यसे॥ ८॥

मुने! आपके पास कौन-सी ऐसी बुद्धि, कैसा शास्त्रज्ञान अथवा

कौन-सी वृत्ति है, जिससे आपका जीवन ऐसा बन गया है? ब्रह्मन्! आपके मतसे इस जगत्में मेरे लिये जो श्रेयका साधन हो, उसे शीघ्र बतायें॥ ८॥

भीष्म उवाच

अनुयुक्तः स मेधावी लोकधर्मविधानवित्।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा प्रह्लादमनपार्थया॥ ९॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! प्रह्लादके इस प्रकार पूछनेपर लोक-धर्मके विधानको जाननेवाले उन मेधावी मुनिने उनसे मधुर एवं सार्थक वाणीमें इस प्रकार कहा— ॥ ९॥

पश्य प्रह्लाद भूतानामुत्पत्तिमनिमित्ततः।
ह्रासं वृद्धिं विनाशं च न प्रहृष्ये न च व्यथे॥ १०॥

प्रह्लाद! देखो, इस जगत्के प्राणियोंकी उत्पत्ति, वृद्धि, ह्रास और विनाश कारणरहित सत्स्वरूप परमात्मासे ही हुए हैं; इस कारण मैं उनके लिये न तो हर्ष प्रकट करता हूँ और न व्यथित ही होता हूँ॥ १०॥

स्वभावादेव संदृश्या वर्तमानाः प्रवृत्तयः।
स्वभावनिरताः सर्वाः परितुष्येन्न केनचित्॥ ११॥

ऐसा समझना चाहिये, पूर्वकृत कर्मानुसार बने हुए स्वभावसे ही प्राणियोंकी वर्तमान प्रवृत्तियाँ प्रकट हुई हैं; अतः समस्त प्रजा स्वभावमें ही तत्पर है, उनका दूसरा कोई आश्रय नहीं है। इस रहस्यको समझकर मनुष्यको किसी भी परिस्थितिमें सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये॥ ११॥

पश्य प्रह्लाद संयोगान् विप्रयोगपरायणान्।
सञ्चयांश्च विनाशान्तान् न क्वचिद् विदधे मनः॥ १२॥

प्रह्लाद! देखो, जितने संयोग हैं, उनका पर्यवसान वियोगमें ही होता है और जितने संचय हैं, उनकी समाप्ति विनाशमें ही होती है। यह सब देखकर मैं कहीं भी अपने मनको नहीं लगाता हूँ॥ १२॥

अन्तवन्ति च भूतानि गुणयुक्तानि पश्यतः।
उत्पत्तिनिधनज्ञस्य किं कार्यमवशिष्यते॥ १३॥

जो गुणयुक्त सम्पूर्ण भूतोंको नाशवान् देखता है तथा उत्पत्ति और प्रलयके तत्त्वको जानता है, उसके लिये यहाँ कौन-सा कार्य अवशिष्ट रह जाता है?॥ १३॥

जलजानामपि ह्यन्तं पर्यायेणोपलक्षये।
महतामपि कायानां सूक्ष्माणां च महोदधौ॥ १४॥

महासागरके जलमें पैदा होनेवाले विशाल शरीरवाले तिमि आदि मत्स्यों तथा छोटे-छोटे कीड़ोंका भी मैं बारी-बारीसे विनाश होता देखता हूँ॥ १४॥

जङ्गमस्थावराणां च भूतानामसुराधिप।
पार्थिवानामपि व्यक्तं मृत्युं पश्यामि सर्वशः॥ १५॥

असुरराज! पृथ्वीपर भी जितने स्थावर-जंगम प्राणी हैं, उन सबकी मृत्यु मुझे स्पष्ट दिखायी दे रही है॥ १५॥

अन्तरिक्षचराणां च दानवोत्तम पक्षिणाम्।
उत्तिष्ठते यथाकालं मृत्युर्बलवतामपि॥ १६॥

दानवश्रेष्ठ! आकाशमें विचरनेवाले बलवान् पक्षियोंके समक्ष भी यथासमय मृत्यु आ पहुँचती है॥ १६॥

दिवि सञ्चरमाणानि ह्रस्वानि च महान्ति च।
ज्योतींष्यपि यथाकालं पतमानानि लक्षये॥ १७॥

आकाशमें जो छोटे-बड़े ज्योतिर्मय नक्षत्र विचर रहे हैं, उन्हें भी मैं यथासमय नीचे गिरते देखता हूँ॥ १७॥

इति भूतानि सम्पश्यन्ननुषक्तानि मृत्युना।
सर्वसामान्यगो विद्वान् कृतकृत्यः सुखं स्वपे॥ १८॥

इस प्रकार सारे प्राणियोंको मैं मृत्युके पाशमें बद्ध देखता हूँ; इसलिये तत्त्वको जानकर कृतकृत्य हो सबके प्रति समान भाव रखता

हुआ सुखसे सोता हूँ॥ १८॥

सुमहान्तमपि ग्रासं ग्रसे लब्धं यदृच्छया।
शये पुनरभुञ्जानो दिवसानि बहून्यपि॥ १९॥

यदि दैवेच्छासे अकस्मात् अधिक भोजन प्राप्त हो जाय तो मैं बहुत खा लेता हूँ, ग्रासमात्र मिले तो उसीमें सन्तुष्ट रहता हूँ और न मिला तो बहुत दिनोंतक बिना खाये-पीये भी सो रहता हूँ॥ १९॥

आशयन्त्यपि मामन्नं पुनर्बहुगुणं बहु।
पुनरल्पं पुनःस्तोकं पुनर्नैवोपपद्यते॥ २०॥

फिर कितने ही लोग आकर मुझे अनेक गुणोंसे सम्पन्न बहुत-सा अन्न खिला देते हैं। पुनः कभी बहुत थोड़ा, कभी थोड़ेसे भी थोड़ा भोजन मिलता है और कभी वह भी नहीं मिलता॥ २०॥

कणं कदाचित् खादामि पिण्याकमपि च ग्रसे।
भक्षये शालिमांसानि भक्षांश्चोच्चावचान् पुनः॥ २१॥

कभी चावलकी कनी खाता हूँ, कभी तिलकी खली ही खाकर रह जाता हूँ और कभी अगहनीके चावलका भात भरपेट खाता हूँ। इस प्रकार मुझे बढ़िया-घटिया सभी तरहके भोजन बारम्बार प्राप्त होते रहते हैं॥ २१॥

शये कदाचित् पर्यङ्के भूमावपि पुनः शये।
प्रासादे चापि मे शय्या कदाचिदुपपद्यते॥ २२॥

कभी पलंगपर सोता हूँ, कभी पृथ्वीपर ही पड़ा रहता हूँ और कभी-कभी मुझे महलके भीतर बिछी हुई बहुमूल्य शय्या भी उपलब्ध हो जाती है॥ २२॥

धारयामि च चीराणि शाणक्षौमाजिनानि च।
महार्हाणि च वासांसि धारयाम्यहमेकदा॥ २३॥

मैं कभी तो चिथड़े अथवा वल्कल पहनकर रहता हूँ, कभी सनके, कभी रेशमके और कभी मृगचर्मके वस्त्र धारण करता हूँ तथा किसी

एक कालमें बहुत-से बहुमूल्य वस्त्रोंको भी पहन लेता हूँ॥ २३॥

न संनिपतितं धर्म्यमुपभोगं यदृच्छया।
प्रत्याचक्षे न चाप्येनमनुरुध्ये सुदुर्लभम्॥ २४॥

यदि दैववश मुझे कोई धर्मानुकूल भोग्य पदार्थ प्राप्त हो जाय तो मैं उससे द्वेष नहीं करता हूँ और प्राप्त न होनेपर किसी दुर्लभ भोगकी भी कभी इच्छा नहीं करता॥ २४॥

अचलमनिधनं शिवं विशोकं
शुचिमतुलं विदुषां मते प्रविष्टम्।
अनभिमतमसेवितं विमूढै-
र्व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥ २५॥

मैं सदा पवित्रभावसे रहकर इस अजगरवृत्तिका अनुसरण करता हूँ। यह अत्यन्त सुदृढ़, मृत्युसे दूर रखनेवाली, कल्याणमय, शोकहीन, शुद्ध, अनुपम और विद्वानोंके मतके अनुकूल है। मूर्ख मनुष्य न तो इसे मानते हैं और न इसका सेवन ही करते हैं॥ २५॥

अचलितमतिरच्युतः स्वधर्मात्
परिमितसंसरणः परावरज्ञः।
विगतभयकषायलोभमोहो
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥ २६॥

मेरी बुद्धि अविचल है, मैं अपने धर्मसे च्युत नहीं हुआ हूँ, मेरा सांसारिक व्यवहार परिमित हो गया है, मुझे उत्तम और अधमका ज्ञान है, मेरे हृदयसे भय, राग-द्वेष, लोभ और मोह दूर हो गये हैं तथा पवित्रभावसे रहकर इस अजगरोचित व्रतका आचरण करता हूँ॥ २६॥

अनियतफलभक्ष्यभोज्यपेयं
विधिपरिणामविभक्तदेशकालम्।

हृदयसुखमसेवितं कदर्यै-
र्व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥ २७॥

यह अजगर-सम्बन्धी व्रत मेरे हृदयको सुख देनेवाला है। इसमें भक्ष्य, भोज्य, पेय और फल आदिके मिलनेकी कोई नियत व्यवस्था नहीं रहती—अनियतरूपसे जो कुछ मिल जाय, उसीसे निर्वाह करना होता है। इस व्रतमें प्रारब्धके परिणामके अनुसार देश और कालका विभाग नियत है। विषयलोलुप नीच पुरुष इसका सेवन नहीं करते, मैं पवित्रभावसे इसी व्रतका आचरण करता हूँ॥ २७॥

इदमिदमिति तृष्णयाभिभूतं
जनमनवाप्तधनं विषीदमानम्।
निपुणमनुनिशम्य तत्त्वबुद्ध्या
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥ २८॥

जो यह मिले, वह मिले—इस प्रकार तृष्णासे दबे रहते हैं और धन न मिलनेके कारण निरन्तर विषाद करते हैं; ऐसे लोगोंकी दशा अच्छी तरह देखकर तात्त्विक बुद्धिसे सम्पन्न हुआ मैं पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ॥ २८॥

बहुविधमनुदृश्य चार्थहेतोः
कृपणमिहार्यमनार्यमाश्रयन्तम् ।
उपशमरुचिरात्मवान् प्रशान्तो
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥ २९॥

मैं बारम्बार देखता हूँ कि श्रेष्ठ मनुष्य भी धनके लिये दीनभावसे नीच पुरुषका आश्रय लेते हैं। यह देखकर मेरी रुचि प्रशान्त हो गयी है। अतः मैं अपने स्वरूपको प्राप्त और सर्वथा शान्त हो गया हूँ और पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ॥ २९॥

सुखमसुखमलाभमर्थलाभं
रतिमरतिं मरणं च जीवितं च।
विधिनियतमवेक्ष्य तत्त्वतोऽहं
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥ ३०॥

सुख-दुःख, लाभ-हानि, अनुकूल और प्रतिकूल तथा जीवन और मरण—ये सब दैवके अधीन हैं। इस प्रकार यथार्थरूपसे जानकर मैं शुद्धभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ॥ ३०॥

अपगतभयरागमोहदर्पो
धृतिमतिबुद्धिसमन्वितः प्रशान्तः।
उपगतफलभोगिनो निशम्य
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥ ३१॥

मेरे भय, राग, मोह और अभिमान नष्ट हो गये हैं। मैं धृति, मति और बुद्धिसे सम्पन्न एवं पूर्णतया शान्त हूँ और प्रारब्धवश स्वतः अपने समीप आयी हुई वस्तुका ही उपभोग करनेवालोंको देखकर मैं पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ॥ ३१॥

अनियतशयनासनः प्रकृत्या
दमनियमव्रतसत्यशौचयुक्तः ।
अपगतफलसञ्चयः प्रहृष्टो
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥ ३२॥

मेरे सोने-बैठनेका कोई नियत स्थान नहीं है। मैं स्वभावतः दम, नियम, व्रत, सत्य और शौचाचारसे सम्पन्न हूँ। मेरे कर्मफल-संचयका नाश हो चुका है। मैं प्रसन्नतापूर्वक पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ॥ ३२॥

अपगतमसुखार्थमीहनार्थै-
रुपगतबुद्धिरवेक्ष्य चात्मसंस्थम्।

तृषितमनियतं मनो नियन्तुं
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥ ३३॥

जिनका परिणाम दु:ख है, उन इच्छाके विषयभूत समस्त पदार्थोंसे जो विरक्त हो चुका है, ऐसे आत्मनिष्ठ महापुरुषको देखकर मुझे ज्ञान प्राप्त हो गया है। अत: मैं तृष्णासे व्याकुल असंयत मनको वशमें करनेके लिये पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ॥ ३३॥

न हृदयमनुरुध्य वाङ्मनो वा
प्रियसुखदुर्लभतामनित्यतां च।
तदुभयमुपलक्षयन्निवाहं
व्रतमिदमाजगरं शुचिश्चरामि॥ ३४॥

मन, वाणी और बुद्धिकी उपेक्षा करके इनको प्रिय लगनेवाले विषय-सुखोंकी दुर्लभता तथा अनित्यता—इन दोनोंको देखनेवालेकी भाँति मैं पवित्रभावसे इस आजगरव्रतका आचरण करता हूँ॥ ३४॥

बहुकथितमिदं हि बुद्धिमद्भिः
कविभिरपि प्रथयद्भिरात्मकीर्तिम्।
इदमिदमिति तत्र तत्र हन्त
स्वपरमतैर्गहनं प्रतर्कयद्भिः॥ ३५॥

अपनी कीर्तिका विस्तार करनेवाले विद्वानों और बुद्धिमानोंने अपने और दूसरोंके मतसे गहन तर्क और वितर्क करके 'ऐसे करना चाहिये' 'ऐसे करना चाहिये' इत्यादि कहकर इस व्रतकी अनेक प्रकारसे व्याख्या की है॥ ३५॥

तदिदमनुनिशम्य विप्रपातं
पृथगभिपन्नमिहाबुधैर्मनुष्यैः ।
अनवसितमनन्तदोषपारं
नृषु विहरामि विनीतदोषतृष्णः॥ ३६॥

मूर्खलोग इस आजगरवृत्तिको सुनकर इसे पहाड़की चोटीसे

गिरनेकी भाँति भयंकर समझते हैं। परंतु उनकी वह मान्यता भिन्न है। मैं इस अजगरवृत्तिको अज्ञानका नाशक और समस्त दोषोंसे रहित मानता हूँ। अतः दोष और तृष्णाका त्याग करके मनुष्योंमें विचरता हूँ॥ ३६॥

भीष्म उवाच

अजगरचरितं व्रतं महात्मा
य इह नरोऽनुचरेद् विनीतरागः।
अपगतभयलोभमोहमन्युः
स खलु सुखी विचरेदिमं विहारम्॥ ३७॥

भीष्मजी कहते हैं—राजन्! जो महापुरुष राग, भय, लोभ, मोह और क्रोधको त्यागकर इस आजगरव्रतका पालन करता है, वह इस लोकमें सानन्द विचरण करता है॥ ३७॥

॥ इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि आजगरगीता सम्पूर्णा॥

हारीतगीता

[प्राचीन कालमें हारीतमुनिने मुमुक्षु पुरुषके प्रधान कर्तव्योंसे सम्बद्ध जो उपदेश दिये थे, उन्हींका परिचय शरशय्यापर लेटे पितामह भीष्मद्वारा युधिष्ठिरको दिया गया था। यह वर्णन महाभारतके शान्तिपर्वमें प्राप्त है, इसीको 'हारीतगीता' कहते हैं। इस लघुकाय गीतामें मुख्यतः संन्यासीके आचरण एवं कर्तव्योंका वर्णन है। इसकी भाषा अत्यन्त सरल, सुबोध तथा सारगर्भित है। संन्यासियोंके लिये प्रकाशस्तम्भसदृश यह हारीतगीता यहाँ सानुवाद प्रस्तुत की जा रही है—]

युधिष्ठिर उवाच

किंशीलः किंसमाचारः किंविद्यः किंपरायणः।
प्राप्नोति ब्रह्मणः स्थानं यत् परं प्रकृतेर्ध्रुवम्॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! प्रकृतिसे परे जो परब्रह्मका अविनाशी परमधाम है, उसे कैसे स्वभाव, किस तरहके आचरण, कैसी विद्या और किन कर्मोंमें तत्पर रहनेवाला पुरुष प्राप्त कर सकता है?॥ १॥

भीष्म उवाच

मोक्षधर्मेषु निरतो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
प्राप्नोति परमं स्थानं यत् परं प्रकृतेर्ध्रुवम्॥ २॥

भीष्मजीने कहा—राजन्! जो पुरुष मोक्षधर्मोंमें तत्पर, मिताहारी और जितेन्द्रिय होता है, वह उस प्रकृतिसे परे परब्रह्म परमात्माका जो अविनाशी परमधाम है, उसे प्राप्त कर लेता है॥ २॥

(अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
हारीतेन पुरा गीतं तं निबोध युधिष्ठिर॥)

युधिष्ठिर! पूर्वकालमें हारीतमुनिने जो ज्ञानका उपदेश किया है,

इस विषयमें विज्ञ पुरुष उसी प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, उसे सुनो।

स्वगृहादभिनिस्सृत्य लाभेऽलाभे समो मुनिः।
समुपोढेषु कामेषु निरपेक्षः परिव्रजेत्॥ ३॥

मुमुक्षु पुरुषको चाहिये कि लाभ और हानिमें समान भाव रखकर मुनिवृत्तिसे रहे और भोगोंके उपस्थित होनेपर भी उनकी आकांक्षासे रहित हो अपने घरसे निकलकर संन्यास ग्रहण कर ले॥ ३॥

न चक्षुषा न मनसा न वाचा दूषयेदपि।
न प्रत्यक्षं परोक्षं वा दूषणं व्याहरेत् क्वचित्॥ ४॥

न नेत्रसे, न मनसे और न वाणीसे ही वह दूसरेके दोष देखे, सोचे या कहे। किसीके सामने या परोक्षमें पराये दोषकी चर्चा कहीं न करे॥ ४॥

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥ ५॥

समस्त प्राणियोंमेंसे किसीकी भी हिंसा न करे—किसीको भी पीड़ा न दे। सबके प्रति मित्रभाव रखकर विचरता रहे। इस नश्वर जीवनको लेकर किसीके साथ शत्रुता न करे॥ ५॥

अतिवादांस्तितिक्षेत नाभिमन्येत कञ्चन।
क्रोध्यमानः प्रियं ब्रूयादाक्रुष्टः कुशलं वदेत्॥ ६॥

यदि कोई अपने प्रति अमर्यादित बात कहे—निन्दा या कटुवचन सुनाये तो उसके उन वचनोंको चुपचाप सह ले। किसीके प्रति अहंकार या घमंड न प्रकट करे। कोई क्रोध करे तो भी उससे प्रिय वचन ही बोले। यदि कोई गाली दे तो भी उसके प्रति हितकर वचन ही मुँहसे निकाले॥ ६॥

प्रदक्षिणं च सव्यं च ग्राममध्ये च नाचरेत्।
भैक्षचर्यामनापन्नो न गच्छेत् पूर्वकेतितः॥ ७॥

गाँव या जनसमुदायमें दायें-बायें न करे—किसीका पक्ष-विपक्ष न करे तथा भिक्षावृत्तिको छोड़कर किसीके यहाँ पहलेसे निमन्त्रित होकर भोजनके लिये न जाय॥ ७॥

अवकीर्णः सुगुप्तश्च न वाचा ह्यप्रियं वदेत्।
मृदुः स्यादप्रतिक्रूरो विस्रब्धः स्यादकत्थनः॥ ८॥

कोई अपने ऊपर धूल या कीचड़ फेंके तो मुमुक्षु पुरुष उससे आत्मरक्षामात्र करे। बदलेमें स्वयं भी वैसा ही न करे और न मुँहसे कोई अप्रिय वचन ही निकाले। सर्वदा मृदुताका बर्ताव करे। किसीके प्रति कठोरता न करे। निश्चिन्त रहे और बहुत बढ़-बढ़कर बातें न बनाये॥ ८॥

विधूमे न्यस्तमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
अतीतपात्रसञ्चारे भिक्षां लिप्सेत वै मुनिः॥ ९॥

जब रसोईघरसे धूआँ निकलना बन्द हो जाय, अनाज-मसाला कूटनेके लिये उठाया हुआ मूसल अलग रख दिया जाय, चूल्हेकी आग ठंडी पड़ जाय, घरके लोग भोजन कर चुके हों और बर्तनोंका संचार—रसोई परोसी हुई थालीका इधर-उधर ले जाया जाना बन्द हो जाय, उस समय संन्यासी मुनिको भिक्षा प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये॥ ९॥

प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रालाभेष्वनादृतः।
अलाभे न विहन्येत लाभश्चैनं न हर्षयेत्॥ १०॥

उसे केवल अपनी प्राणयात्राके निर्वाहमात्रका यत्न करना चाहिये। भर पेट भोजन मिल जाय, इसकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये। यदि भिक्षा न मिले तो उससे मनमें पीड़ाका अनुभव न करे और मिल जाय तो उसके कारण वह हर्षित न हो॥ १०॥

लाभं साधारणं नेच्छेन्न भुञ्जीताभिपूजितः।
अभिपूजितलाभं हि जुगुप्सेतैव तादृशः॥ ११॥

साधारण (लौकिक) लाभकी इच्छा न करे। जहाँ विशेष आदर एवं पूजा होती हो, वहाँ भोजन न करे। मुमुक्षु पुरुषको आदर-सत्कारके लाभकी तो निन्दा करनी चाहिये॥ ११॥

न चान्नदोषान् निन्देत न गुणानभिपूजयेत्।
शय्यासने विविक्ते च नित्यमेवाभिपूजयेत्॥ १२॥

भिक्षामें मिले हुए अन्नके दोष बताकर उनकी निन्दा न करे और न उसके गुण बताकर उन गुणोंकी प्रशंसा ही करे। सोने और बैठनेके लिये सदा एकान्तका ही आदर करे॥ १२॥

शून्यागारं वृक्षमूलमरण्यमथवा गुहाम्।
अज्ञातचर्यां गत्वान्यां ततोऽन्यत्रैव संविशेत्॥ १३॥

सूने घर, वृक्षकी जड़, जंगल अथवा पर्वतकी गुफामें अथवा अन्य किसी गुप्त स्थानमें अज्ञातभावसे रहकर आत्मचिन्तनमें ही लगा रहे॥ १३॥

अनुरोधविरोधाभ्यां समः स्यादचलो ध्रुवः।
सुकृतं दुष्कृतं चोभे नानुरुध्येत कर्मणा॥ १४॥

लोगोंके अनुरोध या विरोध करनेपर भी सदा समभावसे रहे, निश्चल एवं स्थिरचित्त हो जाय तथा अपने कर्मोंद्वारा पुण्य एवं पापका अनुसरण न करे॥ १४॥

नित्यतृप्तः सुसन्तुष्टः प्रसन्नवदनेन्द्रियः।
विभीर्जप्यपरो मौनी वैराग्यं समुपाश्रितः॥ १५॥

सर्वदा तृप्त और सन्तुष्ट रहे। मुख और इन्द्रियोंको प्रसन्न रखे। भयको पास न आने दे। प्रणव आदिका जप करता रहे तथा वैराग्यका आश्रय ले मौन रहे॥ १५॥

अभ्यस्तं भौतिकं पश्यन् भूतानामागतिं गतिम्।
निःस्पृहः समदर्शी च पक्वापक्वेन वर्तयन्।
आत्मना यः प्रशान्तात्मा लघ्वाहारो जितेन्द्रियः॥ १६॥

भौतिक देह, इन्द्रिय आदि सभी वस्तुएँ नष्ट होनेवाली हैं और प्राणियोंके आवागमन—जन्म और मरण बारम्बार होते रहते हैं। यह सब देख और सोचकर जो सर्वत्र निःस्पृह तथा समदर्शी हो गया है, पके (रोटी, भात आदि) और कच्चे (फल, मूल आदि)-से जीवन-निर्वाह करता है, आत्मलाभके लिये जो शान्तचित्त हो गया है तथा जो मिताहारी और जितेन्द्रिय है, वही वास्तवमें संन्यासी कहलानेयोग्य है॥ १६॥

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं
हिंसावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान् वेगान् विषहेद् वै तपस्वी
निन्दा चास्य हृदयं नोपहन्यात्॥ १७॥

संन्यासी तपस्वी होकर वाणी, मन, क्रोध, हिंसा, उदर और उपस्थ—इनके वेगोंको सहता हुआ इन्हें वशमें रखे। दूसरोंद्वारा की हुई निन्दा उसके हृदयमें कोई विकार न उत्पन्न करे॥ १७॥

मध्यस्थ एव तिष्ठेत प्रशंसानिन्दयोः समः।
एतत् पवित्रं परमं परिव्राजक आश्रमे॥ १८॥

प्रशंसा और निन्दा—दोनोंमें समान भाव रखकर उदासीन ही रहना चाहिये। संन्यासाश्रममें इस प्रकारका आचरण परम पवित्र माना गया है॥ १८॥

महात्मा सर्वतो दान्तः सर्वत्रैवानपाश्रितः।
अपूर्वचारकः सौम्यो अनिकेतः समाहितः॥ १९॥

संन्यासीको महामनस्वी, सब प्रकारसे जितेन्द्रिय, सब ओरसे

असंग, सौम्य, मठ और कुटियासे रहित तथा एकाग्रचित्त होना चाहिये। उसे अपने पूर्व आश्रमके परिचित स्थानोंमें नहीं विचरना चाहिये॥ १९॥

वानप्रस्थगृहस्थाभ्यां न संसृज्येत कर्हिचित्।
अज्ञातलिप्सं लिप्सेत न चैनं हर्ष आविशेत्॥ २०॥

वानप्रस्थों और गृहस्थोंके साथ उसे कभी संसर्ग नहीं रखना चाहिये। अपनी रुचि प्रकट किये बिना ही जो वस्तु प्राप्त हो जाय, उसीको लेनेकी इच्छा रखनी चाहिये तथा अभीष्ट वस्तुके मिलनेपर उसके मनमें हर्षका आवेश नहीं होना चाहिये॥ २०॥

विजानतां मोक्ष एष श्रमः स्यादविजानताम्।
मोक्षयानमिदं कृत्स्नं विदुषां हारितोऽब्रवीत्॥ २१॥

यह संन्यासाश्रम ज्ञानियोंके लिये तो मोक्षरूप है, परंतु अज्ञानियोंके लिये श्रमरूप ही है। हारीतमुनिने विद्वानोंके लिये इस सम्पूर्ण धर्मको मोक्षका विमान बताया है॥ २१॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा यः प्रव्रजेद् गृहात्।
लोकास्तेजोमयास्तस्य तथानन्त्याय कल्पते॥ २२॥

जो पुरुष सबको अभय-दान देकर घरसे निकल जाता है, उसे तेजोमय लोकोंकी प्राप्ति होती है तथा वह अनन्त परमात्मपदको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है॥ २२॥

॥ इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि हारीतगीता सम्पूर्णा॥

वृत्रगीता

[महाबली वृत्रासुरको जब देवताओंद्वारा पराजित होकर भी कोई शोक-सन्ताप नहीं हुआ तो दैत्यगुरु शुक्राचार्यजीको बड़ा आश्चर्य हुआ। उनके पूछनेपर वृत्रासुरने बहुत ज्ञानयुक्त वचन कहे, परंतु साथ ही वृत्रासुरने भगवान् विष्णुके प्रभाव, मनुष्योंद्वारा जीवनधारणके हेतु, कर्मोंमें प्रवृत्तिका कारण, कर्मफल तथा सनातनपदकी प्राप्तिका उपाय आदिके विषयमें जिज्ञासा व्यक्त की, जिसका समाधान वहाँ उपस्थित हुए भगवान् सनत्कुमारजीने उत्तम रीतिसे किया, जो सभी कल्याणकामी साधकोंके लिये लाभप्रद है। यह वृत्रासुर-शुक्राचार्यका संवाद तथा सनत्कुमारजीद्वारा उनको दिये गये उपदेश मिलकर 'वृत्रगीता' नामसे ख्यात हुए, जो महाभारतके शान्तिपर्वके अन्तर्गत भीष्म-युधिष्ठिर-संवादका ही अंग है। यह वृत्रगीता यहाँ सानुवाद प्रस्तुत की जा रही है—]

पहला अध्याय

ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय तथा उस विषयमें वृत्र-शुक्र-संवादका आरम्भ

युधिष्ठिर उवाच

धन्या धन्या इति जनाः सर्वेऽस्मान् प्रवदन्त्युत।
न दुःखिततरः कश्चित् पुमानस्माभिरस्ति ह॥ १॥

युधिष्ठिरने कहा—पितामह! सभी लोग हमलोगोंको धन्य-धन्य कहते हैं, परंतु हमलोगोंसे बढ़कर अत्यन्त दुःखी दूसरा कोई मनुष्य नहीं है॥ १॥

लोकसम्भावितैर्दुःखं यत् प्राप्तं कुरुसत्तम।
प्राप्य जातिं मनुष्येषु देवैरपि पितामह॥ २॥

कुरुश्रेष्ठ पितामह! देवताओंद्वारा मानवलोकमें जन्म पाकर तथा सब

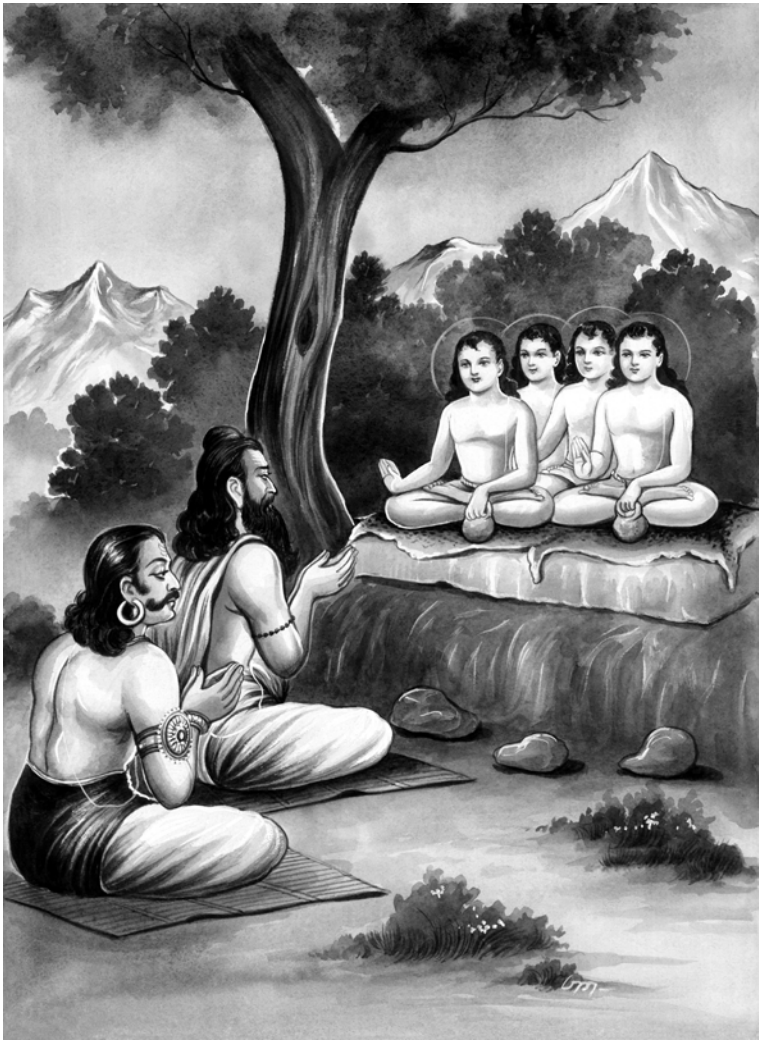

सनकादि महर्षियोंकी शुक्राचार्य एवं वृत्रासुरसे भेंट

लोगोंद्वारा सम्मानित होकर भी हमें यहाँ महान् दुःख प्राप्त हुआ है॥ २॥

कदा वयं करिष्यामः संन्यासं दुःखसंज्ञकम्।
दुःखमेतच्छरीराणां धारणं कुरुसत्तम॥ ३॥

कुरुश्रेष्ठ! संसारी मनुष्य जिसे दुःख कहते हैं, उस संन्यासका अवलम्बन हमलोग कब करेंगे? हमें तो इन शरीरोंका धारण करना ही दुःख जान पड़ता है॥ ३॥

विमुक्ताः सप्तदशभिर्हेतुभूतैश्च पञ्चभिः।
इन्द्रियार्थैर्गुणैश्चैव अष्टाभिश्च पितामह॥ ४॥
न गच्छन्ति पुनर्भावं मुनयः संशितव्रताः।
कदा वयं गमिष्यामो राज्यं हित्वा परंतप॥ ५॥

पितामह! पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण, मन और बुद्धि—ये सत्रह तत्त्व; काम, क्रोध, लोभ, भय और स्वप्न—ये संसारके पाँच हेतु; शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच विषय; सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण तथा पाँच भूतोंसहित अविद्या, अहंकार और कर्म—ये आठ तत्त्वोंके समुदाय सब मिलाकर अड़तीस तत्त्व होते हैं। इन सबसे मुक्त हुए तीक्ष्ण व्रतधारी मुनि पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होते हैं। परंतप पितामह! हमलोग भी कब अपना राज्य छोड़कर इसी स्थितिको प्राप्त होंगे॥ ४-५॥

भीष्म उवाच

नास्त्यनन्तं महाराज सर्वं संख्यानगोचरः।
पुनर्भावोऽपि विख्यातो नास्ति किञ्चिदिहाचलम्॥ ६॥

भीष्मजीने कहा—महाराज! दुःख अनन्त नहीं हैं। जगत्‌की सभी वस्तुएँ संख्याकी सीमामें ही हैं—असंख्य नहीं हैं। पुनर्जन्म भी नश्वरताके लिये विख्यात ही है। तात्पर्य यह कि इस जगत्‌में कोई भी वस्तु अचल या स्थायी नहीं है॥ ६॥

न चापि मन्यसे राजन्नेष दोषः प्रसङ्गतः।
उद्योगादेव धर्मज्ञाः कालेनैव गमिष्यथ॥ ७॥

तुम जो ऐसा मानते हो कि ऐश्वर्य दोषकारक होता है, क्योंकि वह आसक्तिका हेतु होनेके कारण मोक्षका प्रतिबन्धक है तो तुम्हारी यह मान्यता ठीक नहीं है; क्योंकि तुम सब लोग धर्मके ज्ञाता हो। स्वयं ही उद्योग करके शम, दम आदि साधनोंद्वारा कुछ ही कालमें मोक्ष प्राप्त कर सकते हो॥ ७॥

नेशेऽयं सततं देही नृपते पुण्यपापयोः।
तत एव समुत्थेन तमसा रुध्यतेऽपि च॥ ८॥

नरेश्वर! यह जीवात्मा पुण्य और पापके फल सुख और दुःख भोगनेमें स्वतन्त्र नहीं है, उन पुण्य और पापोंसे उत्पन्न संस्काररूप अन्धकारसे यह आच्छन्न हो जाता है॥ ८॥

यथाञ्जनमयो वायुः पुनर्मानःशिलं रजः।
अनुप्रविश्य तद्वर्णो दृश्यते रञ्जयन् दिशः॥ ९॥
तथा कर्मफलैर्देही रञ्जितस्तमसावृतः।
विवर्णो वर्णमाश्रित्य देहेषु परिवर्तते॥ १०॥

जैसे अन्धकारमयी वायु मैनसिलके लाल-पीले चूर्णमें प्रवेश करके उसीके रंगसे युक्त हो सम्पूर्ण दिशाओंको रँगती दिखायी देती है, उसी प्रकार स्वभावतः वर्णविहीन यह जीवात्मा तमोमय अज्ञानसे आवृत और कर्मफलसे रंजित हो वही वर्ण ग्रहणकर अर्थात् विभिन्न शरीरोंके धर्मोंको स्वीकार करके समस्त प्राणियोंके शरीरोंमें घूमता रहता है॥ ९-१०॥

ज्ञानेन हि यदा जन्तुरज्ञानप्रभवं तमः।
व्यपोहति तदा ब्रह्म प्रकाशति सनातनम्॥ ११॥

जब जीव तत्त्वज्ञानद्वारा अज्ञानजनित अन्धकारको दूर कर देता है, तब उसके हृदयमें सनातन ब्रह्म प्रकाशित हो जाता है॥ ११॥

अयत्नसाध्यं मुनयो वदन्ति
ये चापि मुक्तास्त उपासितव्याः।
त्वया च लोकेन च सामरेण
तस्मान्नमस्यामि महर्षिसङ्घान्॥ १२॥

ऋषि-मुनि कहते हैं कि ब्रह्मकी प्राप्ति किसी क्रियात्मक यत्नसे साध्य नहीं है। इसके लिये तो देवताओंसहित सम्पूर्ण जगत्‌को और तुमको उन पुरुषोंकी उपासना करनी चाहिये, जो जीवन्मुक्त हैं; अतएव मैं महर्षियोंके समुदायको नमस्कार करता हूँ॥ १२॥

अस्मिन्नर्थे पुरा गीतं शृणुष्वैकमना नृप।
यथा दैत्येन वृत्रेण भ्रष्टैश्वर्येण चेष्टितम्॥ १३॥
निर्जितेनासहायेन हृतराज्येन भारत।
अशोचता शत्रुमध्ये बुद्धिमास्थाय केवलाम्॥ १४॥

नरेश्वर! इस विषयमें एक प्राचीन इतिहास कहा जाता है। उसे एकचित्त होकर सुनो। भरतनन्दन! पूर्वकालमें वृत्रासुर पराजित और ऐश्वर्य-भ्रष्ट हो गया था। उसका कोई सहायक नहीं रह गया था। देवताओंने उसका राज्य छीन लिया था। उस दशामें पड़कर भी उस असुरने जैसी चेष्टा की थी, उसीका इस कथामें वर्णन है। वह शत्रुओंके बीचमें रहकर भी आसक्तिशून्य बुद्धिका आश्रय ले शोक नहीं करता था॥ १३-१४॥

भ्रष्टैश्वर्यं पुरा वृत्रमुशना वाक्यमब्रवीत्।
काचित् पराजितस्याद्य न व्यथा तेऽस्ति दानव॥ १५॥

पूर्वकालकी बात है कि वृत्रासुरको ऐश्वर्य-भ्रष्ट हुआ देख शुक्राचार्यने उससे पूछा—'दानवराज! तुम्हें देवताओंने पराजित कर दिया है तो भी आजकल तुम्हारे चित्तमें किसी प्रकारकी व्यथा नहीं है; इसका क्या कारण है?'॥ १५॥

वृत्र उवाच

सत्येन तपसा चैव विदित्वासंशयं ह्यहम्।
न शोचामि न हृष्यामि भूतानामागतिं गतिम्॥ १६॥

वृत्रासुरने कहा—ब्रह्मन्! मैंने सत्य और तपके प्रभावसे जीवोंके आवागमनका रहस्य निश्चितरूपसे जान लिया है; इसलिये मैं उसके विषयमें हर्ष और शोक नहीं करता हूँ॥ १६॥

कालसञ्चोदिता जीवा मज्जन्ति नरकेऽवशाः।
परितुष्टानि सर्वाणि दिव्यान्याहुर्मनीषिणः॥ १७॥

कालसे प्रेरित हुए जीव अपने पापकर्मोंके फलस्वरूप विवश होकर नरकमें डूबते हैं और पुण्यके फलसे वे सब-के-सब स्वर्गलोकमें जाकर वहाँ आनन्द भोगते हैं। ऐसा मनीषी पुरुषोंका कथन है॥ १७॥

क्षपयित्वा तु तं कालं गणितं कालचोदिताः।
सावशेषेण कालेन सम्भवन्ति पुनः पुनः॥ १८॥

इस प्रकार स्वर्ग अथवा नरकमें कर्मफलभोगद्वारा निश्चित समय व्यतीत करके भोगनेसे बचे हुए कर्मसहित कालकी प्रेरणासे वे बारम्बार इस संसारमें जन्म लेते रहते हैं॥ १८॥

तिर्यग्योनिसहस्राणि गत्वा नरकमेव च।
निर्गच्छन्त्यवशा जीवाः कामबन्धनबन्धनाः॥ १९॥

कामनाओंके बन्धनमें बँधकर विवश हुए कितने ही जीव सहस्रों बार तिर्यक्योनि तथा नरकमें पड़कर पुनः वहाँसे निकलते हैं॥ १९॥

एवं संसरमाणानि जीवान्यहमदृष्टवान्।
यथा कर्म तथा लाभ इति शास्त्रनिदर्शनम्॥ २०॥

इस प्रकार मैंने सभी जीवोंको जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा हुआ देखा है। शास्त्रका भी ऐसा सिद्धान्त है कि जैसा कर्म होता है, वैसा ही फल मिलता है॥ २०॥

तिर्यग् गच्छन्ति नरकं मानुष्यं दैवमेव च।
सुखदुःखे प्रिये द्वेष्ये चरित्वा पूर्वमेव ह॥ २१॥

प्राणी पहले ही सुख-दुःख तथा प्रिय और अप्रिय विषयोंमें विचरण करके कर्मके अनुसार नरक, तिर्यग्योनि, मनुष्ययोनि अथवा देवयोनिमें जाते हैं॥ २१॥

कृतान्तविधिसंयुक्तः सर्वो लोकः प्रपद्यते।
गतं गच्छन्ति चाध्वानं सर्वभूतानि सर्वदा॥ २२॥

समस्त जीव-जगत् विधाताके विधानसे ही परिचालित हो सुख-दुःख पाता है और समस्त प्राणी सदा चले हुए मार्गपर ही चलते हैं॥ २२॥

कालसंख्यानसंख्यातं सृष्टिस्थितिपरायणम्।
तं भाषमाणं भगवानुशना प्रत्यभाषत।
धीमान् दुष्टप्रलापांस्त्वं तात कस्मात् प्रभाषसे॥ २३॥

जो काल नामसे प्रसिद्ध एवं सृष्टि और पालनके परम आश्रय हैं, उन परमात्माका प्रतिपादन करते हुए वृत्रासुरकी बात सुनकर भगवान् शुक्राचार्यने उससे कहा—'तात! तुम तो बड़े बुद्धिमान् हो, फिर ये असुरभावके विपरीत दोषयुक्त निरर्थक वचन कैसे कह रहे हो?॥ २३॥

वृत्र उवाच

प्रत्यक्षमेतद् भवतस्तथान्येषां मनीषिणाम्।
मया यज्जयलुब्धेन पुरा तप्तं महत् तपः॥ २४॥

वृत्रासुरने कहा—ब्रह्मन्! आपने तथा दूसरे मनीषी महानुभावोंने यह तो प्रत्यक्ष देखा है कि मैंने पहले विजयके लोभसे बड़ी भारी तपस्या की थी॥ २४॥

गन्धानादाय भूतानां रसांश्च विविधानपि।
अवर्धं त्रीन् समाक्रम्य लोकान् वै स्वेन तेजसा॥ २५॥

मैं बलमें बहुत बढ़ा-चढ़ा था; अतः मैंने अपने ही तेजसे तीनों

लोकोंपर आक्रमण करके दूसरे प्राणियोंको धूलमें मिलाकर उनके उपभोगकी गन्ध और रस आदि विविध वस्तुएँ छीन ली थीं॥ २५॥

ज्वालामालापरिक्षिप्तो वैहायसचरस्तथा।
अजेयः सर्वभूतानामासं नित्यमपेतभीः॥ २६॥

मेरे शरीरसे आगकी लपटें निकलती थीं और मैं ज्वालामालाओंसे घिरकर सदा आकाशमें निर्भय विचरता हुआ समस्त प्राणियोंके लिये अजेय हो गया था॥ २६॥

ऐश्वर्यं तपसा प्राप्तं भ्रष्टं तच्च स्वकर्मभिः।
धृतिमास्थाय भगवन् न शोचामि ततस्त्वहम्॥ २७॥

भगवन्! इस प्रकार मैंने तपस्याके प्रभावसे जो ऐश्वर्य प्राप्त किया था, वह मेरे अपने ही कर्मोंसे नष्ट हो गया। तथापि मैं धैर्य धारण करके उसके लिये शोक नहीं करता हूँ॥ २७॥

युयुत्सुना महेन्द्रेण पुंसा सार्धं महात्मना।
ततो मे भगवान् दृष्टो हरिर्नारायणः प्रभुः॥ २८॥

महामनस्वी पुरुषप्रवर देवराज इन्द्र जब युद्धकी इच्छासे मेरे सामने आये, उस समय उनके साथ उन्हींकी सहायताके लिये आये हुए सबके प्रभु भगवान् श्रीनारायण हरिका मैंने दर्शन किया था॥ २८॥

वैकुण्ठः पुरुषोऽनन्तः शुक्लो विष्णुः सनातनः।
मुञ्जकेशो हरिश्मश्रुः सर्वभूतपितामहः॥ २९॥

वे भगवान् वैकुण्ठ, पुरुष, अनन्त, शुक्ल, विष्णु, सनातन, मुंजकेश, हरिश्मश्रु तथा सम्पूर्ण भूतोंके पितामह हैं॥ २९॥

नूनं तु तस्य तपसः सावशेषमिहास्ति वै।
यदहं प्रष्टुमिच्छामि भगवन् कर्मणः फलम्॥ ३०॥

भगवन्! अवश्य ही मेरी उस तपस्याका कोई अंश अब भी शेष

रह गया है, अतः मैं उस कर्मफलके विषयमें प्रश्न करना चाहता हूँ॥ ३०॥

ऐश्वर्यं वै महद् ब्रह्म वर्णे कस्मिन् प्रतिष्ठितम्।
निवर्तते चापि पुनः कथमैश्वर्यमुत्तमम्॥ ३१॥

अणिमा आदि ऐश्वर्य और महद् ब्रह्म किस वर्णमें प्रतिष्ठित हैं? तथा वह उत्तम ऐश्वर्य कैसे नष्ट हो जाता है?॥ ३१॥

कस्माद् भूतानि जीवन्ति प्रवर्तन्ते तथा पुनः।
किं वा फलं परं प्राप्य जीवस्तिष्ठति शाश्वतः॥ ३२॥

प्राणी किस हेतुसे जीवन धारण करते हैं? तथा किस कारणसे कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं? जीव किस परम फलको पाकर अविनाशी एवं सनातनरूपसे प्रतिष्ठित होता है?॥ ३२॥

केन वा कर्मणा शक्यमथ ज्ञानेन केन वा।
तदवाप्तुं फलं विप्र तन्मे व्याख्यातुमर्हसि॥ ३३॥

विप्रवर! किस कर्म अथवा ज्ञानसे उस फलको प्राप्त किया जा सकता है? यह मुझे बतानेकी कृपा करें॥ ३३॥

इतीदमुक्तः स मुनिस्तदानीं
प्रत्याह यत् तच्छृणु राजसिंह।
मयोच्यमानं पुरुषर्षभ त्व-
मनन्यचित्तः सह सोदरीयैः॥ ३४॥

राजसिंह! पुरुषप्रवर युधिष्ठिर! उसके ऐसा प्रश्न करनेपर मुनिवर शुक्राचार्यने उस समय उसे जो उत्तर दिया, उसे मैं बता रहा हूँ, तुम अपने भाइयोंके साथ एकाग्रचित्त होकर सुनो॥ ३४॥

॥ इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वृत्रगीतासु प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

दूसरा अध्याय

वृत्रासुरको सनत्कुमारका अध्यात्मविषयक उपदेश देना और उसकी परमगति तथा भीष्मद्वारा युधिष्ठिरकी शंकाका निवारण

उशनोवाच

नमस्तस्मै भगवते देवाय प्रभविष्णवे।
यस्य पृथ्वीतलं तात साकाशं बाहुगोचरः॥ १॥

शुक्राचार्यने कहा—तात! आकाशसहित यह सारी पृथ्वी जिनकी भुजाओंके बलपर स्थित है, महान् प्रभावशाली उन भगवान् विष्णुदेवको नमस्कार है॥ १॥

मूर्धा यस्य त्वनन्तं च स्थानं दानवसत्तम।
तस्याहं ते प्रवक्ष्यामि विष्णोर्माहात्म्यमुत्तमम्॥ २॥

दानवश्रेष्ठ! जिनका मस्तक और स्थान भी अनन्त है, उन भगवान् विष्णुका उत्तम माहात्म्य मैं तुम्हें बताऊँगा॥ २॥

तयोः संवदतोरेवमाजगाम महामुनिः।
सनत्कुमारो धर्मात्मा संशयच्छेदनाय वै॥ ३॥

शुक्राचार्य और वृत्रासुरमें ये बातें हो ही रही थीं कि वहाँ महामुनि धर्मात्मा सनत्कुमार उनके संशयका निवारण करनेके लिये आ पहुँचे॥ ३॥

स पूजितोऽसुरेन्द्रेण मुनिनोशनसा तथा।
निषसादासने राजन् महार्हे मुनिपुङ्गवः॥ ४॥

राजन्! असुरराज वृत्र और मुनि शुक्राचार्यके द्वारा पूजित हो मुनिवर सनत्कुमार एक बहुमूल्य सिंहासनपर विराजमान हुए॥ ४॥

तमासीनं महाप्रज्ञमुशना वाक्यमब्रवीत्।
ब्रूह्यस्मै दानवेन्द्राय विष्णोर्माहात्म्यमुत्तमम्॥ ५॥

जब महाज्ञानी सनत्कुमार आरामसे बैठ गये, तब शुक्राचार्यने उनसे कहा—'भगवन्! आप इस दानवराजको भगवान् विष्णुका उत्तम माहात्म्य बताइये'॥ ५॥

सनत्कुमारस्तु ततः श्रुत्वा प्राह वचोऽर्थवत्।
विष्णोर्माहात्म्यसंयुक्तं दानवेन्द्राय धीमते॥ ६॥

यह सुनकर सनत्कुमारजीने बुद्धिमान् दानवराज वृत्रासुरके प्रति भगवान् विष्णुकी महिमासे युक्त यह सार्थक वचन कहा—॥ ६॥

शृणु सर्वमिदं दैत्य विष्णोर्माहात्म्यमुत्तमम्।
विष्णौ जगत् स्थितं सर्वमिति विद्धि परंतप॥ ७॥

शत्रुओंको सन्ताप देनेवाले दैत्य! भगवान् विष्णुका यह सम्पूर्ण उत्तम माहात्म्य सुनो—तुम्हें यह मालूम होना चाहिये कि यह समस्त संसार भगवान् विष्णुमें ही स्थित है॥ ७॥

सृजत्येष महाबाहो भूतग्रामं चराचरम्।
एष चाक्षिपते काले काले विसृजते पुनः॥ ८॥

पर महाबाहो! ये श्रीविष्णु ही सम्पूर्ण चराचर प्राणिसमुदायकी सृष्टि करते हैं और ये ही समय आनेपर उसका विनाश करते हैं एवं समय आनेपर पुनः सृष्टि भी करते हैं॥ ८॥

अस्मिन् गच्छन्ति विलयमस्माच्च प्रभवन्त्युत।
नैष ज्ञानवता शक्यस्तपसा नैव चेज्यया।
सम्प्राप्तुमिन्द्रियाणां तु संयमेनैव शक्यते॥ ९॥

समस्त प्राणी इन्हींमें लयको प्राप्त होते हैं और इन्हींसे प्रकट भी होते हैं। इन्हें कोई शास्त्रज्ञान, तपस्या और यज्ञके द्वारा भी नहीं पा सकता। केवल इन्द्रियोंके संयमसे ही उनकी उपलब्धि हो सकती है॥ ९॥

बाह्ये चाभ्यन्तरे चैव कर्मणोर्मनसि स्थितः।
निर्मलीकुरुते बुद्ध्या सोऽमुत्रानन्त्यमश्नुते॥ १०॥

जो बाह्य (यज्ञ आदि) और आभ्यन्तर (शम, दम आदि) कर्मोंमें प्रवृत्त होकर मनके विषयमें स्थिरता प्राप्त करके अर्थात् मनको स्थिर करके बुद्धिके द्वारा उसे निर्मल बनाता है, वह परलोकमें अक्षय सुख (मोक्ष)-को प्राप्त कर लेता है॥ १०॥

यथा हिरण्यकर्ता वै रूप्यमग्नौ विशोधयेत्।
बहुशोऽतिप्रयत्नेन महतात्मकृतेन ह॥ ११॥
तद्वज्जातिशतैर्जीवः शुद्ध्यतेऽनेन कर्मणा।
यत्नेन महता चैवाप्येकजातौ विशुद्ध्यते॥ १२॥

जैसे सोनार बारम्बार किये हुए अपने महान् प्रयत्नके द्वारा चाँदीको आगमें डालकर उसे शुद्ध करता है, उसी प्रकार जीव सैकड़ों जन्मोंमें अपने मनको शुद्ध कर पाता है; परंतु इस यज्ञ आदि और शम-दम आदि कर्मोंद्वारा यदि वह महान् प्रयत्न करे तो एक ही जन्ममें शुद्ध हो जाता है॥ ११-१२॥

लीलयाल्पं यथा गात्रात् प्रमृज्यादात्मनो रजः।
बहुयत्नेन महता दोषनिर्हरणं तथा॥ १३॥

जैसे अपने शरीरमें लगी हुई थोड़ी-सी धूलको मनुष्य साधारण चेष्टासे खेल-खेलमें ही झाड़-पोंछ देता है, उसी प्रकार बारम्बार किये हुए महान् प्रयत्नसे वह अपने राग-द्वेष आदि दोषोंको भी दूर कर सकता है॥ १३॥

यथा चाल्पेन माल्येन वासितं तिलसर्षपम्।
न मुञ्चति स्वकं गन्धं तद्वत् सूक्ष्मस्य दर्शनम्॥ १४॥

जैसे थोड़े-से पुष्प एवं मालाद्वारा वासित किया हुआ तिल और सरसोंका तेल अपनी गन्ध नहीं छोड़ता है, उसी प्रकार थोड़े-से प्रयत्नसे

न तो दोष दूर होते हैं और न सूक्ष्म ब्रह्मका साक्षात्कार ही हो पाता है॥ १४॥

तदेव बहुभिर्माल्यैर्वास्यमानं पुनः पुनः।
विमुञ्चति स्वकं गन्धं माल्यगन्धे च तिष्ठति॥ १५॥
एवं जातिशतैर्युक्तो गुणैरेव प्रसङ्गिषु।
बुद्ध्या निवर्तते दोषो यत्नेनाभ्यासजेन ह॥ १६॥

वही तिल या सरसोंका तेल बहुत-से सुगन्धित पुष्पोंद्वारा बारम्बार वासित होनेपर अपनी गन्धको छोड़ देता है और उस फूलकी गन्धमें ही स्थित हो जाता है। उसी प्रकार सैकड़ों जन्मोंमें स्त्री-पुत्र आदिके संसर्गसे युक्त तथा सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंद्वारा प्रवर्तित दोषसमूह बुद्धि तथा अभ्यासजनित यत्नसे निवृत्त हो पाता है॥ १५-१६॥

कर्मणा स्वनुरक्तानि विरक्तानि च दानव।
यथा कर्मविशेषांश्च प्राप्नुवन्ति तथा शृणु॥ १७॥

दनुनन्दन! कर्मसे अनुरक्त और कर्मसे विरक्त होनेवाले प्राणिसमूह जिस प्रकार राग और विरागके हेतुभूत विभिन्न कर्मोंको प्राप्त होते हैं, वह सुनो॥ १७॥

यथावत् सम्प्रवर्तन्ते यस्मिंस्तिष्ठन्ति वा विभो।
तत् तेऽनुपूर्व्या व्याख्यास्ये तदिहैकमनाः शृणु॥ १८॥

प्रभो! जिस प्रकार वे कर्ममें प्रवृत्त होते तथा जिस निमित्तसे उसमें स्थित होते हैं और जिस अवस्थामें उससे निवृत्त हो जाते हैं, वह सब मैं तुमसे क्रमशः बताऊँगा। तुम उसे यहाँ एकाग्रचित्त होकर सुनो॥ १८॥

अनादिनिधनः श्रीमान् हरिर्नारायणः प्रभुः।
देवः सृजति भूतानि स्थावराणि चराणि च॥ १९॥

श्रीमान् भगवान् नारायण हरि आदि और अन्तसे रहित हैं। वे

ही चराचर प्राणियोंकी रचना करते हैं॥ १९॥

स वै सर्वेषु भूतेषु क्षरश्चाक्षर एव च।
एकादशविकारात्मा जगत् पिबति रश्मिभिः॥ २०॥

वे ही सम्पूर्ण प्राणियोंमें क्षर और अक्षररूपसे विद्यमान हैं। ग्यारह इन्द्रियोंका जो वैकारिक* सर्ग है, वह भी उन्हींका स्वरूप है। वे अपनी चैतन्यमयी किरणोंद्वारा सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त हो रहे हैं॥ २०॥

पादौ तस्य महीं विद्धि मूर्धानं दिवमित्युत।
बाहवस्तु दिशो दैत्य श्रोत्रमाकाशमेव च॥ २१॥
तस्य तेजोमयः सूर्यो मनश्चन्द्रमसि स्थितम्।
बुद्धिर्ज्ञानगता नित्यं रसस्त्वप्सु प्रतिष्ठितः॥ २२॥

दैत्यराज! पृथ्वीको भगवान् विष्णुके दोनों चरण समझो, स्वर्ग-लोकको मस्तक जानो, ये चारों दिशाएँ उनकी चार भुजाएँ हैं, आकाश कान है, तेजस्वी सूर्य उनका नेत्र है, मन चन्द्रमा है, बुद्धि (महत्तत्त्व) उनकी नित्य ज्ञानवृत्ति है और जल रसनेन्द्रिय है॥ २१-२२॥

भ्रुवोरनन्तरास्तस्य ग्रहा दानवसत्तम।
नक्षत्रचक्रं नेत्राभ्यां पादयोर्भूश्च दानव॥ २३॥

दानवप्रवर! सम्पूर्ण ग्रह उनकी दोनों भौंहोंके बीचमें स्थित हैं। नक्षत्रमण्डल नेत्रोंसे प्रकट हुआ है। दनुनन्दन! यह पृथ्वी उनके दोनों चरणोंमें स्थित है॥ २३॥

---

* श्रीविष्णुपुराणमें तीन प्रकारकी प्राकृत सृष्टि बतायी गयी है—पहली महत्तत्त्वकी सृष्टि है, जिसे यहाँ 'क्षर' शब्दसे कहा गया है। दूसरी भूत-सृष्टि मानी गयी है, जो तन्मात्राओंकी सृष्टि है। यहाँ 'भूतेषु' पदके द्वारा उसीकी ओर संकेत किया गया है। 'एकादशविकारात्मा' इस पदके द्वारा तीसरी सृष्टिका निर्देश किया गया है, जिसे वैकारिक अथवा ऐन्द्रियक सर्ग भी कहते हैं। इसमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और एक मन—इन ग्यारह तत्त्वोंकी रचना हुई है।

(तं विद्धि भूतं विश्वादिं परमं विद्धि चेश्वरम्।)
रजस्तमश्च सत्त्वं च विद्धि नारायणात्मकम्।
सोऽश्रमाणां फलं तात कर्मणस्तत् फलं विदुः॥ २४॥

उन्हें तुम सम्पूर्ण भूतस्वरूप, इस जगत्का आदिकारण और परमेश्वर समझो। रजोगुण, तमोगुण और सत्त्वगुण—इन तीनोंको नारायणमय ही मानो। तात! समस्त आश्रमोंका फल वे ही हैं। विद्वान् पुरुष समस्त कर्मोंद्वारा प्राप्तव्य फल उन्हींको मानते हैं॥ २४॥

अकर्मणः फलं चैव स एव परमव्ययः।
छन्दांसि यस्य रोमाणि ह्यक्षरं च सरस्वती॥ २५॥

कर्मोंका त्यागरूप जो संन्यास है, उसका फल भी वे ही अविनाशी परमात्मा हैं। वेद-मन्त्र उनके रोम हैं तथा प्रणव उनकी वाणी है॥ २५॥

बह्वाश्रयो बहुमुखो धर्मो हृदि समाश्रितः।
स ब्रह्म परमो धर्मस्तपश्च सदसच्च सः॥ २६॥

बहुत-से वर्ण और आश्रम उनके आश्रय हैं, उनके अनेक मुख हैं। हृदयमें आश्रित धर्म भी उन्हींका स्वरूप है। वे ही ब्रह्म हैं। वे ही आत्मदर्शनरूप परम धर्म हैं। वे ही तप और सदसत्स्वरूप हैं॥ २६॥

श्रुतिशास्त्रग्रहोपेतः षोडशर्त्विक् क्रतुश्च सः।
पितामहश्च विष्णुश्च सोऽश्विनौ स पुरन्दरः।
मित्रोऽथ वरुणश्चैव यमोऽथ धनदस्तथा॥ २७॥

श्रुति (वेद), शास्त्र और सोमपात्रसहित सोलह* ऋत्विजोंवाला यज्ञ भी वे ही हैं। वे ही ब्रह्मा, विष्णु, दोनों अश्विनीकुमार, इन्द्र,

* सोलह ऋत्विजोंके नाम इस प्रकार हैं—१. ब्रह्मा, २. ब्राह्मणाच्छंसी, ३. आग्नीध्र और ४. पोता—ये चार ऋत्विज सम्पूर्ण वेदोंके ज्ञाता होते हैं। ५. होता, ६. मैत्रावरुण, ७. अच्छावाक और ८. ग्रावस्तोता—ये चार ऋत्विज ऋग्वेदी होते हैं। ९. अध्वर्यु, १०. प्रतिप्रस्थाता, ११. नेष्टा और १२. उन्नेता—ये चार यजुर्वेदी होते हैं। १३. उद्गाता, १४. प्रस्तोता, १५. प्रतिहर्ता तथा १६. सुब्रह्मण्य—ये सामवेदके गायक होते हैं।

मित्र, वरुण, यम और कुबेर हैं॥ २७॥

ते पृथग्दर्शनास्तस्य संविदन्ति तथैकताम्।
एकस्य विद्धि देवस्य सर्वं जगदिदं वशे॥ २८॥

उनका दर्शन पृथक्-पृथक् होनेपर भी वे अपनी एकताको जानते हैं। तुम भी इस सम्पूर्ण जगत्को एक परमात्मदेवके ही अधीन समझो॥ २८॥

नानाभूतस्य दैत्येन्द्र तस्यैकत्वं वदत्ययम्।
जन्तुः पश्यति विज्ञानात् ततो ब्रह्म प्रकाशते॥ २९॥

दैत्यराज! अनेक रूपोंमें प्रकट हुए उन परमात्माकी एकताका यह वेद प्रतिपादन करता है। जीव विज्ञानबलसे ही ब्रह्मका साक्षात्कार करता है। उस समय उसकी बुद्धिमें वह ब्रह्म प्रकाशित हो जाता है॥ २९॥

संहारविक्षेपसहस्रकोटी-
स्तिष्ठन्ति जीवाः प्रचरन्ति चान्ये।
प्रजाविसर्गस्य च पारिमाण्यं
वापीसहस्राणि बहूनि दैत्य॥ ३०॥

कितने ही जीव करोड़ों कल्पोंतक स्थावररूपसे एक स्थानमें स्थित रहते हैं और कितने ही उतने समयतक इधर-उधर विचरते रहते हैं। दैत्यप्रवर! प्रजाकी सृष्टिका परिमाण कई हजार बावड़ियोंकी संख्याके समान है॥ ३०॥

वाप्यः पुनर्योजनविस्तृतास्ताः
क्रोशं च गम्भीरतयावगाढाः।
आयामतः पञ्चशताश्च सर्वाः
प्रत्येकशो योजनतः प्रवृद्धाः॥ ३१॥
वाप्या जलं क्षिप्यति बालकोट्या
त्वह्ना सकृच्चाप्यथ न द्वितीयम्।

तासां क्षये विद्धि परं विसर्गं
संहारमेकं च तथा प्रजानाम्॥ ३२॥

वे सारी बावड़ियाँ पाँच सौ योजन चौड़ी, पाँच सौ योजन लम्बी और एक-एक कोस गहरी हों। गहराई इतनी हो कि कोई उनमें प्रवेश न कर सके। तात्पर्य यह कि प्रत्येक बावड़ी बहुत लम्बी-चौड़ी और गहरी हो—उनमेंसे एक बावड़ीके जलको कोई दिनभरमें एक ही बार एक बालकी नोकसे उलीचे, दूसरी बार न उलीचे। इस प्रकार उलीचनेसे उन सारी बावड़ियोंका जल जितने समयमें समाप्त हो सकता है, उतने ही समयमें प्राणियोंकी सृष्टि और संहारके क्रमकी समाप्ति हो सकती है (अर्थात् जैसे उक्त प्रकारसे उलीचनेपर उन बावड़ियोंका जल सूखना असम्भव है, वैसे ही बिना ज्ञानके संसारका उच्छेद होना असम्भव है।)॥ ३१-३२॥

षड् जीववर्णाः परमं प्रमाणं
कृष्णो धूम्रो नीलमथास्य मध्यम्।
रक्तं पुनः सह्यतरं सुखं तु
हारिद्रवर्णं सुसुखं च शुक्लम्॥ ३३॥

प्राणियोंके वर्ण छः प्रकारके हैं—कृष्ण, धूम्र, नील, रक्त, हरिद्रा (पीला) और शुक्ल।* इनमेंसे कृष्ण, धूम्र और नील वर्णका सुख

* जब तमोगुणकी अधिकता, सत्त्वगुणकी न्यूनता और रजोगुणकी सम अवस्था हो, तब कृष्णवर्ण होता है। यह स्थावर सृष्टिका रंग माना गया है। तमोगुणकी अधिकता, रजोगुणकी न्यूनता और सत्त्वगुणकी सम अवस्था होनेपर धूम्रवर्ण होता है। यह पशु-पक्षीकी योनिमें जन्म लेनेवाले प्राणियोंका वर्ण माना गया है। रजोगुणकी अधिकता, सत्त्वगुणकी न्यूनता और तमोगुणकी सम अवस्था होनेपर नीलवर्ण होता है। यह मानवसर्गका वर्ण बताया गया है। इसीमें जब सत्त्वगुणकी सम अवस्था और तमोगुणकी न्यूनावस्था हो तो मध्यमवर्ण होता है। उसका रंग लाल होता है। इसे अनुग्रह सर्ग कहते हैं। जब सत्त्वगुणकी अधिकता, रजोगुणकी न्यूनता और तमोगुणकी सम अवस्था हो तो हरिद्राके समान पीतवर्ण होता है। यही देवताओंका वर्णन है, अतः इसे देवसर्ग कहते हैं। उसीमें जब रजोगुणकी सम अवस्था और तमोगुणकी न्यूनता हो तो शुक्लवर्ण होता है। इसीको कौमारसर्ग कहा गया है।

मध्यम होता है। रक्तवर्ण विशेष रूपसे सहन करनेयोग्य होता है। हरिद्राकी-सी कान्ति सुख देनेवाली होती है और शुक्लवर्ण अत्यन्त सुखदायक होता है॥ ३३॥

परं तु शुक्लं विमलं विशोकं
गतक्लमं सिद्ध्यति दानवेन्द्र।
गत्वा तु योनिप्रभवाणि दैत्य
सहस्त्रशः सिद्धिमुपैति जीवः॥ ३४॥

दानवराज! शुक्लवर्ण निर्मल, शोकहीन, परिश्रमशून्य होनेके कारण सिद्धिकारक होता है। दितिकुलनन्दन! जीव सहस्त्रों योनियोंमें जन्म ग्रहण करनेके बाद मनुष्ययोनिमें आकर कभी सिद्धि-लाभ करता है॥ ३४॥

गतिं च यां दर्शनमाह देवो
गत्वा शुभं दर्शनमेव चापि।
गतिः पुनर्वर्णकृता प्रजानां
वर्णस्तथा कालकृतोऽसुरेन्द्र॥ ३५॥

असुरेन्द्र! देवराज इन्द्रने मंगलमय तत्त्वज्ञान प्राप्त करके हमारे निकट जिस गति और दर्शन-शास्त्रका वर्णन किया है, वह प्राणियोंकी वर्णजनित गति है अर्थात् शुक्लवर्णवालोंको वही सिद्धि प्राप्त होती है। वह वर्ण कालकृत माना गया है॥ ३५॥

शतं सहस्त्राणि चतुर्दशेह
परागतिर्जीवगणस्य दैत्य।
आरोहणं तत्कृतमेव विद्धि
स्थानं तथा निःसरणं च तेषाम्॥ ३६॥

दैत्यप्रवर! इस जगत्में समस्त जीव-समुदायकी परागति चौदह लाख बतायी गयी है। (पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा मन,

बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये चौदह करण हैं। इन्हींके भेदसे चौदह प्रकारकी गति होती है। फिर विषयभेदसे वृत्तिभेद होनेके कारण चौदह लाख प्रकारकी गति होती है।) जीवका जो ऊर्ध्वलोकोंमें गमन होता है, वह भी उन्हीं चौदह करणोंद्वारा सम्पादित होता है। विभिन्न स्थानोंमें जो स्थिरतापूर्वक निवास है, वह और उन स्थानोंसे जो उन जीवोंका अधःपतन होता है, वह भी उन्हींके सम्बन्धसे होता है। इस बातको तुम अच्छी तरह जान लो (अतः इन चौदह करणोंको सात्त्विक मार्गाभिमुखी बनाना चाहिये)॥ ३६॥

कृष्णस्य वर्णस्य गतिर्निकृष्टा
स सज्जते नरके पच्यमानः।
स्थानं तथा दुर्गतिभिस्तु तस्य
प्रजाविसर्गान् सुबहून् वदन्ति॥ ३७॥

कृष्णवर्णकी गति नीच बतायी गयी है। वह नरक प्रदान करनेवाले निषिद्ध कर्मोंमें आसक्त होता है, इसीलिये नरककी आगमें पकाया जाता है। वह कुमार्गमें प्रवृत्त हुए पूर्वोक्त चौदह करणोंद्वारा पापाचार करनेके कारण अनेक कल्पोंतक नरकमें ही निवास करता है—ऐसा ऋषि-मुनि कहते हैं॥ ३७॥

शतं सहस्राणि ततश्चरित्वा
प्राप्नोति वर्णं हरितं तु पश्चात्।
स चैव तस्मिन् निवसत्यनीशो
युगक्षये तपसा संवृतात्मा॥ ३८॥

तदनन्तर वह जीव लाखों बार (या लाखों वर्षोंतक) नरकमें विचरण करके फिर धूम्रवर्ण पाता है (पशु-पक्षी आदिकी योनिमें जन्म लेता है)। उस योनिमें भी वह विवश होकर बड़े दुःखसे निवास करता है। फिर युगक्षय होनेपर वह तप (पुरातन पुण्यकर्म या विवेक)-

के प्रभावसे सुरक्षित होकर उस संकटसे उद्धार पा जाता है॥ ३८॥

स वै यदा सत्त्वगुणेन युक्त-
स्तमो व्यपोहन् घटते स्वबुद्ध्या।
स लोहितं वर्णमुपैति नीलान्
मनुष्यलोके परिवर्तते च॥ ३९॥

वही जीव जब सत्त्वगुणसे युक्त होता है, तब अपनी बुद्धिके द्वारा तमोगुणकी प्रवृत्तिको दूर हटाता हुआ अपने कल्याणके लिये प्रयत्न करता है। उस समय सत्त्वगुणके बढ़ जानेपर वह रक्तवर्णको प्राप्त होता है (इसीको अनुग्रह सर्ग कहा गया है, चित्तकी विभिन्न वृत्तियोंपर अनुग्रह करनेवाले देवविशेषका ही नाम 'अनुग्रह' है)। जब सत्त्वगुणमें कुछ कमी रह जाती है, तब वह जीव नीलवर्णको प्राप्त होकर मनुष्यलोकमें आवागमन करने लगता है॥ ३९॥

स तत्र संहारविसर्गमेकं
स्वधर्मजैर्बन्धनैः क्लिश्यमानः।
ततः स हारिद्रमुपैति वर्णं
संहारविक्षेपशते व्यतीते॥ ४०॥

तत्पश्चात् वह मनुष्यलोकमें एक कल्पतक स्वधर्मजनित बन्धनोंसे बँधकर क्लेश उठाता हुआ जब धीरे-धीरे अपनी तपस्याको बढ़ाता है, तब हल्दीकी-सी कान्तिवाले पीतवर्ण—देवताभावको प्राप्त होता है। वहाँ भी सैकड़ों कल्प व्यतीत कर लेनेपर वह पुनः पुण्यक्षयके पश्चात् मनुष्य होता है (इस प्रकार वह देवतासे मनुष्य और मनुष्यसे देवता होता रहता है)॥ ४०॥

हारिद्रवर्णस्तु प्रजाविसर्गात्
सहस्त्रशस्तिष्ठति सञ्चरन् वै।

अविप्रमुक्तो निरये च दैत्य
ततः सहस्राणि दशापराणि॥ ४१॥
गतीः सहस्राणि च पञ्च तस्य
चत्वारि संवर्तकृतानि चैव।
विमुक्तमेनं निरयाच्च विद्धि
सर्वेषु चान्येषु च सम्भवेषु॥ ४२॥

हे दितिपुत्र! सहस्रों कल्पोंतक देवरूपसे विचरते रहनेपर भी जीव विषयभोगसे मुक्त नहीं होता तथा प्रत्येक कल्पमें किये हुए अशुभ कर्मोंके फलोंको नरकमें रहकर भोगता हुआ जीव उन्नीस* हजार विभिन्न गतियोंको प्राप्त होता है। तत्पश्चात् उसे नरकसे छुटकारा मिलता है। मनुष्यके सिवा अन्य सभी योनियोंमें केवल सुख-दुःखके भोग प्राप्त होते हैं। मोक्षका सुयोग हाथ नहीं लगता है। इस बातको तुम्हें भलीभाँति समझ लेना चाहिये॥ ४१-४२॥

स देवलोके विहरत्यभीक्ष्णं
ततश्च्युतो मानुषतामुपैति।
संहारविक्षेपशतानि चाष्टौ
मर्त्येषु तिष्ठत्यमृतत्वमेति॥ ४३॥

वह जीव निरन्तर देवलोकमें विहार करता है और वहाँसे भ्रष्ट होनेपर मनुष्ययोनिको प्राप्त होता है। मर्त्यलोकमें वह आठ सौ कल्पोंतक बारम्बार जन्म लेता रहता है। तत्पश्चात् शुभकर्म करके वह पुनः देवभावको प्राप्त करता है (यह आवागमनका चक्र तभीतक चलता है, जबतक जीवको परमज्ञान या अनन्य भक्तिकी प्राप्ति नहीं हो जाती, उसकी प्राप्ति होनेपर तो वह मुक्त या परमात्माको प्राप्त हो जाता है।)॥ ४३॥

---

* दस इन्द्रिय, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण—ये उन्नीस भोगके साधन हैं, विषय और वृत्तियोंके भेदसे इन्हींके उतने ही सौ और उतने ही हजार प्रकार हो जाते हैं।

सोऽस्मादथ भ्रश्यति कालयोगात्
कृष्णे तले तिष्ठति सर्वकृष्टे।
यथा त्वयं सिद्ध्यति जीवलोक-
स्तत् तेऽभिधास्याम्यसुरप्रवीर॥ ४४॥

असुरोंके प्रमुख वीर! वह जीव कालक्रमसे अशुभ कर्म करके कभी-कभी मर्त्यलोकसे भी नीचे गिर जाता है और सबसे निकृष्ट, तलप्रदेशकी भाँति निम्नतम, कृष्णवर्ण (स्थावर योनि)-में जन्म ग्रहण करके स्थित होता है। इस प्रकार उत्थान-पतनके चक्रमें पड़े हुए इस जीवसमूहको जिस प्रकार सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त होती है, वह मैं तुम्हें बता रहा हूँ॥ ४४॥

दैवानि स व्यूहशतानि सप्त
रक्तो हरिद्रोऽथ तथैव शुक्लः।
संश्रित्य सन्धावति शुक्लमेत-
मष्टावरानर्च्यतमान् स लोकान्॥ ४५॥

क्रमशः रक्तवर्ण (अनुग्राहक देवता), हरिद्रावर्ण (देवता) तथा शुक्लवर्ण (सनकादिकुमारों-जैसा सिद्ध शरीरधारी) होकर वह जीव बारी-बारीसे सात सौ दिव्य शरीरोंका आश्रय ले भू आदि सात उत्तमोत्तम लोकोंमें विचरण करके पूर्व पुण्यके प्रभावसे वेगपूर्वक विशुद्ध ब्रह्मलोकमें चला जाता है॥ ४५॥

अष्टौ च षष्टिं च शतानि चैव
मनोनिरुद्धानि महाद्युतीनाम्।
शुक्लस्य वर्णस्य परा गतिर्या
त्रीण्येव रुद्धानि महानुभाव॥ ४६॥

महानुभाव वृत्रासुर! प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्राएँ—

ये आठ तथा दूसरे साठ* तत्त्व और इनकी जो सैकड़ों वृत्तियाँ हैं—ये सब महातेजस्वी योगियोंके मनके द्वारा अवरुद्ध की हुई होती हैं तथा सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंको भी वे अवरुद्ध कर देते हैं। अतः शुक्लवर्णवाले (सनकादिकोंके समान सिद्ध) पुरुषको जो उत्तम गति प्राप्त होती है, वही उन योगियोंको मिलती है॥ ४६॥

संहारविक्षेपमनिष्टमेकं
चत्वारि चान्यानि वसत्यनीशः।
षष्ठस्य वर्णस्य परा गतिर्या
सिद्धावसिद्धस्य गतक्लमस्य॥ ४७॥

जो परमगति छठे (शुक्ल) वर्णके साधकको मिलती है, उसे पानेका अधिकार भ्रष्ट करके भी जो असिद्ध हो रहा है एवं जिसके समस्त पाप नष्ट हो चुके हैं; ऐसा योगी भी यदि योगजनित ऐश्वर्यके सुखभोगकी वासनाका त्याग करनेमें असमर्थ है तो वह न चाहनेपर भी एक कल्पतक अपनी साधनाके फलरूप महः, जन, तप और सत्य—इन चारों लोकोंमें क्रमशः निवास करता है (और कल्पके अन्तमें मुक्त हो जाता है)॥ ४७॥

सप्तोत्तरं तत्र वसत्यनीशः
संहारविक्षेपशतं सशेषम्।
तस्मादुपावृत्य मनुष्यलोके
ततो महान् मानुषतामुपैति॥ ४८॥

किंतु जो भलीभाँति योगसाधनमें असमर्थ है, वह योगभ्रष्ट पुरुष सौ कल्पोंतक ऊपरके सात लोकोंमें निवास करता है। फिर बचे हुए कर्मसंस्कारोंके सहित वहाँसे लौटकर मनुष्यलोकमें पहलेसे बढ़कर

* पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय—ये दस इन्द्रियाँ सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिके भेदसे प्रत्येक छः-छः प्रकारकी होती हैं। इस प्रकार इनके साठ भेद हो जाते हैं।

महत्त्वसम्पन्न हो मनुष्यशरीरको पाता है॥ ४८॥

तस्मादुपावृत्य ततः क्रमेण
सोऽग्रेण संतिष्ठति भूतसर्गम्।
स सप्तकृत्वश्च परैति लोकान्
संहारविक्षेपकृतप्रभावः ॥ ४९॥

तदनन्तर मनुष्ययोनिसे निकलकर वह उत्तरोत्तर श्रेष्ठ देवादि योनियोंकी ओर अग्रसर होता है एवं सातों लोकोंमें प्रभावशाली होकर एक कल्पतक निवास करता है॥ ४९॥

सप्तैव संहारमुपप्लवानि
सम्भाव्य संतिष्ठति जीवलोके।
ततोऽव्ययं स्थानमनन्तमेति
देवस्य विष्णोरथ ब्रह्मणश्च।
शेषस्य चैवाथ नरस्य चैव
देवस्य विष्णोः परमस्य चैव॥ ५०॥

फिर वह योगी भू आदि सात लोकोंको विनाशशील, क्षणभंगुर समझकर पुनः मनुष्यलोकमें भलीभाँति (शोकमोहसे रहित होकर) निवास करता है। तदनन्तर शरीरका अन्त होनेपर वह अव्यय (अविनाशी या निर्विकार) एवं अनन्त (देश, काल और वस्तुकृत परिच्छेदसे शून्य) स्थान (परब्रह्मपद)-को प्राप्त होता है। वह अव्यय एवं अनन्त स्थान किसीके मतमें महादेवजीका कैलासधाम है। किसीके मतमें भगवान् विष्णुका वैकुण्ठधाम है। किसीके मतमें ब्रह्माजीका सत्यलोक है। कोई-कोई उसे भगवान् शेष या अनन्तका धाम बताते हैं। कोई वह जीवका ही परमधाम है—ऐसा कहते हैं और कोई-कोई उसे सर्वव्यापी चिन्मय प्रकाशसे युक्त परब्रह्मका स्वरूप बताते हैं॥ ५०॥

संहारकाले परिदग्धकाया
ब्रह्माणमायान्ति सदा प्रजा हि।
चेष्टात्मनो देवगणाश्च सर्वे
ये ब्रह्मलोके अपराः स्म तेऽपि॥ ५१॥

ज्ञानाग्निके द्वारा जिनके सूक्ष्म, स्थूल और कारणशरीर दग्ध हो गये हैं, वे प्रजाजन अर्थात् योगीलोग प्रलयकालमें सदा परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं एवं जो ब्रह्मलोकसे नीचेके लोकोंमें रहनेवाले साधनशील दैवी प्रकृतिसे सम्पन्न साधक हैं, वे सब परब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं॥ ५१॥

प्रजाविसर्गं तु सशेषकाले
स्थानानि स्वान्येव सरन्ति जीवाः।
निःशेषतस्तत्पदं यान्ति चान्ते
सर्वे देवा ये सदृशा मनुष्याः॥ ५२॥

प्रलयकालमें जो जीव देवभावको प्राप्त थे, वे यदि अपने सम्पूर्ण कर्मफलोंका उपभोग समाप्त करनेसे पहले ही लयको प्राप्त हो जाते हैं तो कल्पान्तरमें पुनः प्रजाकी सृष्टि होनेपर वे शेष फलका उपभोग करनेके लिये उन्हीं स्थानोंको प्राप्त होते हैं, जो उन्हें पूर्वकल्पमें प्राप्त थे; किंतु जो कल्पान्तमें उस योनिसम्बन्धी कर्मफल-भोगको पूर्ण कर चुके हैं, वे स्वर्गलोकका नाश हो जानेपर दूसरे कल्पमें उनके जैसे कर्म हैं, उसीके सदृश अन्य प्राणियोंकी भाँति मनुष्य-योनिको ही प्राप्त होते हैं॥ ५२॥

ये तु च्युताः सिद्धलोकात् क्रमेण
तेषां गतिं यान्ति तथानुपूर्व्या।
जीवाः परे तद् बलतुल्यरूपाः
स्वं स्वं विधिं यान्ति विपर्ययेण॥ ५३॥

जो योगी सिद्धलोकसे गिरकर मृत्युलोकमें आये हैं, उनके समान

साधनबलसे सम्पन्न जो अन्य योगी हैं, वे भी एक लोकसे दूसरे लोकमें ऊपर उठते हुए क्रमशः उन सिद्ध पुरुषोंकी ही गतिको प्राप्त होते हैं। परंतु जो वैसे नहीं हैं, वे विपरीतभावके कारण अपनी-अपनी गतिको प्राप्त होते हैं॥ ५३॥

स यावदेवास्ति सशेषभुक् ते
प्रजाश्च देव्यौ च तथैव शुक्ले।
तावत् तदङ्गेषु विशुद्धभावः
संयम्य पञ्चेन्द्रियरूपमेतत्॥ ५४॥

विशुद्धभावसे सम्पन्न सिद्ध पुरुष जबतक पंचेन्द्रियरूप इस करणसमुदायका संयम करके शेष प्रारब्ध कर्मका उपभोग करता है, तबतक उसके शरीरमें समस्त प्रजागणोंका अर्थात् इन्द्रियोंके देवताओंका तथा अपरा और परा विद्याका निवास रहता है॥ ५४॥

शुद्धां गतिं तां परमां परैति
शुद्धेन नित्यं मनसा विचिन्वन्।
ततोऽव्ययं स्थानमुपैति ब्रह्म
दुष्प्रापमभ्येति स शाश्वतं वै॥ ५५॥

जो साधक सदा शुद्ध मनसे उस विशुद्ध परमगतिका अनुसन्धान करता है, वह उसे अवश्य प्राप्त कर लेता है। तदनन्तर अविकारी, दुर्लभ एवं सनातन ब्रह्मपदको प्राप्त करके वह उसीमें प्रतिष्ठित हो जाता है॥ ५५॥

इत्येतदाख्यातमहीनसत्त्व
नारायणस्येह बलं मया ते॥ ५६॥

उत्कृष्ट बलशाली दैत्यराज! इस प्रकार यहाँ मैंने तुमसे यह भगवान् नारायणका बल एवं प्रभाव बताया है॥ ५६॥

वृत्र उवाच

एवं गते मे न विषादोऽस्ति कश्चित्
सम्यक् च पश्यामि वचस्तथैतत्।
श्रुत्वा तु ते वाचमदीनसत्त्व
विकल्मषोऽस्म्यद्य तथा विपाप्मा॥ ५७॥

वृत्रासुर बोला—उदारचित्त महात्मा सनत्कुमारजी! यदि ऐसी बात है तो मुझे कोई विषाद नहीं है। मैं आपके वचनको अच्छी तरह समझता और इसे यथार्थ मानता हूँ। आज मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि आपकी इस वाणीको सुनकर मेरे सारे पाप और कलुष दूर हो गये॥ ५७॥

प्रवृत्तमेतद् भगवन् महर्षे
महाद्युतेश्चक्रमनन्तवीर्यम् ।
विष्णोरनन्तस्य सनातनं तत्
स्थानं सर्गा यत्र सर्वे प्रवृत्ताः।
स वै महात्मा पुरुषोत्तमो वै
तस्मिन् जगत् सर्वमिदं प्रतिष्ठितम्॥ ५८॥

भगवन्! महर्षे! महातेजस्वी, अनन्त एवं सर्वव्यापी भगवान् विष्णुका यह अमित शक्तिशाली संसारचक्र चल रहा है। यह भगवान् विष्णुका वह सनातन स्थान है, जहाँसे सारी सृष्टियोंका आरम्भ होता है। महात्मा विष्णु पुरुषोत्तम हैं। उन्हींमें यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है॥ ५८॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स कौन्तेय वृत्रः प्राणानवासृजत्।
योजयित्वा तथात्मानं परं स्थानमवाप्तवान्॥ ५९॥

भीष्मजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन! ऐसा कहकर वृत्रासुरने अपने

आत्माको परमात्मामें लगाकर उन्हींका ध्यान करते हुए प्राण त्याग दिये और परमेश्वरके परमधामको प्राप्त कर लिया॥ ५९॥

युधिष्ठिर उवाच

अयं स भगवान् देवः पितामह जनार्दनः।
सनत्कुमारो वृत्राय यत्तदाख्यातवान् पुरा॥ ६०॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! पूर्वकालमें महात्मा सनत्कुमारने वृत्रासुरसे जिनके स्वरूपका वर्णन किया था, वे भगवान् विष्णु—ये हमारे जनार्दन श्रीकृष्ण ही तो हैं?॥ ६०॥

भीष्म उवाच

मूलस्थायी महादेवो भगवान् स्वेन तेजसा।
तत्स्थः सृजति तान् भावान् नानारूपान् महामनाः॥ ६१॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! मूल-कारणरूपसे स्थित, महान् देव, महामनस्वी भगवान् नारायण हैं। वे अपने उस चिन्मय स्वरूपमें स्थित होकर अपने प्रभावसे नाना प्रकारके सम्पूर्ण पदार्थोंकी सृष्टि करते हैं॥ ६१॥

तुरीयांशेन तस्येमं विद्धि केशवमच्युतम्।
तुरीयार्धेन लोकांस्त्रीन् भावयत्येव बुद्धिमान्॥ ६२॥

अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले इन भगवान् श्रीकृष्णको तुम उन श्रीनारायणके एक चतुर्थ अंशसे सम्पन्न समझो। बुद्धिमान् श्रीकृष्ण अपने उस चतुर्थ अंशसे ही तीनों लोकोंकी रचना करते हैं॥ ६२॥

अर्वाक् स्थितस्तु यः स्थायी कल्पान्ते परिवर्तते।
स शेते भगवानप्सु योऽसावतिबलः प्रभुः।
तान् विधाता प्रसन्नात्मा लोकांश्चरति शाश्वतान्॥ ६३॥

जो परवर्ती सनातन नारायण प्रलयकालमें भी विद्यमान हैं, वे ही अत्यन्त बलशाली और सबके अधीश्वर भगवान् श्रीहरि कल्पान्तमें जलके भीतर शयन करते हैं तथा वे प्रसन्नात्मा सृष्टिकर्ता ईश्वर उन

समस्त शाश्वत लोकोंमें विचरण करते हैं॥ ६३॥

सर्वाण्यशून्यानि करोत्यनन्तः
सनातनः सञ्चरते च लोकान्।
स चानिरुद्धः सृजते महात्मा
तत्स्थं जगत् सर्वमिदं विचित्रम्॥ ६४॥

अनन्त एवं सनातन भगवान् श्रीहरि समस्त कारणोंको सत्ता और स्फूर्ति देकर परिपूर्ण करते और लीलावपु धारण करके लोकोंमें विचरण करते हैं। उन महापुरुषकी गतिको कोई रोक नहीं सकता। वे ही इस जगत्की सृष्टि करते हैं। उन्हींमें यह सम्पूर्ण विचित्र विश्व प्रतिष्ठित है॥ ६४॥

युधिष्ठिर उवाच

वृत्रेण परमार्थज्ञ दृष्टा मन्येऽत्मनो गतिः।
शुभा तस्मात् स सुखितो न शोचति पितामह॥ ६५॥

युधिष्ठिरने कहा—परमार्थतत्त्वके ज्ञाता पितामह! मैं समझता हूँ कि वृत्रासुरने आत्माके शुभ एवं यथार्थ स्वरूपका साक्षात्कार कर लिया था; इसीलिये वह सुखी था, शोक नहीं करता था॥ ६५॥

शुक्लः शुक्लाभिजातीयः साध्यो नावर्ततेऽनघ।
तिर्यग्गतेश्च निर्मुक्तो निरयाच्च पितामह॥ ६६॥

निष्पाप पितामह! वह शुद्ध कुलमें उत्पन्न हुआ था और स्वभावसे भी शुद्ध था। जान पड़ता है वह साध्य नामक देवता ही था; इसीलिये पुनः संसारमें नहीं लौटा। वह पशु-पक्षियोंकी योनि तथा नरकसे छुटकारा पा गया॥ ६६॥

हारिद्रवर्णे रक्ते वा वर्तमानस्तु पार्थिव।
तिर्यगेवानुपश्येत कर्मभिस्तामसैर्वृतः॥ ६७॥

पृथ्वीनाथ! पीतवर्णवाले देवसर्गमें तथा रक्तवर्णवाले अनुग्रहसर्गमें विद्यमान प्राणी कभी तामस कर्मोंसे आवृत होकर तिर्यग्योनिका भी

दर्शन कर सकता है॥ ६७॥

वयं तु भृशमापन्ना रक्ता दुःखसुखेऽसुखे।
कां गतिं प्रतिपत्स्यामो नीलां कृष्णाधमामथ॥ ६८॥

हमलोग तो और भी अधिक आपत्तिसे घिरे हुए हैं। दुःख-सुखसे मिश्रित भावमें अथवा केवल दुःखमय भावमें आसक्त हैं। ऐसी दशामें पता नहीं हमें किस गतिकी प्राप्ति होगी? हम नीलवर्णवाली मानव-योनिमें पड़ेंगे या कृष्णवर्णवाली स्थावर योनिसे भी हीनदशाको जा पहुँचेंगे॥ ६८॥

भीष्म उवाच

शुद्धाभिजनसम्पन्नाः पाण्डवाः संशितव्रताः।
विहृत्य देवलोकेषु पुनर्मानुषमेष्यथ॥ ६९॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! तुम सभी पाण्डव विशुद्ध कुलसे सम्पन्न और तीक्ष्ण व्रतोंका भलीभाँति पालन करनेवाले हो; अतः देवताओंके लोकोंमें विहार करके पुनः मनुष्य-शरीरको ही प्राप्त करोगे॥ ६९॥

प्रजाविसर्गं च सुखेन काले
प्रत्येत्य देवेषु सुखानि भुक्त्वा।
सुखेन संयास्यथ सिद्धसंख्यां
मा वो भयं भूद् विमलाः स्थ सर्वे॥ ७०॥

तुम सब लोग यथासमय सुखसे सन्तानोत्पादन करके देवलोकोंमें जाकर सुख भोगोगे। तत्पश्चात् सुखपूर्वक सिद्धि प्राप्त करके सिद्धोंमें गिने जाओगे। तुम्हारे मनमें दुर्गतिका भय नहीं होना चाहिये; क्योंकि तुम सब लोग निर्मल एवं निष्पाप हो॥ ७०॥

॥ इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि वृत्रगीतासु द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

॥ वृत्रगीता सम्पूर्णा॥

पुत्रगीता

[महाभारतके शान्तिपर्वमें भीष्म-युधिष्ठिर-संवादके अन्तर्गत पुत्रगीताके रूपमें एक प्राचीन आख्यान आता है, जिसमें सदा वेद-शास्त्रोंके अध्ययनमें तत्पर रहनेवाले एक ब्राह्मणको उनके मेधावी नामक तत्त्वदर्शी पुत्रद्वारा ही बहुत मार्मिक उपदेश दिये गये हैं। प्रत्येक मनुष्यका जीवन क्षणभंगुर है, मृत्यु कभी भी बिना पूर्वसूचनाके आ सकती है, अतः प्रत्येक अवस्थामें संसारकी आसक्तिसे बचकर धर्माचरण तथा सत्यव्रतका पालन करते रहना चाहिये, यही परमसाधन इस पुत्रगीतामें बताया गया है। अत्यन्त प्रभावी ढंगसे चेतावनी देनेवाली यह पुत्रगीता यहाँ सानुवाद प्रस्तुत की जा रही है—]

युधिष्ठिर उवाच

अतिक्रामति कालेऽस्मिन् सर्वभूतक्षयावहे।
किं श्रेयः प्रतिपद्येत तन्मे ब्रूहि पितामह॥ १॥

राजा युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! समस्त भूतोंका संहार करनेवाला यह काल बराबर बीता जा रहा है, ऐसी अवस्थामें मनुष्य क्या करनेसे कल्याणका भागी हो सकता है? यह मुझे बताइये॥ १॥

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
पितुः पुत्रेण संवादं तं निबोध युधिष्ठिर॥ २॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें ज्ञानी पुरुष पिता और पुत्रके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। तुम उस संवादको ध्यान देकर सुनो॥ २॥

द्विजातेः कस्यचित् पार्थ स्वाध्यायनिरतस्य वै।
बभूव पुत्रो मेधावी मेधावी नाम नामतः॥ ३॥

कुन्तीकुमार! प्राचीन कालमें एक ब्राह्मण थे, जो सदा वेद-

शास्त्रोंके स्वाध्यायमें तत्पर रहते थे। उनके एक पुत्र हुआ, जो गुणसे तो मेधावी था ही, नामसे भी मेधावी था॥ ३॥

सोऽब्रवीत् पितरं पुत्रः स्वाध्यायकरणे रतम्।
मोक्षधर्मार्थकुशलो लोकतत्त्वविचक्षणः॥ ४॥

वह मोक्ष, धर्म और अर्थमें कुशल तथा लोकतत्त्वका अच्छा ज्ञाता था। एक दिन उस पुत्रने अपने स्वाध्यायपरायण पितासे कहा— ॥ ४॥

पुत्र उवाच

धीरः किंस्वित् तात कुर्यात् प्रजानन्
क्षिप्रं ह्यायुर्ह्रश्यते मानवानाम्।
पितस्तदाचक्ष्व यथार्थयोगं
ममानुपूर्व्या येन धर्मं चरेयम्॥ ५॥

पुत्र बोला—पिताजी! मनुष्योंकी आयु तीव्र गतिसे बीती जा रही है। यह जानते हुए धीर पुरुषको क्या करना चाहिये? तात! आप मुझे उस यथार्थ उपायका उपदेश कीजिये, जिसके अनुसार मैं धर्मका आचरण कर सकूँ॥ ५॥

पितोवाच

वेदानधीत्य ब्रह्मचर्येण पुत्र
पुत्रानिच्छेत् पावनार्थं पितॄणाम्।
अग्नीनाधाय विधिवच्चेष्टयज्ञो
वनं प्रविश्याथ मुनिर्बुभूषेत्॥ ६॥

पिताने कहा—बेटा! द्विजको चाहिये कि वह पहले ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करते हुए सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करे; फिर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके पितरोंकी सद्गतिके लिये पुत्र पैदा करनेकी इच्छा करे। विधिपूर्वक त्रिविध अग्नियोंकी स्थापना करके यज्ञोंका अनुष्ठान करे। तत्पश्चात् वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करे। उसके बाद मौनभावसे रहते हुए संन्यासी होनेकी इच्छा करे॥ ६॥

पुत्र उवाच

एवमभ्याहते लोके समन्तात् परिवारिते।
अमोघासु पतन्तीषु किं धीर इव भाषसे॥ ७॥

पुत्रने कहा—पिताजी! यह लोक जब इस प्रकारसे मृत्युद्वारा मारा जा रहा है, जरा-अवस्थाद्वारा चारों ओरसे घेर लिया गया है, दिन और रात सफलतापूर्वक आयुक्षयरूप काम करके बीत रहे हैं—ऐसी दशामें भी आप धीरकी भाँति कैसी बात कर रहे हैं?॥ ७॥

पितोवाच

कथमभ्याहतो लोकः केन वा परिवारितः।
अमोघाः काः पतन्तीह किं नु भीषयसीव माम्॥ ८॥

पिताने पूछा—बेटा! तुम मुझे भयभीत-सा क्यों कर रहे हो? बताओ तो सही, यह लोक किससे मारा जा रहा है, किसने इसे घेर रखा है और यहाँ कौन-से ऐसे व्यक्ति हैं, जो सफलतापूर्वक अपना काम करके व्यतीत हो रहे हैं?॥ ८॥

पुत्र उवाच

मृत्युनाभ्याहतो लोको जरया परिवारितः।
अहोरात्राः पतन्त्येते ननु कस्मान्न बुध्यसे॥ ९॥

पुत्रने कहा—पिताजी! देखिये, यह सम्पूर्ण जगत् मृत्युके द्वारा मारा जा रहा है। बुढ़ापेने इसे चारों ओरसे घेर लिया है और ये दिन-रात ही वे व्यक्ति हैं, जो सफलतापूर्वक प्राणियोंकी आयुका अपहरणस्वरूप अपना काम करके व्यतीत हो रहे हैं, इस बातको आप समझते क्यों नहीं हैं?॥ ९॥

अमोघा रात्रयश्चापि नित्यमायान्ति यान्ति च।
यदाहमेतज्जानामि न मृत्युस्तिष्ठतीति ह।
सोऽहं कथं प्रतीक्षिष्ये जालेनापिहितश्चरन्॥ १०॥

ये अमोघ रात्रियाँ नित्य आती हैं और चली जाती हैं। जब मैं

इस बातको जानता हूँ कि मृत्यु क्षणभरके लिये भी रुक नहीं सकती और मैं उसके जालमें फँसकर ही विचर रहा हूँ, तब मैं थोड़ी देर भी प्रतीक्षा कैसे कर सकता हूँ?॥ १०॥

रात्र्यां रात्र्यां व्यतीतायामायुरल्पतरं यदा।
गाधोदके मत्स्य इव सुखं विन्देत कस्तदा॥ ११॥

जब एक-एक रात बीतनेके साथ ही आयु बहुत कम होती चली जा रही है, तब छिछले जलमें रहनेवाली मछलीके समान कौन सुख पा सकता है?॥ ११॥

(यस्यां रात्र्यां व्यतीतायां न किञ्चिच्छुभमाचरेत्।)
तदैव वन्ध्यं दिवसमिति विद्याद् विचक्षणः।
अनवाप्तेषु कामेषु मृत्युरभ्येति मानवम्॥ १२॥

जिस रातके बीतनेपर मनुष्य कोई शुभ कर्म न करे, उस दिनको विद्वान् पुरुष 'व्यर्थ ही गया' समझे। मनुष्यकी कामनाएँ पूरी भी नहीं होने पातीं कि मौत उसके पास आ पहुँचती है॥ १२॥

शष्पाणीव विचिन्वन्तमन्यत्रगतमानसम्।
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति॥ १३॥

जैसे घास चरते हुए भेंड़ेके पास अचानक व्याघ्री पहुँच जाती है और उसे दबोचकर चल देती है, उसी प्रकार मनुष्यका मन जब दूसरी ओर लगा होता है, उसी समय सहसा मृत्यु आ जाती है और उसे लेकर चल देती है॥ १३॥

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगादयम्।
अकृतेष्वेव कार्येषु मृत्युर्वै सम्प्रकर्षति॥ १४॥

इसलिये जो कल्याणकारी कार्य हो, उसे आज ही कर डालिये। आपका यह समय हाथसे निकल न जाय; क्योंकि सारे काम अधूरे ही पड़े रह जायँगे और मौत आपको खींच ले जायगी॥ १४॥

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम्॥ १५॥

कल किया जानेवाला काम आज ही पूरा कर लेना चाहिये। जिसे सायंकालमें करना है, उसे प्रातःकालमें ही कर लेना चाहिये; क्योंकि मौत यह नहीं देखती कि इसका काम अभी पूरा हुआ या नहीं॥ १५॥

को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति।
(न मृत्युरामन्त्रयते हर्तुकामो जगत्प्रभुः।
अबुद्ध एवाक्रमते मीनान् मीनग्रहो यथा॥)

कौन जानता है कि किसका मृत्युकाल आज ही उपस्थित होगा? सम्पूर्ण जगत्पर प्रभुत्व रखनेवाली मृत्यु जब किसीको हरकर ले जाना चाहती है तो उसे पहलेसे निमन्त्रण नहीं भेजती है। जैसे मछेरे चुपकेसे आकर मछलियोंको पकड़ लेते हैं, उसी प्रकार मृत्यु भी अज्ञात रहकर ही आक्रमण करती है॥

युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम्।
कृते धर्मे भवेत् कीर्तिरिह प्रेत्य च वै सुखम्॥ १६॥
मोहेन हि समाविष्टः पुत्रदारार्थमुद्यतः।
कृत्वा कार्यमकार्यं वा पुष्टिमेषां प्रयच्छति॥ १७॥

अतः युवावस्थामें ही सबको धर्मका आचरण करना चाहिये; क्योंकि जीवन निःसन्देह अनित्य है। धर्माचरण करनेसे इस लोकमें मनुष्यकी कीर्तिका विस्तार होता है और परलोकमें भी उसे सुख मिलता है। जो मनुष्य मोहमें डूबा हुआ है, वही पुत्र और स्त्रीके लिये उद्योग करने लगता है और करने तथा न करनेयोग्य काम करके इन सबका पालन-पोषण करता है॥ १६-१७॥

तं पुत्रपशुसम्पन्नं व्यासक्तमनसं नरम्।
सुप्तं व्याघ्रो मृगमिव मृत्युरादाय गच्छति॥ १८॥

जैसे सोये हुए मृगको बाघ उठा ले जाता है, उसी प्रकार पुत्र और पशुओंसे सम्पन्न एवं उन्हींमें मनको फँसाये रखनेवाले मनुष्यको एक दिन मृत्यु आकर उठा ले जाती है॥ १८॥

सञ्चिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम्।
व्याघ्रः पशुमिवादाय मृत्युरादाय गच्छति॥ १९॥

जबतक मनुष्य भोगोंसे तृप्त नहीं होता, संग्रह ही करता रहता है, तभीतक ही उसे मौत आकर ले जाती है। ठीक वैसे ही, जैसे व्याघ्र किसी पशुको ले जाता है॥ १९॥

इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत् कृताकृतम्।
एवमीहासुखासक्तं कृतान्तः कुरुते वशे॥ २०॥

मनुष्य सोचता है कि यह काम पूरा हो गया, यह अभी करना है और यह अधूरा ही पड़ा है; इस प्रकार चेष्टाजनित सुखमें आसक्त हुए मानवको काल अपने वशमें कर लेता है॥ २०॥

कृतानां फलमप्राप्तं कर्मणां कर्मसंज्ञितम्।
क्षेत्रापणगृहासक्तं मृत्युरादाय गच्छति॥ २१॥

मनुष्य अपने खेत, दूकान और घरमें ही फँसा रहता है, उसके किये हुए उन कर्मोंका फल मिलने भी नहीं पाता, उसके पहले ही उस कर्मासक्त मनुष्यको मृत्यु उठा ले जाती है॥ २१॥

दुर्बलं बलवन्तं च शूरं भीरुं जडं कविम्।
अप्राप्तं सर्वकामार्थान् मृत्युरादाय गच्छति॥ २२॥

कोई दुर्बल हो या बलवान्, शूरवीर हो या डरपोक तथा मूर्ख हो या विद्वान्, मृत्यु उसकी समस्त कामनाओंके पूर्ण होनेसे पहले ही उसे उठा ले जाती है॥ २२॥

मृत्युर्जरा च व्याधिश्च दुःखं चानेककारणम्।
अनुषक्तं यदा देहे किं स्वस्थ इव तिष्ठसि॥ २३॥

पिताजी! जब इस शरीरमें मृत्यु, जरा, व्याधि और अनेक कारणोंसे होनेवाले दुःखोंका आक्रमण होता ही रहता है, तब आप स्वस्थ-से होकर क्यों बैठे हैं?॥ २३॥

जातमेवान्तकोऽन्ताय जरा चान्वेति देहिनम्।
अनुषक्ता ह्ययेनैते भावाः स्थावरजङ्गमाः॥ २४॥

देहधारी जीवके जन्म लेते ही अन्त करनेके लिये मौत और बुढ़ापा उसके पीछे लग जाते हैं। ये समस्त चराचर प्राणी इन दोनोंसे बँधे हुए हैं॥ २४॥

मृत्योर्वा मुखमेतद् वै या ग्रामे वसतो रतिः।
देवानामेष वै गोष्ठो यदरण्यमिति श्रुतिः॥ २५॥

ग्राम या नगरमें रहकर जो स्त्री-पुत्र आदिमें आसक्ति बढ़ायी जाती है, यह मृत्युका मुख ही है और जो वनका आश्रय लेता है, यह इन्द्रियरूपी गौओंको बाँधनेके लिये गोशालाके समान है, यह श्रुतिका कथन है॥ २५॥

निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः॥ २६॥

ग्राममें रहनेपर वहाँके स्त्री-पुत्र आदि विषयोंमें जो आसक्ति होती है, यह जीवको बाँधनेवाली रस्सीके समान है। पुण्यात्मा पुरुष ही इसे काटकर निकल पाते हैं। पापी पुरुष इसे नहीं काट पाते हैं॥ २६॥

न हिंसयति यो जन्तून् मनोवाक्कायहेतुभिः।
जीवितार्थापनयनैः प्राणिभिर्न स हिंस्यते॥ २७॥

जो मनुष्य मन, वाणी और शरीररूपी साधनोंद्वारा प्राणियोंकी हिंसा नहीं करता, उसकी भी जीवन और अर्थका नाश करनेवाले हिंसक

प्राणी हिंसा नहीं करते हैं॥ २७॥

न मृत्युसेनामायान्तीं जातु कश्चित् प्रबाधते।
ऋते सत्यमसत् त्याज्यं सत्ये ह्यमृतमाश्रितम्॥ २८॥

सत्यके बिना कोई भी मनुष्य सामने आते हुए मृत्युकी सेनाका कभी सामना नहीं कर सकता; इसलिये असत्यको त्याग देना चाहिये; क्योंकि अमृतत्व सत्यमें ही स्थित है॥ २८॥

तस्मात् सत्यव्रताचारः सत्ययोगपरायणः।
सत्यागमः सदा दान्तः सत्येनैवान्तकं जयेत्॥ २९॥

अतः मनुष्यको सत्यव्रतका आचरण करना चाहिये। सत्ययोगमें तत्पर रहना और शास्त्रकी बातोंको सत्य मानकर श्रद्धापूर्वक सदा मन और इन्द्रियोंका संयम करना चाहिये। इस प्रकार सत्यके द्वारा ही मनुष्य मृत्युपर विजय पा सकता है॥ २९॥

अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम्।
मृत्युमापद्यते मोहात् सत्येनापद्यतेऽमृतम्॥ ३०॥

अमृत और मृत्यु दोनों इस शरीरमें ही स्थित हैं। मनुष्य मोहसे मृत्युको और सत्यसे अमृतको प्राप्त होता है॥ ३०॥

सोऽहं ह्यहिंस्रः सत्यार्थी कामक्रोधबहिष्कृतः।
समदुःखसुखः क्षेमी मृत्युं हास्याम्यमर्त्यवत्॥ ३१॥

अतः अब मैं हिंसासे दूर रहकर सत्यकी खोज करूँगा, काम और क्रोधको हृदयसे निकालकर दुःख और सुखमें समान भाव रखूँगा तथा सबके लिये कल्याणकारी बनकर देवताओंके समान मृत्युके भयसे मुक्त हो जाऊँगा॥ ३१॥

शान्तियज्ञरतो दान्तो ब्रह्मयज्ञे स्थितो मुनिः।
वाङ्मनःकर्मयज्ञश्च भविष्याम्युदगायने॥ ३२॥

मैं निवृत्तिपरायण होकर शान्तिमय यज्ञमें तत्पर रहूँगा, मन और

इन्द्रियोंको वशमें रखकर ब्रह्मयज्ञ (वेद-शास्त्रोंके स्वाध्याय) में लग जाऊँगा और मुनिवृत्तिसे रहूँगा। उत्तरायणके मार्गसे जानेके लिये मैं जप और स्वाध्यायरूप वाग्यज्ञ, ध्यानरूप मनोयज्ञ और अग्निहोत्र एवं गुरुशुश्रूषादिरूप कर्मयज्ञका अनुष्ठान करूँगा॥ ३२॥

पशुयज्ञैः कथं हिंस्रैर्मादृशो यष्टुमर्हति।
अन्तवद्भिरिव प्राज्ञः क्षेत्रयज्ञैः पिशाचवत्॥ ३३॥

मेरे-जैसा विद्वान् पुरुष नश्वर फल देनेवाले हिंसायुक्त पशुयज्ञ और पिशाचोंके समान अपने शरीरके ही रक्त-मांसद्वारा किये जानेवाले तामस यज्ञोंका अनुष्ठान कैसे कर सकता है?॥ ३३॥

यस्य वाङ्मनसी स्यातां सम्यक् प्रणिहिते सदा।
तपस्त्यागश्च सत्यं च स वै सर्वमवाप्नुयात्॥ ३४॥

जिसकी वाणी और मन दोनों सदा भलीभाँति एकाग्र रहते हैं तथा जो त्याग, तपस्या और सत्यसे सम्पन्न होता है, वह निश्चय ही सब कुछ प्राप्त कर सकता है॥ ३४॥

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्॥ ३५॥

संसारमें विद्या (ज्ञान) के समान कोई नेत्र नहीं है, सत्यके समान कोई तप नहीं है, रागके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके समान कोई सुख नहीं है॥ ३५॥

आत्मन्येवात्मना जात आत्मनिष्ठोऽप्रजोऽपि वा।
आत्मन्येव भविष्यामि न मां तारयति प्रजा॥ ३६॥

मैं सन्तानरहित होनेपर भी परमात्मामें ही परमात्माद्वारा उत्पन्न हुआ हूँ, परमात्मामें ही स्थित हूँ। आगे भी आत्मामें ही लीन होऊँगा। सन्तान मुझे पार नहीं उतारेगी॥ ३६॥

नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं
यथैकता समता सत्यता च।
शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं
ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः॥ ३७॥

परमात्माके साथ एकता तथा समता, सत्यभाषण, सदाचार, ब्रह्मनिष्ठा, दण्डका परित्याग (अहिंसा), सरलता तथा सब प्रकारके सकाम कर्मोंसे उपरति—इनके समान ब्राह्मणके लिये दूसरा कोई धन नहीं है॥ ३७॥

किं ते धनैर्बान्धवैर्वापि किं ते
किं ते दारैर्ब्राह्मण यो मरिष्यसि।
आत्मानमन्विच्छ गुहां प्रविष्टं
पितामहास्ते क्व गताः पिता च॥ ३८॥

ब्राह्मणदेव पिताजी! जब आप एक दिन मर ही जायँगे तो आपको इस धनसे क्या लेना है अथवा भाई-बन्धुओंसे आपका क्या काम है तथा स्त्री आदिसे आपका कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है? आप अपने हृदयरूपी गुफामें स्थित हुए परमात्माको खोजिये। सोचिये तो सही, आपके पिता और पितामह कहाँ चले गये?॥ ३८॥

भीष्म उवाच

पुत्रस्यैतद् वचः श्रुत्वा यथाकार्षीत् पिता नृप।
तथा त्वमपि वर्तस्व सत्यधर्मपरायणः॥ ३९॥

भीष्मजी कहते हैं—नरेश्वर! पुत्रका यह वचन सुनकर पिताने जैसे सत्य-धर्मका अनुष्ठान किया था, उसी प्रकार तुम भी सत्य-धर्ममें तत्पर रहकर यथायोग्य बर्ताव करो॥ ३९॥

॥ इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि पुत्रगीता सम्पूर्णा॥

कामगीता

[महाभारतके आश्वमेधिक पर्वके अन्तर्गत भगवान् श्रीकृष्ण और धर्मराज युधिष्ठिर-संवादके रूपमें कामगीता प्राप्त है। इसमें भगवान् श्रीकृष्णने कामप्रोक्त एक प्राचीन गाथाका वर्णन किया है, जिसमें बाह्य पदार्थोंके त्यागके स्थानपर उनमें ममत्वके त्यागको ही वास्तविक त्याग बताया गया है, जो महान् भयसे छुटकारा दिलानेवाला है। अत्यन्त लघु कलेवरवाली यह कामगीता यहाँ सानुवाद प्रस्तुत की जा रही है—]

वासुदेव उवाच

न बाह्यं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति भारत।
शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति वा न वा॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—भारत! केवल राज्य आदि बाह्य पदार्थोंका त्याग करनेसे ही सिद्धि नहीं प्राप्त होती। शारीरिक द्रव्यका त्याग करके भी सिद्धि प्राप्त होती है अथवा नहीं भी होती है॥ १॥

बाह्यद्रव्यविमुक्तस्य शारीरेषु च गृद्ध्यतः।
यो धर्मो यत् सुखं चैव द्विषतामस्तु तत् तथा॥ २॥

बाह्य पदार्थोंसे अलग होकर भी जो शारीरिक सुख-विलासमें आसक्त है, उसे जिस धर्म और सुखकी प्राप्ति होती है, वह तुम्हारे साथ द्वेष करनेवालोंको ही प्राप्त हो॥ २॥

द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम्।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम्॥ ३॥

'मम' (मेरा) ये दो अक्षर ही मृत्युरूप हैं और 'न मम' (मेरा नहीं है) यह तीन अक्षरोंका पद सनातन ब्रह्मकी प्राप्तिका कारण है। ममता मृत्यु है और उसका त्याग सनातन अमृतत्व है॥ ३॥

ब्रह्ममृत्यू ततो राजन्नात्मन्येव व्यवस्थितौ।
अदृश्यमानौ भूतानि योधयेतामसंशयम्॥ ४॥

राजन्! इस प्रकार मृत्यु और अमृत दोनों अपने भीतर ही स्थित हैं। ये दोनों अदृश्य रहकर प्राणियोंको लड़ाते हैं अर्थात् किसीको अपना मानना और किसीको अपना न मानना यह भाव ही युद्धका कारण है, इसमें संशय नहीं है॥ ४॥

अविनाशोऽस्य सत्त्वस्य नियतो यदि भारत।
भित्त्वा शरीरं भूतानामहिंसां प्रतिपद्यते॥ ५॥

भरतनन्दन! यदि इस जगत्की सत्ताका विनाश न होना ही निश्चित हो, तब तो प्राणियोंके शरीरका भेदन करके भी मनुष्य अहिंसाका ही फल प्राप्त करेगा॥ ५॥

लब्ध्वा हि पृथ्वीं कृत्स्नां सहस्थावरजङ्गमाम्।
ममत्वं यस्य नैव स्यात् किं तया स करिष्यति॥ ६॥

चराचर प्राणियोंसहित समूची पृथ्वीको पाकर भी जिसकी उसमें ममता नहीं होती, वह उसको लेकर क्या करेगा अर्थात् उस सम्पत्तिसे उसका कोई अनर्थ नहीं हो सकता॥ ६॥

अथवा वसतः पार्थ वने वन्येन जीवतः।
ममता यस्य द्रव्येषु मृत्योरास्ये स वर्तते॥ ७॥

किंतु कुन्तीनन्दन! जो वनमें रहकर जंगली फल-मूलोंसे ही जीवन-निर्वाह करता है, उसकी भी यदि द्रव्योंमें ममता है तो वह मौतके मुखमें ही विद्यमान है॥ ७॥

बाह्यान्तराणां शत्रूणां स्वभाव पश्य भारत।
यन्न पश्यति तद् भूतं मुच्यते स महाभयात्॥ ८॥

भारत! बाहरी और भीतरी शत्रुओंके स्वभावको देखिये-समझिये (ये मायामय होनेके कारण मिथ्या हैं, ऐसा निश्चय कीजिये)। जो

मायिक पदार्थोंको ममत्वकी दृष्टिसे नहीं देखता, वह महान् भयसे छुटकारा पा जाता है॥ ८॥

कामात्मानं न प्रशंसन्ति लोके
नेहाकामा काचिदस्ति प्रवृत्तिः।
सर्वे कामा मनसोऽङ्गप्रभूता
यान् पण्डितः संहरते विचिन्त्य॥ ९॥

जिसका मन कामनाओंमें आसक्त है, उसकी संसारके लोग प्रशंसा नहीं करते हैं। कोई भी प्रवृत्ति बिना कामनाके नहीं होती और समस्त कामनाएँ मनसे ही प्रकट होती हैं। विद्वान् पुरुष कामनाओंको दुःखका कारण मानकर उनका परित्याग कर देते हैं॥ ९॥

भूयो भूयो जन्मनोऽभ्यासयोगाद्
योगी योगं सारमार्गं विचिन्त्य।
दानं च वेदाध्ययनं तपश्च
काम्यानि कर्माणि च वैदिकानि॥ १०॥
व्रतं यज्ञान् नियमान् ध्यानयोगान्
कामेन यो नारभते विदित्वा।
यद् यच्चायं कामयते स धर्मो
न यो धर्मो नियमस्तस्य मूलम्॥ ११॥

योगी पुरुष अनेक जन्मोंके अभ्याससे योगको ही मोक्षका मार्ग निश्चित करके कामनाओंका नाश कर डालता है। जो इस बातको जानता है, वह दान, वेदाध्ययन, तप, वेदोक्त कर्म, व्रत, यज्ञ, नियम और ध्यान-योगादिका कामनापूर्वक अनुष्ठान नहीं करता तथा जिस कर्मसे वह कुछ कामना रखता है, वह धर्म नहीं है। वास्तवमें कामनाओंका निग्रह ही धर्म है और वही मोक्षका मूल है॥ १०-११॥

अत्र गाथाः कामगीताः कीर्तयन्ति पुराविदः।
शृणु संकीर्त्यमानास्ता अखिलेन युधिष्ठिर।
नाहं शक्योऽनुपायेन हन्तुं भूतेन केनचित्॥ १२॥

युधिष्ठिर! इस विषयमें प्राचीन बातोंके जानकार विद्वान् एक पुरातन गाथाका वर्णन किया करते हैं, जो कामगीता कहलाती है। उसे मैं आपको सुनाता हूँ, सुनिये। कामका कहना है कि कोई भी प्राणी वास्तविक उपाय (निर्ममता और योगाभ्यास)-का आश्रय लिये बिना मेरा नाश नहीं कर सकता है॥ १२॥

यो मां प्रयतते हन्तुं ज्ञात्वा प्रहरणे बलम्।
तस्य तस्मिन् प्रहरणे पुनः प्रादुर्भवाम्यहम्॥ १३॥

जो मनुष्य अपनेमें अस्त्रबलकी अधिकताका अनुभव करके मुझे नष्ट करनेका प्रयत्न करता है, उसके उस अस्त्र-बलमें मैं अभिमानरूपसे पुनः प्रकट हो जाता हूँ॥ १३॥

यो मां प्रयतते हन्तुं यज्ञैर्विविधदक्षिणैः।
जङ्गमेष्विव धर्मात्मा पुनः प्रादुर्भवाम्यहम्॥ १४॥

जो नाना प्रकारकी दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा मुझे मारनेका यत्न करता है, उसके चित्तमें मैं उसी प्रकार उत्पन्न होता हूँ, जैसे उत्तम जंगम योनियोंमें धर्मात्मा॥ १४॥

यो मां प्रयतते नित्यं वेदैर्वेदान्तसाधनैः।
स्थावरेष्विव भूतात्मा तस्य प्रादुर्भवाम्यहम्॥ १५॥

जो वेद और वेदान्तके स्वाध्यायरूप साधनोंके द्वारा मुझे मिटा देनेका सदा प्रयास करता है, उसके मनमें मैं स्थावर प्राणियोंमें जीवात्माकी भाँति प्रकट होता हूँ॥ १५॥

यो मां प्रयतते हन्तुं धृत्या सत्यपराक्रमः।
भावो भवामि तस्याहं स च मां नावबुध्यते॥ १६॥

जो सत्यपराक्रमी पुरुष धैर्यके बलसे मुझे नष्ट करनेकी चेष्टा

करता है, उसके मानसिक भावोंके साथ मैं इतना घुल-मिल जाता हूँ कि वह मुझे पहचान नहीं पाता॥ १६॥

यो मां प्रयतते हन्तुं तपसा संशितव्रतः।
ततस्तपसि तस्याथ पुनः प्रादुर्भवाम्यहम्॥ १७॥

जो कठोर व्रतका पालन करनेवाला मनुष्य तपस्याके द्वारा मेरे अस्तित्वको मिटा डालनेका प्रयास करता है, उसकी तपस्यामें ही मैं प्रकट हो जाता हूँ॥ १७॥

यो मां प्रयतते हन्तुं मोक्षमास्थाय पण्डितः।
तस्य मोक्षरतिस्थस्य नृत्यामि च हसामि च।
अवध्यः सर्वभूतानामहमेकः सनातनः॥ १८॥

जो विद्वान् पुरुष मोक्षका सहारा लेकर मेरे विनाशका प्रयत्न करता है, उसकी जो मोक्षविषयक आसक्ति है, उसीसे वह बँधा हुआ है। यह विचारकर मुझे उसपर हँसी आती है और मैं खुशीके मारे नाचने लगता हूँ। एकमात्र मैं ही समस्त प्राणियोंके लिये अवध्य एवं सदा रहनेवाला हूँ॥ १८॥

तस्मात्त्वमपि तं कामं यज्ञैर्विविधदक्षिणैः।
धर्मे कुरु महाराज तत्र ते स भविष्यति॥ १९॥

अतः महाराज! आप भी नाना प्रकारकी दक्षिणावाले यज्ञोंद्वारा अपनी उस कामनाको धर्ममें लगा दीजिये। वहाँ आपकी वह कामना सफल होगी॥ १९॥

यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता।
अन्यैश्च विविधैर्यज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः॥ २०॥
मा ते व्यथास्तु निहतान् बन्धून् वीक्ष्य पुनः पुनः।
न शक्यास्ते पुनर्द्रष्टुं ये हताऽस्मिन् रणाजिरे॥ २१॥

विधिपूर्वक दक्षिणा देकर आप अश्वमेधका तथा पर्याप्त

दक्षिणावाले अन्यान्य समृद्धिशाली यज्ञोंका अनुष्ठान कीजिये। अपने मारे गये भाई-बन्धुओंको बारम्बार याद करके आपके मनमें व्यथा नहीं होनी चाहिये। इस समरांगणमें जिनका वध हुआ है, उन्हें आप फिर नहीं देख सकते॥ २०-२१॥

स त्वमिष्ट्वा महायज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः।
कीर्तिं लोके परां प्राप्य गतिमग्र्यां गमिष्यसि॥ २२॥

इसलिये आप पर्याप्त दक्षिणावाले समृद्धिशाली महायज्ञोंका अनुष्ठान करके इस लोकमें उत्तम कीर्ति और परलोकमें श्रेष्ठ गति प्राप्त करेंगे॥ २२॥

॥ इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि कृष्णधर्मराजसंवादे कामगीता सम्पूर्णा॥

यमगीता-(१)

['यमगीता' नामसे पुराण-वाङ्मयमें कई गीताएँ मिलती हैं। श्रीविष्णुपुराणके अन्तर्गत समाहित यमगीता उन्हींमेंसे एक है। यमके दूत किन मनुष्योंसे सदैव दूर ही रहते हैं—यही इस लघु कलेवरवाली गीतामें स्वयं यमराजद्वारा अपने दूतोंको बताया गया है। सच्चे भक्तोंके लक्षण बतानेके उपक्रममें जो सदाचार-विषयक चर्चा इसमें की गयी है, वह अत्यन्त प्रभावी होनेके साथ भगवान्‌के किसी भी स्वरूपके उपासकके लिये सहज ग्राह्य हो सकती है। वस्तुतः एक सनातन ब्रह्म ही विभिन्न रूपोंमें अभिव्यक्त है। अतएव विष्णुभक्त पदसे भक्तमात्रका तात्पर्य लेना चाहिये। सरल-सुबोध, परंतु मार्मिक भाषा-शैलीमें निबद्ध कल्याणकारी इस यमगीताको यहाँ सानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है—]

श्रीमैत्रेय उवाच

यथावत्कथितं सर्वं यत्पृष्टोऽसि मया गुरो।
श्रोतुमिच्छाम्यहं त्वेकं तद्भवान्प्रब्रवीतु मे॥ १॥

श्रीमैत्रेयजी बोले—हे गुरो! मैंने जो कुछ पूछा था, वह सब आपने यथावत् वर्णन किया। अब मैं एक बात और सुनना चाहता हूँ, वह आप मुझसे कहिये॥ १॥

सप्त द्वीपानि पातालविधयश्च महामुने।
सप्तलोकाश्च येऽन्तःस्था ब्रह्माण्डस्यास्य सर्वतः॥ २॥
स्थूलैः सूक्ष्मैस्तथा सूक्ष्मसूक्ष्मात्सूक्ष्मतरैस्तथा।
स्थूलात्स्थूलतरैश्चैव सर्वप्राणिभिरावृतम्॥ ३॥

हे महामुने! सातों द्वीप, सातों पाताल और सातों लोक—ये सभी स्थान जो इस ब्रह्माण्डके अन्तर्गत हैं; स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा स्थूल और स्थूलतर जीवोंसे भरे हुए हैं॥ २-३॥

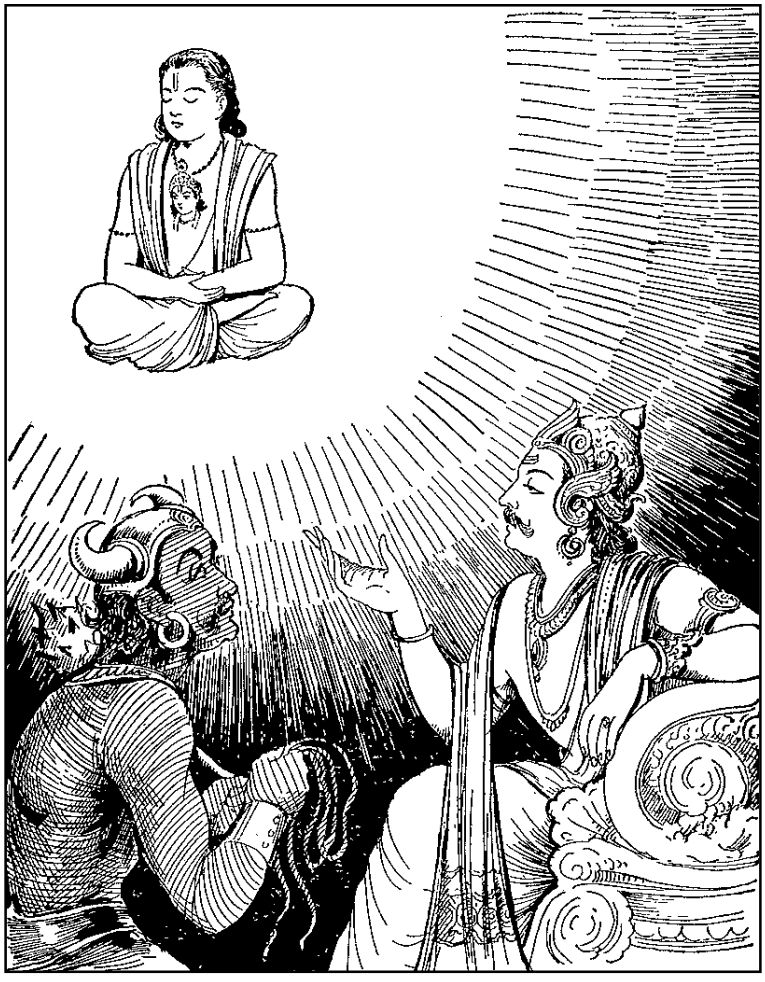

यमराजद्वारा अपने दूतको भक्तका लक्षण बताना

अङ्गुलस्याष्टभागोऽपि न सोऽस्ति मुनिसत्तम।
न सन्ति प्राणिनो यत्र कर्मबन्धनिबन्धनाः॥ ४॥

हे मुनिसत्तम! एक अंगुलका आठवाँ भाग भी कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ कर्म-बन्धनसे बँधे हुए जीव न रहते हों॥ ४॥

सर्वे चैते वशं यान्ति यमस्य भगवन् किल।
आयुषोऽन्ते तथा यान्ति यातनास्तत्प्रचोदिताः॥ ५॥

किंतु हे भगवन्! आयुके समाप्त होनेपर ये सभी यमराजके वशीभूत हो जाते हैं और उन्हींके आदेशानुसार नरक आदि नाना प्रकारकी यातनाएँ भोगते हैं॥ ५॥

यातनाभ्यः परिभ्रष्टा देवाद्यास्त्वथ योनिषु।
जन्तवः परिवर्तन्ते शास्त्राणामेष निर्णयः॥ ६॥

तदनन्तर पाप-भोगके समाप्त होनेपर वे देवादि योनियोंमें घूमते रहते हैं—सकल शास्त्रोंका ऐसा ही मत है॥ ६॥

सोऽहमिच्छामि तच्छ्रोतुं यमस्य वशवर्तिनः।
न भवन्ति नरा येन तत्कर्म कथयस्व मे॥ ७॥

अतः आप मुझे वह कर्म बताइये, जिसे करनेसे मनुष्य यमराजके वशीभूत नहीं होता; मैं आपसे यही सुनना चाहता हूँ॥ ७॥

श्रीपराशर उवाच

अयमेव मुने प्रश्नो नकुलेन महात्मना।
पृष्टः पितामहः प्राह भीष्मो यत्तच्छृणुष्व मे॥ ८॥

श्रीपराशरजी बोले—हे मुने! यही प्रश्न महात्मा नकुलने पितामह भीष्मसे पूछा था। उसके उत्तरमें उन्होंने जो कुछ कहा था, वह सुनो॥ ८॥

भीष्म उवाच

पुरा ममागतो वत्स सखा कालिङ्गको द्विजः।
स मामुवाच पृष्टो वै मया जातिस्मरो मुनिः॥ ९॥

तेनाख्यातमिदं सर्वमित्थं चैतद्भविष्यति।
तथा च तदभूद्वत्स यथोक्तं तेन धीमता॥ १०॥

भीष्मजीने कहा—हे वत्स! पूर्वकालमें मेरे पास एक कलिंग-देशीय ब्राह्मण-मित्र आया और मुझसे बोला—'मेरे पूछनेपर एक जातिस्मर मुनिने बतलाया था कि ये सब बातें अमुक-अमुक प्रकार ही होंगी।' हे वत्स! उस बुद्धिमान्‌ने जो-जो बातें जिस-जिस प्रकार होनेको कही थीं, वे सब ज्यों-की-त्यों हुईं॥ ९-१०॥

स पृष्टश्च मया भूयः श्रद्दधानेन वै द्विजः।
यद्यदाह न तद्दृष्टमन्यथा हि मया क्वचित्॥ ११॥

इस प्रकार उसमें श्रद्धा हो जानेसे मैंने उससे फिर कुछ और भी प्रश्न किये और उनके उत्तरमें उस द्विजश्रेष्ठने जो-जो बातें बतलायीं, उनके विपरीत मैंने कभी कुछ नहीं देखा॥ ११॥

एकदा तु मया पृष्टमेतद्यद्भवतोदितम्।
प्राह कालिङ्गको विप्रस्स्मृत्वा तस्य मुनेर्वचः॥ १२॥
जातिस्मरेण कथितो रहस्यः परमो मम।
यमकिङ्करयोर्योऽभूत्संवादस्तं ब्रवीमि ते॥ १३॥

एक दिन, जो बात तुम मुझसे पूछते हो, वही मैंने उस कालिंग ब्राह्मणसे पूछी। उस समय उसने उस मुनिके वचनोंको याद करके कहा कि उस जातिस्मर ब्राह्मणने यम और उनके दूतोंके बीचमें जो संवाद हुआ था, वह अति गूढ़ रहस्य मुझे सुनाया था। वही मैं तुमसे कहता हूँ॥ १२-१३॥

कालिङ्ग उवाच

स्वपुरुषमभिवीक्ष्य पाशहस्तं
वदति यमः किल तस्य कर्णमूले।
परिहर मधुसूदनप्रपन्नान्
प्रभुरहमन्यनृणामवैष्णवानाम् ॥ १४॥

कालिंग बोला—अपने अनुचरको हाथमें पाश लिये देखकर

यमराजने उसके कानमें कहा—भगवान् मधुसूदनके शरणागत व्यक्तियोंको छोड़ देना; क्योंकि मैं, जो विष्णुभक्त नहीं हैं—ऐसे अन्य पुरुषोंका ही स्वामी हूँ॥ १४॥

अहममरवरार्चितेन धात्रा
यम इति लोकहिताहिते नियुक्तः।
हरिगुरुवशगोऽस्मि न स्वतन्त्रः
प्रभवति संयमने ममापि विष्णुः॥ १५॥

देव-पूज्य विधाताने मुझे 'यम' नामसे लोकोंके पाप-पुण्यका विचार करनेके लिये नियुक्त किया है। मैं अपने गुरु श्रीहरिके वशीभूत हूँ, स्वतन्त्र नहीं हूँ। भगवान् विष्णु मेरा भी नियन्त्रण करनेमें समर्थ हैं॥ १५॥

कटकमुकुटकर्णिकादिभेदैः
कनकमभेदमपीष्यते यथैकम्।
सुरपशुमनुजादिकल्पनाभि-
र्हरिरखिलाभिरुदीर्यते तथैकः॥ १६॥

जिस प्रकार सुवर्ण भेदरहित और एक होकर भी कटक, मुकुट तथा कर्णिका आदिके भेदसे नानारूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार एक ही हरिका देवता, मनुष्य और पशु आदि नानाविध कल्पनाओंसे निर्देश किया जाता है॥ १६॥

क्षितितलपरमाणवोऽनिलान्ते
पुनरुपयान्ति यथैकतां धरित्र्याः।
सुरपशुमनुजादयस्तथान्ते
गुणकलुषेण सनातनेन तेन॥ १७॥

जिस प्रकार वायुके शान्त होनेपर उसमें उड़ते हुए परमाणु पृथिवीसे मिलकर एक हो जाते हैं, उसी प्रकार गुण-क्षोभसे उत्पन्न हुए समस्त

देवता, मनुष्य और पशु आदि [उसका अन्त हो जानेपर] उस सनातन परमात्मामें लीन हो जाते हैं॥ १७॥

हरिममरवरार्चिताङ्घ्रिपद्मं
प्रणमति यः परमार्थतो हि मर्त्यः।
तमपगतसमस्तपापबन्धं
व्रज परिहृत्य यथाग्निमाज्यसिक्तम्॥ १८॥

जो भगवान्‌के सुरवरवन्दित चरणकमलोंकी परमार्थबुद्धिसे वन्दना करता है, घृताहुतिसे प्रज्वलित अग्निके समान समस्त पाप-बन्धनसे मुक्त हुए उस पुरुषको तुम दूरहीसे छोड़कर निकल जाना॥ १८॥

इति यमवचनं निशम्य पाशी
यमपुरुषस्तमुवाच धर्मराजम्।
कथय मम विभो समस्तधातु-
र्भवति हरेः खलु यादृशोऽस्य भक्तः॥ १९॥

यमराजके ऐसे वचन सुनकर पाशहस्त यमदूतने उनसे पूछा—'प्रभो! सबके विधाता भगवान् हरिका भक्त कैसा होता है, यह आप मुझसे कहिये'॥ १९॥

यम उवाच

न चलति निजवर्णधर्मतो यः
सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे।
न हरति न च हन्ति किञ्चिदुच्चैः
सितमनसं तमवेहि विष्णुभक्तम्॥ २०॥

यमराज बोले—जो पुरुष अपने वर्ण-धर्मसे विचलित नहीं होता, अपने सुहृद् और विपक्षियोंके प्रति समान भाव रखता है, बलपूर्वक किसीका द्रव्य हरण नहीं करता, और न किसी जीवकी हिंसा ही करता है, उस निर्मलचित्त व्यक्तिको भगवान् विष्णुका भक्त जानो॥ २०॥

कलिकलुषमलेन यस्य नात्मा
विमलमतेर्मलिनीकृतस्तमेनम् ।
मनसि कृतजनार्दनं मनुष्यं
सततमवेहि हरेरतीवभक्तम्॥ २१ ॥

जिस निर्मलमतिका चित्त कलि-कल्मषरूप मलसे मलिन नहीं हुआ और जिसने अपने हृदयमें सर्वदा श्रीजनार्दनको बसाया हुआ है, उस मनुष्यको भगवान्‌का अतीव भक्त समझो॥ २१॥

कनकमपि रहस्यवेक्ष्य बुद्ध्या
तृणमिव यः समवैति वै परस्वम्।
भवति च भगवत्यनन्यचेताः
पुरुषवरं तमवेहि विष्णुभक्तम्॥ २२॥

जो एकान्तमें पड़े हुए दूसरेके सोनेको देखकर भी उसे अपनी बुद्धिद्वारा तृणके समान समझता है और निरन्तर भगवान्‌का अनन्यभावसे चिन्तन करता है, उस नरश्रेष्ठको विष्णुका भक्त जानो॥ २२॥

स्फटिकगिरिशिलामलः क्व विष्णु-
र्मनसि नृणां क्व च मत्सरादिदोषः।
न हि तुहिनमयूखरश्मिपुञ्जे
भवति हुताशनदीप्तिजः प्रतापः॥ २३॥

कहाँ तो स्फटिकगिरि-शिलाके समान अति निर्मल भगवान् विष्णु और कहाँ मनुष्योंके चित्तमें रहनेवाले राग-द्वेषादि दोष! [इन दोनोंका संयोग किसी प्रकार नहीं हो सकता] हिमकर (चन्द्रमा)- के किरणजालमें अग्नि-तेजकी उष्णता कभी नहीं रह सकती है॥ २३॥

विमलमतिरमत्सरः प्रशान्त-
श्शुचिचरितोऽखिलसत्त्वमित्रभूतः ।

प्रियहितवचनोऽस्तमानमायो
वसति सदा हृदि तस्य वासुदेवः॥ २४॥

जो व्यक्ति निर्मल-चित्त, मात्सर्यरहित, प्रशान्त, शुद्ध-चरित्र, समस्त जीवोंका सुहृद्, प्रिय और हितवादी तथा अभिमान एवं मायासे रहित होता है, उसके हृदयमें भगवान् वासुदेव सर्वदा विराजमान रहते हैं॥ २४॥

वसति हृदि सनातने च तस्मिन्
भवति पुमाञ्जगतोऽस्य सौम्यरूपः।
क्षितिरसमतिरम्यमात्मनोऽन्तः
कथयति चारुतयैव शालपोतः॥ २५॥

उन सनातन भगवान्‌के हृदयमें विराजमान होनेपर पुरुष इस जगत्‌के लिये शान्तस्वरूप हो जाता है, जिस प्रकार नवीन शालवृक्ष अपने सौन्दर्यसे ही भीतर भरे हुए अति सुन्दर पार्थिव रसको बतला देता है॥ २५॥

यमनियमविधूतकल्मषाणा-
मनुदिनमच्युतसक्तमानसानाम्।
अपगतमदमानमत्सराणां
त्यज भट दूरतरेण मानवानाम्॥ २६॥

हे दूत! यम और नियमके द्वारा जिनकी पापराशि दूर हो गयी है, जिनका हृदय निरन्तर श्रीअच्युतमें ही आसक्त रहता है तथा जिनमें गर्व, अभिमान और मात्सर्यका लेश भी नहीं रहा है, उन मनुष्योंको तुम दूरहीसे त्याग देना॥ २६॥

हृदि यदि भगवाननादिरास्ते
हरिरसिशङ्खगदाधरोऽव्ययात्मा।

तदघमघविघातकर्तृभिन्नं
भवति कथं सति चान्धकारमर्के॥ २७॥

यदि खड्ग, शंख और गदाधारी अव्ययात्मा भगवान् हरि हृदयमें विराजमान हैं तो उन पापनाशक भगवान्‌के द्वारा उसके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। सूर्यके रहते हुए भला अन्धकार कैसे ठहर सकता है?॥ २७॥

हरति परधनं निहन्ति जन्तून्
वदति तथाऽनृतनिष्ठुराणि यश्च।
अशुभजनितदुर्मदस्य पुंसः
कलुषमतेर्हृदि तस्य नास्त्यनन्तः॥ २८॥

जो पुरुष दूसरोंका धन हरण करता है, जीवोंकी हिंसा करता है तथा मिथ्या और कटुभाषण करता है, उस अशुभ कर्मोन्मत्त दुष्टबुद्धिके हृदयमें भगवान् अनन्त नहीं टिक सकते॥ २८॥

न सहति परसम्पदं विनिन्दां
कलुषमतिः कुरुते सतामसाधुः।
न यजति न ददाति यश्च सन्तं
मनसि न तस्य जनार्दनोऽधमस्य॥ २९॥

जो कुमति दूसरोंके वैभवको नहीं देख सकता, जो दूसरोंकी निन्दा करता है, साधुजनोंका अपकार करता है तथा [सम्पन्न होकर भी] न तो श्रीविष्णुभगवान्‌की पूजा ही करता है और न [उनके भक्तोंको] दान ही देता है, उस अधमके हृदयमें श्रीजनार्दनका निवास कभी नहीं हो सकता॥ २९॥

परमसुहृदि बान्धवे कलत्रे
सुततनयापितृमातृभृत्यवर्गे ।
शठमतिरुपयाति योऽर्थतृष्णां
तमधमचेष्टमवेहि नास्य भक्तम्॥ ३०॥

जो दुष्टबुद्धि अपने परम सुहृद्, बन्धु-बान्धव, स्त्री, पुत्र, कन्या,

माता, पिता तथा भृत्यवर्गके प्रति अर्थतृष्णा प्रकट करता है, उस पापाचारीको भगवान्‌का भक्त मत समझो॥ ३०॥

अशुभमतिरसत्प्रवृत्तिसक्त-
स्सततमनार्यकुशीलसङ्गमत्तः ।
अनुदिनकृतपापबन्धयुक्तः
पुरुषपशुर्न हि वासुदेवभक्तः॥ ३१॥

जो दुर्बुद्धि पुरुष असत्कर्मोंमें लगा रहता है, नीच पुरुषोंके आचार और उन्हींके संगमें उन्मत्त रहता है तथा नित्यप्रति पापमय कर्मबन्धनसे ही बँधता जाता है, वह मनुष्यरूप पशु ही है; वह भगवान् वासुदेवका भक्त नहीं हो सकता॥ ३१॥

सकलमिदमहं च वासुदेवः
परमपुमान् परमेश्वरः स एकः।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते
हृदयगते व्रज तान्विहाय दूरात्॥ ३२॥

यह सकल प्रपंच और मैं एक परमपुरुष परमेश्वर वासुदेव ही हैं, हृदयमें भगवान् अनन्तके स्थित होनेसे जिनकी ऐसी स्थिर बुद्धि हो गयी हो, उन्हें तुम दूरहीसे छोड़कर चले जाना॥ ३२॥

कमलनयन वासुदेव विष्णो
धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे।
भव शरणमितीरयन्ति ये वै
त्यज भट दूरतरेण तानपापान्॥ ३३॥

'हे कमलनयन! हे वासुदेव! हे विष्णो! हे धरणिधर! हे अच्युत! हे शंख-चक्रपाणे! आप हमें शरण दीजिये'—जो लोग इस प्रकार पुकारते हों, उन निष्पाप व्यक्तियोंको तुम दूरसे ही त्याग देना॥ ३३॥

वसति मनसि यस्य सोऽव्ययात्मा
पुरुषवरस्य न तस्य दृष्टिपाते।
तव गतिरथ वा ममास्ति चक्र-
प्रतिहतवीर्यबलस्य सोऽन्यलोक्यः॥ ३४॥

जिस पुरुषश्रेष्ठके अन्तःकरणमें वे अव्ययात्मा भगवान् विराजते हैं, उसका जहाँतक दृष्टिपात होता है वहाँतक भगवान्‌के चक्रके प्रभावसे अपने बल-वीर्य नष्ट हो जानेके कारण तुम्हारी अथवा मेरी गति नहीं हो सकती। वह (महापुरुष) तो अन्य (वैकुण्ठादि) लोकोंका पात्र है॥ ३४॥

कालिङ्ग उवाच

इति निजभटशासनाय देवो
रवितनयस्स किलाह धर्मराजः।
मम कथितमिदं च तेन तुभ्यं
कुरुवर सम्यगिदं मयापि चोक्तम्॥ ३५॥

कालिंग बोला—हे कुरुवर! अपने दूतको शिक्षा देनेके लिये सूर्यपुत्र धर्मराजने उससे इस प्रकार कहा। मुझसे यह प्रसंग उस जातिस्मर मुनिने कहा था और मैंने यह सम्पूर्ण कथा तुमको सुना दी है॥ ३५॥

श्रीभीष्म उवाच

नकुलैतन्ममाख्यातं पूर्वं तेन द्विजन्मना।
कलिङ्गदेशादभ्येत्य प्रीतेन सुमहात्मना॥ ३६॥

श्रीभीष्मजी बोले—हे नकुल! पूर्वकालमें कलिंग-देशसे आये हुए उस महात्मा ब्राह्मणने प्रसन्न होकर मुझे यह सब विषय सुनाया था॥ ३६॥

मयाप्येतद्यथान्यायं सम्यग्वत्स तवोदितम्।
यथा विष्णुमृते नान्यत्त्राणं संसारसागरे॥ ३७॥

हे वत्स! वही सम्पूर्ण वृत्तान्त, जिस प्रकार कि इस संसार-सागरमें एक विष्णुभगवान्‌को छोड़कर जीवका और कोई भी रक्षक नहीं है, मैंने ज्यों-का-त्यों तुम्हें सुना दिया॥ ३७॥

किङ्कराः पाशदण्डाश्च न यमो न च यातनाः।
समर्थास्तस्य यस्यात्मा केशवालम्बनस्सदा॥ ३८॥

जिसका हृदय निरन्तर भगवत्परायण रहता है उसका यम, यमदूत, यमपाश, यमदण्ड अथवा यम-यातना कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते॥ ३८॥

श्रीपराशर उवाच

एतन्मुने समाख्यातं गीतं वैवस्वतेन यत्।
त्वत्प्रश्नानुगतं सम्यक्किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि॥ ३९॥

श्रीपराशरजी बोले—हे मुने! तुम्हारे प्रश्नके अनुसार जो कुछ यमने कहा था, वह सब मैंने तुम्हें भलीप्रकार सुना दिया, अब और क्या सुनना चाहते हो?॥ ३९॥

॥ इति श्रीविष्णुपुराणे तृतीयेंऽशे यमगीता सम्पूर्णा॥

यमगीता–(२)

[एक यमगीता अग्निमहापुराणके अन्तर्गत भी प्राप्त होती है। यह गीता यमराजद्वारा नचिकेताके प्रति कही गयी है। इस यमगीताकी केन्द्रीय विषयवस्तु योगदर्शन है। इसके प्रारम्भमें प्राचीन कालके विभिन्न मनीषियों यथा— पंचशिख, जनक, जैगीषव्य, देवल आदिके मतानुसार मनुष्यके परमकल्याणके साधन बताये गये हैं, जिनके द्वारा आत्मचिन्तन तथा अनासक्त भावसे शास्त्रोक्त कर्म करनेकी प्रेरणा मिलती है। इसके बाद इसमें योगमार्गका वर्णन है; विशेषकर यम-नियमके द्वारा मनका निग्रह करते हुए समाधि-अवस्था प्राप्त करनेका उपाय बताया गया है। जिससे जीव ब्रह्मभावमें स्थित हो जाता है, यह सारगर्भित एवं तात्त्विक यमगीता यहाँ सानुवाद प्रस्तुत की जा रही है—]

अग्निरुवाच

यमगीतां प्रवक्ष्यामि उक्ता या नाचिकेतसे।
पठतां शृण्वतां भुक्त्यै मुक्त्यै मोक्षार्थिनां सताम्॥ १॥

अग्निदेव कहते हैं—ब्रह्मन्! अब मैं यमगीताका वर्णन करूँगा, जो यमराजके द्वारा नचिकेताके प्रति कही गयी थी। यह पढ़ने और सुननेवालोंको भोग प्रदान करती है तथा मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले सत्पुरुषोंको मोक्ष देनेवाली है॥ १॥

यम उवाच

आसनं शयनं यानपरिधानगृहादिकम्।
वाञ्छत्यहोऽतिमोहेन सुस्थिरं स्वयमस्थिरः॥ २॥

यमराजने कहा—अहो! कितने आश्चर्यकी बात है कि मनुष्य अत्यन्त मोहके कारण स्वयं अस्थिरचित्त होकर आसन, शय्या, वाहन, परिधान (पहननेके वस्त्र आदि) तथा गृह आदि भोगोंको सुस्थिर मानकर प्राप्त करना चाहता है॥ २॥

भोगेषु शक्तिः सततं तथैवात्मावलोकनम्।
श्रेयः परं मनुष्याणां कपिलोद्गीतमेव हि॥ ३॥

कपिलजीने कहा है—'भोगोंमें आसक्तिका अभाव तथा सदा ही आत्मतत्त्वका चिन्तन—यह मनुष्योंके परमकल्याणका उपाय है'॥ ३॥

सर्वत्र समदर्शित्वं निर्ममत्वमसङ्गता।
श्रेयः परं मनुष्याणां गीतं पञ्चशिखेन हि॥ ४॥

'सर्वत्र समतापूर्ण दृष्टि तथा ममता और आसक्तिका न होना—यह मनुष्योंके परमकल्याणका साधन है'—यह आचार्य पंचशिखका उद्गार है॥ ४॥

आगर्भजन्मबाल्यादिवयोऽवस्थादिवेदनम् ।
श्रेयः परं मनुष्याणां गङ्गाविष्णुप्रगीतकम्॥ ५॥

'गर्भसे लेकर जन्म और बाल्य आदि वय तथा अवस्थाओंके स्वरूपको ठीक-ठीक समझना ही मनुष्योंके परमकल्याणका हेतु है'—यह गंगा-विष्णुका गान है॥ ५॥

आध्यात्मिकादिदुःखानामाद्यन्तादिप्रतिक्रिया ।
श्रेयः परं मनुष्याणां जनकोद्गीतमेव च॥ ६॥

'आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःख आदि-अन्तवाले हैं अर्थात् ये उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं, अतः इन्हें क्षणिक समझकर धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिये, विचलित नहीं होना चाहिये—इस प्रकार उन दुःखोंका प्रतिकार ही मनुष्योंके लिये परमकल्याणका साधन है'—यह महाराज जनकका मत है॥ ६॥

अभिन्नयोर्भेदकरः प्रत्ययो यः परात्मनः।
तच्छान्तिपरमं श्रेयो ब्रह्मोद्गीतमुदाहृतम्॥ ७॥

'जीवात्मा और परमात्मा वस्तुतः अभिन्न (एक) हैं, इनमें जो भेदकी प्रतीति होती है, उसका निवारण करना ही परमकल्याणका

हेतु है'—यह ब्रह्माजीका सिद्धान्त है॥ ७॥

कर्तव्यमिति यत्कर्म ऋग्यजुःसामसंज्ञितम्।
कुरुते श्रेयसे सङ्गान् जैगीषव्येण गीयते॥ ८॥

जैगीषव्यका कहना है कि 'ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदमें प्रतिपादित जो कर्म हैं, उन्हें कर्तव्य समझकर अनासक्तभावसे करना श्रेयका साधन है'॥ ८॥

हानिः सर्वविधित्सानामात्मनः सुखहैतुकी।
श्रेयः परं मनुष्याणां देवलोद्गीतमीरितम्॥ ९॥

'सब प्रकारकी विधित्सा (कर्मारम्भकी आकांक्षा)-का परित्याग आत्माके सुखका साधन है, यही मनुष्योंके लिये परम श्रेय है'—यह देवलका मत बताया गया है॥ ९॥

कामत्यागात्तु विज्ञानं सुखं ब्रह्म परं पदम्।
कामिनां न हि विज्ञानं सनकोद्गीतमेव तत्॥ १०॥

'कामनाओंके त्यागसे विज्ञान, सुख, ब्रह्म एवं परमपदकी प्राप्ति होती है। कामना रखनेवालोंको ज्ञान नहीं होता'—यह सनकादिकोंका सिद्धान्त है॥ १०॥

प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च कार्यं कर्मपरोऽब्रवीत्।
श्रेयसां श्रेय एतद्धि नैष्कर्म्यं ब्रह्म तद्धरिः॥ ११॥

दूसरे लोग कहते हैं कि प्रवृत्ति और निवृत्ति—दोनों प्रकारके कर्म करने चाहिये। परंतु वास्तवमें नैष्कर्म्य ही ब्रह्म है, वही भगवान् विष्णुका स्वरूप है—यही श्रेयका भी श्रेय है॥ ११॥

पुमांश्चाधिगतज्ञानो भेदं नाप्नोति सत्तमः।
ब्रह्मणा विष्णुसंज्ञेन परमेणाव्ययेन च॥ १२॥

जिस पुरुषको ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, वह सन्तोंमें श्रेष्ठ है, वह अविनाशी परब्रह्म विष्णुसे कभी भेदको नहीं प्राप्त होता॥ १२॥

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं सौभाग्यं रूपमुत्तमम्।
तपसा लभ्यते सर्वं मनसा यद्यदिच्छति॥ १३॥

ज्ञान, विज्ञान, आस्तिकता, सौभाग्य तथा उत्तम रूप तपस्यासे उपलब्ध होते हैं। इतना ही नहीं, मनुष्य अपने मनसे जो-जो वस्तु पाना चाहता है, वह सब तपस्यासे प्राप्त हो जाती है॥ १३॥

नास्ति विष्णुसमं ध्येयं तपो नानशनात्परं।
नास्त्यारोग्यसमं धन्यं नास्ति गङ्गासमा सरित्॥ १४॥

विष्णुके समान कोई ध्येय नहीं है, निराहार रहनेसे बढ़कर कोई तपस्या नहीं है, आरोग्यके समान कोई बहुमूल्य वस्तु नहीं है और गंगाजीके तुल्य दूसरी कोई नदी नहीं है॥ १४॥

न सोऽस्ति बान्धवः कश्चिद्विष्णुं मुक्त्वा जगद्गुरुम्।
अधश्चोद्ध्वं हरिश्चाग्रे देहेन्द्रियमनोमुखे॥ १५॥

जगद्गुरु भगवान् विष्णुको छोड़कर दूसरा कोई बान्धव नहीं है। नीचे-ऊपर, आगे, देह, इन्द्रिय, मन तथा मुख—सबमें और सर्वत्र भगवान् श्रीहरि विराजमान हैं॥ १५॥

इत्येवं संस्मरन् प्राणान् यस्त्यजेत्स हरिर्भवेत्।
यत्तद् ब्रह्म यतः सर्वं यत्सर्वं तस्य संस्थितम्॥ १६॥
अग्राह्यकमनिर्देश्यं सुप्रतिष्ठञ्च यत्परम्।
परापरस्वरूपेण विष्णुः सर्वहृदि स्थितः॥ १७॥
यज्ञेशं यज्ञपुरुषं केचिदिच्छन्ति तत्परम्।
केचिद्विष्णुं हरं केचित् केचिद् ब्रह्माणमीश्वरम्॥ १८॥
इन्द्रादिनामभिः केचित् सूर्यं सोमञ्च कालकम्।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगद्विष्णुं वदन्ति च॥ १९॥

इस प्रकार भगवान्का चिन्तन करते हुए जो प्राणोंका परित्याग करता है, वह साक्षात् श्रीहरिके स्वरूपमें मिल जाता है। वह जो

सर्वत्र व्यापक ब्रह्म है, जिससे सबकी उत्पत्ति हुई है, जो सर्वस्वरूप है तथा यह सब कुछ जिसका संस्थान (आकारविशेष) है, जो इन्द्रियोंसे ग्राह्य नहीं है, जिसका किसी नाम आदिके द्वारा निर्देश नहीं किया जा सकता, जो सुप्रतिष्ठित एवं सबसे परे है, उस परापर ब्रह्मके रूपमें साक्षात् भगवान् विष्णु ही सबके हृदयमें विराजमान हैं। वे यज्ञके स्वामी तथा यज्ञस्वरूप हैं; उन्हें कोई तो परब्रह्मरूपसे प्राप्त करना चाहते हैं, कोई विष्णुरूपसे, कोई शिवरूपसे, कोई ब्रह्मा और ईश्वररूपसे, कोई इन्द्रादि नामोंसे तथा कोई सूर्य, चन्द्रमा और कालरूपसे उन्हें पाना चाहते हैं। ब्रह्मासे लेकर कीटतक सारे जगत्को विष्णुका ही स्वरूप कहते हैं॥ १६—१९॥

स विष्णुः परमं ब्रह्म यतो नावर्तते पुनः।
सुवर्णादिमहादानपुण्यतीर्थावगाहनैः ॥ २०॥
ध्यानैर्व्रतैः पूजया च धर्मश्रुत्या तदाप्नुयात्।

वे भगवान् विष्णु परब्रह्म परमात्मा हैं, जिनके पास पहुँच जानेपर (जिन्हें जान लेने या पा लेनेपर) फिर वहाँसे इस संसारमें नहीं लौटना पड़ता। सुवर्ण-दान आदि बड़े-बड़े दान तथा पुण्य-तीर्थोंमें स्नान करनेसे, ध्यान लगानेसे, व्रत करनेसे, पूजासे और धर्मकी बातें सुनने (एवं उनका पालन करने)-से उनकी प्राप्ति होती है॥ २०½॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु॥ २१॥
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांश्चेषु गोचरान्॥ २२॥
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।

आत्माको 'रथी' समझो और शरीरको 'रथ'। बुद्धिको 'सारथि' जानो और मनको 'लगाम'। विवेकी पुरुष इन्द्रियोंको 'घोड़े' कहते हैं और विषयोंको उनके 'मार्ग' तथा शरीर, इन्द्रिय और मनसहित आत्माको 'भोक्ता' कहते हैं॥ २१-२२½॥

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा॥ २३॥
न सत्पदमवाप्नोति संसारञ्चाधिगच्छति।
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा॥ २४॥
स तत्पदमवाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते।

जो बुद्धिरूप सारथि अविवेकी होता है, जो अपने मनरूपी लगामको कसकर नहीं रखता, वह उत्तमपद परमात्माको नहीं प्राप्त होता, संसाररूपी गर्तमें गिरता है। परंतु जो विवेकी होता है और मनको काबूमें रखता है, वह उस परमपदको प्राप्त होता है, जिससे वह फिर जन्म नहीं लेता॥ २३-२४½॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः॥ २५॥
सोऽध्वानं परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।

जो मनुष्य विवेकयुक्त बुद्धिरूप सारथिसे सम्पन्न और मनरूपी लगामको काबूमें रखनेवाला होता है, वही संसाररूपी मार्गको पार करता है, जहाँ विष्णुका परमपद है॥ २५½॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः॥ २६॥
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः।
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः॥ २७॥
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः।

इन्द्रियोंकी अपेक्षा उनके विषय पर हैं, विषयोंसे परे मन है, मनसे परे बुद्धि है, बुद्धिसे परे महान् आत्मा (महत्तत्त्व) है, महत्तत्त्वसे परे अव्यक्त (मूलप्रकृति) है और अव्यक्तसे परे पुरुष (परमात्मा) है। पुरुषसे परे कुछ भी नहीं है, वही सीमा है, वही परमगति है॥ २६-२७½॥

एषु सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते॥ २८॥
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।
यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः तद्यच्छेज्ज्ञानमात्मनि॥ २९॥

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेच्छान्त आत्मनि।

सम्पूर्ण भूतोंमें छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशमें नहीं आता। सूक्ष्मदर्शी पुरुष अपनी तीव्र एवं सूक्ष्म बुद्धिसे ही उसे देख पाते हैं। विद्वान् पुरुष वाणीको मनमें और मनको विज्ञानमयी बुद्धिमें लीन करे। इसी प्रकार बुद्धिको महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्वको शान्त आत्मामें लीन करे॥ २८-२९$^{१}/_{२}$॥

ज्ञात्वा ब्रह्मात्मनोर्योगं यमाद्यैर्ब्रह्म सद्भवेत्॥ ३०॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रही।
यमाश्च नियमाः पञ्च शौचं सन्तोषसत्तपः॥ ३१॥
स्वाध्यायेश्वरपूजा च आसनं पद्मकादिकम्।
प्राणायामो वायुजयः प्रत्याहारः स्वनिग्रहः॥ ३२॥

यम-नियमादि साधनोंसे ब्रह्म और आत्माकी एकताको जानकर मनुष्य सत्स्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरीका अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रह न करना)—ये पाँच 'यम' कहलाते हैं। 'नियम' भी पाँच ही हैं—शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), सन्तोष, उत्तम तप, स्वाध्याय और ईश्वरपूजा। 'आसन' बैठनेकी प्रक्रियाका नाम है, उसके 'पद्मासन' आदि कई भेद हैं। प्राणवायुको जीतना 'प्राणायाम' है। इन्द्रियोंका निग्रह 'प्रत्याहार' कहलाता है॥ ३०—३२॥

शुभे ह्येकत्र विषये चेतसो यत् प्रधारणम्।
निश्चलत्वात्तु धीमद्भिर्धारणा द्विज कथ्यते॥ ३३॥
पौनःपुन्येन तत्रैव विषयेष्वेव धारणा।
ध्यानं स्मृतं समाधिस्तु अहं ब्रह्मात्मसंस्थितिः॥ ३४॥

ब्रह्मन्! एक शुभ विषयमें जो चित्तको स्थिरतापूर्वक स्थापित करना होता है, उसे बुद्धिमान् पुरुष 'धारणा' कहते हैं। एक ही विषयमें बारम्बार धारणा करनेका नाम 'ध्यान' है। 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस प्रकारके

अनुभवमें स्थिति होनेको 'समाधि' कहते हैं॥ ३३-३४॥

घटध्वंसाद्यथाकाशमभिन्नं नभसा भवेत्।
मुक्तो जीवो ब्रह्मणैवं सद्ब्रह्म ब्रह्म वै भवेत्॥ ३५॥
आत्मानं मन्यते ब्रह्म जीवो ज्ञानेन नान्यथा।
जीवो ह्यज्ञानतत्कार्यमुक्तः स्यादजरामरः॥ ३६॥

जैसे घड़ा फूट जानेपर घटाकाश महाकाशसे अभिन्न (एक) हो जाता है, उसी प्रकार मुक्त जीव ब्रह्मके साथ एकीभावको प्राप्त होता है—वह सत्स्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है। ज्ञानसे ही जीव अपनेको ब्रह्म मानता है, अन्यथा नहीं। अज्ञान और उसके कार्योंसे मुक्त होनेपर जीव अजर-अमर हो जाता है॥ ३५-३६॥

अग्निरुवाच

वसिष्ठ यमगीतोक्ता पठतां भुक्तिमुक्तिदा।
आत्यन्तिको लयः प्रोक्तो वेदान्तब्रह्मधीमयः॥ ३७॥

अग्निदेव कहते हैं—वसिष्ठ! यह मैंने यमगीता बतलायी है। इसे पढ़नेवालोंको यह भोग और मोक्ष प्रदान करती है। वेदान्तके अनुसार सर्वत्र ब्रह्मबुद्धिका होना 'आत्यन्तिक लय' कहलाता है॥ ३७॥

॥ इति श्रीअग्निमहापुराणे यमगीता सम्पूर्णा॥

हंसगीता–(१)

[हंसगीता नामसे प्रख्यात गीता श्रीमद्भागवतमहापुराणके एकादश स्कन्धमें भगवान् श्रीकृष्णद्वारा श्रीउद्धवजीको भक्ति-मुक्तिका उपदेश देते समय वर्णित हुई है। इसमें भगवान्‌के हंसावतारद्वारा ब्रह्माजीके मानस पुत्रों— सनकादिक ऋषियोंकी योगकी पराकाष्ठा अर्थात् परमार्थतत्त्व-सम्बन्धी जिज्ञासाका समाधान किया गया है। चित्तको विषयोंसे कैसे पृथक् करे, इसका गूढ़ तात्त्विक उपाय इसमें बताया गया है। जिज्ञासुओंको इस गीतामें सांख्य, योग तथा वेदान्तकी त्रिवेणी दृष्टिगोचर होगी। इसी लघु कलेवरवाली हंसगीताको यहाँ सानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है—]

श्रीभगवानुवाच

सत्त्वं रजस्तम इति गुणा बुद्धेर्न चात्मनः।
सत्त्वेनान्यतमौ हन्यात् सत्त्वं सत्त्वेन चैव हि॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव! सत्त्व, रज और तम—ये तीनों बुद्धि (प्रकृति)-के गुण हैं, आत्माके नहीं। सत्त्वके द्वारा रज और तम—इन दो गुणोंपर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये। तदनन्तर सत्त्वगुणकी शान्तवृत्तिके द्वारा उसकी दया आदि वृत्तियोंको भी शान्त कर देना चाहिये॥ १॥

सत्त्वाद् धर्मो भवेद् वृद्धात् पुंसो मद्भक्तिलक्षणः।
सात्त्विकोपासया सत्त्वं ततो धर्मः प्रवर्तते॥ २॥

जब सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, तभी जीवको मेरे भक्तिरूप स्वधर्मकी प्राप्ति होती है। निरन्तर सात्त्विक वस्तुओंका सेवन करनेसे ही सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है और तब मेरे भक्तिरूप स्वधर्ममें प्रवृत्ति होने लगती है॥ २॥

धर्मो रजस्तमो हन्यात् सत्त्ववृद्धिरनुत्तमः।
आशु नश्यति तन्मूलो ह्यधर्म उभये हते॥ ३॥

जिस धर्मके पालनसे सत्त्वगुणकी वृद्धि हो, वही सबसे श्रेष्ठ है। वह धर्म रजोगुण और तमोगुणको नष्ट कर देता है। जब वे दोनों नष्ट हो जाते हैं, तब उन्हींके कारण होनेवाला अधर्म भी शीघ्र ही मिट जाता है॥ ३॥

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः॥ ४॥

शास्त्र, जल, प्रजाजन, देश, समय, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार— ये दस वस्तुएँ यदि सात्त्विक हों तो सत्त्वगुणकी, राजसिक हों तो रजोगुणकी और तामसिक हों तो तमोगुणकी वृद्धि करती हैं॥ ४॥

तत्तत् सात्त्विकमेवैषां यद् यद् वृद्धाः प्रचक्षते।
निन्दन्ति तामसं तत्तद् राजसं तदुपेक्षितम्॥ ५॥

इनमेंसे शास्त्रज्ञ महात्मा जिनकी प्रशंसा करते हैं, वे सात्त्विक हैं, जिनकी निन्दा करते हैं, वे तामसिक हैं और जिनकी उपेक्षा करते हैं, वे वस्तुएँ राजसिक हैं॥ ५॥

सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान् सत्त्वविवृद्धये।
ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत् स्मृतिरपोहनम्॥ ६॥

जबतक अपने आत्माका साक्षात्कार तथा स्थूल-सूक्ष्म शरीर और उनके कारण तीनों गुणोंकी निवृत्ति न हो, तबतक मनुष्यको चाहिये कि सत्त्वगुणकी वृद्धिके लिये सात्त्विक शास्त्र आदिका ही सेवन करे; क्योंकि उससे धर्मकी वृद्धि होती है और धर्मकी वृद्धिसे अन्तःकरण शुद्ध होकर आत्मतत्त्वका ज्ञान होता है॥ ६॥

वेणुसङ्घर्षजो वह्निर्दग्ध्वा शाम्यति तद्वनम्।
एवं गुणव्यत्ययजो देहः शाम्यति तत्क्रियः॥ ७॥

बाँसोंकी रगड़से आग पैदा होती है और वह उनके सारे वनको

जलाकर शान्त हो जाती है। वैसे ही यह शरीर गुणोंके वैषम्यसे उत्पन्न हुआ है। विचारद्वारा मन्थन करनेपर इससे ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होती है और वह समस्त शरीरों एवं गुणोंको भस्म करके स्वयं भी शान्त हो जाती है ॥ ७॥

उद्धव उवाच

विदन्ति मर्त्याः प्रायेण विषयान् पदमापदाम्।
तथापि भुञ्जते कृष्ण तत् कथं श्वखराजवत्॥ ८॥

उद्धवजीने पूछा—भगवन्! प्रायः सभी मनुष्य इस बातको जानते हैं कि विषय विपत्तियोंके घर हैं; फिर भी वे कुत्ते, गधे और बकरेके समान दुःख सहन करके भी उन्हींको ही भोगते रहते हैं। इसका क्या कारण है?॥ ८॥

श्रीभगवानुवाच

अहमित्यन्यथाबुद्धिः प्रमत्तस्य यथा हृदि।
उत्सर्पति रजो घोरं ततो वैकारिकं मनः॥ ९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! जीव जब अज्ञानवश अपने स्वरूपको भूलकर हृदयसे सूक्ष्म-स्थूलादि शरीरोंमें अहंबुद्धि कर बैठता है—जो कि सर्वथा भ्रम ही है—तब उसका सत्त्वप्रधान मन घोर रजोगुणकी ओर झुक जाता है; उससे व्याप्त हो जाता है॥ ९॥

रजोयुक्तस्य मनसः सङ्कल्पः सविकल्पकः।
ततः कामो गुणध्यानाद् दुःसहः स्याद्धि दुर्मतेः॥ १०॥

बस, जहाँ मनमें रजोगुणकी प्रधानता हुई कि उसमें संकल्प-विकल्पोंका ताँता बँध जाता है। अब वह विषयोंका चिन्तन करने लगता है और अपनी दुर्बुद्धिके कारण कामके फंदेमें फँस जाता है, जिससे फिर छुटकारा होना बहुत ही कठिन है॥ १०॥

करोति कामवशगः कर्माण्यविजितेन्द्रियः।
दुःखोदर्काणि सम्पश्यन् रजोवेगविमोहितः॥ ११॥

अब वह अज्ञानी कामवश अनेकों प्रकारके कर्म करने लगता है और इन्द्रियोंके वश होकर, यह जानकर भी कि इन कर्मोंका अन्तिम फल दुःख ही है, उन्हींको करता है, उस समय वह रजोगुणके तीव्र वेगसे अत्यन्त मोहित रहता है॥ ११॥

रजस्तमोभ्यां यदपि विद्वान् विक्षिप्तधीः पुनः।
अतन्द्रितो मनो युञ्जन् दोषदृष्टिर्न सज्जते॥ १२॥

यद्यपि विवेकी पुरुषका चित्त भी कभी-कभी रजोगुण और तमोगुणके वेगसे विक्षिप्त होता है तथापि उसकी विषयोंमें दोषदृष्टि बनी रहती है; इसलिये वह बड़ी सावधानीसे अपने चित्तको एकाग्र करनेकी चेष्टा करता रहता है, जिससे उसकी विषयोंमें आसक्ति नहीं होती॥ १२॥

अप्रमत्तोऽनुयुञ्जीत मनो मय्यर्पयञ्छनैः।
अनिर्विण्णो यथाकालं जितश्वासो जितासनः॥ १३॥

साधकको चाहिये कि आसन और प्राणवायुपर विजय प्राप्तकर अपनी शक्ति और समयके अनुसार बड़ी सावधानीसे धीरे-धीरे मुझमें अपना मन लगाये और इस प्रकार अभ्यास करते समय अपनी असफलता देखकर तनिक भी ऊबे नहीं, बल्कि और भी उत्साहसे उसीमें जुड़ जाय॥ १३॥

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धावेश्यते यथा॥ १४॥

प्रिय उद्धव! मेरे शिष्य सनकादि परमर्षियोंने योगका यही स्वरूप बताया है कि साधक अपने मनको सब ओरसे खींचकर विराट् आदिमें नहीं, साक्षात् मुझमें ही पूर्णरूपसे लगा दें॥ १४॥

उद्धव उवाच

यदा त्वं सनकादिभ्यो येन रूपेण केशव।
योगमादिष्टवानेतद् रूपमिच्छामि वेदितुम्॥ १५॥

उद्धवजीने कहा—श्रीकृष्ण! आपने जिस समय जिस रूपसे सनकादि परमर्षियोंको योगका आदेश दिया था, उस रूपको मैं जानना चाहता हूँ॥ १५॥

श्रीभगवानुवाच

पुत्रा हिरण्यगर्भस्य मानसाः सनकादयः।
पप्रच्छुः पितरं सूक्ष्मां योगस्यैकान्तिकीं गतिम्॥ १६॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्रिय उद्धव! सनकादि परमर्षि ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं। उन्होंने एक बार अपने पितासे योगकी सूक्ष्म अन्तिम सीमाके सम्बन्धमें इस प्रकार प्रश्न किया था॥ १६॥

सनकादय ऊचुः

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रभो।
कथमन्योन्यसंत्यागो मुमुक्षोरतितितीर्षोः॥ १७॥

सनकादि परमर्षियोंने पूछा—पिताजी! चित्त गुणों अर्थात् विषयोंमें घुसा ही रहता है और गुण भी चित्तकी एक-एक वृत्तिमें प्रविष्ट रहते ही हैं अर्थात् चित्त और गुण आपसमें मिले-जुले ही रहते हैं। ऐसी स्थितिमें जो पुरुष इस संसारसागरसे पार होकर मुक्तिपद प्राप्त करना चाहता है, वह इन दोनोंको एक-दूसरेसे अलग कैसे कर सकता है?॥ १७॥

श्रीभगवानुवाच

एवं पृष्टो महादेवः स्वयंभूर्भूतभावनः।
ध्यायमानः प्रश्नबीजं नाभ्यपद्यत कर्मधीः॥ १८॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—प्रिय उद्धव! यद्यपि ब्रह्माजी सब

देवताओंके शिरोमणि, स्वयम्भू और प्राणियोंके जन्मदाता हैं। फिर भी सनकादि परमर्षियोंके इस प्रकार पूछनेपर ध्यान करके भी वे इस प्रश्नका मूलकारण न समझ सके; क्योंकि उनकी बुद्धि कर्मप्रवण थी॥ १८॥

स मामचिन्तयद् देवः प्रश्नपारतितीर्षया।
तस्याहं हंसरूपेण सकाशमगमं तदा॥ १९॥

उद्धव! उस समय ब्रह्माजीने इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिये भक्तिभावसे मेरा चिन्तन किया। तब मैं हंसका रूप धारण करके उनके सामने प्रकट हुआ॥ १९॥

दृष्ट्वा मां त उपव्रज्य कृत्वा पादाभिवन्दनम्।
ब्रह्माणमग्रतः कृत्वा पप्रच्छुः को भवानिति॥ २०॥

मुझे देखकर सनकादि ब्रह्माजीको आगे करके मेरे पास आये और उन्होंने मेरे चरणोंकी वन्दना करके मुझसे पूछा कि 'आप कौन हैं?'॥ २०॥

इत्यहं मुनिभिः पृष्टस्तत्त्वजिज्ञासुभिस्तदा।
यदवोचमहं तेभ्यस्तदुद्धव निबोध मे॥ २१॥

प्रिय उद्धव! सनकादि परमार्थतत्त्वके जिज्ञासु थे; इसलिये उनके पूछनेपर उस समय मैंने जो कुछ कहा, वह तुम मुझसे सुनो—॥ २१॥

वस्तुनो यद्यनानात्वमात्मनः प्रश्न ईदृशः।
कथं घटेत वो विप्रा वक्तुर्वा मे क आश्रयः॥ २२॥

'ब्राह्मणो! यदि परमार्थरूप वस्तु नानात्वसे सर्वथा रहित है, तब आत्माके सम्बन्धमें आपलोगोंका ऐसा प्रश्न कैसे युक्तिसंगत हो सकता है? अथवा मैं यदि उत्तर देनेके लिये बोलूँ भी तो किस जाति, गुण, क्रिया और सम्बन्ध आदिका आश्रय लेकर उत्तर दूँ?॥ २२॥

पञ्चात्मकेषु भूतेषु समानेषु च वस्तुतः।
को भवानिति वः प्रश्नो वाचारम्भो ह्यनर्थकः॥ २३॥

देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी शरीर पञ्चभूतात्मक होनेके

कारण अभिन्न ही हैं और परमार्थरूपसे भी अभिन्न हैं। ऐसी स्थितिमें 'आप कौन हैं?' आपलोगोंका यह प्रश्न ही केवल वाणीका व्यवहार है। विचारपूर्वक नहीं है, अतः निरर्थक है ॥ २३ ॥

मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥ २४॥

मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे भी जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ, मुझसे भिन्न और कुछ नहीं है। यह सिद्धान्त आपलोग तत्त्वविचारके द्वारा समझ लीजिये॥ २४॥

गुणेष्वाविशते चेतो गुणाश्चेतसि च प्रजाः।
जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः॥ २५॥

पुत्रो! यह चित्त चिन्तन करते-करते विषयाकार हो जाता है और विषय चित्तमें प्रविष्ट हो जाते हैं, यह बात सत्य है, तथापि विषय और चित्त ये दोनों ही मेरे स्वरूपभूत जीवके देह हैं—उपाधि हैं अर्थात् आत्माका चित्त और विषयके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है॥ २५॥

गुणेषु चाविशच्चित्तमभीक्ष्णं गुणसेवया।
गुणाश्च चित्तप्रभवा मद्रूप उभयं त्यजेत्॥ २६॥

इसलिये बार-बार विषयोंका सेवन करते रहनेसे जो चित्त विषयोंमें आसक्त हो गया है और विषय भी चित्तमें प्रविष्ट हो गये हैं, इन दोनोंको अपने वास्तविकसे अभिन्न मुझ परमात्माका साक्षात्कार करके त्याग देना चाहिये॥ २६॥

जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः।
तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः॥ २७॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ सत्त्वादि गुणोंके अनुसार होती हैं और बुद्धिकी वृत्तियाँ हैं, सच्चिदानन्दका स्वभाव नहीं। इन वृत्तियोंका साक्षी होनेके कारण जीव उनसे विलक्षण है। यह सिद्धान्त

श्रुति, युक्ति और अनुभूतिसे युक्त है॥ २७॥

यर्हि संसृतिबन्धोऽयमात्मनो गुणवृत्तिदः।
मयि तुर्ये स्थितो जह्यात् त्यागस्तद् गुणचेतसाम्॥ २८॥

क्योंकि बुद्धि-वृत्तियोंके द्वारा होनेवाला यह बन्धन ही आत्मामें त्रिगुणमयी वृत्तियोंका दान करता है। इसलिये तीनों अवस्थाओंसे विलक्षण और उनमें अनुगत मुझ तुरीय तत्त्वमें स्थित होकर इस बुद्धिके बन्धनका परित्याग कर दे। तब विषय और चित्त दोनोंका युगपत् त्याग हो जाता है॥ २८॥

अहङ्कारकृतं बन्धमात्मनोऽर्थविपर्ययम्।
विद्वान् निर्विद्य संसारचिन्तां तुर्ये स्थितस्त्यजेत्॥ २९॥

यह बन्धन अहंकारकी ही रचना है और यही आत्माके परिपूर्णतम सत्य, अखण्डज्ञान और परमानन्दस्वरूपको छिपा देता है। इस बातको जानकर विरक्त हो जाय और अपने तीन अवस्थाओंमें अनुगत तुरीयस्वरूपमें होकर संसारकी चिन्ताको छोड़ दे॥ २९॥

यावन्नानार्थधीः पुंसो न निवर्तेत युक्तिभिः।
जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा॥ ३०॥

जबतक पुरुषकी भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें सत्यत्वबुद्धि, अहंबुद्धि और ममबुद्धि युक्तियोंके द्वारा निवृत्त नहीं हो जाती, तबतक वह अज्ञानी यद्यपि जागता है तथापि सोता हुआ-सा रहता है—जैसे स्वप्नावस्थामें जान पड़ता है कि मैं जाग रहा हूँ॥ ३०॥

असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृता भिदा।
गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशो यथा॥ ३१॥

आत्मासे अन्य देह आदि प्रतीयमान नामरूपात्मक प्रपंचका कुछ भी अस्तित्व नहीं है। इसलिये उनके कारण होनेवाले वर्णाश्रमादिभेद, स्वर्गादिफल और उनके कारणभूत कर्म—ये सब-के-सब इस आत्माके

लिये वैसे ही मिथ्या हैं; जैसे स्वप्नदर्शी पुरुषके द्वारा देखे हुए सब-के-सब पदार्थ॥ ३१ ॥

यो जागरे बहिरनुक्षणधर्मिणोऽर्थान्
भुङ्क्ते समस्तकरणैर्हृदि तत्सदृक्षान्।
स्वप्ने सुषुप्त उपसंहरते स एकः
स्मृत्यन्वयात्त्रिगुणवृत्तिदृगिन्द्रियेशः ॥ ३२॥

जो जाग्रत्-अवस्थामें समस्त इन्द्रियोंके द्वारा बाहर दीखनेवाले सम्पूर्ण क्षणभंगुर पदार्थोंका अनुभव करता है और स्वप्नावस्थामें हृदयमें ही जाग्रत्में देखे हुए पदार्थोंके समान ही वासनामय विषयोंका अनुभव करता है तथा सुषुप्ति-अवस्थामें उन सब विषयोंको समेटकर उनके लयका भी अनुभव करता है, वह एक ही है। जाग्रत्-अवस्थाके इन्द्रिय, स्वप्नावस्थाके मन और सुषुप्तिकी संस्कारवती बुद्धिका भी वही स्वामी है; क्योंकि वह त्रिगुणमयी तीनों अवस्थाओंका साक्षी है। 'जिस मैंने स्वप्न देखा, जो मैं सोया, वही मैं जाग रहा हूँ'—इस स्मृतिके बलपर एक ही आत्माका समस्त अवस्थाओंमें होना सिद्ध हो जाता है॥ ३२ ॥

एवं विमृश्य गुणतो मनसस्त्र्यवस्था
मन्मायया मयि कृता इति निश्चितार्थाः।
संछिद्य हार्दमनुमानसदुक्तितीक्ष्ण-
ज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाधिम्॥ ३३॥

ऐसा विचारकर मनकी ये तीनों अवस्थाएँ गुणोंके द्वारा मेरी मायासे मेरे अंशस्वरूप जीवमें कल्पित की गयी हैं और आत्मामें ये नितान्त असत्य हैं, ऐसा निश्चय करके तुमलोग अनुमान, सत्पुरुषोंद्वारा किये गये उपनिषदोंके श्रवण और तीक्ष्ण ज्ञानखड्गके द्वारा सकल संशयोंके आधार अहंकारका छेदन करके हृदयमें स्थित मुझ परमात्माका भजन करो॥ ३३ ॥

ईक्षेत विभ्रममिदं मनसो विलासं
दृष्टं विनष्टमतिलोलमलातचक्रम्।
विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति माया
स्वप्नस्त्रिधा गुणविसर्गकृतो विकल्पः॥ ३४॥

यह जगत् मनका विलास है, दीखनेपर भी नष्टप्राय है, अलातचक्र (लुकारियोंकी बनेठी)-के समान अत्यन्त चंचल है और भ्रममात्र है—ऐसा समझे। ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित एक ज्ञानस्वरूप आत्मा ही अनेक-सा प्रतीत हो रहा है। यह स्थूल शरीर इन्द्रिय और अन्तः-करणरूप तीन प्रकारका विकल्प गुणोंके परिणामकी रचना है और स्वप्नके समान मायाका खेल है, अज्ञानसे कल्पित है॥ ३४॥

दृष्टिं ततः प्रतिनिवर्त्य निवृत्ततृष्ण-
स्तूष्णीं भवेन्निजसुखानुभवो निरीहः।
संदृश्यते क्व च यदीदमवस्तुबुद्ध्या
त्यक्तं भ्रमाय न भवेत् स्मृतिरानिपातात्॥ ३५॥

इसलिये उस देहादिरूप दृश्यसे दृष्टि हटाकर तृष्णारहित इन्द्रियोंके व्यापारसे हीन और निरीह होकर आत्मानन्दके अनुभवमें मग्न हो जाय। यद्यपि कभी-कभी आहार आदिके समय यह देहादिक प्रपंच देखनेमें आता है, तथापि यह पहले ही आत्मवस्तुसे अतिरिक्त और मिथ्या समझकर छोड़ा जा चुका है। इसलिये वह पुनः भ्रान्तिमूलक मोह उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हो सकता । देहपातपर्यन्त केवल संस्कारमात्र उसकी प्रतीति होती है॥ ३५॥

देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
दैवादपेतमुत दैववशादुपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः॥ ३६॥

जैसे मदिरा पीकर उन्मत्त पुरुष यह नहीं देखता कि मेरे द्वारा

पहना हुआ वस्त्र शरीरपर है या गिर गया, वैसे ही सिद्ध पुरुष जिस शरीरसे उसने अपने स्वरूपका साक्षात्कार किया है, वह प्रारब्धवश खड़ा है, बैठा है या दैववश कहीं गया या आया है—नश्वर शरीरसम्बन्धी इन बातोंपर दृष्टि नहीं डालता॥ ३६॥

देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्
स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः॥ ३७॥

प्राण और इन्द्रियोंके साथ यह शरीर भी प्रारब्धके अधीन है। इसलिये अपने आरम्भक (बनानेवाले) कर्म जबतक हैं, तबतक उनकी प्रतीक्षा करता ही रहता है। परन्तु आत्मवस्तुका साक्षात्कार करनेवाला तथा समाधिपर्यन्त योगमें आरूढ़ पुरुष स्त्री, पुत्र, धन आदि प्रपंचके सहित उस शरीरको फिर कभी स्वीकार नहीं करता, अपना नहीं मानता जैसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नावस्थाके शरीर आदिको॥ ३७॥

मयैतदुक्तं वो विप्रा गुह्यं यत् सांख्ययोगयोः।
जानीत मागतं यज्ञं युष्मद्धर्मविवक्षया॥ ३८॥

सनकादि ऋषियो! मैंने तुमसे जो कुछ कहा है, वह सांख्य और योग दोनोंका गोपनीय रहस्य है। मैं स्वयं भगवान् हूँ, तुमलोगोंको तत्त्वज्ञानका उपदेश करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ, ऐसा समझो॥ ३८॥

अहं योगस्य सांख्यस्य सत्यस्यर्तस्य तेजसः।
परायणं द्विजश्रेष्ठाः श्रियः कीर्तेर्दमस्य च॥ ३९॥

विप्रवरो! मैं योग, सांख्य, सत्य, ऋत (मधुरभाषण), तेज, श्री, कीर्ति और दम (इन्द्रियनिग्रह)—इन सबका परम गति—परम अधिष्ठान हूँ॥ ३९॥

मां भजन्ति गुणाः सर्वे निर्गुणं निरपेक्षकम्।
सुहृदं प्रियमात्मानं साम्यासङ्गादयोऽगुणाः॥ ४०॥

मैं समस्त गुणोंसे रहित हूँ और किसीकी अपेक्षा नहीं रखता। फिर भी साम्य, असंगता आदि सभी गुण मेरा ही सेवन करते हैं, मुझमें ही प्रतिष्ठित हैं; क्योंकि मैं सबका हितैषी, सुहृद्, प्रियतम और आत्मा हूँ। सच पूछो तो उन्हें गुण कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि वे सत्त्वादि गुणोंके परिणाम नहीं हैं और नित्य हैं॥ ४०॥

इति मे छिन्नसन्देहा मुनयः सनकादयः।
सभाजयित्वा परया भक्त्यागृणत संस्तवैः॥ ४१॥

प्रिय उद्धव! इस प्रकार मैंने सनकादि मुनियोंके संशय मिटा दिये। उन्होंने परम भक्तिसे मेरी पूजा की और स्तुतियोंद्वारा मेरी महिमाका गान किया॥ ४१॥

तैरहं पूजितः सम्यक् संस्तुतः परमर्षिभिः।
प्रत्येयाय स्वकं धाम पश्यतः परमेष्ठिनः॥ ४२॥

जब उन परमर्षियोंने भली-भाँति मेरी पूजा और स्तुति कर ली, तब मैं ब्रह्माजीके सामने ही अदृश्य होकर अपने धाममें लौट आया॥ ४२॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायां हंसगीता सम्पूर्णा॥

हंसगीता–(२)

[एक हंसगीता महाभारतके शान्तिपर्वमें पितामह भीष्म एवं धर्मराज युधिष्ठिरकी वार्ताके अन्तर्गत भी प्राप्त होती है। इसमें साध्यगणनामक देवताओंको हंसरूपधारी भगवान्‌द्वारा मोक्षधर्मका तत्त्व समझाया गया है। प्रायः सभी उपदेश सदाचारविषयक तथा सर्वोपयोगी हैं। इसमें सत्यभाषण और इन्द्रियसंयम आदिको ही सार बताकर उन्हें मोक्षका हेतु बताया गया है। इस हंसगीताको भी यहाँ सानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है—]

युधिष्ठिर उवाच

सत्यं दमं क्षमां प्रज्ञां प्रशंसन्ति पितामह।
विद्वांसो मनुजा लोके कथमेतन्मतं तव॥ १॥

युधिष्ठिरने पूछा—पितामह! संसारमें बहुत-से विद्वान् सत्य, इन्द्रिय-संयम, क्षमा और प्रज्ञा (उत्तम बुद्धि)-की प्रशंसा करते हैं। इस विषयमें आपका कैसा मत है?॥ १॥

भीष्म उवाच

अत्र ते वर्तयिष्येऽहमितिहासं पुरातनम्।
साध्यानामिह संवादं हंसस्य च युधिष्ठिर॥ २॥

भीष्मजीने कहा—युधिष्ठिर! इस विषयमें साध्यगणोंका हंसके साथ जो संवाद हुआ था, वही प्राचीन इतिहास मैं तुम्हें सुना रहा हूँ॥ २॥

हंसो भूत्वाथ सौवर्णस्त्वजो नित्यः प्रजापतिः।
स वै पर्येति लोकांस्त्रीनथ साध्यानुपागमत्॥ ३॥

एक समय नित्य अजन्मा प्रजापति सुवर्णमय हंसका रूप धारण करके तीनों लोकोंमें विचर रहे थे। घूमते-घामते वे साध्यगणोंके पास जा पहुँचे॥ ३॥

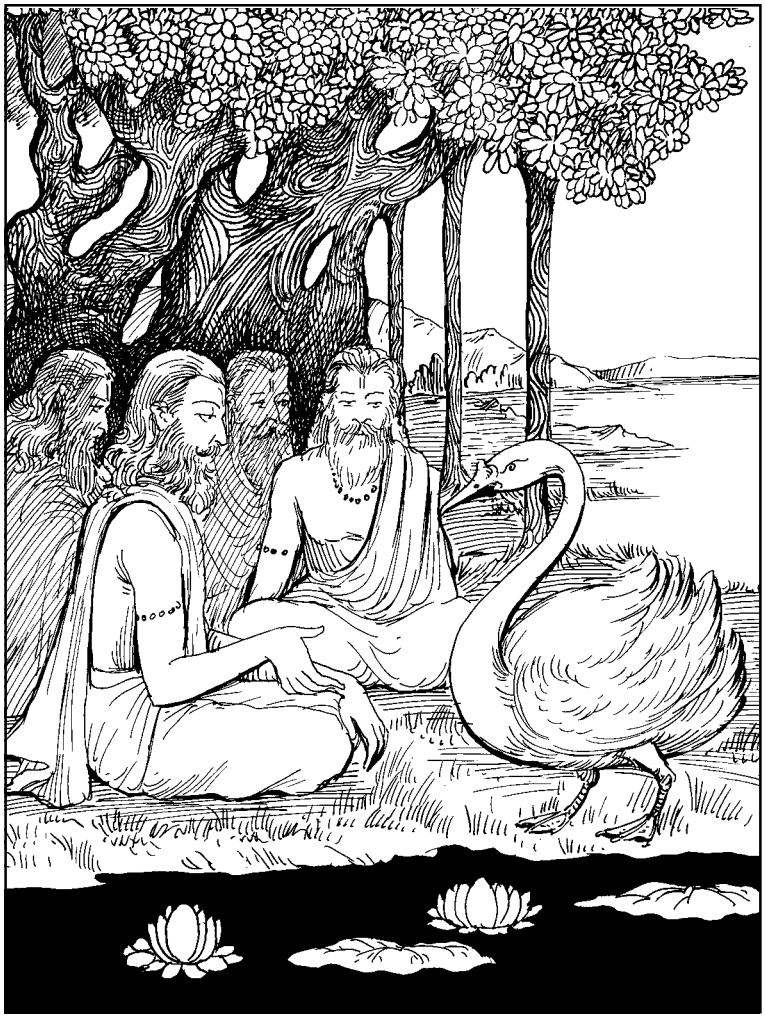

साध्यगणोंको हंसरूपमें ब्रह्माजीका उपदेश

साध्या ऊचुः

शकुने वयं स्म देवा वै साध्यास्त्वामनुयुङ्क्ष्महे।
पृच्छामस्त्वां मोक्षधर्मं भवांश्च किल मोक्षवित्॥ ४॥

उस समय साध्योंने कहा—हंस! हमलोग साध्य देवता हैं और आपसे मोक्षधर्मके विषयमें प्रश्न करना चाहते हैं; क्योंकि आप मोक्ष-तत्त्वके ज्ञाता हैं, यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है॥ ४॥

श्रुतोऽसि नः पण्डितो धीरवादी
साधुशब्दश्चरते ते पतत्रिन्।
किं मन्यसे श्रेष्ठतमं द्विज त्वं
कस्मिन् मनस्ते रमते महात्मन्॥ ५॥

महात्मन्! हमने सुना है कि आप पण्डित और धीर वक्ता हैं। पतत्रिन्! आपकी उत्तम वाणीका सर्वत्र प्रचार है। पक्षिप्रवर! आपके मतमें सर्वश्रेष्ठ वस्तु क्या है? आपका मन किसमें रमता है?॥ ५॥

तन्नः कार्यं पक्षिवर प्रशाधि
यत् कार्याणां मन्यसे श्रेष्ठमेकम्।
यत् कृत्वा वै पुरुषः सर्वबन्धै-
र्विमुच्यते विहगेन्द्रेह शीघ्रम्॥ ६॥

पक्षिराज! खगश्रेष्ठ! समस्त कार्योंमेंसे जिस एक कार्यको आप सबसे उत्तम समझते हों तथा जिसके करनेसे जीवको सब प्रकारके बन्धनोंसे शीघ्र छुटकारा मिल सके, उसीका हमें उपदेश कीजिये॥ ६॥

हंस उवाच

इदं कार्यममृताशाः शृणोमि
तपो दमः सत्यमात्माभिगुप्तिः।
ग्रन्थीन् विमुच्य हृदयस्य सर्वान्
प्रियाप्रिये स्वं वशमानयीत॥ ७॥

हंसने कहा—अमृतभोजी देवताओ! मैं तो सुनता हूँ कि तप,

इन्द्रियसंयम, सत्यभाषण और मनोनिग्रह आदि कार्य ही सबसे उत्तम हैं। हृदयकी सारी गाँठें खोलकर प्रिय और अप्रियको अपने वशमें करे अर्थात् उनके लिये हर्ष एवं विषाद न करे॥ ७॥

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेदरुषतीं पापलोक्याम्॥ ८॥

किसीके मर्ममें आघात न पहुँचाये। दूसरोंसे निष्ठुर वचन न बोले। किसी नीच मनुष्यसे अध्यात्मशास्त्रका उपदेश न ग्रहण करे तथा जिसे सुनकर दूसरोंको उद्वेग हो, ऐसी नरकमें डालनेवाली अमंगलमयी बात भी मुँहसे न निकाले॥ ८॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य नाममर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु॥ ९॥

वचनरूपी बाण जब मुँहसे निकल पड़ते हैं, तब उनके द्वारा बींधा गया मनुष्य रात-दिन शोकमें डूबा रहता है; क्योंकि वे दूसरोंके मर्मपर आघात पहुँचाते हैं, इसलिये विद्वान् पुरुषको किसी दूसरे मनुष्यपर वाग्बाणका प्रयोग नहीं करना चाहिये॥ ९॥

परश्चेदेनमतिवादबाणै-
र्भृशं विध्येच्छम एवेह कार्यः।
संरोष्यमाणः प्रतिहृष्यते यः
स आदत्ते सुकृतं वै परस्य॥ १०॥

दूसरा कोई भी यदि इस विद्वान् पुरुषको कटुवचनरूपी बाणोंसे बहुत अधिक चोट पहुँचाये तो भी उसे शान्त ही रहना चाहिये।

जो दूसरोंके क्रोध करनेपर भी स्वयं बदलेमें प्रसन्न ही रहता है, वह उसके पुण्यको ग्रहण कर लेता है॥ १०॥

क्षेपायमाणमभिषङ्गव्यलीकं
निगृह्णाति ज्वलितं यश्च मन्युम्।
अदुष्टचेता मुदितोऽनसूयुः
स आदत्ते सुकृतं वै परेषाम्॥ ११॥

जो जगत्में निन्दा करानेवाले और आवेशमें डालनेके कारण अप्रिय प्रतीत होनेवाले प्रज्वलित क्रोधको रोक लेता है, चित्तमें कोई विकार या दोष नहीं आने देता, प्रसन्न रहता और दूसरोंके दोष नहीं देखता है, वह पुरुष अपने प्रति शत्रुभाव रखनेवाले लोगोंके पुण्य ले लेता है॥ ११॥

आक्रुश्यमानो न वदामि किञ्चित्
क्षमाम्यहं ताड्यमानश्च नित्यम्।
श्रेष्ठं ह्येतद् यत्क्षमामाहुरार्याः
सत्यं तथैवार्जवमानृशंस्यम्॥ १२॥

मुझे कोई गाली दे तो भी बदलेमें मैं कुछ नहीं कहता हूँ। कोई मार दे तो उसे सदा क्षमा ही करता हूँ; क्योंकि श्रेष्ठजन क्षमा, सत्य, सरलता और दयाको ही उत्तम बताते हैं॥ १२॥

वेदस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
दमस्योपनिषन्मोक्ष एतत् सर्वानुशासनम्॥ १३॥

वेदाध्ययनका सार है सत्यभाषण, सत्यभाषणका सार है इन्द्रियसंयम और इन्द्रियसंयमका फल है मोक्ष। यही सम्पूर्ण शास्त्रोंका उपदेश है॥ १३॥

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं
विधित्सावेगमुदरोपस्थवेगम् ।

एतान् वेगान् यो विषहेदुदीर्णां-
स्तं मन्येऽहं ब्राह्मणं वै मुनिं च॥ १४॥

जो वाणीका वेग, मन और क्रोधका वेग, तृष्णाका वेग तथा पेट और जननेन्द्रियका वेग—इन सब प्रचण्ड वेगोंको सह लेता है, उसीको मैं ब्रह्मवेत्ता और मुनि मानता हूँ॥ १४॥

अक्रोधनः क्रुध्यतां वै विशिष्ट-
स्तथा तितिक्षुरतितिक्षोर्विशिष्टः।
अमानुषान्मानुषो वै विशिष्ट-
स्तथाज्ञानाज्ज्ञानविद् वै विशिष्टः॥ १५॥

क्रोधी मनुष्योंसे क्रोध न करनेवाला मनुष्य श्रेष्ठ है। असहनशीलसे सहनशील पुरुष बड़ा है। मनुष्येतर प्राणियोंसे मनुष्य ही बढ़कर है तथा अज्ञानीसे ज्ञानवान् ही श्रेष्ठ है॥ १५॥

आक्रुश्यमानो नाक्रुश्येन्मन्युरेनं तितिक्षतः।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति॥ १६॥

जो दूसरेके द्वारा गाली दी जानेपर भी बदलेमें उसे गाली नहीं देता, उस क्षमाशील मनुष्यका दबा हुआ क्रोध ही उस गाली देनेवालेको भस्म कर देता है और उसके पुण्यको भी ले लेता है॥ १६॥

यो नात्युक्तः प्राह रूक्षं प्रियं वा
यो वा हतो न प्रतिहन्ति धैर्यात्।
पापं च यो नेच्छति तस्य हन्तु-
स्तस्येह देवाः स्पृहयन्ति नित्यम्॥ १७॥

जो दूसरोंके द्वारा अपने लिये कड़वी बात कही जानेपर भी उसके प्रति कठोर या प्रिय कुछ भी नहीं कहता तथा किसीके द्वारा चोट खाकर भी धैर्यके कारण बदलेमें न तो मारनेवालेको मारता है और न उसकी बुराई ही चाहता है, उस महात्मासे मिलनेके लिये देवता भी सदा लालायित रहते हैं॥ १७॥

पापीयसः क्षमेतैव श्रेयसः सदृशस्य च।
विमानितो हतोत्क्रुष्ट एवं सिद्धिं गमिष्यति॥ १८॥

पाप करनेवाला अपराधी अवस्थामें अपनेसे बड़ा हो या बराबर, उसके द्वारा अपमानित होकर, मार खाकर और गाली सुनकर भी उसे क्षमा ही कर देना चाहिये। ऐसा करनेवाला पुरुष परम सिद्धिको प्राप्त होगा॥ १८॥

सदाहमार्यान्निभृतोऽप्युपासे
न मे विधित्सोत्सहते न रोषः।
न वाप्यहं लिप्समानः परैमि
न चैव किञ्चिद् विषयेण यामि॥ १९॥

यद्यपि मैं सब प्रकारसे परिपूर्ण हूँ (मुझे कुछ जानना या पाना शेष नहीं है) तो भी मैं श्रेष्ठ पुरुषोंकी उपासना (सत्संग) करता रहता हूँ। मुझपर न तृष्णाका वश चलता है न रोषका। मैं कुछ पानेके लोभसे धर्मका उल्लंघन नहीं करता और न विषयोंकी प्राप्तिके लिये ही कहीं आता-जाता हूँ॥ १९॥

नाहं शप्तः प्रतिशपामि कंचिद्
दमं द्वारं ह्यमृतस्येह वेद्मि।
गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि
न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्॥ २०॥

कोई मुझे शाप दे दे तो भी मैं बदलेमें उसे शाप नहीं देता। इन्द्रियसंयमको ही मोक्षका द्वार मानता हूँ। इस समय तुमलोगोंको एक बहुत गुप्त बात बता रहा हूँ, सुनो। मनुष्ययोनिसे बढ़कर कोई उत्तम योनि नहीं है॥ २०॥

निर्मुच्यमानः पापेभ्यो घनेभ्य इव चन्द्रमाः।
विरजाः कालमाकाङ्क्षन् धीरो धैर्येण सिद्ध्यति॥ २१॥

जिस प्रकार चन्द्रमा बादलोंके ओटसे निकलनेपर अपनी प्रभासे प्रकाशित हो उठता है, उसी प्रकार पापोंसे मुक्त हुआ निर्मल

अन्त:करणवाला धीर पुरुष धैर्यपूर्वक कालकी प्रतीक्षा करता हुआ सिद्धिको प्राप्त हो जाता है॥ २१॥

यः सर्वेषां भवति ह्यर्चनीय
उत्सेधनस्तम्भ इवाभिजातः।
यस्मै वाचं सुप्रसन्नां वदन्ति
स वै देवान् गच्छति संयतात्मा॥ २२॥

जो अपने मनको वशमें रखनेवाला विद्वान् पुरुष ऊँचे उठानेवाले खम्भेकी भाँति उच्चकुलमें उत्पन्न हुआ सबके लिये आदरके योग्य हो जाता है तथा जिसके प्रति सब लोग प्रसन्नतापूर्वक मधुर वचन बोलते हैं, वह मनुष्य देवभावको प्राप्त हो जाता है॥ २२॥

न तथा वक्तुमिच्छन्ति कल्याणान् पुरुषे गुणान्।
यथैषां वक्तुमिच्छन्ति नैर्गुण्यमनुयुञ्जकाः॥ २३॥

किसीसे ईर्ष्या रखनेवाले मनुष्य जिस तरह उसके दोषोंका वर्णन करना चाहते हैं, उस प्रकार उसके कल्याणमय गुणोंका बखान करना नहीं चाहते हैं॥ २३॥

यस्य वाङ्मनसीगुप्ते सम्यक् प्रणिहिते सदा।
वेदास्तपश्च त्यागश्च स इदं सर्वमाप्नुयात्॥ २४॥

जिसकी वाणी और मन सुरक्षित होकर सदा सब प्रकारसे परमात्मामें लगे रहते हैं, वह वेदाध्ययन, तप और त्याग—इन सबके फलको पा लेता है॥ २४॥

आक्रोशनविमानाभ्यां नाबुधान् बोधयेद् बुधः।
तस्मान्न वर्धयेदन्यं न चात्मानं विहिंसयेत्॥ २५॥

अत: समझदार मनुष्यको चाहिये कि वह कटुवचन कहने या अपमान करनेवाले अज्ञानियोंको उनके उक्त दोष बताकर समझानेका प्रयत्न न करे। उसके सामने दूसरेको बढ़ावा न दे तथा उसपर आक्षेप

करके उसके द्वारा अपनी हिंसा न कराये॥ २५॥

अमृतस्येव सन्तृप्येदवमानस्य पण्डितः।
सुखं ह्यवमतः शेते योऽवमन्ता स नश्यति॥ २६॥

विद्वान्‌को चाहिये कि वह अपमान पाकर अमृत पीनेकी भाँति सन्तुष्ट हो; क्योंकि अपमानित पुरुष तो सुखसे सोता है, किंतु अपमान करनेवालेका नाश हो जाता है॥ २६॥

यत् क्रोधनो यजति यद् ददाति
यद् वा तपस्तप्यति यज्जुहोति।
वैवस्वतस्तद्धरतेऽस्य सर्वं
मोघःश्रमो भवति हि क्रोधनस्य॥ २७॥

क्रोधी मनुष्य जो यज्ञ करता है, दान देता है, तप करता है अथवा जो हवन करता है, उसके उन सब कर्मोंके फलको यमराज हर लेते हैं। क्रोध करनेवालेका वह किया हुआ सारा परिश्रम व्यर्थ जाता है॥ २७॥

चत्वारि यस्य द्वाराणि सुगुप्तान्यमरोत्तमाः।
उपस्थमुदरं हस्तौ वाक् चतुर्थी स धर्मवित्॥ २८॥

देवेश्वरो! जिस पुरुषके उपस्थ, उदर, दोनों हाथ और वाणी—ये चारों द्वार सुरक्षित होते हैं, वही धर्मज्ञ है॥ २८॥

सत्यं दमं ह्यार्जवमानृशंस्यं
धृतिं तितिक्षामतिसेवमानः।
स्वाध्यायनित्योऽस्पृहयन् परेषा-
मेकान्तशील्यूर्ध्वगतिर्भवेत् सः॥ २९॥

जो सत्य, इन्द्रियसंयम, सरलता, दया, धैर्य और क्षमाका अधिक सेवन करता है, सदा स्वाध्यायमें लगा रहता है, दूसरेकी वस्तु नहीं लेना चाहता तथा एकान्तमें निवास करता है, वह ऊर्ध्वगतिको प्राप्त

होता है॥ २९॥

सर्वांश्चैनाननुचरन् वत्सवच्चतुरः स्तनान्।
न पावनतमं किञ्चित् सत्यादध्यगमं क्वचित्॥ ३०॥

जैसे बछड़ा अपनी माताके चारों स्तनोंका पान करता है, उसी प्रकार मनुष्यको उपर्युक्त सभी सद्गुणोंका सेवन करना चाहिये। मैंने अबतक सत्यसे बढ़कर परम पावन वस्तु कहीं किसीको नहीं समझा है॥ ३०॥

आचक्षेऽहं मनुष्येभ्यो देवेभ्यः प्रतिसञ्चरन्।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव॥ ३१॥

मैं चारों ओर घूमकर मनुष्यों और देवताओंसे कहा करता हूँ कि जैसे जहाज समुद्रसे पार होनेका साधन है, उसी प्रकार सत्य ही स्वर्गलोकमें पहुँचनेकी सीढ़ी है॥ ३१॥

यादृशैः संनिवसति यादृशांश्चोपसेवते।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः॥ ३२॥

पुरुष जैसे लोगोंके साथ रहता है, जैसे मनुष्योंका सेवन करता है और जैसा होना चाहता है, वैसा ही होता है॥ ३२॥

यदि सन्तं सेवति यद्यसन्तं
तपस्विनं यदि वा स्तेनमेव।
वासो यथा रंगवशं प्रयाति
तथा स तेषां वशमभ्युपैति॥ ३३॥

जैसे वस्त्र जिस रंगमें रँगा जाय, वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार यदि कोई सज्जन, असज्जन, तपस्वी अथवा चोरका सेवन करता है तो वह उन्हीं-जैसा हो जाता है अर्थात् उसपर उन्हींका रंग चढ़ जाता है॥ ३३॥

सदा देवाः साधुभिः संवदन्ते
न मानुषं विषयं यान्ति द्रष्टुम्।

नेन्दुः समः स्यादसमो हि वायु-
रुच्चावचं विषयं यः स वेद॥ ३४॥

देवतालोग सदा सत्पुरुषोंका संग—उन्हींके साथ वार्तालाप करते हैं; इसीलिये वे मनुष्योंके क्षणभंगुर भोगोंकी ओर देखने भी नहीं जाते। जो विभिन्न विषयोंके नश्वर स्वभावको ठीक-ठीक जानता है, उसकी समानता न चन्द्रमा कर सकते हैं न वायु॥ ३४॥

अदुष्टं वर्तमाने तु हृदयान्तरपूरुषे।
तेनैव देवाः प्रीयन्ते सतां मार्गस्थितेन वै॥ ३५॥

हृदयगुफामें रहनेवाला अन्तर्यामी आत्मा जब दोषभावसे रहित हो जाता है, उस अवस्थामें उसका साक्षात्कार करनेवाला पुरुष सन्मार्गगामी समझा जाता है। उसकी इस स्थितिसे ही देवता प्रसन्न होते हैं॥ ३५॥

शिश्नोदरे ये निरताः सदैव
स्तेना नरा वाक्परुषाश्च नित्यम्।
अपेतदोषानपि तान् विदित्वा
दूराद् देवाः सम्परिवर्जयन्ति॥ ३६॥

किंतु जो सदा पेट पालने और उपस्थ-इन्द्रियोंके भोग भोगनेमें ही लगे रहते हैं तथा जो चोरी करने एवं सदा कठोर वचन बोलनेवाले हैं, वे यदि प्रायश्चित्त आदिके द्वारा उक्त कर्मोंके दोषसे छूट जायँ तो भी देवतालोग उन्हें पहचानकर दूरसे ही त्याग देते हैं॥ ३६॥

न वै देवा हीनसत्त्वेन तोष्याः
सर्वाशिना दुष्कृतकर्मणा वा।
सत्यव्रता ये तु नराः कृतज्ञा
धर्मे रतास्तैः सह सम्भजन्ते॥ ३७॥

सत्त्वगुणसे रहित और सब कुछ भक्षण करनेवाले पापाचारी मनुष्य

देवताओंको सन्तुष्ट नहीं कर सकते। जो मनुष्य नियमपूर्वक सत्य बोलनेवाले, कृतज्ञ और धर्मपरायण हैं, उन्हींके साथ देवता स्नेह-सम्बन्ध स्थापित करते हैं॥ ३७॥

अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः
सत्यं वदेद् व्याहृतं तद् द्वितीयम्।
प्रियं वदेद् व्याहृतं तत् तृतीयं
धर्मं वदेद् व्याहृतं तच्चतुर्थम्॥ ३८॥

व्यर्थ बोलनेकी अपेक्षा मौन रहना अच्छा बताया गया है, (यह वाणीकी प्रथम विशेषता है) सत्य बोलना वाणीकी दूसरी विशेषता है, प्रिय बोलना वाणीकी तीसरी विशेषता है। धर्मसम्मत बोलना यह वाणीकी चौथी विशेषता है (इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है)॥ ३८॥

साध्या ऊचुः

केनायमावृतो लोकः केन वा न प्रकाशते।
केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति॥ ३९॥

साध्योंने पूछा—हंस! इस जगत्को किसने आवृत कर रखा है? किस कारणसे उसका स्वरूप प्रकाशित नहीं होता है? मनुष्य किस हेतुसे मित्रोंका त्याग करता है? और किस दोषसे वह स्वर्गमें नहीं जाने पाता?॥ ३९॥

हंस उवाच

अज्ञानेनावृतो लोको मात्सर्यान्न प्रकाशते।
लोभात् त्यजति मित्राणि सङ्गात् स्वर्गं न गच्छति॥ ४०॥

हंसने कहा—देवताओ! अज्ञानने इस लोकको आवृत कर रखा है। आपसमें डाह होनेके कारण इसका स्वरूप प्रकाशित नहीं होता। मनुष्य लोभसे मित्रोंका त्याग करता है और आसक्तिदोषके कारण वह स्वर्गमें नहीं जाने पाता॥ ४०॥

साध्या ऊचुः

कः स्विदेको रमते ब्राह्मणानां
कः स्विदेको बहुभिर्जोषमास्ते।
कः स्विदेको बलवान् दुर्बलोऽपि
कः स्विदेषां कलहं नान्ववैति॥ ४१॥

साध्योंने पूछा—हंस! ब्राह्मणोंमें कौन एकमात्र सुखका अनुभव करता है? वह कौन ऐसा एक मनुष्य है, जो बहुतोंके साथ रहकर भी चुप रहता है? वह कौन एक मनुष्य है, जो दुर्बल होनेपर भी बलवान् है तथा इनमें कौन ऐसा है, जो किसीके साथ कलह नहीं करता?॥ ४१॥

हंस उवाच

प्राज्ञ एको रमते ब्राह्मणानां
प्राज्ञश्चैको बहुभिर्जोषमास्ते।
प्राज्ञ एको बलवान् दुर्बलोऽपि
प्राज्ञ एषां कलहं नान्ववैति॥ ४२॥

हंसने कहा—देवताओ! ब्राह्मणोंमें जो ज्ञानी है, एकमात्र वही परम सुखका अनुभव करता है। ज्ञानी ही बहुतोंके साथ रहकर भी मौन रहता है। एकमात्र ज्ञानी दुर्बल होनेपर भी बलवान् है और इनमें ज्ञानी ही किसीके साथ कलह नहीं करता है॥ ४२॥

साध्या ऊचुः

किं ब्राह्मणानां देवत्वं किं च साधुत्वमुच्यते।
असाधुत्वं च किं तेषां किमेषां मानुषं मतम्॥ ४३॥

साध्योंने पूछा—हंस! ब्राह्मणोंका देवत्व क्या है? उनमें साधुता क्या बतायी जाती है? उनके भीतर असाधुता और मनुष्यता क्या मानी गयी है?॥ ४३॥

हंस उवाच

स्वाध्याय एषां देवत्वं व्रतं साधुत्वमुच्यते।
असाधुत्वं परीवादो मृत्युर्मानुष्यमुच्यते॥ ४४॥

हंसने कहा—साध्यगण! वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय ही ब्राह्मणोंका देवत्व है। उत्तम व्रतोंका पालन करना ही उनमें साधुता बतायी जाती है। दूसरोंकी निन्दा करना ही उनकी असाधुता है और मृत्युको प्राप्त होना ही उनकी मनुष्यता बतायी गयी है॥ ४४॥

भीष्म उवाच

(इत्युक्त्वा परमो देवो भगवान् नित्य अव्ययः।
साध्यैर्देवगणैः सार्धं दिवमेवारुरोह सः॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! ऐसा कहकर नित्य अविनाशी परमदेव भगवान् ब्रह्मा साध्य देवताओंके साथ ही ऊपर स्वर्गलोककी ओर चल दिये।

एतद् यशस्यमायुष्यं पुण्यं स्वर्गाय च ध्रुवम्।
दर्शितं देवदेवेन परमेणाव्ययेन च॥)

सर्वश्रेष्ठ अविनाशी देवाधिदेव ब्रह्माजीके द्वारा प्रकाशमें लाया हुआ यह पुण्यमय तत्त्वज्ञान यश और आयुकी वृद्धि करनेवाला है तथा यह स्वर्गलोककी प्राप्तिका निश्चित साधन है।

संवाद इत्ययं श्रेष्ठः साध्यानां परिकीर्तितः।
क्षेत्रं वै कर्मणां योनिः सद्भावः सत्यमुच्यते॥ ४५॥

युधिष्ठिर! इस प्रकार साध्योंके साथ जो हंसका संवाद हुआ था, उसका मैंने तुमसे वर्णन किया। यह शरीर ही कर्मोंकी योनि है और सद्भावको ही सत्य कहते हैं॥ ४५॥

॥ इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि हंसगीता सम्पूर्णा॥

नारदगीता

[महाभारतके शान्तिपर्वमें तीन अध्यायवाली नारदगीता प्राप्त होती है। इसमें देवर्षि नारदद्वारा श्रीशुकदेवजीको ज्ञान तथा वैराग्यका उपदेश दिया गया है तथा इसी क्रममें सदाचारकी प्रेरणा देते हुए धैर्य तथा अनासक्तिपर विशेष बल दिया गया है। तदनन्तर मनुष्यको प्रारब्धानुसार प्राप्त सुख-दुःख आदिका वर्णन है। प्रारब्ध स्वयं उसीके पूर्वकृत कर्मोंके परिणामस्वरूप बनता है तथा मनुष्य परवश-सा होकर उन्हें भोगनेको विवश होता है। अतः अहंबुद्धिका सर्वथा त्याग करके, बन्धनमुक्त हो सनातन-पदको प्राप्त करना चाहिये। यही तथ्य इस गीतामें बहुत रोचक ढंगसे बताया गया है। इसकी भाषा अत्यन्त सुबोध, दृष्टान्त अत्यन्त रोचक तथा उपदेश सभीके लिये उपयोगी है। सहज बोधगम्य इस नारदगीताको यहाँ सानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है—]

पहला अध्याय

शुकदेवजीको नारदजीद्वारा वैराग्य और ज्ञानका उपदेश देना

भीष्म उवाच

एतस्मिन्नन्तरे शून्ये नारदः समुपागमत्।
शुकं स्वाध्यायनिरतं वेदार्थान् वक्तुमीप्सितान्॥ १॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! व्यासजीके चले जानेके बाद उस सूने आश्रममें स्वाध्यायपरायण शुकदेवसे अपना इच्छित वेदोंका अर्थ कहनेके लिये देवर्षि नारदजी पधारे॥ १॥

देवर्षिं तु शुको दृष्ट्वा नारदं समुपस्थितम्।
अर्घ्यपूर्वेण विधिना वेदोक्तेनाभ्यपूजयत्॥ २॥

देवर्षि नारदको उपस्थित देखकर शुकदेवने वेदोक्त विधिसे अर्घ्य

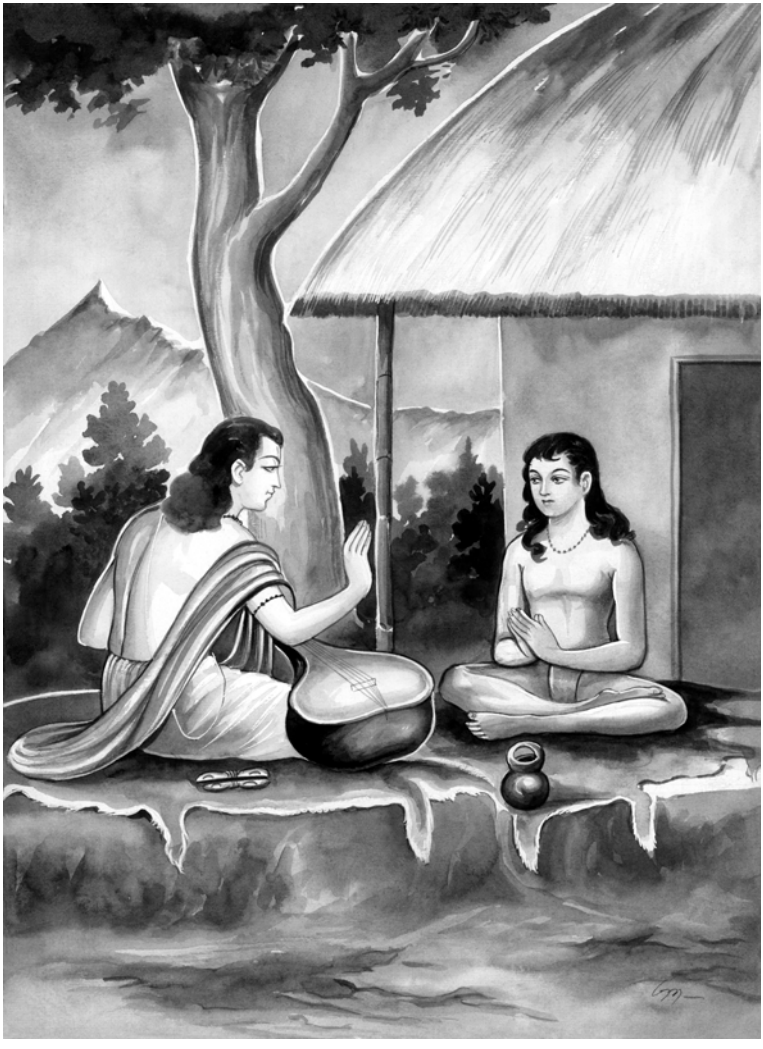

शुकदेवजीको नारदजीका उपदेश

आदि निवेदन करके उनका पूजन किया॥ २॥

नारदोऽथाब्रवीत् प्रीतो ब्रूहि धर्मभृतां वर।
केन त्वां श्रेयसा वत्स योजयामीति हृष्टवत्॥ ३॥

उस समय नारदजीने प्रसन्न होकर कहा—'वत्स! तुम धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ हो। बताओ, तुम्हें किस श्रेष्ठ वस्तुकी प्राप्ति कराऊँ ?' यह बात उन्होंने बड़े हर्षके साथ कही॥ ३॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा शुकः प्रोवाच भारत।
अस्मिँल्लोके हितं यत् स्यात् तेन मां योक्तुमर्हसि॥ ४॥

भरतनन्दन! नारदजीकी यह बात सुनकर शुकदेवने कहा—'इस लोकमें जो परम कल्याणका साधन हो, उसीका मुझे उपदेश देनेकी कृपा करें' ॥ ४॥

नारद उवाच

तत्त्वं जिज्ञासतां पूर्वमृषीणां भावितात्मनाम्।
सनत्कुमारो भगवानिदं वचनमब्रवीत्॥ ५॥

नारदजीने कहा—वत्स! पूर्वकालकी बात है, पवित्र अन्तःकरणवाले ऋषियोंने तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रश्न किया। उसके उत्तरमें भगवान् सनत्कुमारने यह उपदेश दिया॥ ५॥

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्॥ ६॥

विद्याके समान कोई नेत्र नहीं है। सत्यके समान कोई तप नहीं है। रागके समान कोई दुःख नहीं है और त्यागके सदृश कोई सुख नहीं है॥ ६॥

निवृत्तिः कर्मणः पापात् सततं पुण्यशीलता।
सद्वृत्तिः समुदाचारः श्रेय एतदनुत्तमम्॥ ७॥

पापकर्मोंसे दूर रहना, सदा पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान करना, श्रेष्ठ

पुरुषोंके-से बर्ताव और सदाचारका पालन करना—यही सर्वोत्तम श्रेय (कल्याण)-का साधन है॥ ७॥

मानुष्यमसुखं प्राप्य यः सज्जति स मुह्यति।
नालं स दुःखमोक्षाय संयोगो दुःखलक्षणम्॥ ८॥

जहाँ सुखका नाम भी नहीं है, ऐसे इस मानव-शरीरको पाकर जो विषयोंमें आसक्त होता है, वह मोहको प्राप्त होता है। विषयोंका संयोग दुःखरूप ही है, अतः दुःखोंसे छुटकारा नहीं दिला सकता॥ ८॥

सक्तस्य बुद्धिश्चलति मोहजालविवर्धनी।
मोहजालावृतो दुःखमिह चामुत्र सोऽश्नुते॥ ९॥

विषयासक्त पुरुषकी बुद्धि चंचल होती है। वह मोहजालको बढ़ानेवाली है, मोहजालसे बँधा हुआ पुरुष इस लोक तथा परलोकमें दुःख ही भोगता है॥ ९॥

सर्वोपायात् तु कामस्य क्रोधस्य च विनिग्रहः।
कार्यः श्रेयोऽर्थिना तौ हि श्रेयोघातार्थमुद्यतौ॥ १०॥

जिसे कल्याणप्राप्तिकी इच्छा हो, उसे सभी उपायोंसे काम और क्रोधको दबाना चाहिये; क्योंकि ये दोनों दोष कल्याणका नाश करनेके लिये उद्यत रहते हैं॥ १०॥

नित्यं क्रोधात् तपो रक्षेच्छ्रियं रक्षेच्च मत्सरात्।
विद्यां मानावमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः॥ ११॥

मनुष्यको चाहिये कि सदा तपको क्रोधसे, लक्ष्मीको डाहसे, विद्याको मानापमानसे और अपने-आपको प्रमादसे बचाये॥ ११॥

आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम्।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं न सत्याद् विद्यते परम्॥ १२॥

क्रूर स्वभावका परित्याग सबसे बड़ा धर्म है। क्षमा सबसे बड़ा बल है। आत्माका ज्ञान ही सबसे उत्कृष्ट ज्ञान है और सत्यसे बढ़कर

तो कुछ है ही नहीं॥ १२॥

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम॥ १३॥

सत्य बोलना सबसे श्रेष्ठ है; परंतु सत्यसे भी श्रेष्ठ है हितकारक वचन बोलना। जिससे प्राणियोंका अत्यन्त हित होता हो, वही मेरे विचारसे सत्य है॥ १३॥

सर्वारम्भपरित्यागी निराशीर्निष्परिग्रहः।
येन सर्वं परित्यक्तं स विद्वान् स च पण्डितः॥ १४॥

जो कार्य आरम्भ करनेके सभी संकल्पोंको छोड़ चुका है, जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, जो किसी वस्तुका संग्रह नहीं करता तथा जिसने सब कुछ त्याग दिया है, वही विद्वान् है और वही पण्डित॥ १४॥

इन्द्रियैरिन्द्रियार्थान् यश्चरत्यात्मवशैरिह।
असज्जमानः शान्तात्मा निर्विकारः समाहितः॥ १५॥
आत्मभूतैरतद्भूतः सह चैव विनैव च।
स विमुक्तः परं श्रेयो नचिरेणाधितिष्ठति॥ १६॥

जो अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा यहाँ अनासक्त-भावसे विषयोंका अनुभव करता है, जिसका चित्त शान्त, निर्विकार और एकाग्र है तथा जो आत्मस्वरूप प्रतीत होनेवाले देह और इन्द्रियाँ हैं, उनके साथ रहकर भी उनसे तद्रूप न हो अलग-सा ही रहता है, वह मुक्त है और उसे बहुत शीघ्र परम कल्याणकी प्राप्ति होती है॥ १५-१६॥

अदर्शनमसंस्पर्शस्तथासम्भाषणं सदा।
यस्य भूतैः सह मुने स श्रेयो विन्दते परम्॥ १७॥

मुने! जिसकी किसी प्राणीकी ओर दृष्टि नहीं जाती, जो किसीका स्पर्श तथा किसीसे बातचीत नहीं करता, वह परम कल्याणको प्राप्त होता है॥ १७॥

न हिंस्यात् सर्वभूतानि मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जन्म समासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥ १८॥

किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे। सबके प्रति मित्रभाव रखते हुए विचरे तथा यह मनुष्य-जन्म पाकर किसीके साथ वैर न करे॥ १८॥

आकिञ्चन्यं सुसन्तोषो निराशीस्त्वमचापलम्।
एतदाहुः परं श्रेय आत्मज्ञस्य जितात्मनः॥ १९॥

जो आत्मतत्त्वका ज्ञाता तथा मनको वशमें रखनेवाला है, उसके लिये यही परम कल्याणका साधन बताया गया है कि वह किसी वस्तुका संग्रह न करे, सन्तोष रखे तथा कामना और चंचलताको त्याग दे॥ १९॥

परिग्रहं परित्यज्य भव तात जितेन्द्रियः।
अशोकं स्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाभयम्॥ २०॥

तात शुकदेव! तुम संग्रहका त्याग करके जितेन्द्रिय हो जाओ तथा उस पदको प्राप्त करो, जो इस लोक और परलोकमें भी निर्भय एवं सर्वथा शोकरहित है॥ २०॥

निरामिषा न शोचन्ति त्यजेदामिषमात्मनः।
परित्यज्यामिषं सौम्य दुःखतापाद् विमोक्ष्यसे॥ २१॥

जिन्होंने भोगोंका परित्याग कर दिया है, वे कभी शोकमें नहीं पड़ते, इसलिये प्रत्येक मनुष्यको भोगासक्तिका त्याग करना चाहिये। सौम्य! भोगोंका त्याग कर देनेपर तुम दुःख और सन्तापसे छूट जाओगे॥ २१॥

तपोनित्येन दान्तेन मुनिना संयतात्मना।
अजितं जेतुकामेन भाव्यं सङ्गेष्वसङ्गिना॥ २२॥

जो अजित (परमात्मा)-को जीतनेकी इच्छा रखता हो, उसे तपस्वी, जितेन्द्रिय, मननशील, संयतचित्त और विषयोंमें अनासक्त रहना चाहिये॥ २२॥

गुणसङ्गेष्वनासक्त एकचर्यारतः सदा।
ब्राह्मणो नचिरादेव सुखमायात्यनुत्तमम्॥ २३॥

जो ब्राह्मण त्रिगुणात्मक विषयोंमें आसक्त न होकर सदा एकान्तवास करता है, वह शीघ्र ही सर्वोत्तम सुखरूप मोक्षको प्राप्त कर लेता है॥ २३॥

द्वन्द्वारामेषु भूतेषु य एको रमते मुनिः।
विद्धि प्रज्ञानतृप्तं तं ज्ञानतृप्तो न शोचति॥ २४॥

जो मुनि मैथुनमें सुख माननेवाले प्राणियोंके बीचमें रहकर भी अकेले रहनेमें ही आनन्द मानता है, उसे विज्ञानसे परितृप्त समझना चाहिये। जो ज्ञानसे तृप्त होता है, वह कभी शोक नहीं करता॥ २४॥

शुभैर्लभति देवत्वं व्यामिश्रैर्जन्म मानुषम्।
अशुभैश्चाप्यधो जन्म कर्मभिर्लभतेऽवशः॥ २५॥

जीव सदा कर्मोंके अधीन रहता है। वह शुभ कर्मोंके अनुष्ठानसे देवता होता है, दोनोंके सम्मिश्रणसे मनुष्य-जन्म पाता है और केवल अशुभ कर्मोंसे पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंमें जन्म लेता है॥ २५॥

तत्र मृत्युजरादुःखैः सततं समभिद्रुतः।
संसारे पच्यते जन्तुस्तत्कथं नावबुद्ध्यसे॥ २६॥

उन-उन योनियोंमें जीवको सदा जरा-मृत्यु और नाना प्रकारके दुःखोंसे सन्तप्त होना पड़ता है। इस प्रकार संसारमें जन्म लेनेवाला प्रत्येक प्राणी सन्तापकी आगमें पकाया जाता है—इस बातकी ओर तुम क्यों नहीं ध्यान देते?॥ २६॥

अहिते हितसंज्ञस्त्वमध्रुवे ध्रुवसंज्ञकः।
अनर्थे चार्थसंज्ञस्त्वं किमर्थं नावबुद्ध्यसे॥ २७॥

तुमने अहितमें ही हित-बुद्धि कर ली है, जो अध्रुव (विनाशशील) वस्तुएँ हैं, उन्हींको 'ध्रुव' (अविनाशी) नाम दे रखा है और अनर्थमें ही तुम्हें अर्थका बोध हो रहा है। यह बात तुम्हारी समझमें क्यों नहीं आती है?॥ २७॥

संवेष्ट्यमानं बहुभिर्मोहात् तन्तुभिरात्मजैः।
कोषकार इवात्मानं वेष्टयन् नावबुध्यसे॥ २८॥

जैसे रेशमका कीड़ा अपने ही शरीरसे उत्पन्न हुए तन्तुओंद्वारा अपने-आपको आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार तुम भी मोहवश अपनेहीसे उत्पन्न सम्बन्धके बन्धनोंद्वारा अपने-आपको बाँधते जा रहे हो तो भी यह बात तुम्हारी समझमें नहीं आ रही है॥ २८॥

अलं परिग्रहेणेह दोषवान् हि परिग्रहः।
कृमिर्हि कोषकारस्तु बध्यते स परिग्रहात्॥ २९॥

यहाँ विभिन्न वस्तुओंके संग्रहकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि संग्रहसे महान् दोष प्रकट होता है। रेशमका कीड़ा अपने संग्रह-दोषके कारण ही बन्धनमें पड़ता है॥ २९॥

पुत्रदारकुटुम्बेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः।
सरःपङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव॥ ३०॥

स्त्री-पुत्र और कुटुम्बमें आसक्त रहनेवाले प्राणी उसी प्रकार कष्ट पाते हैं, जैसे जंगलके बूढ़े हाथी तालाबके दलदलमें फँसकर दुःख उठाते हैं॥ ३०॥

महाजालसमाकृष्टान् स्थले मत्स्यानिवोद्धृतान्।
स्नेहजालसमाकृष्टान् पश्य जन्तून् सुदुःखितान्॥ ३१॥

जिस प्रकार महान् जालमें फँसकर पानीसे बाहर आये हुए मत्स्य तड़पते हैं, उसी प्रकार स्नेहजालसे आकृष्ट होकर अत्यन्त कष्ट उठाते हुए इन प्राणियोंकी ओर दृष्टिपात करो॥ ३१॥

कुटुम्बं पुत्रदारांश्च शरीरं सञ्चयाश्च ये।
पारक्यमध्रुवं सर्वं किं स्वं सुकृतदुष्कृतम्॥ ३२॥

संसारमें कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र, शरीर और संग्रह—सब कुछ पराया है। सब नाशवान् है। इसमें अपना क्या है, केवल पाप और पुण्य॥ ३२॥

यदा सर्वं परित्यज्य गन्तव्यमवशेन ते।
अनर्थे किं प्रसक्तस्त्वं स्वमर्थं नानुतिष्ठसि॥ ३३॥

जब सब कुछ छोड़कर तुम्हें यहाँसे विवश होकर चल देना है, तब इस अनर्थमय जगत्‌में क्यों आसक्त हो रहे हो? अपने वास्तविक अर्थ—मोक्षका साधन क्यों नहीं करते हो?॥ ३३॥

अविश्रान्तमनालम्बमपाथेयमदैशिकम्।
तमःकान्तारमध्वानं कथमेको गमिष्यसि॥ ३४॥

जहाँ ठहरनेके लिये कोई स्थान नहीं, कोई सहारा देनेवाला नहीं, राहखर्च नहीं तथा अपने देशका कोई साथी अथवा राह बतानेवाला नहीं है, जो अन्धकारसे व्याप्त और दुर्गम है, उस मार्गपर तुम अकेले कैसे चल सकोगे?॥ ३४॥

न हि त्वां प्रस्थितं कश्चित् पृष्ठतोऽनुगमिष्यति।
सुकृतं दुष्कृतं च त्वां यास्यन्तमनुयास्यति॥ ३५॥

जब तुम परलोककी राह लोगे, उस समय तुम्हारे पीछे कोई नहीं जायगा। केवल तुम्हारा किया हुआ पुण्य या पाप ही वहाँ जाते समय तुम्हारा अनुसरण करेगा॥ ३५॥

विद्या कर्म च शौचं च ज्ञानं च बहुविस्तरम्।
अर्थार्थमनुसार्यन्ते सिद्धार्थश्च विमुच्यते॥ ३६॥

अर्थ (परमात्मा)-की प्राप्तिके लिये ही विद्या, कर्म, पवित्रता और अत्यन्त विस्तृत ज्ञानका सहारा लिया जाता है। जब कार्यकी सिद्धि (परमात्माकी प्राप्ति) हो जाती है, तब मनुष्य मुक्त हो जाता है॥ ३६॥

निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दन्ति दुष्कृतः॥ ३७॥

गाँवोंमें रहनेवाले मनुष्यकी विषयोंके प्रति जो आसक्ति होती है, वह उसे बाँधनेवाली रस्सीके समान है। पुण्यात्मा पुरुष उसे काटकर

आगे—परमार्थके पथपर बढ़ जाते हैं; किंतु जो पापी हैं, वे उसे नहीं काट पाते॥ ३७॥

रूपकूलां मनःस्रोतां स्पर्शद्वीपां रसावहाम्।
गन्धपङ्कां शब्दजलां स्वर्गमार्गदुरावहाम्॥ ३८॥
क्षमारित्रां सत्यमयीं धर्मस्थैर्यवटारकाम्।
त्यागवाताध्वगां शीघ्रां नौतार्यां तां नदीं तरेत्॥ ३९॥

यह संसार एक नदीके समान है, जिसका उपादान या उद्गम सत्य है, रूप इसका किनारा, मन स्रोत, स्पर्श द्वीप और रस ही प्रवाह है, गन्ध उस नदीका कीचड़, शब्द जल और स्वर्गरूपी दुर्गम घाट है। शरीररूपी नौकाकी सहायतासे उसे पार किया जा सकता है। क्षमा इसको खेनेवाली लग्गी और धर्म इसको स्थिर करनेवाली रस्सी (लंगर) है। यदि त्यागरूपी अनुकूल पवनका सहारा मिले तो इस शीघ्रगामिनी नदीको पार किया जा सकता है। इसे पार करनेका अवश्य प्रयत्न करे॥ ३८-३९॥

त्यज धर्ममधर्मं च तथा सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज॥ ४०॥

धर्म और अधर्मको छोड़ो। सत्य और असत्यको भी त्याग दो और उन दोनोंका त्याग करके जिसके द्वारा त्याग करते हो, उसको भी त्याग दो॥ ४०॥

त्यज धर्ममसङ्कल्पादधर्मं चाप्यलिप्सया।
उभे सत्यानृते बुद्ध्या बुद्धिं परमनिश्चयात्॥ ४१॥

संकल्पके त्यागद्वारा धर्मको और लिप्साके अभावद्वारा अधर्मको भी त्याग दो। फिर बुद्धिके द्वारा सत्य और असत्यका त्याग करके परमतत्त्वके निश्चयद्वारा बुद्धिको भी त्याग दो॥ ४१॥

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम्।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धिं पूर्णं मूत्रपुरीषयोः॥ ४२॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम्।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यज॥ ४३॥

यह शरीर पंचभूतोंका घर है। इसमें हड्डियोंके खंभे लगे हैं। यह नस-नाड़ियोंसे बँधा हुआ, रक्त-मांससे लिपा हुआ और चमड़ेसे मढ़ा हुआ है। इसमें मल-मूत्र भरा है, जिससे दुर्गन्ध आती रहती है। यह बुढ़ापा और शोकसे व्याप्त, रोगोंका घर, दुःखरूप, रजोगुणरूपी धूलसे ढका हुआ और अनित्य है; अतः तुम्हें इसकी आसक्तिको त्याग देना चाहिये॥ ४२-४३॥

इदं विश्वं जगत् सर्वमजगच्चापि यद् भवेत्।
महाभूतात्मकं सर्वं महद् यत् परमाश्रयात्॥ ४४॥
इन्द्रियाणि च पञ्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।
इत्येष सप्तदशको राशिरव्यक्तसंज्ञकः॥ ४५॥

यह सम्पूर्ण चराचर जगत् पंचमहाभूतोंसे उत्पन्न हुआ है। इसलिये महाभूतस्वरूप ही है। जो शरीरसे परे है, वह महत्तत्त्व अर्थात् बुद्धि, पाँच इन्द्रियाँ, पाँच सूक्ष्म महाभूत अर्थात् तन्मात्राएँ, पाँच प्राण तथा सत्त्व आदि गुण—इन सत्रह तत्त्वोंके समुदायका नाम अव्यक्त है॥ ४४-४५॥

सर्वैरिहेन्द्रियार्थैश्च व्यक्ताव्यक्तैर्हि संहितः।
चतुर्विंशक इत्येष व्यक्ताव्यक्तमयो गणः॥ ४६॥

इनके साथ ही इन्द्रियोंके पाँच विषय अर्थात् स्पर्श, शब्द, रूप, रस और गन्ध एवं मन और अहंकार—इन सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्तको मिलानेसे चौबीस तत्त्वोंका समूह होता है, उसे व्यक्ताव्यक्तमय समुदाय कहा गया है॥ ४६॥

एतैः सर्वैः समायुक्तः पुमानित्यभिधीयते।
त्रिवर्गं तु सुखं दुःखं जीवितं मरणं तथा॥ ४७॥

य इदं वेद तत्त्वेन स वेद प्रभवाप्ययौ।

इन सब तत्त्वोंसे जो संयुक्त है, उसे पुरुष कहते हैं। जो पुरुष धर्म, अर्थ, काम, सुख-दुःख और जीवन-मरणके तत्त्वको ठीक-ठीक समझता है, वही उत्पत्ति और प्रलयके तत्त्वको भी यथार्थरूपसे जानता है॥ ४७½॥

पारम्पर्येण बोद्धव्यं ज्ञानानां यच्च किञ्चन॥ ४८॥
इन्द्रियैर्गृह्यते यद् यत् तत् तद् व्यक्तमिति स्थितिः।
अव्यक्तमिति विज्ञेयं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम्॥ ४९॥

ज्ञानके सम्बन्धमें जितनी बातें हैं, उन्हें परम्परासे जानना चाहिये। जो पदार्थ इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण किये जाते हैं, उन्हें व्यक्त कहते हैं और जो इन्द्रियोंके अगोचर होनेके कारण अनुमानसे जाने जाते हैं, उनको अव्यक्त कहते हैं॥ ४८-४९॥

इन्द्रियैर्नियतैर्देही धाराभिरिव तर्प्यते।
लोके विततमात्मानं लोकांश्चात्मनि पश्यति॥ ५०॥

जिनकी इन्द्रियाँ अपने वशमें हैं, वे जीव उसी प्रकार तृप्त हो जाते हैं, जैसे वर्षाकी धारासे प्यासा मनुष्य। ज्ञानी पुरुष अपनेको प्राणियोंमें व्याप्त और प्राणियोंको अपनेमें स्थित देखते हैं॥ ५०॥

परावरदृशः शक्तिर्ज्ञानमूला न नश्यति।
पश्यतः सर्वभूतानि सर्वावस्थासु सर्वदा॥ ५१॥
सर्वभूतस्य संयोगो नाशुभेनोपपद्यते।

उस परावरदर्शी ज्ञानी पुरुषकी ज्ञानमूलक शक्ति कभी नष्ट नहीं होती। जो सम्पूर्ण भूतोंको सभी अवस्थाओंमें सदा देखा करता है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंके सहवासमें आकर भी कभी अशुभ कर्मोंसे युक्त नहीं होता अर्थात् अशुभ कर्म नहीं करता॥ ५१½॥

ज्ञानेन विविधान् क्लेशानतिवृत्तस्य मोहजान्॥ ५२॥
लोके बुद्धिप्रकाशेन लोकमार्गो न रिष्यते।

जो ज्ञानके बलसे मोहजनित नाना प्रकारके क्लेशोंसे पार हो गया है, उसके लिये जगत्‌में बौद्धिक प्रकाशसे कोई भी लोक-व्यवहारका मार्ग अवरुद्ध नहीं होता॥ ५२½॥

अनादिनिधनं जन्तुमात्मनि स्थितमव्ययम्॥ ५३॥
अकर्तारममूर्तं च भगवानाह तीर्थवित्।

मोक्षके उपायको जाननेवाले भगवान् नारायण कहते हैं कि आदि-अन्तसे रहित, अविनाशी, अकर्ता और निराकार जीवात्मा इस शरीरमें स्थित है॥ ५३½॥

यो जन्तुः स्वकृतैस्तैस्तैः कर्मभिर्नित्यदुःखितः॥ ५४॥
स दुःखप्रतिघातार्थं हन्ति जन्तूननेकधा।

जो जीव अपने ही किये हुए विभिन्न कर्मोंके कारण सदा दुःखी रहता है, वही उस दुःखका निवारण करनेके लिये नाना प्रकारके प्राणियोंकी हत्या करता है॥ ५४½॥

ततः कर्म समादत्ते पुनरन्यन्नवं बहु॥ ५५॥
तप्यतेऽथ पुनस्तेन भुक्त्वापथ्यमिवातुरः।

तदनन्तर वह और भी बहुत-से नये-नये कर्म करता है और जैसे रोगी अपथ्य खाकर दुःख पाता है, उसी प्रकार उस कर्मसे वह अधिकाधिक कष्ट पाता रहता है॥ ५५½॥

अजस्त्रमेव मोहान्धो दुःखेषु सुखसंज्ञितः॥ ५६॥
बध्यते मथ्यते चैव कर्मभिर्मन्थवत् सदा।

जो मोहसे अन्धा (विवेकशून्य) हो गया है, वह सदा ही दुःखद भोगोंमें ही सुखबुद्धि कर लेता है और मथानीकी भाँति कर्मोंसे बँधता एवं मथा जाता है॥ ५६½॥

ततो निबद्धः स्वां योनिं कर्मणामुदयादिह॥ ५७॥
परिभ्रमति संसारं चक्रवद् बहुवेदनः।

फिर प्रारब्ध कर्मोंके उदय होनेपर वह बद्ध प्राणी कर्मके अनुसार जन्म पाकर संसारमें नाना प्रकारके दुःख भोगता हुआ उसमें चक्रकी भाँति घूमता रहता है॥ ५७½॥

स त्वं निवृत्तबन्धस्तु निवृत्तश्चापि कर्मतः॥ ५८॥
सर्ववित् सर्वजित् सिद्धो भव भावविवर्जितः।

इसलिये तुम कर्मोंसे निवृत्त, सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त, सर्वज्ञ, सर्वविजयी, सिद्ध और सांसारिक भावनासे रहित हो जाओ॥ ५८½॥

संयमेन नवं बन्धं निवर्त्य तपसो बलात्।
सम्प्राप्ता बहवः सिद्धिमप्यबाधां सुखोदयाम्॥ ५९॥

बहुत-से ज्ञानी पुरुष संयम और तपस्याके बलसे नवीन बन्धनोंका उच्छेद करके अनन्त सुख देनेवाली अबाध सिद्धिको प्राप्त हो चुके हैं॥ ५९॥

॥ इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारदगीतायां प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

दूसरा अध्याय

शुकदेवको नारदजीका सदाचार और अध्यात्मविषयक उपदेश

नारद उवाच

अशोकं शोकनाशार्थं शास्त्रं शान्तिकरं शिवम्।
निशम्य लभते बुद्धिं तां लब्ध्वा सुखमेधते॥ १॥

नारदजी कहते हैं—शुकदेव! शास्त्र शोकको दूर करनेवाला, शान्तिकारक और कल्याणमय है। जो अपने शोकका नाश करनेके

लिये शास्त्रका श्रवण करता है, वह उत्तम बुद्धि पाकर सुखी हो जाता है॥ १॥

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥ २॥

शोकके सहस्रों और भयके सैकड़ों स्थान हैं, जो प्रतिदिन मूढ़ पुरुषोंपर ही अपना प्रभाव डालते हैं, विद्वान्पर नहीं॥ २॥

तस्मादनिष्टनाशार्थमितिहासं निबोध मे।
तिष्ठते चेद् वशे बुद्धिर्लभते शोकनाशनम्॥ ३॥

इसलिये अपने अनिष्टका नाश करनेके लिये मेरा यह उपदेश सुनो—यदि बुद्धि अपने वशमें रहे तो सदाके लिये शोकका नाश हो जाता है॥ ३॥

अनिष्टसम्प्रयोगाच्च विप्रयोगात् प्रियस्य च।
मनुष्या मानसैर्दुःखैर्युज्यन्ते स्वल्पबुद्धयः॥ ४॥

मन्दबुद्धि मनुष्य ही अप्रिय वस्तुकी प्राप्ति और प्रिय वस्तुका वियोग होनेपर मन-ही-मन दुःखी होते हैं॥ ४॥

द्रव्येषु समतीतेषु ये गुणास्तान् न चिन्तयेत्।
न तानाद्रियमाणस्य स्नेहबन्धः प्रमुच्यते॥ ५॥

जो वस्तु भूतकालके गर्भमें छिप गयी (नष्ट हो गयी), उसके गुणोंका स्मरण नहीं करना चाहिये; क्योंकि जो आदरपूर्वक उसके गुणोंका चिन्तन करता है, उसका उसके प्रति आसक्तिका बन्धन नहीं छूटता है॥ ५॥

दोषदर्शी भवेत् तत्र यत्र रागः प्रवर्तते।
अनिष्टवर्धितं पश्येत् तथा क्षिप्रं विरज्यते॥ ६॥

जहाँ चित्तकी आसक्ति बढ़ने लगे, वहीं दोषदृष्टि करनी चाहिये और उसे अनिष्टको बढ़ानेवाला समझना चाहिये। ऐसा करनेपर उससे शीघ्र ही वैराग्य हो जाता है॥ ६॥

नार्थो न धर्मो न यशो योऽतीतमनुशोचति।
अप्यभावेन युज्येत तच्चास्य न निवर्तते॥ ७॥

जो बीती बातके लिये शोक करता है, उसे न तो अर्थकी प्राप्ति होती है, न धर्मकी और न यशकी ही प्राप्ति होती है। वह उसके अभावका अनुभव करके केवल दुःख ही उठाता है। उससे अभाव दूर नहीं होता॥ ७॥

गुणैर्भूतानि युज्यन्ते वियुज्यन्ते तथैव च।
सर्वाणि नैतदेकस्य शोकस्थानं हि विद्यते॥ ८॥

सभी प्राणियोंको उत्तम पदार्थोंसे संयोग और वियोग प्राप्त होते रहते हैं। किसी एकपर ही यह शोकका अवसर आता हो, ऐसी बात नहीं है॥ ८॥

मृतं वा यदि वा नष्टं योऽतीतमनुशोचति।
दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ प्रपद्यते॥ ९॥

जो मनुष्य भूतकालमें मरे हुए किसी व्यक्तिके लिये अथवा नष्ट हुई किसी वस्तुके लिये निरन्तर शोक करता है, वह एक दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त होता है। इस प्रकार उसे दो अनर्थ भोगने पड़ते हैं॥ ९॥

नाश्रु कुर्वन्ति ये बुद्ध्या दृष्ट्वा लोकेषु सन्ततिम्।
सम्यक् प्रपश्यतः सर्वं नाश्रुकर्मोपपद्यते॥ १०॥

जो मनुष्य संसारमें अपनी सन्तानकी मृत्यु हुई देखकर भी अश्रुपात नहीं करते, वे ही धीर हैं। सभी वस्तुओंपर समीचीन भावसे दृष्टिपात या विचार करनेपर किसीका भी आँसू बहाना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता है॥ १०॥

दुःखोपघाते शारीरे मानसे चाप्युपस्थिते।
यस्मिन् न शक्यते कर्तुं यत्नस्तन्नानुचिन्तयेत्॥ ११॥

यदि कोई शारीरिक या मानसिक दुःख उपस्थित हो जाय और

उसे दूर करनेके लिये कोई यत्न न किया जा सके अथवा किया हुआ यत्न काम न दे सके तो उसके लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये॥ ११॥

भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानुचिन्तयेत्।
चिन्त्यमानं हि न व्येति भूयश्चापि प्रवर्धते॥ १२॥

दुःख दूर करनेकी सबसे अच्छी दवा यही है कि उसका बार-बार चिन्तन न किया जाय। चिन्तन करनेसे वह घटता नहीं, बल्कि बढ़ता ही जाता है॥ १२॥

प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीरमौषधैः।
एतद् विज्ञानसामर्थ्यं न बालैः समतामियात्॥ १३॥

इसलिये मानसिक दुःखको बुद्धिके द्वारा विचारसे और शारीरिक कष्टको औषध-सेवनद्वारा नष्ट करना चाहिये। शास्त्रज्ञानके प्रभावसे ही ऐसा होना सम्भव है। दुःख पड़नेपर बालकोंकी तरह रोना उचित नहीं है॥ १३॥

अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसञ्चयः।
आरोग्यं प्रियसंवासो गृध्येत् तत्र न पण्डितः॥ १४॥

रूप, यौवन, जीवन, धन-संग्रह, आरोग्य तथा प्रियजनोंका सहवास—ये सब अनित्य हैं। विद्वान् पुरुषको इनमें आसक्त नहीं होना चाहिये॥ १४॥

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति।
अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमम्॥ १५॥

सारे देशपर आये हुए संकटके लिये किसी एक व्यक्तिको शोक करना उचित नहीं है। यदि उस संकटको टालनेका कोई उपाय दिखलायी दे तो शोक छोड़कर उसे ही करना चाहिये॥ १५॥

सुखाद् बहुतरं दुःखं जीविते नात्र संशयः।
स्निग्धत्वं चेन्द्रियार्थेषु मोहान्मरणमप्रियम्॥ १६॥

इसमें संदेह नहीं कि जीवनमें सुखकी अपेक्षा दुःख ही अधिक होता है। किंतु सभीको मोहवश विषयोंके प्रति अनुराग होता है और मृत्यु अप्रिय लगती है॥ १६॥

परित्यजति यो दुःखं सुखं वाप्युभयं नरः।
अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं न तं शोचन्ति पण्डिताः॥ १७॥

जो मनुष्य सुख और दुःख दोनोंकी ही चिन्ता छोड़ देता है, वह अक्षय ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। विद्वान् पुरुष उसके लिये शोक नहीं करते हैं॥ १७॥

त्यज्यन्ते दुःखमर्था हि पालने न च ते सुखाः।
दुःखेन चाधिगम्यन्ते नाशमेषां न चिन्तयेत्॥ १८॥

धन खर्च करते समय बड़ा दुःख होता है। उसकी रक्षामें भी सुख नहीं है और उसकी प्राप्ति भी बड़े कष्टसे होती है, अतः धनको प्रत्येक अवस्थामें दुःखदायक समझकर उसके नष्ट होनेपर चिन्ता नहीं करनी चाहिये॥ १८॥

अन्यामन्यां धनावस्थां प्राप्य वैशेषिकीं नराः।
अतृप्ता यान्ति विध्वंसं सन्तोषं यान्ति पण्डिताः॥ १९॥

मनुष्य धनका संग्रह करते-करते पहलेकी अपेक्षा ऊँची धन-सम्पन्न स्थितिको प्राप्त होकर भी कभी तृप्त नहीं होते। वे और अधिककी आशा लिये हुए ही मर जाते है; किंतु विद्वान् पुरुष सदा सन्तुष्ट रहते हैं (वे धनकी तृष्णामें नहीं पड़ते)॥ १९॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम्॥ २०॥

संग्रहका अन्त है विनाश। ऊँचे चढ़नेका अन्त है नीचे गिरना।

संयोगका अन्त है वियोग और जीवनका अन्त है मरण॥ २०॥

अन्तो नास्ति पिपासायास्तुष्टिस्तु परमं सुखम्।
तस्मात् सन्तोषमेवेह धनं पश्यन्ति पण्डिताः॥ २१॥

तृष्णाका कभी अन्त नहीं होता। सन्तोष ही परम सुख है, अतः पण्डितजन इस लोकमें सन्तोषको ही उत्तम धन समझते हैं॥ २१॥

निमेषमात्रमपि हि वयो गच्छन्न तिष्ठति।
स्वशरीरेष्वनित्येषु नित्यं किमनुचिन्तयेत्॥ २२॥

आयु निरन्तर बीती जा रही है। वह पलभर भी ठहरती नहीं है। जब अपना शरीर ही अनित्य है, तब इस संसारकी किस वस्तुको नित्य समझा जाय॥ २२॥

भूतेषु भावं सञ्चिन्त्य ये बुद्ध्वा मनसः परम्।
न शोचन्ति गताध्वानः पश्यन्तः परमां गतिम्॥ २३॥

जो मनुष्य सब प्राणियोंके भीतर मनसे परे परमात्माकी स्थिति जानकर उन्हींका चिन्तन करते हैं, वे संसार-यात्रा समाप्त होनेपर परमपदका साक्षात्कार करते हुए शोकके पार हो जाते हैं॥ २३॥

सञ्चिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम्।
व्याघ्रः पशुमिवासाद्य मृत्युरादाय गच्छति॥ २४॥

जैसे जंगलमें नयी-नयी घासकी खोजमें विचरते हुए अतृप्त पशुको सहसा व्याघ्र आकर दबोच लेता है, उसी प्रकार भोगोंकी खोजमें लगे हुए अतृप्त मनुष्यको मृत्यु उठा ले जाती है॥ २४॥

तथाप्युपायं सम्पश्येद् दुःखस्य परिमोक्षणम्।
अशोचन् नारभेच्चैव मुक्तश्चाव्यसनी भवेत्॥ २५॥

तथापि सबको दुःखसे छूटनेका उपाय अवश्य सोचना चाहिये। जो शोक छोड़कर साधन आरम्भ करता है और किसी व्यसनमें आसक्त नहीं होता, वह निश्चय ही दुःखोंसे मुक्त हो जाता है॥ २५॥

शब्दे स्पर्शे च रूपे च गन्धेषु च रसेषु च।
नोपभोगात् परं किञ्चिद् धनिनो वाधनस्य च॥ २६॥

धनी हो या निर्धन, सबको उपभोगकालमें ही शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध और उत्तम रस आदि विषयोंमें किंचित् सुखकी प्रतीति होती है, उपभोगके पश्चात् नहीं॥ २६॥

प्राक्सम्प्रयोगाद् भूतानां नास्ति दुःखं परायणम्।
विप्रयोगात् तु सर्वस्य न शोचेत् प्रकृतिस्थितः॥ २७॥

प्राणियोंके एक-दूसरेसे संयोग होनेके पहले कोई दुःख नहीं रहता। जब संयोगके बाद वियोग होता है, तभी सबको दुःख हुआ करता है। अतः अपने स्वरूपमें स्थित विवेकी पुरुषको किसीके वियोगमें कभी भी शोक नहीं करना चाहिये॥ २७॥

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च विद्यया॥ २८॥

मनुष्यको चाहिये कि वह धैर्यके द्वारा शिश्न और उदरकी, नेत्रके द्वारा हाथ और पैरकी, मनके द्वारा आँख और कानकी तथा सद्विद्याके द्वारा मन और वाणीकी रक्षा करे॥ २८॥

प्रणयं प्रतिसंहृत्य संस्तुतेष्वितरेषु च।
विचरेदसमुन्नद्धः स सुखी स च पण्डितः॥ २९॥

जो पूजनीय तथा अन्य मनुष्योंमें आसक्तिको हटाकर विनीतभावसे विचरण करता है, वही सुखी और वही विद्वान् है॥ २९॥

अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः।
आत्मनैव सहायेन यश्चरेत् स सुखी भवेत्॥ ३०॥

जो अध्यात्मविद्यामें अनुरक्त, कामनाशून्य तथा भोगासक्तिसे दूर है, जो अकेला ही विचरण करता है, वह सुखी होता है॥ ३०॥

॥ इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारदगीतायां द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

तीसरा अध्याय

नारदजीका शुकदेवको कर्मफलप्राप्तिमें परतन्त्रता-विषयक उपदेश तथा शुकदेवजीका सूर्य-लोकमें जानेका निश्चय

नारद उवाच

सुखदुःखविपर्यासो यदा समनुपद्यते।
नैनं प्रज्ञा सुनीतं वा त्रायते नापि पौरुषम्॥ १॥

नारदजी कहते हैं—शुकदेव! जब मनुष्य सुखको दुःख और दुःखको सुख समझने लगता है, उस समय बुद्धि, उत्तम नीति और पुरुषार्थ भी उसकी रक्षा नहीं कर पाते॥ १॥

स्वभावाद् यत्नमातिष्ठेद् यत्नवान् नावसीदति।
जरामरणरोगेभ्यः प्रियमात्मानमुद्धरेत्॥ २॥

अतः मनुष्यको स्वभावतः ज्ञानप्राप्तिके लिये यत्न करना चाहिये; क्योंकि यत्न करनेवाला पुरुष कभी दुःखमें नहीं पड़ता। आत्मा सबसे बढ़कर प्रिय है; अतः जरा, मृत्यु और रोगोंके कष्टसे उसका उद्धार करे॥ २॥

रुजन्ति हि शरीराणि रोगाः शारीरमानसाः।
सायका इव तीक्ष्णाग्राः प्रयुक्ता दृढधन्विभिः॥ ३॥

शारीरिक और मानसिक रोग सुदृढ़ धनुष धारण करनेवाले वीर पुरुषोंके छोड़े हुए तीक्ष्ण बाणोंके समान शरीरको पीड़ा देते हैं॥ ३॥

व्यथितस्य विधित्साभिस्ताम्यतो जीवितैषिणः।
अवशस्य विनाशाय शरीरमपकृष्यते॥ ४॥

तृष्णासे व्यथित, दुःखी एवं विवश होकर जीनेकी इच्छा रखनेवाले मनुष्यका शरीर विनाशकी ओर ही खिंचता चला जाता है॥ ४॥

स्रवन्ति न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितामिव।
आयुरादाय मर्त्यानां रात्र्यहानि पुनः पुनः॥ ५॥

जैसे नदियोंका प्रवाह आगेकी ओर ही बढ़ता चला जाता है, पीछेकी ओर नहीं लौटता, उसी प्रकार रात और दिन भी मनुष्योंकी आयुका अपहरण करते हुए बारम्बार आते और बीतते चले जाते हैं॥ ५॥

व्यत्ययो ह्ययमत्यन्तं पक्षयोः शुक्लकृष्णयोः।
जातान् मर्त्याञ्जरयति निमेषान् नावतिष्ठते॥ ६॥

शुक्ल और कृष्ण—दोनों पक्षोंका निरन्तर होनेवाला यह परिवर्तन मनुष्योंको जराजीर्ण कर रहा है। यह कुछ क्षणके लिये भी विश्राम नहीं लेता है॥ ६॥

सुखदुःखानि भूतानामजरो जरयत्यसौ।
आदित्यो ह्यस्तमभ्येति पुनः पुनरुदेति च॥ ७॥

सूर्य प्रतिदिन अस्त होते और फिर उदय लेते हैं। वे स्वयं अजर होकर भी प्रतिदिन प्राणियोंके सुख और दुःखको जीर्ण करते रहते हैं॥ ७॥

अदृष्टपूर्वानादाय भावानपरिशङ्कितान्।
इष्टानिष्टान् मनुष्याणामस्तं गच्छन्ति रात्रयः॥ ८॥

ये रात्रियाँ मनुष्योंके लिये कितनी ही अपूर्व तथा असम्भावित प्रिय-अप्रिय घटनाएँ लिये आती और चली जाती हैं॥ ८॥

योऽयमिच्छेद् यथाकामं कामानां तदवाप्नुयात्।
यदि स्यान्न पराधीनं पुरुषस्य क्रियाफलम्॥ ९॥

यदि जीवके किये हुए कर्मोंका फल पराधीन न होता तो जो जिस वस्तुकी इच्छा करता, वह अपनी उसी कामनाको रुचिके अनुसार प्राप्त कर लेता॥ ९॥

संयताश्च हि दक्षाश्च मतिमन्तश्च मानवाः।
दृश्यन्ते निष्फलाः सन्तः प्रहीणाः सर्वकर्मभिः॥ १०॥

बड़े-बड़े संयमी, बुद्धिमान् और चतुर मनुष्य भी समस्त कर्मोंसे

श्रान्त होकर असफल होते देखे जाते हैं॥ १०॥

अपरे बालिशाः सन्तो निर्गुणाः पुरुषाधमाः।
आशीर्भिरप्यसंयुक्ता दृश्यन्ते सर्वकामिनः॥ ११॥

किंतु दूसरे मूर्ख, गुणहीन और अधम मनुष्य भी किसीका आशीर्वाद न मिलनेपर भी सम्पूर्ण कामनाओंसे सम्पन्न दिखायी देते हैं॥ ११॥

भूतानामपरः कश्चिद्धिंसायां सततोत्थितः।
वञ्चनायां च लोकस्य स सुखेष्वेव जीर्यते॥ १२॥

कोई-कोई मनुष्य तो सदा प्राणियोंकी हिंसामें ही लगा रहता है और सब लोगोंको धोखा दिया करता है तो भी वह सुख ही भोगते-भोगते बूढ़ा होता है॥ १२॥

अचेष्टमानमासीनं श्रीः कञ्चिदुपतिष्ठते।
कश्चित् कर्मानुसृत्यान्यो न प्राप्यमधिगच्छति॥ १३॥

कितने ही ऐसे हैं, जो कोई काम न करके चुपचाप बैठे रहते हैं, फिर भी लक्ष्मी उनके पास अपने-आप पहुँच जाती है और कुछ लोग काम करके भी अपनी प्राप्य वस्तुको उपलब्ध नहीं कर पाते॥ १३॥

अपराधं समाचक्ष्व पुरुषस्य स्वभावतः।
शुक्रमन्यत्र सम्भूतं पुनरन्यत्र गच्छति॥ १४॥

इसमें स्वभावतः पुरुषका ही अपराध (प्रारब्ध-दोष) समझो। वीर्य अन्यत्र उत्पन्न होता है और सन्तानोत्पादनके लिये अन्यत्र जाता है॥ १४॥

तस्य योनौ प्रयुक्तस्य गर्भो भवति वा न वा।
आम्रपुष्पोपमा यस्य निवृत्तिरुपलभ्यते॥ १५॥

कभी तो वह योनिमें पहुँचकर गर्भ धारण करानेमें समर्थ होता

है और कभी नहीं होता तथा कभी-कभी आमके बौरके समान वह व्यर्थ ही झर जाता है॥ १५॥

केषाञ्चित् पुत्रकामानामनुसन्तानमिच्छताम्।
सिद्धौ प्रयतमानानां न चाण्डमुपजायते॥ १६॥

कुछ लोग पुत्रकी इच्छा रखते हैं और उस पुत्रके भी सन्तान चाहते हैं तथा इसकी सिद्धिके लिये सब प्रकारसे प्रयत्न करते हैं तो भी उनके एक अंडा भी उत्पन्न नहीं होता॥ १६॥

गर्भाच्चोद्विजमानानां क्रुद्धादाशीविषादिव।
आयुष्माञ्जायते पुत्रः कथं प्रेत इवाभवत्॥ १७॥

बहुत-से मनुष्य बच्चा पैदा होनेसे उसी तरह डरते हैं, जैसे क्रोधमें भरे हुए विषधर सर्पसे लोग भयभीत रहते हैं, तथापि उनके यहाँ दीर्घजीवी पुत्र उत्पन्न होता है और क्या मजाल कि वह कभी किसी तरह रोग आदिसे मृतकतुल्य हो सके॥ १७॥

देवानिष्ट्वा तपस्तप्त्वा कृपणैः पुत्रगृद्धिभिः।
दश मासान् परिधृता जायन्ते कुलपांसनाः॥ १८॥

पुत्रकी अभिलाषा रखनेवाले दीन स्त्री-पुरुषोंद्वारा देवताओंकी पूजा और तपस्या करके दस मासतक गर्भ धारण किया जाता है, तथापि उनके कुलांगार पुत्र उत्पन्न होते हैं॥ १८॥

अपरे धनधान्यानि भोगांश्च पितृसञ्चितान्।
विपुलानभिजायन्ते लब्धास्तैरेव मङ्गलैः॥ १९॥

तथा बहुत-से ऐसे हैं, जो आमोद-प्रमोदमें ही जन्म धारण करके पिताके सञ्चित किये हुए अपार धनधान्य एवं विपुल भोगोंके अधिकारी होते हैं॥ १९॥

अन्योन्यं समभिप्रेत्य मैथुनस्य समागमे।
उपद्रव इवाविष्टो योनिं गर्भः प्रपद्यते॥ २०॥

पति-पत्नीकी पारस्परिक इच्छाके अनुसार मैथुनके लिये जब

उनका समागम होता है, उस समय किसी उपद्रवके समान गर्भ योनिमें प्रवेश करता है॥ २०॥

शीघ्रं परशरीराणि च्छिन्नबीजं शरीरिणम्।
प्राणिनं प्राणसंरोधे मांसश्लेष्मविवेष्टितम्॥ २१॥

जिसका स्थूल शरीर क्षीण हो गया है तथा जो कफ और मांसमय शरीरसे घिरा हुआ है, उस देहधारी प्राणीको मृत्युके बाद शीघ्र ही दूसरे शरीर उपलब्ध हो जाते हैं॥ २१॥

निर्दग्धं परदेहेऽपि परदेहं चलाचलम्।
विनश्यन्तं विनाशान्ते नावि नावमिवाहितम्॥ २२॥

जैसे एक नौकाके भग्न होनेपर उसपर बैठे हुए लोगोंको उतारनेके लिये दूसरी नाव प्रस्तुत रहती है, उसी प्रकार एक शरीरसे मृत्युको प्राप्त होते हुए जीवको लक्ष्य करके मृत्युके बाद उसके कर्मफल-भोगके लिये दूसरा नाशवान् शरीर उपस्थित कर दिया जाता है॥ २२॥

सङ्गत्या जठरे न्यस्तं रेतोबिन्दुमचेतनम्।
केन यत्नेन जीवन्तं गर्भं त्वमिह पश्यसि॥ २३॥

शुकदेव! पुरुष स्त्रीके साथ समागम करके उसके उदरमें जिस अचेतन शुक्रबिन्दुको स्थापित करता है, वही गर्भरूपमें परिणत होता है। फिर वह गर्भ किस यत्नसे यहाँ जीवित रहता है, क्या तुम कभी इसपर विचार करते हो?॥ २३॥

अन्नपानानि जीर्यन्ते यत्र भक्षाश्च भक्षिताः।
तस्मिन्नेवोदरे गर्भः किं नान्नमिव जीर्यते॥ २४॥

जहाँ खाये हुए अन्न और जल पच जाते हैं तथा सभी तरहके भक्ष्य पदार्थ जीर्ण हो जाते हैं, उसी पेटमें पड़ा हुआ गर्भ अन्नके समान क्यों नहीं पच जाता है?॥ २४॥

गर्भे मूत्रपुरीषाणां स्वभावनियता गतिः।
धारणे वा विसर्गे वा न कर्ता विद्यते वशः॥ २५॥
स्त्रवन्ति ह्युदराद् गर्भा जायमानास्तथा परे।
आगमेन तथान्येषां विनाश उपपद्यते॥ २६॥

गर्भमें मल और मूत्रके धारण करने या त्यागमें कोई स्वभावनियत गति है; किंतु कोई स्वाधीन कर्ता नहीं है। कुछ गर्भ माताके पेटसे गिर जाते हैं, कुछ जन्म लेते हैं और कितनोंकी ही जन्म लेनेके बाद मृत्यु हो जाती है॥ २५-२६॥

एतस्माद् योनिसम्बन्धाद् यो जीवन् परिमुच्यते।
प्रजां च लभते काञ्चित् पुनर्द्वन्द्वेषु सज्जति॥ २७॥

इस योनि-सम्बन्धसे कोई सकुशल जीता हुआ बाहर निकल आता है, तब कोई सन्तानको प्राप्त होता है और पुनः परस्परके सम्बन्धमें संलग्न हो जाता है॥ २७॥

स तस्य सहजातस्य सप्तमीं नवमीं दशाम्।
प्राप्नुवन्ति ततः पञ्च न भवन्ति गतायुषः॥ २८॥

अनादिकालसे साथ उत्पन्न होनेवाले शरीरके साथ जीवात्मा अपना सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। इस शरीरकी गर्भवास, जन्म, बाल्य, कौमार, पौगण्ड, यौवन, वृद्धत्व, जरा, प्राणरोध और नाश—ये दस दशाएँ होती हैं। इनमेंसे सातवीं और नवीं दशाको भी शरीरगत पाँचों भूत ही प्राप्त होते हैं, आत्मा नहीं। आयु समाप्त होनेपर शरीरकी नवीं दशामें पहुँचनेपर ये पाँच भूत नहीं रहते। अर्थात् दसवीं दशाको प्राप्त हो जाते हैं॥ २८॥

नाभ्युत्थाने मनुष्याणां योगाः स्युर्नात्र संशयः।
व्याधिभिश्च विमथ्यन्ते व्याधैः क्षुद्रमृगा इव॥ २९॥

जैसे व्याध छोटे मृगोंको कष्ट पहुँचाते हैं, उसी प्रकार जब नाना

प्रकारके रोग मनुष्योंको मथ डालते हैं, तब उनमें उठने-बैठनेकी भी शक्ति नहीं रह जाती, इसमें संशय नहीं है॥ २९॥

व्याधिभिर्मथ्यमानानां त्यजतां विपुलं धनम्।
वेदनां नापकर्षन्ति यतमानाश्चिकित्सकाः॥ ३०॥

रोगोंसे पीड़ित हुए मनुष्य वैद्योंको बहुत-सा धन देते हैं और वैद्यलोग रोग दूर करनेकी बहुत चेष्टा करते हैं तो भी उन रोगियोंकी पीड़ा दूर नहीं कर पाते हैं॥ ३०॥

ते चातिनिपुणा वैद्याः कुशलाः सम्भृतौषधाः।
व्याधिभिः परिकृष्यन्ते मृगा व्याधैरिवार्दिताः॥ ३१॥

बहुत-सी ओषधियोंका संग्रह करनेवाले चिकित्सामें कुशल चतुर वैद्य भी व्याधोंके मारे हुए मृगोंकी भाँति रोगोंके शिकार हो जाते हैं॥ ३१॥

ते पिबन्तः कषायांश्च सर्पींषि विविधानि च।
दृश्यन्ते जरया भग्ना नगा नागैरिवोत्तमैः॥ ३२॥

बड़े-बड़े हाथी जैसे वृक्षोंको झुका देते हैं, वैसे ही वे तरह-तरहके काढ़े और नाना प्रकारके घी पीते रहते हैं तो भी वृद्धावस्था उनकी कमर टेढ़ी कर देती है; यह देखा जाता है॥ ३२॥

के वा भुवि चिकित्सन्ते रोगार्तान् मृगपक्षिणः।
श्वापदानि दरिद्रांश्च प्रायो नार्ता भवन्ति ते॥ ३३॥

इस पृथ्वीपर मृग, पक्षी, हिंसक पशु और दरिद्र मनुष्योंको जब रोग सताता है, तब कौन उनकी चिकित्सा करने जाते हैं? किंतु प्रायः उन्हें रोग होता ही नहीं है॥ ३३॥

घोरानपि दुराधर्षान् नृपतीनुग्रतेजसः।
आक्रम्याददते रोगाः पशून् पशुगणा इव॥ ३४॥

परन्तु बड़े-बड़े पशु जैसे छोटे पशुओंपर आक्रमण करके उन्हें दबा देते हैं, उसी प्रकार प्रचण्ड तेजवाले, घोर एवं दुर्धर्ष राजाओंपर

भी बहुत-से रोग आक्रमण करके उन्हें अपने वशमें कर लेते हैं॥ ३४॥

इति लोकमनाक्रन्दं मोहशोकपरिप्लुतम्।
स्त्रोतसा सहसाऽक्षिप्तं ह्रियमाणं बलीयसा॥ ३५॥

इस प्रकार सब लोग भवसागरके प्रबल प्रवाहमें सहसा पड़कर इधर-उधर बहते हुए मोह और शोकमें डूब रहे हैं और आर्तनादतक नहीं कर पाते हैं॥ ३५॥

न धनेन न राज्येन नोग्रेण तपसा तथा।
स्वभावमतिवर्तन्ते ये नियुक्ताः शरीरिणः॥ ३६॥

विधाताके द्वारा कर्मफल-भोगमें नियुक्त हुए देहधारी मनुष्य धन, राज्य तथा कठोर तपस्याके प्रभावसे प्रकृतिका उल्लंघन नहीं कर सकते॥ ३६॥

न म्रियेरन् न जीर्येरन् सर्वे स्युः सर्वकामिनः।
नाप्रियं प्रति पश्येयुरुत्थानस्य फले सति॥ ३७॥

यदि प्रयत्नका फल अपने हाथमें होता तो मनुष्य न तो बूढ़े होते और न मरते ही। सबकी समस्त कामनाएँ पूरी हो जातीं और किसीको अप्रिय नहीं देखना पड़ता॥ ३७॥

उपर्युपरि लोकस्य सर्वो गन्तुं समीहते।
यतते च यथाशक्ति न च तद् वर्तते तथा॥ ३८॥

सब लोग लोकोंके ऊपर-से-ऊपर स्थानमें जाना चाहते हैं और यथाशक्ति इसके लिये चेष्टा भी करते हैं; किंतु वैसा करनेमें समर्थ नहीं होते॥ ३८॥

ऐश्वर्यमदमत्तांश्च मत्तान् मद्यमदेन च।
अप्रमत्ताः शठाञ्छूरा विक्रान्ताः पर्युपासते॥ ३९॥

प्रमादरहित पराक्रमी शूरवीर भी ऐश्वर्य तथा मदिराके मदसे उन्मत्त रहनेवाले शठ मनुष्योंकी सेवा करते हैं॥ ३९॥

क्लेशाः परिनिवर्तन्ते केषाञ्चिदसमीक्षिताः।
स्वं स्वं च पुनरन्येषां न किञ्चिदधिगम्यते॥ ४०॥

कितने ही लोगोंके क्लेश ध्यान दिये बिना ही निवृत्त हो जाते हैं तथा दूसरोंको अपने ही धनमेंसे समयपर कुछ भी नहीं मिलता॥ ४०॥

महच्च फलवैषम्यं दृश्यते कर्मसन्धिषु।
वहन्ति शिबिकामन्ये यान्त्यन्ये शिबिकागताः॥ ४१॥

कर्मोंके फलमें भी बड़ी भारी विषमता देखनेमें आती है। कुछ लोग पालकी ढोते हैं और दूसरे लोग उसी पालकीमें बैठकर चलते हैं॥ ४१॥

सर्वेषामृद्धिकामानामन्ये रथपुरःसराः।
मनुष्याश्च गतस्त्रीकाः शतशो विविधस्त्रियः॥ ४२॥

सभी मनुष्य धन और समृद्धि चाहते हैं; परंतु उनमेंसे थोड़े-से ही ऐसे लोग होते हैं, जो रथपर चढ़कर चलते हैं। कितने ही पुरुष स्त्रीरहित हैं और सैकड़ों मनुष्य कई स्त्रियोंवाले हैं॥ ४२॥

द्वन्द्वारामेषु भूतेषु गच्छन्त्येकैकशो नराः।
इदमन्यत् पदं पश्य मात्र मोहं करिष्यसि॥ ४३॥

सभी प्राणी सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें रम रहे हैं। मनुष्य उनमेंसे एक-एकका अनुभव करते हैं अर्थात् किसीको सुखका अनुभव होता है, किसीको दुःखका। यह जो ब्रह्म नामक वस्तु है, इसे सबसे भिन्न एवं विलक्षण समझो। इसके विषयमें तुम्हें मोहग्रस्त नहीं होना चाहिये॥ ४३॥

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज॥ ४४॥

धर्म और अधर्मको छोड़ो। सत्य और असत्य दोनोंका त्याग करो। सत्य और असत्य दोनोंका त्याग करके जिससे त्याग करते हो, उस अहंकारको भी त्याग दो॥ ४४॥

एतत् ते परमं गुह्यमाख्यातमृषिसत्तम।
येन देवाः परित्यज्य मर्त्यलोकं दिवं गताः॥ ४५॥

मुनिश्रेष्ठ! यह मैंने तुमसे परम गूढ़ बात बतलायी है, जिससे

देवतालोग मर्त्यलोक छोड़कर स्वर्गलोकको चले गये॥ ४५॥

नारदस्य वचः श्रुत्वा शुकः परमबुद्धिमान्।
सञ्चिन्त्य मनसा धीरो निश्चयं नाध्यगच्छत॥ ४६॥

नारदजीकी बात सुनकर परम बुद्धिमान् और धीरचित्त शुकदेवजीने मन-ही-मन बहुत विचार किया; किंतु सहसा वे किसी निश्चयपर न पहुँच सके॥ ४६॥

पुत्रदारैर्महान् क्लेशो विद्याम्नाये महाञ्छ्रमः।
किं नु स्याच्छाश्वतं स्थानमल्पक्लेशं महोदयम्॥ ४७॥

वे सोचने लगे, स्त्री-पुत्रोंके झमेलेमें पड़नेसे महान् क्लेश होगा। विद्याभ्यासमें भी बहुत अधिक परिश्रम है। कौन-सा ऐसा उपाय है, जिससे सनातन पद प्राप्त हो जाय। उस साधनमें क्लेश तो थोड़ा हो, किन्तु अभ्युदय महान् हो॥ ४७॥

ततो मुहूर्तं सञ्चिन्त्य निश्चितां गतिमात्मनः।
परावरज्ञो धर्मस्य परां नैःश्रेयसीं गतिम्॥ ४८॥

तदनन्तर उन्होंने दो घड़ीतक अपनी निश्चित गतिके विषयमें विचार किया; फिर भूत और भविष्यके ज्ञाता शुकदेवजीको अपने धर्मकी कल्याणमयी परम गतिका निश्चय हो गया॥ ४८॥

कथं त्वहमसंश्लिष्टो गच्छेयं गतिमुत्तमाम्।
नावर्तेयं यथा भूयो योनिसङ्करसागरे॥ ४९॥

फिर वे सोचने लगे, मैं सब प्रकारकी उपाधियोंसे मुक्त होकर किस प्रकार उस उत्तम गतिको प्राप्त करूँ, जहाँसे फिर इस संसार-सागरमें आना न पड़े॥ ४९॥

परं भावं हि काङ्क्षामि यत्र नावर्तते पुनः।
सर्वसङ्गान् परित्यज्य निश्चितो मनसा गतिम्॥ ५०॥

जहाँ जानेपर जीवकी पुनरावृत्ति नहीं होती, मैं उसी परमभावको प्राप्त करना चाहता हूँ। सब प्रकारकी आसक्तियोंका परित्याग करके

मैंने मनके द्वारा उत्तम गति प्राप्त करनेका निश्चय किया है॥ ५०॥

तत्र यास्यामि यत्रात्मा शमं मेऽधिगमिष्यति।
अक्षयश्चाव्ययश्चैव यत्र स्थास्यामि शाश्वतः॥ ५१॥

अब मैं वहीं जाऊँगा, जहाँ मेरे आत्माको शान्ति मिलेगी तथा जहाँ मैं अक्षय, अविनाशी और सनातनरूपसे स्थित रहूँगा॥ ५१॥

न तु योगमृते शक्या प्राप्तुं सा परमा गतिः।
अवबन्धो हि बुद्धस्य कर्मभिर्नोपपद्यते॥ ५२॥

परंतु योगके बिना उस परम गतिको नहीं प्राप्त किया जा सकता। बुद्धिमान्‌का कर्मोंके निकृष्ट बन्धनसे बँधा रहना उचित नहीं है॥ ५२॥

तस्माद् योगं समास्थाय त्यक्त्वा गृहकलेवरम्।
वायुभूतः प्रवेक्ष्यामि तेजोराशिं दिवाकरम्॥ ५३॥

अतः मैं योगका आश्रय ले इस देह-गेहका परित्याग करके वायुरूप हो तेजोराशिमय सूर्यमण्डलमें प्रवेश करूँगा॥ ५३॥

न ह्येष क्षयतां याति सोमः सुरगणैर्यथा।
कम्पितः पतते भूमिं पुनश्चैवाधिरोहति॥ ५४॥

देवतालोग चन्द्रमाका अमृत पीकर जिस प्रकार उसे क्षीण कर देते हैं, उस प्रकार सूर्यदेवका क्षय नहीं होता। धूममार्गसे चन्द्रमण्डलमें गया हुआ जीव कर्मभोग समाप्त होनेपर कम्पित हो फिर इस पृथ्वीपर गिर पड़ता है। इसी प्रकार नूतन कर्मफल भोगनेके लिये वह पुनः चन्द्रलोकमें जाता है (सारांश यह कि चन्द्रलोकमें जानेवालेको आवागमनसे छुटकारा नहीं मिलता है)॥ ५४॥

क्षीयते हि सदा सोमः पुनश्चैवाभिपूर्यते।
नेच्छाम्येवं विदित्वैते ह्रासवृद्धी पुनः पुनः॥ ५५॥

इसके सिवा चन्द्रमा सदा घटता-बढ़ता रहता है। उसकी ह्रास-वृद्धिका क्रम कभी टूटता नहीं है। इन सब बातोंको जानकर मुझे चन्द्र-लोकमें जाने या ह्रास-वृद्धिके चक्करमें पड़नेकी इच्छा नहीं होती है॥ ५५॥

रविस्तु सन्तापयते लोकान् रश्मिभिरुल्बणैः।
सर्वतस्तेज आदत्ते नित्यमक्षयमण्डलः॥ ५६॥

सूर्यदेव अपनी प्रचण्ड किरणोंसे समस्त जगत्‌को सन्तप्त करते हैं। वे सब जगहसे तेजको स्वयं ग्रहण करते हैं (उनके तेजका कभी ह्रास नहीं होता); इसलिये उनका मण्डल सदा अक्षय बना रहता है॥ ५६॥

अतो मे रोचते गन्तुमादित्यं दीप्ततेजसम्।
अत्र वत्स्यामि दुर्धर्षो निःशङ्केनान्तरात्मना॥ ५७॥

अतः उद्दीप्त तेजवाले आदित्यमण्डलमें जाना ही मुझे अच्छा जान पड़ता है। इसमें मैं निर्भीकचित्त होकर निवास करूँगा। किसीके लिये भी मेरा पराभव करना कठिन होगा॥ ५७॥

सूर्यस्य सदने चाहं निक्षिप्येदं कलेवरम्।
ऋषिभिः सह यास्यामि सौरं तेजोऽतिदुःसहम्॥ ५८॥

इस शरीरको सूर्यलोकमें छोड़कर मैं ऋषियोंके साथ सूर्यदेवके अत्यन्त दुःसह तेजमें प्रवेश कर जाऊँगा॥ ५८॥

आपृच्छामि नगान् नागान् गिरिमुर्वीं दिशो दिवम्।
देवदानवगन्धर्वान् पिशाचोरगराक्षसान्॥ ५९॥

इसके लिये मैं नग-नाग, पर्वत, पृथ्वी, दिशा, द्युलोक, देव, दानव, गन्धर्व, पिशाच, सर्प और राक्षसोंसे आज्ञा माँगता हूँ॥ ५९॥

लोकेषु सर्वभूतानि प्रवेक्ष्यामि न संशयः।
पश्यन्तु योगवीर्यं मे सर्वे देवाः सहर्षिभिः॥ ६०॥

आज मैं निःसन्देह जगत्‌के सम्पूर्ण भूतोंमें प्रवेश करूँगा। समस्त देवता और ऋषि मेरी योगशक्तिका प्रभाव देखें॥ ६०॥

अथानुज्ञाप्य तमृषिं नारदं लोकविश्रुतम्।
तस्मादनुज्ञां सम्प्राप्य जगाम पितरं प्रति॥ ६१॥

ऐसा निश्चय करके शुकदेवजीने विश्वविख्यात देवर्षि नारदजीसे आज्ञा माँगी। उनसे आज्ञा लेकर वे अपने पिता व्यासजीके पास गये॥ ६१॥

सोऽभिवाद्य महात्मानं कृष्णद्वैपायनं मुनिम्।
शुकः प्रदक्षिणं कृत्वा कृष्णमापृष्टवान् मुनिम्॥ ६२॥

वहाँ अपने पिता महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन मुनिको प्रणाम करके शुकदेवजीने उनकी प्रदक्षिणा की और उनसे जानेके लिये आज्ञा माँगी॥ ६२॥

श्रुत्वा चर्षिस्तद् वचनं शुकस्य
प्रीतो महात्मा पुनराह चैनम्।
भो भो पुत्र स्थीयतां तावदद्य
यावच्चक्षुः प्रीणयामि त्वदर्थे॥ ६३॥

शुकदेवकी यह बात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए महात्मा व्यासने उनसे कहा—'बेटा! बेटा! आज यहीं रहो, जिससे तुम्हें जी-भर निहारकर अपने नेत्रोंको तृप्त कर लूँ'॥ ६३॥

निरपेक्षः शुको भूत्वा निःस्नेहो मुक्तसंशयः।
मोक्षमेवानुसञ्चिन्त्य गमनाय मनो दधे॥ ६४॥

परंतु शुकदेवजी स्नेहका बन्धन तोड़कर निरपेक्ष हो गये थे। तत्त्वके विषयमें उन्हें कोई संशय नहीं रह गया था; अतः बारम्बार मोक्षका ही चिन्तन करते हुए उन्होंने वहाँसे जानेका ही विचार किया॥ ६४॥

पितरं सम्परित्यज्य जगाम मुनिसत्तमः।
कैलासपृष्ठं विपुलं सिद्धसङ्घनिषेवितम्॥ ६५॥

पिताको वहीं छोड़कर मुनिश्रेष्ठ शुकदेव सिद्ध-समुदायसे सेवित विशाल कैलासशिखरपर चले गये॥ ६५॥

॥ इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि नारदगीतायां तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

अर्जुनका श्रीकृष्णसे पुनः गीताका विषय पूछना

उत्तरगीता

[उत्तरगीता महाभारतके आश्वमेधिक पर्वके अन्तर्गत अनुगीता नामक उपपर्वमें मिलती है। लघुकाय होते हुए भी तात्त्विक दृष्टिसे यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कुरुक्षेत्रमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको भगवद्गीतारूपी जो ज्ञानोपदेश दिया था, उसका कालान्तरमें अर्जुनको विस्मरण हो गया। भगवान् श्रीकृष्णने भी योगयुक्त होकर व्यक्त किये गये उस ज्ञानका पुनः पूरा-पूरा स्मरण असम्भव ही बताया, परंतु अर्जुनके कल्याणार्थ उत्तम गति प्रदान करनेमें सक्षम उसी परमात्मतत्त्वको भिन्नरूपसे वर्णित किया, उसीको उत्तरगीता कहते हैं। जीवको शुभ-अशुभ सभी कर्मोंका फल अवश्य भोगना पड़ता है, अतएव सत्कर्म ही करें—ऐसी प्रेरणा देनेके साथ ही जीवकी विभिन्न गतियाँ तथा मोक्षप्राप्तिके उपायोंका वर्णन भी इसमें किया गया है। यही सारगर्भित तथा सुबोध तात्त्विक विवेचनयुक्त उत्तरगीता यहाँ सानुवाद प्रस्तुत की जा रही है—]

पहला अध्याय

अर्जुनका श्रीकृष्णसे गीताका विषय पूछना और श्रीकृष्णका अर्जुनसे सिद्ध, महर्षि एवं काश्यपका संवाद सुनाना

जनमेजय उवाच

सभायां वसतोस्तत्र निहत्यारीन् महात्मनोः।
केशवार्जुनयोः का नु कथा समभवद् द्विज॥ १॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! शत्रुओंका नाश करके जब महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन सभाभवनमें रहने लगे, उन दिनों उन दोनोंमें क्या-क्या बातचीत हुई?॥ १॥

वैशम्पायन उवाच

कृष्णेन सहितः पार्थः स्वराज्यं प्राप्य केवलम्।
तस्यां सभायां दिव्यायां विजहार मुदा युतः॥ २॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! श्रीकृष्णके सहित अर्जुनने जब केवल अपने राज्यपर पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया, तब वे उस दिव्य सभाभवनमें आनन्दपूर्वक रहने लगे॥ २॥

तत्र कञ्चित् सभोद्देशं स्वर्गोद्देशसमं नृप।
यदृच्छया तौ मुदितौ जग्मतुः स्वजनावृतौ॥ ३॥

नरेश्वर! एक दिन वहाँ स्वजनोंसे घिरे हुए वे दोनों मित्र स्वेच्छासे घूमते-घामते सभामण्डपके एक ऐसे भागमें पहुँचे, जो स्वर्गके समान सुन्दर था॥ ३॥

ततः प्रतीतः कृष्णेन सहितः पाण्डवोऽर्जुनः।
निरीक्ष्य तां सभां रम्यामिदं वचनमब्रवीत्॥ ४॥

पाण्डुनन्दन अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके साथ रहकर बहुत प्रसन्न थे। उन्होंने एक बार उस रमणीय सभाकी ओर दृष्टि डालकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा—॥ ४॥

विदितं मे महाबाहो सङ्ग्रामे समुपस्थिते।
माहात्म्यं देवकीमातस्तच्च ते रूपमैश्वरम्॥ ५॥

महाबाहो! देवकीनन्दन जब संग्रामका समय उपस्थित था, उस समय मुझे आपके माहात्म्यका ज्ञान और ईश्वरीय स्वरूपका दर्शन हुआ था॥ ५॥

यत् तद् भगवता प्रोक्तं पुरा केशव सौहृदात्।
तत् सर्वं पुरुषव्याघ्र नष्टं मे भ्रष्टचेतसः॥ ६॥

किंतु केशव! आपने सौहार्दवश पहले मुझे जो ज्ञानका उपदेश दिया था, मेरा वह सब ज्ञान इस समय विचलितचित्त हो जानेके कारण नष्ट हो गया (भूल गया) है॥ ६॥

मम कौतूहलं त्वस्ति तेष्वर्थेषु पुनः पुनः।
भवांस्तु द्वारकां गन्ता नचिरादिव माधव॥ ७॥

माधव! उन विषयोंको सुननेके लिये मेरे मनमें बारम्बार उत्कण्ठा होती है। इधर आप जल्दी ही द्वारका जानेवाले हैं; अतः पुनः वह सब विषय मुझे सुना दीजिये॥ ७॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु तं कृष्णः फाल्गुनं प्रत्यभाषत।
परिष्वज्य महातेजा वचनं वदतां वरः॥ ८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! अर्जुनके ऐसा कहनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें गलेसे लगाकर इस प्रकार उत्तर दिया॥ ८॥

वासुदेव उवाच

श्रावितस्त्वं मया गुह्यं ज्ञापितश्च सनातनम्।
धर्मं स्वरूपिणं पार्थ सर्वलोकांश्च शाश्वतान्॥ ९॥
अबुद्ध्या नाग्रहीर्यस्त्वं तन्मे सुमहदप्रियम्।
न च साद्य पुनर्भूयः स्मृतिर्मे सम्भविष्यति॥ १०॥

श्रीकृष्ण बोले—अर्जुन! उस समय मैंने तुम्हें अत्यन्त गोपनीय ज्ञानका श्रवण कराया था, अपने स्वरूपभूत धर्म सनातन पुरुषोत्तमतत्त्वका परिचय दिया था और (शुक्ल-कृष्ण गतिका निरूपण करते हुए) सम्पूर्ण नित्य लोकोंका भी वर्णन किया था; किंतु तुमने जो अपनी नासमझीके कारण उस उपदेशको याद नहीं रखा, यह मुझे बहुत अप्रिय है। उन बातोंका अब पूरा-पूरा स्मरण होना सम्भव नहीं जान पड़ता॥ ९-१०॥

नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पाण्डव।
न च शक्यं पुनर्वक्तुमशेषेण धनञ्जय॥ ११॥

पाण्डुनन्दन! निश्चय ही तुम बड़े श्रद्धाहीन हो, तुम्हारी बुद्धि

बहुत मन्द जान पड़ती है। धनंजय! अब मैं उस उपदेशको ज्यों-का-त्यों नहीं कह सकता॥ ११॥

स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने।
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः॥ १२॥

क्योंकि वह धर्म ब्रह्मपदकी प्राप्ति करानेके लिये पर्याप्त था, वह सारा-का-सारा धर्म उसी रूपमें फिर दुहरा देना अब मेरे वशकी बात भी नहीं है॥ १२॥

परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया।
इतिहासं तु वक्ष्यामि तस्मिन्नर्थे पुरातनम्॥ १३॥

उस समय योगयुक्त होकर मैंने परमात्मतत्त्वका वर्णन किया था। अब उस विषयका ज्ञान करानेके लिये मैं एक प्राचीन इतिहासका वर्णन करता हूँ॥ १३॥

यथा तां बुद्धिमास्थाय गतिमग्र्यां गमिष्यसि।
शृणु धर्मभृतां श्रेष्ठ गदितं सर्वमेव मे॥ १४॥

जिससे तुम उस समत्वबुद्धिका आश्रय लेकर उत्तम गति प्राप्त कर लोगे। धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ अर्जुन! अब तुम मेरी सारी बातें ध्यान देकर सुनो॥ १४॥

आगच्छद् ब्राह्मणः कश्चित् स्वर्गलोकादरिंदम।
ब्रह्मलोकाच्च दुर्धर्षः सोऽस्माभिः पूजितोऽभवत्॥ १५॥
अस्माभिः परिपृष्टश्च यदाह भरतर्षभ।
दिव्येन विधिना पार्थ तच्छृणुष्वाविचारयन्॥ १६॥

शत्रुदमन! एक दिनकी बात है, एक दुर्धर्ष ब्राह्मण ब्रह्मलोकसे उतरकर स्वर्गलोकमें होते हुए मेरे यहाँ आये। मैंने उनकी विधिवत् पूजा की और मोक्षधर्मके विषयमें प्रश्न किया। भरतश्रेष्ठ! मेरे प्रश्नका उन्होंने सुन्दर विधिसे उत्तर दिया। पार्थ! वही मैं तुम्हें बतला रहा हूँ। कोई अन्यथा विचार न करके इसे ध्यान देकर सुनो॥ १५-१६॥

ब्राह्मण उवाच

मोक्षधर्मं समाश्रित्य कृष्ण यन्मामपृच्छथाः।
भूतानामनुकम्पार्थं यन्मोहच्छेदनं विभो॥ १७॥
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि यथावन्मधुसूदन।
शृणुष्वावहितो भूत्वा गदतो मम माधव॥ १८॥

ब्राह्मणने कहा—श्रीकृष्ण! मधुसूदन! तुमने सब प्राणियोंपर कृपा करके उनके मोहका नाश करनेके लिये जो यह मोक्ष-धर्मसे सम्बन्ध रखनेवाला प्रश्न किया है, उसका मैं यथावत् उत्तर दे रहा हूँ। प्रभो! माधव! सावधान होकर मेरी बात श्रवण करो॥ १७-१८॥

कश्चिद् विप्रस्तपोयुक्तः काश्यपो धर्मवित्तमः।
आससाद द्विजं कञ्चिद् धर्माणामागतागमम्॥ १९॥
गतागते सुबहुशो ज्ञानविज्ञानपारगम्।
लोकतत्त्वार्थकुशलं ज्ञातार्थं सुखदुःखयोः॥ २०॥
जातीमरणतत्त्वज्ञं कोविदं पापपुण्ययोः।
द्रष्टारमुच्चनीचानां कर्मभिर्देहिनां गतिम्॥ २१॥

प्राचीन समयमें काश्यप नामके एक धर्मज्ञ और तपस्वी ब्राह्मण किसी सिद्ध महर्षिके पास गये; जो धर्मके विषयमें शास्त्रके सम्पूर्ण रहस्योंको जाननेवाले, भूत और भविष्यके ज्ञान-विज्ञानमें प्रवीण, लोक-तत्त्वके ज्ञानमें कुशल, सुख-दुःखके रहस्यको समझनेवाले, जन्म-मृत्युके तत्त्वज्ञ, पाप-पुण्यके ज्ञाता और ऊँच-नीच प्राणियोंको कर्मानुसार प्राप्त होनेवाली गतिके प्रत्यक्ष द्रष्टा थे॥ १९—२१॥

चरन्तं मुक्तवत्सिद्धं प्रशान्तं संयतेन्द्रियम्।
दीप्यमानं श्रिया ब्राह्म्या क्रममाणं च सर्वशः॥ २२॥
अन्तर्धानगतिज्ञं च श्रुत्वा तत्त्वेन काश्यपः।
तथैवान्तर्हितैः सिद्धैर्यान्तं चक्रधरैः सह॥ २३॥

सम्भाषमाणमेकान्ते समासीनं च तैः सह।
यदृच्छया च गच्छन्तमसक्तं पवनं यथा॥ २४॥

वे मुक्तकी भाँति विचरनेवाले, सिद्ध, शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान, सर्वत्र घूमनेवाले और अन्तर्धान विद्याके ज्ञाता थे। अदृश्य रहनेवाले चक्रधारी सिद्धोंके साथ वे विचरते, बातचीत करते और उन्हींके साथ एकान्तमें बैठते थे। जैसे वायु कहीं आसक्त न होकर सर्वत्र प्रवाहित होती है, उसी तरह वे सर्वत्र अनासक्त भावसे स्वच्छन्दतापूर्वक विचरा करते थे। महर्षि काश्यप उनकी उपर्युक्त महिमा सुनकर ही उनके पास गये थे॥ २२—२४॥

तं समासाद्य मेधावी स तदा द्विजसत्तमः।
चरणौ धर्मकामोऽस्य तपस्वी सुसमाहितः।
प्रतिपेदे यथान्यायं दृष्ट्वा तन्महदद्भुतम्॥ २५॥
विस्मितश्चाद्भुतं दृष्ट्वा काश्यपस्तद् द्विजोत्तमम्।
परिचारेण महता गुरुं तं पर्यतोषयत्॥ २६॥
उपपन्नं च तत्सर्वं श्रुतचारित्रसंयुतम्।
भावेनातोषयच्चैनं गुरुवृत्त्या परन्तपः॥ २७॥

निकट जाकर उन मेधावी, तपस्वी, धर्माभिलाषी और एकाग्रचित्त महर्षिने न्यायानुसार उन सिद्ध महात्माके चरणोंमें प्रणाम किया। वे ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ और बड़े अद्‌भुत सन्त थे। उनमें सब प्रकारकी योग्यता थी। वे शास्त्रके ज्ञाता और सच्चरित्र थे। उनका दर्शन करके काश्यपको बड़ा विस्मय हुआ। वे उन्हें गुरु मानकर उनकी सेवामें लग गये और अपनी शुश्रूषा, गुरुभक्ति तथा श्रद्धाभावके द्वारा उन्होंने उन सिद्ध महात्माको सन्तुष्ट कर लिया॥ २५—२७॥

तस्मै तुष्टः स शिष्याय प्रसन्नो वाक्यमब्रवीत्।
सिद्धिं परामभिप्रेक्ष्य शृणु मत्तो जनार्दन॥ २८॥

जनार्दन! अपने शिष्य काश्यपके ऊपर प्रसन्न होकर उन सिद्ध

महर्षिने परासिद्धिके सम्बन्धमें विचार करके जो उपदेश किया, उसे बताता हूँ, सुनो॥ २८॥

सिद्ध उवाच

विविधैः कर्मभिस्तात पुण्ययोगैश्च केवलैः।
गच्छन्तीह गतिं मर्त्या देवलोके च संस्थितिम्॥ २९॥

सिद्धने कहा—तात काश्यप! मनुष्य नाना प्रकारके शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करके केवल पुण्यके संयोगसे इस लोकमें उत्तम फल और देवलोकमें स्थान प्राप्त करते हैं॥ २९॥

न क्वचित् सुखमत्यन्तं न क्वचिच्छाश्वती स्थितिः।
स्थानाच्च महतो भ्रंशो दुःखलब्धात् पुनः पुनः॥ ३०॥

जीवको कहीं भी अत्यन्त सुख नहीं मिलता। किसी भी लोकमें वह सदा नहीं रहने पाता। तपस्या आदिके द्वारा कितने ही कष्ट सहकर बड़े-से-बड़े स्थानको क्यों न प्राप्त किया जाय, वहाँसे भी बार-बार नीचे आना ही पड़ता है॥ ३०॥

अशुभा गतयः प्राप्ताः कष्टा मे पापसेवनात्।
काममन्युपरीतेन तृष्णया मोहितेन च॥ ३१॥

मैंने काम-क्रोधसे युक्त और तृष्णासे मोहित होकर अनेकों बार पाप किये हैं और उनके सेवनके फलस्वरूप घोर कष्ट देनेवाली अशुभ गतियोंको भोगा है॥ ३१॥

पुनः पुनश्च मरणं जन्म चैव पुनः पुनः।
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः॥ ३२॥

बार-बार जन्म और बार-बार मृत्युका क्लेश उठाया है। तरह-तरहके आहार ग्रहण किये और अनेक स्तनोंका दूध पीया है॥ ३२॥

मातरो विविधा दृष्टाः पितरश्च पृथग्विधाः।
सुखानि च विचित्राणि दुःखानि च मयानघ॥ ३३॥

अनघ! बहुत-से पिता और भाँति-भाँतिकी माताएँ देखी हैं। विचित्र-विचित्र सुख-दुःखोंका अनुभव किया है॥ ३३॥

प्रियैर्विवासो बहुशः संवासश्चाप्रियैः सह।
धननाशश्च सम्प्राप्तो लब्ध्वा दुःखेन तद् धनम्॥ ३४॥

कितनी ही बार मुझसे प्रियजनोंका वियोग और अप्रियजनोंका संयोग हुआ है। जिस धनको मैंने बहुत कष्ट सहकर कमाया था, वह मेरे देखते-देखते नष्ट हो गया॥ ३४॥

अवमानाः सुकष्टाश्च राजतः स्वजनात् तथा।
शारीरा मानसा वापि वेदना भृशदारुणाः॥ ३५॥

राजा और स्वजनोंकी ओरसे मुझे कई बार बड़े-बड़े कष्ट और अपमान उठाने पड़े हैं। तन और मनकी अत्यन्त भयंकर वेदनाएँ सहनी पड़ी हैं॥ ३५॥

प्राप्ता विमाननाश्चोग्रा वधबन्धाश्च दारुणाः।
पतनं निरये चैव यातनाश्च यमक्षये॥ ३६॥

मैंने अनेक बार घोर अपमान, प्राणदण्ड और कड़ी कैदकी सजाएँ भोगी हैं। मुझे नरकमें गिरना और यमलोकमें मिलनेवाली यातनाओंको सहना पड़ा है॥ ३६॥

जरा रोगाश्च सततं व्यसनानि च भूरिशः।
लोकेऽस्मिन्ननुभूतानि द्वन्द्वजानि भृशं मया॥ ३७॥

इस लोकमें जन्म लेकर मैंने बारम्बार बुढ़ापा, रोग, व्यसन और राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंके प्रचुर दुःख सदा ही भोगे हैं॥ ३७॥

ततः कदाचिन्निर्वेदान्निराकाराश्रितेन च।
लोकतन्त्रं परित्यक्तं दुःखार्तेन भृशं मया॥ ३८॥

इस प्रकार बारम्बार क्लेश उठानेसे एक दिन मेरे मनमें बड़ा खेद हुआ और मैंने दुःखोंसे घबराकर निराकार परमात्माकी शरण ली तथा समस्त लोकव्यवहारका परित्याग कर दिया॥ ३८॥

लोकेऽस्मिन्ननुभूयाहमिमं मार्गमनुष्ठितः।
ततः सिद्धिरियं प्राप्ता प्रसादादात्मनो मया॥ ३९॥

इस लोकमें अनुभवके पश्चात् मैंने इस मार्गका अवलम्बन किया है और अब परमात्माकी कृपासे मुझे यह उत्तम सिद्धि प्राप्त हुई है॥ ३९॥

नाहं पुनरिहागन्ता लोकानालोकयाम्यहम्।
आसिद्धेराप्रजासर्गादात्मनोऽपि गताः शुभाः॥ ४०॥

अब मैं पुनः इस संसारमें नहीं आऊँगा। जबतक यह सृष्टि कायम रहेगी और जबतक मेरी मुक्ति नहीं हो जायगी, तबतक मैं अपनी और दूसरे प्राणियोंकी शुभगतिका अवलोकन करूँगा॥ ४०॥

उपलब्धा द्विजश्रेष्ठ तथेयं सिद्धिरुत्तमा।
इतः परं गमिष्यामि ततः परतरं पुनः॥ ४१॥
ब्रह्मणः पदमव्यक्तं मा तेऽभूदत्र संशयः।
नाहं पुनरिहागन्ता मर्त्यलोकं परन्तप॥ ४२॥

द्विजश्रेष्ठ! इस प्रकार मुझे यह उत्तम सिद्धि मिली है। इसके बाद मैं उत्तम लोकमें जाऊँगा। फिर उससे भी परम उत्कृष्ट सत्यलोकमें जा पहुँचूँगा और क्रमशः अव्यक्त ब्रह्मपद (मोक्ष)-को प्राप्त कर लूँगा। इसमें तुम्हें संशय नहीं करना चाहिये। काम-क्रोध आदि शत्रुओंको सन्ताप देनेवाले काश्यप! अब मैं पुनः इस मर्त्यलोकमें नहीं आऊँगा॥ ४१-४२॥

प्रीतोऽस्मि ते महाप्राज्ञ ब्रूहि किं करवाणि ते।
यदीप्सुरुपपन्नस्त्वं तस्य कालोऽयमागतः॥ ४३॥

महाप्राज्ञ! मैं तुम्हारे ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ। बोलो, तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ? तुम जिस वस्तुको पानेकी इच्छासे मेरे पास आये हो, उसके प्राप्त होनेका यह समय आ गया है॥ ४३॥

अभिजाने च तदहं यदर्थं मामुपागतः।
अचिरात् तु गमिष्यामि तेनाहं त्वामचूचुदम्॥ ४४॥

तुम्हारे आनेका उद्देश्य क्या है, इसे मैं जानता हूँ और शीघ्र ही यहाँसे चला जाऊँगा। इसीलिये मैंने स्वयं तुम्हें प्रश्न करनेके लिये प्रेरित किया है॥ ४४॥

भृशं प्रीतोऽस्मि भवतश्चारित्रेण विचक्षण।
परिपृच्छस्व कुशलं भाषेयं यत् तवेप्सितम्॥ ४५॥

विद्वन्! तुम्हारे उत्तम आचरणसे मुझे बड़ा सन्तोष है। तुम अपने कल्याणकी बात पूछो। मैं तुम्हारे अभीष्ट प्रश्नका उत्तर दूँगा॥ ४५॥

बहु मन्ये च ते बुद्धिं भृशं सम्पूजयामि च।
येनाहं भवता बुद्धो मेधावी ह्यसि काश्यप॥ ४६॥

काश्यप! मैं तुम्हारी बुद्धिकी सराहना करता हूँ और उसे बहुत आदर देता हूँ। तुमने मुझे पहचान लिया है, इसीसे कहता हूँ कि बड़े बुद्धिमान् हो॥ ४६॥

॥ इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि उत्तरगीतायां प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

दूसरा अध्याय

काश्यपके प्रश्नोंके उत्तरमें सिद्ध महात्माद्वारा जीवकी विविध गतियोंका वर्णन

वासुदेव उवाच

ततस्तस्योपसङ्गृह्य पादौ प्रश्नान् सुदुर्वचान्।
पप्रच्छ तांश्च धर्मान् स प्राह धर्मभृतां वरः॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—तदनन्तर धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ काश्यपने उन सिद्ध महात्माके दोनों पैर पकड़कर जिनका उत्तर कठिनाईसे दिया जा सके, ऐसे बहुत-से धर्मयुक्त प्रश्न पूछे॥ १॥

काश्यप उवाच

कथं शरीरं च्यवते कथं चैवोपपद्यते।
कथं कष्टाच्च संसारात् संसरन् परिमुच्यते॥ २॥

काश्यपने पूछा—महात्मन्! यह शरीर किस प्रकार गिर जाता है? फिर दूसरा शरीर कैसे प्राप्त होता है? संसारी जीव किस तरह इस दुःखमय संसारसे मुक्त होता है?॥ २॥

आत्मा च प्रकृतिं मुक्त्वा तच्छरीरं विमुञ्चति।
शरीरतश्च निर्मुक्तः कथमन्यत् प्रपद्यते॥ ३॥

जीवात्मा प्रकृति (मूल विद्या) और उससे उत्पन्न होनेवाले शरीरका कैसे त्याग करता है? और शरीरसे छूटकर दूसरेमें वह किस प्रकार प्रवेश करता है?॥ ३॥

कथं शुभाशुभे चायं कर्मणी स्वकृते नरः।
उपभुङ्क्ते क्व वा कर्म विदेहस्यावतिष्ठते॥ ४॥

मनुष्य अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल कैसे भोगता है और शरीर न रहनेपर उसके कर्म कहाँ रहते हैं?॥ ४॥

ब्राह्मण उवाच

एवं सञ्चोदितः सिद्धः प्रश्नांस्तान् प्रत्यभाषत।
आनुपूर्व्येण वार्ष्णेय तन्मे निगदतः शृणु॥ ५॥

ब्राह्मण कहते हैं—वृष्णिनन्दन श्रीकृष्ण! काश्यपके इस प्रकार पूछनेपर सिद्ध महात्माने उनके प्रश्नोंका क्रमशः उत्तर देना आरम्भ किया। वह मैं बता रहा हूँ, सुनिये॥ ५॥

सिद्ध उवाच

आयुःकीर्तिकराणीह यानि कृत्यानि सेवते।
शरीरग्रहणे यस्मिंस्तेषु क्षीणेषु सर्वशः॥ ६॥
आयुःक्षयपरीतात्मा विपरीतानि सेवते।
बुद्धिर्व्यावर्तते चास्य विनाशे प्रत्युपस्थिते॥ ७॥

सिद्धने कहा—काश्यप! मनुष्य इस लोकमें आयु और कीर्तिको बढ़ानेवाले जिन कर्मोंका सेवन करता है, वे शरीर-प्राप्तिमें कारण होते हैं। शरीर-ग्रहणके अनन्तर जब वे सभी कर्म अपना फल देकर क्षीण हो जाते हैं, उस समय जीवकी आयुका भी क्षय हो जाता है। उस अवस्थामें वह विपरीत कर्मोंका सेवन करने लगता है और विनाशकाल निकट आनेपर उसकी बुद्धि उलटी हो जाती है॥ ६-७॥

सत्त्वं बलं च कालं च विदित्वा चात्मनस्तथा।
अतिवेलमुपाश्नाति स्वविरुद्धान्यनात्मवान्॥ ८॥

वह अपने सत्त्व (धैर्य), बल और अनुकूल समयको जानकर भी मनपर अधिकार न होनेके कारण असमयमें तथा अपनी प्रकृतिके विरुद्ध भोजन करता है॥ ८॥

यदायमतिकष्टानि सर्वाण्युपनिषेवते।
अत्यर्थमपि वा भुङ्क्ते न वा भुङ्क्ते कदाचन॥ ९॥

अत्यन्त हानि पहुँचानेवाली जितनी वस्तुएँ हैं, उन सबका वह सेवन करता है। कभी तो बहुत-अधिक खा लेता है, कभी बिल्कुल

ही भोजन नहीं करता है॥ ९॥

दुष्टान्नामिषपानं च यदन्योन्यविरोधि च।
गुरु चाप्यमितं भुङ्क्ते नातिजीर्णेऽपि वा पुनः॥ १०॥

कभी दूषित खाद्य अन्न-पानको भी ग्रहण कर लेता है, कभी एक-दूसरेसे विरुद्ध गुणवाले पदार्थोंको एक साथ खा लेता है। किसी दिन गरिष्ठ अन्न और वह भी बहुत-अधिक मात्रामें खा जाता है। कभी-कभी एक बारका खाया हुआ अन्न पचने भी नहीं पाता कि दुबारा भोजन कर लेता है॥ १०॥

व्यायाममतिमात्रं च व्यवायं चोपसेवते।
सततं कर्मलाभाद् वा प्राप्तं वेगं विधारयेत्॥ ११॥

अधिक मात्रामें व्यायाम और स्त्री-सम्भोग करता है। सदा काम करनेके लोभसे मल-मूत्रके वेगको रोके रहता है॥ ११॥

रसाभियुक्तमन्नं वा दिवा स्वप्नं च सेवते।
अपक्वानागते काले स्वयं दोषान् प्रकोपयेत्॥ १२॥

रसीला अन्न खाता और दिनमें सोता है तथा कभी-कभी खाये हुए अन्नके पचनेके पहले असमयमें भोजन करके स्वयं ही अपने शरीरमें स्थित वात-पित्त आदि दोषोंको कुपित कर देता है॥ १२॥

स्वदोषकोपनाद् रोगं लभते मरणान्तिकम्।
अपि वोद्बन्धनादीनि परीतानि व्यवस्यति॥ १३॥

उन दोषोंके कुपित होनेसे वह अपने लिये प्राणनाशक रोगोंको बुला लेता है अथवा फाँसी लगाने या जलमें डूबने आदि शास्त्रविरुद्ध उपायोंका आश्रय लेता है॥ १३॥

तस्य तैः कारणैर्जन्तोः शरीरं च्यवते तदा।
जीवितं प्रोच्यमानं तद् यथावदुपधारय॥ १४॥

इन्हीं सब कारणोंसे जीवका शरीर नष्ट हो जाता है। इस प्रकार

जो जीवका जीवन बताया जाता है, उसे अच्छी तरह समझ लो॥ १४॥

ऊष्मा प्रकुपितः काये तीव्रवायुसमीरितः।
शरीरमनुपर्येत्य सर्वान् प्राणान् रुणद्धि वै॥ १५॥

शरीरमें तीव्र वायुसे प्रेरित हो पित्तका प्रकोप बढ़ जाता है और वह शरीरमें फैलकर समस्त प्राणोंकी गतिको रोक देता है॥ १५॥

अत्यर्थं बलवानूष्मा शरीरे परिकोपितः।
भिनत्ति जीवस्थानानि मर्माणि विद्धि तत्त्वतः॥ १६॥

इस शरीरमें कुपित होकर अत्यन्त प्रबल हुआ पित्त जीवके मर्मस्थानोंको विदीर्ण कर देता है। इस बातको ठीक समझो॥ १६॥

ततः सवेदनः सद्यो जीवः प्रच्यवते क्षरात्।
शरीरं त्यजते जन्तुश्छिद्यमानेषु मर्मसु॥ १७॥

जब मर्मस्थान छिन्न-भिन्न होने लगते हैं, तब वेदनासे व्यथित हुआ जीव तत्काल इस जड शरीरसे निकल जाता है। उस शरीरको सदाके लिये त्याग देता है॥ १७॥

वेदनाभिः परीतात्मा तद् विद्धि द्विजसत्तम।
जातीमरणसंविग्नाः सततं सर्वजन्तवः॥ १८॥

द्विजश्रेष्ठ! मृत्युकालमें जीवका तन-मन वेदनासे व्यथित होता है, इस बातको भलीभाँति जान लो। इस तरह संसारके सभी प्राणी सदा जन्म और मरणसे उद्विग्न रहते हैं॥ १८॥

दृश्यन्ते सन्त्यजन्तश्च शरीराणि द्विजर्षभ।
गर्भसङ्क्रमणे चापि मर्मणामतिसर्पणे॥ १९॥
तादृशीमेव लभते वेदनां मानवः पुनः।
भिन्नसन्धिरथ क्लेदमद्भिः स लभते नरः॥ २०॥

विप्रवर! सभी जीव अपने शरीरका त्याग करते देखे जाते हैं। गर्भमें मनुष्य प्रवेश करते समय तथा गर्भसे नीचे गिरते समय भी वैसी

ही वेदनाका अनुभव करता है। मृत्युकालमें जीवोंके शरीरकी सन्धियाँ टूटने लगती हैं और जन्मके समय वह गर्भस्थ जलसे भींगकर अत्यन्त व्याकुल हो उठता है॥ १९-२०॥

यथा पञ्चसु भूतेषु सम्भूतत्वं नियच्छति।
शैत्यात् प्रकुपितः काये तीव्रवायुसमीरितः॥ २१॥
यः स पञ्चसु भूतेषु प्राणापाने व्यवस्थितः।
स गच्छत्यूर्ध्वगो वायुः कृच्छ्रान्मुक्त्वा शरीरिणः॥ २२॥

अन्य प्रकारकी तीव्र वायुसे प्रेरित हो शरीरमें सर्दीसे कुपित हुई जो वायु पाँचों भूतोंमें प्राण और अपानके स्थानमें स्थित है, वही पंचभूतोंके संघातका नाश करती है तथा वह देहधारियोंको बड़े कष्टसे त्यागकर ऊर्ध्वलोकको चली जाती है॥ २१-२२॥

शरीरं च जहात्येवं निरुच्छ्वासश्च दृश्यते।
स निरूष्मा निरुच्छ्वासो निःश्रीको हतचेतनः॥ २३॥
ब्रह्मणा सम्परित्यक्तो मृत इत्युच्यते नरैः।

इस प्रकार जब जीव शरीरका त्याग करता है, तब प्राणियोंका शरीर उच्छ्वासहीन दिखायी देता है। उसमें गर्मी, उच्छ्वास, शोभा और चेतना कुछ भी नहीं रह जाती। इस तरह जीवात्मासे परित्यक्त उस शरीरको लोग मृत (मरा हुआ) कहते हैं॥ २३ $\frac{१}{२}$॥

स्त्रोतोभिर्यैर्विजानाति इन्द्रियार्थाञ्शरीरभृत्॥ २४॥
तैरेव न विजानाति प्राणानाहारसम्भवान्।
तत्रैव कुरुते काये यः स जीवः सनातनः॥ २५॥

देहधारी जीव जिन इन्द्रियोंके द्वारा रूप, रस आदि विषयोंका अनुभव करता है, उनके द्वारा वह भोजनसे परिपुष्ट होनेवाले प्राणोंको नहीं जान पाता। इस शरीरके भीतर रहकर जो कार्य करता है, वह सनातन जीव है॥ २४-२५॥

तथा यद्यद् भवेद् युक्तं सन्निपाते क्वचित् क्वचित्।
तत्तन्मर्म विजानीहि शास्त्रदृष्टं हि तत् तथा॥ २६॥

कहीं-कहीं सन्धिस्थानोंमें जो-जो अंग संयुक्त होता है, उस-उसको तुम मर्म समझो; क्योंकि शास्त्रमें मर्मस्थानका ऐसा ही लक्षण देखा गया है॥ २६॥

तेषु मर्मसु भिन्नेषु ततः स समुदीरयन्।
आविश्य हृदयं जन्तोः सत्त्वं चाशु रुणद्धि वै॥ २७॥

उन मर्मस्थानों (सन्धियों)-के विलग होनेपर वायु ऊपरको उठती हुई प्राणीके हृदयमें प्रविष्ट हो शीघ्र ही उसकी बुद्धिको अवरुद्ध कर लेती है॥ २७॥

ततः सचेतनो जन्तुर्नाभिजानाति किञ्चन।
तमसा संवृतज्ञानः संवृतेष्वेव मर्मसु।
स जीवो निरधिष्ठानश्चाल्यते मातरिश्वना॥ २८॥

तब अन्तकाल उपस्थित होनेपर प्राणी सचेतन होनेपर भी कुछ समझ नहीं पाता; क्योंकि तम (अविद्या)-के द्वारा उसकी ज्ञानशक्ति आवृत हो जाती है। मर्मस्थान भी अवरुद्ध हो जाते हैं। उस समय जीवके लिये कोई आधार नहीं रह जाता और वायु उसे अपने स्थानसे विचलित कर देती है॥ २८॥

ततः सतं महोच्छ्वासं भृशमुच्छ्वस्य दारुणम्।
निष्क्रामन् कम्पयत्याशु तच्छरीरमचेतनम्॥ २९॥

तब वह जीवात्मा बारम्बार भयंकर एवं लम्बी साँस छोड़कर बाहर निकलने लगता है। उस समय सहसा इस जड शरीरको कम्पित कर देता है॥ २९॥

स जीवः प्रच्युतः कायात् कर्मभिः स्वैः समावृतः।
अभितः स्वैः शुभैः पुण्यैः पापैर्वाप्युपपद्यते॥ ३०॥

शरीरसे अलग होनेपर वह जीव अपने किये हुए शुभ कार्य पुण्य

अथवा अशुभ कार्य पापकर्मोद्वारा सब ओरसे घिरा रहता है॥ ३०॥

ब्राह्मणा ज्ञानसम्पन्ना यथावच्छ्रुतनिश्चयाः।
इतरं कृतपुण्यं वा तं विजानन्ति लक्षणैः॥ ३१॥

जिन्होंने वेदशास्त्रोंके सिद्धान्तोंका यथावत् अध्ययन किया है, वे ज्ञानसम्पन्न ब्राह्मण लक्षणोंके द्वारा यह जान लेते हैं कि अमुक जीव पुण्यात्मा रहा है और अमुक जीव पापी॥ ३१॥

यथान्धकारे खद्योतं लीयमानं ततस्ततः।
चक्षुष्मन्तः प्रपश्यन्ति तथा च ज्ञानचक्षुषः॥ ३२॥
पश्यन्त्येवंविधं सिद्धा जीवं दिव्येन चक्षुषा।
च्यवन्तं जायमानं च योनिं चानुप्रवेशितम्॥ ३३॥

जिस तरह आँखवाले मनुष्य अँधेरेमें इधर-उधर उगते-बुझते हुए खद्योतको देखते हैं, उसी प्रकार ज्ञान-नेत्रवाले सिद्ध पुरुष अपनी दिव्य दृष्टिसे जन्मते, मरते तथा गर्भमें प्रवेश करते हुए जीवको सदा देखते रहते हैं॥ ३२-३३॥

तस्य स्थानानि दृष्टानि त्रिविधानीह शास्त्रतः।
कर्मभूमिरियं भूमिर्यत्र तिष्ठन्ति जन्तवः॥ ३४॥

शास्त्रके अनुसार जीवके तीन प्रकारके स्थान देखे गये हैं। (मृत्युलोक, स्वर्गलोक और नरक)। यह मर्त्यलोककी भूमि जहाँ बहुत-से प्राणी रहते हैं, कर्मभूमि कहलाती है॥ ३४॥

ततः शुभाशुभं कृत्वा लभन्ते सर्वदेहिनः।
इहैवोच्चावचान् भोगान् प्राप्नुवन्ति स्वकर्मभिः॥ ३५॥

अतः यहाँ शुभ और अशुभ कर्म करके सब मनुष्य उसके फलस्वरूप अपने कर्मोंके अनुसार अच्छे-बुरे भोग प्राप्त करते हैं॥ ३५॥

इहैवाशुभकर्माणः कर्मभिर्निरयं गताः।
अवाग्गतिरियं कष्टा यत्र पच्यन्ति मानवाः।

तस्मात् सुदुर्लभो मोक्षो रक्ष्यश्चात्मा ततो भृशम्॥ ३६॥

यहीं पाप करनेवाले मानव अपने कर्मोंके अनुसार नरकमें पड़ते हैं। यह जीवकी अधोगति है, जो घोर कष्ट देनेवाली है। इसमें पड़कर पापी मनुष्य नरकाग्निमें पकाये जाते हैं। उससे छुटकारा मिलना बहुत कठिन है। अतः (पापकर्मसे दूर रहकर) अपनेको नरकसे बचाये रखनेका विशेष प्रयत्न करना चाहिये॥ ३६॥

ऊर्ध्वं तु जन्तवो गत्वा येषु स्थानेष्ववस्थिताः।
कीर्त्यमानानि तानीह तत्त्वतः सन्निबोध मे॥ ३७॥

स्वर्ग आदिके ऊर्ध्वलोकोंको जाकर प्राणी जिन स्थानोंमें निवास करते हैं, उनका यहाँ वर्णन किया जाता है, इस विषयको यथार्थरूपसे मुझसे सुनो॥ ३७॥

तच्छ्रुत्वा नैष्ठिकीं बुद्धिं बुद्ध्येथाः कर्मनिश्चयम्।
तारारूपाणि सर्वाणि यत्रैतच्चन्द्रमण्डलम्॥ ३८॥
यत्र विभ्राजते लोके स्वभासा सूर्यमण्डलम्।
स्थानान्येतानि जानीहि जनानां पुण्यकर्मणाम्॥ ३९॥

इसको सुननेसे तुम्हें कर्मोंकी गतिका निश्चय हो जायगा और नैष्ठिकी बुद्धि प्राप्त होगी। जहाँ ये समस्त तारे हैं, जहाँ वह चन्द्रमण्डल प्रकाशित होता है और जहाँ सूर्यमण्डल जगत्में अपनी प्रभासे उद्भासित हो रहा है, ये सब-के-सब पुण्यकर्मा पुरुषोंके स्थान हैं, ऐसा जानो [पुण्यात्मा मनुष्य उन्हीं लोकोंमें जाकर अपने पुण्योंका फल भोगते हैं]॥ ३८-३९॥

कर्मक्षयाच्च ते सर्वे च्यवन्ते वै पुनः पुनः।
तत्रापि च विशेषोऽस्ति दिवि नीचोच्चमध्यमः॥ ४०॥

जब जीवोंके पुण्यकर्मोंका भोग समाप्त हो जाता है, तब वे वहाँसे नीचे गिरते हैं। इस प्रकार बारम्बार उनका आवागमन होता रहता है। स्वर्गमें भी उत्तम, मध्यम और अधमका भेद रहता है॥ ४०॥

न च तत्रापि सन्तोषो दृष्ट्वा दीप्ततरां श्रियम्।
इत्येता गतयः सर्वाः पृथक्ते समुदीरिताः॥ ४१॥

वहाँ भी दूसरोंका अपनेसे बहुत अधिक दीप्तिमान् तेज एवं ऐश्वर्य देखकर मनमें सन्तोष नहीं होता है। इस प्रकार जीवकी इन सभी गतियोंका मैंने तुम्हारे समक्ष पृथक्-पृथक् वर्णन किया है॥ ४१॥

उपपत्तिं तु वक्ष्यामि गर्भस्याहमतः परम्।
तथा तन्मे निगदतः शृणुष्वावहितो द्विज॥ ४२॥

अब मैं यह बतलाऊँगा कि जीव किस प्रकार गर्भमें आकर जन्म धारण करता है। ब्रह्मन्! तुम एकाग्रचित्त होकर मेरे मुखसे इस विषयका वर्णन सुनो॥ ४२॥

॥ इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि उत्तरगीतायां द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

तीसरा अध्याय

जीवके गर्भ-प्रवेश, आचार-धर्म, कर्म-फलकी अनिवार्यता तथा संसारसे तरनेके उपायका वर्णन

ब्राह्मण उवाच

शुभानामशुभानां च नेह नाशोऽस्ति कर्मणाम्।
प्राप्य प्राप्यानुपच्यन्ते क्षेत्रं क्षेत्रं तथा तथा॥ १॥

सिद्ध ब्राह्मण बोले—काश्यप! इस लोकमें किये हुए शुभ और अशुभ कर्मोंका फल भोगे बिना नाश नहीं होता। वे कर्म वैसा-वैसा कर्मानुसार एकके बाद एक शरीर धारण कराकर अपना फल देते रहते हैं॥ १॥

यथा प्रसूयमानस्तु फली दद्यात् फलं बहु।
तथा स्याद् विपुलं पुण्यं शुद्धेन मनसा कृतम्॥ २॥

जैसे फल देनेवाला वृक्ष फलनेका समय आनेपर बहुत-से फल

प्रदान करता है, उसी प्रकार शुद्ध हृदयसे किये हुए पुण्यका फल अधिक होता है॥ २॥

पापं चापि तथैव स्यात् पापेन मनसा कृतम्।
पुरोधाय मनो हीदं कर्मण्यात्मा प्रवर्तते॥ ३॥

इसी तरह कलुषित चित्तसे किये हुए पापके फलमें भी वृद्धि होती है; क्योंकि जीवात्मा मनको आगे करके ही प्रत्येक कार्यमें प्रवृत्त होता है॥ ३॥

यथा कर्मसमाविष्टः काममन्युसमावृतः।
नरो गर्भं प्रविशति तच्चापि शृणु चोत्तरम्॥ ४॥

काम-क्रोधसे घिरा हुआ मनुष्य जिस प्रकार कर्मजालमें आबद्ध होकर गर्भमें प्रवेश करता है, उसका भी उत्तर सुनो॥ ४॥

शुक्रं शोणितसंसृष्टं स्त्रिया गर्भाशयं गतम्।
क्षेत्रं कर्मजमाप्नोति शुभं वा यदि वाशुभम्॥ ५॥

जीव पहले पुरुषके वीर्यमें प्रविष्ट होता है, फिर स्त्रीके गर्भाशयमें जाकर उसके रजमें मिल जाता है। तत्पश्चात् उसे कर्मानुसार शुभ या अशुभ शरीरकी प्राप्ति होती है॥ ५॥

सौक्ष्म्यादव्यक्तभावाच्च न च क्वचन सज्जति।
सम्प्राप्य ब्राह्मणः कामं तस्मात् तद् ब्रह्म शाश्वतम्॥ ६॥

जीव अपनी इच्छाके अनुसार उस शरीरमें प्रवेश करके सूक्ष्म और अव्यक्त होनेके कारण कहीं आसक्त नहीं होता है; क्योंकि वास्तवमें वह सनातन परब्रह्मस्वरूप है॥ ६॥

तद् बीजं सर्वभूतानां तेन जीवन्ति जन्तवः।
स जीवः सर्वगात्राणि गर्भस्याविश्य भागशः॥ ७॥
दधाति चेतसा सद्यः प्राणस्थानेष्ववस्थितः।
ततः स्पन्दयतेऽङ्गानि च गर्भश्चेतनान्वितः॥ ८॥

वह जीवात्मा सम्पूर्ण भूतोंकी स्थितिका हेतु है, क्योंकि उसीके

द्वारा सब प्राणी जीवित रहते हैं। वह जीव गर्भके समस्त अंगमें प्रविष्ट हो उसके प्रत्येक अंशमें तत्काल चेतनता ला देता है और वही प्राणोंके स्थान—वक्षःस्थलमें स्थित हो समस्त अंगोंका संचालन करता है। तभी वह गर्भ चेतनासे सम्पन्न होता है॥ ७-८॥

यथा लोहस्य निःस्यन्दो निषिक्तो बिम्बविग्रहम्।
उपैति तद् विजानीहि गर्भे जीवप्रवेशनम्॥ ९॥

जैसे तपाये हुए लोहेका द्रव्य जिस प्रकारके साँचेमें ढाला जाता है, उसीका रूप धारण कर लेता है, उसी प्रकार गर्भमें जीवका प्रवेश होता है, ऐसा समझो। (अर्थात् जीव जिस प्रकारकी योनिमें प्रविष्ट होता है, उसी रूपमें उसका शरीर बन जाता है)॥ ९॥

लोहपिण्डं यथा वह्निः प्रविश्य ह्यतितापयेत्।
तथा त्वमपि जानीहि गर्भे जीवोपपादनम्॥ १०॥

जैसे आग लोहपिण्डमें प्रविष्ट होकर उसे बहुत तपा देती है, उसी प्रकार गर्भमें जीवका प्रवेश होता है और वह उसमें चेतनता ला देता है। इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो॥ १०॥

यथा च दीपः शरणे दीप्यमानः प्रकाशते।
एवमेव शरीराणि प्रकाशयति चेतना॥ ११॥

जिस प्रकार जलता हुआ दीपक समूचे घरमें प्रकाश फैलाता है, उसी प्रकार जीवकी चैतन्य शक्ति शरीरके सब अवयवोंको प्रकाशित करती है॥ ११॥

यद् यच्च कुरुते कर्म शुभं वा यदि वाशुभम्।
पूर्वदेहकृतं सर्वमवश्यमुपभुज्यते॥ १२॥

मनुष्य शुभ अथवा अशुभ जो-जो कर्म करता है, पूर्वजन्मके शरीरसे किये गये उन सब कर्मोंका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है॥ १२॥

ततस्तु क्षीयते चैव पुनश्चान्यत् प्रचीयते।
यावत् तन्मोक्षयोगस्थं धर्मं नैवावबुध्यते॥ १३॥

उपभोगसे प्राचीन कर्मका तो क्षय होता है और फिर दूसरे नये-नये कर्मोंका संचय बढ़ जाता है। जबतक मोक्षकी प्राप्तिमें सहायक धर्मका उसे ज्ञान नहीं होता, तबतक यह कर्मोंकी परम्परा नहीं टूटती है॥ १३॥

तत्र कर्म प्रवक्ष्यामि सुखी भवति येन वै।
आवर्तमानो जातीषु यथान्योन्यासु सत्तम॥ १४॥

साधुशिरोमणे! इस प्रकार भिन्न-भिन्न योनियोंमें भ्रमण करनेवाला जीव जिनके अनुष्ठानसे सुखी होता है, उन कर्मोंका वर्णन सुनो॥ १४॥

दानं व्रतं ब्रह्मचर्यं यथोक्तं ब्रह्मधारणम्।
दमः प्रशान्तता चैव भूतानां चानुकम्पनम्॥ १५॥
संयमाश्चानृशंस्यं च परस्वादानवर्जनम्।
व्यलीकानामकरणं भूतानां मनसा भुवि॥ १६॥
मातापित्रोश्च शुश्रूषा देवतातिथिपूजनम्।
गुरुपूजा घृणा शौचं नित्यमिन्द्रियसंयमः॥ १७॥
प्रवर्तनं शुभानां च तत् सतां वृत्तमुच्यते।
ततो धर्मः प्रभवति यः प्रजाः पाति शाश्वतीः॥ १८॥

दान, व्रत, ब्रह्मचर्य, शास्त्रोक्त रीतिसे वेदाध्ययन, इन्द्रिय-निग्रह, शान्ति, समस्त प्राणियोंपर दया, चित्तका संयम, कोमलता, दूसरोंके धन लेनेकी इच्छाका त्याग, संसारके प्राणियोंका मनसे भी अहित न करना, माता-पिताकी सेवा, देवता, अतिथि और गुरुओंकी पूजा, दया, पवित्रता, इन्द्रियोंको सदा काबूमें रखना तथा शुभ कर्मोंका प्रचार करना—यह सब श्रेष्ठ पुरुषोंका बर्ताव कहलाता है। इनके अनुष्ठानसे धर्म होता है, जो सदा प्रजावर्गकी रक्षा करता है॥ १५—१८॥

एवं सत्सु सदा पश्येत् तत्राप्येषा ध्रुवा स्थितिः।
आचारो धर्ममाचष्टे यस्मिञ्शान्ता व्यवस्थिताः॥ १९॥

सत्पुरुषोंमें सदा ही इस प्रकारका धार्मिक आचरण देखा जाता है। उन्हींमें धर्मकी अटल स्थिति होती है। सदाचार ही धर्मका परिचय देता है। शान्तचित्त महात्मा पुरुष सदाचारमें ही स्थित रहते हैं॥ १९॥

तेषु तत् कर्म निक्षिप्तं यः स धर्मः सनातनः।
यस्तं समभिपद्येत न स दुर्गतिमाप्नुयात्॥ २०॥

उन्हींमें पूर्वोक्त दान आदि कर्मोंकी स्थिति है। वे ही कर्म सनातन धर्मके नामसे प्रसिद्ध हैं। जो उस सनातन धर्मका आश्रय लेता है, उसे कभी दुर्गति नहीं भोगनी पड़ती है॥ २०॥

अतो नियम्यते लोकः प्रच्यवन् धर्मवर्त्मसु।
यश्च योगी च मुक्तश्च स एतेभ्यो विशिष्यते॥ २१॥

इसीलिये धर्ममार्गसे भ्रष्ट होनेवाले लोगोंका नियन्त्रण किया जाता है। जो योगी और मुक्त है, वह अन्य धर्मात्माओंकी अपेक्षा श्रेष्ठ होता है॥ २१॥

वर्तमानस्य धर्मेण शुभं यत्र यथा तथा।
संसारतारणं ह्यस्य कालेन महता भवेत्॥ २२॥

जो धर्मके अनुसार बर्ताव करता है, वह जहाँ जिस अवस्थामें हो, वहाँ उसी स्थितिमें उसको अपने कर्मानुसार उत्तम फलकी प्राप्ति होती है और वह धीरे-धीरे अधिक काल बीतनेपर संसार-सागरसे तर जाता है॥ २२॥

एवं पूर्वकृतं कर्म नित्यं जन्तुः प्रपद्यते।
सर्वं तत्कारणं येन विकृतोऽयमिहागतः॥ २३॥

इस प्रकार जीव सदा अपने पूर्वजन्मोंमें किये हुये कर्मोंका फल भोगता है। यह आत्मा निर्विकार ब्रह्म होनेपर भी विकृत होकर इस जगत्में जो जन्म धारण करता है, उसमें कर्म ही कारण है॥ २३॥

शरीरग्रहणं चास्य केन पूर्वं प्रकल्पितम्।
इत्येवं संशयो लोके तच्च वक्ष्याम्यतः परम्॥ २४॥

आत्माके शरीर धारण करनेकी प्रथा सबसे पहले किसने चलायी है, इस प्रकारका संदेह प्रायः लोगोंके मनमें उठा करता है, अतः उसीका उत्तर दे रहा हूँ॥ २४॥

शरीरमात्मनः कृत्वा सर्वलोकपितामहः।
त्रैलोक्यमसृजद् ब्रह्मा कृत्स्नं स्थावरजङ्गमम्॥ २५॥

सम्पूर्ण जगत्के पितामह ब्रह्माजीने सबसे पहले स्वयं ही शरीर धारण करके स्थावर-जंगमरूप समस्त त्रिलोकीकी (कर्मानुसार) रचना की॥ २५॥

ततः प्रधानमसृजत् प्रकृतिं स शरीरिणाम्।
यया सर्वमिदं व्याप्तं यां लोके परमां विदुः॥ २६॥

उन्होंने प्रधान नामक तत्त्वकी उत्पत्ति की, जो देहधारी जीवोंकी प्रकृति कहलाती है। जिसने इस सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त कर रखा है तथा लोकमें जिसे मूल प्रकृतिके नामसे जानते हैं॥ २६॥

इदं तत्क्षरमित्युक्तं परं त्वमृतमक्षरम्।
त्रयाणां मिथुनं सर्वमेकैकस्य पृथक् पृथक्॥ २७॥

यह प्राकृत जगत् क्षर कहलाता है, इससे भिन्न अविनाशी जीवात्माको अक्षर कहते हैं। (इनसे विलक्षण शुद्ध परब्रह्म हैं)—इन तीनोंमेंसे जो दो तत्त्व—क्षर और अक्षर हैं, वे सब प्रत्येक जीवके लिये पृथक्-पृथक् होते हैं॥ २७॥

असृजत् सर्वभूतानि पूर्वदृष्टः प्रजापतिः।
स्थावराणि च भूतानि इत्येषा पौर्विकी श्रुतिः॥ २८॥

श्रुतिमें जो सृष्टिके आरम्भमें सत्रूपसे निर्दिष्ट हुए हैं, उन प्रजापतिने समस्त स्थावर भूतों और जंगम प्राणियोंकी सृष्टि की है, यह पुरातन श्रुति है॥ २८॥

तस्य कालपरीमाणमकरोत् स पितामहः।
भूतेषु परिवृत्तिं च पुनरावृत्तिमेव च॥ २९॥

पितामहने जीवके लिये नियत समयतक शरीर धारण किये रहनेकी, भिन्न-भिन्न योनियोंमें भ्रमण करनेकी और परलोकसे लौटकर फिर इस लोकमें जन्म लेने आदिकी भी व्यवस्था की है॥ २९॥

यथात्र कश्चिन्मेधावी दृष्टात्मा पूर्वजन्मनि।
यत् प्रवक्ष्यामि तत् सर्वं यथावदुपपद्यते॥ ३०॥

जिसने पूर्वजन्ममें अपने आत्माका साक्षात्कार कर लिया हो, ऐसा कोई मेधावी अधिकारी पुरुष संसारकी अनित्यताके विषयमें जैसी बात कह सकता है, वैसी ही मैं भी कहूँगा। मेरी कही हुई सारी बातें यथार्थ और संगत होंगी॥ ३०॥

सुखदुःखे यथा सम्यगनित्ये यः प्रपश्यति।
कायं चामेध्यसङ्घातं विनाशं कर्मसंहितम्॥ ३१॥
यच्च किञ्चित्सुखं तच्च दुःखं सर्वमिति स्मरन्।
संसारसागरं घोरं तरिष्यति सुदुस्तरम्॥ ३२॥

जो मनुष्य सुख और दुःख दोनोंको अनित्य समझता है, शरीरको अपवित्र वस्तुओंका समूह समझता है और मृत्युको कर्मका फल समझता है तथा सुखके रूपमें प्रतीत होनेवाला जो कुछ भी है, वह सब दुःख-ही-दुःख है, ऐसा मानता है, वह घोर एवं दुस्तर संसार-सागरसे पार हो जायगा॥ ३१-३२॥

जातीमरणरोगैश्च समाविष्टः प्रधानवित्।
चेतनावत्सु चैतन्यं समं भूतेषु पश्यति॥ ३३॥
निर्विद्यते ततः कृत्स्नं मार्गमाणः परं पदम्।
तस्योपदेशं वक्ष्यामि याथातथ्येन सत्तम॥ ३४॥

जन्म, मृत्यु एवं रोगोंसे घिरा हुआ जो पुरुष प्रधान तत्त्व (प्रकृति)-

को जानता है और समस्त चेतन प्राणियोंमें चैतन्यको समानरूपसे व्याप्त देखता है, वह सम्पूर्ण परमपदके अनुसन्धानमें संलग्न हो जगत्‌के भोगोंसे विरक्त हो जाता है। साधुशिरोमणे! उस वैराग्यवान् पुरुषके लिये जो हितकर उपदेश है, उसका मैं यथार्थरूपसे वर्णन करूँगा॥ ३३-३४॥

शाश्वतस्याव्ययस्याथ यदस्य ज्ञानमुत्तमम्।
प्रोच्यमानं मया विप्र निबोधेदमशेषतः॥ ३५॥

उसके लिये जो सनातन अविनाशी परमात्माका उत्तम ज्ञान अभीष्ट है, उसका मैं वर्णन करता हूँ। विप्रवर! तुम सारी बातोंको ध्यान देकर सुनो॥ ३५॥

॥ इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि उत्तरगीतायां तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

चौथा अध्याय

गुरु-शिष्यके संवादमें मोक्षप्राप्तिके उपायका वर्णन

ब्राह्मण उवाच

यः स्यादेकायने लीनस्तूष्णीं किञ्चिदचिन्तयन्।
पूर्वं पूर्वं परित्यज्य स तीर्णो बन्धनाद् भवेत्॥ १॥

सिद्ध ब्राह्मणने कहा—काश्यप! जो मनुष्य (स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंमेंसे क्रमशः) पूर्व-पूर्वका अभिमान त्यागकर कुछ भी चिन्तन नहीं करता और मौनभावसे रहकर सबके एकमात्र अधिष्ठान—परब्रह्म परमात्मामें लीन रहता है, वह संसार-बन्धनसे मुक्त होता है॥ १॥

सर्वमित्रः सर्वसहः शमे रक्तो जितेन्द्रियः।
व्यपेतभयमन्युश्च आत्मवान् मुच्यते नरः॥ २॥

जो सबका मित्र, सब कुछ सहनेवाला, मनोनिग्रहमें तत्पर, जितेन्द्रिय, भय और क्रोधसे रहित तथा आत्मवान् है, वह मनुष्य बन्धनसे मुक्त हो जाता है॥ २॥

आत्मवत् सर्वभूतेषु यश्चरेन्नियतः शुचिः।
अमानी निरभीमानः सर्वतो मुक्त एव सः॥ ३॥

जो नियमपरायण और पवित्र रहकर सब प्राणियोंके प्रति अपने-जैसा बर्ताव करता है, जिसके भीतर सम्मान पानेकी इच्छा नहीं है तथा जो अभिमानसे दूर रहता है, वह सर्वथा मुक्त ही है॥ ३॥

जीवितं मरणं चोभे सुखदुःखे तथैव च।
लाभालाभे प्रियद्वेष्ये यः समः स च मुच्यते॥ ४॥

जो जीवन-मरण, सुख-दुःख, लाभ-हानि तथा प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्वोंको समभावसे देखता है, वह मुक्त हो जाता है॥ ४॥

न कस्यचित् स्पृहयते नावजानाति किञ्चन।
निर्द्वन्द्वो वीतरागात्मा सर्वथा मुक्त एव सः॥ ५॥

जो किसीके द्रव्यका लोभ नहीं रखता, किसीकी अवहेलना नहीं करता, जिसके मनपर द्वन्द्वोंका प्रभाव नहीं पड़ता और जिसके चित्तकी आसक्ति दूर हो गयी है, वह सर्वथा मुक्त ही है॥ ५॥

अनमित्रश्च निर्बन्धुरनपत्यश्च यः क्वचित्।
त्यक्तधर्मार्थकामश्च निराकाङ्क्षी च मुच्यते॥ ६॥

जो किसीको अपना मित्र, बन्धु या सन्तान नहीं मानता, जिसने सकाम धर्म, अर्थ और कामका त्याग कर दिया है तथा जो सब प्रकारकी आकांक्षाओंसे रहित है, वह मुक्त हो जाता है॥ ६॥

नैव धर्मी न चाधर्मी पूर्वोपचितहायकः।
धातुक्षयप्रशान्तात्मा निर्द्वन्द्वः स विमुच्यते॥ ७॥

जिसकी न धर्ममें आसक्ति है न अधर्ममें, जो पूर्वसञ्चित कर्मोंको त्याग चुका है, वासनाओंका क्षय हो जानेसे जिसका चित्त शान्त हो गया है तथा जो सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे रहित है, वह मुक्त हो जाता है॥ ७॥

अकर्मवान् विकाङ्क्षश्च पश्येज्जगदशाश्वतम्।
अश्वत्थसदृशं नित्यं जन्ममृत्युजरायुतम्॥ ८॥
वैराग्यबुद्धिः सततमात्मदोषव्यपेक्षकः।
आत्मबन्धविनिर्मोक्षं स करोत्यचिरादिव॥ ९॥

जो किसी भी कर्मका कर्ता नहीं बनता, जिसके मनमें कोई कामना नहीं है, जो इस जगत्को अश्वत्थके समान अनित्य—कलतक न टिक सकनेवाला समझता है तथा जो सदा इसे जन्म, मृत्यु और जरासे युक्त जानता है, जिसकी बुद्धि वैराग्यमें लगी रहती है और जो निरन्तर अपने दोषोंपर दृष्टि रखता है, वह शीघ्र ही अपने बन्धनका नाश कर देता है॥ ८-९॥

अगन्धमरसस्पर्शमशब्दमपरिग्रहम् ।
अरूपमनभिज्ञेयं दृष्ट्वात्मानं विमुच्यते॥ १०॥

जो आत्माको गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, परिग्रह, रूपसे रहित तथा अज्ञेय मानता है, वह मुक्त हो जाता है॥ १०॥

पञ्चभूतगुणैर्हीनममूर्तिमदहेतुकम् ।
अगुणं गुणभोक्तारं यः पश्यति स मुच्यते॥ ११॥

जिसकी दृष्टिमें आत्मा पाञ्चभौतिक गुणोंसे हीन, निराकार, कारण-रहित तथा निर्गुण होते हुए भी (मायाके सम्बन्धसे) गुणोंका भोक्ता है, वह मुक्त हो जाता है॥ ११॥

विहाय सर्वसङ्कल्पान् बुद्ध्या शारीरमानसान्।
शनैर्निर्वाणमाप्नोति निरिन्धन इवानलः॥ १२॥

जो बुद्धिसे विचार करके शारीरिक और मानसिक सब संकल्पोंका त्याग कर देता है, वह बिना ईंधनकी आगके समान धीरे-धीरे शान्तिको प्राप्त हो जाता है॥ १२॥

सर्वसंस्कारनिर्मुक्तो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः।
तपसा इन्द्रियग्रामं यश्चरेन्मुक्त एव सः॥ १३॥

जो सब प्रकारके संस्कारोंसे रहित, द्वन्द्व और परिग्रहसे रहित हो गया है तथा जो तपस्याके द्वारा इन्द्रिय-समूहको अपने वशमें करके (अनासक्त) भावसे विचरता है, वह मुक्त ही है॥ १३॥

विमुक्तः सर्वसंस्कारैस्ततो ब्रह्म सनातनम्।
परमाप्नोति संशान्तमचलं नित्यमक्षरम्॥ १४॥

जो सब प्रकारके संस्कारोंसे मुक्त होता है, वह मनुष्य शान्त, अचल, नित्य, अविनाशी एवं सनातन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है॥ १४॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि योगशास्त्रमनुत्तमम्।
युञ्जन्तः सिद्धमात्मानं यथा पश्यन्ति योगिनः॥ १५॥

अब मैं उस परम उत्तम योगशास्त्रका वर्णन करूँगा, जिसके अनुसार योग-साधन करनेवाले योगी पुरुष अपने आत्माका साक्षात्कार कर लेते हैं॥ १५॥

तस्योपदेशं वक्ष्यामि यथावत् तन्निबोध मे।
यैर्द्वारैश्चारयन्नित्यं पश्यत्यात्मानमात्मनि॥ १६॥

मैं उसका यथावत् उपदेश करता हूँ। मनोनिग्रहके जिन उपायोंद्वारा चित्तको इस शरीरके भीतर ही वशीभूत एवं अन्तर्मुख करके योगी अपने नित्य आत्माका दर्शन करता है, उन्हें मुझसे श्रवण करो॥ १६॥

इन्द्रियाणि तु संहृत्य मन आत्मनि धारयेत्।
तीव्रं तप्त्वा तपः पूर्वं मोक्षयोगं समाचरेत्॥ १७॥

इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे हटाकर मनमें और मनको आत्मामें स्थापित करे। इस प्रकार पहले तीव्र तपस्या करके फिर मोक्षोपयोगी उपायका अवलम्बन करना चाहिये॥ १७॥

तपस्वी सततं युक्तो योगशास्त्रमथाचरेत्।
मनीषी मनसा विप्रः पश्यन्नात्मानमात्मनि॥ १८॥

मनीषी ब्राह्मणको चाहिये कि वह सदा तपस्यामें प्रवृत्त एवं यत्नशील होकर योगशास्त्रोक्त उपायका अनुष्ठान करे। इससे वह मनके द्वारा अन्तःकरणमें आत्माका साक्षात्कार करता है॥ १८॥

स चेच्छक्नोत्ययं साधुर्योक्तुमात्मानमात्मनि।
तत एकान्तशीलः स पश्यत्यात्मानमात्मनि॥ १९॥

एकान्तमें रहनेवाला साधक पुरुष यदि अपने मनको आत्मामें लगाये रखनेमें सफल हो जाता है तो वह अवश्य ही अपनेमें आत्माका दर्शन करता है॥ १९॥

संयतः सततं युक्त आत्मवान् विजितेन्द्रियः।
तथा य आत्मनात्मानं सम्प्रयुक्तः प्रपश्यति॥ २०॥

जो साधक सदा संयमपरायण, योगयुक्त, मनको वशमें करनेवाला और जितेन्द्रिय है, वही आत्मासे प्रेरित होकर बुद्धिके द्वारा उसका साक्षात्कार कर सकता है॥ २०॥

यथा हि पुरुषः स्वप्ने दृष्ट्वा पश्यत्यसाविति।
तथा रूपमिवात्मानं साधुयुक्तः प्रपश्यति॥ २१॥

जैसे मनुष्य सपनेमें किसी अपरिचित पुरुषको देखकर जब पुनः उसे जाग्रत् अवस्थामें देखता है, तब तुरंत पहचान लेता है कि 'यह वही है।' उसी प्रकार साधनपरायण योगी समाधि-अवस्थामें आत्माको जिस रूपमें देखता है, उसी रूपमें उसके बाद भी देखता रहता है॥ २१॥

इषीकां च यथा मुञ्जात् कश्चिन्निष्कृष्य दर्शयेत्।
योगी निष्कृष्य चात्मानं तथा पश्यति देहतः॥ २२॥

जैसे कोई मनुष्य मूँजसे सींकको अलग करके दिखा दे, वैसे ही योगी पुरुष आत्माको इस देहसे पृथक् करके देखता है॥ २२॥

मुञ्जं शरीरमित्याहुरिषीकामात्मनि श्रिताम्।
एतन्निदर्शनं प्रोक्तं योगविद्धिरनुत्तमम्॥ २३॥

यहाँ शरीरको मूँज कहा गया है और आत्माको सींका योग-वेत्ताओंने देह और आत्माके पार्थक्यको समझनेके लिये यह बहुत उत्तम दृष्टान्त दिया है॥ २३॥

यदा हि युक्तमात्मानं सम्यक् पश्यति देहभृत्।
न तस्येहेश्वरः कश्चित् त्रैलोक्यस्यापि यः प्रभुः॥ २४॥

देहधारी जीव जब योगके द्वारा आत्माका यथार्थरूपसे दर्शन कर लेता है, उस समय उसके ऊपर त्रिभुवनके अधीश्वरका भी आधिपत्य नहीं रहता॥ २४॥

अन्यान्याश्चैव तनवो यथेष्टं प्रतिपद्यते।
विनिवृत्य जरां मृत्युं न शोचति न हृष्यति॥ २५॥

वह योगी अपनी इच्छाके अनुसार विभिन्न प्रकारके शरीर धारण कर सकता है, बुढ़ापा और मृत्युको भी भगा देता है, वह न कभी शोक करता है न हर्ष॥ २५॥

देवानामपि देवत्वं युक्तः कारयते वशी।
ब्रह्म चाव्ययमाप्नोति हित्वा देहमशाश्वतम्॥ २६॥

अपनी इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला योगी पुरुष देवताओंका भी देवता हो सकता है। वह इस अनित्य शरीरका त्याग करके अविनाशी ब्रह्मको प्राप्त होता है॥ २६॥

विनश्यत्सु च भूतेषु न भयं तस्य जायते।
क्लिश्यमानेषु भूतेषु न स क्लिश्यति केनचित्॥ २७॥

सम्पूर्ण प्राणियोंका विनाश होनेपर भी उसे भय नहीं होता। सबके क्लेश उठानेपर भी उसको किसीसे क्लेश नहीं पहुँचता॥ २७॥

दुःखशोकमयैर्घोरैः सङ्गस्नेहसमुद्भवैः।
न विचाल्यति युक्तात्मा निःस्पृहः शान्तमानसः॥ २८॥

शान्तचित्त एवं निःस्पृह योगी आसक्ति और स्नेहसे प्राप्त होनेवाले भयंकर दुःख-शोक तथा भयसे विचलित नहीं होता॥ २८॥

नैनं शस्त्राणि विध्यन्ते न मृत्युश्चास्य विद्यते।
नातः सुखतरं किञ्चिल्लोके क्वचन दृश्यते॥ २९॥

उसे शस्त्र नहीं बींध सकते, मृत्यु उसके पास नहीं पहुँच पाती, संसारमें उससे बढ़कर सुखी कहीं कोई नहीं दिखायी देता॥ २९॥

सम्यग्युक्त्वा स आत्मानमात्मन्येव प्रतिष्ठते।
विनिवृत्तजरादुःखः सुखं स्वपिति चापि सः॥ ३०॥

वह मनको आत्मामें लीन करके उसीमें स्थित हो जाता है तथा बुढ़ापाके दुःखोंसे छुटकारा पाकर सुखसे सोता—अक्षय आनन्दका अनुभव करता है॥ ३०॥

देहान्यथेष्टमभ्येति हित्वेमां मानुषीं तनुम्।
निर्वेदस्तु न कर्तव्यो भुञ्जानेन कथञ्चन॥ ३१॥

वह इस मानव-शरीरका त्याग करके इच्छानुसार दूसरे बहुत-से शरीर धारण करता है। योगजनित ऐश्वर्यका उपभोग करनेवाले योगीको योगसे किसी तरह विरक्त नहीं होना चाहिये॥ ३१॥

सम्यग्युक्तो यदात्मानमात्मन्येव प्रपश्यति।
तदैव न स्पृहयते साक्षादपि शतक्रतोः॥ ३२॥

अच्छी तरह योगका अभ्यास करके जब योगी अपनेमें ही आत्माका साक्षात्कार करने लगता है, उस समय वह साक्षात् इन्द्रके पदको भी पानेकी इच्छा नहीं करता है॥ ३२॥

योगमेकान्तशीलस्तु यथा विन्दति तच्छृणु।
दृष्टपूर्वां दिशं चिन्त्य यस्मिन् सनिवसेत् पुरे॥ ३३॥
पुरस्याभ्यन्तरे तस्य मनः स्थाप्यं न बाह्यतः।

एकान्तमें ध्यान करनेवाले पुरुषको जिस प्रकार योगकी प्राप्ति होती है, वह सुनो—जो उपदेश पहले श्रुतिमें देखा गया है, उसका चिन्तन करके जिस भागमें जीवका निवास माना गया है, उसीमें मनको भी स्थापित करे। उसके बाहर कदापि न जाने दे॥ ३३ $\frac{१}{२}$ ॥

पुरस्याभ्यन्तरे तिष्ठन् यस्मिन्नावसथे वसेत्।
तस्मिन्नावसथे धार्यं सबाह्याभ्यन्तरं मनः॥ ३४॥

शरीरके भीतर रहते हुए वह आत्मा जिस आश्रयमें स्थित होता है, उसीमें बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंसहित मनको धारण करे॥ ३४॥

प्रचिन्त्यावसथे कृत्स्नं यस्मिन् काले स पश्यति।
तस्मिन् काले मनश्चास्य न च किञ्चन बाह्यतः॥ ३५॥

मूलाधार आदि किसी आश्रयमें चिन्तन करके जब वह सर्वस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार करता है, उस समय उसका मन प्रत्यक्स्वरूप आत्मासे भिन्न कोई 'बाह्य' वस्तु नहीं रह जाता॥ ३५॥

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं निर्घोषं निर्जने वने।
कायमभ्यन्तरं कृत्स्नमेकाग्रः परिचिन्तयेत्॥ ३६॥

निर्जन वनमें इन्द्रिय-समुदायको वशमें करके एकाग्रचित्त हो शब्दशून्य अपने शरीरके बाहर और भीतर प्रत्येक अंगमें परिपूर्ण परब्रह्म परमात्माका चिन्तन करे॥ ३६॥

दन्तांस्तालु च जिह्वां च गलं ग्रीवां तथैव च।
हृदयं चिन्तयेच्चापि तथा हृदयबन्धनम्॥ ३७॥

दन्त, तालु, जिह्वा, गला, ग्रीवा, हृदय तथा हृदय-बन्धन (नाड़ी-मार्ग)-को भी परमात्मरूपसे चिन्तन करे॥ ३७॥

इत्युक्तः स मया शिष्यो मेधावी मधुसूदन।
पप्रच्छ पुनरेवेमं मोक्षधर्मं सुदुर्वचम्॥ ३८॥

मधुसूदन! मेरे ऐसा कहनेपर उस मेधावी शिष्यने पुनः जिसका निरूपण करना अत्यन्त कठिन है, उस मोक्षधर्मके विषयमें पूछा— ॥ ३८॥

भुक्तं भुक्तमिदं कोष्ठे कथमन्नं विपच्यते।
कथं रसत्वं व्रजति शोणितत्वं कथं पुनः॥ ३९॥

यह बारम्बार खाया हुआ अन्न उदरमें पहुँचकर कैसे पचता है? किस तरह उसका रस बनता है और किस प्रकार वह रक्तके रूपमें परिणत हो जाता है?॥ ३९॥

तथा मांसं च मेदश्च स्नाय्वस्थीनि च योषिति।
कथमेतानि सर्वाणि शरीराणि शरीरिणाम्॥ ४०॥
वर्धते वर्धमानस्य वर्धते च कथं बलम्।
निरोधानां निर्गमनं मलानां च पृथक् पृथक्॥ ४१॥

स्त्री-शरीरमें मांस, मेदा, स्नायु और हड्डियाँ कैसे होती हैं? देहधारियोंके ये समस्त शरीर कैसे बढ़ते हैं? बढ़ते हुए शरीरका बल कैसे बढ़ता है? जिनका सब ओरसे अवरोध है, उन मलोंका पृथक्-पृथक् निःसारण कैसे होता है?॥ ४०-४१॥

कुतो वायं प्रश्वसिति उच्छ्वसित्यपि वा पुनः।
कं च देशमधिष्ठाय तिष्ठत्यात्मायमात्मनि॥ ४२॥

यह जीव कैसे श्वास लेता, कैसे उच्छ्वास खींचता और किस स्थानमें रहकर इस शरीरमें सदा विद्यमान रहता है?॥ ४२॥

जीवः कथं वहति च चेष्टमानः कलेवरम्।
किंवर्णं कीदृशं चैव निवेशयति वै पुनः॥ ४३॥
याथातथ्येन भगवन् वक्तुमर्हसि मेऽनघ।

चेष्टाशील जीवात्मा इस शरीरका भार कैसे वहन करता है?

फिर कैसे और किस रंगके शरीरको धारण करता है। निष्पाप भगवन्! यह सब मुझे यथार्थरूपसे बताइये॥ ४३ १/२ ॥

इति सम्परिपृष्टोऽहं तेन विप्रेण माधव॥ ४४॥
प्रत्युब्रुवं महाबाहो यथाश्रुतमरिन्दम।

शत्रुदमन महाबाहु माधव! उस ब्राह्मणके इस प्रकार पूछनेपर मैंने जैसा सुना था, वैसा ही उसे बताया॥ ४४ १/२ ॥

यथा स्वकोष्ठे प्रक्षिप्य भाण्डं भाण्डमना भवेत्॥ ४५॥
तथा स्वकाये प्रक्षिप्य मनो द्वारैरनिश्चलैः।
आत्मानं तत्र मार्गेत प्रमादं परिवर्जयेत्॥ ४६॥

जैसे घरका सामान अपने कोटेमें डालकर भी मनुष्य उन्हींके चिन्तनमें मन लगाये रहता है, उसी प्रकार इन्द्रियरूपी चञ्चल द्वारोंसे विचरनेवाले मनको अपनी कायामें ही स्थापित करके वहीं आत्माका अनुसन्धान करे और प्रमादको त्याग दे॥ ४५-४६॥

एवं सततमुद्युक्तः प्रीतात्मा नचिरादिव।
आसादयति तद् ब्रह्म यद् दृष्ट्वा स्यात् प्रधानवित्॥ ४७॥

इस प्रकार सदा ध्यानके लिये प्रयत्न करनेवाले पुरुषका चित्त शीघ्र ही प्रसन्न हो जाता है और वह उस परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है, जिसका साक्षात्कार करके मनुष्य प्रकृति एवं उसके विकारोंको स्वतः जान लेता है॥ ४७॥

न त्वसौ चक्षुषा ग्राह्यो न च सर्वैरपीन्द्रियैः।
मनसैव प्रदीपेन महानात्मा प्रदृश्यते॥ ४८॥

उस परमात्माका इन चर्मचक्षुओंसे दर्शन नहीं हो सकता; सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे भी उसको ग्रहण नहीं किया जा सकता; केवल बुद्धिरूपी दीपककी सहायतासे ही उस महान् आत्माका दर्शन होता है॥ ४८॥

सर्वतः पाणिपादान्तः सर्वतोऽक्षिशिरोमुखः।
सर्वतः श्रुतिमाँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ ४९॥

वह सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, मुख और सिरवाला तथा सब ओर कानवाला है; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है॥ ४९॥

जीवो निष्क्रान्तमात्मानं शरीरात् सम्प्रपश्यति।
स तमुत्सृज्य देहे स्वं धारयन् ब्रह्म केवलम्॥ ५०॥
आत्मानमालोकयति मनसा प्रहसन्निव।
तदेवमाश्रयं कृत्वा मोक्षं याति ततो मयि॥ ५१॥

तत्त्वज्ञ जीव अपने-आपको शरीरसे पृथक् देखता है। वह शरीरके भीतर रहकर भी उसका त्याग करके—उसकी पृथक्ताका अनुभव करके अपने स्वरूपभूत केवल परब्रह्म परमात्माका चिन्तन करता हुआ बुद्धिके सहयोगसे आत्माका साक्षात्कार करता है। उस समय वह यह सोचकर हँसता-सा रहता है कि अहो! मृगतृष्णामें प्रतीत होनेवाले जलकी भाँति मुझमें ही प्रतीत होनेवाले इस संसारने मुझे अबतक व्यर्थ ही भ्रममें डाल रखा था। जो इस प्रकार परमात्माका दर्शन करता है, वह उसीका आश्रय लेकर अन्तमें मुझमें ही मुक्त हो जाता है (अर्थात् अपने-आपमें ही परमात्माका अनुभव करने लगता है)॥ ५०-५१॥

इदं सर्वरहस्यं ते मया प्रोक्तं द्विजोत्तम।
आपृच्छे साधयिष्यामि गच्छ विप्र यथासुखम्॥ ५२॥

द्विजश्रेष्ठ! यह सारा रहस्य मैंने तुम्हें बता दिया। अब मैं जानेकी अनुमति चाहता हूँ। विप्रवर! तुम भी सुखपूर्वक अपने स्थानको लौट जाओ॥ ५२॥

इत्युक्तः स तदा कृष्ण मया शिष्यो महातपाः।
अगच्छत यथाकामं ब्राह्मणः संशितव्रतः॥ ५३॥

श्रीकृष्ण! मेरे इस प्रकार कहनेपर वह कठोर व्रतका पालन

करनेवाला मेरा महातपस्वी शिष्य ब्राह्मण काश्यप इच्छानुसार अपने अभीष्ट स्थानको चला गया॥ ५३॥

वासुदेव उवाच

इत्युक्त्वा स तदा वाक्यं मां पार्थ द्विजसत्तमः।
मोक्षधर्माश्रितः सम्यक् तत्रैवान्तरधीयत॥ ५४॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—अर्जुन! मोक्षधर्मका आश्रय लेनेवाले वे सिद्धमहात्मा श्रेष्ठ ब्राह्मण मुझसे यह प्रसंग सुनाकर वहीं अन्तर्धान हो गये॥ ५४॥

कच्चिदेतत् त्वया पार्थ श्रुतमेकाग्रचेतसा।
तदापि हि रथस्थस्त्वं श्रुतवानेतदेव हि॥ ५५॥

पार्थ! क्या तुमने मेरे बताये हुए इस उपदेशको एकाग्रचित्त होकर सुना है? उस युद्धके समय भी तुमने रथपर बैठे-बैठे इसी तत्त्वको सुना था॥ ५५॥

नैतत् पार्थ सुविज्ञेयं व्यामिश्रेणेति मे मतिः।
नरेणाकृतसंज्ञेन विशुद्धेनान्तरात्मना॥ ५६॥

कुन्तीनन्दन! मेरा तो ऐसा विश्वास है कि जिसका चित्त व्यग्र है, जिसे ज्ञानका उपदेश नहीं प्राप्त है, वह मनुष्य इस विषयको सुगमतापूर्वक नहीं समझ सकता। जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, वही इसे जान सकता है॥ ५६॥

सुरहस्यमिदं प्रोक्तं देवानां भरतर्षभ।
कच्चिन्नेदं श्रुतं पार्थ मनुष्येणेह कर्हिचित्॥ ५७॥

भरतश्रेष्ठ! यह मैंने देवताओंका परम गोपनीय रहस्य बताया है। पार्थ! इस जगत्‌में कभी किसी भी मनुष्यने इस रहस्यका श्रवण नहीं किया है॥ ५७॥

न ह्येतच्छ्रोतुमर्होऽन्यो मनुष्यस्त्वामृतेऽनघ।
नैतदद्य सुविज्ञेयं व्यामिश्रेणान्तरात्मना॥ ५८॥

अनघ! तुम्हारे सिवा दूसरा कोई मनुष्य इसे सुननेका अधिकारी भी नहीं है। जिसका चित्त दुविधामें पड़ा हुआ है, वह इस समय इसे अच्छी तरह नहीं समझ सकता॥ ५८॥

क्रियावद्भिर्हि कौन्तेय देवलोकः समावृतः।
न चैतदिष्टं देवानां मर्त्यरूपनिवर्तनम्॥ ५९॥

कुन्तीकुमार! क्रियावान् पुरुषोंसे देवलोक भरा पड़ा है। देवताओंको यह अभीष्ट नहीं है कि मनुष्यके मर्त्यरूपकी निवृत्ति हो॥ ५९॥

परा हि सा गतिः पार्थ यत् तद् ब्रह्म सनातनम्।
यत्रामृतत्वं प्राप्नोति त्यक्त्वा देहं सदा सुखी॥ ६०॥

पार्थ! जो सनातन ब्रह्म है, वही जीवकी परमगति है। ज्ञानी मनुष्य देहको त्यागकर उस ब्रह्ममें ही अमृतत्वको प्राप्त होता है और सदाके लिये सुखी हो जाता है॥ ६०॥

इमं धर्मं समास्थाय येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ६१॥

इस आत्मदर्शनरूप धर्मका आश्रय लेकर स्त्री, वैश्य और शूद्र तथा जो पापयोनिके मनुष्य हैं, वे भी परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं॥ ६१॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पार्थ क्षत्रिया वा बहुश्रुताः।
स्वधर्मरतयो नित्यं ब्रह्मलोकपरायणाः॥ ६२॥

पार्थ! फिर जो अपने धर्ममें प्रेम रखते और सदा ब्रह्मलोककी प्राप्तिके साधनमें लगे रहते हैं, उन बहुश्रुत ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी तो बात ही क्या है॥ ६२॥

हेतुमच्चैतदुद्दिष्टमुपायाश्चास्य साधने।
सिद्धिं फलं च मोक्षश्च दुःखस्य च विनिर्णयः॥ ६३॥

इस प्रकार मैंने तुम्हें मोक्षधर्मका युक्तियुक्त उपदेश किया है।

उसके साधनके उपाय भी बतलाये हैं और सिद्धि, फल, मोक्ष तथा दुःखके स्वरूपका भी निर्णय किया है॥ ६३॥

नातः परं सुखं त्वन्यत् किञ्चित् स्याद् भरतर्षभ।
बुद्धिमाञ्श्रद्दधानश्च पराक्रान्तश्च पाण्डव॥ ६४॥
यः परित्यज्यते मर्त्यो लोकसारमसारवत्।
एतैरुपायैः स क्षिप्रं परां गतिमवाप्नुते॥ ६५॥

भरतश्रेष्ठ! इससे बढ़कर दूसरा कोई सुखदायक धर्म नहीं है। पाण्डुनन्दन! जो कोई बुद्धिमान्, श्रद्धालु और पराक्रमी मनुष्य लौकिक सुखको सारहीन समझकर उसे त्याग देता है, वह उपर्युक्त इन उपायोंके द्वारा बहुत शीघ्र परम गतिको प्राप्त कर लेता है॥ ६४-६५॥

एतावदेव वक्तव्यं नातो भूयोऽस्ति किञ्चन।
षण्मासान् नित्ययुक्तस्य योगः पार्थ प्रवर्तते॥ ६६॥

पार्थ! इतना ही कहनेयोग्य विषय है। इससे बढ़कर कुछ भी नहीं है। जो छः महीनेतक निरन्तर योगका अभ्यास करता है, उसका योग अवश्य सिद्ध हो जाता है॥ ६६॥

॥ इति श्रीमहाभारते आश्वमेधिके पर्वणि उत्तरगीतायां चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

॥ उत्तरगीता सम्पूर्णा॥

रामगीता–(१)

[पुराणेतिहास ग्रन्थोंमें कई रामगीताएँ पायी जाती हैं। प्रत्येकमें वक्ता भगवान् श्रीराम ही हैं, परंतु श्रोता तथा प्रतिपाद्य-विषय भिन्न-भिन्न है। अध्यात्मरामायणके उत्तरकाण्डके पंचम सर्गके रूपमें एक रामगीता प्राप्त होती है। सीता-वनवास प्रसंगके अनन्तर एक बार जब लक्ष्मणजीने भगवान् श्रीरामचन्द्रजीसे अज्ञानरूपी सागरको पार करानेवाले ज्ञानोपदेश देनेकी प्रार्थना की, तब श्रीरघुनाथजीने उनको जो उपदेश दिया, वही 'रामगीता' कहलाती है। इसमें युक्तियुक्त विवेचनद्वारा आत्मज्ञानको ही विशुद्ध ज्ञान बताकर समस्त इन्द्रियोंको विषयोंसे निवृत्त करके आत्मानुसन्धानहेतु प्रेरित किया गया है। विवेच्य-सामग्री गूढ़ वेदान्तिक होते हुए भी सहज तथा सारगर्भित है। इस रामगीताको यहाँ सानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है—]

श्रीमहादेव उवाच

कदाचिदेकान्त उपस्थितं प्रभुं
रामं रमालालितपादपङ्कजम्।
सौमित्रिरासादितशुद्धभावनः
प्रणम्य भक्त्या विनयान्वितोऽब्रवीत्॥ १॥

किसी दिन भगवान् राम, जिनके चरणकमलोंकी सेवा साक्षात् श्रीलक्ष्मीजी करती हैं, एकान्तमें बैठे हुए थे। उस समय शुद्ध विचारवाले लक्ष्मणजीने (उनके पास जाकर) उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणामकर अति विनीतभावसे कहा— ॥ १ ॥

त्वं शुद्धबोधोऽसि हि सर्वदेहिना-
मात्मास्यधीशोऽसि निराकृतिः स्वयम्।

भगवान् श्रीरामद्वारा लक्ष्मणजीको उपदेश

प्रतीयसे ज्ञानदृशां महामते
पादाब्जभृङ्गाहितसङ्गसङ्गिनाम् ॥ २ ॥

हे महामते! आप शुद्धज्ञानस्वरूप, समस्त देहधारियोंके आत्मा, सबके स्वामी और स्वरूपसे निराकार हैं। जो आपके चरणकमलोंके लिये भ्रमररूप हैं, उन परमभागवतोंके सहवासके रसिकोंको ही आप ज्ञानदृष्टिसे दिखलायी देते हैं॥ २॥

अहं प्रपन्नोऽस्मि पदाम्बुजं प्रभो
भवापवर्गं तव योगिभावितम्।
यथाञ्जसाज्ञानमपारवारिधिं
सुखं तरिष्यामि तथानुशाधि माम्॥ ३॥

हे प्रभो! योगिजन जिनका निरन्तर चिन्तन करते हैं, संसारसे छुड़ानेवाले उन आपके चरणकमलोंकी मैं शरण हूँ, आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये, जिससे मैं सुगमतासे ही अज्ञानरूपी अपार समुद्रके पार हो जाऊँ॥ ३॥

श्रुत्वाथ सौमित्रिवचोऽखिलं तदा
प्राह प्रपन्नार्तिहरः प्रसन्नधीः।
विज्ञानमज्ञानतमःप्रशान्तये
श्रुतिप्रपन्नं क्षितिपालभूषणः॥ ४॥

श्रीलक्ष्मणजीके ये सब वचन सुनकर शरणागतवत्सल भूपालशिरोमणि भगवान् राम सुननेके लिये उत्सुक हुए लक्ष्मणको उनके अज्ञानान्धकारका नाश करनेके लिये प्रसन्नचित्तसे ज्ञानोपदेश करने लगे॥ ४॥

आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः
कृत्वा समासादितशुद्धमानसः।
समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनः
समाश्रयेत्सद्गुरुमात्मलब्धये ॥ ५॥

[भगवान् श्रीराम बोले—] सबसे पहले अपने-अपने वर्ण और

आश्रमके लिये (शास्त्रोंमें) बतलायी हुई क्रियाओंका यथावत् पालनकर, चित्त शुद्ध हो जानेपर उन कर्मोंको छोड़ दे और शम-दमादि साधनोंसे सम्पन्न हो आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सद्गुरुकी शरणमें जाय॥ ५॥

क्रिया शरीरोद्भवहेतुरादृता
प्रियाप्रियौ तौ भवतः सुरागिणः।
धर्मेतरौ तत्र पुनः शरीरकं
पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः॥ ६॥

कर्म देहान्तरकी प्राप्तिके लिये ही स्वीकार किये गये हैं; क्योंकि उनमें प्रेम रखनेवाले पुरुषोंसे इष्ट-अनिष्ट दोनों ही प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं। उनसे धर्म और अधर्म दोनोंहीकी प्राप्ति होती है और उनके कारण शरीर प्राप्त होता है, जिससे फिर कर्म होते हैं। इसी प्रकार यह संसार चक्रके समान चलता रहता है॥ ६॥

अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं
तद्ज्ञानमेवात्र विधौ विधीयते।
विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी
न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम्॥ ७॥

संसारका मूल कारण अज्ञान ही है और इन (शास्त्रीय) विधिवाक्योंमें उस (अज्ञान)-का नाश ही (संसारसे मुक्त होनेका) उपाय बतलाया गया है! अज्ञानका नाश करनेमें ज्ञान ही समर्थ है, (सकाम) कर्म नहीं, क्योंकि उस (अज्ञान)-से उत्पन्न होनेवाला कर्म उसका विरोधी नहीं हो सकता*॥ ७॥

नाज्ञानहानिर्न च रागसङ्क्षयो
भवेत्ततः कर्म सदोषमुद्भवेत्।

* 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य' अर्थात् जो कार्य जिस सम्बन्धसे उत्पन्न होता है, वह उस सम्बन्धके नाशका कारण नहीं हो सकता। इसी न्यायके अनुसार अज्ञानसे उत्पन्न कर्मके द्वारा अज्ञान नष्ट नहीं हो सकता।

ततः पुनः संसृतिरप्यवारिता
तस्माद्बुधो ज्ञानविचारवान् भवेत्॥ ८॥

सकाम कर्मद्वारा अज्ञानका नाश अथवा रागका क्षय नहीं हो सकता, बल्कि उससे दूसरे सदोष कर्मकी उत्पत्ति होती है। उससे पुनः संसारकी प्राप्ति होना अनिवार्य है। इसलिये बुद्धिमान्‌को ज्ञान-विचारमें ही तत्पर होना चाहिये॥ ८॥

ननु क्रिया वेदमुखेन चोदिता
तथैव विद्या पुरुषार्थसाधनम्।
कर्तव्यता प्राणभृतः प्रचोदिता
विद्यासहायत्वमुपैति सा पुनः॥ ९॥
कर्माकृतौ दोषमपि श्रुतिर्जगौ
तस्मात्सदा कार्यमिदं मुमुक्षुणा।
ननु स्वतन्त्रा ध्रुवकार्यकारिणी
विद्या न किञ्चिन्मनसाप्यपेक्षते॥ १०॥
न सत्यकार्योऽपि हि यद्वदध्वरः
प्रकाङ्क्षतेऽन्यानपि कारकादिकान्।
तथैव विद्या विधितः प्रकाशितै-
र्विशिष्यते कर्मभिरेव मुक्तये॥ ११॥

कुछ वितर्कवादी ऐसा कहते हैं कि जिस प्रकार वेदके कथनानुसार ज्ञान पुरुषार्थका साधक है, वैसे ही कर्म वेदविहित हैं; और प्राणियोंके लिये कर्मोंकी अवश्य-कर्तव्यताका विधान भी है, इसलिये वे कर्म ज्ञानके सहकारी हो जाते हैं। साथ ही श्रुतिने कर्म न करनेमें दोष भी बतलाया है; इसलिये मुमुक्षुको उन्हें सर्वदा करते रहना चाहिये, और यदि कोई कहे कि ज्ञान स्वतन्त्र है एवं निश्चय ही अपना फल देनेवाला है, उसे मनसे भी किसी औरकी सहायताकी आवश्यकता

नहीं है तो उसका यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि जिस प्रकार (वेदोक्त) यज्ञ सत्य कर्म होनेपर भी अन्य कारकादिकी अपेक्षा करता ही है, उसी प्रकार विधिसे प्रकाशित कर्मोंके द्वारा ही ज्ञान मुक्तिका साधक हो सकता है। (अतः कर्मोंका त्याग उचित नहीं है)॥ ९—११॥

केचिद्वदन्तीति वितर्कवादिन-
स्तदप्यसद्दृष्टविरोधकारणात् ।
देहाभिमानादभिवर्धते क्रिया
विद्या गताहङ्कृतितः प्रसिद्ध्यति॥ १२॥

(सिद्धान्ती-) ऐसा जो कोई कुतर्की कहते हैं, उनके कथनमें प्रत्यक्ष विरोध होनेके कारण वह ठीक नहीं है; क्योंकि कर्म देहाभिमानसे होता है और ज्ञान अहंकारके नाश होनेपर सिद्ध होता है॥ १२॥

विशुद्धविज्ञानविरोचनाञ्चिता
विद्यात्मवृत्तिश्चरमेति भण्यते।
उदेति कर्माखिलकारकादिभि-
र्निहन्ति विद्याखिलकारकादिकम्॥ १३॥

(वेदान्तवाक्योंका विचार करते-करते) विशुद्ध विज्ञानके प्रकाशसे उद्भासित जो चरम आत्मवृत्ति होती है, उसीको विद्या (आत्मज्ञान) कहते हैं। इसके अतिरिक्त कर्म सम्पूर्ण कारकादिकी सहायतासे होता है, किन्तु विद्या समस्त कारकादिका (अनित्यत्वकी भावनाद्वारा) नाश कर देती है॥ १३॥

तस्मात्त्यजेत्कार्यमशेषतः सुधी-
र्विद्याविरोधान्न समुच्चयो भवेत्।
आत्मानुसन्धानपरायणः सदा
निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिगोचरः ॥ १४॥

इसलिये समस्त इन्द्रियोंके विषयोंसे निवृत्त होकर निरन्तर

आत्मानुसन्धानमें लगा हुआ बुद्धिमान् पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंका सर्वथा त्याग कर दे; क्योंकि विद्याका विरोधी होनेके कारण कर्मका उसके साथ समुच्चय नहीं हो सकता॥ १४॥

यावच्छरीरादिषु मायया त्मधी-
स्तावद्विधेयो विधिवादकर्मणाम्।
नेतीति वाक्यैरखिलं निषिध्य त-
ज्ज्ञात्वा परात्मानमथ त्यजेत्क्रियाः॥ १५॥

जबतक मायासे मोहित रहनेके कारण मनुष्यका शरीरादिमें आत्मभाव है, तभीतक उसे वैदिक कर्मानुष्ठान कर्तव्य है। 'नेति-नेति' आदि वाक्योंसे सम्पूर्ण अनात्मवस्तुओंका निषेध करके अपने परमात्म-स्वरूपको जान लेनेपर फिर उसे समस्त कर्मोंको छोड़ देना चाहिये॥ १५॥

यदा परात्मात्मविभेदभेदकं
विज्ञानमात्मन्यवभाति भास्वरम्।
तदैव माया प्रविलीयतेऽञ्जसा
सकारका कारणमात्मसंसृतेः॥ १६॥

जिस समय परमात्मा और जीवात्माके भेदको दूर करनेवाला प्रकाशमय विज्ञान अन्तःकरणमें स्पष्टतया भासित होने लगता है। उसी समय आत्माके लिये संसार-प्राप्तिकी कारण माया अनायास ही कारकादिके सहित लीन हो जाती है॥ १६॥

श्रुतिप्रमाणाभिविनाशिता च सा
कथं भविष्यत्यपि कार्यकारिणी।
विज्ञानमात्रादमलाद्वितीयत-
स्तस्मादविद्या न पुनर्भविष्यति॥ १७॥

श्रुति-प्रमाणसे उसके नष्ट कर दिये जानेपर फिर वह अपना कार्य करनेमें समर्थ भी किस प्रकार हो सकेगी? क्योंकि परमार्थतत्त्व

एकमात्र ज्ञानस्वरूप, निर्मल और अद्वितीय है। अतः (बोध हो जानेपर) फिर अविद्या उत्पन्न नहीं होगी॥ १७॥

यदि स्म नष्टा न पुनः प्रसूयते
कर्ताहमस्येति मतिः कथं भवेत्।
तस्मात्स्वतन्त्रा न किमप्यपेक्षते
विद्या विमोक्षाय विभाति केवला॥ १८॥

जब एक बार नष्ट हो जानेपर अविद्याका फिर जन्म ही नहीं होता तो बोधवान्‌को 'मैं इस कर्मका कर्ता हूँ'—ऐसी बुद्धि कैसे हो सकती है? इसलिये ज्ञान स्वतन्त्र है, उसे जीवके मोक्षके लिये किसी और (कर्मादि)-की अपेक्षा नहीं है, वह स्वयं अकेला ही उसके लिये समर्थ है॥ १८॥

सा तैत्तिरीयश्रुतिराह सादरं
न्यासं प्रशस्ताखिलकर्मणां स्फुटम्।
एतावदित्याह च वाजिनां श्रुति-
र्ज्ञानं विमोक्षाय न कर्म साधनम्॥ १९॥

इसके सिवा तैत्तिरीय शाखाकी प्रसिद्ध श्रुति[१] भी आग्रहपूर्वक स्पष्ट कहती है कि समस्त कर्मोंका त्याग करना ही अच्छा है तथा 'एतावत्' इत्यादि वाजसनेयी शाखाकी श्रुति[२] भी कहती है कि मोक्षका साधन ज्ञान ही है कर्म नहीं॥ १९॥

विद्यासमत्वेन तु दर्शितस्त्वया
क्रतुर्न दृष्टान्त उदाहृतः समः।
फलैः पृथक्त्वाद्बहुकारकैः क्रतुः
संसाध्यते ज्ञानमतो विपर्ययम्॥ २०॥

और तुमने जो ज्ञानकी समानतामें यज्ञादिका दृष्टान्त दिया सो

१-'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।' (तै० आ० १०। १०)
२-'एतावदरे खल्वमृतत्वम्' (बृ० उ० ४। ५। १५)।

ठीक नहीं है, क्योंकि उन दोनोंके फल अलग-अलग हैं। इसके अतिरिक्त यज्ञ तो (होता, ऋत्विक्, यजमान आदि) बहुत-से कारकोंसे सिद्ध होता है और ज्ञान इससे विपरीत है (अर्थात् वह कारकादिसे साध्य नहीं है)॥ २०॥

सप्रत्यवायो ह्यहमित्यनात्मधी-
रज्ञप्रसिद्धा न तु तत्त्वदर्शिनः।
तस्माद् बुधैस्त्याज्यमविक्रियात्मभि-
र्विधानतः कर्म विधिप्रकाशितम्॥ २१॥

(कर्मके त्याग करनेसे) मैं अवश्य प्रायश्चित्त-भागी होऊँगा—ऐसी अनात्म-बुद्धि अज्ञानियोंको हुआ करती है, तत्त्वज्ञानीको नहीं। इसलिये विकाररहित चित्तवाले बोधवान् पुरुषको विहित कर्मोंका भी विधिपूर्वक त्याग कर देना चाहिये॥ २१॥

श्रद्धान्वितस्तत्त्वमसीति वाक्यतो
गुरोः प्रसादादपि शुद्धमानसः।
विज्ञाय चैकात्म्यमथात्मजीवयोः
सुखी भवेन्मेरुरिवाप्रकम्पनः॥ २२॥

फिर शुद्धचित्त होकर श्रद्धापूर्वक गुरुकी कृपासे 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यके द्वारा परमात्मा और जीवात्माकी एकता जानकर सुमेरुके समान निश्चल एवं सुखी हो जाय॥ २२॥

आदौ पदार्थावगतिर्हि कारणं
वाक्यार्थविज्ञानविधौ विधानतः।
तत्त्वम्पदार्थौ परमात्मजीवका-
वसीति चैकात्म्यमथानयोर्भवेत्॥ २३॥

यह नियम ही है कि प्रत्येक वाक्यका अर्थ जाननेमें पहले उसके पदोंके अर्थका ज्ञान ही कारण है। (इस 'तत्त्वमसि' महावाक्यके)

'तत्' और 'त्वम्' पद क्रमसे परमात्मा और जीवात्माके वाचक हैं और 'असि' उन दोनोंकी एकता करता है॥ २३॥

प्रत्यक्परोक्षादिविरोधमात्मनो-
र्विहाय सङ्गृह्य तयोश्चिदात्मताम्।
संशोधितां लक्षणया च लक्षितां
ज्ञात्वा स्वमात्मानमथाद्वयो भवेत्॥ २४॥

इन दोनों (जीवात्मा और परमात्मा)-में जीवात्मा प्रत्यक् (अन्तःकरणका साक्षी) है और परमात्मा परोक्ष (इन्द्रियातीत) है, इस (वाच्यार्थरूप) विरोधको छोड़कर और लक्षणावृत्तिसे लक्षित उनकी शुद्ध चेतनताको ग्रहणकर उसे ही अपना आत्मा जाने और इस प्रकार एकीभावसे स्थित हो॥ २४॥

एकात्मकत्वाज्जहती न सम्भवे-
त्तथाजहल्लक्षणता विरोधतः।
सोऽयं पदार्थाविव भागलक्षणा
युज्येत तत्त्वं पदयोरदोषतः॥ २५॥

इन 'तत्' और 'त्वम्' पदोंमें एकरूप होनेके कारण जहतीलक्षणा नहीं हो सकती और परस्पर विरोध होनेके कारण अजहल्लक्षणा भी नहीं हो सकती। इसलिये 'सोऽयम्' (यह वही है) इन दोनों पदोंके अर्थकी भाँति इन 'तत्' और 'त्वम्' पदोंमें भी भागत्यागलक्षणा ही निर्दोषतासे हो सकती है*॥ २५॥

---

* जहाँ शब्दोंके वाच्यार्थ (अर्थात् उनकी शक्तिवृत्तिसे सिद्ध होनेवाले अर्थ)-को छोड़कर दूसरा अर्थ लिया जाता है, वहाँ लक्षणावृत्ति होती है। वह जहती, अजहती और जहत्यजहती नामसे तीन प्रकारकी है। जहतीलक्षणामें शब्दके वाच्यार्थका सर्वथा त्याग करके उसका बिलकुल नया ही अर्थ किया जाता है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' (गंगाजीपर पशुशाला है) इस वाक्यके वाच्यार्थसे गंगाजीके प्रवाहपर पशुशालाका होना सिद्ध होता है। परन्तु यह सर्वथा असम्भव है। इसलिये यहाँ 'गंगा' शब्दका अर्थ 'गंगाप्रवाह' न

रसादिपञ्चीकृतभूतसम्भवं
भोगालयं दुःखसुखादिकर्मणाम्।
शरीरमाद्यन्तवदादिकर्मजं
मायामयं स्थूलमुपाधिमात्मनः॥ २६॥
सूक्ष्मं मनोबुद्धिदशेन्द्रियैर्युतं
प्राणैरपञ्चीकृतभूतसम्भवम्।
भोक्तुः सुखादेरनुसाधनं भवे-
च्छरीरमन्यद्विदुरात्मनो बुधाः॥ २७॥

पृथिवी आदि पंचीकृत भूतोंसे उत्पन्न हुए, सुख-दुःखादि कर्म-भोगोंके आश्रय और पूर्वोपार्जित कर्मफलसे प्राप्त होनेवाले इस मायामय आदि-अन्तवान् शरीरको विज्ञजन आत्माकी स्थूल उपाधि मानते हैं और मन, बुद्धि, दस इन्द्रियाँ तथा पाँच प्राण (इन सत्रह अंगों)-

---

करके 'गंगा-तीर' किया जाता है। परंतु 'तत्' और 'त्वम्' पदके वाच्यार्थ 'ईश्वर' और 'जीव' का सर्वथा त्याग कर देनेसे उन दोनोंकी चेतनताका भी त्याग हो जाता है और चेतनताकी एकता ही अभीष्ट है; इसलिये जहतीलक्षणासे इन पदोंके अर्थकी एकता नहीं हो सकती। अजहतीलक्षणामें वाच्यार्थका त्याग न करके उसके साथ अन्य अर्थ भी ग्रहण किया जाता है। जैसे 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' (कौओंसे दहीकी रक्षा करो) इस वाक्यका अभिप्राय केवल कौओंसे दहीकी रक्षा कराना ही नहीं है, बल्कि उसके साथ कुत्ता, बिल्ली आदि अन्य जीवोंसे सुरक्षित रखना भी है। यहाँ 'तत्' और 'त्वम्' पदके वाच्यार्थोंमें विरोध है, फिर अन्य अर्थको सम्मिलित करनेसे भी वह विरोध तो दूर होगा ही नहीं, इसलिये अजहल्लक्षणासे भी इनकी एकता सिद्ध नहीं हो सकती। इन दोनोंके सिवा जहाँ कुछ अर्थ रखा जाता है और कुछ छोड़ा जाता है, वह जहत्यजहती (भागत्याग) लक्षणा होती है। जैसे 'सोऽयम्' (यह वही है) इस वाक्यमें 'अयम्' पदसे कहे जानेवाले पदार्थकी अपरोक्षता और 'सः' पदके वाच्य पदार्थकी परोक्षताका त्याग करके इन दोनोंसे रहित जो निर्विशेष पदार्थ है, उसकी एकता कही जाती है। इसी प्रकार महावाक्यके 'तत्' पदके वाच्य 'ईश्वर' के गुण सर्वज्ञता, परोक्षता आदिका और 'त्वम्' पदके वाच्य 'जीव' के गुण अल्पज्ञता, प्रत्यक्षता आदिका त्याग करके केवल चेतनांशमें एकता बतलायी जाती है।

से युक्त और अपंचीकृत भूतोंसे उत्पन्न हुए सूक्ष्म शरीरको जो भोक्ताके सुख-दुःखादि अनुभवका साधन है, आत्माका दूसरा देह मानते हैं॥ २६-२७॥

अनाद्यनिर्वाच्यमपीह कारणं
मायाप्रधानं तु परं शरीरकम्।
उपाधिभेदात्तु यतः पृथक् स्थितं
स्वात्मानमात्मन्यवधारयेत्क्रमात् ॥ २८॥

(इनके अतिरिक्त) अनादि और अनिर्वाच्य मायामय कारण-शरीर ही जीवका तीसरा देह है। इस प्रकार उपाधि-भेदसे सर्वथा पृथक् स्थित अपने आत्मरूपको क्रमशः (उपाधियोंका बाध करते हुए) अपने हृदयमें निश्चय करे ॥ २८॥

कोशेष्वयं तेषु तु तत्तदाकृति-
र्विभाति सङ्गात्स्फटिकोपलो यथा।
असङ्गरूपोऽयमजो यतोऽद्वयो
विज्ञायतेऽस्मिन् परितो विचारिते॥ २९॥

स्फटिकमणिके समान यह आत्मा भी (अन्नमयादि) भिन्न-भिन्न कोशोंमें उनके संगसे उन्हींके आकारका भासने लगता है। किन्तु इसका भली प्रकार विचार करनेसे यह अद्वितीय होनेके कारण असंगरूप और अजन्मा निश्चित होता है॥ २९॥

बुद्धेस्त्रिधा वृत्तिरपीह दृश्यते
स्वप्नादिभेदेन गुणत्रयात्मनः।
अन्योन्यतोऽस्मिन् व्यभिचारतो मृषा
नित्ये परे ब्रह्मणि केवले शिवे॥ ३०॥

त्रिगुणात्मिका बुद्धिकी ही स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति-भेदसे तीन प्रकारकी वृत्तियाँ दिखायी देती हैं, किन्तु इन तीनों वृत्तियोंमेंसे प्रत्येकका

एक-दूसरीमें व्यभिचार होनेके कारण ये (तीनों ही) एकमात्र कल्याणस्वरूप नित्य परब्रह्ममें मिथ्या हैं (अर्थात् उसमें इन वृत्तियोंका सर्वथा अभाव है)॥ ३०॥

देहेन्द्रियप्राणमनश्चिदात्मनां
सङ्घादजस्रं परिवर्तते धियः।
वृत्तिस्तमोमूलतयाज्ञलक्षणा
यावद्भवेत्तावदसौ भवोद्भवः॥ ३१॥

बुद्धिकी वृत्ति ही देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और चेतन आत्माके संघातरूपसे निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। यह वृत्ति तमोगुणसे उत्पन्न होनेवाली होनेके कारण अज्ञानरूपा है और जबतक यह रहती है, तबतक ही संसारमें जन्म होता रहता है॥ ३१॥

नेतिप्रमाणेन निराकृताखिलो
हृदा समास्वादितचिद्घनामृतः।
त्यजेदशेषं जगदात्तसद्रसं
पीत्वा यथाम्भः प्रजहाति तत्फलम्॥ ३२॥

'नेति-नेति' आदि श्रुति-प्रमाणसे निखिल संसारका बाध करके और हृदयमें चिद्घनामृतका आस्वादन करके सम्पूर्ण जगत्को, उसके साररूप सत् (ब्रह्म)-को ग्रहण करके त्याग दे, जैसे नारियलके जलको पीकर मनुष्य उसे फेंक देते हैं॥ ३२॥

कदाचिदात्मा न मृतो न जायते
न क्षीयते नापि विवर्धतेऽनवः।
निरस्तसर्वातिशयः सुखात्मकः
स्वयम्प्रभः सर्वगतोऽयमद्वयः॥ ३३॥

आत्मा न कभी मरता है न जन्मता है; वह न कभी क्षीण होता है और न बढ़ता ही है। वह पुरातन, सम्पूर्ण विशेषणोंसे रहित,

सुखस्वरूप, स्वयंप्रकाश, सर्वगत और अद्वितीय है॥ ३३॥

एवंविधे ज्ञानमये सुखात्मके
कथं भवो दुःखमयः प्रतीयते।
अज्ञानतोऽध्यासवशात्प्रकाशते
ज्ञाने विलीयेत विरोधतः क्षणात्॥ ३४॥

जो इस प्रकार ज्ञानमय और सुखस्वरूप है, उसमें यह दुःखमय संसारकी प्रतीति कैसे हो सकती है? यह तो अध्यासके कारण अज्ञानसे ही दिखायी दे रहा है, ज्ञानसे तो यह एक क्षणमें ही लीन हो जाता है; क्योंकि ज्ञान और अज्ञानका परस्पर विरोध है॥ ३४॥

यदन्यदन्यत्र विभाव्यते भ्रमा-
दध्यासमित्याहुरमुं विपश्चितः।
असर्पभूतेऽहिविभावनं यथा
रज्ज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत्॥ ३५॥

भ्रमसे जो अन्यमें अन्यकी प्रतीति होती है, उसीको विद्वानोंने अध्यास कहा है। जिस प्रकार असर्परूप रज्जु आदिमें सर्पकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार ईश्वरमें संसारकी प्रतीति हो रही है॥ ३५॥

विकल्पमायारहिते चिदात्मकेऽ-
हङ्कार एष प्रथमः प्रकल्पितः।
अध्यास एवात्मनि सर्वकारणे
निरामये ब्रह्मणि केवले परे॥ ३६॥

जो विकल्प और मायासे रहित है, उस सबके कारण निरामय, अद्वितीय और चित्स्वरूप परमात्मा ब्रह्ममें पहले इस 'अहंकार' रूप अध्यासकी ही कल्पना होती है॥ ३६॥

इच्छादिरागादिसुखादिधर्मिकाः
सदा धियः संसृतिहेतवः परे।

यस्मात्प्रसुप्तौ तदभावतः परः
सुखस्वरूपेण विभाव्यते हि नः॥ ३७॥

सबके साक्षी आत्मामें इच्छा, अनिच्छा, राग-द्वेष और सुख-दुःखादिरूप बुद्धिकी वृत्तियाँ ही जन्म-मरणरूप संसारकी कारण हैं; क्योंकि सुषुप्तिमें इनका अभाव हो जानेपर हमें आत्माका सुखरूपसे भान होता है॥ ३७॥

अनाद्यविद्योद्भवबुद्धिबिम्बितो
जीवः प्रकाशोऽयमितीर्यते चितः।
आत्मा धियः साक्षितया पृथक् स्थितो
बुद्ध्यापरिच्छिन्नपरः स एव हि॥ ३८॥

अनादि अविद्यासे उत्पन्न हुई बुद्धिमें प्रतिबिम्बित यह चेतनका प्रकाश ही 'जीव' कहलाता है। बुद्धिके साक्षीरूपसे आत्मा उससे पृथक् है, वह परात्मा तो बुद्धिसे अपरिच्छिन्न है॥ ३८॥

चिद्बिम्बसाक्ष्यात्मधियां प्रसङ्गत-
स्त्वेकत्र वासादनलाक्तलोहवत्।
अन्योन्यमध्यासवशात्प्रतीयते
जडाजडत्वं च चिदात्मचेतसोः॥ ३९॥

अग्निसे तपे हुए लोहेके समान चिदाभास, साक्षी आत्मा तथा बुद्धिके एकत्र रहनेसे परस्पर अन्योन्याध्यास होनेके कारण क्रमशः उनकी चेतनता और जडता प्रतीत होती है। (अर्थात् जिस प्रकार अग्निसे तपे हुए लोहपिण्डमें अग्नि और लोहेका तादात्म्य हो जानेसे लोहेका आकार अग्निमें और अग्निकी उष्णता लोहेमें दिखायी देने लगती है, उसी प्रकार बुद्धि और आत्माका तादात्म्य हो जानेसे आत्माकी चेतनता बुद्धि आदिमें और बुद्धि आदिकी जडता आत्मामें प्रतीत होने लगती है। इसलिये अध्यासवश बुद्धिसे लेकर शरीरपर्यन्त अनात्म-वस्तुओंको ही आत्मा मानने लगते हैं)॥ ३९॥

गुरोः सकाशादपि वेदवाक्यतः
सञ्जातविद्यानुभवो निरीक्ष्य तम्।
स्वात्मानमात्मस्थमुपाधिवर्जितं
त्यजेदशेषं जडमात्मगोचरम्॥ ४०॥

गुरुके समीप रहनेसे और वेदवाक्योंसे आत्मज्ञानका अनुभव होनेपर अपने हृदयस्थ उपाधिरहित आत्माका साक्षात्कार करके आत्मारूपसे प्रतीत होनेवाले देहादि सम्पूर्ण जडपदार्थोंका त्याग कर देना चाहिये॥ ४०॥

प्रकाशरूपोऽहमजोऽहमद्वयोऽ-
सकृद्विभातोऽहमतीव निर्मलः।
विशुद्धविज्ञानघनो निरामयः
सम्पूर्ण आनन्दमयोऽहमक्रियः॥ ४१॥

मैं प्रकाशस्वरूप, अजन्मा, अद्वितीय, निरन्तर, भासमान, अत्यन्त निर्मल, विशुद्ध विज्ञानघन, निरामय, क्रियारहित और एकमात्र आनन्द-स्वरूप हूँ॥ ४१॥

सदैव मुक्तोऽहमचिन्त्यशक्तिमा-
नतीन्द्रियज्ञानमविक्रयात्मकः।
अनन्तपारोऽहमहर्निशं बुधै-
र्विभावितोऽहं हृदि वेदवादिभिः॥ ४२॥

मैं सदा ही मुक्त, अचिन्त्यशक्ति, अतीन्द्रिय, ज्ञानस्वरूप, अविकृतरूप और अनन्त-पार हूँ। वेदवादी पण्डितजन अहर्निश मेरा हृदयमें चिन्तन करते हैं॥ ४२॥

एवं सदात्मानमखण्डितात्मना
विचारमाणस्य विशुद्धभावना।
हन्यादविद्यामचिरेण कारकै
रसायनं यद्वदुपासितं रुजः॥ ४३॥

इस प्रकार सदा आत्माका अखण्डवृत्तिसे चिन्तन करनेवाले पुरुषके

अन्त:करणमें उत्पन्न हुई विशुद्ध भावना तुरन्त ही कारकादिके सहित अविद्याका नाश कर देती है, जिस प्रकार नियमानुसार सेवन की हुई ओषधि रोगको नष्ट कर डालती है॥ ४३॥

विविक्त आसीन उपारतेन्द्रियो
विनिर्जितात्मा विमलान्तराशय:।
विभावयेदेकमनन्यसाधनो
विज्ञानदृक्केवल आत्मसंस्थित:॥ ४४॥

(आत्मचिन्तन करनेवाले पुरुषको चाहिये कि) एकान्त देशमें इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे हटाकर और अन्त:करणको अपने अधीन करके बैठे तथा आत्मामें स्थित होकर और किसी साधनका आश्रय न लेकर शुद्धचित्त हुआ केवल ज्ञानदृष्टिद्वारा एक आत्माकी ही भावना करे॥ ४४॥

विश्वं यदेतत्परमात्मदर्शनं
विलापयेदात्मनि सर्वकारणे।
पूर्णश्चिदानन्दमयोऽवतिष्ठते
न वेद बाह्यं न च किञ्चिदान्तरम्॥ ४५॥

यह विश्व परमात्मस्वरूप है, ऐसा समझकर इसे सबके कारणरूप आत्मामें लीन करे; इस प्रकार जो पूर्ण चिदानन्दस्वरूपसे स्थित हो जाता है, उसे बाह्य अथवा आन्तरिक किसी भी वस्तुका ज्ञान नहीं रहता॥ ४५॥

पूर्वं समाधेरखिलं विचिन्तये-
दोङ्कारमात्रं सचराचरं जगत्।
तदेव वाच्यं प्रणवो हि वाचको
विभाव्यतेऽज्ञानवशान्न बोधत:॥ ४६॥

समाधि प्राप्त होनेके पूर्व ऐसा चिन्तन करे कि सम्पूर्ण चराचर

जगत् केवल ओंकारमात्र है। यह संसार वाच्य है और ओंकार इसका वाचक है। अज्ञानके कारण ही इसकी प्रतीति होती है। ज्ञान होनेपर इसका कुछ भी नहीं रहता॥ ४६॥

अकारसंज्ञः पुरुषो हि विश्वको
ह्युकारकस्तैजस ईर्यते क्रमात्।
प्राज्ञो मकारः परिपठ्यतेऽखिलैः
समाधिपूर्वं न तु तत्त्वतो भवेत्॥ ४७॥

(ओंकारमें अ, उ और म—ये तीन वर्ण हैं; इनमेंसे) अकार विश्व (जागृतिके अभिमानी)-का वाचक है, उकार तैजस (स्वप्नका अभिमानी) कहलाता है और मकार प्राज्ञ (सुषुप्तिके अभिमानी)-को कहते हैं; यह व्यवस्था समाधिलाभसे पहलेकी है, तत्त्वदृष्टिसे ऐसा कोई भेद नहीं है॥ ४७॥

विश्वं त्वकारं पुरुषं विलापये-
दुकारमध्ये बहुधा व्यवस्थितम्।
ततो मकारे प्रविलाप्य तैजसं
द्वितीयवर्णं प्रणवस्य चान्तिमे॥ ४८॥

नाना प्रकारसे स्थित अकाररूप विश्व-पुरुषको उकारमें लीन करे और ओंकारके द्वितीय वर्ण तैजसरूप उकारको उसके अन्तिम वर्ण मकारमें लीन करे॥ ४८॥

मकारमप्यात्मनि चिद्घने परे
विलापयेत्प्राज्ञमपीह कारणम्।
सोऽहं परं ब्रह्म सदा विमुक्तिमद्-
विज्ञानदृङ्मुक्त उपाधितोऽमलः॥ ४९॥

फिर कारणात्मा प्राज्ञरूप मकारको भी चिद्घनरूप परमात्मामें लीन करे; (और ऐसी भावना करे कि) वह नित्यमुक्त विज्ञानस्वरूप

उपाधिहीन निर्मल परब्रह्म मैं ही हूँ॥ ४९॥

एवं सदा जातपरात्मभावनः
स्वानन्दतुष्टः परिविस्मृताखिलः।
आस्ते स नित्यात्मसुखप्रकाशकः
साक्षाद्विमुक्तोऽचलवारिसिन्धुवत् ॥ ५०॥

इस प्रकार निरन्तर परमात्मभावना करते-करते जो आत्मानन्दमें मग्न हो गया है तथा जिसे सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंच विस्मृत हो गया है, वह नित्य आत्मानन्दका अनुभव करनेवाला जीवन्मुक्त योगी निस्तरंग समुद्रके समान साक्षात् मुक्तस्वरूप हो जाता है॥ ५०॥

एवं सदाभ्यस्तसमाधियोगिनो
निवृत्तसर्वेन्द्रियगोचरस्य हि।
विनिर्जिताशेषरिपोरहं सदा
दृश्यो भवेयं जितषड्गुणात्मनः॥ ५१॥

इस प्रकार जो निरन्तर समाधियोगका अभ्यास करता है, जिसके सम्पूर्ण इन्द्रियगोचर विषय निवृत्त हो गये हैं तथा जिसने काम-क्रोधादि सम्पूर्ण शत्रुओंको परास्त कर दिया है, उस छहों इन्द्रियों (मन और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों)-को जीतनेवाले महात्माको मेरा निरन्तर साक्षात्कार होता है॥ ५१॥

ध्यात्वैवमात्मानमहर्निशं मुनि-
स्तिष्ठेत्सदा मुक्तसमस्तबन्धनः।
प्रारब्धमश्नन्नभिमानवर्जितो
मय्येव साक्षात्प्रविलीयते ततः॥ ५२॥

इस प्रकार अहर्निश आत्माका ही चिन्तन करता हुआ मुनि सर्वदा समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर रहे तथा (कर्ता-भोक्तापनके) अभिमानको छोड़कर प्रारब्धफल भोगता रहे। इससे वह अन्तमें साक्षात् मुझहीमें

लीन हो जाता है॥ ५२॥

आदौ च मध्ये च तथैव चान्ततो
भवं विदित्वा भयशोककारणम्।
हित्वा समस्तं विधिवादचोदितं
भजेत्स्वमात्मानमथाखिलात्मनाम् ॥ ५३॥

संसारको आदि, अन्त और मध्यमें सब प्रकार भय और शोकका ही कारण जानकर समस्त वेदविहित कर्मोंको त्याग दे तथा सम्पूर्ण प्राणियोंके अन्तरात्मारूप अपने आत्माका भजन करे॥ ५३॥

आत्मन्यभेदेन विभावयन्निदं
भवत्यभेदेन मयात्मना तदा।
यथा जलं वारिनिधौ यथा पयः
क्षीरे वियद्व्योम्न्यनिले यथानिलः॥ ५४॥

जिस प्रकार समुद्रमें जल, दूधमें दूध, महाकाशमें घटाकाशादि और वायुमें वायु मिलकर एक हो जाते हैं, उसी प्रकार इस सम्पूर्ण प्रपंचको अपने आत्माके साथ अभिन्नरूपसे चिन्तन करनेसे जीव मुझ परमात्माके साथ अभिन्न भावसे स्थित हो जाता है॥ ५४॥

इत्थं यदीक्षेत हि लोकसंस्थितो
जगन्मृषैवेति विभावयन्मुनिः।
निराकृतत्वाच्छ्रुतियुक्तिमानतो
यथेन्दुभेदो दिशि दिग्भ्रमादयः॥ ५५॥

यह जो जगत् है वह श्रुति, युक्ति और प्रमाणसे बाधित होनेके कारण चन्द्रभेद और दिशाओंमें होनेवाले दिग्भ्रमके समान मिथ्या ही है—ऐसी भावना करता हुआ लोक (व्यवहार)-में स्थित मुनि इसे देखे॥ ५५॥

यावन्न पश्येदखिलं मदात्मकं
तावन्मदाराधनतत्परो भवेत्।
श्रद्धालुरत्यूर्जितभक्तिलक्षणो
यस्तस्य दृश्योऽहमहर्निशं हृदि॥ ५६॥

जबतक सारा संसार मेरा ही रूप दिखलायी न दे, तबतक निरन्तर मेरी आराधना करता रहे। जो श्रद्धालु और उत्कट भक्त होता है, उसे अपने हृदयमें सर्वदा मेरा ही साक्षात्कार होता है॥ ५६॥

रहस्यमेतच्छ्रुतिसारसङ्ग्रहं
मया विनिश्चित्य तवोदितं प्रिय।
यस्त्वेतदालोचयतीह बुद्धिमान्
स मुच्यते पातकराशिभिः क्षणात्॥ ५७॥

हे प्रिय! सम्पूर्ण श्रुतियोंके साररूप इस गुप्त रहस्यको मैंने निश्चय करके तुमसे कहा है। जो बुद्धिमान् इसका मनन करेगा, वह तत्काल समस्त पापोंसे मुक्त हो जायगा॥ ५७॥

भ्रातर्यदीदं परिदृश्यते जग-
न्मायैव सर्वं परिहृत्य चेतसा।
मद्भावनाभावितशुद्धमानसः
सुखी भवानन्दमयो निरामयः॥ ५८॥

भाई! यह जो कुछ जगत् दिखायी देता है, वह सब माया है। इसे अपने चित्तसे निकालकर मेरी भावनासे शुद्धचित्त और सुखी होकर आनन्दपूर्ण और क्लेशशून्य हो जाओ॥ ५८॥

यः सेवते मामगुणं गुणात्परं
हृदा कदा वा यदि वा गुणात्मकम्।
सोऽहं स्वपादाञ्चितरेणुभिः स्पृशन्
पुनाति लोकत्रितयं यथा रविः॥ ५९॥

जो पुरुष अपने चित्तसे मुझ गुणातीत निर्गुणका अथवा कभी-

कभी मेरे सगुण स्वरूपका भी सेवन करता है, वह मेरा ही रूप है। वह अपनी चरण-रजके स्पर्शसे सूर्यके समान सम्पूर्ण त्रिलोकीको पवित्र कर देता है॥ ५९॥

विज्ञानमेतदखिलं श्रुतिसारमेकं
वेदान्तवेद्यचरणेन मयैव गीतम्।
यः श्रद्धया परिपठेद् गुरुभक्तियुक्तो
मद्रूपमेति यदि मद्वचनेषु भक्तिः॥ ६०॥

यह अद्वितीय ज्ञान समस्त श्रुतियोंका एकमात्र सार है। इसे वेदान्तवेद्य भगवत्पाद मैंने ही कहा है। जो गुरुभक्तिसम्पन्न पुरुष इसका श्रद्धापूर्वक पाठ करेगा, उसकी यदि मेरे वचनोंमें प्रीति होगी तो वह मेरा ही रूप हो जायगा॥ ६०॥

।। इति श्रीमदध्यात्मरामायणे उमामहेश्वरसंवादे उत्तरकाण्डे श्रीरामगीता सम्पूर्णा।।

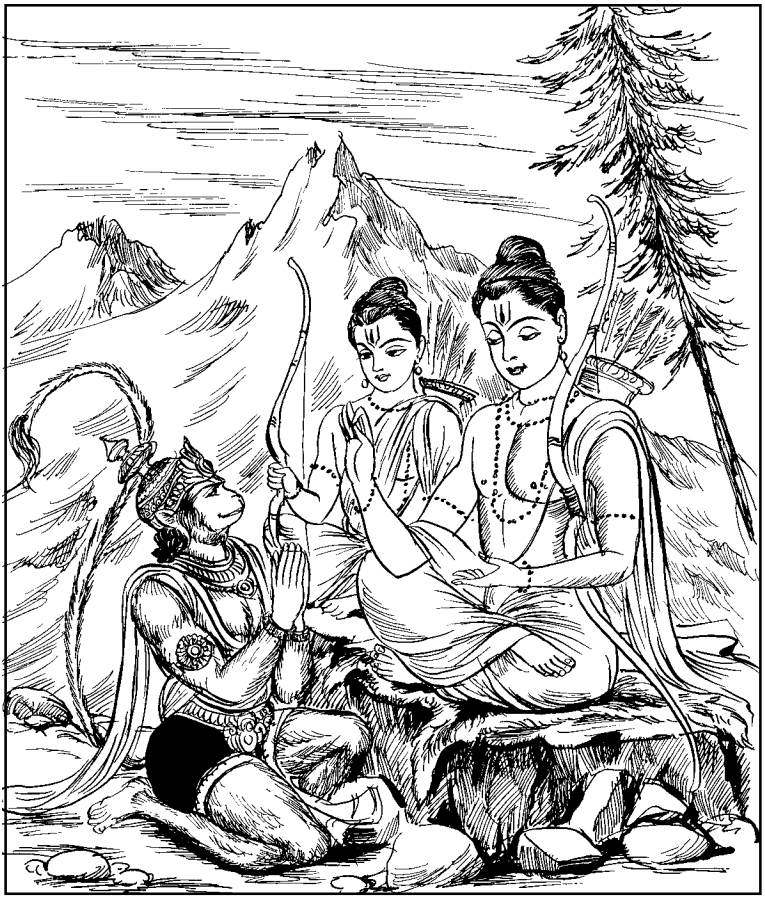

भगवान् श्रीरामद्वारा हनुमान्‌जीको उपदेश

रामगीता–(२)

[एक रामगीता अद्‌भुतरामायणके अन्तर्गत भी प्राप्त होती है, वहाँ इसका विस्तार अध्याय ११ से अध्याय १४ तक है। सीताहरणके पश्चात् ऋष्यमूकपर्वतपर विराजमान भगवान् श्रीराम हनुमान्‌जीके द्वारा जिज्ञासा करनेपर अपने तात्त्विक स्वरूपका जो उन्हें उपदेश देते हैं, वही रामगीताके नामसे विख्यात है, इसीके साथ ही इसमें सांख्य, योग एवं वेदान्ततत्त्वका प्रतिपादन करनेके बाद भक्तियोगका विवेचन किया गया है। अन्तिम अध्यायमें भगवान्‌ने अपनी विभूतियोंका प्रभावी वर्णन किया है। इस रामगीताको भी यहाँ सानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है—]

पहला अध्याय

भगवान् श्रीरामद्वारा हनुमान्‌जीको सांख्ययोगका उपदेश

रामः प्राह हनूमन्तमात्मानं पुरुषोत्तमः।
वत्स वत्स हनूमंस्त्वं भक्तो यत्पृष्टवानसि॥ १॥
तत्तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि शृणुष्वावहितो मम।
अवाच्यमेतद्विज्ञानमात्मगुह्यं सनातनम्॥ २॥

पुरुषोत्तम श्रीरामने अपने भक्त हनुमान्‌से कहा—हे वत्स हनुमान्! तुम मेरे भक्त हो, अतः जो तुमने पूछा है, उसे मैं बता रहा हूँ। मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनो। यह सनातन विज्ञान अपनेमें गोपनीय और यत्र-तत्र कहनेयोग्य नहीं है॥ १-२॥

यन्न देवा विजानन्ति यतन्तोऽपि द्विजातयः।
इदं ज्ञानं समाश्रित्य ब्रह्मभूता द्विजोत्तमाः॥ ३॥

इस विज्ञानको देवता और प्रयत्नशील द्विज साधक भी नहीं जानते। इसी ज्ञानका आश्रय लेकर श्रेष्ठ ब्राह्मण ब्रह्मस्वरूप हो गये॥ ३॥

न संसारं प्रपश्यन्ति पूर्वेऽपि ब्रह्मवादिनः।
गुह्याद् गुह्यतमं साक्षाद् गोपनीयं प्रयत्नतः।
वंशे भक्तिमतो ह्यस्य भवन्ति ब्रह्मवादिनः॥ ४॥

वे पुरातन ब्रह्मज्ञानी संसारको (सत्य) नहीं देखते। यह ज्ञान गुह्यसे भी परम गुह्य है और प्रयत्नपूर्वक गोपनीय है। इस (विज्ञानवेत्ता)-के वंशमें जन्म लेनेवाले भी भक्तिमान् ब्रह्मवादी होते हैं॥ ४॥

आत्मा यः केवलः स्वच्छः शान्तः सूक्ष्मः सनातनः॥ ५॥
अस्ति सर्वान्तरः साक्षाच्चिन्मात्रस्तमसः परः।
सोऽन्तर्यामी स पुरुषः स प्राणः स महेश्वरः॥ ६॥

आत्मा केवल, स्वच्छ, शान्त, सूक्ष्म और सनातन है। वह (आत्मा) सबके अन्दर स्पष्ट, प्रकाशमान और चिन्मय रूपसे स्थित है। वही अन्तर्यामी पुरुष है, वही प्राण है और वही परमेश्वर है॥ ५-६॥

स कालाग्निस्तदव्यक्तं सद्यो वेदयति श्रुतिः।
अस्माद्विजायते विश्वमत्रैव प्रविलीयते॥ ७॥

वह कालाग्नि है, वही अव्यक्त है और श्रुति (शब्दप्रमाणसे) उसका ज्ञान कराती है। संसारकी उत्पत्ति और लय उसीमें होता है॥ ७॥

मायावी मायया बद्धः करोति विविधास्तनूः।
न चाप्ययं संसरति न च संसारयेत्प्रभुः॥ ८॥

वह सर्वसमर्थ मायावी अपनी मायासे अनेक रूप (शरीर) धारण करता है। यह कहीं आता-जाता नहीं और न किसीको संचालित करता है॥ ८॥

नायं पृथ्वी न सलिलं न तेजः पवनो नभः।
न प्राणो न मनो व्यक्तं न शब्दः स्पर्श एव च॥ ९॥

न रूपरसगन्धाश्च नाहङ्कर्ता न वागपि।
न पाणिपादौ नो पायुर्न चोपस्थं प्लवङ्गम॥ १०॥

हे वानरश्रेष्ठ! न तो यह पृथ्वी है, न जल, न तेज, न वायु अथवा आकाश है। निश्चय ही न यह प्राण है, न मन और न शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध है। यह न अहंकार है, न वाणी-हाथ-पैर-पायु-उपस्थ आदि (कर्मेन्द्रियरूप) है॥ ९-१०॥

न कर्ता न च भोक्ता च न प्रकृतिपूरुषौ।
न माया नैव च प्राणश्चैतन्यं परमार्थतः॥ ११॥

यह न कर्ता है न भोक्ता है, न यह प्रकृति-पुरुष ही है। यह न माया है, न प्राण है। यह यथार्थमें (शुद्ध) चैतन्यमात्र है॥ ११॥

तथा प्रकाशतमसो सम्बन्धो नोपपद्यते।
तद्वदेव न सम्बन्धः प्रपञ्चपरमात्मनोः॥ १२॥

जैसे प्रकाश और अन्धकारका परस्पर सम्बन्ध सम्भव नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा और (सांसारिक) प्रपंचका भी परस्पर सम्बन्ध सम्भव नहीं है॥ १२॥

छायातरू यथा लोके परस्परविलक्षणौ।
तद्वत्प्रपञ्चपुरुषौ विभिन्नौ परमार्थतः॥ १३॥

जैसे संसारमें वृक्ष और उसकी छाया—ये दो भिन्न पदार्थ हैं, उसी प्रकार परमात्मा और प्रपंच परस्पर सर्वथा भिन्न हैं॥ १३॥

यद्यात्मा मलिनोऽस्वस्थो विकारी स्यात्स्वभावतः।
नहि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि॥ १४॥

यदि आत्मा स्वभावतः मलिन, अस्वस्थ और विकारवान् हो तो उसकी मुक्ति सैकड़ों जन्मोंमें भी सम्भव नहीं होगी॥ १४॥

पश्यन्ति मुनयो मुक्ताः स्वात्मानं परमार्थतः।
विकारहीनं निर्दुःखमानन्दात्मानमव्ययम्॥ १५॥

किंतु जीवन्मुक्त मुनिजन तो अपनी आत्माको यथार्थतः विकारहीन,

दुःखरहित, अव्यय और आनन्दस्वरूप देखते हैं॥ १५॥

अहं कर्ता सुखी दुःखी कृशः स्थूलेति या मतिः।
साप्यहङ्कृतिसम्बन्धादात्मन्यारोप्यते जनैः॥ १६॥

मैं कर्ता हूँ, सुखी-दुःखी हूँ, दुबला-मोटा हूँ—इस प्रकारका जो भाव बनता है, उसे अहंकारके सम्बन्धसे लोग आत्मापर आरोपित कर लेते हैं॥ १६॥

वदन्ति वेदविद्वांसः साक्षिणं प्रकृतेः परम्।
भोक्तारमक्षयं बुद्ध्वा सर्वत्र समवस्थितम्॥ १७॥

वेदके तत्त्वज्ञ उस अनश्वर भोक्ताको सर्वत्र व्याप्त जानकर उस साक्षी (आत्मा)-को प्रकृतिसे परे कहते हैं॥ १७॥

तस्मादज्ञानमूलोऽयं संसारः सर्वदेहिनाम्।
अज्ञानादन्यथा ज्ञातं तच्च प्रकृतिसङ्गतम्॥ १८॥

इसलिये सभी देहधारियोंके लिये यह संसार अज्ञानमूलक ही है। प्रकृतिके संसर्गसे अज्ञानके कारण यह (संसार) अन्यथा प्रतीत होता है॥ १८॥

नित्योदितः स्वयंज्योतिः सर्वगः पुरुषः परः।
अहङ्काराविवेकेन कर्ताहमिति मन्यते॥ १९॥

आत्मा तो नित्य जाग्रत्, स्वयंप्रकाश, सर्वत्र व्याप्त, परम पुरुष है। अहंकारके अज्ञानके कारण यह (जीव) अपनेको कर्ता मान बैठता है॥ १९॥

पश्यन्ति ऋषयो व्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
प्रधानं प्रकृतिं बुद्ध्वा कारणं ब्रह्मवादिनः॥ २०॥
तेनात्र सङ्गतो ह्यात्मा कूटस्थोऽपि निरञ्जनः।
आत्मानमक्षरं ब्रह्म नावबुद्ध्यन्ति तत्त्वतः॥ २१॥

ऋषिगण सत् और असत् रूप नित्य आत्मतत्त्वका निश्चय ही अनुभव करते हैं। वे ब्रह्मवादी प्रधान प्रकृतिको कारणरूप जानकर

उससे सम्बद्ध होनेके कारण कूटस्थ, निरंजन, अक्षरब्रह्मको तत्त्वतः नहीं जान पाते॥ २०-२१॥

अनात्मन्यात्मविज्ञानं तस्माद्दुःखं तथेतरत्।
रागद्वेषादयो दोषाः सर्वभ्रान्तिनिबन्धनाः॥ २२॥

अनात्मतत्त्वमें आत्माकी (भ्रान्ति) बुद्धि होनेसे ही दुःख और सुख होते हैं। राग-द्वेष आदि दोष भी उसी भ्रान्तिसे जुड़े रहते हैं॥ २२॥

कार्ये ह्यस्य भवेदेषा पुण्यापुण्यमिति श्रुतिः।
तद्वशादेव सर्वेषां सर्वदेहसमुद्भवः॥ २३॥

इसी कारण कर्ममें पाप-पुण्यका समावेश शास्त्रानुसार हो जाता है और उसके वशीभूत सभीको देह धारण करना पड़ता है॥ २३॥

नित्यः सर्वत्रगो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः।
एकः स भिद्यते शक्त्या मायया न स्वभावतः॥ २४॥

आत्मा तो नित्य, सर्वव्यापी, कूटस्थ, दोषरहित और एक (अद्वितीय) है, किंतु मायाकी शक्तिसे उसमें भेद प्रतीत होता है, स्वभावतः नहीं॥ २४॥

तस्मादद्वैतमेवाहुर्मुनयः परमार्थतः।
भेदोऽव्यक्तस्वभावेन सा च मायात्मसंश्रया॥ २५॥

इसलिये ज्ञानीजन यथार्थमें अद्वैतकी ही सत्ता कहते हैं, किंतु माया आत्माके साथ लगी रहनेके कारण वह अव्यक्त आत्मा भी स्वभावतः भेदवाली प्रतीत होती है॥ २५॥

यथा हि धूमसम्पर्कान्नाकाशो मलिनो भवेत्।
अन्तःकरणजैर्भावैरात्मा तद्वन्न लिप्यते॥ २६॥

जैसे धुएँके सम्पर्कसे आकाश मलिन नहीं हो जाता (स्वभावतः स्वच्छ बना रहता है), उसी प्रकार अन्तःकरणमें उठनेवाले (राग-द्वेषादि) भावोंसे आत्मा लिप्त नहीं होता॥ २६॥

यथा स्वप्रभया भाति केवलः स्फटिकोपलः।
उपाधिहीनो विमलस्तथैवात्मा प्रकाशते॥ २७॥

जैसे स्फटिक-मणि अपनी (स्वच्छ) प्रभासे प्रकाशित रहती है, उसी प्रकार उपाधिरहित निर्मल आत्मा भी स्वयंप्रकाशित रहता है॥ २७॥

ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद्विचक्षणाः ।
अर्थस्वरूपमेवाज्ञाः पश्यन्त्यन्ये कुबुद्धयः॥ २८॥

बुद्धिमान् लोग इस संसारको ज्ञान-स्वरूप (आभासमात्र) कहते हैं, किंतु मंदबुद्धि (मूर्ख) इसे यथार्थ (सच्चा) समझते हैं॥ २८॥

कूटस्थो निर्गुणो व्यापी चैतन्यात्मा स्वभावतः।
दृश्यते ह्यर्थरूपेण पुरुषैर्भ्रान्तदृष्टिभिः॥ २९॥
यथा संलक्ष्यते व्यक्तः केवलः स्फटिको जनैः।
रक्तिकाव्यवधानेन तद्वत्परमपूरुषः॥ ३०॥

भ्रान्तचित्त लोगोंको कूटस्थ, निर्गुण, सर्वव्यापी, स्वभावतः चैतन्यरूप आत्मतत्त्व भी पदार्थ-जैसा प्रतीत होता है। जैसे लोग शुद्ध स्फटिक मणिको भी लाल पदार्थके संसर्गसे लाल ही देखते हैं, उसी प्रकार परमात्मतत्त्वके प्रति भी भ्रान्ति रहती है॥ २९-३०॥

तस्मादात्माक्षरः शुद्धो नित्यः सर्वगतोऽव्ययः।
उपासितव्यो मन्तव्यः श्रोतव्यश्च मुमुक्षुभिः॥ ३१॥

इसलिये मुमुक्षु लोगोंको अक्षर, शुद्ध, सनातन, सर्वव्यापी, अव्यय, आत्मतत्त्वका ही चिन्तन, मनन, श्रवण तथा अनुसन्धान करना चाहिये॥ ३१॥

यदा मनसि चैतन्यं भाति सर्वत्रगं सदा।
योगिनोऽव्यवधानेन तदा सम्पद्यते स्वयम्॥ ३२॥

जब योगसाधकके मनमें सदा सर्वव्यापी चैतन्यका प्रकाश निरन्तर

बना रहता है, तब उसे आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होती है॥ ३२॥

यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येवाभिपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ब्रह्म सम्पद्यते स्वयम्॥ ३३॥

जब वह (योगी) सभी प्राणी-पदार्थोंको स्वयं अपने भीतर और स्वयंको सभीमें देखने लगता है, तब वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है॥ ३३॥

यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येवाभि पश्यति।
एकीभूतः परेणासौ तदा भवति केवलः॥ ३४॥

जब वह अन्य प्राणी-पदार्थोंको अपने भीतर ही देखता, तब अन्य की सत्तासे रहित परमात्मासे एकीभूत हुआ वह योगी केवलीभावको प्राप्त हो जाता है॥ ३४॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
तदासावमृतीभूतः क्षेमं गच्छति पण्डितः॥ ३५॥

जब उस योगीके हृदयसे सम्पूर्ण कामनाओंका लोप हो जाता है, तब वह प्रज्ञासम्पन्न अमृतत्वको प्राप्त होकर परम कल्याणका भागी हो जाता है॥ ३५॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ३६॥

जब विभिन्न भूत-पदार्थोंमें योगीकी एकत्व दृष्टि हो जाती है, तब उसी (दृष्टि)-का विस्तार होकर उसे ब्रह्मभावकी प्राप्ति हो जाती है॥ ३६॥

यदा पश्यति चात्मानं केवलं परमार्थतः।
मायामात्रं जगत्कृत्स्नं तदा भवति निर्वृतः॥ ३७॥

जब वह योगी यथार्थ रूपमें केवल आत्माके अस्तित्वको देखने लगता है और सम्पूर्ण (बाह्य) जगत्को मायामात्र जान लेता है, तब उसे परमशान्ति प्राप्त होती है॥ ३७॥

यदा जन्मजरादुःखव्याधीनामेकभेषजम्।
केवलं ब्रह्मविज्ञानं जायतेऽसौ तदा शिवः॥ ३८॥

जब उसे जन्म, बुढ़ापा, दुःख, रोग आदिकी एकमात्र औषधि ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है, तब वह योगी साक्षात् शिवस्वरूप हो जाता है॥ ३८॥

यथा नदी नदा लोके सागरेणैकतां ययुः।
तद्वदात्माक्षरेणासौ निष्कलेनैकतां व्रजेत्॥ ३९॥

जैसे संसारके (विभिन्न) नदियाँ और नद सागरमें जाकर एकरूप हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा उस अक्षर, निष्कल परमात्मतत्त्वमें मिलकर एक हो जाता है॥ ३९॥

तस्माद्विज्ञानमेवास्ति न प्रपञ्चो न संस्थितिः।
अज्ञानेनावृतं लोके विज्ञानं तेन मुह्यति॥ ४०॥

इसलिये (यथार्थमें) ज्ञानकी ही सत्ता है, न तो प्रपंचकी और न सृष्टिकी कोई स्थिति है। संसारमें अज्ञानसे ज्ञान ढका रहता है, इस कारण लोगोंमें मोह उत्पन्न हो जाता है॥ ४०॥

तज्ज्ञानं निर्मलं सूक्ष्मं निर्विकल्पं यदव्ययम्।
अज्ञानमिति तत्सर्वं विज्ञानमिति मे मतम्॥ ४१॥

वह ज्ञान निर्मल, सूक्ष्म, निर्विकल्प और अविनाशी है, शेष सभी (दृश्यमान प्रपंच) अज्ञानमात्र है। मूल सत्ता ज्ञानकी ही है—ऐसा मेरा मत है॥ ४१॥

एतत्ते परमं सांख्यं भाषितं ज्ञानमुत्तमम्।
सर्ववेदान्तसारं हि योगस्तत्रैकचित्तता॥ ४२॥

मैंने यह उत्तम सांख्यरूप परम ज्ञान तुम्हें बताया है। यह समस्त वेदान्तका सार है और इसमें एकनिष्ठ चित्तवृत्ति होना ही योग है॥ ४२॥

योगात्सञ्जायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रजायते।
योगज्ञानाभियुक्तस्य नावाप्यं विद्यते क्वचित्॥ ४३॥

योगसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है और ज्ञानसे योग परिपुष्ट होता है। योग और ज्ञानसे युक्त साधकके लिये कुछ भी अप्राप्त नहीं रहता॥ ४३॥

यदेव योगिनो यांति सांख्यं तदभिगम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स तत्त्ववित्॥ ४४॥

जिस परमपदको योगीजन प्राप्त करते हैं, ज्ञानी भी वही प्राप्त करते हैं। जो योग और सांख्यको एकरूप देखते हैं, वे ही तत्त्वज्ञानी हैं॥ ४४॥

अन्ये च योगिनो वत्स ऐश्वर्यासक्तचेतसः।
मज्जन्ति तत्र तत्रैव सत्वात्मैक्यमिति श्रुतिः॥ ४५॥

[श्रीरामजी बोले—] हे वत्स! अन्य (दिखावटी) योगीजन तो धन-सम्पत्तिमें आसक्त-चित्तवाले होते हैं और वे उसीमें नष्ट हो जाते हैं। श्रुतिका कथन है कि आत्माकी एकताका बोध ही वास्तवमें प्राप्य परमपद है॥ ४५॥

यत्तत्सर्वगतं दिव्यमैश्वर्यमचलं महत्।
ज्ञानयोगाभियुक्तस्तु देहान्ते तदवाप्नुयात्॥ ४६॥

ज्ञानयोगसे युक्त साधक देहान्त होनेपर उस सर्वव्यापी, दिव्य, महान्, अचल परमैश्वर्य पदको प्राप्त करते हैं॥ ४६॥

एष आत्माहमव्यक्तो मायावी परमेश्वरः।
कीर्तितः सर्ववेदेषु सर्वात्मा सर्वतोमुखः॥ ४७॥
सर्वकामः सर्वरसः सर्वगन्धोऽजरोऽमरः।
सर्वतः पाणिपादोऽहमन्तर्यामी सनातनः॥ ४८॥

मैं अव्यक्त आत्मा हूँ, मैं मायापति परमेश्वर हूँ, मैं सर्वव्यापी और सबकी आत्मा हूँ—ऐसा सभी शास्त्रोंमें कहा गया है। मैं ही

सम्पूर्ण कामनाओं, रसों और गन्धादि विषयोंका परमाधार, अजर-अमर, अन्तर्यामी, सनातन और सर्वत्र हाथ-पैरोंसे स्थित आत्मस्वरूप हूँ॥ ४७-४८॥

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता हृदि संस्थितः।
अचक्षुरपि पश्यामि तथाकर्णः शृणोम्यहम्॥ ४९॥
वेदाहं सर्वमेवेदं न मां जानाति कश्चन।
प्राहुर्महान्तं पुरुषं मामेकं तत्त्वदर्शिनः॥ ५०॥

बिना हाथ-पैरोंवाला होकर भी मैं शीघ्रगामी हूँ और सब कुछ ग्रहण करता हूँ, (सबके) हृदयमें रहता हूँ। मैं बिना आँखोंके देख सकता हूँ और बिना कानके सुन सकता हूँ। मैं यह सब जानता हूँ, पर मुझे कोई नहीं जानता। तत्त्वदर्शी मुझे एकमात्र महान् पुरुष (सत्ता) कहते हैं॥ ४९-५०॥

निर्गुणामलरूपस्य यत्तदैश्वर्यमुत्तमम्।
यन्न देवा विजानन्ति मोहिता मायया मम॥ ५१॥

मेरे निर्गुण, निर्मल स्वरूप और उत्तम ऐश्वर्यको देवता भी नहीं जान पाते; क्योंकि वे मेरी मायासे मोहित रहते हैं॥ ५१॥

यन्मे गुह्यतमं देहं सर्वगं तत्त्वदर्शिनः।
प्रविष्टा मम सायुज्यं लभन्ते योगिनोऽव्ययम्॥ ५२॥

मेरा जो सर्वव्यापी परम गुह्य अव्यय स्वरूप है, उसमें तत्त्वदर्शी योगीजन सायुज्य मुक्ति प्राप्त करके प्रविष्ट होते हैं॥ ५२॥

येषां हि न समापन्ना माया वै विश्वरूपिणी।
लभन्ते परमं शुद्धं निर्वाणं ते मया सह॥ ५३॥

जिन्हें यह विश्वव्यापी माया नहीं छूती, वे योगीजन परम पवित्र निर्वाणपदको मेरे साथ प्राप्त करते हैं॥ ५३॥

न तेषां पुनरावृत्तिः कल्पकोटिशतैरपि।
प्रसादान्मम ते वत्स एतद्वेदानुशासनम्॥ ५४॥
नापुत्रशिष्ययोगिभ्यो दातव्यं हनुमन्क्वचित्।
यदुक्तमेतद्विज्ञानं सांख्ययोगसमाश्रयम्॥ ५५॥

उनका सौ करोड़ कल्पोंमें भी पुनर्जन्म नहीं होता। हे वत्स! मेरी प्रसन्नतासे तुम्हें (यह ज्ञान) प्राप्त हुआ है। यही वेदोंका भी अनुशासन है। हे हनुमान्! सांख्ययोगका आश्रयभूत यह विज्ञान जो मैंने कहा है, उसे कभी अपुत्र, अशिष्य और अयोगी (कुपात्र)-को नहीं बताना चाहिये॥ ५४-५५॥

॥ इति श्रीअद्भुतरामायणे रामगीतायां प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

दूसरा अध्याय

भगवान् श्रीरामद्वारा उपनिषत्-सिद्धान्तका निरूपण

पुना रामः प्रवचनमुवाच द्विजपुङ्गव।
अव्यक्तादभवत्कालः प्रधानं पुरुषः परः॥ १॥

पुनः प्रवचन करते हुए श्रीरामने कहा—हे द्विजश्रेष्ठ! मुझ अव्यक्तसे कालकी उत्पत्ति होती है और उससे प्रधान नामक तत्त्व और परम पुरुषकी॥ १॥

तेभ्यः सर्वमिदं जातं तस्मात्सर्वमहं जगत्।
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्॥ २॥

उन्हींसे यह सारी सृष्टि उत्पन्न हुई है। इसलिये मैं ही सारा संसार हूँ। मेरे हाथ-पैर सब ओर हैं और मेरी आँखें, सिर तथा मुख सर्वत्र व्याप्त हैं॥ २॥

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्॥ ३॥

उस परमात्माके कान सभी ओर हैं। वह सबको व्याप्त करके

स्थित है। वही सभी इन्द्रियों और गुणोंका प्रकाशक है, किंतु सभी इन्द्रियोंसे परे है॥ ३॥

सर्वाधारं स्थिरानन्दमव्यक्तं द्वैतवर्जितम्।
सर्वोपमानरहितं प्रमाणातीतगोचरम्॥ ४॥

वह सभीका आधार, स्थिर, आनन्दरूप, अव्यक्त और अद्वैत है। उसकी कोई उपमा नहीं है और वह किसी प्रमाणसे ज्ञात नहीं हो सकता॥ ४॥

निर्विकल्पं निराभासं सर्वाभासं परामृतम्।
अभिन्नं भिन्नसंस्थानं शाश्वतं ध्रुवमव्ययम्॥ ५॥

वह निर्विकल्प, निराभास, सर्वप्रकाशक, परम अमृत, सर्वथा अभिन्न, किंतु भिन्न आधारवान्, शाश्वत, ध्रुव और अव्यय है॥ ५॥

निर्गुणं परमं व्योम तज्ज्ञानं सूरयो विदुः।
स आत्मा सर्वभूतानां स बाह्याभ्यन्तरात्परः॥ ६॥

वह निर्गुण और परमाकाशस्वरूप है। विद्वान् उसके ज्ञानके अधिकारी हैं। वह सभी भूत-प्राणियोंका आत्मा है और वही बाहर-भीतर और उसके परे भी विद्यमान है॥ ६॥

सोऽहं सर्वत्रगः शान्तो ज्ञानात्मा परमेश्वरः।
मया ततमिदं विश्वं जगदव्यक्तरूपिणा॥ ७॥

वह सर्वव्यापी, शान्त, ज्ञानात्मा, परमेश्वर मैं हूँ। अव्यक्त रूपवाले मेरे द्वारा यह सारा संसार व्याप्त है॥ ७॥

मत्स्थानि सर्वभूतानि यस्तं वेद स वेदवित्।
प्रधानं पुरुषं चैव तत्त्वद्वयमुदाहृतम्॥ ८॥

सभी प्राणी-पदार्थ मुझमें स्थित हैं। जो यह जानता है, वही वेदज्ञ है। प्रधान (प्रकृति) और पुरुष (जीवात्मा)—ये दो तत्त्व कहे गये हैं॥ ८॥

तयोरनादिर्निर्दिष्टः कालः संयोजकः परः।
त्रयमेतदनाद्यन्तमव्यक्ते समवस्थितम्॥ ९॥

दोनोंका परम संयोजक अनादि काल बताया गया है। ये तीनों

अनादि और अनन्त तत्त्व अव्यक्त आत्मामें स्थित रहते हैं॥ ९॥

तदात्मकं तदन्यत्स्यात्तद्रूपं मामकं विदुः।
महदाद्यं विशेषान्तं सम्प्रसूतेऽखिलं जगत्॥ १०॥

तदात्मक होकर भी उससे भिन्न होनेवाला स्वरूप मेरा ही जानो। महत्-तत्त्वसे लेकर विशेषपर्यन्त इस सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि उसीसे होती है॥ १०॥

या सा प्रकृतिरुद्दिष्टा मोहिनी सर्वदेहिनाम्।
पुरुषः प्रकृतिस्थोऽपि भुङ्क्ते यः प्राकृतान् गुणान्॥ ११॥
अहङ्कारविविक्तत्वात्प्रोच्यते पञ्चविंशकः।
आद्यो विकारः प्रकृतेर्महानात्मेति कथ्यते॥ १२॥

सभी देहधारियोंको मोहित करनेवाली प्रकृति कही गयी है। पुरुष उस प्रकृतिमें स्थित हुआ प्राकृत गुणोंका उपभोग करता है। अहंकारसे अलग होनेके कारण वह पच्चीसवाँ तत्त्व कहलाता है। प्रकृतिका प्रथम विकार महत् तत्त्व कहा जाता है॥ ११-१२॥

विज्ञानशक्तिर्विज्ञानादहङ्कारस्तदुत्थितः।
एक एव महानात्मा सोऽहङ्कारोऽभिधीयते॥ १३॥

विज्ञानसे विज्ञानशक्ति और उससे अहंकारकी उत्पत्ति होती है। महत् आत्मा एक ही है और उसीको अहंकार कहा जाता है॥ १३॥

स जीवः सोऽन्तरात्मेति गीयते तत्त्वचिन्तकैः।
तेन वेदयते सर्वं सुखं दुःखं च जन्मसु॥ १४॥

वही जीव और वही अन्तरात्मा नामसे तत्त्वज्ञोंद्वारा कहा जाता है। उसीके द्वारा जन्म-जन्मान्तरोंमें सुख-दुःखादि सभी प्रकारकी अनुभूति होती है॥ १४॥

स विज्ञानात्मकस्तस्य मनः स्यादुपकारकम्।
तेनाविवेकतस्तस्मात्संसारः पुरुषस्य नु॥ १५॥

वह विज्ञानस्वरूप है, उसका उपकारी (सहचर) मन है और

उसके अविवेकसे ही पुरुषको इस संसारकी प्राप्ति होती है॥ १५॥

स चाविवेकः प्रकृतौ सङ्गात्कालेन सोऽभवत्।
कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः॥ १६॥
सर्वे कालस्य वशगा न कालः कस्यचिद्वशे।
सोऽन्तरा सर्वमेवेदं नियच्छति सनातनः॥ १७॥

वह अविवेक (दीर्घ कालतक) प्रकृतिका संग करनेके कारण हो जाता है। काल ही सभी प्राणी-पदार्थोंका सृजन करता है और वही सृष्टिका संहार भी करता है। सभी कालके वशीभूत रहते हैं। काल किसीके वशमें नहीं होता। वही सनातन सबके भीतर प्रवेश करके सबका नियन्त्रण करता है॥ १६-१७॥

प्रोच्यते भगवान् प्राणः सर्वज्ञः पुरुषः परः।
सर्वेन्द्रियेभ्यः परमं मनः प्राहुर्मनीषिणः॥ १८॥
मनसश्चाप्यहङ्कारमहङ्कारान्महान् परः।
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः॥ १९॥

वही भगवान्, प्राण, सर्वज्ञ और परम पुरुष कहा जाता है। विज्ञजनोंद्वारा मनको सभी इन्द्रियोंसे परे कहा गया है। मनसे परे अहंकार और अहंकारसे परे महत् तत्त्व, महत्‌से परे अव्यक्त और उससे परे पुरुष कहे जाते हैं॥ १८-१९॥

पुरुषाद्भगवान् प्राणस्तस्य सर्वमिदं जगत्।
प्राणात्परतरं व्योम व्योमातीतोऽग्निरीश्वरः॥ २०॥

पुरुषसे परे भगवान् प्राण हैं। उन्हींका (विस्तार) यह सारा जगत् है। प्राणसे परे आकाश है और आकाशसे परे मैं अग्निरूपी परमेश्वर हूँ॥ २०॥

सोऽहं सर्वत्रगः शान्तो ज्ञानात्मा परमेश्वरः।
नास्ति मत्परमं भूतं मां विज्ञाय विमुच्यते॥ २१॥

वह परमेश्वर मैं सर्वव्यापी, शान्त और ज्ञानस्वरूप हूँ। मुझसे परे कुछ नहीं है। मुझे जानकर जीव मुक्त हो जाता है॥ २१॥

नित्यं हि नास्ति जगति भूतं स्थावरजङ्गमम्।
ऋते मामेकमव्यक्तं व्योमरूपं महेश्वरम्॥ २२॥

मुझ एक अव्यक्त आकाशरूप महेश्वरको छोड़कर इस संसारमें कोई स्थावर-जंगम पदार्थ नित्य नहीं है॥ २२॥

सोऽहं सृजामि सकलं संहरामि सदा जगत्।
मायी मायामयो देवः कालेन सह सङ्गतः॥ २३॥

मायापति मैं लीलापूर्वक कालके सहयोगसे इस सम्पूर्ण जगत्‌की सदा सृष्टि और इसका संहार करता रहता हूँ॥ २३॥

मत्सन्निधावेष कालः करोति सकलं जगत्।
नियोजयत्यनन्तात्मा ह्येतद्वेदानुशासनम्॥ २४॥

मेरे सान्निध्यसे यह काल सारे जगत्‌की सृष्टि करता है और वही अनन्तात्मा उसका नियमन करता है—यही वेदोंका अनुशासन है॥ २४॥

॥ इति श्रीअद्भुतरामायणे रामगीतायां द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

तीसरा अध्याय

भगवान् श्रीरामद्वारा भक्तियोगका वर्णन

वक्ष्ये समाहितमनाः शृणुष्व पवनात्मज।
येनेदं लभ्यते रूपं येनेदं सम्प्रवर्तते॥ १॥

हे पवनात्मज! जिससे यह रूप प्राप्त होता है और जिससे यह क्रियाशील होता है, उसे बताता हूँ, ध्यानसे सुनो॥ १॥

नाहं तपोभिर्विविधैर्न दानेन न चेज्यया।
शक्यो हि पुरुषैर्ज्ञातुमृते भक्तिमनुत्तमाम्॥ २॥

उत्तम भक्तिके सिवा लोग मुझे तप, दान या यज्ञादिसे नहीं जान सकते॥ २॥

अहं हि सर्वभावानामन्तस्तिष्ठामि सर्वगः।
मां सर्वसाक्षिणं लोका न जानन्ति प्लवङ्गम॥ ३॥

हे वानरश्रेष्ठ! मैं सर्वव्यापी ही सभी प्राणियोंके अन्तरमें स्थित

रहता हूँ, मुझ सर्वसाक्षीको लोग नहीं जान पाते॥ ३॥

यस्यान्तरा सर्वमिदं यो हि सर्वान्तरः परः।
सोऽहं धाता विधाता च लोकेऽस्मिन् विश्वतोमुखः॥ ४॥

जिसके भीतर यह सब कुछ और जो इस सबके भीतर है, वह सर्वत्र व्याप्त, सर्वनियन्ता, सबका पोषक मैं ही हूँ॥ ४॥

न मां पश्यन्ति मुनयः सर्वेऽपि त्रिदिवौकसः।
ब्राह्मणा मनवः शक्रा ये चान्ये प्रथितौजसः॥ ५॥

मुझे सभी ऋषि-मुनि और देवता भी नहीं जानते तथा ब्राह्मण, मनु, इन्द्रादि और अन्य तेजस्वी भी नहीं पहचानते॥ ५॥

गृणन्ति सततं वेदा मामेकं परमेश्वरम्।
यजन्ति विविधैरग्निं ब्राह्मणा वैदिकैर्मखैः॥ ६॥

वेद निरन्तर मुझ एक परमेश्वरकी ही स्तुति करते हैं। ब्राह्मण वैदिक यज्ञों और विविध अग्निविधानोंसे मेरा ही यजन करते हैं॥ ६॥

सर्वे लोका नमस्यन्ति ब्रह्मलोके पितामहम्।
ध्यायन्ति योगिनो देवं भूताधिपतिमीश्वरम्॥ ७॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता चैव फलप्रदः।
सर्वदेवतनुर्भूत्वा सर्वात्मा सर्वसंस्तुतः॥ ८॥

सभी लोग ब्रह्मलोकमें पितामह ब्रह्माको नमन करते हैं। योगीजन भूताधिपति महेश्वरका ध्यान करते हैं, किंतु सभी देवताओंके रूपमें सभीसे पूजित, सर्वात्मा मैं ही सभी यज्ञानुष्ठानोंका भोक्ता और फल प्रदान करनेवाला हूँ॥ ७-८॥

मां पश्यन्तीह विद्वांसो धार्मिका वेदवादिनः।
तेषां सन्निहितो नित्यं ये भक्ता मामुपासते॥ ९॥

वेदज्ञ धार्मिक विद्वान् मुझे जानते हैं। जो भक्त मेरी उपासना करते हैं, उनके मैं सदा ही सन्निकट रहता हूँ॥ ९॥

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या धार्मिका मामुपासते।
तेषां ददामि तत्स्थानमानन्दं परमं पदम्॥ १०॥

जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और धार्मिक वैश्य मेरी उपासना करते हैं, उन्हें मैं अपना आनन्दस्वरूप परम पद प्रदान करता हूँ॥ १०॥

अन्येऽपि ये विकर्मस्थाः शूद्राद्या नीचजातयः।
भक्तिमन्तः प्रमुच्यन्ते कालेन मयि सङ्गताः॥ ११॥

दूसरे भी शूद्र आदि निम्न वर्णके लघुकार्योंमें लगे लोग यदि मेरे भक्त होते हैं तो कालक्रमसे मुक्त होकर वे मुझे ही प्राप्त करते हैं॥ ११॥

न मद्भक्ता विनश्यन्ते मद्भक्ता वीतकल्मषाः।
आदावेतत्प्रतिज्ञातं न मे भक्तः प्रणश्यति॥ १२॥

मेरे दोषरहित भक्त कभी नष्ट नहीं होते। मैंने पहले ही यह प्रतिज्ञा कर रखी है कि मेरे भक्तका विनाश नहीं हो सकता॥ १२॥

यो वा निन्दति तं मूढो देवदेवं स निन्दति।
यो हि तं पूजयेद्भक्त्या स पूजयति मां सदा॥ १३॥

जो मूर्ख मेरे भक्तकी निन्दा करता है, वह मुझ परमेश्वरका निन्दक है और जो आदरपूर्वक उसकी पूजा करता है, वह सदा मेरी ही पूजा करता है॥ १३॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं मदाराधनकारणात्।
यो मे ददाति नियतः स मे भक्तः प्रियो मतः॥ १४॥

जो भक्त मेरी आराधनाके भावसे पत्र, पुष्प, फल या जल मुझे अर्पित करता है, वह सदा ही मेरा प्रिय भक्त है॥ १४॥

अहं हि जगतामादौ ब्रह्माणं परमेष्ठिनम्।
निधाय दत्तवान् वेदानशेषानास्यनिःसृतान्॥ १५॥

मैंने ही सृष्टिके प्रारम्भमें परमेष्ठी ब्रह्माको प्रतिष्ठितकर अपने

मुखसे निकले समस्त वेद उन्हें दिये थे॥ १५॥

अहमेव हि सर्वेषां योगिनां गुरुरव्ययः।
धार्मिकाणां च गोप्ताहं निहन्ता वेदविद्विषाम्॥ १६॥

मैं ही समस्त योगियोंका सनातन गुरु हूँ। धार्मिक लोगोंका मैं संरक्षण करता हूँ और वेदविरोधी (दुष्टों)-का संहारक हूँ॥ १६॥

अहं वै सर्वसंसारान्मोचको योगिनामिह।
संसारहेतुरेवाहं सर्वसंसारवर्जितः॥ १७॥

मैं ही समस्त योगियोंको संसारसे मुक्त करता हूँ। इस सृष्टिका कारण होकर भी मैं समस्त सृष्टिसे परे हूँ॥ १७॥

अहमेव हि संहर्ता स्रष्टाहं परिपालकः।
मायावी मामिका शक्तिर्माया लोकविमोहिनी॥ १८॥

मैं ही इस सृष्टिका स्रष्टा, पालक और संहारक हूँ। मैं ही मायापति हूँ और मेरी शक्ति माया (अविद्या) इस समस्त संसारको भ्रमित करती रहती है॥ १८॥

ममैव च परा शक्तिर्या सा विद्येति गीयते।
नाशयामि तया मायां योगिनां हृदि संस्थितः॥ १९॥

मेरी ही पराशक्ति विद्या कही जाती है। उससे मैं योगियोंके चित्तमें स्थित होकर माया (अविद्या)-का नाश करता हूँ॥ १९॥

अहं हि सर्वशक्तीनां प्रवर्तकनिवर्तकः।
आधारभूतः सर्वासां निधानममृतस्य च॥ २०॥

मैं ही समस्त शक्तियोंका प्रवर्तक और निवर्तक हूँ। मैं ही सबका अधिष्ठान और अमृतका निधान हूँ॥ २०॥

एका सर्वान्तरा शक्तिः करोति विविधं जगत्।
भूत्वा नारायणोऽनन्तो जगन्नाथो जगन्मयः॥ २१॥

एक सबके भीतर स्थित शक्ति ही अनन्त, नारायण, जगद्व्यापी,

जगन्नाथ होकर विभिन्न लोकोंकी सृष्टि करती है॥ २१॥

तृतीया महती शक्तिर्निहन्ति सकलं जगत्।
तामसी मे समाख्याता कालात्मा रुद्ररूपिणी॥ २२॥

तीसरी महान् शक्ति समस्त सृष्टिका संहार करती है। वह मेरी शक्ति तामसी कालस्वरूपा रुद्ररूपिणी कही जाती है॥ २२॥

ध्यानेन मां प्रपश्यन्ति केचिज्ज्ञानेन चापरे।
अपरे भक्तियोगेन कर्मयोगेन चापरे॥ २३॥

कोई भक्त ध्यानसे, कोई ज्ञानसे, अन्य भक्तियोग अथवा कर्मयोगसे मुझे प्राप्त करते हैं॥ २३॥

सर्वेषामेव भक्तानामेष प्रियतरो मम।
यो विज्ञानेन मां नित्यमाराधयति नान्यथा॥ २४॥

इन सभी प्रकारके भक्तोंमें मुझे वह सर्वाधिक प्रिय है, जो आत्मानुसन्धानरूपी विज्ञानसे नित्य मेरी आराधना करता है॥ २४॥

अन्ये च ये त्रयो भक्ता मदाराधनकाङ्क्षिणः।
तेऽपि मां प्राप्नुवन्त्येव नावर्तन्ते च वै पुनः।
मया ततमिदं कृत्स्नमेतद्यो वेद सोऽमृतः॥ २५॥

अन्य तीनों प्रकारके भक्त भी जो मेरी आराधनामें ही प्रवृत्त हैं, वे भी मुझे ही प्राप्त करते हैं और उनका भी पुनर्जन्म नहीं होता। मैं ही इन सब (प्राणी-पदार्थों)-में व्याप्त हूँ—जो ऐसा जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त हो जाता है॥ २५॥

पश्याम्यशेषमेवेदं वर्तमानं स्वभावतः।
करोति काले भगवान् महायोगेश्वरः स्वयम्॥ २६॥

मैं स्वभावतः इस समस्त प्रपंचको वर्तमान ही देखता हूँ। भगवान् महायोगेश्वर स्वयं समयानुसार इसका नियमन करते हैं॥ २६॥

योगं सम्प्रोच्यते योगी मायी शास्त्रेषु सूरिभिः।
योगेश्वरोऽसौ भगवान् महादेवो महान् प्रभुः॥ २७॥

शास्त्रोंमें विद्वानोंने उन परमयोगी मायाधीश भगवान् महादेवको योगरूपसे वर्णित किया है, वे ही योगेश्वर सबके स्वामी हैं॥ २७॥

महत्त्वात्सर्वसत्त्वानां परत्वात्परमेश्वरः।
प्रोच्यते भगवान् ब्रह्मा महान् ब्रह्ममयो यतः॥ २८॥

सभी प्राणियोंसे महान् और परे होनेसे भगवान् ब्रह्मा भी परमेश्वर हैं; क्योंकि वे ब्रह्मस्वरूप हैं॥ २८॥

यो मामेवं विजानाति महायोगेश्वरेश्वरम्।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ २९॥

जो मुझे इस प्रकार (स्रष्टा-पालक-संहारक) महायोगेश्वर ईश्वररूपसे जानता है, वह अविभक्त योगको निश्चय ही प्राप्त कर लेता है॥ २९॥

सोऽहं प्रेरयिता देवः परमानन्दमाश्रितः।
तिष्ठामि योगी सततं यस्तद्वेद स वेदवित्॥ ३०॥

मैं ही सबका प्रेरक ईश्वर, परमानन्दमें प्रतिष्ठित तथा योगस्वरूपसे नित्य स्थित हूँ—जो ऐसा जानता है, वही वेदोंका सार समझता है॥ ३०॥

इति गुह्यतमं ज्ञानं सर्ववेदेषु निश्चितम्।
प्रसन्नचेतसे देयं धार्मिकायाहिताग्नये॥ ३१॥

यह परम रहस्यमय ज्ञान सभी वेदोंमें प्रतिष्ठित है। धार्मिक, आहिताग्नि, शुद्ध चित्तवाले (जिज्ञासुओं)-को ही यह बताना चाहिये॥ ३१॥

॥ इति श्रीअद्भुतरामायणे रामगीतायां तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

चौथा अध्याय

भगवान् श्रीरामद्वारा हनुमान्‌जीसे अपने परमात्मस्वरूपका वर्णन

सर्वलोकैकनिर्माता सर्वलोकैकरक्षिता।
सर्वलोकैकसंहर्ता सर्वात्माहं सनातनः॥ १॥

[भगवान् श्रीराम कहते हैं—] मैं सभी लोकोंका एकमात्र स्रष्टा, पालक, संहारक, सर्वात्मा और सनातन हूँ॥ १॥

सर्वेषामेव वस्तूनामन्तर्यामी पिता ह्यहम्।
मय्येवान्तःस्थितं सर्वं चाहं सर्वत्र संस्थितः॥ २॥

सभी वस्तुओंके भीतर रहनेवाला अन्तर्यामी आत्मा तथा सबका पिता मैं ही हूँ। मुझमें ही सारे (प्राणी-पदार्थ) स्थित रहते हैं और मैं भी उन सबमें स्थित रहता हूँ॥ २॥

भवता चाद्‌भुतं दृष्टं यत्स्वरूपं तु मामकम्।
ममैषा ह्युपमा वत्स मायया दर्शिता मया॥ ३॥

हे वत्स! तुमने जो मेरा अद्भुत स्वरूप देखा है, उसे मेरे समान जानो, उसे मैंने ही मायापूर्वक तुम्हें दिखाया है॥ ३॥

सर्वेषामेव भावानामन्तरा समवस्थितः।
प्रेरयामि जगत्सर्वं क्रियाशक्तिरियं मम॥ ४॥

सभी प्राणियोंके अन्तःस्थित होकर मैं सारे संसारको कार्यमें प्रेरित करता हूँ—यह मेरी क्रियाशक्ति है॥ ४॥

मयेदं चेष्टते विश्वं मत्स्वभावानुवर्ति च।
सोऽहं काले जगत्कृत्स्नं करोमि हनुमन् किल॥ ५॥
संहराम्येकरूपेण द्विधावस्था ममैव तु।
आदिमध्यान्तनिर्मुक्तो मायातत्त्वप्रवर्तकः॥ ६॥

संसारमें जो भी क्रियाकलाप होता है, वह मेरे द्वारा ही संचालित

है और मेरे स्वभावानुरूप होता है। हे हनुमान्! समय आनेपर मैं ही उस समस्त जगत्की सृष्टि और संहार करता हूँ—ये दोनों स्थितियाँ मेरी ही हैं। मैं ही आदि-मध्य और अन्तसे रहित तथा मायातत्त्वका संचालक हूँ॥ ५-६॥

क्षोभयामि च सर्गादौ प्रधानपुरुषावुभौ।
ताभ्यां सञ्जायते सर्वं संयुक्ताभ्यां परस्परम्॥ ७॥

मैं सृष्टिके प्रारम्भमें प्रकृति और पुरुषमें क्षोभ उत्पन्न करता हूँ। उनके परस्पर मेलसे ही सब उत्पन्न होता है॥ ७॥

महदादिक्रमेणैव मम तेजो विजृम्भितम्।
यो हि सर्वजगत्साक्षी कालचक्रप्रवर्तकः॥ ८॥
हिरण्यगर्भो मार्तण्डः सोऽपि मद्देहसम्भवः।
तस्मै दिव्यं स्वमैश्वर्यं ज्ञानयोगं सनातनम्॥ ९॥
दत्तवानात्मजान् वेदान् कल्पादौ चतुरः किल।
स मन्नियोगतो ब्रह्मा सदा मद्भावभावितः॥ १०॥

महदादिके (पूर्वोक्त) क्रमसे मेरा ही तेज प्रकाशित होता है। जो सारे संसारका साक्षी, कालचक्रका नियन्ता, हिरण्यगर्भ सूर्य है, वह भी मेरे ही शरीरसे उत्पन्न हुआ है। उसको मैंने अपना दिव्य ऐश्वर्य तथा सनातन ज्ञानयोग प्रदान किया है। अपनेसे उपपन्न चारों वेद भी कल्पके आरम्भमें मैंने प्रदान किये। ब्रह्मा मेरे अनुशासनमें सदा मेरे अनुकूल रहते हैं॥ ८—१०॥

दिव्यं तन्मामकैश्वर्यं सर्वदा वहति स्वयम्।
स सर्वलोकनिर्माता मन्नियोगेन सर्ववित्।
भूत्वा चतुर्मुखः सर्गं सृजत्येवात्मसम्भवः॥ ११॥

वे मेरे उस दिव्य ऐश्वर्यको सदा स्वयं धारण करते हैं। वे सर्वज्ञ ब्रह्मा मेरे आदेशानुसार सभी लोकोंका निर्माण करते हैं। वे चतुर्मुख स्वरूपसे स्वयम्भू होकर सारी सृष्टिकी रचना करते हैं॥ ११॥

योऽपि नारायणोऽनन्तो लोकानां प्रभवाव्ययः।
ममैव परमा मूर्तिः करोति परिपालनम्॥ १२॥

जो अनन्त लोकोंके स्वामी अव्यय नारायण हैं, वे मेरे ही परमस्वरूप हैं और सृष्टिका परिपालन करते हैं॥ १२॥

योऽन्तकः सर्वभूतानां रुद्रः कालात्मकः प्रभुः।
मदाज्ञयासौ सततं संहरत्येव मे तनुः॥ १३॥

जो भगवान् कालात्मक रुद्र हैं, वे सभीका अन्त करनेवाले तथा मेरे ही स्वरूप हैं। वे मेरी आज्ञासे निरन्तर (इस सृष्टिका) संहार करते रहते हैं॥ १३॥

हव्यं वहति देवानां कव्यं कव्याशिनामपि।
पाकं च कुरुते वह्निः सोऽपि मच्छक्तिचोदितः॥ १४॥

जो अग्निदेव देवताओंके लिये हव्य और पितृगणोंके लिये कव्य ले जाते हैं तथा अन्नादिको पकानेका कार्य करते हैं, वे मेरी ही शक्तिसे संचालित होते हैं॥ १४॥

भुक्तमाहारजातं यत्पचत्येतदहर्निशम्।
वैश्वानरोऽग्निर्भगवानीश्वरस्य नियोगतः॥ १५॥

भगवान् वैश्वानर अग्नि भी मुझ परमेश्वरके अनुशासनसे ही खाये हुए भोजनको रात-दिन पचाते हैं॥ १५॥

यो हि सर्वाम्भसां योनिर्वरुणो देवपुङ्गवः।
स सञ्जीवयते सर्वमीशस्यैव नियोगतः॥ १६॥

समस्त जलाशयोंके आदिकारण देवश्रेष्ठ वरुण मुझ परमेश्वरकी आज्ञासे ही सबको जीवन प्रदान करते हैं॥ १६॥

योऽन्तस्तिष्ठति भूतानां बहिर्देवो निरञ्जनः।
मदाज्ञयासौ भूतानां शरीराणि बिभर्ति हि॥ १७॥

जो निरंजन प्राणदेव प्राणियोंके भीतर और बाहर संचरण करते रहते हैं, वे मेरी ही आज्ञासे जीवोंका शरीर धारण करते हैं॥ १७॥

योऽपि सञ्जीवनो नृणां देवानाममृताकरः।
सोमः स मन्नियोगेन चोदितः किल वर्तते॥ १८॥

जो देवताओंके लिये अमृतके भण्डार और मनुष्योंको नवजीवन प्रदान करनेवाले सोमराज चन्द्र हैं, वे मेरी ही आज्ञासे प्रेरित होते हैं॥ १८॥

यः स्वभासा जगत्कृत्स्नं प्रकाशयति सर्वदा।
सूर्यो वृष्टिं वितनुते शास्त्रेणैव स्वयम्भुवः॥ १९॥

जो अपने प्रकाशसे समस्त संसारको सदा आलोकित करते हैं और वृष्टि प्रदान करते हैं, वे सूर्यदेव [मुझ] स्वयम्भू परमेश्वरके ही अधीन हैं॥ १९॥

योऽप्यशेषजगच्छास्ता शक्रः सर्वामरेश्वरः।
यज्ञानां फलदो देवो वर्ततेऽसौ मदाज्ञया॥ २०॥

जो समस्त संसारके शासक, सभी देवताओंके स्वामी, यज्ञोंका फल प्रदान करनेवाले इन्द्रदेव हैं, वे भी मेरी आज्ञाके वशवर्ती हैं॥ २०॥

यः प्रशास्ता ह्यसाधूनां वर्तते नियमादिह।
यमो वैवस्वतो देवो देवदेवनियोगतः॥ २१॥

जो दुष्टोंका निग्रह करते हैं, सदा नियमानुसार आचरण करते हैं, वे वैवस्वत यमराज भी [मुझ] परमेश्वरके आज्ञानुवर्ती हैं॥ २१॥

योऽपि सर्वधनाध्यक्षो धनानां सम्प्रदायकः।
सोऽपीश्वरनियोगेन कुबेरो वर्तते सदा॥ २२॥

जो सम्पूर्ण सम्पत्तियोंके स्वामी—धनाध्यक्ष और धन प्रदान करनेवाले कुबेर हैं, वे भी सदा [मुझ] ईश्वरके अनुशासनमें व्यवहार करते हैं॥ २२॥

यः सर्वरक्षसां नाथस्तापसानां फलप्रदः।
मन्नियोगादसौ देवो वर्तते निर्ऋतिः सदा॥ २३॥

जो सभी राक्षसोंके स्वामी, तपस्वियोंको फल प्रदान करनेवाले निर्ऋतिदेव हैं, वे मेरी ही आज्ञाके अनुसार सदा व्यवहार करते हैं॥ २३॥

वेतालगणभूतानां स्वामी भोगफलप्रदः।
ईशानः सर्वभक्तानां सोऽपि तिष्ठेन्ममाज्ञया॥ २४॥

वेताल और भूतगणोंके स्वामी, सभी भक्तोंको भोग (इष्ट) फल प्रदान करनेवाले ईशानदेव भी मेरी आज्ञामें ही रहते हैं॥ २४॥

यो वामदेवोऽङ्गिरसः शिष्यो रुद्रगणाग्रणीः।
रक्षको योगिनां नित्यं वर्ततेऽसौ मदाज्ञया॥ २५॥

अंगिराके शिष्य और रुद्रगणोंके प्रमुख जो योगियोंके संरक्षक हैं, वे वामदेव नित्य मेरी आज्ञाका अनुसरण करते हैं॥ २५॥

यश्च सर्वजगत्पूज्यो वर्तते विघ्नकारकः।
विनायको धर्मनेता सोऽपि मद्वचनात्किल॥ २६॥

जो सम्पूर्ण संसारके [प्रथम] पूज्य और विघ्नराज हैं, वे धर्माध्यक्ष विनायक भी मेरे वचनोंके अधीन हैं॥ २६॥

योऽपि वेदविदां श्रेष्ठो देवसेनापतिः प्रभुः।
स्कन्दोऽसौ वर्तते नित्यं स्वयम्भूप्रतिचोदितः॥ २७॥

जो वेदज्ञोंमें श्रेष्ठ देवसेनापति भगवान् स्कन्द हैं, वे भी सदा [मुझ] स्वयम्भूसे ही प्रेरित होते हैं॥ २७॥

ये च प्रजानां पतयो मरीच्याद्या महर्षयः।
सृजन्ति विविधं लोकं परस्यैव नियोगतः॥ २८॥

जो मरीचि आदि महर्षि प्रजापतिरूपसे विविध लोकोंको उत्पन्न करते हैं, वे [मुझ] परमेश्वरकी आज्ञाके अधीन ही ऐसा करते हैं॥ २८॥

या च श्रीः सर्वभूतानां ददाति विपुलां श्रियम्।
पत्नी नारायणस्यासौ वर्तते मदनुग्रहात्॥ २९॥

जो भगवती लक्ष्मी सभी प्राणियोंको महान् ऐश्वर्य प्रदान करती हैं, वे नारायणकी अर्धांगिनी मेरे अनुग्रहसे ही ऐसा करती हैं॥ २९॥

वाचं ददाति विपुलां या च देवी सरस्वती।
सापीश्वरनियोगेन चोदिता सम्प्रवर्तते॥ ३०॥

जो देवी सरस्वती वाणीका विशद वैभव प्रदान करती हैं, वे

भी [मुझ] परमेश्वरकी प्रेरणासे ही ऐसा करती हैं॥ ३०॥

याशेषपुरुषान् घोरान्नरकात्तारयत्यपि।
सावित्री संस्मृता देवी देवाज्ञानुविधायिनी॥ ३१॥

जो स्मरण करनेपर समस्त (धार्मिक) पुरुषोंको नरकोंसे बचाती हैं, वे देवी सावित्री भी [मुझ] भगवान्‌की ही आज्ञानुवर्तिनी हैं॥ ३१॥

पार्वती परमा देवी ब्रह्मविद्याप्रदायिनी।
यापि ध्याता विशेषेण सापि मद्वचनानुगा॥ ३२॥

परादेवी पार्वती, जो ध्यान करनेपर विशिष्ट ब्रह्मविद्या प्रदान करनेवाली हैं, वे भी मेरे वचनकी अनुगामिनी हैं॥ ३२॥

योऽनन्तो महिमानन्तः शेषोऽशेषामरप्रभुः।
दधाति शिरसा लोकं सोऽपि देवनियोगतः॥ ३३॥

जो अनन्त महिमाशाली देवश्रेष्ठ शेष सम्पूर्ण लोकोंको अपने मस्तकपर धारण करते हैं, वे भी [मुझ] परमात्माके अधीन हैं॥ ३३॥

योऽग्निः संवर्तको नित्यं वडवारूपसंस्थितः।
पिबत्यखिलमम्भोधिमीश्वरस्य नियोगतः॥ ३४॥

जो संवर्तक अग्निदेव नित्य वड़वाग्निके रूपसे समस्त समुद्रोंका जल पीते रहते हैं, वे भी [मुझ] ईश्वरके अधीन हैं॥ ३४॥

आदित्या वसवो रुद्रा मरुतश्च तथाश्विनौ।
अन्याश्च देवताः सर्वा मच्छासनमधिष्ठिताः॥ ३५॥

आदित्यगण, वसुगण, रुद्रगण, मरुद्‌गण और अश्विनीकुमार तथा अन्य सभी देवगण मेरे ही अनुशासनमें रहते हैं॥ ३५॥

गन्धर्वा उरगा यक्षाः सिद्धाः साध्याश्च चारणाः।
भूतरक्षःपिशाचाश्च स्थिताः शास्त्रे स्वयम्भुवः॥ ३६॥

गन्धर्व, सर्प, यक्ष, सिद्ध, साध्य, चारण, भूत, राक्षस, और पिशाच (सभी मुझ) स्वयम्भूके शासनाधीन हैं॥ ३६॥

कलाकाष्ठानिमेषाश्च मुहूर्ता दिवसाः क्षपाः।
ऋत्वब्दमासपक्षाश्च स्थिताः शास्त्रे प्रजापतेः॥ ३७॥

युगमन्वन्तराण्येव मम तिष्ठन्ति शासने।
पराश्चैव परार्धाश्च कालभेदास्तथापरे॥ ३८॥

कला, काष्ठा, निमेष, मुहूर्त, दिन-रात्रि, ऋतुएँ, वर्ष, मास और पक्ष—सभी [मुझ] प्रजापतिके शासनमें स्थित हैं। युग और मन्वन्तर, पर और परार्धादि जो कालके अन्य भेद हैं, वे भी मेरे ही अधीन रहते हैं॥ ३७-३८॥

चतुर्विधानि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
नियोगादेव वर्तन्ते सर्वाण्येव स्वयम्भुवः॥ ३९॥

चार प्रकारके प्राणी, चर और अचर पदार्थ—सभी मुझ स्वयम्भू परमेश्वरकी ही आज्ञाका अनुसरण करते हैं॥ ३९॥

पत्तनानि च सर्वाणि भुवनानि च शासनात्।
ब्रह्माण्डानि च वर्तन्ते देवस्य परमात्मनः॥ ४०॥

सभी लोक और भुवन तथा ब्रह्माण्ड [मुझ] परमात्मदेवकी ही आज्ञामें रहते हैं॥ ४०॥

अतीतान्यप्यसंख्यानि ब्रह्माण्डानि ममाज्ञया।
प्रवृत्तानि पदार्थौघैः सहितानि समन्ततः॥ ४१॥

अतीतके भी असंख्य ब्रह्माण्ड अपने समस्त पदार्थ-समूहोंके साथ मेरी आज्ञासे ही संचालित हुए हैं॥ ४१॥

ब्रह्माण्डानि भविष्यन्ति सह वस्तुभिरात्मगैः।
हरिष्यन्ति सहैवाज्ञां परस्य परमात्मनः॥ ४२॥

भविष्यमें भी वस्तुसमूहोंसे भरे जो ब्रह्माण्ड होंगे, वे [मुझ] परात्पर परमात्माकी आज्ञासे ही रहेंगे और समाप्त हो जायँगे॥ ४२॥

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
भूतादिरादिप्रकृतिर्नियोगान्मम वर्तते॥ ४३॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और प्राणी-पदार्थोंकी आदि प्रकृति मेरे ही अनुशासनमें रहती है॥ ४३॥

याशेषसर्वजगतां मोहिनी सर्वदेहिनाम्।
मायापि वर्तते नित्यं सापीश्वरनियोगतः॥ ४४॥

सभी संसार और प्राणिमात्रको मोहित करनेवाली जो मायाशक्ति (अविद्या) है, वह भी सदा [मुझ] परमेश्वरके अधीन है॥ ४४॥

विधूय मोहकलिलं यथा पश्यति तत्पदम्।
सापि विद्या महेशस्य नियोगाद्वशवर्तिनी॥ ४५॥
बहुनात्र किमुक्तेन मम शक्त्यात्मकं जगत्॥ ४६॥

मोहके कीचड़को हटाकर परमपदका दर्शन करानेवाली जो विद्या (ज्ञानशक्ति) है, वह भी [मुझ] परमेश्वरके अनुशासनमें ही रहती है। अधिक कहनेसे क्या लाभ है, यह सारा संसार मेरी ही शक्तिसे उत्पन्न है॥ ४५-४६॥

मयैव पूर्यते विश्वं मय्येव प्रलयं व्रजेत्।
अहं हि भगवानीशः स्वयं ज्योतिः सनातनः॥ ४७॥

मुझसे ही इस संसारका भरण-पोषण होता है और मुझमें ही इसका लय होता है। मैं ही स्वयंप्रकाश, सनातन, सर्वेश्वर प्रभु हूँ॥ ४७॥

परमात्मा परं ब्रह्म मत्तो ह्यन्यन्न विद्यते।
इत्येतत्परमं ज्ञानं भवते कथितं मया॥ ४८॥

मैं ही परमात्मा, परब्रह्म हूँ; मुझसे अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह परम ज्ञान मैंने तुम्हारे लिये बता दिया॥ ४८॥

ज्ञात्वा विमुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात्।
मायामाश्रित्य जातोऽहं गृहे दशरथस्य हि॥ ४९॥

इसे जानकर प्राणी जन्म और संसारके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। मैंने अपनी मायाका आश्रय लेकर दशरथके घरमें [पुत्ररूपसे] जन्म लिया है॥ ४९॥

रामोऽहं लक्ष्मणो ह्येष शत्रुघ्नो भरतोऽपि च।
चतुर्धा सम्प्रभूतोऽहं कथितं तेऽनिलात्मज॥ ५०॥

मैंने ही राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न—इन चार रूपोंमें जन्म लिया है। हे पवनात्मज! यह मैंने तुम्हें बता दिया॥ ५०॥

मायास्वरूपं च तव कथितं यत्प्लवङ्गम।
कृपया तद्धृदा धार्यं न विस्मर्तव्यमेव हि॥ ५१॥

हे वानरश्रेष्ठ! मायास्वरूप भी मैंने तुम्हें कृपापूर्वक बताया है। इसे हृदयमें धारण करना और कभी भूलना मत॥ ५१॥

येनायं पठ्यते नित्यं संवादो भवतो मम।
जीवन्मुक्तो भवेत्सोऽपि सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ५२॥

जो मेरे-तुम्हारे इस संवादको नित्य पढ़ता है, वह जीवन्मुक्त होकर सभी पापोंसे छूट जाता है॥ ५२॥

श्रावयेद्वा द्विजाञ्छुद्धान् ब्रह्मचर्यपरायणान्।
यो वा विचारयेदर्थं स याति परमां गतिम्॥ ५३॥

जो इसे ब्रह्मचारी, शुद्धचित्त ब्राह्मणोंको सुनाता है या जो इसके अर्थका चिन्तन-मनन करता है, वह परमगतिको प्राप्त करता है॥ ५३॥

यश्चैतच्छृणुयान्नित्यं भक्तियुक्तो दृढव्रतः।
सर्वपापविनिर्मुक्तो ब्रह्मलोके महीयते॥ ५४॥

जो इसे नियमपूर्वक भक्तिभावसे नित्य सुनता है, वह सभी पापोंसे रहित होकर ब्रह्मलोकको प्राप्त करता है॥ ५४॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन पठितव्यो मनीषिभिः।
श्रोतव्यश्चापि मन्तव्यो विशेषाद् ब्राह्मणैः सदा॥ ५५॥

इसलिये बुद्धिमान् लोगोंको विशेषकर ब्रह्मपरायणजनोंको पूरा प्रयत्न करके इसे पढ़ना-सुनना चाहिये और इसपर सदा मनन करना चाहिये॥ ५५॥

॥ इति श्रीअद्भुतरामायणे रामगीतायां चतुर्थोऽध्यायः॥

॥ रामगीता सम्पूर्णा॥

भगवतीगीता

['भगवतीगीता' देवीपुराण नामक उपपुराणके अन्तर्गत समाहित है। उपपुराण होते हुए भी देवीके भक्तोंमें चिरकालसे देवीपुराणका बहुत प्रचार रहा है, सम्भवतः इसी कारण इसका एक नाम 'महाभागवत' भी है। उल्लेखनीय है कि उक्त देवीपुराण प्रसिद्ध देवीभागवतमहापुराणसे सर्वथा भिन्न एक ग्रन्थ है। देवीपुराणके अध्याय १५ से १९ तक कुल ५ अध्यायोंमें श्रीभगवतीगीता विस्तृत है। इसे 'पार्वतीगीता' भी कहा जाता है। पार्वतीजीने अपने पिता गिरिराज हिमालयके प्रति ब्रह्मविद्याका उपदेश किया है, जिसे जाननेमात्रसे प्राणी ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। जो मनुष्य इसका पाठ करता है, उसके लिये मुक्ति सुलभ हो जाती है। अत्यन्त सहज तथा सुबोध भाषामें निबद्ध यह गीता यहाँ सानुवाद प्रस्तुत है—]

पहला अध्याय

आद्यशक्तिका 'पार्वती' नामसे हिमालयके यहाँ प्राकट्य और दिव्य विज्ञानयोगका उपदेश

नारद उवाच

ब्रूहि देव महेशान यथा सा परमेश्वरी।
बभूव मेनकागर्भे पूर्णभावेन पार्वती॥ १॥

नारदजी बोले—महादेव! परमेश्वरी सती जिस प्रकार अपने पूर्णावतारमें पार्वतीरूपसे मेनकाके गर्भमें आयीं, उस कथाको कृपापूर्वक बतायें॥ १॥

श्रुतं बहुपुराणेषु ज्ञायतेऽपि च यद्यपि।
जन्मकर्मादिकं तस्यास्तथापि परमेश्वर॥ २॥

श्रोतुं समिष्यते त्वत्तो यतस्त्वं वेत्सि तत्त्वतः।
तद्वदस्व महादेव विस्तरेण महामते॥ ३॥

परमेश्वर! यद्यपि उन जगदम्बाके जन्म, कर्मादिकी कथा अनेक पुराणोंमें सुनी गयी है तथा ज्ञात भी है तथापि उसे मैं आपसे अच्छी तरह सुनना चाहता हूँ; क्योंकि आप इस वृत्तान्तको ठीक-ठीक जानते हैं। महामते! महादेव! इसलिये कृपाकर विस्तारपूर्वक वह कथा कहें॥ २-३॥

श्रीमहादेव उवाच

त्रैलोक्यजननी दुर्गा ब्रह्मरूपा सनातनी।
प्रार्थिता गिरिराजेन तत्पत्न्या मेनयापि च॥ ४॥
महोग्रतपसा पुत्रीभावेन मुनिपुङ्गव।
प्रार्थिता च महेशेन सतीविरहदुःखिना॥ ५॥
प्रययौ मेनकागर्भे पूर्णब्रह्ममयी स्वयम्।
ततः शुभदिने मेना राजीवसदृशाननाम्॥ ६॥
सुषुवे तनयां देवीं सुप्रभां जगदम्बिकाम्।
ततोऽभवत्पुष्पवृष्टिः सर्वतो मुनिसत्तम॥ ७॥

श्रीमहादेवजी बोले—मुनिश्रेष्ठ! गिरिराज और उनकी पत्नी मेनाने त्रैलोक्यमाता, सनातनी और ब्रह्मरूपा दुर्गादेवीकी महान् उग्र तपस्या करके उन्हें पुत्रीरूपसे पानेकी प्रार्थना की थी। भगवान् शिवने भी सतीके विरहसे दुःखी होकर उन्हें प्राप्त करनेका अनुरोध किया था। अतः ब्रह्मरूपा जगदम्बिका स्वयं मेनाके गर्भमें आयीं। तदनन्तर देवी मेनाने शुभ दिनमें कमलके समान मुखवाली, सुन्दर प्रभावाली, जगन्माता भगवतीको पुत्रीरूपसे जन्म दिया। मुनिवर! उस समय सर्वत्र पुष्पवृष्टि होने लगी॥ ४—७॥

पुण्यगन्धो ववौ वायुः प्रसन्नाश्च दिशो दश।
तथाद्रिराजः श्रुत्वा तु पुत्रीं जातां शुभाननाम्॥ ८॥
तरुणादित्यकोट्याभां त्रिनेत्रां दिव्यरूपिणीम्।
अष्टहस्तां विशालाक्षीं चन्द्रार्धकृतशेखराम्॥ ९॥
मेने तां प्रकृतिं सूक्ष्मामाद्यां जातां स्वलीलया।
तदा हृष्टमना भूत्वा विप्रेभ्यो प्रददौ बहु॥ १०॥
धनं वासांसि च मुने दोग्ध्रीर्गाश्च सहस्रशः।
द्रष्टुं प्रतियययौ चाशु बन्धुभिः परिवारितः॥ ११॥

दसों दिशाओंमें प्रकाश फैल गया और सुगन्धित वायु बहने लगी। जब पर्वतराजने सुना कि उनके यहाँ सुन्दर कन्याने जन्म लिया है, जो करोड़ों मध्याह्नकालीन सूर्यके समान तेजस्विनी, तीन नेत्रोंवाली, दिव्यस्वरूपा, बड़ी-बड़ी आँखोंवाली, आठ भुजाओंसे युक्त और मस्तकपर अर्धचन्द्रको धारण किये है तो उन्होंने जान लिया कि सूक्ष्मा परा-प्रकृतिने ही अपनी लीलासे उनके यहाँ अवतार ग्रहण किया है। मुने! उन्होंने हर्षित होकर ब्राह्मणोंको प्रचुर धन, वस्त्र और हजारों दुधार गौएँ प्रदान कीं। तत्पश्चात् वे बन्धु-बान्धवोंसहित शीघ्र ही कन्याको देखने पहुँचे॥ ८—११॥

ततस्तमागतं ज्ञात्वा गिरीन्द्रं मेनका तदा।
प्रोवाच तनयां पश्य राजन् राजीवलोचनाम्॥ १२॥
आवयोस्तपसा जाता सर्वभूतहिताय च।
ततः सोऽपि निरीक्ष्यैनां ज्ञात्वा तां जगदम्बिकाम्॥ १३॥
प्रणम्य शिरसा भूमौ कृताञ्जलिपुटः स्थितः।
प्रोवाच वचनं देवीं भक्त्या गद्गदया गिरा॥ १४॥

गिरिराजको आया जानकर मेनाने उनसे कहा—राजन्! अपनी कमलनयनी पुत्रीको देखिये, ये हम दोनोंकी तपस्याका फल हैं और

सभी प्राणियोंके कल्याणहेतु प्रकट हुई हैं। तब गिरिराजने भी कन्याको देखकर उसे जगदम्बिकाके रूपमें जाना। भूमिपर सिर झुकाकर प्रणाम करते हुए हाथ जोड़कर भक्तिपूर्वक गद्‌गद वाणीसे वे देवीसे कहने लगे॥ १२—१४॥

हिमालय उवाच

का त्वं मातर्विशालाक्षि चित्ररूपा सुलक्षणा।
न जाने त्वामहं वत्से यथावत्कथयस्व माम्॥ १५॥

हिमालय बोले—माता! विशालाक्षी! इस विलक्षण विचित्र रूपमें आप कौन हैं? पुत्री! मैं आपको नहीं जान पा रहा हूँ। मुझे यथावत् अपना वृत्तान्त बताइये॥ १५॥

श्रीदेव्युवाच

जानीहि मां परां शक्तिं महेश्वरकृताश्रयाम्।
शाश्वतैश्वर्यविज्ञानमूर्तिं सर्वप्रवर्तिकाम्॥ १६॥
ब्रह्मविष्णुमहेशादिजननीं सर्वमुक्तिदाम्।
सृष्टिस्थितिविनाशानां विधात्रीं जगदम्बिकाम्॥ १७॥
अहं सर्वान्तरस्था च संसारार्णवतारिणी।
नित्यानन्दमयी नित्या ब्रह्मरूपेश्वरीति च॥ १८॥
युवयोस्तपसा तुष्टा पुत्रीभावेन लीलया।
जाता तव गृहे तात बहुभाग्यवशात्तव॥ १९॥

श्रीदेवी बोलीं—परमेश्वर शिवकी आश्रिता मुझे पराशक्ति समझो। मैं सारी सृष्टिका संचालन करती हूँ तथा शाश्वत ज्ञान और ऐश्वर्यकी मूर्ति हूँ। मैं ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदिकी जन्मदात्री हूँ और सृष्टि, स्थिति, विनाशका विधान करनेवाली मुक्तिदायिनी जगदम्बिका हूँ। मैं सबकी अन्तरात्माके रूपमें स्थित हूँ और संसारसमुद्रसे उद्धार करनेवाली हूँ। मुझे नित्यानन्दमयी ब्रह्मरूपा नित्या महेश्वरी समझो। तात! तुम

दोनोंकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर मैंने अपनी लीलासे तुम्हारी पुत्री बनकर तुम्हारे घरमें जन्म लिया है। तुम बहुत भाग्यशाली हो॥ १६—१९॥

हिमालय उवाच

मातस्त्वं कृपया गृहे मम सुता जातासि नित्यापि यद्-
भाग्यं मे बहुजन्मजन्मजनितं मन्ये महत्पुण्यदम्।
दृष्टं रूपमिदं परात्परतरां मूर्तिं भवान्या अपि
माहेशीं प्रति दर्शयाशु कृपया विश्वेशि तुभ्यं नमः॥ २०॥

हिमालय बोले—माता! आपने नित्या होकर भी कृपापूर्वक मेरे घरमें पुत्रीरूपसे जन्म लिया है, यह मेरे अनेक जन्मोंमें किये पुण्योंका ही फल है तथा इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ। मैंने आपका यह रूप देख लिया। अब आप परात्पर भगवतीका दिव्य शिवप्रियारूप मुझे कृपापूर्वक शीघ्र ही दिखायें। विश्वेश्वरि! आपको नमस्कार है॥ २०॥

श्रीदेव्युवाच

ददामि चक्षुस्ते दिव्यं पश्य मे रूपमैश्वरम्।
छिन्धि हृत्संशयं विद्धि सर्वदेवमयीं पितः॥ २१॥

श्रीदेवी बोलीं—पिताजी! मैं आपको दिव्य चक्षु प्रदान करती हूँ, जिनसे मेरे ऐश्वर्यशाली रूपके दर्शनकर आप अपने हृदयका संशय मिटा लीजिये और मुझे ही सर्वदेवमयी समझिये॥ २१॥

श्रीमहादेव उवाच

इत्युक्त्वा तं गिरिश्रेष्ठं दत्त्वा विज्ञानमुत्तमम्।
स्वरूपं दर्शयामास दिव्यं माहेश्वरं तदा॥ २२॥

श्रीमहादेवजी बोले—ऐसा कहकर गिरिराज हिमवान्‌को दिव्य दृष्टि प्रदानकर जगदम्बाने अपने अलौकिक माहेश्वरस्वरूपके दर्शन कराये॥ २२॥

शशिकोटिप्रभं चारुचन्द्रार्धकृतशेखरम्।
त्रिशूलवरहस्तं च जटामण्डितमस्तकम्॥ २३॥
भयानकं घोररूपं कालानलसहस्रभम्।
पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रं च नागयज्ञोपवीतिनम्॥ २४॥
द्वीपिचर्माम्बरधरं नागेन्द्रकृतभूषणम्।
एवं विलोक्य तद्रूपं विस्मितो हिमवान् पुनः॥ २५॥

उनका वह ज्योतिर्मय रूप करोड़ों चन्द्रमाओंकी प्रभासे युक्त था, उनके मस्तकपर अर्धचन्द्रकी सुन्दर लेखा विराजमान थी। उनके हाथमें श्रेष्ठ त्रिशूल और मस्तकपर जटाएँ सुशोभित हो रही थीं। हजारों कालाग्निकी आभाके समान उनका रूप भयानक और उग्र था। उनके पाँच मुख और तीन नेत्र थे तथा उन्होंने सर्पका यज्ञोपवीत धारण कर रखा था। इस प्रकार व्याघ्रचर्मको धारण किये हुए तथा श्रेष्ठ सर्पोंके आभूषणसे सुशोभित उनके उस रूपको देखकर हिमवान् बड़े चकित हुए॥ २३—२५॥

प्रोवाच वचनं माता रूपमन्यत्प्रदर्शय।
ततः संहृत्य तद्रूपं दर्शयामास तत्क्षणात्॥ २६॥
रूपमन्यन्मुनिश्रेष्ठ विश्वरूपा सनातनी।
शरच्चन्द्रनिभं चारुमुकुटोज्ज्वलमस्तकम्॥ २७॥
शङ्खचक्रगदापद्महस्तं नेत्रत्रयोज्ज्वलम्।
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्॥ २८॥
योगीन्द्रवृन्दसंवन्द्यं सुचारुचरणाम्बुजम्।
सर्वतः पाणिपादं च सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्॥ २९॥
दृष्ट्वा तदेतत्परमं रूपं स हिमवान् पुनः।
प्रणम्य तनयां प्राह विस्मयोत्फुल्ललोचनः॥ ३०॥

तब उनकी माँ मेनाने कहा कि मुझे अपना दूसरा रूप दिखाइये,

तब जगदम्बाने अपने उस माहेश्वररूपको तिरोहित करके तत्क्षण ही दूसरा रूप प्रकट किया। मुनिश्रेष्ठ! उन सनातनी विश्वरूपा जगदम्बाकी आभा शरत्कालके चन्द्रमाके समान थी, सुन्दर मुकुटसे उनका मस्तक प्रकाशमान था। वे हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा एवं पद्म धारण किये हुए थीं। उनके तीन सुन्दर नेत्र थे। उन्होंने दिव्य वस्त्र, माला और गन्धानुलेप धारण कर रखा था। वे योगीन्द्रवृन्दसे वन्दनीय थीं, उनके चरणकमल अति सुन्दर थे तथा अपने हाथ, पैर, आँख, मुख, सिर आदि दिव्य विग्रहसे वे सभी दिशाओंको व्याप्त किये हुए थीं। इस प्रकारके परम अद्भुत उस रूपको देखकर हिमवान्‌ने अपनी कन्याको पुनः प्रणाम किया और विस्मयपूर्ण विकसित नेत्रोंसे उन्हें देखते हुए वे बोले— ॥ २६—३० ॥

हिमालय उवाच

मातस्तवेदं परमं रूपमैश्वरमुत्तमम्।
विस्मितोऽस्मि समालोक्य रूपमन्यत्प्रदर्शय॥ ३१ ॥
त्वं यस्य सो ह्यशोच्यो हि धन्यश्च परमेश्वरि।
अनुगृह्णीष्व मातर्मां कृपया त्वां नमो नमः॥ ३२ ॥

हिमालय बोले—माता! आपका यह श्रेष्ठ रूप भी परम ऐश्वर्यसे सम्पन्न है, जिसे देखकर मैं चकित हूँ। मुझे तो कोई अन्य ही रूप दिखाइये। परमेश्वरी! आप जिसकी आश्रय हैं, वह व्यक्ति निश्चय ही अशोच्य और धन्य है। मा! कृपापूर्वक मुझपर अनुग्रह करें, आपको बारम्बार नमस्कार है॥ ३१-३२॥

श्रीमहादेव उवाच

इत्युक्ता सा तदा पित्रा शैलराजेन पार्वती।
तद्रूपमपि संहृत्य दिव्यं रूपं समादधे॥ ३३ ॥

नीलोत्पलदलश्यामं वनमालाविभूषितम्।
शङ्खचक्रगदापद्ममभिव्यक्तं चतुर्भुजम्॥ ३४॥

श्रीमहादेवजी बोले—अपने पिता पर्वतराजके द्वारा ऐसा कहनेपर जगदम्बा पार्वतीने अपने उस रूपको भी समेटकर एक दिव्य रूप धारण किया। नीलकमलके समान सुन्दर श्यामवर्ण एवं वनमालासे विभूषित उस रूपकी चारों भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित थे॥ ३३-३४॥

एवं विलोक्य तद्रूपं शैलानामधिपस्ततः।
कृताञ्जलिपुटः स्थित्वा हर्षेण महता युतः॥ ३५॥
स्तोत्रेणानेन तां देवीं तुष्टाव परमेश्वरीम्।
सर्वदेवमयीमाद्यां ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम्॥ ३६॥

उनके उस रूपको देखकर शैलराज हाथ जोड़कर अत्यन्त हर्षपूर्वक ब्रह्मा, विष्णु तथा शिवस्वरूपा सर्वदेवमयी उन आदिशक्ति जगदम्बाका इस स्तोत्रसे स्तवन करने लगे—॥ ३५-३६॥

हिमालय उवाच

मातः सर्वमयि प्रसीद परमे विश्वेशि विश्वाश्रये
त्वं सर्वं नहि किञ्चिदस्ति भुवने तत्त्वं त्वदन्यच्छिवे।
त्वं विष्णुर्गिरिशस्त्वमेव नितरां धातासि शक्तिः परा
किं वर्ण्यं चरितं त्वचिन्त्यचरिते ब्रह्माद्यगम्यं मया॥ ३७॥

हिमालय बोले—माता! आप प्रसन्न हों, आप परम शक्ति हैं, आपमें सब कुछ सन्निहित है, आप ही इस चराचर जगत्की अधिष्ठात्री और परम आश्रय हैं। शिवे! आप ही सब कुछ हैं, इस त्रिभुवनमें आपके अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व विद्यमान नहीं है। आप ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं और आप ही पराशक्ति हैं। आपकी अचिन्त्य

लीलाका वर्णन मैं कैसे करूँ? जिसका ब्रह्मादि भी पार नहीं पा सकते॥ ३७॥

त्वं स्वाहाखिलदेवतृप्तिजननी विश्वेशि त्वं वै स्वधा
पितॄणामपि तृप्तिकारणमसि त्वं देवदेवात्मिका।
हव्यं कव्यमपि त्वमेव नियमो यज्ञस्तपो दक्षिणा
त्वं स्वर्गादिफलं समस्तफलदे देवेशि तुभ्यं नमः॥ ३८॥

विश्वेश्वरी! आप ही स्वाहारूपसे सभी देवताओंकी तृप्तिकारिका, स्वधारूपसे पितरोंकी तृप्तिका कारण और महादेवप्रिया हैं। आप ही हव्य और कव्य हैं। आप ही नियम, यज्ञ, तप और दक्षिणा हैं। आप ही स्वर्गादि लोकोंको प्रदान करनेवाली हैं तथा समस्त कर्मोंका फल प्रदान करनेमें आप ही समर्थ हैं। महादेवी! आपको प्रणाम है॥ ३८॥

रूपं सूक्ष्मतमं परात्परतरं यद्योगिनो विद्यया
शुद्धं ब्रह्ममयं वदन्ति परमं मातः सुदृप्तं तव।
वाचा दुर्विषयं मनोऽतिगमपि त्रैलोक्यबीजं शिवे
भक्त्याहं प्रणमामि देवि वरदे विश्वेश्वरि त्राहि माम्॥ ३९॥

माता! जिस आपके परसे भी परतर सूक्ष्मतम रूपका योगिजन शुद्ध ब्रह्मके रूपमें वर्णन करते हैं, शिवे! वह आपका मोहक रूप मन और वाणीके लिये अगम्य और त्रैलोक्यका मूल कारण है। वरदायिनी भगवती! मैं आपको भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ। विश्वेश्वरी! मेरी रक्षा करें॥ ३९॥

उद्यत्सूर्यसहस्त्रभां मम गृहे जातां स्वयं लीलया
देवीमष्टभुजां विशालनयनां बालेन्दुमौलिं शिवाम्।
उद्यत्कोटिशशाङ्ककान्तिनयनां बालां त्रिनेत्रां परां
भक्त्या त्वां प्रणमामि विश्वजननीं देवि प्रसीदाम्बिके॥ ४०॥

जगदम्बे! आप सहस्त्रों उदीयमान सूर्योंके समान आभावाली, आठ

भुजाओंसे युक्त, विशाल नेत्रोंवाली एवं मस्तकपर चन्द्ररेखासे सुशोभित हैं तथा आप कल्याणकारिणीने लीलापूर्वक स्वयं ही मेरे घरमें जन्म लिया है। उदीयमान करोड़ों चन्द्रमाओंकी शीतल कान्तिसे युक्त नयनोंवाली, त्रिनेत्रा, बालस्वरूपा आप भगवती जगन्माताको मैं भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ, आप प्रसन्न हों॥ ४०॥

रूपं ते रजताद्रिकान्तिविमलं नागेन्द्रभूषोज्ज्वलं
घोरं पञ्चमुखाम्बुजत्रिनयनैर्भीमैः समुद्भासितम्।
चन्द्रार्धाङ्कितमस्तकं धृतजटाजूटं शरण्ये शिवे
भक्त्याहं प्रणमामि विश्वजननि त्वां त्वं प्रसीदाम्बिके॥ ४१॥

शिवे! आपका रूप चाँदीके पर्वतकी कान्तिके समान उज्ज्वल है, आपने सर्पराजका सुन्दर आभूषण धारण किया है। दुर्जनोंके लिये भय उत्पन्न करनेवाले पाँच मुखकमलों और भयानक तीन नयनोंसे आप सुशोभित हैं। अर्धचन्द्रसहित जटाजूटको आपने मस्तकपर धारण कर रखा है। शरणदात्री विश्वजननी! आपको भक्तिपूर्वक मैं प्रणाम करता हूँ। अम्बिके! आप प्रसन्न हों॥ ४१॥

रूपं शारदचन्द्रकोटिसदृशं दिव्याम्बरं शोभनं
दिव्यैराभरणैर्विराजितमलं कान्त्या जगन्मोहनम्।
दिव्यैर्बाहुचतुष्टयैर्युतमहं वन्दे शिवे भक्तितः
पादाब्जं जननि प्रसीद निखिलब्रह्मादिदेवस्तुते॥ ४२॥

भवानी! कोटिशरच्चन्द्रके समान उज्ज्वल रूप और दिव्य वस्त्राभरणोंसे आप सुशोभित हैं। आपका जगन्मोहनरूप चार दिव्य भुजाओंसे युक्त है, ब्रह्मादि समस्त देवगण आपकी स्तुति करते हैं। माता! आपके चरणकमलोंमें मैं भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ, आप प्रसन्न हों॥ ४२॥

रूपं ते नवनीरदद्युतिरुचिफुल्लाब्जनेत्रोज्ज्वलं
कान्त्या विश्वविमोहनं स्मितमुखं रत्नाङ्गदैर्भूषितम्।

विभ्राजद्वनमालयाविलसितोरस्कं जगत्तारिणि
भक्त्याहं प्रणतोऽस्मि देवि कृपया दुर्गे प्रसीदाम्बिके॥ ४३॥

दुर्गे! जलधरकी आभायुक्त नवीन और खिले हुए कमलके समान उज्ज्वल नेत्रवाला आपका रूप अपनी कान्तिसे विश्वको विमोहित करनेवाला है। आपके मुखपर मुसकान सुशोभित है, आपके गलेमें वनमाला और अंगोंपर रत्नजटित अंगद आदि आभूषण सुशोभित हो रहे हैं। जगत्का उद्धार करनेवाली देवी! मैं आपको भक्तिपूर्वक प्रणाम करता हूँ, अम्बिके! कृपा करके आप प्रसन्न हों॥ ४३॥

मातः कः परिवर्णितुं तव गुणं रूपं च विश्वात्मकं
शक्तो देवि जगत्त्रये बहुगुणैर्देवोऽथवा मानुषः।
तत् किं स्वल्पमतिर्ब्रवीमि करुणां कृत्वा स्वकीयैर्गुणै-
र्नो मां मोहय मायया परमया विश्वेशि तुभ्यं नमः॥ ४४॥

जगदम्बे! आपके विश्वात्मक रूप और गुणको सर्वात्मना वर्णन करनेमें तीनों लोकोंमें देवता अथवा मनुष्य कोई भी सक्षम नहीं है। फिर मैं अल्पमति उसका कैसे वर्णन करूँ? आप अपने स्वाभाविक गुणोंसे मुझपर दया करते हुए अपनी परम मायासे मुझे मोहित न करें। विश्वेश्वरि! आपको नमस्कार है॥ ४४॥

अद्य मे सफलं जन्म तपश्च सफलं मम।
यत्त्वं त्रिजगतां माता मत्पुत्रीत्वमुपागता॥ ४५॥
धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं मातस्त्वं निजलीलया।
नित्यापि मद्गृहे जाता पुत्रीभावेन वै यतः॥ ४६॥
किं ब्रुवे मेनकायाश्च भाग्यं जन्मशतार्जितम्।
यतस्त्रिजगतां मातुरपि माता भवेत्तव॥ ४७॥

आज मेरा जन्म और तप सफल हुआ, जो त्रिलोकजननी आप मेरी पुत्रीके रूपमें आयीं। मा! मैं धन्य और कृतार्थ हुआ, जो कि

आपने नित्या प्रकृति होकर भी अपनी लीलासे पुत्रीभावसे मेरे घरमें जन्म लिया। मैं मेनाके भी भाग्यकी क्या सराहना करूँ, जिन्हें अपने सैकड़ों जन्मोंके अर्जित पुण्यके प्रभावसे त्रिलोकजननीकी भी जननी होनेका सौभाग्य मिला है॥ ४५—४७॥

श्रीमहादेव उवाच

एवं गिरीन्द्रतनया गिरिराजेन संस्तुता।
बभूव सहसा चारुरूपिणी पूर्ववन्मुने॥ ४८॥
मेनकापि विलोक्यैवं विस्मिता भक्तिसंयुता।
ज्ञात्वा ब्रह्ममयीं पुत्रीं प्राह गद्गदया गिरा॥ ४९॥

श्रीमहादेवजी बोले—मुने! इस प्रकार गिरिराज हिमालयके द्वारा प्रार्थना करनेपर पर्वतराजपुत्री सहसा पूर्वके समान सुन्दर रूपमें हो गयीं। मेना भी यह देखकर चकित हुईं और अपनी पुत्रीको ब्रह्मस्वरूपिणी जानकर गद्गद वाणीसे भक्तिपूर्वक ऐसा कहने लगीं— ॥ ४८-४९॥

मेनकोवाच

मातः स्तुतिं न जानामि भक्तिं वा जगदम्बिके।
तथाप्यहमनुग्राह्या त्वया निजगुणेन हि॥ ५०॥
त्वया जगदिदं सृष्टं त्वमेवैतत्फलप्रदा।
सर्वाधारस्वरूपा च सर्वव्याप्याधितिष्ठसि॥ ५१॥

मेनका बोलीं—माता जगदम्बिका! मैं न तो आपकी स्तुति ही जानती हूँ एवं न भक्ति ही; फिर भी आप अपने करुणामय स्वभावके कारण मुझपर कृपा करती रहें। आप ही इस संसारकी सृष्टि करती हैं। आप ही सभी कर्मोंका फल प्रदान करती हैं। आप ही सभीका आधार हैं और आप ही सभीको व्याप्त करके स्थित रहती हैं॥ ५०-५१॥

श्रीदेव्युवाच

त्वया मातस्तथा पित्राप्यनेनाराधिता ह्यहम्।
महोग्रतपसा पुत्रीं लब्धुं मां परमेश्वरीम्॥ ५२॥
युवयोस्तपसस्तस्य फलदानाय लीलया।
नित्या लब्धवती जन्म गर्भे तव हिमालयात्॥ ५३॥

श्रीदेवीजी बोलीं—माता! आपने और पिताजीने उग्र तपस्यासे मुझ परमेश्वरीको पुत्रीरूपमें पानेके लिये आराधना की थी। आप दोनोंके उस तपका फल देनेके लिये ही लीलापूर्वक मैंने नित्या प्रकृति होकर भी हिमालयके द्वारा आपके गर्भसे जन्म लिया है॥ ५२-५३॥

श्रीमहादेव उवाच

ततो गिरीन्द्रस्तां देवीं प्रणिपत्य पुनः पुनः।
पप्रच्छ ब्रह्मविज्ञानं प्राञ्जलिर्मुनिसत्तम॥ ५४॥

श्रीमहादेवजी बोले—मुनिश्रेष्ठ! तब गिरिराज हिमालयने उन देवीको बारम्बार प्रणाम करके हाथ जोड़कर ब्रह्मविज्ञान (ब्रह्मविषयक अपरोक्षानुभूति-सम्बन्धी ज्ञान)-की जिज्ञासा की॥ ५४॥

हिमालय उवाच

मातस्त्वं बहुभाग्येन मम जातासि कन्यका।
ब्रह्माद्यैर्दुर्लभा योगिदुर्गम्या निजलीलया॥ ५५॥
अहं तव पदाम्भोजं प्रपन्नोऽस्मि महेश्वरि।
यथाञ्जसा तरिष्यामि संसारापारवारिधिम्॥ ५६॥
यस्मात्कालस्य कालस्त्वं महाकालीति गीयसे।
तस्मात्त्वं शाधि मातर्मां ब्रह्मविज्ञानमुत्तमम्॥ ५७॥

हिमालय बोले—मा! आप बड़े भाग्यसे मेरी पुत्रीके रूपमें आयी हैं, यह आपकी लीला ही है; क्योंकि आप ब्रह्मादि देवगण और योगियोंके लिये भी अगम्य और दुर्लभ हैं। महेश्वरी! मैं आपके

चरणकमलोंकी शरणमें हूँ। मा! क्योंकि आप कालकी भी काल हैं, इसलिये आपको लोग महाकाली कहते हैं। आप मुझे कृपापूर्वक उस उत्तम ब्रह्मविद्याकी शिक्षा दें, जिससे मैं इस अपार संसारसागरको सरलतापूर्वक पार कर जाऊँ॥ ५५—५७॥

श्रीपार्वत्युवाच

शृणु तात प्रवक्ष्यामि योगसारं महामते।
यस्य विज्ञानमात्रेण देही ब्रह्ममयो भवेत्॥ ५८॥

श्रीपार्वतीजी बोलीं—पिताजी! महामते! सुनिये, मैं उस योगका सार बताती हूँ, जिसके जाननेमात्रसे प्राणी ब्रह्मस्वरूप हो जाता है॥ ५८॥

गृहीत्वा मम मन्त्रान्वै सद्गुरोः सुसमाहितः।
कायेन मनसा वाचा मामेव हि समाश्रयेत्॥ ५९॥

सद्गुरुसे मेरे मन्त्रको ग्रहण करके स्थिरचित्त हो साधकको शरीर, मन और वाणीसे मेरा ही आश्रय ग्रहण करना चाहिये॥ ५९॥

मच्चित्तो मद्गतप्राणो मन्नामजपतत्परः।
मत्प्रसङ्गो मदालापो मद्गुणश्रवणे रतः॥ ६०॥
भवेन्मुमुक्षू राजेन्द्र मयि भक्तिपरायणः।
मदर्चाप्रीतिसंसक्तमानसः साधकोत्तमः॥ ६१॥

मुमुक्षुको चाहिये कि वह मेरेमें ही चित्त और प्राणको लगाये रखे, तत्परतापूर्वक मेरे नामका जप करता रहे, मेरे गुण और लीला-कथाओंके श्रवणमें लगा रहे, वह मुझसे वार्तालाप करनेवाला हो और मुझसे शाश्वत सम्बन्ध बनाये रखे तथा राजेन्द्र! वह उत्तम साधक मेरी भक्तिमें परायण होकर अपना चित्त मेरी पूजाके प्रति अनुरक्त रखे॥ ६०-६१॥

पूजायज्ञादिकं कुर्याद्यथाविधिविधानतः।
श्रुतिस्मृत्युदितैः सम्यक् स्ववर्णाश्रमवर्णितैः॥ ६२॥
सर्वयज्ञतपोदानैर्मामेव हि समर्चयेत्।
ज्ञानात्सञ्जायते मुक्तिर्भक्तिर्ज्ञानस्य कारणम्॥ ६३॥
धर्मात्सञ्जायते भक्तिर्धर्मो यज्ञादिको मतः।
तस्मान्मुमुक्षुर्धर्मार्थं ममेदं रूपमाश्रयेत्॥ ६४॥

उसे श्रुति तथा स्मृतिमें बताये गये अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार विधि-विधानसे मेरी पूजा और यज्ञ आदि सम्पन्न करने चाहिये। सभी यज्ञ, तप और दानसे मेरी ही अर्चना करनी चाहिये। ज्ञानसे मुक्ति होती है और भक्तिसे ज्ञान होता है। धर्मसे भक्तिका उदय होता है और यज्ञ-यागादि धर्मके ही रूप हैं, इसलिये मोक्षार्थीको धर्मरूपी यज्ञार्चन आदिके लिये मेरे इस रूपका आश्रय लेना चाहिये॥ ६२—६४॥

सर्वाकाराहमेवैका सच्चिदानन्दविग्रहा।
मदंशेन परिच्छिन्ना देहाः स्वर्गौकसां पितः॥ ६५॥
तस्मान्मामेव विध्युक्तैः सकलैरेव कर्मभिः।
विभाव्य प्रयजेद्भक्त्या नान्यथा भावयेत्सुधीः॥ ६६॥

पिताजी! सभी आकारोंमें एकमात्र मैं ही विद्यमान हूँ और स्वर्गके देवता मुझ सच्चिदानन्दरूपाके अंशसे ही उत्पन्न हैं। इसलिये वेदोक्त सभी कर्मोंसे भक्तिपूर्वक मेरा ही अर्चन करना चाहिये। बुद्धिमान् व्यक्तिको अन्य कोई विचार नहीं करना चाहिये॥ ६५-६६॥

एवं वियुक्तकर्माणि कृत्वा निर्मलमानसः।
आत्मज्ञानसमुद्युक्तो मुमुक्षुः सततं भवेत्॥ ६७॥

इस प्रकार अनासक्तभावसे कर्मोंको सम्पन्न करके विशुद्ध अन्तःकरणवाले मोक्षार्थी साधकको आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें निरन्तर प्रयत्नशील होना चाहिये॥ ६७॥

घृणां वितत्य सर्वत्र पुत्रमित्रादिकेष्वपि।
वेदान्तादिषु शास्त्रेषु संनिविष्टमना भवेत्॥ ६८॥
कामादिकं त्यजेत्सर्वं हिंसां चापि विवर्जयेत्।
एवं कृत्वा परां विद्यां जानीते नात्र संशयः॥ ६९॥
यदैवात्मा महाराज प्रत्यक्षमनुभूयते।
तदैव जायते मुक्तिः सत्यं सत्यं ब्रवीमि ते॥ ७०॥

पुत्र-मित्रादिसे सम्बन्धोंमें अनासक्त होकर वेदान्तादि शास्त्रोंके अभ्यासमें दत्तचित्त रहना चाहिये। ऐसे साधकको काम-क्रोधादि विकारोंका तथा सभी प्रकारकी हिंसाका पूर्णरूपसे त्याग करना चाहिये। ऐसा करनेसे उसे निःसंदेह पराविद्याका ज्ञान प्राप्त हो जाता है। महाराज! जब इस आत्माकी प्रत्यक्षानुभूति होती है, उसी क्षण मुक्ति हो जाती है। यह निश्चित सत्य बात आपके लिये मैं बता रही हूँ॥ ६८—७०॥

किंत्वेतद्दुर्लभं तात मद्भक्तिविमुखात्मनाम्।
तस्माद्भक्तिः परा कार्या मयि यत्नान्मुमुक्षुभिः॥ ७१॥

किंतु पिताजी! मेरी भक्तिसे विमुख प्राणियोंके लिये यह प्रत्यक्षानुभूति अत्यन्त दुर्लभ है। इसलिये मोक्षसाधकोंको यत्नपूर्वक मेरी भक्तिमें ही संलग्न रहना चाहिये॥ ७१॥

त्वमप्येवं महाराज मयोक्तं कुरु सर्वदा।
संसारदुःखैरखिलैर्बाध्यसे न कदाचन॥ ७२॥

महाराज! आप भी मेरे बताये अनुसार करेंगे तो संसारके समस्त दुःखोंसे कभी बाधित नहीं होंगे॥ ७२॥

॥ इति श्रीदेवीपुराणे भगवतीगीतायां श्रीपार्वती-हिमालयसंवादे प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

दूसरा अध्याय

ब्रह्मविद्याका उपदेश तथा अनासक्तयोगका वर्णन

हिमालय उवाच

विद्या वा कीदृशी मातर्यतो मुक्तिः प्रजायते।
आत्मा वा किं स्वरूपश्च तन्मे ब्रूहि महेश्वरि॥ १॥

हिमालय बोले—माता! वह कैसी विद्या है, जिससे मुक्ति प्राप्त होती है? महेश्वरी! आत्मा क्या है तथा उसका स्वरूप क्या है? यह मुझे बताइये॥ १॥

श्रीपार्वत्युवाच

शृणु तात प्रवक्ष्यामि या संसारनिवर्तिका।
विद्या तस्याः स्वरूपं हि संक्षेपेण महामते॥ २॥

श्रीपार्वतीजी बोलीं—तात! महामते! सुनिये, संसारसे मुक्ति दिलानेवाली जो विद्या है, उसके स्वरूपका मैं संक्षेपमें वर्णन कर रही हूँ॥ २॥

बुद्धिप्राणमनोदेहाहंकृतीन्द्रियतः पृथक्।
अद्वितीयश्चिदात्माहं शुद्ध एवेति निश्चितम्॥ ३॥
संवेत्ति येन ज्ञानेन विद्या तद्ध्यानमुच्यते।
आत्मा निरामयः शुद्धो जन्मनाशादिवर्जितः॥ ४॥

बुद्धि, प्राण, मन, देह, अहंकार और इन्द्रियोंसे अलग शुद्ध और अद्वितीय चित्स्वरूप आत्मा मैं ही हूँ। ऐसा पूर्णतः निश्चित है। जिस ज्ञानके द्वारा आत्मस्वरूपका सम्यक् अवबोध होता है, वही विद्या है और उसी विद्याको ध्यान भी कहा जाता है। आत्मा निर्विकार, विशुद्ध तथा जन्म-मरण आदिसे रहित है॥ ३-४॥

बुद्ध्याद्युपाधिरहितश्चिदानन्दात्मको मतः।
आनन्दः सुप्रभः पूर्णः सत्यज्ञानादिलक्षणः॥ ५॥

एक एवाद्वितीयश्च सर्वदेहगतः परः।
स्वप्रकाशेन देहादीन् भासयन् सुसमास्थितः॥ ६॥

वह आत्मा बुद्धि आदि उपाधियोंसे रहित, चिदानन्दस्वरूप, आनन्दमय, परम प्रभायुक्त, पूर्ण तथा सत्य-ज्ञान आदि लक्षणोंवाला है। वही एकमात्र अद्वितीय सर्वश्रेष्ठ आत्मा अपने प्रकाशसे सभी प्राणियोंके सूक्ष्म देहादिको प्रकाशित करते हुए सम्यक् रूपसे सबके भीतर विराजमान है॥ ५-६॥

इत्यात्मनः स्वरूपं ते गिरिराज मयोदितम्।
एवं विचिन्तयेन्नित्यमात्मानं सुसमाहितः॥ ७॥

गिरिराज! इस प्रकार मैंने आपसे आत्माके स्वरूपका वर्णन कर दिया। मनुष्यको एकाग्रचित्त होकर इस प्रकारके लक्षणवाले आत्माका नित्य चिन्तन करना चाहिये॥ ७॥

अनात्मनि शरीरादावात्मबुद्धिं विवर्जयेत्।
रागद्वेषादिदोषाणां हेतुभूता हि सा यतः॥ ८॥
रागद्वेषादिदोषेभ्यः सदोषं कर्म सम्भवेत्।
ततः पुनः संसृतिश्च तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥ ९॥

देह आदि अनात्म पदार्थोंमें आत्मबुद्धिका परित्याग कर देना चाहिये; क्योंकि वैसी बुद्धि राग-द्वेष आदि दोषोंका मूल कारण है। राग-द्वेष आदि दोषोंसे दोषयुक्त कर्म ही सम्भव हैं। उनसे प्राणी जन्म-मरणकी प्रक्रियासे निरन्तर बँधा रहता है, अतः शरीरादि अनात्म पदार्थोंमें उस आत्मबुद्धिका परित्याग कर देना चाहिये॥ ८-९॥

हिमालय उवाच

अशुभादृष्टजनका रागद्वेषादयः शिवे।
कथं जनैः परित्याज्यास्तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि॥ १०॥

कुर्वन्ति येऽपकाराणि कथं तान् सहते जनः।
तेषु रागश्च विद्वेषः कथं वा न भवेत्तयोः॥ ११॥

हिमालय बोले—शिवे! राग-द्वेष आदिसे पापात्मक अशुभ अदृष्ट पैदा होता है, उसका परित्याग लोग किस प्रकार करें; इसे आप कृपा करके मुझे बताइये। जो लोग दूसरे मनुष्यका अपकार करते हैं, उनके प्रति वह व्यक्ति सहिष्णुताका भाव किस प्रकार रखे और उनके प्रति उस व्यक्तिमें किस प्रकारसे इष्टानिष्टविषयक राग तथा द्वेष न हों॥ १०-११॥

श्रीपार्वत्युवाच

अपकारः कृतः कस्य तदेवाशु विचारयेत्।
विचार्यमाणे तस्मिंश्च द्वेष एव न जायते॥ १२॥
पञ्चभूतात्मको देहो मुक्तो जीवो यतः स्वयम्।
वह्निना दह्यते वापि शिवाद्यैर्भक्षितोऽपि वा॥ १३॥
तथापि यो विजानाति कोऽपकारोऽस्ति तस्य वै।

श्रीपार्वती बोलीं—'अपकार किसका किया गया'—इसपर शीघ्र विचार करना चाहिये। उसपर विचार करनेसे द्वेष उत्पन्न ही नहीं होगा। पाँच महाभूतोंसे मिलकर यह देह बना हुआ है, जिससे यह जीव स्वयं भिन्न है। यह शरीर या तो अग्निके द्वारा जला दिया जाता है या शिवा (सियार) आदिके द्वारा भक्षित कर लिया जाता है; किंतु आत्मा नहीं। जो इस प्रकारका ज्ञान रखता है, उसका भला कौन-सा अपकार हो सकता है?॥ १२-१३$^{१}/_{२}$॥

आत्मा शुद्धः स्वयम्पूर्णः सच्चिदानन्दविग्रहः॥ १४॥
न जायते न म्रियते निर्लेपो न च दुःखभाक्।
विच्छिद्यमाने देहेऽपि नापकारोऽस्य जायते॥ १५॥

अपने-आपमें पूर्ण तथा सच्चिदानन्द स्वरूपवाला यह विशुद्ध आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है, न सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंमें लिप्त

होता है और न तो कष्ट ही भोगता है। अतः शरीरके काटे जानेपर भी इस आत्माका कोई अपकार नहीं होता॥ १४-१५॥

यथा गेहान्तरस्थस्य नभसः क्वापि लक्ष्यते।
गृहेषु दह्यमानेषु गिरिराज तथैव हि॥ १६॥
हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतः।
तावुभौ भ्रान्तहृदयौ नायं हन्ति न हन्यते॥ १७॥

गिरिराज! जैसे घरके अन्दर अवस्थित आकाशपर घरके जलनेका कोई प्रभाव नहीं होता, उसी प्रकार शरीरके अन्दर अवस्थित आत्मापर शरीरके छेदन आदिका कोई प्रभाव नहीं होता। जो मारनेमें इस आत्माको मारनेवाला समझता है और जो शरीरके मारे जानेपर आत्माको मारा गया समझता है—ऐसा सोचनेवाले वे दोनों ही लोग भ्रमितचित्तवाले हैं; क्योंकि यह आत्मा न तो मारता है और न मारा ही जाता है॥ १६-१७॥

स्वस्वरूपं विदित्वैवं द्वेषं त्यक्त्वा सुखी भवेत्।
द्वेषमूलो मनस्तापो द्वेषः संसारखण्डनम्॥ १८॥
मोक्षविघ्नकरो द्वेषस्तं यत्नात्परिवर्जयेत्।

अपने स्वरूपको इस प्रकार जानकर और द्वेष छोड़कर मनुष्य सुखी हो जाय। द्वेष मनके सन्तापका मूल है, द्वेष सांसारिक सम्बन्धोंको भंग करनेवाला है और द्वेष मोक्षप्राप्तिमें विघ्न उत्पन्न करनेवाला है; अतः प्रयत्नपूर्वक उसका परित्याग कर देना चाहिये॥ १८$^{१}/_{२}$॥

हिमालय उवाच

देहस्यापि न चेद्देवि न जीवस्य परात्मनः॥ १९॥
नापकारोऽत्र विद्येत नैतौ दुःखस्य भागिनौ।
तत्कस्य जायते दुःखं यत्साक्षादनुभूयते॥ २०॥

अन्यो वा कोऽस्मि देहेऽस्मिन् दुःखभोक्ता महेश्वरि।
एतन्मे ब्रूहि तत्त्वेन मयि ते यद्यनुग्रहः॥ २१॥

हिमालय बोले—देवि! यदि देह तथा परमात्मस्वरूप जीवका इस लोकमें अपकार नहीं होता और ये दोनों दुःखके भागी नहीं होते तो फिर जिस दुःखका साक्षात् अनुभव होता है, वह किसे होता है? महेश्वरि! इस शरीरमें दुःख भोगनेवाला दूसरा कौन है? यदि मुझपर आपकी कृपा है तो आप मुझे इस विषयको यथार्थ रूपसे बताइये॥ १९—२१॥

श्रीपार्वत्युवाच

नैव दुःखं हि देहस्य नात्मनोऽपि परात्मनः।
तथापि जीवो निर्लेपो मोहितो मम मायया॥ २२॥
सुख्यहं दुःख्यहं चैव स्वयमेवाभिमन्यते।
अनाद्यविद्या सा माया जगन्मोहनकारिणी॥ २३॥
जातमात्रं हि सम्बद्धस्तया सञ्जायते पितः।
संसारी जायते तेन रागद्वेषादिसंकुलः॥ २४॥

श्रीपार्वतीजी बोलीं—न तो इस देहको और न तो इस परमात्मस्वरूप आत्माको ही दुःख होता है; फिर भी यह निर्लेप (विशुद्ध) आत्मा मेरी मायासे मोहित होकर स्वयं मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ—ऐसा मान लेता है। वह माया अनादि, अविद्यास्वरूपिणी तथा जगत्को मोहित करनेवाली है। पिताजी! वह आत्मतत्त्व उत्पन्न होते ही उस मायासे आबद्ध हो जाता है और उसीसे वह राग-द्वेष आदि विकारोंसे व्याप्त होकर संसारी हो जाता है॥ २२—२४॥

आत्मा स्वलिङ्गं तु मनः परिगृह्य महामते।
निलीना वासना यत्र संसारे वर्ततेऽवशः॥ २५॥

महामते! यह आत्मा अपने लिंगरूप मन, जिसमें वासना निहित

रहती है–को धारण करके लाचार–सा बना हुआ इस संसारमें व्यवहार करता है॥ २५॥

विशुद्धः स्फटिको यद्वद्रक्तपुष्पसमीपतः।
तत्तद्वर्णयुतो भाति वस्तुतो नास्ति रञ्जनम्॥ २६॥
बुद्धीन्द्रियादिसामीप्यादात्मनोऽपि तथा गतिः।
मनो बुद्धिरहंकारो जीवस्य सहकारिणः॥ २७॥
स्वकर्मवशतस्तात फलभोक्तार एव ते।
सर्वं वैषयिकं तात सुखं वा दुःखमेव वा॥ २८॥
त एव भुञ्जते नात्मा निर्लेपः प्रभुरव्ययः।

रक्तवर्णके पुष्पके समीप स्थित शुद्ध स्फटिक उसके सांनिध्यके कारण उसीके रंगसे युक्त लाल प्रतीत होता है; जबकि वास्तवमें उसमें रंग विद्यमान नहीं रहता है। बुद्धि, इन्द्रिय आदिके सांनिध्यके कारण आत्माकी भी वही गति होती है। मन, बुद्धि तथा अहंकार जीवके सहयोगी हैं। तात! अपने-अपने कर्मोंके अधीन होकर वे ही कर्म-फलका भोग करते हैं। वे सभी समस्त विषयात्मक सुखों तथा दुःखोंका भोग करते हैं; आत्मा भोग नहीं करता; क्योंकि यह आत्मा प्रभुतासम्पन्न, विकाररहित तथा निर्लिप्त है॥ २६—२८$^{१}/_{२}$॥

सृष्टिकाले पुनः पूर्ववासनावासितैः सह॥ २९॥
जायते जीव एवं हि वसत्याभूतसम्प्लवम्।
ततो ज्ञानविचारेण त्यक्त्वा मोहं विचक्षणः॥ ३०॥
सुखी भवेन्महाराज इष्टानिष्टोपपत्तिषु।

सृष्टिके समय यह जीव पूर्वजन्मकी वासनाओंसे युक्त अन्तःकरणके साथ उत्पन्न होता है और इस प्रकार यह जीव प्रलयपर्यन्त सृष्टिमें निवास करता है। इसलिये महाराज! विद्वान् पुरुषको चाहिये कि ज्ञान-

विचारके द्वारा इच्छित तथा अनिच्छित पदार्थोंकी प्राप्तिमें मोहका परित्यागकर सुखी हो जाय॥ २९-३०१/२॥

देहमूलो मनस्तापो देहः संसारकारणम्॥ ३१॥
देहः कर्मसमुत्पन्नः कर्म च द्विविधं मतम्।
पापं पुण्यं च राजेन्द्र तयोरंशानुसारतः॥ ३२॥
देहिनः सुखदुःखं स्यादलङ्घ्यं दिनरात्रिवत्।

देह मनके सन्तापका मूल है और यह देह संसारका कारण भी है। यह देह कर्मसे उत्पन्न होता है और वह कर्म पाप तथा पुण्यभेदसे दो प्रकारका होता है। राजेन्द्र! उन्हीं पाप-पुण्यके अंशके अनुसार जीवको सुख तथा दुःख प्राप्त होते हैं। दिन एवं रातकी भाँति इन सुख और दुःखका उल्लंघन नहीं किया जा सकता॥ ३१-३२१/२॥

स्वर्गादिकामः कृत्वापि पुण्यं कर्मविधानतः।
प्राप्य स्वर्गं पतत्याशु भूयः कर्म प्रचोदितम्॥ ३३॥
तस्मात्सत्संगमं कृत्वा विद्याभ्यासपरायणः।
विमुक्तसङ्गः परमं सुखमिच्छेद्विचक्षणः॥ ३४॥

स्वर्ग आदिकी प्राप्तिकी कामना करनेवाला विधानपूर्वक पुण्य कर्म करके स्वर्ग प्राप्त करनेके बाद भी शीघ्र ही कर्मसे प्रेरित होकर पुनः मृत्युलोकमें गिरता है। अतएव विद्वान्‌को आसक्तिका त्याग करते हुए विद्याभ्यासमें तत्पर रहकर तथा सत्संग करके परम सुखकी अभिलाषा रखनी चाहिये॥ ३३-३४॥

॥ इति श्रीदेवीपुराणे भगवतीगीतायां श्रीपार्वती-हिमालयसंवादे द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

तीसरा अध्याय

गर्भस्थ जीवका स्वरूप तथा गर्भमें की गयी जीवकी प्रतिज्ञा, विषयभोगोंकी दुःखमूलकता तथा देवीभक्तिकी महिमा

हिमालय उवाच

दुःखस्य कारणं देहः पञ्चभूतात्मकः शिवे।
यतस्तद्विरहाद्देही न दुःखैः परिभूयते॥ १॥
सोऽयं सञ्जायते मातः कथं देहो महेश्वरि।
यं प्राप्य सुकृतान् कामान् कृत्वा स्वर्गमवाप्स्यति॥ २॥
क्षीणपुण्यः कथं जीवो जायते च पुनर्भुवि।
तद् ब्रूहि विस्तरेणाशु यदि ते मय्यनुग्रहः॥ ३॥

हिमालय बोले—शिवे! यह पंचभूतात्मक देह ही दुःखका कारण है; क्योंकि उससे विलग जीव दुःखोंसे प्रभावित नहीं होता है। माता! महेश्वरी! जिस देहको प्राप्तकर यह जीव पुण्यकार्य करके स्वर्ग प्राप्त करता है, वह यह देह किस प्रकार उत्पन्न होता है? और यह जीव पुण्यके क्षीण होनेपर पुनः पृथ्वीपर किस प्रकार उत्पन्न होता है। यदि आप मुझपर कृपा रखती हैं तो उन बातोंको शीघ्र ही विस्तारपूर्वक मुझसे बताइये॥ १—३॥

श्रीपार्वत्युवाच

क्षितिर्जलं तथा तेजो वायुराकाश एव च।
एतैः पञ्चभिराबद्धो देहोऽयं पाञ्चभौतिकः॥ ४॥

श्रीपार्वतीजी बोलीं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन्हीं पंचमहाभूतोंसे यह देह निर्मित है, इसीलिये यह पांचभौतिक कहा गया है॥ ४॥

प्रधानं पृथिवी तत्र शेषाणां सहकारिता।
उक्तश्चतुर्विधः सोऽयं गिरिराज निबोध मे॥ ५॥
अण्डजाः स्वेदजाश्चैवोद्भिज्जाश्चैव जरायुजाः।
अण्डजाः पक्षिसर्पाद्याः स्वेदजा मशकादयः॥ ६॥
वृक्षगुल्मप्रभृतयश्चोद्भिज्जा हि विचेतनाः।
जरायुजा महाराज मानुषाः पशवस्तथा॥ ७॥

उन पाँचोंमें पृथ्वीतत्त्व तो प्रधान है और शेष चारकी उसके साथ सहभागितामात्र है। गिरिराज! वह यह पांचभौतिक देह भी चार प्रकारका कहा गया है; जिसे मुझसे समझ लीजिये। अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज और जरायुज—ये उसके भेद हैं। महाराज! उनमें पक्षी, सर्प आदि अण्डज हैं; मशक (मच्छर) आदि स्वेदज हैं; वृक्ष, झाड़ी आदि सुषुप्त चैतन्यवाले उद्भिज्ज हैं और मनुष्य, पशु आदि जरायुज हैं॥ ५—७॥

शुक्रशोणितसम्भूतो देहो ज्ञेयो जरायुजः।
भूयः स त्रिविधो ज्ञेयः पुंस्त्रीक्लीबविभेदतः॥ ८॥
शुक्राधिक्येन पुरुषो भवेत्पृथ्वीधराधिप।
रक्ताधिक्ये भवेन्नारी तयोः साम्ये नपुंसकम्॥ ९॥

शुक्र, रज आदिसे निर्मित देहको जरायुज समझना चाहिये। पुनः उस जरायुजको भी पुरुष, स्त्री तथा नपुंसक भेदसे तीन प्रकारका जानना चाहिये। पर्वतराज! शुक्रकी अधिकतासे पुरुष, रजकी अधिकतासे स्त्री तथा उन दोनोंकी समानतासे नपुंसक होते हैं॥ ८-९॥

स्वकर्मवशतो जीवो नीहारकलया युतः।
पतित्वा धरणीपृष्ठे व्रीहिमध्यगतो भवेत्॥ १०॥
स्थित्वा तत्र चिरं भुक्त्वा भुज्यते पुरुषैस्ततः।
ततः प्रविष्टं तद्गुह्यं पुंसो देहे प्रजायते॥ ११॥

रेतस्तेन स जीवोऽपि भवेद्रेतोगतस्तदा।

अपने कर्मोंके वशीभूत जीव ओसकणोंसे संयुक्त होकर पृथ्वीतलपर गिरनेपर धान्य (वनस्पति)-के बीच पहुँचता है। वहाँ रहकर चिरकालतक कर्मभोग करता है। पुनः जीवोंके द्वारा उसका भोग किया जाता है। तदनन्तर पुरुषके देहमें गुह्येन्द्रियोंमें प्रविष्ट होकर वह वीर्यरूप हो जाता है। उसी कारणसे वह जीव भी वीर्यमें संनिविष्ट हो जाता है*॥ १०-११ ½ ॥

ततस्त्रियाऽभियोगेन ऋतुकाले महामते॥ १२॥
रेतसा सहितः सोऽपि मातृगर्भं प्रयाति हि।

महामते! तत्पश्चात् ऋतुकालमें स्त्रीके साथ पुरुषका संयोग होनेपर वीर्यके साथ-साथ वह जीव भी माताके गर्भमें पहुँच जाता है॥ १२ ½ ॥

ऋतुस्नाता भवेन्नारी चतुर्थेऽहनि तद्दिनात्॥ १३॥
आषोडशदिनाद्राजन् ऋतुकाल उदाहृतः।

राजन्! रजोधर्मके चौथे दिन स्त्री ऋतुस्नान करके शुद्ध होती है; उस दिनसे लेकर सोलहवें दिनतक ऋतुकाल कहा गया है॥ १३ ½ ॥

अयुग्मदिवसे नारी जायते पर्वतर्षभ॥ १४॥
जायते च पुमांस्तत्र युग्मके दिवसे पितः।
ऋतुस्नाता तु कामार्ता मुखं यस्य समीक्षते॥ १५॥

---

* यहाँपर सृष्टि-परम्पराकी निरन्तरताकी ओर संकेत है। संक्षेपमें कर्मफल-भोगके अनन्तर शेष कर्मोंसे आविष्ट जीव आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी तथा ओषधि, पुष्प, फल, अन्न आदिके रूपमें देहान्तरकी प्राप्ति करता हुआ स्त्री-पुरुषके द्वारा अन्नादिका भोग करनेपर वीर्य तथा रजस्के रूपमें उसका पुनः विपरिणाम होता है और पुनः वीर्य तथा रजस्के संयोगसे सृष्टि-प्रक्रिया चलती रहती है। इस प्रकार अवान्तरभूत अविदित सृष्टि-प्रक्रियाके प्रति जागरूक करनेके लिये भगवतीका उपदेश है।

तदाकृतिः सन्ततिः स्यात्तत्पश्येद्भर्तुराननम्।

पर्वतश्रेष्ठ! विषम दिनमें समागम करनेसे स्त्री और सम दिनमें समागम करनेसे पुरुषकी उत्पत्ति होती है। पिताजी! ऋतुस्नान की हुई कामार्त स्त्री जिसके मुखका दर्शन करती है, उसीकी मुखाकृतिकी सन्तान जन्म लेती है। अतः स्त्रीको उस समय अपने पतिका मुख देखना चाहिये॥ १४-१५$^{१}/_{२}$॥

तद्रेतो योनिरक्तेन युक्तं भूत्वा महामते॥ १६॥
दिनेनैकेन कललं जरायुपरिवेष्टितम्।
भूत्वा पञ्चदिनैरेव बुद्बुदाकारतामियात्॥ १७॥
या तु चर्माकृतिः सूक्ष्मा जरायुः सा निगद्यते।
शुक्रशोणितयोर्योगस्तस्मिन् सञ्जायते यतः॥ १८॥
तत्र गर्भो भवेद्यस्मात्तेन प्रोक्तो जरायुजः।

महामते! वह वीर्य स्त्रीके योनिस्थित रजसे मिलकर एक दिनमें कलल (अवस्थाविशेष) बन जाता है। वही कलल अत्यन्त सूक्ष्म झिल्लीसे पूर्णतया आवृत होकर पाँच दिनोंमें बुलबुलेके आकारका हो जाता है। अत्यन्त सूक्ष्म आकारकी जो चमड़ेकी झिल्ली होती है, उसे जरायु कहा जाता है। चूँकि उसमें वीर्य तथा रजका योग होता है और उसीसे गर्भ उत्पन्न होता है, इसलिये उसे 'जरायुज' कहा गया है॥ १६—१८$^{१}/_{२}$॥

ततस्तत्सप्तरात्रेण मांसपेशीत्वमाप्नुयात्॥ १९॥
पक्षमात्रेण सा पेशी तच्छोणितपरिप्लुता।
ततश्चाङ्कुर उत्पन्नः पञ्चविंशतिरात्रिषु॥ २०॥
स्कन्धो ग्रीवा शिरःपृष्ठोदराणि च महामते।
पञ्चधाङ्गानि जायन्ते एवं मासेन च क्रमात्॥ २१॥

तत्पश्चात् सात रातोंमें वह मांसपेशियोंसे युक्त हो जाता है और

फिर एक पक्षमें वह जो पेशी होती है, उसमें रक्तप्रवाह होने लगता है। तत्पश्चात् पचीस रातोंमें देहके अवयव अंकुरित होने लगते हैं। महामते! एक महीनेमें क्रमसे स्कन्ध (कन्धा), गर्दन, सिर, पीठ और पेट—ये पाँच प्रकारके अंग निर्मित हो जाते हैं॥ १९—२१॥

द्वितीये मासि जायन्ते पाणिपादादयस्तथा।
अङ्गानां सन्धयः सर्वे तृतीये सम्भवन्ति हि॥ २२॥
अङ्गुल्यश्चापि जायन्ते चतुर्थे मासि सर्वतः।
अभिव्यक्तिश्च जीवस्य तस्मिन्नेव हि जायते॥ २३॥
ततश्चलति गर्भोऽपि जनन्या जठरे स्थितः।

दूसरे महीनेमें हाथ और पैर हो जाते हैं तथा तीसरे महीनेमें अंगोंकी सभी सन्धियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। पुनः चौथे महीनेमें सभी अंगुलियाँ बन जाती हैं और उसी महीनेमें उसके भीतर जीवकी अभिव्यक्ति हो जाती है। तब माताके उदरमें स्थित गर्भ चलने भी लग जाता है॥ २२-२३$^{१}/_{२}$॥

श्रोत्रे नेत्रे तथा नासा जायन्ते मासि पञ्चमे॥ २४॥
तथैव च मुखं श्रोणिर्गुह्यं तस्मिन् प्रजायते।
पायुर्मेढ्रमुपस्थं च कर्णाछिद्रद्वयं तथा॥ २५॥
तथैव मासि षष्ठे तु नाभिश्चापि भवेन्नृणाम्।
सप्तमे केशरोमाद्या जायन्ते च तथाष्टमे॥ २६॥
विभक्तावयवत्वं च जायते गर्भमध्यतः।
विहाय श्मश्रुदन्तादीन् जन्मान्तरसमुद्भवात्॥ २७॥
समस्तावयवा एवं जायन्ते क्रमतः पितः।

पाँचवें महीनेमें कान, नेत्र और नाकका निर्माण होता है एवं उसी महीनेमें मुख, कमर, गुदा-शिश्न—लिंग आदि गुह्य अंग और कानोंमें दोनों छिद्र भी बन जाते हैं। उसी तरह छठे महीनेमें मनुष्योंकी

नाभि बन जाती है और सातवें महीनेमें केश, रोम आदि उग आते हैं। आठवें महीनेमें गर्भमें सभी अवयव स्पष्टरूपसे अलग-अलग बन जाते हैं। इस प्रकार पिताजी! जन्मके पश्चात् उगनेवाले दाढ़ी, मूँछ और दाँत आदिको छोड़कर सभी अंग क्रमसे निर्मित हो जाते हैं॥ २४—२७१/२॥

नवमे मासि जीवस्तु चैतन्यं सर्वशो लभेत्॥ २८॥
मातृभुक्तानुसारेण वर्धते जठरे स्थितः।
प्राप्य वै यातनां घोरां खिद्यते च स्वकर्मतः॥ २९॥
स्मृत्वा प्राक्तनदेहोत्थकर्माणि बहुदुःखितः।
मनसा वचनं ब्रूते विचार्य स्वयमेव हि॥ ३०॥
एवं दुःखमनुप्राप्य भूयो जन्म लभेत्क्षितौ।
अन्यायेनार्जितं वित्तं कुटुम्बभरणं कृतम्॥ ३१॥
नाराधिता भगवती दुर्गा दुर्गतिहारिणी।
यद्यस्मान्निष्कृतिर्मे स्याद् गर्भदुःखात्तदा पुनः॥ ३२॥
विषयान्नानुसेविष्ये विना दुर्गां महेश्वरीम्।
नित्यं तामेव भक्त्याहं पूजये यतमानसः॥ ३३॥
वृथा पुत्रकलत्रादिवासनावशतोऽसकृत्।
निविष्टसंसारमनाः कृतवानात्मनोऽहितम्॥ ३४॥
तस्येदानीं फलं भुञ्जे गर्भदुःखं दुरासदम्।
तन्न भूयः करिष्यामि वृथा संसारसेवनम्॥ ३५॥

नौवें महीनेमें जीवमें पूर्णरूपसे चेतनाशक्ति आ जाती है। वह उदरमें स्थित रहकर माताके द्वारा ग्रहण किये गये भोजनके अनुसार वृद्धिको प्राप्त होता रहता है। वहाँपर अपने जन्मान्तरके कर्मोंके अनुसार घोर यातना प्राप्त करके वह जीव खिन्न हो उठता है और पूर्वजन्ममें अपने शरीरसे किये गये कर्मोंको यादकर अत्यन्त दुःखी हो जाता

है। माताके गर्भमें इस प्रकारका कष्ट प्राप्त करके भी जीव बार-बार पृथ्वीपर जन्म लेता रहता है। गर्भावस्थामें वह जीव मनमें यह सब सोचकर स्वयंसे यह बात कहता है—'मैंने अन्यायपूर्वक धन कमाया और उससे अपने कुटुम्बका भरण-पोषण किया, किंतु दुर्गतिका नाश करनेवाली भगवती दुर्गाकी आराधना नहीं की। अब यदि गर्भके दुःखसे मुझे छुटकारा मिल जाय तो मैं पुनः महेश्वरी दुर्गाको छोड़कर विषयोंका सेवन नहीं करूँगा और सर्वदा समाहितचित्त होकर भक्तिपूर्वक उन्हींकी पूजा करूँगा। पुत्र, स्त्री आदिके मोहके वशीभूत होकर तथा सांसारिकतामें अपने मनको आसक्त करके मैंने व्यर्थमें ही अनेक बार अपना अहित कर डाला। इस समय उसीके परिणामस्वरूप मैं यह असहनीय गर्भ-दुःख भोग रहा हूँ। अब मैं पुनः सांसारिक विषयोंका सेवन नहीं करूँगा'॥ २८—३५॥

इत्येवं बहुधा दुःखमनुभूय स्वकर्मतः।
अस्थियन्त्रविनिष्पिष्टो निर्याति योनिवर्त्मना॥ ३६॥
सूतिवातवशास्नोरनरकादिव पातकी।
मेदोऽसृक्प्लुतसर्वाङ्गो जरायुपरिवेष्टितः॥ ३७॥

इस प्रकार अपने कर्मानुसार अनेक प्रकारसे दुःखोंका अनुभव करके वह जीव अपने अंगोंमें मेदा तथा रक्त लपेटे हुए और झिल्लीसे आवृत होकर प्रसववायुके वशीभूत योनिके अस्थि-यन्त्रसे पिसा जाता हुआ-सा उसी प्रकार योनिमार्गसे बाहर निकलता है, जैसे पातकी जीव नरकसे निकलता है॥ ३६-३७॥

ततो मन्मायया मुग्धस्तानि दुःखानि विस्मृतः।
अकिञ्चित्करतां प्राप्य मांसपिण्ड इव स्थितः॥ ३८॥
सुषुम्णा पिहिता नाडी श्लेष्मणा यावदेव हि।
तावद्वक्तुं न शक्नोति सुव्यक्तवचनं त्वसौ॥ ३९॥

न गन्तुमपि शक्नोति बन्धुभिः परिरक्ष्यते।
श्वमार्जारादिदंष्ट्रिभ्यो दृप्तः कालवशात्ततः॥ ४०॥
यथेष्टं भाषते वाक्यं गच्छत्यपि सुदूरतः।
ततश्च यौवनोद्रिक्तः कामक्रोधादिसंयुतः॥ ४१॥
कुरुते विविधं कर्म पापपुण्यात्मकं पितः।

तदनन्तर वह जीव मेरी मायासे मोहित होकर उन दुःखोंको भूल जाता है और कुछ भी न कर सकनेकी स्थितिको प्राप्त होकर मांस-पिण्डकी भाँति स्थित रहता है। जबतक कफ आदिसे उसकी सुषुम्णा नाडी अवरुद्ध रहती है, तबतक वह स्पष्ट वाणी बोलनेमें तथा चल-फिर सकनेमें समर्थ नहीं होता है और दैवयोगसे जब वह कुत्ते, बिल्ली आदि दाढ़युक्त जन्तुओंसे पीड़ित होता है, तब स्वजनोंद्वारा उसकी सम्यक् रक्षा की जाती है। बादमें वह स्वेच्छया कुछ बोलने लगता है और दूर-दूरतक चलने भी लगता है। पिताजी! इसके बाद कुछ काल बीतनेपर यौवनके उन्मादमें आकर वह काम, क्रोध आदिसे युक्त होकर पाप तथा पुण्यकर्म करने लगता है॥ ३८—४१$^{१}/_{२}$॥

कुरुते कर्मतन्त्राणि देहभोगार्थमेव हि॥ ४२॥
स देहः पुरुषाद्भिन्नः पुरुषः किं समश्नुते।
प्रतिक्षणं क्षरत्यायुश्चलत्पर्णस्थतोयवत्॥ ४३॥

जिस देहके भोगके लिये जीव सारे कर्म करता है, वह देह पुरुष (जीवात्मा)-से भिन्न है; क्योंकि जीवात्माका भोगोंसे क्या सम्बन्ध? प्रतिक्षण आयुका क्षरण हो रहा है और वह हिलते हुए पत्तेपर स्थित जलकणकी भाँति क्षणभंगुर है॥ ४२-४३॥

स्वप्नोपमं महाराज सर्वं वैषयिकं सुखम्।
तथापि न भवेद्धानिरभिमानस्य देहिनाम्॥ ४४॥

न चैतद्वीक्षते देही मोहितो मम मायया।
वीक्षते केवलान् भोगांस्तत्र शाश्वतिकानिव॥ ४५॥
अकस्माद्ग्रसते कालः पूर्णे चायुषि भूधर।
यथा व्यालोऽन्तिके प्राप्तं मण्डूकं ग्रसते क्षणात्॥ ४६॥

महाराज! विषय-वासनासम्बन्धी सभी सुख स्वप्नके समान (प्रतीतिमात्र) हैं, फिर भी जीवके अभिमानमें कोई कमी नहीं होती है, मेरी मायासे मोहित हुआ जीव यह सब नहीं देखता। वह भोगोंको शाश्वत समझकर केवल उन्हें ही देखता है और भूधर! आयुके पूरा हो जानेपर काल जीवको अकस्मात् उसी भाँति ग्रस लेता है, जैसे सर्प अपने पास आये हुए मेढकको क्षणभरमें ग्रस लेता है॥ ४४—४६॥

हा हन्त जन्मैतदपि विफलं यातमेव हि।
एवं जन्मान्तरमपि विफलं जायते तथा॥ ४७॥
निष्कृतिर्विद्यते नैव विषयाननुसेविनाम्।
तस्मादात्मविचारेण त्यक्त्वा वैषयिकं सुखम्॥ ४८॥
शाश्वतैश्वर्यमन्विच्छन्मदर्चनपरो भवेत्।
तदैव जायते भक्तिरियं ब्रह्मणि निश्चला॥ ४९॥

महान् कष्टकी बात है कि यह भी जन्म व्यर्थ बीत गया और इसी प्रकार दूसरा जन्म भी व्यर्थ ही चला जाता है। विषय-भोगोंका सेवन करनेवालोंका उद्धार होता ही नहीं। अतः आत्मतत्त्वका विचार करके वासनात्मक सुखका परित्यागकर शाश्वत ऐश्वर्य*की प्राप्तिकी कामना करते हुए मेरी उपासनामें तत्पर रहना चाहिये, तभी ब्रह्मसे स्थिर सम्बन्ध बनता है॥ ४७—४९॥

* शाश्वत ऐश्वर्यका तात्पर्य भौतिक ऐश्वर्यसे नहीं है, कारण वे शाश्वत होते ही नहीं। षडैश्वर्यसम्पन्न परमात्मप्रभुकी प्राप्ति ही शाश्वत ऐश्वर्यकी प्राप्ति है।

देहादिभ्यः पृथक्त्वेन निश्चित्यात्मानमात्मना।
देहादिममतां मिथ्याज्ञानजां परिसंत्यजेत्॥ ५०॥
पितस्त्वं यदि संसारदुःखान्निर्वृत्तिमिच्छसि।
तदाराधय मां भक्त्या ब्रह्मरूपां समाहितः॥ ५१॥

अपनी आत्माको देह आदिसे पृथक् निश्चित करके मिथ्याज्ञानजनित देह आदिकी ममताका त्याग कर देना चाहिये। पिताजी! यदि आप सांसारिक दुःखोंसे छुटकारा चाहते हैं तो एकाग्रचित्त होकर भक्तिपूर्वक मुझ ब्रह्मरूपिणी भगवतीकी आराधना कीजिये॥ ५०-५१॥

॥ इति श्रीदेवीपुराणे भगवतीगीता श्रीपार्वती-हिमालयसंवादे तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

चौथा अध्याय

मोक्षयोगका उपदेश, दस महाविद्याओंका वर्णन तथा अनन्य शरणागतिकी महिमा

हिमालय उवाच

अनाश्रितानां त्वां देवि मुक्तिश्चेन्नैव विद्यते।
कथं समाश्रयेत्त्वां तत्कृपया ब्रूहि मे तदा॥ १॥
संध्येयं कीदृशं रूपं मातस्तव मुमुक्षुभिः।
त्वयि भक्तिः परा कार्या देहबन्धविमुक्तये॥ २॥

हिमालय बोले—देवि! यदि आपका आश्रय ग्रहण न करनेवालोंकी मुक्ति है ही नहीं तो कृपा करके मुझे यह बताइये कि मनुष्य किस प्रकार आपकी शरण प्राप्त करे। माता! देहबन्धनसे छुटकारेके लिये मोक्षकी इच्छा रखनेवालोंको आपके किस रूपका ध्यान करना चाहिये और आपकी कैसी परम भक्ति करनी चाहिये?॥ १-२॥

श्रीपार्वत्युवाच

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
तेषामपि सहस्त्रेषु कोऽपि मां वेत्ति तत्त्वतः॥ ३॥

श्रीपार्वतीजी बोलीं—हजारों मनुष्योंमें कोई-कोई सिद्धिके लिये प्रयास करता है और सिद्धिके लिये तत्पर उन हजार लोगोंमें भी कोई-कोई ही मुझे वस्तुतः जान पाता है॥ ३॥

रूपं मे निष्कलं सूक्ष्मं वाचातीतं सुनिर्मलम्।
निर्गुणं परमं ज्योतिः सर्वव्याप्येककारणम्॥ ४॥
निर्विकल्पं निरालम्बं सच्चिदानन्दविग्रहम्।
ध्येयं मुमुक्षुभिस्तात देहबन्धविमुक्तये॥ ५॥

तात! मुमुक्षुओंको देहबन्धसे मुक्तिके लिये मेरे निष्कल, सूक्ष्म, वाणीसे परे, अत्यन्त निर्मल, निर्गुण, परम ज्योतिस्वरूप, सर्वव्यापक, एकमात्र कारणरूप, विकल्परहित, आश्रयहीन और सच्चिदानन्दविग्रहवाले स्वरूपका ध्यान करना चाहिये॥ ४-५॥

अहं मतिमतां तात सुमतिः पर्वताधिप।
पृथिव्यां पुण्यगन्धोऽहं रसोऽप्सु शशिनः प्रभा॥ ६॥
तपस्विनां तपश्चास्मि तेजश्चास्मि विभावसोः।
कामरागादिरहितं बलिनां बलमप्यहम्॥ ७॥

तात! मैं बुद्धिमानोंकी सद्बुद्धि हूँ। पर्वतराज! मैं ही पृथ्वीमें पवित्र गन्धके रूपमें विद्यमान हूँ, मैं ही जलमें रसके रूपमें व्याप्त हूँ, चन्द्रमाकी प्रभा मैं ही हूँ, मैं ही तपस्वियोंकी तपस्या हूँ, सूर्यका तेज मैं ही हूँ और बलवान् प्राणियोंका काम-राग आदिसे रहित बल भी मैं ही हूँ॥ ६-७॥

सर्वकर्मसु राजेन्द्र कर्म पुण्यात्मकं तथा।
छन्दसामस्मि गायत्री बीजानां प्रणवोऽस्म्यहम्॥ ८॥

धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि सर्वभूतेषु भूधर।
एवमन्येऽपि ये भावाः सात्त्विका राजसास्तथा॥ ९ ॥
तामसा मत्त उत्पन्ना मदधीनाश्च ते मयि।
नाहं तेषामधीनास्मि कदाचित्पर्वतर्षभ॥ १० ॥

राजेन्द्र! मैं समस्त कर्मोंमें पुण्यात्मक कर्म हूँ, छन्दोंमें गायत्री नामक छन्द हूँ, बीजमन्त्रोंमें प्रणव (ओंकार) हूँ और सभी प्राणियोंमें धर्मानुकूल काम हूँ। भूधर! इसी प्रकार और भी जो सात्त्विक, राजस तथा तामस भाव हैं, वे मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं, मेरे अधीन हैं और मुझमें विद्यमान हैं। पर्वतश्रेष्ठ! मैं उनके अधीन कदापि नहीं हूँ॥ ८—१० ॥

एवं सर्वगतं रूपमद्वैतं परमव्ययम्।
न जानन्ति महाराज मोहिता मम मायया॥ ११ ॥
ये भजन्ति च मां भक्त्या मायामेतां तरन्ति ते।
ममैश्वर्यं न जानन्ति ऋगाद्याः श्रुतयः परम्॥ १२ ॥

महाराज! मायासे मोहित हुए लोग मेरे इस सर्वव्यापी, अद्वैत, परम तथा निर्विकार रूपको नहीं जान पाते हैं; किंतु जो लोग भक्तिपूर्वक मेरी उपासना करते हैं, वे इस मायाको पार कर जाते हैं। ऋक् आदि श्रुतियाँ भी मेरे परम ऐश्वर्यको नहीं जानती हैं॥ ११-१२ ॥

सृष्ट्यर्थमात्मनो रूपं मयैव स्वेच्छया पितः।
कृतं द्विधा नगश्रेष्ठ स्त्री पुमानिति भेदतः॥ १३ ॥
शिवः प्रधानः पुरुषः शक्तिश्च परमा शिवा।
शिवशक्त्यात्मकं ब्रह्म योगिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ १४ ॥
वदन्ति मां महाराज तत्त्वमेवं परात्परम्।

पिताजी! नगश्रेष्ठ! सृष्टिके लिये मैंने ही अपने रूपको स्त्री तथा पुरुष-भेदसे दो भागोंमें विभक्त किया। शिव ही प्रधान पुरुष हैं और

शिवा ही परम शक्ति हैं। महाराज! तत्त्वदर्शी योगिजन मुझे ही शिव-शक्तिसे युक्त ब्रह्म एवं परात्पर तत्त्व कहते हैं॥ १३-१४½॥

सृजामि ब्रह्मरूपेण जगदेतच्चराचरम्॥ १५॥
संहरामि महारुद्ररूपेणान्ते निजेच्छया।
दुर्वृत्तशमनार्थाय विष्णुः परमपूरुषः॥ १६॥
भूत्वा जगदिदं कृत्स्नं पालयामि महामते।
अवतीर्य क्षितौ भूयो भूयो रामादिरूपतः॥ १७॥
निहत्य दानवान्पृथ्वीं पालयामि पुनः पुनः।
रूपं शक्त्यात्मकं तात प्रधानं यच्च मे स्मृतम्॥ १८॥
यतस्तया विना पुंसः कार्यं नेहात्मना स्थितम्।

मैं ब्रह्मरूपसे इस चराचर जगत्की सृष्टि करती हूँ, परम पुरुष विष्णु होकर इस सम्पूर्ण विश्वका पालन करती हूँ और अन्तमें अपनी इच्छासे दुराचारियोंके शमनके उद्देश्यसे महारुद्ररूपसे संहार करती हूँ। इसी तरह महामते! मैं राम आदि रूपोंसे पृथ्वीपर बार-बार अवतार लेकर दानवोंका वध करके पुनः-पुनः जगत्का पालन करती हूँ। तात! मेरा शक्त्यात्मक रूप ही प्रधान है; क्योंकि अपने स्वरूपमें स्थित रहता हुआ पुरुष उसके बिना कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं है॥ १५—१८½॥

रूपाण्येतानि राजेन्द्र तथा काल्यादिकानि च॥ १९॥
स्थूलानि विद्धि सूक्ष्मं च पूर्वमुक्तं तवानघ।
अनभिज्ञाय रूपं तु स्थूलं पर्वतपुङ्गव॥ २०॥
अगम्यं सूक्ष्मरूपं मे यद्दृष्टवा मोक्षभाग्भवेत्।
तस्मात्स्थूले हि मे रूपं मुमुक्षुः पूर्वमाश्रयेत्॥ २१॥
क्रियायोगेन तान्येव समभ्यर्च्य विधानतः।
शनैरालोचयेत्सूक्ष्मं रूपं मे परमव्ययम्॥ २२॥

राजेन्द्र! मेरे इन काली आदि रूपोंको स्थूलरूप जानो। निष्पाप!

अपने सूक्ष्मरूपके विषयमें मैं आपसे पहले ही बता चुकी हूँ। पर्वतश्रेष्ठ! मेरे स्थूल रूपका ज्ञान किये बिना उस सूक्ष्मरूपका बोध नहीं किया जा सकता है, जिसका दर्शन करके प्राणी मोक्षका भागी हो जाता है। अतः मोक्षकी कामना करनेवाले प्राणीको पहले मेरे स्थूल रूपका आश्रय लेना चाहिये। मनुष्यको चाहिये कि वह क्रियायोगके द्वारा विधानपूर्वक मेरे उन स्थूल रूपोंकी उपासना करके ही धीरे-धीरे मेरे शाश्वत परम सूक्ष्म रूपका दर्शन करे॥ १९—२२॥

हिमालय उवाच

मातर्बहुविधं रूपं स्थूलं तव महेश्वरि।
तेषु किं रूपमाश्रित्य सहसा मोक्षभाग्भवेत्॥ २३॥
तन्मे ब्रूहि महादेवि यदि ते मय्यनुग्रहः।
संसारान्मोचय त्वं मां दासोऽस्मि भक्तवत्सले॥ २४॥

हिमालय बोले—माता! आपके स्थूल रूप अनेक प्रकारके हैं। महेश्वरि! उनमें किस रूपका आश्रय लेकर मनुष्य शीघ्र मोक्षका भागी बन सकता है? महादेवि! यदि मुझपर आपकी कृपा हो तो मुझे उसे बताइये। भक्तवत्सले! मैं आपका दास हूँ, अतः इस संसारसे मुझे मुक्त कीजिये॥ २३-२४॥

श्रीपार्वत्युवाच

मया व्याप्तमिदं विश्वं स्थूलरूपेण भूधर।
तत्राराध्यतमा देवीमूर्तिः शीघ्रं विमुक्तिदा॥ २५॥
सापि नानाविधा तत्र महाविद्या महामते।
विमुक्तिदा महाराज तासां नामानि मे शृणु॥ २६॥
महाकाली तथा तारा षोडशी भुवनेश्वरी।
भैरवी बगला छिन्ना महात्रिपुरसुन्दरी॥ २७॥

धूमावती च मातङ्गी नृणां मोक्षफलप्रदा।
आसु कुर्वन् परां भक्तिं मोक्षं प्राप्नोत्यसंशयम्॥ २८॥

श्रीपार्वतीजी बोलीं—भूधर! मेरे स्थूल रूपोंसे यह सम्पूर्ण जगत् ही व्याप्त है, फिर भी शीघ्र मुक्ति प्रदान करनेवाली मेरी देवी-मूर्ति सर्वाधिक आराधनीया है। महामते! वे देवी भी मुक्तिदायिनी '(दस) महाविद्या' नामसे अनेक स्वरूपोंवाली हैं। महाराज! मुझसे उनके नाम सुन लीजिये—महाकाली, तारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, भैरवी, बगला (बगलामुखी), छिन्ना (छिन्नमस्ता), महात्रिपुरसुन्दरी, धूमावती और मातंगी नामोंवाली—ये मनुष्योंको मोक्षफल प्रदान करनेवाली हैं। इनकी परम भक्ति करनेवाला निःसंदेह मोक्ष प्राप्त कर लेता है॥ २५—२८॥

आसामन्यतमां तात क्रियायोगेन चाश्रय।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यसि निश्चितम्॥ २९॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
न लभन्ते महात्मानः कदाचिदपि भूधर॥ ३०॥

तात! आप मन और बुद्धिसे मेरे प्रति समर्पित होकर इनमेंसे किसी एकका क्रियायोगके द्वारा आश्रय ग्रहण कीजिये। इससे आप निश्चितरूपसे मुझे प्राप्त कर लेंगे। भूधर! मुझको प्राप्त होकर महात्मालोग अनित्य तथा दुःखत्रयसे परिपूर्ण पुनर्जन्मको कभी नहीं पाते॥ २९-३०॥

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं मुक्तिदा राजन् भक्तियुक्तस्य योगिनः॥ ३१॥
यस्तु संस्मृत्य मामन्ते प्राणं त्यजति भक्तितः।
सोऽपि संसारदुःखौघैर्बाध्यते न कदाचन॥ ३२॥

अनन्यचेतसो ये मां भजन्ते भक्तिसंयुताः।
तेषां मुक्तिप्रदा नित्यमहमस्मि महामते॥ ३३॥

राजन्! निरन्तर एकनिष्ठ चित्तवाला होकर जो नित्य मेरा स्मरण करता है, उस भक्तिपरायण योगीको मैं मुक्ति प्रदान करती हूँ। भक्तिपूर्वक मेरा स्मरण करते हुए जो अन्तमें प्राणत्याग करता है, वह कभी भी (पुनर्जन्मादि) सांसारिक दुःखसमूहोंसे पीड़ित नहीं होता। महामते! मेरे प्रति अनन्य चित्तसे जो लोग भक्तिपूर्ण होकर नित्य मुझको भजते हैं, उन्हें मैं मोक्ष प्रदान करती हूँ॥ ३१—३३॥

शक्त्यात्मकं हि मे रूपमनायासेन मुक्तिदम्।
समाश्रय महाराज ततो मोक्षमवाप्स्यसि॥ ३४॥

महाराज! मेरा वह शक्त्यात्मक रूप बिना किसी श्रमके ही मुक्ति देनेवाला है, इसलिये आप उस रूपका आश्रय लीजिये। इससे आप अवश्य ही मोक्ष प्राप्त कर लेंगे॥ ३४॥

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव राजेन्द्र यजन्ते नात्र संशयः॥ ३५॥
अहं सर्वमयी यस्मात्सर्वयज्ञफलप्रदा।
किंतु तेष्वेव ये भक्तास्तेषां मुक्तिः सुदुर्लभा॥ ३६॥

राजेन्द्र! जो लोग श्रद्धासे युक्त होकर भक्तिपूर्वक अन्य देवताओंकी भी उपासना करते हैं, वे भी प्रकारान्तरसे मेरी ही उपासना करते हैं; इसमें कोई संदेह नहीं है। समस्त यज्ञोंका फल प्रदान करनेवाली मैं यद्यपि सर्वव्यापिनी हूँ, फिर भी जो लोग एकमात्र उन्हीं अन्य देवताओंकी भक्तिमें तत्पर रहते हैं, उनकी मुक्ति अत्यन्त दुर्लभ है॥ ३५-३६॥

ततो मामेव शरणं देहबन्धविमुक्तये।
याहि संयतचेतास्त्वं मामेष्यसि न संशयः॥ ३७॥

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
सर्वं मदर्पणं कृत्वा मोक्ष्यसे कर्मबन्धनात्॥ ३८॥

अतः देह-बन्धनसे मुक्तिके लिये आप अपने मनको नियन्त्रित करके मेरी ही शरणमें जाइये। ऐसा करनेसे आप मुझे प्राप्त कर लेंगे, इसमें संशय नहीं है। आप जो कुछ करते हैं, खाते हैं, हवन करते हैं और दान करते हैं, वह सब मुझे अर्पण करके आप कर्मबन्धनसे छूट जायँगे॥ ३७-३८॥

ये मां भजन्ति सद्भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।
न च मेऽस्ति प्रियः कश्चिदप्रियोऽपि महामते॥ ३९॥
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
सोऽपि पापविनिर्मुक्तो मुच्यते भवबन्धनात्॥ ४०॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शनैस्तरति सोऽपि च।
मयि भक्तिमतां मुक्तिः सुलभा पर्वताधिप॥ ४१॥

जो लोग सच्ची भक्तिसे मेरी आराधना करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें स्थित हूँ। महामते! मेरे लिये कोई भी प्रिय और अप्रिय नहीं है। अत्यन्त दुराचारी रहा हुआ मनुष्य भी यदि अनन्यभावसे मेरी उपासना करने लगता है तो वह भी पापरहित होकर भवबन्धनसे छूट जाता है।* वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और धीरे-धीरे संसार-सागरको पार भी कर जाता है। पर्वतराज! मुझमें भक्ति रखनेवाले प्राणियोंके लिये मुक्ति सुलभ हो जाती है॥ ३९—४१॥

* पूर्वकालमें दुराचारपरायण रहनेपर भी यदि सत्संगादिके प्रभावसे उसके चित्तमें पश्चात्तापका उदय हो जाता है और दुराचरणसे निवृत्त होकर उसका जगदम्बाके प्रति अनन्यचित्तताका सम्बन्ध बन जाता है तो उस व्यक्तिके सारे पापोंका प्रक्षालन होकर उसकी मुक्ति असंदिग्धरूपसे हो जाती है।

ततस्त्वं परया भक्त्या मां भजस्व महामते।
अहं त्वां जन्मजलधेस्तारयामि सुनिश्चितम्॥ ४२॥
मन्मना भव मद्याजी मां नमस्कुरु मत्परः।
मामेवैष्यसि संसारदुःखैर्नैव हि बाध्यसे॥ ४३॥

अतः महामते! आप पराभक्तिसे युक्त होकर मेरी आराधना कीजिये। मैं आपको जन्म-मरणरूपी समुद्रसे निश्चितरूपसे पार कर दूँगी। आप मुझमें अनुरक्त मनवाले होइये, मेरे उपासक बनिये, मुझे नमस्कार कीजिये और मेरे परायण होइये। ऐसा करनेसे आप मुझे ही प्राप्त होंगे और सांसारिक कष्ट आपको कभी पीड़ित नहीं कर सकेंगे॥ ४२-४३॥

॥ इति श्रीदेवीपुराणे श्रीभगवतीगीतायां श्रीपार्वती-हिमालयसंवादे चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

पाँचवाँ अध्याय

भगवतीगीता (पार्वतीगीता)-के पाठकी महिमा

श्रीमहादेव उवाच

एवं श्रीपार्वतीवक्त्राद्योगसारं परं मुने।
निशम्य पर्वतश्रेष्ठो जीवन्मुक्तो बभूव ह॥ १॥
सापीयं शैलराजाय योगमुक्त्वा महेश्वरी।
मातृस्तन्यं पपौ बाला प्राकृतेव हि लीलया॥ २॥

श्रीमहादेवजी बोले—मुने! इस प्रकार श्रीपार्वतीजीके मुखसे श्रेष्ठ योगसारको सुनकर पर्वतश्रेष्ठ हिमालय जीवन्मुक्त हो गये। वे महेश्वरी भी गिरिराजसे योगका वर्णन करके लीलापूर्वक प्राकृत (सामान्य) बच्चीकी भाँति माताका दूध पीने लगीं॥ १-२॥

गिरीन्द्रस्तु महाहर्षादकरोत्सुमहोत्सवम्।
यथा न दृष्टं केनापि श्रुतं वा केनचित्क्वचित्॥ ३॥
षष्ठेऽह्नि षष्ठीं सम्पूज्य सम्प्राप्ते दशमेऽहनि।
पार्वतीत्यकरोन्नाम सान्वयं पर्वताधिपः॥ ४॥

गिरिराज हिमालयने भी अत्यन्त हर्षोल्लासके साथ बड़ा भारी उत्सव किया, जैसा किसीने कहीं भी न तो देखा था और न सुना था। छठें दिन षष्ठीदेवीकी पूजाकर दसवाँ दिन आनेपर पर्वतराज हिमालयने उनका 'पार्वती'—ऐसा सार्थक नाम रखा॥ ३-४॥

एवं त्रिजगतां माता नित्या प्रकृतिरुत्तमा।
सम्भूय मेनकागर्भाद्धिमालयगृहे स्थिता॥ ५॥

इस प्रकार तीनों लोकोंकी जननी नित्यस्वरूपिणी श्रेष्ठ प्रकृति मेनकाके गर्भसे उत्पन्न होकर हिमालयके घरमें रहने लगीं॥ ५॥

हिमालयाय पार्वत्या कथितं योगमुत्तमम्।
यः पठेत्सुलभा मुक्तिस्तस्य नारद जायते॥ ६॥
तुष्टा भवति शर्वाणी नित्यं मङ्गलदायिनी।
जायते च दृढा भक्तिः पार्वत्यां मुनिपुङ्गव॥ ७॥

नारद! जो मनुष्य पार्वतीके द्वारा हिमालयसे कहे गये उत्तम योगका पाठ करता है, उसके लिये मुक्ति सुलभ हो जाती है। मुनिवर! भगवती शर्वाणी उस मनुष्यपर सदा प्रसन्न रहती हैं और देवी पार्वतीके प्रति उसके मनमें दृढ़ भक्ति उत्पन्न हो जाती है॥ ६-७॥

अष्टम्यां च चतुर्दश्यां नवम्यां भक्तिसंयुतः।
पठन् श्रीपार्वतीगीतां जीवन्मुक्तो भवेन्नरः॥ ८॥
शरत्काले महाष्टम्यां यः पठेत्समुपोषितः।
रात्रौ जागरितो भूत्वा तस्य पुण्यं ब्रवीमि किम्॥ ९॥
स सर्वदेवपूज्यश्च दुर्गाभक्तिपरायणः।
इन्द्रादयो लोकपालास्तदाज्ञावशवर्तिनः॥ १०॥

स्वयं दैवीकलामेति साक्षाद्देव्याः प्रसादतः।
नश्यन्ति तस्य पापानि ब्रह्महत्यादिकान्यपि॥ ११॥
पुत्रं सर्वगुणोपेतं लभते चिरजीविनम्।
नश्यन्ति रिपवस्तस्य नित्यं प्राप्नोति मङ्गलम्॥ १२॥

अष्टमी, नवमी और चतुर्दशी तिथिको भक्तिपरायण होकर श्रीपार्वतीगीताका पाठ करनेवाला मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। शरत्कालमें महाष्टमी तिथिको उपवास करके तथा रातभर जागरण करके जो मनुष्य इसका पाठ करता है, उसके पुण्यका वर्णन मैं क्या करूँ? दुर्गा-भक्तिपरायण वह मनुष्य सभी देवताओंका पूज्य हो जाता है और इन्द्र आदि लोकपाल उसकी आज्ञाके अधीन हो जाते हैं। वह साक्षात् भगवतीकी कृपासे दैवीकलाको स्वयं प्राप्त हो जाता है और उसके ब्रह्महत्या आदि पाप भी नष्ट हो जाते हैं। वह सर्वगुणसम्पन्न तथा दीर्घजीवी पुत्र प्राप्त करता है, उसके शत्रु नष्ट हो जाते हैं और वह नित्य कल्याणकी प्राप्ति करता है॥ ८—१२॥

अमावास्यां तिथिं प्राप्य यः पठेद्भक्तिसंयुतः।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स दुर्गातुल्यतामियात्॥ १३॥
निशीथे पठते यस्तु बिल्ववृक्षस्य सन्निधौ।
तस्य संवत्सराद्दुर्गा स्वयं प्रत्यक्षमेति वै॥ १४॥

अमावास्या तिथिके आनेपर जो मनुष्य भक्तिपूर्वक इस श्रीपार्वतीगीताका पाठ करता है, वह सभी पापोंसे मुक्त होकर दुर्गातुल्य हो जाता है। जो बेलके वृक्षकी संनिधिमें बैठकर अर्धरात्रिमें इसका पाठ करता है; उसे एक वर्षमें ही दुर्गा साक्षात् दर्शन देती हैं॥ १३-१४॥

किमत्र बहुनोक्तेन शृणु नारद तत्त्वतः।
अस्याः पाठसमं पुण्यं नास्त्येव पृथिवीतले॥ १५॥

नारद! इसके विषयमें अधिक क्या कहा जाय? तत्त्वकी बात

यह है कि पृथ्वीतलपर इस (श्रीपार्वतीगीता)-के पाठके समान कोई भी पुण्य नहीं है॥ १५॥

तपसां यज्ञदानादिकर्मणामिह विद्यते।
फलस्य संख्या नैतस्य विद्यते मुनिपुङ्गव॥ १६॥

मुनिश्रेष्ठ! इस लोकमें तप, यज्ञ-दान आदि कर्मोंके फल तो परिमित हैं, किंतु इस (भगवतीगीता)-के पाठके फलकी कोई सीमा नहीं है॥ १६॥

॥ इति श्रीदेवीपुराणे भगवतीगीतायां श्रीमहादेव-नारदसंवादे पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

॥ भगवतीगीता सम्पूर्णा॥

अष्टावक्रगीता

[महर्षि अष्टावक्रद्वारा प्रणीत यह गीता अत्यन्त प्राचीनकालसे वेदान्त-मार्गी मुमुक्षु-साधकोंके लिये चिन्तामणिके सदृश प्रकाशमान है। महाभारतके वनपर्वमें प्राप्त अष्टावक्रगीतासे यह सर्वथा भिन्न एक स्वतन्त्र स्तरीय ग्रन्थ है। राजर्षि जनक और अष्टावक्रजीके संवादरूपमें निबद्ध प्रस्तुत गीता अत्यन्त उत्कृष्ट मनोभूमिमें प्रकट हुई है। इसके एक-एक श्लोकमें चिन्तनकी गहराईकी मनोहारी छाप दृष्टिगोचर होती है। अद्वैतज्ञानका निरूपण, उसकी प्राप्तिके चरणबद्ध उपाय तथा ब्रह्मज्ञानीके लक्षण इसमें स्पष्ट रूपसे वर्णित हैं। आत्मकल्याणके इच्छुक साधकोंके लिये परमोपयोगी तथा इक्कीस प्रकरणोंमें विभक्त यह गीता यहाँ सानुवाद प्रस्तुत है—]

पहला प्रकरण

महर्षि अष्टावक्रका राजा जनकको 'तुम देह नहीं, आत्मा हो'—यह उपदेश देना

जनक उवाच

कथं ज्ञानमवाप्नोति कथं मुक्तिर्भविष्यति।
वैराग्यं च कथं प्राप्तमेतद् ब्रूहि मम प्रभो॥ १॥

जनकजी बोले—हे प्रभो! ज्ञानप्राप्तिका क्या उपाय है? मेरी मुक्ति किस प्रकार होगी? वैराग्य कैसे प्राप्त होता है? आप (कृपा करके) मुझे बतलाइये॥ १॥

अष्टावक्र उवाच

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद्भज॥ २॥

अष्टावक्रजीने कहा—हे तात! यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो विषयोंको विषके समान छोड़ दो और क्षमा, सरलता, दया, सन्तोष एवं सत्यका अमृतके समान सेवन करो॥ २॥

न पृथ्वी न जलं नाग्निर्न वायुर्द्यौर्न वा भवान्।
एषां साक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्धि मुक्तये॥ ३॥

तुम न पृथिवी हो, न जल हो, न अग्नि हो, न वायु हो और न आकाश ही हो; मुक्तिके लिये तुम अपने-आपको इन सबका चित्-स्वरूप साक्षी समझो॥ ३॥

यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शान्तः बन्धमुक्तो भविष्यसि॥ ४॥

यदि तुम देहको अलग करके अपने चित्स्वरूपमें शान्त होकर स्थित हो जाओ (अनात्म-तादात्म्यका परित्याग कर दो) तो अभी तत्काल तुम सुखी, शान्त एवं बन्धनमुक्त हो जाओगे॥ ४॥

न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी नाक्षगोचरः।
असङ्गोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव॥ ५॥

न तुम ब्राह्मणादि किसी वर्णके हो, न ब्रह्मचारी आदि आश्रमी हो, न तुम दृश्य पदार्थ ही हो। तुम असंग हो, निराकार हो, विश्वसाक्षी हो, अतः तुम सुखी और निश्चिन्त हो जाओ॥ ५॥

धर्माधर्मौ सुखं दुःखं मानसानि न ते विभो।
न कर्तासि न भोक्तासि मुक्त एवासि सर्वदा॥ ६॥

हे विभो! धर्म-अधर्म एवं सुख-दुःखका केवल मनसे ही सम्बन्ध है, तुमसे नहीं। तुम न कर्ता हो और न भोक्ता हो। तुम स्वरूपतः नित्य मुक्त ही हो॥ ६॥

एको द्रष्टासि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।
अयमेव हि ते बन्धो द्रष्टारं पश्यसीतरम्॥ ७॥

तुम सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंचके एकमात्र द्रष्टा एवं सर्वदा-सर्वथा मुक्त ही हो। तुम्हारा बन्धन यही है कि तुम द्रष्टाको अपनेसे पृथक् समझते हो। (द्रष्टा अपने-आपसे पृथक् कभी नहीं हो सकता; ऐसा होते ही वह दृश्य हो जायगा।)॥ ७॥

अहं कर्तेत्यहंमानमहाकृष्णाहिदंशितः।
नाहं कर्तेति विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव॥ ८॥

मैं कर्ता हूँ—इस मिथ्याभिमानरूप महान् अजगरने तुमको डँस लिया है। मैं कर्ता नहीं हूँ—इस विश्वासरूपी अमृतका पान करके तुम सुखी हो जाओ॥ ८॥

एको विशुद्धबोधोऽहमिति निश्चयवह्निना।
प्रज्वाल्याज्ञानगहनं वीतशोकः सुखी भव॥ ९॥

मैं अद्वितीय एवं विशुद्ध बोधस्वरूप हूँ—इस श्रेष्ठ निश्चयकी आगसे अज्ञानका घोर जंगल जलाकर तुम शोकरहित एवं सुखी हो जाओ॥ ९॥

यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत्।
आनन्दपरमानन्दः स बोधस्त्वं सुखं चर॥ १०॥

जिस अधिष्ठान आत्मामें यह सम्पूर्ण विश्व रज्जुमें सर्पके समान कल्पित होकर दीख रहा है, वह आनन्द-परमानन्द बोधस्वरूप तुम्हीं हो। अतः सुखी हो जाओ॥ १०॥

मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।
किम्वदन्तीह सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवेत्॥ ११॥

जिसे 'मैं मुक्त हूँ'—ऐसा अभिमान है, वह मुक्त है और जिसमें 'मैं बद्ध हूँ'—ऐसा अभिमान है, वह बद्ध है। यह लोकोक्ति सत्य है कि जैसी मति वैसी गति॥ ११॥

आत्मा साक्षी विभुः पूर्ण एको मुक्तश्चिदक्रियः।
असङ्गो निःस्पृहः शान्तो भ्रमात्संसारवानिव॥ १२॥

आत्मा तो साक्षी, विभु, पूर्ण, अद्वितीय, मुक्त, चेतन, निष्क्रिय, असंग, निस्पृह एवं शान्त है। वह भ्रमसे ही संसारी मालूम पड़ता है॥ १२॥

कूटस्थं बोधमद्वैतमात्मानं परिभावय।
आभासोऽहं भ्रमं मुक्त्वा भावं बाह्यमथान्तरम्॥ १३॥

मैं चिदाभास कर्ता, भोक्ता जीव हूँ—इस भ्रमको तथा बाह्य और भीतरके द्वन्द्व-भावको छोड़कर तुम अपने-आपको अद्वितीय बोधस्वरूप एवं कूटस्थ अनुभव करो॥ १३॥

देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक।
बोधोऽहं ज्ञानखड्गेन तन्निष्कृत्य सुखी भव॥ १४॥

वत्स! तुम चिरकालसे देहाभिमानके फन्देमें फँस रहे हो। 'मैं बोधस्वरूप हूँ' ज्ञानकी इस तलवारसे उसे काटकर सुखी हो जाओ॥ १४॥

निःसङ्गो निष्क्रियोऽसि त्वं स्वप्रकाशो निरञ्जनः।
अयमेव हि ते बन्धः समाधिमनुतिष्ठसि॥ १५॥

तुम असंग, अक्रिय, स्वयंप्रकाश एवं मलरहित अत्यन्त शुद्ध हो। तुम्हारा बन्धन तो यही है कि तुम समाधिका अनुष्ठान करते हो। (स्व-स्वरूप स्वतःसिद्ध है, साध्य नहीं)॥ १५॥

त्वया व्याप्तमिदं विश्वं त्वयि प्रोतं यथार्थतः।
शुद्धबुद्धस्वरूपस्त्वं मा गमः क्षुद्रचित्तताम्॥ १६॥

यह सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंच तुमसे भरपूर है और वस्तुतः तुममें ही ओत-प्रोत है। तुम शुद्ध-बुद्ध स्वरूप हो। तुम क्षुद्र चित्तवाले मत बनो॥ १६॥

निरपेक्षो निर्विकारो निर्भरः शीतलाशयः।
अगाधबुद्धिरक्षुब्धो भव चिन्मात्रवासनः॥ १७॥

तुम किसीसे अपेक्षा मत रखो, विकृत मत होओ, चिन्ता मत करो और भाररहित हो जाओ। अन्तःकरणको शीतल रखो। तुम्हारी बुद्धिकी थाह किसीको न मिले, वह अनन्तमें लगी रहे। किसी कारणसे क्षुब्ध मत होओ। तुम एकमात्र अपने चित्-स्वरूपमें ही निष्ठा रखो॥ १७॥

साकारमनृतं विद्धि निराकारं तु निश्चलम्।
एतत्तत्त्वोपदेशेन न पुनर्भवसम्भवः॥ १८॥

समस्त साकार वस्तुको मिथ्या समझो और जो निराकार है, वह अचल है। इस तत्त्वका उपदेश प्राप्त कर लेनेपर पुनर्जन्मकी सम्भावना मिट जाती है॥ १८॥

यथैवादर्शमध्यस्थे रूपेऽन्तः परितस्तु सः।
तथैवास्मिञ्छरीरेऽन्तः परितः परमेश्वरः॥ १९॥

जैसे दर्पणमें दीखनेवाले रूपमें बाहर और भीतर एकमात्र दर्पण ही होता है, ठीक वैसे ही इस शरीरके सम्बन्धमें भी है। इसके बाहर-भीतर भी एकमात्र (परमात्मा) परमेश्वर ही हैं॥ १९॥

एकं सर्वगतं व्योम बहिरन्तर्यथा घटे।
नित्यं निरन्तरं ब्रह्म सर्वभूतगणे तथा॥ २०॥

जैसे एक सर्वगत आकाश ही घड़ेके भीतर और बाहर स्थित है, वैसे ही देश, काल और वस्तुके परिच्छेदसे रहित, सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदशून्य नित्य, निरन्तर ब्रह्म ही समस्त दृश्य-पदार्थोंके बाहर और भीतर स्थित है॥ २०॥

॥ इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां आत्मानुभवोपदेशवर्णनं नाम प्रथमं प्रकरणं समाप्तम्॥ १॥

दूसरा प्रकरण

दृश्यमान प्रपंच और आत्मसत्ता

अहो निरञ्जनः शान्तो बोधोऽहं प्रकृतेः परः।
एतावन्तमहं कालं मोहेनैव विडम्बितः॥ १॥

आश्चर्य है कि मैं तो शुद्ध, शान्त, ज्ञानस्वरूप एवं प्रकृतिसे परे हूँ, किंतु इतने समयतक अज्ञानने ही मुझे भ्रमित कर रखा था॥ १॥

यथा प्रकाशयाम्येको देहमेनं तथा जगत्।
अतो मम जगत्सर्वमथवा न च किञ्चन॥ २॥

जैसे मैं अकेला ही इस शरीरको प्रकाशित करता हूँ, वैसे ही सम्पूर्ण जगत्को भी प्रकाशित करता हूँ। एकमात्र मैं प्रकाशक हूँ, इसलिये सम्पूर्ण जगत् मेरा है अथवा कुछ भी मेरा नहीं है॥ २॥

सशरीरमहो विश्वं परित्यज्य मयाधुना।
कुतश्चित्कौशलादेव परमात्मा विलोक्यते॥ ३॥

बड़े आश्चर्यकी बात है कि मैं शरीर और सम्पूर्ण दृश्यजगत्का परित्याग करके किसी अनिर्वचनीय कौशलसे वर्तमान क्षणमें ही परमात्माका दर्शन कर रहा हूँ॥ ३॥

यथा न तोयतो भिन्नास्तरङ्गा फेनबुद्बुदाः।
आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वमात्मविनिर्गतम्॥ ४॥

जैसे तरंग, फेन और बुद्बुदे जलसे भिन्न नहीं हैं, वैसे ही यह दृश्यमान प्रपंच भी आत्मसत्तासे पृथक् नहीं है; क्योंकि यह अपना ही बनाया हुआ है॥ ४॥

तन्तुमात्रो भवेदेव पटो यद्वद्विचारतः।
आत्मतन्मात्रमेवेदं तद्वद्विश्वं विचारितम्॥ ५॥

जैसे विचार करनेपर वस्त्र तन्तुमात्र ही है, वैसे ही विचार करनेपर यह सम्पूर्ण विश्व आत्म-सत्तामात्र ही है॥ ५॥

यथैवेक्षुरसे क्लृप्ता तेन व्याप्तैव शर्करा।
तथा विश्वं मयि क्लृप्तं मया व्याप्तं निरन्तरम्॥ ६॥

जैसे शर्करा गन्नेके रससे बनी है और उससे व्याप्त ही है, वैसे ही यह सम्पूर्ण विश्व मुझसे बना है और मुझसे ही व्याप्त है॥ ६॥

आत्माज्ञानाज्जगद्भाति आत्मज्ञानान्न भासते।
रज्ज्वज्ञानादहिर्भाति तज्ज्ञानाद्भासते न हि॥ ७॥

अपने-आपको न जाननेसे ही जगत्‌की सत्यताकी प्रतीति होती है। अपने-आपको जान लेनेपर नहीं होती। रस्सीको न जाननेसे साँपकी प्रतीति होती है, जाननेपर नहीं॥ ७॥

प्रकाशो मे निजं रूपं नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः।
यदा प्रकाशते विश्वं तदाहंभास एव हि॥ ८॥

प्रकाश मेरा निज स्वरूप है। मैं उससे पृथक् नहीं हूँ। जब-जब यह विश्व प्रकाशित होता है, तब-तब ऐसा मेरे प्रकाशसे ही होता है॥ ८॥

अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयि भासते।
रूप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्यकरे यथा॥ ९॥

आश्चर्य है कि जैसे सीपमें चाँदी, रस्सीमें साँप एवं सूर्यकी किरणोंमें जलकी प्रतीति होती है, वैसे ही यह अज्ञानसे कल्पित विश्व मुझमें भास रहा है॥ ९॥

मत्तो विनिर्गतं विश्वं मय्येव लयमेष्यति।
मृदि कुम्भो जले वीचिः कनके कटकं यथा॥ १०॥

जैसे मिट्टीमें घड़ा, जलमें तरंग और स्वर्णमें कंकण समा जाता है, वैसे ही मुझसे प्रकाशित यह विश्व मुझमें ही समा जायगा॥ १०॥

अहो अहं नमो मह्यं विनाशो यस्य नास्ति मे।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगन्नाशेऽपि तिष्ठतः॥ ११॥

मैं आश्चर्यस्वरूप हूँ, मुझे नमस्कार है; क्योंकि मेरा कभी विनाश नहीं है। ब्रह्मासे लेकर तिनकेतक सम्पूर्ण विश्वका नाश होनेपर भी मैं स्थित रहता हूँ॥ ११॥

अहो अहं नमो मह्यमेकोऽहं देहवानपि।
क्वचिन्न गन्ता नागन्ता व्याप्य विश्वमवस्थितः॥ १२॥

मैं आश्चर्यस्वरूप हूँ, मुझे नमस्कार है; क्योंकि मैं देहधारी होनेपर भी अद्वितीय हूँ। मैं न कहीं जाता हूँ, न आता हूँ। मैं तो सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त होकर स्थित हूँ॥ १२॥

अहो अहं नमो मह्यं दक्षो नास्तीह मत्समः।
असंस्पृश्य शरीरेण येन विश्वं चिरं धृतम्॥ १३॥

मैं आश्चर्यस्वरूप हूँ, मुझे नमस्कार है। मेरे समान चतुर और कोई नहीं है; क्योंकि मैं तो शरीरका स्पर्श भी नहीं करता फिर भी चिरकालसे विश्वको धारण किये हुए हूँ॥ १३॥

अहो अहं नमो मह्यं यस्य मे नास्ति किञ्चन।
अथवा यस्य मे सर्वं यद्वाङ्मनसगोचरम्॥ १४॥

मैं आश्चर्यस्वरूप हूँ, मुझे नमस्कार है; क्योंकि मेरा कुछ नहीं है अथवा जो कुछ वाणी और मनका विषय है, वह सब मेरा ही है॥ १४॥

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम्।
अज्ञानाद्भाति यत्रेदं सोऽहमस्मि निरञ्जनः॥ १५॥

ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता वास्तवमें तीनों नहीं हैं। जिस अधिष्ठानमें अज्ञानसे ये तीनों प्रतीत होते हैं, वह मायामलसे रहित शुद्ध ब्रह्म मैं हूँ॥ १५॥

द्वैतमूलमहो दुःखं नान्यत्तस्यास्ति भेषजम्।
दृश्यमेतन्मृषा सर्वमेकोऽहं चिद्रसोऽमलः॥ १६॥

आश्चर्य है कि समस्त दुःखका कारण एकमात्र द्वैत ही है। उसकी कोई दूसरी दवा नहीं है। बस, ऐसा ज्ञान ही उसकी दवा है कि यह सम्पूर्ण दृश्य मिथ्या है और मैं अद्वितीय, शुद्ध एवं चिदानन्दस्वरूप हूँ॥ १६॥

बोधमात्रोऽहमज्ञानादुपाधिः कल्पितो मया।
एवं विमृश्यतो नित्यं निर्विकल्पे स्थितिर्मम॥ १७॥

मैं वस्तुतः बोधस्वरूप हूँ। अपने स्वरूपके अज्ञानसे मैंने उपाधिकी कल्पना कर ली है, नित्य ऐसा विचार करते रहनेपर यह सिद्ध हो जाता है कि मेरी स्थिति निर्विकल्पमें ही है॥ १७॥

अहो मयि स्थितं विश्वं वस्तुतो न मयि स्थितम्।
न मे बन्धोऽस्ति मोक्षो वा भ्रान्तिः शान्ता निराश्रया॥ १८॥

कितने आश्चर्य की बात है कि मुझमें सम्पूर्ण विश्वकी प्रतीति होते रहनेपर भी वह वस्तुतः मुझमें नहीं है। न तो कभी मुझे बन्धन हुआ और न तो मोक्ष। आश्रयहीन होनेके कारण भ्रान्ति स्वयं शान्त हो गयी॥ १८॥

सशरीरमिदं विश्वं न किञ्चिदिति निश्चितम्।
शुद्धचिन्मात्र आत्मा च तत्कस्मिन्कल्पनाधुना॥ १९॥

यह निश्चय है कि इस शरीरके साथ यह सम्पूर्ण विश्व कुछ भी नहीं है और आत्मा शुद्ध चिन्मात्र है। फिर अब यह कल्पना किसमें सम्भव है? अर्थात् किसीमें नहीं॥ १९॥

शरीरं स्वर्गनरकौ बन्धमोक्षौ भयं तथा।
कल्पनामात्रमेवैतत्किं मे कार्यं चिदात्मनः॥ २०॥

यह शरीर, स्वर्ग-नरक, बन्ध-मोक्ष और भय—यह सब केवल कल्पनामात्र है। फिर मुझ चिदात्माके लिये क्या कुछ कर्तव्य शेष है? अर्थात् कुछ भी नहीं॥ २०॥

अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम।
अरण्यमिव संवृत्तं क्व रतिं करवाण्यहम्॥ २१॥

आश्चर्य तो यह है कि भीड़-भाड़में भी मुझे द्वैत नहीं दीखता,

सब सूने जंगलके समान हो गया। अब मैं प्रीति किससे करूँ?॥ २१॥

नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित्।
अयमेव हि मे बन्ध आसीद्या जीविते स्पृहा॥ २२॥

न मैं देह हूँ और न तो यह देह मेरा है। मैं जीव भी नहीं हूँ। मैं तो शुद्ध चेतन हूँ। मेरा बन्ध तो केवल इतना ही था कि मैं जीवित रहना चाहता था॥ २२॥

अहो भुवनकल्लोलैर्विचित्रैर्द्राक् समुत्थितम्।
मय्यनन्तमहाम्भोधौ चित्तवाते समुद्यते॥ २३॥

आश्चर्य है, मुझ अनन्त महासमुद्रमें जब चित्तरूपी वायु चलने लगती है तब झटपट बहुत-से दृश्य पदार्थोंकी तरंगें उठने लगती हैं॥ २३॥

मय्यनन्तमहाम्भोधौ चित्तवाते प्रशाम्यति।
अभाग्याज्जीववणिजो जगत्पोतो विनश्वरः॥ २४॥

मुझ अनन्त महासमुद्रमें जब चित्तरूपी वायु शान्त हो जाती है तब जीवरूपी व्यापारीके दुर्भाग्यसे यह संसाररूपी जहाज ठहरकर नष्ट हो जाता है॥ २४॥

मय्यनन्तमहाम्भोधावाश्चर्यं जीववीचयः।
उद्यन्ति घ्नन्ति खेलन्ति प्रविशन्ति स्वभावतः॥ २५॥

बड़े आश्चर्य कि बात है कि मुझ अनन्त महासमुद्रमें बहुत-सी जीवरूपी तरंगें स्वभावसे ही उठती हैं। वे आपसमें टकराती हैं, लहराती हैं और विलीन हो जाती हैं॥ २५॥

॥ इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां शिष्येणोक्तमात्मानुभवोल्लास-पञ्चविंशतिकं नाम द्वितीयं प्रकरणं समाप्तम्॥ २॥

तीसरा प्रकरण

मनुष्यकी अज्ञानता

अविनाशिनमात्मानमेकं विज्ञाय तत्त्वतः।
तवात्मज्ञस्य धीरस्य कथमर्थार्जने रतिः॥ १॥

तुमने अद्वितीय अविनाशी आत्माको तत्त्वतः (अभेद रूपसे) जान लिया है; तुम आत्मज्ञ हो, धीर हो; फिर धन कमानेमें तुम्हारी प्रीति क्यों है?॥ १॥

आत्माज्ञानादहो प्रीतिर्विषयभ्रमगोचरे।
शुक्तेरज्ञानतो लोभो यथा रजतविभ्रमे॥ २॥

जैसे सीपको न जाननेसे उसे चाँदी समझकर चाँदीका लोभ होता है, वैसे ही अपने स्वरूपको न जाननेसे ही विषयोंमें उन्हें सच समझनेके कारण प्रीति होती है॥ २॥

विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरङ्गा इव सागरे।
सोऽहमस्मीति विज्ञाय किं दीन इव धावसि॥ ३॥

जिस अधिष्ठान चैतन्यमें यह सम्पूर्ण विश्व सागरमें तरंगोंके समान स्फुरित हो रहा है, वह मैं ही हूँ—ऐसा जानकर भी तुम दीन-हीनके समान क्यों दौड़-धूप कर रहे हो?॥ ३॥

श्रुत्वापि शुद्धचैतन्यमात्मानमतिसुन्दरम्।
उपस्थेऽत्यन्तसंसक्तो मालिन्यमधिगच्छति॥ ४॥

मैं अत्यन्त सुन्दर शुद्ध चैतन्य हूँ—ऐसा गुरु एवं शास्त्रसे श्रवण करके भी जो काम-भोगमें अत्यन्त आसक्त है, उसे मलिनताकी प्राप्ति होती है॥ ४॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
मुनेर्जानत आश्चर्यं ममत्वमनुवर्तते॥ ५॥

यह बड़े आश्चर्य बात है कि सम्पूर्ण दृश्य-पदार्थोंमें अपनेको

और अपनेमें समस्त दृश्य-पदार्थोंको जाननेवाले विवेकशील पुरुषके चित्तमें भी ममता बनी रह जाती है॥ ५॥

आस्थितः परमाद्वैतं मोक्षार्थेऽपि व्यवस्थितः।
आश्चर्यं कामवशगो विकलः केलिशिक्षया॥ ६॥

परम अद्वैत-वस्तुमें निष्ठा होनेपर एवं आत्माका दृढ़ निश्चय हो जानेपर भी बड़े आश्चर्यकी बात है कि पूर्वाभ्यासके कारण तुम कामके अधीन होकर विकल हो जाते हो॥ ६॥

उद्भूतं ज्ञानदुर्मित्रमवधार्यातिदुर्बलः।
आश्चर्यं काममाकाङ्क्षेत्कालमन्तमनुश्रितः॥ ७॥

बड़े आश्चर्यकी बात है कि ज्ञानके शत्रु—कामसे ग्रस्त होकर तुम कमजोर हो जाते हो और समय पाकर नष्ट हो जानेवाले भोगकी आकांक्षा करते हो॥ ७॥

इहामुत्र विरक्तस्य नित्यानित्यविवेकिनः।
आश्चर्यं मोक्षकामस्य मोक्षादेव विभीषिका॥ ८॥

नित्यानित्य-वस्तु-विवेकी, लौकिक-पारलौकिक भोगोंसे विरक्त एवं मुमुक्षु पुरुष भी मोक्षसे (संसारके छूट जानेसे) डरता है, यह बड़े आश्चर्यकी बात है॥ ८॥

धीरस्तु भोज्यमानोऽपि पीड्यमानोऽपि सर्वदा।
आत्मानं केवलं पश्यन्न तुष्यति न कुप्यति॥ ९॥

धीर पुरुष भोग अथवा पीड़ा पाकर भी सर्वदा केवल आत्म-दृष्टि रखता है। वह न तुष्ट होता है, न रुष्ट होता है॥ ९॥

चेष्टमानं शरीरं स्वं पश्यत्यन्यशरीरवत्।
संस्तवे चापि निन्दायां कथं क्षुभ्येन्महाशयः॥ १०॥

महापुरुष तो कर्ममें लगे हुए अपने शरीरको दूसरेके शरीरके समान

समझता है। स्तुति या निन्दासे उसे क्षोभ क्यों होगा?॥ १०॥

मायामात्रमिदं विश्वं पश्यन् विगतकौतुकः।
अपि सन्निहिते मृत्यौ कथं त्रस्यति धीरधीः॥ ११॥

स्थितप्रज्ञ एवं आश्चर्यरहित पुरुष इस विश्वको जादूका खेल समझता है। मौतको सामने देखकर भी भला वह क्यों डरेगा?॥ ११॥

निःस्पृहं मानसं यस्य नैराश्येऽपि महात्मनः।
तस्यात्मज्ञानतृप्तस्य तुलना केन जायते॥ १२॥

जिस महात्मा पुरुषका चित्त मोक्षपदके लिये भी विचलित नहीं होता; उस आत्मज्ञान-तृप्तकी समता भला किसके साथ की जा सकती है?॥ १२॥

स्वभावादेव जानानो दृश्यमेतन्न किञ्चन।
इदं ग्राह्यमिदं त्याज्यं स किं पश्यति धीरधीः॥ १३॥

जो सहज ही यह जानता है कि यह सम्पूर्ण दृश्य वस्तुतः कुछ नहीं है, वह स्थितप्रज्ञ भला यह क्यों देखने लगा कि यह ग्राह्य है और यह त्याज्य है?॥ १३॥

अन्तस्त्यक्तकषायस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः।
यदृच्छयागतो भोगो न दुःखाय न तुष्टये॥ १४॥

जिसने अपने अन्तःकरणसे वासनाओंका रंग धो दिया है, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंको भगा दिया है और आशा-तृष्णाको नष्ट कर दिया है, उसके सामने प्रारब्धवश जो भोग आते हैं, उससे उसे न सुख होता है, न दुःख॥ १४॥

॥ इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायामाक्षेपद्वारोपदेशकं नाम तृतीयं प्रकरणं समाप्तम्॥ ३॥

चौथा प्रकरण

आत्मज्ञानीकी स्थिति

हन्तात्मज्ञस्य धीरस्य खेलतो भोगलीलया।
न हि संसारवाहीकैर्मूढैः सह समानता॥ १॥

यह सम्भव है कि स्थितप्रज्ञ आत्मज्ञानी पुरुष भी लीलापूर्वक भोगके खेल खेले, परंतु संसारका भार ढोनेवाले मूढ़ोंके साथ उसकी कोई तुलना नहीं है॥ १॥

यत्पदं प्रेप्सवो दीनाः शक्राद्याः सर्वदेवताः।
अहो तत्र स्थितो योगी न हर्षमुपगच्छति॥ २॥

इन्द्रादि सारे देवता जिस पदकी प्राप्तिके लिये अत्यन्त दीन रहते हैं, बड़े आश्चर्यकी बात है कि उसी पदपर स्थित होकर भी तत्त्वज्ञानी योगीको हर्षरूप विकार नहीं प्राप्त होता॥ २॥

तज्ज्ञस्य पुण्यपापाभ्यां स्पर्शो ह्यन्तर्न जायते।
न ह्याकाशस्य धूमेन दृश्यमानापि सङ्गतिः॥ ३॥

यद्यपि धुएँसे आकाश धूमिल-सा मालूम पड़ता है; परंतु वास्तवमें धुआँ उसे स्पर्श नहीं करता, ऐसे ही तत्त्वज्ञ पुरुषका पुण्य-पापसे (बाहरी सम्बन्ध दीखनेपर भी) भीतर किसी प्रकारका संस्पर्श नहीं होता॥ ३॥

आत्मैवेदं जगत्सर्वं ज्ञातं येन महात्मना।
यदृच्छया वर्तमानं तं निषेद्धुं क्षमेत कः॥ ४॥

जिस महापुरुषने इस तत्त्वका साक्षात्कार कर लिया है कि यह सम्पूर्ण जगत् आत्मस्वरूप ही है, फिर यदि वह (प्रारब्धसे) स्वेच्छानुसार बर्ताव करे तो उसे भला कौन रोक सकता है?॥ ४॥

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ते भूतग्रामे चतुर्विधे।
विज्ञस्यैव हि सामर्थ्यमिच्छानिच्छाविवर्जने॥ ५॥

ब्रह्मासे तिनकेतक चार प्रकारके प्राणियोंमें एकमात्र तत्त्वज्ञ पुरुषकी

यह शक्ति है कि वह इच्छा और अनिच्छा—दोनोंका त्याग कर सके। (विषयी जीव तो इच्छाका त्याग नहीं कर सकते और निर्विकल्प समाधिकी निष्ठामें तत्पर योगी अनिच्छाका परित्याग नहीं कर सकते—निष्काम-स्वरूपमें स्थित केवल तत्त्वज्ञ ही भावाभावात्मक दोनों स्थितियोंको प्रतीतिमात्र जानता है, यही इच्छा-अनिच्छाका त्याग है)॥ ५॥

आत्मानमद्वयं कश्चिज्जानाति जगदीश्वरम्।
यद्वेत्ति तत्स कुरुते न भयं तस्य कुत्रचित्॥ ६॥

कोई विरला पुरुष ही आत्मा और ब्रह्मकी एकताको जानता है, इसलिये वह सब कुछ कर सकता है, उसे कहीं भी कोई भय नहीं होता॥ ६॥

॥ इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां शिष्यप्रोक्तानुभवोल्लासषट्कं नाम चतुर्थं प्रकरणं समाप्तम्॥ ४॥

पाँचवाँ प्रकरण

दृश्यमान जगत्‌की असत्यता

न ते सङ्गोऽस्ति केनापि किं शुद्धस्त्यक्तुमिच्छसि।
सङ्घातविलयं कुर्वन्नेवमेव लयं व्रज॥ १॥

किसी भी वस्तुके साथ तुम्हारा तादात्म्य नहीं है। तुम स्वयं शुद्ध हो, फिर क्या छोड़ना चाहते हो? व्यष्टि अथवा समष्टि शरीरको इसी प्रकार विचारके द्वारा छोड़ते हुए तुम मुक्त हो जाओ॥ १॥

उदेति भवतो विश्वं वारिधेरिव बुद्बुदः।
इति ज्ञात्वैकमात्मानमेवमेव लयं व्रज॥ २॥

जैसे समुद्रसे बुलबुले उठते हैं, वैसे ही तुमसे ये दृश्य-पदार्थ उदय हो रहे हैं। इस प्रकार एकमात्र आत्मसत्ताको ही जानकर तुम मुक्त हो जाओ॥ २॥

प्रत्यक्षमप्यवस्तुत्वाद्विश्वं नास्त्यमले त्वयि।
रज्जुसर्प इव व्यक्तमेवमेव लयं व्रज॥ ३॥

यद्यपि जगत् प्रत्यक्ष दीख रहा है तथापि तुम्हारे शुद्ध स्वरूपमें इसका अस्तित्व नहीं है। यह तो (भ्रमवश) रज्जुमें सर्पके समान दीखने लगा है—ऐसा निश्चय करके तुम मुक्त हो जाओ॥ ३॥

समदुःखसुखः पूर्ण आशानैराश्ययोः समः।
समजीवितमृत्युः सन्नेवमेव लयं व्रज॥ ४॥

तुम पूर्ण हो, तुम यह जानकर कि सुख-दुःख, आशा-निराशा और जीवन-मृत्यु समान ही हैं, मुक्त हो जाओ॥ ४॥

॥ इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायामाचार्योक्तं लयचतुष्टयं नाम पञ्चमं प्रकरणं समाप्तम्॥ ५॥

छठा प्रकरण

आत्मा और प्राकृतिक जगत्की समानताका अनुभव

आकाशवदनन्तोऽहं घटवत्प्राकृतं जगत्।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः॥ १॥

मैं आकाशके समान अनन्त हूँ और प्राकृतिक जगत् घटके समान है। यही ज्ञान है, ऐसी अवस्थामें न तो इस जगत्का त्याग है, न ग्रहण है और न तो लय ही है। (अनन्त देशकी दृष्टिसे अल्प देश नहीं होता)॥ १॥

महोदधिरिवाहं स प्रपञ्चो वीचिसन्निभः।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः॥ २॥

मैं महासमुद्रके समान हूँ और यह प्रपंच तरंगके समान। यही ज्ञान है। ऐसी अवस्थामें न तो इस प्रपंचका त्याग है, न ग्रहण है और न तो लय ही है। (कारणकी दृष्टिसे कार्य पृथक् नहीं होता)॥ २॥

अहं स शुक्तिसङ्काशो रूप्यवद्विश्वकल्पना।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः॥ ३॥

मैं सीपके समान हूँ और मुझमें रजतके समान विश्वकी कल्पना

हुई है। यही ज्ञान है। ऐसी स्थितिमें न जगत्का त्याग है, न ग्रहण है और न तो लय ही है। (यहाँ जगत्को आत्माका विवर्त्त बतलाया है। भ्रान्तिजन्य कार्य-कारण आदि भाव नहीं होते)॥ ३॥

अहं वा सर्वभूतेषु सर्वभूतान्यथो मयि।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः॥ ४॥

मैं समस्त भूतोंमें हूँ और सब भूत मुझमें हैं (सीपमें रजतके समान)—यही ज्ञान है। ऐसी अवस्थामें इस जगत्का न त्याग है, न ग्रहण है और न तो लय ही है॥ ४॥

॥ इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां शिष्योक्तमुत्तरचतुष्कं नाम षष्ठं प्रकरणं समाप्तम्॥ ६॥

सातवाँ प्रकरण

ज्ञानीकी जगत्से असम्बद्धता

मय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्वपोत इतस्ततः।
भ्रमति स्वान्तवातेन न ममास्त्यसहिष्णुता॥ १॥

मुझ अनन्त महासमुद्रमें मनकी वायुसे प्रेरित होकर जगत्-रूप नौका इधर-उधर घूमती रहती है, इससे मुझे कोई चिढ़ नहीं है॥ १॥

मय्यनन्तमहाम्भोधौ जगद्वीचिः स्वभावतः।
उदेतु वास्तमायातु न मे वृद्धिर्न च क्षतिः॥ २॥

मुझ अनन्त महासमुद्रमें यह जगत्की तरंग स्वभावसे ही उठे या न उठे। न तो इससे मेरी वृद्धि होती है और न कोई क्षति॥ २॥

मय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्वं नाम विकल्पना।
अतिशान्तो निराकार एतदेवाहमास्थितः॥ ३॥

मुझ अनन्त महासमुद्रमें यह विश्व केवल कल्पनामात्र है, मैं अत्यन्त शान्त और नाम-रूपसे रहित हूँ, यही मेरी निष्ठा है॥ ३॥

नात्मा भावेषु नो भावस्तत्रानन्ते निरञ्जने।
इत्यसक्तोऽस्पृहः शान्त एतदेवाहमास्थितः॥ ४॥

शरीरादिमें मैं आत्मा नहीं हूँ और न तो मुझ अनन्त शुद्धात्मामें शरीरादि ही हैं, अतः मुझमें न तो आसक्ति है, न स्पृहा। मैं परम शान्त हूँ—यही मेरी निष्ठा है॥ ४॥

अहो चिन्मात्रमेवाहमिन्द्रजालोपमं जगत्।
अतो मम कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना॥ ५॥

कैसा आश्चर्य है कि मैं केवल चित्स्वरूप हूँ और यह जगत् इन्द्रजालके समान है। अब मुझे क्यों और किसमें त्याज्य और ग्रहणकी कल्पना हो?॥ ५॥

॥ इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायामनुभवपञ्चकविवरणं नाम सप्तमं प्रकरणं समाप्तम्॥ ७॥

आठवाँ प्रकरण

चित्तकी आसक्ति-अनासक्ति ही बन्धन-मोक्षका कारण

तदा बन्धो यदा चित्तं किञ्चिद्वाञ्छति शोचति।
किञ्चिन्मुञ्चति गृह्णाति किञ्चिद्धृष्यति कुप्यति॥ १॥

जब चित्त कुछ चाहता है, किसीके लिये शोक करता है, किसी वस्तुको छोड़ता-पकड़ता है और किसी वस्तुसे रुष्ट एवं तुष्ट होता है, तभी बन्धन है॥ १॥

तदा मुक्तिर्यदा चित्तं न वाञ्छति न शोचति।
न मुञ्चति न गृह्णाति न हृष्यति न कुप्यति॥ २॥

जब चित्त चाह, शोक, त्याग, ग्रहण, हर्ष और रोषसे रहित होता है, तभी मुक्ति है॥ २॥

तदा बन्धो यदा चित्तं सक्तं कास्वपि दृष्टिषु।
तदा मोक्षो यदा चित्तमसक्तं सर्वदृष्टिषु॥ ३॥

जब चित्त किन्हीं दृष्टियोंमें आसक्त है, तब बन्धन है। जब

चित्त किसी भी दृष्टिमें आसक्त नहीं है, तब मोक्ष है॥ ३॥

यदा नाहं तदा मोक्षो यदाहं बन्धनं तदा।
मत्वेति हेलया किञ्चिन्मा गृहाण विमुञ्च मा॥ ४॥

जब अहंभावका बाध है, तब मोक्ष है, जब कहीं भी अहंभाव है, तब बन्धन है—ऐसा जानकर अपेक्षासे न तो किसीको पकड़ो और न छोड़ो॥ ४॥

॥ इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां गुरुप्रोक्तं बन्धनमोक्षव्यवस्था-नामाष्टमं प्रकरणं समाप्तम्॥ ८॥

नौवाँ प्रकरण

वासना ही सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंका कारण

कृताकृते च द्वन्द्वानि कदा शान्तानि कस्य वा।
एवं ज्ञात्वेह निर्वेदाद् भव त्यागपरोऽव्रती॥ १॥

'यह किया और यह नहीं किया'—ये द्वन्द्व कब, किसके शान्त हुए हैं? (कभी किसीके नहीं) ऐसा जानकर निर्वेदसे त्यागपरायण हो जाओ, कोई व्रत मत लो। (दृश्यकी किसी प्रतीतिके प्रति कुछ करने या न करनेका आग्रह मत करो। ज्ञानका फल अनाग्रह है)॥ १॥

कस्यापि तात धन्यस्य लोकचेष्टावलोकनात्।
जीवितेच्छा बुभुक्षा च बुभुत्सोपशमं गता॥ २॥

हे तात! कोई बिरला ही धन्य महापुरुष ऐसा होता है, जिसकी लोगोंके रंग-ढंग देखकर जीनेकी, भोगनेकी और जाननेकी इच्छाएँ शान्त हो गयी हैं। (कर्तव्य, प्राप्तव्य, ज्ञातव्य आदि ज्ञानीको नहीं रहते)॥ २॥

अनित्यं सर्वमेवेदं तापत्रितयदूषितम्।
असारं निन्दितं हेयमिति निश्चित्य शाम्यति॥ ३॥

यह सम्पूर्ण जगत् मानसिक, दैविक एवं भौतिक तापसे दूषित तथा अनित्य है। इसमें कुछ सार नहीं है, यह निन्दित एवं त्याज्य

है, ऐसा निश्चय करके वह ज्ञानी शान्त हो जाता है॥ ३॥

कोऽसौ कालो वयः किं वा यत्र द्वन्द्वानि नो नृणाम्।
तान्युपेक्ष्य यथाप्राप्तवर्ती सिद्धिमवाप्नुयात्॥ ४॥

भला ऐसा कौन-सा समय है अथवा कौन-सी अवस्था है, जब मनुष्य सर्दी-गर्मी, सुख-दुःखादिके द्वन्द्वोंसे आक्रान्त नहीं रहता? इसलिये उनकी उपेक्षा करके जब-जो-जैसे मिले, उसीसे अपना काम चला ले। ऐसे पुरुषको ही सिद्धि मिलती है॥ ४॥

नाना मतं महर्षीणां साधूनां योगिनां तथा।
दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नः को न शाम्यति मानवः॥ ५॥

ऐसा कौन (विचारशील) मनुष्य होगा, जो महर्षि, साधु एवं योगियोंके अनेकों मतमतान्तर देख उनसे उदासीन होकर शान्त न हो जाय?॥ ५॥

कृत्वा मूर्तिपरिज्ञानं चैतन्यस्य न किं गुरुः।
निर्वेदसमतायुक्त्या यस्तारयति संसृतेः॥ ६॥

जो चैतन्यके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करके निर्वेद और समताकी युक्तिसे औरोंको भी संसार-सागरसे तार देता है, वह क्या गुरु नहीं है?॥ ६॥

पश्य भूतविकारांस्त्वं भूतमात्रान् यथार्थतः।
तत्क्षणाद् बन्धनिर्मुक्तः स्वरूपस्थो भविष्यसि॥ ७॥

तुम पंचभूतोंके विकारोंको (देहेन्द्रियादिको) यथार्थमें पंचभूत-मात्र ही देखो। तब तुम तत्क्षण ही बन्धन-मुक्त होकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओगे॥ ७॥

वासना एव संसार इति सर्वा विमुञ्च ताः।
तत्त्यागो वासनात्यागात् स्थितिरद्य यथा तथा॥ ८॥

वासना ही संसार है, इसलिये इन सबका परित्याग कर दो। वासना-त्यागसे ही संसारका त्याग होता है। अब (शरीर, अन्तःकरण और

संसारकी) चाहे जैसी स्थिति हो, उससे कोई सम्बन्ध नहीं रहता॥ ८॥

॥ इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां गुरुप्रोक्तं निर्वेदाष्टकं नाम नवमं प्रकरणं समाप्तम्॥ ९॥

दसवाँ प्रकरण

तृष्णा ही बन्धन है

विहाय वैरिणं काममर्थं चानर्थसङ्कुलम्।
धर्ममप्येतयोर्हेतुं सर्वत्रानादरं कुरु॥ १॥

अपने शत्रु काम-भोग और अनर्थ-संकुल अर्थ तथा इन दोनोंके कारण धर्मको भी छोड़कर सर्वत्र उपेक्षाका भाव रखो॥ १॥

स्वप्नेन्द्रजालवत्पश्य दिनानि त्रीणि पञ्च वा।
मित्रक्षेत्रधनागारदारदायादिसम्पदः॥ २॥

मित्र, जमीन, धन, महल, स्त्रियाँ, उत्तराधिकार आदि सम्पत्तियाँ—ये सब स्वप्न और इन्द्रजालके समान तीन या पाँच दिनकी वस्तु हैं, ऐसा देखो, समझो॥ २॥

यत्र यत्र भवेत्तृष्णा संसारं विद्धि तत्र वै।
प्रौढवैराग्यमाश्रित्य वीततृष्णः सुखी भव॥ ३॥

जहाँ-जहाँ तृष्णा है, वहीं-वहीं संसार है—ऐसा जानो। प्रौढ़ वैराग्यका आश्रय लेकर तृष्णाको छोड़ दो और सुखी (निश्चिन्त) हो जाओ॥ ३॥

तृष्णामात्रात्मको बन्धस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते।
भवासंसक्तिमात्रेण प्राप्तितुष्टिर्मुहुर्मुहुः॥ ४॥

केवल तृष्णा ही बन्धन है और उसके नाशका ही नाम मोक्ष है। संसारमें अनासक्त होते ही बार-बार कृतकृत्यता और आनन्दकी उपलब्धि होने लगती है॥ ४॥

त्वमेकश्चेतनः शुद्धो जडं विश्वमसत्तथा।
अविद्यापि न किञ्चित्सा का बुभुत्सा तथापि ते॥ ५॥

तुम एक एवं शुद्ध चेतन हो और यह विश्व जड़ तथा असत् है। अविद्या भी कुछ नहीं है। फिर तुम किस वस्तुको जाननेकी इच्छा करते हो?॥ ५॥

राज्यं सुताः कलत्राणि शरीराणि सुखानि च।
संसक्तस्यापि नष्टानि तव जन्मनि जन्मनि॥ ६॥

राज्य, पुत्र, स्त्री, शरीर और सुख—इनमें तुम जन्म-जन्म आसक्त रहे हो, परंतु तुम्हारे आसक्त रहनेपर भी ये नष्ट हो गये॥ ६॥

अलमर्थेन कामेन सुकृतेनापि कर्मणा।
एभ्यः संसारकान्तारे न विश्रान्तमभून्मनः॥ ७॥

धन, भोग अथवा पुण्य-कर्म—ये सब अब बहुत हो चुके हैं, बस करो। इस संसारके घोर जंगलमें इन साधनोंसे मनको शान्ति नहीं मिली॥ ७॥

कृतं न कति जन्मानि कायेन मनसा गिरा।
दुःखमायासदं कर्म तदद्याप्युपरम्यताम्॥ ८॥

न जाने कितने जन्मोंतक तुमने शरीर, मन एवं वाणीसे परिश्रम और क्लेशप्रद कर्मोंका अनुष्ठान किया है, अब तो उनसे उपराम हो जाओ॥ ८॥

॥ इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां गुरुप्रोक्तमुपशमाष्टकं नाम दशमं प्रकरणं समाप्तम्॥ १०॥

ग्यारहवाँ प्रकरण

शान्तिप्राप्तिके उपाय

भावाभावविकारश्च स्वभावादिति निश्चयी।
निर्विकारो गतक्लेशः सुखेनैवोपशाम्यति॥ १॥

भावसे अभाव और अभावसे भावरूप विकार स्वभावसे ही होते रहते हैं। जो ऐसा निश्चय कर लेता है, वह विकार एवं क्लेशसे

रहित हो जाता है और उसे अनायास ही शान्ति प्राप्त होती है॥ १॥

ईश्वरः सर्वनिर्माता नेहान्य इति निश्चयी।
अन्तर्गलितसर्वाशः शान्तः क्वापि न सज्जते॥ २॥

ईश्वर ही सबका निर्माता है, दूसरा कोई नहीं। जो ऐसा निश्चय कर लेता है, उसकी सारी आशाएँ भीतर ही गल जाती हैं, वह शान्त हो जाता है और उसकी कहीं भी आसक्ति नहीं होती॥ २॥

आपदः सम्पदः काले दैवादेवेति निश्चयी।
तृप्तः स्वस्थेन्द्रियो नित्यं न वाञ्छति न शोचति॥ ३॥

समयपर आपत्तियाँ और सम्पत्तियाँ दैव (प्रारब्ध)-से होती हैं, ऐसा जो निश्चय कर लेता है, वह सदा तृप्त रहता है। उसकी इन्द्रियाँ सदा स्वस्थ रहती हैं। न तो वह अप्राप्तकी प्राप्तिकी इच्छा करता है और न तो नष्ट वस्तुके लिये शोक ही करता है॥ ३॥

सुखदुःखे जन्ममृत्यू दैवादेवेति निश्चयी।
साध्यादर्शी निरायासः कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ४॥

सुख-दुःख और जन्म-मृत्यु दैवसे ही होते हैं, जो ऐसा निश्चय कर लेता है, उसकी दृष्टिमें साध्य कुछ नहीं रहता। उसे परिश्रम नहीं होता और कर्म करनेपर भी वह लिप्त नहीं होता॥ ४॥

चिन्तया जायते दुःखं नान्यथेहेति निश्चयी।
तया हीनः सुखी शान्तः सर्वत्र गलितस्पृहः॥ ५॥

इस संसारमें चिन्तासे ही दुःख होता है, अन्यथा नहीं। जिसने ऐसा निश्चय कर लिया है, वह चिन्ताहीन साधक सुखी एवं शान्त हो जाता है, उसको कहीं भी स्पृहा नहीं होती॥ ५॥

नाहं देहो न मे देहो बोधोऽहमिति निश्चयी।
कैवल्यमिव सम्प्राप्तो न स्मरत्यकृतं कृतम्॥ ६॥

न मैं देह हूँ, न देह मेरा है, मैं तो शुद्ध बोधस्वरूप हूँ, जिसको

ऐसा निश्चय हो गया है, उसे मानो कैवल्यकी प्राप्ति हो गयी है। वह इस बातका स्मरण नहीं करता कि मैंने क्या किया और क्या नहीं किया॥ ६॥

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमहमेवेति निश्चयी।
निर्विकल्पः शुचिः शान्तः प्राप्ताप्राप्तविनिर्वृतः॥ ७॥

'ब्रह्मासे लेकर तिनकेतक सब मैं ही हूँ'—ऐसा जिसका निश्चय है, वह संकल्प-विकल्पसे रहित, पवित्र एवं शान्त हो जाता है। प्राप्ति और अप्राप्ति दोनोंमें वह निश्चिन्त रहता है॥ ७॥

नानाश्चर्यमिदं विश्वं न किञ्चिदिति निश्चयी।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किञ्चिदिति शाम्यति॥ ८॥

अनेक आश्चर्योंसे परिपूर्ण यह संसार कुछ नहीं है—ऐसा जिसका निश्चय है, उसकी सारी वासनाएँ भस्म हो जाती हैं। वह स्फूर्तिमात्र बचता है और वह मानो कुछ नहीं है (निर्वाण ही निर्वाण है), इस प्रकार शान्त हो जाता है॥ ८॥

॥ इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां ज्ञानाष्टकं नामैकादशं प्रकरणं समाप्तम्॥ ११॥

बारहवाँ प्रकरण

आत्मस्वरूपमें स्थित पुरुषकी स्थिति

कायकृत्यासहः पूर्वं ततो वाग्विस्तरासहः।
अथ चिन्तासहस्तस्मादेवमेवाहमास्थितः॥ १॥

पहले शारीरिक कर्मकी असहिष्णुता तदनन्तर वाणीके विस्तारकी और फिर चिन्ताकी असहिष्णुता हो गयी। इसलिये मैं यों ही ज्योंका-त्यों स्थित हूँ॥ १॥

प्रीत्यभावेन शब्दादेरदृश्यत्वेन चात्मनः।
विक्षेपैकाग्रहृदय एवमेवाहमास्थितः॥ २॥

शब्दादि विषयोंमें प्रीति न होनेके कारण और आत्माके अदृश्य

होनेसे मैं विक्षेपके निमित्त उपस्थित होनेपर भी एकाग्र रहकर यों ही स्थित हूँ॥ २॥

समाध्यासादिविक्षिप्तौ व्यवहारः समाधये।
एवं विलोक्य नियममेवमेवाहमास्थितः॥ ३॥

सम्यक् अध्यास आदिके कारण विक्षेप होनेपर समाधिके लिये साधन करना होता है। ऐसा नियम देखकर मैं यों ही स्थित हूँ॥ ३॥

हेयोपादेयविरहादेवं हर्षविषादयोः।
अभावादद्य हे ब्रह्मन्नेवमेवाहमास्थितः॥ ४॥

त्याज्य-ग्राह्य, हर्ष और विषाद न होनेके कारण हे ब्रह्मस्वरूप! मैं तो यों ही ज्यों-का-त्यों स्थित हूँ॥ ४॥

आश्रमानाश्रमं ध्यानं चित्तस्वीकृतवर्जनम्।
विकल्पं मम वीक्ष्यैतैरेवमेवाहमास्थितः॥ ५॥

यह आश्रम है और यह आश्रमका त्याग, यह ध्यान है और यह विक्षेप, यह चित्तके द्वारा स्वीकार करनेयोग्य है और यह नहीं—इन बातोंसे विकल्प ही होता है। ऐसा देखकर मैं तो यों ही स्थित हूँ॥ ५॥

कर्मानुष्ठानमज्ञानाद्यथैवोपरमस्तथा ।
बुद्ध्वा सम्यगिदं तत्त्वमेवमेवाहमास्थितः॥ ६॥

जिस प्रकार कर्मानुष्ठान (कर्म करना) अज्ञानसे होता है, इसी प्रकार कर्मका त्याग भी अज्ञानसे ही होता है, इस तत्त्वको यथार्थ रीतिसे जानकर मैं इसी प्रकार (आत्मस्वरूपमें ही) स्थित हूँ॥ ६॥

अचिन्त्यं चिन्त्यमानोऽपि चिन्तारूपं भजत्यसौ।
त्यक्त्वा तद्भावनं तस्मादेवमेवाहमास्थितः॥ ७॥

अचिन्त्य आत्मतत्त्वका चिन्तन करनेसे भी वह चिन्तनरूप हो जाता है। इसलिये उसका चिन्तन (भावना) छोड़कर मैं तो यों ही

अपने स्वत:सिद्ध स्वरूपमें स्थित हूँ॥ ७॥

एवमेव कृतं येन स कृतार्थो भवेदसौ।
एवमेव स्वभावो यः स कृतार्थो भवेदसौ॥ ८॥

जिसने अभ्यासके द्वारा अपनेको ऐसा बना लिया, वह कृतार्थ हो जाता है। जिसका ऐसा स्वभाव ही है, वह स्वत: कृतार्थ है॥ ८॥

॥ इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायामेवमेवाष्टकं नाम द्वादशं प्रकरणं समाप्तम्॥ १२॥

तेरहवाँ प्रकरण

स्वरूपस्थितिका आनन्द

अकिञ्चनभवं स्वास्थ्यं कौपीनत्वेऽपि दुर्लभम्।
त्यागादाने विहायास्मादहमासे यथासुखम्॥ १॥

'आत्माके सिवाय अन्य कोई वस्तु है ही नहीं'—ऐसे बोधसे जो स्वरूपस्थिति प्राप्त होती है, वह केवल कौपीनधारी होनेपर भी दुर्लभ है। इसलिये त्याग-ग्रहणका परित्याग करके मैं मौजमें रहता हूँ॥ १॥

कुत्रापि खेदः कायस्य जिह्वा कुत्रापि खिद्यते।
मनः कुत्रापि तत्त्यक्त्वा पुरुषार्थे स्थितः सुखम्॥ २॥

कहीं तो शरीरको कष्ट होता है और कहीं जिह्वाको तथा कहीं मनको। इसलिये उन सबको छोड़कर मैं अपने स्वरूपमें सुखपूर्वक स्थित हूँ॥ २॥

कृतं किमपि नैव स्यादिति सञ्चिन्त्य तत्त्वतः।
यदा यत्कर्तुमायाति तत्कृत्वासे यथासुखम्॥ ३॥

शरीर, अन्त:करणादिके द्वारा किया हुआ कर्म वस्तुत: कुछ नहीं है, ऐसा निश्चय करके जब जो कर्तव्य सामने आ जाता है, उसे करके मैं मौजमें रहता हूँ॥ ३॥

कर्मनैष्कर्म्यनिर्बन्धभावा देहस्थयोगिनः।
संयोगायोगविरहादहमासे यथासुखम्॥ ४॥

कर्मका संकल्प करो अथवा उसके त्यागका संकल्प करो—यह दुराग्रह तो देहाभिमानी साधकके लिये है। न मुझसे किसीका संयोग है और न तो वियोग, इसलिये मैं सुखपूर्वक रहता हूँ॥ ४॥

अर्थानर्थौ न मे स्थित्या गत्या न शयनेन वा।
तिष्ठन्गच्छन्स्वपंस्तस्मादहमासे यथासुखम्॥ ५॥

स्थिति, गति अथवा शयनसे न मेरा कोई लाभ है न तो हानि; इसलिये उठते-बैठते-सोते मैं अपनी मौजमें रहता हूँ॥ ५॥

स्वपतो नास्ति मे हानिः सिद्धिर्यत्नवतो न वा।
नाशोल्लासौ विहायास्मादहमासे यथासुखम्॥ ६॥

न सोनेसे मेरी कोई हानि है और न परिश्रम करनेसे कोई लाभ। इसलिये हानि और लाभकी बुद्धिका परित्याग करके मैं मौजमें रहता हूँ॥ ६॥

सुखादिरूपानियमं भावेष्वालोक्य भूरिशः।
शुभाशुभे विहायास्मादहमासे यथासुखम्॥ ७॥

जगत्के किसी भी पदार्थमें, स्थितिमें यह सुख है—यह दुःख है, ऐसा नियम नहीं है—यह बात मैंने बार-बार देख ली है। इसलिये शुभ (हित) और अशुभ (अहित)-बुद्धिका परित्याग करके मैं मौजमें रहता हूँ॥ ७॥

॥ इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां यथासुखसप्तकं नाम त्रयोदशं प्रकरणं समाप्तम्॥ १३॥

चौदहवाँ प्रकरण

आत्मज्ञानी अवधूत पुरुषकी स्थिति

प्रकृत्या शून्यचित्तो यः प्रमादाद्भावभावनः।
निद्रितो बोधित इव क्षीणसंसरणो हि सः॥ १॥

जिसका चित्त स्वभावसे ही शून्य (विषयचिन्तनरहित) है और जो उपेक्षापूर्वक विषयोंमें इस तरह बरत लेता है कि मानो कोई गाढ़ी नींदसे जगाया हुआ पुरुष आलस्यभरे शरीरसे काम कर रहा हो—ऐसा पुरुष संसारसे रहित ही है॥ १॥

क्व धनानि क्व मित्राणि क्व मे विषयदस्यवः।
क्व शास्त्रं क्व च विज्ञानं यदा मे गलिता स्पृहा॥ २॥

जब मेरी स्पृहा ही नष्ट हो गयी तब धन क्या, मित्र क्या और मेरे लिये विषयरूप लुटेरे भी क्या? मेरे लिये शास्त्र क्या और विज्ञान भी क्या?॥ २॥

विज्ञाते साक्षिपुरुषे परमात्मनि चेश्वरे।
नैराश्ये बन्धमोक्षे च न चिन्ता मुक्तये मम॥ ३॥

साक्षी पुरुषको जो ईश्वर और परमात्मासे अभिन्न है, जान लेनेपर जब बन्ध और मोक्ष दोनोंकी आस्था नष्ट हो गयी, तब मुझे मुक्तिके लिये क्या चिन्ता हो सकती है?॥ ३॥

अन्तर्विकल्पशून्यस्य बहिः स्वच्छन्दचारिणः।
भ्रान्तस्येव दशास्तास्तादृशा एव जानते॥ ४॥

जो भीतरसे तो विकल्पशून्य है और बाहरसे भ्रान्तपुरुषके समान स्वच्छन्द आचरण करता है, उसकी उन-उन अनिर्वचनीय अवस्थाओंको वैसे लोग ही जानते हैं॥ ४॥

॥ इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां शान्तिचतुष्टयं नाम चतुर्दशं प्रकरणं समाप्तम्॥ १४॥

पन्द्रहवाँ प्रकरण

मोक्षका मर्म तथा अद्वैत निरूपण

यथातथोपदेशेन कृतार्थः सत्त्वबुद्धिमान्।
आजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति॥ १॥

सात्त्विक-बुद्धिसे सम्पन्न जिज्ञासु पुरुषको जैसे-तैसे थोड़ेमें भी समझा दो तो वह कृतार्थ हो जाता है और इससे हीन पुरुष तो जीवनभर जिज्ञासा करता फिरे तो भी मोहग्रस्त ही रहता है॥ १॥

मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु॥ २॥

विषयोंका नीरस हो जाना ही मोक्ष है, विषयमें रस आना ही बन्धन है; बस इतना ही तत्त्वज्ञान है। (इसे जानकर) जो इच्छा हो करो॥ २॥

वाग्मिप्राज्ञमहोद्योगं जनं मूकजडालसम्।
करोति तत्त्वबोधोऽयमतस्त्यक्तो बुभुक्षुभिः॥ ३॥

यह तत्त्वबोध वक्ताको मूक, प्राज्ञको जड़ और महान् उद्योगीको आलसी बना देता है। इसलिये भोग चाहनेवालोंने इसका परित्याग कर दिया है॥ ३॥

न त्वं देहो न ते देहो भोक्ता कर्ता न वा भवान्।
चिद्रूपोऽसि सदा साक्षी निरपेक्षः सुखं चर॥ ४॥

न तुम देह हो और न देह तुम्हारा है, न तुम कर्ता हो और न तुम भोक्ता। तुम सदा एकरस चेतन साक्षी हो। निरपेक्ष होकर सुखसे विचरो॥ ४॥

रागद्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन।
निर्विकल्पोऽसि बोधात्मा निर्विकारः सुखं चर॥ ५॥

राग-द्वेष मनके धर्म हैं और यह मन कदापि तुम्हारा नहीं है।

तुम विकल्प एवं विकारसे रहित बोधस्वरूप हो। सुखसे विचरो॥ ५॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
विज्ञाय निरहङ्कारो निर्ममत्वं सुखी भव॥ ६॥

समस्त पदार्थोंमें अपने-आपको और समस्त पदार्थोंको अपने-आपमें जानकर अहंकार और ममतासे रहित एवं सुखी हो जाओ॥ ६॥

विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरङ्गा इव सागरे।
तत्त्वमेव न सन्देहश्चिन्मूर्ते विज्वरो भव॥ ७॥

हे चित्स्वरूप! जिस अधिष्ठान चैतन्यमें यह विश्व समुद्रमें तरंगके समान चमक रहा है, वह तुम ही हो; इसमें सन्देह नहीं। तुम निश्चिन्त हो जाओ॥ ७॥

श्रद्धस्व तात श्रद्धस्व नात्र मोहं कुरुष्व भोः।
ज्ञानस्वरूपो भगवानात्मा त्वं प्रकृतेः परः॥ ८॥

वत्स! श्रद्धा करो, श्रद्धा करो, इस सम्बन्धमें भूल मत करो। तुम प्रकृति से परे ज्ञानस्वरूप और परमात्मा ही हो॥ ८॥

गुणैः संवेष्टितो देहस्तिष्ठत्यायाति याति च।
आत्मा न गन्ता नागन्ता किमेनमनुशोचसि॥ ९॥

गुणोंसे लपेटा हुआ यह शरीर ही रहता है, यही आता-जाता है। आत्मा न कहीं आता है, न जाता है; फिर तुम इसके लिये क्यों शोक करते हो?॥ ९॥

देहस्तिष्ठतु कल्पान्तं गच्छत्वद्यैव वा पुनः।
क्व वृद्धिः क्व च वा हानिस्तव चिन्मात्ररूपिणः॥ १०॥

चाहे यह शरीर कल्पपर्यंत रहे और चाहे आज ही मर-मिट जाय, इससे तुम्हारी हानि अथवा लाभ ही क्या है? तुम केवल चित्-स्वरूप हो॥ १०॥

त्वय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्ववीचिः स्वभावतः।
उदेतु वास्तमायातु न ते वृद्धिर्न वा क्षतिः॥ ११॥

तुम अनन्त महासमुद्र हो और तुममें यह विश्व एक नन्हीं-सी तरंग। यह स्वभावसे ही उठे या न उठे, इससे न तो तुम्हारा कोई लाभ है और न हानि॥ ११॥

तात चिन्मात्ररूपोऽसि न ते भिन्नमिदं जगत्।
अतः कस्य कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना॥ १२॥

वत्स! तुम केवल चित्स्वरूप हो। यह जगत् तुमसे भिन्न नहीं है। ऐसी स्थितिमें किसे, कहाँ, क्यों हेय और उपादेयकी कल्पना हो॥ १२॥

एकस्मिन्नव्यये शान्ते चिदाकाशेऽमले त्वयि।
कुतो जन्म कुतः कर्म कुतोऽहङ्कार एव च॥ १३॥

तुम एक अविनाशी, शान्त एवं निर्मल चिदाकाश हो। तुममें जन्म कहाँ? कर्म कहाँ? और अहंकार ही कहाँ?॥ १३॥

यत्त्वं पश्यसि तत्रैकस्त्वमेव प्रतिभाससे।
किं पृथग्भासते स्वर्णात्कटकाङ्गदनूपुरम्॥ १४॥

जो कुछ तुम देखते हो उस दीखनेवाले पदार्थके रूपमें एकमात्र तुम्हीं प्रतीत हो रहे हो। क्या कड़े, बाजूबन्द और पायजेब स्वर्णसे पृथक् प्रतीत होते हैं?॥ १४॥

अयं सोऽहमयं नाहं विभागमिति सन्त्यज।
सर्वमात्मेति निश्चित्य निःसङ्कल्पः सुखी भव॥ १५॥

यह मैं हूँ, यह मैं नहीं हूँ, इस बँटवारेको छोड़ दो। सब आत्मा ही है—ऐसा निश्चय करके निःसंकल्प और सुखी हो जाओ॥ १५॥

तवैवाज्ञानतो विश्वं त्वमेकः परमार्थतः।
त्वत्तोऽन्यो नास्ति संसारी नासंसारी च कश्चन॥ १६॥

तुम्हारे निज स्वरूपके अज्ञानसे ही विश्वकी सत्ता है। परमार्थतः

एकमात्र तुम ही हो, तुमसे भिन्न न तो कोई संसारी (जीव) है और न कोई असंसारी (ईश्वर)॥ १६॥

भ्रान्तिमात्रमिदं विश्वं न किञ्चिदिति निश्चयी।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किञ्चिदिव शाम्यति॥ १७॥

यह विश्व भ्रान्तिमात्र है। वस्तुतः कुछ नहीं है। जिसका ऐसा निश्चय हो गया है, उसकी वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। वह स्फूर्ति-मात्र रहता है, वह 'न कुछ' के समान निर्वाणका अनुभव करता है॥ १७॥

एक एव भवाम्भोधावासीदस्ति भविष्यति।
न ते बन्धोऽस्ति मोक्षो वा कृतकृत्यः सुखं चर॥ १८॥

इस संसार-समुद्रमें एक ही था, है और रहेगा। न तुम्हारा बन्धन है और न तो मोक्ष। तुम कृतकृत्य हो, सुखसे विचरो॥ १८॥

मा सङ्कल्पविकल्पाभ्यां चित्तं क्षोभय चिन्मय।
उपशाम्य सुखं तिष्ठ स्वात्मन्यानन्दविग्रहे॥ १९॥

हे चित्स्वरूप! संकल्प और विकल्पके द्वारा अपना चित्त क्षुब्ध मत करो। उपशम—शान्त हो जाओ और अपने आनन्दस्वरूप आत्मामें सुखसे रहो॥ १९॥

त्यजैव ध्यानं सर्वत्र मा किञ्चिद्धृदि धारय।
आत्मा त्वं मुक्त एवासि किं विमृश्य करिष्यसि॥ २०॥

तुम कहीं भी किसीका भी ध्यान मत करो। कहीं कुछ भी हृदयमें धारण मत करो। तुम नित्य मुक्त आत्मा हो। विचार करके भी क्या करोगे॥ २०॥

॥ इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां तत्त्वोपदेशविंशतिकं नाम पञ्चदशं प्रकरणं समाप्तम्॥ १५॥

सोलहवाँ प्रकरण

स्वरूपस्थितिमें सुख-शान्ति

आचक्ष्व शृणु वा तात नानाशास्त्राण्यनेकशः।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते॥ १॥

वत्स! चाहे तुम बार-बार अनेक शास्त्रोंका अध्ययन करो या श्रवण करो। फिर भी जबतक तुम सबको भूल नहीं जाओगे, तबतक तुम्हारी स्वरूप-स्थिति नहीं हो सकती॥ १॥

भोगं कर्म समाधिं वा कुरु विज्ञ तथापि ते।
चित्तं निरस्तसर्वाशमत्यर्थं रोचयिष्यति॥ २॥

विवेकी! तुम भोग करो, कर्म करो या समाधि लगाओ। तुम्हें परम सुख-शान्तिका अनुभव तो तभी होगा, जब तुम्हारे चित्तसे सभी आशाएँ सर्वथा मिट जायँगी॥ २॥

आयासात्सकलो दुःखी नैनं जानाति कश्चन।
अनेनैवोपदेशेन धन्यः प्राप्नोति निर्वृतिम्॥ ३॥

कर्म-प्रयत्नसे ही सब दुःखी हैं, परंतु इस बातको कोई समझता ही नहीं है। शुद्धान्तःकरण पुरुष केवल इसी उपदेशसे परम सुख-शान्तिकी प्राप्ति करते हैं॥ ३॥

व्यापारे खिद्यते यस्तु निमेषोन्मेषयोरपि।
तस्यालस्यधुरीणस्य सुखं नान्यस्य कस्यचित्॥ ४॥

जो महापुरुष आँख खोलने और मूँदनेमें भी खेदका अनुभव करता है, उसी आलसी-शिरोमणिको सुख है और किसीको नहीं॥ ४॥

इदं कृतमिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तं यदा मनः।
धमार्थकाममोक्षेषु निरपेक्षं तदा भवेत्॥ ५॥

'जब यह किया और यह नहीं किया'—इन द्वन्द्वोंसे मन मुक्त हो जाता है, तब वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंसे निरपेक्ष हो जाता है॥ ५॥

विरक्तो विषयद्वेष्टा रागी विषयलोलुपः।
ग्रहमोक्षविहीनस्तु न विरक्तो न रागवान्॥ ६॥

विरक्त पुरुष विषयमें द्वेष करता है और रागी पुरुष विषयोंके लिये मचलता रहता है, परंतु जो ग्रहण और त्यागके भावसे रहित है, वह तो न विरक्त है और न रागी है॥ ६॥

हेयोपादेयता तावत्संसारविटपाङ्कुरः।
स्पृहा जीवति यावद्वै निर्विचारदशास्पदम्॥ ७॥

त्याज्य और ग्राह्यका भेद संसाररूप वृक्षका अंकुर है, जबतक अविवेकजन्य स्पृहा जीवित रहती है, तभीतक इसका अस्तित्व रहता है॥ ७॥

प्रवृत्तौ जायते रागो निवृत्तौ द्वेष एव हि।
निर्द्वन्द्वो बालवद्धीमानेवमेव व्यवस्थितः॥ ८॥

प्रवृत्तिमें राग हो जाता है और निवृत्तिमें द्वेष हो जाता है, परंतु विवेकी पुरुष तो बालकके समान निर्द्वन्द्व होकर यों ही (प्रवृत्ति-निवृत्तिमें समान) रहता है॥ ८॥

हातुमिच्छति संसारं रागी दुःखजिहासया।
वीतरागो हि निर्दुःखस्तस्मिन्नपि न खिद्यति॥ ९॥

रागी पुरुष दुःखसे छूटनेकी इच्छासे संसारका त्याग करना चाहता है, परंतु वीतराग पुरुष दुःखरहित होनेके कारण संसारमें भी खेदका अनुभव नहीं करता॥ ९॥

यस्याभिमानो मोक्षेऽपि देहेऽपि ममता तथा।
न च योगी न वा ज्ञानी केवलं दुःखभागसौ॥ १०॥

जिसको अपनी मुक्तिका भी अभिमान है और शरीरमें भी ममता है—वह न तो योगी है न ज्ञानी, केवल दुःखका ही वह हकदार है॥ १०॥

हरो यद्युपदेष्टा ते हरिः कमलजोऽपि वा।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते॥ ११॥

चाहे तुम्हें शिवजी, भगवान् विष्णु अथवा ब्रह्मा ही उपदेश क्यों न करें; फिर भी सबका विस्मरण हुए बिना तुम्हारी स्वरूप-स्थिति नहीं हो सकती॥ ११॥

॥ इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां विशेषोपदेशं नाम षोडशं प्रकरणं समाप्तम्॥ १६॥

सत्रहवाँ प्रकरण

जीवन्मुक्त महापुरुषके लक्षण

तेन ज्ञानफलं प्राप्तं योगाभ्यासफलं तथा।
तृप्तः स्वच्छेन्द्रियो नित्यमेकाकी रमते तु यः॥ १॥

जो अपने आपमें तृप्त है, जिसकी इन्द्रियाँ पवित्र हैं और जो हमेशा अपने एकाकीपनेमें ही रमता है, उसने ज्ञानका तथा योगाभ्यासका फल प्राप्त कर लिया॥ १॥

न कदाचिज्जगत्यस्मिंस्तत्त्वज्ञो हन्त खिद्यति।
यत एकेन तेनेदं पूर्णं ब्रह्माण्डमण्डलम्॥ २॥

बड़े आश्चर्यकी बात है कि तत्त्वज्ञ पुरुष इस जगत्में कभी खेदका अनुभव नहीं करता; क्योंकि उस एकके ही द्वारा यह समस्त ब्रह्माण्ड-मण्डल परिपूर्ण हो रहा है॥ २॥

न जातु विषयाः केऽपि स्वरामं हर्षयन्त्यमी।
सल्लकीपल्लवप्रीतमिवेभं निम्बपल्लवाः॥ ३॥

आत्माराम पुरुषको दृश्य जगत्के कोई भी विषय कभी हर्षित करनेमें समर्थ नहीं हैं, ठीक वैसे ही जैसे मीठी-मीठी सल्लकी लताके पत्तोंसे तृप्त हाथीको नीमके कड़वे पत्ते॥ ३॥

यस्तु भोगेषु भुक्तेषु न भवत्यधिवासितः।
अभुक्तेषु निराकाङ्क्षी तादृशो भवदुर्लभः॥ ४॥

जो महापुरुष भोगोंका भोग समाप्त हो जानेपर उनकी वासनासे युक्त नहीं रहता और भोगोंके न मिलनेपर उनकी आकांक्षा नहीं करता, ऐसा (महापुरुष) संसारमें दुर्लभ है॥ ४॥

बुभुक्षुरिह संसारे मुमुक्षुरपि दृश्यते।
भोगमोक्षनिराकाङ्क्षी विरलो हि महाशयः॥ ५॥

इस जगत्‌में भोगके इच्छुक और मुमुक्षु दोनों ही मिलते हैं, परंतु ऐसा महापुरुष जो भोग और मोक्ष दोनों नहीं चाहता हो कोई विरला ही होता है॥ ५॥

धर्मार्थकाममोक्षेषु जीविते मरणे तथा।
कस्याप्युदारचित्तस्य हेयोपादेयता न हि॥ ६॥

किसी भी उदारचित्त तत्त्वज्ञानी पुरुषकी धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप पुरुषार्थों तथा जीवन-मरणमें हेयोपादेय बुद्धि नहीं होती॥ ६॥

वाञ्छा न विश्वविलये न द्वेषस्तस्य च स्थितौ।
यथा जीविकया तस्माद्धन्य आस्ते यथासुखम्॥ ७॥

न विश्वके विलयकी इच्छा है और न तो इसकी स्थितिसे कोई द्वेष है, इसलिये कृतकृत्य पुरुष जैसे जीवन-निर्वाह हो, वैसे ही यथा-प्राप्तमें मौजसे रहते हैं॥ ७॥

कृतार्थोऽनेन ज्ञानेनेत्येवं गलितधीः कृती।
पश्यञ्छृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम्॥ ८॥

इस ज्ञानसे मैं कृतार्थ हूँ—ऐसा निश्चय होते ही बुद्धि-वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं, इसलिये कृतार्थ पुरुष नेत्रसे दर्शन, श्रोत्रसे श्रवण, त्वचासे स्पर्श, नासिकासे घ्राण और रसनासे रस ग्रहण करता हुआ भी मस्तीसे रहता है॥ ८॥

शून्या दृष्टिर्वृथा चेष्टा विकलानीन्द्रियाणि च।
न स्पृहा न विरक्तिर्वा क्षीणसंसारसागरे॥ ९॥

जिसके लिये संसार-सागर सूख गया है, उसकी दृष्टि शून्य रहती है, चेष्टाएँ व्यर्थ हैं अथवा इन्द्रियाँ विकल हैं—इन बातोंमें न तो उसे स्पृहा है न तो विरक्ति॥ ९॥

न जागर्ति न निद्राति नोन्मीलति न मीलति।
अहो परदशा क्वापि वर्तते मुक्तचेतसः॥ १०॥

बड़े आश्चर्यकी बात है कि मुक्तचित्त पुरुषकी कुछ विलक्षण ही अनिर्वचनीय-सी दशा होती है, वह न जागता है न सोता है, न आँखें खोलता है न मीचता है॥ १०॥

सर्वत्र दृश्यते स्वस्थः सर्वत्र विमलाशयः।
समस्तवासनामुक्तो मुक्तः सर्वत्र राजते॥ ११॥

मुक्तपुरुष सर्वत्र स्वस्थ रहता है। सर्वत्र उसका हृदय निर्मल रहता है। लेशमात्र भी वासना उसका स्पर्श नहीं कर सकती। वह सर्वत्र एक-सा शोभायमान होता है॥ ११॥

पश्यञ्छृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गृह्णन् वदन् व्रजन्।
ईहितानीहितैर्मुक्तो मुक्त एव महाशयः॥ १२॥

जीवन्मुक्त महापुरुष देखते, सुनते, छूते, सूँघते, भोगते, पकड़ते, बोलते और चलते हुए भी इच्छा एवं अनिच्छासे मुक्त ही रहता है। वास्तवमें वह मुक्त ही है॥ १२॥

न निन्दति न च स्तौति न हृष्यति न कुप्यति।
न ददाति न गृह्णाति मुक्तः सर्वत्र नीरसः॥ १३॥

मुक्तपुरुषको किसी भी (अनात्माके समान प्रतीयमान) वस्तुमें रस नहीं है। इसलिये वह निन्दा-स्तुति, हर्ष-क्रोध, दान और आदानसे सर्वथा रहित होता है॥ १३॥

सानुरागां स्त्रियं दृष्ट्वा मृत्युं वा समुपस्थितम्।
अविह्वलमनाः स्वस्थो मुक्त एव महाशयः॥ १४॥

जो महापुरुष अपने सामने अनुरागवती युवती अथवा मृत्युको भी उपस्थित देखकर विह्वल नहीं होता, स्वस्थ रहता है; वह मुक्त ही है॥ १४॥

सुखे दुःखे नरे नार्यां सम्पत्सु च विपत्सु च।
विशेषो नैव धीरस्य सर्वत्र समदर्शिनः॥ १५॥

स्थितप्रज्ञ एवं सर्वत्र समदर्शी पुरुषके लिये सुख-दुःख, स्त्री-पुरुष और सम्पत्ति-विपत्तिमें कोई अन्तर नहीं रहता है॥ १५॥

न हिंसा नैव कारुण्यं नौद्धत्यं न च दीनता।
नाश्चर्यं नैव च क्षोभः क्षीणसंसरणे नरे॥ १६॥

जिस पुरुषका संसार-भाव नष्ट हो चुका है—उसमें न हिंसा है और न करुणा, न उच्छृंखलता है और न दीनता। उसके लिये न तो कहीं आश्चर्यकी बात है और न क्षोभकी॥ १६॥

न मुक्तो विषयद्वेष्टा न वा विषयलोलुपः।
असंसक्तमना नित्यं प्राप्ताप्राप्तमुपाश्नुते॥ १७॥

मुक्तपुरुष न तो विषयोंमें द्वेष करता है और न तो उनके लिये लोलुप होता है। उसका मन कहीं भी आसक्त नहीं होता। वह सदा प्राप्त एवं अप्राप्त परिस्थितिका समादर करता है॥ १७॥

समाधानासमाधानहिताहितविकल्पनाः ।
शून्यचित्तो न जानाति कैवल्यमिव संस्थितः॥ १८॥

जिसका चित्त शून्य हो गया है और जो अपने कैवल्य-स्वरूपमें मानो स्थित है, वह पुरुष समाधि और विक्षेप, हित और अहितकी झूठी कल्पनाओंको जानता ही नहीं है॥ १८॥

निर्ममो निरहङ्कारो न किञ्चिदिति निश्चितः।
अन्तर्गलितसर्वाशः कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ १९॥

जिसकी अहंता और ममता नष्ट हो चुकी है, जिसका यह निश्चय है कि यह दृश्य संसार कुछ है नहीं, जिसकी सब आशा भीतर ही गल गयी हैं, वह करता हुआ भी कर्तृत्व (कर्म अथवा फल)-से लिप्त नहीं होता॥ १९॥

मनःप्रकाशसम्मोहस्वप्नजाड्यविवर्जितः।
दशां कामपि सम्प्राप्तो भवेद् गलितमानसः॥ २०॥

जिसका मन सत्ताशून्य हो चुका है, वह किसी ऐसी अनिर्वचनीय अवस्थामें स्थित हो जाता है कि न तो उसे मनकी प्रकाश, मोह अथवा स्वप्नावस्था कह सकते हैं और न तो जड़ अवस्था ही कह सकते हैं॥ २०॥

॥ इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां तत्त्वज्ञस्वरूपविंशतिकं नाम सप्तदशं प्रकरणं समाप्तम्॥ १७॥

अठारहवाँ प्रकरण

तत्त्वज्ञ पुरुषका लक्षण

यस्य बोधोदये तावत्स्वप्नवद् भवति भ्रमः।
तस्मै सुखैकरूपाय नमः शान्ताय तेजसे॥ १॥

जिसको बोधका उदय होनेपर, जागनेपर स्वप्नके समान भ्रमकी निवृत्ति हो जाती है, उस एकमात्र सुखस्वरूप शान्त प्रकाशको नमस्कार है॥ १॥

अर्जयित्वाखिलानर्थान् भोगानाप्नोति पुष्कलान्।
न हि सर्वपरित्यागमन्तरेण सुखी भवेत्॥ २॥

कोई जगत्के समस्त पदार्थोंका उपार्जन करके अधिक-से-अधिक भोग प्राप्त कर सकता है, परंतु सबका परित्याग किये बिना कोई सुखी नहीं हो सकता॥ २॥

कर्तव्यदुःखमार्तण्डज्वालादग्धान्तरात्मनः ।
कुतः प्रशमपीयूषधारासारमृते सुखम्॥ ३॥

जिसका चित्त यह कर्तव्य है, यह अकर्तव्य है इत्यादि दुःखोंकी तीव्र ज्वालासे झुलस रहा है, उसे भला कर्म-त्यागरूप शान्तिकी पीयूष-धाराका सेवन किये बिना सुखकी प्राप्ति कैसे हो सकती है?॥ ३॥

भवोऽयं भावनामात्रो न किञ्चित्परमार्थतः।
नास्त्यभावः स्वभावानां भावाभावविभाविनाम्॥ ४॥

यह संसार केवल भावना है, परमार्थतः कुछ नहीं है। भाव और अभावके रूपमें स्वभावतः स्थित पदार्थोंका कभी अभाव नहीं हो सकता॥ ४॥

न दूरं न च सङ्कोचाल्लब्धमेवात्मनः पदम्।
निर्विकल्पं निरायासं निर्विकारं निरञ्जनम्॥ ५॥

आत्माका स्वरूप न दूर है न निकट। वह तो प्राप्त ही है, तुम स्वयं ही हो। उसमें न विकल्प है, न प्रयत्न है, न विकार है और न मल॥ ५॥

व्यामोहमात्रविरतौ स्वरूपादानमात्रतः।
वीतशोका विराजन्ते निरावरणदृष्टयः॥ ६॥

अज्ञानमात्रकी निवृत्ति होते ही तथा स्वरूपका बोध होते ही दृष्टिका आवरणभंग हो जाता है और तत्त्वज्ञ-पुरुष शोकरहित होकर शोभायमान होते हैं॥ ६॥

समस्तं कल्पनामात्रमात्मा मुक्तः सनातनः।
इति विज्ञाय धीरो हि किमभ्यस्यति बालवत्॥ ७॥

सब कुछ कल्पनामात्र है और आत्मा नित्य मुक्त है, धीरपुरुष इस बातको जानकर फिर बालकके समान क्या अभ्यास करे? अर्थात् ज्ञानीके लिये अभ्यास निरर्थक है॥ ७॥

आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावाभावौ च कल्पितौ।
निष्कामः किं विजानाति किं ब्रूते च करोति किम्॥ ८॥

आत्मा ही ब्रह्म है और भाव-अभाव कल्पित हैं—ऐसा निश्चय होते ही निष्काम ज्ञानी फिर क्या जाने, क्या कहे, क्या करे?॥ ८॥

अयं सोऽहमयं नाहमिति क्षीणा विकल्पनाः।
सर्वमात्मेति निश्चित्य तृष्णीभूतस्य योगिनः॥ ९॥

सब आत्मा ही है—ऐसा निश्चय करके जो चुप हो गया है, उस पुरुषके लिये यह मैं हूँ, यह मैं नहीं हूँ इत्यादि विकल्पनाएँ शान्त हो जाती हैं॥ ९॥

न विक्षेपो न चैकाग्र्यं नातिबोधो न मूढता।
न सुखं न च वा दुःखमुपशान्तस्य योगिनः॥ १०॥

अपने स्वरूपमें स्थित होकर शान्त हुए तत्त्वज्ञके लिये न विक्षेप है और न तो एकाग्रता, न ज्ञान है, न अज्ञान, न सुख है न दुःख॥ १०॥

स्वाराज्ये भैक्ष्यवृत्तौ च लाभालाभे जने वने।
निर्विकल्पस्वभावस्य न विशेषोऽस्ति योगिनः॥ ११॥

जो तत्त्वज्ञ योगी स्वभावसे ही निर्विकल्प है, उसके लिये अपने राज्यमें अथवा भिक्षामें, लाभ-हानिमें, भीड़में अथवा सूने जंगलमें कोई अन्तर नहीं है॥ ११॥

क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकिता।
इदं कृतमिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तस्य योगिनः॥ १२॥

यह कर लिया और वह कार्य शेष है—इन द्वन्द्वोंसे जो (तत्त्वज्ञ) मुक्त है, उसके लिये धर्म कहाँ, काम कहाँ, अर्थ कहाँ और विवेक भी कहाँ है?॥ १२॥

कृत्यं किमपि नैवास्ति न कापि हृदि रञ्जना।
यथा जीवनमेवेह जीवन्मुक्तस्य योगिनः॥ १३॥

जीवन्मुक्त ज्ञानीके लिये न तो कुछ कर्तव्य है और न तो उसके

हृदयमें कोई अनुराग है। जिस प्रकार जीवन बीते, वही उसकी स्थिति है॥ १३॥

क्व मोहः क्व च वा विश्वं क्व तद्ध्यानं क्व मुक्तता।
सर्वसङ्कल्पसीमायां विश्रान्तस्य महात्मनः॥ १४॥

जो महात्मा समस्त संकल्पोंकी सीमापर विश्राम कर रहा है (साक्षीमात्र है), उसके लिये अज्ञान कहाँ, विश्व कहाँ, ध्यान कहाँ और मुक्ति भी कहाँ है?॥ १४॥

येन विश्वमिदं दृष्टं स नास्तीति करोतु वै।
निर्वासनः किं कुरुते पश्यन्नपि न पश्यति॥ १५॥

जिसने इस विश्वको कभी यथार्थ देखा हो, वह कहा करे कि यह नहीं है, नहीं है। जिसे विषय-वासना ही नहीं है, वह क्या करे? वह तो देखता हुआ भी नहीं देखता॥ १५॥

येन दृष्टं परं ब्रह्म सोऽहं ब्रह्मेति चिन्तयेत्।
किं चिन्तयति निश्चिन्तो द्वितीयं यो न पश्यति॥ १६॥

जिसने अपनेसे भिन्न परब्रह्मको देखा हो, वह इस तरह चिन्तन किया करे कि मैं ही ब्रह्म हूँ—**सोऽहं सोऽहं**, किंतु जिसे कुछ दूसरा दीखता ही नहीं, वह निश्चिन्त क्या चिन्तन करे?॥ १६॥

दृष्टो येनात्मविक्षेपो निरोधं कुरुते त्वसौ।
उदारस्तु न विक्षिप्तः साध्याभावात्करोति किम्॥ १७॥

जिसने अपने स्वरूपमें कभी विक्षेप देखा हो, वही निरोध करे। तत्त्वज्ञ पुरुष तो कभी विक्षिप्त ही नहीं हुआ। उसके लिये कुछ साध्य ही नहीं है, फिर वह करे क्या?॥ १७॥

धीरो लोकविपर्यस्तो वर्तमानोऽपि लोकवत्।
न समाधिं न विक्षेपं न लेपं स्वस्य पश्यति॥ १८॥

तत्त्वज्ञ-पुरुष तो संसारियोंसे उलटा ही होता है। वह सामान्य

लोगों-जैसा व्यवहार करता हुआ भी अपने स्वरूपमें न समाधि देखता है, न विक्षेप और न तो लेप ही॥ १८॥

भावाभावविहीनो यस्तृप्तो निर्वासनो बुधः।
नैव किञ्चित् कृतं तेन लोकदृष्ट्या विकुर्वता॥ १९॥

तत्त्वज्ञ-पुरुष भाव और अभावसे रहित, तृप्त एवं वासनारहित होता है। लोक-दृष्टिसे सीधा-उलटा बहुत कुछ करते रहनेपर भी वस्तुतः वह कुछ नहीं करता॥ १९॥

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा नैव धीरस्य दुर्ग्रहः।
यदा यत्कर्तुमायाति तत्कृत्वा तिष्ठतः सुखम्॥ २०॥

तत्त्वज्ञ-पुरुषका प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिसे दुराग्रह नहीं होता है। जब जो सामने आ जाता है, तब उसे करके वह मौजसे रहता है॥ २०॥

निर्वासनो निरालम्बः स्वच्छन्दो मुक्तबन्धनः।
क्षिप्तः संस्कारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत्॥ २१॥

ज्ञानी पुरुष वासना, आलम्बन, परतन्त्रता आदिके बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त होता है। प्रारब्धरूपी वायुके वेगसे उसका शरीर उसी प्रकार गतिशील रहता है, जैसे वायुवेगसे सूखा पत्ता॥ २१॥

असंसारस्य तु क्वापि न हर्षो न विषादिता।
स शीतलमना नित्यं विदेह इव राजते॥ २२॥

संसारमुक्त पुरुषको न कभी कहीं हर्ष होता है और न विषाद। उसका मन सर्वदा शीतल रहता है और वह (सदेह होनेपर भी) विदेहके समान शोभायमान होता है॥ २२॥

कुत्रापि न जिहासास्ति आशा वापि न कुत्रचित्।
आत्मारामस्य धीरस्य शीतलाच्छतरात्मनः॥ २३॥

जिसका अन्तःकरण शीतल एवं स्वच्छ है, जो आत्माराम है, उस धीर पुरुषकी न तो किसी वस्तुके त्यागकी इच्छा होती है और

न तो कभी कुछ पानेकी आशा॥ २३॥

प्रकृत्या शून्यचित्तस्य कुर्वतोऽस्य यदृच्छया।
प्राकृतस्येव धीरस्य न मानो नावमानिता॥ २४॥

जिस धीरका चित्त स्वभावसे ही शून्य (निर्विषय) है, वह साधारण पुरुषके समान प्रारब्धवश बहुतसे काम करता रहता है, परंतु न उसे मान होता है और न तो अपमान ही॥ २४॥

कृतं देहेन कर्मेदं न मया शुद्धरूपिणा।
इति चिन्तानुरोधी यः कुर्वन्नपि करोति न॥ २५॥

'यह कर्म शरीरने किया है मैंने नहीं, मैं तो शुद्ध स्वरूप हूँ'—इस प्रकार जिसने निश्चय कर लिया है, वह कर्म करता हुआ भी नहीं करता॥ २५॥

अतद्वादीव कुरुते न भवेदपि बालिशः।
जीवन्मुक्तः सुखी श्रीमान् संसरन्नपि शोभते॥ २६॥

सुखी एवं श्रीमान् जीवन्मुक्त पुरुष असत्यवादी विषयीके समान काम करता है; परंतु विषयी नहीं होता। यह तो संसारका कार्य करता हुआ भी अतिशय शोभाको प्राप्त होता है॥ २६॥

नानाविचारसुश्रान्तो धीरो विश्रान्तिमागतः।
न कल्पते न जानाति न शृणोति न पश्यति॥ २७॥

जो धीर पुरुष अनेक विचारोंसे थककर अपने स्वरूपमें विश्राम पा चुका है, वह न कल्पना करता है, न जानता है, न सुनता है और न देखता है॥ २७॥

असमाधेरविक्षेपान्न मुमुक्षुर्न चेतरः।
निश्चित्य कल्पितं पश्यन् ब्रह्मैवास्ते महाशयः॥ २८॥

ज्ञानी महापुरुष समाहित चित्तमें आग्रह न होनेके कारण मुमुक्षु

नहीं और विक्षेप नहीं होनेके कारण विषयी नहीं है। मेरे सिवाय जो कुछ दीख रहा है सब कल्पित ही है—ऐसा निश्चय करके सबको देखता हुआ वह वास्तवमें ब्रह्म ही है॥ २८॥

यस्यान्तः स्यादहङ्कारो न करोति करोति सः।
निरहङ्कारधीरेण न किञ्चिद्धि कृतं कृतम्॥ २९॥

जिसके भीतर अहंकार है वह देखनेमें कर्म न करे तो भी करता है, पर जो धीर-पुरुष निरहंकार है; वह सब कुछ करते हुए भी कर्मरहित है॥ २९॥

नोद्विग्नं न च सन्तुष्टं कर्तृत्वमदवर्जितम्।
निराशं गतसन्देहं चित्तं मुक्तस्य राजते॥ ३०॥

मुक्त पुरुषके चित्तमें न उद्वेग है, न सन्तोष और न कर्तृत्वका अभिमान ही रहता है। उसके चित्तमें न आशा है, न सन्देह। वास्तवमें ऐसे चित्तकी ही शोभा है॥ ३०॥

निर्ध्यातुं चेष्टितुं वापि यच्चित्तं न प्रवर्तते।
निर्निमित्तमिदं किन्तु निर्ध्यायति विचेष्टते॥ ३१॥

जीवन्मुक्तका चित्त ध्यानसे विरत होनेके लिये और व्यवहार करनेके लिये प्रवृत्त नहीं होता है, किंतु निमित्त-शून्य होनेपर भी वह ध्यानसे विरत भी होता है और व्यवहार भी करता है॥ ३१॥

तत्त्वं यथार्थमाकर्ण्य मन्दः प्राप्नोति मूढताम्।
अथवायाति सङ्कोचममूढः कोऽपि मूढवत्॥ ३२॥

बुद्धिशून्य पुरुष यथार्थ-तत्त्वका वर्णन सुनकर और अधिक मूढ़ता (संशय-विपर्यय) को प्राप्त होता है अथवा संकुचित हो जाता है। कभी-कभी तो कोई-कोई बुद्धिमान् पुरुष भी उसी मूढ़के समान व्यवहार करने लगते हैं॥ ३२॥

एकाग्रता निरोधो वा मूढैरभ्यस्यते भृशम्।
धीराः कृत्यं न पश्यन्ति सुप्तवत्स्वपदे स्थिताः॥ ३३॥

मूढ़ पुरुष बार-बार एकाग्रता तथा निरोधका अभ्यास करते रहते हैं। धीर पुरुष सुषुप्तके समान अपने स्वरूपमें स्थित रहते हुए कुछ भी कर्तव्यरूपसे नहीं देखते॥ ३३॥

अप्रयत्नात्प्रयत्नाद्वा मूढो नाप्नोति निर्वृतिम्।
तत्त्वनिश्चयमात्रेण प्राज्ञो भवति निर्वृतः॥ ३४॥

मूढ़ पुरुष प्रयत्नसे अथवा प्रयत्न-त्यागसे शान्ति नहीं प्राप्त करता। प्रज्ञावान् पुरुष तत्त्वके निश्चयमात्रसे शान्ति प्राप्त कर लेता है॥ ३४॥

शुद्धं बुद्धं प्रियं पूर्णं निष्प्रपञ्चं निरामयम्।
आत्मानं तं न जानन्ति तत्राभ्यासपरा जनाः॥ ३५॥

आत्माके सम्बन्धमें जो लोग अभ्यासमें लग रहे हैं, वे अपने शुद्ध, बुद्ध, प्रिय, पूर्ण, निष्प्रपंच और निरामय ब्रह्म-स्वरूपको बिलकुल ही नहीं जानते हैं॥ ३५॥

नाप्नोति कर्मणा मोक्षं विमूढोऽभ्यासरूपिणा।
धन्यो विज्ञानमात्रेण मुक्तस्तिष्ठत्यविक्रियः॥ ३६॥

अज्ञानी मनुष्य कर्मरूप अभ्यासके द्वारा मुक्ति नहीं पा सकता और ज्ञानी कर्मरहित होनेपर भी केवल ज्ञानसे मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ ३६॥

मूढो नाप्नोति तद् ब्रह्म यतो भवितुमिच्छति।
अनिच्छन्नपि धीरो हि परब्रह्म स्वरूपभाक्॥ ३७॥

अज्ञानीको ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं हो सकता; क्योंकि वह ब्रह्म होना चाहता है (इच्छामात्र ही ब्रह्मत्वमें प्रतिबन्धक है)। ज्ञानी पुरुष इच्छा न करनेपर भी परब्रह्म-बोध-स्वरूप रहता है॥ ३७॥

निराधाराग्रहव्यग्रा मूढाः संसारपोषकाः।
एतस्यानर्थमूलस्य मूलच्छेदः कृतो बुधैः॥ ३८॥

अज्ञानी निराधार आग्रहोंमें पड़कर संसारका पोषण करते रहते हैं। ज्ञानियोंने समस्त अनर्थोंकी जड़ संसार-सत्ताका ही सर्वथा उच्छेद कर दिया है॥ ३८॥

न शान्तिं लभते मूढो यतः शमितुमिच्छति।
धीरस्तत्त्वं विनिश्चित्य सर्वदा शान्तमानसः॥ ३९॥

अज्ञानीको शान्ति नहीं मिल सकती; क्योंकि वह शान्त होनेकी इच्छासे युक्त है (इच्छा ही अशान्ति है)। ज्ञानी पुरुष तत्त्वका दृढ़ निश्चय करके सर्वदा शान्तचित्त ही रहता है॥ ३९॥

क्वात्मनो दर्शनं तस्य यद्दृष्टमवलम्बते।
धीरास्ते तं न पश्यन्ति पश्यन्त्यात्मानमव्ययम्॥ ४०॥

अज्ञानीको आत्मसाक्षात्कार कैसे हो सकता है, जबकि वह दृश्य पदार्थोंका आलम्बन स्वीकार करता है। ज्ञानी पुरुष वे हैं, जो उन दृश्य पदार्थोंको देखते ही नहीं और अपने अविनाशी स्वरूपको ही देखते हैं॥ ४०॥

क्व निरोधो विमूढस्य यो निर्बन्धं करोति वै।
स्वारामस्यैव धीरस्य सर्वदासावकृत्रिमः॥ ४१॥

जो आग्रह करता है, उस मूर्खका चित्त निरुद्ध कहाँ है? स्थित-प्रज्ञ आत्मारामका चित्त तो सर्वदा स्वाभाविक ही निरुद्ध रहता है॥ ४१॥

भावस्य भावकः कश्चिन्न किञ्चिद्भावकोऽपरः।
उभयाभावकः कश्चिदेवमेव निराकुलः॥ ४२॥

कोई पदार्थ-सत्ताकी भावना करता है और कोई पदार्थोंकी असत्ताकी भावना करता है। ज्ञानीपुरुष तो भाव-अभाव दोनोंकी भावना छोड़कर यों ही निश्चिन्त (मस्त) रहता है॥ ४२॥

शुद्धमद्वयमात्मानं भावयन्ति कुबुद्धयः।
न तु जानन्ति सम्मोहाद्यावज्जीवमनिर्वृताः॥ ४३॥

बुद्धिहीन पुरुष अज्ञानवश अपने शुद्ध अद्वितीय स्वरूपका ज्ञान तो प्राप्त करते नहीं, भावना करते हैं। उन्हें जीवनपर्यन्त शान्ति नहीं मिलती॥ ४३॥

मुमुक्षोर्बुद्धिरालम्बमन्तरेण न विद्यते।
निरालम्बैव निष्कामा बुद्धिर्मुक्तस्य सर्वदा॥ ४४॥

मुमुक्षु पुरुषकी बुद्धि कुछ-न-कुछ आलम्बन ग्रहण किये बिना नहीं रहती। मुक्त पुरुषकी बुद्धि तो सर्वथा निष्काम और निरालम्ब ही रहती है॥ ४४॥

विषयद्वीपिनो वीक्ष्य चकिताः शरणार्थिनः।
विशन्ति झटिति क्रोडन्निरोधैकाग्र्यसिद्धये॥ ४५॥

अज्ञानी पुरुष विषयरूपी मतवाले हाथियोंको देखकर भयभीत हो जाते हैं और शरणके लिये तुरत निरोध और एकाग्रताकी सिद्धिहेतु झट-पट चित्तकी गुफामें घुस जाते हैं॥ ४५॥

निर्वासनं हरिं दृष्ट्वा तूष्णीं विषयदन्तिनः।
पलायन्ते न शक्तास्ते सेवन्ते कृतचाटवः॥ ४६॥

वासनाहीन ज्ञानी सिंह है, उसे देखकर विषयके मतवाले हाथी चुपचाप भाग जाते हैं। उनकी एक नहीं चलती। उलटे वे तरह-तरहसे खुशामद करके सेवा करते हैं॥ ४६॥

न मुक्तिकारिकान् धत्ते निःशङ्को युक्तमानसः।
पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम्॥ ४७॥

निःशंक तत्त्वज्ञ पुरुष मुक्तिके साधनोंका अभ्यास नहीं करता है, वह तो देखते, सुनते, छूते, सूँघते, भोगते हुए भी आनन्दमें मग्न रहता है॥ ४७॥

वस्तुश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिर्निराकुलः।
नैवाचारमनाचारमौदास्यं वा प्रपश्यति॥ ४८॥

शुद्धबुद्धि पुरुष वस्तुतत्त्वका श्रवण करनेमात्रसे आकुलतारहित हो जाता है, फिर आचार-अनाचार अथवा उदासीनतापर उसकी दृष्टि नहीं जाती है॥ ४८॥

यदा यत्कर्तुमायाति तदा तत्कुरुते ऋजुः।
शुभं वाप्यशुभं वापि तस्य चेष्टा हि बालवत्॥ ४९॥

स्वभावस्थ ज्ञानी शुभ हो चाहे अशुभ, जो जब करनेके लिये सामने आ जाता है तब वह उसे सरलतासे कर डालता है। उसकी चेष्टा बच्चेके समान होती है॥ ४९॥

स्वातन्त्र्यात्सुखमाप्नोति स्वातन्त्र्याल्लभते परम्।
स्वातन्त्र्यान्निर्वृतिं गच्छेत् स्वातन्त्र्यात्परमं पदम्॥ ५०॥

स्वतन्त्रतासे ही सुखकी प्राप्ति होती है। स्वतन्त्रतासे ही परतत्त्वकी उपलब्धि होती है। स्वतन्त्रतासे ही परम शान्तिकी प्राप्ति होती है। स्वतन्त्रतासे ही परम पद मिलता है॥ ५०॥

अकर्तृत्वमभोक्तृत्वं स्वात्मनो मन्यते यदा।
तदा क्षीणा भवन्त्येव समस्ताश्चित्तवृत्तयः॥ ५१॥

जब जिज्ञासु पुरुष अपने-आपको अकर्ता और अभोक्ता निश्चय कर लेता है, तब चित्तकी समस्त वृत्तियाँ क्षीण हो ही जाती हैं॥ ५१॥

उच्छृङ्खलाप्याकृतिका स्थितिर्धीरस्य राजते।
न तु सस्पृहचित्तस्य शान्तिर्मूढस्य कृत्रिमा॥ ५२॥

स्थितप्रज्ञ पुरुषकी स्वाभाविक स्थिति उच्छृंखल होनेपर भी श्रेष्ठ है। अज्ञानी पुरुषकी, जिसके चित्तमें अनेक इच्छाएँ भरी हैं बनावटी शान्ति सुशोभित नहीं होती॥ ५२॥

विलसन्ति महाभोगैर्विशन्ति गिरिगह्वरान्।
निरस्तकल्पना धीरा अबद्धा मुक्तबुद्धयः॥ ५३॥

स्थितप्रज्ञ पुरुष महान् भोगोंमें विलास करते हैं और पर्वतोंकी गहन गुफाओंमें भी प्रवेश करते हैं, किंतु वे कल्पना, बन्धन एवं बुद्धि-वृत्तियोंसे मुक्त होते हैं॥ ५३॥

श्रोत्रियं देवतां तीर्थमङ्गनां भूपतिं प्रियम्।
दृष्ट्वा सम्पूज्य धीरस्य न कापि हृदि वासना॥ ५४॥

स्थितप्रज्ञ पुरुष श्रोत्रिय, देवता, तीर्थ, स्त्री, राजा और प्रियको देखकर उनका सत्कार करता है, परंतु उसके हृदयमें कोई वासना नहीं होती है॥ ५४॥

भृत्यैः पुत्रैः कलत्रैश्च दौहित्रैश्चापि गोत्रजैः।
विहस्य धिक्कृतो योगी न याति विकृतिं मनाक्॥ ५५॥

सेवक, पुत्र, स्त्री, दौहित्र और सगोत्रके द्वारा हँसी उड़ाये जानेपर, धिक्कार देनेपर भी तत्त्वज्ञ-पुरुषके चित्तमें तनिक भी विकार नहीं होता॥ ५५॥

सन्तुष्टोऽपि न सन्तुष्टः खिन्नोऽपि न च खिद्यते।
तस्याश्चर्यदशां तां तां तादृशा एव जानते॥ ५६॥

लोगोंकी दृष्टिसे प्रसन्न दीखनेपर भी वह प्रसन्न नहीं होता और खिन्न दीखनेपर भी खिन्न नहीं होता। उसकी उन आश्चर्यकारी दशाओंको वैसे लोग ही जानते हैं॥ ५६॥

कर्तव्यतैव संसारो न तां पश्यन्ति सूरयः।
शून्याकारा निराकारा निर्विकारा निरामयाः॥ ५७॥

कर्तव्यबुद्धिका नाम ही संसार है। विद्वान् लोग उस कर्तव्यताको ही नहीं देखते; क्योंकि वे शून्याकार, निराकार, निर्विकार एवं निरामय होते हैं॥ ५७॥

अकुर्वन्नपि संक्षोभाद्व्यग्रः सर्वत्र मूढधीः।
कुर्वन्नपि तु कृत्यानि कुशलो हि निराकुलः॥ ५८॥

अज्ञानी पुरुष कुछ न करता हो तब भी क्षोभवश सर्वत्र व्यग्र ही रहता है। स्थितप्रज्ञ (कुशल) पुरुष बहुत-से काम करता हुआ भी शान्त रहता है॥ ५८॥

सुखमास्ते सुखे शेते सुखमायाति याति च।
सुखं वक्ति सुखं भुङ्क्ते व्यवहारेऽपि शान्तधीः॥ ५९॥

स्थितप्रज्ञ पुरुष व्यवहारमें भी सुखसे बैठता है, सुखसे सोता है, सुखसे आता-जाता है, सुखसे बोलता है और सुखसे खाता भी है॥ ५९॥

स्वभावाद्यस्य नैवार्तिर्लोकवद्व्यवहारिणः।
महाह्रद इवाक्षोभ्यो गतक्लेशः स शोभते॥ ६०॥

जो महाह्रदके समान अक्षुब्ध है और स्वभावसे ही जिसको व्यवहार करते रहनेपर भी साधारण लोगोंके समान पीड़ा नहीं होती, वह दुःखरहित ज्ञानी शोभायमान होता है॥ ६०॥

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलदायिनी॥ ६१॥

मूढ़की निवृत्ति भी प्रवृत्ति-जैसी हो जाती है। स्थितप्रज्ञकी प्रवृत्ति भी निवृत्तिका फल देती है॥ ६१॥

परिग्रहेषु वैराग्यं प्रायो मूढस्य दृश्यते।
देहे विगलिताशस्य क्व रागः क्व विरागिता॥ ६२॥

अज्ञानी पुरुष प्रायः गृह-द्रव्यादि पदार्थोंसे वैराग्य करता दीखता है, परंतु जिसका देहाभिमान नष्ट हो चुका है, उसके लिये कहाँ राग कहाँ विराग?॥ ६२॥

भावनाभावनासक्ता दृष्टिर्मूढस्य सर्वदा।
भाव्यभावनया सा तु स्वस्थस्यादृष्टिरूपिणी॥ ६३॥

अज्ञानीकी दृष्टि सर्वदा भाव या अभावमें लगी रहती है, तत्त्वज्ञ-पुरुषकी दृष्टि तो दृश्यको देखते रहनेपर भी अदृष्टि ही है॥ ६३॥

सर्वारम्भेषु निष्कामो यश्चरेद् बालवन्मुनिः।
न लेपस्तस्य शुद्धस्य क्रियमाणेऽपि कर्मणि॥ ६४॥

जो तत्त्वज्ञ सभी कामोंमें बालकके समान निष्काम व्यवहार करता है, वह शुद्ध है। कर्म करनेपर भी वह लिप्त नहीं होता॥ ६४॥

स एव धन्य आत्मज्ञः सर्वभावेषु यः समः।
पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्निस्तर्षमानसः ॥ ६५॥

वह आत्मज्ञानी धन्य है, जो समस्त स्थितियोंमें सम रहता है। देखते, सुनते, छूते, सूँघते और खाते-पीते भी उसका मानस तृष्णा-रहित होता है॥ ६५॥

क्व संसारः क्व चाभासः क्व साध्यं क्व च साधनम्।
आकाशस्येव धीरस्य निर्विकल्पस्य सर्वदा॥ ६६॥

स्थितप्रज्ञ पुरुष सर्वदा आकाशके समान निर्विकल्प रहता है। उसकी दृष्टिमें संसार कहाँ और उसका भान कहाँ? उसके लिये साध्य क्या और साधन क्या?॥ ६६॥

स जयत्यर्थसंन्यासी पूर्णस्वरसविग्रहः।
अकृत्रिमोऽनवच्छिन्ने समाधिर्यस्य वर्तते॥ ६७॥

जिस तत्त्वज्ञ पुरुषको अपने अखण्ड स्वरूपमें सर्वदा स्वाभाविक समाधि रहती है, जिसका लौकिक, पारलौकिक कोई स्वार्थ नहीं है, जो पूर्ण स्वानन्द-घन है, वास्तवमें वही विजयी है॥ ६७॥

बहुनात्र किमुक्तेन ज्ञाततत्त्वो महाशयः।
भोगमोक्षनिराकाङ्क्षी सदा सर्वत्र नीरसः॥ ६८॥

बहुत कहनेसे क्या लाभ? तत्त्वज्ञ महापुरुष भोग और मोक्ष दोनोंके प्रति आकांक्षारहित होता है और सदा सर्वत्र रागरहित होता है॥ ६८॥

महदादि जगद् द्वैतं नाममात्रविजृम्भितम्।
विहाय शुद्धबोधस्य किं कृत्यमवशिष्यते॥ ६९॥

महत्तत्वसे लेकर सम्पूर्ण द्वैत-रूप दृश्य जगत् नाममात्रका पसारा है। शुद्ध बोध-स्वरूप तत्त्वज्ञने जब इसका परित्याग ही कर दिया तब भला उसका क्या कर्तव्य शेष है?॥ ६९॥

भ्रमभूतमिदं सर्वं किञ्चिन्नास्तीति निश्चयी।
अलक्ष्यस्फुरणः शुद्धः स्वभावेनैव शाम्यति॥ ७०॥

यह सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंच भ्रममात्र है। यह कुछ नहीं है—ऐसे महानिश्चयसे सम्पन्न शुद्ध पुरुष दृश्यकी स्फूर्तिसे भी रहित हो जाता है और स्वभावसे ही शान्त हो जाता है॥ ७०॥

शुद्धस्फुरणरूपस्य दृश्यभावमपश्यतः।
क्व विधिः क्व च वैराग्यं क्व त्यागः क्व शमोऽपि वा॥ ७१॥

जो शुद्ध स्फुरण-स्वरूप है, जिसे दृश्य सत्तावान् नहीं मालूम पड़ता, उसके लिये विधि क्या? वैराग्य क्या? त्याग क्या? और शान्ति क्या?॥ ७१॥

स्फुरतोऽनन्तरूपेण प्रकृतिं च न पश्यतः।
क्व बन्धः क्व च वा मोक्षः क्व हर्षः क्व विषादिता॥ ७२॥

जो अनन्त रूपसे स्वयं ही स्फुरित हो रहा है और प्रकृतिकी पृथक् सत्ताको नहीं देखता है, उसके लिये बन्ध कहाँ? मोक्ष कहाँ? हर्ष कहाँ और विषाद कहाँ?॥ ७२॥

बुद्धिपर्यन्तसंसारे मायामात्रं विवर्तते।
निर्ममो निरहङ्कारो निष्कामः शोभते बुधः॥ ७३॥

संसारका पर्यवसान है बुद्धि और यहाँ मात्र मायाका विवर्त है। इस तत्त्वको जाननेवाला पुरुष काम, ममता और अहंकारसे रहित होकर शोभा पाता है॥ ७३॥

अक्षयं गतसन्तापमात्मानं पश्यतो मुनेः।
क्व विद्या क्व च वा विश्वं क्व देहोऽहं ममेति वा॥ ७४॥

जो तत्त्वज्ञ सन्तापसे रहित अपने अविनाशी स्वरूपको जानता है, उसके लिये विद्या कहाँ, विश्व कहाँ, देह कहाँ और अहंता-ममता कहाँ?॥ ७४॥

निरोधादीनि कर्माणि जहाति जडधीर्यदि।
मनोरथान्प्रलापांश्च कर्तुमाप्नोति तत्क्षणात्॥ ७५॥

अज्ञानी पुरुष यदि निरोधादि अभ्यासोंको छोड़ देता है तो वह दूसरे ही क्षण बड़े-बड़े मनोरथ और प्रलाप करने लगता है॥ ७५॥

मन्दः श्रुत्वापि तद्वस्तु न जहाति विमूढताम्।
निर्विकल्पो बहिर्यत्नादन्तर्विषयलालसः॥ ७६॥

अज्ञानी ब्रह्म और आत्माके एकतारूप तत्त्वका श्रवण करके भी अपनी मूर्खताका परित्याग नहीं करता। वह बाहर तो प्रयत्नसे (कुछ क्षणके लिये) निःसंकल्प हो जाता है, परंतु उसके भीतर विषयोंकी लालसाका बीज बना ही रहता है॥ ७६॥

ज्ञानाद् गलितकर्मा यो लोकदृष्ट्यापि कर्मकृत्।
नाप्नोत्यवसरं कर्तुं वक्तुमेव न किञ्चन॥ ७७॥

आत्मज्ञानसे जिसकी कर्म-वासना गल गयी है, वह लोकदृष्टिसे कर्म करता रहे तो भी उसके कुछ करने अथवा कहनेके लिये कोई अवसर नहीं मिलता। (वास्तवमें वह अकर्ता और अवक्ता ही है)॥ ७७॥

क्व तमः क्व प्रकाशो वा हानं क्व च न किञ्चन।
निर्विकारस्य धीरस्य निरातङ्कस्य सर्वदा॥ ७८॥

जो स्थितप्रज्ञ सर्वदा निर्विकार अतएव निरातंक है, उसके लिये अज्ञान कहाँ, ज्ञान कहाँ और त्याग कहाँ? उसके लिये किसीका अस्तित्व नहीं रहता॥ ७८॥

क्व धैर्यं क्व विवेकित्वं क्व निरातङ्कतापि वा।
अनिर्वाच्यस्वभावस्य निःस्वभावस्य योगिनः॥ ७९॥

तत्त्वज्ञको धैर्य कहाँ, विवेक कहाँ? और निर्भयता भी कहाँ? उसका स्वभाव अनिर्वचनीय होता है। वास्तवमें तो वह स्वभावरहित होता है॥ ७९॥

न स्वर्गो नैव नरको जीवन्मुक्तिर्न चैव हि।
बहुनात्र किमुक्तेन योगदृष्ट्या न किञ्चन॥ ८०॥

स्थितप्रज्ञ पुरुषके लिये न स्वर्ग है, न नरक और न जीवन्मुक्ति। इस सम्बन्धमें बहुत कहनेसे क्या लाभ? वस्तु-तत्त्वके साक्षात्कारकी दृष्टिसे कुछ नहीं है॥ ८०॥

नैव प्रार्थयते लाभं नालाभेनानुशोचति।
धीरस्य शीतलं चित्तममृतेनैव पूरितम्॥ ८१॥

स्थितप्रज्ञका चित्त ऐसा शीतल रहता है मानो उसमें अमृत ही भर रहा हो। न वह लाभकी अभिलाषा करता है और न हानिका शोक॥ ८१॥

न शान्तं स्तौति निष्कामो न दुष्टमपि निन्दति।
समदुःखसुखस्तृप्तः किञ्चित्कृत्यं न पश्यति॥ ८२॥

स्थितप्रज्ञ पुरुष न सन्तकी स्तुति करता है न दुष्टकी निन्दा। वह दुःख एवं सुखमें सम रहता है, अपने आपमें तृप्त रहता है और वह अपने लिये कुछ कर्तव्य नहीं देखता॥ ८२॥

धीरो न द्वेष्टि संसारमात्मानं न दिदृक्षति।
हर्षामर्षविनिर्मुक्तो न मृतो न च जीवति॥ ८३॥

स्थितप्रज्ञ न संसारसे द्वेष करता है और न तो आत्म-दर्शन ही करना चाहता है। वह हर्ष एवं रोषसे रहित होता है। वह (सामान्य रूपसे) न तो मृत है न जीवित॥ ८३॥

निःस्नेहः पुत्रदारादौ निष्कामो विषयेषु च।
निश्चिन्तः स्वशरीरेऽपि निराशः शोभते बुधः॥ ८४॥

जो पुत्र-स्त्री आदिके प्रति स्नेहरहित है, विषयोंके प्रति निष्काम है और अपने शरीरके लिये भी निश्चिन्त है, जिसे किसी वस्तुकी आशा नहीं है, ऐसा वह ज्ञानी शोभायमान होता है॥ ८४॥

तुष्टिः सर्वत्र धीरस्य यथापतितवर्तिनः।
स्वच्छन्दं चरतो देशान् यत्रास्तमितशायिनः॥ ८५॥

जहाँ सूर्यास्त हुआ, वहाँ सो गया। जहाँ मौज हुई, वहीं विचर गया। जो सामने आया वैसा व्यवहार कर लिया। इस प्रकार स्थितप्रज्ञ सर्वत्र सन्तुष्ट होता है॥ ८५॥

पततूदेतु वा देहो नास्य चिन्ता महात्मनः।
स्वभावभूमिविश्रान्तिविस्मृताशेषसंसृतेः॥ ८६॥

जो अपने स्वतःसिद्ध स्वरूपकी भूमिमें विश्राम करके समस्त प्रपंचका बाध कर चुका है, उस स्थितप्रज्ञ महात्माको शरीर नष्ट हो जाय अथवा बना रहे—ऐसी चिन्ता नहीं होती॥ ८६॥

अकिञ्चनः कामचारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः।
असक्तः सर्वभावेषु केवलो रमते बुधः॥ ८७॥

ज्ञानी पुरुष अकिंचन, स्वेच्छाचारी, निर्द्वन्द्व और सन्देहरहित होता है। वह किसी भी पदार्थमें आसक्त नहीं होता। वह तो केवल आनन्दमें विहार करता है॥ ८७॥

निर्ममः शोभते धीरः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
सुभिन्नहृदयग्रन्थिर्विनिर्धूतरजस्तमः ॥ ८८ ॥

स्थितप्रज्ञकी हृदय-ग्रन्थि खुल जाती है। रजोगुण, तमोगुण धुल जाते हैं। वह मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेको सम-दृष्टिसे देखता है, उसको कहीं ममता नहीं होती। वास्तवमें वही शोभा पाता है॥ ८८॥

सर्वत्रानवधानस्य न किञ्चिद्वासना हृदि।
मुक्तात्मनो वितृप्तस्य तुलना केन जायते॥ ८९॥

जो प्रपंचकी किसी वस्तुपर ध्यान नहीं देता; जो आत्मतृप्त है; उसके हृदयमें तनिक भी वासना नहीं होती—ऐसे मुक्तात्माकी बराबरी किसके साथ की जा सकती है!॥ ८९॥

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति।
ब्रुवन्नपि न च ब्रूते कोऽन्यो निर्वासनादृते॥ ९०॥

वासनाहीन स्थितप्रज्ञ पुरुषके अतिरिक्त ऐसा और कौन है जो जानता हुआ भी न जाने, देखता हुआ भी न देखे और बोलता हुआ भी न बोले॥ ९०॥

भिक्षुर्वा भूपतिर्वापि यो निष्कामः स शोभते।
भावेषु गलिता यस्य शोभनाशोभना मतिः॥ ९१॥

राजा हो चाहे रंक, जो निष्काम है वही शोभा पाता है। जिसकी दृश्य-पदार्थोंमें शुभ और अशुभ बुद्धि समाप्त हो गयी है, वही निष्काम है॥ ९१॥

क्व स्वाच्छन्द्यं क्व सङ्कोचः क्व वा तत्त्वनिश्चयः।
निर्व्याजार्जवभूतस्य चरितार्थस्य योगिनः॥ ९२॥

तत्त्वज्ञ निष्कपट, सरल और कृतकृत्य होता है। उसके लिये स्वच्छन्दता कहाँ, संकोच कहाँ और तत्त्व-निश्चय भी कहाँ?॥ ९२॥

आत्मविश्रान्तितृप्तेन निराशेन गतार्तिना।
अन्तर्यदनुभूयेत तत्कथं कस्य कथ्यते॥ ९३॥

जो अपने स्वरूपमें विश्राम करके तृप्त है, किसी वस्तुकी आशा नहीं रखता, आर्तिरहित है, वह अपने अन्तःकरणमें जिस आनन्दका अनुभव करता है, वह कैसे किसको बतलाया जाय?॥ ९३॥

सुप्तोऽपि न सुषुप्तौ च स्वप्नेऽपि शयितो न च।
जागरेऽपि न जागर्ति धीरस्तृप्तः पदे पदे॥ ९४॥

स्थितप्रज्ञ पुरुष पद-पदपर तृप्त रहता है। वह सोकर भी नहीं सोता, वह स्वप्न देखकर भी नहीं देखता और वह जाग्रत्-अवस्थामें रहनेपर भी वस्तुतः नहीं जागता॥ ९४॥

ज्ञः सचिन्तोऽपि निश्चिन्तः सेन्द्रियोऽपि निरिन्द्रयः।
सबुद्धिरपि निर्बुद्धिः साहङ्कारोऽनहङ्कृती॥ ९५॥

तत्त्वज्ञ सचिन्त होनेपर भी निश्चिन्त होता है, इन्द्रियवान् होनेपर भी निरिन्द्रिय है, बुद्धिमान् होनेपर भी बुद्धिहीन है और साहंकार होनेपर भी निरहंकार रहता है॥ ९५॥

न सुखी न च वा दुःखी न विरक्तो न सङ्गवान्।
न मुमुक्षुर्न वा मुक्तो न किञ्चिन्न च किञ्चन॥ ९६॥

तत्त्वज्ञ न सुखी होता है न दुःखी। न विरक्त होता है न अनुरक्त। वह न मुमुक्षु है, न मुक्त। न कुछ है, न कुछ नहीं॥ ९६॥

विक्षेपेऽपि न विक्षिप्तः समाधौ न समाधिमान्।
जाड्येऽपि न जडो धन्यः पाण्डित्येऽपि न पण्डितः॥ ९७॥

तत्त्वज्ञ विक्षेपमें भी विक्षिप्त नहीं होता, समाधिमें भी समाधिस्थ नहीं रहता। वह जड़तामें जड़ नहीं है और पाण्डित्यमें भी पण्डित नहीं है॥ ९७॥

मुक्तो यथास्थितिस्वस्थः कृतकर्तव्यनिर्वृतः।
समः सर्वत्र वैतृष्ण्यान्न स्मरत्यकृतं कृतम्॥ ९८॥

तत्त्वज्ञ समस्त स्थितियोंमें स्वरूपस्थित रहता है। कृतकृत्य होनेके कारण परम शान्त होता है। सर्वत्र सम रहता है। तृष्णाका अभाव होनेके कारण वह 'क्या किया, क्या नहीं किया'—इन बातोंका स्मरण नहीं करता॥ ९८॥

न प्रीयते वन्द्यमानो निन्द्यमानो न कुप्यति।
नैवोद्विजति मरणे जीवने नाभिनन्दति॥ ९९॥

वन्दना करनेसे वह प्रसन्न नहीं होता, निन्दा करनेसे क्रुद्ध नहीं होता, मृत्युसे उद्वेग नहीं करता और जीवनका अभिनन्दन नहीं करता॥ ९९॥

न धावति जनाकीर्णं नारण्यमुपशान्तधीः।
यथा तथा यत्र तत्र सम एवावतिष्ठते॥ १००॥

शान्तचित्त तत्त्वज्ञ न तो जनसमूहकी ओर दौड़ता है और न जंगलकी ओर। जहाँ जिस स्थितिमें वह होता है, वहाँ समचित्त ही रहता है॥ १००॥

॥ इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां शान्तिशतकं नामाष्टादशं प्रकरणं समाप्तम्॥ १८॥

उन्नीसवाँ प्रकरण

तत्त्वज्ञानीकी विवेक-प्रक्रिया

तत्त्वविज्ञानसन्दंशमादाय हृदयोदरात्।
नानाविधपरामर्शशल्योद्धारः कृतो मया॥ १॥

जैसे सफल चिकित्सक सँड़सीके द्वारा पेटमें घुसे हुए बाणोंको बड़ी चतुरतासे निकाल लेता है, वैसे ही मैंने तत्त्वज्ञानके द्वारा अपने हृदयसे अनेक प्रकारके संकल्प-विकल्प, विचार-विमर्शको निकाल फेंका है॥ १॥

क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकता।
क्व द्वैतं क्व च वाद्वैतं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥ २॥

मैं अपनी महिमामें स्थित हूँ। मेरे लिये धर्म कहाँ? काम कहाँ? अर्थ कहाँ? विवेक कहाँ? द्वैत कहाँ और अद्वैत कहाँ?॥ २॥

क्व भूतं क्व भविष्यद्वा वर्तमानमपि क्व वा।
क्व देशः क्व च वा नित्यं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥ ३॥

मैं सदा-सर्वदा अपनी महिमामें स्थित हूँ। मेरे लिये भूत, भविष्य तथा वर्तमान-रूप काल कहाँ, देश कहाँ?॥ ३॥

क्व चात्मा क्व च वानात्मा क्व शुभं क्वाशुभं तथा।
क्व चिन्ता क्व च वाचिन्ता स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥ ४॥

मैं अपनी महिमामें स्थित हूँ। मेरे लिये आत्मा-अनात्मा, शुभ-अशुभ चिन्ता एवं अचिन्ताका अस्तित्व ही कहाँ है?॥ ४॥

क्व स्वप्नः क्व सुषुप्तिर्वा क्व च जागरणं तथा।
क्व तुरीयं भयं वापि स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥ ५॥

मैं अपनी महिमामें स्थित हूँ। मेरे लिये कहाँ स्वप्न और कहाँ सुषुप्ति? कहाँ जागरण और कहाँ तुरीय? मेरे लिये भय ही कहाँ है?॥ ५॥

क्व दूरं क्व समीपं वा बाह्यं क्वाभ्यन्तरं क्व वा।
क्व स्थूलं क्व च वा सूक्ष्मं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥ ६॥

मैं अपनी महिमामें स्थित हूँ। मेरे लिये कहाँ दूर और कहाँ समीप? कहाँ बाह्य और कहाँ आभ्यन्तर? कहाँ स्थूल और कहाँ सूक्ष्म?॥ ६॥

क्व मृत्युर्जीवितं वा क्व लोकाः क्वास्य क्व लौकिकम्।
क्व लयः क्व समाधिर्वा स्वमहिम्नि स्थितस्य मे॥ ७॥

मैं अपनी महिमामें स्थित हूँ। मेरे लिये कहाँ मृत्यु और कहाँ

जीवन? कहाँ लोक और कहाँ लौकिक विषयवस्तु? कहाँ लय और कहाँ समाधि?॥ ७॥

अलं त्रिवर्गकथया योगस्य कथयाप्यलम्।
अलं विज्ञानकथया विश्रान्तस्य ममात्मनि॥ ८॥

अर्थ, धर्म, कामकी बात बन्द करो। योगकी कथा भी अनावश्यक है। अब विज्ञानकी चर्चा भी बहुत हो चुकी। बस, मैं तो अपने स्वरूपमें स्थित हूँ॥ ८॥

॥ इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायामात्मविश्रान्तिनाम एकोनविंशतिकं प्रकरणं समाप्तम्॥ १९॥

बीसवाँ प्रकरण

स्वस्वरूपमें स्थित पुरुषकी स्थिति

क्व भूतानि क्व देहो वा क्वेन्द्रियाणि क्व वा मनः।
क्व शून्यं क्व च नैराश्यं मत्स्वरूपे निरञ्जने॥ १॥

मेरे निर्मल स्वरूपमें पंचभूत कहाँ? देह कहाँ? इन्द्रियाँ कहाँ? मन कहाँ? शून्य कहाँ? और निराशा भी कहाँ?॥ १॥

क्व शास्त्रं क्वात्मविज्ञानं क्व वा निर्विषयं मनः।
क्व तृप्तिः क्व वितृष्णत्वं गतद्वन्द्वस्य मे सदा॥ २॥

मैं सर्वदा निर्द्वन्द्व हूँ। मेरे लिये कहाँ शास्त्र और कहाँ आत्म-विज्ञान? कहाँ मनकी निर्विषयता, कहाँ तृप्ति और कहाँ तृष्णासे रहित होना?॥ २॥

क्व विद्या क्व च वाविद्या क्वाहं क्वेदं मम क्व वा।
क्व बन्धः क्व च वा मोक्षः स्वरूपस्य क्व रूपिता॥ ३॥

स्वरूपमें विद्या कहाँ? अविद्या कहाँ? अहं कहाँ और इदं कहाँ? ममता कहाँ? बन्धन कहाँ? मोक्ष कहाँ? उसमें रूपका होना भी कहाँ है?॥ ३॥

क्व प्रारब्धानि कर्माणि जीवन्मुक्तिरपि क्व वा।
क्व तद्विदेहकैवल्यं निर्विशेषस्य सर्वदा॥ ४॥

जो सर्वदा निर्विशेष एकरस वस्तु है, उसमें प्रारब्ध-कर्म कहाँ? जीवन्मुक्ति कहाँ और विदेहकैवल्य भी कहाँ?॥ ४॥

क्व कर्ता क्व च वा भोक्ता निष्क्रियं स्फुरणं क्व वा।
क्वापरोक्षं फलं वा क्व निःस्वभावस्य मे सदा॥ ५॥

मैं सदा-सर्वदा एकरस, स्वभावरहित हूँ। मुझमें कर्ता कहाँ? भोक्ता कहाँ? निष्क्रिय स्फुरण भी कहाँ? अपरोक्ष ज्ञान कहाँ और फल-ज्ञान कहाँ?॥ ५॥

क्व लोकः क्व मुमुक्षुर्वा क्व योगी ज्ञानवान् क्व वा।
क्व बद्धः क्व च वा मुक्तः स्वस्वरूपेऽहमद्वये॥ ६॥

अद्वितीय स्वस्वरूपमें कहाँ लोक और कहाँ मुमुक्षु? कहाँ योगी और कहाँ ज्ञानवान्? कहाँ बद्ध और कहाँ मुक्त?॥ ६॥

क्व सृष्टिः क्व च संहारः क्व साध्यं क्व च साधनम्।
क्व साधकः क्व सिद्धिर्वा स्वस्वरूपेऽहमद्वये॥ ७॥

अद्वितीय स्वस्वरूपमें कहाँ सृष्टि और कहाँ संहार? कहाँ साध्य और कहाँ साधन? कहाँ साधक और कहाँ सिद्धि?॥ ७॥

क्व प्रमाता प्रमाणं वा क्व प्रमेयं क्व च प्रमा।
क्व किञ्चित् क्व न किञ्चिद्वा सर्वदा विमलस्य मे॥ ८॥

मैं सर्वदा शुद्धस्वरूप हूँ। मुझमें न प्रमाता है न प्रमाण। न प्रमेय है न प्रमा। न कुछ है, न कुछ नहीं॥ ८॥

क्व विक्षेपः क्व चैकाग्र्यं क्व निर्बोधः क्व मूढता।
क्व हर्षः क्व विषादो वा सर्वदा निष्क्रियस्य मे॥ ९॥

मैं सर्वदा निष्क्रिय हूँ। मुझमें न विक्षेप है न एकाग्रता। न बोध है न मूढ़ता। न हर्ष है न विषाद॥ ९॥

क्व चैष व्यवहारो वा क्व च सा परमार्थता।
क्व सुखं क्व च वा दुःखं निर्विमर्शस्य मे सदा॥ १०॥

निर्विमर्श मुझमें संकल्प, विकल्प, विचार, बोध कुछ भी नहीं है। इसलिये न व्यवहार है न परमार्थ। न सुख है न दुःख॥ १०॥

क्व माया क्व च संसारः क्व प्रीतिर्विरतिः क्व वा।
क्व जीवः क्व च तद् ब्रह्म सर्वदा विमलस्य मे॥ ११॥

मैं सर्वदा एकरस सम्पूर्ण मलोंसे रहित हूँ। मुझमें माया कहाँ, संसार कहाँ? राग कहाँ? वैराग्य कहाँ? जीव कहाँ? ब्रह्म कहाँ?॥ ११॥

क्व प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा क्व मुक्तिः क्व च बन्धनम्।
कूटस्थनिर्विभागस्य स्वस्थस्य मम सर्वदा॥ १२॥

मैं कूटस्थ और निरवयव हूँ। सदा-सर्वदा अपने स्वरूपमें ही स्थित हूँ। तब मेरे लिये प्रवृत्ति-निवृत्ति क्या है? और मुक्ति तथा बन्धन क्या है?॥ १२॥

क्वोपदेशः क्व वा शास्त्रं क्व शिष्यः क्व च वा गुरुः।
क्व चास्ति पुरुषार्थो वा निरुपाधेः शिवस्य मे॥ १३॥

मैं उपाधिरहित शिव हूँ। मेरे लिये उपदेश क्या? शास्त्र क्या? शिष्य क्या और गुरु क्या? मेरे लिये पुरुषार्थका अस्तित्व भी नहीं है॥ १३॥

क्व चास्ति क्व च वा नास्ति क्वास्ति चैकं क्व च द्वयम्।
बहुनात्र किमुक्तेन किञ्चिन्नोत्तिष्ठते मम॥ १४॥

'है' कहाँ और 'नहीं' कहाँ? न एक है, न दो है। बहुत कहनेसे क्या लाभ? मेरे स्वरूपमें कुछ नहीं है, कुछ नहीं है॥ १४॥

॥ इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां जीवन्मुक्तिनाम विंशतिकं प्रकरणं समाप्तम्॥ २०॥

इक्कीसवाँ प्रकरण

अष्टावक्रगीताके प्रकरणोंके नाम और उनकी श्लोक-संख्या

विंशतिश्चोपदेशे स्युः श्लोकाश्च पञ्चविंशतिः।
सत्यात्मानुभवोल्लासे उपदेशे चतुर्दश॥ १॥

(इस २१वें प्रकरणमें ग्रन्थकी श्लोक-संख्या और विषय दिखाये गये हैं।) उपदेशनामक प्रथम प्रकरणमें २० श्लोक हैं। शिष्योक्त आत्मानुभवनामक द्वितीय प्रकरणमें २५ श्लोक हैं। आक्षेपोपदेशनामक तृतीय प्रकरणमें १४ श्लोक हैं॥ १॥

षडुल्लासे लये चैवोपदेशे च चतुश्चतुः।
पञ्चकं स्यादनुभवे बन्धमोक्षे चतुष्ककम्॥ २॥

शिष्यानुभवनामक चतुर्थ प्रकरणमें ६ श्लोक हैं। लयनामक पंचम प्रकरणमें ४ श्लोक हैं। गुरूपदेशनामक षष्ठ प्रकरणमें भी ४ श्लोक हैं। शिष्यानुभवनामक सप्तम प्रकरणमें ५ श्लोक हैं। बन्धमोक्षनामक अष्टम प्रकरणमें ४ श्लोक हैं॥ २॥

निर्वेदोपशमे ज्ञान एवमेवाष्टकं भवेत्।
यथासुखे सप्तकं च शान्तौ स्याद्वेदसम्मितम्॥ ३॥

निर्वेदनामक नवम प्रकरणमें ८ श्लोक हैं। उपशमनामक दशम प्रकरणमें ८ श्लोक हैं। ज्ञानाष्टकनामक एकादश प्रकरणमें ८ श्लोक हैं। एवमेवाष्टकनामक द्वादश प्रकरणमें ८ श्लोक हैं। यथासुखनामक त्रयोदश प्रकरणमें ७ श्लोक हैं। शान्तिचतुष्कनामक चतुर्दश प्रकरणमें ४ श्लोक हैं॥ ३॥

तत्त्वोपदेशे विंशच्च दश ज्ञानोपदेशके।
तत्त्वरूपे च विंशच्च शमे च शतकं भवेत्॥ ४॥

तत्त्वोपदेशनामक पंचमदशप्रकरणमें २० श्लोक हैं। ज्ञानोपदेशनामक

षोडश प्रकरणमें १० श्लोक हैं। तत्त्वस्वरूपनामक सप्तदश प्रकरणमें २० श्लोक हैं। शमनामक अष्टादश प्रकरणमें १०० श्लोक हैं॥ ४॥

अष्टकं चात्मविश्रान्तौ जीवन्मुक्तौ चतुर्दश।
षट् सङ्ख्याक्रमविज्ञाने ग्रन्थैकात्म्यं ततः परम्॥ ५॥
विंशत्येकमितैः खण्डैः श्लोकैरात्माग्निमध्यखैः।
अवधूतानुभूतेश्च श्लोकाः सङ्ख्याक्रमा अमी॥ ६॥

आत्मविश्रान्तिनामक उन्नीसवें प्रकरणमें ८ श्लोक हैं। जीवन्मुक्तिनामक विंशतिक प्रकरणमें १४ श्लोक हैं और संख्याक्रमविज्ञान नामक एकविंशतिक प्रकरणमें ६ श्लोक हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थमें इक्कीस प्रकरण और ३०३ श्लोक हैं। इस प्रकार अवधूतका अनुभवरूप जो 'अष्टावक्रगीता' है, उसके श्लोकोंकी संख्याका क्रम बताया है॥ ५-६॥

॥ इति श्रीमदष्टावक्रमुनिविरचितायां ब्रह्मविद्यायां संख्याक्रमविज्ञाननाम एकविंशतिकं प्रकरणं समाप्तम्॥ २१॥

॥ अष्टावक्रगीता सम्पूर्ण॥

अवधूतगीता-(१)

[भगवान् श्रीदत्तात्रेयकृत अवधूतगीता एक प्राचीन स्वतन्त्र ग्रन्थके रूपमें प्राप्त है। आठ अध्यायोंमें विभक्त इस गीतामें अवधूत श्रीदत्तात्रेयजीने मुमुक्षुजनोंके कल्याणार्थ वेदान्तमार्गद्वारा गूढ़ ब्रह्म-ज्ञानप्राप्तिका सुन्दर विवेचन किया है। इसमें आत्माका निरूपण, निर्द्वन्द्व भाव-कथन, जीव-ब्रह्मकी एकता, प्रणवका स्वरूप, वेदान्तके महावाक्योंपर विचार, ब्रह्मकी सर्वव्यापकता, मनकी लोलुपतासे निवृत्तिका उपाय, विषय-भोगकी निन्दा एवं उसके त्यागका उपाय इत्यादि अनेक परमोपयोगी उपदेश गुम्फित हैं। विरक्त मुमुक्षुजनों एवं प्रबुद्ध विचारकोंके मध्य यह अवधूतगीता प्राचीनकालसे लोकप्रिय बनी हुई है, इसीको यहाँ सानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है—]

पहला अध्याय

आत्मतत्त्व एवं ब्रह्मतत्त्वका निरूपण, उनका ऐक्य तथा अनुभूति

अवधूत उवाच

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना।
महद्भयपरित्राणा विप्राणामुपजायते॥ १॥

अवधूत दत्तात्रेयजी बोले—ईश्वरकी कृपासे ही श्रेष्ठ पुरुषोंको [जन्ममरण-रूपी] महान् भयसे रक्षा करनेवाली अद्वैत वासना उत्पन्न होती है॥ १॥

येनेदं पूरितं सर्वमात्मनैवात्मनात्मनि।
निराकारं कथं वन्दे ह्यभिन्नं शिवमव्ययम्॥ २॥

जिस आत्माके द्वारा निश्चय ही अपनेमें यह सम्पूर्ण जगत् परिव्याप्त हो रहा है, उस निराकार आत्मतत्त्वकी वन्दना मैं किस प्रकार करूँ, क्योंकि वह [जीवसे] अभिन्न, कल्याणस्वरूप तथा अविनाशी है॥ २॥

पञ्चभूतात्मकं विश्वं मरीचिजलसन्निभम्।
कस्याप्यहो नमस्कुर्यामहमेको निरञ्जनः॥ ३॥

पाँच भूतों [पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश)-से निर्मित

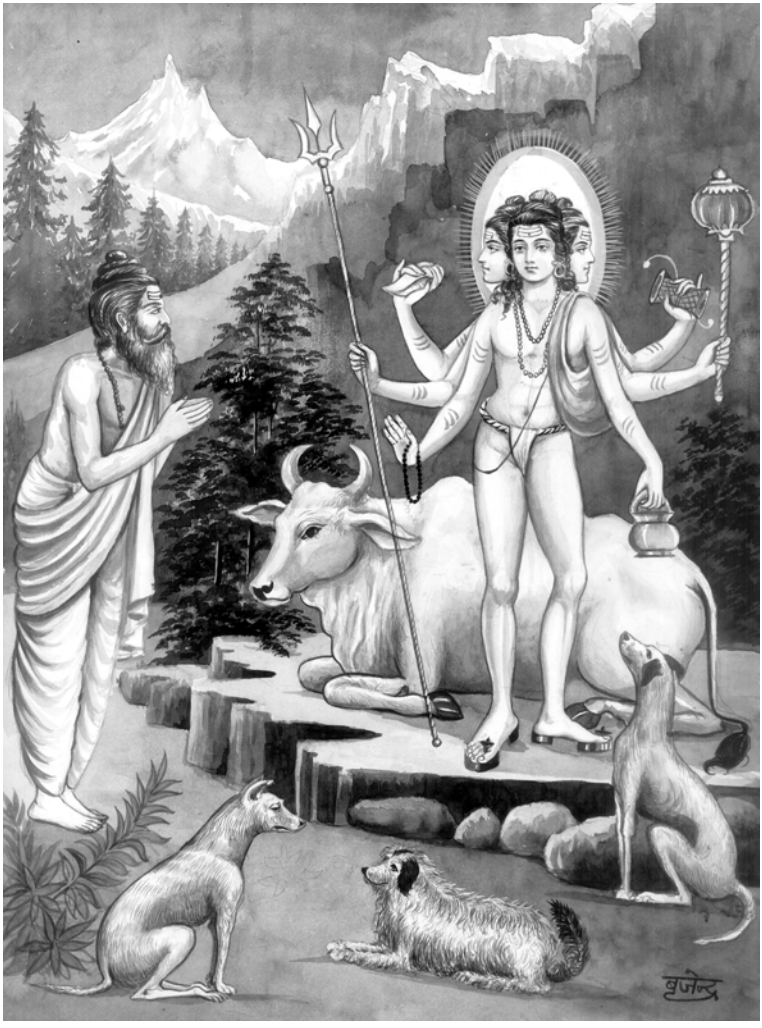

अवधूत भगवान् दत्तात्रेयद्वारा आत्मतत्त्वका निरूपण

यह जगत् मृगतृष्णाके जलके समान [मिथ्या] है। मायामलसे रहित मैं एक हूँ तो फिर किसको नमस्कार करूँ?॥ ३॥

आत्मैव केवलं सर्वं भेदाभेदो न विद्यते।
अस्ति नास्ति कथं ब्रूयां विस्मयः प्रतिभाति मे॥ ४॥

[सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें] सब कुछ एकमात्र आत्मा ही है। इसमें भेद तथा अभेद दोनों ही नहीं है। यह है अथवा नहीं है—यह मैं कैसे कहूँ; मुझे विस्मय प्रतीत हो रहा है॥ ४॥

वेदान्तसारसर्वस्वं ज्ञानविज्ञानमेव च।
अहमात्मा निराकारः सर्वव्यापी स्वभावतः॥ ५॥

वेदान्तका सार तथा ज्ञान-विज्ञान इतना ही है कि मैं स्वभावसे ही सर्वव्यापी निराकार आत्मा (ब्रह्मतत्त्व) हूँ॥ ५॥

यो वै सर्वात्मको देवो निष्कलो गगनोपमः।
स्वभावनिर्मलः शुद्धः स एवाहं न संशयः॥ ६॥

जो सर्वरूप परमात्मा हैं, वे निश्चय ही अखण्ड, आकाशतुल्य, स्वभावसे निर्मल तथा शुद्ध हैं। मैं वही [चेतन ब्रह्म] हूँ; इसमें सन्देह नहीं है॥ ६॥

अहमेवाव्ययोऽनन्तः शुद्धविज्ञानविग्रहः।
सुखं दुःखं न जानामि कथं कस्यापि वर्तते॥ ७॥

मैं निश्चय ही नाशरहित, अनन्त तथा शुद्ध विज्ञानस्वरूप हूँ। मैं नहीं जानता कि यह सुख-दुःख किसीको भी किस प्रकार हो सकता है॥ ७॥

न मानसं कर्म शुभाशुभं मे
न कायिकं कर्म शुभाशुभं मे।
न वाचिकं कर्म शुभाशुभं मे
ज्ञानामृतं शुद्धमतीन्द्रियोऽहम्॥ ८॥

[कोई भी] मानसिक कर्म मेरे लिये शुभ अथवा अशुभ नहीं

है, कायिक कर्म मेरे लिये शुभ अथवा अशुभ नहीं है और वाचिक कर्म मेरे लिये शुभ अथवा अशुभ नहीं है। मैं तो ज्ञानामृत, शुद्ध तथा इन्द्रियातीत हूँ॥ ८॥

मनो वै गगनाकारं मनो वै सर्वतोमुखम्।
मनोऽतीतं मनः सर्वं न मनः परमार्थतः॥ ९॥

मन आकाशके आकारवाला है, मनकी गति सभी ओर है, मन सबसे परे है और मन ही सब कुछ है, किंतु परमार्थकी दृष्टिसे मन कुछ भी नहीं है॥ ९॥

अहमेकमिदं सर्वं व्योमातीतं निरन्तरम्।
पश्यामि कथमात्मानं प्रत्यक्षं वा तिरोहितम्॥ १०॥

मैं एक हूँ और यह दृश्यमान सर्वरूप भी मैं ही हूँ। मैं आकाशसे भी अतीत हूँ तथा असीम हूँ। मैं इस आत्माको प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष किस प्रकार देखूँ?॥ १०॥

त्वमेवमेकं हि कथं न बुध्यसे
समं हि सर्वेषु विमृष्टमव्ययम्।
सदोदितोऽसि त्वमखण्डितः प्रभो
दिवा च नक्तं च कथं हि मन्यसे॥ ११॥

वस्तुतः तुम एक ही हो ऐसा क्यों नहीं समझते? सम्पूर्ण शरीरोंमें तुम (आत्मारूपसे) एक समान व्याप्त हो। तुम शाश्वत तथा अव्यय हो। हे प्रभो! तुम सर्वदा प्रकाशमान हो और भेदरहित हो। [निरन्तर प्रकाशमान होनेके कारण] तुम [उदयास्तरूप] दिन तथा रातको किस प्रकार मान सकते हो?॥ ११॥

आत्मानं सततं विद्धि सर्वत्रैकं निरन्तरम्।
अहं ध्याता परं ध्येयमखण्डं खण्ड्यते कथम्॥ १२॥

[हे वत्स!] आत्मा (स्वयं)-को सर्वदा सर्वत्र एक तथा अनन्त

जानो। मैं ध्यान करनेवाला हूँ तथा अन्य कोई ध्यानका विषय है—(यदि तुम ऐसा कहते हो) तो फिर उस भेदरहित आत्माको भेदयुक्त कैसे किया जा सकता है?॥ १२॥

न जातो न मृतोऽसि त्वं न ते देहः कदाचन।
सर्वं ब्रह्मेति विख्यातं ब्रवीति बहुधा श्रुतिः॥ १३॥

[हे शिष्य!] वास्तवमें तुम न तो उत्पन्न होते हो और न मरते ही हो; न तो यह देह ही कभी तुम्हारा है। सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है—ऐसा प्रसिद्ध है और श्रुति भी अनेक प्रकारसे ऐसा ही कहती है॥ १३॥

स बाह्याभ्यन्तरोऽसि त्वं शिवः सर्वत्र सर्वदा।
इतस्ततः कथं भ्रान्तः प्रधावसि पिशाचवत्॥ १४॥

[हे शिष्य!] [सम्पूर्ण प्राणियोंके] बाहर तथा भीतर रहनेवाला, कल्याणस्वरूप, सर्वत्र सभी कालोंमें विद्यमान जो चेतन तत्त्व है, वह तुम ही हो। [अतः उसकी प्राप्तिके लिये] भ्रमित होकर तुम [व्यर्थ ही] पिशाचकी भाँति इधर-उधर क्यों दौड़ते हो?॥ १४॥

संयोगश्च वियोगश्च वर्तते न च ते न मे।
न त्वं नाहं जगन्नेदं सर्वमात्मैव केवलम्॥ १५॥

संयोग तथा वियोग न तुम्हारेमें है और न तो मुझमें ही है। [वस्तुतः] न तुम हो, न मैं हूँ और न तो यह जगत् ही है; केवल आत्मा ही सब कुछ है॥ १५॥

शब्दादिपञ्चकस्यास्य नैवासि त्वं न ते पुनः।
त्वमेव परमं तत्त्वमतः किं परितप्यसे॥ १६॥

शब्द आदि (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) पाँच विषयोंके साथ तुम्हारा सम्बन्ध नहीं है और तुम्हारे साथ इनका भी सम्बन्ध नहीं है। तुम ही परमतत्त्व हो, अतः तुम क्यों सन्तप्त होते हो?॥ १६॥

जन्म मृत्युर्न ते चित्तं बन्धमोक्षौ शुभाशुभौ।
कथं रोदिषि रे वत्स नामरूपं न ते न मे॥ १७॥

जन्म-मृत्यु, बन्धन-मोक्ष और शुभ-अशुभ—ये तुम्हारे नहीं हैं, ये चित्तके धर्म हैं, हे वत्स! तुम क्यों रोते हो; ये नाम तथा रूप तुम्हारे भी नहीं हैं और मेरे भी नहीं हैं॥ १७॥

अहो चित्त कथं भ्रान्तः प्रधावसि पिशाचवत्।
अभिन्नं पश्य चात्मानं रागत्यागात्सुखी भव॥ १८॥

हे चित्त! तुम भ्रमित होकर पिशाचकी भाँति क्यों दौड़ रहे हो? तुम आत्माको भेदरहित देखो और रागका त्याग करके सुखी हो जाओ॥ १८॥

त्वमेव तत्त्वं हि विकारवर्जितं
निष्कम्पमेकं हि विमोक्षविग्रहम्।
न ते च रागो ह्यथवा विरागः
कथं हि सन्तप्यसि कामकामतः॥ १९॥

तुम वास्तवमें विकारहीन, निश्चल तथा मोक्षस्वरूप [परम] तत्त्व हो। तुम्हें राग अथवा विराग भी नहीं है; तब तुम विषय-भोगोंकी कामनासे सन्तप्त क्यों होते हो?॥ १९॥

वदन्ति श्रुतयः सर्वा निर्गुणं शुद्धमव्ययम्।
अशरीरं समं तत्त्वं तन्मां विद्धि न संशयः॥ २०॥

सभी श्रुतियाँ परमतत्त्वको निर्गुण, शुद्ध, नाशरहित, शरीररहित और सबमें समरूप कहती हैं; उसे ही तुम आत्मस्वरूप जानो, इसमें सन्देह नहीं है॥ २०॥

साकारमनृतं विद्धि निराकारं निरन्तरम्।
एतत्तत्त्वोपदेशेन न पुनर्भवसम्भवः॥ २१॥

साकार (पदार्थों)-को मिथ्या जानो और निराकारको शाश्वत समझो। इस तत्त्वोपदेशको धारण करनेसे [इस संसारमें] पुनर्जन्म नहीं होता है॥ २१॥

एकमेव समं तत्त्वं वदन्ति हि विपश्चितः।
रागत्यागात्पुनश्चित्तमेकानेकं न विद्यते॥ २२॥

विद्वज्जन एक ही आत्मतत्त्वको समरूप कहते हैं। रागका त्याग कर देनेसे पुनः चित्तमें द्वैत-अद्वैत (-का प्रपंच) नहीं रहता है॥ २२॥

अनात्मरूपं च कथं समाधि-
रात्मस्वरूपं च कथं समाधिः।
अस्तीति नास्तीति कथं समाधि-
र्मोक्षस्वरूपं यदि सर्वमेकम्॥ २३॥

अनात्मस्वरूपको समाधि कैसे हो सकती है और आत्म-स्वरूपको भी समाधिका क्या प्रयोजन है? आत्मा है अथवा आत्मा नहीं है—इन दोनों ही स्थितियोंमें समाधि सम्भव नहीं है; यदि सभी मोक्षस्वरूप और एक हैं तो समाधिकी क्या आवश्यकता है?॥ २३॥

विशुद्धोऽसि समं तत्त्वं विदेहस्त्वमजोऽव्ययः।
जानामीह न जानामीत्यात्मानं मन्यसे कथम्॥ २४॥

[हे शिष्य!] तुम विशुद्ध, समरस, देहरहित, जन्मरहित तथा अव्यय आत्मतत्त्व हो। 'इस लोकमें मैं आत्माको जानता हूँ अथवा नहीं जानता हूँ'—ऐसा तुम क्यों मानते हो?॥ २४॥

तत्त्वमस्यादिवाक्यैश्च स्वात्मा हि प्रतिपादितः।
नेति नेति श्रुतिर्ब्रूयादनृतं पाञ्चभौतिकम्॥ २५॥

'तत्त्वमसि' आदि वचनोंके द्वारा अपनी आत्माका ही प्रतिपादन किया गया है और श्रुति भी जो 'नेति-नेति' का उद्घोष करती है, उसका तात्पर्य यही है कि यह पांचभौतिक जगत् मिथ्या है॥ २५॥

आत्मन्येवात्मना सर्वं त्वया पूर्णं निरन्तरम्।
ध्याता ध्यानं न ते चित्तं निर्लज्जं ध्यायते कथम्॥ २६॥

तुम्हारे द्वारा सब कुछ आत्मामें निरन्तर आत्मासे ही पूर्ण हो रहा है। ध्यान करनेवाले तथा ध्यानकी तुम्हें आवश्यकता ही नहीं है; तो फिर यह लज्जारहित चित्त ध्यान कैसे करता है?॥ २६॥

शिवं न जानामि कथं वदामि
शिवं न जानामि कथं भजामि।
अहं शिवश्चेत्परमार्थतत्त्वं
समस्वरूपं गगनोपमं च॥ २७॥

मैं कल्याणस्वरूप ब्रह्मको नहीं जानता हूँ तो उसका वर्णन कैसे कर सकता हूँ, मैं उसे नहीं जानता हूँ तो उसका भजन कैसे कर सकता हूँ; मैं ही कल्याणस्वरूप, परमार्थस्वरूप, समस्वरूप और आकाशतुल्य ब्रह्म हूँ (तो भजन आदिकी क्या आवश्यकता?)॥ २७॥

नाहं तत्त्वं समं तत्त्वं कल्पनाहेतुवर्जितम्।
ग्राह्यग्राहकनिर्मुक्तं स्वसंवेद्यं कथं भवेत्॥ २८॥

मैं महत् आदि तत्त्व नहीं हूँ और साम्यावस्थारूप प्रकृति तत्त्व भी नहीं हूँ। मैं कल्पना तथा हेतुसे रहित हूँ और ग्राह्य-ग्राहक भावसे निर्मुक्त हूँ; ऐसी स्थितिमें स्वसंवेद्यता भी कैसे सम्भव है?॥ २८॥

अनन्तरूपं न हि वस्तु किञ्चित्
तत्त्वस्वरूपं न हि वस्तु किञ्चित्।
आत्मैकरूपं परमार्थतत्त्वं
न हिंसको वापि न चाप्यहिंसा॥ २९॥

कोई भी वस्तु अनन्तरूप नहीं है और कोई भी वस्तु तत्त्वस्वरूप नहीं है; वस्तुतः आत्मा ही एकरूप परमतत्त्वके रूपमें अधिष्ठित है। [अद्वैत भावकी स्थितिमें] न कोई हिंसक है और न अहिंसाकी ही

भावना रहती है॥ २९॥

विशुद्धोऽसि समं तत्त्वं विदेहमजमव्ययम्।
विभ्रमं कथमात्मार्थे विभ्रान्तोऽहं कथं पुनः॥ ३०॥

तुम विशुद्ध हो; देहरहित, जन्मरहित, अव्यय तथा समरस तत्त्व हो। आत्माके विषयमें तुम्हें भ्रान्ति क्यों है? तुम कैसे कह सकते हो कि मैं भ्रान्तियुक्त हूँ?॥ ३०॥

घटे भिन्ने घटाकाशं सुलीनं भेदवर्जितम्।
शिवेन मनसा शुद्धो न भेदः प्रतिभाति मे॥ ३१॥

घटके नष्ट हो जानेपर घटाकाश (घटके भीतरका आकाश) महाकाशमें पूरी तरह विलीन हो जाता है और भेदरहित हो जाता है। परमतत्त्वमें शुद्ध मनके द्वारा किसी भेदकी प्रतीति नहीं होती है॥ ३१॥

न घटो न घटाकाशो न जीवो जीवविग्रहः।
केवलं ब्रह्म संविद्धि वेद्यवेदकवर्जितम्॥ ३२॥

[उस चेतन ब्रह्ममें उपाधिरूप] घट नहीं है, घटाकाश भी नहीं है, [अन्तःकरणरूपी उपाधिके अभावसे] जीव भी नहीं है और जीवका विग्रह भी नहीं है। अतः ज्ञेय-ज्ञाताके भेदसे रहित एकमात्र उस परब्रह्मको भली-भाँति जानो॥ ३२॥

सर्वत्र सर्वदा सर्वमात्मानं सततं ध्रुवम्।
सर्वं शून्यमशून्यं च तन्मां विद्धि न संशयः॥ ३३॥

आत्माको सर्वत्र, सभी कालोंमें विद्यमान, सर्वरूप, सतत तथा शाश्वत जानो। सभी शून्य तथा अशून्य (पदार्थों)-को निस्संदेह आत्मस्वरूप समझो॥ ३३॥

वेदा न लोका न सुरा न यज्ञा
वर्णाश्रमौ नैव कुलं न जातिः।

न धूममार्गो न च दीप्तिमार्गो
ब्रह्मैकरूपं परमार्थतत्त्वम्॥ ३४॥

वस्तुत: न वेद हैं, न लोक हैं, न देवता हैं, न यज्ञ हैं, न वर्ण तथा आश्रम हैं, न कुल है, न जाति है, न धूममार्ग (दक्षिणायन) है और न दीप्तिमार्ग (उत्तरायण) है; एकमात्र ब्रह्म ही परमार्थतत्त्व है॥ ३४॥

व्याप्यव्यापकनिर्मुक्त: त्वमेक: सफलो यदि।
प्रत्यक्षं चापरोक्षं च ह्यात्मानं मन्यसे कथम्॥ ३५॥

यदि तुम व्याप्य तथा व्यापक भावसे रहित, एक रूपसे (अपनेको जाननेमें सफल) हो तो तुम आत्माको प्रत्यक्ष और परोक्ष कैसे मानते हो?॥ ३५॥

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम्॥ ३६॥

कुछ लोग अद्वैतकी इच्छा करते हैं और कुछ अन्य लोग द्वैतकी इच्छा करते हैं; वे सभी लोग द्वैताद्वैतसे रहित समतत्त्वको नहीं जानते हैं॥ ३६॥

श्वेतादिवर्णरहितं शब्दादिगुणवर्जितम्।
कथयन्ति कथं तत्त्वं मनोवाचामगोचरम्॥ ३७॥

परब्रह्म श्वेत आदि वर्णोंसे रहित है, शब्द आदि गुणोंसे रहित है और मन तथा वाणीसे परे है; तब लोग उस परब्रह्मका वर्णन कैसे करते हैं?॥ ३७॥

यदानृतमिदं सर्वं देहादि गगनोपमम्।
तदा हि ब्रह्म संवेत्ति न ते द्वैतपरम्परा॥ ३८॥

जब कोई इस सम्पूर्ण जगत्-प्रपंचको मिथ्या तथा शरीर आदिको आकाशतुल्य (मायामात्र) जान लेता है, तभी वह ब्रह्मको सम्यक् रूपसे जानता है। (इस अवस्थामें) उसे द्वैतभावना नहीं रहेगी॥ ३८॥

परेण सहजात्मापि ह्यभिन्नः प्रतिभाति मे।
व्योमाकारं तथैवैकं ध्याता ध्यानं कथं भवेत्॥ ३९॥

परब्रह्मके साथ अनादि आत्मा मुझे भेदरहित प्रतीत होता है। वह गगनाकार, व्यापक और एकरूप है। इसमें ध्याता और ध्यानका व्यवहार कैसे हो सकता है?॥ ३९॥

यत्करोमि यदश्नामि यज्जुहोमि ददामि यत्।
एतत्सर्वं न मे किञ्चिद्विशुद्धोऽहमजोऽव्ययः॥ ४०॥

मैं जो कुछ करता हूँ, जो कुछ खाता हूँ, जो कुछ हवन करता हूँ और जो कुछ देता हूँ—यह सब कुछ भी नहीं है; क्योंकि मैं शुद्ध, जन्मरहित तथा अव्यय हूँ॥ ४०॥

सर्वं जगद्विद्धि निराकृतीदं
सर्वं जगद्विद्धि विकारहीनम्।
सर्वं जगद्विद्धि विशुद्धदेहं
सर्वं जगद्विद्धि शिवैकरूपम्॥ ४१॥

तुम सम्पूर्ण जगत्को आकाररहित जानो, समस्त जगत्को विकाररहित जानो, समग्र जगत्को ब्रह्मका विग्रह जानो और सम्पूर्ण जगत्को एकमात्र कल्याणस्वरूप जानो॥ ४१॥

तत्त्वं त्वं हि न सन्देहः किं जानाम्यथवा पुनः।
असंवेद्यं स्वसंवेद्यमात्मानं मन्यसे कथम्॥ ४२॥

तुम वही परमतत्त्व हो, इसमें सन्देह नहीं है। तब तुम यह क्यों सोचते हो कि मैं आत्माको जानता हूँ अथवा नहीं जानता हूँ? जो आत्मा किसीसे भी न जाननेयोग्य है, उसे अपनेसे जाननेयोग्य कैसे मानते हो?॥ ४२॥

मायामाया कथं तात छायाछाया न विद्यते।
तत्त्वमेकमिदं सर्वं व्योमाकारं निरञ्जनम्॥ ४३॥

हे तात! अन्धकार तथा प्रकाश एक साथ विद्यमान नहीं रह सकते,

अतः ब्रह्ममें माया तथा अमाया कैसे साथ रह सकती है? यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् आकाशरूप है। मायामलसे रहित वह परमब्रह्म तुम्हीं हो॥ ४३॥

आदिमध्यान्तमुक्तोऽहं न बद्धोऽहं कदाचन।
स्वभावनिर्मलः शुद्ध इति मे निश्चिता मतिः॥ ४४॥

मैं आदि, मध्य और अन्तसे रहित हूँ; मैं कभी भी बद्ध नहीं हूँ। मैं स्वभावसे निर्मल और शुद्ध हूँ—ऐसी मेरी निश्चित बुद्धि है॥ ४४॥

महदादि जगत्सर्वं न किञ्चित्प्रतिभाति मे।
ब्रह्मैव केवलं सर्वं कथं वर्णाश्रमस्थितिः॥ ४५॥

महत् आदि तत्त्वोंसे बना यह सम्पूर्ण जगत् मुझको कुछ भी भासित नहीं होता है; यह सब केवल ब्रह्म ही है। वर्ण तथा आश्रमोंकी (पृथक्) स्थिति कैसे सिद्ध हो सकती है?॥ ४५॥

जानामि सर्वथा सर्वमहमेको निरन्तरम्।
निरालम्बमशून्यं च शून्यं व्योमादिपञ्चकम्॥ ४६॥

मैं अपनेको हर प्रकारसे एक शाश्वत, निरालम्ब तथा पूर्ण जानता हूँ। आकाश आदि पाँच भूत शून्य (अवास्तविक) हैं॥ ४६॥

न षण्ढो न पुमान्न स्त्री न बोधो नैव कल्पना।
सानन्दो वा निरानन्दमात्मानं मन्यसे कथम्॥ ४७॥

आत्मा न पुरुष है, न स्त्री है और न तो नपुंसक ही है। यह ज्ञान तथा कल्पना भी नहीं है। तुम आत्माको आनन्दयुक्त अथवा आनन्दरहित भी कैसे मानते हो?॥ ४७॥

षडङ्गयोगान्न तु नैव शुद्धं
मनोविनाशान्न तु नैव शुद्धम्।

गुरूपदेशान्न तु नैव शुद्धं
स्वयं च तत्त्वं स्वयमेव शुद्धम्॥ ४८॥

षडंगयोगसे भी आत्मा शुद्ध नहीं होता, मनका नाश होनेसे भी यह शुद्ध नहीं होता और गुरुके उपदेशसे भी यह शुद्ध नहीं होता; आत्मा तो परमतत्त्व है और स्वयं शुद्ध ही है॥ ४८॥

न हि पञ्चात्मको देहो विदेहो वर्तते न हि।
आत्मैव केवलं सर्वं तुरीयं च त्रयं कथम्॥ ४९॥

आत्मा पाँच भूतोंसे निर्मित देह नहीं है और यह देहरहित भी नहीं है। वस्तुतः सम्पूर्ण जगत्-प्रपंच आत्मा ही है, (आत्मासे भिन्न कुछ नहीं है) तब तीन अवस्थाएँ (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) तथा तुरीयावस्था—ये कैसे हो सकती हैं?॥ ४९॥

न बद्धो नैव मुक्तोऽहं न चाहं ब्रह्मणः पृथक्।
न कर्ता न च भोक्ताहं व्याप्यव्यापकवर्जितः॥ ५०॥

मैं (आत्मा) बद्ध नहीं हूँ, मैं मुक्त भी नहीं हूँ और ब्रह्मसे पृथक् नहीं हूँ। मैं न तो कर्ता हूँ, न भोक्ता हूँ। मैं तो व्याप्य तथा व्यापक भावसे रहित हूँ॥ ५०॥

यथा जलं जले न्यस्तं सलिलं भेदवर्जितम्।
प्रकृतिं पुरुषं तद्वदभिन्नं प्रतिभाति मे॥ ५१॥

जिस प्रकार जलमें डाला गया जल समरूप (जलके रूपमें) हो जाता है, उसी प्रकार प्रकृति तथा पुरुष भी मुझे अभिन्नरूप ही प्रतीत होते हैं॥ ५१॥

यदि नाम न मुक्तोऽसि न बद्धोऽसि कदाचन।
साकारं च निराकारमात्मानं मन्यसे कथम्॥ ५२॥

यदि ऐसी बात है कि तुम मुक्त नहीं हो तो तुम कभी बद्ध भी नहीं हो। फिर तुम आत्माको साकार अथवा निराकार किस प्रकार

मानते हो?॥ ५२॥

जानामि ते परं रूपं प्रत्यक्षं गगनोपमम्।
यथा परं हि रूपं यन्मरीचिजलसन्निभम्॥ ५३॥

मैं तुम्हारे परमरूपको जानता हूँ, जो प्रत्यक्ष तथा आकाशतुल्य (व्यापक) है। साथ ही तुम्हारे अपररूपको भी जानता हूँ, जो मृगतृष्णाके जलके समान है॥ ५३॥

न गुरुर्नोपदेशश्च न चोपाधिर्न मे क्रिया।
विदेहं गगनं विद्धि विशुद्धोऽहं स्वभावतः॥ ५४॥

मेरे लिये न कोई गुरु है, न उपदेश है, न उपाधि है और न तो क्रिया ही है। तुम मुझे देहरहित तथा आकाशतुल्य व्यापक जानो। मैं स्वभावसे ही पूर्णतया शुद्ध हूँ॥ ५४॥

विशुद्धोऽस्यशरीरोऽसि न ते चित्तं परात्परम्।
अहं चात्मा परं तत्त्वमिति वक्तुं न लज्जसे॥ ५५॥

तुम विशुद्ध, देहरहित हो। यह चित्त तुम्हारा नहीं है, तुम परम तत्त्व हो, अतः 'मैं आत्मा हूँ-परमतत्त्व हूँ'—ऐसा कहनेमें तुम्हें लज्जा नहीं आती॥ ५५॥

कथं रोदिषि रे चित्त ह्यात्मैवात्मात्मना भव
पिब वत्स कलातीतमद्वैतं परमामृतम्॥ ५६॥

हे चित्त! तुम रुदन क्यों करते हो, तुम आत्मा ही हो। तुम स्वयं आत्मस्वरूप हो जाओ। हे वत्स! तुम कलारहित अद्वैतरूपी परम अमृतका पान करो॥ ५६॥

नैव बोधो न चाबोधो न बोधाबोध एव च।
यस्येदृशः सदा बोधः स बोधो नान्यथा भवेत्॥ ५७॥

आत्मा न ज्ञानरूप है, न अज्ञानरूप और न तो ज्ञान-अज्ञान उभयरूप ही है। जिसे इस प्रकारका सर्वदा ज्ञान है, उसका यह ज्ञान

मिटता नहीं॥ ५७॥

ज्ञानं न तर्को न समाधियोगो
न देशकालौ न गुरूपदेशः।
स्वभावसंवित्तिरहं च तत्त्व-
माकाशकल्पं सहजं ध्रुवं च॥ ५८॥

मैं ज्ञान नहीं हूँ, तर्क नहीं हूँ, समाधियोगरूप नहीं हूँ, देश-काल नहीं हूँ और गुरुका उपदेशरूप भी नहीं हूँ। मैं स्वभावसे ही ज्ञानस्वरूप, आकाशतुल्य, सहज तथा शाश्वत परमतत्त्व हूँ॥ ५८॥

न जातोऽहं मृतो वापि न मे कर्म शुभाशुभम्।
विशुद्धं निर्गुणं ब्रह्म बन्धो मुक्तिः कथं मम॥ ५९॥

मैं न तो कभी उत्पन्न हुआ हूँ और न तो कभी मृत ही हुआ हूँ। मुझे शुभ-अशुभ कोई भी कर्म व्याप्त नहीं करता। मैं विशुद्ध तथा निर्गुण ब्रह्म हूँ तो फिर मेरा बन्धन तथा मोक्ष कैसा?॥ ५९॥

यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अन्तरं हि न पश्यामि स बाह्याभ्यन्तरः कथम्॥ ६०॥

जब आत्मा सर्वव्यापी, प्रकाशमान, निश्चल, पूर्ण तथा निरन्तर है, इसलिये मुझे अन्तरकी प्रतीति नहीं होती। वह आत्मतत्त्व बाहर या भीतर कैसे (कहा जा सकता) है?॥ ६०॥

स्फुरत्येव जगत्कृत्स्नमखण्डितनिरन्तरम्।
अहो मायामहामोहौ द्वैताद्वैतविकल्पना॥ ६१॥

[परब्रह्ममें ही] सम्पूर्ण जगत् अखण्डित तथा सतत रूपमें स्फुरित हो रहा है। आश्चर्य है कि माया, महामोह और द्वैत-अद्वैतकी कल्पना—ये सब भी उसीमें स्फुरित हो रहे हैं॥ ६१॥

साकारं च निराकारं नेति नेतीति सर्वदा।
भेदाभेदविनिर्मुक्तो वर्तते केवलः शिवः॥ ६२॥

स्थूल तथा सूक्ष्म जो भी सम्पूर्ण जगत् दृश्यमान है, वह नहीं है-नहीं है—ऐसा श्रुति कहती है। भेद-अभेदसे रहित तथा कल्याणस्वरूप एकमात्र आत्मतत्त्व ही सर्वदा विद्यमान है॥ ६२॥

न ते च माता च पिता च बन्धु-
र्न ते च पत्नी न सुतश्च मित्रम्।
न पक्षपातो न विपक्षपातः
कथं हि सन्तप्तिरियं हि चित्ते॥ ६३॥

तुम्हारी न तो माता है, न कोई पिता है, न बन्धु है, न पत्नी है, न पुत्र है, न मित्र है, न पक्षपाती है और विपक्षपाती भी नहीं है; तब तुम्हारे चित्तमें यह सन्ताप कैसा?॥ ६३॥

दिवानक्तं न ते चित्ते उदयास्तमयौ न हि।
विदेहस्य शरीरत्वं कल्पयन्ति कथं बुधाः॥ ६४॥

[हे तात!] तुम्हारे (सदा प्रकाशमान) चेतनस्वरूपमें उदय तथा अस्त होनेवाले दिन तथा रात नहीं हैं। विद्वान् लोग देहरहित (आत्मतत्त्व)-के शरीरत्वकी कल्पना क्यों करते हैं?॥ ६४॥

नाविभक्तं विभक्तं च न हि दुःखसुखादि च।
न हि सर्वमसर्वं च विद्धि चात्मानमव्ययम्॥ ६५॥

आत्मा न तो विभक्त है और न अविभक्त, यह सुख-दुःखसे भी युक्त नहीं है, यह न तो पूर्ण है और न अपूर्ण; इस (द्वन्द्वरहित) शाश्वत आत्माको जानो॥ ६५॥

नाहं कर्ता न भोक्ता च न मे कर्म पुराधुना।
न मे देहो विदेहो वा निर्ममेति ममेति किम्॥ ६६॥

मैं न तो [कर्मोंका] कर्ता हूँ और न [उनके फलोंका] भोग

करनेवाला हूँ। कर्म न तो मेरे पूर्व जन्मका है और न इसी जन्मका है। मेरा देह नहीं है और मैं देहसे रहित भी नहीं हूँ। मैं ममतारहित अथवा ममतायुक्त भी कैसे हो सकता हूँ॥ ६६॥

न मे रागादिको दोषो दुःखं देहादिकं न मे।
आत्मानं विद्धि मामेकं विशालं गगनोपमम्॥ ६७॥

राग आदि दोष मेरे नहीं हैं और देह आदिसे सम्बन्धित दुःख भी मेरे नहीं हैं। मुझको एकरूप, विराट् तथा आकाशतुल्य आत्मा जानो॥ ६७॥

सखे मनः किं बहुजल्पितेन
सखे मनः सर्वमिदं वितर्क्यम्।
यत्सारभूतं कथितं मया ते
त्वमेव तत्त्वं गगनोपमोऽसि॥ ६८॥

हे मित्र मन! अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन है? तुम्हें इस सब पर मनन करना चाहिये। जो सारभूत है, उसे मैंने तुमको बता दिया कि तुम वास्तवमें परमतत्त्व हो और आकाशतुल्य व्यापक हो॥ ६८॥

येन केनापि भावेन यत्र कुत्र मृता अपि।
योगिनस्तत्र लीयन्ते घटाकाशमिवाम्बरे॥ ६९॥

योगिजन जिस किसी भी भावसे तथा जहाँ कहीं भी मृत्युको प्राप्त होनेपर उसी परब्रह्ममें [वैसे ही] विलीन हो जाते हैं, जैसे [घटके टूट जानेपर] घटाकाश महाकाशमें विलीन हो जाता है॥ ६९॥

तीर्थे चान्त्यजगेहे वा नष्टस्मृतिरपि त्यजन्।
समकाले तनुं मुक्तः कैवल्यव्यापको भवेत्॥ ७०॥

तीर्थमें अथवा चाण्डालके घरमें अचेतावस्थामें भी देहका त्याग करता हुआ योगी तत्क्षण मुक्त होकर व्यापक ब्रह्मस्वरूप हो जाता है॥ ७०॥

धर्मार्थकाममोक्षांश्च द्विपदादिचराचरम्।
मन्यन्ते योगिनः सर्वं मरीचिजलसन्निभम्॥ ७१॥

योगिजन धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षको तथा द्विपद आदि जंगम प्राणियों और [वृक्ष, पर्वत] आदि स्थावर पदार्थोंको मृगतृष्णाके जलके समान [मिथ्या] मानते हैं॥ ७१॥

अतीतानागतं कर्म वर्तमानं तथैव च।
न करोमि न भुञ्जामि इति मे निश्चला मतिः॥ ७२॥

मैं भूत, भविष्य तथा वर्तमान कालके कर्मोंको न तो करता हूँ और न इनके फलका भोग ही करता हूँ—इस प्रकारकी मेरी दृढ़ बुद्धि है॥ ७२॥

शून्यागारे समरसपूत-
स्तिष्ठन्नेकः सुखमवधूतः।
चरति हि नग्नस्त्यक्त्वा गर्वं
विन्दति केवलमात्मनि सर्वम्॥ ७३॥

समतारूपी रसके द्वारा पवित्र हुआ अवधूत एकान्त स्थानमें सुखपूर्वक अकेला रहता है। अभिमानका त्याग करके वह अनावृत विचरण करता है और केवल अपनेमें ही सबका अनुभव करता है॥ ७३॥

त्रितयतुरीयं नहि नहि यत्र
विन्दति केवलमात्मनि तत्र।
धर्माधर्मौ नहि नहि यत्र
बद्धो मुक्तः कथमिह तत्र॥ ७४॥

जिस जीवन्मुक्तताकी दशामें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ये अवस्थाएँ नहीं रह जाती हैं, उस दशामें वह केवल अपने आत्मामें ब्रह्मानन्दको प्राप्त होता है। जिस अवस्थामें धर्म-अधर्मका भाव नहीं रहता, उस अवस्थामें बद्ध और मुक्तका भाव कैसे रह सकता है?॥ ७४॥

विन्दति विन्दति नहि नहि मन्त्रं
छन्दो लक्षणं नहि नहि तन्त्रम्।
समरसमग्नो भावितपूतः
प्रलपितमेतत्परमवधूतः ॥ ७५ ॥

आत्मरसमें मग्न तथा ध्यानके द्वारा पवित्र हुआ जीवन्मुक्त अवधूत कोई मन्त्र नहीं प्राप्त करता है और न तो किसी छन्दरूपी तन्त्रको ही प्राप्त करता है। उस (परब्रह्मको प्राप्त हुए) अवधूतने ही इस (गीता)-का कथन किया है॥ ७५॥

सर्वशून्यमशून्यं च सत्यासत्यं न विद्यते।
स्वभावभावतः प्रोक्तं शास्त्रसंवित्तिपूर्वकम्॥ ७६ ॥

सम्पूर्ण जगत् शून्यरूप है और अशून्यरूप भी है। (परब्रह्ममें) न तो सत्य विद्यमान है और न असत्य। अवधूतने अपने अनुभवसे तथा शास्त्रज्ञानके अनुसार इसका वर्णन किया है॥ ७६॥

॥ इति श्रीदत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीतायामात्मसंवित्त्युपदेशो नाम प्रथमोऽध्यायः॥ १ ॥

दूसरा अध्याय

गुणोंकी ग्राहकता, ब्रह्मका स्वरूप, ब्रह्मानुभूति-वर्णन, परमज्ञानप्रदाता गुरुकी प्रशंसा तथा आत्मतत्त्वकी विलक्षणता

अवधूत उवाच

बालस्य वा विषयभोगरतस्य वापि
मूर्खस्य सेवकजनस्य गृहस्थितस्य।
एतद् गुरोः किमपि नैव न चिन्तनीयं
रत्नं कथं त्यजति कोऽप्यशुचौ प्रविष्टम्॥ १ ॥

अवधूत श्रीदत्तात्रेयजी बोले—बालक, विषय-भोगमें लीन, मूर्ख, सेवकजन अथवा गृहस्थ—इस प्रकारके गुरुओंसे कुछ भी लाभ

नहीं होता है, ऐसा नहीं सोचना चाहिये; [उनके भी अन्दर निहित गुणोंका ग्रहण अवश्य कर लेना चाहिये।] अपवित्र स्थानमें भी पड़े हुए रत्नको कोई भी मनुष्य कैसे त्याग सकता है?॥ १॥

नैवात्र काव्यगुण एव तु चिन्तनीयो
ग्राह्यः परं गुणवता खलु सार एव।
सिन्दूरचित्ररहिता भुवि रूपशून्या
पारं न किं नयति नौरिह गन्तुकामान्॥ २॥

किसी भी गुरुमें काव्यगुण (वाक्पटुता) पर विचार नहीं करना चाहिये; गुणवान्‌से केवल सारवस्तुको ग्रहण कर लेना चाहिये। क्या पृथ्वीलोकमें सिन्दूरके चित्रोंसे रहित और सौन्दर्यसे शून्य नौका पार जानेकी इच्छावाले लोगोंको पार नहीं करती है?॥ २॥

प्रयत्नेन विना येन निश्चलेन चलाचलम्।
ग्रस्तं स्वभावतः शान्तं चैतन्यं गगनोपमम्॥ ३॥

बिना प्रयत्न के ही जिस ब्रह्मके द्वारा चल-अचलरूप सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, वह स्वभावसे ही शान्त, चैतन्य तथा आकाशतुल्य व्यापक है॥ ३॥

अयत्नाच्चालयेद्यस्तु एकमेव चराचरम्।
सर्वगं तत्कथं भिन्नमद्वैतं वर्तते मम॥ ४॥

जो व्यापक चेतन बिना प्रयासके अकेला ही चराचर जगत्‌को संचालित करता है, वह अद्वैत ब्रह्म मुझसे भिन्न कैसे हो सकता है?॥ ४॥

अहमेव परं यस्मात्सारासारतरं शिवम्।
गमागमविनिर्मुक्तं निर्विकल्पं निराकुलम्॥ ५॥

चूँकि मैं ही परमतत्त्व हूँ, अतः सार तथा असारसे भी परे, कल्याणस्वरूप, जन्म-मरणसे मुक्त, विकल्परहित तथा शान्त हूँ॥ ५॥

सर्वावयवनिर्मुक्तं तदहं त्रिदशार्चितम्।
सम्पूर्णत्वान्न गृह्णामि विभागं त्रिदशादिकम्॥ ६॥

वह [सच्चिदानन्दस्वरूप] मैं सभी अवयवोंसे रहित हूँ तथा

देवताओंके द्वारा पूजित हूँ। सम्यक् रूपसे पूर्ण होनेके कारण मैं देवता आदिके विभागको ग्रहण नहीं करता हूँ (अर्थात् अपनेसे भिन्न नहीं समझता)॥ ६॥

प्रमादेन न सन्देहः किं करिष्यामि वृत्तिमान्।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते बुद्बुदाश्च यथा जले॥ ७॥

क्या मैं प्रमादवश अन्तःकरणकी वृत्तियोंवाला बनता हूँ (नहीं)। निःसन्देह वृत्तियाँ तो (मुझमें वैसे ही) स्वतः उत्पन्न होती हैं और पुनः विलीन हो जाती हैं; जैसे बुलबुले जलमें (सहज) उत्पन्न होते हैं और उसीमें विलीन हो जाते हैं॥ ७॥

महदादीनि भूतानि समाप्यैवं सदैव हि।
मृदुद्रव्येषु तीक्ष्णेषु गुडेषु कटुकेषु च॥ ८॥
कटुत्वं चैव शैत्यत्वं मृदुत्वं च यथा जले।
प्रकृतिः पुरुषस्तद्वदभिन्नं प्रतिभाति मे॥ ९॥

जिस प्रकार मृदु द्रव्योंमें मृदुता, तीक्ष्ण द्रव्योंमें तीक्ष्णता, गुड़ आदि मधुर द्रव्योंमें मधुरता तथा कटु द्रव्योंमें कटुत्व और जलमें शीतलता तथा मृदुत्व अपने-अपने पदार्थोंमें अभेद रूपसे विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार महत्-अहंकार आदि तत्त्वोंसे लेकर स्थूल महाभूतपर्यन्त सबका अपने कारणोंमें लय करके जो सम्पूर्ण तत्त्वोंकी कारणभूत प्रकृति है, वह भी पुरुषमें विलीन हो जाती है; अतः प्रकृति तथा पुरुष मुझे भेदरहित प्रतीत होते हैं॥ ८-९॥

सर्वाख्यारहितं यद्वत्सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं परम्।
मनोबुद्धीन्द्रियातीतमकलङ्कं जगत्पतिम्॥ १०॥
ईदृशं सहजं यत्र अहं तत्र कथं भवेत्।
त्वमेव हि कथं तत्र कथं तत्र चराचरम्॥ ११॥

वह चैतन्य ब्रह्म सम्पूर्ण संज्ञाओंसे रहित है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म,

अतिश्रेष्ठ, मन-बुद्धि तथा इन्द्रियोंसे अतीत, निष्कलंक तथा जगन्नियन्ता है। जिसका इस प्रकारका स्वाभाविक स्वरूप है, उसमें 'मैं' और 'तुम' का भेद कैसे सम्भव है और फिर उसमें चराचर जगत् भी कैसे सम्भव है?॥ १०-११॥

गगनोपमं तु यत्प्रोक्तं तदेव गगनोपमम्।
चैतन्यं दोषहीनं च सर्वज्ञं पूर्णमेव च॥ १२॥

जिसे गगनकी उपमावाला कहा गया है, वास्तवमें वही गगनके तुल्य (विराट्) है; वह चैतन्य दोषरहित, सर्वज्ञ तथा पूर्ण है॥ १२॥

पृथिव्यां चरितं नैव मारुतेन च वाहितम्।
वारिणा पिहितं नैव तेजोमध्ये व्यवस्थितम्॥ १३॥

वह चेतन ब्रह्म पृथ्वीपर नहीं चलता, वायु उसे ले नहीं जा सकता, जल उसे ढक नहीं सकता और अग्नि उसे जला नहीं सकता॥ १३॥

आकाशं तेन संव्याप्तं न तद्व्याप्तं च केनचित्।
स बाह्याभ्यन्तरं तिष्ठत्यवच्छिन्नं निरन्तरम्॥ १४॥

उस चेतन ब्रह्मके द्वारा आकाश पूर्ण रूपसे व्याप्त है; वह किसीके भी द्वारा व्याप्त नहीं है। वह बाहर-भीतर सर्वत्र विराजमान है, व्यवधानसे रहित है तथा असीम है॥ १४॥

सूक्ष्मत्वात्तददृश्यत्वान्निर्गुणत्वाच्च योगिभिः।
आलम्बनादि यत्प्रोक्तं क्रमादालम्बनं भवेत्॥ १५॥
सतताभ्यासयुक्तस्तु निरालम्बो यदा भवेत्।
तल्लयाल्लीयते चान्तर्गुणदोषविवर्जितः॥ १६॥

योगियोंके द्वारा जिस चेतन ब्रह्मका आश्रयण करना बताया गया है, उस ब्रह्मके सूक्ष्म, अदृश्य तथा निर्गुण होनेके कारण उसका आश्रयण क्रमशः होना चाहिये। जब साधक निरन्तर अभ्यासरत रहते हुए निरालम्ब हो जाता है और अन्तःकरणके गुण-दोषोंसे रहित हो जाता

है, तब उसके चित्तका लय हो जानेसे वह भी ब्रह्ममें लीन हो जाता है॥ १५-१६॥

विषविश्वस्य रौद्रस्य मोहमूर्च्छाप्रदस्य च।
एकमेव विनाशाय ह्यमोघं सहजामृतम्॥ १७॥

भयानक तथा अज्ञान एवं भ्रम प्रदान करनेवाले विषरूपी सांसारिक विषयोंके विनाशके लिये यह (ज्ञान) अमोघ तथा सहज अमृतरूप है॥ १७॥

भावगम्यं निराकारं साकारं दृष्टिगोचरम्।
भावाभावविनिर्मुक्तमन्तरालं तदुच्यते॥ १८॥

निराकारको भावगम्य, साकारको दृष्टिका विषय और जो भाव-अभावसे रहित है, उसे अन्तराल कहा जाता है॥ १८॥

बाह्यभावं भवेद्विश्वमन्तः प्रकृतिरुच्यते।
अन्तरादन्तरं ज्ञेयं नारिकेलफलाम्बुवत्॥ १९॥

बाह्य [दृश्यमान स्थूल] पदार्थोंको विश्व कहा जाता है और भीतर विद्यमान तत्त्वको प्रकृति कहा जाता है। नारिकेल फलके भीतर स्थित जलकी भाँति उस सूक्ष्म प्रकृतिके भीतर विद्यमान अतिसूक्ष्म वह ब्रह्म ही जाननेयोग्य है॥ १९॥

भ्रान्तिज्ञानं स्थितं बाह्ये सम्यग्ज्ञानं च मध्यगम्।
मध्यान्मध्यतरं ज्ञेयं नारिकेलफलाम्बुवत्॥ २०॥

बाह्य जगत्-प्रपंचमें स्थित ज्ञान भ्रान्ति ज्ञान है और भीतर स्थित ज्ञान यथार्थ ज्ञान है। नारिकेलके फलके भीतर स्थित जलकी भाँति मध्यसे भी मध्यतर (अतिसूक्ष्म) ब्रह्म ही [वस्तुतः] जाननेयोग्य है॥ २०॥

पौर्णमास्यां यथा चन्द्र एक एवातिनिर्मलः।
तेन तत्सदृशं पश्येद् द्विधा दृष्टिविपर्ययः॥ २१॥

अनेनैव प्रकारेण बुद्धिभेदो न सर्वगः।
दाता च धीरतामेति गीयते नामकोटिभिः॥ २२॥

जैसे पूर्णिमाका अति निर्मल एक ही चन्द्रमा दिखायी देता है, उसी प्रकार आत्मा भी अति निर्मल तथा एक ही है; अतः आत्माको उसी चन्द्रमाके समान एकरूप देखना चाहिये। दो चन्द्रमाका दिखायी देना जैसे नेत्रदोष है, वैसे ही द्वैतभाव रखना भ्रमज्ञान है। इस पूर्वोक्त प्रकारसे ही सर्वगत चेतनके प्रति किसी भी तरह भेदकी कल्पना नहीं हो सकती है। इस ज्ञानके प्रदाता धैर्यवान् गुरुकी करोड़ों नामोंसे प्रशंसा की जाती है॥ २१-२२॥

गुरुप्रज्ञाप्रसादेन मूर्खो वा यदि पण्डितः।
यस्तु सम्बुध्यते तत्त्वं विरक्तो भवसागरात्॥ २३॥
रागद्वेषविनिर्मुक्तः सर्वभूतहिते रतः।
दृढबोधश्च धीरश्च स गच्छेत्परमं पदम्॥ २४॥

मूर्ख अथवा विद्वान्—जो कोई भी यदि गुरुकी प्रज्ञाकी कृपासे परमतत्त्वका बोध प्राप्त कर लेता है तो वह राग-द्वेषसे रहित, सभी प्राणियोंके कल्याणमें रत रहनेवाला, स्थिर ज्ञानवाला और भवसागरसे विरक्त हो जाता है तथा प्रशान्त होकर परम पदको प्राप्त करता है॥ २३-२४॥

घटे भिन्ने घटाकाश आकाशे लीयते यथा।
देहाभावे तथा योगी स्वरूपे परमात्मनि॥ २५॥

जैसे घटका नाश होनेपर घटाकाश (घटके भीतरका आकाश) महाकाशमें विलीन हो जाता है, उसी प्रकार देहका नाश हो जानेपर (जीवन्मुक्त) योगी परमात्माके स्वरूपमें विलीन हो जाता है॥ २५॥

उक्तेयं कर्मयुक्तानां मतिर्यान्तेऽपि सा गतिः।
न चोक्ता योगयुक्तानां मतिर्यान्तेऽपि सा गतिः॥ २६॥

या गतिः कर्मयुक्तानां सा च वागिन्द्रियाद्वदेत्।
योगिनां या गतिः क्वापि ह्यकथ्या भवतार्जिता॥ २७॥

कर्मयुक्त मनुष्योंकी जैसी बुद्धि मरण-कालके समय होती है, उनकी वैसी ही गति कही गयी है; किंतु योगियोंकी जैसी मति अन्तकालमें होती है, उनकी वैसी गति नहीं कही गयी है (क्योंकि) कर्मयुक्त मनुष्योंकी जो गति शास्त्रोंमें उल्लिखित है, उसका कथन तो वाणीसे किया जा सकता है, किंतु योगियोंकी जो स्थिति तुमने प्राप्त कर ली है, वह वाणीसे नहीं कही जा सकती॥ २६-२७॥

एवं ज्ञात्वा त्वमुं मार्गं योगिनां नैव कल्पितम्।
विकल्पवर्जनं तेषां स्वयं सिद्धिः प्रवर्तते॥ २८॥

इस प्रकार उन योगियोंके विकल्परहित इस मार्गको जानकर (साधककी) स्वतः सिद्धि हो जाती है; यह मार्ग [कर्मियोंके मार्गकी भाँति] विकल्पयुक्त नहीं है॥ २८॥

तीर्थे वान्त्यजगेहे वा यत्र कुत्र मृतोऽपि वा।
न योगी पश्यते गर्भं परे ब्रह्मणि लीयते॥ २९॥

तीर्थमें अथवा चाण्डालके घरमें अथवा जहाँ-कहीं भी मरनेपर [जीवन्मुक्त] योगी पुनः गर्भमें नहीं जाता है; वह परब्रह्ममें लीन हो जाता है॥ २९॥

सहजमजमचिन्त्यं यस्तु पश्येत् स्वरूपं
घटति यदि यथेष्टं लिप्यते नैव दोषैः।
सकृदपि तदभावात्कर्म किञ्चिन्न कुर्यात्
तदपि न च विबद्धः संयमी वा तपस्वी॥ ३०॥

जो साधक आत्माके स्वाभाविक, अनादि तथा अचिन्त्य स्वरूपको एक बार भी देख लेता है, तब यदि वह यथेष्ट कर्म करता है तो भी दोषोंसे लिप्त नहीं होता। संयमी या तपस्वी होकर यदि वह कुछ

भी कर्म नहीं करता तो भी दोषोंका अभाव हो जानेसे वह किसीसे भी बद्ध नहीं होता॥ ३०॥

निरामयं निष्प्रतिमं निराकृतिं
निराश्रयं निर्वपुषं निराशिषम्।
निर्द्वन्द्वनिर्मोहमलुप्तशक्तिकं
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥ ३१॥

जीवन्मुक्त योगी विकाररहित, अप्रतिम, निराकार, निरालम्ब देहरहित, इच्छारहित, द्वन्द्वरहित, मोहरहित तथा सर्वशक्तिमान् उस परमेश्वर शाश्वत आत्माको प्राप्त होता है॥ ३१॥

वेदो न दीक्षा न च मुण्डनक्रिया
गुरुर्न शिष्यो न च यन्त्रसम्पदः।
मुद्रादिकं चापि न यत्र भासते
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥ ३२॥

जहाँ वेद, मन्त्र-दीक्षा, मुण्डन-क्रिया, गुरु-शिष्य-व्यवहार, यन्त्र आदि सम्पदाएँ और मुद्रा आदिका भी आभास नहीं रह जाता, उस परमेश्वर शाश्वत आत्माको साधक प्राप्त होता है॥ ३२॥

न शाम्भवं शाक्तिकमानवं न वा
पिण्डं च रूपं च पदादिकं न वा।
आरम्भनिष्पत्तिघटादिकं च नो
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥ ३३॥

जो न शम्भुसे, न शक्तिसे और न मनुसे उत्पन्न हुआ है; जो न पिण्ड है, न रूपयुक्त है और न पैर आदि इन्द्रियोंसे युक्त है और जो आरम्भ तथा निष्पत्तिसे युक्त घट आदि पदार्थ भी नहीं है, उस परमेश्वर शाश्वत आत्माको साधक प्राप्त होता है॥ ३३॥

यस्य स्वरूपात्सचराचरं जग-
दुत्पद्यते तिष्ठति लीयतेऽपि वा।
पयोविकारादिव फेनबुद्बुदा-
स्तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥ ३४॥

जिसके स्वरूपसे चराचर सम्पूर्ण जगत् जलके विकारसे फेन तथा बुद्बुदोंकी भाँति उत्पन्न होता है, उसीमें स्थिर रहता है और अन्तमें उसीमें विलीन हो जाता है; उस परमेश्वर शाश्वत आत्माको साधक प्राप्त होता है॥ ३४॥

नासानिरोधो न च दृष्टिरासनं
बोधोऽप्यबोधोऽपि न यत्र भासते।
नाडीप्रचारोऽपि न यत्र किञ्चित्
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥ ३५॥

जिसमें प्राणायाम, दृष्टिसंयम, आसन, ज्ञान अथवा अज्ञान कुछ भी नहीं भासता और जिसमें नाड़ियोंकी गतिविधि भी नहीं है, उस परमेश्वर शाश्वत आत्माको साधक प्राप्त होता है॥ ३५॥

नानात्वमेकत्वमुभत्वमन्यता
अणुत्वदीर्घत्वमहत्त्वशून्यता ।
मानत्वमेयत्वसमत्ववर्जितं
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥ ३६॥

जिसमें अनेकत्व, एकत्व, उभयत्व, अन्यताभाव, अणुत्व, दीर्घत्व, महत्त्व और शून्यता—ये सब नहीं है; जो मान, मेय और समत्वसे रहित है, उस परमेश्वर शाश्वत आत्माको साधक प्राप्त होता है॥ ३६॥

सुसंयमी वा यदि वा न संयमी
सुसंग्रही वा यदि वा न संग्रही।

निष्कर्मको वा यदि वा सकर्मक-
स्तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥ ३७॥

ज्ञानी साधक सम्यक् संयम करनेवाला हो अथवा संयम करनेवाला न हो; संग्रह करनेवाला हो अथवा संग्रह करनेवाला न हो; कर्मरहित हो या कर्मयुक्त हो—वह उस परमेश्वर शाश्वत आत्माको प्राप्त होता है॥ ३७॥

मनो न बुद्धिर्न शरीरमिन्द्रियं
तन्मात्रभूतानि न भूतपञ्चकम्।
अहङ्कृतिश्चापि वियत्स्वरूपकं
तमीशमात्मानमुपैति शाश्वतम्॥ ३८॥

जो मन नहीं है, बुद्धि नहीं है, शरीर नहीं है, इन्द्रियाँ नहीं है, तन्मात्राएँ नहीं है, पाँच महाभूत (पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आकाश) नहीं है तथा अहंकार भी नहीं है; और जो आकाशके स्वरूपवाला है, उस परमेश्वर शाश्वत आत्माको साधक प्राप्त होता है॥ ३८॥

विधौ निरोधे परमात्मतां गते
न योगिनश्चेतसि भेदवर्जिते।
शौचं न वाशौचमलिङ्गभावना
सर्वं विधेयं यदि वा निषिध्यते॥ ३९॥

योगीके परमात्मभावको प्राप्त तथा भेदरहित चित्तमें विधि तथा निषेधका विचार नहीं रहता है, उनके लिये पवित्रता तथा अपवित्रताका भी भाव नहीं रहता, उनमें विशिष्ट पहचान बनानेकी भावना नहीं रहती। उनके लिये सब कुछ विधेय अथवा निषिद्ध हो जाता है॥ ३९॥

मनो वचो यत्र न शक्तमीरितुं
नूनं कथं तत्र गुरूपदेशता।

इमां कथामुक्तवतो गुरोस्त-
द्युक्तस्य तत्त्वं हि समं प्रकाशते॥ ४०॥

मन और वाणी भी जिस चेतन आत्माका वर्णन करनेमें समर्थ नहीं हैं, वहाँ [शिष्यके लिये] गुरुकी उपदेशता कैसे गम्य हो सकती है! चेतन आत्माका वर्णन करनेवाले और उस आत्मामें जुड़े हुए गुरुको निश्चय ही वह आत्मतत्त्व समरूपसे प्रकाशमान रहता है॥ ४०॥

॥ इति श्रीदत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीतायामात्मसंवित्त्युपदेशो नाम द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

तीसरा अध्याय

आत्मतत्त्वके ज्ञानरूपी अमृतत्व, समरसत्व एवं आकाश-सदृश व्यापकत्वका विवेचन, आत्मबोध तथा त्यागाभिमानके भी त्यागकी प्रेरणा

अवधूत उवाच

गुणविगुणविभागो वर्तते नैव किञ्चि-
द्रतिविरतिविहीनं निर्मलं निष्प्रपञ्चम्।
गुणविगुणविहीनं व्यापकं विश्वरूपं
कथमहमिह वन्दे व्योमरूपं शिवं वै॥ १॥

अवधूत श्रीदत्तात्रेयजी बोले—जिस चेतन आत्मामें सगुण तथा निर्गुणका कुछ भी भेद नहीं है, जो आसक्ति तथा विरक्तिसे विहीन है, निर्मल है, प्रपंचरहित है, गुण तथा विगुणसे रहित है, व्यापक है, विश्वरूप है, आकाशतुल्य व्यापक है और कल्याणस्वरूप है—उस [भेदरहित परमात्मा]-की वन्दना मैं कैसे करूँ?॥ १॥

श्वेतादिवर्णरहितो नियतं शिवश्च
कार्यं हि कारणमिदं हि परं शिवश्च।

एवं विकल्परहितोऽहमलं शिवश्च
स्वात्मानमात्मनि सुमित्र कथं नमामि॥ २॥

हे सुमित्र! मैं श्वेत आदि वर्णोंसे रहित तथा सर्वदा कल्याणस्वरूप हूँ। 'मैं कार्य हूँ' अथवा कारण हूँ, यह श्रेष्ठ है अथवा कल्याणस्वरूप है। इस प्रकारके विकल्पसे रहित हूँ और मैं पूर्ण परमात्मस्वरूप हूँ; तब मैं अपने आत्माको अपने आत्मामें किस प्रकार नमस्कार करूँ?॥ २॥

निर्मूलमूलरहितो हि सदोदितोऽहं
निर्धूमधूमरहितो हि सदोदितोऽहम्।
निर्दीपदीपरहितो हि सदोदितोऽहं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३॥

मैं अजन्मा और कारणरहित होता हुआ सदा विद्यमान हूँ। निर्धूम और मलरहित मैं बिना दीपकके स्वप्रकाशित होकर सदा विद्यमान हूँ। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ३॥

निष्कामकाममिह नाम कथं वदामि
निःसङ्गसङ्गमिह नाम कथं वदामि।
निःसारसाररहितं च कथं वदामि
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ४॥

निष्काम होकर मैं स्वयंको सकाम कैसे कहूँ, निःसंग होकर संगवाला कैसे कहूँ और निःसार (निर्गुण) होकर सारवान् कैसे कहूँ? मैं तो ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ४॥

अद्वैतरूपमखिलं हि कथं वदामि
द्वैतस्वरूपमखिलं हि कथं वदामि।
नित्यं त्वनित्यमखिलं हि कथं वदामि
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोहऽम्॥ ५॥

मैं सम्पूर्ण प्रपंचको अद्वैतरूप कैसे कहूँ और सम्पूर्ण प्रपंचको द्वैतरूप

भी कैसे कहूँ? इसी प्रकार इसे नित्य अथवा अनित्य भी कैसे कहूँ? मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ तथा आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ५॥

स्थूलं हि नो नहि कृशं न गतागतं हि
आद्यन्तमध्यरहितं न परापरं हि।
सत्यं वदामि खलु वै परमार्थतत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ६॥

आत्मा न स्थूल है, न सूक्ष्म है और न तो गमनागमनवाला ही है; यह आदि, अन्त और मध्यसे रहित है; यह पर अथवा अपर भी नहीं है। मैं सत्य कहता हूँ कि मैं परमार्थ तत्त्व-स्वरूप हूँ। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ६॥

संविद्धि सर्वकरणानि नभोनिभानि
संविद्धि सर्वविषयांश्च नभोनिभांश्च।
संविद्धि चैकममलं न हि बन्धमुक्तं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ७॥

तुम समस्त इन्द्रियोंको आकाशतुल्य शून्य जानो तथा सभी विषयोंको आकाशतुल्य शून्य जानो। आत्माको विशुद्ध जानो; यह बन्धन तथा मुक्तिसे युक्त नहीं है। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ७॥

दुर्बोधबोधगहनो न भवामि तात
दुर्लक्ष्यलक्ष्यगहनो न भवामि तात।
आसन्नरूपगहनो न भवामि तात
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ८॥

हे तात! मैं दुर्बोध हूँ, किंतु अति कठिनतासे जाना जानेवाला भी नहीं हूँ, मैं दुर्लक्ष्य हूँ, किंतु कठिनाईसे दिखायी देनेवाला भी नहीं हूँ, मैं अति समीप हूँ और अपनेको छिपाता नहीं हूँ। मैं तो ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ तथा आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ८॥

निष्कर्मकर्मदहनो ज्वलनो भवामि
निर्दुःखदुःखदहनो ज्वलनो भवामि।
निर्देहदेहदहनो ज्वलनो भवामि
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ९॥

मैं कर्मरहित हूँ और कर्मोंको जलानेहेतु अग्निरूप हूँ; मैं दुःखरहित हूँ और दुःखोंको जलानेके लिये अग्निरूप हूँ; मैं देहरहित हूँ और देहाभिमानको जलानेके लिये अग्निरूप हूँ। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ९॥

निष्पापपापदहनो हि हुताशनोऽहं
निर्धर्मधर्मदहनो हि हुताशनोऽहम्।
निर्बन्धबन्धदहनो हि हुताशनोऽहं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ १०॥

मैं पापसे रहित हूँ, फिर भी पापको दग्ध करनेके लिये अग्निरूप हूँ, मैं धर्मरहित हूँ फिर भी धर्मका दाह करनेहेतु अग्निरूप हूँ और मैं बन्धनरहित हूँ फिर भी बन्धनको जलानेके लिये अग्निरूप हूँ। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ १०॥

निर्भावभावरहितो न भवामि वत्स
निर्योगयोगरहितो न भवामि वत्स।
निश्चित्तचित्तरहितो न भवामि वत्स
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ११॥

हे वत्स! मैं भावरहित होकर भी भावरहित नहीं हूँ, मैं योगरहित होकर भी योगरहित नहीं हूँ और चित्तसे रहित होकर भी चित्तरहित नहीं हूँ। (अर्थात मैं इनसे युक्त भी और इनसे रहित भी हूँ)। हे वत्स! मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ११॥

निर्मोहमोहपदवीति न मे विकल्पो
निःशोकशोकपदवीति न मे विकल्पः।
निर्लोभलोभपदवीति न मे विकल्पो
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ १२॥

मोहशून्य अथवा मोहयुक्त—इस प्रकारका विकल्प मुझमें नहीं है, शोकरहित अथवा शोकयुक्त—इस प्रकारका भी विकल्प मुझमें नहीं है और लोभरहित अथवा लोभयुक्त—इस प्रकारका भी विकल्प मुझमें नहीं है। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ १२॥

संसारसन्ततिलता न च मे कदाचित्
सन्तोषसन्ततिसुखं न च मे कदाचित्।
अज्ञानबन्धनमिदं न च मे कदाचित्
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ १३॥

संसाररूपी प्रवाहकी निरन्तरता मुझमें कभी नहीं है, सन्तोषरूपी प्रवाहका सुख भी मुझमें कभी नहीं है और यह अज्ञानबन्धन मुझमें किंचित् भी नहीं है। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ १३॥

संसारसन्ततिरजो न च मे विकारः
सन्तापसन्ततितमो न च मे विकारः।
सत्त्वं स्वधर्मजनकं न च मे विकारो
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ १४॥

संसाररूपी प्रवाहका रजोगुण मुझे विकृत नहीं करता, संसार-परम्पराका तम (अज्ञान) भी मुझे विकृत नहीं करता और अपने धर्मका जनक सत्त्वगुण भी मुझे प्रभावित नहीं करता। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ १४॥

सन्तापदुःखजनको न विधिः कदाचित्
सन्तापयोगजनितं न मनः कदाचित्।
यस्मादहङ्कृतिरियं न च मे कदाचि-
ज्ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ १५॥

सन्ताप तथा दुःखको उत्पन्न करनेवाली जो विधि है, वह मेरे लिये कभी नहीं है, सन्तापके सम्बन्धसे उत्पन्न जो संकल्परूप मन है, वह भी मेरा कभी नहीं है और जो यह अहंकार है, वह भी मुझमें कभी नहीं है। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ १५॥

निष्कम्पकम्पनिधनं न विकल्पकल्पं
स्वप्नप्रबोधनिधनं न हिताहितं हि।
निःसारसारनिधनं न चराचरं हि
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ १६॥

मैं कम्परहित और कम्पयुक्त दोनोंका नाशरूप नहीं हूँ, मैं विकल्प तथा कल्परूप भी नहीं हूँ, मैं स्वप्न और जाग्रत्का नाशरूप भी नहीं हूँ, मैं हित तथा अहितरूप भी नहीं हूँ, मैं निःसार तथा सारका नाशरूप नहीं हूँ और मैं चर और अचररूप भी नहीं हूँ। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ १६॥

नो वेद्यवेदकमिदं न च हेतुतर्क्यं
वाचामगोचरमिदं न मनो न बुद्धिः।
एवं कथं हि भवतः कथयामि तत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ १७॥

यह आत्मस्वरूप चेतन ब्रह्म न ज्ञानका विषय है और न जाननेवाला ही है, यह वाणीसे अगम्य है, इसे न मन जान सकता है और न बुद्धि ही जान सकती है; इस प्रकारके आत्मतत्त्वका वर्णन मैं

आपके समक्ष कैसे करूँ? मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ १७॥

निर्भिन्नभिन्नरहितं परमार्थतत्त्व-
मन्तर्बहिर्न हि कथं परमार्थतत्त्वम्।
प्राक्सम्भवं न च रतं नहि वस्तु किञ्चि-
ज्ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ १८॥

यह परमतत्त्व भेदाभेदसे रहित और भीतर तथा बाहरके व्यवहारसे शून्य है, पूर्वमें यह कभी भी उत्पन्न नहीं हुआ, यह किसी भी पदार्थसे लिप्त नहीं है और यह कोई वस्तु भी नहीं है। [आत्मस्वरूप] मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ १८॥

रागादिदोषरहितं त्वहमेव तत्त्वं
दैवादिदोषरहितं त्वहमेव तत्त्वम्।
संसारशोकरहितं त्वहमेव तत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ १९॥

मैं राग आदि दोषोंसे रहित आत्मतत्त्व हूँ, मैं दैव आदि दोषोंसे रहित आत्मतत्त्व हूँ और मैं सांसारिक दु:खसे रहित आत्मतत्त्व हूँ। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ १९॥

स्थानत्रयं यदि च नेति कथं तुरीयं
कालत्रयं यदि च नेति कथं दिशश्च।
शान्तं पदं हि परमं परमार्थतत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ २०॥

चेतन ब्रह्ममें यदि तीन अवस्थाएँ (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) नहीं हैं तो चौथी तुरीयावस्था कैसे हो सकती है? यदि उसमें तीनों काल नहीं है तो दिशाएँ कैसे हो सकती हैं? वह ब्रह्म शान्तपद, अतिश्रेष्ठ

तथा परमार्थतत्त्वस्वरूप है। [आत्मस्वरूप] मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ तथा आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ २०॥

दीर्घो लघुः पुनरितीह न मे विभागो
विस्तारसङ्कटमितीह न मे विभागः।
कोणं हि वर्तुलमितीह न मे विभागो
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ २१॥

यह दीर्घ है और यह लघु है—इस प्रकारका भेद इसी लोकमें है, मुझमें नहीं है, विस्तार और संकोच—ऐसा विभाग भी इस लोकमें है, मुझमें नहीं है और कोण तथा गोलाकार—ऐसा विभाग भी इसी संसारमें है, मुझमें नहीं है; मैं तो ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ २१॥

मातापितादि तनयादि न मे कदाचि-
ज्जातं मृतं न च मनो न च मे कदाचित्।
निर्व्याकुलं स्थिरमिदं परमार्थतत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ २२॥

मेरे माता, पिता, पुत्र आदि न तो कभी उत्पन्न हुए और न मृत्युको ही प्राप्त हुए, मेरा मन कभी व्याकुलतासे रहित तथा स्थिर भी नहीं है। [एकमात्र] यह आत्मा ही परमार्थतत्त्वस्वरूप है; मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ तथा आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ २२॥

शुद्धं विशुद्धमविचारमनन्तरूपं
निर्लेपलेपमविचारमनन्तरूपम् ।
निष्खण्डखण्डमविचारमनन्तरूपं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ २३॥

यह चेतन आत्मा शुद्ध है, अति शुद्ध है, विचाररहित और अनन्तरूप है। यह निर्लेप होकर भी सम्बन्धयुक्त है, विचारसे परे

और अनन्तरूप है। यह नाशसे रहित और नाशवान्, अचिन्त्य तथा अनन्तरूप है। [आत्मस्वरूप] मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ तथा आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ २३॥

ब्रह्मादयः सुरगणाः कथमत्र सन्ति
स्वर्गादयो वसतयः कथमत्र सन्ति।
यद्येकरूपममलं परमार्थतत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ २४॥

जब यह आत्मतत्त्व एकरूप, विशुद्ध तथा परमार्थस्वरूप है, तब ब्रह्मा आदि देववृन्द इसमें कैसे हो सकते हैं और स्वर्ग आदि स्थान भी इसमें कैसे हो सकते हैं? मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ २४॥

निर्नेति नेति विमलो हि कथं वदामि
निःशेषशेषविमलो हि कथं वदामि।
निर्लिङ्गलिङ्गविमलो हि कथं वदामि
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ २५॥

यह आत्मतत्त्व नेति और इतिसे परे है, यह सम्पूर्ण और शेषसे भी परे है तथा यह आकार और निराकारसे भी परे है। इसे मैं कैसे अभिव्यक्त करूँ? मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ २५॥

निष्कर्मकर्मपरमं सततं करोमि
निःसङ्गसङ्गरहितं परमं विनोदम्।
निर्देहदेहरहितं सततं विनोदं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ २६॥

आत्मस्वरूप मैं कर्मसे रहित होकर भी सदा महत्कर्म करता रहता हूँ, मैं निःसंग होकर भी परमलीलाका आनन्द लेता हूँ,

देहरहित और निराकार होकर मैं निरन्तर विनोदका रस लेता हूँ। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ २६॥

मायाप्रपञ्चरचना न च मे विकारः
कौटिल्यदम्भरचना न च मे विकारः।
सत्यानृतेति रचना न च मे विकारो
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ २७॥

माया-प्रपंचकी रचना मेरा विकार नहीं है, कुटिलता तथा दम्भकी रचना भी मेरा विकार नहीं है और सत्य तथा मिथ्याकी रचना भी मेरा विकार नहीं है; मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ २७॥

सन्ध्यादिकालरहितं न च मे वियोगो
ह्यन्तःप्रबोधरहितं बधिरो न मूकः।
एवं विकल्परहितं न च भावशुद्धं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ २८॥

मैं सन्ध्या, मध्याह्न आदि कालोंसे रहित हूँ, किसीके साथ मेरा वियोग नहीं है; मैं अन्तःकरणके ज्ञानसे रहित हूँ, किंतु बधिर और मूक नहीं हूँ। इस प्रकार मैं विकल्पोंसे रहित हूँ (इसलिये अन्तःकरणके अभावमें) मुझमें भाव-शुद्धि भी नहीं है। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ तथा आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ २८॥

निर्नाथनाथरहितं हि निराकुलं वै
निश्चित्तचित्तविगतं हि निराकुलं वै।
संविद्धि सर्वविगतं हि निराकुलं वै
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ २९॥

मैं स्वामीसे रहित हूँ और मैं भी किसीका स्वामी नहीं हूँ। मैं

व्याकुलतासे रहित हूँ। मैं चिन्तासे रहित हूँ और चित्तसे भी रहित हूँ। मैं प्रशान्त हूँ, तुम मुझे सर्वसे रहित तथा आकुलतारहित जानो। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ २९॥

कान्तारमन्दिरमिदं हि कथं वदामि
संसिद्धसंशयमिदं हि कथं वदामि।
एवं निरन्तरसमं हि निराकुलं वै
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३०॥

यह जगत् निर्जन वनस्थली है, यह मैं कैसे कहूँ; यह वास्तवमें है या इसमें संशय है—ऐसा भी मैं किस प्रकार कहूँ? इसी प्रकार यह निरन्तर सम है तथा निराकुल है—ऐसा भी मैं किस प्रकार कहूँ? मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ तथा आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ३०॥

निर्जीवजीवरहितं सततं विभाति
निर्बीजबीजरहितं सततं विभाति।
निर्वाणबन्धरहितं सततं विभाति
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३१॥

(मुझे यह संसार) निर्जीव (जड़) और जीव (चेतन) सभीसे सदा रहित ही प्रतीत होता है, निर्बीज और सबीज (पदार्थों)-से सदा रहित प्रतीत होता है और निर्वाण तथा बन्धनसे भी सदा रहित प्रतीत होता है (क्योंकि यह मायामात्र है)। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ तथा आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ३१॥

सम्भूतिवर्जितमिदं सततं विभाति
संसारवर्जितमिदं सततं विभाति।
संहारवर्जितमिदं सततं विभाति
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३२॥

यह परमतत्त्व मुझे निरन्तर उत्पत्तिसे रहित प्रतीत होता है, यह

मुझे निरन्तर नाशसे रहित भी प्रतीत होता है और यह मुझे निरन्तर संसारसे रहित प्रतीत होता है, [ब्रह्मस्वरूप] मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ३२॥

उल्लेखमात्रमपि ते न च नामरूपं
निर्भिन्नभिन्नमपि ते न हि वस्तु किञ्चित्।
निर्लज्जमानस करोषि कथं विषादं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३३॥

किंचिन्मात्र भी तुम्हारा नाम तथा रूप नहीं है, तुम्हारे भेदरहित स्वरूपमें भेद उत्पन्न करनेवाली कोई भी वस्तु नहीं है; तब हे निर्लज्ज मन! तुम क्यों विषाद करते हो, [ब्रह्मस्वरूप] मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ३३॥

किं नाम रोदिषि सखे न जरा न मृत्युः
किं नाम रोदिषि सखे न च जन्मदुःखम्।
किं नाम रोदिषि सखे न च ते विकारो
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३४॥

हे सखे! तुम क्यों रोते हो, तुम्हें न तो जरा और न तो मृत्यु ही व्याप्त कर सकती है। हे सखे! तुम क्यों रोते हो, तुम्हें तो जन्मका दुःख भी नहीं हो सकता है। हे सखे! तुम क्यों रोते हो, तुम्हें कोई विकार नहीं हो सकता। [ब्रह्मस्वरूप] मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ३४॥

किं नाम रोदिषि सखे न च ते स्वरूपं
किं नाम रोदिषि सखे न च ते विरूपम्।
किं नाम रोदिषि सखे न च ते वयांसि
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३५॥

हे सखे! तुम किसलिये रुदन करते हो, (यह शरीर) तुम्हारा

[वास्तविक] स्वरूप नहीं है। हे सखे! तुम किसलिये रुदन करते हो, तुम्हारा रूप नष्ट होनेवाला नहीं है। हे सखे! तुम किसलिये रुदन करते हो, आयु आदि भी तुम्हारे नहीं हैं। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ३५॥

किं नाम रोदिषि सखे न च ते वयांसि
किं नाम रोदिषि सखे न च ते मनांसि।
किं नाम रोदिषि सखे न तवेन्द्रियाणि
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३६॥

हे सखे! तुम किसलिये रुदन करते हो, आयु आदि तुम्हारे नहीं हैं। हे सखे! तुम किसलिये रुदन करते हो, मन आदि भी तुम्हारे नहीं हैं। हे सखे! तुम किसलिये रुदन करते हो, इन्द्रियाँ भी तुम्हारी नहीं हैं। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ३६॥

किं नाम रोदिषि सखे न च तेऽस्ति कामः
किं नाम रोदिषि सखे न च ते प्रलोभः।
किं नाम रोदिषि सखे न च ते विमोहो
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३७॥

हे सखे! तुम किसलिये रुदन करते हो, तुम्हारे अन्तःकरणमें कामना नहीं है। हे सखे! तुम किसलिये रुदन करते हो, तुम्हारे अन्तःकरणमें लोभ नहीं है। हे सखे! तुम किसलिये रुदन करते हो, तुम्हारे अन्तःकरणमें मोह नहीं है। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ तथा आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ३७॥

ऐश्वर्यमिच्छसि कथं न च ते धनानि
ऐश्वर्यमिच्छसि कथं न च ते हि पत्नी।

ऐश्वर्यमिच्छसि कथं न च ते ममेति
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३८॥

[हे तात!] जब धन आदि तुम्हारे नहीं हैं, तब तुम ऐश्वर्यकी इच्छा किसलिये करते हो; जब पत्नी भी वस्तुतः तुम्हारी नहीं है, तब तुम ऐश्वर्यकी इच्छा क्यों करते हो; जब ममत्व ही तुम्हारा नहीं रहा, तब तुम ऐश्वर्यकी इच्छा क्यों करते हो? मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ३८॥

लिङ्गप्रपञ्चजनुषी न च ते न मे च
निर्लज्जमानसमिदं च विभाति भिन्नम्।
निर्भेदभेदरहितं न च ते न मे च
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ३९॥

[नाना प्रकारके पशु, पक्षी, मनुष्य आदि] चिह्नरूप प्रपंचकी उत्पत्ति न तुम्हारे है और न मेरे है; यह सम्पूर्ण रचना निर्लज्ज मनको [भ्रान्तिवश] भिन्न होकर प्रतीत होती है। अभेद और भेदसे रहित होना भी तुम्हारा नहीं है और मेरा भी नहीं है। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ३९॥

नो वाणुमात्रमपि ते हि विरागरूपं
नो वाणुमात्रमपि ते हि सरागरूपम्।
नो वाणुमात्रमपि ते हि सकामरूपं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ४०॥

तुम्हारा स्वरूप अणुमात्र भी रागसे रहित नहीं है और तुम्हारा स्वरूप अणुमात्र भी रागयुक्त नहीं है; उसी प्रकार तुम्हारा स्वरूप अणुमात्र भी कामनायुक्त नहीं है। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ तथा आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ४०॥

ध्याता न ते हि हृदये न च ते समाधि-
र्ध्यानं न ते हि हृदये न बहिः प्रदेशः।
ध्येयं न चेति हृदये न हि वस्तु कालो
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ४१॥

तुम्हारे हृदयमें न कोई ध्यान करनेवाला है, न कोई समाधि है, न कोई ध्यान है और न कोई बाह्य प्रदेश ही है; इसी प्रकार तुम्हारे हृदयमें न कोई ध्येय है, न कोई वस्तु है और न काल ही है। मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ और आकाशके समान [व्यापक] हूँ॥ ४१॥

यत्सारभूतमखिलं कथितं मया ते
न त्वं न मे न महतो न गुरुर्न शिष्यः।
स्वच्छन्दरूपसहजं परमार्थतत्त्वं
ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्॥ ४२॥

जो कुछ भी सारभूत था, वह सब मैंने तुमसे कह दिया। वास्तवमें न तुम हो, न मैं हूँ, न कोई पूज्य है, न कोई गुरु है और न कोई शिष्य है। मैं सहज, परमस्वतन्त्र तथा परमार्थस्वरूप हूँ। [ब्रह्मस्वरूप] मैं ज्ञानरूपी अमृत हूँ, समरस हूँ तथा आकाशके समान [व्यापक] हूँ [तुम भी वही हो]॥ ४२॥

कथमिह परमार्थं तत्त्वमानन्दरूपं
कथमिह परमार्थं नैवमानन्दरूपम्।
कथमिह परमार्थं ज्ञानविज्ञानरूपं
यदि परमहमेकं वर्तते व्योमरूपम्॥ ४३॥

जब मैं ही एकमात्र परमतत्त्व आकाशकी भाँति सर्वव्याप्त हूँ, तब मैं कैसे कहूँ कि यह परमार्थतत्त्व आनन्दस्वरूप है अथवा नहीं और यह ज्ञान अथवा विज्ञान (साधना)-से प्राप्य है अथवा नहीं॥ ४३॥

दहनपवनहीनं विद्धि विज्ञानमेक-
मवनिजलविहीनं विद्धि विज्ञानरूपम्।
समगमनविहीनं विद्धि विज्ञानमेकं
गगनमिव विशालं विद्धि विज्ञानमेकम्॥ ४४॥

[हे तात!] तुम विज्ञानस्वरूप आत्माको अग्नि तथा वायुसे रहित और एक समझो; उसी प्रकार इस विज्ञानस्वरूप आत्माको पृथ्वी तथा जलसे रहित समझो; इस विज्ञानस्वरूप आत्माको सतत गतिसे विहीन समझो और इस विज्ञानस्वरूप आत्माको आकाशकी भाँति विशाल तथा एक जानो॥ ४४॥

न शून्यरूपं न विशून्यरूपं
न शुद्धरूपं न विशुद्धरूपम्।
रूपं विरूपं न भवामि किञ्चित्
स्वरूपरूपं परमार्थतत्त्वम्॥ ४५॥

मैं न शून्यरूप हूँ तथा न अशून्यरूप हूँ; न शुद्धरूप हूँ और न अशुद्ध रूप हूँ; मैं रूप तथा विरूप कुछ भी नहीं हूँ। मैं स्वरूपमात्र हूँ और परमार्थतत्त्व हूँ॥ ४५॥

मुञ्च मुञ्च हि संसारं त्यागं मुञ्च हि सर्वथा।
त्यागात्यागविषं शुद्धममृतं सहजं ध्रुवम्॥ ४६॥

[हे तात!] तुम संसारका त्याग कर दो, त्याग कर दो; पुनः उस त्यागका भी सर्वथा त्याग कर दो; त्याग तथा अत्यागको विषरूप जानकर उन्हें छोड़ दो। तुम शुद्धस्वभाव, अमृतरूप, सहज तथा नित्य हो॥ ४६॥

॥ इति श्रीदत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीतायामात्मसंवित्त्युपदेशो नाम तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

चौथा अध्याय

आत्मज्ञानीकी सर्वत्र समदृष्टि तथा आत्मतत्त्वकी अकथनीयताकी विवेचना

अवधूत उवाच

नावाहनं नैव विसर्जनं वा
पुष्पाणि पत्राणि कथं भवन्ति।
ध्यानानि मन्त्राणि कथं भवन्ति
समासमं चैव शिवार्चनं च॥ १॥

अवधूत श्रीदत्तात्रेयजी बोले—[चेतन ब्रह्म सर्वव्यापी है, अतः] उस ब्रह्मके न तो आवाहनकी और न उसके विसर्जनकी ही कोई आवश्यकता है। पुष्प तथा पत्र आदि भी किसलिये अर्पण होते हैं। उसके ध्यान तथा मन्त्र भी किस प्रकार होते हैं अर्थात् उसकी कोई आवश्यकता नहीं। सभीमें समदृष्टि रखना ही कल्याणस्वरूप चेतन ब्रह्मका पूजन है॥ १॥

न केवलं बन्धविबन्धमुक्तो
न केवलं शुद्धविशुद्धमुक्तः।
न केवलं योगवियोगमुक्तः
स वै विमुक्तो गगनोपमोऽहम्॥ २॥

मैं केवल आसक्ति-अनासक्ति, शुद्ध-अशुद्ध और योग-वियोगसे ही रहित नहीं हूँ, मैं तो आकाशकी भाँति (सर्वव्यापक) और सर्वथा मुक्त हूँ॥ २॥

सञ्जायते सर्वमिदं हि तथ्यं
सञ्जायते सर्वमिदं वितथ्यम्।
एवं विकल्पो मम नैव जातः
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम्॥ ३॥

यह सम्पूर्ण जगत्-प्रपंच सत्यरूपमें उत्पन्न होता है अथवा यह मिथ्या उत्पन्न होता है—इस प्रकारका विकल्प मुझे कभी उत्पन्न नहीं हुआ; क्योंकि मैं स्वभावसे मुक्तरूप हूँ और विकाररहित हूँ॥ ३॥

न साञ्जनं चैव निरञ्जनं वा
न चान्तरं वापि निरन्तरं वा।
अन्तर्विभिन्नं न हि मे विभाति
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ४ ॥

मैं न तो मायामलसे युक्त हूँ और न मायामलसे रहित ही हूँ, मैं न व्यवधान हूँ और न व्यवधानरहित हूँ। मुझे व्यवधान तथा भेदका भान नहीं होता है। मैं स्वभावसे मुक्तरूप हूँ और विकाररहित हूँ॥ ४॥

अबोधबोधो मम नैव जातो
बोधस्वरूपं मम नैव जातम्।
निर्बोधबोधं च कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ५ ॥

अज्ञानका बोध मुझे कभी नहीं हुआ, मैं बोधस्वरूप हूँ—ऐसा ज्ञान भी मुझे कभी नहीं हुआ। मैं अपनेको ज्ञानसे रहित अथवा बोध-वाला किस प्रकार कहूँ; [क्योंकि] मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ ५॥

न धर्मयुक्तो न च पापयुक्तो
न बन्धयुक्तो न च मोक्षयुक्तः।
युक्तं त्वयुक्तं न च मे विभाति
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ६ ॥

मैं धर्मयुक्त नहीं हूँ, पापयुक्त नहीं हूँ, बन्धनयुक्त नहीं हूँ और मोक्षयुक्त भी नहीं हूँ। मुझे युक्त तथा अयुक्तका भान नहीं होता है; [क्योंकि] मैं स्वभावसे मुक्तरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ ६॥

परापरं वा न च मे कदाचिन्
मध्यस्थभावो हि न चारिमित्रम्।

हिताहितं चापि कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ७ ॥

मुझमें न पर, न अपर और न तो मध्यस्थभाव ही हैं। मुझमें शत्रु तथा मित्रकी भी भावना नहीं है। मैं [किसीको] अपना हितकर अथवा अहितकर भी कैसे कहूँ, [क्योंकि] मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप तथा विकाररहित हूँ॥ ७॥

नोपासको नैवमुपास्यरूपं
न चोपदेशो न च मे क्रिया च।
संवित्स्वरूपं च कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ८ ॥

मैं उपासक नहीं हूँ और उपास्यरूप भी नहीं हूँ। मुझमें न तो उपदेश है और न क्रिया है। मैं अपनेको शुद्धज्ञानस्वरूप भी किस प्रकार कह सकता हूँ; [क्योंकि] मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ ८॥

नो व्यापकं व्याप्यमिहास्ति किञ्चि-
न्न चालयं वापि निरालयं वा।
अशून्यशून्यं च कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ९ ॥

इस चेतन आत्मामें किंचिन्मात्र भी व्याप्य-व्यापकभाव नहीं है; इसमें आश्रयभाव अथवा अनाश्रयभाव भी नहीं है। मैं इसे शून्यरहित अथवा शून्य भी कैसे कहूँ; मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ ९॥

न ग्राहको ग्राह्यकमेव किञ्चि-
न्न कारणं वा मम नैव कार्यम्।

अचिन्त्यचिन्त्यं च कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १० ॥

मेरा ग्राहक (ग्रहण करनेवाला) अथवा ग्राह्य (ग्रहण किये जाने योग्य) भी कोई नहीं है; मेरा न कोई कारण है और न तो कोई कार्य है। उस आत्मतत्त्वको मैं अचिन्त्य अथवा चिन्त्य भी कैसे कहूँ; [ब्रह्मस्वरूप] मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ १० ॥

न भेदकं वापि न चैव भेद्यं
न वेदकं वा मम नैव वेद्यम्।
गतागतं तात कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ ११ ॥

मैं न तो भेद करता हूँ न मेरा भेद होता है, मैं न तो जाननेवाला हूँ न जाना ही जाता हूँ। हे मित्र, आने-जानेवाले (पदार्थों)-के विषय में मैं कैसे कहूँ? मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप और विकाररहित हूँ॥ ११ ॥

न चास्ति देहो न च मे विदेहो
बुद्धिर्मनो मे न हि चेन्द्रियाणि।
रागो विरागश्च कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १२ ॥

मैं न शरीरयुक्त हूँ और न शरीरसे रहित ही हूँ। बुद्धि, मन तथा इन्द्रियाँ भी मेरे नहीं हैं। किसीमें भी मेरा राग है अथवा विराग है—यह मैं किस प्रकार कहूँ, क्योंकि मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप तथा विकाररहित हूँ॥ १२ ॥

उल्लेखमात्रं न हि भिन्नमुच्चै-
रुल्लेखमात्रं न तिरोहितं वै।
समासमं मित्र कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १३ ॥

जीव तथा ब्रह्मका भेद किंचिन्मात्र भी नहीं है; वह ब्रह्म

किंचिन्मात्र भी छिपा हुआ नहीं है। हे मित्र! मैं उसे सम अथवा विषम भी कैसे कह सकता हूँ; मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप तथा विकारसे रहित हूँ॥ १३॥

जितेन्द्रियोऽहं त्वजितेन्द्रियो वा
न संयमो मे नियमो न जातः।
जयाजयौ मित्र कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम्॥ १४॥

मैं जितेन्द्रिय हूँ अथवा अजितेन्द्रिय हूँ—यह कैसे कहूँ, (क्योंकि) मेरा कोई संयम अथवा नियम नहीं है। हे मित्र! मैं जय तथा पराजयका किस प्रकार कथन करूँ; मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ १४॥

अमूर्तमूर्तिर्न च मे कदाचि-
दाद्यन्तमध्यं न च मे कदाचित्।
बलाबलं मित्र कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम्॥ १५॥

मैं कभी भी मूर्तिरहित अथवा मूर्तिमान् नहीं हूँ; मेरा कभी भी आदि, अन्त अथवा मध्य नहीं है। हे मित्र! मैं बलवान् तथा निर्बलका भी कथन किस प्रकार करूँ; मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ और विकाररहित हूँ॥ १५॥

मृतामृतं वापि विषाविषं च
सञ्जायते तात न मे कदाचित्।
अशुद्धशुद्धं च कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम्॥ १६॥

हे तात! मुझमें मरनेका, न मरनेका, विषका अथवा विषरहितका भाव कभी उत्पन्न नहीं होता है। मैं अशुद्ध अथवा शुद्धका भी कथन कैसे करूँ; मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ १६॥

स्वप्नः प्रबोधो न च योगमुद्रा
नक्तं दिवा वापि न मे कदाचित्।
अतुर्यतुर्यं च कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १७॥

मुझमें न स्वप्न है, न जाग्रत् है, न योगमुद्रा है, न रात है अथवा न दिन ही है; इसी प्रकार मैं तुरीय अथवा अतुरीय अवस्थाको भी किस प्रकार कहूँ? मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ १७॥

संविद्धि मां सर्वविसर्वमुक्तं
माया विमाया न च मे कदाचित्।
सन्ध्यादिकं कर्म कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १८॥

[हे तात!] तुम मुझको सब प्रकार सभी (प्रपंचों)-से मुक्त जानो; माया तथा विमाया भी मुझमें कभी उत्पन्न नहीं हुए। मैं सन्ध्या आदि कर्मका भी कथन किस प्रकार करूँ; मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ १८॥

संविद्धि मां सर्वसमाधियुक्तं
संविद्धि मां लक्ष्यविलक्ष्यमुक्तम्।
योगं वियोगं च कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ १९॥

[हे तात!] तुम मुझको सम्पूर्ण समाधिसे युक्त जानो और मुझको लक्ष्यभाव तथा विलक्ष्यभावसे रहित जानो। मैं योग तथा वियोगको भी किस प्रकार कहूँ; मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ १९॥

मूर्खोऽपि नाहं न च पण्डितोऽहं
मौनं विमौनं न च मे कदाचित्।
तर्कं वितर्कञ्च कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ २० ॥

मैं न तो मूर्ख हूँ और न पण्डित हूँ, मौन तथा वाचालका भाव भी मुझमें कभी नहीं हुआ। मैं तर्क और वितर्कका कथन किस प्रकार करूँ? मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप तथा विकाररहित हूँ॥ २० ॥

पिता च माता च कुलं न जाति-
र्जन्मादि मृत्युर्न च मे कदाचित्।
स्नेहं विमोहं च कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ २१ ॥

[ब्रह्मस्वरूप] मेरा न कोई पिता है, न माता है, न कुल है और न जाति है; मेरा जन्म आदि तथा मृत्यु कभी नहीं हुए। मैं स्नेह तथा वैराग्यका कथन किस प्रकार करूँ? मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ २१ ॥

अस्तं गतो नैव सदोदितोऽहं
तेजो वितेजो न च मे कदाचित्।
सन्ध्यादिकं कर्म कथं वदामि
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ २२ ॥

मैं कभी भी लयभावको प्राप्त नहीं होता हूँ, अपितु सदा उदित रहता हूँ। तेज अथवा निस्तेज कभी भी मुझमें नहीं होता। मैं सन्ध्या आदि कर्मका कथन किस प्रकार करूँ? मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ तथा विकाररहित हूँ॥ २२ ॥

असंशयं विद्धि निराकुलं मा-
मसंशयं विद्धि निरन्तरं माम्।

असंशयं विद्धि निरञ्जनं मां
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ २३ ॥

हे तात! तुम मुझको निस्सन्देह व्याकुलतासे रहित जानो, निश्चय ही मुझको शाश्वत जानो और निस्सन्देह मुझको मायामलसे रहित जानो; मैं स्वभावसे मुक्तस्वरूप तथा विकाररहित हूँ॥ २३ ॥

ध्यानानि सर्वाणि परित्यजन्ति
शुभाशुभं कर्म परित्यजन्ति।
त्यागामृतं तात पिबन्ति धीराः
स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ २४ ॥

हे तात! आत्मज्ञानी धीर पुरुष सभी ध्यानोंका त्याग कर देते हैं, सभी शुभाशुभ कर्मोंको छोड़ देते हैं और इस प्रकार वे (सर्व) त्यागरूपी अमृतका पान करते हैं। मैं तो स्वभावसे मुक्तस्वरूप हूँ और विकाररहित हूँ॥ २४ ॥

विन्दति विन्दति नहि नहि यत्र
छन्दो लक्षणं नहि नहि तत्र।
समरसमग्नो भावितपूतः
प्रलपति तत्त्वं परमवधूतः ॥ २५ ॥

पवित्रतासे युक्त तथा एकरस आत्मानन्दमें मग्न परम अवधूत उस आत्मामें कुछ भी नहीं देखता है और वहाँ कुछ भी नहीं प्राप्त करता है; क्योंकि वहाँ छन्दादि लक्षण वस्तुतः नहीं हैं। वह अवधूत तो एकमात्र परमतत्त्वका ही कथन करता है॥ २५ ॥

॥ इति श्रीदत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीतायामात्मसंवित्त्युपदेशो नाम चतुर्थोऽध्यायः॥ ४ ॥

पाँचवाँ अध्याय

आत्मज्ञानीद्वारा अपने मनको प्रबोध

अवधूत उवाच

ओमिति गदितं गगनसमं त-
न्न परापरसारविचार इति।
अविलासविलासनिराकरणं
कथमक्षरबिन्दुसमुच्चरणम्॥ १॥

अवधूत श्रीदत्तात्रेयजी बोले—'ओम्' इस प्रकार जो उच्चरित किया गया है, वह आकाशके समान व्यापक है; उसमें पर, अपर तथा सारका विचार नहीं है; और जगत्-प्रपंचके विलास तथा विलयका उसीमें निराकरण भी होता है। (उसके) अक्षर-बिन्दुका उच्चारण किस प्रकार होगा?॥ १॥

इति तत्त्वमसिप्रभृतिश्रुतिभिः
प्रतिपादितमात्मनि तत्त्वमसि।
त्वमुपाधिविवर्जितसर्वसमं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ २॥

तत्त्वमसि आदि श्रुतियोंने प्रतिपादित किया है कि आत्मामें वह [ब्रह्म] तुम ही हो। तुम उपाधिसे रहित सभीमें सम हो। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ २॥

अधऊर्ध्वविवर्जितसर्वसमं
बहिरन्तरवर्जितसर्वसमम्।
यदि चैकविवर्जितसर्वसमं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ ३॥

जो सबमें समरूप है, वह (आत्मा) नीचे तथा ऊपरके भेदसे रहित, बाहर तथा भीतरके भेदसे रहित और एकत्वभावसे भी रहित है; हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ ३॥

न हि कल्पितकल्पविचार इति
न हि कारणकार्यविचार इति।
पदसन्धिविवर्जितसर्वसमं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ ४॥

जो सबमें समरूप है, उस (आत्मा)-में कल्पित और कल्पका विचार नहीं हो सकता; कार्य और कारणका विचार नहीं हो सकता तथा वह पद तथा सन्धिसे रहित होता है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ ४॥

न हि बोधविबोधसमाधिरिति
न हि देशविदेशसमाधिरिति।
न हि कालविकालसमाधिरिति
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ ५॥

[समत्वकी] समाधि-अवस्थामें ज्ञान अथवा अज्ञान नहीं होता, उसमें देश अथवा विदेश यह विचार भी नहीं हो सकता; उसमें काल अथवा अकाल नहीं है—ऐसा विचार भी नहीं हो सकता। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ ५॥

न हि कुम्भनभो न हि कुम्भ इति
न हि जीववपुर्न हि जीव इति।
न हि कारणकार्यविभाग इति
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ ६॥

समत्वभावमें न तो घटाकाश है और न घट है; उसमें न तो जीवका शरीर है और न तो जीव ही है; उसमें कारण तथा कार्यका विभाग भी नहीं है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ ६॥

इह सर्वनिरन्तरमोक्षपदं
लघुदीर्घविचारविहीन इति।
न हि वर्तुलकोणविभाग इति
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ ७॥

यह चेतन आत्मा सर्वरूप, शाश्वत तथा मोक्षस्वरूप है। यह लघु तथा दीर्घके विचारसे रहित है। इसमें गोल तथा कोणका विभाग भी नहीं है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ ७॥

इह शून्यविशून्यविहीन इति
इह शुद्धविशुद्धविहीन इति।
इह सर्वविसर्वविहीन इति
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ ८॥

यह आत्मा शून्य तथा अशून्यसे रहित है; यह शुद्ध तथा अशुद्धसे विहीन है; यह सर्व तथा विसर्वसे भी रहित है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ ८॥

न हि भिन्नविभिन्नविचार इति
बहिरन्तरसन्धिविचार इति।
अरिमित्रविवर्जितसर्वसमं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ ९॥

यह चेतन आत्मा भिन्न है अथवा अभिन्न है—यह विचार नहीं हो सकता; यह बाहर है अथवा भीतर अथवा सन्धिस्थानपर है—यह विचार भी नहीं हो सकता। यह शत्रु-मित्रके भावसे रहित सर्वसम है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ ९॥

न हि शिष्यविशिष्यसरूप इति
न चराचरभेदविचार इति।

इह सर्वनिरन्तरमोक्षपदं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ १०॥

उस चेतन आत्मामें शिष्यभाव अथवा शिष्यत्वसे रहित होनेका भाव नहीं है। उसमें चर-अचरके भेदका विचार भी नहीं है। वह सर्वरूप, शाश्वत तथा मोक्षस्वरूप है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ १०॥

ननु रूपविरूपविहीन इति
ननु भिन्नविभिन्नविहीन इति।
ननु सर्गविसर्गविहीन इति
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ ११॥

वह चेतन आत्मा निश्चय ही रूप तथा विरूपसे रहित है; वह निश्चय ही भेद तथा अभेदसे भी रहित है; वह निश्चय ही उत्पत्ति तथा प्रलयसे भी रहित है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ ११॥

न गुणागुणपाशनिबन्ध इति
मृतजीवनकर्म करोति कथम्।
इति शुद्धनिरञ्जनसर्वसमं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ १२॥

उस चेतन आत्मामें गुण तथा अगुणके पाशका बन्धन नहीं है; वह मृतकके तथा जीवितके कर्म कैसे कर सकता है? वह शुद्ध, मायामलसे रहित तथा सर्वत्र समरूप है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ १२॥

इह भावविभावविहीन इति
इह कामविकामविहीन इति।

इह बोधतमं खलु मोक्षसमं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ १३॥

वह आत्मा भाव तथा अभावसे रहित है; वह काम तथा अकामसे रहित है। वह आत्मा परम बोधस्वरूप तथा मोक्षस्वरूप है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ १३॥

इह तत्त्वनिरन्तरतत्त्वमिति
न हि सन्धिविसन्धिविहीन इति।
यदि सर्वविवर्जितसर्वसमं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ १४॥

इस आत्मामें यह तत्त्व है या निरन्तरता ही तत्त्व है—ऐसा भेद नहीं होता है; यह सन्धि तथा विसन्धिसे रहित है। यदि यह सर्वसे रहित तथा सर्वसम है, तब हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ १४॥

अनिकेतकुटी परिवारसमं
इह सङ्गविसङ्गविहीनपरम्।
इह बोधविबोधविहीनपरं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ १५॥

तुम्हारे लिये एकान्त कुटियामें रहना या परिवारके बीच रहना समान है, उसी तरह संग-असंग और ज्ञान-अज्ञानके द्वन्द्वसे परे तुम्हारी स्थिति है। तब हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ १५॥

अविकारविकारमसत्यमिति
अविलक्षविलक्षमसत्यमिति ।
यदि केवलमात्मनि सत्यमिति
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ १६॥

विकाररहित और विकारवान् दोनों ही असत्य हैं, प्रत्यक्ष और

परोक्ष भी दोनों असत्य ही हैं। जब सत्य केवल आत्मस्वरूपमें ही निहित है, तब हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ १६॥

इह सर्वसमं खलु जीव इति
इह सर्वनिरन्तरजीव इति।
इह केवलनिश्चलजीव इति
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ १७॥

इस जगत्में निश्चय ही आत्मा सबमें समरूप है, आत्मा सबमें निरन्तर विद्यमान है। इस जगत्में केवल निश्चल आत्मा ही है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ १७॥

अविवेकविवेकमबोध इति
अविकल्पविकल्पमबोध इति।
यदि चैकनिरन्तरबोध इति
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ १८॥

अविवेक तथा विवेक अज्ञान ही है और विकल्पका अभाव तथा विकल्प भी अज्ञान ही है। यदि एकमात्र शाश्वत ज्ञान ही है तो हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ १८॥

न हि मोक्षपदं न हि बन्धपदं
न हि पुण्यपदं न हि पापपदम्।
न हि पूर्णपदं न हि रिक्तपदं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ १९॥

इस आत्मामें न मोक्षपद है न बन्धपद है, न पुण्यपद है न पापपद है और न पूर्णपद है न रिक्तपद है; तो फिर हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ १९॥

यदि वर्णविवर्णविहीनसमं
यदि कारणकार्यविहीनसमम्।
यदि भेदविभेदविहीनसमं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ २०॥

यदि आत्मा वर्ण अथवा वर्णविशेषके अभावसे रहित है और सम है; यदि वह कारण तथा कार्यसे रहित और सम है; यदि वह भेद तथा विभेदसे रहित है और सम है तो हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ २०॥

इह सर्वनिरन्तरसर्वचिते
इह केवलनिश्चलसर्वचिते।
द्विपदादिविवर्जितसर्वचिते
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ २१॥

इस संसारमें आत्मा सबमें सदा एकरस चैतन्यरूपसे विद्यमान है; यह एकमात्र निश्चलभावसे सभीके चित्तमें विद्यमान है और दो पैर आदि स्थूल शरीरके भावसे रहित होकर सर्वत्र चैतन्यरूपसे विद्यमान है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ २१॥

अतिसर्वनिरन्तरसर्वगतं
अतिनिर्मलनिश्चलसर्वगतम् ।
दिनरात्रिविवर्जितसर्वगतं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ २२॥

वह चेतन आत्मा अतिशय एकरस होकर सबमें व्याप्त है; वह अत्यन्त निर्मल तथा अचल होकर सबमें व्याप्त है; वह दिन-रातसे रहित होकर सबमें व्याप्त है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ २२॥

न हि बन्धविबन्धसमागमनं
न हि योगवियोगसमागमनम्।
न हि तर्कवितर्कसमागमनं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ २३॥

सामान्य बन्धन तथा विशेष बन्धन दोनोंका आगमन आत्मामें नहीं होता है, उसमें योगका तथा वियोगका आगमन नहीं होता और तर्कका तथा वितर्कका भी समावेश नहीं होता है; हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ २३॥

इह कालविकालनिराकरण-
मणुमात्रकृशानुनिराकरणम् ।
न हि केवलसत्यनिराकरणं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ २४॥

इस आत्मामें सामान्य कालका तथा विशेष कालका निराकरण है; इसमें अणुमात्र भी अग्निका (भौतिक तत्त्वोंका) निराकरण है, इसमें एकमात्र सत्यका निराकरण नहीं है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ २४॥

इह देहविदेहविहीन इति
ननु स्वप्नसुषुप्तिविहीनपरम्।
अभिधानविधानविहीनपरं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ २५॥

यह आत्मा देह तथा विदेहसे रहित है; यह निश्चय ही स्वप्न तथा सुषुप्तिसे भी रहित और परे है, यह कथन तथा विधानसे भी रहित और परे है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो, तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ २५॥

गगनोपमशुद्धविशालसम-
मतिसर्वविवर्जितसर्वसमम् ।
गतसारविसारविकारसमं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ २६॥

वह आत्मा आकाशके समान शुद्ध, विशाल तथा सम है; वह समस्त मिथ्या-प्रपंचसे रहित और सम है; वह सार, विसार तथा विकारसे विहीन है और सम है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ २६॥

इह धर्मविधर्मविरागतर-
मिह वस्तुविवस्तुविरागतरम्।
इह कामविकामविरागतरं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ २७॥

इस संसारमें श्रेष्ठ वैराग्य होनेपर सामान्य और विशेष धर्म सभी समान हैं, सामान्य और विशेष पदार्थ सभी समान हैं तथा सामान्य और विशेष इच्छा सभी समान है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ २७॥

सुखदुःखविवर्जितसर्वसम-
मिह शोकविशोकविहीनपरम्।
गुरुशिष्यविवर्जिततत्त्वपरं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ २८॥

वह चेतन आत्मा सुख-दुःखसे रहित है तथा सर्वसम है; वह शोक तथा विशोकसे पूर्णतः रहित है; वह गुरु-शिष्य-सम्बन्धसे रहित परमतत्त्व है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ २८॥

न किलाङ्कुरसारविसार इति
न चलाचलसाम्यविसाम्यमिति।
अविचारविचारविहीनमिति
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ २९॥

आत्मामें निश्चित रूपसे सार-असारका कोई अंकुर नहीं होता है; उसमें चल, अचल, साम्य तथा वैषम्य भी नहीं होते हैं; वह अविचार तथा विचारसे रहित है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ २९॥

इह सारसमुच्चयसारमिति
कथितं निजभावविभेद इति।
विषये करणत्वमसत्यमिति
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ ३०॥

इस आत्मामें सम्पूर्ण सारोंका भी सार विद्यमान है। यहाँ अपने भावको यथावत् कह दिया है। सांसारिक विषयोंके प्रति कर्तव्य असत्य ही है। हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ ३०॥

बहुधा श्रुतयः प्रवदन्ति यतो
वियदादिरिदं मृगतोयसमम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वसमं
किमु रोदिषि मानस सर्वसमम्॥ ३१॥

अनेक श्रुतियाँ कहती हैं कि जो कुछ भी आकाश आदि यह प्रपंच है, सब मृगतृष्णाके जलके समान है। यदि एकमात्र चेतन आत्मा ही नित्य तथा सर्वसम है तो फिर हे मन! तुम किसलिये रुदन करते हो; तुम तो सर्वत्र समरूप हो॥ ३१॥

विन्दति विन्दति नहि नहि यत्र
छन्दो लक्षणं नहि नहि तत्र।
समरसमग्नो भावितपूतः
प्रलपति तत्त्वं परमवधूतः॥ ३२॥

पवित्रतासे युक्त तथा एकरस आत्मानन्दमें मग्न परम अवधूत उस आत्मामें कुछ भी नहीं देखता है और वहाँ कुछ भी नहीं प्राप्त करता है; क्योंकि वहाँ छन्दादि लक्षण वस्तुतः नहीं हैं; वह अवधूत तो एकमात्र परमतत्त्वका ही कथन करता है॥ ३२॥

॥ इति श्रीदत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीतायामात्मसंवित्त्युपदेशो नाम पञ्चमोऽध्यायः॥ ५॥

छठा अध्याय

आत्माके सर्वभेदातीतत्वका विचार तथा आत्मतत्त्वबोध

अवधूत उवाच

बहुधा श्रुतयः प्रवदन्ति वयं
वियदादिरिदं मृगतोयसमम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिव-
मुपमेयमथो ह्युपमा च कथम्॥ १॥

अवधूत श्रीदत्तात्रेयजी बोले—अनेक श्रुतियाँ कहती हैं कि हम तथा आकाश आदि यह समस्त प्रपंच मृगतृष्णाके जलके समान है। यदि वह चेतन आत्मा एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो यह उपमेय और उपमाका व्यवहार कैसे हो सकता है?॥ १॥

अविभक्तिविभक्तिविहीनपरं
ननु कार्यविकार्यविहीनपरम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
यजनं च कथं तपनं च कथम्॥ २॥

वह चेतन आत्मा विभाग तथा अविभागसे विहीन और परे है;

वह कार्य तथा कार्याभावसे रहित और परे है। यदि वह एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो पूजन और तप किसलिये?॥ २॥

मन एव निरन्तरसर्वगतं
ह्यविशालविशालविहीनपरम् ।
मन एव निरन्तरसर्वशिवं
मनसापि कथं वचसा च कथम्॥ ३॥

मन ही (आत्मरूपसे) निरन्तर और सर्वगत है; वह विस्तार तथा विस्तारके अभावसे रहित और परे है। मन ही निरन्तर, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है; उस परब्रह्मको मनके द्वारा कैसे जाना जा सकता है और वाणीके द्वारा उसका कथन कैसे किया जा सकता है?॥ ३॥

दिनरात्रिविभेदनिराकरण-
मुदितानुदितस्य निराकरणम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
रविचन्द्रमसौ ज्वलनश्च कथम्॥ ४॥

उस चेतन आत्मामें दिन तथा रात्रिके भेदका निषेध है; उसमें सूर्य आदिके उदय होने अथवा उदय न होनेका भी निराकरण है। यदि वह आत्मा एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो ये सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्निरूप भिन्न कैसे हो सकते हैं?॥ ४॥

गतकामविकामविभेद इति
गतचेष्टविचेष्टविभेद इति।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
बहिरन्तरभिन्नमतिश्च कथम्॥ ५॥

उस चेतन आत्मामें कामना तथा कामनाके अभावका भेद नहीं है। उसमें चेष्टा तथा चेष्टाके अभावका भेद भी नहीं है। यदि वह एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो उसमें बाहर और भीतरके

भेदकी बुद्धि कैसे हो सकती है?॥ ५॥

यदि सारविसारविहीन इति
यदि शून्यविशून्यविहीन इति।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
प्रथमं च कथं चरमं च कथम्॥ ६॥

यदि वह चेतन आत्मा सार तथा असारसे रहित है; यदि वह शून्य तथा अशून्यसे रहित है और यदि वह एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो फिर उसमें आदि कैसे और अन्त कैसे हो सकता है?॥ ६॥

यदि भेदविभेदनिराकरणं
यदि वेदकवेद्यनिराकरणम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
तृतीयं च कथं तुरीयं च कथम्॥ ७॥

यदि वह चेतन आत्मा भेद तथा अभेदसे रहित है; यदि वह ज्ञाता तथा ज्ञेयके भेदसे रहित है और यदि वह एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो उसमें तृतीय और चतुर्थ-अवस्था कैसे हो सकती है?॥ ७॥

गदितागदितं न हि सत्यमिति
विदितावितं न हि सत्यमिति।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
विषयेन्द्रियबुद्धिमनांसि कथम्॥ ८॥

कथित और अकथित व्यवहार सत्य नहीं है; ज्ञात और अज्ञात भी सत्य नहीं है। यदि वह आत्मा एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो फिर विषय, इन्द्रिय, बुद्धि तथा मन उसमें कैसे हो सकते हैं?॥ ८॥

गगनं पवनो न हि सत्यमिति
धरणी दहनो न हि सत्यमिति।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
जलदश्च कथं सलिलं च कथम्॥ ९॥

आकाश तथा वायु सत्य नहीं हैं, पृथ्वी तथा अग्नि भी सत्य नहीं हैं। यदि वह आत्मा एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो फिर मेघ कैसे सत्य हो सकता है और जल कैसे सत्य हो सकता है?॥ ९॥

यदि कल्पितलोकनिराकरणं
यदि कल्पितदेवनिराकरणम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
गुणदोषविचारमतिश्च कथम्॥ १०॥

यदि कल्पित लोकोंका उसमें निषेध है; यदि कल्पित देवताओंका उसमें निषेध है और यदि वह आत्मा एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो फिर गुण तथा दोषके विचारकी बुद्धि कैसे हो सकती है?॥ १०॥

मरणामरणं हि निराकरणं
करणाकरणं हि निराकरणम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
गमनागमनं हि कथं वदति॥ ११॥

वह चेतन आत्मा मरण तथा अमरणसे रहित है; वह कर्तव्य तथा अकर्तव्यसे भी रहित है। यदि वह एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो उसमें गमन तथा आगमनका भाव कैसे कहा जा सकता है?॥ ११॥

प्रकृतिः पुरुषो न हि भेद इति
न हि कारणकार्यविभेद इति।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
पुरुषापुरुषं च कथं वदति॥ १२॥

'प्रकृति और पुरुष' का भेद वास्तवमें है ही नहीं; कारण तथा कार्यका भी भेद नहीं है। यदि वह आत्मा एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो यह पुरुष है तथा यह पुरुष नहीं है—यह कैसे कहा जा सकता है?॥ १२॥

तृतीयं न हि दुःखसमागमनं
न गुणाद् द्वितीयस्य समागमनम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
स्थविरश्च युवा च शिशुश्च कथम्॥ १३॥

दुःख (और सुखके द्वन्द्व)-से तीसरेकी उत्पत्ति नहीं होती, एक गुणसे दूसरे गुणकी उत्पत्ति नहीं होती। यदि वह आत्मा एक, नित्य, सर्वरूप और कल्याणस्वरूप है तो वृद्ध, युवा और बालककी भिन्न स्थिति कैसे हो सकती है?॥ १३॥

ननु आश्रमवर्णविहीनपरं
ननु कारणकर्तृविहीनपरम्।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिव-
मविनष्टविनष्टमतिश्च कथम्॥ १४॥

वह आत्मा निश्चय ही आश्रम तथा वर्णसे रहित है; वह निश्चय ही कारण तथा कर्तासे भी रहित है। यदि वह आत्मा एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो उसके विषयमें नाश होने तथा नाश न होनेवाली बुद्धि कैसे हो सकती है?॥ १४॥

ग्रसिताग्रसितं च वितथ्यमिति
जनिताजनितं च वितथ्यमिति।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिव-
मविनाशिविनाशि कथं हि भवेत्॥ १५॥

वह चेतन आत्मा ग्रसनेवाला है और ग्रसित किया जाता है—यह मिथ्या है; वह उत्पन्न करनेवाला है और उत्पन्न होनेवाला है—यह भी मिथ्या है। यदि वह आत्मा एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो वह नाशरहित अथवा नाशवान् कैसे हो सकता है?॥ १५॥

पुरुषापुरुषस्य विनष्टमिति
वनितावनितस्य विनष्टमिति।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिव-
मविनोदविनोदमतिश्च कथम्॥ १६॥

वह आत्मा पुरुष है या पुरुष नहीं है—यह विचार व्यर्थ है; वह स्त्री है या स्त्री नहीं है—यह विचार भी व्यर्थ है। यदि वह एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो शोक और हर्षकी बुद्धि कैसे हो सकती है?॥ १६॥

यदि मोहविषादविहीनपरो
यदि संशयशोकविहीनपरः।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिव-
महमेति ममेति कथं च पुनः॥ १७॥

यदि वह चेतन आत्मा मोह तथा विषादसे रहित और श्रेष्ठ है; यदि वह संशय तथा शोकसे रहित है और श्रेष्ठ है; यदि वह एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो 'मैं हूँ तथा यह मेरा है'—इस प्रकारकी बुद्धि कैसे हो सकती है?॥ १७॥

ननु धर्मविधर्मविनाश इति
ननु बन्धविबन्धविनाश इति।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिव-
मिह दुःखविदुःखमतिश्च कथम्॥ १८॥

यदि चेतन आत्मामें धर्म तथा विधर्मका अभाव है; यदि उसमें बन्धन तथा मोक्षका अभाव है और यदि वह एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो इसके प्रति दुःख-सुखकी बुद्धि किस प्रकार हो सकती है?॥ १८॥

न हि याज्ञिकयज्ञविभाग इति
न हुताशनवस्तुविभाग इति।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
वद कर्मफलानि भवन्ति कथम्॥ १९॥

याज्ञिक तथा यज्ञमें (वास्तविक) भेद नहीं है; इसी प्रकार अग्नि तथा हवनीय वस्तुमें भी भेद नहीं है। यदि आत्मा एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो फिर बताओ कि कर्मोंके फल किस प्रकार हो सकते हैं?॥ १९॥

ननु शोकविशोकविमुक्त इति
ननु दर्पविदर्पविमुक्त इति।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
ननु रागविरागमतिश्च कथम्॥ २०॥

वह आत्मा निश्चय ही शोक तथा अशोकसे रहित है; वह निश्चय ही अहंकार तथा निरहंकारसे रहित है। यदि वह आत्मा एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो राग-विरागकी बुद्धि कैसे हो सकती है?॥ २०॥

न हि मोहविमोहविकार इति
न हि लोभविलोभविकार इति।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं
ह्यविवेकविवेकमतिश्च कथम्॥ २१॥

उस आत्मामें मोह तथा विमोहका विकार नहीं है; उसमें लोभ तथा अलोभका भी विकार नहीं है। यदि वह एक, नित्य, सर्वरूप तथा कल्याणस्वरूप है तो निश्चय ही उसमें विचार तथा अविचारकी बुद्धि कैसे हो सकती है?॥ २१॥

त्वमहं न हि हन्त कदाचिदपि
कुलजातिविचारमसत्यमिति ।
अहमेव शिवः परमार्थ इति
अभिवादनमत्र करोमि कथम्॥ २२॥

अहो, 'तुम' और 'मैं' इस प्रकारका भेद कभी नहीं है; कुल तथा जातिका विचार भी सत्य नहीं है। मैं ही कल्याणरूप तथा परमार्थ तत्त्व हूँ तो फिर [अद्वैतरूप] मैं यहाँ वन्दन किस प्रकार करूँ?॥ २२॥

गुरुशिष्यविचारविशीर्ण इति
उपदेशविचारविशीर्ण इति।
अहमेव शिवः परमार्थ इति
अभिवादनमत्र करोमि कथम्॥ २३॥

वह चेतन आत्मा गुरु तथा शिष्यभावके विचारसे रहित है; वह उपदेश और तर्ककी भावनासे भी रहित है। मैं ही कल्याणस्वरूप तथा परमार्थ तत्त्व हूँ तो फिर [अद्वैतरूप] मैं यहाँ वन्दन किस प्रकार करूँ?॥ २३॥

न हि कल्पितदेहविभाग इति
न हि कल्पितलोकविभाग इति।

अहमेव शिवः परमार्थ इति
अभिवादनमत्र करोमि कथम्॥ २४॥

यह (स्थूल-सूक्ष्मादि) देहका कल्पित भेद मिथ्या है। यह (चतुर्दश) लोकोंका कल्पित भेद भी मिथ्या है। मैं ही कल्याणस्वरूप तथा परमार्थ-तत्त्व हूँ तो फिर (अद्वैतरूप) मैं यहाँ वन्दन किस प्रकार करूँ?॥ २४॥

सरजो विरजो न कदाचिदपि
ननु निर्मलनिश्चलशुद्ध इति।
अहमेव शिवः परमार्थ इति
अभिवादनमत्र करोमि कथम्॥ २५॥

आत्मा रागयुक्त और रागरहित भी कभी नहीं है; वह निश्चय ही निर्मल, निश्चल तथा शुद्ध है। मैं ही कल्याणरूप तथा परमार्थ तत्त्व हूँ तो फिर [अद्वैतरूप] मैं यहाँ वन्दन किस प्रकार करूँ?॥ २५॥

न हि देहविदेहविकल्प इति
अनृतं चरितं न हि सत्यमिति।
अहमेव शिवः परमार्थ इति
अभिवादनमत्र करोमि कथम्॥ २६॥

उस चेतन आत्मामें देहयुक्त और देहरहित होनेका विकल्प नहीं है; उसमें मिथ्या और सत्य चरित्रका भी विकल्प नहीं है। [आत्मस्वरूप] मैं ही कल्याणरूप तथा परमार्थ तत्त्व हूँ तो फिर [अद्वैतरूप] मैं यहाँ वन्दन किस प्रकार करूँ?॥ २६॥

विन्दति विन्दति नहि नहि यत्र
छन्दो लक्षणं नहि नहि तत्र।
समरसमग्नो भावितपूतः
प्रलपति तत्त्वं परमवधूतः॥ २७॥

पवित्रतासे युक्त तथा एकरस आत्मानन्दमें मग्न परम अवधूत उस आत्मामें कुछ भी नहीं देखता है और वहाँ कुछ भी नहीं प्राप्त करता

है; क्योंकि वहाँ छन्दादि लक्षण वस्तुतः नहीं हैं; वह अवधूत तो एकमात्र परमतत्त्वका ही कथन करता है॥ २७॥

॥ इति श्रीदत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीतायां स्वामिकार्तिकसंवादे स्वात्मवित्त्युपदेशमोक्षनिर्णयो नाम षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

सातवाँ अध्याय

ब्रह्मानन्दमग्न आत्मज्ञानी अवधूतके लक्षण एवं स्थिति

अवधूत उवाच

रथ्याकर्पटविरचितकन्थः
पुण्यापुण्यविवर्जितपन्थः ।
शून्यागारे तिष्ठति नग्नः
शुद्धनिरञ्जनसमरसमग्नः ॥ १॥

अवधूत श्रीदत्तात्रेयजी बोले—गलियोंमें गिरे-पड़े कपड़ोंकी बनी हुई गुदड़ी धारण करनेवाला, पुण्य-पापसे रहित मार्गपर चलनेवाला, शुद्ध चित्तवाला तथा ब्रह्मानन्दके रसमें मग्न अवधूत नग्न होकर एकान्त स्थानमें स्थित रहता है॥ १॥

लक्ष्यालक्ष्यविवर्जितलक्ष्यो
युक्तायुक्तविवर्जितदक्षः ।
केवलतत्त्वनिरञ्जनपूतो
वादविवादः कथमवधूतः॥ २॥

जो प्रत्यक्ष-परोक्षसे रहित लक्ष्यवाला है; जो विधि-निषेधके वर्जनमें दक्ष है; जो अद्वितीय अविद्याशून्य तत्त्वज्ञानसे पवित्र है—उस अवधूतके लिये वाद-विवाद कैसा?॥ २॥

आशापाशविबन्धनमुक्ताः
शौचाचारविवर्जितयुक्ताः ।

एवं सर्वविवर्जितसन्तस-
स्तत्त्वं शुद्धनिरञ्जनवन्तः ॥ ३ ॥

अवधूत लोग आशारूपी पाशके बन्धनसे मुक्त हैं; वे शौचाचार आदिसे रहित होकर आत्मासे सदा जुड़े रहते हैं। इस प्रकार वे सभी व्यवहारोंसे रहित रहते हुए तत्त्वस्वरूप हैं तथा शुद्धज्ञानसे सम्पन्न रहते हैं॥ ३ ॥

कथमिह देहविदेहविचारः
कथमिह रागविरागविचारः।
निर्मलनिश्चलगगनाकारं
स्वयमिह तत्त्वं सहजाकारम्॥ ४॥

इस अवधूतकी दृष्टिमें देह तथा विदेहका विचार कैसा; इसकी दृष्टिमें राग तथा विरागका विचार कैसा? वह निर्मल, निश्चल तथा आकाशके समान व्यापक रूपवाला है; वह स्वयं स्वभावतः आत्मतत्त्वस्वरूप है॥ ४॥

कथमिह तत्त्वं विन्दति यत्र
रूपमरूपं कथमिह तत्र।
गगनाकारः परमो यत्र
विषयीकरणं कथमिह तत्र॥ ५॥

जहाँ तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया, वहाँ साकार-निराकार (रूप-अरूप)-की क्या बात हो सकती है? जिसे परम आकाशभाव व्याप्त है, उसे सांसारिक विषयोंका प्रपंच कैसे स्पर्श कर सकता है?॥ ५॥

गगनाकारनिरन्तरहंस-
स्तत्त्वविशुद्धनिरञ्जनहंसः ।
एवं कथमिह भिन्नविभिन्नं
बन्धविबन्धविकारविभिन्नम् ॥ ६ ॥

वह [ब्रह्मस्वरूप] अवधूत आकाशतुल्य, शाश्वत तथा हंसरूप

है। वह परमतत्त्व, विशुद्ध, मायामलसे रहित तथा हंसरूप है। इस प्रकार इस [आत्मस्वरूप अवधूत]-में भेद-विभेद एवं बन्ध-विबन्धका विकार तथा भेद किस प्रकार हो सकता है?॥ ६॥

केवलतत्त्वनिरन्तरसर्वं
योगवियोगौ कथमिह गर्वम्।
एवं परमनिरन्तरसर्व-
मेवं कथमिह सारविसारम्॥ ७॥

एकमात्र आत्मतत्त्व ही शाश्वत तथा सर्वरूप है; उसमें संयोग, वियोग तथा अहंकार कैसे हो सकते हैं? इस प्रकार जब वह परम, शाश्वत सर्वरूप है तो फिर उसमें सार-असार कैसा?॥ ७॥

केवलतत्त्वनिरञ्जनसर्वं
गगनाकारनिरन्तरशुद्धम् ।
एवं कथमिह सङ्गविसङ्गं
सत्यं कथमिह रङ्गविरङ्गम्॥ ८॥

केवल आत्मतत्त्व ही अज्ञानरहित, सर्वरूप, आकाशके समान व्यापक, एकरस तथा शुद्ध है; ऐसा होनेपर इस आत्मामें संग तथा असंग कैसे हो सकते हैं और इसमें सत्य, वर्ण तथा विवर्णका भाव कैसे होगा?॥ ८॥

योगवियोगै रहितो योगी
भोगविभोगै रहितो भोगी।
एवं चरति हि मन्दं मन्दं
मनसा कल्पितसहजानन्दम्॥ ९॥

वह आत्मज्ञानी अवधूत योग तथा वियोगसे रहित योगी है एवं भोग तथा विरागसे रहित भोगी भी है। इस प्रकार वह मनके द्वारा कल्पित स्वाभाविक आनन्दको धीरे-धीरे प्राप्त करता रहता है॥ ९॥

बोधविबोधैः सततं युक्तो
द्वैताद्वैतैः कथमिह मुक्तः।
सहजो विरजः कथमिह योगी
शुद्धनिरञ्जनसमरसभोगी ॥ १० ॥

ज्ञान तथा अज्ञानसे तथा द्वैत-अद्वैतकी भावनासे निरन्तर युक्त योगी इस संसारमें कैसे मुक्त हो सकता है? स्वभावसे ही राग-रहित योगी शुद्ध, अज्ञानरहित आत्मानन्दका भोग कैसे कर सकता है?॥ १०॥

भग्नाभग्नविवर्जितभग्नो
लग्नालग्नविवर्जितलग्नः ।
एवं कथमिह सारविसारः
समरसतत्त्वं गगनाकारः॥ ११॥

वह आत्मतत्त्व खण्ड तथा अखण्डके भावसे रहित है; वह संसर्ग-विसर्गके भावोंसे भी रहित है। इस प्रकार इस आत्मतत्त्वमें सार तथा विसार कैसे हो सकते हैं? यह समरस, परमतत्त्वस्वरूप तथा आकाशके समान व्यापक आकारवाला है॥ ११॥

सततं सर्वविवर्जितयुक्तः
सर्वं तत्त्वविवर्जितमुक्तः।
एवं कथमिह जीवितमरणं
ध्यानाध्यानैः कथमिह करणम्॥ १२॥

योगी निरन्तर समस्त प्रपंचोंसे रहित होकर आत्मतत्त्वमें लीन रहता है; वह सम्पूर्ण तत्त्वोंसे रहित होकर जीवन्मुक्त है। ऐसी स्थितिमें उसका जीवन और मरण कैसे हो सकता है; इसी प्रकार उसे ध्यान तथा ध्यानका अभाव किस प्रकार हो सकता है?॥ १२॥

इन्द्रजालमिदं सर्वं यथा मरुमरीचिका।
अखण्डितघनाकारो वर्तते केवलः शिवः॥ १३॥

यह सम्पूर्ण जगत्-प्रपंच इन्द्रजाल तथा मरुदेशमें मृगमरीचिकाके जलके समान मिथ्या है। अविनाशी, परिपूर्ण तथा [एकमात्र] कल्याणस्वरूप आत्मतत्त्व ही सत्य है॥ १३॥

धर्मादौ मोक्षपर्यन्तं निरीहाः सर्वथा वयम्।
कथं रागविरागैश्च कल्पयन्ति विपश्चितः॥ १४॥

हम लोग धर्मसे लेकर मोक्षपर्यन्त चारों पुरुषार्थोंके प्रति कामनारहित हैं। विद्वान् लोग राग तथा विरागकी कल्पना किस प्रकार करते रहते हैं?॥ १४॥

विन्दति विन्दति नहि नहि यत्र
छन्दो लक्षणं नहि नहि तत्र।
समरसमग्नो भावितपूतः
प्रलपति तत्त्वं परमवधूतः॥ १५॥

पवित्रतासे युक्त तथा एकरस आत्मानन्दमें मग्न परम अवधूत उस आत्मामें कुछ भी नहीं देखता है और वहाँ कुछ भी नहीं प्राप्त करता है; क्योंकि वहाँ छन्दादि लक्षण वस्तुतः नहीं हैं। वह अवधूत एकमात्र परमतत्त्वका ही कथन करता है॥ १५॥

॥ इति श्रीदत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीतायां स्वामिकार्तिकसंवादे स्वात्मसंवित्त्युपदेशे सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

आठवाँ अध्याय

मुनि (आत्मज्ञानी) एवं अवधूतके लक्षण तथा स्त्रीसंग-परित्यागकी प्रेरणा

अवधूत उवाच

त्वद्यात्रया व्यापकता हता ते
ध्यानेन चेतःपरता हता ते।

स्तुत्या मया वाक्परता हता ते
क्षमस्व नित्यं त्रिविधापराधान्॥ १॥

अवधूत श्रीदत्तात्रेयजी बोले—[हे प्रभो!] तुम्हारी धाम-यात्रा करनेसे मैंने तुम्हारी सर्वव्यापकता घटा दी, तुम्हारा ध्यान करनेसे मैंने तुम्हारा चित्तके परे होनेका गुण नष्ट कर दिया, मेरे द्वारा तुम्हारी स्तुति करनेसे तुम्हारा वाणीसे परे होनेका गुण छिप गया। तुम सदा मेरे इन तीनों अपराधोंको क्षमा करो॥ १॥

कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः।
अनीहो मितभुक्छान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः॥ २॥

कामनाओंसे अनाहत बुद्धिवाला, इन्द्रियोंका दमन करनेवाला, कोमल स्वभाववाला, पवित्र, संग्रहसे रहित, इच्छारहित, सीमित आहार ग्रहण करनेवाला, शान्त, स्थिर मतिवाला, आत्माकी शरण ग्रहण करनेवाला मुनि (आत्मज्ञानी) होता है॥ २॥

अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः॥ ३॥

वह प्रमादशून्य, गम्भीर स्वभाववाला, धैर्यसम्पन्न, [काम, क्रोध आदि] छः विकारोंको जीत लेनेवाला, मानरहित, दूसरोंको सम्मान देनेवाला, कर्तव्यपरायण, मैत्रीपूर्ण व्यवहारवाला, दयालु तथा कवि (दूरदर्शी) होता है॥ ३॥

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यासारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः॥ ४॥

वह कृपालु, सभी देहधारियोंसे द्रोह न करनेवाला, सहनशील, सत्यसम्पन्न, निर्दोष मनवाला, सबके प्रति समान भाव रखनेवाला तथा सभीका उपकार करनेवाला होता है॥ ४॥

अवधूतलक्षणं वर्णैर्ज्ञातव्यं भगवत्तमैः।
वेदवर्णार्थतत्त्वज्ञैर्वेदवेदान्तवादिभिः ॥ ५ ॥

पूर्ण भक्तिसे सम्पन्न, वेदके वर्णों, अर्थ तथा तत्त्वोंको जाननेवाले वेद-वेदान्तके ज्ञानियोंको अकारादि वर्णोंके द्वारा अवधूतका लक्षण जानना चाहिये॥ ५॥

आशापाशविनिर्मुक्त आदिमध्यान्तनिर्मलः।
आनन्दे वर्तते नित्यमकारं तस्य लक्षणम्॥ ६॥

जो आशारूपी पाश (बन्धन)-से पूर्णतः मुक्त है; आदि, मध्य और अन्त (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति)—इन तीनों अवस्थाओंमें अथवा आदि, अन्त, मध्य (भूत, वर्तमान, भविष्यत्)—इन तीनों कालोंमें निर्मल चित्तवाला है और सदा ब्रह्मानन्दमें मग्न रहता है, उस अवधूतका यह 'अकार' लक्षण है॥ ६॥

वासना वर्जिता येन वक्तव्यं च निरामयम्।
वर्तमानेषु वर्तेत वकारं तस्य लक्षणम्॥ ७॥

जिसने वासनाका परित्याग कर दिया है, जिसका वचन विकाररहित है और जो वर्तमानमें व्यवहार करता है अर्थात् वर्तमानमें प्राप्त परिस्थितिके अनुसार आचरण कर लेता है, उस अवधूतका यह 'वकार' लक्षण है॥ ७॥

धूलिधूसरगात्राणि धूतचित्तो निरामयः।
धारणाध्याननिर्मुक्तो धूकारस्तस्य लक्षणम्॥ ८॥

जिसके शरीरके अंग धूलसे धूसरित रहते हैं, जो निष्पाप चित्तवाला है, विकाररहित है, धारणा तथा ध्यान आदि क्रिया-कलापोंसे रहित है, उस अवधूतका यह 'धूकार' लक्षण है॥ ८॥

तत्त्वचिन्ता धृता येन चिन्ताचेष्टाविवर्जितः।
तमोऽहङ्कारनिर्मुक्तस्तकारस्तस्य लक्षणम्॥ ९॥

जिसने आत्मतत्त्वके चिन्तनको धारण कर रखा है, जो भौतिक चिन्ता तथा चेष्टासे रहित है, जो अज्ञानरूप अन्धकार और अहंकारसे रहित है, उस अवधूतका यह 'तकार' लक्षण है॥ ९॥

आत्मानं चामृतं हित्वा अभिन्नं मोक्षमव्ययम्।
गतो हि कुत्सितः काको वर्तते नरकं प्रति॥ १०॥

अमृतस्वरूप, भेदरहित, मोक्षस्वरूप तथा शाश्वत आत्माका त्याग करके निन्दित और नीच पुरुष [बार-बार] नरककी ओर दौड़ता है॥ १०॥

मनसा कर्मणा वाचा त्यज्यतां मृगलोचना।
न ते स्वर्गोऽपवर्गो वा सानन्दं हृदयं यदि॥ ११॥

मन, वाणी तथा कर्मसे मृगके समान नेत्रोंवाली नारीका त्याग कर देना चाहिये। यदि तुम्हारा मन आत्मानन्दसे पूर्ण है, तब तुम्हें स्वर्ग अथवा मोक्षकी क्या आवश्यकता?॥ ११॥

न जानामि कथं तेन निर्मिता मृगलोचना।
विश्वासघातकीं विद्धि स्वर्गमोक्षसुखार्गलाम्॥ १२॥

मैं नहीं जानता कि उस [विधाता]-ने मृगनयनी स्त्रीकी रचना किसलिये की। स्त्रीको तुम विश्वासघात करनेवाली और स्वर्ग तथा मोक्षके सुखकी अर्गला (बाधा) समझो॥ १२॥

मूत्रशोणितदुर्गन्धे ह्यमेध्यद्वारदूषिते।
चर्मकुण्डे ये रमन्ति ते लिप्यन्ते न संशयः॥ १३॥

जो लोग मूत्र तथा रक्तसे दुर्गन्धयुक्त और मलके द्वारसे दूषित चर्मकुण्डमें रमण करते हैं, वे इस दुःखमय संसारमें लिप्त रहते हैं; इसमें सन्देह नहीं है॥ १३॥

कौटिल्यदम्भसंयुक्ता सत्यशौचविवर्जिता।
केनापि निर्मिता नारी बन्धनं सर्वदेहिनाम्॥ १४॥

कुटिलता तथा दम्भसे युक्त और सत्य तथा पवित्रतासे रहित एवं सभी देहधारियोंकी बन्धनस्वरूपा नारीको किसने बना दिया?॥ १४॥

त्रैलोक्यजननी धात्री सा भगी नरकं ध्रुवम्।
तस्यां जातो रतस्तत्र हा हा संसारसंस्थितिः॥ १५॥

जो स्त्री तीनों लोकोंकी जननी और पोषण करनेवाली है, वह भगयुक्त होनेसे निश्चय ही साक्षात् नरक है। उसी स्त्रीसे उत्पन्न हुआ मनुष्य पुनः उसीका भोग करता है, महान् खेद है कि संसारकी यही स्थिति है॥ १५॥

जानामि नरकं नारीं ध्रुवं जानामि बन्धनम्।
यस्यां जातो रतस्तत्र पुनस्तत्रैव धावति॥ १६॥

मैं स्त्रीको [साक्षात्] नरक समझता हूँ और इसे निश्चितरूपसे बन्धन मानता हूँ; क्योंकि स्त्रीसे उत्पन्न हुआ मनुष्य उसीमें आसक्त हो जाता है और बार-बार उसीकी ओर दौड़ता है॥ १६॥

भगादिकुचपर्यन्तं संविद्धि नरकार्णवम्।
ये रमन्ति पुनस्तत्र तरन्ति नरकं कथम्॥ १७॥

योनिसे लेकर स्तनपर्यन्त स्त्रीको नरकका समुद्र समझो। जो लोग [उसीसे उत्पन्न होकर] पुनः उसीमें रमण करते हैं, वे नरकको किस प्रकार तर सकते हैं?॥ १७॥

विष्ठादिनरकं घोरं भगं च परिनिर्मितम्।
किमु पश्यसि रे चित्त कथं तत्रैव धावसि॥ १८॥

स्त्रीकी योनि विष्ठा आदिसे युक्त घोर नरकस्वरूप बनायी गयी है। हे चित्त! तुम उसे क्यों देखते हो और उसकी ओर क्यों दौड़ते हो?॥ १८॥

भगेन चर्मकुण्डेन दुर्गन्धेन व्रणेन च।
खण्डितं हि जगत्सर्वं सदेवासुरमानुषम्॥ १९॥

दुर्गन्धयुक्त तथा घावसदृश चर्मकुण्डरूप स्त्रीभगके द्वारा देवता, असुर तथा मानवसहित सम्पूर्ण जगत् विनाशको प्राप्त हुआ है॥ १९॥

देहार्णवे महाघोरे पूरितं चैव शोणितम्।
केनापि निर्मिता नारी भगं चैव अधोमुखम्॥ २०॥

नारीके महाभयंकर देहरूप समुद्रमें रक्त भरा हुआ है। भला किसने नारीकी रचना कर दी और उसकी योनिको अधोमुख बना दिया॥ २०॥

अन्तरे नरकं विद्धि कौटिल्यं बाह्यमण्डितम्।
ललितामिह पश्यन्ति महामन्त्रविरोधिनीम्॥ २१॥

स्त्रीके देहके भीतर नरक विद्यमान है—ऐसा जानो; जो कुटिलतासे युक्त है, किंतु बाहरसे शोभायुक्त लगता है। बुद्धिमान् (लोग) इस लोकमें स्त्रीको महामन्त्रस्वरूप वैराग्यका शत्रु समझते हैं॥ २१॥

अज्ञात्वा जीवितं लब्धं भवस्तत्रैव देहिनाम्।
अहो जातो रतस्तत्र अहो भवविडम्बना॥ २२॥

आत्माको न जान करके ही मनुष्यने पुनः जन्म प्राप्त किया; देहधारियोंका जन्म उसी स्त्रीसे हुआ। महान् आश्चर्य है कि वह पुनः उसीमें आसक्त हो गया; अहो, संसारकी ऐसी विडम्बना है॥ २२॥

तत्र मुग्धा रमन्ते च सदेवासुरमानवाः।
ते यान्ति नरकं घोरं सत्यमेव न संशयः॥ २३॥

देवता, असुर तथा मानवसमेत सभी मूढ़ बुद्धिवाले लोग उसी स्त्रीमें रमण करते हैं और [परिणामस्वरूप] वे घोर नरकमें जाते हैं, यह सत्य है; इसमें सन्देह नहीं है॥ २३॥

अग्निकुण्डसमा नारी घृतकुम्भसमो नरः।
संसर्गेण विलीयेत तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥ २४॥

स्त्री अग्निके कुण्डके समान है और पुरुष घृतके कुम्भके समान है। नारीके सम्बन्धसे पुरुषका विलय हो जाता है; अतः उसका त्याग कर देना चाहिये॥ २४॥

गौडी पैष्टी तथा माध्वी विज्ञेया त्रिविधा सुरा।
चतुर्थी स्त्री सुरा ज्ञेया ययेदं मोहितं जगत्॥ २५॥

गुड़, जौ तथा महुएकी बनी हुई तीन प्रकारकी मदिरा जाननी चाहिये; किंतु स्त्रीको चौथी मदिरा समझना चाहिये, जिसके द्वारा यह जगत् उन्मत्त कर दिया गया है॥ २५॥

मद्यपानं महापापं नारीसङ्गस्तथैव च।
तस्माद् द्वयं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवेन्मुनिः॥ २६॥

मद्यका पान करना महान् पाप है, उसी तरह स्त्री-संसर्ग भी महान् पाप है। अतः इन दोनोंका त्याग करके मुनिको तत्त्वज्ञानसे युक्त होना चाहिये॥ २६॥

चिन्ताक्रान्तं धातुबद्धं शरीरं
नष्टे चित्ते धातवो यान्ति नाशम्।
तस्माच्चित्तं सर्वतो रक्षणीयं
स्वस्थे चित्ते बुद्धयः सम्भवन्ति॥ २७॥

[रस, रक्त, मांस, मेद (चर्बी), हड्डी, मज्जा, शुक्र—इन] धातुओंसे बँधा हुआ शरीर भी चिन्ता करनेसे नष्ट हो जाता है; क्योंकि [चिन्ताके कारण] चित्तके नष्ट होनेपर सभी धातुएँ नाशको प्राप्त हो जाती हैं। अतः चित्तकी सब प्रकारसे रक्षा करनी चाहिये; स्वस्थ चित्तमें ही [उचित-अनुचितका विचार करनेवाली] विवेक बुद्धि उत्पन्न होती है॥ २७॥

दत्तात्रेयावधूतेन निर्मितानन्दरूपिणा।
ये पठन्ति च शृण्वन्ति तेषां नैव पुनर्भवः॥ २८॥

आनन्दस्वरूप अवधूत श्रीदत्तात्रेयजीने इस 'अवधूतगीता' की रचना की है। जो लोग इसको पढ़ते और सुनते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता है॥ २८॥

॥ इति श्रीदत्तात्रेयविरचितायामवधूतगीतायां स्वामिकार्तिकसंवादे स्वात्मसंवित्त्युपदेशेऽष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

राजा यदुको अवधूतका उपदेश

अवधूतगीता-(२)

[श्रीमद्भागवतमहापुराणके एकादश स्कन्धके अन्तर्गत भी एक अवधूतगीता प्राप्त होती है। श्रीकृष्ण-उद्धव-संवादके अन्तर्गत जो प्रख्यात अवधूतोपाख्यान आता है, उसीको अवधूतगीता भी कहते हैं। तीन अध्यायोंमें विस्तृत इस गीताके अन्तर्गत भगवान् अवधूत श्रीदत्तात्रेयद्वारा राजर्षि यदुको अपने चौबीस गुरुओंके नाम तथा उनसे प्राप्त शिक्षाओंका वर्णन है। छोटी-छोटी रोचक कथाओंके साथ निबद्ध उनके उपदेश अत्यधिक मार्मिक तथा हृदयग्राही हैं, जिन्हें सुनकर राजा यदु सभी आसक्तियोंसे मुक्त होकर सहज ही समदर्शी हो गये। इस गीताकी विषयवस्तु केवल विद्वानोंके बीच ही प्रसिद्ध नहीं है, अपितु लोकसंस्कृतिमें भी रच बस गयी है। इस अवधूतगीताको यहाँ सानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है—]

पहला अध्याय

पृथ्वीसे लेकर कबूतरतक आठ गुरुओंकी कथा

श्रीभगवानुवाच

यदात्थ मां महाभाग तच्चिकीर्षितमेव मे।
ब्रह्मा भवो लोकपालाः स्वर्वासं मेऽभिकाङ्क्षिणः॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—महाभाग्यवान् उद्धव! तुमने मुझसे जो कुछ कहा है, मैं वही करना चाहता हूँ। ब्रह्मा, शंकर और इन्द्रादि लोकपाल भी अब यही चाहते हैं कि मैं उनके लोकोंमें होकर अपने धामको चला जाऊँ॥ १॥

मया निष्पादितं ह्यत्र देवकार्यमशेषतः।
यदर्थमवतीर्णोऽहमंशेन ब्रह्मणार्थितः॥ २॥

पृथ्वीपर देवताओंका जितना काम करना था, उसे मैं पूरा कर

चुका। इसी कामके लिये ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे मैं बलरामजीके साथ अवतीर्ण हुआ था॥ २॥

कुलं वै शापनिर्दग्धं नङ्क्ष्यत्यन्योन्यविग्रहात्।
समुद्रः सप्तमेऽह्न्येतां पुरीं च प्लावयिष्यति॥ ३॥

अब यह यदुवंश, जो ब्राह्मणोंके शापसे भस्म हो चुका है, पारस्परिक फूट और युद्धसे नष्ट हो जायगा। आजके सातवें दिन समुद्र इस पुरी—द्वारकाको डुबो देगा॥ ३॥

यर्ह्येवायं मया त्यक्तो लोकोऽयं नष्टमङ्गलः।
भविष्यत्यचिरात् साधो कलिनापि निराकृतः॥ ४॥

प्यारे उद्धव! जिस क्षण मैं मर्त्यलोकका परित्याग कर दूँगा, उसी क्षण इसके सारे मंगल नष्ट हो जायँगे और थोड़े ही दिनोंमें पृथ्वीपर कलियुगका बोलबाला हो जायगा॥ ४॥

न वस्तव्यं त्वयैवेह मया त्यक्ते महीतले।
जनोऽधर्मरुचिर्भद्र भविष्यति कलौ युगे॥ ५॥

जब मैं इस पृथ्वीका त्याग कर दूँ, तब तुम इसपर मत रहना; क्योंकि साधु उद्धव! कलियुगमें अधिकांश लोगोंकी रुचि अधर्ममें ही होगी॥ ५॥

त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु।
मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग् विचरस्व गाम्॥ ६॥

अब तुम अपने आत्मीय स्वजन और बन्धु-बान्धवोंका स्नेह-सम्बन्ध छोड़ दो और अनन्यप्रेमसे मुझमें अपना मन लगाकर समदृष्टिसे पृथ्वीमें स्वच्छन्द विचरण करो॥ ६॥

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः।
नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम्॥ ७॥

इस जगत्में जो कुछ मनसे सोचा जाता है, वाणीसे कहा जाता है, नेत्रोंसे देखा जाता है और श्रवण आदि इन्द्रियोंसे अनुभव किया

जाता है, वह सब नाशवान् है। सपनेकी तरह मनका विलास है। इसलिये मायामात्र है, मिथ्या है—ऐसा समझ लो॥ ७॥

पुंसोऽयुक्तस्य नानार्थो भ्रमः स गुणदोषभाक्।
कर्माकर्मविकर्मेति गुणदोषधियो भिदा॥ ८॥

जिस पुरुषका मन अशान्त है, असंयत है, उसीको पागलकी तरह अनेकों वस्तुएँ मालूम पड़ती हैं; वास्तवमें यह चित्तका भ्रम ही है। नानात्वका भ्रम हो जानेपर ही 'यह गुण है' और 'यह दोष' इस प्रकारकी कल्पना करनी पड़ती है । जिसकी बुद्धिमें गुण और दोषका भेद बैठ गया है, दृढ़मूल हो गया है, उसीके लिये कर्म[१] अकर्म[२] और विकर्मरूप[३] भेदका प्रतिपादन हुआ है॥ ८॥

तस्माद् युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत्।
आत्मनीक्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे॥ ९॥

इसलिये उद्धव! तुम पहले अपनी समस्त इन्द्रियोंको अपने वशमें कर लो, उनकी बागडोर अपने हाथमें ले लो और केवल इन्द्रियोंको ही नहीं, चित्तकी समस्त वृत्तियोंको भी रोक लो और फिर ऐसा अनुभव करो कि यह सारा जगत् अपने आत्मामें ही फैला हुआ है और आत्मा मुझ सर्वात्मा इन्द्रियातीत ब्रह्मसे एक है, अभिन्न है॥ ९॥

ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्मभूतः शरीरिणाम्।
आत्मानुभवतुष्टात्मा नान्तरायैर्विहन्यसे॥ १०॥

जब वेदोंके मुख्य तात्पर्य—निश्चयरूप ज्ञान और अनुभवरूप विज्ञानसे भलीभाँति सम्पन्न होकर तुम अपने आत्माके अनुभवमें ही आनन्दमग्न रहोगे और सम्पूर्ण देवता आदि शरीरधारियोंके आत्मा हो जाओगे, इसलिये किसी भी विघ्नसे तुम पीड़ित नहीं हो सकोगे; क्योंकि उन विघ्नों और विघ्न करनेवालोंकी आत्मा भी तुम्हीं होगे॥ १०॥

१. विहित कर्म। २. विहित कर्मका लोप। ३.निषिद्ध कर्म।

दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते।
गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः॥ ११॥

जो पुरुष गुण और दोष-बुद्धिसे अतीत हो जाता है, वह बालकके समान निषिद्ध कर्मसे निवृत्त होता है, परन्तु दोष-बुद्धिसे नहीं। वह विहित कर्मका अनुष्ठान भी करता है, परन्तु गुणबुद्धिसे नहीं॥ ११॥

सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः।
पश्यन् मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः॥ १२॥

जिसने श्रुतियोंके तात्पर्यका यथार्थ ज्ञान ही नहीं प्राप्त कर लिया, बल्कि उनका साक्षात्कार भी कर लिया है और इस प्रकार जो अटल निश्चयसे सम्पन्न हो गया है, वह समस्त प्राणियोंका हितैषी सुहृद् होता है और उसकी वृत्तियाँ सर्वथा शान्त रहती हैं। वह समस्त प्रतीयमान विश्वको मेरा ही स्वरूप—आत्मस्वरूप देखता है; इसलिये उसे फिर कभी जन्म-मृत्युके चक्करमें नहीं पड़ना पड़ता॥ १२॥

श्रीशुक उवाच

इत्यादिष्टो भगवता महाभागवतो नृप।
उद्धवः प्रणिपत्याह तत्त्वजिज्ञासुरच्युतम्॥ १३॥

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्! जब भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकार आदेश दिया, तब भगवान्‌के परम प्रेमी उद्धवजीने उन्हें प्रणाम करके तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छासे यह प्रश्न किया ॥ १३॥

उद्धव उवाच

योगेश योगविन्यास योगात्मन् योगसम्भव।
निःश्रेयसाय मे प्रोक्तस्त्यागः संन्यासलक्षणः॥ १४॥

उद्धवजीने कहा—भगवन्! आप ही समस्त योगियोंकी गुप्त पूँजी, योगोंके कारण और योगेश्वर हैं। आप ही समस्त योगोंके आधार, उनके कारण और योगस्वरूप भी हैं। आपने मेरे परम कल्याणके

लिये उस संन्यासरूप त्यागका उपदेश किया है॥ १४॥

त्यागोऽयं दुष्करो भूमन् कामानां विषयात्मभिः।
सुतरां त्वयि सर्वात्मन्नभक्तैरिति मे मतिः॥ १५॥

परन्तु अनन्त! जो लोग विषयोंके चिन्तन और सेवनमें घुल-मिल गये हैं, विषयात्मा हो गये हैं, उनके लिये विषय-भोगों और कामनाओंका त्याग अत्यन्त कठिन है। सर्वस्वरूप! उनमें भी जो लोग आपसे विमुख हैं, उनके लिये तो इस प्रकारका त्याग सर्वथा असम्भव ही है—ऐसा मेरा निश्चय है॥ १५॥

सोऽहं ममाहमिति मूढमतिर्विगाढ-
स्त्वन्मायया विरचितात्मनि सानुबन्धे।
तत्त्वञ्जसा निगदितं भवता यथाहं
संसाधयामि भगवन्ननुशाधि भृत्यम्॥ १६॥

प्रभो! मैं भी ऐसा ही हूँ; मेरी मति इतनी मूढ़ हो गयी है कि 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' इस भावसे मैं आपकी मायाके खेल, देह और देहके सम्बन्धी स्त्री, पुत्र, धन आदिमें डूब रहा हूँ। अतः भगवन्! आपने जिस संन्यासका उपदेश किया है, उसका तत्त्व मुझ सेवकको इस प्रकार समझाइये कि मैं सुगमतापूर्वक उसका साधन कर सकूँ॥ १६॥

सत्यस्य ते स्वदृश आत्मन आत्मनोऽन्यं
वक्तारमीश विबुधेष्वपि नानुचक्षे।
सर्वे विमोहितधियस्तव मायया इमे
ब्रह्मादयस्तनुभृतो बहिरर्थभावाः॥ १७॥

मेरे प्रभो! आप भूत, भविष्य, वर्तमान इन तीनों कालोंसे अबाधित, एकरस सत्य हैं। आप दूसरेके द्वारा प्रकाशित नहीं, स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूप हैं। प्रभो! मैं समझता हूँ कि मेरे लिये

आत्मतत्त्वका उपदेश करनेवाला आपके अतिरिक्त देवताओंमें भी कोई नहीं है। ब्रह्मा आदि जितने बड़े-बड़े देवता हैं, वे सब शरीराभिमानी होनेके कारण आपकी मायासे मोहित हो रहे हैं। उनकी बुद्धि मायाके वशमें हो गयी है। यही कारण है कि वे इन्द्रियोंसे अनुभव किये जानेवाले बाह्य विषयोंको सत्य मानते हैं। इसीलिये मुझे तो आप ही उपदेश कीजिये॥ १७॥

तस्माद् भवन्तमनवद्यमनन्तपारं
सर्वज्ञमीश्वरमकुण्ठविकुण्ठधिष्ण्यम् ।
निर्विण्णधीरहमु ह वृजिनाभितप्तो
नारायणं नरसखं शरणं प्रपद्ये॥ १८॥

भगवन्! इसीसे चारों ओरसे दुःखोंकी दावाग्निसे जलकर और विरक्त होकर मैं आपकी शरणमें आया हूँ। आप निर्दोष, देश-कालसे अपरिच्छिन्न, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और अविनाशी वैकुण्ठ-लोकके निवासी एवं नरके नित्य सखा नारायण हैं। (अतः आप ही मुझे उपदेश कीजिये)॥ १८॥

श्रीभगवानुवाच

प्रायेण मनुजा लोके लोकतत्त्वविचक्षणाः।
समुद्धरन्ति ह्यात्मानमात्मनैवाशुभाशयात्॥ १९॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धव! संसारमें जो मनुष्य 'यह जगत् क्या है? इसमें क्या हो रहा है?' इत्यादि बातोंका विचार करनेमें निपुण हैं, वे चित्तमें भरी हुई अशुभ वासनाओंसे अपने-आपको स्वयं अपनी विवेकशक्तिसे ही प्रायः बचा लेते हैं॥ १९॥

आत्मनो गुरुरात्मैव पुरुषस्य विशेषतः।
यत् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रेयोऽसावनुविन्दते॥ २०॥

समस्त प्राणियोंका विशेषकर मनुष्यका आत्मा अपने हित और

अहितका उपदेशक गुरु है; क्योंकि मनुष्य अपने प्रत्यक्ष अनुभव और अनुमानके द्वारा अपने हित-अहितका निर्णय करनेमें पूर्णतः समर्थ है॥ २०॥

पुरुषत्वे च मां धीराः सांख्ययोगविशारदाः।
आविस्तरां प्रपश्यन्ति सर्वशक्त्युपबृंहितम्॥ २१॥

सांख्ययोगविशारद धीर पुरुष इस मनुष्ययोनिमें इन्द्रियशक्ति, मनःशक्ति आदिके आश्रयभूत मुझ आत्मतत्त्वको पूर्णतः प्रकटरूपसे साक्षात्कार कर लेते हैं॥ २१॥

एकद्वित्रिचतुष्पादो बहुपादस्तथापदः।
बह्व्यः सन्ति पुरः सृष्टास्तासां मे पौरुषी प्रिया॥ २२॥

मैंने एक पैरवाले, दो पैरवाले, तीन पैरवाले, चार पैरवाले, चारसे अधिक पैरवाले और बिना पैरके—इत्यादि अनेक प्रकारके शरीरोंका निर्माण किया है। उनमें मुझे सबसे अधिक प्रिय मनुष्यका ही शरीर है॥ २२॥

अत्र मां मार्गयन्त्यद्धा युक्ता हेतुभिरीश्वरम्।
गृह्यमाणैर्गुणैर्लिङ्गैरग्राह्यमनुमानतः ॥ २३॥

इस मनुष्य-शरीरमें एकाग्रचित्त तीक्ष्णबुद्धि पुरुष बुद्धि आदि ग्रहण किये जानेवाले हेतुओंसे जिनसे कि अनुमान भी होता है, अनुमानसे अग्राह्य अर्थात् अहंकार आदि विषयोंसे भिन्न मुझ सर्वप्रवर्तक ईश्वरको साक्षात् अनुभव करते हैं*॥ २३॥

---

* अनुसन्धानके दो प्रकार हैं—(१) एक स्वप्रकाश तत्त्वके बिना बुद्धि आदि जड पदार्थोंका प्रकाश नहीं हो सकता। इस प्रकार अर्थापत्तिके द्वारा और (२) जैसे बसूला आदि औजार किसी कर्ताके द्वारा प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार यह बुद्धि आदि औजार किसी कर्ताके द्वारा ही प्रयुक्त हो रहे हैं। परंतु इसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा आनुमानिक है। यह तो देहादिसे विलक्षण त्वम् पदार्थके शोधनकी युक्तिमात्र है।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अवधूतस्य संवादं यदोरमिततेजसः॥ २४॥

इस विषयमें महात्मालोग एक प्राचीन इतिहास कहा करते हैं। वह इतिहास परम तेजस्वी अवधूत दत्तात्रेय और राजा यदुके संवादके रूपमें है॥ २४॥

अवधूतं द्विजं कञ्चिच्चरन्तमकुतोभयम्।
कविं निरीक्ष्य तरुणं यदुः पप्रच्छ धर्मवित्॥ २५॥

एक बार धर्मके मर्मज्ञ राजा यदुने देखा कि एक त्रिकालदर्शी तरुण अवधूत ब्राह्मण निर्भय विचर रहे हैं। तब उन्होंने उनसे यह प्रश्न किया॥ २५॥

यदुरुवाच

कुतो बुद्धिरियं ब्रह्मन्नकर्तुः सुविशारदा।
यामासाद्य भवाँल्लोकं विद्वांश्चरति बालवत्॥ २६॥

राजा यदुने पूछा—ब्रह्मन्! आप कर्म तो करते नहीं, फिर आपको यह अत्यन्त निपुण बुद्धि कहाँसे प्राप्त हुई? जिसका आश्रय लेकर आप परम विद्वान् होनेपर भी बालकके समान संसारमें विचरते रहते हैं॥ २६॥

प्रायो धर्मार्थकामेषु विवित्सायां च मानवाः।
हेतुनैव समीहन्ते आयुषो यशसः श्रियः॥ २७॥

ऐसा देखा जाता है कि मनुष्य आयु, यश अथवा सौन्दर्य-सम्पत्ति आदिकी अभिलाषा लेकर ही धर्म, अर्थ, काम अथवा तत्त्व-जिज्ञासामें प्रवृत्त होते हैं; अकारण कहीं किसीकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती॥ २७॥

त्वं तु कल्पः कविर्दक्षः सुभगोऽमृतभाषणः।
न कर्ता नेहसे किञ्चिज्जडोन्मत्तपिशाचवत्॥ २८॥

मैं देख रहा हूँ कि आप कर्म करनेमें समर्थ, विद्वान् और निपुण

हैं। आपका भाग्य और सौन्दर्य भी प्रशंसनीय है। आपकी वाणीसे तो मानो अमृत टपक रहा है। फिर भी आप जड, उन्मत्त अथवा पिशाचके समान रहते हैं; न तो कुछ करते हैं और न चाहते ही हैं॥ २८॥

जनेषु दह्यमानेषु कामलोभदवाग्निना।
न तप्यसेऽग्निना मुक्तो गङ्गाम्भःस्थ इव द्विपः॥ २९॥

संसारके अधिकांश लोग काम और लोभके दावानलसे जल रहे हैं। परन्तु आपको देखकर ऐसा मालूम होता है कि आप मुक्त हैं, आपतक उसकी आँच भी नहीं पहुँच पाती; ठीक वैसे ही जैसे कोई हाथी वनमें दावाग्नि लगनेपर उससे छूटकर गंगाजलमें खड़ा हो॥ २९॥

त्वं हि नः पृच्छतां ब्रह्मन्नात्मन्यानन्दकारणम्।
ब्रूहि स्पर्शविहीनस्य भवतः केवलात्मनः॥ ३०॥

ब्रह्मन्! आप पुत्र, स्त्री, धन आदि संसारके स्पर्शसे भी रहित हैं। आप सदा-सर्वदा अपने केवल स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं। हम आपसे यह पूछना चाहते हैं कि आपको अपने आत्मामें ही ऐसे अनिर्वचनीय आनन्दका अनुभव कैसे होता है? आप कृपा करके अवश्य बतलाइये॥ ३०॥

श्रीभगवानुवाच

यदुनैवं महाभागो ब्रह्मण्येन सुमेधसा।
पृष्टः सभाजितः प्राह प्रश्रयावनतं द्विजः॥ ३१॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धव! हमारे पूर्वज महाराज यदुकी बुद्धि शुद्ध थी और उनके हृदयमें ब्राह्मणभक्ति थी। उन्होंने परमभाग्यवान् दत्तात्रेयजीका अत्यन्त सत्कार करके यह प्रश्न पूछा और बड़े विनम्रभावसे सिर झुकाकर वे उनके सामने खड़े हो गये। अब दत्तात्रेयजीने कहा॥ ३१॥

ब्राह्मण उवाच

सन्ति मे गुरवो राजन् बहवो बुद्ध्युपाश्रिताः।
यतो बुद्धिमुपादाय मुक्तोऽटामीह ताञ्छृणु॥ ३२॥

ब्रह्मवेत्ता दत्तात्रेयजीने कहा—राजन्! मैंने अपनी बुद्धिसे बहुत-से गुरुओंका आश्रय लिया है, उनसे शिक्षा ग्रहण करके मैं इस जगत्में मुक्तभावसे स्वच्छन्द विचरता हूँ। तुम उन गुरुओंके नाम और उनसे ग्रहण की हुई शिक्षा सुनो॥ ३२॥

पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः।
कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद् गजः॥ ३३॥
मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः।
कुमारी शरकृत् सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत्॥ ३४॥

मेरे गुरुओंके नाम हैं—पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतंग, भौंरा या मधुमक्खी, हाथी, शहद निकालनेवाला, हरिन, मछली, पिंगला वेश्या, कुरर पक्षी, बालक, कुँआरी कन्या, बाण बनानेवाला, सर्प, मकड़ी और भृंगी कीट॥ ३३-३४॥

एते मे गुरवो राजंश्चतुर्विंशतिराश्रिताः।
शिक्षा वृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहात्मनः॥ ३५॥

राजन्! मैंने इन चौबीस गुरुओंका आश्रय लिया है और इन्हींके आचरणसे इस लोकमें अपने लिये शिक्षा ग्रहण की है ॥ ३५॥

यतो यदनुशिक्षामि यथा वा नाहुषात्मज।
तत्तथा पुरुषव्याघ्र निबोध कथयामि ते॥ ३६॥

वीरवर ययातिनन्दन! मैंने जिससे जिस प्रकार जो कुछ सीखा है, वह सब ज्यों-का-त्यों तुमसे कहता हूँ, सुनो॥ ३६॥

भूतैराक्रम्यमाणोऽपि धीरो दैववशानुगैः।
तद् विद्वान्न चलेन्मार्गादन्वशिक्षं क्षितेर्व्रतम्॥ ३७॥

मैंने पृथ्वीसे उसके धैर्यकी, क्षमाकी शिक्षा ली है। लोग पृथ्वीपर कितना आघात और क्या-क्या उत्पात नहीं करते; परन्तु वह न तो किसीसे बदला लेती है और न रोती-चिल्लाती है। संसारके सभी प्राणी अपने-अपने प्रारब्धके अनुसार चेष्टा कर रहे हैं, वे समय-समयपर भिन्न-भिन्न प्रकारसे जान या अनजानमें आक्रमण कर बैठते हैं। धीर पुरुषको चाहिये कि उनकी विवशता समझे, न तो अपना धीरज खोये और न क्रोध करे। अपने मार्गपर ज्यों-का-त्यों चलता रहे॥ ३७॥

शश्वत्परार्थसर्वेहः परार्थैकान्तसम्भवः।
साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मताम्॥ ३८॥

पृथ्वीके ही विकार पर्वत और वृक्षसे मैंने यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे उनकी सारी चेष्टाएँ सदा-सर्वदा दूसरोंके हितके लिये ही होती हैं, बल्कि यों कहना चाहिये कि उनका जन्म ही एकमात्र दूसरोंका हित करनेके लिये ही हुआ है, साधु पुरुषको चाहिये कि उनकी शिष्यता स्वीकार करके उनसे परोपकारकी शिक्षा ग्रहण करे॥ ३८॥

प्राणवृत्त्यैव सन्तुष्येन्मुनिर्नैवेन्द्रियप्रियैः।
ज्ञानं यथा न नश्येत नावकीर्येत वाङ्मनः॥ ३९॥

मैंने शरीरके भीतर रहनेवाले वायु—प्राणवायुसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वह आहारमात्रकी इच्छा रखता है और उसकी प्राप्तिसे ही सन्तुष्ट हो जाता है, वैसे ही साधकको भी चाहिये कि जितनेसे जीवन-निर्वाह हो जाय, उतना भोजन कर ले। इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिये बहुत-से विषय न चाहे। संक्षेपमें उतने ही विषयोंका उपयोग

करना चाहिये, जिनसे बुद्धि विकृत न हो, मन चंचल न हो और वाणी व्यर्थकी बातोंमें न लग जाय॥ ३९॥

विषयेष्वाविशन् योगी नानाधर्मेषु सर्वतः।
गुणदोषव्यपेतात्मा न विषज्जेत वायुवत्॥ ४०॥

शरीरके बाहर रहनेवाले वायुसे मैंने यह सीखा है कि जैसे वायुको अनेक स्थानोंमें जाना पड़ता है, परन्तु वह कहीं भी आसक्त नहीं होता, किसीका भी गुण-दोष नहीं अपनाता, वैसे ही साधक पुरुष भी आवश्यकता होनेपर विभिन्न प्रकारके धर्म और स्वभाववाले विषयोंमें जाय, परन्तु अपने लक्ष्यपर स्थिर रहे। किसीके गुण या दोषकी ओर झुक न जाय, किसीसे आसक्ति या द्वेष न कर बैठे॥ ४०॥

पार्थिवेष्विह देहेषु प्रविष्टस्तद्गुणाश्रयः।
गुणैर्न युज्यते योगी गन्धैर्वायुरिवात्मदृक्॥ ४१॥

गन्ध वायुका गुण नहीं, पृथ्वीका गुण है। परन्तु वायुको गन्धका वहन करना पड़ता है। ऐसा करनेपर भी वायु शुद्ध ही रहता है, गन्धसे उसका सम्पर्क नहीं होता। वैसे ही साधकका जबतक इस पार्थिव शरीरसे सम्बन्ध है, तबतक उसे इसकी व्याधि-पीड़ा और भूख-प्यास आदिका भी वहन करना पड़ता है। परन्तु अपनेको शरीर नहीं, आत्माके रूपमें देखनेवाला साधक शरीर और उसके गुणोंका आश्रय होनेपर भी उनसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है॥ ४१॥

अन्तर्हितश्च स्थिरजङ्गमेषु
ब्रह्मात्मभावेन समन्वयेन।
व्याप्त्याव्यवच्छेदमसङ्गमात्मनो
मुनिर्नभस्त्वं विततस्य भावयेत्॥ ४२॥

राजन्! जितने भी घट-मठ आदि पदार्थ हैं, वे चाहे चल हों या अचल, उनके कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें आकाश एक और

अपरिच्छिन्न (अखण्ड) ही है। वैसे ही चर-अचर जितने भी सूक्ष्म-स्थूल शरीर हैं, उनमें आत्मारूपसे सर्वत्र स्थित होनेके कारण ब्रह्म सभीमें है। साधकको चाहिये कि सूतके मनियोंमें व्याप्त सूतके समान आत्माको अखण्ड और असंगरूपसे देखे। वह इतना विस्तृत है कि उसकी तुलना कुछ-कुछ आकाशसे ही की जा सकती है। इसलिये साधकको आत्माकी आकाशरूपताकी भावना करनी चाहिये॥ ४२॥

तेजोऽबन्नमयैर्भावैर्मेघाद्यैर्वायुनेरितैः ।
न स्पृश्यते नभस्तद्वत् कालसृष्टैर्गुणैः पुमान्॥ ४३॥

आग लगती है, पानी बरसता है, अन्न आदि पैदा होते और नष्ट होते हैं, वायुकी प्रेरणासे बादल आदि आते और चले जाते हैं; यह सब होनेपर भी आकाश अछूता रहता है। आकाशकी दृष्टिसे यह सब कुछ है ही नहीं। इसी प्रकार भूत, वर्तमान और भविष्यके चक्करमें न जाने किन-किन नामरूपोंकी सृष्टि और प्रलय होते हैं; परन्तु आत्माके साथ उनका कोई संस्पर्श नहीं है॥ ४३॥

स्वच्छः प्रकृतितः स्निग्धो माधुर्यस्तीर्थभूर्नृणाम्।
मुनिः पुनात्यपां मित्रमीक्षोपस्पर्शकीर्तनैः॥ ४४॥

जिस प्रकार जल स्वभावसे ही स्वच्छ, चिकना, मधुर और पवित्र करनेवाला होता है तथा गंगा आदि तीर्थोंके दर्शन, स्पर्श और नामोच्चारणसे भी लोग पवित्र हो जाते हैं—वैसे ही साधकको भी स्वभावसे ही शुद्ध, स्निग्ध, मधुरभाषी और लोकपावन होना चाहिये। जलसे शिक्षा ग्रहण करनेवाला अपने दर्शन, स्पर्श और नामोच्चारणसे लोगोंको पवित्र कर देता है॥ ४४॥

तेजस्वी तपसा दीप्तो दुर्धर्षोदरभाजनः।
सर्वभक्षोऽपि युक्तात्मा नादत्ते मलमग्निवत्॥ ४५॥

राजन्! मैंने अग्निसे यह शिक्षा ली है कि जैसे वह तेजस्वी

और ज्योतिर्मय होती है, जैसे उसे कोई अपने तेजसे दबा नहीं सकता, जैसे उसके पास संग्रह-परिग्रहके लिये कोई पात्र नहीं—सब कुछ अपने पेटमें रख लेती है, और जैसे सब कुछ खा-पी लेनेपर भी विभिन्न वस्तुओंके दोषोंसे वह लिप्त नहीं होती, वैसे ही साधक भी परम तेजस्वी, तपस्यासे देदीप्यमान, इन्द्रियोंसे अपराभूत, भोजनमात्रका संग्रही और यथायोग्य सभी विषयोंका उपभोग करता हुआ भी अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें रखे, किसीका दोष अपनेमें न आने दे॥ ४५॥

क्वचिच्छन्नः क्वचित् स्पष्ट उपास्यः श्रेय इच्छताम्।
भुङ्क्ते सर्वत्र दातॄणां दहन् प्रागुत्तराशुभम्॥ ४६॥

जैसे अग्नि कहीं (लकड़ी आदिमें) अप्रकट रहती है और कहीं प्रकट, वैसे ही साधक भी कहीं गुप्त रहे और कहीं प्रकट हो जाय। वह कहीं-कहीं ऐसे रूपमें भी प्रकट हो जाता है, जिससे कल्याणकामी पुरुष उसकी उपासना कर सकें। वह अग्निके समान ही भिक्षारूप हवन करनेवालोंके अतीत और भावी अशुभको भस्म कर देता है तथा सर्वत्र अन्न ग्रहण करता है॥ ४६॥

स्वमायया सृष्टमिदं सदसल्लक्षणं विभुः।
प्रविष्ट ईयते तत्तत्स्वरूपोऽग्निरिवैधसि॥ ४७॥

साधक पुरुषको इसका विचार करना चाहिये कि जैसे अग्नि लम्बी-चौड़ी, टेढ़ी-सीधी लकड़ियोंमें रहकर उनके समान ही सीधी-टेढ़ी या लम्बी-चौड़ी दिखायी पड़ती है—वास्तवमें वह वैसी है नहीं; वैसे ही सर्वव्यापक आत्मा भी अपनी मायासे रचे हुए कार्य-कारणरूप जगत्में व्याप्त होनेके कारण उन-उन वस्तुओंके नाम-रूपसे कोई सम्बन्ध न होनेपर भी उनके रूपमें प्रतीत होने लगता है॥ ४७॥

विसर्गाद्याः श्मशानान्ता भावा देहस्य नात्मनः।
कलानामिव चन्द्रस्य कालेनाव्यक्तवर्त्मना॥ ४८॥

मैंने चन्द्रमासे यह शिक्षा ग्रहण की है कि यद्यपि जिसकी गति नहीं जानी जा सकती, उस कालके प्रभावसे चन्द्रमाकी कलाएँ घटती-बढ़ती रहती हैं, तथापि चन्द्रमा तो चन्द्रमा ही है, वह न घटता है और न बढ़ता ही है; वैसे ही जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त जितनी भी अवस्थाएँ हैं, सब शरीरकी हैं, आत्मासे उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है॥ ४८॥

कालेन ह्योघवेगेन भूतानां प्रभवाप्ययौ।
नित्यावपि न दृश्येते आत्मनोऽग्नेर्यथार्चिषाम्॥ ४९॥

जैसे आगकी लपट अथवा दीपककी लौ क्षण-क्षणमें उत्पन्न और नष्ट होती रहती है—उनका यह क्रम निरन्तर चलता रहता है, परन्तु दीख नहीं पड़ता—वैसे ही जलप्रवाहके समान वेगवान् कालके द्वारा क्षण-क्षणमें प्राणियोंके शरीरकी उत्पत्ति और विनाश होता रहता है, परन्तु अज्ञानवश वह दिखायी नहीं पड़ता॥ ४९॥

गुणैर्गुणानुपादत्ते यथाकालं विमुञ्चति।
न तेषु युज्यते योगी गोभिर्गा इव गोपतिः॥ ५०॥

राजन्! मैंने सूर्यसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वे अपनी किरणोंसे पृथ्वीका जल खींचते और समयपर उसे बरसा देते हैं, वैसे ही योगी पुरुष इन्द्रियोंके द्वारा समयपर विषयोंका ग्रहण करता है और समय आनेपर उनका त्याग—उनका दान भी कर देता है। किसी भी समय उसे इन्द्रियके किसी भी विषयमें आसक्ति नहीं होती॥ ५०॥

बुध्यते स्वे न भेदेन व्यक्तिस्थ इव तद्गतः।
लक्ष्यते स्थूलमतिभिरात्मा चावस्थितोऽर्कवत्॥ ५१॥

स्थूलबुद्धि पुरुषोंको जलके विभिन्न पात्रोंमें प्रतिबिम्बित हुआ

सूर्य उन्हींमें प्रविष्ट-सा होकर भिन्न-भिन्न दिखायी पड़ता है। परन्तु इससे स्वरूपतः सूर्य अनेक नहीं हो जाता; वैसे ही चल-अचल उपाधियोंके भेदसे ऐसा जान पड़ता है कि प्रत्येक व्यक्तिमें आत्मा अलग-अलग है। परन्तु जिनको ऐसा मालूम होता है, उनकी बुद्धि मोटी है। असल बात तो यह है कि आत्मा सूर्यके समान एक ही है। स्वरूपतः उसमें कोई भेद नहीं है॥ ५१॥

नातिस्नेहः प्रसङ्गो वा कर्तव्यः क्वापि केनचित्।
कुर्वन् विन्देत सन्तापं कपोत इव दीनधीः॥ ५२॥

राजन्! कहीं किसीके साथ अत्यन्त स्नेह अथवा आसक्ति न करनी चाहिये, अन्यथा उसकी बुद्धि अपना स्वातन्त्र्य खोकर दीन हो जायगी और उसे कबूतरकी तरह अत्यन्त क्लेश उठाना पड़ेगा॥ ५२॥

कपोतः कश्चनारण्ये कृतनीडो वनस्पतौ।
कपोत्या भार्यया सार्धमुवास कतिचित् समाः॥ ५३॥

राजन्! किसी जंगलमें एक कबूतर रहता था, उसने एक पेड़पर अपना घोंसला बना रखा था। अपनी मादा कबूतरीके साथ वह कई वर्षोंतक उसी घोंसलेमें रहा॥ ५३॥

कपोतौ स्नेहगुणितहृदयौ गृहधर्मिणौ।
दृष्टिं दृष्ट्याङ्गमङ्गेन बुद्धिं बुद्ध्या बबन्धतुः॥ ५४॥

उस कबूतरके जोड़ेके हृदयमें निरन्तर एक-दूसरेके प्रति स्नेहकी वृद्धि होती जाती थी। वे गृहस्थधर्ममें इतने आसक्त हो गये थे कि उन्होंने एक-दूसरेकी दृष्टि-से-दृष्टि, अंग-से-अंग और बुद्धि-से-बुद्धिको बाँध रखा था॥ ५४॥

शय्यासनाटनस्थानवार्ताक्रीडाशनादिकम् ।
मिथुनीभूय विस्रब्धौ चेरतुर्वनराजिषु॥ ५५॥

उनका एक-दूसरेपर इतना विश्वास हो गया था कि वे निःशंक

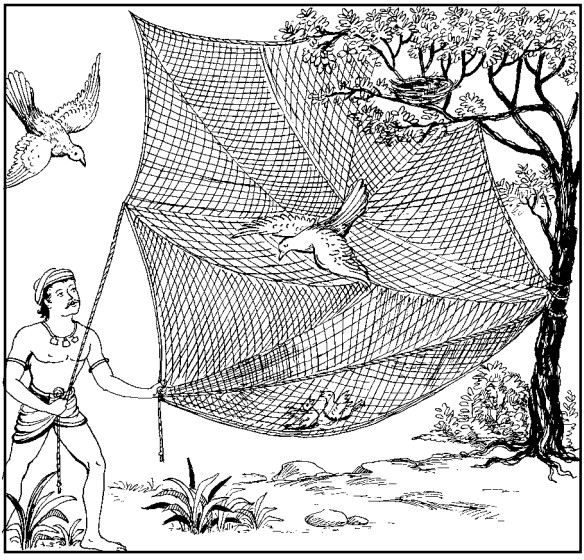

ममता और आसक्तिके कारण कपोत-दम्पतीका जालमें फँसना

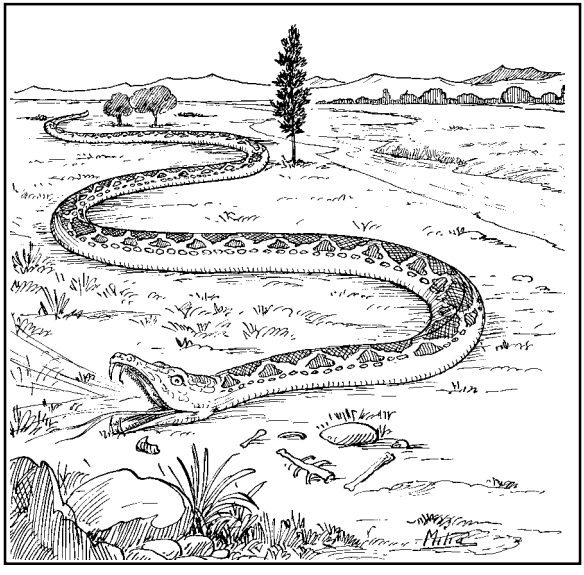

प्रारब्धानुसार प्राप्तिपर ही अजगरका निर्वाह

होकर वहाँकी वृक्षावलीमें एक साथ सोते, बैठते, घूमते-फिरते, ठहरते, बातचीत करते, खेलते और खाते-पीते थे॥ ५५॥

यं यं वाञ्छति सा राजंस्तर्पयन्त्यनुकम्पिता।
तं तं समनयत् कामं कृच्छ्रेणाप्यजितेन्द्रियः॥ ५६॥

राजन्! कबूतरीपर कबूतरका इतना प्रेम था कि वह जो कुछ चाहती, कबूतर बड़े-से-बड़ा कष्ट उठाकर उसकी कामना पूर्ण करता; वह कबूतरी भी अपने कामुक पतिकी कामनाएँ पूर्ण करती॥ ५६॥

कपोती प्रथमं गर्भं गृह्णती काल आगते।
अण्डानि सुषुवे नीडे स्वपत्युः सन्निधौ सती॥ ५७॥

समय आनेपर कबूतरीको पहला गर्भ रहा। उसने अपने पतिके पास ही घोंसलेमें अंडे दिये॥ ५७॥

तेषु काले व्यजायन्त रचितावयवा हरेः।
शक्तिभिर्दुर्विभाव्याभिः कोमलाङ्गतनूरुहाः॥ ५८॥

भगवान्‌की अचिन्त्य शक्तिसे समय आनेपर वे अंडे फूट गये और उनमेंसे हाथ-पैरवाले बच्चे निकल आये। उनका एक-एक अंग और रोएँ अत्यन्त कोमल थे॥ ५८॥

प्रजाः पुपुषतुः प्रीतौ दम्पती पुत्रवत्सलौ।
शृण्वन्तौ कूजितं तासां निर्वृतौ कलभाषितैः॥ ५९॥

अब उन कबूतर-कबूतरीकी आँखें अपने बच्चोंपर लग गयीं, वे बड़े प्रेम और आनन्दसे अपने बच्चोंका लालन-पालन, लाड़-प्यार करते और उनकी मीठी बोली, उनकी गुटर-गूँ सुन-सुनकर आनन्दमग्न हो जाते॥ ५९॥

तासां पतत्त्रैः सुस्पर्शैः कूजितैर्मुग्धचेष्टितैः।
प्रत्युद्गमैरदीनानां पितरौ मुदमापतुः॥ ६०॥

बच्चे तो सदा-सर्वदा प्रसन्न रहते ही हैं; वे जब अपने सुकुमार

पंखोंसे माँ-बापका स्पर्श करते, कूजते, भोली-भाली चेष्टाएँ करते और फुदक-फुदककर अपने माँ-बापके पास दौड़ आते, तब कबूतर-कबूतरी आनन्दमग्न हो जाते॥ ६०॥

स्नेहानुबद्धहृदयावन्योन्यं विष्णुमायया।
विमोहितौ दीनधियौ शिशून् पुपुषतुः प्रजाः॥ ६१॥

राजन्! सच पूछो तो वे कबूतर-कबूतरी भगवान्‌की मायासे मोहित हो रहे थे। उनका हृदय एक-दूसरेके स्नेहबन्धनसे बँध रहा था। वे अपने नन्हें-नन्हें बच्चोंके पालन-पोषणमें इतने व्यग्र रहते कि उन्हें दीन-दुनिया, लोक-परलोककी याद ही न आती॥ ६१॥

एकदा जग्मतुस्तासामन्नार्थं तौ कुटुम्बिनौ।
परितः कानने तस्मिन्नर्थिनौ चेरतुश्चिरम्॥ ६२॥

एक दिन दोनों नर-मादा अपने बच्चोंके लिये चारा लाने जंगलमें गये हुए थे; क्योंकि अब उनका कुटुम्ब बहुत बढ़ गया था। वे चारेके लिये चिरकालतक जंगलमें चारों ओर विचरते रहे॥ ६२॥

दृष्ट्वा ताँल्लुब्धकः कश्चिद् यदृच्छातो वनेचरः।
जगृहे जालमातत्य चरतः स्वालयान्तिके॥ ६३॥

इधर एक बहेलिया घूमता-घूमता संयोगवश उनके घोंसलेकी ओर आ निकला। उसने देखा कि घोंसलेके आस-पास कबूतरके बच्चे फुदक रहे हैं; उसने जाल फैलाकर उन्हें पकड़ लिया॥ ६३॥

कपोतश्च कपोती च प्रजापोषे सदोत्सुकौ।
गतौ पोषणमादाय स्वनीडमुपजग्मतुः॥ ६४॥

कबूतर-कबूतरी बच्चोंको खिलाने-पिलानेके लिये हर समय उत्सुक रहा करते थे। अब वे चारा लेकर अपने घोंसलेके पास आये॥ ६४॥

कपोती स्वात्मजान् वीक्ष्य बालकाञ्जालसंवृतान्।
तानभ्यधावत् क्रोशन्ती क्रोशतो भृशदुःखिता॥ ६५॥

कबूतरीने देखा कि उसके नन्हें-नन्हें बच्चे, उसके हृदयके टुकड़े जालमें फँसे हुए हैं और दुःखसे चें-चें कर रहे हैं। उन्हें ऐसी स्थितिमें देखकर कबूतरीके दुःखकी सीमा न रही। वह रोती-चिल्लाती उनके पास दौड़ गयी॥ ६५॥

सासकृत्स्नेहगुणिता दीनचित्ताजमायया।
स्वयं चाबध्यत शिचा बद्धान् पश्यन्त्यपस्मृतिः॥ ६६॥

भगवान्‌की मायासे उसका चित्त अत्यन्त दीन-दुःखी हो रहा था। वह उमड़ते हुए स्नेहकी रस्सीसे जकड़ी हुई थी; अपने बच्चोंको जालमें फँसा देखकर उसे अपने शरीरकी भी सुध-बुध न रही और वह स्वयं ही जाकर जालमें फँस गयी॥ ६६॥

कपोतश्चात्मजान् बद्धानात्मनोऽप्यधिकान् प्रियान्।
भार्यां चात्मसमां दीनो विललापातिदुःखितः॥ ६७॥

जब कबूतरने देखा कि मेरे प्राणोंसे भी प्यारे बच्चे जालमें फँस गये और मेरी प्राणप्रिया पत्नी भी उसी दशामें पहुँच गयी, तब वह अत्यन्त दुःखित होकर विलाप करने लगा। सचमुच उस समय उसकी दशा अत्यन्त दयनीय थी॥ ६७॥

अहो मे पश्यतापायमल्पपुण्यस्य दुर्मतेः।
अतृप्तस्याकृतार्थस्य गृहस्त्रैवर्गिको हतः॥ ६८॥

मैं अभागा हूँ, दुर्मति हूँ। हाय, हाय! मेरा तो सत्यानाश हो गया। देखो, देखो, न मुझे अभी तृप्ति हुई और न मेरी आशाएँ ही पूरी हुईं। तबतक मेरा धर्म, अर्थ और कामका मूल यह गृहस्थाश्रम ही नष्ट हो गया॥ ६८॥

अनुरूपानुकूला च यस्य मे पतिदेवता।
शून्ये गृहे मां सन्त्यज्य पुत्रैः स्वर्याति साधुभिः॥ ६९॥

हाय! मेरी प्राणप्यारी मुझे ही अपना इष्टदेव समझती थी; मेरी एक-एक बात मानती थी, मेरे इशारेपर नाचती थी, सब तरहसे मेरे योग्य थी। आज वह मुझे सूने घरमें छोड़कर हमारे सीधे-सादे निश्छल बच्चोंके साथ स्वर्ग सिधार रही है॥ ६९।

सोऽहं शून्ये गृहे दीनो मृतदारो मृतप्रजः।
जिजीविषे किमर्थं वा विधुरो दुःखजीवितः॥ ७०॥

मेरे बच्चे मर गये। मेरी पत्नी जाती रही। मेरा अब संसारमें क्या काम है ? मुझ दीनका यह विधुर जीवन—बिना गृहिणीका जीवन जलनका—व्यथाका जीवन है। अब मैं इस सूने घरमें किसके लिये जीऊँ?॥ ७०॥

तांस्तथैवावृताञ्छिग्भिर्मृत्युग्रस्तान् विचेष्टतः।
स्वयं च कृपणः शिक्षु पश्यन्नप्यबुधोऽपतत्॥ ७१॥

राजन्! कबूतरके बच्चे जालमें फँसकर तड़फड़ा रहे थे, स्पष्ट दीख रहा था कि वे मौतके पंजेमें हैं, परन्तु वह मूर्ख कबूतर यह सब देखते हुए भी इतना दीन हो रहा था कि स्वयं जान-बूझकर जालमें कूद पड़ा॥ ७१॥

तं लब्ध्वा लुब्धकः क्रूरः कपोतं गृहमेधिनम्।
कपोतकान् कपोतीं च सिद्धार्थः प्रययौ गृहम्॥ ७२॥

राजन्! वह बहेलिया बड़ा क्रूर था। गृहस्थाश्रमी कबूतर-कबूतरी और उनके बच्चोंके मिल जानेसे उसे बड़ी प्रसन्नता हुई; उसने समझा मेरा काम बन गया और वह उन्हें लेकर चलता बना॥ ७२॥

एवं कुटुम्ब्यशान्तात्मा द्वन्द्वारामः पतत्रिवत्।
पुष्णन् कुटुम्बं कृपणः सानुबन्धोऽवसीदति॥ ७३॥

जो कुटुम्बी है, विषयों और लोगोंके संग-साथमें ही जिसे सुख

मिलता है एवं अपने कुटुम्बके भरण-पोषणमें ही जो सारी सुध-बुध खो बैठा है, उसे कभी शान्ति नहीं मिल सकती। वह उसी कबूतरके समान अपने कुटुम्बके साथ कष्ट पाता है॥ ७३॥

यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम्।
गृहेषु खगवत् सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः॥ ७४॥

यह मनुष्य-शरीर मुक्तिका खुला हुआ द्वार है। इसे पाकर भी जो कबूतरकी तरह अपनी घर-गृहस्थीमें ही फँसा हुआ है, वह बहुत ऊँचेतक चढ़कर गिर रहा है। शास्त्रकी भाषामें वह 'आरूढ़च्युत' है॥ ७४॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे अवधूतगीतायां प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

दूसरा अध्याय

अजगरसे लेकर पिंगलातक नौ गुरुओंकी कथा

ब्राह्मण उवाच

सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गे नरक एव च।
देहिनां यद् यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद् बुधः॥ १॥

अवधूत दत्तात्रेयजी कहते हैं—राजन्! प्राणियोंको जैसे बिना इच्छाके, बिना किसी प्रयत्नके, रोकनेकी चेष्टा करनेपर भी पूर्वकर्मानुसार दुःख प्राप्त होते हैं, वैसे ही स्वर्गमें या नरकमें—कहीं भी रहें, उन्हें इन्द्रियसम्बन्धी सुख भी प्राप्त होते ही हैं। इसलिये सुख और दुःखका रहस्य जाननेवाले बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि इनके लिये इच्छा अथवा किसी प्रकारका प्रयत्न न करे॥ १॥

ग्रासं सुमृष्टं विरसं महान्तं स्तोकमेव वा।
यदृच्छयैवापतितं ग्रसेदाजगरोऽक्रियः॥ २॥

बिना माँगे, बिना इच्छा किये स्वयं ही अनायास जो कुछ मिल

जाय—वह चाहे रूखा-सूखा हो, चाहे बहुत मधुर और स्वादिष्ट, अधिक हो या थोड़ा—बुद्धिमान् पुरुष अजगरके समान उसे ही खाकर जीवननिर्वाह कर ले और उदासीन रहे॥ २॥

शयीताहानि भूरीणि निराहारोऽनुपक्रमः।
यदि नोपनमेद् ग्रासो महाहिरिव दिष्टभुक्॥ ३॥

यदि भोजन न मिले तो उसे भी प्रारब्ध-भोग समझकर किसी प्रकारकी चेष्टा न करे, बहुत दिनोंतक भूखा ही पड़ा रहे। उसे चाहिये कि अजगरके समान केवल प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए भोजनमें ही सन्तुष्ट रहे॥ ३॥

ओजःसहोबलयुतं बिभ्रद् देहमकर्मकम्।
शयानो वीतनिद्रश्च नेहेतेन्द्रियवानपि॥ ४॥

उसके शरीरमें मनोबल, इन्द्रियबल और देहबल तीनों हों तब भी वह निश्चेष्ट ही रहे। निद्रारहित होनेपर भी सोया हुआ-सा रहे और कर्मेन्द्रियोंके होनेपर भी उनसे कोई चेष्टा न करे। राजन्! मैंने अजगरसे यही शिक्षा ग्रहण की है॥ ४॥

मुनिः प्रसन्नगम्भीरो दुर्विगाह्यो दुरत्ययः।
अनन्तपारो ह्यक्षोभ्यः स्तिमितोद इवार्णवः॥ ५॥

समुद्रसे मैंने यह सीखा है कि साधकको सर्वदा प्रसन्न और गम्भीर रहना चाहिये, उसका भाव अथाह, अपार और असीम होना चाहिये तथा किसी भी निमित्तसे उसे क्षोभ नहीं होना चाहिये। उसे ठीक वैसे ही रहना चाहिये, जैसे ज्वार-भाटे और तरंगोंसे रहित शान्त समुद्र॥ ५॥

समृद्धकामो हीनो वा नारायणपरो मुनिः।
नोत्सर्पेत न शुष्येत सरिद्भिरिव सागरः॥ ६॥

देखो, समुद्र वर्षाऋतुमें नदियोंकी बाढ़के कारण बढ़ता नहीं और न ग्रीष्मऋतुमें घटता ही है; वैसे ही भगवत्परायण साधकको भी सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिसे प्रफुल्लित न होना चाहिये और न उनके

घटनेसे उदास ही होना चाहिये॥ ६॥

दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः।
प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतङ्गवत्॥ ७॥

राजन्! मैंने पतिंगेसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि जैसे वह रूपपर मोहित होकर आगमें कूद पड़ता है और जल मरता है, वैसे ही अपनी इन्द्रियोंको वशमें न रखनेवाला पुरुष जब स्त्रीको देखता है तो उसके हाव-भावपर लट्टू हो जाता है और घोर अन्धकारमें, नरकमें गिरकर अपना सत्यानाश कर लेता है। सचमुच स्त्री देवताओंकी वह माया है, जिससे जीव भगवान् या मोक्षकी प्राप्तिसे वंचित रह जाता है॥ ७॥

योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादि-
द्रव्येषु मायारचितेषु मूढः।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या
पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः॥ ८॥

जो मूढ़ कामिनी-कंचन, गहने-कपड़े आदि नाशवान् मायिक पदार्थोंमें फँसा हुआ है और जिसकी सम्पूर्ण चित्तवृत्ति उनके उपभोगके लिये ही लालायित है, वह अपनी विवेकबुद्धि खोकर पतिंगेके समान नष्ट हो जाता है॥ ८॥

स्तोकं स्तोकं ग्रसेद् ग्रासं देहो वर्तेत यावता।
गृहानहिंसन्नातिष्ठेद् वृत्तिं माधुकरीं मुनिः॥ ९॥

राजन्! संन्यासीको चाहिये कि गृहस्थोंको किसी प्रकारका कष्ट न देकर भौंरेकी तरह अपना जीवन-निर्वाह करे। वह अपने शरीरके लिये उपयोगी रोटीके कुछ टुकड़े कई घरोंसे माँग ले* ॥ ९॥

---

* नहीं तो एक ही कमलके गन्धमें आसक्त हुआ भ्रमर जैसे रात्रिके समय उसमें बन्द हो जानेसे नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार स्वादवासनासे एक ही गृहस्थका अन्न खानेसे उसके सांसर्गिक मोहमें फँसकर यति भी नष्ट हो जायगा।

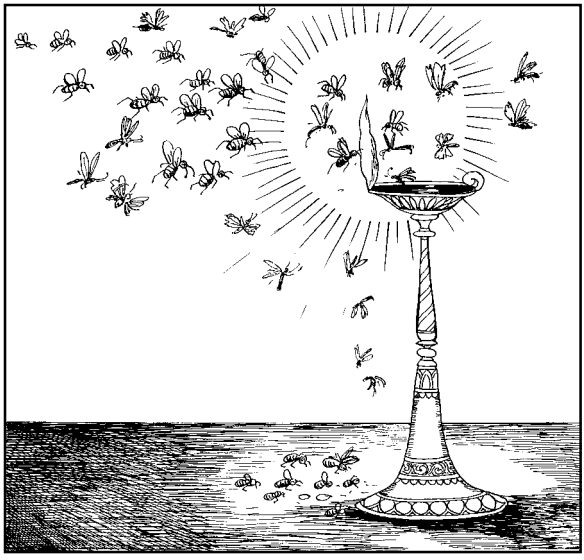

रूपपर मोहित पतंगोंका दीप-लौमें झुलसकर प्राण देना

काठकी हथिनीके मोहमें पड़कर हाथीका फँसना

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः॥ १०॥

जिस प्रकार भौंरा विभिन्न पुष्पोंसे—चाहे वे छोटे हों या बड़े—उनका सार संग्रह करता है, वैसे ही बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि छोटे-बड़े सभी शास्त्रोंसे उनका सार—उनका रस निचोड़ ले ॥ १० ॥

सायन्तनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षितम्।
पाणिपात्रोदरामत्रो मक्षिकेव न सङ्ग्रही॥ ११॥

राजन्! मैंने मधुमक्खीसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि संन्यासीको सायंकाल अथवा दूसरे दिनके लिये भिक्षाका संग्रह न करना चाहिये। उसके पास भिक्षा लेनेको कोई पात्र हो तो केवल हाथ और रखनेके लिये कोई बर्तन हो तो पेट। वह कहीं संग्रह न कर बैठे, नहीं तो मधुमक्खियोंके समान उसका जीवन ही दूभर हो जायगा॥ ११ ॥

सायन्तनं श्वस्तनं वा न संगृह्णीत भिक्षुकः।
मक्षिका इव सङ्गृह्णन् सह तेन विनश्यति॥१२॥

यह बात खूब समझ लेनी चाहिये कि संन्यासी सबेरे-शामके लिये किसी प्रकारका संग्रह न करे; यदि संग्रह करेगा, तो मधुमक्खियोंके समान अपने संग्रहके साथ ही जीवन भी गँवा बैठेगा॥ १२ ॥

पदापि युवतीं भिक्षुर्न स्पृशेद् दारवीमपि।
स्पृशन् करीव बध्येत करिण्या अङ्गसङ्गतः॥ १३॥

राजन्! मैंने हाथीसे यह सीखा कि संन्यासीको कभी पैरसे भी काठकी बनी हुई स्त्रीका भी स्पर्श न करना चाहिये। यदि वह ऐसा करेगा तो जैसे हथिनीके अंग-संगसे हाथी बँध जाता है, वैसे ही वह भी बँध जायगा* ॥ १३ ॥

---

* हाथी पकड़नेवाले तिनकोंसे ढके हुए गड्ढेपर कागजकी हथिनी खड़ी कर देते हैं। उसे देखकर हाथी वहाँ आता है और गड्ढेमें गिरकर फँस जाता है।

नाधिगच्छेत् स्त्रियं प्राज्ञः कर्हिचिन्मृत्युमात्मनः।
बलाधिकैः स हन्येत गजैरन्यैर्गजो यथा॥ १४॥

विवेकी पुरुष किसी भी स्त्रीको कभी भी भोग्यरूपसे स्वीकार न करे; क्योंकि यह उसकी मूर्तिमती मृत्यु है। यदि वह स्वीकार करेगा तो हाथियोंसे हाथीकी तरह अधिक बलवान् अन्य पुरुषोंके द्वारा मारा जायगा॥ १४॥

न देयं नोपभोग्यं च लुब्धैर्यद् दुःखसञ्चितम्।
भुङ्क्ते तदपि तच्चान्यो मधुहेवार्थवित्मधु॥ १५॥

मैंने मधु निकालनेवाले पुरुषसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि संसारके लोभी पुरुष बड़ी कठिनाईसे धनका संचय तो करते रहते हैं, किन्तु वह सञ्चित धन न किसीको दान करते हैं और न स्वयं उसका उपभोग ही करते हैं। बस, जैसे मधु निकालनेवाला मधुमक्खियोंद्वारा सञ्चित रसको निकाल ले जाता है, वैसे ही उनके सञ्चित धनको भी उसकी टोह रखनेवाला कोई दूसरा पुरुष ही भोगता है॥ १५॥

सुदुःखोपार्जितैर्वित्तैराशासानां गृहाशिषः।
मधुहेवाग्रतो भुङ्क्ते यतिर्वै गृहमेधिनाम्॥ १६॥

तुम देखते हो न कि मधुहारी मधुमक्खियोंका जोड़ा हुआ मधु उनके खानेसे पहले ही साफ कर जाता है; वैसे ही गृहस्थोंके बहुत कठिनाईसे सञ्चित किये पदार्थोंको, जिनसे वे सुखभोगकी अभिलाषा रखते हैं, उनसे भी पहले संन्यासी और ब्रह्मचारी भोगते हैं; क्योंकि गृहस्थ तो पहले अतिथि-अभ्यागतोंको भोजन कराकर ही स्वयं भोजन करेगा॥ १६॥

ग्राम्यगीतं न शृणुयाद् यतिर्वनचरः क्वचित्।
शिक्षेत हरिणाद् बद्धान्मृगयोर्गीतमोहितात्॥ १७॥

मैंने हरिनसे यह सीखा है कि वनवासी संन्यासीको कभी विषय-सम्बन्धी गीत नहीं सुनने चाहिये। वह इस बातकी शिक्षा उस हरिनसे

ग्रहण करे, जो व्याधके गीतसे मोहित होकर बँध जाता है॥ १७॥

नृत्यवादित्रगीतानि जुषन् ग्राम्याणि योषिताम्।
आसां क्रीडनको वश्य ऋष्यशृङ्गो मृगीसुतः॥ १८॥

तुम्हें इस बातका पता है कि हरिनीके गर्भसे पैदा हुए ऋष्यशृंग मुनि स्त्रियोंका विषय-सम्बन्धी गाना-बजाना, नाचना आदि देख-सुनकर उनके वशमें हो गये थे और उनके हाथकी कठपुतली बन गये थे॥ १८॥

जिह्वयातिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः।
मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा॥ १९॥

अब मैं तुम्हें मछलीकी सीख सुनाता हूँ। जैसे मछली काँटेमें लगे हुए मांसके टुकड़ेके लोभसे अपने प्राण गँवा देती है, वैसे ही स्वादका लोभी दुर्बुद्धि मनुष्य भी अपने मनको मथकर व्याकुल कर देनेवाली अपनी जिह्वाके वशमें हो जाता है और मारा जाता है ॥ १९॥

इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्धते॥ २०॥

विवेकी पुरुष भोजन बन्द करके दूसरी इन्द्रियोंपर तो बहुत शीघ्र विजय प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु इससे उनकी रसना-इन्द्रिय वशमें नहीं होती। वह तो भोजन बन्द कर देनेसे और भी प्रबल हो जाती है॥ २०॥

तावज्जितेन्द्रियो न स्याद् विजितान्येन्द्रियः पुमान्।
न जयेद् रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे॥ २१॥

मनुष्य और सब इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर लेनेपर भी तबतक जितेन्द्रिय नहीं हो सकता, जबतक रसनेन्द्रियको अपने वशमें नहीं कर लेता। और यदि रसनेन्द्रियको वशमें कर लिया, तब तो मानो सभी इन्द्रियाँ वशमें हो गयीं॥ २१॥

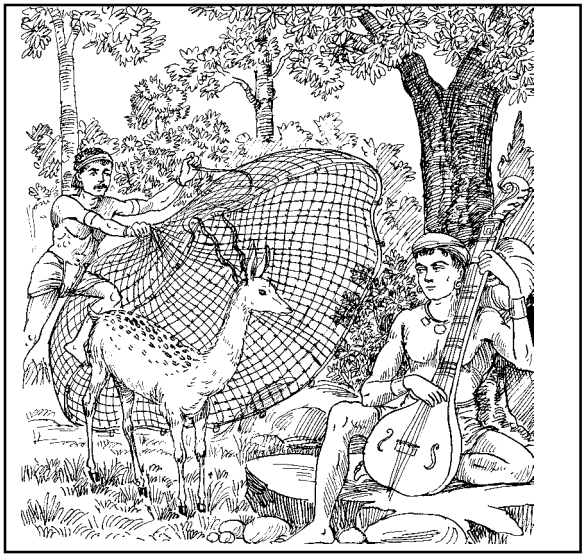

गायन-वादनपर मोहित हरिनका जालमें फँसना

मांसके टुकड़ेके लिये क्रौंचपक्षीको दूसरे पक्षियोंद्वारा मारना

पिङ्गला नाम वेश्यासीद् विदेहनगरे पुरा।
तस्या मे शिक्षितं किञ्चिन्निबोध नृपनन्दन॥ २२॥

नृपनन्दन! प्राचीन कालकी बात है कि विदेहनगरी मिथिलामें एक वेश्या रहती थी। उसका नाम था पिंगला। मैंने उससे जो कुछ शिक्षा ग्रहण की, वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ; सावधान होकर सुनो ॥ २२॥

सा स्वैरिण्येकदा कान्तं सङ्केत उपनेष्यती।
अभूत् काले बहिर्द्वारि बिभ्रती रूपमुत्तमम्॥ २३॥

वह स्वेच्छाचारिणी तो थी ही, रूपवती भी थी। एक दिन रात्रिके समय किसी पुरुषको अपने रमणस्थानमें लानेके लिये खूब बन-ठनकर—उत्तम वस्त्राभूषणोंसे सजकर बहुत देरतक अपने घरके बाहरी दरवाजेपर खड़ी रही॥ २३॥

मार्ग आगच्छतो वीक्ष्य पुरुषान् पुरुषर्षभ।
ताञ्छुल्कदान् वित्तवतः कान्तान् मेनेऽर्थकामुका॥ २४॥

नररत्न! उसे पुरुषकी नहीं, धनकी कामना थी और उसके मनमें यह कामना इतनी दृढ़मूल हो गयी थी कि वह किसी भी पुरुषको उधरसे आते-जाते देखकर यही सोचती कि यह कोई धनी है और मुझे धन देकर उपभोग करनेके लिये ही आ रहा है॥ २४॥

आगतेष्वपयातेषु सा सङ्केतोपजीविनी।
अप्यन्यो वित्तवान् कोऽपि मामुपैष्यति भूरिदः॥ २५॥

जब आने-जानेवाले आगे बढ़ जाते, तब फिर वह संकेतजीविनी वेश्या यही सोचती कि अवश्य ही अबकी बार कोई ऐसा धनी मेरे पास आयेगा जो मुझे बहुत-सा धन देगा॥ २५॥

एवं दुराशया ध्वस्तनिद्रा द्वार्यवलम्बती।
निर्गच्छन्ती प्रविशती निशीथं समपद्यत॥ २६॥

उसके चित्तकी यह दुराशा बढ़ती ही जाती थी। वह दरवाजेपर

बहुत देरतक टँगी रही। उसकी नींद भी जाती रही। वह कभी बाहर आती तो कभी भीतर जाती। इस प्रकार आधी रात हो गयी ॥ २६ ॥

तस्या वित्ताशया शुष्यद्वक्त्राया दीनचेतसः।
निर्वेदः परमो जज्ञे चिन्ताहेतुः सुखावहः॥ २७॥

राजन्! सचमुच आशा और सो भी धनकी—बहुत बुरी है। धनीकी बाट जोहते-जोहते उसका मुँह सूख गया, चित्त व्याकुल हो गया। अब उसे इस वृत्तिसे बड़ा वैराग्य हुआ। उसमें दुःख-बुद्धि हो गयी। इसमें सन्देह नहीं कि इस वैराग्यका कारण चिन्ता ही थी। परन्तु ऐसा वैराग्य भी है तो सुखका ही हेतु॥ २७॥

तस्या निर्विण्णचित्ताया गीतं शृणु यथा मम।
निर्वेद आशापाशानां पुरुषस्य यथा ह्यसिः॥ २८॥

जब पिंगलाके चित्तमें इस प्रकार वैराग्यकी भावना जाग्रत् हुई, तब उसने एक गीत गाया। वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ। राजन्! मनुष्य आशाकी फाँसीपर लटक रहा है। इसको तलवारकी तरह काटनेवाली यदि कोई वस्तु है तो वह केवल वैराग्य है॥ २८॥

न ह्यङ्गाज्जातनिर्वेदो देहबन्धं जिहासति।
यथा विज्ञानरहितो मनुजो ममतां नृप॥ २९॥

प्रिय राजन्! जिसे वैराग्य नहीं हुआ है, जो इन बखेड़ोंसे ऊबा नहीं है, वह शरीर और इसके बन्धनसे उसी प्रकार मुक्त नहीं होना चाहता, जैसे अज्ञानी पुरुष ममता छोड़नेकी इच्छा भी नहीं करता॥ २९॥

पिङ्गलोवाच

अहो मे मोहविततिं पश्यताविजितात्मनः।
या कान्तादसतः कामं कामये येन बालिशा॥ ३०॥

पिंगलाने यह गीत गाया था— हाय! हाय! मैं इन्द्रियोंके

अधीन हो गयी! भला मेरे मोहका विस्तार तो देखो, मैं इन दुष्ट पुरुषोंसे, जिनका कोई अस्तित्व ही नहीं है, विषयसुखकी लालसा करती हूँ। कितने दुःखकी बात है! मैं सचमुच मूर्ख हूँ॥ ३०॥

सन्तं समीपे रमणं रतिप्रदं
वित्तप्रदं नित्यमिमं विहाय।
अकामदं दुःखभयाधिशोक-
मोहप्रदं तुच्छमहं भजेऽज्ञा॥ ३१॥

देखो तो सही, मेरे निकट-से-निकट हृदयमें ही मेरे सच्चे स्वामी भगवान् विराजमान हैं। वे वास्तविक प्रेम, सुख और परमार्थका सच्चा धन भी देनेवाले हैं। जगत्के पुरुष अनित्य हैं और वे नित्य हैं। हाय! हाय! मैंने उनको तो छोड़ दिया और उन तुच्छ मनुष्योंका सेवन किया, जो मेरी एक भी कामना पूरी नहीं कर सकते; उलटे दुःख, भय, आधि-व्याधि, शोक और मोह ही देते हैं। यह मेरी मूर्खताकी हद है कि मैं उनका सेवन करती हूँ॥ ३१॥

अहो मयात्मा परितापितो वृथा
साङ्क्येत्यवृत्त्यातिविगर्ह्यवार्तया ।
स्त्रैणान्नराद् यार्थतृषोऽनुशोच्यात्
क्रीतेन वित्तं रतिमात्मनेच्छती॥ ३२॥

बड़े खेदकी बात है, मैंने अत्यन्त निन्दनीय आजीविका वेश्यावृत्तिका आश्रय लिया और व्यर्थमें अपने शरीर और मनको क्लेश दिया, पीड़ा पहुँचायी। मेरा यह शरीर बिक गया है। लम्पट, लोभी और निन्दनीय मनुष्योंने इसे खरीद लिया है और मैं इतनी मूर्ख हूँ कि इसी शरीरसे धन और रति-सुख चाहती हूँ। मुझे धिक्कार है!॥ ३२॥

यदस्थिभिर्निर्मितवंशवंश्य-
स्थूणं त्वचा रोमनखैः पिनद्धम्।

क्षरन्नवद्वारमगारमेतद्
विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति कान्या॥ ३३॥

यह शरीर एक घर है। इसमें हड्डियोंके टेढ़े-तिरछे बाँस और खम्भे लगे हुए हैं; चाम, रोएँ और नाखूनोंसे यह छाया गया है। इसमें नौ दरवाजे हैं, जिनसे मल निकलते ही रहते हैं। इसमें सञ्चित सम्पत्तिके नामपर केवल मल और मूत्र हैं। मेरे अतिरिक्त ऐसी कौन स्त्री है, जो इस स्थूलशरीरको अपना प्रिय समझकर सेवन करेगी॥ ३३॥

विदेहानां पुरे ह्यस्मिन्नहमेकैव मूढधीः।
यान्यमिच्छन्त्यसत्यस्मादात्मदात् काममच्युतात्॥ ३४॥

यों तो यह विदेहोंकी—जीवन्मुक्तोंकी नगरी है, परन्तु इसमें मैं ही सबसे मूर्ख और दुष्ट हूँ; क्योंकि अकेली मैं ही तो आत्मदानी, अविनाशी एवं परमप्रियतम परमात्माको छोड़कर दूसरे पुरुषकी अभिलाषा करती हूँ ॥ ३४॥

सुहृत् प्रेष्ठतमो नाथ आत्मा चायं शरीरिणाम्।
तं विक्रीयात्मनैवाहं रमेऽनेन यथा रमा॥ ३५॥

मेरे हृदयमें विराजमान प्रभु समस्त प्राणियोंके हितैषी, सुहृद्, प्रियतम, स्वामी और आत्मा हैं। अब मैं अपने-आपको देकर इन्हें खरीद लूँगी और इनके साथ वैसे ही विहार करूँगी, जैसे लक्ष्मीजी करती हैं॥ ३५॥

कियत् प्रियं ते व्यभजन् कामा ये कामदा नराः।
आद्यन्तवन्तो भार्याया देवा वा कालविद्रुताः॥ ३६॥

मेरे मूर्ख चित्त! तू बतला तो सही, जगत्के विषयभोगोंने और उनको देनेवाले पुरुषोंने तुझे कितना सुख दिया है। अरे! वे तो स्वयं ही पैदा होते और मरते रहते हैं। मैं केवल अपनी ही बात नहीं कहती,

केवल मनुष्योंकी भी नहीं; क्या देवताओंने भी भोगोंके द्वारा अपनी पत्नियोंको सन्तुष्ट किया है? वे बेचारे तो स्वयं कालके गालमें पड़े-पड़े कराह रहे हैं॥ ३६॥

नूनं मे भगवान् प्रीतो विष्णुः केनापि कर्मणा।
निर्वेदोऽयं दुराशाया यन्मे जातः सुखावहः॥ ३७॥

अवश्य ही मेरे किसी शुभकर्मसे विष्णुभगवान् मुझपर प्रसन्न हैं, तभी तो दुराशासे मुझे इस प्रकार वैराग्य हुआ है। अवश्य ही मेरा यह वैराग्य सुख देनेवाला होगा॥ ३७॥

मैवं स्युर्मन्दभाग्यायाः क्लेशा निर्वेदहेतवः।
येनानुबन्धं निर्हृत्य पुरुषः शममृच्छति॥ ३८॥

यदि मैं मन्दभागिनी होती तो मुझे ऐसे दुःख ही न उठाने पड़ते, जिनसे वैराग्य होता है। मनुष्य वैराग्यके द्वारा ही घर आदिके सब बन्धनोंको काटकर शान्तिलाभ करता है॥ ३८॥

तेनोपकृतमादाय शिरसा ग्राम्यसङ्गताः।
त्यक्त्वा दुराशाः शरणं व्रजामि तमधीश्वरम्॥ ३९॥

अब मैं भगवान्‌का यह उपकार आदरपूर्वक सिर झुकाकर स्वीकार करती हूँ और विषयभोगोंकी दुराशा छोड़कर उन्हीं जगदीश्वरकी शरण ग्रहण करती हूँ॥ ३९॥

सन्तुष्टा श्रद्दधत्येतद्यथालाभेन जीवती।
विहराम्यमुनैवाहमात्मना रमणेन वै॥ ४०॥

अब मुझे प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जायगा, उसीसे निर्वाह कर लूँगी और बड़े सन्तोष तथा श्रद्धाके साथ रहूँगी। मैं अब किसी दूसरे पुरुषकी ओर न ताककर अपने हृदयेश्वर, आत्मस्वरूप प्रभुके साथ ही विहार करूँगी॥ ४०॥

संसारकूपे पतितं विषयैर्मुषितेक्षणम्।
ग्रस्तं कालाहिनात्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः॥ ४१॥

यह जीव संसारके कुएँमें गिरा हुआ है। विषयोंने इसे अन्धा बना दिया है, कालरूपी अजगरने इसे अपने मुँहमें दबा रखा है। अब भगवान्‌को छोड़कर इसकी रक्षा करनेमें दूसरा कौन समर्थ है॥ ४१॥

आत्मैव ह्यात्मनो गोप्ता निर्विद्येत यदाखिलात्।
अप्रमत्त इदं पश्येद् ग्रस्तं कालाहिना जगत्॥ ४२॥

जिस समय जीव समस्त विषयोंसे विरक्त हो जाता है, उस समय वह स्वयं ही अपनी रक्षा कर लेता है। इसलिये बड़ी सावधानीके साथ यह देखते रहना चाहिये कि सारा जगत् कालरूपी अजगरसे ग्रस्त है॥ ४२॥

ब्राह्मण उवाच

एवं व्यवसितमतिर्दुराशां कान्ततर्षजाम्।
छित्त्वोपशममास्थाय शय्यामुपविवेश सा॥ ४३॥

अवधूत दत्तात्रेयजी कहते हैं—राजन्! पिंगला वेश्याने ऐसा निश्चय करके अपने प्रिय धनियोंकी दुराशा, उनसे मिलनेकी लालसाका परित्याग कर दिया और शान्तभावसे जाकर वह अपनी सेजपर सो रही॥ ४३॥

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला॥ ४४॥

सचमुच आशा ही सबसे बड़ा दुःख है और निराशा ही सबसे बड़ा सुख है; क्योंकि पिंगला वेश्याने जब पुरुषकी आशा त्याग दी, तभी वह सुखसे सो सकी॥ ४४॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे अवधूतगीतायां द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

तीसरा अध्याय

कुररसे लेकर भृंगीतक सात गुरुओंकी कथा

ब्राह्मण उवाच

परिग्रहो हि दुःखाय यद् यत्प्रियतमं नृणाम्।
अनन्तं सुखमाप्नोति तद् विद्वान् यस्त्वकिञ्चनः॥ १॥

अवधूत दत्तात्रेयजीने कहा—राजन्! मनुष्योंको जो वस्तुएँ अत्यन्त प्रिय लगती हैं, उन्हें इकट्ठा करना ही उनके दुःखका कारण है। जो बुद्धिमान् पुरुष यह बात समझकर अकिंचनभावसे रहता है—शरीरकी तो बात ही अलग, मनसे भी किसी वस्तुका संग्रह नहीं करता—उसे अनन्त सुखस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है॥ १॥

सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनो ये निरामिषाः।
तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत॥ २॥

एक कुरर (क्रौंच) पक्षी अपनी चोंचमें मांसका टुकड़ा लिये हुए था। उस समय दूसरे बलवान् पक्षी, जिनके पास मांस नहीं था, उससे छीननेके लिये उसे घेरकर चोंचें मारने लगे। जब कुरर पक्षीने अपनी चोंचसे मांसका टुकड़ा फेंक दिया, तभी उसे सुख मिला॥ २॥

न मे मानावमानौ स्तो न चिन्ता गेहपुत्रिणाम्।
आत्मक्रीड आत्मरतिर्विचरामीह बालवत्॥ ३॥

मुझे मान या अपमानका कोई ध्यान नहीं है और घर एवं परिवारवालोंको जो चिन्ता होती है, वह मुझे नहीं है। मैं अपने आत्मामें ही रमता हूँ और अपने साथ ही क्रीडा करता हूँ। यह शिक्षा मैंने बालकसे ली है। अतः उसीके समान मैं भी मौजसे रहता हूँ॥ ३॥

द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्द आप्लुतौ।
यो विमुग्धो जडो बालो यो गुणेभ्यः परं गतः॥ ४॥

इस जगत्‌में दो ही प्रकारके व्यक्ति निश्चिन्त और परमानन्दमें मग्न रहते हैं—एक पुरुष तो भोला-भाला निश्चेष्ट नन्हा-सा बालक और दूसरा वह पुरुष जो गुणातीत हो गया हो॥ ४॥

क्वचित् कुमारी त्वात्मानं वृणानान् गृहमागतान्।
स्वयं तानर्हयमास क्वापि यातेषु बन्धुषु॥ ५॥

एक बार किसी कुमारी कन्याके घर उसे वरण करनेके लिये कई लोग आये हुए थे। उस दिन उसके घरके लोग कहीं बाहर गये हुए थे। इसलिये उसने स्वयं ही उनका आतिथ्य-सत्कार किया॥ ५॥

तेषामभ्यवहारार्थं शालीन् रहसि पार्थिव।
अवघ्नन्त्याः प्रकोष्ठस्थाश्चक्रुः शङ्खाः स्वनं महत्॥ ६॥

राजन्! उनको भोजन करानेके लिये वह घरके भीतर एकान्तमें धान कूटने लगी। उस समय उसकी कलाईमें पड़ी शंखकी चूड़ियाँ जोर-जोरसे बज रही थीं॥ ६॥

सा तज्जुगुप्सितं मत्वा महती व्रीडिता ततः।
बभञ्जैकैकशः शङ्खान् द्वौ द्वौ पाण्योरशेषयत्॥ ७॥

इस शब्दको निन्दित समझकर कुमारीको बड़ी लज्जा मालूम हुई* और उसने एक-एक करके सब चूड़ियाँ तोड़ डालीं और दोनों हाथोंमें केवल दो-दो चूड़ियाँ रहने दीं॥ ७॥

उभयोरप्यभूद् घोषो ह्यवघ्नन्त्याः स्म शङ्खयोः।
तत्राप्येकं निरभिददेकस्मान्नाभवद् ध्वनिः॥ ८॥

अब वह फिर धान कूटने लगी। परन्तु वे दो-दो चूड़ियाँ भी

* क्योंकि उससे उसका स्वयं धान कूटना सूचित होता था, जो कि उसकी दरिद्रताका द्योतक था।

बजने लगीं, तब उसने एक-एक चूड़ी और तोड़ दी। जब दोनों कलाइयोंमें केवल एक-एक चूड़ी रह गयी, तब किसी प्रकारकी आवाज नहीं हुई॥ ८॥

अन्वशिक्षमिमं तस्या उपदेशमरिन्दम।
लोकाननुचरन्नेताँल्लोकतत्त्वविवित्सया ॥ ९ ॥
वासे बहूनां कलहो भवेद् वार्ता द्वयोरपि।
एक एव चरेत्तस्मात् कुमार्या इव कङ्कणः॥ १०॥

रिपुदमन! उस समय लोगोंका आचार-विचार निरखने-परखनेके लिये इधर-उधर घूमता-घामता मैं भी वहाँ पहुँच गया था। मैंने उससे यह शिक्षा ग्रहण की कि जब बहुत लोग एक साथ रहते हैं तब कलह होता है और दो आदमी साथ रहते हैं तब भी बातचीत तो होती ही है; इसलिये कुमारी कन्याकी चूड़ीके समान अकेले ही विचरना चाहिये॥ ९-१०॥

मन एकत्र संयुञ्ज्याज्जितश्वासो जितासनः।
वैराग्याभ्यासयोगेन ध्रियमाणमतन्द्रितः॥ ११॥

राजन्! मैंने बाण बनानेवालेसे यह सीखा है कि आसन और श्वासको जीतकर वैराग्य और अभ्यासके द्वारा अपने मनको वशमें कर ले और फिर बड़ी सावधानीके साथ उसे एक लक्ष्यमें लगा दे॥ ११॥

यस्मिन् मनो लब्धपदं यदेत-
च्छनैः शनैर्मुञ्चति कर्मरेणून्।
सत्त्वेन वृद्धेन रजस्तमश्च
विधूय निर्वाणमुपैत्यनिन्धनम्॥ १२॥

जब परमानन्दस्वरूप परमात्मामें मन स्थिर हो जाता है, तब वह धीरे-धीरे कर्मवासनाओंकी धूलको धो बहाता है। सत्त्वगुणकी

कुमारीद्वारा दोनों हाथोंकी एक-एक चूड़ी छोड़कर शेष तोड़नेसे आवाज बन्द

तन्मयताके कारण बाण बनानेवालेको राजाकी सवारीका भान न होना

वृद्धिसे रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियोंका त्याग करके मन वैसे ही शान्त हो जाता है, जैसे ईंधनके बिना अग्नि ॥ १२ ॥

तदैवमात्मन्यवरुद्धचित्तो
न वेद किञ्चिद् बहिरन्तरं वा।
यथेषुकारो नृपतिं व्रजन्त-
मिषौ गतात्मा न ददर्श पार्श्वे॥ १३ ॥

इस प्रकार जिसका चित्त अपने आत्मामें ही स्थिर—निरुद्ध हो जाता है, उसे बाहर-भीतर कहीं किसी पदार्थका भान नहीं होता। मैंने देखा था कि एक बाण बनानेवाला कारीगर बाण बनानेमें इतना तन्मय हो रहा था कि उसके पाससे ही दलबलके साथ राजाकी सवारी निकल गयी और उसे पतातक न चला॥ १३ ॥

एकचार्यनिकेतः स्यादप्रमत्तो गुहाशयः।
अलक्ष्यमाण आचारैर्मुनिरेकोऽल्पभाषणः॥ १४॥

राजन्! मैंने साँपसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि संन्यासीको सर्पकी भाँति अकेले ही विचरण करना चाहिये, उसे मण्डली नहीं बाँधनी चाहिये, मठ तो बनाना ही नहीं चाहिये। वह एक स्थानमें न रहे, प्रमाद न करे, गुहा आदिमें पड़ा रहे, बाहरी आचारोंसे पहचाना न जाय। किसीसे सहायता न ले और बहुत कम बोले॥ १४॥

गृहारम्भोऽतिदुःखाय विफलश्चाध्रुवात्मनः।
सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते॥ १५॥

इस अनित्य शरीरके लिये घर बनानेके बखेड़ेमें पड़ना व्यर्थ और दुःखकी जड़ है। साँप दूसरेके बनाये घरमें घुसकर बड़े आरामसे अपना समय काटता है॥ १५॥

एको नारायणो देवः पूर्वसृष्टं स्वमायया।
संहृत्य कालकलया कल्पान्त इदमीश्वरः॥ १६॥

एक एवाद्वितीयोऽभूदात्माधारोऽखिलाश्रयः।
कालेनात्मानुभावेन साम्यं नीतासु शक्तिषु।
सत्त्वादिष्वादिपुरुषः प्रधानपुरुषेश्वरः॥ १७॥
परावराणां परम आस्ते कैवल्यसंज्ञितः।
केवलानुभवानन्दसन्दोहो निरुपाधिकः॥ १८॥
केवलात्मानुभावेन स्वमायां त्रिगुणात्मिकाम्।
संक्षोभयन् सृजत्यादौ तया सूत्रमरिन्दम॥ १९॥
तामाहुस्त्रिगुणव्यक्तिं सृजन्तीं विश्वतोमुखम्।
यस्मिन् प्रोतमिदं विश्वं येन संसरते पुमान्॥ २०॥

अब मकड़ीसे ली हुई शिक्षा सुनो। सबके प्रकाशक और अन्तर्यामी सर्वशक्तिमान् भगवान्ने पूर्वकल्पमें बिना किसी अन्य सहायकके अपनी ही मायासे रचे हुए जगत्को कल्पके अन्तमें (प्रलयकाल उपस्थित होनेपर) कालशक्तिके द्वारा नष्ट कर दिया—उसे अपनेमें लीन कर लिया और सजातीय, विजातीय तथा स्वगतभेदसे शून्य अकेले ही शेष रह गये। वे सबके अधिष्ठान हैं, सबके आश्रय हैं, परन्तु स्वयं अपने आश्रय—अपने ही आधारसे रहते हैं, उनका कोई दूसरा आधार नहीं है। वे प्रकृति और पुरुष दोनोंके नियामक, कार्य और कारणात्मक जगत्के आदिकारण परमात्मा अपनी शक्ति कालके प्रभावसे सत्त्व-रज आदि समस्त शक्तियोंको साम्यावस्थामें पहुँचा देते हैं और स्वयं कैवल्यरूपसे एक और अद्वितीयरूपसे विराजमान रहते हैं। वे केवल अनुभवस्वरूप और आनन्दघनमात्र हैं। किसी भी प्रकारकी उपाधिका उनसे सम्बन्ध नहीं है। वे ही प्रभु केवल अपनी शक्ति कालके द्वारा अपनी त्रिगुणमयी मायाको क्षुब्ध करते हैं और उससे पहले क्रियाशक्ति-प्रधान सूत्र (महत्तत्त्व) की रचना करते हैं। यह सूत्ररूप महत्तत्त्व ही

तीनों गुणोंकी पहली अभिव्यक्ति है, वही सब प्रकारकी सृष्टिका मूल कारण है। उसीमें यह सारा विश्व, सूतमें ताने-बानेकी तरह ओतप्रोत है और इसीके कारण जीवको जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ना पड़ता है॥ १६—२०॥

यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णां सन्तत्य वक्त्रतः।
तया विहृत्य भूयस्तां ग्रसत्येवं महेश्वरः॥ २१॥

जैसे मकड़ी अपने हृदयसे मुँहके द्वारा जाला फैलाती है, उसीमें विहार करती है और फिर उसे निगल जाती है, वैसे ही परमेश्वर भी इस जगत्‌को अपनेमेंसे उत्पन्न करते हैं, उसमें जीवरूपसे विहार करते हैं और फिर उसे अपनेमें लीन कर लेते हैं॥ २१॥

यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया।
स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद् वापि याति तत्तत्सरूपताम्॥ २२॥

राजन्! मैंने भृंगी (बिलनी) कीड़ेसे यह शिक्षा ग्रहण की है कि यदि प्राणी स्नेहसे, द्वेषसे अथवा भयसे भी जान-बूझकर एकाग्ररूपसे अपना मन किसीमें लगा दे तो उसे उसी वस्तुका स्वरूप प्राप्त हो जाता है॥ २२॥

कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः।
याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसन्त्यजन्॥ २३॥

राजन्! जैसे भृंगी एक कीड़ेको ले जाकर दीवारपर अपने रहनेकी जगह बन्द कर देता है और वह कीड़ा भयसे उसीका चिन्तन करते-करते अपने पहले शरीरका त्याग किये बिना ही उसी शरीरसे तद्रूप हो जाता है*॥ २३॥

---

* जब उसी शरीरसे चिन्तन किये रूपकी प्राप्ति हो जाती है, तब दूसरे शरीरसे तो कहना ही क्या है? इसीलिये मनुष्यको अन्य वस्तुका चिन्तन न करके केवल परमात्माका ही चिन्तन करना चाहिये।

एवं गुरुभ्य एतेभ्य एषा मे शिक्षिता मतिः।
स्वात्मोपशिक्षितां बुद्धिं शृणु मे वदतः प्रभो॥ २४॥

राजन्! इस प्रकार मैंने इतने गुरुओंसे ये शिक्षाएँ ग्रहण कीं। अब मैंने अपने शरीरसे जो कुछ सीखा है, वह तुम्हें बताता हूँ, सावधान होकर सुनो॥ २४॥

देहो गुरुर्मम विरक्तिविवेकहेतु-
र्बिभ्रत् स्म सत्त्वनिधनं सततार्त्युदर्कम्।
तत्त्वान्यनेन विमृशामि यथा तथापि
पारक्यमित्यवसितो विचराम्यसङ्गः॥ २५॥

यह शरीर भी मेरा गुरु ही है; क्योंकि यह मुझे विवेक और वैराग्यकी शिक्षा देता है। मरना और जीना तो इसके साथ लगा ही रहता है। इस शरीरको पकड़ रखनेका फल यह है कि दुःख-पर-दुःख भोगते जाओ। यद्यपि इस शरीरसे तत्त्वविचार करनेमें सहायता मिलती है, तथापि मैं इसे अपना कभी नहीं समझता; सर्वदा यही निश्चय रखता हूँ कि एक दिन इसे सियार-कुत्ते खा जायँगे। इसीलिये मैं इससे असंग होकर विचरता हूँ॥ २५॥

जायात्मजार्थपशुभृत्यगृहाप्तवर्गान्
पुष्णाति यत्प्रियचिकीर्षुतया वितन्वन्।
स्वान्ते सकृच्छ्रमवरुद्धधनः स देहः
सृष्ट्वास्य बीजमवसीदति वृक्षधर्मा॥ २६॥

जीव जिस शरीरका प्रिय करनेके लिये ही अनेकों प्रकारकी कामनाएँ और कर्म करता है तथा स्त्री-पुत्र, धन-दौलत, हाथी-घोड़े, नौकर-चाकर, घर-द्वार और भाई-बन्धुओंका विस्तार करते हुए उनके पालन-पोषणमें लगा रहता है। बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ सहकर धनसंचय करता है। आयुष्य पूरी होनेपर वही शरीर स्वयं तो नष्ट होता ही

है, वृक्षके समान दूसरे शरीरके लिये बीज बोकर उसके लिये भी दुःखकी व्यवस्था कर जाता है॥ २६॥

जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥ २७॥

जैसे बहुत-सी सौतें अपने एक पतिको अपनी-अपनी ओर खींचती हैं, वैसे ही जीवको जीभ एक ओर—स्वादिष्ट पदार्थोंकी ओर खींचती है तो प्यास दूसरी ओर—जलकी ओर; जननेन्द्रिय एक ओर—स्त्रीसंभोगकी ओर ले जाना चाहती है तो त्वचा, पेट और कान दूसरी ओर—कोमल स्पर्श, भोजन और मधुर शब्दकी ओर खींचने लगते हैं। नाक कहीं सुन्दर गन्ध सूँघनेके लिये ले जाना चाहती है तो चंचल नेत्र कहीं दूसरी ओर सुन्दर रूप देखनेके लिये। इस प्रकार कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ दोनों ही इसे सताती रहती हैं॥ २७॥

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥ २८॥

वैसे तो भगवान्‌ने अपनी अचिन्त्य शक्ति मायासे वृक्ष, सरीसृप (रेंगनेवाले जन्तु), पशु, पक्षी, डाँस और मछली आदि अनेकों प्रकारकी योनियाँ रचीं; परन्तु उनसे उन्हें सन्तोष न हुआ। तब उन्होंने मनुष्यशरीरकी सृष्टि की। यह ऐसी बुद्धिसे युक्त है, जो ब्रह्मका साक्षात्कार कर सकती है। इसकी रचना करके वे बहुत आनन्दित हुए॥ २८॥

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥ २९॥

यद्यपि यह मनुष्य-शरीर है तो अनित्य ही—मृत्यु सदा इसके पीछे लगी रहती है। परन्तु इससे परमपुरुषार्थकी प्राप्ति हो सकती है; इसलिये अनेक जन्मोंके बाद यह अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-शरीर पाकर बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि शीघ्र-से-शीघ्र, मृत्युके पहले ही मोक्ष-प्राप्तिका प्रयत्न कर ले। इस जीवनका मुख्य उद्देश्य मोक्ष ही है। विषयभोग तो सभी योनियोंमें प्राप्त हो सकते हैं, इसलिये उनके संग्रहमें यह अमूल्य जीवन नहीं खोना चाहिये॥ २९॥

एवं सञ्जातवैराग्यो विज्ञानालोक आत्मनि।
विचरामि महीमेतां मुक्तसङ्गोऽनहङ्कृतिः॥ ३०॥

राजन्! यही सब सोच-विचारकर मुझे जगत्से वैराग्य हो गया। मेरे हृदयमें ज्ञान-विज्ञानकी ज्योति जगमगाती रहती है। न तो कहीं मेरी आसक्ति है और न कहीं अहंकार ही। अब मैं स्वच्छन्दरूपसे इस पृथ्वीमें विचरण करता हूँ ॥ ३०॥

न ह्येकस्माद् गुरोर्ज्ञानं सुस्थिरं स्यात् सुपुष्कलम्।
ब्रह्मैतदद्वितीयं वै गीयते बहुधर्षिभिः॥ ३१॥

राजन्! अकेले गुरुसे ही यथेष्ट और सुदृढ़ बोध नहीं होता, उसके लिये अपनी बुद्धिसे भी बहुत-कुछ सोचने-समझनेकी आवश्यकता है। देखो! ऋषियोंने एक ही अद्वितीय ब्रह्मका अनेकों प्रकारसे गान किया है। (यदि तुम स्वयं विचारकर निर्णय न करोगे, तो ब्रह्मके वास्तविक स्वरूपको कैसे जान सकोगे?)॥ ३१॥

श्रीभगवानुवाच

इत्युक्त्वा स यदुं विप्रस्तमामन्त्र्य गभीरधीः।
वन्दितोऽभ्यर्थितो राज्ञा ययौ प्रीतो यथागतम्॥ ३२॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—प्यारे उद्धव! गम्भीर-बुद्धि अवधूत दत्तात्रेयने राजा यदुको इस प्रकार उपदेश किया। यदुने उनकी पूजा और वन्दना की, दत्तात्रेयजी उनसे अनुमति लेकर बड़ी प्रसन्नतासे इच्छानुसार पधार गये॥ ३२॥

अवधूतवचः श्रुत्वा पूर्वेषां नः स पूर्वजः।
सर्वसङ्गविनिर्मुक्तः समचित्तो बभूव ह॥ ३३॥

हमारे पूर्वजोंके भी पूर्वज राजा यदु अवधूत दत्तात्रेयकी यह बात सुनकर समस्त आसक्तियोंसे छुटकारा पा गये और समदर्शी हो गये। (इसी प्रकार तुम्हें भी समस्त आसक्तियोंका परित्याग करके समदर्शी हो जाना चाहिये)॥ ३३॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे पारमहंस्यां संहितायामेकादशस्कन्धे अवधूतगीतायां तृतीयोऽध्यायः॥ ३॥

॥ अवधूतगीता सम्पूर्णा॥

जीवन्मुक्तगीता

[वेदान्तसारसे ओत-प्रोत अत्यन्त लघुकलेवरवाली जीवन्मुक्तगीता श्रीदत्तात्रेयजीकी रचना है, जिसमें अत्यन्त संक्षिप्त, पर सारगर्भित ढंगसे सहज-सुबोध दृष्टान्तोंद्वारा जीव तथा ब्रह्मके एकत्वका प्रतिपादन किया गया है, साथ ही जीवन्मुक्त-अवस्थाको भी सम्यक् रूपसे परिभाषित किया गया है। इसी साधकोपयोगी गीताको यहाँ सानुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है—]

जीवन्मुक्तिश्च या मुक्तिः सा मुक्तिः पिण्डपातने।
या मुक्तिः पिण्डपातेन सा मुक्तिः शुनि शूकरे॥ १॥

अपने शरीरकी आसक्तिका त्याग (देहबुद्धिका त्याग) ही वस्तुतः जीवन्मुक्ति है। शरीरके नाश होनेपर शरीरसे जो मुक्ति (मृत्यु) होती है, वह तो कूकर-शूकर आदि समस्त प्राणियोंको भी प्राप्त ही है॥ १॥

जीवः शिवः सर्वमेव भूतेष्वेवं व्यवस्थितः।
एवमेवाभिपश्यन् हि जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ २॥

शिव (परमात्मा) ही सभी प्राणियोंमें जीवरूपसे विराजमान हैं—इस प्रकार देखनेवाला अर्थात् सर्वत्र भगवद्दर्शन करनेवाला मनुष्य ही वस्तुतः जीवन्मुक्त कहा जाता है॥ २॥

एवं ब्रह्म जगत्सर्वमखिलं भासते रविः।
संस्थितं सर्वभूतानां जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ ३॥

जिस प्रकार सूर्य समस्त ब्रह्माण्डमण्डलको प्रकाशित करता रहता है, उसी प्रकार चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म समस्त प्राणियोंमें प्रकाशित होकर सर्वत्र व्याप्त है। इस ज्ञानसे परिपूर्ण मनुष्य ही वस्तुतः जीवन्मुक्त कहा जाता है॥ ३॥

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।
आत्मज्ञानी तथैवैको जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ ४॥

जैसे एक ही चन्द्रमा अनेक जलाशयोंमें प्रतिबिम्बित होकर अनेक रूपोंमें दिखायी देता है, उसी प्रकार यह अद्वितीय आत्मा अनेक देहोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे दीखनेपर भी एक ही है—इस आत्मज्ञानको प्राप्त मनुष्य ही वस्तुतः जीवन्मुक्त कहा जाता है॥ ४॥

सर्वभूते स्थितं ब्रह्म भेदाभेदो न विद्यते।
एकमेवाभिपश्यँश्च जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ ५॥

सभी प्राणियों में स्थित ब्रह्म (परमात्मा) भेद और अभेदसे परे है। (एक होनेके कारण भेदसे परे और अनेक रूपोंमें दीखनेके कारण अभेदसे परे है) इस प्रकार अद्वितीय परमतत्त्वको सर्वत्र व्याप्त देखनेवाला मनुष्य ही वस्तुतः जीवन्मुक्त कहा जाता है॥ ५॥

तत्त्वं क्षेत्रं व्योमातीतमहं क्षेत्रज्ञ उच्यते।
अहं कर्ता च भोक्ता च जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ ६॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन पंचतत्त्वोंसे बना यह शरीर ही क्षेत्र है तथा आकाशसे परे अहंकार ('मैं') ही क्षेत्रज्ञ (शरीररूपी क्षेत्रको जाननेवाला) कहा जाता है। यह 'मैं' (अहंकार) ही समस्त कर्मोंका कर्ता और कर्मफलोंका भोक्ता है। (चिदानन्दस्वरूप आत्मा नहीं)—इस ज्ञानको धारण करनेवाला ही वस्तुतः जीवन्मुक्त कहा जाता है॥ ६॥

कर्मेन्द्रियपरित्यागी ध्यानावर्जितचेतसः।
आत्मज्ञानी तथैवैको जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ ७॥

ध्यानसे भरे एकाग्र चित्तवाला और कर्मेन्द्रियोंकी हलचलसे रहित, अद्वितीय आत्मतत्त्वमें लीन ज्ञानी ही वस्तुतः जीवन्मुक्त कहा जाता है॥ ७॥

शारीरं केवलं कर्म शोकमोहादिवर्जितम्।
शुभाशुभपरित्यागी जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ ८॥

जो मनुष्य शोक और मोहसे रहित होकर यथाप्राप्त शरीरधर्मका पालन करता हुआ कर्म करता रहता है और शुभ-अशुभके भेदसे ऊपर उठ गया है, ऐसा ज्ञानी ही वस्तुतः जीवन्मुक्त कहा जाता है॥ ८॥

कर्म सर्वत्र आदिष्टं न जानाति च किञ्चन।
कर्म ब्रह्म विजानाति जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ ९॥

शास्त्रविहित कर्मके अतिरिक्त जो अन्य कुछ नहीं जानता तथा कर्मको ब्रह्मस्वरूप जानता हुआ सम्पादित करता रहता है, वही वस्तुतः जीवन्मुक्त कहा जाता है॥ ९॥

चिन्मयं व्यापितं सर्वमाकाशं जगदीश्वरम्।
सहितं सर्वभूतानां जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ १०॥

सभी प्राणियोंके हृदयाकाशमें व्याप्त चिन्मय परमात्मतत्त्वको जो जानता है, वही वस्तुतः जीवन्मुक्त कहा जाता है॥ १०॥

अनादिवर्ती भूतानां जीवः शिवो न हन्यते।
निर्वैरः सर्वभूतेषु जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ ११॥

प्राणियोंमें स्थित शिवस्वरूप जीवात्मा अनादि है और इसका नाश नहीं हो सकता—ऐसा जानकर जो सभी प्राणियोंके प्रति वैर-रहित हो जाता है, वही वस्तुतः जीवन्मुक्त कहा जाता है॥ ११॥

आत्मा गुरुस्त्वं विश्वं च चिदाकाशो न लिप्यते।
गतागतं द्वयोर्नास्ति जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ १२॥

आत्मा ही गुरुरूप और विश्वरूप है, इस चैतन्य आकाशको कुछ भी मलिन नहीं कर सकता। भूतकाल और वर्तमान दोनोंही कालके

अंश होनेसे एक ही हैं, दो नहीं, जो ऐसा जानता है, वही वस्तुतः जीवन्मुक्त कहा जाता है॥ १२॥

गर्भध्यानेन पश्यन्ति ज्ञानिनां मन उच्यते।
सोऽहं मनो विलीयन्ते जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ १३॥

अन्तःध्यानके द्वारा जिसे ज्ञानीजन देख पाते हैं, वह 'मन' कहा जाता है। उस मनको सोऽहं (वह परमतत्त्व मैं ही हूँ)-की भावनामें जो विलीन कर लेता है, वही वस्तुतः जीवन्मुक्त कहा जाता है॥ १३॥

ऊर्ध्वध्यानेन पश्यन्ति विज्ञानं मन उच्यते।
शून्यं लयं च विलयं जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ १४॥

उच्चध्यानमें स्थित होकर जिस चैतन्यका दर्शन योगीजन करते हैं, वह 'मन' कहा जाता है। उस मनको शून्य, लय तथा विलयकी प्रक्रियासे जो युक्त कर लेता है, वही वस्तुतः जीवन्मुक्त कहा जाता है॥ १४॥

अभ्यासे रमते नित्यं मनो ध्यानलयङ्गतम्।
बन्धमोक्षद्वयं नास्ति जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ १५॥

मनको ध्यानसे लय करके जो नित्य अभ्यासमें लगा रहता है और जिसे यह ज्ञान हो गया है कि बन्धन और मोक्ष दोनोंकी ही सत्ता वास्तविक नहीं है (मायिक है), वही वस्तुतः जीवन्मुक्त कहा जाता है॥ १५॥

एकाकी रमते नित्यं स्वभावगुणवर्जितम्।
ब्रह्मज्ञानरसास्वादी जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ १६॥

स्वभावसिद्ध गुणोंसे रहित होकर (ऊपर उठकर) जो एकान्तमें मग्न रहता है, वह ब्रह्मज्ञानके रसका आनन्द लेनेवाला ही वस्तुतः जीवन्मुक्त कहा जाता है॥ १६॥

हृदि ध्यानेन पश्यन्ति प्रकाशं क्रियते मनः।
सोऽहं हंसेति पश्यन्ति जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ १७॥

जो साधक अपने हृदयमें उस परमतत्त्वका 'सोऽहं—हंसः' रूपसे ध्यानकरते हैं तथा अपने चित्तको उससे प्रकाशित करते हैं,वे जीवन्मुक्त कहे जाते हैं॥ १७॥

शिवशक्तिसमात्मानं पिण्डब्रह्माण्डमेव च।
चिदाकाशं हृदं मोहं जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ १८॥

अपनी आत्माको शिव-शक्तिरूप परमात्मतत्त्व जानकर और अपने शरीर तथा ब्रह्माण्डको समान जानता हुआ जो हृदयस्थित मोहको चिदाकाशमें विलीन कर देता है, वही वस्तुतः जीवन्मुक्त कहा जाता है॥ १८॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिञ्च तुरीयावस्थितं सदा।
सोऽहं मनो विलीयेत जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ १९॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीयावस्थामें रहते हुए भी जिसका मन सदा सोऽहं (मैं वही परमात्मतत्त्व हूँ)-के भावमें मग्न रहता है, वही वस्तुतः जीवन्मुक्त कहा जाता है॥ १९॥

सोऽहं स्थितं ज्ञानमिदं सूत्रेषु मणिवत्परम्।
सोऽहं ब्रह्म निराकारं जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ २०॥

मैं वही निराकार ब्रह्म हूँ—इस सोऽहं ज्ञानधारामें जो उसी प्रकार निरन्तर स्थित रहता है, जैसे पिरोयी गयी मणिमालामें सूत्र निरन्तर विद्यमान रहता है, वही वस्तुतः जीवन्मुक्त कहा जाता है॥ २०॥

मन एव मनुष्याणां भेदाभेदस्य कारणम्।
विकल्पनैव संकल्पो जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ २१॥

विकल्प और संकल्पात्मक मन ही मनुष्योंके भेद और ऐक्यका

हेतु है, जो ऐसा जानता है (और मनके पार चला जाता है), वही वस्तुतः जीवन्मुक्त कहा जाता है॥ २१॥

मन एव विदुः प्राज्ञाः सिद्धसिद्धान्त एव च।
सदा दृढं तदा मोक्षो जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ २२॥

विद्वानोंने मनको ही जान लिया है। सिद्ध-सिद्धान्त भी यही है कि (साधनामें) मनकी दृढ़तासे ही मोक्ष प्राप्त होता है। जिसने इस सत्यको जान लिया, वही वस्तुतः जीवन्मुक्त कहा जाता है॥ २२॥

योगाभ्यासी मनःश्रेष्ठो अन्तस्त्यागी बहिर्जडः।
अन्तस्त्यागी बहिस्त्यागी जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ २३॥

मनसे अन्तर्वृत्तियोंका त्याग और बाह्यवृत्तियोंकी उपेक्षा करनेवाला योगाभ्यासी श्रेष्ठ है, किंतु अन्तः और बाह्य—दोनों वृत्तियोंका मनसे त्याग करनेवाला ही वस्तुतः जीवन्मुक्त कहा जाता है॥ २३॥

॥ इति श्रीमद्दत्तात्रेयकृता जीवन्मुक्तगीता सम्पूर्णा॥

Code 1958

हरः शरः – हरः शरः

गीताप्रेस, गोरखपुर

GITA PRESS, GORAKHPUR

गीताप्रेस, गोरखपुर— २७३००५

फोन : (०५५१) २३३४७२१, फैक्स : २३३६९९७

****

PRASHNOAPNISHAD

(Hindi)

****

तृतीय प्रश्न

विषय — पृष्ठ-संख्या

१९.कौसल्यका प्रश्न—प्राणके उत्पत्ति, स्थिति और लय आदि किस प्रकार होते हैं? ४३

२०.पिप्पलाद मुनिका उत्तर ४४

२१.प्राणकी उत्पत्ति ४५

२२.प्राणका इन्द्रियाधिष्ठातृत्व ४६

२३.पञ्च प्राणोंकी स्थिति ४७

२४.लिङ्गदेहकी स्थिति ४८

२५.प्राणोत्क्रमणका प्रकार ५०

२६.बाह्य प्राणादिका निरूपण ५१

२७.मरणकालिक संकल्पका फल ५३

चतुर्थ प्रश्न

२८.गार्ग्यका प्रश्न—सुषुप्तिमें कौन सोता है और कौन जागता है? ५७

२९.इन्द्रियोंका लयस्थान आत्मा है ६०

३०.सुषुप्तिमें जागनेवाले प्राण-भेद गार्हपत्यादि अग्निरूप हैं ६२

३१.प्राणाग्निके ऋत्विक् ६४

३२.स्वप्नदर्शनका विवरण ६६

३३.सुषुप्तिनिरूपण ७३

३४.सुषुप्तिमें जीवकी परमात्मप्राप्ति ७७

३५.अक्षरब्रह्मके ज्ञानका फल ७९

पञ्चम प्रश्न

३६.सत्यकामका प्रश्न—ओङ्कारोपासकको किस लोककी प्राप्ति होती है? ८१

॥ श्रीहरिः ॥

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१. शान्तिपाठ	९

प्रथम प्रश्न

२. सम्बन्धभाष्य	१०
३. सुकेशा आदिकी गुरूपसत्ति	१०
४. कबन्धीका प्रश्न—प्रजा किससे उत्पन्न होती है?	१३
५. रयि और प्राणकी उत्पत्ति	१४
६. आदित्य और चन्द्रमामें प्राण और रयि-दृष्टि	१५
७. संवत्सरादिमें प्रजापति आदि दृष्टि	१९
८. आदित्यका सर्वाधिष्ठानत्व	२३
९. मासादिमें प्रजापति आदि दृष्टि	२५
१०. दिन-रातका प्रजापतित्व	२६
११. अन्नका प्रजापतित्व	२७
१२. प्रजापतिव्रतका फल	२८
१३. उत्तरमार्गावलम्बियोंकी गति	२९

द्वितीय प्रश्न

१४. भार्गवका प्रश्न—प्रजाके आधारभूत कौन-कौन देवगण हैं?	३१
१५. शरीरके आधारभूत—आकाशादि	३२
१६. प्राणका प्राधान्य बतलानेवाली आख्यायिका	३३
१७. प्राणका सर्वाश्रयत्व	३६
१८. प्राणकी स्तुति	३७

विषय	पृष्ठ-संख्या
३७. ओङ्कारोपासनासे प्राप्तव्य पर अथवा अपर ब्रह्म	८२
३८. एकमात्राविशिष्ट ओङ्कारोपासनाका फल	८४
३९. द्विमात्राविशिष्ट ओङ्कारोपासनाका फल	८५
४०. त्रिमात्राविशिष्ट ओङ्कारोपासनाका फल	८६
४१. ओङ्कारकी तीन मात्राओंकी विशेषता	८९
४२. ऋगादि वेद और ओङ्कारसे प्राप्त होनेवाले लोक	९१

षष्ठ प्रश्न

४३. सुकेशाका प्रश्न—सोलह कलाओंवाला पुरुष कौन है?	९३
४४. पिप्पलादका उत्तर—वह पुरुष शरीरमें स्थित है	९६
४५. ईक्षणपूर्वक सृष्टि	१०७
४६. सृष्टिक्रम	११७
४७. नदीके दृष्टान्तसे सम्पूर्ण जगत्‌का पुरुषाश्रयत्वप्रतिपादन	१२०
४८. मरण-दुःखकी निवृत्तिमें परमात्मज्ञानका उपयोग	१२२
४९. उपदेशका उपसंहार	१२३
५०. स्तुतिपूर्वक आचार्यकी वन्दना	१२४

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

प्रश्नोपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित

इतः पूर्णं ततः पूर्णं पूर्णात्पूर्णं परात्परम्।
पूर्णानन्दं प्रपद्येऽहं सद्गुरुं शङ्करं स्वयम्॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

हे देवगण! हम कानोंसे कल्याणमय वचन सुनें। यज्ञकर्ममें समर्थ होकर नेत्रोंसे शुभ दर्शन करें। तथा स्थिर अङ्ग और शरीरोंसे स्तुति करनेवाले हमलोग देवताओंके लिये हितकर आयुका भोग करें। त्रिविध तापकी शान्ति हो।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

महान् कीर्तिमान् इन्द्र हमारा कल्याण करें, परम ज्ञानवान् [अथवा परम धनवान्] पूषा हमारा कल्याण करें, जो अरिष्टों (आपत्तियों)-के लिये चक्रके समान [घातक] हैं वह गरुड हमारा कल्याण करें तथा बृहस्पतिजी हमारा कल्याण करें। त्रिविध तापकी शान्ति हो।

प्रथम प्रश्न

सम्बन्धभाष्य

मन्त्रोक्तस्यार्थस्य विस्तरानुवादीदं ब्राह्मणमारभ्यते। ऋषिप्रश्नप्रतिवचनाख्यायिका तु विद्यास्तुतये। एवं संवत्सरब्रह्मचर्यसंवासादियुक्तैस्तपोयुक्तैर्ग्राह्या पिप्पलादादिवत्सर्वज्ञकल्पैराचार्यैर्वक्तव्या च, न सा येन केनचिदिति विद्यां स्तौति। ब्रह्मचर्यादिसाधनसूचनाच्च तत्कर्तव्यता स्यात्।

अथर्वणमन्त्रोक्त [मुण्डकोपनिषद्के] अर्थका विस्तारपूर्वक अनुवाद करनेवाली यह ब्राह्मणभागीय उपनिषद् अब आरम्भ की जाती है*। इसमें जो ऋषियोंके प्रश्न और उत्तररूप आख्यायिका है वह विद्याकी स्तुतिके लिये है। यह विद्या आगे कहे प्रकारसे एक वर्षतक ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुकुलमें रहना तथा तप आदि साधनोंसे युक्त पुरुषोंद्वारा ही ग्रहण की जानेयोग्य है तथा पिप्पलादके समान सर्वज्ञतुल्य आचार्योंसे ही कथन की जा सकती है, जिस-किसीसे नहीं—इस प्रकार विद्याकी स्तुति की जाती है। तथा ब्रह्मचर्यादि साधनोंकी सूचना देनेसे उनकी कर्तव्यता भी प्राप्त होती है।

सुकेशा आदिकी गुरूपसत्ति

ॐ सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा

* दस उपनिषदोंमें प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य—ये तीन अथर्ववेदीय हैं। इनमें मुण्डक मन्त्रभागकी है तथा शेष दो ब्राह्मणभागकी हैं।

एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ॥ १ ॥

भरद्वाजनन्दन सुकेशा, शिबिकुमार सत्यकाम, गर्गगोत्रमें उत्पन्न हुआ सौर्यायणि (सूर्यका पोता), अश्वलकुमार कौसल्य, विदर्भदेशीय भार्गव और कत्यके पोतेका पुत्र कबन्धी—ये अपर ब्रह्मकी उपासना करनेवाले और तदनुकूल अनुष्ठानमें तत्पर छः ऋषिगण परब्रह्मके जिज्ञासु होकर भगवान् पिप्पलादके पास, यह सोचकर कि ये हमें उसके विषयमें सब कुछ बतला देंगे, हाथमें समिधा लेकर गये ॥ १ ॥

सुकेशा च नामतः, भरद्वाजस्यापत्यं भारद्वाजः; शैब्यश्च शिबेः अपत्यं शैब्यः सत्यकामो नामतः; सौर्यायणी सूर्यस्तस्यापत्यं सौर्यः तस्यापत्यं सौर्यायणिश्छान्दसः सौर्यायणीति, गार्ग्यो गर्गगोत्रोत्पन्नः, कौसल्यश्च नामतोऽश्वलस्यापत्यमाश्वलायनः; भार्गवो भृगोर्गोत्रापत्यं भार्गवो वैदर्भिः विदर्भे भवः; कबन्धी नामतः, कत्यस्यापत्यं कात्यायनः, विद्यमानः प्रपितामहो यस्य सः;

भरद्वाजका पुत्र भारद्वाज जो नामसे सुकेशा था; शिबिका पुत्र शैब्य जिसका नाम सत्यकाम था; सूर्यके पुत्रको 'सौर्य' कहते हैं उसका पुत्र सौर्यायणि जो गर्गगोत्रोत्पन्न होनेसे गार्ग्य कहलाता था—यहाँ 'सौर्यायणिः'-के स्थानमें 'सौर्यायणी' [ईकारान्त] प्रयोग छान्दस है; अश्वलका पुत्र आश्वलायन जो नामसे कौसल्य था; भृगुका गोत्रज होनेसे भार्गव जो विदर्भदेशमें उत्पन्न होनेसे वैदर्भि कहलाता था तथा कबन्धी नामक कात्यायन—कत्यका [युवसंज्ञक] अपत्य [यानी कत्यका प्रपौत्र] जिसका प्रपितामह अभी विद्यमान था। यहाँ 'युव' अर्थमें [गोत्रप्रत्ययान्त कात्य शब्दसे

१. 'जीवति तु वंश्ये युवा' (४।१।१६३) इस पाणिनि-सूत्रके अनुसार पितामहके जीवित रहते जो पोतेके सन्तान होती है उसकी 'युवा' संज्ञा है।

युवप्रत्ययः। ते हैते ब्रह्मपरा अपरं ब्रह्म परत्वेन गतास्तदनुष्ठाननिष्ठाश्च ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणाः—किं तत् ? यन्नित्यं विज्ञेयमिति तत्प्राप्त्यर्थं यथाकामं यतिष्याम इत्येवं तदन्वेषणं कुर्वन्तस्तदधिगमायैष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीत्याचार्यमुपजग्मुः। कथम् ? ते ह समित्पाणयः समिद्भारगृहीतहस्ताः सन्तो भगवन्तं पिप्पलादमाचार्यमुपसन्ना उपजग्मुः॥ १॥

'फक्' प्रत्यय होकर उसके स्थानमें 'आयन' आदेश] हुआ है। ये सब ब्रह्मपर अर्थात् अपर ब्रह्मको ही परभावसे प्राप्त हुए और तदनुकूल अनुष्ठानमें तत्पर अतएव ब्रह्मनिष्ठ ऋषिगण परब्रह्मका अन्वेषण करते हुए—वह ब्रह्म क्या है? जो नित्य और विज्ञेय है; उसकी प्राप्तिके लिये ही हम यथेच्छ प्रयत्न करेंगे—इस प्रकार उसकी खोज करते हुए, उसे जाननेके लिये यह समझकर कि 'ये हमें सब कुछ बतला देंगे' आचार्यके पास गये। किस प्रकार गये? [इसपर कहते हैं—] वे सब समित्पाणि अर्थात् जिन्होंने अपने हाथोंमें समिधाके भार उठा रखे हैं ऐसे होकर पूज्य आचार्य भगवान् पिप्पलादके समीप गये॥ १॥

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति॥ २॥

कहते हैं, उस ऋषिने उनसे कहा—'तुम तपस्या, ब्रह्मचर्य और श्रद्धासे युक्त होकर एक वर्ष और निवास करो; फिर अपने इच्छानुसार प्रश्न करना, यदि मैं जानता होऊँगा तो तुम्हें सब बतला दूँगा'॥ २॥

तानेवमुपगतान्ह स किल ऋषिरुवाच भूयः पुनरेव यद्यपि यूयं पूर्वं तपस्विन एव तपसेन्द्रियसंयमेन तथापीह विशेषतो ब्रह्मचर्येण श्रद्धया चास्तिक्यबुद्ध्यादरवन्तः संवत्सरं कालं संवत्स्यथ सम्यग्गुरु-शुश्रूषापराः सन्तो वत्स्यथ। ततो यथाकामं यो यस्य कामस्तमनतिक्रम्य यथाकामं यद्विषये यस्य जिज्ञासा तद्विषयान्प्रश्नान्पृच्छत। यदि तद्युष्मत्पृष्टं विज्ञास्यामः-अनुद्धतत्वप्रदर्शनार्थो यदिशब्दो नाज्ञानसंशयार्थः प्रश्ननिर्णया-दवसीयते—सर्वं ह वो वः पृष्टं वक्ष्याम इति॥ २॥

इस प्रकार अपने समीप आये हुए उन लोगोंसे पिप्पलाद ऋषिने कहा—'यद्यपि तुमलोग पहलेसे ही तपस्वी हो तो भी तप—इन्द्रियसंयम, विशेषतः ब्रह्मचर्यसे तथा श्रद्धा यानी आस्तिक्यबुद्धिसे आदरयुक्त होकर गुरुशुश्रूषामें तत्पर रह एक वर्ष और भी निवास करो। फिर अपने इच्छानुसार अर्थात् जिसकी जैसी इच्छा हो उसका अतिक्रमण न करते हुए—जिसकी जिस विषयमें जिज्ञासा हो उसी विषयमें प्रश्न करना। यदि मैं तुम्हारे पूछे हुए विषयको जानता होऊँगा तो तुम्हें तुम्हारी पूछी हुई सब बात बतला दूँगा।' यहाँ 'यदि' शब्द अपनी नम्रता प्रकट करनेके लिये है अज्ञान या संशय प्रदर्शित करनेके लिये नहीं, जैसा कि आगे प्रश्नका निर्णय करनेसे स्पष्ट हो जाता है॥ २॥

कबन्धीका प्रश्न—प्रजा किससे उत्पन्न होती है?

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ। भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति॥ ३॥

तदनन्तर (एक वर्ष गुरुकुलवास करनेके पश्चात्) कात्यायन कबन्धीने गुरुजीके पास जाकर पूछा—'भगवन्! यह सारी प्रजा किससे उत्पन्न होती है?'॥ ३॥

अथ संवत्सरादूर्ध्वं कबन्धी कात्यायन उपेत्योपगम्य पप्रच्छ पृष्टवान्। हे भगवन् कुतः कस्माद्ध वा इमा ब्राह्मणाद्याः प्रजाः प्रजायन्त उत्पद्यन्ते। अपरविद्याकर्मणोः समुच्चितयोर्यत्कार्यं या गतिस्तद्वक्तव्यमिति तदर्थोऽयं प्रश्नः॥ ३॥

तदनन्तर एक वर्ष पीछे कात्यायन कबन्धीने [गुरुजीके] समीप जाकर पूछा—'भगवन्! यह ब्राह्मणादि सम्पूर्ण प्रजा किससे उत्पन्न होती है?' अर्थात् अपरब्रह्मविषयक ज्ञान एवं कर्मके समुच्चयका जो कार्य है और उसकी जो गति है वह बतलानी चाहिये। उसीके लिये यह प्रश्न किया गया है॥ ३॥

रयि और प्राणकी उत्पत्ति

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति॥ ४॥

उससे उस पिप्पलाद मुनिने कहा—'प्रसिद्ध है कि प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छावाले प्रजापतिने तप किया। उसने तप करके रयि और प्राण यह जोड़ा उत्पन्न किया [और सोचा—] ये दोनों ही मेरी अनेक प्रकारकी प्रजा उत्पन्न करेंगे'॥ ४॥

तस्मा एवं पृष्टवते स होवाच तदपाकरणायाह। प्रजाकामः प्रजा आत्मनः सिसृक्षुर्वै प्रजापतिः सर्वात्मा सञ्जगत्स्रक्ष्यामि

अपनेसे इस प्रकार प्रश्न करनेवाले कबन्धीसे उसकी शङ्का निवृत्त करनेके लिये पिप्पलाद मुनिने कहा—प्रजाकाम अर्थात् अपनी प्रजा रचनेकी इच्छावाले प्रजापतिने 'मैं सर्वात्मा होकर जगत्की रचना

इत्येवं विज्ञानवान्यथोक्तकारी तद्भावभावितः कल्पादौ निर्वृत्तो हिरण्यगर्भः सृज्यमानानां प्रजानां स्थावरजङ्गमानां पतिः सञ्जन्मान्तरभावितं ज्ञानं श्रुतिप्रकाशितार्थविषयं तपोऽन्वालोचयदतप्यत।

अथ तु स एवं तपस्तप्त्वा श्रौतं ज्ञानमन्वालोच्य सृष्टिसाधनभूतं मिथुनमुत्पादयते मिथुनं द्वन्द्वमुत्पादितवान्। रयिं च सोममन्नं प्राणं चाग्निमत्तारम् एतावग्नीषोमावत्त्रन्नभूतौ मे मम बहुधानेकधा प्रजाः करिष्यत इत्येवं संचिन्त्याण्डोत्पत्तिक्रमेण सूर्याचन्द्रमसावकल्पयत्॥ ४॥

करूँ' इस प्रकारके विज्ञानसे सम्पन्न, यथोक्त कर्म करनेवाला (जगद्रचनामें उपयुक्त ज्ञान और कर्मके समुच्चयका अनुष्ठान करनेवाला) तद्भावभावित (पूर्वकल्पीय प्रजापतित्वकी भावनासे सम्पन्न) और कल्पके आदिमें हिरण्यगर्भरूपसे उत्पन्न होकर तथा रची जानेवाली सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम प्रजाका पति होकर जन्मान्तरमें भावना किये श्रुत्यर्थविषयक ज्ञानरूप तपको तपा अर्थात् उस ज्ञानका स्मरण किया।

तदनन्तर इस प्रकार तपस्या कर अर्थात् श्रुतिप्रकाशित ज्ञानका स्मरण कर उसने सृष्टिके साधनभूत मिथुन—जोड़ेको उत्पन्न किया। उसने रयि यानी सोमरूप अन्न और प्राण यानी भोक्ता अग्निको रचा, अर्थात् यह सोचकर कि ये भोक्ता और भोग्यरूप अग्नि और सोम मेरी नाना प्रकारकी प्रजा उत्पन्न करेंगे अण्डके उत्पत्तिक्रमसे सूर्य और चन्द्रमाको रचा॥ ४॥

आदित्य और चन्द्रमामें प्राण और रयि-दृष्टि

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत् सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः॥ ५॥

निश्चय आदित्य ही प्राण है और रयि ही चन्द्रमा है। यह जो कुछ मूर्त (स्थूल) और अमूर्त (सूक्ष्म) है सब रयि ही है; अतः मूर्ति ही रयि है॥ ५॥

तत्रादित्यो ह वै प्राणोऽत्ता अग्निः। रयिरेव चन्द्रमाः, रयिः एवान्नं सोम एव। तदेतदेकमत्ता चान्नं च, प्रजापतिरेकं तु मिथुनम्, गुणप्रधानकृतो भेदः। कथम्? रयिर्वा अन्नं वा एतत् सर्वम्; किं तद्यन्मूर्तं च स्थूलं चामूर्तं च सूक्ष्मं च मूर्तामूर्ते अत्तन्नरूपे रयिरेव। तस्मात्प्रविभक्ताद् अमूर्ताद्यदन्यन्मूर्तरूपं मूर्तिः सैव रयिरमूर्तेनाद्यमानत्वात्॥ ५॥

यहाँ निश्चयपूर्वक आदित्य ही प्राण अर्थात् भोक्ता अग्नि है और रयि ही चन्द्रमा है। रयि ही अन्न है और वह चन्द्रमा ही है। यह भोक्ता (अग्नि) और अन्न एक ही है। एक प्रजापति ही यह मिथुनरूप हो गया है, इसमें भेद केवल गौण और प्रधान भावका ही है। सो किस प्रकार? [इसपर कहते हैं—]यह सब रयि—अन्न ही है। वह क्या है? यह जो मूर्त यानी स्थूल है और जो अमूर्त यानी सूक्ष्म है वह मूर्त और अमूर्त भोक्ता-भोग्यरूप होनेपर भी रयि ही है। अतः इस प्रकार विभक्त हुए अमूर्तसे अन्य जो मूर्तरूप है वही रयि—अन्न है; क्योंकि वह अमूर्त भोक्तासे भोगा जाता है॥ ५॥

तथामूर्तोऽपि प्राणोऽत्ता सर्वमेव यच्चान्नम्। कथम्—

इसी प्रकार अमूर्त प्राणरूप भोक्ता भी जो कुछ अन्न है वह सभी है। किस प्रकार—

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते॥ ६॥

जिस समय सूर्य उदित होकर पूर्व दिशामें प्रवेश करता है तो उसके द्वारा वह पूर्व दिशाके प्राणोंको अपनी किरणोंमें धारण करता है। इसी प्रकार जिस समय वह दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, नीचे, ऊपर और अवान्तर दिशाओंको प्रकाशित करता है उससे भी वह उन सबके प्राणोंको अपनी किरणोंमें धारण करता है॥ ६॥

अथादित्य उदयन्नुद्गच्छन् प्राणिनां चक्षुर्गोचरमागच्छन् यत्प्राचीं दिशं स्वप्रकाशेन प्रविशति व्याप्नोति; तेन स्वात्मव्याप्त्या सर्वांस्तत्स्थान्प्राणान् प्राच्यानन्तर्भूतान् रश्मिषु स्वात्मावभासरूपेषु व्याप्तिमत्सु व्याप्तत्वात्प्राणिनः संनिधत्ते संनिवेशयति; आत्मभूतान्करोति इत्यर्थः। तथैव यत्प्रविशति दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीमध ऊर्ध्वं यत्प्रविशति यच्चान्तरा दिशः कोणदिशोऽवान्तरदिशो यच्चान्यत् सर्वं प्रकाशयति तेन स्वप्रकाशव्याप्त्या सर्वान्सर्वदिक्स्थान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते॥ ६॥

जिस समय सूर्य उदित होकर—ऊपरकी ओर जाकर अर्थात् प्राणियोंके नेत्रोंका विषय होकर अपने प्रकाशसे पूर्व दिशामें प्रवेश करता है—उसे [अपने तेजसे] व्याप्त करता है; उसके द्वारा अपनी व्याप्तिसे वह उस (पूर्व दिशा)-में स्थित सम्पूर्ण अन्तर्भूत प्राच्य प्राणोंको अपने अवभासरूप और सर्वत्र व्याप्त किरणोंमें व्याप्त होनेके कारण वह सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करता यानी अपनेमें प्रविष्ट कर लेता है, अर्थात् उन्हें आत्मभूत कर लेता है। इसी प्रकार जब वह दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, नीचे और ऊपरकी ओर प्रवेश करता है अथवा अवान्तर दिशाओंको—कोणस्थ दिशाएँ अवान्तर दिशाएँ हैं उनको या अन्य सबको प्रकाशित करता है तो अपने प्रकाशकी व्याप्तिसे वह सम्पूर्ण—समस्त दिशाओंमें स्थित प्राणोंको अपनी किरणोंमें धारण कर लेता है॥ ६॥

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाभ्युक्तम्॥ ७॥

वह यह (भोक्ता) वैश्वानर विश्वरूप प्राण अग्नि ही प्रकट होता है। यही बात ऋक्‌ने भी कही है॥ ७॥

स एषोऽत्ता प्राणो वैश्वानरः सर्वात्मा विश्वरूपो विश्वात्मत्वाच्च प्राणोऽग्निश्च स एवान्नोदयत उद्गच्छति प्रत्यहं सर्वा दिश आत्मसात्कुर्वन्। तदेतदुक्तं वस्तु ऋचा मन्त्रेणाप्यभ्युक्तम्॥ ७॥

वह यह भोक्ता प्राण वैश्वानर (समष्टि जीवरूप), सर्वात्मा और सर्वरूप है तथा सर्वमय होनेके कारण ही प्राण और अग्निरूप है। वह भोक्ता ही प्रतिदिन सम्पूर्ण दिशाओंको आत्मभूत करता हुआ उदित होता अर्थात् ऊपरकी ओर जाता है। यह ऊपर कही बात ही ऋक् अर्थात् मन्त्रद्वारा भी कही गयी है॥ ७॥

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं
परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः
प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः॥ ८॥

सर्वरूप, रश्मिवान्, ज्ञानसम्पन्न, सबके आश्रय, ज्योतिर्मय, अद्वितीय और तपते हुए सूर्यको [विद्वानोंने अपने आत्मारूपसे जाना है]। यह सूर्य सहस्रों किरणोंवाला, सैकड़ों प्रकारसे वर्तमान और प्रजाओंके प्राणरूपसे उदित होता है॥ ८॥

विश्वरूपं सर्वरूपं हरिणं रश्मिवन्तं जातवेदसं जातप्रज्ञानं परायणं सर्वप्राणाश्रयं ज्योतिरेकं सर्वप्राणिनां चक्षुर्भूतमद्वितीयं तपन्तं तापक्रियां कुर्वाणं स्वात्मानं सूर्यं सूरयो विज्ञातवन्तो ब्रह्मविदः। कोऽसौ यं विज्ञातवन्तः? सहस्ररश्मिरनेकरश्मिः शतधानेकधा प्राणिभेदेन वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः॥ ८॥

विश्वरूप—सर्वरूप, हरिण—किरणवान्, जातवेदस्—जिसे ज्ञान प्राप्त हो गया है, परायण—सम्पूर्ण प्राणोंके आश्रय, ज्योतिः—सम्पूर्ण प्राणियोंके नेत्रस्वरूप, एक—अद्वितीय और तपते हुए यानी तपन-क्रिया करते हुए सूर्यको ब्रह्मवेत्ताओंने अपने आत्मस्वरूपसे जाना है। जिसे इस प्रकार जाना है वह कौन है? जो यह सहस्ररश्मि—अनेकों किरणोंवाला और सैकड़ों यानी अनेक प्रकारके प्राणिभेदसे वर्तमान तथा प्रजाओंका प्राणरूप सूर्य उदित होता है॥ ८॥

संवत्सरादिमें प्रजापति आदि दृष्टि

यश्चासौ चन्द्रमा मूर्तिरन्नम् अमूर्तिश्च प्राणोऽत्तादित्यस्तदेकम् एतन्मिथुनं सर्वं कथं प्रजाः करिष्यत इति उच्यते—

यह जो चन्द्रमा—मूर्ति अर्थात् अन्न है और अमूर्ति प्राण—भोक्ता अथवा सूर्य है यह एक ही जोड़ा सम्पूर्ण प्रजाको किस प्रकार उत्पन्न कर देगा? इसपर कहते हैं—

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च। तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः॥ ९॥

संवत्सर ही प्रजापति है; उसके दक्षिण और उत्तर दो अयन हैं। जो लोग इष्टापूर्तरूप कर्ममार्गका अवलम्बन करते हैं वे चन्द्रलोकपर ही विजय पाते हैं और वे ही पुनः आवागमनको प्राप्त होते हैं, अतः ये सन्तानेच्छु ऋषिलोग दक्षिण मार्गको ही प्राप्त होते हैं। [इस प्रकार] जो पितृयाण है वही रयि है ॥ ९ ॥

तदेव कालः संवत्सरो वै प्रजापतिस्तन्निर्वर्त्यत्वात्संवत्सरस्य। चन्द्रादित्यनिर्वर्त्यतिथ्यहोरात्रसमुदायो हि संवत्सरः तदनन्यत्वाद्रयिप्राणमिथुनात्मक एवेत्युच्यते। तत्कथम्? तस्य संवत्सरस्य प्रजापतेरयने मार्गौ द्वौ दक्षिणं चोत्तरं च द्वे प्रसिद्धे ह्ययने षण्मासलक्षणे याभ्यां दक्षिणेनोत्तरेण च याति सविता केवलकर्मिणां ज्ञानसंयुक्तकर्मवतां च लोकान् विदधत्।

वह मिथुन ही संवत्सररूप काल है और वही प्रजापति है, क्योंकि संवत्सर उस मिथुनसे ही निष्पन्न हुआ है। चन्द्रमा और सूर्यसे निष्पन्न होनेवाली तिथि और दिन-रात्रिके समुदायका नाम ही संवत्सर है; अतः वह (संवत्सर) रयि और प्राणसे अभिन्न होनेके कारण मिथुनरूप ही कहा जाता है। सो किस प्रकार? उस संवत्सरनामक प्रजापतिके दक्षिण और उत्तर दो अयन—मार्ग हैं। ये छः-छः मासवाले दो अयन प्रसिद्ध ही हैं, जिनसे कि सूर्य केवल कर्मपरायण और ज्ञानसंयुक्त कर्मपरायण पुरुषोंके पुण्यलोकोंका विधान करता हुआ दक्षिण तथा उत्तर मार्गोंसे गमन करता है।

कथम्? तत् तत्र च ब्राह्मणादिषु ये ह वै तदुपासत इति,

सो किस प्रकार? इसपर कहते हैं—उन ब्राह्मणादिमें जो ऋषिलोग

क्रियाविशेषणो द्वितीयस्तच्छब्दः, इष्टं च पूर्तं चेष्टापूर्ते इत्यादि कृतमेवोपासते नाकृतं नित्यं ते चान्द्रमसं चन्द्रमसि भवं प्रजापतेर्मिथुनात्मकस्यांशं रयिमन्नभूतं लोकमभिजयन्ते कृतरूपत्वाच्चान्द्रमसस्य। ते तत्रैव च कृतक्षयात्पुनरावर्तन्ते "इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति" (मु० उ० १। २। १०) इति ह्युक्तम्।

यस्मादेवं प्रजापतिमन्नात्मकं फलत्वेनाभिनिर्वर्तयन्ति चन्द्रम् इष्टापूर्तकर्मणैत ऋषयः स्वर्गद्रष्टारः प्रजाकामाः प्रजार्थिनो गृहस्थास्तस्मात्स्वकृतमेव दक्षिणं दक्षिणायनोपलक्षितं चन्द्रं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिरन्नं यः पितृयाणः पितृयाणोपलक्षितः चन्द्रः॥ ९॥

निश्चयपूर्वक उस इष्ट और पूर्त यानी इष्टापूर्त इत्यादि कृतकी ही उपासना करते हैं—अकृतकी नहीं करते वे सर्वदा चान्द्रमस—चन्द्रमामें ही होनेवाले यानी मिथुनात्मक प्रजापतिके अंश रयि अर्थात् अन्नभूत लोकको ही जीतते हैं, क्योंकि चन्द्रलोक कृत (कर्म) रूप है। श्रुतिमें दूसरा 'तत्' शब्द क्रियाविशेषण है। वे वहाँ ही अपने कर्मका क्षय होनेपर फिर लौट आते हैं, जैसा कि "इस (मनुष्य) लोक अथवा इससे भी निकृष्ट (तिर्यगादि) लोकमें प्रवेश करते हैं" इस [मुण्डक श्रुति]-में कहा है।

क्योंकि ऐसा है इसलिये ये सन्तानार्थी ऋषि—स्वर्गद्रष्टा गृहस्थलोग इष्ट और पूर्त कर्मोंद्वारा उनके फलरूपसे अन्नात्मक प्रजापति यानी चन्द्रलोकका ही निर्माण करते हैं; अतः वे अपने कर्मोंद्वारा उपार्जित दक्षिण यानी दक्षिणायनमार्गसे उपलक्षित चन्द्रलोकको ही प्राप्त होते हैं। यह जो पितृयाण अर्थात् पितृयाणसे उपलक्षित चन्द्रलोक है वह निश्चय रयि—अन्न ही है॥ ९॥

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मान-मन्विष्यादित्यमभिजयन्ते। एतद्वै प्राणानामायतनमेत-दमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः॥ १०॥

तथा तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्याद्वारा आत्माकी खोज करते हुए वे उत्तरमार्गद्वारा सूर्यलोकको प्राप्त होते हैं। यही प्राणोंका आश्रय है; यही अमृत है, यही अभय है और यही परा गति है। इससे फिर नहीं लौटते; अतः यही निरोधस्थान है। इस विषयमें यह [अगला] मन्त्र है— ॥ १० ॥

अथोत्तरेणायनेन प्रजापतेः अंशं प्राणमत्तारमादित्यमभिजयन्ते; केन? तपसेन्द्रियजयेन विशेषतो ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्यया च प्रजापत्यात्म-विषयया आत्मानं प्राणं सूर्यं जगत-स्तस्थुषश्चान्विष्याहमस्मीति विदित्वादित्यमभिजयन्तेऽभिप्राप्नुवन्ति।

तथा उत्तरायणसे वे प्रजापतिके अंश भोक्ता प्राणको यानी आदित्यको प्राप्त होते हैं। किस साधनसे प्राप्त होते हैं? तप अर्थात् इन्द्रियजयसे; विशेषतः ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और प्रजापतितादात्म्यविषयक विद्यासे अर्थात् अपनेको स्थावरजङ्गम जगत्के प्राण सूर्यरूपसे अनुसन्धानकर यानी यह समझकर कि यह [सूर्य] ही मैं हूँ आदित्यलोकपर विजय पाते अर्थात् उसे प्राप्त होते हैं।

एतद्वा आयतनं सर्वप्राणानां सामान्यमायतनमाश्रयमेतदमृत-मविनाशि। अभयमत एव भय-वर्जितं न चन्द्रवत्क्षयवृद्धिभयवत्।

निश्चय यही आयतन—सम्पूर्ण प्राणोंका सामान्य आयतन यानी आश्रय है। यही अमृत—अविनाशी है, अतः यह अभय—भयरहित है, चन्द्रमाके समान क्षयवृद्धि-रूप भययुक्त नहीं है तथा

एतत्परायणं परा गतिः विद्यावतां कर्मिणां च ज्ञानवताम्। एतस्मान्न पुनरावर्तन्ते यथेतरे केवलकर्मिण इति। यस्मादेषोऽविदुषां निरोधः। आदित्याद्धि निरुद्धा अविद्वांसो नैते संवत्सरमादित्यमात्मानं प्राणमभिप्राप्नुवन्ति। स हि संवत्सरः कालात्माविदुषां निरोधः। तत्तत्रास्मिन्नर्थ एष श्लोको मन्त्रः॥ १०॥

यही उपासकोंकी और उपासनासहित कर्मानुष्ठान करनेवालोंकी परा गति है। इस पदको प्राप्त होकर अन्य केवल कर्मपरायणोंके समान फिर नहीं लौटते, क्योंकि यह अविद्वानोंके लिये निरोध है, क्योंकि उपासनाहीन पुरुष आदित्यसे रुके हुए हैं;* ये लोग आदित्यरूप संवत्सर यानी अपने आत्मा प्राणको प्राप्त नहीं होते। वह कालरूप संवत्सर ही अविद्वानोंका निरोधस्थान है। तहाँ इस विषयमें यह श्लोक यानी मन्त्र प्रसिद्ध है॥ १०॥

आदित्यका सर्वाधिष्ठानत्व

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्। अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति॥ ११॥

अन्य कालवेत्तागण इस आदित्यको पाँच पैरोंवाला, सबका पिता, बारह आकृतियोंवाला, पुरीषी (जलवाला) और द्युलोकके परार्द्धमें स्थित बतलाते हैं तथा ये अन्य लोग उसे सर्वज्ञ और उस सात चक्र और छः अरेवालेमें ही इस जगत्‌को अर्पित बतलाते हैं॥ ११॥

पञ्चपादं पञ्चर्तवः पादा इवास्य संवत्सरात्मन आदित्यस्य तैरसौ पादैरिवर्तुभिरावर्तते।

पाँच ऋतुएँ इस संवत्सररूप आदित्यके मानो चरण हैं; इसलिये यह पञ्चपाद है, क्योंकि उन ऋतुओंसे यह चरणोंके समान

* अर्थात् वे आदित्यमण्डलको वेधकर नहीं जा सकते।

हेमन्तशिशिरावेकीकृत्येयं कल्पना। पितरं सर्वस्य जनयितृत्वात्पितृत्वं तस्य। तं द्वादशाकृतिं द्वादश मासा आकृतयोऽवयवा आकरणं वावयविकरणम् अस्य द्वादशमासैस्तं द्वादशाकृतिं दिवो द्युलोकात्पर ऊर्ध्वेऽर्धे स्थाने तृतीयस्यां दिवीत्यर्थः पुरीषिणं पुरीषवन्तमुदकवन्तमाहुः कालविदः।

घूमता रहता है। यह [पाँच ऋतुओंकी] कल्पना हेमन्त और शिशिरको एक मानकर की है। सबका उत्पत्तिकर्ता होनेके कारण उसका पितृत्व है, इसलिये उसे पिता कहा है। बारह महीने उसकी आकृतियाँ, अवयव या आकार हैं अथवा बारह महीनोंद्वारा उसका अवयवीकरण (विभाग) किया जाता है, इसलिये उसे द्वादशाकृति कहा है, तथा वह द्युलोक यानी अन्तरिक्षसे परे—ऊपरके स्थानरूप तीसरे स्वर्गलोकमें स्थित है और पुरीषी—पुरीषवान् अर्थात् जलवाला है—ऐसा कालज्ञ पुरुष कहते हैं।

अथ तमेवान्य इम उ परे कालविदो विचक्षणं निपुणं सर्वज्ञं सप्तचक्रे सप्तहयरूपेण चक्रे सततं गतिमति कालात्मनि षडरे षड्ऋतुमत्याहुः सर्वमिदं जगत्कथयन्ति; अर्पितमरा इव रथनाभौ निविष्टमिति।

तथा ये अन्य कालवेत्ता पुरुष उसीको विचक्षण—निपुण यानी सर्वज्ञ बतलाते हैं तथा सप्त अश्वरूप सात चक्र और षड्ऋतुरूप छः अरोंवाले उस निरन्तर गतिशील कालात्मामें ही रथकी नाभिमें अरोंके समान इस सम्पूर्ण जगत्को अर्पित—निविष्ट बतलाते हैं।

यदि पञ्चपादो द्वादशाकृतिर्यदि वा सप्तचक्रः षडरः सर्वथापि

चाहे पञ्चपाद और द्वादश आकृतियोंवाला हो अथवा सात चक्र और छः अरोंवाला हो सभी प्रकार

संवत्सरः कालात्मा प्रजापतिः चन्द्रादित्यलक्षणोऽपि जगतः कारणम्॥ ११॥

चन्द्रमा और सूर्यरूपसे भी कालस्वरूप संवत्सरात्मक प्रजापति ही जगत्का कारण है॥ ११॥

मासादिमें प्रजापति आदि दृष्टि

यस्मिन्निदं श्रितं विश्वं स एव प्रजापतिः संवत्सराख्यः स्वावयवे मासे कृत्स्नः परिसमाप्यते।

जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् आश्रित है वह संवत्सरनामक प्रजापति ही अपने अवयवरूप मासमें पूर्णतया परिसमाप्त हो जाता है—

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेत ऋषयः शुक्ल इष्टं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन्॥ १२॥

मास ही प्रजापति है। उसका कृष्णपक्ष ही रयि है और शुक्लपक्ष प्राण है। इसलिये ये [प्राणोपासक] ऋषिगण शुक्लपक्षमें ही यज्ञ किया करते हैं तथा दूसरे [अन्नोपासक] दूसरे पक्षमें यज्ञ करते हैं॥ १२॥

मासो वै प्रजापतिर्यथोक्तलक्षण एव मिथुनात्मकः। तस्य मासात्मनः प्रजापतेरेको भागः कृष्णपक्षो रयिरन्नं चन्द्रमाः। अपरो भागः शुक्लपक्षः प्राण आदित्योऽत्ताग्निः। यस्माच्छुक्लपक्षात्मानं प्राणं सर्वमेव पश्यन्ति तस्मात्प्राणदर्शिन एत ऋषयः

मास ही उपर्युक्त लक्षणोंवाला मिथुनात्मक प्रजापति है। उस मासस्वरूप प्रजापतिका एक भाग—कृष्णपक्ष तो रयि—अन्न अथवा चन्द्रमा है तथा दूसरा भाग—शुक्लपक्ष ही प्राण—आदित्य अर्थात् भोक्ता अग्नि है। क्योंकि वे शुक्लपक्षस्वरूप प्राणको सर्वात्मक देखते हैं और उन्हें कृष्णपक्ष भी प्राणसे भिन्न दिखलायी नहीं देता इसलिये ये प्राणदर्शी

कृष्णपक्षेऽपीष्टं यागं कुर्वन्ति प्राणव्यतिरेकेण कृष्णपक्षस्तैर्न दृश्यते यस्मात्। इतरे तु प्राणं न पश्यन्तीत्यदर्शनलक्षणं कृष्णात्मानमेव पश्यन्ति। इतरस्मिन् कृष्णपक्ष एव कुर्वन्ति शुक्ले कुर्वन्तोऽपि॥ १२॥

ऋषिलोग कृष्णपक्षमें भी [उसे शुक्लपक्षरूप समझकर ही] अपना इष्ट—याग किया करते हैं। तथा दूसरे ऋषि प्राणका दर्शन नहीं करते; इसलिये वे सबको अदर्शनात्मक कृष्णपक्षरूप ही देखते हैं और शुक्लपक्षमें यागानुष्ठान करते हुए भी इतर यानी कृष्णपक्षमें ही करते हैं॥ १२॥

दिन-रातका प्रजापतित्व

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते॥ १३॥

दिन-रात भी प्रजापति हैं। उनमें दिन ही प्राण है और रात्रि ही रयि है। जो लोग दिनके समय रतिके लिये [स्त्रीसे] संयुक्त होते हैं वे प्राणकी ही हानि करते हैं और जो रात्रिके समय रतिके लिये [स्त्रीसे] संयोग करते हैं वह तो ब्रह्मचर्य ही है॥ १३॥

सोऽपि मासात्मा प्रजापतिः स्वावयवेऽहोरात्रे परिसमाप्यते। अहोरात्रो वै प्रजापतिः पूर्ववत्। तस्याप्यहरेव प्राणोऽत्ताग्नी रात्रिरेव रयिः पूर्ववत्। प्राणमहरात्मानं वा एते प्रस्कन्दन्ति निर्गमयन्ति शोषयन्ति

वह मासात्मक प्रजापति भी अपने अवयवरूप दिन-रात्रिमें समाप्त हो जाता है। पहलेकी तरह अहोरात्रि भी प्रजापति है—उसका भी दिन ही प्राण—भोक्ता यानी अग्नि है और पूर्ववत् रात्रि ही रयि है। वे लोग दिनरूप प्राणको ही क्षीण करते—निकालते—सुखाते अथवा अपनेसे पृथक् करके

वा स्वात्मनो विच्छिद्यापनयन्ति; के? ये दिवाहनि रत्या रतिकारणभूतया सह स्त्रिया संयुज्यन्ते मिथुनं मैथुनमाचरन्ति मूढाः। यत एवं तस्मात्तन्न कर्तव्यमिति प्रतिषेधः प्रासङ्गिकः। यद्रात्रौ संयुज्यन्ते रत्या ऋतौ ब्रह्मचर्यमेव तदिति प्रशस्तत्वादृतौ भार्यागमनं कर्तव्यमित्ययमपि प्रासङ्गिको विधिः। प्रकृतं तूच्यते—सोऽहोरात्रात्मकः प्रजापतिर्व्रीहि-यवाद्यन्नात्मना व्यवस्थितः॥ १३॥

नष्ट करते हैं। कौन? जो कि मूढ़ होकर दिनके समय रति—रतिकी कारणस्वरूपा स्त्रीसे संयुक्त होते हैं, अर्थात् मिथुन यानी मैथुन करते हैं। क्योंकि ऐसी बात है इसलिये ऐसा नहीं करना चाहिये—यह प्रासङ्गिक प्रतिषेध प्राप्त होता है। तथा ऋतुकालमें जो रात्रिके समय रतिसे संयुक्त होते हैं वह तो ब्रह्मचर्य ही है; अतः प्रशस्त होनेके कारण ऋतुकालमें ही स्त्रीगमन करना चाहिये—ऐसी यह प्रासङ्गिकी विधि है, अब प्रकृत विषय [अगले मन्त्रसे] कहा जाता है। वह अहोरात्रात्मक प्रजापति [इस प्रकार क्रमशः परिणामको प्राप्त होकर] व्रीहि और यव आदि अन्नरूपसे स्थित हुआ है॥ १३॥

अन्नका प्रजापतित्व

एवं क्रमेण परिणम्य तत्—

इस प्रकार क्रमशः परिणामको प्राप्त होकर वह—

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति॥ १४॥

अन्न ही प्रजापति है; उसीसे वह वीर्य होता है और उस वीर्यहीसे यह सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न होती है॥ १४॥

अन्नं वै प्रजापतिः। कथम्? ततस्तस्माद्ध वै रेतो नृबीजं तत्प्रजाकारणं तस्माद्योषिति सिक्तादिमा मनुष्यादिलक्षणाः प्रजाः प्रजायन्ते।

अन्न ही प्रजापति है। किस प्रकार? [सो बतलाते हैं—] उस अन्नसे ही प्रजाका कारणरूप रेत—पुरुषका वीर्य उत्पन्न होता है; और स्त्रीकी योनिमें सींचे गये उस वीर्यसे ही यह मनुष्यादिरूप प्रजा उत्पन्न होती है।

यत्पृष्टं कुतो ह वै प्रजाः प्रजायन्त इति। तदेवं चन्द्रादित्यमिथुनादिक्रमेणाहोरात्रान्ते-नान्नासृग्रेतोद्वारेणेमाः प्रजाः प्रजायन्त इति निर्णीतम्॥ १४॥

हे कबन्धिन्! तूने जो पूछा था कि यह सम्पूर्ण प्रजा कहाँसे उत्पन्न होती है? सो चन्द्रमा और आदित्यरूप मिथुनसे लेकर अहोरात्रपर्यन्त क्रमसे अन्न, रक्त एवं वीर्यके द्वारा ही यह सारी प्रजा उत्पन्न होती है—ऐसा निर्णय हुआ॥ १४॥

प्रजापतिव्रतका फल

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते। तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

इस प्रकार जो भी उस प्रजापतिव्रतका आचरण करते हैं वे [कन्या-पुत्ररूप] मिथुनको उत्पन्न करते हैं। जिनमें कि तप और ब्रह्मचर्य है तथा जिनमें सत्य स्थित है उन्हींको यह ब्रह्मलोक प्राप्त होता है॥ १५॥

तत्तत्रैवं सति ये गृहस्थाः—'ह वै' इति प्रसिद्धस्मरणार्थौ

ऐसी स्थिति होनेके कारण जो गृहस्थ उस प्रजापतिव्रत—प्रजापतिके व्रतका आचरण करते हैं, यानी

निपातौ—तत्प्रजापतेर्व्रतं प्रजापतिव्रतमृतौ भार्यागमनं चरन्ति कुर्वन्ति तेषां दृष्टफलमिदम्। किम्? ते मिथुनं पुत्रं दुहितरं चोत्पादयन्ते। अदृष्टं च फलमिष्टापूर्तदत्तकारिणां तेषामेव एष यश्चान्द्रमसो ब्रह्मलोकः पितृयाणलक्षणो येषां तपः स्नातकव्रतादीनि, ब्रह्मचर्यम्—ऋतौ अन्यत्र मैथुनासमाचरणं ब्रह्मचर्यम्, येषु च सत्यमनृतवर्जनं प्रतिष्ठितमव्यभिचारितया वर्तते नित्यमेव॥ १५॥

ऋतुकालमें स्त्रीगमन करते हैं—यहाँ 'ह' और 'वै' ये निपात प्रसिद्धका स्मरण दिलानेके लिये हैं—उन (ऋतुकालाभिगामियों)-को यह दृष्ट फल मिलता है। क्या फल मिलता है? वे मिथुन यानी पुत्र और कन्या उत्पन्न करते हैं। [इस दृष्ट फलके सिवा] उन इष्ट पूर्त और दत्त कर्मकर्ताओंको, जिनमें कि स्नातकव्रतादि तप, ऋतुकालसे अन्य समय स्त्रीगमन न करनारूप ब्रह्मचर्य और असत्यत्यागरूप सत्य अव्यभिचरितरूपसे प्रतिष्ठित है यह अदृश्य फल मिलता है जो कि चन्द्रलोकमें स्थित पितृयाणरूप ब्रह्मलोक है॥ १५॥

यस्तु पुनरादित्योपलक्षित उत्तरायणः प्राणात्मभावो विरजः शुद्धो न चन्द्रब्रह्मलोकवद्रजस्वलो वृद्धिक्षयादियुक्तोऽसौ तेषां केषामित्युच्यते—

किन्तु जो चन्द्रलोकसम्बन्धी ब्रह्मलोकके समान मलयुक्त और वृद्धिक्षय आदिसे युक्त नहीं है बल्कि सूर्यसे उपलक्षित उत्तरायणसंज्ञक विरज—विशुद्ध प्राणात्मभाव है वह उन्हें प्राप्त होता है; किन्हें प्राप्त होता है? इसपर कहा जाता है—

उत्तरमार्गावलम्बियोंकी गति

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति॥ १६॥

जिनमें कुटिलता, अनृत और माया (कपट) नहीं है उन्हें यह विशुद्ध ब्रह्मलोक प्राप्त होता है॥ १६॥

यथा गृहस्थानामनेकविरुद्धसंव्यवहारप्रयोजनवत्त्वाज्जिह्मं कौटिल्यं वक्रभावोऽवश्यंभावि तथा न येषु जिह्मम्। यथा च गृहस्थानां क्रीडानर्मादिनिमित्तमनृतमवर्जनीयं तथा न येषु तत्। तथा माया गृहस्थानामिव न येषु विद्यते। माया नाम बहिरन्यथात्मानं प्रकाश्यान्यथैव कार्यं करोति सा माया मिथ्याचाररूपा। मायेत्येवमादयो दोषा येष्वधिकारिषु ब्रह्मचारिवानप्रस्थभिक्षुषु निमित्ताभावान्न विद्यन्ते तत्साधनानुरूपेणैव तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोक इत्येषा ज्ञानयुक्तकर्मवतां गतिः। पूर्वोक्तस्तु ब्रह्मलोकः केवलकर्मिणां चन्द्रलक्षण इति॥ १६॥

जिस प्रकार अनेकों विरुद्ध व्यवहाररूप प्रयोजनवाला होनेसे गृहस्थमें जिह्म—कुटिलता यानी वक्रता होना निश्चित है उस प्रकार जिनमें जिह्म नहीं है, गृहस्थोंमें जिस प्रकार क्रीडादि-निमित्तसे होनेवाला अनृत अनिवार्य है वैसा जिनमें अनृत नहीं है तथा जिनमें गृहस्थोंके समान मायाका भी अभाव है। अपने-आपको बाहरसे अन्य प्रकार प्रकट करते हुए जो अन्यथा कार्य करना है वही मिथ्याचाररूपा माया है। इस प्रकार जिन एकान्तनिष्ठ ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और भिक्षुओंमें कोई निमित्त न रहनेके कारण, माया आदि दोष नहीं हैं उन्हें उनके साधनोंकी अनुरूपतासे ही यह विशुद्ध ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। इस प्रकार यह ज्ञान (उपासना)-सहित कर्मानुष्ठान करनेवालोंकी गति कही। पूर्वोक्त चन्द्रमारूप ब्रह्मलोक तो केवल कर्मठोंके लिये ही कहा है॥ १६॥

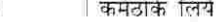

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये प्रथमः प्रश्नः॥ १॥

द्वितीय प्रश्न

भार्गवका प्रश्न—प्रजाके आधारभूत कौन-कौन देवगण हैं?

प्राणोऽत्ता प्रजापतिरित्युक्तम्। तस्य प्रजापतित्वमत्तृत्वं च अस्मिञ्शरीरेऽवधारयितव्यमिति अयं प्रश्न आरभ्यते—

प्राण भोक्ता प्रजापति है—यह पहले कहा। उसका प्रजापतित्व और भोक्तृत्व इस शरीरमें ही निश्चित करना चाहिये—इसीलिये यह प्रश्न आरम्भ किया जाता है—

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। भगवन्कत्येव देवाः प्रजा विधारयन्ते कतर एतत्प्रकाशयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ इति॥ १॥

तदनन्तर उन पिप्पलाद मुनिसे विदर्भदेशीय भार्गवने पूछा—'भगवन्! इस प्रजाको कितने देवता धारण करते हैं? उनमेंसे कौन-कौन इसे प्रकाशित करते हैं? और कौन उनमें सर्वश्रेष्ठ है?॥ १॥

अथानन्तरं ह किलैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। हे भगवन् कत्येव देवाः प्रजां शरीरलक्षणां विधारयन्ते विशेषेण धारयन्ते। कतरे बुद्धीन्द्रिय-कर्मेन्द्रियविभक्तानामेतत्प्रकाशनं स्वमाहात्म्यप्रख्यापनं प्रकाशयन्ते। कोऽसौ पुनरेषां वरिष्ठः प्रधानः कार्यकरणलक्षणानामिति॥ १॥

तदनन्तर उनसे विदर्भदेशीय भार्गवने पूछा—'हे भगवन्! इस शरीररूप प्रजाको कितने देवता विधारण करते यानी विशेषरूपसे धारण करते हैं, तथा ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंमें विभक्त हुए उन देवताओंमेंसे कौन इसे प्रकाशित करते हैं—अपने माहात्म्यको प्रकट करना ही प्रकाशन है—और इन भूत एवं इन्द्रिय देवताओंमेंसे कौन सर्वश्रेष्ठ यानी प्रधान है?'॥ १॥

शरीरके आधारभूत—आकाशादि

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः॥ २॥

तब उससे आचार्य पिप्पलादने कहा—वह देव आकाश है। वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, वाक् (सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियाँ), मन (अन्तःकरण) और चक्षु (ज्ञानेन्द्रियसमूह) [ये भी देव ही हैं]। वे सभी अपनी महिमाको प्रकट करते हुए कहते हैं—'हम ही इस शरीरको आश्रय देकर धारण करते हैं'॥ २॥

एवं पृष्टवते तस्मै स होवाच आकाशो ह वा एष देवो वायुः अग्निः आपः पृथिवीत्येतानि पञ्च महाभूतानि शरीरारम्भकाणि वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रमित्यादीनि कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियाणि च। कार्यलक्षणाः करणलक्षणाश्च ते देवा आत्मनो माहात्म्यं प्रकाश्याभिवदन्ति स्पर्धमाना अहं श्रेष्ठतायै।

इस प्रकार पूछते हुए उस भार्गवसे पिप्पलादने कहा—निश्चय आकाश ही वह देव है तथा [उसके सहित] वायु, अग्नि, जल और पृथिवी—ये शरीरको आरम्भ करनेवाले पाँच भूत एवं वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्रादि कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियाँ—ये कार्य (पञ्चभूत) और करण (इन्द्रिय)-रूप देव अपनी महिमाको प्रकट करते हुए अपनी-अपनी श्रेष्ठताके लिये परस्पर स्पर्धापूर्वक कहते हैं।

कथं वदन्ति? वयमेतद्बाणं कार्यकरणसंघातमवष्टभ्य प्रासादम्

किस प्रकार कहते हैं? [सो बतलाते हैं—] इस कार्यकरणके संघातरूप शरीरको, जिस प्रकार

इव स्तम्भादयोऽविशिथिलीकृत्य विधारयामो विस्पष्टं धारयामः। मयैवैकेनायं संघातो ध्रियत इत्येकैकस्याभिप्रायः॥ २॥

महलको स्तम्भ धारण करते हैं उसी प्रकार, आश्रय देकर उसे शिथिल न होने देकर हम स्पष्टरूपसे धारण करते हैं। उनमेंसे प्रत्येकका यही अभिप्राय रहता है कि इस संघातको अकेले मैंने ही धारण किया है॥ २॥

प्राणका प्राधान्य बतलानेवाली आख्यायिका

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच। मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति तेऽश्रद्दधाना बभूवुः॥ ३॥

[एक बार] उनसे सर्वश्रेष्ठ प्राणने कहा—'तुम मोहको प्राप्त मत होओ; मैं ही अपनेको पाँच प्रकारसे विभक्त कर इस शरीरको आश्रय देकर धारण करता हूँ।' किन्तु उन्होंने उसका विश्वास न किया॥ ३॥

तानेवमभिमानवतो वरिष्ठो मुख्यः प्राण उवाचोक्तवान्। मा मैवं मोहमापद्यथ अविवेकितया अभिमानं मा कुरुत यस्मादहमेव एतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि पञ्चधात्मानं प्रविभज्य प्राणादिवृत्तिभेदं स्वस्य कृत्वा विधारयामीत्युक्तवति च तस्मिंस्तेऽश्रद्दधाना अप्रत्ययवन्तो बभूवुः कथमेतदेवमिति॥ ३॥

इस प्रकार अभिमानयुक्त हुए उन देवोंसे वरिष्ठ—मुख्य प्राणने कहा—'इस प्रकार मोहको प्राप्त मत होओ अर्थात् अविवेकके कारण अभिमान मत करो, क्योंकि अपनेको पाँच भागोंमें विभक्त कर—अपने प्राणादि पाँच वृत्तिभेद कर मैं ही इस शरीरको आश्रय देकर धारण करता हूँ।' उसके ऐसा कहनेपर वे उसके कथनमें अश्रद्धालु—अविश्वासी ही रहे कि ऐसा कैसे हो सकता है?॥ ३॥

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते। तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति॥ ४॥

तब वह अभिमानपूर्वक मानो ऊपरको उठने लगा। उसके ऊपर उठनेके साथ और सब भी उठने लगे, तथा उसके स्थित होनेपर सब स्थित हो जाते। जिस प्रकार मधुकरराजके ऊपर उठनेपर सभी मक्खियाँ ऊपर चढ़ने लगती हैं और उसके बैठ जानेपर सभी बैठ जाती हैं उसी प्रकार वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्रादि भी [प्राणके साथ उठने और प्रतिष्ठित होने लगे]। तब वे सन्तुष्ट होकर प्राणकी स्तुति करने लगे॥ ४॥

स च प्राणस्तेषामश्रद्दधानतामालक्ष्याभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इवेदमुत्क्रान्तवानिव सरोषान्निरपेक्षस्तस्मिन्नुत्क्रामति यद्वृत्तं तद्दृष्टान्तेन प्रत्यक्षीकरोति। तस्मिन्नुत्क्रामति सत्यथानन्तरम् एवेतरे सर्व एव प्राणाश्चक्षुरादय उत्क्रामन्त उच्चक्रमिरे। तस्मिंश्च प्राणे प्रतिष्ठमाने तूष्णीं भवति अनुत्क्रामति सति सर्व एव प्रातिष्ठन्ते तूष्णीं व्यवस्थिता अभूवन्।

तब वह प्राण उनकी अश्रद्धालुताको देखकर क्रोधवश निरपेक्ष हो अभिमानपूर्वक मानो ऊपरको उठने लगा। उसके ऊपर उठनेपर जो कुछ हुआ उसे दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं— उसके ऊपर उठनेके अनन्तर ही चक्षु आदि अन्य सभी प्राण (इन्द्रियाँ) उत्क्रमण करने यानी उठने लगे। तथा उस प्राणके ही स्थित होने— चुप होने यानी उत्क्रमण न करनेपर वे सभी स्थित हो जाते—चुपचाप बैठ जाते थे,

तत्तत्र यथा लोके मक्षिका मधुकराः स्वराजानं मधुकरराजानम् उत्क्रामन्तं प्रति सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्ते प्रतितिष्ठन्ति। यथायं दृष्टान्त एवं वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रं चेत्यादयस्त उत्सृज्याश्रद्दधानतां बुद्ध्वा प्राणमाहात्म्यं प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति स्तुवन्ति॥ ४॥

जैसे कि इस लोकमें मधुमक्षिकाएँ अपने सरदार मधुकरराजके उठनेके साथ ही सब-की-सब उठ जाती हैं और उसके बैठनेपर सब-की-सब बैठ जाती हैं। जैसा यह दृष्टान्त है। वैसे ही वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्रादि भी हो गये। तब वे वागादि अपने अविश्वासको छोड़कर और प्राणकी महिमाको जानकर सन्तुष्ट हो प्राणकी स्तुति करने लगे॥ ४॥

कथम्—

किस प्रकार [स्तुति करने लगे, सो बतलाते हैं—]

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत्॥ ५॥

यह प्राण अग्नि होकर तपता है, यह सूर्य है, यह मेघ है, यही इन्द्र और वायु है तथा यह देव ही पृथिवी, रयि और जो कुछ सत्, असत् एवं अमृत है, वह सब कुछ है॥ ५॥

एष प्राणोऽग्निः संस्तपति ज्वलति। तथैष सूर्यःसन् प्रकाशते, तथैष पर्जन्यः सन् वर्षति। किं च मघवानिन्द्रः सन् प्रजाः पालयति, जिघांसत्यसुररक्षांसि। एष वायु-

यह प्राण अग्नि होकर तपता—प्रज्वलित होता है। तथा यह सूर्य होकर प्रकाशित होता है और मेघ होकर बरसता है। यही मघवा—इन्द्र होकर प्रजाका पालन करता तथा असुर और राक्षसोंका वध करना चाहता है। यही आवह-

रावहप्रवहादिभेदः। किं चैष पृथिवी रयिर्देवः सर्वस्य जगतः सन्मूर्तमसदमूर्तं चामृतं च यद्देवानां स्थितिकारणं किं बहुना॥ ५॥

प्रवह आदि भेदोंवाला वायु है। अधिक क्या यह देव ही पृथिवी और रयि (चन्द्रमा)-रूपसे सम्पूर्ण जगत्का धारक और पोषक है। सत्—स्थूल, असत्—सूक्ष्म और देवताओंकी स्थितिका कारणरूप अमृत भी यही है॥ ५॥

प्राणका सर्वाश्रयत्व

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूꣳषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च॥ ६॥

जैसे रथकी नाभिमें अरे लगे रहते हैं उसी तरह ऋक्, यजुः, साम, यज्ञ तथा क्षत्रिय और ब्राह्मण—ये सब प्राणमें ही स्थित हैं॥ ६॥

अरा इव रथनाभौ श्रद्धादि नामान्तं सर्वं स्थितिकाले प्राण एव प्रतिष्ठितम्। तथर्चो यजूंषि सामानीति त्रिविधा मन्त्राः तत्साध्यश्च यज्ञः क्षत्रं च सर्वस्य पालयितृ ब्रह्म च यज्ञादिकर्मकर्तृत्वेऽधिकृतं चैवैष प्राणः सर्वम्॥ ६॥

जिस प्रकार रथकी नाभिमें अरे लगे होते हैं उसी प्रकार जगत्के स्थितिकालमें [प्रश्न० ६। ४ में बतलाये जानेवाले] श्रद्धासे लेकर नामपर्यन्त सम्पूर्ण पदार्थ प्राणमें ही स्थित हैं। तथा ऋक्, यजुः और साम—तीन प्रकारके मन्त्र, उनसे निष्पन्न होनेवाला यज्ञ, सबका पालन करनेवाले क्षत्रिय और यज्ञादि कर्मोंके अधिकारी ब्राह्मण—ये सब भी प्राण ही हैं॥ ६॥

किं च— | तथा—

प्राणकी स्तुति

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे। तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि॥ ७॥

हे प्राण! तू ही प्रजापति है, तू ही गर्भमें सञ्चार करता है और तू ही जन्म ग्रहण करता है। यह [मनुष्यादि] सम्पूर्ण प्रजा तुझे ही बलि समर्पण करती है। क्योंकि तू समस्त इन्द्रियोंके साथ स्थित रहता है॥ ७॥

यः प्रजापतिरपि स त्वमेव गर्भे चरसि, पितुर्मातुश्च प्रतिरूपः सन्प्रतिजायसे; प्रजापतित्वादेव प्रागेव सिद्धं तव मातृपितृत्वम्। सर्वदेहदेह्याकृतिच्छद्मनैकः प्राणः सर्वात्मासीत्यर्थः। तुभ्यं त्वदर्थं या इमा मनुष्याद्याः प्रजास्तु हे प्राण चक्षुरादिद्वारैर्बलिं हरन्ति। यस्त्वं प्राणैश्चक्षुरादिभिः सह प्रतितिष्ठसि सर्वशरीरेष्वतस्तुभ्यं बलिं हरन्तीति युक्तम्; भोक्ता हि यतस्त्वं तवैवान्यत्सर्वं भोज्यम्॥ ७॥

जो प्रजापति है वह भी तू ही है; तू ही गर्भमें सञ्चार करता है और माता-पिताके अनुरूप होकर तू ही जन्म लेता है। प्रजापति होनेके कारण तेरा माता-पितारूप होना तो पहलेसे ही सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण देह और देहीके मिषसे एक तू प्राण ही सर्वात्मा है। ये जो मनुष्यादि प्रजाएँ हैं, हे प्राण! वे चक्षु आदि इन्द्रियोंके द्वारा तुझे ही बलि समर्पण करती हैं, जो तू कि चक्षु आदि इन्द्रियोंके साथ समस्त शरीरोंमें स्थित है; अतः वे तुझे ही बलि समर्पण करती हैं, उनका ऐसा करना उचित ही है,क्योंकि भोक्ता तू ही है, और अन्य सब तेरा ही भोज्य है॥ ७॥

किं च— तथा—

देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि॥ ८॥

तू देवताओंके लिये वह्नितम है, पितृगणके लिये प्रथम स्वधा है और अथर्वाङ्गिरस् ऋषियों [यानी चक्षु आदि प्राणों]-के लिये सत्य आचरण है॥ ८॥

देवानामिन्द्रादीनामसि भवसि त्वं वह्नितमो हविषां प्रापयितृतमः। पितॄणां नान्दीमुखे श्राद्धे या पितृभ्यो दीयते स्वधान्नं सा देवप्रधानमपेक्ष्य प्रथमा भवति। तस्या अपि पितृभ्यः प्रापयिता त्वमेवेत्यर्थः किं चर्षीणां चक्षुरादीनां प्राणानामङ्गिरसामङ्गिरसभूतानामथर्वणां तेषामेव "प्राणो वाथर्वा" इति श्रुतेः, चरितं चेष्टितं सत्यमवितथं देहधारणाद्युपकारलक्षणं त्वमेवासि॥ ८॥

तू इन्द्रादि देवताओंके लिये वह्नितम—हवियोंको पहुँचानेवालोंमें श्रेष्ठ है, पितृगणकी प्रथम स्वधा है—नान्दीमुख श्राद्धमें पितरोंको जो अन्नमयी स्वधा दी जाती है वह देवप्रधान कर्मकी अपेक्षासे प्रथम है, उस प्रथम स्वधाको भी पितरोंको प्राप्त करानेवाला तू ही है—ऐसा इसका भावार्थ है। तथा ऋषियों यानी चक्षु आदि प्राणोंका, जो कि "प्राणो वाथर्वा" इस श्रुतिके अनुसार अङ्गिरस्—अङ्गके रसस्वरूप* अथर्वा हैं, उनका सत्य—अवितथ अर्थात् देहधारणादिमें उपकारी चरित—आचरण भी तू ही है॥ ८॥

* प्राणोंके अभावमें शरीरको सूखते देखा गया है; अतः उन्हें अङ्गका रस कहते हैं।

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः॥ ९॥

हे प्राण! तू इन्द्र है, अपने [संहारक] तेजके कारण रुद्र है, और [सौम्यरूपसे] सब ओरसे रक्षा करनेवाला है। तू ज्योतिर्गणका अधिपति सूर्य है और अन्तरिक्षमें सञ्चार करता है॥ ९॥

इन्द्रः परमेश्वरस्त्वं हे प्राण तेजसा वीर्येण रुद्रोऽसि संहरञ्जगत्। स्थितौ च परि समन्ताद्रक्षिता पालयिता परिरक्षिता त्वमेव जगतः सौम्येन रूपेण। त्वमन्तरिक्षेऽजस्रं चरसि उदयास्तमयाभ्यां सूर्यस्त्वमेव च सर्वेषां ज्योतिषां पतिः॥ ९॥

हे प्राण! तू इन्द्र—परमेश्वर है; तू अपने तेज—वीर्यसे जगत्का संहार करनेवाला रुद्र है तथा स्थितिके समय अपने सौम्यरूपसे तू ही सब ओरसे संसारकी रक्षा—पालन करनेवाला है। तू ही उदय और अस्तके क्रमसे निरन्तर आकाशमें गमन करता है और तू ही समस्त ज्योतिर्गणोंका अधिपति सूर्य है॥ ९॥

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति॥ १०॥

हे प्राण! जिस समय तू मेघरूप होकर बरसता है उस समय तेरी यह सम्पूर्ण प्रजा यह समझकर कि 'अब यथेच्छ अन्न होगा' आनन्दरूपसे स्थित होती है॥ १०॥

यदा पर्जन्यो भूत्वाभिवर्षसि त्वमथ तदान्नं प्राप्येमाः प्रजाः प्राणते प्राणचेष्टां कुर्वन्तीत्यर्थः।

जिस समय तू मेघ होकर बरसता है उस समय यह सम्पूर्ण प्रजा अन्न पाकर प्राणन यानी प्राणक्रिया करती है—यह इसका

अथवा प्राण ते तवेमाः प्रजाः स्वात्मभूतास्त्वदन्नसंवर्धिता-स्त्वदभिवर्षणदर्शनमात्रेण चानन्द-रूपाः सुखं प्राप्ता इव सत्य-स्तिष्ठन्ति कामायेच्छातोऽन्नं भविष्यतीत्येवमभिप्रायः॥ १०॥

भावार्थ है। अथवा [यों समझो कि] हे प्राण! 'ते'—तेरा स्वात्मभूत यह प्रजावर्ग तेरे [दिये हुए] अन्नसे वृद्धिको प्राप्त होकर तेरी वृष्टिके दर्शनमात्रसे आनन्दरूप अर्थात् सुखको प्राप्त हुएके समान स्थित है। उसके आनन्दरूप होनेमें यह अभिप्राय है कि [उस वृष्टिसे उसे ऐसी आशा हो जाती है कि] 'अब यथेच्छ अन्न उत्पन्न होगा'॥ १०॥

किं च—

इसके सिवा—

व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः॥ ११॥

हे प्राण! तू व्रात्य, [संस्कारहीन] एकर्षि नामक अग्नि, भोक्ता और विश्वका सत्पति है, हम तेरा भक्ष्य देनेवाले हैं। हे वायो! तू हमारा पिता है॥ ११॥

प्रथमजत्वादन्यस्य संस्कर्तुः अभावादसंस्कृतो व्रात्यस्त्वं स्वभावत एव शुद्ध इत्यभिप्रायः। हे प्राणैकर्षिस्त्वमाथर्वणानां प्रसिद्ध एकर्षिनामाग्निः सन्नत्ता सर्व-हविषाम्। त्वमेव विश्वस्य सर्वस्य

हे प्राण! सबसे पहले उत्पन्न होनेवाला होनेसे किसी अन्य संस्कारकर्ताका अभाव होनेके कारण तू व्रात्य (संस्कारहीन) है, तात्पर्य यह है कि तू स्वभावसे ही शुद्ध है। तू आथर्वणोंका एकर्षि यानी एकर्षि नामक प्रसिद्ध अग्नि होकर सम्पूर्ण हवियोंका भोक्ता है। तथा तू ही समस्त विद्यमान जगत्का

सतो विद्यमानस्य पतिः सत्पतिः।

साधुर्वा पतिः सत्पतिः।

वयं पुनराद्यस्य तवादनीयस्य हविषो दातारः। त्वं पिता मातरिश्व हे मातरिश्वन्नोऽस्माकम्। अथ वा मातरिश्वनो वायोस्त्वम्। अतश्च सर्वस्यैव जगतः पितृत्वं सिद्धम्॥ ११॥

पति है इसलिये, अथवा [सबका] साधु पति होनेके कारण तू सत्पति है।

हम तो तेरे आद्य—भक्ष्य हविके देनेवाले हैं। हे मातरिश्वन्! तू हमारा पिता है। अथवा [यों समझो कि] तू 'मातरिश्वनः'— वायुका पिता है। अतः तुझमें सम्पूर्ण जगत्का पितृत्व सिद्ध होता है॥ ११॥

किं बहुना—

अधिक क्या—

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः॥ १२॥

तेरा जो स्वरूप वाणीमें स्थित है तथा जो श्रोत्र, नेत्र और मनमें व्याप्त है उसे तू शान्त कर। तू उत्क्रमण न कर॥ १२॥

या ते त्वदीया तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता वक्तृत्वेन वदनचेष्टां कुर्वती, या श्रोत्रे या च चक्षुषि या च मनसि सङ्कल्पादिव्यापारेण सन्तता समनुगता तनूस्तां शिवां शान्तां कुरु मोत्क्रमीरुत्क्रमणेन अशिवां मा कार्षीरित्यर्थः॥ १२॥

तेरा जो स्वरूप वक्तारूपसे बोलनेकी चेष्टा करता हुआ वाणीमें स्थित है तथा जो श्रोत्र, नेत्र और सङ्कल्पादि व्यापारसे मनमें व्याप्त है उसे शिव—शान्त कर। उत्क्रमण न कर, अर्थात् उत्क्रमण करके उसे अशिव—अमङ्गलमय न कर॥ १२॥

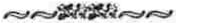

किं बहुना— | बहुत क्या—

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति॥ १३॥

यह सब तथा स्वर्गलोकमें जो कुछ स्थित है वह प्राणके ही अधीन है। जिस प्रकार माता पुत्रकी रक्षा करती है उसी प्रकार तू हमारी रक्षा कर तथा हमें श्री और बुद्धि प्रदान कर॥ १३॥

अस्मिँल्लोके प्राणस्यैव वशे सर्वमिदं यत्किञ्चिदुपभोगजातं त्रिदिवे तृतीयस्यां दिवि च यत्प्रतिष्ठितं देवाद्युपभोगजातं तस्यापि प्राण एवेशिता रक्षिता। अतो मातेव पुत्रानस्मान् रक्षस्व पालयस्व। त्वन्निमित्ता हि ब्राह्मणाः क्षात्रियाश्च श्रियस्तास्त्वं श्रीश्च श्रियश्च प्रज्ञां च त्वत्स्थितिनिमित्तां विधेहि नो विधत्स्व इत्यर्थः।

इस लोकमें यह जो कुछ उपभोगकी सामग्री है वह सब प्राणके ही अधीन है तथा त्रिदिव अर्थात् तीसरे द्युलोक (स्वर्ग)-में भी देवता आदिका उपभोगरूप जो कुछ वैभव है उसका भी ईश्वर—रक्षक प्राण ही है। अतः माता जिस प्रकार पुत्रोंकी रक्षा करती है उसी प्रकार तू हमारा पालन कर। ब्राह्मण और क्षत्रियोंकी श्री—विभूतियाँ भी तेरे ही निमित्तसे है। वह श्री तथा अपनी स्थितिके निमित्तसे ही होनेवाली प्रज्ञा तू हमें प्रदान कर—ऐसा इसका भावार्थ है।

इत्येवं सर्वात्मतया वागादिभिः प्राणैः स्तुत्या गमितमहिमा प्राणः प्रजापतिरत्तेत्यवधृतम्॥ १३॥

इस प्रकार वागादि प्राणोंके स्तुति करनेसे जिसकी महिमा सर्वात्मरूपसे बतलायी गयी है वह प्राण ही प्रजापति और भोक्ता है—यह निश्चय हुआ॥ १३॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये द्वितीयः प्रश्नः॥ २॥

तृतीय प्रश्न

कौसल्यका प्रश्न—प्राणके उत्पत्ति, स्थिति और लय आदि किस प्रकार होते हैं?

अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ। भगवन्कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिञ्शरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति॥ १॥

तदनन्तर, उन (पिप्पलाद मुनि)-से अश्वलके पुत्र कौसल्यने पूछा—'भगवन्! यह प्राण कहाँसे उत्पन्न होता है? किस प्रकार इस शरीरमें आता है? तथा अपना विभाग करके किस प्रकार स्थित होता है? फिर किस कारण शरीरसे उत्क्रमण करता है और किस तरह बाह्य एवं आभ्यन्तर शरीरको धारण करता है?'॥ १॥

अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ। प्राणो ह्येवं प्राणैर्निर्धारिततत्त्वैरुपलब्धमहिमापि संहतत्वात्स्यादस्य कार्यत्वमतः पृच्छामि भगवन्कुतः कस्मात्कारणादेष (यथावधृतः प्राणो जायते। जातश्च कथं केन वृत्तिविशेषेण

तदनन्तर, उन (पिप्पलाद मुनि)-से अश्वलके पुत्र कौसल्यने पूछा—'पूर्वोक्त प्रकारसे चक्षु आदि प्राणों (इन्द्रियों)-के द्वारा जिसका तत्त्व निश्चय हो गया है तथा जिसकी महिमाका भी अनुभव हो गया है वह प्राण संहत (सावयव) होनेके कारण कार्य-रूप होना चाहिये। इसलिये हे भगवन्! मैं पूछता हूँ कि जिस प्रकारका पहले निश्चय किया गया है वैसा यह प्राण किससे—किस कारणविशेषसे

आयात्यस्मिञ्शरीरे। किं निमित्तकमस्य शरीरग्रहणमित्यर्थः। प्रविष्टश्च शरीर आत्मानं वा प्रविभज्य प्रविभागं कृत्वा कथं केन प्रकारेण प्रातिष्ठते प्रतितिष्ठति केन वा वृत्तिविशेषेणास्माच्छरीरादुत्क्रमत उत्क्रामति। कथं बाह्यमधिभूतमधिदैवतं चाभिधत्ते धारयति कथमध्यात्मम् इति, धारयतीति शेषः॥ १॥

उत्पन्न होता है? तथा उत्पन्न होनेपर किस वृत्तिविशेषसे इस शरीरमें आता है? अर्थात् इसका शरीरग्रहण किस कारणसे होता है? और शरीरमें प्रविष्ट होकर अपनेको विभक्त कर—अपने अनेकों विभाग कर किस प्रकार उसमें स्थित होता है? फिर किस वृत्तिविशेषसे इस शरीरसे उत्क्रमण करता है? और किस प्रकार बाह्य यानी अधिभूत और अधिदैव विषयोंको धारण करता है? तथा किस प्रकार अध्यात्म (देहेन्द्रियादि)-को [धारण करता है?] 'धारण करता है' यह वाक्य शेष है॥ १॥

एवं पृष्टः—

[कौसल्यद्वारा] इस प्रकार पूछे जानेपर—

पिप्पलाद मुनिका उत्तर

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि॥ २॥

उससे पिप्पलाद आचार्यने कहा—'तू बड़े कठिन प्रश्न पूछता है। परन्तु तू [बड़ा] ब्रह्मवेत्ता है; अतः मैं तेरे प्रश्नोंका उत्तर देता हूँ॥ २॥

तस्मै स होवाचाचार्यः,प्राण एव तावद्दुर्विज्ञेयत्वाद्विषम-प्रश्नार्हस्तस्यापि जन्मादि त्वं पृच्छस्यतोऽतिप्रश्नान्पृच्छसि । ब्रह्मिष्ठोऽसीत्यतिशयेन त्वं ब्रह्मविदतस्तुष्टोऽहं तस्मात्ते तुभ्यं ब्रवीमि यत्पृष्टं शृणु॥ २॥

उससे उस आचार्यने कहा—'प्रथम तो प्राण ही दुर्विज्ञेय होनेके कारण विषम प्रश्नका विषय है; तिसपर भी तू तो उसके भी जन्मादि पूछता है। अतः तू बड़े ही कड़े प्रश्न पूछ रहा है। परन्तु तू ब्रह्मिष्ठ—अत्यन्त ब्रह्मवेत्ता है, अतः मैं तुझसे प्रसन्न हूँ' सो तूने जो कुछ पूछा है वह तुझसे कहता हूँ, सुन॥ २॥

प्राणकी उत्पत्ति

आत्मन एष प्राणो जायते यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्शरीरे॥ ३॥

यह प्राण आत्मासे उत्पन्न होता है। जिस प्रकार मनुष्य-शरीरसे यह छाया उत्पन्न होती है उसी प्रकार इस आत्मामें प्राण व्याप्त है तथा यह मनोकृत सङ्कल्पादिसे इस शरीरमें आ जाता है॥ ३॥

आत्मनः परस्मात्पुरुषादक्षरात्सत्यादेष उक्तः प्राणो जायते। कथमित्यत्र दृष्टान्तः। यथा लोक एषा पुरुषे शिरःपाण्यादि-लक्षणे निमित्ते छाया नैमित्तिकी जायते तद्वदेतस्मिन्ब्रह्मण्येतत् प्राणाख्यं छायास्थानीयमनृतरूपं तत्त्वं सत्ये पुरुष आततं समर्पितम्

यह उपर्युक्त प्राण आत्मा—परम पुरुष—अक्षर यानी सत्यसे उत्पन्न होता है। किस प्रकार उत्पन्न होता है? इसमें यह दृष्टान्त देते हैं—जिस प्रकार लोकमें सिर तथा हाथ-पाँववाले पुरुषरूप निमित्तके रहते हुए ही उससे होनेवाली छाया उत्पन्न होती है उसी प्रकार इस ब्रह्म यानी सत्य पुरुषमें यह छायास्थानीय मिथ्या तत्त्व

इत्येतत्। छायेव देहे मनोकृतेन मनःसङ्कल्पेच्छादिनिष्पन्न-कर्मनिमित्तेनेत्येतत्—वक्ष्यति हि ''पुण्येन पुण्यम्'' (प्र० उ० ३। ७) इत्यादि; तदेव ''सक्तः सह कर्मणा'' (बृ० उ० ४। ४। ६) इति च श्रुत्यन्तरात्—आयाति आगच्छत्यस्मिञ्शरीरे॥ ३॥

व्याप्त—समर्पित है। देहमें छायाके समान यह मनके कार्यसे यानी मनके सङ्कल्प और इच्छादिसे होनेवाले कर्मसे इस शरीरमें आता है; जैसा कि आगे ''पुण्यसे पुण्यलोकको ले जाता है'' आदि श्रुतिसे कहेंगे और यही बात ''कर्मफलमें आसक्त हुआ पुरुष अपने कर्मके सहित [उसीको प्राप्त होता है]'' इस अन्य श्रुतिसे भी कही गयी है॥ ३॥

प्राणका इन्द्रियाधिष्ठातृत्व

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते। एतान्ग्रामा-नेतान्ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते॥ ४॥

जिस प्रकार सम्राट् ही 'तुम इन-इन ग्रामोंमें रहो' इस प्रकार अधिकारियोंको नियुक्त करता है उसी प्रकार यह मुख्य प्राण ही अन्य प्राणों (इन्द्रियों)-को अलग-अलग नियुक्त करता है॥ ४॥

यथा येन प्रकारेण लोके राजा सम्राडेव ग्रामादिष्वधि-कृतान्विनियुङ्क्ते। कथम्? एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठस्व इति। एवमेव यथा दृष्टान्तः, एष मुख्यः प्राण इतरान्प्राणान्

जिस प्रकार लोकमें राजा ही ग्रामादिमें अधिकारियोंको नियुक्त करता है; किस प्रकार [नियुक्त करता है? कि] तुम इन-इन ग्रामोंमें अधिष्ठान (निवास) करो। इस प्रकार, जैसा यह दृष्टान्त है वैसे ही, यह मुख्य प्राण भी अपने भेदस्वरूप

चक्षुरादीनात्मभेदांश्च पृथक् पृथगेव यथास्थानं संनिधत्ते विनियुङ्क्ते॥ ४॥

चक्षु आदि अन्य प्राणोंको अलग-अलग उनके स्थानोंके अनुसार स्थापित करता यानी नियुक्त करता है॥ ४॥

पञ्च प्राणोंकी स्थिति

तत्र विभागः—

उनका विभाग इस प्रकार है—

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति॥ ५॥

वह [प्राण] पायु और उपस्थमें अपानको [नियुक्त करता है] और मुख तथा नासिकासे निकलता हुआ नेत्र एवं श्रोत्रमें स्वयं स्थित होता है तथा मध्यमें समान रहता है। यह [समानवायु] ही खाये हुए अन्नको समभावसे [शरीरमें सर्वत्र] ले जाता है। उस [प्राणाग्नि]-से ही [दो नेत्र, दो कर्ण, दो नासारन्ध्र और एक रसना] ये सात ज्वालाएँ उत्पन्न होती हैं॥ ५॥

पायूपस्थे पायुश्चोपस्थश्च पायूपस्थं तस्मिन्, अपानमात्मभेदं मूत्रपुरीषाद्यपनयनं कुर्वंस्तिष्ठति संनिधत्ते। तथा चक्षुःश्रोत्रे चक्षुश्च श्रोत्रं च चक्षुःश्रोत्रं तस्मिंश्चक्षुःश्रोत्रे, मुखनासिकाभ्यां च मुखं च नासिका च ताभ्यां मुखनासिकाभ्यां च निर्गच्छन्प्राणः स्वयं सम्राट्-स्थानीयः प्रातिष्ठते प्रतितिष्ठति

यह प्राण अपने भेद अपानको पायूपस्थमें—पायु (गुदा) और उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय)-में मूत्र और पुरीष (मल) आदिको निकालते हुए स्थित करता यानी नियुक्त करता है। तथा मुख और नासिका इन दोनोंसे निकलता हुआ सम्राट्स्थानीय प्राण चक्षुःश्रोत्रे—चक्षु और श्रोत्रमें स्थित रहता है। तथा

मध्ये तु प्राणापानयोः स्थानयोर्नाभ्यां समानोऽशितं पीतं च समं नयतीति समानः।

एष हि यस्माद्यदेतद्धुतं भुक्तं पीतं चात्माग्नौ प्रक्षिप्तमन्नं समं नयति तस्मादशितपीतेन्धनाद् अग्नेरौदर्याद्धृदयदेशं प्राप्तादेताः सप्तसंख्याका अर्चिषो दीप्तयो निर्गच्छन्त्यो भवन्ति शीर्षण्यः। प्राणद्वारा दर्शनश्रवणादि-लक्षणरूपादिविषयप्रकाशा इत्यभिप्रायः॥ ५॥

प्राण और अपानके स्थानोंके मध्य नाभिदेशमें समान रहता है, जो खाये और पीये हुए पदार्थको सम करनेके कारण समान कहलाता है।

क्योंकि यह समानवायु ही खायी-पीयी वस्तुको अर्थात् देहान्तर्वर्ती जठरानलमें डाले हुए अन्नको समभावसे [समस्त शरीरमें] पहुँचाता है इसलिये खान-पानरूप इन्धनसे हृदयदेशमें प्राप्त हुए इस जठराग्निसे ये शिरोदेशवर्तिनी सात अर्चियाँ—दीप्तियाँ निकलती हैं। तात्पर्य यह है कि रूपादि विषयोंके दर्शन-श्रवण आदिरूप प्रकाश प्राणसे ही निष्पन्न हुए हैं॥ ५॥

लिङ्गदेहकी स्थिति

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति॥ ६॥

यह आत्मा हृदयमें है। इस हृदयदेशमें एक सौ एक नाडियाँ हैं। उनमेंसे एक-एककी सौ-सौ शाखाएँ हैं और उनमेंसे प्रत्येककी बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाडियाँ हैं। इन सबमें व्यान सञ्चार करता है॥ ६॥

हृदि ह्येष पुण्डरीकाकारमांसपिण्डपरिच्छिन्ने हृदयाकाश एष आत्मात्मना संयुक्तो लिङ्गात्मा। अत्रास्मिन्हृदय एतदेकशतम् एकोत्तरशतं संख्यया प्रधाननाडीनां भवतीति। तासां शतं शतमेकैकस्याः प्रधाननाड्या भेदाः। पुनरपि द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिर्द्वे द्वे सहस्रे अधिके सप्ततिश्च सहस्राणि सहस्राणां द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि। प्रतिप्रतिनाडीशतं संख्यया प्रधाननाडीनां सहस्राणि भवन्ति।

आसु नाडीषु व्यानो वायुश्चरति व्यानो व्यापनात्। आदित्यादिव रश्मयो हृदयात् सर्वतोगामिनीभिर्नाडीभिः सर्वदेहं संव्याप्य व्यानो वर्तते। सन्धिस्कन्धमर्मदेशेषु विशेषेण प्राणापानवृत्त्योश्च मध्य उद्भूतवृत्तिर्वीर्यवत्कर्मकर्ता भवति॥ ६॥

यह आत्मा—आत्मासहित लिङ्ग-देह अर्थात् जीवात्मा हृदयमें यानी कमलके-से आकारवाले मांसपिण्डसे परिच्छिन्न हृदयाकाशमें रहता है। इस हृदयदेशमें ये एक शत यानी एक ऊपर सौ (एक सौ एक) प्रधान नाडियाँ हैं। उनमेंसे प्रत्येक प्रधान नाडीके सौ-सौ भेद हैं और प्रधान नाडीके उन सौ-सौ भेदोंमेंसे प्रत्येकमें बहत्तर-बहत्तर सहस्र अर्थात् दो ऊपर सत्तर सहस्र प्रतिशाखा नाडियाँ हैं। [इस प्रकार] प्रधान नाडियोंमेंसे प्रत्येक सौ-सौ नाडियों-में हजारों नाडियाँ हैं।

इन सब नाडियोंमें व्यानवायु सञ्चार करता है। व्यापक होनेके कारण उसे 'व्यान' कहते हैं। जिस प्रकार सूर्यसे किरणें निकलती हैं उसी प्रकार हृदयसे निकलकर सब ओर फैली हुई नाडियोंद्वारा व्यान सम्पूर्ण देहको व्याप्त करके स्थित है। सन्धिस्थान, स्कन्धदेश और मर्मस्थलोंमें तथा विशेषतया प्राण और अपानवायुकी वृत्तियोंके मध्यमें इस (व्यानवायु)-की अभिव्यक्ति होती है और यही पराक्रमयुक्त कर्मोंका करनेवाला है॥ ६॥

प्राणोत्क्रमणका प्रकार

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्॥ ७॥

तथा [इन सब नाडियोंमेंसे सुषुम्ना नामकी] एक नाडीद्वारा ऊपरकी ओर गमन करनेवाला उदानवायु [जीवको] पुण्य-कर्मके द्वारा पुण्यलोकको और पापकर्मके द्वारा पापमय लोकको ले जाता है तथा पुण्य-पाप दोनों प्रकारके (मिश्रित) कर्मोंद्वारा उसे मनुष्यलोकको प्राप्त कराता है॥ ७॥

अथ या तु तत्रैकशतानां नाडीनां मध्य ऊर्ध्वगा सुषुम्नाख्या नाडी तयैकयोर्ध्वः सन्नुदानो वायुरापादतलमस्तकवृत्तिः सञ्चरन्पुण्येन कर्मणा शास्त्रविहितेन पुण्यं लोकं देवादिस्थानलक्षणं नयति प्रापयति पापेन तद्विपरीतेन पापं नरकं तिर्यग्योन्यादिलक्षणम्। उभाभ्यां समप्रधानाभ्यां पुण्यपापाभ्यामेव मनुष्यलोकं नयतीत्यनुवर्तते॥ ७॥

तथा उन एक सौ एक नाडियोंमेंसे जो सुषुम्नानाम्नी एक ऊर्ध्वगामिनी नाडी है उस एकके द्वारा ही ऊपरकी ओर जानेवाला तथा चरणसे मस्तकपर्यन्त सञ्चार करनेवाला उदानवायु [जीवात्माको] पुण्य कर्म यानी शास्त्रोक्त कर्मसे देवादि-स्थानरूप पुण्यलोकको प्राप्त करा देता है तथा उससे विपरीत पापकर्मद्वारा पापलोक यानी तिर्यग्योनि आदि नरकको ले जाता है और समानरूपसे प्रधान हुए पुण्य-पापरूप दोनों प्रकारके कर्मोंद्वारा वह उसे मनुष्यलोकको प्राप्त कराता है। यहाँ 'नयति' इस क्रियाकी सर्वत्र अनुवृत्ति होती है॥ ७॥

बाह्य प्राणादिका निरूपण

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः॥ ८॥

निश्चय आदित्य ही बाह्य प्राण है। यह इस चाक्षुष (नेत्रेन्द्रियस्थित) प्राणपर अनुग्रह करता हुआ उदित होता है। पृथिवीमें जो देवता है वह पुरुषके अपानवायुको आकर्षण किये हुए है। इन दोनोंके मध्यमें जो आकाश है वह समान है और वायु ही व्यान है॥ ८॥

आदित्यो ह वै प्रसिद्धो ह्यधिदैवतं बाह्यः प्राणः स एष उदयत्युद्गच्छति। एष ह्येनम् आध्यात्मिकं चक्षुषि भवं चाक्षुषं प्राणं प्रकाशेनानुगृह्णानो रूपोपलब्धौ चक्षुष आलोकं कुर्वन्नित्यर्थः। तथा पृथिव्यामभिमानिनी या देवता प्रसिद्धा सैषा पुरुषस्य अपानमपानवृत्तिमवष्टभ्याकृष्य वशीकृत्याध एवापकर्षणेनानुग्रहं कुर्वती वर्तत इत्यर्थः। अन्यथा हि शरीरं गुरुत्वात्पतेत्सावकाशे वोद्गच्छेत्।

यह प्रसिद्ध आदित्य ही अधिदैवत बाह्य प्राण है, वही यह उदित होता है—ऊपरकी ओर जाता है और यही इस आध्यात्मिक चाक्षुष (नेत्रस्थित) प्राणको—चक्षुमें जो हो उसे चाक्षुष कहते हैं—प्रकाशसे अनुगृहीत करता हुआ अर्थात् रूपकी उपलब्धिमें नेत्रको प्रकाश देता हुआ [उदित होता है]। तथा पृथिवीमें जो उसका प्रसिद्ध अभिमानी देवता है वह पुरुषके अपान अर्थात् अपानवृत्तिका अवष्टम्भ—आकर्षण करके यानी उसे अपने अधीन कर [स्थित रहता है]। तात्पर्य यह है कि नीचेकी ओर आकर्षणद्वारा उसपर अनुग्रह करता हुआ स्थित रहता है। नहीं तो शरीर अपने भारीपनके कारण गिर जाता अथवा अवकाश मिलनेके कारण उड़ जाता।

यदेतदन्तरा मध्ये द्यावापृथिव्योर्य आकाशस्तत्स्थो वायुः आकाश उच्यते; मञ्चस्थवत्। स समानः समानमनुगृह्णानो वर्तत इत्यर्थः। समानस्यान्तराकाशस्थत्वसामान्यात्। सामान्येन च यो बाह्यो वायुः स व्याप्तिसामान्याद् व्यानो व्यानमनुगृह्णानो वर्तत इत्यभिप्रायः॥ ८॥

इन द्युलोक और पृथिवीके अन्तरा—मध्यमें जो आकाश है उसमें रहनेवाला वायु भी [लक्षणावृत्तिसे 'मञ्च' कहे जानेवाले] मञ्चस्थ व्यक्तियोंके समान आकाश कहलाता है। वही 'समान' है, अर्थात् समानवायुको अनुगृहीत करता हुआ स्थित है, क्योंकि मध्य-आकाशमें स्थित होना—यह समानवायुके लिये भी [बाह्य वायुकी तरह] साधारण है*। तथा साधारणतया जो बाह्य वायु है वह व्यापकत्वमें [शरीरके भीतर व्याप्त हुए व्यानवायुसे] समानता होनेके कारण व्यान है अर्थात् व्यानपर अनुग्रह करता हुआ वर्तमान है॥ ८॥

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः॥ ९॥

लोकप्रसिद्ध [आदित्यरूप] तेज ही उदान है। अतः जिसका तेज (शारीरिक उष्मा) शान्त हो जाता है वह मनमें लीन हुई इन्द्रियोंके सहित पुनर्जन्मको [अथवा पुनर्जन्मके हेतुभूत मृत्युको] प्राप्त हो जाता है॥ ९॥

* समानवायु शरीरान्तर्वर्ती आकाशके मध्यमें रहता है और बाह्य वायु द्युलोक एवं पृथिवीके मध्यवर्ती आकाशके बीच रहता है; इस प्रकार मध्य आकाशमें स्थित होना—यह दोनोंके लिये एक-सी बात है।

यद्वाह्यं ह वै प्रसिद्धं सामान्यं तेजस्तच्छरीर उदान उदानं वायुमनुगृह्णाति स्वेन प्रकाशेनेत्यभिप्रायः। यस्मात्तेजः-स्वभावो बाह्यतेजोऽनुगृहीत उत्क्रान्तिकर्ता तस्माद्यदा लौकिकः पुरुष उपशान्ततेजा भवति; उपशान्तं स्वाभाविकं तेजो यस्य सः, तदा तं क्षीणायुषं मुमूर्षुं विद्यात्। स पुनर्भवं शरीरान्तरं प्रतिपद्यते। कथम्? सहेन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः प्रविशद्भिर्वागादिभिः॥ ९॥

जो [आदित्यसंज्ञक] प्रसिद्ध बाह्य सामान्य तेज है वही शरीरमें उदान है; तात्पर्य यह है कि वही अपने प्रकाशसे उदान वायुको अनुगृहीत करता है। क्योंकि उत्क्रमण करनेवाला [उदानवायु] तेजःस्वरूप है—बाह्य तेजसे अनुगृहीत होनेवाला है इसलिये जिस समय लौकिक पुरुष उपशान्ततेजा होता है अर्थात् जिसका स्वाभाविक तेज शान्त हो गया है ऐसा होता है उस समय उसे क्षीणायु—मरणासन्न समझना चाहिये। वह पुनर्भव यानी देहान्तरको प्राप्त होता है। किस प्रकार प्राप्त होता है? [इसपर कहते हैं—] मनमें लीन—प्रविष्ट होती हुई वागादि इन्द्रियोंके सहित [वह देहान्तरको प्राप्त होता है]॥ ९॥

मरणकालिक संकल्पका फल

मरणकाले— | मरणकालमें—

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति॥ १०॥

इसका जैसा चित्त [संकल्प] होता है उसके सहित यह प्राणको प्राप्त होता है। तथा प्राण तेजसे (उदानवृत्तिसे) संयुक्त हो [उस भोक्ताको] आत्माके सहित संकल्प किये हुए लोकको ले जाता है॥ १०॥

यच्चित्तो भवति तेनैव चित्तेन संकल्पेनेन्द्रियैः सह प्राणं मुख्यप्राणवृत्तिमायाति। मरणकाले क्षीणेन्द्रियवृत्तिः सन्मुख्यया प्राणवृत्त्यैवावतिष्ठत इत्यर्थः। तदाभिवदन्ति ज्ञातय उच्छ्वसिति जीवतीति।

इसका जैसा चित्त होता है उस चित्त—संकल्पके सहित ही यह जीव इन्द्रियोंके सहित प्राण अर्थात् मुख्य प्राणवृत्तिको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि मरणकालमें यह प्रक्षीण इन्द्रियवृत्तिवाला होकर मुख्य प्राणवृत्तिसे ही स्थित होता है। उसी समय जातिवाले कहा करते हैं कि 'अभी श्वास लेता है—अभी जीवित है' इत्यादि।

स च प्राणस्तेजसोदानवृत्त्या युक्तः सन्सहात्मना स्वामिना भोक्त्रा स एवमुदानवृत्त्यैव युक्तः प्राणस्तं भोक्तारं पुण्यपापकर्मवशाद्यथासंकल्पितं यथाभिप्रेतं लोकं नयति प्रापयति॥ १०॥

वह प्राण ही तेज अर्थात् उदानवृत्तिसे सम्पन्न हो आत्मा—भोक्ता स्वामीके साथ [सम्मिलित होता है] तथा उदानवृत्तिसे संयुक्त हुआ वह प्राण ही उस भोक्ता जीवको उसके पाप-पुण्यमय कर्मोंके अनुसार यथासङ्कल्पित अर्थात् उसके अभिप्रायानुसारी लोकोंको ले जाता—प्राप्त करा देता है॥ १०॥

य एवं विद्वान्प्राणं वेद न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः॥ ११॥

जो विद्वान् प्राणको इस प्रकार जानता है उसकी प्रजा नष्ट नहीं होती। वह अमर हो जाता है इस विषयमें यह श्लोक है॥ ११॥

यः कश्चिदेवं विद्वान्यथोक्तविशेषणैर्विशिष्टमुत्पत्त्यादिभिः

जो कोई विद्वान् पुरुष इस प्रकार उपर्युक्त विशेषणोंसे विशिष्ट

प्राणं वेद जानाति तस्येदं फलम् ऐहिकमामुष्मिकं चोच्यते। न हास्य नैवास्य विदुषः प्रजा पुत्रपौत्रादिलक्षणा हीयते छिद्यते। पतिते च शरीरे प्राणसायुज्यतयामृतोऽमरणधर्मा भवति तदेतस्मिन्नर्थे संक्षेपाभिधायक एष श्लोको मन्त्रो भवति॥ ११॥

प्राणको उसके उत्पत्ति आदिके सहित जानता है उसके लिये यह लौकिक और पारलौकिक फल बतलाया जाता है—इस विद्वान्‌की पुत्र-पौत्रादिरूप प्रजा हीन—उच्छिन्न अर्थात् नष्ट नहीं होती तथा शरीरके पतित होनेपर प्राण-सायुज्यको प्राप्त हो जानेके कारण वह अमृत—अमरणधर्मा हो जाता है। इस विषयमें संक्षेपसे बतलानेवाला यह श्लोक यानी मन्त्र है—॥ ११॥

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते
विज्ञायामृतमश्नुत इति॥ १२॥

प्राणकी उत्पत्ति, आगमन, स्थान, व्यापकता एवं बाह्य और आध्यात्मिक भेदसे पाँच प्रकारकी स्थिति जानकर मनुष्य अमरत्व प्राप्त कर लेता है—अमरत्व प्राप्त कर लेता है॥ १२॥

उत्पत्तिं परमात्मनः प्राणस्यायतिमागमनं मनोकृतेनास्मिन् शरीरे स्थानं स्थितिं च पायूपस्थादिस्थानेषु विभुत्वं च स्वाम्यमेव सम्राडिव प्राणवृत्तिभेदानां पञ्चधा स्थापनं बाह्यमादित्यादिरूपेण

प्राणकी परमात्मासे उत्पत्ति, आयति—मनके सङ्कल्पसे इस शरीरमें आगमन, स्थान—पायु-उपस्थादिमें स्थित होना, विभुत्व—सम्राट्‌के समान प्रभुत्व यानी प्राणके वृत्तिभेदको पाँच प्रकारसे स्थापित करना, तथा आदित्यादि-

अध्यात्मं चैव चक्षुराद्याकारेण अवस्थानं विज्ञायैवं प्राणममृतम् अश्नुत इति विज्ञायामृतमश्नुत इति द्विर्वचनं प्रश्नार्थपरिसमाप्त्यर्थम्॥ १२॥

रूपसे बाह्य और चक्षु आदिरूपसे आन्तरिक स्थिति—इस प्रकार प्राणको जानकर मनुष्य अमरत्व प्राप्त कर लेता है। यहाँ 'विज्ञायामृतमश्नुते' इस पदकी द्विरुक्ति प्रश्नार्थकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है॥ १२॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये तृतीयः प्रश्नः॥ ३॥

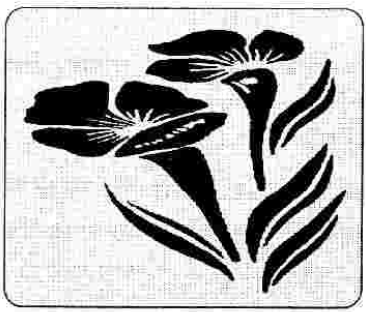

चतुर्थ प्रश्न

गार्ग्यका प्रश्न—सुषुप्तिमें कौन सोता है और कौन जागता है?

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ। भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिञ्जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति कस्यैतत्सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति॥ १॥

तदनन्तर उन पिप्पलाद मुनिसे सूर्यके पौत्र गार्ग्यने पूछा—'भगवन्! इस पुरुषमें कौन [इन्द्रियाँ] सोती हैं? कौन इसमें जागती हैं? कौन देव स्वप्नोंको देखता है? किसे यह सुख अनुभव होता है? तथा किसमें ये सब प्रतिष्ठित हैं?'॥ १॥

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ। प्रश्नत्रयेणापरविद्यागोचरं सर्वं परिसमाप्य संसारं व्याकृतविषयं साध्यसाधनलक्षणमनित्यम्; अथेदानीमसाध्यसाधनलक्षणमप्राणममनोगोचरमतीन्द्रियविषयं शिवं शान्तमविकृतमक्षरं सत्यं परविद्यागम्यं पुरुषाख्यं सबाह्याभ्यन्तरमजं वक्तव्यमित्युत्तरं प्रश्नत्रयमारभ्यते।

तदनन्तर उनसे सौर्यायणी गार्ग्यने पूछा। उपर्युक्त तीन प्रश्नोंमें अपरा विद्याके विषय व्याकृताश्रित साध्य-साधनरूप अनित्य संसारका निरूपण समाप्त कर अब साध्य-साधनसे अतीत तथा प्राण, मन और इन्द्रियोंके अविषय, परविद्यावेद्य, शिव, शान्त, अविकारी, अक्षर, सत्य और बाहर-भीतर विद्यमान अजन्मा पुरुष नामक तत्त्वका वर्णन करना है; इसीलिये आगेके तीन प्रश्नोंका आरम्भ किया जाता है।

तत्र सुदीप्तादिवाग्नेर्यस्मात् परादक्षरात्सर्वे भावा विस्फुलिङ्गा इव जायन्ते तत्र चैवापियन्ति इत्युक्तं द्वितीये मुण्डके; के ते सर्वे भावा अक्षराद्विभज्यन्ते? कथं वा विभक्ताः सन्तस्तत्रैव अपियन्ति? किंलक्षणं वा तदक्षरमिति? एतद्विवक्षयाधुना प्रश्नान् उद्भावयति—

भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे शिरः-पाण्यादिमति कानि करणानि स्वपन्ति स्वापं कुर्वन्ति स्वव्यापारादुपरमन्ते कानि चास्मिन् जाग्रति जागरणमनिद्रावस्थां स्वव्यापारं कुर्वन्ति। कतरः कार्यकरणलक्षणयोरेष देवः स्वप्नान्पश्यति? स्वप्नो नाम जाग्रद्दर्शनान्निवृत्तस्य जाग्रद्वदन्तःशरीरे यद्दर्शनम्। तत्किं कार्यलक्षणेन देवेन

तहाँ, द्वितीय मुण्डकमें यह बात कही गयी है कि 'अच्छी तरह प्रज्वलित हुए अग्निसे स्फुलिङ्गों (चिनगारियों)-के समान जिसपर अक्षरसे सम्पूर्ण भाव पदार्थ उत्पन्न होते और उसीमें लीन हो जाते हैं' इत्यादि; सो उस अक्षर परमात्मासे अभिव्यक्त होनेवाले वे सम्पूर्ण भाव कौन-से हैं? उससे विभक्त होकर वे किस प्रकार उसीमें लीन होते हैं? तथा वह अक्षर किन लक्षणोंवाला है? यह सब बतलानेके लिये अब श्रुति आगेके प्रश्न उठाती है—

भगवन्! सिर और हाथ-पैरोंवाले इस पुरुषमें कौन इन्द्रियाँ सोती—निद्रा लेती अर्थात् अपने व्यापारसे उपरत होती हैं? तथा कौन इसमें जागती यानी जागरण—अनिद्रावस्था अर्थात् अपना व्यापार करती हैं? कार्य-करणरूप [यानी देहेन्द्रियरूप] देवोंमेंसे कौन देव स्वप्नोंको देखता है? जाग्रद्दर्शनसे निवृत्त हुए जीवका जो अन्तःकरणमें जाग्रत्के समान विषयोंको देखना है उसे स्वप्न कहते हैं। सो यह कार्य कोई कार्यरूप देव निष्पन्न करता

निर्वर्त्यते किं वा करणलक्षणेन केनचिदित्यभिप्रायः।

उपरते च जाग्रत्स्वप्नव्यापारे यत्प्रसन्नं निरायासलक्षणमनाबाधं सुखं कस्यैतद्भवति। तस्मिन्काले जाग्रत्स्वप्नव्यापाराद् उपरताः सन्तः कस्मिन्नु सर्वे सम्यगेकीभूताः संप्रतिष्ठिताः। मधुनि रसवत्समुद्रप्रविष्टनद्यादिवच्च विवेकानर्हाः प्रतिष्ठिता भवन्ति संगताः संप्रतिष्ठिता भवन्तीत्यर्थः।

ननु न्यस्तदात्रादिकरणवत् स्वव्यापारादुपरतानि पृथक्पृथगेव स्वात्मन्यवतिष्ठन्त इत्येतद्युक्तं कुतः प्राप्तिः सुषुप्तपुरुषाणां करणानां कस्मिंश्चिदेकीभावगमनाशङ्कायाः प्रष्टुः।

है, अथवा करणरूप देव? यह इसका अभिप्राय है।

तथा जाग्रत् और स्वप्नका व्यापार समाप्त हो जानेपर जो प्रसन्न, अनायासरूप एवं निर्बाध सुख होता है वह भी किसे होता है? उस समय जाग्रत् और स्वप्नके व्यापारसे उपरत होकर सम्पूर्ण इन्द्रियाँ भलीप्रकार एकीभूत होकर किसमें स्थित होती हैं? अर्थात् मधुमें रसोंके समान तथा समुद्रमें प्रविष्ट हुई नदी आदिके समान विवेचनके (पृथक्-प्रतीतिके) अयोग्य होकर वे किसमें भली-प्रकार प्रतिष्ठित अर्थात् सम्मिलित हो जाती हैं?

शङ्का—[काम करनेके अनन्तर] छोड़े हुए दराँती आदि करणों (औजारों)-के समान इन्द्रियाँ भी अपने-अपने व्यापारसे निवृत्त होकर अलग-अलग अपनेमें ही स्थित हो जाती हैं—ऐसा समझना ठीक ही है। फिर प्रश्नकर्ताको सोये हुए पुरुषोंकी इन्द्रियोंके किसीमें एकीभाव हो जानेकी आशङ्का कैसे प्राप्त हो सकती है?

युक्तैव त्वाशङ्का। यतः संहतानि करणानि स्वाम्यर्थानि परतन्त्राणि च जाग्रद्विषये तस्मात् स्वापेऽपि संहतानां पारतन्त्र्येणैव कस्मिंश्चित्संगतिर्न्याय्येति तस्माद् आशङ्कानुरूप एव प्रश्नोऽयम्। अत्र तु कार्यकरणसंघातो यस्मिंश्च प्रलीनः सुषुप्तप्रलयकालयोस्तद्विशेषं बुभुत्सोः स को नु स्यादिति कस्मिन्सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति॥ १॥

समाधान—यह आशङ्का तो उचित ही है, क्योंकि भूतोंके संघातसे उत्पन्न हुई इन्द्रियाँ अपने स्वामीके लिये प्रवृत्त होनेवाली होनेसे जाग्रत्कालमें भी परतन्त्र ही हैं; अतः सुषुप्तिमें भी उन संहत इन्द्रियोंका परतन्त्ररूपसे ही किसीमें मिलना उचित है। इसलिये यह प्रश्न आशङ्काके अनुरूप ही है। यहाँ पूछनेवालेका यह प्रश्न कि 'वह कौन है?' 'वे सब किसमें प्रतिष्ठित होती हैं?' सुषुप्ति और प्रलयकालमें जिसमें यह कार्य-करणका संघात लीन होता है उसकी विशेषता जाननेके लिये है॥ १॥

इन्द्रियोंका लयस्थान आत्मा है

तस्मै स होवाच। यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति। ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते॥ २॥

तब उससे उस (आचार्य)-ने कहा—'हे गार्ग्य! जिस प्रकार सूर्यके अस्त होनेपर सम्पूर्ण किरणें उस तेजोमण्डलमें ही एकत्रित हो जाती हैं और उसका उदय होनेपर वे फिर फैल जाती हैं। उसी प्रकार वे सब [इन्द्रियाँ] परमदेव मनमें एकीभावको प्राप्त हो जाती हैं। इससे तब वह पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न चखता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न आनन्द भोगता है, न मलोत्सर्ग करता है और न कोई चेष्टा करता है। तब उसे 'सोता है' ऐसा कहते हैं॥ २॥

तस्मै स होवाचाचार्यः—श्रृणु हे गार्ग्य यत्त्वया पृष्टम्। यथा मरीचयो रश्मयोऽर्कस्य आदित्यस्यास्तमदर्शनं गच्छतः सर्वा अशेषत एतस्मिंस्तेजोमण्डले तेजोराशिरूप एकीभवन्ति विवेकानर्हत्वमविशेषतां गच्छन्ति मरीचयस्तस्यैवार्कस्य ताः पुनः पुनरुदयत उद्गच्छतः प्रचरन्ति विकीर्यन्ते । यथायं दृष्टान्तः, एवं ह वै तत्सर्वं विषयेन्द्रियादिजातं परे प्रकृष्टे देवे द्योतनवति मनसि चक्षुरादिदेवानां मनस्तन्त्रत्वात्परो देवो मनः तस्मिन्स्वप्रकाल एकीभवति।

आचार्यने उस प्रश्नकर्तासे कहा—हे गार्ग्य! तूने जो पूछा है सो सुन—जिस प्रकार अर्क—सूर्यके अस्त—अदर्शनको प्राप्त होते समय सम्पूर्ण मरीचियाँ—किरणें उस तेजोमण्डल—तेजःपुञ्जरूप सूर्यमें एकत्रित हो जाती हैं अर्थात् अविवेचनीयता-अविशेषताको प्राप्त हो जाती हैं, तथा उसी सूर्यके पुनः उदित होनेके समय—उससे निकलकर फैल जाती हैं; जैसा यह दृष्टान्त है उसी प्रकार वह विषय और इन्द्रियोंका सम्पूर्ण समूह स्वप्रकालमें परम—प्रकृष्ट देव—द्योतनवान् मनमें—चक्षु आदि देव (इन्द्रियाँ) मनके अधीन हैं, इसलिये मन परमदेव है, उसमें एक हो जाता है। अर्थात् सूर्य-

मण्डले मरीचिवदविशेषतां गच्छति। जिजागरिषोश्च रश्मिवन्मण्डलान्मनस एव प्रचरन्ति स्वव्यापाराय प्रतिष्ठन्ते।

मण्डलमें किरणोंके समान उससे अभिन्नताको प्राप्त हो जाता है। तथा [उदित होते हुए] सूर्यमण्डलसे किरणोंके समान वे (इन्द्रियाँ) जागनेकी इच्छावाले पुरुषके मनसे ही फिर फैल जाती हैं; अर्थात् अपने व्यापारके लिये प्रवृत्त हो जाती हैं।

यस्मात्स्वप्नकाले श्रोत्रादीनि शब्दाद्युपलब्धिकरणानि मनसि एकीभूतानीव करणव्यापाराद् उपरतानि तेन तस्मात्तर्हि तस्मिन् स्वापकाल एष देवदत्तादिलक्षणः पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते लौकिकाः॥ २॥

क्योंकि निद्राकालमें शब्दादि विषयोंकी उपलब्धिके साधनरूप श्रोत्रादि मनमें एकीभावको प्राप्त हुएके समान इन्द्रिय-व्यापारसे उपरत हो जाते हैं इसलिये उस निद्राकालमें वह देवदत्तादिरूप पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न चखता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न आनन्द भोगता है, न त्यागता है और न चेष्टा करता है। उस समय लौकिक पुरुष उसे 'सोता है' ऐसा कहते हैं॥ २॥

सुषुप्तिमें जागनेवाले प्राण-भेद गार्हपत्यादि अग्निरूप हैं

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः॥ ३॥

[सुषुप्तिकालमें] इस शरीररूप पुरमें प्राणाग्नि ही जागते हैं। यह अपान ही गार्हपत्य अग्नि है, व्यान अन्वाहार्यपचन है तथा जो गार्हपत्यसे ले जाया जाता है वह प्राण ही प्रणयन (ले जाये जाने)-के कारण आहवनीय अग्नि है॥ ३॥

सुप्तवत्सु श्रोत्रादिषु करणेषु एतस्मिन्पुरे नवद्वारे देहे प्राणाग्नयः प्राणा एव पञ्च वायवोऽग्नय इवाग्नयो जाग्रति। अग्निसामान्यं हि आह—गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानः। कथमित्याह—यस्माद्गार्हपत्यादग्नेरग्निहोत्रकाल इतरोऽग्निः आहवनीयः प्रणीयते प्रणयनात् प्रणीयतेऽस्मादिति प्रणयनो गार्हपत्योऽग्निः। तथा सुप्तस्यापानवृत्तेः प्रणीयत इव प्राणो मुखनासिकाभ्यां संचरत्यत आहवनीयस्थानीयः प्राणः। व्यानस्तु हृदयाद् दक्षिणसुषिरद्वारेण निर्गमाद्दक्षिणदिक्सम्बन्धा-दन्वाहार्यपचनो दक्षिणाग्निः॥ ३॥

इस पुर यानी नौ द्वारवाले देहमें श्रोत्रादि इन्द्रियोंके सो जानेपर प्राणाग्नि—प्राणादि पाँच वायु ही अग्निके समान अग्नि हैं, वे ही जागते हैं। अब अग्निके साथ उनकी समानता बतलाते हैं—यह अपान ही गार्हपत्य अग्नि है। किस प्रकार है, सो बतलाते हैं—क्योंकि अग्निहोत्रके समय गार्हपत्य अग्निसे ही आहवनीय नामक दूसरा अग्नि [जिसमें कि हवन किया जाता है] सम्पन्न किया जाता है; अतः प्रणयन किये जानेके कारण 'प्रणीयतेऽस्मात्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार वह गार्हपत्याग्नि 'प्रणयन' है। इसी प्रकार प्राण भी सोये हुए पुरुषकी अपानवृत्तिसे प्रणीत हुआ-सा ही मुख और नासिकाद्वारा सञ्चार करता है; अतः वह आहवनीय-स्थानीय है। तथा व्यान हृदयके दक्षिण छिद्रद्वारा निकलनेके कारण दक्षिण दिशाके सम्बन्धसे अन्वाहार्यपचन यानी दक्षिणाग्नि है॥ ३॥

प्राणाग्निके ऋत्विक्

अत्र च होताग्निहोत्रस्य—

यहाँ [अगले वाक्यसे] अग्निहोत्रके होता (ऋत्विक्)-का वर्णन किया जाता है—

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः। मनो ह वाव यजमानः। इष्टफलमेवोदानः। स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति॥ ४॥

क्योंकि उच्छ्वास और निःश्वास ये मानो अग्निहोत्रकी आहुतियाँ हैं, उन्हें जो [शरीरकी स्थितिके लिये] समभावसे विभक्त करता है वह समान [ऋत्विक् है]; मन ही निश्चय यजमान है, और इष्टफल ही उदान है; वह उदान इस मनरूप यजमानको नित्यप्रति ब्रह्मके पास पहुँचा देता है॥ ४॥

यद्यस्मादुच्छ्वासनिःश्वासौ अग्निहोत्राहुती इव नित्यं द्वित्वसामान्यादेव त्वेतावाहुती समं साम्येन शरीरस्थितिभावाय नयति यो वायुरग्निस्थानीयोऽपि होता चाहुत्योर्नेतृत्वात्। कोऽसौ स समानः। अतश्च विदुषः स्वापोऽप्यग्निहोत्रहवनमेव। तस्माद्विद्वान्नाकर्मीत्येवं मन्तव्य। इत्यभिप्रायः। सर्वदा सर्वाणि

क्योंकि उच्छ्वास और निःश्वास अग्निहोत्रकी आहुतियोंके समान हैं, अतः [इनमें और अग्निहोत्रकी आहुतियोंमें] समानरूपसे द्वित्व होनेके कारण जो वायु शरीरकी स्थितिके लिये इन दोनों आहुतियोंको साम्यभावसे सर्वदा चलाता है वह [पूर्वमन्त्रके अनुसार] अग्निस्थानीय होनेपर भी आहुतियोंका नेता होनेके कारण होता ही है। वह है कौन? समान। अतः विद्वान्की निद्रा भी अग्निहोत्रका हवन ही है। इसलिये अभिप्राय यह है कि विद्वान्को अकर्मा नहीं मानना चाहिये। इसीसे

भूतानि विचिन्वन्त्यपि स्वपत इति हि वाजसनेयके।

बृहदारण्यकोपनिषद्में भी कहा है कि उस विद्वान्के सोनेपर भी सब भूत सर्वदा चयन (यागानुष्ठान) किया करते हैं।

अत्र हि जाग्रत्सु प्राणाग्निषु उपसंहृत्य बाह्यकरणानि विषयांश्च अग्निहोत्रफलमिव स्वर्गं ब्रह्म जिगमिषुर्मनो ह वाव यजमानो जागर्ति यजमानवत्कार्यकरणेषु प्राधान्येन संव्यवहारात्स्वर्गमिव ब्रह्म प्रति प्रस्थितत्वाद्यजमानो मनः कल्प्यते।

इस अवस्थामें बाह्य इन्द्रियों और विषयोंको पञ्च प्राणरूप जागते हुए (प्रज्वलित) अग्निमें हवन कर मनरूप यजमान अग्निहोत्रके फल स्वर्गके समान ब्रह्मके प्रति जानेकी इच्छासे जागता रहता है। यजमानके समान भूत और इन्द्रियोंमें प्रधानतासे व्यवहार करने और स्वर्गके समान ब्रह्मके प्रति प्रस्थित होनेसे मन यजमानरूपसे कल्पना किया गया है।

इष्टफलं यागफलमेवोदानो वायुः। उदाननिमित्तत्वादिष्टफलप्राप्तेः। कथम्? स उदानो मनआख्यं यजमानं स्वप्रवृत्तिरूपादपि प्रच्याव्याहरहः सुषुप्तिकाले स्वर्गमिव ब्रह्माक्षरं गमयति। अतो यागफलस्थानीय उदानः॥ ४॥

उदानवायु ही इष्टफल यानी यज्ञका फल है, क्योंकि इष्टफलकी प्राप्ति उदानवायुके निमित्तसे ही होती है। किस प्रकार? [सो बतलाते हैं—] वह उदानवायु इस मन नामवाले यजमानको स्वप्रवृत्तिसे भी गिराकर नित्यप्रति सुषुप्तिकालमें स्वर्गके समान अक्षरब्रह्मको प्राप्त करा देता है। अतः उदान यागफलस्थानीय है॥ ४॥

एवं विदुषः श्रोत्राद्युपरमकालादारभ्य यावत्सुप्तोत्थितो

इस प्रकार विद्वान्को श्रोत्रादि इन्द्रियोंके उपरत होनेके समयसे

भवति तावत्सर्वयागफलानुभव एव नाविदुषामिवानर्थायेति विद्वत्ता स्तूयते। न हि विदुष एव श्रोत्रादीनि स्वपन्ते प्राणाग्रयो वा जाग्रति जाग्रत्स्वप्नयोर्मनः। स्वातन्त्र्यमनुभवदहरहः सुषुप्तं वा प्रतिपद्यते। समानं हि सर्व-प्राणिनां पर्यायेण जाग्रत्स्वप्र-सुषुप्तिगमनमतो विद्वत्तास्तुतिरेव इयमुपपद्यते। यत्पृष्टं कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यतीति तदाह—

लेकर जबतक वह सोनेसे उठता है तबतक सम्पूर्ण यज्ञोंका फल ही अनुभव होता है, अज्ञानियोंके समान [उसकी निद्रा] अनर्थकी हेतु नहीं होती—ऐसा कहकर विद्वत्ताकी ही स्तुति की गयी है, क्योंकि केवल विद्वान्‌की ही श्रोत्रादि इन्द्रियाँ सोती और प्राणाग्रियाँ जागती हैं तथा उसीका मन जाग्रत् और सुषुप्तिमें स्वतन्त्रताका अनुभव करता हुआ रोज-रोज सुषुप्तिको प्राप्त होता है—ऐसी बात नहीं है। क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें जाना तो सभी प्राणियोंके लिये समान है। अतः यह विद्वत्ताकी स्तुति ही हो सकती है। अब, पहले जो यह पूछा था कि कौन देव स्वप्नोंको देखता है? सो बतलाते हैं—

स्वप्नदर्शनका विवरण

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद् दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति। देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति॥ ५॥

इस स्वप्नावस्थामें यह देव अपनी विभूतिका अनुभव करता है। इसके द्वारा [जाग्रत्-अवस्थामें] जो देखा हुआ होता है उस देखे हुएको ही यह देखता है, सुनी-सुनी बातोंको ही सुनता है तथा दिशा-विदिशाओंमें अनुभव किये हुएको ही पुनः-पुनः अनुभव करता है। [अधिक क्या] यह देखे, बिना देखे, सुने, बिना सुने, अनुभव किये, बिना अनुभव किये तथा सत् और असत् सभी प्रकारके पदार्थोंको देखता है और स्वयं भी सर्वरूप होकर देखता है॥ ५॥

अत्रोपरतेषु श्रोत्रादिषु देहरक्षायै जाग्रत्सु प्राणादिवायुषु प्राक्सुषुप्तिप्रतिपत्तेः एतस्मिन् अन्तराल एष देवोऽर्करश्मिवत् स्वात्मनि संहृतश्रोत्रादिकरणः स्वप्ने महिमानं विभूतिं विषय-विषयिलक्षणमनेकात्मभावगमनम् अनुभवति प्रतिपद्यते।

इस अवस्थामें यानी श्रोत्रादि इन्द्रियोंके उपरत हो जानेपर देहकी रक्षाके लिये और प्राणादि वायुओंके जागते रहनेपर सुषुप्तिकी प्राप्तिसे पूर्व इस [जाग्रत्-सुषुप्तिके] मध्यकी अवस्थामें यह देव, जिसने सूर्यकी किरणोंके समान श्रोत्रादि इन्द्रियोंको अपनेमें लीन कर लिया है, स्वप्नावस्थामें अपनी महिमा यानी विभूतिको अनुभव करता है अर्थात् विषय-विषयिरूप अनेकात्मत्वको प्राप्त हो जाता है।

ननु महिमानुभवने करणं मनःस्वातन्त्र्य- **मनोऽनुभवितुस्तत्कथं** विचारः

स्वातन्त्र्येणानुभवति इत्युच्यते स्वतन्त्रो हि क्षेत्रज्ञः।

पूर्व०—मन तो विभूतिका अनुभव करनेमें अनुभव करनेवाले पुरुषका कारण है; फिर यह कैसे कहा जाता है कि वह स्वतन्त्रतासे अनुभव करता है, क्योंकि स्वतन्त्र तो क्षेत्रज्ञ ही है।

नैष दोषः; क्षेत्रज्ञस्य स्वातन्त्र्यस्य मनउपाधिकृतत्वान्न हि

सिद्धान्ती—इसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि क्षेत्रज्ञकी स्वतन्त्रता मनरूप उपाधिके कारण है,

क्षेत्रज्ञः परमार्थतः स्वतः स्वपिति जागर्ति वा। मनउपाधिकृतमेव तस्य जागरणं स्वप्नश्चेत्युक्तं वाजसनेयके "सधीः स्वप्नो भूत्वा ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ० उ० ४। ३। ७)* इत्यादि। तस्मान्मनसो विभूत्यनुभवे स्वातन्त्र्यवचनं न्याय्यमेव।

वास्तवमें क्षेत्रज्ञ तो स्वयं न सोता है और न जागता ही है। उसका जागना और सोना तो मनरूप उपाधिके ही कारण है—ऐसा बृहदारण्यक श्रुतिमें कहा है—"वह बुद्धिसे तादात्म्य प्राप्त कर स्वप्नरूप होता है और मानो ध्यान करता तथा चेष्टा करता है" इत्यादि। अतः विभूतिके अनुभवमें मनकी स्वतन्त्रता बतलाना न्याययुक्त ही है।

पुरुषस्य स्वयंज्योतिष्ट्व-स्थापनम्

मनउपाधिसहितत्वे स्वप्नकाले क्षेत्रज्ञस्य स्वयं ज्योतिष्ट्वं बाध्येतेति केचित्। तन्न, श्रुत्यर्थापरिज्ञानकृता भ्रान्तिस्तेषाम्। यस्मात्स्वयंज्योतिष्ट्वादिव्यवहारोऽप्यामोक्षान्तः सर्वोऽविद्याविषय एव मनआद्युपाधिजनितः। "यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्" (बृ० उ० ४। ३। ३१) "मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति" "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्"

किन्हीं-किन्हींका कथन है कि स्वप्नकालमें मनरूप उपाधिके सहित माननेमें क्षेत्रज्ञकी स्वयंप्रकाशतामें बाधा आवेगी सो ऐसी बात नहीं है। उनकी यह भ्रान्ति श्रुत्यर्थको न जाननेके ही कारण है, क्योंकि मन आदि उपाधिसे प्राप्त हुआ स्वयंप्रकाशत्व आदि व्यवहार भी मोक्षपर्यन्त सब-का-सब अविद्याके कारण ही है। जैसा कि "जहाँ कोई अन्य-सा हो वहीं अन्यको अन्य देख सकता है" "इस आत्माको विषयका संसर्ग ही नहीं होता" "जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया वहाँ किसे किसके द्वारा

* बृहदारण्यकोपनिषद्में इस श्रुतिका पाठ इस प्रकार है—'ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वा'।

(बृ० उ० २। ४। १४) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अतो मन्द-ब्रह्मविदामेवेयमाशङ्का न तु एकात्मविदाम्।

नन्वेवं सति "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः" (बृ० उ० ४। ३। १४) इति विशेषणमनर्थकं भवति।

अत्रोच्यते; अत्यल्पमिद-मुच्यते "य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेते" (बृ० उ० २। १। १७) इत्यन्तर्हृदयपरिच्छेदे सुतरां स्वयंज्योतिष्ट्वं बाध्येत।

सत्यमेवमयं दोषो यद्यपि स्यात्स्वप्ने केवलतया स्वयंज्योतिष्ट्वेनार्धं तावदपनीतं भारस्येति चेत्।

देखे?" इत्यादि श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है। अतः यह शङ्का मन्द ब्रह्मज्ञानियोंकी ही है, एकात्मवेत्ताओंकी नहीं।

पूर्व०— ऐसा माननेपर तो "इस स्वप्नावस्थामें यह पुरुष स्वयंज्योति है" इस वाक्यसे बतलाया हुआ आत्माका [स्वयंज्योति] विशेषण व्यर्थ हो जायगा।

सिद्धान्ती— इसपर हमें यह कहना है कि आपका यह कथन तो बहुत थोड़ा है। "यह जो हृदयके भीतरका आकाश है उसमें वह (आत्मा) शयन करता है" इस वाक्यसे आत्माका अन्तर्हृदयरूप परिच्छेद सिद्ध होनेसे तो उसका स्वयंप्रकाशत्व और भी बाधित हो जाता है।

पूर्व०—यद्यपि यह दोष तो ठीक ही है; तथापि स्वप्नमें केवलता (मनका अभाव हो जाने)-के कारण आत्माके स्वयंप्रकाशत्वसे उसका आधा भार[1] तो हल्का हो ही जाता है।

१. यहाँ भार हल्का होनेका अभिप्राय है स्वयंप्रकाशताके प्रतिबन्धकका दूर होना।

न; तत्रापि ''पुरीतति शेते'' (बृ० उ० २।१।१९) इति श्रुतेः पुरीतन्नाडीसम्बन्धादत्रापि पुरुषस्य स्वयंज्योतिष्ट्वेनार्धभारापनयाभिप्रायो मृषैव।

कथं तर्हि ''अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः'' (बृ० उ० ४।३।१४) इति।

अन्यशाखात्वादनपेक्षा सा श्रुतिरिति चेत्।

न; अर्थैकत्वस्येष्टत्वादेको ह्यात्मा सर्ववेदान्तानामर्थो विजिज्ञापयिषितो बुभुत्सितश्च। तस्माद्युक्ता स्वप्न आत्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वोपपत्तिर्वक्तुम्। श्रुतेर्यथार्थतत्त्वप्रकाशकत्वात्।

एवं तर्हि शृणु श्रुत्यर्थं हित्वा सर्वमभिमानं न त्वभिमानेन

सिद्धान्ती— ऐसी बात नहीं है; उस अवस्थामें भी ''पुरीतत् नाडीमें शयन करता है'' इस श्रुतिके अनुसार जीवका पुरीतत् नाडीसे सम्बन्ध रहनेके कारण यह अभिप्राय मिथ्या ही है कि उसका आधा भार निवृत्त हो जाता है।

पूर्व०— तो फिर यह कैसे कहा गया है कि ''इस अवस्थामें यह पुरुष स्वयंप्रकाश होता है?''

मध्यस्थ—यदि ऐसा मानें कि अन्य शाखाकी श्रुति* होनेके कारण यहाँ उसकी कोई अपेक्षा नहीं है, तो।

पूर्व०— ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि हमें सब श्रुतियोंके अर्थकी एकता ही इष्ट है। सम्पूर्ण वेदान्तोंका तात्पर्य एक आत्मा ही है; वही उन्हें बतलाना इष्ट है और वही जिज्ञासुओंको ज्ञातव्य है। इसलिये स्वप्नमें आत्माकी स्वयंप्रकाशताकी उपपत्ति बतलाना उचित है, क्योंकि श्रुति यथार्थ तत्त्वको ही प्रकाशित करनेवाली है।

सिद्धान्ती—अच्छा तो अब सब प्रकारका अभिमान त्याग कर श्रुतिका

* क्योंकि यह उपनिषद् अथर्ववेदीय है और 'अत्रायं पुरुषः' आदि श्रुति यजुर्वेदीय काण्वशाखाकी है।

वर्षशतेनापि श्रुत्यर्थो ज्ञातुं शक्यते सर्वैः पण्डितम्मन्यैः। यथा—हृदयाकाशे पुरीतति नाडीषु च स्वपतस्तत्सम्बन्धाभावात्ततो विविच्य दर्शयितुं शक्यत इत्यात्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वं न बाध्यते। एवं मनस्यविद्याकामकर्मनिमित्तोद्भूत-वासनावति कर्मनिमित्ता वासनाविद्ययान्यद्वस्त्वन्तरमिव पश्यतः सर्वकार्यकरणेभ्यः प्रविविक्तस्य द्रष्टुर्वासनाभ्यो दृश्यरूपाभ्योऽन्यत्वेन स्वयं-ज्योतिष्ट्वं सुदर्पितेनापि तार्किकेण न वारयितुं शक्यते। तस्मात् साधूक्तं मनसि प्रलीनेषु करणेषु अप्रलीने न मनसि मनोमयः स्वप्नान्पश्यतीति।

अर्थ श्रवण कर, क्योंकि अपनेको पण्डित माननेवाले सभी पुरुषोंको सौ वर्षमें भी श्रुतिका अर्थ समझमें नहीं आ सकता। जिस प्रकार [स्वप्नावस्थामें] हृदयाकाशमें और पुरीतत् नाडीमें शयन करनेवाले आत्माका स्वयंप्रकाशत्व बाधित नहीं हो सकता, क्योंकि वह उससे सम्बन्ध न रहनेके कारण उससे पृथक् करके दिखलाया जा सकता है उसी प्रकार अविद्या, कामना और कर्म आदिके कारण उद्भूत हुई वासनाओंसे युक्त होनेपर भी मनमें अविद्यावश प्राप्त हुई कर्मनिमित्तक वासनाको अन्य वस्तुके समान देखनेवाले तथा सम्पूर्ण कार्य-करणोंसे पृथग्भूत द्रष्टा आत्माका स्वयंप्रकाशत्व बड़े गर्वीले तार्किकोंद्वारा भी निवृत्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह दृश्यरूप वासनाओंसे भिन्नरूपसे स्थित है। इसलिये यह कहना बहुत ठीक है कि 'इन्द्रियोंके मनमें लीन हो जानेपर तथा मनके लीन न होनेपर आत्मा मनरूप होकर स्वप्न देखा करता है।'

कथं महिमानमनुभवतीत्युच्यते; यस्मिन्नं पुत्रादि वा पूर्वं दृष्टं तद्वासना-वासितः पुत्रमित्रादि-वासनासमुद्भूतं पुत्रं मित्रमिव वाविद्यया पश्यतीत्येवं मन्यते। तथा श्रुतमर्थं तद्वासनयानुशृणोतीव। देशदिगन्तरैश्च देशान्तरैर्दिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनस्तत्प्रत्यनुभवतीवाविद्यया तथा दृष्टं चास्मिञ्जन्मन्यदृष्टं च जन्मान्तरदृष्टमित्यर्थः; अत्यन्तादृष्टे वासनानुपपत्तेः; एवं श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चास्मिञ्जन्मनि केवलेन मनसा अननुभूतं च मनसैव जन्मान्तरेऽनुभूतमित्यर्थः। सच्च परमार्थोदकादि, असच्च मरीच्युदकादि। किं बहुनोक्तानुक्तं सर्वं पश्यति।

विभूत्यनुभवप्रकारः

वह अपनी विभूतिका किस प्रकार अनुभव करता है? सो अब बतलाते हैं—जो मित्र या पुत्रादि उसका पहले देखा हुआ होता है उसीकी वासनासे युक्त हो वह पुत्र-मित्रादिकी वासनासे प्रकट हुए पुत्र या मित्रको मानो अविद्यासे देखता है—ऐसा समझता है। इसी प्रकार सुने हुए विषयको मानो उसीकी वासनासे सुनता है तथा दिग्देशान्तरोंमें यानी भिन्न-भिन्न दिशा और देशोंमें अनुभव किये हुए पदार्थोंको अविद्यासे पुनः-पुनः अनुभव-सा करता है। इसी प्रकार दृष्ट—इसी जन्ममें देखे हुए एवं अदृष्ट अर्थात् जन्मान्तरमें देखे हुए, क्योंकि अत्यन्त अदृष्ट पदार्थोंमें वासनाका होना सम्भव नहीं है, तथा श्रुत-अश्रुत, अनुभूत—जिसका इसी जन्ममें केवल मनसे अनुभव किया हो, अननुभूत—जिसका मनसे ही जन्मान्तरमें अनुभव किया हो, सत्—जल आदि वास्तविक पदार्थ और असत्—मृगजल आदि, अधिक क्या कहा जाय—ऊपर कहे हुए अथवा नहीं कहे हुए सभी पदार्थोंको

सर्वः पश्यति सर्वमनोवासनोपाधिः सन्नेवं सर्वकरणात्मा मनोदेवः स्वप्नान्पश्यति॥ ५॥

वह सर्वरूपसे मनोवासनारूप उपाधिवाला होकर देखता है। इस प्रकार यह सर्वेन्द्रियरूप मनोदेव स्वप्नोंको देखा करता है॥ ५॥

सुषुप्तिनिरूपण

स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्शरीर एतत्सुखं भवति॥ ६॥

जिस समय यह मन तेजसे आक्रान्त होता है उस समय यह आत्मदेव स्वप्न नहीं देखता। उस समय इस शरीरमें यह सुख होता है॥ ६॥

स यदा मनोरूपो देवो यस्मिन्काले सौरेण पित्ताख्येन तेजसा नाडीशयेन सर्वतोऽभिभूतो भवति तिरस्कृतवासनाद्वारो भवति तदा सह करणैः मनसो रश्मयो हृद्युपसंहृता भवन्ति। यदा मनो दार्वग्निवदविशेषविज्ञानरूपेण कृत्स्नं शरीरं व्याप्यावतिष्ठते तदा सुषुप्तो भवति। अत्रैतस्मिन्काल एष मनआख्यो देवः स्वप्नान्न पश्यति दर्शनद्वारस्य निरुद्धत्वात्

जिस समय वह मनरूप देव नाडीमें रहनेवाले पित्त नामक सौर तेजसे सब ओरसे अभिभूत अर्थात् जिसकी वासनाओंकी अभिव्यक्तिका द्वार लुप्त हो गया है—ऐसा हो जाता है उस समय इन्द्रियोंके सहित मनकी किरणोंका हृदयमें उपसंहार हो जाता है। जिस समय मन काष्ठमें व्याप्त अग्निके समान निर्विशेष विज्ञानरूपसे सम्पूर्ण शरीरको व्याप्त करके स्थित होता है उस समय वह सुषुप्ति-अवस्थामें पहुँच जाता है। यहाँ अर्थात् इस समय यह मन नामवाला देव स्वप्नोंको नहीं देखता, क्योंकि

तेजसा। अथ तदैतस्मिञ्शरीर एतत्सुखं भवति यद्विज्ञानं निराबाधमविशेषेण शरीरव्यापकं प्रसन्नं भवतीत्यर्थः॥ ६॥

उन्हें देखनेका द्वार तेजसे रुक जाता है। तदनन्तर इस शरीरमें यह सुख होता है; तात्पर्य यह कि जो निराबाध और सामान्यरूपसे सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त विज्ञान है वही स्फुट हो जाता है॥ ६॥

एतस्मिन्कालेऽविद्याकामकर्मनिबन्धनानि कार्यकरणानि शान्तानि भवन्ति। तेषु शान्तेषु आत्मस्वरूपमुपाधिभिरन्यथा विभाव्यमानमद्वयमेकं शिवं शान्तं भवतीत्येतामेवावस्थां पृथिव्याद्यविद्याकृतमात्रानुप्रवेशेन दर्शयितुं दृष्टान्तमाह—

इस समय अविद्या, काम और कर्मजनित शरीर एवं इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं। उनके शान्त हो जानेपर, उपाधियोंके कारण अन्यरूपसे भासित होनेवाला आत्मस्वरूप अद्वितीय, एक, शिव और शान्त हो जाता है। अतः पृथिवी आदि अविद्याकृत मात्राओं (विषयों)-के अनुप्रवेशद्वारा इसी अवस्थाको दिखलानेके लिये दृष्टान्त दिया जाता है—

स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते॥ ७॥

हे सोम्य! जिस प्रकार पक्षी अपने बसेरेके वृक्षपर जाकर बैठ जाते हैं उसी प्रकार वह सब (कार्यकरणसंघात) सबसे उत्कृष्ट आत्मामें जाकर स्थित हो जाता है॥ ७॥

स दृष्टान्तो यथा येन प्रकारेण सोम्य प्रियदर्शन वयांसि

वह दृष्टान्त इस प्रकार है—हे सोम्य—हे प्रियदर्शन! जिस

पक्षिणो वासार्थं वृक्षं वासोवृक्षं प्रति संप्रतिष्ठन्ते गच्छन्ति। एवं यथा दृष्टान्तो ह वै तद्वक्ष्यमाणं सर्वं पर आत्मन्यक्षरे संप्रतिष्ठते॥ ७॥

प्रकार पक्षी अपने वासोवृक्ष—बसेरेके वृक्षकी ओर प्रस्थान करते यानी जाते हैं, यह जैसा दृष्टान्त है उसी प्रकार आगे कहा जानेवाला वह सब सर्वातीत आत्मा—अक्षरमें जाकर स्थित हो जाता है॥ ७॥

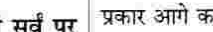

किं तत्सर्वम्— वह सब क्या है?

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक्च स्पर्शयितव्यं च वाक्च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च॥ ८॥

पृथिवी और पृथिवीमात्रा (गन्धतन्मात्रा), जल और रसतन्मात्रा, तेज और रूपतन्मात्रा, वायु और स्पर्शतन्मात्रा, आकाश और शब्दतन्मात्रा, नेत्र और द्रष्टव्य (रूप), श्रोत्र और श्रोतव्य (शब्द),घ्राण और घ्रातव्य (गन्ध), रसना और रसयितव्य (रस), त्वचा और स्पर्शयोग्य पदार्थ, हाथ और ग्रहण करनेयोग्य वस्तु, उपस्थ और आनन्दयितव्य, पायु और विसर्जनीय, पाद और गन्तव्य स्थान, मन और मनन करनेयोग्य, बुद्धि और बोद्धव्य, अहङ्कार और अहङ्कारका विषय, चित्त और चेतनीय,

तेज और प्रकाश्य पदार्थ तथा प्राण और धारण करनेयोग्य वस्तु [ये सभी आत्मामें लीन हो जाते हैं] ॥ ८ ॥

पृथिवी च स्थूला पञ्चगुणा तत्कारणा च पृथिवीमात्रा च गन्धतन्मात्रा, तथापश्चापोमात्रा च, तेजश्च तेजोमात्रा च, वायुश्च वायुमात्रा च, आकाशश्चाकाशमात्रा च, स्थूलानि च सूक्ष्माणि च भूतानीत्यर्थः, तथा चक्षुश्चेन्द्रियं रूपं च द्रष्टव्यं च, श्रोत्रं च श्रोतव्यं च, घ्राणं च घ्रातव्यं च, रसश्च रसयितव्यं च, त्वक्च स्पर्शयितव्यं च, वाक्च वक्तव्यं च, हस्तौ चादातव्यं च, उपस्थश्चानन्दयितव्यं च, पायुश्च विसर्जयितव्यं च, पादौ च गन्तव्यं च, बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि तथा चोक्तानि, मनश्च पूर्वोक्तम्, मन्तव्यं च तद्विषयः, बुद्धिश्च निश्चयात्मिका, बोद्धव्यं च तद्विषयः, अहङ्कारश्चाभिमानलक्षणमन्तःकरणमहङ्कर्तव्यं च तद्विषयः, चित्तं च चेतनावदन्तःकरणम्, चेतयितव्यं च

शब्दादि पाँच गुणोंसे युक्त स्थूल पृथिवी और उसकी कारणभूत पृथिवीतन्मात्रा यानी गन्धतन्मात्रा, तथा जल और रसतन्मात्रा, तेज और रूपतन्मात्रा, वायु और स्पर्शतन्मात्रा एवं आकाश और शब्दतन्मात्रा; अर्थात् सम्पूर्ण स्थूल और सूक्ष्म भूत; इसी प्रकार चक्षु-इन्द्रिय और उससे द्रष्टव्य रूप, श्रोत्र और श्रवणीय (शब्द), घ्राण और घ्रातव्य (गन्ध), रस और रसयितव्य, त्वक् और स्पर्शयितव्य, वाक्-इन्द्रिय और वक्तव्य (वचन), हाथ और उनसे ग्रहण करनेयोग्य पदार्थ, उपस्थ और आनन्दयितव्य, पायु और विसर्जनीय (मल), पाद और गन्तव्य स्थान; इस प्रकार वर्णन की हुई ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ तथा पूर्वोक्त मन और उसका मन्तव्य विषय, निश्चयात्मिका बुद्धि और उसका बोद्धव्य विषय, अहङ्कार—अभिमानात्मक अन्तःकरण और उसका विषय अहङ्कर्तव्य, चित्त—चेतनायुक्त अन्तःकरण और उसका चेतयितव्य विषय,

तद्विषयः; तेजश्च त्वगिन्द्रिय-व्यतिरेकेण प्रकाशविशिष्टा या त्वक्तया निर्भास्यो विषयो विद्योतयितव्यम्, प्राणश्च सूत्रं यदाचक्षते तेन विधारयितव्यं संग्रथनीयं सर्वं हि कार्यकरणजातं पारार्थ्येन संहतं नाम-रूपात्मकमेतावदेव ॥ ८ ॥

तेज यानी त्वगिन्द्रियसे भिन्न प्रकाश-विशिष्ट त्वचा और विद्योतयितव्य—उससे प्रकाशित होनेवाला विषय [चर्म] तथा प्राण जिसे सूत्रात्मक कहते हैं और उससे धारण किये जानेयोग्य अर्थात् ग्रथित होनेयोग्य [यह सब सुषुप्तिके समय आत्मामें जाकर स्थित हो जाता है, क्योंकि] पर—आत्माके लिये संहत हुआ नामरूपात्मक सम्पूर्ण कार्य-करण-जात इतना ही है ॥ ८ ॥

अतः परं यदात्मरूपं जलसूर्यकादिवद्भोक्तृत्वकर्तृत्वेन इह अनुप्रविष्टम्—

इससे परे जो आत्मस्वरूप जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यके समान इस शरीरमें कर्ता-भोक्तारूपसे अनुप्रविष्ट है—

सुषुप्तिमें जीवकी परमात्मप्राप्ति

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ९ ॥

यही द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता (मनन करनेवाला), बोद्धा और कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष है। वह पर अक्षर आत्मामें सम्यक् प्रकारसे स्थित हो जाता है ॥ ९ ॥

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा

यही देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, चखनेवाला, मनन करनेवाला, जाननेवाला,

कर्ता विज्ञानात्मा विज्ञानं विज्ञायतेऽनेनेति करणभूतं बुद्ध्यादीदं तु विजानातीति विज्ञानं कर्तृकारकरूपं तदात्मा तत्स्वभावो विज्ञातृस्वभाव इत्यर्थः। पुरुषः कार्यकरणसंघातोक्तोपाधिपूर्णत्वात्पुरुषः। स च जलसूर्यकादिप्रतिबिम्बस्य सूर्यादिप्रवेशवज्जगदाधारशेषे परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते॥ ९॥

वाला, कर्ता, विज्ञानात्मा—जिनसे जाना जाता है वह बुद्धि आदि ज्ञानके साधनस्वरूप हैं, किन्तु यह आत्मा तो उन्हें जानता है इसलिये यह कर्ता कारकरूप विज्ञान है, यह तद्रूप—वैसे स्वभाववाला अर्थात् विज्ञातृस्वभाव है। तथा कार्यकरण-संघातरूप उपाधिमें पूर्ण होनेके कारण यह पुरुष है। जलमें दिखायी देनेवाला सूर्यका प्रतिबिम्ब जिस प्रकार जलरूप उपाधिके नष्ट हो जानेपर सूर्यमें प्रविष्ट हो जाता है उसी प्रकार यह द्रष्टा, श्रोता आदिरूपसे बतलाया गया पुरुष जगत्के आधारभूत पर अक्षर आत्मामें सम्यक्-रूपसे स्थित हो जाता है॥ ९॥

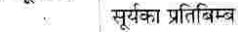

तदेकत्वविदः फलमाह—

[अक्षरब्रह्मके साथ] उस विज्ञानात्माका एकत्व जाननेवालेको जो फल मिलता है, वह बतलाते हैं—

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य। स सर्वज्ञः सर्वो भवति। तदेष श्लोकः॥ १०॥

हे सोम्य! इस छायाहीन, अशरीरी, अलोहित, शुभ्र अक्षरको जो पुरुष जानता है वह पर अक्षरको ही प्राप्त हो जाता है। वह सर्वज्ञ और सर्वरूप हो जाता है। इस सम्बन्धमें यह श्लोक (मन्त्र) है॥ १०॥

परमेवाक्षरं वक्ष्यमाणविशेषणं प्रतिपद्यत इत्येतदुच्यते। स यो ह वै तत्सर्वैषणाविनिर्मुक्तोऽच्छायं तमोवर्जितम्, अशरीरं नामरूप-सर्वोपाधिशरीरवर्जितम्, अलोहितं लोहितादिसर्वगुणवर्जितम्, यत एवमतः शुभ्रं शुद्धम्, सर्वविशेषणरहितत्वादक्षरम्, सत्यं पुरुषाख्यम्, अप्राणम् अमनो-गोचरम्, शिवं शान्तं सबाह्याभ्यन्तरमजं वेदयते विजानाति यस्तु सर्वत्यागी सोम्य स सर्वज्ञो न तेनाविदितं किंचित् सम्भवति। पूर्वमविद्ययासर्वज्ञ आसीत्पुनर्विद्ययाविद्यापनये सर्वो भवति तदा। तत्तस्मिन्नर्थ एष श्लोको मन्त्रो भवति उक्तार्थ-संग्राहकः॥ १०॥

उसके विषयमें ऐसा कहते हैं कि वह आगे बतलाये जानेवाले विशेषणोंसे युक्त पर अक्षरको ही प्राप्त हो जाता है। सम्पूर्ण एषणाओंसे छूटा हुआ जो अधिकारी उस अच्छाय—तमोहीन, अशरीर—नामरूपमय सम्पूर्ण औपाधिक शरीरोंसे रहित, अलोहित—लोहितादि सब प्रकारके गुणोंसे हीन, और ऐसा होनेके कारण ही जो शुभ्र—शुद्ध, सम्पूर्ण विशेषणोंसे रहित होनेके कारण अक्षर, पुरुषसंज्ञक सत्य, अप्राण, मनका अविषय, शिव, शान्त और सबाह्याभ्यन्तर अज परब्रह्मको जानता है, तथा जो सबका त्याग करनेवाला है, हे सोम्य! वह सर्वज्ञ हो जाता है—उससे कुछ भी अज्ञात नहीं रह सकता। वह अविद्यावश पहले असर्वज्ञ था, फिर विद्याद्वारा अविद्याके नष्ट हो जानेपर वही सर्वरूप हो जाता है। इस विषयमें उपर्युक्त अर्थका संग्रह करनेवाला यह श्लोक यानी मन्त्र है॥ १०॥

अक्षरब्रह्मके ज्ञानका फल

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः
प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र।

तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य
स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥ ११ ॥

हे सोम्य! जिस अक्षरमें समस्त देवोंके सहित विज्ञानात्मा प्राण और भूत सम्यक् प्रकारसे स्थित होते हैं उसे जो जानता है वह सर्वज्ञ सभीमें प्रवेश कर जाता है ॥ ११ ॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्चाग्न्यादिभिः प्राणाश्चक्षुरादयो भूतानि पृथिव्यादीनि संप्रतिष्ठन्ति प्रविशन्ति यत्र यस्मिन्नक्षरे तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य प्रियदर्शन स सर्वज्ञः सर्वमेव आविवेशाविशतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

जिस अक्षरमें अग्नि आदि देवोंके सहित विज्ञानात्मा तथा चक्षु आदि प्राण और पृथिवी आदि भूत प्रतिष्ठित होते अर्थात् प्रवेश करते हैं। हे सोम्य—हे प्रियदर्शन! उस अक्षरको जो जानता है वह सर्वज्ञ सभीमें आविष्ट अर्थात् प्रविष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये
चतुर्थः प्रश्नः ॥ ४ ॥

पञ्चम प्रश्न

सत्यकामका प्रश्न—ओङ्कारोपासकको किस लोककी प्राप्ति होती है?

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति॥ १॥

तदनन्तर उन पिप्पलाद मुनिसे शिबिपुत्र सत्यकामने पूछा—'भगवन्! मनुष्योंमें जो पुरुष प्राणप्रयाणपर्यन्त इस ओङ्कारका चिन्तन करे, वह उस (ओङ्कारोपासना)-से किस लोकको जीत लेता है?'॥ १॥

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ; अथेदानीं परापरब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वेनोङ्कारस्योपासनविधित्सया प्रश्न आरभ्यते—

तदनन्तर उन आचार्य पिप्पलादसे शिबिके पुत्र सत्यकामने पूछा; अब इससे आगे पर और अपर ब्रह्मकी प्राप्तिके साधनस्वरूप ओङ्कारोपासनाका विधान करनेकी इच्छासे आगेका प्रश्न प्रारम्भ किया जाता है।

स यः कश्चिद्ध वै भगवन् मनुष्येषु मनुष्याणां मध्ये तद् अद्भुतमिव प्रायणान्तं मरणान्तम्, यावज्जीवमित्येतत्, ओङ्कारमभिध्यायीताभिमुख्येन चिन्तयेत्,

हे भगवन्! मनुष्योंमें—मनुष्यजातिके बीच जो कोई आश्चर्यसदृश विरल पुरुष मरण-पर्यन्त—यावज्जीवन ओङ्कारका अभिध्यान अर्थात् मुख्यरूपसे चिन्तन करे [वह किस लोकको जीत

बाह्यविषयेभ्य उपसंहृतकरणः समाहितचित्तो भक्त्यावेशित-ब्रह्मभाव ओङ्कारे, आत्मप्रत्यय-सन्तानाविच्छेदो भिन्नजातीय-प्रत्ययान्तराखिलीकृतो निर्वातस्थ-दीपशिखासमोऽभिध्यान-शब्दार्थः। सत्यब्रह्मचर्याहिंसापरिग्रह-त्यागसंन्यासशौचसन्तोषामायावि-त्वाद्यनेकयमनियमानुगृहीतः स एवं यावज्जीवव्रतधारणः कतमं वाव, अनेके हि ज्ञानकर्मभिर्जेतव्या लोकास्तिष्ठन्ति तेषु तेनोङ्काराभिध्यानेन कतमं स लोकं जयति॥ १॥

लेता है?] इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर और चित्तको एकाग्र कर उसे भक्तिके द्वारा जिसमें ब्रह्मभावकी प्रतिष्ठा की गयी है उस ओङ्कारमें इस प्रकार लगा देना कि आत्मप्रत्ययसन्ततिका विच्छेद न हो—भिन्नजातीय प्रतीतियोंसे उसमें बाधा न आवे तथा वह वायुहीन स्थानमें रखे हुए दीपककी शिखाके समान स्थित हो जाय—ऐसा ध्यान ही 'अभिध्यान' शब्दका अर्थ है। सत्य, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह, त्याग, संन्यास, शौच, सन्तोष, निष्कपटता आदि अनेक यम-नियमोंसे सम्पन्न होकर यावज्जीवन ऐसा व्रत धारण करनेवालेको भला कौन-सा लोक प्राप्त होगा? क्योंकि ज्ञान और कर्मसे प्राप्त होनेयोग्य तो बहुत-से लोक हैं, उनमें उस ओङ्कारचिन्तनद्वारा वह किस लोकको जीत लेता है?॥ १॥

ओङ्कारोपासनासे प्राप्तव्य पर अथवा अपर ब्रह्म

तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः। तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति॥ २॥

उससे उस पिप्पलादने कहा—हे सत्यकाम! यह जो ओङ्कार है वही निश्चय पर और अपर ब्रह्म है। अतः विद्वान् इसीके आश्रयसे उनमेंसे किसी एक [ब्रह्म]-को प्राप्त हो जाता है॥ २॥

इति पृष्टवते तस्मै स होवाच पिप्पलादः—एतद्वै सत्यकाम! एतद्ब्रह्म वै परं चापरं च ब्रह्म परं सत्यमक्षरं पुरुषाख्यमपरं च प्राणाख्यं प्रथमजं यत्तदोङ्कार एवोङ्कारात्मकमोङ्कारप्रतीकत्वात्। परं हि ब्रह्म शब्दाद्युपलक्षणानर्हं सर्वधर्मविशेषवर्जितमतो न शक्यमतीन्द्रियगोचरत्वात्केवलेन मनसावगाहितुम्। ओङ्कारे तु विष्ण्वादिप्रतिमास्थानीये भक्त्यावेशितब्रह्मभावे ध्यायिनां तत्प्रसीदति इत्येतदवगम्यते शास्त्रप्रामाण्यात् तथापरं च ब्रह्म। तस्मात्परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कार इत्युपचर्यते। तस्मादेवं विद्वानेतेनैवात्मप्राप्तिसाधनेनैवोङ्काराभिध्यानेन एकतरं परमपरं वान्वेति ब्रह्मानुगच्छति नेदिष्ठं ह्यालम्बनमोङ्कारो ब्रह्मणः॥ २॥

इस प्रकार पूछनेवाले सत्यकामसे पिप्पलादने कहा—हे सत्यकाम! यह पर और अपर ब्रह्म; पर अर्थात् सत्य अक्षर अथवा पुरुषसंज्ञक ब्रह्म तथा जो प्रथम विकाररूप प्राण नामक अपर ब्रह्म है वह ओङ्कार ही है; अर्थात् ओङ्काररूप प्रतीकवाला होनेसे ओङ्कारस्वरूप ही है। परब्रह्म शब्दादिसे उपलक्षित होनेके अयोग्य और सब प्रकारके विशेष धर्मोंसे रहित है; अतः इन्द्रिय-गोचरतासे अतीत होनेके कारण केवल मनसे उसका अवगाहन नहीं किया जा सकता; किंतु विष्णु आदिकी प्रतिमास्थानीय ओङ्कारमें जिसमें कि भक्तिके द्वारा ब्रह्म-भावकी स्थापना की गयी है, ध्यान करनेवालोंके प्रति प्रसन्न होता है—यह बात शास्त्र-प्रमाणसे जानी जाती है। इसी प्रकार अपर ब्रह्म भी [ओङ्कारमें ध्यान करनेवालोंके प्रति प्रसन्न होता है]। अतः पर और अपर ब्रह्म ओङ्कार ही है—ऐसा उपचारसे कहा जाता है। सुतरां, विद्वान् आत्मप्राप्तिके इस ओङ्कार-चिन्तनरूप साधनसे ही पर या अपर किसी एक ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, क्योंकि ओङ्कार ही ब्रह्मका सबसे अधिक समीपवर्ती आलम्बन है॥ २॥

एकमात्राविशिष्ट ओङ्कारोपासनाका फल

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति॥ ३॥

वह यदि एकमात्राविशिष्ट ओङ्कारका ध्यान करता है तो उसीसे बोधको प्राप्त कर तुरंत ही संसारको प्राप्त हो जाता है। उसे ऋचाएँ मनुष्यलोकमें ले जाती हैं। वहाँ वह तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धासे सम्पन्न होकर महिमाका अनुभव करता है॥ ३॥

स यद्यप्योङ्कारस्य सकलमात्राविभागज्ञो न भवति तथापि ओङ्काराभिध्यानप्रभावाद्विशिष्टामेव गतिं गच्छति; एतदेकदेशज्ञानवैगुण्यतयोङ्कारशरणः कर्मज्ञानोभयभ्रष्टो न दुर्गतिं गच्छति। किं तर्हि? यद्यप्येवम् ओङ्कारमेवैकमात्राविभागज्ञ एव केवलोऽभिध्यायीतैकमात्रं सदा ध्यायीत स तेनैवैकमात्राविशिष्टोङ्काराभिध्यानेनैव संवेदितः सम्बोधितस्तूर्णं क्षिप्रमेव जगत्यां पृथिव्यामभिसम्पद्यते।

यद्यपि वह ओङ्कारकी समस्त मात्राओंका ज्ञाता नहीं होता; तो भी ओङ्कारके चिन्तनके प्रभावसे वह विशिष्ट गतिको ही प्राप्त होता है। अर्थात् ओङ्कारकी शरणमें प्राप्त हुआ पुरुष इसके एकांश ज्ञानरूप दोषसे कर्म और ज्ञान दोनोंसे भ्रष्ट होकर दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता। तो फिर क्या होता है? वह इस प्रकार यदि ओङ्कारकी केवल एकमात्राका ज्ञाता होकर केवल एकमात्राविशिष्ट ओङ्कारका ही अभिध्यान यानी सर्वदा चिन्तन करता है तो वह उस एकमात्राविशिष्ट ओङ्कारके ध्यानसे ही संवेदित अर्थात् बोध प्राप्त कर तत्काल जगती यानी पृथिवीलोकमें प्राप्त हो जाता है।

किम्? मनुष्यलोकम्। अनेकानि हि जन्मानि जगत्यां सम्भवन्ति। तत्र तं साधकं जगत्यां मनुष्यलोकमेवर्च उपनयन्त उपनिगमयन्ति। ऋच ऋग्वेदरूपा ह्योङ्कारस्य प्रथमैकमात्राभिध्याता। तेन स तत्र मनुष्यजन्मनि द्विजाग्र्यः संस्तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया च संपन्नो महिमानं विभूतिमनुभवति न वीतश्रद्धो यथेष्टचेष्टो भवति योगभ्रष्टः कदाचिदपि न दुर्गतिं गच्छति॥ ३॥

[पृथिवीलोकमें] किसे प्राप्त होता है? मनुष्यलोकको; क्योंकि संसारमें तो अनेक प्रकारके जन्म हो सकते हैं। उनमेंसे संसारमें उस साधकको ऋचाएँ मनुष्यलोकको ही ले जाती हैं, क्योंकि ओङ्कारकी ध्यान की हुई पहली एकमात्रा (अ) ऋग्वेदरूपा है। इससे उस मनुष्यजन्ममें वह द्विजश्रेष्ठ होकर तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धासे सम्पन्न हो महिमा यानी विभूतिका अनुभव करता है—श्रद्धाहीन होकर स्वेच्छाचारी नहीं होता। ऐसा योगभ्रष्ट कभी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता॥ ३॥

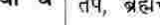

द्विमात्राविशिष्ट ओङ्कारोपासनाका फल

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते॥ ४॥

और यदि वह द्विमात्राविशिष्ट ओङ्कारके चिन्तनद्वारा मनसे एकत्वको प्राप्त हो जाता है तो उसे यजुःश्रुतियाँ अन्तरिक्षस्थित सोमलोकमें ले जाती हैं। तदनन्तर सोमलोकमें विभूतिका अनुभव कर वह फिर लौट आता है॥ ४॥

अथ पुनर्यदि द्विमात्राविभागज्ञो द्विमात्रेण विशिष्टमोङ्कारम् अभिध्यायीत स्वप्नात्मके मनसि मननीये यजुर्मये सोमदैवत्ये सम्पद्यत एकाग्रतयात्मभावं गच्छति स एवं सम्पन्नो मृतोऽन्तरिक्षम् अन्तरिक्षाधारं द्वितीयमात्रारूपं द्वितीयमात्रारूपैरेव यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकं सौम्यं जन्म प्रापयन्ति तं यजूंषीत्यर्थः। स तत्र विभूतिमनुभूय सोमलोके मनुष्यलोकं प्रति पुनरावर्तते ॥ ४ ॥

और यदि वह दो मात्राओं (अ उ)-के विभागका ज्ञाता होकर द्विमात्राविशिष्ट ओङ्कारका चिन्तन करता है तो वह सोम ही जिसका देवता है उस स्वप्नात्मक यजुर्वेद-स्वरूप मननीय मनको प्राप्त होता है अर्थात् एकाग्रताद्वारा उसके आत्म-भावको प्राप्त हो जाता है [यानी उसे ही अपना-आप मानने लगता है]। इस अवस्थामें मृत्युको प्राप्त होनेपर वह अन्तरिक्षाधार द्वितीयमात्रारूप सोमलोकमें द्वितीयमात्रारूप यजुः-श्रुतियोंद्वारा सोमलोकको ले जाया जाता है। अर्थात् यजुःश्रुतियाँ उसे सोमलोकसम्बन्धी जन्म प्राप्त कराती हैं। उस सोमलोकमें विभूतिका अनुभव कर वह फिर मनुष्यलोकमें लौट आता है ॥ ४ ॥

त्रिमात्राविशिष्ट ओङ्कारोपासनाका फल

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥ ५ ॥

किन्तु जो उपासक त्रिमात्राविशिष्ट 'ॐ' इस अक्षरद्वारा इस परमपुरुषकी उपासना करता है वह तेजोमय सूर्यलोकको प्राप्त होता है। सर्प जिस प्रकार केंचुलीसे निकल आता है उसी प्रकार वह पापोंसे मुक्त हो जाता है। वह सामश्रुतियोंद्वारा ब्रह्मलोकमें ले जाया जाता है और इस जीवनघनसे भी उत्कृष्ट हृदयस्थित परमपुरुषका साक्षात्कार करता है। इस सम्बन्धमें ये दो श्लोक हैं॥ ५॥

यः पुनरेतमोङ्कारं त्रिमात्रेण त्रिमात्राविषयविज्ञानविशिष्टेन ओमित्येतेनैवाक्षरेण परं सूर्यान्तर्गतं पुरुषं प्रतीकेनाभिध्यायीत तेनाभिध्यानेन, प्रतीकत्वेन ह्यालम्बनत्वं प्रकृतम् ओङ्कारस्य परं चापरं च ब्रह्मेत्यभेदश्रुतेरोङ्कारमिति च द्वितीयानेकशः श्रुता बाध्येतान्यथा यद्यपि तृतीयाभिध्यानत्वेन करणत्वमुपपद्यते तथापि प्रकृतानुरोधात्रिमात्रं परं पुरुषमिति द्वितीयैव परिणेया ''त्यजेदेकं

परन्तु जो पुरुष इस तीन मात्राओंवाले—तीन मात्राविषयक विज्ञानसे युक्त 'ॐ' इस अक्षरात्मक प्रतीकरूपसे पर अर्थात् सूर्यमण्डलान्तर्गत पुरुषका चिन्तन करता है वह उस चिन्तनके द्वारा ही ध्यान करता हुआ तृतीय मात्रारूप होकर तेजोमय सूर्यलोकमें स्थित हो जाता है। वह मृत्युके पश्चात् भी चन्द्रलोकादिके समान सूर्यलोकसे लौटकर नहीं आता, बल्कि सूर्यमें लीन हुआ ही स्थित रहता है। 'परं चापरं च ब्रह्म' इस अभेदश्रुतिद्वारा ओङ्कारका प्रतीकरूपसे आलम्बनत्व बतलाया गया है [ब्रह्मप्राप्तिमें उसका साधनत्व नहीं बतलाया गया]। अन्यथा बहुत-सी श्रुतियोंमें जो 'ओङ्कारम्' ऐसी द्वितीया विभक्ति आयी है वह बाधित हो जायगी।

कुलस्यार्थे'' (महा० उ० ३७। १७) इति न्यायेन। स तृतीयमात्रारूपस्तेजसि सूर्ये संपन्नो भवति ध्यायमानो मृतोऽपि सूर्यात्सोमलोकादिवन्न पुनरावर्तते किन्तु सूर्ये संपन्नमात्र एव।

यथा पादोदरः सर्पस्त्वचा विनिर्मुच्यते जीर्णत्वग्विनिर्मुक्तः स पुनर्नवो भवति। एवं ह वा एष यथा दृष्टान्तः स पाप्मना सर्पत्वक्स्थानीयेनाशुद्धिरूपेण विनिर्मुक्तः सामभिस्तृतीयमात्रा-रूपैरूर्ध्वमुन्नीयते ब्रह्मलोकं हिरण्यगर्भस्य ब्रह्मणो लोकं सत्याख्यम्। स हिरण्यगर्भः सर्वेषां संसारिणां जीवानामात्मभूतः। स ह्यन्तरात्मा लिङ्गरूपेण सर्वभूतानाम्, तस्मिन्हि लिङ्गात्मनि संहताः सर्वे जीवाः। तस्मात्स जीवघनः। स विद्वांस्त्रिमात्रोङ्का-राभिज्ञ एतस्माज्जीवघना-

यद्यपि 'ओमित्येतेन' इस पदमें तृतीया विभक्ति होनेके कारण इसका करणत्व (साधनत्व) मानना भी ठीक है तथापि ''त्यजेदेकं कुलस्यार्थे'' (कुलके हितके लिये एक व्यक्तिका त्याग कर देना चाहिये) इस न्यायसे प्रकरणके अनुसार इसे 'त्रिमात्रं परं पुरुषम्' इस प्रकार द्वितीया विभक्तिमें ही परिणत कर लेना चाहिये।

जिस प्रकार पादोदर—सर्प केंचुलीसे छूट जाता है, और वह जीर्ण त्वचासे छूटकर पुनः नवीन हो जाता है, उसी प्रकार जैसा कि यह दृष्टान्त है, वह साधक सर्पकी केंचुलीरूप अशुद्धिमय पापसे मुक्त हो तृतीय मात्रारूप सामश्रुतियोंद्वारा ऊपरकी ओर ब्रह्मलोकको यानी हिरण्यगर्भ—ब्रह्माके सत्य नामक लोकको ले जाया जाता है। वह हिरण्यगर्भ सम्पूर्ण संसारी जीवोंका आत्मस्वरूप है। वही लिङ्गदेहरूपसे समस्त जीवोंका अन्तरात्मा है। उस लिङ्गात्मा हिरण्यगर्भमें ही समस्त जीव संहत हैं। अतः वह जीवघन है। वह त्रिमात्र ओङ्कारका ज्ञाता एवं ध्यान करनेवाला विद्वान् इस उत्तम जीवघनस्वरूप

द्धिरण्यगर्भात्परात्परं परमात्माख्यं पुरुषमीक्षते पुरिशयं सर्वशरीरानुप्रविष्टं पश्यति ध्यायमानः। तदेतस्मिन्यथोक्तार्थप्रकाशकौ मन्त्रौ भवतः॥ ५॥

हिरण्यगर्भसे भी श्रेष्ठ तथा पुरिशय—सम्पूर्ण शरीरोंमें अनुप्रविष्ट परमात्मा-संज्ञक पुरुषको देखता है। इस उपर्युक्त अर्थको ही प्रकाशित करनेवाले ये दो श्लोक यानी मन्त्र हैं॥ ५॥

ओङ्कारकी तीन मात्राओंकी विशेषता

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता
अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु
सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः॥ ६॥

ओङ्कारकी तीनों मात्राएँ [पृथक्-पृथक्] रहनेपर मृत्युसे युक्त हैं। वे [ध्यान-क्रियामें] प्रयुक्त होती हैं और परस्पर सम्बद्ध तथा अनविप्रयुक्ता (जिनका विपरीत प्रयोग न किया गया हो—ऐसी) हैं। इस प्रकार बाह्य (जाग्रत्), आभ्यन्तर (सुषुप्ति) और मध्यम (स्वप्नस्थानीय) क्रियाओंमें उनका सम्यक् प्रयोग किया जानेपर ज्ञाता पुरुष विचलित नहीं होता॥ ६॥

तिस्रस्त्रिसंख्याका अकारोकार-मकाराख्या ओङ्कारस्य मात्रा मृत्युमत्यो मृत्युर्यासां विद्यते ता मृत्युमत्यो मृत्युगोचरादनतिक्रान्ता मृत्युगोचरा एवेत्यर्थः। ता आत्मनो

ओङ्कारकी अकार, उकार और मकार—ये तीन मात्राएँ मृत्युमती हैं। जिनकी मृत्यु विद्यमान है—जो मृत्युकी पहुँचसे परे नहीं हैं अर्थात् मृत्युकी विषयभूता ही हैं उन्हें मृत्युमती कहते हैं। वे आत्माकी

ध्यानक्रियासु प्रयुक्ताः, किं चान्योन्यसक्ता इतरेतरसंबद्धाः, अनविप्रयुक्ता विशेषेणैकैकविषय एव प्रयुक्ता विप्रयुक्ताः, न तथा विप्रयुक्ता अविप्रयुक्ता नाविप्रयुक्ता अनविप्रयुक्ताः।

ध्यानक्रियाओंमें प्रयुक्त होती हैं; और अन्योन्यसक्त यानी एक-दूसरीसे सम्बद्ध हैं [तथा] वे 'अनविप्रयुक्ता' हैं—जो विशेषरूपसे एक विषयमें ही प्रयुक्त हों वे 'विप्रयुक्ता' कहलाती हैं, तथा जो विप्रयुक्ता न हों उन्हें 'अविप्रयुक्ता' कहते हैं और जो अविप्रयुक्ता नहीं हैं वे ही 'अनविप्रयुक्ता' कहलाती हैं।

किं तर्हि, विशेषेणैकस्मिन्ध्यानकाले तिसृषु क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तस्थानपुरुषाभिध्यानलक्षणासु योगक्रियासु सम्यक्प्रयुक्तासु सम्यग्ध्यानकाले प्रयोजितासु न कम्पते न चलति ज्ञो योगी यथोक्तविभागज्ञ ओङ्कारस्येत्यर्थः, न तस्यैवंविदश्चलनमुपपद्यते। यस्माज्जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तपुरुषाः सह स्थानैर्मात्रात्रयरूपेण

तो इससे क्या सिद्ध हुआ? इस प्रकार विशेषरूपसे एक ही बाह्य, आभ्यन्तर और मध्यम तीन क्रियाओंमें यानी ध्यानकालमें जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिके अभिमानी [विश्व, तैजस और प्राज्ञ अथवा समष्टिरूपसे विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर—इन तीनों] पुरुषोंके अभिध्यानरूप योगक्रियाओंके सम्यक् प्रयोग किये जानेपर—सम्यक् ध्यानकालमें प्रयोजित होनेपर ज्ञानी-योगी अर्थात् ओङ्कारकी मात्राओंके पूर्वोक्त विभागको जाननेवाला साधक विचलित नहीं होता। इस प्रकार जाननेवाले उस योगीका विचलित होना सिद्ध नहीं होता। क्योंकि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिके अभिमानी पुरुष अपने स्थानोंके सहित मात्रात्रयरूप

ओङ्कारात्मरूपेण दृष्टाः। स ह्येवं विद्वान्सर्वात्मभूत ओङ्कारमयः कुतो वा चलेत्कस्मिन्वा॥ ६॥

ओङ्कार स्वरूपसे देखे जा चुके हैं। इस प्रकार सर्वात्मभूत और ओङ्कार-स्वरूपताको प्राप्त हुआ वह विद्वान् कहाँसे और किसके प्रति विचलित होगा?॥ ६॥

ऋगादि वेद और ओङ्कारसे प्राप्त होनेवाले लोक

सर्वार्थसंग्रहार्थो द्वितीयो मन्त्रः—

दूसरा मन्त्र उपर्युक्त सम्पूर्ण अर्थका संग्रह करनेके लिये है—

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं
सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते।
तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्
यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति॥ ७॥

साधक ऋग्वेदद्वारा इस लोकको, यजुर्वेदद्वारा अन्तरिक्षको और सामवेदद्वारा उस लोकको प्राप्त होता है जिसे विज्ञजन जानते हैं। तथा उस ओङ्काररूप आलम्बनके द्वारा ही विद्वान् उस लोकको प्राप्त होता है जो शान्त, अजर, अमर, अभय एवं सबसे पर (श्रेष्ठ) है॥ ७॥

ऋग्भिरेतं लोकं मनुष्योपलक्षितम्। यजुर्भिरन्तरिक्षं सोमाधिष्ठितम्। सामभिर्यत्तद् ब्रह्मलोकमिति तृतीयं कवयो मेधाविनो विद्यावन्त एव नाविद्वांसो वेदयन्ते।

ऋग्वेदद्वारा इस मनुष्योपलक्षित लोकको, यजुर्वेदद्वारा सोमाधिष्ठित अन्तरिक्षको और सामवेदद्वारा उस तृतीय ब्रह्मलोकको, जिसे कि कवि, मेधावी अर्थात् विद्वान्लोग ही जानते हैं—अविद्वान् नहीं;

तं त्रिविधं लोकमोङ्कारेण साधनेनापरब्रह्मलक्षणमन्वेत्यनुगच्छति विद्वान्।

इस क्रमसे ओङ्काररूप साधनके द्वारा ही विद्वान् अपरब्रह्मस्वरूप इस त्रिविध लोकको प्राप्त हो जाता है अर्थात् इन तीनोंका अनुगमन करता है।

तेनैवोङ्कारेण यत्तत्परं ब्रह्माक्षरं सत्यं पुरुषाख्यं शान्तं विमुक्तं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिविशेषसर्वप्रपञ्चविवर्जितमत एव अजरं जरावर्जितममृतं मृत्युवर्जितमत एव यस्माज्जराविक्रियारहितमतोऽभयम्, यस्मादेव अभयं तस्मात्परं निरतिशयम्; तदप्योङ्कारेणायतनेन गमनसाधनेनान्वेतीत्यर्थः। इतिशब्दो वाक्यपरिसमाप्त्यर्थः॥ ७॥

उस ओङ्कारसे ही वह उस अक्षर सत्य और पुरुषसंज्ञक परब्रह्मको प्राप्त होता है जो शान्त अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदि विशेषभावसे मुक्त तथा सब प्रकारके प्रपञ्चसे रहित है, इसलिये जो अजर—जराशून्य अतः अमृत—मृत्युरहित है। क्योंकि वह जरा आदि विकारोंसे रहित है इसलिये अभयरूप है। और अभय होनेके कारण ही पर—निरतिशय है। तात्पर्य यह कि उसे भी वह ओङ्काररूप आलम्बन यानी गमनसाधनके द्वारा ही प्राप्त होता है। मन्त्रके अन्तमें 'इति' शब्द वाक्यकी परिसमाप्तिके लिये है॥ ७॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये पञ्चमः प्रश्नः॥ ५॥

षष्ठ प्रश्न

सुकेशाका प्रश्न—सोलह कलाओंवाला पुरुष कौन है?

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ। भगवन्हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत। षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुं स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति॥ १॥

तदनन्तर उन पिप्पलादाचार्यसे भरद्वाजके पुत्र सुकेशाने पूछा—"भगवन्! कोसलदेशके राजकुमार हिरण्यनाभने मेरे पास आकर यह प्रश्न पूछा था—'भारद्वाज! क्या तू सोलह कलाओंवाले पुरुषको जानता है?' तब मैंने उस कुमारसे कहा—'मैं इसे नहीं जानता; यदि मैं इसे जानता होता तो तुझे क्यों न बतलाता? जो पुरुष मिथ्या भाषण करता है वह सब ओरसे मूलसहित सूख जाता है; अतः मैं मिथ्या भाषण नहीं कर सकता।' तब वह चुपचाप रथपर चढ़कर चला गया। सो अब मैं आपसे उसके विषयमें पूछता हूँ कि वह पुरुष कहाँ है?"॥ १॥

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ। समस्तं जगत्कार्यकारण-लक्षणं सह विज्ञानात्मना परस्मिन्नक्षरे सुषुप्तिकाले सम्प्रतिष्ठत

तदनन्तर उन पिप्पलादाचार्यसे भरद्वाजके पुत्र सुकेशाने पूछा। पहले यह कहा जा चुका है कि सुषुप्तिकालमें विज्ञानात्माके सहित सम्पूर्ण कार्यकारणरूप जगत् अक्षर (अविनाशी) परम पुरुषमें लीन

इत्युक्तम्। सामर्थ्यात्प्रलयेऽपि तस्मिन्नेवाक्षरे सम्प्रतिष्ठते जगत्तत एवोत्पद्यत इति सिद्धं भवति। न ह्यकारणे कार्यस्य सम्प्रतिष्ठानमुपपद्यते।

उक्तं च 'आत्मन एष प्राणो जायते' इति। जगतश्च यन्मूलं तत्परिज्ञानात्परं श्रेय इति सर्वोपनिषदां निश्चितोऽर्थः। अनन्तरं चोक्तं 'स सर्वज्ञः सर्वो भवति' इति वक्तव्यं च क्व तर्हि तदक्षरं सत्यं पुरुषाख्यं विज्ञेयमिति तदर्थोऽयं प्रश्न आरभ्यते। वृत्तान्वाख्यानं च विज्ञानस्य दुर्लभत्वख्यापनेन तल्लब्ध्यर्थं मुमुक्षूणां यत्न-विशेषोपादानार्थम्।

हो जाता है। इसी नियमके अनुसार यह भी सिद्ध होता है कि प्रलयकालमें भी यह जगत् उस अक्षरमें ही स्थित होता है और फिर उसीसे उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि जो कारण नहीं है उसमें कार्यका लीन होना सम्भव नहीं है।

इसके सिवा [प्रश्न० ३। ३ में] यह कहा भी है कि 'यह प्राण आत्मासे उत्पन्न होता है' तथा सम्पूर्ण उपनिषदोंका यह निश्चित अभिप्राय है कि 'जो जगत्का आदि कारण है उसके ज्ञानसे ही आत्यन्तिक कल्याण हो सकता है।' अभी [प्रश्न० ४। १० में] यह कहा जा चुका है कि 'वह सर्वज्ञ और सर्वात्मक हो जाता है।' अतः अब यह बतलाना चाहिये कि 'उस पुरुषसंज्ञक सत्य और अक्षरको कहाँ जानना चाहिये?' इसीके लिये यह [छठा] प्रश्न आरम्भ किया जाता है। आख्यायिकाका उल्लेख इसलिये किया गया है कि जिससे विज्ञानकी दुर्लभता प्रदर्शित होनेसे मुमुक्षुलोग उसकी प्राप्तिके लिये विशेष प्रयत्न करें।

हे भगवन् हिरण्यनाभो नामतः कोसलायां भवः कौसल्यो राजपुत्रो जातितः क्षत्रियो माम् उपेत्योपगम्यैतमुच्यमानं प्रश्नमपृच्छत। षोडशकलं षोडशसंख्याकाः कला अवयवा इव आत्मन्यविद्याध्यारोपितरूपा यस्मिन् पुरुषे सोऽयं षोडशकलस्तं षोडशकलं हे भारद्वाज पुरुषं वेत्थ विजानासि। तमहं राजपुत्रं कुमारं पृष्टवन्तमब्रुवमुक्तवानस्मि नाहमिमं वेद यं त्वं पृच्छसीति।

एवमुक्तवत्यपि मय्यज्ञानमसंभावयन्तं तमज्ञाने कारणमवादिषम्। यदि कथञ्चिदहमिमं त्वया पृष्टं पुरुषमवेदिषं विदितवानस्मि कथमत्यन्तशिष्यगुणवतेऽर्थिने ते तुभ्यं नावक्ष्यं नोक्तवानस्मि न ब्रूयामित्यर्थः। भूयोऽप्यप्रत्ययमिवालक्ष्य प्रत्याययितुमब्रुवम्। समूलः सह मूलेन वा एषोऽन्यथा

[अब सुकेशाका प्रश्न आरम्भ होता है—] हे भगवन्! कोसलपुरीमें उत्पन्न हुए हिरण्यनाभ नामक एक राजपुत्रने—जो जातिका क्षत्रिय था, मेरे समीप आकर यह आगे कहा जानेवाला प्रश्न किया—'हे भारद्वाज! क्या तू षोडशकल पुरुषको—जिस पुरुषमें, शरीरमें अवयवोंके समान, अविद्यावश सोलह कलाएँ आरोपित की गयी हों उसे षोडशकल पुरुष कहते हैं ऐसे उस सोलह कलाओंवाले पुरुषको क्या तू जानता है?' इस प्रकार पूछते हुए उस राजकुमारसे मैंने कहा—'तुम जिसके विषयमें पूछते हो मैं उसे नहीं जानता।'

ऐसा कहनेपर भी मुझमें अज्ञानकी सम्भावना न करनेवाले उस राजकुमारको मैंने अपने अज्ञानका कारण बतलाया—'यदि कहीं तेरे पूछे हुए इस पुरुषको मैं जानता तो तुझ अत्यन्त शिष्यगुणसम्पन्न प्रार्थीसे क्यों न कहता? अर्थात् तुझे क्यों न बतलाता?' फिर भी उसे अविश्वस्त-सा देख उसको विश्वास दिलानेके लिये मैंने कहा—'जो पुरुष अपने आत्माको अन्यथा करता हुआ अनृत—अयथार्थ

सन्तमात्मानमन्यथा कुर्वन्नृतमयथाभूतार्थमभिवदति यः स परिशुष्यति शोषमुपैतीहलोकपरलोकाभ्यां विच्छिद्यते विनश्यति। यत एवं जाने तस्मान्नार्हाम्यहमनृतं वक्तुं मूढवत्।

स राजपुत्र एवं प्रत्यायितस्तूष्णीं व्रीडितो रथमारुह्य प्रवव्राज प्रगतवान् यथागतमेव। अतो न्यायत उपसन्नाय योग्याय जानता विद्या वक्तव्यैवानृतं च न वक्तव्यं सर्वास्वप्यवस्थासु इत्येतत्सिद्धं भवति। तं पुरुषं त्वा त्वां पृच्छामि मम हृदि विज्ञेयत्वेन शल्यमिव मे हृदि स्थितं क्वासौ वर्तते विज्ञेयः पुरुष इति॥ १॥

भाषण करता है वह समूल अर्थात् मूलके सहित सूख जाता है अर्थात् इस लोक और परलोक दोनोंसे ही विलग होकर नष्ट हो जाता है। मैं इस बातको जानता हूँ, इसलिये अज्ञानी पुरुषके समान मिथ्या भाषण नहीं कर सकता।'

इस प्रकार विश्वास दिलाये जानेपर वह राजकुमार चुपचाप—संकुचित हो रथपर चढ़कर जहाँसे आया था वहीं चला गया। इससे यह सिद्ध होता है कि अपने समीप नियमपूर्वक आये हुए योग्य जिज्ञासुके प्रति विज्ञ पुरुषको विद्याका उपदेश करना ही चाहिये तथा सभी अवस्थाओंमें मिथ्या भाषण कभी न करना चाहिये। [सुकेशा कहता है—हे भगवन्!] मेरे हृदयमें ज्ञातव्यरूपसे काँटेके समान खटकते हुए इस पुरुषके विषयमें मैं आपसे पूछता हूँ कि वह ज्ञातव्य पुरुष कहाँ रहता है?॥ १॥

पिप्पलादका उत्तर—वह पुरुष शरीरमें स्थित है

तस्मै स होवाच। इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीति॥ २॥

उससे आचार्य पिप्पलादने कहा—'हे सोम्य! जिसमें इन सोलह कलाओंका प्रादुर्भाव होता है वह पुरुष इस शरीरके भीतर ही वर्तमान है॥ २॥

तस्मै स होवाच। इहैवान्तःशरीरे हृदयपुण्डरीकाकाशमध्ये हे सोम्य स पुरुषो न देशान्तरे विज्ञेयो यस्मिन्नेता उच्यमानाः षोडश कलाः प्राणाद्याः प्रभवन्ति उत्पद्यन्त इति षोडशकलाभिः उपाधिभूताभिः सकल इव निष्कलः पुरुषो लक्ष्यतेऽविद्ययेति तदुपाधिकलाध्यारोपापनयेन विद्यया स पुरुषः केवलो दर्शयितव्य इति कलानां तत्प्रभवत्वमुच्यते। प्राणादीनामत्यन्तनिर्विशेषे ह्यद्वये शुद्धे तत्त्वे न शक्योऽध्यारोपमन्तरेण प्रतिपाद्यप्रतिपादनादिव्यवहारः कर्तुमिति कलानां प्रभवस्थित्यप्यया आरोप्यन्ते अविद्याविषयाः। चैतन्या-

उससे उस (पिप्पलादाचार्य)-ने कहा—हे सोम्य! उस पुरुषको यहीं—इस शरीरके भीतर हृदयपुण्डरीकाकाशमें ही जानना चाहिये—किसी अन्य देश (स्थान)-में नहीं, जिस (पुरुष)-में कि इन आगे कही जानेवाली प्राण आदि सोलह कलाओंका प्रादुर्भाव होता है अर्थात् जिससे ये उत्पन्न होती हैं। इन उपाधिभूत सोलह कलाओंके कारण वह पुरुष कलाहीन होकर भी अविद्यावश कलावान्-सा दिखलायी देता है। उन औपाधिक कलाओंके अध्यारोपकी विद्यासे निवृत्ति करके उस पुरुषको शुद्ध दिखलाना है इसलिये प्राणादि कलाओंको उसीसे उत्पन्न होनेवाली कहा है, क्योंकि अत्यन्त निर्विशेष, अद्वय और विशुद्ध तत्त्वमें अध्यारोपके बिना प्रतिपाद्य-प्रतिपादन आदि कोई व्यवहार नहीं किया जा सकता। इसलिये उसमें कलाओंके अविद्याविषयक उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका आरोप किया जाता है, क्योंकि ये कलाएँ चैतन्यसे

व्यतिरेकेणैव हि कला जायमानाः तिष्ठन्त्यः प्रलीयमानाश्च सर्वदा लक्ष्यन्ते।

अभिन्न रहकर ही सर्वदा उत्पन्न, स्थित तथा लीन होती देखी जाती हैं।

अत एव भ्रान्ताः केचिद्

आत्मचैतन्ये विकल्पाः

अग्निसंयोगाद् घृतमिव घटाद्याकारेण चैतन्यम् एव प्रतिक्षणं जायते नश्यतीति। तन्निरोधे शून्यमिव सर्वमित्यपरे। घटादिविषयं चैतन्यं चेतयितुर्नित्यस्यात्मनोऽनित्यं जायते विनश्यतीत्यपरे। चैतन्यं भूतधर्म इति लौकायतिकाः। अनपायोपजनधर्मकं चैतन्यमात्मा एव नामरूपाद्युपाधिधर्मैः प्रत्यवभासते "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २। १। १) "प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ० उ० ५। ३) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० उ० ३। ९। २८) "विज्ञानघन एव" (बृ० उ० २। ४। १२) इत्यादि-श्रुतिभ्यः। स्वरूपव्यभिचारिषु

इसीसे कुछ भ्रान्त पुरुषोंका मत है कि 'अग्निके संयोगसे घृतके समान चैतन्य ही प्रत्येक क्षणमें घट आदि आकारोंमें उत्पन्न और नष्ट हो रहा है।' इनसे भिन्न दूसरों (शून्यवादियों)-का मत है कि 'इनका निरोध हो जानेपर सब कुछ शून्यमय हो जाता है।' तथा अन्य (नैयायिक) कहते हैं कि चेतयिता नित्य आत्माकी घटादिको विषय करनेवाली अनित्य चेतनता उत्पन्न और नष्ट होती रहती है, तथा लौकायतिकों (देहात्मवादियों)-का कथन है कि 'चेतनता भूतोंका धर्म है।' परन्तु "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "प्रज्ञानं ब्रह्म", "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म", "विज्ञानघन एव" इत्यादि श्रुतियोंसे यह सिद्ध होता है कि उत्पत्ति-नाशरूप धर्मसे रहित चेतन ही आत्मा है; वही नाम-रूप आदि औपाधिक धर्मोंसे युक्त भास रहा है। अपने स्वरूपसे व्यभिचारी (बदलनेवाले)

पदार्थेषु चैतन्यस्याव्यभिचाराद्यथा यथा यो यः पदार्थो विज्ञायते तथा तथा ज्ञायमानत्वादेव तस्य तस्य चैतन्यस्याव्यभिचारित्वम्।

ज्ञेयवस्तुनि ज्ञानस्य अव्यभिचारो भवति

वस्तुतत्त्वं भवति किञ्चित्; न ज्ञायत इति चानुपपन्नम्, रूपं च दृश्यते न चास्ति चक्षुरिति यथा। व्यभिचरति तु ज्ञेयम्; न ज्ञानं व्यभिचरति कदाचिदपि ज्ञेयम्, ज्ञेयाभावेऽपि ज्ञेयान्तरे भावाज्ज्ञानस्य। न हि ज्ञानेऽसति ज्ञेयं नाम भवति कस्यचित्; सुषुप्तेऽदर्शनात्।

ज्ञानस्यापि सुषुप्तेऽभावाज्ज्ञेयवज्ज्ञानस्वरूपस्य व्यभिचार इति चेत्।

पदार्थोंमें चैतन्यका व्यभिचार (परिवर्तन) न होनेके कारण जो पदार्थ जिस-जिस प्रकार जाना जाता है उसके उस-उस प्रकार जाने जानेके कारण ही उस-उस पदार्थके चैतन्यका अव्यभिचार सिद्ध होता है।*

'कोई वस्तुतत्त्व है तो सही किन्तु जाना नहीं जाता' ऐसा कहना तो 'रूप तो दिखलायी देता है परन्तु नेत्र नहीं है' इस कथनके समान अयुक्त ही है। ज्ञेयका तो ज्ञानमें व्यभिचार होता है किन्तु ज्ञानका ज्ञेयमें कभी व्यभिचार नहीं होता, क्योंकि एक ज्ञेयका अभाव होनेपर भी ज्ञेयान्तरमें ज्ञानका सद्भाव रहता ही है; ज्ञानके अभावमें तो ज्ञेय किसीके लिये रहता ही नहीं, जैसा कि सुषुप्तिमें उनका अभाव देखा जाता है।

मध्यस्थ—सुषुप्तिमें तो ज्ञानका भी अभाव है; अतः उस समय ज्ञेयके समान ज्ञानके स्वरूपका भी व्यभिचार होता है।

* जो पदार्थ जिस प्रकार जाना जाता है उसके ज्ञानके प्रकारभेदका कारण तो उपाधि है, परन्तु उसमें ज्ञानत्व उस अव्यभिचारी चैतन्यका ही है जो सारी उपाधियोंकी ओटमें उनके अधिष्ठानरूपसे सर्वत्र अनुस्यूत है। इसीलिये यह कहा गया है कि जो पदार्थ जिस प्रकार भासता है उसके उसी प्रकार भासित होनेसे ही उस पदार्थके चैतन्यका अव्यभिचार सिद्ध होता है, क्योंकि यदि उसमें चैतन्यका व्यभिचार होता तो उसका ज्ञान ही नहीं हो सकता था।

न, ज्ञेयावभासकस्य ज्ञान-
स्यालोकवज्ज्ञेयाभिव्यञ्जकत्वा-
सुषुप्तौ ज्ञानसद्भाव-स्थापनम्
त्स्वव्यङ्ग्याभाव आलोकाभावानुपपत्ति-
वत्सुषुप्से विज्ञानाभावानुपपत्तेः। न
ह्यन्धकारे चक्षुषा रूपानुपलब्धौ
चक्षुषोऽभावः शक्यः कल्पयितुं
वैनाशिकेन।

वैनाशिको ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावं
कल्पयत्येवेति चेत्।

येन तदभावं कल्पयेत्तस्याभावः-
केन कल्प्यत इति
वैनाशिकमत-समीक्षा वक्तव्यं वैनाशिकेन,
तदभावस्यापि ज्ञेय-
त्वाज्ज्ञानाभावे तदनुपपत्तेः।

ज्ञानस्य ज्ञेयाव्यतिरिक्तत्वा-
ज्ज्ञेयाभावे ज्ञानाभाव इति चेत्।

न; अभावस्यापि ज्ञेयत्वाभ्युपगमा-
दभावोऽपि ज्ञेयोऽभ्युप-

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं। ज्ञेयका अवभासक ज्ञान प्रकाशके समान ज्ञेयकी अभिव्यक्तिका कारण है; अतः प्रकाश्य वस्तुओंके अभावमें जिस प्रकार प्रकाशका अभाव नहीं माना जाता उसी प्रकार सुषुप्तिमें वस्तुओंकी प्रतीति न होनेसे विज्ञानका अभाव मानना ठीक नहीं। अन्धकारमें रूपकी उपलब्धि न होनेपर वैनाशिक [क्षणिक विज्ञानवादी] भी नेत्रके अभावकी कल्पना नहीं कर सकता।

मध्यस्थ—परन्तु वैनाशिक तो ज्ञेयके अभावमें ज्ञानके अभावकी कल्पना करता ही है।

सिद्धान्ती—उस वैनाशिकको यह बतलाना चाहिये कि जिस [ज्ञान]-से ज्ञेयके अभावकी कल्पना की जाती है उसका अभाव किससे कल्पना किया जाता है? क्योंकि उस [ज्ञान]-का अभाव भी ज्ञेयरूप होनेके कारण बिना ज्ञानके सिद्ध नहीं हो सकता।

मध्यस्थ—ज्ञान ज्ञेयसे अभिन्न है, इसलिये ज्ञेयके अभावमें ज्ञानका भी अभाव हो जाता है—ऐसा मानें तो?

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अभाव भी ज्ञेयरूप माना

गम्यते वैनाशिकैर्नित्यश्च तदव्यतिरिक्तं चेज्ज्ञानं नित्यं कल्पितं स्यात्तदभावस्य च ज्ञानात्मकत्वादभावत्वं वाङ्मात्रमेव न परमार्थतोऽभावत्वमनित्यत्वं च ज्ञानस्य। न च नित्यस्य ज्ञानस्याभावनाममात्राध्यारोपे किञ्चिन्नश्छिन्नम्।

अथाभावो ज्ञेयोऽपि सन् ज्ञानव्यतिरिक्त इति चेत्।

न तर्हि ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावः।

ज्ञेयं ज्ञानव्यतिरिक्तं न तु ज्ञानं ज्ञेयव्यतिरिक्तमिति चेत्।

न; शब्दमात्रत्वाद्विशेषानुपपत्तेः। ज्ञेयज्ञानयोरेकत्वं चेदभ्युपगम्यते ज्ञेयं ज्ञानव्यतिरिक्तं ज्ञानं ज्ञेयव्यतिरिक्तं नेति तु शब्दमात्रमेतद्वह्निरग्निव्यतिरिक्तः,

गया है। वैनाशिकोंने अभावको भी ज्ञेय और नित्य स्वीकार किया है। यदि ज्ञान उससे [ज्ञेयसे] अभिन्न है तो वह [उनके मतमें भी] नित्य मान लिया जाता है। तथा उसका अभाव भी ज्ञानस्वरूप होनेके कारण उसका अभावत्व नाममात्रको ही रहता है, वास्तवमें ज्ञानका अभावत्व एवं अनित्यत्व सिद्ध नहीं होता। नित्यज्ञानका केवल 'अभाव' नाम रख देनेसे ही हमारा कुछ बिगड़ नहीं जाता।

मध्यस्थ—किन्तु यदि अभाव ज्ञेय होनेपर भी ज्ञानसे भिन्न माना जाय तो?

सिद्धान्ती—तब तो ज्ञेयका अभाव होनेपर ज्ञानका अभाव हो ही नहीं सकता।

मध्यस्थ—परन्तु ज्ञेय ही ज्ञानसे भिन्न माना जाय, ज्ञान ज्ञेयसे भिन्न न माना जाय तो?

सिद्धान्ती—ऐसा मत कहो, क्योंकि यह कथन केवल शब्दमात्र होनेसे इसमें कोई विशेषता नहीं है। यदि तुम ज्ञान और ज्ञेयकी अभिन्नता मानते हो तो 'ज्ञेय ज्ञानसे भिन्न है किन्तु ज्ञान ज्ञेयसे भिन्न नहीं है' यह कथन इसी प्रकार केवल शब्दमात्र है जैसे यह मानना

अग्निर्न वह्निव्यतिरिक्त इति यद्वदभ्युपगम्यते। ज्ञेयव्यतिरेके तु ज्ञानस्य ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावानुपपत्तिः सिद्धा।

ज्ञेयाभावेऽदर्शनादभावो ज्ञानस्येति चेत्?

न, सुषुप्ते ज्ञप्त्यभ्युपगमात्। वैनाशिकैरभ्युपगम्यते हि सुषुप्तेऽपि ज्ञानास्तित्वम्।

तत्रापि ज्ञेयत्वमभ्युपगम्यते ज्ञानस्य स्वेनैवेति चेत्।

न, भेदस्य सिद्धत्वात्। सिद्धं ह्यभावविज्ञेयविषयस्य ज्ञानस्य अभावज्ञेयव्यतिरेकाज्ज्ञेयज्ञानयोरन्यत्वम्। न हि तत्सिद्धं मृतमिवोज्जीवयितुं पुनरन्यथा कर्तुं शक्यते वैनाशिकशतैरपि।

कि 'वह्नि अग्निसे भिन्न है, परन्तु अग्नि वह्निसे भिन्न नहीं है।' अतः यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान ज्ञेयसे व्यतिरिक्त होनेके कारण ज्ञेयका अभाव होनेपर ज्ञानका अभाव नहीं माना जा सकता।

मध्यस्थ—परन्तु ज्ञेयका अभाव हो जानेपर तो प्रतीत न होनेके कारण ज्ञानका भी अभाव हो जाता है?

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि सुषुप्तिमें ज्ञप्तिका अस्तित्व माना गया है—वैनाशिकोंने सुषुप्तिमें भी विज्ञानका अस्तित्व स्वीकार किया ही है।

मध्यस्थ—परन्तु उस अवस्थामें भी ज्ञानका ज्ञेयत्व स्वयं अपनेसे [ज्ञानसे] ही माना जाता है।*

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उन [ज्ञान और ज्ञेय]-का भेद सिद्ध हो ही चुका है। अभावरूप विज्ञेयविषयक ज्ञान अभावरूप ज्ञेयसे भिन्न होनेके कारण ज्ञेय और ज्ञानकी भिन्नता पहले सिद्ध हो ही चुकी है। उस सिद्ध हुई बातको, मृतकको पुनः जीवित करनेके समान, सैकड़ों वैनाशिक भी अन्यथा नहीं कर सकते।

* अर्थात् ज्ञान ज्ञानका ही ज्ञेय माना गया है।

ज्ञानस्य ज्ञेयत्वमेवेति तदप्यन्येन तदप्यन्येनेति त्वत्पक्षेऽतिप्रसङ्ग इति चेत्।

न, तद्विभागोपपत्तेः सर्वस्य। यदा हि सर्वं ज्ञेयं कस्यचित्तदा तद्व्यतिरिक्तं ज्ञानं ज्ञानमेवेति द्वितीयो विभाग एवाभ्युपगम्यतेऽवैनाशिकैर्न तृतीयस्तद्विषय इत्यनवस्थानुपपत्तिः।

ज्ञानस्य स्वेनैवाविज्ञेयत्वे सर्वज्ञत्वहानिरिति चेत्।

सोऽपि दोषस्तस्यैवास्तु किं तन्निबर्हणेनास्माकम्। अनवस्थादोषश्च ज्ञानस्य ज्ञेयत्वाभ्युपगमात्। अवश्यं च वैनाशिकानां ज्ञानं ज्ञेयम्। स्वात्मना चाविज्ञेयत्वेनानवस्थानिवार्या।

पूर्व०—ज्ञानको किसी अन्य ज्ञेयकी अपेक्षा है—यदि ऐसा मानें तो तेरे पक्षमें 'वह ज्ञान किसी अन्यका ज्ञेय है और वह किसी अन्यका' ऐसा माननेसे अनवस्थादोष होगा।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि सम्पूर्ण वस्तुओंका [ज्ञान और ज्ञेयरूपसे] विभाग किया जा सकता है। जब कि सब वस्तुएँ किसी एकहीकी ज्ञेय हैं तो उनसे भिन्न [उनका प्रकाशक] ज्ञान तो ज्ञान ही रहता है। यह वैनाशिकोंसे इतर मतावलम्बियोंने दूसरा ही विभाग माना है। इस विषयमें कोई तीसरा विभाग नहीं माना गया। अतः उनके मतमें अनवस्था नहीं आ सकती।

पूर्व०—यदि ज्ञानको अपनेसे ही ज्ञेय न माना जायगा तो उसके सर्वज्ञत्वकी हानि होगी।

सिद्धान्ती—यह दोष भी उस [वैनाशिक]-का ही हो सकता है; हमें उसे रोकनेकी क्या आवश्यकता है? अनवस्थादोष भी ज्ञानका ज्ञेयत्व माननेसे ही है। वैनाशिकोंके मतमें ज्ञान ज्ञेय तो अवश्य ही है; अतः अपना ही ज्ञेय न हो सकनेके कारण उसकी अनवस्था भी अनिवार्य ही है।

समान एवायं दोष इति चेत्।

न, ज्ञानस्यैकत्वोपपत्तेः।

ज्ञानावभासस्य औपाधिक-मनेकत्वम्

सर्वदेशकाल-पुरुषाद्यवस्थमेकमेव ज्ञानं नामरूपाद्यनेकोपाधिभेदात् सवित्रादिजलादिप्रतिबिम्बवद् अनेकधावभासत इति। नासौ दोषः। तथा चेहेदमुच्यते।

ननु श्रुतेरिहैवान्तःशरीरे परिच्छिन्नः कुण्डबदरवत्पुरुष इति।

न, प्राणादिकलाकारण-

आत्मनः अपरिच्छिन्नत्व-निरूपणम्

त्वात्। न हि शरीर-मात्रपरिच्छिन्नस्य प्राण-श्रद्धादीनां कलानां कारणत्वं प्रतिपत्तुं शक्नुयात्। कलाकार्यत्वाच्च शरीरस्य। न हि पुरुषकार्याणां कलानां कार्यं

पूर्व०—यह दोष तो तुम्हारे पक्षमें भी ऐसा ही है।*

सिद्धान्ती—नहीं, ज्ञानका एकत्व सिद्ध हो जानेके कारण [हमारे मतमें ऐसा कोई दोष नहीं आ सकता; हम तो मानते हैं कि] सम्पूर्ण देश, काल और पुरुष आदि अवस्थाओंमें जलादिमें प्रतिबिम्बित हुए सूर्य आदिके समान एक ही ज्ञान अनेक प्रकारसे भासित हो रहा है। अतः [हमारे मतमें] यह दोष नहीं है। इसीसे यहाँ यह [कलाओंके प्रादुर्भावकी] बात कही गयी है।

पूर्व०—परन्तु इस श्रुतिके अनुसार तो पुरुष, कूँड़ेमें बेरके समान इस शरीरमें ही परिच्छिन्न है।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि पुरुष प्राणादि कलाओंका कारण है; और जो शरीरमात्रसे परिच्छिन्न होगा उसे प्राण एवं श्रद्धादि कलाओंके कारण-रूपसे कोई नहीं जान सकता, क्योंकि शरीर तो उन कलाओंका ही कार्य है। पुरुषकी कार्यरूप कलाओंका कार्य होकर शरीर

* क्योंकि ज्ञानको किसीका ज्ञेय न माननेसे उसका व्यवहार ही सिद्ध नहीं हो सकता।

सच्छरीरं कारणकारणं स्वस्य पुरुषं कुण्डबदरमिवाभ्यन्तरीकुर्यात्।

बीजवृक्षादिवत्स्यादिति चेत्। यथा बीजकार्यं वृक्षस्तत्कार्यं च फलं स्वकारणकारणं बीजमभ्यन्तरीकरोत्याम्रादि तद्वत् पुरुषमभ्यन्तरीकुर्याच्छरीरं स्वकारणकारणमपीति चेत्।

न; अन्यत्वात्सावयवत्वाच्च। दृष्टान्ते कारणबीजाद् वृक्षफलसंवृतान्यन्यान्येव बीजानि दार्ष्टान्तिके तु स्वकारणकारणभूतः स एव पुरुषः शरीरेऽभ्यन्तरीकृतः श्रूयते। बीजवृक्षादीनां सावयवत्वाच्च स्यादाधाराधेयत्वं निरवयवश्च पुरुषः सावयवाश्च कलाः शरीरं च। एतेनाकाशस्यापि शरीराधारत्वमनुपपन्नं

अपने कारणके कारण पुरुषको, कुँड़ेमें बेरके समान, अपने भीतर नहीं कर सकता।

पूर्व०—यदि बीज और वृक्षादिके समान ऐसा हो सकता हो तो? जिस प्रकार बीजका कार्य वृक्ष है और उसका कार्य आम्रादि फल अपने कारणके कारण बीजको अपने भीतर कर लेता है उसी प्रकार अपने कारणका कारण होनेपर भी शरीर पुरुषको अपने भीतर कर लेगा—ऐसा मानें तो?

सिद्धान्ती—[पूर्वबीजसे] अन्य और सावयव होनेके कारण यह दृष्टान्त ठीक नहीं है। दृष्टान्तमें कारणरूप बीजसे वृक्षके फलसे ढँके हुए बीज भिन्न ही हैं, किन्तु दार्ष्टान्तमें तो अपने कारणका कारणरूप वही पुरुष शरीरके भीतर हुआ सुना जाता है। इसके सिवा सावयव होनेके कारण भी बीज और वृक्षादिमें परस्पर आधार-आधेयभाव हो सकता है। किन्तु इधर पुरुष तो निरवयव है तथा कलाएँ और शरीर सावयव हैं। इससे तो शरीर आकाशका भी आधार नहीं बन सकता, फिर

किमुताकाशकारणस्य पुरुषस्य तस्मादसमानो दृष्टान्तः।

किं दृष्टान्तेन वचनात्स्यादिति चेत्।

न; वचनस्याकारकत्वात्। न हि वचनं वस्तुनोऽन्यथाकरणे व्याप्रियते। किं तर्हि? यथाभूतार्थावद्योतने। तस्मादन्तःशरीर इत्येतद्वचनमण्डस्यान्तर्व्योमेतिवच्च द्रष्टव्यम्।

उपलब्धिनिमित्तत्वाच्च, दर्शनश्रवणमननविज्ञानादिलिङ्गैरन्तःशरीरे परिच्छिन्न इव ह्युपलभ्यते पुरुष उपलभ्यते चात उच्यतेऽन्तःशरीरे सोम्य स पुरुष इति। न पुनराकाशकारणः सन्कुण्डबदरवच्छरीरपरिच्छिन्न

आकाशके भी कारणस्वरूप पुरुषकी तो बात ही क्या है। इसलिये यह दृष्टान्त विषम है।

मध्यस्थ—दृष्टान्तसे क्या है? श्रुतिके वचनसे तो ऐसा ही होना चाहिये।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वचन कुछ करनेवाला नहीं है। किसी वस्तुको कुछ-का-कुछ कर देनेके लिये वचन प्रवृत्त नहीं हुआ करता। तो फिर वह क्या करता है? वह तो ज्यों-की-त्यों वस्तु दिखलानेमें ही प्रवृत्त होता है। अतः 'अन्तःशरीरे' इस वचनको 'अण्डेके भीतर आकाश' इस कथनके समान ही समझना चाहिये।

इसके सिवा उपलब्धिका कारण होनेसे भी [ऐसा कहा गया है]। दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान [जानना] आदि लिङ्गोंसे पुरुष शरीरके भीतर परिच्छिन्न-सा दिखलायी देता है, तथा इस [शरीर]-में ही उसकी उपलब्धि भी होती है। इसीलिये यह कहा गया है कि 'हे सोम्य! वह पुरुष इस शरीरके भीतर है।' नहीं तो, आकाशका भी कारण होकर वह कुँड़ेमें बेरके समान शरीरमें परिच्छिन्न है—ऐसी

इति मनसापीच्छति वक्तुं मूढोऽपि किमुत प्रमाणभूता श्रुतिः॥ २॥

बात कहनेकी तो कोई मूढ पुरुष भी अपने मनसे भी इच्छा नहीं कर सकता, फिर प्रमाणभूता श्रुतिकी तो बात ही क्या है?॥ २॥

यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीत्युक्तं पुरुषविशेषणार्थं कलानां प्रभवः स चान्यार्थोऽपि श्रुतः केन क्रमेण स्यादित्यत इदमुच्यते—चेतनपूर्विका च सृष्टिरित्येवमर्थं च।

ऊपर 'जिसमें ये सोलह कलाएँ उत्पन्न होती हैं' यह बात पुरुषकी विशेषता बतलानेके लिये कही है। इस प्रकार अन्य अर्थ [यानी पुरुषकी विशेषता बतलाने]-के लिये श्रवण किया हुआ वह कलाओंका प्रादुर्भाव किस क्रमसे हुआ होगा यह बतलानेके लिये तथा सृष्टि चेतनपूर्विका है—इस बातको भी प्रकट करनेके लिये अब इस प्रकार कहा जाता है—

ईक्षणपूर्वक सृष्टि

स ईक्षांचक्रे। कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति॥ ३॥

उसने विचार किया कि किसके उत्क्रमण करनेपर मैं भी उत्क्रमण कर जाऊँगा और किसके स्थित रहनेपर मैं स्थित रहूँगा?॥ ३॥

स पुरुषः षोडशकलः पृष्टो यो भारद्वाजेन ईक्षांचक्र ईक्षणं दर्शनं चक्रे कृतवानित्यर्थः सृष्टिफलक्रमादिविषयम्। कथम्?

उस सोलह कलाओंवाले पुरुषने, जिसके विषयमें भारद्वाजने प्रश्न किया था, [प्राणादिकी] उत्पत्ति, [उसके उत्क्रमण आदि] फल और [प्राणसे श्रद्धा आदि] क्रमके विषयमें ईक्षण—दर्शन यानी विचार किया। किस प्रकार विचार

इत्युच्यते कस्मिन्कर्तृविशेषे देहादुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि अहमेवं कस्मिन्वा शरीरे प्रतिष्ठिते अहं प्रतिष्ठास्यामि प्रतिष्ठितः स्यामित्यर्थः।

सृष्टौ सांख्यानां प्रधानकर्तृत्वम्

नन्वात्माकर्ता प्रधानं कर्तृ, अतः पुरुषार्थं प्रयोजनं मुररीकृत्य प्रधानं प्रवर्तते महदाद्याकारेण। तत्रेदमनुपपन्नं पुरुषस्य स्वातन्त्र्येण ईक्षापूर्वकं कर्तृत्ववचनम्; सत्त्वादिगुणसाम्ये प्रधाने प्रमाणोपपन्ने सृष्टिकर्तरि सतीश्वरेच्छानुवर्तिषु वा परमाणुषु सत्स्वात्मनोऽप्येकत्वेन कर्तृत्वे साधनाभावादात्मन आत्मन्यनर्थकर्तृत्वानुपपत्तेश्च। न हि चेतनावान्बुद्धिपूर्वकार्यात्मनोऽनर्थं कुर्यात्। तस्मात्पुरुषार्थेन प्रयोजनेन ईक्षापूर्वकमिव नियतक्रमेण प्रवर्तमाने-

किया? सो बतलाते हैं—'किस विशेष कर्ताके शरीरसे उत्क्रमण करनेपर मैं भी उत्क्रमण कर जाऊँगा तथा इसी प्रकार शरीरमें किसके स्थित रहनेपर मैं भी स्थित रहूँगा' [—यह निश्चय करनेके लिये उसने विचार किया]।

पूर्व०—[सांख्यमतानुसार] आत्मा अकर्ता है और प्रधान सब कुछ करनेवाला है। अतः पुरुषके लिये उसके [भोग और अपवर्गरूप] प्रयोजनको सामने रख प्रधान ही महदादिरूपसे प्रवृत्त होता है। इस प्रकार सत्त्वादि गुणोंके साम्यावस्थारूप एवं सृष्टिकर्ता प्रधानके प्रमाणतः सिद्ध होते हुए तथा [नैयायिकके मतानुसार] ईश्वरकी इच्छाका अनुवर्तन करनेवाले परमाणुओंके रहते हुए एकमात्र होनेके कारण आत्माके कर्तृत्वमें कोई साधन न होनेसे तथा उसका अपने ही लिये अनर्थकारित्व भी सिद्ध न हो सकनेके कारण पुरुषका जो स्वतन्त्रतासे ईक्षणपूर्वक कर्तृत्व बतलाया गया है वह अयुक्त है; क्योंकि बुद्धिपूर्वक कर्म करनेवाला कोई भी चेतनायुक्त व्यक्ति अपना अनर्थ नहीं करेगा। अतः पुरुषके प्रयोजनसे मानो ईक्षापूर्वक नियमित क्रमसे प्रवृत्त हुए

ऽचेतने प्रधाने चेतनवदुपचारोऽयं 'स ईक्षांचक्रे' इत्यादिः। यथा राज्ञः सर्वार्थकारिणि भृत्ये राजेति तद्वत्।

सांख्यमत-निरसनम्

न; आत्मनो भोक्तृत्ववत्कर्तृत्वोपपत्तेः। यथा सांख्यस्य चिन्मात्रस्यापरिणामिनोऽप्यात्मनो भोक्तृत्वं तद्वद्वेदवादिनामीक्षादिपूर्वकं जगत्कर्तृत्वमुपपन्नं श्रुतिप्रामाण्यात्।

तत्त्वान्तरपरिणाम आत्मनोऽनित्यत्वाशुद्धत्वानेकत्वनिमित्तो न चिन्मात्रस्वरूपविक्रिया। अतः पुरुषस्य स्वात्मन्येव भोक्तृत्वे चिन्मात्रस्वरूपविक्रिया न दोषाय। भवतां पुनर्वेदवादिनां सृष्टिकर्तृत्वे तत्त्वान्तरपरिणाम एवेत्यात्मनोऽनित्यत्वादिसर्वदोषप्रसङ्ग इति चेत्।

अचेतन प्रधानमें चेतनकी भाँति 'उसने विचार किया' इत्यादि प्रयोग औपचारिक है; जैसे राजाका सारा कार्य करनेवाले सेवकको भी 'राजा' कहा जाता है, उसीके समान इसे समझना चाहिये।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि आत्माके भोक्तृत्वके समान उसका कर्तृत्व भी बन सकता है। जिस प्रकार सांख्यमतमें चिन्मात्र और अपरिणामी आत्माका भोक्तृत्व सम्भव है उसी प्रकार श्रुतिप्रमाणसे वेदवादियोंके मतमें उसका ईक्षणपूर्वक कर्तृत्व भी बन सकता है।

पूर्व०—आत्माका तत्त्वान्तर-परिणाम ही उसके अनित्यत्व, अशुद्धत्व और अनेकत्वका कारण है, चिन्मात्र-स्वरूपका विकार नहीं। अतः पुरुषका अपनेमें ही भोक्तृत्व रहनेके कारण उसका चिन्मात्रस्वरूप विकार किसी प्रकारके दोषका कारण नहीं है। किन्तु आप वेदवादियोंके मतानुसार सृष्टिका कर्तृत्व माननेमें तो उसका तत्त्वान्तर-परिणाम ही मानना होगा और इससे आत्माके अनित्यत्व आदि सब प्रकारके दोषोंका प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा।

न; एकस्याप्यात्मनोऽविद्यायां विषयनामरूपोपाध्यनुपाधिकृतविशेषाभ्युपगमादविद्याकृतनामरूपोपाधिकृतो हि विशेषोऽभ्युपगम्यत आत्मनो बन्धमोक्षादिशास्त्रकृतसंव्यवहाराय परमार्थतोऽनुपाधिकृतं च तत्त्वमेकमेवाद्वितीयमुपादेयं सर्वतार्किकबुद्ध्यनवगाह्यमभयं शिवम् इष्यते न तत्र कर्तृत्वं भोक्तृत्वं वा क्रियाकारकफलं च स्याद् अद्वैतत्वात्सर्वभावानाम्।

सांख्यास्त्वविद्याध्यारोपितम् एव पुरुषे कर्तृत्वं क्रियाकारकं फलं चेति कल्पयित्वागमबाह्यत्वात्पुनस्ततस्त्रस्यन्तः परमार्थत एव भोक्तृत्वं पुरुषस्येच्छन्ति तत्त्वान्तरं च प्रधानं पुरुषात्परमार्थवस्तुभूतमेव कल्पयन्तोऽन्यतार्किककृतबुद्धिविषयाः सन्तो विहन्यन्ते।

सिद्धान्ती—यह बात नहीं है, क्योंकि हम अविद्याविषयक नामरूपमय उपाधि तथा उसके अभावके कारण ही एकमात्र [निरुपाधिक] आत्माकी [औपाधिक] विशेषता मानते हैं। बन्ध-मोक्षादि शास्त्रके व्यवहारके लिये ही आत्माका अविद्याकृत नाम-रूप-उपाधिमूलक विशेष माना गया है; परमार्थतः तो अनुपाधिकृत एक अद्वितीय तत्त्व ही मानना चाहिये, जो सम्पूर्ण तार्किकोंकी बुद्धिका अविषय, अभय और शिवस्वरूप है। उसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व अथवा क्रिया-कारक या फल कुछ भी नहीं है, क्योंकि सभी भाव अद्वैतरूप हैं।

परन्तु सांख्यवादी तो पुरुषमें पहले अविद्यारोपित क्रिया, कारक, कर्तृत्व और फलकी कल्पना कर फिर वेदबाह्य होनेके कारण उससे घबड़ाकर पुरुषका वास्तविक भोक्तृत्व मान बैठे हैं। तथा प्रधानको पुरुषसे भिन्न तत्त्वान्तरभूत परमार्थवस्तु मान लेनेके कारण अन्य तार्किकोंकी बुद्धिके विषय होकर अपने सिद्धान्तसे गिरा दिये जाते हैं।

तथेतरे तार्किकाः सांख्यैः। इत्येवं परस्परविरुद्धार्थकल्पनात आमिषार्थिन इव प्राणिनोऽन्योन्यविरुद्ध्यमानार्थदर्शित्वात् परमार्थतत्त्वाद्दूरम् एवापकृष्यन्ते। अतस्तन्मतमनादृत्य वेदान्तार्थतत्त्वमेकत्वदर्शनं प्रति आदरवन्तो मुमुक्षवः स्युरिति तार्किकमतदोषप्रदर्शनं किञ्चिदुच्यते अस्माभिर्न तु तार्किकवत्तात्पर्येण।

तथैतदुक्तम्—

"विवदत्स्वेव निक्षिप्य
विरोधोद्भवकारणम्।
तैः संरक्षितसद्बुद्धिः
सुखं निर्वाति वेदवित्॥"

इति।

किं च भोक्तृत्वकर्तृत्वयोर्विक्रिययोर्विशेषानुपपत्तिः। का नामासौ कर्तृत्वाज्जात्यन्तरभूता भोक्तृत्वविशिष्टा विक्रिया यतो भोक्तैव पुरुषः कल्प्यते न

इसी प्रकार दूसरे तार्किक सांख्यवादियोंसे परास्त हो जाते हैं। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध अर्थकी कल्पना कर मांसलोलुप प्राणियोंके समान एक-दूसरेके विरोधी अर्थको ही देखनेवाले होनेसे परमार्थतत्त्वसे दूर ही हटा दिये जाते हैं। अतः मुमुक्षुलोग उनके मतका अनादर कर वेदान्तके तात्पर्यार्थ एकत्वदर्शनके प्रति आदरयुक्त हों—इसलिये ही हम तार्किकोंके मतका किञ्चित् दोष प्रदर्शित करते हैं, तार्किकोंके समान कुछ तत्परतासे नहीं।

तथा इस विषयमें ऐसा कहा गया है—

"[भेद सत्य है—] इस विरोधकी उत्पत्तिके कारणको विवाद करनेवालोंके ऊपर ही छोड़कर जिसने अपनी सद्बुद्धिको उनसे सुरक्षित रखा है वह वेदवेत्ता सुखपूर्वक शान्तिको प्राप्त हो जाता है।"

इसके सिवा, भोक्तृत्व और कर्तृत्व इन दोनों विकारोंमें कोई अन्तर मानना भी उचित नहीं है। कर्तृत्वसे विजातीय यह भोक्तृत्वविशिष्ट विकार है क्या? जिससे कि पुरुष भोक्ता ही माना जाता

कर्ता प्रधानं तु कर्त्रैव न भोक्त्रिति।

ननूक्तं पुरुषश्चिन्मात्र एव स च स्वात्मस्थो विक्रियते भुञ्जानो न तत्त्वान्तरपरिणामेन। प्रधानं तु तत्त्वान्तरपरिणामेन विक्रियतेऽतोऽनेकमशुद्धमचेतनं चेत्यादिधर्मवत्तद्विपरीतः पुरुषः।

सांख्यानां कर्तृत्वभोक्तृत्व-स्वरूपविवेचनम्

नासौ विशेषो वाङ्मात्रत्वात्।

अस्य परिहारः **प्राग्भोगोत्पत्तेः केवलचिन्मात्रस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वं नाम विशेषो भोगोत्पत्तिकाले चेज्जायते निवृत्ते च भोगे पुनस्तद्विशेषादपेतश्चिन्मात्र एव भवतीति चेन्महदाद्याकारेण च परिणम्य प्रधानं ततोऽपेत्य पुनः प्रधानं स्वरूपेणावतिष्ठत इत्यस्यां कल्पनायां न कश्चिद्विशेष इति वाङ्मात्रेण प्रधानपुरुषयो-**

है, कर्ता नहीं तथा प्रधान कर्ता ही है, भोक्ता नहीं।

पूर्व०—यह पहले ही कहा जा चुका है कि पुरुष चिन्मात्र ही है और वह भोग करते समय अपने स्वरूपमें स्थित हुआ ही विकारको प्राप्त होता है—उसका विकार तत्त्वान्तरपरिणामके द्वारा नहीं होता। किन्तु प्रधान तत्त्वान्तर-परिणामके द्वारा विकृत होता है; अतः वह [महत्तत्त्वादि-भेदसे] अनेक, अशुद्ध और अचेतन आदि धर्मोंसे युक्त है, तथा पुरुष उससे विपरीत स्वभाववाला है।

सिद्धान्ती—यह कोई विशेषता नहीं है, क्योंकि यह तो केवल शब्द-मात्र है। यदि भोगोत्पत्तिके पूर्व केवल चिन्मात्ररूपसे स्थित पुरुषमें भोगकी उत्पत्तिके समय ही भोक्तृत्वरूप कोई विशेषता उत्पन्न होती है और भोगके निवृत्त होनेपर उस विशेषताके दूर हो जानेपर वह फिर चिन्मात्र ही रह जाता है तो प्रधान भी महत् आदिरूपसे परिणत होकर उनसे निवृत्त होनेपर फिर प्रधानरूपसे ही स्थित हो जाता है। अतः इस कल्पनामें कोई विशेषता नहीं है; इसलिये तुम्हारे द्वारा प्रधान और पुरुषके

विशिष्टविक्रिया कल्प्यते।

अथ भोगकालेऽपि चिन्मात्र एव प्राग्वत्पुरुष इति चेत्।

न तर्हि परमार्थतो भोगः पुरुषस्य।

भोगकाले चिन्मात्रस्य विक्रिया परमार्थैव तेन भोगः पुरुषस्येति चेत्।

न; प्रधानस्यापि भोगकाले विक्रियावत्त्वाद्भोक्तृत्वप्रसङ्गः। चिन्मात्रस्यैव विक्रिया भोक्तृत्वम् इति चेदौष्ण्याद्यसाधारणधर्मवतामग्न्यादीनामभोक्तृत्वे हेत्वनुपपत्तिः।

प्रधानपुरुषयोर्द्वयोर्युगपद्भोक्तृत्वमिति चेत्।

विशिष्ट विकारकी कल्पना केवल शब्दमात्रसे ही की गयी है।

पूर्व०—ठीक है, परन्तु भोगकालमें भी तो पुरुष पूर्ववत् चिन्मात्र ही है।

सिद्धान्ती—तब तो परमार्थतः पुरुषका भोग ही सिद्ध नहीं होता।

पूर्व०—परन्तु भोगकालमें जो चिन्मात्र पुरुषका विकार होता है वह वास्तविक ही होता है; इससे पुरुषका भोग सिद्ध होता है।

सिद्धान्ती—नहीं, भोगकालमें तो प्रधान भी विकारयुक्त होता है, इससे उसके भी भोक्तृत्वका प्रसङ्ग आ जायगा। यदि कहो कि भोक्तृत्व चिन्मात्रके ही विकारका नाम है तो उष्णता आदि असाधारण धर्मवाले अग्नि आदिके अभोक्तृत्वमें भी कोई कारण नहीं दिखलायी देता [क्योंकि जिस प्रकार चेतनता पुरुषका असाधारण धर्म है उसी प्रकार उष्णता आदि उनके असाधारण धर्म हैं]।

मध्यस्थ—यदि प्रधान और पुरुष दोनोंका साथ-साथ भोक्तृत्व माना जाय तो?

न; प्रधानस्य पारार्थ्यानुपपत्तेः। न हि भोक्त्रोर्द्वयोरितरेतरगुणप्रधानभाव उपपद्यते प्रकाशयोरिवेतरेतरप्रकाशने।

सिद्धान्ती—ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि इससे प्रधानका पारार्थ्य (अन्यके लिये होना) सिद्ध नहीं होगा। जिस प्रकार एक-दूसरेको प्रकाशित करनेमें दो प्रकाशोंका गौण-मुख्य भाव नहीं बन सकता उसी प्रकार दो भोक्ताओंका भी परस्पर गौणमुख्य भाव नहीं हो सकता।

भोगधर्मवति सत्त्वाङ्गिनि चेतसि पुरुषस्य चैतन्यप्रतिबिम्बोदयोऽविक्रियस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वमिति चेत्।

पूर्व०—यदि ऐसा मानें कि 'भोगधर्मवान् सत्त्वगुणप्रधान चित्तमें जो चैतन्यके प्रतिबिम्बका उदय होना है वही अविकारी पुरुषका भोक्तृत्व है' तो?

न; पुरुषस्य विशेषाभावे भोक्तृत्वकल्पनानर्थक्यात्। भोगरूपश्चेदनर्थः पुरुषस्य नास्ति सदा निर्विशेषत्वात्पुरुषस्य कस्य अपनयनार्थं मोक्षसाधनं शास्त्रं प्रणीयते। अविद्याध्यारोपितानर्थापनयनाय शास्त्रप्रणयनमिति चेत्परमार्थतः पुरुषो भोक्तैव न कर्ता प्रधानं कर्त्रैव न भोक्तृ परमार्थसद्वस्त्वन्तरं पुरुषाच्चेतीयं

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि इससे तो पुरुषकी कोई विशेषता न होनेके कारण उसके भोक्तृत्वकी कल्पना ही व्यर्थ सिद्ध होती है। यदि सर्वदा निर्विशेष होनेके कारण पुरुषमें भोगरूप अनर्थ है ही नहीं तो मोक्षका साधनरूप शास्त्र किस [दोष]-की निवृत्तिके लिये रचा गया है? यदि कहो कि शास्त्ररचना तो अविद्यासे आरोपित अनर्थकी निवृत्तिके लिये है तो 'पुरुष परमार्थतः भोक्ता ही है, कर्ता नहीं तथा प्रधान कर्ता ही है, भोक्ता नहीं और वह परमार्थतः पुरुषसे भिन्न कोई सद्वस्तु है'

कल्पनागमबाह्या व्यर्था निर्हेतुका चेति नादर्तव्या मुमुक्षुभिः।

एकत्वेऽपि शास्त्रप्रणयनाद्यानर्थक्यमिति चेत्।

न, अभावात्। सत्सु हि शास्त्रप्रणेत्रादिषु तत्फलार्थिषु च शास्त्रस्य प्रणयनमनर्थकं सार्थकं वेति विकल्पना स्यात्। न ह्यात्मैकत्वे शास्त्रप्रणेत्रादयस्ततो भिन्नाः सन्ति तदभाव एवं विकल्पनैवानुपपन्ना।

आत्मैक्यबोधे शास्त्याभावात् शास्त्राभावः

अभ्युपगत आत्मैकत्वे प्रमाणार्थश्चाभ्युपगतो भवता यदात्मैकत्वमभ्युपगच्छता, तदभ्युपगमे च विकल्पानुपपत्तिमाह शास्त्रम् ''यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्'' (बृ० उ० २। ४। १४) इत्यादि।

ऐसी कल्पना शास्त्रबाह्य, व्यर्थ और निर्हेतुका है; यह मुमुक्षुओंसे आदर की जानेयोग्य नहीं है।

मध्यस्थ—परन्तु शास्त्ररचना आदिकी व्यर्थता तो एकत्व माननेमें भी है।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि उस समय तो उन (शास्त्रादि)-का भी अभाव हो जाता है। शास्त्रप्रणेता आदि तथा उनके फलेच्छुकोंके रहते हुए ही 'शास्त्ररचना सार्थक है अथवा निरर्थक'—ऐसा विकल्प हो सकता है। आत्माका एकत्व सिद्ध होनेपर तो शास्त्रप्रणेता आदि भी उस (आत्मतत्त्व)-से भिन्न नहीं रहते; तथा उनका अभाव हो जानेपर तो इस प्रकारका विकल्प ही नहीं बन सकता।

इसके सिवा आत्मैकत्वका निश्चय हो जानेपर जिस एकत्वका निश्चय करनेवाले तुमने उसके प्रतिपादक शास्त्रकी अर्थवत्ता भी स्वीकार की है, उस (एकत्व)-का निश्चय हो जानेपर भी शास्त्र ''जहाँ इसे सब कुछ आत्मरूप ही हो जाता है वहाँ किसके द्वारा किसे देखे?'' इत्यादिरूपसे विकल्पकी असम्भावना ही बतलाता

शास्त्रप्रणयनाद्युपपत्तिं चाहान्यत्र परमार्थवस्तुस्वरूपादविद्याविषये। ''यत्र हि द्वैतमिव भवति'' (बृ० उ० २। ४। १४) इत्यादि विस्तरतो वाजसनेयके।

अत्र च विभक्ते विद्याविद्ये परापरे इत्यादावेव शास्त्रस्य। अतो न तार्किकवादभटप्रवेशो वेदान्तराजप्रमाणबाहुगुप्तइहात्मैकत्वविषय इति।

एतेनाविद्याकृतनामरूपाद्युपाधिकृतानेकशक्तिसाधनकृतभेदवत्त्वाद्ब्रह्मणः सृष्ट्यादिकर्तृत्वे साधनाद्यभावो दोषः प्रत्युक्तो वेदितव्यः परैरुक्त आत्मानर्थकर्तृत्वादिदोषश्च।

यस्तु दृष्टान्तो राज्ञः सर्वार्थकारिणि कर्तर्युपचारात् राजा कर्तेति सोऽत्रानुपपन्नः ''स ईक्षांचक्रे'' इति श्रुतेर्मुख्यार्थसृष्टेः चेतनपूर्वकत्वस्थापनम्

है। तथा परमार्थवस्तुके स्वरूपसे अन्यत्र अविद्यासम्बन्धी विषयोंमें ''जहाँ द्वैत-सा होता है'' आदि बृहदारण्यकश्रुतिमें शास्त्ररचना आदिकी उपपत्ति भी विस्तारसे बतलायी है।

यहाँ [अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद्में] तो शास्त्रके आरम्भमें ही परा और अपररूप विद्या तथा अविद्याका विभाग किया है। अतः वेदान्तरूपी राजाकी प्रमाणरूपिणी भुजाओंसे सुरक्षित इस आत्मैकत्व-राज्यमें तार्किक-वादरूप योद्धाओंका प्रवेश नहीं हो सकता।

इस प्रतिपादनसे ब्रह्मका सृष्टि आदिके कर्तृत्वमें साधनादिका अभावरूप दोष भी निरस्त हुआ समझना चाहिये, क्योंकि अविद्याकृत नाम-रूप आदि उपाधिके कारण ब्रह्म अनेक शक्ति और साधनजनित भेदोंसे युक्त है; तथा इसीसे हमारे विपक्षियोंका बतलाया हुआ आत्माका अपना ही अनर्थ-कर्तृत्वरूप दोष भी निवृत्त हो जाता है।

और तुमने जो यह दृष्टान्त दिया कि राजाका सारा कार्य करनेवाले सेवकमें ही 'राजा कर्ता है' ऐसा उपचार किया जाता है, सो यहाँ ठीक नहीं है, क्योंकि इससे ''स ईक्षांचक्रे'' इस प्रमाणभूता

बाधनात्प्रमाणभूतायाः। तत्र हि गौणी कल्पना शब्दस्य यत्र मुख्यार्थो न सम्भवति। इह त्वचेतनस्य मुक्तबद्धपुरुष-विशेषापेक्षया कर्तृकर्मदेशकाल-निमित्तापेक्षया च बन्धमोक्षादि-फलार्था नियता पुरुषं प्रति प्रवृत्तिर्नोपपद्यते। यथोक्तसर्वज्ञेश्वर-कर्तृत्वपक्षे तूपपन्ना॥ ३॥

श्रुतिका मुख्य अर्थ बाधित हो जाता है। जहाँ मुख्य अर्थ लेना सम्भव नहीं होता वहीं शब्दकी गौणी कल्पना की जाती है। इस प्रसङ्गमें तो मुक्त-बद्ध पुरुषविशेषकी अपेक्षासे तथा कर्ता, कर्म, देश, काल और निमित्तकी अपेक्षासे पुरुषके प्रति अचेतन प्रधानकी नियत प्रवृत्ति सम्भव नहीं है, पूर्वोक्त सर्वज्ञ ईश्वरको कर्ता माननेके पक्षमें तो वह उचित ही है॥ ३॥

सृष्टिक्रम

ईश्वरेणेव सर्वाधिकारी प्राणः पुरुषेण सृज्यते। कथम्?

राजाके समान पुरुषने ही सर्वाधिकारी प्राणकी रचना की है; किस प्रकार? [सो बतलाते हैं—]

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च॥ ४॥

उस पुरुषने प्राणको रचा; फिर प्राणसे श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन और अन्नको तथा अन्नसे वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म और लोकोंको एवं लोकोंमें नामको उत्पन्न किया॥ ४॥

स पुरुष उक्तप्रकारेणेक्षित्वा प्राणं हिरण्यगर्भाख्यं सर्वप्राणि-

उस पुरुषने उपर्युक्त प्रकारसे ईक्षण कर हिरण्यगर्भसंज्ञक समष्टि प्राणको अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियोंकी

करणाधारमन्तरात्मानमसृजत सृष्टवान्। अतः प्राणाच्छ्रद्धां सर्वप्राणिनां शुभकर्मप्रवृत्तिहेतुभूताम्। ततः कर्मफलोपभोगसाधनाधिष्ठानानि कारणभूतानि महाभूतान्यसृजत।

इन्द्रियोंके आधारस्वरूप अन्तरात्माको रचा। उस प्राणसे समस्त प्राणियोंकी शुभ कर्मोंमें प्रवृत्तिकी हेतुभूता श्रद्धाकी रचना की। और उससे कर्मफलोपभोगके साधन [शरीर]-के अधिष्ठान अर्थात् कारणस्वरूप महाभूतोंकी सृष्टि की।

खं शब्दगुणम्, वायुं स्वेन स्पर्शेन कारणगुणेन च विशिष्टं द्विगुणम्। तथा ज्योतिः स्वेन रूपेण पूर्वाभ्यां च विशिष्टं त्रिगुणं शब्दस्पर्शाभ्याम्। तथापो रसेन गुणेनासाधारणेन पूर्वगुणानुप्रवेशेन च चतुर्गुणाः। तथा गन्धगुणेन पूर्वगुणानुप्रवेशेन च पञ्चगुणा पृथिवी। तथा तैरेव भूतैरारब्धमिन्द्रियं द्विप्रकारं बुद्ध्यर्थं कर्मार्थं च दशसंख्याकं तस्य चेश्वरमन्तःस्थं संशयसङ्कल्पलक्षणं मनः।

सबसे पहले शब्दगुणविशिष्ट आकाशको रचा, फिर निजगुण स्पर्श और शब्दगुणसे युक्त होनेके कारण दो गुणवाले वायुको, तदनन्तर स्वकीय गुण रूप और पहले दो गुण शब्द-स्पर्शसे युक्त तीन गुणवाले तेजको, तथा अपने असाधारण गुण रसके सहित पूर्वगुणोंके अनुप्रवेशसे चार गुणवाले जलको और गन्धगुणके सहित पूर्वगुणोंके अनुप्रवेशसे पाँच गुणोंवाली पृथिवीको रचा। इसी प्रकार विषयोंके ज्ञान और कर्मके लिये उन भूतोंसे ही आरब्ध दस संख्यावाले दो प्रकारके इन्द्रियग्रामकी तथा उसके स्वामी सङ्कल्पविकल्पादिरूप अन्तःस्थित मनकी रचना की।

एवं प्राणिनां कार्यं करणं च सृष्ट्वा तत्स्थित्यर्थं व्रीहियवादिलक्षणमन्नम्। ततश्चान्नादद्यमानाद्वीर्यं सामर्थ्यं बलं सर्वकर्मप्रवृत्तिसाधनम्। तद्वीर्यवतां च प्राणिनां तपो विशुद्धिसाधनं सङ्कीर्यमाणानाम्। मन्त्रास्तपो विशुद्धान्तर्बहिःकरणेभ्यः कर्मसाधनभूता ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसः ततः। कर्माग्निहोत्रादिलक्षणम्। ततो लोकाः कर्मणां फलम्। तेषु च सृष्टानां प्राणिनां नाम च देवदत्तो यज्ञदत्त इत्यादि।

इस प्रकार प्राणियोंके कार्य [विषय] और करणों [इन्द्रियों]-की रचना कर उनकी स्थितिके लिये उसने व्रीहियवादिरूप अन्न उत्पन्न किया। फिर उस खाये हुए अन्नसे सब प्रकारके कर्मोंकी प्रवृत्तिका साधनभूत वीर्य-सामर्थ्य यानी बल उत्पन्न किया। तदनन्तर वर्णसंकरताको प्राप्त होते हुए उन वीर्यवान् प्राणियोंकी शुद्धिके साधनभूत तपकी रचना की। फिर जिनके बाह्य और अन्तःकरणोंकी तपसे शुद्धि हो गयी है उन प्राणियोंके लिये कर्मके साधनभूत ऋक्, यजुः, साम और अथर्वाङ्गिरस मन्त्रोंकी रचना की और तत्पश्चात् अग्निहोत्रादि कर्म तथा कर्मोंके फलस्वरूप लोक निर्माण किये। फिर इस प्रकार रचे हुए उन लोकोंमें प्राणियोंके देवदत्त, यज्ञदत्त आदि नाम बनाये।

एवमेताः कलाः प्राणिनामविद्यादिदोषबीजापेक्षया सृष्टाः तैमिरिकदृष्टिसृष्टा इव द्विचन्द्रमशकमक्षिकाद्याः स्वप्नदृक्सृष्टा इव च सर्वपदार्थाः पुनस्तस्मिन्नेव पुरुषे प्रलीयन्ते हित्वा नामरूपादि विभागम्॥ ४॥

इस प्रकार तिमिरोगीकी दृष्टिसे रचे हुए द्विचन्द्र, मशक (मच्छर) और मक्षिका आदि तथा स्वप्नद्रष्टाके बनाये हुए सब पदार्थोंके समान प्राणियोंके अविद्या आदि दोषरूप बीजकी अपेक्षासे रची हुई ये कलाएँ अपने नाम-रूप आदि विभागको त्याग कर उस पुरुषमें ही लीन हो जाती हैं॥ ४॥

नदीके दृष्टान्तसे सम्पूर्ण जगत्का पुरुषाश्रयत्वप्रतिपादन

कथम्— किस प्रकार?

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति तदेष श्लोकः॥ ५॥

वह [दृष्टान्त] इस प्रकार है—जिस प्रकार समुद्रकी ओर बहती हुई ये नदियाँ समुद्रमें पहुँचकर अस्त हो जाती हैं, उनके नाम-रूप नष्ट हो जाते हैं, और वे 'समुद्र' ऐसा कहकर ही पुकारी जाती हैं। इसी प्रकार इस सर्वद्रष्टाकी ये सोलह कलाएँ, जिनका अधिष्ठान पुरुष ही है, उस पुरुषको प्राप्त होकर लीन हो जाती हैं। उनके नाम-रूप नष्ट हो जाते हैं और वे 'पुरुष' ऐसा कहकर ही पुकारी जाती हैं। वह विद्वान् कलाहीन और अमर हो जाता है। इस सम्बन्धमें यह श्लोक प्रसिद्ध है॥ ५॥

स दृष्टान्तो यथा लोक इमा नद्यः स्यन्दमानाः स्रवन्त्यः समुद्रायणाः समुद्रोऽयनं गतिः आत्मभावो यासां ताः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्योपगम्यास्तं नामरूपतिरस्कारं गच्छन्ति। तासां

वह दृष्टान्त इस प्रकार है—जिस प्रकार लोकमें निरन्तर प्रवाहरूपसे बहनेवाली तथा समुद्र ही जिनका अयन—गति अर्थात् आत्मभाव है ऐसी ये समुद्रायण नदियाँ समुद्रको प्राप्त होकर अस्त—अदर्शन अर्थात् नाम-रूपके तिरस्कार [अभाव]-को प्राप्त हो जाती हैं, तथा इस प्रकार अस्त

चास्तं गतानां भिद्येते विनश्यतो नामरूपे गङ्गायमुनेत्यादिलक्षणे तदभेदे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते तद्वस्तूदकलक्षणम्।

एवं यथायं दृष्टान्तः, उक्तलक्षणस्य प्रकृतस्यास्य पुरुषस्य परिद्रष्टुः परि समन्ताद् द्रष्टुर्दर्शनस्य कर्तुः स्वरूपभूतस्य यथार्कः स्वात्मप्रकाशस्य कर्ता सर्वतः तद्वदिमाः षोडश कलाः प्राणाद्या उक्ताः कलाः पुरुषायणा नदीनामिव समुद्रः पुरुषोऽयनमात्मभावगमनं यासां कलानां ताः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्य पुरुषात्मभावमुपगम्य तथैवास्तं गच्छन्ति। भिद्येते चासां नामरूपे कलानां प्राणाद्याख्या रूपं च यथास्वम्। भेदे च नामरूपयोर्यदनष्टं तत्त्वं पुरुष इत्येवं प्रोच्यते ब्रह्मविद्भिः।

हुई उन नदियोंके वे गङ्गा-यमुना आदि नाम और रूप नष्ट हो जाते हैं और उससे अभेद हो जानेके कारण वह जलमय पदार्थ भी 'समुद्र' ऐसा कहकर ही पुकारा जाता है।

इसी प्रकार, जैसा कि यह दृष्टान्त है, उपर्युक्त लक्षणोंसे युक्त परिद्रष्टा अर्थात् जिस प्रकार सूर्य सब ओर अपने स्वरूपभूत प्रकाशका कर्ता है उसी प्रकार परि—सब ओर द्रष्टा—दर्शनके कर्ता स्वरूपभूत इस प्रकृत [जिसका प्रकरण चल रहा है] पुरुषकी ये प्राण आदि उपर्युक्त सोलह कलाएँ, जिनका अयन—आत्मभावकी प्राप्तिका स्थान वह पुरुष ही है जैसा कि नदियोंका समुद्र, अतः जो पुरुषायण कहलाती हैं, उस पुरुषको प्राप्त होकर—पुरुषरूपसे स्थित होकर उसी प्रकार [जैसे कि समुद्रमें नदियाँ] लीन हो जाती हैं। तथा इन कलाओंके प्राणादिसंज्ञक नाम और अपने-अपने विभिन्न रूप नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार नाम-रूपका नाश हो जानेपर भी जिसका नाश नहीं होता उस तत्त्वको ब्रह्मवेत्ता 'पुरुष' ऐसा कहकर पुकारते हैं।

य एवं विद्वान्गुरुणा प्रदर्शित-कलाप्रलयमार्गः स एष विद्यया प्रविलापितास्वविद्याकाम-कर्मजनितासु प्राणादिकलास्वकलः, अविद्याकृतकलानिमित्तो हि मृत्युः तदपगमेऽकलत्वादेवामृतो भवति तदेतस्मिन्नर्थ एष श्लोकः॥ ५॥

इस प्रकार जिसे गुरुने कलाओंके प्रलयका मार्ग दिखलाया है ऐसा जो पुरुष इस तत्त्वको जाननेवाला है, वह उस विद्याके द्वारा अविद्या, काम और कर्मजनित प्राणादि कलाओंके लोप कर दिये जानेपर निष्कल हो जाता है; और क्योंकि मृत्यु भी अविद्याकृत कलाओंके कारण ही होती है इसलिये उनकी निवृत्ति हो जानेपर वह निष्कल हो जानेके कारण ही अमर हो जाता है। इसी सम्बन्धमें यह श्लोक प्रसिद्ध है— ॥ ५॥

मरण-दुःखकी निवृत्तिमें परमात्मज्ञानका उपयोग

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति॥ ६॥

जिसमें रथकी नाभिमें अरोंके समान सब कलाएँ आश्रित हैं, उस ज्ञातव्य पुरुषको तुम जानो; जिससे कि मृत्यु तुम्हें कष्ट न पहुँचा सके॥ ६॥

अरा रथचक्रपरिवारा इव रथनाभौ रथचक्रस्य नाभौ यथा प्रवेशितास्तदाश्रया भवन्ति यथा तथेत्यर्थः; कलाः प्राणाद्या यस्मिन्पुरुषे प्रतिष्ठिता उत्पत्तिस्थितिलयकालेषु

रथके पहियेके परिवाररूप अरोंके समान—अर्थात् जिस प्रकार वे रथके पहियेकी नाभिमें प्रविष्ट यानी उसके आश्रित रहते हैं उसी प्रकार जिस पुरुषमें प्राणादि कलाएँ अपनी उत्पत्ति, स्थिति और लयके समय स्थित रहती हैं,

तं पुरुषं कलानामात्मभूतं वेद्यं वेदनीयं पूर्णत्वात् पुरुषं पुरि शयनाद्वा वेद जानीयात्; यथा हे शिष्या मा वो युष्मान्मृत्युः परिव्यथा मा परिव्यथयतु। न चेद्विज्ञायेत पुरुषो मृत्युनिमित्तां व्यथामापन्ना दुःखिन एव यूयं स्थ। अतस्तन्मा भूद्युष्माकमित्यभिप्रायः॥ ६॥

कलाओंके आत्मभूत उस ज्ञातव्य पुरुषको, जो सर्वत्र पूर्ण अथवा शरीररूप पुरमें शयन करनेके कारण पुरुष कहलाता है, जानो; जिससे कि हे शिष्यो! तुम्हें मृत्यु सब ओरसे व्यथित न करे। यदि तुमने उस पुरुषको न जाना तो तुम मृत्युनिमित्तक व्यथाको प्राप्त होकर दुःखी ही होगे। अतः तुम्हें वह दुःख प्राप्त न हो, यही इसका अभिप्राय है॥ ६॥

उपदेशका उपसंहार

तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद। नातः परमस्तीति॥ ७॥

तब उनसे उस (पिप्पलाद मुनि)-ने कहा—इस परब्रह्मको मैं इतना ही जानता हूँ। इससे अन्य और कुछ [ज्ञातव्य] नहीं है॥ ७॥

तानेवमनुशिष्य शिष्यांस्तान् होवाच पिप्पलादः किलैतावदेव वेद्यं परं ब्रह्म वेद विजानाम्यहमेतत्। नातोऽस्मात्परमस्ति प्रकृष्टतरं वेदितव्यमित्येवमुक्त्वाऽशिष्याणामविदितशेषास्तित्वाशङ्कानिवृत्तये कृतार्थबुद्धिजननार्थं च॥ ७॥

उन शिष्योंको इस प्रकार शिक्षा दे पिप्पलाद मुनिने उनसे कहा—'उस वेद्य (ज्ञातव्य) परब्रह्मको मैं इतना ही जानता हूँ। इससे पर—उत्कृष्टतर और कोई वेद्य नहीं है।' इस प्रकार 'अभी कुछ बिना जाना रह गया' ऐसी शिष्योंकी आशङ्काकी निवृत्तिके लिये तथा उनमें कृतार्थबुद्धि उत्पन्न करनेके लिये पिप्पलादने उनसे कहा॥ ७॥

स्तुतिपूर्वक आचार्यकी वन्दना

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥ ८ ॥

तब उन्होंने उनकी पूजा करते हुए कहा—आप तो हमारे पिता हैं जिन्होंने कि हमें अविद्याके दूसरे पारपर पहुँचा दिया है; आप परमर्षिको हमारा नमस्कार हो, नमस्कार हो ॥ ८ ॥

ततस्ते शिष्या गुरुणानुशिष्टास्तं गुरुं कृतार्थाः सन्तो विद्यानिष्क्रयमपश्यन्तः किं कृतवन्त इत्युच्यते—अर्चयन्तः पूजयन्तः पादयोः पुष्पाञ्जलिप्रकिरणेन प्रणिपातेन च शिरसा। किमूचुरित्याह—त्वं हि नोऽस्माकं पिता ब्रह्मशरीरस्य विद्यया जनयितृत्वान्नित्यस्याजरामरस्याभयस्य। यस्त्वमेव अस्माकमविद्याया विपरीतज्ञानाज्जन्मजरामरणरोगदुःखादिग्राहादपारादविद्यामहोदधेर्विद्याप्लवेन परमपुनरावृत्तिलक्षणं

तब गुरुसे उपदेश पाये हुए उन शिष्योंने कृतार्थ हो, उस विद्यादानका कोई अन्य प्रतिकार न देखकर क्या किया सो बतलाते हैं—उन्होंने गुरुजीका अर्चन अर्थात् चरणोंमें पुष्पाञ्जलि प्रदान एवं सिर झुकाकर प्रणाम करके उनका पूजन करते हुए [कहा]। क्या कहा, सो बतलाते हैं—'विद्याके द्वारा हमारे नित्य, अजर, अमर एवं अभयरूप ब्रह्मशरीरके जनयिता होनेके कारण आप तो हमारे पिता हैं; जिन आपने विद्यारूप नौकाके द्वारा हमें विपरीत ज्ञानरूप अविद्यासे अर्थात् जन्म, जरा, मरण, रोग और दुःख आदि ग्राहोंके कारण जो अपार है उस अविद्यारूप समुद्रसे उस ओर महासागरके

मोक्षाख्यं महोदधेरिव पारं तारयस्यस्मानित्यतः पितृत्वं तवास्मान् प्रत्युपपन्नमितरस्मात्। इतरोऽपि हि पिता शरीरमात्रं जनयति। तथापि स प्रपूज्यतमो लोके किमु वक्तव्यमात्यन्तिकाभयदातुरित्यभिप्रायः। नमः परमऋषिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो नमः परमऋषिभ्य इति द्विर्वचनमादरार्थम्॥ ८॥

पर पारके समान अपुनरावृत्तिरूप मोक्षसंज्ञक दूसरे पारपर पहुँचा दिया है; अतः आपका पितृत्व तो अन्य (जन्मदाता) पिताकी अपेक्षा भी युक्ततर है; क्योंकि दूसरा पिता भी केवल शरीरको ही उत्पन्न करता है, तो भी वह लोकमें सबसे अधिक पूजनीय होता है; फिर आत्यन्तिक अभयप्रदान करनेवाले आपके पूजनीयत्वके विषयमें तो कहना ही क्या है? अतः ब्रह्मविद्या-सम्प्रदायके प्रवर्तक परमर्षिको नमस्कार हो। यहाँ 'नमः परमऋषिभ्यः' इसकी द्विरुक्ति आदर-प्रदर्शनके लिये है॥ ८॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये षष्ठः प्रश्नः॥ ६॥

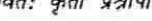

इत्यथर्ववेदीया प्रश्नोपनिषत्समाप्ता॥

हरिः ॐ तत्सत्

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः
स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः
स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ श्रीहरिः ॥

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका

मन्त्रप्रतीकानि		प्रश्न	मन्त्र	पृष्ठ
अत्रैष देवः स्वप्ने	.....	४	५	६६
अथ कबन्धी कात्यायनः	.....	१	३	१३
अथ यदि द्विमात्रेण	.....	५	४	८५
अथ हैनं कौसल्यः	.....	३	१	४३
अथ हैनं भार्गवः	.....	२	१	३१
अथ हैनं शैब्यः	.....	५	१	८१
अथ हैनं सुकेशा	.....	६	१	९३
अथ हैनं सौर्यायणी	.....	४	१	५७
अथादित्य उदयन्	.....	१	६	१६
अथैकयोर्ध्व उदानः	.....	३	७	५०
अथोत्तरेण तपसा	.....	१	१०	२२
अन्नं वै प्रजापतिः	.....	१	१४	२७
अरा इव रथनाभौ	.....	२	६	३६
,, ,, ,,	.....	६	६	१२२
अहोरात्रो वै प्रजापतिः	.....	१	१३	२६
आत्मन एष प्राणः	.....	३	३	४५
आदित्यो ह वै प्राणः	.....	१	५	१५
आदित्यो ह वै बाह्यः	.....	३	८	५१
इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा	.....	२	९	३९
उत्पत्तिमायतिम्	.....	३	१२	५५
ॐ सुकेशा च भारद्वाजः	.....	१	१	१०
ऋग्भिरेतं यजुर्भिः	.....	५	७	९१
एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा	.....	४	९	७७
एषोऽग्निस्तपति	.....	२	५	३५
तद्धो ह वै तत्	.....	१	१५	२८
तस्मै स होवाच	.....	१	४	१४
,, ,, ,,	.....	२	२	३२
,, ,, ,,	.....	३	२	४४
,, ,, ,,	.....	४	२	६०
,, ,, ,,	.....	५	२	८२
,, ,, ,,	.....	६	२	९६
तान्वरिष्ठः प्राणः	.....	२	३	३३
तान्ह स ऋषिः	.....	१	२	१२

मन्त्रप्रतीकानि		प्रश्न	मन्त्र	पृष्ठ
तान्होवाचैतावत्	.....	६	७	१२३
तिस्रो मात्रा मृत्युमत्य:	.....	५	६	८१
तेजो ह वा उदान:	.....	३	९	५२
ते तमर्चयन्त:	.....	६	८	१२४
तेषामसौ विरज:	.....	१	१६	२९
देवानामसि वह्नितम:	.....	२	८	३८
पञ्चपादं पितरम्	.....	१	११	२३
परमेवाक्षरम्	.....	४	१०	७८
पृथिवी च पृथिवीमात्रा	.....	४	८	७५
पायूपस्थेऽपानम्	.....	३	५	४७
प्रजापतिश्चरसि	.....	२	७	३७
प्राणस्येदं वशे	.....	२	१३	४२
प्राणाग्नय एवैतस्मिन्	.....	४	३	६२
मासो वै प्रजापति:	.....	१	१२	२५
य एवं विद्वान्प्राणम्	.....	३	११	५४
यच्चित्तस्तेनैष प्राणम्	.....	३	१०	५३
यथा सम्राडेव	.....	३	४	४६
यदा त्वमभिवर्षसि	.....	२	१०	३९
यदुच्छ्वासनि:श्वासौ	.....	४	४	६४
य: पुनरेतं त्रिमात्रेण	.....	५	५	८६
या ते तनूर्वाचि	.....	२	१२	४१
विज्ञानात्मा सह	.....	४	११	७९
विश्वरूपं हरिणम्	.....	१	८	१८
व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिरत्ता	.....	२	११	४०
स ईक्षांचक्रे	.....	६	३	१०७
स एष वैश्वानर:	.....	१	७	१८
स प्राणमसृजत	.....	६	४	११७
स यथेमा नद्य:	.....	६	५	१२०
स यदा तेजसा	.....	४	६	७३
स यथा सोम्य	.....	४	७	७४
स यद्येकमात्रम्	.....	५	३	८४
संवत्सरो वै प्रजापति:	.....	१	९	१९
सोऽभिमानादूर्ध्वम्	.....	२	४	३४
हृदि ह्येष आत्मा	.....	३	६	४८

॥ श्रीहरिः ॥

574

संक्षिप्त

योगवासिष्ठ

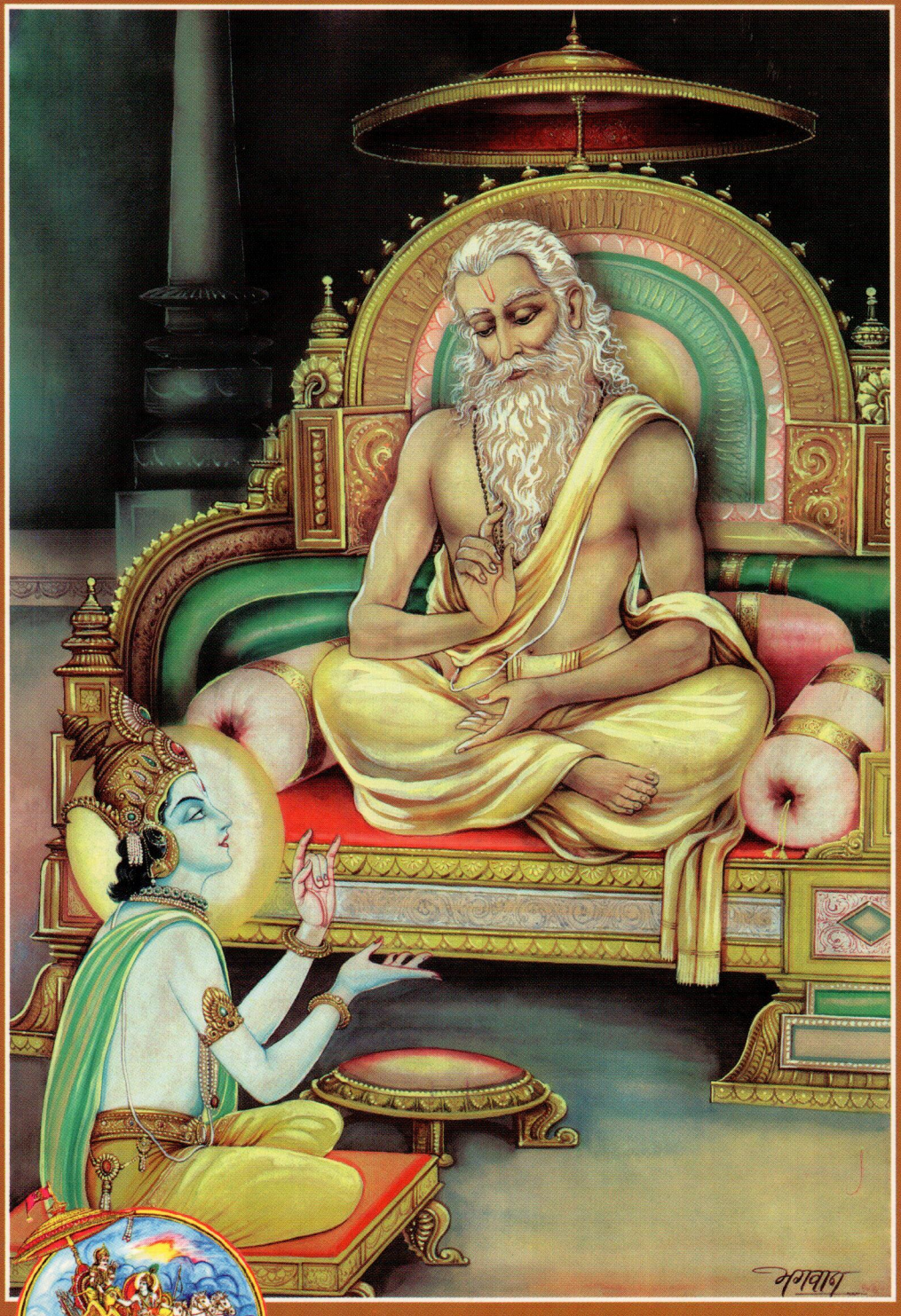

गीताप्रेस गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR

गीताप्रेस, गोरखपुर

कल्याण

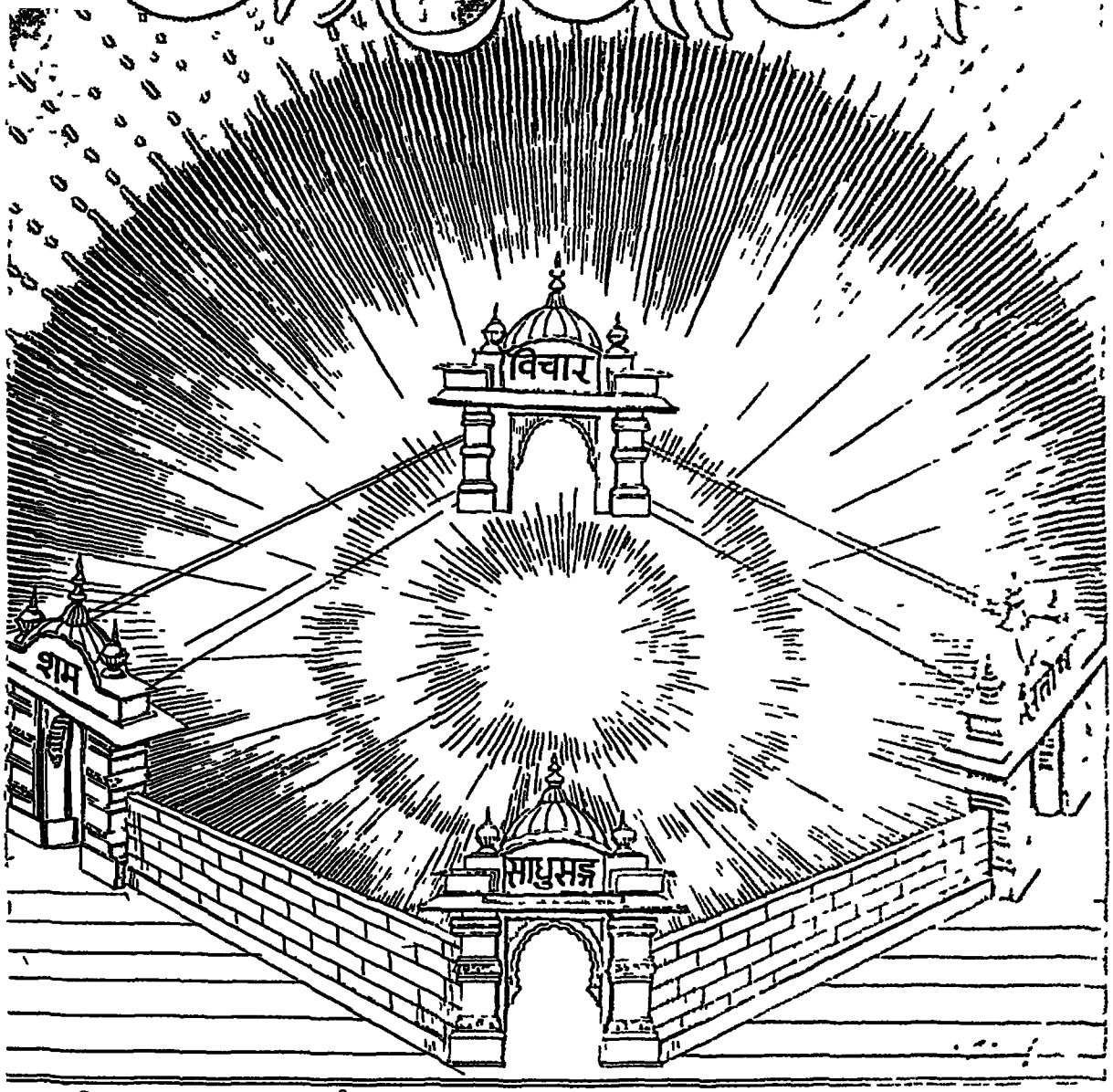

वर्ष ३५ संख्या १

संक्षिप्त योगवासिष्ठ-अङ्क

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय।
उमा रमा ब्रह्माणी जय जय, राधा सीता रुक्मिणि जय जय॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जय-जय दुर्गा, जय मा तारा। जय गणेश, जय शुभ-आगारा॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। गौरी-शंकर सीता-राम॥
जय रघुनन्दन जय सिया-राम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥

सं० २०५० द्वितीय संस्करण ५,०००

मूल्य—पैंसठ रुपये

कोई सज्जन विज्ञापन भेजनेका कष्ट न उठावें।
कल्याणमें बाहरके विज्ञापन नहीं छपते।

समालोचनार्थ पुस्तकें कृपया न भेजें।
कल्याणमें समालोचनाका स्तम्भ नहीं है।

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम० ए०, शास्त्री
केशोराम अग्रवालद्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशि

॥ श्रीहरिः ॥

संक्षिप्त

योगवासिष्ठ

श्रीराम तीर्थयात्राके लिये पिता दशरथसे आज्ञा माँग रहे है (वैराग्य-प्रकरण, सर्ग ३) (पष्ठ-संख्या १)

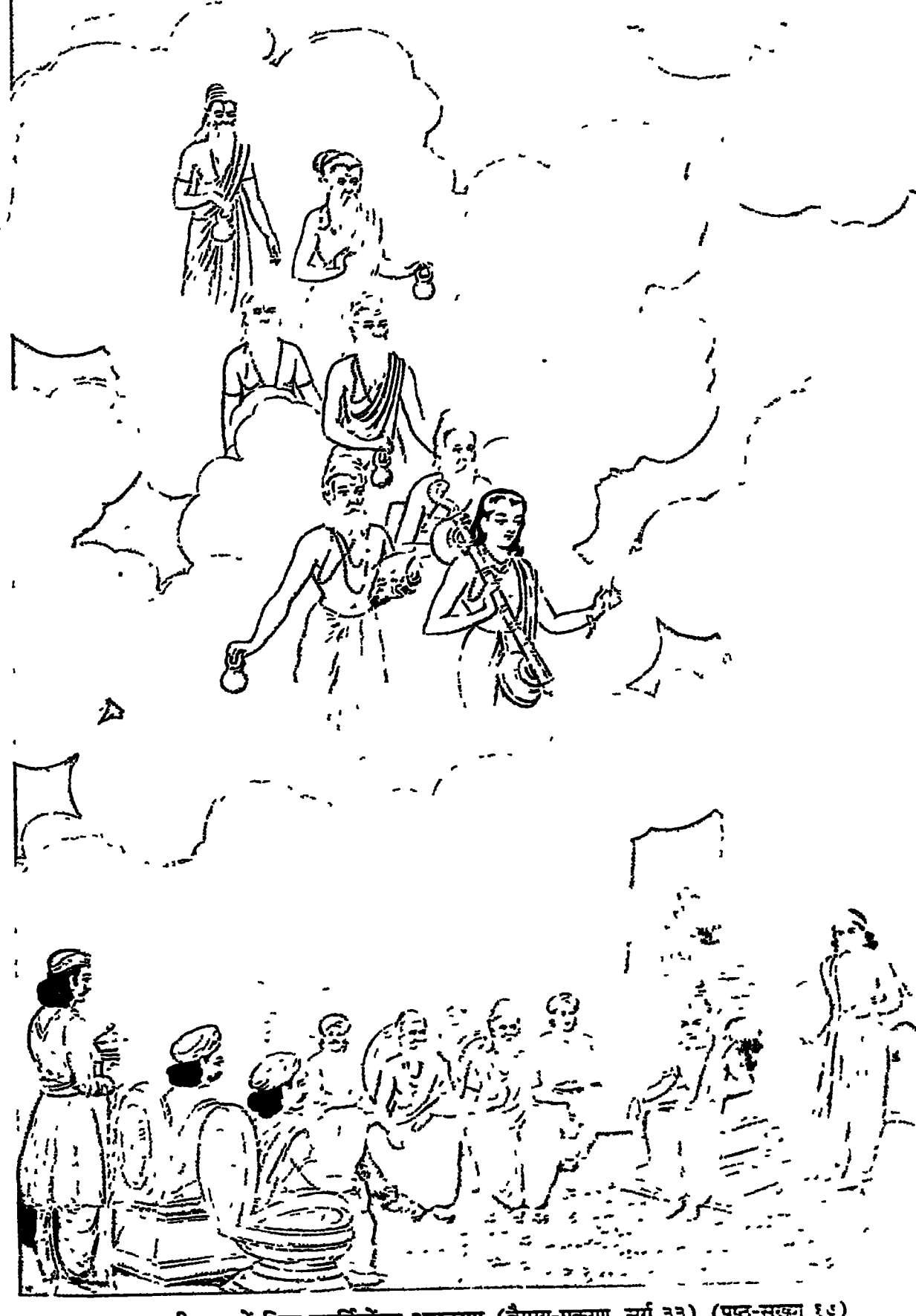

दशरथकी सभामें दिव्य महर्षियोंका अवतरण (वैराग्य-प्रकरण, सर्ग ३३) (पृष्ठ-संख्या १८)

लीलापर देवी सरस्वतीकी कृपा (उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग १५) (पृष्ठ-संख्या ९६)

ब्रह्माजी और बालक वसिष्ठमें बातचीत (मुमुक्षु-प्रकरण, सर्ग १०) (पृष्ठ-सङ्ख्या १४१)

ब्रह्माका राजहंसोंपर दस ब्रह्माओंको देखना (उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग ८५) (पृष्ठ-संख्या ३०४)

प्रह्लादके द्वारा भगवान् विष्णुकी पूजा (उपशम-प्रकरण, सर्ग ३२) (पृष्ठ-संख्या ३८४)

श्रीहरिः

संक्षिप्त योगवासिष्ठाङ्ककी विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–महर्षि वसिष्ठजीको नमस्कार (सुतीक्ष्ण, नि० प्र० उ० २१६ । २६) ...	१
२–भगवान् श्रीरामको नमस्कार (वसिष्ठ, नि० प्र० पू० २ । ६०) ...	१
३–योगवासिष्ठमें भगवान् श्रीरामके स्वरूप तथा माहात्म्यका प्रतिपादन	२
४–कल्याण ('शिव')	३
५–एकश्लोकी योगवासिष्ठ (तत्त्वचिन्तक स्वामीजी श्रीअनिरुद्धाचार्यजी वेंकटाचार्यजी महाराज)	४
६–वासिष्ठ-बोध-सार [कविता] (पाण्डेय श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ...	४
७–योगवासिष्ठकी श्रेष्ठता और समीचीनता (पण्डित श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ...	५
८–योगवासिष्ठकी आजके आत्मशान्ति, विश्व-शान्तिके इच्छुक विश्वको चुनौती तथा इस क्षणका ज्ञान-बन्धुत्व एवं ज्ञानाभास (श्रीरामनिवासजी शर्मा)	९
९–भगवान् वसिष्ठकी जय (श्रीसूरजचंदजी सत्यप्रेमी 'डॉगीजी')	१०
१०–योगवासिष्ठका साध्य-साधन	११
११–योगवासिष्ठका दुरुपयोग नहीं होना चाहिये (भक्त श्रीरामशरणदासजी)	१५
१२–श्रीगुरुवर-वसिष्ठ-स्तवन [कविता] (पं० श्रीरामनारायणजी त्रिपाठी 'मित्र' शास्त्री)	१६
वैराग्य-प्रकरण	
१–सुतीक्ष्ण और अगस्ति, कारुण्य और अग्निवेश्य, सुरुचि तथा देवदूत और अरिष्टनेमि एवं वाल्मीकिके संवादका उल्लेख करते हुए भगवान्‌के श्रीरामावतारमें ऋषियोंके शापको कारण बताना	१७
२–इस शास्त्रके अधिकारीका निरूपण, रामायणके अनुशीलनकी महिमा, भरद्वाजको ब्रह्माजीका वरदान तथा ब्रह्माजीकी आज्ञासे वाल्मीकिका भरद्वाजको संसार-दुःखसे छुटकारा पानेके निमित्त उपदेश देनेके लिये प्रवृत्त होना ...	२१
३–जीवन्मुक्तके स्वरूपपर विचार, जगत्‌के मिथ्यात्व तथा द्विविध वासनाका निरूपण तथा भगवान् श्रीरामकी तीर्थ-यात्राका वर्णन ...	२३
४–तीर्थ यात्रासे लौटे हुए श्रीरामकी दिनचर्या एवं पिताके घरमें निवास, राजा दशरथके यहाँ विश्वामित्रका आगमन और राजाद्वारा उनका सत्कार	२५
५–विश्वामित्रका अपने यज्ञकी रक्षाके लिये श्रीरामको माँगना और राजा दशरथका उन्हें देनेमें अपनी असमर्थता दिखाना	२८
६–विश्वामित्रका रोष, वसिष्ठजीका राजा दशरथको समझाना, राजा दशरथका श्रीरामको बुलानेके लिये द्वारपालको भेजना तथा श्रीरामके सेवकोंका महाराजसे श्रीरामकी वैराग्यपूर्ण स्थितिका वर्णन करना	३०
७–विश्वामित्र आदिकी प्रेरणासे राजा दशरथका श्रीरामको सभामें बुलाकर उनका मस्तक सूँघना और मुनिके पूछनेपर श्रीरामका अपने विचार-मूलक वैराग्यका कारण बताना ...	३१
८–धन सम्पत्ति तथा आयुकी निस्सारता एवं दुःखरूपताका वर्णन	३६
९–अहंकार और चित्तके दोष	३८
१०–तृष्णाकी निन्दा	४०
११–शरीर-निन्दा	४१
१२–बाल्यावस्थाके दोष	४६
१३–युवावस्थाके दोष	४७
१४–स्त्री-शरीरकी रमणीयताका निराकरण ...	४९
१५–वृद्धावस्थाकी दुःखरूपता	५०
१६–कालके स्वरूपका विवेचन	५१
१७–कालका प्रभाव और मानव-जीवनकी अनित्यता	५३
१८–सांसारिक वस्तुओंकी निस्सारता, क्षणभङ्गुरता और दुःखरूपताका तथा सत्पुरुषोंकी दुर्लभताका प्रतिपादन	५५

१९—जागतिक पदार्थोंकी परिवर्तनशीलता एवं अस्थिरताका वर्णन ५८
२०—श्रीरामकी प्रबल वैराग्यपूर्ण जिज्ञासा तथा तत्त्वज्ञानके उपदेशके लिये प्रार्थना ... ५९
२१—श्रीरामचन्द्रजीका भाषण सुनकर सबका आश्चर्य-चकित होना, आकाशसे फूलोंकी वर्षा, सिद्ध पुरुषोंके उद्‌गार, राजसभामें सिद्धों और महर्षियोंका आगमन तथा उन सबके द्वारा श्रीरामके वचनोंकी प्रशंसा ६२

मुमुक्षु-व्यवहार-प्रकरण

१—विश्वामित्रजीका श्रीरामको तत्त्वज्ञानसम्पन्न बताते हुए उनके सामने शुकदेवजीका दृष्टान्त उपस्थित करना, शुकदेवजीका तत्त्वज्ञान प्राप्त करके परमात्मामें लीन होना ... ६५
२—विश्वामित्रजीका वसिष्ठजीसे श्रीरामको उपदेश करनेके लिये अनुरोध करना और वसिष्ठजीका उसे स्वीकार कर लेना ६८
३—जगत्‌की भ्रमरूपता एवं मिथ्यात्वका निरूपण, सदेह और विदेह मुक्तिकी समानता तथा शास्त्र-निषिद्ध पौरुषकी महत्ताका वर्णन ... ६९
४—शास्त्रके अनुसार सत्कर्म करनेकी प्रेरणा, पुरुषार्थसे भिन्न प्रारब्धवादका खण्डन तथा पौरुषकी प्रधानताका प्रतिपादन ... ७१
५—ऐहिक पुरुषार्थकी श्रेष्ठता और दैववादका निराकरण ७३
६—विविध युक्तियोंद्वारा दैवकी दुर्बलता और पुरुषार्थकी प्रधानताका समर्थन ... ७४
७—पुरुषार्थकी प्रबलता बताते हुए दैवके स्वरूपका विवेचन तथा शुभ वासनासे युक्त होकर सत्कर्म करनेकी प्रेरणा ... ७६
८—श्रीवसिष्ठजीद्वारा ब्रह्माजीके और अपने जन्मका वर्णन, ज्ञानप्राप्तिका विस्तार, श्रीरामजीके वैराग्यकी प्रशंसा, वक्ता और प्रश्नकर्ताके लक्षण आदिका विशेषरूपसे वर्णन ७७
९—संसारप्राप्तिकी अनर्थरूपता, ज्ञानका उत्तम माहात्म्य, श्रीराममें प्रश्नकर्ताके गुणोंकी अधिकताका वर्णन, जीवन्मुक्तिरूप फलके हेतुभूत वैराग्य आदि गुणोंका तथा भ्रमका विशेषरूपसे निरूपण ८२
१०—विचार, संतोष और सत्समागमका विशेष-रूपसे वर्णन तथा चारों गुणोंमेंसे एक ही गुणके सेवनसे सद्‌गतिका कथन ... ८७
११—प्रकरणोंके क्रमसे ग्रन्थ-संख्याका वर्णन, ग्रन्थकी प्रशंसा, शान्ति, ब्रह्म, द्रष्टा और दृश्यका विवेचन, परस्पर सहायक प्रज्ञा और सदाचारका वर्णन ९०

उत्पत्ति-प्रकरण

१—दृश्य जगत्‌के मिथ्यात्वका निरूपण, दृश्य ही बन्धन है और उसका निवारण होनेसे ही मोक्ष होता है, इसका प्रतिपादन तथा द्रष्टाके हृदयमें ही दृश्यकी स्थितिका कथन ... ९६
२—ब्रह्माकी मनोरूपता और उसके संकल्पमय जगत्‌की असत्ता तथा ज्ञाताके कैवल्यकी ही मोक्षरूपताका प्रतिपादन ९७
३—मनके स्वरूपका विवेचन, मन एवं मनःकल्पित दृश्य जगत्‌की असत्ताका निरूपण तथा महाप्रलय-कालमें समस्त जगत्‌को अपनेमें लीन करके एकमात्र परमात्मा ही शेष रहते हैं और वे ही सबके मूल हैं, इसका प्रतिपादन ... ९९
४—ज्ञानसे ही परासिद्धि या परमात्मप्राप्तिका प्रतिपादन तथा ज्ञानके उपायोंमें सत्सङ्ग एवं सत्-शास्त्रोंके स्वाध्यायकी प्रशंसा ... १०२
५—परमात्माके ज्ञानकी महिमा, उसके स्वरूपका विवेचन, दृश्य जगत्‌के अत्यन्ताभाव एवं ब्रह्मरूपताका निरूपण तथा आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये योगवासिष्ठ ही सर्वोत्तम शास्त्र है—इसका प्रतिपादन १०३
६—जीवन्मुक्तिका लक्षण, जगत्‌की असत्ता तथा ब्रह्मसे उसकी अभिन्नताका प्रतिपादन, परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका वर्णन ... १०५
७—जगत्‌की ब्रह्मसे अभिन्नता, परमार्थ-तत्त्वका लक्षण, महाप्रलयकालमें जगत्‌के अधिष्ठानका विचार तथा जगत्‌की ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन १०७

८–ब्रह्ममें जगत्‌का अध्यारोप, जीव एवं जगत्‌के रूपमें ब्रह्मकी ही अखण्ड सत्ताका वर्णन १०९
९–भेदके निराकरणपूर्वक एकमात्र ब्रह्मकी ही अखण्ड सत्ताका वर्णन तथा जगत्‌की पृथक् सत्ताका खण्डन १११
१०–जगत्‌के अत्यन्ताभावका प्रतिपादन, मण्डपोपाख्यानका आरम्भ, राजा पद्म तथा रानी लीलाका परस्पर अनुराग, लीलाका सरस्वतीकी आराधना करके वर पाना और रणभूमिमें पतिके मारे जानेसे अत्यन्त व्याकुल होना ११४
११–सरस्वतीकी आज्ञासे पतिके शवको फूलोंकी ढेरीमें रखकर समाधिस्थित हुई लीलाका पतिके वासनामय स्वरूप एवं राजवैभवको देखना तथा समाधिसे उठकर पुनः राजसभामें समासदोंका दर्शन करना ११८
१२–लीलाका सरस्वतीसे कृत्रिम और अकृत्रिम सृष्टिके विषयमें पूछना और सरस्वतीका इस विषयको समझानेके लिये लीलाके जीवनसे मिलते-जुलते एक ब्राह्मण-दम्पतिके जीवनका वृत्तान्त सुनाना १२१
१३–लीला और सरस्वतीका संवाद-जगत्‌की असत्ता एवं अजातवादकी स्थापना ... १२४
१४–लीला और सरस्वतीका संवाद—सब कुछ चिन्मात्र ब्रह्म ही है, इसका प्रतिपादन ... १२६
१५–वासनाओंके क्षयका उपाय और ब्रह्मचिन्तनके अभ्यासका निरूपण १२९
१६–सरस्वती और लीलाका ज्ञानदेहके द्वारा आकाशमें गमन और उसका वर्णन ... १३०
१७–लीलाका भूतलमें प्रवेश और उसके द्वारा अपने पूर्वजन्मके स्वजनोंके दर्शन, ज्येष्ठशर्माको माताके रूपमें लीलाका दर्शन न होनेका कारण ... १३१
१८–लीलाकी सत्य-सङ्कल्पता, उसे अपने अनेक जन्मोंकी स्मृति, लीला और सरस्वतीका आकाशमें भ्रमण तथा परम व्योम—परमात्माकी अनादि-अनन्त सत्ताका प्रतिपादन १३३
१९–लीलाद्वारा ब्रह्माण्डोंका निरीक्षण, दोनों देवियोंका भारतवर्षमें लीलाके पतिके राज्यमें जाना और वहाँ युद्धका आयोजन देखना; शूरके लक्षण तथा डिम्भाहवकी परिभाषा १३७
२०–लीला और सरस्वतीका आकाशमें विमानपर स्थित हो युद्धका दृश्य देखना ... १३९
२१–युद्धका वर्णन तथा उभयपक्षको सहायता देनेवाले विभिन्न जनपदों और स्थानोंका उल्लेख ... १४१
२२–युद्धका उपसंहार, राजा विदूरथके शयनागारमें गवाक्षरन्ध्रसे लीला और सरस्वतीका प्रवेश तथा सूक्ष्म चिन्मय शरीरकी सर्वत्र गमनशक्तिका प्रतिपादन १४३
२३–राजा पद्मके भवनमें सरस्वती और लीलाका प्रवेश और राजाद्वारा उनका पूजन, मन्त्रीद्वारा राजाका जन्मवृत्तान्त-वर्णन, राजा विदूरथ और सरस्वती देवीकी बातचीत, वसिष्ठजीद्वारा अज्ञानावस्थामें जगत् और स्वप्नकी सत्यताका वर्णन, सरस्वतीद्वारा विदूरथको वर-प्रदान, नगरपर शत्रुका आक्रमण और नगरकी दुरवस्थाका कथन, भयभीत हुई राजमहिषीका राजाकी शरणमें आना, लीलाको दूसरे वररूप राजा पद्मकी प्राप्ति १४६
२४–राजा विदूरथका विशाल सेनाके साथ युद्धके लिये प्रयाण, युद्धारम्भ, लीलाके पूछनेपर सरस्वती-द्वारा राजा सिन्धुके विजयी होनेमें हेतु-कथन, विदूरथ और राजा सिन्धुके दिव्यास्त्रोंद्वारा किये गये युद्धका सविस्तर वर्णन, राजा विदूरथकी पराजय और देशपर राजा सिन्धुके अधिकारका कथन १५१
२५–राजा विदूरथकी मृत्यु, संसारकी असत्यता और द्वितीय लीलाकी वासनारूपताका वर्णन, लीलाके गमनमार्ग और स्वामी पद्मकी प्राप्तिका कथन, पदार्थोंकी नियति, मरणक्रम, भोग और कर्म, गुण एवं आचारके अनुसार आयुके मानका वर्णन, आदि-सृष्टिसे लेकर जीवकी विचित्र गतियों तथा ईश्वरकी स्थितिका निरूपण ... १५५
२६–राजा विदूरथका वासनामय यमपुरीमें गमन-लीला और सरस्वतीद्वारा उनका अनुगमन और पूर्व-शरीरकी प्राप्तिका वर्णन, लीलाके शरीरकी असत्यताका कथन, समाधिमें स्थित लीलाके शरीरका विनाश, लीलाके साथ वार्तालाप और राजा पद्मके पुनरुज्जीवनका कथन, राजा की

उठनेसे नगर और अन्तःपुरमें उत्सव, लीलो-पाख्यानके प्रयोजनका विस्तारसे कथन ... १६७
२७–सृष्टिकी असत्यता तथा सबकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन १७५
२८–जगत्‌की असत्ता या भ्रमरूपताका प्रतिपादन तथा नियति और पौरुषका विवेचन ... १७७
२९–ब्रह्मकी सर्वरूपता तथा उसमें भेदका अभाव, परमात्मासे जीवकी उत्पत्ति और उसके स्वरूपका विवेचन, परमात्मासे ही मनकी उत्पत्ति, मनका भ्रम ही जगत् है—इसका प्रतिपादन तथा जीव-चित्त आदिकी एकता १७८
३०–चित्तका विलास ही द्वैत है, त्याग और ज्ञानसे ही अज्ञानसहित मनका क्षय होता है—इसका प्रतिपादन तथा भोक्ता जीवके स्वरूपका वर्णन १७९
३१–परमात्मसत्ताका विवेचन, बीजमें वृक्षकी भाँति परमात्मामें जगत्‌की त्रैकालिक स्थितिका निरूपण तथा ब्रह्मसे पृथक् उसकी सत्ता नहीं है—इसका प्रतिपादन १८२
३२–जगत्‌की ब्रह्मसे पृथक् सत्ताका खण्डन, भेदकी व्यावहारिकता तथा चित्तकी ही दृश्यरूपताका प्रतिपादन १८५
३३–यह दृश्य-प्रपञ्च मनका विलासमात्र है, इसका ब्रह्माजीके द्वारा अपने अनुभवके अनुसार प्रतिपादन १८६
३४–स्थूल-शरीरकी निन्दा, मनोमय शरीरकी विशेषता, उसे सत्कर्ममें लगानेकी प्रेरणा, ब्रह्मा और उनके द्वारा निर्मित जगत्‌की मनोमयता, जीवका स्वरूप और उसकी विविध सांसारिक गति तथा सृष्टिके दोष एवं मिथ्यात्वका उपदेश ... १८८
३५–जीवोंकी चौदह श्रेणियाँ तथा परब्रह्म परमात्मासे ही उत्पन्न होनेके कारण सबकी ब्रह्मरूपता ... १९०
३६–कर्ता और कर्मकी सहोत्पत्ति एवं अभिन्नता तथा चित्त और कर्मकी एकताका प्रतिपादन ... १९२
३७–मनका स्वरूप तथा उसकी विभिन्न संज्ञाओंपर विचार १९३
३८–मनके द्वारा जगत्‌के विस्तार तथा अज्ञानीके उपदेशके लिये कल्पित त्रिविध आकाशका निरूपण एवं मनको परमात्मचिन्तनमें लगानेकी आवश्यकता १९५
३९–मनकी परमात्मरूपता, ब्रह्मकी विविध शक्ति, सबकी ब्रह्मरूपता, मनके संकल्पसे ही सृष्टि-विस्तार तथा वासना एवं मनके नाशसे ही श्रेयकी प्राप्तिका प्रतिपादन १९६
४०–जगत्‌की चित्तरूपता, वासनायुक्त मनके दोष, मनका महान् वैभव तथा उसे वशमें करनेका उपाय १९८
४१–चित्तरूपी रोगकी चिकित्साके उपाय तथा मनो-निग्रहसे लाभ २०१
४२–मनोनाशके उपायभूत वासना-त्यागका उपदेश, अविद्या-वासनाके दोष तथा इसके विनाशके उपायकी जिज्ञासा २०२
४३–अविद्याके विनाशके हेतुभूत आत्मदर्शनका, विशुद्ध परमात्मस्वरूपका तथा असंकल्पसे वासना क्षयका प्रतिपादन २०४
४४–अविद्याकी बन्धनकारितापर आश्चर्य; चेष्टा देहमें नहीं, देहीमें है—इसका प्रतिपादन तथा अज्ञानकी सात भूमिकाओंका वर्णन ... २०६
४५–ज्ञानकी सात भूमिकाओंका विशद विवेचन २०७
४६–मायिक रूपका निराकरण करके सन्मात्रत्वका प्रदर्शन, अविद्याके स्वरूपका निरूपण, संक्षेपमें ज्ञानभूमिका एवं जीवात्माके वास्तविक स्वरूपका वर्णन २१५

स्थिति-प्रकरण

१–चित्ररूपसे जगत्‌का वर्णन, जगत्‌की स्थितिका खण्डन करके पूर्णानन्दस्वरूप सन्मात्रकी स्थिति-का कथन, मनको ही जगत्‌का कारण बताकर उसके नाश होनेपर जगत्‌की शून्यताका कथन २१८
२–स्वरूपकी विस्मृतिसे ही भेदभ्रमकी अनुभूति, चित्तशुद्धि एवं जाग्रत् आदि अवस्थाओंके शोधनसे ही भ्रम-निवारणपूर्वक आत्मबोधकी प्राप्ति तथा वैराग्यमूलक विवेकसे ही मोक्षलाभ-का वर्णन २२०
३–उपासनाओंके अनुसार फलकी प्राप्ति तथा जाग्रत्-स्वप्न अवस्थाओंका वर्णन, मनको सत्य आत्मामें लगानेका आदेश, मनको भावनाके अनुसार रूप और फलकी प्राप्ति तथा भावनाके त्यागसे विचारद्वारा ब्रह्मभावकी प्राप्तिका प्रति-पादन २२२

४–दृढ़ बोध होनेपर सम्पूर्ण दोषोंके विनाश, अन्तःकरणकी शुद्धि और विशुद्ध आत्मतत्त्वके साक्षात्कारकी महिमाका प्रतिपादन ... २२४
५–शरीररूपी नगरीके सम्राट् ज्ञानीके रागरहित स्थितिका वर्णन २२५
६–मन और इन्द्रियोंकी प्रबलता तथा उनको जीतनेसे लाभ, अत्यन्त अज्ञानी और ज्ञानीके लिये उपदेशकी व्यर्थता तथा जगत् और ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन २२६
७–शास्त्रचिन्तन, शास्त्रीय सदाचारके सेवन तथा शास्त्रविपरीत आचारके त्यागसे लाभ ... २२८
८–शास्त्रीय शुभ उद्योगकी सकलताका प्रतिपादन, अहंकारकी बन्धकता और उसके त्यागसे मोक्षकी प्राप्तिका वर्णन २२९
९–सर्वत्र और सभी रूपोंमें चेतन आत्माकी ही स्थितिका वर्णन २३२
१०–ज्ञानी और अज्ञानीका अन्तर, वासनाके कारण ही कर्तृत्वका प्रतिपादन, तत्त्वज्ञानीके अकर्तापन एवं बन्धनाभावका निरूपण ... २३३
११–सर्वशक्तिमान् ब्रह्मसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होनेसे सबकी परब्रह्मरूपताका प्रतिपादन; अत्यन्त मूढको नहीं, विवेकी जिज्ञासुको ही 'सर्वं ब्रह्म' का उपदेश देनेकी आवश्यकता तथा बाजीगरके दिखाये हुए खेलकी भाँति मायामय जगत्के मिथ्यात्वका वर्णन २३४
१२–दृश्यकी असत्ता और सबकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन, मायाके दोष तथा आत्मज्ञानसे ही उसका निवारण २३६
१३–चेतनतत्त्वका ही क्षेत्रज्ञ, अहङ्कार आदिके रूपमें विस्तार तथा अविद्याके कारण जीवोंके कर्मानुसार नाना योनियोंमें जन्मोंका वर्णन ... २३७
१४–परमात्मनिष्ठ ज्ञानीकी दृष्टिमें संसारका मिथ्यात्व, मनोमय होनेके कारण जगत्की असत्ता तथा ज्ञानीकी दृष्टिमें सबकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन २३८
१५–सांसारिक वस्तुओंसे वैराग्य एवं जीवन्मुक्त महात्माओंके उत्तम गुणोंका उपदेश, बारम्बार होनेवाले ब्रह्मा, ब्रह्माण्ड एवं विविध भूतोंकी सृष्टिपरम्परा तथा ब्रह्ममें उसके अत्यन्ताभावका कथन ... २४१
१६–विरक्त एवं विवेकयुक्त ज्ञानी तथा भोगासक्त मूढकी स्थितिमें अन्तर; जगत्को मिथ्या मानकर उसमें आस्था न रखने, देहाभिमानको छोड़ने और अपने विशुद्ध स्वरूप (परमात्मपद) में स्थित होनेका उपदेश २४३
१७–वासना, अभिमान और एषणाका त्याग करके परमात्मपदमें प्रतिष्ठित होनेकी प्रेरणा तथा तत्त्वज्ञानी महात्माकी महत्तम स्थितिका वर्णन २४४
१८–परमात्मभावमें स्थित हुए कचके द्वारा सर्वात्मत्वका बोध करानेवाली गाथाओंका गान, भोगोंसे वैराग्यका उपदेश तथा सबकी परमात्मामें स्थितिका कथन २४६
१९–राजस-सात्त्विकी कर्मोपासनासे भूतलपर उत्पन्न हुए पुरुषोंकी स्थितिका वर्णन, जगत्की अनित्यता एवं परमात्माकी सर्वव्यापकताकी भावनाके लिये उपदेश, श्रीरामके आदर्श गुणोंको अपनाने एवं पौरुष-प्रयत्न करनेसे जीवन्मुक्त पदकी प्राप्तिका कथन ... २४७

उपशम-प्रकरण

१–श्रीवसिष्ठजीका मध्याह्नकालमें प्रवचन समाप्त करके सबको विदा देनेके पश्चात् अपने आश्रममें जाना और दैनिक कर्मके अनुष्ठानमें तत्पर होना २४९
२–श्रीराम आदि राजकुमारोंकी तात्कालिक दिनचर्या, वसिष्ठजी तथा अन्य सभासदोंका पुनः सभामें प्रवेश, राजा दशरथद्वारा मुनिके उपदेशकी प्रशंसा तथा श्रीरामकी उनसे पुनः उपदेश देनेके लिये प्रार्थना ... २५०
३–संसाररूपा मायाका मिथ्यात्व, साधनाका क्रम, आत्माके अज्ञानसे दुःख और ज्ञानसे ही सुखका कथन, आत्माकी निर्लेपता और जगत्की असत्ताका प्रतिपादन २५३
४–कर्तव्य-बुद्धिसे अनासक्त एवं सम रहकर कर्म करनेकी प्रेरणा, सकाम कर्मोंकी दुर्गति और आत्मज्ञानीकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन तथा राजा जनकके द्वारा सिद्धगीताका श्रवण ... २५५
५–सिद्धके उपदेशको सुनकर राजा जनकका एकान्तमें स्थित हो संसारकी नश्वरता एवं

आत्माके विवेक-विज्ञानको सूचित करनेवाले अपने आन्तरिक उद्‌गार एवं निश्चयको प्रकट करना २५७
६—राजा जनकद्वारा संसारकी स्थितिपर विचार और उनका अपने चित्तको समझाना ... २५९
७—राजा जनककी जीवन्मुक्तरूपसे स्थिति तथा विशुद्ध विचार एवं प्रज्ञाके अद्भुत माहात्म्यका वर्णन २६१
८—चित्तकी शान्तिके उपायोंका युक्तियोंद्वारा वर्णन २६३
९—अनधिकारीको दिये गये उपदेशकी व्यर्थता, मनको जीतने या शान्त करनेकी प्रेरणा तथा तत्त्वबोधसे ही मनके उपशमका कथन; तृष्णाके दोष, वासनाक्षय और जीवन्मुक्तके स्वरूपका वर्णन २६५
१०—जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति करानेवाले विभिन्न प्रकारके निश्चयों तथा सब कुछ ब्रह्म ही है, इस पारमार्थिक स्थितिका वर्णन २६६
११—महापुरुषोंके स्वभावका वर्णन तथा अनासक्त भावसे संसारमें विचरनेका उपदेश ... २६७
१२—पिता-माताके शोकसे व्याकुल हुए अपने भाई पावनको पुण्यका समझाना—जगत् और उसके सम्बन्धकी असत्यताका प्रतिपादन ... २६९
१३—पुण्यका पावनको उपदेश—अनेक जन्मोंमें प्राप्त हुए असंख्य सम्बन्धियोंकी ओरसे ममता हटाकर उन्हें आत्मस्वरूप परमात्मासे ही संतोष प्राप्त करनेका आदेश, पुण्य और पावनको निर्वाण-पदकी प्राप्ति, तृष्णा और विषय-चिन्तनके त्यागसे मनके क्षीण हो जानेपर परमपदकी प्राप्तिका कथन २७०
१४—राजा बलिके अन्तःकरणमें वैराग्य एवं विचारका उदय तथा उनका अपने पितासे पहलेके पूछे हुए प्रश्नोंका स्मरण करना २७२
१५—विरोचनका बलिको भोगोंसे वैराग्य तथा विचार-पूर्वक परमात्मसाक्षात्कारके लिये उपदेश ... २७४
१६—बलिका पिताके दिये हुए ज्ञानोपदेशके स्मरणसे संतोष तथा पहलेकी अज्ञानमयी स्थितिको याद करके खेद प्रकट करते हुए शुक्राचार्यका चिन्तन करना, शुक्राचार्यका आना और बलिसे पूजित होकर उन्हें सारभूत सिद्धान्तका उपदेश देकर चला जाना ... २७६
१७—राजा बलिका शुक्राचार्यके दिये हुए उपदेशपर विचार करते-करते समाधिस्थ हो जाना, दानवोंके स्मरण करनेसे आये हुए दैत्यगुरुका बलिकी सिद्धावस्थाको बताकर उनकी चिन्ता दूर करना २७८
१८—समाधिसे जगे हुए बलिका विचारपूर्वक समभावसे स्थित होना, श्रीहरिका उन्हें त्रिलोकीके राज्यसे हटाकर पातालका ही राजा बनाना, उस अवस्थामें भी उनकी समतापूर्ण स्थिति तथा श्रीरामके चिन्मय स्वरूपका वर्णन ... २८१
१९—प्रह्लादका उपाख्यान—भगवान् नृसिंहकी क्रोधाग्निसे हिरण्यकशिपु आदि दैत्योंका संहार तथा प्रह्लादका विचारद्वारा अपने आपको भगवान् विष्णुसे अभिन्न अनुभव करना ... २८३
२०—प्रह्लादके द्वारा भगवान् विष्णुकी मानसिक एवं बाह्य पूजा, उसके प्रभावसे समस्त दैत्योंको वैष्णव हुआ देख विस्मयमें पड़े हुए देवताओंका भगवान्‌से इसके विषयमें पूछना, भगवान्‌का देवताओंको सान्त्वना दे अदृश्य हो प्रह्लादके देवपूजा-गृहमें प्रकट होना और प्रह्लादद्वारा उनकी स्तुति २८५
२१—प्रह्लादको भगवान्‌द्वारा वर-प्राप्ति, प्रह्लादका आत्मचिन्तन करते हुए परमात्माका साक्षात्कार करना और उनका स्तवन करते हुए समाधिस्थ हो जाना, तत्पश्चात् पातालकी अराजकताका वर्णन और भगवान् विष्णुका प्रह्लादको समाधिसे विरत करनेका विचार २८८
२२—भगवान् विष्णुका पातालमें जाना और शङ्खध्वनिसे प्रह्लादको प्रबुद्ध करके उन्हें तत्त्वज्ञानका उपदेश देना, प्रह्लादद्वारा भगवान्‌का पूजन, भगवान्‌का प्रह्लादको दैत्यराज्यपर अभिषिक्त करके कर्तव्यका उपदेश देकर क्षीरसागरको लौट जाना, आख्यानका उत्तम फल, जीवन्मुक्तोंके व्युत्थानका हेतु और पुरुषार्थकी शक्तिका कथन २९४
२३—मायाचक्रका निरूपण, चित्तनिरोधकी प्रशंसा, भगवत्प्राप्तिकी महिमा, मनकी सर्प और विषवृक्षसे तुलना, उद्दालक मुनिका परमार्थ-चिन्तन २९८

२४–महर्षि उद्दालककी साधना, तपस्या और परमात्मप्राप्तिका कथन, सत्ता-सामान्य, समाधि और समाहितके लक्षण ३०६

२५–किरातराज सुरघुका वृत्तान्त—महर्षि माण्डव्यका सुरघुके महलमें पधारना और उपदेश देकर अपने आश्रमको लौट जाना, सुरघुके आत्म-विषयक चिन्तनका वर्णन तथा उसे परमपदकी प्राप्ति ३१०

२६–किरातराज सुरघु और राजर्षि पर्णाद (परिघ) का संवाद ३१४

२७–आत्माका संसार-दुःखसे उद्धार करनेके उपायों-का कथन तथा भास और विलास नामक तपस्वियोंके वृत्तान्तका आरम्भ ... ३१८

२८–भास और विलासकी परस्पर बातचीत और तत्त्वज्ञानद्वारा उन्हें मोक्षकी प्राप्ति; देह और आत्माका सम्बन्ध नहीं है तथा आसक्ति ही बन्धनका हेतु है—इसका निरूपण ... ३२१

२९–संसक्ति और असंसक्तिका लक्षण, आसक्तिके भेद उनके लक्षण और फलका वर्णन, आसक्तिके त्यागसे जीवात्मा कर्म-फलसे सम्बद्ध नहीं होता—इसका कथन ३२४

३०–असङ्ग सुखमें परम शान्तिको प्राप्त पुरुषके व्यवहार-कालमें भी दुखी न होनेका प्रतिपादन, ज्ञानीकी तुर्यावस्था तथा देह और आत्माके अन्तरका वर्णन ३२७

३१–देहादिके संयोग-वियोगादिमें राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे रहित शुद्ध आत्माके स्वरूपका विवेचन ३२९

३२–दो प्रकारके मुक्तिदायक अहंकारका और एक प्रकारके बन्धनकारक अहंकारका एवं परमात्माके स्वरूपका वर्णन ३३१

३३–मन, अहंकार, वासना और अविद्याके नाशसे मुक्ति तथा जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण और महिमाका प्रतिपादन . . . ३३२

३४–मनुष्य, असुर, देव आदि योनियोंमें होनेवाले हर्ष-शोकादिसे रहित जीवन्मुक्त महात्माओंका वर्णन ३३५

३५–स्त्रीरूप तरङ्गसे युक्त संसाररूपी समुद्र, उससे तरनेके उपाय और तरनेके अनन्तर सुखपूर्वक विचरणका वर्णन; जीवन्मुक्त महात्माओंके गुण, लक्षण और महिमा ३३७

३६–चित्तके स्पन्दनसे होनेवाली जगत्की भ्रान्ति, चित्त और प्राण-स्पन्दनका स्वरूप तथा उसके निरोधरूप योगकी सिद्धिके अनेक उपाय ... ३३९

३७–चित्तके उपशमके लिये ज्ञानयोगरूप उपाय एवं विवेक-विचारके द्वारा चित्तका विनाश होनेपर ब्रह्म-विचारसे परमात्माकी प्राप्ति ... ३४२

३८–वीतहव्य मुनिका एकाग्रताकी सिद्धिके लिये इन्द्रिय और मनको बोधित करना ... ३४४

३९–इन्द्रियों और मनके रहते समस्त दोषोंकी प्राप्ति तथा उनके शमनसे समस्त गुणोंकी और परमात्माकी प्राप्तिका वर्णन ... ३४६

४०–वीतहव्य महामुनिकी समाधि और उससे जागना, छः रात्रितक पुनः समाधि, चिरकालतक जीवन्मुक्त स्थिति, उनके द्वारा दुःख-सुकृत आदिको नमस्कार और उनका परमात्मामें विलीन हो जाना ३४८

४१–महामुनि वीतहव्यकी ॐकारकी अन्तिम मात्राका अवलम्बन करके परमात्मप्राप्तिरूप मुक्तावस्थाका तथा मुक्त होनेपर उनके शरीर प्राणों और सब धातुओंका अपने-अपने उपादान कारणमें विलीन होकर मूल-प्रकृतिमें लीन होनेका वर्णन ३५०

४२–ज्ञानी महात्माओंके लिये आकाश-गमन आदि सिद्धियोंकी अनावश्यकताका कथन .. ३५१

४३–जीवन्मुक्त और विदेह-मुक्त पुरुषोंके चित्तनाशका वर्णन ३५३

४४–शरीरका कारण मन है तथा मनके कारण प्राण-स्पन्द और वासना इनका कारण विषय, विषयका कारण जीवात्मा और जीवात्माका कारण परमात्मा है—इस तत्त्वका प्रतिपादन .. ३५४

४५–तत्त्वज्ञान, वासनाक्षय और मनोनाशसे परमपदकी प्राप्ति तथा मनको वशमें करनेके उपायोंका वर्णन ३५७

४६–विचारकी प्रौढता, वैराग्य एवं सद्गुणोंसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति और जीवन्मुक्त महात्माओंकी स्थितिका वर्णन ३५९

निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्ध

१–श्रीवसिष्ठजीके कहनेपर श्रोताओंका सभासे उठकर दैनिक क्रिया करना तथा सुने गये विषयोंका चिन्तन करना .. . ३६२

२–श्रीरामचन्द्र आदिका महाराज वसिष्ठजीको सभामें लाना तथा महर्षि वसिष्ठजीके द्वारा उपदेशका आरम्भ, चित्तके विनाशका और श्रीरामचन्द्रजीकी ब्रह्मरूपताका निरूपण ... ३६३
३–ब्रह्मकी जगत्कारणता और ज्ञानद्वारा मायाके विनाशका तथा श्रीवसिष्ठजीके द्वारा श्रीरामकी महिमा एवं श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा अपने परमार्थ-स्वरूपका वर्णन ३६५
४–देह और आत्माके विवेकका एवं अज्ञानीको देहमें आत्मबुद्धि और विषयोंमें सुख-बुद्धि करनेसे दुःखकी प्राप्तिका प्रतिपादन ... ३६६
५–अज्ञानकी महिमा और विभूतियोंका सविस्तर वर्णन ३६८
६–अविद्याके कार्य संसाररूप विष-लता, विद्या एवं अविद्याके स्वरूप तथा उन दोनोंसे रहित परमार्थ-वस्तुका वर्णन .. ३६९
७–अविद्यामूलक स्थावरयोनिके जीवोंके स्वरूपका तथा विवेकपूर्वक विचारसे अविद्याके नाशका प्रतिपादन ३७१
८–परमात्मा सर्वात्मक और सर्वातीत है—इसका प्रतिपादन एवं महात्मा पुरुषोंके लक्षण तथा आत्मकल्याणके लिये परमात्मविषयक यथार्थ ज्ञान और प्राण निरोधरूप योगका वर्णन . ३७२
९–देव-सभामें वायसराज भुशुण्डका वृत्तान्त सुनकर महर्षि वसिष्ठका उसे देखनेके लिये मेरुगिरिपर जाना, मेरु-शिखर तथा 'चूत' नामक कल्पतरुका वर्णन, वसिष्ठजीका भुशुण्डसे मिलना भुशुण्डद्वारा उनका आतिथ्य-सत्कार, वसिष्ठजीका भुशुण्डसे उनका वृत्तान्त पूछना और उनके गुणोंका वर्णन करना ३७५
१०–भुशुण्डका वसिष्ठजीसे अपने जन्मवृत्तान्तके प्रसङ्गमें महादेवजी तथा मातृकाओंका वर्णन करते हुए अपनी उत्पत्ति, ज्ञानप्राप्ति और उस घोंसलेमें आनेका वृत्तान्त कहना .. ३७९
११–'तुम्हारी कितनी आयु है और तुम किन-किन वृत्तान्तोंका स्मरण करते हो ?' वसिष्ठजीद्वारा पूछे हुए इन प्रश्नोंका भुशुण्डद्वारा समाधान .. ३८२
१२–जिसे मृत्यु नहीं मार सकती, उस निर्दोष महात्माकी स्थितिका, परमतत्त्वकी उपासनाका तथा तीनों लोकोंके पदार्थोंमें सुख-शान्तिके अभावका प्रतिपादन ३८५
१३–प्राण-अपानकी गतिको तत्त्वतः जाननेसे मुक्ति ३८७
१४–पूरक, रेचक, कुम्भक प्राणायामका तत्त्व जानकर अभ्यास करनेसे मुक्ति और सर्वशक्तिमान् परमात्माकी उपासनाकी महिमा .. ३८८
१५–भुशुण्डकी वास्तविक स्थितिका निरूपण, वसिष्ठजी-द्वारा भुशुण्डकी प्रशंसा, भुशुण्डद्वारा वसिष्ठजीका पूजन तथा आकाशमार्गसे वसिष्ठजीकी स्वलोकप्राप्ति ३९०
१६–शरीर और संसारकी अनिश्चितता तथा भ्रान्ति-रूपताका वर्णन ३९२
१७–संसार-चक्रके अवरोधका उपाय, शरीरकी नश्वरता और आत्माकी अविनाशिता एवं अहंकाररूपी चित्तके त्यागका वर्णन तथा श्रीमहादेवजीके द्वारा श्रीवसिष्ठजीके प्रति निर्गुण-निराकार परमात्माकी पूजाका प्रतिपादन .. ३९४
१८–चेतन परमात्माकी सर्वात्मता . .. ३९८
१९–शुद्धचेतन आत्मा और जीवात्माके स्वरूपका विवेचन ३९९
२०–सङ्कल्प-त्यागसे द्वैतभावनाकी निवृत्ति और परम पदस्वरूप परमात्माकी प्राप्तिका प्रतिपादन ... ४००
२१–सबके परम कारण परम पूजनीय परमात्माका वर्णन . ४०२
२२–परमशिव परमात्माकी अनन्त शक्तियां . ४०३
२३–सच्चिदानन्दघन परमदेव परमात्माके ध्यानरूप पूजनसे परमपदकी प्राप्ति ४०४
२४–शास्त्राभ्यास और गुरूपदेशकी सफलता, ब्रह्मके नामभेदोंका और स्वरूपका रहस्य एवं दुःखनाशका उपाय . .. ४०७
२५–समष्टि व्यष्टयात्मक जो संसार है, वह सब माया ही है—यह उपदेश देकर भगवान् श्रीशंकरका अपने वासस्थानको जाना तथा श्रीवसिष्ठजी और श्रीरामजीके द्वारा अपनी-अपनी स्थितिका वर्णन ४०८
२६–ज्ञानकी प्राप्तिके लिये वासना, आसक्ति और अज्ञानके नाशसे मनके विनाशका वर्णन .. ४१०
२७–शिलाके रूपमें ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन ... ४११
२८–परमात्माके स्वरूपका और अविद्याके अत्यन्त अभावका निरूपण . .. ४१३

२९–जीवात्माका अपनी भावनासे लिङ्गदेहात्मक पुर्यष्टक बनकर अनेक रूप धारण करना ... ४१४
३०–पुर्यष्टक बने हुए जीवात्माको तत्त्वज्ञानसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति होनेका कथन ... ४१५
३१–श्रीकृष्णार्जुन-आख्यानका आरम्भ—अर्जुनके प्रति भगवान् श्रीकृष्णद्वारा आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन ४१७
३२–कर्तृत्वाभिमानसे रहित पुरुषके कर्मोंसे लिप्त न होनेका निरूपण एवं सङ्कल्पत्याग, ब्रह्मार्पण ईश्वरार्पण, सन्यास, ज्ञान और योगकी परिभाषा ४१८
३३–श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनके प्रति कर्म और ज्ञानके तत्त्व-रहस्यका प्रतिपादन ४२१
३४–श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनके प्रति देहकी नश्वरता, आत्माकी अविनाशिता, मनुष्योंकी मरण-स्थिति और स्वर्ग-नरकादिकी प्राप्ति एवं जीवात्माके संसारभ्रमणमें कारणरूप वासनाके नाशसे मुक्तिका प्रतिपादन ४२२
३५–श्रीभगवान्‌के द्वारा अर्जुनके प्रति जीवन्मुक्त अवस्था और जगद्रूप चित्रका वर्णन एवं वासनारहित और ब्रह्मस्वरूप होकर स्थित रहनेका उपदेश तथा इस उपदेशको सुनकर तत्त्वज्ञानके द्वारा अर्जुनकी अविद्यासहित वासनाका और मोहका नाश हो जाना ४२४
३६–परमात्माकी नित्य सत्ता, जगत्‌की असत्ता एवं जीवन्मुक्त अवस्थाका निरूपण ... ४२६
३७–परब्रह्म परमात्माके सत्ता-सामान्य स्वरूपका प्रतिपादन ४२७
३८–संसारके मिथ्यात्वका दिग्दर्शन तथा मोहसे जीवके पतनका कथन ४२८
३९–चार प्रकारका मौन और उनमेंसे जीवन्मुक्त ज्ञानीके सुषुप्त मौनकी श्रेष्ठता ... ४२९
४०–सांख्ययोग और अष्टाङ्गयोगके द्वारा परमपदकी प्राप्ति ४२९
४१–वेताल और राजाका संवाद ४३१
४२–वेतालकृत छः प्रश्नोंका राजाद्वारा समाधान ... ४३२
४३–भगीरथके गुण, उनका विवेकपूर्वक वैराग्य और अपने गुरु त्रितलके साथ संवाद ... ४३३
४४–राजा भगीरथका सर्वस्वत्याग, भिक्षाटन और गुरु त्रितलके साथ निवास, भगीरथको पुनः राज्यप्राप्ति और ब्रह्मा, रुद्र आदिकी आराधना करनेसे गङ्गाजीका भूतलपर अवतरण ४३५
४५–शिखिध्वज और चूडालाके आख्यानका आरम्भ, शिखिध्वजके गुणोंका तथा चूडालाके साथ विवाह और क्रीडाका वर्णन ... ४३७
४६–क्रमसे उन दोनोंकी वैराग्य एवं अध्यात्म-ज्ञानमें निष्ठा तथा चूडालाको यथार्थ ज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति ४३९
४७–चूडालाको अपूर्व शोभासम्पन्न देखकर राजा शिखिध्वजका प्रसन्न होना और उससे वार्तालाप करना ४४१
४८–राजा शिखिध्वजका चूडालाके वचनोंको अयुक्त बतलाना, चूडालाका एकान्तमें योगाभ्यास करना एवं श्रीरामचन्द्रजीके पूछने-पर श्रीवसिष्ठजीके द्वारा कुण्डलिनीशक्तिका तथा विभिन्न शरीरोंमें जीवात्माकी स्थितिका वर्णन ४४२
४९–आधि और व्याधिके नाशका तथा सिद्धिका और सिद्धोंके दर्शनका उपाय ... ४४४
५०–ज्ञानसाध्य वस्तु और योगियोंकी परकाय-प्रवेश-सिद्धिका वर्णन ४४७
५१–चूडालाकी सिद्धिका वैभव, गुरूपदेशकी सफलतामें किराटका आख्यान, शिखिध्वजका वैराग्य, चूडालाका उन्हें समझाना, राजा शिखिध्वजका आधी रातके समय राजमहलसे निकलकर चल देना और मन्दराचलके काननमें कुटिया बनाकर निवास करना .. ४४८
५२–सोकर उठी हुई चूडालाके द्वारा राजाकी खोज, वनमें राजाके दर्शन और राजाके भविष्यका विचार करके चूडालाका लौटना, नगरमें आकर राज्य-शासन करना, तदनन्तर कुछ समय बाद राजाको ज्ञानोपदेश देनेके लिये ब्राह्मणकुमारके वेषमें उनके पास जाना, राजाद्वारा उसका सत्कार और परस्पर वार्तालाप-के प्रसङ्गमें कुम्भद्वारा कुम्भकी उत्पत्ति, वृद्धि और ब्रह्माजीके साथ उसके समागमका वर्णन ४५२
५३–राजा शिखिध्वजद्वारा कुम्भकी प्रशंसा, कुम्भका ब्रह्माजीके द्वारा किये हुए ज्ञान-और कर्मके

विवेचनको सुनाना, राजाद्वारा कुम्भका शिष्यत्व-स्वीकार ४५७
५४–चिरकालकी तपस्यासे प्राप्त हुए चिन्तामणिका त्याग करके मणिबुद्धिसे काँचको ग्रहण करनेकी कथा तथा विन्ध्यगिरिनिवासी हाथीका आख्यान ४५९
५५–कुम्भद्वारा चिन्तामणि और काँचके आख्यानके तथा विन्ध्यगिरिनिवासी हाथीके उपाख्यानके रहस्यका वर्णन ४६१
५६–कुम्भकी बातें सुनकर सर्वत्यागके लिये उद्यत हुए राजा शिखिध्वजद्वारा अपनी सारी उपयोगी वस्तुओंका अग्निमें झोंकना, पुनः देहत्यागके लिये उद्यत हुए राजाको कुम्भद्वारा चित्त-त्यागका उपदेश ४६३
५७–चित्तरूपी वृक्षको मूलसहित उखाड़ फेंकनेका उपाय और अविद्यारूप कारणके अभावसे देह आदि कार्यके अभावका वर्णन ... ४६७
५८–जगत्‌के अत्यन्ताभावका, राजा शिखिध्वजको परम शान्तिकी प्राप्तिका तथा जाननेयोग्य परमात्माके स्वरूपका प्रतिपादन ... ४६९
५९–चित्त और संसारके अत्यन्त अभावका तथा परमात्माके भावका निरूपण ४७२
६०–ब्रह्मसे जगत्‌की पृथक् सत्ताका निषेध तथा जन्म आदि विकारोंसे रहित ब्रह्मकी स्वतः सत्ताका विधान ४७४
६१–राजा शिखिध्वजकी ज्ञानमें दृढ़ स्थिति तथा जीवन्मुक्तिमें चित्तराहित्य एवं तत्त्वस्थितिका वर्णन ४७५
६२–कुम्भके अन्तर्हित हो जानेपर राजा शिखिध्वजका कुछ कालतक विचार करनेके पश्चात् समाधिस्थ होना, चूडालाका घर जाकर तीन दिनके बाद पुनः लौटना, राजाके शरीरमें प्रवेश करके उन्हें जगाना और राजाके साथ उसका वार्तालाप ४७७
६३–कुम्भ और शिखिध्वजका परस्पर सौहार्द, चूडालाका राजासे आज्ञा लेकर अपने नगरमें आना और उदास-मन होकर पुनः राजाके पास लौटना, राजाके द्वारा उदासीका कारण पूछनेपर चूडालाद्वारा दुर्वासाके शापका कथन और चूडालाका दिनमें कुम्भरूपसे और रातमें स्त्रीरूपसे राजा शिखिध्वजके साथ विचरण ४८०
६४–महेन्द्रपर्वतपर अग्निके साक्ष्यमें मदनिका (चूडाला) और शिखिध्वजका विवाह, एक सुन्दर कन्दरामें पुष्प-शय्यापर दोनोंका समागम, शिखिध्वजकी परीक्षाके लिये चूडालाद्वारा मायाके बलसे इन्द्रका प्राकट्य, इन्द्रका राजासे स्वर्ग चलनेका अनुरोध, राजाके अस्वीकार करनेपर परिवारसहित इन्द्रका अन्तर्धान होना ४८३
६५–राजा शिखिध्वजके क्रोधकी परीक्षा करनेके लिये चूडालाका मायाद्वारा राजाको जारसमागम दिखाना और अन्तमें राजाके विकारयुक्त न होनेपर अपना असली रूप प्रकट करना ... ४८५
६६–ध्यानसे सब कुछ जानकर राजा शिखिध्वजका आश्चर्यचकित होना और प्रशंसापूर्वक चूडालाका आलिङ्गन करना तथा उसके साथ रात बिताना, प्रातःकाल संकल्पजनित सेनाके साथ दोनोंका नगरमें आना और दस हजार वर्षोंतक राज्य करके विदेहमुक्त होना ... ४८८
६७–बृहस्पतिपुत्र कचकी सर्वत्यागसाधनसे जीवन्मुक्ति, मिथ्या पुरुषकी आख्यायिका और उसका तात्पर्य ४९१
६८–सब कुछ ब्रह्म ही है—इसका प्रतिपादन ... ४९६
६९–भृङ्गीशके प्रति महादेवजीके द्वारा महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागीके लक्षणोंका निरूपण ४९७
७०–सर्वथा विलीन हुए या विलीन होते हुए अहंकार-रूप चित्तके लक्षण ४९८
७१–महाराज मनुका इक्ष्वाकुके प्रति, 'मैं कौन हूँ, यह जगत् क्या है'—यह बताते हुए देहमें आत्मबुद्धिका परित्याग कर परमात्मभावमें स्थित होनेका उपदेश ४९९
७२–सात भूमिकाओंका, जीवन्मुक्त महात्मा पुरुषके लक्षणोंका एवं जीवको संसारमें फँसानेवाली और संसारसे उद्धार करनेवाली भावनाओंका वर्णन करके मनु महाराजका ब्रह्मलोकमें जाना ... ५००
७३–श्रीवसिष्ठजीके द्वारा श्रीरामचन्द्रजीके प्रति जीवन्मुक्त पुरुषकी विशेषता, रागसे बन्धन और वैराग्यसे मुक्ति तथा तुर्यपद और ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन ५०३
७४–योगकी सात भूमिकाओंका अभ्यासक्रम और लक्षण, योगभ्रष्ट पुरुषकी गति एवं महान्

अनर्थकारिणी हस्तिनीरूप इच्छाके स्वरूप और उसके नाशके उपाय ५०५
७५–भरद्वाज मुनिके उत्कण्ठापूर्वक प्रश्न करनेपर श्रीवाल्मीकिजीके द्वारा जगत्की असत्ता और परमात्माकी सत्ताका प्रतिपादन करते हुए कल्याणकारक उपदेश ५०९
७६–श्रीवाल्मीकिजीके द्वारा लय-क्रमका और भरद्वाजजीके द्वारा अपनी स्थितिका वर्णन, वाल्मीकिजीद्वारा मुक्तिके उपायोंका कथन, श्रीविश्वामित्रजीद्वारा भगवान् श्रीरामके अवतार ग्रहण करनेका प्रतिपादन एवं ग्रन्थश्रवणकी महिमा ५११

निर्वाण-प्रकरण (उत्तरार्ध)

१–कल्पना या संकल्पके त्यागका स्वरूप, कामना या संकल्पसे शून्य होकर कर्म करनेकी प्रेरणा, दृश्यकी असत्ता तथा तत्त्वज्ञानसे मोक्षका प्रतिपादन ५१६
२–समूल कर्मत्यागके स्वरूपका विवेचन ... ५१७
३–संसारके मूलभूत अहंभावका आत्मबोधके द्वारा उच्छेद करके परमात्मस्वरूपसे स्थित होनेका उपदेश ५१८
४–उपदेशके अधिकारीका निरूपण करते हुए वसिष्ठजीके द्वारा भुशुण्ड और विद्याधरके संवादका उल्लेख—विद्याधरका इन्द्रियोंकी विषयपरायणताके कारण प्राप्त हुए दुःखोंका वर्णन करके उनसे अपने उद्धारके लिये प्रार्थना करना ५१९
५–भुशुण्डजीद्वारा विद्याधरको उपदेश—दृश्य-प्रपञ्चकी असत्ता बताते हुए संसार-वृक्षका निरूपण ५२२
६–संसार-वृक्षके उच्छेदके उपाय, प्रतीयमान जगत्की असत्ता, ब्रह्ममें ही जगत्की प्रतीति तथा सर्वत्र ब्रह्मकी सत्ताका प्रतिपादन ... ५२३
७–चिन्मय परब्रह्मके सिवा अन्य वस्तुकी सत्ताका निराकरण, जगत्की निःसारता तथा सत्सङ्ग, सत्-शास्त्र-विचार और आत्मप्रयत्नके द्वारा अविद्याके नाशका प्रतिपादन ... ५२४
८–त्रसरेणुके उदरमें इन्द्रका निवास और उनके गृह, नगर, देश, लोक एवं त्रिलोकके साम्राज्यकी कल्पनाका विस्तार ... ५२५
९–इन्द्र-कुलमें उत्पन्न हुए एक इन्द्रका विचार-दृष्टिसे परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार करके इस त्रिलोकीके इन्द्रपदपर प्रतिष्ठित होना तथा अहंभावनाके निवृत्त होनेसे संसार-भ्रमके मूलोच्छेदका कथन ५२६
१०–शुद्ध चित्तमें थोड़ेसे ही उपदेशसे महान् प्रभाव पड़ता है, यह बतानेके लिये कहे गये भुशुण्डवर्णित विद्याधरके प्रसङ्गका उपसंहार, जीवन्मुक्त या विदेहमुक्तके अहंकारका नाश हो जानेसे उसे संसारकी प्राप्ति न होनेका कथन ५२७
११–मृत पुरुषके प्राणोंमें स्थित जगत्के आकाशमें भ्रमणका वर्णन तथा परब्रह्ममें जगत्की असत्ताका प्रतिपादन ५२८
१२–जीवके स्वरूप, स्वभाव तथा विराट् पुरुषका वर्णन ५२९
१३–जगत्की सकल्परूपता, अन्यथादर्शनरूप जीव भाव तथा अहंभावनारूप महाग्रन्थिके भेदनसे ही मोक्षकी प्राप्तिका कथन और ज्ञानबन्धुके लक्षणोंका वर्णन ५३०
१४–ज्ञानीके लक्षण, जीवके बन्धन और मोक्षका स्वरूप, ज्ञानी और अज्ञानीकी स्थितिमें अन्तर, दृश्यकी असत्ता तथा परब्रह्मकी सत्ताका प्रतिपादन ५३१
१५–मरुभूमिके मार्गमें मिले हुए महान् वनमें महर्षि वसिष्ठ और मङ्किका समागम एवं संवाद ५३३
१६–मङ्किके द्वारा संसार, लौकिक सुख, मन, बुद्धि और तृष्णा आदिके दोषों तथा उनसे होनेवाले कष्टोंका वर्णन और वसिष्ठजीसे उपदेश देनेके लिये प्रार्थना ५३५
१७–संसारके चार बीजोंका वर्णन और परमात्माके तत्त्वज्ञानसे ही इन बीजोंके विनाशपूर्वक मोक्षका प्रतिपादन ५३६
१८–भावना और वासनाके कारण संसार-दुःखकी प्राप्ति तथा विवेकसे उसकी शान्ति, सर्वत्र ब्रह्मसत्ताका प्रतिपादन एवं मङ्किके मोहका निवारण ५३७

१९–आत्मा या ब्रह्मकी समता, सर्वरूपता तथा द्वैतशून्यताका प्रतिपादन, जीवात्माकी ब्रह्म-भावनासे संसार-निवृत्तिका वर्णन ५३८

२०–परमार्थ-तत्त्वका उपदेश और स्वरूपभूत परमात्म-पदमें प्रतिष्ठित रहते हुए व्यवहार करते रहनेका आदेश देते हुए वसिष्ठजीका श्रीरामके प्रश्नोंका उत्तर देना तथा संसारी मनुष्योंको आत्मज्ञान एवं मोक्षके लिये प्रेरित करना ... ५३९

२१–निर्वाणकी स्थितिका तथा 'मोक्ष स्वाधीन है' इस विषयका सयुक्तिक वर्णन ... ५४२

२२–जीवकी बहिर्मुखताके निवारणसे भ्रान्तिकल्पना-के निवर्तक उपाय तथा परलोककी चिकित्साका वर्णन ५४४

२३–जगत्के स्वरूपका विवेचन और ब्रह्मके स्वरूपका सविस्तर वर्णन ५४६

२४–जीवन्मुक्तिकी प्रशंसा तथा इच्छा ही बन्धन है और इच्छाका त्याग ही मुक्ति है, इसका सविस्तर वर्णन और उससे छूटनेके उपायका निरूपण ५४८

२५–तत्त्वज्ञान हो जानेपर इच्छा उत्पन्न होती ही नहीं और यदि कहीं उत्पन्न होती-सी दीखे तो वह ब्रह्मस्वरूप होती है—इसका सयुक्तिक वर्णन ५५०

२६–चेतन ही जगत् है—इसका तथा तत्त्वज्ञानी और जगत्के स्वरूपका वर्णन ५५२

२७–जीवन्मुक्तके द्वारा जगत्के स्वरूपका ज्ञान, स्वभावका लक्षण तथा विश्व और विश्वेश्वरकी एकता और स्वात्मभूत परमेश्वरकी पूजाका वर्णन ५५३

२८–जगत्की असारताका निरूपण करके तत्त्वज्ञानसे उसके विनाशका वर्णन ५५५

२९–प्राणियोंके श्रान्त हुए मनरूपी मृगके विश्रामके लिये समाधिरूपी कल्पद्रुमकी उपयोगिताका वर्णन ५५७

३०–जीवात्माके ध्यान-वृक्षपर चढ़नेका और वास्तविक सुखकी प्राप्तिका वर्णन ... ५६०

३१–ध्यानरूपी कल्पद्रुमके फलके आस्वादनसे मनकी स्थितिका तथा मुक्तिके विभिन्न साधनोंका वर्णन ५६१

३२–वैराग्यके दृढ़ हो जानेपर पुरुषकी स्थिति, आत्माद्वारा विवेक नामक दूतका भेजा जाना, विवेकज्ञानसम्पन्न पुरुषकी महिमा तथा जीवके सात रूपोंका वर्णन ५६४

३३–दृश्य जगत्की असत्ता, सबकी एकमात्र ब्रह्म-रूपता तथा तत्त्वज्ञानसे होनेवाले लाभका वर्णन ५६६

३४–सृष्टिकी असत्यता और एकमात्र अखण्ड ब्रह्म-सत्ताका प्रतिपादन ५६७

३५–परमात्मामें सृष्टिभ्रमकी असम्भवता, पूर्णब्रह्मके स्वरूपका निरूपण तथा सबकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन ५६८

३६–ब्रह्ममें ही जगत्की कल्पना तथा जगत्का ब्रह्मसे अभेद, पाषाणोपाख्यानका आरम्भ—वसिष्ठजीका लोकगतिसे विरक्त हो सुदूर एकान्तमें कुटी बनाकर सौ वर्षोंतक समाधि लगाना ... ५७०

३७–अहंकाररूपी पिशाचकी शान्तिका उपाय—सृष्टिके कारणका अभाव होनेसे उसकी असत्ता तथा चिन्मय ब्रह्मकी ही सृष्टिरूपताका प्रतिपादन ५७१

३८–समाधिकालमें वसिष्ठजीके द्वारा अनन्त चेतनाकाशमें असंख्य ब्रह्माण्डोंका अवलोकन ... ५७२

३९–श्रीवसिष्ठजीका समाधिकालमें अपनी स्तुति करनेवाली स्त्रीका अवलोकन और उसकी उपेक्षा करके अनेक विचित्र जगत्का दर्शन करना तथा महाप्रलयके समय सब जीवोंके प्रकृति-लीन हो जानेपर पुनः किसको सृष्टिका ज्ञान होता है, श्रीरामके इस प्रश्नका उत्तर देना ... ५७३

४०–वसिष्ठजीके द्वारा चिदाकाशरूपसे देखे गये जगतोंकी अपनेसे अभिन्नताका कथन; आर्यापाठ करनेवाली स्त्रीके कार्य तथा सम्भाषण आदिके विषयमें श्रीरामके प्रश्न और वसिष्ठजीके उत्तर-का वर्णन ५७५

४१–स्वप्नजगत्की भी ब्रह्मरूपता एवं सत्यताका प्रतिपादन ५७७

४२–श्रीवसिष्ठजीके पूछनेपर विद्याधरीके द्वारा अपने जीवन-वृत्तान्तका वर्णन, अपनी युवावस्थाके व्यर्थ बीतनेका उल्लेख ५७८

४३–विद्याधरीका वैराग्य और अपने तथा पतिके लिये तत्त्वज्ञानका उपदेश देनेके हेतु उसकी वसिष्ठ मुनिसे प्रार्थना ५८०

४४–श्रीवसिष्ठजीका विद्याधरीके साथ लोकालोक पर्वतपर पाषाणशिलाके पास पहुँचना; उस शिलामें उन्हें विद्याधरीकी बतायी हुई सृष्टिका दर्शन न होना, विद्याधरीका इसमें उनके अभ्यासाभावको कारण बताकर अभ्यासकी महिमाका वर्णन करना ·· · ५८१
४५–श्रीवसिष्ठजीके द्वारा आतिवाहिक शरीरमें आधिभौतिकताके भ्रमका निराकरण ५८४
४६–विद्याधरीका पाषाण-जगत्‌के ब्रह्माजीको ही अपना पति बताना और उन्हें समाधिसे जगाना; उनके और देवतादिके द्वारा वसिष्ठजीका स्वागत-सत्कार, वसिष्ठजीके पूछनेपर ब्रह्माजीका उन्हें अपने यथार्थ स्वरूपका परिचय देना और उस कुमारी नारीको वासनाकी देवी बताना··· ५८५
४७–पाषाण-जगत्‌के ब्रह्माद्वारा वासनाकी क्षयोन्मुखता एवं आत्मदर्शनकी इच्छा बताकर शिलाकी चितिरूपता तथा जगत्‌की परमात्मसत्तासे अभिन्नताका प्रतिपादन करके वसिष्ठजीको अपने जगत्‌में जानेके लिये प्रेरित करना ·· ५८७
४८–पाषाण-शिलाके भीतर बसे हुए ब्रह्माण्डके महाप्रलयका वर्णन तथा ब्रह्माके सकल्पके उपसहारसे सम्पूर्ण जगत्‌का सहार क्यों होता है, इसका विवेचन · ··· ५८८
४९–ब्रह्मा और जगत्‌की एकताका स्थापन तथा द्वादश सूर्योंके हृदयसे जगत्‌के प्रलयका रोमाञ्चकारी वर्णन ··· ·· ५९०
५०–प्रलयकालके मेघोंद्वारा भयानक वृष्टि होनेसे एकार्णवकी वृद्धि तथा प्रलयाग्निका बुझ जाना ··· ··· ५९२
५१–बढते हुए एकार्णवका तथा परिवारसहित ब्रह्माके निर्वाणका वर्णन ··· ··· ५९३
५२–ब्रह्मलोकवासियों तथा द्वादश सूर्योंका निर्वाण, अहकाराभिमानी रुद्रदेवका आविर्भाव, उनके अवयवों तथा आयुधका विवेचन, उनके द्वारा एकार्णवके जलका पान तथा शून्य ब्रह्माण्डकी चेतनाकाशरूपताका प्रतिपादन ·· ५९५
५३–रुद्रकी छायारूपिणी कालरात्रिके स्वरूप तथा ताण्डव-नृत्यका वर्णन ··· ··· ५९७
५४–रुद्र और काली आदिके रूपमें चिन्मय परमात्मसत्ताकी ही स्फूर्तिका प्रतिपादन तथा सच्चिदानन्दघनका विलास ही रुद्रदेवका नृत्य है—इसका कथन ·· ··· ५९९
५५–शिव और शक्तिके यथार्थ स्वरूपका विवेचन ··· ··· ६००
५६–प्रकृतिरूपा कालरात्रिके परमतत्त्व शिवमें लीन होनेका वर्णन · · ··· ६०२
५७–रुद्रदेवका ब्रह्माण्डखण्डको निगलकर निराकार चिदाकाशरूपसे स्थित होना तथा वसिष्ठजीका उस पाषाण शिलाके अन्य भागमें भी नूतन जगत्‌को देखना और पृथ्वीकी धारणाके द्वारा पार्थिव जगत्‌का अनुभव करना · ६०३
५८–श्रीवसिष्ठजीके द्वारा जल और तेजस् तत्त्वकी धारणासे प्राप्त हुए अनुभवका उल्लेख ··· ६०४
५९–धारणा-द्वारा वायुरूपसे स्थित हुए वसिष्ठजीका अनुभव ··· ··· ६०६
६०–कुटीमें लौटनेपर वसिष्ठजीको अपने शरीरकी जगह एक ध्यानस्थ सिद्धका दर्शन, उनके सकल्पकी निवृत्तिसे कुटीका उपसंहार, सिद्धका नीचे गिरना और वसिष्ठजीसे उसका अपने वैराग्यपूर्ण जीवनका वृत्तान्त बताना ··· ६०७
६१–श्रीवसिष्ठजी और सिद्धका आकाशमें अभीष्ट स्थानोंको जाना, वसिष्ठजीका मनोमय देहसे सिद्धादि लोकोंमें भ्रमण करना, श्रीवसिष्ठजीका अपनी सत्य सकल्पताके कारण सबके दृष्टिपथमें आना, व्यवहारपरायण होना तथा 'पार्थिव वसिष्ठ' आदि संज्ञाओंको प्राप्त करना, पाषाणोपाख्यानकी समाप्ति और सबकी चिन्मय ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन ··· ··· ६११
६२–परमपदके विषयमें विभिन्न मतवादियोंके कथनकी सत्यताका प्रतिपादन ··· ६१४
६३–तत्त्वज्ञानी संतोंके शील-स्वभावका वर्णन तथा सत्सङ्गका महत्त्व ··· · · ६१५
६४–सत्‌का विवेचन और देहात्मवादियोंके मतका निराकरण ··· · ६१६
६५–सबकी चिन्मात्ररूपताका निरूपण तथा ज्ञानी महात्माके लक्षणोंका वर्णन ··· ··· ६१७
६६–इस शास्त्रके विचारकी आवश्यकता तथा इससे होनेवाले लाभका प्रतिपादन, वैराग्य

और आत्मबोधके लिये प्रेरणा तथा विचारद्वारा वासनाको क्षीण करनेका उपदेश ... ६२०
६७–मोक्षके स्वरूप तथा जाग्रत् और स्वप्नकी समताका निरूपण ६२१
६८–चिदाकाशके स्वरूपका प्रतिपादन तथा जगत्की चिदाकाशरूपताका वर्णन ... ६२२
६९–राजा विपश्चित्के सामन्तोंका वध, उत्तर दिशाके सेनापतिका घायल होकर आना तथा शत्रुओंके आक्रमणसे राजपरिवार और प्रजामें घबराहट ६२३
७०–राजा विपश्चित्का अपने मस्तककी आहुतिसे अग्निदेवको संतुष्ट करके चार दिव्य रूपोंमें प्रकट होना ६२५
७१–चारों विपश्चितोंका शत्रुओंके साथ युद्ध, भागती हुई शत्रुसेनाका पीछा करते हुए उनका समुद्र-तटतक जाना ६२६
७२–विपश्चित्के अनुचरोंका उन्हें आकाश, पर्वत, पर्वतीय ग्राम, मेघ, कुत्ते, कौए और कोकिल आदिको दिखाकर अन्योक्तियोंद्वारा विशेष अभिप्राय सूचित करना ६२७
७३–सरोवर, भ्रमर और हंसविषयक अन्योक्तियाँ ... ६३१
७४–बगुले, जलकाक, मोर और चातकसे सम्बन्ध रखनेवाली अन्योक्तियाँ ६३२
७५–वायु, ताड़, पलाश, कनेर, कल्पवृक्ष, वनस्थली और चम्पकवनका वर्णन करते हुए सहचरोंका महाराजसे राजाओंकी भेंट स्वीकार करके उन्हें विभिन्न मण्डलोंकी शासनव्यवस्था सौंपनेके लिये अनुरोध करना तथा विपश्चितोंका अग्निसे वरदान प्राप्त करके दृश्यकी अन्तिम सीमा देखनेके लिये उद्यत होना .. ६३३
७६–चारों विपश्चितोंका समुद्रमें प्रवेश और प्रत्येक दिशामें उनकी पृथक्-पृथक् यात्राका वर्णन ... ६३५
७७–विपश्चितोंके विहारका तथा जीवन्मुक्तोंकी सर्वात्मरूप स्थितिका वर्णन ६३६
७८–मरे हुए विपश्चितोंके संसार-भ्रमणका तथा उत्तर दिशागामी विपश्चित्के भ्रमणका विशेष रूपसे वर्णन ६३८
७९–शेष दो विपश्चितोंके वृत्तान्तका वर्णन तथा मृगरूपमें श्रीरामचन्द्रजीको प्राप्त हुए एक विपश्चित्का राजसभामें लाया जाना ... ६४०
८०–श्रीवसिष्ठजीके ध्यानसे उत्पन्न हुई अग्निमें मृगके प्रवेशका तथा उसके विपश्चित्-देहकी प्राप्तिका वर्णन ६४१
८१–प्राणियोंकी उत्पत्तिके दो भेद, मच्छरके मृग-योनिसे छूटकर व्याधरूपसे उत्पन्न होनेपर उसे एक मुनिका ज्ञानोपदेश ... ६४३
८२–पाण्डित्यकी प्रशंसा, चित् ही जगत् है—इसका युक्तिपूर्वक समर्थन ६४५
८३–मुनिका व्याधके प्रति बहुतसे प्राणियोंको एक साथ सुख-दुःखकी प्राप्तिके निमित्तका निरूपण करना ६४६
८४–मुनिके उपदेशसे आत्मज्ञानकी प्राप्ति, पूर्वदेहमें गमनकी असमर्थताके विषयमें प्रश्न करनेपर देह आदिके भस्म होनेके प्रसङ्गमें मुनिके आश्रम और दोनों शरीरोंके जलने तथा वायुद्वारा उस अग्निके शान्त होनेका वर्णन ६४८
८५–व्याध और उस मुनिके वार्तालापके प्रसङ्गमें जीवन्मुक्त ज्ञानीके स्वरूपका वर्णन तथा अभ्यासकी प्रशंसा ६५०
८६–मुनिको परमपदकी प्राप्ति, व्याधके महाशवका वर्णन, अग्निका स्वर्गलोक-गमन, व्यासद्वारा आत्मकथाका वर्णन तथा बहुतसे आश्चर्योंका वर्णन करके आत्मतत्त्वका निरूपण ६५२
८७–राजा दशरथका विपश्चित्को पुरस्कार देनेकी आज्ञा देते हुए सभाको विसर्जित करना, दूसरे दिन सभामें वसिष्ठजीद्वारा कथाका आरम्भ, ब्रह्मके वर्णनद्वारा अविद्याके निराकरणके उपाय, जितेन्द्रियकी प्रशंसा और इन्द्रियोंपर विजय पानेकी युक्तियाँ ६५४
८८–दृश्य जगत्की चैतन्यरूपता, अनिर्वचनीयता, असत्ता तथा ब्रह्मसे अभिन्नताका प्रतिपादन ... ६५७
८९–जीवन्मुक्त तथा परमात्मामें विश्रान्त पुरुषके लक्षण तथा आत्मज्ञानीके सुखपूर्वक शयनका कथन ६५८
९०–जीवन्मुक्तके स्वकर्म नामक मित्रके स्त्री, पुत्र आदि परिवारका परिचय तथा उस मित्रके साथ रहनेवाले उस महात्माके स्वभावसिद्ध गुणोंका उल्लेख, तत्त्वज्ञानीकी स्थिति, जगत्की ब्रह्मरूपता तथा समस्तवादियोंके द्वारा ब्रह्मके ही प्रतिपादनका कथन ६५९

९१—निर्वाण अथवा परमपदका स्वरूप, ब्रह्ममें जगत्‌की सत्ताका खण्डन, चिदाकाशके ही जगद्रूपसे स्फुरित होनेका कथन, ब्रह्मके उन्मेष और निमेष ही सृष्टि और प्रलय हैं, मन जिसमें रस लेता है वैसा ही बनता है, चिदाकाश अपनेको ही दृश्य-रूपसे देखता है तथा अज्ञानसे ही परमात्मामें जगत्‌की स्थिति प्रतीत होती है—इसका प्रतिपादन ६६१

९२—सृष्टिकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन ... ६६२

९३—श्रीरामका कुन्ददन्त नामक ब्राह्मणके आगमनका प्रसङ्ग उपस्थित करना और वसिष्ठजीके पूछनेपर कुन्ददन्तका अपने संशयकी निवृत्ति तथा तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्तिको स्वीकार करते हुए अपना अनुभव बताना ६६३

९४—सब कुछ ब्रह्म है, जगत् वस्तुतः असत् है, वह ब्रह्मका संकल्प होनेसे उससे भिन्न नहीं है, जीवात्माको अज्ञानके कारण ही जगत्‌की प्रतीति होती है—इसका प्रतिपादन ... ६६५

९५—श्रीरामजीके विविध प्रश्न और श्रीवसिष्ठजीके द्वारा उनके उत्तर ६६६

९६—अज्ञानसे ब्रह्मका ही जगत्‌रूपसे भान होता है वास्तवमें जगत्‌का अत्यन्ताभाव है और एकमात्र ब्रह्म ही विराजमान है, इस तत्त्वका प्रतिपादन ६७२

९७—श्रीरामचन्द्रजीके मुखसे ज्ञानी महात्माकी स्थिति-का एवं अपने परब्रह्मस्वरूपका वर्णन ... ६७२

९८—श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा बोधके पश्चात् होनेवाली शान्त एवं संकल्पशून्य स्थितिका वर्णन ... ६७३

९९—श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा जगत्‌की असत्ता एवं 'सर्वं ब्रह्म' के सिद्धान्तका प्रतिपादन ... ६७४

१००—श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नके अनुसार उत्तम बोधकी प्राप्तिमें शास्त्र आदि कैसे कारण बनते हैं, यह बतानेके लिये श्रीवसिष्ठजीका उन्हें कीरको-पाख्यान सुनाना—लकड़ीके लिये किये गये उद्योगसे कीरकोंका सुखी होना ... ६७६

१०१—कीरकोपाख्यानके स्पष्टीकरणपूर्वक आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें शास्त्र एवं गुरूपदेश आदिको कारण बताना ६७७

१०२—श्रीवसिष्ठजीके द्वारा समता एवं समदर्शिताकी भूरि-भूरि प्रशंसा ६७८

१०३—कर्मोंके त्याग और ग्रहणसे कोई प्रयोजन न रखते हुए भी जीवन्मुक्त पुरुषोंकी स्वभावतः सत्कर्मोंमें ही प्रवृत्तिका प्रतिपादन ... ६८०

१०४—सिद्धों और सभासदोंद्वारा श्रीवसिष्ठजीको साधु-वाद, देव-दुन्दुभियोंका नाद, दिव्य पुष्पोंकी वर्षा, गुरु-पूजन-महोत्सव, श्रीदशरथजी और श्रीरामजीके द्वारा गुरुदेवका सत्कार, सभ्यों और सिद्धोंद्वारा पुनः श्रीवसिष्ठजीकी स्तुति ६८२

१०५—गुरुके पूछनेपर श्रीरामचन्द्रजीका पुनः अपनी परमानन्दमयी स्थितिको बताना तथा वसिष्ठजी-का उन्हें कृतकृत्य बताकर विश्वामित्रजीकी आज्ञा एवं भूमण्डलके पालनके लिये कहना, श्रीरामद्वारा अपनी कृतार्थताका प्रकाशन ... ६८५

१०६—मध्याह्नकालमें राजासे सम्मानित हो सबका आवश्यक कृत्यके लिये उठ जाना और दूसरे दिन प्रातःकाल सबके सभामें आनेपर श्रीरामका गुरुके समक्ष अपनी कृतकृत्यता प्रकट करना ६८६

१०७—श्रीवसिष्ठ और श्रीरामका संवाद, दृश्यका परि-मार्जन, सबकी चिदाकाशरूपताका प्रतिपादन, श्रीरामका प्रश्न और उसके उत्तरमें श्रीवसिष्ठ-द्वारा प्रशस्तिके उपाख्यानका आरम्भ ... ६८८

१०८—यह जगत् ब्रह्मका संकल्प होनेसे ब्रह्म ही है, इसका विवेचन ६८९

१०९—राजा प्रशस्तिके प्रश्नोंपर श्रीवसिष्ठजीका विचार एवं निर्णय ६९१

११०—सिद्ध आदिके लोकोंकी संकल्परूपता बताते हुए इस जगत्‌को भी वैसा ही बताना और ब्रह्ममें अहंभावका स्फुरण ही हिरण्यगर्भ है, उसका संकल्प होनेके कारण त्रिलोकी भी ब्रह्म ही है, इसका प्रतिपादन ६९२

१११—सभासदोंका कृतार्थता-प्रकाशन तथा वसिष्ठजीकी आज्ञासे महाराज दशरथका ब्राह्मणोंको भोजन कराना और सात दिनोंतक दान-मानसे सम्पन्न उत्सव मनाना ६९४

११२—श्रीवाल्मीकि-भरद्वाज-संवादका उपसंहार, इस ग्रन्थकी महिमा तथा श्रोताके लिये दान, ध्यान आदिका उपदेश ६९६

११३–अरिष्टनेमि, सुरुचि, कारुण्य तथा सुतीक्ष्णकी कृतकृत्यताका प्रकाशन, शिष्योंका गुरुजनोंके प्रति आत्मनिवेदन तथा ब्रह्मको एवं ब्रह्मभूत वसिष्ठजीको नमस्कार ... ६९७
१३–क्षमा प्रार्थना और नम्र निवेदन (हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी) ६९९
१४–जीवन्मुक्तका स्वरूप और आचार (कविता) ... ७००

चित्र-सूची

सादे

१–तीर्थयात्रासे लौटनेपर श्रीरामचन्द्रजीका स्वागत (प्रसंग वैराग्य-प्रकरण सर्ग ४) ... ४८
२–सुरुचि और देवदूत (प्रसंग वैराग्य-प्रकरण सर्ग १) ११२
३–राजा सिन्धुका राज्याभिषेक (प्रसंग उत्पत्ति-प्रकरण सर्ग ५१) १७६
४–दोनों लीलाओंके साथ राजा पद्मका राज्याभिषेक (प्रसंग उत्पत्ति-प्रकरण सर्ग ५९) ... २८०
५–जनकका तमालकी झाड़ीमें छिपे सिद्धोंके गीत-श्रवण (प्रसग उपशम-प्रकरण सर्ग ८) ... ३३६
६–क्षीरसागरमें शेषशय्यापर विराजित भगवान्‌का जगत्‌की स्थितिको देखना (प्रसंग उपशम-प्रकरण सर्ग ३८) ४१६
७–भगवान्‌के द्वारा प्रह्लादका अभिषेक (प्रसंग उपशम-प्रकरण सर्ग ४१) ... ४८०
८–शेषनागपर भगवान् विष्णु, स्वर्गमें इन्द्र और पातालमें प्रह्लाद (प्रसग उपशम-प्रकरण सर्ग ४२) ५४८
९–राजा बलि और शुक्राचार्य (प्रसंग उपशम-प्रकरण सर्ग ४५-४६) ६१२
१०–गन्धर्वों और विद्याधरियोंके द्वारा भोगोंका प्रलोभन देनेपर भी उद्दालकका उनकी ओर ध्यान न देना (प्रसग उपशम-प्रकरण सर्ग ५४) ६८२

रेखा-चित्र

१–वसिष्ठजीके द्वारा ज्ञानोपदेश ... १
२–अगस्तिद्वारा सुतीक्ष्ण ब्राह्मणसे मोक्षके कारणका प्रतिपादन १७
३-अग्निवेश्यका अपने उदास पुत्र कारुण्यको समझाना १८
४–वाल्मीकिके आश्रमपर देवदूतके साथ राजा अरिष्टनेमिका जाना और उनसे संसार-बन्धनके दुःखकी पीड़ासे छूटनेका उपाय पूछना ... २०
५–मेरुपर्वतपर भरद्वाजका लोक-पितामह ब्रह्मासे वर-याचना २१
६–राजा दशरथसे श्रीरामद्वारा तीर्थयात्राके लिये आज्ञा माँगना २४
७–तीर्थयात्रासे लौटे हुए श्रीरामका राजसभामें आना २५
८–श्रीरामकी खिन्नताके सम्बन्धमें राजा दशरथका श्रीवसिष्ठसे प्रश्न ... २६
९–मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रका राजा दशरथद्वारा ड्योढीपर स्वागत २७
१०–विश्वामित्रका रोष ३०
११–विश्वामित्रको वसिष्ठका समझाना ... ३१
१२–श्रीरामके सेवकका राजसभामें आना ... ३२
१३–श्रीरामका पिता दशरथके चरणमें प्रणाम करना ३४
१४–श्रीरामका अपने भाइयोंसहित पृथ्वीपर आसन ग्रहण करना ३४
१५–शरीरकी बाल्य, युवा और वृद्धावस्था ... ५६
१६–विश्वामित्रका श्रीरामको तत्त्वज्ञान-सम्पन्न बताते हुए उनके सामने शुकदेवजीका वृत्तान्त उपस्थित करना ... ६५
१७–मेरुगिरिपर एकान्तमें बैठे शुकदेवको आत्मज्ञानी व्यासद्वारा उपदेश ... ६६
१८–राजा जनकके अन्तःपुरमें शुकदेवका युवतियोंके द्वारा सत्कार ६६
१९–विश्वामित्रजीका वसिष्ठजीसे श्रीरामको उपदेश देनेका अनुरोध ... ६८
२०–अपने पिता ब्रह्माजीसे उत्पन्न होते ही वसिष्ठजीका अभिशप्त होना ... ७८
२१–ब्रह्माजीकी सनकादिको और नारदको भारतवर्षमें जाकर वहाँके निवासियोंका उद्धार करनेकी प्रेरणा ७९
२२–वसिष्ठजीके द्वारा राजा पद्म और उनकी

पत्नी लीलाका उपाख्यान-कथन ... ११५
२३–रानी लीलाद्वारा विद्वान्, ज्ञानी और तपस्वी ब्राह्मणोंकी पूजाके पश्चात् उनसे अमरत्व-प्राप्तिका साधन पूछा जाना ... ११६
२४–लीलाद्वारा सरस्वती देवीकी आराधना ... ११७
२५–अन्तःपुरमें मृतपतिके शवके सम्मुख वियोग-विह्वल रानी लीला ११८
२६–सरस्वतीका आकाशवाणीके रूपमें पतिके शवको फूलसे ढकनेका लीलाको आदेश देना ११८
२७–आधी रातके समय लीलाके आवाहनपर सरस्वतीका प्रकट होकर उसे दर्शन देना ... ११९
२८–निर्विकल्प समाधिद्वारा रानी लीलाका राज प्रासादके आकाशमें सिंहासनासीन राजा पद्मका देखा जाना ११९
२९–आकाशस्वरूपा लीलाद्वारा समाधि-अवस्थामें आकाशरूपिणी राजसभामें पतिके वासनामय स्वरूप और राजवैभवका दर्शन ... १२०
३०–लीलाका सरस्वतीसे कृत्रिम और अकृत्रिम सृष्टिके विषयमें पूछना और सरस्वतीद्वारा एक ब्राह्मण-दम्पतिके जीवन-वृत्तान्तका निरूपण ... १२१
३१–वसिष्ठनाम-धारी ब्राह्मणका पर्वतशिखरपर बैठकर एक राजाको सपरिवार शिकार खेलनेकी इच्छासे जाते देखकर विचारमग्न होना १२३
३२–वसिष्ठ नामधारी ब्राह्मणकी पत्नी अरुन्धती-की सरस्वती-आराधना और पतिके अमरत्व-सम्बन्धी वरकी प्राप्ति १२३
३३–वसिष्ठनामधारी ब्राह्मणकी त्रिलोकविजयी नरेश-पदकी प्राप्ति १२४
३४–रानी लीला और सरस्वतीका संवाद ... १२४
३५–सत्यकाम और सत्यसंकल्पसे युक्त लीला और सरस्वती देवीका ज्येष्ठशर्मा आदिको साधारण स्त्रीके रूपमें दर्शन १३२
३६–लीला और सरस्वतीका आकाशमें भ्रमण ... १३३
३७–लीलाका सरस्वतीसे अपने पूर्वजन्मके वृत्तान्तका निरूपण १३४
३८–लीलाका गृहमण्डपमें प्रवेश कर सरस्वतीके साथ आकाशमें उड़ जाना १३५
३९–जम्बूद्वीपमें भारतवर्षमें अपने पतिके राज्यमें लीलाका सरस्वतीके साथ आक्रमणकारी राजा-द्वारा उपस्थित किया गया संग्राम-दृश्य देखना १३८
४०–लीला और सरस्वतीका आकाशमें विमानपर स्थित होकर युद्धका अवलोकन करना ... १३९
४१–युद्धका बंद होना १४४
४२–राजा विदूरथके शयनागारमें गवाक्षरन्ध्रसे लीला और सरस्वतीका प्रवेश १४४
४३–राजा पद्मके भवनमें सरस्वती और लीलाका प्रवेश और राजाद्वारा उनका पूजन ... १४६
४४–राजा पद्मका सरस्वतीसे अपने जीवनके अनेक वृत्तान्तोंके स्मरणका कारण पूछना ... १४७
४५–राजा विदूरथद्वारा युद्धकी प्रलयाग्निमें भग्न नगरमें ग्रस्त प्राणियोंका करुणक्रन्दन श्रवण ... १५१
४६–लीला और सरस्वतीसे आदेश लेकर राजा विदूरथका युद्धके लिये प्रस्थान ... १५१
४७–द्वितीय लीलाकी सरस्वती देवीसे वर याचना ... १५३
४८–युद्धस्थलमें पराजित राजा विदूरथके गलेपर राजा सिन्धुका अस्त्रप्रहार और विदूरथका रथसहित राजप्रासादमें प्रवेश १५८
४९–लीलाका अपने वासनामय शरीरसे पति पद्मसे मिलनेके लिये आकाशमार्गसे ऊपर जाना और मार्गमें सरस्वतीद्वारा प्रेषित अपनी कन्यासे मिलना १६१
५०–लीलाका अपने मृतपति पद्मका मुख देखना और अपनी प्रतिभाके प्रभावसे इस सत्यको समझना कि संग्राममें राजा सिन्धुद्वारा मारे गये ये मेरे पति ही हैं १६२
५१–संकल्परूपिणी देवियाँ लीला और सरस्वतीका जीवात्माके साथ राजा पद्मके नगरमें प्रवेश ... १६८
५२–लीला और सरस्वतीद्वारा शवमण्डपमें राजा विदूरथकी शवशय्याके पार्श्वभागमें स्थित लीलाका देखा जाना जो पहले मृत्युको प्राप्त हो चुकी थी और पहले ही वहाँ आ गयी थी .. १६९
५३–राजा पद्मकी सरस्वतीसे अभीष्ट वरकी प्राप्ति ... १७३
५४–वाल्मीकि और भरद्वाज २४९
५५–राजा दशरथका मुनिसमुदायका सत्कारकर उनसे विदा लेना २५०

५६—वसिष्ठजीद्वारा पञ्चमहायज्ञ-अनुष्ठानका सम्पादन २५०
५७—श्रीराम, राजा दशरथ तथा वसिष्ठ आदिके द्वारा ब्राह्मणोंको गौ, भूमि, तिल, सुवर्ण, शय्या, आसन, वस्त्र और बर्तन आदिका दान ... २५१
५८—श्रीरामद्वारा विष्णु, शंकर, अग्नि और सूर्य आदि देवताओंका पूजन २५१
५९—वसिष्ठजीको उनके निवासस्थानपर अपना कन्धा झुकाकर श्रीरामका प्रणाम करना ... २५१
६०—विश्वामित्र तथा अन्य मुनियोंके साथ रथपर आरूढ़ होकर वसिष्ठजीका राजा दशरथकी सभामें प्रवेश २५२
६१—राजा जनकका अपने ऊँचे महलपर चढकर एकान्तमें स्थित होकर संसारकी नश्वरता और आत्माके विवेक-विज्ञानको सूचित करनेवाले अनेक आन्तरिक उद्गार और निश्चय प्रकट करना २५७
६२—राजा जनकद्वारा संसारकी विचित्र स्थितिपर विचार २६०
६३—राजा जनककी जीवन्मुक्तरूपसे स्थिति ... २६१
६४—दीर्घतपा मुनिका अपनी स्त्री तथा दोनों पुत्र पुण्य और पावनके साथ अपने गङ्गातटीय आश्रममें निवास २६९
६५—दीर्घतपाका शरीर-त्याग २६९
६६—माता-पिताका और्ध्वदेहिक कर्म समाप्तकर पुण्यका अपने शोकाकुल बन्धु पावनके पास आगमन ... २७०
६७—पुण्यके समझानेपर पावनको उत्कृष्ट बोधकी प्राप्ति और दोनोंका वन-प्रदेशमें विचरण ... २७१
६८—दैत्यराज बलि २७३
६९—राजा बलिके अन्तःकरणमें वैराग्य एवं विचार-का उदय २७३
७०—विरोचनका बलिको भोगोंसे वैराग्य तथा विचारपूर्वक परमात्मसाक्षात्कारके लिये उपदेश २७४
७१—शुक्राचार्यका ग्रहसमुदायसे भरे आकाश-मार्गसे देवलोकके लिये प्रस्थान २७८
७२—दैत्यराज बलिका समाधिस्थ होना ... २७९
७३—समाधिमें मग्न दैत्यराज बलिके दर्शनके लिये असुरों आदिका आगमन २७९
७४—शुक्राचार्यद्वारा बलिके समाधि-अवस्थासे न उठनेतककी अवधिमें कार्य करनेका दानवोंको आदेश २८०
७५—मनुष्य, नागराज, ग्रह, देववृन्द, पर्वत और दिक्पाल तथा वन-जीवोंका यथास्थान गमन ... २८०
७६—समाधिसे जगनेपर दैत्यराज बलिका अश्वमेध-अनुष्ठान २८१
७७—श्रीहरिद्वारा पैरोंसे त्रिलोकको नापना और बलिको वैभव-भोगसे वञ्चित करना ... २८२
७८—प्रह्लादद्वारा भगवान् विष्णुकी मानसिक एवं बाह्यपूजा २८५
७९—इन्द्र आदि देवता और मरुद्गणोंका क्षीर-सागरमें शेषनागकी शय्यापर विराजमान भगवान् श्रीहरिके पास गमन ... २८६
८०—प्रह्लादद्वारा पूजागृहमें प्रत्यक्ष विराजमान भगवान् श्रीहरिका स्तवन २८७
८१—प्रह्लादका आत्मचिन्तन २८९
८२—पातालमें आत्मचिन्तनलीन प्रह्लादको समाधिसे जगानेका प्रयत्न २९३
८३—उद्दालक मुनिका परमार्थ-चिन्तन ... ३०१
८४—उद्दालक मुनिका गन्धमादन पर्वतकी रमणीय गुहामें प्रविष्ट होकर निर्विकल्प समाधिमें स्थित होनेका प्रयत्न ३०२
८५—महर्षि माण्डव्यका किरातराज सुरघुके महलमें पधारना ३११
८६—सुरघुद्वारा परमपदकी प्राप्ति ३१४
८७—किरातराज सुरघु और राजर्षि पर्णादका संवाद ३१५
८८—पिताओंकी और्ध्वदेहिक क्रियाकी समाप्तिके पश्चात् भास और विलासका विलाप ... ३२१
८९—वृद्धावस्थाको प्राप्त भास और विलासकी परस्पर भेंट ३२२
९०—वीतहव्य मुनिका एकाग्रताकी सिद्धिके लिये इन्द्रिय और मनको बोधित करना ... ३४५
९१—वीतहव्य महामुनिकी समाधि ... ३४८
९२—महामुनि वीतहव्यकी ॐकारकी अन्तिम मात्राका अवलम्बनकर परमात्मप्राप्तिरूप मुक्ता-वस्थाका निरूपण ३५१
९३—देवराजकी सभामें मुनिवर शातातपद्वारा

वायसराज भुशुण्डकी कथाका वृत्तान्त-वर्णन ... ३७६
९४–वसिष्ठजीका भुशुण्डके निवास-स्थान मेरुगिरिपर जाना ३७७
९५–वसिष्ठजी और भुशुण्डका संवाद—कुल-आयु आदिके सम्बन्धमें ३७८
९६–वसिष्ठजीके सम्मुख भुशुण्डद्वारा महादेवजीके रूप और मातृकाओंका वर्णन ... ३७९
९७–मातृकाओंके महोत्सवमें ब्राह्मी देवीके रथमें जुतनेवाली हंसियों और अम्बुसादेवीके वाहन चण्ड नामक कौएका नृत्य ३८०
९८–समाधिसे विरत होनेपर ब्राह्मीदेवीकी अपनी माता हंसियोंके साथ भुशुण्ड आदिद्वारा आराधना ३८०
९९–वसिष्ठजीसे भुशुण्डका मेरुपर्वतपर कल्पवृक्षकी शाखामें स्थित अपने घोसलेका वर्णन करना ... ३८१
१००–भुशुण्डद्वारा वसिष्ठका पूजन और आकाश-मार्गसे गमन ... ३९१
१०१–कैलास पर्वतपर गङ्गातटस्थ आश्रममें तप करते हुए वसिष्ठजीको पार्वतीजीसहित भगवान् महादेवजीका दर्शन ३९६
१०२–वसिष्ठजीद्वारा भगवान् नीलकण्ठ शंकरको पुष्पाञ्जलि-समर्पण ४०९
१०३–वेताल और राजाका संवाद ... ४२१
१०४–अपने गुरु त्रितलके साथ राजा भगीरथकी बातचीत ४३४
१०५–राजा भगीरथका सर्वस्व-त्याग ४३५
१०६–राजा भगीरथका अपने ही नगरमें भिक्षाटन ... ४३६
१०७–राजा भगीरथका अन्य देशमें विद्यमान उत्तम नगरमें राज्याभिषेक ४३६
१०८–भूतलपर गङ्गाजीको लानेके लिये राजा भगीरथकी तपस्या ४३७
१०९–राजा शिखिध्वज और चूडालाका विवाह ... ४३८
११०–राजा शिखिध्वजद्वारा चूडालाके रूप-सौन्दर्य-की प्रशंसा ४४१
१११–चूडालाकी खिन्नता ४४२
११२–चूडालाका एकान्तमें योगाभ्यास ... ४४३
११३–चूडालाकी योगसिद्धि ४४८
११४–विन्ध्याचलके जंगली प्रदेशमें एक कौड़ीकी तीन दिनोंतक खोज करनेवाले किराटको चिन्तामणिकी प्राप्ति ४४९
११५–राजा शिखिध्वजकी बढ़ती वैराग्य-वृत्ति ... ४५०
११६–राजा शिखिध्वजका चूडालासे अपने वैराग्य-कथन ४५१
११७–राजा शिखिध्वजका गृह-त्याग ४५२
११८–चूडालाका आकाश-मार्गसे उड़कर अपने पतिका अन्वेषण ४५४
११९–ब्राह्मणकुमारके रूपमें चूडालाका शिखिध्वजद्वारा पूजन-सत्कार ४५५
१२०–राजा शिखिध्वजकी देवपुत्रके वेषमें चूडालासे बातचीत ४५७
१२१–कुम्भ (चूडाला) की बात सुनकर सर्वस्व-त्यागके लिये उद्यत शिखिध्वज ... ४६५
१२२–कुम्भ (चूडाला) के अन्तर्हित हो जानेपर राजा शिखिध्वजका विचार ४७७
१२३–कुम्भके वेषमें चूडालाका वनस्थलीमें उतरकर निर्विकल्प समाधिमें स्थित राजा शिखिध्वजको देखना ४७८
१२४–राजा शिखिध्वजद्वारा कुम्भको पुष्पाञ्जलि-समर्पण ४७९
१२५–महेन्द्रपर्वतपर अग्निके साक्ष्यमें मदनिका (चूडाला) और शिखिध्वजका विवाह ... ४८४
१२६–चूडालाद्वारा शिखिध्वजकी परीक्षाके हेतु अपनी मायाके बलसे वनस्थलीमें देवगणों और अप्सराओंके साथ पधारे हुए इन्द्रको उन्हें दिखलाना और राजा शिखिध्वजद्वारा देवराजकी विधिवत् पूजा ४८४
१२७–चूडालाका मदनिका वेषमेंने ही अपने असली रूपमें प्राकट्य और राजा शिखिध्वजका आश्चर्यचकित होना ४८७
१२८–अपनी पत्नी चूडालाको देखकर राजा शिखिध्वजका प्रसन्न होना ४८८
१२९–चूडालासहित शिखिध्वजका अपने नगरमें प्रवेश और स्वागत ४९१
१३०–कचका अपने पिता बृहस्पतिसे जीवन्मुक्तिके विषयमें प्रश्न करना ४९३
१३१–वसिष्ठजीद्वारा मूढबुद्धि आत्मज्ञानशून्य

चिरञ्जीव पुरुषके स्मरणके विषयमें भुशुण्डसे प्रश्न ५२०
१३२–विद्याधरकी भुशुण्डसे पावनपदविषयक उपदेश देनेकी प्रार्थना ५२०
१३३–भुशुण्डके उपदेशसे विद्याधरकी समाधि ... ५२७
१३४–मरुभूमिके मार्गमें मिले हुए महर्षि वसिष्ठ और मक्किका समागम तथा संवाद ... ५३३
१३५–सुन्दरी स्त्रीद्वारा अपनी स्तुति सुनकर वसिष्ठजीका उस रमणीकी उपेक्षा करना ... ५७५
१३६–वसिष्ठजीके पूछनेपर विद्याधरीके द्वारा अपने जीवन-वृत्तान्तका वर्णन ५७९

'कल्याण'के पंद्रहवर्षीय ग्राहक भी बनाये जाते हैं

पंद्रहवर्षीय सदस्यता-शुल्क रु० ५००.०० (सजिल्द विशेषाङ्कका रु० ६००.००) है। इस योजनाके अन्तर्गत फर्म, प्रतिष्ठान आदि संस्थागत ग्राहक भी बन सकते हैं। भगवद्भावोंके प्रचार-प्रसारहेतु 'कल्याण'-प्रेमी सभी सज्जन स्वयं ग्राहक बनें एवं अपने इष्ट-मित्रोंको भी प्रोत्साहित कर अधिकाधिक संख्यामें ग्राहक बनाकर इस योजनासे लाभ उठायें।

—व्यवस्थापक-'कल्याण'

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिद पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादा

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च । यत्रैवोपशमं यान्ति
यत्सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति च स्फुटम् । श्रुत्वा ह्युदीर्यते स

वर्ष ३५ } गोरखपुर, सौर माघ २०१७, जनवरी १९६

महर्षि वसिष्ठजीको नमस्कार

ब्रह्मानन्द परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं श्रीवसिष्ठं नताः स्म ॥
—सुतीक्ष्ण (नि० प्र० उ० २१६ । २६)

भगवान्

आद्यन्तवर्जितवि
सम्पीडचि
स्वस्थो
लीलास्थि
—

योगवासिष्ठमें भगवान् श्रीरामके स्वरूप तथा माहात्म्यका प्रतिपादन

महर्षि वसिष्ठकी प्रेरणासे दशरथके दरबारमें समस्त ऋषि मुनियों-महानुभावोंको सम्बोधन करके महर्षि विश्वामित्र भगवान् श्रीरामके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

अत्रैव कुरु विश्वासमयं स पुरुषः परः।
विश्वार्थमथिताम्भोधिर्गम्भीरागमगोचरः ॥
परिपूर्णपरानन्दः समः श्रीवत्सलाञ्छनः।
सर्वेषां प्राणिनां रामः प्रदाता सुप्रसादितः ॥
अयं निहन्ति कुपितः सृजत्ययमसत्सकान्।
विश्वादिर्विश्वजनको धाता भर्ता महासखः ॥

(नि० प्र० पूर्वार्ध १२८। ८१–८३)

सज्जनो! आप सब लोग यह विश्वास कीजिये कि ये श्रीरामचन्द्रजी ही परम पुरुष परमात्मा हैं। इन्होंने ही विश्वहितके लिये विष्णुरूपसे क्षीरसागरका मन्थन किया था। गम्भीर रहस्यसे भरे उपनिषदादि शास्त्रोंके तत्त्वगोचर साक्षात् परब्रह्म ये ही हैं। परिपूर्ण परमानन्द, सम-स्वरूप, श्रीवत्सके चिह्नसे सुशोभित भगवान् श्रीरामचन्द्र जब भलीभाँति प्रसन्न हो जाते हैं, तब अपनी कृपासे सम्पूर्ण प्राणियोंको मोक्ष प्रदान कर देते हैं। यही भगवान् श्रीरामचन्द्रजी कुपित होकर रुद्ररूपसे जगत्का संहार करते हैं, यही ब्रह्मारूपसे इस विनाशी जगत्का सृजन करते हैं। यही विश्वके आदि, विश्वके उत्पादक, विश्वके धाता, पालनकर्ता और महान् सखा भी हैं।

अयं त्रयीमयो देवस्त्रैगुण्यगहनातिगः।
जयत्यङ्गैरयं षड्भिर्वेदात्मा पुरुषोऽद्भुतः ॥
अयं चतुर्बाहुरयं विश्वस्रष्टा चतुर्मुखः।
अयमेव महादेवः संहर्त्ता च त्रिलोचनः ॥
अजोऽयं जायते योगाज्जागरूकः सदा महान्।
बिभर्ति भगवानेतद्विरूपो विश्वरूपवान् ॥

(नि० प्र० पूर्वार्ध १२८। ८६–८८)

यही भगवान् श्रीराम ऋक्-यजु-सामवेदमय हैं, तीनों गुणोंसे अतीत अतिगहन यही हैं और छः अङ्गोंसे युक्त वेदात्मा अद्भुत पुरुष भी यही हैं। विश्वका पालन करनेवाले चतुर्भुज विष्णु यही हैं, विश्वके स्रष्टा चतुर्मुख ब्रह्मा यही हैं और समस्त विश्वका संहार करनेवाले त्रिलोचन भगवान् महादेव भी यही हैं। ये अजन्मा रहते हुए ही अपनी योगमाया—लीलासे अवतार लेते हैं, ये सर्वदा सबसे महान् हैं, ये सदा जागते रहते हैं, त्रिगुणात्मकरूपसे रहित हुए भी ये विश्वरूपवान् हैं। यही भगवान् इस विश्वको अपने सकल्पसे धारण करते हैं।

अयं दशरथो धन्यः सुतो यस्य परः पुमान्।
धन्यः स दशकण्ठोऽपि चिन्त्यश्चित्तेन योऽमुना ॥
राम इत्यवतीर्णोऽयमर्णवान्तःशयः पुमान्।
चिदानन्दघनो रामः परमात्मायमव्ययः ॥
निगृहीतेन्द्रियग्रामा रामं जानन्ति योगिनः।
वयं त्वबरमेवास्य रूपं रूपयितुं क्षमाः ॥

(निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्ध १२८। ९०, ९२, ९३)

ये महाराज दशरथ धन्य हैं, जिनके पुत्र परमपुरुष परमात्मा स्वयं हुए। यह दशकण्ठ रावण भी धन्य है, जिसका ये भगवान् अपने चित्तसे चिन्तन करेंगे। क्षीरसागरमें शयन करनेवाले श्रीविष्णु भगवान् ही श्रीरामचन्द्रके रूपमें अवतीर्ण हैं। ये श्रीराम साक्षात् सच्चिदानन्दघन अविनाशी परमात्मा हैं। मन इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त किये हुए योगीजन ही इन श्रीरामजीको यथार्थरूपमें जानते हैं। हमलोग तो इनके बाहरी स्वरूपके निरूपणकी ही क्षमता रखते हैं।

इसके पहले महर्षि विश्वामित्रजीने भगवान् श्रीरामकी भावी लीलाओंका वर्णन करते हुए समस्त ऋषि-मुनि, सिद्ध-देवताओंसे यहाँतक कह दिया था—

यैर्दृष्टो यैः स्मृतो वापि यैः श्रुतो बोधितस्तु यैः।
सर्वावस्थागतानां तु जीवन्मुक्तिं प्रदास्यति ॥

× × ×

अनेन रामचन्द्रेण पुरुषेण महात्मना।
नमोऽस्मै जितमेवैते कोऽप्येवं चिरमेधताम् ॥

(निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्ध १२८। ७४-७६)

जो लोग भगवान् श्रीरामका दर्शन करेंगे, उनके लीला-चरित्रका स्मरण या श्रवण करेंगे और जो लोग इनके स्वरूप तथा लीलाचरित्रोंका परस्पर बोध करायेंगे, उन सम्पूर्ण अवस्थाओंमें स्थित पुरुषोंको भगवान् श्रीराम जीवन्मुक्ति प्रदान करेंगे।

× × ×

सज्जनो! आप सब लोग इन भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार कीजिये। इनके नमस्कारसे ही आपलोग अनायास ही समस्त अज्ञानजनित जगत्पर विजय प्राप्त करेंगे। किसी भी दूसरे साधनकी आवश्यकता नहीं होगी। आपलोग चिरकालतक प्रगति करें!

कल्याण

याद रक्खो—मैं, तुम, यह, वह, सृष्टि, संहार आदि रूपसे जो दृश्यप्रपञ्च दिखायी दे रहा है, वह एकमात्र अद्वितीय नित्य निर्मल शान्त चिन्मय ब्रह्मकी ही अभिव्यक्ति है। इन समस्त सत्-रूपसे दीखनेवाले असत् पदार्थोंमें एकमात्र सत् परमात्मा ही प्रकट है। वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही यह सम्पूर्ण जगत् है। उसके अतिरिक्त जगत् नामकी कोई सत् वस्तु कभी न थी, न है।

याद रक्खो—आकाशकी शून्यता आकाश ही है, जलकी द्रवता जल ही है, प्रकाशकी आभा प्रकाश ही है, वायुका स्पन्दन वायु ही है, समुद्रकी तरङ्गें समुद्र ही हैं, बर्फकी शीतलता बर्फ ही है, काजलकी कालिमा काजल ही है—ठीक वैसे ही जैसे ब्रह्ममें दीखनेवाला यह समस्त जगत् भी ब्रह्म ही है।

याद रक्खो—जैसे स्वप्नमें दीखनेवाले दृश्य, बालकको दीखनेवाला बेताल, रज्जुमें दीखनेवाला सर्प, स्वर्णमें दीखनेवाले कड़े-बाजूबंद, प्रशान्त महासागरमें उठनेवाली तरङ्गें और आवर्त, मिट्टीमें दीखनेवाले घड़े-मिकोरे और आकाशमें दीखनेवाले नगर-घर आदि सब उपाधिमात्र हैं, भ्रममात्र हैं। वैसे ही ब्रह्ममें दीखनेवाला यह सम्पूर्ण जगत् भ्रममात्र है। वस्तुतः उसकी कोई भिन्न सत्ता है ही नहीं।

याद रक्खो—यह समस्त जगत् वस्तुतः भ्रान्तिसे ही जगद्रूप दीखता है। यथार्थ तत्त्वका ज्ञान होनेपर यह जगद्भ्रम वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे रस्सीका ज्ञान होनेपर सर्पकी भ्रान्ति नष्ट हो जाती है। अथवा आकार तथा नामकी व्यावहारिक विभिन्नता प्रतीत होते हुए भी जैसे स्वर्णका ज्ञान होनेपर स्वर्ण-भूषणोंके नाम-रूपके कारण होनेवाली विभिन्नता तथा भिन्नरूपता नष्ट हो जाती है—एकमात्र स्वर्ण ही दीखने लगता है, वैसे ही ब्रह्मका ज्ञान होनेपर विभिन्न नामरूपात्मक यह विशाल विश्व ब्रह्मरूप ही दीखने लगता है, कहीं भी कोई भिन्न सत्ता रहती ही नहीं। वास्तवमें तो सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।

याद रक्खो—यह समस्त दृश्य जगत् तथा इसमें होनेवाली सभी क्रियाएँ चिदानन्दघन ब्रह्मका ही सकल्प है। वह सकल्प भी ब्रह्म ही है। ब्रह्म जगत्का कारण नहीं है, क्योंकि जगत्रूपी कार्य सर्वथा असत् ही है। नित्य सत्य ब्रह्मसे अनित्य असत् जगत्की उत्पत्ति, नित्य निरतिशय दिव्य परमानन्दघन परमात्मासे दुःखपूर्ण जगत्की उत्पत्ति, प्रकाशमय परब्रह्मसे तमोमय जगत्की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं। अतएव ब्रह्म तथा जगत्में कारण-कार्यभाव नहीं है, ब्रह्म ही जगत्रूपमें भासित हो रहा है। उस चिदाकाशमें ही चिदाकाशसे यह सब खेल हो रहे हैं। उसके अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं।

याद रक्खो—जब एक ब्रह्मके अतिरिक्त कोई सत्ता ही नहीं रह जाती, तब भिन्न अहंकार कहाँ रहेगा और अहंकारका अभाव होते ही राग-द्वेष, ममता-मोह, मेरा-तेरा आदि सब मिथ्या विकार मिट जाते हैं जैसे स्वप्नसे जागते ही स्वप्नका सारा संसार सर्वथा मिट जाता है। फिर जगत्में रहता हुआ भी इस ज्ञानको प्राप्त जीवन्मुक्त पुरुष नित्य निरन्तर ब्रह्ममें ही स्थित रहता है। वह जगत्के आदि, मध्य, अन्त सभी अवस्थाओंमें समचित्त रहता है; क्योंकि तब उसका चित्त ही नहीं रह जाता। अतएव वह न तो प्राप्त हुई प्रिय कहलानेवाली वस्तुका अभिनन्दन करता है, न अप्रियसे द्वेष करता है, न नष्ट हुई प्रिय वस्तुके लिये शोक करता है और न अप्राप्त वस्तुकी इच्छा ही करता है।

याद रक्खो—ऐसा परमतत्त्वको प्राप्त—परमात्मामें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष जगत्की क्षणभंगुर अवस्थाको अपनी प्रशान्त ब्राह्मी स्थितिके अंदर हँसता हुआ देखता है। उसके लिये न कुछ पाना शेष रह जाता है, न कुछ करना रह जाता है। वह सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मस्वरूप ही बन जाता है यही योगवासिष्ठकी शिक्षा है।

'शिव'

एकश्लोकी योगवासिष्ठ

(लेखक—तत्त्वचिन्तक स्वामीजी श्रीअनिरुद्धाचार्यजी वेंकटाचार्यजी महाराज)

एक बार भगवान् रामने महर्षि वसिष्ठसे पूछा कि सार्थक एवं सफल जीवनवाले मानवकी पहचान क्या है ? इसके उत्तरमें रघुकुलगुरु ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मर्षि वसिष्ठने जो अल्पाक्षरा किंतु अर्थबहुला, एकश्लोकी वाणी, जिसमें 'बीजे वृक्षमिव' सारा 'योगवासिष्ठ' भरा हुआ है, समुच्चारित की थी, वह सचमुच गागरमें सागरकी तरह योगवासिष्ठका समग्र उपादेय तत्त्व निचोड़कर एक श्लोकमें भर देती है। महर्षि-प्रवरकी अर्थ-भारवती वह वाणी इस प्रकार है—

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः।
स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति॥

(योगवासिष्ठ)

महर्षि वसिष्ठका अनुभूत कथन है कि जीवनतत्त्व, (प्राणशक्ति) जिसे 'वैशेषिकदर्शन' ने 'सञ्ज्ञाकर्म त्वसद्-विशिष्टाना लिङ्गम्' इस सूत्रद्वारा 'अध्यात्म वायु' और सांख्यने 'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च' कहकर 'अन्तः-करण-क्रिया' की सञ्ज्ञा दी है, मानव, पशु-पक्षी आदि सबमें साधारणतया समान है। किंतु मनुष्यको मृगादि पशु-पक्षियोंसे विभक्तकर उच्चश्रेणीमें समासीन करनेवाली मनन-शक्ति ही है, जिसके विकसित होनेपर ही प्राणी 'मानव' कहला सकता है। महर्षि यास्कने भी निरुक्तमें 'मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति इति मनुष्यः' कहकर वासिष्ठी उक्तिका समर्थन किया है।

वेदके मतमें जीवनका अर्थ है—प्राण। यह प्राणिमात्रमें सामान्य है। केवल इसीका विकास जबतक मानवमें है, तबतक मानव जन्तु ही है। संस्कृत भाषाने 'मानव और माणव' के भेदको व्यक्त करते हुए कहा है कि केवल प्राण-शक्तिका विकास-स्थल 'माणव' (जन्तु-विशेष) और प्राणशक्ति तथा मनन-शक्ति दोनोंका विकासकेन्द्र मानव है। मानवको द्विपादी जन्तुविशेषकी हीन कक्षासे निकालकर मानवताकी उच्चश्रेणीमें पहुँचानेवाली तो मननशक्ति ही है। वेदने भी मननशक्तिको ही 'मानवता' माना है। अतः 'योगवासिष्ठ' के मतसे मानवता-पालनपूर्वक जीवन-यापन करनेवाला ही मानव है। इसी विशिष्ट उपदेशको आत्मसात् करानेके उच्च उद्देश्यसे समग्र 'योगवासिष्ठ' प्रवृत्त हुआ है। प्रस्तुत विशिष्ट उपदेशको विश्वहितके लिये प्रसारित करनेके कारण ही ग्रन्थका नाम 'वासिष्ठ' रखा गया है। वैदिक भाषामें विशिष्टका बोधक वसिष्ठ शब्द है।

वासिष्ठ-बोध-सार

जग कहते हो जिसे जगमग ब्रह्म ही है,
जन्मका जगत्के न कारण है क्रम है।
चित्से अचित्के विकासकी हो आस किसे,
होता कहीं प्रकट प्रकाशसे भी तम है ?
कैसे बना, किसने बनाया, किससे है बना—
यह सब जाननेका व्यर्थ सभी श्रम है।
मिथ्या कल्पनाका एक नूतन निकेतन है,
चेतन आकाशमें अचेतनका भ्रम है॥

—प्राण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम'

योगवासिष्ठकी श्रेष्ठता और समीचीनता

(लेखक—प० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

योगवासिष्ठके अध्येता तथा मननकर्ताओंसे यह बात छिपी नहीं है कि यह ग्रन्थ भारत ही नहीं, विश्वसाहित्यमें ज्ञानात्मक, सूक्ष्मविचार-तत्त्वनिरूपक तथा श्रेष्ठ सदुक्तिपूर्ण ग्रन्थोंमें सर्व-श्रेष्ठ है। यह महारामायण, वासिष्ठरामायण आदि नामोंसे भी विख्यात है। स्वयं भगवान् वसिष्ठने ही कहा है कि 'ससार-सर्पके विषसे विकल तथा विषयविभूचिकासे पीड़ित मृतप्राय प्राणियोंके लिये योगवासिष्ठ परम पवित्र अमोघ गारुड़-मन्त्र है। इसे सुन लेनेपर जीवन्मुक्ति सुखका अनुभव होता है।'* स्वामी रामतीर्थ कहा करते थे कि 'योगवासिष्ठ मेरे लिये सर्वाधिक आश्चर्य एवं चमत्कारपूर्ण ग्रन्थ है।'† डा० भगवानदासने 'मिस्टिक एक्सपिरियन्सेज' पुस्तककी प्रस्तावनामें लिखा है 'योगवासिष्ठ सिद्धावस्थाका ग्रन्थ है। इसके विचार, दर्शन, रहस्य, निरूपण-प्रणाली, भाषा, अलंकार—सब एक-से-एक आश्चर्यकर हैं।' लाला बैजनाथजीने इसके हिंदी-भाषान्तरकी भूमिकामें लिखा था कि 'वेदान्त-ग्रन्थोंमें योगवासिष्ठकी कोटिका कोई भी ग्रन्थ नहीं है' (भाग २ की भूमिका)। पिछले दिनों स्वामी भूमानन्दजी (जगद्गुरु आश्रम चटगाँव, बंगाल) डा० भीखनलालजी आत्रेय, श्रीक्षितीशचन्द्रजी चक्रवर्ती आदि महान् विद्वानोंने इसकी बड़ी प्रशंसा की तथा इसपर पर्याप्त मनन-अनुसंधान कर स्वतन्त्र पुस्तकें लिखी हैं।

तथापि आजके जगत्में कुछ ऐसे मतवादी भी हैं, जिनकी योगवासिष्ठके विरुद्ध स्वाभाविक उपेक्षा है। वे लोग कहते हैं कि योगवासिष्ठ १७ वीं शतीकी रचना है। कई लोगोंका मत है कि यह स्वामी विद्यारण्यजीकी कृति है। कुछ भावुक वैष्णवोंका कथन है कि इसमें श्रीरामचन्द्रको शोकविकल दिखलाया गया है, शिष्यरूपमें दिखलाया गया है, इसमें भक्तिकी महिमा नहीं है अतः सर्वथा उपेक्षणीय है। जे० एन० फर्क्यूहरका मत था कि 'योगवासिष्ठ ईसाकी १३वीं तथा १४वीं शतीके बीचमें लिखा गया था।'(Religious Lectures of India pp 228)प्रोफेसर शिवप्रसाद भट्टाचार्यका मत है कि यह १० से १२ वीं शतीके मध्यकी कृति है (The Proceedings of the Madras Oriental Conference P 545)। जर्मन विद्वान् डा० विंटर्नीजके मतानुसार 'यह शंकराचार्यके अनुयायियोंकी कृति है और ७से ८ शतीतककी रचना है‡।' डा० भीखनलाल आत्रेय इसे ईसाकी ६ ठी शतीकी रचना मानते हैं। उनका कथन है कि भर्तृहरिके वाक्पदीयमें तथा योगवासिष्ठमें कुछ समान पद हैं। इनमें योगवासिष्ठ ही पुराना हो सकता है। अतः योगवासिष्ठ कालिदासके बाद और भर्तृहरिके पहलेकी रचना है, इसलिये लगभग ६ ठी शतीमें ही इसको रखना युक्तिसंगत होगा।§

शङ्काओंका समुचित समाधान

वस्तुतः ये सब शङ्काएँ आलस्य (योगवासिष्ठको तथा अन्य ग्रन्थोंको देखनेका कष्ट न करने) प्रमाद, मानसिक मतभेद तथा पाश्चात्योंके प्रभावके कारण ही हैं। ये सब कथन एक प्रकारसे अयुक्तिपूर्णमात्र भी हैं। जो लोग कहते हैं कि योग-वासिष्ठ १७वीं शतीकी रचना है, उन्हें देखना चाहिये कि १७वीं शतीके आस-पासकी आनन्दबोधेन्द्र सरस्वतीकी वासिष्ठरामायण-तात्पर्य-प्रकाश नामकी टीका है[1]। इसीके आसपासकी अन्व-यारण्य, आत्मसुख, आनन्दवर्धन, गङ्गाधरेन्द्र, माधव-सरस्वती तथा सदानन्द यतिकी टीकाएँ हैं। १६ वीं शतीके आचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वतीने अपने ग्रन्थ सिद्धान्तबिन्दु, अद्वैतरत्न-

---

* (क) दुस्तरो राम संसारविषावेशविषूचिका।
योगगारुडमन्त्रेण पावनेन प्रशाम्यति॥
(२। १२। १०)

(ख) जीवन्मुक्तत्वमस्मिंस्तु श्रुते समनुभूयते।
स्वयमेव यथा पीते नीरोगत्व वरौषधे॥
(३। ८। २५)

† One of the greatest books and the most wonderful according to me ever written under the sun is 'Yoga Vasistha'
(In the Woods of God-Realisation, Delhi edition, Vol. III, p 295)

‡ As Shankara does not mention the work, it is probably written by one of his contemporaries. (Geschichte der Indiochen Literature- Vol. III, pp 44'

§ Hence we may place it after Kalidas and before Bhartrihari, is somewhere in the 6 th century A D. (Vasistha Darshanam, the Probable Date of Composition of Yoga Vasistha, p 18)

१. ऋतुरसतुरगमही(१७६६)शकविकारिशुभवत्सरस्य शिशिरतौ,
(तात्पर्यप्रकाशोपसंहार)

२. यह टीका १४ वीं शतीकी होनी चाहिये; क्योंकि इनकी 'रामार्चनचन्द्रिका'का उल्लेख 'निर्णयसिन्धु'आदिमें बार-बार हुआ है।

रक्षण, वेदान्तकल्पलतिका, संक्षेपशारीरक-व्याख्या तथा गीताकी 'गूढार्थदीपिका' व्याख्यामें—प्रायः सर्वत्र योगवासिष्ठके हजारों वचन उद्धृत किये हैं। केवल गीताके ६। ३२ तथा ३६ वें श्लोकोंकी व्याख्यामें ही इन्होंने योगवासिष्ठके पचासों श्लोकोंको उद्धृत किया है[3]। इनसे भी पूर्व चौदहवीं शताब्दीके सर्वोपरि विद्वान् वेदान्ताचार्य श्रीविद्यारण्य स्वामीने अपने 'जीवन्मुक्ति-विवेक' तथा 'पञ्चदशी' ग्रन्थोंमें योगवासिष्ठके श्लोकोंको बड़े आदरसे बार-बार उद्धृत किया है[4]। इनके गुरु श्रीशंकरानन्द भी 'ऋषिभिर्बहुधा गीतम्' (गीता १३।४) की व्याख्यामें लिखते हैं—'वासिष्ठविष्णुपुराणादिषु ऋषिभिर्वसिष्ठ-पराशरादिभिर्बहुप्रकारं प्रतिपादितम्'। यहाँ वसिष्ठनिर्मित 'योगवासिष्ठ' का सुस्पष्ट उल्लेख है। इनसे भी बहुत पहलेके १२ वीं शतीके विद्वान् श्रीश्रीधर स्वामीने अपनी सुबोधिनी नामक गीता-व्याख्यामें योगवासिष्ठके श्लोकोंको कई बार उद्धृत किया है[6]। इससे भी पूर्व गौड़ अभिनन्द नामक काश्मीरी विद्वान्ने जिसका समय ९वीं शतीका मध्यकाल माना जाता है, 'योगवासिष्ठसार' नामका ग्रन्थ लिखा था। इसमें उसने प्रायः ६ सहस्र श्लोकोंमें ही द्वात्रिंशत्सहस्रात्मक (३२००० वाले) योगवासिष्ठ ग्रन्थके सारभूत श्लोकोंका संग्रह किया है। इससे सिद्ध है कि योगवासिष्ठ इससे भी बहुत पहलेका ग्रन्थ है।

श्रीशंकराचार्य और योगवासिष्ठ

जो लोग कहते हैं कि शंकराचार्यके अनुयायियोंमेंसे ही किसी एकने 'योगवासिष्ठ' बना दिया, वह भी केवल उनका अविचारित निर्णयमात्र है। जिस प्रकार शंकरानन्द, नीलकण्ठ, श्रीधरस्वामी, मधुसूदन सरस्वती आदिने गीताके १३।४ श्लोकके 'ऋषिभिर्बहुधा गीतम्' की व्याख्यामें 'वसिष्ठादिभिः प्रतिपादितम्' लिखा है, उसी प्रकार शंकराचार्य भी लिखते हैं—ऋषिभिर्वसिष्ठादिभिर्बहुधा बहुप्रकारं गीतं कथितम्। मधुसूदन सरस्वती तथा भाष्योत्कर्षदीपिकाकारने इन्हीं शब्दोंकी व्याख्या करते हुए लिखा है—'वसिष्ठाभिधे योगशास्त्रे'

इतना ही नहीं, 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' (१।८) के भाष्यमें वे सुस्पष्ट शब्दोंमें लिखते हैं—

तथा च वासिष्ठे योगशास्त्रे प्रश्नपूर्वकं दर्शितम्—
यथाऽऽत्मा निर्गुणः शुद्धः सदानन्दोऽजरोऽमरः॥
संसृतिः कस्य तात स्यान्मोक्षो वा विद्यया विभो।

और लगातार दो श्लोकोंमें प्रश्न करके पुनः 'वसिष्ठः' लिखकर 'तस्यैव नित्यशुद्धस्य सदानन्दमयात्मनः' आदि योगवासिष्ठके दो श्लोकोंको उत्तररूपमें लिखते हैं। इसी प्रकार वे 'मनत्सुजातीयभाष्य' (१।१५) में भी लिखते हैं—तथा चाह भगवान् वसिष्ठः—

---

३. (क) अत एवाह वसिष्ठ—'द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञान च राघव।' (६।२३। पर मधुसूदनी)

(ख) वासिष्ठरामायणादिषु तदेव तत्त्वज्ञान मनोनाशो वासना-क्षयश्चेति त्रयमभ्यसनीयम्। तदुक्त वाशिष्ठे—

तच्चिन्तन तत्कथनमन्योन्य तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्व च ब्रह्माभ्यास विदुर्बुधा.॥

(गीता ६।३२ पर मधुसूदन)

४. परास्य शक्तिर्विविधा क्रियाज्ञानफलात्मिका।

(क) इति वेदवच. प्राह वसिष्ठश्च तथाब्रवीत्।

सर्वशक्तिपर ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्वयम्॥
ययोल्लसति शक्तयासौ प्रकाशमधिगच्छति।
चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम शरीरेष्वपलभ्यते॥
स आत्मा सर्वगो राम नित्योदितवपुर्महान्।
यन्मनाङ् मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते॥

इत्यादि (पञ्चदशी १३।१४से२८वें श्लोकतक सब योगवासिष्ठके ही श्लोक हैं)

'वसिष्ठश्च तथाब्रवीत्' की व्याख्यामें रामकृष्णपण्डित लिखते हैं—'वासिष्ठाभिधे ग्रन्थे।'

(ख) वसिष्ठः—अतएव हि राम त्व श्रेय प्राप्नोषि शाश्वतम्।
स्वप्रयत्नोपनीतेन पौरुषेणैव नान्यथा॥

(जीवन्मुक्तिविवेक पृष्ठ ३५)

यह श्लोक योगवासिष्ठ, मुमुक्षु-व्यवहारप्रकरणका है।

सच्ची बात तो यह है कि 'जीवन्मुक्तिविवेक' योगवासिष्ठपर ही आधारित है। इसमें योगवासिष्ठको वाल्मीकिलिखित भी बतलाया है—"वासनामेदो वाल्मीकिना दर्शितः वासिष्ठे—वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा' इत्यादि" ये सब योगवासिष्ठके ही श्लोक हैं। इसमें प्रायः आधे ग्रन्थमें योगवासिष्ठके श्लोक ही हैं।

५. नमः श्रीशंकरानन्दगुरुपादाम्बुजन्मने। (पञ्चदशी १।१)

६. (क) तदुक्त वसिष्ठेन—

प्राणे गते यथा देह सुखदुःखे न विन्दति।
तथा चेत् प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत्॥

(५।२३ गीता-व्याख्या)

(ख) वसिष्ठेन चोक्तम्—'न कर्माणि त्यजेद् योगी कर्म-भिस्त्यज्यते ह्यसौ।' (गीता १८।२ की व्याख्या)

(ग) ऋषिभिर्वसिष्ठादिभिर्योगशास्त्रेषु निरूपितम्'

(गीता १३।४ की व्याख्या)

चतुर्वेदोऽपि यो विप्रः सूक्ष्मं ब्रह्म न विन्दति।
वेदभारभराक्रान्तः स वै ब्राह्मणगर्दभः॥

वे पुनः इसी ग्रन्थके इसी अध्यायके ३१ वें श्लोकके भाष्यमें लिखते हैं—तथा चाह भगवान् वसिष्ठः—

यत्र सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः॥

यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये ग्रन्थ शंकराचार्यकृत नहीं हैं, क्योंकि 'शंकरदिग्विजयकार' ने भी लिखा है—सनत्सुजातीयमसत्सु दूरं ततो नृसिंहस्य च तापनीयम्।

स्वामी भूमानन्दजीने Influence of the Yoga-vasistha on Shankaracharya नामकी पुस्तिकामें तुलनात्मक अध्ययनद्वारा यह भी दिखलाया है कि शंकराचार्यकी विवेकचूडामणि, सारतत्त्वोपदेश, लघुवाक्यवृत्ति, प्रबोधानुभूति, प्रबोधसुधाकर आदि वृत्तियोंपर योगवासिष्ठके किन-किन श्लोकोंकी छाप या प्रभाव है। उदाहरणार्थ—'प्राणस्पन्दनिरोधात् सत्सङ्गाद् वासनात्यागात्। हरिचरणभक्तियोगान्मनः स्ववेगं जहाति शनैः॥' इस प्रबोधसुधाकर (७७) के श्लोक पर 'अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगम एव च। वासना-सम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्॥ एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल।' योगवासिष्ठ (५।९२।३५) इस श्लोककी छाप है। इससे सिद्ध है कि योगवासिष्ठ शंकराचार्यके समय इस समयसे कहीं अधिक निर्भ्रान्त तथा समादरणीय ग्रन्थ था। यह स्मरणार्ह है कि शंकराचार्यका समय आजसे २३ सौ वर्ष पूर्व है। देखिये 'कल्याण' वर्ष ११, अङ्क ८, 'सिद्धान्त' ७।२७।

श्रीरामका तिरस्कार नहीं

कुछ वैष्णवजनोंको यह आपत्ति है कि श्रीरामका इसमें शोकाकुल होना—शोकसे पीला पड़ना बतलाया गया है, परमात्मा शोकयुक्त या शिष्य नहीं बनता। इसके उत्तरमें नम्र निवेदन है कि श्रीरामका शोक जैसा वाल्मीकि आदि रामायणोंमें सीताहरण या लक्ष्मणमूर्च्छा आदिके बाद है, वैसी तो योगवासिष्ठमें कोई बात भी नहीं है। योगवासिष्ठमें राम संसारसे खिन्न होकर खाना-पीना छोड़ रहे हैं, एकान्तवास करते हैं। यह भोगोंसे वैराग्य उत्तम अधिकारीका लक्षण है। भोजन छोड़नेसे उनका पीला हो जाना स्वाभाविक है। बाल्यावस्थामें विद्याग्रहणार्थ उनके द्वारा भगवान् वसिष्ठका शिष्यत्व स्वीकार करना सभी रामायणोंमें वर्णित है, उसी बाल्यावस्थामें विश्वामित्रके यागसंरक्षणके पूर्व ही इनका योगवासिष्ठका ग्रहण, तदुचित अधिकारसम्पादन, सम्पूर्ण विश्वको एकदम चकित कर देनेवाले प्रश्न-भाषण योगवासिष्ठद्वारा सर्वापेक्षया रामके माहात्म्याधिक्यके प्रतिपादक तथा साधक ही हैं, बाधक नहीं।

योगवासिष्ठमें श्रीरामका महाविष्णुत्व-निरूपण

योगवासिष्ठमें महर्षि वाल्मीकिने बार-बार श्रीरामको महाविष्णु बतलाया है। कुछ थोड़े प्रसङ्ग यहाँ उदाहरणस्वरूप उपस्थित किये जा रहे हैं—

चिदानन्दस्वरूपे हि रामे चैतन्यविग्रहे।
(१।१।५६)

शापव्याजवशादेव राजवेशधरो हरिः।
(१।१।५५)

वृन्दया शापितो विष्णुस्तेन मानुषतां गतः।
(१।१।६५)

अहं वेद्मि महात्मानं रामं राजीवलोचनम्।
वसिष्ठश्च महातेजा ये चान्ये दीर्घदर्शिनः॥
(१।७।२१)

बालक रामके ज्ञानपूर्ण भाषण सुनकर सभी मुनि अनेकानेक लोकोंसे दौड़ पड़ते हैं और आश्चर्यचकित होकर कहने लग जाते हैं—

न रामेण समोऽस्तीह दृष्टो लोकेषु कश्चन।
विवेकवानुदारात्मा न भावी चेति नो मतिः॥
(योग० १।३३।४५)

अर्थात् तीनों लोकोंमें आजतक श्रीरामके समान ज्ञानी एवं उदार व्यक्ति न तो कोई हुआ और न भविष्यमें होनेवाला है ऐसी हमलोगोंकी बुद्धि कहती है,—हमारा निश्चय है।

इतना ही नहीं, श्रीरामके अमृतमय प्रवचनको सुनकर घोड़े घास खाना छोड़ देते हैं, रानियाँ गवाक्षसे देखती हुई चित्रलिखित-सी खड़ी रह जाती हैं, देरतक लगातार पुष्पवृष्टि होती रहती है, सभी मन्त्री, सामन्त, नागरिक, राजकुमार एकटक देखते रह जाते हैं। पिंजरेके पक्षी, राजमहलके क्रीडामृग भी कान खड़े करके ध्यानसे सुनते रह जाते हैं। सिद्धमुनियोंकी परम्परा सभाभवनमें सुदूरसे दौड़ पड़ती है—

सामन्तैः राजपुत्रैश्च ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः।
तथा भृत्यैरमात्यैश्च पञ्जरस्थैश्च पक्षिभिः॥
क्रीडामृगैर्गतस्पन्दैस्तुरङ्गैस्त्यक्तचर्वणैः।
कौसल्याप्रमुखैश्चैव निजवातायनस्थितैः॥
संशान्तभूषणारावैरस्पन्दैर्वनितागणैः।

सिद्धैर्नभश्चरैश्चैव तथा गन्धर्वकिन्नरैः ।
रामस्य ता विचित्रार्था महोदारा गिरः श्रुताः ॥
(१ । ३० । ७—११)

श्रीरामके शिष्यत्वका भी उत्तर है । योग्य अधिकारी श्रीरामसे दूसरा कौन मिलता ? अतः स्वयं प्रश्न करके वसिष्ठके हृदयमें प्रविष्ट होकर उन्होंने यह ज्ञान प्रकट किया । देखिये वासिष्ठमहारामायण-तात्पर्यटीकाका उपोद्घात, श्लोक ११—

आविश्यान्तर्वसिष्ठं बहिरपि कलयन् शिष्यभावं वितेने ।
यः संवादेन शास्त्रामृतजलधिमसुं रामचन्द्रं प्रपद्ये ॥

योगवासिष्ठके अन्तमें भी 'नारायण' कहकर श्रीरामको नमस्कार किया गया है ।

योगवासिष्ठमें भक्ति

योगवासिष्ठमें भक्तिकी बात भी बहुत है । यों तो उपरिनिर्दिष्ट प्रकरण भी, जिसकी छाया सम्भवतः भागवतकारके वेणुगीतपर पड़ती है और जिसमें कहा गया है कि 'श्रीकृष्णके वेणुगीतको श्रवणकर बछड़े दूध पीना भूल जाते हैं, नदियोंका वेग भग्न हो जाता है, गौएँ कवल नहीं लेतीं, कम भक्ति-रससे ओतप्रोत नहीं है । तथापि इस तरहके अन्य भी कई प्रसङ्ग योगवासिष्ठमें हैं । उपशम-प्रकरणके ३३ वें अध्यायकी प्रह्लादकृत विष्णुस्तुति संस्कृतसाहित्यकी अद्भुत निधि है । वह सब स्तुतियोंको एक बार मात कर देती है । श्रीवसिष्ठकी भगवान् शंकरसे मिलनेके बादकी प्रार्थना भी अत्यद्भुत भक्ति-रससे परिपूर्ण है । कई स्थानोंपर भगवत्स्मरणकी बड़ी महिमा है । ध्यानकी प्रशंसा तो सर्वत्र है ही ।

भक्तशिरोमणि तुलसीदासजीको भी योगवासिष्ठ मान्य था । उनके उत्तरकाण्डके भुशुण्डिचरित्रपर भुशुण्डोपाख्यान (योग-वासिष्ठ-निर्वाणप्रकरण पूर्वार्द्ध १४ से २८ अध्याय) की छाया है । भुशुण्डके दीर्घजीवित्वका क्रम, कारणादि यहाँ बड़े विस्तारसे निरूपित है । विनयपत्रिकाके २०५ वें पदमें वे लिखते हैं—

जौ मन भज्यो चहै हरि सुरतरु ।
सम,संतोष,बिचार, बिमल अति सतसंगति,ये चारि दृढ़ करि धरु

इसपर योगवासिष्ठके 'शमो विचारः संतोषश्चतुर्थः साधु-संगमः ।' (२ । ११ । ६०) 'तथा संतोषः साधुसङ्गश्च विचारोऽथ शमस्तथा ।' (२ । १६ । १८) आदि मुमुक्षु-व्यवहार-प्रकरणके १२ से १६ वें अध्यायतकके उपदेशोंका ही प्रभाव है । 'बेद पुरान बसिष्ठ बखानहिं । सुनहिं राम जद्यपि सब जानहिं ॥' आदिसे भी इसका समर्थन-सा होता है ।

योगवासिष्ठ किसकी रचना ?

यों योगवासिष्ठको वाल्मीकिकी रचना बतलाया गया है । कई लोग इसमें 'उवाच' आदि अलंकारोंकी भरमार देखकर अन्यकी कृति समझते हैं । पर जो हो, यह तो उन्हें भी मानना पड़ेगा कि पदमाधुर्य, भावगाम्भीर्य, निरूपणशैली, तत्त्वप्रदर्शन, सूक्ष्मेक्षिका, प्रखरविचार, सर्वत्र नवीनता तथा अमृतोपम पवित्रतम साधु उपदेशोंकी शृङ्खला देखते हुए यह वाल्मीकि-रामायण या विश्वके किसी भी ग्रन्थसे निम्नकोटिका नहीं है । अतः इसका रचयिता जो भी हो, साक्षात् ईश्वर है या ईश्वरप्राप्त है । ग्रन्थ सर्वथा निर्दोष है । कई प्रकरण तो वाल्मीकिसे मिलते भी हैं । विश्वामित्र-दशरथ-संवादमें प्रायः वाल्मीकिके ही श्लोक हैं । जो अधिक हैं, वे रम्यतर हैं । 'उवाच' आदि लिखना—भिन्न शैली अपनाना भी एक लेखकद्वारा सम्भव है ही । अतः वाल्मीकिरचित मानना युक्तिसंगत ही है ।

उपसंहार

ध्यानसे देखा जाय तो भागवत, वाल्मीकिरामायण तथा अन्य पुराणोंसे योगवासिष्ठका वर्णन अधिक ही मिलता है । वस्तुतः भाषा, छन्दरचना तथा विचार-प्रवणताकी दृष्टिसे योग-वासिष्ठ सर्वोत्तम ग्रन्थ प्रतीत होता है । इसलिये श्रेष्ठ साधक इसके कालनिर्णयके चक्करमें न पड़कर इससे वास्तविक लाभ उठानेके प्रयत्नमें लग जाते हैं । यही होना भी चाहिये । किंतु साधारण व्यक्ति इससे वञ्चित न रह जायँ तथा व्यापक भ्रान्त धारणा शान्त हो जाय, इसीलिये यह यत्किंचित् प्रयास किया गया है ।

वस्तुतः योगवासिष्ठ भारतीय ज्ञानरविकी एक अनुपम रश्मि है । इसमें संसार, उसके तरनेके उपाय, दैव, पुरुषार्थ, तत्त्वज्ञान एवं उसके साधनोंके प्रत्येक अङ्गपर इतना क्रम-क्रमसे विचार किया गया है कि देखते हुए आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है । कल्याणकामी मनुष्योंको इससे अवश्य लाभ उठाना चाहिये यही प्रार्थना है ।

योगवासिष्ठकी आजके आत्म-शान्ति, विश्व-शान्तिके इच्छुक विश्वको चुनौती तथा इस क्षणका ज्ञान-बन्धुत्व एवं ज्ञानाभास

(लेखक—प० श्रीरामनिवासजी शर्मा)

शास्त्र कहते हैं ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं।[1] आधुनिक विद्वान् भी प्रकारान्तरसे यही कहते हैं—

Knowledge is power

परंतु ज्ञान और ज्ञान-शक्तिमें अन्तर है। ज्ञानसे शक्ति भी प्राप्त होती है जब कि मनुष्य ज्ञानार्थमें ढक जाता है। क्रियाहीन ज्ञान तो शक्तिहीन ही होता है। यह भी न भुलाना चाहिये कि ज्ञानसे शक्ति और मुक्ति तभी प्राप्त होती है, जब कि वह अध्यात्म हो। आजका ज्ञान तो—

१—भौतिक है
२—तर्कमात्र है
३—शिल्पिवत् है
४—अवास्तविक है
५—केवल प्रवृत्तप्राण है
६—यश और जीविकाका साधन है

आजका ऐसा सारहीन अनात्म-ज्ञान योगवासिष्ठके मतसे ज्ञानाभास है और ऐसे ज्ञानका धनी व्यक्ति ज्ञानबन्धु है तथा ज्ञानशिल्पी। वह वास्तविक ज्ञानी नहीं, उससे तो अज्ञानी ही अच्छा है—

आत्मज्ञानं विदुर्ज्ञानं ज्ञानान्यन्यानि यानि तु।
तानि ज्ञानावभासानि सारस्यानवबोधनात्॥
(यो० वा० ६। २१। ७)

अज्ञातारं वरं मन्ये न पुनर्ज्ञानबन्धुताम्॥
व्याचष्टे यः पठति च शास्त्रभोगाय शिल्पिवत्॥
(यो० वा० ६। २१। १–२)

हम देखते हैं आज भारत भी ज्ञान-बन्धुता और ज्ञानाभासका शिकार हो रहा है। राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति दोनोंके ही मतसे यह चरित्रहीन होता जा रहा है। भारतेतर देशोंकी दशा तो इससे भी बुरी है। वे तो इस दिशाके गुरु ही हैं, अतः उनका जीवन एकमात्र प्रवृत्ति-प्रधान है एवं समधिक भोगप्रधान।

योगवासिष्ठकारके मतसे तो ज्ञानी वही है जो जानने योग्य वस्तुको जानकर वासनामुक्त तथा कर्मतत्पर होता है—

ज्ञात्वा सम्यगनुज्ञानं दृश्यते येन कर्मसु।
निर्वासनात्मकं ज्ञस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते॥
(यो० वा० ६। २२। २)

योगवासिष्ठकार यह भी कहते हैं कि जिसकी इच्छाएँ शान्त हो गयी हों एवं जिसकी शीतलता कृत्रिम न होकर वास्तविक हो तथा जिसका पुनर्जन्मका खटका मिट गया हो, वही ज्ञानी है, अन्यथा खाना-पहनना और लेना-देना आदि तो शिल्पीकी जीविकामात्र है—

अन्तःशीतलतेहासु प्राज्ञैर्यस्यावलोक्यते।
अकृत्रिमैकशान्तस्य स ज्ञानीत्यभिधीयते॥
(यो० वा० ६। २२। ३)

अपुनर्जन्मने यः स्याद्बोधः स ज्ञानशब्दभाक्।
वसनाशनदा शेषा व्यवस्था शिल्पजीविका॥
(यो० वा० ६। १२। ४)

योगवासिष्ठकारका यह भी मत है कि जो मनुष्य कामना तथा संकल्प-विकल्पसे मुक्त होकर शान्तचित्तसे अवसरानुसार कार्य करता है वही पण्डित है—

प्रवाहपतिते कार्ये कामसंकल्पवर्जितः।
तिष्ठत्याकाशहृदयो यः स पण्डित उच्यते॥
(यो० वा० ६। २२। ५)

योगवासिष्ठके मतसे सच्चा आर्यपुरुष वही है जो कर्तव्यका पालन करता है और अकर्तव्यसे बचता है एवं प्रकृत आचारविचारमें सलग्न रहता है—

कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्राकृताचारो यः स आर्य इति स्मृतः॥
(यो० वा० ६। १२६। ५४)

योगवासिष्ठकारकी आर्यपुरुषलक्षण-विषयक यह भी समुद्घोषणा है कि जो व्यक्ति शास्त्र-सदाचार एवं परिस्थिति-सम्मत तथा मनःपूत व्यवहार करता है वही आर्य है—

यथाचारं यथाशास्त्रं यथाचित्तं यथास्थितम्।
व्यवहारमुपादत्ते यः स आर्य इति स्मृतः॥
(यो० वा० ६। १२६। ५०)

किस विशसे यह बात छिपी हुई है कि आजका मानव आर्योचित योगवासिष्ठ-अभिमत व्यक्तित्वसे सर्वथा दूर होता जा रहा है अपितु वह मानवोचित व्यक्तित्वसे न पहचाना जाकर विद्वान्, प्रशास्ता, बाबू, हाकिम, वकील आदि विशेषणोंसे पहचाना और पुकारा जाता है। पाश्चात्य देशोंमें भी बाइबलके इस वाक्यका सम्मान दृष्टिगोचर नहीं होता—

१. ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।

Man it does not mean this or that but humanity.

ऐसा क्यों हो रहा है। इसका एकमात्र कारण यही है कि हमारे विश्वविद्यालयोंका आमूल-चूल परिवर्तन नहीं हो पाता। सच्ची सुधार-योजनाओंपर भी अमल नहीं किया जाता और न घर और बाहर बालकोंकी शिक्षा-दीक्षापर ही समुचित ध्यान दिया जाता है। ऐसी दशामें तथाकथित आर्य-व्यक्तित्व बालकोंमें कैसे उत्पन्न हो सकता है? इसी सत्यपर प्रकारान्तरसे राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादजीके ये शब्द पूर्णतः चरितार्थ होते हैं—

हम अपने सामने कितने भी महान् व उच्च आदर्शोंको लेकर जिस-किसी तरहकी राज-व्यवस्था क्यों न स्थापित कर लें, हमारी आर्थिक व सामाजिक विचारधारा कितनी भी समान व उदार क्यों न हो, पर जबतक हमारी अगली पीढ़ीका शारीरिक एवं मानसिक सौष्ठव व गठन शिशु-जीवनमें ही ठीक न होगा, तबतक देशमें हम सुख व शान्ति स्थापित करनेमें सफल नहीं हो सकते।

यहाँ योगवासिष्ठ-सम्मत यह बात भी विचारणीय है कि ज्ञान-विकास और आत्म-ज्ञानप्राप्ति न केवल शास्त्र और गुरु-वचन-साध्य ही है प्रत्युत स्वानुभवका भी विषय है—

शास्त्रार्थे बुध्यते नात्मा गुरुवचनतो न च।
बुध्यते स्वयमेवैष स्वबोधवशतस्ततः॥
(यो० वा०)

इस समय हम देखते हैं हमारे विद्यार्थी आत्मनिर्भर नहीं हो पाते। वे केवल पुस्तक-कीट और परप्रत्ययनेय मति ही बने रहते हैं। वे यह भी नहीं समझते कि पेड़ भीतरसे बढ़ता है, माली और उपकरण तो उसके निमित्तमात्र होते हैं। वे प्रायः इस वैदिक सत्यसे भी अनभिज्ञ-से ही रहते हैं—

'आत्मनाऽऽत्मानमुद्धरेत्।'

एतद्विषयक योगवासिष्ठकी तो यह सम्मति है कि आत्म-शान्ति और विश्व-शान्ति आत्म-विकास और आत्म-ज्ञानसे ही प्राप्त होती है, दूसरे किसी उपायसे नहीं। अतएव सर्वदुःख-हर्ता आत्मावलोकनमें ही भूति-विभूतिके इच्छुक व्यक्ति लगा रहे—

करोतु भुवने राज्यं विशत्वम्भोदमम्बुवत्।
आत्मलाभादते जन्तुर्विश्रान्तिमधिगच्छति॥
(यो० वा० ५।५।२४)

आत्मावलोकने यत्नः कर्तव्यो भूतिमिच्छता।
सर्वदुःखशिरश्छेद आत्मालोकेन जायते॥
(यो० वा० ५।७५।४६)

योगवासिष्ठसम्मत आत्मावलोकनसे न केवल आत्म-शान्ति प्राप्त होती है अपितु योगवासिष्ठके बार-बारके पाठ और अवलोकनसे विश्वबन्धुता—प्राणस्पृहणीय नागरिकता भी प्राप्त होती है, जो आजकी अत्यधिक वाञ्छनीय वस्तु है—

एतच्छास्त्रघनाभ्यासात् पौनःपुन्येन वीक्षणात्।
परा नागरतोदेति महत्त्वगुणशालिनी॥
(यो० वा० २।१८।३६,८)

योगवासिष्ठकारके मतसे योगवासिष्ठ-ग्रन्थावलोकनका एकान्त फल यह भी है—

बोधस्यापि परं बोधं बुद्धिरेति न संशयः।
जीवन्मुक्तत्वमस्मिंस्तु श्रुतिः समनुशूयते[1]॥
(यो० वा० ३।८।१३।१५)

भगवान् वसिष्ठकी जय

(लेखक—पं० श्रीसूरजचंदजी सत्यप्रेमी (डाँगीजी))

योगवासिष्ठके प्रवक्ता भगवान् वसिष्ठका परिचय कराना अत्यन्त कठिन है, फिर भी उनके पारमार्थिक स्वरूपका मनन करना हो तो उनका भगवान्के अवतारोंके साथ क्या सम्बन्ध है? उसे स्मरण किया जाना अनिवार्य आवश्यक है।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामके गुरु, भगवान् परशुरामके पिता महर्षि जमदग्नि और भगवान् दत्तात्रेयके मौसा, परम सिद्ध भगवान् कपिल और परमहंस नवयोगीश्वर तथा जड़-भरतके पिता भगवान् ऋषभदेवके दादा, राजर्षि अग्नीध्रके बहनोई, भगवान् मनुके पुत्र, आद्य नरेन्द्र प्रियव्रतकी बहन देवी देवहूतिके जामाता भगवान् वसिष्ठकी सदा काल जय हो, विजय हो, जिन्होंने संसार-चक्रको छेदन करनेके लिये पुण्य-कर्मका चक्र बताया और पुण्यकर्मके चक्रको भग करनेके लिये धर्मचक्र चलाया और फिर गुरुचक्रका प्रवर्तन करके सिद्धचक्रमें प्रवेश करा दिया—अजातवादके परम रहस्यमय सिद्धान्तके आद्य प्रणेता भगवान् वसिष्ठ ही हैं।

इस अद्वैत, तुरीय और अज तत्त्वसे भी परे तुरीयातीत, द्वैताद्वैतातीत और अनाद्ययधर्मातीत परमतत्त्वके प्रणेता भगवान् वसिष्ठ सर्वत्र सर्वथा, सर्वदा सम्पूर्ण आराध्य बनें।

१. इस ग्रन्थके श्रवणसे परम ज्ञान प्राप्त होता है, फिर जीवन्मुक्तिका अनुभव होने लगता है।

योगवासिष्ठका साध्य-साधन

योगवासिष्ठ महारामायणका प्रारम्भ होता है—देवराज इन्द्रके द्वारा, महर्षि वाल्मीकिके पास राजा अरिष्टनेमिके भेजे जानेके प्रसङ्गसे। अरिष्टनेमि महर्षि वाल्मीकिसे मोक्षका साधन पूछते हैं। उसके उत्तरमें वाल्मीकिजी महाराज अपने शिष्य भरद्वाजके साथ हुए संवादका वर्णन करते हुए भगवान् रामके प्राकट्यकी बात सुनाते हैं। तदनन्तर महर्षि विश्वामित्रके दशरथ-दरबारमें आकर यज्ञरक्षार्थ रामको माँगनेका प्रसङ्ग सुनाकर रामके वैराग्य तथा राम-वसिष्ठ-संवादके रूपमें छः प्रकरणोंमें 'योगवासिष्ठ' नामक विशाल ग्रन्थका श्रवण कराते हैं।

योगवासिष्ठ अजातवाद या केवल ब्रह्मवादका ग्रन्थ है। इसके सिद्धान्तानुसार एकमात्र चेतनतत्त्व परब्रह्मके अतिरिक्त कोई अन्य सत्ता ही नहीं है। जैसे समुद्रमें अनन्त तरङ्गें उठती-मिटती रहती हैं, वे समुद्रसे भिन्न नहीं हैं, इसी प्रकार नित्य समरूप अनादि अनन्त सच्चिदानन्दघन परमात्म-चैतन्यरूप समुद्रमें नाना प्रकारके अनन्त ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाशकी लीला-तरङ्गें दीखती रहती हैं। चित्त या अहंकार—जो वास्तवमें चेतन-ब्रह्मसे अभिन्न तथा ब्रह्मरूप ही है—इस दृश्य-प्रपञ्चका—सृष्टि, स्थिति-विनाशका कारण है। अहंकारका नाश होते ही, जो अहंकारकी सत्ता न माननेसे ही नाश हो जाता है, केवल एक ब्रह्म-चैतन्य ही रह जाता है। इसी एक तत्त्वका विभिन्न आख्यानों, इतिहासों, कथाओंके द्वारा इस विशाल ग्रन्थमें प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रन्थ पुनरुक्तिपूर्ण है। एक ही सत्य तत्त्वको दृढ़तापूर्वक हृदयमें जमा देनेके लिये, एक ही सत्य तत्त्वकी अनुभूति या प्राप्ति करा देनेके लिये बार-बार विभिन्न रूपोंसे एक-सी ही युक्तियों तथा उपमाओंका उल्लेख किया गया है।

सृष्टि न कभी हुई, न है—एकमात्र ब्रह्म ही है। इस प्रकार सृष्टिका अभाव प्रतिपादन करनेपर भी इस ग्रन्थमें कहीं भी यथेच्छाचार शास्त्रनिषिद्ध व्यवहार, रागद्वेष-कामक्रोधादिजनित अनाचार, अत्याचार, दुष्ट-सङ्ग आदिका समर्थन नहीं किया गया है, वरं बड़ी कड़ाईके साथ शास्त्राज्ञापालनरूप सदाचारपरायणता एवं त्यागमय पुण्यमय जीवनकी आवश्यकता बतायी गयी है। राग, ममता, कामना, तृष्णा, इच्छा और इनके मूल अहंकारके त्यागकी महत्ता स्थान-स्थानपर बतलायी गयी है। इन्द्रियभोगोंमें फँसे हुए मनुष्योंकी घोर दुर्दशाका वर्णन करते हुए वैराग्यकी अत्यन्त प्रयोजनीयताका प्रतिपादन किया गया है। साधक पुरुषको अहंभावनारूप ग्रन्थिका यथार्थ ब्रह्मज्ञानके द्वारा भेदन करके सच्चा ज्ञानी बननेका उपदेश दिया गया है, केवल ज्ञानका कथनमात्र करनेवाले 'ज्ञानबन्धु' (नकली ज्ञानी) बननेका नहीं। महर्षि वसिष्ठने यहाँतक कहा है कि 'वे ज्ञानबन्धु (नकली ज्ञानी) से तो अज्ञानीको अच्छा समझते हैं (क्योंकि वह बेचारे अपनेको तथा दूसरोंको धोखा तो नहीं देते।) महर्षि कहते हैं—

ज्ञानिनैव सदा भाव्यं राम न ज्ञानबन्धुना।
अज्ञातारं वरं मन्ये न पुनर्ज्ञानबन्धुताम्॥
(निर्वाण-प्रकरण उ० २१। १)

फिर भगवान् श्रीरामके पूछनेपर नकली ज्ञानी (ज्ञानबन्धु) के लक्षण बतलाते हैं।

व्याचष्टे यः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत्।
यतते न त्वनुष्ठाने ज्ञानबन्धुः स उच्यते॥
कर्मस्पन्देषु नो बोधः फलितो यस्य दृश्यते।
बोधशिल्पोपजीवित्वाज्ज्ञानबन्धुः स उच्यते॥
वसनाशनमात्रेण तुष्टाः शास्त्रफलानि ये।
जानन्ति ज्ञानबन्धूंस्तान्विद्याच्छास्त्रार्थशिल्पिनः॥
(निर्वाण-प्रकरण उ० २१। ३–५)

'जैसे शिल्पी जीविकाके लिये ही शिल्पकला सीखता है, वैसे ही जो मनुष्य केवल भोगप्राप्तिके लिये ही शास्त्रको पढ़ता और उसकी व्याख्या करता है, स्वयं शास्त्रके अनुसार आचरणके लिये प्रयत्न नहीं करता, वह ज्ञानबन्धु कहलाता है। शास्त्राध्ययनसे जिसको शाब्दिक बोध हो गया है, परन्तु उस बोधका फल जो विनाशशील भोगों—व्यवहारोंमें वैराग्य होना चाहिये, सो नहीं हुआ तो उसका वह शास्त्रज्ञान शिल्पमात्र है—तत्त्वज्ञानकी बातें बनाकर दूसरोंको ठगनेके लिये चातुर्यपूर्ण कलामात्र है। उस कलासे केवल जीविका चलानेवाला होनेके कारण वह मनुष्य ज्ञानबन्धु कहलाता है। जो केवल भोजन-वस्त्रमें ही संतुष्ट रहकर भोजनादिकी प्राप्तिको ही शास्त्राध्ययनका फल समझते हैं, वे शास्त्रोंके अर्थको एक

शिल्पकला ही मानते हैं । ऐसे लोगोंको ज्ञानबन्धु जानना चाहिये ।' फिर कहते हैं—

अपुनर्जन्मने यः स्याद् बोधः स ज्ञानशब्दभाक् ।
वसनाशनदा शेषा व्यवस्था शिल्पजीविका ॥

(निर्वाण-प्रकरण उ० २२ । ४)

'जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है, पुनर्जन्मकी नहीं, उसीका नाम ज्ञान है । उसके अतिरिक्त दूसरा जो शब्दज्ञानका चातुर्य है, वह तो रोटी-कपड़ा प्राप्त करनेकी कलामात्र है । उसे केवल भोजन-वस्त्र जुटानेवाली व्यवस्था समझना चाहिये ।'

इस परम ज्ञानकी प्राप्तिके लिये शम (मनकी स्वच्छता), दम (इन्द्रियनिग्रह), शास्त्रीय सदाचारका सेवन, दैवी सम्पत्तिके गुणोंका अर्जन तथा भोग-वैराग्यपूर्वक ज्ञान-प्राप्तिकी इच्छासे सद्गुरुके शरणमें जाना आवश्यक है । सद्गुरु वही है, जो शिष्यके अज्ञानान्धकारको अपने निर्मल स्वप्रकाश ज्ञानकी विमल ज्योतिसे हर ले और शिष्य वही है, जो विनय तथा सेवापरायण होकर ज्ञानी गुरुसे प्रश्न करे और उनके आज्ञानुसार अपना जीवन निर्माण करे । महर्षि वसिष्ठ कहते हैं—

अतत्त्वज्ञमनादेयवचनं वाग्विदांवर ।
यः पृच्छति नरं तस्मान्नास्ति मूढतरोऽपरः ॥
प्रामाणिकस्य तज्ज्ञस्य वक्तुः पृष्टस्य यत्नतः ।
नानुतिष्ठति यो वाक्यं नान्यस्तस्मान्नराधमः ॥

(मुमुक्षु प्रकरण ११ । ४५-४६)

"वाग्वेत्ताओंमें श्रेष्ठ राम ! जो तत्त्वका ज्ञान नहीं रखता, उसके वचन मानने योग्य नहीं हैं । ऐसे तत्त्वज्ञानहीन मनुष्यसे जो तत्त्वविषयक प्रश्न करता है, उससे बढ़कर दूसरा कोई 'मूर्ख' नहीं है ।" (साथ ही, जो मनुष्य किसी सच्चे ज्ञानी महात्मासे) "पूछकर भी उस प्रमाणकुशल तथा तत्त्वज्ञानी वक्ताके उपदेशके अनुसार यत्नपूर्वक आचरण नहीं करता, उससे बढ़कर 'नराधम' भी दूसरा कोई नहीं है ।"

अतएव न तो बिना जाने-समझे किसीसे पूछना चाहिये तथा न तत्त्वज्ञ महात्माका उपदेश प्राप्त करके उसकी अवहेलना ही करनी चाहिये । साथ ही तत्त्वज्ञ पुरुषको भी चाहिये कि वे यथार्थ अधिकारीको ही तत्त्वका उपदेश दें । महर्षि कहते हैं—

पूर्वापरसमाधानक्षमबुद्धावनिन्दिते ।
पृष्टं प्राज्ञेन वक्तव्यं नाधमे पशुधर्मिणी ॥
प्रामाणिकार्थयोग्यत्वं पृच्छकस्याविचार्य च ।
यो वक्ति तमिह प्राज्ञाः प्राहुर्मूढतरं नरम् ॥

(मुमुक्षु-प्रकरण ११ । ४९-५०)

'ज्ञानी महात्माको चाहिये कि पूर्वापरका विचार करके यथार्थ निश्चय करनेमें जिसकी बुद्धि समर्थ हो, जिसके आचरण निन्दनीय न हों, ऐसे ही पुरुषको उसके पूछे हुए तत्त्वका उपदेश दे । जो आहार-निद्रा, भय-मैथुन आदि पशुधर्मसे संयुक्त है, ऐसे अधमको उपदेश न दे । प्रश्नकर्त्तामें श्रुति आदि प्रमाणोंके द्वारा निर्णय किये हुए तत्त्व-पदार्थको ग्रहण करनेकी योग्यता है या नहीं, इसका विचार किये बिना ही जो वक्ता उसे उपदेश देता है, उसको ज्ञानीजन इस लोकमें महान् मूढ बतलाते हैं ।'

इसीलिये महर्षि वसिष्ठ आदर्श गुरु हैं तथा भगवान् रामचन्द्र आदर्श शिष्य हैं । गुरु-शिष्यको इन्हींका अनुसरण करनेवाले होना चाहिये ।

मुमुक्षुके जीवनमें सहज ही शास्त्रानुकूल आचरण, संयम, सत्य, शम, दम, विषय-वैराग्य और मोक्षकी तीव्र इच्छा होनी ही चाहिये । महर्षि वसिष्ठ तो शम, दम, सत्यादि गुणोंसे रहित मनुष्यको मनुष्य ही नहीं मानते । वे कहते हैं—

येषां गुणेष्वसंतोषो रागो येषां श्रुतं प्रति ।
सत्यव्यसनिनो ये च ते नराः पशवोऽपरे ॥

(स्थिति-प्रकरण ३२ । ४०)

'जिनका (इन शम-दमादि) गुणोंके विषयमें संतोष नहीं है (इनको जो बढाना ही चाहते हैं), जिनका शास्त्रके प्रति अनुराग है तथा जिनको सत्यके आचरणका ही व्यसन है, वे ही वास्तवमें मनुष्य हैं, दूसरे तो पशु ही हैं ।'

अतएव सच्चे कल्याणकामी पुरुषोंको इन शास्त्रानुमोदित गुणोंसे सम्पन्न होकर परमात्माके यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये पूर्णरूपसे साधनाभ्यास करना चाहिये । इसके लिये सच्चे महात्मा पुरुषोंका सङ्ग तथा सेवन (उनके कथनानुसार जीवन-निर्माण) आवश्यक है । इसके बिना कोरे तप, तीर्थ या शास्त्राध्ययनसे सफलता नहीं मिलती । पर महात्मा सच्चे होने चाहिये । और कुछ न हो तो इतना अवश्य देख ले कि हम जिनका सङ्ग करते हैं, उनकी संगतिसे दुर्गुणों-दुराचारोंका

नाश होता है या नहीं। उनके जीवनगत सहज शास्त्रप्रतिपादित आचरणोंसे हमें दुराचार-दुर्गुणोंके त्याग और सदाचार-सद्गुणोंके ग्रहणके लिये प्रेरणा मिलती है या नहीं। महर्षि वसिष्ठ कहते हैं—

लोभमोहरुषां यस्य तनुतानुदिनं भवेत्।
यथाशास्त्रं विहरति स्वकर्मसु स सज्जनः॥

(स्थिति-प्रकरण ३३। १५)

'जिसके सङ्गसे लोभ, मोह और क्रोध प्रतिदिन क्षीण होते हों और जो शास्त्रके अनुसार अपने कर्मोंका आचरण करनेमें लगा रहता हो, वह सत् पुरुष है।'

मोक्षके द्वारपर निवास करनेवाले ये चार द्वारपाल बतलाये गये हैं—शम, विचार, संतोष और साधुसङ्ग। इन चारोंकी भलीभाँति सेवा की जाती है तो ये मोक्षरूपी राज-प्रासादका द्वार खोल देते हैं।

ऐसे सैकड़ों, हजारों वचन इस महान् ग्रन्थमें हैं, जिनमें शास्त्रोक्त आचरण, संयम, नियम आदि साधनोंकी उपादेयता और नितान्त प्रयोजनीयताका उपदेश भरा है।

योगवासिष्ठमें दैवकी बड़ी निन्दा तथा पौरुषकी प्रशंसा की गयी है। एवं निष्कामभावसे सावधानीके साथ शास्त्रानुकूल सत्कर्म करनेपर बहुत जोर दिया गया है। महर्षि वसिष्ठ कहते हैं—

यस्तूदारचमत्कारः सदाचारविहारवान्।
स निर्याति जगन्मोहान्मृगेन्द्रः पञ्जरादिव॥

(मुमुक्षु-प्रकरण ६। २८)

व्यवहारसहस्राणि यान्युपायान्ति यान्ति च।
यथाशास्त्रं विहर्तव्यं तेषु त्यक्त्वा सुखासुखे॥
यथाशास्त्रमनुच्छिन्नां मर्यादां स्वामनुज्झतः।
उपतिष्ठन्ति सर्वाणि रत्नान्यम्बुनिधाविव॥
स्वार्थप्रापककार्यैकप्रयत्नपरता बुधैः।
प्रोक्ता पौरुषशब्देन सा सिद्ध्यै शास्त्रयन्त्रिता॥

(मुमुक्षु-प्रकरण ६। ३०-३२)

'जो पुरुष उदार-स्वभाव तथा सत्कर्मके सम्पादनमें कुशल है, सदाचार ही जिसका विहार है, वह जगत्के मोह-पाशसे वैसे ही निकल जाता है, जैसे पिंजरेसे सिंह। संसारमें आने-जानेवाले सहस्रों व्यवहार हैं। उनमें सुख और दुःख-बुद्धिका त्याग करके शास्त्रानुकूल आचरण करना चाहिये। शास्त्रके अनुकूल और कभी उच्छिन्न न होनेवाली अपनी मर्यादाका जो त्याग नहीं करता, उस पुरुषको समस्त अभीष्ट वस्तुएँ वैसे ही प्राप्त हो जाती हैं, जैसे सागरमें गोता लगानेवालेको रत्नोंका समूह। जिसमें अपना मानव-जीवनका प्रधान कार्य—स्वार्थ सधता हो, उस स्वार्थकी प्राप्ति करानेवाले साधनोंमें ही तत्पर हो रहनेको विद्वान्लोग 'पौरुष' कहते हैं'।

ये समुद्योगमुत्सृज्य स्थिता दैवपरायणाः।
ते धर्ममर्थं कामं च नाशयन्त्यात्मविद्विषः॥

(मुमुक्षु प्रकरण ७। ३)

'जो लोग उद्योगका त्याग करके केवल दैवके भरोसे बैठे रहते हैं, वे अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंका नाश कर डालते हैं। वे आलसी मनुष्य आप ही अपने शत्रु हैं।'

अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत्।
प्रयत्नाच्चित्तमित्येष सर्वशास्त्रार्थसंग्रहः॥
यच्छ्रेयो यदतुच्छं च यदपायविवर्जितम्।
तत्तदाचर यत्नेन पुत्रेति गुरवः स्थिताः॥

(मुमुक्षु-प्रकरण ७। १२-१३)

'अशुभ कर्मोंमें लगे हुए मनको वहाँसे हटाकर प्रयत्नपूर्वक शुभ कर्मोंमें लगाना चाहिये। यह सब शास्त्रोंके सारका संग्रह है। जो वस्तु कल्याणकारी है, वह तुच्छ नहीं है (वही सबसे श्रेष्ठ है)। तथा जिसका कभी नाश नहीं होता, उसीका यत्नपूर्वक आचरण करना चाहिये—गुरुजन यही उपदेश देते हैं।'

जीवन्मुक्तके लक्षण बतलाते हुए महर्षि वसिष्ठ कहते हैं—

यथास्थितमिदं यस्य व्यवहारवतोऽपि च।
अस्तं गतं स्थितं व्योम जीवन्मुक्तः स उच्यते॥
बोधैकनिष्ठतां यातो जाग्रत्येव सुषुप्तवत्।
य आस्ते व्यवहर्तैव जीवन्मुक्तः स उच्यते॥
नोदेति नास्तमायाति सुखे दुःखे सुरप्रभा।
यथाप्राप्तस्थितेर्यस्य जीवन्मुक्तः स उच्यते॥

यो जागर्ति सुषुप्तस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते।
यस्य निर्वासनो बोधो जीवन्मुक्तः स उच्यते॥
यस्य नाहंकृतो भावो यस्य बुद्धिर्न लिप्यते।
कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते॥
यस्योन्मेषनिमेषार्द्धाद्विदः प्रलयसम्भवौ।
पश्येत् त्रिलोक्याः स्वसमः स जीवन्मुक्त उच्यते॥
यस्माद्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोन्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥
शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥

(उत्पत्ति-प्रकरण ९। ४–७, ९–१२)

'यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुषकी दृष्टिमें यह जगत् ज्यों-का-त्यों बना हुआ ही विलीन हो जाता है और आकाशके समान शून्य प्रतीत होने लगता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो व्यवहारमें लगा हुआ ही एकमात्र बोधनिष्ठाको प्राप्त होकर जाग्रद्-अवस्थामें भी सुषुप्त पुरुषकी भाँति राग-द्वेष, हर्ष-शोकादिसे रहित हो जाता है, उसे जीवन्मुक्त कहते हैं। जिसके मुखकी कान्ति सुखमें उदित नहीं होती—जगमगाती नहीं और दुःखमें अस्त—फीकी नहीं हो जाती और जो कुछ मिल जाय उसीमें संतोषपूर्वक जो जीवन-निर्वाह करता है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जो निर्विकार आत्मामें सुषुप्तिकी तरह स्थित रहता हुआ भी अविद्यारूप निद्राका निवारण हो जानेसे सदा जागता रहता है, पर जो जाग्रत् भी नहीं है, भोग-जगत्में सदा सोया हुआ है अर्थात् भोगबुद्धिसे जो किसी भी पदार्थका उपभोग नहीं करता और जिसका ज्ञान वासनारहित है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसमें अहङ्कारका भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि कर्म करते समय कर्तृत्वके और कर्म न करते समय अकर्तृत्वके अभिमानसे लिप्त नहीं होती, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो ज्ञानस्वरूप परमात्माके किञ्चित् उन्मेष तथा निमेषमें ही तीनों लोकोंकी प्रलय तथा उत्पत्ति देखता है और जिसका सबके प्रति समान आत्मभाव है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। न तो जिससे लोगोंको उद्वेग होता है और न लोगोंसे जिसको उद्वेग होता है तथा जो हर्ष, अमर्ष और भयसे रहित है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जिसकी संसारके प्रति सत्यता-बुद्धि नहीं रही है, जो अवयवयुक्त दीखनेपर भी वस्तुतः अवयवरहित है। जो चित्तयुक्त होकर भी वास्तवमें चित्तसे रहित है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है।' जीवन्मुक्तकी इस स्वरूप-व्याख्यासे पता लगता है कि यथार्थ ज्ञान ही जीवन्मुक्तका स्वरूप होता है। केवल मौखिक ज्ञान तो प्रदर्शनमात्र तथा धोखेकी चीज है।

योगवासिष्ठमें योगके साधन तथा योगसिद्धियोंका एवं योगभूमिकाओंका भी महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन है। उनका मर्म बिना अनुभवी योगसिद्ध गुरुके समझमें आना बहुत कठिन है। योगवासिष्ठमें दर्शन तथा योगसम्बन्धी ऐसे-ऐसे शब्द आये हैं, जिनका अर्थ समझना केवल भाषाज्ञानसाध्य नहीं, परंतु साधन-साध्य है।

योगवासिष्ठमें कर्म और भक्तिका कहीं निषेध नहीं है। कर्मकी तो परमावश्यकता ही बतलायी है। पौरुष कर्ममय ही होता है। अवश्य ही वह कर्म होना चाहिये कामना, आसक्ति तथा अहंकारसे रहित। यद्यपि भक्तिका वैष्णवशास्त्रों-जैसा वर्णन नहीं है, तथापि सदाचार-सत्सङ्गमूलक उपासनाका जगह-जगह प्रतिपादन है। प्रह्लादके प्रसङ्गसे भक्तिकी भी बहुत बातें आयी हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रको पूर्णब्रह्म बतलाकर स्वयं वसिष्ठने नमस्कार किया है। महर्षि भरद्वाजने अपने तथा भगवान् श्रीरामचन्द्रजीमें भेद बतलाते हुए महर्षि वाल्मीकिजीसे कहा है—

श्रीरामचन्द्रजी तो परम योगी, समस्त विश्वके वन्दनीय, देवताओंके ईश्वर, अजन्मा, अविनाशी, विशुद्ध ज्ञान-स्वभाव, समस्त गुणोंके निधान, सम्पूर्ण ऐश्वर्योंके आधार एवं तीनों लोकोंके उत्पादन, संरक्षण और अनुग्रह करनेवाले हैं—

स खलु परमयोगी विश्ववन्द्यः सुरेशो
जननमरणहीनः शुद्धबोधस्वभावः।
सकलगुणनिधानं सन्निधानं रमाया-
स्त्रिजगदुदयरक्षानुग्रहाणामधीशः॥

(नि० प्र० पूर्वार्ध० १२७। २)

महर्षि विश्वामित्रने भगवान् श्रीरामचन्द्रकी बहुत बड़ी महिमाका गान किया है और वसिष्ठादि सभी उसे सुनकर अत्यन्त आह्लादित हुए हैं।

यही श्रीरामचन्द्रजीका अज्ञानी बनकर ज्ञान प्राप्त करनेकी

बात, सो लीलामय भगवान्‌के लिये इसमें कौन-सी दोषकी बात है। जो भगवान् श्रीरामचन्द्र विद्यार्थी बनकर गुरु वसिष्ठसे विद्याध्ययन करते हैं, विश्वामित्रसे अस्त्र-शिक्षा ग्रहण करते हैं, सच्चे पतिके रूपमें सीताके दुःखसे महान् दुखी होते हैं, स्त्रैण तथा अज्ञकी भाँति सीताके लिये वन-वन रोते फिरते और जिस किसीसे सीताका पता पूछते हैं, लक्ष्मण के लिये विलाप-प्रलाप करते हैं, वे भगवान् यदि लोक-संग्रहके लिये अज्ञानी, वैराग्यवान् तथा मुमुक्षु बनकर आदर्श शिष्य लीलामें प्रवृत्त होकर महर्षि वसिष्ठको ज्ञानशास्त्रके प्रतिपादन-में प्रवृत्त करते हैं और उसे सुनकर अपनेको कृतार्थ मानते हैं तो इससे उनकी परात्परता, परब्रह्मरूपता, विशुद्धज्ञानस्वरूपता, ईश्वरता आदिमें कहीं कुछ कमी आ जाती हो, यह तो मानना ही भूल है।

कुछ सज्जनोंका कथन है कि योगवासिष्ठमें बहुत अनुचित रूपसे नारी-निन्दा की गयी है, पर वस्तुतः ऐसी भी बात नहीं है। यों तो भोगदृष्टिसे जो कुछ भी आसक्ति-कामना बढ़ानेवाली चीजें हैं, परमार्थ क्षेत्रमें वे सभी निन्दनीय तथा त्याज्य हैं—नारी, धन, राज्य, इन्द्रियोंके प्रत्येक विषय। पर योगवासिष्ठमें 'नारी-गौरव' की प्रतिष्ठा है। शिखिध्वज-जैसे राज्यत्यागी अरण्यवासी तपोमूर्ति पुरुषको चूड़ाला नारी ही विशुद्ध ज्ञानका उपदेश करके उन्हें परमपद प्राप्त करवाती है तथा अहंकारशून्य होकर राजकर्मके प्रतिपालनमें प्रवृत्त कराती है। चूड़ाला-जैसी योगसिद्धा, ज्ञान-विज्ञानसम्पन्ना, ब्रह्मैकनिष्ठ ब्रह्मस्वरूपा नारीका जिस ग्रन्थमें विशद वर्णन हो और नारी इतनी उच्च स्थितक पहुँच सकती है, इसका जिसमें प्रतिपादन हो, उस ग्रन्थको नारी-निन्दक मानना कभी युक्तिसंगत नहीं है।

योगवासिष्ठमें सुन्दर-सुन्दर आख्यानों, इतिहासोंके द्वारा बड़ी ही सुन्दर रीतिसे ब्रह्मैकतत्त्वका प्रतिपादन हुआ है, जो एक महान् कार्य है। इसमें दोषदृष्टि न करके सभीको अपनी रुचि तथा भावके अनुसार यथासाध्य लाभ उठाना चाहिये।

योगवासिष्ठका दुरुपयोग नहीं होना चाहिये

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

'कल्याण'का विशेषाङ्क योगवासिष्ठाङ्क निकल रहा है, यह बड़े ही आनन्दकी बात है। यह बड़ा ही उपादेय सर्वश्रेष्ठ ज्ञानप्रतिपादक महान् ग्रन्थ है। इसमें आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत्, बन्धन-मोक्ष आदि दुरूह विषयोंका बहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक स्वयं परमात्मा भगवान् श्रीराघवेन्द्र और परम पूज्य ज्ञानस्वरूप महर्षि वसिष्ठके संवादरूपमें यह निस्संदेह अत्युत्कृष्ट रचना है। इसलिये इसका प्रकाशन बहुत ही आदरणीय है। परंतु बड़े खेदके साथ निवेदन करते हुए मैं यह नम्रताके साथ चेतावनी देता हूँ कि इसका दुरुपयोग नहीं होना चाहिये। मैंने देखा है कि ढोंगी लोग संतों-का वेष बनाकर 'योगवासिष्ठ' और 'विचारसागर' लिये गाँव-गाँव घूमते हैं, चेला-चेली बनाते हैं। शास्त्रीय वर्णाश्रमधर्म, सदाचार, शम, दम, ईश्वरभक्ति, भगवत्पूजन, नामजप-कीर्तन, संध्या-अर्चना, श्राद्ध-तर्पण आदिका घोर विरोध करके लोगोंको उच्छृङ्खल बनाते हैं। उनको मनमाना आचरण करनेके लिये प्रेरणा देते हैं और अपना उल्लू सीधा करनेके लिये जगत्‌को तथा जागतिक व्यवहारोंको मिथ्या बताकर 'अहं ब्रह्मास्मि' की रट लगाकर 'एक ब्रह्म' बने हुए ये अनधिकारी कलियुगी पाखण्डीलोग खुले-आम शास्त्राचारके सर्वथा विरुद्ध आलस्य, प्रमाद, अकर्मण्यता, विलास, व्यभिचार, अभक्ष्य-भक्षणका प्रचार करते हैं और जनताको ब्रह्मज्ञानके नामपर नरकानलमें झोंकते हैं। ऐसे लोगोंके द्वारा इसका दुरुपयोग नहीं होना चाहिये। यही मेरा नम्र निवेदन है।

श्रीगुरुवर-वसिष्ठ-स्तवन

(रचयिता—प० श्रीरामनारायणजी त्रिपाठी 'मित्र' शास्त्री)

तप-तेज-पुंज जगदभिराम।
गुरुवर वसिष्ठ ! तुमको प्रणाम॥

चारों वेदोंका रस वरिष्ठ।
वेदान्त विषय जो था गरिष्ठ॥
कर सरल कथाओंमें प्रविष्ट।
कर दिया उसे लघुतम सुमिष्ट॥

यह देख तुम्हारा कलित काम।
गुरुवर वसिष्ठ ! तुमको प्रणाम॥

यह युक्ति दिखाकर तुम न्यारी।
बन गये विश्वके हितकारी॥
अतएव ज्ञानके अधिकारी।
हैं सभी तुम्हारे आभारी॥

गा रहे तुम्हारे गुणग्राम।
गुरुवर वसिष्ठ ! तुमको प्रणाम॥

यह ग्रन्थ मिटा विष-विषय चाव।
अध्यात्म ओर करता झुकाव॥
हर जीव ब्रह्मका भेदभाव।
बन रहा भवाम्बुधि हेतु नाव॥

यह श्रेय तुम्हींको है ललाम।
गुरुवर वसिष्ठ ! तुमको प्रणाम॥

जिस समय सूर्यवंशी नरेश।
संचालित करते थे स्वदेश॥
उस समय उन्हें दे सदुपदेश।
हरते थे तुम मानसिक क्लेश॥

पाते थे वे जगसे विराम।
गुरुवर वसिष्ठ ! तुमको प्रणाम॥

हैं इसमें वर्णित वे सुयोग।
हरते हैं जो भवजनित रोग॥
जिनका समयोचित कर प्रयोग।
पाते हैं शुभगति साधु लोग॥

खण्डित कर माया मोह दाम।
गुरुवर वसिष्ठ ! तुमको प्रणाम॥

श्रीरामचन्द्रको पात्र जान।
जो दिया उन्हें था महाज्ञान॥
मुनि वाल्मीकिने अमृत मान।
वह भरा सुछन्दोंमें निदान॥

रच ग्रन्थ योगवासिष्ठ नाम।
गुरुवर वसिष्ठ ! तुमको प्रणाम॥

उपदेश तुम्हारा है विचित्र।
जो करता है हियको पवित्र॥
जिससे जन बनकर सच्चरित्र।
हो जाते हैं ब्रह्मज्ञ 'मित्र'॥

मिलता है उनको परम धाम।
गुरुवर वसिष्ठ ! तुमको प्रणाम॥

श्रीपरमात्मने नमः

संक्षिप्त योगवासिष्ठ

वैराग्य-प्रकरण

सुतीक्ष्ण और अगस्ति, कारुण्य और अग्निवेश्य, सुरुचि तथा देवदूत और अरिष्टनेमि एवं वाल्मीकिके संवादका उल्लेख करते हुए भगवान्‌के श्रीरामावतारमें ऋषियोंके शापको कारण बताना

यतः सर्वाणि भूतानि प्रतिभान्ति स्थितानि च।
यत्रैवोपशमं यान्ति तस्मै सत्यात्मने नमः॥

सृष्टिके आरम्भमें सम्पूर्ण भूत जिनसे प्रकट होकर प्रतीतिके विषय होते हैं, स्थितिकालमें जिनमें ही स्थित होते हैं और प्रलयकाल आनेपर जिनमें ही लीन हो जाते हैं, उन सत्यस्वरूप परमात्माको नमस्कार है।

ज्ञाता ज्ञानं तथा ज्ञेयं द्रष्टा दर्शनदृश्यभूः।
कर्ता हेतुः क्रिया यस्मात् तस्मै ज्ञप्त्यात्मने नमः॥

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय; द्रष्टा, दर्शन और दृश्य तथा कर्ता, कारण और क्रिया—इन सबका जिनसे ही आविर्भाव होता है, उन ज्ञानस्वरूप परमात्माको नमस्कार है।

स्फुरन्ति सीकरा यस्मादानन्दस्याम्बरेऽवनौ।
सर्वेषां जीवनं तस्मै ब्रह्मानन्दात्मने नमः॥

जिनसे स्वर्ग और भूतल आदि सभी लोकोंमें आनन्द-रूपी जलके कण स्फुरित होते हैं—प्राणियोंके अनुभवमें आते हैं तथा जो समस्त जीवोंके जीवनाधार हैं, उन पूर्ण चिन्मय आनन्दके महासागररूप परब्रह्म परमात्माको नमस्कार है! ✓

पूर्वकालमें सुतीक्ष्ण नामसे प्रसिद्ध कोई ब्राह्मण थे, जिनके मनमें संशय छा गया था; अतः उन्होंने महर्षि अगस्तिके आश्रममें जाकर उन महामुनिसे आदरपूर्वक पूछा—'भगवन्! आप धर्मके तत्त्वको जानते हैं। आपको सम्पूर्ण शास्त्रोंके सिद्धान्तका सुनिश्चित ज्ञान है। मेरे हृदयमें एक महान् संदेह है, आप कृपापूर्वक इसका समाधान कीजिये। मोक्षका साधन कर्म है या ज्ञान है अथवा दोनों ही हैं? इन तीनों पक्षोंमेंसे किसी एकका निश्चय करके जो वास्तवमें मोक्षका कारण हो, उसका प्रतिपादन कीजिये।'

अगस्तिने कहा—ब्रह्मन्! जैसे दोनों ही पक्षोंसे पक्षियोंका आकाशमें उड़ना सम्भव होता है, उसी प्रकार ज्ञान और निष्काम कर्म दोनोंसे ही परमपदकी प्राप्ति होती है। इस विषयमें एक प्राचीन इतिहास है, जिसका

१. अगस्ति और अगस्त्य एक ही महर्षिके नाम हैं।

मैं तुम्हारे समक्ष वर्णन करता हूँ। पहलेकी बात है, कारुण्य नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण थे, जो अग्निवेश्यके पुत्र थे। उन्होंने सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन किया था तथा वे वेद-वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान् थे। गुरुके यहाँसे विद्या पढ़कर अपने घर लौटनेके बाद वे संध्या-वन्दन आदि कोई भी कर्म न करते हुए चुपचाप बैठे रहने लगे। उनके मनमें संशय भरा हुआ था। पिता अग्निवेश्यने देखा कि मेरा पुत्र शास्त्रोक्त कर्मोंका परित्याग करके निन्दनीय हो गया है, तब वे उसके हितके लिये इस प्रकार बोले।

अग्निवेश्यने कहा—बेटा! यह क्या बात है? तुम अपने कर्तव्य-कर्मोंका पालन क्यों नहीं करते? बताओ तो सही। यदि सत्कर्मोंके अनुष्ठानमें नहीं लगोगे तो तुम्हें परम सिद्धि कैसे प्राप्त होगी? तुम जो इस कर्तव्य-कर्मसे निवृत्त हो रहे हो, इसमें क्या कारण है? यह मुझसे कहो।

कारुण्य बोले—पिताजी! आजीवन अग्निहोत्र और प्रतिदिन संध्योपासना करे—इस प्रवृत्तिरूप धर्मका श्रुति और स्मृतिने विधान अथवा प्रतिपादन किया है। साथ ही एक दूसरी श्रुति भी है, जिसके अनुसार न धनसे, न कर्मसे और न संतानके उत्पादनसे ही मोक्ष प्राप्त होता है। मुख्य-मुख्य यतियोंने एकमात्र त्यागसे ही अमृतस्वरूप मोक्ष सुखका अनुभव किया है। पूज्य पिताजी! इन दो प्रकारकी श्रुतियोंमेंसे मुझे किसके आदेशका पालन करना चाहिये?' इस संशयमें पड़कर मैं कर्मकी ओरसे उदासीन हो गया हूँ।

अगस्ति कहते हैं—तात सुतीक्ष्ण! पितासे यों कहकर वे ब्राह्मण कारुण्य चुप हो गये। पुत्रको इस प्रकार कर्मसे उदासीन हुआ देख पिताने पुनः उससे कहा!

अग्निवेश्य बोले—बेटा! मैं तुमसे एक कथा कहता हूँ, उसे सुनो और उसके सम्पूर्ण तात्पर्यका अपने हृदयमें निश्चय कर लेनेके पश्चात् तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो।

सुरुचि नामसे प्रसिद्ध कोई देवलोककी स्त्री थी, जो अप्सराओंमें श्रेष्ठ समझी जाती थी। एक दिन वह मयूरोंके झुंडसे घिरे हुए हिमालयके एक शिखरपर बैठी थी। उसी समय उसने अन्तरिक्षमें इन्द्रके एक दूतको कहीं जाते देखा। उसे देखकर अप्सराओंमें श्रेष्ठ महाभागा सुरुचिने इस प्रकार पूछा—'महाभाग देवदूत! आप कहाँसे आ रहे हैं और इस समय कहाँ जायँगे? यह सब कृपा करके मुझे बताइये।'

देवदूतने कहा—भद्रे! सुनो; जो वृत्तान्त जैसे घटित हुआ है, वह सब मैं तुम्हें विस्तारसे बता रहा हूँ। सुन्दर भौंहोंवाली सुन्दरी! धर्मात्मा राजा अरिष्टनेमि अपने पुत्रको राज्य देकर स्वयं वीतराग हो तपस्याके लिये वनमें चले गये और अब गन्धमादन पर्वतपर वे तपस्या

१. न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः। (कैवल्य० २ तथा महानारायणोपनिषद् १७। ५)

कर रहे हैं। वहाँ वनमें ज्यों ही उन्होंने दुस्तर तपस्या आरम्भ की, त्यों ही देवराज इन्द्रने मुझे आदेश दिया—'दूत! तुम यह विमान लेकर शीघ्र वहाँ जाओ। इस विमानमें अप्सराओंके समुदायको भी साथ ले लो। नाना प्रकारके वाद्य इसकी शोभा बढ़ाते रहें। गन्धर्व, सिद्ध, यक्ष और किंनर आदिसे भी यह सुशोभित होना चाहिये। इसमें ताल, वेणु और मृदङ्ग आदि भी रख लो। इस प्रकार भाँति भाँतिके वृक्षोंसे भरे हुए सुन्दर गन्धमादन पर्वतपर पहुँचकर तुम राजा अरिष्टनेमिको इस विमानपर चढ़ा लो और उन्हें स्वर्गका सुख भोगनेके लिये अमरावती नगरीमें ले जाओ।'

देवराज इन्द्रकी यह आज्ञा पाकर मैं सामग्रियोंसे संयुक्त विमान ले उस पर्वतपर गया। वहाँ पहुँचकर राजा अरिष्टनेमिके आश्रमपर गया; फिर मैंने देवराज इन्द्रकी सारी आज्ञा राजासे कह सुनायी। शुभे! वे मेरी बात सुनकर संदेहमें पड़ गये और इस प्रकार बोले—'देवदूत! मैं आपसे एक बात पूछना चाहता हूँ, आप मेरे इस प्रश्नका उत्तर दें। स्वर्गमें कौन-कौन-से गुण हैं और कौन-कौन-से दोष? आप मेरे सामने उनका सुस्पष्ट वर्णन कीजिये। स्वर्गलोकमें रहनेके गुण-दोषको जाननेके पश्चात् मेरी जैसी रुचि होगी, वैसा करूँगा।'

मैंने कहा—'राजन्! स्वर्गलोकमें जीव अपने पुण्यकी सामग्रीके अनुसार उत्तम सुखका उपभोग करता है। उत्तम पुण्यसे उत्तम स्वर्गकी प्राप्ति होती है, मध्यम पुण्यसे मध्यम स्वर्ग मिलता है और इनकी अपेक्षा निम्न श्रेणीके पुण्यसे उसके अनुरूप स्वर्ग सुलभ होता है। इसके विपरीत कुछ नहीं होता। स्वर्गमें भी दूसरोंको अपनेसे ऊँची स्थितिमें देखकर लोगोंके लिये उनका उत्कर्ष असह्य हो उठता है। जो लोग समान स्थितिमें होते हैं, वे भी अपने बराबरवालोंके साथ स्पर्धा (लागडाँट) रखते हैं तथा जो स्वर्गवासी अपनेसे हीन स्थितिमें होते हैं, उनको अपनी अपेक्षा अल्पसुखी देखकर अधिक सुखवालोंको संतोष होता है। इस प्रकार असहिष्णुता, स्पर्धा और संतोषका अनुभव करते हुए पुण्यात्मा पुरुष तभीतक स्वर्गमें रहते हैं, जबतक उनके पुण्योंका भोग समाप्त नहीं हो जाता। पुण्योंका क्षय हो जानेपर वे जीव पुनः इस मर्त्यलोकमें प्रवेश करते हैं और पार्थिव-शरीर धारण करते रहते हैं। राजन्! स्वर्गमें इसी तरहके गुण और दोष विद्यमान हैं।'

भद्रे! मेरी यह बात सुनकर राजाने इस प्रकार उत्तर दिया—'देवदूत! जहाँ ऐसा फल प्राप्त होता है, उस स्वर्गलोकमें मैं नहीं जाना चाहता। आप इस विमानको लेकर जैसे आये थे, वैसे ही देवराज इन्द्रके पास चले जाइये। आपको नमस्कार है।'

भद्रे! जब राजाने मुझसे ऐसी बात कही, तब मैं इन्द्रके समक्ष यह वृत्तान्त निवेदन करनेके लिये लौट गया। वहाँ जब मैंने सब बातें ज्यों-की-त्यों कह सुनायीं, तब देवराज इन्द्रको महान् आश्चर्य हुआ और वे स्निग्ध एवं मधुर वाणीमें मुझसे पुनः बोले।

इन्द्रने कहा—दूत! तुम फिर वहाँ जाओ और उस विरक्त राजाको आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये तत्त्वज्ञ महर्षि वाल्मीकिके आश्रममें ले जाओ। वहाँ महर्षि वाल्मीकिसे मेरा यह संदेश कह देना—'महामुने! इन विनयशील, वीतराग तथा स्वर्गकी भी इच्छा न रखनेवाले नरेशको आप तत्त्वज्ञानका उपदेश दीजिये। ये जन्म-मरणरूप संसार-दुःखसे पीड़ित हैं; अतः आपके दिये हुए तत्त्व-ज्ञानके उपदेशसे इन्हें मोक्ष प्राप्त होगा।'

यों कहकर देवराजने मुझे राजा अरिष्टनेमिके पास भेजा। तब मैंने पुनः वहाँ जाकर राजाको वाल्मीकिजीके पास पहुँचाया, उनसे देवराज इन्द्रका संदेश कहा तथा राजाने उन महर्षिसे मोक्षका साधन पूछा। तदनन्तर वाल्मीकिजीने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक कुशल-प्रश्नकी बात आरम्भ करते हुए राजासे उनके आरोग्यका समाचार पूछा।

राजाने कहा—भगवन्! आपको धर्मके तत्त्वका ज्ञान है। जाननेयोग्य जितनी भी बातें हैं, वे सब आपको ज्ञात हैं। विद्वानोंमें श्रेष्ठ महर्षे! आपके दर्शनसे मैं कृतार्थ हो गया। यही मेरी कुशल है। भगवन्! मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ। आप बिना किसी विघ्न-बाधाके मेरी शङ्काका समाधान करें। संसार-बन्धनके दुःखसे मुझे जो पीड़ा हो रही है, उससे किस प्रकार मेरा छुटकारा होगा? यह बताइये।

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—राजन्! सुनो; मैं तुमसे अखण्ड रामायणकी कथा कहूँगा। उसे सुनकर यत्नपूर्वक हृदयमें धारण कर लेनेपर तुम जीवन्मुक्त हो जाओगे। राजेन्द्र! वह रामायण महर्षि वसिष्ठ और श्रीरामके संवादरूपमें वर्णित है। वह मोक्षप्राप्तिके उपायकी मङ्गलमयी कथा है। मैंने तुम्हारे स्वभावको समझ लिया है; अतः तुम्हें अधिकारी मानकर मैं तुमसे वह कथा कहूँगा। विद्वान् नरेश! सुनो।

राजाने पूछा—तत्त्वज्ञानियोंमें श्रेष्ठ महामुने! श्रीराम कौन हैं? उनका स्वरूप कैसा है? वे किसके वंशज थे? वे बद्ध थे या मुक्त? पहले आप मुझे इन्हीं बातोंका निश्चित ज्ञान प्रदान कीजिये।

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—स्वयं भगवान् श्रीहरि ही शापके पालनके बहाने राजा श्रीरामके रूपमें अवतीर्ण हुए थे। वे प्रभु सर्वज्ञ होनेपर भी (अपने भक्त महर्षियोंकी वाणीको सत्य करनेके लिये ही) आरोपित अथवा स्वेच्छासे गृहीत अज्ञानसे युक्त हो साधारण मनुष्योंकी भाँति अल्पज्ञ-से हो गये।

राजाने पूछा—महर्षे! श्रीराम तो सच्चिदानन्द-स्वरूप चैतन्यघनविग्रह थे। उन्हें शाप प्राप्त होनेका क्या कारण था? यह बताइये। साथ ही यह भी कहिये कि उन्हें शाप देनेवाला कौन था?

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—राजन्! (ब्रह्माजीके मानस पुत्र) सनत्कुमार, जो सर्वथा निष्काम थे, ब्रह्मलोकमें निवास करते थे। एक दिन त्रिलोकीनाथ सर्वशक्तिमान् भगवान् विष्णु वैकुण्ठलोकसे वहाँ पधारे। उस समय ब्रह्माजीने वहाँ उनका पूजन किया। सत्यलोकमें निवास करनेवाले दूसरे-दूसरे महात्माओंने भी उनका स्वागत-सत्कार किया। केवल सनत्कुमारने उनके आदर-सत्कारमें कोई भाग नहीं लिया—वे चुपचाप बैठे ही रह गये। तब उनकी ओर देखकर सर्वेश्वर भगवान् श्रीहरिने कहा—'सनत्कुमार! तुम अपनेको निष्काम समझकर अहंकारी हो गये हो, इसीलिये जडवत् स्तब्ध बने बैठे हो। इस गर्वयुक्त चेष्टाके कारण तुम शाप या दण्ड पानेके योग्य हो, अतः शरजन्मा कुमारके नामसे विख्यात हो दूसरा शरीर धारण करो।' यह सुनकर सनत्कुमारने भी भगवान् विष्णुको शाप दिया—'देवेश्वर! आप भी अपनी सर्वज्ञताको कुछ कालके लिये छोड़कर अज्ञानी जीवके समान हो जायँगे।' एक समय अपनी पत्नीको श्रीहरिके चक्रसे मारी गयी देख महर्षि भृगुका क्रोध बहुत बढ़ गया। वे उन्हें शाप देते हुए बोले—'विष्णो!

आपको भी कुछ कालके लिये अपनी पत्नीसे वियोगका कष्ट सहना पड़ेगा।' इस प्रकार सन्तकुमार और भृगुके शाप देनेपर (उनकी वाणी सत्य करनेके लिये) भगवान् विष्णु उस शापसे मनुष्यरूपमें अवतीर्ण हुए। राजन्! भगवान् विष्णुको शापका बहाना क्यों लेना पड़ा, इसका सब कारण मैंने तुम्हें बता दिया, अब तुम्हारे प्रश्नके अनुसार अन्य सारी बातें भी बता रहा हूँ। तुम सावधान होकर सुनो। (सर्ग १)

इस शास्त्रके अधिकारीका निरूपण, रामायणके अनुशीलनकी महिमा, भरद्वाजको ब्रह्माजीका वरदान तथा ब्रह्माजीकी आज्ञासे वाल्मीकिका भरद्वाजको संसार-दुःखसे छुटकारा पानेके निमित्त उपदेश देनेके लिये प्रवृत्त होना

दिवि भूमौ तथाऽऽकाशे बहिरन्तश्च मे विभुः।
यो विभात्यवभासात्मा तस्मै सर्वात्मने नमः॥

जो प्रकाश (ज्ञान) स्वरूप सर्वव्यापी परमात्मा स्वर्गमें, भूतलमें, आकाशमें तथा हमारे अदर और बाहर —सर्वत्र प्रकाशित हो रहे हैं, उन सर्वात्माको नमस्कार है।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं— राजन्! मैं ससाररूपी बन्धनमें बँधा हुआ हूँ, किंतु इससे मुक्त हो सकता हूँ— ऐसा जिसका निश्चय है तथा जो न तो अत्यन्त अज्ञानी है और न तत्त्वज्ञानी ही है, वही इस शास्त्रको सुनने अथवा पढ़नेका अधिकारी है। जो पहले कथारूपी उपायसे युक्त रामायणके बाल, अयोध्या आदि सभी काण्डोंका विचार (परिशीलन) करके मोक्षके उपायभूत इन वैराग्य आदि छः प्रकरणोंका विचार (अनुशीलन) करता है, वह विद्वान् पुरुष फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेता (वह यहाँके जन्म आदि दुःखोंसे सदाके लिये छुटकारा पा जाता है)। शत्रुओंका मर्दन करनेवाले नरेश! यह रामायण पूर्व और उत्तर—दो खण्डोंसे युक्त है। इसमें राग-द्वेष आदि दोषोंको दूर करनेके लिये रामकथारूपी प्रबल उपाय बताये गये हैं। पहले इन बाल आदि सात काण्डोंकी रचना करके मैंने एकाग्रचित्त हो अपने बुद्धिमान् एवं विनयशील शिष्य भरद्वाजको इसका ज्ञान प्रदान किया; ठीक उसी तरह, जैसे समुद्र मणि या रत्नकी इच्छा रखनेवाले याचकको मणि प्रदान करता है। बुद्धिमान् भरद्वाजने मुझसे कथारूपी उपायवाले इन सात काण्डोंका अध्ययन करनेके पश्चात् मेरुपर्वतके किसी गहन वनमें ब्रह्माजीके सामने इनका वर्णन किया। इससे महान् आशयवाले लोकपितामह भगवान् ब्रह्मा भरद्वाजके ऊपर बहुत संतुष्ट हुए और उनसे बोले—'बेटा! तुम मुझसे कोई वर माँग लो।'

भरद्वाजने कहा—भगवन् ! भूत, भविष्य और वर्तमानके स्वामी पितामह ! जिस उपायसे यह समस्त मानव-समुदाय सम्पूर्ण दुःखसे छुटकारा पा जाय, वह मुझे बताइये । आज मुझे यही वर अच्छा लगता है ।

श्रीब्रह्माजीने कहा—वत्स ! तुम इस विषयमें शीघ्र ही प्रयत्नपूर्वक अपने गुरु वाल्मीकिजीसे प्रार्थना करो । उन्होंने जिस निर्दोष रामायणकी रचना आरम्भ की है, उसका श्रवण कर लेनेपर मनुष्य सम्पूर्ण मोहसे पार हो जायँगे ।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाजसे यो कहकर सम्पूर्ण भूतोंके स्रष्टा भगवान् ब्रह्मा उनके साथ ही मेरे आश्रमपर आये । उस समय मैंने शीघ्र ही अर्घ्य, पाद्य आदिके द्वारा उन भगवान् ब्रह्माजीका पूजन किया । तत्पश्चात् समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर रहनेवाले ब्रह्माजीने मुझसे कहा—'श्रेष्ठ महर्षे ! श्रीरामचन्द्रजीके स्वभाव एवं स्वरूपका वर्णन करनेवाले इस निर्दोष रामायणका आरम्भ करके जबतक इसकी समाप्ति न हो जाय, तबतक कितना ही उद्वेग क्यों न हो, तुम इसका परित्याग न करना । इस ग्रन्थके अनुशीलनसे यह जगत् इस संसाररूपी क्लेशसे उसी प्रकार शीघ्र पार हो जायगा, जैसे जहाजके द्वारा लोग अविलम्ब समुद्रसे पार हो जाते हैं । तुम लोकहितके लिये इस रामायण नामक शास्त्रकी रचना करो । इसी बातको कहनेके लिये मैं स्वयं यहाँतक आया हूँ ।' तत्पश्चात् वे मेरे उस पवित्र आश्रमसे उसी क्षण अदृश्य हो गये । तब भरद्वाजने कहा—'भगवन् ! महामना श्रीरामचन्द्रजी, भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, यशस्विनी सीतादेवी तथा श्रीरामचन्द्रजीका अनुसरण करनेवाले परम बुद्धिमान् मन्त्रिपुत्र—इन सबने इस संसाररूपी संकटमें पड़कर कैसा व्यवहार किया था, यह बात मुझे बताइये । इसे सुनकर अन्य लोगोंके साथ मैं भी वैसा ही बर्ताव करूँगा ।'

राजेन्द्र ! जब भरद्वाजने आदरपूर्वक मुझसे पूर्वोक्त विषयका प्रतिपादन करनेके लिये अनुरोध किया, तब मैं भगवान् ब्रह्माजीकी आज्ञाका पालन करनेके लिये उक्त विषयके वर्णनमें प्रवृत्त हुआ और बोला—'वत्स भरद्वाज ! सुनो; तुमने जैसा पूछा है, उसके अनुसार तुम्हें सब कुछ बताता हूँ । मेरे उपदेशको सुननेसे तुम अपना सारा मोह दूर कर सकोगे । बुद्धिमान् भरद्वाज ! तुम वैसा ही व्यवहार करो, जैसा कि आनन्दस्वरूप कमलनयन भगवान् श्रीरामने समस्त संसारमें अनासक्तभावसे रहकर किया था ।'

महामना भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, कौसल्या, सुमित्रा, सीता, राजा दशरथ, श्रीरामसखा कृतास्त्र और अविरोध, पुरोहित वसिष्ठ, वामदेव तथा अन्यान्य आठ मन्त्री—ये सभी ज्ञानमें पारंगत थे । धृष्टि, जयन्त, भास, सत्यवादी विजय, विभीषण, सुपर्ण, हनुमान् और इन्द्रजित्—ये श्रीरामके आठ मन्त्री बताये गये हैं । ये सब-के-सब समदर्शी थे । इनका चित्त विषयोंमें आसक्त नहीं था । ये सभी जीवन्मुक्त महात्मा थे और प्रारब्धवश जो कुछ प्राप्त होता, उसीमें सतुष्ट रहकर तदनुकूल व्यवहार करते थे । बेटा ! इन लोगोंने जिस प्रकार होम, दान और आदान-प्रदान किया था, इन्होंने जगत्में जिस प्रकार निवास किया था और जिस प्रकार स्मरण-चिन्तन अथवा श्रौत-स्मार्त कर्मोंका पालन किया था, उसी प्रकार यदि तुम भी बर्ताव करते हो तो संसाररूपी संकटसे छूटे हुए ही हो । उदार एवं सत्त्वगुणसे सम्पन्न पुरुष अपार संसार-समुद्रमें गिरनेपर भी यदि उपर्युक्त उत्कृष्ट साधनको अपना ले तो उसे न तो शोक प्राप्त होता है और न वह दीनता अथवा दुःखमें ही पड़ता है । सब प्रकारकी चिन्ताओंसे मुक्त हो वह परमानन्द-सुधाका पान करके सदाके लिये परम तृप्त हो जाता है ।

(सर्ग २)

जीवन्मुक्तके स्वरूपपर विचार, जगत्‌के मिथ्यात्व तथा द्विविध वासनाका निरूपण तथा भगवान् श्रीरामकी तीर्थ-यात्राका वर्णन

भरद्वाज बोले—ब्रह्मन्! आप श्रीरामचन्द्रजीकी कथासे आरम्भ करके क्रमशः जीवन्मुक्तकी स्थितिका मुझसे वर्णन कीजिये जिससे मैं सदाके लिये परम सुखी हो जाऊँ।

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—साधु पुरुष भरद्वाज! जैसे रूपरहित आकाशमें नील-पीत आदि वर्णोंका भ्रम होता है उसी प्रकार निर्गुण निराकार ब्रह्ममें अज्ञानवश जगत्‌की सत्ताका भ्रम होता है। यह जो जगत्सम्बन्धी भ्रम उत्पन्न हो गया है, इसे इस तरह भुला दिया जाय कि फिर कभी इसका स्मरण ही न हो—इसीको मैं उत्तम ज्ञान मानता हूँ। इस दृश्य-प्रपञ्चका अत्यन्त अभाव है—यह बिना हुए ही भासित हो रहा है, जबतक ऐसा बोध नहीं होता, तबतक कोई कभी भी उस उत्कृष्ट आत्मज्ञानका अनुभव नहीं कर सकता; इसलिये आत्मज्ञानका अन्वेषण—उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये। इस (योग-वासिष्ठरूप) शास्त्रका ज्ञान होनेपर इसी जीवनमें उस आत्मतत्त्वका बोध हो जाय—यह सर्वथा सम्भव ही है—वह होकर ही रहेगा। इसी उद्देश्यसे इस शास्त्रका विस्तार (प्रचार-प्रसार) किया जाता है। यदि तुम (श्रद्धा-भक्तिके साथ) इस शास्त्रका श्रवण करोगे तो निश्चय ही तुम्हें उस आत्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त हो जायगा; अन्यथा उसकी प्राप्ति असम्भव है।

निष्पाप भरद्वाज! यह जगत्‌रूपी भ्रम यद्यपि प्रत्यक्ष दिखायी देता है, तो भी इस शास्त्रके विचारसे अनायास ही ऐसा अनुभव हो जाता है कि 'यह है ही नहीं'—ठीक उसी तरह जैसे आकाशमें नील आदि वर्ण प्रत्यक्ष दीखनेपर भी विचार करनेसे बिना परिश्रमके ही यह समझमें आ जाता है कि इसका अस्तित्व नहीं है। यह दृश्य-जगत् वास्तवमें है ही नहीं, ऐसा बोध होनेपर जब मनसे दृश्य-प्रपञ्चका मार्जन (निवारण या अभाव) हो जाय, तब परमनिर्वाणरूप शान्तिका स्वतः अनुभव होने लगता है। ब्रह्मन्! सम्पूर्णरूपसे वासनाओंका जो परित्याग (अत्यन्त अभाव) है, वही उत्तम मोक्ष कहलाता है। उसे अविद्यारूपी मलसे रहित ज्ञानी ही प्राप्त कर सकते हैं। विप्रवर! जैसे शीतके नष्ट होनेपर हिमकण तुरंत गल जाते हैं, उसी प्रकार वासनाओंके क्षीण हो जानेपर (वासना-पुञ्जरूप) चित्त भी शीघ्र ही गल जाता है (उसका अभाव-सा हो जाता है)।

वासना दो प्रकारकी बतायी गयी है—एक शुद्ध वासना और दूसरी मलिन वासना। मलिन वासना जन्मकी हेतुभूत है—उसके द्वारा जीव जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ता है और शुद्ध वासना जन्मका नाश करनेवाली (अर्थात् मोक्षकी साधिका) है। विद्वानोंने मलिन वासनाको पुनर्जन्मकी प्राप्ति करानेवाली बताया है। अज्ञान ही उसकी घनीभूत आकृति है तथा वह बढ़े हुए अहंकारसे सुशोभित होती है। जो भुने हुए बीजके समान पुनर्जन्मरूपी अङ्कुरको उत्पन्न करनेकी शक्तिको त्यागकर केवल शरीरधारण मात्रके लिये स्थित रहती है, वह वासना 'शुद्धा' कही गयी है। जो लोग शुद्ध वासनासे युक्त हैं, वे फिर जन्मरूप अनर्थके भाजन नहीं होते। जानने योग्य परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले वे परम बुद्धिमान् पुरुष 'जीवन्मुक्त' कहलाते हैं।

महामते भरद्वाज! अब तुम श्रीरामचन्द्रजीकी जीवन-चर्यासे सम्बन्ध रखनेवाली इस महत्त्वकारिणी कथाका क्रमशः श्रवण करो। मैं उसका वर्णन करूँगा, उसीके द्वारा तुम सदाके लिये सम्पूर्ण तत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लोगे। वत्स! जिन्हें कहींसे भी कोई भय नहीं है, वे कमल-नयन भगवान् श्रीराम जब अध्ययनके पश्चात् विद्यालयसे निकलकर घरको लौटे, तब भाँति-भाँतिकी लीलाएँ करते हुए उन्होंने राजभवनमें कुछ दिन व्यतीत किये। तदनन्तर

कुछ समय बीतनेपर, जब कि राजा दशरथ भूमण्डलके पालनमें लगे थे और प्रजावर्गके लोग रोग-शोकसे रहित हो बड़े सुखसे दिन बिता रहे थे, एक दिन अनन्त कल्याणमय गुणोंसे सुशोभित होनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके मनमें तीर्थों तथा पुण्यमय आश्रमोंके दर्शनकी अत्यन्त उत्कण्ठा जाग उठी। तब श्रीरामने पिताके पास जाकर उनके चरण-कमलोंमें प्रणाम किया और इस प्रकार कहा।

श्रीराम बोले—पिताजी! मेरे स्वामी महाराज! मेरे मनमें तीर्थों, देवमन्दिरों, वनों तथा आश्रमोंका दर्शन करनेके लिये बड़ी उत्कंठा हो रही है। आपके समक्ष मेरी यह पहली याचना है, आप इसे सफल करने योग्य हैं। नाथ! संसारमें ऐसा कोई याचक नहीं है, जिसे अभीष्ट वस्तु देकर आपने उसका आदर न किया हो।

श्रीराम पहली बार प्रार्थी होकर राजाके समक्ष उपस्थित हुए थे। उनके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर राजा दशरथने वसिष्ठजीके साथ विचार करके उन्हें तीर्थ-दर्शनके लिये आज्ञा दे दी। उस समय शुभ नक्षत्र और शुभ दिनमें ब्राह्मणोंने आकर उनके लिये स्वस्तिवाचन किया। उनके शरीरको माङ्गलिक वेष-भूषासे अलकृत किया गया। माताओंने उन्हें हृदयसे लगा-लगाकर आशीर्वाद दिये और आभूषण पहनाये। फिर वे रघुनाथजी तीर्थ-यात्राके लिये उद्यत हो लक्ष्मण और शत्रुघ्न—इन दो भाइयों, वसिष्ठजीके भेजे हुए शास्त्रज्ञ ब्राह्मणों तथा अपने ऊपर स्नेह रखनेवाले कुछ इने-गिने राजकुमारोंके साथ अपने उस राजभवनसे बाहर निकले। श्रीरामचन्द्रजी दान-मान आदिसे ब्राह्मणोंको अपने अनुकूल बनाते, सब ओरसे प्रजाओंके आशीर्वाद सुनते और सम्पूर्ण दिशाओंके दृश्योंपर दृष्टिपात करते वन्य-प्रदेशोंमें भ्रमण करने लगे। उन्होंने अपने निवास-स्थान उस कोसल जनपदसे आरम्भ करके स्नान, दान, तप और ध्यानपूर्वक क्रमशः समस्त तीर्थ-स्थानोंका दर्शन किया। नदियोंके पवित्र तट, पुण्य वन, पावन आश्रम, जंगल, जनपदोंकी सीमाओंमें स्थित समुद्र और पर्वतोंके तट, चन्द्रमाके समान उज्ज्वल आभावाली गङ्गा, नील कमलकी-सी कान्तिवाली निर्मल कलिन्दनन्दिनी यमुना, सरस्वती, शतद्रू (सतलज), चन्द्रभागा (चिनाब), इरावती (रावी), वेणी, कृष्णवेणी, निर्विन्ध्या, सरयू, चर्मण्वती (चम्बल), वितस्ता (झेलम), विपाशा (व्यास), बाहुदा, प्रयाग, नैमिषारण्य, धर्मारण्य, गया, वाराणसी (काशीपुरी), श्रीशैल, केदारनाथ, पुष्कर, क्रमप्राप्त मानस सरोवर, उत्तरमानस, वड़वामुख, अन्य तीर्थसमुदाय, अग्नितीर्थ, महातीर्थ, इन्द्रद्युम्न सरोवर आदि पुण्यतीर्थ, सरोवर, सरिताएँ, नद, तालाब या कुण्ड—इन सबका उन्होंने आदरपूर्वक दर्शन किया।

---

१. वेणी नदी कृष्णामें मिलनेसे पहले केवल वेणी कहलाती है, कृष्णामें संगम होनेके पश्चात् उसका नाम कृष्णवेणी हो जाता है।

२. कुछ लोगोंकी मान्यताके अनुसार बाहुदा सुप्रसिद्ध रावी नदीकी एक सहायक नदी है।

स्वामी कार्तिकेय, शालग्रामस्वरूप श्रीविष्णु, भगवान् विष्णु और शिवके चौसठ स्थान, नाना प्रकारके आश्चर्य-जनक दृश्योंसे विचित्र शोभा धारण करनेवाले चारों समुद्रोंके तट, विन्ध्यपर्वत और मन्दराचलके कुञ्ज, हिमालय आदि सात कुल-पर्वतोंके स्थान तथा बड़े-बड़े राजर्षियों, ब्रह्मर्षियों, देवताओं और ब्राह्मणोंके मङ्गलकारी पावन आश्रमोंका भी श्रीरामचन्द्रजीने श्रद्धापूर्वक दर्शन किया। दूसरोंको मान देनेवाले श्रीरघुनाथजी अपने भाइयोंके साथ बारंबार चारों दिशाओंके प्रान्तभा तथा भूमण्डलके सभी छोरोंमें घूमते फिरे। जैसे देव आदिसे सम्मानित भगवान् शंकर सम्पूर्ण दिशाओं विहार करके पुनः शिवलोकमें लौट आते हैं, उसी प्रक रघुनन्दन श्रीराम देवताओं, किंनरों तथा मनुष्योंसे सम्मानि हो इस सम्पूर्ण भूमण्डलका अवलोकन करके फिर अ घर लौट आये। (सर्ग ३

तीर्थ-यात्रासे लौटे हुए श्रीरामकी दिनचर्या एवं पिताके घरमें निवास; राजा दशरथके यहाँ विश्वामित्रका आगमन और राजाद्वारा उनका सत्कार

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! जब श्रीमान् रामचन्द्र नगरको लौटे, उस समय (उनका स्वागत करते हुए) पुरवासीजन उनके ऊपर राशि-राशि पुष्प बिखेरने लगे। उस अवस्थामें, जैसे इन्द्र-पुत्र जयन्त अपने स्वर्गीय भवनमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार उन्होंने अपने महलमें प्रवेश किया। वहाँ पहुँचकर रघुनाथजीने पहले पिताको प्रणाम किया, फिर क्रमशः कुलगुरु

वसिष्ठजीको, बड़े बन्धु-बान्धवोंको, ब्राह्मणोंको तथा कुल-के बड़े-बूढ़े लोगोंको मस्तक झुकाया। फिर सुहृदों, बन्धुओं, पिता तथा ब्राह्मणसमुदायने श्रीरामको बारंबार हृदयसे लगाया और श्रीरामने भी उनके प्रति अभिवा एवं प्रिय-भाषण आदि यथोचित आचार व्यवहा निर्वाह किया। उस समय श्रीरघुनाथजी आनन्दोछा फूले नहीं समाते थे। अयोध्यामें श्रीरामचन्द्रज शुभागमनके उपलक्ष्यमें लगातार आठ दिनोंतक आनन्दो मनाया गया। उस समय हर्षसे मतवाली जनताके सुखपूर्वक किये गये गीत-वाद्य आदिका मधुर कोल सब ओर व्याप्त हो गया था। त श्रीरघुनाथजी विभिन्न देशोंमें प्रचलित प्रकारके रहन-सहनका जहाँ-तहाँ वर्णन हुए घरमें ही सुखपूर्वक रहने लगे।

श्रीरामचन्द्रजी प्रतिदिन सवेरे उ (स्नान आदिके पश्चात्) विधिपूर्वक स वन्दन करके राजसभामें बैठे हुए इन्द्रतुल्य तेजस्वी पिता महाराज दशरथक किया करते थे। वहाँ एक पहरतक आदिके साथ बैठकर आदरपूर्वक शा कथा-वार्ता सुना करते थे। भाइयोंके साथ तीर्थयात्रासे पर श्रीरघुनाथजी प्रायः ऐसी ही दिनचर्याको अप पिताके घरमें सुखपूर्वक रहते थे। निष्पाप भर

श्रीरामचन्द्रजीकी प्रत्येक चेष्टा राजोचित व्यवहारके कारण बड़ी मनोहर प्रतीत होती थी; वह सत्पुरुषोंके चित्तमें चन्द्रमाकी चाँदनीके समान आह्लाद उत्पन्न करती थी। सभी उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे तथा वह अमृत-रसके समान मधुर, सुन्दर एवं कोमल होती थी। ऐसी ही चेष्टाके द्वारा वे दिन व्यतीत करते थे।

भरद्वाज! तदनन्तर जब श्रीरघुनाथजीकी अवस्था सोलह वर्षसे कुछ ही कम थी, शत्रुघ्न और लक्ष्मण श्रीरामचन्द्रजीका निरन्तर अनुसरण करते थे, भरत सुख-पूर्वक अपने नानाके यहाँ विराज रहे थे, महाराज दशरथ इस सारी पृथ्वीका यथोचित रूपसे पालन कर रहे थे तथा वे महाप्राज्ञ नरेश प्रतिदिन मन्त्रियोंके साथ बैठकर अपने पुत्रोंके विवाहके लिये भी परामर्श करने लगे थे, उन्हीं दिनों तीर्थयात्रा पूरी करके अपने घरमें रहते हुए श्रीराम दिन-पर-दिन कृश होने लगे।

भरद्वाज! महाराज दशरथ श्रीरामसे बारंबार स्नेह-युक्त मधुरवाणीमें पूछते—'बेटा! तुम्हारे मनमें कैसी बड़ी भारी चिन्ता पैदा हो गयी है?' वे उत्तर देते—'पिताजी! मुझे कोई कष्ट नहीं है।' इतना ही कहकर कमलनयन श्रीराम पिताजीकी गोदमें चुपचाप बैठ जाते थे।

तदनन्तर एक दिन राजा दशरथने समस्त कार्योंका ज्ञान रखनेवाले, वक्ताओंमें श्रेष्ठ वसिष्ठजीसे पूछा—'गुरुदेव! श्रीराम क्यों खिन्न हैं?' उनके इस प्रकार पूछनेपर वसिष्ठ मुनिने कुछ सोचकर राजासे कहा—'श्रीमन्! महाराज! इसमें कुछ कारण है; किंतु इसके लिये आपके मनमें दुःख नहीं होना चाहिये।'

इसी समय महर्षि विश्वामित्र अयोध्यानरेश दशरथसे मिलनेके लिये वहाँ आये। उन दिनों धर्मकार्यमें तत्पर रहनेवाले उन बुद्धिमान् महर्षिके यहाँ एक यज्ञ हो रहा था। माया, बल और वीर्यसे उन्मत्त रहनेवाले राक्षसोंने एक साथ आक्रमण करके उनके उस यज्ञका विध्वंस कर डाला। उस यज्ञकी रक्षाके लिये ही उन्होंने महाराज

दशरथसे मिलनेकी इच्छा की थी; क्योंकि राक्षसोंके उत्पातके कारण वे मुनि अपने उस यज्ञको बिना किसी विघ्न-बाधाके पूर्ण नहीं कर पाते थे। तब उन निशाचरों के विनाशके लिये उद्यत हो वे तपोनिधि महातेजस्वी विश्वामित्र मुनि अयोध्यापुरीमें आये। वहाँ पहुँचकर राजासे मिलनेकी अभिलाषा लिये वे द्वारपालोंसे बोले—'तुमलोग शीघ्र जाकर महाराजको मेरे आनेकी सूचना दो। उनसे कहना—गाधिके पुत्र कुशिकवंशी विश्वामित्र आये हैं।'

मुनिका यह वचन सुनकर राजद्वारपर रहनेवाले पहरेदारोंने राजमहलमें जाकर अपने स्वामी छड़ीदारको बताया—'प्रभो! महर्षि विश्वामित्र पधारे हैं। तब उस छड़ीदारने सभामण्डपमें राजाओंकी मण्डलीसे घिरे बैठे हुए महाराजके पास तुरंत जाकर सूचना दी—'देव! राजद्वारपर नवोदित सूर्यके समान महातेजस्वी तथा अग्निकी ज्वालाके सदृश अरुण जटाजूटधारी एक दीप्तिमान् पुरुष आकर खड़े हैं। वे महामुनि विश्वामित्र हैं।' राजाकी ओर देखकर छड़ीदारने नम्रता

वचनोंमें ज्यों ही यह बात कही, उसकी उस बातको सुनते ही मन्त्री और सामन्तोंसहित वे राजशिरोमणि दशरथ तत्काल सोनेके सिंहासनसे उठकर खड़े हो गये।

राजाओंके समुदायसे घिरे तथा सामन्तोंसे प्रशंसित होते हुए वे नरेश वसिष्ठ और वामदेवजीके साथ सहसा पैदल ही उस स्थानकी ओर चल दिये, जहाँ महामुनि

विश्वामित्र खड़े थे। राजाने ड्योढ़ीपर खड़े हुए उन मुनिश्रेष्ठको देखा। वे ब्राह्मणोचित तेज तथा महान् क्षात्र-बलसे भी सम्पन्न थे। वृद्धावस्थाके कारण अधिक पकी हुई और तपस्यामें ही लगे रहनेसे रूखी जटावल्लरीके द्वारा उनके कंधे ढके हुए थे। उन्होंने शान्त (सौम्य), कान्तिमान्, उद्दीप्त, प्रतिघातरहित, विनयशील, हृष्ट-पुष्ट अवयवोंसे युक्त तथा तेजस्वी शरीर धारण कर रक्खा था। उनका तेज सुन्दर होनेके साथ ही अत्यन्त भयंकर था, प्रसादगुणसे युक्त तथा दूरतक फैला हुआ था, गम्भीर एवं अतिशय पूर्णताको प्राप्त था। उस तेजसे ऋषिकी अङ्ग-कान्ति अनुरञ्जित थी। उन्होंने अपने हाथमें एक कुण्डी (कमण्डलु) ले रक्खी थी, जो चिकनी, निर्दोष एवं उत्तम थी। वह उनके कल्पान्तस्थायी जीवनकालकी सभी अवस्थाओंमें सहचरीकी भाँति उनका साथ देती थी। मुनिका अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल था। उनके चित्तमें करुणा भरी थी, इसलिये उनकी वाणी बड़ी मधुर एवं प्रसन्नतासूचक होती थी। वे अपनी स्नेहपूर्ण दृष्टिसे इस प्रकार देखते थे, मानो सामने खड़ी हुई जनताको अमृतसे सींच रहे हों। उनके अङ्गमें सुन्दर यज्ञोपवीत शोभा पा रहा था। वे दर्शकोंके मनमें अत्यन्त आश्चर्यका संचार-सा कर रहे थे। उन महर्षिको दूरसे ही देखकर राजाका शरीर विनयसे झुक गया और उन्होंने मुकुटमण्डित मस्तकसे उनके चरणोंमें प्रणाम किया। मुनिने भी, जैसे सूर्यदेव इन्द्रका प्रत्यभिवादन करते हैं, उसी प्रकार मधुर एवं उदारतापूर्ण वचनोंद्वारा आशीर्वाद देकर पृथ्वीनाथ दशरथका प्रत्यभिवादन किया। तत्पश्चात् वसिष्ठ आदि सभी ब्राह्मणोंने स्वागत आदिके क्रमसे विश्वामित्रजीका सत्कार किया।

दशरथने कहा—महात्मन्! जैसे भगवान् सूर्य अपने तेजस्वी स्वरूपका दर्शन देकर कमलोंसे भरे हुए सरोवरों-पर अनुग्रह करते हैं, उसी प्रकार आज आपका जो यह असम्भावित तेजोमय दर्शन प्राप्त हुआ है, इससे हम सब लोग अत्यन्त अनुगृहीत हैं।

मुनिके प्रति ऐसी ही बातें कहते हुए अन्य राजा तथा महर्षि, सब लोग राजसभामें आकर यथायोग्य आसनोंपर बैठ गये। राजा दशरथने स्वयं ही मुनिको अर्घ्य निवेदन किया।

राजाके अर्घ्यको स्वीकार करके महर्षिने शास्त्रोक्त विधिसे प्रदक्षिणा करते हुए नरेशकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। राजा दशरथद्वारा पूजित हो विश्वामित्र बड़े प्रसन्न हुए। उनका मुखारविन्द खिल उठा। उन्होंने राजासे उनकी कुशल पूछी। तदनन्तर मुनिवर विश्वामित्र हँसकर वसिष्ठजीसे मिले और यथायोग्य सत्कार करके उनके आरोग्यका समाचार पूछने लगे। क्षणभरमें एक दूसरेसे

मिलकर यथायोग्य आदर-सत्कार करके वे सब लोग प्रसन्न-चित्त हो महाराजके महलमें यथायोग्य आसनोंपर बैठ गये। एक दूसरेके सम्पर्कमें आनेसे उन सबके तेज बढ़ गये थे। वे सब आदरपूर्वक आपसमें एक दूसरेकी कुशल पूछने लगे। तदनन्तर प्रसन्नचित्त एवं पवित्र राजा दशरथने हाथ जोड़कर मुनिसे कहा—

"विप्रवर! आप परम धर्मात्मा तथा दानके उत्तम पात्र हैं और सौभाग्यवश यहाँ पधार गये हैं। बताइये आपकी सर्वोत्तम अभिलाषा क्या है? मैं आपकी कौन-सी सेवा करूँ? भगवन्! पहले आप 'राजर्षि' कहे जाते थे, किंतु तपस्याने आपके ब्राह्मतेजको प्रकाशित कर दिया। आपने 'ब्रह्मर्षि'का पद प्राप्त कर लिया, अतः आप मेरे द्वारा सर्वथा पूजनीय हैं। जैसे गङ्गाजीके जलमें स्नान करनेसे मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है, उसी प्रकार आपके दर्शनसे भी हो रही है। वह प्रसन्नता मेरे हृत्कमलको शीतल-सा किये देती है। ब्रह्मन्! आपके अन्तः-करणसे इच्छा, भय और क्रोध निकल गये हैं, राग-द्वेष दूर हो गये हैं, आप सर्वथा रोगरहित हैं; तो भी मेरे पास आये, यह अत्यन्त अद्भुत बात है। यहाँ पधारे हुए आप-का दर्शन, पूजन और वन्दन करके मैं अपनेमें ही फूला नहीं समाता—वैसे ही, जैसे समुद्र अपने ही भीतर पूर्ण चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब देखकर अपने आपमें नहीं समाता, तटकी सीमाको लाँघकर आगे बढ़ आता है। मुनिवर! आपका जो कार्य हो, जिस प्रयोजनसे आप यहाँ पधारे हों, उसे आप सिद्ध हुआ ही समझिये; क्योंकि आप सर्वदा मेरे माननीय हैं। कुशिक-कुलनन्दन! आप कोई विचार न कीजिये। भगवन्! आपके लिये मुझे कुछ भी अदेय नहीं है; क्योंकि दी हुई वस्तु आप-जैसे सत्पात्रको प्राप्त होकर ही सार्थक होती है। मैं आपका सारा कार्य पूर्ण करूँगा। आप मेरे परम देवता हैं।'

आत्मज्ञानी महाराज दशरथके द्वारा विनयपूर्वक कहे हुए इस अत्यन्त मधुर, श्रवणसुखद एवं गुणविशिष्ट वचनको सुनकर विख्यातगुण और प्रख्यात यशवाले मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रको बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई।

(सर्ग ४—६)

विश्वामित्रका अपने यज्ञकी रक्षाके लिये श्रीरामको माँगना और राजा दशरथका उन्हें देनेमें अपनी असमर्थता दिखाना

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! तदनन्तर महातेजस्वी विश्वामित्रजीने पुलकित होकर कहा—'नृपश्रेष्ठ! आप महान् कुलमें उत्पन्न हुए हैं और महर्षि वसिष्ठजीकी आज्ञाके अधीन रहते हैं; अतः आपके मुखसे जो बात निकली है, वह इस भूतलपर आपके ही योग्य है। महाराज! अब मैं अपना हार्दिक अभिप्राय आपसे निवेदन करता हूँ। जब-जब मैं यज्ञके द्वारा देवसमूहोंका पूजन करता हूँ, तब-तब कुछ निशाचर आकर मेरे उस यज्ञको नष्ट कर देते हैं। मैंने अनेक बार यज्ञका अनुष्ठान आरम्भ किया, किंतु राक्षसनायकोंने उस यज्ञ-मण्डपकी भूमिमें रक्त और मांस बिखेर दिये। मैं यज्ञके लिये परिश्रम करके भी उसमें सफल नहीं हो रहा हूँ, इसलिये विघ्न-निवारणके उद्देश्यको लेकर मैं उस स्थानसे यहाँ आपके पास आया हूँ। पृथ्वीनाथ! मेरे मनमें यह विचार नहीं होता कि मैं क्रोध करके उन्हें शाप दे दूँ। मैं चाहता हूँ, आपके प्रसादसे उस यज्ञको बिना किसी विघ्न-बाधाके पूर्ण करके उसके महान् पुण्य-फलका भागी होऊँ। अतः आर्त होकर शरण पानेकी इच्छासे आपके पास आया हूँ, आप (उस यज्ञकी रक्षाद्वारा) मेरा संकटसे उद्धार करनेके योग्य हैं। आपके पुत्र श्रीमान् राम मतवाले सिंहके समान पराक्रमी हैं। उनका बल-विक्रम देवराज इन्द्रके तुल्य है। वे उन राक्षसोंको विदीर्ण करनेमें पूर्ण समर्थ हैं। अतः राजसिंह! आपके जो ज्येष्ठ पुत्र काकपक्षधारी

सत्यपराक्रमी, शूरवीर श्रीराम हैं उनको मुझे सौंप दीजिये। ये मुझसे सुरक्षित रहकर अपने दिव्य तेजसे उन यज्ञ-विध्वंसक एवं समस्त संसारका अपकार करनेवाले राक्षसोंका मस्तक काटनेमें समर्थ होंगे। मैं इन श्रीरामको (अस्त्र-विद्या प्रदान करके) अनेक प्रकारसे अनन्त कल्याणका भागी बनाऊँगा, जिससे ये तीनों लोकोंके पूजनीय होंगे।

'वे पापी राक्षस युद्धमें कालकूटके समान भयानक हैं, उन्हें अपने बल और पराक्रमपर बड़ा गर्व है, वे खर और दूषणके भृत्य हैं तथा कुपित होनेपर यमराजके समान जान पड़ते हैं। किंतु राजसिंह! वे श्रीरामके सायकोंको उसी प्रकार नहीं सह सकेंगे, जैसे धूलिकण निरन्तर गिरती हुई मेघकी जलधाराको नहीं सह सकते। महाराज! मैं अपनी तपःशक्तिसे इस बातको निश्चित रूपसे जानता हूँ, आप भी मेरे कथनानुसार उन राक्षसोंको मरा हुआ ही समझिये; क्योंकि हम तथा हमारे-जैसे दूसरे विज्ञ पुरुष संदिग्ध विषयमें नहीं प्रवृत्त होते। कमलनयन श्रीराम कोई साधारण पुरुष नहीं, साक्षात् परमात्मा हैं; इन्हें मैं जानता हूँ, महातेजस्वी वसिष्ठजी जानते हैं तथा दूसरे-दूसरे दीर्घदर्शी महर्षि भी जानते हैं। * यदि आपके हृदयमें धर्म, महत्ता और यशके लिये विशेष स्थान है तो अपने प्रिय पुत्र श्रीरामको आप मुझे दे दीजिये। मेरा वह यज्ञ, जिसमें श्रीरामको यज्ञद्रोही, विघ्नकर्ता राक्षसोंका वध करना है, दस दिनोंमें पूरा हो जायगा। काकुत्स्थ! इसके लिये भी आपके वसिष्ठ आदि सभी मन्त्री आपको अवश्य अनुमति दे देंगे, अतः आप श्रीरामको मेरे साथ भेज दीजिये। ठीक समयपर किया हुआ थोड़ा-सा भी कार्य बहुत उपकारी होता है और समय बीतनेपर किया हुआ महान् उपकारी भी व्यर्थ हो जाता है।†

इस प्रकार धर्म और अर्थसे युक्त बात कहकर धर्मात्मा, महातेजस्वी मुनीश्वर विश्वामित्र चुप हो गये। मुनिवर विश्वामित्रका वचन सुनकर उन्हें युक्तियुक्त उत्तर देनेके लिये कुछ सोचते हुए महानुभाव राजा दशरथ थोड़ी देरतक चुपचाप बैठे रहे; क्योंकि जिसका मनोरथ पूर्ण न किया गया हो, वह बुद्धिमान् पुरुष युक्तिसंगत उत्तर पाये बिना संतुष्ट नहीं होता है।

भरद्वाज! विश्वामित्रजीका वह भाषण सुनकर (वात्सल्य-भावापन्न) नृपश्रेष्ठ दशरथ दो घड़ीतक निश्चेष्ट बैठे रहे, फिर इस प्रकार दीनतापूर्ण वचन बोले—'मुनीश्वर! कमलनयन श्रीरामकी अवस्था अभी सोलह वर्षसे भी कम है। ये राक्षसोंके साथ युद्ध कर सकें, ऐसी योग्यता मैं इनमें नहीं देखता। प्रभो! मेरे पास यह पूरी एक अक्षौहिणी सेना है, जिसका मैं ही स्वामी हूँ। इस सेनाके साथ चलकर मैं ही उन पिशाचोंके साथ युद्ध करूँगा। ये सभी सैनिक मेरे भृत्य हैं—मेरे द्वारा पोषित हुए हैं। ये शूरवीर, पराक्रमी और उचित सलाह देनेमें भी चतुर हैं। मैं युद्धके मुहानेपर हाथमें धनुष लेकर इन सबकी रक्षा करूँगा। इनके साथ रहकर मैं महेन्द्रसे भी बढ़े-चढ़े वीरोंको उसी तरह युद्धका अवसर दूँगा, जैसे सिंह मतवाले हाथियोंको देता है। श्रीराम अभी बालक हैं। इन्हें न तो उत्तम शस्त्रोंका ज्ञान है और न ये युद्धकी कलामें ही निपुण हुए हैं। समराङ्गणमें कोटि-कोटि शूरवीरोंके साथ अस्त्रोंद्वारा कैसे युद्ध किया जाता है, इसका भी इनको ज्ञान नहीं है। केवल फुलवाड़ियोंमें, नगरके उपवनोंमें तथा उद्यानवर्ती वनकुञ्जोंमें इनका

---

* अहं वेद्मि महात्मानं रामं राजीवलोचनम्।
वसिष्ठश्च महातेजा ये चान्ये दीर्घदर्शिनः॥
(यो० वै० ७। २१)

† कार्यमप्यपि काले तु कृतमेत्युपकारताम्।
महानप्युपकारोऽपि रिक्ततामेत्यकालतः॥
(यो० वै० ७। २६)

घूमना-फिरना होता है। ये राजकुमारोंके साथ आँगनकी उस भूमिमें विचरण करना जानते हैं, जिसपर फूल बिछे होते हैं।

'ब्रह्मन्! आजकल तो मेरे भाग्यके उलट-फेरसे ये उसी तरह अत्यन्त कृश और पाण्डु वर्णके हो गये हैं, जैसे पाला पड़नेसे कमल पीला पड़कर गलने लगता है। अपने चारों पुत्रोंमें मेरा सबसे अधिक प्रेम इन श्रीरामपर ही है। अतः मेरे धर्मात्मा ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको आप यहाँसे न ले जायँ। मुने! यदि आपको निशाचर-सेनाका नाश ही अभीष्ट है तो मेरे साथ मेरी चतुरङ्गिणी सेनाको ले चलिये। सुना जाता है कि रावण नामसे प्रसिद्ध एक महापराक्रमी राक्षस है, जो साक्षात् कुबेरका भाई और विश्रवा मुनिका पुत्र है। यदि वही दुर्बुद्धि राक्षस आपके यज्ञमें विघ्न डालता है, तब तो हमलोग उस दुरात्माके साथ युद्ध करनेमें असमर्थ हैं।' (सर्ग ७८)

विश्वामित्रका रोष, वसिष्ठजीका राजा दशरथको समझाना, राजा दशरथका श्रीरामको बुलानेके लिये द्वारपालको भेजना तथा श्रीरामके सेवकोंका महाराजसे श्रीरामकी वैराग्यपूर्ण स्थितिका वर्णन करना

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! स्नेहवश नेत्रोंमें आँसू भरकर राजाके द्वारा कही गयी इस बातको सुनकर विश्वामित्र कुपित हो उठे और उन भूपालसे इस प्रकार बोले—"राजन्! 'मैं आपकी माँग पूरी

करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके आप उसे तोड़ रहे हैं। इसका मतलब यह हुआ कि आप सिंह होकर अब सियार बनना चाहते हैं। रघुवंशियोंके लिये यह व्यवहार अनुचित है। इससे तो इस कुलकी मर्यादा ही उलट जायगी। शीतरश्मि चन्द्रमासे कभी उष्ण किरणें नहीं प्रकट होतीं (आपसे ऐसे व्यवहारकी कदापि आशा नहीं की जाती थी)। राजन्! यदि आप अपनी प्रतिज्ञाकी पूर्ति करनेमें असमर्थ हैं तो मैं जैसे आया था, उसी तरह लौट जाऊँगा। ककुत्स्थवंशी नरेश! आप अपनी प्रतिज्ञासे भ्रष्ट होकर बन्धु-बान्धवोंके साथ सुखी होइये।"

महामुनि विश्वामित्रको क्रोधसे आक्रान्त जान उत्तम व्रतका पालन करनेवाले धैर्यवान् और बुद्धिमान् वसिष्ठजी बोले—"राजन्! आप इक्ष्वाकुकुलमें साक्षात् दूसरे धर्मके समान उत्पन्न हुए हैं। आप श्रीमान् दशरथ तीनों लोकोंमें सज्जनोचित सद्गुणोंसे विभूषित हैं। धैर्यवान् तथा उत्तम व्रतके पालक हैं। आपको धर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। आप धर्म और यशसे सम्पन्न होकर ही तीनों लोकोंमें विख्यात हुए हैं।

अपने धर्मको समझिये। उसका परित्याग न कीजिये।

ये मुनि तीनों लोकोंका शासन करनेमें समर्थ हैं, आप-को इनकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। राजन्! 'करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा करके यदि आप उसका पालन नहीं करते तो यह मिथ्याभाषण आपके इष्ट और आपूर्त (यज्ञ-यागादि तथा वापी, कूप आदिके निर्माणसे होनेवाले पुण्य) को हर लेगा। इसलिये श्रीरामको विश्वामित्रजीके हाथमें सौंप दीजिये। आप इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न हुए हैं और स्वयं विख्यात राजा दशरथ हैं। यदि आप अपने वचनका पालन नहीं करते तो दूसरा कौन करेगा? ये विश्वामित्रजी धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप हैं। ये बल और पराक्रमसे सम्पन्न वीरपुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं। संसारमें सबसे अधिक बुद्धिमान् हैं तथा तपस्याके परम आश्रय हैं। चराचर प्राणियोंसहित त्रिलोकीमें यह प्रसिद्ध है कि ये विश्वामित्रजी नाना प्रकारके अस्त्रोंको जानते हैं। जिन अस्त्रोंका इन्हें ज्ञान है, उन्हें दूसरा कोई पुरुष न तो जानता है और न भविष्यमें जान सकेगा। देवता, ऋषि, असुर, राक्षस, नाग, यक्ष गन्धर्व—ये सब एक साथ मिलकर आ जायँ, तो भ विश्वामित्र मुनिकी समानता नहीं कर सकते। दिनों ये विश्वामित्रजी राज्य करते थे, उन दिनों इनकी तपस्यासे संतुष्ट हुए रुद्रदेवने कृशाश्वद्वारा उ किये गये अस्त्रोंका दान किया था। वे अस्त्र दूस लिये अत्यन्त दुर्जय हैं। उन अस्त्रोंके अभिमानी दे कृशाश्वके पुत्र हैं और संहार करनेमें प्रजापतिके रुद्रदेवकी समानता करते हैं। उन कान्तिम महातेजस्वी और बल-विक्रमशाली अस्त्र-देवताओंने इनका अनुसरण किया है (क्योंकि इन्होंने अपनी तप के प्रभावसे उन्हें सदाके लिये वशमें कर लिया है ये विश्वविख्यात महातेजस्वी विश्वामित्र ऐसे म शक्तिशाली हैं, अतः श्रीरामको इनके साथ भेजनेमें अपने हृदयको व्याकुल न होने दें। ये महामुनी महान् प्रभावशाली हैं। साधु स्वभाववाले नरेश जिस पुरुषके समीप खड़े हों, वह मृत्युके आ जा भी अमरत्वको ही प्राप्त होगा। अतः आप मूढ़ मनु की भाँति अपने मनमें दीनताको स्थान न दीजिये

भरद्वाज! जब वसिष्ठजी ऐसी बातें कहकर समा लगे, तब राजा दशरथका चित्त प्रसन्न हो गया उन्होंने अपने पुत्र श्रीराम तथा लक्ष्मणको बुला लिये द्वारपालको पुकारा—'प्रतीहार! तुम सत्य-परा महाबाहु श्रीराम और लक्ष्मणको विश्वामित्रके पुण्य यज्ञकी निर्विघ्न सिद्धिके लिये शीघ्र यहाँ बुला ले आ

महाराजके इस प्रकार आज्ञा देनेपर वह द्वार अन्तःपुरके श्रीराम-मन्दिरमें गया और दो ही घ वहाँसे लौटकर उन भूपालसे बोला—'देव! आ बाहुबलसे समस्त शत्रुदलका दर्प दलन करने महाराज! जैसे भ्रमर रातको कमलमें बंद होकर उ बैठा रहता है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजी भी अ भवनमें अनमने होकर बैठे हुए हैं।'

द्वारपालके यह कहनेपर उसके साथ आये हुए श्रीरामके समस्त सेवकोंको महाराजने आश्वासन दिया और क्रमशः उनका समाचार पूछा—'राम कैसे हैं ? उनकी ऐसी अवस्था कैसे हो गयी है ?' भूपालके इस तरह पूछनेपर श्रीरामके सेवकोंने दुखी होकर उनसे कहा—"देव ! आपके पुत्र श्रीरामका शरीर अत्यन्त कृश

हो गया है। उनके खेदसे हमलोग भी इतने खिन्न हो गये हैं कि हमलोगोंका शरीर भी गलकर छड़ीके समान पतला हो गया है और हम किसी तरह इसे ढोये जा रहे हैं। कमलनयन श्रीराम जबसे ब्राह्मणोंके साथ तीर्थयात्रासे लौटकर आये हैं, तभीसे उनका मन बहुत उदास रहता है। जो वस्तु उपयोगमें लानेके योग्य, स्वादिष्ठ, सुन्दर और मनोहर है, उसीसे वे इस तरह खिन्न हो उठते हैं, मानो उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये हों। भोजन, शय्या, सवारी, विलास, स्नान, आसन आदि उत्तम कार्य या वस्तुके प्रस्तुत होनेपर भी वे उसका अभिनन्दन नहीं करते (उसकी ओरसे विरक्त हो जाते हैं)। 'सम्पत्तिसे, विपत्तिसे, घरसे अथवा विभिन्न चेष्टाओंसे क्या होने-जानेवाला है ? क्योंकि सब कुछ मिथ्या है।' यह कहकर वे चुप हो जाते हैं और अकेले बैठे रहते हैं। परिहास होनेपर वे प्रसन्न नहीं होते। भोगोंमें उनकी आसक्ति नहीं है। किसी प्रकारके कार्योंमें उनकी प्रवृत्ति नहीं होती। वे सदा मौनभावका ही अवलम्बन किये रहते हैं। एकान्तमें, विभिन्न दिशाओंमें, नदियोंके तटोंपर, जंगलोंमें तथा गहन वनोंमें उन्हें सुख मिलता है—वहीं उनका मन लगता है। भूपाल ! वे पहननेके वस्त्र तथा खाने-पीनेकी वस्तुएँ न लेकर सदा उनकी ओरसे विमुख ही रहते हैं तथा उस विमुखता या विरक्तिके द्वारा संन्यासी या तपस्वीके आचारका अनुसरण करते हैं। जनेश्वर ! श्रीरामचन्द्रजी निर्जन स्थानमें अकेले ही रहकर न कभी हँसते हैं न गाते हैं और न रोते ही हैं। सदा पद्मासन लगाये शून्यचित्त (संकल्परहित) हो केवल बैठे रहते हैं। न किसी बातका अभिमान करते हैं न राजा होनेकी अभिलाषा रखते हैं, न सुख प्राप्त होनेपर प्रसन्न होते हैं और न दुःख मिलनेपर विषाद ही करते हैं। हम नहीं समझ पाते कि वे कहाँ जाते हैं, क्या करते हैं, क्या चाहते हैं, किसका ध्यान करते हैं, कहाँ आते हैं और किस तरह किसका अनुसरण करते हैं। वे प्रतिदिन दुबले हो रहे हैं। रोज-रोज पीले पड़ते चले जा रहे हैं और नित्यप्रति उनका वैराग्य बढ़ता ही जाता है। राजन् ! सदा श्रीरामचन्द्रजीका अनुसरण करनेवाले ये शत्रुघ्न और लक्ष्मणजी भी उन्हींके समान दुर्बल होते जा रहे हैं। श्रीराम अपने पास रहनेवाले सुहृज्जनों—मित्रोंको यह उपदेश देते हैं कि 'ये भोग ऊपर-ऊपरसे मनोरम दिखायी देते हैं, वास्तवमें नश्वर हैं। अतः इनमें तुमलोग अपना मन न लगाओ। हमलोगोंने आयासरहित परम पदकी प्राप्तिसे दूर हटानेवाली चेष्टाओंद्वारा ही अपनी सारी आयु व्यर्थ बिता दी।' इस प्रकार मधुर और स्फुट वाणी-

द्वारा वे बारंबार गुनगुनाते रहते हैं। यदि पास बैठा हुआ कोई सेवक उनका अभिनन्दन करते हुए यह कहे कि 'आप सम्राट् हों तो वे उसके इस कथनको उन्मत्त प्रलाप-सा समझकर अन्यमनस्क हो हँसने लगते हैं तथा सदा मुनिवृत्तिसे रहते है। न तो किसीकी कही हुई बातको सुनते हैं और न सामने पड़ी हुई वस्तुकी ओर दृष्टिपात ही करते हैं। सुन्दर-से-सुन्दर वस्तु प्राप्त होनेपर भी सर्वत्र उसकी अवहेलना ही करते हैं। जैसे मेघद्वारा बरसाये गये जलकी धाराएँ किसी बड़े भारी दुर्भेद्य पत्थरका भेदन नहीं कर सकतीं, उसी प्रकार कामदेवके बाण कान्तिमती वनिताओंके बीचमें रहते हुए भी श्रीरामचन्द्रजीके मनका भेदन नहीं कर पाते। 'धन आपत्तियोंका एकमात्र स्थान है। तू इसकी इच्छा क्यों करता है?' श्रीरामचन्द्रजी सबको ऐसी ही शिक्षा देते हैं और अपना सारा धन उसकी इच्छा रखनेवाले दीन याचकोंको बाँट देते हैं। 'यह आपत्ति है, यह सम्पत्ति है—इस प्रकारकी कल्पनाओंके रूपमें केवल मनका मोह (अज्ञान) ही प्रकट होता है।' इस तरहके श्लोकोंका वे सदा गान किया करते हैं। 'हाय! मैं मारा गया, मैं अनाथ हो गया—इस प्रकार सब लोग चीखते-चिल्लाते रहते हैं, तो भी किसीको इस संसारसे वैराग्य नहीं होता—यह कितने आश्चर्यकी बात है!' श्रीराम प्रायः ऐसी ही बातें कहा करते हैं।' (सर्ग ९-१०)

विश्वामित्र आदिकी प्रेरणासे राजा दशरथका श्रीरामको सभामें बुलाकर उनका मस्तक सूँघना और मुनिके पूछनेपर श्रीरामका अपने विचारमूलक वैराग्यका कारण बताना

तब विश्वामित्रजीने कहा—परम बुद्धिमान् सत्पुरुषो! यदि ऐसी बात है तो जैसे मृगोंका झुंड अपने यूथपतिको ले आता है, उसी प्रकार आपलोग भी रघुकुलनन्दन श्रीरामको शीघ्र यहाँ बुला लाइये। श्रीरामचन्द्रजीको यह मोह न तो किसी आपत्तिसे हुआ है और न आसक्तिसे ही। वे विवेक और वैराग्यसे सम्पन्न हैं अतः उन्हें मोह नहीं, बोध ही प्राप्त हुआ है, जो महान् अभ्युदयकारक है। इस विचारमूलक मोहका युक्तिद्वारा निवारण कर देनेपर रघुकुलनन्दन श्रीराम हमलोगोंकी ही भाँति परम पदमें प्रतिष्ठित हो जायँगे। हमारे उपदेशसे वास्तविक बोधका उदय हो जानेपर श्रीरामचन्द्रजी अमृत पीये हुए पुरुषकी भाँति सत्यता (त्रिकालाबाधित ब्रह्मरूपता), मुदिता (परमानन्दस्वरूपता), प्रज्ञा (अपरिच्छिन्न ज्ञानरूपता) को प्राप्त होकर विश्रान्ति-सुखसे सम्पन्न, संतापशून्य, शरीरसे हृष्ट-पुष्ट और उत्तम कान्तिसे युक्त हो जायँगे। फिर तो मनमें अपनी पूर्णताका अनुभव करते हुए माननीय श्रीरामचन्द्रजी अपने वर्ण और आश्रमके अनुसार प्राप्त होनेवाली व्यवहार-परम्पराका निर्बाधरूपसे पालन करने लगेंगे। वे महान् सत्त्वगुणसे युक्त तथा लोकव्यापी निर्गुण-सगुणरूप परब्रह्म परमात्माके ज्ञानसे सम्पन्न हो जायँगे। उन्हें सुख-दुःखकी दशाएँ नहीं प्राप्त होंगी। वे मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णमें कोई अन्तर नहीं देखेंगे—इन सबको समान समझने लगेंगे।

मुनीश्वर विश्वामित्रके यों कहनेपर राजा दशरथ बड़े प्रसन्न हुए, मानो उनका सारा मनोरथ पूर्ण हो गया। उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीको बुला लानेके लिये बारंबार दूत-पर-दूत भेजना आरम्भ किया। जब राजा और मुनिका संवाद हो रहा था, उसी समय श्रीरामचन्द्रजी अपने थोड़े-से सेवकों और दोनों भाई लक्ष्मण तथा शत्रुघ्नके साथ अपने पिताके पवित्र स्थान—राजसभामें गये। श्रीरामने दूरसे ही महाराज दशरथको देखा। जैसे इन्द्र देवसमूहसे

१—३. अमृत पीये हुए पुरुषके पक्षमें सत्यताका अर्थ यथार्थ स्वर्गसुख, मुदिताका अर्थ आनन्द तथा प्रज्ञाका अर्थ उत्तम बुद्धि समझना चाहिये। अन्य शब्दोंके अर्थ उभय पक्षमें समान ही हैं।

घिरकर बैठते हैं, उसी प्रकार वे भी राजाओंकी मण्डलीसे घिरे हुए बैठे थे। उनके दोनों ओर महर्षि वसिष्ठ और विश्वामित्रजी विराजमान थे। सम्पूर्ण शास्त्रोंके अर्थका ज्ञान रखनेवाले मन्त्रीगण मालाकी भाँति उन्हें सब ओरसे घेरकर बैठे थे। इधर वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि ऋषियों तथा दशरथ आदि राजाओंने भी कुमार कार्तिकेयके समान सुन्दर श्रीरामचन्द्रजीको दूरसे ही अपने पास आते देखा। वे सौम्य और समदर्शी थे। उनकी आकृति मङ्गलमयी थी। उनका हृदय विनीतभावसे युक्त और उदार था। शरीर कान्तिमान् और शान्त (सौम्य) दिखायी देता तथा वे परम पुरुषार्थके भाजन (परमार्थस्वरूप) थे। पवित्र गुणवाले पुरुषोंके आश्रय थे। समस्त सद्गुणोंने मानो एकमात्र महान् सत्त्वगुणके लोभसे उनका आश्रय ले रक्खा था।

मुनीश्वर विश्वामित्र जब राजासे पूर्वोक्त बात-चीत करते हुए श्रीरामको बुलानेका अनुरोध कर रहे थे, उसी समय कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी पिताके चरणोंमें प्रणाम करनेके लिये उनके सामने आये। सबके सुहृद् श्रीरामने पहले पिताके चरणोंमें मस्तक झुकाया। तदनन्तर माननीय पुरुषोंद्वारा भी मुख्यरूपसे सम्मानित होनेवाले दोनों मुनि वसिष्ठ और विश्वामित्रजीको प्रणाम किया। इसके बाद अन्य ब्राह्मणों, बन्धु-बान्धवों तथा गुरुजनोंका अभिवादन किया। तत्पश्चात् राजाओंके समूहद्वारा की जानेवाली प्रणाम-परम्पराको उन्होंने प्रसन्न दृष्टिसे उनकी ओर देखकर अपने मस्तकको किंचित् झुकाकर तथा मधुर वाणीके द्वारा कुछ बोलकर स्वीकार किया।

इसके बाद दोनों महर्षियोंने श्रीरामचन्द्रजीको आशीर्वाद दिया। तदनन्तर जिनके हृदयमें अत्यन्त समताका भाव भरा हुआ था, वे देवोपम सुन्दर श्रीराम अपने पिताकी पवित्र संनिधिमें आये। उस समय भूपाल दशरथने अपनी चरण-वन्दना करनेवाले पुत्रको हृदयसे लगाकर उनका मस्तक सूँघा। इसी तरह शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले राजा दशरथने वनीभूत स्नेहसे युक्त हो लक्ष्मण और शत्रुघ्नको भी हृदयसे लगाया (और उनके मस्तक सूँघे)। फिर श्रीरामचन्द्रजी पृथ्वीपर ही परिजनों-द्वारा बिछाये गये वस्त्रके ऊपर बैठ गये।

तत्पश्चात् राजा बोले—बेटा! तुम्हें विवेक प्राप्त हो

गया है। तुम विविध कल्याणमय गुणोंके भाजन हो। तुम्हारे-जैसे पुरुष बडे-बूढ़े लोगों, ब्राह्मणों तथा गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करते हुए ही पवित्र परमपद प्राप्त कर लेते हैं। जो लोग मोहका अनुसरण करते हैं, उन्हें वह पद नहीं प्राप्त होता। वत्स! तभीतक आपत्तियाँ दुर्बल एवं तुच्छ होकर दूर ही रहती हैं (पास नहीं फटकने पातीं) जबतक कि मोहको फैलनेका अवसर नहीं दिया जाता।

इसके बाद श्रीवसिष्ठजीने कहा—महाबाहु राजकुमार! तुम बड़े शूरवीर हो। तुमने उन विषयरूपी शत्रुओंपर भी विजय पा ली है, जो दुःखकी परम्पराके उत्पादक तथा बड़ी कठिनाईसे नष्ट होनेवाले हैं ऐसे प्रभावशाली होनेपर भी तुम अज्ञानी मनुष्योंके योग्य विक्षेपरूपी अगणित तरङ्गमालाओंसे युक्त तथा आवरणरूपी जडता (जलरूपता) से सुशोभित होनेवाले व्यामोहके समुद्रमें आत्मज्ञानशून्य पुरुषकी भाँति क्यों डूबे जा रहे हो?

श्रीविश्वामित्रजीने कहा—राजकुमार! हिलते हुए नील कमलोंके समूहकी भाँति जो तुम्हारे नेत्र चञ्चल हो रहे हैं, इसमें तुम्हारे चित्तकी व्यग्रता ही कारण है। इस व्यग्रताजनित नेत्रोंकी चञ्चलताको त्यागकर बताओ, क्यों मोहित हो रहे हो? तुम्हारे इस मोह अथवा भ्रमका क्या कारण है? निष्पाप श्रीराम! तुम्हारे मनमें जो अभिलाषा हो, उसे शीघ्र बताओ। तुम्हे वह सब मनोरथ प्राप्त होगा, जिससे मानसिक व्यथाएँ फिर तुम्हे कष्ट नहीं पहुँचायेंगी।

उत्तम बुद्धिवाले विश्वामित्रजीका यह वचन, जिसके भीतर अपनी अभिलाषाके अनुरूप अर्थका प्रकाश निहित था, सुनकर रघुकुलकेतु श्रीरामने खेद त्याग दिया।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! मुनीश्वर विश्वामित्रके इस प्रकार पूछनेपर श्रीरामचन्द्रजीने धैर्य धारण करके परिपूर्ण अर्थके गौरवसे दबी हुई-सी मन्द-मन्द मनोहर वाणीमें कहा—

श्रीराम बोले—मुनीश्वर! मैं अपने पिताजीके इस महलमें उत्पन्न हुआ, क्रमशः बढा और फिर मैंने विद्या भी प्राप्त की। तत्पश्चात् सदाचारके पालनमें तत्पर रहकर तीर्थयात्राके उद्देश्यसे समुद्रोंद्वारा घिरी हुई सारी पृथ्वीपर भ्रमण किया। इतने समयमें मेरे मनमें जो विचार उत्पन्न हुआ, वह इस संसारविषयक आस्थाको उठा देनेवाला है। तीर्थयात्रा करनेके अनन्तर मेरा मन विवेकसे पूर्ण हो गया, जिससे मेरी बुद्धि भोगोंकी ओरसे नीरस (विरक्त) हो गयी और उसके द्वारा मैंने इस प्रकार विचारना आरम्भ किया—

'यह जो संसारका विस्तार है, इसमें क्या सुख है? (कुछ भी तो नहीं है।) चर और अचर प्राणियोंकी चेष्टाओंके विषय तथा केवल वैभवकालमें ही रहनेवाले ये जितने भोगके साधनभूत पदार्थ है, सब-के-सब अस्थिर (क्षणभङ्गुर), आपत्तियोंके स्वामी (अर्थात् केवल विपत्तिमें ही डालनेवाले) तथा पापस्वरूप हैं। जैसे मरीचिकामें जल न होनेपर भी भ्रमसे उसे जल समझकर उसके द्वारा मोहित हुए मृग वनमें बडी दूरतक खिंचे चले जाते है, उसी प्रकार मूढबुद्धि हुए लोग संसारके पदार्थोंमें सुख न होनेपर भी उनमें सुख मानते हैं और उसीके लोभसे आकृष्ट होकर इधर-उधर भटकते रहते हैं। यद्यपि यहाँ लोग किसीके द्वारा बेंचे नहीं गये हैं तथापि बिके हुएके समान परवश हो रहे हैं। इस बातको जानते हुए भी कि यह सब कुछ मायाका खेल है, हम सब लोग मूढ बने बैठे हैं (इस मायासे मुक्त होनेका प्रयत्न नहीं करते), यह कितने खेदकी बात है!

संसारके इस प्रपञ्चमें जो अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण भोग दिखायी देते हैं, ये क्या हैं—इसपर विचार करना चाहिये। सब लोग व्यर्थ ही उनके मोहमें पड़कर भ्रान्तिवश अपनेको बद्ध मानकर बैठे हुए हैं। जैसे वनमें किसी गड्ढेके भीतर गिरे हुए मूढ मृग दीर्घकालके पश्चात् यह जान पाते हैं कि हम गड्ढेमें पड़े हैं, उसी प्रकार लोगोंने

बहुत समयके बाद यह जाना है कि हम मूढ जीव व्यर्थ ही मोहमें पड़े हुए हैं। मुझे राज्यसे क्या लेना है और भोगोंसे भी क्या प्रयोजन है ? मैं कौन हूँ ? यह दृश्य-प्रपञ्च क्या है और किस लिये सामने आया है ? जो मिथ्या है, वह मिथ्या ही रहे। उसके मिथ्या होनेसे किसकी क्या हानि होनेवाली है। ब्रह्मन्! जैसे यत्र-तत्र भ्रमण करनेवाले पथिकको मरुभूमिसे विरक्ति हो जाती है, वैसे ही इस प्रकार विचार करते-करते सभी भोग्य पदार्थोंसे मेरी अरुचि हो गयी है।

मुनीश्वर ! देखिये, भिन्न-भिन्न रूपोंमें उपलब्ध होनेवाले उन तुच्छ भोगोंने हमको उसी प्रकार जर्जर बना दिया है, जैसे प्रचण्ड वायु पर्वतीय वृक्षोंको जर्जर कर देती है। सब लोग अचेतन-से होकर प्राणनामधारी पवनसे प्रेरित हो व्यर्थ ही शब्दोच्चारण कर रहे हैं, जैसे कीचक नामक बाँस अपने छेदोंमें हवा भर जानेसे बाँसुरीकी-सी ध्वनि करने लगते हैं। संसारकी सम्पदाएँ सदा सबकी वञ्चना करती रहती हैं। ये मनुष्योंकी मनोवृत्तिको मोह लेती हैं, उनकी सद्गुण-राशिका नाश कर देती हैं और तरह-तरहके दुःख दिया करती हैं। दुःखोंका जाल-सा बिछाती रहती हैं। ये धन-वैभव चिन्ताओंके चक्करमें डालनेवाले हैं, इसलिये मुझे आनन्द नहीं देते तथा वर्चोवाली स्त्रियोंसे भरे हुए घर भी भयानक विपत्तियोंके आवास-स्थानकी भाँति मुझे दुःख ही प्रदान करते हैं, सुख नहीं। मुने! जैसे बाँस और तिनकोंसे आच्छादित गर्तमें गिरनेके कारण प्राप्त होनेवाले क्षुधा, पिपासा आदि दोषोंका तथा बन्धन आदि दुर्दशाओंका विचार करते रहनेसे बँधे हुए हाथीको कभी सुख नहीं मिलता, उसी प्रकार देह आदि पदार्थोंकी क्षणभङ्गुरताके कारण उनमें अनेक प्रकारके दोषों और दुर्दशाओंका स्मरण करके मेरे मनको भी शान्ति नहीं मिल रही है। अज्ञानरूपी रात्रिमें तीव्र मोहरूपी कुहरेसे लोगोंकी ज्ञानरूपी ज्योतिके नष्ट हो जानेपर दूसरोंको दुःख देनेमें परम चतुर विषयरूपी सैकड़ों चोर हर समय और प्रत्येक दिशामें विवेकरूपी श्रेष्ठ रत्नका अपहरण करनेके लिये जी-जानसे लगे हुए हैं। युद्धमें उन्हें मार भगानेके लिये तत्त्वज्ञानी पुरुषोंको छोड़कर दूसरे कौन-से सुभट समर्थ हो सकते हैं (तत्त्वज्ञानी ही उनको नष्ट करनेमें समर्थ हैं, दूसरे नहीं)। (सर्ग ११-१२)

धन-सम्पत्ति तथा आयुकी निस्सारता एवं दुःखरूपताका वर्णन

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—मुने ! यह लक्ष्मी, यह धन-सम्पत्ति संसारमें यदि स्थिर होकर रहे तो बहुत-से सुखोंकी साधनभूत होनेके कारण वह सबसे उत्कृष्ट वस्तु है—यह मूढ मनुष्योंकी ही कल्पना है। वास्तवमें न तो वह कभी स्थिर रहती है और न उत्कृष्ट ही कहलाने योग्य है; क्योंकि वह सबको व्यामोहमें ही डालती रहती है। अतः (विषयोंकी भाँति) वह भी निश्चय ही अनर्थकी प्राप्ति करानेवाली है। जैसे नदीसे असंख्य चञ्चल तरङ्गें प्रकट होती और वायुकी सहायतासे बढ़ती रहती हैं, उसी प्रकार इस श्री अथवा सम्पत्तिसे बहुत-सी चिन्तारूपिणी पुत्रियाँ उत्पन्न होती हैं और विविध दुश्चेष्टाओंद्वारा वृद्धिको प्राप्त होती रहती हैं। यह सम्पत्ति शास्त्रोक्त सदाचारसे रहित पुरुषको पाकर इधर-उधर दौड़ती रहती है, कहीं एक जगह पैर जमाकर स्थिर नहीं रहती। यह मूढ सम्पत्ति किसी गुणवान् पुरुषके द्वारा बड़े दुःखसे उपार्जित होनेपर भी प्रायः उसके उपभोगमें नहीं आती और राजाओंकी प्रकृतिके समान (श्रेष्ठ पुरुषकी उपेक्षा करके भी) गुण-अवगुणका विचार किये बिना ही जो कोई भी अपने पास रहता है, उसीका अवलम्बन कर लेती है। लोग तभीतक अपने और पराये जनोंके प्रति शीतल-मृदुल (दया, उदारता और स्नेह आदिसे सम्पन्न) बने रहते हैं जबतक कि वे प्रबल

वायुके वेगसे बर्फकी भाँति धन-सम्पत्तिके द्वारा कठोर एवं दुस्सह नहीं बना दिये जाते। जैसे मुट्ठीभर धूल मणियोंको मलिन कर देती है, उसी प्रकार धन-सम्पत्तिने बड़े-बड़े विद्वान्, शूरवीर, कृतज्ञ, सुन्दर और कोमल-स्वभाववाले पुरुषोंको भी मलिन (कलङ्कित) कर दिया है। भगवन्! धन-सम्पत्ति सुख देनेके लिये नहीं, दुःख देनेके लिये ही बढ़ती है; जैसे विषकी बेल सुरक्षित रक्खी जाय तो वह मौत ही देती है, उसी प्रकार धन-सम्पत्तिकी रक्षा करनेपर भी वह विनाशका ही कारण होती है।

जो धन-सम्पत्तिसे युक्त होकर भी जनताकी निन्दाका पात्र न हो, शूरवीर होकर भी अपने ही मुँहसे अपनी बढ़ा-चढ़ाकर प्रशंसा न करता हो तथा स्वामी होकर भी समस्त सेवकों अथवा प्रजा-जनोंपर समान दृष्टि रखता हो—ये तीन तरहके पुरुष संसारमें दुर्लभ हैं। यह धन-सम्पत्ति दुःखरूपी सर्पोंके रहनेके लिये विषम (भयंकर) और गहन (दुर्गम) गुफा है तथा महान् मोहरूपी गजराजोंके निवासके लिये विन्ध्याचलकी विशाल तटभूमि है। अर्थात् यह महान् दुःख देनेवाली और महान् मोहसे आवृत करनेवाली है। सत्कर्मरूपी कमलोंको संकुचित करनेके लिये यह रात्रिके समान है। दुःखरूपी कुमुदोंके विकासके लिये चाँदनीका काम करनेवाली है तथा उत्तम दृष्टि (श्रेष्ठ बुद्धि) रूपी दीपकको बुझानेके लिये वायुके तुल्य है। धन-सम्पत्ति भय और भ्रान्तिरूपी बादलोंकी उत्पत्ति तथा वृद्धि करनेवाली है, विषादरूपी विषको बढ़ानेवाली है, विकल्प (संशय) रूपी खेतीकी उपजके लिये क्यारीके समान है तथा खेद या कष्ट प्रदान करनेके लिये भयंकर सर्पिणीके तुल्य है। वैराग्यरूपी लताओंको नष्ट करनेके लिये ओलेके समान है। काम आदि मनोविकाररूपी उल्लुओंको सबल बनानेके लिये अँधेरी रात्रिके तुल्य है। विवेकरूपी चन्द्रमाको ग्रस लेनेके लिये राहुकी दाढ़ है और सौजन्यरूपी कमलको सकुचित कर देनेके लिये चन्द्रमाकी चाँदनी है। इतना ही नहीं, यह इन्द्र-धनुषके समान क्षणस्थायी विविध रंगों (रागों)के कारण मनोहर जान पड़ती है तथा बिजलीके समान चपल तथा उत्पन्न होते ही नष्ट हो जानेवाली है। प्रायः जड ही इसके आश्रय हैं। यह एक रूपसे कहीं क्षणभर भी नहीं ठहरती। पानीकी लहर और दीपककी लौके समान चञ्चल है तथा जिन्हें जानना अत्यन्त कठिन है, ऐसी असह्य दुर्दशाओंकी प्राप्ति करानेवाली है। यह धन-सम्पत्ति मनोरम होनेके कारण चित्त-वृत्तिको अपनी ओर खींच लेती है। प्रायः अनर्थकारी कर्मोंसे इसकी प्राप्ति होती है और प्राप्त होकर भी यह क्षणभरमें नष्ट हो जानेवाली है।

मुने! जीवकी आयु पत्तेके सिरेपर लटकते हुए जल-बिन्दुके समान अस्थिर है। वह उन्मत्तके समान असमयमें ही इस कुत्सित शरीरको छोड़कर चल देती है। जिनका चित्त विषयरूपी विषधर सर्पोंके संसर्गसे सर्वथा जर्जर हो गया है और जिनमें प्रौढ़ आत्म-विवेकका अभाव है, उन लोगोंकी आयु उन्हें क्लेश देनेवाली ही है। जो जानने योग्य वस्तु (परब्रह्म परमात्मा) को जान चुके हैं और उस अपरिच्छिन्न ब्रह्मपदमें प्रतिष्ठित हैं, ऐसे महापुरुषोंकी आयु लाभ-हानि एवं सुख-दुःखमें चित्तको समानभावसे सुस्थिर रखनेवाली होनेके कारण सुखदायिनी है। महर्षे! हमलोग नपे-तुले आकारवाले शरीरमें ही 'यह आत्मा है' ऐसा निश्चय किये बैठे हैं। अतः संसाररूपी मेघमें बिजलीके समान चमककर विलुप्त हो जानेवाली इस क्षणभङ्गुर आयुमें हम सुखी नहीं हैं। शरद्ऋतुके छिटफुट बादल, तेलरहित दीपक तथा जलकी तरङ्गके समान चञ्चल आयु गयी हुई ही देखी जाती है। तरङ्गको, जल आदिमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाको, विद्युत्-पुञ्जको और आकाशकमलको हाथसे पकड़नेका तो मैं विश्वास रख सकता हूँ; परंतु इस अस्थिर आयुपर मेरा कोई भरोसा

१. यहाँ जड़के दो अर्थ हैं—जल और मूर्ख। बिजलीका आश्रय जल होता है और धन-सम्पत्तिका आश्रय मूर्ख।

नहीं है (असम्भव बातें भी भले ही सम्भव हो जायँ, पर आयुको पकड़े रखना असम्भव है) । जैसे खचरी दुःख भोगनेके लिये ही गर्भ-धारणकी इच्छा करती है, उसी प्रकार जिसका मन विश्रान्त (तृष्णाओंसे अत्यन्त उपरत) नहीं है, ऐसा मूर्ख मनुष्य कष्ट उठानेके लिये ही व्यर्थ आयुका विस्तार (अधिक कालतक जीना) चाहता है । ब्रह्मन् ! इस संसार-चक्रमें जो देहरूपी लता है, यह सृष्टिरूपी समुद्रके जलका विकारभूत फेन ही है (क्योंकि उसीके समान अत्यन्त अस्थिर है) । अतः इसमें अधिक कालतक जीवित रहना मुझे अच्छा नहीं लगता । वास्तवमें वही जीवन उत्तम जीवन कहलाता है, जिससे अवश्य पाने योग्य वस्तु (परमात्म-ज्ञान) की प्राप्ति होती है, जिससे फिर शोक नहीं करना पड़ता तथा जो परम निर्वाणरूप सुखका स्थान है । यों तो वृक्ष भी जीते हैं, पशु और पक्षी भी जीवित रहते हैं; परंतु वास्तवमें उसी पुरुषका जीवन सफल है, जिसका मन मननके द्वारा जीवित न रहे—अमनीभावको प्राप्त हो जाय । संसारमें उन्हीं जीवोंका जन्म लेना सफल है और उन्हींका जीवन श्रेष्ठ है, जो फिर यहाँ जन्म नहीं लेते । शेष प्राणी तो बूढे गदहोके समान हैं (जैसे गदहे अधिक कालतक जीनेपर भी उत्तम जीवन नहीं बिताते, उसी प्रकार उन प्राणियोंका भी जीवन है, जो इस अपवित्र देहको ही आत्मा माने बैठे है) ।

अविवेकी मनुष्यके लिये शास्त्रोंका अध्ययन भाररूप है । रागी (विषयासक्त) पुरुषके लिये तत्त्वज्ञान भार है । अशान्त मनुष्यके लिये मन भार है तथा जो आत्मज्ञानसे शून्य है, उसके लिये शरीर भार है । जिसकी बुद्धि दूषित है, उस पुरुषके लिये रूप, आयु, मन, बुद्धि, अहंकार तथा चेष्टा,—ये सब-के-सब उसी प्रकार दुःखदायक है, जैसे बोझ ढोनेवाले मनुष्यके लिये उसके सिरका बोझ कष्टदायक होता है । आयु कठोर परिश्रम एवं सुदृढ़ कष्टको ही देनेवाली है । इसमें श्रमकी निवृत्ति कभी नहीं होती, कामनाओंकी पूर्तिका भी अभाव ही रहता है । यह आपत्तियोंका परम आश्रय और रोगरूपी पक्षियोंका घोंसला है । जैसे बिलमें विश्राम करनेवाले तथा विषके द्वारा संताप देनेवाले भयंकर सर्प वनकी वायुका पान करते हैं, उसी प्रकार शरीररूपी बिलमें रहकर विषतुल्य दाह पैदा करनेवाले भीषण रोगरूपी सर्प जीवकी आयुका पान करते हैं । जैसे काठके छोटे-छोटे कीड़े उसके भीतर रहकर पुराने पेड़को सदा काटते और उससे धूल-सी गिराते रहते हैं, उसी प्रकार सदा पीब, रक्त और मल बहानेवाले तथा देहके भीतर निवास करनेवाले दुष्ट रोग आदि दुःख निरन्तर आयुका उच्छेद करते रहते हैं । जैसे बिल्ली चूहेको शीघ्र निगल जानेके लिये उत्कट अभिलाषाके साथ निरन्तर उसकी ओर ताकती रहती है, उसी प्रकार मृत्यु भी आयुको अपना ग्रास बनानेके लिये ही सदा उसकी ताकमें बैठी रहती है । इस संसारमें यह आयु जिस प्रकार स्थिरता और सुखके द्वारा सदाके लिये परित्यक्त, अत्यन्त तुच्छ, गुणहीन तथा मृत्युकी भाजन है, वैसी दूसरी कोई वस्तु नहीं है । (सर्ग १३-१४)

अहंकार और चित्तके दोष

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—मुनिश्रेष्ठ ! यह अनेक रूपवाला संसार दीनोंसे भी दीन विषयलम्पट लोगोंको अहंकारके वशीभूत होनेके कारण ही निरन्तर राग-द्वेष आदि दोषोंके कोशरूप अनर्थकी प्राप्ति कराता रहता है । अहंकारके वशमें होनेसे ही मनुष्यपर आपत्ति आती है—उसे शारीरिक कष्ट भोगने पड़ते हैं । अहंकारसे ही अनेक दुःखद मानसिक व्यथाएँ होती है तथा अहंकारसे ही राग अथवा दुश्चेष्टाएँ होती हैं । जैसे बहेलियेके द्वारा मृगोंको पकड़नेके लिये बहुत बड़ा जाल बिछाया जाता है, उसी प्रकार अहंकाररूपी दोषके कारण

संसाररूपी अँधेरी रातमें जीवोंके मनको मोहित करनेवाली विशाल माया बिछी हुई है। अहंकार शान्तिरूपी चन्द्रमाको निगलनेके लिये राहुका मुख है, पुण्यरूपी कमलोंका विनाश करनेके लिये हिमरूप वज्र है। और सब भूतोंमें समदर्शितारूपी मेघका विध्वंस करनेके लिये शरद् ऋतु है। ऐसे अहंकारका मैं त्याग करता हूँ*। न मैं अमुक नामवाला हूँ, न विषयोंमें मेरी रुचि है और न मन ही मेरा है। मैं शान्त होकर मनको जीतनेवाले महात्मा पुरुषकी भाँति अपने-आपमें ही स्थित रहना चाहता हूँ। ब्रह्मन्! यदि अहंकार रहता है तो आपत्तिकालमें मुझे दुःख होता है और यदि नहीं रहता तो मैं निरन्तर सुखका अनुभव करता हूँ। इसलिये अहंकाररहित होना ही श्रेष्ठ है।

मुने! मैं अहंकारका त्याग करके शान्तचित्त हो उद्वेगशून्य होकर बैठा रहता हूँ; क्योंकि भोगोंके समूहका आधार ही क्षणभङ्गुर है। इस देहरूपी विशाल वनमें जो घनीभूत अहंकाररूपी मोटा-ताजा सिंह है, उसीने इस जगत्का विस्तार किया है (इसे अपनी क्रीडास्थली बनाया है)। मुने! जैसे शत्रु किसीको मारनेके लिये मन्त्र-तन्त्रके द्वारा मारण-उच्चाटन आदिका जाल फैलाता है, उसी प्रकार इस अहंकाररूपी महान् शत्रुने संसारमें जीवका पतन करनेके लिये बिना मन्त्र-तन्त्रके ही स्त्री, पुत्र, मित्र आदिके जाल फैला रक्खे हैं। इस अहंकारका मूलोच्छेदपूर्वक निराकरण कर देनेपर ये सभी मानसिक दुश्चिन्ताएँ तुरत अपने-आप विलीन हो जाती हैं। अहंकाररूपी बादलके फट जानेपर शान्तिका विनाश करनेवाला एवं हृदयाकाशमें छाया हुआ महान् मोहरूपी कुहासा धीरे-धीरे न जाने कहाँ विलीन हो जाता है। महानुभाव मुनीश्वर! जो सम्पूर्ण आपत्तियोंका घर, शान्ति आदि उत्तम गुणोंसे रहित तथा हृदयके भीतर निवास करनेवाला है, उस अनित्य अहंकारका मैं आश्रय लेना नहीं चाहता (उसके अधीन होना नहीं चाहता)। अपने सुदृढ़ विवेकके द्वारा मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ कि यह अहंकार नामक वस्तु सब ओरसे अतिशय दुःखरूप ही है। अतः अब मेरे लिये जो कुछ भी कर्तव्य शेष रह गया हो, उसे बताते हुए आप मुझे अध्यात्मविषयक उपदेश दीजिये।

मुनीश्वर! जैसे वायुके प्रवाहमें पड़कर मोर-पंखका अग्रभाग वेगसे हिलता रहता है, उसी प्रकार यह चञ्चल चित्त भी अत्यन्त व्यग्र होकर व्यर्थ ही इधर-उधर दौड़ता रहता है। जैसे कुत्ता अपना पेट भरनेके लिये व्याकुल हो गाँवमें दूर-से-दूरतकके घरों या स्थानोंका चक्कर लगाया करता है, वही दशा इस चञ्चल मनकी है। इसे कहीं भी कोई अनुकूल वस्तु नहीं प्राप्त होती। इसलिये यह दीन बना रहता है। यदि इसे कभी विशाल धनका भंडार प्राप्त हो जाय, तो भी यह भीतरसे तृप्त नहीं होता। जैसे बाँस या बेंतकी बनी हुई पिटारी कभी जलसे नहीं भरती, उसी प्रकार धनसे मनुष्यका जी नहीं भरता। मुने! जैसे अपने झुंडसे बिछुड़कर जालमें जकड़े हुए मृगको कभी सुख नहीं मिलता, उसी प्रकार समस्त साधनोंसे शून्य (एवं सत्सङ्गरहित) मन सदा दुर्वासनाओंके जालमें जकड़ा रहता है। इसलिये उसे कभी सुख और संतोष नहीं प्राप्त होता। मुने! तरङ्गोंके समान चञ्चल वृत्तिको धारण करनेवाला यह मन अपने स्थूल-सूक्ष्म अवयव-विभागको छोड़कर एक क्षणके लिये भी हृदयमें स्थिर नहीं रहता। विषयोंके चिन्तनसे क्षोभको प्राप्त हुआ यह मन मन्दराचलके आघातसे उछलती हुई क्षीरसागर-की दुग्धराशिके समान दसों दिशाओंमें दौड़ता रहता

* जैसे चन्द्रमाको राहु निगल जाता है, कमलोंको हिम या ओलोंकी वर्षा नष्ट कर देती है और शरद् ऋतु मेघोंका विध्वंस कर डालती है, उसी प्रकार अहंकार शान्ति, क्षमा, दया तथा प्राणिमात्रमें समभावको नष्ट कर देता है।

[illegible] है, किंतु कहीं भी शान्तिको नहीं पाता।

अनघ! जैसे मृग गड्ढेमें गिरनेकी जरा भी चिन्ता न करके हरी-हरी दूब चरनेकी इच्छासे प्रेरित हो बहुत दूरतक दौड़ लगाता रहता है, उसी प्रकार यह मन नरकके गर्तमें गिरनेकी परवा न करके भोग-सामग्री जुटानेमें बड़ी दूरतक चक्कर लगाता रहता है (मंसूबे बाँधता रहता है)। जैसे पिंजड़ेमें बंद किया हुआ सिंह चिन्ताके कारण एक जगह स्थिर होकर नहीं रहता, उसी तरह नाना प्रकारकी चिन्ताओंमें अत्यन्त चञ्चल हुआ मन अपनी चञ्चल वृत्तिके कारण कहीं स्थिर नहीं रह पाता। जैसे हंस जलमें दूधको निकाल लेता है, वैसे ही ज्ञानरूपी रसपर आरूढ़ हुआ यह मन भी इस शरीरसे उद्वेगशून्य समताके सुखका अपहरण कर लेता है। अनघ! मनरूपी ग्रह अग्निसे भी अधिक उष्ण है। उसके ऊपर चढ़ना पर्वतपर चढ़नेसे भी अधिक कठिन है तथा वह वज्रसे भी बढ़कर कठोर है। उसको वशमें लाना बहुत ही कठिन है। जैसे मांसभक्षी पक्षी मांसपर टूट पड़ता है, उसी प्रकार मन भी इन्द्रियोंद्वारा उपलब्ध होनेवाले विषयोंकी ओर दौड़ पड़ता है। परंतु जैसे बालक पहले तो खिलौनेकी ओर लपकता है, फिर उसे पाकर थोड़ी ही देरमें उससे मुँह मोड़ लेता है, उसी तरह यह मन प्राप्त हुए विषयमें क्षणभरमें ही विरत हो जाता है (और नये-नये विषयकी खोज करने लगता है)।

समुद्रको पी जाना, सुमेरु पर्वतको जड़से उखाड़ फेंकना तथा अग्निका ही आहार करना—ये महान् एवं दुस्साध्य कार्य हैं। परंतु चञ्चल चित्तको वशमें कर लेना इनसे भी महान् एवं कठिन कार्य है। सम्पूर्ण पदार्थोंका कारण चित्त ही है। जबतक चित्त है, तभीतक तीनों लोकोंकी सत्ता है, उसके क्षीण होते ही जगत् क्षीण हो जाता है। इसलिये इस चित्तरूपी रोगकी यत्नपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिये। मुने! जैसे महान् पर्वतसे अनेकानेक वनों एवं काननोंकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार मनसे ये सैकड़ों सुख-दुःख पैदा हुए हैं—इसमें संशय नहीं है। अध्यात्मविषयक विवेकसे जब यह मन दुर्बल हो जाता है, तब ये सारे सुख-दुःख निश्चय ही पूर्णरूपसे गल जाते हैं—ऐसा मेरा विश्वास है। महान् मुमुक्षु पुरुष जिसके जीते जानेपर शम, दम, क्षमा, दया, समता, शान्ति, संतोष, सरलता आदि समस्त सद्गुणोंके स्वाधीन होनेकी आशा करते रहे हैं, उस शत्रुरूप चित्तको जीतनेके लिये मैं सब प्रकारसे उद्यत हुआ हूँ। अतएव जैसे चन्द्रमा मेघमालाका अभिनन्दन नहीं करता, उसी प्रकार मैं तीव्र वैराग्य-सम्पत्तिसे युक्त होनेके कारण जड और मलिन विलासवाली लक्ष्मीका अभिनन्दन नहीं करता। (सर्ग १५-१६)

तृष्णाकी निन्दा

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—मुनीश्वर! चेतन जीवरूपी आकाशमें हृदयके अज्ञानान्धकारने परिपूर्ण दुस्तर तृष्णारूपिणी रात्रिका महान् पसर नाना प्रकारके दीनतारूपी इन्द्रधनुषोंकी झलमें विराजित हो उठती है। जैसे रात्रिमें आँसूके रूपमें अधिक तथा ओस-पानीके गिरनेके लिये हुए काहल पुष्प (घण्टेके फूल) की उज्ज्वल शोभासे सुशोभित चनेकी फलियाँ निश्चय ही अधिक विकासको प्राप्त होती हैं, उसी प्रकार अनेक तरहके दुःखमय विलापोंसे प्रकट हुए अश्रुबिन्दुओंसे आर्द्र तथा निकटवर्ती सुवर्ण आदिकी अभिलाषाद्वारा उज्ज्वल हुई चिन्ता या तृष्णा अवश्य अधिकाधिक बढ़ने लगती है। जैसे समुद्रके भीतर

भँवर एवं हलचल उत्पन्न करनेके लिये ही तरङ्गें उठा करती हैं, उसी तरह हृदयको चञ्चल बना देनेवाली तृष्णा अन्तःकरणमें भ्रम एवं आकुलता पैदा करनेके लिये ही उस सीमातक आ पहुँचती है, जहाँ वह धनादिकी प्राप्तिके लिये कष्टप्रद उत्साहको बढ़ावा देती है। यद्यपि तृष्णाके वेगको रोकनेके लिये यह चित्तरूपी चातक नाना प्रकारकी चेष्टाएँ करता है, तथापि जैसे आँधी सड़े-गले तिनकेको न जाने कहाँ-से-कहाँ उड़ा ले जाती है, उसी प्रकार कलङ्किनी तृष्णाने इसे न जाने कहाँ—किस अयोग्य अवस्थामें पहुँचा दिया। जैसे जालमें फँसे हुए पक्षी अपने घोंसलेमें जानेकी शक्तिसे वञ्चित हो वहीं शोक-दुःखसे मोहित हो जाते हैं, वैसे ही हमलोग चिन्ता या तृष्णाके जालमें फँसकर अपने पारमार्थिक स्वरूपको प्राप्त करनेमें असमर्थ हो मोहमें डूबे रहते हैं।

तृष्णा एक पागल घोड़ीके समान है, जो यहाँसे दूर-दूर जाकर बारंबार लौट आती और फिर तुरंत ही सम्पूर्ण दिशाओंमें चक्कर काटने लगती है। जैसे घटीयन्त्र (रहट) के ऊपर लगी हुई रस्सी घटके साथ सदा ऊपर-नीचे आती रहती है, जड या जलसे सम्बन्ध रखती है, अपने भीतर गाँठें रखती है और चञ्चल बनी रहती है, उसी तरह यह तृष्णा धर्म और अधर्मके अनुसार सदा स्वर्ग और नरकमें गमनागमन कराती, चेतन और जडकी ग्रन्थिसे जुड़ी रहती, जड पदार्थोंसे सम्बन्ध रखती और सदा विक्षुब्ध बनी रहती है। जो देहके भीतर मनमें गुँथी हुई है, जिसका छेदन करना प्रायः सभीके लिये अत्यन्त कठिन है, उस तृष्णाके द्वारा मनुष्य उसी प्रकार शीघ्र भारवाही बना लिया जाता है, जैसे रासकी रस्सी बैलको तत्काल भार ढोनेके लिये विवश कर देती है। जैसे बहेलियेकी स्त्री पक्षियोंको फँसानेके लिये जाल बनाती है, उसी प्रकार सदा आकर्षणशील स्वभाववाली तृष्णा लोगोंको फँसानेके लिये स्त्री, पुत्र और मित्र आदिकी परम्परा रचती रहती है। यद्यपि मैं धीर हूँ, तथापि भयानक काली रातके समान तृष्णा मुझे भयभीत-सा कर देती है। विवेकरूपी नेत्रसे सम्पन्न हूँ, तो भी वह मुझे अंधा-सा बना देती है और सच्चिदानन्दघनरूप होनेपर भी मुझे वह मानो खेदमें डाल देती है।

तृष्णाको काली नागिनके समान समझना चाहिये। वह सहस्रों कुटिलताओंसे भरी हुई है। विषयभोग-सुख ही उसका कोमल स्पर्श है। वह विषमतारूपी विषको ही उगलती है और तनिक-सा स्पर्श हो जानेपर भी डँस लेती है (अपने सम्पर्कमें आये हुए प्राणीका नाश कर देती है*)। इतना ही नहीं, तृष्णा काली-कलूटी राक्षसीके समान भी बतायी गयी है। वह पुरुषोंके हृदयका भेदन करनेवाली तथा मायामय जगत्‌को रचनेवाली है। दुर्भाग्य प्रदान करनेवाली तथा दीनताकी प्रतिमूर्ति है। पर्वतकी गुफामें एक प्रकारकी लता होती है, जो सूर्य-किरणोंके न मिलनेसे सदा अत्यन्त मलिन रहती है। वह खानेमें कडवी और परिणाममें उन्मादका रोग पैदा करनेवाली है। उसकी वेल बहुत लंबी होती है और उसमें रसकी मात्रा अधिक रहती है। यह तृष्णा भी उसी लताके समान निरन्तर अत्यन्त मलिन, परिणाममें दुःखसे पागल बना देनेवाली, वासनारूपी विशाल तॉतोंसे युक्त तथा विषयोंमें गहरा स्नेह पैदा करनेवाली है। जैसे ऊँचे वृक्षोंकी शाखाके अग्रभागमें स्थित सूखी हुई मञ्जरी पुष्पशून्य, निष्फल तथा कण्टकाकीर्ण होनेके कारण आनन्ददायिनी नहीं होती, उसी प्रकार तृष्णा सर्वथा सूनी, निष्फल, व्यर्थ विस्तारको प्राप्त होनेवाली, अमङ्गलकारिणी और क्रूर है। यह कभी सुखदायिनी नहीं होती। संसाररूपी विशाल वनमें तृष्णारूपिणी विषकी वेल फैली हुई है। जरा-मृत्यु आदि ही इसके फूल तथा

* नागिनकी भी चाल टेढी और स्पर्श कोमल होता है तथा वह थोड़ा-सा छू जाय तो भी छूनेवालेको डँसकर मार डालती है।

विनिपात और उत्पात (अधःपतन और उपद्रव) ही फल हैं।

मुने! चिन्ता (तृष्णा) चञ्चल मोरनीके समान है। मोरनी वर्षाकी बूँदें पड़नेपर बारंबार नृत्य करती है, शरद्-ऋतुका प्रकाश आ जानेपर शान्त हो जाती है और दुर्गम-स्थानोंमें भी पैर रखती है, इसी तरह तृष्णा भी कुहरेके समान मोहके आवरणमें स्फुरित होती है—नाच उठती है, विवेकका प्रकाश छा जानेपर शान्त हो जाती है और असाध्य वस्तुओंमें भी पाँव रख देती है। केवल वर्षा कालमें इतराकर बहनेवाली छोटी नदी और तृष्णामें बहुत कुछ समानता है। वह नदी वर्षाके अतिरिक्त समयमें चिरकालतक जलशून्य पड़ी रहती है। वर्षा-ऋतुमें भी बीच-बीचमें जब वृष्टि रुक जाती है, वह जलसे खाली हो जाती है; परंतु पानी बरसनेपर उसमें क्षणभरमें बाढ़ आ जाती है और जलकी बहुत-सी उत्ताल तरङ्गें उठने लगती हैं। इसी प्रकार तृष्णा भी चिरकालतक फलशून्य ही रहती है, कभी-कभी सफल होनेपर भी बीच-बीचमें फलशून्य हो जाती है। जड पदार्थोंमें ही इसे अधिक आनन्द मिलता है और क्षणभरमें ही यह उल्लसित हो उठती है। चारेके लोभसे चञ्चल हुई चिड़िया जैसे फलशून्य खड़े हुए वृक्षको छोड़कर दूसरे-दूसरे फलयुक्त वृक्षपर चली जाती है, उसी प्रकार तृष्णा भी विवेकी एवं विरक्त पुरुषको छोड़कर विषयासक्त पुरुषके पास चली जाती है।

तृष्णा और चञ्चल बँदरिया दोनोंका स्वभाव एक-जैसा है। वे अलङ्घ्यस्थानमें भी पैर रख देती हैं, तृप्त हो जानेपर भी नये-नये फलकी इच्छा करती हैं और विषयरूप एक स्थानपर अधिक कालतक नहीं ठहरतीं। तृष्णा हृदयरूपी कमलमें निवास करनेवाली भ्रमरी है। यह क्षणभरमें पातालको चली जाती है, फिर दूसरे ही क्षण आकाशकी सैर करने लगती है और क्षण-भरमें ही दिगन्तरूपी निकुञ्जमें मड़राती दिखायी देती है। संसारमें जितने दोष हैं, उन सबमें एकमात्र तृष्णा ही ऐसी है, जो दीर्घकालतक दुःख देती रहती है। वह अन्तःपुरमें रहनेवाले मनुष्यको भी भीषण संकटमें डाल देती है। तृष्णारूपिणी मेघमाला मोहरूपी नीहार-पुञ्जसे घनीभूत होकर परम ज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाशको ढँक देती है और जगत्‌को केवल जडता (जल अथवा अज्ञान) ही प्रदान करती है। तृष्णा सांसारिक व्यवहारमें फँसे हुए समस्त प्राणियोंको बाँधनेके लिये एक मजबूत रस्सीके समान है। उसने सबके मनको बाँध रक्खा है। इन्द्र-धनुष जिन लक्षणों अथवा धर्मोंसे युक्त दिखायी देता है; वे ही तृष्णाके भी लक्षण अथवा धर्म हैं। वह इन्द्र-धनुषकी ही भाँति बहुरंगी, गुणहीन[1], विशाल, मलिन (मेघ अथवा अशुद्ध अन्तःकरणवाले प्राणीके) आधारपर स्थित, शून्यरूप और शून्यमें ही पैर रखनेवाली है। तृष्णा गुणरूपी हरी-भरी खेतीको नष्ट करनेके लिये वज्रपातके समान है। आपत्तियोंको बढ़ानेके लिये उस शरद्-ऋतुके तुल्य है, जिसके आनेपर धान आदिकी खेती पकी हुई बालोंसे सम्पन्न हो जाती है। तत्त्व-ज्ञानरूपी कमलोंका विध्वंस करनेके लिये ओलेके सदृश और अज्ञानरूपी अन्धकारकी वृद्धिके लिये वह हेमन्तकी लंबी रातके समान है।

तृष्णा इस संसाररूपी नाटककी नटी है, प्रवृत्तिरूप नीडमें निवास करनेवाली पक्षिणी है, मनोरथ-रूपी महान् वनमें विचरनेवाली हरिणी है और कामरूपी संगीतको उद्‌बुद्ध करनेवाली वीणा है। वह व्यवहाररूपी समुद्रकी लहर है। मोहरूपी मतवाले गजराजको बाँधे रखनेके लिये साँकल है, सृष्टिरूपी वटवृक्षकी सुन्दर वरोह है और दुःखरूपी कुमुदोंको विकसित करनेवाली चाँदनी है। इतना ही नहीं, तृष्णा जरा-मृत्युरूप दुःखमय रत्नोंका संग्रह करनेके लिये एकमात्र रत्न-पेटिका है तथा आधि-व्याधिरूप विलासोंका नित्य विस्तार करनेवाली मदमत्त विलासिनी है। तृष्णाको व्योमवीथी (आकाश)

१. इन्द्र-धनुषके पक्षमें गुणका अर्थ प्रत्यञ्चा है।

के समान समझना चाहिये। जैसे आकाश कभी सूर्यके प्रकाशसे निर्मल हो जाता है, कभी मेघोंकी घटा घिर आनेसे वहाँ कुछ क्षणोंके लिये कुछ-कुछ अँधेरा छा जाता है और कभी वह कुहरेसे ढक जाता है, उसी प्रकार तृष्णा भी कभी किंचित् विवेकका प्रकाश पाकर निर्मल हो जाती है, विवेक न होनेपर अज्ञानसे मलिन रहती है और कभी कुहरेके समान मोहसे आवृत हो जाती है। जबतक विष-विशेषके उद्भवसे प्रकट होनेवाले विसूचिका (हैजा) नामक रोगके समान मृत्युकी हेतुभूता तृष्णा पीछे लगी रहती है, तभीतक यह चञ्चल-चित्त मूढ़ जन-समुदाय मोहको प्राप्त होता रहता है।

लोग विषयोंका चिन्तन त्याग देनेसे ही अपने सम्पूर्ण दुःखको दूर कर सकते हैं। विषय-चिन्तनका त्याग ही तृष्णारूपिणी विसूचिकाके निवारणका मन्त्र कहा गया है। तृष्णा वेणुलता (बाँस) बतायी जाती है। जैसे बाँस भीतरसे खोखला, बीच-बीचमें गाँठोंसे युक्त और कोंपलरूपी बड़े-बड़े काँटोंसे भरा होता है तथा उसमें सबको प्रिय लगनेवाले मोती उपलब्ध होते हैं, उसी प्रकार तृष्णा भी भीतरसे खोखली, कपट-दुराग्रह आदि गाँठोंसे भरी, चिन्ता और दुःखरूपी कण्टकोंसे परिपूर्ण तथा मोती-मणि आदि धन-सम्पत्तिमें अधिक प्रेम रखनेवाली है। फिर भी यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि परम बुद्धिमान् ज्ञानीजन विवेककी चमचमाती हुई तलवारसे उस दुश्छेद्य चिन्ताको भी काट डालते हैं। ब्रह्मन्! जीवोंके हृदयमें रहनेवाली यह तृष्णा जैसी तीखी है, वैसी तीखी न तो तलवारकी धार है न वज्राग्निकी लपटें हैं और न आगमें तपाये हुए लोहकणोंकी चिनगारियाँ ही हैं। तृष्णा दीप-शिखाके समान कही गयी है। जैसे दीपककी शिखा बीचमें उज्ज्वल, अन्तमें काली होती है, उसका अग्रभाग तीखा होता है, उसमें तेल और लंबी-सी बत्ती रहती है, वह प्रकाशमान होती है, और दाहके कारण उसका स्पर्श दुस्सह होता है, उसी प्रकार तृष्णा भी बीचमें भोग-वैभवसे उज्ज्वल और अन्तमें दुःख एवं मृत्यु देनेवाली होनेके कारण काली होती है, उसका अग्रभाग या आरम्भ भी असह्य होता है। वह स्त्री-पुत्र आदिके स्नेहसे पूर्ण तथा बाल्य, यौवन, बुढ़ापा नामक अवस्था-विशेषरूपी वर्तियोंसे युक्त होती है, इसका सबको प्रत्यक्ष अनुभव होता है तथा इष्ट वस्तुके वियोग-जनित अन्तर्दाह उत्पन्न करनेके कारण यह सबके लिये असह्य हो उठती है। महर्षे! मेरुपर्वतके समान परम उन्नत, विद्वान्, शूरवीर, सुस्थिर और श्रेष्ठ मनुष्यको भी यह एकमात्र तृष्णा ही पलभरमें याचक बनाकर तिनकेके समान हल्का कर देती है। (सर्ग १७)

शरीर-निन्दा

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—महामुने! गीली आँतों (मल-मूत्र आदिकी थैलियों) और नाड़ियोंसे भरा हुआ, नाना प्रकारके विकारोंसे युक्त तथा अन्तमें पतनशील (मरणधर्मा) जो शरीर संसारमें सबके सामने प्रकाशित हो रहा है, वह भी केवल दुःख भोगनेके लिये ही है। यह थोड़े-से खान-पान आदिके द्वारा ही आनन्दित हो उठता है और थोड़े-से ही शीत, घाम आदिसे खिन्न हो जाता है; अतः इस शरीरके समान गुणहीन, शोचनीय और अधम दूसरा कोई नहीं है। यह शरीर वृक्षके तुल्य है। दोनों भुजाएँ इसकी दो शाखाएँ हैं, परिपुष्ट कंधा तना है। दो नेत्र इसके बिल या खोडर हैं। मस्तकका स्थान इसका बड़ा भारी फल है। यह दाँतरूपी श्रेणीबद्ध पक्षियोंके बैठनेके लिये स्तम्भके समान सुन्दर आधार है। दोनों कान शब्दरूपी कठफोरवा पक्षियोंके प्रवेश करनेके लिये खोंखले हैं। हाथ और पैरोंकी अंगुलियाँ

इसके सुन्दर पल्लव हैं। गुल्म नामक (पेटका) रोग ही इसपर फैली हुई लताएँ अथवा झाड़ियाँ हैं। यह कर्म करनेके लिये पञ्चभूतोंके समूहसे संगठित हुआ है। जीव तथा ईश्वररूप पक्षियोंने इसपर अपने घोंसले बना रक्खे हैं। दाँतरूपी केसरोंसे सुशोभित, उत्पत्ति-विनाश-शील तथा मन्द हासमय विकाससे युक्त हर्षरूपी फूलों-द्वारा यह शरीर-वृक्ष सदा अलंकृत होता रहता है। सुन्दर कान्ति ही इसकी छाया है। यह देहरूपी वृक्ष जीवरूपी पथिकोंका विश्राम-स्थान है। इसे किसका आत्मीय कहा जाय और किसका पराया ? इसके ऊपर आस्था और अनास्था ही क्या हो सकती है ? तात ! भवसागर तथा नदी आदिको पार करनेके लिये बारंबार अपनायी गयी देहलता एवं नौकामें कौन आत्मीयताकी भावना कर सकता है ? जहाँ रोमरूपी असंख्य वृक्ष उगे हुए हैं, जो इन्द्रियरूपी बहुसंख्यक गड्ढोंसे भरा हुआ है, उस देहरूपी निर्जन वनमें कौन विश्वस्त (निर्भय) होकर रह सकता है ?

जो संसाररूपी वनमें उगा और बढ़ा है, जिसपर चित्तरूपी चञ्चल वानर उछलता-कूदता रहता है, जिसका प्रत्येक अवयव विषय-चिन्तनरूपी मञ्जरीसे अलंकृत है, महान् दुःखरूपी घुनोंके लग जानेसे जिसमें सब ओर छेद या घाव हो गये हैं, जो तृष्णारूपिणी सर्पिणीका घर है, जिसपर कोपरूपी कौएने घोंसला बना रखा है, जिसमें मन्द मुसुकानरूपी पुष्प प्रकट होते और खिलते हैं, इसीलिये जिसकी बड़ी शोभा होती है, शुभ और अशुभ (सुख और दुःख) जिसके महान् फल हैं, सुन्दर कंधे और बाँहें जिसकी शाखाएँ हैं, अङ्गुलियोंसे युक्त हाथरूपी पुष्प-गुच्छोंके कारण जो बड़ा सुन्दर जान पड़ता है, प्राणवायुरूपी पवनके स्पन्दनसे जिसके सम्पूर्ण अवयवरूपी पल्लव हिलते रहते हैं, जो समस्त इन्द्रियरूपी पक्षियोंका आधार है, सुन्दर घुटनोंसे युक्त शरीरका निचला भाग जिसका तना है, जो बहुत ऊँचा है, यौवनकी कान्तिरूपी छायासे युक्त होनेके कारण जो सरस प्रतीत होता है, कामरूपी पथिक जिसका सेवन करता है, मस्तकपर उगे हुए बड़े-बड़े केश-कलाप जिसपर जमे हुए तिनकोंके समुदाय हैं, अहंकाररूपी गीध जिसपर घोंसला बनाकर रहता है, जो भीतरसे खोखला (छिद्रयुक्त) है, नाना प्रकारकी वासनारूपिणी जटाओंके जालका उद्गम-स्थान होनेके कारण जिसे काटना अत्यन्त कठिन है तथा परिश्रमरूपी शाखा-विस्तारके कारण जो विरस (रूखा) दिखायी देता है, वह शरीररूपी वृक्ष मुझे सुखद नहीं प्रतीत होता।

मुने ! शरीर अहंकाररूपी गृहस्थका विशाल गृह है। यह गिरकर सदाके लिये धरतीपर लोट जाय अथवा चिरकालतक स्थिर बना रहे, इससे मेरा क्या प्रयोजन है ? जहाँ इन्द्रियरूपी पशु कतार बाँधकर खड़े रहते हैं, तृष्णारूपिणी गृहस्वामिनी बारंबार (घर-आँगनमें) डोलती-फिरती है तथा जिसके समस्त अवयवोंको आसक्तिरूपी गेरु आदिके रंगसे रँगा गया है, वह शरीररूपी गृह मुझे अभीष्ट नहीं है। पीठकी हड्डी (रीढ़) रूपी शहतीरोंके परस्पर मिलनेसे जिसके भीतर खाली स्थान बहुत थोड़ा रह गया है तथा जो आँतकी रस्सियोंसे बाँधकर खड़ा किया गया है, वह देहरूपी घर मुझे प्रिय नहीं है। जिसमें सब ओर नस नाड़ी और आँतोंकी रस्सियाँ फैली हुई हैं, जिसे रक्तरूपी जलसे बनाये गये गारेके द्वारा लीपा गया है तथा बुढ़ापा-रूपी चूनेसे जिसपर सफेदी की गयी है, वह देहरूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है। चित्तरूपी भृत्यने नाना प्रकारकी अनन्त चेष्टाओंद्वारा जिसकी स्थिति अत्यन्त सुदृढ कर दी है तथा मिथ्या और मोह (असत्य और अज्ञान)—ये दो जिसके बड़े-बड़े खंभे हैं, वह देहरूपी गृह मुझे प्रिय नहीं है। दुःखरूपी छोटे-छोटे बच्चोंने जहाँ रो-रोकर कोलाहल मचा रक्खा है,

गाढ़ निद्रारूपी सुख-शय्याके कारण जो मनोरम प्रतीत होता है तथा जिसमें दुश्चेष्टारूपिणी दर्भ दासी निवास करती है, वह देहरूपी घर मुझे प्रिय नहीं है। मुनीश्वर! जो मल आदि दोषोंसे युक्त विषय-समूहरूपी बर्तनों तथा अन्यान्य उपकरणोंसे ठसाठस भरा हुआ है तथा जिसमें अज्ञानरूपी नोनछा लगा हुआ है, वह देहरूपी गेह मुझे अभीष्ट नहीं है। गुल्फरूपी आधार-काष्ठपर स्थित जो पिंडलियाँ हैं, वे मानो खंभे हैं। घुटना उनका मस्तक है, वह भी जिसके ऊरुस्तम्भका आधार है तथा दोनों बड़ी-बड़ी भुजाएँ दो आड़ी लकड़ियोंके समान जिसे दृढ़तापूर्वक धारण करती हैं, वह देहरूपी घर मुझे इष्ट नहीं है।

ब्रह्मन्! जहाँ ज्ञानेन्द्रियरूपी झरोखोंके भीतर प्रज्ञारूपिणी गृहस्वामिनी क्रीडा कर रही है तथा चिन्तारूपिणी पुत्रियाँ खेल रही हैं, वह देह-गेह मुझे प्रिय नहीं है। जो सिरके केशरूपी छाजनसे छाया हुआ है, कानरूपी शोभाशाली चन्द्रशालाओंसे सुशोभित है तथा कुछ लंबी अङ्गुलिरूप काष्ठचित्रोंसे सुसज्जित है, वह शरीररूपी गृह मुझे प्रिय नहीं है। जिसके समस्त अङ्गरूपी भित्तियोंके समूहमें रोमरूपी घने जौके अङ्कुर उगे हैं और जहाँ पेटका गड्ढा कभी भरता नहीं, ऐसा देहरूपी गेह मुझे नहीं चाहिये। जिसमें नखरूपी मकड़ियोंका निवास है, जहाँ भूखरूपी कुतिया निरन्तर शोर मचाये रहती है तथा जिसमें भयानक शब्द करनेवाली प्राणवायु सदा चलती रहती है, ऐसे देह-गेहकी प्राप्ति मुझे प्रिय नहीं है। जहाँ श्वास-प्रश्वासके रूपमें वायुके वेगका निरन्तर भीतर-बाहर आना-जाना लगा रहता है और जिसकी इन्द्रियरूपी खिड़कियाँ सदा खुली रहती हैं, वह देहरूपी घर मुझे कभी इष्ट नहीं है। जिसके मुखरूपी दरवाजेपर जिह्वारूपिणी वानरी सदा डटी रहती है, अतएव जो भयङ्कर दिखायी देता है तथा जिसके दाँतरूपी हड्डियोंके टुकड़े स्पष्टतः दृष्टिगोचर होते हैं, वह शरीररूपी घर मुझे नहीं चाहिये। यह देह गेह त्वचारूपी चूनेके लेप (या पलस्तर) से चिकना किया हुआ है। नाड़ीरूप यन्त्रोंके संचारसे यह चञ्चल बना रहता है और मनरूपी सुन्दर चूहेने इसमें सब ओर बिल खोद रक्खे हैं; इसलिये यह मुझे प्रिय नहीं है। जो मन्द मुसकानरूपी दीपककी प्रभासे क्षणभरके लिये उद्भासित हो उठता है, एक ही क्षणमें आनन्दोल्लाससे सुन्दर दिखायी देता है और फिर क्षणमात्रमें ही अज्ञानान्धकारसे व्याप्त हो जाता है, वह शरीररूपी घर मुझे प्रिय नहीं है। जो समस्त रोगोंका घर है, झुर्रियों तथा पके बालोंका नगर है और समस्त मानसिक चिन्ताओंका दुर्गम वन है, वह देह-गेह मुझे प्रिय नहीं है।

यह शरीर एक भयानक वन है। इन्द्रियाँ ही इस जंगलके भालू हैं, जो अपने रोषके कारण इसे दुर्गम बनाये हुए हैं। यह भीतरसे सूना है तथा अनेकानेक निस्सार खोडरोंसे युक्त है। इसकी दिशारूपी कुंजें घोर अज्ञानान्धकारसे व्याप्त होनेके कारण गहन जान पड़ती हैं; अतः यह मुझे कदापि प्रिय नहीं है। यहाँ धन-सम्पत्ति, राज्य, शरीर, नाना प्रकारकी चेष्टाओं और मनोरथोंसे क्या लेना-देना है; क्योंकि काल कुछ ही दिनोंमें इन सबको अपना ग्रास बना लेता है। मुने! यह शरीर केवल रक्त और मांसका ही बना हुआ है। इसका एक ही धर्म है—विनाश। फिर इसके बाहरी और भीतरी स्वरूपपर विचार करके बताइये, इसमें कौन-सी रमणीयता है?

तात! जो शरीर मरनेके समय जीवका अनुसरण नहीं करते—उसका साथ छोड़ देते हैं, वे कितने बड़े कृतघ्न हैं। फिर आप ही कहिये, उनपर बुद्धिमान् पुरुषोंकी क्या आस्था हो सकती है? यह शरीर उस कोमल पल्लवके समान है, जो तनिक-सी वायुका संचार

१. दाह और घावसे पीड़ित।
२. एड़ीके ऊपरकी गाँठ।

होते ही जोर-जोरसे हिलने लगता है, यह आधिव्याधिरूपी सैकड़ों कण्टकोंसे क्षत-विक्षत होनेके कारण जर्जर हो जाता है। इसका स्वभाव क्षुद्र है तथा यह कड़वा और नीरस है; अतएव मुझे प्रिय नहीं है। चिरकालतक यत्नपूर्वक खा-पी लेनेके बाद भी नूतन पल्लवोंके समान कोमल कृशताको प्राप्त हो यह बारंबार विनाशकी ओर ही दौड़ता है। दीर्घकालतक लोगोंपर अपना प्रभुत्व स्थापित करके धन-सम्पत्तिका सेवन करनेके बाद भी न तो यह ऊँचे उठता है और न स्थिरताको ही प्राप्त होता है, फिर इस शरीरका किसलिये पालन किया जाता है! कोई भोग-वैभवसे सम्पन्न हो या दरिद्र—दोनोंका शरीर समान ही होता है, बुढ़ापेके समय बूढ़ा होता और मृत्युकालमें मर जाता है। उसे अपनेमें किसी विशेषताका अनुभव नहीं होता। जो लोग इन नाशवान् शरीरोंमें आस्था रखते हैं—इन्हें नित्य स्थिर रहनेवाला मानते हैं तथा जो संसारकी स्थिरतापर भी विश्वास करते हैं, वे मोहरूपी मदिराका पान करके उन्मत्त हो गये हैं। उन्हें बारंबार धिक्कार है।

मुने! 'मैं न तो इस शरीरका कोई सम्बन्धी हूँ और न शरीर हूँ। न यह शरीर मेरा है और न मैं ही यह शरीर हूँ।' ऐसा विचार करके जिनका चित्त परमात्मामें विश्राम ले रहा है, वे ही लोग पुरुषोंमें उत्तम हैं। जो मान और अपमानसे वृद्धिको प्राप्त हुई हैं और प्रचुर लाभसे मनोरम प्रतीत होती हैं, वे दोषपूर्ण दृष्टियाँ केवल शरीरमें नित्यत्वका विश्वास रखनेवाले मनुष्यको नष्ट कर देती हैं। जो शरीररूपी गड्ढेमें सोती है और अहंकारका चमत्कारपूर्ण कार्य है, उस मनोहर अङ्गवाली (भोगतृष्णामयी दोषदृष्टिरूपिणी) पिशाचीने छलसे हमारा सर्वस्व हर लिया है। शरीरमें ही नित्यताका विश्वास रखनेवाली इस मिथ्या-ज्ञानरूपिणी दुष्ट राक्षसीने अकेली (असहाय) दीन-हीन प्रज्ञा (सुबुद्धि) को पूर्णरूपसे ठग लिया, यह कितने दुःखकी बात है!

कुछ ही दिनोंमें जीर्णताको प्राप्त होकर यह शरीररूपी पल्लव झरनेके जलकी बूँदोंके समान बिना किसी यत्नके अपने आप गिर पड़ता है। समुद्रमें उत्पन्न हुए पानीके बुलबुलोंकी तरह इस शरीरका बहुत शीघ्र विनाश हो जाता है। ब्रह्मन्! यह शरीर मिथ्याभूत अज्ञानका विकार है और स्वप्नरूपी भ्रान्तियोंका भंडार है। इसका विनाश बहुत स्पष्ट दिखायी देता है। इसलिये इसमें मेरा क्षणभरके लिये भी विश्वास नहीं है। जिस पुरुषने बिजली, शरद् ऋतुके बादल और गन्धर्व-नगरके चिरस्थायी होनेका निर्णय कर लिया है, वही इस शरीरकी नित्यतापर विश्वास करे (मैं तो नहीं कर सकता)। शीघ्रतापूर्वक नष्ट हो जानेमें हठपूर्वक अपना उत्कर्ष जतानेके लिये जो होड़ लगाकर प्रवृत्त हुए हैं, उन सतत विनाशशील पदार्थोंकी अपेक्षा भी जो अधिक क्षणभङ्गुर है, उस प्रबल दोषयुक्त शरीरकी निनकेके समान उपेक्षा करके मैं सुखी हो गया हूँ। (सर्ग १८)

बाल्यावस्थाके दोष

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—मुनीश्वर! असमर्थता, आपत्तियाँ, तृष्णा, मूकता (बोल न सकना), मूढ-बुद्धिता (बुद्धिके द्वारा कुछ जान न पाना), खिलौने आदिकी अभिलाषा, चञ्चलता और दीनता आदि सारे दोष बाल्यावस्थामें ही प्रकट होते हैं। बाल्यावस्थामें पशु-पक्षियोंकी-सी चेष्टाएँ होती हैं। बालक सभी लोगोंके द्वारा तिरस्कृत होता है। बालकोंकी चपल चेष्टा मृत्युसे भी बढ़कर दुःख देनेवाली होती है। बाल्यावस्थामें अज्ञानवश जल, अग्नि और वायुसे निरन्तर उत्पन्न होनेवाले भयके कारण पग-पगपर जो दुःख प्राप्त होता है, वह आपत्तिकालमें भी किसको होता होगा? बालक भाँति-भाँतिकी लीलाओं, दुर्विलासों, दुश्चेष्टाओं तथा दूषित

अभिप्रायमें हठात् प्रवृत्त होकर बड़े भारी मोहमें पड़ जाता है। बाल्यावस्थामें बालक जिस किसीके भी कहनेसे निष्फल कार्यमें प्रवृत्त हो जाते हैं, अनेक प्रकारकी दुश्चेष्टाएँ करते हैं तथा किसी प्रकार भी प्रतिष्ठाकी प्राप्ति उनके लिये दुर्लभ है। इस तरह मनुष्यका शैशवकाल केवल गुरुजनोंका शासन स्वीकार करनेके लिये ही है, सुख और शान्ति प्रदान करनेके लिये नहीं। जैसे उल्लू दिनमें अन्धकारसे भरे हुए दूषित गड्ढोंमें छिपे रहते हैं, उसी प्रकार जो-जो दोष, जितने दुराचार तथा जो-जो दुर्लङ्घ्य दुश्चिन्ताएँ हैं, वे सब-के-सब बाल्यावस्थामें ही जीवके हृदयमें छिपकर बैठे रहते हैं।

ब्रह्मन्! जो लोग 'बाल्यावस्था बड़ी रमणीय है' ऐसी कल्पना करते हैं, उन सबकी बुद्धि व्यर्थ है। उन हतचित्त मूढबुद्धि लोगोंको बार-बार धिक्कार है। जहाँ झूलेके समान चञ्चल मन विविध विषयोंके आकारको प्राप्त होता है तथा जो तीनों लोकोंमें अमङ्गलरूप है, वह बाल्यावस्था कैसे संतोषदायक हो सकती है? मुने! सभी प्राणियोंका मन अन्य सब अवस्थाओंकी अपेक्षा बाल्यावस्थामें ही दसगुना चञ्चल हो उठता है। मन स्वभावसे ही चञ्चल है और बाल्यावस्था सम्पूर्ण चञ्चल पदार्थोंमें सबसे बढ़कर है। जहाँ उन दोनोंका संयोग हो, वहाँ अन्तःकरणमें चपलताजनित अनर्थसे बचानेवाला कौन है! बचपन और मन—ये दोनों सभी वृत्तियों (व्यवहारों) में सदा दो सहोदर भाइयोंके समान दृष्टिगोचर होते हैं। इन दोनोंकी ही स्थिति क्षणभङ्गुर है। बालक कुत्तेके समान थोड़ा-सा ही खाना देने या पुचकारनेसे वशमें हो जाता है और थोड़ा-सा ही घुड़कने या छड़ी आदि दिखानेसे बिगड़ जाता या डर जाता है। वह सदा अपवित्र स्थानमें ही रमता या खेलता है।

बाल्यावस्थामें प्राणी केवल दूसरोंसे डरता और खाता-पीता रहता है। वह सदा दीन रहता है, देखी और बिना देखी सभी वस्तुओंकी इच्छा करता है। उसकी बुद्धि और शरीर दोनों चञ्चल होते हैं। ऐसी बाल्यावस्थाको मनुष्य केवल दुःख भोगनेके लिये ही धारण करता है। निर्बल बालक अपने मानसिक संकल्पसे जिन पदार्थोंको पानेकी इच्छा करता है, उन्हें न पाकर उसकी बुद्धि सदा संतप्त होती रहती है और उसे इतना दुःख होता है मानो किसीने उसके हृदयमें घाव कर दिया है, जबतक बाल्यावस्था रहती है, तबतक असत्य पदार्थोंमें ही सत्यताकी बुद्धि बनी रहती है, हृदयमें नाना प्रकारके मनोरथ उदित होते रहते हैं तथा अन्तःकरण बड़ा कोमल होता है। अतः बाल्यकाल अत्यन्त दीर्घ दुःख प्रदान करनेके लिये ही होता है, सुख देनेके लिये नहीं। परम बुद्धिमान् मुनीश्वर! जिसके अन्तःकरणमें सर्दी, गरमीका अनुभव तो होता है, परंतु जो उनका निवारण करनेमें समर्थ नहीं होता, उस बालक और वृक्षमें क्या अन्तर है! बाल्यकालमें गुरुसे, माता-पितासे, अन्य लोगोंसे तथा अपनी अपेक्षा बड़े बालकोंसे भी भय प्राप्त होता है। अतः बाल्यावस्था भयका मन्दिर ही है। महामुने! बाल्यावस्थामें समस्त दोषपूर्ण दशाओंद्वारा अन्तःकरण दूषित होता है और बाल्यकाल अविवेक-नामधारी विलासीका विलासभवन है। इसलिये इस जगत्में यह बाल्यावस्था किसीके लिये भी पूर्ण संतोषदायक नहीं है।

(सर्ग १९)

युवावस्थाके दोष

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—महर्षे! बचपनके बाद मनुष्य बाल्यावस्थाके अनर्थोंका त्याग कर भोग भोगनेके उत्साह, भ्रान्ति अथवा कामरूप पिशाचसे दूषित-चित्त होकर नरकमें गिरनेके लिये ही यौवनारूढ होता है। यौवनावस्थामें मूर्ख मनुष्य अनन्त विलास (चेष्टा) वाले अपने चञ्चल चित्तकी राग-द्वेषादि वृत्तियोंका अनुभव

करता हुआ एक दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त होता है। अपने चित्तरूपी बिलमें स्थित हो नाना प्रकारकी भ्रान्ति पैदा करनेवाला कामरूपी पिशाच अपने वशमें हुए पुरुषका बलपूर्वक तिरस्कार करता है। मुने! युवावस्थामें स्त्री, द्यूत और कलह आदि दुर्व्यसनोंको उत्पन्न करनेवाले वे राग-लोभ आदि प्रसिद्ध एवं दुष्ट दोष वैसे (काम, चिन्ता आदिके वशीभूत) अन्तःकरणवाले पुरुषको, जो काम आदिमें तन्मय हो रहा है, यौवनके ही सहारे नष्ट कर डालते हैं। जो महान् नरकका बीज है और सदा भ्रान्ति पैदा करनेवाला है, उस यौवनके द्वारा जिनका नाश नहीं हुआ, वे मनुष्य दूसरे किसीसे नष्ट नहीं हो सकते। शृङ्गार आदि नाना प्रकारके रसोंसे पूर्ण और अनेक प्रकारके आश्चर्यजनक वृत्तान्तोंसे युक्त भीषण यौवनरूपा भूमिको जिसने पार कर लिया, वही पुरुष धीर कहलाता है। जो क्षणभरके लिये प्रकाशमान, चञ्चल मेघोंकी गम्भीर गर्जना (अभिमानपूर्ण वचन) से व्याप्त और बिजलीकी तरह चमककर लुप्त हो जानेवाला है वह अमङ्गलमय यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता। जो भोगके समय मधुर अतएव स्वादिष्ट (मनोरम) और अन्तमें दुःखदायी होनेके कारण तिक्त प्रतीत होता है, जिसमें दोष-ही-दोष भरे हैं, जो सब दोषोंका आभूषण तथा मदिराके मद-विलासके समान मोहक है, वह यौवन मुझे कदापि अच्छा नहीं लगता। जो असत्य होकर भी सत्य-सा प्रतीत होता है, शीघ्र ही धोखा देनेवाला है तथा स्वप्नावस्थामें किये गये स्त्री-सहवासके समान है, वह यौवन मुझे अच्छा नहीं लगता। यह क्षणभरके लिये सुन्दर प्रतीत होनेवाली सम्पूर्ण वस्तुओंमें अग्रगण्य है। सारी आयु बीत जानेपर दिखायी देनेवाले गन्धर्वनगरके समान है। यह सब लोगोंको क्षणमात्रके लिये मनोहर प्रतीत होता है। अतः यह मुझे अच्छा नहीं लगता।

यह यौवन ऊपरसे तो रमणीय प्रतीत होता है, किंतु भीतरसे सद्भावशून्य है। अतः वेश्या स्त्रीके समागमके समान घृणित होनेके कारण मुझे रुचिकर नहीं जान पड़ता। जैसे प्रलयकालमें सबको दुःख देनेवाले बड़े-बड़े उत्पात सब ओरसे उमड़ उठते हैं, उसी प्रकार युवावस्थामें सबको कष्ट प्रदान करनेवाले जो कोई भी अयोजन हैं, वे सब निकट आ जाते हैं। युवावस्थाका मोह मङ्गलमय आचारको भुला देनेवाले और बुद्धिको कुण्ठित कर देनेवाले भ्रमका अतिशय मात्रामें उत्पादन करता है। जैसे दावाग्नि वृक्षको जला देती है, उसी प्रकार युवावस्थामें जीव प्रियतमाके वियोगजनित दुस्सह शोकाग्निसे मन-ही-मन जलता रहता है। जैसे अत्यन्त निर्मल, विस्तृत एवं पवित्र नदी भी वर्षा ऋतुमें मलिन हो जाती है, उसी प्रकार परम निर्मल, विशाल एवं शुद्ध बुद्धि भी युवावस्थामें कलुषित हो जाती है। बहुत-सी उत्ताल तरङ्गोंसे युक्त भयानक नदी लाँघी जा सकती है, परंतु भोगतृष्णाकी चपलतासे युक्त युवावस्था नहीं लाँघी जा सकती। वह प्राणवल्लभा, उसके वे मोटे-मोटे स्तन, वे मनोहर विलास और वह सुन्दर मुख कितना मनोरम है!' युवावस्थामें इसी तरहकी चिन्ताओंसे मनुष्य जर्जर हो जाता है। रजोगुण और तमोगुणसे पूर्ण यह विषम यौवनरूप आँधी सम्पूर्ण सद्गुणोंकी स्थिरताको नष्ट करनेमें दक्ष है। मनुष्योंके यौवनका उल्लास (विकास) दोष-समूहोंको जगाता और सद्गुण-समुदायका मूलोच्छेद करता है अतएव उसे पाप-वैभवका विलास कहा गया है। शरीररूपी उपवनमें उत्पन्न हुई यौवनकी बेल बड़ी रमणीय है। वह ज्यों-ज्यों बढ़ती या ऊँचे चढ़ती है, त्यों-ही-त्यों अपनेसे सटे हुए मनरूपी भ्रमरको उन्मत्त बना देती है। शरीररूपी मरुभूमिमें कामरूपी घामके तापसे प्रकट हो भ्रान्तिरूपमें प्रतीत होनेवाली जो यौवनरूपिणी मृगतृष्णा है, उसकी ओर दौड़ते हुए मनरूपी मृग विषयोंके गड्ढेमें गिर जाते हैं। यह युवावस्था देहरूपी जंगलमें कुछ दिनोंके लिये प्रकाशित होनेवाली शरद्ऋतुके समान है।

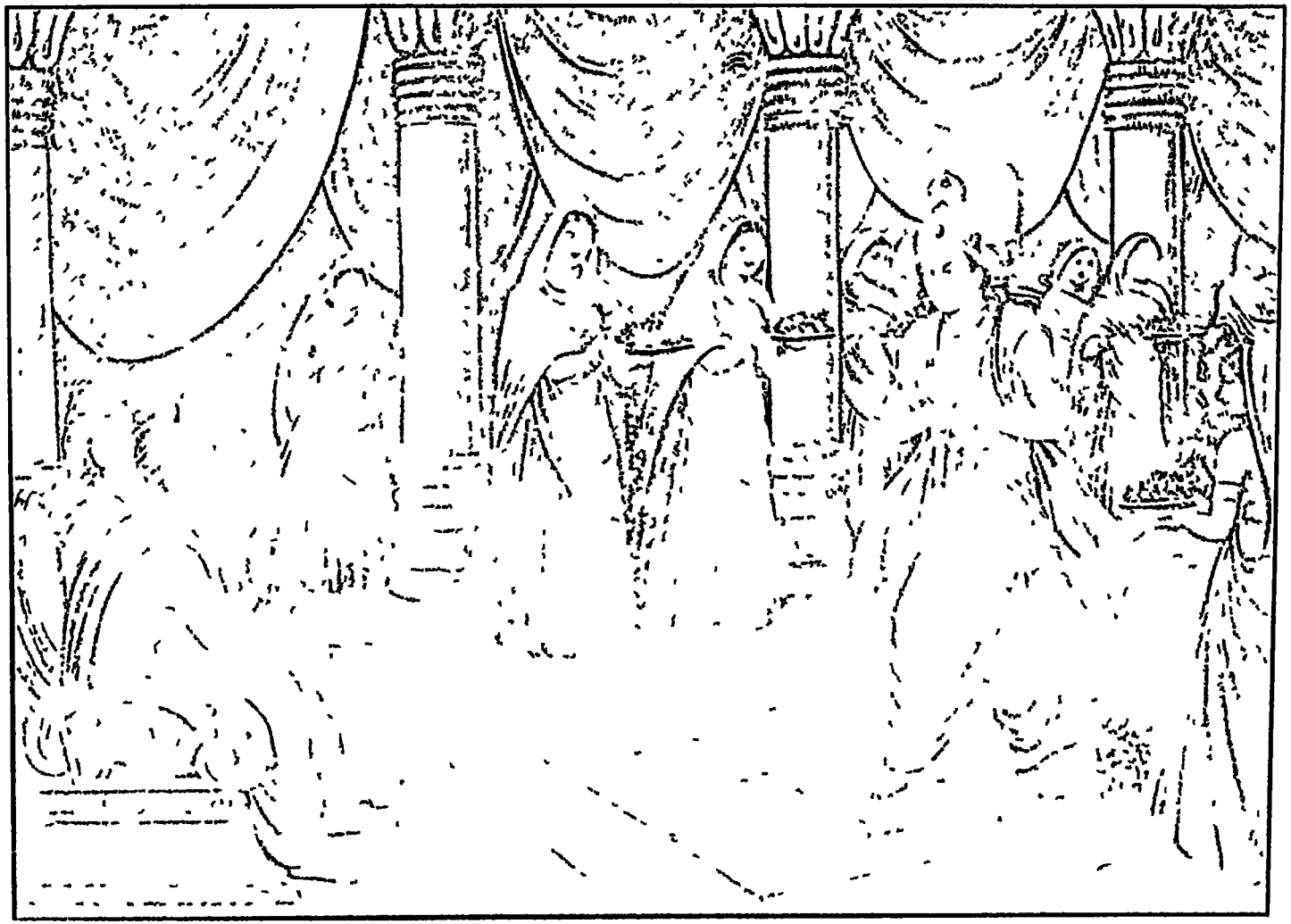

तीर्थयात्रासे लौटनेपर श्रीरामचन्द्रजीका स्वागत (वैराग्य-प्रकरण सर्ग ४)

लोगो ! तुम इसपर विश्वास न करो।

जब-जब यौवन अपनी चरम सीमापर आरूढ़ हो जाता है, तब-तब संतापयुक्त कामनाएँ केवल विनाशके लिये ही बढ़ने या नृत्य करने लगती हैं। ये राग-द्वेषरूपी पिशाच तभीतक विशेषरूपसे नाचते फिरते हैं, जबतक कि यह यौवनरूपिणी रात्रि पूर्णरूपसे नष्ट नहीं हो जाती। जो महामूढ़ पुरुष मोहवश क्षणभङ्गुर यौवनसे हर्षको प्राप्त होता है, वह मनुष्य होता हुआ भी निरा पशु ही माना गया है। जो मनुष्य अभिमान या अज्ञानके कारण मदोन्मत्त यौवनावस्थाकी अभिलाषा करता है, उस दुर्बुद्धिको शीघ्र ही पश्चात्तापका भागी होना पड़ता है। साधो ! इस भूतलपर वे ही पुरुष पूजनीय और महात्मा हैं, जो यौवनरूपी संकटसे सुखपूर्वक पार हो गये हैं। बड़े-बड़े मगरोंसे भरे हुए महासागरको सुखपूर्वक पार किया जा सकता है, किंतु विषय-चिन्तन आदि महातरङ्गोंके कारण उमड़े हुए और दुर्गुण दुराचाररूप अनेक दोषोंसे भरे हुए इस निन्दनीय यौवनके पार जाना बहुत ही कठिन है। ब्रह्मन् ! विनयसे अलकृत, श्रेष्ठ पुरुषोंको आश्रय देनेवाला, करुणासे प्रकाशित तथा शम, दम, क्षमा, दया, शान्ति, संतोष, सरलता आदि विविध गुणोंसे युक्त उत्तम यौवन इस संसारमें उसी तरह दुर्लभ है, जैसे आकाशमें वन। (सर्ग २०)

स्त्री-शरीरकी रमणीयताका निराकरण

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—मुनीश्वर ! इधर केश हैं, इधर रक्त और मास है, यही तो युवती स्त्रीका शरीर है। जिसका हृदय विवेकसे विशाल हो गया है, उस ज्ञानी पुरुषको इस निन्दित नारी-शरीरसे क्या काम ? आदरणीय मुने ! बहुमूल्य वस्त्र और केसर-कस्तूरी आदिके लेपसे जिन्हे बारबार सजाकर दुलराया गया था, समस्त देहधारियोंके उन्हीं अङ्गोंको किसी समय गीध और सियार आदि मांसाहारी जीव नोचते और घसीटते हैं। जिस स्तनमण्डलपर मेरु पर्वतके शिखरप्रान्तसे सोल्लास प्रवाहित होनेवाली गङ्गाजीके जलकी धाराके समान मोतियोंके हारकी शोभा देखी गयी थी, मृत्युके पश्चात् सम्पूर्ण दिशाओंकी श्मशान-भूमियोंमें नारीके उसी स्तनका कुत्ते अन्नके छोटे-से पिण्डकी भाँति आस्वादन करते हैं। जैसे वनमें चरनेवाले गदहे या ऊँटके अङ्ग रक्त-मांस और हड्डियोंसे सम्पन्न हैं, उसी प्रकार कामिनियोंके अङ्ग भी उन्हीं उपकरणोंसे युक्त हैं। फिर नारीके प्रति ही लोगोंका इतना आग्रह या आकर्षण क्यों है ?

मुने ! लोग केवल स्त्रीके शरीरमें जिस आपात-रमणीयताकी कल्पना करते हैं, मेरी मान्यताके अनुसार वह भी उसमें है नहीं। उसमें जो रमणीयताकी प्रतीति होती है, उसका एकमात्र कारण मोह ही है। मनमें विकार उत्पन्न करनेवाली मदिरामें और युवती स्त्रीमें क्या अन्तर है ? एक जहाँ मद (नशे) के द्वारा मनुष्यको प्रचुर उल्लास प्रदान करती है, वहाँ दूसरी कामका भाव जगाकर पुरुषके लिये आनन्ददायिनी बनती है (अतः अपना कल्याण चाहनेवाले पुरुषके लिये दोनों ही सामान्यरूपसे त्याज्य हैं)। जैसे धूमको ही केशके रूपमें धारण करनेवाली प्रज्वलित अग्निशिखा, जो देखनेमें सुन्दर किंतु छूनेमें दुस्सह है, तिनकोंको जला डालती है, उसी प्रकार केश और काजल धारण करनेवाली तथा नेत्रोंको प्रिय लगनेवाली नारियाँ, जिनका स्पर्श परिणाममें दुःख देनेवाला है, पुरुषको वासनाकी आगसे जलाती रहती हैं।

जैसे विषकी लता सुन्दर फूलोंसे मनोहर लगती, नये-नये पल्लवोंसे सुशोभित होती, भ्रमरोंकी क्रीडास्थली

बननी, पुष्प-गुच्छ धारण करती, फूलोंके केसरसे पीले रंगकी प्रतीत होती, अपना सेवन करनेवाले मनुष्यको मार डालती या पागल बना देती है, उसी प्रकार कमनीया कामिनी फूलोंका शृङ्गार धारण करनेके कारण मनोहारिणी लगती, करपल्लवोंसे सुशोभित होती, भ्रमरोंके समान चञ्चल नेत्रोंके कटाक्ष-विलासका प्रदर्शन करती, पुष्प-गुच्छोंके समान स्तनोंको वक्षपर धारण करती, फूलोंके केसरकी भाँति सुनहरी गौर-कान्तिसे प्रकाशित होती, मनुष्योंके विनाशके लिये तत्पर रहती और काम-भावसे अपना सेवन करनेवालोंको उन्माद एवं मृत्यु आदिके अधीन कर देती है। मुनिश्रेष्ठ! कामरूपी किरात (बहेलिये) ने मूढ़-चित्त मानवरूपी पक्षियोंको फँसानेके लिये स्त्रीरूपी जालको फैला रक्खा है। जन्म-स्थान-रूपी छोटे-छोटे जलाशयोंमें उत्पन्न हो धनरूपी पङ्कमें विचरनेवाले पुरुषरूपी मत्स्योंको फँसानेके लिये नारी वंशीके काँटेमें लगी हुई आटेकी गोलीके समान है और दुर्वासना ही उस वंशीकी डोर है।

नारीके स्तनसे, नेत्रसे, नितम्बसे अथवा मौंहसे, जिसमें सार वस्तुके नामपर केवल मांस है, अतएव जो किसी कामकी वस्तु नहीं है, मेरा क्या प्रयोजन है? मैं वह सब लेकर क्या करूँगा? ब्रह्मन्! इधर मांस, इधर रक्त और इधर हड्डियाँ हैं; यही नारीका शरीर है, जो कुछ ही दिनोंमें जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। संसारके मनुष्यो! नारीके अङ्गोंका थोड़े ही समयमें होनेवाला यह परिणाम मैंने तुम्हें बताया है, फिर तुम क्यों भ्रमके पीछे दौड़ रहे हो? पाँच भूतोंके सम्मिश्रणसे बना हुआ अङ्गोंका संगठन ही नारी नामसे प्रसिद्ध हो रहा है; अतः विवेक-बुद्धिसे सम्पन्न कोई भी पुरुष आसक्तिसे प्रेरित होकर क्यों उसकी ओर टूट पड़ेगा? जैसे हथिनीके लिये चञ्चल हुआ हाथी विन्ध्याचल पर्वतपर उसे फँसानेके लिये बनाये हुए गड्ढेमें गिरकर बँध जाता और परम शोचनीय अवस्थाको पहुँच जाता है, यही दशा तरुणी स्त्रीके मोहमें फँसे हुए तरुण पुरुषकी होती है। (सर्ग २१)

वृद्धावस्थाकी दुःखरूपता

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—महर्षे! जैसे हिमरूपी वज्र कमलको, आँधी ओसकणको और नदी तटवर्ती वृक्षको नष्ट कर देती है, उसी प्रकार वृद्धावस्था शरीर-का नाश कर डालती है। जैसे लेशमात्र विषका भक्षण शरीरको शीघ्र ही कुरूप बना देता है, उसी प्रकार बुढ़िया जरावस्था मनुष्यके सारे अङ्गोंको जर्जर करके शीघ्र ही कुरूप कर देती है। जिनके सारे अङ्ग शिथिल होकर झुर्रियोंसे भर गये हैं और जरा-वस्थाने जिनके सारे अङ्गोंको जर्जर बना दिया है, उन समस्त पुरुषोंको कामिनियाँ ऊँटके समान समझती हैं। वृद्धावस्थाके कारण जिसके अङ्ग काँपने रहते हैं, ऐसे मनुष्यको नौकर-चाकर, स्त्री-पुत्र, बन्धु-बान्धव तथा सुहृद्गण भी उन्मत्तके समान समझकर उसकी हँसी उड़ाते हैं। जो दीनतारूपी दोषसे परिपूर्ण, हृदयमें संताप पहुँचानेवाली तथा समस्त आपत्तियोंकी एकमात्र सहचरी है, वह विशाल तृष्णा वृद्धावस्थामें बढ़ती ही जाती है। 'हाय! बड़े खेदकी बात है, मैं परलोकमें क्या करूँगा?' इस प्रकारका अत्यन्त दारुण भय, जो प्रतीकारके योग्य नहीं है, वृद्धावस्थामें बढ़ता जाता है। बुढ़ापेमें 'मैं बेचारा कौन हूँ? मेरी हस्ती ही क्या है? मैं किस प्रकार क्या करूँ? अच्छा, मैं चुप ही रहता हूँ।' इस प्रकारकी दीनताका उदय होता है। 'मुझे किसी सज्जनसे कब, क्या और किस प्रकारका खादिष्ट भोजन प्राप्त हो सकता है?' इस प्रकार चिन्तारूपिणी दूसरी जरावस्था बुढ़ापेमें निरन्तर चित्तको जलाती रहती है। वृद्धावस्थामें मनुष्य अपनी शक्तिका संतुलन खो बैठता है—कभी खानेकी शक्ति होनेपर पचानेकी शक्ति नहीं रहती और कभी पचानेकी

शक्ति होनेपर खानेकी ही शक्ति नहीं रहती। इस प्रकार शक्तिह्रासके कारण भोगकी इच्छा तो बड़ी प्रबल हो उठती है, परंतु उपभोग किया नहीं जा सकता। उस दशामें निश्चय ही हृदय जलता रहता है। मुने! शरीररूपी वृक्षके सिरेपर बैठी हुई जरावस्थारूपिणी वृद्धा बगुली, जो नाना प्रकारके क्लेशोंसे शरीरका अपकार करनेवाली है, रोगरूपी सर्पोंसे आक्रान्त होकर ज्यों ही चें-चें करने लगती है, त्यों ही मूर्छारूपी गहरे अन्धकारकी इच्छा रखनेवाला मृत्युरूपी उल्लू कहींसे झटपट आया हुआ ही दिखायी देता है।

जैसे सायंकालकी संध्याके प्रकट होते ही अन्धकार दौड़ पड़ता है, उसी प्रकार शरीरमें जरावस्थाको देखते ही मृत्यु दौड़ी चली आती है। सूना नगर, जिसकी लताएँ कट गयी हों वह वृक्ष तथा जहाँ वर्षा न हुई हो, वह देश भी कुछ-कुछ शोभित होता है, किंतु जरासे जर्जर हुए शरीरकी तनिक भी शोभा नहीं होती। वृद्धावस्थाकी मार खाकर जर्जर हुआ शरीर हिमसमूहसे आक्रान्त हो मुरझाये हुए कमलकी-सी शोभाको धारण करता है।

मस्तकरूपी पर्वतके शिखरपर उगी हुई यह वृद्धावस्थारूपिणी चाँदनी वातरोग और खाँसीरूपिणी कुमुदिनीको यत्नपूर्वक विकसित कर देती है। यह बुढ़ापारूपिणी वेगवती गङ्गा आयुके समाप्त होनेपर शरीररूपी तटवर्ती वृक्षकी जड़ोंको तुरंत ही काट गिराती है। तात! जैसे श्वेत पत्रवाली और फूलोंसे लदी हुई पतली लता कुछ टेढ़ी हो जाती है, उसी प्रकार जिसके सारे अवयव सफेद हो गये हैं, मनुष्योंका वह दुबला-पतला शरीर वृद्धावस्थासे टेढ़ा हो जाता है—कमानकी तरह झुक जाता है। मुने! जैसे कपूरसे सफेद हुए केलेके पेड़को हाथी क्षणभरमें उखाड़ फेंकता है, उसी प्रकार मृत्युरूपी गजराज वृद्धावस्थासे कपूरकी भाँति सफेद हुई देहको निश्चय ही क्षणभरमें उखाड़ फेंकता है। तात! जो वृद्धावस्थाको प्राप्त होकर भी जीता है, उस दुष्ट जीवनके लिये दुराग्रह रखनेसे क्या लाभ? भूतलपर किसीसे पराजित न होनेवाली यह जरावस्था मनुष्योंकी समस्त एषणाओंका तिरस्कार कर देती है—उनकी किसी भी इच्छाको सफल नहीं होने देती। (सर्ग २२)

कालके स्वरूपका विवेचन

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—मुनीश्वर! 'यह मेरी भोग्य वस्तु है। मैं इसका भोक्ता हूँ। ये भोगके साधन हैं। इस साधनसे इस तरह भोग्य वस्तुको प्राप्त करके मैं चिरकालतक इसका उपभोग करूँगा। आज यह वस्तु मैंने प्राप्त कर ली और अब इस मनोरथको प्राप्त करूँगा' इत्यादि असंख्य मानसिक संकल्प-विकल्पोंद्वारा जो अनन्त व्यावहारिक वचनोंका प्रयोग करते हैं तथा अज्ञ (तुच्छ) शरीरमें महत्त्व-बुद्धि (आत्मभाव) रखते हैं, उन मूढ़ जनोंने हेयोपादेय, शत्रु-मित्र तथा राग-द्वेषादि भेदोंद्वारा इस संसाररूपी गुफामें भ्रमको अत्यन्त गौरवपूर्ण (दुश्छेद्य) बना दिया है। जैसे बड़वाग्नि उमड़े हुए समुद्रको सोखती है, उसी प्रकार यह सर्वभक्षी काल भी उत्पन्न हुए जगत्‌को अपना ग्रास बना लेता है। भयंकर कालरूपी महेश्वर इस सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चको निगल जानेके लिये सदा उद्यत रहते हैं; क्योंकि सारी वस्तुएँ उनके लिये सामान्यरूपसे ग्रास बना लेनेके योग्य हैं। युग, वर्ष और कलाके रूपमें काल ही प्रकट है। इसका वास्तविक रूप कोई देख नहीं सकता। वह सब संसारको अपने वशमें करके बैठा है। संसारमें जो रमणीय, शुभ कर्म करनेवाले तथा उच्चता या गौरवमें सुमेरु पर्वतके भी गुरु थे, उन सबको कालने उसी तरह

निगल लिया है, जैसे गरुड़ सर्पोंको निगल जाते हैं। यह काल बड़ा निर्दय, कठोर, क्रूर, कर्कश, कृपण और अक्रम है। संसारमें अबतक ऐसी कोई वस्तु नहीं हुई, जिसे यह काल उदरस्थ न कर ले। इस कालका विचार सदा सबको निगल जानेका ही रहता है। यह एकको निगलता हुआ भी दूसरेको चबा जाता है। अबतक असंख्य लोग इसकी उदर-दरीमें प्रवेश कर चुके हैं, तो भी यह महाखाऊ काल तृप्त नहीं होता। यह रात्रिरूपी भौंरोंसे भरी हुई और दिनरूपी मञ्जरियोंसे सुशोभित वर्ष, कल्प और कलारूपिणी लताओंको निरन्तर सृष्टि करता रहता है, किंतु कभी थकता नहीं।

मुने! यह काल धूर्तोंका शिरोमणि है। इसे कितना ही तोड़ा जाय, टूटता नहीं। जलानेपर भी जलता नहीं और दृश्य होनेपर भी दीखता नहीं। यह मनोराज्यकी भाँति फैला हुआ है। एक ही निमेषमें किसी वस्तुको उत्पन्न कर देता है और पलभरमें किसी भी वस्तुका पूर्णतः विनाश कर डालता है। काल केवल अपना ही पेट भरनेमें संलग्न रहनेके कारण तिनका, धूल, इन्द्र, सुमेरु, पत्ता और समुद्र—सबको अपने अधीन करने—निगल जानेके लिये उद्यत रहता है। केवल इस कालमें ही पर्याप्त क्रूरता भरी है, लोभ भी इसीके भीतर डेरा डाले हुए है। सारा-का-सारा दुर्भाग्य भी इसीमें निवास करता है तथा दुस्सह चपलता भी इसीमें उपलब्ध होती है। यह काल महाकल्प नामक वृक्षोंसे देवता, मनुष्य और असुर आदि प्राणिसमूहरूपी फलोंके भारोंको गिराता हुआ-सा खड़ा है। सैकड़ों महाकल्प बीत जानेपर भी यह काल न तो खिन्न होता है, न किसीके द्वारा समादृत होता है, न कहीं आता है न जाता है, न अस्त होता है और न इसका उदय ही होता है। यौवनरूपी कमलिनीको संकुचित करनेके लिये यह चन्द्रमाके समान है, आयुरूपी गजराजका मस्तक विदीर्ण करनेके लिये सिंहके सदृश है। इस संसारमें तुच्छ या महान् कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे यह कालरूपी चोर चुरा न ले जाता हो; यह काल ही व्यावहारिक अवस्थामें संसारका कर्ता, भोक्ता, संहार करनेवाला और स्मरणकर्ता आदि सभी पदोंपर प्रतिष्ठित होता है। किसीने भी बुद्धिकौशलद्वारा इस कालके रहस्यका निश्चय नहीं किया है। पुण्य और पापके फलभोगके अनुसार सुन्दर और कुरूप रूप धारण करनेवाले समस्त शरीरोंको काल ही उत्पन्न करता, काल ही उनकी रक्षा करता और काल ही सहसा उनका संहार कर देता है।

इस प्रकार इस जगत्में सर्वत्र कालका विलास देखा जाता है। मनुष्योंमें तो कालका बल प्रसिद्ध ही है।

इस कालकी पत्नी है—चण्डी (अत्यन्त कोपवती कालरात्रि), जो बड़ी चतुराईसे चलती है। इसे कालने संसाररूपी वनमें विहार करनेके लिये नियुक्त किया है, इसके साथ सारी मात्रिकाएँ (डाकिनी, शाकिनी आदि) रहती हैं। यह कालरात्रि बाघिनके समान प्राणिसमूहका विनाश करनेवाली है। कालके धनुषका नाम है—अभाव या संहार। वह निरन्तर टंकार करता रहता है, उससे दुःखरूपी बाणोंकी झड़ी लगी ही रहती है। वह धनुष सब ओर स्फुरित होता रहता है। ब्रह्मन्! यह कालरूपी राजकुमार संसारमें दौड़ते हुए प्राणियोंके पीछे दौड़ता है और उनको बाणोंसे विदीर्ण करता रहता है। इस कालसे बढ़कर शक्तिशाली दूसरा कोई नहीं है। यही सबसे अधिक विलास करनेमें प्रवीण है और समस्त लक्ष्यभेदियोंसे ऊपर उठकर अनुपम शोभा पाता है।

यह जो कुछ भी विस्तृत जगन्मण्डल दिखायी देता है, वह उस कालकी नृत्यशाला है। इसमें वह खूब

जी भरकर नृत्य करता है। जैसे बालक गीली मिट्टीको लेकर नाना प्रकारके खिलौने बनाते हैं, उसी प्रकार काल भी बारंबार चौदह भुवन, विभिन्न वन, लोक-लोकान्तर, जीव-समुदाय तथा उनके नाना प्रकारके आचार-विचारोंकी सृष्टि करता है। उन आचार-विचारों-की प्रवृत्ति सत्ययुग और त्रेतामें अचल तथा द्वापर और कलिमें चल होती है। इन सबकी सृष्टि करनेमें काल कभी थकता नहीं। (सर्ग २३—२५)

कालका प्रभाव और मानव-जीवनकी अनित्यता

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—महामुने! जब जगत्‌में काल आदिके चरित्र ऐसे हैं, तब आप ही बताइये इस संसार-नामधारी प्रपञ्चमें मेरे-जैसे लोगोंकी क्या आस्था हो सकती है। मुने! इन दैव (प्रारब्धकर्म) आदिके द्वारा की हुई सुख-दुःख आदिरूप प्रपञ्च-रचनाओंसे मोहित हुए हमलोग किसीके हाथ बिके हुए दासों तथा वनके मृगोंकी भाँति पराधीन हो रहे हैं। जैसे सर्प वायुको पीता है, उसी प्रकार यह क्रूर आचरण करनेवाला काल तरुण शरीरको बुढ़ापेमें पहुँचाकर समस्त प्राणि-समुदायको निरन्तर अपना ग्रास बनाता रहता है। काल निर्दयोंका राजा है। वह किसी भी आर्त प्राणीके ऊपर दया नहीं करता। सम्पूर्ण भूतोंपर दया करनेवाला उदार पुरुष तो इस संसारमें दुर्लभ हो गया है। मुने! जगत्‌में जितनी भी प्राणियोंकी जातियाँ हैं, उन सबका वैभव अल्प एवं तुच्छ है तथा जितने भी भोगके स्थान हैं, वे सभी भयंकर और परिणाममें दुरन्त दुःखकी ही प्राप्ति करानेवाले हैं। प्राणियोंकी आयु अत्यन्त चपल (अस्थिर) है, मृत्यु बहुत ही निर्दय है। जवानी भी अधिक चञ्चल होती है और बाल्यावस्था मोहमें ही बीत जाती है। संसारी मनुष्य गाने-बजानेकी कलाके रस (अथवा विषया-नुसंधान) से कलङ्कित हैं। बन्धु-बान्धव संसारमें बाँधनेके लिये रस्सीके समान हैं। भोग इस जगत्‌के महान् रोग हैं तथा सुख आदिकी तृष्णाएँ मृगतृष्णाके समान हैं। बिना जीती हुई इन्द्रियाँ ही शत्रु हैं। सत्यस्वरूप आत्मा असत्य-सा हो गया अर्थात् जीवात्मा अज्ञानके कारण देहको ही अपना स्वरूप मानने लग गया। बिना जीता हुआ मन बन्धनका हेतु होनेसे आत्माका शत्रु है एवं अज्ञानवश यह जीवात्मा स्वयं ही अपने-आपपर उस मनके द्वारा प्रहार करता है। अहंकार ही कलङ्कका कारण है। बुद्धियाँ अत्यन्त कोमल (आत्म-निष्ठासे रहित) हैं। क्रियाएँ शास्त्रविरुद्ध होनेसे दुःखरूप फल देनेवाली हैं और लीलाएँ (शरीर और मनकी चेष्टाएँ) स्त्रीकी प्राप्तिमें ही केन्द्रित हैं, केवल स्त्रियाँ ही उनका विषय हो गयी हैं। इच्छाएँ विषयोंमें ही शोभा पाती हैं—वे भोगोंकी ओर ही दौड़ती हैं। परमात्म-स्फूर्तिरूप चमत्कार नष्ट हो गये हैं। स्त्रियाँ दोषोंकी सेनाएँ हैं तथा सम्पूर्ण विषय-रस वास्तवमें नीरस हैं।

महात्मन्! दूषित बुद्धिने सबके अन्तःकरणको व्याकुल कर रक्खा है। अज्ञानके कारण सभी सतप्त हो रहे हैं। रागरूपी रोग दिनोंदिन बढ़ रहा है और वैराग्य दुर्लभ हो रहा है। आत्मदर्शनकी शक्ति रजोगुणसे नष्ट हो गयी है। अतः सत्त्वगुण नहीं प्राप्त होता, केवल तमोगुण बढ़ रहा है। इसलिये तत्त्व (सच्चिदानन्दघन परमात्मा) अत्यन्त दूर है। जीवन अस्थिर हो गया है। मृत्यु जल्दी ही आनेके लिये उत्सुक है। धैर्य शिथिल हो गया है और तुच्छ विषय-भोगोंके प्रति लोगोंकी आसक्ति प्रतिदिन बढ़ रही है। बुद्धि मूढ़तासे मलिन हो गयी है। शरीरका अन्तिम परिणाम एकमात्र पतन (विनाश) ही है। देहमें जरावस्था प्रज्वलित हो उठी है और पापकी ही बारंबार स्फुरणा होती है। जवानी यत्नपूर्वक भागी जा रही है। सत्सङ्ग दुर्लभ हो गया है।

कभी कोई उत्तम आश्रय नहीं मिलता और सत्यभावका उदय तो कहीं हो ही नहीं रहा है। मन मोहसे आच्छन्न-सा हो रहा है। दूसरेको सुखी देखकर होनेवाला आत्म-संतोष मानो दूर चला गया है। उज्ज्वल करुणाका उदय नहीं हो रहा है और नीचता दूरसे निकट चली आ रही है। धीरता अधीरतामें परिणत हो रही है। जीवोंका काम केवल आवागमन—जन्मना-मरना रह गया है। दुष्टोंका सङ्ग पद-पदपर सुलभ है; परंतु सत्पुरुषोंका सङ्ग अत्यन्त दुर्लभ हो गया है। सम्पूर्ण पदार्थ उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। वासना संसारमें बाँधनेवाली है और काल प्राणियोंकी परम्पराको नित्य कहीं अज्ञात स्थानमें लिये जाता है। दिशाएँ भी नहीं दिखायी देतीं।

देश भी विदेश-सा हो जाता है और पर्वत भी बिखर-कर ढह जाते हैं; फिर मेरे-जैसे मनुष्यकी स्थिरतामें क्या विश्वास है। सत्तामात्र ही जिसका स्वरूप है, वह काल आकाशको भी खा जाता है। चौदहों भुवनोंको भी अपना भोजन बना लेता है। पृथ्वी भी विनाशको प्राप्त हो जाती है। फिर मेरे-जैसे मनुष्यकी स्थिरतापर क्या विश्वास किया जा सकता है। कालवश समुद्र भी सूख जाते हैं, तारे भी टूटकर बिखर जाते हैं, सिद्ध भी नष्ट हो जाते हैं; फिर मेरे-जैसे मनुष्यकी स्थिरतापर क्या आस्था हो सकती है! बड़े-बड़े दानव भी विदीर्ण हो जाते हैं। ध्रुव भी अध्रुवजीवी बन जाते हैं और अमर भी मरणको प्राप्त होते हैं; फिर मेरे-जैसे मनुष्यकी स्थिरतापर क्या विश्वास हो सकता है! काल अपने अगणित मुखोंसे इन्द्रको भी चबा जाता है, यमराजको भी वशमें कर लेता है और उसीके प्रभावसे वायु भी अवायु हो जाता है—अपना अस्तित्व खो बैठता है; फिर मुझ-जैसे मनुष्यकी स्थिरतापर क्या विश्वास हो सकता है!

सोम (चन्द्रमा) भी कालवश व्योम (आकाश)में विलीन हो जाता है। मार्तण्ड (सूर्य)के भी खण्ड-खण्ड हो जाते हैं और अग्नि भी भग्नता (विनाश) को प्राप्त हो जाती है; फिर मुझ-जैसे मनुष्यकी स्थिरतापर क्या आस्था की जा सकती है! जो काल (मृत्यु) को भी कवलित कर लेता है, नियतिको भी टाल देता है और अनन्त आकाशको भी अपने आपमें विलीन कर लेता है, उस महाकालके होते हुए मुझ जैसे मनुष्यकी स्थिरतापर क्या विश्वास किया जा सकता है! जिसका कानोंसे श्रवण, वाणीसे वर्णन और नेत्रोंसे दर्शन नहीं होता, ऐसे अज्ञातस्वरूप एवं मायाके उत्पादक किसी सूक्ष्म तत्त्वके द्वारा चौदहों भुवन अपने-आपमें ही मायाद्वारा दिखाये जा रहे हैं। वह तत्त्व निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही है। समष्टि अहंकाररूप कलाको प्राप्त होकर सबके भीतर निवास करनेवाला वह कालका भी कालरूप परमात्मतत्त्व सबसे महान् है। तीनों लोकोंमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जो उसके द्वारा नष्ट न किया जा सके। स्वर्गमें देवता, भूतलपर मनुष्य और पातालमें सर्पोंकी सृष्टि उसीने की है। वही अपने संकल्पमात्रसे इन सबको जर्जर दशामें पहुँचा देता है। अनुरागयुक्त कामिनियोंने अपने चञ्चल लोचनोंद्वारा कटाक्षपूर्वक जिसकी ओर देखा है, उस पुरुषके मनको महान् विवेक भी स्वस्थ नहीं कर पाता। जो दूसरोंका उपकार करनेवाली है और दूसरोंकी पीड़ा देखकर संतप्त हो उठती है, अपनी आत्माको शान्ति प्रदान करनेवाली उस शीतल बुद्धिसे युक्त ज्ञानी महात्मा ही सुखी है—ऐसा मेरा विश्वास है। जैसे समुद्रमें उत्पन्न हो बड़वाग्निके मुँहमें गिरकर नष्ट होनेवाली असंख्य लहरोंको कोई गिन नहीं सकता, उसी तरह संसारमें उत्पन्न हो कालके मुँहमें पड़नेवाले अनन्त प्राणियोंकी गणना कौन कर सकता है। जैसे झाड़ियोंमें बैठे हुए मृग या पक्षी अपनी जिह्वाकी लोलुपताके कारण मोहवश जालमें पड़कर नष्ट हो जाते हैं, उसी तरह दुराशा-पाशमें बँधे हुए सभी मनुष्य दोषरूपी झाड़ियोंके मृग बने हुए हैं। सब-के-सब मोह-जालमें

फँसकर पुनर्जन्मरूपी जंगलमें नष्ट हो जाते हैं। इस संसारमें लोगोंकी आयु विभिन्न जन्मोंमें किये गये कुकर्मोंसे नष्ट हो रही है। यदि आकाशमें वृक्ष हो, उस वृक्षमें लता हो और उस लतासे गलेमें फाँसी लगाकर मनुष्यको लटका दिया जाय तो उससे जो दुःख होगा, वैसा ही दुःखमय फल उन कुकर्मोंका भी बताया गया है। उस दुःखकी निवृत्तिके लिये उपाय करना तो दूरकी बात है, उस उपायका विचार करनेवाले लोग भी यहाँ हैं या नहीं, हमें इसीका पता नहीं है। मुनीश्वर! इस संसारमें लोगोंकी बुद्धि चञ्चल और मृदु है। उसी बुद्धिसे युक्त मनुष्य व्यर्थ ही अनेक संकल्प-विकल्पोंका जाल रचते हुए कहते हैं—'आज उत्सव है।' यह बड़ी सुहावनी ऋतु है, इसमें यात्रा करनी चाहिये, वे लोग हमारे भाई-बन्धु हैं और यह सुख विशिष्ट भोगोंसे युक्त है, इन्हीं संकल्पोंमें पड़े-पड़े वे सब लोग एक दिन कालके गालमें चले जाते हैं। (सर्ग २६)

सांसारिक वस्तुओंकी निस्सारता, क्षणभङ्गुरता और दुःखरूपताका तथा सत्पुरुषोंकी दुर्लभताका प्रतिपादन

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—तात! मुनीश्वर! इस जगत्का स्वरूप अत्यन्त अरमणीय (अभद्र) है, तो भी यह ऊपरसे मनोरम प्रतीत होता है। इसमें कोई ऐसा पदार्थ मेरी दृष्टिमें नहीं आता, जिसके प्राप्त होनेसे चित्त-को अत्यन्त विश्राम (परम सुख) मिल सके। बाल्यावस्था विविध प्रकारसे कल्पित क्रीडा-कौतुकमें ही चपलता-पूर्वक बीत जाती है। युवावस्था आनेपर मनरूपी मृग स्त्रीरूपिणी गुफाओंमें ही रमता हुआ जीर्ण हो जाता है; फिर वृद्धावस्था प्राप्त होनेपर जब यह शरीर जर्जर हो जाता है, उस समय जनसमुदाय केवल दुःख-ही-दुःख भोगता रहता है (उसे कहीं कभी भी सुख-शान्ति-का लेश भी प्राप्त नहीं होता)। बुढापारूपी हिमकी वर्षासे जब देहरूपिणी कमलिनी नष्ट हो जाती है, उस समय प्राणरूपी भ्रमर इसे छोड़कर दूर, बहुत दूर चला जाता है। उस दशामें उस मनुष्यके लिये यह संसार-रूपी सरोवर शुष्क (नष्ट) हो जाता है। इस संसारमें तृष्णा नामकी नदी निरन्तर बहती रहती है, जिसने अपने प्रबल प्रवाहके वेगसे यहाँके समस्त अनन्त पदार्थों-को ग्रस लिया है (नष्ट कर दिया है)। यह संतोष-रूपी तटवर्ती वृक्षकी जड़ खोदनेमें बड़ी दक्ष है। संसाररूपी समुद्रमें चमड़ेसे मढ़ी हुई शरीररूपिणी नौका क्षुधा, पिपासा आदि विविध तरङ्गोंसे आहत हो हिलती-डोलती हुई इधर-उधर घूम रही है। पाँच इन्द्रिय नामक ग्राह इसे टक्कर मारकर डुबानेके लिये उद्यत रहते हैं। इस तरह यह नौका क्रमशः नीचे जा रही है—डूबना चाहती है। इसमें धैर्य और वैराग्यसे सुशोभित होनेवाले विवेकी जीव नहीं बैठे हैं। जहाँ तृष्णारूपिणी लताओंका ही प्राधान्य है, ऐसे संसाररूपी वनोंमें विचरनेवाले ये मनरूपी बंदर कामरूपी वृक्षोंकी सैकड़ों शाखाओंपर भटकते हुए अपनी आयु नष्ट करते हैं, परंतु कभी मनोवाञ्छित फल नहीं पाते। महर्षे! आपत्तियोंकी प्राप्ति होनेपर भी दुःख और मोह जिनसे दूर ही रहते हैं, स्वास्थ्य और सम्पत्तिमें भी जो अहंकार-शून्य मनसे सुशोभित होते हैं तथा सुन्दरी रमणियाँ जिनके अन्तःकरणमें चोट नहीं पहुँचातीं (विकार नहीं उत्पन्न करतीं), ऐसे महात्मा पुरुष इस समय अत्यन्त दुर्लभ हैं। जो हाथियोंकी सेनारूपी तरङ्गोंसे उद्वेजित होनेवाले समर-सागरको अपने बल-विक्रमके द्वारा पार कर जाते हैं, मेरी दृष्टिमें वे शूरवीर नहीं हैं। मैं तो उन्हींको शूरवीर मानता हूँ, जो मनरूपी उत्ताल तरङ्गोंसे पूर्ण इस देह और इन्द्रिय-रूपी समुद्रको विवेक, वैराग्य आदिके द्वारा लाँघ जाते हैं।*

* कृच्छ्रेषु दूरास्त विषादमोहाः स्वास्थ्येषु नोल्लिक्तमनोऽभिरामाः।
सुदुर्लभाः सम्प्रति सुन्दरीभिरनाहतान्तःकरणा महान्तः॥
तरन्ति गात्रद्विपसैन्यतरङ्गं रणाम्बुधिं ये नयि ते न शूराः।
शूरास्त एवेह मनस्तरङ्गं देहेन्द्रियाम्भोधिमिमं तरन्ति॥
(वैराग्य० २७। ८-९)

जो कीर्तिसे जगत्‌को, प्रतापसे सम्पूर्ण दिशाओंके प्रदेशोंको, सम्पत्तिसे याचकोंके घरोंको और सात्त्विक बल (क्षमा, विनय, उदारता आदि) से लक्ष्मीको परिपूर्ण करते हैं तथा जिनके धैर्यका बन्धन कभी टूटता नहीं, वे महापुरुष इस पृथ्वीपर सुलभ नहीं हैं (परम दुर्लभ हैं)।* कोई पर्वतकी प्रस्तरमयी दीवारके भीतर (गहन गुफामें) निवास करता हो या वज्रनिर्मित अभेद्य दुर्गमें रहता हो, सभी मनुष्योंके पास प्रारब्धके अनुसार पुण्यके फल-स्वरूप सम्पत्तियाँ अणिमा आदि सिद्धियोंको साथ लिये सदा वेगपूर्वक चली आती हैं और पापके फलस्वरूप आपत्तियाँ भी निरन्तर अपने-आप आ जाती हैं। तात ! पुत्र, स्त्री और धन—इन सबको मनुष्य भ्रमवश अपनी बुद्धिके द्वारा रसायनके समान सुखद मान लेता है; परंतु मृत्युकाल आनेपर वे सब-के-सब कोई उपकार नहीं करते, अपितु अत्यन्त रमणीय भोग भी उस समय विषपान करनेसे होनेवाली मूर्छाके समान दुःखदायी ही सिद्ध होते हैं। शरीरकी बाल्य और युवावस्थाओंके अन्तमें बुढ़ापेकी विषम अवस्थाको पहुँचा हुआ जराजीर्ण शरीरवाला जीव विषादमग्न हो इस लोकमें अपने संचित किये हुए धर्मशून्य (पापपूर्ण) भावों (कर्मों एवं विचारों) का स्मरण करके दुस्सह अन्तर्ज्वालासे जलता रहता है। जीवनके प्रारम्भमें केवल काम, अर्थ और सकाम धर्मकी प्राप्तिके लिये ही जिन्होंने हृदयमें स्थान बना रक्खा है, उन क्रियाओंद्वारा ही अपने दिन बिताकर वृद्धावस्थाको पहुँचे हुए उन मनुष्योंका हिलते हुए मोरपंखके समान चञ्चल चित्त किस उपायसे विश्राम (सुख-शान्ति) लाभ करे ? (अर्थात् निष्काम धर्म या परमार्थ-साधनके बिना सुख-शान्तिका मिलना कठिन है)। इनको अभी करना है और उन्हें बादमें—इस प्रकार जिनके लिये चिन्ता की जाती है, वे आपात-रमणीय एवं परिणाममें अनर्थरूप सिद्ध होनेवाले कार्य स्त्रियों तथा अन्य लोगोंका मनोरञ्जनमात्र करते हुए वृद्धावस्थाके अन्ततक लोगोंके चित्तको वेगपूर्वक जीर्ण-शीर्ण (विवेकभ्रष्ट) करते रहते हैं। जैसे वृक्षोंके पत्ते उत्पन्न होकर थोड़े ही दिनोंमें पीले पड़कर झड़ जाते या नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मविवेकसे रहित मनुष्य इस लोकमें जन्म ले एक दूसरेसे मिलकर कुछ ही दिनोंमें साथ छोड़कर चल देते हैं।

भला, कौन समझदार मनुष्य दिनमें दूर-दूरतक व्यर्थ इधर-उधर घूमता हुआ ज्ञानी महापुरुषोंका सङ्ग एवं सत्कर्मका अनुष्ठान न करके सायंकाल घरमें लौटनेपर रातमें सुखकी नींद सो सकेगा ? समस्त शत्रुओंको मार भगानेपर जब चारों ओरसे धन-सम्पत्ति प्राप्त होने लगती है, उस समय पुरुष, जबतक इन विषयसुखोंके सेवनमें लगता है, तबतक ही मृत्यु कहींसे सहसा आ धमकती है। जो किसी कारणसे वृद्धिको प्राप्त होकर भी क्षणभरमें ही नष्ट होते देखे गये हैं, उन अत्यन्त तुच्छ विषय-भोगोंद्वारा इधर-उधर भटकायी जाती हुई जनता इस भूतलपर अपने निकट आयी हुई मृत्युको नहीं जान

* कीर्त्या जगद्दिक्कुहर प्रतापैः श्रिया गृहं सत्त्वबलेन लक्ष्मीम् ।
ये पूरयन्त्यक्षतधैर्यबन्धा न ते जगत्यां सुलभा महान्तः ॥
(वैराग्य० २७ । ११)

पाती, यह कितने आश्चर्यकी बात है। समुद्रकी क्षणभङ्गुर लहरोंके समान यह चपल जनता इस भूतलपर निरन्तर कहींसे वेगपूर्वक आती और फिर सदा वेगसे ही चली जाती है। जैसे चञ्चल भ्रमररूपी नेत्रों और लाल पल्लवरूपी अधरोंवाली तथा विष-वृक्षपर चढ़कर फैली हुई चञ्चल विष-लताएँ देखनेमें अति सुन्दर होनेके कारण पहले मनको हर लेती हैं, पीछे सेवन करनेपर प्राणोंका नाश कर देती हैं, उसी प्रकार लाल अधरों और भ्रमरतुल्य चञ्चल नेत्रोंसे सुशोभित होनेवाली सुन्दरी स्त्रियाँ मनोहारिणी होनेके कारण पहले तो मनुष्योंके चित्तको चुराती हैं, फिर सर्वथा उनके प्राणोंका अपहरण करनेवाली बन जाती हैं। जैसे तीर्थयात्रा अथवा देवोत्सवमें बहुत-से मनुष्योंका मेला जुट जाता है, उसी प्रकार इस लोक और परलोकसे व्यर्थ ही आये हुए और अमुक स्थानपर हमलोगोंकी भेंट होगी, इस तरह आपसके संकेतयुक्त अभिप्रायसे एकत्र हुए लोगोंका जो स्त्री, पुत्र और मित्र आदिके रूपमें यहाँ मिलन होता है, यह व्यवहार मायामय ही है। यह संसार वेगपूर्वक घूमनेवाले कुलालचक्रके[1] समान है। यद्यपि यह वर्षा ऋतुके पानीके बुलबुलोंके समान क्षणभङ्गुर है, तथापि असावधान मनुष्योंकी बुद्धिमें अपनी चिरस्थायिताकी ही प्रतीति कराता है।

जहाँ दैववश बारंबार जन्म लेकर अपने शरीरको धारण करके छाया, पत्र और पुष्प आदिके द्वारा निरन्तर प्राणियोंका उपकार करनेवाला वृक्ष भी कुल्हाड़ीसे काट दिया जाता है, उस संसारमें मनुष्य-जैसा अपराधी और उपकारशून्य प्राणी सदा जीवित ही रहेगा, ऐसा विश्वास करनेके लिये कौन-सा कारण है? विषका वृक्ष और विषयासक्त मनुष्य दोनों ऊपरसे बड़े मनोहर लगते हैं, किंतु उनके भीतर बड़ा भारी दोष भरा रहता है। एक (विषवृक्ष) हृदयस्थित प्राणोंके विनाशके लिये खड़ा है तो दूसरा (विषयासक्त मनुष्य) आन्तरिक शान्तिके विघातके लिये तैयार रहता है। इनके सङ्गसे तत्काल मूर्छा या मूढ़ता ही प्राप्त होती है। संसारमें ऐसी कौन-सी दृष्टियाँ हैं, जिनमें दोष नहीं है? वे कौन-सी दिशाएँ हैं, जहाँ दुःख और दाह नहीं है? वे कौन-से जीव-शरीर हैं, जो क्षणभङ्गुर नहीं है? और कौन-सी लौकिक क्रियाएँ हैं, जिनमें छल-कपट नहीं है? बीते हुए और आनेवाले अनन्त कल्पोंकी संख्याका परिज्ञान नहीं होता। इसलिये जैसे क्षण अनन्त हैं, उसी प्रकार कल्प भी अनन्त हैं। भगवान् विष्णु और रुद्र आदिकी दृष्टिमें कल्प भी क्षण ही हैं। अतः ब्रह्मलोकके निवासी भी कल्प नामधारी एक क्षणतक ही जीनेवाले हैं। इसलिये कलाओं (विभिन्न अंशों) से सुशोभित होनेवाले कालसमूहमें लघुत्व और दीर्घत्व—चिरजीवन और क्षणजीवनकी बुद्धि भी द्रष्टाकी कल्पनाके अधीन होनेके कारण असत्य ही है। सर्वत्र पत्थरके ही पहाड़ हैं—उनमें पत्थरके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। इसी तरह सब जगह मिट्टीकी ही पृथ्वी है, काष्ठके ही वृक्ष हैं और हाड़-मांसके ही मनुष्य हैं। लोगोंके बनाये हुए सकेतके अनुसार ही उनके विशेष नाम आदि भाव नियत हो गये हैं। इस भोग्यवर्गमें कोई भी वस्तु विकारसे हीन अथवा अपूर्व नहीं है। सब कुछ विकार-रूप होनेके कारण ही असत्य है। जल, अग्नि, वायु, आकाश और पृथ्वी—ये पाँच महाभूत ही परस्पर मिलकर घट-पट आदि नाना पदार्थोंके रूपमें अविवेकी पुरुषोंको प्रतीत होते हैं। चेतनके सानिध्यसे ही उन्हें पदार्थोंकी प्रतीति होती है। विवेक-दृष्टिसे पृथक्-पृथक् विभाग-पूर्वक आलोचना करनेपर यह जगत् पाँच भूतोंसे अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं सिद्ध होता।

महात्मन्! मिथ्या होनेपर भी इस पदार्थ-समूहके विषयमें व्यवहार-कुशलताके कारण विद्वान् पुरुषोंके भी मनमें भोगसम्बन्धी चमत्कार (चेष्टा) को उत्पन्न करनेवाली जो व्यवहार-चमत्कृति या प्रवृत्ति देखी जाती है,

१. कुम्हारका चाक।

वह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि कभी-कभी स्वप्नमें मिथ्याभूत विषयको लक्ष्य करके भी किन्हीं लोगोंकी उस प्रकार चमत्कारपूर्ण प्रवृत्ति होती देखी जाती है।

जैसे पशु किसी हरी-हरी लताके फलको पानेकी इच्छासे ही आगे बढ़नेपर निस्संदेह पर्वतशिखरसे गिर जाता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ पुरुषोंके पद (स्थान या धन-वैभव आदि) को हठात् लेनेकी इच्छा रखनेवाला पुरुष राग-लोभ आदि दोषोंसे दूषित हुए अपने चित्तके द्वारा ही मारा जाकर अवश्य पतनके गर्तमें गिर जाता है।

(सर्ग २७)

जागतिक पदार्थोंकी परिवर्तनशीलता एवं अस्थिरताका वर्णन

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—ब्रह्मन्! यह जो कुछ भी स्थावर-जङ्गमरूप दृश्य जगत् दिखायी देता है, वह सब सपनेमें लगे हुए मेलेके समान अस्थिर है—चिरकालतक टिकनेवाला नहीं। आज जिस शरीरको रेशमी वस्त्र, फूलोंके हार तथा भाँति-भाँतिके अनुलेपनोंसे सजाया गया है, वही कल नंगा होकर ग्राम या नगरसे बहुत दूर किसी गड्ढेमें पड़ा-पड़ा सड़ जायगा। जिस स्थानमें आज विचित्र आहार-व्यवहार और चहल-पहलसे भरा हुआ चञ्चल-सा नगर देखा गया है, वहीं कुछ ही दिनोंमें सूने वनके धर्मका उदय हो जायगा—वह भूमि गहन वनके समान निर्जन एवं अगम्य हो जायगी। जो पुरुष आज तेजस्वी है और अनेक मण्डलोंपर शासन करता है, वही कुछ दिनोंके अनन्तर राखका ढेर बन जाता है। आज जो आकाशमण्डलके समान नीला और महाभयंकर वन है, वही कुछ कालके पश्चात् ध्वजा-पताकाओंसे आकाशको ढक देनेवाला विशाल नगर बन जाता है। आज जो लता-वल्लरियोंसे आवेष्टित भयंकर वनश्रेणी दृष्टिगोचर होती है, वही कतिपय दिनोंमें ही मरुभूमि (रेगिस्तान) का स्थान ग्रहण कर लेती है। जल स्थल हो जाता है और स्थल जल। काठ, जल और तिनकोंसहित सारा जगत् ही विपरीत अवस्थाको प्राप्त होता रहता है। जवानी, बचपन, शरीर और द्रव्यसंग्रह—ये सब-के-सब अनित्य हैं और तरङ्गकी भाँति निरन्तर एक भावसे दूसरे भावको प्राप्त होते रहते हैं। इस संसारमें प्राणियोंका जीवन हवासे भरे स्थानमें रक्खे हुए दीपककी लौके समान चञ्चल (शीघ्र ही बुझ जानेवाला) है और तीनों लोकोंके सम्पूर्ण पदार्थोंकी शोभा (चमक-दमक) बिजलीकी चमकके समान क्षणिक है।

महर्षे! वे उत्सव और वैभवसे सुशोभित होनेवाले दिन, वे महाप्रतापी पुरुष, वे प्रचुर सम्पत्तियाँ तथा वे बड़े-बड़े कर्म—सब-के-सब दृष्टिपथसे दूर हो केवल स्मरणके विषय रह गये हैं। इसी तरह हम भी क्षणभरमें अज्ञात स्थानको चले जायँगे और लोगोंके लिये केवल स्मरणीय बनकर रह जायँगे। यह संसार प्रतिदिन नष्ट होता है और प्रतिदिन पुनः उत्पन्न हो जाता है। अतः आजतक इस नष्टप्राय जले हुए संसारका अन्त नहीं हुआ। प्रभो! मनुष्य पशु-पक्षियोंकी योनिको प्राप्त होते हैं। पशु-पक्षी मानवजन्म धारण करते हैं तथा देवता भी देवेतर योनियोंमें जन्म लेते हैं। फिर इस संसारमें कौन-सी वस्तु स्थिर है? स्वर्ग, पृथ्वी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ—ये सब-के-सब विनाशरूपी वड़वानलके[1] लिये सूखे ईंधनके समान हैं। धन, भाई-बन्धु, भृत्यवर्ग, मित्र तथा वैभव—ये सब-के-सब विनाशके भयसे डरे हुए पुरुषके लिये नीरस ही हैं। मुनीश्वर! जगत्में मनुष्य क्षणभरमें ऐश्वर्य (धन-वैभव) प्राप्त कर लेता है और क्षणभरमें दरिद्र हो जाता है। वह क्षणभरमें ही रोगी और क्षणभरमें नीरोग हो जाता है। इस प्रकार प्रतिक्षण विपरीत अवस्था प्रदान करनेवाले इस नश्वर जगत्रूपी भ्रमसे कौन

१. यहाँ वडवानलका अर्थ अग्निमात्र समझना चाहिये।

बुद्धिमान् मनुष्य मोहित नहीं हुए हैं ? (इस भ्रमने सभी लोगोंको मोहमें डाल रक्खा है ।)

आकाशमण्डल क्षणभरमें ही अन्धकाररूपी कीचड़से ढक जाता है, फिर क्षणभरमें ही सुवर्णद्रवके समान शीतल मृदुल चाँदनी आदिके उज्ज्वल प्रकाशसे उद्भासित हो परम सुन्दर दिखायी देने लगता है । दूसरे ही क्षण मेघरूपी नील कमलोंकी मालासे उसका अन्तःप्रदेश (वक्ष एवं उदर) ढक जाता है । क्षणभरमें ही वहाँ उच्चस्वरसे मेघोंकी गम्भीर गर्जना होने लगती है और क्षणमें ही वह मूककी भाँति नीरव हो जाता है । क्षणमें ही ताराओंकी हारावलीसे अलंकृत और क्षणमें ही सूर्यरूपी मणिसे विभूषित हो जाता है । क्षणमें ही वहाँ चन्द्रमाकी चटकीली चाँदनीसे आह्लाद छा जाता है और क्षणभरमें ही वह सबसे सूना हो जाता है । इस तरह जैसे आकाशकी स्थिति क्षण-क्षणमें बदलती रहती है, उसी प्रकार संसारके सभी पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं । महर्षे ! संसारमें कौन ऐसा पुरुष है, जो धीर होता हुआ भी क्षणभरमें स्थित और क्षणभरमें नष्ट होनेवाली, आवागमनकी परम्परासे युक्त इस सांसारिक स्थितिसे भयभीत नहीं होता ? मुने ! यहाँ क्षणभरमें आपत्तियाँ आती हैं और क्षणभरमें सम्पत्तियाँ । क्षणमें ही जन्म होता है और क्षणमें ही मृत्यु । इस जगत्में कौन-सी ऐसी वस्तु है, जो क्षणिक न हो ? भगवन् ! यहाँ उत्पन्न हुआ मनुष्य पहले कुछ और ही था और थोड़े दिनों बाद अन्य प्रकारका हो जाता है । यहाँ सदा एकरूप रहनेवाली सुस्थिर वस्तु कोई नहीं है । यहाँ कायरके द्वारा शूरवीर मारा जाता है । एक ही व्यक्तिके हाथसे सैकड़ों मनुष्य मारे जाते हैं और साधारण लोग भी राजा बन बैठते हैं । इस प्रकार यह सारा जगत् विपरीत अवस्थामें परिवर्तित होता रहता है । बाल्यावस्था थोड़े ही दिनोंमें चली जाती है, फिर यौवनकी शोभा छा जाती है और कुछ ही दिनोंमें वह भी समाप्त हो जाती है । तत्पश्चात् वृद्धावस्थाका पदार्पण होता है । जब हमारे शरीरमें भी एकरूपता (स्थिरता) नहीं है, तब बाह्य वस्तुओंमें एकरूपताका विश्वास क्या हो सकता है ? उत्पन्न और विनष्ट होनेवाले संसारी पुरुषोंकी न तो आपत्तियाँ स्थिर रहती हैं और न सम्पत्तियाँ ही । यह काल चतुर मनुष्योंको भी अवहेलनापूर्वक विपरीत स्थितियोंमें परिवर्तित करनेके कार्यमें अत्यन्त कुशल है । प्रायः सब लोगोंको आपत्तिमें ढकेलकर यह क्रीड़ा करता है ।

(सर्ग २८)

श्रीरामकी प्रबल वैराग्यपूर्ण जिज्ञासा तथा तत्त्वज्ञानके उपदेशके लिये प्रार्थना

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—मुनीश्वर ! विषयभोग दुःख-रूप और अनित्य हैं, इस प्रकार विषयोंमें दोष-दर्शनरूपी दावानलके द्वारा मेरा चित्त दग्ध हो निर्मल एवं महान् हो गया है । अतः जैसे जलाशयोंमें मृगतृष्णाका उदय नहीं होता, उसी तरह मेरे उस चित्तमें भोगोंकी आशा अङ्कुरित नहीं होती । जैसे नीमके वृक्षपर फैली हुई रसहीन निम्बोरी काल पाकर उत्तरोत्तर कड़वी होती जाती है, उसी प्रकार यह सांसारिक स्थिति भी दिन-प्रति-दिन तीव्र वैराग्यके कारण मेरे लिये अधिकाधिक कटुताको प्राप्त हो रही है । मुनीश्वर ! विविध चिन्ताओंसे परिपूर्ण भोग-समूहों एवं राज्योंकी अपेक्षा चिन्तारहित महात्मा पुरुषोंद्वारा स्वीकृत एकान्त-सेवन ही मुझे अच्छा लगता है । सुन्दर उद्यान मुझे आनन्द नहीं देता, स्त्रियोंसे मुझे सुख नहीं मिलता और धनकी आशापूर्तिसे मुझे हर्ष नहीं होता । मनके साथ-साथ शान्ति मैं पाना चाहता हूँ । मैं न तो मृत्युका अभिनन्दन और न जीवनका ही स्वागत करता हूँ । जिस तरह संतापरहित होकर स्थित हूँ, उसी तरह रह रहा हूँ; मुझे राज्यसे, भोगोंसे, धनसे और नाना प्रकारकी

चेष्टाओंसे भी क्या प्रयोजन है ? अहंकारवश ही मनुष्य इन राज्य आदिसे सम्बन्ध रखता है, किंतु मेरा वह अहंकार ही गल गया है (अतः मेरे लिये इनकी आवश्यकता नहीं रह गयी है) । जैसे हाथी अपने खुरोंके प्रहारसे कोमल कमलको कुचल डालता है, उसी प्रकार कामदेवने मानवती कामिनियोंके द्वारा मनुष्योंके मनको मथ डाला है । मुनीन्द्र ! यदि अभी निर्मल बुद्धिके द्वारा इस चित्तकी चिकित्सा नहीं की जाती तो फिर इसकी चिकित्साका अवसर ही कहाँ रह जायगा ? (क्योंकि रोग बढ़ जानेपर उसकी चिकित्सा कठिन हो जाती है ।) विषयोंकी विषमता ही विष है । लोकप्रसिद्ध विषको वास्तवमें विष नहीं कहा जाता, क्योंकि विष एक ही शरीरका (जिसके द्वारा उसका सेवन किया जाता है, उसीका) नाश करता है, परंतु विषय (-विष) जन्म-जन्मान्तरोंतक जीवको मौतके मुँहमें डालते रहते हैं । सुख-दुःख, मित्र, भाई-बन्धु, जीवन और मरण—ये सब (बन्धनके कारण होते हुए भी) ज्ञानी पुरुषके चित्तको नहीं बाँधते (अज्ञानीका ही मन इससे बँधता है) ।

ब्रह्मन् ! आप प्राचीन और अर्वाचीन बातोंके जाननेवाले महात्माओंमें श्रेष्ठ हैं । इसलिये जिस प्रकार मैं शोक, भय और खेदसे मुक्त हो यथार्थ ज्ञानसे सम्पन्न हो जाऊँ, वैसा उपदेश मुझे शीघ्र प्रदान कीजिये । अज्ञान एक भयंकर वनके समान है । जैसे वनमें मृगोंको फँसानेके लिये जाल बिछे होते हैं, काँटेदार झाड़-झंखाड़ फैले रहते हैं तथा जगह-जगह बहुत-से ऊँचे-नीचे स्थान रहते हैं, उसी प्रकार अज्ञानरूपी वन भी विषयवासनाके जालसे आवेष्टित, दुःखरूपी कण्टकोंसे व्याप्त तथा सम्पत्ति-विपत्ति-रूपी ऊँचे-नीचे स्थानोंसे युक्त है । महात्मन् ! जैसे रातमें ऐसी अन्धकार-राशि नहीं होती, जो चन्द्रमाकी चाँदनीसे नष्ट न हो जाती हो, उसी प्रकार संसारमें ऐसी दुश्चिन्ताएँ नहीं हैं, जो उत्तम अन्तःकरणवाले महात्मा पुरुषोंके सङ्गसे क्षीण न हो जायँ । आयु वायुसे टकरायी हुई मेघोंकी घटासे झरते हुए जल-बिन्दुओंके समान क्षणभङ्गुर है । भोग मेघमालाके बीचमें चमकती हुई बिजलीके समान चञ्चल हैं तथा युवावस्थाके मनोरञ्जन जलके वेगके समान चपल हैं—ऐसा विचारकर मैंने इन सबको त्याग दिया और तुरंत ही चिरकालतक बनी रहनेवाली शान्तिको आजसे अपने चित्तपर शासन करनेके लिये सुदृढ़ अधिकार-मुद्रा समर्पित कर दी है ।*

जैसे मृग तुच्छ तृणोंके लोभसे ठगे जाकर गड्ढोंमें गिर पड़ते हैं, उसी प्रकार अन्तःकरणकी वृत्तियाँ निस्सार विषयोंद्वारा ठगी जाती और विक्षेपरूपी दुःखोंको भोगनेके लिये उनके गहरे गर्तमें गिर जाती हैं । जैसे देवता विविध भोग-सामग्रियोंसे परिपूर्ण तथा चतुर्दश भुवनोंके भीतर विचरण करनेवाले अपने शीघ्रगामी विमानका परित्याग नहीं करते, उसी प्रकार विविध भोगवासनाओंसे विस्तारको प्राप्त हुआ और समस्त लोकोंमें वे रोक-टोक विचरनेवाला मनुष्योंका यह चञ्चल चित्त भी कभी चपलताको नहीं छोड़ता ।

अतः महात्मन् ! जन्म-मरण आदि दुःखोंसे रहित, देह आदि उपाधियोंसे शून्य तथा भ्रान्ति-रहित वह महान् विश्रान्तिदायक परमपद कौन सा है, जहाँ पहुँच जानेसे शोकका अभाव हो जाता है ? समस्त कर्मोंका सुचारुरूपसे अनुष्ठान करनेवाले तथा सदा लौकिक व्यवहारमें ही तत्पर रहनेवाले जनक आदि महापुरुष कैसे उत्तम पदको प्राप्त हुए ? दूसरोंको अधिक मान देनेवाले महामुने ! वह कौन-सा उपाय है, जिससे संसाररूपी पङ्कका अनेक अङ्गोंसे सम्पर्क हो जानेपर भी मनुष्य उससे लिप्त नहीं होता ? किस दृष्टि (बुद्धि) का

* जैसे राजा दुष्ट अधिकारियोंसे शासनका अधिकार छीनकर किसी गुणवान्‌को उस पदपर प्रतिष्ठित करनेके लिये अधिकार-पत्र देता है, उसी प्रकार मैंने चित्तभूमिसे भोगवासना आदिका अधिकार हटाकर वहाँ शाश्वत शान्तिको प्रतिष्ठित किया है ।

आश्रय लेकर आप-जैसे पापरहित महामना महापुरुष इस जगत्‌में जीवन्मुक्त होकर विचरते हैं ? जिसे मोहरूपी मतवाले हाथीने मथ डाला है, जिसके भीतर काम आदि दोषोंकी कीचड़ भरी पड़ी है, वह प्रज्ञारूपी महान् सरोवर किस उपायसे अत्यन्त निर्मल हो जाता है ? जैसे कमलके पत्तेसे जलका लगाव नहीं होता, उसी प्रकार प्रवाहरूपसे बने रहनेवाले इस संसारमें समस्त व्यवहारोंका निर्वाह करता हुआ भी मनुष्य बन्धनमें न पड़े—इसका क्या उपाय है ? सम्पूर्ण प्राणियोंको आत्माके समान तथा इस समस्त भोग-प्रपञ्चको तिनकेके समान समझनेवाला और मनकी कामादि वृत्तियोंका स्पर्श न करनेवाला मनुष्य कैसे श्रेष्ठ पदको प्राप्त हो सकता है ? जिसने संसाररूपी महासागरको पार कर लिया हो, ऐसा कौन-सा महापुरुष है, जिसके चरित्रका अनुसरण करके मनुष्य कभी दुखी नहीं होता ? वह प्राप्त करने योग्य कल्याण और फल क्या है ? इस विषय-संसारमें (इसे पार करनेके लिये) कैसे व्यवहार करना चाहिये ? प्रभो ! मुझे तत्त्वका कुछ उपदेश दीजिये, जिससे मैं ब्रह्माजीके द्वारा रचित इस अव्यवस्थित जगत्‌का पूर्वापर (आदि-अन्त) समझ सकूँ। इस संसारमें ग्रहण करने योग्य वस्तु क्या है ? त्याज्य वस्तु क्या है ? तथा इन दोनोंसे भिन्न अग्राह्य एवं अत्याज्य वस्तु क्या है ? मनुष्योंका यह चञ्चल चित्त किस प्रकार पर्वतके समान स्थिरता एवं शान्तिको प्राप्त करे ? किस पावन मन्त्रसे सैकड़ों क्लेशोंकी सृष्टि करनेवाला यह दोष-युक्त संसाररूपी विसूचिका (हैजा) का रोग अनायास शान्त हो सकता है ? महात्मन् ! जैसे वनमें कुत्ते विभिन्न जन्तुओंके अवमरे शरीरको पीड़ित करते रहते हैं, उसी तरह नाना प्रकारके संशय मर्त्यों कृष्ट आनन्दमय ब्रह्मपदमें आत्यन्तिक निष्ठासे रहित पुरुषको सदा कष्ट देते रहते हैं !

मुनीश्वर ! ऐसा कौन-सा उपाय है, क्या गति है, कौन-सा चिन्तन है, क्या आश्रय है तथा कौन-सा साधन है, जिसका अवलम्बन करनेसे यह जीवनरूपी वन भविष्यमें अमङ्गलकारी न हो ? भगवन् ! इस पृथ्वीपर, स्वर्गमें अथवा देव-समाजमें कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे तुच्छ होनेपर भी आप-जैसे परम बुद्धिमान् महात्मा रमणीय न बना दें। यह नश्वर संसार निरन्तर दुःखोंसे परिपूर्ण और नीरस है। कृपया यह बताइये कि यह किस उपायसे अज्ञानके निवारणपूर्वक परमानन्दरूप उत्तम स्वादसे युक्त हो जाता है। मुने ! यह मनरूपी चन्द्रमा कामसे कलङ्कित हो रहा है। इसे किस साधन एवं विधिसे धोया जाय कि उससे अत्यन्त निर्मल एवं परम आह्लादमयी दिव्य चाँदनीका उदय हो। जिसे संसारकी गतिका अनुभव है और जिसने निष्कामभावके द्वारा दृष्ट एवं अदृष्ट कर्मफलोंका विनाश कर दिया है, ऐसे किस महापुरुषकी भाँति हमें इस संसाररूपी वनकी गलियोंमें विचरते समय व्यवहार करना चाहिये ? प्रभो ! किस उपायका आश्रय लिया जाय, जिससे संसाररूपी वनमें विचरनेवाले जीवको राग-द्वेषरूपी बड़े-बड़े दोष तथा भोग-समूह एवं ऐश्वर्यरूपी हिंसक जन्तु कष्ट न दे सकें ? मुनिश्रेष्ठ ! तीनों लोकोंमें मनकी जो मननशालिनी सत्ता (विषय-चिन्तनरूप अस्तित्व) है, उसे किसी साधनरूप युक्तिके बिना नष्ट नहीं किया जा सकता। अतः आप उस उत्तम युक्तिका पूर्णरूपसे उपदेश कीजिये। अथवा जिसका अवलम्बन करनेसे लोकव्यवहारमें तत्पर रहनेपर भी मुझे दुःख प्राप्त न हो सके, उस व्यवहार-सम्बन्धिनी उत्तम युक्तिका प्रतिपादन कीजिये। किस उत्तम चित्तवाले महापुरुषने पहले युक्तिके द्वारा मोहका निवारण किया था ? उसने किस प्रकार और क्या किया था; जिससे उसका मन परम पवित्र होकर शान्तिको प्राप्त हो गया ? भगवन् ! मोहकी निवृत्तिके लिये आप-जैसा, जो कुछ भी जानते हैं, उसका उसी रूपमें मुझे उपदेश कीजिये। वह कौन-सा साधन है, जिसका आश्रय लेनेसे अनेक श्रेष्ठ पुरुष दुःखरहित स्थिति (कल्याण) को प्राप्त हो गये हैं ?

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! जैसे मोर महान्

मेघोंकी घटाओंके सम्मुख केकारव[1] करके थक जानेके कारण चुप हो जाता है, उसी प्रकार निर्मल चन्द्रमाके समान मनोहर एवं महान् तत्त्वविचारसे विकसित चित्तवाले श्रीरामचन्द्रजी वसिष्ठ आदि महान् गुरुजनोंके समक्ष उपर्युक्त बातें कहकर चुप हो गये।

(सर्ग २९–३१)

श्रीरामचन्द्रजीका भाषण सुनकर सबका आश्चर्यचकित होना, आकाशसे फूलोंकी वर्षा, सिद्ध पुरुषोंके उद्गार, राजसभामें सिद्धों और महर्षियोंका आगमन तथा उन सबके द्वारा श्रीरामके वचनोंकी प्रशंसा

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! कमलनयन राजकुमार श्रीराम जब इस प्रकार मनके मोहका निवारण करनेवाली बात कहने लगे, तब वहाँ बैठे हुए सब लोगोंके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे। उनकी समस्त सांसारिक वासनाएँ वैराग्यकी वासनासे नष्ट हो गयीं और वे सब लोग दो घड़ीके लिये मानो अमृतमय समुद्रकी तरङ्गोंमें डूबने-उतराने लगे। श्रीरामचन्द्रजीकी वे बातें जिन लोगोंने सुनीं, वे निश्चलताके कारण चित्रलिखित-से प्रतीत होते थे। उनका हृदय आनन्दसे भर गया था। सभामें बैठकर जिन श्रवणसमर्थ पुरुषोंने श्रीरामकी बातें सुनीं, उनके नाम इस प्रकार हैं—वसिष्ठ-विश्वामित्र आदि मुनि, मन्त्रणाकुशल जयन्त और धृष्टि आदि मन्त्री, दशरथ आदि नरेश, पुरवासी, पारशव आदि संकर जातिके लोग, विभिन्न सामन्त, लक्ष्मण आदि राजकुमार, वेदवेत्ता ब्राह्मण, भृत्य और अमात्य। अपने महलकी खिड़कियोंमें बैठी हुई महारानी कौसल्या आदि वनिताएँ भी निश्चल होकर श्रीरामकी बातें सुन रही थीं। उस समय उनके आभूषणोंकी खनखनाहटतक नहीं होती थी। आकाशचारी सिद्ध, गन्धर्व, किंनर, नारद, व्यास और पुलह आदि श्रेष्ठ मुनियोंने तथा देवता, देवराज इन्द्र, विद्याधरगण एवं महान् दिव्य नागोंने भी श्रीरामचन्द्रजीकी वे विचित्र अर्थसे परिपूर्ण और परम उदार बातें सुनी थीं।

रघुकुलरूपी आकाशके चन्द्रमा तथा शशिसे भी सुन्दर कमलनयन श्रीरामचन्द्रजी जब उपर्युक्त बातें कहकर चुप हो गये, तब 'साधुवाद' के गम्भीर घोषके साथ आकाशसे सिद्धसमूहोंद्वारा ऐसी पुष्पवृष्टि की गयी, जिससे वहाँ चँदोवा-सा तन गया। फूलोंकी उस वर्षामें ढेर-के-ढेर केवड़ेके फूल चक्कर काट रहे थे। कमलोंके गुच्छ अपनी अद्भुत छटा दिखा रहे थे। कुन्दपुष्पोंकी राशि झड़ रही थी तथा हवामें उड़ते हुए नील कमलोंके पुञ्ज बिखर रहे थे। उस महलके आँगनकी भूमि पट गयी। घर, छत और चबूतरे आच्छादित हो गये तथा नगरके सभी स्त्री-पुरुष अपनी गर्दन ऊँची करके उस पुष्पवर्षाकी शोभा निहारने लगे। आकाशमें खड़े हुए अदृश्य सिद्ध-समूहोंद्वारा की गयी वह पुष्पवृष्टि आधी घड़ीतक लगातार होती रही। सभा और उसमें बैठे हुए लोगोंको आच्छादित-सा करके जब वह पुष्पवर्षा बंद हुई, तब सभासदोंने सिद्धसमूहोंका यह वार्तालाप अपने कानोंसे सुना—"सृष्टिके आरम्भसे लेकर अबतक सिद्धोंके समुदायमें रहकर स्वर्गके सारे प्रदेशोंमें घूमते हुए हमलोगोंने आज ही वेदोंका सारभूत एवं कानोंके लिये अमृतके समान सुखद यह अपूर्व प्रवचन सुना है। वीतराग होनेके कारण इन रघुकुलचन्द्र श्रीरामने जो उदार बातें कही हैं, उन्हें सम्भवतः बृहस्पतिजी भी नहीं जानते होंगे। अहो! यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि आज हमलोगोंने श्रीरामचन्द्रजीके मुखारविन्दसे प्रकट हुआ यह परम पुण्यमय प्रवचन सुना है, जो अन्तःकरणको

१. मोरकी बोलीको केका कहते हैं।

परम आह्लाद प्रदान करनेवाला है। इन रघुनन्दनने इस समय आदरपूर्वक जो उचित भाषण किया है, वह शान्तिरूपी अमृतसे भरा होनेके कारण परम मनोहर है। इस भाषणने श्रेष्ठताका पद प्राप्त कर लिया है—यह प्रवचन सर्वोत्तम सिद्ध हुआ है। इसके द्वारा हमें भी तत्काल यह ज्ञान हो गया कि स्वर्ग आदिके सुख भी निस्सार हैं।

'रघुकुलतिलक श्रीरामके द्वारा उठाये गये इन पावन प्रश्नवाक्योंका महर्षिलोग जो निर्णय करेंगे, उसे भी सुनना उचित होगा। नारद, व्यास और पुलह आदि मुनीश्वरो! आप सभी महर्षि उस निर्णयको निर्विघ्नरूपसे सुननेके लिये शीघ्र यहाँ पधारें। जैसे केसरकी शोभासे परिपूर्ण हो सुवर्णकी भाँति उद्दीप्त होनेवाली कमलिनीपर भ्रमर चारों ओरसे टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार हम भी धन-वैभवसे पूर्ण तथा सुवर्णमयी सामग्रियोंसे प्रकाशित होनेवाली राजा दशरथकी इस पुण्यमयी सभामें सब ओरसे प्रवेश करें।'

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! सिद्धोंके ऐसा कहनेपर विमानोंमें निवास करनेवाले दिव्य महर्षियोंकी वह सारी मण्डली उस राजसभामें उतरी। उस मण्डलीमें सबसे आगे मुनीश्वर नारद थे, जो अपनी बजती हुई वीणाको उस समय भी छोड़ न सके थे और सबसे पीछे सजल जलधरके समान श्याम कान्तिवाले महर्षि व्यास थे। इन दोनोंके बीचमें शेष ऋषियोंकी मण्डली थी। भृगु, अङ्गिरा और पुलस्त्य आदि मुनीश्वर उस मण्डलीकी शोभा बढ़ाते थे। च्यवन, उद्दालक, उशीर तथा शरलोम आदि महर्षियोंने उसे सब ओरसे घेर रक्खा था।

एक दूसरेके शरीरकी रगड़से उन सबके मृगचर्म अपने स्थानसे खिसककर अस्त-व्यस्त हो गये थे। उन महर्षियोंके हाथोंमें बल पाकर रुद्राक्षमाला हिल रही थी तथा उन सबने सुन्दर कमण्डलु धारण कर रक्खे थे। आकाशमें अपने तेजःपुञ्जके प्रसारसे श्वेत एवं रक्त प्रभा धारण करनेवाली वह मुनिमण्डली तारोंकी पङ्क्तिके समान प्रकाशित हो रही थी। परस्परके तेजसे उन सबके मुखमण्डल ऐसे उद्भासित हो रहे थे, मानो अनेक सूर्योंकी पङ्क्तियाँ प्रकट हो गयी हों। उस मण्डलीमें व्यासजी ऐसे सुशोभित हो रहे थे, मानो तारोंके समुदायमें श्याम मेघ घिर आया हो और देवर्षि नारद तारिकाओंके समूहमें शीतरश्मि चन्द्रमाकी-सी शोभा धारण करते थे। महर्षि पुलस्त्य देवमण्डलीके बीच देवराज इन्द्रके समान विराज रहे थे। महर्षि अङ्गिरा ऐसे प्रकाशित होते थे, मानो देवताओंके समूहमें साक्षात् सूर्य उपस्थित हों। आकाशमण्डलसे वह सिद्ध-सेना ज्यों ही भूतलपर उतरी त्यों ही मुनियोंसे भरी हुई दशरथ-सभाके सभी लोग उठकर खड़े हो गये। वसिष्ठ और विश्वामित्रने अर्घ्य-पाद्य तथा मधुर वचनोंद्वारा क्रमशः उन सभी आकाशचारी सिद्धों तथा महर्षियोंकी पूजा की। आकाशचारी सिद्ध आदिके उस महान् समुदायने भी अर्घ्य-पाद्य एवं मधुर वचनोंद्वारा वसिष्ठ और विश्वामित्रका आदरपूर्वक पूजन किया। तत्पश्चात् भूपाल दशरथने सम्पूर्ण आदरभावके साथ उस सिद्ध-समुदायका पूजन किया। फिर उस सिद्ध-समुदायने भी कुशल-प्रश्न-सम्बन्धी वार्तालापद्वारा महाराज दशरथका सत्कार किया। उस समय प्रेमोचित दान, मान आदि क्रियाओंद्वारा एक दूसरेसे सत्कार पाकर सभी आकाशचारी तथा भूमण्डलमें विचरनेवाले महर्षि यथायोग्य आसनोंपर बैठे। उन लोगोंने सामने नत-मस्तक होकर बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजीका चारों ओरसे मधुर भाषण, फूलोंकी वर्षा और साधुवादके द्वारा पूर्ण सत्कार किया।

श्रीरामचन्द्रजी राज्यलक्ष्मीसे सुशोभित होते हुए वहीं बैठे तथा विश्वामित्र, वसिष्ठ, वामदेव, राजमन्त्रीगण, ब्रह्माके पुत्र नारदजी, मुनिवर व्यास, मरीचि, दुर्वासा, अङ्गिरा और उनके पुत्र आङ्गिरस मुनि, क्रतु, पुलस्त्य, पुलह, मुनीश्वर शरलोमा, वात्स्यायन, भरद्वाज, मुनिवर वाल्मीकि, उद्दालक, ऋचीक, शर्याति और च्यवन—ये तथा और भी बहुत-से वेद-वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान्

तत्त्वज्ञानी महात्मा, जो उन सबमें प्रधान थे, वहाँ विराजमान हुए। तत्पश्चात् वसिष्ठ और विश्वामित्रजीके साथ नारद आदि, जो साङ्गवेदोंका अध्ययन कर चुके थे, मस्तक झुकाये हुए श्रीरामचन्द्रजीको लक्ष्य करके इस प्रकार बोले—'अहो! बड़े आश्चर्यकी बात है कि राजकुमार श्रीरामने इस प्रकार अनेक कल्याणमय गुणोंसे सुशोभित वैराग्यरससे पूर्ण तथा परम उदारतासे युक्त बातें कही हैं। श्रीरामके भाषणमें वक्तव्य अर्थ 'इदमित्थम्' रूपसे व्यवस्थापूर्वक निहित है। उसे ऐसी सुबोध भाषामें कहा गया है, जिसे सुनते ही श्रोता वास्तविक अभिप्रायको समझ ले। जो बात कही गयी है, वह सर्वथा उचित और स्पष्ट शब्दोंमें प्रतिपादित है। श्रीरामकी यह वाणी उदार है—इसके भीतर बहुत-से उत्कृष्ट अभिप्राय छिपे हुए हैं। यह सुननेमें प्रिय और श्रेष्ठ पुरुषोंके योग्य है। इसमें जो कुछ कहा गया है, वह चञ्चल चित्तसे नहीं, स्थिरबुद्धिसे विचारकर व्यक्त किया गया है। इसका भाव स्पष्टरूपसे समझमें आ जाता है। इस भाषणका प्रत्येक पद अभिव्यक्त (व्याकरण-विशुद्ध) तथा सुस्पष्ट—ग्रस्त आदि दोषोंसे रहित है। यह वाणी इष्ट (प्रिय एवं हितकर) तथा आन्तरिक संतोष-की सूचक है। श्रीरघुनाथजीके मुखसे निकला हुआ यह वचन किसको आश्चर्यमें नहीं डाल देता? सैकड़ोंमें किसी एक पुरुषकी ही वाणी सम्पूर्णतः उत्कृष्ट, चमत्कारपूर्ण और अभीष्ट अर्थको प्रकट करनेमें समर्थ होती है।

'राजकुमार! आपके सिवा दूसरा कौन है, जिसकी बाणके समान सूक्ष्म अर्थका भेदन करनेवाली कुशाग्र बुद्धिरूपिणी लता विवेकरूपी फलसे सुशोभित हो विचार-वैराग्यरूपी उत्तम विकासको प्राप्त हो रही हो। श्रीरामकी भाँति जिसके हृदयमें अनुपम प्रकाश फैलानेवाली प्रज्ञा-रूपिणी दीप-शिखा प्रज्वलित हो रही हो, वही श्रेष्ठ पुरुष कहा जाता है। जिनमें ऐसी प्रज्ञा नहीं है, वे मनुष्य रक्त, मांस और हड्डियोंके यन्त्ररूपी देहमें आत्मबुद्धि रखनेके कारण रक्त-मांसादिरूप ही बहुत-से शब्द-स्पर्शादि पदार्थोंका उपभोग करते रहते हैं। ऐसा लगता है, उनके भीतर कोई चेतन पदार्थ है ही नहीं—वे जड़के तुल्य हो गये हैं। जो लोग सर्वथा मोहाच्छन्न होनेके कारण संसारका विचार नहीं करते, वे निरे पशु हैं। वे ही बारंबार जन्म, मृत्यु और जरा आदि रूपोंको प्राप्त होते हैं। जैसे लोकमें सर्वोत्तम मधुर फल और सुन्दर आकृतिवाले आमके वृक्ष विरले ही होते हैं, उसी प्रकार उत्कृष्ट चमत्कारसे पूर्ण तत्त्व-साक्षात्काररूप फलसे सम्पन्न एवं सुन्दर शरीरवाले भव्य पुरुष इने-गिने ही होते हैं। इन आदरणीय बुद्धिवाले श्रीराममें अभी इसी अवस्थामें अपने ही विवेकके कारण उस तत्त्वदर्शनरूप चमत्कारका उदय देखा जाता है, जिसके द्वारा जगत्के व्यवहारका सम्यक्रूपसे समीक्षण हुआ है। जो देखनेमें सुन्दर हों, जिनपर सरलतासे चढ़ा जा सके तथा जो उत्तम फलों और पल्लवोंसे सुशोभित हों, ऐसे वृक्ष प्रायः सभी देशोंमें उत्पन्न होते हैं; परंतु चन्दनके वृक्ष सर्वत्र नहीं होते (इसी तरह श्रीराम-जैसे पुरुष सर्वत्र दुर्लभ हैं)। फल और पल्लवोंसे भरे-पूरे वृक्ष प्रत्येक वनमें सदा सुलभ होते हैं। परंतु अपूर्व चमत्कारसे युक्त लौंगका वृक्ष सदा और सर्वत्र सुलभ नहीं है (इसी तरह श्रीराम-जैसे पुरुष सर्वत्र दुर्लभ है)। जैसे चन्द्रमासे शीतल चाँदनी उत्पन्न होती है, सुन्दर वृक्षसे मञ्जरी प्रकट होती है और फूलसे सुगन्धका प्रवाह प्रादुर्भूत होता है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजीसे यह तत्त्वदर्शनरूपी चमत्कारका आविर्भाव देखा गया है। जो लोग सदा तत्त्वचिन्तनमें तत्पर हो विवेकके द्वारा आत्मज्ञान या परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप सार पदार्थके लिये प्रयत्नशील रहते हैं, वे ही सुयशके भंडार, सत्पुरुषोंमें अग्रगण्य, धन्य एवं समस्त पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं। तीनों लोकोंमें श्रीरामचन्द्रजीके समान विवेकशील और उदारचित्त पुरुष न तो अबतक कोई देखा गया है और न भविष्यमें ही कोई होगा, ऐसी हमारी मान्यता है।' (सर्ग ३२-३३)

वैराग्य-प्रकरण सम्पूर्ण

१. अर्द्धोच्चारित शब्द या वाक्य, जिससे पूरी बात समझमें नहीं आती, ग्रस्तदोषसे युक्त माना गया है।

मुमुक्षुव्यवहार-प्रकरण

विश्वामित्रजीका श्रीरामको तत्त्वज्ञानसम्पन्न बताते हुए उनके सामने शुकदेवजीका दृष्टान्त उपस्थित करना, शुकदेवजीका तत्त्वज्ञान प्राप्त करके परमात्मामें लीन होना

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! इस प्रकार सभामें आये हुए सिद्ध पुरुषोंने जब उच्चस्वरसे श्रीरामके भाषणकी भूरि-भूरि प्रशंसा की, तब विश्वामित्रजीने अपने सामने बैठे हुए श्रीरामसे प्रेमपूर्वक कहा—'ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन ! तुम्हारे लिये और कुछ जानना शेष नहीं है। तुम अपनी ही सूक्ष्मबुद्धिसे सब कुछ जान चुके हो—सर्वस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्माको तत्त्वसे जानते हो। तुम्हारी बुद्धि भगवान् व्यासके पुत्र शुकदेवजीकी-

सी है। उसे जाननेयोग्य वस्तुका ज्ञान प्राप्त हो चुका है। श्रीराम ! मैं तुमसे व्यासपुत्र शुकदेवजीका यह वृत्तान्त कह रहा हूँ, जो तुम्हारे अपने ही वृत्तान्तके समान है, इसे सुनो। यह सुननेवाले मनुष्योंके जन्म-मरणरूप संसारके अन्त (मोक्ष) का कारण है। वे जो तुम्हारे पिताके बगलमें अञ्जनगिरिके समान श्याम तथा सूर्यतुल्य तेजस्वी भगवान् व्यास बैठे हैं, इनके शुकदेव नामसे प्रसिद्ध एक महाज्ञानी पुत्र हुआ, जिसका मुख चन्द्रमाके समान सुन्दर था। शुकदेवजी सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता थे। वे एक दिन मन-ही-मन इस लोकयात्रा (जागतिक व्यवहार) पर विचार कर रहे थे। उस समय उनके हृदयमें भी तुम्हारी ही तरह विवेकका उदय हुआ। उन महामना शुकदेवने अपने विवेकसे स्वयं ही चिरकालतक विचार करके जो परम मनोहर परमार्थ सत्य वस्तु (या परमार्थ—साधनकी उच्च स्थिति) है, उसे प्राप्त कर लिया। उसे प्राप्त करके भी उनके हृदयमें 'यही परमार्थ वस्तु (सच्चिदानन्दघन परमात्मा) है' ऐसा पूर्ण विश्वास नहीं हुआ; इसलिये उस परम वस्तुके स्वतः प्राप्त हो जानेपर भी उनके मनको शान्ति नहीं मिली। इतना अवश्य हुआ कि उनके चित्तकी चञ्चलता दूर हो गयी और जैसे चातक वर्षाकी जलधाराके अतिरिक्त अन्य जलधाराओंसे मुँह मोड़ लेता है, उसी प्रकार उनका मन अत्यन्त क्षणभङ्गुर भोगोंसे विरत हो गया।

एक दिन निर्मल बुद्धिवाले शुकदेवजीने मेरुगिरि-पर एकान्त स्थानमें बैठे हुए अपने पिता मुनिवर श्रीकृष्ण-द्वैपायन व्याससे भक्तिभावके साथ पूछा—'मुने ! यह संसाररूपी आडम्बर कैसे उत्पन्न हुआ है ? कैसे इसकी शान्ति या नाश होता है ? यह कितना बड़ा है ? किसका है ? और कबतक रहेगा ?' पुत्रके इस प्रकार प्रश्न करने-पर आत्मज्ञानी मुनिवर व्यासने उन्हें जो कुछ बताने योग्य

बात थी, वह सब यथावत् एवं विशुद्ध रूपसे बता दी। उनका उपदेश सुननेके अनन्तर शुकदेवजीने सोचा, यह तो मै पहले ही जान गया था। ऐसा विचारकर उन्होंने पिताजीके उस उपदेश-वाक्यका अपनी शुभ बुद्धिके द्वारा अधिक आदर नहीं किया। भगवान् व्यास भी अपने पुत्रके इस अभिप्रायको समझकर उससे बोले—'बेटा! भूतलपर जनक नामसे प्रसिद्ध एक राजा हैं, जो जाननेयोग्य तत्त्व (सच्चिदानन्दघन परमात्माको) यथार्थरूपसे जानते हैं। उनसे तुम्हें सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जायगा।'

पिताके ऐसा कहनेपर शुकदेवजी सुमेरु पर्वतसे उतरकर पृथ्वीपर आये और महाराज जनकके द्वारा पालित विदेहपुरीमें जा पहुँचे। वहाँ छड़ीदार द्वारपालोंने महात्मा जनकको यह सूचना दी—'राजन्! राजद्वारपर व्यासजीके पुत्र शुकदेवजी खड़े हैं।' उन्होंने शुकदेवजीकी परीक्षा लेनेके लिये द्वारपालोंसे अवहेलनापूर्वक कहा—'शुकदेवजी आये हैं तो वहीं ठहरें।' ऐसा कहकर राजा सात दिनोंतक चुपचाप बैठे रहे—उनकी कोई खोज-खबर नहीं ली। तत्पश्चात् राजा जनकने शुकदेवजीको राजमहलके आँगनमें बुलवाया। वहाँ आनेपर भी शुकदेवजी पूरे सात दिनोंतक उसी प्रकार उपरत होकर बैठे रहे। इसके बाद जनकने शुकदेवजीको अन्तःपुरमें ले आनेकी आज्ञा दी, किंतु वहाँ भी राजाने सात दिनोंतक उन्हें दर्शन नहीं दिया। वे चन्द्रमाके समान मुखवाले शुकदेवजीका अन्तःपुरमें यौवनके मदसे उन्मत्त कमनीय कान्तिवाली सुन्दरियोंद्वारा भाँति-भाँतिके भोजनों तथा भोगसामग्रियोंसे लालन-पालन कराते रहे।

परंतु जैसे मन्द गतिसे बहनेवाली वायु दृढ़मूल अविचल वृक्षको नहीं उखाड़ सकती, उसी प्रकार वे भोग तथा अनादर एवं उपेक्षाजनित दुःख भी व्यासपुत्रके मनको अपनी ओर खींच न सके, उसमें विकार पैदा न कर सके। शुकदेव वहाँ पूर्ण चन्द्रमाके समान निर्विकार, भोग और अनादरमें भी समान (हर्ष-विषादसे रहित), स्वस्थ, मौन तथा प्रसन्न-चित्त बने रहे।

इस प्रकार परीक्षाद्वारा शुकदेवजीके स्वभावको जानकर राजा जनकने उन्हें सादर अपने पास बुलवाया और प्रसन्नचित्त देखकर प्रणाम किया। तत्पश्चात् शीघ्रतापूर्वक उनका स्वागत करके राजाने उनसे कहा—'ब्रह्मन्! जगत्में परम पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये जो-जो आवश्यक कर्तव्य हैं, वे सब आपने पूर्ण कर लिये हैं। सारे मनोरथोंको प्राप्त कर लिया है (इस तरह आप कृतकृत्य तथा आप्तकाम हो चुके हैं)। अब आपको किस वस्तुकी इच्छा है?'

श्रीशुकदेवजीने कहा—महाराज! मैं जानना चाहता हूँ कि यह संसाररूपी आडम्बर कैसे उत्पन्न हुआ है और इसकी शान्ति या विनाश कैसे होता है। आप शीघ्र ही मुझसे इस विषयका यथावत् रूपसे प्रतिपादन कीजिये।

श्रीविश्वामित्रजी कहते हैं—महाराज! इस प्रकार पूछे जानेपर राजा जनकने शुकदेवजीको उस समय वही बात बतायी, जो पहले उनके महात्मा पिता व्यासजीके द्वारा बतायी गयी थी।

तब शुकदेवजीने कहा—वक्ताओंमें श्रेष्ठ महाराज! मैंने पहले विवेकसे स्वयं ही यह बात जान ली थी। फिर जब पिताजीसे इसके विषयमें पूछा, तब उन्होंने भी मुझे यही बात बतायी और आज आपने भी यही बात कही है। शास्त्रोंमें भी महावाक्योंका यही अर्थ दृष्टिगोचर होता है। वह इस प्रकार है—'यह विनाशशील संसार अपने संकल्पसे उत्पन्न हुआ है और संकल्पका आत्यन्तिक विनाश होनेसे नष्ट हो जाता है अतः सर्वथा निस्सार है। यही शास्त्रोंका निश्चय है।' महाबाहो! क्या यही अविचल सत्य है? यदि हाँ, तो इसका इस तरह उपदेश कीजिये, जिससे यह मेरे हृदयमें अचल—असंदिग्धरूपसे बैठ जाय। संसारके विषयोंमें भटकते हुए चित्तके द्वारा इधर-उधर भटकाया जाता हुआ मैं आज आपसे शान्ति लाभ करना चाहता हूँ।

राजा जनकने कहा—मुने! इस ब्रह्माण्डमें एक अखण्ड चिन्मय परम पुरुष परमात्माके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। आपने स्वयं विवेकके द्वारा इस तत्त्वको जाना है और फिर गुरुस्वरूप पिताके मुखसे इसको सुना है। इससे बढ़कर दूसरा कोई निश्चय (जानने योग्य तत्त्व) नहीं है। मुनिकुमार! आप बालक होते हुए भी विषयभोगोंके त्यागमें शूरवीर होनेके कारण महान् वीर हैं। आपकी बुद्धि दीर्घ कालतक बने रहनेवाले रोगरूपी भोगोंसे पूर्णतः विरक्त हो गयी है। अब आप और क्या सुनना चाहते हैं? ब्रह्मन्! जो प्राप्त करने योग्य वस्तु है, उसे पूर्णरूपसे आपने पा लिया है। आपका चित्त पूर्णकाम हो गया है। आप दृश्य वस्तु (बाह्य विषय) की ओर दृष्टिपात नहीं करते हैं, अतः मुक्त हैं। अभी और कुछ पाना या जानना शेष रह गया है, इस भ्रमको त्याग दीजिये।

(विश्वामित्रजी कहते हैं—श्रीराम!) महात्मा जनकके द्वारा इस प्रकार उपदेश पाकर शुकदेवजी अत्यन्त शुद्ध परम वस्तु परमात्मामें चुपचाप स्थित हो गये। उनके शोक, भय और श्रम—सभी नष्ट हो गये। वे सर्वथा निरीह एवं संशयरहित हो गये। तदनन्तर वे मेरुगिरिके प्रशस्त शिखरपर समाधि लगानेके लिये चले गये। वहाँ दस हजार वर्षोंतक निर्विकल्प समाधिमें स्थित रहे और जैसे तेल समाप्त होनेपर दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार वे प्रारब्ध क्षीण हो जानेपर परमात्मामें लीन हो गये। (सर्ग १)

विश्वामित्रजीका वसिष्ठजीसे श्रीरामको उपदेश करनेके लिये अनुरोध करना और वसिष्ठजीका उसे स्वीकार कर लेना

श्रीविश्वामित्रजी कहते हैं—मुनीश्वरो ! श्रीरामचन्द्रजीने ज्ञातव्य वस्तुको पूर्णतः जान लिया है; क्योंकि इन शुद्ध-बुद्धिवाले श्रीरामको भोग अच्छे नहीं लगते । वे इन्हें रोगके समान प्रतीत होते हैं । जिसने ज्ञेय वस्तुको जान लिया है, उसके मनका अवश्य ही यही लक्षण है कि उसे सारे भोगसमूह फिर कभी रुचिकर नहीं जान पड़ते हैं । भोगोंके चिन्तनसे अज्ञान-जनित बन्धन दृढ़ होता है और भोग-वासनाके शान्त हो जानेपर संसार-बन्धन क्षीण हो जाता है । *

श्रीराम ! विद्वान् लोग भोगवासनाके क्षयको ही मोक्ष कहते हैं और विषयोंमें होनेवाली सुदृढ़ वासनाको ही बन्धन बताते हैं । जिसकी दृष्टि राग आदि दोषोंसे रहित है, वही तत्त्वज्ञ है । उसीने जाननेयोग्य वस्तुको जाना है और वही विद्वान् है । उस महात्मा पुरुषको भोग हठात् अच्छे नहीं लगते । जैसे मरुभूमिमें लता नहीं उगती, उसी प्रकार जबतक जाननेयोग्य तत्त्वका कुछ भी ज्ञान नहीं होता, तबतक मनुष्यके हृदयमें विषयोंकी ओरसे वैराग्य नहीं होता । अतः मुनिवृन्द ! आपलोग यह निश्चितरूपसे समझ लें कि रघुकुलतिलक श्रीरामको ज्ञेय तत्त्वका ज्ञान हो गया है; क्योंकि इन्हें ये भोगोंके रमणीय स्थान आनन्दित नहीं कर रहे हैं । मुनीश्वरो ! श्रीरामचन्द्रजी जिस तत्त्वको बुद्धिके द्वारा जानते हैं, उसके विषयमें जब सद्गुरुके मुखसे यह सुन लेंगे कि 'यही परमार्थ वस्तु है' तब इनके चित्तको अवश्य विश्राम प्राप्त होगा । जैसे शरत्कालकी शोभा मेघरहित निर्मल आकाशमात्रकी अपेक्षा रखती है, उसी तरह श्रीरामचन्द्रजीकी बुद्धिको केवल अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परमात्माके तत्त्वमें विश्रामकी अपेक्षा है । अतः महात्मा श्रीरामचन्द्रजीके चित्तके विश्रामके लिये ये पूज्यपाद श्रीवसिष्ठजी ही यहाँ युक्तिका प्रतिपादन करें; क्योंकि ये समस्त रघुवंशियोंके ही (नहीं, समूचे इक्ष्वाकुवंशियोंके) सदासे प्रभु (नियन्ता एवं शिक्षक) और कुलगुरु हैं । इसके सिवा ये सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी तथा तीनों कालोंमें मोह आदिसे रहित निर्मल दृष्टिवाले हैं ।

पूज्यपाद वसिष्ठजी ! क्या वह पहलेकी बात आपको स्मरण है, जब कि हम दोनोंके वैरकी शान्ति तथा परम बुद्धिमान् मुनियोंके कल्याणके लिये देवदारुके वृक्षोंसे आवृत निषद पर्वतके शिखरपर साक्षात् पद्मयोनि भगवान् ब्रह्माने महत्त्वपूर्ण ज्ञानका उपदेश दिया था ? ब्रह्मन् ! उस युक्तियुक्त ज्ञानसे यह सांसारिक वासना अवश्य उसी तरह नष्ट हो जाती है, जैसे भगवान् भास्करके उदयसे अँधेरी रात । विप्रवर ! आप उसी युक्तियुक्त ज्ञेय वस्तुका

* भोगभावनया याति बन्धो दार्ढ्यमवस्तुनः ।
तयोपशान्तया याति बन्धो जगति तानवम् ॥

अपने शिष्य श्रीरामको शीघ्र उपदेश दीजिये, जिससे ये विश्राम (शान्ति) को प्राप्त हों। इसमें आपको अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ेगा; क्योंकि श्रीरामचन्द्रजी सर्वथा निष्पाप हैं। अतः जैसे निर्मल दर्पणमें बिना यत्नके ही मुँहका प्रतिबिम्ब दिखायी देने लगता है, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजीको अनायास ही ज्ञेय वस्तुका बोध एवं विश्राम प्राप्त हो जायगा। महात्मन्! वही ज्ञान, वही शास्त्रार्थ और वही पाण्डित्य सार्थक एवं प्रशंसित है, जिसका वैराग्ययुक्त उत्तम शिष्यके लिये उपदेश दिया जाता है। जिसमें वैराग्य नहीं है तथा जो शिष्यभावसे रहित है, उसे जो कुछ भी उपदेश दिया जाता है, वह कुत्तेके चमड़ेसे बने हुए कुप्पेमें रक्खे हुए गायके दूधकी भाँति अपवित्रताको प्राप्त हो जाता है। जहाँ आप-जैसे वीतराग, निर्भय, क्रोधशून्य, अभिमानरहित तथा निष्पाप महापुरुष तत्त्वज्ञानका उपदेश देते हैं, वहाँ तत्काल बुद्धिको विश्राम प्राप्त होता है।

गाधिनन्दन विश्वामित्रके ऐसा कहनेपर व्यास और नारद आदि उन सभी मुनियोंने साधु-साधु कहकर उनके उस कथनकी ही भूरि-भूरि प्रशंसा की। तत्पश्चात् राजा दशरथके बगलमें बैठे हुए ब्रह्माजी के पुत्र महातेजस्वी भगवान् वसिष्ठ मुनिने, जो ब्रह्माजीके समान ही ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न थे, कहा।

श्रीवसिष्ठजी बोले—मुने! आप जिस कार्यके लिये मुझे आज्ञा दे रहे हैं, उसे मैं बिना किसी विघ्न-बाधाके आरम्भ कर रहा हूँ। शक्तिशाली होकर भी संतोंकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेमें कौन समर्थ हो सकता है! पूर्वकालमें निषद पर्वतपर पूजनीय पद्मयोनि ब्रह्माजीने संसाररूपी भ्रमको दूर करनेके लिये जिस ज्ञानका उपदेश किया था, वह सब अविकलरूपसे मुझे याद है। (सर्ग २)

जगत्‌की भ्रमरूपता एवं मिथ्यात्वका निरूपण, सदेह और विदेह मुक्तिकी समानता तथा शास्त्रनियन्त्रित पौरुषकी महत्ताका वर्णन

श्रीवसिष्ठजीने कहा—पूर्वकालमें सृष्टिके प्रारम्भके समय भगवान् ब्रह्माने संसाररूपी भ्रमके निवारणके लिये जिस ज्ञानका उपदेश दिया था, उसीका मैं यहाँ वर्णन करता हूँ। यह जगत् सङ्कल्पके निर्माण, मनोराज्यके विलास, इन्द्रजालद्वारा रचित पुष्पहार, कथा-कहानीके अर्थके प्रतिभास, वातरोगके कारण प्रतीत होनेवाले भूकम्प, बालकको डरानेके लिये कल्पित पिशाच, निर्मल आकाशमें कल्पित मोतियोंके ढेर, नावके चलनेसे तथा प्रतीत होनेवाली वृक्षोंकी गति, स्वप्नमें देखे गये नगर अन्यत्र देखे गये फूलोंके स्मरणसे आकाशमें कल्पित हुए पुष्पकी भाँति भ्रमद्वारा निर्मित हुआ है। मृत्युकालमें पुरुष स्वयं अपने हृदयमें इसका अनुभव करता है।

इस प्रकार जगत् मिथ्या होनेपर भी चिरकालतक अत्यन्त परिचयमें आनेके कारण घनीभाव (दृढता) को प्राप्त होकर जीवके हृदयाकाशमें प्रकाशित हो बढ़ने लगता है। यही 'इहलोक' कहलाता है। जन्मसे लेकर मृत्युतककी चेष्टाओं तथा मरण आदिका अनुभव करनेवाला जीव वहीं (हृदयाकाशमें ही) इहलोककी कल्पना करता है, जैसा कि ऊपर कहा गया है। फिर मरनेके अनन्तर वह वहीं परलोककी कल्पना करता है। वासनाके भीतर अन्य अनेक शरीर और उनके भीतर भी दूसरे-दूसरे शरीर—ये इस संसारमें केलेके वृक्ष-की त्वचा (छिलके वा वल्कल) के समान एकके पीछे एक प्रतीत होते हैं (वस्तुतः इस संसारमें कोई सार नहीं है)। न तो पृथिवी आदि पञ्च महाभूतोंके समुदाय हैं और न जगत्‌की सृष्टिका कोई क्रम ही है। ये सब-के-सब मिथ्या हैं। तथापि मृत और जीवित जीवोंको

इनमें संसारका भ्रम होता है। यह अविद्यारूपिणी नदी ही है, जिसका कहीं अन्त नहीं है। यह विभिन्न धाराओंके रूपमें फैलती हुई शोभा पाती है। मूढ़ पुरुषोंके लिये यह इतनी विशाल है कि वे इसे पार नहीं कर सकते। सृष्टिरूपी चञ्चल तरङ्गोंसे ही यह तरङ्गवती जान पड़ती है।

श्रीराम! परमार्थ सत्य (परमात्मा) रूपी विशाल महासागरमें बारंबार वे पुरानी और नयी सृष्टिरूप असंख्य तरङ्गें उठती और विलीन होती रहती हैं। इस समय ब्रह्मकल्पका अवयवभूत बहत्तरवाँ त्रेतायुग चल रहा है। यह पहले भी अनेक बार हो चुका है और आगे भी होता रहेगा। यह वही पहलेवाला त्रेतायुग है और उससे विलक्षण भी। ये जितने लोक हैं, वे भी पूर्ववत् हुए हैं और उनकी अपेक्षा नवीन भी हैं। इसी प्रकार तुम श्रीराम भी अनेक बार त्रेतायुगमें अवतार ले चुके हो और भविष्यमें भी लोगे। मैं भी कितनी ही बार वसिष्ठ-रूपमें उत्पन्न हो चुका हूँ और आगे भी होऊँगा। हमारे ये सभी रूप पूर्वके तुल्य होंगे और उनसे भिन्न भी। इस बातको मै अच्छी तरह जानता हूँ। सभी प्राणी कभी धन-वैभव, बन्धु-बान्धव, अवस्था, कर्म, विद्या, विज्ञान और चेष्टाओंमें पूर्वकल्पोंके समान होते हैं और कभी नहीं भी होते। जो अविद्यारूपी आवरणसे रहित है, जिसका अन्तःकरण एकाग्र हो चुका है, जिसके सभी संकल्प-विकल्प शान्त हो चुके हैं तथा जो स्वरूपभूत सारतत्त्व (सच्चिदानन्दघन)—मय हो गया है, वह विद्वान् पुरुष परम शान्तिरूपी अमृतसे तृप्त रहता है।

सौम्य श्रीराम! समुद्रकी जलराशि शान्त हो या उत्ताल तरङ्गोंसे युक्त, दोनों दशाओंमें उसकी जलरूपता समान ही है— उसमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं है। उसी तरह देहके रहते हुए और उसके न रहनेपर भी मुक्त महात्मा मुनिकी स्थिति एक-सी ही होती है, उसमें कोई भेद नहीं होता है। सदेहमुक्ति हो या विदेहमुक्ति, उसका विषयोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। जिसने सत्य मानकर भोगोंका आस्वादन ही नहीं किया, उस पुरुषमें भोगोंकी अनुभूति कहाँसे होगी? जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त दोनों ही प्रकारके महात्मा बोधस्वरूप हैं। उनमें क्या भेद है? (इन दोनोंमें भेद करानेवाला है अज्ञान। उसके नष्ट हो जानेपर जब केवल ज्ञान ही अवशिष्ट रह जाता है, तब उन दोनोंमें भेद कौन हो सकता है!) जैसे समुद्रकी तरङ्गावस्थामें जो जल है, वही उसकी प्रशान्ता-वस्थामें भी है—उसमें कोई अन्तर नहीं है। सदेह और विदेहमुक्तमें थोड़ा-सा भी भेद नहीं है। पवन सस्पन्द (वेगवान्) हो या निष्पन्द (शान्त अथवा वेगहीन), दोनों ही दशाओंमें वहहै वायु ही।

अतः अब मैं जिसका प्रकरण चल रहा है, उस उत्तम ज्ञानका ही उपदेश कर रहा हूँ, तुम इसका निरूपण सुनो। यह ज्ञान कानोंका आभूषण है और अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश करनेवाला है। रघुनन्दन! इस संसारमें सदा अच्छी तरह पुरुषार्थ (प्रयत्न) करनेसे सबको सब कुछ मिल जाता है। (जहाँ कहीं किसीको असफल देखा जाता है, वहाँ उसके सम्यक् प्रयत्नका अभाव ही कारण है।) साधनके परिपक्व होनेपर हृदयमें, जैसे चन्द्रमासे शीतलतायुक्त आह्लाद प्राप्त होता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अतिशय शीतल आनन्दका उदय होता है। यह आत्यन्तिक आनन्द पुरुषके प्रयत्नसे ही प्राप्त हो सकता है, अन्य हेतु (प्रारब्ध) से नहीं। (इसलिये पुरुषको प्रयत्नपर ही निर्भर रहना चाहिये।) शास्त्रज्ञ सत्पुरुषोंके बताये हुए मार्गसे चलकर अपने कल्याणके लिये जो मानसिक, वाचिक और कायिक चेष्टा की जाती है, वही पुरुषार्थ है और वही सफल चेष्टा है। उससे भिन्न जो शास्त्र-विपरीत मनमाना आचरण है, वह पागलोंकी-सी चेष्टा है। जो मनुष्य जिस पदार्थको पाना चाहता है, उसकी

प्राप्तिके लिये यदि वह क्रमशः यत्न करता है और बीचमें ही उससे मुँह नहीं मोड़ लेता तो अवश्य उसे प्राप्त कर लेता है। कोई एक विशेष प्राणी ही पुरुषोचित प्रयत्नके द्वारा तीनों लोकोंके ऐश्वर्यसे युक्त होनेके कारण परम सुन्दर प्रतीत होनेवाली इन्द्रपदवीको प्राप्त हो गया है। निरन्तर यत्नमें लगे रहकर सुदृढ़ अभ्यासमें तत्पर हुए बुद्धिमान् और साहसी पुरुष मेरुपर्वतको भी निगल जानेकी शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। श्रुति-स्मृति आदि शास्त्रसे नियन्त्रित पुरुषार्थके सम्पादनमें तत्पर जो पुरुषका पौरुष (उद्योग) है, वही मनोवाञ्छित फलकी सिद्धिका कारण होता है। शास्त्रके विपरीत किया हुआ प्रयत्न अनर्थकी ही प्राप्ति करानेवाला होता है। कोई पुरुष जब शास्त्रीय प्रयत्नको शिथिल कर देता है, तब स्वयं दरिद्रता, रोग और बन्धन आदि अपनी दुर्दशाके कारण वह ऐसी अवस्थामें पहुँच जाता है, जहाँ उसके लिये पानीकी एक बूँद भी बहुत समझी जाती है। (दुर्लभ हो जाती है); परंतु किसीको शास्त्रानुसार आचरणके प्रभावसे ऐसी उत्तम अवस्था प्राप्त होती है, जहाँ समुद्र, पर्वत, नगर और द्वीपोंसे व्याप्त विशाल भूमण्डलका साम्राज्य भी अधिक नहीं समझा जाता (वह अनायास सुलभ हो जाता है)। (सर्ग ३-४)

शास्त्रके अनुसार सत्कर्म करनेकी प्रेरणा, पुरुषार्थसे भिन्न प्रारब्धवादका खण्डन तथा पौरुषकी प्रधानताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जैसे नीले, पीले आदि भिन्न-भिन्न रंगोंकी अभिव्यक्तिमें प्रकाश ही मुख्य कारण है, उसी प्रकार शास्त्रके अनुसार मन, वाणी और शरीरद्वारा व्यवहार करनेवाले अधिकारी पुरुषोंके समस्त पुरुषार्थोंकी सिद्धिमें उत्साहपूर्वक प्रवृत्ति ही प्रधान साधन है। मनुष्य केवल मनसे किसी वस्तुकी इच्छा करता है, शास्त्रानुसार कर्मसे नहीं, वह पागलोंकी-सी चेष्टा करता है। उसकी वह चेष्टा केवल मोहमें डालनेवाली है, पुरुषार्थको सिद्ध करनेवाली नहीं। जो मनुष्य जैसा प्रयत्न (कर्म) करता है, वह वैसा ही फल भोगता है, (जो यह कहते हैं कि दैववश फलमें विपरीतता भी आ जाती है तो उनका कथन ठीक नहीं; क्योंकि) अपना पूर्वकृत कर्म ही फल देनेके लिये उन्मुख होनेपर दैव कहलाता है। उससे अतिरिक्त दैव नामकी कोई वस्तु नहीं दिखायी देती। पुरुषार्थ दो प्रकारका है—एक शास्त्रानुमोदित (पुण्य-कर्म) और दूसरा शास्त्रविरुद्ध (पाप-कर्म)। इन दोनोंमें जो शास्त्रविरुद्ध पुरुषार्थ है, वह अनर्थका कारण होता है और शास्त्रानुमोदित पौरुष परमार्थ वस्तुकी प्राप्तिमें कारण है। इसलिये पुरुषको शास्त्रीय प्रयत्नसे तथा साधु पुरुषोंके सङ्गसे ऐसा उद्योग करना चाहिये कि इस जन्मका पौरुष पूर्वजन्मके पौरुष (प्रारब्ध) को शीघ्र जीत ले। अपने उत्तम पुरुषार्थका आश्रय लेकर दाँतोंसे दाँतोंको पीसते हुए (तत्परतापूर्वक प्रयत्नमें लगे हुए) पुरुषको अपने शुभ पौरुषके द्वारा विघ्न करनेके लिये उद्यत पूर्वजन्मके अशुभ पौरुषको जीत लेना चाहिये। 'यह पूर्व जन्मका पुरुषार्थ (प्रारब्ध) मुझे प्रेरित करके विशेष परिस्थितिमें डाल देता है, इस प्रकारकी बुद्धिको बलपूर्वक कुचल डालना चाहिये; क्योंकि वह प्रत्यक्ष प्रयत्नसे अधिक प्रबल नहीं है। तबतक प्रयत्नपूर्वक उत्तम पुरुषार्थके लिये सचेष्ट रहना चाहिये, जबतक कि पूर्वजन्मका अशुभ पौरुष स्वयं पूर्णतः शान्त न हो जाय। अर्थात् जबतक पहले जन्मोंका किया हुआ अशुभ कर्म समूल नष्ट न हो जाय, तबतक तत्परतासे उत्साहपूर्वक साधन करते रहना चाहिये।

जैसे अपने द्वारा कल रचित हुए दोषका आज

प्रायश्चित्त कर लेनेपर नाश हो जाता है, उसी प्रकार इस जन्मके गुणोंसे (शुभ पौरुषसे) पूर्व-जन्मका दोष (अशुभ पौरुष) अवश्य नष्ट हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है । पूर्वजन्मके अशुभ या दुःखदायक प्रारब्धको इस जन्मके शुभ कर्मोंसे विशुद्ध एवं पुष्ट हुई बुद्धिके द्वारा तिरस्कृत करके संसार-सागरसे पार होनेके उद्देश्यकी सिद्धिके लिये अपने भीतर दैवी सम्पत्तिके संग्रहके निमित्त सदा यत्न करना चाहिये । उद्योगशून्य आलसी मनुष्य गदहोंके समान गये-बीते हैं । अतः स्वयं भी उद्योग छोड़कर उन्हींकी श्रेणी या तुलनामें नहीं जाना चाहिये । शास्त्रके अनुसार किया हुआ उद्योग इहलोक और परलोक दोनोंकी सिद्धिमें कारण है । मनुष्यको पुरुषार्थरूपी प्रयत्नका आश्रय लेकर इस संसाररूपी गड्ढेसे स्वयं बलपूर्वक निकल जाना चाहिये । अपने शरीरको प्रतिदिन नाश होता हुआ समझे । पशुओं-के समान आचरणका त्याग करे और सत्पुरुषोंके योग्य आचार-व्यवहारका आश्रय ले । जैसे कीड़ा घावमें पीब आदिका आस्वादन करके ही अपना जीवन समाप्त कर देता है, उसी तरह मनुष्यको घरमें स्त्री, अन्न, पान आदि द्रवयुक्त एवं कोमल तुच्छ पदार्थोंका किंचित् आस्वाद लेकर सम्पूर्ण पुरुषार्थोंके साधनभूत आयुको भस्म नहीं कर देना चाहिये (मानव-जीवनको व्यर्थ नहीं गवाँ देना चाहिये) । शुभ पुरुषार्थसे शीघ्र ही शुभ फलकी प्राप्ति होती है और अशुभ पुरुषार्थसे सदा अशुभ फल ही मिलता है । इन शुभ-अशुभ पुरुषार्थोंके सिवा दैव नामकी दूसरी कोई वस्तु नहीं है (इन्हींका नाम दैव या प्रारब्ध है) । इसलिये पहले पुरुषार्थके द्वारा विवेकका आश्रय लेकर आत्मज्ञानरूपी महान् प्रयोजनवाले शास्त्रोंका विचार करना चाहिये । जो शास्त्रके अनुसार अपनी श्रवण, मनन आदि चेष्टाओंद्वारा साधन नहीं करते और चित्तमें विषयोंका ही चिन्तन करते रहते हैं, उन मूढ़ पुरुषोंकी अत्यन्त दूषित भोगेच्छाको धिक्कार है । पूर्वोक्त पुरुषप्रयत्न यदि सत्-शास्त्रके अनुकूल तथा सत्सङ्ग और सदाचारसे युक्त होता है तो वह परमात्मसाक्षात्काररूप अपने फलको देता है । यह उसका स्वभाव है । अन्यथा (सत्-शास्त्रके प्रतिकूल तथा सत्सङ्ग और सदाचारसे रहित होनेपर) उससे परमात्म-साक्षात्काररूप परम फलकी सिद्धि नहीं होती । यही पौरुषका स्वरूप है । इस प्रकार व्यवहार करनेवाले किसी भी पुरुषका प्रयत्न कभी विफल नहीं होता । बाल्यावस्था-से लेकर भलीभाँति अभ्यासमें लाये हुए सत्-शास्त्रानुशीलन और सत्पुरुषोंके सङ्ग आदि सद्गुणोंद्वारा पुरुषार्थ करनेसे परम स्वार्थरूप परमात्मसाक्षात्कार प्राप्त होता है । इस प्रकार प्रत्यक्ष देखी हुई, अनुभवमें आयी हुई, सुनी हुई और साधनोंद्वारा प्राप्त की हुई परमार्थ वस्तुको जो लोग दैवके अधीन मानते हैं, उनकी बुद्धि कुत्सित है और वे साधनसे नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं । निरन्तर कल्पित क्रीडाओं (खेल-कूद) के कारण अत्यन्त चञ्चलतापूर्ण बाल्यावस्थाके व्यतीत हो जानेपर जब (दुखी और गुरुजनोंकी सेवामें समर्थ) बाहुदण्डसे अलंकृत यौवन-अवस्थाका आरम्भ हो जाय, तभीसे मनुष्यको पद-पदार्थके ज्ञानसे विशुद्ध-बुद्धि होकर सत्पुरुषोंके सङ्गसे अपने गुणों और दोषोंका विचार करना चाहिये । तात्पर्य यह कि विचारपूर्वक दोषोंको त्याग करके गुणोंको ग्रहण करना चाहिये ।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! मुनिवर वसिष्ठजीके इस प्रकार प्रवचन करनेपर वह दिन व्यतीत हो गया । सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये तथा उस सभाके लोग वसिष्ठजीको नमस्कार करके सायंकालिक कृत्य (संध्योपासना और अग्निहोत्र आदि) करनेके लिये चले गये और रात्रि व्यतीत होनेपर पुनः सूर्यदेवकी किरणोंके साथ ही उस सभाभवनमें आ गये । (सर्ग ५)

ऐहिक पुरुषार्थकी श्रेष्ठता और दैववादका निराकरण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! पूर्वजन्मके पौरुषसे भिन्न दैव कोई वस्तु नहीं है (पूर्वजन्मोंका पुरुषार्थ ही दैव है) । इसलिये 'मैं दैवके अधीन हूँ, कर्म करनेमें स्वतन्त्र नहीं हूँ' ऐसी बुद्धि या विचारधाराको सत्सङ्ग तथा सत्-शास्त्रके अभ्यासद्वारा मनसे दूर करके जीवात्माका इस संसार सागरसे बलपूर्वक उद्धार करे (आलस्यवश सत्कर्म अथवा साधन कभी नहीं छोड़े) । जैसे-जैसे प्रयत्न होगा, वैसे-ही-वैसे शीघ्रतापूर्वक फल प्राप्त होगा। इसीका नाम पौरुष है । पूर्वजन्मके उस पौरुषको ही कोई दैवकी संज्ञा देना चाहे तो दे सकता है । जो तुच्छ विषय-सुखोंके क्षणिक लोभमें फँसकर उस पूर्वकृत पौरुष या दैवको वर्तमान जन्मके पुरुषार्थद्वारा जीतनेका प्रयत्न नहीं करते और सदा दैवके भरोसे बैठे रहते हैं, वे दीन, पामर और मूढ़ हैं (क्योंकि पुरुषार्थके बिना आत्म-कल्याण सिद्ध नहीं होता) । पूर्वजन्मके तथा इस जन्मके पुरुषार्थ (कर्म) दो भेड़ोंकी तरह आपसमें लड़ते हैं । उनमें जो भी बलवान् होता है, वही दूसरेको क्षणभरमें पछाड़ देता है* । इस जन्ममें किया गया प्रबल पुरुषार्थ अपने बलसे पूर्वजन्मके पौरुष या दैवको नष्ट कर देता है और पूर्वजन्मका प्रबल पौरुष इस जन्मके पुरुषार्थको अपने बलसे दबा देता है । पूर्वकृत कर्मोंके फलरूप प्रारब्ध और वर्तमान जन्मके पुरुषार्थ—इन दोनोंमें वर्तमान जन्मका पुरुषार्थ ही प्रत्यक्षतः बलवान् है, इसलिये अधिकारी मनुष्यको पुरुषार्थका सहारा लेकर सत्-शास्त्रोंके अभ्यास और सत्सङ्गद्वारा बुद्धिको निर्मल बनाकर संसार-सागरसे अपना उद्धार कर लेना चाहिये । इस जन्मके और पूर्व-जन्मके दोनों पुरुषार्थ पुरुषरूपी वनमें उत्पन्न हुए फल देनेवाले वृक्ष हैं । उन दोनोंमें जो अधिक बलवान् होता है, वही विजयी होता है (अर्थात् धर्माचरण और मुक्तिके विषयमें तो इस जन्मका पुरुषार्थ बलवान् है और अर्थ एवं कामके विषयमें पूर्वजन्मका फलदानोन्मुख कर्म या दैव प्रबल है ।)

जो पुरुष उदार स्वभावसे युक्त एवं सत्कर्मके लिये प्रयत्न करनेमें कुशल है, सदाचार ही जिसका लीला-विहार है, वह जगत्के मोहरूपी फंदेसे उसी प्रकार निकल जाता है, जैसे सिंह पिंजड़ेसे । जो मनुष्य दृष्ट (पुरुषार्थ या परम कल्याणके लिये प्रयत्न) का त्याग करके 'मुझे तो कोई ऐसा करनेके लिये प्रेरित कर रहा है' ऐसी अनर्थकारिणी कुत्सित कल्पनामें स्थित है, उसे दूरसे ही त्याग देना चाहिये; क्योंकि वह मनुष्योंमें अधम है । संसारमें सहस्रों व्यवहार हैं, जो आते-जाते रहते हैं । उनमें सुख और दुःख बुद्धि (अनुकूलता तथा प्रतिकूलता जनित राग-द्वेष) का त्याग करके शास्त्रके अनुसार आचरण करना चाहिये । शास्त्रके अनुकूल और कभी उच्छिन्न न होनेवाली अपनी मर्यादाका जो त्याग नहीं करता, उस पुरुषको सारी अभीष्ट वस्तुएँ उसी प्रकार प्राप्त होती हैं, जैसे सागरमें गोता लगानेवालेको रत्न । सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्ति—यही मनुष्यका स्वार्थ है । उस स्वार्थकी प्राप्ति करानेवाले जो आवश्यक कर्तव्य या साधन हैं, एकमात्र उन्हींमें तत्पर रहनेको ही विद्वान् लोग पौरुष कहते हैं । वह तत्परता यदि शास्त्रसे नियन्त्रित हो तो परम पुरुषार्थकी

---

* जैसे पूर्वजन्मके किसी प्रतिबन्धक कर्मके कारण किसी मनुष्यको पुत्रकी प्राप्ति नहीं होनेवाली है; परंतु यदि वह पुत्र-प्राप्तिके लिये शास्त्रीय विधानके साथ पुत्रेष्टि-यज्ञ अथवा उसी कोटिके दूसरे किसी सत्कर्मका अनुष्ठान करता है तो उसे पुत्रकी प्राप्ति हो जाती है । यहाँ पूर्वजन्मके प्रतिबन्धक कर्मसे इस जन्मका पुरुषार्थ अधिक बलवान् होनेके कारण नवीन प्रारब्धका निर्माण करके विजयी हो जाता है । इसी प्रकार पूर्वजन्मके कर्मानुसार यदि किसीकी मृत्यु अवश्यम्भावी है तो उसके प्रतीकारके लिये अनेक प्रकारके उपाय करनेपर भी मनुष्य उसे टाल नहीं पाता । अतः यहाँ पूर्वकृत कर्म (दैव या प्रारब्ध) ही प्रबल होनेके कारण विजयी होता है ।

प्राप्ति करानेवाली होती है। कर्तव्यपालनके लिये जो शरीर आदिका संचालन होता है, वही जिसका धर्म है, उस क्रिया (श्रवण-मनन आदि साधन) से, सत्सङ्गसे और सत्-शास्त्रोंके स्वाध्यायसे शुद्ध एवं तेज की हुई अपनी बुद्धिके द्वारा जो स्वयं ही आत्माका उद्धार किया जाता है, वही परम स्वार्थकी सिद्धि है। विद्वान्लोग अन्तरहित, समतारूप परमानन्दसे पूर्ण परमार्थ वस्तु (परब्रह्म) को जानते हैं। जिन साधनोंसे उसकी प्राप्ति होती है, उनका नित्य-निरन्तर सेवन करना चाहिये। वे साधन हैं शास्त्रोंका स्वाध्याय और सत्सङ्ग आदि। जो मनुष्य प्रयत्नपूर्वक आत्म-कल्याणके साधनमें संलग्न होता है, उसे अपने पुरुषार्थसे ही हाथपर रक्खे हुए आँवलेकी भाँति वह अभीष्ट फल प्रत्यक्ष दिखायी देता है। जो इस प्रत्यक्ष पुरुषार्थको छोड़कर दैवरूपी मोहमें निमग्न होता है, वह मूढ़ है।

अतः शुभाशय श्रीराम ! अपनी कोरी कल्पनाके बलसे उत्पन्न, मिथ्याभूत तथा सम्पूर्ण कारण और कार्यसे रहित दैवकी अपेक्षा न रखकर आत्मकल्याणके लिये अपने उत्तम पुरुषार्थका आश्रय लो। शास्त्रोंद्वारा तथा महापुरुषोंके सदाचारसे विस्तारको प्राप्त हुए विविध देश धर्मोंद्वारा समर्थित जो परमात्माकी प्राप्तिरूप अतिशय प्रसिद्ध फल है, उसके लिये हृदयमें अत्यन्त उत्कट अभिलाषा होनेपर उसकी प्राप्तिके लिये चित्तमें स्पन्दन या चेष्टा होती है। तत्पश्चात् इन्द्रियों और हाथ-पैर आदि अङ्गोंमें क्रिया होती है—इनके द्वारा श्रवण-मनन आदि एवं यम-नियमादि साधनोंका आरम्भ होता है, इसीको उत्तम पुरुषार्थ कहते हैं। अधिकारी पुरुषका जन्म पुरुषार्थके सिद्ध होनेपर ही सफल होता है, अन्यथा नहीं—ऐसा जानकर सदा आत्मकल्याणके प्रयत्नमें ही संलग्न रहना चाहिये। तत्पश्चात् साधनविषयक उस तत्परताको सत्-शास्त्रोंके अभ्यास एवं संत-महात्माओं तथा ज्ञानी पुरुषोंके सेवनद्वारा आत्मज्ञानरूप फलकी प्राप्तिसे सफल बनाना चाहिये। आत्मकल्याणके विषयमें यदि परम पुरुषार्थका आश्रय लिया जाय तो यह अवश्य दैवको जीत लेता है, ऐसी धारणा रखकर दैव और पौरुषके बलाबलका विचार करनेके कारण जो परम सुन्दर प्रतीत होते हैं तथा जिनमें शम, दम आदि साधन भी विद्यमान हैं एवं श्रेष्ठ पुरुषोंकी सेवासे जिनका अन्तःकरण सदा भावित रहता है, ऐसे अधिकारी पुरुषोंको तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये अवश्य उद्यम करना चाहिये। इस जन्ममें सम्पादन करनेयोग्य स्वाभाविक प्रयत्न ही परम पुरुषार्थकी सिद्धिका हेतु है, ऐसा निश्चितरूपसे जानकर यह अधिकारी जीव नित्य संतुष्ट एवं उत्तम ज्ञानीजनोंकी सेवारूप अमोघ, मधुर और उत्कृष्ट औषधसे जन्म मरणकी परम्परारूप भवरोगको शान्त करे। (सर्ग ६)

विविध युक्तियोंद्वारा दैवकी दुर्बलता और पुरुषार्थकी प्रधानताका समर्थन

जो लोग उद्योगका त्याग करके केवल दैवके भरोसे बैठे रहते हैं, वे आलसी मनुष्य स्वयं ही अपने शत्रु हैं। वे अपने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंका नाश कर डालते हैं।* बुद्धि, मन और कर्मेन्द्रियोंके द्वारा की जानेवाली चेष्टाएँ पौरुषके रूप हैं। इन्हींसे अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती है। साक्षी चेतनमें पहले जैसी विषयकी अनुभूति होती है, मन वैसी ही चेष्टा करता है। मनके व्यापारके अनुसार शरीर चलता है—शारीरिक क्रिया होती है और उसके अनुसार ही फलकी सिद्धि होती है। लोकमें जहाँ-जहाँ जैसे-जैसे पुरुषार्थकी आवश्यकता होती है, वहाँ-वहाँ वैसे-ही-वैसे पौरुषके उपयोगसे तदनुरूप लौकिक या वैदिक फलकी सिद्धि होती है। पुरुषार्थसे ही बृहस्पति देवताओंके गुरु बने हुए हैं और पुरुषार्थसे शुक्राचार्यने दैत्यराजोंके गुरुका पद प्राप्त किया

* ये समुद्योगमुत्सृज्य स्थिता दैवपरायणाः।
ते धर्ममर्थं कामं च नाशयन्त्यात्मविद्विषः॥
(मुमुक्षु० ७। ३)

है। जो नाना प्रकारके आश्चर्यजनक वैभवके आश्रय (अधिपति) थे और वैभवभोगकी दृष्टिसे महान् समझे जाते थे, ऐसे पुरुष भी अपने दोषयुक्त पौरुष (पापाचरण) से ही नरकोंके अतिथि हुए हैं—उच्च पदवीसे भ्रष्ट हो गये हैं। सहस्रों सम्पदाओं और हजारों विपत्तियोंसे पूर्ण नाना प्रकारकी अनुकूल-प्रतिकूल दशाओंमें पड़े हुए विभिन्न जातियोंके प्राणी अपने पुरुषार्थसे ही उन्हें लाँघकर कल्याणके मार्गपर अग्रसर होते हैं। शास्त्रोंके अभ्यास, गुरुके उपदेश और अपने प्रयत्न—इन तीनोंसे ही सर्वत्र पुरुषार्थकी सिद्धि देखी जाती है। कल्याणकामी पुरुष अशुभ कर्मोंमें लगे हुए मनको वहाँसे हटाकर प्रयत्नपूर्वक शुभ कर्मोंमें ही लगाये। यही सम्पूर्ण शास्त्रोंके साराशका संग्रह है। वत्स! जो वस्तु कल्याणकारी है, जो तुच्छ नहीं (सबसे उत्कृष्ट) है तथा जिसका कभी विनाश नहीं होता, उसीका यत्नपूर्वक आचरण करो। यही सब गुरुजन उपदेश देते हैं। पौरुषसे ही अभीष्ट वस्तुकी सिद्धि होती देखी जाती है। पौरुषसे ही बुद्धिमानोंकी कल्याणमार्गमें प्रगति होती है। दैव तो दुःख-सागरमें डूबे हुए कोमल एवं दुर्बल चित्तवाले लोगोंके लिये आश्वासनमात्र है।

लोकमें प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंद्वारा पुरुषका प्रयत्न सदा सफल होता देखा जाता है। पुरुष अपने पौरुषसे ही देशान्तरमें आता-जाता है। उत्तम बुद्धिवाले मनुष्य पौरुषसे ही उन भीषण संकटोंसे अनायास पार हो जाते हैं, जिनसे पार पाना अत्यन्त कठिन होता है। यह जो व्यर्थ दैवकी कल्पना की गयी है, उसके भरोसे वे संकटोंसे पार नहीं होते। जो मनुष्य जैसा प्रयत्न करता है, उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है। इस जगत्में चुपचाप बैठे रहनेवाले किसी भी मनुष्यको अभीष्ट फलकी प्राप्ति नहीं होती। श्रीराम! शुभ पुरुषार्थसे शुभ फल प्राप्त होता है और अशुभ पुरुषार्थसे अशुभ। अतः तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो। अपने परम अभीष्ट वस्तुको प्राप्त करानेवाले एकमात्र कार्यके प्रयत्नमें जो तत्पर हो जाना है, उसीको विद्वान् पुरुष पौरुष कहते हैं। उस तत्परतासे ही सब कुछ प्राप्त किया जाता है। अपने पैरोंद्वारा एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जाना, हाथका किसी द्रव्यको धारण करना तथा दूसरे-दूसरे अङ्गोंका तदनुकूल व्यापारमें प्रवृत्त होना—यह सब पुरुषार्थसे ही सम्भव होता है, दैवसे नहीं। अनर्थकी प्राप्ति करानेवाले एकमात्र कार्यके प्रयत्नमें जो तत्पर होना है, उसे विद्वानोंने पागलोंकी-सी चेष्टा बतायी है। उससे कोई भी शुभ फल नहीं प्राप्त होता (अशुभ फलकी ही प्राप्ति होती है)। कर्तव्य-पालनके लिये जो शरीर आदिका संचालन होता है, वही जिसका धर्म है, उस क्रियासे, सत्सङ्गसे और सत्-शास्त्रोंके स्वाध्यायसे शुद्ध एवं तेज की हुई अपनी बुद्धिके द्वारा जो स्वयं ही आत्माका उद्धार किया जाता है, वही परम स्वार्थकी सिद्धि है। विद्वान्लोग अनन्त, समतारूप परमानन्दसे पूर्ण अपने परम प्राप्य अर्थ (परब्रह्म परमात्मा) को जानते हैं। जिन साधनोंसे उसकी प्राप्ति होती है, उन्हींका नित्य-निरन्तर सेवन करना चाहिये। वे साधन हैं शास्त्रोंके स्वाध्याय और सत्सङ्ग आदि। जैसे शरत्कालमें सरोवर और कमल एक दूसरेकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार सद्बुद्धिसे सत्-शास्त्रोंका अभ्यास और सत्सङ्गरूपी गुण विकसित होता है तथा सत्-शास्त्रोंके स्वाध्याय और सत्सङ्गरूपी गुणसे सद्बुद्धिकी वृद्धि होती है। चिरकालके अभ्याससे ये दोनों एक दूसरेके वर्धक और पोषक होते हैं। बाल्यावस्थासे ही पूर्णतः अभ्यासमें लाये गये शास्त्र और सत्सङ्ग आदि गुणोंसे पौरुषद्वारा अपना हितकारी स्वार्थ सिद्ध होता है। (सर्ग ७)

पुरुषार्थकी प्रबलता बताते हुए दैवके स्वरूपका विवेचन तथा शुभ वासनासे युक्त होकर सत्कर्म करनेकी प्रेरणा

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! बताओ तो सही, इस लोकमें जो शूरवीर, पराक्रमी, बुद्धिमान् और पण्डित हैं, वे किस दैवकी प्रतीक्षा करते हैं ? इन महामुनि विश्वामित्रजीने दैवको दूरसे ही त्यागकर पौरुषसे ही ब्राह्मणत्व प्राप्त किया है, और किसी साधनसे नहीं। हमने तथा दूसरे-दूसरे पुरुषोंने, जो इस समय मुनि-पदवीको प्राप्त हैं, चिरकालतक किये गये पौरुषसे ही आकाशमें विचरण करनेकी शक्ति प्राप्त की है। हिरण्यकशिपु आदि दानवेन्द्रोंने पुरुषोचित प्रयत्नसे ही देवसमुदायको दूर भगाकर त्रिलोकीका साम्राज्य प्राप्त किया था। फिर इन्द्र आदि देवेश्वरोंने पुरुषोचित प्रयत्नसे ही शत्रुसेनाको छिन्न-भिन्न एवं जर्जर करके दानवोंसे बलपूर्वक इस विशाल जगत्का राज्य छीन लिया था।

श्रीरामने पूछा—भगवन् ! आप सब धर्मोंके ज्ञाता हैं। ब्रह्मन् ! लोकमें जो बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है, वह दैव क्या है ? किसे दैव कहते हैं, यह बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! अवश्यम्भावी फलसे सुशोभित होनेवाले पुरुषार्थके द्वारा प्राप्त हुए फलका जो शुभ और अशुभ भोग है, उसीको 'दैव' शब्दसे कहा जाता है। अथवा पौरुषद्वारा इष्ट और अनिष्ट कर्मका जो प्रिय और अप्रियरूप फल प्राप्त होता है, उसीको 'दैव' नाम दिया गया है। एकमात्र पुरुषार्थसे सिद्ध होनेवाला जो अवश्यम्भावी फल है, वही इस जनसमुदायमें 'दैव' शब्दसे प्रतिपादित होता है। सिद्ध पुरुषार्थके शुभ और अशुभ फलका उदय होनेपर जो यह कहा जाता है कि 'यह इसी रूपमें मिलनेवाला था—यही होनहार थी,' इसीको 'दैव' कहते हैं। कर्मफलकी प्राप्ति होनेपर जो यह कहा जाता है कि 'ऐसी ही मेरी बुद्धि हुई थी, ऐसा ही मेरा निश्चय था,' इसीका नाम 'दैव' है। इष्ट और अनिष्ट फलके प्राप्त होनेपर जो आश्वासनमात्रके लिये यह कहा जाता है कि 'मेरा पूर्वजन्मका कर्म ही ऐसा था' इस तरहकी भावनाको व्यक्त करनेवाला वचन ही 'दैव' कहलाता है।

श्रीराम ! मनुष्योंके मनमें पहले जो अनेक प्रकारकी वासनाएँ थीं, वे ही इस समय कायिक, वाचिक, कर्म-रूपमें परिणत हुई हैं। जीवमें जिस प्रकारकी वासना होती है, वह शीघ्र वैसा ही कर्म करता है। मनमें वासना और हो और वह कर्म किसी और ही प्रकारका करे, यह सम्भव नहीं। जो गाँवमें जानेकी इच्छा रखता है, वह गाँवमें और जो नगरमें जाना चाहता है, वह नगरमें पहुँचता है। जो-जो मनुष्य जिस-जिस वासनासे युक्त होता है, वह-वह उसी-उसीके लिये सदा प्रयत्न करता है। पूर्वजन्ममें फलकी उत्कट अभिलाषा होनेसे जो कर्म प्रबल प्रयत्नके द्वारा किया जाता है, वही इस जन्ममें 'दैव' शब्दसे कहा जाता है। पूर्वजन्मके उस कर्मका पर्यायवाची शब्द 'दैव' है। कर्म करनेवालोंके सभी कर्म इसी रीतिसे होते हैं। अपनी प्रबल वासना ही कर्म है। वासना मनसे भिन्न नहीं है और मन ही पुरुष है, अर्थात् पुरुषका सङ्कल्प होनेसे वह पुरुषरूप ही है। मन आदि भावको प्राप्त हुआ यह प्राणी ही अपने हितके लिये जो जो प्रयत्न करता है, 'दैव' नामसे प्रसिद्ध अपने उस कर्मसे ही वह तदनुरूप फल पाता है। श्रीराम ! मन, चित्त, वासना, कर्म, दैव और निश्चय—ये सब कठिनतासे समझमें आनेवाले मनकी (मनोरूपताको प्राप्त हुए पुरुषकी) संज्ञाएँ हैं, ऐसा सत्पुरुषोंका कथन है।

श्रीराम ! इस प्रकार पूर्वोक्त संज्ञाएँ धारण करनेवाला पुरुष अपनी सुदृढ़ वासनाके द्वारा प्रतिदिन जैसा प्रयत्न करता है, उसके अनुसार ही उसे पर्याप्त फल मिलता

है। रघुनन्दन! इस प्रकार पौरुषसे मनुष्य इस जगत्में सभी कुछ प्राप्त कर सकता है, दैवसे नहीं। अतः वह पुरुषार्थ तुम्हारे लिये शुभफल देनेवाला हो। तुम अपने प्रयत्नसे प्राप्त परम पुरुषार्थद्वारा ही सदा बने रहनेवाले परम कल्याणको प्राप्त होओगे, अन्यथा नहीं। श्रुतिमें जो चैतन्यमात्रस्वरूप प्राज्ञ पुरुष बताया गया है, वही तुम हो, जड शरीर नहीं हो। तुम स्वयंप्रकाशरूप चेतन हो। अन्य चेतनसे प्रकाशित होनेकी योग्यता तुममें कहाँ है? यदि तुम्हें दूसरा कोई चेतन प्रकाशित करता है, ऐसा मान लिया जाय तो फिर उसे दूसरा कौन प्रकाशित करता है, यह प्रश्न खड़ा हो जायगा। यदि उसका भी कोई अन्य चेतन प्रकाशक हो तो फिर इसको कौन प्रकाशित करेगा? इस प्रकार अनवस्था-दोष प्राप्त होता है, जो वस्तुका साधक नहीं है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह शुभ और अशुभ मार्गोंसे बहती हुई वासनारूपिणी नदीको पुरुषोचित प्रयत्नके द्वारा अशुभ मार्गसे हटाकर शुभ मार्गमें ही लगाये।

मनुष्यका चित्त शिशुके समान चञ्चल होता है, उसे अशुभ मार्ग (पाप) से हटा दिया जाय तो शुभ मार्ग (पुण्य) में जाता है और यदि शुभ मार्गसे हटाया जाय तो अशुभ मार्गमें चला जाता है। इसलिये उसे बलपूर्वक पापमार्गसे हटाकर पुण्यके मार्गमें लगाना चाहिये। इस प्रकार मनुष्यके लिये उचित है कि वह पूर्वोक्त क्रमसे चित्तरूपी बालकको शीघ्र ही समतारूप सान्त्वना देकर पुरुषोचित प्रयत्नके द्वारा धीरे-धीरे आत्मस्वरूपमें लगाये, हठपूर्वक एकाएक उसका निरोध न करे। यही उसका लालन-पालन है। लोकमें मनुष्य जिस-जिस विषयका अभ्यास करता है, निस्संदेह उसीमें तन्मय हो जाता है। यह बात बालकोंसे लेकर बड़े बड़े विद्वानोंतकमें देखी गयी है। अतः श्रीराम! तुम परम कल्याणकी प्राप्तिके लिये उत्तम पुरुषार्थका आश्रय ले पाँचों इन्द्रियोंको जीतकर यहीं शुभ वासनासे युक्त हो जाओ। तुम श्रेठतम पुरुषोंद्वारा सेवित और अत्यन्त सुन्दर शुभ वासनाका अनुसरण करके मनोरम भावयुक्त बुद्धिसे परम पुरुषार्थद्वारा सदा शोकरहित पदको प्राप्त करो। तत्पश्चात् उस शुभ वासनाका भी परित्याग करके परब्रह्म परमात्मामें भलीभाँति स्थित हो जाओ।

(सर्ग ८-९)

श्रीवसिष्ठजीद्वारा ब्रह्माजीके और अपने जन्मका वर्णन, ज्ञानप्राप्तिका विस्तार, श्रीरामजीके वैराग्यकी प्रशंसा, वक्ता और प्रश्नकर्ताके लक्षण आदिका विशेषरूपसे वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! जो सर्वत्र नित्य समतारूपसे स्थित सच्चिदानन्दमय ब्रह्मतत्त्व है, उससे सम्बन्ध रखनेवाली सत्ताको नियति कहते हैं। वही नियन्ताकी नियन्त्रण-शक्ति है तथा नियन्त्रणमें रहनेवाले पदार्थोंमें जो नियन्त्रित होनेकी योग्यता है, वह भी सत्ता ही है। अब मैं उस सारगर्भित संहिताका वर्णन करूँगा, जो इहलोक तथा परलोककी सिद्धिके लिये परमपुरुषार्थ-रूप फल प्रदान करनेवाली और मोक्षके उपायभूत साधनोंसे सम्पन्न है। उसे तुम सावधानतया श्रवण करो।

प्राचीन कालकी बात है—सृष्टिके आदिमें परमेष्ठी ब्रह्माने इस मोक्षकथाका वर्णन किया था। यह सम्पूर्ण दुःखों-का विनाश करनेवाली है और बुद्धिको परम शान्ति प्रदान करती है। सारे विवेकशील पुरुषोंके साथ इस मोक्ष-कथाको सुनकर तुम उस दुःखरहित सच्चिदानन्दमय परमपदको प्राप्त कर लोगे, जहाँ पहुँच जानेपर पुनः विनाशका भय नहीं रह जाता।

श्रीरामने पूछा—ब्रह्मन्! पूर्वकालमें ब्रह्माजीने किस लिये इस कथाका वर्णन किया था? और आपको इसकी प्राप्ति कैसे हुई? प्रभो! यह वृत्तान्त मुझे बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! परब्रह्म परमात्मा

सर्वव्यापक, सबका आश्रय-स्थान, नित्य चेतन, अविनाशी, समस्त प्राणियोंमें प्रकाशकरूपसे वर्तमान और अनन्त विलासोंका एकमात्र अधिष्ठान है। प्रकृतिकी साम्यावस्था तथा विषमावस्थामें भी वह निर्विकाररूपसे स्थित रहता है। ऐसी परमात्मासे विष्णुका प्राकट्य हुआ, ठीक उसी तरह जैसे प्रवहणशील जलसे परिपूर्ण सागरसे तरङ्ग उत्पन्न होती है। उन विष्णुके हृदयकमलसे ब्रह्मा प्रकट हुए, जो वेद तथा वेदार्थके तत्त्वज्ञ हैं। उन्होंने देवताओं और मुनियोंके समुदायोंसे संयुक्त होकर अनेकविध विकल्पोंकी सृष्टि करनेवाले मनकी भाँति विभिन्न प्रकारकी सृष्टि-रचना की। जम्बूद्वीपके इस भागमें, जो भारतवर्ष नामसे प्रसिद्ध है, ब्रह्माजीद्वारा रचित सारा प्राणिसमुदाय आधि-व्याधिसे संयुक्त, लाभ-हानिसे पीड़ित और जन्म मरणशील था। प्राणियोंकी इस सृष्टिमें सारे जनसमुदायको नाना प्रकारके व्यसनजन्य कष्टोंसे पीड़ित देख सर्वलोकस्रष्टा भगवान् ब्रह्माका हृदय उसी प्रकार दयार्द्र हो गया, जैसे पुत्रको दुखी देखकर पिताको दया आ जाती है। फिर तो वे उनके कल्याणके लिये क्षणभर एकाग्रचित्त हो यों विचार करने लगे कि इन हताश तथा अल्पायु जीवोंके दुःखका अन्त किस प्रकार होगा ऐसा विचारकर सामर्थ्यशाली स्वयं भगवान् ब्रह्माने उनके कष्टापहरणके लिये तप, धर्म, दान, सत्य और तीर्थ-सेवन आदि साधनोंका निर्माण किया। इन्हें उत्पन्न करके सृष्टिकर्ता ब्रह्माने पुनः स्वयं विचार किया कि इन साधनोंसे लोगोंके सांसारिक दुःखका समूल विनाश नहीं हो सकता; बल्कि परम निर्वाणरूप मोक्ष ही परम सुख है, जिसकी प्राप्ति हो जानेपर जीव जन्म-मृत्युके चक्रसे छूट जाता है। उस मोक्षकी प्राप्ति ज्ञानसे ही होती है। इसलिये जीवके लिये संसार-सागरसे पार होनेका एकमात्र उपाय ज्ञान ही है। तप, दान और तीर्थसेवन आदि भव-तरणके लिये सीधे उपाय नहीं कहे गये हैं। अतः मैं इस हताश जनसमुदायके दुःखकी निवृत्तिके लिये संसारसे उद्धार पानेका एक नूतन उपाय शीघ्र ही प्रकट करूँगा।

यों विचारकर कमलपर विराजमान भगवान् ब्रह्माने अपने मानसिक संकल्पद्वारा तुम्हारे सामने बैठे हुए मुझको उत्पन्न किया। निष्पाप श्रीराम! जैसे एक तरङ्गसे शीघ्र ही दूसरी तरङ्ग प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार मैं भी अनिर्वचनीय मायासे उत्पन्न हुआ और फिर तुरंत ही अपने उन पितृदेवके समीप जा पहुँचा, जिनके हाथमें कमण्डलु और रुद्राक्षकी माला शोभा पा रही थी। मैंने नम्रतापूर्वक उनको प्रणाम किया। उस समय मैं भी कमण्डलु और रुद्राक्षकी मालासे संयुक्त था। तब 'बेटा! यहाँ आओ' मुझसे यों कहकर उन्होंने अपने आसनभूत कमलके ऊपरी पत्तेपर श्वेत बादलपर बैठे हुए चन्द्रमाकी भाँति मुझे अपने हाथसे पकड़कर बैठा लिया। फिर मृगचर्म ही जिसका परिधान था, ऐसे मुझसे मृगचर्मधारी

मेरे पितृदेव ब्रह्माजीने कहा—'बेटा! जैसे चन्द्रमामें कलङ्क प्रविष्ट होता है, उसी प्रकार वानरके समान

चञ्चल अज्ञान दो घड़ीके लिये तुम्हारे चित्तमें प्रवेश करे।'

यों पिताद्वारा अभिशप्त हुआ मैं उनके संकल्पके अनन्तर अपने सम्पूर्ण शुद्ध स्वरूपको भूल गया। फिर तो मेरी बुद्धि तत्त्वज्ञानसे रहित हो गयी और मैं दुःख-शोकसे संतप्त हो दीनताको प्राप्त हो गया। उस समय मैं 'हाय! बड़े कष्टकी बात हुई। यह संसार नामक दोष मुझे कहाँसे प्राप्त हो गया?' यों हृदयमें विचार करके चुपचाप बैठा रहता था। मेरी यह दशा देखकर मेरे पिताजीने मुझसे कहा—'बेटा! तुम क्यों दुखी हो रहे हो? अपने इस दुःखके नाशका उपाय मुझसे पूछो। उसे जानकर तुम नित्य परमात्माको प्राप्त हो जाओगे।' तब मैंने उनसे पूछा—'नाथ! यह महान् दुःखमय संसार मुझ प्राणीको कहाँसे प्राप्त हो गया? और इसका विनाश किस प्रकार होता है?' मेरे यों प्रश्न करनेपर उन्होंने मुझे ऐसे प्रचुर ज्ञानका उपदेश दिया, जिस परम पावन ज्ञानको प्राप्तकर मैं पिताजीके अभिप्रायके अनुरूप अधिक ज्ञानसम्पन्न हो गया। इस प्रकार जब मुझे ज्ञातव्य तत्त्वकी जानकारी हो गयी और मैं अपनी प्रकृतिमें स्थित हो गया, तब जगत्-स्रष्टा तथा सबकी उत्पत्तिके कारणस्वरूप और उपदेष्टा ब्रह्माजीने मुझसे कहा—'पुत्र! मैंने प्रथमतः तुम्हें शापद्वारा ज्ञान-हीन करके पुनः समस्त अधिकारी जनोंकी ज्ञान-सिद्धिके लिये इस सारभूत ज्ञानका पिपासु बनाया है। अब तुम्हारा शाप शान्त हो गया है और तुम्हें परमोत्कृष्ट ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी है, जिससे तुम मेरे ही सदृश अद्वितीय आत्मस्वरूप हो गये हो। साधो! अब तुम प्राणियोंपर अनुग्रह करनेके लिये भूलोकमें जम्बूद्वीपके मध्यभागमें स्थित भारतवर्षमें जाओ। परोपकारनिष्ठ पुत्र! तुम तो बड़े बुद्धिमान् हो; अतः वहाँ जो लोग कर्मकाण्ड-परायण हों, उन्हें कर्मकाण्डके क्रमसे शिक्षा देना और जो लोग विवेकशील, विरक्तचित्त तथा महाबुद्धिमान् हों, उन्हें परमानन्ददायक ज्ञानका उपदेश करना।'

रघुकुलभूषण राम! इस प्रकार मैं अपने पिता ब्रह्माजीद्वारा नियुक्त होकर इस लोकमें निवास कर रहा हूँ और जबतक यह सृष्टिपरम्परा रहेगी, तबतक यहाँ रहूँगा। जिस प्रकार भगवान् ब्रह्माने मुझे यहाँ आनेका आदेश दिया, उसी प्रकार उन्होंने सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार तथा नारद आदि अन्यान्य बहुत-से महर्षियोंको

भी यह कहकर प्रेरित किया कि तुमलोग भारतवर्षमें जाकर पवित्र कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्डके उपदेशद्वारा वहाँके निवासियोंका, जो अन्तःकरणके अज्ञानरूपी रोगके वशीभूत होकर महान् कष्ट भोग रहे हैं, उद्धार करो।

प्राचीन कालमें सत्ययुगके समाप्त होनेपर जब भूतलपर कालक्रमसे पवित्र कर्मकाण्डका ह्रास हो गया, तब उन महर्षियोंने कर्मकाण्डकी स्थापना तथा मर्यादाकी रक्षाके लिये पृथक्-पृथक् देशोंका विभाजन किया और उन देशोंपर भूपालोंकी स्थापना की। तदनन्तर उन्होंने भूतलपर धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये उन-उन कर्मोंके

उपयुक्त बहुत-से स्मृति-ग्रन्थों तथा यज्ञविधायक शास्त्रोंका निर्माण किया। तत्पश्चात् इस कालचक्रके चलते रहनेपर जब उस क्रमका विनाश हो गया तथा लोग प्रतिदिन भोजनमात्रपरायण और खाद्य पदार्थोंके उपार्जनमें तत्पर हो गये, तब हमलोगोंने उनकी दीनताका विनाश करने तथा लोकमें आत्मतत्त्वज्ञानके प्रचारके लिये बड़े-बड़े ज्ञानोत्पादक शास्त्रोंका उपदेश किया। यह अध्यात्मविद्या प्रथमतः राजसमाजमें उपदिष्ट हुई। तदनन्तर इसका प्रसार लोकमें हुआ। इसी कारण इसे 'राजविद्या' कहा गया है। रघुनन्दन! राजविद्या एवं राजगुह्य नामसे जिसकी प्रसिद्धि है, उस उत्तम अध्यात्मज्ञानको पाकर राजालोग दुःखरहित हो परमानन्दको प्राप्त हो गये। श्रीराम! कालक्रमानुसार निर्मल कीर्तिवाले बहुसंख्यक राजाओंके स्वर्गवासी हो जानेपर इस समय तुम इस भूतलपर इन महाराज दशरथके यहाँ प्रकट हुए हो। शत्रुओंका मर्दन करनेवाले राम! तुम्हारा मन अत्यन्त निर्मल है, इसीलिये किसी निमित्तके बिना स्वाभाविक ही तुम्हारे मनमें यह परम पावन तथा उत्तम वैराग्य जाग उठा है; क्योंकि समस्त विवेकशील पुरुषोंमें जिसकी ख्याति है, उस श्रेष्ठ पुरुषका भी वैराग्य किसी निमित्तको लेकर होता है, इसलिये वह राजस कहलाता है, परंतु तुम्हारे मनमें उत्पन्न हुआ यह वैराग्य अपूर्व है। यह किसी निमित्तकी अपेक्षा न रखकर स्वतः अपने विवेकसे उत्पन्न हुआ है और सत्पुरुषोंको आश्चर्यमें डालनेवाला है, अतः सात्त्विक है। जिन्हें निमित्तके बिना ही वैराग्य हो जाता है, वे ही महापुरुष तथा ज्ञानवान् हैं और उन्हींका अन्तःकरण शुद्ध है।* जो लोग ज्ञानद्वारा इस सृष्टिपरम्पराका विचार करके वैराग्यको प्राप्त होते हैं, वे ही उत्तम पुरुष हैं।

श्रीराम! जो लोग इस संसारकी असारता एवं दुःखरूपताको देखकर अपनी सांसारिक बुद्धिका परित्याग कर देते हैं, वे साँकलसे छूटे हुए गजराजोंकी भाँति संसार-बन्धनसे मुक्त होकर पदको प्राप्त हो जाते हैं। यह जगत्-परम्परा विषम और अनन्त है। इसमें पड़ा हुआ महान् जीव देहाध्याससे युक्त रहता है, अतएव ज्ञानके बिना उसे परमपदकी प्राप्तिका मार्ग नहीं सूझता। परंतु रघुनन्दन! जिनकी बुद्धि अगाध है—ऐसे विवेकशील पुरुष इस दुस्तर भवसागरको ज्ञानरूपी नौकाद्वारा क्षणमात्रमें ही पार कर जाते हैं। संसार-सागरसे उतारनेवाले उस ज्ञानरूप उपायको तुम अपनी बुद्धिसे, जो नित्य विवेक-वैराग्य आदिसे समन्वित है, एकाग्रचित्त होकर श्रवण करो; क्योंकि इस निर्दोष ज्ञानयुक्तिके बिना अनन्त विक्षेपोंसे परिपूर्ण ये सांसारिक दुःख और भय चिरकालतक हृदयको संतप्त करते रहते हैं। राघव! श्रेष्ठ पुरुषोंमें शीत, उष्ण, वात आदि द्वन्द्वजनित दुःखोंको सहन करनेकी क्षमता ज्ञानके बलपर ही आती है, अन्यथा ज्ञानयुक्तिके अतिरिक्त वे किसी प्रकार सह्य नहीं हो सकते। दुःखकी चिन्ताएँ अज्ञानी मनुष्यको पद-पदपर आ घेरती हैं और समयानुसार उसे उसी प्रकार संतप्त करती रहती हैं, जैसे अग्निकी लपटें तृणको जलाकर भस्म कर डालती हैं; परंतु जिस प्रकार वर्षाके जलसे अभिषिक्त हुए वनपर उन अग्नि-ज्वालाओंका प्रभाव नहीं पड़ता, उसी तरह जिसे जाननेयोग्य अध्यात्मशास्त्रका ज्ञान प्राप्त हो गया है तथा जिसने भलीभाँति ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे ज्ञानी पुरुषको मानसिक व्यथाएँ संताप नहीं पहुँचा सकतीं। इस संसाररूपी मरुस्थलमें बहनेवाली वायु शारीरिक तथा मानसिक कष्टरूपी आवर्तोंसे परिपूर्ण है। यह क्षुब्ध होकर भी तत्त्वज्ञानीको वैसे ही पीड़ित नहीं कर सकती, जैसे प्रचण्ड आँधी कल्पवृक्षका कुछ नहीं बिगाड़ सकती।

इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह तत्त्वज्ञानकी

---

* ते महान्तो महाप्राज्ञा निमित्तेन विनैव हि।
वैराग्यं जायते येषां तेषां ह्यमलमानसम्॥
(मुमुक्षु० ११। २४)

प्राप्तिके लिये, जो श्रुति आदिका प्रमाण देनेमें कुशल और आत्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञाता हो, ऐसे ज्ञानी पुरुषके पास जाकर प्रयत्नपूर्वक विनयभावसे प्रश्न करे। फिर जैसे केसरसे रँगा हुआ वस्त्र उसके रंगको पकड़ लेता है, उसी प्रकार जिससे प्रश्न किया गया है, उस प्रमाणकुशल तथा विशुद्ध चित्तवाले उपदेष्टाके वचनको प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करना चाहिये। किंतु वाग्वेत्ताओंमें श्रेष्ठ राम! जो तत्त्वका ज्ञाता नहीं है, अतएव जिसके वचन अग्राह्य हैं, ऐसे पुरुषसे जो तत्त्वविषयक प्रश्न करता है, उससे बढ़कर मूर्ख दूसरा कोई नहीं है। इसी प्रकार जिससे पूछा गया है, उस प्रमाणकुशल तथा तत्त्वज्ञानी वक्ताके उपदेशका जो पुरुष यत्नपूर्वक अनुसरण नहीं करता, उससे बढ़कर दूसरा कोई नराधम नहीं है। अतः वक्ताके व्यवहार आदि कार्योंसे उसकी अज्ञता तथा तत्त्वज्ञताका पहले निर्णय करके जो पुरुष उससे प्रश्न करता है, वह प्रश्नकर्ता उत्कृष्ट बुद्धिवाला माना जाता है; परंतु जो मूर्ख जिज्ञासु उत्तम वक्ताका निर्णय किये बिना ही उससे प्रश्न करता है, वह अधम कहलाता है और उसे तत्त्वज्ञानरूप महान् अर्थकी प्राप्ति भी नहीं होती। ज्ञानीको भी चाहिये कि पूर्वापरका विवेचन करके उसका निश्चय करनेमें जिसकी बुद्धि समर्थ हो और जो निन्दनीय न हो, ऐसे पुरुषको उसके पूछे हुए तत्त्वका उपदेश दे; परंतु जो आहार-निद्रा-भय-मैथुन आदि पशुधर्मसे संयुक्त है, ऐसे अधमको तत्त्वका उपदेश न दे। क्योंकि प्रश्नकर्ताकी श्रुति आदि प्रमाणोंद्वारा निर्णीत पदार्थके ग्रहणकी योग्यताका विचार किये बिना ही जो वक्ता उसे उपदेश देता है, उस पुरुषको ज्ञानीजन इस लोकमें महान् मूर्ख बतलाते हैं। रघुनन्दन! तुम प्रशंसनीय गुणोंसे युक्त अत्यन्त श्रेष्ठ प्रश्नकर्ता हो और मैं उपदेश देना जानता हूँ, अतः हम दोनोंका यह समागम उचित ही है। शब्दार्थके ज्ञाता राम! जनसमाजमें तुम महापुरुष माने जाते हो। तुममें रागका लेशमात्र भी नहीं है। तुम तत्त्वके ज्ञाता हो। इसीलिये तुम्हारे प्रति किया हुआ उपदेश तुम्हारे अन्तर्हृदयमें चिपक जाता है, ठीक उसी तरह जैसे धोबा हुआ रंग वस्त्रमें लग जाता है। तुम्हारी तीक्ष्ण बुद्धि उक्त पदार्थके ग्रहण करनेमें निपुण और परमार्थका विवेचन करनेवाली है। वह परमार्थ-विषयमें उसी प्रकार प्रवेश करती है, जैसे सूर्यकी किरणें जलके भीतर घुस जाती हैं। इसलिये मैं जिस पदार्थका उपदेश करूँ, उसे तुम 'यह तत्त्व-वस्तु है' यों निश्चय करके यत्नपूर्वक अपने हृदयमें पूर्णतया धारण कर लो।

मनुष्यको चाहिये कि वह विवेकहीन, अज्ञानी और दुर्जनोंसे प्रेम करनेवाले मनुष्यका दूरसे ही परित्याग करके साधु-महात्माओंकी सेवा करे; क्योंकि सदा सज्जनोंके सम्पर्कमें रहनेसे विवेककी उत्पत्ति होती है। यह विवेक एक वृक्षके समान है और भोग तथा मोक्ष उसके फल कहे गये हैं। उस मोक्षके द्वारपर निवास करनेवाले चार द्वारपाल बतलाये जाते हैं जिनके नाम हैं—शम, विचार, संतोष और चौथा साधुसंगम। मनुष्यको इन चारोंका ही प्रयत्नपूर्वक सेवन करना चाहिये; क्योंकि इनका भलीभाँति सेवन होनेपर ये मोक्षरूपी राजमहलके द्वारको खोल देते हैं। यदि चारोंका सेवन न हो सके तो तीनका या दोका सेवन अवश्य करना चाहिये। दोका भी सेवन न हो सके तो सभी उपायोंद्वारा प्राणोंकी बाजी लगाकर भी एकका आश्रय तो अवश्य ही ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि जब एक वशमें आ जाता है, तब शेष तीनों भी अधीन हो जाते हैं।* विवेकी पुरुष तप, दान और

* मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः।
शमो विचारः सन्तोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः॥
एते सेव्याः प्रयत्नेन चत्वारो द्वौ त्रयोऽपि वा।
द्वारमुद्घाटयन्त्येते मोक्षराजगृहे तथा॥

शास्त्रके श्रवण-मनन आदिका उत्तम पात्र होता है। जैसे तेजस्वियोंमें सूर्य सर्वश्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार वह लोगोंमें आभूषणके समान आदरणीय होता है। जैसे शीतकी अधिकताके कारण जल जमकर पत्थरके सदृश हो जाता है, उसी प्रकार अविवेकियोंकी बुद्धि मन्दता—घनताको प्राप्त होकर अत्यन्त जड हो जाती है। रघुकुलभूषण राम! तुम्हारा अन्तःकरण तो सूर्योदय होनेपर खिले हुए कमलकी भाँति सौजन्य आदि गुण एवं शास्त्रार्थकी दृष्टियोंसे विकसित हो गया है। मनुष्यको उचित है कि वह पहले आवागमनके चक्रसे छूटनेके लिये शास्त्राभ्यास और सत्संगतिपूर्वक तपस्या एवं इन्द्रियनिग्रहद्वारा अपनी बुद्धिका ही सवर्द्धन करे। यह संसार विषवृक्षके समान है। यह विपत्तियोंका एकमात्र स्थान है, जो अज्ञानी मनुष्यको सदा मोहित करता रहता है; इसलिये यत्नद्वारा अज्ञानका विनाश कर डालना ही उचित है।* जैसे मेघरहित आकाशमें निर्मल एवं पूर्ण मण्डलवाले चन्द्रमाको देखकर दृष्टि प्रसन्न होती है, उसी प्रकार यह पूर्वोक्त परमार्थ वस्तुदृष्टि ज्ञानीमें यथार्थ वस्तुके साथ एकरसताको प्राप्त होकर प्रसन्न हो जाती है। जिसकी बुद्धि पूर्वापरके विचारसे सूक्ष्मतम अर्थको ग्रहण करनेमें निपुण और चतुरतासे शोभित होकर पूर्ण विकसित हो गयी है, वही 'पुमान्' अर्थात् पुरुष कहा जाता है। श्रीराम! तुम्हारा हृदय अज्ञानसे रहित अतएव विशुद्ध शान्ति आदि गुणोंसे विकसित एवं उत्तम विचारकी शीतल चाँदनीसे प्रकाशित है। उस हृदयसे युक्त होकर तुम उसी प्रकार सुशोभित हो रहे हो, जैसे निर्मल चन्द्रमासे आकाशकी शोभा होती है।

(सर्ग १०-११)

संसारप्राप्तिकी अनर्थरूपता, ज्ञानका उत्तम माहात्म्य, श्रीराममें प्रश्नकर्ताके गुणोंकी अधिकताका वर्णन, जीवन्मुक्तिरूप फलके हेतुभूत वैराग्य आदि गुणोंका तथा शमका विशेषरूपसे निरूपण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव! तुम्हारा मन उत्तम गुणोंसे परिपूर्ण है। तुम हमारे योग्य शिष्य हो और प्रश्न करनेका ढंग भी तुम्हें भलीभाँति ज्ञात है। तुम कही हुई बातको विशेषरूपसे समझ लेते हो, इसीलिये मैं आदरपूर्वक तुम्हें उपदेश देनेको उद्यत हुआ हूँ। अब तुम अपनी बुद्धिको, जो रजोगुण और तमोगुणसे रहित और शुद्ध सत्त्वगुणका अनुसरण करनेवाली है, आत्मामें स्थापित करके ज्ञानोपदेश श्रवण करनेके लिये तैयार हो जाओ। प्रश्नकर्तामें जितने गुण होने चाहिये, वे सभी गुण तुममें वर्तमान हैं और जैसे समुद्रमें रत्न आदि सम्पत्तियाँ भरी रहती हैं, उसी तरह वक्ताके सभी गुण मुझमें विद्यमान हैं। वत्स! जैसे चन्द्रमाकी किरणोंके सम्पर्कसे चन्द्रकान्तमणिमें आर्द्रता आ जाती है, उसी तरह तुम भी ज्ञानके संसर्गसे उत्पन्न हुए वैराग्यको प्राप्त हुए हो। तुम तो सर्वथा शुद्ध हो। तुम्हारा बाल्यावस्थासे ही शुद्ध, विस्तृत तथा अविच्छिन्न सद्गुणोंके साथ सम्बन्ध चला आ रहा है—ठीक उसी तरह जैसे कमलका अपने विस्तारवाले, निर्मल एवं दीर्घ तन्तुओंसे लगाव रहता है। इसलिये तुम्हीं इस कथाको सुननेके योग्य अधिकारी हो। अब मैं इस मोक्षकथाका वर्णन करूँगा, तुम सावधान होकर इसे सुनो। यह कथा उस परमपदसे सम्बन्ध रखनेवाली है, जिसका साक्षात्कार हो जानेपर जितने लौकिक कार्य तथा जितनी लौकिक दृष्टियाँ हैं, वे सब-के-सब पूर्णतया शान्त हो जाते हैं

एक वा सर्वयत्नेन प्राणांस्त्यक्त्वा समाश्रयेत्। एकस्मिन् वशगे यान्ति चत्वारोऽपि वशं यतः॥
(मुमुक्षु० ११। ५९-६१)

* संसारविषवृक्षोऽयमेकमास्पदमापदाम्। अज्ञ सम्मोहयेन्नित्यं मौर्ख्यं यत्नेन नाशयेत्॥
(मुमुक्षु० ११। ६९)

श्रीराम ! संसाररूपी विषके आवेशसे उत्पन्न हुई विषूचिका बड़ी दुस्सह होती है। विषनिवारक गारुडमन्त्रसे ही उसका समूल नाश होता है। जीव और ब्रह्मका एकात्मबोध ही वह गारुडमन्त्र है। वही परमार्थज्ञानका भी मूलमन्त्र है। सत्पुरुषोंके साथ शास्त्रानुशीलन करनेसे निस्सदेह उस योगकी प्राप्ति होती है।

शास्त्रचिन्तन करनेपर इसी जन्ममें अवश्य ही सम्पूर्ण दुःखोंका समूल विनाश होता है—ऐसा मानना चाहिये; इसलिये उन विवेकशील सत्पुरुषोंको अवहेलनाकी दृष्टिसे नहीं देखना चाहिये। जिस विवेकी पुरुषको सम्यग्दृष्टिकी उपलब्धि हो चुकी है, वह पुरानी केंचुलका त्याग करके संतापरहित हुए सर्पकी भाँति मानसिक व्यथाओंसे परिपूर्ण इस संसारके अनुरागका परित्याग करके संतापरहित हो जाता है। उसका अन्तःकरण शीतल हो जाता है। वह सम्पूर्ण जगत्‌को विनोदपूर्वक इन्द्रजालकी तरह सुखरूप देखता है; परन्तु जो उस सम्यग्दृष्टिसे रहित है, उसके लिये यह संसार परम दुःखदायी ही है। यह संसारानुराग बड़ा ही कष्टदायक है। यह अनर्थकी आशङ्का किये बिना ही मोहवश विषयोंमें फँसे हुए पुरुषोंको सर्पकी तरह डँस लेता है, खड्गकी भाँति काट डालता है, भालेके समान बेध देता है, रस्सीकी तरह आवेष्टित कर लेता है, आगके सदृश जला देता है, रात्रिकी तरह अंधा बना देता है, सिरपर गिरे हुए पत्थरके समान मूर्च्छित कर देता है, विचार-शक्तिको हर लेता है, मर्यादाका विनाश कर देता है और मोहरूपी अन्धकूपमें गिरा देता है। तृष्णा तुम्हें जर्जर कर देती है। अधिक क्या, संसारमें ऐसा कोई दुःख नहीं है जो संसारी मनुष्यको तृष्णासे न प्राप्त होता हो। यह विषयभोगरूपिणी विषूचिका दुष्परिणाम-वाली है। यह नरक-नगररूप शरीर-समुदायके साथ अनुराग उत्पन्न करनेवाली है। यदि इसकी चिकित्सा न की जाय तो यह अवश्य ही उन-उन हजारों नारकीय दुर्गतियोंको प्राप्ति कराती है, जहाँ नरकोंमें पाषाणभक्षण, खड्गधार अङ्गोंका छेदन, पर्वतशिखरसे निपातन, पत्थरद्वारा टण्डीटन और अग्निदाहको हिमाभिषेककी भाँति, अङ्गोंके कुलमनेको चन्दनके लेपकी तरह, असिपत्रवाले वृक्षोंके वनमें दौड़ने, कीड़ोंके द्वारा शरीरमें छिद्र किये जाने और लोहेकी गरम जजीरोंद्वारा देहके लपेटनेको शरीर-संस्कारके समान, युद्धमें काम आनेवाले अग्नि-बुझे बाणोंकी धाराबाहिक वृष्टिको ग्रीष्मऋतुमें विनोदके लिये किये गये जलयन्त्रोंके फव्वारोंकी बूँद-वर्षाके सदृश, सिरके काटे जानेको सुखनिद्राके तुल्य, मुख बंद करके बलपूर्वक किये गये मूकीभावको स्वाभाविक मुखमुद्राके समान और अकिंचित्करताको महती सम्पद्‌वृद्धिकी तरह सहन करना पड़ता है। राघव ! इस प्रकार सहस्रों कष्टप्रद चेष्टाओंसे परिपूर्ण इस दारुण संसारचक्रमें उपर्युक्त उपदेशकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये; बल्कि ऐसा विचार और निश्चय अवश्य करना चाहिये कि शास्त्रानुशीलनसे निश्चय ही कल्याण होता है। सत्पुरुषोंके साथ शास्त्रचिन्तन करनेसे जिसका देहाभिमान नष्ट हो गया है, उसे तत्त्वका ज्ञान हो जानेसे सर्वव्यापक आत्माका स्वरूप विदित हो जाता है। वह शुद्ध बुद्धिद्वारा परब्रह्मका साक्षात्कार कर लेता है और अज्ञानरूपी घने बादलके विलीन हो जानेपर उसके मोहका विनाश हो जाता है। फिर तो उसके लिये यह जगत्‌में विचरण करना रमणीय हो जाता है।

श्रीराम ! जिन्हें आत्मस्वरूपका ज्ञान हो गया है, ऐसे उत्तम बुद्धिसम्पन्न महापुरुष इस पूर्वोक्त दृष्टिका अवलम्बन करके इस संसारमें विचरते हैं। उन्हें न शोक होता है, न कामना होती है और न वे शुभाशुभकी याचना ही करते हैं। वे इस संसारमें सब कुछ करते हुए भी अकर्ताके समान रहते हैं। वे हेय और उपादेयके पक्षपातसे रहित होकर अपने आत्मामें स्थित रहते हैं, पवित्रतासे रहते हैं और सत्-शास्त्रोंमें प्रतिपादित सत्कर्म करते हुए सन्मार्गपर चलते हैं। अन्य लोगोंकी दृष्टिसे वे जाते हैं,

जाते हैं, कर्म करते हैं और बोलते हैं; परन्तु वास्तवमें वे न आते हैं न जाते हैं, न कर्म करते हैं और न बोलते ही हैं। क्योंकि परमानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त हुआ पुरुष न तो इन्द्रजालरूप मायिक कार्य करता है और न सांसारिक वासनाओंके पीछे ही दौड़ता है। वह बालकोंकी-सी भ्रममूलक चपलताका परित्याग करके पूर्वकथित परमात्माके स्वरूपमें ही सदा विराजमान रहता है। इस प्रकारकी स्थितियाँ आत्मतत्त्वके साक्षात्कारके अतिरिक्त अन्य उपायसे नहीं उपलब्ध होतीं। इसलिये पुरुषको चाहिये कि वह जीवनपर्यन्त आत्माकी ही खोज करे, उसीकी उपासना करे और उसीका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे। इसके अतिरिक्त उसके लिये और कोई कर्तव्य नहीं है।

जिस पुरुषको अपने अनुभव, शास्त्रवचन और गुरुके उपदेशकी एकवाक्यताका निश्चय हो गया है वह निरन्तर किये गये उपर्युक्त अभ्यासके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है। चाहे भारी-से-भारी आपत्ति क्यों न आ पड़े, परन्तु जो शास्त्र और उसके अर्थकी अवहेलना करनेवाले तथा तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंकी अवज्ञा करनेवाले हैं—ऐसे मूर्खोंका अनुकरण कभी नहीं करना चाहिये। क्योंकि भूतलपर मनुष्योंको जितना कष्ट अपने शरीरमें स्थित अकेली मूर्खतासे प्राप्त होता है, उतना दुःख शारीरिक क्लेश, विष, आपत्ति और मानसिक व्यथाएँ नहीं दे सकतीं। जिनकी बुद्धि कुछ भी उत्तम संस्कारोंसे संस्कृत हो चुकी है, उनकी मूर्खताका विनाश करनेमें जैसा यह शास्त्र समर्थ है, वैसा अन्य कोई शास्त्र नहीं है। जैसे खैरसे काँटे उत्पन्न होते हैं, उसी तरह जितनी दुस्तर आपत्तियाँ और अधम कुत्सित योनियाँ हैं, वे सभी मूर्खतासे पैदा होती हैं। जिस संसारी पुरुषको मोक्षके उपायभूत इस शास्त्ररूप प्रकाशकी प्राप्ति हो गयी है वह मोहान्धकारमें भी पुनः अन्धताको नहीं प्राप्त होता। तृष्णा मानवरूपी कमलको तभीतक संकुचित करती है, जबतक विवेकरूपी सूर्यकी निर्मल प्रभाका उदय नहीं होता। रघुनन्दन! जैसे इस संसारमें भगवान् विष्णु एवं शंकर आदि तथा अन्यान्य महर्षिगण जीवन्मुक्त हो विचरते रहते हैं, उसी प्रकार तुम भी सांसारिक दुःखसे छुटकारा पानेके लिये मेरे-जैसे आत्मीयजनोंके साथ बैठकर गुरूपदेश एवं शास्त्रप्रमाणद्वारा अपने स्वरूपको जानकर जगत्में विहार करो। इस जगत्में सुख तो तुच्छ-से-तुच्छ तिनकेके सदृश है, परंतु दुःखोंका तो अन्त ही नहीं है; इसलिये जो दुःखरूप परिणामसे परिपूर्ण है, उन लौकिक सुखोंमें आस्था नहीं करनी चाहिये।

ज्ञानी पुरुषको चाहिये कि वह परम पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये जो अनन्त और आयासरहित है, उस परम पदको प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करे; क्योंकि जिनका मन संतापरहित होकर सर्वोत्कृष्ट परम पदरूप परमात्मामें लीन हो गया है, वे ही पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं और उन्हींको परम पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है। जो दुरात्मा पुरुष राज्य आदि जागतिक सुखोंके उपलब्ध होनेपर उनके उत्तम भोगोंके आस्वादनमात्रसे ही तृप्त बने रहते हैं, उन्हें तो तुम अंधे मेढक समझो।* जिनकी बुद्धि अज्ञानके कारण मन्द पड़ गयी है, वे मूर्ख वञ्चकों, प्रबल दुराचारियों, लौकिक भोगोंमें रचे-पचे रहनेवालों और मित्रका-सा व्यवहार करनेवाले शत्रुओंमें आसक्ति करने लगते हैं, जिससे उन्हें एक संकटसे दूसरे संकटकी, एक दुःखसे दूसरे दुःखकी, एक भयसे दूसरे भयकी और एक नरकसे दूसरे नरककी प्राप्ति होती रहती है।† इसलिये उत्तम विवेकका आश्रय

* सम्भोगाशनमात्रेण राज्यादिषु सुखेषु च।
संतुष्टा दुष्टमनसो विद्धि तानन्धदर्दुरान्॥
(मुमुक्षु० १३। २६)

† ये शठेषु दुरन्तेषु दुष्कृतारम्भशालिषु।
द्विषत्सु मित्ररूपेषु भक्ता वै भोगभोगिषु॥
ते यान्ति दुर्गमाद् दुर्गं दुःखाद् दुःखं भयाद्भयम्।
नरकान्नरकं मूढा मोहमन्थरबुद्धयः॥
(मुमुक्षु० १३। २७-२८)

लेकर अभ्यास और वैराग्यके सहयोगसे दुःखस्वरूपिणी इस भयंकर संसार-नदीको पार करना चाहिये। जिसे प्राप्त कर लेनेपर पुनर्जन्म नहीं होता और जहाँ पहुँच जानेपर शोकका अस्तित्व मिट जाता है, वह परम पद ज्ञानद्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है —इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। इस संसारमें जब पुरुषकी शीघ्र मोक्ष-प्राप्तिके उपायके चिन्तनमें प्रवृत्ति होती है, तब वह मोक्षप्राप्तिका पात्र कहा जाता है। उस प्रवृत्तिके प्राप्त हो जानेपर उत्तम कैवल्य-पदकी प्राप्तिमें कष्ट नहीं उठाना पड़ता। उस केवलरूप परमात्माकी प्राप्तिमें धन-सम्पत्ति, मित्र, भाई-बन्धु, हाथ-पैरका संचालन, देशान्तरगमन, शारीरिक कष्ट-सहन और तीर्थसेवन आदि उपकारी नहीं हो सकते। वह तो एक मात्र पुरुषार्थसे साध्य केवल परमात्माकी प्राप्तिकी वासनारूप कर्मसे एवं मनोजयसे प्राप्त किया जा सकता है। सुखपूर्वक सेवन करनेयोग्य आसनपर बैठकर उस परब्रह्मका चिन्तन करनेवाले पुरुषको उपर्युक्त परमपदकी प्राप्ति हो जाती है। फिर तो उसे न शोक करना पड़ता है और न संसारमें उसका पुनर्जन्म ही होता है। जैसे मृगतृष्णामें जलाभास दीखता है, वास्तवमें वहाँ जल नहीं रहता, उसी तरह स्वर्गलोक और मनुष्य-लोकके सम्पूर्ण भावोंके विनाशी होनेके कारण इन दोनों लोकोंमें वास्तविक सुख नहीं है।

इसलिये जो शम और संतोषका साधन है, उस मनोजयकी प्राप्तिके लिये उपाय सोचना चाहिये। उससे वह आनन्द उपलब्ध होता है, जो परमात्माके साथ ऐकात्म्य-सम्बन्धसे मिलता है। अतः देवता, दानव, राक्षस और मनुष्यको बैठते, चलते, गिरते-पड़ते अथवा घूमते हुए सदा ही मनोजय-जनित उस परम सुखको अवश्य प्राप्त करना चाहिये; क्योंकि वह शान्तिरूप विकसित पुष्पोंसे लदे हुए विवेकरूप महान् वृक्षका फल है। पूर्णरूपसे शान्त मन अत्यन्त निर्मल और भ्रमरहित हो जाता है। उस विश्रान्त मनमें किसी प्रकारकी स्पृहा नहीं रह जाती। उसके सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते उस समय वह न तो किसी वस्तुकी अभिलाषा है और न किसीका त्याग ही करता है।

राघव! अब मोक्षद्वारपर स्थित रहनेवाले द्वारपालोंको क्रमशः सुनो, जिनमेंसे एकके प्रति प्रीति हो जानेसे मोक्षद्वारमें प्रविष्ट होनेका अ प्राप्त हो जाता है। शम मङ्गलमय, शान्तिदायक भ्रमका निराकरण करनेवाला है। शमसे परम क की प्राप्ति होती है और शम ही परम पद है। प्राप्तिसे पूर्णतया तृप्त हुए जिस पुरुषका चित्त शम होनेके कारण शीतल एवं निर्मल हो गया है, शत्रु भी मित्र बन जाता है। जैसे चन्द्रोदय क्षीरसागरकी शुभ्रता बढ़ जाती है, उसी प्रकार चित्त शमरूपी चन्द्रमासे भलीभाँति शोभित हो है, उनकी परम शुद्धताकी अभिवृद्धि होती है। कलङ्करहित मुखचन्द्रमें शमश्री शोभित होती अपने गुणरूप सौन्दर्यसे दूसरेकी इन्द्रियोंको वश लेते हैं तथा वे ही कुलीनशिरोमणि एवं वन्दनी त्रिलोकीकी राज्यलक्ष्मी भी वैसा आनन्द नहीं कर सकती, जैसी आनन्ददायिनी साम्राज्य-स सदृश शम-विभूतियाँ होती हैं। लोकमें जितने जितनी दुस्सह तृष्णाएँ और जितनी दुःख मानसिक व्यथाएँ हैं, वे सब शान्तचित्तवाले निकट जाकर वैसे ही विलीन हो जाती हैं, जैसे किरणोंके सम्पर्कसे अन्धकारका विनाश हो जा शमपरायण पुरुषके दर्शनसे समस्त प्राणियोंका म आह्लादपूर्ण एवं प्रसन्न होता है, वैसा चन्द्रमाके नहीं होता। इस जगत्में जैसे अपनी मातापर विश्वास रहता है, उसी प्रकार शमयुक्त पुरुषपर अथवा धर्मात्मा—सभी प्राणी विश्वास करते इसलिये रघुकुलभूषण राम! तुम भी अपने मन समस्त शारीरिक क्लेशों तथा मानसिक

कम्पित और तृष्णारूपी रस्सीसे आबद्ध है, शमरूपी अमृतके अभिषेकसे प्रकृतिस्थ करो; क्योंकि जो शमनिष्ठ है, उस पुरुषसे पिशाच, राक्षस, दैत्य, शत्रु, व्याघ्र अथवा सर्प—कोई भी द्वेष नहीं करते।

जिसके समस्त अङ्ग उत्कृष्ट शमरूपी अमृत-कवचसे भली-भाँति सुरक्षित हैं, उसे दुःख उसी प्रकार पीड़ा नहीं पहुँचा सकते, जैसे बाण हीरेको वेधनेमें असमर्थ होते हैं। निर्मल तथा शमविभूषित समबुद्धिसे पुरुषकी जैसी शोभा होती है, वह शोभा अन्तःपुरमें विराजमान राजाको भी नसीब नहीं होती। शमयुक्त अन्तःकरणवाले पुरुषका दर्शन करनेसे मनुष्यको जो शान्ति प्राप्त होती है, वह प्राणोंसे भी अधिक प्रिय स्वजनके मिलनेसे भी नहीं उपलब्ध होती। इस लोकमें जो शमसे सुशोभित तथा लोगोंद्वारा प्रशंसित समवृत्तिसे सबके साथ उत्तम बर्ताव करता है, उसीका जीवन सार्थक है; इसके विपरीतका जीवन तो निरर्थक ही है। जिसका मन उद्दण्डतारहित हो गया है, ऐसा शमपरायण श्रेष्ठ पुरुष जो कर्म करता है, उसके उस कर्मकी ये समस्त प्राणी प्रशंसा करते हैं।

जो पुरुष प्रिय और अप्रियको सुनकर, स्पर्शकर, देखकर, खाकर और सूँघकर न तो हर्षित होता है और न खिन्न होता है, वह 'शान्त' कहा जाता है। जो प्रयत्नपूर्वक इन्द्रियोंको अपने वशमें करके समस्त प्राणियोंके साथ समतापूर्ण व्यवहार करता है तथा न तो भविष्यकी आकाङ्क्षा करता है और न प्राप्तका परित्याग करता है, वह 'शान्त' कहलाता है। जिसका मन मरण, उत्सव और युद्धके अवसरपर भी व्याकुल न होकर चन्द्रमण्डलके समान निर्मल आभासे युक्त रहता है, वह 'शान्त' कहा जाता है। हर्ष और कोपका अवसर उपस्थित होनेपर भी जो पुरुष वहाँ अनुपस्थितके समान न तो हर्षको प्राप्त होता है और न क्रोध ही करता है, बल्कि उसका मन गाढ़ निद्रामें सोये हुए पुरुषके मनके समान निर्विकार रहता है, वह 'शान्त' पदसे व्यवहृत होता है। जिसकी अमृत-प्रवाहके सदृश सुखदायिनी तथा प्रेमपूर्ण दृष्टि सभी प्राणियोंपर समानरूपसे पड़ती है, उसकी 'शान्त' संज्ञा होती है। जिसका अन्तःकरण शीतल हो गया है एवं जिसकी बुद्धि मोहाच्छन्न नहीं है तथा जो लौकिक विषयोंके साथ व्यवहार करता हुआ भी उनमें आसक्त नहीं होता, उसे लोग 'शान्त' कहते हैं। सम्यक् प्रकारसे व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुषकी बुद्धि आकाशके सदृश निर्विकार रहती है, राग-द्वेषरूप कलङ्कसे लिप्त नहीं होती, उसे 'शान्त' कहा जाता है।

तपस्वियों, विद्वानों, याजकों, नरेशों, बलवानों और गुणियोंके समुदायमें शमयुक्त पुरुषकी ही विशेष शोभा होती है। जिन गुणशाली महापुरुषोंका मन शममें आसक्त हो गया है, उनके चित्तसे निवृत्तिका उदय होता है, ठीक उसी तरह जैसे चन्द्रमासे चाँदनी प्रकट होती है। जो गुणसमूहोंकी परमावधि है तथा जो पुरुषार्थका मुख्य भूषण है, वह श्रीसम्पन्न शम संकटों तथा सम्पूर्ण स्थानोंमें भी अपने प्रभावसे सुशोभित होता रहता है। रघुनन्दन! जिसका अन्य पुरुष अपहरण नहीं कर सकते, जो पूज्य जनोंद्वारा सावधानीके साथ सुरक्षित एवं अमृतस्वरूप है, उस शमरूप उत्कृष्ट साधनका आश्रय लेकर बहुत-से महानुभाव जिस क्रमसे परम पदको प्राप्त हो चुके हैं, तुम भी परम पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये उसी क्रमका अनुसरण करो।

(सर्ग १२-१३)

विचार, संतोष और सत्समागमका विशेषरूपसे वर्णन तथा चारों गुणोंमेंसे एक ही गुणके सेवनसे सद्गतिका कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव ! (विषय, संदेह, पूर्वपक्ष, सिद्धान्त और प्रयोजनरूप) कारणोंके ज्ञाता पुरुषको शास्त्रज्ञानसे निर्मल हुई अतएव परम पवित्र बुद्धिद्वारा निरन्तर आत्मचिन्तन करना चाहिये; क्योंकि आत्मविषयक विचार करनेसे बुद्धि तीव्र होकर परम पदका साक्षात्कार कर लेती है। संसाररूपी महारोगके लिये विचार ही महौषध है। जो अनन्त कामनारूपी पल्लवोंसे सुशोभित है, ऐसा आपत्तिरूपी वन विचाररूपी आरेसे काट दिये जानेपर पुनः अङ्कुरित नहीं होता। लौकिक दुःखसे पार होनेके लिये विद्वानोंके पास विचारके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। सत्पुरुषोंकी बुद्धि विचारसे अशुभका परित्याग करके शुभको प्राप्त होती है। बुद्धिमानोंके बल, बुद्धि, सामर्थ्य, कर्तव्यका ज्ञान, क्रिया और उसका फल—ये सभी विचारसे ही सफल होते हैं। अतः जो उचित-अनुचितके रहस्योद्घाटनके लिये महान् दीपकके समान है तथा अभीष्टकी सिद्धि करनेवाला है, उस उत्कृष्ट विचारका आश्रय लेकर संसार-सागरको पार करना चाहिये। क्योंकि विशुद्ध विचाररूपी सिंह हृदयस्थित विवेकरूपी कमलोंको उखाड़ फेंकनेवाले महामोहरूपी गजराजोंको विदीर्ण कर डालता है। जो लोग विचारका अभ्युदय करनेवाली बुद्धिद्वारा सबके साथ व्यवहार करते हैं, वे निश्चय ही अत्यन्त श्रेष्ठ फलोंके भागी होते हैं। सद्विचारपरायण मनुष्य अत्यन्त विस्तृत महान् आपत्तियोंसे युक्त मोहकी परिस्थितियोंमें उसी प्रकार निमग्न नहीं होता, जैसे सूर्य अन्धकारमें नहीं डूबते। जितने क्रूर कर्म, निषिद्धाचरण और कुत्सित मानसिक कष्ट हैं, वे सभी विचारहीनतासे ही आविर्भूत होते हैं। जिस अधिकारी पुरुषका मन आशाकी परवशतासे रहित और विचारयुक्त है, वह पूर्ण चन्द्रमाकी भाँति अपने आत्मामें परमानन्दका अनुभव करता है। जब मनमें विवेकशीलताका उदय होता है, तब वह सारे विश्वको शीतल एवं सुशोभित करनेवाली चन्द्रमाकी चाँदनीकी भाँति सबको अत्यन्त शीतल और अलंकृत कर देती है। जगत्के सारे पदार्थ तभीतक सत्यकी तरह रमणीय प्रतीत होते हैं, जबतक विचार नहीं किया जाता। वस्तुतः उनका कोई अस्तित्व नहीं है, अतः विचार करनेपर वे नष्ट हो जाते हैं। जो समरूप, आनन्दमय, अक्षय, अनन्त और अनन्याधीन है, उस कैवल्य पदको तुम विचाररूप महान् वृक्षका फल समझो। जो चित्तमें स्थित होकर उत्तम अचल स्थिति प्रदान करनेवाली है, उस आत्म-विचाररूपी महौषधिसे युक्त श्रेष्ठ पुरुष न तो अप्राप्तकी आकाङ्क्षा करता है और न प्राप्तका परित्याग ही। विचारशील पुरुष गयी हुई वस्तुकी उपेक्षा कर देता है और प्राप्त वस्तुका शास्त्रानुसार उपयोग करता है। वह मनकी प्रतिकूलतामें न तो क्षुब्ध होता है और न अनुकूलतामें प्रसन्न ही। उस समय जलसे परिपूर्ण सागरकी तरह उसकी शोभा होती है। इस प्रकार जिन उदाराशय महात्मा योगियोंका मन पूर्णकाम हो गया है, वे जीवन्मुक्त होकर इस जगत्में विचरण करते हैं। बुद्धिमान् पुरुषको आपत्तिकालमें भी 'मैं कौन हूँ ! यह संसार किसका है !' यों उसके प्रतीकारके लिये प्रयत्नपूर्वक विचार करना चाहिये। जैसे रात्रिमें भूतलपर पदार्थोंका ज्ञान दीपकसे होता है, उसी प्रकार परमात्मस्वरूपमें स्थिति प्राप्त करनेके लिये वेद-वेदान्तके सिद्धान्तोंकी स्थितियोंका निर्णय विचारद्वारा होता है। विचाररूपी सुन्दर नेत्र अन्धकारमें नष्ट नहीं होता, उग्र तेजस्वी सूर्य आदिकी ओर देखनेपर भी उसकी ज्योति प्रतिहत नहीं होती और वह व्यवधानयुक्त पदार्थोंको

भी देख लेता है । यह विचार-चमत्कृति परमात्ममयी, आदरणीया और परमानन्दकी एकमात्र साधिका है; अतः एक क्षणके लिये भी इसका परित्याग नहीं करना चाहिये । जैसे पक जानेके कारण मधुर-रससे परिपूर्ण आमका फल सबके लिये रुचिकर होता है, उसी तरह उत्तम विचारसे युक्त पुरुष, सामान्य जनोंकी तो बात ही क्या, महापुरुषोंके लिये भी आदरणीय हो जाता है । विचारद्वारा जिनकी बुद्धि विशुद्ध हो गयी है और विचारसे ही जिन्हें ज्ञानमार्गमें जानेकी युक्ति ज्ञात है, वे मनुष्य नाना प्रकारके दुःखरूप गड्ढोंमें बार-बार नहीं गिरते अर्थात् आवागमनसे मुक्त हो जाते हैं । सैकड़ों अनर्थोंके संयोगसे जिसका शरीर जर्जर हो गया है तथा जो रोगग्रस्त है, वह वैसा रुदन नहीं करता, जैसा वह मूर्ख विलाप करता है, जिसने विचारहीनतासे अपने आत्माका हनन कर दिया है । विचारहीनता सारे अनर्थोंका निजी निवासस्थान है । सभी सत्पुरुष उसका तिरस्कार करते हैं और वह सारी दुर्गतियोंकी चरम सीमा है, अतः उसका परित्याग कर देना चाहिये । विचारपूर्वक स्वयं ही अपनी बुद्धिद्वारा अपने मनको वशमें करके मोहमय संसारसागरसे अपने मनरूपी मृगका उद्धार करना चाहिये । मैं कौन हूँ और यह संसारनामक दोष मेरे निकट कैसे आ गया—इस विषयमें न्यायपूर्वक किया गया अनुसंधान 'विचार' कहलाता है । रघुनन्दन ! इस जगत्में सत्यके ग्रहण और असत्यके त्यागकी बुद्धिसे सम्पन्न पुरुषोंको विचारके बिना उत्तम तत्त्वका कुछ भी ज्ञान नहीं होता । विचारसे ही तत्त्वका ज्ञान होता है, तत्त्वज्ञानसे मनकी निश्चलता प्राप्त होती है और मनके शान्त हो जानेसे सम्पूर्ण दुःखोंका सर्वथा विनाश हो जाता है । भूतलपर सभी लोग स्पष्ट विचारदृष्टिसे ही समस्त कर्मोंकी सफलता लाभ करते हैं तथा उत्तम परमात्मसाक्षात्कारता भी विचारसे ही उपलब्ध होती है, इसलिये श्रीराम ! शमादि साधनसम्पन्न तुम्हें उपर्युक्त विचारशीलता रुचिकर होनी चाहिये ।

परंतप राम ! संतोष ही परम श्रेय है और संतोष परम सुख भी कहा जाता है । संतोषयुक्त पुरुष परम विश्रामको प्राप्त होता है । जो संतोषरूपी ऐश्वर्यके सुखसे सम्पन्न हैं तथा जिनका चित्त निरन्तर विश्रामपूर्ण रहता है, ऐसे शान्त पुरुषोंको विशाल साम्राज्य भी पुराने घासके टुकड़ेके समान प्रतीत होता है । श्रीराम ! संतोषयुक्त बुद्धि संसारकी विषम परिस्थितियोंमें भी न तो उद्विग्न होती है और न कभी उसका विनाश ही होता है । जो शान्त पुरुष संतोषामृतके पानसे पूर्णतः तृप्त हो चुके हैं, उनके लिये यह अपरिमित भोगसम्पत्ति विष-सी जान पड़ती है । रागादि दोषोंका विनाशक तथा अत्यन्त मधुर आस्वादसे युक्त संतोष जैसा सुखद होता है, वैसा सुख ये अमृतरसकी लहरियाँ नहीं दे सकतीं । जो अप्राप्त वस्तुकी आकाङ्क्षाका परित्याग करके प्राप्त हुई वस्तुमें समभाव रखनेवाला है तथा जिसमें हर्ष-शोकके विकार परिलक्षित नहीं होते, वह मनुष्य इस लोकमें संतुष्ट कहा जाता है । जबतक मन आत्माके द्वारा आत्मामें संतुष्ट नहीं हो जाता, तबतक उस मनरूपी गड्ढेसे उसी प्रकार आपत्तियाँ उद्भूत होती रहती हैं, जैसे गड्ढेसे लताएँ । संतोषसे शीतल हुआ मन विशुद्ध विज्ञानकी दृष्टियोंसे अत्यन्त विकासको प्राप्त होता है—ठीक उसी तरह, जैसे सूर्यकी किरणोंके सम्पर्कसे कमल विकसित हो जाता है । जैसे मलिन दर्पणमें मुखकी छाया नहीं दीखती, उसी प्रकार आशाकी परवशतासे व्याकुल एवं संतोषरहित चित्तमें ज्ञानका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता । जिसका मन शारीरिक तथा मानसिक क्लेशोंसे मुक्त एवं संतुष्ट है, वह प्राणी दरिद्र होते हुए भी सच्चे साम्राज्य-सुखका उपभोग करता है । अपने आत्मामें आत्मासे ही स्वयं सम्यक् प्रकारसे निरतिशय पूर्णानन्दका आश्रय लेकर पुरुषार्थद्वारा प्रयत्नपूर्वक सभी विषयोंमें तृष्णा-

का परित्याग कर देना चाहिये। चन्द्रमाकी भाँति सतोषामृतसे परिपूर्ण मनुष्यका मन शान्त एवं शीतल बुद्धिद्वारा स्वयं ही शाश्वती स्थिरताको प्राप्त हो जाता है। जब संतोषसे सम्पन्न पुरुष अपने आत्मामें आत्माद्वारा स्वस्वरूपसे स्थित हो जाता है, उस समय उसकी सारी मानसिक व्यथाएँ उसी प्रकार अपने-आप शीघ्र ही समूल विनष्ट हो जाती हैं, जैसे वर्षा-ऋतुमें धूल शान्त हो जाती है। श्रीराम! जिसकी वृत्ति सदा शीतल और कलङ्कसे सर्वथा रहित है, वह पुरुष अपनी उस शुद्ध वृत्तिद्वारा चन्द्रमाकी भाँति पूर्णतया शोभित होता है। रघुनन्दन! इस जगत्में जो पुरुषश्रेष्ठ गुणी पुरुषोंद्वारा अभिमत समतासे सुशोभित है, उस विशुद्ध पुरुषको आकाशचारी देवता और महामुनि भी प्रणाम करते हैं।

महाबुद्धिमान् राम! इस संसारमें श्रेष्ठ संत-समागम मनुष्योंका संसार-सागरसे उबारनेमें सर्वत्र विशेषरूपसे उपकार करता है। जो महात्मा पुरुष सत्संगतिरूपी वृक्षसे उत्पन्न हुए विवेक नामक निर्मल पुष्पकी रक्षा करते हैं, वे मोक्ष-फलरूपी सम्पत्तिके अधिकारी होते हैं। जो आपत्तिरूपी कमलिनीके लिये हिम और मोहरूपी कुहरेके लिये वायुके समान है, वह उत्तम संत-समागम ही इस जगत्में सर्वोत्कृष्ट है। श्रीराम! तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि संत-समागम विशेषरूपसे बुद्धि-वर्धक, अज्ञानरूपी वृक्षका उच्छेदक और मानसिक व्यथाओंको दूर भगानेवाला है। सत्सङ्गसे प्राप्त हुई दिव्य विभूतियाँ ऐसा परम उत्तम निर्वाण-सुख प्रदान करती हैं, जो सतत वर्धनशील, अविनाशी और बाधारहित होता है। अतएव अत्यन्त कष्टदायिनी दशामें पड़कर विवशताको प्राप्त हुए मनुष्योंको भी थोड़े समयके लिये भी सत्सगतिका परित्याग नहीं करना चाहिये; क्योंकि लोकमें सत्संगति सन्मार्गको प्रकाशित करनेवाली और हृदयान्धकारको दूर करनेके लिये ज्ञानरूपी सूर्यकी प्रभा है। जिसने सत्संगतिरूपी गङ्गामें, जो शीतल एवं निर्मल है, स्नान कर लिया, उसे दान, तीर्थ, तप और यज्ञोंसे क्या लेना है अर्थात् सत्संगति इन सबसे बढ़कर है। जो रागशून्य और संशयरहित हैं तथा जिनकी चिज्जड-ग्रन्थियाँ विनष्ट हो चुकी हैं, ऐसे सत पुरुष यदि लोकमें विद्यमान हैं तो तप एवं तीर्थोंके संग्रहसे क्या लाभ! अर्थात् वह फल तो उन सतोंकी संगतिसे ही प्राप्त हो सकता है। इसलिये जिनकी चिज्जडग्रन्थियोंका विनाश हो गया है एवं जो ब्रह्मज्ञानी हैं, उन सर्वसम्मत सतोंकी सभी उपायोंद्वारा भलीभाँति सेवा करनी चाहिये, क्योंकि वे भवसागरसे पार होनेके लिये साधन हैं। किंतु जो लोग नरकाग्निको बुझानेके लिये मेघस्वरूप संतोंको अवहेलना-की दृष्टिसे देखते हैं, वे स्वय उस नरकाग्निकी सूखी लकड़ी बन जाते हैं।

संतोष, सत्सगति, विचार और शम—ये ही चारों मनुष्योंके लिये भवसागरसे तरनेके साधन हैं। इनमें संतोष परम लाभ है। सत्सगति परम गति है। विचार उत्तम ज्ञान है और शम परमोत्कृष्ट सुख है। ये चारों संसारका समूल विनाश करनेके लिये विशुद्ध उपाय हैं। जिन्होंने इनका भलीभाँति सेवन किया, वे मोह-जलसे परिपूर्ण भवसागरसे पार हो गये। बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ राम! इन चारों साधनोंमेंसे विशुद्ध प्रकाशवाले एक ही साधनका अभ्यास हो जानेपर शेष तीनों भी अवश्य अभ्यस्त हो जाते हैं; क्योंकि इनमेंसे एक-एक भी क्रमशः इन चारोंकी जन्मभूमि है। अतः सबकी सिद्धिके लिये यत्नपूर्वक एकका तो पूर्णरूपसे आश्रय लेना ही चाहिये। जैसे प्रशान्त सागरमें जलयान स्वच्छन्द गतिसे चलते हैं, उसी प्रकार शमद्वारा निर्मल हुए हृदयमें सत्समागम, संतोष और विचार उत्तम धारणापूर्वक प्रवृत्त होते हैं। जो प्राणी विचार, संतोष, शम और सत्समागमसे सम्पन्न है, उसे दिव्य ज्ञान-सम्पत्तियाँ उपलब्ध हो जाती हैं—ठीक उसी तरह, जैसे कल्पवृक्षका आश्रय लेनेवाले पुरुषको लौकिक

सम्पत्तियाँ सुलभ होती हैं। पूर्ण चन्द्रमामें परिलक्षित हुए सौन्दर्य आदि गुणोंकी तरह विचार, शम, सत्समागम और संतोषयुक्त मानवमें प्रसाद आदि गुण प्रादुर्भूत हो जाते हैं। जैसे श्रेष्ठ मन्त्रिगणोंसे युक्त राजाके पास विजयलक्ष्मी उपस्थित होती है, उसी तरह जिस पुरुषकी बुद्धि सत्सङ्ग, संतोष, शम और विचारसे युक्त होनेके कारण उत्तम हो गयी है, उसे दिव्य ज्ञान-सम्पत्ति सुलभ हो जाती है। इसलिये रघुनन्दन ! मनुष्यको चाहिये कि वह पुरुषार्थसे मनको वशमें करके इनमेंसे एक गुणका नित्य यत्नपूर्वक उपार्जन करे; क्योंकि जबतक मनुष्य परम पुरुषार्थके आश्रयसे अपने चित्तरूपी गजराजको जीतकर हृदयमें एक गुण भी धारण नहीं कर लेता, तबतक उत्तम गतिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जिसके चित्तमें उत्तम फलदायक एक ही गुण सुदृढ़ हो गया है, उसके सारे दोष शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि एक ही गुणकी विशेष वृद्धि होनेपर दोषोंपर विजय प्रदान करनेवाले अनेक गुणोंकी वृद्धि होती है और एक दोषके अधिक बढ़ जानेपर बहुत-से गुण-विनाशक दोष बढ़ जाते हैं। (सर्ग १४—१६)

प्रकरणोंके क्रमसे ग्रन्थ-संख्याका वर्णन, ग्रन्थकी प्रशंसा, शान्ति, ब्रह्म, द्रष्टा और दृश्यका विवेचन, परस्पर सहायक प्रज्ञा और सदाचारका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जिसका हृदय पूर्वोक्त प्रकारके विवेकसे युक्त है, वही इस जगत्में महान् है और वही ज्ञानोपदेश सुननेका योग्य अधिकारी है—ठीक उसी तरह, जैसे राजा नीति-शास्त्रके श्रवणका उत्तम पात्र होता है। जैसे मेघजालसे रहित शरत्कालका आकाश चन्द्रमाके लिये योग्य होता है, उसी तरह जो मूर्खोंके सङ्गसे रहित एवं महान् आशयवाला है, वह निर्मल पुरुष विशुद्ध विचारका योग्य भाजन है। श्रीराम ! तुम इस समग्र गुणलक्ष्मीसे सम्पन्न हो; अतः मैं आगे जिसका वर्णन करूँगा, उस मनके मोहको हरनेवाले वाक्यको सुनो। जिसका पुण्यरूपी कल्पवृक्ष फलोंके भारसे अत्यन्त झुका हुआ खड़ा है, वही पुरुष मुक्ति-प्राप्तिके निमित्त इसे श्रवण करनेके लिये उद्योग करता है। अतः उपर्युक्त गुणसम्पन्न पुरुष ही कल्याण-प्राप्तिके लिये पवित्र, उदार तथा परायेको ज्ञान प्रदान करनेवाले वचनोंके सुननेका अधिकारी होता है।

यह संहिता मोक्ष-साधनकी प्रतिपादिका, सारभूत अर्थोंसे परिपूर्ण और मोक्षदायिनी है। इसमें बत्तीस हजार* श्लोक बतलाये जाते हैं। जैसे गाढ निद्राके वशीभूत हुए पुरुषके सामने दीपक जला दिये जानेपर यद्यपि उसे प्रकाशकी कामना नहीं रहती तो भी प्रकाश होता है, उसी प्रकार इस संहिताके परिशीलनसे इच्छा न रहनेपर भी निर्वाणकी प्राप्ति हो जाती है। यह संहिता स्वयं सम्यक् प्रकारसे परिशीलन करके जानी गयी हो अथवा अन्यद्वारा वर्णन किये जाते समय सुनी गयी हो, तो भी पाप-तापकी शान्तिद्वारा सुखकी हेतुभूता

* इस ग्रन्थके छहों प्रकरणोंमें क्रमशः वैराग्यप्रकरणमें ११४५, मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणमें ८०७, उत्पत्तिप्रकरणमें ५४०४, स्थितिप्रकरणमें २४०४, उपशमप्रकरणमें ४२७७ और निर्वाणप्रकरणमें १४२७५ श्लोक-संख्या है—इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थमें श्लोकोंकी सख्या २८३१२ मिलती है। किंतु यहाँ इस सर्गमें, वैराग्यप्रकरणमें १५००, मुमुक्षुव्यवहारप्रकरणमें १०००, उत्पत्तिप्रकरणमें ७०००, स्थितिप्रकरणमें ३०००, उपशमप्रकरणमें ५००० और निर्वाणप्रकरणमें १४५००—इस प्रकार कुल ३२००० श्लोक बताये गये हैं। ग्रन्थमें आये हुए बड़े श्लोकोंके और गद्यभागके अक्षरोंकी सख्याको ३२ अक्षरके एक अनुष्टुप् श्लोकके हिसाबसे गिननेपर यह संख्या प्रायः ठीक हो सकती है।

देवनदी गङ्गाके समान यह अज्ञानके उपशमद्वारा तुरंत सुख प्रदान करती है। जैसे रस्सीका पूर्ण ज्ञान हो जानेसे उसमें उत्पन्न हुई सर्पभ्रान्ति विनष्ट हो जाती है, उसी तरह इस संहिताके सम्यक् परिशीलनसे संसार-दुःख शान्त हो जाता है। इस संहितामें पृथक्-पृथक् रचे गये छ प्रकरण हैं, जो युक्तियुक्त अर्थवाले वाक्योंसे युक्त और सार-सार दृष्टान्तोंसे भरी हुई सूक्तियोंसे समन्वित हैं। उनमें पहला प्रकरण 'वैराग्य' नामसे कहा गया है, जिसके अध्ययनसे उसी प्रकार विरागकी वृद्धि होती है, जैसे मरुस्थलमें भी जलके सिंचनसे वृक्ष बढ़ता है। जैसे मणिके भलीभाँति मार्जित किये जानेके कारण उत्पन्न हुए प्रकाशसे उसमें निर्मलता प्रकट हो जाती है, उसी तरह डेढ हजार श्लोकोंसे युक्त इस वैराग्य-प्रकरणका विचार करनेसे विषयोंके दोषोंका परिज्ञान होनेके कारण उत्पन्न हुए विवेकके प्रकाशसे हृदयमें शुद्धताका उदय हो जाता है। तदनन्तर 'मुमुक्षुव्यवहार' नामक प्रकरणकी रचना की गयी है। इस प्रकरणमें केवल एक हजार श्लोक हैं। युक्तियोंसे भरा होनेके कारण यह अत्यन्त सुन्दर है और इसमें मुमुक्षु पुरुषोंके स्वभावका वर्णन किया गया है। इसके बाद तीसरा 'उत्पत्तिप्रकरण' आता है, जो दृष्टान्त और आख्यायिकाओंसे परिपूर्ण तथा विज्ञानका प्रतिपादक है। उसमें सात हजार श्लोक हैं। इस प्रकरणमें 'अहं' और 'त्वं' जिसका स्वरूप है एवं जो वास्तवमें उत्पन्न न होकर भी प्रकट हुई-सी प्रतीत होती है, द्रष्टा और दृश्यके भेदसे समन्वित उस सांसारिक सम्पत्तिका वर्णन किया गया है। इस प्रकरणके सुननेपर श्रोता इस सम्पूर्ण जगत्को अपने हृदयमें ऐसा समझता है कि यह 'त्वं' और 'अहं'के विस्तारसे युक्त, लोक, पर्वत और आकाशसे समन्वित, संकल्पमय नगरके तुल्य क्षणध्वंसी, स्वप्नमें प्राप्त हुए पदार्थोंके समान सत्तारहित, मनोराज्यकी तरह विस्तारवाला, अर्थशून्य होनेके कारण गन्धर्वनगरके सदृश, दो चन्द्रमाओंकी भ्रान्तिके समान मृगतृष्णामें जलभ्रान्तिकी तरह, नौकाके चलनेसे पर्वतादिके संचलन भ्रमकी भाँति चञ्चल और यथार्थ लाभसे रहित है तथा जैसे सुवर्णमें कङ्कण, जलमें तरङ्ग और आकाशमें नीलिमा असत् है, वस्तुतः ये क्रमशः अपने-अपने अधिष्ठानके ही अङ्ग हैं, उसी तरह यह जगत् असत् होकर भी सत्-रूपसे उत्पन्न हुआ है। परमार्थ दृष्टिसे तो यह उस विज्ञानरूपी शरत्कालके आकाशके समान है, जिसका अज्ञानरूपी कुहरा पूर्णरूपसे शान्त हो गया है।

तत्पश्चात् चौथे 'स्थितिप्रकरण'की अवतारणा की गयी है। इस प्रकरणमें तीन हजार श्लोक हैं और यह व्याख्यान और आख्यायिकाओंसे भरा हुआ है। ब्रह्म ही द्रष्टा और दृश्य भावको स्वीकार करके इस प्रकार जगत्-रूप एवं अहंरूपसे स्थितिको प्राप्त हुआ है—ऐसा इस प्रकरणमें कहा गया है। इसी तरह यह जगद्भ्रम जो दसों दिशाओंके मण्डलकी विशालतासे देदीप्यमान है और चिरकालसे वृद्धिको प्राप्त होता आया है, यह विषय भी उस प्रकरणमें समझाया गया है।

तदुपरान्त पाँचवाँ 'उपशान्ति' प्रकरण कहा गया है। इसमें पाँच हजार श्लोक हैं। यह परम पावन तथा विविध युक्तियोंसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त सुन्दर है। इस प्रकरणमें 'यह जगत् है, यह मैं हूँ, यह तुम हो और यह वह है—यों उत्पन्न हुई भ्रान्ति किस प्रकार पूर्णरूपसे शान्त होती है' यह विषय बहुत-से श्लोकोंद्वारा बतलाया गया है। उपशमप्रकरणका श्रवण करनेसे यह संसार प्रायः शान्त हो जाता है; क्योंकि जिसका भ्रान्त स्वरूप सम्यक् प्रकारसे शान्त हो गया है—ऐसी संसृतिका शताशमात्र अवशिष्ट रह जाता है।

तदनन्तर 'निर्वाण' नामक छठे प्रकरणका वर्णन किया गया है। उसमें शेष साढ़े चौदह हजार श्लोक हैं। यह प्रकरण ज्ञानरूपी महान् पुरुषार्थका देनेवाला है। उसे जान लेनेपर सारी कल्पनाएँ शान्त हो जाती

हैं और परमात्माकी प्राप्तिरूप परम कल्याण हस्तगत हो जाता है। अधिक क्या, उक्त प्रकरणके ज्ञाता पुरुषके सम्पूर्ण सांसारिक भ्रम मिट जाते हैं। वह निर्विषय चैतन्य प्रकाशरूप, विज्ञानस्वरूप, आधि-व्याधियोंसे रहित और आकाशमण्डलके समान निर्विकार हो जाता है। उसकी सभी जगद्‌यात्राएँ शान्त हो जाती हैं और वह कृतकृत्य होनेके कारण स्वस्थ हो जाता है। वह प्रकृति एवं प्रकृतिके कार्यभूत सम्पूर्ण विषयोंमें कर्ताके अभिमान और ग्रहण-त्यागकी दृष्टिसे रहित हो जाता है, इसलिये वह देहधारी होते हुए विदेह-सा एवं संसारी होनेपर भी असंसारी-सा प्रतीत होता है। उसका अहंकाररूप पिशाच नष्ट हो जाता है और वह देहयुक्त होते हुए भी शरीर-रहित-सा रहता है। चैतन्यघन परमात्मा अपने अंदर कल्पित आकाशमें प्रत्येक परमाणुमें सहस्रों लोकोंकी रचना करके उन्हें धारण करता है और स्वयं उन्हें देखता है।

श्रीराम! जैसे उपजाऊ खेतमें उचित समयपर बोये गये उत्तम बीजसे अवश्य ही श्रेष्ठ फल प्राप्त होता है, उसी तरह इस संहिताको हृदयगम कर लेनेसे परमार्थ-विषयक ज्ञान सुलभ हो जाता है। जैसे प्रातःकाल होनेपर प्रकाशका होना अवश्यम्भावी है, वैसे ही इस संहिताको चित्तमें धारण कर लेने मात्रसे निश्चय ही उत्तम विवेककी उपलब्धि होगी। विद्वानोंके मुखसे इसका श्रवण करके अथवा स्वयं ही इसे समझकर धीरे-धीरे विचार करनेसे जब बुद्धि सुदृढ़रूपसे संस्कृत हो जाती है, तब पहले हृदयमें सभास्थानको विभूषित करनेवाली ऊँची लताके समान संस्कारयुक्त विशुद्ध वाणीका उदय होता है। फिर महान् गुणोंसे सुशोभित वह श्रेष्ठ चतुरता प्रकट होती है, जिससे राजा तथा देवगण भी प्रसन्न होते हैं। जैसे सुन्दर नेत्रोंसे युक्त पुरुष रात्रिके समय दीपक हाथमें लेकर सभी पदार्थोंको देख लेता है, उसी तरह बुद्धिमान् मनुष्य सर्वत्र पूर्वापरका ज्ञाता हो जाता है। इस ग्रन्थके अभ्याससे जिसका अज्ञानान्धकाररूप आवरण फट गया है अतएव जो पदार्थोंके प्रविभाजनमें समर्थ हो गयी है; ऐसी प्रज्ञा कालिमारहित रत्नदीपककी लौके समान उत्कृष्ट प्रकाशवाली हो जाती है। प्रस्तुत ग्रन्थका ज्ञाता पुरुष चाहे भयहेतुओंके सम्मुख ही क्यों न खड़ा हो, फिर भी जैसे बाण बड़ी-बड़ी चट्टानोंको विदीर्ण नहीं कर सकते, उसी तरह भयंकर सांसारिक भय उसके हृदयको पीड़ा नहीं पहुँचा सकते। इस ग्रन्थके अध्ययनसे जन्ममें प्रारब्धकी और कर्ममें पुरुषार्थकी कारणता कैसे होगी!—इस प्रकारके संशय-समुदाय दिनमें अन्धकार-की भाँति विलीन हो जाते हैं। इस ग्रन्थका विचार करनेवाले पुरुषके हृदयमें समुद्रकी-सी गम्भीरताका, सुमेरुगिरिकी-सी धीरताका और चन्द्रमाकी-सी शीतलता-का उदय हो जाता है। जब हृदयाकाशमें शमके आलोकसे विभूषित विवेकरूपी निर्मल सूर्यका उदय हो जाता है, तब निश्चय ही अनर्थसूचक कामादि धूमकेतु अपना उदय नहीं ले पाते। धैर्यकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुई जो बुद्धि धर्मरूपी दीवालमें गाढ़रूपसे संलग्न हो गयी है, उसे मानसिक चिन्ताएँ विचलित नहीं कर सकतीं, जैसे वायु चित्रलिखित लताको नहीं कँपा सकती। तत्त्वज्ञ पुरुष विषयासक्तिरूप गड्ढेमें नहीं गिरता; क्योंकि जिसे उत्तम मार्गका ज्ञान है, वह भला गड्ढेकी ओर क्यों दौड़ेगा। सत्-शास्त्रोंके परिशीलनसे जिनका चरित्र उत्तम हो गया है, उनकी बुद्धि यथायोग्य प्राप्त शास्त्रानुकूल कर्ममें ही रमण करती है—ठीक उसी तरह, जैसे पतिव्रता स्त्री अपने अन्तःपुरके आँगनमें ही प्रसन्न रहती है। जिस पुरुषका अन्तःकरण मोक्ष-साधनके अनुभवसे शुद्ध हो गया है, उसे भोगसमुदाय न तो कभी पीडित ही करते हैं और न आनन्द ही देते हैं। वह अनिष्ट कार्योंके प्राप्त होनेपर न तो द्वेष करता है और न इष्ट कार्योंके नष्ट हो जानेपर उनकी आकाङ्क्षा

हो करता है; बल्कि वह कार्य-फलादिके स्वरूपका ज्ञाता होकर भी जड वृक्षकी भाँति अनभिज्ञका-सा आचरण करता है। वह साधारण जनकी तरह समयानुकूल प्राप्त हुए पदार्थोंसे ही निर्वाह करता हुआ देखा जाता है—यहाँतक कि अथवा अनिष्ट फलके प्राप्त होनेपर भी उसके हृदयमें स्वल्पमात्र भी विकार नहीं होता। राघव! इस सम्पूर्ण शास्त्रको बँचवाकर और समझकर फिर इसपर विचार करो। यह कथनमात्र नहीं है, बल्कि देवोंके वरदान और शापकी भाँति इसका फल अवश्य प्राप्त होता है। यह सुन्दर शास्त्र उत्तम ज्ञानसे युक्त अलंकारोंसे विभूषित, काव्यस्वरूप और सरस है। इसमें दृष्टान्तोंद्वारा विषयका प्रतिपादन किया गया है। जिसे थोड़ा भी पद पदार्थका ज्ञान है, वह स्वयं ही उसे समझ लेता है; किंतु जो स्वयं इसे जाननेमें असमर्थ है, उसे पण्डितके मुखसे सुनना चाहिये। जैसे संकल्पद्वारा निर्मित नगरमें पुरुषको हर्ष-विषाद बाधा नहीं पहुँचाते उसी तरह संसार-भ्रमका परिज्ञान हो जानेपर यह भी कष्टदायक नहीं होता। जैसे यह चित्रलिखित सर्प है, वास्तविक सर्प नहीं है—ऐसा जान लेनेपर वह सर्प-जनित भयका दाता नहीं होता, उसी तरह इस दृश्य संसाररूपी सर्पका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर यह भी सुख अथवा दुःख नहीं देता। जैसे चित्रलिखित सर्पका पूर्ण ज्ञान हो जानेपर उसका सर्पत्व ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार संसारका वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो जानेपर यह स्थित रहते हुए भी शान्त हो जाता है अर्थात् इसका प्रभाव नहीं पड़ता।

रघुनन्दन! यह शास्त्र ज्ञानका विस्तार करनेवाला और बुद्धिद्वारा ग्रहण किये जानेवाले सारभूत पदार्थोंकी परमावधि है। अब मैं इसका वर्णन करता हूँ, सुनो। पहले जिस विधिसे यह शास्त्र श्रवण किया जाता है तथा जिस परिभाषासे इसका यथार्थरूपसे विचार करनेका विधान है, वह अवतरणिका श्रवण करो। जिस देखे हुए पदार्थके सादृश्यसे अनुभवमें न आये हुए पदार्थका ज्ञान कराया जाता है, बोधोपकाररूप फल प्रदान करनेवाले उस सादृश्यको विद्वान् लोग दृष्टान्त कहते हैं। श्रीराम! जैसे रात्रिमें दीपकके बिना घरमें रक्खे हुए बर्तन आदि सामग्रियोंका ज्ञान नहीं हो सकता, उसी तरह दृष्टान्तके बिना अपूर्व अर्थका बोध होना असम्भव है। उपमान और उपमेयके जिस कार्य-कारणभावका प्रतिपादन किया गया है, वह परब्रह्मको छोड़कर शेष सभी पदार्थोंके साथ लागू होता है। मैं यहाँ ब्रह्मोपदेशके प्रसङ्गमें तुमसे जो दृष्टान्त कह रहा हूँ, उसमें एकदेशके साधर्म्यसे प्रकृतार्थका परिग्रहण किया जाता है। यहाँ ब्रह्मतत्त्वका बोध करानेके लिये जो-जो दृष्टान्त दिया जाता है, वह स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले पदार्थोंकी तरह मिथ्याभूत जगत्के अन्तर्गत ही है—ऐसा समझना चाहिये। उत्पत्तिके पूर्व और विनाशके उत्तरकालमें जैसे यह जगत् अभावग्रस्त था, उसी तरह वर्तमान कालमें भी विचार करनेपर अवस्तुभूत ही है; अतः मिथ्यात्वके कारण जाग्रत् और स्वप्न—इन दोनोंकी समानता है। यह प्रसिद्ध बात बालकोंतककी समझमें आ सकती है। मोक्षसाधनोंके निर्माता ग्रन्थकर्ता महर्षि वाल्मीकिने दूसरे भी जिन ग्रन्थोंकी रचना की है, उनमें भी ज्ञातव्य वस्तुका ज्ञान करानेके लिये केवल यही व्यवस्था रक्खी है कि दृष्टान्तोंके जिस अंशमें समता सम्भव हो, उसी अंशके साथ समता रक्खी जाय। चूँकि यह जगत् स्वप्न, संकल्प और ध्यानसे कल्पित नगरके समान मिथ्या है, इसी कारण यहाँ वे ही दृष्टान्त दिये गये हैं, दूसरे नहीं। ज्ञानप्राप्तिके लिये कारणरहित ब्रह्ममें जो कारणताकी उपमा दी जाती है, वहाँ उपमाप्रयुक्त पदार्थोंके साथ सर्वांशमें साधर्म्य सम्भव नहीं हो सकता। अतः विवादरहित बुद्धिमान् पुरुषको ज्ञानप्राप्तिके लिये उपमानसे उपमेयका एक अंशमें ही साधर्म्य स्वीकार करना चाहिये। पदार्थोंके

अवलोकनमें दीपकके प्रकाशमात्रके अतिरिक्त उसके पात्र, तेल और बत्ती आदि किसीका भी उपयोग नहीं होता। केवल एकदेशके सादृश्य उपमान उपमेयका ज्ञान करा देता है। जैसे 'मणिर्दीप इव' इस दृष्टान्तमें उपमान दीपक केवल प्रकाशसे उपमेय मणिका बोधक होता है। दृष्टान्तके अंशमात्रसे ज्ञेय तत्त्वका ज्ञान हो जानेपर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके अर्थका निश्चय उपादेयरूपसे ग्रहण करना चाहिये। कुतार्किकताका आश्रय लेकर अनुभवविरुद्ध अपवित्र विकल्पोंद्वारा प्रबुद्धताका नाश नहीं करना चाहिये।

श्रीराम! दृष्टान्तके द्वारा अद्वितीय आत्मज्ञानस्वरूप शास्त्रार्थके ज्ञानसे महावाक्यार्थभूत ब्रह्मस्वरूपसे सम्यक् प्रकारसे सिद्ध हुई शान्तिको ही निर्वाण कहा जाता है। इसलिये दृष्टान्त और दार्ष्टान्तके विविध विकल्पोंके पचड़ेसे कोई प्रयोजन नहीं है। किंतु जिस किसी भी युक्तिसे महावाक्यार्थका भलीभाँति आश्रय लेना चाहिये। राघव! तुम शान्तिको ही परम श्रेय जानो, अतः उसकी प्राप्तिके लिये यत्नशील हो जाओ; क्योंकि शान्ति और शास्त्रज्ञानसे विभूषित विचारपरायण पुरुषको दृष्टान्त एवं शास्त्रोपदेश, सौजन्य, उत्तम बुद्धि और शास्त्रज्ञ पुरुषोंके समागमद्वारा यत्नका आश्रय लेकर उत्तम परम पदको प्राप्त करना चाहिये। विद्वान् पुरुषको तबतक विचार करते रहना चाहिये, जबतक पुनः नष्ट न होनेवाली तुर्यपद नामक शान्तिमयी आत्मविश्रान्ति प्राप्त न हो जाय। जो पुरुष तुर्यपद नामक शान्तिसे युक्त होकर भवसागरसे पार हो गया है, वह गृहस्थ हो या संन्यासी, उसका जीने या न जीनेसे अथवा कर्म करने या न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। जैसे सम्पूर्ण जलोंका अधिष्ठान समुद्र है, उसी तरह सारे प्रमाणोंकी सत्ताका प्रमाण एकमात्र प्रत्यक्ष ही है; अतः अब तुम उसके विषयमें श्रवण करो। श्रेष्ठ पुरुष सारी इन्द्रियोंके सारभूत ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। जिस इन्द्रियके प्रति जो ज्ञान सिद्ध होता है, वही प्रत्यक्ष कहा जाता है। अनुभूति, वेदन और प्रतिपत्तिके नामानुसार इस शास्त्रमें उसीका प्रत्यक्ष नाम रक्खा गया है। वही हमलोगोंका जीव है, वही संवित् है, वही 'अहंता' की प्रतीतिका विषयभूत साक्षी पुरुष है। वह जब संवित्के सहयोगसे उदित होता है, तब उसे पदार्थ कहा जाता है। जैसे जल तरङ्ग आदिके रूपमें दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार वह परमात्मा संकल्प-विकल्प आदि नाना प्रकारके भ्रमोंके कारण जगद्रूपसे प्रकाशित होता है। सृष्टिके पूर्व जो कारणरहित था, वही सृष्टिके आरम्भमें सृष्टिलीलावश स्वयं ही अपनेमें स्फुरित होकर प्रत्यक्ष कारण हुआ। जीवका अज्ञान जनित कारण यद्यपि असत् है, तथापि वह सत्-सा प्रतीत होता है। वही इस प्रकृतिमें जगद्रूपसे व्यक्त हुआ है। विचार तो स्वयं ही स्वकर्मानुसार प्राप्त हुए अपने शरीरका नाश करके शीघ्र ही महान् परम पदको प्रकट कर देता है। विचारवान् पुरुष जब परमात्माको प्राप्त कर लेता है, तब उसका विचार भी उसीमें विलीन हो जाता है, उस समय वर्णनातीत केवल परमात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है।

इस प्रकार प्रपञ्चका अभाव हो जानेके कारण अपने बुद्धि, इन्द्रिय और कर्मोंद्वारा मनके इच्छारहित अतएव शान्त हो जानेपर उसका न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न न करनेसे ही। फिर तो जैसे संचालकके द्वारा बिना चलाया हुआ यन्त्र काम नहीं देता, उसी तरह इच्छारहित मनके शान्त हो जानेपर कर्मेन्द्रियाँ कर्म आदिमें प्रवृत्त ही नहीं होतीं। बाह्य इन्द्रियोंद्वारा विषय-ग्रहण एवं मनद्वारा विषयानुसंधानरूप पदार्थोंसे समाकुल यह जगत् विचारके अन्तर्गत विद्यमान है—ठीक उसी तरह, जैसे स्पन्दन वायुके भीतर ही होता है। शुद्ध सर्वात्मविषयक विचार जिस प्रकार कर्मानुसार भोगके लिये प्रकट होता है, तदनुरूप ही वह दिशा, काल तथा बाह्य एवं आन्तर पदार्थोंके

रूपमें विस्तृतरूपसे शोभित होता है। वह विचार शरीर आदिमें दृश्यताभासको देखकर 'यही मेरा स्वरूप है' यों मोहवश धारणा करके स्थित है। उसको अपना रूप जहाँ, जैसे और जिस प्रकारका प्रतीत होता है, वह वैसा ही हो जाता है। वह सर्वात्मा जहाँ जिस प्रकार आविर्भूत होता है, वहाँ वैसे ही तत्काल स्थिर हो जाता है और उसे अपना ही स्वरूप मानकर सुशोभित होता है। सर्वात्मकताके कारण द्रष्टामें दृश्यत्वका आरोप होता है। वह दृश्यत्व द्रष्टाकी उपस्थितिमें ही सम्भव है, अन्यथा दृश्यता भी वास्तविक नहीं है। अत. प्रत्यक्ष ही कारणरहित अद्वितीय ब्रह्मरूपसे सिद्ध हुआ स्थित है। वही सभी प्रमाणोंका निर्माता है, क्योंकि अनुमान आदि प्रमाण प्रत्यक्षपूर्वक होनेके कारण उसीके अंश हैं। साधुस्वभाव राम! अपने कर्ममात्रको दैव—प्रारब्ध मानकर उसकी उपासना करनेवाला इन्द्रियजयी पुरुष उस दैव-शब्दार्थ अर्थात् प्रारब्धको दूर हटाकर अपने पुरुषार्थ-द्वारा उस परम पदको अपने भीतर ही प्राप्त करता है।

रघुनन्दन! पहले संत-समागमरूपी युक्तिके द्वारा बलपूर्वक अपनी बुद्धिको बढ़ाना उचित है। तत्पश्चात् महापुरुषोंके लक्षणोंके अनुकरणसे अपनेमें महापुरुषता लानी चाहिये। इस जगत्‌में जो-जो पुरुष जिस-जिस गुणसे विशेषरूपसे सम्पन्न है, वह उसी गुणके द्वारा विशिष्ट समझा जाता है; अतः शीघ्र ही उस पुरुषसे वह गुण प्राप्त करके अपनी बुद्धिकी वृद्धि करनी चाहिये। जैसे कमलसे सरोवर और सरोवरसे कमल परस्पर उन्नति-लाभ करते हैं, उसी तरह ज्ञानसे शम आदि गुण और शम आदि गुणोंसे ज्ञान—ये परस्पर वृद्धिंगत होते रहते हैं। सत्पुरुषोंके सदाचरणसे ज्ञानकी और ज्ञानसे सत्पुरुषोंके आचरणकी वृद्धि होती है। यों ज्ञान और सत्पुरुषोंके आचरण परस्पर एक-दूसरेके सहयोगसे बढ़ते रहते हैं। तात! जबतक इस संसारमें ज्ञान और सदाचारका समानरूपसे अभ्यास नहीं किया जाता, तबतक पुरुषको इन दोनोंमेंसे एककी भी सिद्धि नहीं होती। रघुनन्दन! जिस प्रकार मैंने सदाचारके क्रमका वर्णन किया है, उसी तरह अब आगे ज्ञानक्रमका भलीभाँति उपदेश करूँगा। यह सत्-शास्त्र कीर्तिकारक, आयुवर्धक और परम पुरुषार्थरूप फल प्रदान करनेवाला है; अतः बुद्धिमान् पुरुषको इस शास्त्रके ज्ञानसे सम्पन्न आप्त पुरुषसे इसका श्रवण करना चाहिये।

(सर्ग १७—२०)

॥ मुमुक्षुव्यवहार-प्रकरण सम्पूर्ण ॥

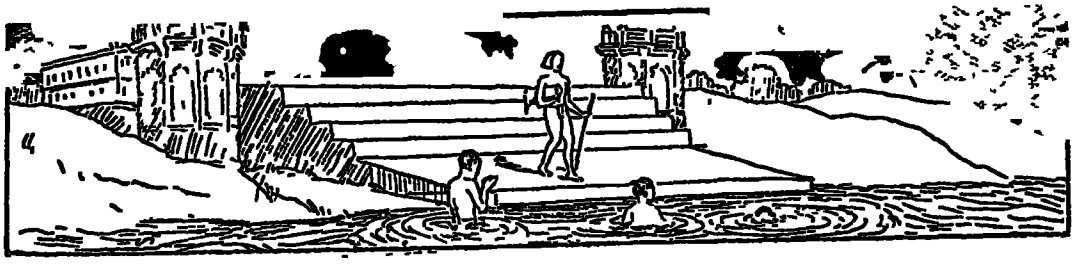

उत्पत्ति-प्रकरण

दृश्य जगत्‌के मिथ्यात्वका निरूपण, दृश्य ही बन्धन है और उसका निवारण होनेसे ही मोक्ष होता है, इसका प्रतिपादन तथा द्रष्टाके हृदयमें ही दृश्यकी स्थितिका कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! जिसमें मुमुक्षुओंके व्यवहारोंका ही प्रधानरूपसे वर्णन है, उस मुमुक्षु-व्यवहार-प्रकरणके बाद अब मैं इस उत्पत्ति-प्रकरणका वर्णन करता हूँ। जबतक दृश्य जगत्‌की सत्ता है, तभीतक यह जन्म-मृत्युरूप संसारका बन्धन है। दृश्य-का अभाव हो जानेसे बन्धन कदापि नहीं रह सकता। यह दृश्य जगत् जिस प्रकार उत्पन्न होता है, वह बता रहा हूँ। तुम क्रमशः ध्यान देकर सुनो। संसारमें जो उत्पन्न होता है, वही वृद्धि एवं क्षयको प्राप्त होता है। वही बँधता और मोक्षको प्राप्त होता है तथा वही स्वर्ग या नरकमें पड़ता है। अपने स्वरूपका बोध न होनेसे ही बन्धन है। इसलिये स्वरूपके बोधके लिये ही मैं आगेकी बात बता रहा हूँ (इससे तुम्हें यह ज्ञात होगा कि यह दृश्य प्रपञ्च कभी हुआ ही नहीं)। उत्पत्ति आदिका सम्बन्ध इस दृश्य जगत्‌से ही है (आत्मासे नहीं)। आत्मा तो दृश्यकी उत्पत्तिसे पहले जैसा रहा है, वैसा ही उसकी उत्पत्तिके बाद भी है (वह सदा ही एकरस रहता है) जैसे सुषुप्तिमें स्वप्नके संसारका अभाव हो जाता है, उसी तरह यह जो समस्त चराचर जगत् दिखायी देता है, इसका कल्पके अन्तमें विनाश (अभाव) हो जाता है। तत्पश्चात् निष्क्रिय गम्भीर (अपरिच्छिन्न), नाम-रूपसे रहित और अव्यक्त कोई अनिर्वचनीय सद् वस्तु ही शेष रह जाती है वह तेजस्तत्त्व नहीं है, क्योंकि उसके रूप नहीं होता। तथा वह तमोमय भी नहीं है, क्योंकि वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है। विद्वानोंने व्यवहार-निर्वाहके लिये उस सत्-स्वरूप परमात्माके ऋत, आत्मा, परब्रह्म तथा सत्य इत्यादि नाम रख छोड़े हैं।

सोनेका बना हुआ कड़ा सोना ही है। उस सोनेसे 'कटक' शब्दका अर्थ (कड़ा) जैसे पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार 'जगत्' शब्दका जो अर्थ है वह परब्रह्मपर ही आधारित है, अतः उससे पृथक् नहीं है। जैसे कड़ेका स्वरूप सुवर्णके स्वभावके ही अन्तर्गत है, कड़ेके स्वभावके अन्तर्गत नहीं, उसी प्रकार यह दृश्यमान जगत् भी अपने परिच्छिन्न स्वभावको त्याग देनेपर ब्रह्मभावमें ही प्रतिष्ठित है, 'जगत्' शब्दके अर्थमें नहीं। (तात्पर्य यह कि सोनेमें ही कड़ेकी कल्पना हुई है, कड़ेमें नहीं। इसी तरह ब्रह्ममें ही जगत्‌की कल्पना हुई है, जगत्‌में नहीं; अतः वह ब्रह्मसे भिन्न नहीं है।) जैसे मरु-मरीचिकामें प्रतीत होनेवाली नदी अपने भीतर न होनेपर भी चञ्चल तरङ्गोंका विस्तार करती है और वे तरङ्गें सच्ची सी जान पड़ती हैं, उसी प्रकार मन ही इस जगत्‌रूपी इन्द्रजालकी सम्पत्ति-का विस्तार करता है और वह सम्पत्ति असत् होनेपर भी सत्य-सी प्रतीत होती है। जिसके कारण असत् वस्तु भी सत्-सी प्रतीत होती है, वह माया है। सर्वज्ञ विद्वानोंने उसके अविद्या, संसृति, बन्ध, माया, मोह, महत् और तम आदि अनेक नामोंकी कल्पना की है।

प्रिय श्रीराम ! दृश्य-प्रपञ्चका अस्तित्व ही द्रष्टाका बन्धन कहा गया है। दृश्यके बलसे ही द्रष्टा बन्धनमें पड़ा है। दृश्यका निवारण हो जानेपर वह उस बन्धनसे मुक्त हो जाता है। 'त्वम्' (तू), 'अहम्' (मैं) और 'इदम्' (यह) इत्यादि रूपोंमें कल्पित जो मिथ्या जगत् है, उसीको दृश्य कहते हैं। जबतक वह दृश्य बना रहता है, तबतक मोक्ष नहीं होता। यदि यह दृश्यजगत् वास्तवमें है, तब तो किसीके लिये उसका

निवारण नहीं हो सकता; क्योंकि जो असत् वस्तु है, उसका अस्तित्व नहीं है और जो सत् वस्तु है, उसका कभी अभाव नहीं होता। चित्-स्वरूप आत्माका जिसे बोध नहीं है, वह द्रष्टा जहाँ कहीं भी रहता है, वहीं उसकी दृष्टिके समक्ष इस दृश्य जगत्‌का वैभव प्रकट हो जाता है। इस दृश्य-प्रपञ्चके रहते हुए निर्विकल्प समाधि कैसे हो सकती है? निर्विकल्प समाधि होनेपर ही चेतनता और तुरीय पदकी उपपत्ति होती है। जैसे सुषुप्ति (प्रगाढ निद्रा) के पश्चात् यह सारा सांसारिक दु.ख अनुभवमें आने लगता है, उसी प्रकार समाधिसे उठनेपर यह सम्पूर्ण दु.खमय जगत् जैसेका तैसा प्रतीत होने लगता है। इस मनरूप दृश्यके रहते हुए कोई समाधिके लिये कितना ही प्रयत्नशील क्यों न हो, क्या उसे दृश्य प्राप्त नहीं होता? (अवश्य होता है); क्योंकि जहाँ-जहाँ इसकी चित्तवृत्ति जाती है, वहाँ-वहाँ उससे सम्बन्ध रखनेवाले जगत्‌रूपी भ्रमका निवारण नहीं किया जा सकता। जैसे कमलगट्टेके भीतर कमलिनीका वह बीज विद्यमान है, जिसमें उसका मृणालमय रूप छिपा हुआ है, उसी प्रकार अज्ञानी द्रष्टामें वह बुद्धि रहती है, जिसमें दृश्य जगत् अन्तर्हित होता है। जैसे पदार्थोंमें रस, तिल आदिमें तेल और फूलोंमें सुगंध रहती है, उसी प्रकार उपद्रष्टामें दृश्य बुद्धि रहती ही है। कपूर या कस्तूरी आदि जहाँ कहीं भी हों, उनकी सुगंध प्रकट हो ही जाती है, उसी प्रकार द्रष्टा कहीं भी हो, उसके उदरमें दृश्य जगत्‌का प्रादुर्भाव होता ही है। जैसे तुम्हारे हृदयमें स्थित मनो-राज्य-बुद्धि अपने अनुभवसे ही देखी गयी है और जैसे हृदयस्थित स्वप्न एवं संकल्प तुम्हारे द्वारा अनुभवसे ही देखे जाते हैं, उसी प्रकार यह दृश्य जगत् तुम्हारे हृदयमें ही स्थित है और अपने अनुभवसे ही दृष्टिगोचर होता है। (सर्ग १)

ब्रह्माकी मनोरूपता और उसके संकल्पमय जगत्‌की असत्ता तथा ज्ञाताके कैवल्यकी ही मोक्षरूपताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! मन्वन्तर आरम्भ होनेपर जब सम्पूर्ण प्राणियोंको अपना ग्रास बनानेवाली मृत्यु प्रजाका संहार करती हुई सबल हो उठी, तब उसने स्वयं ही ब्रह्माजीपर आक्रमण करनेका उद्योग आरम्भ किया। उस समय धर्मराज यमने उसे शीघ्र ही इस प्रकार शिक्षा दी—'मृत्यो! ब्रह्मा परम (चिन्मय) व्योमस्वरूप हैं। उनकी आकृति पृथ्वी आदि पाँचों भूतोंसे रहित है। वे मनोमय और संकल्परूप हैं। भला, उनपर कैसे आक्रमण किया जा सकता है? जो चेतन आकाशके समान चमत्कारपूर्ण और चिन्मय आकाशके समान अनुभवरूप हैं, वे ब्रह्मा चिन्मय आकाश ही हैं। उनमें कार्य-कारण-भाव नहीं है। जैसे आकाशमें इन्द्रनील मणिसे बने हुए तथा औंधे रक्खे हुए महान् कड़ाहका-सा आकार पृथ्वी आदिसे रहित प्रतीत होता है और जैसे संकल्पनिर्मित पुरुष भी पृथ्वी आदिसे रहित ही ज्ञात होता है, उसी प्रकार स्वयम्भू ब्रह्मा भी पृथ्वी, जल आदि तत्त्वोंसे रहित ही भासित होते हैं। केवल (अद्वितीय) परमात्मामें न दृश्य है और न द्रष्टा ही है। यह स्वयं चिन्मात्रस्वरूप ही है, तथापि 'स्वयम्भू' नामसे प्रकाशित होता है। आदि, मध्य और अन्तसे रहित चिदाकाशरूप अद्वितीय ब्रह्म ही अपने संकल्पके कारण स्वयम्भू ब्रह्माके नामसे पुरुष अथवा देहधारी-सा भासित होता है।'

श्रीराम! जिसका पूर्वजन्मोंमें उपार्जित कर्मोंसे युक्त पूर्व-शरीर रहा है, उसीको इस जन्ममें संसार-स्थितिकी कारणभूत स्मृतिका होना सम्भव है। जब ब्रह्माका कोई प्राक्तन कर्म है ही नहीं, तब उन्हें पूर्व-जन्मकी स्मृतिका उदय कहाँसे और कैसे होगा?

इसलिये ब्रह्माका शरीर पृथ्वी आदि कारणोंसे रहित है। ब्रह्मा अपने कारणभूत परब्रह्म परमात्मासे अभिन्न एवं स्वयं आत्मस्वरूप हैं। श्रीराम! स्वयम्भू ब्रह्माका वह शरीर आतिवाहिक ही है। जो अजन्मा है, उसे आधिभौतिक शरीरकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—गुरुदेव! सभी प्राणियोंके एक 'आतिवाहिक' शरीर होता है और दूसरा 'आधिभौतिक'। किंतु ब्रह्माके केवल आतिवाहिक ही शरीर क्यों है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! सभी भूत कारणात्मा हैं—पञ्चीकृत भूतोंसे उत्पन्न देह आदिसे युक्त हैं; इसलिये उनके दो-दो शरीर होते हैं; परंतु अजन्मा ब्रह्माके लिये ऐसा कोई कारण नहीं है। इसलिये उनके एक ही आतिवाहिक शरीर है। एकमात्र अजन्मा ब्रह्मा ही सभी जातिके प्राणियोंके परम कारण हैं। उसका दूसरा कोई कारण नहीं है। इसलिये भी उनके एक ही शरीर है। सकल्परूप ही उनका शरीर है। पृथ्वी आदि भूतोंके क्रमशः सम्मिश्रणसे उनके शरीरका निर्माण नहीं हुआ है। वे चिदाकाशस्वरूप आदि-प्रजापति ब्रह्मा ही विविध जीवोंकी सृष्टि करके उनका विस्तार करते हैं। वे जीव ब्रह्माके संकल्पके सिवा अन्य कारणोंसे उत्पन्न नहीं हुए हैं। अतः वे भी चिदाकाश-स्वरूप ही हैं। जिस उपादानसे जिसकी उत्पत्ति होती है, वह तद्रूप ही होता है (जैसे मृत्तिकासे निर्मित हुआ घट मृत्तिकारूप ही है)। स्वर्णके कटक-कुण्डल आदि दृष्टान्तोंके द्वारा इस बातका सभीको अनुभव होता है। संसारमें व्यवहार करनेवाले समस्त प्राणियोंमें ब्रह्मा ही सबसे प्रथम चेष्टाशील चेतन भूत हैं। अन्तःकरण ही उनका स्वरूप है। उन्हींसे अहंकारका उदय होता है। जैसे वायुसे हिलना-चलना आदि चेष्टाएँ प्रकट होती हैं, उसी प्रकार उन प्रथम प्रतिस्पन्द (पहले प्रकट हुए चेष्टाशील चेतन भूत) ब्रह्मासे अभिन्न रूपवाली यह सृष्टि प्रकट हुई और फैली है। प्रतिभास ही जिनकी आकृति है, उन ब्रह्मासे उत्पन्न होनेके कारण यह दृश्यमान सृष्टि भी प्रतिभास-रूप ही है। फिर भी लोगोंकी दृष्टिमें यह सत्य-सी प्रतीत होती है। इस विषयमें दृष्टान्त है—स्वप्नमें दीखनेवाले स्वप्नान्तरमें प्राप्त होनेवाला स्त्रीका समागम। जैसे स्वप्नमें स्त्री-समागमका स्वप्न देखा जाय तो उससे भी वीर्यपात होता है, उसी प्रकार व्यवहार और प्रयोजन-की सिद्धिकी दृष्टिसे असत् वस्तु भी सत्य वस्तुके समान व्यवहारका प्रकाश करती है। तात्पर्य यह कि स्वप्नमें स्त्रीका समागम जाग्रत्-कालमें सर्वथा असत्य सिद्ध होता है, तो भी उससे सत्यके समान कार्य होता देखा जाता है। इसी प्रकार प्रतिभासमात्र शरीरवाले ब्रह्मासे उत्पन्न यह सृष्टि भी यद्यपि प्रतिभासरूपा ही है, तथापि सत्यके समान प्रयोजनको सिद्ध करती है।

जिनका शरीर पृथ्वी आदि तत्त्वोंसे नहीं बना है, जो चिदाकाशस्वरूप और निराकार हैं, वे सम्पूर्ण भूतोंके अधिपति स्वयम्भू ब्रह्मा सशरीर पुरुषकी भाँति प्रतीत होते हैं। पृथ्वी आदि तत्त्वोंसे शून्य आकारवाले संकल्प-पुरुष ब्रह्माका शरीर चित्तमात्र है। वे ही तीनों लोकोंकी स्थितिके कारण हैं। स्वयम्भू ब्रह्माका यह संकल्प प्राणियोंके कर्मोंके अनुसार जिस-जिस प्रकारसे विकासको प्राप्त होता है, चिदाकाश-स्वरूप आत्मा उसी प्रकारसे प्रतीत होता है। ब्रह्मा मनोमय ही हैं, पृथ्वी-आदि-निर्मित नहीं हैं। इसलिये उनसे उत्पन्न हुआ यह विश्व भी मनोमय ही है; क्योंकि जो जिससे उत्पन्न होता है, वह तद्रूप ही होता है। (जैसे सोनेका बना हुआ कटक-कुण्डल आदि सुवर्णरूप ही होता है।) अजन्मा ब्रह्माके कोई सहकारी कारण

१. अर्चि आदि मार्गके द्वारा लोकान्तरमें पहुँचना 'अतिवहन' कहलाता है। इस अतिवहन कर्ममें कुशल अत्यन्त सूक्ष्म शरीरको 'आतिवाहिक' कहते हैं।

नहीं हैं। सुतरां उनसे उत्पन्न हुए जगत्‌के भी कोई सहकारी कारण नहीं है। अतः यहाँ कारणसे कार्यमें कोई विचित्रता या विलक्षणता नहीं है। इसलिये जैसे कारण शुद्ध है, वैसे कार्य भी शुद्ध ब्रह्म ही है—यह सिद्धान्त स्थिर हुआ। इस जगत्‌के विषयमें कार्य-कारण-भावकी किंचिन्मात्र भी संगति नहीं है। जैसा परब्रह्म है वैसे ही तीनों लोक हैं। जल द्रवत्वसे अभिन्न ही है। उस अभिन्नरूप जलसे जिस तरह द्रवत्वका विस्तार होता है, उसी प्रकार मनोरूपताको प्राप्त हुए ब्रह्मा अपने शुद्ध आत्मा (स्वरूप) से ही जगत्‌का विस्तार करते हैं। वह जगत् उनके विशुद्ध आत्मस्वरूपसे भिन्न नहीं है जैसे ज्ञानियोंकी दृष्टिमें रस्सीमें सर्पभाव नहीं है, उसी प्रकार जगत्‌में आधिभौतिकता (जडता) नहीं है। फिर वे प्रबुद्ध ब्रह्मा आदि आधिभौतिक देहमें कैसे रह सकते हैं।

मन ही ब्रह्माके स्वरूपको प्राप्त हुआ है। वह मन संकल्परूप है। मन अपने ही स्वरूपको विकसित करके इस जगत्‌का निर्माण एवं विस्तार करता है। मनका रूप ब्रह्मा है और ब्रह्माका रूप मन। इसमें पृथ्वी आदिका प्रवेश नहीं है। मनने ही परमात्मामें पृथ्वी आदिकी कल्पना की है। जैसे कमलगट्टेके अंदर कमलिनी (भावी कमल-नाल) विद्यमान है उसी प्रकार मनके भीतर सम्पूर्ण दृश्यवर्ग स्थित है। मन, दृश्यवर्ग और इन दोनोंका द्रष्टा—इनका कभी किसीने विवेक नहीं किया। (जबतक द्रष्टा और दृश्यका विवेक न किया जाय, तबतक अज्ञानका उच्छेद न होनेसे मनमें दृश्यवर्गकी प्रतीति होती ही है।) यदि दृश्यरूप दुःख सत् हो तो उसकी कभी शान्ति नहीं हो सकती और दृश्यकी शान्ति न होनेपर ज्ञातामें कैवल्य (मोक्ष) की सिद्धि नहीं हो सकती। दृश्यका अभाव हो जानेपर ज्ञातामें ज्ञातृभाव स्थित हो, तो भी वह शान्त या निवृत्त हो जाता है। वही (ज्ञाताका कैवल्य ही) उसका मोक्ष कहा गया है। (सर्ग २-३)

मनके स्वरूपका विवेचन, मन एवं मनःकल्पित दृश्य जगत्‌की असत्ताका निरूपण तथा महाप्रलय-कालमें समस्त जगत्‌को अपनेमें लीन करके एकमात्र परमात्मा ही शेष रहते हैं और वे ही सबके मूल हैं, इसका प्रतिपादन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—भगवन्! मनका स्वरूप कैसा है, यह मुझे स्पष्टरूपसे बताइये; क्योंकि मन ही इस सम्पूर्ण लोकमञ्जरी[१]का विस्तार करता है।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! जैसे शून्य तथा जड आकारवाले आकाशका नाममात्रके अतिरिक्त दूसरा कोई रूप दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी प्रकार शून्य एवं जड रूप इस संकल्पात्मक मनका नामके सिवा कोई भी वास्तविक रूप नहीं दिखायी देता। यह जगत् क्षणिक संकल्परूपी मनसे उत्पन्न हुआ है। मृगतृष्णामें प्रतीत होनेवाले जल तथा चन्द्रमामें भ्रमसे दीखनेवाले द्वितीय चन्द्रमाके समान ही इस मनःकल्पित जगत्‌का स्वरूप है। रघुनन्दन! संकल्पको ही मन समझो। जैसे द्रवत्व (द्रवरूपता) से जलका भेद नहीं है और जैसे वायुसे स्पन्दन (चेष्टा या गतिशीलता) भिन्न नहीं है, उसी प्रकार सकल्पसे मन भिन्न नहीं है। प्रियवर श्रीराम! जिस विषयके लिये सङ्कल्प होता है, उसमें मन सङ्कल्प-रूपसे स्थित रहता है। तात्पर्य यह कि जो सङ्कल्प है वही मन है। सङ्कल्प और मनको कभी कोई पृथक् नहीं कर पाया है (इन दोनोंके पार्थक्यका अनुभव किसीको नहीं हुआ है)। मनको सङ्कल्पमात्र समझो।

वह समष्टिगत मन ही पितामह ब्रह्मा है। आतिवाहिक देह

१. जगत्-रूपिणी लता।

(सङ्कल्पमय शरीर) रूपी ब्रह्माको लोकमें समष्टिगत मन कहा गया है। अविद्या, संसार, चित्त, मन, बन्धन, मल और तम—इन्हें श्रेष्ठ विद्वानोंने दृश्यके पर्यायवाची नाम माना है। संकल्परूप दृश्यसे अतिरिक्त मनका कुछ भी स्वरूप नहीं है। यह दृश्य-प्रपञ्च वास्तवमें उत्पन्न ही नहीं हुआ है, यह बात मैं आगे चलकर फिर बताऊँगा। जैसे प्रकाशका आलोक* स्वभाव है, जैसे चपलता वायुका स्वभाव है और जिस प्रकार द्रवीभूत होना जलका स्वभाव है, उसी प्रकार द्रष्टामें दृश्यत्व स्वभावसे ही विद्यमान है (अर्थात् द्रष्टासे दृश्य भिन्न नहीं है), जैसे सुवर्णमें बाजूबंद और कटक-कुण्डल आदिकी स्थिति है, जैसे मृगतृष्णाकी नदीमें जलकी स्थिति है और जैसे सपनेकी नगरीमें उठायी गयी दीवारकी स्थिति है, उसी प्रकार द्रष्टामें दृश्यकी स्थिति मानी गयी है। अर्थात् जैसे उपर्युक्त वस्तुएँ अपने अधिष्ठानसे भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार द्रष्टासे दृश्यकी पृथक् सत्ता नहीं है।

द्रष्टासे दृश्यकी पृथक् सत्ता न होनेके कारण दृश्यका अभाव हो जानेपर जो द्रष्टामें बलात् द्रष्टापनका अभाव प्राप्त होता है, उसीको तुम असत् (मिथ्या दृश्य) के बाधित होनेसे सन्मात्र चिन्मयरूपमें अवशिष्ट हुए आत्माका केवलीभाव (या कैवल्य) समझो। जब चित्त आत्माके कैवल्य (अद्वितीय चिन्मात्रस्वरूपता) के बोधसे तदाकार (कैवल्यभावको प्राप्त) हो जाता है, तब उसकी राग-द्वेष आदि वासनाएँ उसी तरह शान्त हो जाती हैं, जैसे हवाके न चलनेपर वृक्षोंमें कम्पन और जलाशय आदिमें लहरोंका उठना बंद हो जाता है। दिशा, भूमि और आकाशरूपी सभी प्रकाशनीय पदार्थोंके न रहनेपर जिस तरह प्रकाशका शुद्ध रूप ही अवशिष्ट रहता है, उसी प्रकार तीनों लोक, तू और मैं इत्यादि दृश्य प्रपञ्चकी सत्ता न होनेपर शुद्धरूपसे अवशिष्ट चिन्मय द्रष्टाका केवलीभाव (कैवल्य) ही रह जाता है।

* अन्धकारकी निवृत्तिपूर्वक समस्त पदार्थोंको नेत्रोंके समक्ष ला देना।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! यदि दृश्य सत् है, तब तो यह शान्त या निवृत्त नहीं हो सकता; क्योंकि सत्का कभी अभाव नहीं होता और यदि यह दोष प्रदान करनेवाला दृश्य असत् है, तब यह बात हमारी समझमें आती नहीं। इसलिये यह दृश्यरूपिणी विपूचिका (हैजा), जो मनसे जन्म आदिके भ्रमको उत्पन्न करनेवाली और दुःखकी परम्पराको देनेवाली है, कैसे शान्त होगी?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! जिस वस्तुकी सत्ता है, उसका कभी नाश नहीं होता। यह जो कुछ आकाश आदि भूत और अहंकारके रूपमें लक्षित होता है, वह सब व्यवहार-दशामें जगत् है, किंतु परमार्थ दशामें ब्रह्म है। ब्रह्मके सिवा 'जगत्' शब्दका दूसरा कोई वास्तविक अर्थ है ही नहीं। हमारे सामने यह जो कुछ दृश्य-प्रपञ्च दृष्टिगोचर होता है, वह सब अजर, अमर एवं अव्यय परब्रह्म ही है। सर्वत्र पूर्णका प्रसार हो रहा है। शान्त परब्रह्ममें शान्त जगत् स्थित है। आकाशमें ही आकाशका उदय हुआ है तथा ब्रह्ममें ही ब्रह्म प्रतिष्ठित है *। वास्तवमें न तो दृश्य सत्-रूप

* परब्रह्म परमात्माके साथ जीवात्माकी एकताका जो बोध है, वही पूर्णमें पूर्णका प्रसार या प्रवेश है। परब्रह्म परमात्मा सर्वत्र व्यापक होनेके कारण पूर्ण है। जीवात्मा भी उससे अभिन्न होनेके कारण पूर्ण ही है। इनमें जो भेदका भ्रम था, उसका मिट जाना ही उनकी एकता है। इस एकताकी अनुभूति ही पूर्णमें पूर्णका प्रवेश है। वास्तवमें जीवात्मा न तो कभी ब्रह्मसे पृथक् होता है और न वह कहीं अन्यत्रसे आकर ब्रह्ममें प्रविष्ट ही होता है। ये प्रवेश और निर्गम औपचारिक हैं, वह (जीवात्मा) ब्रह्मरूप होकर ही ब्रह्ममें प्रतिष्ठित होता है, जैसा कि श्रुतिका कथन है—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।' मूल ग्रन्थमें जो 'शान्ते शान्तं व्यवस्थितम्' कहा गया है, इसमें प्रथम 'शान्त' शब्द ब्रह्मके लिये प्रयुक्त हुआ है और दूसरा 'शान्त' शब्द जगत्के लिये। जहाँ तीनों अवस्थाओं तथा सब प्रकारकी भेद-भ्रान्तियोंका सदाके लिये शमन हो गया है, वह ब्रह्म शान्तस्वरूप कहा गया है। ब्रह्मदृष्टि प्राप्ति होनेपर जगत-दृष्टि शान्त हो जाती है, इसलिये जगत्को भी शान्त कहा गया

है, न द्रष्टा, न दर्शन, न शून्य, न जड और न चित् ही सद्रूप है। केवल शान्तस्वरूप ब्रह्म ही सद्रूप है, जो सर्वत्र व्याप्त है।

यह जगत् सृष्टिके आदिमें उत्पन्न नहीं हुआ था, इसलिये इसका अस्तित्व सर्वथा नहीं है। जैसे स्वप्न आदिमें मनसे ही नगरकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार यह जगत् भी मनसे ही उत्पन्न होकर प्रतीतिका विषय हो रहा है। स्वयं मन ही सृष्टिके आदिमें उत्पन्न न होनेके कारण असत्-स्वरूप है, उस असत्-रूप मनसे कल्पित होनेके कारण भी यह जगत् असत् ही है। फिर जिस प्रकार इसका अनुभव होता है, वह बता रहा हूँ, सुनो। मन निरन्तर क्षीण होनेवाले इस दृश्यरूपी दोषका विस्तार करता है। वह स्वयं असत्-रूप ही है, तो भी सत्-सा प्रतीत होनेवाले जगत्‌की सृष्टि करता है—ठीक उसी तरह, जैसे स्वप्न असत् होता हुआ भी सत्-सा प्रतीत होनेवाले जगत्‌की सृष्टि करता है। मन ही अपनी इच्छाके अनुसार स्वयं शीघ्र ही शरीरकी कल्पना कर लेता है। वही चिरकालकी भावनासे विस्तारको प्राप्त होकर इस ऐन्द्रजालिक वैभवरूप दृश्य-जगत्‌का विस्तार करता है। चञ्चल शक्तिसे युक्त होनेके कारण केवल यह मन ही स्वयं स्फुरित होता, उछलता, कूदता, जाता, आता, याचना करता, घूमता, गोते लगाता, संहार करता और अपकर्षको प्राप्त होता है।

श्रीराम! महाप्रलय होनेपर जब जगत् अति सूक्ष्म रूपमें स्थित होनेके कारण अपने कार्यमें असमर्थ हो जाता है, उस समय वह सम्पूर्ण भावी दृश्यवर्गकी सृष्टिसे पहले विक्षेपरहित शान्तावस्थामें ही शेष रहता है। उस प्रलयकालमें केवल कभी अस्त न होनेवाले सूर्यदेव—स्वयंज्योति, अजन्मा, रोग-शोकसे रहित, सदा सर्वशक्तिमान्, सर्वस्वरूप, परमात्मा महेश्वर ही विराजमान होते हैं। जहाँसे वाणी उन्हें न पाकर लौट आती है अर्थात् जहाँ वाणीकी पहुँच नहीं हो पाती, जो जीवन्मुक्त महात्माओंके द्वारा जाने जाते हैं, साङ्ख्यदर्शनके अनुयायी जिन्हें 'पुरुष' कहते हैं, वेदान्तवादी 'ब्रह्म' नामसे जिनका चिन्तन करते हैं, विज्ञानवेत्ताओंकी दृष्टिमें जो परम निर्मल विज्ञानमात्र हैं, जिन्हें शून्यवादी शून्य कहते हैं, जो सूर्यके प्रकाशके भी प्रकाशक हैं; जैसे नदी-नाले आदिके जल अन्ततोगत्वा महासागरमें ही गिरते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण दृश्यसमूह महाप्रलयकालमें जिनमें ही विलीन होते हैं; जो आकाशमें, विभिन्न शरीरोंमें, प्रस्तरोंमें, जलमें, लताओंमें, धूलिकणोंमें, पर्वतोंमें, वायुमें और पाताल आदि सभी देश, काल एवं वस्तुओंमें समान भावसे स्थित हैं; जिन्होंने आकाशको शून्य पर्वतोंको घनीभूत और जलको द्रवीभूत बनाया है, जगत्‌को दीपककी भाँति प्रकाशित करनेवाले सूर्य जिनके अधीन हैं; जैसे मरुभूमिमें सूर्यकी तपती हुई किरणोंके भीतर जलराशि लहराती दिखायी देती है, उसी प्रकार जिन अत्यन्त व्यापक परमात्मारूपी महासागरमें आविर्भाव और तिरोभाव (उत्पत्ति और प्रलय)-से युक्त त्रिलोकरूपिणी तरङ्गें उठती रहती हैं, जो सम्पूर्ण व्यावहारिक सत्ताओंसे ऊँचे उठे हुए—सर्वविलक्षण पारमार्थिक सत्तासे सम्पन्न हैं, जिनसे ही नियति, देश, काल, चलन, चेष्टा और क्रिया आदि समस्त भावोंको कार्य निर्वाहकी क्षमता प्राप्त हुई है—वे एकमात्र परब्रह्म परमेश्वर ही उक्त महाप्रलयके समय शेष रहते हैं। वे परमात्मा उत्पत्ति-स्थिति आदिसे रहित, कभी अस्त न होनेवाले, नित्य प्रकाशमान ज्ञानसे परिपूर्ण एवं विकारशून्य अपने स्वरूपमें ही स्थित हैं। वे एकमात्र—अद्वितीय ही हैं। अतएव वे मायासे अनेक विशाल संसारों—असंख्य ब्रह्माण्डोंकी रचना करते हुए भी वास्तवमें न कोई कार्य करते हैं और न उनसे कोई चेष्टाएँ ही बनती हैं।

(सर्ग ४-५)

है। मृत्तिकामें घटकी भाँति ब्रह्ममें ही जगत्‌की कल्पना हुई है; इसलिये वह उसीमें स्थित है। घट आदि उपाधियोंके नष्ट होनेपर घटाकाश, मठाकाश आदिकी जो महाकाशमें प्रतिष्ठा होती है, वही आकाशमें आकाशका उदय है। इसी तरह जगत्-दृष्टिका निवारण होकर जो ब्रह्मभावका साक्षात्कार होता है, वही ब्रह्ममें ब्रह्मकी प्रतिष्ठा है।

ज्ञानसे ही परासिद्धि या परमात्मप्राप्तिका प्रतिपादन तथा ज्ञानके उपायोंमें सत्सङ्ग एवं सत्-शास्त्रोंके स्वाध्यायकी प्रशंसा

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! परब्रह्म परमात्मा देवताओंके भी देवता हैं। उनके ज्ञानसे ही परम सिद्धि (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, क्लेशयुक्त सकाम कर्मोंके अनुष्ठानसे नहीं। संसार-बन्धनकी निवृत्ति या मोक्षकी प्राप्तिके लिये ज्ञान ही साधन है, ज्ञानके अतिरिक्त सकाम कर्म आदिका इसमें कोई भी उपयोग नहीं है; क्योंकि मृगतृष्णामें होनेवाले जलके भ्रमका निवारण करनेके लिये ज्ञानका ही उपयोग देखा गया है—ज्ञानसे ही उस भ्रमकी निवृत्ति होती है, किसी कर्मसे नहीं। सत्सङ्ग तथा सत्-शास्त्रोंके स्वाध्यायमें तत्पर होना ही ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिमें हेतु है। वह स्वाभाविक साधन ही मोहजालका नाशक होता है। यह परमात्मा सत्स्वरूप ही है, ऐसे ज्ञानमात्रसे ही जीवके दुःखका निवारण होता है तथा वह जीवन्मुक्त अवस्थाको प्राप्त होता है।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—गुरुदेव ! सबके आत्मस्वरूप इन परमात्माके ज्ञानमात्रसे कष्टप्रद जन्म-मरण आदि फिर कभी बाधा नहीं देते। अतः बताइये, ये महान् देवाधिदेव परब्रह्म परमात्मा किस उपायसे शीघ्र प्राप्त होते हैं ? किस तीव्र तपस्यासे अथवा कितने महान् क्लेश उठानेसे इनके ज्ञानकी उपलब्धि हो सकती है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! अपने पौरुषजनित प्रयत्नसे विकासको प्राप्त हुए विवेकके द्वारा उन परमात्म-देवका यथार्थ ज्ञान होता है। इसलिये पुरुषोचित प्रयत्नके द्वारा भवरोगके निवारणके लिये मुख्य औषधोंका संग्रह करना चाहिये। सत्-शास्त्रोंका अभ्यास और सत्पुरुषोंका सङ्ग—ये दो प्रधान औषधें संसाररूपी रोगका नाश करनेवाली हैं। इस जगत्में सम्पूर्ण दुःखोंके विनाशकी सिद्धिके लिये एकमात्र पुरुषप्रयत्न ही प्रधान साधन है। उसे छोड़कर दूसरी कोई गति या उपाय काम दे सके, यह सम्भव नहीं। रघुनन्दन ! आत्म-ज्ञानकी प्राप्तिके लिये अपेक्षित उस पुरुषप्रयत्नका स्वरूप कैसा है, जिसका पूर्णतया पालन करनेसे राग-द्वेष-मयी महामारी शान्त हो जाती है—यह बताता हूँ, सुनो। मुमुक्षु पुरुषको चाहिये कि वह यथासम्भव ऐसी वृत्तिके द्वारा जो लोक और शास्त्रके विरुद्ध न हो, निष्कामभावसे जीवन-निर्वाह करता हुआ संतुष्टचित्त हो भोगवासनाका परित्याग करे। अपनी अनुद्विग्नता (उद्वेगशून्यता अथवा शान्तवृत्ति) के द्वारा यथासम्भव उद्योग करके सत्सङ्ग और सत्-शास्त्रोंका अभ्यास—इन दो साधनोंकी सबसे पहले शरण लेनी चाहिये। जो पुरुष प्रारब्धके अनुसार जो कुछ भी मिल जाय, उसीसे संतुष्ट रहता है, सत्पुरुषों अथवा शास्त्रोंद्वारा निन्दित वस्तुकी ओर आँख उठाकर नहीं देखता और सत्सङ्ग एवं सत्-शास्त्रोंके अभ्यासमें तत्पर रहता है, वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। देशमें प्रायः सज्जन (शास्त्रोक्त सदाचारमें प्रतिष्ठित) पुरुष जिसे श्रेष्ठ महात्मा कहते हैं, वह यदि ज्ञान-वैराग्य आदि उत्तम गुणोंसे युक्त हो तो अवश्य ही श्रेष्ठ महात्मा है। ऐसे महात्माकी प्रयत्नपूर्वक शरण लेनी चाहिये। सम्पूर्ण विद्याओंमें अध्यात्मविद्या प्रधान है। उस अध्यात्मतत्त्वकी चर्चासे युक्त जो उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं गीता आदि सद्ग्रन्थ हैं, उन्हींको सत्-शास्त्र कहते हैं। उनका विवेकपूर्वक विचार करनेसे मनुष्य मुक्त हो जाता है। जैसे निर्मलीके चूर्णके संसर्गसे जलकी मैल साफ हो जाती है तथा जिस प्रकार योगके अभ्याससे लोगोंकी बुद्धि शुद्ध हो जाती है, उसी प्रकार सत्-शास्त्र और सत्सङ्गसे प्राप्त हुए विवेकके द्वारा अज्ञानका बलपूर्वक निवारण हो जाता है। (सर्ग ६)

परमात्माके ज्ञानकी महिमा, उसके स्वरूपका विवेचन, दृश्य-जगत्‌के अत्यन्ताभाव एवं ब्रह्मरूपताका निरूपण तथा आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये योगवासिष्ठ ही सर्वोत्तम शास्त्र है—इसका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जिन परमात्म-देवकी चर्चा की गयी है, ये कहीं दूर नहीं रहते, सदा शरीरमें ही स्थित हैं और चिन्मय (चेतन)रूपसे विख्यात हैं। ये ही चिन्मय चन्द्रशेखर शिव हैं। ये ही चिन्मय गरुड़वाहन विष्णु हैं। ये ही चिन्मय सूर्य हैं तथा ये ही चिन्मय ब्रह्मा हैं। कार्य-कारणरूप इन परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर इस साधन-परायणके हृदयकी गाँठ (चिज्जडग्रन्थि) खुल जाती है, सम्पूर्ण संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं।

श्रीराम ! जब परमात्माका ज्ञान हो जाता है, तब विषके वेगके शान्त होनेपर जैसे विषूचिका मिट जाती है, उसी प्रकार सम्पूर्ण दुःखोंकी परम्परा नष्ट हो जाती है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! जिनका ज्ञान या साक्षात्कार होनेपर मन सम्पूर्ण मोह-महासागरके पार हो जायगा, उन परब्रह्म परमात्माका यथार्थ स्वरूप कैसा है ? इसका मेरे समक्ष वर्णन कीजिये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जिस ज्ञानरूपी महासागरमें नाश आदि विकारके बिना ही ज्यों-के-त्यों स्थित हुए इस संसारका अत्यन्त अभाव ही सिद्ध होता है, वही परमात्माका स्वरूप है। जो परम चिन्मय होनेके कारण अत्यन्त सूक्ष्म होकर भी अज्ञानी जनोंकी दृष्टिमें विशाल पाषाणकी भाँति स्थूलरूपसे स्थित प्रतीत होता है तथा अजड (चिन्मय) होता हुआ भी मूढ मनुष्योंके अन्तःकरणमें जडके तुल्य ही जान पड़ता है, वह परमात्माका स्वरूप है।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—मुने ! परमात्मा सत् है, यह कैसे जाना जाता है ? तथा इतने बड़े इस जगत् नामक दृश्यको असत् कैसे समझा जाता है ? आप कहते हैं इसकी उत्पत्ति हुई ही नहीं, यह बिना हुए ही प्रतीत हो रहा है; यह बात कैसे समझमें आये ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जैसे रूपहीन आकाशमें भ्रमवश नील, पीत आदि वर्णोंकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दमय ब्रह्ममें यह जगत्-सम्बन्धी भ्रम उत्पन्न हुआ है। इस भ्रमके अत्यन्ताभाव-के ज्ञानमें यदि पूरी दृढ़ता हो जाय, तभी ब्रह्मका स्वरूप ज्ञात होता है, दूसरे किसी कर्मसे नहीं। दृश्यके अत्यन्ताभावके सिवा दूसरी कोई शुभ गति नहीं है। ज्यों-के-त्यों स्थित हुए इस दृश्य-जगत्‌के अत्यन्ताभावका निश्चय हो जानेपर जो शेष रह जाता है, उसी परमार्थ वस्तुका बोध होता है। जिसका बोध होता है, वह परमात्मा उस जाननेवाले पुरुषका आत्मा ही हो जाता है। जबतक इस जगत् नामक दृश्यकी अपनी सत्ताका अत्यन्ताभाव अथवा मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो जाता, तबतक परम तत्त्वरूप परमात्माको कभी कोई जान नहीं सकता। असत् पदार्थकी सत्ता नहीं होती और सत् वस्तुका कभी अभाव नहीं होता। जो वस्तु स्वभावसे है ही नहीं, उसके निवारणमें—उसे मिथ्या समझकर त्याग देनेमें कौन-सी कठिनाई है ? यह जो विस्तृत जगत् दिखायी देता है, पहले उत्पन्न नहीं हुआ था। यह चिन्मात्र होनेके कारण निर्मल आत्मामें ही कल्पित है, अतः ब्रह्मरूप ही है। उससे अतिरिक्त इसकी कोई सत्ता नहीं है। जगत् नामसे न यह कभी उत्पन्न हुआ, न है और न दिखायी ही देता है। जैसे सुवर्णमें कल्पित कटक-कुण्डल आदिका सुवर्ण-दृष्टिसे अभाव ही है, उसी प्रकार ब्रह्ममें कल्पित जगत्‌का ब्रह्मदृष्टिसे अभाव ही सिद्ध होता है। अतः इसके परिमार्जनमें—इसे असत् समझ लेनेमें क्या परिश्रम है ?

अब मैं बहुत-सी युक्तियोंद्वारा इस विषयका कुछ विस्तारके साथ इस तरह प्रतिपादन करूँगा, जिससे अबाधित (परमार्थ) तत्त्वका स्वयं ही अनुभव हो जाता है। जो पहले (सृष्टिके आरम्भमें) ही उत्पन्न नहीं हुआ, उसका यहाँ अस्तित्व कैसे हो सकता है। मरुभूमिमें जलपूर्ण नदीकी सत्ता कैसे सम्भव है। भ्रमसे प्रतीत होनेवाले द्वितीय चन्द्रमामें ग्रहभाव कैसे हो सकता है। जैसे वन्ध्याका पुत्र नहीं होता, जैसे मरुभूमिमें जलकी सरिता नहीं बहती और जैसे आकाशमें वृक्ष नहीं होता, उसी तरह जगत्-रूप भ्रमकी भी कहीं सत्ता नहीं है। श्रीराम! यह जो कुछ दिखायी देता है, वह सब रोग-शोकसे रहित ब्रह्म ही है। इस विषयका मैं आगे चलकर केवल वाणीद्वारा ही नहीं, युक्तियोंसे भी प्रतिपादन करूँगा। उदारबुद्धि रघुनन्दन! तत्त्वज्ञ पुरुष जिस विषयका युक्तियोद्वारा वर्णन करते हैं, उसकी अवहेलना करना कदापि उचित नहीं है। जो मूढ़बुद्धि मानव युक्तियुक्त वस्तुका अनादर करके कष्टसाध्य (युक्तिशून्य) वस्तुमें आग्रह रखता है, उसे विद्वान् लोग अज्ञानी ही समझते हैं।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—भगवन्! यह किस युक्तिसे जाना जाता है कि यह दृश्यमान जगत् ब्रह्म ही है? यह बात कैसे सिद्ध होती है? यदि युक्तियोंद्वारा इस विषयका अनुभव हो जाय, तब तो फिर जाननेयोग्य कुछ भी शेष नहीं रह जाता।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! यह मिथ्याज्ञान-रूपिणी विधूचिका चिरकालसे दृढमूल हो गयी है। इसीका नाम जगत् है और इसीको अविचार कहते हैं। यह ज्ञानके बिना निवृत्त नहीं होती। जो जिस पदार्थको पाना चाहता है और उसके लिये पूरा प्रयत्न करता है, वह उस पदार्थको अवश्य प्राप्त कर लेता है। परंतु यह बात तभी सम्भव होती है, जब वह बीचमें ही थककर या ऊबकर प्रयत्नसे मुँह न मोड़ ले।

श्रीरामजीने पूछा—शास्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ गुरुदेव! आत्मज्ञानकी प्राप्ति करानेके लिये कौन-सा शास्त्र मुख्य है, जिसका ज्ञान प्राप्त कर लेनेपर मनुष्यको फिर कभी शोक नहीं होता?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—महामते! जिन शास्त्रोंमें मुख्यतः आत्मज्ञानका ही प्रतिपादन हुआ है, उनमें यह महारामायण नामक शास्त्र ही सबमें श्रेष्ठ और शुभ है। इस उत्तम इतिहासका श्रवण करनेसे बोध प्राप्त हो जाता है। इसे समस्त इतिहासोंका सार कहा गया है। इस वाङ्मय (शास्त्र) का श्रवण कर लेनेपर कभी क्षीण न होनेवाली जीवन्मुक्ति स्वयं ही प्रकट हो जाती है। इसलिये यही सबकी अपेक्षा अत्यन्त पावन है। जैसे स्वप्न आदिके रहते हुए ही यह स्वप्न है, ऐसा ज्ञान हो जानेपर उस स्वप्नके सच्चे होनेकी भावना नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार इस शास्त्रका विचार करनेसे जब यह समझमें आ जाता है कि सारा जगत् स्वप्नके समान मिथ्या है, तब यह दृश्य-जगत् ज्यों-का-त्यों स्थित रहकर भी ज्ञानीकी दृष्टिमें अस्तको प्राप्त हो जाता है। आत्मज्ञानके लिये अपेक्षित जो-जो युक्तियाँ इस शास्त्रमें हैं, वे ही दूसरे ग्रन्थोंमें भी उपलब्ध होती हैं। इसीलिये विद्वान् पुरुष इस महारामायणको सम्पूर्ण विज्ञान-शास्त्ररूपी धनका कोष (खजाना) मानते हैं। जो पुरुष प्रतिदिन इस महारामायणका श्रवण करता है, उसमें उत्कृष्ट चमत्कार आ जाता है। उसकी बुद्धि अन्य ग्रन्थोंके स्वाध्यायसे उत्पन्न हुए बोधकी अपेक्षा उत्तम बोधको प्राप्त कर लेती है, इसमें संशय नहीं। किसी दुष्कर्मके फलका उदय होनेके कारण जिसकी इस ग्रन्थके प्रति रुचि अथवा श्रद्धा नहीं है, जिसे यह शास्त्र नहीं रुचता, वह दूसरे किसी ज्ञानप्रधान सत्-शास्त्रका विचार करे (उससे हमारा कोई द्वेष नहीं है)। जैसे उत्तम औषधका पान करनेपर स्वयं ही नीरोगता प्राप्त हो जाती है, उसी तरह इस योगवासिष्ठ महारामायणका श्रवण कर लेनेपर जीवन्मुक्तिका स्वयं अनुभव होने लगता है। (सर्ग ७-८)

जीवन्मुक्तिका लक्षण, जगत्‌की असत्ता तथा ब्रह्मसे उसकी अभिन्नताका प्रतिपादन, परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जिनके चित्त परमात्मचिन्तनमें लगे हुए हैं, जिनके प्राण उन्हींमें रम रहे हैं, जो परस्पर परमात्मतत्त्वका बोध कराते हुए सदा परमात्माकी ही चर्चा करते हैं, उसीसे ही संतुष्ट होते हैं और उसीमें निरन्तर रत रहते हैं, एकमात्र ज्ञानमें ही जिनकी निष्ठा है तथा जो सदा परमात्मज्ञानका ही विचार करते हैं, उन पुरुषोंको ही वह जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है, जो देह-त्यागके अनन्तर विशुद्ध मुक्ति ही है ।

शास्त्रानुकूल व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुषकी दृष्टिमें ज्यों-का-त्यों स्थित हुआ यह जगत् विलीन हो जाता है और आकाशके समान शून्य प्रतीत होने लगता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है । जो व्यवहारमें लगा हुआ ही एकमात्र बोध-निष्ठाको प्राप्त हो, जाग्रत् अवस्थामें भी सुषुप्त-पुरुषकी भाँति राग-द्वेष एवं हर्ष-शोकादिसे शून्य हो जाता है, उसे जीवन्मुक्त कहते हैं । जिसके मुखकी कान्ति सुखमें उदित (अथवा वृद्धिको प्राप्त) नहीं होती तथा दुःख अस्त नहीं हो जाती और प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जाय, उसीसे जो सन्तोषपूर्वक जीवननिर्वाह करता रहता है, वही जीवन्मुक्त कहा जाता है । जो निर्विकार आत्मामें सुषुप्तकी भाँति स्थित रहता हुआ भी अविद्यारूपिणी निद्राका निवारण हो जानेसे सदा जागता रहता है, जिसकी जाग्रत् अवस्था नहीं है (अर्थात् देह, इन्द्रिय आदिका बाध हो जानेसे जो इन्द्रियोंद्वारा पदार्थोंका उपभोग नहीं करता) और जिसका ज्ञान सर्वथा वासना-रहित है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है । जिसमें अहंकारका भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि कर्म करते समय कर्तृत्वके और न करते समय अकर्तृत्वके अभिमानसे लिप्त नहीं होती, वह जीवन्मुक्त कहलाता है । जो ज्ञानस्वरूप परमात्माके किंचित् उन्मेष और निमेषसे ही तीनों लोकोंकी प्रलय और उत्पत्ति देखता है तथा जिसका सबके प्रति अपने समान ही भाव है अर्थात् जो सबके प्रति आत्मभाव रखता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है । जिससे लोगोंको उद्वेग नहीं होता और जिसको लोगोंसे उद्वेग नहीं होता तथा जो हर्ष, अमर्ष और भयसे रहित है, वह पुरुष जीवन्मुक्त कहा जाता है । जिसकी संसारके प्रति सत्यता-बुद्धि नष्ट हो गयी है, जो दूसरोंकी दृष्टिमें अवयवोंसे युक्त होनेपर भी वास्तवमें अवयवरहित है तथा जो चित्तयुक्त होकर भी वस्तुतः चित्तसे शून्य है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है ।

श्रीराम ! विदेहमुक्ति ही मुक्ति कहलाती है । इसीको ब्रह्म कहा गया है और इसीको निर्वाण कहते हैं । इसकी प्राप्ति कैसे होती है, यह बता रहा हूँ; सुनो । मैं, तुम, यह, वह इत्यादि रूपसे जो यह दृश्य-प्रपञ्च दिखायी देता है, यह यद्यपि सत्-रूपसे प्रतीत होता है, तथापि वन्ध्यापुत्रके समान इसकी कभी उत्पत्ति हुई ही नहीं—ऐसा निश्चय हो जानेपर यह मुक्ति प्राप्त होती है । जो अद्वितीय, शान्त, चिन्मय और आकाशके समान निर्मल है, वह ब्रह्म ही यह सम्पूर्ण जगत् है; क्योंकि सबमें सत्तामात्रका ही तो बोध होता है । रघुनन्दन ! मैंने सोनेके कड़ेमें बहुत विचार करनेपर भी विशुद्ध सुवर्णके सिवा कहीं कोई कड़ा नामकी वस्तु नहीं देखी । जलकी तरङ्गमें मैं जलके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं देखता; क्योंकि जहाँ वैसी तरङ्ग नहीं दिखायी देती, वहाँ भी जल ही है (अतः जहाँ तरङ्ग है, वहाँ भी जलके अतिरिक्त कुछ नहीं है) वायुके अतिरिक्त कभी कहीं भी स्पन्दन (गतिशीलता) नामकी कोई वस्तु नहीं है । स्पन्दन सदा वायुरूप ही है । अतः इन दृष्टान्तोंके अनुसार यह जगत् भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं है । जैसे आकाशमें शून्यता है, मरुभूमिमें ताप ही जल है और प्रकाशमें सदा तेज

स्थित है, उसी प्रकार ये तीनों लोक परब्रह्म परमात्मा ही हैं।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुने! जिस युक्तिसे इस दृश्य-जगत्‌के अत्यन्ताभावका बोध होकर मुक्तिका उदय हो, उस उत्तम युक्तिका आप मुझे उपदेश कीजिये। द्वैतका अभाव होनेपर ही निर्वाण सुलभ होता है, इसलिये जिस प्रकार इस दृश्य-जगत्‌की अत्यन्त असत्ता सिद्ध हो और इसके रूपमें स्वभावनिष्ठ ब्रह्म ही विराजमान है—यह बोध हो जाय, वैसा ही उपदेश मुझे दीजिये। महर्षे! किस युक्तिसे इस बातका ज्ञान होता है और कैसे यह बात सिद्ध होती है? इस ज्ञानके सिद्ध हो जानेपर तो फिर कुछ साध्य (कर्तव्य) शेष नहीं रह जायगा।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! यह मिथ्याज्ञान-रूपिणी विषूचिका चिरकालसे दृढमूल हो गयी है। निश्चय ही विचाररूपी मन्त्रसे इसका समूल नाश हो जाता है। सब प्रकारकी वस्तुओंसे युक्त तथा देवता, असुर और किंनर आदिसहित यह जो कुछ भी स्थावर-जङ्गमरूप सारा जगत् दिखायी देता है, वह महाप्रलय-कालमें असत् एवं अदृश्यरूप होकर न जाने कहाँ चला जाता और नष्ट हो जाता है। तदनन्तर नाम और रूपसे रहित, शान्त, गम्भीर एवं अनिर्वचनीय 'सत्' अवशिष्ट रहता है। वह न तो तेज है न फैला हुआ अन्धकार है; न शून्य है न आकारवान् है; न दृश्य है न दर्शन है और न भूतों तथा भौतिक पदार्थोंका समूह ही है। वह विलक्षण सद्वस्तु अनन्तरूपसे स्थित है। नाम-रूपसे रहित होनेके कारण ही उसके स्वरूपका विशेषरूपसे वर्णन नहीं किया जा सकता। उसका स्वरूप पूर्णसे भी पूर्णतर है। वह दृश्य-शून्य, चिन्मात्र, असीम, अजर, शिव, आदि, मध्य और अन्तसे रहित, कारणशून्य तथा रोग-शोक आदिसे रहित है। उसके न कान हैं न जीभ, न नासिका है न त्वचा है और न नेत्र ही हैं; तथापि वह सदा सभी जगह सुनता है, रसका आस्वादन करता है, सूँघता है, स्पर्श करता है और देखता है। जिस प्रकाशसे पूर्वोक्त सदसत्-स्वरूप प्रपञ्च दिखायी देता है, वह चैतन्यमय प्रकाश भी वही है। विविध सृष्टियोंसे विचित्ररूप धारण करनेवाला भी वही है। आदि-अन्तसे शून्य स्वरूपको पाकर सर्वत्र प्रकाशित होनेवाला नित्य चेतन ब्रह्म भी वही है।

जो सामान्यतः तो सर्वत्र प्रकाशित होते हैं, परंतु अन्तःकरणमें विशेषरूपसे निरन्तर प्रकाशित होते हुए विद्यमान रहते हैं, जो चिन्मय दीप हैं तथा जिनके ही प्रकाशसे तीनों लोक प्रकाशित होते हैं, जिनके बिना ये सूर्य आदि सारे प्रकाश अन्धकारके तुल्य हैं, जिनके रहनेपर ही त्रिभुवनरूपी मृग-तृष्णाकी प्रवृत्ति होती है (अर्थात् जैसे सूर्यकी किरणोंके प्रकाशित होनेपर ही उनमें मृग-तृष्णाके जलकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार जिन चिन्मय परमात्मामें ही त्रिलोकीरूपी भ्रमका उदय होता है), जगत्‌की सृष्टि और संहार जिनके विलास हैं, जो सबसे महान् और व्यापक हैं, स्पन्द और अस्पन्द (चल और अचल) जिनके स्वरूप है, जिनका स्वभाव निर्मल और अविनाशी है, वायुके समान जिनकी गतिशील और गतिहीन सर्वव्यापिनी सत्ता व्यवहारवश केवल नामसे ही भिन्न है, वास्तवमें भिन्न नहीं है, वही चिन्मय परमात्मा है।

जो सदा ही जगा हुआ है, सर्वदा ही सोया हुआ है तथा जो सर्वत्र और सदा ही न तो सोया है और न जगा ही हुआ है, जिसका स्पन्दरहित (निश्चल) रूप कल्याणस्वरूप और शान्त है, जिसका स्पन्दनशील स्वरूप ही तीनों लोकोंकी स्थिति है, स्पन्द और अस्पन्दका विलासही जिसका स्वरूप है; जो अद्वितीय एवं परिपूर्णस्वरूप है, फूलोंमें सुगन्धकी भाँति सब पदार्थोंमें साररूपसे स्थित है, विनाशशील वस्तुओंमें भी अविनाशी रूपसे विद्यमान है, सम्पूर्ण वस्तुओंका प्रत्यक्ष करनेवाली वृत्तियोंमें प्रकाश-रूपसे स्थित होकर भी जो श्वेतवस्त्रमें स्थित श्वेतताकी भाँति अग्राह्य है, जो वाग् आदि इन्द्रियोंसे रहित होनेके कारण गूँगेके समान होता हुआ भी सबकी वाणीकी

प्रवृत्तिमें कारण होनेसे गूँगा नहीं है; जो मननरूप विकारसे रहित होनेके कारण पाषाणके समान होता हुआ भी मननशील है, नित्यतृप्त होता हुआ भी भोक्ता है और अकिंचन (क्रिया आदिसे रहित) होता हुआ भी कर्ता है; जो अङ्गरहित है तथापि सम्पूर्ण लोकोंके अङ्ग जिसके अपने ही अङ्ग हैं; जो सहस्रों भुजाओं और नेत्रोंसे युक्त है, अकिंचनरूपसे स्थित होनेपर भी जिसने सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त कर रक्खा है; जो इन्द्रिय-बलसे हीन है तो भी जिससे सम्पूर्ण इन्द्रियोंके व्यापार होते रहते हैं; जो मननशून्य है तथापि जिससे ये मनोनिर्माणकी रीतियाँ प्रकट होती हैं; जिसका साक्षात्कार न होनेसे भ्रान्तिजनित संसाररूपी सर्पका भय बना रहता है तथा जिसका दर्शन (ज्ञान) हो जानेपर सारी आशाएँ और सम्पूर्ण भय सब ओर भाग जाते हैं; जैसे समुद्रसे छोटी छोटी लहरोंके समूहसे युक्त चञ्चल उत्ताल तरङ्गें प्रकट होती रहती हैं, उसी तरह जिससे घट-पट आदिके रूपमें सैकड़ों पदार्थोंकी श्रेणियाँ प्रादुर्भूत होती हैं; जैसे कड़े, बाजूबंद, बहूँटा और नूपुर आदिके रूपमें सुवर्ण ही अन्य-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार शत-शत घटादि पदार्थोंके भ्रमसे जो अन्य-सा भासित होता है; जैसे जलमें प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली तरङ्गमाला प्रकट होती रहती है, उसी प्रकार जिससे अन्य-सी, अतिरिक्त-सी, पहले-जैसे और नूतन-सी क्षणभङ्गुर दृश्यपरम्परा स्फुरित होती है, उसे चिन्मय परमात्मा ही समझो।

रघुनन्दन ! तुम जिस रूपमें स्थित होकर क्रिया, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और चेतनको जानते हो, वह प्रमाता चेतन भी वही है और जिससे जानते हो, वह भी परमात्मदेव ही है। साधो ! द्रष्टा, दर्शन और दृश्यके मध्यमें साक्षी-रूपसे जिसका दर्शन होता है, उसे तुम एकाग्रचित्त होकर अपना आत्मा ही समझो। श्रीराम ! वह परब्रह्म परमात्मा अजन्मा, अजर, अनादि, सनातन, नित्य, कल्याणमय, निर्मल, अमोघ, सबका परम वन्दनीय, अनित्य, समस्त कलनाओंसे शून्य, कारणोंका भी कारण, अनुभव-रूप, अवेद्य, ज्ञानस्वरूप, विश्वरूप तथा अन्तर्यामी है।

(सर्ग ९)

जगत्‌की ब्रह्मसे अभिन्नता, परमार्थ-तत्त्वका लक्षण, महाप्रलयकालमें जगत्‌के अधिष्ठानका विचार तथा जगत्‌की ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! यह जगत् न तो कभी परब्रह्मसे उत्पन्न होता है और न उसमें लीन ही होता है। इस प्रकार केवल यह सद्ब्रह्म ही सदा अपने आपमें प्रतिष्ठित है। ब्रह्ममें जो शून्य-शब्दार्थकी कल्पना की गयी है अर्थात् उसे जो शून्य कहा गया है, वह अशून्यकी अपेक्षासे है। वास्तवमें ब्रह्म अशून्यरूप (सत्) है। उसमें शून्यता और अशून्यताकी कल्पनाएँ कैसे सम्भव हैं। चैतन्य आकाशरूप इस ब्रह्मका प्रकाश केवल अपने अनुभवका ही विषय है। जो बुद्धि आदिके भीतर अन्तर्यामीरूपसे स्थित है, उसका वही अनुभव करता है, दूसरा नहीं (क्योंकि वह स्वानुभवैकवेद्य है)। निश्चल होनेके कारण सौम्य (शान्त) आकारवाले महासागरके जलमें जिस प्रकार बड़ी-बड़ी लहरें विद्यमान होती हैं, उसी प्रकार निराकार ब्रह्ममें उसीके समान यह विश्व स्थित है। पूर्णसे पूर्णका ही प्रसार होता है; जो पूर्णमें स्थित है, वह पूर्ण ही है। अतः विश्व कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ और जो उत्पन्न हुआ है, वह तत्स्वरूप (ब्रह्मरूप) ही है। वह परमाणुसे भी अधिक सूक्ष्म, अत्यन्त अणुसे भी अधिक अणु, परम शुद्ध, सूक्ष्म, शान्त और आकाशके मध्यभागसे भी बढ़कर निर्मल है। दिशा, काल और परिमाणसे उसका स्वरूप सीमित नहीं है; अतएव वह अत्यन्त विस्तृत (सर्वव्यापक) है। उसका

आदि-अन्त नहीं है । वह स्वयं प्रकाशस्वरूप है, दूसरे किसी प्रकाशसे प्रकाशित होने योग्य नहीं है ।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् ! अनन्त चेतनस्वरूप उस परमात्मतत्त्वका कैसा रूप है—इस विषयको आप फिर मुझसे कहिये, जिससे उसका भलीभाँति बोध हो जाय ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! महाप्रलय होनेपर सम्पूर्ण कारणोंका भी कारण परब्रह्म परमात्मा ही शेष रहता है । उसका वर्णन किया जाता, है, सुनो । समाधिमें निरोधके द्वारा जब मनकी वृत्तियोंका क्षय हो जाता है, तब मनके अपने स्वरूपका नाश करके जो अनिर्वचनीय स्वप्रकाश सद्रूप अवशिष्ट रहता है, वही उस अनन्त चिन्मय परमार्थ-वस्तुका रूप है । जब दृश्य जगत् नहीं रहता और दृश्यके अभावसे द्रष्टा भी विलीन हुआ-सा प्रतीत होता है, उस समय जो द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—इस त्रिपुटीके लयका प्रकाशक साक्षीरूपसे अवशिष्ट रहता है, वह चिन्मय ब्रह्म ही उस परमार्थ-वस्तुका स्वरूप है । जीवस्वरूपा चित्-सत्ताका जो अचिन्तनीय चिन्मय निर्मल एवं शान्त स्वरूप है, वही उस परमार्थ वस्तु या परमात्माका रूप है । आकाशका जो रहस्य (व्यापकत्व) है, शिलाका जो तात्त्विक रूप घनत्व है तथा वायुका जो गूढ़ रूप अन्तर-बाहरमें परिपूर्ण होना है, वही उस चेत्य-भिन्न (दृश्यरहित) चेतन आकाशस्वरूप परमात्माका स्वरूप है वेदन (बुद्धि-वृत्ति) का, प्रकाश (पदार्थोंकी स्फुरणा) का, दृश्य (विषय) का और तम (अज्ञान)-का साक्षीभूत जो अनादि-अनन्त वेदन (ज्ञान) है, वही उस परमात्माका रूप है । ज्ञेय, ज्ञान, और ज्ञाता—सामने प्रतीत होनेवाली यह त्रिपुटी जहाँ उदित होती है, जिसमें स्थित रहती है और जिसमें ही लीन हो जाती है, वही उस परमात्माका परम दुर्लभ रूप है ।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! जो 'इदम्' रूपसे प्रत्यक्ष दिखायी दे रहा है और जिसका आप ब्रह्ममें अभाव कहते हैं, वह यह दृश्य-जगत् महाप्रलय होनेपर कहाँ स्थित होता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जैसे वन्ध्याके पुत्र और आकाशमें वन कभी नहीं होते, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण दृश्यजगत् तीनों कालोंमें कभी अस्तित्वमें नहीं आता । जगत् न कभी उत्पन्न हुआ है और न उसका कभी नाश ही होता है । जिसकी पहले सत्ता ही नहीं है, उसकी उत्पत्ति कैसी, और उसके विनाशकी चर्चा कैसी ?

श्रीरामजीने पूछा—वन्ध्यापुत्र और आकाश-वृक्षकी कल्पना तो की ही जाती है । वह कल्पना जैसे उत्पत्ति और विनाशसे युक्त है, उसी प्रकार यह जगत् भी जन्म और नाशसे युक्त क्यों नहीं होगा ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—जैसे सोनेके कड़ेमें सुस्पष्ट दिखायी देनेवाला यह कटकत्व वास्तवमें है नहीं, सुवर्ण ही उसके रूपमें भासित होता है, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मामें जगत् नामकी कोई वस्तु नहीं है (जिसे हम जगत् कहते हैं, वह ब्रह्म ही है) । जैसे आकाशमें जो शून्यता है वह आकाशसे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्ममें प्रत्यक्ष उपलब्ध होनेपर भी यह जगत् उससे भिन्न नहीं है । जैसे कालिमा काजलसे भिन्न नहीं है और जैसे शीतलता बर्फसे पृथक् नहीं है, उसी तरह परमपद-परमात्मामें पृथक् प्रतीत होनेवाला जगत् नहीं है । जैसे शीतलता चन्द्रमासे और हिमसे अलग नहीं होती, उसी प्रकार यह सृष्टि भी ब्रह्मसे पृथक् नहीं है । जैसे मरुभूमिमें प्रतीत होनेवाली मृग-तृष्णाके नदीमें जल नहीं है तथा जैसे नेत्रदोषसे प्रतीत होनेवाले द्वितीय चन्द्रमामें चन्द्रत्व नहीं है, उसी प्रकार निर्मल परमात्मामें प्रत्यक्ष दीखनेपर भी जगत् नामकी कोई वस्तु नहीं है । स्वप्नमें—स्वप्न देखनेवाले पुरुषके अन्तः-करणमें जो स्वाप्निक जगत्की भ्रान्ति होती है, वह जैसे सवित् (ज्ञान) का विकासमात्र है, उसी तरह सृष्टिके

प्रारम्भिक कालमे ब्रह्ममें ही इस जगत्का विकास हुआ है। अतः यह उससे भिन्न नहीं है। जैसे द्रवत्व (तरलता) जलरूप ही है, स्पन्दन (कम्पन) वायुरूप ही है और जैसे आभास प्रकाशरूप ही है, उसी प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंमें प्रतीत होनेवाला जगत् ब्रह्मरूप ही है। जिस प्रकार स्वप्न देखनेवाले पुरुषके भीतरका चैतन्य ही ग्राम नगर आदि-जैसा प्रतीत होता है, उसी प्रकार परमात्मामें उसका अपना चिन्मय स्वरूप ही जगत्-सा भासित होता है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! यदि यह दृश्यरूपी विश्व उत्पन्न होकर भी स्वप्नगत जगत्के समान मिथ्या ही है, तो इसकी इतनी सुदृढ़ प्रतीति कैसे हो रही है—यह बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! यह जगत् सर्वात्मक (ब्रह्ममय) ही है, ब्रह्मसे भिन्न कदापि नहीं। जगत्-रूपमें जो इसकी प्रतीति होती है, वह सर्वथा असत् है। रघुनन्दन! यह प्रसिद्ध परमात्मा एक ही है। उसके विषयमें द्वितीय होनेकी कोई कल्पना नहीं है। उस अद्वितीय परमात्मामें यह जगत् जिस प्रकार उत्पन्न हुआ है, वह तुम्हें आगे चलकर बताऊँगा। प्रिय श्रीराम! उसीसे ये सारे दृश्य-पदार्थ विस्तारको प्राप्त हुए हैं। वह परमात्मा ही यह व्यष्टि और समष्टिरूप जगत् है। दृश्य वस्तुओंके दर्शन और मननीय वस्तुके मननके जो-जो प्रकार हैं, उनके रूपमें वह स्वयं ही उदित और विलीन होता रहता है—उसीके आविर्भाव और तिरोभाव होते रहते हैं।

(सर्ग १०-११)

ब्रह्ममें जगत्का अध्यारोप, जीव एवं जगत्के रूपमें ब्रह्मकी ही अखण्ड सत्ताका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जैसे सुषुप्ति ही स्वप्नवत् प्रतीत होती है, उसी प्रकार ब्रह्म ही इस सृष्टिके रूपमें प्रतीतिका विषय हो रहा है। एक पुरुषकी वासना-मात्रका कार्य होनेसे स्वप्नकी घनी (सुदृढ) प्रतीति नहीं होती; परंतु यह प्रपञ्च समष्टिकी वासनाका कार्य होनेके कारण इसकी सुदृढ़ एवं क्रमबद्ध प्रतीति होती है। सर्वात्मक ब्रह्म ही इस प्रपञ्चका अधिष्ठान है। असीम प्रकाशस्वरूप जो अनन्त चैतन्यमणि (ब्रह्म) है, उसका सत्तामात्र रूप ही यह सम्पूर्ण विश्व है।

पञ्चभूतोंकी जो तन्मात्राएँ हैं, वे ही जगत्का बीज हैं। पञ्चतन्मात्राओंका बीज आदिमाया शक्ति है, जिसका परमात्मासे व्यवधान-रहित (साक्षात्) सम्बन्ध है तथा वही जगत्की स्थितिमें हेतु है। इस प्रकार वह चिन्मय, अजन्मा एवं सबका आदिभूत परमात्मा ही मायाद्वारा जगत्का बीज होता है। मायाके हट जानेपर वही अपने विशुद्ध रूपमें सदा अनुभवमें आता है। इसलिये यह जगद्-वैभव चिन्मय परमात्मरूप ही है।

जैसे स्वप्नमें बिना बनाये ही नगर बन जाता है उसी प्रकार महाकाशरूपी महान् वनमें जगद्रूपी वृक्ष बारंबार उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है। जैसे स्वप्न देखनेवाला पुरुष अपने लिये नगरका निर्माण-सा कर लेता है, उसी प्रकार यह चेतन आत्मा भी पृथ्वी आदिकी सृष्टि कर लेता है। वास्तवमें उस समय भी वह अज चेतन आत्मा ही रहता है। जगत्का बीज हैं पञ्चतन्मात्राएँ और उनका बीज है अविनाशी चेतन आत्मा। जो बीज है, उसीको फल समझो (क्योंकि उपादान कारण और कार्यमें भेद नहीं है)। इसलिये सारा जगत् ब्रह्ममय ही है। जो स्वरूप कल्पित है, वह सत्य कैसे हो सकता है। यदि पञ्चभूतोंकी तन्मात्राएँ ब्रह्मस्वरूपा हैं तो उनके कार्यरूप स्थूल पाँच महाभूतोंको भी ब्रह्म ही समझो। इससे यह सिद्ध हुआ कि सदासे दृढमूल यह त्रिलोकी ब्रह्म ही है।

इस प्रकार यह जगत् न कभी उत्पन्न होता है न उत्पन्न हुआ दिखायी देता है। जैसे स्वप्न एवं मनोरथ-

द्वारा निर्मित पुर असत् होता हुआ भी सत्-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार ब्रह्माकाशरूपी परम व्योममय चिन्मय आत्मामें जीवाकाशत्व असत् होता हुआ भी सत्-सा प्रतीत होता है, अर्थात् उस ब्रह्ममय महाकाशसे अविमक्त होनेपर भी विमक्त-सा दीखता है । चिदात्मा परमेश्वरमें कल्पित समष्टि-जीवाकाश अत्यन्त विस्तृत होता हुआ भी 'मैं चिनगारीकी भाँति अत्यन्त सूक्ष्म तेजका कण हूँ' ऐसी भावना करनेसे वह अपनेको वैसा ही (अणुरूप ही) अनुभव करने लगता है । आकाशमें आत्मरूपसे जिस स्थूलताका चिन्तन करता है, भावनाद्वारा अपनेको वैसा ही स्थूल समझने लगता है । जैसे संकल्पसे कल्पित चन्द्रमा सत् नहीं है, वैसे ही भावनाद्वारा भावित वह रूप भी सत् नहीं है, तथापि सत्-सा प्रतीत होता है । जैसे स्वप्न देखनेवाला मनुष्य सपनेमें अपनेको पथिकके रूपमें देखता है, उसी प्रकार वह चित्तकी कल्पनासे अपनेमें लिङ्ग देह और भावी स्थूल शरीरकी प्रतीतिको भी धारण करता है । जैसे पर्वत बाहर स्थित होनेपर भी दर्पणके भीतर स्थित हुआ-सा प्रतीत होता है, जैसे कुएँके जलमें प्रतिबिम्बित हुआ शरीर वही व्यवहारकर्ता-सा जान पड़ता है, जैसे दूरतक सुनायी देने योग्य शब्द भी सम्पुट (गुफा आदि) में अवरुद्ध होकर उसके भीतर ही रह जाता है, बाहर नहीं फैलने पाता तथा जैसे स्वप्न और मनोरथविषयक संवित् देहके भीतर ही स्वप्न आदि देखती है—वे विषय बाहर होनेपर भी अपने बाह्य रूपको त्यागकर ही शरीरके भीतर अन्तःकरणमें भासित होते हैं, उसी प्रकार आगकी चिनगारीके समान अणु उपाधिमें स्वरूपतः कल्पित जो सूक्ष्मशरीर है, उसके भीतर स्थित हुआ यह जीवात्मा वासनामय देहादि-व्यवहारका अनुभव करता है ।

मनोमय शरीरवाला जीव अपने मनोमय देहाकाशमें ही स्थूलताकी भावना करके स्थूल-देहधारी हो गया है । वह अपनी कल्पनाके भीतर ही स्थित हुए ब्रह्माण्डका दर्शन करता है । मनोमय शरीरधारी जीव मनको ही आत्मा समझता है । उस आत्मभूत चित्तसे अपने संकल्पके अनुसार अपने ही लिये गर्भरूपी गृह, देश, काल, कर्म तथा द्रव्य आदिकी कल्पनाओंकी भावना करता हुआ नाम आदिका निर्माता बनकर वह आतिवाहिक देहधारी जीव अपने द्वारा कल्पित विभिन्न नामोंसे उन-उन पदार्थोंको और अपनेको भी असत्य जगत्-रूपी भ्रममें बाँधता है । जैसे मिथ्याभूत स्वप्नमें झूठे ही अपना उड़ना प्रतीत होता है, उसी प्रकार असत्य जगत्-रूपी भ्रममें ही यह जीवात्मा मिथ्या विकासको प्राप्त होता जान पड़ता है । वह कभी उत्पन्न नहीं हुआ है । इस ब्रह्माण्डरूपी भ्रमके उदित होनेपर भी इसमें कभी कुछ उत्पन्न नहीं हुआ । उत्पन्न हुई कोई वस्तु दिखायी नहीं देती; केवल अनन्त, निर्मल ब्रह्माकाश ही सर्वत्र विद्यमान है । संकल्पद्वारा निर्मित नगरके समान यह दृश्य-प्रपञ्च सत्-सा प्रतीत होनेपर भी सत् नहीं है । स्वयं उदित हुआ यह प्रपञ्च उस चित्रके समान है, जिसका किसी चित्रकारने न तो निर्माण किया है और न उसमें रंग ही भरा है । यह बिना बनाये ही बनकर अनुभवमें आ रहा है और सत्य न होकर भी सत्य-सा स्थित है । महाकल्पके अन्तमें ब्रह्मा आदिके मुक्त हो जानेके कारण निश्चय ही वर्तमान कल्पके ब्रह्माको कोई पूर्वजन्मकी स्मृति नहीं रह जाती, अतः वह स्मृति इस जगत्की उत्पत्तिमें कारण नहीं हो सकती । इसलिये वर्तमान कल्पमें जैसे ब्रह्मा संकल्पमय हैं, वैसे ही उनसे उत्पन्न हुआ यह जगत् भी संकल्पजन्य ही माना गया है । इस पृथ्वी आदिकी सृष्टिके विषयमें जो इस तरह साक्षीका अनादिकालका अनुभव है, उसीको यदि कारण माना जाय तो साक्षिवेद्य स्वप्नदृष्ट पृथ्वी आदि पदार्थ जैसे जागरण-अवस्थामें मिथ्या सिद्ध होते हैं उसी प्रकार अनादि साक्षीके संस्कारसे उत्पन्न जगत् भी मिथ्या ही सिद्ध होगा ।

जैसे जिस किसी भी देश या कालमें द्रवत्व जलसे

भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार किसी भी देश या कालमें यह सृष्टि परमात्मासे भिन्न नहीं है। इस प्रकार यह सृष्टि भ्रमसे ही प्रौढ (सुदृढ या घनीभूत) प्रतीत होती है। वास्तवमें यह विभ्रमतारहित परमात्मा ही इसके रूपमें स्थित है। जो ब्रह्माण्ड प्रतीत होता है, वह अत्यन्त निर्मल चिन्मय ब्रह्म ही है (उससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है)। इसी तरह यह दृश्य-जगत्, जो आत्मामें सर्वथा कल्पित भ्रमरूप है, शान्त, आधाररहित, आधेय-शून्य, अद्वैत तथा एकत्वके व्यवहारसे भी शून्य ब्रह्मरूप ही है। यद्यपि इस जगत् रूपी भ्रमकी प्रतीति होती है, तथापि उसके रूपमें कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हुई है। चारों ओरसे शून्य जो निर्मल चेतनाकाश (ब्रह्म) प्रतिष्ठित है, वही सदा सर्वत्र अपने स्वरूपसे स्थित है। उसमें न सम्पूर्ण संसार है, न उसका कोई आधार है, न आधेय है; न दृश्य है न उसमें द्रष्टापन है; न ब्रह्माण्ड है न ब्रह्मा है और न कहीं कोई वितण्डावाद ही है। न जगत् है न पृथ्वी है। यह सम्पूर्ण दृश्य शान्तस्वरूप निर्मल ब्रह्म ही है। इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा ही अपनेमें अपनेसे विकासको प्राप्त होता है।

जैसे तरल होनेके कारण जल ही अपनेमें आवर्त रूपसे प्रतीत होता है, उसी प्रकार चित्-रूप होनेके कारण आत्मा ही अपनेमें जगत्-सा प्रतीत होता है। जगत् इससे कोई भिन्न पदार्थ नहीं है। असत् होता हुआ ही यह प्रतीतिका विषय होता और यहाँ सत्-सा अनुभवमें आता है। अन्तमें (महाप्रलयके समय) यह असत् होता हुआ ही नष्ट होता है। जैसे स्वप्नमें जो अपना मरण दिखायी देता है, वह जाग्रत्कालमें असत् ही सिद्ध होता है, उसी प्रकार अज्ञान अवस्थामें प्रतीत होनेवाला यह दृश्य-प्रपञ्च ज्ञान होनेपर असत् ही सिद्ध होता है। (अथवा प्रलयकालमें जो इसका संहार होता है, वह स्वप्नावस्थामें प्रतीत होनेवाले अपने ही मरणके समान मिथ्या है।) अथवा ब्रह्मका अपना ही स्वरूप होनेके कारण यह दृश्य-प्रपञ्च सन्मात्र, अनामय, अखण्डित (परिपूर्ण), अनादि, अनन्त तथा चेतन आकाशरूप ब्रह्म ही है। (उससे अतिरिक्त इसकी सत्ता ही नहीं है।) (सर्ग १२-१३)

भेदके निराकरणपूर्वक एकमात्र ब्रह्मकी ही अखण्ड सत्ताका वर्णन तथा जगत्की पृथक् सत्ताका खण्डन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! इस प्रकार अहंता आदि दृश्यसमूहभूत जगत् वास्तवमें कोई वस्तु नहीं है। कभी उत्पन्न न होनेके कारण इसका अस्तित्व है ही नहीं और जिसका अस्तित्व है, वह तो परब्रह्म परमात्मा ही है। यदि स्वप्नमें दिखायी देनेवाला पर्वत अविनाशी हो तो यह जगत् उसीके समान अविनाशी है। यदि स्वप्नमें प्रतीत होनेवाला नगर स्थिर हो तो उसी तरह यह जगत् भी स्थिर है। (तात्पर्य यह कि जैसे वे अविनाशी और स्थिर नहीं हैं, वही दशा इस जगत्की भी है।) यदि चित्रकारका चित्त स्थिर हो और उसमें वासनामय स्थिर चित्र बने तो उस चित्रमें कल्पनाद्वारा अङ्कित सेनाके समान ही इस जगत्की आकृति है अर्थात् जैसे उस चित्रमें अङ्कित सेना अस्थिर एवं असत्य है, उसी तरह यह जगत् भी है। आदि-प्रजापतिका भी, जो स्वयंभू नामसे पहले-पहल विख्यात हुआ, कोई कारण नहीं है; क्योंकि उसके पूर्वजन्मके कर्म शेष नहीं हैं। महाप्रलय होनेपर पूर्वकालके सभी प्रजापति मुक्त हो जाते हैं, अतः उनमें पूर्वजन्मका कर्म कैसे रह सकता है। ब्रह्म ही सबसे प्रथम होनेवाला हिरण्यगर्भ है। वही विराट् है और विराट् ही सृष्टिस्वरूप है। इस तरह वह चिन्मय परमात्मा ही जीवाकाशरूपसे स्थित है, जिससे पृथ्वी आदि सत् प्रपञ्चकी उत्पत्ति होती है। (तात्पर्य यह कि समस्त जगत् ब्रह्म ही है, ब्रह्मसे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं।)

केवल एकमात्र शुद्ध चिद्घन निर्मल एवं सर्वव्यापक ब्रह्म ही सदा सर्वत्र विराजमान है। वह सर्वशक्तिमान् होनेसे जिन-जिन कौशलपूर्ण कल्पनाओंकी भावना करता है, उन्हें स्वयं ही प्राप्त करता है—स्वयं तद्रूप हो जाता है। जैसे हाथमें दीपक लेकर ढूँढ़ा जाय या देखा जाय तो अन्धकार अदृश्य हो जाता है, उसका कहीं पता नहीं लगता, उसी प्रकार ज्ञानका प्रकाश छा जानेपर अज्ञानरूपी अन्धकारका तत्त्व ज्ञात नहीं होता—उसका पता ही नहीं चलता। इसी प्रकार अखण्ड, व्यवधानशून्य, अनादि, अनन्त तथा सर्वशक्तिमान् जीवात्मा जो कभी बाधित न होनेवाले महाचैतन्यरूपी सारभूत अंशसे रूपवान् प्रतीत होता है, ब्रह्म ही है—उससे भिन्न नहीं है। वह ब्रह्म सब प्रकारसे महान् है—देश, काल और परिणामसे परिच्छिन्न नहीं है। इसलिये कहीं उसमें भेद-की कल्पना नहीं है और जो भेदकी कल्पना होती है, वह भी ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं; क्योंकि सर्वत्र ऐसा ही अनुभव होता है। चेतनकी जो यह आकाशसे भी सूक्ष्म शक्ति सब ओर फैली है, वह स्वभावसे ही पहले इस अहंता (अहंकार) का दर्शन (अनुसंधान) करती है। जैसे जल अपने आपमें स्वयं ही बुद्बुद और तरङ्ग आदिके रूपमें स्फुरित होता है, उसी प्रकार जब आत्मा अपने आपमें स्वयं ही स्फुरणशील होता है, तब उस चेतन आत्माकी यह चिच्छक्ति उस सूक्ष्म अहंताका दर्शन (अनुसंधान) करती है, जो उत्तरोत्तर स्थूलताको प्राप्त होती हुई अन्तमें ब्रह्माण्डका आकार धारण कर लेती है। चेतनकी चमत्कारकारिणी जो चितिशक्ति है, वह स्वयं अपने आपमें जिस सुन्दर चमत्कारकी सृष्टि करती है, उसीका नाम जगत् रख दिया गया है। रघुनन्दन! चेत्य (दृश्य) भूत जो अहंकार है, उसकी कल्पना चैतन्यके अधीन है अर्थात् चैतन्यकी ही वह कल्पना है। तथा तन्मात्रा आदि जो जगत् है, उसकी कल्पना अहंकारके अधीन है, इस प्रकार अहंकार और जगत् चैतन्यरूप ही हैं। फिर उस चैतन्यमें द्वैत और अद्वैत कहाँ रहे।

ईहा अर्थात् मनकी चेष्टा (संकल्प)-रूप जो सारा सूक्ष्म जगत् है, वह शून्य ही है तथा इन्द्रिय और उनके अधिष्ठाता देवताओंका निवासभूत जो साकार एवं स्थूल विश्व है, वह भी शून्य ही है; क्योंकि दोनों ही चैतन्य-के चमत्काररूप (चैतन्य ही) हैं। इसलिये वे चैतन्यसे भिन्न नहीं हैं। जो वस्तु जिस वस्तुका विलास होती है, वह उससे कभी भी भिन्न नहीं होती। अवयवयुक्त जल आदिके विलासभूत तरङ्ग आदिमें भी ऐसा देखा गया है। फिर अवयवरहित चेतनके विलासमें अभिन्नता हो, इसके लिये तो कहना ही क्या है। सदा अचेत्य (अदृश्य अथवा रूपसे रहित), नामरहित और सर्वव्यापक चैतन्यशक्तिका जो रूप है, उससे स्फूर्ति प्राप्त करनेवाले जगत्का भी वही रूप है। (चैतन्यकी ही जो भिन्न-भिन्न आकारमें स्फुरणाएँ होती हैं, वे ही जगत् कही गयी हैं; अतः यह जगत् उस चैतन्यशक्ति या चेतन आत्मासे भिन्न नहीं है।) श्रीराम! चेतन आत्माका जो चैतन्य है, उसीको जगत् समझो। वह चैतन्य जगत्से पृथक् नहीं है। यदि चैतन्यको जगद्भावसे रहित या भिन्न माना जाय तो चित् चित् नहीं रह जायगा—चेतनको चेतन नहीं कहा जा सकेगा। (क्योंकि अपने धर्म या स्वरूपभूत जगत्को चेतित—प्रकाशित करनेके कारण ही उसको 'चित्' या 'चेतन' कहते हैं।) अतः चेतनसे जगत्का प्रतीतिमात्रसे ही भेद है, वास्तवमें भेद नहीं है। ऐसी परिस्थितिमें जगत्की पृथक् सत्ता कैसे सिद्ध हो सकती है।

चैतन्यप्रधान अहंकार कर्ता है और स्पन्दप्रधान (हिलना-चलना आदि चेष्टामय) प्राण कर्म (क्रिया) है। इन दोनोंमें कोई भेद नहीं है; क्योंकि कर्ताका अपनी क्रियासे भेद नहीं देखा जाता। चित्का स्पन्दनमात्र ही क्रिया (प्राण) है, उससे संयुक्त पुरुष ही 'जीव' कहा गया

सुरुचि और देवदूत (वैराग्य-प्रकरण सर्ग १)

है। इस प्रकार जीव और जगत्‌में भी भेद नहीं है।) कार्य-कारण आदि भावरूप चेतन जगत् आत्मासे भिन्न नहीं है। वह चैतन्य प्रकाशकी एक झलकमात्र है। अतः जहाँ सब भेदोंका लय हो गया है, वह परमात्मा ही जगत् है, यह सिद्ध हुआ। इस प्रकार तत्त्वज्ञान हो जानेपर यह निश्चय हो जाता है कि मैं अच्छेद्य हूँ (कोई शस्त्र मुझे काट नहीं सकता), मैं अदाह्य हूँ (मुझे आग जला नहीं सकती), मैं अशोष्य हूँ (हवा मुझे सुखा नहीं सकती) तथा मैं नित्य सर्वव्यापी, सुस्थिर और अचल हूँ। जैसे अपने भ्रमसे औरोंको भ्रममें डालते हुए विवादशील मनुष्य परस्पर विवाद करते हैं, उसी प्रकार जो अज्ञानी हैं, वे ही इस परमात्मतत्त्वके विषयमें वाद-विवाद करते हैं। हमलोग तो भ्रमरहित हो गये हैं। अतः हमारे लिये विवादका अवसर ही नहीं है। अज्ञानी लोगोंने जिसकी सत्ताको दृढ़तापूर्वक मान रक्खा है, वह दृश्य जगत् उनकी दृष्टिमें मूर्त एवं सत्य है; अतः उन्हींकी भावनाके अनुसार उसमें पृथक् विकार आदि हो सकते हैं। परंतु आत्मज्ञानीकी दृष्टिसे जो निराकार, असत्य एवं चिन्मय आकाशरूप है, उसमें आत्मासे पृथक् विकार आदिकी प्रतीति कैसे सम्भव है।

चेतन आत्मा स्वयं अपने स्वरूपमें किसी प्रकारका विकार न आने देकर विचित्र आकाशके रूपमें आविर्भूत होता है। तत्पश्चात् वह चेतन स्वयं ही आकाशजनित वायु होकर विलक्षण स्पन्दन (कम्पन) के साथ प्रकट होता है। इसके बाद (जिसकी उत्पत्तिकी चर्चा अभी की जायगी, उस तेजस्तत्त्वके रूपमें प्रादुर्भूत हुआ) चेतन स्वयं जलतत्त्व बनकर विचित्र विकासको प्राप्त होता है। वह जल धरती खोदकर निकाले गये कूप, तड़ाग आदिके जलसे भिन्न होता है (क्योंकि पृथ्वीकी सृष्टिसे पहले उसका उस कूप आदिसे सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है)। जलतत्त्वकी सृष्टिके बाद वह चेतन स्वयं ही सुवर्ण, रजत आदि विचित्र धातुओंसे पूर्ण पृथ्वी-तत्त्वको—देवता, असुर एवं मनुष्य आदिके शरीरभावको भी प्राप्त हुआ।

सदा उदित रहनेवाला चेतनरूपी चन्द्रमा स्वयं ही अपने विचित्र रसोल्लाससे युक्त चाँदनी और महान् चिन्मय प्रकाश बनकर प्रकट हुआ। अपने चैतन्यस्वरूपके ज्ञान-के आलोकसे दृश्य-प्रपञ्चरूपी अज्ञानान्धकारके नष्ट हो जानेपर वह चेतन आत्मारूपी चन्द्रमा स्वयं ही पूर्णताको प्राप्त होकर उदित एवं प्रकाशित होता है और स्वयं ही जडतावश स्थावर आदि पदार्थोंमें अहंभाव करनेसे सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त होता है। चिन्मय महाकाशरूप ब्रह्म स्वयं ही अविचार-दशामें स्पन्दनशील प्राण आदिमें आत्म-भावकी कल्पना करनेपर स्पन्दी अर्थात् संसारी हो जाता है। फिर विचार करनेसे 'मैं चेतन हूँ हूँ' इस प्रकार जब चैतन्य ज्ञानका उदय होता है, तब वह पुनः पूर्ववत् अपने स्वरूपभूत चैतन्यमें ही प्रतिष्ठित होता है। यह जगत् चेतनरूपी तेजका प्रकाश है। अतः ब्रह्मदृष्टिसे तो यह ब्रह्मस्वरूप है, किंतु जगत्-दृष्टिसे यह सर्वथा अस्तित्व-शून्य है। जगत् चेतनरूपी एकमात्र आकाशकी शून्यता है। ब्रह्मरूपसे यह सत् है और जगत्-रूपसे असत्। जगत् चेतनरूपी आलोकका महान् रूप है। ब्रह्मदृष्टिसे वह सत् है और उससे भिन्न रूपमें उसकी सत्ताका सर्वथा अभाव है। जगत् चेतनरूपी वायुका स्पन्दनमात्र है। यह जगन्मयी रेखा चेतनरूपी अग्निकी उष्णता है (जैसे अग्निका उष्णतासे भेद नहीं है, उसी प्रकार चेतनका जगत्‌से)। यह जगत् चेतनरूपी जलका द्रवत्व (तरलता है, चिन्मय इक्षुदण्डका माधुर्य है, चैतन्यरूप हिमकी शीतलता है, चेतनरूपी ज्वालाकी लपट है, चैतन्यमयी सरिताकी तरङ्ग है और चेतनरूपी सुवर्णका बना हुआ कङ्कण है, चेतनकी सत्ता ही इस जगत्‌की सत्ता है। जैसे आकाशमें मल नहीं है—वह सर्वथा निर्मल है उसी प्रकार चेतन परमात्मामें भेद और विकार आदि नहीं हैं—वह सर्वथा अखण्ड एवं निर्विकार है।

इस प्रकार ये तीनों लोक सत् आत्माका स्वरूपभूत होनेसे सत् है, अन्यथा इनका कोई अस्तित्व नहीं है।

चिन्मय परमात्मामें अवयव और अवयवी—इन दोनों शब्दोंके अर्थ खरगोशके सींगकी भाँति असत् हैं। सम्पूर्ण पदार्थ-समूहोंके अधिष्ठानभूत चेतन आकाशमय परमात्मामें इस भूताकाश जनित वायु आदि जगत्‌रूपी मलकी प्रतीति होती है; परंतु जब असङ्ग भूताकाशसे ही उसके कार्यभूत वायु आदिका सम्बन्ध नहीं है, तब चेतन महाकाश-स्वरूप परमात्मामें इस प्रपञ्चकी सत्ता, असत्ता तथा तू, मैं आदि भावोंके सम्बन्ध कैसे हो सकते हैं? संसारमें जितने कार्य हैं, उन सबके समस्त कारण-समूहोंका आदिकारण ब्रह्म है। चित्तसे उत्पन्न मनोरथजनित सारे संकल्प-विकल्प असत् होते हैं, अतः चित्त स्वभावसे ही किसीका कारण नहीं है। वह अकारणरूप ही है और वही ब्रह्म है। यदि हम कहें कि 'चेत्य जगत्‌के असत् होनेपर चेतन भी असत् हो जायगा; क्योंकि वह अपने स्वरूपभूत चेत्यसे पृथक् नहीं है', तो यह ठीक नहीं। चेतनकी असत्ता तो वाणीमात्रसे भी सिद्ध नहीं की जा सकती; क्योंकि चेतन आत्मा अनुभवसे सिद्ध है। जो है, उसका अवश्य उदय होता है, जैसे बीजसे अङ्कुरका। यह बात प्रत्यक्ष देखी गयी है। (अतः यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि परमात्माकी सत्तासे ही जगत्‌की सत्ता है, स्वतन्त्र नहीं।)

महर्षि वसिष्ठ जब इतनी बात कह चुके, तब दिन बीत गया। सूर्य अस्ताचलको चले गये। मुनियोंकी वह सभा सायंकालिक नित्यकर्म करनेके लिये स्नान करनेके उद्देश्यसे महर्षिको नमस्कार करके उठ गयी। फिर जब रात बीती, तब प्रातःकालके सूर्यकी किरणोंके साथ-साथ वह मुनिमण्डली पुनः सभाभवनमें आकर बैठ गयी। (सर्ग १४)

जगत्‌के अत्यन्ताभावका प्रतिपादन, मण्डपोपाख्यानका आरम्भ, राजा पद्म तथा रानी लीलाका परस्पर अनुराग, लीलाका सरस्वतीकी आराधना करके वर पाना और रणभूमिमें पतिके मारे जानेसे अत्यन्त व्याकुल होना

जैसे समुद्रके भीतर जलके स्पन्द (हलन-चलन आदि) जलके स्वभावसे च्युत हुए बिना ही लहरोंके वेगके रूपमें प्रकट होते हैं, उसी प्रकार चेतन परमात्मामें दृश्यजगत्‌की प्रतीतियाँ होती रहती हैं। जैसे स्वप्न और संकल्प (मनोरथ) में प्रतीत होनेवाले घट-पट आदि पदार्थ अनुभवमें आनेपर भी वास्तवमें हैं नहीं, उसी प्रकार चेतनाकाशरूपी परब्रह्म परमात्मामें दृष्टिगोचर होनेवाले ये पृथ्वी आदि जगत् इन्द्रियोंके अनुभवमें आनेपर भी वास्तवमें हैं नहीं। जैसे मरुभूमि सूर्यकी किरणोंके अन्तर्गत दीखनेवाली जलकी नदी (मृगतृष्णा) में कहीं भी जलका होना सम्भव नहीं है उसी प्रकार इस विज्ञानाकाशस्वरूप जगत्‌में मूर्तरूप होना कदापि सम्भव नहीं है। जिसमें मूर्त रूपका ग्रहण नहीं होता तथा जो सङ्कल्पकल्पित नगरके समान मिथ्या है, उस जगत्‌में जो दृश्यताकी प्रतीति होती है, वह मरुमरीचिकामें दृष्टिगोचर होनेवाली नदीके समान भ्रान्तिरूप ही है। इस जगत्‌का जो दर्शनीय-सा दृश्य-वैभव है, उसे साक्षिभूत चैतन्यमयी तराजूके एक पलड़ेमें रक्खा जाय और दूसरी ओर स्वप्नको रखकर सार और असारका विवेचन करनेवाली बुद्धिरूप काँटेसे यदि तौला जाय तो वह दृश्य-वैभव स्वप्नकी भाँति कलनारहित (असत्य) होकर आकाशकी भाँति शून्यरूप अथवा चेतनाकाशमय ब्रह्मरूपमें ही स्थित होता है।

अज्ञानियोंकी जो समझ है, उसीमें 'जगत्' शब्दका ब्रह्मसे भिन्न अर्थ भासित होता है। वास्तवमें जगत्,

ब्रह्म और स्व (आत्मा)—इन शब्दोंके अर्थमें कोई भेद है ही नहीं। इसलिये यहाँ जगत् आदि कोई भी दृश्य उत्पन्न नहीं हुआ है। नाम और रूपसे रहित चेतन ब्रह्म ही ज्यों-का-त्यों (निर्विकार भावसे विराजमान है। इस रीतिसे मायामय महाकाशमें स्थित यह जगत् आवरणशून्य चेतन आकाशरूप परमात्मा ही है। इस विषयमें मण्डपाख्यान सुनाया जाता है, जो कानोंके लिये आभूषणरूप है। तुम ध्यान देकर इसे सुनो।

पूर्वकालमें इस भूतलपर पद्म नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं, जो अपने कुलरूपी सरोवरमें प्रफुल्ल कमलके समान शोभा पाते थे। वे राजलक्ष्मीसे सम्पन्न और अनेक पुत्रोंसे युक्त होते हुए भी विवेकशील थे। वे मर्यादाका पालन करनेमें समुद्र और दोषरूपी निशाचरोंको जला डालनेके लिये अग्निके समान थे। जैसे मेरुपर्वत देवताओंका आश्रम है, वैसे ही वे विद्वानोंके समुदायको आश्रय देनेवाले थे। जैसे पूर्ण चन्द्रमाके उदयसे महासागर उल्लसित हो उठता है, उसी प्रकार उनके सुयशके विस्तारसे संसारका आनन्द-वर्धन होता था। वे सद्गुणरूपी हंसोंके लिये मानसरोवर थे। संग्राम-भूमिमें शत्रुरूपी झाड़ियोंको कम्पित कर देनेके लिये प्रचण्ड पवन थे। मनरूपी मतवाले हाथीको वशमें करनेके लिये सिंह थे। समस्त विद्यारूपी वनिताओंके प्राणवल्लभ और सम्पूर्ण आश्चर्यमय गुणोंकी खान थे। देवद्रोही दैत्योंके सैन्य-समुद्रको मथ डालनेके लिये शोभाशाली मन्दराचल थे। भगवान् विष्णुके समान साहस और उत्साहसे सम्पन्न थे। सौजन्यरूपी कुमुदिनीके विकासके लिये शीतरश्मि चन्द्रमा थे तथा दुराचाररूपी विपक्षी वेश्मोंको भस्म करनेके लिये धधकती हुई आग थे।

राजा पद्मकी पत्नीका नाम था लीला। वह बड़ी सुन्दरी तथा सब प्रकारके सौभाग्यसे सम्पन्न थी। लीला इस भूतलपर प्रकट हुई लक्ष्मीके समान शोभा पाती थी। पति-सेवाके जितने प्रकार हो सकते हैं, उन सबमें निपुण होनेके कारण उसकी मनोरमता बढ़ गयी थी (अथवा सबके अनुकूल बर्ताव करनेके कारण वह सभीको प्रिय एवं मनोहर जान पड़ती थी)। वह सदा मीठे वचन बोला करती थी और आनन्दमग्न होकर मन्द-मन्द गतिसे चलती थी। जब वह मुस्कराती, उस समय ऐसा लगता, मानो दूसरे चन्द्रमाका उदय हो गया है। उसके अङ्ग गौर वर्णके थे। पतिकी प्राणवल्लभा लीला राजाके खिन्न होनेपर खिन्न हो उठती थी, उनके प्रसन्न होनेपर आनन्दमग्न हो जाती थी और जब वे किसी चिन्तासे व्याकुल होते, तब वह भी चिन्ताके कारण घबरा उठती थी। इस प्रकार सारी बातोंमें तो वह पतिके प्रतिबिम्बकी भाँति उनका अनुकरण एवं अनुसरण करती थी; परंतु उनके कुपित

होनेपर वह केवल भयभीत होती थी (क्रोध नहीं करती थी)।

रघुनन्दन ! लीला अपने पतिकी अनन्यप्रिया—एकमात्र वल्लभा थी अथवा उसका अपने पतिमें अनन्य अनुराग था। ऐसी भार्याके पति महाराज पद्मने भूतलकी अप्सरा-सी मनोहर अपनी उस प्रेयसीके साथ स्वाभाविक प्रेम-रसका आस्वादन करते हुए विहार किया। इस प्रकार सुखमें पली हुई राजाकी प्रणयिनी और प्रियतमा, सुन्दर भौंहों और शुभ संकल्पसे सुशोभित होनेवाली लीलाने एक दिन मन-ही-मन विचार किया कि 'ये मेरे प्राणोंसे भी अधिक प्रिय पतिदेव पृथ्वीनाथ महाराज, जो जवानीके उल्लाससे परिपूर्ण और परम कान्तिमान् हैं, किस उपायसे अजर-अमर हो सकते हैं ? मैं तप, जप और यम-नियम आदि चेष्टाओंसे ऐसा प्रयत्न करूँ, जिससे ये चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाले राजा अजर-अमर हो जायँ। पहले मैं ज्ञान, तपस्या और विद्यामें बढ़े-चढ़े ब्राह्मणोंसे पूछती हूँ कि कौन-सा ऐसा उपाय

है, जिससे मनुष्योंकी मृत्यु न हो।' ऐसा विचार करके उसने पूर्वोक्त गुणवाले ब्राह्मणोंको बुलवाया और उनकी पूजा करके नतमस्तक हो बारंबार पूछा—'विप्रगण ! (मुझे और मेरे पतिको) अमरत्व कैसे प्राप्त हो सकता है ?'

ब्राह्मण बोले—देवि ! तप, जप और यम-नियमोंका पालन करनेसे सिद्धोंकी समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं; परंतु उनसे अमरत्व कदापि नहीं मिल सकता।

ब्राह्मणोंके मुखसे यह बात सुनकर अपने प्रियतमके भावी वियोगसे भयभीत हो लीलाने अपनी बुद्धिसे ही फिर तत्काल इस प्रकार सोचना आरम्भ किया—'यदि दैववश पतिके सामने मेरी मृत्यु हो गयी, तब तो मैं सम्पूर्ण दुःखोंसे छूटकर परमात्मामें सुखपूर्वक स्थित हो जाऊँगी; किंतु यदि एक सहस्र वर्षके बाद पहले मेरे पति ही चल बसे तो मैं ऐसा यत्न करूँगी, जिससे उनका जीव घरसे बाहर न जा सकेगा। फिर तो मैं अपने अन्तःपुरके मण्डपमें, जहाँ मेरे पतिदेवका जीव विचर रहा होगा, पतिके दृष्टिपथमें रहकर सदा सुखपूर्वक निवास करूँगी। अपने संकल्पकी सिद्धिके लिये मैं आजसे ही जप, उपवास और नियमोंद्वारा ज्ञानमयी सरस्वती देवीकी तबतक आराधना करती रहूँगी, जबतक कि वे पूर्णरूपसे संतुष्ट न हो जायँ।'

ऐसा निश्चय करके उस श्रेष्ठ नारीने अपने स्वामीको बताये बिना ही नियमपरायण हो शास्त्रीय विधिके अनुसार उग्र तपस्या आरम्भ कर दी। तीन-तीन रात बीत जानेपर वह भोजन करती और देवता, ब्राह्मण, गुरु, ज्ञानी एवं विद्वानोंकी पूजामें तत्पर रहती थी। वह अपने शरीरको सदा स्नान, दान, तप और ध्यानमें लगाये रखती थी। सम्पूर्ण शास्त्रीय कर्मोंका फल अवश्य मिलता है, ऐसी आस्तिकतापूर्ण बुद्धिसे युक्त हो वह सदाचारका पालन करती और पतिके क्लेशोंका निवारण

करनेमें दत्तचित्त रहती थी। उन दिनों भी वह पहले-की ही भाँति ठीक समयपर पूरी चेष्टा और लगनके साथ शास्त्रोक्त रीतिसे क्रमशः पतिकी सेवा-शुश्रूषा करके उन्हें संतुष्ट रखती थी । अतः अपनी वर्तमान स्थितिका उसने पतिको पता नहीं लगने दिया । इस तरह नियम-पालनसे सुशोभित होनेवाली उस भोली-भाली लीलाने लगातार तीन सौ रातोंतक कष्टप्रद चेष्टाओंके द्वारा तपस्याका निर्वाह किया। सौ त्रिरात्र व्रतोंकी

पूर्ति हो जानेपर उसके द्वारा पूजित और सम्मानित हो गौरवर्णा भगवती वागीश्वरी सरस्वती संतुष्ट हो उसके सामने प्रकट हुईं और बोलीं ।

श्रीसरस्वतीजीने कहा—बेटी! तुमने जो निरन्तर तपस्या की है, वह तुम्हारी पति-भक्तिके कारण अधिक उत्कर्ष-शालिनी हो गयी है। उससे मैं तुमपर बहुत संतुष्ट हुई हूँ । अतः तुम मुझसे कोई मनोवाञ्छित वर ग्रहण करो ।

रानी बोली—देवि ! आप जन्म और जरारूपी अग्नि-की ज्वालाओंसे उत्पन्न दाहरूपी दोषका शमन करनेके लिये चन्द्रमाकी प्रभाके समान हैं, आपकी जय हो । आप हृदयको अज्ञानान्धकार-राशिका निवारण करनेके लिये सूर्यदेवकी प्रभाके तुल्य हैं, आपकी जय हो । अम्ब ! मातः ! जगदम्बिके ! इस दीन सेविकाका आप संकटसे उद्धार करें । शुभे ! मैं आपसे जो दो वर माँगती हूँ, उन्हें मुझे देनेकी कृपा कीजिये । उनमें पहला वर तो यह है कि जब मेरे पतिदेवका शरीर छूट जाय, तब उनका जीव मेरे इस अन्तःपुरके मण्डपसे बाहर न जाय । और महादेवि ! मैं दूसरा वर यह माँगती हूँ कि जब-जब मैं आपसे वर पानेके उद्देश्यसे दर्शन देनेकी प्रार्थना करूँ तब-तब आप मुझे अवश्य दर्शन दें ।

लीलाकी यह बात सुनकर जगन्माता सरस्वतीने कहा—'बेटी ! तुम्हारी यह अभिलाषा पूर्ण हो ।' यह कहकर वे स्वयं वहाँसे अदृश्य हो गयीं—ठीक वैसे ही जैसे महासागरमें लहर उठकर स्वयं ही शान्त हो जाती है । तदनन्तर जिसकी इष्टदेवी संतुष्ट हो गयी थीं, वह राजरानी लीला सगीत सुनकर मस्त हुई मृगीके समान आनन्दमें मग्न हो गयी । इसके बाद पक्ष जिसके नेमिगोलक, मास जिसके मध्यगोलक तथा ऋतु जिसके नाभिगोलक हैं, दिन जिसके अरे हैं, वर्ष जिसका अक्षदण्ड (धुरा) है और क्षण जिसके नाभिका छेद है, ऐसे गतिशील कालचक्रके चलते रहनेसे लीलाके पतिकी चेतना सूखे पत्तेके रसकी भाँति देखते-ही-देखते शरीरमें सहसा अदृश्य हो गयी ।

बात यह हुई कि किसी शत्रुने आक्रमण किया और युद्धमें घायल होकर उनका शरीर धराशायी हो गया। (वे अन्त:पुरमें लाये गये और वहीं मर गये।) इस प्रकार राजाकी मृत्यु हो जानेपर लीला अन्त:पुरके मण्डप-में जलशून्य कमलिनीकी भाँति मुरझा गयी—उसका मुख मलिन हो गया। विषतुल्य उस नि:श्वाससे उसका सारा अधर-पल्लव सूख गया। वह बेचारी बाणसे बिंधी हुई हरिणीके समान छटपटाती हुई मृत्यु-तुल्य अवस्थाको पहुँच गयी। तत्पश्चात् जलाशयके सूख जानेसे व्याकुल हुई मछली-के ऊपर जैसे आषादकी पहली वर्षा अनुकम्पा करती है, उसी प्रकार पतिके वियोगसे अत्यन्त खिन्न हुई लीलाके ऊपर दयामयी सरस्वतीने आकाशवाणीके रूपमें कृपा की।

(सर्ग १५-१६)

सरस्वतीकी आज्ञासे पतिके शवको फूलोंका ढेर में रखकर समाधिस्थित हुई लीलाका पतिके वासनामय स्वरूप एवं राजभवनको देखना तथा समाधिसे उठकर पुनः राजसभामें सभासदोंका दर्शन करना

श्रीसरस्वतीजीने कहा—बेटी! अपने पतिके शवको तुम फूलोंके ढेरमें छिपाकर रक्खो। ऐसा करनेसे तुम फिर अपने इस पतिको प्राप्त कर लोगी। न तो ये फूल मुरझायेंगे और न तुम्हारे पतिका यह शव ही सड़-गल-कर नष्ट होने पायेगा। फिर थोड़े ही दिनोंमें यह शव पुनः जीवित होकर तुम्हारे पतिका उत्तरदायित्व सँभालेगा। इसका जीव जो आकाशके समान निर्मल है तुम्हारे इस अन्त:पुरके मण्डपसे शीघ्र बाहर नहीं निकल सकेगा।

तब अपने पतिको वहीं अन्त:पुरमें फूलोंके ढेरमें छिपाकर रखनेके पश्चात् रानीको कुछ आश्वासन मिला, परंतु घरमें निधि (खजाने) को रखकर भी उसके उपयोगसे वञ्चित होनेके कारण दरिद्रतापूर्ण जीवन बितानेवाली स्त्रीके समान लीला भी पतिकी सेवाके सुखसे वञ्चित होनेके कारण उस विषयमें दरिद्र ही बनी रही।

फिर उसी दिन आधीरातके समय जब सभी परिजन (सेवकगण) निद्रासे अचेत हो गये, लीलाने अन्तःपुर-के उस मण्डपमें विशुद्ध ध्यानसे युक्त अन्तःकरण के द्वारा ज्ञानमयी भगवती सरस्वतीदेवीका बड़े दु:खसे आवाहन किया। देवी उसके पास आ गयीं और बोलीं—

बेटी! तुमने क्यों मेरा स्मरण किया है? तुम क्यों अपने मनमें शोकको स्थान देती हो? जैसे मृगतृष्णामें झूठे ही जलकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार ये संसार-रूपी भ्रम मिथ्या ही प्रतीत होते हैं।'

लीलाने कहा—देवि! मेरे पति कहाँ हैं? क्या करते हैं और कैसे हैं? मुझे उनके पास ले चलिये। मैं उनके बिना अकेली नहीं जी सकती।

श्रीसरस्वतीजी बोलीं—सुमुखि! एक शुद्ध चेतन परमात्मरूप आकाश है, दूसरा मनरूप आकाश है और तीसरा यह सुप्रसिद्ध भूताकाश है। चित्ताकाश और भूताकाश—इन दोनोंसे जो सर्वथा शून्य है उसीको तुम चिन्मय आकाश समझो। तुमने जो अपने पतिके रहने आदिका स्थान पूछा है, वह चेतन आकाशमय कोश ही है (उससे अतिरिक्त नहीं है); अतः चेतन आकाशका एकाग्रमनसे जब चिन्तन किया जाता है, तब पृथक् विद्यमान न होनेपर भी वह शीघ्र दिखायी देता और अनुभवमें आता है। भद्रे! यदि तुम सम्पूर्ण सकल्पोंको त्यागकर उस चेतनाकाशरूप परब्रह्ममें स्थित हो जाओ—उसीमें मनको एकाग्र कर दो तो तुम उस सर्वात्मपदको, जो परम तत्त्वरूप है, अवश्य प्राप्त कर लोगी—इसमें संशय नहीं है। सुन्दरि! उक्त तत्त्व यद्यपि इस जगत्के अत्यन्ताभावका बोध होनेपर ही सुलभ होता है, दूसरे किसी उपायसे नहीं, तथापि तुम मेरे वरदान-के प्रभावसे उसे शीघ्र प्राप्त कर लोगी।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! यह कहकर देवी सरस्वती अपने दिव्य धामको चली गयीं और लीला लीलापूर्वक (अनायास) ही निर्विकल्प समाधिमें स्थित हो गयी।

रानीने निर्विकल्प समाधिके द्वारा चेतनाकाशमें स्थित होकर अपने उसी राजप्रासादके आकाशमें राजा पद्मको सिंहासनपर विराजमान देखा। (वे अपनी वासना और

कर्मोंके अनुसार देह-गेह एवं वैभवसे सम्पन्न थे।) अनेक राजाओंसे घिरे हुए सभामण्डपमें सिंहासनपर बैठे हुए राजाकी वन्दीजन 'महाराजकी जय हो, हमारे राजाधिराज चिरजीवी हों' इत्यादि कहकर स्तुति करते थे। वे अपने अधीनस्थ जनपद तथा सेनाके कार्यकी देख-भाल करनेमें सादर जुटे हुए थे। पताकारूपिणी मन्त्रियोंसे व्याप्त राजधानीके जिस सुन्दर सभाभवनमें राजा बैठे थे, उसके पूर्व दरवाजेपर असंख्य मुनियों और ब्रह्मर्षियोंकी मण्डली विराज रही थी। दक्षिण द्वारपर असंख्य राजे-महाराजे विद्यमान थे। पश्चिम द्वारपर अगणित सुन्दरी ललनाओंका समूह शोभा पाता था और उत्तर द्वारपर असंख्य रथ, हाथी एवं घोड़ोंकी भीड़ लगी थी। राजाने गुप्तचरकी बातें सुनकर दक्षिण देशके युद्धको गतिविधिका निर्णय किया। पंक्तिबद्ध खड़े हुए अगणित भूपालोंकी प्रभासे उस राजभवनका सारा आँगन जगमगा रहा था। यज्ञमण्डपमें वेदमन्त्रोंका उच्चारण करते हुए ब्राह्मणोंकी वेदध्वनिसे श्रेष्ठ वाद्योंका मधुर घोष दब गया था। अनेक सामन्तनरेश आरम्भमें मन्द गतिसे चलनेवाले उत्तम कार्योंमें संलग्न थे। अनेक शिल्पियोंके सरदार वहाँ नाना नगरोंके निर्माणकी तैयारीमें लगे हुए थे। उस समय आकाशस्वरूपा लीला उस आकाशरूपिणी राजसभामें प्रविष्ट हुई। जैसे दूसरेके सङ्कल्पसे निर्मित हुई नगरीको दूसरा नहीं देखता, उसी प्रकार अपने आगे-आगे विचरती हुई लीलाको उस सभामें रहनेवाले लोगोंमेंसे किसीने नहीं देखा। वहाँ उसने अपने उन्हीं सब लोगोंको सभामें बैठे देखा, जो पहले देखे गये थे, मानो वे सब-के-सब राजाके साथ ही एक नगरसे दूसरे नगरमें चले आये हों। जो पहले जहाँपर बैठते थे, वे वहीं बैठे थे। वैसा ही उनका आचरण था। लीला जिन्हें पहले देख चुकी थी, उन्हीं बालकों, उन्हीं मन्त्रियों, उन्हीं सामन्त-नरेशों, उन्हीं विद्वानों, उन्हीं विदूषकों तथा उन्हीं पहले-वाले सेवकोंसे मिलते-जुलते भृत्योंको भी देखा।

तदनन्तर उसने कुछ दूसरे पण्डितों और सुहृदोंको भी देखा, जो सर्वथा नये थे—पहले कभी देखनेमें नहीं आये थे; कुछ व्यवहार भी पहलेसे भिन्न दिखायी दिये। बहुत-से पुरवासी तथा अन्य लोग भी अपरिचित दृष्टिगोचर हुए। पहलेकी सारी जनता और समस्त पुरवासियोंको भी वहाँ देखकर सुन्दरी लीला चिन्ताके वशीभूत हो गयी। वह सोचने लगी—'क्या उस नगरमें रहनेवाले सब-के-सब मर गये।' फिर सरस्वतीदेवीकी कृपासे बोध प्राप्त हुआ। उसकी समाधि टूट गयी और वह क्षणभरमें पहलेके अन्तःपुरमें अवस्थित हो गयी। उसने वहाँ आधीरातके समय सब लोगोंको पूर्ववत् सोते देखा। फिर उसने नींदमें पड़ी हुई सखियोंको उठाया और कहा—'मुझे बड़ा दुःख हो रहा है, अतः तुमलोग सभाभवनमें मुझे स्थान दो। यदि मैं पतिदेवके सिंहासनके पास बैठूँ और समस्त सभासदोंको वहाँ पूर्ववत् उपस्थित देखूँ, तभी जीवित रह सकती हूँ, अन्यथा नहीं।'

रानीके यों कहनेपर सारा-का-सारा राजपरिवार

जाग उठा और क्रमशः सब लोग अपने-अपने सर्वस्व-भूत कार्य-कलापमें जुट गये। जैसे सूर्यकी किरणें लोगों-को अपने-अपने व्यवहारमें लगानेके लिये पृथ्वीपर आती हैं, वैसे ही समूह-के-समूह छड़ीदार राजसेवक पुरवासी सभासदोंको बुलानेके लिये चारों ओर चल दिये। दूसरे-दूसरे सेवक आदरपूर्वक सभाभवनकी उसी तरह सफाई करने लगे, जैसे शरद्-ऋतुके दिन मेघोंसे मलिन हुए आकाशको स्वच्छ कर देते हैं। जैसे महाप्रलयके बाद जब त्रिलोकीकी पुनः सृष्टि होती है, तब सारे लोकपाल अपनी-अपनी दिशाओंमें अधिष्ठित हो जाते हैं, उसी तरह निर्दोष मन्त्री और सामन्तगण उस सभाभवनमें अपने-अपने स्थानपर आ बैठे। राजाके सिंहासनके पास ही रानी लीला एक नूतन सुवर्णमय विचित्र आसनपर विराजमान हुई। उसने पहलेकी ही भाँति यथास्थान बैठे हुए पूर्वपरिचित समस्त नरेशों, गुरुजनों, श्रेष्ठ पुरुषों, मित्रों, सदस्यों, सुहृदों, सम्बन्धियों और बन्धु-बान्धवोंको देखा। राजाके राष्ट्रमें निवास करनेवाले सभी लोगोंको वहाँ पूर्ववत् ही देखकर रानीको बड़ी प्रसन्नता हुई। (सर्ग १७)

लीलाका सरस्वतीसे कृत्रिम और अकृत्रिम सृष्टिके विषयमें पूछना और सरस्वतीका इस विषयको समझानेके लिये लीलाके जीवनसे मिलते-जुलते एक ब्राह्मण-दम्पतिके जीवनका वृत्तान्त सुनाना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! तदनन्तर रानी लीला सभाभवनसे उठ गयी और अन्तःपुरमें प्रवेश करके रनवासके पूर्वोक्त मण्डपमें फूलोंसे ढके हुए पतिके पास जा पहुँची तथा मन-ही-मन इस प्रकार विचार करने लगी—'अहो! यह तो बड़ी विचित्र माया है। ये हमारे पुरवासी मनुष्य इस बाह्य प्रदेशमें और उस अन्तर-देशमें भी विद्यमान हैं। ताल, तमाल और हिताल आदि वृक्षोंसे घिरे हुए ये पर्वत जैसे वहाँ हैं, उसी तरह यहाँ भी हैं। यह बड़ी ही आश्चर्यजनक माया फैली हुई है। जैसे दर्पणमें पर्वत उसके भीतर और बाहर भी स्थित प्रतीत होता है, उसी प्रकार चेतन-आकाशरूपी दर्पणमें भीतर और बाहर भी यह सृष्टि प्रतीत हो रही है। उनमेंसे कौन सृष्टि भ्रान्तिमयी है और कौन वास्तविक, इस संदेहको मैं वागीश्वरी देवीकी पूजा करके उन्हींसे पूछती हूँ, जिससे उनके उपदेशसे संशयका निवारण हो जाय।' ऐसा निश्चय करके रानीने उस समय देवीका पूजन किया और देखा—देवी सरस्वती कुमारीरूप

धारण करके सामने आ गयी हैं। तब लीला परमार्थ-महाशक्तिस्वरूपा देवीको सिंहासनपर विराजमान करके स्वयं उनके सामने पृथ्वीपर खड़ी हो गयी और इस प्रकार पूछने लगी।

लीलाने कहा—परमेश्वरि! मैं आपके सामने विनम्र होकर जो कुछ पूछ रही हूँ, उसे बताइये। यह त्रिलोकी-का प्रतिबिम्ब-वैभव बाहर भी स्थित है और भीतर भी। इनमेंसे कौन कृत्रिम (झूठा) है और कौन अकृत्रिम (सच्चा)? देवि अम्बिके! जैसे मैं यहाँ खड़ी हूँ और आप यहाँ बैठी हैं, देवेश्वरि! इसीको मैं सच्ची सृष्टि समझती हूँ। परंतु जहाँ इस समय मेरे पतिदेव विराजमान हैं, उस सृष्टिको मैं कृत्रिम समझती हूँ; क्योंकि वह सूना है। उससे देश, काल और व्यवहारकी पूर्ति (सिद्धि) नहीं होती।

देवीने कहा—बेटी! अकृत्रिम सृष्टिसे कदापि कृत्रिम सृष्टि नहीं उत्पन्न होती। कहीं भी कारणसे विलक्षण (सर्वथा भिन्न) कार्यका उदय नहीं होता।

लीलाने कहा—माताजी! मुझे तो कारणसे कार्य सर्वथा विलक्षण दिखायी देता है। मिट्टीका लोंदा जल धारण करनेमें असमर्थ है; किंतु उसीसे उत्पन्न हुआ घड़ा जलका आधार बन जाता है।

देवीने कहा—सुमुखि! बताओ तो सही—इस सृष्टिके अन्तर्गत जो पृथ्वी आदि तत्त्व हैं, उनमेंसे कौन-सा तत्त्व तुम्हारे पतिकी सृष्टिका कारण है?

लीला बोली—देवि! मेरे पतिकी वह स्मृति ही उस रूपमें वृद्धिको प्राप्त हुई है, अतः मैं स्मृतिको ही उस सृष्टिका कारण समझती हूँ। उसीसे यह सृष्टि हुई है, ऐसा मेरा निश्चय है।

देवीने कहा—अबले! स्मृति तो आकाशकी भाँति शून्यरूप है। जैसे स्मृति शून्य है, उसी प्रकार उससे उत्पन्न तुम्हारे पतिकी सृष्टि भी शून्य ही है। वह उस रूपमें अनुभवमें आनेपर भी शून्यके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

लीलाने कहा—देवि! जैसे आपने मेरे पतिकी सृष्टिको स्मृतिमात्र—शून्यरूप बताया है, उसी तरह मैं इस सृष्टिको भी स्मृतिमात्र एवं शून्यरूप ही समझती हूँ। समाधिमें देखी गयी वह सृष्टि ही मेरी ऐसी मान्यतामें उदाहरण है।

देवीने कहा—बेटी! ठीक ऐसी ही बात है। वह सृष्टि असत् होनेपर भी (उसका आश्रयभूत चेतन आत्मा ही) तुम्हारे पतिके उन-उन भावोंसे उस रूपमें प्रकाशित होता है। इसी तरह यहाँ यह सृष्टि भी मिथ्या ही है (तथापि उसका आश्रय-भूत चेतन आत्मा) जीवके विभिन्न भावोंके अनुसार इस रूपमें भासित होता है।

लीला बोली—देवि! जैसे इस सृष्टिसे मेरे पतिकी भ्रमरूप अमूर्त सृष्टि हुई, वह प्रकार मुझे बताइये; जिससे मेरा यह जगत्‌रूपी भ्रम दूर हो जाय।

देवीने कहा—जिस प्रकार पूर्व सृष्टिकी स्मृतिसे उत्पन्न हुई यह भ्रमरूपिणी सृष्टि स्वप्न-भ्रमके तुल्य प्रतीत होती है, उस प्रकार मैं तुमसे इस विषयका प्रतिपादन करती हूँ, सुनो। चिन्मय आकाशमें कहीं (अज्ञानसे आवृत भागमें और उसके भी) किसी एक देशमें (विधाताके अन्तःकरणके एक अंशमें) संसाररूपी मण्डप है, उस मण्डपके किसी एक आकाशरूपी कमरेके भीतर एक कोनेमें पर्वतरूपी मिट्टीके ढेलेके नीचे एक छोटा-सा गड्ढा है, जो पर्वतसम्बन्धी छोटा-सा गाँव है। नदी, पर्वत और वनोंसे घिरे हुए उस ग्रामके भीतर एक धर्मपरायण नीरोग अग्निहोत्री ब्राह्मण अपने स्त्री-पुत्रोंके साथ रहते थे। उन्हें वहाँ गायका दूध सुलभ था। वे राजाके भयसे सर्वथा मुक्त थे तथा वहाँ आनेवाले सभी प्राणियोंका वे आतिथ्य-सत्कार करते थे।

बेटी! वे ब्राह्मण धन-सम्पत्ति, वेश-भूषा, अवस्था, कर्म,

विद्या, विभव और चेष्टाओंकी दृष्टिसे साक्षात् वसिष्ठ मुनिके समान थे। उनका नाम भी वसिष्ठ ही था। उन्हें चाँद-जैसी भार्या प्राप्त थी, जिसका नाम अरुन्धती था। एक दिन उन ब्रह्मर्षिने, जो उस पर्वतके शिखरपर हरी-हरी घासोंसे ढकी हुई समतल भूमिपर बैठे हुए थे, नीचे एक राजाको देखा, जो अपने सारे परिवारके साथ शिकार खेलनेकी इच्छासे जा रहे थे। वे अपनी उस विशाल सेनाके महान् घोषसे मानो मेरु पर्वतको भी विदीर्ण कर देना चाहते थे। उस सेनाके महान् कोलाहलसे दिग्भ्रम-सा हो जानेके कारण सभी दिशाओंके प्राणियोंके समुदाय भाग रहे थे—जलके भँवरके समान एक-एक स्थानपर चक्कर काट रहे थे। उन भूपालको देखकर ब्राह्मणने मन-ही-मन यह विचार किया—'अहो! राजाका पद बड़ा

ही रमणीय है। उस पदपर प्रतिष्ठित मनुष्य सम्पूर्ण सौभाग्योंसे उद्भासित हो उठता है। कब ऐसा समय आयेगा जब कि मैं भी पैदल, रथ, हाथी और घोड़ोंसे संकुल चतुरंगिणी सेना, पताका, छत्र और चँवरसे सम्पन्न हो दस दिशारूपी कुक्षियोंको परिपूर्ण करनेवाला राजा होऊँगा।' उसी दिनसे ब्राह्मणके मनमें इस तरहका संकल्प होने लगा। वे जबतक जीवित रहे, प्रतिदिन आलस्य छोड़कर स्वधर्म-पालनमें लगे रहे। तत्पश्चात् उनके शरीरको जर्जर बना देनेके लिये जर्जरित अङ्गवाली जरावस्था बड़े आदरके साथ उन ब्राह्मण देवताके पास आयी। जब वे मृत्युके निकट पहुँच गये, तब उनकी पत्नीको बड़ी चिन्ता हुई। उस कल्याणमयी ब्राह्मणपत्नीने तुम्हारी ही भाँति मेरी आराधना की। अमरत्वको अत्यन्त दुर्लभ मानकर उसने मुझसे यह वर माँगा—'देवि!

मरनेपर मेरे पतिका जीव अपने मण्डपसे बाहर न जाय।' अतः मैंने उसके उसी वरको स्वीकार कर लिया। तदनन्तर कालवश ब्राह्मणका शरीर छूट गया। फिर उसी घरके आकाशमें वह ब्राह्मणका जीवात्मा स्थित रहा। पूर्व-जन्मके सुदृढ़ एवं महान् संकल्पसे वह ब्राह्मणीका पति स्वयं सर्वशक्तिशाली राजा बन गया। उसने अपने प्रभावसे

भूमण्डलपर विजय प्राप्त कर ली। उसका प्रताप स्वर्ग-लोकतक फैल गया और उसने कृपा करके पाताललोकका भी पालन किया। इस प्रकार वह त्रिलोकविजयी नरेश हो गया। वह याचकोंको मुँहमाँगा दान देनेके लिये कल्पवृक्षके समान था, धर्मरूपी चन्द्रमाके पूर्ण विकासके लिये पूर्णिमाकी रात्रिके सदृश था। उधर उस ब्राह्मणके मृत्युमुखमें पहुँच जानेपर उसकी पत्नी ब्राह्मणी शोकसे अत्यन्त कृश हो गयी। उड़दकी सूखी छीमीके समान उसके हृदयके दो टुकड़े हो गये। पतिके साथ ही मरकर अपने शरीरको दूर छोड़ वह आतिवाहिक देह (मानस-शरीर) के द्वारा पतिके पास जा पहुँची। जैसे नदी गर्तमें गिरती है, उसी प्रकार पतिका अनुसरण करके उनके पास जा वह वासंती लताके समान शोक-रहित हो गयी। उस पर्वत ग्राममें मरे हुए इस ब्राह्मणके घर हैं, भूमि-वृक्ष आदि स्थावर सम्पत्तियाँ हैं तथा मृत्युके बादसे उसका जीव उस पर्वतीय ग्रामके गृह-मण्डपमें विद्यमान है। (सर्ग १८-१९)

लीला और सरस्वतीका संवाद—जगत्‌की असत्ता एवं अजातवादकी स्थापना

देवी सरस्वतीने कहा—कल्याणि ! वही ब्राह्मण अब राजा होकर तुम्हारा पति हुआ है और जो अरुन्धती नामवाली ब्राह्मणी थी, वह तुम हो। तुम्हीं दोनों सुन्दर दम्पति यहाँपर राज्य करते हो। तुम्हारे पूर्वजन्मका यही सारा सृष्टिक्रम है, जिसे मैंने कह सुनाया। ब्रह्मरूप आकाशमें जीवभावकी भ्रान्ति होनेसे ही यह सब कुछ प्रतीत होता है। इसलिये कौन सृष्टि भ्रमरूप है और कौन भ्रमसे रहित है ? सुतरां सारी सृष्टि ही अनर्गल अनर्थ-बोधके सिवा दूसरा कुछ नहीं है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! देवी सरस्वतीका यह वचन सुनकर लीलाके सुन्दर नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे। वह इस प्रकार बोली।

लीलाने कहा—देवि ! आपकी बात तो सत्य ही होगी। मैं उसे मिथ्या कहनेका साहस नहीं कर सकती; परंतु ऐसी विरुद्ध बात कैसे सम्भव हो सकती है !

कहाँ ब्राह्मणका जीव अपने घरमें है और कहाँ इतने बड़े विशाल प्रदेशमें हमलोग स्थित हैं। (फिर वे ब्राह्मण-दम्पति और हमलोग एक कैसे हो सकते हैं ?) मेरे स्वामी जहाँ स्थित हैं वैसा वह दूसरा लोक, वह विस्तृत भूमि, वे विशाल पर्वत और वे दसों दिशाएँ एक घरके भीतर कैसे प्रतीत हो सकती हैं ? सर्वेश्वरेश्वरि ! यदि कोई कहे कि एक सरसोंके दानेके भीतर मतवाला ऐरावत हाथी बँधा हुआ है, परमाणुके भीतर बैठे हुए एक मच्छरने सिंह-समूहोंके साथ युद्ध किया, सुमेरु पर्वत कमलगट्टेके भीतर रक्खा हुआ है तो जैसे ये सारी बातें असम्भव होनेके कारण असमञ्जस प्रतीत होती हैं—ठीक नहीं लगतीं, उसी प्रकार उस घरके अन्दर ये विशाल भूलोक और पर्वत हैं, यह कथन भी असम्भव एवं असंगत ही जान पड़ता है।

देवी सरस्वती बोलीं—सुन्दरि ! मैं यह झूठ नहीं कह रही हूँ। तुम ध्यान देकर यथावत् रूपसे इस विषयको सुनो। दूसरोंके द्वारा तोड़ी जानेवाली धर्मकी जिस मर्यादाको मैं स्वयं ही स्थापित करती हूँ, उसीका यदि मैं भेदन करूँ तो दूसरा कौन पालन करेगा ? उस पर्वतीय गाँवके ब्राह्मणका वह जीवात्मा अपने उसी घरके आकाशमें चिदाकाशरूप होकर ही इस कल्पित महान् राष्ट्रको देख रहा है। कल्याणि ! जैसे स्वप्नमें जाग्रत्‌कालकी स्मृति लुप्त हो जाती है और दूसरी स्मृति उदित होती है, उसी प्रकार तुम दोनोंकी पूर्वजन्मकी स्मृति नष्ट हो गयी है और उससे विपरीत दूसरी स्मृति उदित हुई है। यही उस शरीरका मरण है। जैसे स्वप्नमें तीनों लोकोंका दीखना, संकल्पमें त्रिलोकीका उदय होना तथा मरु-मरीचिकामें जलका होना असत्य है, फिर भी वहाँ उन वस्तुओंकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार ब्राह्मणके घरके भीतर पर्वत, वन और नगरोंसहित भूमिका होना यद्यपि असत् है तो भी वहाँ इन सबकी प्रतीति होती है। जो असत्यसे उत्पन्न हुआ है, वह असत् है, जो स्मृतिसे उत्पन्न हुआ है, वह भी असत् है—जैसे मृग तृष्णाकी नदीमें जलका होना मिथ्या है; फिर उस जलमें जो तरङ्गकी प्रतीति होती है, वह सत् कैसे हो सकती है !

बेटी ! उस पर्वतीय गृहके आकाशरूपी कोशमें स्थित तुम्हारा जो यह घर है तथा जो मैं हूँ और तुम हो—यह सब कुछ तुम केवल चिन्मय आकाशरूप ब्रह्म ही समझो। इस विषयको स्पष्टरूपसे समझने और समझानेके लिये स्वप्न, भ्रम, संकल्प और अपने-अपने अनुभवकी परम्पराएँ ही मुख्य प्रमाण (उदाहरण) हैं। ब्राह्मणके उस पर्वतीय घरके भीतर उस ब्राह्मणका जीव है। उस जीवाकाशमें (अर्थात् उस जीवात्माके संकल्पमें) समुद्र और वनोंसे परिपूर्ण यह पृथ्वी है। कृशाङ्गि ! उस ब्राह्मणके घरके भीतर इस नूतन सृष्टिमें जो यह नगर निर्मित हुआ है, यह यद्यपि मनमें बैठ गया है, तथापि ब्राह्मणका वह पहला घर आज भी मौजूद ही है—नष्ट नहीं हुआ। जैसे इस जगत्-सृष्टिकी प्रतीति आभासमात्र है, उसी प्रकार क्षण, कल्प आदिकी प्रतीति भी आभास-मात्र ही है, वास्तविक नहीं। परमात्मामें जो तू-मैं इत्यादि भावोंका अध्यास है, उसके अधीन जो अपने जन्मका भ्रम होता है, ऐसा भ्रम जिन लोगोंको है, उन्हीं पुरुषोंको क्षण, कल्प आदि सम्पूर्ण जगत्‌की प्रतीति होती है।

उत्तम व्रतका पालन करनेवाली लीले ! मरणकालकी मिथ्याभूत मूर्च्छाका अनुभव करके जब जीव पूर्वजन्मके सभी भावोंको भुला देता और दूसरे नूतन भावको देखने या अनुभव करने लगता है, तभी वह पलक मारते-मारते मनमें यह स्मरण करने लगता है कि मैं आधेय हूँ और इस आधारमें स्थित हूँ। यद्यपि वह उस समय (चेतन) आकाश (परमात्मा) में आकाश (चिदाकाश जीवात्मा)-रूपसे ही स्थित होता है (इसलिये उसमें आधाराधेय-भावकी कल्पना मिथ्या ही है), तथापि उसके चित्तमें वैसा संस्कार प्रकट होता है। उसे यह भान होता है कि हाथ, पैर आदि अवयवोंसे युक्त यह शरीर मेरा ही

है। उसके मनमें जो शरीर स्थित होता है अर्थात् उसमें जैसे शरीरका संस्कार रहता है, उसी या वैसे ही इस शरीरको वह आत्मीयभावसे देखता है। उसे जान पड़ता है कि 'मैं इस पिताका पुत्र हूँ। इतने वर्षोंकी मेरी अवस्था हो गयी। ये मेरे मनोरम भाई-बन्धु हैं। यह मेरा रमणीय घर है। जब मेरा जन्म हुआ, तब मैं बालक था और अब बढ़कर ऐसा हो गया हूँ।'

स्वप्नमें द्रष्टा और दृश्यरूपसे जो विभिन्न पदार्थ कल्पित होते हैं, उन सबमें अदृश्यरूपसे जो चेतन स्थित होता है, वही उन स्वप्नगत पदार्थोंका बाध होनेपर एक-रस चेतनरूपसे पुनः दृष्टिगोचर (अनुभवका विषय) होता है। अतः कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ था—बिना उत्पन्न हुए ही स्वप्नावस्थामें उन वस्तुओंके दर्शन हुए थे। इस तरह जैसे स्वप्नमें वह चेतन ही द्रष्टा, दृश्य आदिके रूपमें उदित होता है, उसी प्रकार परलोकमें भी उदित होता है और जैसे परलोकमें उदित होता है, उसी तरह इस लोकमें भी वह चेतन ही द्रष्टा, दृश्य आदिके रूपमें आविर्भूत होता है। इसलिये स्वप्न, परलोक और इहलोक—इनमें थोड़ा-सा भी भेद नहीं है। ये सब-के-सब असत् होते हुए भी भ्रमवश सत्-से प्रतीत होते हैं—ठीक उसी तरह जैसे जलमें उठनेवाली तरङ्गोंका एक दूसरेसे भेद नहीं होता और वे सब असत् होती हुई ही सत्-सी प्रतीत होती हैं। चूँकि जलमें लहरोंके समान चेतनमें ही यह जगत् भ्रमवश प्रतीत हो रहा है, अतः यह कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ—यह सिद्धान्त स्थिर हुआ।

(सर्ग २०)

लीला और सरस्वतीका संवाद—सब कुछ चिन्मात्र ब्रह्म ही है, इसका प्रतिपादन

श्रीसरस्वतीजीने कहा—जैसे आँख खोलनेपर प्राणीको सारे रूप अच्छी तरह दिखायी देने लगते हैं, उसी प्रकार मृत्युरूपी मूर्च्छाके दूर होनेपर जीवको शीघ्र ही सम्पूर्ण लोकोंका पूर्णतः भान होने लगता है। जैसे स्वप्नमें अपनेको अपने ही मरणकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार जीवको, संसारमें जिसका अनुभव या दर्शन नहीं हुआ है, ऐसा कार्य भी इस तरह तत्काल याद आने लगता है कि इसे मैंने किया है। चिन्मय आकाशरूप परमात्माके भीतर मायारूपी आकाशमें इस तरहकी अनन्त भ्रान्तियाँ भासित होती हैं। यह जगत् नामकी नगरी जो बिना दीवालके ही प्रतीत होती है, वास्तवमें कल्पनामात्र है (सत्य नहीं)। यह जगत्, यह सृष्टि इत्यादि रूपसे स्मृति (वासना) ही विस्तारको प्राप्त हो रही है। कृशाङ्गी लीले! यह त्रिभुवन आदि दृश्य-प्रपञ्च कुछ लोगोंके अनुभवमें आकर उनकी स्मृतिमें स्थित है और कुछ लोगोंके अनुभवमें आये बिना ही उनकी स्मृतिमें विद्यमान है। विश्वका अत्यन्त विस्मृत हो जाना ही मोक्ष कहलाता है। उस अवस्थामें किसीके लिये भी कोई प्रिय और अप्रिय नहीं रह जाते। अहंता और जगत्की आधारभूत अविद्याका अत्यन्त अभाव हुए बिना मोक्ष स्वाभाविक रूपसे विद्यमान होता हुआ भी उदित नहीं होता। जैसे रज्जुमें जो सर्पका भ्रम होता है, वह वास्तविक नहीं है; तो भी जबतक उसमें 'सर्पः' शब्द और उसके अर्थकी सम्भावनाका पूर्णरूपसे बाध नहीं हो जाता, तबतक वह शान्त होनेपर भी शान्त नहीं होता। यह जो विशाल संसार है, परब्रह्म ही है—यह निश्चित सिद्धान्त है। अविद्याका अभाव हो जानेपर भी यदि अनुवृत्तिवश इसकी प्रतीति होती है तो उसे प्रतीतिमात्र ही समझना चाहिये। वह वास्तवमें नहीं है (जैसे स्वप्नसे जागनेपर स्वप्नके संसारकी आकृति प्रतीत हो तो भी वह मिथ्या ही है, वास्तविक नहीं)। इसी प्रकार जगत्के उदित होनेपर

भी कहीं कभी कुछ भी उदित नहीं हुआ, केवल चिन्मय आकाशरूप परमात्मा ही स्थित है।

इस तरह विचार करनेसे यह सिद्ध हुआ कि कभी कुछ उत्पन्न नहीं हुआ। जो कुछ जगत् आदि दृश्यरूपसे प्रतीत होता है, वह भी चिन्मय परमात्मा ही है। केवल चेतन आकाशरूप ब्रह्म ही अपने आपमें स्थित है।

लीला बोली—देवि! जैसे प्रातःकालकी प्रभासे जगत्की रूप-सम्पत्ति सुस्पष्ट दिखायी देने लगती है, उसी प्रकार आपने मुझे यह बहुत ही उत्तम और अद्भुत दृष्टि प्रदान की है। इस समय जबतक मैं तीव्र अभ्यास न होनेके कारण इस दृष्टिमें सुदृढ़ स्थिति नहीं प्राप्त कर लेती, तबतक आप अपने उपदेशद्वारा इस दृश्य-कौतुकका—इस संसारका बाध करती रहें। देवि! वह ब्राह्मण अपनी ब्राह्मणीके साथ पूर्वसृष्टिके जिस गाँव और घरमें रहता था, उस सृष्टिके उसी पर्वतीय ग्राममें आप मुझे ले चलिये। मैं उसे देखना चाहती हूँ।

श्रीसरस्वतीजीने कहा—लीले! चेत्यरहित चिन्मय परमात्मरूप जो परम पावन दृष्टि है, उसका अवलम्बन करके तुम इस आकारका—इस देहके अभिमानका त्यागकर निर्मल हो जाओ। (तात्पर्य यह कि पूर्व-सृष्टिकी उस वस्तुको देखनेके लिये इस शरीरको भूल जाना आवश्यक है।) इस प्रकार जब तुम देहाभिमान-रूप मलसे रहित हो जाओगी, तब हम दोनों साथ-साथ रहकर बिना किसी रुकावटके उस सृष्टिको देखेंगे। यह शरीर उस सृष्टिके दर्शनरूपी गृहद्वारके लिये एक सुदृढ़ अर्गला (रुकावट) के रूपमें स्थित है।

बेटी! ये तीनों लोक मायामय होनेके कारण अमूर्त हैं। मिथ्या आग्रह या अज्ञानके कारण ये तुम्हें मूर्तिमान् प्रतीत होते हैं, जैसे सुवर्णको लोग अँगूठीके रूपमें देखते हैं। जैसे अँगूठीका रूप धारण करनेवाले सुवर्णमें अँगूठीपना नहीं है, उसी प्रकार जगत्का रूप धारण किये हुए ब्रह्ममें जगत् नहीं है। यह जगत् आकाशकी भाँति शून्य ही है; इसके रूपमें यहाँ जो कुछ दिखायी देता है, वह ब्रह्म ही है। ब्रह्ममें भ्रमवश माया दृष्टिगोचर होती है। यह सारा प्रपञ्च झूठा ही है। केवल अद्वितीय ब्रह्म ही, जिसका अहं (आत्मा)-रूपसे अनुभव होता है, परमार्थ सत्य है। इस विषयमें उपनिषदोंके वाक्य, गुरुजनोंके उपदेश और अपना अनुभव प्रमाण है। जो ब्रह्म है, वही ब्रह्मको देखता है। जो ब्रह्म नहीं है, वह कदापि ब्रह्मको नहीं देख सकता। ब्रह्मका ही जो ऐसा स्वभाव है (जो उसकी आवृत सत्ता है), वही सृष्टि आदिके नामसे प्रसिद्ध है। जबतक अभ्यासयोगके द्वारा तुम्हारी भेदबुद्धि शान्त नहीं हो जाती, तबतक अब्रह्मरूप होनेके कारण निश्चय ही तुम ब्रह्मको नहीं देख सकती। ब्रह्मज्ञानका बारंबार अभ्यास करनेके कारण ब्रह्ममें अद्वैतभावसे जिनकी दृढ स्थिति हो गयी है, ऐसे हमलोग ही उस परमपदका साक्षात्कार करते हैं। जब अपने संकल्प (मनोरथ) से निर्मित हुआ नगर भी अपने इस शरीरसे प्राप्त नहीं हो सकता, तब दूसरेके संकल्पसे निर्मित नगरको दूसरा शरीर कैसे प्राप्त करेगा। अतः कार्यको समझनेवाली स्त्रियोंमें श्रेष्ठ लीले! तुम इस देहाध्याससे रहित होकर चेतन ब्रह्ममय आकाशरूपिणी हो जाओ। तब तत्काल ही उस ग्रामका दर्शन करोगी। अतः शीघ्र वही कार्य करो।

लीलाने कहा—देवि! आपने कहा है कि ब्राह्मण और ब्राह्मणीके जगत्में हम दोनों साथ-साथ चलेंगी; परंतु माताजी! मैं यह पूछती हूँ कि हम दोनोंका साथ-साथ चलना कैसे हो सकता है। मैं तो इस शरीरको यहीं स्थापित करके शुद्ध सत्त्वका अनुसरण करनेवाले

चित्तके द्वारा उस उत्तम आकाशमय लोकमें चली जाऊँगी । परंतु आप अपने इसी शरीरसे वहाँ कैसे जायेंगी ?

देवी सरस्वतीने कहा—बेटी ! जैसे तुम्हारा संकल्पमय आकाश, वृक्ष आदि सांकल्पिक सत्तासे सत् होता हुआ भी वास्तवमें शून्यरूप ही है, उसी तरह शुद्ध सत्त्वगुणका कार्यभूत जो मेरा शरीर है, यह चेतन परमात्माका ही प्रकाश है—इसके रूपमें चेतन परमात्माकी ही प्रतीति होती है । अतः इसका उससे भेद नहीं है । ऐसा जो मेरा यह दिव्य शरीर है, इसका त्याग करके मैं नहीं जाऊँगी । जैसे वायु गन्धको प्राप्त होती है, उसी तरह मैं इसी शरीरसे ब्राह्मण-ब्राह्मणीके उस देशमें पहुँच सकती हूँ । भद्रे ! ये देह आदि परब्रह्मसे परिपूर्ण होकर ही स्थित हैं, अतः अपनी उत्कृष्ट महिमामें स्थित परब्रह्म ही हैं । इस सत्यको हमलोग बिना किसी विघ्न-बाधाके देखते हैं, किंतु तुम ऐसा नहीं देखती (क्योंकि तुम्हें अभी दृढ़ तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है) ।

जैसे सुवर्णमें कटकत्व, जलमें तरङ्गत्व और स्वप्नके नगर एवं संकल्प-कल्पित पुर आदिमें सत्यत्व नहीं है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दरूप ब्रह्ममें कल्पनातीत अनामय आत्मस्वभावसे पृथक् कोई वस्तु नहीं है । जो कुछ भी यह दृश्य प्रपञ्च भासित हो रहा है, वह सब ब्रह्मका ही निर्मल विकास है । जैसे परम उत्तम चन्द्रकान्तमणिकी भ्रमवश काचके समान प्रतीति होती है, वैसे ही ब्रह्मके विशुद्ध विकासकी भ्रान्तिवश दृश्यरूपसे प्रतीति हो रही है ।

लीलाने पूछा—देवि ! कृपया यह बताइये कि इतने दीर्घकालसे किसने हमलोगोंको द्वैत और अद्वैतके द्विविध विकल्पोंद्वारा भ्रममें डाल रक्खा है ।

श्रीसरस्वतीजीने कहा—चञ्चले ! तुम चिरकालसे अविचारद्वारा व्याकुल होकर भटक रही हो । अविचार स्वभावसे उत्पन्न होता है और विचारसे उसका नाश हो जाता है । विचारद्वारा अविचारका पलक मारते-मारते नाश हो जाता है । यह अविचाररूप अविद्या विचार या विवेकसे बाधित होकर ब्रह्मसत्ता हो जाती है—ब्रह्मके सत्-स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है । इसलिये अविद्याका अस्तित्व नहीं है । अतः न तो कहीं अविचार है न अविद्या है, न बन्धन है और न मोक्ष ही है । यह जगत् शुद्ध बोधस्वरूप (चिन्मय ब्रह्म) ही है । चूँकि इतने समयतक तुमने इसका विचार नहीं किया, इसीलिये तुम्हें बोध नहीं हुआ । तुम भ्रान्त एवं व्याकुल ही बनी रह गयी । आजसे तुम्हारे चित्तमें वासनाका क्षयरूप बीज पड़ गया है । इसलिये अब तुम विवेकशालिनी, प्रबुद्ध एवं विमुक्त हो । एकमात्र ब्रह्मके चिन्तनरूप उत्तम निर्विकल्प समाधिके मनमें आरूढ़ होनेपर जब द्रष्टा, दृश्य और दृष्टिका अत्यन्ताभाव हो जायगा तथा हृदयमें यह वासना-क्षयरूप बीज कुछ अङ्कुरित हो जायगा, तब राग-द्वेष आदि दृष्टियाँ क्रमशः उदित नहीं होंगी, संसारकी उत्पत्ति भी निर्मूल हो जायगी और निर्विकल्प समाधि पूर्णतः स्थिरताको प्राप्त होगी । इस तरह निर्विकल्प समाधिके स्थिर होनेपर कुछ कालके अनन्तर मायाकाश और उसके कार्योंके अधिष्ठान-स्वरूप निर्मल आत्माके साक्षात्कारसे तुम भ्रान्ति-ज्ञानरूप कालिमाके कलङ्कसे शून्य होकर सम्पूर्ण प्राणियोंकी भ्रान्तियोंका, उनकी कार्यभूत वासनाओंका और उनकी कारणभूत अविद्याका जहाँ अन्त हो जाता है, उस मोक्षरूप परम पुरुषार्थमें प्रतिष्ठित हो जाओगी ।

(सर्ग २१)

वासनाओंके क्षयका उपाय और ब्रह्मचिन्तनके अभ्यासका निरूपण

श्रीसरस्वतीजीने कहा—लीले ! यद्यपि स्वप्नावस्थामें स्वप्नके शरीरका अनुभव होता है, तथापि यह स्वप्न है—ऐसा ज्ञान होनेसे जैसे स्वप्न-शरीर वास्तविक नहीं रहता, मिथ्या ठहरता है, उसी तरह यद्यपि इस स्थूल शरीरका पहले अनुभव होता है, तथापि इसे स्वप्नवत् मान लेनेपर वासनाओंका क्षय होनेसे यह भी 'असत्' (बाधित) ही हो जाता है । जैसे स्वप्नके ज्ञानसे स्वप्नावस्थाका शरीर शान्त हो जाता है, उसी प्रकार जाग्रत्-अवस्थाके शरीरको भी स्वप्नवत् समझ लेनेपर वासनाओंके क्षीण होनेसे यह शान्त हो जाता है । जैसे स्वप्न-शरीरका और मनोरथ-कल्पित कल्पनामय शरीरका अन्त होनेपर इस जाग्रत्-शरीरका भान होता है, उसी प्रकार जगद्-भावना (स्थूल शरीरमें अहं-भावना) का अन्त होनेपर आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीरका उदय (अनुभव) होता ही है । जैसे स्वप्नावस्थाके वासनाबीजसे रहित होनेपर सुषुप्ति अवस्था उदित (प्राप्त) होती है, उसी तरह जाग्रत्-अवस्था भी जब वासनाबीजसे रहित हो जाती है, तब जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति होती है । जिसमें वासनाएँ सुप्त अथवा विलीन हो जाती हैं, उस प्रगाढ़ निद्राका नाम सुषुप्ति है । जिस अवस्थामें वासनाओंका सर्वथा क्षय हो जाता है, उसे 'तुरीया' कहते हैं । जाग्रत्-अवस्थामें भी परम पदका अनुभव होनेपर (वासनाओंका समूल नाश हो जानेके कारण) तुर्यावस्था होती ही है । जीवित पुरुषोंके जीवनकी वह अवस्था, जिसमें वासनाओंका सर्वथा क्षय हो जाता है, जीवन्मुक्ति कहलाती है । अज्ञानी बद्ध जीव इसका अनुभव नहीं कर पाते ।

लीले ! जब पूर्ण अभ्यास करनेसे तुम्हारा यह अहंभाव शान्त हो जायगा, तब तुम्हारी स्वाभाविक चैतन्यरूपता, जो इस दृश्य-प्रपञ्चकी चरम अवधिभूत है, उदित एवं विकसित हो जायगी । जब आतिवाहिकता (शरीरकी सूक्ष्मता) का ज्ञान सदाके लिये स्थायी हो जायगा, तब तुम संकल्पदोषसे रहित पावन लोकोंका साक्षात्कार कर सकोगी । अतः सती साध्वी लीले ! तुम वासनाको क्षीण करनेका प्रयत्न करो । जब तुम्हारी वासना-शून्य स्थिति अत्यन्त दृढ़ हो जायगी, तब तुम जीवन्मुक्त हो जाओगी । जबतक तुम्हारा यह शीतल (शान्तिप्रद) ज्ञानरूपी चन्द्रमा पूर्णताको नहीं प्राप्त हो जाता, तबतक तुम इस शरीरको यहीं स्थापित करके लोकान्तरोंके दर्शन करो । मैंने तुमसे जो बात कही है, यह बालकोंसे लेकर सिद्ध पुरुषोंतकमें प्रसिद्ध, सबके अनुभवसे सिद्ध एवं यथार्थ है । यह शरीर न तो मरता है और न जीता ही है । स्वप्न और संकल्पसम्बन्धी भ्रममें मरण और जीवनकी चर्चा ही क्या है ? बेटी ! जैसे मनोरथकल्पित पुरुषमें जीवन और मरण असत्य ही प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार इस स्थूलशरीरमें भी जीवन-मरण मिथ्या ही हैं ।

लीला बोली—देवि ! आपने मुझे यहाँ उस निर्मल ज्ञानका उपदेश दिया है, जिसके श्रवणमात्रसे ही दृश्य-रूपी हैजेकी बीमारी शान्त हो जाती है । अब इस विषयमें मेरा एक उपकार और कीजिये । कृपया मुझे यह बताइये कि वह अभ्यास क्या है, कैसा है, अथवा कैसे वह पुष्ट होता है और उसके पुष्ट हो जानेपर क्या होता है ।

श्रीसरस्वतीजीने कहा—बेटी ! जिस पुरुषके द्वारा जिस-जिस साधनसे जब-जब जो भी कार्य किया जाता है, वह अभ्यासके बिना कभी सिद्ध नहीं होता । सच्चिदानन्दघन परमात्माका चिन्तन करना, जिज्ञासुओंके प्रति उसका वर्णन करना, आपसमें एक-दूसरेको ब्रह्मके तत्त्वका बोध कराते रहना तथा उस एकमात्र ब्रह्मके ही परायण हो जाना—इसे ही विद्वान् लोग ब्रह्मविषयक अभ्यास समझते हैं । जो विरक्त महात्मा पुरुष मुक्तिके लिये अपने अन्तःकरणमें भोग-वासनाओंके क्षीण होनेकी भावना करते

हैं, वे ही भव्य (कल्याणके भागी) पुरुष भूमण्डलमें विजयी होते—उत्कृष्ट पद पाते हैं । जिनकी बुद्धि उदारता (परिग्रह-त्याग)-रूपी सौन्दर्य और वैराग्यके रससे रञ्जित हो आनन्दका स्पन्दन करनेवाली है, वे ही उत्तम अभ्यासी कहे गये हैं । जो लोग युक्ति तथा शास्त्रोंके ज्ञाताके द्वारा जाननेमें आनेवाली लौकिक ज्ञेय वस्तुओंके अत्यन्ताभावकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करते हैं, वे ब्रह्माभ्यासी कहे गये हैं । यह दृश्य जगत् सृष्टिके आरम्भमें ही उत्पन्न नहीं हुआ, इसलिये कभी भी इसका अस्तित्व है ही नहीं । जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह मैं ही हूँ—मुझ सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मासे यह भिन्न नहीं है, ऐसे अभ्यासको बोध (ब्रह्मज्ञान) का अभ्यास कहा गया है । दृश्यकी उत्पत्ति कभी हुई ही नहीं, इस बोधसे राग-द्वेष आदिका क्षय हो जानेपर ब्रह्मचिन्तनके बलसे उत्पन्न हुई जो परमात्मरति है, वह ब्रह्माभ्यास है । जैसे शरद् ऋतुमें हिमके समान शीतल ओस-जलके अभिषेकसे सब ओर फैला हुआ भारी कुहरा मिट जाता है, उसी प्रकार चित्तमें पूर्वोक्त रीतिसे अभ्यासमें लाये हुए विवेक-बोधरूपी जलके निरन्तर सिञ्चनसे, जो सम्पूर्ण तापोंको शान्त करनेवाला होनेके कारण हिमके समान शीतल है, संसाररूपी कृष्णपक्षकी अँधेरी रातमें उत्पन्न हुई मोहमयी गाढ़ निद्रा सर्वथा गल जाती (मिट जाती) है।

महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—जब मुनिवर वसिष्ठ इस प्रकार यह प्रसङ्ग सुना चुके, तब दिन बीत गया, सूर्य अस्त हो गये, मुनियोंकी वह सभा वसिष्ठजीको नमस्कार करके सायंकालिक कृत्य करनेके लिये चली गयी और रात बीतनेपर सूर्यकी किरणोंके साथ ही फिर सभा-स्थानमें आ गयी । (सर्ग २२)

सरस्वती और लीलाका ज्ञानदेहके द्वारा आकाशमें गमन और उसका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! वे दोनों श्रेष्ठ देवियाँ सरस्वती और लीला उस आधी रातके समय जब कि समस्त परिजन सो गये थे, पूर्वोक्तरूपसे बातचीत करके अन्तःपुरके मण्डपमें जो मुरझाये नहीं थे, ऐसे फूलोंकी मालारूपी वस्त्रसे ढके हुए राजाके शवके पास ही एक आसनपर बैठ गयीं । वे समाधिमें स्थित हो ऐसी निश्चल हो गयीं मानो रत्नके बने हुए खंभेमें खुदी हुई दो मूर्तियाँ हों अथवा दीवालमें अङ्कित किये गये दो सुन्दर चित्र हों । निर्विकल्प समाधि लग जानेसे वे बाह्यज्ञानसे शून्य हो गयीं । पहले उन दोनोंको 'मैं जगत्' इस भ्रमरूप दृश्यकी अनुत्पत्तिका बोध हुआ, अर्थात् उन्होंने भी अनुभव किया कि जगत्की कभी उत्पत्ति हुई ही नहीं । जब ऐसा अनुभव हुआ, तब उन्हें इस दृश्य-प्रपञ्चके अत्यन्ताभावका निश्चयात्मक ज्ञान हो गया । फिर तो उन दोनोंकी दृष्टिसे यह दृश्य-रूपी पिशाच पूर्णतया ओझल हो गया—किसी आड़में छिप गया हो, ऐसी बात नहीं । उसकी सत्ता है ही नहीं, इसलिये वह सर्वथा अदृश्य हो गया । निष्पाप रघुनन्दन ! जैसे हमलोगोंकी दृष्टिमें खरगोशके सींग नहीं हैं और न होनेके कारण ही वे दीखते नहीं, उसी तरह यह दृश्य-पिशाच न होनेके कारण ही उनके लिये सर्वथा तिरोहित हो गया । जो वस्तु पहलेसे ही नहीं है, वह वर्तमानमें भी अस्तित्वशून्य ही है । इस जगत्की यही स्थिति है । यह प्रतीत हो तो मृगतृष्णामें जलकी प्रतीतिके समान असत् है और यदि प्रतीत न हो तो खरगोशके सींगकी भाँति असत् है । तात्पर्य यह कि किसी भी दशामें इसकी सत्ता नहीं है ।

ज्ञानकी देवी सरस्वती अपने उसी ज्ञानमय शरीरसे विचरण करने लगीं । परंतु मानवी रानी लीलाने मानव-देहके अभिमानका त्याग करके ध्यान और ज्ञानके अनुरूप दिव्य शरीरका आश्रय ले उसीके द्वारा तीव्र गतिसे आकाशमें विचरना आरम्भ किया । उन दोनोंने उद्बुद्ध

हुए पूर्वसंकल्पजनित संस्कार-ज्ञानसे गृहाकाशमें ही एक बित्ता ऊँचे उठकर आकाश-गमनमें समर्थ चिन्मय आकृतियाँ धारण कर लीं। दोनों ही चेतन आकाश (ब्रह्म)-रूपिणी हो गयीं। यद्यपि वे उसी घरमें बैठी रहीं, तथापि चिन्मय चित्तके संकल्पसे कोटि योजन विस्तृत दूर-से-दूर आकाशस्थलमें उड़ने लगीं—उड़नेका अनुभव करने लगीं। यद्यपि ये दोनों सखियाँ वास्तवमें चेतन आभासमय शरीरवाली थीं, तो भी पूर्वसंकल्पित दृश्यके अनुसंधानमें लगे रहनेवाले चित्तके साथ अभिन्नताको प्राप्त हुए अपने स्वभावके कारण वे एक दूसरेके शरीरको देखती और परस्पर स्नेहमग्न होती थीं।

तदनन्तर वे दोनों देवियाँ यथाशक्ति यत्र-तत्र विश्राम करती हुई धीमी चालसे आगे बढ़ने लगीं। उन्होंने शून्यमें ही देखा आकाशमण्डल बड़े-बड़े भुवनों और वहाँके निवासियोंके निर्माण कार्यसे अत्यन्त भर गया है—अवकाशशून्य हो रहा है। ऊपर-ऊपरका आकाश भिन्न-भिन्न भुवनोंसे अलग-अलग घिरा हुआ था। वे सुन्दर विमानोंसे सुशोभित भुवन विचित्र आभूषणोंके समान प्रतीत होते थे। उसमें कहींपर वज्र, चक्र, शूल, खड्ग और शक्ति आदि अस्त्र-शस्त्रोंके अधिष्ठाता देवता मूर्तिमान् होकर विचर रहे थे। उनसे युक्त वह लोक बिना भीतके ही भवनोंसे विभूषित था और वहाँ नारद, तुम्बुरु आदि गन्धर्व गीत गाते थे। कहीं मेघोंके मार्गमें (पुष्कर और आवर्तक आदि) महामेघोंके वृष्टि-सम्बन्धी महान् आयोजनसे वहाँ सब ओर हलचल मची थी और कहींपर प्रलयकालके मेघ चित्रलिखितकी भाँति निश्चेष्ट एवं नीरव दिखायी देते थे। कहीं उठते हुए कज्जलगिरिके समान सुन्दर मेघोंकी घटा घिरी आ रही थी। कहीं सुवर्ण-द्रवके समान मनोहर सूर्यके तापको दूर करनेवाले बादल छा रहे थे और कहीं दिशाओंके दाहसे उत्पन्न हुई गर्मी फैल रही थी। कहीं शून्यतारूपी जलसे परिपूर्ण आकाश प्रशान्त महासागरके समान शोभा पाता था। कहीं विमानोंपर बैठे हुए देवताओंकी बहुरंगी प्रभासे आकाशकी रूप-रेखा चित्रकबरी-सी जान पड़ती थी। कहीं वह शान्त, समाधिस्थ तथा परम पदमें विश्रान्त मुनियोंकी मण्डलीसे घिरा हुआ था और कहीं जिन्होंने क्रोधको दूरसे ही त्याग दिया है, उन साधु महात्माओंके चित्तके समान वह सुन्दर एवं सम था। कहीं रुद्रपुर, कहीं ब्रह्मपुर और कहीं मायानिर्मित पुर वहाँ दृष्टिगोचर होते थे। कहीं सिद्धोंके समुदाय विचर रहे थे। कहीं वह आकाश ज्ञानी पुरुषके हृदयकी भाँति दृश्यभ्रमसे अत्यन्त शून्य, उज्ज्वल, आवरणरहित, आनन्दमय, कोमल, शान्त, स्वच्छ एवं विस्तृत था।

जहाँ गूलरके फलके भीतर रहनेवाले छोटे छोटे मच्छरोंके समान त्रिभुवनवासी प्राणियोंका समुदाय घूम रहा था, उस आकाशको बहुत ऊँचेतक लाँघकर वे दोनों ललनाएँ फिर भूतलपर जानेको उद्यत हुईं। (सर्ग २३-२४)

लीलाका भूतलमें प्रवेश और उसके द्वारा अपने पूर्वजन्मके स्वजनोंके दर्शन, ज्येष्ठशर्माको माताके रूपमें लीलाका दर्शन न होनेका कारण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! आकाशसे किसी पर्वतीय ग्रामको जाती हुई उन दोनों स्त्रियोंने उसी भूतलको देखा, जो ज्ञानकी देवी सरस्वतीके मनमें था—जिसे वे लीलाको दिखाना चाहती थीं। सागर, बड़े-बड़े पर्वत, लोकपाल, स्वर्ग, आकाश और भूतलसे परिवेष्टित जगत्के मध्यभागका अवलोकन करके मानव-कन्या रानी लीलाने तुरंत ही अपने मन्दिरके आधारभूत पर्वतीय ग्रामका वह स्थान देखा।

इस प्रकार वे दोनों सुन्दरियाँ, जहाँ राजा पद्म रहते थे, उस ब्रह्माण्डमण्डलसे निकलकर दूसरे ब्रह्माण्डमें

जा पहुँचीं, जहाँ वसिष्ठ नामक ब्राह्मणका घर था। वे दोनों ही स्त्रियाँ सिद्ध थीं। उन्होंने दूसरे लोगोंसे अदृश्य रहकर ही ब्राह्मणके निवासभूत मण्डपको, जो उनका अपना ही घर था, देखा। वह घर गृहस्वामीके वियोगसे श्रीहीन हो गया था। उसके मुख अर्थात् द्वारकी कान्ति करुणासे व्याप्त थी और उसका विनाश निकट था।

रघुनन्दन! सुन्दरी लीला चिरकालतक सुन्दर ज्ञानका अभ्यास करनेके कारण देवताकी भाँति सत्यसंकल्प और सत्यकाम हो गयी थी। (वह जो चाहती, वही हो जाता था।) उसने सोचा, ये मेरे बन्धुजन मुझको और इन देवी सरस्वतीको साधारण स्त्रीके रूपमें देखें। उसके ऐसा संकल्प करते ही उस घरके लोगोंने वहाँ दो दिव्याङ्गनाओंको देखा, जो उस घरको अपनी प्रभासे उद्भासित कर रही थीं। वे दोनों लक्ष्मी और पार्वतीकी जोड़ी-सी जान पड़ती थीं। तदनन्तर ज्येष्ठशर्माने घरके अन्य लोगोंके साथ यह कहकर कि 'आप दोनों वनदेवियोंको नमस्कार है' उन दोनोंके लिये पुष्पाञ्जलि छोड़ी।

उस समय ज्येष्ठशर्मा आदि बोले—वनदेवियो! आप दोनोंकी जय। निश्चय ही आप हमारे दुःखोंका नाश करनेके लिये आयी हैं; क्योंकि प्रायः दूसरोंका संकटसे उद्धार करना ही सत्पुरुषोंका अपना कार्य होता है।

ज्येष्ठशर्मा आदिके ऐसा कहनेके पश्चात् वे दोनों देवियाँ बड़े आदरसे बोलीं—'तुम सब लोग अपना वह दुःख बताओ, जिससे यह सारा जनसमुदाय दुखी दिखायी देता है।' तब उन ज्येष्ठशर्मा आदिने उन दोनों देवियोंसे क्रमशः ब्राह्मणदम्पतीके मरणरूप अपना सारा दुःख निवेदन किया।

ज्येष्ठशर्मा आदि बोले—देवियो! यहाँ दो ब्राह्मण पति-पत्नी रहते थे, जिनका आपसमें बड़ा स्नेह था। वे यहाँ पधारे हुए सभी लोगोंका आतिथ्य-सत्कार करते थे। हमारी इस कुल-परम्पराके प्रवर्तक भी वे ही थे। द्विजातियोंकी मर्यादाके तो वे स्तम्भ ही थे। वे ही दोनों हमारे माता-पिता थे। इस समय पुत्रों, बन्धु-बान्धवों और पशुओंसहित इस घरको त्यागकर वे दोनों स्वर्गलोकको चले गये हैं, इससे हमें तीनों लोक सूने दिखायी देते हैं। इसलिये देवियो! आप दोनों पहले हमारे इस शोकका निवारण करें, क्योंकि महात्माओंके दर्शन कभी निष्फल नहीं होते।

पुत्र ज्येष्ठशर्मा जब ऐसा कह चुका, तब माता लीलाने अपने हाथसे उसके मस्तकका स्पर्श किया। उसके उस स्पर्शसे ज्येष्ठशर्माके दुःख-दुर्भाग्यरूपी संकटका तत्काल निवारण हो गया। घरके सभी लोग उन दोनों देवियोंके दर्शनसे अमृत पीनेवाले देवताओंके समान दुःखसे मुक्त हो दिव्य शोभासे सम्पन्न हो गये।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! माता लीलाने अपने पुत्र ज्येष्ठशर्माको उसकी माताके रूपमें ही उसे क्यों नहीं दर्शन दिया? आप पहले मेरे इस मोह (संदेह) का ही निराकरण कीजिये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! मनुष्य जैसी भावना करता है, उसके अनुसार ही इन पदार्थोंका

अभ्यासजनित स्वरूप दिखायी देता है, किसी भी पदार्थका वास्तवमें कोई एक रूप नहीं है। लीलाने तो यह यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लिया था कि पृथ्वी आदि भूतोंका अस्तित्व कदापि नहीं है। चेतन आकाशरूप जो ब्रह्म है, वही कल्पनाद्वारा मिथ्या प्रपञ्चरूपसे प्रकट हो भासित हो रहा है (उसका ज्येष्ठशर्माके प्रति पुत्र-सम्बन्धी-स्नेह नहीं रह गया था, इसलिये उसे अपनी माताके रूपमें लीलाका दर्शन नहीं हुआ) सर्वत्र सभी रूपोंमें केवल एक चेतनाकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही विराजमान है— जिसे ऐसा बोध प्राप्त हो गया है, उस मुनिके लिये कौन, किस प्रकार, कब और किस निमित्त-से पुत्र, मित्र एवं कलत्र हो सकते हैं। दृश्य-प्रपञ्च तो सृष्टिके आदिमें ही उत्पन्न नहीं हुआ। जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह अजन्मा ब्रह्म ही है। ऐसे यथार्थ ज्ञानवाले लोगोंको राग-द्वेषसे युक्त दृष्टि कैसे प्राप्त हो सकती है।

(सर्ग २५-२६)

लीलाकी सत्य-संकल्पता, उसे अपने अनेक जन्मोंकी स्मृति, लीला और सरस्वतीका आकाशमें भ्रमण तथा परम व्योम—परमात्माकी अनादि-अनन्त सत्ताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं— रघुनन्दन ! उस पर्वतके तट-प्रान्तमें बसेहुए ग्रामके भीतर उस ब्राह्मणके गृहरूपी आकाश-में ही खड़ी हुई वे दोनों स्त्रियाँ सहसा अदृश्य हो गयीं। उस घरके लोगोंने समझा कि दोनों वनदेवियोंने हमपर बड़ी भारी कृपा की है, अतः उनका सारा दुःख मिट गया और वे अपने-अपने काम-धंधोंमें लग गये। तत्पश्चात् उस मण्डपाकाशमें दूसरोंकी दृष्टिसे तिरोहित हुई लीलासे, जो वहाँ मुस्कराती हुई चुपचाप खड़ी थी, सरस्वतीने कहा—

श्रीसरस्वतीजी बोलीं—बेटी ! तुमने ज्ञातव्य वस्तुको पूर्णरूपसे जान लिया है, द्रष्टव्य पदार्थोंको देख लिया है। इस प्रकारकी यह ब्रह्मसत्ता है। बताओ, अब और क्या पूछती हो ?

लीलाने पूछा—देवि ! मेरे मृत-पतिका जीव जहाँपर राज्य करता है, वहाँपर मुझे उन लोगोंने क्यों नहीं देखा ? और यहाँ मेरे पुत्रने कैसे देख लिया ?

श्रीसरस्वतीजीने कहा—सुन्दरी ! मैं लीला हूँ—ऐसा जो तुम्हारा दृढ़ संस्कार था, वह पहले नष्ट नहीं हुआ था; क्योंकि उस संस्कारको मिटानेके लिये तुमने वैसा अभ्यास नहीं किया। जबतक वह संस्कार बना था, तबतक तुम्हारी सत्य-संकल्पता प्रकट नहीं हुई थी। अब वह संस्कार मिट जानेसे तुम सत्य-संकल्प हो गयी हो। इसलिये जब तुमने यह अभिलाषा की कि मेरा पुत्र मुझे देखे, तब तुम्हारा वह मनोरथ तत्काल सफल हुआ। इस समय यदि तुम अपने पतिके समीप जाओ तो उसके साथ भी तुम्हारा सारा व्यवहार पहलेकी ही भाँति होने लगेगा।

लीला बोली—देवि ! इसी मण्डपके आकाशमें मेरे पतिदेव ब्राह्मण उत्पन्न हुए और इसीमें मृत्युको प्राप्त होकर राजा हो गये। अन्य भूमण्डलरूप उनका वह संसार भी यहीं है। इसमें जो उनकी राजधानीका

नगर है, उसमें मैं उनकी राजमहिषीके रूपमें स्थित हूँ। यहीं उस अन्तःपुरमें मेरे पति राजा पद्मकी मृत्यु हुई और इसी अन्तःपुरके आकाशमें वह नगर है, जिसमें वे पुनः राजा हुए हैं। ब्रह्माजीसे उत्पन्न होनेके पश्चात् आजतक विभिन्न योनियोंमें जो मेरे बहुत-से जन्म हो चुके हैं, उनमेंसे आठ सौ जन्मोंको तो मैं इस समय पुनः देख-सी रही हूँ, उनकी सारी बातोंका स्पष्टरूपसे स्मरण कर रही हूँ। देवि! पहले किसी दूसरे संसार-मण्डलमें मैं लोकान्तररूपी कमलकी भ्रमरी—विद्याधर-राजकी धर्मपत्नी हुई थी। उन दिनों मेरा हृदय दुर्वासनाओंसे दूषित था। इसलिये उसके बाद मैं मनुष्ययोनिमें उत्पन्न हुई, तदनन्तर दूसरे संसार-मण्डलमें मैं नागराजकी भार्या हुई। इसके बाद कदम्ब, कुन्द, जम्बीर और करञ्जोंके वनमें निवास करनेवाली तथा वृक्षोंके पत्तोंको ही वस्त्रके रूपमें धारण करनेवाली काली-कलूटी भीलनी हुई।

तदनन्तर पुरुषत्वरूपी फल देनेवाले कर्मोंके परिणाममें-से मैं सौ वर्षोंतक सौराष्ट्र देशमें श्रीसम्पन्न राजा होकर रही। फिर राजा-शरीरसे बने हुए दुष्कर्म-दोषके कारण ताड़ वृक्षके नीचे किसी नदीके कछारमें नौ वर्षोंतक नेवलीकी योनिमें रही। उस समय मेरे सारे अङ्ग कुष्ठ-रोगसे नष्टप्राय हो गये थे। देवि! उसके बाद मैं सौराष्ट्र देशमें आठ वर्षोंतक गौका शरीर धारण करके रही। उस योनिमें दुर्जन, दुष्ट, अज्ञ और बालक ग्वालों-की मारने-पीटने आदि क्रीडाओंका साधन बनी रही। फिर क्रमशः पक्षिणी, भ्रमरी, मनोहर नेत्रवाली हरिणी, मछली, पुलिन्द जातिकी स्त्री सारसी और राजहंसी हुई। इस प्रकार नाना प्रकारके शत-शत दुःखोंसे संकुल अनेकानेक योनियोंमें मैंने भ्रमण किया है। तराजूके पलड़ेकी भाँति कभी ऊँचे उठने और कभी नीचे गिरनेसे मेरे सारे अङ्ग व्याकुल होते रहे हैं। मैं संसाररूपी विशाल सरिताकी चञ्चल तरङ्ग बनकर उठती और विलीन होती रही हूँ। जैसे वातप्रमी जातिकी हरिणीकी गतिको रोकना कठिन है, उसी प्रकार मैं दुर्निवार्य आवागमन-की परम्परामें पड़कर क्रमशः विभिन्न योनियोंमें भटकती आयी हूँ।

इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करती हुई वे दोनों सुन्दरी ललनाएँ मनोहारिणी गतिसे उस घरके बाहर निकलीं। उस समय गाँवके लोग उन्हें नहीं देख पाते थे, परंतु वे दोनों अपने सामनेके पर्वतको अच्छी तरह देख रही थीं।

लीला बोली—देवि! इस देशको देखकर मैं आपकी कृपासे अपने पूर्वजन्मकी उन सभी विविध चेष्टाओंका स्मरण करती हूँ, जो यहाँ घटित हुई हैं; मैं यहीं बूढ़ी ब्राह्मणीके रूपमें रहती थी। मेरे सारे अङ्ग उभरी हुई नस-नाड़ियोंसे

व्याप्त दिखायी देते थे। मैं बहुत दुबली-पतली थी। मेरा शरीर गौर और बाल सफेद थे। मेरी हथेली सूखे कुशों-के अग्रभागसे छिन्न-भिन्न होती रहनेके कारण रूखी हो गयी थी। मैं अपने पतिदेवके कुलकी वृद्धि करनेवाली

भार्या थी। दूध और मथानी मेरी शोभा बढ़ाते थे। मैं सारे पुत्रोंकी अकेली माता और अतिथियोंका सत्कार करनेवाली गृहिणी थी। देवताओं, ब्राह्मणों और संत-महात्माओंके प्रति मेरे मनमें बड़ी भक्ति थी। मैं मार्जनपात्र, चरुस्थाली तथा कलश आदि पात्रों एवं यज्ञके अन्य उपकरणोंको धो-पोंछकर साफ-सुथरा रखती थी। जमाई, बेटी, भाई, पिता और माताकी सदा सेवा-शुश्रूषा करती थी। जबतक मेरा शरीर रहा, तबतक घरकी ही सेवा-टहलमें मेरे दिन-रात बीतते थे। 'ओह! इस काममें बहुत देर हो गयी, बड़ा विलम्ब हुआ' इत्यादि बातें कहती और निरन्तर कार्यमें व्यस्त रहती थी। 'मैं कौन हूँ, यह संसार कैसा है?' इस बातकी चर्चा या इन प्रश्नोंपर विचार कभी स्वप्नमें भी मैंने नहीं किया। मेरे पति श्रोत्रिय होनेके साथ ही तत्त्व-विचारमें मूढ़ थे। मेरे ही समान उनकी भी घरमें आसक्ति बनी हुई थी। उनकी बुद्धि शुद्ध नहीं थी। समिधा, साग, गोबर और ईंधनके संग्रहमें ही मेरी एकमात्र निष्ठा थी। घरके पास खेतोंमें जो साग-सब्जीकी क्यारियाँ थीं, उन्हें सींचनेके लिये मैं जल्दी-जल्दी जलपात्र लेकर आनेके निमित्त नौकरोंको पुकारा करती थी। जलकी लहरोंके किनारे जो हरी-हरी घासें उगी होती थीं, उन्हें स्वयं लाकर मैं अपनी छोटी-सी बछियाको तृप्त किया करती थी। प्रतिक्षण घरके दरवाजेको लीपकर वहाँ चौक बनाती और उसमें भाँति-भाँतिके रंग भरकर सजा देती थी। घरके नौकरोंको शिक्षा देनेके लिये मैं कुछ दीनताके साथ नम्रतापूर्वक समझाती कि 'लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे, इसलिये तुम्हें विनय और सदाचारसे रहना चाहिये।' जैसे समुद्र अपनी तटभूमिका लङ्घन न करके निरन्तर मर्यादामें स्थित रहता है, उसी प्रकार मैं भी धर्म-मर्यादाके नियमसे कभी च्युत नहीं होती थी।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! यों कहकर उस पर्वतीय ग्रामके भीतर भ्रमण करती हुई लीलाने अपने साथ विचरती हुई सरस्वती देवीको मन्द मुस्कान-के साथ वहाँकी एक-एक वस्तुको दिखाया। फिर वह इस प्रकार बोली—'देवि! इस घरके आकाशमें ही वह मेरे पतिका जीव राजाके रूपमें रह रहा है। यहीं अङ्गुष्ठमात्र गृहाकाशके भीतर ही स्थित परमार्थ वस्तु (परब्रह्म) को मैंने भ्रमसे करोड़ों योजन विस्तृत पति-का राज्य समझा था। जगदीश्वरि! हम दोनों चेतन-आकाशरूप परमात्मा ही हैं। मेरे पतिदेवका राज्य, जो सहस्रों पर्वतोंसे भरा हुआ है आकाशमें ही स्थित है। यह बहुत बड़ी माया फैली हुई है। इसलिये देवि! अपने पतिके नगरमें जानेकी पुनः मेरी इच्छा हो रही है। अतः चलिये, हम दोनों वहाँ चलें। जिन्होंने कहीं जानेका निश्चय कर लिया हो, उनके लिये वह स्थान क्या दूर है!'

यों कहकर लीलाने देवीको प्रणाम किया और शीघ्र ही गृह-मण्डपमें प्रवेशकर सरस्वती देवीके साथ

वह आकाशमें उड़ चली। भगवान् विष्णुकी अङ्गकान्ति-

के समान नीले मेघपथको लाँघकर वे प्रवह आदि सात वायुओंके लोकमें जा पहुँचीं। फिर वहाँसे सौरमार्ग तथा चन्द्रमार्गको लाँघती हुई वे ध्रुवमार्गसे भी ऊपर पहुँच गयीं। इसके बाद साध्योंके मार्गसे ऊपर उठकर सिद्धोंकी भूमिको भी लाँघ गयीं और स्वर्गमण्डलको भी लाँघकर अत्यन्त दूर जानेपर लीलाको कुछ बोध हुआ। फिर उसने पीछे फिरकर पार किये हुए आकाश-स्थलका अवलोकन किया। वहाँसे नीचे देखनेपर चन्द्रमा, सूर्य और तारा आदि कुछ भी नहीं दिखायी देते थे। केवल अन्धकार-ही-अन्धकार था।

तब लीलाने पूछा—देवि! बताओ, सूर्य आदिका तेज नीचे कहाँ चला गया? पत्थरके मध्यभागकी भाँति सुदृढ़ एवं घनीभूत होनेके कारण मुट्ठीमें लेने योग्य यह अन्धकार कहाँसे आ गया?

श्रीसरस्वती देवीने कहा—बेटी! तुम इतनी दूर आकाश-मार्गमें आ गयी हो कि यहाँसे सूर्य आदि तेज भी नहीं दिखायी देते।

लीला बोली—देवि! यह तो बड़े आश्चर्यकी बात है। क्या हम दोनों आकाश-मार्गमें इतनी दूर आ गयीं जहाँसे नीचे सूर्यदेव भी परमाणुके कणकी भाँति तनिक भी दिखायी नहीं देते? माताजी! इससे आगे दूसरा मार्ग कौन और कैसा होगा और उसमें कैसे जाना होगा? देवि! यह सब मुझे बताइये।

श्रीसरस्वती देवीने कहा—बेटी! इसके बाद आगे तुम्हें ब्रह्माण्ड-सम्पुटके ऊपरी कपालमें जाना है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जैसे दो भ्रमरियाँ पर्वतकी चट्टानोंसे बनी हुई घनीभूत मण्डपवाली दीवालपर पहुँच जायँ, उसी प्रकार आपसमें उपर्युक्त बातें करती हुई वे दोनों देवियाँ ब्रह्माण्ड-सम्पुटके ऊपरवाले कपालतक पहुँच गयीं। माथ ही जैसे कोई आकाशसे निकले, उसी तरह वे वहाँसे अनायास ही बाहर निकल गयीं। जो वस्तु सत्यताके दृढ़ निश्चयसे युक्त होती है, वही वज्रके समान ठोस और भारी होती है और जो इससे भिन्न कल्पित दीवार आदि वस्तु है, वह मिथ्यात्व-बुद्धिसे बाधित हो जाती है। लीलाका विज्ञान आवरणशून्य था। इसलिये वह ब्रह्माण्ड-सम्पुटके ऊपरवाले कपालको मिथ्यात्व-बुद्धिसे बाधित करके उससे बाहर निकल गयी। ब्रह्माण्डके पार जानेपर उसे अत्यन्त प्रकाशमान जल आदिका आवरण दिखायी दिया, जो सब ओर व्याप्त था। उस आवरण-समुदायमें जो जलका आवरण है, उसमें ब्रह्माण्डकी अपेक्षा दसगुना जल विद्यमान है। उसके बाद उससे भी दसगुना अग्निमय आवरण है। फिर उससे भी दसगुनी वायु और उससे भी दसगुने आकाशके आवरण हैं। तदनन्तर विशुद्ध चिन्मय आकाश है। उस परम व्योम (चेतनाकाश) रूप परब्रह्म परमात्मामें आदि, मध्य और अन्तकी कोई कल्पनाएँ नहीं उदित होतीं (वह परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण एवं अपरिच्छिन्न है)। वह अद्वितीय, सर्वव्यापी, शान्त, आदि अथवा कारणसे रहित, भ्रमशून्य, अनादि, अनन्त, मध्यरहित तथा अपनी ही महिमामें प्रतिष्ठित है। उस निर्मल चेतनाकाशस्वरूप परमात्मामें यदि एक कल्पतक बड़े भारी वेगसे ऊपरसे नीचेको पत्थरकी शिला गिरती रहे और नीचेसे पक्षिराज गरुड़ भी अपना सारा बल लगाकर ऊपरको उड़े तथा उनके बीचमें सबको मापनेमें समर्थ वायु समान वेगसे दोनों ओर बहे तो वह भी उन दोनोंका संयोग नहीं करा सकती। (सर्ग २७–२९)

लीलाद्वारा ब्रह्माण्डोंका निरीक्षण, दोनों देवियोंका भारतवर्षमें लीलाके पतिके राज्यमें जाना और वहाँ युद्धका आयोजन देखना; शूरके लक्षण तथा डिम्भाहवकी परिभाषा

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! तदनन्तर लीलाने उस अपरिमित चेतन आकाशस्वरूप परमात्मामें इस जगत्‌की ही भाँति फैले हुए अनन्त ब्रह्माण्डोंको देखा। जैसे धूप निकलनेपर जँगलेके छेदसे जो किरणें घरमें आती हैं, उनके अन्तर्गत आकाशमें असंख्य त्रसरेणु दृष्टिगोचर होते हैं, उसी प्रकार लीलाने उन सभी ब्रह्माण्डोंमें सृष्टियोंको देखा, जो स्वयं-प्रकाश अधिष्ठानभूत चैतन्यसे भासित थीं। अविद्यारूपी जलसे भरे हुए महाकाशरूपी महासागरमें महाचैतन्यके स्फुरणरूप द्रवीभावसे प्रकट हुए असंख्य ब्रह्माण्डरूपी बुद्‌बुदोंको लीलाने लक्ष्य किया।

जिसकी दृष्टि अज्ञानसे दूषित है, उसी पुरुषका असीम एवं महान् चेतन आकाशरूप परमात्मामें सम्पूर्ण आवरणोंसे युक्त ये ब्रह्माण्ड प्रतीत होते हैं। सारे ही पदार्थ परतन्त्र होनेके कारण वेगपूर्वक इधर-उधर भाग रहे हैं (उनमें परस्पर आकर्षण होनेके कारण वे गिरते नहीं।) ब्रह्माण्डमें जो महापृथ्वीरूप भाग है, वह उसका अधोभाग है और उससे भिन्न जो आकाश है, वह उसका ऊपरीभाग है। जैसे गोल मिट्टीके ढेलेमें दसों दिशाओंकी ओरसे सटी हुई चींटियोंके जो पैर होते हैं, वे ही उनके लिये अधोभाग हैं और जिस ओर उनकी पीठ रहती है, वही ऊपरका भाग है, उसी प्रकार दसों दिशाओंमें संलग्न जो पैर हैं, वे ही नीचेके भाग कहलाते हैं और आकाशकी ओर जो पीठ या सिर होते हैं, उन्हें ऊर्ध्वभागमें स्थित बताया गया है—यह बड़े-बड़े विद्वानोंका कथन है। किन्हीं-किन्हीं ब्रह्माण्डोंके भीतरकी भूमि वृक्षों और वल्मीकोंके समूहसे व्याप्त है (उसमें मनुष्य नहीं हैं) और उन ब्रह्माण्डोंका निर्मल आकाश देवता, किन्नर तथा दैत्योंसे युक्त विभिन्न लोकोंसे वेष्टित है। जैसे पका हुआ अखरोटका फल छिलकेसे ढका रहता है, उसी प्रकार कुछ ब्रह्माण्ड तत्काल कल्पित जरायुज, उद्भिज्ज, अण्डज और स्वेदज—चार प्रकारके प्राणियों तथा ग्राम, नगर और पर्वतोंसे युक्त होकर उत्पन्न हुए हैं। स्थितिकालमें सम्पूर्ण पदार्थ चेतन परब्रह्म परमात्मामें रहते हैं। सृष्टिकालमें उससे उत्पन्न होते हैं और प्रलयकालमें सब उसीमें लीन हो जाते हैं। अतः सम्पूर्ण दिशाओं, कालों और वस्तुओंमें वही हैं। उससे अतिरिक्त कोई नहीं है। वही नित्य, सर्वमय आत्मा है। उस परम प्रकाशके सागर शुद्ध बोधमय चेतन आकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मामें ब्रह्माण्ड नामक तरङ्गें निरन्तर उठती और विलीन होती रहती हैं। किन्हीं ब्रह्माण्डोंमें महाप्रलयकी प्राप्ति होनेपर जैसे सूर्यका ताप लगनेसे हिमकण गल जाते हैं, उसी प्रकार सूर्य, अग्नि, विद्युत् और पर्वत भी गलने लगते हैं। कुछ ब्रह्माण्डोंके आदिपुरुष (सृष्टिकर्ता) ब्रह्मा हैं। कुछके आदिस्रष्टा और पालक भगवान् विष्णु हैं। कुछ ब्रह्माण्डोंके प्रजापति दूसरे (रुद्र एवं दुर्गा आदि हैं) तथा कुछ ब्रह्माण्डोंमें जो जीव जन्तु हैं, उनका कोई भी नाथ (रक्षक या नियन्त्रण करनेवाला) नहीं होता। इसी तरह कुछ ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि और प्रजापति विचित्र ही हैं। महामते ! जगत्‌के वर्णनके विषयमें हमारी बुद्धिका जो सम्पूर्ण वैभव था, उसे हम दिखला चुके। उसके बाद जो जगत् है, वह हमारी बुद्धिका विषय नहीं है। अतः उसका वर्णन करनेमें हम असमर्थ हैं।

अपने पूर्वजन्मके संसारसे निकलकर पूर्वोक्त रीतिसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंकी विचित्रताको देखती हुई उन दोनों स्त्रियोंने किसी ब्रह्माण्डमें प्रवेश करके वहाँके अन्तःपुरको देखा और फिर वहाँ वे शीघ्र ही बाहर निकल आयीं। उस अन्तःपुरमें पुष्पराशिसे आच्छादित महाराज पद्मका

महान् शव रक्खा था। उस शवके पास ही बैठी हुई लीलाका स्थूलशरीर था, जिसका चित्त समाधि-अवस्थामें आरूढ़ था। शोकके कारण रात्रि बड़ी प्रतीत होनेसे वहाँके लोग कुछ-कुछ प्रगाढ़ निद्रासे युक्त थे। वह अन्तःपुर धूप, चन्दन, कपूर और केसरकी सुगन्धसे भरा था। उसे देखकर लीलाको पतिके दूसरे संसारमें जानेकी इच्छा हुई (अर्थात् राजा पद्म मृत्युके पश्चात् जहाँ उत्पन्न हुए थे, वहाँ जानेके लिये वह उत्कण्ठित हुई) तब वे दोनों देवियाँ विभिन्न लोकों, पर्वतों और आकाशको लाँघकर भूतलपर पहुँचीं, जो पर्वतमालाओं तथा समुद्रोंसे घिरा हुआ था। तत्पश्चात् मेरुपर्वतसे अलंकृत जम्बूद्वीपमें गयीं, जिसका भीतरी भाग नौ खण्डोंमें विभक्त है। जम्बूद्वीपके भीतर भारतवर्षमें लीलाके पतिका राज्य था। वहीं वे दोनों जा पहुँचीं। इसी समय जो भूमण्डलका मण्डन था, उस राज्यमें किसी राजाने आक्रमण

किया। अपने सहायभूत सामन्तोंके कारण उस आक्रमणकारी भूपालकी शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। उस राजाके साथ संग्राम छिड़नेपर उसे देखनेके लिये आये हुए तीनों लोकोंके प्राणियोंसे वहाँका आकाश ठसाठस भर गया। उक्त दोनों देवियाँ निश्शङ्क होकर वहाँ आ गयीं। उन्होंने उस आकाशको आकाशचारी प्राणियोंके समुदायसे इस तरह आक्रान्त देखा, मानो वहाँ मेघोंकी घटा घिर आयी हो। स्वर्गलोकमें स्थान पाने योग्य शूरवीरोंको लानेके लिये व्यग्र हुए इन्द्रके भट वहाँके आकाशको उद्भासित कर रहे थे।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! 'शूर' शब्दसे किस तरहके योद्धाका प्रतिपादन किया जाता है? कौन स्वर्गका अलंकार है अथवा कौन डिम्भाहव (बच्चोंका युद्ध) कहलाता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! जो शास्त्रोक्त सदाचारसे युक्त स्वामीके लिये रणभूमिमें युद्ध करता है, वह चाहे मरे या विजयी हो दोनों अवस्थाओंमें शूर कहा गया है। वही स्वर्गलोकका भागी होता है। पूर्वोक्त विधिसे विपरीत अत्याचारी स्वामीके लिये युद्ध करके जो रणभूमिमें किसी प्राणीके द्वारा अङ्गोंके कट जानेसे मृत्युको प्राप्त होता है, वह डिम्भाहवमें मारा गया कहलाता है। ऐसा मनुष्य नरकगामी होता है। जिसका आचरण शास्त्रके अनुकूल नहीं है, उसके लिये जो मनुष्य युद्ध करता है, वह यदि संग्राममें मारा जाय तो उसे सदा बने रहनेवाले नरककी प्राप्ति होती है। यथासम्भव शास्त्रकी आज्ञा और लोकाचारका पालन करनेवाला जो व्यक्ति रणभूमिमें (धर्म) युद्ध करता है तथा वैसे ही सदाचारी स्वामीका भक्त होता है, वह शूर कहलाता है। शुद्ध-बुद्धिवाले रघुनन्दन! जो गौ, ब्राह्मण तथा मित्रकी रक्षाके लिये प्राण देता है अथवा शरणागतकी रक्षाके लिये यत्न करते हुए मारा जाता है, वह शूरवीर स्वर्गलोकका अलंकार है। * राजाके लिये अपना देश सदा ही रक्षणीय होता

* गोरर्थे ब्राह्मणस्यार्थे मित्रस्यार्थे च सन्मते।
शरणागतयत्नेन स मृतः स्वर्गभूषणम्॥
(उत्पत्ति० ३१। २८)

है। जो राजा एकमात्र उसीकी रक्षामें लगा रहता है, उसके लिये जो युद्धमें मारे जाते हैं, वे ही वीर हैं और उन्हींको वीरलोककी प्राप्ति होती है। जो प्रजाके प्रति उपद्रव करनेमें ही लगा रहता है, वह राजा हो या न हो, वैसे स्वामीके लिये जो युद्धमें प्राण देते हैं, वे निश्चय ही नरकगामी हैं। जो शास्त्रके प्रतिकूल आचरण करनेवाले हैं, वे राजा हों या न हों, उनके लिये जो युद्धमें अपने अङ्गोंको कटाकर मृत्युको प्राप्त होते हैं, वे निस्संदेह नरकमें गिरते हैं। जो सदाचारी पुरुषोंके लिये तलवारकी धारको सहते हैं, वे शूरवीर कहे जाते हैं। शेष सभी लोग डिम्भाहवमें मारे गये कहलाते हैं। (सर्ग ३०-३१)

लीला और सरस्वतीका आकाशमें विमानपर स्थित हो युद्धका दृश्य देखना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! तदनन्तर आकाशमें स्थित हुई सरस्वती-देवीसहित लीलाने भूतल-पर पतिदेवके द्वारा सुरक्षित, सैन्यबलसे सम्पन्न राष्ट्रमण्डलमें आमने-सामने दो सेनाएँ देखीं, जो एक दूसरेके प्रति क्षोभसे भरी हुई थीं। दोनों ही मतवाली दिखायी देती थीं। दोनों महान् आयोजनमें संलग्न एवं घनी थीं। उनमें उभय पक्षोंके दो राजा विद्यमान थे। दोनों सेनाएँ युद्धके लिये सुसज्जित थीं, कवच और शिरस्त्राण आदिसे संनद्ध थीं तथा प्रज्वलित अग्निके समान अद्भुत दिखायी देती थीं। पहले कौन प्रहार अथवा अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करता है, यह देखनेके लिये क्षुब्ध हुए असंख्य नेत्र उन्हें एकटक दृष्टिसे देख रहे थे। ऊपर उठी हुई चमचमाती तलवारोंकी धारें ही मानो धारावाहिक वृष्टि थीं, जिसे दोनों सेनाओंके सैनिक अपने अङ्गोंपर वहन करते थे। फरसे, भाले, भिन्दिपाल, ऋष्टि और मुद्गर आदि अस्त्र-शस्त्र वहाँ चमक रहे थे।

जिन्हें रोकना असम्भव था, ऐसी उन दोनों विशाल सेनाओंके तुमुल नादसे लोगोंको आपसकी बातचीत तक नहीं सुनायी देती थी। राजाकी आज्ञाके बिना कोई पहले प्रहार न कर बैठे, इस आशङ्कासे बहुत देरतक दोनों सेनाओंमें रणदुन्दुभि न बज सकी। अपने-अपने स्थानमें श्रेणीबद्ध होकर खड़े हुए सैनिक ही जिनके अङ्ग थे, उन सम्पूर्ण टुकड़ियोंसे भरी-पूरी होनेके कारण वे दोनों सेनाएँ मन्थरगतिसे आगे बढ़ रही थीं। उनमें असंख्य सैनिक अपने प्राणरूपी सर्वस्वको लुटा देनेके लिये उद्यत थे। सभी धनुर्धर वीर कानतक खींचे गये बाणसमूहोंकी धारावाहिक वृष्टि करनेके लिये उत्सुक थे। प्रहार करनेके आदेशकी प्रतीक्षामें अगणित योद्धा वहाँ निश्चल खड़े थे।

तदनन्तर लीला और सरस्वती दोनों देवियाँ उस युद्धको देखनेके लिये वहीं रुके हुए एक सुन्दर, सुस्थिर एवं मनःकल्पित विमानपर आरूढ़ हुईं। इतनेमें ही दोनों सेनाओंमें आमने-सामने संघर्ष आरम्भ होनेपर शत्रु-पक्षकी सेनासे प्रलयकालिक समुद्रसे उठी हुई एक तरङ्गकी भाँति कोई निर्भय योद्धा निकला और आगे बढ़ा। वह प्रहार करना ही चाहता था कि लीलाके पतिने, जो पूर्वजन्ममें पद्म था और वर्तमान जन्ममें विदूरथके नामसे विख्यात था, उसके आक्रमणको सहनेमें असमर्थ होकर पर्वतके शिखरपर गिरायी हुई शिलाकी भाँति उस विपक्षी योद्धाकी छातीपर मुद्गरका प्रहार किया। फिर तो दोनों

सेनाओंमें प्रलयकालीन समुद्रके समान वेगसे बलपूर्वक अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार आरम्भ हुआ। अग्नि-तुल्य तेजस्वी आयुधोंकी प्रभा चपलाकी चमकके समान सब ओर चकाचौंध पैदा करने लगी। चञ्चल अस्त्र-शस्त्रोंकी धारके अग्रभागसे आकाश रेखाङ्कित-सा प्रतीत होने लगा। घरघराते हुए रथोंके वेगसे जो लीकें बन गयी थीं, वे ही योद्धाओंके शरीरसे निकलकर बहनेवाली खूनकी नदीके लिये मार्ग थीं। सैनिकोंकी दौड़-धूपसे इतनी धूल उड़ी कि वहाँ सब ओर कुहरा-सा छा गया। धारावाहिकरूपसे बरसते हुए अस्त्र-शस्त्र चमचमाहट पैदा करते थे। उस सेनारूपी समुद्रका कोलाहल एकत्र हुए सम्पूर्ण मेघोंकी क्षोभपूर्ण गर्जनाके समान प्रतीत होता था। क्षेपणास्त्रोंद्वारा फेंके गये पत्थरों और चक्रसमूहोंसे भयभीत हो आकाश-चारी पक्षी दूर भाग गये थे। कुठारोंके आघातसे योद्धाओंके मस्तक विदीर्ण हो गये थे। पूरी शक्ति लगाकर चलायी गयी शक्तियोंके समूहसे छिन्न-भिन्न होकर गिरे हुए हाथियोंकी लाशोंसे धरती पट गयी थी।

बड़े-बड़े ताड़ वृक्षोंके समान ऊँचे पुरुषोंने हाथमें कुदाल ले वनभूमि खोदकर उसे समतल कर दिया था। जहाँतक बाण फेंका जा सकता है, उससे दूने प्रदेशमें सब ओरसे लोगोंको हटा दिया गया था और पत्थरोंकी चट्टानें भी काट-छाँटकर वहाँसे दूर फेंक दी गयी थीं। नाराचरूपी श्रेष्ठ जलकी वर्षा करनेवाले वीरसमूहरूपी मतवाले मेघोंके घिर आनेसे जहाँ कबन्धरूपी मोर नाचने लगे थे तथा वेगसे चक्कर काटते हुए मदमत्त गजराजरूपी पर्वतोंसे जो आवेष्टित था, वह वेगपूर्वक चलता हुआ युद्ध वहाँ प्रलयकालका-सा दृश्य उपस्थित कर रहा था।

तदनन्तर युद्धकी इच्छा रखनेवाले राजाओं, योद्धाओं, मन्त्रियों तथा आकाशसे संग्रामका दृश्य देखनेवाले देव, गन्धर्व आदिके मुखसे वहाँ इस तरहकी बातें निकलने लगीं—'देखो, तुरंतके कटे हुए मस्तकोंके मुखरूपी गड्ढेमें गोते लगाती हुई सफेद चीलोंसे व्याप्त हुए ये कबन्ध (धड़) समराङ्गणमें बजते हुए वाद्योंके तालपर उछल-उछलकर नाच रहे हैं।' देवताओंकी गोष्ठियोंमें परस्पर यह चर्चा चल रही थी कि 'कौन धीर पुरुष कब, कैसे और क्यों स्वर्ग आदि लोकोंमें जायँगे ?' कुछ लोग ऐसी बातें कह रहे थे—'मूढो ! आगे बढ़कर युद्ध करो। अधमरे मनुष्योंको उठा ले जाओ। नराधमो ! इन अपने ही लोगोंको पैरोंके प्रहारसे कुचल न डालो।'

जैसे सोया हुआ मनुष्य थोड़ी देरमें स्वप्न-देहको प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार युद्धमें मारा गया योद्धा मरण-कालिक मूर्छाके पश्चात् एक ही निमेषमें अपने कर्मरूपी शिल्पी (स्रष्टा) द्वारा रचित देवशरीरको प्राप्त कर लेता था। उस युद्धस्थलमें परस्पर छेदन-भेदनके लिये उठे हुए हस्त-समूहोंसे मुशुण्डि, शक्ति, शूल, खड्ग, मुसल और प्रांस नामक अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा हो रही थी। परस्पर चलाये गये युद्धहेतुक अस्त्र-शस्त्र आपसमें टकराकर चूर-चूर हो जाते थे। उन भयंकर आयुधोंके चूर्णसे हुआ वह संग्रामरूपी समुद्र बालुका-राशिसे परिपूर्ण-सा जान पड़ता था। कटकर गिरे हुए छत्र उस रणसिन्धुमें उठती हुई तरङ्गके समान प्रतीत होते थे।

युद्धमें थका हुआ कोई सैनिक अपने दूसरे साथीसे कह रहा था—'मित्र ! संग्राममें थक जानेके कारण मेरी ही तरह तुम्हारी भी लड़नेकी इच्छा शान्त हो गयी होगी; अतः मैं एक अच्छी बात बता रहा हूँ, सुनो। जलती हुई आगके समान उज्ज्वल बाण जबतक हमलोगोंके अङ्गोंके टुकड़े-टुकड़े नहीं कर डालते, तभीतक हमारे लिये निकल भागनेका अवसर है। इसलिये आओ, हम लोग शीघ्र ही यहाँसे भाग चलें; क्योंकि यह जो चौथा पहर बीत रहा है, यमराजका ही दिन है (अतः इस समय यहाँ रहनेसे प्राणोंकी रक्षा असम्भव हो जायगी)।'

रघुनन्दन ! तदनन्तर वह समर-सागर उद्धत ताण्डव नृत्य करनेवाले उन्मत्तके समान प्रतीत होने लगा। उड़ जानेके लिये उद्यत हुए तुरंगम (अश्व) ही उसमें उत्ताल

तरङ्गके समान जान पड़ते थे। बाणरूपी जलकी धारासे घनीभूत हुए सैन्यरूपी मेघोंने वहाँके भूतल और आकाशको आच्छादित करके एक-सा कर दिया था। दोनों विशाल सेनारूपी महासागरोंकी क्षोभजनित टक्करसे वहाँ लोगोंमें भाग दौड़ मच गयी। जैसे समुद्रके गर्भमें स्थित पर्वत जलीय सर्पोंसे व्याप्त होता है, उसी प्रकार एक दूसरे दलका दलन करनेमें लगे हुए और प्रलयकालमें उठे हुए-से अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा वह समराङ्गण व्याप्त हो रहा था। शूल, खड्ग, चक्र, बाण, शक्ति, गदा, भुशुण्डि और प्रास आदि सैकड़ों चमकीले आयुध परस्पर टकराते, काटते और अद्भुत ध्वनि उत्पन्न करते हुए दसों दिशाओंमें घूम-घूमकर प्रलयकालीन प्रचण्ड वायुके झोंकेसे टूटकर आकाशमें चक्कर काटते हुए वृक्ष आदि पदार्थोंकी लीला धारण करते थे। (सर्ग ३२–३५)

युद्धका वर्णन तथा उभयपक्षको सहायता देनेवाले विभिन्न जनपदों और स्थानोंका उल्लेख

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! दोनों सेनाओंमें जो महान् धर्मनिष्ठ, सुशील, ओजस्वी, धैर्यशाली, शुद्ध, कुलकमल और युद्धमें कभी पीठ न दिखानेवाले शूरवीर थे, उनमें परस्पर द्वन्द्वयुद्ध होने लगा। वे मेघोंके समान गर्जना करते हुए एक दूसरेको निगल जानेके लिये उत्सुक हो दो नदियोंके वेगयुक्त प्रवाहोंके समान एक दूसरेसे भिड़ते और टकराते थे। चक्रधारी योद्धा चक्रधारियोंसे उलझ गये। धनुर्धर वीर धनुर्धरोंसे भिड़ गये। खड्गसे युद्ध करनेवाले सैनिक खड्गधारियोंसे जूझने लगे। भाले-वाले भालेवालोंसे, मुद्गरधारी मुद्गरधारियोंसे, गदाधारी गदाधारियोंसे, शक्तिसे युद्ध करनेवाले शक्तिधारी योद्धाओं-से, छुरेवाले छुरेवालोंसे, त्रिशूलधारी त्रिशूलधारियोंसे और लोहेकी जंजीरोंका जालीदार कोट पहननेवाले योद्धा अपने-जैसे ही विपक्षी योद्धाओंसे इस तरह वेगपूर्वक युद्ध करने लगे, मानो प्रलयकालके विक्षुब्ध महासागरोंकी तरङ्गें आपसमें टकरा रही हों। वह युद्धाकाशरूपी महासागर वहाँ अद्भुत शोभा पा रहा था। क्षोभपूर्वक चलाये गये चक्रसमूह उसमें भँवरके समान जान पड़ते थे। वहाँ बहनेवाली वायुमें बाणरूपी जलके कण व्याप्त हो रहे थे और आयुधरूपी मगर उसमें सब ओर विचर रहे थे। विद्या, बुद्धि, बल, शौर्य, अस्त्र-शस्त्र, अश्व, रथ और धनुष—ये युद्धके दिव्य आठ साधन जिनके पास मौजूद थे, ऐसे सैन्यसमूह दो पक्ष होनेके कारण आधे-आधे भागसे दोनों पक्षोंमें बँटकर क्रोधपूर्वक युद्धके लिये खड़े थे। वे दोनों नरेश विदूरथ और सिन्धुराज भी तदनुसार ही स्थित थे।

रघुनन्दन! मध्यदेशको आदि (मुख्य) स्थान मानकर वहींसे दिशाकी गणना करनेपर लीलाके पति महाराज पद्म (जो वर्तमान जन्ममें विदूरथ थे) के पक्षमें उनकी सहायताके लिये पूर्व दिशासे जिस-जिस जनपदके लोग आये थे, उन सबके नाम बताता हूँ, सुनो! पूर्व दिशामें स्थित जो कोसल, काशि, मगध, मिथिला, उत्कल, मेखल, कर्कर, मुद्र, संग्राम-शौण्डक, मुख्य, हिम, रुद्रमुख्य, ताम्रलिप्त, प्राग्ज्योतिष, अश्वमुख, अम्बष्ठ, पुरुषादक, वर्णकोष्ठ, सविश्रोत्र, आममीनाशन, व्याघ्रवक्त्र, किरात, सौवीर और एकपादक—ये चौबीस जनपद हैं। इनके निवासी योद्धा राजाकी सहायताके लिये आये थे। इनके सिवा पूर्व दिशामें जो माल्यवान्, शिबि, आक्षन, वृषल, ध्वज, पद्म तथा उदयगिरि नामक सात पर्वत हैं, वहाँके निवासी भी राजा पद्मके पक्षमें पधारे थे।*

* यहाँ जो देशोंके नाम आये हैं, वे पुराणों तथा महाभारत आदिमें उल्लिखित नामोंसे कुछ-कुछ भिन्नता रखते हैं। कितने ही प्रसिद्ध नाम छूट गये हैं और नये नाम आ गये हैं, जो कभी सुने नहीं गये। इनके लिये जो दिशा निर्धारित की गयी है उसमें भी बड़ा मतभेद है। जैसे वङ्गदेशको पूर्वमें न बताकर पूर्व और दक्षिण दिशाओंके बीचमें

पूर्व-दक्षिण दिशामें जो ये विन्ध्य आदिके निवासी हैं, वे भी आये थे। इनके अतिरिक्त चेदि, वत्स, दशार्ण, अङ्ग, वङ्ग, उपवङ्ग, कलिङ्ग, पुण्ड्र, जठर, विदर्भ, मेखल, शबराननवर्ण, कर्ण, त्रिपुर, पूरक, कण्टकस्थल, पृथग् दीपक, कोमल, कर्णान्ध्र, चौलिक, चार्मण्यवत (चर्मण्वती नदीके तटवर्ती), काकक, हेमकुण्ड, श्मश्रुधर, बलिग्रीव, महाग्रीव, किष्किन्ध और नालिकेरी—इन देशोंके निवासी वीर भी लीला-पतिकी सहायतामें आये थे।

रघुनन्दन! दक्षिण दिशामें जिन-जिन देशोंके नरेश लीला-पतिके सहायक थे, उनके नाम इस प्रकार हैं—विन्ध्य, कुसुमापीड, महेन्द्र, दर्दुर, मलय और सूर्यवान्—इन छः पर्वतोंके आस-पास जो समृद्धिशाली गणतन्त्र राज्य थे, वहाँके सैनिक भी वहाँ पधारे थे। इनके सिवा अवन्ती और शाम्बवती नामसे विख्यात देश, दशपूर, कथाचक्रार, ईषिक, आतुर, कच्छप, वनवासोपगिरि, भद्रगिरि, नागर, दण्डक, गणराष्ट्र (गणतन्त्रराज्य), नृराष्ट्र (जनतन्त्र राज्य), साह्य, शैव, ऋष्यमूक, कर्कोट, वनबिम्बल, पम्पानिवासी, कैरक, कर्कवीरक, स्वेरिक, यासिक, धर्मपत्तन, पक्षिक, काशिक, तृण-खल्लूल, याद, ताम्रपर्णक, गोनर्द, कनक, दीनपत्तन, मामक, ताम्रीक, दम्भर, आकीर्णक, सहकार, ऐणक, वैतुण्डक, तुम्बवनाल, अजिनद्वीप, कर्णिक, कर्णिकाभ, शिबि, कोङ्कण, चित्रकूट, कर्णाट, मण्टवटक, महाकटकिक, आन्ध्र, कोलगिरि, अवन्तिक, निचेरिक, चण्डायत्त, देवनक, क्रौञ्च, वाह्य, शिलाक्षारोद, भोनन्द, मर्दन, मलय और चित्रकूट शिखरके वासी मनुष्य तथा लङ्काके राक्षसगण भी उस युद्धमें सम्मिलित हुए थे।

अब पश्चिम-दक्षिण दिशाके देश बताये जाते हैं (जहाँके निवासी लीला-पतिके सहायक थे)—महाराष्ट्र, सौराष्ट्र, सिन्धु, सौवीर, शूद्र, आभीर, द्रविड़, कीकट, सिद्धखण्ड, कालिरुह, हेमगिरि, रैवतक पर्वत, जयकच्छ, मयवर, जहाँ यवन जातिके लोग रहते थे, बाह्लीक, मार्गणावन्त, धूम्र, तुम्बक, लाजगण, उक्त दिशाके पर्वतवासी, समुद्रतटवर्ती तथा तोकनियुत नामक स्थानके निवासी—ये सब लीला-पतिकी सहायतामें आये थे।

रघुनन्दन! जो लोग लीला-पतिके विपक्षमें आये थे। उनके इन जनपदोंका वर्णन सुनो। पश्चिम दिशामें जो ये ऊँचे और बड़े-बड़े पर्वत हैं, पहले उनके नाम बताये जाते हैं—गिरिराज मणिमान्, कुरार्पणगिरि, वन, अर्कह, मेघभव, चक्रवान् और अस्ताचल—इन सबके निवासी उक्त नरेशके विपक्षमें आये थे। इनके अतिरिक्त जो काश नामक गणों और ब्राह्मणसमूहोंका अन्त करनेवाले हैं, वे पञ्चजन नामक गणतन्त्र राज्यके सैनिक भी युद्धके लिये आये थे। इसी प्रकार भारक्षतथ, पारक, शान्तिक, शैब्य, आरमरकाय, अच्छ, अगुहुत्व, अनियम, हैहय, सुह्मगाय, ताजिक, हूणक, दक्षिण कतक और उत्तर कतक देशोंके पार्श्वभागमें स्थित कर्क देश, गिरिपर्ण और अवम—इन सब देशोंके निवासी म्लेच्छ जातिके अन्तर्गत हैं; क्योंकि इन्होंने धर्मकी मर्यादाका सर्वथा त्याग कर दिया है। (ये सभी राजा विदूरथके विपक्षमें आये थे।) तदनन्तर दो सौ योजनतककी भूमि जनपदोंसे रहित है। तत्पश्चात् महेन्द्र पर्वत है, जिसकी भूमिमें मोती और मणियोंकी अधिकता है। उसके बाद अश्वगिरि है, जो सैकड़ों पर्वतोंसे युक्त है। उससे आगे भयंकर महासागर है, जिसके तटपर पारियात्र नामक पर्वत है। (इन सब स्थानोंके निवासी सिन्धुराजकी ओरसे युद्ध करने आये थे।)

बताया है। सौवीर देश पश्चिममें है, तथापि इसे पूर्वदिशाके अन्तर्गत बताया गया है। माल्यवान् पर्वत दक्षिण दिशामें है; किंतु इसे पूर्व दिशामें बताया गया है—इत्यादि। यद्यपि इस तरह देशों और दिशाओंके नाममें वैपरीत्य देखा जाता है, तथापि यह वर्णन किसी दूसरे ब्रह्माण्डका है; इसलिये इस ब्रह्माण्डके भारतवर्षकी स्थितिसे कुछ भिन्नता भी मिले तो दोषकी बात नहीं; क्योंकि ब्रह्माण्डभेदसे देशों और दिशाओंकी स्थितिमें कुछ भेद होना असम्भव नहीं है।

पश्चिमोत्तर दिशामें पर्वतीय प्रदेशके भीतर वेणुपति और नरपति नामक देश हैं, जहाँ अनेक प्रकारके उत्सव होते रहते हैं। इनके सिवा जो फल्गुणक, माण्डव्य, अनेकनेत्रक, पुरुकुन्द, पार, भानुमण्डल, भावन, वन्मिल, नलिन, दीर्घ—जहाँके निवासियोंके केश, अङ्ग और भुजाएँ दीर्घ (बडी) होती हैं, रङ्ग, स्तनिक, गुरुह और लुह नामवाले देश हैं (उनके निवासी भी सिन्धुराजकी ओरसे आये थे)। तदनन्तर अनुपम क्षीराष्ट्र है, जहाँके लोग गाय-बैल और अपनी संतान-तकको खा जाते हैं। (इन सब स्थानोंके निवासी उस युद्धमें सम्मिलित हुए थे।)

उत्तर दिशामें जो हिमवान्, क्रौञ्च, मधुमान्, कैलास, वसुमान् और मेरु पर्वत हैं तथा इन सबके आस-पास जो शाखापर्वत हैं, उनपर जो लोग निवास करते हैं (वे सब योद्धा सिन्धुराजकी ओरसे युद्ध करनेके लिये आये थे)। इनके सिवा मद्र, वारेव, यौधेय, मालव, शूरसेनिक, राजन्य, अर्जुनातनय, त्रिगर्त, एकपात्, क्षुद्र, आमबल, खस्तवासी, अबल, प्रखल, शाक, क्षेमधूर्ति, दशधान, गावसन्य, दड, हन्यसन, धनद, सरक, वटधान, अन्तरद्वीप, गन्धार, अवन्ति, सुर, तक्षशिला, वीलव, गोधनी, पुष्करारण्य, [illegible] यशोवती, नाभिमती, तिक्षा, कालव, [illegible], सुरभूतिपुर, रतिकादर्श, अन्तरादर्श, पिङ्गल, पाण्डव, [illegible], यातुधानक, मानव, नाङ्गन, हेमताल, खस्तमुख—[illegible] निवासी भी उस युद्धमें सिन्धुराजकी ओरसे आये थे। (उपर्युक्त देश पर्वतसे नीचे हैं इनसे ऊपरकी ओर) पूर्वोक्त हिमवान्, वसुमान्, क्रौञ्च और कैलास नामक पर्वत हैं। उनसे आगे बढ़नेपर आठ हजार योजनतककी भूमि जनपदोंसे रहित है।

पूर्वोत्तर दिशामें जो जनपद हैं, क्रमशः उनके नाम सुनो—कालुत, ब्रह्मपुत्र, कुणिद, खदिन, मालव, रन्ध्रराज्य, वन, राष्ट्र, केडवस्त, सिंहपुत्र, वामन, सावाकत्, चापलवह, कामिर, दरद, अभिसासद, जार्वाक, पलोल, कुवि, कौतुक, किरात, यामुपात और दीन नामक जनपद हैं (इन सबके निवासी युद्धके लिये आये थे) इससे आगे ईशानकोणमें सुवर्णमयी भूमि है। उससे आगे अत्यन्त शोभाशाली देवस्थलीय उपवनकी भूमि है। तत्पश्चात् गन्धर्वराज विश्वावसुका उत्तम मन्दिर है। उससे आगे कैलासभूमि है। उससे भी आगे मञ्जुवन नामक पर्वत है, जहाँकी भूमि विद्याधरों और देवताओंके विमानके समान है। (सर्ग ३६)

युद्धका उपसंहार, राजा विदूरथके शयनागारमें गवाक्षरन्ध्रसे लीला और सरस्वतीका प्रवेश तथा सूक्ष्म चिन्मय शरीरकी सर्वत्र गमनशक्तिका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! कितना कहा जाय, वासुकी (शेषनाग) भी अपनी दो हजार जिह्वाओंसे यदि आकुलतापूर्वक (शीघ्रतासे) बताना चाहें तो वे भी इस श्रेष्ठ संग्रामका पूर्णतया वर्णन करनेमें समर्थ नहीं हो सकते।

इस प्रकार वहाँ बडा घमासान युद्ध हो रहा था। विजयी वीर भुजाओंपर ताल ठोक रहे थे और पराजित योद्धा भयसे हाहाकार कर रहे थे। इन दोनों प्रकारके शब्दोंसे वह युद्धस्थल गूँज उठा था। धूलरूपी अन्धकारसे आच्छादित हुए सूर्यदेव वृद्ध (मन्दगामी या अस्तोन्मुख) से प्रतीत होने लगे। योद्धाओंके रुधिरके प्रवाहको रोकने या ढकनेवाले कठोर कवचके भीतरसे खून टपक रहा था।

तदनन्तर उभयपक्षके सेनापतियोंने मन्त्रियोंके साथ विचार करके एक-दूसरेके पास दूत भेजे और यह सदेश कहलाया कि अब युद्ध बंद किया जाय। उस युद्धस्थलमें विशेष परिश्रमके कारण सभीके यन्त्र, शस्त्रास्त्र और पराक्रम मन्द पड गये थे। अतः उस समय सब लोगोंने युद्ध बंद करनेकी बात हृदयसे स्वीकार की। तत्पश्चात् विशाल रथके ऊँचे ध्वजके पास ही स्थापित हुए लंबे बाँसके खंभेपर दोनों सेनाओंका एक-एक योद्धा उसी

प्रकार चढ़ा, जैसे ध्रुव उच्चतम स्थानको आरूढ़ हुए हों।

ऊँचे चढ़े हुए उन योद्धाओंने सम्पूर्ण दिशाओंमें उसी प्रकार श्वेत वस्त्र हिलाया, जैसे रात्रि शुभ्र किरणोंसे सुशोभित पूर्ण चन्द्रमाको समस्त दिशाओंमें घुमाती है। वस्त्र हिलाकर उन्होंने यह सूचना दी कि 'अब युद्ध बंद करो।'

इसके बाद जैसे प्रलयके अन्तमें तत्कालीन एकार्णवसे जलका प्रवाह चारों दिशाओंमें निकलने लगता है, उसी प्रकार उस युद्धस्थलसे दोनों सेनाएँ बाहर जाने लगीं। सारी रणभूमि मुर्दोंके ढेरसे पट गयी थी। जहाँ-तहाँ खूनकी नदियाँ बह रही थीं और सब ओर घायल योद्धाओंके चीत्कार सुनायी पड़ते थे। वह रणभूमि मृत्युके उद्यानकी भाँति जान पड़ती थी। वहाँ मरकर गिरे हुए असंख्य घोड़ों, हाथियों, मनुष्यों, राजाओं, सारथि-सहित रथों और कटी हुई ऊँटोंकी गर्दनोंसे जो रक्तका प्रवाह सब ओर फैल रहा था, उससे एक सुन्दर नदी प्रवाहित हो चली थी। खूनसे भीगे हुए अस्त्र-शस्त्र ही वहाँ जलसे सींची हुई हरी-भरी लताओंके समान जान पड़ते थे। वह रणोद्यान प्रलयकालमें पर्वतोंसहित विध्वस्त हुए सम्पूर्ण जगत्‌की भाँति दृष्टिगोचर हो रहा था।

(सूर्यास्तके पश्चात्) आकाश, पर्वत उसके निकुञ्ज और उसकी गुफाके भीतर फैलकर पिण्डके समान एकत्र हुए घने अन्धकारका समूह काले मेघोंकी घटाके समान वहाँ सब ओर छा गया था। चञ्चल भूतोंके वेगसे व्याकुल हुआ वह रणक्षेत्र प्रलयकालकी वायुसे कम्पित लोकों और उनके उपकरणोंसे युक्त ब्रह्माण्डके समान जान पड़ता था।

तदनन्तर जब सर्वत्र नीरवता छा गयी, अन्धकारका संचार हो गया, सम्पूर्ण दिशाओंके लोगोंकी आँखें निद्रासे बंद हो गयीं, उस समय उदारहृदय लीला-पति कुछ खिन्नचित्त-से होकर चन्द्रमाके मध्यभागके सदृश मनोहर तथा शीतल कमरोंवाले अपने सुन्दर महलमें पूर्ण चन्द्रमाके समान आकारवाली और बर्फके समान शीतल श्वेत शय्यापर अपने नेत्र-कमलोंको बंद करके सो गये और दो ही घड़ीमें उन्हें गहरी नींद आ गयी।

तत्पश्चात् वे दोनों ललनाएँ उस युद्धस्थलके आकाशको छोड़कर उस राजमहलमें खिड़कियोंके छेदोंसे उसी प्रकार घुस गयीं, जैसे वायुकी दो रेखाएँ इसी छोटे रन्ध्रमार्गसे

अधखिले कमलके भीतर प्रविष्ट हुई हों।

श्रीरामजीने पूछा—विद्वान् वक्ताओंमें श्रेष्ठ प्रभो! यह इतना बड़ा स्थूलशरीर तन्तुके समान सूक्ष्म छेदकी राहसे किस प्रकार उस घरमें प्रविष्ट हुआ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! जिस पुरुषने पहले दीर्घकालसे यह अनुभव किया हो कि 'मै स्थूल शरीर नहीं हूँ, शुद्ध चिन्मय आत्मा हूँ, अत. सभी स्थानोंमें जा सकता हूँ' वह पीछे चलकर स्थूलदेहकी अवरोध आदि क्रियाओंसे कैसे युक्त हो सकता है? क्योंकि वह उसी चेतनका अंश है, जो सर्वत्र जानेमें समर्थ है। जिसकी आकृति स्वप्नगत पुरुष या संकल्पकल्पित पुरुषके समान है, आकाशमात्र ही जिसका आकार है अर्थात् जो वास्तवमें स्थूल आकारसे रहित है, उसे कौन कैसे रोक सकता है। जीव जहाँ मरता है, उसी स्थानको शीघ्र देखता है और वहीं उसे अनेक भुवनोंसे युक्त यह विस्तृत प्रपञ्च इसी रूपमें स्थित-सा दिखायी देता है। आगन्तुक गेह आदिसे आत्मवान् हुआ-सा यह चेतन आकाशरूपी जीव देह आदिको ही आत्मा समझकर निर्मल चिन्मय आकाशमें ही 'यह मैं हूँ, यह जगत् है' इस आकाशरूप (शून्य) भ्रमका अनुभव करता है। इस जगत्‌रूपी भ्रममें देवताओं, अमरावती आदि श्रेष्ठ नगरों, मेरु आदि पर्वतों, सूर्य, चन्द्रमा और तारासमूहके कारण अपूर्व सौन्दर्य प्रतीत होता है। इस भ्रमरूपी वृक्षके खोखलेमें जरा, मृत्यु, व्याकुलता तथा नाना प्रकारकी आधि-व्याधियाँ ठूँस-ठूँसकर भरी हुई हैं। इसमें अपने अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति और अनिष्ट वस्तुके निवारणके लिये स्थूल-सूक्ष्म, चर-अचर सभी प्राणी उद्योगशील हैं तथा यह भ्रमरूपी प्रपञ्च समुद्र, पर्वत, नदी, उनके अधिपति, दिन, रात, कल्प, क्षण और प्रलय—इन सबसे युक्त है। इस प्रकार यद्यपि यह विश्व दीवालकी तरह स्थूल एवं स्थिर दिखायी देता है, तथापि मनन—मनके संकल्पके सिवा और कुछ नहीं है। मनन करनेपर यह चल (अस्थिर) ही सिद्ध होता है। तुम इस समय मनमें अपने अनुभवके अनुसार इसके स्वरूपपर विचार करो। जो ही चेतन आकाशरूप परमात्मा है, वही मननरूप कहा गया है और जो ही चेतन आकाशरूप परमात्मा है, वही परमपद है। चेतन आकाशस्वरूप परमात्माका अमृत (असत्य अथवा अनादि) मायाकाशमें या सूक्ष्म भूतोंके कार्यरूप चित्ताकाशमें जो स्फुरण है, वही नाम और रूपसे नाना भावको प्राप्त होनेवाला जगत् कहा जाता है। लीला और सरस्वती दोनों निष्पाप देवियाँ परमात्माके तुल्य विशुद्ध एवं चिदाकाशमय शरीरसे युक्त थीं; इसलिये वे सर्वत्र जा सकती थीं। उनके लिये कहीं भी प्रवेश करनेमें कोई बाधा नहीं थी। वे चिदाकाशमें जहाँ-जहाँ अपनेको प्रकट करनेकी इच्छा करती थीं, वहाँ-वहाँ सदा ही अपनी रुचि और अभिलाषाके अनुसार प्रकट हो जाती थीं। इसलिये राजा विदूरथके घरमें उन दोनोंका जाना सम्भव हुआ। चिन्मय आकाश सर्वत्र विद्यमान है, उसमें जिसे आतिवाहिक कहते हैं, वह चिदाकाशमय सूक्ष्मशरीर सर्वत्र विचरण कर सकता है; क्योंकि वह यथार्थ ज्ञानस्वरूप, धारणात्मक एवं मननरूप है। तुम्हीं बताओ, उस सूक्ष्मदेहको कौन, कैसे और किस लिये रोक सकता है?

(सर्ग ३७—४०)

राजा पद्मके भवनमें सरस्वती और लीलाका प्रवेश और राजाद्वारा उनका पूजन, मन्त्रीद्वारा राजाका जन्मवृत्तान्त-वर्णन, राजा विदूरथ और सरस्वती देवीकी बातचीत, वसिष्ठजीद्वारा अज्ञानावस्थामें जगत् और स्वप्नकी सत्यताका वर्णन, सरस्वतीद्वारा विदूरथको वरप्रदान, नगरपर शत्रुका आक्रमण और नगरकी दुरवस्थाका कथन, भयभीत हुई राजमहिषीका राजाकी शरणमें आना, लीलाको दूसरे वररूप राजा पद्मकी प्राप्ति

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! उन दोनों देवियोंके प्रवेश करनेपर राजा पद्मके भवनका भीतरी भाग उज्ज्वल छटासे सुशोभित हो गया, मानो वहाँ दो चन्द्रमा उदय हो गये हों। उसमें मन्दार पुष्पका स्पर्श करके आयी हुई शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु चलने लगी। उन देवियोंके प्रभावसे राजाके अतिरिक्त अन्य स्त्री-पुरुष निद्राके वशीभूत हो गये, परंतु चन्द्रद्रवके समान शीतल उन दोनोंके शरीरके प्रभा-पुञ्जसे आह्लादित होकर राजा पद्मकी निद्रा भङ्ग हो गयी, मानो उसपर अमृत छिड़क दिया गया हो। उठते ही उसने दो दिव्य नारियोंको देखा, जो दो आसनोंपर विराजमान थीं। उन्हें देखकर ऐसा लगता था मानो मेरुपर्वतके दो शिखरोंपर दो चन्द्रमण्डल उदित हो गये हों। यह देखकर राजाका मन विस्मयाविष्ट हो गया, फिर क्षणभर मन-ही-मन विचार करके वह अपनी शय्यासे उठ पड़ा—ठीक उसी तरह, जैसे चक्र-गदाधारी भगवान् विष्णु शेषशय्यासे उठते हैं। तत्पश्चात् उसने सोते समय अस्त-व्यस्त हुए अपने माला, हार और अधोवस्त्रको यथास्थान ठीक किया। फिर सिरहाने रक्खी हुई फूलोंकी डलियामेंसे मालीकी तरह स्वयं ही अत्यन्त खिले हुए पुष्पोंसे अपनी अञ्जलि भर ली और भूमिपर ही पद्मासन लगाकर वह नम्रतापूर्वक देवियोंसे कहने लगा—'देवियो ! आप दोनों जन्म, दुःखमय जीवन और त्रिविध तापरूपी दोषका शमन करनेके लिये चाँदनीके समान तथा बाह्य और आन्तरिक अज्ञानान्धकारका विनाश करनेके लिये सूर्यकी प्रभाके तुल्य हैं। आपकी जय हो।' यों कहकर राजाने उन देवियोंके चरणोंपर पुष्पाञ्जलि समर्पित की। तदनन्तर देवी

सरस्वतीने लीलासे राजाका जन्म-वृत्तान्त वर्णन करनेके लिये पार्श्वमें ही पड़े हुए मन्त्रीको अपने संकल्पसे जगाया। जागनेपर मन्त्रीने उन दोनों दिव्य नारियोंको देखकर उन्हें प्रणाम किया और उनके चरणोंमें पुष्पाञ्जलि समर्पित करके विनयपूर्वक वह उनके आगे खड़ा हो गया। तब देवीने राजासे पूछा—'राजन् ! तुम कौन हो ? किसके पुत्र हो ? और यहाँ कब पैदा हुए हो ?' ऐसा प्रश्न सुनकर मन्त्रीने उत्तर देना आरम्भ किया—

'देवियो ! यह आपलोगोंका ही कृपा-प्रसाद है, जो मैं आपके समक्ष भी बोलनेमें समर्थ हो सका हूँ; अतः अब आप मेरे स्वामीका जन्म-वृत्तान्त सुनिये। प्राचीन काल-

में एक कुन्दरथ नामके राजा हो गये हैं, जो इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न हुए थे। वे परम शोभाशाली थे। उनके नेत्र कमलके समान सुन्दर थे। उन्होंने अपनी भुजाओंकी छायासे सारे भूमण्डलको आच्छादित कर लिया था। उन्हीं नरेशके भद्ररथ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसके मुखकी कान्ति चन्द्रमाके समान थी। उन भद्ररथके विश्वरथ, विश्वरथके बृहद्रथ, बृहद्रथके सिन्धुरथ, सिन्धुरथके शैलरथ, शैलरथके कामरथ, कामरथके महारथ, महारथके विष्णुरथ और विष्णुरथके पुत्र नभोरथ हुए। ये हमारे राजा उन्हीं महाराज नभोरथके पुत्र हैं। ये अपने पिताके महान् पुण्यपुञ्जोंके फलस्वरूप क्षीर-सागरसे उत्पन्न हुए चन्द्रमाकी भाँति प्रकट हुए हैं। जैसे पार्वतीजीसे गुहकी उत्पत्ति हुई थी, उसी प्रकार ये अपनी माता सुमित्राके गर्भसे दूसरे स्कन्दकी भाँति पैदा हुए हैं। इनकी आकृति पूर्णचन्द्रमाके समान निर्मल है इन्होंने अपने अमृत-तुल्य गुणोंसे जनताको भलीभाँति तृप्त कर दिया है। ये विदूरथ नामसे विख्यात हैं। जब इनकी अवस्था दस ही वर्षकी थी, तभी इनके पिता इन्हें राज्यभार सौंपकर वनवासी हो गये थे। ये तभीसे इस भूमण्डलका धर्मपूर्वक पालन कर रहे हैं। आज पुण्यरूपी वृक्षके फलित होनेपर आप दोनो देवियोंका यहाँ शुभागमन हुआ है; क्योंकि दीर्घ तप आदि सैकड़ों क्लेश उठानेपर भी आपका दर्शन मिलना कठिन है। इस प्रकार विदूरथ नामसे प्रसिद्ध ये महीपाल आज आपके दर्शन-प्रदानरूप प्रसादसे परम पवित्र हो गये।'

यों कहकर जब मन्त्री चुप हो गया तथा भूपाल भूतलपर पद्मासन लगाकर हाथ जोड़े सिर नीचा किये बैठे रहे, उसी समय सरस्वती देवीने 'राजन्! तुम विवेकद्वारा स्वयं ही अपने पूर्वजन्मका स्मरण करो' यों कहकर उनके मस्तकपर अपना हाथ रखा। देवी सरस्वतीके करस्पर्शसे राजा पद्म (विदूरथ) का हृदयान्धकार एवं माया—सबके सब नष्ट हो गये। उनका हृदय अत्यन्त विकसित हो गया। उन्हें अपने पूर्वजन्मका वृत्तान्त इस प्रकार स्मरण हो आया, जैसे वह उनके अन्तःकरणमें स्फुरित होता हुआ-सा स्थित था। फिर लीलाके कर्तव्यके साथ-साथ शरीर और एकच्छत्र राज्यके त्याग, सरस्वतीके वृत्तान्त, लीलाकी विशेष उन्नति और आत्मकथाको जानकर राजा समुद्रमें गोते लगाते हुएकी तरह निश्चय-में पड़ गया। वह मन-ही-मन कहने लगा—'खेद है, सारे संसारमें यह माया ही व्याप्त है। इस समय इन देवियोंकी कृपासे मुझे इसका पूर्ण ज्ञान हुआ है।'

राजाने पूछा—देवियो! मुझे जो अपने अनेक कार्यों-का, परदादाका तथा अपनी बचपन एवं युवावस्थाका और मित्र तथा बन्धु-बान्धवोंका स्मरण हो रहा है, इसका क्या कारण है?

श्रीसरस्वती देवीने कहा—राजन्! मृत्युरूपी महा-मोहमयी मूर्च्छाके अनन्तर उसी मुहूर्तमें गिरिग्रामनिवासी उस ब्राह्मणके घरके भीतर आकाशमें ही स्थित गृहके मध्यभागमें जो मण्डप है, उसीके अन्दर तुम्हारा यह

जन्मादि दृश्य-प्रपञ्च आभासित हो रहा है। वहीं निर्मल आकाशकी भाँति स्वच्छ तुम्हारे चित्तमें यह विस्तृत व्यवहार-भ्रम स्फुरित हुआ है। 'यह मेरा जन्म हुआ। इक्ष्वाकुवंश ही मेरा कुल है। पूर्वकालमें मेरे ये पितामह आदि इस नामवाले हुए थे। मैं पैदा हुआ। जब मैं दस वर्षका बालक था, तभी मेरे पिता इस राज्यपर मेरा अभिषेक करके स्वयं परिव्राजक होकर वनको चले गये। तदनन्तर मैंने दिग्विजय करके अपने राज्यको निष्कण्टक बनाया। फिर इन मन्त्रियों तथा पुरवासियोंके साथ पृथ्वीका पालन करता रहा हूँ। यज्ञकर्मोंका अनुष्ठान तथा धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते मेरी आयुके सत्तर वर्ष व्यतीत हो चुके। इस समय इस शत्रु-सेनाने मुझपर आक्रमण किया और उसके साथ मेरा भयंकर युद्ध हुआ। युद्ध करके मैं अपने घर लौट आया हूँ और यहाँ पूर्ववत् स्थित हूँ। ये दोनों देवियाँ मेरे घर पधारी हैं और मैं इनका पूजन कर रहा हूँ; क्योंकि पूजित होनेपर देवता मनोऽभिलषित पदार्थ प्रदान करते हैं। जैसे सूर्यकी प्रभा मुकुलित कमलको विकसित कर देती है, उसी तरह इन दोनोंमेंसे इस एक देवीने मुझे यहाँ ऐसा ज्ञान प्रदान किया है, जो पूर्वजन्मकी स्मृतिको जगानेवाला है। अब मैं कृतकृत्य हो गया हूँ और मेरे सभी संशय नष्ट हो गये हैं। मैं शान्ति-लाभ करूँगा, परम निर्वाणको प्राप्त होऊँगा और केवल सुखरूप होकर स्थित होऊँगा'—इस प्रकार तुम्हारी यह भ्रान्ति, जो बहुसंख्यक सदेहोंसे युक्त, नाना प्रकारके आचार-विचारोंसे सम्पन्न और लोकान्तर-में गमन करनेवाली है, विस्तारको प्राप्त हुई है। पहले जिस मुहूर्तमें तुम मृत्युको प्राप्त हुए थे, उसी समय यह प्रतिभा अपने-आप तुम्हारे हृदयमें आविर्भूत हुई थी। जैसे नदीका प्रवाह उठे हुए एक आवर्तको त्यागकर तुरंत ही दूसरा धारण कर लेता है, उसी प्रकार चित्त-प्रवाह भी एक कल्पना-सृष्टिका त्याग करके दूसरी कल्पना-सृष्टि करता रहता है। जैसे आवर्त कभी दूसरे आवर्तसे संयुक्त होकर और कभी पृथक् ही प्रवृत्त होता है, उसी तरह यह सृष्टि भी कभी दूसरीसे सम्बन्धित और कभी स्वतन्त्र ही बढ़ती रहती है। उस मृत्युक्षणमें चिद्भानुस्वरूप तुम्हारी प्रतिभामें प्रतिभासित असत्-रूप यह जगज्जाल उसी तरह उपस्थित हुआ है, जैसे स्वप्नके एक ही मुहूर्तके अंदर सैकड़ों वर्षोंका भ्रम होता है। वास्तवमें तो न तुम कभी पैदा हुए हो और न कभी तुम्हारी मृत्यु ही हुई है। तुम तो शुद्ध विज्ञान-स्वरूप हो और अपने शान्त आत्मामें स्थित हो। यह सारा प्रपञ्च तुम्हें दृश्य-सा प्रतीत हो रहा है। वस्तुतः तुम कुछ नहीं देख रहे हो, बल्कि निर्मल महामणि तथा भासमान सूर्य आदिके समान तुम अपने आत्मामें अपने-आप नित्य सर्वात्मभावसे प्रदीप्त हो रहे हो। वस्तुतः न यह भूतल सत् है, न प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला यह त्रिदूरथ-देह ही सत् है और न ये पर्वत, ग्राम, तुम्हारे शत्रु-मित्र तथा हमलोग ही सत् हैं।

राजन्! जिन्हें ज्ञातव्य वस्तुओंका ज्ञान हो चुका है तथा जो एकमात्र शुद्ध बोधस्वरूप हैं, ऐसे पुरुषोंके मनमें यह कोई भी सांसारिक पदार्थ सत् नहीं है। भला, जिसका आत्मा शुद्ध ज्ञानसे सम्पन्न है, उसे जगत्की भ्रान्ति कहाँसे हो सकती है। जैसे रस्सीका ज्ञान हो जानेपर जब उसमें सर्पका भ्रम मिट जाता है, तब पुनः उसमें सर्पकी भ्रान्ति नहीं होती, उसी तरह जगत्-भ्रमके अनद्भावका पूर्ण ज्ञान हो जानेपर फिर उसकी सत्ता कहाँसे टिक सकेगी। मृगमरीचिकाका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर पुनः उसमें जलबुद्धि कैसे हो सकती है। उसी तरह स्वप्नावस्थामें घटित हुआ अपना मरण जाग्रदवस्थामें अपने स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर कैसे सत्य हो सकता है? शरत्कालीन निर्मल आकाशकी शोभाके समान जिस-का हृदय स्वच्छ, निर्मल और अत्यन्त विस्तृत है, उस शुद्ध तत्त्ववेत्ता पुरुषकी बुद्धिमें 'अहम्' और 'जगत्'-

की प्रतीति तुच्छ शब्दार्थकी द्योतक है । यह वास्तविक नहीं है, केवल वाचिक व्यवहारमात्र है ।

महर्षिके यों कथा कहते-कहते दिन समाप्त हो गया । भगवान् भास्कर अस्ताचलकी ओर प्रस्थित हो गये और मुनि-मण्डली महर्षिको नमस्कार करके सायंकालिक विधि सम्पन्न करनेके लिये स्नानार्थ चली गयी । रात्रि बीतनेपर सूर्योदय होते-होते पुनः मुनिमण्डली एक साथ सभामें उपस्थित हुई ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव ! जिसकी बुद्धिमें ज्ञानका उदय नहीं हुआ है तथा जिसकी परमात्मतत्त्वमें दृढ़ स्थिति नहीं है, अतएव जो मोहग्रस्त है, उसके लिये यह जगत् असत् होते हुए भी सत्-सा प्रतीत होता है । जैसे मरुस्थलमें सूर्यका ताप ही मृगोंके लिये जलकी भ्रान्तिका कारण होता है, उसी तरह ही मृगोके लिये जलकी भ्रान्तिका जगत् सत्य-सा भासित होता है । जैसे प्राणीकी स्वप्न-मृत्यु जो बिल्कुल असत्य है, फिर भी सत्य-सी प्रतीत होकर शोक-रुदन आदि कार्य करा देती है, उसी तरह जिनकी बुद्धि मोहाच्छन्न है, उन पुरुषोंके लिये यह जगत् शोकप्रद होता है । जो कटक-कुण्डल आदिमें व्याप्त सुवर्णके ज्ञानसे अनभिज्ञ है, उसको जैसे स्वर्ण-निर्मित कडेमें कडेका ही ज्ञान होता है, उसमें उसकी थोड़ी भी स्वर्णबुद्धि नहीं होती, उसी प्रकार अज्ञानीकी यह नगर, गृह, पर्वत, गजराज आदिसे प्रकाशित होनेवाली दृश्य-दृष्टि ही है, दूसरी—परमार्थ-दृष्टि नहीं है ।

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! यदि केवल मायास्वरूप स्वप्नमें कल्पित स्वप्नपुरुष सत्य न भी हों तो क्या दोष होगा ? यह बतलाइये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघव ! स्वप्नमें देखे गये नगरनिवासी वस्तुतः सत्य नहीं हैं—इस विषयमें मैं तुम्हें प्रत्यक्ष प्रमाण बतलाता हूँ, सुनो; अन्य प्रमाणोके जाननेकी आवश्यकता नहीं है । सृष्टिके आदिमें स्वयम्भू ब्रह्मा स्वयं ही स्वप्न-तुल्य अनुभवसे सम्पन्न दिखायी देते हैं, अतः उनके सकल्पसे उत्पन्न हुआ यह विश्व भी स्वप्न-सदृश ही है । इस प्रकार यह विश्व भी स्वप्न है । उसमें जैसे मेरी दृष्टिमें तुम सत्य हो, उसी तरह अन्य लोग भी तुम्हारी और मेरी दृष्टिसे सत्य हैं एव अन्य मनुष्योंकी भी अपने-अपने अनुभवके अनुसार स्वप्नके विषयमें सत्यता सिद्ध है । यदि ये नगरनिवासी स्वप्नमें सत्य न हों तो इस स्वप्नाकार जाग्रदवस्थामें भी वे मेरे लिये थोडा भी सत्य न सिद्ध होंगे । इसलिये तुम्हारी दृष्टिमें जैसे मैं सत्यात्मा हूँ, उसी तरह मेरी दृष्टिमें सब सत्य है; क्योंकि स्वप्न-तुल्य संसारमें पदार्थोंकी परस्पर सिद्धिके लिये ऐसी नीति है । इस महान् स्वप्नरूपी संसारमें जैसे तुम्हारी दृष्टिमें मैं सत्य हूँ और मेरी दृष्टिमें तुम सत्य हो, उसी तरह सभी सत्य हैं—यही सारे स्वप्नोमें न्याय है । इस प्रकार यह सब स्वप्न और जाग्रद्रूप प्रपञ्च वास्तवमें सत्य नहीं है, परंतु सत्य-सा प्रतीत होता है और स्वप्न-स्त्री-प्रसङ्गकी भाँति मिथ्या ही जीवको मोहित करता है । सभी वस्तुएँ देहके बाहर तथा भीतर सर्वत्र विद्यमान हैं । ज्ञानवृत्ति जिसे जैसा जानती है, उसे उसी तरह स्वयं ही देखती है । जैसे कोशमें जो धन मौजूद रहता है, उसे उसका द्रष्टा प्राप्त करता है, उसी तरह चेतनाकाशरूप परमात्मामें सब कुछ स्थित है और वही परमात्मा उसका अनुभव करता है । अस्तु,

तदनन्तर देवी सरस्वतीने विदूरथको ज्ञानामृतके सिञ्चनसे विवेकरूपी सुन्दर अङ्कुरसे संयुक्त करके उनसे इस प्रकार कहा—'राजन् ! यह पूर्वोक्त तत्त्वज्ञान मैंने लीलाकी प्रसन्नताके लिये तुमसे वर्णन किया है । लीलाने भी जगन्मिथ्यात्वकी दृष्टान्तभूत तुम्हारी दृष्टियाँ देख ली हैं; अतः तुम्हारा कल्याण हो, अब हम दोनों जाना चाहती है ।'

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! मधुर अक्षरोंसे

युक्त वाणीद्वारा सरस्वतीके यों कहनेपर बुद्धिमान् राजा विदूरथने इस प्रकार कहा ।

विदूरथ बोले—देवि ! मुझ साधारण मनुष्यका भी यदि किसी याचकको दर्शन हो जाय तो वह निष्फल नहीं जाता; फिर आप तो महान् फल प्रदान करनेवाली हैं, आपका दर्शन व्यर्थ कैसे हो सकता है । देवि ! जैसे स्वप्न देखता हुआ मनुष्य उस स्वप्नको छोड़कर दूसरा स्वप्न देखने लगता है, उसी तरह मै अपनी इस देहका परित्याग करके यहाँ दूसरे लोकको जाऊँगा । माता ! मै आपकी शरणमें आया हूँ । आप मुझ शरणागतको करुणापूर्ण दृष्टिसे देखिये और शीघ्र ही मेरी प्रार्थित वस्तु प्रदान कीजिये । मा ! मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मै जिस लोकमें जाऊँ, वही लोक मेरे इस मन्त्री और इस कुमारी कन्याको भी प्राप्त हो ।

श्रीसरस्वतीजीने कहा—पूर्वजन्मके चक्रवर्ती सम्राट् ! तुम्हें विदित होना चाहिये कि हमलोगोंने कभी भी याचकोंकी कामनाका निराकरण कर दिया हो—ऐसा नहीं देखा गया । अतः आओ और लीलाकी भक्ति और भाग्यके अनुरूप पदार्थोंकी समृद्धिसे सुन्दर इस राज्यका निर्भय होकर उपभोग करो ।

राजन् ! इस समय इस भीषण संग्राममें तुम्हारी मृत्यु निश्चित है और तुम्हे तुम्हारा प्राचीन राज्य प्राप्त होगा । यह सब प्रत्यक्ष तुम्हारी आँखोंके सामने ही होगा । कुमारी कन्याको, मन्त्रीको और तुमको शवरूप शरीर प्राप्त करके उस प्राचीन नगरमें आना होगा । अब हम दोनों जैसे आयी थीं, वैसे ही लौट जा रही है; परंतु कुमारी कन्याको, मन्त्रीको और तुम्हें मृत्युको प्राप्त होकर वायुरूपसे अर्थात् सूक्ष्मदेहसे उस प्रदेशमे आना चाहिये ।

देवी सरस्वती और राजा दोनों मधुरभाषी थे । उनमें परस्पर वार्तालाप हो ही रहा था, तबतक राजमहलके ऊर्ध्वभागमें बैठकर नगरकी देखभाल करनेवाला मनुष्य भयभीत हो राजाके पास आकर कहने लगा—'देव ! ज्वार-भाटासे संयुक्त महासागरकी भाँति बाण, चक्र, खड्ग, गदा और परिघकी वर्षा करनेवाली एक विशाल शत्रु-सेना आ पहुँची है । वह अत्यन्त उत्साहसे सम्पन्न है और प्रलयकालकी वायुसे उड़ाये गये कुल-पर्वतोकी शिलाओंके समान भयंकर गदा, शक्ति और भुशुण्डियोंकी वर्षा कर रही है । साथ ही इस पर्वताकार नगरमें आग लग गयी है, जिसने चारों दिशाओंको व्याप्त कर लिया है । वह चट-चट शब्दके साथ इस उत्तम नगरीको जलाती हुई नष्ट-भ्रष्ट कर रही है ।'

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलभूषण राम ! वह पुरुष सभीत होकर राजासे यों कह ही रहा था, तबतक बाहर कठोर शब्दोंसे युक्त महान् कोलाहल होने लगा जो अपने भीषण शब्दसे सारी दिशाओंमें व्याप्त हो रहा था । वह कोलाहल बलपूर्वक कानतक खींचकर बाणोंकी वर्षा करनेवाले धनुषोकी टंकारसे तथा जिनकी स्त्री और बच्चे जल गये थे, उन पुरवासियोके महान् हाहाकारसे, जलती हुई लपटोंके परिस्पन्दनसे उत्पन्न चट-चट एवं टूटकर गिरते हुए अङ्गारोके शब्दसे व्याप्त था । तब सरस्वती और लीला—दोनो देवियोंने एवं मन्त्री और राजा विदूरथने उस घोर रात्रिके समय राजमहलके झरोखेसे झाँककर उस विशाल नगरकी ओर दृष्टिपात किया, जो तुमुल नादसे गूँज रहा था । उस समय वह नगर प्रलयाग्निसे विक्षुब्ध हुए महासागरके सदृश वेगवाले तथा भयंकर अस्त्ररूपी तरङ्गोंसे व्याप्त शत्रु-सैन्यसे खचाखच भरा था और प्रलयकालीन अग्निकी ज्वालासे पिघलते हुए मेरुपर्वतके सदृश कान्तिमान् एवं गगनचुम्बी महान् ज्वाला-समूहोंसे भस्म हो रहा था । उस नगरको लूटते समय लुटेरे दूसरोंको डराने-धमकाने-के लिये महान् मेघकी गर्जनाके समान डाँट बता रहे

थे। उनके उस भीषण कोलाहलसे वह नगर भयानक लग रहा था। तदनन्तर राजा विदूरथने अपने योद्धाओं-

का तथा उन लोगोंका, जिनका देखते-देखते ही स्त्री-पुत्र आदि सर्वस्व स्वाहा हो गया था, इसलिये वे इधर-उधर दौड़ लगा रहे थे, करुण-क्रन्दन सुना। अहो! यह तो सदाचारसे हीन महान् अनुचित कार्य हो रहा है, जो शस्त्रधारी शत्रुसैनिक राजरानियोंको भी पकड रहे हैं।

इसी बीचमें जैसे लक्ष्मी कमलकोशमें प्रविष्ट होती है, उसी तरह राजमहिषीने, जो यौवनके मदसे उन्मत्त हो रही थी, राजा आदिद्वारा अधिष्ठित उस गृहमें प्रवेश किया। उस समय वह हारके छिन्न-भिन्न हो जानेसे व्याकुल एवं भयसे घबरायी हुई थी। उसके पुष्पहार और वस्त्र जोर-जोरसे हिल रहे थे तथा सखियाँ और दासियाँ उसके पीछे-पीछे चल रही थीं, वहाँ पहुँचकर जैसे कोई अप्सरा संग्राममें संलग्न हुए देवराज इन्द्रसे निवेदन करे, उसी तरह उसकी एक सखी राजा विदूरथसे निवेदन करने लगी—'देव! महारानी हम-लोगोंके साथ अन्तःपुरसे भागकर आपकी शरणमें आयी हैं—ठीक उसी तरह, जैसे झञ्झावातसे पीडित लता वृक्षका आश्रय ग्रहण करती है। राजन्! जैसे महासागरकी लहरियाँ तटवर्ती वृक्षोंपर लिपटी हुई लताओंको अपने साथ समेट ले जाती हैं, उसी तरह अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित उन बलवान् शत्रुओंने आपकी अन्यान्य रानियोंका अपहरण कर लिया है। अचानक आ धमके हुए उन उद्दण्ड शत्रुओंने आँधीद्वारा नष्ट-भ्रष्ट किये गये बड़े-बड़े वृक्षोंकी भाँति अन्तःपुरके सभी संरक्षकोंको चकनाचूर कर दिया है। इस प्रकार हमलोगोंको जो यह विविध प्रकारकी विपत्तिने आ घेरा है, उसका सर्वथा निवारण करनेके लिये आपकी ही सामर्थ्य है।' यह सुनकर राजाने दोनो देवियोंकी ओर देखकर कहा—

'देवियो! मै युद्धके लिये जाता हूँ, अब आप मुझे क्षमा करें! अब मेरी यह भार्या आपलोगोंके चरणकमलों-की भ्रमरी बनेगी अर्थात् आपके चरणोंकी सेवा करेगी।'

यों कहकर राजा विदूरथ, जिसके नेत्र क्रोधवश लाल हो गये थे, उसी प्रकार राजभवनसे बाहर निकला, जैसे मदमत्त गजराजद्वारा वनके छिन्न-भिन्न कर दिये जानेपर सिंह अपनी गुहासे बाहर निकला हो। तदनन्तर प्रबुद्ध लीलाने अपनी ही रूप-रेखाके तुल्य आकृतिवाली सुन्दरी लीलाको दर्पणमें प्रतिबिम्बित हुई-सी देखा और कहा।

प्रबुद्ध लीलाने पूछा—देवि! किस कारणसे मैं यह हो गयी? पहले मैं जो थी, वही मैं इस रूपमें कैसे स्थित हूँ? इसका क्या रहस्य है? यह मुझे बतलानेकी कृपा कीजिये। ये सभी मन्त्री आदि पुरवासी तथा सेना और सवारियोंसहित शूरवीर पूर्ववत् ही हैं। ये जैसे यहाँ स्थित हैं, वैसे ही वहाँ भी हैं। देवि! जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्बित वस्तु बाहर और भीतर दोनों ओर दीखती है, उसी तरह ये सभी यहाँ और वहाँ स्थित हैं—इसका क्या कारण है? क्या वे सचेतन हैं?

श्रीदेवीजीने कहा—लीले! भीतर जैसा ज्ञान उद्भूत होता है, वैसा ही बाहर क्षणमात्रमें अनुभव होने लगता है। जैसे मन चित्तार्थता—स्वप्न आदिमें चित्तद्वारा अनुभूत जाग्रत्की स्वरूपताको प्राप्त हो जाता है, उसी तरह चेतन दृश्याकारताको प्राप्त हो जाता है। हृदयके अंदर उद्भूत पदार्थ बाह्य-से प्रतीत होते हैं। इस विषयमें स्वप्नदृष्ट पदार्थ ही प्रमाण है; क्योंकि हृदयके भीतर जो स्वप्नमें संकल्प-नगरका स्फुरण होता है, वह चेतनका विकास है। इस राजाके जिन मन्त्री आदिका जो अविरोध तथा सर्वार्थरूपसे अनुभव हो रहा है, इसका कारण यह है कि वे स्वप्नमें संकल्पित सैन्यकी भाँति चेतन सत्तात्मक होनेसे सद्रूप ही हैं। अथवा यदि यों कहें कि उत्तरकाल अर्थात् जाग्रदवस्थामें स्वप्नके विनाशी होनेके कारण वह असत् है तो ऐसा तो यह सारा जाग्रत्-जगत् ही है; क्योंकि स्वप्नमें जाग्रत् असत् है और जाग्रत्-कालमें स्वप्न असत् है। फिर जाग्रत्में कौन-सी विशेष सत्यता सिद्ध हुई? अनघे! इस प्रकार यह स्वप्न और जाग्रत्-जगत् न सत् है और न असत् ही। ये केवल भ्रान्तिरूपसे ही प्रतीत होते हैं; क्योंकि महाकल्पके अन्तमें, आज और अगले युगमें अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान आदि तीनों कालोंमें भी जो कभी उस स्वरूपसे नहीं था, वही ब्रह्म है, अतः वही जगत् है। उस ब्रह्मस्वरूप जगत्में ये सृष्टि नामवाली भ्रान्तियाँ विकसित होती हैं। पर वास्तवमें विकसित-सी नहीं दीखतीं; क्योंकि जैसे महासागरमें लहरें उठती हैं, उसी प्रकार ये सृष्टियाँ परब्रह्ममें उत्पन्न हो-होकर पुनः आँधीमें घुले-मिले हुए धूलिकणोंकी भाँति उसी परब्रह्ममें विलीन हो जाती हैं। इसलिये जिसमें 'त्वम्' और 'अहम्' आदिका विभाग मिथ्या ही है तथा जो मृगतृष्णाके जलसमूहकी भाँति भ्रान्तिमय आभासित हो रहा है, उस जले हुए वस्त्रके भस्मके समान प्रपञ्चमें कौन-सी आस्था है? इस सारे प्रपञ्चके शान्त होनेपर जो अवशिष्ट रहता है, वही ब्रह्म है। उस ब्रह्मसे पृथक् होनेपर यह दृश्य जगत् कभी भी सत्य नहीं है और ब्रह्मस्वरूप होनेके कारण असत्य भी नहीं है। तत्पश्चात् उसी तरहका अनुभव होनेके कारण यह स्पष्टरूपसे जीवभावको प्राप्त होता है। यह जगत् सत्य हो या असत्य, पर यह चिदाकाशमें विभासित हो रहा है।

(श्रीसरस्वतीजीने पुनः कहा)—जैसे राजारूप चिदाकाशमें सन्मयी प्रतिभा उदित होती है, उसी तरह उससे पूर्व होनेवाली सत्यसंकल्परूपा प्रतिभा अव्याकृत आकाशरूप ईश्वरमें उत्पन्न होती है। इसी तरह प्रतिभाके प्रतिबिम्बसे उत्पन्न हुई यह लीला तुम्हारे-सरीखे शील, आचार, कुल और शरीरसे युक्त दीख रही है। सर्वव्यापक ज्ञानवृत्तिरूपी दर्पणमें जैसी प्रतिभा प्रतिबिम्बित होती है, वह जहाँ जिस रूपमें उत्पन्न होती है, वहाँ निरन्तर उसी रूपमें प्रकट होती है। अन्तर्यामी ईश्वरकी जो प्रतिभा भीतर वर्तमान है, वही स्वयं बाहर भी कार्य

करती है, इसलिये चिन्मय दर्पणमें प्रतिबिम्बित होनेके कारण यह तुम्हारे ही समान स्थित है । लीले ! इस विषयमें तुम ऐसा समझो कि यह आकाश, उसके भीतर भुवन, उसके अन्तर्गत पृथ्वी, उसपर यह तुम, मैं और राजा—यों जो कुछ प्रतीत हो रहा है, वह सब-का-सब ब्रह्मरूपसे मैं ही हूँ, इस कारण तुम स्वरूपमें स्थित होकर पूर्णरूपसे शान्त हो जाओ । तुम्हारा पति यह विदूरथ रणाङ्गणमें शरीरका त्याग करके उसी अन्तःपुरमें पहुँचकर राजा पद्मके रूपमें उत्पन्न होगा ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! देवीकी बात सुनकर उस नगरमें रहनेवाली लीला हाथ जोड़कर देवीके आगे खड़ी हो गयी और भक्तिविनम्र होकर बोली ।

द्वितीय लीलाने कहा—देवेशि ! मैंने नित्य ही भगवती सरस्वती देवीकी अर्चा-पूजा की है और वे देवी रात्रिके समय स्वप्नमें मुझे दर्शन दिया करती हैं । अम्बिके ! उस देवीका जैसा आकार-प्रकार है, वैसी ही आप भी हैं । सुमुखि ! आप दीनोंपर करुणा करनेवाली हैं, अतः मुझे वर प्रदान कीजिये ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! लीलाके ऐसा कहनेपर भगवती सरस्वती उस समय उसके भक्तिपूर्वक किये गये ध्यान-पूजनका स्मरण करके प्रसन्न हो गयीं और उस नगरनिवासिनी लीलासे यों बोलीं ।

श्रीदेवीजीने कहा—वत्से ! जीवनपर्यन्त की गयी तुम्हारी अनन्यभक्तिसे, जो कभी भी शिथिल नहीं हुई, मैं परम संतुष्ट हूँ; अतः तुम मुझसे अपना मनोऽभिलषित वरदान ग्रहण करो ।

तब वह नगरनिवासिनी लीला बोली—देवि ! मेरे पतिदेव रणभूमिमें शरीरका परित्याग करके जहाँ स्थित होंगे, मैं भी इसी शरीरसे वहाँ उनकी पत्नी होऊँ ।

श्रीदेवीजीने कहा—पुत्रि ! तुमने चिरकालतक अनन्य-भक्तिभावसे पुष्प-धूप आदि प्रचुर पूजन-सामग्रीद्वारा मेरी निर्विघ्न पूजा की है, इसलिये 'एवमस्तु'—तुम्हारी कामना पूर्ण हो ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव ! तदनन्तर जब उस वर-प्राप्तिसे तद्देशवासिनी लीला हर्षोत्फुल्ल हो रही थी, उसी समय पूर्व लीलाने, जिसका हृदय संदेहके दोलेमें झूल रहा था, देवीसे कहा ।

पूर्व लीला बोली—ऐश्वर्यशालिनी देवि ! जो आपके सदृश सत्य कामना एवं सत्य संकल्पवाले हैं, अतएव जो ब्रह्मस्वरूप हो गये हैं, उनका सारा मनोरथ जब शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है, तब यह बतलाइये कि आपने मुझे किसलिये इसी शरीरसे गिरिग्रामक नामवाले उस लोकान्तरमें नहीं पहुँचाया ?

श्रीदेवीजीने कहा—सुन्दरि ! मैं किसीका कुछ नहीं करती, बल्कि जीव स्वयं ही अपनी समस्त अभिलाषाओंका शीघ्र ही सम्पादन कर लेता है; क्योंकि प्रत्येक जीवमें जीवशक्तिस्वरूपा चेतनशक्ति वर्तमान है । इसलिये जिस-जिस जीवकी जो शक्ति जिस-जिस रूपमें प्रकट होती है, वह उसी-उसी रूपमें उस-उस जीवको सदा तदनुरूप फल प्रदान करती हुई-सी प्रतीत होती है । जिस समय

तुम मेरी सम्यक् प्रकारसे आराधना कर रही थी, उस समय चिरकालतक तुम्हारे मनमें जो जीव-शक्ति उत्पन्न हुई थी, उसकी कामना थी कि यदि इसी जन्ममें मैं मुक्त हो जाती तो अच्छा होता । अतः उत्तम रूप-रंगवाली लीले ! उसी-उसी प्रकारसे मैंने तुम्हें भलीभाँति समझाया है और उसी युक्तिद्वारा तुम इस निर्मल भावको प्राप्त हुई हो । जब चिरकालतक मैंने तुम्हें इसी भावनासे ज्ञानोपदेश किया है, तभी तुम अपनी चेतनशक्तिके प्रभावसे सदाके लिये उसी अर्थको प्राप्त हुई हो; क्योंकि जिस जिसका चिरकालतक जैसा अपनी चेतनशक्तिका प्रयत्न होता है, वह समयानुसार उस-उसको वैसा ही फल प्रदान करता है । अपनी चेतनशक्ति ही तपस्या अथवा देवताका रूप धारण करके स्वच्छन्दरूपसे आकाशसे फल गिरनेकी भाँति फल देती है । अपनी ज्ञानशक्ति प्रयत्नके बिना कभी कुछ भी फल नहीं देती; इस कारण तुम्हारी जैसी अभिलाषा हो, शीघ्र ही तदनुरूप कार्य आरम्भ कर दो । तुम ऐसी धारणा कर लो कि चिन्मात्र ही सबमें अन्तरात्मारूपसे व्याप्त है । यही विहित अथवा निषिद्ध जिस कर्मका विचार करती है और उसके लिये प्रयत्न करने लग जाती है, उसीकी फलश्री प्राप्त होती है । इसलिये जो पावन पद है, उसे जानकर तुम उसीमें स्थित हो जाओ ।

(सर्ग ४१—४५)

राजा विदूरथका विशाल सेनाके साथ युद्धके लिये प्रयाण, युद्धारम्भ, लीलाके पूछनेपर सरस्वतीद्वारा राजा सिन्धुके विजयी होनेमें हेतु-कथन, विदूरथ और राजा सिन्धुके दिव्यास्त्रोंद्वारा किये गये युद्धका सविस्तर वर्णन, राजा विदूरथकी पराजय और देशपर राजा सिन्धुके अधिकारका कथन

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! जब वे तीनों देवियाँ उस राज-महलके भीतर यों परस्पर वार्तालाप कर रही थीं, उस समय विदूरथने क्रोधावेशमें महलसे निकलकर क्या किया ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स राम ! जिस समय राजा विदूरथ अपने भवनसे बाहर निकला, उस समय वह नक्षत्रसमूहसे घिरे हुए चन्द्रमाकी भाँति विशाल सैन्यदलसे परिवेष्टित था । उसका सारा शरीर कवच आदिसे सुरक्षित था । हार आदि आभूषण उसके शरीरकी शोभा बढ़ा रहे थे । वह जय-जयकारकी तुमुल ध्वनिके साथ देवराज इन्द्रके समान बाहर निकला । उस समय वह योद्धाओंको आदेश दे रहा था । मन्त्री व्यूह-रचना एवं जनपद-व्यवस्था-सम्बन्धी व्यवस्था उसे सुना रहे थे । वह वीरगणोंका निरीक्षण करता हुआ एक ऐसे रथपर आरूढ़ हुआ, जिसमें आठ घोड़े जुते थे । उत्तम जातिवाले उन अश्वोंकी गर्दन बड़ी सुहावनी थी । वे शुभलक्षणोंसे युक्त, फुर्तीले और एकहरे बदनके थे तथा अपनी हिनहिनाहटसे सारी दिशाओंको निनादित कर रहे थे । उस समय जिन्हें सरस्वती देवीने दिव्यदृष्टि प्रदान की थी, वे दोनों लीला नामवाली देवियाँ और वह राजकुमारी उस महायुद्धको देख रही थीं । उसे देखकर उनका हृदय विदीर्ण-सा हो रहा था । राजा विदूरथकी युद्ध-यात्राके पश्चात् शत्रु-सैनिकोंके बाणों एवं आयुधोंसे निकलता हुआ कटकट शब्द पूर्णरूपसे शान्त हो गया—ठीक उसी तरह, जैसे एकार्णवके जलप्रवाहोंसे बड़वानल शान्त हो जाता है । उस समय राजा विदूरथ अपनी सेनाको धीरे-धीरे आगे बढ़ा रहे थे । उन्हें अपने तथा शत्रुपक्षके बलाबलका ज्ञान नहीं हो पाया था—इसी दशामें उन्होंने शत्रु-सेनामें प्रवेश किया ।

जिस समय समरभूमिमें दोनों सेनाओंकी भीषण मुठभेड़ हो रही थी, उसी समय दोनों लीलाओंने भगवती सरस्वतीसे पुनः प्रश्न किया ।

दोनों लीलाओंने पूछा—देवि ! यह बतलाइये कि आपके संतुष्ट होनेपर भी मेरे पतिदेव इस युद्धमें, जिसमेंसे

गजराज भागे जा रहे हैं, अकस्मात् विजय क्यों नहीं प्राप्त कर रहे हैं ?

श्रीसरस्वतीजीने कहा—पुत्रि ! राजा विदूरथके शत्रु इस राजा सिन्धुने विजय-प्राप्तिकी कामनासे चिरकालतक मेरी आराधना की थी, परंतु भूपाल विदूरथकी आराधना विजयार्थ नहीं थी; इसलिये यह राजा सिन्धु ही विजयी होगा और विदूरथ पराजित हो जायगा । क्योंकि समस्त प्राणियोंके हृदयान्तर्गत ज्ञानवृत्तिरूपसे मै ही स्थित हूँ, अत. जो मुझको जिस समय जिस रूपसे प्रेरित करता है, मै शीघ्र ही उसके लिये उस समय वैसे ही फलका सम्पादन करती हूँ । बाले ! इस राजा विदूरथने 'मैं मुक्त हो जाऊँ' इसी भावनासे मुझ प्रतिमारूपिणीका ध्यान किया था, इस कारण यह मुक्त हो जायगा । और इसके शत्रु राजा सिन्धुने 'मैं स्वयं संग्राममें विजयी होऊँ' इस कामनासे मेरी पूजा की थी; इसलिये बाले ! विदूरथ भार्यारूपिणी तुम्हारे और इस लीलाके साथ समयानुसार उस शवस्वरूप देहको प्राप्त होकर मुक्त हो जायगा तथा इसका शत्रु राजा सिन्धु स्वय उसे मारकर विजयश्रीसे सुशोभित हो भूतलपर राज्य करेगा ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव ! देवी सरस्वती यों कह ही रही थीं, तबतक भगवान् सूर्य उदयाचलपर आ पहुँचे, मानो वे जूझती हुई दोनो सेनाओंका आश्चर्यमय युद्ध देखना चाहते थे । उस समय जैसे द्युलोकमें आकाशके चिह्नभूत सूर्य और चन्द्रमा दिखायी देते हैं, उसी तरह जनसंहार हो जानेके कारण उस शून्य सग्रामभूमिमें राजा पद्म (विदूरथ) और राजा सिन्धुके प्रकाशमान रथ चलते हुए दीख रहे थे । उन दोनो रथोंमें चक्र, शूल, भुशुण्डी, ऋष्टि और प्रास आदि आयुध खचाखच भरे थे । उन रथोंके पीछे बहुसंख्यक शूरवीर योद्धा, जिनके सैनिक भयभीत हो गये थे, रणभूमिमें भालो, बाणो, धनुषो, शक्तियों, प्रासो, शङ्कुओ और चमकते हुए चक्रोंकी भयंकर वृष्टि करते हुए चल रहे थे । इतनेमें ही प्रलयकालीन वायुद्वारा गिराये गये शिलाखण्डोकी तरह दोनों सेनाओंपर बाण गिरने लगे । उस समय राजा विदूरथ और राजा सिन्धुकी परस्पर ऐसी भयकर मुठभेड हुई जिसे देखकर लोगोंको ऐसी आशङ्का होने लगी मानो प्रलयके लिये विशेषरूपसे बढ़े हुए दो महासागर परस्पर टकरा रहे हों ।

राजा विदूरथ अपने विपक्षी राजा सिन्धुको, जिसके कंधे ऊँचे थे, सामने उपस्थित पाकर मध्याह्नकालिक सूर्यके दुस्सह आतपकी भाँति प्रचण्ड कोपसे भर गया । फिर तो उसने अपने धनुषको, जिसकी टकारध्वनि चिरकालके लिये सारी दिशाओंको निनादित कर देती थी, कानतक खींचा । उस समय ऐसा भयकर शब्द हुआ, जैसे कल्पान्त-कालमें उठी हुई वायु मेरुगिरिके तटप्रान्तसे टकरा रही हो । राजा विदूरथका हस्तलाघव सराहनीय था; क्योंकि लोग देखते थे कि उसकी प्रत्यञ्चासे एक ही बाण छूटता है, परंतु वह आकाशमें पहुँचते-पहुँचते हजार हो जाता है और विपक्षियोंपर एक लाख होकर गिरता है । राजा सिन्धुकी भी शक्ति और फुर्ती विदूरथके ही समान थी । उन दोनोंको ऐसी धनुर्युद्ध-कुशलता वरदायक भगवान् विष्णुके वरप्रसादसे उपलब्ध हुई थी । तदनन्तर उन दोनोंके छोड़े हुए मुसल नामक बाणोसे, जिनकी आकृति मूसलकी-सी थी, आकाश आच्छादित हो गया । उन बाणोसे प्रलयकालीन वज्रोंकी गड़गडाहटके समान भीषण शब्द हो रहा था । युद्धस्थलमें राजा विदूरथके बाणसमूह वेगपूर्वक घरघर शब्द करते हुए राजा सिन्धुके सम्मुख उसी प्रकार बढ रहे थे, मानो आकाश-मार्गसे गिरते हुए गङ्गाके प्रवाह कलकलनाद करते हुए महासागरकी ओर जा रहे हो । परंतु राजा सिन्धुरूपी बडवानलने अपने अगस्त्य-तुल्य बाणोकी ऊष्मासे विदूरथके उस बाण-महासागरको पी लिया—ठीक उसी तरह, जैसे महर्षि जह्नु गङ्गाजीको पी गये थे । तत्पश्चात् राजा सिन्धुने बाणोंकी उस वृष्टिको छिन्न-भिन्न करके स्वय बाणोकी इतनी झड़ी लगायी कि आकाशमें सायकोका ही मेघमण्डल

घिर आया। तब विदूरथने भी जैसे प्रलयकालीन वायु उमड़े हुए साधारण मेघको उड़ा देती है, उसी तरह अपने उत्तम सायकोंसे शीघ्र ही उस बाणरूपी मेघमण्डलको विध्वस कर डाला। इस प्रकार वे दोनों भूपाल परस्पर बदला लेनेकी भावनासे एक-दूसरेको लक्ष्य बनाकर बाणोंकी वर्षा करते थे और एक-दूसरेके प्रहारको व्यर्थ कर देते थे।

तदनन्तर राजा सिन्धुने मोहनास्त्रका संधान किया। यह अस्त्र उसे किसी गन्धर्वके साथ मित्रता होनेके कारण प्राप्त हुआ था। उस मोहनास्त्रके प्रयोगसे विदूरथके अतिरिक्त शेष सभी सैनिक मूर्च्छित हो गये। उनके शस्त्रास्त्र और वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये, मुख और नेत्रोंमें उदासी छा गयी। उनकी बोलती बंद हो गयी और वे मृतक-तुल्य अथवा चित्रलिखित-से प्रतीत होने लगे। तब राजा विदूरथने प्रबोधास्त्र हाथमें लिया। फिर तो प्रातःकाल सूर्योदय होनेपर जैसे कमलिनी विकसित हो जाती है, उसी तरह उस अस्त्रके प्रयोगसे सभी योधाओंकी मूर्च्छा जाती रही और वे उठ बैठे। तत्पश्चात् राजा सिन्धुने भयंकर नागास्त्रको, जो नागपाश-बन्धनद्वारा महान् कष्ट-दायक था, धनुषपर चढाया। उसके संधानसे आकाश पर्वत-सरीखे विशालकाय नागोंसे व्याप्त हो गया। मृणालों-द्वारा सुशोभित हुई पोखरीकी तरह पृथ्वी श्वेत वर्णके सर्पोंसे विभूषित हो गयी। सारे पर्वत काले नागरूपी कम्बलोसे सम्पन्न हो गये। ये सभी पदार्थ विषकी ऊष्मासे मलिन हो गये और वन तथा पर्वतोंकी विशालतासे युक्त पृथ्वी व्याकुल हो गयी। तब महान् अस्त्रोंके मर्मज्ञ विदूरथने भी गारुडास्त्रका प्रयोग किया। उस अस्त्रसे पर्वत-सदृश विशालकाय इतने गरुड प्रकट हुए, जिनसे सारी दिशाएँ भर गयीं। उनके सुनहरे पखोंकी चमकसे सभी दिशाएँ स्वर्णमय प्रतीत होने लगीं। उड़ते हुए उन गरुडोंके पंखसे पक्षधारी पर्वतोंकी उड़ानसे उत्पन्न हुए प्रलयकालीन वायुकी भाँति भयंकर आँधी प्रकट हो गयी। वे अपने श्वासवेगसे फुफकारते हुए नाग-समूहोंको अपनी ओर खींच लेते थे। उनकी घुरघुराहटकी तीव्र आवाज समुद्रपर्यन्त व्याप्त हो गयी। तत्पश्चात् राजा सिन्धुने तमोऽस्त्र प्रकट किया, जो अंधा बना देनेवाले अन्धकारका उत्पादक था। उससे भूगर्भका-सा घना अन्धकार फैल गया। उस समय सारी प्रजाएँ अन्धकूपमें गिरे हुएकी भाँति प्रतीत होने लगीं और कल्पान्तकी तरह सभी दिशाओंके व्यवहार एकदम बंद हो गये। तब मन्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ विदूरथने किसी गुप्त मन्त्रणाकी अपेक्षा किये बिना ही ब्रह्माण्ड-मण्डपमें दीपककी तरह प्रकाश फैलानेवाले सूर्यास्त्रकी सृष्टि करके सबको सचेष्ट कर दिया। उस समय सूर्यरूपी अगस्त्यने अपनी किरणोंसे उस प्रकट हुए अन्धकारके महासागरको पी लिया—ठीक उसी तरह, जैसे निर्मल शरद-ऋतु काले बादलोंको पी जाती है। यह देखकर राजा सिन्धु क्रोधसे भर गया। फिर तो उसने उसी क्षण अत्यन्त भीषण राक्षसास्त्र प्रकट किया, जिससे मन्त्रोच्चरण करते ही बाण निकलने लगते थे। उस राक्षसास्त्रका प्रयोग करते ही पातालनिवासी दिग्गजोके फूत्कारसे विक्षुब्ध हुए महासागरकी भाँति बहुत-से भयंकर एवं क्रूर स्वभाववाले वनराक्षस सभी दिशाओंसे प्रकट हो गये। इसी बीचमें लीलाके स्वामी राजा विदूरथने उस युद्धस्थलमें नारायणास्त्रका प्रयोग किया, जो दुष्ट प्राणियोंके निवारण करनेमें सिद्धहस्त है। उस अस्त्रराजके प्रकट होते ही राक्षसोंके अस्त्रसमूह पूर्णरूपसे शान्त हो गये, जैसे सूर्योदय होनेपर अन्धकार विलीन हो जाता है। तदनन्तर राजा सिन्धुने वायव्यास्त्रकी सृष्टि की, जिसने आकाशमण्डलको प्रचण्ड वायुसे भर दिया। तब महान् अस्त्रवेत्ता विदूरथने पार्वतास्त्र चलाया, जो मानो मेघ-जलसहित आकाशको भी आत्मसात् कर लेनेके लिये उद्यत था। तदुपरान्त राजा सिन्धुने उद्दीप्त वज्रास्त्र प्रकट किया, जिससे झुड-के-झुंड वज्र निकलकर रणभूमिमें विचरने लगे। वे ईंधनको भस्मसात् कर लेनेवाली आगकी भाँति विशाल पर्वतरूपी अन्धकारको पी जाते थे

तथा अपने करोड़ों चोंचोंसे पर्वतोंके शिखरोंको काट-काटकर उसी प्रकार भूतलपर गिरा देते थे, जैसे प्रचण्ड वायु फलोंको गिराकर पृथ्वीपर बिछा देती है। तब विदूरथने वज्रास्त्रको शान्त करनेके लिये ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया। फिर तो ब्रह्मास्त्र और वज्रास्त्र दोनों एक साथ ही शान्त हो गये।

इस प्रकार जब वह भयंकर संग्राम चल ही रहा था, उसी समय प्रतिभाशालियोंमें सर्वश्रेष्ठ, महान् उदार एवं उत्कृष्ट धैर्यशाली राजा सिन्धुने विपक्षियोंकी सारी सेनाका विनाश और अपनी सेनाकी पीड़ा-शान्तिके लिये एकमात्र वैष्णवास्त्रका स्मरण किया, जो दिव्यास्त्रोंका राजा, परम ऐश्वर्यशाली एवं कालरुद्रके समान संहारकारी था। उस वैष्णवास्त्रसे अभिमन्त्रित करके राजा सिन्धुने जो बाण चलाया, उसके फलके अग्रभागसे उल्मुक आदि निकलने लगे। उससे निकली हुई प्रकाशमान चक्रोंकी पङ्क्तियोंने दिशाओंको सैकड़ों सूर्योंसे युक्त-सा बना दिया। पङ्क्तिरूपमें सम्मुख दौड़ती हुई गदाएँ आकाशमें सैकड़ों बाँसोंकी भाँति प्रतीत होती थीं। सौ धारवाले वज्रसमूहोंने आकाशको तृणराशिसे आच्छादित-सा कर दिया। पद्माकार पट्टिशोंकी कतारें आकाशमें कटे हुए वृक्षों-सी दीख रही थीं। तीक्ष्ण-धारवाले बाणोंकी पङ्क्तियाँ ऐसी जान पड़ती थीं, जैसे आकाशमें पुष्पजाल बिछा हो। काली आकृतिवाले खड्गोंकी कतारें नभोमण्डलको पत्र-समूहोंसे व्याप्त-सा कर रही थीं। तब विपक्षी राजा विदूरथने भी उस वैष्णवास्त्रकी शान्तिके लिये वैष्णवास्त्रका ही प्रयोग किया, जो शत्रुके पराक्रमके अनुरूप ही था। उससे भी बाण, शक्ति, गदा, प्रास, पट्टिश आदि आयुधरूपी जलसे परिपूर्ण बहुत-सी शस्त्रास्त्रोंकी सरिताएँ प्रकट हुईं, जिन्होंने पूर्वप्रयुक्त वैष्णवास्त्रसे उद्भूत हथियारोंको नष्ट कर दिया। उन शस्त्रास्त्रपूर्ण नदियोंका आकाशमें ही ऐसा भीषण युद्ध प्रारम्भ हुआ, जो द्युलोक और पृथ्वीके अवकाशका विनाश करनेवाला तथा बड़े-बड़े कुलपर्वतोंको विदीर्ण कर देनेवाला था। जैसे मेरे आयुधोंने विश्वामित्रके अस्त्रोंका निवारण किया था, उसी तरह परस्पर जूझते हुए उन दोनों वैष्णवास्त्रोंकी धारावाहिक बाण-वृष्टिने शस्त्र-समूहोंको काट डाला और उन अस्त्रोंसे प्रकट हुए वज्रोंने अकाट्य पर्वतोंको भी जर्जर कर दिया। इस प्रकार दोनों राजाओंके वे अस्त्र पराक्रमशाली दो सुभटोंकी भाँति क्षणभरतक परस्पर अत्यन्त भयंकर युद्ध करके शान्त हो गये।

तत्पश्चात् राजा सिन्धु अपने रथको छोड़कर पृथ्वीपर उतर पड़ा और ढाल-तलवारसे लैस हो गया। फिर तो उसने पलक मारते-मारते बड़ी फुर्तीसे अपने शत्रु राजा विदूरथके रथके घोड़ोंके खुरोंको मृणालकी भाँति तलवारसे काट गिराया। अब तो राजा विदूरथ भी रथहीन हो गये, अतः उन्होंने भी ढाल-तलवार उठा ली। उस समय उन दोनोंके आयुध एक-से थे और दोनोंका उत्साह भी समान था; अतः वे परस्पर वार करनेके लिये पैंतरे बदलने लगे। परस्पर प्रहार करते हुए उन दोनोंके खड्ग आरेके समान हो गये थे। इसी बीच राजा विदूरथने खड्ग छोड़कर एक शक्ति हाथमें ली और उसे शत्रुपर चला दिया। वह शक्ति मथे जाते हुए समुद्रके जलकी तरह घर्घरशब्दसे युक्त अतएव महान् उत्पातकी सूचना देनेवाले वज्रके सदृश थी। वह अविच्छिन्नरूपसे आयी और राजा सिन्धुके वक्षःस्थलपर गिरी; परंतु उस शक्तिके आघातसे राजा सिन्धुकी मृत्यु नहीं हुई।

तब उस देशकी लीलाने पूर्वलीलासे कहा—'देवि! बड़े कष्टकी बात है, क्योंकि जैसे देवराज इन्द्र शत्रुका विनाश करनेके लिये वज्रका सहारा लेते हैं, उसी तरह यह राजा सिन्धु प्रहार करनेके लिये मुसलास्त्रकी ओर देख रहा है; परंतु मेरे पतिदेव मुसलधारी राजा सिन्धुको चकमा देकर बड़ी फुर्तीसे सकुशल दूसरे रथपर चढ़ गये और वेगपूर्वक दूर हट गये हैं। फिर भी हाय! धिक्कार है, महान् कष्ट आ पड़ा। इस राजा सिन्धुने अत्यन्त वेगसे बाण बरसाकर मेरे स्वामीके रथको तहस-नहस करके उन्हें भी व्यथित कर दिया और अब यह अपने वज्र-सरीखे

बाणोंद्वारा उनके स्थूल मस्तकको विदीर्ण करके उन्हें भूतलपर गिराना ही चाहता है। देखो न, बडी कठिनाईसे होशमें आनेपर जब मेरे पतिदेव सारथिद्वारा लाये गये दूसरे रथपर चढ रहे थे, उसी समय इसने उनके कंधेको काट दिया, जिससे वे रक्तके फौवारे छोड़ रहे हैं। हाय! हाय! अब तो और भी कष्टकी बात हुई,इस राजा सिन्धुने अपने खड्गकी तीखी धारसे मेरे पतिदेवकी दोनों पिंडलियोंको उसी प्रकार फाड़ डाला, जैसे आरेसे वृक्ष चीरा जाता है। हाय! अब तो मैं बुरी तरह मारी गयी; क्योंकि मेरे पतिके दोनों घुटने भी मृणालकी तरह काट डाले गये।' यों कहकर और पतिकी उस अवस्थापर दृष्टिपात करके पति-प्रेम और भयसे आतुर हुई वह लीला फरसेसे कटी हुई लताकी भाँति मूर्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ी। विदूरथ यद्यपि जानुरहित हो गये थे, तथापि वे शत्रुपर प्रहार कर ही रहे थे। उसी अवस्थामें वे जड़से कटे हुए वृक्षकी तरह रथसे नीचे गिरना ही चाहते थे, तबतक सारथि उन्हे रथद्वारा संग्रामभूमिसे दूर हटा ले गया।

जब ये भागे जा रहे थे, उस समय क्रूर-हृदय राजा सिन्धुने इनके गलेपर अस्त्र प्रहार किया, जिससे इनका आधा गला कट गया। फिर भी राजा सिन्धु इनका पीछा कर ही रहा था। तबतक राजा विदूरथ जैसे सूर्यकी किरणें कमलकोशमें घुस जाती है, उसी तरह रथद्वारा भागकर अपने महलमें जा पहुँचे; किंतु राजा सिन्धु उस राज-भवनमें प्रविष्ट न हो सका, क्योंकि वह महल सरस्वती देवीके प्रभावसे सुरक्षित था। वहाँ पहुँचकर सारथिने राजा विदूरथको, जिसके वस्त्र, कवच और शरीर खड्गसे काटे गये गलेके छिद्रसे बुदबुद ध्वनिके साथ निकलती हुई रक्तधाराओंसे सन गये थे, महलके भीतर ले जाकर भगवती सरस्वतीके समक्ष मरणशय्यापर लिटा दिया। इधर विपक्षी राजा सिन्धु महलमें प्रवेश न कर सकनेके कारण लौट गया।

रघुनन्दन! राजा विदूरथके मृत-तुल्य हो जानेपर जब 'रणभूमिमें प्रतिद्वन्द्वी राजाके हाथसे राजा विदूरथ मार डाले गये, राजा मारे गये' ऐसी खबर फैल गयी, तब सारा राष्ट्र भयभीत हो गया। उस समय विदूरथके राष्ट्रकी ऐसी दशा हो गयी थी कि वह शत्रु-राष्ट्रकी साधारण एवं सैनिक जनताके विजयोल्लासके शब्दसे मुखरित हो रहा था। उसमे स्वामियोसे रहित हो जानेके कारण हाथी, घोडे और वीर सैनिक टकराकर साधारण जनताको धराशायी कर रहे थे। कोषगृहके किंवाडोके तोडे जानेके कारण उठा हुआ घर्घर शब्द चारों ओर गूँज रहा था। शत्रुपक्षका मन्त्रिमण्डल राजा सिन्धुके पुत्रका अभिषेक-कार्य सम्पन्न करनेके लिये आदेश देनेमें तत्पर था। राजा सिन्धुकी रानियाँ नगरकी शोभा देखनेके लिये झरोखों एवं अन्य बनाये गये छिद्रोंपर बैठ रही थीं। अभिषिक्त हुए राजा सिन्धुके पुत्रका जय-जयकारके सैकडों उच्च घोषोके साथ-साथ प्रबल प्रभाव फैला हुआ था। स्वपक्षीय असंख्य नरेशोने राजा सिन्धुद्वारा बनायी गयी राष्ट्रपर्यादाको नतमस्तक होकर स्वीकार कर लिया था।

तदनन्तर 'भूमण्डलके एकच्छत्र सम्राट् राजा सिन्धुकी जय हो!'यों घोषणा करते हुए लोग प्रत्येक नगरमें भेरियाँ बजाने लगे। पुत्रके राज्याभिषेकके पश्चात् राजा सिन्धुने,जो विजयी होनेके कारण उन्नत-मस्तक था, युगान्तके समय जगत्की सृष्टि करनेके लिये प्रकट हुए दूसरे मनुकी भाँति प्रजाकी नयी व्यवस्थाके हेतु राजधानीमें प्रवेश किया। तत्पश्चात् राजा सिन्धुके नगरमें दसों दिशाओंसे हाथी-घोड़ोंके रूपमें भेंट आने लगी। मन्त्रियोंने तत्काल ही प्रत्येक दिशाओंके सामन्त राजाओंके पास राजकीय नियम, चिह्न और आदेश भेज दिये। फिर तो जैसे मन्थन-कालमें आवर्तोंके कारण क्षुब्ध हुआ क्षीरसागर मन्दराचलके निकाल लिये जानेपर तुरंत ही प्रकृतिस्थ हो गया था, उसी तरह अराजकताके कारण विक्षुब्ध हुआ सारा राष्ट्र दसों दिशाओंसहित शीघ्र ही शान्त हो गया। (सर्ग ४६–५१)

राजा विदूरथकी मृत्यु, संसारकी असत्यता और द्वितीय लीलाकी वासनारूपताका वर्णन, लीलाके गमनमार्ग और स्वामी पद्मकी प्राप्तिका कथन, पदार्थोंकी नियति, मरणक्रम, भोग और कर्म, गुण एवं आचारके अनुसार आयुके मानका वर्णन, आदि-सृष्टिसे लेकर जीवकी विचित्र गतियों तथा ईश्वरकी स्थितिका निरूपण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! इसी बीचमें मूर्च्छित होकर सामने पड़े हुए अपने स्वामीको, जिनका श्वासमात्र ही अवशेष रह गया था, देखकर लीलाने सरस्वतीसे कहा—'अम्बिके! ये मेरे पतिदेव अब यहाँ अपनी देहका उत्सर्ग करनेके लिये उद्यत है।'

श्रीसरस्वतीजीने कहा—लीले! इस प्रकार महान् उद्योगसे परिपूर्ण, राष्ट्र-विप्लवकारी और परम विचित्र व्यवसायोंसे युक्त इस संग्रामके आरम्भ होने, चलने और समाप्त होनेपर यह राष्ट्र अथवा भूतल न तो कहीं कुछ भी उत्पन्न हुआ है और न नष्ट ही हुआ है; क्योंकि यह जगत् तो स्वप्नात्मक है। अनघे! पूर्वोक्त गिरिग्रामनिवासी ब्राह्मणके घरके भीतर स्थित राजा पद्मके शवके निकटवर्ती आकाशमें वर्तमान अन्तःपुरके भीतर तुम्हारे पतिका यह भूतलरूप राष्ट्रप्रतीत हो रहा है। पुनः विन्ध्याद्रिके ग्राममें वसिष्ठनामक ब्राह्मणके घरके अंदर यह राष्ट्रसहित ब्रह्माण्ड स्थित है। उसी ब्राह्मणके घरमें शवयुक्त गेह-जगत् वर्तमान है। उस शवयुक्त गेह-जगत्के मध्यमें इस गेह-जगत्का अस्तित्व है। यो यह त्रिजगत्, जो महान् व्यवसायोंसे युक्त है, भ्रमरूप ही है तथा गिरिग्रामरूपी देहके मध्यभागमें स्थित आकाशकोशमें यह सागरसहित पृथ्वी दृष्टिगोचर हो रही है और तुमसे, मुझसे, इस लीलासे एवं इस विदूरथसे संयुक्त यह चेतन परमात्मा ही विकसित हो रहा है। इसलिये तुम उत्पत्ति-विनाशरहित उस परमपदरूप परमात्माको जानो। वह स्वयम्प्रकाश, परम शान्त और निर्विकार है तथा मण्डपगृहके भीतर अपने चिन्मात्र स्वभावके कारण उदित हुए अपने आत्मामें जगत्-रूपसे आभासित हो रहा है। यदि भ्रमका द्रष्टा ही न रहे तो भ्रममें भ्रमता कैसे होगी। अतः भ्रमकी सत्ता है ही नहीं। जो कुछ है, वह अविनाशी परमपदरूप परमात्मा ही है। उस परमात्माको तुम ऐसे समझो कि वह उत्पत्ति-विनाशरहित, स्वयम्प्रकाश, शान्त, आदिस्वरूप और निर्विकार होते हुए भी जगत्रूपसे प्रतीत हो रहा है। स्वप्नावस्थामें देहके अंदर देखे गये महापुरकी भाँति मेरु आदि पर्वत-समुदायद्वारा उपलक्षित यह सारा दृश्यवर्ग शून्यात्मस्वरूप ज्ञानमात्र ही है, इसमें स्थूलरूपता कुछ भी नहीं है। शुभे! यह राजा पद्म जिस लोकमें शवरूपसे वर्तमान है, तुम्हारी यह सपत्नी लीला वहाँ पहले ही पहुँच गयी है। यह लीला तुम्हारे

समक्ष ज्यों ही मूर्छित हुई त्यों ही तुम्हारे पति राजा पद्मके शवके निकट जा पहुँची है।

लीलाने पूछा—देवि! यह पहले ही वहाँ पहुँचकर देहधारिणी कैसे हो गयी? इसके मेरे सपत्नी-भावको प्राप्त होनेमें क्या कारण है? तथा राजा पद्मके उस उत्तम राजमहलके जो निवासी हैं, वे इसे किस रूपमें देखते हैं और इसे क्या कहते हैं?—यह सब मुझे संक्षेपसे बतलाइये।

श्रीदेवीजीने कहा—लीले! तुमने मुझसे जैसा प्रश्न किया है, तदनुसार मैं सारी घटना तुमसे संक्षेपमें वर्णन करती हूँ; सुनो। यह दूसरी लीलाके रूपमें वर्तमान तुम्हारा ही वृत्तान्त है, जो तुम्हारी शङ्काओंका निर्णायक है। इससे मरण-परलोकगमन आदि भी, जिनका प्रत्यक्षीकरण होना कठिन है, तुम्हारे दृष्टिगोचर हो जायँगे। यह जो नगरादिरूपसे दृष्टिगोचर होनेवाला जगन्मय भ्रम है, उस अत्यन्त विस्तृत भ्रमको तुम्हारा पति यह राजा पद्म उसी शवयुक्त गृहमें देखता है। यहाँतक कि यह सामने घटित हुआ युद्ध भ्रमयुद्ध है। यह लीला भी भ्रान्तिस्वरूप ही है। यह जन-समुदाय जन्मादिरहित आत्मा है। यहाँकी मृत्यु भी भ्रान्तिसे ही दीख पड़ती है। इस प्रकार यह संसार भ्रमात्मक है। इसी भ्रमक्रमसे लीला इस राजा पद्मकी प्रेयसी भार्या हुई है। वरारोहे! तुम और यह दोनों सुन्दरियाँ भी स्वप्नमात्र ही हो। जिस प्रकार इस राजाकी तुम दोनों सुन्दरी प्रियतमाएँ स्वप्नमात्र हो, उसी तरह तुम दोनोका पति यह राजा और स्वयं मैं भी स्वप्नमात्र ही हूँ। इसी तरह जगत्की यह सारी शोभा भी भ्रमपूर्ण ही है और यहाँका दृश्यवर्ग भ्रममात्र कहा जाता है। इसी तरह यह लीला, तुम, यह संसारस्थिति, यह राजा पद्म और मैं—ये सबके सब परमात्माके सर्वव्यापक होनेके कारण उसी परमात्मामें सत्यरूपसे स्थित हैं। अतः महाचिद्घनकी स्थितिके सर्वात्मक होनेके कारण ये राजा आदि और हमलोग य परस्पर एक-दूसरेके द्वारा प्रेरित होनेके कारण इस रूप परिणत हो गये हैं। जब इस लीलाके लिये पद्म मनोवासना जाग्रत् हुई, उसी समय यह तुम्हारे-सरी आकार-प्रकार धारण करके चैतन्यरूप चमत्कारमें प्रव हो गयी तथा तुम्हारे पतिदेवने अपनी मृत्युके अनन्त शीघ्र ही इसे अपने सामने उपस्थित देखा; क्योंकि जि समय चित्त वासनाभ्यासवश आधिभौतिक पदार्थोंका स अनुभव करता है, उस समय उस अनुभवके कारण स यह दृश्यवर्ग सत्य-सा प्रतीत होता है; वस्तुतः यह मिथ्या कल्पनामात्र ही; परंतु जब चित्त इस भौति जगत्के पदार्थोंका सत्यरूपसे अनुभव नहीं करता अथ असत् समझता है, उस समय तदनुरूप दृढ वासनाव उसके मिथ्यात्वका निर्णय हो जाता है।

ये दोनों स्त्री-पुरुष जब स्वमरणानुकूल मूर्च्छावस्थाको हुए, उसी समय इन्होंने पूर्ववासनाके जाग्रत् हो जानेके का अपने हृदयमें ऐसा अनुभव किया कि 'ये हमारे पिता हैं ये हमारी माताएँ हैं। यह हमारा देश है। यह ध सम्पत्ति है। यह हमारा कर्म है। पूर्वजन्ममें हमने ऐ ही कर्म किया था। इस प्रकार हम दोनोंका विवाह हु और इस रूपमें हम दोनो एकताको प्राप्त हुए।' इन वह कल्पित जनसमूह भी उसी अवस्थामें सत्यताको प्र हुआ। जैसे स्वप्नावस्थामें देखा हुआ पदार्थ सत्य- प्रतीत होता है, उसी तरह यहाँ भी यह दृष्टान्त है लीले! इस लीलाने 'मै विधवा न होऊँ' ऐसी भावन भाविन होकर मेरी आराधना की थी तथा मैंने भी मनोऽनुकूल वर प्रदान किया था। इसी कारण निश्चय यह बालिका यहाँ पहले ही मृत्युको प्राप्त हुई है। तु लोग व्यष्टिचेतन हो और मैं तुमलोगोंकी समष्टिचेत स्वरूपा कुलदेवी हूँ, अतः सदा पूजनीय हूँ। मैं अप आप ही सब कुछ करती हूँ। जब इस लीलाके जी इसके शरीरसे उत्क्रमण करना चाहा, उसी क्षण उस

प्राणवायुके रूपमें सूक्ष्मशरीर धारण कर लिया और मन-द्वारा चलायमान हो मुखछिद्रसे निकलकर इस देहका परित्याग कर दिया। तदनन्तर मरणानुकूल मूर्च्छाके उपरान्त जीवात्मारूपसे स्थित इस लीलाने इसी घरके आकाशमें बुद्धिमें संकल्पित पदार्थोंको देखा। फिर यह भावनावश पूर्वदेहकी स्मृति हो जानेसे स्वप्नकी तरह ब्रह्माण्डमण्डलके भीतर जाकर अपने पतिसे संयुक्त हो गयी।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव! तदनन्तर यह लीला, जिसे सरस्वतीद्वारा वर उपलब्ध हो चुका था, इसी वासनामय शरीरसे अपने पति राजा पद्मसे मिलनेके लिये आकाशमार्गसे ऊपरके लोकोंमें जानेको उद्यत हुई; उस समय पतिमिलनके सुखका विचार करके यह प्रबल प्रेमभाव-

से संयुक्त हो आनन्दपूर्वक उड़ चली। वहाँ पहुँचकर इसे इसकी प्यारी कुमारी कन्या, जिसे सरस्वती देवीने ही वहाँ भेजा था, प्राप्त हुई, मानो वह लीलाके संकल्परूपी महान् दर्पणसे निकलकर आगे खड़ी हो गयी हो।

कुमारीने कहा—सरस्वती देवीकी सहेली! तुम्हारा स्वागत है। मैं तुम्हारी कन्या हूँ। सुन्दरि! तुम्हारी ही प्रतीक्षा करती हुई मैं यहाँ आकाशमार्गमें खड़ी हूँ।

तब लीलाने कहा—कमलनयनी देवि! तुम मुझे स्वामीके समीप ले चलो।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! तब वह कुमारी 'मातः! आओ, हम दोनों वहीं चल रही हैं'—यों कहकर लीलाके आगे होकर आकाशमें मार्गप्रदर्शन करने लगी। तत्पश्चात् वह लीला उसके पीछे-पीछे प्रस्थित हुई। आगे बढ़नेपर वह मेघमार्गको लाँघकर वायुमार्गमें प्रविष्ट हुई। फिर वहाँसे चलकर सूर्यमार्गसे निकलती हुई नक्षत्रमार्गमें गयी। उसे भी पार करके ब्रह्माण्ड-कपालमें जा पहुँची। वहाँ जानेपर, अपना चित्तमात्र ही जिसका शरीर है, वह लीला अपने हृदयमें यों अनुभव करने लगी कि निश्चय ही यह सारा दृश्य अपनी कल्पनाके स्वभावसे उत्पन्न हुआ भ्रम ही है। तदनन्तर ब्रह्माण्डके उस पार पहुँचकर वह जलादि आवरणोंको लाँघती हुई आगे बढ़नेपर महान् चेतनाकाशके मध्यमें प्रविष्ट हुई। वह चेतनाकाश इतना विस्तृत है कि यदि अत्यन्त वेगशाली गरुड़ भी उसके चारों ओर चक्कर लगायें तो सैकड़ों करोड़ कल्पोंमें भी उसके ओर-छोरका पता नहीं लगा सकते। जैसे महान् वनमें फलोंकी गणना नहीं हो सकती, उसी तरह उस चेतनाकाशमें लाखों क्या, असंख्य ब्रह्माण्ड हैं, जो परस्पर एक-दूसरेसे अलक्षित हैं। उन्हीं-मेंसे एक ब्रह्माण्डको, जो सामने उपस्थित एवं विस्तृत आवरणसे आवेष्टित था, बेधकर वह लीला उसके भीतर प्रविष्ट हुई—ठीक उसी तरह, जैसे कीड़ा बेरके फलमें छेद करके उसके भीतर घुस जाता है। तदनन्तर भूमण्डलमें राजा पद्मके राज्यान्तर्गत उसके नगरमें पहुँचकर उस मण्डपमें प्रवेश करके वह राजाके शवके निकट स्थित हुई। इतनेमें ही वह कुमारी सुन्दरी लीलाकी आँखोंसे ओझल हो गयी। जैसे पूर्ण ज्ञान हो जानेपर माया विनष्ट हो जाती है, उसी तरह वह भी कहीं चली

यी । तदुपरान्त लीला शवरूपी अपने पतिके मुखको खकर अपनी प्रतिभाके प्रभावसे इस सत्यको मझ गयी कि 'ये मेरे पतिदेव संग्राममें राजा सिन्धुके थों मारे गये और अब इन वीर-लोकोंको प्राप्त होकर खपूर्वक सो रहे हैं। मैं भी इस प्रकार श्रीदेवीकी कृपासे शरीर यहाँ आ पहुँची हूँ, अतः मेरे समान धन्य दूसरी

ोई स्त्री नहीं है।' यों भलीभाँति विचारकर लीला पने हाथमें एक सुन्दर चँवर लेकर डुलाने लगी।

श्रीदेवीजीने कहा—लीले! वह राजा, वह वासनामयी ोला और उसके वे सभी भृत्य परस्पर पति-पत्नी एवं ामी-सेवकके भावके अनुकूल ही एक-दूसरेको देखते हैं—ोसे 'यह मेरी स्वाभाविक भार्या है। यह मेरी स्वाभाविक खी है। यह मेरी स्वाभाविक रानी है और यह मेरा ाभाविक नौकर है।' परंतु इस आश्चर्यमय वृत्तान्तको र्णरूपसे केवल तुम, मैं और यह लीला—ये तीन ही ान सकेंगे। अन्य किसीके लिये भी इसका जानना सम्भव है। इसलिये जो ज्ञातव्य वस्तुका ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं अथवा जिन्होंने परम धर्मका आश्रय ग्रहण कर लिया है, वे ही आतिवाहिक अर्थात् ब्रह्मादि लोकोंको प्राप्त होते हैं। दूसरोंके लिये वह दुर्लभ है। महाप्रलयके अवसरपर जब सभी पदार्थोंका विनाश हो जाता है, उस समय केवल अनन्त चेतनाकाशस्वरूप शान्त सद्ब्रह्म ही शेष रहता है और जीवात्मा चेतनरूप होनेके कारण 'मैं तेजःस्वरूप सद्ब्रह्मका अंश हूँ' यों अनुभव करता है, जैसे तुम स्वप्नावस्थामें आकाशगमन आदिका अनुभव करती हो। तदनन्तर तेजोऽशरूप वह जीवात्मा स्वयं ही अपनेमें स्थूलत्व लाभ करता है। फिर वह स्थूलत्व ही यह ब्रह्माण्ड कहा जाता है, जो असत्य होते हुए भी सत्य-सा प्रतीत होता है। उस ब्रह्माण्डके अन्तर्गत स्थित वह ब्रह्म यों समझता है कि 'यह ब्रह्मा मैं ही हूँ।' तब फिर वह अपने-आप मनोराज्यकी सृष्टि करता है। वही मनोराज्य यह जगत् है। उस प्रथम सृष्टिमें जो संकल्प-वृत्तियाँ जहाँ जिस रूपमें विकसित हुईं, वे वहाँ उसी रूपमें आज भी निश्चल भावसे स्थित हैं। प्रलयकालमें भी विश्वरूप परमात्माको सम्पूर्ण वस्तुओंसे शून्य कहना युक्त नहीं। भला, सुवर्ण कटक-कुण्डल आदि स्थानोंको छोड़कर कैसे रह सकता है। अर्थात् जैसे सुवर्ण कटकादिमें ओतप्रोत है, उसी तरह परमात्मा समस्त पदार्थोंमें व्याप्त है।

यद्यपि पृथ्वी आदि दृश्य-प्रपञ्च आकाशरूप है, तथापि सृष्टिके प्रारम्भमें जो जहाँ जिस रूपमें विकसित हुआ, वह आजतक भी वहाँ उसी रूपमें वर्तमान है। अपनी स्थितिसे विचलित होनेमें समर्थ न हो सका। वस्तुतः तो सृष्टिके आदिमें यह जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ था। यह जो कुछ अनुभव हो रहा है वह तो चिदाकाशरूप जीवात्माके संकल्पका विकास है। इसे स्वप्नकालमें घटित हुए स्त्रीप्रसङ्गकी भाँति कल्पित ही समझना चाहिये। सृष्टिके आदिमें चिदाकाशस्वरूप जीवात्मा आकाशका संकल्प करनेके कारण आकाशरूपताको और कालका संकल्प करनेके कारण कालरूपताको प्राप्त होता है।

जैसे स्वप्नमें पुरुष अपनेमें ही जलताका दर्शन करता है, उसी तरह जीवात्मा जलका संकल्प करनेके कारण जलवत् स्थित होता है। स्वप्नकी भाँति जीवात्मा उस-उस रूपको प्राप्त होता है और जैसा होता है, वैसा ही वह ज्यों-का-त्यों स्थित रहता है; क्योंकि चेतनके चमत्कार अर्थात् मायाकी चतुरतासे यह प्रपञ्च असत् होते हुए भी सत्-सा दीख पड़ता है। जैसे स्वप्न, कल्पना और ध्यानमें आयी हुई वस्तुएँ असत् होती हैं, उसी तरह आकाशत्व, जलत्व, पृथिवीत्व, अग्नित्व और वायुत्व—ये सभी असत् हैं—ऐसा चेतन स्वयं अपने अंदर अनुभव करता है। अब मृत्युके पश्चात् कर्मफलके अनुभव करनेका जो क्रम है, उसे सम्पूर्ण संशयोंकी शान्तिके लिये सुनो। वह मरनेपर कल्याणकारी होता है। जगत्में अपने कर्मोंकी देश, काल, क्रिया और द्रव्यजनित शुद्धि और अशुद्धि ही मनुष्योंकी आयुके अधिक और न्यून होनेमें कारण होती हैं। अपने कर्मरूप धर्मका ह्रास होनेपर मनुष्योंकी आयु क्षीण हो जाती है और उस धर्मके बढ़नेपर आयुकी वृद्धि होती है। बाल्यावस्थामें मृत्यु प्रदान करनेवाले कर्मोंको करनेसे बालक, युवावस्थामें मृत्युदायक कर्मोंसे नौजवान और बुढ़ापेमें मृत्युप्रद कर्मोंके करनेसे वृद्ध मृत्युको प्राप्त होता है। जो अपने धर्मका शास्त्रानुकूल आरम्भ करके पीछे उसका अनुष्ठान करता रहता है, वह श्रीमान् पुरुष शास्त्रवर्णित आयुका भागी होता है। यों अपने कर्मोंके अनुसार ही जीवको अन्तिम दशा प्राप्त होती है और उस मरणासन्न अवस्थाको प्राप्त हुआ जीव मर्मघातिनी वेदनाओंका प्रत्यक्ष अनुभव करता है।

प्रबुद्ध लीलाने पूछा—चन्द्रवदनी देवि! मरण सुखरूप है अथवा दुःखरूप? और मरनेके बाद फिर क्या होता है? इस प्रकार मरणका वृत्तान्त मुझसे संक्षेपमें कहिये।

श्रीदेवीजीने कहा—लीले! शरीरान्तके समय मुमूर्षु पुरुष तीन प्रकारके होते हैं—मूर्ख, धारणाभ्यासी और युक्तिमान्। इनमें धारणाभ्यासी दृढतापूर्वक धारणाका अभ्यास करके शरीरको छोड़कर सुखपूर्वक प्रयाण करता है। उसी प्रकार युक्तिमान् भी सुखपूर्वक ही गमन करता है; परंतु जिसने न तो धारणाका अभ्यास किया है और न युक्ति ही प्राप्त की है, वह मूर्ख पुरुष अपने मृत्युसमयमें विवश होकर दुःखको प्राप्त होता है। वह विषयी पुरुष वासनाके आवेशसे विवशताका अनुभव करता हुआ जड़से कटे हुए कमलकी तरह अत्यन्त दीनताको प्राप्त हो जाता है। जिसकी बुद्धि शास्त्राभ्यासद्वारा संस्कृत नहीं है एवं जो दुष्टोंकी संगतिका सेवन करता है, वह मरनेपर अग्निमें गिरे हुए जीवकी भाँति अन्तर्दाहका अनुभव करता है। जब उस अज्ञानी पुरुषके कण्ठसे घुरघुराहटकी आवाज निकलने लगती है, आँखोंकी पुतलियाँ उलट जाती हैं, शरीरका रंग विकृत हो जाता है, उस समय उसकी बड़ी दयनीय दशा हो जाती है। उसकी आँखोंके सामने घना अन्धकार छा जाता है, जिससे उसे कुछ सूझ नहीं पड़ता। बोलनेमें असमर्थ होनेके कारण वह स्वयं जडवत् हो जाता है। जैसे सूर्यके अस्ताचलका आश्रय लेनेपर क्रमशः प्रकाशकी मन्दताके कारण दिशाएँ धुँधली हो जाती हैं, उसी तरह उसकी सारी इन्द्रियोंकी शक्तियाँ क्षीण हो जानेके कारण वे अपने-अपने विषयोंको ग्रहण करनेमें असमर्थ हो जाती हैं। विशेषरूपसे मोहके वशीभूत हो जानेसे उसके मनकी कल्पनाशक्ति नष्ट हो जाती है, जिससे वह अविवेकवश मोहके अगाध सागरमें डूबता-उतराता रहता है। ज्यों ही उसे थोड़ी सी मूर्च्छा हुई, त्यों ही प्राणवायुकी गति बंद हो जाती है और जब सभी प्राणोंकी क्रिया रुक जाती है, तब उसे घोर मूर्च्छा आ घेरती है। इस प्रकार परस्पर एक-दूसरेके सहयोगसे पुष्टताको प्राप्त हुए मोह, सवेदन और भ्रमसे जीव पाषाणवत् जडताको प्राप्त हो जाता है। सृष्टिके प्रारम्भसे ही यह नियम चला आ रहा है।

प्रबुद्ध लीलाने पूछा—देवि! यद्यपि यह शरीर आठ

अङ्गों (सिर, दो हाथ, दो चरण, गुह्यस्थान, नाभि और हृदय) से सम्पन्न है तो भी इसे व्यथा, विमोह, मूर्च्छा, भ्रम, व्याधि और अचेतनता—ये सब कष्ट प्राप्त होते हैं। इसका क्या कारण है ?

श्रीदेवीजीने कहा—भद्रे ! स्पन्दनशक्ति-सम्पन्न ईश्वरने सृष्टिके आदिमें ही सुख-दुःखादि-प्रारब्धभोगरूप कर्मका इस रूपमें विधान कर दिया है कि मदंशभूत जीवको उसकी आयुके इस-इस समयमें उसके कर्मानुसार इतने कालतक भोगने योग्य इस प्रकारका सुख-दुःख प्राप्त होगा। जिस समय नाड़ियोंमें प्रविष्ट हुई वायु बाहर नहीं निकलती और निकली हुई उनमें प्रवेश नहीं करती, उस समय उनका स्पन्दन रुक जाता है। तब नाडीशून्य हो जानेके कारण प्राणीकी मृत्यु हो जाती है। जब वायु न प्रवेश करती है और न बाहर ही निकलती, तब शरीरसे नाडियोंके वियुक्त हो जानेके कारण लोग यों कहने लगते हैं कि 'यह मर गया।'

ज्ञानवृत्तिका वेदनरूप स्वभाव बाधारहित है, इसलिये जन्म-मरण उस स्वाभाविक ज्ञानवृत्तिसे पृथक् नहीं हैं। (अर्थात् जबतक मनुष्यमें अविद्या रहेगी, तबतक उसे जन्म-मरणसे छुटकारा नहीं मिल सकता; क्योंकि ये उसके लिये स्वाभाविक ही हैं। केवल मुक्ति होनेपर ही उनसे छुटकारा मिलता है।) जैसे लंबी लताके बीच-बीचमें गाँठें होती हैं, उसी तरह चेतन सत्ताके भी मध्य-मध्यमें जन्म-मरण होते हैं। वस्तुतः तो चेतन पुरुष न कभी जन्मता है और न कभी मरता है। पुरुष स्वप्नकालके सम्भ्रमकी भाँति केवल भ्रमसे ही इन जन्म-मरणादिको देखता है; क्योंकि चेतनामात्र ही तो पुरुष है; फिर वह कब और कहाँ नष्ट हो सकता है। यदि पुरुष (जीवात्मा) को चेतनसे अतिरिक्त मानें तो बताओ, दूसरा कौन पुरुष हो सकता है ? अतः चेतनामात्र ही पुरुष है— यही बात ठीक है। भला, बताओ तो सही—क्या आजतक इस संसारमें किसीने किसीके चेतनको किसी प्रकार मरा हुआ देखा है ? अरे ! यह तो सरासर असम्भव है; क्योंकि लाखों शरीर मरते देखे जाते हैं और चेतन अविनाशी ही बना रहता है। यों वास्तवमें न तो कोई मरता है और न कोई जन्म ही लेता है। केवल जीव वासनारूपी आवर्तके गड्ढोंमें गोते लगाता रहता है। जगद्भयसे भीत होकर जीवजब अभ्यासद्वारा भ्रमवश प्रतीत होते हुए जगत्-प्रपञ्चको 'यह वास्तवमें हुआ ही नहीं है'—यों सम्यक् रूपसे समझ लेता है, तब वह पूर्णतया वासनाओंसे रहित होकर विमुक्त हो जाता है। इस प्रकार विमुक्त आत्मस्वरूप ही यहाँ सत्य वस्तु है। इसके अतिरिक्त सब असत् है।

प्रबुद्ध लीलाने पूछा—देवेशि ! प्राणी जिस प्रकार मरता है और फिर वह जैसे पैदा होता है, उस प्रसङ्गको ज्ञानकी वृद्धिके लिये आप पुनः मुझसे विस्तार-पूर्वक वर्णन कीजिये।

श्रीदेवीजीने कहा—लीले ! नाड़ियोंकी गति रुक जानेपर जब प्राणी प्राणवायुओंकी विपरीत स्थितिको प्राप्त होता है, तब उसकी चेतना शान्त-सी हो जाती है। इसीको मरण कहते हैं। वास्तवमें चेतन सर्वथा शुद्ध और नित्य है। उसकी न तो उत्पत्ति होती है और न उसका विनाश ही होता है। वह स्थावर, जंगम, आकाश, पर्वत, अग्नि और वायु—सभीमें स्थित है। केवल प्राणवायुकी गति अवरुद्ध हो जानेसे जब शरीरकी चेष्टा पूर्णरूपसे शान्त हो जाती है, तब यह शरीर, जिसका दूसरा नाम 'जड' है, 'मृत' कहा जाता है। जब यह शरीर शवरूपमें परिवर्तित हो जाता है और प्राणवायु अपने कारणरूप महावायुमें विलीन हो जाती है, तब वासनारहित चेतन अपने आत्मतत्त्वमें स्थित हो जाता है। फिर पुनर्जन्मको बीजभूत वासनासे युक्त एवं सूक्ष्म शरीरवाला वह व्यष्टिचेतन 'जीव' नामसे पुकारा जाता है। शरीरके मरनेके बाद लौकिक व्यवहार करनेवाले लोग उस जीवको 'प्रेत' शब्दसे पुकारते हैं और चेतन गन्ध मिली हुई वायुके समान

वासनाओंसे संयुक्त हो जाता है। जब वह जीव इस शरीरादि दृश्यका परित्याग करके देहान्तरका दर्शन करनेके लिये उद्युक्त होता है, उस समय उसकी स्वप्न एवं मनोराज्यकी भाँति नाना आकृतियाँ हो जाती हैं। फिर उसी प्रदेशके अंदर वह पूर्वजन्मकी तरह स्मरणशक्तिसे युक्त हो जाता है और तभी मरणकालकी मूर्च्छाके पश्चात् वह अन्य शरीरको देखने लगता है।

लीले! मरनेके बाद जीवको जो प्रेत कहा जाता है, वे प्रेत छः प्रकारके होते है। उनके इस भेदको सुनो—साधारण पापी, मध्यम पापी, स्थूल पापी, सामान्य धर्मवाले, मध्यम धर्मवाले और उत्तम धर्मात्मा। इनमेंसे किसीके दो भेद और किसीके तीन भेद भी होते हैं। कोई पाषाणतुल्य हृदयवाला एवं अत्यन्त मूढ़ महापातकी अपने अन्तःकरणमें एक वर्षतक स्मृति-मूर्च्छाका अनुभव करता है। तत्पश्चात् समयानुसार चेतनाको प्राप्त होकर वासनारूपी स्त्रीके उदरसे उत्पन्न हुए अक्षय नारकीय दुःखोंका चिरकालतक अनुभव करके एक महान् दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त होता हुआ सैकड़ों योनियोंका भोग करता है। तब कभी स्वप्न-सम्भ्रमरूपी संसारमें शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् उसके कर्मफल-भोगोंकी निवृत्ति होती है। अथवा मरण-मूर्च्छाके अन्तमें उसी क्षण वे हृदयस्थित वृक्षादि स्थावर योनियोंका ही जो सैकड़ो जड दुःखोंसे व्याप्त हैं, अनुभव करते हैं और फिर चिरकालतक नरकमें अपनी-अपनी वासनाओंके अनुरूप दुःखोंका भोग करके भूतलपर नाना योनियोंमें जन्म धारण करते हैं। (यह महापातकीकी गतिका वर्णन है।) अब जो मध्यम पापी है, उसकी गतिका वर्णन करते हैं। वह मृत्युकालिक मूर्च्छाके अनन्तर कुछ कालतक पाषाण-तुल्य जडताका अनुभव करता है। तत्पश्चात् जब उसे चेतना प्राप्त होती है, तब वह कुछ कालके बाद अथवा उसी समय तिर्यगादि क्रमसे नाना योनियोंका भोग करके संसारको प्राप्त होता है। जो कोई साधारण पापी होता है, वह मरते ही अपनी वासनाओंके अनुसार प्राप्त हुए अविकल मानव-देहका अनुभव करता है। उसी क्षण पूर्वसंस्कारके अनुसार उसकी स्मृतिका उदय होता है और स्वप्न एवं मनोराज्यकी भाँति उसके अनुभवमें वैसी ही वस्तुएँ आने लगती हैं। जो सर्वश्रेष्ठ महान् पुण्यात्मा है, वे मृत्युजनित मूर्च्छाके पश्चात् पूर्व-वासनाकी स्मृतिसे स्वर्गलोक तथा विद्याधरलोकके सुखका भलीभाँति उपभोग करते हैं। फिर पुण्यफलभोगके अनन्तर अपने कर्मान्तर अर्थात् पापकर्मके अनुसार प्राप्त हुए फलको अन्यत्र भोगकर मनुष्यलोकमें धनी सत्पुरुषोंके घरमें जन्म धारण करते हैं। जो मध्यम धर्मात्मा होते हैं, वे मरणमूर्च्छाके बाद आकाशवायुसे आन्दोलित होकर उत्तम वृक्षों और पल्लवोंसे सुशोभित उपवनमें जाते हैं और वहाँ अपने पुण्यकर्मोंका फल भोग लेनेके बाद मनुष्योंके हृदयमें प्रविष्ट होते हैं। फिर रेतःसिञ्चनके समय जन्म-क्रमानुकूल स्त्रियोंके गर्भमें स्थित होते हैं।

इस प्रकार प्रेत मृत्युजनित मूर्च्छाके अनन्तर अपनी वासनाके अनुसार अपने हृदयमें इस व्यवस्थाका क्रमशः अथवा क्रमरहित ही अनुभव करते हैं। वे यह जानते हैं कि 'हमलोग पहले मृत्युको प्राप्त हुए। तदनन्तर बन्धुओंद्वारा क्रमशः पिण्डादि दान करनेसे हम पुनः आतिवाहिक-शरीरधारी होकर उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् हाथोंमें कालपाश लिये हुए ये यमदूत आ पहुँचे। अब इन यमदूतोंद्वारा ले जाया जाता हुआ मैं क्रमशः यमपुरीको जाऊँगा।' उन प्रेतोंमें जो उत्तम पुण्यात्मा होता है, वह यों समझता है कि 'ये दिव्य एवं मनोहर विमान और उपवन मुझे बारंबार अपने शुभ कर्मोंसे ही प्राप्त हुए हैं। इसके विपरीत पापी पुरुष यों अनुभव करता है कि 'ये जो बरफकी चट्टानें, काँटे, गड्ढे और तलवारकी धारके समान तीखे पत्तोंसे पूर्ण वन मुझे प्राप्त हुए हैं, ये मेरे अपने ही दुष्कर्मोंके फलरूपसे उत्पन्न हुए हैं।' मध्यम पुण्यात्मा जानता है कि, यह मार्ग, जो मेरे सामने उपस्थित है, इसमें आनन्दपूर्वक पैदल चला जाता

है, शीतल और हरी घास उगी हुई है । यह घनी छायासे आच्छादित है और स्थान-स्थानपर बावलियोंसे युक्त है ।' मध्यम पापी यों अनुभव करता है कि 'यह मैं यमपुरीमें पहुँच गया । ये प्राणियोंके राजा यमराज हैं और यहाँ मेरे कर्मोंके विषयमें यह विचार किया गया ।' इस प्रकार संसारका विशाल अंश, जो सत्य-से प्रतीत होनेवाले सम्पूर्ण पदार्थों और उनकी क्रियाओंसे प्रकाशमान है, प्रत्येकको प्राप्त होता है । आकाशकी तरह स्वरूप-रहित वह प्रपञ्च देश, काल और क्रियाके विस्तारसे देदीप्यमान होते हुए भी कुछ नहीं है, किंतु सर्वारोपशून्य एवं विशिष्ट ज्ञानसम्पन्न आत्मा ही सब कुछ है ।

(यमपुरीमें पहुँचनेपर जीव कहता है—) अब मुझे यमराजका आदेश प्राप्त हो गया है, अतः मैं अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये शीघ्र ही यहाँसे उत्तम स्वर्गलोक अथवा नरकमें जाता हूँ । यमराजने मेरे लिये जिस स्वर्ग अथवा नरकका निर्देश किया था, मैंने उसका भोग कर लिया तथा यमनिर्दिष्ट उन-उन योनियोंमें भी भटक चुका । अब मैं पुनः संसारमें जन्म ग्रहण करूँगा । यह मैं धानका अङ्कुर होकर उत्पन्न हुआ । फिर क्रमशः बढ़कर फलरूपमें स्थित हुआ ।' इस प्रकार शरीराभावके कारण जब उसकी सारी इन्द्रियाँ भलीभाँति सोयी रहती हैं, उसी अवस्थामें वह भुक्तान्नादिद्वारा पुरुषके शरीरमें प्रवेश करके वीर्यरूपमें परिणत हो जाता है । वही वीर्य जब माताकी योनिमें पड़ता है, तब वह गर्भका रूप धारण करता है । वही गर्भ अपने पूर्वजन्मके कर्मानुसार उत्तम अथवा निकृष्ट प्रारब्धसे युक्त हो संसारमें मनोहर आकृतिवाले बालकके रूपमें जन्म लेता है । कुछ कालके बाद वह चन्द्रमाके समान मनोहर तथा कामोन्मुख जवानीका अनुभव करता है । तत्पश्चात् विकसित कमलपर गिरे हुए तुषाररूपी व्रजकी तरह उसे वृद्धावस्था आ घेरती है । उस बुढ़ापेमें भी किसी-न-किसी व्याधिके निमित्तसे ही उसका मरण होता है । पुनः उसे मृत्युजनित मूर्च्छा प्राप्त होती है । पुनः स्वप्नकी भाँति बन्धुओंद्वारा दिये गये पिण्डादिद्वारा सूक्ष्मशरीरकी प्राप्ति होती है और फिर वह यमलोकको जाता है । वहाँसे पुनः नाना योनियोंकी प्राप्ति होनेपर उनमें वह भ्रमण-क्रमका ही बारंबार अनुभव करता है । इस प्रकार इस वेगशाली परिवर्तनका वह तबतक पुनः-पुनः अनुभव करता रहता है, जबतक उसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो जाती ।

प्राणियोंके शरीरोंमें जो छिद्रस्थान हैं, उनमें प्रविष्ट हुई वायु जब अङ्गोंमें चेष्टा उत्पन्न करती है, तब लोग कहते हैं कि यह जीवित है । परंतु ऐसी स्थिति सृष्टिके आदिमें केवल जङ्गम प्राणियोंमें ही उत्पन्न हुई थी, इसी कारण ये वृक्ष आदि स्थावर प्राणी सचेतन होते हुए भी चेष्टाहीन हैं । जब जीवात्मा मनुष्यादिशरीररूप दूसरे नगरमें पहुँचता है, तब वहाँ बुद्धिको चक्षु आदि इन्द्रिय-गोलकोंमें ले जाकर उनके द्वारा बाह्यपदार्थोंका अनुभव करता है—जैसे आकाश शून्यतासे, पृथ्वी धारणशक्तिसे और जल आप्यायनशक्तिसे युक्त है । तात्पर्य यह कि जीवात्मा स्वेच्छासे जिसके लिये जैसी कल्पना करता है, वह वैसा ही अपने शरीरको जानता है । इस प्रकार सर्वव्यापी परमात्मा जंगमरूपसे जंगमकी और स्थावररूपसे स्थावरकी कल्पना करता हुआ सबके शरीररूपसे स्थित है । इसलिये जो जंगम जगत् है, उसे उसने अपनी कल्पनाके अनुसार जैसा समझा था, वह आज भी उसी रूपमें वर्तमान है । जैसे जिन वृक्ष, शिला, पेड़-पौधों और तृण आदिको स्थावर होनेके कारण जड समझा गया था, वे आज भी वैसे ही स्थित हैं; क्योंकि न तो जडता ही कोई पृथक् वस्तु है और न चेतन ही । इन पदार्थोंकी सृष्टि, स्थिति और विनाशमें कोई भेद नहीं है और न सत्तासामान्यमें ही कोई अन्तर है अर्थात् सबमें सत्ता समान है । यथार्थ बात तो यह है कि वृक्षों और पर्वतोंके अंदर जो उनकी जडता एवं नाम-रूप आदि भेद परिलक्षित होते हैं, वे जीवात्माकी बुद्धिद्वारा विहित

हैं, वस्तुतः नहीं हैं। वही जीवात्मा स्थावरादिके भीतर 'मैं स्थावर हूँ' ऐसी बुद्धिसे स्थित होनेके कारण जंगमसे भिन्न नाम और अभिमानका विषयभूत होकर वृक्षादि अन्य स्वरूपोंसे स्थित है। कृमि, कीट और पतङ्गोंके अंदर संवित्-रूपसे वर्तमान जीवात्मा ही उनकी बुद्धिका रूप धारण करता है और वही अनेकविध नाम-रूपोंसे व्यवहृत होता है। सभी स्थावर-जंगम अपने-अपने अनुभवमें ही लीन हैं, परन्तु जब वे एक-दूसरेसे सम्बन्धित होते हैं, तब उनमें 'यह स्थावर है और यह जंगम है' यों संकेतकी आवश्यकता पड़ती है। चेतन तो परमार्थरूपसे स्थावर-जंगम सभीमें वर्तमान है, परंतु जंगम प्राणियोंमें वायुके प्रवेश करनेसे चेष्टाएँ होती हैं और स्थावरोंमें नहीं होतीं। जिस प्रकार विश्वके समग्र पदार्थोंके स्वभावका विकास होता है और जैसे वे असत्य होते हुए भी सत्य-से प्रतीत होते हैं, वह सब वृत्तान्त मैंने तुम्हें बतला दिया। अब उधर देखो, ज्ञात होता है, यह राजा विदूरथ मृत्युको प्राप्त होकर तुम्हारे पति राजा पद्मके, जो पुष्पमालाओंसे आच्छादित शवके रूपमें स्थित हैं, हृदयान्तर्गत पद्मकोशमें प्रवेश करनेकी इच्छासे जाना चाहता है।

प्रबुद्ध लीलाने पूछा—देवेश्वरि! बताइये, यह राजा विदूरथ किस मार्गसे उस शवमण्डपमें जानेका इच्छुक है? जिससे हम दोनों भी उसे देखती हुई ही उस उत्तम मण्डपमें शीघ्र ही जायँ।

श्रीदेवीजीने कहा—लीले! 'मैं दूरवर्ती दूसरे लोकको जाता हूँ' इस भावनासे यह चिन्मय जीवात्मा मनुष्य वासनाके अंदर स्थित मार्गका अवलम्बन करके जाता है। यों तुम्हें जिस मार्गसे जाना अभीष्ट हो, उसी मार्गसे हम दोनों जाती हैं; क्योंकि एक-दूसरेकी इच्छाका विघातन प्रेम-बन्धनका हेतु नहीं होता।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव! इस प्रकार श्रेष्ठ राजाकी कन्या लीलाके विशुद्ध मनमें जब परमार्थ दृष्टि-रूप पूर्वोक्त कथाके श्रवणसे सारे संताप मिट गये तथा ज्ञानरूपी सूर्यका प्रसार हो गया, तब राजा विदूरथ चित्तके विलीन हो जानेके कारण जड अर्थात् मृत्युकालिक मूर्च्छाके वशीभूत हो गया। (सर्ग ५२–५५)

राजा विदूरथका वासनामय यमपुरीमें गमन, लीला और सरस्वतीद्वारा उसका अनुगमन और पूर्वशरीरकी प्राप्तिका वर्णन, लीलाके शरीरकी असत्यताका कथन, समाधिमें स्थित लीलाके शरीरका विनाश, लीलाके साथ वार्तालाप और राजा पद्मके पुनरुज्जीवनका कथन, राजाके जी उठनेसे नगर और अन्तःपुरमें उत्सव, लीलोपाख्यानके प्रयोजनका विस्तारसे कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! इसी बीच राजा विदूरथकी आँखोंकी पुतलियाँ उलट गयीं। होंठ सूखकर श्वेत हो गये। उसके शरीरकी सभी इन्द्रियोंके मूर्च्छित हो जानेपर केवल सूक्ष्म प्राण ही शेष रह गया। मुखकी छवि पुराने पीले पत्तेकी कान्तिके समान क्षीण एवं पीली हो गयी। भौंरेके गुंजारके सदृश श्वासवायुकी ध्वनि होने लगी। उसका मन महाप्रयाणकालिक मूर्च्छाके अन्धकूपमें डूब गया। नेत्र आदि सारी इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ अन्तर्लीन हो गयीं। इस प्रकार वह चेतनाशून्य हो गया। चित्रलिखित पुरुष-सरीखे उसका आकारमात्र ही दीख पड़ता था। शिलापर खुदे हुएकी भाँति उसके शरीरके सम्पूर्ण अवयव निश्चेष्ट हो गये थे। इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ? जैसे आकाशचारी पक्षी गिरनेके संनिकट पहुँचे हुए अपने निवासभूत वृक्षको छोड देता है, उसी प्रकार प्राणने स्वाधिष्ठित थोड़े-से शरीरांशसे चलकर राजाके शरीरका परित्याग कर दिया।

उस समय जैसे प्राणमयी ज्ञानवृत्ति वायुमें स्थित सूक्ष्म

गन्धका अनुभव करती है, उसी प्रकार उन दोनों देवियोंने, जिन्हें दिव्यदृष्टि प्राप्त थी, आकाशमार्गसे जाते हुए उस जीवको देखा। फिर तो वे दोनों नारियाँ उसी जीवात्माका अनुसरण करने लगीं—ठीक उसी तरह, जैसे दो भ्रमरियाँ वायुमें मिली हुई गन्धकलाका अनुगमन करती हैं। तदनन्तर दो घड़ीके पश्चात् जब मरण-मूर्च्छा शान्त हुई, तब जीवात्मा आकाशमें सुगन्धयुक्त वायुके स्पर्शसे प्रबुद्ध हो गया। उस समय उसने यमदूतोंको, उनके द्वारा ले जाये जाते हुए अपने वासनामय शरीरको तथा बन्धुओंद्वारा किये गये पिण्डदान आदिसे उत्पन्न हुए अपने स्थूलशरीरको भी देखा। फिर उसी मार्गसे बहुत दूरतक आगे जानेपर वह यमराजकी नगरीमें जा पहुँचा, जो प्राणिसमुदायसे घिरी हुई थी और जहाँ उनके कर्मफलोंपर विचार किया जा रहा था। वहाँ पहुँचनेपर यमराजने इसके कर्मोंपर विचार करके यह आदेश दिया कि 'यह सदा निर्मल पुण्यकर्मोंका ही अनुष्ठान करता रहा है। इसने कभी भी पापकर्म नहीं किया है। साथ ही सरस्वती देवीके वरदानसे इसके पुण्योंकी विशेषरूपसे वृद्धि हुई है। इस उपर्युक्त बातको समझकर तुमलोग इसे छोड़ दो और यह अपने पूर्वजन्मके शरीरमें, जो शवरूपमें पुष्पोंसे आच्छादित मण्डपाकाशमें वर्तमान है, वहाँ जाकर प्रवेश करे।' यों आदेश पानेपर यमदूतोंने उसे आकाशमार्गमें लाकर छोड़ दिया। तदनन्तर वह जीवात्मा, लीला और सरस्वती—ये तीनों एक साथ आकाशमार्गसे उड़ते हुए आगे बढ़े। उस समय यद्यपि सरस्वती और लीला मूर्तिमती थीं, तथापि वह जीवात्मा उन्हें देख नहीं रहा था, जबकि वे उसे देख रही थीं। इस प्रकार वे दोनों उस जीवात्माका अनुसरण करती हुई आकाश-मण्डलको लाँघकर लोकान्तरोंको पार करती हुई दूसरे ब्रह्माण्डमें जा पहुँचीं। पुनः शीघ्र ही वहाँसे निकलकर दूसरे ब्रह्माण्डमें गयीं। फिर उस भूमण्डलसे चलकर वे दोनों संकल्परूपिणी देवियाँ उस जीवात्माके

साथ राजा पद्मके नगरमें आयीं और वहाँ तुरंत ही स्वच्छन्दतापूर्वक लीलाके अन्तःपुरके मण्डपमें प्रविष्ट हुईं।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! जिसका शरीर मर चुका था, उस जीवात्माको मार्गका परिज्ञान कैसे हुआ? और वह उस शवके निकटवर्ती मण्डपमें कैसे पहुँचा?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघव! उस जीवकी अपनी वासनाके अन्तर्गत शवकी भावना विद्यमान थी, जिससे उसके हृदयमें वह मार्ग आदि सब कुछ स्फुरित हो गया; फिर उसे उस गृहकी प्राप्ति कैसे न हो। क्योंकि जैसे किसी अन्य स्थानमें स्थित पुरुष दूर देशान्तरमें रखे हुए अपने खजानेको अनवरत उसकी मानसिक भावनाके कारण सदा सम्यक् रूपसे देखता रहता है, उसी प्रकार सैकड़ों जन्मोंके चक्करमें पड़ा हुआ भी जीव अपनी वासनाके अंदर स्थित अपने अभीष्टको देखता है।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! जिसके लिये पिण्डदान

दिया ही नहीं जाता, उसमें पिण्डदानादि वासनाका कारण तो है नहीं; फिर उस वासनासे रहित स्वरूपवाला जीव किस प्रकार शरीरको प्राप्त होता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! बन्धुओंद्वारा पिण्ड दिया गया हो अथवा न दिया गया हो; परंतु यदि 'मैंने पिण्डदान किया है' ऐसी वासना हृदयमें भलीभाँति उत्पन्न हो जाय तो वह पुरुष पिण्डफलका भागी हो जाता है; क्योंकि अनुभूतियाँ बतलाती हैं कि जैसा चित्त होता है, वैसा ही वह प्राणी होता है। यह नियम जीवित अथवा मृत—किसी भी प्राणीमें कहीं भी अन्यथा नहीं होता। पदार्थोंकी सत्यता उनकी भावना—वासनाके अनुसार ही होती है और वह भावना कारणभूत पदार्थोंसे उत्पन्न होती है; क्योंकि जो स्वयं नित्य प्रकाशस्वरूप है, एकमात्र उस ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरे किसी कार्यकी उत्पत्ति कारणके बिना हुई हो, ऐसा तो महाप्रलयपर्यन्त न तो कहीं देखा गया और न इस विषयमें कुछ सुना ही गया। जैसे स्वप्नमें जीव विविध पदार्थोंके रूपमें कल्पित हुआ दीख पड़ता है, उसी तरह चेतन जीवात्मा ही उस वासनाका रूप धारण करता है। वही कार्य-कारणभावको प्राप्त होता है और वही निश्चल-सा होकर स्थित होता है। देश, काल, क्रिया और द्रव्यके संयोगसे भावना अर्थात् वासनाका उदय होता है। वह वासना जिस (सत्य एवं असत्य) फलरूप विषयमें उत्पन्न होती है, वही विषय दोनोंमें अधिक जयशील होता है। यदि धर्मदानकी वासना प्रवृत्त हुई हो तो उससे क्रमशः प्रेतकी बुद्धि पूर्ण हो जाती है अर्थात् दाताकी वासनाके अनुसार प्रेतको अवश्य फल मिलता है। यों परस्परकी विजयके कारण इस विषयमें जो अत्यन्त वीर्यशाली होता है, वही विजयी होता है; इसलिये उत्तम यत्नद्वारा शुभ कर्मोंका अभ्यास करना चाहिये।

पूर्ववर्णनके अनुसार लीला और सरस्वती देवी राजा पद्मके उस राजमहलमें जा पहुँचीं, जिसका भीतरी भाग अत्यन्त मनोरम था। चारों ओर पुष्पोपहारसे व्याप्त होनेके कारण वह वसन्त-सा शीतल लगता था। वह उन नगर-निवासियोंसे युक्त था, जिनकी राजकार्य करनेकी तत्परता पूर्णरूपसे शान्त हो गयी थी। वहाँ उन दोनोंने एक कमरेमें रखे हुए शवको देखा, जो मन्दार और कुन्दपुष्पकी मालाओंसे आच्छादित था। उस शवके सिरहाने जलसे पूर्ण उत्तम कलश आदि माङ्गलिक पदार्थ रखे थे। उस कमरेके दरवाजे और खिड़कियोंकी साँकलें बंद थीं और उसकी निर्मल दीवालें दीपकके प्रकाशके प्रशान्त हो जानेके कारण मलिन दीख पड़ती थीं। वह एक ओर सोये हुए लोगोंके मुखसे निकली हुई श्वासवायुसे व्याप्त था।

तदनन्तर उन दोनोंने उस शवमण्डपमें विदूरथकी शवशय्याके पार्श्वभागमें स्थित लीलाको देखा, जो पहले

मृत्युको प्राप्त हो चुकी थी और पहले ही वहाँ आ गयी थी। उसके वेष, आचरण, शरीर और वासनाएँ—सभी पहलेके ही सदृश थे। उसकी आकृति पूर्वजन्मकी-

सी थी। नखसे शिखातक उसके सारे अङ्ग सुन्दर थे। उसका रूप और अङ्गोंकी चेष्टाएँ पूर्ववत् थीं। जैसे वस्त्र वह पूर्वजन्ममें पहनती थी, वैसे ही वस्त्रोंसे उसका शरीर आच्छादित था और पहलेके-से आभूषणोंसे भी वह विभूषित थी। केवल इतना ही अन्तर था कि वह राजा पद्मके महलमें स्थित थी। उस समय उसके हाथमें चँवर सुशोभित था, जिसे वह सुन्दर ढंगसे राजाके ऊपर डुला रही थी। इस प्रकार उन दोनों (सरखती और प्रबुद्ध लीला) ने तो उस लीलाको देखा, परंतु वह उन दोनोंको न देख सकी। इसका कारण यह था कि वे दोनों सत्यसंकल्पस्वरूपा थीं और वह उनकी भाँति सत्यसंकल्पसे आविर्भूत नहीं हुई थी।

वत्स राम ! यह सारा जगत् आत्मा ही है। ऐसी दशामें देहादिकी कल्पना कहाँसे हो सकती है। तुम जो कुछ देख रहे हो, वह आनन्दरूप सद्ब्रह्म ही है और वही चेतन है। जिस पुरुषको स्वप्नकालमें 'मैं हरिन हूँ' ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई हो, वह क्या जागनेपर अपने मृगस्वरूपका अभाव हो जानेपर स्वप्नकालिक मृगको खोजता है ? नहीं। जो अज्ञानी होता है, उसकी दृष्टिमें सत्यका तिरोधान और असत्यका आविर्भाव शीघ्र होता है, परंतु रस्सीमें उत्पन्न हुई सर्पभ्रान्तिके मिट जानेपर क्या पुनः उसमें सर्पभ्रम हो सकता है ? कदापि नहीं। इस प्रकार जो जन्म-मरणशील शरीरको ही आत्मा माननेवाले हैं, वे सभी अज्ञानी स्वप्न-तुल्य इस मिथ्या सृष्टिका चिरकालतक सत्यकी तरह अनुभव करते रहते हैं। किंतु आत्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान होनेसे 'देहमें आत्मबुद्धि करना भ्रममात्र ही है' यों उनकी उस भ्रान्तिका उपशम हो जाता है—ठीक उसी तरह, जैसे रस्सीका ज्ञान होनेसे उसमें उत्पन्न हुई सर्पबुद्धि नष्ट हो जाती है। वस्तुतः तो शरीर क्या था ? किसकी सत्ता थी ? कहाँ और किस तरह किसका विनाश हुआ ? परमार्थतः जो वस्तु थी, वही रह गयी, केवल अज्ञान मिट गया। जब रस्सीमें उत्पन्न हुई सर्पबुद्धिकी भाँति यह सारी प्रतीति भ्रान्तिमात्र ही है, तब उसके उत्पन्न होनेपर क्या बढ़ गया और नष्ट होनेपर क्या नष्ट हुआ ? अर्थात् उसके आने-जानेमें कोई हर्ष-विषाद नहीं है।

श्रीरामजीने पूछा—प्रभावशाली गुरुदेव ! पद्मके राज-महलमें पूर्वलीला और नूतन लीलाका समागम होनेके पश्चात् जो उस भवनके निवासी थे, वे लीलाकी सत्यसंकल्पताके कारण यदि उसे देखते हैं तो उसके बाद उसे क्या समझते हैं ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघव ! उस समय वे लोग ऐसा जानते हैं कि यहाँ ये दुखिया महारानी खड़ी हैं और उनकी यह कोई दूसरी सखी भी कहींसे आ गयी है। जैसे जाग जानेपर ज्ञान हो जानेसे स्वप्नदृष्ट शरीर न जाने कहाँ विलीन-सा हो जाता है, इसलिये वह असत्य ही है, वही दशा यहाँ इस पाञ्चभौतिक स्थूल-शरीरकी भी है। (अर्थात् ज्ञान होनेपर इसका भी विनाश होता है, अतः यह भी असत्य ही है।) स्वप्नभ्रान्ति अथवा मनकी कल्पनामें जो पर्वत आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे सभी बुद्धिवृत्तिके अंदर उसी प्रकार विलीन हो जाते हैं, जैसे सारी चेष्टाएँ वायुमें अन्तर्भूत हो जाती हैं। बुद्धिवृत्ति ही स्वप्न आदि पदार्थोंकी प्रतीतिद्वारा पर्यायरूपसे स्फुरित होती है, परतु वही स्फुरित न होनेपर उस स्वप्नके साथ एकताको प्राप्त होकर तद्रूप हो जाती है। जैसे जल और उसका द्रवत्व अथवा वायु और उसकी गति दो नहीं हैं, उसी प्रकार बुद्धिवृत्ति और स्वाप्निक पदार्थोंमें कभी भेद नहीं पाया जाता। उनमें जो भेद-सा प्रतीत होता है, वही सबसे बढ़कर अज्ञान है। वही 'संसार' कहा गया है और वह संसार मिथ्याज्ञानरूप ही है। सहकारी कारणों-का अभाव होनेपर भी स्वप्नकालमें बुद्धिवृत्ति और स्वप्न-दृष्ट पदार्थोंका भेद निरर्थक ही है। स्वप्नमें जैसे असत् नगरकी प्रतीति होती है, उसी तरह सृष्टिके आदिमें

असत् जगत्का भान होता है; अतः जैसे स्वप्न असत् हैं, वैसे ही जाग्रत् भी असत् है; इसमें संशय नहीं है । जैसे जाग जानेपर स्वप्नदृष्ट पर्वतका तत्काल ही अभाव हो जाता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान होनेपर इस पाञ्चभौतिक संसारका श्रवण-मनन-निदिध्यासनादि क्रमसे अथवा ईश्वरानुकम्पासे अभाव हो जाता है । ये सृष्टियाँ मिथ्यादृष्टियाँ ही हैं; क्योंकि ये मोहदृष्टियाँ हैं अर्थात् अज्ञानसे इनका दर्शन होता है । जो मायारूपसे प्रतीत होनेवाले केवल संसारकी भ्रान्ति है और जो स्वप्नकी अनुभूतियाँ हैं, वे सभी अर्थशून्य हैं । भ्रमसे जड संसारका दर्शन करनेवाले पुरुषके मरणान्तकालमें स्वप्नानुभूति-सदृश जो ये सृष्टिकी प्रत्यक्ष प्रतीतियाँ हैं, वे सब-की-सब यद्यपि आतिवाहिक शरीरमें प्रविष्ट हो चुकी हैं, तथापि भ्रमवश मृगतृष्णाकी नदीके प्रवाहकी भाँति मिथ्या प्रकट हुई-सी प्रतीत होती हैं । वास्तवमें तो वे मनके अंदर ही हैं ।

इसी बीचमें सरस्वती देवीने मनकी चेष्टाके समान विदूरथके जीवात्माको अपने सत्यसंकल्पसे पुनः शीघ्र ही अवरुद्ध कर दिया ।

तब श्रीसरस्वती देवी लीलासे बोलीं—वत्से ! तुम अपने सत्यसंकल्पवश अत्यन्त निर्मल सूक्ष्मशरीरसे युक्त दिखायी देती हो, इसलिये तुम्हारे ऊपर लोगोंको आश्चर्य हो रहा है । बाले ! अपने शरीरके प्रति तुम्हारी जैसी वासना थी, तदनुरूप ही तुम्हें शरीर मिला है । इसी कारण पूर्वजन्मके रूपके समान ही तुम्हारा रूप प्रकट हुआ है; क्योंकि सब लोग अपनी वासनाके अनुसार ही सब पदार्थोंको देखते हैं । सिद्धसुन्दरि ! तुम सूक्ष्म-शरीरसे सम्पन्न हो, अतः तुम्हारा वह पूर्वजन्मका शरीर तुम्हें भूल गया है, इसी कारण उसपर तुम्हारी वासना नहीं रह गयी है । जिस ज्ञानी पुरुषकी सूक्ष्मदृष्टि दृढमूल हो जाती है, उसका पाञ्चभौतिक शरीर दूसरों-द्वारा देखा जाता हुआ भी सूक्ष्म ही है । आज हमलोग इस मण्डपाकाशमें प्राप्त हुई हैं । इस समय प्रभातकाल होनेपर मैंने इन दोनों दासियोंको निद्रासे मोहित कर दिया है; अतः लीले ! आओ, तबतक हम दोनों अपने सत्यसंकल्पके विलासद्वारा इस लीलाको अपना स्वरूप दिखलायें । अब हमलोगोंका कार्य आरम्भ होना चाहिये ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! देवी सरस्वतीने ज्यों ही ऐसा विचार किया कि 'यह लीला तबतक हम दोनोंको देखे', त्यों ही वे दोनों दीप्तिमती देवियाँ (सरस्वती और प्रबुद्ध लीला) वहाँ प्रकट हो गयीं । उनके प्रत्यक्ष होते ही विदूरथपत्नी लीलाकी आँखें चौंधिया गयीं । उसने देखा कि वह घर उन देवियोंके तेजःपुञ्जसे देदीप्यमान हो गया है । इस प्रकार उस प्रदीप्त गृह और अपने समक्ष लीला और सरस्वती—उन दोनों देवियोंको उपस्थित देखकर वह बड़ी उतावलीके साथ उठ खड़ी हुई और फिर उनके चरणोंमें पड़कर यों कहने लगी—'देवियो ! आप जीवन प्रदान करनेवाली हैं, आपकी जय हो । आपलोगोंकी सेविका मैं यहाँ पहले ही आ पहुँची हूँ । अब मेरे कल्याणोत्कर्षके लिये आप दोनोंका शुभागमन हुआ है ।' उसके यों कहनेपर यौवनके मदसे मतवाली वे तीनों मानिनियाँ वहाँ आसनोंपर विराजमान हुईं ।

तब श्रीसरस्वती देवी बोलीं—वत्से ! तुम इस देशमें कैसे आयीं ? तथा मार्गमें अथवा कहाँपर तुमने कौन-सी आश्चर्यजनक घटना देखी ? तुम आदिसे लेकर यह सारा वृत्तान्त वर्णन करो ।

विदूरथ-पत्नी लीलाने कहा—देवि ! उस समय विदूरथके गृहप्रदेशमें जब मैं मूर्च्छित हो गयी, तब परमेश्वरि ! उस मरण-मूर्च्छाके पश्चात् मैं क्या देखती हूँ कि मैं

होशमें आकर उठ बैठी हूँ और फिर शीघ्र ही आकाश-मण्डलमें उड़ चली हूँ। तत्पश्चात् उस भूताकाशमें मैं वायुरूपी रथपर सवार हो गयी हूँ। वही रथ मुझे इस घरतक ले आया है। देवि! तब मैंने इस भवनको देखा, जो शवरूप राजा पद्मसे सुशोभित था। उसके भीतर दीपकका प्रकाश फैल रहा था। यह अत्यन्त स्वच्छ और बहुमूल्य शय्यासे युक्त था। तदनन्तर जब मैं अपने इन पतिदेवका अवलोकन करने चली, तब क्या देखती हूँ कि जिनका सारा अङ्ग पुष्पोंसे आच्छादित है, वे राजा विदूरथ यहाँ उसी प्रकार सो रहे हैं। मानो पुष्पवनमें वसन्त शयन कर रहा हो। देवेश्वरि! तब मैंने यह सोचा कि 'ये संग्रामरूपी कार्यके अधिक परिश्रमसे थक गये हैं, इसीलिये गाढ़ निद्रामें सो रहे हैं।' अतः मैंने इनकी यह निद्रा भङ्ग नहीं की। इसके बाद ही आप दोनों देवियाँ इस स्थानपर पधारी हैं। मुझपर अनुग्रह करनेवाली देवि! इस प्रकार मुझे जैसा अनुभव हुआ था, वह सब आपसे कह सुनाया।

तब श्रीसरस्वती देवी बोलीं—लीले! तुम दोनोंके नेत्र बड़े सुन्दर हैं और चलनेका ढंग हंसकी चालके समान मनोहर है। अच्छा, अब हम इस राजाको शवशय्यासे उठाती हैं। यों कहकर सरस्वती देवीने कमलिनीद्वारा बिखेरी गयी सुगन्धकी भाँति राजाके जीवात्माको छोड़ दिया। तब वायुरूपधारी वह जीव राजाकी नासिकाके निकट गया और उसके नासारन्ध्रमें प्रविष्ट हो गया—ठीक उसी तरह, जैसे वायु बाँसके छिद्रमें प्रवेश करती है। उस समय वह अनन्त वासनाओंसे युक्त था। फिर तो जैसे अनावृष्टिके कारण मुरझाया हुआ कमल अच्छी जलवृष्टि होनेसे पुनः विकसित हो जाता है, उसी तरह जीवके अंदर प्रवेश करनेपर राजा पद्मका विवर्ण हुआ मुख पुनः पूर्ववत् कान्तिमान् हो गया। तदनन्तर उसके सारे अङ्ग क्रमशः चेष्टाशील होकर सुशोभित होने लगे, जैसे पर्वतकी लताएँ वसन्तको पाकर प्रफुल्लित हो जाती हैं। तब उसने अपने उन नेत्रोंको, जिनकी पुतलियाँ निर्मल और चञ्चल थीं, खोल दिया। तत्पश्चात् वह बढ़ते हुए विन्ध्य पर्वतके समान अपने शरीरको शय्यासे ऊपर उठाते हुए उठ बैठा और मेघके समान गम्भीर वाणीमें बोला—'यहाँ कौन है?' तबतक दोनों लीलाएँ उसके आगे उपस्थित होकर बोलीं—'महाराज! आज्ञा दीजिये!' जब उसने दो लीलाओंको, जिनके आचार, आकार, रूप, मर्यादा, वचन, उद्योग, आनन्द और अभ्युदय सभी एक-से थे, नम्रतापूर्वक अपने सामने खड़ी देखा, तब उनकी ओर ध्यानपूर्वक देखते हुए पूछा—'तुम कौन हो? और यह कौन है तथा यह कहाँसे आयी है?' यह सुनकर पूर्वलीलाने उससे कहा—'देव! मैं जो कुछ कहती हूँ, उसे सुनिये। मैं आपकी पूर्वजन्मकी सहधर्मिणी रानी हूँ। मेरा नाम लीला है। अर्थसंयुक्त वाणीकी तरह मैं सदा आपके सम्बन्धसे सुशोभित हूँ। यह दूसरी लीला भी आपकी रानी है। इसे मैं क्रीडावश आपके उपभोगके लिये ले आयी हूँ। आप इसकी रक्षा करें। स्वामिन्! सिरहानेकी ओर स्वर्णसिंहासनपर बैठी हुई ये कल्याण-कारिणी सरस्वती देवी हैं। ये तीनों लोकोंकी जननी हैं। भूपाल! हमलोगोंके पुण्यबाहुल्यसे ये साक्षात् यहाँ पधारी हैं। ये ही हम दोनोंको परलोकसे यहाँ लायी हैं।'

लीलाकी यह बात सुनकर राजा, जिसके नेत्र कमलके समान सुन्दर थे और शरीरपर लटकती हुई माला और वस्त्र सुशोभित थे, शय्यासे उठ गया और सरस्वतीके चरणोंमें पड़कर कहने लगा—'देवी सरस्वति! आप सबको कल्याण प्रदान करनेवाली हैं, आपको नमस्कार है। वरदायिनि! मुझे मेधा, दीर्घायु और धन

प्रदान कीजिये ।' यों कहते हुए राजाके सिरपर सरस्वती

देवीने हाथ फेरते हुए कहा—'पुत्र ! तुम अपने अभीष्ट पदार्थों तथा राजमहलसे पूर्णतया सम्पन्न हो जाओ एवं तुम्हारी सारी आपत्तियाँ और समस्त पापबुद्धियाँ विनष्ट हो जायँ और तुम्हें प्रचुरमात्रामें अनन्त सुखकी प्राप्ति हो । तुम्हारे राज्यमें प्रजा सदा आनन्दित रहे तथा सम्पत्तियाँ स्थिर होकर सदा विकसित होती रहें ।'

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलभूषण राम ! सरस्वती देवी यों कहकर उस राजमहलमें ही अन्तर्धान हो गयीं । प्रातःकाल होनेपर कमलोंके विकसित होनेके साथ ही सभी लोग निद्रा त्यागकर जाग पड़े । तदनन्तर क्रमशः राजाने लीलाका और लीलाने मृत्युको प्राप्त होकर पुनरुज्जीवित हुए अपने प्रियतम राजाका महान् आनन्दके साथ बारंबार आलिङ्गन किया । उस समय उस राजसदनकी विचित्र ही शोभा थी । उसके सभी निवासी आनन्दमें निमग्न थे । वह जय-ध्वनि और माङ्गलिक पुण्याहवाचनके उच्च स्वरसे निनादित हो रहा था । उसका आँगन राजपुरुषोंसे ठसाठस भरा था । प्रजाजनोंद्वारा लाये जाते हुए उपहार परस्पर टकरा जानेसे गिर जाते थे, जिससे उसकी समतल भूमि ऊँची-नीची हो गयी थी । उस उत्सवके अवसरपर मस्तकपर पुष्पमाला धारण किये हुए लोगोंके आने-जानेसे उसकी विशेष शोभा हो रही थी । वह मन्त्रियों, सामन्त राजाओं और नगरवासियोंद्वारा बिखरे गये माङ्गलिक पदार्थोंसे आच्छन्न था । उस समय 'पूर्वलीला दूसरी लीला रानीको एवं अपने पति महाराज पद्मको परलोकसे ले आयी है' यों अनेकविध गाथाओंके रूपमें लोग देश-देशान्तरमें इसका गान करते थे । राजा पद्मने अपने मरण आदिके वृत्तान्तको, जो संक्षेपमें वर्णन किया गया था, सुनकर भृत्योंद्वारा लाये गये चारों सागरोंके जलसे स्नान किया । तत्पश्चात् ब्राह्मणों, मन्त्रियों और भूपालोंने उसका अभिषेक किया । उस समय पूर्वलीला, द्वितीय लीला और राजा पद्म—ये तीनों जीवन्मुक्त और महान् ज्ञानसम्पन्न हो गये थे । इस प्रकार पृथ्वीपति पद्मको अपने पुरुषार्थके बलसे तथा भगवती सरस्वतीके प्रसादसे त्रिलोकीका वह श्रेय प्राप्त हुआ । तदनन्तर सराहनीय गुणोंसे युक्त राजा पद्म, जिसे सरस्वतीद्वारा उपदिष्ट ज्ञानके प्रभावसे भलीभाँति आत्मतत्त्वका बोध हो चुका था, दोनों लीलाओंके साथ वहाँ राज्यशासन करने लगा । अपने उस उत्तम राज्यका, जो प्रजाओंके नित्य अभ्युदयसे निर्दोष, शास्त्रानुकूल होनेसे विद्वानोंको भी मुग्ध करनेवाला, समुचित, आत्महितकारी और सारी जनताके लिये संतोषप्रद था, चिरकालतक पालन करके अन्तमें वे श्रेष्ठ दम्पति (लीला और राजा पद्म) विमुक्त हो गये ।

वत्स राम ! मैंने इस पवित्र लीलोपाख्यानका दृश्यरूप दोषकी निवृत्तिके लिये तुमसे वर्णन किया । वस्तुतस्तु दृश्यसत्ता शान्त ही है । जब वह है ही नहीं, तब उसके लिये 'शमन' का प्रयोग करना उपयुक्त नहीं

है; क्योंकि सत् अर्थात् विद्यमानके मार्जनके लिये ही प्रयास किया जाता है, असत्के लिये कभी नहीं। तत्त्वज्ञ पुरुष आकाश-सरीखे निर्मल ज्ञानसे ज्ञेयस्वरूप दृश्यको ब्रह्ममें विलीन समझकर आकाशके समान निर्मल बना रहता है। यदि कहो कि पृथ्वी आदिसे रहित स्वतःसिद्ध स्वयम्भू सच्चिदानन्द ब्रह्मने ही इस दृश्यकी कल्पना की है तो उसने उसे अपनेमें ही सिद्ध किया है। चेतनाकाशरूप परमात्माका अवभास ही 'जगत्' नामसे समझा जाता है। यह उस विशुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माके किसी एक अंशमें स्थित है। यह सब कुछ जिस रूपमें देखा गया था, वह ज्यों-का-त्यों अखण्ड-रूपसे स्थित है। यह अनन्त सृष्टि मायासे उत्पन्न होनेके कारण माया ही है और माया कोई सत्य वस्तु नहीं।

निष्पाप राम! जिस-जिस पुरुषको जिस समय जिस रूपसे जिस-जिस पदार्थकी प्रतीति होती है, वह-वह पुरुष उसी समय उसी प्रकार उस-उस पदार्थका पूर्णरूप-से अनुभव करता है। जैसे विषको सदा अमृत ही समझते रहनेसे वह अमृतत्वको प्राप्त हो जाता है, उसी तरह शत्रुके प्रति सदा मित्रभाव रखनेसे वह मित्र बन जाता है। इन पदार्थोंके निजी स्वरूपकी जैसी भावना की गयी, वह भावित स्वरूप ही चिरकालके अभ्याससे स्वभाव बन गया। चेतन परमात्माका स्वभाव ही विकासशील है। वह जैसे और जिस रूपमें विकसित होता है, शीघ्र ही वैसा हो जाता है। इसमें उसका स्वभाव ही एकमात्र कारण है। इसी कारण दुखी पुरुषके लिये जो रात्रि कल्पके समान लंबी प्रतीत होती है, वही सुखीके लिये एक क्षण-सदृश लगती है—जैसे स्वप्नमें एक क्षण कल्प-सा हो जाता है। उस क्षणभरके स्वप्नमें मनुष्य यों देखता है कि अभी-अभी मेरी मृत्यु हो गयी, पुनः मैं पैदा हुआ और तरुण होकर युवावस्थामें स्थित हूँ। फिर सौ योजन दूर चला गया हूँ। परंतु ध्यानद्वारा जिसका चित्त प्रक्षीण हो गया है अर्थात् जो निर्विकल्प समाधिमें स्थित है, उसके लिये न दिन है न रात्रि। परमात्माके ध्यानमें मग्न योगीकी दृष्टिमें न जगत् सत्य है न जगत्के पदार्थ ही। महाबाहो! यह जगत्, जैसी उसके सम्बन्धमें भावना होती है, तदनुकूल ही प्रतीत होने लगता है—जैसे मधुरमें निरन्तर कटुताकी भावना करनेसे वह कटु-सा लगने लगता है और कटुमें मधुरकी भावना करनेसे वह माधुर्यसे युक्त-सा अनुभूत होता है तथा शत्रुमें मित्रबुद्धि रखनेसे वह मित्र एवं मित्रमें शत्रुबुद्धि करनेसे वह शत्रु हो जाता है। जो शास्त्राध्ययन और जप आदि पदार्थ हैं, जिनका पहले अभ्यास नहीं किया गया है, उनकी भावनाका अभ्यास करनेसे निश्चय ही समता प्राप्त होती है। नौकारोही अतएव भ्रमपीडित लोगोंकी भावनासे पृथ्वी चलती हुई-सी प्रतीत होती है; परंतु जो उस प्रकारके भावनाभ्रमसे रहित हैं अर्थात् तटपर ही स्थित हैं, उन्हें वैसा अनुभव नहीं होता। जैसे स्वप्नद्रष्टाकी भावनासे स्वप्नमें शून्य स्थान भी जनाकीर्ण प्रतीत होने लगता है, उसी तरह अज्ञानवश भावनासे ही सर्वथा नीला आकाश कभी पीत और कभी शुक्ल-सा अनुभूत होने लगता है तथा उत्सव आपत्ति-सरीखा विषादजनक हो जाता है।

जैसे सुवर्णके भीतर द्रवत्व वर्तमान है, परंतु वह दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी तरह परब्रह्मके अंदर यह सृष्टि स्थित है। जैसे स्वप्नमें एक मनुष्यका दूसरेके साथ युद्ध हुआ, वह स्वप्नकालमें सत्य होते हुए भी जागनेपर असत्य ही है, उसी तरह मायाकाशमें स्थित यह स्वात्मारूप जगत् भी मायिक दृष्टिसे सत् होते हुए भी तात्त्विक दृष्टिसे असत् ही है; महाकल्पके अन्त और सृष्टिके आदिमें यह जगत् सच्चिदानन्दस्वरूप ही है। पीछे यह असत् जगत् कारणत्व अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाता है, परंतु वास्तविक परमात्मा किसीमें लीन नहीं होता। इस ब्रह्मके मुक्त हो जानेपर यदि उस परमात्माकी स्मृतिसे उत्पन्न

दूसरे ब्रह्मा हों तो उनकी स्मृतिरूप ज्ञानसे प्रकट हुई सृष्टिमें ज्ञानमात्र ही स्थित है। जो जीवात्मा अभ्यास-वैराग्य आदि तीव्र साधनोंसे युक्त है, अतएव विषयभोगोंसे विचलित न होता हुआ मोक्षपर्यन्त एकाकारवृत्तिसे रहता है, वही परम स्थिरता—मोक्षको प्राप्त होता है। इस प्रकार सहस्रों सृष्टियोंके बारंबार उत्पन्न होने, स्थित होने और नष्ट होनेपर जीवसमूहोंमेंसे किसीको न तो कोई वस्तु प्राप्त है और न अप्राप्त ही; क्योंकि जब पदार्थोंकी सत्ता है ही नहीं, तब फिर उन्हें प्राप्त-अप्राप्त कैसे कहा जा सकता है। अतः यह सब कुछ आवरण-रहित शान्तस्वरूप सच्चिदानन्द परमात्मा ही है।

जैसे पत्र, पुष्प, फल और शाखा आदि अंशोंसे युक्त वृक्ष एकरूपसे भलीभाँति स्थित है, उसी तरह अनन्त एवं सर्वशक्तिमान् परमात्मा एकरूपसे ही लोगोंमें व्याप्त है। जब अनादि परमपद-स्वरूप परमात्माका ज्ञान हो जाता है, तब प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण आदि मायिक रूपवाले जगत्‌का विस्मरण हो जाता है। फिर किसीको कभी उसकी स्मृति नहीं होती। जैसे स्वच्छ जल चाहे निश्चल हो अथवा लहरियोंके थपेड़े खा रहा हो—दोनों अवस्थाओंमें जलके स्वरूपमें भेद न होनेसे वह एकरूप ही है, उसी प्रकार दिशा और कालरूपमें व्यक्त होनेपर भी परमात्मा सदा एकरस, अनादि और विशुद्ध है। वह सम्पूर्ण विकारोंके उदय और नाशसे रहित होनेके कारण अज्ञानका प्रकाशक, आदि, मध्य और अन्तसे परे तथा एकरूपसे स्थित है। केवल विशुद्धज्ञानरूप ब्रह्मकी स्वरूपभूता विभा द्वैत और ऐक्यविषयक संकल्प-विकल्प करनेके कारण 'अहम्, त्वम्' इत्यादि जगत्‌के रूपसे प्रतीत होती है—ठीक उसी तरह, जैसे आकाश-मण्डलमें उसकी अपनी शून्यता परिलक्षित होती है।

(सर्ग ५६–६०)

सृष्टिकी असत्यता तथा सबकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! ज्ञानवान् पुरुष सब प्रकारकी सारी भ्रान्तियोंको सच्चिदानन्दघन परमात्माके ही अंदर सदा स्थित जानता है, इसलिये वास्तवमें सब सर्वस्वरूप अजन्मा परमात्मा ही है। इस तरह परब्रह्म परमात्माकी सर्वरूपता ही उसकी समता है। शब्दों और अर्थोंका सारा ज्ञान ब्रह्म ही है, ब्रह्मसे भिन्न नहीं। जैसे कंगनका रूप सुवर्णसे और तरङ्गकी सत्ता जलसे कभी पृथक् नहीं हो सकती, उसी प्रकार जगत् परमेश्वरसे भिन्न नहीं है। यह ईश्वर ही जगत्-रूप है। ईश्वरमें उससे पृथक् जगत्‌का रूप नहीं है। सोना ही कंगन आदिके रूपमें उपलब्ध होता है। सोनेमें कंगनकी पृथक् सत्ता नहीं है। जैसे स्फटिक-शिलाके भीतर भेद न होनेपर भी उसमें प्रतिबिम्बित वन-पंक्तियोंका भेदपूर्वक समावेश प्रतीत होता है (प्रति-बिम्बित वस्तुएँ अपनी आधारभूत शिलासे भिन्न न होनेपर भी जैसे भिन्न-सी प्रतीत होती हैं), उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्ममें अभिन्न रूपसे स्थित जगत् और अहंकी अज्ञानके कारण भेदयुक्त प्रतीति होती है। अथवा जैसे शिल्पी शिला-को खोदकर उसमें विभिन्न मूर्तियोंका निर्माण करता है, वे मूर्तियाँ उस शिलासे भिन्न न होनेपर भी भ्रमवश भिन्न-सी जान पड़ती हैं, उसी प्रकार मनरूपी शिल्पीने चिद्घन परमात्मामें जिस जगत् और अहंकी कल्पना की है, वह उससे भिन्न नहीं है, तथापि अज्ञानवश भेदकी प्रतीति होती है। वास्तवमें वह चिद्घनरूप ही है। जैसे तरङ्गशून्य जलके भीतर तरङ्गें स्थित हैं, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मामें सृष्टि-शब्दार्थसे शून्य सृष्टियाँ स्थित हैं। वास्तवमें न तो सृष्टिमें परब्रह्म है और न परब्रह्ममें सृष्टि ही है।

जैसे वायु अपनेमें ही स्पन्दकी कल्पना करती है, उसी प्रकार परमार्थ-चिन्मय ब्रह्म अपनी ज्ञानवृत्तिसे अपने ही गूढ़ स्वरूपको प्रपञ्चके रूपमें अभिव्यक्त कर देता है। वास्तवमें वह उसका अपना चिन्मय स्वरूप ही होता है। शब्द-तन्मात्रा, जो पहले अपने कारणमें लीन थी, सर्वशक्तिमयी मायाके चमत्कारसे युक्त रूपको धारण-कर चित्तसे अन्तःकरणमें उठनेवाले संकल्पकी भाँति जब चिन्मय आकाशके समान स्फुरित होती है, तब उसीको आकाशका आविर्भाव कहते हैं। वही (आकाश-भावको प्राप्त हुआ ब्रह्म ही) स्वयं अपनेमें अपनी ही सत्तारूप वायुभावका अनुभव करता है, जिसके भीतर स्पर्श-तन्मात्राका संस्कार उद्बुद्ध होता है। उसकी अनुभूति वैसी ही है, जैसे पवन अपनेमें स्पन्दनका अनुभव करता है। वायुभावको प्राप्त हुआ ब्रह्म ही स्वयं अपनेमें अपनी ही सत्तारूप प्रकाशभावका अनुभव करता है, जिसके भीतर रूपतन्मात्राका संस्कार उद्बुद्ध होता है। उसकी यह अनुभूति वैसी ही है, जैसे तेज प्राकट्य-का अनुभव करता है। वह तेजोमय ब्रह्म ही स्वयं अपनेमें अपनी ही सत्तारूप-जलभावका अनुभव करता है, जिसके भीतर रसतन्मात्राका संस्कार उद्बुद्ध होता है। उसकी यह अनुभूति वैसी ही है, जैसे जल अपनी द्रवताका अनुभव करता है। वह जल-रूपताको प्राप्त हुआ ब्रह्म ही अपने चित्तसे अभिन्नरूप पृथ्वीभावका अनुभव करता है, जिसके भीतर गन्धतन्मात्रा स्थित होती है। उसकी यह अनुभूति भी वैसी ही है, जैसे पृथ्वी अपनेमें स्थैर्य-कलाका अनुभव करती है।

जो नित्य एकरस प्रकाशसे युक्त है, सृष्टि और प्रलय जिसके भीतर हैं, जो जन्म और विनाशसे रहित, रोग-शोकसे शून्य तथा शुद्ध है, वह ब्रह्म बिना किसी आधारके अपने आपमें ही स्थित है। उस परमार्थ सत्य वस्तु (परब्रह्म परमात्मा) का यथार्थ ज्ञान होनेपर परम गतिरूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है। उक्त परमार्थ-वस्तु सृष्टियुक्त होनेपर भी सर्वथा सम (विषमतासे रहित) ही है।

जैसे अग्निमें जो प्रकाश है, वह उससे भिन्न न होनेपर भी भिन्न-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें जो यह जगत्‌रूपी प्रकाश है, वह उनसे भिन्न न होकर भी भिन्न-सा जान पड़ता है। भिन्नरूपसे दिखायी देना ही उसका असत्य रूप है और अभिन्नरूपसे दीखना ही उसके सत्य रूपका दर्शन है।

जैसे गीली मिट्टीमें अव्यक्तरूपसे खिलौने मौजूद हैं, जैसे काष्ठमें खुदाई करके प्रकट न की हुई कठपुतली मौजूद है और जैसे स्याहीके चूर्णमें अक्षर स्थित हैं, उसी तरह परब्रह्म परमात्मामें नाना प्रकारकी सृष्टियाँ विद्यमान हैं। यद्यपि ब्रह्म-तत्त्वरूपी मरुभूमिमें त्रिलोक-रूपिणी मृगतृष्णा असत्य ही है, तथापि मायावश सत्य-सी प्रतीत होती है। वह ब्रह्मसे अभिन्न होती हुई भी भिन्न-सी भासित होती है। जैसे दूधका मिठास, मिर्चका तीखापन, जलकी तरलता और पवनका स्पन्दन उससे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मामें यह सर्ग अनन्यभावसे स्थित है। उससे भिन्नरूपमें उसका कोई अस्तित्व नहीं है। परमात्मामें लीन होकर वह चिन्मात्र स्वरूपसे स्थित होता है, परमात्माका अपना ही स्वरूप धारण करता है। कोई भी वस्तु कहीं और कभी भी न तो प्रकट होती है और न लयको ही प्राप्त होती है। सब कुछ सुन्दर शिलाके घनीभूत स्वरूपकी भाँति शान्त, अनादि, निराकार, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है। जैसे जलके भीतर गुप्त और प्रकटरूपसे तरङ्ग आदि रहते हैं, उसी तरह जीवमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि शक्तियाँ गुप्त और प्रकट रूपसे विद्यमान रहती हैं। 'पुरुष जिस-जिस वस्तुकी ओरसे विरक्त होता है, उस-उससे मुक्त होता जाता है। (जो सब ओरसे निवृत्त हो जाता है, उसे अणुमात्र दुःखका भी अनुभव नहीं होता है।)' इस

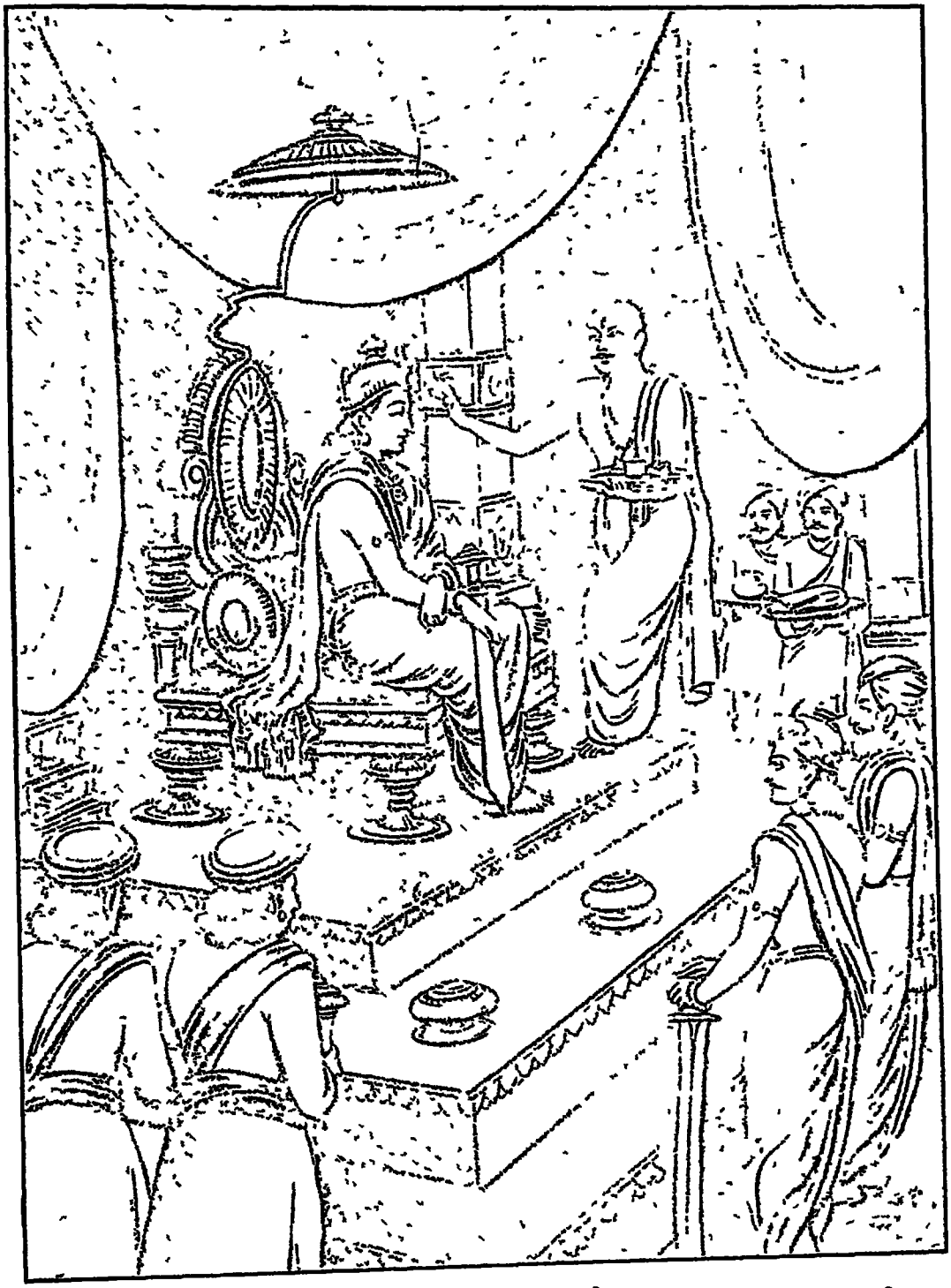

राजा सिन्धुका राज्याभिषेक (उत्पत्ति-प्रकरण सर्ग ५१)

स्मृति-वाक्यके अनुसार जो देह आदिमें अहंभावका अनुभव नहीं करता, ऐसा कौन मनुष्य जन्म-मरणरूपी भ्रमको प्राप्त होगा। परब्रह्ममें व्यष्टि जीव-रूपसे प्रकट हुई जो अद्वितीय चित्-सत्ता है, वह जलकी तरलताके भीतर व्यक्त हुई आवर्त (भँवर) की रेखाके समान है। वही अहंभावसे युक्त होकर इन तीनों लोकोंको धारण करती है। वास्तवमें तो परमात्माके भीतर न भद्रूप जगत् है और न असद्रूप। (सर्ग ६२)

जगत्‌की असत्ता या भ्रमरूपताका प्रतिपादन तथा नियति और पौरुषका विवेचन

श्रीवसिष्ठजी कहते है—रघुनन्दन ! ये वर्तमान, भविष्य और भूतकालकी सृष्टि-परम्पराएँ अपनी सत्ताको उसी प्रकार धारण करती हैं, जैसे जलकी तरलता अपने भीतर स्पष्ट रूपसे आवर्तोंकी परम्परा धारण करती है। जैसे महती मरुभूमिमें तटवर्ती वृक्षो और लताओंसे झड़ती हुई पुष्प-राशिसे परिपूर्ण लहराती नदी मिथ्या ही प्रतीत होती है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन परमात्मामें यह सृष्टि-सुषमा सर्वथा मिथ्या ही है। जैसे स्वप्नका संसार-इन्द्रजालका नगर और संकल्प या मनोरथद्वारा कल्पित जगत्—ये सब सत्य न होनेपर भी प्रतीतिके विषय होते है, उसी प्रकार सृष्टियोके अनुभवकी भूमि असत्य होनेपर भी प्रतीतिगोचर हो रही है।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—ज्ञानवानोमें श्रेष्ठ गुरुदेव ! पूर्वोक्त प्रकारसे भलीभाँति विवेक-विचार करनेपर जब एकमात्र अद्वितीय परब्रह्म परमात्माके साथ अपनी एकताका पूर्ण निश्चय हो जानेसे उत्कृष्ट एव सशयरहित आत्म-विज्ञान प्रकाशित हो जाता है, तब तत्त्वज्ञानियोंके भी शरीर यहाँ किसलिये टिके रहते हैं ? यदि कहे वे दैवके ही अधीन होकर रहते है तो ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि उन तत्त्वज्ञानियोंपर दैवका प्रभाव कैसे रह सकता है।*

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! ब्रह्मा आदि तत्त्वज्ञानियोंने अज्ञानियोंके बोधके लिये यह बताया है कि जो ब्रह्म है, वही नियति है और वही यह सर्ग है। स्फटिक-शिलाके भीतर प्रतिबिम्बित चित्रसमूहकी भाँति परमात्मामें स्थित हुए ब्रह्माने नियति (जीवोके अदृष्ट)-रूपी भावी सृष्टिको उसी तरह देखा है, जैसे सोया हुआ पुरुष अपनेमें स्वप्न-जगत्‌की कल्पनाके आधारभूत आकाशको देखता है। जैसे चेतन-स्वभाव होनेके कारण अङ्गी (देहधारी पुरुष) को शरीरमें अङ्ग आदि दिखायी देते हैं, उसी तरह 'कमलोद्भव' रूपसे प्रसिद्ध चिन्मय ब्रह्माको भी नियति आदि अङ्गोंके दर्शन होते है। यह नियति (प्रारब्ध) ही दैव नामसे कही गयी है, जो शुद्ध चेतन परमात्माकी शक्तिरूप है। यही भूत, भविष्यत् एवं वर्तमानकालमे सम्पूर्ण पदार्थोंको अपने अधीन करके जगत्‌की व्यवस्थारूपसे स्थित है। 'भविष्यमें अमुक पदार्थमें इस प्रकारकी स्फूर्ति होनी चाहिये, अमुकको भोक्ताका पद प्राप्त होना चाहिये, इसके द्वारा इस प्रकार और उसके द्वारा इस प्रकार अवश्य होना चाहिये' ऐसा विचार दैव ही करता है। यह दैव या नियति ही सम्पूर्ण भूत आदि अथवा काल-क्रिया आदि जगत् है। इस नियति या प्रारब्धसे ही पुरुषार्थकी सत्ता रक्षित होती है और पुरुषार्थसे ही इस प्रारब्धकी सत्ता सूचित होती है। जबतक तीनों भुवन हैं, तबतक प्रारब्ध और पुरुषार्थ—ये दोनो सत्ताएँ परस्पर अभिन्न-रूपसे स्थित हैं। मनुष्यको अपने पौरुषसे ही दैव और

* श्रुति कहती है—'तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषां स भवति' अर्थात् तत्त्वज्ञानीके पराभवमें देवता भी समर्थ नहीं; क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है। (बृहदारण्यक० १।४।१०)

पुरुषार्थ दोनोंको बनाना चाहिये। प्रारब्धके अनुसार अवश्य होनेवाला भोग होकर ही रहेगा—ऐसा निश्चय करके बुद्धिमान् पुरुष कभी पौरुषका त्याग न करे; क्योंकि प्रारब्ध पौरुषरूपसे ही नियामक होता है अर्थात् पूर्वजन्मोंमें किया गया पुरुषार्थ ही वर्तमान जन्ममें प्रारब्ध होकर यह नियम करता है कि अमुकको ऐसा ही होना चाहिये।

जो प्रारब्धके भरोसे मूक बनकर पौरुषशून्य एवं अकर्मण्य हो जाता है, वह कभी सुखी नहीं हो सकता। जो अकर्मण्य होकर बैठेगा, उसकी प्राण-वायुकी चेष्टा कहाँ चली जायगी। यदि निर्विकल्प समाधिमें चित्तको शान्ति प्रदान करनेवाला प्राणनिरोध करके पुरुष साधु होकर मुक्ति पा ही गया तो वह भी उसके पुरुषार्थका ही फल है। बिना पुरुषार्थके किस फलकी प्राप्ति बतायी जा सकती है? एकमात्र शास्त्रीय पुरुषार्थमें तत्पर होना कल्याणकारी श्रेष्ठ साधन है और कर्तृत्वका अत्यन्त अभावरूप मोक्ष सर्वश्रेष्ठ कल्याणमय फल है।

इन साधन और फलोंकी अपेक्षा ज्ञानियोंका पक्ष सबल है; क्योंकि उन ज्ञानी महात्माओंका प्रारब्ध-भोग दुःखरहित है। जो दुःखरहित प्रारब्ध-भोग है, वह यदि ब्रह्मसत्ताके प्रकाशमें स्थिर हो जाय तो निश्चय समझना चाहिये कि वह परम शुद्ध ब्रह्म, जिसे परम गति कहते हैं, प्राप्त हो ही गया। (सर्ग ६२)

ब्रह्मकी सर्वरूपता तथा उसमें भेदका अभाव, परमात्मासे जीवकी उत्पत्ति और उसके स्वरूपका विवेचन, परमात्मासे ही मनकी उत्पत्ति, मनका भ्रम ही जगत् है—इसका प्रतिपादन तथा जीव-चित्त आदिकी एकता

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! यह जो ब्रह्म-तत्त्व है, वह सर्वथा, सर्वदा, सब ओरसे सर्वशक्तिमान्, सर्वस्वरूप, सर्वेश्वर, सर्वव्यापी और सर्वमय ही है। वह जब, जहाँ, जिसकी, जिस प्रकारसे भावना करता है, तब वहाँ उसीको प्रत्यक्ष देखता है। सर्वशक्तिमान् परमात्मासे जो-जो शक्ति जैसे उदित होती है, वह उसी प्रकार रहती है। ऐसी स्थितिमें वह शक्ति स्वभावसे ही नाना प्रकारके रूपवाली है। परमार्थ-दृष्टिसे ये सारी शक्तियाँ यह आत्मा ही है अर्थात् शक्ति और शक्तिमान् परमात्मामें कोई भेद नहीं है। बुद्धिमानोंने लौकिक व्यवहारकी सिद्धिके लिये इस प्रकार भेदरूप संसार-जालकी कल्पना की है। वस्तुतः परमात्मामें भेद नहीं है। जैसे समुद्रमें छोटी-बड़ी लहरोंका और समुद्रका; कंगन, बाजूबंद और केयूरके साथ सोनेका तथा अवयव और अवयवीका भेद वास्तविक नहीं है, उसी प्रकार आत्मामें द्वैत अथवा भेद वास्तविक नहीं है, कल्पना करनेवाले पुरुषकी बुद्धिसे कल्पित है। परमार्थ-दृष्टिसे देखा जाय तो यह सम्पूर्ण आकारोंसे युक्त विस्तृत प्रपञ्च सर्वव्यापी ब्रह्म ही है। मिथ्या ज्ञानवाले लोगोंने ही शक्ति और शक्तिमान्के तथा अवयव और अवयवीके भेदकी कल्पना कर रक्खी है। यह भेद यथार्थ नहीं है। सत् हो या असत्, सच्चिदानन्दघन परमात्मा जिस सदसद्-वस्तुका संकल्प अथवा अभिनिवेश करता है, उसी-उसीको देखता है। वास्तवमें सब वस्तुओंके रूपमें वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही भासित हो रहा है।

श्रीराम! यह जो सर्वव्यापी, स्वयम्प्रकाश, आदि-अन्तसे रहित, सबका महान् ईश्वर, स्वानुभवानन्दस्वरूप, शुद्ध, सच्चिदानन्दघन परमात्मा है, इसीसे पहले जीव उत्पन्न हुआ है। वही उपाधिकी प्रधानतासे चित्त कहलता है और चित्तसे यह जगत् उत्पन्न हुआ है।

रघुनन्दन! जिसमें प्रतीत होनेवाला दृश्य-प्रपञ्च असत्

है, वह शुद्धस्वरूप ब्रह्म यहाँ सर्वत्र व्यापक है। वह बृहद् ब्रह्म अनात्मयोगी पुरुषोंके लिये भीषण है और आत्मवेत्ताओंके लिये अविनाशी सच्चिदानन्दघन है। उसका जो सर्वत्र सम, परिपूर्ण, शुद्ध, चिह्नरहित सत्-स्वरूप है, वही शान्त परमपद है। ज्ञानी भी उसके स्वरूपका इदमित्थंरूपसे निर्देश नहीं कर सकते। उसीका चेतन अंश, जो स्वभावतः स्पन्दनशील (प्राण धारण करनेवाला) है, जीव कहलाता है। उत्तम दर्पणरूपी उस चेतन आकाशमें ये असंख्य जगत्-जालकी परम्पराएँ प्रतिबिम्बित होती रहती हैं। जैसे चलना या गतिशील होना वायुका स्वभाव है, उष्णता अग्निका स्वभाव है अथवा शीतलता हिमका स्वभाव है, उसी प्रकार जीवत्व आत्मा (व्यष्टि-चेतन) का स्वभाव है। व्यष्टिचेतनघन जो आत्मतत्त्व है, उसकी स्वयं अपने स्वरूपके अज्ञानके कारण जो अल्पज्ञता है, उसीको जीव कहा गया है। कोई पुण्यात्मा पुरुष दिव्य देह आदिकी भावना करनेसे शीघ्र ही देवता आदिके शरीरको प्राप्त होता है। उस देहमें रहकर वह गन्धर्वों या अन्य देवताओंसे सुरक्षित नगर (अमरावती आदि) में निवास करता है। अपने संकल्पके अनुसार कोई पुरुष वृक्ष आदि स्थावर योनिको प्राप्त होता है, कोई जङ्गम योनिमें जन्म ग्रहण करता है तथा कोई पक्षी आदि खेचर प्राणियोंका रूप धारण करता है। इस प्रकार जन्म और मृत्युके कारण बने हुए अपने कर्मोंसे जीव ऊपर या नीचे जाते हैं (ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म ग्रहण करते हैं)।

श्रीराम ! परम कारणरूप परमात्मासे ही पहले मन उत्पन्न हुआ है। मनन ही उसका स्वरूप है। भोगोंसे भरा हुआ जो यह विस्तृत जगत् है, वह मनमें ही है। वह मन भी उस परम कारणरूप परमात्मामें ही स्थित है। वह भाव और अभावके झूलेमें झूलता रहता है। जैसे पहले अनुभवमें आयी हुई सुगन्ध याद करनेपर मनोरथके द्वारा देखी जाती है, उसी प्रकार उस मनके द्वारा सत् और असत्‌रूपसे प्रतीत होनेवाली यह सृष्टि देखी जाती है। परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर ब्रह्म, जीव, मन, माया, कर्ता, कर्म और जगत्‌की प्रतीतियोंका कोई भेद नहीं रह जाता। सब द्वैतोंके एकमात्र आश्रय परमात्मा ही स्थित रहते हैं। जिसके विस्तारका कहीं आर-पार नहीं है, उस संवित्‌रूपी जलके असीम प्रसारोंसे चिन्मय एकार्णवरूप यह आत्मा स्वयं विस्तारको प्राप्त होता है। क्षणिक होनेके कारण असत्य तथा प्रतीत होनेके कारण सत्य यह मनोमय जगत् स्वप्नके समान सदसद्‌रूप है। वास्तवमें यह जगत् न तो सत् है, न असत् है और न उत्पन्न ही हुआ है। यह तो केवल चित्तका भ्रम है। जैसे अच्छी तरह न देखनेके कारण ठूँठे काठमें झूठे ही पुरुषकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार अविद्यायुक्त मनके प्रभावसे यह संसार नामक दीर्घकालीन स्वप्न अज्ञानियोंको स्थिर-सा प्रतीत होता है। जैसे चेतन परमात्मा और जीवमें भेद नहीं है, उसी तरह जीव और चित्तमें भी भेद नहीं है और जैसे जीव तथा चित्तमें भेद नहीं है, उसी तरह देह और कर्ममें भी भेद नहीं है। वस्तुतः कर्म ही देह है; क्योंकि देहसे ही कर्म होते हैं। देह ही चित्त है, चित्त ही अहंकारविशिष्ट जीव है। वह जीव ही चेतन परमात्मा है तथा वह परमात्मा सर्वस्वरूप एवं कल्याणमय है। यह शास्त्रका सारा सिद्धान्त एक पद्यमें ही कह दिया गया है। (सर्ग ६३-६५)

चित्तका विलास ही द्वैत है, त्याग और ज्ञानसे ही अज्ञानसहित मनका क्षय होता है—इसका प्रतिपादन तथा भोक्ता जीवके स्वरूपका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! जैसे एक दीपकसे सैकड़ों दीपक जल जाते हैं, उसी तरह एक ही परम वस्तु चेतन आत्मा अपने संकल्पसे पुनः नानात्वको प्राप्त हुआ है। मनुष्य चित्तमात्र ही है। चित्तके हट जानेपर

यह जगत् शान्त हो जाता है। जिस पुरुषके पैर जूतेसे ढके होते हैं, उसके लिये मानो सारी पृथ्वीपर ही चमड़ा बिछा हुआ है; इसी प्रकार जिसका चित्त शान्त है, उसके लिये सारा जगत् ही शान्त हो गया। जैसे केलेके वृक्षमें पत्तोंको छोड़कर और कुछ भी सार नहीं रहता, उसी प्रकार जगत्में भ्रमके सिवा और कुछ भी सार तत्त्व नहीं है। जीव जन्म लेता है; फिर क्रमशः बाल्यावस्था, युवावस्था, वृद्धावस्था तथा मृत्युको प्राप्त होता है। तत्पश्चात् वह शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार स्वर्ग और नरकमें पहुँचता है। यह सब भ्रमवश चित्तका नृत्य अर्थात् संकल्पमात्र है। जैसे मलदोषसे मलिन नेत्र चन्द्रमा आदिमें दो-दो आकृतियाँ देखता है, वैसे ही भ्रमसे आक्रान्त हुआ जीवात्मा परमात्मामें द्वैत देखता है (जीव और ईश्वरमें भेदका दर्शन करता है)। जैसे मदिरा पीकर मतवाला हुआ मनुष्य नशेके कारण वृक्षोंको घूमते देखता है, उसी प्रकार जीवात्मा चित्तद्वारा कल्पित संसारोंका दर्शन करता है। जैसे बालक खेल-कूदमें वेगसे घूमनेके कारण सारे जगत्को कुम्हारके चाककी भाँति घूमता देखते हैं, उसी प्रकार जीव चित्तके भ्रमसे ही इस दृश्य-जगत्को देखते हैं—यों समझो। जिस पदार्थका चेतन अनुभव करता है, वह चेतनसे अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है। इस प्रकार दृश्यकी शान्ति होनेपर विषय न रहनेसे ईंधनरहित अग्निके समान चित्त स्वयं शान्त हो जाता है। जब पुरुष सच्चिदानन्दघन परमात्मासे एकताको प्राप्त होकर निश्चल स्थितिमें स्थित हो जाता है, तब वह शान्त होकर बैठे या व्यवहारमें लगा रहे —दोनों ही अवस्थाओंमें भलीभाँति शान्त कहा जाता है। व्यष्टि-चेतन अज्ञानी जीव विषयका अनुभव करता है, परंतु सच्चिदानन्दघनमें एकीभावको प्राप्त ज्ञानी महात्मा विषयका आस्वादन नहीं करता।

परमपदमें आरूढ़ और सच्चिदानन्दघन परब्रह्ममें एकीभावको प्राप्त हुए पुरुषका 'देहके भानसे शून्य' और 'निर्विषय' आदि समानार्थक शब्दोंद्वारा वर्णन होता है। जीवात्मा चित्तके संकल्पद्वारा ही स्थूलताको प्राप्त होता है और 'मैं उत्पन्न हूँ, जीवित हूँ, देखता हूँ तथा (जन्म-मृत्युरूप) संसारको प्राप्त होता हूँ' इत्यादि रूपसे मिथ्या-भ्रमका दर्शन करता है। चेतनके द्वारा जिस किसीका अनुभव होता है, वही स्थूल जगत् है। रज्जुमें सर्पकी भाँति प्रतीत होनेवाले उस आभासको अविद्या—भ्रम कहते हैं। इस संसार नामक व्याधिकी चिकित्सा एवं निवारण केवल ज्ञानमात्रसे ही सम्भव है। यह संसार चित्तका एक संकल्पमात्र है। इसके बाधमें किसी प्रकारका आयास नहीं है। जैसे अच्छी तरह देखभाल करनेसे रस्सीमें साँपका भ्रम मिट जाता है, उसी प्रकार परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे यह संसार-रूपी भ्रम अवश्य नष्ट हो जाता है।

श्रीराम! जिस वस्तुकी अभिलाषा हो, उसीका निश्चित रूपसे त्याग करके यदि रहा जा सके, तब तो मोक्ष प्राप्त ही है। इतना करनेमें कौन-सी कठिनाई है। परमात्माकी प्राप्ति-रूप महान् उद्देश्यसे सम्पन्न पुरुष जब इस संसारमें अपने प्राणोंका भी मोह तिनकेके समान त्याग देते हैं, तब जिस सांसारिक वस्तुकी इच्छा की गयी है, केवल उसीका त्याग करनेमें कंजूसी कैसे की जा सकती है। जैसे हाथमें रक्खा हुआ बेलका फल अथवा सामने खड़ा हुआ पर्वत प्रत्यक्ष ही दिखायी देता है, उसी प्रकार उस तत्त्वज्ञ महात्माके लिये परमात्माका जन्म आदि विकारोंसे रहित होना प्रत्यक्ष ही है। जैसे प्रलयकालका अनन्त अपार एकार्णव अपनी असंख्य तरङ्गोंके कारण अनेक-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार अप्रमेय परमात्मा ही अज्ञानके कारण जगत्रूपसे प्रतीत हो रहा है। उसके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जाय तो वही मोक्षरूप सिद्धि प्रदान करता है; परंतु जो उसे तत्त्वतः जान नहीं लेता, उसका मन सदा बन्धनमें ही पड़ा रहता है।

रघुनन्दन! ब्रह्म सदा सम्पूर्ण शक्तियोंसे सम्पन्न तथा सब कुछ करनेमें समर्थ है। वह जहाँ जिस शक्तिसे

स्फुरित होता है, वहाँ अपनेमें उसी शक्तिको प्राप्त हुई देखता है। सबका आत्मा ब्रह्म अनादिकालसे जिस व्यष्टि-चेतनको स्वयं जानता है, वही यहाँ जीव नामसे कहा गया है और वह जीव ही संकल्प करनेवाला है। जीव-ईश्वरका अनादिकालसे जो स्वाभाविक भेद है, वही जीवके जन्म-मरणमें कारण है। जैसे आकाशमें क्रियाशील और अक्रिय वायु ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है, उसी तरह यहाँ सर्वत्र क्रियाशील और अक्रिय सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है। उससे अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उस ब्रह्मके क्रियाशील होनेपर सृष्टिका प्रादुर्भाव होता है और अक्रिय रहनेपर सबका प्रलय हो जाता है। उस अवस्थामें ब्रह्म ही शान्तभावसे स्थित रहता है। जिसने जीव-ईश्वरके भेदकी कल्पना कर रक्खी है, ऐसे जीवात्माको ही देहकी प्राप्ति होती है। वह जीवात्मा ही संसारमें संकल्पसे नाना प्रकारके विषयोंको प्राप्त होता है। यही नाना योनियोंको प्राप्त जीवात्मा ज्ञान होनेपर शीघ्र मुक्त हो जाता है। उनमेंसे कोई मन्द अभ्यासी तो साधन करते-करते हजारों जन्मोंमें मुक्ति प्राप्त करता है और कोई तीव्र अभ्यास करनेवाला पुरुष एक ही जन्ममें मुक्ति लाभ कर लेता है। स्वभावके कारण ही जीवात्मा ब्रह्म और जीवके भेदभावको प्राप्त हो रहा है। इसीसे वह गुणोंका सङ्ग पाकर कर्मानुसार स्वर्ग, मोक्ष, नरक और बन्धन आदिके हेतुभूत देहभावको क्रमशः प्राप्त होता है। वास्तवमें यह संसार न तो उत्पन्न हुआ है और न यह सत्तावान् होकर स्थित ही है, तथापि मनका भ्रम इसे देखता है। जैसे गोलाकार घूमने या नृत्य करनेसे भ्रमपीड़ित पुरुष नगरको भी घूमता हुआ-सा देखता है, उसी तरह मनके भ्रमसे युक्त जीवात्मा 'मैं उत्पन्न हुआ, स्थित रहा और मरा' इत्यादि भावोंका अनुभव करता है। परमार्थ-वस्तुका दर्शन न होनेके कारण आशा-तृष्णाके वशीभूत हुआ चित्त 'अहं-मम' इत्यादि रूपसे अनुभवमें आनेवाले असत् संसारको ही देखता (और उसे सत् मानता) है।

श्रीराम ! जैसे जल तरङ्गरूपसे स्फुरित होता है, उसी तरह केवल मनकी भ्रान्तिके उल्लास (उत्कर्ष) से विस्तारको प्राप्त हुआ यह सभी दृश्य-प्रपञ्च जगत्‌रूपसे भासित होता है। व्यष्टि-चेतन ही बुद्धि-वृत्तिके संयोगसे जीव कहलाता है। वह जीव ही सकल्प करनेसे मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा मायाके रूपमें परिणत हो जाता है। जैसे स्वप्नमें जो नगर आदिका भान होता है, वह मनका भ्रम ही है, उसी तरह यह संसार भी चित्तका भ्रम ही है। व्यष्टि-चेतनको जो संसारका ज्ञान है, वही जागरण कहा गया है। सूक्ष्म शरीरमें जो उसका अहंभाव है, उसीको स्वप्न माना गया है। मनका जो प्रकृतिमें विलीन हो जाना है, वही सुषुप्ति है तथा केवल सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें जो एकीभावसे तन्मय हो जाना है, उसीको तुरीयावस्था कहते हैं। अत्यन्त शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मामें जो अविचल स्थिति है, वही परिणाममें विकार-रहित तुरीयातीत पद है। उस पदमें स्थित पुरुष कभी शोक नहीं करता (वहाँ शोकका सर्वथा अभाव है)। उस परमात्मामें ही यह सब जगत् सम्पन्न होता है (उसीमें स्थित रहता है) और उसीमें लीन हो जाता है। वास्तवमें न तो यह ब्रह्म जगत्‌रूप है और न उस ब्रह्ममें जगत् ही है। जैसे नेत्रदोषके कारण आकाशमें भ्रमसे मोतीके दाने-से दीखते हैं, वैसे ही ब्रह्ममें भ्रमसे इस जगत्‌का दर्शन होता है। जैसे स्फटिकके भीतर प्रतिबिम्बित वन आदि उसके यथार्थ ज्ञानके बिना सत्य-से दीखते हैं, उसी तरह यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण अद्वितीय ब्रह्मरूप होता हुआ भी यह जगत् शुद्ध ब्रह्मके भीतर नाना-सा प्रतीत होता है। ब्रह्मासे लेकर कीट-पतंग-पर्यन्त बुद्धिवृत्तिका भ्रमरूप जगत् असत् ही है; क्योंकि परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर इसका बाध हो जाता है। यह जगत् मिथ्या ही उत्पन्न हुआ है, मिथ्या ही बढ़ता है, मिथ्या ही रुचिकर प्रतीत होता है और मिथ्या ही लयको प्राप्त होता है; शुद्ध सर्वव्यापी ब्रह्म अनन्त और

अद्वितीय है। अज्ञानसे ही वह अशुद्ध-सा, असत्-सा, नाना-सा और असर्वव्यापी-सा (सीमित-सा) ज्ञात होता है। जैसे जल भिन्न है और तरङ्ग उससे भिन्न है—ऐसी जो बालकों अथवा मूर्खोंकी कल्पना है, उसीसे जल और तरङ्गमें मिथ्या भेदकी प्रतीति होती है, उसी तरह जो यह जगत्का भेद प्रतीत होता है, वह भी वास्तविक नहीं है। केवल अज्ञानियोंने उसकी कल्पना कर रक्खी है। जैसे रस्सीमें सर्पकी स्थिति है, वैसे ही ब्रह्ममें शत्रु और मित्रके समान विरुद्ध और अविरुद्ध भेदाभेद शक्तियोंकी स्थिति सम्भव है। (सर्ग ६६—७९)

परमात्मसत्ताका विवेचन, बीजमें वृक्षकी भाँति परमात्मामें जगत्की त्रैकालिक स्थितिका निरूपण तथा ब्रह्मसे पृथक् उसकी सत्ता नहीं है—इसका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! नामरहित तथा मन और नेत्र आदि छः ज्ञानेन्द्रियोंसे अगम्य होनेके कारण आकाशसे भी सूक्ष्म चिन्मात्र परमात्मा ही 'अणु' शब्दसे कहा गया है। अणुके भी अणु सच्चिदानन्दघन परमात्माके अदर अज्ञानियोंकी दृष्टिसे सत्-सा और ज्ञानियोंकी दृष्टिसे असत्-सा स्थित हुआ यह जगत् बीजके भीतर वृक्षकी सत्ताके समान स्फुरित होता है। सम्पूर्ण वस्तुओंकी सत्ता वास्तविक सत्ताके अधीन है; उसको यदि और किसीके अधीन मानें तो भूल होगी। अतः स्वतःसिद्ध वास्तविक सत्तासे ही सबकी सत्ता है। यह परम आकाशरूपी परमात्मा सूक्ष्म होनेके कारण नेत्रेन्द्रियका विषय नहीं है। सर्वात्मक होता हुआ भी वह मनसहित पाँचों इन्द्रियोंसे अतीत होकर स्थित है, अनः अणुका भी अणु है। सर्वात्मक होनेके कारण ही वह कभी शून्य नहीं हो सकता। क्योंकि 'वह है, नहीं है'—ऐसा कहने और मनन करनेवाला पुरुष आत्मा ही तो है; फिर उसकी असत्ता कैसे कही जा सकती है। किसी भी युक्तिसे यहाँ सत् वस्तुकी असत्ता नहीं सिद्ध की जा सकती। जैसे कपूर अपनी सुगन्धसे प्रतीत होता है, वैसे ही सर्वात्मा सर्वव्यापीरूपसे अनुभवमें आता है। अणुका-भी-अणु चेतन परमात्मा ही सब कुछ है। मन और इन्द्रियोंकी वृत्तिसे नानात्वकी प्रतीति होनेके कारण मनःपरिच्छिन्नरूपसे ही वह सर्वात्मक है और इन्द्रियातीत होनेके कारण वह निर्मल परमात्मा नित्य सत्तावान् होकर भी कुछ प्रतीत नहीं होता—इन्द्रियोंका विषय नहीं होता। वही एक है और सम्पूर्ण जीवोंके अन्तःकरणमें आत्मारूपसे अनुभूत होनेके कारण अनेक भी है। वही अपने संकल्पसे इस सम्पूर्ण जगत्को धारण करता है। अतः जगत्रूपी रत्नोंका कोष भी वही है।

जैसे जिसका मुँह बंद है, ऐसे घड़ेको अन्य देशमें ले जानेपर उसमें स्थित आकाशका गमन और आगमन नहीं होता, उसी प्रकार देहरूपी उपाधिके गमनागमनसे आत्माका गमनागमन नहीं हो सकता। चिन्मय परमात्मा अपनी चेतनसे सूर्य आदिके प्रकाशका भी प्रकाशक है और महाकल्पके प्रलयकालीन मेघोंसे भी वह नष्ट नहीं होता; क्योंकि वह स्वयम्प्रकाशरूप एवं अविनाशी है। वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म नेत्रोंसे नहीं देखा जा सकता; क्योंकि वह अनुभवरूप, हृदय-मन्दिरको प्रकाशित करनेवाला, सबको सत्ता देनेवाला, अनन्त और परम प्रकाशस्वरूप बताया गया है। आकाश आदि देश, काल और क्रिया आदिकी सत्ता एवं जगत् उसी ज्ञानस्वरूप परमात्मामें प्रतीत होते हैं। वही सबका स्वामी, कर्ता, पिता और भोक्ता है। वास्तवमें परमात्मा होनेके कारण उसका किसीसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। न निमेष है न कल्प है, न सामीप्य है और न दूरी ही है। चेतन परमात्माका संकल्प ही अन्यान्य वस्तुओंके रूपमें

स्थित है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस प्रकार जगत्‌के मिथ्यात्वका उपपादन करनेवाले न्यायों (युक्तियों) की बारंबार भावनारूप अभ्यासके द्वारा निर्मल हुए मनसे जिसने पारमार्थिक वस्तु ब्रह्मका दर्शन कर लिया है, उस पुरुषकी अविद्याका नाश हो जानेके कारण चिदाकाशमें उसे फिर संसारकी प्रतीति नहीं होती। जैसे बीजके भीतर स्थित हुए वृक्षकी सत्ता अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण आकाशके तुल्य है, उसी तरह ब्रह्मके भीतर स्थित हुए जगत्‌का परमात्मा साक्षी है; इसलिये जगत्‌का साक्षीसे पृथक् प्रतीति न होनेके कारण सच्चिदानन्दरूपसे ही उसकी स्थिति है। शान्त, सर्वात्मक, जन्मरहित, अद्वितीय, आदि और मध्यसे शून्य, निर्द्वन्द्व, मायाके कार्यसे रहित, जगद्रूपमें नाना-सा प्रतीत होता हुआ भी वास्तवमें एक, विशुद्ध, ज्ञानस्वरूप, अजन्मा, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है। उसमें किसी प्रकारकी कोई कल्पना किसी तरह भी सम्भव नहीं है।

जगत्‌की प्रतीतिका अभाव ही जिस (परमात्मा) के स्वरूपका परम अनुभव है, सम्पूर्ण संकल्पोंका त्याग ही चित्तके द्वारा जिसका संग्रह (चिन्तन) है, जिसके संकोचसे संसारका प्रलय और विकाससे उसकी सृष्टि होती है, जो वेदान्त-वाक्योंका परम तात्पर्य एवं वाणीका अविषय है, यह चराचर जगत् जिसकी चिन्मयी लीला है तथा विश्वरूप होनेपर भी जिसकी अखण्डता कभी खण्डित नहीं होती, वही सन्मात्र शाश्वत ब्रह्म कहा गया है। वह अणुसे भी अणु परमात्मा अपने संकल्पसे वायु होता है। किंतु उसकी वह भ्रमरूपता भ्रान्तदृष्टिमूलक है, अतः वास्तवमें वह वायु आदि कुछ भी नहीं है, केवल शुद्ध चेतन ही है। वही परमात्मा शब्दके संकल्पद्वारा शब्द बनता है; किंतु उसकी शब्दरूपताका दर्शन भ्रममूलक है। वास्तवमें तो वह शब्द और शब्दार्थकी दृष्टिसे बहुत दूर है। उस परमात्माकी प्राप्तिके सैकड़ों साधन हैं। उसके प्राप्त होनेपर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। वही परम प्राप्तव्य है। उसके सिवा कुछ भी नहीं है।

जो अणुका भी अणु, केवल चिन्मय और अत्यन्त सूक्ष्मतम है, उस परमात्मासे यह सम्पूर्ण विश्व सब ओरसे परिपूर्ण है। अणुरूप होता हुआ भी यह परमात्मा सैकड़ों—अनन्त योजनोंमें नहीं समाता; क्योंकि वह सर्वव्यापी, अनादि और रूपरहित होनेके कारण निराकार है। जैसे मेरु पर्वतकी सरसोंके साथ तुलना करना उचित नहीं, उसी तरह शुद्ध ज्ञानमय चेतनाकाशरूप परमात्माकी परमाणुके साथ तुलना करना शोभा नहीं देता। जैसे प्रतिबिम्ब दर्पणमें ही पड़ता है, उसी प्रकार जलमें जो कोई भी सम्पूर्ण रस है, वह परमात्माका ही आश्रय लेकर स्थित है। परमात्माके बिना स्वतः उसकी कोई सत्ता नहीं है। जिसने सकल्प-रहित होनेपर इस जगत्‌को त्याग दिया—इसका अभाव कर दिया है और अपने संकल्पसे ही पुनः सम्पूर्ण जगत्‌को उत्पन्न किया है, जगत्‌का अभाव करनेवाले उस अणुसे भी अणु चिन्मय परमात्माने इस समस्त विश्वको व्याप्त कर रक्खा है। जैसे सपनेमें एक ही निमेषमें बाल्यावस्थासे लेकर बुढ़ापेतकका बोध होता है, उसी प्रकार उस सूक्ष्म चिन्मय परमात्मामें निमेषादिका ज्ञान ही सहस्रों कल्पोंके समान प्रतीत होता है। इसलिये वह सूक्ष्म परमात्मा निमेषरूप होता हुआ ही शतकोटि कल्पोंका समूह है। अणुसे-भी-अणु सच्चिदानन्दघन परमात्मामें सम्पूर्ण जगत् स्थित है और उसीसे जगत्‌की सारी प्रतीतियाँ होती हैं।

जैसे बीजमें भावी वृक्ष रहते हैं, वैसे ही चिन्मय परमात्मामें भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंके प्राणी सदा विद्यमान रहते हैं। यह परमात्मा सम्पूर्ण जगत्‌में उदासीनकी भाँति स्थित है। कर्तापन और भोक्तापनसे उसका थोड़ा-सा भी स्पर्श या सम्बन्ध नहीं है। परमात्मा इस जगत्‌के बाहर भी स्थित है और

भीतर भी---यह बात तीनों लोकोंमें अधिकारी प्राणियोंके उपदेशके लिये कही जाती है। यह बाह्य और आन्तरिक स्थितिका भेद 'शब्द'तक ही सीमित है, वस्तुमें नहीं है; क्योंकि वस्तु चेतनरूप है, अतः उसमें उक्त भेदका होना कदापि सम्भव नहीं। द्रष्टा परमात्मा दृश्य जगत्का रूप नहीं धारण कर सकता; क्योंकि दृश्यत्व असत् एव वास्तविक है। जो कोई भी वस्तु परमात्मामें है ही नहीं, परमात्मा उसका स्वरूप कैसे धारण कर सकता है। व्यवहारदृष्टिसे द्रष्टा ही दृश्यभावको प्राप्त होता है। जैसे पिताके बिना पुत्र और भोक्ताके बिना भोग्य नहीं है, उसी प्रकार दृश्यके बिना द्रष्टापन नहीं है।

जैसे विशुद्ध सुवर्णमें यह सामर्थ्य है कि उसका कंगन आदि बन सके, उसी प्रकार चित्-मय होनेके कारण द्रष्टामें यह शक्ति है कि वह दृश्यका निर्माण कर सके। जैसे सोनका कड़ा यह सामर्थ्य नहीं रखता कि वह सुवर्णका निर्माण कर सके, उसी प्रकार जड होनेके कारण दृश्यमें यह शक्ति नहीं है कि वह द्रष्टाका निर्माण कर सके। जैसे सुवर्ण कंगनके भ्रमको उत्पन्न करता है, उसी प्रकार चिन्मय परमात्मा दृश्यका निर्माण करता है। उक्त दृश्य असत् होता हुआ भी अज्ञानवश सत्-सा प्रतीत होता है। दृश्य अज्ञानमात्रसे उत्पन्न है। जबतक कारणभूत अज्ञान रहता है तभीतक उसकी स्थिति रहती है। जैसे कड़े और कंगन आदिकी प्रतीतिके समय सुवर्णकी सुवर्णता सत्य होनेपर भी स्फुटरूपसे स्फुरित नहीं होती, क्योंकि मूढ़ पुरुषकी बुद्धि उक्त आभूषणके नाम-रूपमें ही उलझी रहती है, उसी प्रकार द्रष्टाके दृश्यरूपमें स्थित होनेपर उसके वास्तविक स्वरूपकी स्फूर्ति नहीं होती। जैसे कंगनके रूपमें प्राप्त होनेपर सुवर्ण अपनी पूर्वसिद्ध सुवर्णताको लक्ष्य कराता है, वैसे ही दृश्यरूपमें स्थित हुआ द्रष्टा अपने द्रष्टापनको लक्षित कराता है। द्रष्टा जब अज्ञानवश अपनेको दृश्यरूपमें देखता है, तब अपने वास्तविक स्वरूपको नहीं देख पाता। द्रष्टामें दृश्यत्वकी प्राप्ति होनेपर उसकी सत्ता भी असत्ता-सी हो जाती है अर्थात् वह सद्रूप होनेपर भी असत्-सा भासित होने लगता है। परंतु जब ज्ञानसे दृश्य गलित हो जाता है, तब केवल द्रष्टाकी ही सत्ता रह जाती है। जैसे कड़े और कंगनको गला देनेपर जब उसके नाम-रूपकी प्रतीति नहीं रहती, तब केवल सुवर्णकी सुवर्णता ही रह जाती है।

जैसे जल, भूमि आदि पाँच भूतोंसे भौतिक पदार्थ तनिक भी पृथक् नहीं है, उसी प्रकार इस स्वभावसिद्ध परमात्मारूप अणुसे कुछ भी पृथक् नहीं है। परमात्मा सर्वव्यापी अनुभवरूप है तथा सबका अनुभव भी उसीका स्वरूप है; अतः एकत्वके यथार्थ अनुभवकी युक्ति जब सुदृढ़ हो जाती है, तब इस परमात्माकी सबके साथ एकता समझमें आती है। परमात्मा दिशा, काल आदिसे सीमित नहीं है। वह एकमात्र, अद्वितीय है। सबका आत्मा होनेके कारण सबसे अभिन्न है। स्वतः तो वह सर्वानुभवरूप ही है, जड नहीं है।

जैसे कड़े या कंगनकी सत्ता सुवर्णसे पृथक् नहीं है, उसी प्रकार द्वैत भी ब्रह्मसे अलग नहीं है—जिसे भलीभाँति ऐसा ज्ञान हो चुका है, उसका वह ज्ञान ही द्वैत है और वह ज्ञान सत् नहीं है। जैसे जलकी द्रवता जलसे, वायुका स्पन्दन वायुसे तथा आकाशकी शून्यता आकाशसे अलग नहीं है, वैसे ही द्वैत परमात्मासे पृथक् नहीं है। द्वैत और अद्वैतकी प्रतीति दुःखरूप प्रवृत्तिकी सिद्धिके लिये ही है, निवृत्तिके लिये नहीं। वास्तवमें जो इन दोनोंकी अनुपलब्धि या अप्रतीति है, वह यदि अच्छी तरह समझमें आ जाय तो ज्ञानी पुरुष उसीको परमपद मानते हैं। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय-रूप तथा द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप जो यह सम्पूर्ण जगत् है, वह अणुसे-भी-अणु चेतन परमात्माके स्वरूपमें ही स्थित है। जैसे वायु अपने शरीरमे ही स्पन्दनको उत्पन्न करती और लीन भी कर लेती है,

उसी प्रकार अणुसे भी अणु परमात्माने अपने स्वरूपमें इस जगत्‌रूपी अणुको अनेक बार उत्पन्न और विलीन किया है। जैसे बीजके भीतर फल और पल्लवोंसहित समूचे वृक्षका विस्तार निहित है और वह अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाता है, उसी तरह चेतन परमात्मामें अनेक शाखा-प्रशाखाओंसे युक्त जगत् स्थित है और वह परमार्थ-दृष्टिसे उन्हींमें देखनेमें आता है (इसलिये जगत् वास्तवमें परमात्मासे अभिन्न ही है)। जैसे बीजके भीतर अपने शाखा, फल, फूल आदिका त्याग न करता हुआ वृक्ष स्थित है, वैसे ही चेतन परमात्मामें यह शाखा-प्रशाखाओं-सहित विशाल जगत् विद्यमान है। जैसे बीजके भीतर वृक्ष है, उसी प्रकार चेतन परमात्माके भीतर स्थित हुए द्वैतरूप जगत्‌को जो अद्वैत देखता है, उसीका देखना तत्त्वदर्शन है। वास्तवमें तो न द्वैत है न अद्वैत; न बीज है न अङ्कुर; न स्थूल है न सूक्ष्म; न जात है न अजात; न सत्ता है न असत्ता और न यह सौम्य है न क्षुब्ध। उस चेतन परमात्माके भीतर तीनों लोक, आकाश और वायु आदि भी कुछ नहीं हैं। न जगत् है, न उसका अभाव। केवल एक सर्वोत्कृष्ट उत्तम चेतन परमात्मा ही है। (सर्ग ८०–८३)

जगत्‌की ब्रह्मसे पृथक् सत्ताका खण्डन, भेदकी व्यावहारिकता तथा चित्तकी ही दृश्यरूपताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! परमकारणभूत, आदि, अन्त और मध्यसे रहित, एक परमपदसे यद्यपि यह जगत् उत्पन्न नहीं हुआ है, तथापि उत्पन्न हुआ-सा प्रतीत होता है। जैसे जलराशिमें उठती हुई तरङ्गें जलसे भिन्न न होकर भी भिन्न-सी स्थित हैं, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मामें सारी सृष्टियाँ अभिन्न होकर भी भिन्न-सी जान पड़ती हैं। जो नित्य उदित एवं नित्य प्रतिष्ठित है, वह ब्रह्म ही कर्ता-सा होकर इस जगत्‌का अनेक रूपोंमें निर्माण करता है। फिर भी वह अपनी समता और सौम्यता आदिका त्याग नहीं करता। जैसे बीजमें वृक्ष एवं फल आदि अभिन्नरूपसे ही स्थित हैं, तथापि वे उससे इस तरह प्रकट होते हैं मानो भिन्न हो, उसी तरह चेतन परमात्मामें यह चेत्य (स्थूलजगत्) अनन्य-भावसे स्थित होनेपर भी अन्य-सा प्रकट हुआ प्रतीत होता है। जैसे बीजसे लेकर फलपर्यन्त जो एक ही द्रव्य-सत्ता है, उसका विच्छेद न होनेके कारण फल और बीजमें कोई भेद नहीं है, जैसे जल और तरङ्गमें कोई भेद नहीं है, उसी प्रकार चित् और चेत्य (ब्रह्म और जगत्) में कोई भेद नहीं है। अविचार (विवेक-शून्यता) के कारण जो इनमें भेदकी कल्पना की जाती है, उसकी सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि जिस किसी कारणसे भ्रान्तिवश उत्पन्न हुआ भेद विचारसे नष्ट हो जाता है। सारा जगत् ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुआ है और सब-का-सब ब्रह्ममें ही लीन होता है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (निश्चय ही सर्वत्र प्रसिद्ध इस परमात्मासे पहले-पहल आकाश-तत्त्व उत्पन्न हुआ) इत्यादि श्रुतियोंमें जो 'तस्माद्' आदि पदोंमें पञ्चमी विभक्ति है, वह भेदका प्रतिपादन करनेवाली है अर्थात् जो वस्तु जिससे उत्पन्न होती है, वह उससे भिन्न है—इस बातको सूचित करती है। ऐसी दशामें आप यह कैसे समझते हैं कि देवेश्वर परमात्मासे उत्पन्न हुआ यह सारा जगत् उससे अभिन्न है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! उपदेशके लिये जो शास्त्रीय शब्द है अथवा लोकसिद्ध अर्थजनित व्यावहारिक भेदका उपपादक जो लौकिक-शब्द है, वह प्रतियोगी, व्यवच्छेद (अभाव), संख्या, लक्षण और पक्षसे युक्त होता है। जो भेद दिखायी देता है, यह व्यवहारदृष्टिसे

ही है, वास्तविक नहीं। अज्ञानियोंको समझानेके लिये ही कार्य-कारणभाव, सेवक-स्वामिभाव, हेतु-हेतुमद्भाव अवयवावयविभाव, भेदाभेद अथवा अन्यव्यतिरेक, परिणाम आदिका विभ्रम, भावोंके विचित्र विलास, विद्या-अविद्या और सुख-दुःख इत्यादि रूपसे मिथ्या संकल्पोंकी संकलना की गयी है। वास्तवमें जो सत्य वस्तु है, उसमें कोई भेद नहीं है। यह भेदवाद परम तत्त्वको न समझनेके कारण ही है। परमार्थ वस्तुके ज्ञात हो जानेपर द्वैत नहीं रह जाता। उस समय सारी कल्पनाएँ अथवा संकलनाएँ शान्त हो जाती हैं। फिर तो मौनस्वरूप परमार्थ-तत्त्व ही शेष रहता है। वह परमतत्त्व परमात्मा आदि और अन्तसे रहित, अविभक्त, एक, अखण्ड और सर्वस्वरूप है। जिन्हें तत्त्वका ज्ञान नहीं हुआ है, ऐसे अज्ञ पुरुष अपने विकल्पोंसे उत्पन्न हुए तर्कोंद्वारा अद्वैतके विषयमें विवाद करते हैं। उपदेशसे तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जानेपर यह वाद और द्वैत नहीं रह जाता। द्वैतके बिना वाच्य-वाचकका बोध नहीं सिद्ध होता। परंतु द्वैत किसी तरह भी सम्भव नहीं है। इसलिये मौनरूप परमात्मा ही पूर्णतया सिद्ध होता है।

रघुनन्दन! 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके अर्थमें अपनी बुद्धिको प्रतिष्ठित करके वचनभेदकी उपेक्षा कर दो और जो मैं कहता हूँ, इसे ध्यान देकर सुनो। चित्त ही विकासरूपसे जगत्‌को प्राप्त हुआ है। जैसे बालूके भीतर तेल नहीं है, उसी तरह ब्रह्ममें शरीर आदिकी सत्ता नहीं है। राग-द्वेष आदि क्लेशोंसे कलुषित यह चित्त ही संसार है। उन राग आदि दोषोंसे जभी छुटकारा मिल जाता है, तभी इस संसार-बन्धनका नाश हो गया, —यह कहा जाता है। चित्त ही साधन, पालन, विचार श्रेष्ठ पुरुषकी भाँति कर्तव्यका अनुष्ठान, आहार-व्यवहार, संचरण और आदरपूर्वक धारण करनेके योग्य है। तीनों लोकोंकी कल्पनाका आकाशरूप चित्त सम्पूर्ण दृश्यको अपने भीतर धारण करता है। सृष्टिके आरम्भमें पृथ्वी-आदिरूप यह सारा प्रपञ्च अविद्यमान—असत् ही था। अव्यक्तस्वरूप अजन्मा ब्रह्म स्वप्नके समान इसे देखता हुआ भी वास्तवमें नहीं देखता। हृदयंगम दृष्टान्त और युक्तिसे तथा मधुर एवं युक्तियुक्त पदार्थवाली वाणीसे जो कुछ कहा जाता है, वह श्रोताके हृदयमें उसकी शङ्काको दूर करके सब ओर व्याप्त हो जाता है—ठीक उसी तरह, जैसे जलमें डाला हुआ तेल उसमें सब ओर फैल जाता है। जिसमें दृष्टान्त और मनोहर पद नहीं होते, जो दुर्बोध होता है, जिससे क्षोभ प्रकट होता है तथा जिसका प्रत्येक अक्षर अपने स्थानसे च्युत होता है और जिसके कई वर्ण मुँहमें ही रह जाते हैं—स्पष्टतः उच्चारित नहीं होते, ऐसा उपदेशवाक्य श्रोताके हृदयतक नहीं पहुँच पाता। वह राखमें आहुतिके रूपमें डाले गये घीके समान व्यर्थ हो जाता है। साधो! इस भूतलपर जो-जो महाभारत आदि आख्यान तथा छोटी-छोटी कथाएँ हैं, जो-जो प्रमाणोंद्वारा जाननेयोग्य प्रमेय ग्रन्थ हैं, जो औचित्यसे युक्त तथा शब्द और अर्थ दोनों ही दृष्टियोंसे मधुर एवं कोमल हैं, वे सभी लोकप्रसिद्ध दृष्टान्तों तथा प्रमाणयुक्त दर्शनोंके प्रतिपादनपूर्वक वर्णित होनेपर उसी प्रकार श्रोताके हृदयमें शीघ्र प्रकाशित हो जाते हैं, जैसे श्वेत किरणवाले चन्द्रमाके प्रकाशसे सारा विश्व प्रकाशित हो उठता है। (सर्ग ८४)

यह दृश्य-प्रपञ्च मनका विलासमात्र है, इसका ब्रह्माजीके द्वारा अपने अनुभवके अनुसार प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—निष्पाप रघुनन्दन! पूर्वकालमें ब्रह्माजीने मुझे जो उपदेश दिया था, वह सब उनकी कही हुई कथाके साथ मैं तुम्हें बता रहा हूँ। पहलेकी बात है, मैंने कमलयोनि भगवान् ब्रह्माजीसे पूछा—'ब्रह्मन्!

ये सृष्टिके समुदाय (ब्रह्माण्ड) कैसे प्रकट होते हैं ?' मेरे इस प्रश्नको सुनकर लोकपितामह भगवान् ब्रह्माने मुझसे यह महत्त्वपूर्ण बात कही।

ब्रह्माजी बोले—वत्स ! यह मन जगत्-भावको धारण करनेकी शक्तिसे सम्पन्न है, अतः यही इस तरह सब पदार्थोंके रूपमें स्फुरित होता है, जैसे जल ही जलाशयमें फैले हुए विचित्र आवर्तोंके रूपमें स्फुरित (भासित) होता है। पहलेके किसी कल्पकी बात है। मैं अपने दिनके आरम्भमें जब सोकर उठा और संसारकी सृष्टिकी इच्छा करने लगा, उस समय कैसी घटना घटित हुई, यह बताता हूँ; सुनो। एक दिन संध्याके समय (कल्पके अन्तमें) सारी सृष्टिका संहार करके मैंने एकाग्र एवं स्वस्थचित्त हो अकेले ही वह रात बितायी। रात्रिके अन्तमें मैं जाग उठा और विधिपूर्वक सन्ध्या करके प्रजाकी सृष्टि करनेके लिये मैंने अपनी फैली हुई आँखें आकाशमें लगायीं—मैं एकटक दृष्टिसे आकाशकी ओर देखने लगा। ज्यों ही दृष्टि डाली, त्यों ही मुझे आकाश अत्यन्त विस्तृत, अन्तरहित और शून्य दिखायी दिया। वह न तो अन्धकारसे व्याप्त था और न तेजसे ही।

'अब मैं सृष्टिके लिये संकल्प करूँ' ऐसा निश्चय करके मैंने सूक्ष्म चित्तसे विशुद्ध भावके साथ उस स्रष्टव्य (सृष्टिके योग्य) वस्तुकी समीक्षा—पर्यालोचना आरम्भ की। इतनेमें ही उस विशाल आकाशके भीतर मैंने मनसे अनेक बड़े-बड़े ब्रह्माण्ड देखे, जो पृथक्-पृथक् विद्यमान थे। उन सबकी स्थिति व्यवस्थित थी। कहीं कोई प्रतिबन्ध नहीं था। उन ब्रह्माण्डोंमें दस पद्मयोनि ब्रह्मा विराजमान थे, जो मेरे ही प्रतिबिम्ब-से प्रतीत होते थे। वे सभी कमलकोशके निवासी थे और राजहंसोंपर चढ़े हुए थे। पृथक्-पृथक् स्थित हुए उन ब्रह्माण्डोंमें जरायुज आदि चार प्रकारके प्राणी उत्पन्न हो रहे थे। उन सभी ब्रह्माण्डोंमें जल देनेवाले, विशुद्ध (अवग्रह आदि दोषोंसे रहित) मेघ-समुदाय छा रहे थे। बड़ी-बड़ी नदियाँ बहती थीं और समुद्रोंके समान गर्जना करती थीं। आकाशमें अनेक सूर्य तपते थे तथा मरुद्गण इधर-उधर संचरण करते थे। स्वर्गमें देवता, भूतलपर मनुष्य तथा पातालोंमें रहकर दानव एवं नाग यथेष्ट क्रीडाएँ करते थे। कालचक्रमें गुँथी हुई तथा सर्दी, गरमी और वर्षाके स्वभाववाली सब ऋतुएँ यथासमय प्रकट हो फल-फूलोंसे सम्पन्न होकर भूमण्डलकी सब ओरसे शोभा बढ़ाती थीं। प्रत्येक दिशामें स्वर्ग और नरकरूपी फल देनेवाले शुभाशुभ आचारका प्रतिपादन करनेवाली स्मृतियाँ सर्वत्र प्रौढ़ताको प्राप्त थीं—उनका सब ओर प्रचार और प्रसार था। भोग और मोक्षरूपी फल चाहनेवाले विभिन्न जातिके समस्त प्राणी क्रमशः अपनी अभीष्ट वस्तु पानेके लिये यथासमय प्रयत्न करते थे। सात लोक, सात द्वीप, सातों समुद्र और सातों पर्वत, जो कालद्वारा नष्ट होनेवाले हैं, बड़े कोलाहलसे युक्त प्रतीत होते थे। उन ब्रह्माण्डोंमें अन्धकार कहीं (खुले स्थानोंमें) क्षीण हो गया था, कहीं (पर्वतकी गुफा आदिमें) अधिक स्थिर होकर छा रहा था और कहीं सब झाड़ियों एवं कुञ्जोंमें लेशमात्र तेजसे मिश्रित होकर विद्यमान था। नभरूपी नील कमलके भीतर मेघरूपी भ्रमर मड़रा रहे थे तथा तारक-समूहरूपी केसरोंसे वह परिपूर्ण था। मेरु पर्वतके कुञ्जोंमें कल्पान्तकालके मेघोंकी भाँति घनीभूत कुहासा छा रहा था, जो सेमलके फलके भीतर रहनेवाली सफेद रूईके समान दिखायी देता था। लोकालोक पर्वत ही जिसकी करधनी है, गर्जते हुए समुद्र ही जिसके आभूषणोंकी झनकार हैं तथा जो अपने ही रत्नोंसे विभूषित है, वह पृथ्वी उन ब्रह्माण्डोंमें उसी प्रकार विराजमान थी जैसे कोई कुलाङ्गना अपने अन्तःपुरमें निवास करती हो।

भुवनरूपी गड्ढोंमें रहनेवाले बहुत-से प्राणी जिनमें बीजके समान जान पड़ते थे, वे पृथक्-पृथक् ब्रह्माण्ड-गोलक अरुण तेजसे प्रकाशित हो अनारके फलोंके समान दिखायी देते थे। चन्द्रमाकी कन्याके समान निर्मल

कान्तिवाली, तीन प्रवाहवाली तथा ऊपर-नीचे एवं मध्य —तीन मार्गोंपर विचरनेवाली गङ्गा जगत्‌रूपी पुरुषके यज्ञोपवीतकी भाँति सुशोभित हो रही थीं। दिशारूपी लताओंमें विद्युत्‌रूपी फूलोंसे युक्त मेघरूपी पल्लव वायुसे टकराकर इधर-उधर झोंके खाते, बिखर जाते और फिर नये पैदा हो जाते थे। विभिन्न भुवनोंके भीतर समूह-के-समूह बसे हुए देवता, असुर, मनुष्य और नाग गूलरके फलोंमें रहनेवाले मच्छरोंके समान जान पड़ते थे। उन लोकोंमें युग, कल्प, क्षण, लव, कला और काष्ठा आदिसे युक्त एवं सबके अतर्कित विनाशकी प्रतीक्षा करनेवाला काल प्रवाहरूपसे स्थित था। अपने शुद्ध एवं उत्तम चित्तके द्वारा ऐसा दृश्य देखकर मैं बड़े विस्मयमें पड़ गया कि यह क्या है और कैसे प्रकट हुआ है। इस स्थूल नेत्रसे जो मुझे कुछ भी नहीं दिखायी देता, उसी अनुपम मायाजालको मैं मनसे आकाशमें स्पष्ट देख रहा हूँ—यह कैसे सम्भव हुआ है? उसके बाद देरतक उस मायाजालको देखनेके पश्चात् मैंने मनसे ही उस ब्रह्माण्डके आकाशसे एक सूर्यको अपने समीप बुलाकर पूछा—

'देवदेवेश्वर! महातेजस्वी सूर्य! आओ, तुम्हारा स्वागत है' यों कहकर मैंने पहले तो उनका स्वागत किया। फिर उनके सामने अपना प्रश्न इस प्रकार रक्खा—'भगवन्! तुम कौन हो? तुम्हारा यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ? इसके अतिरिक्त जो और जगत् दिखायी देते हैं, इनकी उत्पत्ति भी किस प्रकार हुई है? निष्पाप देव! यदि जानते हो तो यह सब बताओ।' मेरे इस प्रकार पूछनेपर उन्होंने मेरी ओर देखा और पहचान लिया। फिर मुझे नमस्कार करके उत्तम पदोंसे युक्त वाणीद्वारा इस प्रकार कहा।

सूर्य बोले—जगदीश्वर! आप इस दृश्य-प्रपञ्चके नित्य कारण हैं, फिर भी इसे जानते कैसे नहीं? और यदि जानते हैं तो मुझसे पूछते क्यों हैं? सर्वव्यापी देव! यदि मेरी बातें सुननेके लिये आपके मनमें कौतूहल हो तो सुनिये। महात्मन्! आप परम महान् परमात्मा हैं (आपसे कुछ भी अज्ञात नहीं है)। 'सत्-असत्' का बोध न होनेसे जो मोहमें डालनेवाली हैं तथा जिनसे अनवरत नाना प्रकारकी सृष्टियाँ होती रहती है, उन सदसत् कलाओं (संकल्पों) से जो विस्तारको प्राप्त हुआ है, वह मन ही यहाँ विविध पदार्थोंके रूपमें विलसित हो रहा है। तात्पर्य यह कि यह सारा दृश्य-प्रपञ्च मनका ही विलास या संकल्प है। (सर्ग ८५–९१)

स्थूल-शरीरकी निन्दा, मनोमय शरीरकी विशेषता, उसे सत्कर्ममें लगानेकी प्रेरणा, ब्रह्मा और उनके द्वारा निर्मित जगत्‌की मनोमयता, जीवका स्वरूप और उसकी विविध सांसारिक गति तथा सृष्टिके दोष एवं मिथ्यात्वका उपदेश

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! इस संसारमें ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त सभी जातिके प्राणियोंके सदा दो-दो शरीर होते हैं। एक तो मनोमय शरीर होता है, जो शीघ्रतापूर्वक सब कार्य करनेवाला और सदा चञ्चल है। दूसरा मांसका बना हुआ स्थूलशरीर है, जो मनके बिना कुछ नहीं कर सकता। उक्त दोनों शरीरोंमेंसे जो मांसमय स्थूलशरीर है, वह सभी लोगोंको प्रत्यक्ष दिखायी देता है। उसीपर सब प्रकारके शापों, विद्याओं (आभिचारिक कृत्यों) तथा विष, शस्त्र आदि विनाशके साधन-समूहोंका आक्रमण होता है। यह मांसमय शरीर असमर्थ, दीन, क्षणभङ्गुर, कमलके पत्तेपर पड़े हुए जलके समान चञ्चल तथा प्रारब्ध आदिके अधीन है। देहधारियोंका जो यह मन नामक दूसरा शरीर है, वह तीनों लोकोंमें प्राणियोंके अधीन होकर भी प्रायः अधीन नहीं रहता

वह यदि सदा बने रहनेवाले धैर्यका अवलम्बन करके अपने पौरुषके सहारे स्थित होता है, तो दुःखोंकी पहुँचसे बाहर हो जाता है—दुःखके हेतुभूत जो दोष हैं, वे उसे दूषित नहीं करते। प्राणियोंका मनोमय शरीर जैसे-जैसे चेष्टा करता है, वैसे-ही-वैसे वह अपने निश्चयके एकमात्र फलका भागी होता है। मांसमय देह (पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर) का कोई भी पौरुष-क्रम सफल नहीं होता, परंतु मनोमय शरीरकी प्रायः सभी चेष्टाएँ सफल होती हैं (क्योंकि मन ही प्रधान है)।

माण्डव्य ऋषिने मानसिक पुरुषार्थसे मनको रागरहित और दुःखशून्य बना शूलीपर चढ़कर भी सम्पूर्ण क्लेशोंपर विजय प्राप्त कर ली थी।* अन्धकारपूर्ण कुएँमें गिरे होनेपर भी दीर्घतपा ऋषिने मानसिक यज्ञोंका ही अनुष्ठान करके देवताओंका पद (स्वर्गलोक) प्राप्त कर लिया था। दूसरे भी जो सावधान धीर देवता और महर्षि हैं, वे मनसे की जानेवाली उपासना अथवा ध्यानका तनिक भी त्याग नहीं करते। संसारमें सावधान चित्तवाला कोई भी पुरुष कभी स्वप्न अथवा जागरणमें भी दोष-समूहोंसे थोड़ा-सा भी अभिभूत नहीं होता। इसलिये पुरुषको चाहिये कि वह इस संसारमें पुरुषार्थके साथ अपनी बुद्धिके द्वारा ही अपने मनको पवित्र मार्गमें लगाये। जैसे कुम्हारके घट-निर्माण-सम्बन्धी व्यापारके अनन्तर घड़ा अपने मृत्पिण्डावस्थाको त्याग देता है, उसी प्रकार पुरुष उत्तर पदार्थकी वासनाके पश्चात् पूर्वकी स्थितिका त्याग कर देता है (तात्पर्य यह है कि आगेकी दृढ़ वासनासे पिछली वासना नष्ट हो जाती है)।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! भगवान् ब्रह्माने पूर्वकालमें मुझसे ये बातें कही थीं, उन्हींका आज मैंने तुम्हारे समक्ष वर्णन किया है। नाम और रूपसे रहित उस सर्वात्मा ब्रह्मसे सम्पूर्ण प्रपञ्च उत्पन्न होता है। वह समय पाकर स्वयं ही घनताको प्राप्त हो संकल्प-विकल्परूप मनकी सामर्थ्यसे मनोरूप बन जाता है। इसलिये श्रीराम! जो ये परमेष्ठी ब्रह्मा हैं, इन्हें तुम परमात्माका समष्टि मन ही समझो। समष्टि मनरूप तत्त्व ही जिनका आकार है, वे भगवान् ब्रह्मा संकल्पमय होनेके कारण जिस वस्तुका संकल्प करते हैं, उसीको देखते हैं। तदनन्तर उन्होंने इस अविद्याकी कल्पना की। अनात्मामें आत्माका अभिमान होना ही इस अविद्याका स्वरूप है। फिर उन ब्रह्माने क्रमशः पर्वत, तृण और समुद्ररूप इस जगत्‌की कल्पना की। इस प्रकार यद्यपि क्रमशः परब्रह्म-तत्त्वसे यह सृष्टि आयी है, तथापि कुछ लोगोंको यह और ही किसीसे उत्पन्न हुई दिखायी देती है। अतः श्रीराम! तीनों लोकोंके भीतर वर्तमान सम्पूर्ण पदार्थोंकी उत्पत्ति ब्रह्मसे ही हुई है—ठीक उसी तरह, जैसे तरङ्गोंकी उत्पत्ति समुद्रसे होती है। जो अन्य व्यष्टि-चेतन शक्तियाँ अर्थात् प्राणी हैं, वे सब वास्तवमें सर्वशक्तिमान् ब्रह्मसे अभिन्न ही हैं—साक्षात् ब्रह्मस्वरूप ही हैं। जब यह जगत् विस्तारको प्राप्त होता है, तब वे ही प्राणी समष्टि-मनरूप ब्रह्मासे पूर्वकर्मानुसार विकासको प्राप्त होते हैं। ये सब सहस्रों व्यष्टि चेतन संसरणशील जीव कहे जाते हैं। वे जीव सच्चिदानन्दघन परमात्मासे ही प्रकट होकर आकाशमें तन्मात्राओंके साथ संयुक्त होते हैं। फिर आकाशस्थित वायुओंके मध्यवर्ती जो चौदह[1] श्रेणियोंमें विभक्त जीव हैं, उनमेंसे जिस प्रकारकी जीव-जातिमें रहनेसे जो जीव जैसी वासना और कर्मके अभ्यासमें प्रवृत्त होते हैं, उसी जीव-जातिकी प्राणशक्तिद्वारा वे स्थावर अथवा जङ्गम शरीरमें प्रविष्ट हो रज-वीर्यरूपी बीजभावको प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात् योनिसे जगत्‌में जन्म ग्रहण करते हैं। तदनन्तर वासना-प्रवाहके अनुसार अपने कर्मफलके भागी होते हैं। फिर शुभ और अशुभ

* माण्डव्य ऋषिकी कथा महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १०६ में है।

१. जीवोंकी 'इदप्रथमता' आदि चौदह श्रेणियाँ आगे बतायी जायँगी।

वासनाओंसे युक्त पुण्य-पाप कर्मरूपी रस्सियोंसे जिनका लिङ्गशरीर बँधा है, ऐसे वे जीव घूमते हुए कभी उत्तम लोकोंमें जाते हैं और कभी नरकोंमें गिरते हैं।

जीवोंकी ये सब जातियाँ वासनारूप ही हैं। कितने ही जीव हजारों जन्मोंतक कर्मरूपी बवंडरमें पड़कर चक्कर काटते हुए जंगलके पत्तोंकी भाँति झड़ जाते हैं और पर्वतके कुक्षिभागमें लुढ़कते फिरते हैं। कितने ही जीव जिन्हें सच्चिदानन्दघन परमात्माका ज्ञान नहीं है, अतएव जो मोहित रहते हैं, वे असंख्य जन्म धारण करते हैं। चिरकालसे जन्म लेकर इस संसारमें सैकड़ों कल्पोंतक जन्म और मरणकी परम्परामें बँधे रहते हैं। कतिपय जीव, जिनके कई सुन्दर जन्मान्तर व्यतीत हो चुके हैं, वर्तमान जन्ममें शुभकर्मपरायण हो इस जगत्‌में विचरण करते हैं। कई जातिके जीव तत्त्वज्ञान प्राप्त करके उसी तरह परमपदको प्राप्त हो गये हैं, जैसे वायुसे उड़ाये हुए समुद्रके जलबिन्दु पुनः समुद्रके ही जलमें प्रवेश कर जाते हैं। इस प्रकार यहाँ परमपदरूप ब्रह्मसे सम्पूर्ण जीवोंकी गुण और कर्मके अनुसार उत्पत्ति (सृष्टि) हुई है। यह सृष्टि आविर्भाव और तिरोभावके कारण क्षणभङ्गुर है तथा जन्म-मरणकी परम्पराको प्रकट करनेवाली है। वासनारूपी विषकी विषमतासे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके दुःखरूपी ज्वरको धारण करती है। अनन्त सकटोंसे भरे हुए अनर्थकारी कार्योंका समादर करनेवाली है। अनेक दिशाओं, देशों, कालों तथा विविध पर्वतोंकी कन्दराओंमें घुमानेवाली—कर्मफलका भोग करानेवाली है। स्वयं निर्मित उत्तम विचित्रताओंसे इसने चारों ओर भ्रमका जाल बिछा रक्खा है। परमार्थदृष्टिसे यह सृष्टि असत् ही है। वत्स रामभद्र! विक्षुब्ध मन ही जिसका शरीर है, वह संसाररूपी जंगलकी जीर्ण-शीर्ण लता यदि तत्त्वज्ञानरूपी कुल्हाड़ीसे जड़सहित काट दी जाय तो फरसेसे काटी गयी बेलके समान यह फिर पनप नहीं सकती। (सर्ग ९२-९३)

जीवोंकी चौदह श्रेणियाँ तथा परब्रह्म परमात्मासे ही उत्पन्न होनेके कारण सबकी ब्रह्मरूपता

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे सभी पदार्थ उत्तम, मध्यम और अधम—इन तीन श्रेणियोंमें विभक्त होते हैं। इनकी जो इधर-उधर विभिन्न भुवनोंमें उत्पत्तियाँ बतायी गयी हैं, उनका विभाग इस प्रकार है—बताता हूँ, सुनो। जिस जीवको अपने पूर्वजन्ममें शम, दम आदि समस्त साधन तथा गुण-सम्पत्ति प्राप्त होनेपर भी ज्ञान नहीं हुआ, वह जीव इसी जन्ममें ज्ञान-लाभके योग्य बनकर उत्पन्न होता है; अतः यही उसका प्रथम जन्म है। उस श्रेणीके जीवका वह जन्म 'इदं प्रथम' नामसे विख्यात होता है। यह इदम्प्रथमता पूर्व-जन्मके शुभ अभ्याससे प्रकट होती है। वही इदम्प्रथमता यदि पूर्वजन्ममें वैराग्यकी कमीके कारण शुभ लोकोंका आश्रय लेनेवाली रही हो अर्थात् उत्तम लोकोंकी प्राप्तिके लिये किये गये शुभ कर्मोंसे संयुक्त हो और इसीलिये विचित्र संसार-वासनाके कारण भोग-व्यवहारवाली हो तो भोगोंसे वासनाका क्षय होनेपर वह कुछ ही जन्मोंमें मोक्षकी प्राप्ति करा देती है। अतः शान्ति आदि गुणोंसे युक्त होनेके कारण उस दूसरी जीव-जातिको 'गुण-पीवरी' कहते हैं।

श्रीराम! नाना प्रकारके सुख-दुःखरूपी फलोंको देनेमें मुख्य कारणभूत पूर्वजन्मके पुण्य और पापका अनुमान करानेवाली जो जीवोंकी श्रेणी है, उसे पुण्यात्मा पुरुषोंने 'ससत्त्वा' कहा है (क्योंकि वह सत्त्वगुणकी वृद्धिके द्वारा मोक्षकी भागिनी होती है)। जो जीव-श्रेणी विचित्र संसारकी वासनाओंसे युक्त होकर अत्यन्त कलुषित हो गयी हो अर्थात् पूर्वजन्ममें सचित किये गये अधिक दुष्कर्मजनित दुर्वासनाओंसे मलिन हो गयी

हो और भाँति-भाँतिके भले-बुरे फल प्रदान करनेवाले मुख्य कारणभूत पूर्वजन्मके धर्म और अधर्मका अनुमान करानेवाली हो, वह सहस्रों जन्मोंमें ज्ञानकी भागिनी होती है। इसलिये साधुपुरुष उसे 'अधमसत्त्वा' कहते हैं। वही जीवश्रेणी, यदि अध्यात्म-शास्त्रसे विमुख होनेके कारण असंख्य, अनन्त जन्मोंके पश्चात् वर्तमान जन्ममें भी उसके मोक्ष होनेमें संदेह ही रह जाय तो उसे 'अत्यन्त तामसी' कहते हैं। नृपश्रेष्ठ श्रीराम! जीवकी जो उत्पत्ति पूर्वजन्मकी वासनाओंके अनुरूप एवं वैसे ही आचार-व्यवहारवाली हो तथा दो-तीन जन्मोंके अनन्तर जिसे मनुष्य-जन्म प्राप्त हुआ हो और वैसे ही कार्य कर रही हो, वह लोकमें 'राजसी' कही गयी है। जिसके लिये ज्ञान-प्राप्तिके योग्य जन्मका मिलना दूर नहीं है, जब जीवको ऐसी उत्पत्ति सुलभ हो जाती है, तब उस जन्ममें मृत्यु होनेमात्रसे उसमें मोक्ष-प्राप्तिकी योग्यता आ जाती है। उस जन्ममें उसके द्वारा वैसे ही कार्य होनेसे जो अनुमान होता है, उसके आधारपर ही मुमुक्षुओंने उस अवस्थाको 'राजस-सात्त्विकी' कहा है। वही उत्पत्ति यदि पूर्वोक्त मनुष्य-जन्मोंसे भिन्न, थोड़े-से ही (देवता आदि) जन्मोंमें क्रमशः ज्ञान-प्राप्तिके द्वारा मोक्षकी भागिनी हो तो वैसी उत्पत्तिको उसके ज्ञाता विद्वान् 'राजस-राजसी' कहते हैं। वही यदि राजस-राजसीकी अपेक्षा चिरकालमें मोक्षकी इच्छासे सम्पन्न होकर सैकड़ों जन्मोंके पश्चात् मोक्ष-प्राप्तिकी अधिकारिणी हो और ऐसे कार्योंका आरम्भ करे, जिनसे राजस एवं तामस कर्मजनित फलोंकी प्राप्ति हो तो वह जीव जाति या जीव-श्रेणी सज्जन पुरुषोंद्वारा 'राजस-तामसी' कही गयी है। यदि वही उत्पत्ति ऐसे कार्योंका आरम्भ करे, जिनसे सहस्रों जन्मोंके पश्चात् भी मोक्ष मिलनेमें संदेह ही रहे, उसे 'राजसात्यन्ततामसी' कहा गया है।

सर्गके आदिमें हिरण्यगर्भ ब्रह्मासे मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई है। तभीसे सहस्रों जन्म भोग लेनेके पश्चात् भी यदि बहुत जन्मोंके बाद चिरकालमें मोक्ष मिलनेकी सम्भावना हो तो महर्षियोंने उसे 'तामसी' उत्पत्ति कहा है। वह तामस उत्पत्ति यदि तामस योनि होनेपर भी मोक्षकी सम्भावनासे युक्त हो और वैसे ही कर्मोंके आयोजनसे सुशोभित होती हो तो उसे विद्वान् पुरुष 'तामससत्त्वा' कहते हैं। तामस-राजस गुणोंसे सम्पन्न कतिपय जन्मोंमें ही जहाँ मोक्ष-प्राप्तिकी सम्भावना हो, उस उत्पत्तिको 'तमोराजसरूपिणी' कहा गया है तथा जो उत्पत्ति पहलेके हजारों जन्मोंसे लेकर आगे होनेवाले सैकड़ों जन्मोंतक मोक्ष-प्राप्तिकी योग्यतासे रहित हो, उसे उत्पत्तिकी श्रेणीका विभाजन करने और जाननेवाले विद्वानोंने 'तामस-तामसी' कहा है। जिस उत्पत्तिमें अतीतकालके लाखों जन्मोंसे लेकर भविष्यकालके लाखों जन्मोंतक मोक्ष मिलनेमें संदेह ही रहे, उसे 'अत्यन्त तामसी' कहते हैं।

प्राणियोंकी ये सारी जातियाँ पूर्व-कर्मानुसार ब्रह्मसे उत्पन्न होती हैं—ठीक उसी तरह जैसे कुछ चञ्चल हुए समुद्रसे तरङ्गें उठती रहती हैं। जीवोंकी ये सभी श्रेणियाँ उसी तरह ब्रह्मसे उत्पन्न हुई हैं, जैसे प्रज्वलित अग्निसे चिनगारियाँ प्रकट होती हैं। जैसे सुवर्णसे कड़े, बाजूबंद और केयूर आदि आभूषण प्रकट होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मसे सारी जीव-श्रेणियाँ पूर्व-वासना और कर्मोंके अनुसार उत्पन्न होती हैं। श्रीराम! जैसे घटाकाश, स्थाल्याकाश और छिद्राकाश आदि आकाशके ही कल्पित रूप हैं, उसी तरह अजन्मा परब्रह्मकी ही सम्पूर्ण प्राणिवर्गके रूपमें कल्पना हुई है। अतः वे सब प्राणी ब्रह्मके ही रूप हैं। जैसे जलसे फुहारें, भँवरें, लहरें और बूँदें प्रकट होती हैं, अतः सब जलरूप ही हैं, उसी तरह सम्पूर्ण लोक-रचनाएँ परब्रह्म पदसे ही प्रकट हुई हैं, अतः वे सब ब्रह्म-स्वरूप ही हैं।

श्रीराम! जैसे सूर्यके तेजसे ही मृग-तृष्णारूपिणी

सरिताओंकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार सम्पूर्ण दृश्य-दर्शन ब्रह्मके ही संकल्पसे प्रकट हुए हैं। ये सारे दृश्य-दर्शन द्रष्टा ब्रह्मके स्वरूपसे भिन्न नहीं हैं—ठीक वैसे ही, जैसे चाँदनी चन्द्रमासे और प्रकाश तेजसे पृथक् नहीं है। इस तरह जो नाना प्रकारकी जीवोंकी श्रेणियाँ हैं, ये जिस ब्रह्मसे उत्पन्न होती हैं, उसीमें लीन भी हो जाती हैं। रघुनन्दन! इस प्रकार भगवान् परब्रह्म परमात्माकी इच्छासे व्यवहारमें लगे हुए जो विचित्र आकारवाले रूप-वैभवसे सम्पन्न पूर्वोक्त प्राणिवर्ग हैं; वे आगसे प्रकट होनेवाली चिनगारियोंके समान विभिन्न लोकोंमें आते, जाते और ऊँची-नीची योनियोंमें जन्म लेकर भ्रमण करते हैं। (सर्ग ९४)

कर्ता और कर्मकी सहोत्पत्ति एवं अभिन्नता तथा चित्त और कर्मकी एकताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जैसे वृक्षसे फूल और उसकी गन्ध दोनों साथ ही उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार सृष्टिके आदिमें परम-पदरूप ब्रह्मसे परस्पर अभिन्न कर्म और कर्ता दोनों स्वयं (स्वभाववश) ही एक साथ प्रकट हुए। जैसे अज्ञानी लोगोंकी दृष्टिमें सर्वत्र फैले हुए निर्मल आकाशके भीतर नीलिमा प्रतीत होती है, उसी तरह समस्त संकल्पोंसे रहित सर्वव्यापी विशुद्ध ब्रह्ममें अज्ञ पुरुषोंकी दृष्टिसे ही जीवोंका प्राकट्य प्रतीत होता है। राघव! जहाँ अज्ञानी लोगोंका ही आचार-व्यवहार दिखायी देता है, वहींपर 'जीव ब्रह्मसे उत्पन्न हुए हैं' ऐसी उक्तियाँ टिक पाती हैं। किंतु जहाँपर ज्ञानी पुरुषोंका व्यवहार है, वहाँ यह कहना शोभा नहीं देता कि 'यह वस्तु तो ब्रह्मसे उत्पन्न हुई है और यह नहीं हुई है।' अतः भेददृष्टिसे जो शोचनीय द्वैत-कल्पना की गयी है, उसे व्यवहारमात्रके लिये स्वीकार करके यह उपदेश दिया जाता है कि 'यह ब्रह्म है और ये जीव हैं।' वास्तवमें यह कथन केवल वाणी-का विलासमात्र है। ये सब जीवराशियाँ सदा उस परमात्मामें स्थित रहती हैं, उसीसे उत्पन्न होती हैं और उसीमें लीन हो जाती हैं। रघुनन्दन! जैसे फूल और गन्ध एक दूसरेसे अभिन्न हैं, उसी तरह पुरुष (कर्ता) और कर्म परस्पर अभिन्न हैं। ये परमात्मासे प्रकट होते और धीरे-धीरे उसीमें लीन हो जाते हैं। ये दैत्य, नाग, मनुष्य और देवता इस जगत्में वस्तुतः उत्पन्न हुए बिना ही वासनाओंके साथ उत्पन्न होते-से प्रतीत होते है और तुरंत गमन आदि क्रियासे युक्त हो जाते हैं। साधो! उन दैत्य, नाग, मनुष्य और देवता आदिके संसार-भ्रमणमें आत्माके यथार्थ ज्ञानके अभावके अतिरिक्त दूसरा कोई कारण नहीं दिखायी देता। वह आत्मविस्मरण ही जन्मान्तररूपी फल प्रदान करनेवाला है।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्! श्रुति, स्मृति-रूप प्रामाणिक दृष्टिवाले, वीतराग ऋषियोंद्वारा अर्थमें श्रुतिसे विरोध न रखनेवाले जो-जो स्मृति,पुराण एवं इतिहास आदि ग्रन्थ सिद्धान्त-निर्णयपूर्वक रचे गये हैं, वे सब शास्त्र कहलाते हैं। जो महान् सत्त्वगुणसे सम्पन्न, धीर (ज्ञानी) और समदर्शी हैं तथा जिन्हें अनिर्वचनीय ब्रह्मका साक्षात्कार हो चुका है, वे पुरुष साधु (श्रेष्ठ संत) कहे गये हैं। जिन्हें तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, उन पुरुषोंके सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके लिये (उन्हें धर्म और ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार करानेके लिये) श्रेष्ठ पुरुषोंका सदाचार और श्रुति-स्मृतिरूप शास्त्र—ये ही दो नेत्र हैं।

उनकी दृष्टि सदा इन (दोनों—सदाचार और शास्त्र) का ही अनुसरण करती है। जो पुरुष श्रेष्ठ व्यवहारके लिये शास्त्रका अनुसरण नहीं करता, उसका सभी शिष्टजन बहिष्कार कर देते हैं और वह दुःखमें निमग्न

हो जाता है। प्रभो ! इस लोकमें और वेदमें भी ऐसा सुना जाता है कि कर्म और कर्ता यहाँ क्रमशः एकके-बाद-एक उत्पन्न होकर कार्य-कारणभावसे परस्पर मिले हुए हैं । कर्मके द्वारा कर्ताका निर्माण होता है और कर्तासे कर्मका, जैसे बीजसे अङ्कुर होता है और अङ्कुरसे बीज । यह न्याय लोक और वेदमें भी प्रसिद्ध है । जिस वासनाके कारण जीव इस संसाररूपी पिंजड़ेमें डाला जाता है, उसी वासनाके अनुसार उसे फल भी भोगना पड़ता है। भगवन्! जाननेयोग्य तत्त्वके ज्ञाताओंमें श्रेष्ठ महर्षे ! मुझे ठीक-ठीक बताइये कि जीवका किया हुआ कर्म फलरूपमें अवश्य परिणत होता है या नहीं । यदि कर्मका फल अवश्य मिलता है, तब प्राणियोंके जन्म आदिमें वही हेतु हुआ । फिर आपने उत्पत्तिको अकारण या अज्ञानकल्पित कैसे बताया ? मेरे इस महान् संशयका निवारण कीजिये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! मैं तुम्हें साधुवाद देता हूँ, तुमने मेरे सामने यह बड़ा सुन्दर प्रश्न रक्खा है। सुनो, मैं तुम्हें इसका उत्तर देता हूँ, जिससे पूर्णतया ज्ञानका उदय हो जाता है । यह संकल्प-विकल्पात्मक मनका विकास ही कर्मोंका कारण है—उसीके अनुसार फल प्राप्त होता है । मनके संयोगके बिना किये हुए कर्म फलदायक नहीं होते । सृष्टिके आरम्भमें परम-पदरूपी ब्रह्मसे जब मनरूपी तत्त्व उत्पन्न हुआ, तभी उस मनके संकल्पके अनुसार जीवोंका कर्म भी उत्पन्न हुआ और जीव पूर्ववासनाके अनुसार देहवाला होनेके कारण देहमें अहंभावसे स्थित है। (मनसे ही कर्मकी उत्पत्ति हुई; इसलिये बीज और वृक्षकी भाँति कारण-कार्यरूप मन और कर्म परस्पर अभिन्न हैं।) जैसे अभिन्नरूपसे स्थित हुए पुष्प और सुगन्धमें यहाँ भेद नहीं है, उसी प्रकार परस्पर अभिन्न मन और कर्ममें भी भेद नहीं है । इस जगत्में क्रियाका होना ही विद्वानोंद्वारा कर्म बताया गया है । उस क्रियाका आश्रयभूत देह भी पहले मन ही था अर्थात् यह देह भी मनका ही संकल्प होनेके कारण मनोरूप ही है। इसी प्रकार क्रिया भी मनका ही सकल्प होनेसे मनका ही स्वरूप है। न ऐसा कोई पर्वत है, न आकाश है, न समुद्र है और न ऐसा कोई लोक ही है, जहाँ किये हुए अपने कर्मोंका फल नहीं प्राप्त होता । तात्पर्य यह कि कर्मोंका फल अवश्यम्भावी है। ज्ञानपूर्वक किया हुआ कर्म चाहे पूर्वजन्मका हो या इस जन्मका, वह क्रियारूप पुरुषार्थ ही पुरुषका परम प्रयत्न है। वह कभी निष्फल नहीं होता। जो मुक्त पुरुष है, उसीके कर्मका नाश होनेपर मनका नाश होता है मनका नाश ही कर्मका अभाव है। जो मुक्त नहीं है, उसके कर्म और मनका नाश कदापि नहीं होता। अग्नि और उष्णताकी भाँति सदा परस्पर मिले हुए चित्त और कर्म—इन दोनोंमेंसे एकका अभाव होनेपर दोनोंका ही अभाव हो जाता है। (सर्ग ९५)

मनका स्वरूप तथा उसकी विभिन्न संज्ञाओंपर विचार

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन् ! जो जड होकर भी अजड (चेतन) के समान आकार धारण किये हुए है, उस मनके सङ्कल्पारूढ़ स्वरूपका आप मेरे समक्ष विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! सर्वशक्तिमान्, असीम, महान् विज्ञानानन्दघन परमात्मतत्त्वकी शक्तिसे रचित जो संकल्पमय रूप है, उसको विद्वान् पुरुष मन समझते हैं। वह मन स्वयं भी संकल्पकी सामर्थ्यसे युक्त है। इस लोकमें जैसे गुणीका गुणसे हीन होना सम्भव नहीं, उसी प्रकार मनका कल्पनात्मक क्रियाशक्तिसे रहित होना असम्भव है। एकमात्र संकल्प ही जिसका शरीर है तथा जो नाना प्रकारके विस्तारसे सुशोभित होनेवाला

एवं फलधर्मी (फलका जनक) है, उस चित्तरूपी कर्मने अपने ही स्वरूपसे इस नानाविध विश्वका, जो मायामय, निष्कारण (हेतु एवं प्रयोजनसे रहित), विन्यासशून्य तथा वासनाकी कल्पनाओंसे व्याप्त है, विस्तार कर रक्खा है। जिसने जहाँ लताकी भाँति जिस वासनाको जिस प्रकार आरोपित किया है, वहाँपर कर्मानुसार फल देनेवाली वह वासना ही उसे तदनुरूप फलरूपमें प्राप्त होती है। मन जिसका अनुसधान करता है, उसीका सम्पूर्ण कर्मेन्द्रिय वृत्तियाँ सम्पादन करती हैं; इसलिये मनको कर्म कहा गया है। मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, कर्म, कल्पना, संसृति, वासना, अविद्या, प्रयत्न, स्मृति, इन्द्रिय, प्रकृति, माया, क्रिया तथा इनके सिवा और भी विचित्र शब्दोक्तियाँ संसारभ्रमकी ही हेतुभूत हैं। चित्तभावको प्राप्त हो प्रस्तुत ससार-पदवीको पहुँचे हुए शुद्ध चेतनके अपने ही सैकड़ों संकल्पोंद्वारा ये भिन्न-भिन्न नाम अत्यन्त रूढ़ि (प्रसिद्धि) को प्राप्त हुए हैं। वह शुद्ध चेतन परमात्मा ही लोकमें जीव कहलाता है। मन, चित्त और बुद्धि भी उसीके नाम हैं।

जैसे नाटकमें नट अनेक प्रकारके रूप धारण करता है, उसी प्रकार मन भी भिन्न भिन्न कर्मोंका आश्रय ले अनेक प्रकारके नाम धारण करता है। जैसे एक ही मनुष्य भोजन बनानेसे पाचक और पढ़ानेसे पाठक कहलाता है—विभिन्न एवं विलक्षण अधिकारोंके कारण विचित्र तथा विकृत (उन-उन कर्मोंके प्रकाशक) नाम पाता है, उसी प्रकार मन भी कर्मवश उक्त नाम धारण करता है रघुनन्दन ! मैंने चित्तकी जो ये अनेक संज्ञाएँ बतायी हैं, इन्हींको अन्यान्य वादियोंने अपनी सैकड़ों कल्पनाओंद्वारा अन्य प्रकारसे कहा है। अपने भावोंके अनुरूप बुद्धिका मनमें आरोप करके उन वादियोंने मनके द्वारा स्वेच्छासे मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिके विचित्र-विचित्र नामभेद किये हैं। एक वादीके मतसे मन जड है तो दूसरेके मतसे वह जीवसे भिन्न है। तीसरेके मतसे वह अहंभावनाका प्रतीक है तथा चौथे वादीके मतानुसार उसका नाम बुद्धि है।

रघुनन्दन ! अन्तःकरणके एकरूप होनेके कारण उसकी संकल्प आदि भिन्न-भिन्न वृत्तियोंके भेदसे निर्मित जो अहंकार, मन और बुद्धि आदि नाम मैंने बताये हैं, उनकी नैयायिकोंने अन्य प्रकारसे कल्पना की है। सांख्यों और चार्वाकोंने भी उनकी विभिन्न रूपोंमें कल्पना की है। मीमांसक, जैन, बौद्ध, वैशेषिक तथा पाञ्चरात्र आदि अन्य विभिन्न वादियोंने भी अपनी-अपनी मान्यताके अनुसार उन नामोंकी भिन्न-भिन्न प्रकारसे कल्पना कर रक्खी है। जैसे बहुत-से राहगीरोंका एक ही नगरमें जाना होता है, उसी प्रकार उन सभी वादियोंका गन्तव्य स्थान एकमात्र पारमार्थिक पद ही है। परम पदमें आरूढ़ होनेकी इच्छावाले वे जिज्ञासु-जन परमार्थ-वस्तुको न समझने तथा विपरीत बुद्धिको अपनानेके कारण अनेक प्रकारके विकल्पोंद्वारा केवल विवाद या तर्क-वितर्क करते हैं। जैसे विचित्र देश-कालमें उत्पन्न हुए पथिक अपनी विभिन्न दृष्टिके अनुसार अपने-अपने गन्तव्य मार्गकी प्रशंसा करते हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न देशों और कालोंमें पैदा हुए वे सभी वादी दृष्टिभेदके कारण अपने-अपने मार्ग (मत) का समर्थन करते हैं। यह सब कुछ चित्त ही है, ऐसा अनुभव प्रायः सभी लोगोंको होता है; क्योंकि यदि चित्तका सहयोग न हो तो मनुष्य इस संसारको देखकर भी नहीं देख पाता। मनको साथ रखनेपर ही पुरुष भली-बुरी वस्तुको सुनकर, छूकर, देखकर, आस्वादन-कर और सूँघकर अपने भीतर हर्ष तथा विषादका अनुभव करता है। जैसे विभिन्न रूपोंके दर्शनमें प्रकाश कारण है, उसी प्रकार विभिन्न विषयोंके अनुभवमें मन ही कारण है।

जिस पुरुषका चित्त विषयोंमें बँधा हुआ है, वह बन्धनमें पड़ता है तथा जिसका चित्त कर्मवासनाके

बन्धनसे रहित है, वह मुक्तिको प्राप्त होता है । मनके एकमात्र ब्रह्माकार होनेपर संसारका लय हो जाता है । यदि चित्तसे पृथक् जगत्‌की सत्ता होती तो जिसका चित्त लीन हो गया है, उस सम्पूर्ण प्राणिसमुदायकी दृष्टिमें सारे जगत्‌का लय क्यों हो जाता (अतः चित्तसे अतिरिक्त जगत् नहीं है) । जैसे एक ही काल विभिन्न ऋतुओंके कारण नाना रूपोंमें प्रकट होता है, उसी तरह एक ही मन विभिन्न कर्मोंके कारण विचित्र आकार धारण कर लेता और अनेक नामोंसे प्रतिपादित होता है । जैसे चेतन मकड़ीसे जड तन्तुकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार नित्य-प्रबुद्ध पुरुष परब्रह्म परमात्माके संकल्पसे जड प्रकृति एवं प्राकृत पदार्थ प्रकट होते हैं ।

(सर्ग ९६)

मनके द्वारा जगत्‌के विस्तार तथा अज्ञानीके उपदेशके लिये कल्पित त्रिविध आकाशका निरूपण एवं मनको परमात्मचिन्तनमें लगानेकी आवश्यकता

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन् ! आपके पूर्वोक्त कथनसे यह तात्पर्य प्रकट होता है कि यह जगत्‌रूपी आडम्बर मनसे ही आविर्भूत हुआ है । अतः यह जगत् मनका ही कार्य है ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—जैसे मरु प्रदेशका प्रचण्ड घाम अपनेमें मृगतृष्णारूपी जलका भ्रम ग्रहण करता है, उसी प्रकार दृढ़भावनासे अनुरञ्जित हुए मनने ही स्वयं-प्रकाश आत्मापर आवरण डालनेवाले जड जगत्‌को स्वीकार किया है । मैं ऐसा मानता हूँ कि विविध प्रकारके आचार-आकाश-प्रदेश, ग्राम और नगर आदिका रूप धारण करनेवाली विस्तृत आकृतिके द्वारा मन ही अपने स्वरूप-का विस्तार कर रहा है । ऐसी स्थितिमें शरीरोंके समुदाय तृण, काष्ठ और लता आदिके समान हैं । अतः उनके विचारसे कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा । हमें तो इनके मूलभूत केवल मनका ही विचार करना चाहिये । मैं समझता हूँ कि यह सम्पूर्ण विस्तृत जगत् मनसे ही व्याप्त है । मनसे भिन्न तो केवल परमात्मा ही शेष रहते हैं । परमात्मा सर्वातीत, सर्वव्यापी और सर्वाधार हैं, परमात्माके ही प्रसादसे मन सम्पूर्ण संसारमें दौड़ लगाता एवं नाचता-कूदता है । मेरे मतमें मन ही क्रिया है और वही विभिन्न शरीरोंका कारण है । मन ही जन्म लेता और मरता है; क्योंकि ऐसे गुण (भाव-विकार) आत्मामें नहीं हैं । मेरी रायमें मन ही एक ऐसी वस्तु है, जिसका विचार करनेसे वह स्वयं विहीन हो जाता है । मनका विलय होनेमात्रसे परम श्रेय (मोक्ष) की प्राप्ति हो जाती है । भ्रम उत्पन्न करनेवाली मन नामकी क्रियाका क्षय होनेपर जीव मुक्त कहा जाता है । वह फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेता है ।

श्रीराम ! जिनका भीतरी भाग अत्यन्त विस्तृत है, ऐसे तीन आकाश विद्यमान हैं । पहला चित्ताकाश, दूसरा चिदाकाश और तीसरा भूताकाश । जो बाहर और भीतर परिपूर्ण है, जगत्‌की उत्पत्ति और विनाशका ज्ञाता है तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें व्यापक है; वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही चिदाकाश कहलाता है । जो इन्द्रियो और महाभूतोंसे श्रेष्ठ है, कालकी कलना जिसका स्वभाव है और जिसने अपने संकल्पके द्वारा इस सम्पूर्ण जगत्‌का विस्तार किया है, वह समस्त प्राणियोंका हितकारी संकल्पात्मक मन ही चित्ताकाश कहा जाता है । दसों दिशाओंके मण्डलाकार विस्तारसे भी जिसका कलेवर सीमित नहीं होता तथा जो वायु और मेघ आदिका आश्रय है, वह भूतात्मक आकाश ही भूताकाश कहलाता है । भूताकाश और चित्ताकाश—ये दोनों परब्रह्म परमात्मरूप चिदाकाशकी शक्तिसे उत्पन्न हुए हैं । जैसे दिन अपनी सन्निधिमात्रसे समस्त कार्य-

समूहोंके सम्पादनमें कारण होता है, उसी प्रकार चेतन परमात्मा भी अपने सकाशमात्रसे सबके कारण हैं। जिसे आत्मतत्त्वका ज्ञान नहीं है, उसीके लिये तीन आकाशोंकी कल्पना हुई है। उसीको उपदेश देनेके लिये त्रिविध आकाशकी कल्पना की जाती है। जिसे आत्मतत्त्वका बोध हो गया है उसके लिये यह कल्पना नहीं है। आत्मज्ञानी पुरुषोंकी दृष्टिमें तो सब प्रकारकी कल्पनाओंसे रहित सर्वव्यापी, सर्वस्वरूप एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही नित्य विराजमान हैं। अज्ञानी पुरुषको ही अनेक प्रकारकी वाक्य-रचनासे युक्त द्वैत एवं अद्वैतके भेदोंका निरूपण करते हुए तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया जाता है। ज्ञानी पुरुषको किसी तरह भी ऐसा उपदेश नहीं दिया जाता।

निष्पाप श्रीराम! मन जिस किसीसे भी उत्पन्न हुआ हो और जो कुछ भी उसका स्वरूप हो, उसकी उधेड़-बुनमें न पड़कर बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह उसे नित्य प्रयत्नपूर्वक अपनी मुक्तिके लिये परमात्मामें लगाये। रघुकुलतिलक! परमात्मामें लगाया हुआ चित्त वासनारहित एवं शुद्ध हो जाता है। तत्पश्चात् वह कल्पनाशून्य होकर परमात्मभावको प्राप्त हो जाता है। श्रीराम! यह सारा चराचर जगत् चित्तके अधीन है। इसलिये बन्धन और मोक्ष भी चित्तके ही अधीन हैं। (अतः मनुष्यको उचित है कि वह मोक्ष-प्राप्तिके लिये चित्तको परमात्मचिन्तनमें लगाये।)

चिरकालतक चित्तके निरोधकी रक्षा करने और दीर्घकालतक परमात्माका चिन्तन करनेसे अभ्यासवश शून्यताको प्राप्त होकर मन फिर शोक नहीं करता। मनके प्रमादसे नाना प्रकारके दुःख बढ़ते हैं और बढ़कर पर्वत-शिखरके समान हो जाते हैं तथा उसीको वशमें कर लेनेसे ज्ञानका उदय होनेके कारण वे सारे दुःख उसी तरह नष्ट हो जाते हैं, जैसे सूर्यके सामने बर्फका ढेर गल जाता है। यदि मन शास्त्रोंके अर्थज्ञानसे उत्पन्न हुई अनिन्द्य वासनासे युक्त हो राग आदिके विषयमें मौन (निरोध) का आश्रय ले जीवनपर्यन्त मुनिकी तरह रमता है तो आगे चलकर पावनको भी पावन बनानेवाले, जन्मरहित, शीतल (शान्तिमय) परिपूर्ण ब्रह्मपदको प्राप्त करके उसीमें स्थित हुआ जीवन्मुक्त पुरुष बड़ी-से-बड़ी आपत्तियोंमें पड़नेपर भी कभी शोक नहीं करता।

(सर्ग ९७—९९)

मनकी परमात्मरूपता, ब्रह्मकी विविध शक्ति, सबकी ब्रह्मरूपता, मनके संकल्पसे ही सृष्टि-विस्तार तथा वासना एवं मनके नाशसे ही श्रेयकी प्राप्तिका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! जैसे जल-जातिका बोध रखनेवाले पुरुषोंकी दृष्टिमें तरङ्ग समुद्रसे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार इस लोकमें जिन्हें परमात्मतत्त्वका ज्ञान हो गया है, उनकी दृष्टिमें उनका मन भी परब्रह्म परमात्मा ही है, उनसे भिन्न नहीं। रघुनन्दन! अज्ञानी पुरुषोंका मन ही संसाररूपी भ्रमका कारण है (अथवा जन्म-मरणरूपी संसारमें भटकानेका हेतु है)—जैसे जो लोग जल-सामान्यपर दृष्टि नहीं रखते, उन्हींको समुद्रके जल और तरङ्गमें भेद प्रतीत होता है। अज्ञानियोंके पक्षमें उन्हें केवल ज्ञानका उपदेश देनेके लिये ही वाच्य-वाचक-सम्बन्धजनित भेदकी कल्पना की जाती है। परब्रह्म परमात्मा सर्वशक्तिमान्, नित्य, परिपूर्ण एवं अविनाशी है, उन सर्वव्यापी परमात्मामें जो न हो, ऐसी किसी वस्तुकी सत्ता ही नहीं है। भगवान् सम्पूर्ण शक्तियोंसे परिपूर्ण हैं। उन्हें जब जो शक्ति रुचती है, तब उसी अनन्त शक्तिको वे सर्वव्यापी परमात्मा प्रकाशित करते हैं (उपयोगमें लाते हैं)। श्रीराम! प्राणियोंके शरीरोंमें ब्रह्मकी चेतन-शक्ति दिखायी देती है। इसी तरह प्रवह आदि वायुओंमें ब्रह्मकी स्पन्दशक्ति, प्रस्तरमें जड-शक्ति, जलमें द्रव-शक्ति, अग्निमें तेजस्शक्ति, आकाशमें शून्य-शक्ति और जगत्की

स्थितिमें उनकी भाव (सत्ता)-शक्ति विद्यमान है। ब्रह्मकी सम्पूर्ण शक्ति दसों दिशाओंमें व्याप्त दिखायी देती है। विनाशकालमें नाशशक्ति, शोकयुक्त प्राणियोंमें शोक-शक्ति, प्रसन्न जीवोंमें आनन्दशक्ति, योद्धामें वीर्यशक्ति, सृष्टिकालमें सर्गशक्ति और प्रलयकालमें उनकी सर्वशक्ति-मत्ता दृष्टिगोचर होती है। जैसे वृक्षके बीजमें फल, फूल, लता, पत्र, शाखा-प्रशाखा तथा जड़सहित वृक्ष अव्यक्त-रूपसे विद्यमान रहता है, उसी प्रकार ब्रह्ममें यह सम्पूर्ण जगत् स्थित है।

रघुनन्दन! अब इस जगत्को और अहंतत्त्व (जीव) को तुम ब्रह्मरूप ही देखो। वह परब्रह्म परमात्मा सर्व-व्यापी है। उसका महान् (अनन्त) स्वरूप नित्य प्रकाशमान है। वही ब्रह्म जब किंचित् मननशक्तिको धारण करता है, तब मन कहलाता है। जैसे आकाशमें भ्रमवश मोरके पंखोंकी प्रतीति होती है और जैसे जलमें आवर्त-बुद्धि होती है, उसी तरह मनमें ब्रह्मकी प्रतीति होती है। शत्रुसूदन श्रीराम! यह जो मनका मननात्मक रूप प्रकट हुआ है, वह ब्रह्मकी शक्ति ही है; इसलिये वह ब्रह्म ही है। 'इदं' (यह), 'तत्' (वह) और 'अहं' (मैं)—वह सब भेद प्रतीतिमात्र ही है, वास्तविक नहीं। जैसे निश्चल और निर्मल जलराशिमें अपने-आप स्पन्द (कम्पन) होता है, उसी तरह परमात्मामें यह जीव पूर्वकर्म और वासनाके अनुसार प्रकट हुआ है। यही संसारका कारण है। श्रीराम! जैसे समुद्रका जल ही कल्लोल, ऊर्मि और तरङ्ग-समुदायके रूपमें सब ओर स्थित रहता है, उसी तरह ज्ञानीकी दृष्टिमें यह सारा प्रपञ्च ब्रह्मस्वरूप ही है। जैसे विविध तरङ्गोंसे व्याप्त विशाल महासागरमें जलके अतिरिक्त दूसरी कोई कल्पना या सत्ता नहीं है, उसी तरह परब्रह्म परमात्मामें नाम-रूप क्रियात्मक संसारकी ब्रह्मसे अतिरिक्त सत्ता नहीं है। यह जो कुछ जगत् जन्म लेता, नष्ट होता, गमन करता अथवा स्थित रहता है, वह सब ब्रह्मके द्वारा ब्रह्ममें ब्रह्म ही वर्तता है। करण, कर्म, कर्ता, जन्म, मरण और स्थिति—ये सब ब्रह्म ही हैं। उसके बिना दूसरी कोई कल्पना ही नहीं। यह सारा जगत् परमात्मा ही है। जो कुछ यह संकल्प-क्रम है, वह सब भी परमात्मा ही है। जैसे सुवर्ण बाजूबंदके रूपमें प्रकट होता है, उसी प्रकार परमात्मा मनरूपसे प्रकट हुआ है; इसलिये मन भी परमात्मा ही है।

राघव! बन्धन और मोक्ष आदिका कोई सम्मोह ज्ञानीको नहीं होता। मोहजनित बन्धन और मोक्ष आदि तो अज्ञानीको ही होते हैं।

निष्पाप श्रीराम! विकल्प-जालसे परिपूर्ण यह संसार-रचना प्रतीतिमात्र ही है, जो बन्ध, मोक्ष आदिकी कल्पनाओंके रूपमें विस्तारको प्राप्त हो रही है। वास्तवमें यहाँ सकल्पमात्रके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जो कुछ विकल्परूप प्रतीत होता है, वह संकल्पके कारण ही प्रतीतिका विषय होता है। वह वास्तवमें कुछ नहीं है; अथवा कुछ है अर्थात् परमात्माका संकल्पमात्र है। स्वर्ग, पृथ्वी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ—ये सब अपने स्वप्नके समान मनके सकल्पमात्रमें ही विकसित हुए हैं। जैसे केवल जलमय चञ्चल समुद्र अपने स्वरूपभूत जलमें स्वयं ही स्फुरित होता है, उसी तरह परमात्मामें एकमात्र सकल्प ही सब ओर स्फुरित हो रहा है। पहले परमात्मामें एकमात्र सकल्प ही प्रकट हुआ। वही संकल्प सूर्यके व्यापारोंसे बढ़नेवाले दिनकी भाँति लोगोंके विविध व्यापारोंसे विस्तारको प्राप्त हुआ है।

वस्तुतः भेदरहित परमात्मामें अहंकार नहीं है। जैसे सूर्यकी प्रचण्ड धूपमें भ्रमवश मृगतृष्णारूपिणी नदीकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार असम्यक्-दृष्टि (अज्ञान) के कारण ही परमात्मामें अहंकारका भान होता है। मनरूपी चिन्तामणिके द्वारा कल्पित जो महान् आरम्भ (कार्यसमूहकी सृष्टि) है, वही संसाररूपमें देखा जाता है। जैसे जल अपने स्वरूपका आश्रय लेकर स्वयं ही

तरङ्ग आदिके रूपमें प्रतीत होता है, उसी प्रकार आत्माका आश्रय लेकर मन स्वयं ही संसारके रूपमें स्फुरित होता है। अद्वितीय परमात्मामें अज्ञानके कारण भेद और अभेदकी भ्रान्ति हो रही है। इस भ्रमका बाध होनेपर जब यह सब कुछ ब्रह्मतत्त्वके रूपमें ही अवशिष्ट रह जाता है, तब यहाँ कौन बद्ध है और कौन मुक्त होता है? जबतक ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं होता, तभीतक देह आदिके पीड़ित होनेपर यह पीड़ारहित जीव भी पीड़ासे युक्त-सा प्रतीत होता है। अच्छेद्य होनेपर भी देहके किसी अङ्गके कट जानेपर तमतमा उठता है। परंतु जब परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है, तब ये बातें नहीं होतीं; क्योंकि परमात्मामें भेद, अभेद, विकार और पीड़ा—कुछ भी नहीं है।

यह शरीर गिर जाय या उठ खड़ा हो अथवा आकाशके भीतर चला जाय, उससे विलक्षण रूपवाले मुझ आत्माकी क्या हानि है? श्रीराम! मन ही सम्पूर्ण जगत्का शरीर है। मनकी कारणभूत आद्याशक्ति-रूप चिन्मय परमात्माका कभी नाश नहीं होता। यह वासना इष्ट वस्तुमें राग और अनिष्ट वस्तुमें द्वेषके कारण बन्धनमें डालनेवाली मनकी ही शक्ति है। इसीके द्वारा व्यर्थ भ्रमसे स्वप्नकी भाँति इस जगत्की कल्पना हुई है। यह वासना अविद्या है। ज्ञानके बिना इसका अन्त होना बड़ा कठिन है। यह केवल दुःख देनेके लिये ही बढ़ती है। इसके स्वरूपका ज्ञान न होनेसे ही यह इस मिथ्या प्रपञ्चका विस्तार करती है। इस मानसी-शक्ति वासनाने ही इस विशाल जगत्को दीर्घकालतक रहनेवाले स्वप्नके समान रचा है। यह है तो असत्, किंतु सत्-सा प्रकट हुआ जान पड़ता है। आरम्भमात्र ही इसका फल है अर्थात् यह निस्सार एवं आपातरमणीय है। मनका नाश ही महान् अभ्युदय—परम पुरुषार्थकी प्राप्ति है और वही समस्त दुःखोंके समूल नाशका उपाय है। निरन्तर सुख-दुःखरूपी वृक्ष-समूहोंसे भरपूर और क्रूर कालरूपी विषैले सर्पके निवास-स्थान इस समस्त संसाररूपी वनमें यह विवेकहीन मन ही बड़ी-बड़ी विपत्तियोंका एकमात्र कारण और प्रभु है।

महर्षि वसिष्ठके इतना उपदेश दे लेनेपर दिन बीत गया, सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये। उस राजसभामें बैठे हुए ऋषि-मुनि तथा अन्य सभासद् सायंकालिक कृत्य (संध्योपासना और अग्निहोत्र आदि) करनेके लिये स्नानके उद्देश्यसे उन महामुनिको नमस्कार करके चले गये तथा रात बीतनेपर सूर्यकी किरणोंके साथ ही वे सब सभासद् फिर वहाँ आ गये। (सर्ग १००—१०२)

जगत्की चित्तरूपता, वासनायुक्त मनके दोष, मनका महान् वैभव तथा उसे वशमें करनेका उपाय

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! जैसे सागरसे उसकी बड़ी-बड़ी लहरें उठती हैं, उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मासे इस चित्तरूपी तरङ्गका उत्थान हुआ है। यही अपने संकल्पसे विशालताको प्राप्त होकर चारों ओर इस भुवनका विस्तार करता है। सब प्रकारकी वस्तुओंसे सम्पन्न यह जो कुछ भी चराचर जगत् दृष्टिगोचर हो रहा है, सब-का-सब चित्तके संकल्पसे ही प्रकट हुआ है। श्रीराम! जैसे छोटा बच्चा घरमें कीचड़ या गीली मिट्टीसे विचित्र खिलौने बनाता है, वैसे ही मन अपने संकल्पसे विकल्परूपी जगत्की सृष्टि करता है। जैसे ऋतुओंका निर्माण करनेवाला काल विभिन्न ऋतुओंमें वृक्षका कुछ और-ही विलक्षण रूप कर देता है, उसी प्रकार चित्त भी इन सब पदार्थोंको विलक्षण-सा बना देता है। जैसे वृक्षसे पल्लव प्रकट होते हैं, उसी प्रकार मनके संकल्पसे व्यामोह, सम्भ्रम, अनर्थ, देश, काल, गमन और आगमन—ये सब-के-सब उत्पन्न होते हैं। जैसे जल ही समुद्र है और उष्णता ही अग्नि है, उसी प्रकार चित्त ही विविध व्यापारोंसे पूर्ण संसार है (क्योंकि वह उसीके संकल्पसे उत्पन्न हुआ है)।

कर्ता, कर्म और करणके साथ जो यह द्रष्टा, दर्शन और दृश्यसे सम्पन्न संसार प्राप्त हुआ है, वह सब-का-सब चित्त ही है। जैसे सुवर्ण-तत्त्वकी परीक्षा करनेवाला पुरुष बाजूबंद, मुकुट, कड़ा और हार आदि आकारोंसे सुशोभित उसके विविध रूपोंको छोड़कर एकमात्र सुवर्णमें ही बुद्धिको लगानेपर वास्तविक सुवर्णको देख पाता है, उसी प्रकार विवेकी पुरुष भी विभिन्न लोकों, उनके भीतरके भुवनों और उनके भी भीतर फैले हुए वनान्तर आदि समस्त वस्तुओंको त्यागकर जब यह समझ लेता है कि इन सबके रूपोंमें अपने ही स्वरूप-भेदसे—अपने ही सकल्प-विकल्पोंसे चित्त स्वयं ही प्रकट हुआ है, तब यह सारा जगत् उसे चित्तरूप ही दिखायी देता है; फिर चित्तके सिवा दूसरी कोई वस्तु दृष्टिगोचर नहीं होती।

जैसे बालिका वेतालोंका विस्तार करती है, उसी प्रकार अत्यन्त तुच्छ वासनारूपी सहस्रों दोषोंसे मलिन हुई मनोवृत्ति, जो नहीं है उस दुःखका भी पूर्णरूपसे विस्तार करती है; किंतु जो वासनारूप कलङ्कसे मलिन नहीं हुई है—निष्कलङ्क है, वह मनोवृत्ति महान् दुःख विद्यमान हो तो भी उसे उसी प्रकार क्षणभरमें मिटा देती है, जैसे सूर्यकी प्रभा अन्धकारको। वासनायुक्त अज्ञानी चित्तको जहाँ भय नहीं है, वहाँ भी भय दिखायी देता है। जैसे भ्रममें पड़े पथिकको ठूँठा काठ दूरसे पिशाच-जैसा जान पड़ता है। कलङ्कसे मलिन हुआ मन मित्रमें भी शत्रुभावकी आशङ्का करता है, जैसे नशेमें चूर हुआ प्राणी इस पृथ्वीको घूमती हुई देखता है। मनके व्याकुल होनेपर चन्द्रमासे भी वज्रपात होता जान पड़ता है। विष-बुद्धिसे भक्षण किया गया अमृत भी विषका काम करता है। मनकी उत्कट वासना ही जीवके लिये एकमात्र मोहका कारण है, अतः यत्नपूर्वक उसीकी जड़ काटकर उसे उखाड़ फेंकना चाहिये। मनुष्योंका मनरूपी हिरन संसाररूपी वनकी झाड़ीमें वासनारूपी जालसे आकृष्ट हो बड़ी विवशताको प्राप्त हो जाता है। जिस विचारसे जीवकी ज्ञेय-पदार्थसम्बन्धिनी वासना कट जाती है, उसका प्रकाश बादलोंके आवरणसे रहित सूर्यकी प्रभाके समान प्रकाशित होता है। अतः तुम मनको ही मानव समझो, इस स्थूल देहको नहीं। देह जड है; किंतु इनके भीतर रहनेवाले मनको न जड माना जाता है न अजड। तात! निष्पाप रघुनन्दन! मनने जो कर दिया, उसीको किया हुआ समझो और मनने जिसे छोड़ दिया, उसीको छोड़ा हुआ मानो। यह सारा जगत् एकमात्र मन ही है। मन ही सम्पूर्ण भूमण्डल है। मन ही आकाश, मन ही भूमि, मन ही वायु और मन ही महत्तत्त्व है। यदि मन सूर्य आदि पदार्थमें प्रकाश आदिरूपसे अपने-आपको योजित न करे तो ये सूर्य आदि भी कभी प्रकाशित न हों। जिसका मन मोहको प्राप्त होता है, वही मूढ़ कहलाता है; यदि शरीर मोहको प्राप्त हो तो उसके शवको कोई मूढ़ नहीं कहता। मन जब देखता है तब नेत्र बन जाता है, सुनता है तब श्रवण या कान बन जाता है, स्पर्शका अनुभव करनेसे वही त्वगिन्द्रियका रूप ग्रहण करता है, सूँघनेसे घ्राणेन्द्रिय और रसास्वादन करनेसे रसनेन्द्रिय हो जाता है। जैसे नाटकमें एक ही नट अनेक भूमिकाओं (विविध रूपों) में देखा जाता है, उसी प्रकार देहके भीतर इन विचित्र इन्द्रिय-वृत्तियोंमें केवल मनकी ही अनुवृत्ति होती है। मन छोटेको बड़ा बना देता, सत्य पदार्थमें असत्ता स्थापित कर देता, स्वादिष्टको कड़ुआ बनाता और शत्रुको मित्र बना लेता है।

यदि भगवत्-स्मरण आदि मनोहर मनोवृत्तिका उदय हो तो रौरव नरकका दुःख भी सुखके रूपमें परिणत हो जाता है। जिसे कल सवेरे राज्य मिलनेका विश्वास है, वह यदि कारागारमें अच्छी तरह बँधा हो तो भी उसका वह बन्धन दुःखद नहीं होता। मनके जीत लिये जानेपर सारी इन्द्रियाँ स्वतः वशमें हो जाती हैं। श्रीराम! सर्वत्र विद्यमान, स्वच्छ, निर्विकार, सम, सूक्ष्म, साक्षिस्वरूप, सम्पूर्ण पदार्थोंमें अनुगत, चेत्य पदार्थोंसे अभिन्न तथा चिन्मात्ररूप जो आत्मसत्ता है, उससे उपलक्षित जो

वाग् आदि सब क्रियाओंसे रहित ब्रह्म है, उसे भी यह मन देहके तुल्य और जड बनाकर अन्तःकरणमें काम-संकल्प-रूप भ्रान्तिसे और बाहर पर्वत, नदी, समुद्र, आकाश एवं नगर आदिकी लीलासे युक्त हो व्यर्थ घूमता रहता है।

जिसे चित्तने देखा है, वही वस्तु देखी गयी मानी जाती है। यदि चित्तने नहीं देखा तो सामने रक्खी हुई वस्तु भी नहीं दिखायी देती। जैसे अन्धकारमें नील रूपकी कल्पना की गयी है, उसी तरह मनने अपनेमें ही इन्द्रियोंका निर्माण कर रक्खा है। इन्द्रियोंसे मन साकार होता है और मनसे इन्द्रियाँ। इस प्रकार यद्यपि दोनों समान हैं, तथापि इनमें मन ही उत्कृष्ट है; क्योंकि मनसे इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं, इन्द्रियोंसे मन नहीं। इस तरह चित्त और शरीर एक-दूसरेसे अत्यन्त भिन्न होनेपर भी जिनकी दृष्टिमें इन दोनोंकी एकता है अर्थात् जो चित्त और शरीर दोनोंको जड-कोटिमें मानकर उन्हें एक-सा समझते हैं, वे ज्ञेय आत्माके ज्ञाता परम ज्ञानी महात्मा हम सबके लिये वन्दनीय हैं। जब मन अन्यत्र आसक्त होता है—किसी दूसरे काममें उलझा रहता है, तब बड़े यत्नसे कही जाती हुई कथाका क्रम भी टूट जाता है। स्वप्नमें जब मन उल्लासको प्राप्त होता है, तब हृदयके भीतर ही निर्मित हुए नगर एवं पर्वत आदि विस्तृत आकाशमें निर्मित नगर और पर्वत आदिके समान अपने-अपने कार्यको करनेमें समर्थ दिखायी देते हैं। जैसे चञ्चल समुद्र अपने-आपमें ही तरङ्गमालाओंका विस्तार करता है, उसी तरह मन स्वप्नावस्थामें अपनेसे विक्षिप्त हुए हृदयमें ही पर्वत और नगरोंकी श्रेणीको फैला देता है। जैसे समुद्रके भीतर जलसे तरङ्गमालाएँ और छोटी-छोटी लहरें प्रकट होती हैं, उसी तरह देहके भीतर मनसे ही स्वप्नगत पर्वत और नगरोंकी पंक्तियाँ प्रादुर्भूत होती हैं। जैसे पत्र, लता, फूल और फलकी शोभा अङ्कुरका ही स्वरूप है—उससे भिन्न नहीं, उसी प्रकार जाग्रत् और स्वप्नकी विलास-भूमियाँ मनका ही विकास हैं, मनसे भिन्न नहीं। जैसे सुवर्णकी नारी-प्रतिमा सुवर्णसे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार जाग्रत् और स्वप्नावस्थाकी क्रिया-लक्ष्मी चित्तसे पृथक् नहीं है। जैसे जलका वैभव ही धारा, जलकण, तरङ्ग और फेन आदिकी शोभाके रूपमें दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार जगत्के विविध पदार्थोंके रूपमें यह चित्तका ही विचित्र वैभवशाली नानात्व प्रकट हुआ है। जैसे नट शृङ्गार आदि रसके आवेशसे विभिन्न भूमिका (वेश-वैचित्र्य) को ग्रहण करता है, उसी प्रकार अपनी चित्त-वृत्ति ही यहाँ रागके आवेशसे जाग्रत् और स्वप्नगत दृश्य-प्रपञ्चके रूपमें उदित होती है।

सब ओर फैला हुआ वासनारूढ मन विषयोंके मननसे अतिशय मोहको प्राप्त हो अपने संकल्पके अनुसार विभिन्न प्रकारकी योनि (जन्मस्थान), सुख-दुःख तथा भय-अभयको प्राप्त होता है। जैसे तिलमें तेल रहता है, उसी तरह मनमें सुख और दुःख रहते हैं। वे ही देश और कालका प्रभाव पड़नेसे कभी घनभूत हो जाते हैं और कभी अत्यन्त सूक्ष्म। मनःशरीरके संकल्पके सफल होनेपर ही स्थूल-शरीर शान्ति एवं उल्लासको प्राप्त होता है, आता-जाता है और उछलता-कूदता है। वह स्वतन्त्र-रूपसे कुछ नहीं करता। जैसे साध्वी स्त्री अन्तःपुरके आँगनमें ही अपने संकल्पसे उदित विविध एवं विस्तृत उल्लासोंके साथ क्रीड़ा करती है, उसी प्रकार मन इस देहके भीतर अपने संकल्पोंद्वारा कल्पित अनेक प्रकारके बढ़े हुए उल्लासजनक भावोंसे क्रीडा-विलास करता है। इसलिये जो पुरुष अन्तःकरणमें मनको चपलता (विषय-चिन्तन) के लिये अधिक अवसर नहीं देता, उसका वह मन खंभेमें बँधे हुए हाथीके समान स्थिर होकर लयको प्राप्त हो जाता है। निष्पाप रघुनन्दन! जिसका मन एक लक्ष्यमें स्थिर होकर अपनी चपलताका त्याग कर चुका है, वह ध्यानके द्वारा सर्वोत्तम पद (परब्रह्म परमात्मा) से संयुक्त हो जाता है। जैसे मन्दराचलके स्थिर हो जानेपर क्षीरसागर शान्त हो गया था, उसी प्रकार मनके संयमसे संसाररूपी भ्रान्तिका शमन हो जाता है।

(सर्ग १०३-११०)

चित्तरूपी रोगकी चिकित्साके उपाय तथा मनोनिग्रहसे लाभ

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! यह चित्त एक महान् रोग है । इसकी चिकित्साके लिये एक बहुत बड़ी औषध है, जो अभीष्टसाधक, निश्चितरूपसे लाभ पहुँचानेवाली, परम स्वादिष्ट और अपने ही अधीन है; उसे बताता हूँ, सुनो । रागके विषयभूत बाह्य विषयोंका परित्याग करके परमात्मचिन्तनरूपी अपने ही पुरुषार्थमय प्रयत्नसे चित्तरूपी बेतालपर शीघ्र विजय पायी जाती है । जो अभीष्ट वस्तु (बाह्य विषयभोग) को त्यागकर चित्तके राग आदि रोगोंसे रहित हो स्वस्थ रहता है, उसने अपने मनको उसी प्रकार जीत लिया है, जैसे मजबूत दाँतोंवाला हाथी खराब और कमजोर दाँतवाले हाथीको जीत लेता है । स्वसंवेदन (आत्मा या परमात्माके निरन्तर चिन्तन) रूपी प्रयत्नसे चित्तरूपी बालकका पालन किया जाता है अर्थात् उक्त यत्नसे उसके राग और चपलता आदि रोगोंकी चिकित्सा करके उसे स्वस्थ बनाया जाता है । उसे अवस्तु (मिथ्या अथवा अनात्मवस्तु) से हटाकर वस्तु (सत्य अथवा आत्मतत्त्व) में लगाया जाता है तथा उसे बोधसे सम्पन्न किया जाता है । जैसे बालकको प्यार या भय दिखाकर बिना प्रयत्नके ही इधर-उधर जहाँ चाहे लगाया जा सकता है, उसी प्रकार भावोंसे मनको भी अनायास ही अन्तरात्मामें लगाया जा सकता है । ऐसा करनेमें कठिनाई ही क्या है ?

भविष्यमें अभ्युदयरूपी फलको देनेवाले सत्कर्म (समाधिके अभ्यास) में लगे हुए मनको अपने पुरुषार्थसे ही चेतन परमात्माके साथ संयुक्त करे । जो सर्वथा अपने अधीन और परम हितकर है, वह अभीष्ट वस्तुका त्यागरूपी वैराग्य जिसके लिये कठिन हो गया है, वह मनुष्य नहीं, विषयोंका कीड़ा है । उसे धिक्कार है । जैसे कोई पहलवान किसी बालकको अनायास ही पछाड़ देता है, उसी प्रकार अपनी बुद्धिसे अरम्य विषय-तन्तुमें परम रमणीय परब्रह्म परमात्माकी भावना करके मनको बिना यत्नके ही जीत लिया जा सकता है । पौरुषरूपी प्रयत्नसे चित्तको शीघ्र ही जीत लिया जाता है । जो चित्तको जीतकर उसके प्रभावसे रहित हो गया है, वह बिना किसी प्रयासके परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है । अपने चित्तपर आक्रमण करके उसे वशमें कर लेना-मात्र जो सहजसाध्य और स्वाधीन कार्य है, उसे ही जो लोग नहीं कर सकते, वे पुरुष नहीं, गीदड़ हैं । उन्हें धिक्कार है । एकमात्र अपने पौरुषसे ही सिद्ध होनेवाला जो अभीष्ट वस्तुका त्यागरूपी मनोनिग्रहकर्म है, उसके बिना शुभगति नहीं हो सकती । अभीष्ट बाह्य विषयोंका स्मरण न करना अथवा मनोवाञ्छित मोक्ष-सुखकी प्राप्ति कराना जिसका स्वरूप है, उस मुख्य साधन मनोनिग्रहके बिना गुरुका उपदेश, शास्त्रके अर्थका चिन्तन और मन्त्र आदि सारे साधन या युक्तियाँ तिनकोंके समान व्यर्थ हैं*।

संकल्पोंके परित्यागरूपी शस्त्रसे जब चित्तरूपी वृक्षका समूल उच्छेद हो जाता है, तब साधक सर्व-स्वरूप सर्व-व्यापी शान्त ब्रह्मरूप हो जाता है । श्रीराम ! जैसे दिग्भ्रम होनेपर पूर्वमें पश्चिमकी प्रतीति होने लगती है और वह अनुभवके विपरीत बुद्धि उस समय बिल्कुल स्थिर हो जाती है; परंतु विवेकरूपी पुरुष-प्रयत्नसे उस भ्रान्त बुद्धिका भी शीघ्र ही निवारण किया जा सकता है, उसी तरह मनको भी वैराग्यरूपी पुरुष-प्रयत्नसे शीघ्र ही जीता जा सकता है । मनमें उद्वेगका न होना राज्य आदि सम्पत्तिका मूल कारण है । उद्वेग या उकताहट न होनेसे ही जीवको अपने मनपर विजय प्राप्त होती है, जिससे तीनों लोकोंपर विजय पाना तृणके समान सहज हो जाता है । जो नराधम अपने मनके निग्रहमें भी समर्थ

* यह बात मनोनिग्रहकी प्रशंसाके लिये कही गयी है । गुरुके उपदेश और शास्त्रके अभ्यासको व्यर्थ बताना इसका उद्देश्य नहीं है । सद्गुरुके उपदेश और शास्त्रार्थ-चिन्तन कभी व्यर्थ नहीं जाते ।

नहीं हैं, वे व्यवहार-दशाओंमें व्यवहारका निर्वाह कैसे कर सकेंगे। मैं पुरुष हूँ, मरा हूँ, उत्पन्न हुआ हूँ और जी रहा हूँ इत्यादि कुदृष्टियाँ चञ्चल चित्तकी वृत्तियाँ ही प्रतीत होती हैं, जो बिना हुए ही प्रकट हुई हैं। यहाँ न तो किसीकी मृत्यु होती है और न कोई जन्म ही लेता है। मन स्वयं ही अपने मरणका तथा लोकान्तर-गमनका सङ्कल्पमात्रसे अनुभव करता है। जो नित्य सत्, सबका हितकारी, मायामयी मलिनतासे रहित और सर्व-व्यापी परमात्मा हैं, उनमें चित्तका लय हुए बिना मुक्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है। इस बातका ऊपर-नीचे तथा अगल-बगलके लोकोंमें रहनेवाले तत्त्वदर्शी विद्वानोंने बारंबार विचार किया है और सब-के-सब इसी निश्चयपर पहुँचे हैं कि चित्तकी शान्तिके सिवा मुक्तिका दूसरा कोई उपाय है ही नहीं। ऋत, सत्य, व्यापक और निर्मल ज्ञानका हृदयमें उदय होनेपर मनके लय होनेमात्रसे परम शान्ति प्राप्त हो जाती है। यदि आपातरमणीय विषयोंको तुम-जैसे विद्वान्‌ने अरमणीय वस्तुओंकी कोटिमें समझ लिया है, तब तो मेरा विश्वास है कि तुमने चित्तके सारे अङ्ग काट डाले हैं। यह सामने दिखायी देनेवाला जो वह (पितासे उत्पन्न) शरीर है, वह मैं हूँ और यह जो घर, खेत आदि धन है, यह सब मेरा है। यह 'मैं' और 'मेरा' ही मन है। यदि यह मैं और मेरेपनकी भावना न की जाय तो उससे मन उसी तरह कट जाता है, जैसे हँसियासे तृण। जैसे शरद् ऋतुमें आकाशमें बिखरे हुए बादलोंके टुकड़े वायुद्वारा उड़ा दिये जाते हैं, उसी प्रकार मैं और मेरेपनकी कल्पना या भावना न करनेसे मन भी उड़ा दिया जाता है—नष्ट कर दिया जाता है। इसलिये कोई विज्ञ पुरुष जैसे अपने बालक पुत्रको अच्छे कर्ममें लगाता है, उसी तरह विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह अपने मनको कल्याणमें लगाये। जिसका नाश होना कठिन है तथा जो नूतन या बालक न होकर सयाना और दर्पसे भरा हुआ है, उस मनरूपी सिंहको, जो संसारका विस्तार करनेवाला है, जो लोग मार डालते हैं, वे निर्वाणपदका उपदेश देनेवाले महात्माजन इस संसारमें धन्य हैं। उनकी सदा ही विजय होती है। भले ही प्रलयकालके प्रचण्ड पवन प्रवाहित हों, चारों समुद्र एकमें मिलकर एकार्णव हो जायँ और बारहों सूर्य एक साथ तपने लगें; परंतु जिसका मन शान्त हो गया है, उस पुरुषकी कभी कोई हानि नहीं होती।

(सर्ग १११)

मनोनाशके उपायभूत वासना-त्यागका उपदेश, अविद्या-वासनाके दोष तथा इसके विनाशके उपायकी जिज्ञासा

श्रीवसिष्ठजीने कहा—जैसे बर्फका रूप शीतलता और काजलका रूप कालिमा है, उसी प्रकार मनका रूप अत्यन्त चञ्चलता है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! इस अत्यन्त चञ्चल मनके तीव्र वेग या चपलताका बलपूर्वक निवारण कैसे हो सकता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! इस जगत्‌में कहीं भी चपलतासे रहित मन नहीं देखा जाता। जैसे उष्णता अग्निका धर्म है, वैसे ही चञ्चलता मनका। चेतन तत्त्वमें जो यह चञ्चल क्रियाशक्ति विद्यमान है, उसीको तुम जगत्‌का आडम्बररूप मानसी शक्ति समझो। जैसे स्पन्दन और अस्पन्दनके बिना वायुके अस्तित्वका पता ही नहीं चलता, वैसे ही चञ्चल स्पन्दन (चेष्टा) के बिना चित्तका अस्तित्व ही नहीं है। जो मन चञ्चलतासे रहित है, वही मरा हुआ कहलाता है। वही तप है और वही शास्त्रका सिद्धान्तभूत मोक्ष कहलाता है। मनके विनाशमात्रसे सम्पूर्ण दुःखोंकी शान्ति हो जाती है और मनके संकल्पमात्रसे परम दुःखकी प्राप्ति होती है।

श्रीराम ! मनकी जो यह चपलता है, वह अविद्यासे उत्पन्न होनेके कारण अविद्या कही जाती है। उस अविद्याका ही दूसरा नाम वासनापद है। उसका विचारके द्वारा नाश कर देना चाहिये। विषय-चिन्तनका त्याग कर देनेसे अविद्या और वासनामयी उस चित्त-सत्ताका अन्तःकरणमें लय हो जाता है और ऐसा होनेसे परम श्रेय (मोक्ष-सुख) की प्राप्ति होती है। पौरुष-प्रयत्नके द्वारा मनको जिस वस्तुमें भी लगाया जाता है, उसीको प्राप्त होकर वह अभ्यासवश तद्रूप हो जाता है।

जो संसार-सागरके वेगमें पड़कर तृष्णारूपी ग्राहकी दाढ़ोंमें फँस गये हैं और भ्रमरूपी आवर्तोंद्वारा दूर बहाये जा रहे हैं, उनके वहाँसे पार जानेके लिये अपना जीता हुआ मन ही नौकारूप है। जिसने परम बन्धनकारी मनरूपी पाशके अपने (जीते हुए) मनके द्वारा ही काटकर आत्माका उद्धार नहीं कर लिया, उसे दूसरा कोई बन्धनसे नहीं छुड़ा सकता। विद्वान् पुरुषको चाहिये कि हृदयको वासित करनेवाली जो-जो वासना, जिसका दूसरा नाम मन है, उदित होती है उस-उसका परित्याग करे—उसे मिथ्या समझकर छोड दे। इससे (वासनात्मक मनके साथ ही) अविद्याका क्षय हो जाता है। भावनाकी भावना न करना ही वासनाका क्षय है। इसीको मनका नाश एवं अविद्याका नाश भी कहते हैं।

रघुनन्दन ! भ्रमसे दो चन्द्रमाओंकी प्रतीतिके समान यह वासना नित्य असत्य होती हुई ही सत्यके समान उठ खडी हुई है। इसलिये इसका त्याग कर देना ही उचित है। यहाँपर तत्त्व (अद्वितीय परब्रह्म) के सिवा न कोई सद् वस्तु है न असद् वस्तु। जैसे तरङ्ग-मालाओंसे परिपूर्ण विशाल महासागरमें जलराशिके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है (उसी तरह संसारमें ब्रह्मके सिवा दूसरा कोई भाव या अभावरूप पदार्थ नहीं है)। यदि कर्मका फल सत्य हो तो कर्म उपादेय (ग्राह्य) होना चाहिये और यदि उसका फल मिथ्या हो तो वह कर्म सर्वथा हेय (त्याज्य) ही होना चाहिये, क्योंकि सब लोग एकमात्र उपादेय वस्तुमें ही आसक्त होते हैं। चूँकि कर्मका फल मिथ्या है, अतः उसमें आसक्त न होना ही उचित है। इन्द्रजालके समान यहाँ सब कुछ मायामय और अवास्तविक है; फिर उसमें क्या आस्था हो सकती है—कैसे हेय और उपादेय दृष्टियाँ हो सकती हैं। रघुकुलतिलक श्रीराम ! संसार-वृक्षकी बीज कणिकारूप जो यह अविद्या है, इसका अस्तित्व नहीं है, तो भी यह सत्तायुक्त वस्तुकी भाँति विस्तारको प्राप्त हुई है।

यह अविद्या मनोराज्यकी भाँति केवल कल्पित आकृति-मात्रसे भासित होती है। सत्यताका इसमें सर्वथा अभाव है। यद्यपि यह सैकडों, हजारों शाखाओंसे युक्त जान पड़ती है, तथापि वास्तवमें कुछ भी नहीं है। यह जंगलमें प्रतीत होनेवाली मृगतृष्णाकी भाँति मिथ्या ही है, तो भी इसने व्यर्थ ही आडम्बर फैला रक्खा है। जैसे मृगतृष्णा उन भोले-भाले मृगोंको ही धोखेमें डालती है—मनुष्योंको नहीं, उसी प्रकार यह अविद्या अज्ञ पुरुषोंको ही धोखा देती है, विज्ञ पुरुषोंको नहीं। जैसे प्रलयकालकी आँधी भीषण रूप धारणकर धूलराशिसे व्याप्त हो बलपूर्वक तीनों लोकोंको आक्रान्त कर लेती है, उसी प्रकार अविद्या भी भयकर आकार धारणकर विचरती है। रजोगुणके आधिक्यसे वह धूसर जान पड़ती है और हठात् लोक-लोकान्तरोंको पददलित कर देती है। जैसे आकाशमें अकारण ही नीलिमा दिखायी देती है, उसी प्रकार यह अविद्या भी किसी कारणके बिना ही प्रतीतिका विषय होती है। दो चन्द्रमाओंके भ्रमकी भाँति इसकी उत्पत्ति हुई है। यह स्वप्नके समान भ्रम उत्पन्न करती है और जैसे नौकाद्वारा यात्रा करनेवाले लोगोंको तटवर्ती ठूँठे काठमें भी गतिशीलताकी प्रतीति होती है, वैसे ही यहाँ इस अविद्याका उत्थान हुआ है।

यह अविद्या जब चित्तको दूषित कर देती है, तब इससे व्याकुल हुए लोगोंको दीर्घकालतक संसाररूपी स्वप्नका भ्रम बना रहता है। विषयरूपी रथपर आरूढ़ हुई यह उद्भूत वासनारूपिणी प्रबल अविद्या मनको उसी तरह शीघ्र आक्रान्त कर लेती है, जैसे जाल पक्षीको फाँस लेता है। जैसे विवेक-बुद्धिसे विषय-बुद्धिका निरोध किया जाता है, उसी तरह प्रयत्नपूर्वक इस वासना-रूपिणी अविद्याका भी शीघ्र निरोध करना चाहिये। जैसे स्रोतोंको रोक देनेसे नदी सूख जाती है, उसी प्रकार अविद्याके निरोधसे यह मनोमयी नदी भी सूखकर नष्ट हो जाती है।

श्रीरामजी बोले—ब्रह्मन्! यह अविद्या अविद्यमान (असत्) है, अत्यन्त तुच्छ है और मिथ्या भावनारूप है, तो भी इसने कोमलाङ्गी युवतीकी भाँति सारे जगत्को अंधा बना रक्खा है—यह बड़े आश्चर्यकी बात है। इसका न कोई रूप है न आकार। यह सुन्दर चेतनसे भी रहित है और असत् होकर भी नष्ट नहीं हो रही है। इसने सारे जगत्को अंधा बना रक्खा है, यह कैसा आश्चर्य है! यह सदा अनन्त दुःखोंसे व्याप्त, मृतकके तुल्य और संज्ञाहीन है; तो भी इसने जगत्को अंधा बना रक्खा है, यह विचित्र बात है। काम और क्रोध ही इसके सुदृढ़ अङ्ग हैं। तमोगुणकी अधिकतासे यह वक्र जान पड़ती है और ज्ञानका उदय होनेपर यह शीघ्र ही शरीररहित (नष्ट) हो जाती है; तो भी इसने जगत्को अंधा बना रक्खा है, यह कैसी अद्भुत बात है। अपने आत्मस्वरूप परमात्माके विषयमें जो अंधे (मूढ़) हैं, वे ही इस अविद्याके आश्रय हैं। यह जड है, जडतासे जीर्ण-शीर्ण है और दुःखसे अत्यन्त प्रलाप करनेवाली है; तो भी इसने जगत्को अंधा बना रक्खा है, यह कितने आश्चर्यकी बात है! प्रभो! अनन्त दुश्चेष्टारूप विलास करनेवाली, जन्म-मरण आदि सुख-दुःखका भागी बनानेवाली तथा मनरूपी गुहागृहमें बद्ध वासनावाली यह अविद्या, जिसकी कहीं समता नहीं है, किस उपायसे नष्ट होती है?

(सर्ग ११२-११३)

अविद्याके विनाशके हेतुभूत आत्मदर्शनका, विशुद्ध परमात्मस्वरूपका तथा असंकल्पसे वासनाक्षयका प्रतिपादन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—ब्रह्मन्! अविद्याके प्रभावसे उत्पन्न हुआ जो पुरुषका गहन एवं महान् अंधापन है, उसका निवारण कैसे होता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! जैसे ओस या पालेकी एक कणिका सूर्यका दर्शन होनेसे क्षणभरमें नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार परमात्माका साक्षात्कार होनेसे इस अविद्याका तत्काल नाश हो जाता है। यह अविद्या संसाररूपी पर्वतशिखरोंके तटवर्ती स्थानोंमें, जो गहन दुःखरूपी काँटोंसे सुशोभित होते हैं, अपने साथ देहाभिमानी जीवको तभीतक नीचे गिरानेके लिये आन्दोलित करती रहती है, जबतक उसका विनाश करनेवाली और मोहको क्षीण बना देनेवाली परमात्म-साक्षात्कारकी इच्छा स्वयं ही उत्पन्न नहीं हो जाती। जैसे सभी दिशाओंमें बारह सूर्योंके एक साथ उदित होनेपर छाया अपने-आप नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप सर्वव्यापी परमात्माका साक्षात्कार होनेपर यह अविद्या स्वयं ही विलीन हो जाती है। रघुनन्दन! बाह्य विषयोंकी इच्छामात्रको यहाँ अविद्या कहा गया है (क्योंकि अविद्यासे ही इच्छा उत्पन्न होती है)। इच्छा-मात्रका नाश ही मोक्ष कहलाता है। वह मोक्ष सङ्कल्पके अभावमात्रसे सिद्ध होता है। जैसे सूर्यका उदय होनेपर रात न जाने कहाँ चली जाती है, उसी प्रकार परमात्माके

यथार्थ ज्ञानका उदय होनेपर अविद्या न जाने कहाँ विलीन हो जाती है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! यह जो कुछ भी दृश्य-प्रपञ्च है, वह (अविद्यासे उत्पन्न होनेके कारण) अविद्या ही है और वह अविद्या परमात्माके चिन्तनसे नष्ट हो जाती है। तब कृपापूर्वक यह बताइये कि वह परमात्मा कैसा है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! जो विषयोंके संसर्गसे रहित, असाधारण और अनिर्वचनीय चेतन तत्त्व है, वह परमेश्वर ही आत्मा या परमात्मा शब्दसे कहा गया है। निष्पाप श्रीराम! ब्रह्मासे लेकर कीट-पतंग एवं पेड़-पौधोंतक जो यह तृण आदिरूप जगत् है, वह सब सदा परमात्मा ही है। यहाँ अविद्या कहीं नहीं है। यह सब नित्य चैतन्यघन अविनाशी एवं अखण्ड ब्रह्म ही है। यहाँ मन नामकी कोई दूसरी कल्पना है ही नहीं। यहाँ तीनों लोकोंमें न कोई जन्म लेता है और न मरता ही है। जन्म-मरण आदि भाव-विकारोंका कहीं अस्तित्व ही नहीं है। इस संसारमें केवल—अद्वितीय एकमात्र ज्ञान-स्वरूप, समानभावसे सबमें व्यापक, अखण्ड और विषय-संसर्गसे रहित सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही है। उस नित्य, सर्वव्यापी, शुद्ध, चैतन्यघन, सब प्रकारके उपद्रवोंसे रहित, शान्त, सर्वत्र समभावसे स्थित, निर्विकार, विज्ञान-स्वरूप परमात्मामें जो यह आवरणसहित जीवात्मा चिन्मय स्वभावसे भिन्न—जड विषयरूप जगत्की स्वयं कल्पना करके दौड़ता है, वह अविद्यारूप आवरणसे मलिन हुआ चेतन जीवात्मा ही मनके रूपमें परिणत होनेके कारण 'मन' नामसे कहा गया है। जो समार वास्तवमें कुछ नहीं है, वह एकमात्र—अद्वितीय, सर्वव्यापी, शान्तस्वरूप परमात्मामें संकल्पमात्रसे ही उत्पन्न हुआ है। अतः जैसे अग्निकी ज्वाला जिससे उत्पन्न हुई, उसी वायुसे शान्त हो जाती है, उसी तरह संकल्पसे उत्पन्न हुई यह सृष्टि सङ्कल्पसे ही नष्ट हो जाती है। भोगाशारूपताको प्राप्त हुई वह अविद्या एकमात्र असंकल्परूप पुरुष-प्रयत्नद्वारा लयको प्राप्त होती है।

'मैं कृश हूँ, अत्यन्त दुखी हूँ, बँधा हुआ हूँ तथा हाथ-पैर आदि अवयवोंसे युक्त हूँ' इस भावनाके अनुरूप व्यवहारसे जीवात्मा बन्धनमें पड़ता है। 'मेरा दुःखसे कोई सम्बन्ध नहीं है, यह शरीर भी मेरा नहीं है; भला, किस आत्माको बन्धन प्राप्त हुआ है—किसीको भी नहीं, आत्मा नित्य-मुक्तस्वरूप है' इस भावनाके अनुरूप व्यवहारसे जीवात्माकी मुक्ति होती है। नेत्रोंकी ही अपनी दर्शन-शक्तिका क्षय होनेपर अर्थात् अत्यन्त दूरताके कारण दर्शनशक्तिके कुण्ठित हो जानेपर जो वस्तुस्वभावसे अदर्शनरूप अन्धकार उदित हुआ है, वही आकाशकी नीलिमाके रूपमें दृष्टिगोचर होता है। यह जान लेनेपर जैसे आकाशमें कालिमा दीखनेपर भी 'यह वास्तवमें कालिमा नहीं है' ऐसी बुद्धि सुदृढ़ हो जाती है, वैसे ही अविद्यारूपी अन्धकारको भी समझना चाहिये।

जैसे स्वप्नमें 'हाय! मैं दुःखसे नष्ट हो गया' इस संकल्पसे मनुष्य दुःखसे नष्ट-सा होने लगता है और 'मैं जाग गया हूँ' इस संकल्पसे वह स्वप्नके दुःखसे छुटकारा पाकर सुखी हो जाता है, उसी प्रकार मन विषयके संकल्पसे मूढ़ताको प्राप्त होता है और विज्ञानस्वरूप उदार परमात्माके संकल्प या चिन्तनसे वह विज्ञानमय ब्रह्मभावकी ओर अग्रसर होता है। 'मैं अज्ञानी हूँ' ऐसे संकल्पसे यह अनादि अविद्या एक क्षणमें प्रकट होती है और विस्मरण अर्थात् संकल्प-वासनाओंके मूलोच्छेदसे यह विनाशशील अविद्या सर्वथा नष्ट हो जाती है।

जो दृश्य पहले ही नहीं था, वह आज भी नहीं है और जो यह भासित हो रहा है, वह शान्त, अद्वितीय, निर्विकार एवं निर्दोष ब्रह्म ही है। अतः कभी किसीके लिये किसी तरह और किसी भी कारणसे ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरी कोई मननीय वस्तु नहीं है; इसलिये आदि-अन्तसे रहित निर्विकार ब्रह्ममें पूर्णतः स्थित हो जाना चाहिये।

उत्तम बुद्धिके द्वारा परम पुरुषार्थका आश्रय लेकर प्रयत्नपूर्वक चित्तसे भोगाशाभावनाको जड़-मूलसहित उखाड़ फेंकना चाहिये। महान् मोह (अज्ञान) ही जरा और मरण आदिका कारण है। जो-जो वस्तु कार्यरूपसे प्रकट होती है, वह सब सैकड़ों आशापाशोंसे उल्लसित होनेवाली वासनाका ही विस्तार है। 'ये मेरे पुत्र हैं, मेरा धन है, यह मैं हूँ, यह मेरा घर है' इस प्रकारके इन्द्रजालसे यह वासना ही वृद्धिको प्राप्त होती है। तत्त्वज्ञ श्रीराम! परमात्मतत्त्वके सिवा दूसरी कोई वस्तु कभी सत्य नहीं है। अतः वास्तवमें 'मेरा' और 'मैं'—ये दोनों ही नहीं हैं। रघुनन्दन! ज्ञानीकी दृष्टिमें अविद्या नहीं है। आकाश, पर्वत, समुद्र, पृथ्वी और नदीरूप जो यह अविद्या है, वह अज्ञानीकी ही दृष्टिमें है। ज्ञानीकी दृष्टिमें तो आकाश आदिके रूपमें ब्रह्म ही अपनी महिमामें स्थित है। अहो! यह कितने आश्चर्यकी बात है कि जो सत्य है, उस ब्रह्मको तो लोग भूल गये हैं और जो असत्य अविद्या नामक वस्तु है, उसीका निश्चितरूपसे निरन्तर स्मरण हो रहा है! (सर्ग ११४)

अविद्याकी बन्धनकारितापर आश्चर्य; चेष्टा देहमें नहीं, देहीमें है—इसका प्रतिपादन तथा अज्ञानकी सात भूमिकाओंका वर्णन

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! पूज्यपाद महात्मा वसिष्ठके यों कहनेपर कमलनयन श्रीराम प्रफुल्ल पङ्कजके समान शोभा पाने लगे।

श्रीरामजी बोले—मुनिवर! जो अविद्या वास्तवमें है ही नहीं, उसने सबको वशमें कर लिया है—यह कैसी विचित्र बात है!

श्रीवसिष्ठजीने कहा—निष्पाप रघुनन्दन! इस संसारमें काठ और दीवालके समान जड देह कुछ भी नहीं है—वास्तवमें इसकी सत्ता नहीं है। इस चित्तने ही स्वप्नके संसारकी भाँति इसकी कल्पना कर ली है। श्रीराम! अज्ञानी जीवात्माको ये अनन्त शारीरिक सुख-दुःख होते हैं। किंतु ज्ञानी महात्मा पुरुषको ये बिल्कुल नहीं होते (क्योंकि वे परमात्माके यथार्थ स्वरूपको जान गये हैं)। देह जड है, अतएव वह दुःखका अनुभव नहीं कर सकता। देहाभिमानी जीवात्मा ही अविवेकके कारण दुखी होता है। यह अविवेक या अविचार अतिशय अज्ञानके कारण है। अज्ञान ही समस्त दुःखोंका हेतु है। एकमात्र अविवेकरूपी दोषके कारण ही जीवात्मा शुभाशुभ कर्मोंके सुख-दुःखादि फलोंका भोक्ता बना है—ठीक उसी तरह, जैसे रेशमका कीड़ा अज्ञानवश ही रेशमके कोषमें बन्धनको प्राप्त होता है। अविवेकरूपी रोगसे बँधा हुआ, विविध वृत्तियोंसे युक्त मन नाना आकृतियोंमें विचरण करता हुआ चक्रके समान घूमता रहता है। श्रीराम! जैसे घरका मालिक घरमें अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ करता है, किंतु जड गृह स्वयं कुछ भी नहीं करता, उसी तरह शरीरमें जीवात्मा ही विविध चेष्टाएँ करता है, शरीर नहीं।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! आप सम्पूर्ण तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठ हैं। सिद्धि देनेवाली ज्ञानकी सात भूमिकाओंका स्वरूप कैसा है? यह मुझे संक्षेपसे बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! अज्ञानकी सात भूमिकाएँ हैं और ज्ञानकी भी सात ही भूमिकाएँ हैं। फिर गुणोंकी विचित्रतासे इन दोनोंके दूसरे-दूसरे असंख्य भेद हो जाते हैं। आत्मस्वरूपमें अनादिकालसे अज्ञानका आरोप है। उस अज्ञानकी ये सात भूमिकाएँ हैं, जिन्हें सुनो—१ बीज-जाग्रत्, २ जाग्रत्, ३ महाजाग्रत्, ४ जाग्रत्-स्वप्न, ५ स्वप्न, ६ स्वप्नजाग्रत् और ७ सुषुप्ति। इस तरह अज्ञानके ये सात भेद हैं। ये

सातों भेद फिर एक दूसरेसे संयुक्त होकर अनेक नाम धारण करते हैं । अब तुम इस सप्तविध अज्ञानके लक्षण सुनो ।

महासर्गके आदिमें चिन्मय परमात्मासे जो प्रथम, नाम-निर्देशसे रहित एवं विशुद्ध व्यष्टि चेतन प्रकट होता है, वह भविष्यमें होनेवाले 'चित्त' और 'जीव' आदि संज्ञा-शब्दों तथा उनके अर्थोंका भाजन होकर जाग्रत् अवस्थाके बीजरूपमें स्थित होता है; (क्योंकि वह महाप्रलयके समय भी परमात्मामें बीजरूपसे ही था) इसलिये 'बीज-जाग्रत्' कहलाता है। यह अज्ञानकी नूतन अवस्था है । अब तुम जाग्रत् संसारका वर्णन सुनो । नवजात बीज जाग्रत्के पश्चात् यह स्थूल देह मैं हूँ, यह देह, यह भोग्य पदार्थ-समूह मेरा है' ऐसी जो अपने भीतर प्रतीति होती है, उसे 'जाग्रत्' कहते हैं । 'यह देह मैं हूँ' 'यह भोग्य-समूह मेरा है' इस जाग्रत् प्रतीतिके उत्पन्न होनेके पश्चात् जन्मान्तरके अभ्याससे दृढ़ हुई जो प्रतीति स्फुरित होती है, उसे 'महाजाग्रत्' कहा गया है ।* जाग्रत् पुरुषका अदृढ़ या दृढ जो सर्वथा तन्मयात्मक (जाग्रत्के ही तुल्य) मनोराज्य है, उसीको 'जाग्रत् स्वप्न' कहते हैं । दो चन्द्रमाओंका दर्शन, सीपीमें चाँदीकी प्रतीति और मृगतृष्णा (मरुस्थलमें बिना हुए जलकी प्रतीति) आदि भेदकी तरह अभ्यासवश जाग्रत्भावको प्राप्त स्वप्न-मनोराज्य अनेक प्रकारका होता है । 'उसे मैंने थोड़े ही समयतक देखा, वह सत्य भी नहीं है' नींदके समय (सुषुप्ति-कालके आदि या अन्तमें) अनुभवमें आयी हुई बातोंके विषयमें नींदके अन्तमें जो ऐसी प्रतीति होती है, उसे 'स्वप्न' कहा गया है। वह स्वप्न अज्ञ पुरुषकी महाजाग्रत् अवस्थामें स्थित स्थूल शरीरके कण्ठसे लेकर हृदयपर्यन्त नाड़ी-प्रदेशमें प्रकट होता है । चिरकालतक दर्शनके अभावसे जो विकसित नहीं हुआ, वह महाशरीरवाला दृढ़ अभिमान ही स्वप्न है । सुदृढ़ अभिनिवेशसे या चिरस्थायित्वकी कल्पनासे पुष्ट हो जाग्रत्भावको प्राप्त हुआ स्वप्न महाजाग्रत्की समता प्राप्त कर लेता है । इस अवस्थाको प्राप्त हुआ स्वप्न 'स्वप्न-जाग्रत्' माना गया है । पूर्वोक्त छहों अवस्थाओंका परित्याग करनेपर जो जीवकी जड अवस्था है, वही भावी दुःखोंका बोध करानेवाले बीजरूप अज्ञानसे सम्पन्न 'सुषुप्ति' कही जाती है । रघुनन्दन ! इस प्रकार सात प्रकारकी अज्ञान-भूमिकाका मैंने वर्णन किया । यह नाना प्रकारके विकारों तथा लोकान्तरोंके भेदोंसे युक्त होनेके कारण निन्द्य एवं त्याज्य बतायी गयी है ।

(सर्ग ११५—११७)

ज्ञानकी सात भूमिकाओंका विशद विवेचन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—निष्पाप रघुनन्दन ! अब मैं सात प्रकारकी ज्ञानभूमिकाका वर्णन करता हूँ, इसे सुनो । पहली ज्ञानभूमिका शुभेच्छा बतायी गयी है, दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसा, चौथी सत्त्वापत्ति, पाँचवीं असंसक्ति, छठी पदार्थाभावना और सातवीं तुर्यगा—इस प्रकार ये ज्ञानकी सात भूमिकाएँ मानी गयी हैं।

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः ।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥

'मैं मूढ होकर ही क्यों स्थित रहूँ, मैं शास्त्रों और सत्पुरुषोंके द्वारा जानकर तत्त्वका साक्षात्कार करूँगा—

* जैसे ब्राह्मण आदि जातियोंमें उत्पन्न हुए लोगोंमेंसे किसी-किसी व्यक्तिका जन्मान्तरके अभ्याससे अपने वर्णोचित कर्मोंमें विशेष आग्रह और नैपुण्य देखा जाता है, सबमें ऐसी बात नहीं पायी जाती; अतः इस जन्मके या जन्मान्तरके दृढ अभ्याससे दृढताको प्राप्त हुई जो पूर्वोक्त जाग्रत् प्रतीति है, उसीको महाजाग्रत् कहा गया है ।

इस प्रकार वैराग्यपूर्वक केवल मोक्षकी इच्छा होनेको ज्ञानीजनोंने 'शुभेच्छा' कहा है।'*

शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥

'शास्त्रोंके अध्ययन, मनन और सत्पुरुषोंके सङ्गतथा विवेक-वैराग्यके अभ्यासपूर्वक सदाचारमें प्रवृत्त होना—यह 'विचारणा' नामकी भूमिका कही जाती है।†

* अभिप्राय यह कि समस्त (पापमय) अशुभ इच्छाओंका अर्थात् चोरी, व्यभिचार, झूठ, कपट, छल, बलात्कार, हिंसा, अभक्ष्य-भोजन, दुर्व्यसन और प्रमाद (व्यर्थ चेष्टा) आदि शास्त्र-निषिद्ध कर्मोंका मन, वाणी और शरीरसे त्याग करना; नाशवान्, क्षणभङ्गुर, स्त्री-पुत्र और धन आदि प्रिय वस्तुओंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे तथा रोग-संकटादिकी निवृत्तिके उद्देश्यसे किये जानेवाले यज्ञ, दान, तप और उपासनादि काम्यकर्मोंको अपने स्वार्थके लिये न करना; मान, बडाई, प्रतिष्ठा एवं स्त्री, पुत्र और धनादि जो कुछ भी अनित्य पदार्थ प्रारब्धके अनुसार प्राप्त हुए हों, उनके बढ़नेकी इच्छाका त्याग करना; अपने सुखके लिये किसीसे भी धनादि पदार्थोंकी अथवा सेवा करनेकी याचना न करना और बिना याचनाके दिये हुए पदार्थोंको या की हुई सेवाको स्वीकार न करना तथा किसी प्रकार भी किसीसे अपना स्वार्थ सिद्ध करनेकी मनमें इच्छा न रखना; ईश्वरकी भक्ति, देवताओंका पूजन, माता-पितादि गुरुजनोंकी सेवा, यज्ञ, दान, तप तथा वर्णाश्रमके अनुसार जीविकाद्वारा गृहस्थका निर्वाह और शरीर-सम्बन्धी खान-पान आदि सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंमें आलस्यका तथा सब प्रकारकी सांसारिक कामनाका त्याग करना एवं 'प्रज्ञान ब्रह्म' (ऐतरेय-उप० १ । ३)—ब्रह्म विज्ञानघन है, 'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डूक्य उप०)—यह आत्मा ही परब्रह्म परमात्मा है, तत्त्वमसि, (छान्दोग्य उप० ६ । १२ । ३)—वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्म तू ही है और 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदा० उप० १ । ४ । १०)—मैं देह नहीं हूँ, ब्रह्म हूँ—इन वेदान्त-वाक्योंका एकमात्र परमात्माके तत्त्व-रहस्य-ज्ञानपूर्वक उनको प्राप्त करनेकी इच्छासे सत्-शास्त्रोंमें अध्ययन करना और सत्पुरुषोंका सङ्ग करके उनसे इन महावाक्योंका श्रवण करना ही 'शुभेच्छा' नामकी प्रथम भूमिका है। इसलिये इस भूमिकाको 'श्रवण' भूमिका भी कहा जा सकता है।

† उपर्युक्त प्रकारसे सत्पुरुषोंके सङ्ग, सेवा एवं आज्ञा-पालनसे, सत्-शास्त्रोंके अध्ययन-मननसे तथा दैवी सम्पदारूप सद्गुण-सदाचारके सेवनसे उत्पन्न हुआ विवेक (विवेचन) ही 'विचारणा' है। भाव यह कि सत्-असत् और नित्य-अनित्य वस्तुके विवेचनका नाम 'विवेक' है। विवेक इनको भलीभाँति पृथक् कर देता है। सब अवस्थाओंमें और प्रत्येक वस्तुमें प्रतिक्षण आत्मा और अनात्माका विश्लेषण करते-करते यह विवेक सिद्ध होता है।

जिसका कभी नाश न हो, वह 'सत्' है और जिसका नाश होता है, वह 'असत्' है। भगवान्‌ने कहा है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः । उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
(गीता २ । १६)

'असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।'

इस नियमके अनुसार जो दृश्य जड पदार्थ हैं, वे उत्पत्ति-विनाशशील होनेके कारण असत् हैं और परमात्मा ही एक सत् पदार्थ है। जीवात्मा भी उसका अंश होनेके कारण सत् है। अद्वैत सिद्धान्तके अनुसार जीवात्मा और परमात्मा वस्तुतः एक ही हैं, मायाकी उपाधिके सम्बन्धसे उनका भेद प्रतीत होता है। जैसे महाकाशके एक होते हुए भी घड़ेकी उपाधिके सम्बन्धसे घटाकाश और महाकाश अलग-अलग प्रतीत होते हैं, वस्तुतः घटाकाश, महाकाश एक ही हैं, उसी प्रकार जीवात्मा, परमात्मा वास्तवमें एक ही हैं—इस तत्त्वको समझ लेना 'विवेक' है।

उपर्युक्त विवेकके द्वारा जब सत्-असत् और नित्य-अनित्यका पृथक्करण हो जाता है, तब असत् और अनित्यसे आसक्ति हट जाती है, एवं इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें कामना और आसक्तिका न रहना ही 'वैराग्य' है। महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् । (योगदर्शन १ । १५)

विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता । यात्रा सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा ॥

'उपर्युक्त शुभेच्छा और विचारणाके द्वारा इन्द्रियोंके विषयभोगोंमें आसक्तिका अभाव होना और अनासक्त हो संसारमें विचरण करना—यह 'तनुमानसा' है । इसमें मन शुद्ध होकर सूक्ष्मताको प्राप्त हो

'स्त्री, धन, भवन, मान, बड़ाई आदि इस लोकके और स्वर्गादि परलोकके सम्पूर्ण विषयोंमें तृष्णारहित हुए चित्तकी जो वशीकार-अवस्था होती है, उसका नाम 'वैराग्य' है ।'

समस्त इन्द्रियों और विषयोंके सङ्गसे उत्पन्न होनेवाले जितने भी भोग हैं, वे सब अनित्य हैं, किंतु अज्ञानसे अनित्यमें नित्य-बुद्धि होनेके कारण विषयभोगादि नित्य प्रतीत होते हैं । इसलिये उनको अनित्य मानकर उनसे वैराग्य करना चाहिये । गीतामें भगवान् कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः । आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ (२ । १४)

'हे कुन्तीपुत्र ! सर्दी-गरमी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं, इसलिये हे भारत ! उनको तू सहन कर ।'

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ । समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ (गीता २ । १५)

'क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ ! दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग व्याकुल नहीं कर सकते, वह मोक्षके योग्य होता है ।'

अतः वैराग्यवान् पुरुषके लिये संसारके विषयभोगोंको अनित्य और दुःखरूप समझकर उनमें आसक्तिरहित होना परम आवश्यक है, यों समझकर ही विवेकी मनुष्य उनमें नहीं रमते । भगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते । आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥

(गीता ५ । २२)

'जो ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं, तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं; इसलिये हे अर्जुन ! बुद्धिमान्—विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता ।'

इस प्रकार विवेक-वैराग्य हो जानेपर साधकका चित्त निर्मल हो जाता है; उसमें क्षमा, सरलता, पवित्रता तथा प्रिय-अप्रियकी प्राप्तिमें समता आदि गुण आने लगते हैं, उसके मन, इन्द्रिय और शरीर विषयोंसे हटकर वशमें हो जाते हैं । फिर उसे गङ्गातट, तीर्थस्थान, गिरि-गुहा, वन आदि एकान्तदेशका सेवन ही अच्छा लगता है; उसके ममता, राग द्वेष, विक्षेप और मान-बड़ाईकी इच्छाका अभाव-सा हो जाता है; विषयभोगोंसे स्वाभाविक ही उपरति हो जाती है एवं विवेक-वैराग्यके प्रभावसे वह नित्य परमात्माके स्वरूपके चिन्तनमें ही लगा रहता है ।

भगवान्‌ने गीतामें ज्ञानके साधन बतलाते हुए कहा है—

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् । आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च । जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु । नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी । विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् । एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

(१३ । ७–११)

श्रेष्ठताके अभिमानका अभाव, दम्भाचरणका अभाव, किसी भी प्राणीको किसी प्रकार भी न सताना, क्षमाभाव, मन-वाणी आदिकी सरलता, श्रद्धा-भक्तिसहित गुरुकी सेवा, बाहर-भीतरकी शुद्धि, अन्तःकरणकी स्थिरता और मन-इन्द्रियोंसहित शरीरका निग्रह, इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहंकारका भी अभाव; जन्म, मृत्यु,

जाता है; इसलिये इसे 'तनुमानसा' कहते हैं ।'*

भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात् ।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥

'ऊपर बतायी हुई शुभेच्छा—श्रवण, विचारणा—मनन और तनुमानसा—निदिध्यासन भूमिकाओंके अभ्यास से चित्तके सांसारिक विषयोंसे अत्यन्त विरक्त हो जानेके

जरा और रोग आदिरूपमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना; पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव; ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना; मुझ परमेश्वरमें अनन्य योगके द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति तथा एकान्त और शुद्धदेशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना; अध्यात्मज्ञानमें नित्य-स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना—यह सब ज्ञान है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है—यों कहा गया है ।

दूसरी भूमिकामें परिपक्व हो जानेपर उस साधकमें उपर्युक्त गुण और आचरण आने लगते हैं ।

ऊपर प्रथम भूमिकामें बताये हुए महावाक्योंका निरन्तर मनन और चिन्तन करना ही प्रधान होनेके कारण इस दूसरी भूमिकाको 'विचारणा' कहा गया है, अतः इसे 'मनन' भूमिका भी कहा जा सकता है ।

* अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त कामना, आसक्ति और ममताके अभावसे, सत्पुरुषोंके सङ्ग और सत्-शास्त्रोंके अभ्याससे तथा विवेक-वैराग्यपूर्वक निदिध्यासन—ध्यानके साधनसे साधककी बुद्धि तीक्ष्ण हो जाती है तथा उसका मन शुद्ध, निर्मल, सूक्ष्म और एकाग्र हो जाता है, जिससे उसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमात्मतत्त्वको ग्रहण करनेकी योग्यता अनायास ही प्राप्त हो जाती है । इसीको 'तनुमानसा' भूमिका कहा गया है ।

इस तीसरी भूमिकामें स्थित साधकके अन्तःकरणमें सम्पूर्ण अवगुणोंका अभाव होकर स्वाभाविक ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अनसूया (दोषदृष्टिका अभाव), अमानिता, निष्कपटता, पवित्रता, संतोष, शम, दम, समाधान तेज, क्षमा, दया, धैर्य, अद्रोह, निर्भयता, निरहंकारता, शान्ति, समता आदि सद्गुणोंका आविर्भाव हो जाता है । फिर उसके द्वारा जो भी चेष्टा होती है, वह सब सदाचाररूप ही होती है तथा उस साधकको 'संसारके सम्पूर्ण पदार्थ मायाके कार्य होनेसे सर्वथा अनित्य हैं और एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र समभावसे परिपूर्ण हैं' ऐसा दृढ़ निश्चय होकर शरीरसहित संसारके सम्पूर्ण पदार्थों और कर्मोंमें उसकी वासनाका भी अभाव हो जाता है । भाव यह है कि उसके अन्तःकरणमें उनके चित्र संस्काररूपसे भी नहीं रहते एवं शरीरमें अहंभाव तथा मन, वाणी और शरीरद्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान नहीं रहता; क्योंकि वह परवैराग्यको प्राप्त हो जाता है । परवैराग्यका स्वरूप महर्षि पतञ्जलिने यों बतलाया है—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् । (योगदर्शन १ । १६)

'प्रकृतिसे अत्यन्त विलक्षण पुरुषके ज्ञानसे तीनों गुणोंमें जो तृष्णाका अत्यन्त अभाव हो जाता है, वह परवैराग्य या सर्वोत्तम वैराग्य है ।'

पूर्वोक्त दूसरी भूमिकामें स्थित पुरुषकी तो विषयोंका विशेष संसर्ग होनेसे कदाचित् उनमें कुछ आसक्ति हो भी सकती है; परंतु इस तीसरी भूमिकामें पहुँचे हुए पुरुषकी तो विषयोंके साथ संसर्ग होनेपर भी उनमें आसक्ति नहीं होती; क्योंकि उसके निश्चयमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा अन्य कोई वस्तु रहती ही नहीं । अतः परवैराग्य हो जानेके कारण उसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ सम्पूर्ण संसारसे अत्यन्त उपरत हो जाती हैं । यदि किसी कालमें कोई स्फुरणा हो भी जाती है, तो भी उसके संस्कार नहीं जमते; क्योंकि उसकी एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें ही निरन्तर गाढ़ स्थिति बनी रहती है, जिसके कारण उसे कभी-कभी तो शरीर और संसारका विस्मरण होकर समाधि-सी हो जाती है । ये सब लक्षण परमात्माकी प्राप्तिके अत्यन्त निकट पहुँच जानेपर होते हैं ।

सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका चिन्तन करते-करते उस परमात्मामें तन्मय हो जाना तथा अत्यन्त वैराग्य और उपरतिके कारण परमात्माके ध्यानमें ही नित्य स्थित रहनेसे मनका विशुद्ध होकर सूक्ष्म हो जाना ही 'तनुमानसा' नामकी

अनन्तर उसके प्रभावसे आत्माका शुद्ध तथा सत्यस्वरूप परमात्मामें तद्रूप हो जाना 'सत्त्वापत्ति' कहा गया है।'*

तीसरी भूमिका है। अतः इसे 'निदिध्यासन' भूमिका भी कह सकते हैं।

ये तीनों भूमिकाएँ साधनरूपा हैं। इनमें संसारसे कुछ सम्बन्ध रहता है, अतः यहाँतक साधककी 'जाग्रत्-अवस्था' मानी गयी है।

* उपर्युक्त श्रवण, मनन और निदिध्यासनके तीव्र अभ्याससे जब साधक सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त हो जाता है, तब उसीको 'सत्त्वापत्ति' नामकी चौथी भूमिका कहते हैं। इसीको गीतामें निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति कहा गया है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः। स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥
(५। २४)

'जो पुरुष आत्मामें ही सुखी है, आत्मामें ही रमण करता है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवान् है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त—'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अनुभव करनेवाला ज्ञानयोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

जिस प्रकार गङ्गा-यमुना आदि सारी नदियाँ बहती हुई अपने नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें ही विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मा नाम-रूपसे रहित होकर परम दिव्य पुरुष परात्पर परमात्माको ही प्राप्त हो जाता है, उसीमें विलीन हो जाता है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(मुण्डकोपनिषद् ३। २। ८)

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८। ५४-५५)

'मैं ही ब्रह्म हूँ' इस प्रकारके अनुभवसे सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित प्रसन्न मनवाला ज्ञानयोगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी पराभक्ति (ज्ञान-निष्ठा) को प्राप्त हो जाता है। उस ज्ञाननिष्ठारूप पराभक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको मैं जो हूँ और जितना हूँ, ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है तथा उस ज्ञान-निष्ठासे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।'

जब साधकको परब्रह्मका यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब वह ब्रह्म ही हो जाता है—

स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। (मुण्डकोपनिषद् ३। २। ९)

फिर उसका इस शरीर और संसारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। ब्रह्मवेत्ता पुरुषके अन्तःकरणमें शरीर और अन्तःकरणके सहित यह संसार स्वप्नवत् प्रतीत होता है जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नकी घटनाको मनकी कल्पनामात्र समझता है, वैसे ही उस ब्रह्मवेत्ताके अन्तःकरणमें यह संसार कल्पनामात्र प्रतीत होता है अर्थात् इस संसारकी काल्पनिक सत्ता प्रतीत होती है। स्वप्नमें और इसमें इतना ही अन्तर है कि स्वप्नका समय तो भूतकाल है और संसारकी स्वप्नवत् प्रतीतिका समय वर्तमानकाल है, तथा स्वप्नमें तो जो मन-बुद्धि थे, वे वर्तमानमें भी इस जीवात्माके साथ सम्बन्धित हैं किंतु जब मनुष्य ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, तब उसके मन-बुद्धि इस शरीरमें ही रह जाते हैं, उस ब्रह्मवेत्ताके साथ ब्रह्ममें सम्बन्धित नहीं होते, इसलिये ब्रह्मकी दृष्टिसे इस संसारका अत्यन्त अभाव है।

वास्तवमें तो ब्रह्मके कोई दृष्टि ही नहीं है, केवल समझानेके लिये उसमें दृष्टिका आरोप किया जाता है। ब्रह्मकी दृष्टिमें तो केवल एक ब्रह्म ही है, उसके सिवा अन्य कुछ भी नहीं। ब्रह्मवेत्ताके शरीरका जो अन्तःकरण है, उसमें इस संसारका अत्यन्त अभाव और सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका भाव प्रत्यक्ष है—यह ब्रह्मवेत्ताका अनुभव है। इसी अनुभवके बलपर शास्त्रोंमें यह कहा गया है कि एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है।

जो ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, वह ब्रह्म ही बन जाता है। श्रुतिमें भी कहा गया है—'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृहदारण्यक० ४ । ४ । ६)—'वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।' इसलिये वह लौटकर नहीं आता। श्रुति कहती है—

न च पुनरावर्तते । न च पुनरावर्तते । (छान्दोग्य० ८ । १५ । १)

'फिर वह कभी नहीं लौटता, फिर वह कभी नहीं लौटता।'

जब ब्रह्मकी दृष्टिमें सृष्टिका अत्यन्त अभाव है, तब ब्रह्म ही हो जानेपर लौटकर कौन कैसे कहाँ आये। गीतामें भी बतलाया गया है—

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः । गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥

'जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् पुनः न लौटनेवाली परमगतिको प्राप्त होते हैं।'

भाव यह कि उसका मन तद्रूप—ब्रह्मरूप हो जाता है। पूर्ण आनन्द, अपार आनन्द, शान्त आनन्द, घन आनन्द, अचल आनन्द, ध्रुव आनन्द, नित्य आनन्द, बोधस्वरूप आनन्द, ज्ञानस्वरूप आनन्द, परम आनन्द, महान् आनन्द, एक आनन्द-ही-आनन्द परिपूर्ण है, एक आनन्दके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है—इस प्रकार ब्रह्मके स्वरूपका मनन करते-करते जब मन तन्मय—ब्रह्ममय हो जाता है, तब उसको 'तदात्मा' कहते हैं।

उपर्युक्त प्रकारके विशेषणोंसे विभूषित ब्रह्मका मनन करते-करते जब मन ब्रह्ममें विलीन हो जाता है और उन विशेषणोंकी आवृत्तिके प्रभावसे ब्रह्मके विशेष स्वरूपका बुद्धिमें अनुभव हो जाता है, तब बुद्धिके द्वारा अनुभव किये हुए उस ब्रह्मके विशेष स्वरूपको लक्ष्य बनाकर जीवात्मा उस ब्रह्मका ध्यान करता है। यहाँ ब्रह्म तो ध्येय है, ध्यान करनेवाला साधक ध्याता है और बुद्धिकी वृत्ति ही ध्यान है। इस प्रकार ध्यान करते-करते जब बुद्धि उस ब्रह्ममें विलीन हो जाती है, तब उसे 'तद्बुद्धि' कहते हैं। इसके पश्चात् जब ध्याता, ध्यान और ध्येयरूप त्रिपुटी न रहकर साधककी ब्रह्मके स्वरूपमें अभिन्न स्थिति हो जाती है, तब उसे 'तन्निष्ठ' कहते हैं। इसमें ब्रह्मका नाम, रूप और ज्ञान रहता है; इसलिये यह प्रारम्भिक 'सविकल्प समाधि' है। इसीको सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने बतलाया है—

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः। (योगदर्शन १ । ४२)

'उसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनोंके विकल्पोंसे मिली हुई समाधि सवितर्क है।'

इस प्रकार सविकल्प समाधि होनेके बाद जब स्वतः ही साधककी निर्विकल्प समाधि हो जाती है, तब ब्रह्मका नाम (शब्द), रूप (अर्थ) और ज्ञान—ये तीनों विकल्प भिन्न-भिन्न नहीं रह जाते, एक अर्थमात्र वस्तु—ब्रह्मका स्वरूप ही रह जाता है। इसीको निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने कहा है—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का। (योगदर्शन १ । ४३)

'(शब्द और प्रतीतिकी) स्मृतिके भलीभाँति शुद्ध हो जानेपर अपने रूपसे शून्य हुईके सदृश केवल ध्येयमात्रके स्वरूपको प्रत्यक्ष करानेवाली (अन्तःकरणकी स्थिति ही) निर्वितर्क समाधि है।'

इसमें साधक स्वयं ब्रह्मस्वरूप ही बन जाता है। अतः उसको 'तत्परायण' कहते हैं। इस निर्विकल्प समाधिका फल जो निर्बीज असम्प्रज्ञात योग है, वही वास्तवमें ब्रह्मकी प्राप्ति है; उसीको यहाँ गीतामें अपुनरावृत्ति कहा गया है। क्योंकि ब्रह्मज्ञानके द्वारा जिसके मल, विक्षेप और आवरणरूप कल्मषका नाश हो गया है, वह ब्रह्मको प्राप्त पुरुष ब्रह्म ही हो जाता है; वह लौटकर नहीं आता।

यही 'सत्त्वापत्ति' नामकी चौथी भूमिका है। इसमें पहुँचे हुए पुरुषको ब्रह्मवित्—ब्रह्मवेत्ता कहा जाता है। इसमें संसार उस ज्ञानी महात्माके अन्तःकरणमें स्वप्नवत् भासित होता है, इसलिये यह उसके अन्तःकरणकी 'स्वप्नावस्था' मानी जाती है।

श्रीयाज्ञवल्क्यजी, राजा अश्वपति और जनक आदि इस चौथी भूमिकामें पहुँचे हुए माने गये हैं।

यहाँ योगवासिष्ठमें जिस प्रकार ब्रह्मको प्राप्त पुरुषकी चौथी, पाँचवीं, छठी, सातवीं भूमिकाके रूपमें चार भेद बतलाये गये हैं, इस प्रकारके भेद गीता, रामायण, भागवत आदि ग्रन्थोंमें नहीं पाये जाते।

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसङ्गफलेन च।
रूढसत्त्वचमत्कारात् प्रोक्तासंसक्तिनामिका ॥

'शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति—इन चारोंके सिद्ध हो जानेपर स्वाभाविक अभ्याससे चित्तके बाह्याभ्यन्तर सभी विषय-संस्कारोंसे अत्यन्त असङ्ग (सम्बन्ध-विच्छेद) हो जानेपर अन्तःकरणका समाधिमें आरूढ—स्थिर हो जाना ही 'असंसक्ति' नामकी पाँचवीं भूमिका कहा गया है।' *

भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम्।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात्।
पदार्थाभावनाढ्यात्मी षष्ठी संजायते गतिः ॥

'उपर्युक्त पाँचों भूमिकाओंके सिद्ध हो जानेपर स्वाभाविक अभ्याससे उस ज्ञानी महात्माकी आत्मारामताके प्रभावसे उसके अन्तःकरणमें संसारके पदार्थोंका अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है, जिससे उसे बाहर-भीतरके किसी भी पदार्थका स्वयं भान नहीं होता, दूसरोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक चिरकालतक प्रेरणा करनेपर ही कभी किसी पदार्थका भान होता है; इसलिये उसके अन्तःकरणकी

परमात्माको प्राप्त पुरुषके लक्षण तो गीतामें जगह-जगह आते हैं, किंतु उसके इस प्रकारके अलग-अलग भेद नहीं बताये गये हैं। वास्तवमें ब्रह्मकी प्राप्ति होनेके पश्चात् ज्ञानी महात्मा पुरुषका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता, क्योंकि वह देहाभिमानसे सर्वथा रहित होकर ब्रह्ममें तल्लीन हो जाता है। अतः यहाँ योगवासिष्ठमें बतलाये गये उन भेदोंको ब्रह्मप्राप्त पुरुषके भेद न समझकर उसके अन्तःकरणके भेद समझने चाहिये।

* परम वैराग्य और परम उपरतिके कारण उस ब्रह्मप्राप्त ज्ञानी महात्माका इस संसार और शरीरसे अत्यन्त सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, इसलिये इस पाँचवीं भूमिकाको असंसक्ति कहा गया है।

ऐसे पुरुषका संसारसे कोई भी प्रयोजन नहीं रहता। अतः वह कर्म करने या न करनेके लिये बाध्य नहीं है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन। न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥
(३। १८)

'उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता।'

फिर भी उस ज्ञानी महात्मा पुरुषके सम्पूर्ण कर्म शास्त्रसम्मत और कामना एवं सङ्कल्पसे शून्य होते हैं। इस प्रकार जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
(गीता ४। १९)

अतः ऐसे पुरुषको उसके सम्मानके लिये 'ब्रह्मविद्वर' कहा जा सकता है। ऐसा महापुरुष जब समाधि-अवस्थामें रहता है, तब तो उसे सुषुप्ति अवस्थाकी भाँति संसारका बिल्कुल भान नहीं रहता और व्युत्थान अवस्थामें—व्यवहार-कालमें उसके द्वारा पूर्वके अभ्याससे सत्ता, आसक्ति, कामना, संकल्प और कर्तृत्वाभिमानके बिना ही सारे कर्म होते रहते हैं। उसके द्वारा जो भी कर्म होते हैं, वे शास्त्रविहित ही होते हैं। उसकी कभी समाधि-अवस्था रहती है और कभी व्युत्थानावस्था, उसकी किसी दूसरेके प्रयत्नके बिना स्वतः ही व्युत्थानावस्था हो जाती है। किंतु वास्तवमें संसारके अभावका निश्चय होनेके कारण उसकी व्युत्थानावस्था भी समाधिके तुल्य ही होती है, इस कारण उसकी इस अवस्थाको 'सुषुप्ति-अवस्था' भी कहते हैं।

श्रीजडभरतजी इस पाँचवीं भूमिकामें स्थित माने जा सकते हैं।

'पदार्थाभावना' नामकी छठी भूमिका हो जाती है।'*

भूमिषट्कचिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भतः।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः॥

'उपर्युक्त छहों भूमिकाओंके सिद्ध हो जानेपर स्वाभाविक चिरकालतक अभ्यास होनेसे जिस अवस्थामें दूसरोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक प्रेरित करनेपर भी भेदरूप संसारकी सत्ता-स्फूर्तिकी उपलब्धि नहीं होती, वरं अपने आत्मभावमें स्वाभाविक निष्ठा रहती है, उस स्थितिको उसके अन्तःकरणकी 'तुर्यगा' भूमिका जानना चाहिये।'†

यह तुर्यावस्था जीवन्मुक्त पुरुषोंमें इस शरीरमें रहते हुए ही विद्यमान रहती है। इस देहका अन्त होनेपर विदेह-मुक्तिका विषय साक्षात् तुर्यातीत ब्रह्म ही है (अतः भूमिकाओंमें उसकी गणना नहीं है)। श्रीराम! जो महाभाग सातवीं भूमिकामें पहुँच गये हैं, वे आत्माराम महात्मा महत्पद (परब्रह्म) को प्राप्त हो चुके हैं। जीवन्मुक्त पुरुष सुख-दुःखमें आसक्त नहीं होते। केवल देहयात्राके लिये छठी भूमिकामें कुछ कार्य करते हैं, अथवा सातवीं भूमिकामें नहीं भी करते। पूर्वोक्त महात्मा पार्श्ववर्ती पुरुषोंद्वारा बोधित होकर उन-उन आश्रमोंमें स्थित पुरुषोंकी आचार-परम्परासे प्राप्त सम्पूर्ण सदाचारोंका ही सावधानकी भाँति पालन करते हैं। उनका वह आचार फलकी कामना और आसक्ति नामक दोषोंसे रहित होता है। वे अपने आत्मामें ही रमण

* पाँचवीं भूमिकाके पश्चात् जब वह ब्रह्मप्राप्त पुरुष छठी भूमिकामें प्रवेश करता है, तब उसकी नित्य समाधि रहती है; इसके कारण उसके द्वारा कोई भी क्रिया नहीं होती। उसके अन्तःकरणमें शरीर और संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंका अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है। उसे संसारका और शरीरके बाहर-भीतरका बिल्कुल ज्ञान नहीं रहता, केवल श्वास आते-जाते हैं; इसलिये उस भूमिकाको 'पदार्थाभावना' कहते हैं। जैसे गाढ सुषुप्तिमें स्थित पुरुषको बाहर-भीतरके पदार्थोंका ज्ञान बिल्कुल नहीं रहता, वैसे ही इसको भी ज्ञान नहीं रहता। अतः उस पुरुषकी इस अवस्थाको 'गाढ सुषुप्ति अवस्था' भी कहा जा सकता है। किंतु गाढ़ सुषुप्तिमें स्थित पुरुषके तो मन-बुद्धि अज्ञानके कारण अपने कारण मायामें विलीन हो जाते हैं, अतः उसकी स्थिति तमोगुणमयी है; पर इस ज्ञानी महापुरुषके मन-बुद्धि ब्रह्ममें तद्रूप हो जाते हैं (गीता ५। १७), अतः इसकी अवस्था गुणातीत है। इसलिये यह गाढ सुषुप्तिसे अत्यन्त विलक्षण है।

गाढ़ सुषुप्तिमें स्थित पुरुष तो निद्राके परिपक्व हो जानेपर स्वतः ही जाग जाता है; किंतु इस समाधिस्थ ज्ञानी महात्मा पुरुषकी व्युत्थानावस्था तो दूसरोंके बारंबार प्रयत्न करनेपर ही होती है, अपने-आप नहीं। उस व्युत्थानावस्थामें वह जिज्ञासुके प्रश्न करनेपर पूर्वके अभ्यासके कारण ब्रह्मविषयक तत्त्व-रहस्यको बतला सकता है। इसी कारण ऐसे पुरुषको 'ब्रह्मविद्वरीयान्' कहते हैं।

श्रीऋषभदेवजी इस छठी भूमिकामें स्थित माने जा सकते हैं।

† छठी भूमिकाके पश्चात् सातवीं भूमिका स्वतः ही हो जाती है। उस ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महात्मा पुरुषके हृदयमें संसारका और शरीरके बाहर-भीतरके लौकिक ज्ञानका अत्यन्त अभाव हो जाता है। क्योंकि उसके मन-बुद्धि ब्रह्ममें तद्रूप हो जाते हैं, इस कारण उसकी व्युत्थानावस्था तो न स्वतः होती है और न दूसरोंके द्वारा प्रयत्न किये जानेपर ही होती है। जैसे मुर्दा जगानेपर भी नहीं जाग सकता, वैसे ही यह मुर्देकी भाँति हो जाता है; अन्तर इतना ही रहता है कि मुर्देमें प्राण नहीं रहते और इसमें प्राण रहते हैं तथा यह श्वास लेता रहता है। ऐसे पुरुषका संसारमें जीवन-निर्वाह दूसरे लोगोंके द्वारा केवल उसके प्रारब्धके संस्कारोंके कारण ही होता रहता है। वह प्रकृति और उसके कार्य सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणोंसे और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंसे अतीत होकर ब्रह्ममें विलीन रहता है; इसलिये यह उसके अन्तःकरणकी अवस्था 'तुर्यगा' भूमिका कही जाती है।

ब्रह्मकी दृष्टिमें संसारका अत्यन्त अभाव है। उपर्युक्त महात्मा पुरुष उस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको नित्य ही प्राप्त है। अतः उसके मन-बुद्धिमें भी शरीर और संसारका अत्यन्त अभाव है। इसलिये ऐसे पुरुषको ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहते हैं।

ऐसे ही ब्रह्मविद्वरिष्ठ महापुरुषसे वार्तालाप न होनेपर भी उसके दर्शन और चिन्तनसे ही मनुष्यके चित्तमें मल, विक्षेप और आवरणका नाश होनेसे उसकी वृत्ति परमात्माकी ओर आकृष्ट होनेपर उसका कल्याण हो सकता है।

करनेके कारण बाह्य विषयोंसे विरत होते हैं। अतः उन्हें जगत्के व्यवहार उसी तरह सुख नहीं दे पाते, जैसे गाढ़ नींदमें सोये हुए पुरुषोंको दर्शनीय रूप-सौन्दर्यसे सुशोभित स्त्रियाँ नहीं सुख दे सकतीं। ज्ञानकी ये सात भूमिकाएँ विवेकी पुरुषोंको ही प्राप्त होती हैं। इस ज्ञानदशाको प्राप्त हुए पशु (हनुमान् और नन्दी), अन्त्यज (मूक चाण्डाल, धर्मव्याध, गुह, भील और शबरी) आदि भी सदेह (जीवन्मुक्त) अथवा विदेहमुक्त ही हैं— इसमें संशय नहीं है। चेतन और जड़की ग्रन्थिका विच्छेद ही ज्ञान है। उसके प्राप्त होनेपर मुक्ति हो जाती है। क्योंकि मृगतृष्णामें जलबुद्धि अथवा रज्जुमें सर्पबुद्धि आदिका जो बाध है, वैसा ही चेतन और जड़की ग्रन्थिका विच्छेद भी है। कुछ लोग एक ही जन्ममें क्रमशः ज्ञानकी सारी भूमिकाओंको प्राप्त हो जाते हैं। कोई कोई एक, दो या तीन भूमिकाओंतक ही पहुँच पाते हैं। कोई छः भूमिकाओंको प्राप्त होते हैं। कोई एकमात्र सातवीं भूमिकामें ही स्थित रहते हैं। कोई तीन भूमिकाओंतक जाते हैं। कोई अन्तिम भूमिकामें पहुँच जाते हैं। कोई चार भूमिकाओंको प्राप्त होते हैं। कोई दो भूमिकाओंमें स्थित होते हैं। कोई ज्ञानभूमिकाके एक अंशतक ही पहुँच पाते हैं। कोई साढ़े तीन, कोई साढ़े चार और कोई साढ़े छः भूमिकाओंतक पहुँच जाते हैं। जो उन भूमिकाओंमें पहुँचकर उत्तरोत्तर उत्कृष्ट स्थानोंपर विजय पाते जाते हैं, वे महात्मा निश्चय ही वन्दनीय हैं। उन्होंने इन्द्रियरूपी शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर ली है। उस चतुर्थ ज्ञानभूमिका (जीवन्मुक्तावस्था) में पहुँच जानेपर सम्राट् (भूमण्डलका राजा) और विराट् (देवलोकका राजा) भी तिनकेके समान तुच्छ प्रतीत होता है; क्योंकि वे ज्ञानी महात्मा उस अवस्थामें परमपदको प्राप्त हो जाते हैं।

(सर्ग ११८)

मायिक रूपका निराकरण करके सन्मात्रत्वका प्रदर्शन, अविद्याके स्वरूपका निरूपण, संक्षेपमें ज्ञानभूमिका एवं जीवात्माके वास्तविक स्वरूपका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव! जैसे मृगतृष्णाके जलमें, दो चन्द्रमाओंके भ्रममें और शरीर आदि की अहंतामें मायासे जो रूप परिलक्षित होता है, वह विचारपूर्वक देखनेपर दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी प्रकार स्वर्णमें जो कड़े, कुण्डल, अँगूठी आदिका भाव है, वह केवल भ्रान्ति है। वह असत् स्वरूपवाली माया है; क्योंकि उसका वह रूप ही ऐसा है, जो ज्ञानदृष्टिसे देखनेपर कायम नहीं रहता। असद्वस्तु तो सीपमें चाँदी और मरुस्थलमें जलकी भ्रान्तिके समान विचारहीनताके कारण ही सत्-सी प्रतीत होती है। असत् शरीरमें जो अहंताकी भावना है, वही परमा अविद्या है, वही माया है और वही संसृति है। जैसे सुवर्णमें अँगूठीपना आदि वास्तवमें कल्पित हैं, उसी तरह आत्मामें अहंता आदिकी भावना भी कल्पित है। इस प्रकार जो स्वच्छ, शान्त एवं निर्मल है, उस परमोत्कृष्ट आत्मामें अहंताकी भावना असत् है। वह शुद्ध आत्मा मेरुता, अणुता, मनपना, देहता और महाभूततासे रहित है। उसमें तीनों कालोंकी कल्पना और भावाभाव वस्तुका अभाव है। त्वत्ता, अहंता, आत्मता, तत्ता, सत्ता, असत्ता आदिसे भी वह रहित है। उसमें न कहीं भेदकी कल्पना है, न राग और रञ्जन ही है; क्योंकि ये सब मायामात्र हैं। वह तो सर्वात्मक, शान्त, आश्रयरहित, जगत्का कारण, शाश्वत, कल्याणमय, निर्विकार, इन्द्रियोंद्वारा अग्राह्य तथा नाम एवं कारणरहित ब्रह्म है।

रघुनन्दन! वासनायुक्त चित्त जिस वस्तुकी पर्याप्त-रूपमें जैसी भावना करता है, वह वस्तु चाहे सत् हो अथवा असत्, उसको उसी समय उसी रूपमें प्रतीत होने

लगती है; क्योंकि अहंता आदि भावोंसे युक्त अविद्याका ज्यों ही अभ्युदय हुआ, त्यों ही आदि, मध्य और अन्तसे रहित अनन्त भ्रमोंका ताँता लग जाता है। जैसे बहुत-से व्यक्तियोंके मनःकल्पित वचन बहुधा एक-से होते है, उसी तरह स्वप्नमें भी देश, काल और क्रिया भी एक-से दीख पड़ते हैं। परंतु उस व्यवहारकी सत्ता अज्ञानसे ही प्रतीत होती है। वास्तवमें तो चेतन सत्ताके अतिरिक्त सम्पूर्ण पदार्थोंकी कोई अन्य सत्ता है ही नहीं। वह चेतन सत्ता भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंमें मौजूद रहती है और वही भिन्न-सी प्रतीत होती है—ठीक उसी तरह, जैसे समुद्रमें तरङ्ग और बीजमें वृक्ष भिन्न-से भासित होते हैं। और जैसे बालूमें तेल आदिका होना असम्भव है, वैसे ही अविद्या कोई वस्तु नहीं है। भला, सोनेके बने हुए कङ्कणमें स्वर्णताके अतिरिक्त दूसरी कौन वस्तु हो सकती है? अर्थात् कोई नहीं। अतः अविद्याके साथ आत्मतत्त्वका सम्बन्ध हो ही नहीं सकता; क्योंकि यह तो अपने अनुभवसे स्पष्ट है कि सभीका अपने समानके साथ ही सम्बन्ध होता है। जब जगत्के सम्पूर्ण पदार्थ चिन्मात्रमय एवं सन्मात्रमय होते हैं, तब वे भाव परस्पर अपने अनुभवके बलपर प्रकाशित होते हैं। विषम पदार्थोंका निरन्तर साक्षात् सम्बन्ध होना असम्भव है और परस्पर सम्बन्ध हुए बिना आपसमें अनुभव भी नहीं हो सकता।

तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठ राम! वास्तवमें जैसे मिट्टीकी बनी हुई सेना मृद्बुद्धिसे देखनेपर विचित्र होनेपर भी विचार-दृष्टिसे एकमात्र मिट्टी ही है, तरङ्ग आदि एकमात्र जल ही हैं, काठकी बनी हुई पुतलियोंमें एकमात्र काष्ठ ही व्याप्त है और घट आदि केवल मिट्टी ही हैं, उसी प्रकार यह भ्रमसे प्रतीत होनेवाला जगत् एकमात्र ब्रह्म ही है। द्रष्टाका दृश्य और दर्शनके साथ सम्बन्ध होनेपर उसके मध्यमें जो उसका द्रष्टा, दर्शन और दृश्य आदिसे रहित शुद्ध रूप है, वही वह परब्रह्म है।

श्रीराम! जैसे शिलामें जल और जलमें अग्नि नहीं है, उसी प्रकार जीवात्मामें चित्त नहीं है; फिर वह परमात्मामें कहाँसे हो सकता है। विचारपूर्वक देखनेपर जो स्वयं ही कुछ नहीं है, उसके द्वारा जहाँ-कहीं जो कुछ किया जाता है, वह 'कृत' नहीं कहलाता। जो मूर्ख असत्य स्वरूपवाले चित्तका अनुवर्तन करते है, उन्हें धिक्कार है; क्योंकि वे केवल आकाश-ताडनरूपी कर्ममें व्यर्थ ही समय बितानेवाले हैं।

इस प्रकार भूतलपर पैदा हुए पुरुषको बुद्धिके कुछ भी विकसित होनेपर पहले सत्सङ्गपरायण होना चाहिये; क्योंकि अनवरत प्रवाहित होते हुए इस अविद्यारूपी नदियोंके समूहको शास्त्र एवं सज्जनोंके सम्पर्कके अतिरिक्त और किसी उपायसे पार नहीं किया जा सकता। उस सत्सङ्गद्वारा विवेककी प्राप्ति होनेसे पुरुषको 'यह त्याज्य है और यह ग्राह्य है', ऐसा विचार उत्पन्न होता है। तब वह शुभेच्छा नामकी ज्ञानभूमिमें अवतीर्ण होता है। तदनन्तर विवेकवश विचारणा नामकी ज्ञानभूमिमें आता है। वहाँ यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति होनेसे मिथ्या वासनाका परित्याग करनेवाले पुरुषका मन सांसारिक वासनाओंसे रहित हो तनुता (सूक्ष्मता) को प्राप्त होता है। इस कारण वह तनुमानसा नामकी ज्ञानभूमिमें अवतीर्ण होता है। फिर ज्यों ही योगी यथार्थ ज्ञानका उदय होनेसे परमात्मामें तद्रूप हो जाता है, त्यों ही उसे सत्त्वापत्ति नामकी ज्ञानभूमि प्राप्त होती है। तब वासनाका विनाश हो जानेके कारण वह 'असंसक्त' कहलाने लगता है और कर्मफलके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। तत्पश्चात् वासनाओंका विनाश हो जानेके कारण स्वाभाविक अभ्याससे जब वह कार्योंको करता हुआ अथवा उनसे विरत हुआ या संसारकी असत्य वस्तुओंमें स्थित हुआ भी अपने आत्मामें ही मनके क्षीण हो जानेके कारण बाह्य वस्तुओंका व्यवहार करते हुए भी न तो उन्हें देखता है, न रुचि-पूर्वक उनका सेवन करता है और न स्मरण ही करता

है, बल्कि अर्ध-सुप्त एवं अर्ध-प्रबुद्ध पुरुषकी भाँति केवल कर्तव्य-कर्मोंको करता रहता है, तब वह योगी पदार्थ-भावना नामकी योगभूमिको प्राप्त होता है। इस प्रकार जिसका चित्त ब्रह्ममें लीन हो गया है, वह योगी कुछ वर्षोंतक ऐसे स्वाभाविक अभ्याससे बाह्य पदार्थोंका व्यवहार करता हुआ भी जब उनकी भावनासे रहित हो स्वयं तुर्यात्मा हो जाता है, तब 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है। जीवन्मुक्त पुरुष न तो प्राप्त हुई वस्तुका अभिनन्दन करता है न अप्राप्तके लिये चिन्ता। वह जो कुछ सामने उपस्थित हो जाता है, उसीका निश्शङ्क होकर अनुवर्तन करता है। रघुनन्दन! तुम सम्पूर्ण कार्योंकी वासनासे रहित हो, इसलिये तुम सबके अंदर वर्तमान जानने योग्य सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें स्थित हो। अतः तुम चाहे संसारके कल्याणके लिये शास्त्रविहित कर्म करते रहो चाहे एकान्तमें ध्यान-समाधिमें स्थित रहो। श्रीराम! आत्मा न तो प्रकट होता है न विलीन ही। जैसे घड़ेके फूटकर टुकड़े हो जानेपर घटाकाशका नाश नहीं होता, उसी प्रकार इस शरीरके नष्ट हो जानेपर भी आत्माका विनाश नहीं होता। अरे, यह आत्मा तो अद्वितीय है। फिर दूसरी कौन-सी ऐसी वस्तु है, जिसकी वह अभिलाषा करेगा? राघव! जगत्‌में श्रवण करने योग्य, स्पर्श करने योग्य, देखने योग्य, चखने योग्य और सूँघने योग्य कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो आत्मासे पृथक् हो। वह आत्मा सर्वशक्तिमान्, विस्तृत और व्यक्त है। वासनाक्षयरूप मनोनाश हो जानेपर इस मायाका, जिसमें संस्काररूपसे कर्म करते हैं, अत्यन्त अभाव हो जाता है। जबतक इस मायाका यथार्थ ज्ञान नहीं हो पाता, तभीतक यह बड़े-बड़े मोहोंमें डालती रहती है; किंतु जब यह माया बिना हुए ही प्रतीत हो रही है—इस प्रकारका इसका वास्तविक ज्ञान हो जाता है, तब ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। यह ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुई है और संसारकी लीला करके ब्रह्ममें ही विलीन हो जाती है।

रघुकुलभूषण राम! जैसे तेजसे सभी प्रकाश आविर्भूत होते हैं, उसी तरह कल्याणमय, रूपरहित, अप्रमेय और विशुद्ध ब्रह्मसे सभी प्राणी उत्पन्न हुए हैं। जैसे पत्तेमें उसकी नसें, जलमें तरङ्गसमूह, सुवर्णमें कटक-कुण्डल आदि और अग्निमें उष्णता आदि व्याप्त हैं, उसी प्रकार यह त्रिलोकी उस ब्रह्ममें ही स्थित है, उसीसे उत्पन्न हुई है और उसीमें विलीन हो जाती है। वही समस्त प्राणियोंका आत्मा है और वही ब्रह्म कहा जाता है; उसका ज्ञान हो जानेपर इस मिथ्या जगत्‌का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। श्रीराम! देहके नष्ट होनेपर जीवात्माका नाश नहीं होता। जो चिन्मय जीवात्मा मनसे अतीत होनेके कारण आकाशकी भाँति अव्यक्त है, वह जड सुखों अथवा दुःखोंसे व्याप्त कैसे हो सकता है। उस चिदात्मामें, जो सबका साक्षी, सर्वत्र सम, निर्मल और निर्विकल्प है, ये सभी जगत् किसी प्रकारकी इच्छाके बिना ही उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होते हैं, जैसे दर्पणमें पदार्थोंका प्रतिबिम्ब। संकल्पोंके पूर्णरूपसे क्षय हो जानेके कारण जब चित्त विलीन हो जाता है, तब सांसारिक मोहरूपी तुषार नष्ट हो जाता है। उस समय शरदृतुके आनेपर स्वच्छ आकाशकी तरह चिन्मय शुद्ध आत्मा ही अद्वितीय, अजन्मा, आद्य एवं अनन्तरूपसे विभासित होता है। जैसे महासागरमें जल-लहरियाँ उत्पन्न होती हैं, दीखती हैं और तुरंत ही विलीन हो जाती हैं, उसी तरह यह मिथ्या मन स्वयं अपने अधिष्ठानभूत चेतनकी स्फुरणासे युक्त होकर सत्-सा दिखायी देता है और साक्षीभूत चेतनमें बारंबार उत्पन्न होकर विलीन होता रहता है।

(सर्ग ११९—१२२)

उत्पत्ति-प्रकरण सम्पूर्ण॥

स्थिति-प्रकरण

चित्तरूपसे जगत्‌का वर्णन, जगत्‌की स्थितिका खण्डन करके पूर्णानन्दस्वरूप सन्मात्रकी स्थितिका कथन, मनको ही जगत्‌का कारण बताकर उसके नाश होनेपर जगत्‌की शून्यताका कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! अब उत्पत्ति-प्रकरणके अनन्तर इस स्थिति-प्रकरणको श्रवण करो, जो जान लिये जानेपर निर्वाण प्रदान करनेवाला है। इस प्रकार जगत्-रूपसे स्थित यह दृश्य-प्रपञ्च और अहंता आदि आकार-रहित भ्रान्तिमात्र और असत्स्वरूप ही हैं। यह आकाशमें उत्पन्न हुए चित्रके समान एक निराधार विलक्षण चित्र है। यह यद्यपि ब्रह्मसे अभिन्न है, तथापि जलमें उसके भँवरकी भाँति ब्रह्ममें अन्य-सा स्थित लक्षित होता है। यह जगद्रूपी चित्र चित्रलिखित उद्यानकी तरह फूला हुआ है। इसकी आकृति मकरन्द आदि रससे रहित होनेपर भी सरस प्रतीत होती है। यद्यपि इसका रूप रोगयुक्त नेत्रों-द्वारा देखे गये अन्धकारके चक्रके समान वास्तवमें नहीं है, तथापि यह प्रत्यक्ष-सा दीखता है। यह रसात्मक होता हुआ भी परिणाममें अत्यन्त कटु है और उसके उत्पत्ति-विनाश होते रहते हैं।

ज्ञानवानोंमें श्रेष्ठ राम! जो समस्त कल्पनाओंसे अतीत एवं निर्मल है, उस महान् अनन्त निराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें यदि वास्तवमें जगत् आदि अङ्कररूपमें विद्यमान हैं तो बताओ कि वह प्रलयकालके पश्चात् किन सहकारी कारणोंके सहयोगसे उत्पन्न हो सकता है? क्योंकि इस जगत्‌में किसीने कभी भी वन्ध्याकी कन्याके समान सहकारी कारणोंके अभावमें अङ्कुरकी उत्पत्ति नहीं देखी है। श्रीराम! यदि कहो कि सहकारी कारणोंके अभावमें भी (रज्जुमें सर्पकी तरह) जगद्-रूपी अङ्कुर आविर्भूत हुआ है तो ऐसी दशामें मूलकारण ही जगत्स्वभावताको प्राप्त हो गया है; क्योंकि सृष्टिके आदिमें यथास्थिति निराकार ब्रह्म ही सृष्टिरूपसे अपने स्वरूपमें स्थित होता है, अतः वहाँ जन्य-जनकका क्रम कहाँसे घट सकता है। इसलिये श्रीराम! यह जगत् न तो था, न है और न होगा ही। (अतः ब्रह्ममें जगत्‌का तीनों कालोंमें अत्यन्त अभाव है।) सच्चिदानन्द परमात्मा ही अपने-आपमें इस प्रकार जगत्‌के रूपमें विकसित हो जाता है। वत्स राम! जब इस जगत्‌का अत्यन्ताभाव हो जाता है, तब केवल एक ब्रह्म ही शेष रहता है। किंतु यदि जगत् प्रतीत होता है तो वह ब्रह्म ही है, उससे अतिरिक्त कुछ नहीं है। जब काम कर्म-वासना आदि भावोंके साथ इस दृश्य-प्रपञ्चका उपशमन हो जाता है, तभी इस जगत्‌का अत्यन्ताभाव होता है; परंतु चित्तके मौजूद रहते दृश्य-जगत्‌का शमन होना सम्भव नहीं। इसलिये परमात्माके यथार्थ ज्ञानके बिना दृश्यताकी शान्ति नहीं हो सकती। अतः दृश्यस्वरूप जगत्‌का सर्वथा अत्यन्ताभाव ही दृश्यताकी शान्तिका एकमात्र उपाय है। इसके अतिरिक्त पूर्णरूपसे अनर्थके विनाशके लिये दूसरी कोई युक्ति नहीं है। परमात्मा स्वयं ही अपने संकल्पसे अपने अंदर वर्तमान जिस चमत्कारको प्रकट करता है, वही सृष्टिरूपसे प्रतीत होता है। उसका वास्तवमें न तो कोई रूप है और न कोई आधार ही है। जैसे महाशिलाओंपर खुदे हुए लेखोंके स्वरूप दीख पड़ते हैं, उसी तरह ये सृष्टियाँ न उत्पन्न होती हैं न नष्ट होती हैं तथा न आती हैं, न जाती हैं—केवल प्रतीत होती हैं। जैसे जलका द्रवत्व, वायुका स्पन्दन, समुद्रके आवर्त और गुणीके गुण अपने आधार-स्थानसे भिन्न नहीं हैं, उसी तरह उत्पत्ति-विनाशशील कार्योंवाला यह जगत् एकमात्र अनन्त, शान्त, विस्तृत, विज्ञानघन ब्रह्मरूपसे ही स्थित है, उससे पृथक् नहीं।

श्रीरामजीने पूछा—गुरुदेव! महाप्रलयके पश्चात् सृष्टिके आरम्भमें सर्वप्रथम उत्पन्न होनेवाले ये प्रजापति स्मृतिरूपसे

ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये मैं तो ऐसा समझता हूँ कि उन स्मृत्यात्मासे प्रकट हुआ यह जगत् भी स्मृतिरूप ही है।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघूद्वह ! यह ऐसा ही है। महाप्रलयके अनन्तर सर्गके आदिमें सर्वप्रथम ये प्रजापति स्मृतिरूपसे ही प्रकट होते हैं, अतः उनका संकल्पभूत यह जगत् भी स्मृतिरूप ही है। उन प्रजापतिका प्राथमिक संकल्पनगर ही जगद्रूपसे प्रकाशित हो रहा है। ज्ञानीके लिये यह जगत् शान्त एवं अविनाशी केवल ब्रह्म ही है, परंतु वही अज्ञानीकी बुद्धिसे भासमान नाना लोकोंसे युक्त है। पर्वतपर स्थित परमाणु जैसे पर्वतसे भिन्न नहीं हैं और न उनकी गणना ही की जा सकती है, उसी प्रकार ब्रह्मरूपी महान् मेरुगिरिपर स्थित त्रैलोक्यरूपी परमाणु ब्रह्मसे अभिन्न तथा असंख्येय हैं। इस सृष्टिको यदि सृष्टिके रूपमें ही समझा गया, तब तो यह अधोलोकमें ले जाती है; परंतु इसीको यदि ब्रह्मरूपसे जान लिया गया तो यह परम मङ्गलमयी हो जाती है। यह सब जगत् विश्वके कारण विज्ञानस्वरूप सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा ही है; क्योंकि जिससे जो उत्पन्न होता है, उसे तद्रूप ही समझना चाहिये। इसलिये समस्त वेद्य दृश्य-प्रपञ्च आत्मज्ञान हो जानेपर ज्ञानीकी दृष्टिमें शुद्ध चिन्मात्र ही है।

श्रीराम! साधकके द्वारा इन्द्रियसमुदायपर विजय-प्राप्तिरूपी पुलके आश्रयसे ही इस भवसागरको पार किया जा सकता है, अन्य किसी भी कर्मसे इससे पार पाना कठिन है। निरन्तर शास्त्राध्ययन और सत्सगतिके अभ्याससे जो विवेकयुक्त हो गया है, वही इन्द्रियजयी होता है और उसीको इस दृश्य-प्रपञ्चके अत्यन्ताभावका ज्ञान भी प्राप्त होता है। सौन्दर्यशालियोंमें श्रेष्ठ राम ! ससार-सागरकी श्रेणियाँ जैसे आती हैं और पुनः जैसे चली जाती हैं, वह सारा स्वरूप मैंने तुमसे वर्णन कर दिया। अब इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ ? मन ही कर्मरूपी वृक्षका अङ्कुर है। उस मनके नष्ट हो जानेपर कर्मरूपी शरीरवाला संसार-वृक्ष भी नष्ट हो जाता है। श्रीराम ! यह सब कुछ मन ही है। इस मनकी चिकित्सा हो जानेपर जगज्जालरूपी सारी व्याधियोंकी चिकित्सा हो जाती है। यह मन ही जब देहाकारका मनन करता है, तब लोकमें कर्म करनेमें समर्थ देह उत्पन्न होती है। भला, कहीं मनसे भिन्न भी देह देखी जाती है ? जैसे विशाल आकाशमें असत्स्वरूप गन्धर्वनगरकी प्रतीति होती है, उसी तरह विषयोंके चिन्तनसे वृद्धिंगत हुए मनमें यह सारा जगत् स्फुरित होता है। मन ही जगत् है तथा सम्पूर्ण जगत् ही मन है; ये दोनों एक साथ रहते हैं।

रघुनन्दन ! समस्त एषणाओंकी शान्ति हो जानेपर विशुद्ध-चित्त पुरुषकी जो स्थिति है, उसीको सत्य आत्मतत्त्व कहा गया है और उसीको निर्मल चैतन्य कहते हैं। निर्मल सत्त्वरूप मन जिस वस्तुके विषयमें जैसी भावना करता है, वह वस्तु तत्काल वैसी ही हो जाती है। जैसे इस समय जाग्रत्-अवस्थामें हमलोगोंको संसारका स्वयं ही प्रत्यक्ष भान होता है, उसी प्रकार स्वप्न और भ्रम आदि अवस्थाओंमें सहस्रों संसार भी मिथ्या दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे एकको दूसरेके स्वप्न और मनोरथसम्बन्धी नगरोंके व्यवहार पृथक् होनेके कारण दिखायी नहीं देते, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्तिके ये संसाररूपी भ्रम पृथक्-पृथक् होनेके कारण एक दूसरेके दृष्टिगोचर नहीं होते। इसी प्रकार संकल्परूपी आकाशमें अनेक संसार-रूपी नगरोंके समुदाय हैं; परंतु वे ज्ञानदृष्टिके बिना मिथ्या नहीं प्रतीत होते। जैसे एकमात्र वसन्त ऋतुका रस ही वन, लता और गुल्म आदिके रूपमें प्रकट होता है, उसी तरह एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही प्रत्येक व्यक्तिके लिये मिथ्या जगत्रूपसे प्रकट हुआ है। अपना यह संकल्प ही जगत्के आकारमें प्रतीत हो रहा है, यह बात अत्यन्त परमार्थ-दृष्टिसे ही ज्ञात होती है।

अपने-अपने स्वभाव (अनादि अज्ञान) के भीतर स्थित चित्त ही प्रत्येक जीवमें इदमित्थं रूपसे प्रतीत होनेवाला यह जगत् है । इस प्रकार प्रतीतिमात्र जगत्को असत्य समझनेवाला चित्त स्वयं ही नष्ट हो जाता है; क्योंकि प्रतीतिकालमें ही इस जगत्की सत्ता है । परमार्थ वस्तु (अधिष्ठानरूप ब्रह्म)-का साक्षात्कार होनेपर उसकी सत्ता नहीं रहती । चित्तकी सत्ता ही जगत् है और जगत्की सत्ता ही चित्त है । एकके अभावसे दोनोंका अभाव हो जाता है । यह इन दोनोंका अभाव सत्यस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्म-विषयक विचार करनेसे ही सम्भव है । जैसे मलिन मणिको युक्तिसे साफ करनेपर उससे शुद्ध प्रकाश प्रकट होता है, उसी तरह शुद्ध चित्तका अनुभव सत्य होता है । चिरकालतक एक परमात्माके चिन्तनरूप दृढ़ अभ्याससे चित्तकी शुद्धि होती है । जो संकल्पोंसे आक्रान्त नहीं है, ऐसे चित्तसे ज्ञानका उदय होता है । जैसे मलिन वस्त्रमें सुन्दर रंग नहीं टिकता, उसी तरह वासनासे मलिन चित्तमें ब्रह्माकाररूप एक दृष्टि स्थिर नहीं होती । वासनासे रहित होना ही चित्तकी शुद्धि है, जगत्के ज्ञानसे शून्य और एक ब्रह्माकार होना ही उसका वासनासे रहित होना है । चित्तकी शुद्धि होनेसे पुरुष शीघ्र ही प्रबुद्ध (ज्ञान-सम्पन्न) हो जाता है । चित्तका चिन्मय परमात्मरूपमें लय हो जाना ही उसकी वास्तविक शुद्धि है । इस शुद्धिका लाभ होते ही प्रबुद्ध पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है । (सर्ग १–१७)

स्वरूपकी विस्मृतिसे ही भेदभ्रमकी अनुभूति, चित्तशुद्धि एवं जाग्रत् आदि अवस्थाओंके शोधनसे ही भ्रम-निवारणपूर्वक आत्मबोधकी प्राप्ति तथा वैराग्यमूलक विवेकसे ही मोक्ष-लाभका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जिस प्राणीका जिस तरहके कर्मोंका भोगानुकूल फल जहाँ जैसे रहता है, वहाँ उतना ही वह अनुभव करता है, उससे अतिरिक्त नहीं । एक व्यक्तिके हृदयमें विद्यमान जो मनोराज्य है, उसे देखने या भोगने आदिमें दूसरे व्यक्तिका मन सफल नहीं होता । यह जो असफलताको प्राप्त हुई मनकी स्थिति है, वही उसके विच्छेद यानी नानात्वमें हेतु है—यों जानना चाहिये । उस मनके भेदसे ही जीवोंके भी भेद होते हैं अर्थात् जैसे भिन्न-भिन्न मन हैं, उसी तरह भिन्न-भिन्न जीव भी हैं । जैसे सुवर्ण अपने ज्ञानके अभावसे कड़े-कंगन आदिके रूपको प्राप्त होता है, उसी प्रकार जिसे अपने स्वरूपका ज्ञान नहीं है, उस चेतनने स्थूल देहको स्वीकार करके संसाररूपिणी अविद्याका मिथ्या ही अनुभव किया है ।

सम्पूर्ण जीव-समूहोंका आत्मा स्वयं ही अपने संकल्पसे जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक तीन अवस्थाओंको प्राप्त हुआ है । इन अवस्थाओंमें शरीर कारण नहीं है । इस प्रकार जाग्रत् आदि तीन अवस्थारूप आत्मामें ही जीवत्व है अर्थात् वह आत्मा ही जीवरूपसे स्फुरित हो रहा है; इसमें शरीरत्वका विकास नहीं है । तात्पर्य यह कि जैसे जल ही लहर एवं भँवर आदिके रूपमें विख्यात होता है—यह तात्त्विक दृष्टि प्राप्त होनेपर जलमें उससे पृथक् लहर आदिकी सत्ता नहीं रहती, उसी प्रकार जीवात्मा ही जाग्रत् आदि अवस्थारूप है—यह विचार दृढ होते ही जीवसे पृथक् देहकी वास्तविक सत्ता शेष नहीं रह जाती ।

इसी प्रकार तत्त्वज्ञ पुरुष सुषुप्ति-अवस्थाके अवसानभूत तुरीय पदरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मपदको ज्ञानद्वारा प्राप्त करके संसारसे निवृत्त हो जाता है; परंतु जो मूढ़ जीव है, वही सृष्टिमें प्रवृत्त होता है । ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंकी सुषुप्ति एकरूप ही है; क्योंकि अज्ञको भी सुषुप्तावस्थामें सुखकी प्राप्ति होती है । किंतु अज्ञानी जीव तो सुषुप्तावस्थामें पहुँचकर भी असम्बुद्ध (वास्तविक आत्मज्ञानसे रहित और देहात्मभावकी भ्रान्ति-वासनासे वासित) होनेके कारण सृष्टिको प्राप्त होता है, परंतु

ज्ञानी नहीं। परब्रह्म परमात्मा निर्विशेष होनेके कारण स्वभाव नहीं कहा जा सकता। निर्विकार, अद्वितीय और असङ्ग होनेके कारण जो वास्तवमें किसीका कारण नहीं है, तथापि सम्पूर्ण प्रपञ्चके आरोपका अधिष्ठानरूपसे आदिकारण है, उस निर्विशेष परब्रह्म परमात्मामें वस्तुतः कारण एवं निमित्त आदि वस्तुकी भी सम्भावना नहीं है। (अतः ब्रह्ममें बिना किसी कारणके ही प्रतीत होनेवाला यह जगत् मिथ्या ही है।)

सार वस्तु (ब्रह्म)-का ही विचार करना उचित है। असार वस्तु (दृश्य ससार)-के विचारसे क्या लाभ। बीज अपने स्वरूपका त्याग करके अङ्कुर आदिके क्रमसे फलरूपमें परिणत होता देखा जाता है, परंतु ब्रह्म वैसा नहीं है। वह अपने स्वरूपका त्याग किये बिना ही जगत्‌रूप अध्यारोपका अधिष्ठानरूपसे कारण होता है, बीजका अवयव आदि सब कुछ साकार है। अतः उससे निराकार परम पदरूप ब्रह्मकी तुलना करना उचित नहीं। इसलिये कल्याणस्वरूप ब्रह्मके लिये कोई उपमा सम्मत ही नहीं हो सकती। अपनेको दृश्यरूपमें देखनेवाला द्रष्टा अपने वास्तविक स्वरूप आत्माको नहीं देख सकता (इसलिये उसे अनर्थकी प्राप्ति होती है)। जिसकी बुद्धि प्रपञ्चसे आक्रान्त हो, ऐसे किसी पुरुषको अपनी यथार्थ स्थितिका ज्ञान नहीं होता।

जबतक भ्रान्तिसे मृगतृष्णामें जलकी प्रतीति हो रही है, तबतक किसीकी समझदारी किस कामकी; और जब यह ज्ञान हो गया कि यहाँ जल नहीं है, तब वहाँ मृगतृष्णा ही क्या रह गयी। जैसे नेत्र बहिर्मुख होनेके कारण अपने-आपको नहीं देख पाता, उसी प्रकार आकाशकी भाँति निर्मल होता हुआ भी द्रष्टा बहिर्मुख होनेके कारण अपने स्वरूपका साक्षात्कार नहीं कर सकता। यह भ्रमकी प्रबलता कैसी आश्चर्यजनक है! यदि दृश्य-प्रपञ्चको दृश्यरूपसे ही सच्चा समझा जाय तो आकाशके समान निर्मल ब्रह्म यत्न करनेपर भी नहीं मिल सकता; फिर तो उसकी प्राप्ति बहुत दूर हो जाती है। श्रीराम! इसीलिये उसको दृश्य ही दिखायी देता है, द्रष्टाका दर्शन नहीं होता। वास्तवमें एकमात्र द्रष्टा ही सर्वत्र स्थित है, दृश्य नामकी कोई वस्तु यहाँ है ही नहीं (जो कुछ दिखायी देता है, वह केवल भ्रम है)। जब द्रष्टा और दृश्यमें कोई अन्तर ही नहीं रहा, तब कौन द्रष्टा और कैसा दृश्य, क्योंकि वह द्रष्टा ही दृश्यरूपमें प्रकट होता है।

जब चित्त सिद्धिको प्राप्त होता है, तब जीव जड-संसर्गसे मुक्त हो केवल शुद्ध चिन्मय आत्मस्वरूपसे स्थित होता है। वह चेतन आत्मा शुद्ध एवं सर्वव्यापी है; चेतन आत्मा जहाँ जिस वस्तुकी भावना करता है, वहाँ वह तत्काल प्रकट हो जाती है। उसने स्वप्नमें भी जो कुछ देखा है, वह स्वप्नके समयमें सत्य ही है। जैसे बीजके अंदर सूक्ष्मरूपसे पत्ते, लता, फूल और फलरूप अणु रहते हैं, उसी प्रकार चेतनरूप अणुके भीतर समस्त सूक्ष्म अनुभव विद्यमान हैं। जिस पुरुषके भीतर यह विचार नहीं उठता कि मैं कौन हूँ और यह जगत् क्या है, वह संसारके बन्धनसे मुक्त नहीं हुआ। जिस विशुद्ध बुद्धिवाले पुरुषकी भोगलिप्सा प्रतिदिन क्षीण होती जाती है, उस वैराग्यवान्‌का ही विवेकयुक्त विचार सफल होता है। जैसे शरीरके द्वारा पथ्य-भोजन आदि नियमोंके साथ सेवन किया हुआ औषध ही आरोग्य प्रदान करता है, उसी प्रकार जितेन्द्रियताका अभ्यास हो जानेपर ही विवेक सफल होता है। चित्रमें अङ्कित प्रज्वलित अग्निकी भाँति जिसका विवेक केवल कथनमात्र ही है, कार्यमें परिणत नहीं हुआ है, उसने अविवेकका त्याग नहीं किया है; अतः वह अविवेक उसे दुःख ही देनेवाला होगा। जैसे स्पर्शसे ही वायुकी सत्ताका भान होता है, कथनमात्रसे नहीं, उसी प्रकार भोगेच्छाके क्षीण होनेसे ही पुरुषका विवेक जाग्रत् होता है। चित्रलिखित अमृत अमृत नहीं है, चित्रलिखित अग्नि अग्नि नहीं है, चित्रलिखित नारी

निश्चय ही नारी नहीं है; उसी तरह कथनमात्रका विवेक विवेक नहीं है, वास्तवमें अविवेक ही है। विवेकसे पहले राग और द्वेषका समूल नाश हो जाता है। तत्पश्चात् विषयभोगोंके लिये प्रयत्न सर्वथा क्षीण हो जाता है। जिस पुरुषमें विवेक जाग्रत् है, वही परम पवित्र है। (सर्ग १८-१९)

उपासनाओंके अनुसार फलकी प्राप्ति तथा जाग्रत्-स्वप्न अवस्थाओंका वर्णन, मनको सत्य आत्मामें लगानेका आदेश, मनको भावनाके अनुसार रूप और फलकी प्राप्ति तथा भावनाके त्यागसे विचारद्वारा ब्रह्मभावकी प्राप्तिका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! वे जीव अपनी सिद्धिके लिये जैसे-जैसे प्रयत्न करते हैं, उन विविध उपासनाओंके रूपसे वे शीघ्र वैसे-ही-वैसे हो जाते हैं। देवताओंकी पूजा करनेवाले देवताओंको, यक्षोंकी आराधना करनेवाले यक्षोंको और ब्रह्मके उपासक ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। इनमें जो सर्वोत्तम है, उसी परमात्मारूप इष्टदेवका आश्रय लेना चाहिये।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! आप मुझे जाग्रत् तथा स्वप्न-अवस्थाओंका भेद बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जिसकी प्रतीति स्थिर हो, उसे जाग्रत् कहते हैं और जिसकी प्रतीति स्थिर नहीं होती, उसे स्वप्न कहा गया है। यदि स्वप्न भी कालान्तरमें स्थित हो तो प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर उसे जाग्रत्की श्रेणीमें ही देखा जायगा; और यदि जाग्रत् भी कालान्तरमें स्थित नहीं है तो वह स्वप्न ही है। इस प्रकार जाग्रत् स्वप्नभावको और स्वप्न जाग्रत्-भावको प्राप्त होता है। स्वप्न भी स्वप्नकालमें स्थिर होनेके कारण जाग्रत्-भावको प्राप्त होता है और जाग्रत्के मनोरथ भी जाग्रत्कालमें अस्थिर होनेसे स्वप्न ही हैं; क्योंकि वैसा ही बोध होता है।

रघुनन्दन ! मैंने तुमसे यह जो कुछ कहा है—जाग्रत् आदि अवस्थाओंका वर्णन किया है, वह सब मनके स्वरूपका निरूपणमात्र है। और किसी हेतु या प्रयोजनसे यह सब नहीं कहा गया है। जैसे अग्निके सम्पर्कमें आनेसे लोहेका गोला आग बन जाता है, उसी प्रकार दृढ़ निश्चयसे युक्त चित्त जिस वस्तुकी बारंबार भावना करता है, उसीके आकारको प्राप्त हो जाता है। भाव, अभाव, ग्रहण और त्याग आदि सारी प्रतीतियाँ चेतनमें मनके द्वारा कल्पित हैं। ये प्रतीत होती हैं, इसलिये तो ये असत्य नहीं हैं और वास्तवमें ये हैं नहीं, इसलिये सत्य नहीं हैं। चित्तकी चपलतासे ही इनका निर्माण हुआ है। मन मोहका जनक और जगत्की स्थितिका कारण है। मलिन मन ही व्यष्टि और समष्टिरूपसे इस जगत्की कल्पना करता है। संसारकी सारी विभूतियाँ एकमात्र मनको जीतनेसे ही प्राप्त होती हैं। चित्त जिसकी भावनामें तन्मय होता है, उसे निस्संदेह प्राप्त कर लेता है। सौभाग्यशाली श्रीराम ! मनके द्वारा अभिलषित देश या विषयको शरीर प्राप्त होता है। परंतु शरीरके द्वारा आचरित देश या विषयको मन नियमतः प्राप्त नहीं होता।

जैसे सुगन्धित पुष्पके भीतर स्थित हुई वायु उसकी घनीभूत सुगन्धको प्राप्त कर लेती है, उसी प्रकार मननसे चञ्चल हुआ मन जिस-जिस वस्तुकी भावना करता है अथवा जिस-जिस वासनासे युक्त भावको अपनाता है, उसीके स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। श्रीराम ! जैसे गन्धके भीतर स्थित हुई वायु गन्धरूपताको प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार मन जिस भावसे युक्त होता है, उसके बाद उसका वशवर्ती शरीर भी उसीके स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। ज्ञानेन्द्रियोंके अपने-अपने विषयमें

प्रवृत्त होनेपर उनसे कर्मेन्द्रियस्वरूप स्वतः ही इस तरह स्फुरित होता है, जैसे धूलमिश्रित वायुमें पृथ्वी अपने-आप धूलिकणोंके रूपमें स्फुरित होती है। कर्मेन्द्रियाँ क्षुब्ध होकर जब अपनी क्रियाशक्तिको प्रकट करती हैं, तब वायुमें धूल-समूहकी भाँति मनमें प्रचुर कर्म सम्पादित होता है। इस प्रकार मनसे कर्मकी उत्पत्ति हुई है और मनकी उत्पत्तिमें भी कर्मको ही बीज (कारण) बताया गया है। फूल और सुगन्धकी भाँति इन दोनोंकी सत्ता एक दूसरेसे भिन्न नहीं है। दृढ़ अभ्यासके कारण मन जैसे भावको ग्रहण करता है, वैसे ही स्पन्द और कर्म नामकी शाखाओंको वह प्रकट करता है तथा उसी तरहकी क्रियारूप उसके फलको बड़े आदरसे उत्पन्न करता है। तदनन्तर उसीके स्वादका अनुभव करके शीघ्र बन्धनमें पड़ता है। मन जिस-जिस भावको अपनाता है, उसी-उसीको वस्तुरूपमें पाता है। वही श्रेय है, दूसरा नहीं—ऐसा उसका निश्चय हो जाता है। अपनी-अपनी प्रतीतिके द्वारा ही दृढ़तापूर्वक भिन्नताको प्राप्त हुए (मनुष्योंके) मन सदा ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके लिये प्रयत्न करते हैं।

जो अकृत्रिम अर्थात् नित्य-सिद्ध विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा है, उसके लिये प्रयत्न करनेवाले मनुष्योंको चाहिये कि वे अपने मनको तन्मय बना दें, जिससे उसकी प्राप्ति हो सके। यह दृश्य माया है, अविद्या है और भय देनेवाली भावना है। मनकी जो दृश्यमयता है, विद्वान्लोग उसीको (बन्धनमें डालनेवाला) कर्म कहते हैं। स्वभावमें स्थित जो यह दृश्य-तन्मयता अनुभवमें आती है, वही विद्वानोंद्वारा मदिराके समान संसारको उन्मत्त बना देनेवाली अविद्या कही जाती है। जैसे पटलनामक रोगसे अंधा हुआ पुरुष सूर्यके दीप्तिमान् प्रकाशको नहीं देखता, उसी प्रकार इस अविद्यासे

वह अविद्या संकल्पसे स्वयं उत्पन्न होती है। म
भावनाके सकल्पको त्याग देनेमात्रसे जब वह
जाती है, उस समय रसस्वरूप आनन्दमय प
ध्यानके अभ्यासकी दृढ़तासे सुशोभित श्रवण म
विचारके द्वारा सब पदार्थोंमें अनासक्ति स्थिर हो
है। फिर सत्यदृष्टिके प्राप्त होनेपर असत्य दृष्टिका
हो जाता है और वह निर्मल-स्वभाव, निर्विकल्प
सच्चिदानन्द परमात्मा प्राप्त हो जाता है, जो न
न असत् है न सुखी है न दुखी है तथा
कैवल्यभाव अपने हृदयमें अनुभवसे ही प्राप्त हो
जैसे यह रस्सी है या सर्प है—ऐसा सदेह
रस्सीमें सर्पभाव आरोपित होता है, उसी प्रकार
रहित चिन्मय आकाशस्वरूप जीवात्माने अपनेमें
बन्धनकी कल्पना कर रखी है। जैसे एक ही
रात और दिनकी कल्पनासे रातमें और तरहका
देता है और दिनमें अन्य प्रकारका, उसी तरह
वस्तु ब्रह्म बारंबार उस प्रतिकूल कल्पनाद्वारा
प्रकारका भासित होता है और अपने स्वरूपसे
दूसरा ही रूप धारण कर लेता है। जो तुच्छ
आयास-रहित है, उपाधिशून्य है, जिसमें व
नहीं है तथा जो नाना प्रकारकी कल्पनाओं
वह परब्रह्म परमात्मा ही परम सुखस्वरूप होने
सुख दे सकता है। जीवकी अपनी कल्पनासे
अभाव, शुभ और अशुभ क्षणभरमें उत्पन्न हो
और क्षणभरमें मिट जाते हैं। सभस्त पद
भावके अनुसार ही फल देनेवाले हैं, यह जान
पुरुष इस परिवर्तनशील जगत्के पदार्थोंके विष
एक निश्चित रूपका प्रतिपादन नहीं करत
दृढ़ भावनाके द्वारा जिस पदार्थके विषयमें जब
निश्चित धारणा बनाये रखता है, तबतक उ
ही परिणामको वह देखता या अनुभव क
आत्मतत्त्व। वह सत्य ब्रह्म ही है अथवा

अभिन्न है, ऐसा अपने मनमें निश्चय करके तुम अपनी बुद्धिके द्वारा उस अनादि अनन्त परमात्माका अपने आपमें ही अनुभव करो—मैं ही वह परब्रह्म परमात्मा हूँ, ऐसा अनुभव करो। (सर्ग २०-२१)

दृढ़ बोध होनेपर सम्पूर्ण दोषोंके विनाश, अन्तःकरणकी शुद्धि और विशुद्ध आत्मतत्त्व-के साक्षात्कारकी महिमाका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जो नित्यानित्य वस्तुके विवेकसे सम्पन्न है, जिसके चित्तकी वृत्तियाँ परमात्मामें विलीन होती जा रही हैं, जो ज्ञान प्राप्त करके संकल्पोंका त्याग कर रहा है, जिसका मन परमात्माके स्वरूपमें परिणत हो गया है, जो इस हेय नाशवान् जड दृश्यका परित्याग कर रहा है तथा उपादेय सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका ध्यान कर रहा है, अर्थात् जो द्रष्टा परमात्माका अनुभव करता है तथा अदृष्टारूप दृश्यका अनुभव नहीं करता, जागरणके योग्य परम तत्त्वमें ही जाग रहा है और घनीभूत अज्ञानके विकाररूप संसारसे सोया हुआ है, जो सम्पूर्ण तुच्छ सुखोंसे लेकर हिरण्यगर्भ ब्रह्मातकके सुखोंमें अत्यन्त वैराग्यके कारण सरस और नीरस आपातरमणीय भोगोंमें आसक्त न होकर उनकी ओरसे पूर्णतया विरक्त है, जिसके मनमें किसी प्रकारकी कामना नहीं है—ऐसे अधिकारी पुरुषका अनादि जडता (अज्ञान)-रूपी आकाश आसक्तिशून्य हो जब परमात्मारूपी जलके साथ एकताको प्राप्त हो जाता है और धूपमें बर्फकी भाँति पूर्णतया विगलित हो जाता है। वर्षाकाल बीत जानेपर जैसे तरङ्गयुक्त जलसे चञ्चल मध्यभागवाली लहराती हुई नदियाँ धीरे-धीरे सूखने लगती हैं, उसी प्रकार जब विषयरूपी तरङ्गोंसे युक्त तृष्णाएँ शान्त हो जाती हैं तथा जैसे चूहे चिड़ियोंके जाल काट देते हैं, उसी प्रकार जब तीव्र वैराग्यसे संसार-वासना-रूपी जाल टूट जाता है और हृदयकी गाँठें ढीली पड़ जाती हैं, तब जैसे निर्मलीको पीसकर जलमें डालनेसे जल स्वच्छ हो जाता है, उसी तरह विज्ञानके प्रभावसे अन्तःकरण विशुद्ध होकर प्रसन्न हो जाता है। जैसे वायुके शान्त होनेपर समुद्रमें (निश्चलता) रूप समता आ जाती है, उसी प्रकार मनके शान्त होनेपर सब जगह सर्वोत्तम शान्ति पैदा करनेवाली अज्ञानरूपी मलसे रहित उन्नत समदर्शिताका उदय होता है। इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ—जिसने जाननेयोग्य परमात्मतत्त्वको जान लिया है, वह परम बुद्धिमान् पुरुष वायु आदि चारों भूतोंसे रहित आकाशकोशके समान न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है।

मैं कौन हूँ, यह दृश्य जगत् कैसे हुआ?—इन सब बातोंका जबतक विवेकपूर्वक विचार नहीं किया जाता, तभीतक यह अन्धकारके समान संसारका आडम्बर खड़ा है। मिथ्या भ्रमसमूहसे उत्पन्न यह शरीर आपत्तियोंका घर है। जो आत्मभावनाके द्वारा इस दृश्यको नहीं देखता अर्थात् जो यह दृश्य नहीं है, सब कुछ आत्मा ही है—ऐसा देखता है, वही यथार्थरूपसे देखनेवाला है। जो देश और कालवश शरीरमें उत्पन्न हुए सुख-दुःखोंको भ्रमरहित दृष्टिसे 'ये मेरे नहीं हैं' इस तरह देखता है, वही यथार्थ द्रष्टा है। जो असीम आकाश, दिशा और काल आदि हैं तथा उनमें वर्तमान जो परिच्छिन्न क्रियाओंसे युक्त वस्तु है, वह सब 'मैं ही हूँ'—इस प्रकार जो सबमें अपने आत्माको देखता है, वही वास्तवमें देखनेवाला है। सर्वशक्तिमान्, अनन्तात्मा, सम्पूर्ण पदार्थोंमें स्थित, एकमात्र अद्वितीय चेतन परमात्मा ही सर्वत्र विराजमान हैं—ऐसा जो अपने हृदयके भीतर देखता है, वही वास्तवमें देखता है। जो विद्वान् आधि, व्याधि, जन्म, जरा और मृत्युसे युक्त इस देहको अपना स्वरूप नहीं मानता—मैं देह हूँ, ऐसा नहीं देखता, वही

यथार्थदर्शी है। सूतमें गुँथी हुई मणियोंके समान यह सम्पूर्ण जगत् मुझमें ही ओतप्रोत है, परंतु मैं मन नहीं हूँ—इस तरह जो देखता है, वही आत्माके यथार्थ स्वरूपको देखता है। न मैं हूँ न दूसरी ही कोई वस्तु है; किंतु एकमात्र निरामय ब्रह्म ही सर्वत्र सब रूपोंमें विराजमान है—इस तरह जो देखना है, वही वास्तवमें देखता है। जिस महात्माके सांसारिक देह आदिके प्रति अपने पराये और तेरे-मेरेके भेद मिट गये हैं, वही सुन्दर दृष्टिसे सम्पन्न महापुरुष आत्माका यथार्थरूपसे अनुभव करता है। जो आकाशकी भाँति एकात्मा है और सम्पूर्ण पदार्थोंमें व्याप्त होता हुआ भी उनमें लिप्त नहीं होता, ऐसा वह महात्मा पुरुष साक्षात् महेश्वर ही है। जो तम (सुषुप्ति), प्रकाश (जाग्रत्) और कल्पना (स्वप्न)—इन तीनों अवस्थाओंसे मुक्त है, कालका भी परम प्रेमास्पद आत्मा बन गया है तथा जो सौम्य, समदर्शी और अपने आत्मस्वरूपमें स्थित है, ऐसे उस परमात्म-पदको प्राप्त हुए पुरुषको मैं नमस्कार करता हूँ। सम्पूर्ण जगत्में एकमात्र ब्रह्म ही विराजमान है—जिसकी बुद्धिमें ऐसा निश्चय हो गया है तथा जिसकी वृत्ति (ब्रह्माकारदृष्टि) जगत्की सृष्टि, प्रलय और स्थितिरूपिणी विचित्र एवं मनोहर वैभवयुक्त कलाओंमें सदा ही एकरस है, उस परम बोधवान् शिवस्वरूप महापुरुषको नमस्कार है। (सर्ग २२)

शरीररूपी नगरीके सम्राट् ज्ञानीकी रागरहित स्थितिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलनन्दन श्रीराम! जैसे देवराज इन्द्र अपनी अमरावतीपुरीमें निश्चिन्त होकर राज्य करते हैं, उसी प्रकार विवेकी पुरुष इस देहरूपिणी नगरीमें राज्य करता हुआ सदा निश्चिन्त एवं अपने आत्मामें स्थित रहता है। वह अपने मनरूपी मतवाले घोड़ेको कामभोगके भयानक गड्ढेकी ओर नहीं जाने देता तथा अपनी प्रज्ञारूपिणी पुत्रीको लोभके वशमें होकर नहीं बेचता। अज्ञानरूपी शत्रु राष्ट्र इसके छिद्रको नहीं देख सकता और यह संसाररूपी शत्रुके भयकी जड़ोंको ही काट देता है। तृष्णारूपिणी नदीके प्रवाहके भीतर उठनेवाली बड़ी भारी भँवरमें, जहाँ काम-भोगरूपी दुष्ट ग्राह निवास करते हैं, वह विवेकी पुरुष बहिर्मुख होकर डूबता नहीं। वह मनकी ब्रह्माकारवृत्तिमें आरूढ़ हो बाहर-भीतर परमात्माके सिवा दूसरी किसी वस्तुको न देखता हुआ सदा समता-शान्तिरूप गङ्गा-यमुनाके संगममें स्नान करता है। जिसपर सम्पूर्ण इन्द्रियरूपी जन-समुदायकी दृष्टि रहती है, उस विषय-सुखके अवलोकनसे पराङ्मुख हो वह ध्यानमें सदा सुखपूर्वक बैठा रहता है।

सर्वव्यापक होकर भी इस शरीररूपी नगरीमें स्थित आत्मारूपी पुरुष विश्वकी कल्पनाद्वारा निर्मित विविध भोगोंका प्रारब्धानुसार उपभोग करके अपने स्वरूपभूत परमपुरुषार्थको प्राप्त होता है। समस्त पदार्थोंकी क्रियासे विमुख रहनेवाला वह विवेकी पुरुष व्यवहार-दृष्टिसे कर्म करता हुआ भी परमार्थ-दृष्टिसे कुछ नहीं करता; क्योंकि वह सम्पूर्ण व्यावहारिक कार्योंका कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर सम्यक्रूपसे अनुष्ठान करता है। उस शरीर-नगरीमें रहकर हृदय-पुण्डरीकमें आरूढ़ हो वह सदा शान्तिरूप शीतल शरीरवाली लोकसुन्दरी मैत्रीरूपिणी अपनी प्रियाके साथ नित्य रमण करता है। जैसे चन्द्रमाके अगल-बगलमें चित्तको आह्लादित करनेवाली विशाखा नामक दो ताराएँ स्थित होती हैं, इसी तरह विवेकी पुरुषके दोनों पार्श्वभागोंमें सत्यता और समता नामकी दो कान्ताएँ सम्यक्रूपसे विराजमान होती हैं, जो चित्तको आह्लाद प्रदान करनेवाली हैं। जैसे सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त और समस्त शोभा-सम्पत्तिसे सुन्दर प्रतीत होनेवाले पूर्णिमाके चन्द्रमा चिरकालतक सम्पूर्ण दिशाओंको अपनी सुधामयी किरणोंसे पूर्ण करके प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार जिसके सारे मनोरथ चिरकालके लिये परिपूर्ण हो

गये हैं, जो सर्वात्मभावरूप सम्पत्तिसे सुन्दर दिखायी देता है, वह आत्मकाम तत्त्ववेत्ता पुरुष निरन्तर अपने प्रकाशसे प्रकाशित होता है। चन्द्रमा तो पुनः क्षीण होनेके लिये प्रकाशित होते हैं, परंतु तत्त्वज्ञ फिर क्षीण नहीं होता। वह अखण्ड एकरसभावसे अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित रहनेके लिये प्रकाशित होता है।

जैसे बिना किसी प्रयत्नके स्वतः प्राप्त हुए तथा व्यर्थ पदार्थोंमें मनुष्यकी दृष्टि आसक्तिशून्य होकर ही पड़ती है, उसी प्रकार विवेकी पुरुषकी बुद्धि सांसारिक कार्योंमें भी रागशून्य ही रहती है। इन्द्रियोंको प्रारब्धवश जो न्याययुक्त विषय प्राप्त होते हैं, उनका तो वह कभी निवारण नहीं करता और अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करनेका प्रयत्न भी नहीं करता (प्रारब्धवश जो कुछ मिल जाय, उसीमें संतुष्ट रहता है)। इस प्रकार ज्ञानी अपने आपमें परिपूर्ण रहता है। जैसे मोर-पंखोंके आघात पर्वतको कम्पित नहीं कर सकते, उसी प्रकार ज्ञानीको अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिके लिये होनेवाली चिन्ताएँ और प्रतिकूल प्राप्त वस्तुके लिये पश्चात्ताप विचलित नहीं करते। जिसके सारे संदेह निवृत्त हो गये हैं, भोगसम्बन्धी सारी उत्सुकता विनष्ट हो गयी है तथा काल्पनिक शरीर क्षीण हो गया है, वह ज्ञानी पुरुष सम्राट्के समान विराजमान होता है। जैसे अपार अनन्त क्षीरसागर अपने आपमें ही परिपूर्ण है, उसी प्रकार अपरिच्छिन्न आत्मज्ञानी अपने आपमें ही नहीं समाता अर्थात् अपने आपमें ही परिपूर्ण है और आत्मासे आत्मामें ही रमण करता है।

इतने बड़े भूमण्डलमें वे ही पुरुष सौभाग्यशाली, शुद्धचित्त और पुरुषोचित कलाओंके ज्ञानमें गणनीय हैं, जो अपने चित्तसे पराजित नहीं हुए हैं। जिसके हृदय-रूपी बिलमें कुण्डलाकार मनरूपी महान् सर्प सर्वथा शान्त हो गया है, अपने स्वरूपमें पूर्णरूपसे उदित हुए ऐसे उस अत्यन्त निर्मल तत्त्ववेत्ताको मैं प्रणाम करता हूँ।

(सर्ग २३)

मन और इन्द्रियोंकी प्रबलता तथा उनको जीतनेसे लाभ, अत्यन्त अज्ञानी और ज्ञानीके लिये उपदेशकी व्यर्थता तथा जगत् और ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! (मनसहित) इन्द्रियरूपी छः शत्रु बड़े ही दुर्जय हैं। वे तपन, अवीचि, महारौरव, रौरव, संघात और कालसूत्र—नरकके इन छः बड़े-बड़े साम्राज्योंपर प्रतिष्ठित हैं। पापरूपी मतवाले हाथी इनके वाहन हैं तथा तृष्णारूपी बाण-शलाकाओंसे वे सदा सम्पन्न रहते हैं। वे इतने कृतघ्न हैं कि सबसे पहले अपने आश्रयभूत शरीरका ही नाश करते हैं। उनका महान् कोशागार कुकर्मरूपी धनसे ही भरा हुआ है। अपने इन इन्द्रियरूपी शत्रुओंपर विजय पाना अत्यन्त कठिन है। जिसने विवेकरूपी सूतके जालसे उन इन्द्रिय-रूपी दुष्ट शत्रुओंको बाँध लिया है, उसके अङ्गों (शम, दम, समता, शान्ति आदि) का वे विनाश नहीं करते। जिसने इन्द्रियरूपी भृत्योंको काबूमें कर लिया है तथा मनरूपी शत्रुको पूर्णतया बंदी बना लिया है, उस पुरुषकी विशुद्ध बुद्धि उसी तरह बढ़ती है, जैसे वसन्त ऋतुमें आमकी मञ्जरी। जिसका चित्तरूपी गर्व नष्ट हो गया है और इन्द्रियरूपी शत्रु जिसकी कैदमें आ गये हैं, उस पुरुषकी भोग-वासनाएँ उसी तरह क्षीण हो जाती हैं, जैसे हेमन्त ऋतुमें कमल विनष्ट हो जाते हैं। जबतक एकमात्र परमात्मतत्त्वके दृढ़ अभ्यासद्वारा मनपर विजय नहीं पा ली जाती, तभीतक मध्यरात्रिमें नाचनेवाले वेतालोंकी तरह हृदयमें वासनाएँ उछल-कूद मचाये रहती हैं। मैं समझता हूँ कि विवेकी पुरुषका यही मन विवेकके द्वारा अभीष्ट कार्य करनेसे भृत्य, मन्त्रणाद्वारा उत्तम कार्य करवानेसे मन्त्री और सब ओरसे इन्द्रियोंपर आक्रमण करनेके कारण सामन्त बन जाता है। मनरूपी मन्त्री

शास्त्रविहित शुभ कर्ममें प्रवृत्त हुए पुरुषको उन निष्काम कर्मोंके करनेके लिये सलाह देता है, जो जन्म-मृत्युरूपी वृक्षोंको काटनेके लिये कुठारके समान हैं तथा भविष्यमें होनेवाले अभ्युदय (निरतिशय आनन्दकी प्राप्ति) के कारण है ।

किंतु जिसे जगत्‌की सत्यताका पूर्ण निश्चय है, वह अत्यन्त मूढ़ है । उस अत्यन्त मूढ़ पुरुषके प्रति यदि जगत्‌की असत्यताका प्रतिपादन किया जाय तो यह उपदेश वहाँ शोभा नहीं पाता—उसके मनको अच्छा नहीं लगता । परमात्मतत्त्वके विचारका अभ्यास किये बिना जगत्‌की सत्यताके अनुभवका अपलाप (निराकरण) नहीं हो सकता । इस संसारमें किसीका भी जो निश्चय अन्तःकरणमें जड जमाकर सुदृढ़ हो गया है, वह शास्त्रोक्त परमार्थतत्त्वका अभ्यास किये बिना कदापि नष्ट नहीं होता । जो अनधिकारी-के प्रति ऐसा उपदेश देता है कि यह जगत् मिथ्या है, केवल ब्रह्म सत्य है, उस पुरुषको उन्मत्तके समान समझकर इस जगत्‌के उन्मत्त और मूढ़ मनुष्य उसकी पूरी हँसी उड़ाते हैं किंतु जो मदिरा पीकर मतवाला हो गया है, जो मदिरासे दूर रहनेके कारण मदमत्त नहीं हुआ है, उन दोनोंकी कहाँ एकता होती है । जैसे अन्धकार और प्रकाशको समझनेमें, छाया और धूपको पहचाननेमें कोई बाधा नहीं आती, उसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानीके विषयमे भी समझना चाहिये। बोधके विषयमें ज्ञानी और अज्ञानीकी कभी एकता नहीं हो सकती । अज्ञानीको कितने ही यत्नसे क्यों न समझाया जाय, उसे बाहर-भीतर जो संसारकी सत्यताका अनुभव हो रहा है, उसका वह सत्य अधिष्ठान-रूप ब्रह्ममें उसी प्रकार बाध नहीं कर सकता, जैसे शत्र अपने पैरों चल नहीं सकता । (अध्यस्त वस्तुका बाध किये बिना अधिष्ठान-तत्त्वका बोध नहीं हो सकता; इसलिये उसे बोधका उपदेश देना व्यर्थ है ।)

यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म है—ऐसा उपदेश उस मनुष्यके प्रति देना उचित नहीं, जो अत्यन्त अज्ञानी है; क्योंकि उस अज्ञानीने तप और विद्या आदिके अनुभवसे होनेवाले संस्कारका अभाव होनेके कारण सदा उस लोकप्रसिद्ध देहात्मभावका ही अनुभव किया है । कभी भी असंसारी आत्मभावका उसे अनुभव नहीं हुआ । श्रीराम ! जिसको थोडा-थोड़ा ज्ञान है, उस पुरुषके प्रति ही यह उपदेश-वाणी सुशोभित (सफल) होती है । जो पुरुष पूर्ण ज्ञानी है, उसको तो 'मैं हूँ' इस प्रकार अहंकारास्पदरूपसे विचार करनेके लिये कुछ भी नहीं है । (इसलिये वह भी उपदेश देनेके योग्य नहीं है । तात्पर्य यह कि जो न तो अत्यन्त अज्ञानी है और न पूर्ण ज्ञानी ही, वही जिज्ञासु इस उपदेशका अधिकारी है ।) जो शुद्ध बुद्धिसे युक्त ज्ञानी पुरुष निरन्तर यह अनुभव करता है कि यह सब कुछ शान्त परब्रह्म ही है, उसके इस अनुभवका बाध कैसे हो सकता है । आत्मामें परब्रह्मके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, सोनेमें अँगूठी आदिकी तरह आत्मामें अन्य किसीकी प्रातीतिक सत्ता भी नहीं है । मूढ़ पुरुष मिथ्या अहंकारमय है और सुन्दर बुद्धिसे युक्त ज्ञानी एकमात्र सत्य आत्मस्वरूप है। इन दोनोंके स्वभावके अन्तरका निराकरण कहीं नहीं हो सकता है । जो सर्वत्र व्याप्त, शान्त, शुद्ध, चेतन, आकाशवत् निर्विकार, निर्मल तथा उत्पत्ति-विनाशसे रहित है, वह ज्ञानस्वरूप परब्रह्म ही परमार्थ सत्य है । जिसके नेत्र तिमिर-रोगसे पीडित हैं, उसकी स्वाभाविक दृष्टियाँ ही आकाशमें केशोंके वर्तुलाकार गोलोंकी तरह प्रतीत होती हैं । उसी तरह चिन्मय परमात्मामे ये सृष्टियाँ प्रतिभासित होती हैं । वह चिदाकाशस्वरूप सत्यात्मा अपने आपको जैसा समझता है क्षणभरमें वैसा ही अनुभव करने लगता है । उसके दृष्टिबलसे असत्य वस्तु भी क्षणभरमें सत्य-सी प्रतीत होने लगती है ।

जैसे मरुभूमिमें सूर्यकी किरणोंके तापको ही मृगजल या मृगतृष्णा नाम दिया गया है, उसी प्रकार जो आकाशकी-ज्यों निराकार है, उस आकाशरूप चिन्मय परमात्माके अपने स्वप्नतुल्य प्रतिभासका ही, जो वास्तवमें शून्य है, जगत् नाम रक्खा गया है। जैसे स्फटिक-शिलाका मध्यभाग वास्तवमें घनीभूत है, उसी प्रकार महाचेतन परमात्माका यह जो शान्त और निर्मल अपना स्वरूप है, वह वास्तवमें सच्चिदानन्दघन है। स्फटिक-शिलामें प्रतिबिम्बित होनेवाले वन, पर्वत और नदी आदिके स्वरूपकी भाँति 'है और नहीं है' ये दो दृष्टियाँ चिदाकाश परमात्मामें कहीं नहीं हैं। और प्रतिभासमात्रसे जो कुछ है, उस चेतन-आत्माका स्वरूप ही उस रूपमें भासित होता है—ऐसा समझना चाहिये। (सर्ग २४-३१)

शास्त्रचिन्तन, शास्त्रीय सदाचारके सेवन तथा शास्त्रविपरीत आचारके त्यागसे लाभ

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! चिन्मय आकाश-स्वरूप जो 'जीवात्मा' है, वही रजोगुणसे रञ्जित होकर अपने स्वाभाविक स्वरूप—स्वप्रकाशरूपताका त्याग न करता हुआ ही अहंकार, प्राण, देह और इन्द्रिय आदिके संघातरूप इस विरूप देहको भी अपना आत्मा समझता है। असत्य होकर भी सत्य-सी प्रतीत होनेवाली मृगतृष्णा-में जल-बुद्धिके समान अपनी ही अविद्यामूलक वासनाकी भ्रान्तिसे जीव मानो अपने चिन्मयरूपसे भिन्नता (जड-देहरूपता) को प्राप्त होता है। जो लोग महावाक्य-रूप शास्त्रसे दृश्य-प्रपञ्चको आगन्तुक समझकर निर्वाण-भावमें स्थित हैं, वे अन्तरात्माकी ओर उन्मुख हुई अपनी बुद्धिसे ही भवसागरसे पार हो जाते हैं। जो उदारचेता पुरुष त्रिलोकीके वैभवको भी सदा तृणके तुल्य समझता है, उसे सारी आपत्तियाँ इस तरह छोड़ देती हैं, जैसे साँप अपनी केंचुलको। जिसके भीतर सदा सत्यस्वरूप ब्रह्मका चमत्कार स्फुरित होता है, उसकी सारे लोकपाल अखण्ड ब्रह्माण्डके समान रक्षा करते हैं। अपार विपत्तिमें पड़नेपर भी कभी कुमार्गमें पैर नहीं रखना चाहिये; क्योंकि राहु अनुचित मार्गसे अमृत पीनेका प्रयत्न करनेके कारण ही मृत्युको प्राप्त हो गया। जो पुरुष उपनिषद् आदि उत्तम शास्त्र और उनके अनुसार चलनेवाले श्रेष्ठ पुरुषोंके सम्पर्करूपी सूर्यका, जो कि परमात्माका साक्षात्कार-रूपी तीव्र प्रकाश देनेवाला है, आश्रय लेते हैं, वे फिर कभी मोहरूपी अन्धकारके वशीभूत नहीं होते। जिसने शम-दम आदि गुणोंके द्वारा यश प्राप्त किया है, वशमें न आनेवाले प्राणी भी उसके वशीभूत हो जाते हैं। उसकी सारी आपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और उसे अक्षय कल्याणकी प्राप्ति होती है। जिनका गुणोंके विषयमें संतोष नहीं है, जिनका शास्त्रोंके प्रति अनुराग है तथा जिन्हें सत्य-पालनका स्वाभाविक अभ्यास है, वे ही वास्तवमें मनुष्य हैं। उनके अतिरिक्त जो दूसरे लोग हैं, वे पशुओंकी ही श्रेणीमें हैं। जिनके यशरूपी चन्द्रमाकी चाँदनीसे प्राणियोंका हृदयरूपी सरोवर प्रकाशित है, वे क्षीरसागरके समान हैं। उनके शरीरमें निश्चय ही भगवान् श्रीहरिका निवास है।

परम पुरुषार्थरूपी प्रयत्नका आश्रय ले उत्तम उद्योगको अपनाकर शास्त्रके अनुकूल उद्वेगशून्य आचरण करता हुआ कौन पुरुष सिद्धिका भागी नहीं होता। अर्थात् वह सिद्धिका भागी अवश्य होता है। शास्त्रके अनुसार कार्य करनेवाले पुरुषको सिद्धियोंके लिये उतावली नहीं करनी चाहिये; क्योंकि चिरकालतक परिपक्व हुई सिद्धि ही पुष्ट एवं उत्तम फलको देनेवाली होती है। शोक, क्लेश और भयका परित्याग करके घमंड और शीघ्रताके आग्रहको छोड़कर शास्त्रके अनुसार व्यवहार करना चाहिये। उसके विपरीत चलकर अपना विनाश नहीं करना चाहिये। परिणाममें दुर्भाग्य प्रदान करनेवाली,

दीन, शुभ फलसे रहित जो धन, पुत्र आदि लौकिक वस्तुओंकी चिन्ता है, वह दीर्घकालतक बनी रहनेवाली प्रगाढ़ महानिद्रा ही है। उसे त्यागकर सचेत हो जाना चाहिये—विशुद्ध ज्ञानका प्रकाश प्राप्त कर लेना चाहिये। व्यवहारपरायण पुरुषोंके विचारसे लोकमर्यादाके अनुसार तथा शास्त्र और सदाचारके अनुकूल कर्म करके उत्तम फलकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये। जिसका चरित्र सदाचारसे सुन्दर तथा बुद्धि विवेकशील है और संसारके सुख-फलरूपी दुःखद दशाओंमें जिसकी आसक्ति नहीं है, उस पुरुषके यश, गुण और आयु—ये तीनों ही वसन्त ऋतुकी लताओंके समान उत्तम फल देनेके लिये शोभाके साथ विकासको प्राप्त होते हैं। (सर्ग ३२)

शास्त्रीय शुभ उद्योगकी सफलताका प्रतिपादन, अहंकारकी बन्धकता और उसके त्यागसे मोक्षकी प्राप्तिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! समस्त साधनोंका अधिक अभ्यास ही सफल होता है। इसलिये सर्वत्र और सदा साधन करनेसे सब प्रकारके फलोंकी प्राप्ति सम्भव है; क्योंकि इष्ट, मित्र, स्वजन एवं बन्धु-बान्धवोंको आनन्द देनेवाले नन्दीने तालाबके किनारे आराधना करके भगवान् शिवको पाकर मृत्युपर भी विजय पा ली। दानव-सेना और धन-धान्यसे सम्पन्न बलि आदि दानवों-द्वारा देवता उसी तरह कुचल दिये गये, जैसे हाथियोंके द्वारा कमलोंसे भरे हुए सरोवर मथ डाले जाते हैं; किंतु फिर अतिशय प्रयत्न करनेके कारण देवताओंने सबसे उत्कृष्ट ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया। राजा मरुतके यज्ञमें महर्षि संवर्तने ब्रह्माजीकी तरह देवताओं और असुरों-सहित दूसरी सृष्टि ही रच डाली थी। (अतिशय साधन और प्रयत्नसे ही उन्हें ऐसी शक्ति प्राप्त हुई थी।) शास्त्रीय विधिसे महान् साधनोंके अनुष्ठानमें अत्यन्त संलग्न रहनेवाले विश्वामित्रने बारंबार की गयी कठोर तपस्या-द्वारा दुर्लभ ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया। राजकुमारी सावित्री अपने पति-प्रेमरूप पातिव्रत्य धर्मके प्रभावसे यमराजको जीतकर उत्तम वाणीका प्रयोग करके संतुष्ट किये हुए यम देवताकी अनुमतिसे अपने पति सत्यवान्‌को लौटा लायी। संसारमें ऐसा कोई शास्त्रीय शुभ कर्मका अतिशय अनुष्ठान नहीं है, जिसका फल स्पष्टरूपसे प्राप्त न होता हो। अपने मनमें ऐसा विचार करके कल्याणकामी पुरुषोंको सर्वोत्कृष्ट प्रयत्नसे सुशोभित होना चाहिये। सम्पूर्ण सुख-दुःख आदि अवस्थाओंकी भ्रम-दृष्टियोंका मूलोच्छेद करनेवाला परमात्माका यथार्थ ज्ञान ही है। अतः परमात्माके यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये साधनका अतिशय अभ्यास करना चाहिये। संसार-सागरको पार करनेके लिये सत्पुरुषोंके सङ्ग और सेवाके बिना तप, तीर्थ तथा शास्त्राभ्यास आदि कोई भी साधन सफल नहीं होते। जिसके सेवनसे लोभ, मोह और क्रोध प्रतिदिन क्षीण होते हों और जो शास्त्रके अनुसार अपने कर्मोंके अनुष्ठानमें संलग्न रहता है, वही श्रेष्ठ पुरुष है।

जबतक अन्तःकरणके आकाशमें चैतन्यरूपी चाँदनी अहंकाररूपी मेघमालासे आच्छादित है, तब-तक वह परमार्थरूपिणी कुमुदिनीको विकसित नहीं कर सकती। जबतक हृदयाकाशमें अहम्भावका बादल उमड़-घुमड़कर बढ़ता जाता है, तभीतक तृष्णारूपी कुटज-कुसुमकी मञ्जरी विकासको प्राप्त होती है। वह मिथ्याकल्पित अहंकार दूषित अन्तःकरणमें अनन्त संसार-बन्धनमें डालनेवाले मोहको जन्म देता है। 'यह देह मैं हूँ' इस प्रबल मोहसे बढ़कर अनर्थकारी दूसरा अज्ञान इस संसारमें न कभी हुआ है और न होगा ही। इस संसारमें यह जो कुछ भी सुख-दुःखरूपी विकार आता है, उसके रूपमें अहंकार-चक्रका ही

मुख्य विकार बढ़ रहा है। जिस पुरुषने अज्ञानसे आरोपित अहंकाररूपी वृक्षके अङ्कुरको विवेकपूर्वक विचारसे संस्कृत मनरूपी हलके द्वारा जोतकर उखाड़ फेंका है, उसके आत्मारूपी खेतमें संसार-तापका नाशक एवं सहस्रों शाखाओंसे युक्त अच्छेद्यज्ञानरूपी वृक्ष बढ़ता और फलता है। जिस नराधमको अहंकाररूपी पिशाचने पकड़ लिया है, उसके उस पिशाचको मार भगानेके लिये विवेकके बिना न कोई शास्त्र समर्थ हैं न मन्त्र।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! ब्रह्मन्! कौन-सा ऐसा उपाय है, जिससे अहंकार नहीं बढ़ता? आप संसाररूपी भयकी शान्तिके लिये वह उपाय मुझे बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! आत्मा चैतन्यमय दर्पणके समान शुद्ध है। उसमें उसके पूर्वोक्त शुद्ध स्वरूपका निरन्तर स्मरण करनेसे अहंकार नहीं बढ़ता। यह जगत् झूठे इन्द्रजालकी शोभाके समान है। इसमें अनुराग या वैराग्यसे मेरा क्या प्रयोजन है—ऐसा मनमें विचार करते रहनेसे अहंकार उत्पन्न ही नहीं होता। श्रीराम! इस त्रिलोकीमें तीन प्रकारके अहंकार होते हैं। उनमें दो प्रकारके अहंकार तो श्रेष्ठ हैं, किंतु तीसरा त्याज्य है। मैं उनका वर्णन करता हूँ, सुनो! मैं ही यह सम्पूर्ण विश्व हूँ। मैं ही अविनाशी सच्चिदानन्दघन ब्रह्म हूँ। मेरे सिवा दूसरा कुछ नहीं है—इस तरहका जो अहंकार है, उसे उत्तम समझना चाहिये। यह अहंकार जीवन्मुक्त पुरुषकी मोक्ष-प्राप्तिके लिये है। यह बन्धनमें डालनेवाला नहीं होता। 'बालके अग्रभागके सौ टुकड़े करनेपर जो सौवाँ हिस्सा होता है, उसीके समान सूक्ष्म जीवात्माका सूक्ष्म स्वरूप है अर्थात् मैं अवयवसे रहित हूँ, अतएव सबसे भिन्न हूँ।' इस प्रकारका जो अनुभव है, वही दूसरा शुभ अहंकार है। वह भी साधकके मोक्षके लिये ही है, बन्धनके लिये नहीं। उपर्युक्त अहंकारके नामसे केवल कल्पना होती है। वास्तवमें वह नहीं है। यह हाथ-पैर आदिसे युक्त शरीर ही मैं हूँ, इस प्रकारका जो मिथ्या अभिमान है, वही तीसरा अहंकार है। वह लौकिक एवं तुच्छ ही है। उस दुष्ट अहंकारको त्याग देना ही चाहिये; क्योंकि वह सबसे बड़ा शत्रु माना गया है। पहले बताये गये जो दो अहंकार हैं, उनको स्वीकार करके 'मैं देह नहीं हूँ' ऐसा विचारसे भी निश्चय कर लेनेके पश्चात् उन दोनोंको भी अन्तिम तीसरे अहंकारकी भाँति ही लौकिक समझकर त्याग देना उचित है—ऐसा प्राचीन महापुरुषोंका मत है। प्रथम दो अहंकार अलौकिक हैं। उन दोनोंको अङ्गीकार करके तीसरे लौकिक अहंकारका, जो दुःख देनेवाला है, त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि यह तीसरा अहंकार सर्वथा त्यागने ही योग्य है। इस दुःखदायी अहंकारको त्यागकर पुरुष जैसे-जैसे ज्ञानमें स्थित होता जाता है, वैसे-ही-वैसे वह परमात्मभावकी ओर बढ़ता जाता है। निष्पाप रघुनन्दन! यदि पुरुष पूर्वोक्त दो अहंकारोंकी भावना करता रहे तो उसे परमपद प्राप्त हो जाता है; और यदि उनका भी त्याग करके सम्पूर्ण अहंकारोंसे रहित हो जाय तो वह अत्यन्त उच्च पद (परमात्मभाव)-में शीघ्र ही आरूढ़ हो जाता है। महामते! जिस जीवका अहंकार शान्त हो गया है, उसे भोग रोगके समान जान पड़ते हैं। जैसे अच्छी तरहसे तृप्त हुए पुरुषको विषमिश्रित रस स्वादिष्ट नहीं प्रतीत होते, उसी प्रकार उसे भोग अच्छे नहीं लगते। रघुनन्दन! अहंकारकी स्मृतिका भी सर्वथा त्याग करके अतिशय पुरुषार्थरूप प्रयत्नके द्वारा भवसागरको पार किया जाता है। पहले 'सब मैं ही हूँ और ये सब मेरे हैं' ऐसा समझकर फिर 'यह देह आदि मैं नहीं हूँ और इस देहके सम्बन्धी भी मेरे कुछ नहीं हैं' ऐसा विचार करके उससे सब प्रतिबन्धकों-का नाश होनेसे प्रतिष्ठाको प्राप्त हुए स्तुत्य आत्मज्ञानको अपने हृदयमें उतारकर महात्मा पुरुष परम पदको प्राप्त कर लेता है। (सर्ग ३३)

मनोनिग्रहके उपाय—भोगेच्छा-त्याग, सत्सङ्ग, विवेक और आत्मबोधके महत्त्वका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! जिन्होंने अविद्याके घनीभूत विलासोंसे विषयोंकी ओर उन्मुख हुए अपने मनको जीत लिया है, उन महाशूर श्रेष्ठ पुरुषोंकी ही सदा विजय होती है। सब प्रकारके उपद्रवोंको प्राप्त करानेवाले इस संसारके दुःखको निवारण करनेका एकमात्र उपाय यही है कि अपने मनको वशमें किया जाय। ज्ञानका जो सारभूत सर्वस्व है, उसे बताता हूँ; उसे सुनकर हृदयमें धारण करना चाहिये। भोगकी इच्छामात्र ही बन्धन है और उसका त्याग ही मोक्ष कहलाता है। जैसे जहाँ काँटोंके बीज बिखेर दिये गये हैं, वह भूमि काँटोंके समुदायको ही उत्पन्न करती है, उसी प्रकार वासनासे आवृत हुई बुद्धि केवल दोषोंको ही जन्म देती है। जिसमें वासना-समूहका कोई लगाव नहीं है, अतएव जहाँ राग और द्वेष नहीं देखे गये हैं, वह चाञ्चल्यरहित बुद्धि धीरे-धीरे परम शान्तिको प्राप्त हो जाती है। जैसे जहाँ उत्तम बीज बोया गया है, वह भूमि समयपर श्रेष्ठ फल देनेवाले पौधोंको उत्पन्न करती है, उसी प्रकार शुभ बुद्धि दोषरहित, शुभ एवं उत्तम गुणोंको ही सदा प्रकट करती है। जब शुभ भावोंके अनुसंधानसे मन प्रसन्न (शुद्ध) हो जाता है और धीरे-धीरे मिथ्याज्ञानरूपी घने मेघ शान्त हो जाते हैं, सुजनतारूपी चन्द्रमा जब शुक्लपक्षकी भाँति उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त होने लगता है और आकाशमें सूर्यके तेजकी भाँति पुण्यमय विवेकका प्रसार हो जाता है, अन्तःकरणरूपी बाँसके भीतर धैर्यरूपी मोतीकी वृद्धि होने लगती है, वसन्त ऋतुमें चटकीली चाँदनीके प्रसारसे चरितार्थ होनेवाले चन्द्रमाकी भाँति जब अन्तःकरणकी स्थिति आत्मज्ञानजनित परमानन्दकी प्राप्तिसे सर्वथा सफल हो जाती है, शीतल छायावाले सत्सङ्गरूपी फलवान् वृक्ष जब फलने लगते हैं तथा ध्यान-समाधिरूप सरल वृक्ष जब आनन्दमय सुन्दर रस टपकाने लगता है, उस समय मन निर्द्वन्द्व, निष्काम और उपद्रवशून्य हो जाता है। उसके चपलतारूपी अनर्थ तथा शोक, मोह और भयरूपी रोग शान्त हो जाते हैं। शास्त्रोंके अर्थके विषयमें उसका सारा संदेह दूर हो जाता है। उसमें सभी सांसारिक पदार्थोंको देखनेकी उत्कण्ठाका अभाव हो जाता है। उसकी कल्पनाओंके जाल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। वह मोहरहित एवं वासनाशून्य हो जाता है। उसमें आकाङ्क्षा, उपाकोश (परनिन्दा), अपेक्षा और दुश्चिन्ताका अभाव हो जाता है। वह शोक-रूपी कुहरेसे रहित और आसक्तिशून्य होता है तथा उसके हृदयकी अज्ञानकी गाँठें खुल जाती हैं।

विशुद्ध आत्मा न तो संसारी पुरुष है, न शरीर है और न रुधिर ही है; शरीर आदि सब जड़ हैं, किंतु शरीरी (आत्मा) आकाशके समान निर्लेप है। जैसे रेशमका कीड़ा अपने ही बन्धनके लिये रेशमी तन्तुओंका जाल रच लेता है, उसी प्रकार जीवात्मा मनमें विकल्प-वासनाओंका प्रसार करके अपने बन्धनके लिये सुदृढ़ जगत्‌रूप जालकी रचना कर लेता है। जीवात्मा इस वर्तमान देहभ्रमका त्याग करके फिर दूसरे देश और दूसरे कालमें अन्यदेहभावको धारण करता है; जीवात्माके मनमें जैसी वासना होती है, वैसा ही शरीर उत्पन्न होता है। जीवात्माका चित्त जैसी वासना लेकर सोता है, रातको स्वप्नमें वैसा ही बनकर रहता है। इमलीका बीज यदि शहदके रससे सींचा जाय तो अङ्कुर आदिके क्रमसे वृक्ष बनकर फलनेके समय भी वह उस मधुसे अनुरञ्जित होकर मधुर फल ही देता है और वही बीज यदि विषके प्रतिनिधिभूत धतूरे और करञ्ज आदि लताके पीसे हुए चूर्णके रससे सींचा जाय तो उसका फल कड़ुवा ही होता है। महती शुभ वासनासे मनुष्यका चित्त महान् होता है। मनुष्य 'मैं इन्द्र हूँ' इस प्रकारका मनोरथ होनेपर इन्द्ररूपमें प्रतिष्ठित होनेका स्वप्न देखता है। इसी तरह मनुष्यका क्षुद्र वासनासे वासित हुआ चित्त तुच्छ क्षुद्रताको

देखता है। पिशाचका भ्रम होनेसे मनुष्य रातको स्वप्नमें पिशाचोंको ही देखने लगता है। जैसे प्रतिदिन क्षीण होता हुआ चन्द्रमा अपने पूर्ण होनेकी आशाको कभी नहीं छोड़ता, उसी प्रकार दरिद्रता आदिसे पीड़ित होनेपर भी उद्योगशील श्रेष्ठ पुरुष उदारगतिका परित्याग नहीं करता। वास्तवमें तो न यहाँ बन्धन है और न मोक्ष है, न बन्धनका अभाव है न बन्धनकी सत्ता ही है। इन्द्रजाल-लताकी भाँति यह झूठी माया ही प्रकट हुई है। बन्धन और मोक्षकी अवस्थाओंसे तथा द्वैत और अद्वैतसे रहित यह सम्पूर्ण विज्ञानानन्दमयी ब्रह्म-सत्ता ही है—ऐसा निश्चय ही परमार्थ है। यह जगत् परमात्माका स्वरूप ही है, ऐसा ज्ञान हुए बिना यह दृश्य जगत् दुःख देनेवाला ही होता है और यदि वैसा ज्ञान हो गया तो यह दृश्य मोक्ष प्रदान करनेवाला होता है। जल भिन्न है और तरङ्ग भिन्न, इस प्रकार अनेकता और भिन्नताका बोध अज्ञान है। जल ही तरङ्ग है, इस प्रकार एकत्वबोधसे यथार्थ ज्ञान सिद्ध होता है। जैसे स्नेहरहित बन्धुके मिलने और बिछुड़नेसे मनुष्यको न सुख होता है न दुःख, उसी प्रकार परमात्माका तात्त्विक ज्ञान हो जानेपर इस पाञ्चभौतिक शरीरके रहने या बिछुड़नेसे पुरुष सुख या दुःखसे लिप्त नहीं होता। वासना-रहित एवं शान्तचित्त हुआ अपने देह-नगरका स्वामी जीवात्मा आक्षेप (संकोच)-शून्य, सर्वव्यापी और सबका अधिपति हो जाता है। चित्तके सर्वथा विगलित (शान्त) हो जानेपर अपने दोषोंका त्याग करके धीर हुई बुद्धिसे युक्त पुरुष मृत्यु और जन्म होनेपर प्राप्त होनेवाली पारलौकिक और ऐहलौकिक नीरस गतियोंपर दृष्टिपात करके विवेक—विचारद्वारा परमात्मरूपी दीपक पाकर तापरहित हो अपने देहरूपी नगरमें आनन्दपूर्वक प्रतिष्ठित होता है। (सर्ग ३४-३५)

सर्वत्र और सभी रूपोंमें चेतन आत्माकी ही स्थितिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जैसे जो तरङ्गें भविष्यमें प्रकट होनेवाली हैं और अभी व्यक्त नहीं हुई हैं, वे समुद्रके जलमें अभिन्नरूपसे स्थित हैं, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें भावी सृष्टियाँ उस सत्स्वरूप परमात्मासे पृथक् नहीं हैं; क्योंकि उनकी स्वतः सत्ता नहीं है, परमात्माकी सत्तासे ही उनकी सत्ता है। जैसे आकाश सर्वत्र व्यापक होकर भी अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण दृष्टिमें नहीं आता, उसी प्रकार निरवयव शुद्ध चेतन परमात्मा सर्वव्यापी होनेपर भी दृष्टिगोचर नहीं होता। जैसे जलमय समुद्रमें जो नाना प्रकारकी असंख्य तरङ्गें उठती हैं, उनका वह नानात्व जलसे पृथक् भाव-विकारवाला नहीं है, उसी प्रकार चैतन्य ब्रह्मस्वरूप चिन्मय समुद्रमें 'तू', 'मैं', 'यह', 'वह' इत्यादि रूपसे जो प्रचुर नानात्वरूपमें जगत् भासित होता है, वह उस ब्रह्मरूप चैतन्य-सिन्धुसे पृथक् नहीं है। वास्तवमें चेतन परमात्मा न अस्त होता है न उदित, न उठता है न खड़ा होता या बैठता है, न आता है न जाता है, न यहीं है और न यहाँ नहीं है। रघुनन्दन! वह निर्मल चेतन परमात्मा स्वयं अपने आपमें ही स्थित है। वही भ्रमसे प्रतीत होनेवाले जगत् नामक प्रपञ्चके रूपमें विस्तारको प्राप्त हुआ है। जैसे तेज ही तेजःपुञ्ज (सूर्य आदि)के रूपमें और जल ही जलराशि (समुद्र आदि) के रूपमें स्फुरित होता है, उसी प्रकार चेतन परमात्मा ही अपने स्पन्दनभूत सृष्टिके रूपमें स्फुरित हो रहा है।

चेतन परमात्मा ही आकाशरूपसे अवकाश प्रदान करता है, जिससे अङ्कुरको बाहर निकलने या फैलनेका अवसर मिलता है। स्पन्दात्मक वायुरूपसे वह उसका आकर्षण करता है, जिससे अङ्कुर बाहर निकलता है। वही जलरूप होकर रसरूपसे अङ्कुरको स्नेहयुक्त बनाता है। वही सुदृढ़ पृथ्वीरूपसे उस अङ्कुरको दृढ़ता प्रदान

करता है और तेजरूप होकर उसे अपना रूप देता है, जिससे वह दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार वह परमात्मा स्थावर-जङ्गम जगत्पर अनुग्रह करता है। वही परमात्मा हेमन्त आदि कालरूपसे प्रकट होकर जौ आदि अङ्कुरोंके विरोधी तृण आदिकी उत्पत्तिमें बाधक बनता है और उन अङ्कुरोंकी उत्पत्तिके अनुकूल वातावरण तैयार करता है। वह चेतन तत्त्व परमात्मा ही फूलोंमें धीरे-धीरे केसरका संचय करके गन्धरूपमें प्रकट होता है। मिट्टीके भीतर रसरूपताको प्राप्त हो वही वृक्षकी वृद्धिके द्वारा स्थाणुभाव (मूल और तनेके रूप) को प्राप्त होता है। उस मूलमें स्थित हुए सुन्दर रसलेश ही फलके रूपमें प्रकट होते हैं तथा वे ही पल्लवोंमें प्रविष्ट हो रेखाएँ बनकर पत्र आदिके स्वरूपको प्राप्त होते हैं। वह चेतन तत्त्व परमात्मा ही वृक्षोंमें इन्द्रधनुषके समान नूतनताका सम्पादन करता हुआ उनपर अनुग्रह करता है। स्थिरतारूप चतुरताको प्रकट करनेवाली नियतिरूपसे वही स्थितिको प्राप्त होता है। उसी परमात्माके अनुग्रहसे धारणरूप धर्मवाली यह धीर वसुन्धरा प्रलयकालतक स्थित रहती है।

इस प्रकार सब ओर स्थित और सुस्थिर आकारवाली ये समस्त संसार-पंक्तियाँ, जो ब्रह्मकी स्वभावभूत हैं, बारबार आती-जाती रहती हैं। यह सारा जगत् एक दूसरेके प्रति कारणभावको प्राप्त होकर अपने अधिष्ठानभूत चैतन्यके सकाशसे स्वयं ही उत्पन्न हुआ है और एक-दूसरेके द्वारा नष्ट होता हुआ यह उस अधिष्ठानभूत चैतन्यमें स्वयं ही लीन होता है। जैसे अगाध जलमें होनेवाला स्पन्दन भी स्वतः अस्पन्दन ही है; क्योंकि वहाँ जलसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार चेतन आत्मामें प्रकट हुआ सदसद्रूप जगत् भी वास्तवमें अप्रकट ही है; क्योंकि वह सब ज्ञानसे चेतन-स्वरूप ही अनुभूत होता है। (सर्ग ३६-३७)

ज्ञानी और अज्ञानीका अन्तर, वासनाके कारण ही कर्तृत्वका प्रतिपादन तत्त्वज्ञानीके अकर्तापन एवं बन्धनाभावका निरूपण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! ऐसी परिस्थितिमें सुख-दुःख आदि भोग देनेवाले कर्मोंमें या ध्यान-समाधिमें तत्त्वज्ञानियोंका जो यह कर्म या कर्तृत्व दिखायी देता है, वह वास्तवमें असत् है; क्योंकि उसमें कर्तापन नहीं है। परंतु मूर्खोंका वह कर्म (कर्तृत्वाभिमान होनेके कारण) असत् नहीं है (यही ज्ञानी और अज्ञानीमें अन्तर है)। पहले यह विचार करना चाहिये कि कर्तृत्व किसका नाम है। अन्तःकरणमें स्थित जो मनकी वृत्ति है, उसका निश्चय—अमुक वस्तु ग्रहण करने योग्य है, इसका विश्वास वासना कहलाता है। वह वासना ही 'कर्तृत्व' शब्दसे प्रतिपादित होती है; क्योंकि वासनाके अनुसार ही मनुष्य चेष्टा करता है और चेष्टाके अनुसार ही फल भोगता है। अतः कर्तृत्वसे फलभोक्तृत्व होता है—यह सिद्धान्त है। कहा भी है—'पुरुष कर्म करे या न करे, वह स्वर्गमें या नरकमें, सर्वत्र उसीका अनुभव करता है जैसी उसके मनमें वासना होती है। इसलिये जिन्हें तत्त्वज्ञान नहीं हुआ है, वे पुरुष कर्म करें या न करें, तो भी उनमें वासना होनेके कारण कर्तृत्व अवश्य है। इसके विपरीत जिन्हें तत्त्वज्ञान हो गया है, वे कर्म करें तो भी उनमें कर्तृत्व नहीं है; क्योंकि वे वासनासे सर्वथा शून्य हैं। तत्त्वज्ञानीकी वासना शिथिल हो जाती है, इसलिये वह कर्म करता हुआ भी उसके फलकी इच्छा नहीं रखता। उसकी बुद्धि कर्तृत्वाभिमान और आसक्तिसे रहित होती है, अतः वह अनासक्त भावसे केवल चेष्टामात्र करता है। उसे जो कुछ भी प्रारब्धके अनुसार कर्मोंका फल प्राप्त होता है, वह उस सारे कर्म-फलको यह आत्मा ही है—ऐसा अनुभव करता है। परंतु जिसका मन फलासक्तिमें डूबा हुआ है, वह कर्म न करके भी कर्ता ही माना जाता

है। मन जो कुछ करता है, वही किया हुआ होता है। मन जिसे नहीं करता, वह किया हुआ नहीं होता; अतः मन ही कर्ता है, शरीर नहीं। चित्तसे ही यह संसार प्राप्त हुआ है, इसलिये यह चित्तमय ही है, केवल चित्तमात्र होकर चित्तमें स्थित है—यह बात पहले विचार-पूर्वक निर्णीत हो चुकी है। सम्पूर्ण विषय और विभिन्न प्रकारकी चित्तवृत्तियाँ—ये सब शान्त होकर जब वासनारूप हो जाते हैं, तब उस वासनारूप उपाधिसे युक्त जीवात्मा ही रहता है। उनमेंसे जो आत्मतत्त्वके ज्ञाता हैं, उनका मन वर्षाकालमें मृगतृष्णाके जल और प्रचण्ड धूपमें हिमकणके समान गलकर जब परम शान्त हो जाता है, तब तुरीय दशाको प्राप्त हो, उसी परमात्मरूपमें स्थित हो जाता है। विद्वान् लोग ज्ञानियोंके मनको न तो आनन्दमय मानते हैं और न अनानन्दमय ही। उनका मन न चल है, न अचल है। न सत् है, न असत् है और न इनका मध्य ही है। बल्कि वह इन सबसे विलक्षण अनिर्वचनीय है। जैसे हाथी छोटी तलैयामें नहीं डूबता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष वासनामय चेष्टारसमें नहीं मग्न होता। मूर्खका मन तो भोगोंको ही देखता है, परमार्थ-तत्त्वको नहीं। तत्त्वज्ञानीकी चित्तवृत्ति सांसारिक विपत्तिमें भी प्रसन्न ही रहती है। वह चाँदनीकी तरह भुवनमात्रको प्रकाशित करती है। चित्तके संयोगके बिना कर्म करता हुआ भी ज्ञानी अकर्ता ही है; क्योंकि वह कर्म मनको लिप्त नहीं करता। वह यत्नपूर्वक किये हुए हाथ-पैर आदिके सचालनरूप कर्मके फलको भी नहीं भोगता। बालक मनसे ही नगरका निर्माण और उसकी सफाई एवं सजावट करता है तथा उस मनःकल्पित नगरको खेल-खेलमें ही अकृत-सा अनुभव करता है; उसको उपादेयरूपसे नहीं ग्रहण करता। उसके सुख-दुःखको स्वाभाविक-सा देखता है। मनके द्वारा किये गये नगरके विध्वंसको वास्तविक विध्वंस समझकर खेल-खेलमें दुःखका-सा भी अनुभव करता है। साथ ही यह भी समझता रहता है कि यह वास्तविक दुःख नहीं है। उसी प्रकार ज्ञानी कर्म करता हुआ भी वास्तवमें उससे लिप्त नहीं होता। जिनका मन पूर्ण आत्मामें ही संलग्न है, उन ज्ञानियोंकी दृष्टिसे तो वस्तुतः संसारमें मोक्ष नहीं है। जिनका मन आत्मामें संलग्न नहीं है, उन्हीं लोगोंकी दृष्टिसे यह बन्धन-मोक्ष आदि सब कुछ है।

किंतु वास्तवमें तो न बन्धन है न मोक्ष है, न बन्धनका अभाव है और न बन्धनके कारणभूत वासना आदि ही हैं। परमात्मतत्त्वका ज्ञान न होनेसे ही यह दुःख है। यथार्थ ज्ञानसे उसका लय हो जाता है।

(सर्ग ३८)

सर्वशक्तिमान् ब्रह्मसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होनेसे सबकी परब्रह्मरूपताका प्रतिपादन; अत्यन्त मूढको नहीं, विवेकी जिज्ञासुको ही 'सर्वं ब्रह्म'का उपदेश देनेकी आवश्यकता तथा बाजीगरके दिखाये हुए खेलकी भाँति मायामय जगत्‌के मिथ्यात्वका वर्णन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—भगवन्! महात्मन्! ऐसी स्थितिमें यदि वस्तुतः बन्धन और मोक्ष कल्पित ही हैं, एकमात्र परब्रह्म ही सर्वत्र विद्यमान हैं तो बिना दीवारके चित्रकी भाँति इस निराधार सृष्टिका आगमन कहाँसे हुआ? यह कृपापूर्वक बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राजकुमार! ब्रह्मतत्त्व ही इस सारी सृष्टिके रूपमें विद्यमान है; क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् है। इसलिये उस ब्रह्ममें सारी शक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। सत्त्व, असत्त्व, द्वित्व, एकत्व, अनेकत्व, आदित्व और अन्तत्व—ये परस्पर विरुद्ध-से प्रतीत होनेवाले सारे भाव परब्रह्ममें हैं। परंतु वे उससे भिन्न नहीं हैं। जैसे समुद्रका जल-प्रवाह उल्लास एवं विकासको प्राप्त हो उत्ताल तरङ्गों-

द्वारा अपनी नानाकारताका दर्शन कराता हुआ प्रकट होता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्म चित्तका तथा चित्तस्वरूप होनेके कारण कर्ममयी, वासनामयी और मनोमयी सारी शक्तियोंका संचय, प्रदर्शन, धारण, उत्पादन और संहार करता है। समस्त जीवोंकी सब ओर फैली हुई सारी दृष्टियोंकी और समस्त पदार्थोंकी परब्रह्मसे ही निरन्तर उत्पत्ति होती है। जैसे लहरें समुद्रसे ही उत्पन्न होती और उसीमें लीन हो जाती हैं, इसलिये सदा समुद्ररूप ही हैं, उसी प्रकार सारे पदार्थ परमात्मासे उत्पन्न होकर उसीमें लीन होते हैं। फलतः चिन्मय परमात्मासे उत्पन्न होनेके कारण वे परमात्मरूप ही हैं।

निष्पाप रघुनन्दन ! यह सब निर्मल ब्रह्म ही विराजमान है। यहाँ मल नामक कोई वस्तु नहीं है। समुद्रमें तरङ्ग-समूहोंके रूपसे जल ही स्फुरित होता है, मिट्टी नहीं। रघुकुलतिलक ! यहाँ एकमात्र परब्रह्मके सिवा दूसरी किसी वस्तुकी कल्पना ही नहीं है, जैसे अग्निमें उष्णताके सिवा और कोई कल्पना ही नहीं है। जिसकी बुद्धि पूर्णरूपसे व्युत्पन्न नहीं हुई है—जिसमें आधी समझ और आधी मूढ़ता है, उसे 'यह सब ब्रह्म ही है' यह उपदेश अच्छा नहीं लगता। वह दृश्योंको उपस्थित करनेवाली भोगदृष्टिसे सदा दृश्य पदार्थोंकी ही भावना करता हुआ नष्ट (तत्त्वज्ञानरूप परमार्थसे भ्रष्ट) हो जाता है। किंतु जो तत्त्वज्ञानरूप परमार्थ-दृष्टिको प्राप्त है, उस पुरुषके भीतर विषय-भोगकी इच्छा नहीं उत्पन्न होती। उसके लिये तो 'यह सब ब्रह्म ही है' ऐसा समयोचित उपदेश भी उपयुक्त होता है। जिसकी बुद्धि पूर्णतया व्युत्पन्न नहीं है, ऐसे शिष्यको उन सद्गुणोंद्वारा शुद्ध करे, जिनमें शम (मनोनिग्रह) और दम (इन्द्रियनिग्रह) की प्रधानता हो। तत्पश्चात् यह उपदेश दे कि यह सब कुछ ब्रह्म है तथा तुम भी विशुद्ध ब्रह्म ही हो। जो अज्ञानीको अथवा आधी समझवाले पुरुषको 'सर्वं ब्रह्म' (सब कुछ ब्रह्म है) यह उपदेश देता है, उसने मानो उस शिष्यको महान् नरकोंके जालमें डाल दिया। जिसकी बुद्धि पूर्णतया व्युत्पन्न है, जिसकी भोगेच्छा नष्ट हो गयी है और कामना सर्वथा मिट गयी है, उस महात्मामें अविद्यारूपी मल नहीं है। अतः उसीके लिये 'सर्वं ब्रह्म'का उपदेश देना उचित है। जो शिष्यकी परीक्षा लिये बिना ही उसे उपदेश देता है, वह अत्यन्त मूढ़ बुद्धिवाला उपदेशक महाप्रलय-पर्यन्त नरकको प्राप्त होता है।

ब्रह्म सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वगत और सर्व-स्वरूप है। यह ब्रह्म मैं ही हूँ, यों समझना चाहिये। अपनी मायाद्वारा विचित्र कार्य करनेवाले ऐन्द्रजालिकों (बाजीगरों) को तो तुम देखते ही हो। वे मायाके द्वारा सत्‌को असत् और असत्‌को सत् बना देते हैं। उसी प्रकार परमात्मा अमायामय होकर भी मायामय महान् ऐन्द्र-जालिककी भाँति बनकर सकल्पके द्वारा घटको पट बनाता है और पटको घट। मेरुके सुवर्णमय तटप्रान्तमें लहराते हुए नन्दनवनकी भाँति पत्थरपर लता पैदा करता है और कल्पवृक्षोंपर प्रकट हुए रत्नके गुच्छोंकी भाँति लतामें प्रस्तर पैदा कर देता है तथा आकाशमें सुन्दर वन लगा देता है। गन्धर्वनगरमें दीखनेवाले उद्यानकी भाँति उस भावी जगत्‌में कल्पनाद्वारा आकाशमें ही नगरकी रचना कर देता है—आकाशको ही नगररूपमें दिखा देता है। व्योमकी नीलिमाको नष्ट-सी करके उसे भूतल बना देता है। गन्धर्वनगरके राजमहलमें बहुत-सी महिलाओंकी भाँति भूतलमें आकाशकी स्थापना कर देता है। पद्मराग-मणिके बने हुए लाल फर्शमें प्रतिबिम्बित हुआ आकाश जैसे आधारकी लालिमासे ही लाल दिखायी देता है, उसी प्रकार जगत्‌में जो कुछ है, होगा या था, वह सब ब्रह्मकी सत्तामें ही सत्-सा प्रतीत होता है; क्योंकि ईश्वर संकल्पके द्वारा स्वयं व्यक्तरूप हो विचित्र वेश-भूषाको अपनाकर स्वयं अपने आपको दिखलाता है। श्रीराम ! जब कि इस जगत्‌में एक ही वस्तु सब प्रकारसे सर्वत्र सब रूपोंमें

प्रकट होती है, सभी रूपोंमें एक ही सद्-वस्तु विद्यमान है, तब हर्ष, ईर्ष्या और आश्चर्यके लिये अवसर ही कहाँ है। अतः धैर्यशाली होकर सदा समभावसे ही स्थित रहना चाहिये। जो समतासे युक्त है, वह तत्त्वज्ञानी पुरुष आश्चर्य, गर्व, मोह, हर्ष और अमर्ष आदि विकारोंको कभी प्राप्त नहीं होता। (सर्ग ३०)

दृश्यकी असत्ता और सबकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन, मायाके दोष तथा आत्मज्ञानसे ही उसका निवारण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! परब्रह्म परमात्माकी जो निर्मल चैतन्य-शक्ति है, वह सर्वशक्तिमती है। वह परमात्माके सकाशसे स्वाभाविक ही विभिन्न रूपोंकी कल्पना करती हुई भावी देह आदि आकृतियोंकी किंचित् स्फुरणाके रूपमें स्वयं ही दृश्य जगत् बन जाती है। उस चेतन शक्तिका संकल्परूप मन ही अपने संकल्पमात्रसे क्षणभरमें गन्धर्वनगरके समान इस असत् (मिथ्या) दृश्यप्रपञ्चका विस्तार कर देता है। सब ओर प्रकाशित होता हुआ वह स्वयम्प्रकाश सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही जब बाह्यदृष्टिसे दृश्यमान आकाशरूप होकर स्थित होता है, वही यह सबकी दृष्टि (अनुभव) में आनेवाला प्रसिद्ध आकाश है। वही परमात्मा कमलजन्मा ब्रह्माका संकल्प करके उनके उस स्वरूपको देखता है। तदनन्तर दक्ष आदि प्रजापतियोंकी कल्पना करके जगत्की कल्पना करता है। श्रीराम! इस प्रकार चौदह भुवनोंमें रहनेके कारण चौदह प्रकारके अनन्त प्राणिसमुदायके कोलाहलसे युक्त यह सृष्टि परमात्माके चित्तसे ही निर्मित हुई है। भूतलसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी प्राणियोंमें जो ये मनुष्य-जातिके प्राणी हैं, ये ही आत्मज्ञानके उपदेशके पात्र हैं।

श्रीराम! यह जगत् अमुक निमित्तसे और अमुक उपादानसे उत्पन्न हुआ है, यह जो वाणीकी रचना या कल्पना है, वह शास्त्रोक्त मर्यादाके निर्वाहके लिये है, वास्तवमें कुछ नहीं है; क्योंकि परमात्मामें विकार, अवयव, विभिन्न दिशाओंकी सत्ता तथा देश-काल आदिके क्रम सम्भव नहीं हैं। यद्यपि इनका आविर्भाव प्रत्यक्ष देखा जाता है, तथापि निराकार, निर्विकार और सर्वगत परमात्मामें इन सबका होना कदापि सम्भव नहीं। उस चिन्मय परमात्माके बिना जगत्के किसी दूसरे मूलकारणकी कल्पना हो ही नहीं सकती। दूसरी कोई कल्पना न है न होगी। क्रम, शब्द और अर्थ अन्यत्र कहाँसे आ सकते हैं तथा व्यवहारजनित उक्तियाँ भी उस परमात्माके सिवा और कहाँसे सम्भव हो सकती हैं। यहाँ जो-जो कल्पनाएँ हैं, जो-जो पदार्थ हैं, उनके वाचक जो-जो शब्द हैं और जो-जो वाक्य हैं, वे सब उस सत्-स्वरूप परमात्मासे उत्पन्न तथा सद्रूप होनेके कारण 'सत्' ही समझे जाते हैं। 'यह जगत् भिन्न है और यह ब्रह्म भिन्न है'—इस तरहके शब्दों और अर्थोंका व्यवहार-भ्रम केवल वाणीमें है, परमात्मामें नहीं; क्योंकि परिच्छेद होनेपर ही भिन्नता होती है। (ब्रह्म अपरिच्छिन्न है, इसलिये उसका किसीसे भेद होना सम्भव नहीं।) अग्निकी एक शिखाकी दूसरी शिखा जननी है, यह कथन उक्ति-वैचित्र्यमात्र है। इस वाक्यके अर्थमें वास्तविकता नहीं है। इसी प्रकार परमात्माके विषयमें जन्य-जनक आदि शब्दोंका व्यवहार वास्तवमें सम्भव नहीं है; क्योंकि अनन्त होनेके कारण जब ब्रह्म एक ही है, तब वह किसको किस तरह उत्पन्न करेगा? जैसे समुद्रमें जो तरङ्गोंका समूह दिखायी देता है, वह उससे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार परब्रह्ममें जो अर्थबोधक शब्द दृष्टिगोचर होता है, उसे विद्वान् पुरुष ब्रह्म ही मानते हैं। ब्रह्म ही चेतन जीवात्मा है, ब्रह्म ही मन है, ब्रह्म ही बुद्धि है, ब्रह्म ही अर्थ है, ब्रह्म ही शब्द है और ब्रह्म ही धातु है। यह सारा विश्व ब्रह्म ही है। इस विश्वसे परे भी ब्रह्मपद ही है। वास्तवमें तो जगत् है ही नहीं। सब

कुछ केवल ब्रह्म ही है। सर्वस्वरूप एवं सर्वव्यापी उस अनन्त ब्रह्मपदसे दूसरी कोई वस्तु उत्पन्न हो, यह सम्भव नहीं। जो कुछ ब्रह्मसे प्रकट हुआ है, वह ब्रह्मरूप ही है। इस जगत्में ब्रह्मतत्त्वके बिना कुछ भी होना सम्भव नहीं। निश्चय ही यह सब कुछ ब्रह्म ही है। यही परमार्थता—यथार्थ कथन है।

रघुनन्दन! यह माया ऐसी है, जो अपने विनाशसे ही हर्ष देनेवाली होती है। इसके स्वभावका पता नहीं लगता। ज्ञानकी दृष्टिसे जब इसको देखनेका प्रयत्न किया जाता है, तब यह तत्काल नष्ट हो जाती है। अहो! संसारको बाँधनेवाली यह माया बड़ी ही विचित्र है। यद्यपि यह असत्य ही है, तथापि इसने अत्यन्त सत्यकी भाँति अपना ज्ञान कराया है। जो पुरुष 'यह जगत् ब्रह्मरूपसे सत्य ही है' अथवा 'मिथ्या होनेके कारण असत्य ही है'—इन दो बातोंमेंसे किसी एकको दृढ़ निश्चयके साथ अपना लेता है और मनमें आसक्ति न रखकर जगत्को स्वप्नभूमिकी भाँति भ्रान्तिमात्र ही देखता है, वह कभी दुःखमें नहीं डूबता। जिसकी इन मिथ्याभूत देह-इन्द्रिय आदिरूप द्वैतभावनाओंमें अहंबुद्धि है, वही दुःखके सागरमें डूबता है। स्वरूप-ज्ञानसे शून्य उस मिथ्यादर्शी पुरुषके लिये सब ओर केवल अविद्या ही विद्यमान है। जैसे जलमें सूखी धूल नहीं होती, उसी प्रकार महान् पुरुष परमात्मामें विकार आदि कोई दोष नहीं होते। अविद्यारूपी नदीमें बहता हुआ आत्मा इस संसारमें आत्माके यथार्थज्ञानके बिना अनुभवमें नहीं आता और वह आत्मज्ञान शास्त्रके तात्पर्यका यथार्थ बोध होनेसे ही प्राप्त होता है। श्रीराम! परमात्माकी प्राप्तिके बिना अविद्यारूपी नदीका पार नहीं मिलता। वह परमात्माकी प्राप्ति ही अक्षयपद कहलाती है।

(सर्ग ४०-४१)

चेतनतत्त्वका ही क्षेत्रज्ञ, अहंकार आदिके रूपमें विस्तार तथा अविद्याके कारण जीवोंके कर्मानुसार नाना योनियोंमें जन्मोंका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—महाबाहु श्रीराम! विभिन्न कल्पनाओंद्वारा ही जिसने आकार ग्रहण कर रक्खा है तथा जो देश, काल और क्रियाके अधीन है, चैतन्यका वही रूप क्षेत्रज्ञ कहलाता है। क्षेत्र कहते हैं शरीरको। उसे बाहर और भीतरसे वह पूर्णतया जानता है, इसलिये क्षेत्रज्ञ कहलाता है। क्षेत्रज्ञ ही वासनाका संकलन करके अहंकारभावको प्राप्त होता है। अहंकार ही निश्चयात्मकवृत्तिसे युक्त होकर जब निर्णायक एवं विभिन्न कल्पनाओंसे युक्त होता है, तब उसे बुद्धि कहते हैं। संकल्पयुक्त बुद्धि ही मनका स्थान ग्रहण करती है तथा घनीभूत विकल्पोंसे युक्त मन ही धीरे-धीरे इन्द्रियभावको प्राप्त होता है। विद्वान् पुरुष इन्द्रियोंको ही हाथ-पैर आदिसे युक्त शरीर मानते हैं। वह शरीर लोकमें सभीके अनुभवमें आता है, उत्पन्न होता है और जीवित रहता है। इस प्रकार संकल्प-वासनारूपी रस्सीसे जकड़ा और दुःखोंके जालसे व्याप्त हुआ वह जीव अज्ञानसे चित्तता—दृश्यताको प्राप्त होता है। जैसे बेर आदिका फल परिपाकवश अवस्था (रूप, रस आदि गुणोंके परिवर्तन) से ही अन्यरूपताको प्राप्त होता है, उसकी आकृति (जाति) नहीं बदल जाती—वह बेरसे भिन्न कोई दूसरा फल नहीं हो जाता, उसी प्रकार जीव—क्षेत्रज्ञ भी अविद्यारूप मलके परिणामवश अवस्थाभेदसे ही कुछ अन्यरूप-सा हो जाता है, आकृति (परिणामरहित चेतन जाति) से नहीं। (तात्पर्य यह है कि अहंकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, शरीरके संघातरूप अनात्म-वस्तुमें वह आत्माभिमान कर लेता है; किंतु वास्तवमें उसका स्वरूप चेतन ही है।) इस प्रकार जीव अहंकारभावको प्राप्त होता है। अहंकार बुद्धिरूपमें परिणत होता है और बुद्धि संकल्पोंके समूहसे व्याप्त

मनका स्वरूप धारण करती है। फिर संकल्पमय मन नाना प्रकारके शरीरोंको धारण करनेमें संलग्न होता है। जैसे गौएँ मदमत्त साँड़के पीछे दौड़ती हैं और जैसे नदियाँ समुद्रकी ओर भागी जाती हैं, उसी प्रकार इच्छा आदि शक्तियाँ मनका अनुसरण करती हैं, जिससे काम-क्रोध-लोभ-मोहादि दोषोंकी ही वृद्धि होती है। इस प्रकार इच्छा-द्वेष आदि शक्तियोंके बाहुल्यसे युक्त मन शाखा-प्रशाखारूपसे अभिमानकी वृद्धि होनेके कारण घनीभूत अहंकारभावको प्राप्त हो रेशमके कीड़ेकी भाँति स्वेच्छासे ही बन्धनको प्राप्त होता है। जैसे पक्षी स्वयं ही अपने शरीरको जाल आदि फंदोंमें फँसाकर कष्टकारी बन्धनमें डालते और पछताते हैं, उसी तरह मन अपने संकल्पोंके अनुसंधानसे स्वयं ही दुःखदायी बन्धनमें पड़कर इस लोकमें संतप्त होता है।

जैसे पक्षी समुद्रमें गिरा हो, उसी तरह मन घोर दुःखके महासागरमें पड़ा हुआ है, गन्धर्वनगरके समान शून्य जगत्-जालमें अपने बन्धनके हेतुरूप देह आदिपर आसक्ति रखता है, विषयोंकी ओर दौड़ा जाता है और तत्त्वज्ञान आदिके प्रति अविश्वासके समुद्रमें निरन्तर बह रहा है।

जो अनन्त विषयोंमें अनन्त संकल्प-कल्पनाओंकी उत्पत्तिमें हेतु है, उस माया अथवा अविद्याके द्वारा इस जगत्‌रूपी विशाल इन्द्रजालका विस्तार करनेवाले मूढ़ जीव जलमें आवर्तों (भँवरों) के समान तबतक चक्कर काटते रहते हैं, जबतक उन्हें अपने अनिन्दित—विशुद्ध आत्मस्वरूपका साक्षात्कार नहीं हो जाता। किंतु जब वे साधन करते-करते काल पाकर आत्माका साक्षात्कार करके असत्‌को त्यागकर सत्य ज्ञानको अपनाते हैं, तब परम पदको प्राप्त होकर फिर इस संसारमें जन्म नहीं लेते। कुछ अज्ञानी जीव सहस्रों जन्मोंका कष्ट भोगकर विवेकको प्राप्त करके भी मूर्खताके कारण उस संसाररूपी संकटमें ही गिर जाते हैं; कुछ लोग उच्च कुलमें जन्म और साधनकी शक्ति एवं सुविधाको पाकर भी अज्ञान और विषयासक्तिके कारण अपनी तुच्छ बुद्धिसे ही पुनः तिर्यग्योनियोंको प्राप्त होते हैं और तिर्यग्-योनिसे नरकोंमें भी गिरते हैं। कुछ महाबुद्धिमान् सत्पुरुष एक ही जन्मके द्वारा मोक्षरूप ब्रह्मपदमें शीघ्र ही प्रविष्ट हो जाते हैं। श्रीराम! कितने ही जीवसमूह तिर्यग्योनियोंमें जन्म लेते हैं, कितने ही देवयोनियोंको प्राप्त होते हैं, कितने ही नागयोनिको प्राप्त करते हैं। जैसे यह जगत् विशाल दिखायी देता है, वैसे ही अन्यान्य जगत् भी हैं, थे और भविष्यमें भी बहुत-से होंगे। इस ब्रह्माण्डमें लोग जिस व्यवहारसे रहते हैं, उसी व्यवहारसे अन्य ब्रह्माण्डोंमें भी रहते हैं। केवल उनकी आकृतियोंमें अन्तर या विलक्षणता होती है। जैसे नदीकी लहरें परस्पर टकरानेसे परिवर्तित होती रहती हैं, उसी प्रकार विभिन्न सृष्टियाँ अपने सात्त्विक, राजस आदि स्वभाववश परस्पर संघर्षके कारण बदलती रहती हैं। जैसे जलराशि समुद्रमें अनन्त लहरें निरन्तर उठती और विलीन होती रहती हैं, उसी प्रकार उस परमपद-स्वरूप परमात्मामें यह तीनों लोकोंकी रचना आदि मोहमाया व्यर्थ ही विस्तारको प्राप्त हो अनवरत बढ़ती, परिणामको प्राप्त होती और विनष्ट होती रहती है।

(सर्ग ४२-४३)

परमात्मनिष्ठ ज्ञानीकी दृष्टिमें संसारका मिथ्यात्व, मनोमय होनेके कारण जगत्‌की असत्ता तथा ज्ञानीकी दृष्टिमें सबकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! इस क्रमसे जिस जीवने परमात्माके स्वरूपमें अपनी स्थिति प्राप्त कर ली, वह अस्थिपञ्जररूप देहको कैसे ग्रहण किये रहता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! जो यह शरीर आदिके रूपमें स्थावर-जङ्गम जगत् दिखायी देता है, यह आभास-मात्र ही है, अतएव स्वप्नके समान असत् होता हुआ ही

प्रकट हुआ। (तात्पर्य यह है कि वह परमात्मनिष्ठ जीव इस शरीर आदिको स्वप्नके तुल्य मिथ्या मानता हुआ ही इसमें रहता है)। निष्पाप श्रीराम ! यह प्रपञ्च दीर्घ-कालतक बने रहनेवाले स्वप्नके समान मिथ्या ही दीखता है, दो चन्द्रमाओंकी भ्रान्तिके समान तथा पहाड़ी भूमिमें घूमते हुए पुरुषको घूमते दीखनेवाले पर्वतके समान मिथ्या ही दृष्टिगोचर होता है। जिसकी अज्ञानमयी निद्रा टूट गयी है और वासनात्मक भावना गल गयी है, वह ज्ञानवान् पुरुष इस संसाररूपी स्वप्नको देखता हुआ भी नहीं देखता—इसे मिथ्या समझता है। श्रीराम ! जीवोंके स्वभावसे कल्पित यह संसार, जिसकी मोक्ष होनेसे पहले-तक निरन्तर प्राप्ति होती रहती है, अनात्मज्ञानीके ही अंदर सदा सत्य-सा विद्यमान रहता है।

रघुनन्दन ! यह जगत् यद्यपि सब प्रकारसे सम्पन्न दिखायी देता है, तथापि यहाँ वास्तवमें कुछ भी सम्पन्न नहीं है। यह आभासमात्र एवं मनका विलासमात्र है; अतः शून्य (असत्) रूपमें ही स्थित है। मनका संकल्पमात्र ही इसका स्वरूप है। जहाँ भी यह प्रतीत होता है, वहाँ स्वप्नमें देखे गये नगरके समान शून्यरूप ही है, केवल आकाशरूपमें ही स्थित है। शरीर आदिके रूपमें जो ये तीनों लोक दिखायी देते हैं, वे सब-के-सब मनसे ही कल्पित हैं। जैसे पदार्थोंके देखनेमें नेत्र कारण है, उसी प्रकार उनके स्मरणमात्रमें मन कारण है (अतः मनःकल्पित यह जगत् अतीतकी स्मृतिके ही तुल्य है। स्मरणकालमें वह पदार्थरूपसे विद्यमान या उपलब्ध नहीं है)। श्रीराम ! मनकी इस अद्भुत शक्तिको तो देखो; उसने अपनेसे उत्पन्न हुए इस शरीरको अपनी भावना या संकल्पके द्वारा ही प्राप्त किया है। इसलिये लोग उस मनकी कल्पनाको सम्पूर्ण शक्तियोंसे सम्पन्न समझते हैं। देवता, असुर और मनुष्य आदि सभी प्राणी मनके द्वारा अपने संकल्पसे ही रचे गये हैं। अपने संकल्पके शान्त होनेपर तैलरहित दीपककी भाँति वे सब शान्त हो जाते हैं। महामते ! देखो, यह सारा जगत् आकाशके समान शून्य, मनकी कल्पनामात्रसे विकसित तथा दीर्घकालीन स्वप्नके तुल्य मिथ्या ही प्रकट हुआ है। विशुद्ध बुद्धिवाले रघुनन्दन ! इस जगत्में कभी कोई वस्तु वास्तवमें न उत्पन्न होती है और न उसका नाश ही होता है। यहाँ जो जन्म और मरण दीखते हैं, वे सब मिथ्या ही हैं। जैसे मरुभूमिमें सूर्यकी किरणोंका ताप बढ़नेसे उसमें मृगतृष्णा (जल) का दर्शन होता है, उसी प्रकार मनके संकल्पसे ये ब्रह्मा आदि सभी प्राणी बिना हुए ही दिखायी देते हैं। संसारमें जितनी आकार राशियाँ दिखायी देती हैं, वे सब-की-सब दो चन्द्रमाओंके भ्रमकी भाँति असत् हैं, मिथ्याज्ञानकी घनीभूत मूर्तियाँ हैं तथा मनोरथकी भाँति संकल्पमें ही प्रकट हुई हैं (वास्तवमें इनकी सत्ता नहीं है)। जैसे नौकाद्वारा यात्रा करनेवाले पुरुषको नदीके तटवर्ती वृक्ष और पहाड़ आदि मिथ्या ही चलते हुए प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार इन दृश्य आकारोंकी परम्परा नित्य असत्य होती हुई ही सत्य-सी प्रकट दिखायी देती है। मायासे ही जिसकी ठठरी रची गयी है और मनके मननसे ही जिसका निर्माण हुआ है, ऐसा जो यह दृश्य जगत् है, इसे इन्द्रजाल ही समझो। यह सत्य नहीं है, तो भी सत्यके समान स्थित है। यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है। फिर इसके लिये उससे भिन्न होनेका प्रसङ्ग ही कहाँ है। यदि कोई प्रसङ्ग है तो कौन और कैसा है ? वह भिन्नता या भेदभावना कहाँ स्थित है ? 'यह पर्वत है, यह ठूँठा वृक्ष है' इत्यादि रूपसे जो जगत्के आडम्बरका विलास है, वह मनकी भावनाके दृढ़ होनेसे असत् होता हुआ भी सत्-सा दृष्टिगोचर होता है। जैसे महान् आयोजनोंसे पूर्ण स्वप्न भ्रम ही है, वास्तविक नहीं, उसी प्रकार मनके द्वारा रचे गये इस जगत्को भी दीर्घकालीन स्वप्न ही समझो। जो मूढ़ चित्त मानव अपने संकल्पसे उत्पन्न हुई मनोरथमयी सम्पत्तिको स्वरूपसे युक्त (सत्य) समझकर उसका अनुसरण करता है, वह एक-

मात्र दुःखका ही भागी होता है। यदि परमात्मस्वरूप यथार्थ वस्तु न हो तो लोग भले ही अवस्तुरूप संसारका अनुसरण करें; परंतु जो यथार्थ वस्तु—परमात्माका परित्याग करके अवस्तुरूप संसारका अनुगमन करता है, वह नष्ट हो जाता है—परमात्माकी प्राप्तिरूप परम पुरुषार्थसे वञ्चित रह जाता है। जैसे रज्जुमें सर्पका भय मनका व्यामोह (भ्रम) मात्र ही है, उसी प्रकार यह जगत् भी मनका भ्रम ही है। मनकी भावनाओंकी विचित्रतासे जगत् चिरकालतक प्रतीतिका विषय बना रहता है। जलके भीतर प्रतिबिम्बित हुए चन्द्रमाके समान चञ्चल (क्षणभङ्गुर) जो मिथ्या उदित हुए पदार्थ हैं, उनसे इस लोकमें मूर्ख बालक ही धोखा खा सकता है, तुम-जैसा तत्त्वज्ञानी नहीं। यह जडसंघात देह-आदिरूप जो विशाल जगत् दिखायी देता है, मिथ्या ही है। मनके मननसे ही इसका निर्माण हुआ है। जैसे हृदयमें स्वप्न या संकल्पमय नगर निर्मित होता है, उसी प्रकार यह जगत् भी मनके संकल्पमें ही निर्मित हुआ है (वास्तवमें इसकी सत्ता नहीं है)। यह दृश्य-प्रपञ्च मनके संकल्पसे उत्पन्न होता है और उसके संकल्परहित हो जानेसे विलीन हो जाता है। इस तरह यह समृद्धि-शाली गन्धर्वनगरकी भाँति बिना हुए ही दिखायी देता है। हृदयमें मनके संकल्पद्वारा कल्पित विशाल नगरका विध्वंस अथवा अभ्युदय हो जानेपर तुम्हीं बताओ, किसकी क्या हानि होती है या किसको क्या लाभ हो जाता है? जैसे बालकोंके मनमें खेलके लिये बने हुए गुड़ियाओं या खिलौनोंके द्वारा पुत्र-पशु आदि व्यवहारोंकी कल्पना होती है, उसी प्रकार यह जगत् भी सदा मनसे ही प्रकट होता है। जैसे इन्द्रजालके द्वारा रचित जलके नष्ट-भ्रष्ट होनेपर किसीका कुछ भी नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार मिथ्या प्रकट हुए इस संसारके नष्ट हो जानेपर भी किसीका कुछ नहीं बिगड़ता। जो वास्तवमें असत् ही है, वह यदि अविद्यमान हो जाय तो किसका क्या बिगड़ गया? इसलिये संसारमें हर्ष और शोकका आधार कुछ भी नहीं है। महामते! जिसका सदासे ही अत्यन्त अभाव है, उसके नष्ट होनेसे क्या नष्ट हो जाता है? और जब किसीका नाश ही नहीं होता, तब उसके लिये दुःखका क्या प्रसङ्ग है?

एकमात्र प्रपञ्चका ही विस्तार करनेवाले इस असत्य-भूत समस्त संसारमें ग्रहण करने योग्य कौन-सी ऐसी वस्तु है, जिसे विद्वान् पुरुष ग्रहण करनेकी इच्छा करे? इसी प्रकार जो सर्वथा सत्यभूत ब्रह्मतत्त्वमय है, उस समस्त त्रिलोकीमें कौन ऐसा हेय पदार्थ है, जिसका विद्वान् पुरुष त्याग करे? अर्थात् तीनों लोक ब्रह्मभूत होनेके कारण चिन्मय हैं; उनमें विज्ञानानन्दघन परमात्माके सिवा अन्य कोई पदार्थ नहीं है, जिसका त्याग किया जा सके। आदि और अन्तमें जिसका अभाव है, उसका वर्तमानमें भी अभाव ही है। अतः श्रीराम! जो अज्ञानी इस असत् संसारकी इच्छा करता है, उसको असत् (जड संसार) ही प्राप्त होता है। आदि और अन्तमें जो सत्य है, वर्तमानमें भी वह सत्य ही है; अतः जिसकी दृष्टिमें सब सत् परमात्मा ही है, उसे सर्वत्र परमात्म-सत्ताका ही दर्शन होता है। जलके भीतर जो असत्यभूत चन्द्रमा और आकाश-तल आदि दिखायी देते हैं, उन्हें अपने मनके मोहके लिये मूर्ख बालक ही पाना चाहते हैं, उत्तम ज्ञानी पुरुष नहीं। मूर्ख ही विशाल आकारवाले अर्थशून्य कार्योंमें सुख समझकर संतुष्ट होता है; किंतु अज्ञानके कारण उसे अनन्त दुःख ही प्राप्त होता है; सुख नहीं।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! वसिष्ठ मुनिके यों कहनेपर दिन बीत गया। सूर्य अस्ताचलको चले गये। सारी सभाके लोग मुनिको नमस्कार करके सायंकालकी उपा-सनाके लिये स्नान करनेके उद्देश्यसे उठ गये और रात बीतनेपर दूसरे दिन उदित हुए सूर्यदेवकी किरणोंके साथ-साथ फिर सभाभवनमें आ गये। (सर्ग ४४-४५)

सांसारिक वस्तुओंसे वैराग्य एवं जीवन्मुक्त महात्माओंके उत्तम गुणोंका उपदेश, बारंबार होनेवाले ब्रह्मा, ब्रह्माण्ड एवं विविध भूतोंकी सृष्टिपरम्परा तथा ब्रह्ममें उसके अत्यन्ताभावका कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! रमणीय स्त्री आदि तथा धनके नष्ट होनेपर शोकका कौन-सा अवसर है? इन्द्रजालकी दृष्टिसे देखे गये पदार्थके नष्ट होनेपर क्या कोई विलाप करता है? अविद्याके अंशभूत पुत्र आदिके प्राप्त होनेपर सुख और नष्ट होनेपर दुःखका प्रसार होना क्या कभी उचित है? रमणीय धन और स्त्री आदिकी प्राप्ति एवं वृद्धि होनेपर हर्षसे फूल उठनेका क्या अवसर है? क्या मृगतृष्णाके जलकी वृद्धि होनेपर जलार्थी पुरुषोंको आनन्द प्राप्त होता है? कदापि नहीं। धन और स्त्री आदिके बढ़नेपर तो उन्हें परमार्थमें बाधक समझकर दुःखका अनुभव करना चाहिये, संतोष मानना तो कदापि उचित नहीं। संसारमें मोह-मायाकी वृद्धि होनेपर भला, कौन सुखी एवं स्वस्थ रह सकता है। जिन भोगोंके बढ़ जानेपर मूढ़ मनुष्यको राग होता है, उन्हींकी वृद्धिसे विवेकशील पुरुषके मनमें वैराग्य होता है। नश्वर धन और स्त्री आदिके सुलभ होनेमें हर्षका क्या कारण है? जो इनके परिणामको देख पाते हैं, उन साधु पुरुषोंको तो इनसे वैराग्य ही होता है। अतः रघुनन्दन! संसारके व्यवहारोंमें जो-जो वस्तु नश्वर प्रतीत हो, उसकी तो तुम उपेक्षा करो और जो न्यायतः प्राप्त हो जाय, उसे यथायोग्य व्यवहारमें लाओ; क्योंकि तुम तत्त्वज्ञ हो। अप्राप्त भोगोंकी स्वभावतः कमी इच्छा न होना और दैवात् प्राप्त हुए भोगोंको यथायोग्य व्यवहारमें लाना—यह ज्ञानवान्‌का लक्षण है।

जिस किसी भी युक्ति अथवा साधनसे जिस पुरुषका जड दृश्यसे राग चला जाता है, उसकी परमात्मामें दृढ़ विश्राम रखनेवाली विमल बुद्धि कभी मोहरूपी सागरमें नहीं डूबती। यह असत् है, ऐसा समझकर जिसकी समस्त सांसारिक वस्तुओंमें आस्था नहीं रह गयी है, उस सर्वज्ञको मिथ्या अविद्या अपने अङ्कमें नहीं ले सकती—चंगुलमें नहीं फँसा सकती। श्रीराम! अत्यन्त विरक्त, अपने पारमार्थिक स्वरूपमें स्थित और वासस्थानमें सब प्रकारकी अहंता-ममतासे रहित हो तथा न्यायप्राप्त कार्यमें तत्पर रहते हुए भी रागरहित हो तुम आकाशके समान निर्लिप्त हो जाओ; क्योंकि कर्ममें लगे रहनेपर भी जिस ज्ञानी महापुरुषकी उसमें न तो इच्छा (राग) है और न अनिच्छा (द्वेष) ही है, उसकी बुद्धि जलसे कमलदलकी भाँति कभी लिप्त नहीं होती। तुम्हारी इन्द्रियाँ और मन गौणी वृत्तिसे दर्शन और स्पर्श आदि कार्य करें या न करें, तुम सर्वथा इच्छारहित हो अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित रहो। यह संसार-सागर वासनाओं-के जलसे भरा हुआ है। जो शुद्ध बुद्धिरूप नौकापर आरूढ़ हैं, वे ही इसके पार जा सके हैं। दूसरे लोग तो डूब ही गये हैं। जो नित्य तृप्त, शुद्ध एवं तीक्ष्ण बुद्धि-वाले जीवन्मुक्त महात्मा हैं, उन्हींके आचारोंका अनुसरण करना चाहिये, भोग-लम्पट दीन-हीन शठोंके आचरणोंका नहीं। महात्मा पुरुष सब कुछ नष्ट हो जानेपर भी खिन्न नहीं होते, देवताओंके उद्यानमें भी आसक्त नहीं होते और शास्त्र-मर्यादाका कभी त्याग नहीं करते। महात्मा पुरुष इच्छारहित तथा न्यायप्राप्त व्यवहारका अनासक्तभावसे अनुसरण करनेवाले होते हैं। वे देहरूपी रथका आश्रय ले परमात्माके स्वरूपमें स्थित हो आसक्ति-शून्य होकर विचरते हैं। परम सुन्दर श्रीराम! तुम भी यथार्थ एवं विस्तृत विवेकको प्राप्त कर चुके हो। अपनी इस पवित्र एवं तीक्ष्ण बुद्धिके बलसे सदा विज्ञानानन्दघन आत्मस्वरूपमें स्थित हो।

श्रीरामजीने कहा—भगवन्! आप सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता और समस्त वेदाङ्गोंके पारंगत विद्वान् हैं। आपके पवित्र

उपदेशसे मैं अश्वस्त पुरुषके समान अपने स्वरूपमें नित्य स्थित हूँ। प्रवचन करते समय आपके मुखसे जो उदार भावोंसे युक्त, सुस्पष्ट, सुन्दर तथा परमात्माके स्वरूपको प्रकाशित करनेवाले वचन निकलते हैं, उन्हें सुनते-सुनते मुझे तृप्ति नहीं होती—अधिकाधिक सुननेकी इच्छा बढ़ती जाती है। आपने श्रुति-पुराण आदि शास्त्रोंके आधारपर कमलयोनि ब्रह्माकी जो उत्पत्ति कही थी, उसका पुनः स्पष्टरूपसे वर्णन कीजिये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! इस ब्रह्माण्डमें तथा दूसरे-दूसरे विचित्र ब्रह्माण्डोंमें भी बहुत-से विभिन्न आचार व्यवहारवाले सहस्रों प्राणी विचरते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य समयोंमें उत्पन्न होनेवाले अनन्त भुवनोंमें दूसरे-दूसरे बहुत से प्राणी एक ही समय अधिक संख्यामें उत्पन्न होंगे। महाबाहो! उन ब्रह्माण्डोंमें उन ब्रह्मा आदि देवताओंकी उत्पत्तियाँ विचित्र-सी हुई बतायी गयी हैं। महासर्गके आरम्भकालमें कभी तो ब्रह्मा कमलसे उत्पन्न होते हैं, कभी जलसे, कभी अण्डसे और कभी आकाशसे प्रादुर्भूत होते हैं। विभिन्न सृष्टियोंमें कोई भूमि केवल मिट्टीके रूपमें प्रकट हुई तो कोई पथरीली थी, कोई सुवर्णमयी थी और कोई ताम्रमयी थी। इस ब्रह्माण्डमें भी भिन्न भिन्न प्रकारके कितने ही आश्चर्यमय जगत् हैं। इस सच्चिदानन्दघन परब्रह्मस्वरूप महाकाशमें अनन्त जगत् महासागरकी तरङ्गोंके समान उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं। जैसे समुद्रमें लहरें और मरु-मरीचिकामें जलकी धाराएँ उत्पन्न होती हैं; उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मामें अगणित विश्वकी शोभा प्रकट होती है। (तात्पर्य यह कि जैसे सूर्यकी किरणोंमें जलकी प्रतीति मिथ्या है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दघन परमात्मामें इस जड जगत्का वैभव मिथ्या ही प्रतीत हो रहा है।) जैसे वर्षा आदि ऋतुओंमें मच्छरोंके समूह उत्पन्न हो-होकर सब ओर भर जाते हैं और फिर नष्ट भी हो जाते हैं, उसी प्रकार ये संसारकी सृष्टियाँ उत्पन्न और नष्ट होती रहती हैं; यह नहीं ज्ञात होता कि ये सदा उत्पन्न और नष्ट होनेवाली सृष्टि परम्पराएँ परमात्मामें कबसे आरम्भ हुईं। ये सृष्टियाँ पूर्व-से-पूर्व कालमें थीं और उससे भी पहले विद्यमान थीं। इस प्रकार अनादिकालसे इनकी परम्पराएँ चल रही हैं। जैसे समुद्रमें निरन्तर लहरें उठती रहती हैं, उसी तरह परमात्मामें सदा ही ये सृष्टियाँ उत्पन्न एवं विलीन होती रहती हैं। देवता, असुर और मनुष्य आदिसे युक्त ये समस्त प्राणी नदीकी तरङ्गोंके समान उत्पन्न हो-होकर विलीन होते रहते हैं। जैसे मिट्टीकी राशिमें घड़े और अङ्कुरमें पत्ते विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार भविष्यमें होनेवाली अन्य सृष्टि-परम्पराएँ भी परब्रह्म परमात्मामें स्थित हैं।

श्रीराम! परमात्माके स्वरूपमें जो वस्तुतः विद्यमान नहीं हैं—बिना हुए ही प्रतीत होती हैं, ऐसी इन विलक्षण सृष्टियोंमें ब्रह्माकी विविध विचित्र उत्पत्तियाँ बीत चुकी हैं। वास्तवमें यह संसार मनके संकल्पका विस्तारमात्र है। यही सर्वसम्मत सिद्धान्त है। मैंने केवल समझानेके लिये तुम्हारे समक्ष इस सृष्टि-क्रमका वर्णन किया है। फिर सत्ययुग, फिर त्रेता, फिर द्वापर और फिर कलियुग—इस प्रकार सारा जगत् घूमते हुए चक्रकी तरह बारंबार आता-जाता रहता है। जैसे प्रत्येक प्रातःकालके बाद दिन आता है, उसी प्रकार पुनः मन्वन्तरोंके आरम्भ होते हैं। एकके बाद पुनः दूसरे कल्पोंकी परम्पराएँ चलती हैं और बारबार कार्यावस्थाएँ प्राप्त होती रहती हैं। जैसे वृक्षमें विभिन्न ऋतुओंके अनुसार सारे फल-फूल आदि कभी अप्रकट रहते हैं और कभी समय पाकर प्रकट हो जाते हैं, उसी प्रकार परम तत्त्व परमात्मामें यह सारा जगत् कभी अव्यक्त रहता है और कभी व्यक्त हो जाता है। श्रीराम! यह संसार कभी भी सत् नहीं है; क्योंकि सर्वशक्तिमान् परमात्मामें स्वभावसे ही सदा संसारका अत्यन्ताभाव है। महामते! ज्ञानीकी दृष्टिमें यह सब कुछ ब्रह्म ही है। इसलिये संसार नहीं है, यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त ही है।

अज्ञानीकी दृष्टिमें संसारका कभी विच्छेद नहीं होता, वह सदा बना रहता है। इसलिये यह संसार-माया मिथ्या होती हुई भी मूढ़के लिये नित्य है, यह कथन भी युक्तिसंगत ही है। रघुनन्दन! जगत् बारंबार उत्पन्न होता रहता है, इसलिये कभी इसका अभाव नहीं है—ऐसा जो कुछ लोगोंका कथन है, वह भी उनकी दृष्टिसे मिथ्या नहीं है। यह सब दृश्य पुनः-पुनः प्रकट होता है। बारंबार जन्म और मरण होते रहते हैं। सुख-दुःख, करण और कर्म भी बारंबार हुआ करते हैं। दिशाएँ, आकाश, समुद्र और पर्वत भी बारंबार उत्पन्न होते हैं। जैसे खिड़कीवाले घरोंमें एक ही सूर्यकी प्रभा बारबार अनेक रूपोंमें प्राप्त होती है, वैसे ही यह सृष्टि प्रवाहरूपसे पुनः-पुनः चक्रकी भाँति चलती रहती है। फिर दैत्य और देवता जन्म लेते हैं, पुनः लोक-लोकान्तरोंके क्रम प्रकट होते हैं, फिर स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त करनेकी चेष्टाएँ चालू होती हैं तथा पुनः इन्द्र और चन्द्रमाका आविर्भाव होता है। अनेकानेक दानव भी बारबार जन्म लेते हैं तथा बारंबार सम्पूर्ण दिशाओंमें मनोहर चन्द्रमा, सूर्य, वरुण एवं वायुका संचार होता रहता है। कालरूपी कुम्हार नाना प्रकारके प्राणीरूप प्यालोंको बनानेके लिये पुनः बड़े वेगसे निरन्तर कल्प नामक चाकको चलाने लगता है। (सर्ग ४६-४७)

विरक्त एवं विवेकयुक्त ज्ञानी तथा भोगासक्त मूढ़की स्थितिमें अन्तर; जगत्को मिथ्या मानकर उसमें आस्था न रखने, देहाभिमानको छोड़ने और अपने विशुद्ध स्वरूप (परमात्मपद) में स्थित होनेका उपदेश

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जिनकी बुद्धि भोग और ऐश्वर्यके द्वारा नष्ट हो गयी है तथा जो ऐहिक और पारलौकिक भोग एवं ऐश्वर्यके लिये सकाममावसे नाना प्रकारकी चेष्टाएँ करते हैं, ऐसे मूढ़ पुरुष सच्चिदानन्दघन परमात्माकी ओर ध्यान नहीं देते, इस कारण उनको परमात्माके यथार्थ स्वरूपका अनुभव नहीं होता (अर्थात् वे परम पुरुषार्थरूप परमात्माकी प्राप्तिसे वञ्चित रह जाते हैं)। जो पुरुष विवेकयुक्त तीक्ष्णबुद्धिकी चरम सीमाको पहुँचे हुए हैं तथा जिन्हें इन्द्रियोंने अपने वशमें नहीं कर रक्खा है, वे इस जगत्की मायाका हाथपर रक्खे हुए बेलके समान प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। जो जीव विवेकपूर्ण विचारसे युक्त है, वह इस जगत्की अहंकारमूलक मायाको तुच्छ जानकर उसी तरह त्याग देता है, जैसे साँप केंचुलको। श्रीराम! जैसे आगसे भुना हुआ बीज चिरकालतक खेतोंमें रहनेपर भी जमता नहीं, उसी प्रकार वह विवेकी पुरुष अनासक्तिको प्राप्त हो दीर्घकालतक शरीरमें रहनेपर भी फिर जन्म नहीं लेता। किंतु अज्ञानी मनुष्य आधि-व्याधिसे घिरे हुए तथा आज या कल प्रातःकाल नष्ट हो जानेवाले इस क्षणभङ्गुर शरीरके हितके लिये ही प्रयत्न करते हैं, आत्माके लिये नहीं।

इसके बाद दाशूर मुनिका उपाख्यान सुनाकर वसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! यह जड जगत् वास्तवमें है ही नहीं, ऐसा निश्चय करके इसमें सब ओरसे आसक्तिका त्याग कर देना चाहिये; क्योंकि जो वस्तु है ही नहीं, उसके प्रति विवेकशील पुरुषोंका विश्वास कैसे होगा। जैसे मनके संकल्पद्वारा कल्पित पुरुष अथवा मनोराज्यको, स्वप्नगत जन-समुदायको तथा भ्रमसे प्रतीत होनेवाले दो चन्द्रमाओंकी आकृतियोंको तुम देखते हो, उसी प्रकार मनकी भावनासे ही उत्पन्न हुए इस सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्चको भी देखना चाहिये (अर्थात् इसे मिथ्या समझकर इसके प्रति राग-द्वेष नहीं करना

चाहिये)। निष्पाप रघुनन्दन ! पदार्थोंके सौन्दर्यका चिन्तन करनेसे जो उनके प्रति आन्तरिक आस्था होती है, उसका पूर्णतः परित्याग करके तुम जिस चिन्मय स्वरूपसे स्थित हो, वही तुम्हारा वास्तविक रूप है । उसी रूपसे इस जगत्में तुम लीलापूर्वक विचरण करो। सब पदार्थोंके भीतर विद्यमान रहते हुए भी जो सबसे अतीत है, वह परमात्मा तुम्हीं हो। तुम्हारे सकाशमात्रसे यह नियति विस्तारको प्राप्त होती है । जैसे सब प्रकारकी इच्छाओंसे रहित सूर्यदेवके आकाशमें स्थित होनेपर जगत्के सब व्यवहार होने लगते है, उसी प्रकार इच्छारहित परमात्माकी सत्तासे ही समस्त कार्य सम्पन्न होते हैं। जैसे रत्न (सूर्यकान्त एवं चन्द्रकान्त मणि आदि) में प्रकाश करनेकी इच्छा न होनेपर भी उसकी स्थितिमात्रसे स्वतः प्रकाश होने लगता है, उसी प्रकार इच्छारहित परमात्माके सकाशसे ही इस जगत्-समुदायकी प्रवृत्ति (व्यवहारचेष्टा) होती रहती है। सच्चिदानन्द परमात्मा सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे अतीत होनेके कारण वास्तवमें कर्ता और भोक्ता नहीं है, किंतु इन्द्रियोंमें व्यापक होनेके कारण वही कर्ता और भोक्ता भी माना जाता है। 'मैं सबके भीतर स्थित और अकर्ता हूँ'—ऐसी सुदृढ़ धारणाके साथ विवेकी पुरुष प्रवाहरूपसे प्राप्त हुए कार्यको करता रहे, तो भी वह उससे लिप्त (बद्ध) नहीं होता। चित्तमें प्रवृत्तिका अभाव होनेसे मनुष्य उपरतिको प्राप्त होता है। जिसको यह निश्चय हो गया है कि मैं यहाँ कुछ भी नहीं करता, अर्थात् जो कर्तापनके अभिमानसे रहित हो गया है, ऐसा कौन पुरुष भोग-समूहोंकी कामना मनमें लेकर किसी कार्यको करेगा अथवा छोड़ेगा। इसलिये सदा 'मैं कर्ता नहीं हूँ' इस भावनाको जगाये रखनेसे पुरुषके लिये परम अमृतमयी समता ही शेष रहती है। 'मैं यह हूँ, मैं यह नहीं हूँ; मैं इसे करता हूँ और इसे नहीं करता' इस तरहके भावोंका अनुसंधान करनेवाली दृष्टि वास्तवमें सन्तोषजनक नहीं होती। 'मैं शरीर हूँ'—ऐसी धारापूर्वक जो स्थिति है, वही कालसूत्र नामक नरकका मार्ग है। वही महावीचि नरकका जाल है और वही असिपत्रवनकी पंक्तियाँ हैं। उस देहाभिमानका सर्वथा प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिये। मैं यह दृश्यरूप कुछ भी नहीं हूँ, किंतु साक्षात् सच्चिदानन्द परमात्मा हूँ—ऐसा निश्चय करके तुम अपने उस सर्वोत्तम स्वरूपमें सदा स्थित रहो, जिसमें श्रेष्ठ साधु, ब्रह्मवेत्ता पुरुष स्थित हुए हैं।

(सर्ग ४८—५६)

वासना, अभिमान और एषणाका त्याग करके परमात्मपदमें प्रतिष्ठित होनेकी प्रेरणा तथा तत्त्वज्ञानी महात्माकी महत्तम स्थितिका वर्णन

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन् ! आपने अपनी उत्तम उक्तियोंद्वारा जो यह सुन्दर बात कही है, वह सर्वथा सत्य है । समस्त भूतोंकी सृष्टि करनेवाले परमात्मा अकर्ता होते हुए ही कर्ता हैं और अभोक्ता होते हुए ही भोक्ता हैं। प्रभो ! जो सबका अधिष्ठान और समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित है, उस सर्वेश्वर, सर्वव्यापी, सच्चिदानन्द निर्मल पदस्वरूप ब्रह्मका मेरे हृदयमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

श्रीवसिष्ठजी बोले—रघुनन्दन ! आत्मा ही आत्माको जानता है, आत्माने ही आत्माको संसारी बनाया है अर्थात् इसने स्वयं ही अज्ञानके कारण अपने-आपको संसार-बन्धनमें बाँधा है। आत्मा ही अपने ज्ञानके द्वारा पवित्र होकर सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्माको प्राप्त होता है। जो वासनाओंके बन्धनमें बँधा है, उसीको बद्ध कहा गया है। वासनाका अभाव ही मोक्ष है। (वासनाओंका सर्वथा क्षय हो जानेपर साधक संसारके बन्धनोंसे सदाके

लिये मुक्त हो जाता है ।) अतः मन, बुद्धि आदिसे युक्त सम्पूर्ण वासनाओंका त्याग करके किस वृत्तिके द्वारा उन सबका त्याग किया जाता है, उस बुद्धिवृत्तिका भी त्याग कर दो अर्थात् उसमें सम्बन्धरहित हो जाओ और सबका अभाव हो जानेपर जो एकमात्र नित्य सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही शेष रहता है, उसीमें अविचलभावसे स्थित रहो । शुद्ध बुद्धिसे युक्त रघुनन्दन ! प्राणोंके स्पन्दनपूर्वक कलना (चेष्टा एवं सकल्प), काल, प्रकाश एवं तिमिर आदिका तथा वासना और विषयोंका (इन्द्रियों तथा समूल अहंकारका) सर्वथा त्याग करके उनसे सम्बन्धरहित होकर जो तुम आकाशके समान सौम्य (निर्मल), प्रशान्त-चित्त तथा चिन्मयरूपसे विराज रहे हो, उसी सर्वसम्मानित रूपमें स्थित रहो । जो परम बुद्धिमान् पुरुष सबका हृदयसे परित्याग करके सब विक्षेपोंके कारणभूत अभिमानसे रहित हो जाता है, वह साक्षात् शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप परमेश्वर हैं । जिसके हृदयमें अभिमानका अत्यन्त अभाव हो गया है, ऐसा विशुद्ध अन्तःकरणवाला ज्ञानी महात्मा ध्यान, समाधि अथवा कर्म करे या न करे, सदा मुक्त ही है; क्योंकि जिसका मन सर्वथा वासनारहित हो गया है, उसे न तो कर्मोंके त्यागसे कोई प्रयोजन है और न कर्मोंके अनुष्ठानसे ही । जप, ध्यान और समाधिसे भी उसका कोई प्रयोजन नहीं है । मैंने शास्त्रका अच्छी तरह विचार किया और चिरकालतक सत्पुरुषोंके साथ परामर्श करके यही सार निकाला कि सम्पूर्ण वासनाओंसे रहित हुए सच्चिदानन्दघन परमात्माके निरन्तर मननरूप मौनसे बढ़कर दूसरा कोई उत्तम पद नहीं है । दसों दिशाओंमें घूम-घूमकर मैंने सारी दर्शनीय वस्तुओंको देख लिया; उनमें कुछ ही लोग ऐसे दिखायी दिये, जो परमात्माके स्वरूपका यथार्थ अनुभव करनेवाले हैं ।

मनुष्यके जो कोई भी लौकिक शुभ आयोजन हैं और जो भी उनके व्यावहारिक सत्कर्म हैं, वे सब केवल शरीरका निर्वाह करनेके लिये ही हैं, आत्माके लिये नहीं । पाताल, भूतल, स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक और आकाशमें कुछ ही ऐसे प्राणी दृष्टिगोचर होते हैं, जिन्हें सच्चिदानन्द परमात्माका यथार्थ बोध हो गया हो । जिस ज्ञानीके 'यह ग्राह्य है, यह त्याज्य है' इस तरहसे अज्ञानजनित निश्चय नष्ट हो गये हैं, ऐसा कर्तव्याकर्तव्य-दृष्टिसे रहित ज्ञानी महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है । प्राणी चाहे लोकमें राज्य करे, चाहे मेरु या जलमें प्रवेश कर जाय; परंतु परमात्माकी प्राप्तिके बिना उसे परम शान्ति नहीं मिल सकती । जो इन्द्रियरूपी शत्रुओंका दमन करनेमें शूरवीर हैं, जन्मरूपी ज्वरका विनाश करनेके लिये उन्हीं महाबुद्धिमान् महापुरुषोंकी सेवा करनी चाहिये । पातालमें और स्वर्गमें सर्वत्र पाँच ही भूत हैं, छठा कुछ भी नहीं है । फिर धीर मनुष्योंकी बुद्धि कहाँ अनुरक्त हो (क्योंकि सर्वत्र क्षणभङ्गुर पदार्थोंकी ही उपलब्धि होती है) । शास्त्रके अनुसार निष्कामभाव-रूप युक्तिसे व्यवहार करनेवाले विवेकी पुरुषके लिये संसार गौके खुरके समान अनायास ही लाँघ जाने योग्य है । परंतु जिसने उपर्युक्त युक्तिका दूरसे ही परित्याग कर दिया है, उस अज्ञानीके लिये यह संसार महाप्रलयकालीन महासागरके समान दुस्तर है । पातालसे लेकर स्वर्गपर्यन्त इस जगत्में ज्ञानी महात्मा पुरुषके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है । जैसे मन्द-मन्द वायुके चलनेसे पर्वत नहीं हिलता, वैसे ही भोग-समूहोंसे तत्त्वज्ञानी पुरुष नहीं विचलित होता । जैसे बादल आकाशमें बारंबार छा जानेपर भी उसे अपने रंगमें नहीं रँग सकते, उसी प्रकार संसारके ये विषय-भोगरूप कोई भी पदार्थ पुनः-पुनः प्राप्त होनेपर भी विशाल-हृदय तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुषको आसक्त नहीं कर सकते । (सर्ग ५७)

परमात्मभावमें स्थित हुए कचके द्वारा सर्वात्मत्वका बोध करानेवाली गाथाओंका गान, भोगोंसे वैराग्यका उपदेश तथा सबकी परमात्मामें स्थितिका कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! इसी पूर्वोक्त वस्तुके विषयमें पहले बृहस्पतिके पुत्र कचने जो पवित्र गाथाएँ गायी थीं, उनका मैं वर्णन करता हूँ; सुनो। एक समय मेरु पर्वतके किसी वनप्रान्तमें देवगुरु बृहस्पतिके पुत्र कच ब्रह्मविचारमें तत्पर होकर रहते थे। वहाँ उन्होंने सुनी हुई ब्रह्मविद्याका बारंबार मनन और निदिध्यासन करके आत्मामें परम शान्ति प्राप्त कर ली थी। इसलिये उनकी बुद्धि परमात्माके यथार्थज्ञानरूपी अमृतसे परिपूर्ण थी। विरक्त एवं विवेकी पुरुषोंके लिये अनादरके योग्य जो यह आपातरमणीय पाञ्चभौतिक दृश्य जगत् है, इसमें उनकी बुद्धि नहीं लगती थी। दृश्य-प्रपञ्चके प्रति आदर न होनेके कारण उसमें उनका मन नहीं लगता था। इसलिये एकमात्र सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तुको न देखते हुए उन्होंने अत्यन्त विरक्त पुरुषकी भाँति अकेले एकान्त स्थानमें हर्ष-गद्गद वाणीद्वारा यह उद्गार प्रकट किया।

अहो ! जैसे महाप्रलयके जलसे समस्त संसार भरा रहता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व परमात्मासे परिपूर्ण है। दुःख, जीवात्मा और सुख एवं दिशाओंसे घिरा हुआ सुमहान् आकाश—ये सब परमात्मा ही हैं, ऐसा मुझे अनुभव हो गया; अतः उसी आनन्दमय परमात्माके ज्ञानसे मेरे सारे दुःख नष्ट हो गये हैं। बाह्य एवं आभ्यन्तर भावोंसे युक्त इस देहमें, ऊपर-नीचे और पूर्व आदि दिशाओंमें तथा इधर-उधर परमात्मा ही हैं। परमात्माके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु कहीं नहीं है *। सभी जगह परमात्मा स्थित हैं। सब कुछ परमात्ममय ही है। यह सब जगत् परमात्मा ही है, अतः मैं सदा परमात्मामें ही स्थित हूँ। मैं नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मस्वरूप हूँ और एकार्णवके समान सर्वत्र सुखपूर्वक विराजमान हूँ—इस प्रकारकी भावना करके क्रमशः घण्टानादकी तरह ओंकारका उच्चारण करते हुए वे उस मेरु पर्वतके कुञ्जमें बैठे रहे। श्रीराम ! वे कल्पनारूपी कलङ्कसे रहित होनेके कारण शुद्धरूपमें स्थित थे। उनके प्राणोंका स्पन्दन हृदयमें निरन्तर लीन था और वे शरत्कालके मेघरहित आकाशकी भाँति निर्विकार भावसे स्थित थे। ऐसी स्थितिमें पहुँचे हुए महात्मा कचने उपर्युक्त गाथाओंका गान किया था।

रघुनन्दन ! इस जगत्में खाने-पीने और स्त्री-समागमके अतिरिक्त उत्तम पुरुषार्थरूप शुभ वस्तु कुछ भी नहीं है—अज्ञानियोंके इस कथनपर विचार करके परम पदमें आरूढ़ हुआ महान् पुरुष यहाँ किस वस्तुकी वाञ्छा कर सकता है ? जो मूढ़ एवं असाधु पुरुष कृपणोंके सर्वस्वभूत—आदि, मध्य एवं अन्तमें भी विनाशशील भोगोंद्वारा संतुष्ट होते हैं, वे पशुओं और पक्षियोंके समान गये-बीते हैं। जो संसारमें इन मिथ्या विषयभोगोंको सत् मानते हैं—इनकी स्थिरतापर विश्वास करते हैं, वे मनुष्योंमें गदहोंके समान हैं, उनका जीवन व्यर्थ है। सारी पृथ्वी मिट्टी ही है। समस्त वृक्ष काष्ठमय ही हैं और सभी शरीर हड्डी-मांसके पुतले ही हैं। नीचे पृथ्वी है तथा ऊपर और आगे-पीछे आकाश है; फिर यहाँ सुख देनेके लिये कौन-सी अपूर्व वस्तु है ? उत्पन्न और विनष्ट होनेवाली, अनित्य तथा मन और इन्द्रियोंके संयोगसे प्रकट हुए समस्त भोग वास्तवमें मिथ्या ही हैं। हड्डियोंके समूहको अपने शरीरकी संज्ञा देनेवाले पुरुषके द्वारा अपनी प्रेयसी कहकर एक रक्त-मांसकी पुतलीका सादर आलिङ्गन किया जाता है। यह संसारको मोहित करनेवाले कामका ही क्रीडा-विलास है। श्रीराम ! यह सारा जगत् मूढ़ पुरुषोंकी दृष्टिमें ही सत्य और स्थिर है। उन अज्ञानी मनुष्योंके लिये ही यह संतोषदायक होता है। विवेकशील

* इस विषयमें श्रुतिका भी कथन है—आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति (छा० उ० ७ । २५ । २)। अर्थात् परमात्मा ही नीचे है, परमात्मा ही ऊपर है, परमात्मा ही पीछे है, परमात्मा ही आगे है, परमात्मा ही दायीं ओर है, परमात्मा ही बायीं ओर है और परमात्मा ही यह सब है।

एवं विरक्तको इससे संतोष नहीं प्राप्त होता; क्योंकि उनकी दृष्टिमें यह समस्त संसार क्षणभङ्गुर एवं विनाशशील है। भोगोंकी वासना ऐसी विषैली होती है कि उन विषयोंका उपभोग न करनेपर भी विषकी तरह मूर्च्छा (मोह) पैदा कर देती है।

महाबाहु श्रीराम! सृष्टिकी व्यवस्था करनेवाले पितामह भगवान् ब्रह्मा जब समाधिसे उत्थित होते हैं, जब यह जगत्‌रूपी जीर्ण घटीयन्त्र अपनी व्यवस्थाके अनुसार चालू होता है और प्राणीरूपी घट वासनारूपी रस्सीसे बँधकर जीवनकी इच्छासे अपने कर्मानुसार नीचे-ऊपर आने-जाने लगते हैं, तबसे निरन्तर कुछ जीव इस भवकूपसे निकलते हैं और कुछ इसके भीतर प्रवेश करते हैं। श्रीराम! अनादि-अनन्त ब्रह्मपदसे उत्पन्न हुए जीव-समुदाय उसी तरह ब्रह्ममें स्थित हैं, जैसे तरङ्गोंके समूह समुद्रमें। पुण्यात्मा रघुनन्दन! संसारमें उत्पन्न हुए जो-जो पुरुष केवल सात्त्विक भावसे सम्पन्न हैं, वे फिर कभी यहाँ जन्म ग्रहण नहीं करते—सर्वथा मुक्त हो जाते हैं; परंतु जो सत्त्वगुणप्रधान राजस-प्रकृतिके पुरुष हैं, उनका इस जगत्‌में पुनर्जन्म लेना सम्भव है। जो परमात्मासे अधिकार प्राप्त करके प्रधानरूपसे यहाँ आते हैं, ऐसे महान् गुणशाली पुरुष संसारमें दुर्लभ हैं।

(सर्ग ५८—६०)

राजस-सात्त्विकी कर्मोपासनासे भूतलपर उत्पन्न हुए पुरुषोंकी स्थितिका वर्णन; जगत्‌की अनित्यता एवं परमात्माकी सर्वव्यापकताकी भावनाके लिये उपदेश; श्रीरामके आदर्श गुणोंको अपनाने एवं पौरुष-प्रयत्न करनेसे जीवन्मुक्त पदकी प्राप्तिका कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जो पूर्वजन्मकी राजस-सात्त्विकी कर्मोपासनासे भूतलपर उत्पन्न हुए हैं, वे महान् गुणशाली पुरुष आकाशमें प्रकाशित चन्द्रमाके समान सदा मनोहर कान्तिसे युक्त एवं आनन्दमग्न रहते हैं। जैसे आकाशका भाग मेघ आदिसे मलिन नहीं होता, उसी प्रकार वे सांसारिक दुःखोंसे दुखी नहीं होते। जैसे सुवर्णनिर्मित कमल रात्रिमें संकुचित या मलिन नहीं होता, उसी प्रकार वे आपत्तिमें पड़नेपर भी शोकसे कातर नहीं होते। जैसे स्थावर वृक्ष आदि प्रारब्धभोगके अतिरिक्त दूसरी कोई चेष्टा नहीं करते, उसी प्रकार वे भी ज्ञान और ज्ञानके साधनोंके अतिरिक्त और कोई चेष्टा नहीं करते। जैसे वृक्ष अपने पुष्प और फल आदिसे सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार वे भी अपने सदाचारोंसे शोभायमान होते हैं। जैसे चन्द्रमा क्षीण होनेपर भी कभी शीतलताका त्याग नहीं करता, उसी प्रकार वे आपत्तिकालमें भी अपने सौम्य स्वभावको नहीं छोड़ते। मैत्री * आदि गुणोंसे कमनीयताको प्राप्त हुई अपनी प्रकृतिसे ही वे नूतन पुष्पगुच्छोंसे विभूषित लतासे शोभायमान वनके वृक्षोंकी भाँति अद्भुत शोभा पाते हैं। वे पुरुष सबपर समान भाव रखते, समतारूप रसका अनुभव करते, सदा सौम्यभावका आश्रय लेते, साधुओंसे भी बढ़कर साधु होते और अपनी मर्यादामें स्थित रहनेवाले समुद्रकी भाँति शास्त्र-मर्यादामें स्थित रहते हैं। अतः महाबाहो! आपत्तियोंकी पहुँचसे परे जो उनका पद (स्थान) है, उसकी ओर सदा चलना चाहिये। मनुष्यको इस जगत्‌में सत्त्वगुणप्रधान राजस पुरुषोंकी भाँति ऐसा बर्ताव तथा सत्-शास्त्रोंका विचार करना चाहिये, जिससे परमात्माकी प्राप्ति हो। इस प्रकार भावना करनेवाले पुरुषको सब वस्तुओंकी अनित्यताका भी विचार करना चाहिये। विशुद्ध बुद्धिवाला पुरुष अज्ञानको बढ़ानेवाले मिथ्याभूत अनात्मदर्शनका त्याग करके सांसारिक पदार्थोंके विषयमें यह भावना करे कि ये सब-के-सब आपत्ति ही हैं; उनमें सम्पत्तिभावना कभी न करे। उस

* योगदर्शनमें बताया गया है—'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।' (यो० द० १। ३३) 'सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापात्माओंके प्रति क्रमशः मित्रता, दया, प्रसन्नता और उपेक्षाकी भावनासे चित्त शुद्ध होता है।'

परम पुरुषार्थरूप अनन्त नित्य-विज्ञानानन्दघन ब्रह्मका भलीभाँति चिन्तन करना चाहिये। कर्मोंमें अत्यन्त आसक्त नहीं होना चाहिये और अनर्थकारी जन-समुदायके साथ कभी नहीं रहना चाहिये। 'संसारकी सभी वस्तुओंके साथ सम्बन्ध-विच्छेद अवश्यम्भावी है' ऐसा विचार करके सदा श्रेष्ठ पुरुषोंका ही अनुसरण अथवा (अनुकरण) करना चाहिये। जैसे सूतमें मनके पिरोये होते हैं, उसी प्रकार उस नित्य विस्तृत सर्वव्यापी सर्वभावित शिवस्वरूप परमपद (परमात्मा) में यह समस्त जगत् पिरोया हुआ है (अर्थात् इस सम्पूर्ण जगत्में परमात्मा व्याप्त हैं)। जो चेतन परमात्मा विशाल भुवनमण्डलको विभूषित करनेवाले आकाशवर्ती सूर्यदेवमें विराजमान हैं, वे ही धरतीमें बिलके भीतर रहनेवाले कीड़ेके पेटमें भी हैं। निष्पाप रघुनन्दन! जैसे यहाँ घटाकाशोंका महाकाशसे वास्तविक भेद नहीं है, उसी प्रकार शरीरवर्ती जीवोंका परमात्मासे परमार्थतः भेद नहीं है। श्रीराम! जो उत्पन्न होकर विलीन हो जाती है, वह वस्तु वास्तवमें है ही नहीं। अतः यह जड संसार प्रतीतिमात्र है। यह सदा स्थिर नहीं रहता, इसलिये इसे सत् नहीं कहा जा सकता। किंतु प्रतीत होता है, इसलिये इसे असत् भी नहीं कहा जा सकता। अतएव यह अनिर्वचनीय है।

पहले विवेक और विचारसे युक्त धीर साधक शास्त्रके अनुसार परम बुद्धिमान् तत्त्वज्ञानी श्रेष्ठ महापुरुषोंसे मिलकर उनके साथ सत्शास्त्र-विषयक विचार करे। विषय-तृष्णासे रहित तत्त्वज्ञानसम्पन्न साधु महापुरुषके साथ परमात्मविषयक विचार करके परमात्माका ध्यान करनेसे परमपद प्राप्त होता है। शास्त्रोंके विचार, महापुरुषोंके सङ्ग, वैराग्य और अभ्यासरूप सत्कार्यसे युक्त पुरुष परमात्माके ज्ञानका पात्र होकर तुम्हारे समान शोभा पाता है। तुम ज्ञानवान् तथा नाना प्रकारके दिव्यगुणोंकी खान हो। तुम्हारा आचार व्यवहार उदार है तथा तुम समस्त दोषोंसे रहित एवं दुःखहीन परमपदमें स्थित हो। तुम उत्तम अनुभवसे सम्पन्न हो। अतः इस समय संसारमें पूर्वोक्त साधक मनुष्य राग-द्वेषहीन व्यवहारद्वारा तुम्हारी चेष्टाका अनुसरण करेंगे। जो लोकोचित आचारसे युक्त हो बाहर विचरण करेंगे, वे ज्ञानरूपी नौकासे युक्त बुद्धिमान् पुरुष संसार-सागरसे पार हो जायँगे। जो तुम्हारे समान विशुद्ध बुद्धिसे युक्त और समदर्शी है, वह उत्तम दृष्टिवाला सत्पुरुष मेरी बतायी हुई ज्ञानदृष्टियोंको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। जबतक तुम्हारा शरीर है, तबतक राग-द्वेष और इच्छा आदिसे रहित हो शास्त्रके अनुसार आचरण करते हुए स्थित रहो। शुद्ध सात्त्विक जन्मवाले जीवन्मुक्त पुरुषोंके जो परम सत्य एवं स्वाभाविक शम, दम आदि गुण हैं, उनका सेवन करता हुआ साधारण पुरुष भी मरकर दूसरे जन्ममें जीवन्मुक्त-पदको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि जीव इस जगत्में जिन जाति गुणोंका सदा सेवन करता है, दूसरे जन्ममें उत्पन्न होकर वह उसके अनुसार उसी जातिको प्राप्त होता है। (तात्पर्य यह कि उत्कृष्ट जातिके गुणोंका सेवन करनेपर वह उत्तम जातिमें जन्म पाता है। और अधम जातिके गुणोंका सेवन करनेपर अधम जातिमें ही जन्म ग्रहण करता है।) कर्मोंके अधीन हुए जीव पूर्वजन्मके सब भावोंको कर्मोंके अनुसार ही पाते हैं। पर्वतोंको भी लोग पराक्रमसे जीत लेते हैं, इसलिये मनुष्यको आत्मकल्याणके लिये तत्परतापूर्वक परम पुरुषार्थ करना चाहिये। जीव सात्त्विक, राजस और तामस—किसी भी योनिमें क्यों न उत्पन्न हुआ हो, उसे कीचड़में फँसी हुई भोली-भाली गायकी तरह अपनी बुद्धिका धैर्यके साथ परम उद्योगपूर्वक संसाररूपी पङ्कसे उद्धार करना चाहिये। पुरुषोचित प्रयत्नसे ही उत्तमोत्तम गुणोंद्वारा सुशोभित होनेवाले मुमुक्षु पुरुष दूसरे जन्ममें जीवन्मुक्त-पदको प्राप्त होते हैं। पृथ्वीपर, स्वर्गमें, देवताओंमें अथवा अन्यत्र भी कहीं कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे स्वगुणसम्पन्न पुरुष अपने पुरुषार्थ या प्रयत्नसे प्राप्त न कर सके। (सर्ग ६१-६२)

स्थिति-प्रकरण सम्पूर्ण

उपशम-प्रकरण

श्रीवसिष्ठजीका मध्याह्नकालमें प्रवचन समाप्त करके सबको विदा देनेके पश्चात् अपने आश्रममें जाना और दैनिक कर्मके अनुष्ठानमें तत्पर होना

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—वत्स भरद्वाज ! राजा दशरथकी वह सुन्दर सभा शरद्-ऋतुमें तारोंसे भरे हुए आकाशकी भाँति निश्चल थी। महर्षि वसिष्ठ हृदयको आह्लाद प्रदान करनेवाला परम पवित्र प्रवचन कर रहे थे। श्रीरामचन्द्रजी प्रातःकालके प्रफुल्ल पङ्कजकी भाँति प्रसन्नतासे खिल उठे थे। महाराज दशरथ वसिष्ठजीके वचनोंको उसी तरह रसके साथ सुन रहे थे, जैसे मयूर वृष्टिके कारण हुई आर्द्रतासे युक्त हो मेघ-गर्जनकी मधुर ध्वनिको सुनते रहते हैं। उनके मन्त्री भी अपने चञ्चल मनको समस्त भोगोंसे हटाकर दृढ़ प्रयत्नके द्वारा उपदेश-श्रवणमें लगे हुए थे। चन्द्रमाकी कलाके समान निर्मल लक्ष्मण वसिष्ठजीके उपदेश-वचनोंसे आत्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर चुके थे। उनके हृदयमें लक्ष्यभूत ब्रह्मका स्फुरण हो रहा था तथा वे शिक्षाबलसे विचक्षण हो गये थे। शत्रुओंका दमन करनेवाले शत्रुघ्न भी चित्तके द्वारा पूर्णताको प्राप्त हो चुके थे और पूर्ण आनन्दको प्राप्त हो पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति सुशोभित हो रहे थे। मन्त्री सुमित्रके हृदयमें पहले दुःखोंकी ही चिन्ता बनी रहती थी, परंतु वह उपदेश सुनकर सुमित्र मित्रभाव (सूर्यस्वरूपता) को प्राप्त हो गये। उनका हृदय-पङ्कज सूर्योदयकालके कमलकी भाँति खिल उठा। वहाँ बैठे हुए दूसरे-दूसरे ऋषियों तथा राजाओंके चित्तरूपी रत्न भलीभाँति घुल गये थे। उनमें विवेकजनित उल्लास-सा छा गया था। इतनेमें ही दसों दिशाओंको पूर्ण करती हुई मध्याह्नकालीन शङ्खध्वनि प्रकट हुई, जो प्रलयकालके मेघोंकी गर्जनाके समान गम्भीर और महासागरकी जलराशिके उद्घोषकी भाँति दूरतक सुनायी देनेवाली थी। वह शङ्खनाद सुनते ही महर्षिने अपना प्रवचन बंद कर दिया। दो घडीतक विश्राम कर लेनेके पश्चात् जब वह घनीभूत कोलाहल शान्त हो गया, तब वसिष्ठ मुनि पुनः श्रीरामचन्द्रजीसे बोले—'रघुनन्दन ! आजका दैनिक प्रवचन यहींतक कहा जा सका है। शत्रुसूदन ! इसके बाद जो कुछ कहना है, उसे मैं कल प्रातःकाल कहूँगा। मध्याह्नकालमें नियमतः करने योग्य जो कर्तव्य द्विजातियोंके लिये प्राप्त है, उसे हमलोगोंको भी करना चाहिये, जिससे वह कर्म-परम्परा नष्ट न हो जाय। अतः सौभाग्यशाली राजकुमार ! तुम भी उठो। आचारचतुर श्रीराम ! स्नान, दान और पूजन आदि समस्त आचारों तथा सत्कर्मोंका अनुष्ठान करो।'

यों कहकर महर्षि वसिष्ठ उठ गये। साथ ही राजा दशरथ भी सभासदोंसहित उठकर खड़े हो गये। राजालोग महाराज दशरथको प्रणाम करके राजभवनसे

बाहर निकले। फिर सुमन्त्र और दूसरे-दूसरे मन्त्री महर्षि वसिष्ठ तथा राजा दशरथको प्रणाम करके स्नान आदिके लिये चले गये। तदनन्तर नारदेव और विश्वामित्र आदि ऋषि-महर्षि वसिष्ठको आगे करके उनकी आज्ञाकी प्रतीक्षामें खड़े रहे। शत्रुओंका दमन करनेवाले राजा दशरथ मुनिसमुदायका सत्कार करके उनसे विदा ले अपने कार्यका सम्पादन करनेके लिये चले गये।

वनवासी मुनि वनमें और पुरवासी मनुष्य नगरमें दूसरे दिन प्रातःकाल लौटनेके लिये चले गये। राजा दशरथ और वसिष्ठ मुनिके प्रेमपूर्वक अनुरोध करनेपर विश्वामित्रने वसिष्ठजीके घरमें रात्रि बितायी। श्रेष्ठ ब्राह्मणों, राजाओं, मुनियों तथा श्रीराम आदि समस्त दशरथ-राजकुमारोंसे घिरे हुए सर्वलोकवन्दित श्रीमान् वसिष्ठजी—उसी तरह अपने आश्रमको गये, जैसे कमलयोनि ब्रह्मा देव-समुदायके साथ ब्रह्मलोकमें पदार्पण करते हैं। तत्पश्चात् अपने चरणोंपर गिरे हुए श्रीराम आदि समस्त दशरथ-राजकुमारोंको वसिष्ठजीने अपने आश्रमसे विदा किया और अपने घरमें प्रवेश करके उन उदारचेता महर्षिने द्विजजनोचित दैनिक कृत्य—पञ्च महायज्ञोंका अनुष्ठान सम्पन्न किया।

(सर्ग १)

श्रीराम आदि राजकुमारोंकी तात्कालिक दिनचर्या, वसिष्ठजी तथा अन्य सभासदोंका पुनः सभामें प्रवेश, राजा दशरथद्वारा मुनिके उपदेशकी प्रशंसा तथा श्रीरामकी उनसे पुनः उपदेश देनेके लिये प्रार्थना

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! चन्द्रमाके समान मनोरम कान्तिवाले उन राजकुमारोंने घरमें जाकर अपने-अपने भवनमें समस्त आह्निक कृत्य पूर्णरूपसे सम्पन्न किया। महर्षि वसिष्ठ, महाराज दशरथ, अन्यान्य राजा, मुनि तथा ब्राह्मणोंने अपने-अपने घरों तथा गलियोंमें अपने-अपने कार्योंका इस प्रकार सम्पादन किया। उन सबने जलाशयोंमें स्नान किया और ब्राह्मणोंको अपनी शक्तिके अनुसार गौ, भूमि, तिल, सुवर्ण, शय्या,

आसन, वस्त्र और बर्तन आदिका दान दिया। सुवर्ण

और मणियोंसे जटित होनेके कारण विचित्र शोभा धारण करनेवाले अपने घरों और देवालयोंमें उन्होंने भगवान् विष्णु, शंकर, अग्नि और सूर्य आदि देवताओंका पूजन

किया। तत्पश्चात् पुत्र, पौत्र, सुहृद्, सखा, भृत्य और बन्धु-बान्धवोंके साथ अपनी रुचिके अनुरूप भोज्य पदार्थोंका आस्वादन किया। फिर सायंकालतकका समय उन्होंने तत्कालोचित चेष्टा (पुराण एवं धर्मशास्त्रके श्रवण आदि) के द्वारा व्यतीत किया। सूर्यास्त होनेपर उन्होंने विधिपूर्वक संध्या-वन्दन, अघमर्षण-मन्त्रोंका जप, पवित्र स्तोत्रोंका पाठ और मनोहर गाथाओंका गान किया। फिर धीरे-धीरे वे रघुवंशी राजकुमार दीर्घ चन्द्रबिम्बके समान रमणीय शय्याओंपर, जहाँ फूल बिछाये गये थे और मुट्ठियोंसे कपूरका चूर्ण बिखेरा गया था, सोये।

तदनन्तर प्रातःकालके तूर्यघोषके साथ चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखवाले श्रीरामचन्द्रजी शय्यासे उठे, मानो कमलमण्डित सरोवरसे प्रफुल्ल कमल प्रकट हो गया हो। तत्पश्चात् प्रातःकालकी स्नानविधि सम्पन्न करके सन्ध्या-वन्दन आदिसे निवृत्त हो थोड़े-से परिजनोंके आगे भेजकर पीछे स्वयं श्रीराम भी भाइयोंके साथ वसिष्ठजीके निवासस्थानपर गये। मुनिवर वसिष्ठ एकान्तमें समाधि लगाये बैठे थे और परमात्मका चिन्तन कर रहे थे। श्रीरामने

दूरसे ही कंधा झुकाकर मुनिको प्रणाम किया। उन्हें प्रणाम करके वे विनययुक्त राजकुमार तबतक उस आँगनमें खड़े रहे, जबतक अन्धकारका नाश होकर दिगङ्गनाओंका मुखमण्डल स्पष्ट दिखायी न देने लगा।

तदनन्तर अनेक राजा, राजकुमार, ऋषि और ब्राह्मण मौनभावसे वसिष्ठजीके निवासस्थानपर आये। ऐसा लगता था मानो देवता लोग ब्रह्मलोकमें एकत्र हो रहे हों। वसिष्ठजीका वह निवासस्थान समागत जन-समुदायसे भर गया और राजाओंके संचरणसे राजभवनके समान सुशोभित होने लगा। फिर एक ही क्षणमें भगवान् वसिष्ठ समाधिसे विरत हुए और अपने चरणोंमें प्रणत हुए लोगोंको उचित आचार एवं उपचारसे अनुगृहीत करने लगे। तत्पश्चात् मुनियों और विश्वामित्रजीके साथ श्रीमान् मुनिवर वसिष्ठ उसी प्रकार सहसा रथपर आरूढ़ हुए, जैसे कमलयोनि ब्रह्मा

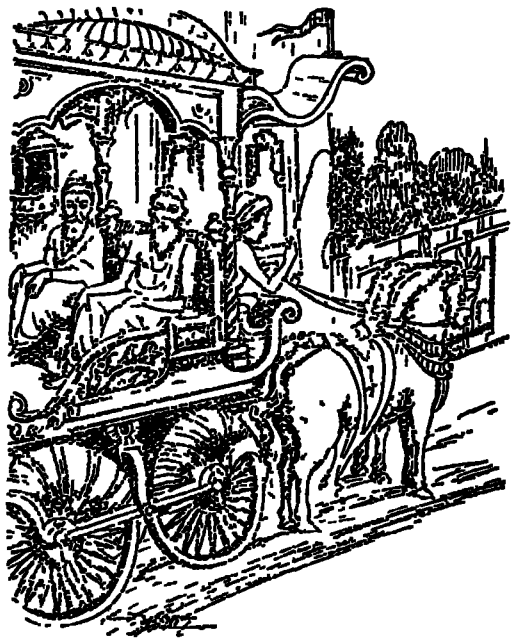

कमलके आसनपर विराजमान हुए हों। राजाके महलमें पहुँचकर उन्होंने नतमस्तक हुई राजा दशरथकी उस रमणीय सभामें प्रवेश किया। उस समय महावीर राजा दशरथ तुरंत अपने सिंहासनसे उठकर मुनिके स्वागतार्थ तीन पग आगे बढ़ आये थे। तदनन्तर वहाँ दशरथ आदि समस्त नरेशों, वसिष्ठ आदि ऋषियों, ब्राह्मणों, सुमन्त्र आदि मन्त्रियों, सौम्य आदि विद्वानों, श्रीराम आदि राजकुमारों, शुभ आदि मन्त्रिपुत्रों, मन्त्री आदि प्रकृतियों, सुहोत्र आदि नागरिकों, मालव आदि भृत्यों तथा पौर आदि मालियोंने सभामें प्रवेश किया।

तत्पश्चात् जब वे सब-के-सब अपने-अपने आसनपर बैठ गये, उन सबकी दृष्टि वसिष्ठजीके मुखकी ओर लग गयी और सभाका कोलाहल शान्त हो गया, तब राजा दशरथने मेघ-गर्जनके समान गम्भीर वाणीद्वारा मुनिके उपदेशमें विश्वास प्रकट करनेवाली पदावलियोंसे युक्त यह सुन्दर वचन मुनीश्वर वसिष्ठजीसे कहा—'भगवन्! कल आपने जो आनन्ददायिनी विशद वचनावली सुनायी थी, उससे हमलोगोंको ऐसा आश्वासन मिला मानो हमारे ऊपर अमृतराशिकी वर्षा हुई हो। जैसे अमृतराशिसे पूर्ण चन्द्रमाकी निर्मल किरणें अन्धकार-को हटाकर अन्तःकरणको शीतल कर देती हैं; उसी प्रकार आप-जैसे महात्माओंके अमृततुल्य मधुर और निर्मल ये उपदेश-वाक्य अज्ञानान्धकारको दूर करके श्रोताओंके अन्तःकरणको परम शान्ति प्रदान करते हैं। जैसे शीतरश्मि शशिकी किरणें अन्धकार-राशिको दूर कर देती हैं, उसी तरह सज्जनोंके सदुपदेश मनके दुर्विचारों तथा शरीरकी सारी दुश्चेष्टाओंको मिटा देते हैं। मुने! जैसे शरदृतुमें वर्षाके काले मेघ क्षीण होने लगते हैं, उसी प्रकार हमारे तृष्णा और लोभ आदि दोष जो संसारमें बाँधनेके लिये शृङ्खलारूप हैं, आपके उपदेश-वाक्यसे क्षीण हो चले हैं। आपके उपदेशरूपी शरदृतुसे हमारे हृदयाकाशमें स्थित संसार-वासना नामक कुहरा अब क्षीण होने लगा है।'

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! महामते! मैंने पूर्वापर-विचारसे युक्त जो वाक्यार्थ तुम्हारे समक्ष उपस्थित किया था, क्या तुम्हें उसका स्मरण है? साधुवादके एकमात्र भाजन साधुपुरुष! क्या तुम्हें स्मरण है कि यह जगत् सर्वशक्तिसम्पन्न परब्रह्म परमात्मासे किस प्रकार प्रकट हुआ है? अनघ! बारंबार विचारपूर्वक हृदयमें दृढ़तापूर्वक स्थापित किया हुआ तत्त्वज्ञान मनुष्यको मोक्षरूप सिद्धि देता है, किन्तु जिसने उपदेशसे प्राप्त हुए तत्त्वचिन्तनको अवहेलनावश नष्ट कर दिया—

मुला दिया, उस मनुष्यको उससे मोक्षरूपी फल नहीं प्राप्त होता । रघुनन्दन ! जैसे विशाल वक्ष स्थलवाला धनवान् पुरुष अपने कण्ठमें उत्तम जातिके मोतियोंकी माला धारण करनेका अधिकारी होता है, उसी प्रकार जिसका हृदय विवेकसे सम्पन्न है, वह तुम्हारे-जैसा पुरुष ही सुविचारित एवं विशुद्ध उपदेश-वचनोंका योग्य पात्र होता है ।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! कमलासन ब्रह्माजीके पुत्र महातेजस्वी श्रीवसिष्ठ मुनिने जब श्रीरामचन्द्रजीको इस प्रकार कुछ बोलनेका अवसर दिया, तब वे इस प्रकार बोले ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन् ! सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता मुनीश्वर ! मैं परम उदार होकर जो आपके उपदेशको समझ सका हूँ, यह आपके ही प्रभावका विस्तार है । आप मेरे लिये जो-जो आदेश देते हैं, वह सब मैं उसी रूपमें ग्रहण करता हूँ, उसके विपरीत कुछ नहीं करता । उदारहृदय महर्षे ! आपने पहले जो मनोहर, पुण्यमय और पवित्र उपदेश दिया है, वह सब मैंने अपने अन्तःकरणमें क्रमशः धारण कर लिया है—ठीक उसी तरह, जैसे कोई सुन्दर और पवित्र रत्नसमूहको मालाके रूपमें गूँथकर अपने कण्ठमें धारण कर ले । आपका अनुशासन हितकारक, मनोरम, पुण्यदायक और परमानन्द-प्राप्तिका साधन है । भला, कौन ऐसे सिद्ध पुरुष हैं, जो इसे शिरोधार्य नहीं करेंगे । आपका यह पवित्र उपदेश पहले श्रवणकालमें ही परम मधुर लगता है, फिर मध्यकालमें—मनन और निदिध्यासनके समय शम आदिके सौभाग्यकी वृद्धि करता है तथा अन्तमें परम उत्तम मोक्षरूपी फलकी प्राप्ति करानेवाला होता है । आपका उपदेश कल्पवृक्षके पुष्पकी भाँति सदा विकासयुक्त, उज्ज्वल, अम्लान, शुभ और अशुभ—देव दानव, सभीको आनन्दमय बना देनेवाला और अक्षय शोभासे सम्पन्न है । यह हम सब लोगोंको अभीष्ट फल देनेवाला हो । भगवन् ! आप सम्पूर्ण शास्त्रोंके विचारमें विशारद हैं । विस्तृत पुण्यरूपी जलराशिके एकमात्र महान् सरोवर हैं । महान् व्रतधारी और पाप-तापसे रहित हैं । इस समय मेरे प्रति आप पुनः अपनी उपदेश-वाणीके प्रवाहका प्रसार कीजिये—सदुपदेशरूपी अमृतका निर्झर बहाइये । (सर्ग २—४)

संसाररूपी मायाका मिथ्यात्व, साधनाका क्रम, आत्माके अज्ञानसे दुःख और ज्ञानसे ही सुखका कथन, आत्माकी निर्लेपता और जगत्‌की असत्ताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजीने कहा—परम सुन्दर आकृतिवाले रघुनन्दन ! अब तुम सावधान होकर इस उपशम-प्रकरणको सुनो, जो उत्तम सिद्धान्तोंके कारण सुन्दर और मोक्षप्रद होनेके कारण हितकारक है । श्रीराम ! जैसे सुदृढ खंभे मण्डपको धारण करते हैं, उसी तरह राजस-तामस जीव सदा इस विशाल संसार-मायाको धारण करते हैं । शास्त्रोंके अभ्यास, साधु-पुरुषोंके सङ्ग तथा सत्कर्मोंके अनुष्ठानसे जिनके पाप नष्ट हो गये हैं, उन्हीं पुरुषोंके अन्तःकरणमें प्रज्वलित दीपकके समान सार वस्तुका दर्शन करानेवाली उत्तम बुद्धि उत्पन्न होती है । स्वयं ही विवेक-विचारद्वारा अपने स्वरूपकी पर्यालोचना करके जबतक उसका यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त किया जाता, तबतक ज्ञेय वस्तुकी उपलब्धि नहीं होती । जो वस्तु आदि और अन्तमें भी नहीं है, उसकी सत्यता कैसी ? जो वस्तु आदि और अन्तमें भी नित्य है, वही सत्य है, दूसरी नहीं । आदि और अन्तमें भी जिसकी सत्ता नहीं है, ऐसी मिथ्या वस्तुमें जिसका मन आसक्त होता है, उस मूढ पशुतुल्य जन्तुके हृदयमें किस उपायसे विवेक पैदा किया जा सकता है ?

रघुनन्दन ! पहले शास्त्रके अभ्याससे, उत्तम वैराग्यसे तथा सत्पुरुषोंके सङ्गसे मनको पवित्र करना चाहिये। सौजन्यसे युक्त चित्त जब वैराग्यको प्राप्त हो जाय, तब शास्त्रोंके ज्ञान-विज्ञानसे गौरवशाली गुरुजनोंका अनुसरण करना चाहिये। फिर गुरुदेवके बताये हुए मार्गसे पहले सगुण परमेश्वरका ध्यान-पूजन आदि करे। यों करनेसे साधक उस परम पावन परमात्मपदको प्राप्त होता है। अपने अन्तःकरणमें निर्मल विचारके द्वारा स्वयं ही आत्माका साक्षात्कार करे। मनुष्य तबतक संसाररूपी महासागरमें तिनकेके समान बहता रहता है, जबतक वह बुद्धिरूपी नौकाद्वारा विचाररूपी तटपर पहुँचकर स्थिर नहीं हो जाता। जिसने विवेक-विचारके द्वारा जानने योग्य वस्तुको जान लिया है, उस पुरुषकी बुद्धि उसकी सारी मानसिक चिन्ताओंको उसी तरह शान्त कर देती है, जैसे सुस्थिर जल बालूके कणोंको नीचे दबा देता है। जैसे सुवर्णका ज्ञान रखनेवाला सुनार राखमें पड़े हुए सोनेको 'यह सोना है, यह राख है' इस तरह साफ-साफ समझ लेता है, अतः उसे सुवर्णकी अप्राप्तिके कारण होनेवाला मोह नहीं सताता, उसी तरह यह जीव चिरकालतक विचारद्वारा अपने स्वरूपका परिज्ञान कर लेनेपर स्वतः अपने अविनाशी स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है। इस दशामें उसके लिये यहाँ मोहका अवसर ही कहाँ रह जाता है। जिस पुरुषने तत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त किया है, उसका मन यदि मोहग्रस्त होता है तो हो। किंतु जिसे सारतत्त्वका यथार्थ ज्ञान हो चुका है, उसमें तो मूढ़ताकी सम्भावना ही नहीं है—यह बात निश्चित रूपसे कही जा सकती है। जगत्के लोगो ! जिसका यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ, वह आत्मा ही तुम्हारे दुःखोंकी सिद्धिका कारण है। यदि उसका ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय तो वह तुम्हें अक्षय सुख एवं शान्ति दे सकता है। मनुष्यो ! जिसने आत्मापर आवरण डाल रक्खा है, ऐसे इस शरीरसे मिले-जुले हुए-से अपने आत्माका विवेकद्वारा साक्षात्कार करके तुमलोग शीघ्र स्वस्थ हो जाओ। मानवो ! जैसे कीचड़में गिरे होनेपर भी सोनेका उस कीचड़के साथ तनिक भी सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार इस निर्मल आत्माका देहके साथ थोड़ा-सा भी सम्बन्ध नहीं है। प्रबुद्ध हुआ मन जब अपनी पारमार्थिक स्थितिको मिथ्याभूत प्रपञ्चसे पृथक् करके देखता है, तब हृदयका अज्ञानान्धकार उसी प्रकार भाग जाता है, जैसे सूर्योदय होनेपर रात्रिका अँधेरा दूर हो जाता है।

जैसे धूलसे आकाश और जलसे कमल लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार शरीरोंसे सम्बन्ध होनेपर भी आत्मा उनसे लिप्त नहीं होता। जैसे नेत्रदोषके कारण आकाशमें बिन्दुओंके समान आकृतिवाले तिरमिरे दिखायी देते हैं और आकाशके निर्मल होनेपर भी उसमें मलिनताकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार आत्मामें सुख-दुःखका अनुभव मलिन बुद्धि-वृत्तिरूप अज्ञानके कारण ही होता है। सुख और दुःख न तो जड देहके धर्म हैं और न सर्वातीत विशुद्ध आत्माके। ये अज्ञानके कारण ही अज्ञानीके अनुभवमें आते हैं और यथार्थ ज्ञानके द्वारा अज्ञानका नाश हो जानेपर किसीके भी अनुभवमें नहीं आते। रघुनन्दन ! वास्तवमें न तो किसीको कुछ सुख है और न किसीको कुछ दुःख ही है। सबको शान्त, अनन्त आत्मस्वरूप ही देखो। ये जो विस्तृत सृष्टियोंके दर्शन होते हैं, इन्हें जलमें तरङ्गों और आकाशमें मोरपंखोंके समान आत्मामें ही देखना चाहिये। अर्थात् जैसे जल ही तरङ्गरूपमें दीखता है, उसी प्रकार ब्रह्म ही जगत्के रूपमें दृष्टिगोचर होता है तथा जैसे नेत्रोंके दोषसे मनुष्यको आकाशमें मयूर-पुच्छ-सा दिखायी देता है, पर वास्तवमें वह वहाँ होता नहीं, उसी प्रकार यह संसार वस्तुतः न होनेपर भी अज्ञानके कारण परमात्मामें दीखता है। सच्ची बात तो यह है कि एकमात्र ब्रह्मके सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं।

शुद्ध बुद्धिवाले रघुनन्दन ! आत्मा और जगत् न

तो एक हैं और न अनेक ही हैं; क्योंकि जगत् असत् है अर्थात् ब्रह्मके सिवा दूसरी कोई वस्तु न होनेसे द्वैत भी नहीं है तथा ब्रह्मसे संसार पृथक् दीखता है, इसलिये एक भी नहीं कहा जा सकता। वास्तवमें अज्ञानके कारण अज्ञानी हो बिना हुए ही यह संसार प्रतीत हो रहा है। निष्पाप श्रीराम! यह सब निश्चय ही ब्रह्म है। इस प्रकार सब परमात्मा ही है। वही सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। मैं पृथक् हूँ और यह जगत् मुझसे पृथक् है, इस भ्रमपूर्ण कल्पनाका परित्याग करो। जैसे अग्निमें हिमकणकी कल्पना नहीं हो सकती, उसी प्रकार एकमात्र अद्वितीय सर्वस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मतत्त्वमें उससे भिन्न दूसरी वस्तुकी कल्पना ही नहीं हो सकती। रघुनन्दन! इस परमात्मामें न शोक है न मोह है, न जन्म है और न कोई जन्म लेनेवाला ही है। यहाँ जो है, वही है—ऐसा निश्चय करके तुम दुःख-सुख आदि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्य सत्त्वमें स्थित, योगक्षेमरहित, अद्वितीय, शोकशून्य और संतापहीन हो जाओ। परम सुन्दर श्रीराम! इस समस्त विस्तृत संसारकी रचना असत्यरूप है। इसकी असत्यताको जाननेवाला तत्त्वज्ञानी पुरुष इस मिथ्याभूत प्रपञ्चके पीछे नहीं दौड़ता। तुम तत्त्वज्ञ हो। तुम्हारी कल्पनाएँ शान्त हैं। तुम रोग-दोषसे रहित हो और नित्य प्रकाशस्वरूप हो; अतः शोकशून्य हो जाओ। अपने समस्त गुणोंसे राजाओं तथा प्रजाजनोंको आनन्दित करते हुए तुम इस भूतलपर पिताके दिये हुए इस एकच्छत्र राज्यका चिरकालतक सर्वत्र समतापूर्ण दृष्टिके द्वारा भलीभाँति पालन करते रहो। यहाँ कर्मोंका न तो त्याग उचित है और न उनमें राग होना ही उचित है। (सर्ग ५)

कर्तव्य-बुद्धिसे अनासक्त एवं सम रहकर कर्म करनेकी प्रेरणा, सकाम-कर्मीकी दुर्गति और आत्मज्ञानीकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन तथा राजा जनकके द्वारा सिद्धगीताका श्रवण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! मैं श्रुति, स्मृति और सदाचारसे युक्त समस्त व्यवहारको वासनाशून्य होकर करता हूँ—इस प्रकार जो पुरुष कर्तव्य-बुद्धिसे कार्योंमें प्रवृत्त होता है, वह मुक्त है। ऐसी मेरी मान्यता है। मानव-शरीरका आश्रय लेकर भी कोई मूढ़ पुरुष सकामभावसे कर्मोंमें रत हैं, इसलिये वे स्वर्गसे नरकमें और नरकसे पुनः स्वर्गमें आते-जाते रहते हैं। कुछ लोग न करनेयोग्य कर्मोंमें आसक्त हैं और करनेयोग्य कर्तव्यसे विरत हैं; ऐसे पुरुष मरकर नरकसे नरकको, दुःखसे दुःखको और भयसे भयको प्राप्त होते रहते हैं। उनमेंसे कितने ही जीव अपने वासनारूप तन्तुओंसे बँधे रहकर उपर्युक्त कर्मोंके फल भोगते हुए निर्यग्-योनिसे स्थावरयोनिको और स्थावरयोनिसे निर्यग्-योनिको आते-जाते रहते हैं। कोई-कोई ही मनके साक्षी आत्माका विचारके द्वारा अनुभव करके तृष्णारूपी बन्धनको तोड़कर परम कैवल्यरूप पदको प्राप्त होते हैं। ऐसे आत्मज्ञानी पुरुष धन्य हैं। ऐसे पुरुषोंका श्रेष्ठता, मनोरमता, मैत्री, सौम्यभाव, करुणा और ज्ञान आदि सद्गुण सदा ही आश्रय लेते हैं। जो पुरुष समस्त कार्योंको कर्तव्य-बुद्धिसे करता रहता है तथा उन कार्योंके फलके पुष्ट या नष्ट होनेपर सब कार्योंमें समभाव रखता हुआ हर्ष और शोकके वशीभूत नहीं होता, उसके भीतर सारे द्वन्द्व उसी तरह मिट जाते हैं, जैसे दिनमें अन्धकार।

श्रीराम! विदेह देशमें जनक नामसे प्रसिद्ध एक पराक्रमी राजा राज्य करते थे, जिनकी सारी आपत्तियाँ नष्ट हो चुकी थीं और सम्पत्तियाँ दिनों-दिन बढ़ रही थीं। उनका हृदय बड़ा उदार था। वे याचकसमूहोंके लिये कल्पवृक्ष थे (उनकी सारी इच्छाएँ पूर्ण करते थे, मित्ररूपी कमलोंको विकसित करनेके

लिये सूर्यदेवके समान थे), बन्धु-बान्धवरूपी फूलोंके विकासके लिये ऋतुराज वसन्तके तुल्य थे, ब्राह्मणरूपी कुमुदोंके लिये शीतरश्मि चन्द्रमा थे और भगवान् विष्णुके समान प्रजावर्गके पालनमें तत्पर रहनेवाले थे। एक दिनकी बात है, वे वसन्त ऋतुमें खिले हुए पुष्पोंसे सुशोभित रमणीय उपवनमें गये। उस मनोरम उद्यानमें अनुचरोंको दूर रखकर राजा पर्वतशिखरपर उगे हुए कुञ्जोंमें विचरण करने लगे। कमलनयन श्रीराम! वहाँ किसी तमाल-वनके निकुञ्जमें कुछ सिद्ध पुरुष बैठे हुए थे, जो दूसरोंको दिखायी नहीं देते थे। पर्वतों और उनकी कन्दराओंमें विचरनेवाले वे सिद्ध सदा एकान्त स्थानमें निवास करते थे। उनके मुखसे कुछ ऐसे उपदेशात्मक गीत निकले, जो श्रोताके हृदयमें परमात्मभावको जगानेवाले थे। राजाने उन गीतोंको सुना, मानो वे उन्हींपर अनुग्रह करनेके लिये गाये गये थे। उन गीतोंके भाव क्रमशः इस प्रकार हैं—

कुछ सिद्ध बोले—द्रष्टाका नेत्र आदि इन्द्रियोंद्वारा जो दृश्य—विषयके साथ संयोग होता है, उससे जो विषय-सुखकी प्रतीति होती है, उसके द्वारा बुद्धिवृत्तिमें स्वयं सहज आनन्दरूपसे जो निश्चय प्रकट होता है, वही जिसका स्वभाव है तथा जो आत्मतत्त्वके परिशोधसे निरतिशय भूमारूपमें आविर्भूत हुआ है, उस विशुद्ध आत्मा या परमात्माकी हम निश्चय समाधिके द्वारा उपासना करते हैं।

दूसरे सिद्ध बोले—वासनासहित द्रष्टा, दर्शन और दृश्यकी त्रिपुटीको त्याग देनेपर जो विशुद्ध दर्शन या ज्ञानके रूपमें प्रकाशित होता है, उस विशुद्ध आत्माकी हम उपासना करते हैं।

अन्य सिद्धोंने कहा—अस्ति और नास्ति—इन दोनों पक्षोंके बीचमें उनके साक्षीरूपसे जो सदा विद्यमान है, प्रकाशनीय वस्तुओंको प्रकाशित करनेवाले उन परमात्माकी हम उपासना करते हैं।

दूसरे सिद्ध बोले—जिसमें सब है, जिसका सब है, जिससे सब हैं, जिसके लिये यह सब है, जिसके द्वारा सब है तथा जो स्वयं ही सब कुछ है, उस परम सत्य आत्माकी हम उपासना करते हैं।

अन्य सिद्धोंने कहा—जो अकारसे लेकर हकारतक समस्त वर्णोंके रूपमें स्थित हो निरन्तर उच्चारित हो रहा है, अपने आत्मरूप उस परमात्माकी हम उपासना करते है।

दूसरे सिद्ध बोले—जो हृदय-गुफामें विराजमान दीप्तिमान् परमेश्वरको छोड़कर दूसरेका आश्रय लेते हैं, वे हाथमें आये हुए कौस्तुभ मणिको त्यागकर दूसरे तुच्छ रत्नोंकी इच्छा करते हैं।

अन्य सिद्धोंने कहा—सम्पूर्ण आशाओंका त्याग करनेपर हृदयमें स्थित ज्ञानका फलरूप यह ब्रह्म प्राप्त होता है, जिससे आशारूप विष-वल्लरीकी मूल-परम्परा ही कट जाती है।

दूसरे सिद्ध बोले—जो दुर्बुद्धि पुरुष भोग्यपदार्थोंकी अत्यन्त नीरसताको जानकर भी उनमें बारंबार अपने मनकी भावनाको बाँधता है वह मनुष्य नहीं, गदहा है।

अन्य सिद्धोंने कहा—जैसे इन्द्रने वज्रके द्वारा पर्वतोंको मारा था, उसी प्रकार बारंबार उठने और गिरनेवाले इन इन्द्रियरूपी सर्पोंपर विवेकरूपी डंडेसे प्रहार करना चाहिये।

दूसरे सिद्ध बोले—उपशम या शान्तिके पवित्र सुखको प्राप्त करना चाहिये; जो उत्तम शम (मनोनिग्रह) से सम्पन्न है, उस पुरुषका विशुद्ध चित्त ही शान्तिको प्राप्त होता है। जिसका चित्त शान्त हो गया है, उसीको अपने परमानन्दमय स्वरूपमें दीर्घकालके लिये उत्तम स्थिति प्राप्त होती है। (सर्ग ६–८)

सिद्धोंके उपदेशको सुनकर राजा जनकका एकान्तमें स्थित हो संसारकी नश्वरता एवं आत्माके विवेक-विज्ञानको सूचित करनेवाले अपने आन्तरिक उद्गार एवं निश्चयको प्रकट करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! उन सिद्धगणोंके मुखसे निकले हुए उन उपदेशात्मक गीतों (वचनों) को सुनकर राजा शीघ्र ही निर्वेदको प्राप्त हो गये । वे अपने साथके सब लोगोंको घरकी ओर खींचते हुए उस उपवनसे चले और समस्त परिवारको अपने-अपने स्थानपर छोड़कर अकेले ही अपने ऊँचे महलपर चढ़ गये । वहाँ

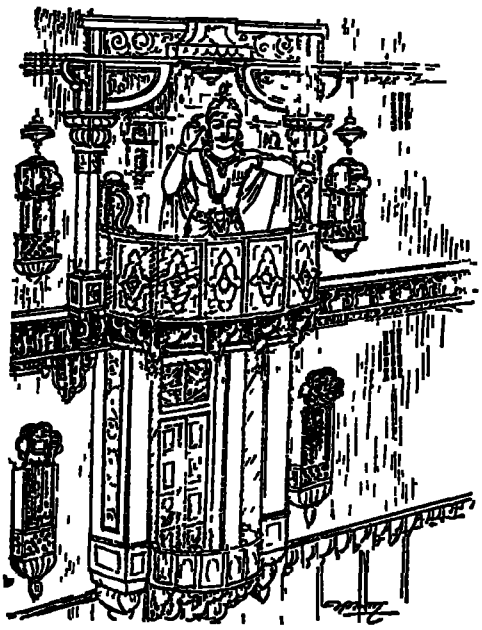

लोककी वर्तमान अवस्थाओंका अवलोकन करते हुए वे व्याकुल हो इस प्रकार अपना उद्गार प्रकट करने लगे—'हाय ! बड़े दुःखकी बात है कि जन्म, जरा, रोग और मरण आदिके कारण समस्त लोकोंकी जो अत्यन्त कष्टप्रद चञ्चल दशाएँ हैं, उन्हींमें मैं बलपूर्वक लोट-पोट रहा हूँ—आवागमनके चक्करमें पड़ा हुआ हूँ । जिस कालका कभी अन्त नहीं होता, उसका एक अत्यन्त अल्पतम अंश मेरा जीवन है । उस क्षणिक जीवनमें मैं आसक्त हो रहा हूँ, अपने मनको बाँधे रखता हूँ । केवल जीवन-कालतक रहनेवाला मेरा यह राज्य कितना है ? कुछ भी तो नहीं है ! परंतु इतनेसे ही संतुष्ट होकर मैं मूर्ख मनुष्यके समान क्यों निश्चिन्त बैठा हूँ ?—मुझे अपनी इस मूढतापर दुःख क्यों नहीं होता ? इस जगत्‌में ऐसी कोई वस्तु है ही नहीं, जो सत्य हो, रमणीय हो, उदार हो और किसीसे उत्पन्न न होकर नित्य निर्विकाररूपसे स्थित हो । फिर मेरी बुद्धि यहाँ किसमें लगे ?—कहाँ शान्ति प्राप्त करे ? जो वस्तु दूरस्थ कही जाती है, वह भी वास्तवमें दूर नहीं है; क्योंकि वह मेरे मनमें वर्तमान है । ऐसा निश्चय करके मैं बाह्य पदार्थोंकी भावना (चिन्तन) का त्याग कर रहा हूँ । प्रतिवर्ष, प्रतिमास, प्रतिदिन और प्रतिक्षण जो दुःखसे भरे हुए सांसारिक सुख बारबार उपलब्ध होते हैं, वे वास्तवमें दुःखरूप ही हैं । आज जो बड़े-बड़े लोगोंके सिरमौर बने हुए हैं वे ही कुछ दिनोंमें नीचे गिर जाते हैं । ऐ मेरे अभागे चित्त ! फिर इस जगत्‌की महत्तामें तुम्हारा यह कैसा विश्वास है ? यद्यपि मैं बुद्धिमान् हूँ, तो भी जैसे सूर्यदेवके समक्ष उनके प्रकाशको ढक लेनेवाला काला मेघ आ जाता है, उसी प्रकार मेरे सामने यह आत्माके प्रकाशको छिपा देनेवाला मोह सहसा कहाँसे आ गया ? ये महान् भोग मेरे कौन हैं ? ये भाई-बन्धु भी मेरे कौन हैं ? जैसे बालक मिथ्या ही भूतके भयसे व्याकुल हो उठता है, उसी प्रकार मैं इनमें ममतारूपी झूठे सम्बन्धकी कल्पना करके व्याकुल हो रहा हूँ ।

'मैं इन भोगों और सम्बन्धियोंमें स्वयं ही यह आस्था क्यों बाँध रहा हूँ ? यह आस्था तो जरा और मृत्युकी सहेली है—उनकी प्राप्ति करानेवाली है । साथ ही सदा उद्वेगमें डाले रखनेवाली है । यह भोगों और बन्धु-बान्धवोंकी सम्पत्ति चली जाय या भलीभाँति स्थिर होकर रहे, इसके प्रति मेरा क्या आग्रह है ? जलमें उठनेवाले बुद्बुदकी शोभा जैसे मिथ्या होती है, उसी तरह यह

भोग आदि सम्पत्ति, जो इस रूपमें उपस्थित हुई है, मिथ्या ही है। प्राचीन नरेशोंके वे महान् वैभव, वे भोग और वे अच्छे-अच्छे स्नेही बन्धु-बान्धव आज कहाँ हैं? वे सब इस समय स्मृतिपथको प्राप्त हो गये हैं—अब उनका केवल स्मरणमात्र यहाँ शेष रह गया है। वे स्वरूपतः विद्यमान नहीं हैं। इस दृष्टान्तको सामने रखते हुए वर्तमान भोग आदि सम्पत्तिपर भी क्या आस्था हो सकती है? पूर्ववर्ती भूमिपालोंके वे धन कहाँ हैं? पूर्वकल्पोंमें ब्रह्माजीने जिनकी सृष्टि की थी, वे जगत् कहाँ चले गये? जब पहलेका सब कुछ नष्ट हो गया, तब आजके इन वैभव-भोगोंपर मेरा यह कैसा विश्वास है? जैसे जलमें अनन्त बुद्बुद उठते और विलीन होते हैं, उसी तरह लाखों इन्द्र कालके गालमें चले गये, तो भी मैं इस जीवनमें आस्था बाँधे बैठा हूँ! साधु पुरुष मेरी इस मूढता-पर हँसेंगे। करोड़ों ब्रह्मा चले गये। कितनी ही सृष्टि-परम्पराएँ आयीं और चली गयीं। असंख्य भूपाल धूलके समान उड़ गये। फिर मेरे इस तुच्छ जीवनपर क्या आस्था हो सकती है? यह, वह और मैं—यह तीन प्रकारकी कल्पना असत्यरूप ही है। अहंकाररूपी पिशाचसे ग्रस्त हुए मनुष्यकी भाँति मैं क्यों अबतक मूर्खके समान विचारशून्य होकर बैठा रहा? मैं इस व्याप्त हुई कालकी सूक्ष्म रेखासे प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली अपनी आयुको देखता हुआ भी नहीं देखता। यद्यपि दिन-पर-दिन निरन्तर अब भी आते-जाते रहते हैं; फिर भी आजतक एक दिन भी ऐसा नहीं देखा, जिसमें मुझे नित्य एक सत्य परमात्मवस्तुका साक्षात्कार हुआ हो। मैं कष्टसे भी अत्यन्त कष्टको प्राप्त हुआ, एक दुःखसे दूसरे महान् दुःखमें फँसता गया; परंतु आज भी इस जगत्के भोगोंसे विरक्त नहीं हुआ। जिन-जिन सुन्दर वस्तुओंमें मैंने दृढतापूर्वक स्नेह बाँधा, वे सब-की-सब नष्ट होती दिखायी दीं। फिर इस संसारमें उत्तम वस्तु क्या है? मनुष्य जगत्के जिन-जिन पदार्थोंमें आस्था बाँधता है—विश्वास करता है, उन-उन पदार्थोंमें उस मनुष्यके दुःखका प्रादुर्भाव बारंबार देखा गया है। मूढ़ मनुष्य बाल्यावस्थामें एकमात्र अज्ञानसे पीड़ित रहता है, युवावस्थामें कामदेवके बाणोंसे घायल रहता है तथा अन्तिम अवस्थामें स्त्री आदि कुटुम्बके पालन-पोषणकी चिन्तासे जलता रहता है। भला, अपने उद्धारका साधन वह कब करे? दुर्बुद्धि पुरुष इस उत्पत्ति-विनाश-शील, रसहीन, विषम दुर्दशाओंसे दूषित तथा असार संसारमें क्या सार वस्तु देख रहा है? कोई सामर्थ्यशाली पुरुष राजसूय और अश्वमेध आदि सैकड़ों यज्ञोंका अनुष्ठान करके भी अधिक-से-अधिक महाकल्पपर्यन्त उपभोगमें आनेवाले स्वर्गको ही पाता है, जो महाकालकी दृष्टिसे उसका एक अत्यन्त अल्पतम अंश है। स्वर्गसे अधिक जो अनन्त, नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्म है, उसकी प्राप्ति उसे नहीं होती। कौन-सा वह स्वर्ग है और इस पृथ्वीपर या पातालमें कौन-सा ऐसा प्रदेश है, जहाँ दुष्ट भ्रमरियोंकी भाँति ये आपत्तियाँ जीवको अभिभूत नहीं करतीं। ये आधियाँ (मानसी व्यथाएँ) अपने ही चित्तरूपी बिलमें रहनेवाले सर्प हैं और ये व्याधियाँ शरीररूपी स्थलके खुदे हुए क्षुद्र जलाशय हैं। इनका निवारण कैसे किया जा सकता है।

'सत् (वर्तमानकालिक दृश्य) के सिरपर असत्ता (विनाशशीलता) बैठी है। रमणीय पदार्थोंके मस्तक-पर अरम्यता विराज रही है और सुखोंके माथेपर दुःख चढ़े हुए हैं। भला, इनमें कौन-सी ऐसी एकमात्र सत्य वस्तु है, जिसका मैं आश्रय लूँ? (तात्पर्य यह कि ये सभी वस्तुएँ मिथ्या हैं) अज्ञानसे मोहित क्षुद्र प्राणी जन्म लेते और मरते हैं। यह पृथ्वी उन्हीं लोगोंसे ठसा-ठस भरी है। जो साधुओंसे भी बढ़कर साधु हैं, ऐसे महापुरुष इस संसारमें दुर्लभ हैं। नील कमलके समान मनोहर और भ्रमरके समान चञ्चल नेत्रवाली जो उत्कृष्ट प्रेमसे विभूषित विलासिनी वनिताएँ हैं, वे भी क्षणभङ्गुर होनेके कारण उपहासके ही योग्य हैं। संसारमें रमणीयसे

भी रमणीय और सुस्थिरसे भी सुस्थिर पदार्थ हैं, किंतु यह सारी पदार्थ-सम्पत्ति अन्ततोगत्वा चिन्ता और दुःखका ही कारण होती है। फिर तुम उसकी इच्छा क्यों करते हो? वे स्त्री, धन और गृह आदि विचित्र सम्पत्तियाँ यदि चित्तसे आदरणीय हों तो वे भी बहुत प्रयत्नोंसे प्राप्त करने योग्य, दुःखसे रक्षणीय तथा अवश्य विनाशशील होनेके कारण महाविपत्तिरूप ही हैं—ऐसा मेरा मत है। किंतु यदि धन, सम्पत्ति और बन्धुजनोंसे वियोगरूप आपत्तियाँ भी साधुसङ्ग, तपस्या और ज्ञान आदिकी प्राप्ति करा देनेके कारण विचित्र एवं कल्याणकारिणी हैं—ऐसा मनमें विश्वास हो जाय तो वे भी विवेक-वैराग्य आदि महान् आरम्भोंसे युक्त सम्पत्तियाँ ही हैं—ऐसा मैं मानता हूँ। समुद्रमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाकी भाँति क्षण-भङ्गुर, मिथ्यारूप, एकमात्र मनका परिणामस्वरूप जो यह जगत् है, इसमें 'यह मेरा है' यह अपूर्व पद-वाक्यरूप अक्षरमाला कहाँसे आयी? अर्थात् इसमें ममता करना व्यर्थ है। अग्निकी शिखाओंमें आसक्त हुए फतिंगोंकी भाँति मैं देश, काल और वस्तुसे सीमित तथा त्रिविध तापोंसे संतप्त किन सुख-नामक दृष्टियोंमें अनुरक्त हो रहा हूँ? निरन्तर दग्ध करनेवाली रौरव नरककी आगमें लोटना अच्छा है, परंतु सुख-दुःखके परिवर्तनसे युक्त विषयभोग-रूप संसारमें रहना अच्छा नहीं। संसार ही समस्त दुःखोंकी चरम सीमा कहलाता है। उसके भीतर पड़े हुए शरीरमें सुखकी प्राप्ति कैसे हो सकती है। जो बाह्य आकारमात्रसे रमणीय प्रतीत होनेवाली किंतु विनाशकी प्राप्ति करानेवाली हैं, मनरूपी बंदरकी उन चपलतारूप वृत्तियोंका अनुभव हो जानेपर मैं आजसे ही इनमें रमण नहीं करूँगा। जो सैकड़ों आशारूपी पाशोंसे ओतप्रोत तथा अधोगति, ऊर्ध्वगति एवं संतापको देनेवाली हैं, उन संसारकी वृत्तियोंको मैंने बहुत भोग लिया। अब मैं इनसे विश्राम लेता हूँ। मैं प्रबुद्ध (जगा हुआ) हूँ तथा हर्ष एवं उत्साहसे भरपूर हूँ। अपने पारमार्थिक धनको चुरानेवाले मन नामक चोरको मैंने देख लिया है। अतः अब इसे मैं मारे डालता हूँ; क्योंकि इस मनने चिरकालसे मुझे मारा है—मेरा पतन कराया है। जैसे सूर्यकी धूपसे ओस या पाले के कण गल जाते हैं, उसी तरह मेरा मन यथार्थ ज्ञानद्वारा ब्रह्मतत्त्वमें नित्य-निरन्तर स्थिति प्राप्त करनेके लिये बहुत शीघ्र लयको प्राप्त होगा। सिद्ध महापुरुषोंने नाना प्रकारके उपदेशोंद्वारा मुझे अच्छी तरह बोध करा दिया है। अब मैं परमानन्दस्वरूप परमात्मामें प्रवेश कर रहा हूँ। परमात्मारूपी मणिको पाकर एकान्तमें उसीको देखता हुआ मैं अन्य सारी इच्छाओंको शान्त करके सुखपूर्वक स्थित होऊँगा। 'यह देह मैं हूँ, यह विस्तृत धन-राज्य आदि मेरा है' इस प्रकार अन्तःकरणमें स्फुरित हुए असत्यरूपका यथार्थज्ञानके द्वारा नाश करके अत्यन्त बलशाली मनरूपी शत्रुको ध्यानके अभ्याससे अच्छी तरह मारकर मैं अनिशय शान्तिको प्राप्त हो रहा हूँ।' (सर्ग ९)

राजा जनकद्वारा संसारकी स्थितिपर विचार और उनका अपने चित्तको समझाना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! राजा जनक जब इस प्रकार चिन्तन कर रहे थे, उस समय प्रतिहारने उनके पास जाकर नैत्यिक कार्य करनेके निमित्त उठनेके लिये अनुरोध किया; परंतु राजा

पूर्ववत् संसारकी विचित्र स्थितिपर ही विचार करते रहे।

राजा बोले—जो सुखदरूपसे स्थित है, यह राज्य कितने दिनका है ? मुझे यहाँ इस क्षणभङ्गुर राज्यसे कोई प्रयोजन नहीं है। यह सभी मायाका मिथ्या आडम्बर है। मैं इसका त्याग करके प्रशान्त महासागरकी भाँति शान्त रहकर एकान्तमें ही स्थित रहूँगा। ऐ मेरे चित्त! बारंबार भोगोंके आस्वादनमें जो वेगपूर्वक तेरी प्रवृत्ति हो रही है, यह बड़ी घृणित है। इससे तू दूर हो जा। तेरी जो भोग भोगनेकी चतुरता है, उसे जन्म, जरा एवं जडताके समूहरूपी कीचड़की शान्तिके लिये त्याग दे। चित्त! तू जिन-जिन अवस्थाओंमें भ्रमवश सुख देखता है, उन्हींसे तुझे महान् दुःखकी प्राप्ति होगी। इसलिये इस तुच्छ भोग-चिन्तनसे कोई लाभ नहीं है।

ऐसा विचार करके राजा जनक मौन हो गये। उनके चित्तकी चपलता शान्त हो चुकी थी। इसलिये वे चित्रलिखित पुरुषकी भाँति अचलभावसे स्थित हो गये और पुनः इस प्रकार विचार करने लगे—'मुझे कोई भी क्रिया करनेसे क्या प्रयोजन है और कुछ न करके निष्क्रिय होकर बैठ रहनेसे भी क्या मतलब है ? इस संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो उत्पन्न होकर विनाशको न प्राप्त हो। मिथ्यारूपसे प्रकट हुआ यह शरीर कर्म करे या निष्क्रिय होकर बैठा रहे, सर्वत्र समान-भावसे स्थित हुए मुझ विशुद्ध चेतनकी इससे क्या क्षति होनेवाली है ? मैं न तो अप्राप्त वस्तुकी इच्छा करता हूँ और न प्राप्त वस्तुका त्याग ही। मेरा इस जगत्में न तो कुछ करनेसे प्रयोजन है और न न करनेसे ही। करने या न करनेसे जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह सब असन्मय—विनाशशील ही है। इसलिये यह शरीर उठकर क्रमशः प्राप्त हुए कर्तव्यका पालन करे। यह निश्चेष्ट होकर क्यों सूख रहा है ?'

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! ऐसा विचार करके वे राजा जनक अनासक्त भावसे न्यायतः प्राप्त हुए कर्तव्य कर्मका सम्पादन करनेके लिये उठे। उन्होंने श्रेष्ठ पुरुषोंके समादरपूर्वक उस दिनका सारा कार्य भलीभाँति पूर्ण करके उसी ध्यानरूप विनोदसे अकेले ही रात बितायी। जब रात बीतने लगी, तब विषय-भ्रमसे रहित मनको समरस (एकाग्र) करके उन्होंने अपने चित्तको इस प्रकार समझाना आरम्भ किया—'ऐ मेरे चञ्चल चित्त! यह संसार आत्माके सुखका साधन नहीं है। तुम शमका आश्रय लो। शमसे शान्त (विक्षेप-रहित) सारभूत आत्मसुखकी प्राप्ति होती है। जैसे-जैसे तुम विविध विकल्पोंका संकल्प करते हो, वैसे-ही-वैसे तुम्हारे विषय-चिन्तनसे यह संसार अनायास ही वृद्धिको प्राप्त होता है। दुष्ट मन! जैसे वृक्षको सींचनेसे उसमें सैकड़ों शाखाएँ निकल आती हैं, उसी प्रकार तुम भी विषयभोगकी इच्छा करनेसे अनन्त आन्तरिक व्यथाओंसे युक्त हो जाते हो। जन्म तथा संसारकी सृष्टियाँ विषय-चिन्ताओंके विलाससे ही प्रकट हुई हैं; इसलिये तुम नाना प्रकारकी चिन्ताओंका त्याग करके उपशमको प्राप्त होओ—संसारसे उपरत हो जाओ।

सुन्दर चित्त ! इस चञ्चल संसारसृष्टिको और शान्तिके सुखको विचारकी तराजूमें रखकर तौलो। यदि तुम्हें संसारकी सृष्टिमें ही सार प्रतीत हो तो इसीका आश्रय लो; नहीं तो शान्तस्वरूप ब्रह्ममें स्थित हो जाओ। मेरे अच्छे मन! पहलेसे अविद्यमान यह दृश्य-प्रपञ्च उत्पन्न हो जाय अथवा यह वर्तमान दृश्य नष्ट हो जाय, तुम इसके गुणों और अवगुणोंसे—उदय और नाशसे हर्ष-विषादरूप विषमताको न प्राप्त होओ। इस दृश्य वस्तु संसारके साथ तुम्हारा थोड़ा-सा भी सम्बन्ध नहीं है। इसका रूप है ही नहीं। ऐसे मिथ्या दृश्य जगत्‌से तुम्हारा इस तरहका सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है। सुन्दर चित्त! यदि यह दृश्य जगत् असत् है और तुम सत्य हो तो तुम्हीं बतलाओ, सत् और असत्‌में, जीवित और मृतमें कैसे सम्बन्ध स्थापित हो सकता है? चित्त! यदि तुम और दृश्य जगत् दोनों ही सत् और सदा साथ रहनेवाले हो, तब तुम्हारे लिये हर्ष और विषादका अवसर ही कहाँ है? इसलिये इस विशाल आन्तरिक व्यथाका त्याग करो। आत्मानन्दको, जो मौन होकर सो रहा है, विवेक-वैराग्यसे जगाओ और इस अमङ्गलमयी स्थिति—चञ्चलताको छोड़ो। अरे शठ चित्त! जड दृश्यरूप इस संसारमें ऐसी कोई उन्नत और उत्तम वस्तु नहीं है, जिसकी प्राप्ति होनेसे तुम्हें परम परिपूर्णता प्राप्त हो जाय। इसलिये अभ्यास और वैराग्यके बलसे अत्यन्त धीरताका आश्रय ले चञ्चलताको त्याग दो।' (सर्ग १०-११)

राजा जनककी जीवन्मुक्तरूपसे स्थिति तथा विशुद्ध विचार एवं प्रजाके अद्भुत माहात्म्यका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! उस समय इस प्रकार विचार करके धीरबुद्धि राजा जनक अपने राज्यके सारे काम-काज सँभालने लगे। फिर उन्हें मोह नहीं हुआ (उनके मनमें ममता और आसक्ति नहीं जागी)। उनका मन कहीं हर्षके स्थानोंमें किञ्चिन्मात्र भी उल्लासको प्राप्त नहीं हुआ। जैसे केवल सुषुप्तिमें स्थिति हो, उस प्रकार सदा ही विक्षेपरहित एवं शान्तभावसे स्थिर रहा। तबसे लेकर उन्होंने न तो दृश्य जगत्‌को मनसे ग्रहण किया और न उसका त्याग ही किया। केवल वर्तमान संसारमें वे निश्शङ्क होकर स्थित रहे। इस प्रकार आत्मविवेकके अनुसंधानसे राजा जनकका परमात्मविषयक यथार्थ ज्ञान अनन्त एवं अत्यन्त विशुद्ध हो गया। सम्पूर्ण भूतोंके आत्मस्वरूप परमात्माको जानने तथा आत्माकी अनन्तताका अनुभव करनेवाले राजाने चिन्मय परमात्मामें स्थित सारे पदार्थोंको आत्मभूत देखा—अपने आत्माके रूपमें अनुभव किया। वे न तो अनुकूल वस्तुको पाकर हर्षसे उल्लसित हुए और न कभी प्रतिकूल वस्तुको पाकर शोकसे आतुर ही हुए। सब कुछ प्रकृतिका व्यवहार होनेके कारण वे

उसमें सदा ही समचित्त एवं विकारशून्य होकर रहे। तभीसे लोकमें सगुण-निर्गुण परब्रह्मका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेवाले और समस्त प्राणियोंको सम्मान देनेवाले वे राजा जनक परमात्माके यथार्थ ज्ञानमें निपुण हो जीवन्मुक्त हो गये। वे लोगोंको प्राणोंके समान प्रिय थे और विदेह देशका राज्य करते हुए कभी हर्ष और विषादके वशीभूत हो संतप्त नहीं होते थे। सुषुप्तावस्थामें स्थितकी भाँति राजा जनककी राग-द्वेष आदि समस्त वासनाएँ सम्पूर्ण पदार्थोंसे सर्वथा निवृत्त हो गयी थीं। वे न कभी भूतकी चिन्ता करते और न भविष्यका अनुसंधान। वर्तमान कालका ही वे प्रसन्नतापूर्वक अनुसरण करते थे। कमलनयन श्रीराम! अपने परमात्मविषयक विवेकपूर्ण विचारद्वारा ही राजा जनकको पानेयोग्य परब्रह्म परमात्म-रूप वस्तुकी पूर्णतया प्राप्ति हो गयी।

अपने चित्तसे तबतक परमात्मतत्त्वका विचार करते रहना चाहिये, जबतक विचारोंकी सीमाका अन्त (परमात्माका यथार्थ ज्ञानरूप फल) प्राप्त न हो जाय। महापुरुषोंके सङ्गसे निर्मलतारूप अभ्युदयको प्राप्त हुए चित्तके विवेकपूर्वक शुद्ध विचारसे जो परमात्मरूप परमपद प्राप्त होता है, वह न तो गुरुके उपदेशसे, न शास्त्रार्थसे और न पुण्यसे ही प्राप्त होता है। श्रीराम! अपने मित्रके तुल्य स्थिर, शुद्ध एवं तीक्ष्ण बुद्धिसे जो उत्तम पद प्राप्त होता है, वह दूसरी किसी क्रियासे नहीं होता। जिस पुरुषकी पूर्वापरका विचार करनेवाली कुशाग्र एवं तीक्ष्ण प्रज्ञारूपी दीपशिखा प्रज्वलित है, उसे कभी अज्ञानरूपी अन्धकार क्लेश नहीं पहुँचाता। महामते! दुःखरूपी उत्ताल तरङ्गोंसे व्याप्त जो विपत्तिरूपिणी दुस्तर सरिताएँ हैं, उनको तीक्ष्ण और विशुद्ध बुद्धिरूपी नौकाद्वारा ही पार किया जाता है। जैसे वायुका हल्का-सा झोंका भी निस्सार तिनकेको उड़ा देता है, उसी प्रकार प्रज्ञाहीन मूढ़ पुरुषको थोड़ी-सी आपत्ति भी शोकाकुल कर देती है। शत्रुमर्दन श्रीराम! तीक्ष्ण और विशुद्ध प्रज्ञासे युक्त पुरुष दूसरोंकी सहायता तथा शास्त्राभ्यासके बिना भी संसार-समुद्रसे अनायास ही पार हो जाता है। जैसे फलकी प्राप्तिके लिये सींचने और संरक्षण आदिके द्वारा अंगूर आदिकी लताको बढ़ाया जाता है, उसी प्रकार शास्त्रोंके अभ्यास और सत्पुरुषोंकी संगतिसे पहले प्रज्ञाको बढ़ाना चाहिये अर्थात् बुद्धिको पवित्र एवं तीक्ष्ण बनाना चाहिये। जैसे चन्द्रमण्डल संसारके अन्धकारको दूर करनेवाली चाँदनीको उत्पन्न करताहै, उसी प्रकार निष्काम कर्मरूपी वृक्ष, जिसका शुद्ध तीक्ष्ण प्रज्ञाबल ही महान् मूल है परम रसमय परमात्माकी प्राप्तिरूप फलको उत्पन्न करता है। लोग धन-सम्पत्ति आदि बाह्य पदार्थोंके उपार्जनके लिये जैसा प्रयत्न करते हैं, वही यत्न पहले विशुद्ध बुद्धिकी अभिवृद्धिके लिये करना चाहिये। बुद्धिकी मन्दता समस्त दुःखोंकी चरम सीमा है, विपत्तियोंका सबसे बड़ा भंडार है और संसाररूपी वृक्षोंका बीज है; अतः उसका यत्नपूर्वक विनाश करना चाहिये।

रघुनन्दन! न दानोंसे, न तीर्थोंसे और न तपस्यासे ही भयंकर संसार-सागरको पार किया जा सकता है। केवल पवित्र एवं अविचल बुद्धिरूपी जहाजका आश्रय लेनेसे ही उसके पार पहुँचा जा सकता है। पृथ्वीपर विचरनेवाले मनुष्योंको भी जो दैवी सम्पत्ति प्राप्त होती है, वह शुद्ध एवं अविचल प्रज्ञामयी लतासे उत्पन्न हुआ स्वादिष्ट फल है। जिन सिंहोंने अपने पंजोंसे मत्त गजराजोंके कुम्भस्थल विदीर्ण कर डाले थे, वे भी सियारोंद्वारा बुद्धि-बलसे इस तरह पराजित हुए हैं, जैसे सिंहोंसे हरिन। विवेकी पुरुषके हृदयरूपी कोशागारमें स्थित यह पवित्र प्रज्ञा चिन्तामणिके समान है। यह कल्पलताकी भाँति मनोवाञ्छित फल देती है। श्रेष्ठ पुरुष पवित्र और अविचल प्रज्ञाके द्वारा संसार-सागरसे पार हो जाता है, किंतु अधम मानव उसमें डूब जाता है। क्यों न

नौका चलानेकी कलामें शिक्षित हुआ केवट ही नौकासे नदीके पार पहुँचता है, अशिक्षित केवट नहीं । जैसे समुद्रकी भँवरमें चक्कर काटती हुई नौका उसपर चढ़े हुए लोगोंको विपत्तिमें डाल देती है, उसी प्रकार राग, द्वेष, लोभ आदि असन्मार्गमें लगायी गयी अशुद्ध बुद्धि संसारमें भटकाकर मनुष्यको आपत्तिमें डाल देती है और वही बुद्धि यदि विवेक, वैराग्य आदि सन्मार्गमें लगायी जाय तो वह मनुष्यको भवसागरसे पार कर देती है । जैसे कवच बाँधकर युद्ध करनेवाले योद्धाको बाण पीड़ित नहीं करते, उसी प्रकार विवेकशील, मूढ़तारहित एवं पवित्र बुद्धिवाले पुरुषको तृष्णावर्गके काम, लोभ आदिसे उत्पन्न हुए क्रोध, द्वेष और मोह आदि क्लेश बाधा नहीं पहुँचाते । रघुवीर ! इस लोकमें प्रज्ञारूपी नेत्रसे यह सारा जगत् ठीक-ठीक दिखायी देता है । उस यथार्थदर्शी पुरुषके पास न तो सम्पत्तियाँ आती हैं और न विपत्तियाँ ही । जैसे सूर्यको ढकनेवाला जलमय विस्तृत काला मेघ वायुसे छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार अहंकाररूपी मत्त मेघ जो परमात्मारूपी सूर्यपर आवरण डालनेवाला है, पवित्र एवं तीक्ष्ण बुद्धिरूपी वायुसे बाधित हो जाता है । परमात्माकी प्राप्तिरूप अनुपम उन्नत पदमें पहुँचनेवाले पुरुषको पहले सत्सङ्ग और विवेक-वैराग्यद्वारा इस बुद्धिका ही शोधन करना चाहिये—ठीक उसी तरह, जैसे धान्य आदिकी वृद्धि चाहनेवाला किसान सबसे पहले पृथ्वीको ही हलसे जोतकर शुद्ध बनाता है । (सर्ग १२)

चित्तकी शान्तिके उपायोंका युक्तियोंद्वारा वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! बिना जीती हुई मनसहित इन्द्रियाँ शत्रुके समान हैं । इन्हें तबतक बारंबार जीतकर परमात्मामें लगानेका प्रयत्न करे, जबतक अन्तःकरण स्वयं ही परमात्माके ध्यानमें एकाग्र होकर शुद्ध एवं प्रसन्न न हो जाय । इस प्रकारके साधनसे नित्य प्रसन्न, सर्वव्यापी, दिव्यस्वरूप, देवेश्वर परमात्माका स्वतः साक्षात्कार हो जाता है और ऐसा होनेपर सारी दुःख-दृष्टियाँ नष्ट हो जाती हैं । उस सगुण-निर्गुणरूप परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार होनेपर हृदयग्रन्थिरूपी कुदृष्टियाँ जो मोहरूपी बीजकी मुट्ठियाँ और नाना प्रकारकी आपत्तियोंकी वृष्टियाँ हैं, नष्ट हो जाती हैं । नित्य आन्तरिक विचारवाले और जगत्को क्षणभङ्गुर देखनेवाले पुरुषका अन्तःकरण राजा जनकके अन्तःकरणकी तरह समय आनेपर अपने-आप ही शुद्ध हो जाता है । संसारसे भयभीत हुए पुरुषोंके लिये सच्चिदानन्दघन परमात्माके ध्यानरूप परम पुरुषार्थको छोड़कर न दैव शरण देनेवाला है न कर्म, न धन आश्रय देनेवाला है न भाई-बन्धु (अपने उद्धारके लिये इनमेंसे कोई भी आश्रय लेने योग्य नहीं है, केवल एकमात्र परमात्मा ही शरण लेने योग्य है) । तात ! जो लोग विवेक, वैराग्य, विचार, उपासना और धर्मपालन आदि उत्तम कार्योंमें भाग्यके अधीन रहते हैं तथा मिथ्या विपरीत कल्पनाएँ करते रहते हैं, उनकी मन्दमति विनाशकी ओर ले जानेवाली है; अतः उसका अनुसरण नहीं करना चाहिये । उत्तम विवेकका आश्रय ले अपने आत्माका अपने ही द्वारा अनुभव करके परम वैराग्यसे पुष्ट हुई पवित्र एवं सूक्ष्म बुद्धिरूप नौकाद्वारा संसार-सागरको पार करे । श्रीराम ! यह मैंने तुमसे आकाशसे गिरनेवाले फलके समान शीघ्रतापूर्वक होनेवाली ज्ञान-प्राप्तिका वर्णन किया है । यह ज्ञान अज्ञानरूपी वृक्षको काट डालनेवाला तथा निरतिशय सुख प्रदान करनेवाला है । वाञ्छित (मनके अनुकूल) और अवाञ्छित (मनके प्रतिकूल) वस्तुकी आशङ्कारूपिणी चञ्चल वानरियाँ जिस चित्तरूपी वृक्षपर कूद-फाँद लगाये रहती हैं, उसमें सौम्यता (शान्ति) कहाँसे आ सकती है ।

निष्कामता, निर्भयता, स्थिरता, समता, ज्ञान, निरीहता, निष्क्रियता, सौम्यता, निर्विकल्पता, धैर्य, मैत्री,

मननशीलता, संतोष, मृदुता और मधुरभाषिता—ये गुण हेय और उपादेयसे रहित ज्ञानी पुरुषमें बिना किसी वासनाके रहते हैं। जैसे बहते हुए जलको बाँधसे रोका जाता है, उसी प्रकार निकृष्ट विषयोंकी ओर दौड़ते हुए मनको विवेक-वैराग्यके बलसे विषयोंकी ओरसे लौटाये अर्थात् चित्तकी बहिर्मुख वृत्तिको विवेक वैराग्यद्वारा अन्तर्मुखी करे। श्रीराम! मोह संसारको भूलकर फिर नहीं प्रस्फुटित होता और संसार चित्तको भुलाकर फिर नहीं अङ्कुरित होता। खड़े होते, चलते, सोते, जागते, कहीं निवास करते, उछलते और गिरते-पड़ते यह 'दृश्य-प्रपञ्च असत् ही है' ऐसा मनमें निश्चय करके इसके प्रति आस्थाका परित्याग कर देना चाहिये। रघुनन्दन! समताका भलीभाँति आश्रय ले प्राप्त हुए कर्तव्यका पालन करते हुए अप्राप्तका चिन्तन न करके निर्द्वन्द्व हो इस लोकमें विचरना चाहिये। श्रीराम! तुम्हीं सर्वज्ञ, तुम्हीं अजन्मा, तुम्हीं सबके आत्मा और तुम्हीं महेश्वर हो। तुम अपने चैतन्यस्वभावसे कभी च्युत नहीं होते, तथापि तुमने इस प्रकार इस संसारका विस्तार किया है। जिसने सद्रूप आत्मदृश्यमें परमार्थ सत्स्वरूपताकी भावना करके सब ओरसे दूसरी भावनाका परित्याग कर दिया, वह पुरुष हर्ष, क्रोध और विषाद आदिसे होनेवाले दोषोंसे नहीं बँधता। जो राग-द्वेषसे मुक्त है, मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णको समान समझता है तथा संसारकी वासनाओंका त्याग कर चुका है, ऐसा योगी युक्त कहलाता है। वह जो कुछ करता, खाता, देता और नष्ट करता है, उन सब क्रियाओंमें उसकी अहंभावना नहीं होती तथा वह सुख-दुःखमें भी समान भाव रखता है। जो इष्ट और अनिष्टकी भावनाका त्याग करके प्राप्त हुए कार्यको कर्तव्य समझकर ही उसमें प्रवृत्त होता है, उसका कहीं भी पतन नहीं होता। महामते! यह जगत् चेतनमात्र ही है—इस प्रकारके निश्चयवाला मन जब भोगोंका चिन्तन त्याग देता है, तब वह शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

वास्तवमें तो न मन है, न बुद्धि है और न यह शरीर ही है; केवल एकमात्र आत्मा ही सदा विद्यमान है। आत्मा ही यह सम्पूर्ण जगत् है और आत्मा ही कालक्रम है। वह विशुद्ध आत्मा आकाशसे भी सूक्ष्म होनेके कारण प्रतीत न होनेपर भी ध्रुव सत्य है। सूक्ष्म होनेके कारण प्रत्यक्ष प्रतीत न होनेपर भी यह आत्मा नित्य सत्य चेतनरूप है, अतएव सब प्रकारके लक्षणोंसे अतीत शुद्ध आत्मा केवल अपने अनुभवसे ही जाना जाता है। जहाँ केवल परमात्माकी चेतनता है, वहाँ उसी तरह मनका क्षय हो जाता है, जैसे प्रकाशमें अन्धकारका नाश हो जाता है। अतः उस आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये वैराग्यसे, प्राणायामके अभ्याससे, विवेक-विचारसे, दुर्व्यसनोंके विनाशसे तथा परमार्थ-तत्त्वके बोधसे प्राणवायुका निरोध करना चाहिये। जड तथा स्वरूप-हीन होनेके कारण मन सदा ही मरा हुआ है। किन्तु आश्चर्य है कि उस मरे हुए मनके द्वारा ही लोग मारे जा रहे हैं। चक्रके समान घूमती हुई यह मूर्खताकी परम्परा बड़ी विचित्र है। अहो! महामायावी मयासुरका भी निर्भाग करनेवाली यह माया अत्यन्त अद्भुत है, जिसके कारण अत्यन्त चञ्चल चित्तके द्वारा भी यह लोक अभिभूत हो रहा है। जब मूर्खता आती है, तब पुरुष सभी आपत्तियोंका भाजन हो जाता है। भला, अज्ञानीपर कौन-सी आपत्ति नहीं आती। देखो, अज्ञानने ही मूर्खतासे इस सृष्टिको उत्पन्न किया है। हाय! बड़े क्लेशकी बात है कि यह सृष्टि दुर्बुद्धिके कारण मूर्खताके वशमें पड़ी हुई उसके द्वारा पीडित हो रही है, तथापि यह जीव असत्का अनुवर्तन करके उत्तरोत्तर दुःख उठानेके लिये ही इस सृष्टिको उपलब्ध करता है। मैं समझता हूँ, यह मूर्खतामयी सृष्टि अत्यन्त सुकुमार—अविचार-मात्रसे सिद्ध है। अतएव एकमात्र विचारसे ही इसका बाध किया जा सकता है। श्रीराम! इस मूर्खलोकमयी सृष्टिके रूपमें असत्रूप मन ही प्रकट हुआ है अर्थात्

यह मनका ही विकार है। जो पुरुष उस मनको वशमें नहीं कर सकता, वह अध्यात्मशास्त्रके उपदेशका पात्र नहीं है। उस पुरुषकी बुद्धि चारों ओरसे विषयोंमें ही आरूढ़ है और उतनेसे ही वह अपनेको परिपूर्ण मानती है, इसीलिये परमात्माकी ओर अभिमुख नहीं होती, सूक्ष्म वस्तुके विचारमें भी समर्थ नहीं हो पाती। इसीलिये उसमें आध्यात्मिक शास्त्रका उपदेश पानेकी योग्यता नहीं होती। (सर्ग १३)

अनधिकारीको दिये गये उपदेशकी व्यर्थता, मनको जीतने या शान्त करनेकी प्रेरणा तथा तत्त्वबोधसे ही मनके उपशमका कथन; तृष्णाके दोष, वासनात्याग और जीवन्मुक्तके स्वरूपका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! इस भूतलपर जो मनुष्य पशु-पक्षियोंके समानधर्मा होकर आहार, निद्रा और मैथुन आदिमें ही लगे हुए हैं, उन्हें उपदेश देना उचित नहीं। भला, वनमें ठूँठे काठके निकट कथाका तात्पर्य कहनेसे कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा? जिन्होंने अपने मनको विषयोंमें फैला रक्खा है, उन मनुष्योंमें और पशुओंमें क्या अन्तर है? पशु रस्सीसे बाँधकर खींचे जाते हैं और मूढ़चेता मनुष्य आसक्तिके कारण मनके द्वारा विषयोंकी ओर घसीटे जाते हैं। जिन लोगोंने अपने मनको नहीं जीता है, उन्हें सब ओरसे दुःखदायिनी दशाएँ प्राप्त होती हैं। रघुनन्दन! जिन्होंने अपने चित्तपर विजय प्राप्त कर ली है, उनके दुःख उत्तम विचारके द्वारा दूर किये जा सकते हैं। इसलिये जिसे ज्ञेय तत्त्वका ज्ञान हो चुका है, वह ज्ञानी पुरुष उनके दुःखका मार्जन करनेमें प्रवृत्त हो। इस त्रिगुणात्मक मायामय प्रपञ्चका आश्रय लेना बन्धनमें ही डालनेवाला है। यदि इसका त्याग कर दिया जाय तो यह भव-बन्धनसे छुटकारा दिला सकता है। 'मैं' और 'यह' दोनों ही नहीं हैं इस प्रकार चिन्तन करते हुए तुम अनन्त आकाशके समान विशाल हृदयवाले आत्माके रूपमें प्रतिष्ठित हो पर्वतके समान अविचलभावसे स्थित हो जाओ। यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मा ही है, ऐसे ज्ञानका अन्तःकरणमें उदय होनेपर कहाँ चित्त है, कहाँ चेत्य है और क्या चेतन है? मैं चिन्मय ब्रह्म हूँ, जीव नहीं; क्योंकि वास्तवमें एकमात्र परब्रह्म परमात्माके सिवा जीव नामक कोई अलग पदार्थ नहीं है। यही चित्तकी शान्ति है और इसीको परम सुख कहते हैं। रघुनन्दन! यह संसार परमात्माका ही स्वरूप है, ऐसा निश्चय हो जानेपर निस्सन्देह चित्तकी कोई अलग सत्ता नहीं रह जाती। इस प्रकार परमार्थ-तत्त्वका बोध होनेसे यह जगत् परमात्मा ही है, ऐसा दृढ़ निश्चय हो जाता है। उस दशामें जैसे सूर्यके प्रकाशसे अन्धकारका नाश हो जाता है, उसी तरह मन भलीभाँति गल जाता है। जबतक मनरूपी सर्प इस शरीरमें विद्यमान है, तबतक महान् भय बना रहता है। योगसे उसको मार भगानेपर भयके लिये अवसर ही कहाँ रह जाता है?

श्रीराम! तृष्णा विष-लताके समान है। वह बढ़ते हुए महान् मोहको देनेवाली और भयंकर है। वह मनुष्यको केवल मूर्च्छा (अज्ञान) ही देती है (ज्ञानजनित सुख नहीं)। वर्षा ऋतुकी अँधेरी रातके समान मनमें अनन्त विकार (भय आदि) उत्पन्न करनेवाली यह तृष्णा जब-जब प्रकट होती है, तब-तब महामोह प्रदान करती है। रघुनन्दन! संसारमें जो दुरन्त, दुर्जर और महान् दुःख हैं, वे तृष्णारूपिणी विष-लताके ही फल हैं। तृष्णासे पीड़ित मनुष्यमें दीनता प्रत्यक्ष देखी गयी है। वह मन मारे रहता है, उसका तेज नष्ट हो जाता है, वह बहुत नीचे गिर जाता है। वह मोहग्रस्त होता, रोता और गिरता रहता है। निश्चय ही जहाँ तृष्णारूपिणी काली रात नष्ट हो गयी है, वहाँ शुद्ध

पक्षके चन्द्रमाकी भाँति सत्कर्म ही बढ़ते हैं। जिस पुरुषरूपी वृक्षमें तृष्णारूपी घुन नहीं लगे हैं, उसमें सदा पुण्यरूपी फूल खिलते हैं और वह विकासशील अवस्थाको प्राप्त होता है। तृष्णाद्वारा ये सब लोग सूतमें बँधे हुए पक्षीके समान देश-विदेशमें भटकाये जाते, शोकसे जर्जर किये जाते और अन्ततोगत्वा मारे जाते हैं। जैसे हिरन तिनकोंसे आच्छादित हुए गड्ढेके ऊपर रक्खी हुई हरी-हरी घासकी शाखाको चरनेके लिये जाकर उस गड्ढेमें गिर जाता है, उसी प्रकार तृष्णाका अनुसरण करनेवाला मूढ़ मनुष्य नरकमें गिरता है। बुढ़ापा कितना ही बड़ा हुआ क्यों न हो, वह नेत्रोंको क्षणभरमें उतना जीर्ण (अंधा) नहीं बनाता, जितना हृदयमें रहनेवाली पिशाचीके समान तृष्णा बना देती है। जिसका आकार सम्पूर्ण दुःखोंसे भरा हुआ है और जो जगत्‌के लोगोंके जीवनका नाश करनेवाली है, उस तृष्णाको क्रूर सर्पिणीके समान दूरसे ही त्याग देना चाहिये।

दूसरोंको मान देनेवाले कमलनयन श्रीराम! वासनाका त्याग ज्ञेय और ध्येयके भेदसे दो प्रकारका बताया जाता है। सबको ब्रह्मरूपसे समान समझकर मनुष्य ममतासे रहित हो जिस वासनाक्षयका सम्पादन करके शरीरका त्याग करता है, वह ज्ञेय नामक वासनाक्षय कहा गया है। जो अहंकारमयी वासनाका त्याग करके लोकसंग्रहोचित व्यवहारमें संलग्न रहता है, वह ध्येय नामक वासनाक्षयसे युक्त हुआ पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। रघुनन्दन! मूल अज्ञानके सहित सकल्परूप वासनाका त्याग करके जो शान्तिको प्राप्त हुआ है, उस जीवन्मुक्त पुरुषको ज्ञेय नामक वासनात्यागसे सम्पन्न समझ। जनक आदि महात्मा पुरुष ध्येय नामक वासनात्यागका सम्पादन करके जीवन्मुक्त हो लोकसंग्रहके लिये व्यवहारमें स्थित हुए हैं। ज्ञेय नामक वासनात्यागको सम्पन्न करके शान्तिको प्राप्त हुए विदेहमुक्त पुरुष परावरस्वरूप परब्रह्म परमात्मामें ही स्थित होते हैं। रघुनन्दन! पूर्वोक्त दोनों ही त्याग समान हैं। दोनों ही प्रकारके त्यागवाले पुरुष मुक्त-पदपर प्रतिष्ठित हैं। ये दोनों ही ब्रह्मभावको प्राप्त हैं और दोनों ही चिन्ता एवं तापसे छुटकारा पा चुके हैं। एक (ध्येय नामक वासनाक्षयसे युक्त) पुरुष इस देहके रहते हुए ही जीवन्मुक्त होकर शोक और चिन्तासे रहित हो जाता है। और (दूसरा ज्ञेय नामक वासनाक्षयसे युक्त) पुरुष देहत्यागके अनन्तर मुक्त (ब्रह्मके स्वरूपमें स्थित) होता है (उसे विदेहमुक्त कहते हैं)। जो समयानुसार निरन्तर प्राप्त होनेवाले सुखों और दुःखोंमें हर्ष और शोकके वशीभूत नहीं होता, वही इस लोकमें मुक्त कहा जाता है। जिस पुरुषका इष्ट वस्तुओंमें राग और अनिष्ट वस्तुओंमें द्वेष नहीं होता, वह मुक्त कहलाता है। जिस पुरुषका अहंता-ममताको लेकर ग्रहण और त्यागरूप संकल्प क्षीण हो गया है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। हर्ष, अमर्ष, भय, क्रोध, काम और कायरताकी दृष्टियोंसे जो रहित है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! महर्षि वसिष्ठ जब इतना उपदेश दे चुके, तब दिन बीत गया, सूर्य अस्ताचलको चले गये। उस सभाके सभी सदस्य मुनिको नमस्कार करके सायंकालिक उपासनाके निमित्त स्नान करने चले गये और रात बीतनेपर सूर्यकी किरणोंके उदयके साथ ही फिर उस सभाभवनमें आ गये। (सर्ग १४–१६)

जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति करानेवाले विभिन्न प्रकारके निश्चयों तथा सब कुछ ब्रह्म ही है, इस पारमार्थिक स्थितिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! जो विदेहमुक्त हैं, वे वाणीके विषय नहीं होते (शरीर त्यागकर साक्षात् परब्रह्मस्वरूप हो जानेके कारण उनकी महिमातक वाणीकी पहुँच नहीं हो पाती। इसलिये उनकी स्थितिका वर्णन नहीं

किया जा सकता)। अतः तुम इस जीवन्मुक्तिका वर्णन सुनो। संसार सत्य है, यह समझते हुए जिसके कारण विषय-भोगोंके भोगनेमें दृढ भावना हो गयी है, ऐसी तृष्णाद्वारा जीवकी जो बाह्य पदार्थमें उसकी सत्ताको लेकर आसक्ति है, उसे आचार्यलोग सुदृढ़ संसार-बन्धन कहते हैं। जीवन्मुक्तोंके शरीरके अन्तःकरणमें 'भोग पदार्थ मिथ्या है' इस निश्चयसे हृदयमें भोग संकल्परहित और बाह्य संसारमें विहार करनेवाली स्फुरणा हुआ करती है। महामते श्रीराम! 'यह मुझे प्राप्त हो' इस प्रकारकी जो हृदयमें भावना है, उसे तुम तृष्णा और सकल्प नामक शृङ्खला समझो। उस तृष्णाका सत् और असत् सभी पदार्थोंमें सदा त्याग करके जो परम उदार हो गया है, वह महामनस्वी पुरुष जीवन्मुक्ति पदको प्राप्त करता है।

श्रीराम! विचारवान् पुरुषके हृदयमें चार प्रकारका दृढ निश्चय होता है—पहला निश्चय यह है कि मैं सिरसे लेकर पैरतक माता-पिताके द्वारा रचा गया हूँ; यह असत् दृष्टि है। इसके कारण मनुष्यको बन्धन प्राप्त होता है। मैं देह-इन्द्रिय आदि सब पदार्थोंसे रहित तथा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर हूँ,—ऐसा जो दूसरा निश्चय है, वह साधुपुरुषोंको मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला होता है। रघुनन्दन! 'जगत्के सब पदार्थ मुझ अविनाशी परमात्माके ही स्वरूप हैं' इस तरहका तीसरा निश्चय भी मोक्षकी ही प्राप्ति करानेवाला है। 'अहंकार अथवा यह सारा जगत् सदा आकाशके समान शून्य ही है' ऐसा जो चौथा निश्चय है, वह भी मोक्षकी ही सिद्धिका कारण होता है। इन चार निश्चयोंमें जो पहला है, उसे बन्धनकारक कहा गया है। शुद्ध भावनासे उत्पन्न हुए शेष तीन प्रकारके निश्चय मोक्षदायक बताये गये हैं।

महामते! मैं आत्मा ही सब कुछ हूँ—इस प्रकारका जो निश्चय है, उसे पाकर ही मेरी बुद्धि फिर कभी विषादको नहीं प्राप्त होती। आत्माकी महिमा ऊपर-नीचे और अगल-बगलमें—सर्वत्र व्यापक है। सब आत्मा ही है, ऐसे आन्तरिक निश्चयसे युक्त पुरुष कभी बन्धनमें नहीं पड़ता। जैसे अपार महासागर पातालतक जलसे भरा हुआ है, वैसे ही ब्रह्मासे लेकर कीट-पतङ्गतक सारा जगत् परमात्मासे परिपूर्ण है। इसलिये एकमात्र ब्रह्म ही नित्य और सत्य है। उससे अतिरिक्त जगत्की कोई सत्ता नहीं है—ठीक वैसे ही जैसे सारा समुद्र जल ही है, उससे भिन्न तरङ्ग आदि कुछ नहीं है। जैसे सोनेके कड़े, बाजूबंद और नूपुर आदि सुवर्णसे भिन्न नहीं हैं, उसी तरह वृक्ष, तृण आदि कोटि-कोटि पदार्थ आत्मासे भिन्न नहीं हैं। परमात्ममयी अद्वैतशक्ति ही द्वैत और अद्वैतके भेदसे जगन्निर्माणकी लीलाको करती हुई विस्तारको प्राप्त होती है। वास्तवमें न तो अहंकार है और न यह जगत् ही है। यह सब कुछ केवल निर्विकार शान्त विज्ञानानन्दघन ही प्रकाशित हो रहा है। यह संसार न तो असत् है और न सत् ही है—सदा यही समझना चाहिये। परम, अमृत, अनादि, सब ज्योतियोंको प्रकाशित करनेवाला, अजर, अजन्मा, अचिन्त्य, निष्कल, निर्विकार, सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे रहित, प्राणोंका भी प्राण, समस्त सकल्पोंसे रहित, कारणोंका भी कारण, नित्य उदित, परमात्मा, व्यापक, चिन्मय प्रकाश-स्वरूप आकाशमें परिपूर्ण, अनुभवका बीज (कारण), अपने आपमें ही अपने आपका अनुभव करने योग्य, आन्तरिक आनन्दानुभवस्वरूप ब्रह्म ही तुम, मैं और जगत् है। उससे भिन्न कुछ नहीं है। इस प्रकारका निश्चय तुम्हें करना चाहिये। (सर्ग १७)

महापुरुषोंके स्वभावका वर्णन तथा अनासक्त-भावसे संसारमें विचरनेका उपदेश

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—महाबाहु श्रीराम! जिनका चित्त एकाग्र है तथा जो काम, लोभ आदि कुदृष्टियोंसे आहत नहीं हुए हैं, इस संसारमें लीलापूर्वक विचरनेवाले उन महापुरुषोंका निम्नाङ्कित स्वभाव बताया जा रहा है।

जीवन्मुक्त चित्तवाला मुनि इस संसारमें विचरण करता हुआ भी आदि, मध्य और अन्तमें—सदा ही रसहीन जो जगत्‌की अवस्थाएँ हैं, उनको उपहासके योग्य समझे। जो न तो प्राप्त हुई प्रिय वस्तुका अभिनन्दन करता है, न अप्रियसे द्वेष करता है, न नष्ट हुई वस्तुके लिये शोक करता है और न अप्राप्त वस्तुको पानेकी इच्छा ही करता है, सदा मननशील रहकर कर्तव्य कर्ममें आलस्य छोड़कर प्रवृत्त होता है, वह पुरुष संसारमें कभी दुखी नहीं होता। जो पूछनेपर प्रस्तुत विषयका प्रतिपादन करता है, न पूछनेपर मौन हो सूखे काठकी भाँति अविचलभावसे स्थित रहता है तथा इच्छा और अनिच्छाके बन्धनसे मुक्त है, वह पुरुष संसारमें दुखी नहीं होता। जो सबके अनुकूल बोलता, किसीके पूछने या प्रेरणा करनेपर सुन्दर उक्तियोंद्वारा समाधान करता और प्राणियोंके मनोभावको समझ लेता है, वह पुरुष संसारमें दुखी नहीं होता। वह परम पदमें आरूढ़ हो जगत्‌की क्षणभङ्गुर अवस्थाको अपनी शान्तबुद्धिके द्वारा हँसता हुआ-सा देखता है। रघुनन्दन! जिन्होंने अपने चित्तको जीत लिया है और परावरस्वरूप परब्रह्म परमात्माका साक्षात् करके जो महात्मा हो गये हैं, उन्हींका ऐसा स्वभाव मैंने तुम्हें बताया है।

अपने चित्तको न जीतनेवाले मूढ़ मनुष्योंके जो यज्ञ आदि कर्म हैं, वे फलकी कामनासे युक्त होते हैं, नाना प्रकारके दम्भ, मान, मद आदि दुर्गुणोंसे भरे होते हैं; अतएव पुनर्जन्म आदिके कारण होनेवाले सुख-दुःखोंसे परिपूर्ण हुआ करते हैं। इसलिये हम उन मूढ़ मनुष्योंके उद्धारका कोई उपाय नहीं बता सकते। रघुनन्दन! तुम तो भीतरसे सब आशाओंका त्याग करके, वीतराग और वासनाशून्य हो बाहरसे समस्त सत्कर्मोंका एवं सदाचारोंका ठीक-ठीक पालन करते हुए संसारमें विचरो। श्रीराम! तुम उदार, सदाचारी, समस्त शास्त्रीय कर्मोंका भलीभाँति आचरण करनेवाले तथा भीतर सम्पूर्ण कामनाओं और आसक्तियोंसे शून्य हो संसारमें विचरण करो। रघुनन्दन! तुम सब पदार्थोंका यथार्थ रहस्य एवं अन्तर जान चुके हो; इसलिये जैसी अभीष्ट हो वैसी ही दृष्टिसे देखते हुए अनासक्तभावसे संसारमें विचरो। श्रीराम! अहंकारसे रहित, अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित आकाशके समान निर्लेप एवं निर्मल तथा कलङ्कसे दूर रहकर संसारमें विचरण करो। राघव! सैकड़ों आशारूपी पाशोंसे नित्य मुक्त, सब पदार्थोंमें सम तथा बाहर प्रजाओंके हितकर कार्योंमें तत्पर रहकर तुम लोकमें विचरो। वास्तवमें जीवात्माका न तो बन्धन है और न मोक्ष ही है। यह मिथ्या माया इन्द्रजालकी भाँति संसारमें भटकानेवाली है। आत्मा तो सर्वथा एकरूप, सर्वव्यापी और आसक्तिके बन्धनसे रहित है; फिर उसका बन्धन कैसे हो सकता है। और जब वह बँधा ही नहीं है, तब किसके लिये मोक्षका विधान होगा। यह भ्रान्तरूप विशाल संसार यथार्थ तत्त्वको न जाननेके कारण अज्ञानसे ही उत्पन्न हुआ है। यथार्थ तत्त्वका ज्ञान होनेसे यह उसी तरह नष्ट हो जाता है, जैसे रस्सीका ज्ञान होनेसे उसमें सर्पबुद्धि नष्ट हो जाती है। तुम अनन्त, सत्स्वरूप एवं आकाशके समान व्यापक हो। ज्वालाओंके मध्य-भागकी भाँति प्रकाशमान एवं नित्य शुद्ध हो। तुम्हारा स्वरूप किसीकी दृष्टिमें नहीं आता। तुम सूक्ष्मस्वरूप होकर सम्पूर्ण जगत्‌के पदार्थोंके भीतर उसी प्रकार स्थित हो, जैसे मुक्ताहारके सभी मोतियोंमें एक ही सूत समाया हुआ है। महाबाहु श्रीराम! यह शत्रु है, यह अपना है, यह दूसरा है, यह तुम हो, यह मैं हूँ—इत्यादि भावनाएँ यहाँ उसी प्रकार सत्य नहीं हैं, जैसे दृष्टिदोषके कारण होनेवाला दो चन्द्रमा आदिका दर्शन।

(सर्ग १८)

पिता-माताके शोकसे व्याकुल हुए अपने भाई पावनको पुण्यका समझाना—जगत् और उसके सम्बन्धकी असत्यताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! इसी विषयमें विज्ञ पुरुष इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। गङ्गाजीके तटपर दो मुनिकुमारोंमें, जो परस्पर भाई थे, उक्त विषयको लेकर ही जो संवाद हुआ था, वही यह पवित्र एवं अद्भुत इतिहास है; तुम इसे सुनो। इस जम्बूद्वीपकी किसी पर्वतमालामें एक महेन्द्र नामक पर्वत है। उसके एक देशमें जहाँ सुविस्तृत एवं मनोरम रत्नमय शिखर है, मुनियोंने स्नान और जलपानके लिये आकाश-गङ्गाको उतारा था। उसी गङ्गाजीके तट-प्रदेशमें, जहाँके वृक्ष फूलोंसे लदे हुए थे तथा जो पार्श्ववर्ती रत्नमय शिखरकी प्रभासे प्रकाशमान और दीप्तिमान् सुवर्णकी कान्तिसे सुनहरे रंगका दिखायी देता था, एक महर्षि निवास करते थे। उनका नाम था दीर्घतपा। उन्हें सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो चुका था। वे तपस्याकी राशि और उदार-बुद्धि थे तथा तपस्याके मूर्तिमान् रूप-से जान पड़ते थे। उन महर्षिके दो पुत्र थे, जो चन्द्रमाके समान सुन्दर थे,

उनके नाम थे पुण्य और पावन। उन दोनों पुत्रों और एक पत्नीके साथ वे मुनि गङ्गाजीके उस तटपर रहते थे, जहाँके वृक्ष फलोंसे भरे हुए थे। कुछ समय बीतनेपर मुनिके उन दोनों पुत्रोंमें जो अवस्था और गुण दोनों ही दृष्टियोंसे ज्येष्ठ थे, वे पुण्यनामक मुनि सम्यक् ज्ञानसे सम्पन्न हो गये; परन्तु उनके दूसरे पुत्र पावनका ज्ञान अधूरा ही रह गया। वे मूर्खताकी सीमासे तो बाहर हो गये थे; परंतु उन्हें परमार्थ-तत्त्वका यथार्थज्ञान नहीं प्राप्त हुआ। इसलिये वे बीचमें ही झूल रहे थे।

तदनन्तर सौ वर्ष बीत जानेपर दीर्घतपा जरावस्थासे जर्जर हो गये। अतः उन्होंने अपने शरीरको त्याग दिया

और संकल्प तथा रागसे शून्य परम पदस्वरूप सच्चिदानन्द-घन ब्रह्मभावको प्राप्त कर लिया। तत्पश्चात् पतिके शरीरको प्राण और अपानसे रहित होकर पृथ्वीपर पड़ा देख मुनिकी पत्नीने भी पतिकी सिखायी हुई चिरकालसे अभ्यस्त यौगिक क्रियाद्वारा अपने शरीरको त्याग दिया और लोगोंकी दृष्टिसे अदृश्य हो अपने पतिका उसी तरह

अनुसरण किया, जैसे प्रभा गगनमण्डलमें अस्त होते हुए चन्द्रदेवका अनुसरण करती है। माता और पिताके परलोकवासी हो जानेपर ज्येष्ठ पुत्र पुण्य ही स्थिरचित्त हो उनके अन्त्येष्टि-कर्ममें प्रवृत्त हुए। पावनको माता-पितासे बिछुड़ जानेके कारण बड़ा दुःख हो रहा था। उनका चित्त शोकसे व्याकुल था। वे बड़े भाईकी ओर न देखकर वनकी गलियोंमें घूम-घूमकर विलाप करने लगे। माता-पिताका और्ध्वदेहिक कर्म समाप्त करके उदार-बुद्धि पुण्य वनमें अपने शोकाकुल बन्धु पावनके पास आये।

पास आकर पुण्यने कहा—वत्स! यह शोक अन्धता (मोह) का एकमात्र कारण है। तुम इसे घनीभूत क्यों बना रहे हो? महाप्राज्ञ! तुम्हारे पिता तुम्हारी माताजीके साथ उस मोक्षनामक सच्चिदानन्दघन परमात्मपदको प्राप्त हो गये हैं, जो सबका अपना ही स्वरूप है। वही सब प्राणियोंका अधिष्ठान है और वही जितात्मा ब्रह्म-वेत्ताओंका स्वरूप है। जब पिता अपने स्वरूपको ही प्राप्त हुए हैं, तब तुम उनके लिये बारंबार शोक क्यों करते हो? तुमने इस संसारमें ऐसी मोहजनित ममता-मयी भावना बाँध रक्खी है, जिससे तुम अशोचनीय पिताके लिये भी शोक कर रहे हो! न वे ही तुम्हारी माता थीं और न वे ही तुम्हारे पिता थे। वत्स! जैसे प्रत्येक वनमें जलके बहनेके लिये बहुत-से नाले होते हैं, उसी तरह तुम्हारे सहस्रों माता-पिता हो चुके हैं। उन माता-पिताके भी असंख्य पुत्र हो चुके हैं, केवल तुम्हीं उनके पुत्र नहीं हो। जैसे नदीके जलमें बहुत-सी तरङ्गें उठती और विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार मनुष्य आदि प्राणियोंके जन्म-जन्ममें बहुतसे पुत्र हो-होकर कालके गालमें जा चुके हैं। वत्स! यदि स्नेहके कारण माता-पिता और पुत्रोंके लिये शोक करना ही उचित हो तो पहलेके जन्मोंमें जो सहस्रों माता-पिता बीत चुके हैं, उनके लिये निरन्तर शोक क्यों नहीं किया जाता? महाभाग! जगत्‌की कल्पनाके निमित्तभूत भ्रम या अज्ञानके कारण ही यह प्रपञ्च दिखायी देता है। विद्वन्! वास्तवमें तो तुम्हारे न कोई मित्र है और न बन्धु-बान्धव ही है। वत्स! पारमार्थिक दृष्टिसे सत्य क्या है? इसका तुम विचार करो। विचार करनेसे तुम्हें ज्ञात होगा कि न तुम हो, न हम हैं। तुम्हारे अन्तःकरणमें जो भ्रम है, उसीके कारण इस जगत्‌की प्रतीति हो रही है। अतः तुम उसे त्याग दो। 'यह गया, यह मर गया' इत्यादि कुदृष्टियाँ अपने संकल्परूप अज्ञानसे उत्पन्न हो सामने दिखायी देती हैं, वास्तवमें इनकी सत्ता नहीं है।

(सर्ग १९)

पुण्यका पावनको उपदेश—अनेक जन्मोंमें प्राप्त हुए असंख्य सम्बन्धियोंकी ओरसे ममता हटाकर उन्हें आत्मस्वरूप परमात्मासे ही संतोष प्राप्त करनेका आदेश, पुण्य और पावनको निर्वाण-पदकी प्राप्ति, तृष्णा और विषय-चिन्तनके त्यागसे मनके क्षीण हो जानेपर परमपदकी प्राप्तिका कथन

पुण्य कहते हैं—पावन! बन्धु, मित्र, पुत्र, स्नेह, द्वेष तथा मोह-दशारूप रोगसे युक्त जो प्रपञ्च है, यह अपने नाममात्रसे विस्तारको प्राप्त हो रहा है (वस्तुदृष्ट्या इनकी सत्ता नहीं है)। जिसके प्रति बन्धुभावना कर

ली गयी है, वह बन्धु हो गया और जिसके प्रति शत्रुकी भावना कर ली गयी, वह शत्रु हो गया। परंतु सभी शरीरोंमें अभिन्नरूपसे विद्यमान जो सर्वव्यापी आत्मा है, उस एकमें ही 'यह बन्धु है, यह शत्रु है' ऐसी कल्पना कैसे हो सकती है? वत्स! यह शरीर रक्त, मांस और हड्डियोंका समूह है, अस्थियोंका पञ्जर है; इससे भिन्न मैं कौन हूँ, इसका तुम स्वयं अपने चित्तसे विचार करो। पारमार्थिक दृष्टिसे देखनेपर न तुम कोई हो और न मैं कोई हूँ। 'यह पुण्य है, यह पावन है' इत्यादि कल्पनाओंके रूपमें मिथ्याज्ञान ही नृत्य कर रहा है। यदि तुम आत्मासे भिन्न कोई लिङ्गशरीर ही हो तो बताओ। बीते हुए दूसरे अनेक जन्मोंमें जो तुम्हारे बन्धु और धन-वैभव नष्ट हो गये हैं, उनके लिये भी शोक क्यों नहीं करते? सुन्दर फूलोंसे सुशोभित वनस्थलियोंमें तुम्हारे बहुत-से बन्धु मृगयोनियोंमें मृग-शरीर धारण करके रहे हैं, उनके लिये तुम्हें शोक क्यों नहीं हो रहा है? वत्स! इसी जम्बूद्वीपमें तुम पहले अन्यान्य बहुत-सी योनियोंमें सैकड़ों-हजारों बार जन्म ले चुके हो। मैं तत्त्वज्ञानसे शुद्ध हुई सूक्ष्म-बुद्धिके द्वारा तुम्हारे और अपने पूर्वजन्मके वासना-क्रमको देख रहा हूँ। मेरी भी बहुत-सी योनियाँ अनेक बार बीत चुकी हैं, उन मोह-मन्थर (अज्ञानसे जडीभूत) अतीत योनियोंको आज मैं तत्त्वज्ञानसे उदित हुई सूक्ष्म-दृष्टिके द्वारा देखता और स्मरण करता हूँ। ऐसी अवस्थामें जो जगत्में उत्पन्न हुए सैकड़ों माता-पिता, भाई-बन्धु और मित्र कालके गालमें जा चुके हैं, उनमेंसे किन-किनके लिये हम दोनों शोक करें और किनके लिये न करें। अथवा किनको-किनको छोड़कर यहाँ किन-किनके लिये हम शोकमें डूबे रहें; क्योंकि संसारकी तो ऐसी ही गति है। पावन! तुम्हारा भला हो। मनमें अहंभावके रूपमें स्थित इस प्रपञ्च-भावनाको त्यागकर तुम उस गतिको प्राप्त करो, जो आत्मज्ञानी पुरुषोंको उपलब्ध होती है। वत्स! तुम शान्तचित्त होकर आत्माका—अपने आपका जो भाव और अभाव (उत्पत्ति और विनाश) से मुक्त तथा जरा और मृत्युसे रहित है, स्मरण करो। मनमें मूढ़ता न लाओ। उत्तम बुद्धिवाले पावन! न तुम्हें दुःख है न तुम्हारा जन्म हुआ है, न तुम्हारी कोई माता है और न पिता ही है। तुम केवल शुद्ध-बुद्ध आत्मा हो, दूसरे कोई नहीं हो। जैसे रात होनेपर दीपक संनिधिमात्रसे प्रकाशके कर्ता होते हुए भी व्यापार-शून्य होनेके कारण अकर्ता ही हैं, उसी प्रकार तत्त्व-ज्ञानी पुरुष कर्तापनके अभिमानसे रहित होनेके कारण लोक-व्यवहारकी स्थितिमें कर्ता होकर भी अकर्ता ही हैं। वत्स! जो समस्त एषणाओंके कलङ्कसे रहित एवं मनन-शील है तथा जिसका हृदय-कमलमें स्वस्थ आत्मस्वरूपसे साक्षात्कार किया गया है, उस आत्माके द्वारा अपने भीतरके सम्पूर्ण संसारभ्रमको मिटाकर अवशिष्ट हुए उस भावस्वरूप आत्मा (परब्रह्म परमात्मा) से ही संतोष प्राप्त करो।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! पुण्यके इस प्रकार समझाने-बुझानेपर पावनको उत्कृष्ट बोध (परमात्म-तत्त्वका दृढ़ निश्चय) प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् ज्ञान और विज्ञानमें पारंगत तथा सिद्ध और अनिन्द्य स्थितिको प्राप्त हुए वे दोनों बन्धु उस वनमें इच्छानुसार विचरने लगे। तदनन्तर

समय आनेपर वे दोनों देहरहित हो परम निर्वाणपद (परमात्मा) को प्राप्त हो गये। निष्पाप श्रीराम ! इस प्रकार पूर्वजन्मोंमें जो असंख्य देह धारण कर चुके हैं, उन प्राणियोंके माता-पिता, बन्धु-बान्धव आदिका समुदाय अनन्त है। उनमेंसे कौन किनको ग्रहण करे और कौन किनका त्याग। रघुनन्दन ! इसलिये इन असंख्य तृष्णाओंकी निवृत्तिका एकमात्र उपाय त्याग ही है, उनको पोसना नहीं। जैसे लकड़ी डालनेसे आग प्रज्वलित होती है, उसी प्रकार विषय-भोगोंके चिन्तनसे चिन्ता बढ़ती जाती है; और जैसे बिना ईंधनके आग बुझ जाती है, उसी प्रकार विषयोंका चिन्तन न करनेसे चिन्ता मिट जाती है। एकमात्र विवेकरूपी सखा और एकमात्र पवित्र एवं तीक्ष्ण बुद्धिरूपिणी प्रिय सखीको साथ ले संसारमें शास्त्रविहित आचरण करनेवाला पुरुष संकट पड़नेपर भी मोहग्रस्त नहीं होता। वैराग्यसे, शास्त्रोंके अभ्याससे तथा महत्तायुक्त क्षमा, दया, शान्ति, समता और संतोष आदि गुणोंसे यत्नपूर्वक आपत्तिका निवारण करनेके लिये मनुष्य स्वयं ही मनको उन्नत बनाये। जो परम पदकी प्राप्तिरूप फल पूर्वोक्त महत्तायुक्त गुणोंसे उत्कर्षको प्राप्त हुए मनके द्वारा उपलब्ध हो सकता है, वह तीनों लोकोंके ऐश्वर्य तथा रत्नोंसे भरे हुए कोशकी प्राप्तिसे भी नहीं हो सकता। मनके विशुद्ध अमृत-रससे पूर्ण होनेपर सारी वसुधा आनन्दकी सुधा-धारासे आप्लावित हो जाती है। मन वैराग्यसे ही पूर्णताको प्राप्त—विज्ञानानन्दघन रससे परिपूर्ण होता है। आशा (इच्छा, कामना आदि) के वशीभूत हुआ मन उपर्युक्त पूर्णताको नहीं प्राप्त होता। जिनके चित्तमें किसी लौकिक वस्तुकी स्पृहा नहीं है, उन लोगोंके लिये तीनों लोकोंका ऐश्वर्य कमलगट्टेके समान अत्यन्त तुच्छ है। श्रीराम ! चित्तके नष्ट हो जानेपर अविचल धैर्यसे युक्त पुरुष उस परमपदको प्राप्त कर लेता है, जहाँ फिर नाशका भय नहीं है। (सर्ग २०-२१)

राजा बलिके अन्तःकरणमें वैराग्य एवं विचारका उदय तथा उनका अपने पितासे पहलेके पूछे हुए प्रश्नोंका स्मरण करना

श्रीवसिष्ठजीने कहा—अथवा हे रघुकुलरूपी आकाशके पूर्ण चन्द्रमा श्रीराम ! तुम राजा बलिकी भाँति विवेकके द्वारा परब्रह्म परमात्माका यथार्थ एवं विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करो।

श्रीरामचन्द्रजी बोले—भगवन् ! सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता गुरुदेव ! आपकी कृपासे मुझे प्रामाण्य सच्चिदानन्द-घन परमात्माके ज्ञानका यथार्थ अनुभव प्राप्त है और उसी निर्मल पदमें मैं परम शान्तिको प्राप्त होकर स्थित हूँ। प्रभो ! जैसे शरद्ऋतुमें आकाशसे बादल हट जाते हैं उसी प्रकार मेरे चित्तसे तृष्णा नामक महान् तम (अज्ञानान्धकार) का अत्यन्त अभाव हो गया है। पूर्णिमाके सायंकालमें उदित हुए आकाशवर्ती शीतल अमृतमयी किरणोंसे सम्पन्न तथा महातेजस्वी पूर्ण चन्द्रमाके समान मैं विज्ञानानन्दघनमय अमृतसे परिपूर्ण, चिन्मय आकाश-स्वरूप ब्रह्ममें विराजमान शान्तिमय महान् प्रकाशस्वरूप तथा अन्तःकरणमें परमानन्दसे परिपूर्ण होकर स्थित हूँ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! मैं तुमसे बलिके उत्तम वृत्तान्तका वर्णन करता हूँ, सुनो ! इस ब्रह्माण्ड-कोशके भीतर किसी दिशारूपी निकुञ्जमें भूमिके नीचे विद्यमान पाताल नामसे विख्यात एक लोक है, जिसमें असुरोंके बाहुदण्डोंपर आधारित महान् साम्राज्य है।

उस साम्राज्यपर विरोचनकुमार बलि राजाके रूपमें प्रतिष्ठित हुए। वे दैत्यराज बलि त्रिलोकीके रत्नोंके

कोश, समस्त शरीरधारियोंके रक्षक तथा भुवनपालोंके भी पालक हैं। साक्षात् भगवान् विष्णु उनकी रक्षा करते हैं। उन्होंने अनायास ही वशमें किये हुए सम्पूर्ण लोकोंके विस्तारसे अपने आपको विभूषित करके दस करोड़ वर्षोंतक राज्य किया। तदनन्तर आने-जानेवाले बहुत-से युग बीत गये। देवताओं और असुरोंके महान् समूह कभी उन्नतिको प्राप्त हुए और कभी उनका पतन हुआ। तीनों लोकोंमें अत्यन्त उत्कृष्ट समझे जानेवाले बहुत-से भोगोंका निरन्तर उपभोग करते-करते एक समय दानवराज बलिको उन भोगोंसे अत्यन्त उद्वेग (वैराग्य) प्राप्त हुआ। एक दिन मेरुपर्वतके शिखरपर स्थित रत्नोंके बने हुए विशाल भवनमें खिड़कीके सामने बैठे हुए दैत्यराज बलि स्वयं ही संसारकी स्थितिपर विचार करने लगे—'अहो! अक्षुण्ण शक्तिवाले मुझ बलिको अब इस लोकमें कितने समयतक यह साम्राज्य चलाना और तीनों लोकोंमें विचरना होगा? मेरा यह महान् राष्ट्र तीनों लोकोंको आश्चर्यमें डालनेवाला है। प्रचुर भोगोंसे सम्पन्न होनेके कारण यह अत्यन्त मनोहर जान पड़ता है, किंतु इसके

उपभोगसे मेरा कौन-सा प्रयोजन सिद्ध हो रहा है! आरम्भमें तभीतक मधुर प्रतीत होता है, जबतक नष्ट या विकृत नहीं हो जाता, और जिसका वि अवश्यम्भावी है, उस भोग-समुदायका उपभोगमात्र क मेरे लिये क्या सुखदायक हो सकता है? जिसके हो जानेपर दूसरा कुछ पाना या करना शेष न रह उस परम उदार अद्वितीय (परमात्मप्राप्तिरूप) फ मैं यहाँ नहीं देख पाता। इन क्षणभङ्गुर भोगों छोड़कर दूसरा नित्य, उत्तम एवं यथार्थ सुख क्या है इसीका मैं विचार करता हूँ।' विवेक-वैराग्ययुक्त बु ऐसा सोच-समझकर राजा बलि तत्काल ध्यानमग्न हो ग

तदनन्तर विचार किये हुए परम पुरुषार्थका मन मन चिन्तन करते हुए असुरराज बलिने क्षणभरमें भ पूर्वक कहा—"अरे! याद आ गया। पहलेकी बात है जिन्होंने लोकके छोटे-बड़े सभी व्यवहारोंको देखा था जो आत्मतत्त्वके ज्ञानसे सम्पन्न थे, उन अपने ऐश्वर्यश पिता महाराज विरोचनसे मैंने पूछा—'महात्मन्! समस्त दुःखों और सुखोंसे सम्बन्ध रखनेवाले सारे शान्त हो जाते हों, संसारकी वह सीमा कौन है! ता

मनका मोह कहाँ शान्त होता है ? समस्त एषणाओंका कहाँ अभाव होता है तथा चिरकालके लिये निरन्तर एवं पुनरावृत्तिरहित विश्राम कहाँ प्राप्त होता है ? पूज्य पिताजी ! अविनाशी आनन्दसे परम सुन्दर किसी ऐसे परमपदका मेरे लिये वर्णन कीजिये, जहाँ स्थित होकर मैं सदाके लिये परमशान्ति प्राप्त कर लूँ ।' मेरे इस प्रश्नको सुनकर पिताने सम्मोहशान्ति (अज्ञान-निवारण) के लिये मुझसे यह बात कही ।' (सर्ग २२-२३)

विरोचनका बलिको भोगोंसे वैराग्य तथा विचारपूर्वक परमात्मसाक्षात्कारके लिये उपदेश

विरोचन बोले—महामते ! मनुष्यसे लेकर ब्रह्मपदतक सम्पूर्ण पदोंका अतिक्रमण करनेवाला जो मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरका स्वामी शुद्ध आत्मा है, वह एक राजाके समान है । उसने बुद्धियुक्त मनको अपना मन्त्री बनाया है । उस मन्त्रीको जीत लेनेपर सबको जीत लिया जाता है और सब कुछ प्राप्त हो जाता है । परंतु उसे अत्यन्त दुर्जय समझना चाहिये । वह बलसे नहीं, युक्तिसे ही जीता जाता है ।

बलिने कहा—भगवन् ! उस चित्तरूपी मन्त्रीपर आक्रमण करनेके लिये जो युक्ति या उपाय हो, उसे आप भलीभाँति बताइये, जिससे मैं उस भयंकर मनपर विजय पा सकूँ ।

विरोचन बोले—बेटा ! सभी विषयोंके प्रति सब प्रकारसे जो अत्यन्त अनास्था (वैराग्य) है वही मनपर विजय पानेके लिये उत्तम युक्ति है । यह अनास्था ही वह उत्तम युक्ति है, जिससे महान् मदमत्त मनरूपी मातङ्ग (गजराज) का शीघ्र ही दमन किया जा सकता है । महामते ! यह युक्ति अत्यन्त दुर्लभ और परम सुलभ भी है । यदि इसके लिये अभ्यास न किया जाय तो यह अत्यन्त दुर्लभ है । परंतु यदि इसके लिये भलीभाँति अभ्यास किया जाय तो यह अनायास ही प्राप्त हो जाती है । बेटा ! यदि क्रमशः विषयोंसे विरक्त होनेका अभ्यास किया जाय तो जैसे सींचनेसे लता लहलहा उठती है, उसी प्रकार यह विरक्ति भी सब ओरसे सुस्पष्टतः प्रकट हो जाती है । पुत्र ! जैसे बोये बिना धान नहीं प्राप्त होता, वैसे ही यदि विरक्तिके लिये अभ्यास न किया जाय तो विषय लोलुप पुरुष कितना ही क्यों न चाहे, यह विरक्ति उसे नहीं मिलती; अतः तुम इसे अभ्यासके द्वारा दृढ़ करो । संसाररूपी गर्तमें निवास करनेवाले ये जीव तबतक नाना प्रकारके दुःखोंमें भटकते रहते हैं, जबतक उन्हें विषयोंसे वैराग्य नहीं हो जाता । जैसे कोई अत्यन्त बलवान् देहवाला मनुष्य भी यदि पैर उठाकर कहीं जाय नहीं तो वह देशान्तरमें नहीं पहुँच सकता, उसी तरह कोई शारीरिक शक्तिसे सम्पन्न पुरुष भी यदि अभ्यास न करे तो वह विषयोंसे वैराग्य नहीं प्राप्त कर सकता । इसलिये देहधारी मनुष्यको चाहिये कि वह जीवन्मुक्तिके हेतुभूत पूर्वकथित ध्येय नामक वासना-

त्यागकी अभिलाषा एवं चिन्तन करते हुए भोगोंकी ओरसे विरक्तिका अभ्यासपूर्वक विस्तार करे—ठीक वैसे ही, जैसे सींचने आदिके द्वारा लगायी हुई बेलको बढ़ाया जाता है। बेटा! हर्ष और अमर्षसे रहित शुभ कर्मफलको प्राप्त करनेके लिये इस संसारमें परम पुरुषार्थके सिवा दूसरा कोई साधन नहीं है। पुरुषार्थसे ही उसकी प्राप्ति होती है। संसारमें दैवकी चर्चा बहुत की जाती है। परन्तु दैव कहीं देहधारण करके स्थित हो, ऐसी बात नहीं है। अवश्य होनेवाली जो भवितव्यता है—नियतिके द्वारा मिलनेवाला जो अपने ही शुभाशुभ कर्मोंका फल है, उसीको यहाँ दैव अथवा प्रारब्ध नाम दिया गया है।

प्रारब्ध-भोगरूप जो दैव है, उसे परम पुरुषार्थसे ही जीता जाता है। जीवात्मा पुरुष-शरीर धारण करके पुरुषार्थसे जिस पदार्थका जैसे संकल्प करता है, इस लोकमें वह पदार्थ उसे उसी रूपमें प्राप्त होता है, दूसरे किसी रूपमें नहीं। बेटा! इस जगत्में पुरुषार्थके सिवा दूसरा कुछ नहीं है। अतः उत्तम पुरुषार्थका आश्रय ले भोगोंकी ओरसे वैराग्य प्राप्त करे। जबतक भोगोंसे वैराग्य, जो संसार-बन्धनका विनाश करनेवाला है, नहीं प्राप्त होता, तबतक विजयदायक परमानन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जबतक मोहमें डालनेवाली विषयाशक्ति बनी हुई है, तबतक भवदशारूपी झूला चञ्चल गतिसे आन्दोलित होता रहता है अर्थात् जीवको संसारमें भटकानेवाली अस्थिर अवस्था प्राप्त होती रहती है। पुत्र! अभ्यासके बिना विषयभोगरूपी भुजंगोंसे भरी हुई दुःखदायिनी दुराशा कदापि दूर नहीं होती।

बलिने पूछा—असुरेश्वर! विषयोंकी ओरसे जो वैराग्य है, वह जीवके अन्तःकरणमें कैसे दृढ़तापूर्वक स्थित होता है?

विरोचनने कहा—बेटा! आत्मसाक्षात्काररूपिणी फलदायिनी लता जीवके अन्तःकरणमें विषयभोगोंसे विरक्तिरूपी फल अवश्य उत्पन्न करती है। आत्मसाक्षात्कार होनेपर विषयोंमें (राग-आसक्ति) का अत्यन्त अभाव हो जाता है। इसलिये पुरुष पवित्र और तीक्ष्ण बुद्धिके द्वारा अति उत्तम विवेक-विचारसे परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार करे। साथ ही विषयोंकी आसक्तिसे सर्वथा रहित हो जाय। पवित्र एवं तीक्ष्ण बुद्धिवाला पुरुष दिनके दो भागोंमें अपने चित्तको वैराग्यपूर्वक परमार्थ-साधनरूप सत्-शास्त्रके अनुशीलनमें लगाये, तीसरे भागमें एकान्तदेशमें स्थित होकर मनको सच्चिदानन्दघन परमात्माके ध्यानमें लगाये तथा चौथे भागमें अपने चित्तको श्रद्धाभक्तिपूर्वक गुरुकी सेवा और आज्ञापालनमें लगाये। साधु स्वभाव (श्रेष्ठ आचरण) को प्राप्त हुआ पुरुष ही ज्ञानोपदेश पानेका अधिकारी होता है। जैसे स्वच्छ वस्त्र ही उत्तम रंगको ग्रहण करता है, उसी तरह सदाचारी पुरुष ही ज्ञानोपदेशको अपने हृदयमें धारण करता है। यह चित्त एक बालकके समान है। इसे पवित्र, वचनों, युक्तियों और शास्त्रके अनुशीलनसे धीरे-धीरे लाड़-प्यारके साथ रिझाकर वशमें करना चाहिये। बेटा! शुद्ध और सूक्ष्म बुद्धिसे तृष्णा-आसक्तिका सर्वथा अभाव करते हुए ही सच्चिदानन्दघन परमात्माका चिन्तन करना चाहिये; क्योंकि परमात्माका साक्षात्कार होनेपर तृष्णा एवं आसक्तिका सर्वथा अभाव होता है और तृष्णा एवं आसक्तिका अभाव होनेपर परमात्माका साक्षात्कार होता है। इस तरह ये दोनों बातें एक-दूसरेपर अवलम्बित हैं। इसलिये दोनों साधनोंको एक साथ करते रहना चाहिये। जब भोग-समूहोंमें आसक्तिका अत्यन्त अभाव हो जाता है तथा परावरस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मदेवका साक्षात्कार हो जाता है, तब जीवको कभी नष्ट न होनेवाली सीमारहित परमशान्ति प्राप्त हो जाती है। विषयोंमें ही आनन्द मानकर उनका आस्वादन करनेवाले मनुष्योंको तो इस जगत्में कभी भी परमात्मतत्त्वके श्रवण बिना निस्सीम एवं निरतिशय आनन्दकी

प्राप्ति नहीं होती । सकामभावसे किये गये यज्ञ, दान, तप और तीर्थसेवनसे तो स्वर्गादि सुख ही प्राप्त होते हैं । आत्माका यथार्थ ज्ञान हुए बिना उन तप, दान और तीर्थ-सेवनरूप सकाम साधनोंद्वारा जीवको कभी विषयोंसे वैराग्य नहीं होता ।

बेटा ! अपने परम पुरुषार्थके बिना पुरुषकी बुद्धि किसी भी युक्तिसे कल्याणके हेतुभूत आत्मज्ञानमें प्रवृत्त नहीं होती । भोगोंके सर्वथा त्यागसे प्राप्त होनेवाले परम पुरुषार्थके बिना ब्रह्मपदकी प्राप्तिरूप परम शान्ति एवं परमानन्दकी उपलब्धि नहीं होती । परम कारणरूप परमात्माका यथार्थ बोध हो जानेपर मनुष्यको जैसी शान्ति प्राप्त होती है, वैसी ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त इस सम्पूर्ण जगत्‌में कहीं भी नहीं मिलती । बुद्धिमान् मनुष्य परम पुरुषार्थका आश्रय ले दैव (प्रारब्ध) को दूरसे ही त्याग दे तथा कल्याणरूपी भवनके द्वारको दृढ़तापूर्वक बद रखनेवाले अर्गलारूप जो भोग हैं, उनसे घृणा करे—उनकी ओरसे सर्वथा विरक्त हो जाय । भोगोंके प्रति वैराग्यसे परमात्मविषयक विचार उत्पन्न होता है और परमात्मविषयक विचार उदित होनेपर भोगोंकी ओरसे वैराग्य होने लगता है । जैसे समुद्र बादलको और बादल समुद्रको भरते हैं, उसी तरह ये दोनों साधन एक-दूसरेके पूरक हैं । जैसे परस्पर अत्यन्त स्नेह रखनेवाले सुहृद् एक-दूसरेके मनोरथ सिद्ध करते हैं, उसी प्रकार भोगोंसे वैराग्य, परमात्म-विषयक विचार और नित्य आत्मदर्शन—ये तीनों एक दूसरेको पुष्ट करते हैं । मनुष्यको चाहिये कि पहले देशाचार और सदाचारके अनुकूल तथा बन्धु-बान्धवोंकी सम्पत्तिके अनुरूप न्याययुक्त पुरुषार्थद्वारा क्रमशः धनका उपार्जन करे । उस धनके द्वारा कुलीन और गुणशाली सज्जनोंको अपनाये—उनकी सेवा करके उन्हें अपने अनुकूल बनाये । उन सत्पुरुषोंका सङ्ग करनेसे भोगोंकी ओरसे विरक्ति होने लगती है । तदनन्तर विवेकपूर्वक विचारका उदय होता है । तत्पश्चात् शास्त्रोंके यथार्थ अर्थका अनुभव होता है । उसके बाद क्रमशः परम पदस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है । (सर्ग २४)

बलिका पिताके दिये हुए ज्ञानोपदेशके स्मरणसे संतोष तथा पहलेकी अज्ञानमयी स्थितिको याद करके खेद प्रकट करते हुए शुक्राचार्यका चिन्तन करना, शुक्राचार्यका आना और बलिसे पूजित होकर उन्हें सारभूत सिद्धान्तका उपदेश देकर चला जाना

बलि मन-ही-मन कहने लगे—पूर्वकालमें सुन्दर विचार रखनेवाले मेरे पूज्य पिताजीने मुझे ऐसा उपदेश दिया था । सौभाग्यकी बात है कि वह उपदेश मुझे इस समय याद आ गया, इससे मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ । आज मेरे अन्तःकरणमें भोगोंके प्रति यह अतिशय विरक्ति प्रत्यक्ष अनुभवमें आने लगी है । बड़े आनन्दकी बात है कि मैं अमृतके समान शीतल, विशुद्ध एवं परम शान्तिमय परमानन्द-सिंधुमें प्रविष्ट हो गया हूँ । अहा ! अन्तःकरणको शीतल बना देनेवाली यह शान्तिमय स्थिति बड़ी ही रमणीय है । इस शान्तिमयी स्थितिमें सुख-दुःखकी सारी दृष्टियाँ ही शान्त (विलीन) हो गयी हैं । परम उपरतिमें स्थित हो मैं परम शान्तिका अनुभव करता हूँ । सब ओरसे निर्वाणको प्राप्त हो रहा हूँ । सुखपूर्वक स्थित हूँ और मेरे अन्तः-करणमें ऐसा अपार हर्ष हो रहा है, मानो मुझे चन्द्रमण्डलमें स्थापित कर दिया गया है । समस्त वैभवोंके दृष्टान्तभूत महान् वैभवका मैंने उपभोग किया, भोगने योग्य सारे भोगोंको बिना किसी बाधाके भोग लिया और समस्त

प्राणियोंको पददलित कर दिया, तो भी इससे मुझे कौन-सा सुन्दर लाभ मिला ? परलोकमें, इस लोकमें तथा अन्य स्वर्ग आदिमें इधर-उधर, बारंबार वे ही पहलेकी अनुभव की हुई वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं। कहीं कोई अपूर्व (नूतन) वस्तु नहीं है । पातालमें, भूलोकमें और स्वर्गमें सार पदार्थ क्या है—सुन्दरी स्त्रियाँ, रत्न एवं मणिमय प्रस्तर आदि । परंतु काल इन सबको क्षणभरमें निगल जाता है। आजसे पहले इतने समयतक मैं पूरा मूर्ख बना रहा जो तुच्छ सांसारिक वस्तुओंकी इच्छासे देवताओंके साथ द्वेष करता रहा। जो मनकी कल्पनामात्र है, उस जगत् नामकी महती मानसिक व्यथाका त्याग न करनेसे कौन-सा पुरुषार्थ सिद्ध होता है ? इसमें महात्मा पुरुषका क्या अनुराग होगा ? अहो ! बड़े दुःखकी बात है कि अज्ञानरूपी मदसे मत्त हुए मैंने दीर्घकालतक अनर्थमें ही अर्थ-बुद्धि करके स्वयं ही उसका सेवन किया । अत्यन्त चञ्चल तृष्णावाले मुझ मूर्खने तीनों लोकोंमें केवल अपने पश्चात्तापको बढानेके लिये अबतक क्या नहीं किया ? अब मैं आश्रित जनोंपर सदा प्रसन्न रहनेवाले गुरुदेव भगवान् शुक्राचार्यका चिन्तन करता हूँ । उनकी वाणीद्वारा उपदेश पाकर मैं अनन्त प्रभावशाली विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित होऊँगा; क्योंकि महात्माओंके उपदेश-वाक्य अक्षय वस्तुको फलरूपमें उत्पन्न करते हैं—अविनाशी तत्त्वका बोध करा देते हैं।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! बलवान् बलिने ऐसा सोचकर आँखें बंद कर लीं और विज्ञानानन्दघन ब्रह्मस्वरूप आकाशमें स्थित कमलनयन शुक्राचार्यका चिन्तन किया। तब परमात्माके ध्यानमें नित्य तत्पर रहनेवाले शुक्राचार्यने सर्वव्यापी ब्रह्मके स्वरूपमें स्थित और चित्तके द्वारा परमात्मतत्त्वका चिन्तन करनेवाले अपने शिष्य बलिके विषयमें यह जान लिया कि वह अपने नगरमें तत्त्वज्ञानकी इच्छा रखकर गुरुसे मिलना चाहता है। यह जानकर प्रभु शुक्राचार्यजी, जो सर्वगत अनन्त चेतन परमात्मामें स्थित हैं, अपने आपको बलिकी रत्ननिर्मित खिड़कीके पास ले आये अर्थात् वे बलिके यहाँ स्वयं उपस्थित हो गये। वहाँ राजा बलिने रत्नमय अर्घ्य देकर, मन्दारवृक्षके पुष्पोंकी राशियाँ चढ़ाकर और चरणोंमें मस्तक झुकाकर इन शुक्राचार्यका पूजन किया। जब वे रत्नमय अर्घ्य ग्रहण करके पूर्णतया पूजित तथा मन्दारवृक्षके फूलोंद्वारा निर्मित मुकुटसे विभूषित होकर बहुमूल्य आसनपर विराजमान हो गये, तब बलिने अपने उन गुरुदेवसे इस प्रकार कहा ।

बलि बोले—भगवन् ! जैसे नवोदित सूर्यकी प्रभा सन्ध्या-वन्दन आदि कर्म करनेके लिये लोगोंको प्रेरित करती है, उसी प्रकार आपके कृपा-प्रसादसे उत्पन्न हुई मेरी यह बुद्धि मुझे आपके सामने कुछ कहनेके लिये प्रेरित कर रही है। प्रभो ! मैं महान् मोह प्रदान करनेवाले भोगोंसे विरक्त हूँ, इसलिये ऐसे परम तत्त्वको जानना चाहता हूँ, जो अपने ज्ञानमात्रसे महान् मोहका नाश कर दे।

शुक्राचार्य बोले—सर्वदानवराजेन्द्र ! इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ ? मैं आकाशमें जानेके लिये उद्यत हूँ; इसलिये संक्षेपसे सार तत्त्व बता रहा हूँ, सुनो ! इस संसारमें एकमात्र चेतन ही है। यह सब जगत् भी चेतनमात्र—चिन्मय ही है। तुम भी चिन्मय, मैं भी चिन्मय और ये लोक भी चिन्मय हैं। अर्थात् जो कुछ भी दिखायी देता है, वह सब एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है—यह समस्त सिद्धान्तोंका सार है। यदि तुम श्रद्धालु हो तो इस निश्चयसे तुम सब कुछ प्राप्त कर सकते हो; और यदि तुममें श्रद्धा नहीं है तो तुम्हें

दिया गया बहुत-सा उपदेश भी राखमें डाली गयी आहुतिके समान व्यर्थ है । चेतनकी जो विषयाकार कल्पना है, वही बन्धन है । उससे छूटना ही मोक्ष कहलाता है । विषयाकाररहित चेतन ही पूर्ण ब्रह्म परमात्मा है, यह समस्त सिद्धान्तोंका सार है । इस सिद्धान्तको ग्रहण करके यदि तुम स्वयं अखण्डाकार वृत्तिसे अपने द्वारा अपने आपका यथार्थ अनुभव करोगे तो अनन्त परमपदस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाओगे । मैं इस समय देवलोकको जाता हूँ । मुझे यहींपर सप्तर्षि मिले थे । वहाँ देवताओंके किसी कार्यके लिये मुझे रहना होगा ।

ऐसा कहकर शुक्राचार्यजी ग्रहसमुदायसे भरे हुए आकाशमार्गसे चले गये । (सर्ग २५-२६)

राजा बलिका शुक्राचार्यके दिये हुए उपदेशपर विचार करते-करते समाधिस्थ हो जाना, दानवों स्मरण करनेसे आये हुए दैत्यगुरुका बलिकी सिद्धावस्थाको बताकर उनकी चिन्ता दूर करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! देवताओं और असुरोंकी सभामें श्रेष्ठ माने जानेवाले भृगुनन्दन शुक्राचार्यके चले जानेपर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ बलिने मन-ही-मन इस प्रकार विचार किया—"भगवान् शुक्राचार्यने यह ठीक ही कहा है कि 'ये तीनों लोक चेतन ही हैं । मैं चेतन हूँ, ये सब लोग चेतन हैं, दिशाएँ चेतन है और ये सब क्रियाएँ भी चेतन ही हैं ।' वास्तवमें जगत्के बाहर और भीतर सब चेतन ही है । चेतनके अतिरिक्त यहाँ कहीं कुछ भी नहीं है । इन्द्रियाँ चेतन हैं, शरीर चेतन है, मन चेतन है, उसकी इच्छा चेतन है, भीतर चेतन है, बाहर चेतन है, आकाश चेतन है, समस्त भाव-पदार्थ चेतन हैं तथा इस जगत्की स्थिति भी चेतन ही है । अर्थात् जो कुछ भी है, वह एक सच्चिदानन्दघन परमात्माका ही स्वरूप है । वहाँ केवल चेतन-ही-चेतन है, दूसरी कोई कल्पना ही नहीं है । संसारमें जब द्वैतकी सम्भावना ही नहीं है अर्थात् एक चेतन परमात्मा सिवा दूसरी किसी वस्तुकी सत्ता ही नहीं है, कौन किसका शत्रु है और कौन किसका मित्र । बहु विचारनेसे भी इस विशाल त्रिलोकीके भीतर चेतन अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती । अतिशय शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मामें न द्वेष है न रा न मन है और न उसकी वृत्तियाँ ही । फिर चिन्मय परमात्मामें विकल्पकी कल्पना हो ही सकती है । मैं सर्वत्र विचरनेवाला, व्यापक, नित्यान मय, विकल्प-कल्पनासे रहित तथा द्वैतसे शून्य सच्चि नन्दघन परमात्मा ही हूँ । मैं आकाशके समान स व्याप्त, अनन्त और सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म हूँ; इसलिये सुख-दुःख आदिकी दशाएँ मेरे पास नहीं फट पातीं ।"

इस प्रकार विचार करते हुए ही परम विवेकी दैत्यरा बलि ओंकारसे प्रकट हुए उसकी अर्धमात्रा (मकार

अर्थभूत तुरीय परमात्माका चिन्तन करने लगे और चुपचाप समाधिस्थ हो गये। उस समय बलिके सारे

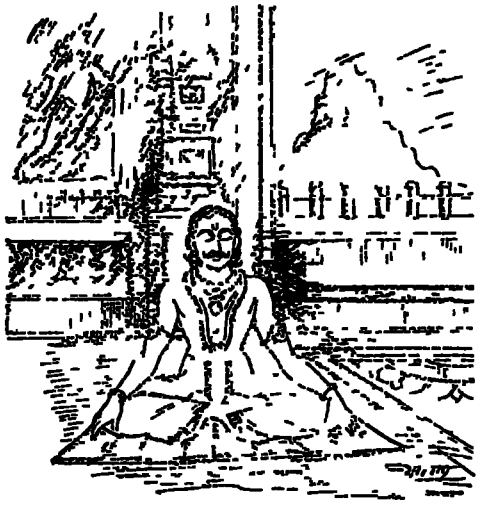

संकल्प शान्त हो गये, समस्त कल्पनाएँ विलीन हो गयीं। उनके भीतर किसी प्रकारकी शङ्का नहीं रह गयी। वे ध्याता, ध्येय और ध्यानसे रहित हो गये। उनकी बुद्धिसे चेत्य, चिन्तक और चिन्तनकी त्रिपुटी दूर हो गयी। वे निर्मल और वासनाशून्य हो वायुरहित स्थानमें रक्खे हुए दीपककी लौके समान निश्चल हो गये। वे महान् पद (परमात्मा) को प्राप्त हो गये थे। उनका मन सर्वथा शान्त हो गया था। वे वहाँ रत्ननिर्मित वातायन (खिडकी) में दीर्घकालतक उसी तरह अविचल भावसे बैठे रहे, मानो प्रस्तरमें खुदी हुई मूर्ति हो।

रघुनन्दन! तदनन्तर बलिके अनुचर दानवलोग स्फटिकमणिके बने हुए उनके महलकी ऊँची अट्टालिकापर क्षणभरमें चढ़ गये। डिम्भ आदि धीर मन्त्री, कुमुद आदि सामन्त, सुर आदि राजा, वृत्त आदि सेनापति, हयग्रीव आदि सैनिक, चाक्राज आदि भाई-बन्धु, लडुक आदि सुहृद्, वल्लुक आदि लाड लडानेवाले सखा, हाथमें भेंट लेकर उपस्थित हुए कुबेर, यम और इन्द्र आदि देवता, सेवाका अवसर चाहनेवाले यक्ष, विद्याधर और नाग उस समय बलिकी सेवाके लिये उस स्थानपर आ पहुँचे। इनके सिवा त्रिलोकीके भीतर निवास करनेवाले अन्य बहुत-से सिद्ध भी आये। उनके पास आकर उन सबके मुकुट प्रणामके लिये झुक गये। उन सबने बड़े आदरके साथ राजा बलिको देखा, वे ध्यानमें मौन हो समाधिस्थ हो गये थे और चित्रलिखित पुरुषकी भाँति निश्चलभावसे बैठे थे। उस अवस्थामें उनका दर्शन

करके अवश्य-कर्तव्य प्रणाम आदि कर चुकनेपर वे महान् असुर पहले तो उन्हें निष्प्राण समझकर विषादमें डूब गये, परंतु उनके मुखपर छायी हुई प्रसन्नता देख विस्मित हुए। तत्पश्चात् रोमाञ्च आदि आनन्दके चिह्न देखकर वे स्वयं भी आनन्दमग्न हो गये। परंतु उस समय अपना कोई रक्षक न देखकर वे भयके कारण शिथिल होने लगे। फिर दानव मन्त्रियोंने यह विचार किया कि अब यहाँ हमारे लिये कौन-सा कर्तव्य प्राप्त है। यह विचार आते ही उन्होंने सर्वज्ञ पुरुषोंमें श्रेष्ठ दैत्यगुरु शुक्राचार्यका स्मरण किया। स्मरण करते ही दैत्योंने देखा, भृगुनन्दन शुक्र अपने तेजस्वी शरीरसे यहाँ उपस्थित हैं। असुरोंने उनकी पूजा की, फिर वे गुरुके उच्च सिंहासनपर विराजमान हुए। तदनन्तर शुक्राचार्यने

दानवराज बलिको देखा, जो मौनभावसे ध्यानमग्न होकर बैठे थे। क्षणभर विश्राम करके शुक्राचार्यने बड़े प्रेमसे बलिकी ओर देखा और विचार करके वे इस निश्चयपर पहुँचे कि बलिका संसाररूपी भ्रम नष्ट हो गया है। तत्पश्चात् गुरुने उस दैत्यमण्डलीसे कहा—'दैत्यो! ये

ऐश्वर्यशाली बलि अपनी विचारधारासे ही विशुद्ध परमपद-को प्राप्त होकर सिद्ध हो गये हैं। यही अतिशय शान्त-मय परमानन्द है। दानव-शिरोमणियो! ये इसी तरह समाधिमें स्थित हो अपने परमानन्दस्वरूप आत्मामें नित्य स्थितिको प्राप्त हों और निर्विकार परमपदका साक्षात्कार करें। दानवो! जैसे थके हुए पुरुषको विश्राम मिले, उसी प्रकार ये बलि भी चित्तकी भ्रान्तिसे रहित हो परम विश्रामको प्राप्त हुए हैं। इनका संसाररूपी कुहरा (अज्ञान) शान्त हो गया है; अतः इस समय तुमलोग इनसे बातचीत न करो। जैसे भूतलपर रात्रिके अन्धकार एवं निद्रा आदिके शान्त होनेपर दिनमें सूर्यकी किरणों-का समुदाय प्राप्त होता है, उसी प्रकार इनका अज्ञानयुक्त भ्रम दूर हो जानेपर अब इन्हें अपना ही प्रकाश प्राप्त हुआ है। समय आनेपर ये स्वयं ही इस समाधिसे जाग उठेंगे। दानवनायको! तुम सब लोग अपने स्वामीके कार्य करो। ये राजा बलि एक सहस्र वर्षपर समाधिसे उठेंगे।

गुरुदेवके ऐसा कहनेपर दैत्योंने हर्ष, अमर्ष और दुःखसे उत्पन्न हुई चिन्ताको त्याग दिया तथा पहलेकी व्यवस्थाके अनुसार बलिकी राज्य-सभाका सुदृढ संगठन करके वे सभी असुर यथाधिकार अपने-अपने कार्यमें संलग्न हो गये। तत्पश्चात् पन्नुप्य भूतलको, नागराज रसातलको, ग्रह अन्तरिक्षको, देववृन्द स्वर्गको, पर्वत और दिक्पाल अपनी-अपनी दिशाओंको, वनचर जीव अपनी कन्दराओंको और आकाशचारी प्राणी आकाशको चले गये।

(सर्ग २७-२८)

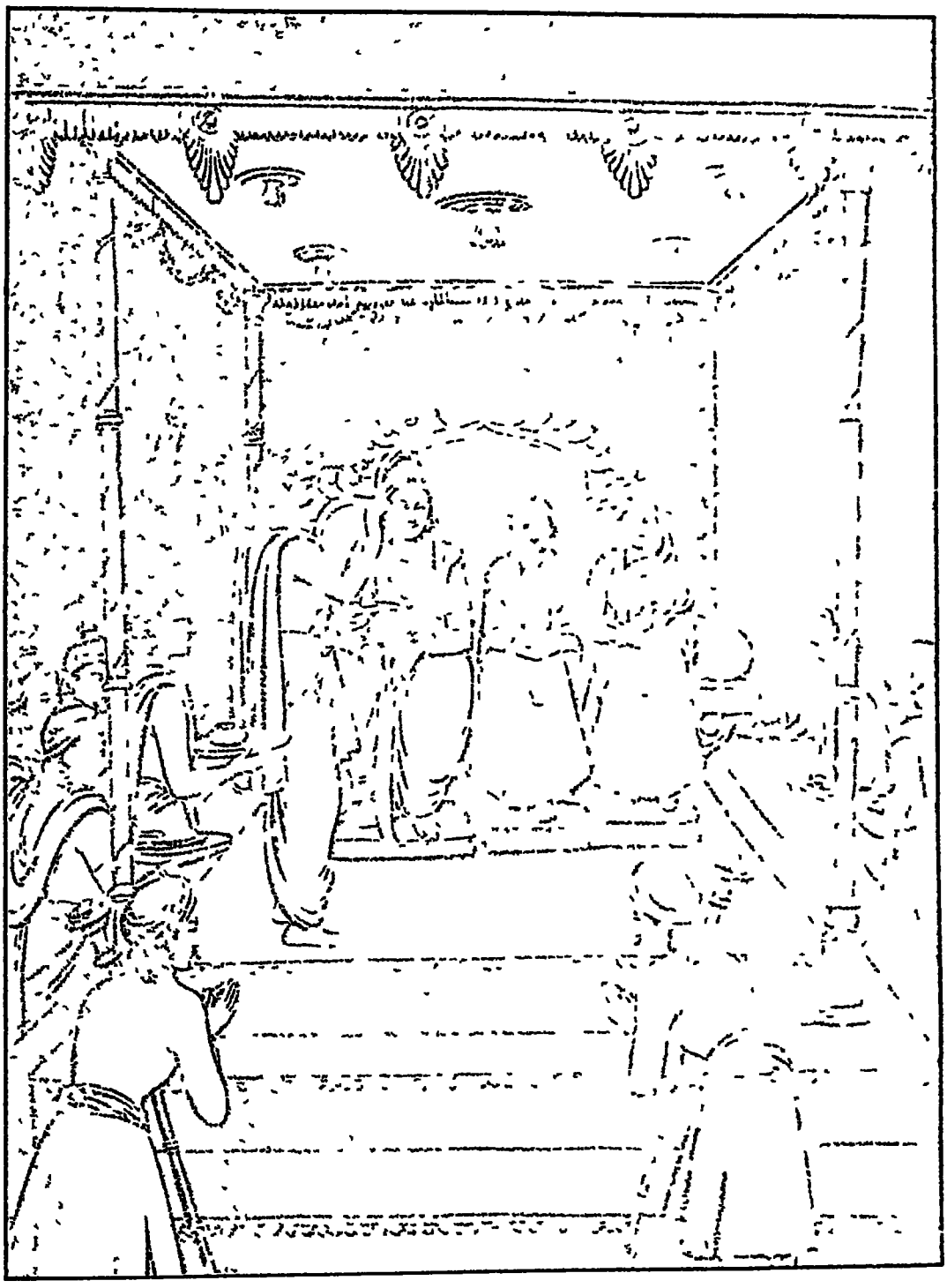

दोनो लीलाओके साथ राजा पद्मका राज्याभिषेक

(उत्पत्ति-प्रकरण सर्ग ५९)

समाधिसे जगे हुए बलिका विचारपूर्वक समभावसे स्थित होना, श्रीहरिका उन्हें त्रिलोकीके राज्यसे हटाकर पातालका ही राजा बनाना, उस अवस्थामें भी उनकी समतापूर्ण स्थिति तथा श्रीरामके चिन्मय स्वरूपका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! तदनन्तर एक सहस्र दिव्य वर्ष व्यतीत होनेपर ऐश्वर्यशाली असुरराज बलि देव-दुन्दुभियोंका तुमुलनाद सुनकर समाधिसे जागे और इस प्रकार विचार करने लगे—'न बन्धन है न मोक्ष है। मेरी मूर्खता (अज्ञान) का नाश हो गया। ध्यानके लीला-विलाससे मेरा क्या होगा अथवा ध्यान न करनेसे भी कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ? न मैं ध्यानकी इच्छा करता हूँ और न ध्यान न करनेकी; न भोग चाहता हूँ न भोगोंका अभाव; मैं चिन्तारहित होकर समभावसे ही स्थित हूँ। यह जगत्का राज्य रहे, तो भी मैं यहाँ स्थिर-भावसे स्थित हूँ। अथवा यहाँ यह जगत्का राज्य न रहे, तो भी मै शान्तस्वरूप हो परमात्मामें स्थित हूँ। ध्यान-दृष्टिसे मेरा क्या काम है ? राज्य-वैभवकी सम्पत्तिसे भी मेरा क्या प्रयोजन है ? जो आता है, वह आये। न वह मैं हूँ न कहीं कुछ मेरा है। यदि आवश्यकताकी दृष्टिसे इस समय मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है तो अकर्तव्य भी कुछ नहीं है। अतः यह जो कुछ प्रस्तुत कर्म—राज्यपालन आदि है, इसे मैं क्यों न करूँ ?'

ऐसा विचार करके बलि वासनारहित मनसे वहाँ समस्त राज्यकार्य करने लगे। उन्होंने पूजनके अर्घ्य-पाद्य आदि उपचारोंद्वारा देवताओं, ब्राह्मणों और गुरुजनोंकी पूजा की तथा सुहृदों, बन्धु-बान्धवों, सामन्तों और सत्पुरुषोंका दान-मान आदिके द्वारा सत्कार किया। इतना ही नहीं, उन्होंने सेवकों और याचकोंको धन-धान्यसे परिपूर्ण कर दिया। इस प्रकार उस राज्यमें, जहाँ सबपर समानरूपसे शासन किया जाता था, राजा बलि दिनों-दिन बढ़ने लगे। किसी समय उनके मनमें यज्ञ करनेका विचार

हुआ, तब वे शुक्राचार्य आदि मुख्य-मुख्य ब्राह्मणोंके साथ महायज्ञ अश्वमेधका अनुष्ठान करने लगे। उस यज्ञमें समस्त भुवनोंके प्राणियोंको तृप्त किया गया। देवर्षियोंके समुदायने उस यज्ञकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। राजा बलिको भोगसमूहोंकी अभिलाषा नहीं है—ऐसा निश्चय करके सिद्धिदाता भगवान् लक्ष्मीपति विष्णु बलिके अभीष्ट मनोरथकी सिद्धिके लिये उस यज्ञमें पधारे। कार्यके तत्त्वको जाननेवाले श्रीहरि एकमात्र भोगोंमें आसक्त होनेके कारण कृपण एवं शोचनीय देवराज इन्द्रको, जो (उनके बड़े भाई होनेके नाते) अवस्थामें ज्येष्ठ थे, इस जगत्रूपी जंगलका भाग देनेके लिये वहाँ आये थे। उन्होंने बलपूर्वक पैर बढ़ाकर तीनों लोकोंको नाप लिया और बलिको वैभव भोगसे वञ्चित करके उन्हें

पातालतलमें ही बाँध दिया अर्थात् उन्हें पाताललोकके ही राज्यका अधिकारी बना दिया। श्रीराम! अब वे जीवन्मुक्त और अपने ब्रह्मस्वरूप आत्मामें स्थित हो मनको सदा परमात्मचिन्तनमें लगाये रखकर पुनः भावी इन्द्रपदकी प्राप्तिके हेतु पातालमें ही विराजमान हैं। पातालरूपी गर्तमें रहकर जीवन्मुक्तस्वरूप बलि आपत्ति और सम्पत्तिको समान दृष्टिसे ही देखते हैं। उनका सारा मनोरथ पूर्ण हो चुका है। वे भोगोंकी अभिलाषा छोड़कर नित्य अपने आत्मामें ही रमण करते हुए पातालमें प्रतिष्ठित हैं। श्रीराम! ये बलि पुनः इन्द्रपदपर विराजमान हो बहुत वर्षोंतक इस सम्पूर्ण जगत्पर शासन करेंगे। भविष्यमें होनेवाली इन्द्रपदकी प्राप्ति (की आशा) से न तो उन्हें हर्ष होता है और न अपने त्रिलोकीके राज्यपदसे भ्रष्ट कर दिये जानेके कारण उनके मनमें उद्वेग ही होता है। वे सभी भावोंमें सम तथा सदा ही संतुष्ट-चित्त रहकर प्राप्त भोगोंका अनासक्तभावसे सेवन करते हुए आकाशके समान अपने ब्रह्मस्वरूप आत्मामें नित्य स्थित हैं।

असुरराज बलि लगातार दस करोड़ वर्षोंतक तीनों लोकोंका राज्य करके अन्तमें उससे विरक्त हो गये। अतः भोगसमूहोंमें अवश्य वैरस्य (रसका अभाव एवं दुःखका बाहुल्य) है। श्रीराम! सूर्यके समान सबको प्रकाशित करनेवाले सच्चिदानन्दस्वरूप तुम्हीं सम्पूर्ण जगत्में स्थित हो। तुम्हारे लिये कौन अपना है और कौन पराया! महाबाहो! तुम अनन्त हो, आदि पुरुषोत्तम हो। तुम्हारा शरीर चिन्मय है। सैकड़ों पदार्थोंके रूपमें तुम्हीं चेष्टा कर रहे हो। जैसे सूतमें मणियाँ पिरोयी होती हैं, उसी प्रकार नित्य प्रकाशमान, शुद्ध-बुद्धस्वरूप तुममें यह सारा चराचर जगत् पिरोया हुआ है। तुम्हारा न जन्म होता है न मृत्यु। तुम अजन्मा हो, अन्तर्यामी और विराट् पुरुष हो। शुद्ध चैतन्य ही तुम्हारा स्वरूप है। तुम इस जगत्के स्वामी और नित्य प्रकाशित होनेवाले चिन्मय सूर्यरूपसे स्थित हो। तुममें ही यह स्वप्न-तुल्य सारा संसार भासित होता है।* मनुष्यको उचित है कि बालकके समान यह मन जिन-जिन स्थानोंमें आसक्त होता है, वहाँ-वहाँसे उसे हटाकर परम तत्त्वस्वरूप परमात्मामें लगाये। इस प्रकार अभ्यासको प्राप्त हुए मनरूपी मतवाले हाथीको सर्वतोभावेन बाँधकर मनुष्य परम-कल्याणका भागी होता है। जबतक मनुष्य

---

* चिदादित्यो भवानेव सर्वत्र जगति स्थितः।
कः परस्ते क आत्मीयः परिस्खलसि किं मुधा॥
त्वमनन्तो महाबाहो त्वमाद्यः पुरुषोत्तम।
त्व पदार्थशताकारैः परिस्फूर्जसि चिद्वपुः॥
त्वयि सर्वमिदं प्रोतं जगत् स्थावरजङ्गमम्।
बोधे नित्योदिते शुद्धे सूत्रे मणिगणा यथा॥
न जायसे न म्रियसे त्वमजः पुरुषो विराट्।
चिच्छुद्धा जन्ममरणभ्रान्तयो मा भवन्तु ते॥
× × ×
त्वयि स्थिते जगन्नाथे चिदादित्ये सदोदिते।
इदमाभासने सर्वं ससारस्वप्नमण्डनम्॥
(उपशम० २९। ४५—४८, ५०)

आत्मसाक्षात्कारके लिये परम पुरुषार्थ करके स्वयं अपने ऊपर अनुग्रह नहीं करता, तबतक विवेक-विचारका उदय नहीं होता। जबतक अपने आपका यथार्थरूपसे अनुभव नहीं होता, तबतक वेदों और वेदान्तशास्त्रके अर्थोंसे तथा तार्किक दृष्टियोंसे भी इस आत्माका प्राकट्य नहीं होता।

(सर्ग २९)

प्रह्लादका उपाख्यान—भगवान् नृसिंहकी क्रोधाग्निसे हिरण्यकशिपु आदि दैत्योंका संहार तथा प्रह्लादका विचारद्वारा अपने आपको भगवान् विष्णुसे अभिन्न अनुभव करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! जैसे दैत्यराज प्रह्लाद अपने-आप सिद्ध हो गये थे, ज्ञानप्राप्तिके उस उत्तम क्रमका मैं वर्णन करता हूँ; सुनो। पाताललोकमें हिरण्यकशिपु नामसे प्रसिद्ध एक दैत्य था, जिसका पराक्रम भगवान् नारायणके समान था। उसने युद्धभूमिमें देवताओं और असुरोंको भी मार भगाया था। उसने समस्त भुवनोंपर आक्रमण किया और इन्द्रके हाथसे त्रिलोकीका राज्य छीन लिया। वह देवताओं और असुरोंको परास्त करके तीनों लोकोंका राज्य करने लगा। त्रिभुवनके साम्राज्यपर शासन करते हुए उस असुरराजने यथासमय बहुत-से पुत्र उत्पन्न किये। जैसे बहुमूल्य मणियोंमें कौस्तुभ प्रधान है, उसी प्रकार उन सभी पुत्रोंमें प्रह्लादनामक बलवान् पुत्र प्रधान हुआ। इससे हिरण्यकशिपुका गर्व और भी बढ़ गया। उसका आक्रमणजनित ताप उत्तरोत्तर बढ़कर तीनों लोकोंको उसी तरह तपाने लगा, जैसे प्रलयकालके बारह सूर्य अपनी किरणोंकी नूतन प्रभासे समस्त भुवनोंको संतप्त कर देते हैं। उसके आक्रमणसे सूर्य और चन्द्र आदि देवता खिन्न हो उठे। उन सबने ब्रह्माजीसे उस दैत्यराजके वधके लिये प्रार्थना की। क्यों न हो, किसीके बारंबार किये जानेवाले दुष्कर्म या अपराधको महापुरुष भी सहन नहीं कर सकते। तदनन्तर लक्ष्मीपति भगवान् विष्णुने नृसिंहरूप धारण करके जोर-जोरसे दहाड़ते हुए उस महान् असुरको उसी प्रकार मार डाला, जैसे हाथी कटकट शब्दके साथ घोड़ेको मार डालता है। भगवान् नृसिंहके नख दिग्गजोंके दाँतोंके समान सुदृढ और वज्र आदिके समान भयंकर थे। उनकी चमकीली दन्तपङ्क्ति सुस्थिर विद्युल्लताके समान शोभा पा रही थी। उनका क्रोध तीनों लोकोंको दग्ध करनेके लिये प्रज्वलित हुई प्रलयाग्निके समान जान पड़ता था। उनके सम्पूर्ण अङ्गोंसे पट्टिश, प्रास, तोमर आदि नाना प्रकारके आयुध निकल रहे थे। जैसे प्रलयकालमें अग्निकी ज्वाला समस्त जगज्जालको जलाकर भस्म कर देती है, उसी प्रकार भगवान् नृसिंहके नेत्रोंसे प्रकट हुई आगने उस असुरपुरीके समस्त असुरोंको दग्ध कर दिया। संवर्तक नामक प्रलयकर मेघोंकी गर्जनायुक्त धारावाहिक वृष्टिसे सर्वत्र व्याप्त हुए एकार्णवमें विक्षुब्ध हुई वायुके समान जब भगवान् नृसिंह अत्यन्त क्षोभसे भर गये, तब समस्त दानवोंके समुदाय दिशाओंमें जलते हुए मच्छरोंके समान भाग-भागकर अदृश्य हो गये। भगवान् नृसिंह हिरण्यकशिपुका वध करके आश्वस्त हुए देवताओंद्वारा बड़े आदरके साथ पूजित हो जब धीरेसे कहीं चले गये, तब मरनेसे बचे हुए दानव प्रह्लादसे सुरक्षित हो अपने उस जले हुए देशमें लौट गये। वहाँ अपने बन्धु-बान्धवोंके नाशका विचार करके समयोचित विलाप करनेके अनन्तर उन सबने परलोकवासी बन्धुओंका और्ध्वदैहिक संस्कार एवं श्राद्ध किया। तदनन्तर जिनके बन्धु-बान्धव मारे अथवा भगवान् नृसिंहकी क्रोधाग्निसे जल गये थे, मरनेसे बचे हुए उन आत्मीय जनोंको उन सबने धीरे-धीरे आश्वासन दिया।

भगवान् नृसिंहने जहाँके दानवोंका विनाश कर डाला था, उस पाताल-गर्तमें रहनेवाले मननशील प्रह्लादने मन-ही-मन अत्यन्त दुखी हो विवेकपूर्वक विचार किया—'इस संसारमें सब प्रकारसे, सब तरहकी पवित्र बुद्धियोंसे और

समस्त उत्तम क्रियाओंद्वारा नीत्रनापूर्वक शरण लेने योग्य एकमात्र भगवान् श्रीहरि ही हैं। उनके सिवा यहाँ दूसरी कोई गति नहीं है। तीनों लोकोंमें उनसे बढ़कर कोई नहीं है। सृष्टि, पालन और संहारके एकमात्र कारण श्रीहरि ही हैं। अब इसी क्षणसे सदाके लिये मैं अजन्मा भगवान् नारायणकी शरणमें आया हूँ। जैसे वायु आकाशसे अलग नहीं होती, उसी प्रकार सम्पूर्ण मनोरथोंका साधक 'नमो नारायणाय' यह मन्त्र मेरे हृदयकोशसे दूर नहीं होता। श्रीहरि ही दिशा हैं, हरि ही आकाश हैं; वे ही पृथ्वी हैं और वे ही जगत् हैं; अतः मैं भी अप्रमेयात्मा श्रीहरि ही हूँ। मैं विष्णुरूप हो गया हूँ। श्रीहरि ही प्रह्लाद नामसे प्रकट हैं। मुझ आत्मासे श्रीहरि भिन्न नहीं हैं, मेरे अन्त.करणमें यह दृढ़ निश्चय हो गया है; अतएव मैं सर्वव्यापी हरि ही हूँ। जिनकी हाथरूपी शाखाओंपर चक्र, गदा और खड्ग आदि अस्त्ररूपी पक्षी सदा विश्राम करते हैं, जो नख-किरणमयी मञ्जरियोंसे व्याप्त हैं, जिनके कंधे कोमल-कोमल मन्दार-पुष्पकी मालाओंसे अलंकृत हैं, वे महान् मरकत-मणिमय वृक्षोंके समान ये मेरी चार भुजाएँ सुशोभित हो रही हैं, जिनके बाजूबंद समुद्र-मन्थनके समय मन्दराचलकी रगड़से घिस गये थे। ये सदा क्रमशः शीतल तथा उष्ण रहनेवाले दो देवता चन्द्रमा और सूर्य, जिन्होंने संसारको प्रकाशित किया है, मेरे मुखमण्डलके दो नेत्र हैं, नील कमलके समान श्याम तथा गहरी मेघमालाओंके समान सुन्दर मेरी यह अङ्गकान्ति सब ओर फैल रही है। मेरे हाथमें यह पाञ्चजन्य शङ्ख है, जिससे गम्भीर ध्वनिका विस्तार होता है। यह शब्दस्वरूप होनेके कारण मूर्तिमान् आकाश और श्वेत होनेसे क्षीरसागरके समान जान पड़ता है। मेरे करतलमें यह शोभाशाली कमल विद्यमान है, जो मेरी ही नाभिसे उत्पन्न हुआ है। यह दैत्यों और दानवोंका मर्दन करनेवाली मेरी भारी गदा है, जो रत्न-जटित होनेसे चितकबरी और सोनेके अङ्गद (वलय) से विभूषित होनेके कारण सुमेरु पर्वतके शिखर-सी प्रतीत होती है। यह मेरा सुदर्शन चक्र है, जिससे सब ओर किरणें छिटक रही हैं तथा जिसकी आकृति साक्षात् सूर्यके समान दिखायी देती है। यह धूमयुक्त अग्निके समान सुन्दर मेरा काला और चमकीला नन्दक नामक खड्ग है, जो दैत्यरूपी वृक्षोंका उच्छेद करनेके लिये कुठार है और देवताओंको आनन्द प्रदान करनेवाला है। यह इन्द्रधनुषके समान सुन्दर और नागराज वासुकिके समान कुण्डलाकार मेरा शार्ङ्गधनुष है, जो पुष्पक और आवर्तक नामक मेघोंके समान बाणरूपी जलकी अविच्छिन्न धाराएँ बरसाता है। पृथ्वी ये मेरे दोनों पैर हैं, आकाश मेरा यह सिर है, तीनों लोक मेरे शरीर हैं और सम्पूर्ण दिशाएँ मेरी कुक्षि हैं। मैं नील मेघके भीतरी भागकी भाँति श्यामकान्तिसे सुशोभित, गरुड़रूपी पर्वतपर आरूढ़ एवं शङ्ख, चक्र तथा गदा धारण करनेवाला साक्षात् विष्णु हूँ। मेरे सामने खड़े हुए ये देवता और असुर मेरे तेजके प्रवाहको उसी तरह नहीं सह सकते जैसे मन्द दृष्टिवाले लोग सूर्यकी प्रभाको नहीं सहन कर पाते। ये ब्रह्मा, इन्द्र, अग्नि और रुद्र आदि देवता बहुसंख्यक मुखोंसे निकली हुई अनन्त वाणीद्वारा मुझ सर्वेश्वर विष्णुकी ही स्तुति करते हैं। मेरा ऐश्वर्य बहुत बढ़ा हुआ है। मैं अपराजित विष्णुरूप हो गया हूँ, सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे ऊपर उठकर अपनी सर्वोत्कृष्ट महिमासे सम्पन्न हूँ। (सर्ग ३०-३१)

प्रह्लादके द्वारा भगवान् विष्णुकी मानसिक एवं बाह्य पूजा, उसके प्रभावसे समस्त दैत्योंको वैष्णव हुआ देख विषयमें पड़े हुए देवताओंका भगवान्‌से इसके विषयमें पूछना, भगवान्‌का देवताओंको सान्त्वना दे अदृश्य हो प्रह्लादके देवपूजा-गृहमें प्रकट होना और प्रह्लादद्वारा उनकी स्तुति

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! इस प्रकार विचार करके भावनाद्वारा अपने शरीरको साक्षात् नारायण-का स्वरूप बनाकर प्रह्लादने उन असुरारि श्रीहरिकी पूजाके लिये फिर इस प्रकार चिन्तन आरम्भ किया—'मैं भावना-दृष्टिसे देख रहा हूँ कि ये भगवान् विष्णु दूसरा शरीर धारण करके मेरे भीतरसे बाहर आकर खड़े हैं, गरुड़की पीठपर बैठे हैं, चतुर्विध शक्तियोंसे सम्पन्न हैं। इनके हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा आदि शोभा पा रहे हैं। भगवान्‌के श्रीअङ्ग सुन्दर श्याम कान्तिसे सुशोभित हैं। इनके चार भुजाएँ हैं। चन्द्रमा और सूर्य ही इनके

नेत्र हैं। ये अद्भुत शोभासे सम्पन्न हैं। कान्तिमान् नन्दक नामक खड्गसे अपने भक्तजनोंको आनन्द प्रदान करते हैं। इनके हाथमें कमल शोभा दे रहा है। नेत्र बड़े-बड़े हैं। ये शार्ङ्गधनुष धारण करते हैं और महान् तेजसे सम्पन्न हैं। इनके पार्षद इन्हें सब ओरसे घेरे हुए हैं। इसलिये मैं शीघ्र ही भावनाभावित समस्त सामग्रियों-से सुशोभित मानसिक पूजाद्वारा इनका पूजन आरम्भ करता हूँ। इसके बाद बाहरी उपकरणोंसे युक्त और अनेक प्रकार-के रत्नोंसे परिपूर्ण विशाल पूजाका भी आयोजन करके इन महान् देव नारायणकी पूजा-अर्चा करूँगा।'

ऐसा विचारकर प्रह्लादने विविध पूजा-सामग्रियोंके सम्भारसे युक्त मनके द्वारा कमलापति माधवका पूजन आरम्भ किया। रत्नसमूहोंसे जटित नाना प्रकारके पात्रों-द्वारा अभिषेक करके भगवान्‌के श्रीअङ्गोंमें उन्होंने चन्दन आदिका अनुलेप किया। फिर नाना प्रकारके धूप-दीप निवेदन किये, भाँति-भाँतिके वैभवशाली आभूषण पहनाये, मन्दार-पुष्पोंकी मालाएँ धारण करायीं, सुवर्णमय कमलोंकी राशि भेंट की, कल्पवृक्षकी लताओं तथा रत्नोंके गुच्छ (गुलदस्ते) अर्पित किये, दिव्य वृक्षोंके पल्लव तथा नाना प्रकारके फूलोंके हार उपहारमें दिये, किंकिरात, बक, कुन्द, चम्पा, नीलकमल, लालकमल, कुमुद, काश, खजूर, आम, पलाश, अशोक, मैनफल, वेल, कनेर, किरातक, कदम्ब, बकुल, नीम, सिन्दुवार, जूही, पारिभद्र, गुग्गुल और बिन्दुक आदिके यथायोग्य पत्र-पुष्प एवं फल अर्पित किये। प्रियङ्गु, पाट, पाटल धातुपाटल, आम, अमड़ा, गव्य, हर्रे और बहेड़े भेंट किये। शाल, ताल और तमालके लता, फूल एवं पल्लवी चढ़ाये, कोमल-कोमल कलिकाएँ अर्पित कीं, सहकार, कुङ्कुम, केतक, शतपत्र और इलायचीकी मञ्जरियाँ अर्पित कीं। फिर नैवेद्य, ताम्बूल, आरती और पुष्पाञ्जलि आदि सभी सुन्दर-सुन्दर उपचारोंको सादर समर्पित किया। अन्तमें अपने आपको श्रीहरिके चरणोंमें भेंट कर दिया। इस प्रकार जगत्‌के सारे वैभवोंसे भव्य प्रतीत होनेवाली पूजन-सामग्री एवं उच्चकोटिकी भक्तिसे प्रह्लादने अन्तःपुरमें अपने स्वामी भगवान् विष्णुका मानसिक पूजन किया।

तदनन्तर दानवराज प्रह्लादने सुप्रसिद्ध देवमन्दिरमें बाह्य वैभवोंसे परिपूर्ण पूजनके उपचारोंद्वारा भगवान् जनार्दनकी पूजा की। मानस-पूजनमें बताये गये क्रमसे ही बाह्य पदार्थोंके अर्पणद्वारा बारंबार परमेश्वर श्रीहरिका पूजन करके दानवराज प्रह्लादको बड़ा संतोष हुआ। तभीसे प्रह्लाद प्रतिदिन पूर्ण भक्तिभावसे परमेश्वरकी पूजा करने लगे। फिर तो उस नगरके सभी दैत्य उसी दिनसे भव्य वैष्णव बन गये; क्योंकि राजा ही आचारका कारण होता है। (राजा सदाचारी हो तो प्रजा भी सदाचारपरायण होती है।) शत्रुसूदन श्रीराम! फिर तो आकाशवर्ती देवलोकमें यह बात फैल गयी कि सारे दैत्य द्वेष छोड़कर भगवान् विष्णुके भक्त हो गये हैं। रघुनन्दन! यह सुनकर इन्द्र आदि देवता और मरुद्गण बड़े विस्मित हुए कि दैत्योंने भगवान् विष्णुकी भक्ति कैसे अपनायी। आश्चर्यमें डूबे हुए देवता अन्तरिक्षवर्ती स्वर्गलोकको छोड़कर क्षीरसागरमें शेषनागकी शय्यापर विराजमान भगवान् श्रीहरिके पास गये। वहाँ

बैठे हुए भगवान्‌से उन्होंने दैत्योंका सारा समाचार कह सुनाया और इस अपूर्व आश्चर्य तथा विस्मयसे भरे हुए स्वभाव-परिवर्तनका कारण पूछा।

देवता बोले—भगवन्! यह क्या बात है? जो दैत्य सदा ही आपके विरोधी रहे, वे ही आपकी भक्तिमें कैसे तन्मय हो गये? कहाँ तो वे अत्यन्त दुराचारी दानव और कहाँ आप भगवान् जनार्दनके प्रति उत्तम भक्ति। कहाँ तो पामरोचित कार्य करनेवाला, सदा निन्दित कर्मोंमें निरत और हीन जातिवाला बेचारा दानव-समाज और कहाँ आप भगवान् विष्णुकी उत्तम भक्ति।

श्रीभगवान् बोले—देवताओ! तुम विषादमें न पड़ो। शत्रुदमन प्रह्लाद भक्तिमान् हो गये हैं। यह उनका अन्तिम जन्म है। अब वे मोक्षके अधिकारी हो गये हैं। इसके बाद ये दानव प्रह्लाद गर्भवास नहीं कर सकते। जैसे भूना हुआ बीज अङ्कुर नहीं उत्पन्न कर सकता, उसी प्रकार ज्ञानाग्निसे दग्ध हुए कर्म बन्धन-कारक नहीं हो सकते। श्रेष्ठ देवगण! तुमलोग अपने-अपने विचित्र लोकोंमें पधारो। प्रह्लादकी यह गुणवत्ता (उनकी यह भगवद्भक्ति) तुम्हें दुःख देनेवाली नहीं हो सकती।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! देवताओंसे ऐसा कहकर भगवान् श्रीहरि वहीं अन्तर्धान हो गये और देवताओंका समुदाय स्वर्गलोकको लौट गया। तबसे प्रह्लादके प्रति देवताओंकी मित्रता हो गयी। भक्त प्रह्लाद इसी प्रकार प्रतिदिन मन, वाणी और क्रियाद्वारा देवाधिदेव भगवान् जनार्दनकी पूजा करने लगे। पूजामें तत्पर रहनेवाले प्रह्लादके हृदयमें समय पाकर विवेक, आनन्द, वैराग्य और विभूति आदि गुण बढ़ने लगे। जैसे पक्षी सूखे हुए वृक्षको पसंद नहीं करते, उसी प्रकार प्रह्लादने भोग-समूहोंका अभिनन्दन नहीं किया—भोगोंकी ओरसे उनकी रुचि हट गयी। जैसे मृग जनसमुदायसे भरी हुई भूमिमें प्रसन्न नहीं होता, उसी

प्रकार उनका मन कान्ताओंमें नहीं रमता था, शास्त्रीय बातोंकी चर्चाके सिवा अन्य लोकचर्याओंमें उनका मन नहीं लगता था। नाशवान् दृश्य पदार्थोंसे उनकी आसक्ति सर्वथा दूर हो गयी थी। भगवान् विष्णुने क्षीरसागर-रूपी मन्दिरमें रहते हुए ही अपनी सर्वव्यापिनी परम दिव्य बुद्धिके द्वारा प्रह्लादकी उस उच्चतम स्थितिको जान लिया। तदनन्तर भक्तोंको आह्लाद प्रदान करनेवाले भगवान् विष्णु पाताल-मार्गसे प्रह्लादके उस भवनमें पधारे, जिसमें वे अपने इष्टदेवकी पूजा किया करते थे। कमलनयन भगवान् विष्णुको आया हुआ जानकर दैत्यराज प्रह्लादने पहलेकी अपेक्षा दुगुनी वैभवशालिनी सामग्रीसे सुशोभित पूजा-विधिद्वारा उनका आदर-सत्कारपूर्वक पूजन किया। तत्पश्चात् पूजागृहमें पधारे हुए भगवान्

श्रीहरिको प्रत्यक्ष विराजमान देख परम प्रीतियुक्त हुए प्रह्लादने भक्तिभावसे परिपुष्ट हुई वाणीद्वारा उनका स्तवन आरम्भ किया।

प्रह्लाद बोले—जो त्रिभुवनरूपी रत्नको सुरक्षित रखनेके लिये मनोहर कोशागार हैं, उपासकोंके सारे पापोंको हर लेनेवाले हैं, अज्ञानान्धकारसे परे परम प्रकाश-स्वरूप हैं, अशरणको शरण देनेवाले तथा शरणागत-पालक हैं, उन अजन्मा, अच्युत, परमेश्वर श्रीहरिकी मैं शरण लेता हूँ।

जो प्रफुल्ल नील कमलदल तथा नील मणिके समान श्याम सुन्दर कान्तिसे सुशोभित हैं, जिनके श्याम विग्रहके लिये शरद् ऋतुके निर्मल आकाशके मध्यभागसे उपमा दी जाती है, भ्रमर, अन्धकार, काजल और अञ्जनके समान नील आभासे जिनके श्रीअङ्ग प्रकाशित होते हैं तथा जो अपने हाथोंमें कमल, चक्र एवं गदा धारण करते हैं, उन भगवान् विष्णुकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ।

जो परम निर्मल हैं, जिनके कोमल अङ्ग अलिकुलाप (भ्रमर-राशि)-के समान श्याम हैं, जिनके हाथमें श्वेत दलवाले अधखिले कमलके समान शङ्ख शोभा पाता है, जिनके नाभि-कमलमें वेदमन्त्रोंकी ध्वनिरूप गुञ्जारवसे युक्त ब्रह्मारूपी भ्रमर विराजमान हैं तथा जो अपने भक्तजनोंके हृदय-कमल-दलमें निवास करते हैं, उन भगवान् श्रीहरिकी मैं शरण लेता हूँ।

भगवान्के श्वेत नख-समूह जहाँ तारोंके समान छिटके हुए हैं, जहाँ मधुर मुस्कानकी ज्योत्स्नासे उज्ज्वल मुखरूपी पूर्ण चन्द्रमण्डलका प्रकाश छा रहा है तथा हृदयस्थित कौस्तुभ मणिकी किरणोंका समूह जहाँ आकाश-गङ्गाकी छटा छिटका रहा है, उन सर्व-व्यापी श्रीहरिरूपी शरत्कालिक निर्मल आकाशकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ।

प्रलयकालमें अक्षयवटके पत्रपर शयन करनेवाले शिशुरूप बालमुकुन्दकी मैं शरण लेता हूँ। बालक होनेपर भी उनका अनन्त कल्याणमय दिव्य गुणगणोंसे सुशोभित शरीर बहुत पुराना (वृद्ध) है। उनके

उस बालवपुके उदरभागमें यह घनीभूत सारी सृष्टि पूर्णतया समायी हुई है। वे भगवान् नित्य निरन्तर विराजमान, जन्म-वृद्धि आदि विकारोंसे रहित तथा विशाल (सर्वत्र व्यापक) हैं।

नूतन खिले हुए नाभि-कमलके परागसे जिनका वक्षःस्थल गौरवर्णका प्रतीत होता है, जिनका वामाङ्ग लक्ष्मीजीके दीप्तिमान् देहसे विभूषित है, जो सायंकालिक अरुण किरणके समान लाल अङ्गराग धारण करते हैं तथा सुवर्णके समान रंगवाले रेशमी पीताम्बरसे जिनका श्रीविग्रह परम सुन्दर दिखायी देता है, उन भगवान् श्रीनारायणकी मैं शरण लेता हूँ।

दैत्यरूपिणी कमलिनीपर तुषारपात करनेके लिये जो हेमन्त और शिशिरके समान हैं, देवरूपिणी नलिनीको विकसित करनेके लिये सदा उदित रहनेवाले सूर्यबिम्बके सदृश हैं तथा ब्रह्मरूपी कमलके उद्भवके लिये जो जलसे भरे हुए तड़ागके तुल्य हैं, उपासकोंके हृदय-कमलमें निवास करनेवाले उन भगवान् श्रीहरिका मैं आश्रय लेता हूँ।

जो त्रिभुवनरूपी कमलके विकासके लिये सूर्यके सदृश हैं, अन्धकारकी भाँति बुद्धिको आच्छादित करनेवाले मोह या अज्ञानका निवारण करनेके लिये उत्तम एवं प्रज्वलित दीपकके तुल्य हैं, जिनमें जड़तारूपिणी मायाका अभाव है, जो सदा अपने स्वरूपको प्रकाशित करते हैं अथवा नित्य दिव्य प्रकाश जिनका रूप है, उन चिन्मय आत्मतत्त्वस्वरूप तथा सम्पूर्ण जगत्‌की सारी पीड़ाओंको हर लेनेवाले श्रीहरिकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! इस प्रकार बहुत-सी गुणावलियोंसे युक्त स्तुति-वचनोंद्वारा पूजित हुए असुर-विनाशक तथा नील कमलदलके समान श्याम भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होकर प्रीतियुक्त भक्त दैत्यराज प्रह्लादसे बोले। (सर्ग ३२-३३)

प्रह्लादको भगवान्‌द्वारा वर-प्राप्ति, प्रह्लादका आत्मचिन्तन करते हुए परमात्माका साक्षात्कार करना और उनका स्तवन करते हुए समाधिस्थ हो जाना, तत्पश्चात् पातालकी अराजकताका वर्णन और भगवान् विष्णुका प्रह्लादको समाधिसे विरत करनेका विचार

श्रीभगवान्‌ने कहा—दैत्यकुलशिरोमणि प्रह्लाद ! तुम तो गुणोंके आकर हो, अतः जन्म-मरणरूपी दुःखकी निवृत्तिके लिये तुम पुनः अपना अभीष्ट वर माँग लो।

प्रह्लाद बोले—भगवन् ! आप समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें विराजमान होकर उनके इच्छानुसार फल प्रदान करनेवाले हैं; अत. विभो ! आप जिस वस्तुको सबसे श्रेष्ठ समझते हों, वही मुझे देनेकी कृपा कीजिये।

श्रीभगवान्‌ने कहा—निष्पाप प्रह्लाद ! जबतक तुम्हें ब्रह्मत्वकी प्राप्ति न हो जाय, तबतक तुम सम्पूर्ण संशयोंकी पूर्णतया शान्ति तथा सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप फलके लिये विचारपरायण बने रहो।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! दैत्यराज प्रह्लादसे ऐसा कहकर भगवान् विष्णु अन्तर्धान हो गये। उन विष्णुदेवके अन्तर्हित हो जानेपर प्रह्लादने पूजाके अन्तमें मणि-रत्नोंसे सुशोभित पुष्पाञ्जलि समर्पित की। उस समय उनका चित्त अत्यन्त प्रसन्न था। वे एक श्रेष्ठ आसनपर पद्मासन लगाकर बैठ गये और स्तोत्रपाठ

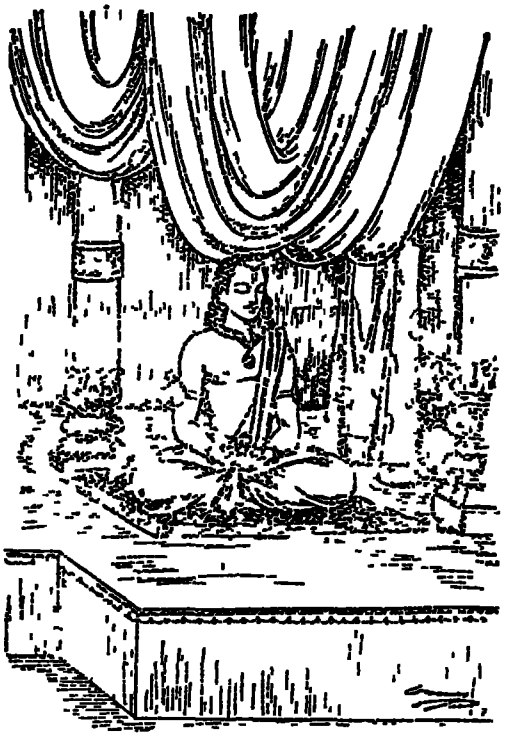

करते समय अपने हृदयमें यों विचार करने लगे कि आवागमनरूपी संसारका निवारण करनेवाले भगवान्‌ने मुझे ऐसा उपदेश दिया है कि 'तुम विवेक-विचार-संयुक्त होओ। अतः अब मैं अपने अन्तःकरणमें आत्म विचार करनेमें तत्पर होता हूँ। वृक्ष, तृण और पर्वतोंसे युक्त यह जगत् तो मैं हूँ नहीं; क्योंकि जो बाह्य और अत्यन्त जड है, वह मैं कैसे हो सकता हूँ। अचेतन शरीर भी मैं नहीं हूँ; क्योंकि यह असत् होता हुआ भी प्रकट, जड़ होनेके कारण बोलनेमें असमर्थ, प्राण-वायुओंद्वारा अपने संचरणकालमें ही परिचालित और अल्प कालमें ही विनष्ट होनेवाला है। मैं तो केवल वह शुद्ध चेतन ही हूँ, जो ममताहीन, मननरूप मनके व्यापारसे शून्य, शान्त, पाँचों इन्द्रियोंके भ्रमोंसे रहित और मायाके सम्बन्धसे हीन है। यह जो सबका प्रकाशक, बाहर-भीतर सर्वत्र व्याप्त, अखण्ड, निर्मल और सत्तामात्र है, वह जड-दृश्यरहित शुद्ध चिन्मय आत्म-स्वरूप ही मैं हूँ। यह आत्मा, जो सर्वव्यापक और विकल्प-रहित चिन्मय बोधस्वरूप है, वह मैं ही हूँ। यह आत्मा ही जगत्‌की स्थितिमें निरन्तर अनुभवमें आनेवाले समस्त पदार्थोंका आदि कारण है, परंतु इस आत्माका कोई कारण नहीं है। इसी आत्मासे सारे पदार्थोंका पदार्थत्व उत्पन्न होता है। ये घट-पट आदि आकारवाले सैकड़ों सांसारिक पदार्थ विशाल दर्पणरूप इस चिन्मय शुद्ध आत्मामें प्रतिबिम्बित होते हैं। यह अकेला मैं, जो आदि और अन्तसे रहित तथा सर्वव्यापक हूँ, सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंके अंदर आत्मस्वरूपसे स्थित हूँ। मेरा यह साँवला स्वरूप—जो शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाला तथा सम्पूर्ण सौभाग्योंकी चरम सीमा है, इस जगत्‌का पालन करता है। जो कमलरूपी आसनपर विराजमान होते हैं और निर्विकल्प समाधिमें स्थित होकर परम सुखका अनुभव करते हैं, उन ब्रह्माके रूपमें मैं ही सदा इस जगत्‌में उत्पन्न होता हूँ। मैं ही त्रिनेत्र-धारी शिव होकर प्रलयकालमें इस जगत्‌का संहार करता हूँ। मैं ही इन्द्ररूपसे मन्वन्तरके क्रमसे प्राप्त हुई इस सम्पूर्ण त्रिलोकीका पालन करता हूँ। यह जो कुछ स्थावर-जंगमरूप जगत् दृष्टिगोचर हो रहा है, सम्पूर्ण संकल्पोंसे रहित वह परम शुद्ध चेतन आत्मरूप मैं ही हूँ। जिसमें अनन्त आनन्दका अनुभव प्राप्त होता है तथा जो परम शान्तिसे सुशोभित एवं शुद्ध है, ऐसी यह चिन्मयी दृष्टि सम्पूर्ण दृष्टियोंसे बढ़कर है। जो शाश्वत एवं विज्ञानानन्दघनरूप है, उस उत्तम साम्राज्यका परित्याग करके मुझे इन अनित्य एवं दुःखरूप राज्य-विभूतियोंमें लेशमात्र भी सुखकी प्रतीति नहीं होती; क्योंकि ये विभूतियाँ रमणीय नहीं हैं। ऐसे विज्ञानानन्दघन परम पदको छोड़कर मूर्ख ही तुच्छ विषय-भोगोंमें आसक्त होता है, विवेकशील ज्ञानी नहीं। भला, इस परम दिव्यदृष्टिका त्याग करके कौन मनुष्य घृणा करने योग्य तुच्छ राज्यमें आसक्त होगा। जिन्होंने इस उत्तम दृष्टिका परित्याग करके दुःखरूप क्षणभङ्गुर राज्यमें मन लगाया, वे सब-के-सब वास्तवमें मूर्ख ही थे; क्योंकि

कहाँ तो नन्दनवनकी प्रफुल्लित रमणीय वनस्थली और कहाँ संतप्त मरुस्थल ! उसी प्रकार कहाँ तो ये पारमार्थिक शान्त दिव्य ज्ञानदृष्टियाँ और कहाँ देह एवं विषय-भोगोंमें अहंता-ममताबुद्धि ! अर्थात् इनमें आकाश-पातालका अन्तर है। इस त्रिलोकीमें राज्य पाकर भी वास्तविक सुख लेशमात्र भी नहीं मिलता, किंतु मूर्खताके कारण ही मनुष्य उसे चाहता है। उधर जो सर्वव्यापक, स्वस्थ, सम, निर्विकार और सर्वरूप है, उस चेतनका आश्रय ग्रहण करनेसे सम्पूर्ण वास्तविक आनन्द सदा-सर्वदा प्राप्त होता रहता है। ये जो कोई भी विषयी मनुष्य मोहरूपी जालमें आ फँसे हैं, उनके गिरनेका प्रधान कारण उनकी संकल्प-कल्पना ही है। इसी प्रकार मेरे पितामह आदि पूर्वजोंने भी जो संकल्प-समूहोंसे आवृत और विषयरूपी गर्तमें गिरनेवाले थे, इस बाधारहित परमानन्दस्वरूप आत्मपदका अनुभव नहीं किया। इसीलिये वे भूतलपर इने-गिने दिनोंतक ही स्फुरित होकर गड्ढेमें गिरे हुए क्षुद्र मच्छरोंकी भाँति विनष्ट हो गये। सभी जीव इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न हुए सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूपी मोहसे युक्त होनेके कारण पृथ्वीके छिद्रमें छिपे हुए कीटोंकी समताको प्राप्त हो गये हैं; परन्तु जिसकी अनुकूल और प्रतिकूल कल्पनारूपी मृगतृष्णा सच्चिदानन्द परमात्माके ज्ञानरूपी मेघसे शान्त हो चुकी है, उसीका जीवन धन्य है।

'ॐ' ही जिस सच्चिदानन्द ब्रह्मका सर्वोत्तम नाम है और जो समस्त विकारोंसे सर्वथा रहित है, वह परमात्मा ही भूतलके समस्त पदार्थोंके रूपमें विराजमान है।* ज्योतिःस्वरूप वह परमात्मा ही सूर्य आदिके अंदर स्थित होकर अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे उन्हें प्रकाशित करता है। वही अग्निको उष्णतायुक्त करता है और जलको रसमय बनाता है। भयरहित वह परमात्मा स्वयं ही प्रकट होता है और ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त समस्त जगत्‌को अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे घुमाता रहता है। वह स्थाणुसे भी बढ़कर नित्य अचल और आकाशसे भी बढ़कर नित्य निर्लेप है। इसीका सदा अन्वेषण, स्तवन और ध्यान करना चाहिये। समस्त प्राणियोंके शरीरोंके अंदर उनके हृदयकमलमें स्थित यह परमात्मा अत्यन्त सुलभ है; क्योंकि हृदयकी थोड़ी-सी भी सच्ची पुकारसे यह तत्क्षण सम्मुख प्रकट हो जाता है। यह परमात्मदेव सभी शरीरोंमें उसी प्रकार व्याप्त है, जैसे पुष्पोंमें सुगन्ध, तिलकणोंमें तेल और रसयुक्त पदार्थोंमें माधुर्य। परन्तु हृदयमें विद्यमान रहनेपर भी यह चेतन विवेक-विचारके अभावके कारण जाना नहीं जा सकता; विचारणाके द्वारा ही उस परमेश्वरका ज्ञान होता है। उसे भलीभाँति जान लेनेपर प्रियजनके समागमकी तरह परमानन्दकी प्राप्ति होती है। अतिशय आनन्द प्रदान करनेवाले परमात्मारूपी उस परमप्रेमी बन्धुका दर्शन होनेपर ऐसी ऐसी बुद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनके प्रभावसे साधकका परमात्मासे कभी वियोग नहीं होता। उसके सांसारिक स्नेहके समस्त बन्धन टूट जाते हैं, काम-क्रोध आदि सारे शत्रु विनष्ट हो जाते हैं और तृष्णाएँ मनको चञ्चल नहीं कर पातीं। यही परमात्मा आकाशमें शून्यता, वायुमें स्पन्दन, तेजस्वी पदार्थोंमें प्रकाश, जलमें उत्तम मधुरता, पृथ्वीमें कठोरता, अग्निमें उष्णता, चन्द्रमामें शीतलता और सृष्टिसमूहमें सत्तारूपसे स्थित है।

अज्ञानरूपी शत्रुने मेरे विवेक-धनका अपहरण करके उसका सर्वनाश कर डाला था और वह इतने कालतक मुझे कष्ट देता रहा; परंतु इस समय स्वतः उत्पन्न हुई सर्वोत्तम विष्णु-कृपासे मुझे परम तत्त्वका ज्ञान हो गया है, जिससे मैंने उस अज्ञानका परित्याग कर दिया है।

* 'ओमिति ब्रह्म—ॐ ब्रह्म है', 'ओमितीदं सर्वम्—ॐ यह सब कुछ है'; 'एतद् वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः—सत्यकाम ! यह पर और अपर ब्रह्म है, जो यह ओंकार है।'

इस समय मैंने उस परम ज्ञानरूपी मन्त्रके बलसे इस अहंकार-पिशाचको शरीररूपी वृक्षके खोखलेसे बाहर निकाल दिया है, जिससे मेरा यह शरीररूपी महान् वृक्ष अहंकाररूपी यक्षसे रहित होकर परम पवित्र हो गया है और प्रफुल्लित वृक्षके समान सुशोभित हो रहा है। विवेकरूपी धनराशिकी प्राप्तिके कारण जब मेरे दुराशारूपी दोष सर्वथा नष्ट हो गये, तब मेरी अज्ञानरूपी दरिद्रता भी पूर्णतया शान्त हो गयी, अतः अब मैं परमेश्वरके रूपमें स्थित हूँ। भगवान्‌की कृपासे मुझे सम्पूर्ण ज्ञातव्य वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त हो गया है और मैंने देखने योग्य सभी दृष्टियोंको देख लिया है। इस समय मुझे वह वस्तु प्राप्त हो गयी है, जिसके पा लेनेपर कुछ भी पाना अवशिष्ट नहीं रह जाता। सौभाग्यकी बात है कि मैं उसी ऊँचे एवं विस्तृत पारमार्थिक भूमिको प्राप्त हो गया हूँ, जिसमें अनर्थोंका नाम-निशान नहीं है. विषय-रूपी सर्पोंका अत्यन्त अभाव हो गया है, अज्ञानरूपी कुहरा सर्वथा नष्ट हो गया है, आशारूपी मृगतृष्णा शान्त हो चुकी है, जिसकी सारी दिशाएँ रजोगुणरूपी धूलसे रहित हो गयी हैं और जिसमें शान्तिरूपी शीतल छायावाला वृक्ष लहलहा रहा है। भगवान् विष्णुकी स्तुति, प्रणाम और प्रार्थना करनेसे तथा शम एवं यम-नियमोंके पालनसे मुझे इन सच्चिदानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति हुई है और उन्हींकी कृपासे मैंने परमात्माको स्पष्टरूपसे देखा और समझा भी है। वह अविनाशी एवं अहंकाररहित विज्ञानघन परमात्मा भगवान् विष्णुकी कृपावश चिरकालसे मेरी स्मृतिमें सुदृढ़रूपसे स्थित हो गया है, जिससे मेरा मोह पूर्णतया शान्त हो गया है, अहंकाररूपी राक्षस नष्ट हो गया है और मैं दुराशा-रूपी पिशाचिनीसे मुक्त हो गया हूँ; अतः अब मेरा संताप मिट गया है। सबसे बड़े हर्षकी बात तो यह है कि मेरी बहुत-सी दुर्वासनाएँ, जो दुराशाओं तथा दीर्घकालसे दुष्ट देह आदिमें आत्मत्वके अभिमानसे मलिन एवं भयरूपी सर्पोंके लिये हितकारिणी थीं, भगवान्‌के ध्यानसे विनष्ट हो गयी हैं। मैंने सच्चिदानन्द-घन परमात्माका साक्षात्कार कर लिया है और उन्हें भलीभाँति जान भी लिया है। मुझे उनका यथार्थ अनुभव भी हो गया है, इसीलिये उनका नित्य संयोग मुझे प्राप्त है। अब मेरा मन—जिसके विषय-भोग, संकल्प-विकल्प और इच्छाएँ पूर्णतया नष्ट हो गयी हैं, जो अहंकारसे सर्वथा मुक्त है, जिसमें आसक्ति और विषय-भोगोंकी उत्कण्ठा लेशमात्र भी नहीं रह गयी है और जो बाहर-भीतरकी चेष्टाओंसे रहित हो गया है, संसारसे उपराम होकर परमात्मामें लीन हो गया है।

यों समस्त पदोंसे उत्कृष्ट आनन्दरूप परमात्मा चिरकालसे मेरी स्मृतिमें स्थित हुए हैं। भगवन्! बड़े सौभाग्यसे आप मुझे उपलब्ध हुए हैं, अतः आप परमात्माके लिये मेरा नमस्कार है। प्रभो! मैं चिरकालसे आपका दर्शन करते हुए प्रणाम करके आलिङ्गन कर रहा हूँ। भला, त्रिलोकीमें आपके अतिरिक्त मेरा परम प्रिय बन्धु और कौन हो सकता है। विश्वको उत्पन्न करनेवाले विभो! आपने अपनी सत्ता-स्फूर्तिसे सम्पूर्ण विश्वको परिपूर्ण कर रक्खा है, इसी कारण सर्वत्र आपका नित्य अनुभव होता है; अतः आप कहाँ भागकर जा सकते हैं अर्थात् अदृश्य हो सकते हैं। परम प्रिय मित्र! बहुसंख्यक जन्मोंके व्यवधानके कारण अज्ञानवश हम दोनोंमें जो अन्तर प्रतीत होता था, वह अब उस अज्ञानके नाश होनेसे दूर हो गया है और अभेदरूप समीपता प्राप्त हो गयी है। बड़े सौभाग्यसे मुझे आपका दर्शन प्राप्त हुआ है। आप कृतकृत्य, संसारके कर्ता और सबका भरण-पोषण करनेवाले हैं; आपको बारंबार नमस्कार है। आप संसार-वृक्षके कारण, अविनाशी और विशुद्धात्मा हैं; आपको मेरा प्रणाम है। जिनके हाथोंमें चक्र और कमल सुशोभित होते हैं, उन विष्णु-रूप आपको नमस्कार है।

ललाटपर अर्धचन्द्र धारण करनेवाले शिवस्वरूप आपको मैं अभिवादन करता हूँ । कमलसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्मारूप आपको प्रणाम है । देवराज इन्द्रके रूपमें विराजमान आपकी मैं वन्दना करता हूँ । भगवन् ! हम दोनोंमें जो यह भेद दृष्टिगोचर हो रहा है, वह समुद्रके जल और उसकी तरङ्गके समान केवल झूठी कल्पना ही है । वस्तुतः हम दोनोंमें कोई भेद है ही नहीं । आप सृष्टिकर्ता, सबके साक्षीरूप और अनन्त रूपोंमें प्रकट होनेवाले हैं; आपको पुनः-पुनः नमस्कार है । सबके आत्मरूप और सर्वव्यापी आप परमात्माको बारंबार प्रणाम है । देव ! मिट्टी, काष्ठ, पत्थर और जलमात्र यह सारा जगत् आपके सिवा और कुछ नहीं है । अर्थात् आपका ही स्वरूप है, अतः आपकी प्राप्ति हो जानेपर फिर किसी अन्य वस्तुके प्राप्त करनेकी इच्छा ही नहीं रह जाती । जिसका वेद-वेदान्तके सिद्धान्त, तर्क और पुराणोंके गीतोंद्वारा वर्णन किया गया है, उस परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर फिर वह कैसे विस्मृत हो सकता है । निर्मल परब्रह्म परमात्मरूप आपका साक्षात्कार हो जानेपर देहके वे सुन्दर विषय-भोग भी आज मेरे हृदयको रुचिकर नहीं लग रहे हैं । आप निर्मल दिव्य ज्योतिःस्वरूप हैं । आपसे ही सूर्यमें प्रकाशकता आयी है और शीतल हिमरूप आपसे ही चन्द्रमाको शीतलताकी प्राप्ति हुई है । आपके ही प्रभावसे ये पर्वत गुरुतासे सम्पन्न हुए हैं और आपने ही इन खेचरोंको धारण कर रक्खा है । आपके ही बलसे यह पृथ्वी अटलरूपसे स्थित है और आपकी ही सत्तासे आकाश आकाशताको प्राप्त हुआ है । बड़े सौभाग्यकी बात है कि आप मेरे स्वरूपको प्राप्त हो गये हैं और मैं आपके रूपमें परिणत हो गया हूँ; अतः अब मैं आप हूँ और आप मैं हैं । इसलिये देव ! अब हम दोनोंमें भेद नहीं रह गया है अर्थात् हम एकीभावको प्राप्त हो गये हैं । इसमें भी मेरा सौभाग्य ही कारण है । मेरा आत्मा—जो सम, शुद्ध, साक्षीरूप, निराकार और दिशा-काल आदिसे रहित है, उसीमें आप स्थित हैं । आपका स्वरूप सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म है । आपके ही अंदर यह संसार-मण्डल था और रहेगा । काष्ठमें व्याप्त हुई आगकी भाँति आप इस शरीरके अंदर स्थित हैं । आप ही सर्वोत्तम अमृत-स्वरूप रस हैं और तेजस्वी पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले भी आप ही हैं । आप ही पदार्थोंके ज्ञाता और ज्योतियोंके प्रकाश हैं । जैसे सुवर्णमें कड़े, बाजूबंद, केयूर आदि आभूषणोंका आरोप किया जाता है, उसी तरह सांसारिक पदार्थ-समूह आपमें ही आरोपित हैं । आपको प्राप्त कर लेनेपर प्रारब्धानुकूल प्राप्त हुए सुख-दुःखका प्रवाह समूल नष्ट हो जाता है—ठीक उसी तरह, जैसे सूर्यके प्रकाशको पाकर अन्धकारका अथवा गरमीको पाकर हिमका नाम-निशान मिट जाता है । भगवन् ! यह सारा विश्व आपका ही स्वरूप है, आपकी जय हो । आप शान्तिपरायण, सभी प्रमाणोंसे परे और सम्पूर्ण आगमोंद्वारा जानने योग्य हैं; आपकी बारंबार जय हो ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले प्रह्लाद इस प्रकार परमात्माका चिन्तन करते-करते निर्विकल्प परमानन्दस्वरूप परमात्मामें समाधिस्थ हो गये । अपने महलमें यों समाधि-अवस्थामें पड़े हुए दैत्यवंशी प्रह्लादका बहुत-सा समय व्यतीत हो गया । उस समय यद्यपि असुरश्रेष्ठोंने उन्हें जगानेकी बहुत चेष्टा की, तथापि असमयमें उन महाबुद्धिमान्‌की समाधि भङ्ग न हुई । यों निश्चल ब्रह्मस्वरूप एवं शान्त हुए प्रह्लाद बाह्यदृष्टिशून्य होकर हजारों वर्षोंतक उस दैत्यनगरीमें समाधिस्थ पड़े रहे । उस समय हिरण्यकशिपु मर चुका था और उसके पुत्र प्रह्लाद समाधिस्थ हो गये थे; अतः जब पातालमें कोई अन्य राजा नहीं रह गया, तब दानवोंको अपने अधिपतिका अभाव खटकने लगा । इसलिये उन्होंने प्रह्लादको समाधिसे जगानेके लिये घोर

प्रयत्न किया, परन्तु वे नहीं जगे। तब उस राजारहित नगरमें बलवान् दैत्य लुटेरोंकी तरह स्वेच्छानुसार लूट-पाट करने लगे, जिससे उद्विग्न होकर अन्य दैत्य अपनी अभीष्ट दिशाओंमें भाग गये। उस अराजकताके कारण पाताललोक चिरकालके लिये मात्स्यन्यायसे* अस्त-व्यस्त और मर्यादारहित हो गया। वहाँ बलवानोंने दुर्बलोंके नगर छीन लिये। मर्यादाके क्रमका सर्वथा विनाश हो गया। सभी लोग स्त्रियोंको पीड़ा पहुँचाने लगे। पुरुषोंके प्रलाप और रोदनके शब्द चारों ओर व्याप्त हो गये। लोगोंने एक दूसरेके वस्त्र छीन लिये। नगरका मध्यभाग खँडहरके रूपमें परिणत हो गया और क्रीड़ोद्यान नष्ट-भ्रष्ट हो गये। सारा राज्य व्यर्थके अनर्थोंसे पीड़ित हो गया। दिशाएँ धूलसे व्याप्त हो गयीं। अन्न, फल और बन्धु-बान्धवोंका अभाव हो गया। इस प्रकार आकस्मिक उत्पातसे विवश होकर सारा असुर-समुदाय चिन्ताग्रस्त हो गया। उस समय वह असुर-मण्डल भयसे उद्विग्न हो गया था। वहाँ स्त्रियाँ, धन, मन्त्र और युद्ध मर्यादा-हीन हो गये थे। जिनके धन और स्त्रियोंका अपहरण हो गया था, उनका करुण-क्रन्दन चारों ओर गूँज रहा था, जिससे वह दैत्य-समाज कलियुग आनेपर लूट-पाट करनेवाले क्रूर लुटेरों-सा जान पड़ता था।

राघव! तदनन्तर एक बार शेषशय्यापर विराजमान शत्रुसूदन श्रीहरि, जो लीलापूर्वक सम्पूर्ण जगत्‌का पालन करते हैं, देवताओंकी प्रयोजन-सिद्धिके लिये अपनी बुद्धिसे सांसारिक स्थितिका निरीक्षण करने लगे। पहले उन्होंने मन-ही-मन स्वर्गलोकका अवलोकन करके तत्पश्चात् भूतलवासियोंके आचरणोंका निरीक्षण किया। फिर वे मनसे ही शीघ्र दैत्योंद्वारा सुरक्षित पाताललोकमें जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि दानवराज प्रह्लाद अटल समाधिमें स्थित हैं, जिससे अमरावर्तपुरीमें सम्पत्तिकी भरपूर वृद्धि हो गयी है। तब जो शेषशय्यापर पद्मासन लगाकर बैठे थे तथा जिनके हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा सुशोभित हो रहे थे, उन भगवान् नारायणके मनमें ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि मैं रसातलमें जाकर दानवराज प्रह्लादको उसके कर्ममें पहलेकी तरह उसी प्रकार स्थापित करूँगा, जैसे वसन्त ऋतु वृक्षको पुनः उसकी पूर्व दशामें ला देती है। यदि मैं प्रह्लादके अतिरिक्त किसी दूसरेको दानवराजके पदपर स्थापित करता हूँ तो वह निश्चय ही देवताओंपर आक्रमण कर देगा। साथ ही प्रह्लादका यह अन्तिम शरीर परम पावन है। वह इसी शरीरसे कल्पपर्यन्त यहाँ निवास करेगा; क्योंकि परमेश्वरकी नियति देवने ऐसा ही निश्चित किया है कि प्रह्लादको इसी शरीरसे यहाँ एक कल्पतक रहना चाहिये। इसलिये मैं वहाँ जाकर दैत्यराज प्रह्लादको ही जगाऊँगा, जिससे वह जीवन्मुक्तों-की समाधिमें स्थित होकर दैत्याधिपत्यको ग्रहण करे।

* बलवान् बड़ा मत्स्य अपनेसे छोटे निर्बल मत्स्योंको निगल जाता है, इसीको 'मात्स्यन्याय' कहते हैं।

निश्चय ही हम मर्यादारहित दस्युओंके अत्याचारसे भयानक उस पातालमें जाकर दैत्यराज प्रह्लादको समाधिसे विरत करेंगे और इस सम्पूर्ण जगत्‌को पूर्ववत् स्वस्थ बनायेंगे। (सर्ग ३४-३८)

भगवान् विष्णुका पातालमें जाना और शङ्खध्वनिसे प्रह्लादको प्रबुद्ध करके उन्हें तत्त्वज्ञानका उपदेश देना, प्रह्लादद्वारा भगवान्‌का पूजन, भगवान्‌का प्रह्लादको दैत्यराज्यपर अभिषिक्त करके कर्तव्यका उपदेश देकर क्षीरसागरको लौट जाना, आख्यानका उत्तम फल, जीवन्मुक्तोंके व्युत्थानका हेतु और पुरुषार्थकी शक्तिका कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—वत्स राम ! यों विचारकर सर्वात्मा भगवान् श्रीहरि शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और लक्ष्मी आदि पार्षदोंके साथ अपने नगर क्षीरसागरसे चल पड़े। वे उसी क्षीरसागरके तलेके छिद्रसे निकलकर प्रह्लादके नगरमें जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने स्वर्णमय महलके मध्यमें स्थित असुरराज प्रह्लादको देखा। भगवान् विष्णुके तेजसे प्रभावित होकर वहाँका सारा दैत्य-समुदाय धूलकी तरह उड़कर उसी प्रकार अदृश्य हो गया, जैसे सूर्यकी किरणोंसे भयभीत होकर उलूक छिप जाते हैं। तब अपने परिवारसहित श्रीहरिने दो-तीन प्रधान-प्रधान असुरोंको साथ लेकर प्रह्लादके महलमें प्रवेश किया। उस समय वे गरुड़की पीठपर सवार थे। लक्ष्मीजी उनपर चँवर डुला रही थीं। वे शङ्ख, चक्र, गदा आदि अपने (सजीव) आयुधोंसे घिरे हुए थे, और देवर्षि तथा मुनि उनकी वन्दना कर रहे थे। वहाँ पहुँचकर भगवान् विष्णुने 'महात्मन् ! समाधिका त्याग करके उठो' यों कहते हुए अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बजाया, जिसकी ध्वनिसे सारी दिशाएँ गूँज उठीं। विष्णु-भगवान्‌के बलपूर्वक फूँकनेसे उस शङ्खसे ऐसा घोर शब्द प्रकट हुआ, जो प्रलयकालमें एक साथ परिक्षुब्ध हुए मेघों और सागरोंकी गर्जनाके समान वेगशाली था। उस शब्दसे भयभीत होकर असुर-समूह भूमिपर गिर पड़े और विष्णुभक्त भयरहित होकर आनन्दपूर्वक हर्ष मनाने लगे। प्रह्लादके शरीरमें प्राण और अपानका संचार होनेसे नाडिविवरोंमें संवेदन आरम्भ हो गया। फिर तो जैसे वायुसे पीडित होकर कमल चञ्चल हो जाता है, उसी तरह उनका शरीर स्पन्दनयुक्त हो गया तथा नेत्र, मन, प्राण और शरीर—सभी विकसित हो गये। इस अवसरपर भगवान् श्रीहरिने ज्यों ही 'जागो' ऐसा कहा, त्यों ही वह सचेत हो गया। तब कल्पके आदिमें जैसे त्रिलोकेश्वर भगवान् कमलयोनि ब्रह्मासे कहते हैं, उसी प्रकार श्रीहरिने प्रह्लादसे—जिसके नेत्र प्रफुल्लित हो गये थे, जिसे 'मैं प्रह्लाद हूँ' ऐसी पहचान हो चुकी थी और जिसकी पूर्वस्मृति सुदृढ़ हो गयी थी—यों कहना प्रारम्भ किया—

'साधो ! अब उठो, शीघ्र उठो और इस विशाल दैत्य-राज्यलक्ष्मीका तथा अपने स्वरूपका स्मरण करो। अनघ ! तुम तो जीवन्मुक्त हो, अतः राज्यशासन करते हुए ही उद्वेगरहित होकर अपने इस शरीरको कल्पान्तपर्यन्त कर्मोंमें प्रेरित करते रहो। प्रलयके समय जब इस शरीरका नाश हो जायगा, तब तुम निरतिशय सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें निवास करोगे—ठीक उसी तरह, जैसे घटके फूट जानेपर घटाकाश महाकाशमें विलीन हो जाता है। तुम्हारी यह शुद्ध देह कल्पान्ततक स्थिर रहनेवाली है, लोकके ऊँच-नीच व्यवहारोंका अनुभव कर चुकी है और जीवन्मुक्तिसे सुशोभित है। मैं गरुडपर सवार होकर स्वेदज, अण्डज, जरायुज, उद्भिज्ज—चारों प्रकारके प्राणियोंसे व्याप्त तथा सूर्य आदिके प्रकाशसे उद्भासित दसों दिशाओंमें विचरता रहता हूँ। ऐसी परिस्थितिमें तुम इस शरीरका

परित्याग मत करो। ये हमलोग हैं। ये पर्वत हैं। ये प्राणी हैं। यह तुम हो। यह जगत् है। यह आकाश है। ये सभी जब प्रलयपर्यन्त रहनेवाले हैं, तब तुम भी तबतक इस शरीरको कायम रक्खो। जिसकी बुद्धि स्वात्मतत्त्वके विचारसे ऊबती नहीं, उस यथार्थदर्शी तत्त्वज्ञानीका जीवन शोभा देता है। जिसका अहंभाव नष्ट हो गया है और जिसकी बुद्धि स्वार्थमें लिप्त नहीं है तथा जिसका सम्पूर्ण पदार्थोंमें समभाव है, उसका जीवन सुन्दर है। जो राग-द्वेषविहीन अतएव अन्तःशीतल बुद्धिसे साक्षी की भाँति इस जगत्को देखता है, उसीके जीवनकी शोभा होती है। जो सत्य दृष्टिका अवलम्बन करके वासना-रहित होकर लीलापूर्वक इस जगत्-व्यवहारको करता है, उसका जीवन धन्य है। जो लोकव्यवहार करता हुआ भी न तो अनुकूलकी प्राप्तिसे अन्तःकरणमें प्रसन्नताका अनुभव करता है और न प्रतिकूलकी प्राप्ति होनेपर उद्विग्न होता है, उसीका जीवन प्रशंसनीय है। जिसके गुणोंके सुननेपर, स्वरूपका दर्शन करनेपर और जिसकी याद आ जानेपर प्राणियोंको आनन्द प्राप्त होता है, उसीका जीवन सार्थक है।

"असुरेश! इस वर्तमान देहकी स्थिरताको लोग जीवन कहते हैं और देहान्तरकी प्राप्तिके लिये इसके परित्यागको मरण कहा गया है; किंतु महामते! तुम तो इन दोनों ही जन्म-मरणरूप पक्षोंसे रहित हो, अतएव इस लोकमें वस्तुतः न तो तुम्हारा जन्म है और न मरण ही। शत्रुसूदन! यह सब तो मैंने तुम्हें समझानेके लिये कहा है। सर्वज्ञ! तुम्हारा तो न कभी जन्म होता है और न तुम कभी मरते ही हो; क्योंकि तुम तो देहदृष्टिसे सर्वथा रहित हो, इसी कारण देहमें स्थित रहते हुए भी तुम विदेह हो। तुम्हें परमात्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान हो गया है, अतएव तुम प्रबुद्ध हो गये हो। भला, प्रबुद्ध हुए पुरुषोंका शरीरसे क्या सम्बन्ध है! यह परिच्छिन्न देह तो केवल अज्ञानियोंकी दृष्टिमें ही है अर्थात् 'देह मैं हूँ' ऐसा अभिमान अज्ञानियोंको ही होता है। तुम्हारी बुद्धि तो सर्वदा एकमात्र परमात्मामें ही लीन रहती है, अतएव तुम चित्प्रकाशसे संयुक्त हो। इसीलिये सब कुछ तुम्हीं हो। तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष प्रलयकालमें उत्पातसूचक वायुओंके बहनेपर, प्रलयाग्निके धधकने तथा पर्वतोंके ढह जानेपर भी नित्य परमात्मामें ही स्थित रहता है। संसारके सभी प्राणी स्थित रहें अथवा सब-के सब चले जायँ, उनका विनाश हो जाय अथवा उनकी वृद्धि हो, तत्त्वज्ञानी तो परमात्मामें ही स्थित रहता है, उससे विचलित नहीं होता। परमात्मा इस शरीरका विनाश हो जानेपर न तो नष्ट होता है, न इसके वृद्धिंगत होनेपर बढ़ता है और न इसके चेष्टा करनेपर चेष्टाशील ही होता है। तब 'इस देहको धारण करनेवाला देही मैं हूँ' चित्तके ऐसे अज्ञानके नष्ट हो जानेपर 'मैं इसका त्याग करता हूँ अथवा नहीं करता' ऐसी निरर्थक कल्पना क्यों उत्पन्न होती है! तात! जिन्हें तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो चुकी है, उनके हृदयमें 'मैं इस कार्यको समाप्त करके इसे करूँगा और इसका त्याग करके इसे छोड़ूँगा' ऐसे संकल्पोंका सर्वथा अभाव हो जाता है। ज्ञानी पुरुष इस जगत्में शास्त्रोक्त सारे कर्मोंको करते हुए भी कुछ नहीं करते और उनका कभी भी अनुष्ठान न करनेपर वे सदा अकर्तारूपसे ही स्थित रहते हैं। इस प्रकार संसारमें कर्तृत्व और भोक्तृत्वका उपशम हो जानेपर एकमात्र शान्ति ही शेष रह जाती है और वही शान्ति जब सुदृढ़ हो जाती है, तब विद्वान्लोग उसे मुक्ति नामसे पुकारते हैं। ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्धका विनाश होनेपर परम शान्तिका उदय होता है। वही शान्ति जब स्थिरताको प्राप्त हो जाती है, तब मोक्ष नामसे कही जाती है। जिनका चित्त परमात्मामें ही सँलग्न है, ऐसे ज्ञानीजन संसारके रमणीय विषयभोगोंके प्राप्त होनेपर न तो प्रसन्न होते हैं और न मनके विपरीत

दुःखोंके आ पड़नेपर उद्विग्न ही होते हैं। अर्थात् सुख-दुःखमें उनकी समान स्थिति रहती है। महात्मन्! तुम परमात्माके परमपदमें स्थित होकर ब्रह्माके एक दिन (इस कल्पके अन्त) तक इस पातालमें ही विविध गुणोंसे युक्त राज्यलक्ष्मीका उपभोग करके अविनाशी परमपदको प्राप्त होओ।"

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जब जगद्-रूपी रत्नोंके आकर तथा त्रैलोक्यरूपी अद्भुत पदार्थोंको प्रदर्शन करनेवाले भगवान् विष्णुने चन्द्रकिरण-सदृश शीतल वाणीद्वारा इस प्रकार कहा, तब जिसके नेत्र-कमल आनन्दवश प्रफुल्लित हो उठे थे तथा जिसने मननक्रम ग्रहण कर लिया था, उस धैर्यशाली प्रह्लाद नामक दैत्यने हर्षपूर्वक यों कहना आरम्भ किया।

प्रह्लादने कहा—भगवन्! आपकी कृपासे मुझे तत्त्वज्ञानद्वारा भलीभाँति स्वरूपावस्थिति प्राप्त हो गयी है, जिससे मैं समाधि अथवा व्युत्थानावस्था—दोनोंमें वास्तविकरूपसे सदा ही सम हूँ। देवाधिदेव! मैंने चिरकालतक विशुद्ध बुद्धिद्वारा अपने हृदयमें आपका साक्षात्कार किया है। देव! सौभाग्यकी बात है कि अब पुनः बाहर नेत्रोंसे भी आपका प्रत्यक्ष दर्शन कर रहा हूँ। महेश्वर! मैं जो समस्त संकल्पोंसे रहित इस अनन्त दृष्टिमें स्थित था, वह शोक, मोह, वैराग्य-चिन्ता, देहत्यागके प्रयोजन अथवा संसारके भयसे नहीं था; क्योंकि जब एक ही विज्ञानानन्दघन परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है, तब शोक, हानि, देह, संसार, स्थिति और भय-अभय कहाँसे प्राप्त होंगे। परंतु परमेश्वर! 'हाय! मैं विरक्त हो गया हूँ, अतः इस संसारका त्याग करता हूँ' इस प्रकारकी अज्ञानियोंद्वारा की गयी चिन्ता हर्ष-शोकरूप विकार उत्पन्न करनेवाली होती है। यह सुख है, यह दुःख है; यह मेरा है, यह मेरा नहीं है—यों द्विविधाग्रस्त चित्त मूर्खका ही विनाशक होता है, पण्डितका नहीं। मैं अन्य हूँ और यह अन्य है—ऐसी वासना इस जगत्में उन अज्ञानी प्राणियोंको ही प्रभावित करती है, जो तत्त्वज्ञानसे बहुत दूर हैं। कमललोचन! जब सभी प्राणियोंमें आत्मरूपसे आप ही व्याप्त हैं, तब ग्रहण-त्यागके पक्षका अवलम्बन करनेवाली कल्पना कहाँसे हो सकती है। देवेश्वर! समाधिकालमें तो मैं भाव-अभावसे परे रहकर ग्रहण-त्यागसे रहित था; परंतु इस समय प्रबुद्ध होकर वही कार्य करनेके लिये उद्यत हूँ, जो आपको रुचिकर है। भगवन्! आप तो वे ही पुण्डरीकाक्ष नारायण हैं, जिनकी तीनों लोकोंमें पूजा होती है; अतः मेरेद्वारा स्वभावतः प्राप्त हुई पूजाको ग्रहण कीजिये। यों कहकर दानवराज प्रह्लादने उन भुवनाधिपति भगवान् गोविन्दकी—जिनके अंदर त्रिलोकी वर्तमान थी तथा जो शङ्ख-चक्र आदि आयुधों, अप्सरा-समूह, देवगण और पक्षिराज गरुडके साथ सामने खड़े थे—पूजा की। पूजोपरान्त चरणोंमें पड़े हुए प्रह्लादसे भगवान् लक्ष्मीपतिने कहा।

श्रीभगवान् बोले—दानवाधीश! उठो और तबतक इस सिंहासनपर बैठे रहो, जबतक मैं शीघ्र स्वयं अपने हाथसे ही तुम्हारा राज्याभिषेक करता हूँ। साथ ही पाञ्चजन्य शङ्खकी ध्वनि सुनकर जो ये साध्य, सिद्ध और देवगण यहाँ आये हुए हैं, ये सब-के-सब तुम्हारी मङ्गलकामना करें। यों कहकर कमलनयन भगवान् नारायणने प्रह्लादको सिंहासनपर बैठा दिया। तदनन्तर अप्रमेय आत्मबलसे सम्पन्न श्रीहरिने समस्त महर्षि-समुदाय, सारे सिद्धगण, विद्याधर और लोकपालोंको साथ लेकर इन महान् असुर प्रह्लादको आवाहन किये गये क्षीराब्धि आदि महासागरों, गङ्गा आदि सरिताओं और सम्पूर्ण तीर्थोंके जलसे सींचकर दैत्यराज्यको उसी प्रकार अभिषिक्त कर दिया, जैसे पूर्वकालमें देवगणोंद्वारा स्तुति किये जाते हुए इन्द्रका स्वर्गलोकके राज्यपर अभिषेक किया था। उस समय अभिषिक्त हुए प्रह्लादकी देवता और असुर—

सभी स्तुति कर रहे थे। तब सुरासुरवन्दित भगवान् मधुसूदन उनसे इस प्रकार बोले।

श्रीभगवान्‌ने कहा—निष्पाप प्रह्लाद! जबतक सुमेरुगिरि, पृथ्वी तथा सूर्य और चन्द्रमाका मण्डल कायम रहेगा, तबतक तुम राज्य करोगे और तुम्हारे समस्त गुणोंकी प्रशंसा होगी। तुम राग, भय और क्रोधसे रहित होकर इष्ट-अनिष्ट फलोंका परित्याग करके समतायुक्त बुद्धिसे इस राज्यका भलीभाँति पालन करो। शत्रु-प्रजा आदिके ऊपर निग्रह-अनुग्रह आदि यथावसर प्राप्त हुई दृष्टियोंसे देश, काल और क्रियाके अनुरूप प्राप्त हुए कर्तव्यका तुम न्यायपूर्वक पालन करो और राग-द्वेष आदि विषमताका त्याग करके समबुद्धि बने रहो। आत्मा देहसे अतिरिक्त है—इस भावसे लाभ-हानिमें सम तथा इदंता ममतासे रहित कार्य करते हुए भी तुम इस जगत्‌में बन्धनको नहीं प्राप्त होओगे। जगद् व्यवहारको तो तुमने देख ही लिया है और उस अनुपम परमपदका अनुभव भी तुम्हें प्राप्त हो गया है। इस प्रकार तुम्हें देश-कालानुरूप सभी वस्तुएँ ज्ञात हैं। अब दूसरा और क्या उपदेश दिया जाय। अर्थात् व्यवहार और परमार्थ—दोनोंमें तुम कुशल हो, अतः अब तुम्हें उपदेशकी आवश्यकता नहीं है। राग, भय और क्रोधसे रहित तुम्हारे राजा होनेपर अब देवताओं-द्वारा प्राप्त दुःख न तो असुरोंमें टिक सकेगा और न उनका संहार ही कर सकेगा। आजसे देवताओं और दानवोंका युद्ध नहीं होगा, जिससे जगत् स्वस्थ हो जायगा।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—वत्स राम! प्रह्लादसे ऐसा कहकर कमलनयन भगवान् नारायण देवता, किन्नर और मनुष्योंके साथ उस दैत्यसदनसे चल पड़े। उस समय प्रह्लाद आदि असुर पीछेसे उनपर अञ्जलि भर-भरकर पुष्पोंकी वर्षा कर रहे थे, जिससे गरुडके पंखका पिछला भाग पुष्पोंसे आच्छादित हो गया। इस प्रकार क्रमशः चलते हुए वे क्षीरसागरके तटपर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने देवगणोंको विदा कर दिया और स्वयं शेषशय्यापर स्थित हो गये। इस प्रकार शेषशय्यापर विष्णु, स्वर्गलोकमें देवताओंसहित इन्द्र और पातालमें दानवराज प्रह्लाद—तीनों संतापरहित होकर स्थित हुए। श्रीराम! प्रह्लादकी ज्ञान-प्राप्ति सम्पूर्ण पापोंका विनाश करनेवाली तथा अमृतके समान शीतल है। उसका वर्णन मैंने तुम्हें सुना दिया। संसारमें जो मनुष्य—चाहे वे घोर-से घोर पातकी ही क्यों न हों—विवेकपूर्वक उसका विचार करेंगे, वे शीघ्र ही परमपदको प्राप्त हो जायँगे। अज्ञान ही पाप कहलाता है और उस अज्ञानका नाश विवेकपूर्वक विचार करनेसे होता है; इसलिये पापका समूल विनाश करनेवाले विचारका परित्याग नहीं करना चाहिये। प्रह्लादकी इस सिद्धिका विवेक-पूर्वक विचार करनेवाले लोगोंके पूर्वके सात जन्मोंमें किये हुए पाप नष्ट हो जाते हैं—इसमें संशय नहीं है।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! महामनस्वी प्रह्लादका मन तो परमपदमें तल्लीन था, वह पाञ्चजन्य शङ्खकी ध्वनि सुनकर कैसे प्रबुद्ध हुआ? यह बतानेकी कृपा करें।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—निर्दोष स्वरूपवाले राम! लोकमें दो प्रकारकी मुक्ति होती है—एक सदेहमुक्ति अर्थात् जीवन्मुक्ति और दूसरी विदेहमुक्ति। इन दोनोंका विभाग इस प्रकार है, सुनो। जिस अनासक्त बुद्धिवाले पुरुषकी इष्टानिष्ट कर्मोंके ग्रहण-त्यागमें अपनी कोई इच्छा नहीं रहती अर्थात् जिसकी इच्छाका सर्वथा अभाव हो गया है, ऐसे पुरुषकी स्थितिको तुम जीवन्मुक्त-अवस्था—सदेहमुक्ति समझो। फिर देहका विनाश होनेपर पुनर्जन्मसे रहित हुई वही जीवन्मुक्ति विदेहमुक्ति कही गयी है। श्रीराम! जिन्हें विदेहमुक्तिकी प्राप्ति हो गयी है, वे फिर जन्म धारण करके दृश्यताको नहीं प्राप्त होते—ठीक उसी तरह, जैसे भुना हुआ

बीज जमता नहीं है । महाबाहु राम ! प्रह्लादके अन्तःकरणमें शुद्ध सत्त्वमयी वासना स्थित थी, वह शङ्खध्वनि होते ही उदबुद्ध हो उठी । अपनी उसी वासनासे प्रह्लादको बोध प्राप्त हुआ था । श्रीहरि ही समस्त प्राणियोंके आत्मा हैं, इसलिये उनके मनमें जैसा संकल्प होता है, वह शीघ्र ही उसी रूपमें मूर्त हो जाता है; क्योंकि परमात्मा ही सबके कारण हैं । भगवान् वासुदेवने ज्यों ही ऐसा संकल्प किया कि प्रह्लाद प्रबुद्ध हो जाय, त्यों ही वह क्षणमात्रमें उठ बैठा । अर्थात् भगवान्‌के संकल्पसे ही प्रह्लाद पाञ्चजन्य शङ्खकी ध्वनिसे प्रबुद्ध हो गया । भगवान् वासुदेवने निजी स्वार्थके बिना ही प्राणियोंके कल्याणके हेतु अपने आत्मामें ही जगत्‌की सृष्टिके लिये विष्णुरूपसे शरीर धारण किया है । परमात्माके साक्षात्कारसे शीघ्र ही भगवान् माधवका दर्शन प्राप्त हो जाता है और उन माधवकी आराधनासे शीघ्र ही निर्गुण-निराकार परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है ।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् ! आप तो सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता हैं; अतः आपके शुद्ध वचनरूपी किरणोंसे हम उसी प्रकार आह्लादित हुए हैं, जैसे चन्द्रमाकी रश्मियोंके स्पर्शसे अनाजके पौधे प्रफुल्लित हो जाते हैं । परंतु गुरुदेव ! यदि पुरुषार्थपूर्वक प्रयत्न करनेसे ही सब कुछ प्राप्त हो जाता है तो भगवान् माधवके वरदान बिना प्रह्लाद अपने पुरुषार्थसे ही क्यों नहीं प्रबुद्ध हुआ ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघव ! महामनस्वी प्रह्लादने जिन-जिन पदार्थोंको प्राप्त किया था, वे सभी उसे अपने पुरुषार्थसे ही मिले थे । उनकी प्राप्तिमें दूसरा कोई कारण नहीं है । (क्योंकि प्रह्लादने परम पुरुषार्थसे जो भक्ति की, उसीसे भगवान्‌ने उनको वर दिया; इसलिये भगवान्‌का वर मिलना भी अपना पुरुषार्थ ही है ।) जो विष्णु है, वही सबका आत्मा है और जो सबका आत्मा है, वही विष्णु है । इस प्रकार पुष्प और उसकी सुगन्धकी भाँति आत्मा और नारायण भिन्न नहीं हैं । पहले-पहल प्रह्लाद नामक आत्मा ही अपने-आप अपनी परम शक्तिसे ही विष्णुभक्तिमें नियुक्त हुआ । फिर उसने स्वात्मभूत विष्णुसे ही स्वयं यह वर प्राप्त किया और स्वयं ही अपने मनको विचारशील बनाकर स्वयं ही आत्मज्ञान प्राप्त किया । इस प्रकार कभी तो आत्मा अपने आप ही अपनी शक्तिसे प्रबुद्ध हो जाता है और कभी भक्तिरूपी प्रयत्नसे प्राप्त होनेवाले विष्णुरूपसे प्रबोधित किया जाता है । इसलिये किसीको जहाँ-कहीं भी जो कुछ प्राप्त होता है, वह सब उसे अपनी सामर्थ्यरूप प्रयत्नसे ही मिलता है; कहीं भी किसी अन्य कारणसे उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।

(सर्ग ३९–४९)

मायाचक्रका निरूपण, चित्तनिरोधकी प्रशंसा, भगवत्प्राप्तिकी महिमा, मनकी सर्प और विषवृक्षसे तुलना, उद्दालक मुनिका परमार्थ-चिन्तन

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! जो भगवत्प्राप्तिके साधनरूप सम्पूर्ण अङ्गोंका उच्छेदक तथा यों वेगपूर्वक घूमता रहता है, उस मायाचक्रका निरोध कैसे किया जाय ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघव ! यह संसाररूपी मायाचक्र नित्य भ्रमणशील तथा भ्रान्तिदायक है । तुम चित्तको इस चक्रकी महानाभि समझो । जब पुरुष प्रयत्नपूर्वक बुद्धिद्वारा इस चित्तको स्तम्भित कर देता है, तब जिसकी नाभि पकड़ ली गयी है, ऐसा यह मायाचक्र शीघ्र ही आगे बढ़नेसे रुक जाता है । इस चित्त-निरोधरूपी युक्तिके बिना आत्माको अनन्त दुःखोंकी प्राप्ति हो रही है, परंतु इस उपर्युक्त दृष्टिके प्राप्त होनेपर तुम सारे-के-सारे दुःखोंको क्षणमात्रमें नष्ट हुआ ही

समझो। यह संसार एक महाभयंकर रोग है। चित्त-निरोध ही इस रोगकी परमोत्तम औषध है। इस औषधके अतिरिक्त अन्य किसी प्रयत्नसे उस व्याधिकी शान्ति नहीं होती। जैसे घड़ेके भीतर घटाकाश रहता है, परंतु घड़ेके नष्ट होनेपर घटाकाश नहीं रह जाता, उसी तरह यह संसार चित्तके अंदर ही है, अतः चित्त-का नाश होनेपर संसार भी विनष्ट हो जाता है। यह चित्त जब भूत और भविष्यके पदार्थोंका चिन्तन न करके वर्तमान समयका बाह्य बुद्धिद्वारा अनायास ही उपयोग करने लगता है, उसी क्षण अचित्तताको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि चित्तकी वृत्तियाँ तभीतक रहती हैं जबतक संकल्पकी कल्पना बनी रहती है—ठीक उसी तरह, जैसे जबतक मेघका विस्तार रहता है, तभीतक आकाशमें जलके अणु वर्तमान रहते हैं। संकल्प-कल्पना भी तभीतक रहती है, जबतक चेतन जीवात्मा मनके साथ है। रघुनन्दन! यदि ऐसी भावना की जाय कि चेतन जीवात्मा मनसे पृथक् है तो जैसे सिद्ध पुरुषोंमें मूल अविश्वासहित वासनाओंका ज्ञानद्वारा जलकर अत्यन्ताभाव हो जाता है, उसी तरह तुम अपने संसारके मूलों—वासनाओंको मूलाविद्यासहित जलकर भस्म हुआ ही समझो। चित्तसे शून्य हुआ चेतन प्रत्यक्चेतन अर्थात् शुद्ध आत्मा कहा जाता है। वास्तवमें तो निर्मनस्क रहना उसका स्वभाव ही है; क्योंकि उसमें संकल्परूपी मल नहीं है। वह शुद्ध आत्मा ही वास्तवमें सत्यता है; वही कल्याणरूपता सच्चिदानन्द परमात्माकी प्राप्तिरूप अवस्था, सर्वज्ञता और वास्तविक दृष्टि है। किंतु जिस समय उसका विनाशशील मनके साथ संयोग बना रहता है, उस समय उसकी उपर्युक्त स्थिति नहीं रहती; क्योंकि जहाँ मन रहता है, वहाँ उसके संनिकट अनेक प्रकारकी आशाएँ और सुख-दुःख उसी प्रकार सदा आते रहते हैं, जैसे श्मशानभूमिमें कौए मँडराया करते हैं। परंतु जब परमार्थ वस्तुरूप परमात्माके तत्त्वका ज्ञान हो जाता है, तब उस पुरुषके मनके संकल्पमें आशा आदि सम्पूर्ण भावोंकी व्यवस्थापिका संसाररूपी लताका बीज उत्पन्न ही नहीं होता; क्योंकि उस समय उसका मन भुने हुए बीजके समान हो जाता है। शास्त्राध्ययन और सज्जनों-की संगतिका निरन्तर अभ्यास करनेसे सांसारिक पदार्थों-की अवास्तविकताका ज्ञान होता है, अर्थात् जगत्के पदार्थ वास्तवमें असत् हैं—ऐसा अनुभव होता है। इसलिये निश्चयपूर्वक परम प्रयत्नके साथ मनको अविवेकसे हटाकर उसे बलात्कारसे शास्त्राध्ययन और सत्पुरुषोंके सङ्गमें लगाना चाहिये; क्योंकि परमात्माका साक्षात्कार होनेमें, शुद्ध आत्मा ही प्रधान कारण है।

श्रीराम! अपना आत्मा ही अपनेद्वारा अनुभूत दुःखों-को त्याग देनेकी इच्छा करता है, अतएव परमात्माका साक्षात्कार होनेमें एकमात्र शुद्ध आत्मा ही मुख्य हेतु कहा गया है। इसलिये तुम बोलते हुए, त्याग करते हुए, ग्रहण करते हुए तथा आँखोंको खोलते और मींचते हुए भी अचिन्त्य, अनन्त, नित्यविज्ञानानन्दघन परमात्मामें स्थित रहो। इसी प्रकार बाल्य, यौवन और वृद्धावस्थामें, दुःखोंमें, सुखोंमें तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्थाओंमें तुम सदा-सर्वदा अपने वास्तविक सच्चिदानन्द-स्वरूपमें बने रहो। जो आत्मज्ञानसम्पन्न एवं अमृत-स्वरूप परमार्थ-तत्त्वका अनुभव करनेवाला है, उसके लिये हलाहल विष भी अमृतके समान फलदायक हो जाता है। जिस समय निर्मल एवं अखण्ड चैतन्यका ज्ञान नहीं रहता, उस समय संसाररूपी भ्रमका कारण-स्वरूप महामोह वृद्धिको प्राप्त होता है और जब उस निर्मल एवं अखण्ड सच्चिदानन्दघन परमात्मामें दृढ़ स्थिति हो जाती है, तब संसार-भ्रमका कारणभूत मोह सर्वथा विनष्ट हो जाता है। श्रीराम! जो अद्वितीय आनन्दरूप ब्रह्ममें स्थित होकर अपने विज्ञानानन्दघन स्वरूपका साक्षात्कार करनेवाला है, उसके लिये स्वादिष्ट रसायन

भी विष-तुल्य हो जाता है। परमात्माके तत्त्वको जाननेवाला महापुरुष समस्त प्रकाशोंमें, सभी प्रभावोंमें, समस्त बलवानोंमें, सम्पूर्ण महान् व्यक्तियोंमें तथा सभी उन्नतिशाली मनुष्योंमें परम उन्नत होता है। जिस परमात्माकी प्रभासे सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा, मणि और तारे आदि प्रकाशित होते हैं, उस जगदीश्वरका जिन महापुरुषोंको ज्ञान हो गया है, वे भी सूर्यादिकी भाँति जगत्‌में सुशोभित होते हैं। परंतु श्रीराम! जो मानव परमात्मविषयक ज्ञानसे हीन हैं, वे पृथ्वीके दरारोंमें रहनेवाले कीड़ों, गदहों एवं अन्य तिर्यग्योनिमें उत्पन्न हुए जीवोंसे भी अत्यन्त तुच्छ माने जाते हैं। आत्मज्ञान-विहीन पुरुषकी सारी चेष्टाएँ दुःखदायिनी होती हैं। वह भूतलपर चलता-फिरता हुआ भी मुर्दा ही है। इसलिये आत्मज्ञ पुरुषको चाहिये कि वह भोगोंके रसोंमें आसक्त न होते हुए उनके उपभोगके तिरस्कारद्वारा मनको अत्यन्त सूखे हुए पत्तेके समान समयानुसार धीरे-धीरे कृश बना डाले; क्योंकि यह मन अनात्मामें आत्मभाव, देहमात्रमें ऐसी आस्था, पुत्र, कलत्र और कुटुम्बकी ममता, अहंकारके विकास, ममतारूपी मलमें सने रहना, 'यह मेरा है' ऐसी भावना, जरा-मरणरूपी दुःख, व्यर्थ ही उन्नतिको प्राप्त हुए काम-क्रोधादि दोषरूपी सर्पोंके विषरूप संसारकी ममता, आधि-व्याधिकी अभिवृद्धि, संसारकी रमणीयतामें विश्वास, हेयोपादेयके प्रयत्न, स्त्री-पुत्र आदिके प्रति स्नेह तथा रत्नों और स्त्रियोंके आपातरमणीय लाभसे उत्पन्न हुए धनके लोभसे स्थूलताको प्राप्त होता है। यह चित्त सर्पके समान है, जो दुराशारूपी दूधके पीनेसे, भोगरूपी वायुके बलसे, आदरप्रदानसे तथा नाना प्रकारके विषयोंमें संचरण करनेसे मोटा-ताजा हो जाता है। आना और जाना—उत्पत्ति विनाश ही जिनका स्वरूप है तथा जो विषकी विषमताको सूचित करनेवाले हैं, ऐसे भीषण भोगोंका उपभोग करनेसे चित्त स्थूलभावको प्राप्त हो जाता है।

राघव! यह चित्त विषवृक्षके समान है, जो चिरकालसे शरीररूपी बुरे गड्ढेमें उगा हुआ है। आशाएँ ही इसकी विशाल शाखाएँ और विकल्प ही इसके पत्ते हैं। अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ ही इसकी लंबी-लंबी मञ्जरियाँ हैं। कामोपभोगोंके समूह ही इसमें खिले हुए पुष्प हैं। यह जरा-मरण और व्याधिरूपी फलोंके भारसे झुका हुआ है। इस पर्वताकार अद्भुत वृक्षको तुम निश्शङ्क होकर हठपूर्वक विवेक-विचाररूपी मजबूत आरेसे काट डालो। जबतक इस चित्तरूपी पिशाचको—जो अज्ञानरूपी विशाल वटवृक्षोंपर विश्राम करनेवाला है, तृष्णा-पिशाची जिसकी परिचर्या करती है और जो चेतनरहित सैकड़ों देह धारण करके अपनी कल्पनारूपी अटवीमें चिरकालसे भटक रहा है—विवेक, वैराग्य, गुरुसन्निधि, प्रयत्न और मन्त्र आदि स्वतन्त्र उपायोंद्वारा चेतन जीवात्माके निवास-स्थानरूप अपने हृदयसे हटाया नहीं जायगा, तबतक इस जगत्‌में आत्मसिद्धिकी प्राप्ति कैसे हो सकती है।

रघुनन्दन! मेरे वाक्योंके एकमात्र तत्त्वज्ञ तो तुम्हीं हो, इसीलिये केवल मेरे वाक्यार्थोंकी भावनासे तुम्हें सुख मिलता है। वत्स राम! पूर्वकालमें उद्दालक मुनिको पञ्च महाभूतोंके विचार विमर्शसे जिस प्रकार परमोत्कृष्ट एवं अविनाशी दृष्टि प्राप्त हुई थी, वह वृत्तान्त तुम्हें कहता हूँ; सुनो। प्राचीनकालमें पर्वतराज गन्धमादनके किसी भूभागमें एक ऊँचे शिखरपर एक मुनि निवास करते थे। उनका नाम उद्दालक था। अभी उनकी जवानी नहीं गयी थी। वे स्वाभिमानी और महाबुद्धिमान् थे तथा मौन रहकर घोर तपस्यामें संलग्न थे। पहले तो उनकी बुद्धि मन्द थी। उनमें विवेक-विचार भी नहीं था। उन्हें परमपदरूप शान्तिकी प्राप्ति भी नहीं हुई थी तथा वे परमात्माके तत्त्वसे भी अनभिज्ञ थे; परंतु उनका अन्तःकरण शुभ भावोंसे युक्त था। तदनन्तर तपस्या, नियमपूर्वक शास्त्रार्थ-चिन्तन और अभ्यासके पाकस्वरूप क्रमोंसे उनके हृदयमें विवेक जाग उठा। उनका मन तो शुद्ध था ही, अतः उनकी बुद्धि इस

संसाररूपी रोगको देखकर भयभीत हो उठी। तब वे किसी समय एकान्तमें बैठकर इस प्रकार विचार करने लगे—

'जिसमें विश्राम प्राप्त हो जानेपर शोकका अत्यन्ताभाव हो जाता है तथा जिसे पा लेनेपर पुनर्जन्म नहीं होता, वह प्राप्त करने योग्य प्रधान वस्तु क्या है! मैं मननरहित परम पवित्र पदमें चिरकालके लिये कब विश्रामको प्राप्त होऊँगा! जैसे किलोल करती हुई चञ्चल तरङ्गें समुद्रमें ही विलीन हो जाती हैं, उसी तरह भोगतृष्णाएँ कब मेरे अंदर ही शान्त हो जायँगी! कब मैं परमपदमें विश्रामको प्राप्त हुई अपनी बुद्धिद्वारा 'यह कार्य करके पुनः इस दूसरे कार्यको भी करना है' ऐसी व्यर्थ कल्पनाका भीतर-ही भीतर उपहास करूँगा! मेरे मनमें स्थित हुए भी विकल्प-समूह कमलदलपर पड़े हुए जलकी तरह सम्बन्धरहित होकर कब चित्तसे विलग हो जायँगे! अर्थात् संकल्प-विकल्पोंका अभाव कब होगा! मैं उन्मत्त होकर बहनेवाली तृष्णा-नदीको, जो बहुसंख्यक भीषण तरङ्गोंसे युक्त है, अपनी परमोत्कृष्ट बुद्धिरूपी नौकासे कब पार कर जाऊँगा! मैं जगत्के प्राणियोंद्वारा की जानेवाली इस बाह्य प्रवृत्तिको, जो मिथ्या तथा चित्तको व्यग्र कर देनेवाली है, बालकोंकी क्रीडाके समान समझकर कब उसका उपहास करूँगा! मेरा मन, जो विकल्पोंसे विक्षिप्त तथा हिंडोलेकी तरह चञ्चल है, कब शान्ति लाभ करेगा! मेरा अन्तःकरण परमात्माके समान आकारवाला, सौम्य और सम्पूर्ण पदार्थोंकी स्पृहासे रहित होकर कब शान्तिको प्राप्त होगा! वह दिन कब होगा, जब मैं अपनी शान्त हुई कल्पनाओंवाली बुद्धिद्वारा बाहर-भीतरसहित इस सम्पूर्ण विश्वको सच्चिदानन्द-रूपसे देखता हुआ अनुभव करूँगा! कब मैं इष्ट और अनिष्ट तथा हेय और उपादेयसे रहित एवं स्वयप्रकाश-स्वरूप परमपदमें स्थित होकर अपने अन्तःकरणमें परम शान्तिको प्राप्त होऊँगा! ऐसा सुअवसर कब आयेगा, जब मैं किसी पर्वतकी कन्दरामें निर्विकल्प-समाधिद्वारा मनके व्यापारसे रहित होकर शिलाकी भाँति निश्चल हो जाऊँगा! मौनव्रत धारण करके अविचल ध्यानमें निमग्न हुए मेरे मस्तकपर वनकी चिडियाँ कब घोंसला बनायेंगी!'

यों चिन्तापरवश हुए उद्दालक मुनिने वनमें स्थित होकर बारंबार ध्यानका अभ्यास किया, परंतु विषय उनके बंदरके समान चञ्चल चित्तको अपनी ओर खींच ले जाते थे; जिससे प्रसन्नता प्रदान करनेवाली समाधिस्थिरता उन्हें न मिल सकी। उनका मन कभी-कभी विषयासक्त हो जाता था; उस अवस्थामें वह अपने हृदयान्तर्वर्ती तमोगुणका त्याग करके भग्नभीत पक्षीकी भाँति वहाँसे भाग निकलता था। कभी वह बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंके चिन्तनका परित्याग करके तमोगुणमें लीन होकर निद्रारूपी लंबे कालतक रहनेवाली स्थितिको प्राप्त हो जाता था। यद्यपि वे प्रतिदिन भयानक गुफाओंमें बैठकर अपने मनको ध्यानमग्न करनेमें तत्पर

थे, फिर भी ध्यानवृत्तियोंमें विघ्न पड़नेके कारण उनका अन्तःकरण अत्यन्त व्याकुल हो गया और शरीर तुच्छ तृष्णा-नदीके तटवर्ती तरङ्गोंके थपेड़ोंसे चञ्चल हो उठा। इस प्रकार जब वे मुनि संकटापन्न हो गये, तब विक्षिप्तचित्त होकर उस पर्वतपर भ्रमण करने लगे।

रघुकुलभूषण राम! तदनन्तर धर्मात्मा उद्दालक बहुत अन्वेषणके पश्चात् प्राप्त हुई गन्धमादनकी एक रमणीय गुहामें प्रविष्ट हुए। वहाँ उन्होंने न मुरझाये हुए कोमल पत्तोंका एक आसन बनाया, जिसके चारों ओर पुष्पोंके गुच्छे शोभा पा रहे थे। उस आसनके ऊपर उन्होंने एक सुन्दर मृगचर्म फैला दिया। तत्पश्चात् शुद्ध अन्तःकरणवाले उद्दालक अपने मनकी वृत्तियोंको सूक्ष्म बनाते हुए उस आसनपर विराजमान हुए। वहाँ उन्होंने उत्तराभिमुख होकर दोनों एड़ियोंसे अण्डकोषोंको दबाकर ज्ञानीकी भाँति सुदृढ़ पद्मासन लगाया। वे विषयोंकी

ओर दौड़ते हुए अपने मनरूपी मृगको वासनाओंसे हटाकर निर्विकल्प समाधिमें स्थित होना चाहते थे, इसलिये विचार करने लगे—

'अरे मूर्ख मन! इन सांसारिक वृत्तियोंसे तेरा क्या प्रयोजन है? क्योंकि बुद्धिमान् लोग ऐसी क्रियाके लिये चेष्टा नहीं करते, जो परिणाममें दुःखदायिनी हो। जो शान्तिप्रद उपरतिरूपी रसायनको छोड़कर विषयभोगोंके पीछे दौड़ता है, वह मानो मन्दार-वनका परित्याग करके विषवृक्षोंसे भरे हुए जंगलकी ओर जा रहा है। तू चाहे पातालमें चला जा अथवा ब्रह्मलोकमें ही क्यों न पहुँच जा किंतु शान्तिप्रद उपरतिरूपी अमृतके बिना तुझे निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती। रे मन! तू सैकड़ों भोगाशाओंसे परिपूर्ण होनेके कारण इस प्रकार समस्त दुःखोंका प्रदाता बना हुआ है, अतः इन दुःखदायिनी भोगाशाओंका सर्वथा परित्याग करके अत्यन्त सुन्दर परम ऐकान्तिक कल्याणस्वरूप परमात्माको प्राप्त कर ले। ये उत्पत्ति-विनाशमयी विचित्र कल्पनाएँ तो तुझे भयानक दुःख देनेवाली ही हैं, इनसे कभी सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अरे मूर्ख! तू व्यर्थ बहिर्मुखतारूप उत्थानसे वृद्धिको प्राप्त हुई श्रोत्रेन्द्रियके वशीभूत होकर सांसारिक रसिक-गानका अनुसरण करनेवाली बुद्धिवृत्ति-द्वारा व्याधके वीणा-गीत आदिसे मोहित हुए मृगके समान विनाशको मत प्राप्त हो। मन्दबुद्धे! जैसे हथिनीके स्पर्शसुखका लोभी गजेन्द्र शिकारियोंद्वारा बाँध लिया जाता है, उसी तरह तू भी सुन्दरी युवतीके स्पर्श-सुखका अनुभव करनेके लिये उन्मुख हुई बुद्धिवृत्तिसे केवल दुःखके लिये ही त्वगिन्द्रियका आश्रय लेकर बन्धनमें मत पड़। रे अंधे! परिणाममें दुःख देनेवाले खादिष्ट अन्नोंकी अभिलाषासे रसनेन्द्रियताको प्राप्त होकर बंसीमें लगे हुए चारेके लोभी मत्स्यकी भाँति तू अपना विनाश मत कर। मूढ़! तू युवती स्त्री, बालक, बालिका आदि नाना प्रकारके सुन्दर दृश्योंको देखनेमें तत्पर हुई चक्षुरिन्द्रियका अवलम्बन करके प्रकाशके लोलुप फतिंगेके समान जलनको मत प्राप्त हो। जैसे गन्धलोलुप

भ्रमर सायंकालमें कमल-कोशमें बंद हो जाता है, उसी प्रकार तेल-फुलेल, इत्र, पुष्प आदि सुगन्धित पदार्थोंकी गन्धके अनुभवकी इच्छासे घ्राणेन्द्रियका आश्रय लेकर तू भी शरीररूपी कमल-कोशके भीतर बँध मत जा। मन्दबुद्धे! मृग शब्दसे, भ्रमर गन्धसे, फतिंगा रूपसे, गजेन्द्र स्पर्शसे और मत्स्य रससे —इस प्रकार ये सब तो केवल एक-एक विषयसे नष्ट हो गये; किंतु तू तो इन पाँचों इन्द्रियोंके विषय-भोगरूप अनर्थोंसे व्याप्त है, अतः तुझे सुख कैसे मिल सकता है। यदि तू सांसारिक दोषोंसे रहित, अतएव शरत्कालीन मेघके समान निर्मल अन्तःकरणकी शुद्धिको प्राप्त होकर समस्त अनर्थोंके मूल अज्ञानका उच्छेद करके शान्तिको प्राप्त होगा तो यह तेरी असीम विजय होगी। जैसे जबतक वर्षा ऋतुके मेघ वर्तमान हैं, तबतक कुहरेकी प्रचुरता रहेगी ही, उसी तरह जबतक घनीभूत अज्ञान मौजूद है, तबतक चित्तकी स्थूलताका रहना निश्चित ही है। तथा ज्यों-ज्यों वर्षाकालीन मेघ क्षीण होते जाते हैं, त्यों-त्यों कुहरेका भी विनाश होता जाता है, उसी प्रकार ज्यों ज्यों अज्ञान क्षीण होता जायगा, त्यों-त्यों चित्तकी भी सूक्ष्मता बढ़ती जायगी।

"असत्स्वरूप मन! मैं अहंकार और वासनाओंसे रहित निर्विकल्प चिन्मय ज्योतिःस्वरूप हूँ और तू अहंकारका बीजस्वरूप है। अतः तुझसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। 'अहं' रूपसे कौन स्थित है?—इसका मैंने पैरके अँगूठेसे लेकर सिरतक सर्वत्र अन्वेषण किया; किंतु यह 'अहं' नामक पदार्थ मुझे कहीं उपलब्ध नहीं हुआ। इस शरीरमें यह मांस है, यह रक्त है, ये हड्डियाँ हैं, ये श्वासवायु हैं, फिर यह 'अहं' रूपसे स्थित कौन है? देहमें स्पन्दनांश तो प्राणवायुओंका है, चेतनांश परमात्माका है तथा जरा-मरण शरीरके धर्म हैं; फिर यह 'अहं' क्या वस्तु है? रे चित्त! मांस अहंसे पृथक् है, रक्त उससे भिन्न है, हड्डियाँ भी दूसरी हैं, चेतनता उससे अन्य है, स्पन्दन भी उससे अलग है; फिर 'अहं' रूपसे स्थित पदार्थ कौन है? यह नासिका है, यह जिह्वा है, यह त्वचा है, ये दोनों कान हैं, यह आँख है और यह स्पन्दन है; फिर 'अहं' रूपसे स्थित कौन वस्तु है? परमार्थरूपसे विचार करनेपर न तो मन अहं है न चित्त अहं है और न वासना ही अहं है। आत्मा तो अहं हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह तो केवल शुद्ध चेतन प्रकाशस्वरूप है। वस्तुतः तो इस जगत्में जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, सर्वत्र मेरा ही स्वरूप है। अथवा विनाशशील असत् होनेके कारण कोई भी पदार्थ मेरा स्वरूप नहीं है—यही दृष्टि सच्ची है, इससे भिन्न दूसरा कोई क्रम नहीं है। परंतु अज्ञानरूपी धूर्त अहंकारके द्वारा चिरकालसे मुझे उसी प्रकार कष्ट दे रहा है, जैसे जंगलमें कोई ढीठ भेड़िया मृगछौनेको क्लेश पहुँचाये। सौभाग्यकी बात है कि अब मैंने उस अज्ञानरूपी चोरको भलीभाँति जान लिया है। वह मेरे स्वरूपरूपी धनका अपहरण करनेवाला है, अतः अब मैं पुनः उसका आश्रय नहीं ग्रहण करूँगा। यह देहमें अहंतारूपी भावना मृगतृष्णाके सदृश व्यर्थ है। जब ऐसी भावना असत्य ही है, तब 'यह देह अहं है' ऐसा जो भाव है, वह केवल भ्रम ही है। किंतु ज्ञानी महात्मा जो वासनाहीन हो गये हैं, वे भी अपने जीवन-निर्वाहके लिये स्वतः बाह्यरूपसे चक्षु आदि इन्द्रियोंद्वारा कर्मोंमें प्रवृत्त होते ही हैं। उनकी इस प्रवृत्तिमें वासना कारण नहीं है। चित्त! यदि केवल वासनारहित कर्म किया जाय तो भविष्यमें होनेवाले सुख-दुःखका अनुभव नहीं होता। इसलिये मूर्ख इन्द्रियो! यदि तुम अपनी अन्तर्वासनाका परित्याग करके सम्पूर्ण कर्म करोगी तो तुम्हें दुःखकी प्राप्ति नहीं होगी। निष्पाप! जैसे तरङ्ग आदि जलसे भिन्न नहीं हैं, उसी तरह ज्ञानी महात्माकी दृष्टिमें ये वासना आदि सभी पदार्थ आत्मासे पृथक् नहीं हैं; किंतु अज्ञानीकी दृष्टिमें उनकी पृथक् सत्ता है। इन्द्रियरूपी बालको! जैसे रेशमके कीड़े अपनेद्वारा उत्पन्न हुए

तन्तुसे ही नष्ट हो जाते हैं, उसी तरह तुमलोग भी स्वतः उद्भूत तृष्णाद्वारा विनष्ट हो रहे हो। वासना ही तुमलोगोंको एक जगह बाँधनेमें हेतु है—ठीक उसी तरह, जैसे छिद्रोंमें पिरोयी हुई रज्जु मोतियोंके बन्धनमें कारण होती है। वस्तुतः तो यह वासना कल्पनामात्रसे ही उद्भूत हुई है, अतः यह सत्य नहीं है; क्योंकि संकल्पका त्याग कर देनेसे यह विनष्ट हो जाती है।

"यह चेतन आत्मा सर्वव्यापक सच्चिदानन्दस्वरूप है, अतः इसका जन्म अथवा मरण नहीं होता। फिर कैसे इसकी मृत्यु हो सकती है अथवा कैसे किसीके द्वारा यह मारा जा सकता है। इसका जीवनसे तो कोई प्रयोजन है नहीं; क्योंकि यह सर्वात्मा ही सबका जीवन है। यदि शुद्ध चेतन आत्मा ही सबका जीवन है तो उसे इस जीवनसे कब कौन-सी दूसरी अप्राप्त वस्तु प्राप्त होगी, जिसके लिये उसे जीवनकी इच्छा हो? जिसका अपनी देहमें अहंभाव है, वही भाव-अभावरूप जन्म-मरणके बन्धनमें पडता है; परंतु आत्मन्! तुम्हारेमें तो देहाहंभाव है नहीं, इसलिये तुम्हें भाव-अभावरूप जन्म-मरण कहाँसे प्राप्त होंगे। अहंकार तो व्यर्थ मोहरूप है, मन मृगतृष्णाके समान है और पदार्थसमूह जड है; ऐसी दशामें अहंभाव किसको हो? शरीर रक्त-मांसमय है, विवेक-विचारद्वारा मनका विनाश हो गया है और चित्त आदि सभी जड हैं, फिर देहमें अहंभावना किसको कैसे हो? सभी इन्द्रियाँ नित्य अपने-अपने व्यापारमें संलग्न हैं और जड पदार्थ अपने स्वरूपमें स्थित हैं; फिर किसको और कैसे अहंभाव हो? गुणोंकी कार्यरूपा इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें वरत रही हैं, प्रकृति गुणसाम्यावस्थारूप अपने स्वभावमें स्थित है और सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने आपमें ही पूर्णरूपसे विराजमान है; फिर देहमें अहंभावना किसको और कैसे हो? इस प्रकार इस भूतलपर जो कुछ स्थित है, वह सब ब्रह्मस्वरूप ही है। वह 'सत्' (ब्रह्म) मैं ही हूँ और वह 'तत्' (ब्रह्म) भी मैं ही हूँ; फिर मैं व्यर्थ ही शोक क्यों करूँ। जब केवल एक ही सर्वव्यापक विशुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मारूप परमपद सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, तब अहंकाररूपी कलङ्ककी उत्पत्ति कहाँसे हो सकती है। वास्तवमें तो पदार्थ-सम्पत्ति है ही नहीं, एकमात्र सर्वव्यापक विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही सर्वत्र विराजमान हो रहा है। अथवा यदि पदार्थ-सम्पत्तिकी सत्ता मान भी लें तो उसके साथ किसीका सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। वस्तुतः तो अहंकाररूपी महान् भ्रम असत्—मिथ्या है; किंतु इसका प्रादुर्भाव होनेपर यह सारा जगत् 'यह मेरा है, यह उसका है' यों व्यर्थ ही विपर्यासको प्राप्त हुआ है। यह आश्चर्यमय अहंकार परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान न होनेके कारण ही उत्पन्न हुआ है। उस परमात्मतत्त्वके ज्ञात हो जानेपर तो इसका उसी प्रकार विनाश हो जाता है, जैसे सूर्यके तापसे हिमकणिका गल जाती है। इससे सिद्ध हुआ कि परमात्माके अतिरिक्त और किसीकी भी सत्ता नहीं है; इसलिये 'सर्वं ब्रह्म' इस प्रकारका जो मेरा अनुभवसिद्ध तत्त्व है, उसीका मैं चिन्तन करूँगा। मैं तो यही उत्तम समझता हूँ कि आकाशकी नीलिमाके सदृश उत्पन्न हुए इस अहंकाररूपी महाभ्रमको ऐसे भुला दिया जाय जिससे पुनः कभी इसका स्मरण ही न हो। मैं चिरकालसे प्राप्त हुए इस मूलाविद्यासहित अहंकाररूपी महाभ्रमका सर्वथा त्याग करके शान्तात्मा होकर विशुद्ध परमात्मामें ही स्थित रहूँगा, जैसे शरत्कालीन आकाश अपने निर्मल स्वभावमें स्थित रहता है। यह अहंभाव जब बढ जाता है, तब अनर्थ-परम्पराओंकी सृष्टि करता है, पापका विस्तार करता है और संतापको बढ़ाता है। मरणादि पारलौकिक दुःख पुनर्जन्मतक भोगना पडता है एवं जीवन आदि ऐहलौकिक कष्ट मरणपर्यन्त रहता है और वर्तमान कालके पदार्थ विनाशशील हैं अतः यह दुःखवेदना घोर कष्टप्रद है। दुर्बुद्धिजनोंके 'यह मुझे मिल गया, अब इसे प्राप्त करूँगा' इस प्रकारके

संतापदायिनी पीडा कभी शान्त नहीं होती। अहङ्कारका समूल विनाश हो जानेपर संसाररूपी वृक्ष सूख जाता है। उसकी उत्पादनशक्ति विनष्ट हो जाती है, जिससे वह पाषाणकी भाँति पुनः अङ्कुर उत्पन्न करनेमें असमर्थ हो जाता है।

देहरूपी वृक्षको अपना निवासस्थान बनाकर रहनेवाली तृष्णारूपी काली नागिनें हृदयमें विवेक-विचाररूपी गरुड़का आगमन होते ही न जाने कहाँ लुप्त हो जाती हैं। जब विश्व असत्य सिद्ध हो जाता है, तब उससे उत्पन्न होनेवाला सारा-का-सारा भेद-व्यवहार असत्य हो जाता है। इस प्रकार व्यवहारके असत्य हो जानेपर 'अहं'-'त्वं' का भेद-व्यवहार सत्य कैसे रह सकता है। तरङ्गकी भाँति क्षणभङ्गुर एवं विनाशोन्मुख इस देहमें जिनकी आस्था सुदृढ़ हो गयी है, उन दुर्बुद्धियोंका परमार्थसे पतन हो जाता है, क्योंकि देह आदि समस्त वस्तुएँ सर्वत्र उत्पत्तिके पूर्व और विनाशके पश्चात् नहीं रहतीं, केवल मध्यमें ही इनका प्राकट्य दृष्टिगोचर होता है। फिर उनकी मिथ्या स्थिरतामें आस्था कैसी। अर्थात् इन देह आदि विनाशी पदार्थोंको सत्य मानकर उनमें नहीं फँसना चाहिये। जब मन पूर्णतया इस निर्णयपर पहुँच जाता है कि यह जो कुछ विशाल दृश्यमण्डल है, वह सारा का-सारा अवास्तविक है, तब वह अमन—मनके व्यापारसे शून्य हो जाता है। तदनन्तर 'यह अवास्तविक है' ऐसा मनमें दृढ निश्चय हो जानेपर सारी भोग-वासनाएँ उसी प्रकार क्षीण हो जाती हैं, जैसे हेमन्त ऋतुमें वृक्षोंकी मञ्जरियाँ झड जाती हैं। वास्तवमें न तो कोई किसीका स्वाभाविक शत्रु है और न कोई किसीका स्वाभाविक मित्र ही है; किंतु जो सुख पहुँचानेवाला है, वह मित्र कहा गया है और जो दुःखप्रद हैं, वे शत्रु कहलाते हैं। इसलिये अब मैं मनरूपी वनको, जो सङ्कल्परूपी वृक्षोंसे व्याप्त तथा तृष्णारूपी लताओंसे आच्छादित है, छिन्न-भिन्न करके विस्तृत मुक्तिरूपी भूमिमें जाकर सुख-पूर्वक विचरण करूँगा। इस प्रकार मनके पूर्णतया क्षीण हो जानेपर रक्त-मांस आदि धातुओंका संघातरूप यह मेरा अनिष्टकारी शरीर चाहे रहे अथवा नष्ट हो जाय, इससे कोई हानि नहीं है। अतः मनका विनाश करना ही आवश्यक है। मैं देह नहीं हूँ—इस विषयमें मैं एक युक्ति बतलाता हूँ; सुनो! यदि देहको ही आत्मा मान लिया जाय तो मरनेपर शरीरके सभी अङ्गोंके वर्तमान रहनेपर भी मुर्दा शरीर व्यवहार क्यों नहीं करता? इससे सिद्ध हुआ कि देह आत्मा नहीं है। मैं तो नित्य अविनाशी ज्योतिःस्वरूप हूँ और इस देहसे अतीत हूँ। न तो मैं अज्ञानी हूँ, न मुझे कोई दुःख है, न अनर्थ है और न दुःखका कोई कारण ही है। अब तो यह शरीर रहे अथवा न रहे, इससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है; मैं तो संतापरहित हुआ नित्य स्थित हूँ। मुझे उस परम पदस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो चुकी है; इसलिये मैं सबसे उत्कृष्ट, केवल—शुद्धस्वरूप, विक्षेपरहित, शान्तरूप अंशांशीभावसे रहित, अपने आपमें परिपूर्ण, निष्क्रिय एवं इच्छारहित ब्रह्मस्वरूप हूँ। स्वच्छता, प्रभावशालिता, सत्ता, सुहृदयता, सत्यभाषण, यथार्थ ज्ञान, आनन्द-स्वरूपता, शान्ति, सदा मृदुभाषिता, पूर्णता, उदारता, सत्यस्वरूपता, कान्तिमत्ता, एकाग्रता, सर्वात्मकता, निर्भयता और द्वैतके विकल्पका अभाव—ये सभी गुण मुझ आत्मनिष्ठके हृदयको अत्यन्त प्रिय लगनेवाले हैं। चूँकि सर्वरूप परमात्मामें सभी कुछ सर्वदा एवं सर्वथा सम्भव है इसलिये सभी विषयोंके प्रति मेरी इच्छा-अनिच्छा और सुख-दुःख क्षीण हो गये हैं। अब मेरा मोह विनष्ट हो गया है, मन अमनीभावको प्राप्त हो गया है और चित्तके संकल्प-विकल्प दूर हो गये हैं; अतः मैं शान्तस्वरूप परमात्मामें रमण कर रहा हूँ।

(सर्ग ५०—५३)

महर्षि उद्दालककी साधना, तपस्या और परमात्मप्राप्तिका कथन; सत्ता-सामान्य, समाधि और समाहितके लक्षण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! उद्दालक मुनि अपनी विशाल एवं विशुद्ध बुद्धिसे यों निर्णय करके पद्मासन लगाकर बैठ गये। उस समय उनके नेत्र आधे मुँदे हुए थे। तदनन्तर "जो ॐकारका उच्चारण करता है, उसे परमपदकी प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि 'ॐ' यह अक्षर परब्रह्म है।" ऐसा निश्चय करके उन्होंने ॐकारका, जिसकी ध्वनि ऊपरको जा रही थी, उसी प्रकार उच्चस्वरसे उच्चारण किया, जैसे घण्टेके अधोभागमें लटके हुए लटकनको अच्छी तरह पीटनेसे जोरका शब्द होता है। उनके द्वारा उच्चारित प्रणवध्वनि जबतक ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त व्याप्त नहीं हो गयी और जबतक वे सर्व-व्यापक, विशुद्ध ज्ञानस्वरूप परमात्माके अभिमुख नहीं हो गये, तबतक 'ॐ' का उच्चारण करते रहे। प्रणवके अकार, उकार, मकार और बिन्दु—इस प्रकार साढ़े तीन अंश हैं। उनमेंसे प्रथम अंश अकारके उच्चस्वरसे उच्चरित होनेपर जब शरीरके भीतर शब्दके गूँजनेके कारण प्राण पूर्णरूपसे क्षुब्ध हो उठे, तब प्राणवायुको छोड़नेके क्रमने जिसे रेचक कहा जाता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण शरीरको रिक्त कर दिया, जैसे महर्षि अगस्त्यने सागरके जलको पीकर उसे खाली कर दिया था। तत्पश्चात् प्रणवके द्वितीय अंश 'उकार के उच्चारणके समय ॐकारकी समस्थिति होनेपर प्राणोंका निश्चल कुम्भक नामक क्रम सम्पन्न हुआ। उस समय प्राण न बाहर थे न भीतर, न अधोभागमें थे न ऊर्ध्वभागमें और न दिशाओंमें ही भ्रमण कर रहे थे, बल्कि भर्राकर्तिसे स्तम्भित किये गये जलकी तरह पूर्णतः शान्त थे। तदनन्तर प्रणवके उपशान्ति-प्रद तृतीयांश मकारके उच्चारण-कालमें प्राणवायुको भीतर ले जानेके कारण प्राणोंका पूरक* नामक क्रम घटित हुआ। इस तीसरे क्रममें प्राण जीवात्मामें भावनाद्वारा भावित अमृतके मध्यमें पहुँचकर हिमस्पर्शके समान सुन्दर शीतलताको प्राप्त हो गये।

तदुपरान्त पद्मासनसे बैठे हुए उद्दालक मुनिने उस भावनामय शरीरमें दृढ़ स्थिति करके आलानमें बँधे हुए गजराजकी तरह अपनी पाँचों इन्द्रियोंको देहमें निबद्ध कर दिया। फिर वे निर्विकल्प समाधिके लिये तथा शरत्कालीन निर्मल आकाशकी तरह अपने स्वभावको शुद्ध बनानेके हेतु प्रयत्न करने लगे। जब उद्दालक मुनिको उस समाधिसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो गयी, तब वे दृश्य-प्रपञ्चके विकल्पोंसे रहित होकर उस नित्य अनन्त विज्ञानानन्दघन परमात्मामें तद्रूप हो गये, जो जगत्का अधिष्ठानभूत, शुद्धस्वरूप एवं महान् है। वे शरीरसे पृथक् होकर किसी अनिर्वचनीय स्थितिको प्राप्त हो गये और नित्य-सत्य-सम-निर्मलरूप होकर आनन्दसागर परमात्मामें विलीन हो गये। उस समय वे वातरहित स्थानमें रखे हुए दीपककी भाँति कान्तिमान्, चित्र-लिखितके सदृश अटल मनवाले, निस्तरङ्ग समुद्रके समान गम्भीर एवं बरसे हुए निर्जल बादलकी तरह मूक हो गये।

---

* यद्यपि रेचक, कुम्भक और पूरक समग्र प्रणवके ही साधन प्रसिद्ध हैं, तथापि रेचकमें प्रथम भागका, कुम्भकमें मध्यभागका और पूरकमें चरम भागका विस्तार किया जाता है; क्योंकि कण्ठसे निकलते हुए प्राणवायुमें कण्ठस्थानीय अकारभागकी, संकुचित होते हुए ओष्ठोंसे उकार भागकी और ओष्ठोंके सम्पुटित होनेपर मकारभागकी अभिव्यक्ति होती है। मकारभागकी अभिव्यक्तिके समय प्राणवायु यद्यपि पुनः प्रवेश करता है; तथापि उसमें प्रणवका ही अनुवर्तन होता है; इसलिये उस-उस भागके अवसर-विभागका कथन है, ऐसा समझना चाहिये।

इस प्रकार जब इस महालोकस्वरूप परब्रह्ममें स्थित हुए उद्दालकका बहुत-सा समय व्यतीत हो गया, तब उन्होंने बहुसंख्यक आकाशचारी सिद्धों तथा देवताओंको भी देखा। तदनन्तर जो इन्द्र और सूर्यका पद प्रदान करनेकी सामर्थ्य रखती थी, ऐसी बहुत-सी विचित्र सिद्धियाँ भी अप्सराओंसे घिरी हुई वहाँ चारों ओरसे आ पहुँचीं; परंतु उद्दालक मुनिने उन सिद्धियोंको बच्चोंके खिलौनोंकी तरह समझकर उनका कुछ भी आदर नहीं किया, क्योंकि उनका मन क्षोभरहित और बुद्धि गम्भीर थी। इस प्रकार सिद्धि-समूहोंका अनादर करके वे छः महीने-तक उस आनन्द-मन्दिररूप समाधिमें स्थित रहे—ठीक उसी तरह, जैसे उत्तरायणके छः मासतक सूर्य उत्तर दिशाकी ओर रहते हैं। इतने समयतक उद्दालक मुनि-को जीवन्मुक्त-पदकी प्राप्ति हो गयी। तब वहाँ उनके समीप सिद्धोंका दल, देवताओंका समुदाय, साध्यगण, ब्रह्मा और शंकर आदि उपस्थित हुए। परमात्माकी प्राप्ति ही वह परम पद है, वही परम शान्त गति है, वही शाश्वत कल्याणस्वरूप मङ्गलमय पद है। जिसे वहाँ विश्राम करनेका अवसर प्राप्त हो गया, उसे भ्रम पुनः बाधा नहीं पहुँचा सकता। संत पुरुष उस परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार करके इस विनाशशील बाह्य दृश्य प्रपञ्चमें उसी प्रकार नहीं रमते, जैसे चैत्ररथ नामक रमणीय उद्यानमें पहुँचे हुए जन खैरके वनमें जानेकी इच्छा नहीं करते। उद्दालक मुनिने सिद्धियोंको दूर हटा दिया था। वे छः मासतक समाधिमें स्थित रहनेके पश्चात् जब पुनः समाधिसे विरत होकर जागे, तब उन्हें अपने सम्मुख कुछ परम तेजस्विनी रमणियाँ दीख पड़ीं, जो चन्द्रबिम्बके समान सुन्दर शरीरवाली, स्नेहमयी और प्रणाम करनेकी लालसासे युक्त थीं। साथ ही कतार-के-कतार दिव्य विमान भी दृष्टिगोचर हुए, जो गौर वर्णवाले मन्दारपुष्पोंके परागसे धूसरित भ्रमरों और चँवरोंसे सुशोभित थे तथा जिनपर पताकाएँ फहरा रही थीं। दूसरी ओर उन्होंने जिनके करकमलोंमें कुशा-की पवित्री धारण करनेसे चिह्न पड़ गये थे, उन हमारे-जैसे मुनियोंको और विद्याधरियोंसहित श्रेष्ठ विद्याधरोंको भी देखा। उन सबने उन महात्मा उद्दालक मुनिसे कहा—'भगवन्! हम आपको प्रणाम कर रहे हैं। आप अनुग्रहपूर्ण दृष्टिसे हमारी ओर देखिये। मुने! आइये और इस विमानपर चढ़कर स्वर्गलोकको पधारिये; क्योंकि जगत्की भोग-सम्पत्तियोंकी चरम सीमा स्वर्ग ही तो है। विभो! वहाँ चलकर आप कल्पपर्यन्त अपने अभीष्ट भोगोंका समुचित रूपसे उपभोग कीजिये; क्योंकि समस्त तपस्याएँ स्वर्गादिरूप फलका उपभोग करनेके लिये ही होती हैं। भगवन्! ये विद्याधरोंकी ललनाएँ हार और चँवर धारण किये आपके पास खड़ी हैं, इनपर दृष्टिपात कीजिये; क्योंकि धर्म और अर्थका सार काम है तथा कामकी सारभूता सुन्दरी युवतियाँ हैं। जैसे मञ्जरियाँ वसन्त ऋतुमें ही उपलब्ध होती हैं, उसी तरह ये वराङ्गनाएँ स्वर्गमें ही मिलती हैं।'

यों कहनेवाले उन सभी विद्याधर और ऋषि-मुनि आदि अतिथियोंका यथोचित आदर सत्कार करके उद्दालक मुनि निश्चिन्त एवं निश्चल भावसे बैठे रहे। उनकी बुद्धि तो गम्भीर थी ही; अतः उन्होंने न तो उस विभूतिका अभिनन्दन किया और न तिरस्कार ही किया अर्थात् उदासीन बने रहे तथा 'भो सिद्धगण! आपलोग जाइये' यों कहकर वे अपने समाधिरूप कार्यमें संलग्न हो गये। तदनन्तर सिद्धगण कुछ दिनोंतक उद्दालक मुनिकी, जो भोगोंकी आसक्तिसे रहित और अपने धर्ममें निरत थे, प्रणाम, स्तुति-प्रशंसा आदिद्वारा उपासना करके अपने-आप चले गये। तब जीवन्मुक्त अवस्थाको प्राप्त हुए मुनि स्वेच्छानुसार वनप्रान्तों तथा मुनियोंके आश्रमोंमें सुखपूर्वक विचरते रहे। उस समयसे उद्दालकमुनि परमपदके प्राप्त होनेपर पर्वतोंकी कन्दराओंमें ध्यान आदि लीलाएँ करते हुए निवास करने लगे।

ध्यानस्थ होनेपर उनका कभी एक दिनमें, कभी एक मासमें, कभी एक वर्षमें और कभी-कभी तो कई वर्षोंमें उस ध्यान-समाधिसे व्युत्थान होता था। उस समयसे लेकर उद्दालक मुनि व्यवहारमें तत्पर रहते हुए भी चिन्मय परमात्मामें एकीभावसे स्थित होनेपर परम समाहित-चित्त बने रहते थे। यों चिन्मय परमात्मतत्त्वमें एकीभावके दृढ़ अभ्याससे महान् चिन्मय विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त करके उन मुनिकी सर्वत्र समदृष्टि हो गयी, जैसे सूर्यका तेज भूतलपर सर्वत्र समभावसे पड़ता है। इस प्रकार समस्त विक्षेपोंका उपशमन होनेके कारण परम पदकी प्राप्तिसे उनका चित्त जब शान्त हो गया, उनकी जन्म-मरणरूपी फाँसी कट गयी और वे संशय तथा चञ्चलतासे रहित हो गये, तब वे शरत्कालीन आकाशके समान शान्त, सर्वव्यापक, तेजस्वी, प्रकाशमय, चित्त-रहित विशुद्धस्वरूप चिन्मय परमात्माको प्राप्त हो गये।

श्रीरामजीने पूछा—ऐश्वर्यशाली गुरो! आप आत्मज्ञान-रूपी दिनके लिये सूर्यस्वरूप हैं, अतः अब यह बतलाने-की कृपा करें कि सत्ता-सामान्यका क्या लक्षण है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघव! दृश्य वस्तु है ही नहीं—इस प्रकारकी दृढ़ भावनासे चित्त जब सर्वथा क्षीण हो जाता है, तब उस सामान्यस्वरूप चेतनकी सबमें सामान्यभावसे व्यापक स्वतःसिद्ध सत्तामात्र ही सत्ता-सामान्य अवस्था होती है। जब चैतन्य समस्त दृश्य पदार्थोंसे रहित हो-कर परमात्मामें विलीन हो जाता है, तब उसकी निराकार आकाशकी भाँति अत्यन्त निर्मल सत्ता-सामान्यता होती है। जब चैतन्य बाह्य एवं अभ्यन्तरसहित यह जो कुछ है, उन सबका अपलाप करके स्थित हो, उस समय उसकी सत्ता-सामान्य अवस्था समझनी चाहिये। जब साधक सम्पूर्ण दृश्यप्रपञ्चको अपने वास्तविक स्वरूपसे स्वप्रकाशात्मक सत्ता-सामान्यस्वरूप परमात्मा ही अनुभव करता है, तब उसकी सत्ता-सामान्यतावस्था जाननी चाहिये। यह परम दृष्टि तुर्यातीत पदके सदृश है, अतः यह सदेहमुक्त और विदेहमुक्त दोनोंके लिये सदा समान है। निष्पाप राम! यह दृष्टि ज्ञानसे प्रादुर्भूत होती है, अतः यह केवल तुर्यातीत ज्ञानी महापुरुषको समाधि-अवस्था एवं व्युत्थान-अवस्था—दोनोंमें होती है, किंतु अज्ञानीको कभी नहीं होती। यह सत्ता-सामान्य पदवी समस्त भयोंका विनाश करनेवाली है। इसका आश्रय लेकर उद्दालक मुनि दैवेच्छानुसार प्रारब्ध कर्मोंका क्षय होनेतक जगत्में स्थित रहे। वे पर्वतकी गुफामें पत्तोंके आसनपर नेत्रोंको आधा मूँदकर पद्मासनसे बैठे थे। उस समय वे महात्मा चित्रलिखित-से निश्चल होकर शरद्-ऋतुके निर्मल आकाशमें सम्पूर्ण कलाओंसे परिपूर्ण चन्द्रमाके समान विशुद्ध और सम हो गये। उनके सारे संकल्प-विकल्प जाते रहे। वे निर्विकार एवं समस्त पापों और विषय-भोगोंकी उपाधिसे रहित होनेके कारण अभिराम हो गये। उन्हें उस चिन्मय परम आनन्दकी प्राप्ति हुई, जहाँसे सारे सांसारिक सुख प्रादुर्भूत होते हैं तथा जिसकी समतामें इन्द्रका ऐश्वर्य भी समुद्रमें तिनकेके समान है। तदनन्तर वे विप्रवर उद्दालक, जो अनन्त आकाशोंमें व्याप्त रहनेवाली दिशाओंको भी व्याप्त करनेवाला, सदा समस्त वस्तुओंसे पूर्ण, भुवनोंका भरण-पोषण करनेवाला, बड़े भाग्यसे एवं उत्तम जनोंद्वारा सेवा करनेयोग्य, वाणीसे परे, अनन्त, सबका आदि और सत्यस्वरूप है, उस परम विज्ञानानन्दघन परमात्मामें तद्रूप हो गये। जो विवेकद्वारा स्फुरित हुए आनन्दरूपी विकसित पुष्पोंसे सुशोभित है, उद्दालककी वह चञ्चलतारहित पवित्र चित्तवृत्तिरूपिणी कल्पलता जिसके हृदय-काननमें उगकर विस्तारको प्राप्त हो जाती है, वह संसार-काननमें विहार करता हुआ भी सत्यस्वरूप परमात्माके आश्रयरूपा छायासे कभी वियुक्त नहीं होता, अपितु उसका सर्वोत्कृष्ट मोक्षफलसे सम्बन्ध जुड़ जाता है। इसलिये कल्याणकामी मनुष्यको उद्दालककी चित्तवृत्तिरूपा लताको हृदयमें रोपकर उसका विस्तार करना चाहिये।

रघुकुलभूषण राम ! संसारसे वैराग्य, जप-ध्यानके अभ्यास, सत्-शास्त्रोंके विचारपूर्वक अध्ययन, पवित्र और तीक्ष्ण बुद्धि, सद्गुरुके उपदेश और यम-नियमोंके पालनसे परमात्माकी प्राप्तिरूप विशुद्ध परमपदकी प्राप्ति होती है अथवा केवल विशुद्ध और तीक्ष्ण प्रज्ञासे ही परमपद मिल जाता है; क्योंकि जो बुद्धि सम्यक् प्रकारसे ज्ञानयुक्त, तीक्ष्ण और दोषरहित है, वह सम्पूर्ण साधनोंके बिना भी यथार्थ ज्ञानद्वारा जीवको अविनाशी परमपदकी प्राप्ति करा देती है ।

श्रीरामजीने पूछा—भूत और भविष्यके ज्ञाता भगवन् ! कोई ज्ञानी पुरुष व्यवहार करता हुआ भी समाधिस्थके सदृश विश्रामको प्राप्त हुआ रहता है और कोई एकान्तका आश्रय लेकर ध्यान-समाधिमें स्थित रहता है । इन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है ? यह मुझे बतलानेकी कृपा करें ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स राम ! जो इस सत्त्वादि गुणोंके समाहाररूप दृश्य जड संसारको अनात्मरूप (अनित्य और मिथ्या) देखता है, उस पुरुषकी जो यह परम शान्तिस्वरूप अन्तःशीतलता है, वही समाधि कहलाती है । मनके रहनेपर दृश्य पदार्थोंके साथ सम्बन्ध होता है – ऐसा निश्चय करके जो मनसे रहित होकर परम शान्तिको प्राप्त हो चुका है, ऐसा कोई पुरुष तो व्यवहारमें लगा रहता है और कोई ध्यान-समाधिमें तल्लीन हो जाता है । यदि उनके अन्तःकरणमें परम शान्तिरूप शीतलता है तो वे दोनों ही सुखी हैं; क्योंकि जो अन्तःकरणकी शीतलता है, वह अनन्त साधनरूप तपस्याओंका फल है । इसलिये जो ज्ञानी व्यवहारपरायण है और जिसने ज्ञान प्राप्त करके वनका आश्रय ले लिया है, वे दोनों ही सर्वथा समान हैं; क्योंकि उन दोनोंको ही सम्पूर्ण सदेहोंसे रहित परम पदकी प्राप्ति हो गयी है । रघुनन्दन ! चित्तमें जो कर्तापनका अभाव है, वह उत्तम समाधान है और वही मङ्गलमय परमानन्द-पद है । उसीको तुम केवल चिन्मयभाव समझो । जो मन वासनाओंसे रहित हो गया है, वह स्थिर कहा गया है, वही ध्यान-समाधि है, वही केवल चिन्मयभाव है और वही अविनाशी परम शान्ति है । जिसके मनकी वासनाएँ क्षीण हो चुकी हैं, वह पुरुष सर्वोत्कृष्ट परमपदकी प्राप्तिके योग्य कहा जाता है; क्योंकि वासनाशून्य मनवाला पुरुष कर्तापनसे रहित हो जाता है, अतः उसे परमपदकी प्राप्ति होती है । जिस साधनसे मनुष्यकी जगद्विषयिणी आस्था पूर्णतया शान्त हो जाती है और उसका अन्तःकरण शोक, भय और एषणाओंसे रहित हो जाता है तथा आत्मा अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थित हो जाता है, उस साधनको समाधि कहते हैं । जिन गृहस्थोंके चित्त अच्छी प्रकार समाहित हो चुके हैं तथा जिनके अहंकार आदि दोष शान्त हो गये हैं, उनके लिये घर ही निर्जन वनस्थलियोंके समान है । समाहित मन और बुद्धिवाले तुम्हारे-जैसे प्राणियोंके लिये इस जगत्में घर और वन एक-से हैं । राजकुमार राम ! जिसका चित्त अहंता, ममता, रागादि दोषरूप महामेघसे रहित होकर शान्त हो चुका है, उसके लिये जनसमूहोंसे व्याप्त नगर भी सुनसान अरण्य-जैसे लगते हैं; परंतु शत्रु-वीरोंका संहार करनेवाले रघुनन्दन ! जिसका चित्त अहंता, ममता, राग आदि वृत्तियोंसे युक्त होनेके कारण उन्मत्त बना रहता है, उसके लिये निर्जन वन भी प्रचुर जनोंसे परिपूर्ण नगर-जैसे ही हैं ।

जो मनुष्य समाधि-कालमें परमात्माको सम्पूर्ण भावों और पदार्थोंसे अतीत तथा व्यवहारकालमें सम्पूर्ण भावोंको परमात्माका स्वरूप समझता है, वह समाहित कहा जाता है । जिसका मन सदा अन्तर्मुख बना रहता है, वह सोते, जागते और चलते हुए भी ग्राम, नगर और देशको जंगल-जैसा ही समझता है । यद्यपि यह सारा जगत् प्राणियोंसे परिपूर्ण है, तथापि नित्य अन्तर्मुखी स्थितिवाले पुरुषके लिये सर्वथा अनुपयोगी होनेके कारण यह आकाशकी तरह शून्य हो जाता है । जिन पुरुषोंके

अन्तःकरणमें परम शान्ति प्राप्त हो जाती है, उनके लिये सारा जगत् सदा शान्तिमय हो जाता है; परंतु जिनका अन्तःकरण तृष्णाकी ज्वालासे संतप्त होता रहता है, उनके लिये जगत् दावाग्निसे दग्ध होता हुआ-सा प्रतीत होता है; क्योंकि समस्त प्राणियोंके भीतर जैसा भाव होता है, वैसा ही बाहर अनुभव होता है। जो बाहर कर्मेन्द्रियोंद्वारा क्रियाओंका सम्पादन करता हुआ भीतर केवल आत्मामें ही रत रहता है और हर्ष-शोकके वशीभूत नहीं होता, वह समाहित कहा जाता है। जो शान्तबुद्धि पुरुष सर्वव्यापक आत्माका साक्षात्कार करते हुए न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी चिन्ता ही करता है, वह समाहित कहलाता है। जो आकाशकी तरह निर्मल है, शास्त्र और शिष्टाचारके अनुकूल बाह्य चेष्टाओंका सम्यक् प्रकारसे आचरण करता है और हर्ष, अमर्ष आदि विकारोंमें काष्ठ और मिट्टीके ढेलेके समान विकाररहित एवं शान्तस्वभाववाला है तथा जो भयसे नहीं, बल्कि स्वाभाविक ही समस्त प्राणियोंको अपने आत्माके तुल्य और पराये धनको मिट्टीके ढेलेके सदृश देखता है, वही यथार्थ देखता है। जो इस प्रकारके आशयसे सम्पन्न होकर सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप परमपदको प्राप्त हो गया है, उसके ऐश्वर्य आदि पदार्थ चाहे पूर्ववत् स्थित रहें, चाहे अभ्युदयको प्राप्त हों, चाहे नष्ट हो जायँ, चाहे उसके बन्धु-बान्धव मृत्युको प्राप्त हो जायँ, चाहे वह उत्तमोत्तम भोग-सामग्रियोंसे परिपूर्ण तथा कुटुम्बी जनोंसे भरपूर घरमें रहे, अथवा सभी प्रकारके भोगोंसे शून्य विशाल वनमें रहे, चाहे उसके शरीरपर चन्दन, अगुरु और कपूरका अनुलेप किया जाय अथवा वह बड़ी-बड़ी ज्वालाओंसे व्याप्त अग्निमें गिरे, चाहे उसकी आज ही मृत्यु हो जाय अथवा अनेक कल्पोंके बाद हो, वह न तो स्वयं कुछ बनता है और न उस महात्माने कुछ किया ही। अर्थात् वह सभी स्थितियोंमें विकार-रहित समभावसे स्थित रहता है। अहंकार और वासनारूपी अनर्थोंके उत्पन्न होनेसे सविदात्मा पुरुषके जीवनमें नाना प्रकारके सुख-दुःख आते-जाते रहते हैं; परंतु उस अहंताके पूर्णतया शान्त हो जानेपर चित्तमें ऐसी समता प्राप्त हो जाती है, जैसे रज्जुमें सर्पभ्रान्तिके नष्ट हो जानेपर 'यह सर्प नहीं है' इस ज्ञानसे निर्भयता और प्रसन्नता होती है। ज्ञानी जो कार्य करता है, जो खाता है, जो दान देता है, जो हवन आदि करता है—उन सब कर्मोंको करता हुआ भी वह कुछ नहीं करता एवं न उनमें रत ही रहता है; क्योंकि वह अहंता-ममतासे रहित हो जाता है, इसलिये उसका कर्म करना अथवा न करना एक-सा है। उसका न तो कर्मोंके करनेसे कोई प्रयोजन है और न कर्मोंके न करनेसे ही कोई मतलब है; क्योंकि वह तो यथार्थ ज्ञानके प्रभावसे स्वाभाविक ही परमात्मामें स्थित है। अतः उसके मनमें कामनाओंकी उत्पत्ति उसी प्रकार रुक जाती है, जैसे पत्थरसे मञ्जरियाँ नहीं निकलतीं। (सर्ग ५४—५७)

किरातराज सुरघुका वृत्तान्त—महर्षि माण्डव्यका सुरघुके महलमें पधारना और उपदेश देकर अपने आश्रमको लौट जाना, सुरघुके आत्मविषयक चिन्तनका वर्णन तथा उसे परमपदकी प्राप्ति

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव! इस विषयमें एक प्राचीन इतिहासका दृष्टान्त दिया जाता है, जो किरात-राज सुरघुका परम विस्मयजनक वृत्तान्त है। पूर्वकालमें हिमालयके शिखरभूत कैलासके मूल देशमें हंसजट नामक किरात निवास करते थे। उनका जो राजा था, उसका नाम सुरघु था। वह उदारचेता एवं शत्रु-नगरीपर विजय पानेवाला था। विजयलक्ष्मी तो मानो उसकी भुजा ही थी। वह बलवान् तथा प्रजापालनमें दक्ष था। पराक्रममें

तो वह सूर्यतुल्य और बलमें साक्षात् मूर्तिमान् वायुके समान था। उसने नाना प्रकारके राज्यवैभवों तथा विविध धन-सम्पत्तियोंसे गुह्यकाधिपति कुबेरको, ज्ञानसे इन्द्रगुरु बृहस्पतिको और काव्यगुणोंसे असुर-गुरु शुक्राचार्यको जीत लिया था। वह यथावसर प्राप्त हुए राजकार्योंको निग्रह-अनुग्रहकी व्यवस्थासे उत्साहपूर्वक करता था। तदनन्तर उन राजकार्योंसे उत्पन्न हुए सुख-दुःखोंसे उसकी पारमार्थिक गति उसी प्रकार अभिभूत हो गयी, जैसे जालमें फँसे हुए पक्षीकी गति रुक जाती है। तब वह यों विचार करने लगा—'मैं इन दुखी प्रजाजनोंको कोल्हूमें पेरे जाते हुए तिलोंकी भाँति क्यों बलपूर्वक पीड़ित करता हूँ? मेरे समान ही इन सभी प्राणियोंको भी तो दुःख होता होगा। अतः अब मेरा इन्हें और अधिक दण्ड देना व्यर्थ है। मैं इन्हें धन-सम्पत्ति प्रदान करूँगा; क्योंकि मेरी तरह सभी लोग धनसे आनन्दित होते हैं। अथवा निग्रहका अवसर प्राप्त होनेपर उसे भी करूँगा; क्योंकि निग्रहके बिना प्रजा अपनी मर्यादामें स्थित नहीं रहती। यह मेरे लिये दण्डनीय है। यह सदा मेरे अनुग्रहका पात्र है। सौभाग्यकी बात है कि आज मैं सुखी हूँ और दुर्भाग्यवश आज मैं दुखी हूँ। यह सब अन्तमें कष्ट-ही-कष्ट है।' पृथ्वीपति सुरघुका मन इस प्रकारके सङ्कल्प-विकल्पोंसे चञ्चल हो गया, जिससे उसे कहीं विश्राम नहीं मिला—जैसे चिरकालकी तृषासे युक्त मन जलके बड़े-बड़े आवर्तोंपर घूमते रहनेपर भी जलके बिना कहीं शान्ति नहीं पाता।

तदनन्तर किसी समय महर्षि माण्डव्य सम्पूर्ण दिशाओंमें भ्रमण करते हुए राजा सुरघुके घर पधारे—ठीक उसी तरह, जैसे देवर्षि नारद इन्द्र-भवनमें पदार्पण करते हैं। वे मुनिराज सम्पूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता थे, अतएव सन्देहरूपी दुष्ट वृक्षस्तम्भका छेदन करनेके लिये कुठारस्वरूप थे। राजाने उनका पूजन किया और यों पूछा—

सुरघुने कहा—मुने! जैसे लक्ष्मीपति भगवान् विष्णुका दर्शन करके भक्त परम प्रसन्न होता है, उसी प्रकार आपके शुभागमनसे मुझे परम हर्ष प्राप्त हुआ है। भगवन्! आप तो सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता हैं और चिरकालसे परमपदमें विश्राम भी कर चुके हैं; अतः जैसे सूर्य अन्धकारका विनाश कर देते हैं, उसी प्रकार आप मेरे संशयका निवारण कीजिये; क्योंकि दुःखके स्वरूपको पूर्णतया जाननेवाले विज्ञजन संशयको ही महान् दुःख बतलाते हैं। भला, महापुरुषोंके सङ्गसे किसके दुःखका विनाश नहीं होता अर्थात् सभीके दुःख नष्ट हो जाते हैं। प्रभो! अपने प्रजाजनोंपर मेरे द्वारा किये गये निग्रह और अनुग्रहसे उत्पन्न हुई चिन्ताएँ मुझे उसी प्रकार उत्पीड़ित कर रही हैं, जैसे सिंहके नख हाथीको कष्टमें डाल देते हैं। अतः मुने! जिस प्रकार मेरी बुद्धिमें सूर्यकी किरणोंके समान समताका उदय हो और विषमता न आने पाये, कृपापूर्वक वैसा ही प्रयत्न कीजिये।

महर्षि माण्डव्य बोले—राजन्! जैसे सूर्यकी किरणोंके स्पर्शसे कुहरेका विनाश हो जाता है, उसी तरह वैराग्य, श्रवण-मनन-निदिध्यासनरूप अभ्यासादि निजी प्रयत्नसे तथा आत्मस्थितिरूप उपायसे मनकी यह कायरता पूर्णतया नष्ट हो जाती है। आत्मविषयक विवेक-विचार करनेसे ही मनके भीतरी संतापका शमन होता है—ठीक उसी तरह, जैसे शरदृतुके आगमनमात्रसे विशाल मेघमण्डल विलीन हो जाता है। इसलिये तुम मन ही-मन विचार करो—ये जो पुत्र, मित्र आदि अपने सम्बन्धी हैं तथा अपने शरीरमें रहनेवाली इन्द्रियाँ हैं, वे तत्त्वतः कौन हैं और कैसी हैं? मैं कौन हूँ? कैसा हूँ? यह दृश्य जगत् क्या है? प्राणियोंके जन्म-मरण कैसे होते हैं? यों हृदयमें विचार करनेसे तुम्हें परमोत्कृष्ट महत्ता प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार जब परमात्म-तत्त्वका यथार्थ अनुभव कर लेनेपर तुम संतुष्ट हो जाओगे, तब जैसे संतान संतुष्ट हुए पिताकी कृपाका पात्र होती है, उसी तरह वे सभी सम्पत्तिशाली राजा-महाराजा तुम्हारे कृपापात्र हो जायँगे। सज्जनशिरोमणे! परमात्माकी प्राप्तिरूप महत्ताके प्राप्त कर लेनेपर तुम्हारा चित्त जागतिक विषय-भोगोंमें उसी प्रकार नहीं डूबेगा, जैसे गायके खुरके गड्ढेके जलमें हाथी नहीं डूबता। तुम्हारे अन्तःकरणमें केवल दृश्यका अवलम्बन करनेवाली वासनारूपा दीनता छायी हुई है, अपनी उसी दीनताके कारण तुम कीड़ेकी भाँति भोगोंमें पच रहे हो। जो सर्वात्मिका बुद्धिसे सब देशमें, सब कालमें, सभी प्रकारोंसे सम्पूर्ण दृश्य प्रपञ्चका परित्याग कर देना है, उसे सर्वरूप परमात्मा अपने-आप उपलब्ध हो जाते हैं; किंतु जबतक सम्पूर्ण दृश्योंका पूर्णतया त्याग नहीं हो जाता, तबतक परमात्मा-का साक्षात्कार होना दुर्लभ है; क्योंकि सभी अवस्थाओं-का परित्याग कर देनेपर जो शेष रहता है, वही परमात्मा कहा गया है। राजन्! अन्यान्य कार्योंका परित्याग करके आत्मा जिस विषयकी प्राप्तिके लिये स्वयं सब प्रकारसे यत्न करता है, उसीको पाता है; उससे भिन्न कुछ नहीं मिलता। इसलिये अपने आत्मा-का साक्षात्कार करनेके लिये सभी विषयोंका परित्याग कर देना चाहिये; क्योंकि सब कुछ त्याग देनेपर अन्तमें जो दृष्टिगोचर होता है, वही परमपद है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! महर्षि माण्डव्य राजा सुरघुको यों उपदेश देकर अपने उसी रुचिर आश्रमकी ओर चले गये, जहाँ मुनियोंका जमघट लगा रहता था। उन मुनिश्रेष्ठके चले जानेपर राजा सुरघु किसी दोषरहित एवं एकान्त स्थानमें जाकर अपनी बुद्धिसे यों विचार करने लगा—'वस्तुतः स्वयं मैं कौन हूँ? मैं मेरुपर्वत तो हूँ नहीं और न मेरुगिरि मेरा है। न तो मैं जगत् हूँ और न जगत् मेरा है। मैं पर्वत भी नहीं हूँ और न पर्वत मेरे हैं। मैं न पृथ्वी हूँ और न पृथ्वी मेरी है। यह किरात-मण्डल भी मेरा नहीं है और न मैं किरातमण्डल हूँ। केवल अपने संकेतसे ही यह देश मेरा कहा जाता है। लो, मैंने इस संकेतको छोड़ दिया, अतः न तो मैं देश हूँ और न यह देश मेरा है। इस नगरके विषयमें भी इस कल्पनात्यागसे यही निश्चय होता है कि यह पुरी जो पताकाओं और वनश्रेणियोंसे सुशोभित, भृत्यों और उपवनोंसे व्याप्त तथा हाथी, घोड़ों और सामन्तोंसे परिपूर्ण है, वह मैं नहीं हूँ और न यह पुरी मेरी है। जो मिथ्याभूत मान्यतासे सम्बन्ध रखनेवाला और उस मान्यताका विनाश होनेपर नष्ट हो जानेवाला है, ऐसा यह भोग-समुदाय और भार्या आदि कुटुम्ब भी मैं नहीं हूँ और न ये सब मेरे हैं। इसी प्रकार भृत्यों, सेनाओं, वाहनों एवं अन्यान्य नगरोंसे युक्त राज्य मैं नहीं हूँ और न राज्य मेरा है; क्योंकि यह मान्यता तो केवल कल्पित है। इस शरीरमें स्थित मांस और अस्थि भी मैं नहीं हूँ, क्योंकि ये जड़ हैं। कमलदलपर पड़े

हुए जलकी बूँदकी तरह उनका मेरे साथ सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार मास, रक्त और हड्डियाँ—ये सभी जड हैं; अतः मैं ये नहीं हूँ और न किसी दशामें ये मेरे हैं। कर्मेन्द्रियाँ भी मैं नहीं हूँ और न कर्मेन्द्रियाँ मेरी हैं। इस प्रकार इस देहमें यावन्मात्र जड पदार्थ हैं, वे मैं नहीं हूँ; क्योंकि मैं तो चेतन हूँ। मैं भोग नहीं हूँ और न भोग मेरे हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ भी मेरी नहीं हैं और न मैं ही ज्ञानेन्द्रियाँ हूँ; क्योंकि वे जड और असत्स्वरूपा हैं। जो संसाररूपी दोषका मूल कारण है, वह मन भी मैं नहीं हूँ; क्योंकि वह तो जड है। बुद्धि और अहकार भी मैं नहीं हूँ और न वे मेरे हैं; क्योंकि यह दृष्टि मनोमयी होनेके कारण जड है। यों चञ्चलस्वरूपवाले शरीरसे लेकर मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदितक जो स्थूल-सूक्ष्म भूतोंका समुदाय है, उनमेंसे मैं एक भी नहीं हूँ।

'अहो! महान् आश्चर्यकी बात है, मैं तो सम्पूर्ण विकल्पोंसे रहित विशुद्ध साक्षीस्वरूप चेतन आत्मा हूँ। जिसकी प्राप्तिके लिये मै चिरकालसे प्रयत्नशील था, उस आत्माकी उपलब्धि तो मुझे आज ही हुई है। जिस विशुद्ध आत्माका कहीं अन्त नहीं है, वह तत्पदवोध्य असीम आत्मा ही मैं हूँ। वह चेतन आत्मा निर्मल, विषय-दोषोंसे शून्य, सम्पूर्ण दिङ्मण्डलको परिपूर्ण करनेवाला, सर्वव्यापक, सूक्ष्म, उत्पत्ति-विनाश-रहित, समस्त आकारोंसे परे एव सर्वदा सर्वभावको प्राप्त है। जगत्की यह अनुभवात्मक कल्पना भी चेतना-शक्तिमयी ही है। यह जो सुख और दुःखकी दशाका ज्ञान होना है, वह तो मिथ्या अनुभवमात्र है तथा जो नाना प्रकारके आकारोंकी प्रतीति होती है, वह सब कुछ परम चेतन आत्मा ही है। जो समस्त जगत्में व्यापक है, वही चेतन मेरा आत्मा है और जो मेरी बुद्धिका साक्षी है, वही यह चेतन है। इसी चेतन-शक्तिकी कृपासे मन देहरूपी रथपर आरूढ होकर अनेकों सृष्टि-विलासोंमें जाता है, वहाँ दौड़-धूप करता और नाचता है। वस्तुतः तो ये मन-शरीर आदि वस्तुएँ कुछ भी नहीं हैं, क्योंकि इनके नष्ट हो जानेपर भी आत्माका कुछ नहीं बिगड़ता। चित्तरूपी नटने ही इस जगज्जालरूपी नाटकका विस्तार किया है। इसे केवल वही बुद्धि देखती है, जो दीप-शिखाके समान देदीप्यमान है। अत्यन्त खेदकी बात है कि निग्रह और अनुग्रहकी स्थितिमें मुझे देहविषयिणी चिन्ता व्यर्थ ही हुई; क्योंकि परमार्थतः देह कुछ भी नहीं है। अहो! अब तो मुझे विशेषरूपसे ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी है, जिससे मेरा असद्विचार नष्ट हो गया है। जिसे जानना आवश्यक था, उसे मैंने जान लिया और जो प्राप्त करने योग्य था, उसे पा लिया। अब लोकमें वे निग्रह और अनुग्रह कहाँ हैं, किस प्रकारके हैं, किसमें रहते हैं और उनका स्वरूप क्या है? इसी तरह हर्ष और अमर्षकी परम्परा भी कहाँ है? अर्थात् ये सभी व्यर्थ कल्पनामात्र ही हैं। अब मैं रागशून्य, विषयोंके संसर्ग-से रहित और सुषुप्ति आदि अवस्थाओंसे परे होकर उस विशुद्ध विज्ञानानन्दघन परमात्मामें, जो संसार-भ्रम और रागादिसे शून्य है, नित्य निवास करूँगा।'

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलभूषण राम! जैसे गाधिनन्दन विश्वामित्रने अपने तपोबलसे ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया था, उसी तरह हेमजट नामक किरातोंके राजा सुरघुने निश्चयात्मक ज्ञानके बलसे परमपद प्राप्त कर लिया। तभीसे राजा सुरघु चिन्ताज्वरसे मुक्त हो गया। वह सर्वदा निग्रह-अनुग्रहरूपी अपने राजोचित कार्योंमें उसी तरह अटल बना रहता था, जैसे जल-प्रवाहके सम्मुख पर्वत निष्कम्प बना रहता है। हर्ष, विषाद और ईर्ष्यासे रहित होकर प्रतिदिन यथावसर प्राप्त हुए कार्योंको न्यायपूर्वक करता हुआ राजा सुरघु अपनी उदार और गम्भीर आकृतिद्वारा समुद्रसे भी बढ़-कर सुशोभित होने लगा। उसकी वृत्ति अन्त करणको

शीतल करनेवाली, निश्चलताके कारण धीर और समदर्शनात्मक थी; उस वृत्तिसे वह परिपूर्ण समुद्र और चन्द्रमाकी भाँति शोभा पाने लगा। यह सारा जगत् केवल चेतन-तत्त्वकी कल्पना ही है—यों निश्चय करनेके कारण उसकी बुद्धि सांसारिक सुख-दुःखोंसे रहित हो गयी थी; अतः वह पूर्णरूपसे प्रकाशित हो रही थी। इसलिये प्रबुद्ध तथा चेतनमें विलीन हुआ वह राजा हर्षित होते, प्रफुल्लित होते, पूर्णरूपसे स्थित रहते, चलते, बैठते और सोते समय सदा समस्वरूप परब्रह्म परमात्मामें ही स्थित रहता था। उसका शरीर विकाररहित था तथा नेत्र कमलके समान सुन्दर थे। वह अनासक्तभावसे राज्य करते हुए सैकड़ों वर्षपर्यन्त इस भूमण्डलपर विद्यमान रहा। तत्पश्चात् उसने स्वयं ही इस पञ्चभूतात्मक शरीरका परित्याग कर दिया और परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जानेके कारण, जो सृष्टि और प्रलयके हेतु तथा ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं, उन परब्रह्म परमात्मामें प्रवेश कर गया—ठीक उसी तरह, जैसे नदियोंका जल परिपूर्ण समुद्रमें प्रवेश करता है। वह विशुद्ध एकरस स्वप्रकाश परमात्माको यथार्थरूपसे जान चुका

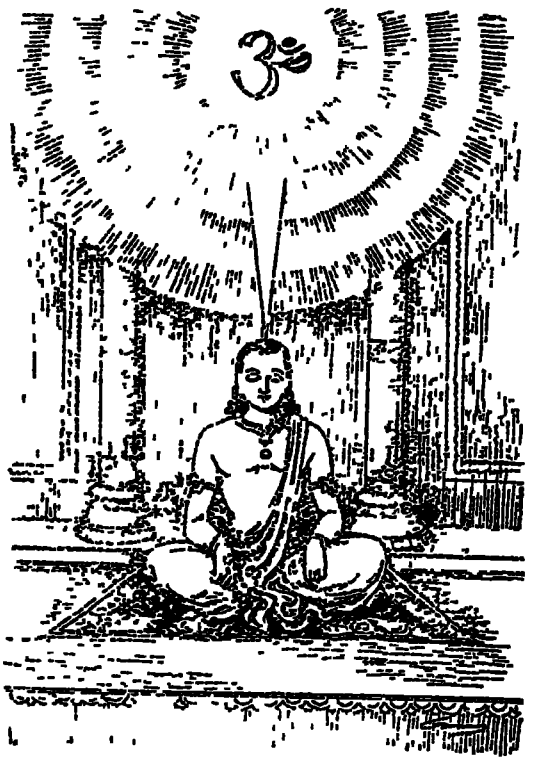

था और जन्म आदि विकारोंसे रहित अवस्थाको प्राप्त कर लेनेके कारण उसके समग्र शोक शान्त हो गये थे; इसलिये वह पूर्णरूप परब्रह्म परमात्मामें उसी प्रकार एकीभावको प्राप्त हो गया, जैसे घटके फूट जानेपर घटाकाश महाकाशमें मिल जाता है। (सर्ग ५८–६०)

किरातराज सुरघु और राजर्षि पर्णाद (परिघ) का संवाद

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जिस समय सुरघुको तत्त्वज्ञान हो चुका था, उसी समय अर्थात् उसके जीवनकालमें ही उसका और राजर्षि पर्णाद (परिघ) का परस्पर जो अद्भुत संवाद हुआ था, उसे सुनो। रघुकुलको आनन्दित करनेवाले राम ! जैसे रथपर रखा हुआ परिघ नामक अस्त्र विपक्षी वीरोंका संहार करनेमें प्रसिद्ध है, उसी तरह पारसीक देशका एक विख्यात राजा हो गया है, जो शत्रुवीरोंका संहार करनेवाला था। उसका नाम था परिघ। वह किरातराज सुरघुका परम मित्र था। किसी समय जैसे कल्पान्तके अवसरपर संसारमें वर्षाका अभाव हो जाता है, उसी तरह राजा परिघके राज्यमें महान् अवर्षण हुआ, जिसमें प्रजाजनोंका पापरूपी दोष ही कारण था। उस समय बहुत-सी जनता भूखसे गतप्राण होकर उसी प्रकार विनष्ट हो गयी, जैसे जंगलमें आग लग जानेपर झुंड-के-झुंड प्राणी जलकर भस्म हो जाते हैं। प्रजाके उस कष्टको देखकर राजा परिघको अपार विषाद हुआ। उसने प्रजाजनोंको विनाशसे बचानेके लिये अनेकों यत्न किये, किंतु वे सब निष्फल सिद्ध हुए। तब उसे राज्यसे वैराग्य हो गया। फिर तो जैसे राहगीर जले हुए गाँवको छोड़कर

चल देते हैं, उसी तरह उसने शीघ्र ही अपने सम्पूर्ण राज्यका परित्याग कर दिया और मृगचर्मधारी मुनियोंकी तरह तपस्या करनेके लिये जंगलकी राह ली । वह विरक्तात्मा परिध किसी दूरवर्ती काननमें, जो पुरवासियों-की जानकारीके बाहर था, जाकर इस प्रकार रहने लगा मानो किसी अन्य लोकमें चला गया हो । उसकी बुद्धि तो शान्त थी ही, उसने अपने मन-इन्द्रियोंका भी दमन कर लिया था; अतः वह वहाँ एक पर्वतकी कन्दरामें आसन लगाकर तपस्यामें निरत हो गया । उस समय स्वयं सूखकर गिरे हुए पत्ते ही उसके आहार थे । इस प्रकार चिरकालतक वह अग्निकी भाँति सूखे पत्तोंको ही भक्षण करता रहा, जिससे तपस्वियोंके मध्यमें वह 'पर्णाद' नामसे विख्यात हुआ । तभीसे वह परिध जम्बूद्वीपमें मुनियोंके आश्रमोंमें राजर्षिश्रेष्ठ पर्णादके नामसे प्रसिद्ध हो गया । तदनन्तर एक सहस्र वर्षोंकी घोर तपस्या और अभ्यासके द्वारा परमात्माकी कृपासे उसे आत्मज्ञानकी प्राप्ति हुई । साधुस्वभाव राम ! फिर तो उसकी बुद्धि प्रबुद्ध हो उठी । वह सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे परे हो गया । उसकी विषय-वासनाएँ नष्ट हो गयीं । उसका मन विक्षेपशून्य और शान्त हो गया तथा वह विषयोंकी आसक्तियों और आक्षेपोंसे रहित हो गया । इस प्रकार जीवन्मुक्त होकर वह तत्त्वज्ञानियों तथा तत्त्वजिज्ञासु मुनियोंके साथ स्वेच्छानुकूल त्रिलोकीमें विचरण करने लगा । यों पर्यटन करते हुए वह एक समय हेमजट देशके अधिपति राजा सुरघुके रत्ननिर्मित महलमें जा पहुँचा । वे दोनों पहलेके मित्र तो थे ही, साथ ही वे पूर्ण ज्ञानी थे । उन्हें ज्ञातव्य तत्त्वका ज्ञान प्राप्त हो चुका था तथा वे जीवन्मुक्त थे; अतः वे परस्पर एक-दूसरेका आदर-सत्कार करके यों कहने लगे—'अहो ! निश्चय ही आज मेरे कल्याणमय पावन सत्कर्मोंका फल उदय हुआ है, जिससे मुझे आपका दर्शन प्राप्त हुआ ।' उस समय उनके शरीर आनन्दसे परिपूर्ण हो गये थे, अतः वे परस्पर आलिङ्गन करके एक ही आसनपर विराजमान हुए ।

तब परिधने कहा—सखे ! तुम्हारे दर्शनसे आज मेरा चित्त परमानन्दसे परिपूर्ण हो गया है । सज्जन-शिरोमणे ! पहलेके वे संकोचहीन वार्तालाप, विविध लीलाएँ और विभिन्न चेष्टाएँ बारंबार मेरे स्मृति-पटलपर आ रही हैं, जिससे मुझे परम हर्ष हो रहा है । निष्पाप राजन् ! जैसे महर्षि माण्डव्यकी कृपासे तुम्हें तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हुई है, उसी तरह आराधनाद्वारा प्रसन्न हुए परमात्माके प्रसादसे मुझे भी यह ज्ञान प्राप्त हुआ है । मित्र ! अब तो तुम्हें कोई कष्ट नहीं है न ? तुम मेरुगिरिपर विश्राम करनेवाले भूमण्डलके अधिपतिकी तरह परम कारणरूप परब्रह्म परमात्मामें विश्रामको प्राप्त हो गये हो न ? परम कल्याणस्वरूप ! तुम्हारे चित्तमें आत्मारामताके कारण सदा प्रसन्नता छायी रहती है न ? परम सौभाग्यशाली नरेश ! तुम अत्यन्त

प्रसन्नता एवं गम्भीरतापूर्ण समदृष्टिसे जनताके कल्याणार्थ कर्तव्यकर्मोंको करते हो न ? तुम्हारे देशमें निवास करनेवाली जनता शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाओंसे रहित, धैर्य-सम्पन्न और धन-धान्यसे परिपूर्ण है न ? उसे कोई चिन्ता तो नहीं सताती ? क्या उत्तम फल प्रदान करनेवाली एवं अनेकविध फलोंके भारसे नम्र हुई कल्पलताकी भाँति तुम्हारे राज्यकी भूमि प्रजाजनोंका उनके अभिलषित पदार्थोंकी पूर्तिद्वारा सदा-सर्वदा पोषण करती है ? जैसे चन्द्रमाके किरणजाल सारे भूमण्डलको व्याप्त कर लेते हैं, उसी तरह तुम्हारा पावन यश, जो तुषार-राशिके सदृश निर्मल है, सारी दिशाओंमें फैला हुआ है न ? जैसे सगेवरका जल अपने अंदर रहनेवाले कमल-नालोंकी भूमिको पूर्ण कर देता है, वैसे ही तुमने अपने गुण-गणोंसे सारी दिशाओंको भर दिया है न ? क्या गाँव-गाँवमें धानकी क्यारियोंके कोनोंमें बैठी हुई हर्षित चित्तवाली कुमारियाँ तुम्हारे आनन्दवर्धक यशका गान करती हैं ? तुम्हारे धन-धान्य, ऐश्वर्य, भृत्यवर्ग, पुत्र-कलत्र और नगर आदि सबकी कुशल तो है न ? तुम्हारी यह शरीररूपी लता शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाओंसे रहित होकर उस पुण्य नामक फलको उत्पन्न करती है न, जिसकी इहलोक तथा परलोक—दोनोंके लिये शास्त्र आज्ञा देते हैं ? जो तत्त्वज्ञानमें प्रतिबन्धक होनेके कारण महान् शत्रु-तुल्य हैं तथा सर्पके समान विषवत् फल प्रदान करनेवाले हैं, ऐसे इन आपात-रमणीय विषयभोगोंसे तुम्हारा मन विरक्त तो है न ? अहो ! हम दोनोंको वियुक्त हुए बहुत-सा काल व्यतीत हो गया, परंतु कालकी प्रेरणासे आज हम पुनः मिल गये । सखे ! जगत्में संयोग-वियोग-जनित सुख-दुःखकी ऐसी कोई अवस्थाएँ हैं ही नहीं, जिनका प्राणियोंको अनुभव न होता हो । इसी नियमके अनुसार हमलोग भी दीर्घ-कालिक सुख-दुःखकी दशाओंके फेरमें पड़ गये थे, परंतु अब पुनः आ मिले हैं । अहो ! भगवान्का कैसा अद्भुत विधान है !

सुरघु बोला—भगवन् ! भगवद्विधानरूप इस नियतिकी गति सर्पकी चालकी तरह बड़ी टेढ़ी है । वह गम्भीर एवं विस्मयजनक है । भला, उसे कौन जान सकता है । उसने ही आपको और मुझे चिरकाल-तक दूर हटाकर आज पुनः मिला दिया है । अहो ! उस नियतिके लिये क्या असाध्य है ? अर्थात् कुछ नहीं । महात्मन् ! आज आपके शुभागमन-जनित पुण्यके संस्पर्शसे हम सब तरहसे कल्याणके भागी और परम पावन हो गये । राजर्षे ! इस नगरमें हमारी जो सम्पत्तियाँ वर्तमान हैं, वे सभी आज आपके शुभागमनसे सैकड़ों रूपोंमें वृद्धिको प्राप्त हो गयी हैं । महानुभाव ! आपके पुण्यवचन और दर्शन चारो ओरसे मानो राशि-राशि अमृतरूप मधुर रसायनोंकी वर्षा कर रहे हैं; क्योंकि सत्पुरुषोंका समागम परमपदकी प्राप्तिके समान होता है ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव ! प्रायः ऐसे ही प्राचीन स्नेहसे ओतप्रोत एवं संकोचहीन वार्तालाप करते हुए राजा परिघ सुरघुके राजसदनमें चिरकालतक स्थित रहे । तदनन्तर उन्होंने सुरघुसे पूछा—'राजन् ! जो समग्र संकल्पोंसे शून्य, विश्रामका परमोत्तम स्थान तथा विक्षेपात्मक दुःखोंकी शान्तिका परम साधन है, उस कल्याणकारिणी समाधिका अनुष्ठान तो तुम करते हो न ?

सुरघुने कहा—प्रभो ! आप मुझसे 'सम्पूर्ण संकल्पों-से रहित परम शान्ति ही कल्याणप्रद है' ऐसा तो कहिये, परंतु समाधिके लिये क्यों कहते हैं ? क्योंकि महात्मन् ! जो तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुष है, वह चाहे समाधिस्थ रहे चाहे व्यवहार करे, उसका तो स्वरूप ही सदा समाधिस्थ-सा हो जाता है । वह कभी असमाहित चित्तवाला हो ही नहीं सकता । जिनका चित्त प्रबुद्ध हो गया है, ऐसे तत्त्वज्ञानी महात्माओंकी आत्मारूपी अद्वितीय तत्त्वमें परम निष्ठा हो जाती है, इसलिये वे सांसारिक व्यवहारोंको करते हुए भी सदा-

सर्वदा समाधिसम्पन्न ही बने रहते हैं। परन्तु जिसका अन्त:करण चञ्चल होनेके कारण विश्रामको नहीं प्राप्त हुआ है, वह चाहे पद्मासन बाँधे चाहे परब्रह्मको अञ्जलि समर्पित करे, उसकी कोई समाधि कैसे लग सकती है। भगवन्! मौन होकर बैठे रहना ही समाधि थोड़े ही है। समाधि तो परमात्मतत्त्वके उस यथार्थ ज्ञानको कहते हैं, जो सम्पूर्ण आशारूपी घास-फूसको भस्म करनेके लिये अग्निस्वरूप है। साधो! परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानीजन उस तीक्ष्ण और अचल परा प्रज्ञाको ही समाधि कहते हैं, जो एकाग्र, सदा-सर्वदा तृप्त और सत्य अर्थको ग्रहण करनेवाली है। एवं जो प्रज्ञा क्षोभरहित, अहंकारशून्य, सुख-दु:ख आदि द्वन्द्वोंसे पृथक् रहनेवाली तथा मेरुसे भी बढ़कर स्थिरतायुक्त है, उसे समाधि कहते हैं। जो मन:स्थिति चिन्ताशून्य, अभीष्ट पदार्थोंको प्राप्त करनेवाली, ग्रहणोपादानसे रहित तथा सच्चिदानन्द परमात्मभावसे परिपूर्ण है, उसके लिये समाधि-शब्दका व्यवहार किया जाता है। जब मन तत्त्वज्ञानके साथ सदाके लिये अत्यन्त सम्बद्ध हो जाता है, तबसे ज्ञानी महात्माकी समाधि सदा बनी रहती है, उसका कभी विच्छेद नहीं होता। जैसे सूर्य दिनभर प्रकाशसे विश्राम नहीं लेता, अपितु प्रकाश-पूर्ण ही रहता है, उसी तरह तत्त्वज्ञानीकी प्रज्ञा जीवन-पर्यन्त परमात्म-तत्त्वके यथार्थ अवलोकनसे विश्राम नहीं लेती, अपितु सदा-सर्वदा परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे परिपूर्ण रहती है। जैसे नदी निरन्तर बेरोक-टोक जलकी धारा बहाती रहती है, उसी तरह महात्माकी विज्ञानमयी दृष्टि क्षणमात्रके लिये भी परमात्माके स्वरूपज्ञानसे विरत नहीं होती, अपितु सदा-सर्वदा एकरस बनी रहती है। जैसे काल अपने क्षण आदि कलाओंकी गतिको कभी नहीं भूलता, उसी तरह तत्त्वज्ञानी पुरुषकी बुद्धि अपने आत्मस्वरूपका कभी विस्मरण नहीं करती। तथा जैसे सर्वत्र गमन करनेवाले वायुदेवको सदा अपनी गतिका ध्यान बना रहता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानीकी बुद्धि निश्चय करने योग्य विज्ञानानन्दघन परमात्माका सतत चिन्तन करती रहती है। जैसे जिस पदार्थकी सत्ताका विनाश हो जाता है, उसकी पुन: उपलब्धि नहीं होती, उसी तरह तत्त्वज्ञानीका समय परमात्माके ज्ञानसे विहीन होकर कभी उपलब्ध नहीं होता। अर्थात् वह सदा परमात्माके ध्यानमें ही रचा-पचा रहता है। जैसे संसारमें गुणवानोंका गुणहीन होना असम्भव है, उसी तरह आत्मज्ञानी महात्मा कभी भी परमात्माके ज्ञानसे विहीन नहीं रह सकता। मैं सदा-सर्वदा ही परमात्मज्ञानसे सम्पन्न, परमशुद्धस्वरूप, शान्तात्मा और समाहितचित्त हूँ; ऐसी दशामें मेरा समाधिसे विच्छेद किसके द्वारा और कैसे हो सकता है। क्योंकि मेरी समाधि परमात्माके स्वरूपसे भिन्न नहीं है, अत: उस परमात्मस्वरूप समाधि-का अस्तित्व नित्य ही बना हुआ है। जब यह जो कुछ दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सारा-का सारा सदा सब प्रकारसे सर्वव्यापक परमात्मस्वरूप ही है, तब किसे समाधि कहा जाय और किसे असमाधि?

तब परिघने कहा—राजन्! निश्चय ही तुम्हें परमात्माके यथार्थ रूपका ज्ञान प्राप्त हो गया है और उस सच्चिदानन्दघन परब्रह्मरूप परमपदकी प्राप्ति भी हो चुकी है। इसीलिये तुम्हारा अन्त:करण परमशान्तिरूप शीतलता-से युक्त हो गया है, जिससे तुम पूर्ण चन्द्रमाके समान सुशोभित हो रहे हो। महाराज! इस समय स्नेहके कारण अत्यन्त मधुर, शीतल, आनन्दरूपी पुष्परससे परिपूर्ण एवं उत्तम श्रीसे सम्पन्न होनेके कारण तुम्हारी शोभा कमल-जैसी हो रही है। तुम्हारा चित्त निर्मल, विस्तृत, परिपूर्ण, गम्भीर और विशद आशयवाला है; इससे तुम्हारी वैसी ही शोभा हो रही है, जैसी तटवर्ती झंझावातसे मुक्त हुए शान्त समुद्रकी होती है। जैसी शोभा शरत्कालीन निर्मल आकाश धारण करता है, वैसे ही तुम भी स्वच्छ, आनन्दसे परिपूर्ण, अहंकाररूपी

बादलोंसे रहित, स्पष्ट, विस्तीर्ण और अत्यन्त गम्भीर होनेके कारण शोभित हो रहे हो। राजन्! तुम सर्वत्र अपने स्वरूपमें समभावसे स्थित दीख पड़ते हो, सर्वत्र पूर्णतया संतुष्ट हो और किसी विषयमें तुम्हारी आसक्ति नहीं रह गयी है; इसलिये सर्वत्र तुम्हारी शोभा हो रही है। तुम अपनी उत्तम बुद्धिसे सार-असारका निर्णय करके उसके झमेलेसे पार हो गये हो तथा तुम्हें इसका भी ज्ञान हो चुका है कि यह जो कुछ दृश्य-प्रपञ्च है, वह सारा-का-सारा अखण्ड परब्रह्म परमात्मा ही है।

सुरघु बोला—मुने! संसारमें ऐसी कोई वस्तु ही नहीं है, जिससे ग्रहण करनेके लिये हमारे मनमें अभिलाषा हो; क्योंकि यह जितना दृश्य-प्रपञ्च है, यह सभी कुछ नहीं है अर्थात् मिथ्या है। त्रिलोकीमें जो ये स्त्रियाँ, पर्वत, समुद्र, वनश्रेणियाँ आदि पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं, ये सभी वास्तविकतासे शून्य है; क्योंकि वास्तवमें इस जगत्‌में कोई सारभूत वस्तु है ही नहीं। इस मांस और अस्थिमय शरीरमें तथा काष्ठ, मिट्टी और शिलामय जगत्‌में जो जर्जर, अवाञ्छनीय और अभावस्वरूप है, किस वस्तुकी इच्छा की जाय? अर्थात् इनमें कुछ भी वाञ्छनीय नहीं है। इस विषयमें अब विशेष कुछ कहना आवश्यक नहीं दीख पड़ता; क्योंकि यदि मन रागरूप रससे रहित तथा समभावमें नित्य स्थित एवं आत्मस्वरूप ही परितृप्त है तो वही सर्वोत्तम स्थिति है। अतः परमानन्दकी प्राप्तिके लिये केवल इसी दृष्टिका सदा-सर्वदा आश्रय ग्रहण करना उचित है।

(सर्ग ६१—६३)

आत्माका संसार-दुःखसे उद्धार करनेके उपायोंका कथन तथा भास और विलास नामक तपस्वियोंके वृत्तान्तका आरम्भ

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! यों तत्त्वज्ञ सुरघु और राजर्षि पर्णाद (परिघ) दोनो जगद्भ्रमका विचार करके परम प्रसन्न हुए। उन्होने एक-दूसरेका आदर-सत्कार किया और फिर वे अपने-अपने कार्यमें तत्पर होकर अभीष्ट स्थानको चले गये। ज्ञानी महापुरुषोंके साथ विचार-विमर्श करनेके कारण अत्यन्त तीव्र हुई उत्तम बुद्धिद्वारा जिसके हृदयाकाशमें अहंकाररूपी काले मेघोंका सर्वथा अभाव हो गया है, शरत्कालीन निर्मल आकाशकी तरह जिसका विस्तृत चित्त समस्त लोगोंद्वारा अनुमोदित, फलात्मक बोधसे युक्त, आह्लादजनक एवं रागादि मलोंसे रहित हो गया है, जो ध्यान करने एवं शरण लेनेयोग्य, सुगम, सम्पूर्ण आनन्दोंकी निधि, अत्यन्त प्रसन्न विज्ञानानन्दघन परमात्मामें स्थित रहता है और जो नित्य परमात्माके विचारमें निरत, सदा अन्तर्मुखी वृत्तिसे युक्त, सुखी तथा नित्य चिन्मय परमात्माका अनुसंधान करनेवाला है, उसे मानसिक शोक कभी बाधा नहीं पहुँचा सकते। जो परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे सम्पन्न, शुद्ध, भीतरसे परमशान्तियुक्त एवं मननशील महात्मा है, उसे मन क्लेश नहीं दे सकता—ठीक उसी तरह, जैसे हाथी सिंहको बाधा नहीं पहुँचा सकता। ज्ञानीका अन्तःकरण तो अत्यन्त विशाल होता है; क्योंकि वह केवल विषय-भोगोंकी शरण लेनेवाला और दीन नहीं होता। ज्यों ही 'अविद्या असत् है' यों अविद्याके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हुआ, त्यों ही उसका सदा-सर्वदाके लिये अभाव हो जाता है—जैसे स्वप्नका ज्ञान हो जानेपर स्वप्नदृष्ट भोग-भूमिका सर्वथा विनाश हो जाता है। जिसकी बुद्धि विषयोंकी आसक्तिसे रहित और केवल विज्ञानानन्दघन परमात्मामें नित्य स्थित है, उस श्रेष्ठ महापुरुषको व्यवहारपरायण रहनेपर भी पाप स्पर्श नहीं कर सकता। जब चेतन परमात्माके देदीप्यमान प्रकाशका उदय होता है, तब अज्ञानरूपी रात्रि विनष्ट हो जाती है और ज्ञानीकी परमानन्दको प्राप्त हुई बुद्धि प्रकाशित हो उठती है।

सत्-शास्त्रज्ञानरूपी सूर्यद्वारा प्रबोधित मनुष्यकी अज्ञान-निद्राका जब सर्वथा विनाश हो जाता है, तब उसे परमात्मविषयक उस यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति होती है, जिसे पा लेनेपर फिर कभी मोह नहीं होता। उन्हीं दिनोंका जीवन वास्तवमें सफल है और वे ही क्रियाएँ सच्चे आनन्दसे युक्त हैं, जिन दिनों और जिन क्रियाओंमें हृदयाकाश-में परमात्मारूपी चन्द्रमाके उदय होनेसे चेतनारूपिणी चाँदनी खिल रही हो। मोहका अतिक्रमण कर लेनेवाला मनुष्य निरन्तर आत्मचिन्तनके प्रभावसे अपने अन्तःकरणमें उसी प्रकार शीतलताको प्राप्त कर लेता है, जैसे चन्द्रमा अपने अंदर वर्तमान अमृतसे सदा शीतल बना रहता है। वे ही मित्र सच्चे मित्र हैं, वे ही शास्त्र सत्-शास्त्र हैं और वे ही दिन शुभ दिन हैं, जिनके सहयोगसे वैराग्य-रूपी उल्लाससे युक्त परमात्मविषयक चित्तका अभ्युदय स्पष्टरूपसे सिद्ध होता है। जिनके पाप क्षीण नहीं हुए हैं और जो परमात्माकी प्राप्तिकी उपेक्षा करते हैं, वे जन्मरूपी जंगलके गुल्म हैं, दीन हैं और उन्हें चिरकाल-तक दुःखोंके लिये शोक करना पड़ता है।

श्रीराम! जीवात्मा एक बैलके समान है। बुढ़ापेने इसके शरीरको जर्जरित कर दिया है, जिससे यह शोकजनित उच्छ्वाससे विडम्बित हो रहा है। यह आशारूपी सैकड़ों पाशोंसे जकड़ा हुआ है, फिर भी भोगरूपी घासके लिये इसके मनमें उत्कृष्ट लालसा भरी है। यह अपनी पीठपर दुःखका भारी बोझ लिये हुए जन्मरूपी जंगलमें भटक रहा है और सारे शरीरमें कुकर्मरूपी कीचड़ लपेटे हुए मोह-जलाशयमें लोट रहा है। रागकी दन्तपङ्क्तियाँ इसे चबाये डालती हैं और तृष्णारूपी नाथसे यह खींचा जा रहा है। मनरूपी वणिक्‌ने इसपर अधिकार जमा रखा है। यह बन्धु-ममतारूपी बन्धनमें बँधा होनेके कारण चलने-फिरनेमें असमर्थ हो गया है। पुत्र-कलत्रकी ममताजनित जीर्णतारूपी दलदलमें यह बुरी तरह फँस गया है। लंबे रास्तेपर चलनेके कारण इसका मन टूट गया है और विश्राम न मिलनेसे यह थक गया है, जिससे अब इसके चलने-फिरनेकी शक्ति क्षीण हो गयी है। संसाररूपी अरण्यमें चक्कर काट रहा है, फिर भी परम शान्तिरूप शीतल छाया इसे नसीब नहीं हुई; उल्टे यह विषय-संसर्गजनित तीव्र तापसे सतप्त हो उठा है। बाह्य इन्द्रियाँ इसे आक्रान्त किये हुए हैं, जिससे ऊपरसे तो इसका आकार सुन्दर है किंतु अन्तःकरण दीन हो गया है। इसके गलेमें लटकते हुए कर्मरूपी घंटेका शब्द हो रहा है। यह जन्म-मरणरूपी गाड़ीके बोझसे लदा हुआ अज्ञानके विकट वनमें लोट रहा है, ऊपरसे पापरूपी कोड़ोंकी मार पड़ रही है, जिससे इसका शरीर भग्न हो गया है। अनर्थोंमें ही सदा निमग्न रहनेसे दुखी, दीन और शिथिल अङ्गवाला यह कर्मोंके भारी भारसे पीड़ित होकर करुण-क्रन्दन कर रहा है। अतः चिरकालतक उत्तम यत्नका आश्रय लेकर परमात्मविषयक ज्ञानरूपी बलके सहारे इसका संसाररूपी जलाशयसे उद्धार करना चाहिये।

राघव! परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार होनेसे जब चित्त विनष्ट हो जाता है, तब जीवात्मा पुनः संसारमें कभी जन्म नहीं लेता; क्योंकि वह तो उसी समय संसार-सागरसे पार हो जाता है। श्रीराम! जैसे समुद्रको पार करनेके लिये नाविकसे जहाज प्राप्त होता है, उसी तरह ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके सङ्गसे संसार-सागरको लाँघ जानेकी युक्ति ज्ञात हो जाती है। इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि वह मरुस्थलकी भाँति जिस देशमें परम शान्तिरूपी शीतल छाया और मोक्षरूपी फलसे सम्पन्न तत्त्वज्ञ महापुरुषरूपी वृक्ष न हों, वहाँ निवास न करे। श्रीराम! कोमल और शान्तिप्रद वचन ही जिसके पत्ते हैं, सच्चरित्रता ही जिसकी छाया है, मुसकान ही जिसके पुष्प हैं—ऐसे महापुरुषरूपी चम्पाके वृक्षके नीचे जानेसे उनके सङ्गके प्रभावसे क्षणभरमें ही आत्यन्तिक विश्राम प्राप्त हो जाता है। मनुष्य स्वयं ही

अपना मित्र है। अत. उसे चाहिये कि वह सत्सङ्ग, तीव्र अभ्यास, वैराग्य, विवेक-विचार आदि उपायोंसे स्वयं ही अपना उद्धार कर ले; संसारकी आसक्ति, ममता, कामना और देहाभिमानके गर्वसे अपने-आपको जन्म-मरणरूपी कीचड़के महासागरमें न फँसाये। विवेकशील पुरुषोंको सत्सङ्ग, तीव्र अभ्यास और वैराग्य आदि प्रबल उपायोंद्वारा सदा यों विचार करते रहना चाहिये कि 'यह देह आदि दु.ख क्या है? कैसे आया है? इसका मूल कारण क्या है? और किस साधनसे इसका विनाश हो सकता है?' क्योंकि अज्ञानमें निमग्न हुए अपने आत्माका उद्धार करनेमें मनुष्योंका धन, मित्र, साधारण शास्त्र और बन्धु-बान्धव—कोई भी उपकारक नहीं होते। हाँ, सदा-सर्वदा साथ रहनेवाले विशुद्ध मनरूपी सुहृद्के साथ थोड़ा-सा भी परामर्श करनेसे आत्माका उद्धार हो जाता है। तीव्र वैराग्य और अभ्यासरूपी प्रयत्नोंके द्वारा विवेकपूर्वक किये गये आत्मविचारसे जिसकी उपलब्धि होती है, उस परमात्मतत्त्व-साक्षात्काररूपी पोतके आश्रयसे यह भवसागर पार किया जाता है। जिसके लिये लोग प्रतिदिन चिन्ता कर रहे हों और जो दुराशाओंद्वारा दग्ध हो रहा हो, उस अपने आत्माकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये; बल्कि आदरपूर्वक उसका उद्धार करना चाहिये। यह जीवात्मारूपी दंतार गजराज, जिसे बाँधनेके लिये अहंकार ही सुदृढ़ आलान है, तृष्णा ही लोहेकी साँकल है और मन ही जिसका मद है, जन्म-मरणके दलदलमें फँस गया है; अतः इसका उद्धार करना चाहिये।

जब मनुष्य विवेक-वैराग्यकी दृष्टिसे यों देखने लगता है कि यह देह काष्ठ और मिट्टीके ढेलेके समान है, तब उतनेसे ही उसे देवाधिदेव परमात्माका ज्ञान हो जाता है। पहले जब अहंकाररूपी मेघ नष्ट हो जाते हैं, तब यथार्थ आत्मज्ञानरूप सूर्य दिखायी पड़ता है। तदनन्तर उसके परिणामस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होती है। जैसे अन्धकारका पूर्णतया विनाश हो जानेपर प्रकाशका अनुभव स्वतः होने लगता है, उसी तरह अहंकारका समूल नाश हो जानेपर परमात्माका अपने-आप ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार अहंकारके विनष्ट हो जानेपर जो परम आनन्द और परम शान्तिमय अवस्था होती है, वह परिपूर्णावस्था है। पूर्ण समुद्रकी भाँति वह असीम होती है। न तो वह हमलोगोंके मन आदि इन्द्रियोंका विषय है, न उसकी किसी उपमानके साथ तुलना ही की जा सकती है और न वह विनाशशील विषयोंके पीछे ही दौड़ती है; अतः उसका तीव्र प्रयत्नसे निरन्तर सेवन करना चाहिये। श्रीराम! मन और अहंकारका विनाश हो जानेपर समस्त पदार्थोंके अंदर विद्यमान रहनेवाली जिस निरतिशयानन्दात्मक परमात्मस्वरूपास्थाका आविर्भाव होता है, वह स्वयं समाधिसिद्ध तथा वाणीके अगोचर है। उसका तो केवल हृदयमें ही अनुभव होता है। जैसे अनुभूतिके बिना खाँडकी मिठासका अनुभव नहीं होता, उसी तरह अनुभवके बिना परमात्माके स्वरूपका भी ज्ञान नहीं होता।

राजीवनयन राम! 'यह मेरा है, यह मैं हूँ' इस प्रकारके अभिमानको त्यागकर मनसे ही विवेकपूर्वक विचारद्वारा संकल्पात्मक मनका छेदन करके यदि परमात्माका साक्षात्कार न किया जाय तो चित्रलिखित सूर्यके सदृश मिथ्या होते हुए भी इस जगत्-दुःखका कभी नाश नहीं होता, प्रत्युत महासागरकी तरह विस्तारवाली एवं दुःखदायिनी संसाररूपी विपत्ति अनन्त हो जाती है। इस विषयमें सह्य पर्वतके शिखरपर रहनेवाले मास और विलास नामक दो मित्रोंके संवादरूपमें निम्नलिखित प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया जाता है। वह सह्य पर्वत नाना प्रकारके पुष्पोंसे आच्छादित तथा निर्मल जलसे पूर्ण बहुसंख्यक झरनोंसे सुशोभित है। उसके ऊपरी भागमें देवता निवास करते हैं, तलहटीमें मनुष्योंने अपना आवासस्थान बना रक्खा है और पृथ्वीके अंदरका हिस्सा नागोंसे भरा रहता है। उसकी कन्दराओंमें सिद्धोंका निवासस्थान है। भीतरी भागमें नाना प्रकारकी खानें हैं। उसके शिखरोंपर उगे हुए चन्दन-वृक्षोंपर सर्प लिपटे

रहते हैं और चोटियोपर सिंह दहाड़ते रहते हैं। उसी विन्ध्य पर्वतके उत्तर-तटवर्ती शिखरपर, जहाँ फलोंके भारसे झुके हुए वृक्ष सुशोभित हैं, महर्षि अत्रिका अत्यन्त शोभाशाली विशाल आश्रम है। वह आश्रम सिद्धोंके मनका अपहरण करनेवाला, ब्रह्मलोकके समान उत्कृष्ट, स्वर्ग-तुल्य रमणीय और शिवजीके नगर कैलासके समान शोभासम्पन्न है। उसी विशाल आश्रममें शुक्र और बृहस्पति नामके दो तपस्वी रहते थे, जो आकाशमार्गमें विचरण करनेवाले शुक्र और बृहस्पतिके समान शास्त्रोंके ज्ञाता थे। कुछ समय बाद एक ही स्थानमें रहनेवाले उन दोनों तपस्वियोके पवित्र शरीरवाले दो पुत्र उत्पन्न हुए, जिनके नाम थे—विलास और भास। वे दोनों बालक उस आश्रममें पिताओंद्वारा लगाये हुए लता-वृक्षोंके लंबे-लंबे पल्लवोंकी तरह क्रमशः बढ़ने लगे। वे दोनों मित्र थे। उनके मनमें एक-दूसरेके प्रति अत्यन्त स्नेह था, जिससे वे परस्पर प्रेम रखते थे और एक-दूसरेसे मिल-जुलकर रहते थे। उन दोनोंका मन समान होनेके कारण ऐसा प्रतीत होता था मानो एक ही मनने दो भागोंमें विभक्त होकर दो शरीर धारण कर लिये हैं। इस तरह वहाँ रहते हुए उन दोनोंने थोड़े ही समयमें बचपनको लाँघकर युवावस्थामें प्रवेश किया। तदनन्तर जैसे दो पक्षी अपने-अपने घोंसलेसे उड़कर अन्यत्र चले जायँ, उसी तरह उनके वे दोनों पिता (शुक्र और बृहस्पति) बुढ़ापेसे दुखी हो शरीरका परित्याग करके स्वर्गको चले गये। पिताओंकी मृत्यु हो जानेपर उन दोनोंका मुख जलसे निकाले गये कमलकी तरह दीन हो गया, शरीर संतप्त हो गया और उत्साह जाता रहा। वे व्यथासे अभिभूत हो गये। तदनन्तर वे पिताओंकी और्ध्वदेहिक क्रिया सम्पन्न करके पितृशोकजनित करुणापूर्ण आर्त वाणीसे विलाप करने लगे।

(सर्ग ६४-६५)

भास और विलासकी परस्पर बातचीत और तत्त्वज्ञानद्वारा उन्हें मोक्षकी प्राप्ति; देह और आत्माका सम्बन्ध नहीं है तथा आसक्ति ही बन्धनका हेतु है—इसका निरूपण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! इस प्रकार वे दोनों सुदृढ़ तपस्वी भास और विलास पिताके मृत्यु-जनित शोकसे पराभूत होकर स्थित थे। उस शोकजनित संतापसे उनके शरीर सूखकर काँटा हो गये थे और ऐसे लगते थे, जैसे ग्रीष्म ऋतुके प्रचण्ड तापसे आमूल-चूल सूखे हुए दो जंगली वृक्ष हों। उन्हें सांसारिक पदार्थोंसे परम वैराग्य हो गया था, अतः वे दोनों ब्राह्मण झुंडसे बिछुड़े हुए दो मृगोंकी भाँति वियुक्त होकर उस जंगलमें कालक्षेप करने लगे। इस प्रकार क्रमशः उनके दिन मास और वर्ष बीतते गये। अन्ततोगत्वा उन्हें बुढ़ापेने घेर लिया; परंतु उन्हें विशुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति न हुई चिरकालके पश्चात् एक समय प्रारब्धवश उन दोनों

बिछुड़े हुए वृद्ध तापसोंकी परस्पर भेंट हो गयी, तब वे परस्पर यों कहने लगे।

विलासने कहा—मित्रवर भास! इस जगत्‌में तुम्हीं मेरे परम प्रेमी बन्धु, मेरे जीवनरूपी उत्तम वृक्षके फल और सदा-सर्वदा मेरे हृदयमें निवास करनेवाले अमृतके सागर हो; तुम्हारा स्वागत है। सज्जनशिरोमणे! पहले यह तो बताओ, मुझसे अलग होकर तुमने इतने दिन कहाँ व्यतीत किये? तुम्हारी तपस्या तो सफल हुई है न? क्या तुम्हारी बुद्धि संसारविषयक संतापसे रहित हो गयी? तुम्हारी विद्या फलवती हो गयी है न? क्या तुमने परमात्माको प्राप्त कर लिया? तुम सकुशल तो हो न?

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! तब जिसे परमात्म-विषयक यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई थी तथा जो संसारसे पूर्णतया उद्विग्न हो गये थे, उन अपने मित्र विलासके यों कहनेपर परम हितैषी भासने उनसे आदर-पूर्वक कहना आरम्भ किया।

भास बोले—दूसरोंको मान देनेवाले साधो! स्वागतता तो आज ही चरितार्थ हुई है; क्योंकि सौभाग्यवश मुझे तुम्हारा दर्शन प्राप्त हो गया। किंतु मित्रवर! इस दुःखमय संसारमें चक्कर काटनेवाले हम लोगोंकी कुशल कहाँ? भला, जबतक मुझे जानने योग्य परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ, मेरे मनमें उत्पन्न होनेवाले संकल्प आदि नष्ट नहीं हुए और मैंने संसारसागरको पार नहीं कर लिया, तबतक मेरी कुशल कहाँ। जबतक चित्तमें उत्पन्न होनेवाली आशाएँ तीव्र वैराग्यरूप शस्त्रके द्वारा पूर्णतया काटी नहीं गयीं, तबतक हमलोगोंकी कुशल कहाँ? जबतक परमात्माका यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ और जबतक समता उद्‌भूत नहीं हुई तथा जबतक विवेक नहीं उत्पन्न हुआ, तबतक हमलोगोंकी कुशल कहाँ। सज्जनशिरोमणे! परमात्माकी प्राप्ति तथा ज्ञान-रूपी महौषधके बिना यह जन्म-मरणरूपी दुष्ट महामारी बारंबार प्राप्त होती ही रहती है। यह जीवात्मा लौकिक क्रियाओंमें तथा देहरूपी पर्वतकी उन अत्यन्त भीषण कन्दराओंमें, जो विषयोपभोगरूप भयंकर सर्पोंसे व्याप्त एवं तृष्णारूपी कण्टकोंसे आच्छादित हैं, सदा-सर्वदा लोटता रहता है। यों कुत्सित आशाओंके आवेशसे युक्त व्यर्थ क्रियाकलापोंके करते रहनेसे इसकी आयु वृथा ही नष्ट हो जाती है। यह मन एक मदमत्त गजराजके समान है, जिसने परमात्मामें बन्धनके हेतुभूत विवेकरूपी आलानको उखाड़ डाला है और जो तृष्णारूपिणी हथिनीमें कामासक्त होनेके कारण उद्विग्न हो उठा है, अतः वह जगत्‌में दूरसे दूर भटकता रहता है। जैसे राजहंस सूखे हुए सरोवरसे तत्क्षण ही भाग खड़ा होता है और फिर कभी उसकी ओर ताकता तक नहीं, उसी तरह जिसका यौवनरूपी जल नष्ट हो गया है, उस सूखते हुए शरीररूपी सरोवरसे आयु तत्काल पलायन कर जाती है, पुनः वह कभी लौटती ही नहीं। जब

यह जीवन-वृक्ष जर्जर हो जाता है और कालरूपी वायु उसे बलपूर्वक झकझोरता है, तब उसके भोगरूपी पुष्प और दिनरूपी पत्ते झड़कर नीचे गिर जाते हैं अर्थात् नष्ट हो जाते हैं। परंतु नाना प्रकारके अनुरागोंसे लिपटी हुई यह तुच्छ चञ्चल तृष्णा देवालयोंके ऊपर फहराती हुई पताकाकी भाँति अधिकाधिक बढ़ती रहती है। बन्धुसमूहरूपी ये असंख्य सरिताएँ गम्भीर कोटर-वाले विस्तृत काल-सागरमें निरन्तर गिरती रहती हैं। तात! यह देहरूपी रत्नशलाका विनाशरूपी कीचड़-से परिपूर्ण सागरके गर्भमें न जाने कहाँ समा गयी है कि जन्म-जन्मान्तरमें भी इसका पता नहीं चलता। चिरकालसे चिन्ताचक्रमें बँधा हुआ तथा पाप कर्मोंके आचरणमें संलग्न चित्त समुद्रके गम्भीर आवर्तमें पड़कर चक्कर काटते हुए तृणकी भाँति संसारमें भटकता रहता है। इसे कार्यरूपी असंख्यों विशाल तरङ्गें उछालती रहती हैं तथा चिन्ताके फेरमें पड़कर यह ताण्डव नृत्य करता रहता है, जिससे इसे क्षणभर भी विश्राम नहीं मिलता। 'मैंने इसे कर लिया, यह करता हूँ और आगे उसे करूँगा' इस प्रकारकी कल्पनाओंके जालमें फँसकर इस मनुष्यकी बुद्धिरूपी पक्षिणी अत्यन्त मोहित हो जाती है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव! उन दोनोंने परस्पर एक-दूसरेका कुशल-समाचार पूछा। तदनन्तर काल-क्रमसे विवेकपूर्वक ध्यानके अभ्यास और संसारसे वैराग्यके द्वारा परमात्माका विशुद्ध ज्ञान लाभ करके वे दोनों मोक्षको प्राप्त हो गये। महाबाहो! इसीलिये मैं कहता हूँ कि सांसारिक पाशसे जकड़े हुए चित्तको संसार-सागरसे पार होनेके लिये परमात्माके यथार्थ ज्ञान-के अतिरिक्त और कोई दूसरा सुगम उपाय नहीं है। यह उपर्युक्त दुःख यद्यपि अज्ञानीके लिये अनन्त है तथापि ज्ञानी पुरुषके लिये वह अत्यन्त साधारण है—ठीक उसी तरह, जैसे सागर तुच्छ पक्षीके लिये दुस्तर होते हुए भी गरुड़के लिये गौकी खुरीके जलके समान ही प्रतीत होता है। जैसे दर्शक पुरुष दूरसे ही जनसमूह-का अवलोकन करता है, किंतु उसके साथ अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानता, उसी तरह जो देहाभिमानसे रहित तथा विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकी-भावसे स्थित हैं, वे ज्ञानी महात्मा पुरुष साक्षीभूत होकर दूरसे ही शरीरको देखते रहते हैं। इसलिये भले ही देह दुःखसे भलीभाँति क्षुब्ध हो जाय, उससे आत्माको कौन-सी क्षति पहुँचती है? शोभाशाली राम! भला हिमालय पर्वत और समुद्रका क्या सम्बन्ध? उसी तरह आत्मा और संसाररूप बन्धनका भी वास्तवमें परस्पर क्या सम्बन्ध है? अर्थात् कुछ नहीं है। जैसे सरिताओंका जल कमलोंको अपनी गोदमें धारण किये रहता है, फिर भी वे कमल उस जलसे कोई सम्बन्ध न रखकर निर्लेप बने रहते हैं, उसी तरह इस जगत्में शरीरका भी आत्माके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ये सुख-दुःख आदिके अनुभव केवल शुद्ध चेतन आत्मा और केवल जड देह-को नहीं होते, किंतु देह और आत्माके तादात्म्यके कारण होते हैं। अतः जब यथार्थ ज्ञानके द्वारा अज्ञानका नाश हो जाता है, तब सुख-दुःखोंका अत्यन्ताभाव होकर केवल शुद्ध चेतन आत्मा ही शेष रह जाता है। अज्ञानी पुरुष जिस रूपमें इस संसारको देखता है, वह उसी रूपमें उसे सत्य मान लेता है; परंतु ज्ञानीके लिये वैसी बात नहीं है। वह उसी रूपमें संसारको सत्य नहीं मानता; क्योंकि वह समझता है कि यह संसार अज्ञानसे ही प्रतीत होता है।

जैसे वास्तवमें सम्बन्ध न होनेपर भी स्वप्नमें स्त्रीके साथ रति-क्रीडा आदि व्यापारमें सम्बन्ध-सा हो जाता है तथा जैसे वास्तविक प्रेत न होनेपर भी अँधेरेमें ठूँठ प्रेत-सा दीखने लग जाता है, उसी तरह यद्यपि वास्तव-में आत्माके साथ देहादिका सम्बन्ध नहीं है, फिर भी अज्ञानके कारण सम्बन्ध-सा दीखता है। वस्तुतः तो

शरीर और शुद्ध आत्माका सम्बन्ध मिथ्या ही है; क्योंकि इनका सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। विद्वानोंका कथन है कि देहमें अहंभावना करनेसे ही आत्मा दैहिक दुःखोंके वशीभूत होता है तथा उस देहभावनाका त्याग कर देनेसे वह उस दुःखजालसे मुक्त हो जाता है। वत्स राम! जैसे सरोवरमें गिरे हुए पत्ते, जल, मल और काष्ठ यद्यपि परस्पर सम्बद्ध रहते हैं, तथापि भीतरी सङ्गसे रहित होनेके कारण वे दुखी नहीं होते, उसी तरह यद्यपि आत्मा, देह, इन्द्रिय और मन परस्पर पूर्णतया सम्बद्ध हैं, तथापि अन्तःकरणमें अहंता, ममता और आसक्तिका अभाव होनेके कारण ज्ञानी महात्मा सदा-सर्वदा दुःखरहित ही रहते हैं। श्रीराम! अन्तःसङ्ग अर्थात् अहंता, ममता और आसक्ति ही संसारमें समस्त प्राणियोंके जरा, मरण और मोहरूपी वृक्षोंका मूल कारण है। जो जीव अहंता, ममता और आसक्तिसे युक्त है, वह भवसागरमें डूबा हुआ है; परंतु जो इनसे मुक्त हो गया है, वह समझ ले कि मैं संसार-सागरसे पार हो गया। जो चित्त विषयोंकी आसक्तिसे रहित और निर्मल है, वह संसारी होते हुए भी निस्संदेह मुक्त है; परंतु विषयासक्त चित्त दीर्घकालकी तपस्यासे युक्त होता हुआ भी कामनाके कारण सुदृढ़ बन्धनसे बँधा हुआ है। जैसे काष्ठभारोंको पार उतारनेवाली जलस्थित नौका जलके गुण-दोषसे लिप्यमान नहीं होती वैसे ही अहंता, ममता और आसक्तिसे रहित पुरुष शरीर यात्राके लिये न्याययुक्त कर्म करता हुआ भी कर्तृत्वसे लिप्त नहीं होता। जो मनुष्य अहंता, ममता और आसक्तिसे रहित तथा परम मधुर परमात्मामें नित्य स्थित है, वह बाहरसे कुछ भी कार्य करे अथवा न करे, किसी भी दशामें वह कर्ता अथवा भोक्ता नहीं है।

(सर्ग ६६-६७)

संसक्ति और असंसक्तिका लक्षण, आसक्तिके भेद, उनके लक्षण और फलका वर्णन; आसक्तिके त्यागसे जीवात्मा कर्मफलसे सम्बद्ध नहीं होता—इसका कथन

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! किस प्रकारका सङ्ग मनुष्योंके लिये मोक्षदायक कहा गया है और कैसा सङ्ग बन्धनका हेतु होता है एवं उसके बन्धनका निमित्त बननेमें कारण क्या है तथा बन्धनके हेतुभूत उस सङ्गकी निवृत्ति कैसे की जा सकती है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! शरीर—क्षेत्र और शरीरी—क्षेत्रज्ञ आत्माका जो विभाग है अर्थात् शरीर जड है और आत्मा चेतन है—ऐसा जो अनुभव है, उसके अभावमें केवल देह ही आत्मा है, ऐसी भावनासे उत्पन्न देहाभिमान ही सङ्ग है और वही बन्धनका हेतु कहा जाता है। तथा देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न होनेके कारण आत्माका स्वरूप अनन्त है; किंतु अज्ञान-वश उसमें परिच्छिन्नताका निश्चय हो जानेपर जीव अपने अंदर जो सुखकी चाह करने लगता है, वही सङ्ग है और वही बन्धनका कारण कहा जाता है। यह दृश्यमान सम्पूर्ण संसार परमात्माका संकल्प होनेके कारण परमात्माका स्वरूप है, तब फिर मैं उसमेंसे किसकी चाह करूँ और किसको त्याग दूँ—इस प्रकारकी धारणासे उत्पन्न होनेवाली जो जीवन्मुक्तकी अवस्था है, उसे तुम असङ्ग स्थिति समझो। न तो मैं ही हूँ और न दूसरा ही कुछ है; अतः विषयोंसे उत्पन्न सुख हों अथवा न हों—ऐसा निश्चय करके जिसका अन्तःकरण अहंता, ममता और आसक्तिसे रहित हो गया है, वह मनुष्य मुक्तिका अधिकारी कहलाता है। जो निष्कर्मभावकी प्रशंसा नहीं करता, किसी भी कर्ममें आसक्त नहीं होता, सबमें समभाव रखता है और कर्मफलोंकी इच्छासे रहित है, वही पुरुष असंसक्त कहा जाता है। केवल परमात्माके स्वरूपमें अटल स्थितिवाले जिस महात्माका

मन हर्ष, शोक और ईर्ष्याके वशीभूत नहीं होता, वही असक्त है और उसीकी 'जीवन्मुक्त' संज्ञा होती है। जो मनुष्य सम्पूर्ण कर्मों और उनके फल आदिका कर्मसे नहीं, अपितु केवल मनसे भलीभाँति त्याग कर देता है, वह असंसक्त कहलाता है।

रामजी! वृक्ष एक स्थानपर स्थित रहकर अपने स्थावर शरीरसे जो शीत, वात और घामके क्लेशोंको सहता रहता है, वह उसके पूर्वजन्मोंके अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये गये कर्मोंका ही फल है। पृथ्वीकी दरारमें पड़ा हुआ कीड़ा अङ्गोंके पीड़ित होनेके कारण विकल होकर जो कालक्षेप करता है, वह उसके पूर्वजन्मके अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये गये कर्मोंका ही फल है। जिसका पेट भूखके कारण दुर्बल होकर पीठसे सट गया है तथा बुद्धे आघातके भयसे सदा भीत बनी रहती है, ऐसा पक्षी जो वृक्षकी शाखाओंपर निवास करता हुआ कालयापन करता है, वह उसके पूर्वजन्मोंके अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये गये कर्मोंका ही फल है। दूर्वाङ्कुरों और तिनकोंका आहार करनेवाला मृग किरातोंके बाणोंकी चोटसे पीडित होकर जो मर जाता है, वह उसके पूर्वजन्मोंके अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये गये कर्मोंका ही फल है। ये असंख्य भूत-प्राणी जो नदीमें तरङ्गोंकी भाँति बारंबार उत्पन्न होकर पुनः विलीन हो रहे हैं, यह उनके पूर्वजन्मोंके अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये गये कर्मोंका ही फल है। लता और तिनकोंके समान शक्तिहीन दशाको प्राप्त हुए मनुष्य चलने-फिरनेकी शक्तिसे शून्य होकर जो बारंबार मरते रहते हैं, उसका कारण उनके पूर्वजन्ममें अहंता, ममता और आसक्तिपूर्वक किये गये कर्मोंका फल ही है।

राघव! यह आसक्ति दो प्रकारकी कही गयी है—एक वन्ध्या अर्थात् प्रशस्त और दूसरी वन्ध्या अर्थात् पुरुषार्थफलसे शून्य। इनमें तत्त्वज्ञ महात्माओंकी अपने स्वरूपमें आसक्ति वन्ध्या है और वन्ध्या आसक्ति सर्वत्र अज्ञानियोंकी है। जो आसक्ति आत्मतत्त्वके ज्ञानसे शून्य, देह आदि असत्य वस्तुओंसे उत्पन्न और बारंबार संसारमें सुदृढ़रूपसे स्थित है, वह वन्ध्या कही जाती है तथा जो आसक्ति आत्मतत्त्वके ज्ञानद्वारा यथार्थ विवेकसे उत्पन्न हुई है और पुनर्जन्मका कारण नहीं है, उसे लोग वन्ध्या कहते हैं। यह वन्ध्या आसक्तिका ही प्रभाव है, जो आत्मतत्त्वके विज्ञानमें कुशल सिद्धगण, लोकपाल तथा अन्यान्य मुक्त पुरुष इस जगत्के प्राङ्गणमें अध्यात्म-विषयकी प्रीतिसे युक्त होकर स्थित रहते हैं। अन्यान्य भुवनोंमें निवास करनेवाले अध्यात्मविषयकी प्रीतिसे युक्त तत्त्वज्ञ महात्मालोग जो जन्म-मरणसे रहित शरीररूपी यन्त्रसमूहोंको धारण करते हैं, वह भी वन्ध्या आसक्तिकी ही सामर्थ्य है। किंतु वन्ध्या आसक्तिके वशीभूत होनेसे मन विषयभोगोंमें व्यर्थ ही रमणीयताकी कल्पना करके उनपर उसी प्रकार टूट पड़ता है, जैसे गीध मांसके टुकड़ोंपर झपटता है। वन्ध्या आसक्तिके प्रभावसे ब्रह्माण्डरूपी गूलरके फलके अंदर मच्छरकी तरह स्फुरित होते हुए देवता स्वर्गलोकमें, मनुष्य मृत्युलोकमें और नाग तथा असुर पातालमें स्थित हैं। ये असंख्य प्राणी जो नदीमें तरङ्गोंकी भाँति जन्मते हैं, मरते हैं, गिरते हैं और उठते हैं—यह भी वन्ध्या आसक्तिका ही चमत्कार है। यह भी वन्ध्या आसक्तिका ही प्रताप है, जो ये भूत-प्राणी झरनोंके जलकणोंकी तरह बारंबार उत्पन्न होकर पुनः विरसतापूर्वक नष्ट हो रहे हैं।

श्रीराम! शून्य आकाशमें केवल मनकी आसक्तिरूपी रंगसे संकल्पपूर्वक जो यह जगद्रूपी चित्र बनाया गया है, वह कभी भी सत्य नहीं हो सकता। इस संसारमें आसक्तिपूर्ण मनसे व्यवहार करनेवाले मनुष्योंके शरीरोंको तृष्णा उसी प्रकार क्षीण करती रहती है, जैसे अग्निकी लपट तृणोंको भस्मसात् कर देती है। जैसे समुद्र-तटकी सिकताओं और

त्रसरेणु-समूहोंकी संख्या करना असम्भव है, उसी तरह जिसकी बुद्धि सर्वथा विषयोंमें आसक्त है, भला, उसके शरीरोंकी ठीक-ठीक गणना करनेमें कौन समर्थ हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं। राघव ! विषयासक्त चित्तवाला मनुष्य दुःखोंके कारण सूख जाता है, जिससे वह धधकती हुई नरकाग्नियोंके लिये इन्धन-समूहका काम देता है; क्योंकि वे नरकाग्नियाँ उस इन्धनसे ही जलती हैं। इस भूतलपर यह जो कुछ दुःखसमूह दृष्टिगोचर हो रहा है, उस सबकी कल्पना विषयासक्त चित्तवाले मनुष्योंके लिये ही हुई है। जैसे जलकी तरङ्गोंसे युक्त बड़ी-बड़ी नदियाँ किलोल करती हुई समुद्रकी ओर दौड़ी जाती हैं, उसी तरह सारी दुःख-परम्पराएँ विषयासक्त चित्तवाले मनुष्यको आ घेरती हैं। जो मन आसक्तिशून्य, सब ओरसे शान्त, आकाशके समान निर्मलरूपसे स्थित और असत्-सा प्रतीत होते हुए भी सत्‌रूपसे भासमान हो रहा है, वह साधकके लिये सुखका ही हेतु होता है।

रघुनन्दन ! कल्याणकामी विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह सर्वत्र स्थित रहते हुए, सबके साथ रहते हुए और सभी न्याययुक्त कर्मोंमें लगे हुए भी सदा-सर्वदा अपने मनको अनासक्त और सम बनाये रक्खे। उसे चेष्टाओंमें, किसी प्रकारकी चिन्ताओंमें, पदार्थोंमें, आकाशमें, नीचे पातालमें, ऊपर पृथ्वीमें, दसों दिशाओंमें, लताओंमें, बाहरके विशाल विषय-भोगोंमें, इन्द्रिय-वृत्तियोंमें, अन्तःकरणमें, प्राण, मूर्धा और तालुमें, भ्रूमध्यमें, नासिकाके अग्रभागमें, मुखमें, दक्षिण नेत्रकी कनीनिकामें, अन्धकारमें, प्रकाशमें, इस हृदय-रूपी आकाशमें, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्त अवस्थाओंमें, शुद्ध सत्त्वगुणमें, तमोगुणमें, रजोगुणमें, त्रिगुणमय पदार्थ-विशेषमें, चल-अचल पदार्थोंमें, सृष्टिके आदि, मध्य और अन्तमें, दूरमें, समीपमें, सामने, नाम-रूपात्मक किसी पदार्थमें अपने आत्मामें, शब्द-स्पर्श-रूप आदि विषयोंमें, अज्ञानजनित आनन्दकी वृत्तियोंमें, गमनागमनकी चेष्टाओंमें और घड़ी, दिन, मास, संवत्, युग आदि कालकी कल्पनाओंमें आसक्त नहीं करना चाहिये। सर्वत्र दृश्य पदार्थोंमें अनासक्त-सा होकर जड दृश्य जगत्‌के आश्रयभूत नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मामें विश्राम करके परमात्मामें ही अमृतमय रससे युक्त मनवाला होकर स्थित रहना चाहिये। इस प्रकार उस परमात्मामें स्थित हुआ जीवात्मा सम्पूर्ण आसक्तियोंसे रहित होकर ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है। फिर तो वह इन समस्त व्यवहारोंको करे अथवा न करे; क्योंकि उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। जैसे आकाशका मेघोंके साथ कोई सम्पर्क नहीं रहता, उसी तरह अपने परमात्मस्वरूपमें रत हुआ जीवात्मा क्रियाओंको करता हुआ अथवा न करता हुआ भी क्रियाजनित फलोंके साथ तनिक भी सम्बद्ध नहीं होता। अथवा शान्त चैतन्य-घन जीवात्माको चाहिये कि वह पूर्वोक्त दृश्य संसारके सम्बन्धका भी परित्याग करके शान्त होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहे। रामभद्र ! जिसने अपने स्वरूपमें परम विश्रामको प्राप्त कर लिया है, जिसका अन्तःकरण आत्मसाक्षात्कारसे सम्पन्न है और जिसकी कर्म तथा उसके फलोंमें तनिक भी आसक्ति नहीं रह गयी है, ऐसा जीवात्मा कर्म करते हुए भी आसक्तिसे रहित होनेके कारण कर्मजनित फलोंसे सम्बद्ध नहीं होता। (सर्ग ६८-६९)

असङ्ग सुखमें परम शान्तिको प्राप्त पुरुषके व्यवहार-कालमें भी दुखी न होनेका प्रतिपादन, ज्ञानीकी तुर्यावस्था तथा देह और आत्माके अन्तरका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जो संसारमें रागके अत्यन्त अभावसे उत्पन्न निर्विशेष आनन्दके अभ्यासमें संलग्न हैं और जिनके अन्तःकरण अत्यन्त विशाल हैं, वे जीवन्मुक्त महापुरुष चाहे व्यवहार करें, पर वे सदा-सर्वदा भय और शोकसे रहित होकर ही स्थित रहते हैं। जिसका अन्तःकरण दृश्य-चिन्तनसे रहित, केवल नित्य चेतन परमात्माका ही अवलम्बन करनेवाला तथा सम्पूर्ण चिन्ताज्वरोंसे मुक्त हैं, उस महात्मा पुरुषके सत्सङ्गसे मनुष्य वैसे ही विशुद्ध हो जाते हैं, जैसे निर्मलीसे जल शुद्ध हो जाता है। परमात्माके स्वरूपमें निमग्न रहनेवाला वह तत्त्ववेत्ता पुरुष क्रियाशील होते हुए भी अपने स्वरूपमें नित्य स्थित रहता है। जैसे चिकने स्फटिक मणिपर वास्तवमें किसी भी रंगसे रंग नहीं चढ़ता, वैसे ही परमात्मस्वरूपको प्राप्त तत्त्ववेत्ताका अन्तःकरण सुख-दुःखकी प्राप्ति होनेपर विकारवान् नहीं होता। जिसने सगुण-निर्गुणरूप परमात्माको भलीभाँति जान लिया है और जो परमात्मस्वरूप परम अभ्युदयको प्राप्त हो गया है, उस महात्मा पुरुषके चित्तको संसारका दृश्य उसी प्रकार लिपायमान नहीं कर सकता, जैसे जलरेखा कमलको लिपायमान नहीं कर सकती। जब यह जीवात्मा परमात्माका ज्ञान प्राप्तकर समस्त कल्पनाओंके हेतुभूत मलोंसे रहित हुआ ध्यानाभाव-दशामें भी परमात्माके स्वरूपानुभवमें निमग्न रहता है, तब वह 'स्वसक्त' (आत्माराम) कहलाता है। आत्माराम होनेसे ही मनुष्य संसारमें असङ्गभावको प्राप्त करता है; क्योंकि आत्माके ज्ञानसे ही विषयासक्तिका क्षय होता है। चित्तके विषय-सम्बन्धिनी वृत्तियोंसे रहित हो जानेपर क्षीणवृत्तिवाले अन्तःकरणोंकी जो वासनाओंसे रहित शान्तिमयी स्थिति है, वही जाग्रत्में सुषुप्तिके समान समाधि-अवस्था कही जाती है। इस प्रकार अखण्ड समाधि-अवस्थाको प्राप्त मनुष्य व्यवहार करता हुआ भी सुख-दुःखरूपी रस्सोंसे बँधकर संसारकी ओर कभी आकृष्ट नहीं होता; क्योंकि उसकी दृष्टिमें संसार है ही नहीं। जो पुरुष जाग्रत्में ही परमात्मामें स्थित हुआ जगत्के कार्योंको करता है, उस पुरुषको यन्त्रकी पुतलीके समान सुख-दुःखका अनुभव नहीं होता।

जो पूर्वसे ही यानी साधनावस्थासे ही तीव्र वैराग्यके कारण उपेक्षाबुद्धिसे कर्म करता है तथा जिसकी बुद्धि परमात्मामें ही स्थित है, वह मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है और फिर वह उन कर्मोंके फलोंसे नहीं बँधता। विवेकशील साधकको कर्मोंका अनुष्ठान या परित्याग—कुछ भी अच्छा नहीं लगता। किंतु जिन्होंने आत्मतत्त्वको जान लिया है, वे महात्मा तो जिस समय जो कुछ प्राप्त हो जाता है, तदनुसार न्याययुक्त जीवन-यापन करते हुए स्थित रहते हैं। सांसारिक विषयोंके सम्बन्धसे रहित सच्चिदानन्दघन परमात्मपदमें भलीभाँति स्थित परमात्मप्राप्त पुरुष जो-जो कर्म करता है, उसमें वस्तुतः उसका कर्तापन नहीं रहता। श्रीराम ! यही अखण्ड समाधिरूप सुषुप्ति-स्थिति अभ्यासयोगसे जब दृढ़ हो जाती है, तब तत्त्वज्ञ महात्माओंके द्वारा वह तुर्य-स्थिति कही जाती है। जिसके अन्तःकरणसे समस्त विकार विनष्ट हो चुके हैं और जिसके मनका अत्यन्त अभाव-सा हो गया है, वह ज्ञानी महानुभाव विशुद्ध आनन्दमय हो जाता है। उपर्युक्त अखण्ड समाधिमें स्थित रहनेवाला ज्ञानी अतिशय प्रसन्नतासे परिपूर्ण और परम आनन्दमें निमग्न हुआ इस जगत्के व्यवहारको सदा लीलाकी ज्यों देखता रहता है। श्रीराम ! जिसके शोक, भय एवं सांसारिक क्लेश सदाके लिये निवृत्त हो गये हैं तथा जो संसाररूपी भ्रमसे रहित है, वह तुर्यावस्थामें सदा-सर्वदा स्थित आत्मज्ञानी फिर इस संसारचक्रमें कभी नहीं गिरता। जैसे आकाशमार्ग वायुओंके लिये गम्य है,

वैसे ही दूरसे भी अति दूर परमपद विदेहमुक्त पुरुषोंके लिये अनुभवगम्य है। परमानन्दमें निमग्न ज्ञानी पूर्वोक्त सुषुप्तिके समान अखण्ड ब्रह्माकार समाधि अवस्थासे जगत्स्थितिका वास्तविक अनुभव करके उसके पश्चात् तुर्यावस्था (जीवन्मुक्तावस्था) को प्राप्त होता है। रघुकुलतिलक ! जिस प्रकार तुर्यातीत पदका ज्ञान रखनेवाले आत्मतत्त्व-ज्ञानी महात्मा तुर्यातीत पदमें स्थित रहते हैं, उसी प्रकार तुम भी सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित हो उस परमपदमें स्थित रहो। चाहे देह नष्ट हो जाय, चाहे वह नष्ट हो यानी स्थिर रहे, उससे तुमको क्या प्रयोजन है ! तुम तो केवल आत्मज्ञानमें ही स्थित रहो। यह देह जैसा है, वैसा भले ही बना रहे। श्रीराम ! जैसे अन्धकार और मेघ-मण्डलसे मुक्त शरत्पूर्णिमाकी रात्रिका आकाशमण्डल सुशोभित होता है, वैसे ही तुम अभीष्ट और अनभीष्ट विषयोंसे मुक्त हुए शीतल साक्षात्काररूपी आलोककी शोभासे सुशोभित हो रहे हो।

रघुनन्दन ! इस संसारमें देश, काल और वस्तुके परिच्छेदसे शून्य एक विशुद्ध चेतन आत्मा ही है, उसके सिवा अन्य कुछ नहीं है। सर्वत्र व्यापक चेतन 'आत्मा' यह नाम केवल व्यवहारके लिये ही कल्पित है, वास्तवमें नाम-रूप आदि भेद तो इस चेतनसे अत्यन्त दूर ही हैं अर्थात् यह चेतन आत्मा नाम-रूप आदि उपाधिसे रहित है। जैसे समुद्र जलस्वरूप ही है, उससे भिन्न तरङ्ग आदि कुछ भी नहीं हैं, वैसे ही यह सब जगत् आत्मस्वरूप ही है, उससे भिन्न पृथ्वी-जल आदि कुछ भी नहीं हैं। जैसे छाया और धूपका तथा प्रकाश और अन्धकारका परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता, वैसे ही शरीर और आत्माका भी परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता। श्रीराम ! जैसे सदा परस्पर विरुद्ध रहनेवाले शीत और उष्णका एक दूसरेसे सम्बन्ध नहीं हो सकता, वैसे ही देह और आत्माका भी एक दूसरेसे कभी सम्बन्ध नहीं हो सकता। जैसे मरुभूमिमें सूर्यकी किरणोंसे प्रतीत हुआ जल किरणोंके यथार्थ ज्ञानसे विनष्ट हो जाता है; वैसे ही अज्ञानजनित यह देह और आत्माका परस्पर सम्बन्ध-भ्रम भी आत्म-तत्त्वके साक्षात्कारसे विनष्ट हो जाता है। वह चेतन आत्मा शुद्ध, अविनाशी, स्वप्रकाश एवं सम्पूर्ण विकारोंसे रहित है और देह विनाशशील, अनित्य और मलरूप विकारसे युक्त है; ऐसी स्थितिमें अत्यन्त अन्तर होनेके कारण आत्माका शरीरके साथ सम्बन्ध कैसे हो सकता है। प्राणवायुसे बलवान् होकर ही शरीर स्पन्दको प्राप्त करता है, इसलिये आत्माके साथ किंचित् भी शरीरका सम्बन्ध नहीं है। श्रेष्ठ बुद्धिसे सम्पन्न श्रीराम ! जब द्वैतको माननेपर भी आत्माके साथ पूर्वोक्त प्रणालीसे देहादिका सम्बन्ध नहीं हो सकता, तब द्वैतकी असिद्धिमें तो इस प्रकार सम्बन्धकी कल्पना ही कैसे हो सकती है। जैसे परस्पर अत्यन्त विरुद्ध प्रकाश और अन्धकारका एक दूसरेसे सम्बन्ध और सादृश्य नहीं हो सकता, वैसे ही परस्पर अत्यन्त विरुद्ध आत्मा और शरीरका भी एक दूसरेसे सम्बन्ध और सादृश्य नहीं हो सकता।

जैसे शीत और उष्णकी एकता कहीं दिखलायी नहीं पड़ती, वैसे ही क्रमशः जड और चेतनस्वरूप देह और आत्माका भी संयोग नहीं हो सकता। यह देह प्राणवायुसे ही चलता है, उसीसे उसका गमनागमन होता है एवं देह-की नाड़ियोंमें संचार करनेवाले प्राणवायुसे ही शब्द होता है। जिस प्रकार छिद्रयुक्त बाँसोंसे वायुके गमनागमनसे शब्द उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार शरीरके कण्ठरूप छिद्रसे निकले हुए प्राणवायुसे जब कण्ठ, तालु आदि स्थानोंमें जिह्वा आदिके द्वारा अभिघातसे निकाले जाते हैं, तब कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग आदि शब्द प्रकट होते हैं—यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है। शरीररूपी स्थानको छोड़कर जहाँ चित्तरूपी पक्षी अपनी वासनाके अनुसार जाता है, वहींपर विचार करनेपर आत्माका अनुभव होता है। जहाँ पुष्प रहता है, वहींपर जैसे गन्धका ज्ञान रहता है, उसी

प्रकार जहाँ चित्त रहता है, वहींपर आत्माका ज्ञान होता है। जिस प्रकार सर्वत्र स्थित आकाश दर्पणमें प्रतिबिम्बित होता है, वैसे ही सर्वत्र स्थित आत्मा शुद्ध अन्तःकरणमें दिखलायी पड़ता है। जैसे पृथ्वीमें नीचेका भाग जलका आश्रय-स्थान होता है, उसी प्रकार अन्तःकरण ही आत्माके अनुभवका आश्रय-स्थान है। महान् बुद्धिवाले पुरुष कहते हैं कि संसारकी उत्पत्तिमें अविचार, अज्ञान और मूर्खता ही सारभूत है और यही अन्तःकरणकी उत्पत्तिमें हेतु है। रघुनन्दन! जैसे प्रज्वलित दीपकसे अन्धकारका तत्क्षण ही नाश हो जाता है, वैसे ही नित्य सिद्ध आत्माके यथार्थ ज्ञानसे ही चित्तका तत्क्षण नाश हो जाता है। जैसे बंदर वनके एक वृक्षको त्यागकर दूसरे वृक्षपर चला जाता है, उसी प्रकार वासनाके वशीभूत जीव कर्मानुसार एक शरीरको त्यागकर दूसरे शरीरमें चला जाता है। श्रीराम! जिस शरीरमें वह चला गया, उस शरीरको भी त्यागकर फिर दूसरे समयमें अन्य विशाल देशके अन्तर्गत दूसरे शरीरमें चला जाता है। इस प्रकार जीवोंके यथार्थ स्वरूपको आवृत करके रहनेवाली अपनी ही वञ्चक वासना जीवोंको इधर-उधर भटकाती रहती है। श्रीराम! वासनारूपी रज्जुमें बँधे हुए जीव पहलेसे ही जीर्ण तो हैं ही, फिर भी वे पर्वततुल्य जड शरीरोंमें अत्यन्त दुःखपूर्वक आयु क्षीण कर रहे हैं। जिन्होंने जीर्णसे भी अधिक जीर्ण होकर दरिद्रता, रोग, वियोग आदिसे उत्पन्न हुए दुःखोंका भार वहन किया है तथा जिनका जीवन अनेक योनियोंमें दुर्दशाग्रस्त परिणामोंसे जर्जर हो चुका है, वे जीव बारंबार अपने हृदयकी दुर्वासनाओंसे दीर्घकालतक नरकोंमें निवास करते हैं।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! मुनिवर श्रीवसिष्ठजीके ऐसा कहनेपर जब दिन बीत गया, सूर्यभगवान् अस्ताचलकी ओर जाने लगे, तब सभामें उपस्थित सब लोग मुनिको प्रणाम करके सायंकालीन स्नान-संध्या-वन्दनादि नित्यकर्म करनेके लिये चले गये और रात्रि बीत जानेपर दूसरे दिन सूर्यकी किरणोंके साथ ही पुनः सभामें उपस्थित हो गये।

(सर्ग ७०-७१)

देहादिके संयोग-वियोगादिमें राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे रहित शुद्ध आत्माके स्वरूपका विवेचन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! तुम देहके उत्पन्न होनेपर उत्पन्न नहीं होते और देहके नष्ट होनेपर नष्ट नहीं होते; क्योंकि अपने स्वरूपमें तुम विकार-रहित और विशुद्ध हुए नित्य स्थित हो। इस विनाशशील देहके नष्ट हो जानेपर शुद्ध आत्माका नाश नहीं होता; इसलिये जो देहका विनाश हो जानेपर 'मैं नष्ट हो जाता हूँ' इस प्रकारकी भावनासे दुखी होता है, उस अन्धबुद्धिको धिक्कार है! जैसे घोड़ेकी लगाम और रथका सम्बन्ध राग-द्वेषसे रहित है, उसी प्रकार चेतन आत्माका भी देह, चित्त, इन्द्रिय आदिके साथ सम्बन्ध राग-द्वेषसे रहित है। जैसे मार्ग बटोहियोंके संयोग और वियोगमें हर्ष-शोकका अनुभव नहीं करता, वैसे ही विशुद्ध आत्मा शरीरोंके संयोग-वियोगमें हर्ष शोकसे रहित है। जिस प्रकार कल्पित प्रेतके विकराल रूपसे भयभीत बालकको होनेवाला भय मिथ्या ही है, वैसे ही ये कल्पित स्नेह, सुख आदि मिथ्या ही हैं। जैसे लकड़ियोंके बोझेमें लकड़ियोंके सिवा और कुछ भी नहीं दिखलायी पड़ता, वैसे ही आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी—इन पाँचों भूतोंके शरीरमें पाँचों भूतोंके संघातके सिवा और कुछ भी नहीं दिखलायी पड़ता। अतः श्रोतागण! आपलोग इन पाँचों भूतोंकी उत्पत्ति, विनाश और विकार होनेपर हर्ष-अमर्ष और विषादके वशमें क्यों हो जाते हैं? जिस देहका 'स्त्री' यह दूसरा नाम है, उस तुच्छ भूतोंके समूहमें यानी स्त्री-

शरीरात्मक पाँच भूतोंके पिण्डमें पुरुषोंको ऐसी कौन-सी विशेषता प्रतीत होती है, जिससे उनकी उस स्त्रीरूप विषय-भोगाग्निमें फतिंगेकी तरह गिरनेकी चेष्टा उचित कही जाय ? स्त्रीकी सुन्दरता, रूप लावण्य और शरीर-संगठनको लेकर जो विलक्षणता दिखायी पड़ती है, उससे तो केवल अज्ञानी ही आनन्दित होता है; किंतु विवेकी पुरुषोंको तो वह पाँच भूतोंका पिण्ड ही दिखायी देता है। जैसे एक पत्थरसे बनायी गयी दो पाषाण-प्रतिमाओंका परस्पर आलिङ्गन होनेपर उनमें राग नहीं होता, उसी प्रकार चित्त और शरीरका परस्पर आलिङ्गन होनेपर भी राग नहीं होना चाहिये। तथा जैसे पत्थरकी बनायी गयी प्रतिमाओंमें परस्पर स्नेहका सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही देह, इन्द्रिय, आत्मा और प्राणोंमें भी परस्पर स्नेहका सम्बन्ध नहीं है। इसलिये यहाँ शोक किसका ? जिस प्रकार समुद्र ऊँची-ऊँची भँवरोंसे युक्त हो तृण, काठ आदि पदार्थोंसे संयोग करता है, वैसे ही जीवात्मा भी चित्ताकृतिको प्राप्तकर देह और प्राणियोंके साथ संयोग करता है। (अतः मनुष्यको समुद्रकी भाँति सबसे निर्लेप रहना चाहिये।) जैसे जल अपनी स्पन्दन-क्रियासे ही मलिनताका परित्याग करके स्वयं ही स्वच्छताको प्राप्त करता है, उसी प्रकार जीवात्मा यथार्थज्ञानके द्वारा विषयरूपताका परित्याग करके स्वयं ही विशुद्ध आत्मरूपताको प्राप्त करता है। उस समय सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंमें आसक्तिसे रहित जीवात्मा द्रष्टा—साक्षी हुआ देहको आत्मासे भिन्न देखता है तथा भूत-समूहको भी अपनेसे पृथक् देखकर अविनाशी आत्मा देहातीत हो जाता है। इस प्रकार आत्मा अपनेसे ही प्रमाण-प्रमेयरूप विकारोंसे रहित अपने यथार्थ स्वरूपको जान लेता है। श्रीराम! जिनका सम्पूर्ण राग विनष्ट हो गया है, जिनके पाप दूर हो गये हैं तथा जो परब्रह्मपदको प्राप्त हो चुके हैं वे जीवन्मुक्त महात्मा पुरुष उसी प्रकारके विशिष्ट विज्ञानसे युक्त हो इस संसारमें विचरण करते हैं, जैसे समुद्रकी तरङ्गें अनेक प्रकारके रत्नोंके साथ अनासक्तभाव-से व्यवहार करती हैं, उसी प्रकार वासनारहित उत्तम महात्मा लोग भी चित्तकी चेष्टाओंके साथ अनासक्त भावसे व्यवहार करते हैं। जैसे समुद्र अपने तटपर पड़े हुए काष्ठ-समूहोंसे मलिन नहीं होता, वैसे ही आत्माके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाला वह मनुष्य इस संसारमें अपने सांसारिक व्यवहारोंसे मलिन नहीं होता। जैसे समुद्रको गत, आगत, स्वच्छ, चञ्चल, मलिन और जड तरङ्गोंसे राग और द्वेष नहीं होता, उसी प्रकार उस तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुषको गत, आगत, स्वच्छ, चञ्चल, मलिन और जड भोगोंसे राग-द्वेष नहीं होता; क्योंकि जो अहं, भूत आदि तथा तीनों कालोंमें उत्पन्न होनेवाली वस्तुएँ दृश्य और दर्शनके सम्बन्धोंसे दिखायी पड़ती हैं, वह सब केवल मनकी कल्पना ही है। इसलिये आत्मसाक्षात्काररूप दृश्य-दर्शनसे रहित सुखानुभूतिका अवलम्बन करनेसे संसारका अभाव हो जाता है, आत्मस्वरूपको आवृत करनेवाली दृष्टिका विच्छेद हो जाता है और यथार्थ आत्मानुभव प्रकाशित हो जाता है। उसीका अवलम्बन करनेपर तुर्यावस्था प्राप्त हो ज ती है और उसीके अवलम्बनसे मुक्ति हो जाती है। रघुनन्दन ! जब दृश्य और दर्शनके सम्बन्धसे मुक्त और परम विशुद्ध बुद्धिसे युक्त यह स्वरूप-दृष्टि होती है, तब दृश्य और दर्शनके सम्बन्धके असली तत्त्वको जानकर पुरुष मुक्तिको प्राप्त होता है। मुक्त होनेके अनन्तर वहाँ आत्माका स्वरूप न स्थूल है न अणु, न प्रत्यक्ष है न अप्रत्यक्ष, न चेतन है न जड, न असत् न है सत्, न अहंरूप है न अन्यस्वरूप, न एक है न अनेक, न समीप है न दूर, न सत्तायुक्त है न असत्तायुक्त, न प्राप्य है न अप्राप्य, न सर्वात्मक है न सर्वव्यापक, न पदार्थ है न अपदार्थ, न पाँचों भूतोंका आत्मा है और न पाँचों भूत ही।

(तात्पर्य यह कि वह समस्त विशेषणों और लक्षणोंसे रहित विशुद्ध आत्मा मन, वाणी और बुद्धिका विषय नहीं है; इसलिये उसे दृष्टांतके द्वारा न कहा जा सकता है न समझाया जा सकता है। अतएव उसका यहाँ निषेधमुखसे वर्णन किया गया है। श्रुतिमें भी उसका निषेधमुखसे वर्णन किया गया है।) किंतु मनके साथ चक्षु आदि छहों इन्द्रियोंका विषय जो यह दृश्यत्वको प्राप्त जगत् है, वह कुछ भी नहीं है। उससे अतीत जो पद है, वही यथार्थ वस्तु है। जिस प्रकारका यह जगत् है, उस प्रकारके इस जगत्को भलीभाँति जाननेवाले पुरुषके लिये यह समस्त विश्व आत्मस्वरूप ही है, कहीं भी आत्मस्वरूपसे अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है। यह आत्मा ही कठोरता, द्रवता, प्रकाश, स्पन्दन और अवकाश-क्रमसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशरूप सम्पूर्ण जगत्-भावोंमें विद्यमान है। श्रीराम! पदार्थोंकी जो-जो सत्ता है, वह चेतन आत्माके सिवा दूसरी वस्तु नहीं है; इसलिये जो यह कहता है कि 'मैं आत्मासे अतिरिक्त हूँ', उसके इस कथनको उन्मत्तके प्रलापके समान समझो!

(सर्ग ७२)

दो प्रकारके मुक्तिदायक अहंकारका और एक प्रकारके बन्धनकारक अहंकारका एवं परमात्माके स्वरूपका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जैसे चिन्तामणि-के तत्त्वको जाननेवाले लोग चिन्तामणिको प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ही उपर्युक्त विचार-दृष्टिसे द्वैतभावको त्यागकर आत्माके स्वरूपको जाननेवाले महापुरुष विशुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। श्रीराम! अब मैं तुमसे दूसरी दृष्टिका वर्णन करता हूँ; उसे तुम सुनो। मैं ही आकाश हूँ, मैं ही आदित्य हूँ, मैं ही दिशाएँ हूँ, मैं ही अधः हूँ, मैं ही ऊर्ध्व हूँ, मैं ही दैत्य हूँ, मैं ही देव हूँ, मैं ही लोक हूँ, मैं ही चन्द्रमा आदिकी प्रभा हूँ, मैं ही अन्धकार हूँ, मैं ही मेघ हूँ, मैं ही पृथ्वी हूँ, मैं ही समुद्र आदि हूँ एवं रेणु, वायु, अग्नि और यह सारा जगत् भी मैं ही हूँ; तीनों लोकोंमें सब जगह जो परमात्मा स्थित है, वह मैं ही हूँ। उस सर्वरूप परमात्मासे भिन्न परिच्छिन्न मै कौन हूँ? मैं कभी परिच्छिन्न नहीं हो सकता। देह आदि भी मुझसे भिन्न क्या हैं? एक अद्वितीय वस्तु परमात्मामें द्वैत कैसे हो सकता है। कमलनयन निष्पाप श्रीराम! तुम्हीं बतलाओ, इस प्रकार इस सम्पूर्ण जगत्के आत्मरूपसे स्थित हो जानेपर कौन अपना और कौन पराया रहेगा! तत्त्वज्ञसे भिन्न ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो उसे यदि प्राप्त हो जाय तो वह हर्ष और विषादसे ग्रस्त हो! यदि उसको ऐसी वस्तुके आ जानेसे विषाद दिखायी पड़े तो वह तत्त्वज्ञ ही नहीं है, किंतु मूढ़ ही है; क्योंकि ऐसा पुरुष जगन्मय ही होता है, सच्चिदानन्दमय नहीं।

रघुनन्दन! दो प्रकारकी अहंकार-दृष्टियाँ सात्त्विक और अत्यन्त निर्मल हैं। उनकी तत्त्वज्ञानसे उत्पत्ति होती है। वे मोक्ष प्रदान करनेवाली और परमार्थस्वरूपा हैं। मैं सबसे परे, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर और विनाशशील सम्पूर्ण पदार्थोंसे अतीत हूँ—यह पहली अहंकार-दृष्टि है तथा जो कुछ है, वह सब मैं ही हूँ—यह दूसरी अहंकार-दृष्टि है। निष्पाप श्रीराम! इन दोनोंसे भिन्न तीसरी अहंकार-दृष्टि यह है—देह मैं हूँ। इस दृष्टिको तुम केवल दुःखदायिनी ही जानो, यह कभी शान्तिदायिनी नहीं होती। अब तुम इन तीनों ही अहंकारोंको छोड़कर सबके शेषमें रहनेवाले अहंभावनाशून्य पूर्ण सच्चिदानन्द-स्वरूपका अवलम्बन करके उसी अवलम्बनयोग्य परम-तत्त्वमें निरत हुए ही स्थित रहो, क्योंकि इस मिथ्या

जगत्में परिपूर्ण और सर्वप्रकाशक आत्मा वास्तवमें अखिल प्रपञ्चस्वरूपसे मुक्त और समस्त पदार्थोंकी सत्तासे अतीत ही है। इसलिये श्रीराम! तुम अपने ही अनुभवसे शीघ्र देखो कि तुम सदा-सर्वदा प्रकट सच्चिदानन्दघन परब्रह्मस्वरूप ही हो। आत्मा न तो केवल अनुमानसे प्रत्यक्ष होता है और न आप्तवचन तथा शास्त्र आदिके श्रवणमात्रसे ही; किंतु वह सदा-सर्वदा सब प्रकारसे केवल अनुभवसे ही प्रत्यक्ष होता है। ये जो कुछ स्पर्श, स्पन्द और ज्ञान आदि पदार्थ हैं, वे सब दृश्य और दर्शनसे रहित सच्चिदानन्द-घन परमात्मा ही हैं। यह प्रकाशस्वरूप परमात्मा वास्तवमें न तो सत् है और न असत् है, न अणु है और न महान् है तथा न सत् और असत्के मध्यमें है। यह आत्मा है और यह आत्मा नहीं है—यों जो संज्ञाभेद है, इसकी स्वयं आत्माने ही अपनेमें अपनी सर्वव्यापिनी शक्तिसे कल्पना कर रक्खी है। वह प्रकाशमान परमात्मा तीनों कालोंमें सदा-सर्वदा सब जगह स्थित है तथापि केवल सूक्ष्म और महान् होनेके कारण वह अज्ञानी पुरुषोंके द्वारा जाननेमें नहीं आता। जैसे लोकदृष्टिसे सारे पदार्थोंका अस्तित्व सर्वत्र विद्यमान है, उसी प्रकार परमार्थदृष्टिसे सच्चिदानन्दघन परमात्मा भी सर्वत्र विद्यमान है तथा सर्वव्यापी है; वह कहीं एकदेशमें स्थित है—ऐसी बात नहीं है। सबका यह आत्मा किसी समय भी वास्तवमें न तो उत्पन्न होता है न मरता है, न कुछ ग्रहण करता है न कुछ चाहता है, न मुक्त होता है और न बद्ध होता है। जैसे सर्पमें रज्जुकी भ्रान्ति दुःख देनेवाली ही होती है, वैसे ही आत्माके अज्ञानसे उत्पन्न देह आदि अनात्मपदार्थोंमें आत्मबुद्धिरूप भ्रान्ति केवल दुःख देनेवाली ही होती है। यह आत्मा कभी भी उत्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि यह अनादि है; और यह विनष्ट भी नहीं होता, क्योंकि यह अजन्मा है। तथा वह आत्मभिन्न वस्तुकी कभी भी अभिलाषा नहीं करता; क्योंकि आत्मासे भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं। यह आत्मा दिशा, देश और कालसे परिमित न होनेके कारण कभी भी बँधता नहीं; और जब बन्धन ही नहीं है, तब मोक्ष कहाँसे होगा। अतएव वास्तवमें आत्मा बन्ध-मोक्षसे रहित है। रघुनन्दन! उपर्युक्त गुणोंसे युक्त ही यह सबका आत्मा है; किंतु ये सब लोग शरीरका विनाश होनेपर अविचारसे मोहित हुए व्यर्थ ही रुदन कर रहे हैं। जैसे गेहूँ आदिको पीसनेके लिये निर्मित जल-चक्की आदि यन्त्रके द्वारा गेहूँ आदिका पेषण चालू होनेपर पुरुष केवल साक्षीमात्रसे उक्त कार्यको करता है, वैसे ही आत्मज्ञानी विद्वान् मुनिको बन्धन और मोक्षरूपी दोनों ही कल्पनाओंसे रहित होकर (यन्त्रकी त्यों) देह आदिका व्यवहार करना चाहिये। सम्पूर्ण विषयोंमें अनासक्तिसे संकल्प और कामनाका अभाव हो जानेके कारण जो स्वतः ही साधकके मनका विनाश हो जाता है, उसीको आत्मदर्शी तत्त्वज्ञ महापुरुषोंने 'मोक्ष' नामसे कहा है। श्रीराम! तुम समस्त कल्पनाओंसे रहित अवस्थाको प्राप्त और आसक्तिरहित हो, अतः इस सगर-पुत्रोंके द्वारा खोदी गयी समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका दीर्घकालतक पालन करो। (सर्ग ७३)

मन, अहंकार, वासना और अविद्याके नाशसे मुक्ति तथा जीवन्मुक्त पुरुषके लक्षण और महिमाका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जैसे मरुभूमिमें सूर्यकी किरणोंसे जल प्रतीत होता है, वैसे ही अहंता-ममता, राग-द्वेष आदि विकारोंसे युक्त और बिना हुए ही अपने स्वरूपको कायम रखनेवाली मायासे ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रतीत हो रहा है। जैसे बर्फसे भिन्न शुक्लताकी कल्पना की जाती है पर वास्तवमें बर्फ और शुक्लतामें

परस्पर पार्थक्य नहीं है, उसी प्रकार चित्त और अहंकार-की पृथक् कल्पना व्यर्थ ही की जाती है; वास्तवमें उनका परस्पर कोई भेद नहीं है। श्रीराम! मन और अहकार—इन दोनोंमेंसे किसी एकका विनाश हो जानेपर मन एवं अहंकार दोनोंका विनाश हो ही जाता है। इसलिये अन्यान्य इच्छाओंका परित्याग करके अपने वैराग्य और आत्मा-अनात्माके विवेकसे केवल मनका ही विनाश कर देना चाहिये। जैसे वायु वृक्षमें पल्लवोंकी पंक्तिको चलाता है, वैसे ही प्राणादि वायु देहमें अङ्गोंकी पंक्तियोंको पर्यायरूपसे चलाता है; किंतु सब पदार्थोंको व्याप्त कर लेनेवाला अति सूक्ष्म चेतन आत्मा न तो स्वतः चल है और न किसीसे चलायमान होता है। जैसे अचल मेरु-पर्वत वायुओंसे कम्पित नहीं होता, उसी प्रकार यह चेतन आत्मा भी प्राणादि वायुओंसे कम्पित नहीं होता।

रघुनन्दन! यह मैं आनेवाला हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मै कर्ता हूँ—इस प्रकारकी वासना मूढ पुरुषोंके हृदयमें व्यर्थ ही उत्पन्न हुआ करती है, जैसे अज्ञानसे मरुभूमिमें सूर्यकिरणोंसे मृगतृष्णा उत्पन्न होती है। वास्तवमें असत्य होते हुए भी सत्य-सी दिखायी पड़नेवाली यह अविद्यारूपा वासना विषयोंकी अभिलाषासे युक्त मनरूप मत्त मृगको उसी प्रकार खींचती है, जिस प्रकार जलकी अभिलाषासे युक्त मृगको मृगतृष्णा खींचती है; किंतु उस अविद्या-रूपा वासनाका यथार्थ स्वरूप जान लेनेपर उसका विनाश हो जाता है। जैसे 'यह मृगतृष्णाका जल है' इस प्रकार तात्त्विक स्वरूपसे जान लेनेपर मृगतृष्णा तृषार्त्त मनुष्यको अपनी ओर नहीं खींचती, उसी प्रकार 'यह अविद्या है' इस प्रकार तत्त्वतः जान लेनेपर अविद्या मन-को नहीं खींच सकती। श्रीराम! जैसे दीपकसे अन्धकार नष्ट हो जाता है और प्रकाश आ जाता है, वैसे ही परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे वासना समूल (अविद्यासहित) नष्ट हो जाती है और परमात्माका वास्तविक स्वरूप प्रकाशित हो जाता है। अविद्याका अस्तित्व किसी प्रकार नहीं है—इस तरह शास्त्र और युक्तिसे दृढ निश्चय हो जानेपर अविद्याका तत्क्षण विनाश हो जाता है। इस जड देहके लिये भोगोंसे क्या प्रयोजन है—इस प्रकारके निश्चयसे युक्त तत्त्वज्ञ पुरुष इच्छाओंके कारणरूप अपने अज्ञानको विनष्ट कर देता है। जैसे राज्य मिल जानेपर दरिद्र मनुष्य परम शान्तिको पा लेता है, वैसे ही यह तत्त्वज्ञ पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है। जैसे प्रशान्त समुद्र अपने स्वरूपमें सदा अचल स्थित रहता है, उसी प्रकार वह अपने विज्ञानानन्दघन स्वरूपमें ही नित्य अचल स्थित रहता है। जैसे मेरु पर्वत स्थिरता और धीरताको धारण करता है, वैसे ही तत्त्ववेत्ता पुरुष स्थिरता और धीरताको धारण करता है। वह तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुष अपने विज्ञानानन्दघन स्वरूपमें ही सदा परम शान्त और परम तृप्त रहता है तथा वह तत्त्वज्ञ महापुरुष उस सम्पूर्ण भूतोंके आत्मस्वरूप, सर्वत्र व्यापक, सबके नियन्ता, सबके नायक, सर्वाकार और निराकार सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपको अपना आत्मा जान लेता है। तत्त्ववेत्ता पुरुष विषयी पुरुषोंके सङ्ग और विषयोंकी आसक्तिसे रहित, मान और मानसिक चिन्ताओंसे शून्य, परमात्मामें ही रत तथा विज्ञानानन्दसे परिपूर्ण और विशुद्ध अन्तःकरणसे युक्त होता है। वह आत्मज्ञानी महात्मा कामरूपी कीचड़से मुक्त, बन्धनस्वरूप आत्मभ्रमसे शून्य तथा हर्ष-शोक, राग-द्वेषादि द्वन्द्वरूप दोष और भयसे रहित होता है। अतएव वह संसार-समुद्रसे तर चुका होता है। वह तत्त्वज्ञ विद्वान् सर्वोत्तम परम शान्तिको, दुर्लभ परम पदको तथा अनावृत्ति-रूप परम गतिको प्राप्त है। सभी लोग मन, वाणी और कर्मद्वारा इस महापुरुषके आचरणोंके अनुकरणकी इच्छा करते हैं; पर वह किसी प्रकारकी इच्छा नहीं करता। सभी मनुष्य इसके आनन्दका अनुमोदन करते हैं, पर वह किसीका भी अनुमोदन नहीं करता—उदासीन रहता है। तत्त्वज्ञ पुरुष न तो त्याग करता है न ग्रहण; न किसीकी स्तुति करता है न किसीकी

निन्दा, न मरता है न जन्म लेता है, न हर्ष करता है और न शोक। वह समस्त आरम्भों, सम्पूर्ण विकारों और सारी आशा, इच्छा, वासना आदिसे रहित पुरुष 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है।

श्रीराम! मनुष्यको न राज्यसे, न स्वर्गसे, न चन्द्रमासे, न वसन्तसे और न कान्ताके कमनीय संसर्गसे ही वैसे उत्तम सुख-शान्ति प्राप्त होते हैं, जैसे आशा-त्यागसे, क्योंकि आशाका त्याग ही सबसे बढ़-चढ़कर सुख-शान्ति है। जिस परम निर्वाणरूप मोक्षके लिये तीनों लोकोंकी सम्पत्तियाँ तिनकेकी तरह कुछ भी काम नहीं देतीं, वह आशाके त्यागसे ही प्राप्त होता है। जिसके हृदयमें आशा अपना स्थान कभी नहीं जमा सकती, सम्पूर्ण त्रिभुवनको तृणके सदृश समझनेवाले उस विरक्त पुरुषकी उपमा किससे दी जा सकती है? अर्थात् किसीसे नहीं। मेरे लिये यह होना चाहिये और यह नहीं होना चाहिये—इस प्रकारकी इच्छा जिसके चित्तमें नहीं होती, उस स्वाधीन चित्तवाले ज्ञानी महात्मा पुरुषकी मनुष्य कैसे तुलना कर सकते हैं? श्रीराम! तुममें न तो आशाओंका अस्तित्व है और न तुम्हारा आशाओंसे किसी तरहका सम्बन्ध ही है। तुम इस जगत्‌को मिथ्या भ्रममात्र ही समझो; क्योंकि जैसे दौड़ते हुए रथमें लगे पहियोंके ऊर्ध्व और नीचे प्रदेशमें होनेवाला घुमाव नेमीका आश्रय लेनेवाले पिपीलिका आदि जीवोंके पतन, पेषण आदि अनर्थोंका ही कारण होता है, वैसे ही यह जगत् भी उसका आश्रय लेनेवाले (इसमें सत्य-बुद्धि रखनेवाले) जीवोंके जन्म-मरण आदि अनर्थोंका ही कारण है।

रघुनन्दन! यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मस्वरूप ही है, यहाँ नानारूपता है ही नहीं। जगत्‌को अद्वितीय परमानन्दस्वरूप जानकर धीर महात्मा तनिक भी खिन्न नहीं होते। इन पदार्थोंके समूहोंका जो यथार्थ—आत्मासे अभिन्न स्वरूप है, उसको जाननेसे ही पुरुष बुद्धिके परम विश्राम-स्वरूप नैराश्यको प्राप्त होता है। जैसे वीर केसरीके पाससे मृगी दूर भाग जाती है, उसी प्रकार तीव्र वैराग्यसे वीरताको प्राप्त अन्तःकरणसे युक्त पुरुषके पाससे यह संसारको मोहित करनेवाली माया दूर भाग जाती है—फिर उसके पास भी नहीं फटकती। जिस प्रकार वायु पर्वतको न आनन्द दे सकता है, न खेद और न धैर्यसे च्युत कर सकता है, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मा पुरुषको न तो विषयोपभोग आनन्द पहुँचा सकते हैं, न सांसारिक आपत्तियाँ हृदयमें खेद पहुँचा सकती हैं और न दृश्य-सम्पत्तियाँ धैर्यसे च्युत कर सकती हैं। जिसके प्रति युवती स्त्रियाँ अनुरक्त हैं, ऐसे उदारबुद्धि तत्त्वज्ञ महात्माके अन्तःकरणमें कामदेवके बाण छिन्न-भिन्न होकर धूलके समान हो जाते हैं—उन युवती स्त्रियोंका उसपर कोई असर नहीं होता। जो परमात्माके स्वरूपको जानता है और मन-इन्द्रियोंके वशमें नहीं है, उस महापुरुषको राग और द्वेष अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते। इस प्रकार वह जब राग-द्वेषके द्वारा तनिक-सा भी विचलित नहीं किया जा सकता, तब उनके द्वारा उसके आक्रान्त होनेकी तो बात ही क्या है। जो लता और वनिता-में एक-सी दृष्टि रखता है तथा जो पर्वतकी तरह अचल है, वह ज्ञानी-पुरुष इन तुच्छ विषयभोगोंमें उसी प्रकार रमण नहीं करता, जैसे बटोही मरुभूमिमें रमण नहीं करता। जिसका अन्तःकरण किसी भी भोग-पदार्थमें आसक्त नहीं है, वह तत्त्वज्ञानी महात्मा पुरुष बिना प्रयत्नके अपने-आप प्राप्त अनिषिद्ध भोग-पदार्थोंका केवल शरीररक्षाके लिये अनासक्तभावसे लीलापूर्वक सेवन करता है। काकतालीय-न्यायकी भाँति अनायास न्याययुक्त प्राप्त भोग आदि भोग-समूह आस्वादित होनेपर भी तत्त्वज्ञ धीर पुरुषको सुख-दुःख नहीं दे सकते; क्योंकि जिसने परमात्माकी प्राप्तिके मार्गको भलीभाँति जान लिया है, उस तत्त्वज्ञ महापुरुषको सुख-दुःख तनिक भी विचलित नहीं कर सकते। इन विनाशशील विषयोंको त्याज्य बुद्धिसे

देखनेवाला वह मृदु, दमनशील और सम्पूर्ण चिन्ता आदि ज्वरोंसे रहित ज्ञानी महापुरुष सब भूतोंमें अन्तरात्मास्वरूपसे स्थित आत्मपदका ही अवलम्बन कर स्थित रहता है। जैसे ऋतुओंके आने-जानेसे पर्वत विचलित नहीं होता, वैसे ही ज्ञानी महात्मा पुरुष कालानुसार, देशानुसार और क्रमानुसार आपत्तियों और सुख-दुःखोंके आनेपर भी विचलित नहीं होता। शरीरसे पृथक् आत्माका अपरोक्ष साक्षात्कार करनेवाले, नित्यानित्य वस्तुके यथार्थ विवेकसे सम्पन्न ज्ञानीके शरीरका छेदन करनेपर भी उसका कुछ भी छेदन नहीं होता; क्योंकि वह अपने विज्ञानानन्दघन स्वरूपमें ही नित्य स्थित रहता है। विशुद्ध प्रकाशस्वरूप परमात्माका एक बार यथार्थ ज्ञान हो जानेपर वह सदा ज्ञात ही रहता है, फिर उसका विस्मरण नहीं होता। अपने हृदयकी चिज्जडग्रन्थिका उच्छेद हो जानेपर मायाके तीनों गुणोंके द्वारा आत्माका पुनः बन्धन उसी प्रकार नहीं हो सकता, जैसे वृक्षसे टूटा हुआ फल किसीके द्वारा पुनः नहीं जोडा जा सकता। अविद्याका असली स्वरूप जान लेनेके अनन्तर कौन बुद्धिमान् पुरुष फिर उसमें डूबता (फँसता) है; क्योंकि सांसारिक वासना विवेकपूर्वक बुद्धिके विचारसे निवृत्त हो जाती है।

श्रीराम! तत्त्ववेत्ता पुरुष रूप-लावण्ययुक्त कामिनीको भी चित्रमें लिखित कान्ताकी प्रतिमाकी तरह ही समझते हैं, क्योंकि जैसे चित्रमें चित्रित कामिनीके केश, ओष्ठ आदि अवयव मषी, कुङ्कुम आदि रंग-स्वरूप पाँच भूतोंको छोड़कर और कुछ भी नहीं होते, उसी प्रकार रूप और लावण्यसे युक्त जीवित कामिनीके केश, ओष्ठ आदि भी पाँच भूतोंके स्वरूपसे अतिरिक्त दूसरे कुछ नहीं हैं। इसलिये कान्ता-प्रतिमा और जीवित कान्तामें तत्त्वतः समानता है—इस तत्त्वको जाननेवाले विवेकशील विरक्त महात्मा पुरुषका जीवित कान्ताके उपभोगमें आग्रह कैसे हो सकता है। जैसे परपुरुषमें व्यसन (आसक्ति) रखनेवाली नारी, घरके काम-काजमें व्यग्र रहनेपर भी उसी परपुरुष-सम्बन्धरूप रसायनका अपने अंदर आस्वाद लेती रहती है, उसी प्रकार व्यवहार करते हुए भी विशुद्ध परब्रह्मतत्त्वमें उत्तम विश्रामको प्राप्त धीर तत्त्वज्ञ पुरुष उस विज्ञानानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें ही मग्न रहता है; फलतः वह इन्द्रादि देवताओंके द्वारा प्रलोभित किये जानेपर भी विचलित नहीं होता। क्योंकि जिस महात्माकी अविद्या निवृत्त हो गयी है, जिसको परमात्मविषयका अच्छी प्रकार ज्ञान है तथा जो सदाचारसे युक्त है, वह महात्मा सुचारुरूपसे व्यवहार करता हुआ भी अपने अन्तरात्मामें प्रसन्न रहता है। उसके शरीरका छेदन होनेपर भी उसका छेदन नहीं होता, गिरते हुए अश्रुओंसे युक्त होता हुआ भी वह रोता नहीं, दग्ध होता हुआ भी दग्ध नहीं होता और देहका विनाश होनेपर भी उसका विनाश नहीं होता; क्योंकि वह देहसे रहित हुआ सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके स्वरूपमें नित्य स्थित है। श्रीराम! वह तत्त्वज्ञ पुरुष प्रारब्धभोगके विधानके अनुसार चाहे दरिद्र-अवस्थामें रहे या संकटावस्थामें, उत्तम नगरके महलमें रहे या विस्तृत पहाड़ या वनमें, वह सदा-सर्वदा सुख-दुःखके उपद्रवसे रहित ही होता है। (सर्ग ७४)

मनुष्य, असुर, देव आदि योनियोंमें होनेवाले हर्ष-शोकादिसे रहित जीवन्मुक्त महात्माओंका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! अपने राज्यके व्यवहारमें तत्पर होते हुए भी राजा जनक सम्पूर्ण चिन्तारूप ज्वरसे तथा अन्तःकरणकी व्याकुलतासे रहित होकर ही सदा-सर्वदा स्थित हैं। आपके पितामह महाराज दिलीपने अनेक तरहके उचित सांसारिक कर्मोंको सुचारुरूपसे करते हुए भी आसक्तिसे रहित होकर ही

दीर्घकालतक पृथ्वीका पालन किया। तथा राग आदि दोषोंसे रहित होनेके कारण आत्मज्ञानको प्राप्त तथा सदा जीवन्मुक्त-स्वरूप महाराज मनुने चिरकालतक प्रजाओंका संरक्षण करते हुए राज्यका पालन किया। विचित्र सैन्य और बाहुबलके प्रयोगसे युक्त युद्धों तथा अनेक व्यवहारोंको निष्काममावसे दीर्घकालतक करते हुए महाराज मान्धाता परम पदको प्राप्त हुए। पातालके राज्यसिंहासनपर आसीन, सदा त्यागी, सदा अनासक्त राजा बलि यथार्थ-रूपसे व्यवहारको करते हुए भी जीवन्मुक्तरूपसे स्थित हैं। दानवोंके अधिपति नमुचि देवताओंके साथ युद्ध करते हुए तथा सदा नाना प्रकारके व्यवहार एवं विचार-विमर्शों-में तत्पर होते हुए भी भीतरसे संतप्त (खिन्न) नहीं होते थे। इन्द्रके युद्धमें अपने शरीरका परित्याग करनेवाले विशाल-हृदय मानी वृत्रासुरने प्रशान्तमन होकर ही देवताओंके साथ युद्ध किया। पाताललोकका परिपालन करते समय दानवोचित कर्मोंका अनासक्त भावसे अनुष्ठान करते हुए भक्तप्रवर प्रह्लाद अविनाशी अनिर्वचनीय परमानन्दस्वरूप परमपदको प्राप्त हुए। समस्त देवताओंके मुखस्वरूप अग्नि क्रियासमूहमें तत्पर होते हुए यज्ञिय शोभाका चिरकालतक उपभोग करते हैं तथापि वे मुक्त होकर ही इस त्रिभुवनमें निवास करते हैं। जगत्के प्राणिसमूहोंके अङ्गोंका चिरकालसे संचरण कराते हुए भी वायु, जो सदा-सर्वदा सर्वत्र संचरण करनेवाले हैं, मुक्त ही स्थित हैं। ज्ञानरूप रत्नोंके एकमात्र समुद्र, तीक्ष्णबुद्धि, वीरवर स्वामी कार्तिकेयने मुक्त होते हुए भी तारकादि असुरोंसे युद्ध किया। महामुनि नारद मुक्त-स्वभाव होते हुए भी इस जगत्में कार्यशील और शान्त बुद्धिसे विचरण किया करते हैं। जीवन्मुक्त होकर ही अनासक्तभावसे सहस्रमुख नागराज शेष पृथ्वीको धारण करते हैं, सूर्य दिवस-परम्पराओंका निर्माण करते हैं और यमराज धर्माधर्म-विचारपूर्वक लोगोंका नियमन करते हैं। इन पूर्वोक्त महानुभावोंके सिवा दूसरे भी सैकड़ों महात्मा यक्ष, राक्षस, मनुष्य और देवता इस त्रिभुवनमें मुक्तस्वरूप हुए ही संसारमें अनासक्त भावसे विचरण करते हैं। विचित्र आचार-व्यवहारोंमें स्थित कितने ही पुरुष भीतर शान्तिसे युक्त हैं, जब कि कुछ तामसी मूढ़ पुरुष तो मोहमें मग्न हुए पत्थरके सदृश बने रहते हैं। कुछ महात्माओंने परम ज्ञानका सम्पादन करके तपोवनका आश्रय लिया, जैसे—'भृगु, भरद्वाज, विश्वामित्र, शुक आदि। कुछ महात्मा परम ज्ञान प्राप्तकर राज्योंमे ही छत्र, चवँर धारण किये रहते हैं—जैसे जनक, शर्याति, मान्धाता, सगर आदि। कुछ तत्त्वज्ञ आकाशमें ग्रह, नक्षत्र आदिके आधारभूत ज्योतिश्चक्रके मध्यमें स्थित हैं—जैसे बृहस्पति, शुक्राचार्य, चन्द्र, सूर्य, सप्तर्षि आदि। तिर्यक् योनियोंमें भी सदासे कृतबुद्धि महात्मा रहते हैं और देवयोनियोंमें भी मूर्खबुद्धिवाले लोग विद्यमान हैं। जिसका अत्यन्त व्यापक स्वरूप है, उस सर्वस्वरूप परमात्मामें सब कुछ सर्वभावसे सर्वत्र सब प्रकारसे सदा ही सम्भव है।

श्रीराम! मुक्ति हो जानेपर फिर इस संसारमें किसी प्रकार जन्मकी प्राप्ति सम्भव नहीं। किंतु करोड़ों मनुष्य आत्माके ज्ञानका अभाव होनेसे ही अज्ञानमें निमग्न रहते हैं। रघुकुलतिलक! मुक्ति होनेपर इस संसारमें विज्ञानानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति सदा ही बनी रहती है, इसलिये आत्मा-अनात्माके यथार्थ विवेक-विज्ञानको प्राप्त करके करोड़ों मनुष्य विमुक्त हो चुके हैं। ज्ञानसे मुक्ति सुलभ है और अज्ञानसे दुर्लभ। अतः जिसको मुक्तिकी अभिलाषा हो, उसे आत्मज्ञानके लिये प्रयत्न करना चाहिये। आत्मज्ञानसे सम्पूर्ण दुःखोंका सर्वथा विनाश हो जाता है। इस वर्तमान कालमें भी रागशून्य, भयरहित महाबुद्धिमान् राजा सुहोत्र और जनक आदिके समान अनेक जीवन्मुक्त महापुरुष विद्यमान हैं। इसलिये श्रीराम! तुम भी ज्ञान-वैराग्यसे उत्पन्न धीरबुद्धिसे युक्त, मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णमें समदृष्टि तथा जीवन्मुक्त हुए विचरण करो।

जनकका तमालकी झाड़ीमें छिपे सिद्धोंके गीत-श्रवण

(उपशम-प्रकरण सर्ग ८)

रघुनन्दन ! इस लोकमें देहधारी जीवोंकी दो प्रकारकी मुक्ति होती है—एक तो सदेह मुक्ति और दूसरी विदेह-मुक्ति। अब तुम इनका विभाग सुनो। निष्पाप श्रीराम ! पदार्थों (विषयों)-के असङ्गसे जो मनकी शान्ति होती है, वही विमुक्तता है। वह विमुक्तता देहके रहते हुए और देहावसान होनेपर ही होती है। जो विद्वान् विषय-स्नेह-से रहित होकर जीता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है एवं जो विषय स्नेहसे युक्त होकर जीता है, वह बद्ध कहलाता है। इन दोनोंसे भिन्न तीसरा जो देहत्यागके पश्चात् ब्रह्ममें विलीन हो जाता है, वह विदेही तो मुक्त है ही। इसलिये मनुष्यको मोक्षके लिये युक्ति और प्रयत्नपूर्वक साधन करना चाहिये। युक्ति और प्रयत्नके बिना तो गायका खुर टिके, इतनी भूमि भी नहीं लाँघी जा सकती। (सर्ग ७५)

स्त्रीरूप तरङ्गसे युक्त संसाररूपी समुद्र, उससे तरनेके उपाय और तरनेके अनन्तर सुखपूर्वक विचरणका वर्णन, जीवन्मुक्त महात्माओंके गुण, लक्षण और महिमा

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! यह जगत् ब्रह्मसे ही उत्पन्न होता है, अविवेकसे स्थिरताको प्राप्त होता है और परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे निश्चय ही प्रशान्त हो जाता है; क्योंकि परमात्माका यथार्थ ज्ञान न होना ही संसारकी स्थितिमें कारण है और परमात्माका यथार्थ ज्ञान ही उस संसारके विनाशमें कारण है। यह संसार-सागर ऐसा घोर है कि इससे पार हो जाना अत्यन्त दुष्कर है; युक्ति और प्रयत्नके बिना इसका तरण नहीं किया जा सकता। यह संसाररूपी सागर है। इसमें मुग्ध अङ्गनारूपी विस्तृत तरङ्गें हैं। ये स्त्रीरूपी तरङ्गें ओठोंकी शोभारूप पद्मराग-मणियोंसे युक्त, नेत्ररूपी नील-कमलोंसे परिपूर्ण, स्मित-रूपी फेनोंसे सुशोभित, दाँतरूपी प्रफुल्लित पुष्पोंसे अलंकृत, केशरूपी इन्द्रनीलमणियोंसे सुसज्जित, भौंहोंके विलासरूपी वायुसे आन्दोलित. नितम्बरूपी पुलिनोंसे युक्त, कण्ठरूपी शङ्खोंसे विभूषित, ललाटरूपी मणिसमूहोंसे सुशोभित, विलासरूपी ग्राहोंसे सकुल, कटाक्षोंकी चपलताके कारण अति गहन तथा देहकान्तिरूपी सुवर्ण-बालुकासे युक्त हैं। इस प्रकारकी अति चञ्चल लहरियोंके कारण जो अत्यन्त भयंकर है—ऐसे सागरमें निमग्न हुआ पुरुष यदि पार हो जाय तो वह परम पुरुषार्थ ही है। शुद्ध और तीक्ष्ण बुद्धिरूपी बड़ी नौका और विचारपूर्वक विवेकरूपी नाविकके रहते हुए भी जो मनुष्य इस संसार-सागरसे पार नहीं हुआ, उस पुरुषको धिक्कार है। श्रीराम ! जो मनुष्य श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ परब्रह्मका विचार करके तथा बुद्धिसे संसार-सागरका तत्त्व समझकर जगत्में विचरण करता है, वही वास्तविक शोभा पाता है। इस संसारमें तुम धन्य हो, जो इस बाल-अवस्थामें ही विवेकयुक्त बुद्धिसे इस संसारके विषयमें विचार करते हो। जिसने तत्त्वको जान लिया है, उस पुरुषके बल, बुद्धि और तेज उसी प्रकार बढ़ते हैं, जिस प्रकार वसन्त ऋतुमें वृक्षोंके सौन्दर्य आदि गुण बढ़ते हैं। रघुनन्दन ! तुम जानने योग्य वस्तुको जानते हो। इस कारण इस समय तुम चिन्मय घनीभूत आनन्दामृत रसायनसे परिपूर्ण सुशीतल (त्रिविध तापोंसे रहित), विशुद्ध और सम शोभासे पूर्ण चन्द्रमाकी तरह अत्यन्त सुशोभित हो रहे हो।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिवर ! जिसने ब्रह्मतत्त्वरूप चमत्कारका अपरोक्ष साक्षात्कार कर लिया है, ऐसे तत्त्वज्ञानी पुरुषका उदार चरित्र आप मुझसे सारूपमें कहिये; क्योंकि आपके वचनोंसे तृप्ति किसको हो सकती है।

श्रीवसिष्ठजी बोले—महाबाहु श्रीराम ! अनेक बार मैंने तुमसे जीवन्मुक्तके लक्षण कहे हैं, फिर भी मैं तुमसे कह रहा हूँ; सुनो। जिसकी समस्त अभिलाषाएँ

निकल गयी हैं, ऐसा आत्मवान् (तत्त्ववेत्ता) पुरुष उपरत हुआ ही इस दृश्यमान अखिल जगत्‌को सर्वत्र सदा असत्-सा देखता है। जिसने आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया है और जिसका मन विक्षेपरहित—शान्तियुक्त हो गया है, वह कैवल्यको प्राप्त महापुरुष आनन्दमें मग्न हुआ रहता है। शान्त बुद्धिसे सम्पन्न ज्ञानी महात्मा अन्तरात्मामें लीन दृष्टिसे जनताके व्यवहारोंको यन्त्रनिर्मित कठपुतलीके खेलके समान देखता है। तत्त्ववेत्ता पुरुष न भविष्यकी परवा करता है, न वर्तमानमें किसी पदार्थमें तन्मय होता है, न भूतकालीन वस्तुका स्मरण करता है और सब कुछ करता हुआ भी निर्लेप रहता है। तत्त्वज्ञानी सोता हुआ भी आत्मज्ञानमें जागता रहता है और जागता हुआ भी संसारसे निःस्पृह तथा उपरत रहता है। वह सब कुछ करता हुआ भी कर्तापनके अभिमानसे रहित होनेके कारण कुछ भी नहीं करता। सम्पूर्ण संसारकी आसक्तिसे शून्य और सदा-सर्वदा सम्पूर्ण कामनाओंसे रहित तत्त्ववेत्ता महात्मा सब कार्योंको करता हुआ भी समभावसे स्थित रहता है। वह तत्त्वज्ञ पुरुष उदासीन मनुष्यकी तरह स्थित रहता है। वह प्रारब्धानुसार प्राप्त हुई क्रियाओंमें न इच्छा करता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है और न प्रसन्न होता है। तत्त्वज्ञ महात्मा जब अपने मुखसे वाणीको प्रवृत्त करता है, तब पवित्र कथाओंको ही कहता है। उसका अन्तःकरण दीनतासे रहित रहता है। वह धीर बुद्धिवाला, प्रत्यक्ष आनन्दमें मग्न तथा दक्ष होता है और लोकमें उसके पुण्य चरित्रोंका वर्णन होता है। तत्त्वज्ञ उदार-चरित एवं उदार आकारसे युक्त, सम, सौम्य, सुखका समुद्र एवं सुस्निग्ध होता है; उसका स्पर्श शान्तिमय होता है और वह पूर्णचन्द्रकी तरह नित्य उदित रहता है। उसका न आवश्यक कर्मोंके तथा ऐहिक और आमुष्मिक फलके हेतुरूप कर्मोंके आरम्भसे, न कर्मोंके अभावसे, न बन्धनसे, न मोक्षसे, न पातालसे और न स्वर्गसे ही प्रयोजन होता है; क्योंकि सम्यक्-ज्ञानरूपी अग्निसे जिसके संदेहरूपी जाल विनष्ट हो गये हैं, उस तत्त्वज्ञ महात्माने समस्त जगत्‌की स्वरूपभूत अद्वितीय परमात्मरूप यथार्थ वस्तुको भली प्रकार जान लिया है।

जिसका अन्तःकरण भ्रान्तिसे रहित होकर समतारूप ब्रह्मके स्वरूपमें स्थित हो गया हो, वह आकाशकी तरह सभी दृष्टियोंमें न मरता है और न जन्मता है। देश और कालके अनुसार प्राप्त हुई क्रियाओंमें स्थित हुआ भी वह कर्मोंसे जनित सुख और दुःखकी प्राप्तिमें तनिक भी विकारवान् नहीं होता। वह प्राप्त हुई दुःखावस्थाकी उपेक्षा नहीं करता और न सुखावस्थाकी परवा ही करता है। न कार्योंके सफल होनेपर हर्षित होता है और न कार्योंके विनष्ट होनेपर खिन्न होता है। यदि सूर्य शीतल हो जाय, चन्द्रमा तपने लग जाय, अग्नि अधोमुख होकर जलने लगे, तो भी (इस प्रकारकी विपरीत घटनाएँ होनेपर भी) तत्त्वज्ञानी महात्माको आश्चर्य नहीं होता; क्योंकि तत्त्ववित् पुरुष यह जानता है कि चिन्मय परब्रह्म परमात्माकी ये असीम मायाशक्तियाँ इस प्रकार प्रस्फुरित हो रही हैं। इसलिये आश्चर्य-समूहोंके होनेपर भी उसको आश्चर्य नहीं होता। वह कभी भी दीनतायुक्त नहीं होता, न कभी उद्दण्ड होता है तथा न कभी उन्मत्त, खिन्न, उद्विग्न और हर्षयुक्त ही होता है। अर्थात् इन सब विकारोंका उसमें अत्यन्त अभाव होता है। उस परमात्मप्राप्त पुरुषके आकाशकी तरह अत्यन्त निर्मल, विशाल चित्तमें कोप आदि विकार उत्पन्न नहीं होते। सुख-दुःख दोनोंके क्षीण हो जानेसे उसके लिये हेय और उपादेय तथा शुभ और अशुभका भी विनाश हो जाता है; ऐसी स्थितिमें अनुकूल और प्रतिकूल कैसे रह सकते हैं। श्रीराम! तिलोंके भस्म हो जानेपर तेलकी कल्पना ही कैसे हो सकती है। इसी प्रकार मूलसहित मनके विनष्ट हो जानेपर संकल्पकी चर्चा ही

क्या है। रघुनन्दन! परमात्मासे पृथक् कोई भी पदार्थ नहीं है, इस प्रकारकी दृढ़ भावनाके कारण समस्त दृश्य पदार्थोंके संकल्प-विकल्पका अभाव करके सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित ज्ञानी महात्मा नित्यतृप्त तथा अपने निरतिशयानन्दस्वरूपसे आनन्दवान् होकर स्थित रहता है। (सर्ग ७६-७७)

चित्तके स्पन्दनसे होनेवाली जगत्‌की भ्रान्ति, चित्त और प्राण-स्पन्दनका स्वरूप तथा उसके निरोधरूप योगकी सिद्धिके अनेक उपाय

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! जैसे रात्रिमें जलती हुई लुकाठीको गोल घुमानेसे अग्निमय चक्र असत् होते हुए भी सत्-सा दिखायी पड़ता है, वैसे ही चित्तके संकल्पसे असत् जगत् सत्-सा दिखायी पड़ता है। जैसे जलके चारों ओर घूमनेसे जलसे पृथक् गोल—नाभिके आकारका आवर्त (भँवर) दिखायी पड़ता है, वैसे ही चित्तके संकल्प-विकल्पसे जगत् दिखायी पड़ता है। जैसे आकाशमें नेत्रोंके दोषसे असत् मोरके पंख और मोतीके समूह सत्य-से दिखायी पड़ते हैं, वैसे ही चित्तके संकल्पसे असत् जगत् सत्य-सा दिखायी पड़ता है। रघुनन्दन! जैसे शुक्लत्व और हिम, जैसे तिल और तेल, जैसे पुष्प और सुगन्ध तथा जैसे अग्नि और उष्णता एक दूसरेसे मिले हुए और अभिन्नरूप हैं, वैसे ही चित्त और संकल्प एक दूसरेसे मिले हुए और अभिन्नरूप हैं। उनके भेदकी केवल मिथ्या कल्पना की गयी है। चित्तके विनाशके लिये दो उपाय शास्त्रोंमें दिखलाये गये हैं—एक योग और दूसरा ज्ञान। चित्तवृत्तिका निरोध योग है और परमात्माका यथार्थ अपरोक्ष साक्षात्कार ही ज्ञान है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! प्राण और अपानके निरोधरूप योग नामकी किस युक्तिसे और कब मन अनन्त सुखको देनेवाली परम शान्तिको प्राप्त करता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! जैसे जल पृथ्वीमें चारों ओरसे प्रवेश करके व्याप्त होता है, वैसे ही इस देहमें विद्यमान असंख्य नाडियोंमें चारों ओरसे जो वायु प्रवेश करके व्याप्त होता है, वह प्राणवायु है। स्पन्दनके कारण भीतर क्रियाके वैचित्र्यको प्राप्त हुए उसी प्राणवायुके अपान आदि नामोंकी योगी—विवेकी पुरुषोंने कल्पना की है। जैसे सुगन्धका पुष्प तथा जैसे शुक्लताका हिम आधार है, वैसे ही चित्तका यह प्राण आधार है। प्राणके स्पन्दनसे चित्तका स्पन्दन होता है और चित्तके स्पन्दनसे ही पदार्थोंकी अनुभूतियाँ होती हैं, जिस प्रकार जलके स्पन्दनसे चक्रकी तरह गोल आकारकी रचना करनेवाली लहरें उत्पन्न होती हैं चित्तका स्पन्दन प्राण-स्पन्दनके अधीन है। अतः प्राणका निरोध करनेपर मन अवश्य उपशान्त (निरुद्ध) हो जाता है—यह बात वेद-शास्त्रोंको जाननेवाले विद्वान् कहते हैं। मनके संकल्पका अभाव हो जानेपर यह संसार विलीन हो जाता है।

श्रीरामजीने पूछा—महाराज! देहरूपी घरमें स्थित हृदयादि स्थानोंमें विद्यमान नाडीरूपी छिद्रोंमें निरन्तर संचरण करनेवाले तथा मुख, नासिका आदि छिद्रोंमें निरन्तर गमनागमनशील प्राण आदि वायुओंका स्पन्दन कैसे रोका जा सकता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! शास्त्रोंके अध्ययन, सत्पुरुषोंके सङ्ग, वैराग्य और अभ्याससे सांसारिक दृश्य पदार्थोंमें सत्ताका अभाव समझ लेनेपर चिरकालपर्यन्त एकतानतापूर्वक अपने इष्टदेवके ध्यानसे और एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थितिके लिये तीव्र अभ्याससे प्राणोंका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। सुखपूर्वक रेचक, पूरक और कुम्भक आदि प्राणायामोंके दृढ़ अभ्याससे तथा एकान्त ध्यानयोगसे प्राणवायु निरुद्ध हो जाता है। ॐकारका उच्चारण और ॐकारके अर्थका चिन्तन करनेसे बाह्य विषयोंके ज्ञानका अभाव हो जानेपर प्राण-

वायुका स्पन्दन रुक जाता है। रेचक प्राणायामका दृढ़ अभ्यास करनेसे विशाल प्राणवायुके बाह्य आकाशमें स्थित हो जानेपर नासिकाके छिद्रोंको जब प्राणवायु स्पर्श नहीं करता, तब प्राणवायुका स्पन्दन रुक जाता है। इसीका नाम बाह्यकुम्भक प्राणायाम है। पूरकका दृढ़ अभ्यास करते-करते पर्वतपर मेघोंकी तरह हृदयमें प्राणोंके स्थित हो जानेपर जब प्राणोंका संचार शान्त हो जाता है, तब प्राण-स्पन्दन रुक जाता है। इसीका नाम आभ्यन्तर-कुम्भक प्राणायाम है। कुम्भकी तरह कुम्भक प्राणायामके अनन्तकालतक स्थिर होनेपर और अभ्याससे प्राणका निश्चल स्तम्भन हो जानेपर प्राणवायुके स्पन्दनका निरोध हो जाता है। इसीका नाम स्तम्भवृत्ति प्राणायाम है।*

जिह्वाके द्वारा तालुके मध्यभागमें रहनेवाली घण्टिकाको प्रयत्नपूर्वक स्पर्श करनेसे जब प्राण ऊर्ध्वरन्ध्रमें (ब्रह्मरन्ध्र अर्थात् कपाल-कुहरमें, जो सुषुम्णाके ऊपरी भागका द्वार कहा जाता है) प्रविष्ट हो जाता है, तब प्राणवायुका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। समस्त संकल्प-विकल्पोंसे रहित होनेपर कोई भी नाम-रूप नहीं रहता, तब अत्यन्त सूक्ष्म चिन्मय-आकाशरूप परमात्माके ध्यानसे बाह्याभ्यन्तर सारे विषयोंके विलीन हो जानेपर प्राणवायुका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। † नासिकाके अग्रभागसे लेकर बारह अंगुल-

---

* रेचक, पूरक और कुम्भक—इन तीनों प्राणायामोंका योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिने इस प्रकार वर्णन किया है।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।
(योग० साधन० ४९)

'आसन सिद्ध होनेके बाद श्वास और प्रश्वासकी गतिका रुक जाना 'प्राणायाम' है। तात्पर्य यह कि प्राणवायुका शरीरमें प्रविष्ट होना श्वास है और बाहर निकलना प्रश्वास है। इन दोनोंकी गतिका रुक जाना—प्राणवायुकी गमनागमनरूप क्रियाका बंद हो जाना ही प्राणायामका समान्य लक्षण है।

इस प्राणायामके तीन भेद हैं—

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।
(योग० साध० ५०)

'उक्त प्राणायाम बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भ-वृत्ति—ऐसे तीन प्रकारका होता है तथा वह देश, काल और संख्याद्वारा देखा जाता हुआ लंबा और हल्का होता जाता है।'

प्राणवायुको शरीरसे बाहर निकालकर बाहर ही जितने कालतक सुखपूर्वक—रुक सके, रोके रखना और साथ-ही-साथ इस बातकी भी परीक्षा करते रहना कि वह बाहर आकर कहाँ ठहरा है, कितने समयतक ठहरा है और उतने समयमें स्वाभाविक प्राणकी गतिकी कितनी संख्या होती है—यह 'बाह्यवृत्ति प्राणायाम' है। इसे रेचक भी कहते हैं; क्योंकि इसमें रेचनपूर्वक प्राणको रोका जाता है। अभ्यास करते-करते यह दीर्घ (लंबा) बहुत कालतक रुके रहनेवाला और सूक्ष्म (हल्का)—अनायाससाध्य हो जाता है।

प्राणवायुको भीतर ले जाकर भीतर ही जितने कालतक सुखपूर्वक रुक सके, रोके रखना और साथ-साथ यह देखते रहना कि आभ्यन्तर देशमें कहाँतक जाकर प्राण रुकता है, वहाँ कितने कालतक सुखपूर्वक ठहरता है और उतने समयमें प्राणकी स्वाभाविक गतिकी कितनी संख्या होती है—यह 'आभ्यन्तरवृत्ति प्राणायाम' है। इसे 'पूरक' प्राणायाम भी कहते हैं; क्योंकि इसमें शरीरके अंदर ले जाकर प्राणको रोका जाता है। अभ्यासबलसे यह भी दीर्घ और सूक्ष्म होता जाता है।

शरीरके भीतर जाने और बाहर निकलनेवाली जो प्राणोंकी स्वाभाविक गति है, उसे प्रयत्नपूर्वक बाहर या भीतर लाने अथवा ले जानेका अभ्यास न करके प्राणवायु स्वभावसे बाहर निकला हो या भीतर गया हो—जहाँ हो वहीं उसकी गतिको स्तम्भित कर देना (रोक देना) और यह देखते रहना कि प्राण किस देशमें रुके हैं, कितने समयतक सुखपूर्वक रुके रहते हैं, इस समयमें स्वाभाविक गतिकी कितनी संख्या होती है—यह 'स्तम्भवृत्ति प्राणायाम' है; इसे 'कुम्भक' प्राणायाम भी कहते हैं। अभ्यासबलसे यह भी दीर्घ और सूक्ष्म होता है।

† इस प्राणायामका वर्णन योगदर्शनमें यों किया गया है—

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। (योग० साधन० ५१)

'बाहर और भीतरके विषयोंका त्याग कर देनेसे अपने-आप होनेवाला चौथा प्राणायाम है।'

भाव यह है कि बाहर और भीतरके विषयोंके चिन्तनका त्याग कर देनेसे—इस समय प्राण बाहर निकल रहे हैं या भीतर जा रहे हैं अथवा चल रहे हैं कि ठहरे हुए हैं, इस जानकारीका त्याग करके मनको परमात्मामें लगा देनेसे देश, काल और संख्याके जानके बिना ही अपने-आप जो प्राणोंकी गति जिस किसी देशमें रुक जाती है, वह चौथा प्राणायाम है। यह अनायास होनेवाला राजयोगका प्राणायाम है।

पर्यन्त निर्मल आकाशभागमें नेत्रोंकी लक्ष्यभूत संवित्‌दृष्टि (वृत्तिज्ञान)- के शान्त हो जानेपर अर्थात् नेत्र और मनकी वृत्तिको रोकनेसे प्राणका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है।

अभ्याससे यानी योगशास्त्रोंमें प्रदर्शित पवन-निरोधके अभ्याससे ऊर्ध्वरन्ध्रके द्वारा (सुषुम्णामार्गसे) तालुके ऊपर जो ब्रह्मरन्ध्र है, उसमें स्थित प्राणवायु जब विलीन हो जाता है, तब प्राणवायुका स्पन्दन रुक जाता है। भृकुटीके मध्यमें चक्षु-इन्द्रियकी वृत्तिके शान्त होनेसे आज्ञाचक्रमें प्राणोंके विलीन हो जानेपर जब चिन्मय परमात्माका अनुभव हो जाता है, तब प्राणोंका स्पन्दन रुक जाता है। ईश्वरके अनुग्रहसे तुरंत उत्पन्न हुए दृढीभूत तथा समस्त विकल्पांशोंसे रहित परमात्मज्ञानके हो जानेपर प्राणोंका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। मननशील श्रीरामजी ! हृदयमें स्थित एकमात्र चिन्मय आकाशस्वरूप परमात्माके ज्ञानसे, विषय-वासनाके अभावसे और मनके द्वारा परमात्माका निरन्तर ध्यान करनेसे प्राणोंका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—ब्रह्मन् ! इस जगत्‌में प्राणियोंके उस हृदयका स्वरूप क्या है, जिसमें यह सब दर्पणमें प्रतिबिम्बकी तरह स्फुरित होता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! इस जगत्‌में प्राणियोंके दो प्रकारके हृदय हैं—एक उपादेय और दूसरा हेय। अब तुम इनका विभाग सुनो। इयत्तारूपसे परिच्छिन्न इस देहमें वक्षःस्थलके भीतर शरीरके एक देशमें स्थित जो हृदय है, उसे तुम हेय हृदय जानो। चेतनमात्रस्वरूपसे स्थित हृदय (परमात्मा) को उपादेय कहा गया है। वह परमात्मा सबके भीतर और बाहर है और भीतर एवं बाहर नहीं भी है। अर्थात् संसारके प्रतीतिकालमें तो परमात्मा उसके भीतर और बाहर—सब जगह परिपूर्ण है और वास्तवमें वह संसारके भीतर-बाहर नहीं है; क्योंकि संसारका अत्यन्त अभाव है। अतः परमात्मा ही अपने आपमें नित्य स्थित है। वह उपादेय परमात्मा ही प्रधान हृदय है। उसीमें यह समस्त जगत् विद्यमान है, वही समस्त पदार्थोंका दर्पण है अर्थात् उसीमें यह संसार दर्पणमें प्रतिबिम्बकी ज्यों संकल्परूपसे स्थित है और वही सम्पूर्ण सम्पत्तियोंका कोष है। श्रीराम ! चेतन परमात्मा ही सभी प्राणियोंका हृदय कहा जाता है। जड और जीर्ण पत्थरके सदृश देहके अवयवका मास-खण्डरूप एक अंश वास्तविक हृदय नहीं है। इसलिये चेतनस्वरूप विशुद्ध हृदय—परमात्मामें वासनाओंसे रहित होकर बलपूर्वक चित्तको लगानेसे प्राणका स्पन्दन निरुद्ध हो जाता है। इन पूर्वोक्त उपायोंसे तथा अन्यान्य अनेक तत्त्वज्ञ आचार्योंके मुखसे उपदिष्ट नाना संकल्पोंसे कल्पित उपायोंसे प्राण-स्पन्द निरुद्ध हो जाता है। ये पूर्वोक्त योगविषयक युक्तियाँ अभ्यासके द्वारा ही श्रेष्ठ साधकके लिये संसारका उच्छेदन करनेमें बाधारहित उपाय हैं। भ्रू, नासिका, तालुसस्थान तथा कण्ठाग्र-प्रदेशसे लेकर बारह अङ्गुल-परिमित प्रदेशमें अभ्याससे प्राण लीन हो जाता है अर्थात् प्राणोंका निरोध हो जाता है। अभ्याससे ही पुरुष आत्माराम, वीतशोक तथा परमात्माकी प्राप्तिरूप भीतरी सुखसे पूर्ण होता है। उस परमपदरूप परमात्मामें यह समस्त जगत् विद्यमान है; उससे यह सब उत्पन्न हुआ है, वह समस्त जगत्‌का स्वरूपभूत है और वह इस जगत्‌के चारो ओर विद्यमान है। किंतु वास्तवमें उसमें न तो यह दृश्यमान समस्त जगत् विद्यमान है, न वह उससे उत्पन्न हुआ है और न जगत् उसका स्वरूप ही है। वास्तवमें इस प्रकारका जगत् है ही नहीं, प्रत्युत वह परमात्मा स्वयं ही अपने आपमें स्थित है। श्रीराम ! जो महाबुद्धिमान् ज्ञानी महात्मा पुरुष सारी सीमाओंके अन्तरूप उस परमपदका अवलम्बन करके स्थित रहता है, वह स्थितप्रज्ञ, तत्त्ववेत्ता, जीवन्मुक्त कहलाता है। जिस महात्माकी समस्त कामोपभोगकी

इच्छाएँ निवृत्त हो गयी हैं, जिसका सम्पूर्ण पदार्थोंमें अनुकूलता और प्रतिकूलतारूप संकल्प निवृत्त हो गया है तथा जिसका अन्त:करण समस्त व्यवहारोंमें हर्ष और विषादसे रहित तथा सम हो गया है एवं जिसका मन शान्त हो चुका है, वह महात्मा सब पुरुषोंमें श्रेष्ठ है। (सर्ग ७८)

चित्तके उपशमके लिये ज्ञानयोगरूप उपाय एवं विवेक-विचारके द्वारा चित्तका विनाश होने-पर ब्रह्मविचारसे परमात्माकी प्राप्ति

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्! उपर्युक्त दो उपायोंमेंसे आपने योगयुक्त पुरुषके चित्त-विनाशका ही निरूपण किया है। अब आप अनुग्रह करके मुझसे यथार्थ ज्ञानका सम्यक् प्रकारसे निरूपण कीजिये।

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम! इस जगत्में आदि और अन्तसे रहित प्रकाशस्वरूप परमात्मा ही है—इस प्रकार-का जो दृढ़ निश्चय है, उसी निश्चयको ज्ञानी महात्मागण सम्यक् ज्ञान यानी परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान कहते हैं। ये जो घट-पट आदि आकारोंसे युक्त पदार्थोंके सैकड़ों समूह हैं, वे सब परमात्मस्वरूप ही हैं; उससे भिन्न अन्य कुछ नहीं है—इस प्रकारका दृढ़ निश्चय ही परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान है। परमात्माका यथार्थ ज्ञान न होनेसे जन्म होता है और परमात्माके यथार्थ ज्ञान-से मोक्ष होता है। रज्जुका यथार्थ ज्ञान न होनेसे रज्जु सर्परूप प्रतीत होती है और उसका यथार्थ ज्ञान होनेसे रज्जु सर्परूप नहीं प्रतीत होती यानी रज्जु रज्जुरूप ही दिखायी पडती है। इस मुक्तिमें संकल्पसे सर्वथा रहित, समस्त विषयोसे रहित केवल चिन्मय परमात्मा ही सच्चिदानन्दरूपसे विराजमान रहता है; उससे अन्य कुछ भी नहीं रहता। इन तीनो लोकोंमें यथार्थ आत्मदर्शन इतना ही है कि यह सब जगत् परमात्मा ही है, ऐसा निश्चय करके पुरुष पूर्णताको प्राप्त हो जाय। उस परमात्मासे भिन्न न तो दृश्य जड जगत् है और न मन है। ब्रह्म ही यह दृश्य रूप बनकर चेष्टा कर रहा है। समस्त ब्रह्माण्ड एक चिन्मय आकाशरूप विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही है; अत. क्या मोक्ष है और क्या बन्धन है। जितने बड़े-से-बड़े पदार्थ हैं, उन सबसे भी ब्रह्म महान् है। जैसे काष्ठ, पाषाण और वस्त्र आदि सब कुछ पृथ्वी ही है—इस प्रकारका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर उनमें तनिक भी भेद नहीं रह जाता, वैसे ही परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर परमात्मासे भिन्न कोई वस्तु नहीं रहती। रघुनन्दन! आदि और अन्तमें जो अविनाशी, पूर्ण, शान्त-स्वरूप है, वास्तवमें वही सच्चिदानन्दघन परमात्मा है। जो महात्मा उस विशुद्ध परमात्माका अनुभव करके अन्त:स्थ बुद्धिसे सदा-सर्वदा स्थित रहता है, वह तत्त्वज्ञानी आत्माराम पुरुष भोगोके द्वारा बन्धनमें नहीं पड़ता। जैसे मन्द पवन पर्वतका भेदन नहीं कर सकते, वैसे ही जिस ज्ञानीने प्रकाशमान परमात्माका पूर्णरूपसे अनुभव कर लिया है, उस तत्त्वज्ञके अन्त:करणको काम आदि शत्रु तनिक भी भेदन (विचलित) नहीं कर सकते। जैसे जलसे बाहर निकली हुई मछलीको बगुले निगल जाते हैं, वैसे ही इस संसारमें आशाओमें निरत, मूढ़, अज्ञानी और अविचारी पुरुषको दु:ख निगल जाते हैं। श्रीराम! जैसे अनेक प्रकारके सरोवरोंमें-जल, फेन आदि जलसे पृथक् नहीं हैं, वैसे ही दृश्य जगत् ब्रह्मसे पृथक् नहीं है। केवल कल्पनाओमें ही नानात्व है, वास्तवमें नानात्व नहीं है—इस प्रकार विवेकपूर्वक भलीभाँति अर्थको जान लेनेवाला एक निश्चययुक्त ज्ञानी पुरुष विमुक्त कहा जाता है।

श्रीराम! अपने हृदयमें ब्रह्मविषयक विचार करनेवाले विवेकी वीतराग पुरुषकी सर्वदा सम्मुखस्थित सांसारिक भोगोंमें भी रुचि उत्पन्न ही नहीं होती। अधम नेत्र! स्त्री,

पुत्र आदिके सौन्दर्यस्वरूप रूपात्मक कीचड़का तुम आस्वादन मत करो। यह रूप क्षणमें ही विनष्ट हो जानेवाला है और तुम्हें भी विनष्ट कर देनेवाला है। नेत्र! जो उत्पत्ति-विनाशशील है और जो केवल देखने-मात्रमें ही रमणीय प्रतीत होता है, ऐसे मिथ्या रूप-सौन्दर्यका तुम उस अवश्यम्भावी मृत्युके मुखमें प्रवेश करनेके लिये आश्रय मत लो। जैसे वास्तवमें परस्पर असम्बद्ध मुख, दर्पण और प्रतिबिम्ब एक दूसरेसे सम्बद्ध प्रतीत होते हैं, वैसे ही वास्तवमें परस्पर एक दूसरेसे असम्बद्ध रूप, प्रकाश और मन एक दूसरेसे सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। जैसे दो काठ लाहके द्वारा एक दूसरेसे सश्लिष्ट हो जाते हैं, वैसे ही ये रूप, आलोक और संकल्प आदि मनन चित्तकी कल्पनासे एक दूसरेसे सश्लिष्ट हो जाते हैं। अपने चित्तका संकल्प-विकल्पात्मक तन्तु विवेकशील बुद्धिके द्वारा यत्नपूर्वक किये गये विवेक-विचाररूप अभ्याससे विनष्ट हो जाता है। फिर उस तन्तुके नष्ट हो जानेपर स्वभावतः ही अज्ञान-भावना प्रवृत्त नहीं होती। अज्ञानके विनाशसे क्षीण हुए मनमें फिर ये रूप, आलोक और मनन—कोई भी एक दूसरेसे संघटित नहीं होते। चित्त! तुम मिथ्या ही उछल-कूद मचाते हो। मैंने तुम्हारे उच्छेदके लिये उपाय ढूँढ निकाला है। तुम आदि और अन्त दोनोंमें नितान्त तुच्छ (क्षणभङ्गुर) हो, इसलिये वर्तमान कालमें भी विनष्ट ही हो। तुम इन्द्रियोंसे सम्बद्ध शब्द आदि पाँच विषयोंके द्वारा अपने भीतर क्यों वृथा उछल रहे हो? जो मनुष्य तुम्हें अपना मानता है, उसीके सामने तुम उछल-कूद कर सकते हो। किंतु दुष्ट चित्त! तुम्हारी उछल-कूदसे मुझे तनिक भी प्रसन्नता नहीं होती। तुम रहो चाहे जाओ, तुम न तो मेरे हो और न तुम जीते हो। विचार करनेपर अपने मिथ्या स्वभावसे तुम सदा मृतक ही हो। तुम साररहित जड, भ्रान्त और शठ हो। तुम्हारा आकार अत्यन्त विनाशशील है। अज्ञानस्वरूप तुम्हारे द्वारा अज्ञानी पुरुषको ही बाधा पहुँच सकती है, विचारवान् विवेकी पुरुषको नहीं।

जगत्‌रूपी-चित्त-वेताल! शठरूप तुम पहले ही नहीं थे, वर्तमान कालमें भी नहीं हो और आगे भी नहीं रहोगे। इस प्रकार तुम्हारी तीनों कालोंमें सत्ता नहीं है। बिना हुए ही तुम कायम हो। तुम्हें क्या लज्जा नहीं आती? चित्तरूपी वेताल! तृष्णारूपी पिशाचिनियों तथा क्रोध आदि गुह्यकोंके साथ तुम मेरे शरीररूपी घरसे बाहर निकल जाओ। बड़े आश्चर्यकी बात है कि महान् जड एवं क्षणभङ्गुर शठ मनने इस समस्त जन-समूहको विवश कर रक्खा है। अज्ञानी दीन चित्त! मैं आज तुमको मारता नहीं हूँ; क्योंकि तुम पहलेसे ही मर चुके हो, यह मैंने जान लिया है। चित्त मरा हुआ है; अतः उसका अस्तित्व ही नहीं है—यह मैंने आज जान लिया। इसलिये मैं चित्तके आश्रयका परित्याग करके केवल अपने आत्मामें ही स्थित हूँ। मनको देहरूपी घरसे क्षणभरमें निकालकर मैं इस वेतालरूप मनसे रहित हो भीतरसे स्वस्थ हुआ स्थित हूँ। भाग्यवश बहुत कालके अनन्तर अब मैंने विचाररूपी तलवारसे पीड़ितकर चित्तरूपी वेतालको, जो ताल वृक्षके सदृश ऊँचाईसे युक्त है, हृदय-मन्दिरसे हटा दिया है। चित्तरूपी वेतालके शान्त हो जाने और पवित्र पदवीको प्राप्त कर लेनेपर अब उत्तम भाग्यसे शरीररूपी नगरमें केवल मैं सुखपूर्वक स्थित हूँ। विवेक-विचाररूपी मन्त्रसे मन, चिन्ता और अहंकाररूपी राक्षसका विनाश हो गया। अब समस्त विभ्रमताओंसे रहित मैं केवल अपने स्वरूपमें ही स्थित हूँ। एक, कृतकृत्य, नित्य, विशुद्ध-स्वरूप तथा निर्विकल्प सच्चिदानन्दघन परमात्मरूप मुझको बार-बार नमस्कार है। विकारशून्य, नित्य, अंशरहित, सर्वस्वरूप तथा सर्वकालात्मक परमात्मस्वरूप मुझको बार-बार नमस्कार है। नाम और रूपसे रहित, प्रकाश

रूप, स्वयं अपने आपमें ही स्थित अद्वितीय सच्चिदानन्द-घन परमात्मस्वरूप मुझको ही बार-बार नमस्कार है। मननरहित, सम, अत्यन्त सुन्दर समस्त विश्वका आविर्भाव करनेवाले, वास्तवमें विश्वरहित, अनन्त, स्वस्वरूप, अजन्मा, जरारहित, समस्त गुणोंसे अतीत तथा अविनाशी विज्ञानानन्दघन परमेश्वरके स्वरूपको मैं प्रणाम करता हूँ।

रघुनन्दन! जैसे आकाशमें दृष्टिदोषसे प्रतीत होनेवाला वृक्ष भ्रमवश वृक्षरूपमें प्रतीत होता है, वास्तवमें वह विशुद्ध आकाशस्वरूप ही है, उससे पृथक् आकाश-वृक्ष नहीं है, वैसे ही चित्त अविद्यमान, जड और मायाका कार्य होनेसे निश्चयरूपसे असत् ही है, वह परमात्मासे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। जैसे नौकामें स्थित अज्ञानी बालकको तटवर्ती वृक्ष और पहाड़-में प्रतीत होनेवाली गति केवल भ्रान्तिसे ही दिखायी पड़ती है, वैसे ही अज्ञानी मनुष्यको यह चित्त दिखायी पड़ता है। किंतु आत्मज्ञानी तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें वह असन्मय ही है—है ही नहीं। मेरे समस्त संदेह शान्त हो चुके हैं, समस्त चिन्ताज्वरोंसे रहित होकर मैं स्वानुभाव-से ही इच्छाओंसे रहित हुआ स्थित हूँ। मेरा चित्त मर गया, तृष्णाएँ हट गयीं और मैं मोह तथा अहंकारसे रहित हो गया। इससे मैंने अपने स्वाभाविक—वास्तविक स्वरूपको जान लिया। जगत् शान्त होकर अद्वितीय परब्रह्मस्वरूप ही हो गया और नानात्व वास्तवमें है ही नहीं। जीवत्वसे तथा आदि और अन्तसे रहित पवित्र परमपदको मैं प्राप्त हो गया हूँ। अतः मैं सौम्य, सर्वत्र व्यापक, अतिसूक्ष्म, सनातन परमात्मस्वरूपसे स्थित हूँ। श्रीराम! इस प्रकारकी बुद्धिसे तत्त्वज्ञानी पुरुषको खाते, चलते, सोते और स्थित रहते सदा-सर्वदा सर्वत्र प्रतिदिन भलीभाँति विचार करना चाहिये। जिनका अन्तःकरण प्रमुदित है, जिनकी शरदृतुके चन्द्रमाकी तरह चमकीली मुखकान्ति है और जो प्राप्त हुए शास्त्रानुमोदित व्यवहारोंमें विहार करते हैं, वे असीम बुद्धिवाले महापुरुष इस संसारमें मान और मदसे रहित हुए सुख-पूर्वक विचरण करते हैं। (सर्ग ७९—८१)

वीतहव्य मुनिका एकाग्रताकी सिद्धिके लिये इन्द्रिय और मनको बोधित करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! मैंने तुम्हें जिस विचारका दिग्दर्शन कराया है, उस विचारको पहले विद्वान् संवर्त (बृहस्पतिके छोटे भाई) ने किया था। विन्ध्याचल पर्वतके ऊपर उसी आत्मतत्त्वज्ञ संवर्तने उक्त विचारको मुझसे कहा था। अब तुम इस दूसरी दृष्टिका, जो परमपदको प्रदान करनेवाली है, श्रवण करो। इसी दृष्टिसे महामुनि वीतहव्यने निश्शङ्क परमपदको प्राप्त किया था। एक समयकी बात है, महामुनि वीतहव्य संसार-रूपी भ्रम प्रदान करनेवाले घोर आधि-व्याधिमय आकार-युक्त सांसारिक क्रियाकलापोंसे वैराग्ययुक्त होकर विरक्त अवस्थाको प्राप्त हो गये और केवल निर्विकल्प समाधिसे प्राप्त होनेवाले परम उदार परब्रह्म परमात्माको जाननेकी इच्छासे ही उक्त महामुनिने अपने सांसारिक व्यवहारोंका त्याग कर दिया। तदनन्तर महामुनि वीतहव्यने स्वरचित पर्णकुटीमें प्रवेश किया। उस पर्णकुटीमें अपने द्वारा बिछाये गये सम और शुद्ध आसनपर वे बैठ गये। फिर बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंका परित्याग करते हुए उन महामुनिने विशुद्ध मनसे क्रमशः इस प्रकार विचार

किया—'कितने आश्चर्यकी बात है कि यह अत्यन्त चञ्चल मन किसी एक निश्चित विषयमें लगाया जानेपर भी क्षणभर भी उसी प्रकार स्थिर नहीं होता, जैसे तरङ्गोंके द्वारा बहाया गया पत्ता स्थिर नहीं होता। मन घटसे पटके ऊपर और पटसे उत्कट शकटके ऊपर कूद जाता है। यों यह चित्त विषयोंपर उसी प्रकार दौडता है, जिस प्रकार वृक्षोंके ऊपर बंदर दौडता है। इन्द्रियगण! तुम-लोग मनके ही अलग-अलग द्वार हो, अतएव निश्चित ही अधम और जड हो। मै तो सच्चिदानन्दघन परमात्म-स्वरूपमें स्थित हुआ साक्षीरूपसे सब कुछ कह रहा हूँ। चक्षुरादि इन्द्रियगण! आकारसे रहित तुमलोग मेरे सामने मिथ्या ही उछल-कूद कर रहे हो। तुमलोग अलातचक्रके सदृश और रज्जुमें सर्पभ्रमके सदृश मिथ्यारूप ही हो। जैसे सर्पोंसे डरा हुआ पथिक उनसे दूर रहता है, वैसे ही दोषरहित चेतन आत्मा इन्द्रियोंसे सर्वथा दूर रहता है। इन्द्रियगण! केवल चेतन सत्ताकी संनिधिसे ही तुम लोगोंकी परस्पर चेष्टा होती रहती है।

'मूर्ख मन! मैं चेतन हूँ' इस प्रकारकी तुम्हारी वासना मिथ्या और निरर्थक है; क्योंकि एक दूसरेसे अत्यन्त भिन्न धर्मवाले चेतन और जड मनकी एकता नहीं हो सकती। चित्त! अहंकारके उत्पन्न होनेपर 'यह शरीर मैं ही हूँ' इस प्रकारका जो तुम मिथ्या अभिमान करते हो, उसे छोड दो। मूर्ख! तुम कुछ भी नहीं हो; इसलिये क्यों व्यर्थ चञ्चल हो उठते हो? ज्ञान-स्वरूप चेतन आत्मा अनादि और अनन्त है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। इसलिये महामूर्ख! इस शरीरमें चित्त नामवाले तुम कहाँसे आये? मूर्ख चित्त! चक्षु आदि इन्द्रियगणोंका आश्रय करके तुम उपहासके पात्र मत बनो। तुम न तो कर्ता हो और न भोक्ता हो, किंतु जड हो। तुम अन्यके द्वारा—द्रष्टा-साक्षी आत्माके द्वारा जाने जाते हो। जो जडस्वरूप है, उसका अस्तित्व है ही नहीं। अतः उस जडमें ज्ञातापन, कर्तापन, भोक्तापन नहीं हो सकते। चित्त! तुम स्वयं ही जडरूप हो, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। भला, बतलाओ तो सही, जडमें कैसे कर्तापन रह सकता है। क्या पत्थरकी मूर्तियाँ भी किसी प्रकार नाच सकती हैं? जिसकी शक्तिसे जो किया जाता है, वह उसीके द्वारा किया हुआ होगा। पुरुषकी शक्तिसे दराती (हँसुआ) काटती है, पर काटनेवाला पुरुष कहलाता है। जिसकी शक्तिसे जिसका वध किया जाता है, वह उसीके द्वारा हत कहा जायगा। पुरुषकी शक्तिसे तलवार हनन करती है, पर हनन करनेवाला पुरुष ही कहा जाता है। जिसकी शक्तिसे जो पिया जाता है, वह उसीके द्वारा पिया गया कहा जायगा। पात्रके द्वारा जल आदि पिये जाते हैं; पर जो मनुष्य है, वही पीनेवाला कहा जाता है, पात्र नहीं। मेरे प्यारे चित्त! तुम स्वभावसे ही जड हो, पर उसी सर्वज्ञ साक्षीके द्वारा बोधित होते हो; क्योंकि जीवात्मा ही अपनेको अपनेसे भोक्ता, भोग्य, करण, उपकरण आदि जगत्‌के रूपमें स्वप्नकी तरह रचता है। इसने तुम

तत्त्वरहित हो, तुम मूढ हो और वास्तवमें तुम्हारा कोई अस्तित्व ही नहीं है । इसलिये तुम्हें 'मैं तत्स्वरूप ही हूँ' ऐसा दृढ़ाग्रहरूपी मिथ्याभाव नहीं करना चाहिये । वास्तवमें बाजीगरकी रची हुई ऐन्द्रजालिक लताके समान चित्तकी कल्पना मिथ्या है तथा इस ब्रह्माण्डमें एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्मका स्वरूप ही सर्वत्र विराजमान है ।

'अज्ञानी चित्त ! वह परमपद सर्वत्र व्यापक, सारे पदार्थोंमें स्थित और सबका स्वरूप है । उसकी प्राप्ति हो जानेपर मनुष्यको सदा-सर्वदा सभी कुछ प्राप्त हो जाता है । चित्त ! उस समय न तो तुम रहते हो और न देह ही पृथक् रहता है; किंतु एक महान् प्रकाशस्वरूप, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही अपने आपमें स्थित रहता है । स्वभावसे ही प्रकाशस्वरूप, सर्वत्र व्यापक, अद्वितीय चेतन परमात्माने ही इस समस्त ब्रह्माण्डको परिपूर्ण कर रक्खा है । इसलिये उसके सिवा दूसरी कोई कल्पना ही नहीं हो सकती । वही एक और अनेक—सबका प्रकाशक है, समस्तरूप है । उसी परमात्माने अपने आपमें संकल्पसे इस जगत्की रचना की है । ऐसी स्थितिमें कौन किसकी कैसे इच्छा करेगा ? किंतु चित्त ! तुम्हारे-जैसे मूर्खोंकी दृष्टिसे ही इस जगत्में व्यर्थ चञ्चलता उत्पन्न होती है, जिस प्रकार राजाकी स्त्री-को देखकर मूर्ख युवा पुरुषको मदमयी चञ्चलता उत्पन्न होती हैं । परंतु कल्पना और मननसे रहित आत्मामें कर्तृत्व कैसा । क्या कहीं आकाशमें पुष्प किसी तरह उत्पन्न हो सकता है ? जैसे आकाशमें हाथ, पैर आदि अङ्ग हो ही नहीं सकते, वैसे ही आत्मामें कर्तृत्व हो ही नहीं सकता; जैसे समुद्रमें तप्त अङ्गार नहीं रह सकता, वैसे ही परमात्मामें दूसरी कोई कल्पना रह ही नहीं सकती । इस प्रकार जब परमात्मदेवमें कल्पनाका अभाव है तथा मन एवं देह जड है, तब विवेकदृष्टिसे 'यह अन्य है, यह अन्य नहीं है; यह शुभ है, यह अशुभ है' इत्यादि असत् कल्पनाएँ नहीं रह सकतीं । ऐसी स्थितिमें सुन्दर चित्त ! विषयसे रहित चेतन परमात्मा ही सारभूत वस्तु है, दूसरी नहीं । चित्त ! जैसे आकाशमें वन नहीं है, वैसे ही पूर्वोक्त असत् कल्पनाएँ आत्मामें हैं ही नहीं । दृश्यसे रहित केवल चेतन ही इस जगत्के रूपमें विस्तृत हुआ है । इसलिये उसमें 'यह मै हूँ, यह अन्य है' इस प्रकारकी असत् कल्पनाएँ हो ही कैसे सकती हैं । अनादि, रूपरहित, सर्वगामी और व्यापक परमात्मामें कल्पनाओंका कौन कैसे आरोप कर सकता है । क्या कोई आकाशमें ऋग्वेद आदिको लिख सकता है ?'

(सर्ग ८२)

इन्द्रियों और मनके रहते समस्त दोषोंकी प्राप्ति तथा उनके शमनसे समस्त गुणोंकी और परमात्माकी प्राप्तिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! मुनियोंमें श्रेष्ठ धीर वीतहव्य मुनिने विशुद्ध धारणासे युक्त बुद्धिसे एकान्तमें स्थित होकर पुनः अपनी इन्द्रियोंको भलीभाँति इस प्रकार समझाया—'इन्द्रियगण ! मेरे पूर्वमें किये गये आत्मतत्त्वके उपदेशसे तुमलोगोंकी यह मिथ्याभूत सत्ता नष्ट ही हो गयी, ऐसा मै मानता हूँ; क्योंकि तुम अज्ञानसे उत्पन्न हुए हो । चित्त ! तुम देखो कि तुम्हारे कायम रहनेसे अज्ञानी मूर्खोंके राग-द्वेष आदि तरङ्गोंसे युक्त संसाररूपी नदियोंका समूह कालरूपी विशाल समुद्रमें प्रविष्ट हो रहा है । देखो ! एक दूसरोंके अहंकारसे होनेवाले एक दूसरोंके वध, पराजय, उत्पीड़न आदिकी चिन्ताओंसे युक्त दुःखकी पंक्तियाँ कहींसे उसी प्रकार गिर रही हैं, जिस प्रकार वृष्टिकी धाराएँ गिर रही हों । अपने विलासोंसे शब्द करता हुआ लोभरूपी पक्षी राग-द्वेषरूप अपने तीक्ष्ण ठोर-द्वारा इस जीर्ण शरीररूपी वृक्षके शम, दम आदि गुण-

समूहरूपी फल-पुष्पोंको कतर रहा है। अपवित्र, दुष्ट आचरण करनेवाला कामरूपी कर्कश मुर्गा हृदयके राग-द्वेष आदि दोषरूप कूड़ेके ढेरको इधर-उधर बिखेर देता है। मोहरूपी महारात्रिमें भयावह अज्ञानरूपी उल्लू हृदयरूपी वृक्षके ऊपर श्मशानमें वेताल्की भाँति चारों ओरसे प्रलाप कर रहा है। इन्द्रियगण! आप-लोगोंके विद्यमान रहनेपर ये और इनसे दूसरी भी बहुत-सी इच्छा, कामना, वासना, स्पृहा आदि अशुभ श्रियाँ रात्रिमें पिशाचिनियोंकी तरह उछल-कूद मचाती रहती हैं। चित्त! तुम्हारे विनाश होनेपर समता, शान्ति, सरलता, क्षमा, दया आदि सम्पूर्ण शुभ श्रियाँ ज्ञानरूपी प्रकाशसे युक्त हो उसी प्रकार पूर्णरूपसे प्रफुल्लित हो उठती हैं, जिस प्रकार प्रातःकालमें कमलिनियाँ। अब मोहरूपी तुषारसे रहित, रजोगुणरूप रेणुसे शून्य, निर्मल ज्ञानके प्रकाशसे युक्त हृदयाकाशरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्म शोभित हो रहा है। आकाशमण्डलसे गिरनेवाली और वायु आदिसे आकुलित वृष्टिधाराओंकी तरह दुःखदायी विकल्प-समूह अब नहीं गिरते। सबको आह्लादित करनेवाली, शान्त, परम पवित्र मित्रता हृदयमें उत्पन्न हो रही है।

'अज्ञानका विनाश होनेपर हृदयमें ज्ञानका प्रकाश उसी प्रकार प्रकट हो रहा है, जिस प्रकार शरत्कालमें मेघोंके शान्त हो जानेपर निर्मल आकाशमें सूर्यमण्डल प्रकट होता है। वायुके शान्त होनेपर समुद्र जैसे सम हो जाता है, वैसे ही प्रसन्न, विशाल, गम्भीरतासे युक्त, क्षोभशून्य तथा राग-द्वेष आदि दोषोंसे रहित वशमें किया हुआ मन सम हो जाता है। परमात्माकी प्राप्तिरूप अमृत-प्रवाहसे पूर्ण तथा अविनाशी आनन्दसे सम्पन्न पुरुष शान्तिसे युक्त रहता है। केवल सच्चिदानन्द परमात्मामें विश्राम हो जानेपर परमात्माके स्वरूपका पूर्णरूपसे अनुभव हो जाता है। चित्त! तुम्हारा स्वरूप अविचारके कारण ही कायम है। विवेकपूर्वक विचार करनेपर तुम कायम नहीं रहते। किंतु केवल एक समस्वरूप परमात्मा ही भलीभाँति समभावसे स्थित रह जाता है। विचार न करनेपर तुम उसी प्रकार उत्पन्न होते हो, जिस प्रकार प्रकाशके न रहनेपर अन्धकार। चित्त! विचारसे तुम्हारा स्वरूप उसी प्रकार विनष्ट हो जाता है, जिस प्रकार प्रकाशसे अन्धकार। क्योंकि जिसकी अविवेकसे उत्पत्ति होती है, उसका विवेकसे विनाश हो जाता है—जैसे प्रकाशसे अन्धकारका विनाश होता है और प्रकाशका अभाव होनेपर अन्धकार हो जाता है। तुम्हारी इच्छा न रहने-पर भी विचारके दृढ़ होनेपर मुक्तिकी सिद्धिके लिये तुम्हारा चारों ओरसे यह विनाश प्राप्त हुआ है। (अब वीतहव्य मुनि अपनी स्थितिका वर्णन करते हैं—) सौभाग्यवश मैं समस्त चिन्ता-ज्वरोंसे मुक्त हो गया हूँ, शान्त हो गया हूँ और चारों ओरसे तृप्त हो गया हूँ। मैं तुरीयपदरूप परमात्मस्वरूप अपनी आत्मा-में स्थित हो गया हूँ। इसलिये यह निश्चय हुआ कि इस संसारमें जिसकी स्थिति विवेकपूर्वक विचार करनेपर कायम हो ही नहीं सकती, वह चित्त है ही नहीं, है ही नहीं। किंतु परमात्मा तो अवश्य ही है, अवश्य ही है। परमात्माको छोड़कर और कुछ भी उससे भिन्न है ही नहीं। सब प्रकारके मलोंसे रहित आत्माके अंदर 'यह आत्मा है' इस प्रकारकी कल्पना ही नहीं हो सकती, यह मैं मानता हूँ; क्योंकि एक अद्वितीय आत्मामें इदं-रूपसे अन्य वस्तुकी सत्तासे होनेवाली कल्पना कैसे हो सकती है। इसी कारण 'मैं यह आत्मा हूँ' इस प्रकार कल्पना न करता हुआ मैं मौनी होकर उसी प्रकार अपने विज्ञानानन्दघन परमात्मस्वरूपमें स्थित हूँ, जिस प्रकार जलमें तरङ्ग। अतः उस वासनाशून्य, जीवके आश्रयसे रहित, प्राण-संचारसे रहित, भेदभावसे शून्य, दृश्यसे रहित, ज्ञानस्वरूप, मन और वाणीकी चेष्टासे शून्य विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त करके मैं परम शान्त हूँ।'

(सर्ग ८३)

वीतहव्य महामुनिकी समाधि और उससे जागना, छः रात्रितक पुनः समाधि, चिरकालतक जीवन्मुक्त स्थिति, उनके द्वारा दुःख-सुकृत आदिको नमस्कार और उनका परमात्मामें विलीन हो जाना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! इस प्रकार निर्णय करके वे मुनिवर वीतहव्य समस्त वासनाओंको छोड़कर विन्ध्य पर्वतकी गुफामें समाधि लगाकर उसमें अचल स्थित हो गये। उस समय महामुनि वीतहव्य

सब प्रकारके क्षोभसे शून्य परिपूर्ण चेतन विज्ञान आनन्दसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त सुशोभित हुए। उनका मन अत्यन्त विलीन हो गया था; अतएव वे ऐसे भले लगते थे, जैसे प्रशान्त समुद्र भला लगता है। जिस प्रकार ईंधनके जल जानेपर अग्निमें ज्वालाओंका संचरण शान्त हो जाता है, वैसे ही उन महामुनिका प्राणसंचार क्रमशः भीतर हृदयमें ही शान्त हो गया। समाधिमें स्थित महामुनि वीतहव्यके दोनो नेत्र ऐसे दिखायी पड़ते थे, जैसे उनकी वृत्ति नासिकाके अग्रभागमें दोनों ओर बराबर फैली हुई हो। महाबुद्धि वीतहव्यने अपने आसन-बन्धमें शरीर, सिर और ग्रीवाको समानरूपसे रक्खा था; इसलिये वे ऐसे जान पड़ते थे, जैसे पत्थरपर खोदी गयी या चित्रमें लिखी गयी मूर्ति हो। श्रीराम ! विन्ध्याद्रिके किसी झरनेके निकट गुफामें इस प्रकारकी समाधिमें स्थित महामुनि वीतहव्यके तीन सौ वर्ष आधे मुहूर्तकी तरह व्यतीत हो गये। परमात्मामें स्थित ध्यान-निमग्न उन मुनिने जीवन्मुक्तताके कारण इतने कालको कुछ भी नहीं समझा और अपने उस शरीरका त्याग भी नहीं किया। योगके रहस्यको जाननेवाले परम भाग्यशाली वे मुनि महान् मेघोंके चारो ओर फैलनेवाले शब्दोंसे, बरसती हुई वृष्टिकी धाराओंके गिरनेसे उत्पन्न घर-घर शब्दोंसे, सिंहोंके क्रोधपूर्वक गर्जनोंसे, झरनोंकी दिग्व्यापी घर्घराहटसे, भयंकर वज्रपातोंसे, मनुष्योंके घने कोलाहलोंसे, भूकम्पके द्वारा छिन्न-भिन्न हुए पर्वत-तटोंकी हलचलोंसे तथा अग्निकी तरह कर्कश ग्रीष्म आदिके तापोंसे भी उतने समयतक समाधिसे जागे नहीं। थोड़े ही समयमें उस पर्वतकी गुफामें वर्षाके कीचड़से ढके हुए महामुनि वीतहव्य पृथ्वीमें निमग्न-से प्रतीत होते थे। उस गुफाकी भूमिमें ये मुनि कीचड़से लथपथ होकर उसी प्रकार रहते थे, जिस प्रकार पर्वतके अंदर शिला। तदनन्तर तीन सौ वर्ष बीत जानेपर पृथ्वीकी गुफामें दबे हुए वे निग्रहानुग्रह-समर्थ तथा परमात्माको प्राप्त महामुनि स्वयं ही समाधिसे जाग गये। राघव ! तत्पश्चात् महामुनि वीतहव्यने सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मभाव होनेके कारण अनेक लोकोंका ब्रह्मरूपसे अनुभव किया और वर्तमान समयमें कर भी रहे हैं। श्रीराम ! आपका भी यह जगत् मनोमय, भ्रमतुल्य एवं परमार्थ-दशामें जिस प्रकार सच्चिदानन्दस्वरूप है, उसी प्रकार महामुनि वीतहव्यका भी वह जगत् मनोमय,

भ्रमतुल्य एवं परमार्थ-दशामें सच्चिदानन्दस्वरूप है। जबतक इस प्रकार जगत्‌को तत्त्वज्ञानद्वारा सच्चिदानन्द-रूप नहीं जाना जाता, तबतक वह हृदयमें वज्रसारकी तरह अत्यन्त दृढ़ रहता है; किंतु यथार्थरूपसे जान लिये जानेपर वह सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाता है।

श्रीराम! दिनकी समाप्तिके बाद मुनिने फिर भी मनकी एकाग्रतारूप समाधिके लिये उसी पूर्व-परिचित विन्ध्याद्रिकी गुफामें प्रवेश करके विचार किया—'शरीर, सिर और ग्रीवाको समानरूपसे रखकर दृढासन होकर मै पर्वतके शिखरकी तरह अचल बैठता हूँ। मनसे परे, चारो ओर स्थित, परिपूर्ण समान सत्ता और परम समतारूप सच्चिदानन्दघन परमात्मामें विकाररहित हुआ स्थाणुकी तरह मैं नित्य स्थित हूँ।' इस प्रकार चिन्तन करते हुए वे परमात्माके ध्यानमें छः दिनतक फिर स्थित रहे। तदनन्तर उसी प्रकार समाधिसे जाग गये, जिस प्रकार सोया हुआ पथिक जग जाता है। इसके बाद उन सिद्ध, महान् तपस्वी महात्मा वीतहव्यने जीवन्मुक्त अवस्थामें स्थित हुए ही चिरकालतक यत्र-तत्र विचरण किया। ये महामुनि वीतहव्य न तो किसी वस्तुकी स्तुति करते थे और न कभी किसीकी निन्दा ही करते थे। वे प्रतिकूलकी प्राप्तिमें कभी उद्विग्न नहीं होते थे तथा अनुकूलकी प्राप्तिमें हर्षित नहीं होते थे।

(अब वीतहव्य मुनि अपनी इन्द्रियोंके प्रति कहते हैं—) 'इन्द्रियगण! अब तुमलोग विनाशको ही प्राप्त हो जाओ। तुम्हारी सारी अभिलाषाएँ निष्फल हो गयी हैं। अब आश्रयरहित तुमलोग मुझपर आक्रमण करनेमें समर्थ नहीं हो। अब विस्मरण करनेयोग्य इस जड दृश्य संसारकी विस्मृति हो गयी है और स्मरण करने-योग्य परमात्माकी स्पष्टरूपसे स्मृति हो गयी है। जो सत्‌रूप परमात्मा था, वह सत् ही रहा तथा जो जड दृश्यवर्ग असत् था, वह असत् ही रहा।'

श्रीराम! इस प्रकारके विचारसे युक्त हो वे महान् तपस्वी मुनिश्रेष्ठ महात्मा वीतहव्य अनेक वर्षोंतक इस लोकमें स्थित रहे। जिसके प्राप्त होनेपर पुनर्जन्मके लिये चिन्ता विनष्ट हो जाती है और मूढता दूर भाग जाती है, उस विज्ञानानन्दघन परमात्मामें मुनि निरन्तर स्थित थे। त्यागने योग्य और ग्रहण करने योग्य पदार्थोंकी प्राप्ति हो जानेपर भी त्याग और ग्रहणकी बुद्धिका विनाश हो जानेके कारण महामुनि वीतहव्यका अन्तःकरण इच्छा और अनिच्छासे रहित हो गया था।

(तत्पश्चात् वे फिर अपने मन-ही-मन विचार करने लगे—) 'दुःख! तुम्हारेद्वारा संतप्त हुए मैंने अत्यन्त आदरसे आत्माका अनुभव किया है; मुझको तुमने ही सचेत कराकर इस मोक्षमार्गका उपदेश दिया है। अतः तुम्हें मेरा प्रणाम है। आश्चर्य है कि प्राणियोंके स्वार्थोंकी अत्यन्त विलक्षण गति है, जो आज मै भी सैकड़ों जन्मतक साथी रहकर अपने प्यारे मित्र इस शरीरसे अलग हो रहा हूँ। मातृरूप तृष्णे! अब हम दोनोंका संयोगके कारण ही सदाके लिये वियोग हो रहा है। इसलिये तुम्हें प्रणाम है। सुकृत (पुण्य)-देव! आपको मै प्रणाम करता हूँ। आपने ही पहले मेरा नरकोंसे उद्धार करके मुझे स्वर्गमें भेजा था। जिसके सम्बन्धसे मैंने दीर्घकालतक नाना योनियोंका उपभोग किया, उस अज्ञानको मै प्रणाम करता हूँ। सखी गुहातपस्विनि! संसाररूपी महामार्गमें खिन्न हुए मेरे लिये तुम ही अकेली आश्वासन देनेमें समर्थ, अत्यन्त स्नेहसे युक्त और समस्त लोकोंका नाश करनेवाली सखी हुई। इसलिये समाधिमें स्त्रीके सदृश व्यवहार करनेवाली उस गुहारूपी तपस्विनीको भी मै प्रणाम करता हूँ। संकट, गड्ढे और कुञ्जोंमें हाथको अवलम्बन देनेवाले, वृद्धावस्थाके एकमात्र मित्र दण्ड! तुम्हें मै प्रणाम करता हूँ। प्रिय प्राणसमुदाय! तुम सब प्रकृतिमें विलीन हो जाओ और मै सच्चिदानन्द ब्रह्ममें विलीन होता हूँ; क्योंकि जितने भी भोगसमूह हैं, वे अन्तमें नाशवान् है। जो

आज उन्नत है, उनका अन्तमें पतन निश्चित है एवं संसारमें जितने संयोग हैं, उनका भी अन्तमें वियोग निश्चित है ।'*

(अब प्रत्येक इन्द्रिय आदिके द्वारा प्राप्त करनेयोग्य प्रकृतिका विभागपूर्वक वर्णन करते हैं—) 'चक्षु-इन्द्रिय आदित्य-मण्डलमें प्रवेश करे, घ्राणेन्द्रिय पृथ्वीमें प्रविष्ट हो जाय, प्राणवायु वायुतत्त्वमें प्रविष्ट हो जाय, श्रोत्रेन्द्रिय आकाशमें प्रविष्ट हो जाय और रसनेन्द्रिय जलमें प्रविष्ट हो जाय । मै ओंकारकी अन्तिम अर्धमात्रासे लक्षित परब्रह्मस्वरूप परमात्मामें अपने-आप ही अन्तःकरणसे रहित हो शान्त हो रहा हूँ । अतः मै सम्पूर्ण कार्योंकी परम्परासे रहित, समस्त दृश्योंकी अवस्थाओंसे अतीत, उच्चारण किये हुए प्रणवकी ब्रह्मरन्ध्रमें विश्रान्तिका अनुसरण करके ब्रह्माकारताकी प्राप्तिसे उपरत-बुद्धि तथा अविद्यारूपी मलसे रहित हुआ स्थित हूँ ।'

(सर्ग ८४–८६)

महामुनि वीतहव्यकी ॐकारकी अन्तिम मात्राका अवलम्बन करके परमात्म-प्राप्तिरूप मुक्तावस्थाका तथा मुक्त होनेपर उनके शरीर, प्राणों और सब धातुओंका अपने-अपने उपादान-कारणमें विलीन होकर मूल-प्रकृतिमें लीन होनेका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! इस प्रकार धीरे-धीरे प्रणवका उच्चारण करते हुए महामुनि वीतहव्य संकल्प और इच्छाओंसे रहित होकर अन्तिम भूमिकाको प्राप्तकर अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रासे युक्त पादोके भेदसे ॐकारका स्मरण करते हुए ब्रह्मके स्वरूपमें संसारका जो अध्यारोप है, उसका बाध करके अर्थात् केवल ब्रह्मके सिवा अन्य कुछ नहीं है—इस प्रकार निश्चय करके अविनाशी विशुद्ध परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करते थे । कल्पित बाह्य और आभ्यन्तर स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर सम्पूर्ण त्रिलोकीके पदार्थोंका भी परित्याग करके वे क्षोभशून्य आकारवाले महामुनि वीतहव्य नित्य आत्मस्वरूपमें ही स्थित थे । वे पूर्णचन्द्रकी तरह परिपूर्ण थे तथा मन्दराचलकी तरह स्थिर थे । तदनन्तर 'नेति नेति' इत्यादि श्रुतियोसे बोधित जो अद्वैत तत्त्व है और जो वाणीका भी अगोचर है, उस तत्त्वको ये मुनि प्राप्त हो गये । इसके अनन्तर ये मुनि समस्त पदार्थोंमें व्यापक, समस्त पदार्थोंसे रहित, निरतिशय समतासे पूर्ण, चिन्मय, अतिशय पवित्र परम-पदस्वरूप हो गये । जो ब्रह्मज्ञानियोका ब्रह्मरूप, विज्ञानवादियोंका विज्ञानरूप एव कपिलमुनि-निर्मित साख्यशास्त्रमें प्रतिपादित पुरुषरूप, पतञ्जलि-निर्मित योगशास्त्रमे प्रतिपादित क्लेश आदिसे रहित पुरुषविशेषात्मक ईश्वररूप, आत्माके स्वरूपको भली प्रकार जाननेवाले आत्मवादियोके मतमें आत्मतत्त्वरूप समस्त शास्त्रका सिद्धान्तभूत, सबके हृदयमें अनुगत, सर्वात्मक, सर्वस्वरूप जो निर्मल श्रेष्ठ पद है, तत्स्वरूप होकर ये मुनि अवस्थित थे । जो तत्त्व वास्तवमे अद्वितीय होनेके कारण एक और मायाके सम्बन्धसे अनेक भी है, जो मायासे युक्त होनेके कारण सगुण और वास्तवमें मायासे अतीत—निर्गुण है, तत्स्वरूप होकर ये मुनि स्थित थे ।

* सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ॥ संयोगा विप्रयोगान्ताः सर्वे समारवर्त्मनि ।

(८६ । ५४-५५)

श्रीराम ! इस प्रकार महामुनि वीतहव्यके परम शान्त हो परम निर्वाणपदको प्राप्त हो जानेपर उनका क्रियाशून्य वह देह उसी प्रकार कुम्हला गया, जिस प्रकार हेमन्त ऋतुमें कमल रस-रहित हो कुम्हला जाता है। उस देहके सम्पूर्ण स्थूलभूत तन्मात्रास्वरूप सूक्ष्म महाभूतोंमें ही लीन हो गये तथा मांस, अस्थि और आँतरूपी देह वनकी भूमिमें मिल गया। जैसे घड़ेके फूटनेपर घटाकाश महाकाशमें मिल जाता है, वैसे ही व्यष्टि-चेतन समष्टि-चेतनमें जा मिला। उस शरीरके तन्मात्रारूप सूक्ष्म भूत अपने उपादान-कारण मूल-प्रकृतिमें लीन हो गये। इस प्रकार उन महामुनिके शान्त हो जानेपर सभी पदार्थ अपने-अपने उपादान-कारणमें ही लीन हो गये। श्रीराम ! महामुनि वीतहव्यकी यह सैकड़ों विचारोंसे युक्त मोक्ष-कथा तुमसे मैंने कही है। अब तुम अपनी प्रज्ञासे इसका विवेचन करो। जिस तत्त्वका मैंने तुमसे वर्णन किया है, जिसका वर्णन कर रहा हूँ और जिसका वर्णन करूँगा, त्रिकाल-को प्रत्यक्षरूपसे देखनेवाले तथा चिरकालतक जीनेवाले मैंने उसके विषयमे विचार किया है और पूर्णरूपसे उसको स्वयं देखा भी है। ज्ञानसे ही मनुष्य दुःखके अभावको प्राप्त होता है, ज्ञानसे अज्ञानका विनाश हो जाता है, ज्ञानसे ही परमात्माकी प्राप्तिरूप परम सिद्धि मिलती है, ज्ञानके बिना नहीं मिलती। इसलिये मनुष्य-को ज्ञानकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये। जिन्होंने परम प्रयोजनरूप परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लिया था, जिनके राग आदि दोष विनष्ट हो चुके थे, जो समस्त पापोंसे, अहंता-ममता आदि विकारोंसे, अविद्यासे तथा आसक्ति एवं शोकसे रहित थे, वे ज्ञानी वीतहव्य मुनि, जिसका बहुत कालतक अभ्यास किया गया था, उस अपने निर्मल असीम सच्चिदानन्दघनस्वरूप परम पदको प्राप्त हुए। (८७-८८)

ज्ञानी महात्माओंके लिये आकाश-गमन आदि सिद्धियोंकी अनावश्यकताका कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! जैसे सिंह मयूरों-के वशमें नहीं होते, वैसे ही तुम्हारे-जैसे कोई भी महापुरुष हर्ष, अमर्ष आदि विकारोंके वशमें नहीं होते।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ ! जीवन्मुक्त शरीरवाले महात्माओंकी आकाश-गमन आदि शक्तियाँ यहाँ क्यों नहीं दिखलायी पड़तीं ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! जो चित्र-विचित्र आकाश-गमन आदि क्रिया-कलाप दिखायी पड़ता है, वह प्राणियों और पदार्थोंका स्वभाव है। इसलिये वह आत्मतत्त्वज्ञोंके लिये वाञ्छनीय नहीं है। आत्मज्ञानसे शून्य अमुक्त जीव मणि, औषध आदि द्रव्योंकी शक्तिसे, पूर्वकृत कर्मकी जन्मजात शक्तिसे, योगाभ्यास आदि क्रियाओंकी शक्तिसे और कालकी शक्तिसे आकाश-गमन आदि सिद्धियोंको प्राप्त कर सकता है। इन

आकाश-गमन आदि सिद्धियोंका होना आत्मज्ञ पुरुषके लिये गौरवका विषय नहीं है; क्योंकि आत्मज्ञानी स्वयं आत्माको प्राप्त कर चुका होता है, इसलिये वह अपने आत्मामें ही तृप्त रहता है, अविद्याके कार्यकी ओर नहीं दौड़ता । संसारमें जो कोई भी पदार्थ हैं, उन सबको आत्मज्ञ अविद्यामय ही मानते हैं । इसलिये अविद्यासे रहित तत्त्वज्ञ उनमें कैसे फँस सकता है ? जो योगाभ्यास आदि साधनोंसे अविद्यारूप आकाश-गमन आदि सिद्धियोंको भी सुखका साधन बना लेते हैं, वे आत्मतत्त्वज्ञ हैं ही नहीं; क्योंकि आकाश-गमन आदि सिद्धियाँ अविद्यामय ही है । तत्त्वज्ञ हो चाहे अतत्त्वज्ञ हो, जो कोई भी दीर्घकालतक प्रयत्नपूर्वक द्रव्य-कर्मोंसे शास्त्रोक्त उपायका अनुष्ठान करता है, वह आकाश-गमन आदि सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है । यहाँ धन आदिकी अभिलाषाओंसे रहित और परमात्माको यथार्थरूपसे जाननेवाला तथा प्रकृतिसे ऊपर उठा हुआ पुरुष अपने परमात्मस्वरूपमें ही नित्य संतुष्ट रहता है । इसीलिये वह न कुछ चाहता है और न कुछ करता है । आत्मज्ञ पुरुषको न तो आकाश-गमनसे, न अणिमादि सिद्धियोंसे, न तुच्छ भोगोंसे, न निग्रहानुग्रह-सामर्थ्यसे, न मान-बड़ाई-प्रतिष्ठासे और न आशा, मरण तथा जीवनसे ही कोई प्रयोजन है ।

परमात्माके स्वरूपमें ही सदा संतुष्ट, परम शान्तिस्वरूप, राग और वासनासे रहित तथा आकाशके सदृश निर्मल आकारवाला तत्त्वज्ञानी महापुरुष अपने परमात्मस्वरूपमें ही स्थित रहता है । अपने जीवन और मरणकी आसक्तिसे रहित तत्त्वज्ञानी पुरुष अकस्मात् प्राप्त हुए सुख और दुःखसे विचलित नहीं होता । उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही; तथा सम्पूर्ण प्राणियोंमें भी इसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता । जो आत्मज्ञानसे शून्य है, वह भी आकाश-गमन आदि सिद्धिसमूहको चाहता है और वह सिद्धियोंके साधक द्रव्योंसे क्रमशः उन्हें प्राप्त भी करता है । श्रीराम ! मणि, औषध आदि द्रव्य, काल, योगाभ्यास आदि क्रिया और मन्त्रप्रयोगोंमें उक्त प्रकारकी शक्तियाँ, जो आकाश-गमन आदि शब्दोंसे कही जाती है, स्वभावतः सिद्ध है । जैसे विषघ्न मणि, मन्त्र, द्रव्य आदिकी शक्तियाँ विषका विनाश कर देती है, जैसे मदिरा उन्मत्त कर देती है, जैसे मधु आदि वस्तुएँ वमन करा देती है, वैसे ही युक्तिद्वारा प्रयुक्त मणि, औषध आदि द्रव्य, काल, योगकी क्रिया आदि उपाय स्वभावसे ही सिद्धियोंको अवश्य उत्पन्न करते है । परंतु द्रव्य-काल-क्रिया-क्रमस्वरूप मायिक पदार्थोंसे अतीत तथा अज्ञानरहित आत्मज्ञानमें आकाश-गमन आदि सिद्धियाँ हेतु अथवा विरोधी नहीं हैं; क्योंकि परमात्माके पदकी प्राप्तिमें कोई भी द्रव्य, देश, क्रिया, काल आदि युक्तियाँ उपकारक नहीं हैं । किसी पुरुषको आकाशगमन आदिकी इच्छा होती है तो वह उसकी सिद्धिका साधन पूर्णरूपसे करता है । किंतु आत्मज्ञानी पूर्ण है । अतः उसमें कहीं इच्छाकी सम्भावना नहीं है । निष्पाप श्रीराम ! परमात्माकी प्राप्ति सारी इच्छाओंकी शान्ति होनेपर ही होती है; अतः आत्मज्ञानीको आत्मलाभकी विरोधिनी इच्छा कैसे और किससे हो सकती है । किंतु चाहे विवेकी हो चाहे अविवेकी, जिसकी जिस प्रकार इच्छा उत्पन्न होती है, वह उस प्रकारसे उसी इच्छासे यत्न करता है और समय आनेपर वह उस सिद्धिको प्राप्त कर लेता है । परमात्मज्ञानकी इच्छावाले वीतहव्यने सिद्धियोंकी इच्छासे किसी प्रकारका यत्न नहीं किया था; बल्कि परमार्थ-ज्ञानकी इच्छासे ही उसने तेजीके साथ यत्न किया था । जिस प्रकार इसने वनमें यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये उद्योग किया था, यह मै तुमसे पहले कह चुका हूँ । इस प्रकार काल, क्रिया, कर्म, द्रव्य, युक्ति और स्वभावसे उत्पन्न होनेवाली क्रमप्राप्त सिद्धियाँ अपनी इच्छाके ही अनुसार सिद्ध हो जाती हैं । श्रीराम ! जो-जो आकाश-

गमन आदि सिद्धि-नामक फलोंके समूह जिस पुरुषके द्वारा प्राप्त किये गये देखे जाते हैं, वे उस पुरुषके अपने प्रयत्नरूपी वृक्षके ही फल हैं। किंतु जिनका अन्तःकरण पवित्र है, जो परमात्माको यथार्थरूपसे जानते हैं, जो परमात्माके स्वरूपमें नित्य तृप्त हैं तथा जो अपने अभिलषित परमात्माको प्राप्त कर चुके हैं, उन महात्माओंका सिद्धियाँ कुछ भी उपकार नहीं करतीं।

(सर्ग ८९)

जीवन्मुक्त और विदेह-मुक्त पुरुषोंके चित्तनाशका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जब जीवन्मुक्त वीतहव्यका चित्त विवेकपूर्वक विचारके द्वारा अस्तप्राय हो गया यानी भूने हुए बीजकी तरह अङ्कुरशक्तिसे रहित हो गया, तब उसमें मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि गुणोंका आविर्भाव हो गया।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—प्रभो! आत्मा और अनात्माके विचारके अभ्युदयसे अदृश्य हुए महामुनि वीतहव्यके अन्तःकरणमें मैत्री आदि गुण उत्पन्न हुए, आपके इस कथनका क्या अभिप्राय है? वक्ताओंमें श्रेष्ठ महामुने! जब चित्त ब्रह्ममें लीन हो गया, तब मैत्री आदि गुण किसके और किसमें उत्पन्न होंगे—यह आप मुझसे कहिये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! चित्तका विनाश दो प्रकारका होता है—एक सरूप विनाश और दूसरा अरूप विनाश। पहला सरूप विनाश तो जीवन्मुक्त होनेमे हो जाता है और दूसरा अरूप विनाश विदेह-मुक्त होनेपर होता है। इस संसारमें चित्तका अस्तित्व दुःखका कारण है और चित्तका विनाश सुखका कारण है। अतः पहले चित्तके अस्तित्वका भूने हुए बीजके समान विनाश करके तदनन्तर चित्तके स्वरूपका भी विनाश कर देना चाहिये। अज्ञानसे उत्पन्न हुई वासनाओंसे व्याप्त जो जन्मका कारण मन है, उसीको अज्ञानियोंका विद्यमान मन समझो। वह विद्यमान मन केवल दुःखका ही कारण होता है। इसलिये जबतक मनका अस्तित्व है, तबतक दुःखका विनाश कैसे हो सकता है। मन जब अस्त हो जाता है, तब प्राणीका यह संकल्पमय संसार भी अस्त हो जाता है। इस अज्ञानी जीवमें ही वासनारूपी अङ्कुरोंसे दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित हुए इस विद्यमान मनको ही दुःखरूपी वृक्षका मूल जानो। ये दुःखरूपी वृक्ष-समूहके अङ्कुर उन्हीं अज्ञानियोंके मनमें उत्पन्न होते हैं।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—ब्रह्मन्! किस महात्माका मन विनष्ट हो गया? विनाशको प्राप्त हुए मनका स्वरूप किस प्रकारका होता है? चित्तका नाश किस प्रकार होता है और नाशका स्वरूप कैसा है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—प्रश्नवेत्ताओंमें श्रेष्ठ रघुकुल-नायक श्रीराम! मैंने पहले चित्तकी सत्ताका स्वरूप तो बता दिया है। अब तुम इसके विनाशका स्वरूप सुनो। जैसे निःश्वासवायु पर्वतराजको अपने स्वरूपसे विचलित नहीं करते, वैसे ही सुख-दुःखरूप दशाएँ जिस धीर पुरुषको सम-स्वभाव तथा पूर्णानन्दैकरस परमात्मनिष्ठासे विचलित नहीं करतीं, श्रेष्ठ पुरुष उस महात्माके चित्तको भूने हुए बीजके समान नष्ट हुआ चित्त कहते हैं। 'यह जड देह ही मैं हूँ', 'ये घट आदि सारे पदार्थ मैं नहीं हूँ', इस प्रकारकी तुच्छ भावना जिस श्रेष्ठ पुरुषको भीतरसे विकारयुक्त नहीं करती, विद्वान्लोग उस पुरुषके चित्तको नष्ट कहते हैं। जिस नररत्नके अंदर विपत्ति, कायरता, उत्साह (हर्ष), मद, बुद्धिकी मन्दता और विवाहादि लौकिक महोत्सव विकार पैदा नहीं करते, विद्वान्लोग उसके चित्तको नष्टचित्त कहते हैं। इस

लोकमें यही चित्तका विनाश है और इसीको भूने हुए बीजके समान विनष्ट चित्त भी कहते हैं। यही जीवन्मुक्त महापुरुषकी चित्तनाश-दशा है। निष्पाप श्रीराम! जीवन्मुक्त पुरुषका मन मैत्री आदि शुभ गुणोंसे सम्पन्न, उत्तम वासनाओंसे युक्त तथा पुनर्जन्मसे शून्य होता है। ब्रह्मकी वासनासे ओतप्रोत, पुनर्जन्मसे रहित जो जीवन्मुक्त पुरुषके मलकी सत्ता है, वह सत्त्व नामसे कही जाती है। जिस प्रकार चन्द्रमामें प्रसन्न किरणें रहती हैं, वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुषके मनके विनाशमें विशुद्ध मैत्री आदि गुण सदा सब तरहसे रहते हैं। शान्तिरूप शीतलताके आश्रय जीवन्मुक्त पुरुषके सत्त्वनामक मनके नाशकी अवस्थामें अनेक गुण-सम्पत्तियाँ प्रकट होती हैं।

रघुकुलतिलक! जो मैंने पहले अरूप-मनोनाश कहा था, वह विदेहमुक्तका ही होता है तथा जो अवयवादि विकारोंसे रहित है, उस परम पवित्र विदेहमुक्ति-रूपी निर्मल परमपदमें समस्त श्रेष्ठ गुणोंका आश्रयरूप मन भी विलीन हो जाता है। विदेहमुक्त महात्माओंकी उस सत्त्व-विनाशरूप अरूपचित्तनाश-दशामें किसी भी दृश्य-पदार्थका अस्तित्व नहीं रहता अर्थात् संकल्पसहित सम्पूर्ण संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है। उस अरूपचित्तविनाश-दशामें न गुण हैं न अवगुण हैं, न शोभा है न अशोभा है, न चञ्चलता है न अचञ्चलता है, न उदय है न अस्त है, न हर्ष है न अमर्ष है और न ज्ञान है, न प्रकाश है न अन्धकार है, न संध्या है न दिन या रात है, न दिशाएँ हैं न आकाश है, न अधः है और न अनर्थरूपता है, न कोई वासना है न किसी प्रकारकी रचना है, न इच्छा है न अनिच्छा है, न राग है न भाव है और न अभाव है और न वह पदसाध्य ही है। वह परमपद तम और तेजसे शून्य, तारे, चन्द्र, सूर्य और वायुसे तथा संध्या, रज.कण और सूर्य-कान्तिसे रहित शरत्कालीन स्वच्छ आकाशके समान अत्यन्त निर्मल है। वह विशाल पद उन लोगोंका आश्रय-स्थान है, जो बुद्धि और संसार-भ्रमणसे पार हो गये हैं। सम्पूर्ण दुःखोंसे रहित, चिन्मय, निष्क्रिय ब्रह्मानन्दसे परिपूर्ण तथा रज और तमसे रहित जो परमपद है, उस परम-पदमें वे चित्तसे रहित और आकाशके सदृश सूक्ष्म विदेहमुक्त आत्मा तद्रूप हुए स्थित रहते हैं, वे अपुनरा-वृत्तिरूप परमगतिको प्राप्त हो जाते हैं। (सर्ग ९०)

शरीरका कारण मन है तथा मनके कारण प्राण-स्पन्द और वासना, इनका कारण विषय, विषयका कारण जीवात्मा और जीवात्माका कारण परमात्मा है—इस तत्त्वका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! भाव और अभावका तथा दुःखरूपी रत्नोंका खजाना चित्त ही, जो वासनाओंके वशमें रहनेवाला एक तरहसे अनुचर है, शरीरका कारण है। प्रतीत होनेके कारण सत् और विनाशशील होनेके कारण असत्‌रूप ये शरीरसमूह एकमात्र चित्तसे ही उत्पन्न हुए हैं, जैसे स्वप्नमें भ्रमसे संसारकी प्रतीति सबको स्वयं होती है। जो यह मिथ्या जगत्‌का स्वरूप दृश्यताको प्राप्त है, वह चित्तसे उसी प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार मिट्टीसे घड़े आदि उत्पन्न होते हैं। अनेक तरहकी वृत्तियाँ धारण करनेवाले इस चित्तरूपी वृक्षके दो बीज हैं—एक प्राण-संचरण और दूसरा दृढ़भावना। जब शरीरकी नाड़ियोंमें प्राण-वायु संचरण करने लगता है, तब वृत्तिमय चित्त तत्काल ही उत्पन्न होता है। किंतु जब शरीरकी नाडियोंमें प्राण संचरण नहीं करता, तब वृत्तिज्ञान न होनेके कारण उसमें चित्त उत्पन्न नहीं होता। यह प्राण-संचरणरूप जगत् ही चित्तके द्वारा दिखायी पड़ता है, जिस प्रकार आकाशमें नीलता आदि दिखायी पड़ते हैं। राघव! जीवात्माके विषयोंके सम्पर्कसे रहित होनेपर ही उसका परम कल्याण होता है, ऐसा जानो। किंतु प्रकट हुआ जीव ही

तत्काल बाह्य विषयोंकी ओर रागवश चला जाता है और उन विषयोंके भोगके अनुभवसे चित्तमें अनन्त दुःख उत्पन्न होते हैं। जब जीवात्मा बाह्य विषयोंसे उदासीन होकर परमात्माके ज्ञानके लिये प्रयत्नशील होता है, तब वह प्राप्त करने योग्य निर्मल परमपदरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है। श्रीराम! जीवात्माके संकल्पको ही तुम चित्त जानो। उसी चित्तने इस अनर्थ-जालका विस्तार किया है।

योगीलोग चित्तकी शान्तिके लिये योगशास्त्रमें बतलाये गये प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यानरूप योगकी युक्तियोंके द्वारा प्राणका निरोध करते हैं। विद्वान्-लोग प्राण-निरोधको ही चित्तशान्तिरूप फलका दाता, उत्तम समताका हेतु और जीवात्माकी अपने वास्तविक स्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्मामें सुन्दर स्थिति कहते हैं। महाबाहु श्रीराम! तीव्र संवेगसे आत्माके द्वारा जिस पदार्थकी भावना की जाती है, तत्काल ही वह जीवात्मा अन्य स्मृतियोंको छोड़कर तद्रूप ही हो जाता है। वासनाके अत्यन्त वशीभूत और तद्रूप हुआ वह जीवात्मा जिस किसीको देख लेता है, उस सबको अज्ञानसे सत्-वस्तु मान लेता है और वासनाके वेगवश अपने स्वरूपको भूल जाता है। फिर वह वास्तविक आत्मज्ञानसे रहित जीवात्मा भीतरी वासनाओंके अभिभूत होकर, विषसे अभिभूत पुरुषकी तरह अनेक मानसिक आपत्तियोंसे व्याकुल रहता है। श्रीराम! जिससे देहादि अनात्मामें आत्मभावनारूप और अवस्तु संसारमें वस्तुभावनारूप अयथार्थ ज्ञान होता है, उसको तुम चित्त जानो। दृढ़ अभ्यासके कारण देह आदि पदार्थोंमें 'अहम्' 'मम' आदि वासनासे ही जन्म, जरा और मरणका कारण अति चञ्चल चित्त उत्पन्न होता है। जब निरन्तर वासनाका अभाव होनेसे मन मनसे रहित हो जाता है, तब मनका अभाव हो जाता है, जो परम उपरतिस्वरूप है। जब जगद्रूप वस्तुमें किसी पदार्थकी भावना नहीं होती, तब शून्य हृदयाकाशमें चित्त कैसे उत्पन्न हो सकता है। श्रीराम! मैं तो यही मानता हूँ कि आसक्तिसे विनाशशील जगत्-रूपी वस्तुमें वस्तुत्वकी भावना करनामात्र ही चित्तका स्वरूप है। बाह्य वस्तुओंके अस्मरणरूप साधनका अवलम्बन करनेसे जो समस्त दृश्य-जगत्के अभावकी भावना और परमार्थ वस्तु परमात्माका अनुभव होता है, वह अचित्त कहा जाता है। अतः जिस महामति पुरुषको संस्कारसे उत्पन्न विषय-रसास्वादके स्मरणसे विषयोंमें आसक्ति उत्पन्न नहीं होती, उस पुरुषका चित्त अचित्त-रूपताको तथा विशुद्ध सत्त्वको प्राप्त कहा जाता है। जिस महापुरुषमें पुनर्जन्मकी कारणभूता अहंता-ममतारूप वासनाका अभाव हो गया है, वह चक्रके भ्रमण-सदृश जगत्के व्यवहारमें लगा हुआ भी जीवन्मुक्त और परमात्मा-में स्थित है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार कुम्भ-कारके व्यापारके अभावमें भी चक्रका भ्रमण तबतक होता रहता है, जबतक उसमें वेग रहता है, उसी प्रकार अविद्याके नाश होनेपर भी प्रारब्ध संस्कारके अवशिष्ट रहनेसे अहंकारके बिना ही जीवन्मुक्तका शरीर और उसका व्यवहार—दोनों प्रारब्ध-भोगपर्यन्त विद्यमान रहते हैं। जिनका चित्त भूने हुए बीजके सदृश पुनर्जन्म-से शून्य और विषयानुरक्तिसे रहित है, वे महानुभाव जीवन्मुक्त हुए स्थित रहते हैं। जिनका चित्त विशुद्ध सत्त्वरूपता प्राप्त कर चुका है, ऐसे ज्ञानके पारगत महात्मा चित्तसे रहित कहे जाते हैं। प्रारब्धका क्षय हो जानेपर वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें विलीन हो जाते हैं।

वासनाका ऊर्ध्वगति स्वभाव होनेसे वह जीवात्माके क्षोभकारक कर्मसे प्राण-स्पन्दनका उद्बोधन करती है और उससे चित्त उत्पन्न होता है। एवं स्पन्दन-धर्मवाला होनेसे हृदयगत राग आदि गुणोंका स्पर्श करके प्राण जीवात्माका उद्बोधन करता है और क्रमसे चित्तरूपी बालक उत्पन्न होता है। श्रीराम! वासना और प्राणस्पन्द—दोनों चित्तके कारण हैं। उनमेंसे किसी एकका लय

हो जानेपर दोनोंका और उनके कार्य चित्तका विनाश हो जाता है, जैसे विदेहमुक्त ज्ञानीका वासनासहित चित्त और प्राण ब्रह्ममें विलीन हो जाता है। वासना और प्राणस्पन्दन—इन दोनोंका कारण विषय है; क्योंकि उसीके सम्बन्धसे ये दोनों प्रस्फुरित होते हैं। हृदयमें प्रिय और अप्रिय शब्द आदि विषयोंका चिन्तन करके ही प्राणस्पन्दन और वासना दोनों आविर्भूत होते हैं; इसलिये विषय ही उन दोनोंका बीज (कारण) है। जिस प्रकार मूलके उच्छेदसे वृक्ष तत्काल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार विषयचिन्तनका परित्याग करनेसे प्राणस्पन्दन और वासना—दोनों ही तत्काल समूल नष्ट हो जाते हैं। रघुनन्दन! जीवात्मा ही अपनी धीरताका परित्याग करके अपने संकल्पसे विषयरूप-सा बनकर चित्तका बीजरूप हो जाता है, ऐसा जानो। जिस प्रकार तिल तेलसे रहित नहीं है, उसी प्रकार जीवात्मासे रहित कोई भी विषय नहीं है; क्योंकि जीवात्मा सब विषयोंमें व्यापक है। इसलिये बाहर और भीतर कोई भी पदार्थ जीवात्मासे अलग नहीं है। अपने संकल्पसे चेतन जीवात्मा ही प्रस्फुरित होता हुआ स्वयं पदार्थको देखता है। जिस तरह स्वप्नमें अपना मरण और भिन्न देशमें स्थिति—दोनों अपने सकल्पसे ही होते हैं, उसी तरह जाग्रत्कालीन पदार्थ भी जीवात्माके सकल्पसे ही होते हैं। रघुनन्दन! जिस विवेक-अवस्थामें अपने पारमार्थिक स्वरूपका अनुभव होता है, वह अपने संकल्पसे हुआ स्वस्वरूपानुभव भी जगज्जाल (स्वप्नके सदृश) ही है; क्योंकि सच्चिदानन्द ब्रह्म अनुभव करनेवाला, अनुभव करने योग्य और अनुभव—इन तीनोंसे ही रहित है; अतः उस अनुभवको जगज्जाल कहना उचित ही है। जैसे बालकको अपने संकल्पसे ही प्रेतका और मनुष्योंको स्थाणुमें पुरुषका भ्रम होता है, वैसे ही संकल्पसे उत्पन्न भ्रमसे ही चेतन जीवात्माकी पदार्थरूपता होती है; वास्तवमें नहीं। यह भ्रान्तिज्ञान मिथ्या है। वह यथार्थ परमात्मज्ञानसे उसी प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार रज्जु और चन्द्रके निर्दोष दर्शनसे रज्जुमें सर्प-भ्रान्ति और एक चन्द्रमें दो चन्द्ररूपोंकी भ्रान्ति विलीन हो जाती है। पहले देखा हुआ या न देखा हुआ जो पदार्थ इस जीवात्माको भासता है, विद्वान्को उसे विवेक-वैराग्यरूप प्रयत्नद्वारा मिथ्या समझकर उसका बाध कर देना चाहिये। इस जड जगत्‌रूप दृश्यका बाध न करना ही इस बड़े भारी संसारके साथ सम्बन्ध जोड़ना है। यही बन्धन है तथा इस संसारके सम्बन्धसे रहित होना ही मोक्ष है—यह महात्माओंका अनुभव किया हुआ निश्चय है; क्योंकि इस जड दृश्य जगत्‌का चिन्तन ही जन्मरूप अनन्त दुःखका हेतु है और उस दृश्य-चिन्तनसे रहित होकर सच्चिदानन्द परमात्मामें स्थित रहना ही पुनर्जन्मरहित अक्षय सुखका हेतु है।

वासनारहित होनेके कारण अपनी आत्मामें जब किसी पदार्थकी भावना नहीं रहती और वह परमात्माके स्वरूपमें अचल स्थित रहता है, तब जडतासे रहित, विशाल एवं विशुद्ध यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। इसलिये ज्ञानवान् फिर कभी संसारमें लिप्त नहीं होता। समस्त वासनाओंका अत्यन्त अभाव होनेपर निर्विकल्प समाधिसे परम आनन्दरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। संसारके चिन्तनसे रहित योगीलोग उसी असीम आनन्दमें नित्य स्थित रहते हैं। इसलिये ससार-चिन्तनसे रहित योगी चलते, बैठते, स्पर्श करते और सूँघते हुए भी चिन्मय अक्षय आनन्दसे पूर्ण और सुखी कहा जाता है। श्रीराम! यह जीवात्मा जिसकी भावना करता है, उसी रूपमें तत्काल परिणत हो जाता है। अज्ञानकी भूमिकाओंसे मुक्त न होनेके कारण जीवात्मा दीर्घकाल बीत जानेपर भी अपना वास्तविक स्वरूप नहीं प्राप्त कर पाता। जीवात्मा ब्रह्मका अंश है, अतः एकमात्र सच्चिदानन्द ब्रह्म ही इस जीवात्माका कारण कहा जाता है। श्रीराम! सत्ताके दो रूप हैं—एक तो अनेक

आकारवाली व्यावहारिक सत्ता और दूसरी एक रूप-वाली वास्तविक सत्ता। अब उनका विभाग सुनो। घटादि रूपोंके विभागसे जो घटत्व, पटत्व, स्तम्भत्व, मत्त्व आदि उपाधिभूत सत्ता कही जाती है, वह नानाकृति व्यावहारिक सत्ता है। जो विभागसे रहित, सत्तारूपसे व्याप्त समानभावसे स्थित वास्तविक सत्ता है, वह एक-रूपा वास्तविक सत्ता है। जो दृश्यरूप विशेषतासे रहित, निर्लेप और केवल सत्-स्वरूप अद्वितीय महान् वास्तविक सत्ता है, उसीको विद्वान् परमपद कहते हैं। वास्तवमें सत्ताका रूप नाना आकारके रूपमें कभी नहीं है, क्योंकि वह कायम नहीं रहता, अतः वह सत्यरूप नहीं हो सकता। सत्ताका जो विशुद्ध एकरूप वास्तविक स्वरूप है, वह कभी नष्ट नहीं होता और न कभी लुप्त ही होता है। वह नित्य विज्ञानानन्दस्वरूप होनेसे सदा कायम रहता है। उसका अभाव कभी नहीं होता। किंतु जो विभिन्न पदार्थोंको उत्पन्न करनेवाली विभाग-कल्पना नानारूपताका कारण देखी जाती है, वह विशुद्ध पदरूपा कैसे हो सकती है।

श्रीराम! सत्ता-सामान्यकी चरम अवधिरूप जो कल्पनाओंसे और आदि-अन्तसे रहित परमपद है, उसका और कोई कारण नहीं है; क्योंकि वही सबका परम कारण है। जिस परमपदमें सम्पूर्ण सत्ताएँ विलीन हो जाती हैं, उस निर्विकार परमपदमें स्थित पुरुष इस दुःखमय संसारमें कभी नहीं आता। और वही वास्तवमें परम पुरुषार्थी है। वह परमात्मा ही समस्त कारणोंका कारण है, उसका कोई दूसरा कारण नहीं है। वही सम्पूर्ण सारोंका सार है, उससे बढ़कर दूसरी सारभूत वस्तु नहीं है। जैसे तालाबमें तटस्थ वृक्ष प्रतिबिम्बित होते हैं, वैसे ही उस असीम चिन्मय परमात्मारूप दर्पणमें ये सब पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। उसी आनन्द-समुद्र परब्रह्मसे सभी प्रकारके सुख प्रतिबिम्बित होते हैं। उस आनन्दमय परमात्मामें ही सम्पूर्ण संसार उत्पन्न होता है, स्थित रहता है, बढ़ता है और विलीन हो जाता है। वह परब्रह्म भारीसे भी भारी, हलकेसे भी हलका, स्थूलसे भी स्थूल और सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतम है। वह दूरसे भी दूर, निकटसे भी निकट, छोटेसे भी छोटा और बड़ेसे भी अत्यन्त बड़ा है तथा सबका प्रकाशक होनेसे ज्योतियोंका ज्योति है। वह सम्पूर्ण वस्तुओंसे रहित और सर्ववस्तु-रूप है, वही सत् और असत् है, वही दृश्य और अदृश्य है, वह अहंतासे रहित और अहंस्वरूप है। श्रीराम! वास्तवमें वही विशुद्ध जरारहित परमात्मतत्त्व है। उसकी प्राप्ति होनेपर चित्त परम शान्त हो जाता है।

(सर्ग ९१)

तत्त्वज्ञान, वासनाक्षय और मनोनाशसे परमपदकी प्राप्ति तथा मनको वशमें करनेके उपायोंका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जबतक मन विलीन नहीं होता, तबतक वासनाका सर्वथा विनाश नहीं होता और जबतक वासना विनष्ट नहीं होती, तबतक चित्त शान्त नहीं होता। जबतक परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तबतक चित्तकी शान्ति कहाँ और जबतक चित्तकी शान्ति नहीं होती, तबतक परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जबतक वासनाका सर्वथा नाश नहीं होता, तबतक तत्त्व ज्ञान कहाँसे होगा और जबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तबतक वासनाका सर्वथा विनाश नहीं होगा। इसलिये परमात्माका यथार्थ ज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय—ये तीनों ही एक दूसरेके कारण हैं। अतः ये दुस्साध्य हैं, किंतु असाध्य नहीं। विशेष प्रयत्न करनेसे ये तीनों कार्य सिद्ध हो सकते हैं। श्रीराम!

विवेकसे युक्त पौरुष प्रयत्नसे भोगेच्छाका दूरसे ही परित्याग करके इन तीनों साधनोंका अवलम्बन करना चाहिये। यदि इन तीनों उपायोंका एक साथ प्रयत्नपूर्वक भली प्रकार बार-बार अभ्यास न किया जाय तो सैकड़ों वर्षोंतक भी परमपदकी प्राप्ति सम्भव नहीं। किंतु महाबुद्धिमान् श्रीराम! वासनाक्षय, परमात्माका यथार्थ ज्ञान और मनोनाश—इन तीनोंका एक साथ दीर्घकालतक प्रयत्नपूर्वक अभ्यास किया जाय तो ये परमपदरूप फल देते हैं। * इन तीनोंका चिरकालतक प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेसे अत्यन्त दृढ़ हृदयग्रन्थियाँ निःशेषरूपसे टूट जाती हैं।

श्रीराम! यह संसारकी दृढ़ स्थिति सैकड़ों जन्म-जन्मान्तरोंसे मनुष्योंके द्वारा अभ्यस्त है; अतः चिरकालतक अभ्यास किये बिना वह किसी तरह भी नष्ट नहीं हो सकती। इसलिये चलते-फिरते, श्रवण करते, स्पर्श करते, सूँघते, खड़े रहते, जागते, सोते—सभी अवस्थाओंमें परम कल्याणके लिये इन तीनों उपायोंके अभ्यासमें लग जाना चाहिये। तत्त्वज्ञोंका मत है कि वासनाओंके परित्यागके समान ही प्राणायाम भी एक उपाय है। इसलिये वासना-परित्यागके साथ-साथ प्राण-निरोधका भी अभ्यास करना आवश्यक है। वासनाओंका भलीभाँति परित्याग करनेसे चित्त भूने हुए बीजके समान अचित्तरूप हो जाता है और प्राणस्पन्दके निरोधसे भी चित्त अचित्तरूप हो जाता है; इसलिये तुम जैसा उचित समझो, वैसा करो। चिरकालतक प्राणायामके अभ्याससे, योगाभ्यासमें कुशल गुरुद्वारा बतायी हुई युक्तिसे, स्वस्तिक आदि आसनोंकी सिद्धिसे और उचित भोजनसे प्राण-स्पन्दनका निरोध हो जाता है। परमात्माके स्वरूपका साक्षात् अनुभव होनेपर वासना उत्पन्न नहीं होती। आदि, मध्य और अन्तमें कभी पृथक् न होनेवाले एकमात्र सत्यस्वरूप परमात्माको भलीभाँति यथार्थरूपसे जान लेना ही ज्ञान है। यह ज्ञान वासनाका सर्वथा विनाश कर देता है तथा अनासक्त होकर व्यवहार करनेसे, संसारका चिन्तन छोड़नेसे और शरीरको विनाशशील समझनेसे वासना उत्पन्न नहीं होती। जिस प्रकार पवन-स्पन्दके शान्त हो जानेपर आकाशमें धूलि नहीं उठती, वैसे ही वासनाका विनाश हो जानेपर चित्त विषयोंमें नहीं भटकता। बुद्धिमान् पुरुषको एकाग्रचित्तसे बारंबार एकान्तमें बैठकर प्राण-स्पन्दके निरोधके लिये विशेष यत्न करना चाहिये। जिस प्रकार मदमत्त दुष्ट हाथी अङ्कुशके बिना दूसरे उपायसे वशमें नहीं होता, उसी प्रकार पवित्र युक्तिके बिना मन वशमें नहीं होता। अध्यात्मविद्याकी प्राप्ति, साधु-संगति, वासनाका सर्वथा परित्याग और प्राणस्पन्दनका निरोध—ये ही युक्तियाँ चित्तपर विजय पानेके लिये निश्चितरूपसे दृढ़ उपाय हैं। † इनसे तत्काल ही चित्तपर विजय प्राप्त हो जाती है। उपर्युक्त इन चार युक्तियोंके रहते जो पुरुष हठसे चित्तको वशीभूत करना चाहते हैं, उनके सम्बन्धमें मेरा यही मत है कि वे दीपकका परित्याग करके अञ्जनोंसे अन्धकारका निवारण करना चाहते हैं। उपर्युक्त इन चार युक्तियोंको त्यागकर जो पुरुष चित्त या चित्तके निकटवर्ती अपने शरीरको स्थिर करनेके लिये यत्न करते हैं, उन हठ करनेवाले पुरुषोंको विवेकी लोग हठी समझते हैं।

(सर्ग ९२)

---

* वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते। समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदा मुने॥
(योगवा० उप० ९२। १७)

† अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च। वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्॥
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल।
(योगवा० उप० ९२। ३५ ३६)

विचारकी प्रौढ़ता, वैराग्य एवं सद्गुणोंसे तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति और जीवन्मुक्त महात्माओंकी स्थितिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! किंचिन्मात्र विवेक-पूर्वक विचारसे जिसने अपने चित्तका निग्रह कर लिया, उसने जन्मका फल पा लिया। यदि हृदयमें इस विचाररूपी कल्पवृक्षका कोमल अङ्कुर भी प्रकट हो जाय तो वही अङ्कुर अभ्यासयोगके द्वारा सैकड़ों शाखाओंमें फैल सकता है। विवेक-वैराग्यसे जिसका विचार कुछ दृढ़ हो गया है, उस पुरुषका शान्ति, समता, क्षमा, दया आदि पवित्र गुण उसी प्रकार आश्रय लेते हैं, जिस प्रकार जलसे परिपूर्ण सरोवरका पक्षी और मत्स्य, कच्छप आदि आश्रय लेते हैं, भलीभाँति परमात्मविषयक विचार करनेसे जिसे परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार हो गया है ऐसे ज्ञानी महापुरुषको अविद्यासे उत्पन्न अत्यन्त रमणीय और विशाल वैभव भी आकृष्ट नहीं कर पाते। परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे जिसकी बुद्धि विशुद्ध हो गयी है, उस महात्माका यहाँके विषय, मानसिक वृत्तियाँ, आधि और व्याधि—ये सब क्या कर सकते हैं अर्थात् वे उसे तनिक भी विचलित नहीं कर सकते। जिसने ज्ञानकी चतुर्थ भूमिका प्राप्त कर ली है और जिसने जाननेयोग्य परमात्माके स्वरूपका अनुभव कर लिया है, उस धीर-वीर ज्ञानी महात्मा पुरुषपर विषय तथा इन्द्रियरूपी डाकू क्या कभी आक्रमण कर सकते हैं ? जिस पुरुषका अन्तःकरण चलते-फिरते या बैठते, जागते या सोते—इन सभी अवस्थाओंमें विवेकपूर्ण ब्रह्मविचारसे युक्त नहीं रहता, वह मृतकके समान है। अज्ञानरूपी अन्धकारका हरण करनेवाले परमात्मविषयक विचारसे तत्काल ही विशुद्ध परमपदरूप परमात्माका प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है—ठीक उसी प्रकार जैसे प्रकाशमान दीपकसे वस्तु प्रत्यक्ष दिखायी पड़ती है तथा परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे सम्पूर्ण दुःखोंका उसी प्रकार अत्यन्त अभाव हो जाता है, जिस प्रकार सूर्यके उदयसे अन्धकारका अत्यन्त अभाव हो जाता है। क्योंकि जब परमात्मविषयक यथार्थ ज्ञान पूर्णतया प्राप्त हो जाता है, तब जानने योग्य ब्रह्मके स्वरूपकी प्राप्ति अपने-आप ही उसी प्रकार हो जाती है, जिस प्रकार सूर्यका उदय हो जानेपर भूमण्डलपर विशुद्ध प्रकाश उसी क्षण अपने-आप अनायास ही हो जाता है। जिस सत्-शास्त्रके विवेकपूर्वक विचारसे सच्चिदानन्द परमात्माके स्वरूपका यथार्थ अनुभव हो जाता है, वही ज्ञान कहा जाता है और वह ज्ञान ज्ञेयस्वरूप परमात्मासे भिन्न नहीं है—परमात्माका स्वरूप ही है।

श्रीराम ! पण्डितलोग विवेकपूर्वक परमात्मविषयक विचारसे उत्पन्न परमात्मस्वरूपके अनुभवको ही ज्ञान कहते हैं। उसी ज्ञानके अंदर ज्ञेय उसी प्रकार छिपा रहता है, जिस प्रकार दूधके अंदर माधुर्य छिपा रहता है। सम्यग्-ज्ञानके प्रकाशसे आलोकित पुरुष स्वयं ज्ञेयस्वरूप हो जाता है। सम और विशुद्धस्वरूप विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही ज्ञेय कहा जाता है। जिसके अन्तःकरणमें आनन्दका प्राकट्य हो गया है, वह ज्ञानवान् पुरुष किसी भी सांसारिक विषयमें नहीं फँसता। समस्त सङ्गोंसे रहित पूर्णकाम जीवन्मुक्त ज्ञानी सम्राट्की तरह सदा मस्त रहता है। श्रीराम ! ज्ञानी महात्मा पुरुष वीणा-वंशीकी मधुरध्वनि आदि मनोहर शब्दोंमें, कामिनियोंके शृङ्गार-रस-मिश्रित कमनीय गीतोंमें, करताल, गम्भीर मृदङ्ग तथा चित्र-विचित्र कांस्यताल आदि वाद्योंकी ध्वनियोंमें—चाहे ध्वनि रूक्ष हो या मधुर कहीं भी प्रेम नहीं करता। आसक्ति-रहित ज्ञानी पुरुष कोमल कदलीके स्तम्भोंकी पल्लव-पङ्क्तियोंसे युक्त तथा देवता एवं गन्धर्वोंकी कन्याओंके अङ्गोंके समान अतिकोमल अवयववाली लताओंसे युक्त नन्दनवनकी क्रीडाओंमें कहीं कभी रमण नहीं करता। जिस प्रकार हंस मरुभूमिमें रमण नहीं करता, उसी प्रकार स्वाधीन विषयभोगोंमें भी आसक्ति न रखनेवाला धीर तत्त्वज्ञ किसी भी विषयमें रमण नहीं करता। कदम्ब, कटहल, अंगूर, खरबूजा, अखरोट तथा नारंगी आदि फलोंमें; दही, दूध, घी, मक्खन, चावल आदि भोज्य पदार्थोंमें; लेह्य (चटनी), पेय

(शर्बत) आदि विविधपूर्ण चित्र-विचित्र छः प्रकारके रसयुक्त पदार्थोंमें, इनके सिवा अन्यान्य फल, कन्द, मूल, शाक आदि भोज्य पदार्थोंमें—कहींपर भी वह परमात्माके आनन्दमें तृप्त, आसक्तिरहित ज्ञानी महात्मा पुरुष नहीं फँसता।

धर्मराज, चन्द्र, इन्द्र, रुद्र, सूर्य और वायुके लोकोंको; मेरु, मन्दराचल, कैलास, सह्याद्रि तथा दर्दुर पर्वतोंके शिखरोंको; चन्द्रमाकी चाँदनीको; मणिमुक्तामय रत्न और सुवर्ण-निर्मित महलोंको; तिलोत्तमा, उर्वशी, रम्भा, मेनका आदिकी अङ्गनाओंको—किसीको भी वह आसक्ति-रहित ज्ञानी महात्मा देखना भी नहीं चाहता और वह विज्ञानानन्दघन परमात्मामें परिपूर्ण, मान न चाहनेवाला, मौनी महात्मा शत्रुओंके प्रतिकूल व्यवहारको देखकर भी विचलित नहीं होता। जो एक ब्रह्मदृष्टि रखनेवाला तथा विकाररहित समबुद्धि ज्ञानवान् पुरुष है, वह कनेर, मन्दार, कल्हार, कमल आदिमें; कुई, नीलकमल, चम्पा, केतकी, अगर, जाति (मालती) आदि पुष्पोंमें; चन्दन, अगुरु, कपूर एवं कस्तूरी आदिमें; केसर, लौंग-इलायची, कङ्कोल (शीतलचीनीके वृक्षका भेद), तगर आदि अङ्गरागोंमेंसे किसीकी भी सुगन्धमें प्रेम नहीं करता। जो सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके ध्यानमें मग्न है, वह वज्रके भयावह शब्दसे, पर्वतके विस्फोटसे एवं ऐरावत आदि दिग्गजोंके चिग्घाड़नेसे कम्पित नहीं होता। तीक्ष्ण छुरेकी धारोंमें या नवीन कमलोंसे निर्मित शय्याओंमें, सूर्य-किरणोंसे प्रतप्त शिलाओंमें या कोमल ललनाओंमें, सम्पत्तियोंमें या उग्र विपत्तियोंमें एवं क्रीडाओं तथा उत्सवोंमें विहार करते हुए भी ज्ञानी महात्माको प्रतिकूल पदार्थोंसे तो उद्वेग नहीं होता और अनुकूलकी प्राप्तिमें हर्ष नहीं होता। वह भीतरसे सदा अहता-ममता एवं आसक्तिसे रहित होता है और बाहरसे निःस्वार्थभावसे कर्म करता रहता है। जीवनका विनाश करनेवाला तथा जीवनका दान देनेवाला—इन दोनों पुरुषोंको ज्ञानी पुरुष प्रसन्नता एवं मधुरतासे शोभित समदृष्टिसे देखता है। ज्ञानवान् पुरुष देवता और मनुष्य आदि शरीरोंसे तथा प्रिय और अप्रिय पदार्थोंसे न हर्षित होता है और न ग्लानिका अनुभव करता है अर्थात् अनुकूलमें हर्षित नहीं होता और प्रतिकूलमें ग्लानि और विषादके वशीभूत नहीं होता। श्रीराम! अपने चित्तमें आसक्तिका अभाव और परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जानेसे तत्त्वज्ञानी पुरुष जगत्‌को मिथ्या समझता है। इसलिये वह किसी भी समय इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंमें रमण नहीं करता; क्योंकि उसकी बुद्धि समस्त मानस पीडाओंसे मुक्त हो चुकी रहती है। किंतु जो तत्त्वज्ञानसे शून्य और शान्तिरहित है एवं परमात्माको प्राप्त नहीं हुआ है, उस वास्तविक स्थितिसे वञ्चित मनुष्य-की इन्द्रियाँ तत्काल उसी प्रकार निगल जाती हैं, जिस प्रकार हरिन हरे कोमल पत्तोंको निगल जाते हैं।

रघुनन्दन! जो विवेकपूर्वक विचारशील है एवं जिसकी एकमात्र सच्चिदानन्द ब्रह्मके स्वरूपमें ही स्थिति है और परमात्माके स्वरूपमें ही जिसको विश्राम प्राप्त हो गया है, उस ज्ञानी महात्माको संसारके संकल्प-विकल्प विचलित नहीं कर सकते—ठीक उसी प्रकार जैसे जलका प्रवाह अचल पहाड़को विचलित नहीं कर सकता। समस्त संकल्पोंकी सीमाके अन्तस्वरूप पदमें जो महानुभाव विश्रामको प्राप्त हो गये हैं, उन परमात्माको प्राप्त हुए महात्माओंकी दृष्टिमें सुवर्णमय सुमेरु पर्वत भी तृणके सदृश है अर्थात् कुछ भी नहीं है। उन विशालहृदय महात्माओंकी दृष्टिमें सारा संसार और एक छोटा-सा तृण, अमृत और विष, कल्प और क्षण समान हैं। जिस जड दृश्य संसारका आदि और अन्तमें अस्तित्व नहीं है, उसकी यदि वर्तमान कालमें कुछ कालतक सत्ता प्रतीत हो रही है तो वह जीवात्माका भ्रम ही है। ज्ञानी शरीर, मन, बुद्धि तथा आसक्तिसे रहित इन्द्रियोंसे चाहे कर्म करे या न करे, अनासक्त होनेके कारण कर्मसे लिप्त नहीं होता। महाबाहु श्रीराम! जिस प्रकार कोई भी मनोराज्यकी सम्पत्तियोंके नष्ट होने या न होनेपर, उससे उत्पन्न सुख-दुःखोंसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी

महात्मा पुरुष आसक्तिरहित मनसे कर्म करता हुआ भी उससे उत्पन्न सुख-दुःखरूप फलसे लिप्त नहीं होता तथा आसक्तिरहित मनवाला महात्मा पुरुष चक्षुसे विषयोंको देखता हुआ भी, उसका चित्त अन्यत्र—परमात्मामें स्थित होनेके कारण, कुछ नहीं देखता। जिसका चित्त दूसरी जगह तत्परतासे लगा रहता है, वह विषयको नहीं देखता—यह बात बालक भी जानता है। इसलिये आसक्तिरहित मनवाला ज्ञानी महात्मा पुरुष सुनता हुआ भी नहीं सुनता, स्पर्श करता हुआ भी स्पर्श नहीं करता, सूँघता हुआ भी नहीं सूँघता, नेत्रोंको खोलता और बंद करता हुआ भी न उन्हें खोलता और न बंद ही करता है। श्रीराम! आसक्ति ही संसारका कारण है, आसक्ति ही समस्त पदार्थोंका हेतु है, आसक्ति ही वासनाओंकी जड है और आसक्ति ही समस्त विपत्तियोंका मूल है। अतः आसक्तिके त्यागको ही मोक्ष समझा गया है और आसक्तिके त्यागसे ही मनुष्य जन्म-मरणसे छूट जाता है।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—अखिल संशयरूपी कुहरेका नाश करनेवाले शरत्कालके वायुरूप महामुने! सङ्ग (आसक्ति) किसे कहते हैं—प्रभो! यह मुझसे कहिये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थोंकी उत्पत्ति और विनाशमें जो हर्ष और विषादरूप विकार उत्पन्न करनेवाली मलिन वासना है, वही सङ्ग (आसक्ति) है—ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं। जीवन्मुक्त स्वरूपवाले तत्त्ववेत्ताओंके पुनर्जन्मका नाश करनेवाली, हर्ष एवं विषाद दोनोंसे रहित, शुद्ध वासना—आसक्तिरहित चित्तवृत्ति होती है। वह भूने हुए बीजके समान आकृतिमात्र है। उस शुद्ध वासनाका दूसरा नाम असङ्ग (आसक्तिका अभाव) जानो। वह तबतक रहती है, जबतक प्रारब्ध भोगोंका संस्काररूप देह रहता है। उस शुद्ध वासनासे जो कुछ किया जाता है, वह पुनः संसारमें जन्म-मरणरूप बन्धनका कारण नहीं होता। जो जीवन्मुक्त नहीं हैं, जो दीन एवं मूढचित्त हैं, उनकी वासना हर्ष तथा विषादसे युक्त रहती है। वह वासना जन्म-मरणरूप बन्धन देनेवाली होती है। इसी बन्धनकारक वासनाका दूसरा नाम सङ्ग है। यह पुनर्जन्मका कारण है। इस वासनासे जो कुछ किया जाता है, वह केवल बन्धनका ही हेतु होता है। रघुनन्दन! यदि तुम दुःखोंसे घबराते नहीं, सुखोंसे हर्षित नहीं होते और सम्पूर्ण आशाओंसे रहित हो तो तुम असङ्ग ही हो। समस्त व्यवहारोंमें एवं सुख-दुःखकी अवस्थाओंमें समचित्त रहते हुए ही यदि विचरण करते हो तो तुम असङ्ग ही हो। सांसारिक पदार्थोंको तुम अपनी आत्मा ही समझते हो और जिस समय न्याययुक्त जैसा व्यवहार प्राप्त होता है, उसीके अनुसार शास्त्रानुकूल आचरण करते हो तो तुम असङ्ग ही हो। जीवन्मुक्तोंके ज्ञानसे सम्पन्न, इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला, परमात्माके स्वरूपका मनन करनेवाला श्रेष्ठ मुनि मान, मद, मात्सर्य और चिन्ताज्वरसे रहित होकर स्थित रहता है। श्रीराम! प्रचुरतर पदार्थोंके सदा रहते हुए भी सबमें समानभाव रखनेवाला तथा बाहर एवं भीतर इच्छा एवं याचना आदि रूप दीनतासे शून्य अन्तःकरणवाला यह महात्मा एकमात्र अपने वर्णाश्रमोचित स्वाभाविक क्रम-प्राप्त न्याययुक्त व्यापारसे पृथक् दूसरा कुछ भी व्यापार नहीं करता। वर्णाश्रमानुसार परम्परा-प्राप्त अपना जो कुछ भी कर्तव्य है, उसका वह ज्ञानी संसर्ग-सम्बन्ध अर्थात् आसक्ति, अहंता-ममतासे रहित बुद्धिसे खेदशून्य हो अनुष्ठान करता हुआ परमात्मस्वरूप अपने आत्मामें रमण करता है। जिस प्रकार मन्दराचल पर्वतसे मथे जानेपर भी क्षीरसमुद्र अपना स्वाभाविक शुक्लपन नहीं छोड़ता, उसी प्रकार आपत्ति अथवा उत्तम सम्पत्तिके प्राप्त होनेपर वह महामति तत्त्वज्ञ अपना सहज स्वभाव नहीं छोड़ता। (सर्ग ९३)

उपशम-प्रकरण सम्पूर्ण

निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्ध

श्रीवसिष्ठजीके कहनेपर श्रोताओंका सभासे उठकर दैनिक क्रिया करना तथा सुने गये विषयोंका चिन्तन करना

*श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं**—भरद्वाज ! उपशम-प्रकरणके अनन्तर अब इस निर्वाण-प्रकरणका श्रवण करो। उसका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर यह मोक्षरूप फल देता है। जिस समय महाराज वसिष्ठजी उस प्रकारके गम्भीर अर्थके प्रतिपादक वचन कह रहे थे, उनके श्रवणके ही आनन्दमें निमग्न श्रीराम मौन होकर स्थित थे; महामुनि वसिष्ठजीकी वाणी और उसके द्वारा प्रतिपादित अर्थोंको मनमें धारणकर राजालोग, जो बाह्य विषयोंके विज्ञान एवं शारीरिक चेष्टासे रहित थे, निश्चेष्ट होकर चित्रलिखित मूर्तिकी तरह अचल स्थित थे। एवं महामुनि वसिष्ठजी-द्वारा उपदिष्ट वाक्योंका बड़े आदरके साथ श्रोता मुनिगण विचार कर रहे थे, उस समय दिनके चतुर्थ भागमें भेरी और शङ्खकी ध्वनि हुई। उक्त ध्वनिसे मुनि वसिष्ठजीका उन्नत स्वर भी उसी प्रकार दब गया, जिस प्रकार मेघोंके नादसे मयूरोंका शब्द। धीरे-धीरे उस शङ्ख-ध्वनिके शान्त होनेपर मुनिश्रेष्ठ महाराज श्रीवसिष्ठजी सभामें श्रीरामचन्द्रजीसे यों मधुर वचन कहने लगे—'श्रीराम ! मेरी इस वाणीके अर्थको तुमने क्या उसी तरह ग्रहण किया, जिस तरह हंस जलका त्यागकर दूधको ग्रहण करता है ? तुमको इसे अपनी बुद्धिसे अच्छी तरह बार-बार विचारकर उसीके अनुसार चलना चाहिये। समस्त शास्त्रोंके सिद्धान्तको समझकर तुम उदार चित्त-से मेरे द्वारा कथित प्रयोजनकी सिद्धिके लिये असङ्ग होकर समयानुसार प्राप्त व्यवहारका परिपालन करो।'

'सभासद्गण ! महाराज दशरथ ! श्रीराम ! लक्ष्मण ! तथा अन्यान्य नृपवर्ग ! आप सभी आज अपने-अपने नित्यकर्मोंका अनुष्ठान करें; क्योंकि आजका दिन प्रायः समाप्त होने जा रहा है। अब जो विचार करना शेष है, उसका जब आपलोग प्रातःकाल सभामें आयेंगे, तब हमलोग विचार करेंगे।'

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! मुनिवर वसिष्ठजीके इस प्रकार कहनेपर वह सभा उठ खड़ी हुई। समस्त सभाका वदन कमलकी तरह था, अतएव वह विकासयुक्त कमलिनीके सदृश भली मालूम पड़ती थी। उस समय अन्यान्य राजाओंने महाराज दशरथकी स्तुति की, श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार किया तथा महर्षि वसिष्ठजीकी विशेषरूपसे स्तुति की। तदनन्तर वे अपने-अपने आश्रममें चले गये। आकाशचारी देवताओंकी वन्दना करके महाराज वसिष्ठजी महर्षि विश्वामित्रके साथ आश्रममें जानेके लिये आसनसे उठे। दशरथ आदि राजा तथा मुनिलोग अपने अनुरूप उपदेश मुनिवर वसिष्ठजीके पीछे-पीछे आश्रमपर्यन्त जाकर उनकी आज्ञा लेकर

---

* वैराग्य और मुमुक्षु-व्यवहार नामक प्रकरणोंके बाद जो उत्पत्ति, स्थिति और उपशम नामक तीन प्रकरण कहे गये हैं, उनमें यह बताया गया कि उत्पत्ति, स्थिति और लयके बोधक तथा 'नेति-नेति' इत्यादि रूपसे प्रपञ्चके निषेधक जो वेदान्त-वाक्य हैं, वे अध्यारोपापवाद-न्यायसे परमात्मतत्त्वका ही प्रतिपादन करनेवाले हैं। अतः वासनाक्षय और मनोनाशपूर्वक परमात्म-ज्ञानके द्वारा परमपुरुषार्थकी प्राप्ति करानेमें ही उनका तात्पर्य है। अब 'यत्र नान्यत् पश्यति' (छान्दोग्य० ७। २४। १)—'जहाँ परमात्माके सिवा दूसरी किसी वस्तुको नहीं देखता', 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (तैत्तिरीय० २।४।१)—'जहाँसे वाणी उसे न पाकर लौट आती है', 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन' (तैत्तिरीय० २।४।१)—'ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला कभी भयभीत नहीं होता।' 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वम्' (बृहदा० २।५।१९)—'वह यह ब्रह्म अपूर्व है' इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध तथा पहले बताये गये समस्त साधनोंसे प्राप्त होनेवाले आत्मज्ञानके फलभूत मोक्षके स्वरूपका बोध करानेके लिये महर्षि वाल्मीकि निर्वाण-नामक प्रकरणका आरम्भ करते हैं।

कोई आकाशकी ओर, कोई अरण्यकी ओर, कोई राज-मन्दिरकी ओर कमलसे उत्थित भ्रमरोंकी तरह चले गये। श्रीराम, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्नने गुरुवर वसिष्ठजीके आश्रममें उनके साथ जाकर उनके चरणोंकी भक्तिपूर्वक पूजा की और फिर दशरथजीके भवनकी ओर चले गये। अपने-अपने स्थानमें आकर उन सब श्रोताओंने स्नान किया, देवता और पितरोंकी पूजा की तथा ब्राह्मणों और अतिथियोंका स्वागत-सत्कार किया। इन क्रियाओंसे निवृत्त होकर उन श्रोताओंने ब्राह्मण आदिसे लेकर नौकर-पर्यन्त अपने-अपने परिवारोंके साथ वर्ण-धर्मके क्रमानुसार भोज्यपदार्थोंका भोजन किया। दैनिक क्रियाओंके साथ सूर्यभगवान्‌के अस्ताचलकी ओर प्रस्थान करनेपर तथा रात्रि-कृत्योंके साथ निशाकरके उदित होनेप आस्तरणोंसे युक्त शय्याओंपर तथा आसनोंप भूमिपर विहार करनेवाले मुनि, राजा, राज महर्षिलोग अत्यन्त आदरपूर्वक महर्षि वसिष्ठ कमलसे निर्गत संसार-तरणके उपायका एकाग्र यथावत् विचार करने लगे। तदनन्तर प्रहर श्रोतागण सुन्दर सुखसे युक्त निद्राको प्राप्त हुए लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न—इन तीनों भ्राताओंने तीन महर्षिके उपदेशका निरन्तर विचार किया। केवल आधे प्रहर (दो घड़ी) तक ही नयनोंम उत्तम सुखसे युक्त तथा क्षणभरमें श्रमका निव देनेवाली निद्रा प्राप्त की। (

श्रीरामचन्द्र आदिका महाराज वसिष्ठजीको सभामें लाना तथा महर्षि वसिष्ठजीके द्वार उपदेशका आरम्भ; चित्तके विनाशका और श्रीरामचन्द्रजीकी ब्रह्मरूपताका निरूपण

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—रात्रिके क्षीण होनेपर श्रीराम, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न अपने-अपने अनुचरोंके साथ उठकर स्नान, संध्या आदि कर्मोंका अनुष्ठान करके महामुनि श्रीवसिष्ठजीके आश्रमपर चले गये। वहाँ उन्होंने संध्या करके आश्रमसे बाहर निकलते हुए महर्षि वसिष्ठजीके चरणोंमें अर्घ्य प्रदानकर प्रणाम किया। क्षणभरमें महर्षि वसिष्ठजीका आश्रम मुनियों, ब्राह्मणों और राजाओंसे तथा हाथी, घोड़े, रथ आदि अन्यान्य वाहनोंसे इतना भर गया कि वहाँ तनिक भी अवकाश नहीं रहा। तदनन्तर मुनिश्रेष्ठ महाराज वसिष्ठजी उस सेनाके साथ ही श्रीराम आदिसे अनुगत होकर यथासमय दशरथजीके घरपर जा पहुँचे। वहाँपर शीघ्रतापूर्वक मिलनेके उत्साहसे संध्या-वन्दनसे निवृत्त हुए महाराज दशरथने आदरपूर्वक दूर मार्गमें ही जाकर महर्षिका पूजन किया। वे सब श्रोतागण पुष्पों, मोतियों तथा मणियोंके समूहोंसे पहलेकी अपेक्षा पुनः अधिक सजायी गयी सभामें प्रविष्ट होकर अपने-अपने आसनोंपर बैठ गये। इसके अनन्तर उसी स दिनके जो आकाशचर, भूचर आदि श्रोता थे, के-सब आ गये। एक दूसरेका अभिवाद सभा बैठ गयी। तदनन्तर वाक्यरचनामें पटु वसिष्ठजी पूर्व प्रकरणके अनुसार ही वाक्यार्थके श्रीरघुनन्दनको कहने लगे।

महाराज वसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! सुन्दर पद्धतिसे जो अत्यन्त गहन अर्थवाला तत्त्व का बोधक वाक्य कहा था, उसका क्या तुमने है? अब मैं तुम्हारे समझनेके लिये यह शाश्वत सिद्धिदायक उपदेश करता हूँ, इसे श्रीराम! परमात्मतत्त्वके यथार्थ ज्ञानसे अज्ञा तथा वासनाका विनाश हो जानेपर शोकशून्य प्राप्त हो जाता है। देश, काल और वस्तुसे र अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा ही है। उस द्वित्वरूप जगत् तो अज्ञानसे प्रतीत होता है।

परमात्माके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है; क्योंकि जहाँ समस्त पदार्थोंसे रहित, परम शान्त, समानभावसे प्रकाशित एक सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है, वहाँ उस परमात्माके सिवा दूसरा पदार्थ कैसे रह सकता है। जो सम्पदाएँ हैं, जो दृश्य हैं, जो प्राणी हैं और जो उनकी इच्छाएँ हैं—इन सबके रूपमें आदि और अन्तसे रहित एक विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही है, जैसे समुद्रकी तरङ्गें समुद्र ही हैं। पातालमें, भूमिमें, स्वर्गमें, तृण आदि जड पदार्थोंमें, प्राणी एवं आकाशमें—सर्वत्र वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण है, दूसरा कुछ नहीं। जैसे समुद्रकी नाना तरङ्गें समुद्र ही हैं, वैसे ही उपेक्ष्य, हेय, उपादेय, बन्धु-बान्धव, सम्पदाएँ, देह—इन सभी रूपोंमें आदि और अन्तसे रहित परब्रह्म ही प्रकाशित है। जबतक अज्ञानकी कल्पना, ब्रह्मसे अतिरिक्त पदार्थकी भावना और जगज्जालमें आस्था रहती है, तभीतक चित्त आदिकी कल्पना रहती है। जबतक देहमें अहंभावना रहती है, जबतक इस दृश्यमें आत्मरूपता रहती है, जबतक यह मेरा है—इस प्रकारकी आस्था रहती है, तभीतक चित्तरूप भ्रम रहता है।

जबतक पूर्णताका उदय नहीं होता और जबतक सज्जनोंके संसर्गसे अज्ञानका विनाश नहीं होता, तभीतक चित्त आदि पतनकी ओर जाते रहते हैं। जबतक सच्चिदानन्द परमात्माके यथार्थ अनुभवके प्रभावसे यह जगत्‌की वासना शिथिल नहीं हो जाती, तभीतक चित्त आदि प्रवृत्त होते हैं। जबतक अज्ञानरूप मूर्खता रहती है, जबतक विषयाभिलाषासे विवशता रहती है एवं जबतक मूर्खतावश मोहका समुद्र बना रहता है, तबतक चित्त आदिकी कल्पना रहती है। किंतु जिसका अन्तःकरण भोगोंमें आस्था नहीं रखता, जिसको सुशील निर्मल निर्वाण परमपद प्राप्त हो चुका है एवं जिसके आशापाशके जाल छिन्न-भिन्न हो गये हैं, उसका चित्तरूप भ्रम नष्ट हो जाता है। मिथ्या भ्रमको उत्पन्न करनेवाले अनात्मदर्शनका विनाश तथा परमार्थभूत सच्चिदानन्द परमात्मज्ञानरूप उत्तम सूर्यका उदय होनेपर चित्त विनष्ट होकर उसी प्रकार पुनः दिखायी नहीं देता, जिस प्रकार अग्निमें सूखा पत्ता या घीकी बूँद गिरनेपर पुनः दिखायी नहीं देती। परमात्माके सगुण-निर्गुण स्वरूपका साक्षात्कार किये हुए जो जीवन्मुक्त महात्मा हैं, उनका पवित्र अन्तःकरण ही 'सत्त्व'नामसे कहा गया है। जो समरूप परमात्मपदमें नित्य स्थित, चित्तरहित तत्त्वज्ञानी महात्मा हैं, वे सत्त्वगुणमें स्थितिसे उत्पन्न उपेक्षासे ही लीलामात्र व्यवहार करते हैं। परमात्मामें स्थित, संयतेन्द्रिय, परम शान्त महात्मा पुरुष उस ब्रह्मरूप ज्योतिका सदा ही साक्षात्कार करते रहते हैं; अतः उनमें द्वैतभाव, एकभाव और वासना नहीं हो सकती। 'मैं सर्वात्मक हूँ' इस प्रकारकी परिपूर्ण आत्मभावनासे समस्त त्रिजगत्-रूपी तृणका सच्चिदानन्दरूप अग्निमें हवन करनेवाले महामुनिके चित्त आदि भ्रम निवृत्त हो जाते हैं। विवेकसे विशुद्ध हुआ चित्त सत्त्व कहा जाता है। वह फिर मोहरूपी फल उसी प्रकार उत्पन्न नहीं करता; जिस प्रकार दग्ध हुआ बीज नहीं उगता। मूढ मनुष्योंके भीतर पुनर्जन्मका विधायक वासनायुक्त चित्त होता है; किंतु तत्त्वज्ञान हो जानेपर वही वासनारहित सत्त्वरूप होकर पुनर्जन्मका बाधक हो जाता है। श्रीराम! तुम प्राप्तव्य वस्तुको प्राप्त कर चुके हो। तुम्हें कुछ भी प्राप्त करना नहीं है, तुम्हारा चित्त शुद्ध है और ज्ञानरूप अग्निसे दग्ध हो चुका है; अतः वह भावी जन्मका कारण नहीं हो सकता अर्थात् तुम जन्म-मरणसे रहित हो। तुम वास्तवमें अवयव और सीमासे रहित, चेतनस्वरूप ही हो; अतः तुम अपने स्वरूपका स्मरण करो, उसे कभी भूलो मत। तुम वही परिपूर्ण, परम शान्त, सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा हो। श्रीराम! सारा चराचर चेतन-समूह तुम्हारे अंदर है और वास्तवमें वह नहीं है। तुम जो हो सो हो, तुम सत् भी हो, असत् भी हो। जो कुछ सत्-असत् प्रतीत होता

है, वह तुम्हारा संकल्प होनेसे तुम ही हो और तुम स्वयं प्रकाशरूप हो। वास्तवमें जड-पदार्थविशेष तुम नहीं हो और न वह सब तुममें है। तुम्हारा संकल्प होनेसे वह तुम्हारा स्वरूप भी है और वस्तुसे असत् होनेके कारण वह नहीं है, तुम अपने सच्चिदानन्द-स्वरूपमें नित्य स्थित हो। तुम्हें नमस्कार है! तुम आदि और अन्तसे रहित, शिलाके समान चेतनघन हो—जिस प्रकार शिलामें पत्थरके सिवा कोई वस्तु नहीं उसी तरह तुममें एक चेतनके सिवा और कुछ नहीं है। तुम आकाशकी तरह निर्मल और स्वस्थ हो। तुम लीलासे ही सम्पूर्ण जगत्को अपने एक अंशमें धारण किये हुए हो। ऐसे ब्रह्मस्वरूप तुम्हें नमस्कार है! (सर्ग २)

ब्रह्मकी जगत्कारणता और ज्ञानद्वारा मायाके विनाशका तथा श्रीवसिष्ठजीके द्वारा श्रीरामकी महिमा एवं श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा अपने परमार्थ-स्वरूपका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—निष्पाप श्रीराम! जिस प्रकार समुद्रमें उठनेवाली असंख्य तरङ्गोंका मूल कारण जल ही है, उसी प्रकार जो नाना प्रकारके असंख्य ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति और धारण करनेवाला चेतन है, वह तुम हो। समरूप, आकाशकी तरह सौम्य, बड़ी-बड़ी सृष्टिरूपी जल-तरङ्गोंसे घन प्रकाशमय परमात्म-चैतन्यरूप समुद्र तुम ही हो।* जिस प्रकार अग्निसे उष्णत्व भिन्न नहीं है, कमलसे सौगन्ध्य भिन्न नहीं है, कज्जलसे कृष्ण रूप भिन्न नहीं है, बरफ-से शुक्ल रूप भिन्न नहीं है, ईखसे माधुर्य भिन्न नहीं है, तेजसे प्रकाश भिन्न नहीं है, चेतनसे उसका अनुभव भिन्न नहीं है, जलसे तरङ्ग भिन्न नहीं है, उसी प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्मसे चराचर जगत् भिन्न नहीं है; क्योंकि ब्रह्म ही सबका कारण है। इसलिये चेतनसे उसका अनुभव भिन्न नहीं है। अनुभवसे 'अहम्' भिन्न नहीं है, 'अहम्'से जीव भिन्न नहीं है, जीवसे मन भिन्न नहीं है, मनसे इन्द्रिय भिन्न नहीं है, इन्द्रियोंसे देह भिन्न नहीं है, देहसे यह जड दृश्य जगत् भिन्न नहीं है, जगत्से भिन्न अन्य कोई पदार्थ नहीं है।

श्रीराम! यह दृश्यमान जगत्रूपी चक्र चिन्मय परमात्माने ही अनादि कालसे अपने संकल्पद्वारा प्रवृत्त किया है। वास्तवमें तो कुछ भी प्रवृत्त नहीं किया है। यथार्थमें तो यह सब कुछ विभागरहित अनन्त सच्चिदानन्दरूप आकाश ही अपने आपमें स्थित है। उसके सिवा दूसरा और कुछ भी नहीं है। ज्ञानी पुरुष इन्द्रियों और मनके व्यापारोंको करता हुआ भी कुछ भी नहीं करता; क्योंकि उसमें कर्तृत्व है ही नहीं। श्रीराम! तुम भीतरसे आकाशकी तरह निर्मल हो, बाहरसे अपने वर्णाश्रमानुकूल आचरण करते हो एवं हर्ष और ईर्ष्या आदि विकारोंमें काष्ठ और लोष्टके समान निर्विकार हो। जो तत्क्षण मारनेके लिये उद्यत अत्यन्त ही कठोर शत्रु है, उसे स्वाभाविक प्रियतम मित्रके रूपमें जो देखता है, वही यथार्थ देखनेवाला ज्ञानी महात्मा है। जिस प्रकार तटवर्ती वृक्षको नदी वेगसे मूलोच्छेदनपूर्वक उखाड़कर फेंक देती है, उसी प्रकार जो महात्मा सौहार्द और ईर्ष्याको वेगसे समूल उखाड़ फेंक देता है, वही हर्ष और ईर्ष्यारूपी दोषोंका विनाश कर सकता है। जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिप्त नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है।

* रमन्ते योगिनो यस्मिन् नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥
'जिस नित्यानन्द चिदात्मामें योगीलोग निरन्तर रमण करते हैं, वह परब्रह्म 'राम' पदसे कहा जाता है'—ऐसी व्युत्पत्तिवाले 'राम' शब्दके वाच्य भी तुम ही हो।

श्रीराम ! जिसका त्रिकालमें अस्तित्व नहीं है, उसकी व्यावहारिक सत्ताका ज्ञान करानेके लिये 'माया' शब्दका प्रयोग किया गया है। वह माया उसका यथार्थ ज्ञान हो जानेसे निस्संदेह विनष्ट हो जाती है।

निष्पाप श्रीराम ! मन, बुद्धि, अहंकार तथा इन्द्रिय आदि सब कुछ जडतारहित एकमात्र चिन्मय परमात्मा ही है। फिर जीवात्मा उस परमात्मासे अलग कैसे रह सकता है, अर्थात् वह भी परमात्माका स्वरूप ही है। जब भोग-तृष्णारूपी विषका आवेश विनष्ट हो जाता है—संसारके विषयभोगोंसे तीव्र वैराग्य हो जाता है, तब अज्ञान उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे गत रात्रिके अन्धकारके नष्ट हो जानेपर रतौंधी भाग जाती है, भली प्रकारसे आलोचित अध्यात्मशास्त्ररूपी विचारसे तृष्णाविषरूपी महामारी क्षीण हो जाती है। जैसे विस्तृत आकाशमें अव्यक्त वायु स्थिर है, वैसे ही भावाभावसे रहित हुए तुम उस अत्यन्त विस्तृत परम पदरूप अपने ब्रह्मस्वरूपमें स्थिर हो। श्रीराम ! जब साधारण मनुष्योंको भी अपने कुलगुरुके वचन लग जाते हैं, तब फिर तुम उदार (विशाल)-बुद्धिको मेरा उपदेश क्यों नहीं लगेगा ? क्योंकि तुमने अपनी बुद्धिसे मेरे वचनोंको ग्रहण करने योग्य समझ लिया है, अतएव मेरे वचन तुम्हारे हृदयके अंदर प्रविष्ट हो जाते हैं। श्रेष्ठ महानुभाव श्रीराम ! मैं रघुकुलको उन्नत करनेवाले तुमलोगोंका सदासे कुलगुरु हूँ, इसलिये तुम मेरे द्वारा कहे गये शुभ वचनोंको हृदयमें हारकी तरह धारण करो।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन् ! मैं केवल परम शान्तिका अनुभव कर रहा हूँ और परमानन्दमय स्वरूपमें सुखपूर्वक स्थित हूँ। मुने ! मुझे कुहरेसे शून्य दिङ्मण्डलकी भाँति भली प्रकार प्रसन्न यह समस्त जगत् वास्तविक सच्चिदानन्दस्वरूप दीख रहा है। भगवन् ! मैं संदेहसे, आशारूप मृगतृष्णासे, राग और वैराग्यसे रहित हूँ। नाथ ! मैं अपने आपसे ही अपने उस अविनाशी विज्ञानानन्दघन स्वरूपमें स्थित हूँ, जहाँपर अमृतका रसास्वाद भी तृणके सदृश नीरस होकर उपेक्षणीय हो जाता है। मैं अपने प्राकृत स्वरूपमें स्थित हूँ,—स्वस्थ हूँ, प्रसन्न हूँ। लोक जहाँ विश्राम करते हैं, उस सुखका केन्द्रस्वरूप मैं हूँ। अतएव मैं वास्तविक राम हूँ, मैं अपने परमार्थ स्वरूपको तथा आपको प्रणाम करता हूँ। शुद्ध आत्मामें अज्ञान आदि विकार कैसे आ सकते हैं। सदा शुद्ध आत्मा ही सर्वत्र विद्यमान है। सब कुछ आत्मा ही है। यह दूसरा है, यह दूसरा है—इत्यादि असत् कल्पनाएँ कैसे आ सकती हैं। (सर्ग ३—५)

देह और आत्माके विवेकका एवं अज्ञानीको देहमें आत्मबुद्धि और विषयोंमें सुखबुद्धि करनेसे दुःखकी प्राप्तिका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—महाबाहु श्रीराम ! तुम फिर भी मेरे परम रहस्यमय और प्रभावयुक्त वचन सुनो, जिन्हें मैं अतिशय प्रेम रखनेवाले तुम्हारे लिये हितकी इच्छासे कहता हूँ। श्रीराम ! जिस अज्ञानी पुरुषकी अज्ञानवश देहमें ही आत्मभावना उत्पन्न हो जाती है, उस पुरुषको इन्द्रियाँ रोषपूर्वक शत्रु बनकर पराजित कर देती हैं। किंतु जिस विवेकी पुरुषकी ज्ञानपूर्वक एकमात्र नित्य परमात्माके स्वरूपमें ही स्थिति रहती है, उस निर्दोष पुरुषकी इन्द्रियाँ संतोषपूर्वक मित्र बनकर रहती हैं, उसका पतन नहीं कर सकतीं।* व्यवहार करते हुए जिस ज्ञानी पुरुषको

* कठोपनिषद्में भी बताया गया है—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥

निन्दनीय भोग्य पदार्थोंमें दोष-दर्शनके कारण निन्दाके सिवा स्तुतिबुद्धि उत्पन्न होती ही नहीं, वह पुरुष दुःखदायी देहमें किसलिये आत्मबुद्धि करेगा ? कभी नहीं करेगा। जैसे प्रकाश और अन्धकार एक दूसरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, वैसे ही शरीर और आत्मा एक दूसरेसे अत्यन्त विलक्षण हैं; क्योंकि शरीर जड और मिथ्या है तथा आत्मा चेतन और सत्य है। इसीसे न आत्मा शरीरका सम्बन्धी है और न शरीर ही आत्माका सम्बन्धी, अर्थात् परस्पर विरुद्ध होनेके कारण इनका सम्बन्ध सम्भव नहीं है। भगवन्! समस्त भावविकारोंसे नित्यमुक्त एवं निर्लिप्त आत्मा न कभी उत्पन्न होता है और न कभी विनष्ट ही होता है, वरं वह सदा-सर्वदा एकरूपसे रहता है। पत्थरके समान जड, ज्ञानरहित, तुच्छ, कृतघ्न तथा विनाशशील इस शरीरका जो कुछ भी होनेवाला हो वह भले ही हो, इससे आत्माकी न तो हानि है और न इससे उसका कोई सम्बन्ध ही है।

विभिन्न दृष्टियोंसे देखनेपर भी सद्रूप ब्रह्म कभी असद्रूप नहीं हो सकता, इसी प्रकार सर्वव्यापक जीवात्माका शरीरके साथ तनिक भी सम्बन्ध सम्भव नहीं। जैसे जलमें स्थित कमलपत्रका जलसे किंचिन्मात्र सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही देहमें स्थित जीवात्माका भी देहसत्ताके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। परमात्माका अच्छी प्रकार साक्षात्कार हो जानेपर परमार्थ सत्यरूप परमात्मामें ही स्थिति हो जाती है और देहात्मबुद्धिरूप अज्ञान-प्रयुक्त भ्रम नष्ट हो जाता है। देह और आत्माके यथार्थ ज्ञानसे देहकी असत्ता और आत्माकी सत्ता सिद्ध हो जाती है। सभी प्राणियोंमें अविनाशी चेतन रहता ही है, परंतु जीवात्माको इसका भली प्रकार ज्ञान न होनेके कारण उसमें कायरता आ गयी है। ऐसे अज्ञानी जीवोंके शरीरसे श्वास उसी प्रकार निकलते रहते हैं, जैसे लोहारकी धौंकनीसे हवा निकलती है; अतः उनका जीवन व्यर्थ है। अज्ञान ही आपत्तियोंका आश्रय-स्थान है। भला, बतलाइये तो सही कि कौन-सी आपत्तियाँ अज्ञानीको नहीं प्राप्त होतीं ? अज्ञानीको उग्र दुःख और सांसारिक क्षणिक सुख भी बार-बार आते और जाते रहते हैं। देह, धन, स्त्री आदिमें आसक्ति रखनेवाले अज्ञानीका यह दुष्ट दुःख कभी भी शान्त नहीं होता। इस अनात्मभूत जड देहमें आत्मभाव करनेवाले अज्ञानी पुरुषकी असत्य बोधमयी माया क्या किसी प्रकार भी नष्ट हो सकती है ? अर्थात् बिना ज्ञानके किसी प्रकार नष्ट नहीं हो सकती। उस अज्ञानी पुरुषका ही जन्म पुनः-पुनः बालपन प्राप्त करता रहता है, बालपन बार-बार यौवन प्राप्त करता रहता है, यौवन बार-बार वार्धक्य प्राप्त करता रहता है और वार्धक्य बार-बार मरण प्राप्त करता रहता है। अज्ञानी पुरुष ही इस जगत्‌रूपी जीर्ण घटीयन्त्र (रहँट) में संसाररूपी रज्जुसे बँधा हुआ कलश-रूप होकर जलमें डूबता और निकलता रहता है। अर्थात् यह अज्ञानी जीव संसारमें बार-बार जन्मता-मरता रहता है। जिस प्रकार पक्षिणियाँ पिंजरसे बाहर निकल नहीं पातीं, वैसे ही उदरभरणमें अति आसक्तिरूपी बन्धनसे बँधे ज्ञानदृष्टिसे हीन अज्ञानी पुरुषकी बुद्धियाँ अपारसंसार-समुद्रके पार नहीं जा सकतीं। श्रीराम! विषयोंकी जो केवल ऊपर-ऊपरसे दिखायी पड़नेवाली मधुरता, परिणाममें अनर्थरूपता, आद्यन्तवत्ता, देशतः परिच्छिन्नता और समस्त अवस्थाओंमें नश्वरता प्रसिद्ध है, वे सब अज्ञानरूपी वृक्षके ही फल हैं। (सर्ग ६)

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥
(कठ० १। ३। ५, ६)

'जो सदा विवेकहीन बुद्धिवाला और अवशीभूत चञ्चल मनसे युक्त रहता है, उसकी इन्द्रियाँ असावधान सारथिके दुष्ट घोड़ोंकी भाँति वशमें नहीं रहतीं। परंतु जो सदा विवेकयुक्त बुद्धिवाला और वशमें किये हुए मनसे सम्पन्न रहता है, उसकी इन्द्रियाँ सावधान सारथिके अच्छे घोड़ोंकी भाँति वशमें रहती हैं।'

अज्ञानकी महिमा और विभूतियोंका सविस्तर वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! मदरूपी चन्द्रके उदित होनेपर मोतियोंसे वेष्टित तथा रत्नोंसे सुशोभित स्त्रियाँ क्षुब्ध काम-क्षीरसागरकी तरङ्गके समान जो दिखायी पडती हैं, वह केवल अज्ञानकी ही विभूति है। वसन्तऋतुमें भूमिपर वनखण्डोंमें पुष्प कामके दास कामियोंको जो रमणीय दिखायी पड़ते हैं, उसमें भी अज्ञान ही कारण है। गीध, गीदड़, कुत्ते आदिके खाने योग्य मांस-पिण्डरूप स्त्रियोंके शरीरोंकी जो चन्द्रमा, चन्दन और कमलसे उपमा दी जाती है, वह भी अज्ञानकी ही महिमा है। लारसे आर्द्र ओष्ठनामक मांसके टुकड़ेकी जो रसायन, अमृत, मधु आदिके साथ उपमा दी जाती है, वह भी अज्ञान ही है। आरम्भमें अज्ञानी लोगोंको अत्यन्त मधुर लगनेवाली, मध्यमें राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोंसे बाँधनेवाली एवं अन्तमें शीघ्र नष्ट हो जानेवाली धनराशिकी जो अभिलाषा की जाती है, वह भी अज्ञान ही है। जिसने अनन्त ब्रह्माण्डरूपी पके हुए फलोंको ग्रास बना लिया है और जो सदा खानेकी चेष्टा करनेवाली जठराग्निसे युक्त है, वह काल कल्पोंतक जो तृप्त नहीं होता, उसमें भी अज्ञानकी ही महिमा है। जीवोंकी जो यौवन-रात्रि चिन्तारूपी पिशाचोंसे उपहत तथा विवेकरूपी चन्द्रमाके उदयसे शून्य, अतएव अन्धकारकी तरह प्रकाशरहित बीत जाती है, वह अज्ञानका ही विलास है। आरम्भकालमें कानोंके संनिहित कपोल-प्रदेशको आक्रान्त कर चारो ओरसे निश्चयपूर्वक स्फुरणशील जरारूपी बूढ़ी बिल्ली, जो यौवनरूपी चूहोंका भक्षण करती रहती है, वह भी अज्ञानकी ही महिमा है। प्रतीतिरूपी पुष्पोंसे उज्ज्वल व्यावहारिक सत्तारूपी लता, जिसमें जगत्‌रूपी पल्लव हैं और जो धर्म-अर्थरूपी फल धारण करती है एवं विकसित होती है, इसका कारण भी माया ही है। जिसमें बड़े-बड़े पर्वत ही खंभे हैं, सूर्य-चन्द्र ही खिड़कियाँ हैं, आकाश ही आच्छादन (छत) है, ऐसा जगत्-त्रयरूपी महल जो खड़ा हो जाता है, वह भी मायाकी ही महिमा है। अपनी वासनारूपिणी शलाकाओंसे निर्मित शरीरके भीतर स्थित इन्द्रिय-समूहरूप पिंजरेमें जो जगत्‌के अन्तर्गत जीवरूपी पक्षी आशारूपी सूतसे बँधा हुआ है, उसमें भी उसका अज्ञान ही कारण है।

संसाररूपी खल्प जलाशयमें स्फुरित होनेवाली सृष्टि-रूपी क्षुद्र मछलीको शठ कृतान्तरूपी वृद्ध गीध जो पकड़ लेता है, उसमें भी मायाकी ही महिमा है। परमपदरूप अचल ब्रह्ममें संकल्पसे उत्पन्न असंख्य जगत्‌रूप जंगलोंके जाल युगान्तरूपी अग्निसे जो दग्ध हो जाते हैं, उसमें भी अविद्या ही कारण है। निरन्तर उत्पत्ति और विनाशसे तथा दुःख और सुखकी सैकड़ों दशाओंसे, इस प्रकार जगत्स्थिति जो पुनः-पुनः बदलती रहती है, उसमें भी अविद्या ही कारण है। वासनारूपी जंजीरोंसे बँधी हुई अज्ञानियोंकी दृढ़ धारणा क्षुभित युगोंके आवागमन तथा कठोर वज्रोंके आघातोंसे भी जो विदीर्ण नहीं होती, इसमें उनकी अविद्या ही कारण है। राग-द्वेषसे होनेवाले उत्पत्ति-विनाशसे तथा जरा-मरणरूपी रोगसे समस्त जंगम जाति जीर्ण-शीर्ण हो गयी है, इसमें उनका अज्ञान ही कारण है। कभी लक्ष्यमें न आनेवाले बिलमें रहनेके कारण अदृश्य और अपरिमिति भोजन करनेवाला कालरूपी सर्प निर्भय होकर इस समस्त जगत्‌को जो क्षणभरमें ही निगल जाता है, यह सब मायाकी ही महिमा है। प्रत्येक कल्परूप क्षणमें क्षीण हो जाने-वाले ब्रह्माण्डरूप प्रस्फुट बुद्बुद, जो भयंकर कालरूपी महासमुद्रमें उत्पन्न और विनष्ट हो जाते है, यह भी मायाकी महिमा है। उत्पन्न हो-होकर नष्ट हो जानेवाली प्रतत सृष्टिरूपी ये बिजलियाँ, जिन्हें चिन्मय परमात्माके सकाशसे प्रकाश-शक्ति प्राप्त हुई है, जो प्रकट होती हैं, वह भी मायाकी महिमा है। अनन्त संकल्पोंवाली समस्त विकल्पोंसे शून्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्मरूप पदमें

आश्चर्योंकी पूर्ति करनेवाली ऐसी कौन-सी शक्तियाँ नहीं हैं ? अर्थात् सभी शक्तियाँ उसमें विद्यमान हैं। उस प्रकार सुदृढ़ संकल्पोंसे प्राप्त अर्थसमूहसे देदीप्यमान जगत्की ब्रह्ममें जो यह कल्पना है, उसमें भी अज्ञान ही हेतु है। इसलिये श्रीराम ! जो कुछ बारंबार प्राप्त होनेवाली सम्पत्तियाँ या आपत्तियाँ हैं, जो बाल्य-यौवन-जरा-मरणरूपी महान् संताप हैं, जो सुख-दुःखकी परम्परारूप संसार-सागरमें गोता लगाना है, वह सब अज्ञानरूपी गाढ़ अन्धकारकी विभूतियाँ हैं।

(सर्ग ७)

अविद्याके कार्य संसाररूप विष-लता, विद्या एवं अविद्याके स्वरूप तथा उन दोनोंसे रहित परमार्थ-वस्तुका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! यह अविद्याका कार्य संसार-लता कब और किस प्रकार विकसित हुई, इसका मैं वर्णन करता हूँ, सुनो ! यह अविद्याका कार्य संसार-लता बड़े-बड़े मेरु आदि पर्वतरूप पर्वोंसे युक्त, ब्रह्माण्ड-रूपी त्वचासे आवृत और जनरूपी पत्र, अङ्कुर आदि विकासोंसे युक्त है। ये तीनों लोक इसकी देह हैं। इस अविद्यारूपी लतामें प्रतिदिन वृद्धि प्राप्त करनेवाले सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु और ज्ञान तो फल हैं और अज्ञान इसका मूल है। जन्मसे ही अविद्या उत्पन्न होती है और वह बादमें जन्मान्तररूप फल प्रदान करती है। जन्मसे ही वह संसारके रूपमें अपना अस्तित्व प्राप्त करती है और बादमें स्थितिरूप फल प्रदान करती है। वह अविद्या अज्ञानसे वृद्धि प्राप्त करती है और बादमें अज्ञान-रूप फल देती है। ज्ञानसे आत्माका अनुभव प्राप्त करती और अन्तमें आत्माका अनुभवरूप फल देती है। प्रतिदिन आकाशमें चारों ओरसे विकसित होनेवाली चन्द्र, सूर्य आदिके सहित ग्रहरूप ज्योतियोंकी जो पंक्तियाँ हैं, वे ही इस सृष्टिरूपा लताके पुष्प हैं। रघुनन्दन ! आकाश-मण्डलको व्याप्तकर स्थित इस लताके ऊपर प्रस्फुरित नक्षत्र और तारे ही पुष्पोंकी कलियाँ हैं। चन्द्र, सूर्य तथा अग्निके प्रकाश इस लताके पराग हैं। इसी परागसे यह शुभाङ्गी स्त्रीके समान लोगोंके मनका आकर्षण करती है। यह लता चित्तरूप हाथीद्वारा प्रकम्पित, संकल्परूप मधुर कलनाद करनेवाली कोकिलसे युक्त, इन्द्रियरूपी साँपोंसे वेष्टित और तृष्णारूपी त्वचासे आच्छादित, चतुर्दश भुवनरूपी वनोंसे शोभित, सात समुद्ररूपी सुन्दर खाइयोंसे आवृत एवं स्त्रीरूप पुष्पसमूहोंसे शोभित, मनके स्पन्दरूप वायुसे कम्पित, शास्त्रनिषिद्ध कर्मरूपी अजगरसे व्याप्त, स्वर्गकी शोभारूपी पुष्पमण्डलसे शोभित तथा जीवोंकी जीविकासे पूर्ण एवं अनेक प्रकारके विषयभोगोंकी वासनारूप गन्धोंसे अङ्गोंको उन्मत्त करने-वाली है। वह अविद्यारूपा लता अनेक बार उत्पन्न हो चुकी है और उत्पन्न हो रही है, अनेक बार मर चुकी है और मर भी रही है। वह अतीत कालमें थी और वर्तमान कालमें भी है। वह सर्वदा असत्पदार्थके सदृश होती हुई भी सत्य पदार्थके सदृश बार-बार प्रतीत होती है तथा नित्य विनष्ट भी होती है। यह अविद्याका कार्य संसार निश्चय ही महती विषमयी लता है; क्योंकि अविचारसे इसका सम्बन्ध होनेपर यह तत्क्षण संसाररूपी विषसे उत्पन्न होनेवाली मूर्च्छा लाती है और विवेकपूर्वक सत्-असत्के विचारसे तत्क्षण नष्ट हो जाती है। इसलिये यह विवेकीके लिये तो नष्ट हो जाती है और अविवेकीके लिये स्थित रहती है। यह सृष्टिरूपा लता जलके रूपमें, पर्वतोंके रूपमें, नागोंके रूपमें, देवताओंके रूपमें, पृथिवीके रूपमें, द्युलोकके रूपमें, चन्द्र, सूर्य और तारोंके रूपमें विस्तृत हो रही है। श्रीराम ! इन समस्त भुवनोंमें उत्कृष्ट प्रभाव-से चारों ओर व्याप्त अथवा जीर्णताको प्राप्त हुए क्षुद्र तिनकेके रूपमें जो कुछ यह दृश्य प्रतीत हो रहा है उस सबको

अविद्याका कार्य होनेसे विनाशशील अविद्या ही समझना चाहिये । उसका विवेक-वैराग्यपूर्वक यथार्थ ज्ञानद्वारा विनाश हो जानेपर सच्चिदानन्दघन परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है ।

श्रीराम ! यहाँ दृश्यरूप जगत्‌के सम्बन्धसे और कल्पनाओंसे रहित, परम शान्त, सबका आत्मस्वरूप केवल एक सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही है । जिस प्रकार जलसे तरङ्गें प्रकट होती हैं, वैसे ही उस परमात्माके संकल्पसे कलारूप प्रकृति प्रकट होती है । यह प्रकृति सत्त्व, रज, तम—त्रिगुणमयी है । सत्त्व आदि तीन गुणस्वरूप धर्मोंसे युक्त प्रकृति ही अविद्या (माया) है । यही प्राणियोंका संसार है । इस प्रकृतिसे पार हो जाना ही परमपदकी प्राप्ति है । जो कुछ भी यह दृश्य-प्रपञ्च दिखायी पड़ता है, वह सब इसी अविद्याका कार्य होनेसे उसीके आश्रित है । श्रीराम ! ऋषि, मुनि, सिद्ध, दिव्य नाग, विद्याधर, देवता—इनको प्रकृतिके सात्त्विक, अंशस्वरूप जानो । प्रकृतिका जो शुद्ध सत्त्व-अंश है, वह विद्या है; उस विद्यासे अविद्या उसी प्रकार उत्पन्न होती है, जिस प्रकार जलसे बुद्‌बुद उत्पन्न होते हैं । और जिस प्रकार बुद्‌बुद जलमें लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार उस विद्यामें ही यह अविद्या विलीन भी हो जाती है । जैसे जल और तरङ्गकी द्वित्वभावनासे ही भिन्नता है, वैसे ही विद्या और अविद्या-दृष्टियोंकी भेदभावनासे ही भिन्नता है, वस्तुतः नहीं । जिस प्रकार परमार्थतः जल और तरङ्गकी एकरूपता ही है उसी प्रकार विद्या और अविद्या भी एकरूप ही हैं, पृथक् नहीं । वास्तवमें एक परमात्मासे भिन्न विद्या और अविद्या नामकी कोई वस्तु ही नहीं है; अतः विद्या और अविद्या-दृष्टिका परित्याग करनेपर यहाँ जो कुछ अवशिष्ट रहता है, वह परब्रह्म परमात्मा ही वास्तवमें विद्यमान है, दूसरा नहीं; क्योंकि न अविद्या नामका पदार्थ है और न विद्या नामका ही पदार्थ है, इसलिये यह कल्पना व्यर्थ है । वास्तवमें परमात्माको छोड़कर बच रहनेवाला कुछ भी नहीं है; यदि कुछ है तो वह एकमात्र चिन्मय परमात्मा ही है । जब परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं रहता, तब वह अज्ञान ही अविद्या कहलाता है और जब यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब वह ज्ञान ही अविद्याक्षय—इस नामसे कहा जाता है । आतप और छायाकी तरह परस्पर-विरुद्ध विद्या और अविद्या दोनोंमेंसे विद्याका अभाव होनेपर अविद्या नामक मिथ्या कल्पना प्रकट होती है, जैसे सूर्यके अस्त हो जानेपर छाया-हो-छाया रह जाती है । श्रीराम ! अविद्याका विनाश हो जानेपर विद्या और अविद्या दोनों ही कल्पनाओंका विनाश हो जाता है । इन दोनोंका अभाव हो जानेपर एक प्राप्तव्य सच्चिदानन्द परब्रह्म ही बच रहता है । जैसे समुद्र तरङ्गोंका और निर्मल मणि रश्मियोंका खजाना है, वैसे ही सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही अनन्त चराचर प्राणियोंका खजाना है । जैसे अनन्त घड़ोंमें एक ही आकाश बाहर-भीतर परिपूर्ण है, उसी प्रकार समस्त जड-चेतन वस्तुओंमें बाहर और भीतर भी एक अविनाशी सत् वस्तुरूप विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही सदा-सर्वदा परिपूर्ण है । जिस प्रकार अयस्कान्तमणि (चुम्बक) के सकाशामात्रसे जड लोह क्रियाशील हो जाता है, वैसे ही एकमात्र चिन्मय परमात्माके सकाशसे जड देहादि पदार्थ क्रियाशील होते हैं । जगत्‌के एकमात्र कारण उस चिन्मय परमात्मामें उसकी कल्पनासे ही यह कल्पित दृश्य जगत् स्थित है— ठीक उसी प्रकार, जैसे चित्र-विचित्र चञ्चल तरङ्ग-समूह जलमें स्थित है । वास्तवमें अनन्त आकाशकी तरह निराकार चिन्मय परमात्मामें यह कुछ भी नहीं है । (सर्ग ८-९)

अविद्यामूलक स्थावरयोनिके जीवोंके स्वरूपका तथा विवेकपूर्वक विचारसे अविद्याके नाशका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! परमात्माके सिवा जो यह स्थावर-जङ्गमरूप जगत् प्रतीत होता है, यथार्थमें वह कुछ भी नहीं है; क्योंकि विवेकपूर्वक विचार करनेपर जैसे रज्जुमें होनेवाले सर्पभ्रमसे किसी भी सर्पकी उपलब्धि नहीं होती, उसी प्रकार हृदयके भीतर जो यह देहमें अहंता और बाह्य विषयोंमें ममतारूपी सम्बन्ध भी होता है, विवेकपूर्वक विचार करनेपर उसकी किसी तरह भी उपलब्धि नहीं होती। जाने बिना ही भ्रमसे ब्रह्म ही जगत्के रूपमें प्रतीत होता है, ब्रह्मका अच्छी प्रकार ज्ञान हो जानेपर सम्पूर्ण जड-चेतनकी अन्तिम सीमारूप ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। अज्ञानी बालककी तरह यह जीवात्मा अज्ञानके कारण चित्तस्वरूपको प्राप्त हुआ है, इसलिये चित्तके चलनेपर अपने आपको चलता हुआ देखता है, चित्तके स्थिर होनेपर अपनेको भी स्थिर देखता है। यह आत्मा इस तरह अज्ञानसे इस उपद्रवयुक्त चित्तको ही अपना स्वरूप समझता है। यह चित्त बालक यानी विवेकशून्य है, इसलिये वह चित्तप्राय मनुष्य रेशमके कीड़ेकी तरह अपनेको चित्तगत वासनारूप दीर्घतन्तुओंसे भीतर बाँधता हुआ भी नहीं जानता।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—प्रभो ! अत्यन्त घनीभावको प्राप्त हुआ अविवेक (अज्ञान) वृक्ष-पहाड़ आदि स्थावर योनियोंको प्राप्त होता हुआ किस प्रकार स्थित रहता है ? यह कृपा करके कहिये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! अमनस्त्व अर्थात् सुषुप्तिकी भाँति मनके लयको प्राप्त न हुआ और मनस्त्व अर्थात् मननशीलतासे च्युत हुआ जीवात्मा स्थावर योनिमें साक्षी (उदासीन)-की भाँति स्थित रहता है। तात्पर्य यह कि स्थावर योनियोंमें जीवात्माका चित्त न तो सुषुप्तिकी तरह विलीन ही होता है और न जंगम प्राणियोंकी तरह चञ्चल ही रहता है; बल्कि मूढ़ मनुष्यकी तरह वह बीचकी-सी स्थितिमें रहता है। ज्ञातव्य ब्रह्मको जाननेवाले पुरुषोंमें श्रेष्ठ श्रीराम ! उन स्थावर योनियोंमें जीवात्मा विवेकशून्य और दुःखका प्रतीकार करनेमें असमर्थ रहता है; अतः उन स्थावर शरीरोंमें मोक्ष अत्यन्त दुर्लभ है, ऐसा मैं मानता हूँ; क्योंकि वहाँ जीवात्मा कर्मेन्द्रियोंसे, ज्ञानेन्द्रियोंके व्यापारोंसे तथा मानस व्यापारोंसे शून्य हुआ केवल सत्तामात्रसे स्थित रहता है।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे ! जिन स्थावर शरीरोंमें जीवात्मा एकमात्र सत्तारूपसे ही स्थित रहता है, वहाँ मुक्ति दुर्लभ है—ऐसा ही मैं भी मानता हूँ।

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम ! बुद्धिपूर्वक विचारनेपर यथार्थ वस्तुरूप परमात्माके साक्षात्कारसे चिन्मय सत्ताका जो सबमें समान भावसे अनुभव होता है, वही अविनाशी मोक्षपद है। परमात्मतत्त्वको यथार्थतः जान लेनेपर वासनाओंका जो उत्तम यानी अशेषरूपसे अभाव है, उसे ही सबमें समभावसे सत्तारूप मोक्षपद कहा गया है। ज्ञानी महात्मा पुरुषोंके साथ विचार करके और अध्यात्मभावनासे शास्त्रोंको समझकर सत्ता-सामान्यमें जो निष्ठा होती है, उसी निष्ठाको मुनिलोग परब्रह्म कहते हैं। यही परब्रह्मकी प्राप्ति है। जिसके भीतर मानस व्यापाररूप मनन भलीभाँति लीन हो गया है। तथा चारों ओरसे जिसमें वासनाएँ तिरोहित हो गयी हैं, वह जड धर्मवाली स्थावर जीवोंकी सुषुप्ति सैकड़ों जन्मरूपी दुःखोंको देती है। जड स्वभाववाले ये सभी वृक्ष-पहाड़ आदि स्थावर योनिके जीव सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त हुए-से पुनः-पुनः जन्मके भागी होते हैं। श्रेष्ठ श्रीराम ! जिस तरह बीजोंमें अङ्कुरसे लेकर पुष्पतक पदार्थ स्थित हैं एवं जिस तरह मिट्टीमें घट स्थित है, उसी तरह स्थावरोंके भीतर भी अपनी वासना स्थित है। वासना,

अग्नि, ऋण, व्याधि, शत्रु, स्नेह, विरोध एवं विष—ये थोड़े-से भी शेष रहनेपर हानि पहुँचाते हैं । जिसका वासना-बीज ज्ञानाग्निसे दग्ध हो गया है और जिसने सत्रमें समान सत्तारूप परमात्माको प्राप्त कर लिया है, वह महात्मा पुरुष, चाहे सदेह हो या देहसे रहित पुनः कभी दुःखका भागी नहीं होता ।

श्रीराम ! आत्मदर्शनके विरोधी अज्ञानसे आवृत हुई यह चेतनशक्ति संसाररूप भ्रमको जन्म देती है और अज्ञानसे मुक्त होनेपर सम्पूर्ण दुःखोंका विनाश कर देती है । इस आत्मदृष्टिका जो अभाव है, उसीको विद्वान्लोग अविद्या कहते हैं । अविद्या जगत्की कारणभूत है, अतः उसीसे सम्पूर्ण पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है । रूपरहित इस अविद्याका जब यथार्थ ज्ञान हो जाता है, तब तुरंत यह उसी प्रकार विनष्ट हो जाती है, जैसे घाममें तुषारके परमाणु गल जाते हैं । दीपकको प्रज्वलित करनेपर जिस प्रकार अन्धकार नष्ट हो जाता है, उसी तरह अच्छी प्रकार विचार करनेपर यह अविद्या नष्ट हो जाती है । वास्तवमें यह अविद्या कोई वस्तु न होनेसे असत् है और विचार न करनेसे ही दीख पड़ती है । रक्त, मांस तथा अस्थिमय इस देह-यन्त्रमें 'मैं स्वयं कौन हूँ ?' इस प्रकार जब विवेकपूर्वक विचार किया जाता है, तब देहके किसी भी पदार्थमें मैं-पन सिद्ध नहीं होता, वरं शरीरका अभाव हो जाता है । अपने अन्तःकरणके विवेक-विचारसे आदि-अन्तमें असद्रूप इस शरीर और संसारका परिहार कर देनेपर अविद्याका क्षय हो जाता है; फिर शेषमें एक परमात्मा ही रह जाता है । वही वास्तवमें शाश्वत ब्रह्म है । वही वास्तविक पदार्थ और उपादेय है; क्योंकि उसीसे अविद्या निवृत्त हो जाती है । 'अविद्या' इस अपने नामसे ही इसके अभावस्वरूपका ज्ञान हो जाता है । वास्तवमें अविद्या नामकी कोई वस्तु कहीं भी नहीं है । यह सम्पूर्ण जगत् अखण्ड ब्रह्मस्वरूप ही है, जिस ब्रह्मने कार्य-कारणरूप इस सम्पूर्ण जगत्का निर्माण किया है । 'यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मस्वरूप नहीं है' इस प्रकारका निश्चय ही अविद्याका स्वरूप है और 'यह जगत् ब्रह्मरूप है' यह निश्चय ही उसका विनाश है । (सर्ग १०)

परमात्मा सर्वात्मक और सर्वातीत है—इसका प्रतिपादन एवं महात्मा पुरुषोंके लक्षण तथा आत्मकल्याणके लिये परमात्मविषयक यथार्थ ज्ञान और प्राण-निरोधरूप योगका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! यह अज्ञान अत्यन्त बलवान् है । इसीका दूसरा नाम 'अविद्या' है । वह अन्य असंख्य जन्मोंसे चला आ रहा है, अतएव वह दृढ़ हो गया है । देहकी उत्पत्ति और विनाशमें, बाहर-भीतर—सर्वत्र समस्त इन्द्रियाँ उस अविद्याका ही निरन्तर अनुभव करती हैं, इसलिये वह अविद्या दृढ हो गयी है; क्योंकि परमात्माके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान तो किसी भी इन्द्रियका विषय नहीं है । मनसहित छहों इन्द्रियोंका विनाश हो जानेपर वह सत्स्वरूप परमात्माका यथार्थ ज्ञान ही कायम रहता है । इन्द्रिय-वृत्तियोंसे अतीत होनेके कारण वह परमात्माका स्वरूप प्राणियोंको प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है; क्योंकि प्राणी तो पदार्थोंका अनुभव मन-इन्द्रियोंके द्वारा ही करते हैं । रघुनन्दन ! जिस प्रकार परमात्मज्ञानके अभ्यासमें निरत राजा जनक परमात्मतत्त्वको यथार्थरूपमें जानकर भूमण्डलमें विचरण करते हैं, उसी प्रकार तुम भी विचरण करो । भगवान् नारायण जीवोंके कल्याणके लिये विभिन्न लीलाएँ करनेके जिस निश्चयसे पृथ्वी-पर नाना योनियोंमें अवतार लेते हैं, वही निश्चय वास्तविक यथार्थज्ञान है । रघुनन्दन ! जगदम्बा पार्वतीके साथ रहनेवाले त्रिनेत्र महादेवजीका या रागरहित ब्रह्माका जो

श्चय है, वही निश्चय वास्तविक है। तुम्हारा भी वही श्चय होना चाहिये। देवगुरु बृहस्पति, शुक्राचार्य, र्य, चन्द्रमा, वायु, अग्नि, महामुनि नारद, महर्षि लस्त्य, अङ्गिरा, प्रचेता, भृगु, क्रतु, अत्रि, शुकदेव था अन्यान्य जीवन्मुक्त ब्रह्मर्षि और राजर्षि महात्माओंका था मेरा भी परमात्माके स्वरूपके विषयमें जो निश्चय है, ही निश्चय तुम्हारा होना चाहिये।

श्रीरामजी बोले—भगवन्! ब्रह्मन्! जिस निश्चयके ारण ये पूर्वोक्त महाबुद्धिमान् एवं धीर बृहस्पति आदि ोकरहित हुए स्थित हैं, उसका मुझसे तात्त्विक रूपसे र्णन कीजिये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—समस्त जाननेयोग्य पदार्थोंको थार्थतः जाननेवाले महाबाहु श्रीराम! जो तुमने पूछा है, सका उत्तर स्पष्टरूपसे सुनो। उनका यही निश्चय है, ो मैं बतला रहा हूँ। श्रीराम! जो कुछ भी यह भोगरूप ंसार-जाल स्थित दिखायी पड़ता है, वह सब निर्मल ब्रह्म ी है। ब्रह्म ही जीवात्मा है, चौदह भुवन ब्रह्म ही हैं, ाकाशादि भूत भी ब्रह्म ही हैं, मैं भी ब्रह्मस्वरूप हूँ, मेरा ात्रु भी ब्रह्मस्वरूप है; सन्मित्र, बन्धु-बान्धव आदि भी ब्रह्म-स्वरूप हैं। तीनों काल भी ब्रह्मस्वरूप हैं, क्योंकि वे ब्रह्ममें ी अवस्थित हैं। जैसे समुद्र अपने आपमें तरङ्गोंके रूपमें ाकट होता है, वैसे ही यह सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने आपमें ांसारिक पदार्थ-सम्पत्तिके रूपमें प्रकट होता है। नेत्र-ोषके कारण आकाशमें बिना हुए ही भ्रान्तिसे वृक्षकी तीति होती है, किंतु वास्तवमें वृक्ष नहीं है; इसी तरह ह्ममें जो राग-द्वेष आदि दोष भ्रमसे प्रतीत होते हैं, वे ास्तवमें हैं ही नहीं; क्योंकि ये सब कल्पनामात्र हैं, इसलिये संकल्पके अभावसे इनका अत्यन्त अभाव हो जाता है। गमना गमन आदि सम्पूर्ण क्रियाएँ भी ब्रह्ममें ही होती हैं; क्योंकि ब्रह्म ही अपने संकल्पसे अद्वितीय सुखरूपमें स्फुरित होता है, तब उसमें दुःख और सुख कैसे? ब्रह्म ही स्वयं ब्रह्ममें तृप्त है, ब्रह्म ही ब्रह्ममें स्थित है, ब्रह्म ही ब्रह्ममें स्फुरित होता है; अतः मैं भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं हूँ। क्योंकि घट भी ब्रह्म है, पट भी ब्रह्म है, मैं भी ब्रह्म हूँ, यह विस्तृत जगत् भी ब्रह्मस्वरूप ही है, इसलिये यहाँ ब्रह्मके अतिरिक्त मिथ्या राग-वैराग्य आदिकी कल्पना ही नहीं हो सकती।

जिस प्रकार सुवर्णसे आभूषण और जलसे तरङ्ग भिन्न नहीं है, वैसे ही प्रकृति ब्रह्ममें बिना हुए ही प्रतीत होती है, किंतु ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। यह जीवात्मा चेतन है और यह पदार्थ जड है—इस प्रकारका मोह अज्ञानीको ही होता है, ज्ञानीको कभी नहीं होता। जिस प्रकार अंधे मनुष्यको जगत् अन्धकाररूप और सुदृष्टिवालेको प्रकाशरूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार अज्ञानीको यह जगत् दुःखमय और ज्ञानीको सच्चिदानन्दमय प्रतीत होता है। सदा-सर्वदा सब ओर एकरस स्थित विज्ञानानन्दघन ब्रह्ममें न कोई मरता है और न कोई जीता है। जिस प्रकार महान् सागरके उल्लसित होनेपर भी उसमें तरङ्ग आदि न जन्मते हैं और न मरते हैं, उसी प्रकार वस्तुतः ब्रह्ममें प्राणी न जन्मते हैं और न मरते हैं। जैसे जलमें तरङ्गोंके रूपमें प्रचुर जल ही स्थित है, वैसे ही अपने आपमें जगत्की शक्तिके रूपमें ब्रह्म ही स्थित है। जैसे जलमें जो कण, कणिका, वीचि, तरङ्ग, फेन और लहरी हैं, वे सब जलस्वरूप ही हैं, वैसे ही ब्रह्ममें जो देह, मनका व्यापार, दृश्य, क्षय, क्षयका अभाव, भाव-रचना और अर्थ हैं, वे सब ब्रह्मस्वरूप ही हैं। जिस प्रकार सुवर्णसे बनी आभूषणकी विभिन्न आकृति-रचनाएँ सुवर्णसे पृथक् नहीं होतीं, उसी प्रकार ब्रह्मसे उत्पन्न हुई चित्र-विचित्र देहादिकी आकृति-रचनाएँ भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं हो सकतीं। अज्ञानियोंको वृथा ही उसमें द्वित्वभावना होती है। मन, बुद्धि, अहंकार, तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ आदि सब ब्रह्मस्वरूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं; अतः ब्रह्मसे भिन्न सुख और दुःखकी भी सत्ता नहीं है। ब्रह्मको ब्रह्म न जाननेसे अज्ञानीके लिये वह प्राप्त होते हुए भी अप्राप्त है, जिस तरह, सुवर्णका ज्ञान हुए बिना सुवर्ण प्राप्त हुआ

भी अप्राप्त ही है। ब्रह्मको ब्रह्म जान लेनेपर तत्क्षण ही ब्रह्म प्राप्त हो जाता है, जिस प्रकार सुवर्णको सुवर्ण जान लेनेपर तत्क्षण ही सुवर्ण प्राप्त हो जाता है। कर्म, कर्त्ता, करण, कारण और विकारोंसे रहित स्वयं समर्थ महान् आत्मा ही ब्रह्म है, यों ब्रह्मज्ञानीलोग कहते हैं।

'यह देह मै नहीं हूँ' इस प्रकार जब ज्ञान हो जाता है, तब ब्रह्मभावना उत्पन्न होती है। इसीसे देहमें अहं-भाव मिथ्या सिद्ध हो जाता है। उस समय पुरुष देहसे विरक्त हो जाता है। 'मै एकमात्र ब्रह्मस्वरूप हूँ' इस प्रकार यथार्थ ज्ञान होनेपर ब्रह्मभावना प्रकट होती है। उस अपने वास्तविक रूपका यथार्थ ज्ञान होनेपर अज्ञान विलीन हो जाता है। मुझे न दुःख है न कर्म हैं, न मोह है न कुछ अभिलषित है। मै एकरूप, अपने स्वरूपमें स्थित, शोकशून्य तथा ब्रह्मस्वरूप हूँ—यह ध्रुव सत्य है। मैं कल्पनाओंसे शून्य हूँ, मैं सर्वविध विकारोंसे रहित और सर्वात्मक हूँ; मै न त्याग करता हूँ और न कुछ चाहता हूँ; मै परब्रह्मस्वरूप परमात्मा हूँ, यह ध्रुव सत्य है। जिसमें सब कुछ स्थित है, जिससे यह सब उत्पन्न हुआ है, जो यह सब है, जो सब ओर विद्यमान है एवं जो सबका अद्वितीय आत्मा है, वही परब्रह्म परमात्मा है। यह निश्चय है, वही चेतन आत्मा—वह व्यापक, दृश्यरहित सच्चिदानन्दघन ब्रह्मतत्त्व ही ब्रह्म, सत्, सत्य, ऋत, इ इत्यादि नामोसे सर्वत्र कहा जाता है। विषय-संसर्गरहित, चेतनमात्रस्वरूप, विशुद्ध, समस्त भूत-प्राणियोंको जाननेवाला, सर्वव्यापक, परम शान्त, सच्चिदानन्द ब्रह्मका ब्रह्मज्ञानी अनुभव करते हैं। सुषुप्तिके सदृश समस्त विकल्पोंसे रहित, परम शान्तरूप, विशुद्ध प्रकाशस्वरूप, सांसारिक विषय-सुखोंसे अत्युत्तम तथा वासनाओंसे रहित सच्चिदानन्द ब्रह्म ही मै हूँ। सुख-दुःख आदि कल्पनाओसे रहित, निर्मल, सत्य अनुभवरूप जो शाश्वत सच्चिदानन्द ब्रह्मस्वरूप है, वही मै हूँ। पर्वत आदि पदार्थ-समुदायके बाहर एवं भीतर सर्वदा समान सत्तारूपसे व्यापक निर्लेप विज्ञानानन्दघन जो परमात्मा है, वही मै हूँ। जो सम्पूर्ण संकल्पोंका फल देनेवाला, अग्नि-सूर्य-चन्द्र आदि सम्पूर्ण तेजोंका प्रकाशक और प्राप्त करनेयोग्य सम्पूर्ण पदार्थोंकी अन्तिम सीमा है, उस सच्चिदानन्दघन परमात्माकी हम उपासना करते हैं। वह चिन्मय परमात्मा बाहर-भीतर—सर्वत्र प्रकाशस्वरूपसे विद्यमान और अपने आपमें स्थित है; सबके हृदयमें स्थित होते हुए भी उसका अज्ञानके कारण अनुभव नहीं होता; अतः वह दूर न होते हुए भी दूर कहा गया है। उस परमात्माकी हम उपासना करते हैं। जो समस्त संकल्पों, कामनाओं तथा रोष आदिसे रहित है, उस चिन्मय परमात्माकी हम उपासना करते हैं। उस परमात्मामें यह सारा जगत् प्रतीत होता है, किंतु वास्तवमें इस जगत्का उसमें अत्यन्ताभाव है तथा वास्तवमें वह है, इसीलिये वह सद्रूप है; किंतु वह मन-इन्द्रियोंका विषय नहीं है, इसलिये असद्रूप है। ऐसे उस एक अद्वितीय निर्गुण-निराकार सच्चिदानन्द परमात्माको मै प्राप्त हूँ। जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि सारे विषय-पदार्थोंका प्रकाशक है और वास्तवमें जो उन सब विषय-पदार्थोंसे रहित है, उस परम शान्त चिन्मय परमात्माको मै प्राप्त हूँ। जो समस्त विभूतियों और महिमाओंसे युक्त प्रतीत होता है, किंतु जो वास्तवमें समस्त विभूतियों एवं महिमाओंसे रहित है तथा जो मायाके सम्बन्धसे जगत्का कर्ता-सा प्रतीत होते हुए भी वास्तवमें अकर्ता है, उस विज्ञानानन्दघन परमात्माको मै प्राप्त हूँ।

रघुनन्दन! पूर्वोक्त निश्चयवाले वे सत्पुरुष जीवन्मुक्त महात्मा सत्यस्वरूप परम शान्त परमपदमें स्थित हो गये थे। वे फूलोंसे पूर्ण, झूलेके-से आन्दोलनोंसे चञ्चल चित्र-विचित्र वनोंकी पंक्तियोमें एवं मेरु पर्वतकी चोटियो-के ऊपर विचरण करते थे। वे अनेक प्रकारके सदाचारोके रूपमें इन सभी धर्मोका स्वयं अनुष्ठान

करते थे। इसी प्रकार श्रुति-स्मृतिविहित कर्मोंका भी वे कर्तव्य-बुद्धिसे आचरण करते थे। उन तत्त्ववेत्ता महापुरुषोंका मन अत्यन्त कमनीय कञ्चन और कामिनीके प्राप्त होनेपर हर्ष और चञ्चलता आदि विकारोंको नहीं प्राप्त होता था। वे सुखकी प्राप्ति होनेपर हर्षित और दुःखकी प्राप्ति होनेपर खिन्न नहीं होते थे।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! अब कृपाकर मुझे यह बतलाइये कि प्राणवायुकी गतिके अवरोधसे वासनाका विनाश हो जानेपर जीवन्मुक्त-पदमें परम शान्ति कैसे मिलती है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! संसार-सागरसे पार उतरनेके साधनका नाम ही 'योग' है। उस चित्तको शान्त करनेवाले साधनको तुम दो प्रकारका समझो। इसका प्रथम प्रकार परमात्माका यथार्थ ज्ञान है, जो संसारमें प्रसिद्ध है और द्वितीय प्रकार प्राण-निरोध है, जिसे मै आगे बता रहा हूँ; सुनो।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—गुरुवर! योगके इन दोनों प्रकारके साधनोंमें कौन-सा सरल और कष्टरहित उत्तम साधन है, जिसके जाननेसे विक्षेप फिर बाधा नहीं पहुँचाता?

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! यद्यपि शास्त्रोंमें 'योग' शब्दसे उपर्युक्त दोनों ही प्रकार (परमात्म-विषयक ज्ञान और प्राणनिरोध) कहे गये हैं, तथापि इस 'योग' शब्दकी प्राणनिरोधके अर्थमें ही अधिक प्रसिद्धि है। संसार-सागरसे पार उतरनेकी पद्धतिमें एक योग (प्राण-निरोध) और दूसरा ज्ञान—ये दोनों एक फल देनेवाले समान उपाय शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं। किसीके लिये योगका साधन असाध्य-सा है और किसीके लिये परमात्मविषयक ज्ञानका साधन असाध्य-सा है; परंतु मै तो परमात्मविषयक ज्ञानके साधनको ही सुसाध्य मानता हूँ। यह प्राणनिरोधरूप योग देश, काल, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान आदि उपायोंसे सिद्ध होता है; अतः वह सुसाध्य नहीं है। किंतु साधकको सुसाध्यता और दुःसाध्यताका विचार नहीं करना चाहिये। रघुकुलतिलक! ज्ञान और योग—ये दोनों ही उपाय शास्त्रोक्त हैं। इन दोनोंमेंसे सब ज्ञानोंसे परे जाननेयोग्य विशुद्ध ज्ञान तुम्हें पहले बतलाया जा चुका है। अब तुम यह योग सुनो, जो प्राण और अपानके निरोधके नामसे प्रसिद्ध है, तथा देहरूपी गुहाका दृढ़ आश्रय करनेवाला, अणिमादि अनन्त सिद्धियोंको देनेवाला और परमार्थ-ज्ञान प्रदान करनेवाला है।

(सर्ग ११—१३)

देवसभामें वायसराज भुशुण्डका वृत्तान्त सुनकर महर्षि वसिष्ठका उसे देखनेके लिये मेरुगिरिपर जाना, मेरु-शिखर तथा 'चूत' नामक कल्पतरुका वर्णन, वसिष्ठजीका भुशुण्डसे मिलना, भुशुण्डद्वारा उनका आतिथ्य-सत्कार, वसिष्ठजीका भुशुण्डसे उनका वृत्तान्त पूछना और उनके गुणोंका वर्णन करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—वत्स राम! पूर्ववर्णित उस अनन्त परमात्माके किसी एक अंशमें मरुस्थलमें प्रतीत होनेवाली मृगतृष्णाकी भाँति यह ब्रह्माण्ड वर्तमान है। उस ब्रह्माण्डमें सृष्टिकी उत्पत्तिके कारण तथा पूर्वकृत कर्मानुसार प्राणिसमूहकी रचनामें संलग्न कमलयोनि ब्रह्मा पितामहरूपसे स्थित हैं उन्हीं ब्रह्मदेवका मै एक सदाचारसम्पन्न मानसपुत्र हूँ। मेरा नाम वसिष्ठ है। मैं ध्रुवद्वारा धारण किये गये सप्तर्षिमण्डलमें वैवस्वत मन्वन्तर-पर्यन्त निवास करता हूँ। एक समयकी बात है, मै स्वर्गलोकमें देवराज इन्द्रकी सभामें बैठा हुआ था। वहाँ देवर्षि नारद आदि भी विराजमान थे। वे चिरजीवियोंकी कथा सुना रहे थे। मैंने भी वह कथा

सुनी थी। उस समय किसी कथा-प्रसङ्गके अवसरपर मुनिवर शातातप, जो मितभाषी, मानी और अगाध बुद्धिसम्पन्न थे, कहने लगे—"मेरुगिरिके ईशानकोणमें

पद्मरागमणिसे युक्त एक बहुत ऊँचा शिखर है। उसकी चोटीपर एक अत्यन्त शोभाशाली कल्पतरु है, जो 'चूत' नामसे विख्यात है। उस कल्पतरुके ऊपरी भागकी दाहिनी शाखामें एक कोटर है, जो चाँदीके समान श्वेतवर्णकी लताओंसे आच्छादित है। उस कोटरमें एक घोंसला विद्यमान है। उस घोंसलेमें एक परम ऐश्वर्यशाली कौआ निवास करता है। उस वीतराग वायसका नाम भुशुण्ड है। देवगण! वह वायसराज भुशुण्ड इस जगत्में जिस प्रकार चिरकालसे जी रहा है, वैसा चिरजीवी तो स्वर्गलोकमें न कोई हुआ है और न होगा ही। वह दीर्घायु तो है ही, साथ ही रागरहित, ऐश्वर्ययुक्त, शान्त और सुन्दर रूपवाला भी है। उसकी बुद्धि अगाध और स्थिर है। वह कालकी गतिका पूर्ण ज्ञाता है।"

राघव! इस प्रकार जब कथाका समय समाप्त हुआ और सभी देवता अपने-अपने वासस्थानको चले गये, तब मैं कुतूहलवश उस भुशुण्ड पक्षीको देखनेके लिये चल पड़ा। फिर तो तुरंत ही मैं मेरुगिरिके उत्तम शिखरपर जा पहुँचा, जहाँ वह भुशुण्ड नामक कौआ रहता था। वह विशाल शिखर पद्मरागमणिसे निर्मित था। वहाँ झरते हुए गङ्गाजीके झरनोंके शब्द गूँज रहे थे। उसके लताकुञ्जोंमें देवता विराजित थे। गन्धर्वोंकी गीत-ध्वनिसे वह अत्यन्त रमणीय लग रहा था और वहाँ शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु बह रही थी। उसी शिखरपर मैंने 'चूत' नामक कल्पवृक्षको देखा। वह देवता, किंनर, गन्धर्व एवं विद्याधरोंसे युक्त, ब्रह्माण्डकी तरह विस्तृत, असीम तथा दसों दिशाओं और आकाशको व्याप्त किये हुए था। वह सब ओरसे पुष्पों, फलों और कोमल पल्लवोंसे आच्छादित था। उसके पुष्पोंसे सबको आह्लाद प्रदान करनेवाले पराग झड़ रहे थे, जिनसे उसकी अत्यन्त विचित्र शोभा हो रही थी। वहाँ मैंने देखा, अनेक जातिके पक्षी उस वृक्षके तने और शाखाओंकी संधियोंमें, लताओंसे आवृत शाखाग्रभागोंमें, लता-पत्रोंमें, गाँठोंमें और पुष्पोंमें घोंसले बनाकर उनमें छिपे हुए बैठे थे। वहाँ मैंने ॐकार और वेदके मित्रभूत ब्रह्माके वाहन हंसोंके बच्चोंको भी देखा, जिन्हें ब्रह्मविद्याकी विधिवत् शिक्षा प्राप्त हो चुकी थी एवं जो सामवेदका गान करनेवाले थे। तत्पश्चात् मैंने अग्निदेवके वाहन शुकोंको देखा। उनके शरीरका रंग शङ्ख, विद्युत्पुञ्ज और नील मेघके समान था तथा कोई-कोई यज्ञवेदियोंपर बिछाये गये हरित वर्णके कुश-लताओंके दलोंकी भाँति हरे रंगके भी थे। देवगण सदा उनका दर्शन करते थे। वे मन्त्रोंका उच्चारण कर रहे थे। उनकी बोली स्वाहाकारकी-सी जान पड़ती थी। वहाँ मयूरोंके बच्चे भी थे, जिनकी शिखाएँ अग्नि-शिखा-सी उद्दीप्त थीं, जिनके पर जगज्जननी पार्वती (अपने जूड़ेमें

बाँधनेके लिये) सँभालकर रखती थीं तथा जो स्कन्दद्वारा विस्तारित शिव-सम्बन्धी सम्पूर्ण विज्ञानोंके विशेष जानकार थे।

इस प्रकार ज्यों ही मेरी दृष्टि उस वृक्षकी दाहिनी शाखाके एकान्त कोटरपर पड़ी, त्यों ही मैंने देखा कि वहाँ बहुत-से कौए बैठे हुए हैं और उनके बीचमें ऐश्वर्यशाली एवं अत्यन्त उन्नत शरीरवाला वायसराज भुशुण्ड विराजमान है। उसका मन आत्मज्ञानसे परिपूर्ण है। वह दूसरोंको मान देनेवाला, समदर्शी और सर्वाङ्गसुन्दर है। प्राण-क्रियाके निरोधसे वह सदा अन्तर्मुख वृत्तिवाला और सुखी है तथा चिरजीवी होनेके कारण वह 'चिरजीवी' नामसे विख्यात है। वह भूतकालीन सुर, असुर और महीपालोंके इतिहासका ज्ञाता, प्रसन्न एवं गम्भीर मनसे युक्त, चतुर तथा कोमल एवं मधुर वाणी बोलनेवाला है। वह परमात्माके सूक्ष्मतत्त्वका वक्ता तथा विज्ञाता है। वह ममता और अहंकारसे रहित, बुद्धिमें बृहस्पतिसे भी बढ़कर, प्राणिमात्रका हितैषी, बन्धु एवं मित्र है। वह एक मनोरम सरोवरकी भाँति सौम्य, प्रसन्न, मधुर, ब्रह्म-रससे युक्त, महान् आनन्दसे सम्पन्न और आन्तरिक अखण्ड शान्ति-समन्वित है। गम्भीरताका परित्याग न करनेके कारण उसके अन्तः-करणकी शोभा प्रकटित हो रही थी।

रघुनन्दन! तदनन्तर मैं उस भुशुण्ड पक्षीके सामने उतर पड़ा, मानो पर्वतपर आकाशसे कोई नक्षत्र आ गिरा हो। मेरा शरीर कान्तिमान् तो था ही, अतः मेरे आनेसे वह सभा कुछ चञ्चल हो उठी। यद्यपि वहाँ मेरे जानेकी कोई सम्भावना नहीं थी, तथापि मुझे देखते ही भुशुण्डने पहचान लिया कि ये तो वसिष्ठजी पधारे हैं। फिर तो वह पर्वतसे उठे हुए छोटे-से मेघ-खण्डके समान अपने पत्र-पुञ्जके आसनसे उठ खड़ा हुआ और मधुर वाणीमें बोला—'मुनिवर! आपका स्वागत है।' तत्पश्चात् उसने आसन, अर्घ्य और पाद्य आदि देकर मेरा सत्कार किया। उस समय उस महान् तेजस्वी भुशुण्डका मन परम प्रसन्न था। उसने सौहार्दवश मधुर वाणीमें मुझसे कहना आरम्भ किया।

भुशुण्ड बोला—मुने! बड़े सौभाग्यकी बात है कि चिरकालके पश्चात् आज आपने हमलोगोंपर महान् अनुग्रह किया है; क्योंकि आपके दर्शनामृतके सिञ्चनसे सिक्त होकर आज हमलोग पुण्यवृक्ष-सरीखे परम पवित्र हो गये। मुनिवर! आप तो माननीयोंके भी मान्य हैं। इस समय जो आपने मुझे दर्शन दिया है, इसमें चिरकालसे सञ्चित मेरी पुण्यराशिकी प्रेरणा ही कारण जान पड़ती है। अच्छा, अब यह बताइये कि किसलिये आपका शुभागमन हुआ है तथा किसलिये आज आपने यहाँ पधारनेका कष्ट उठाया है। हमलोग सदा आपके आदेशपूर्ण वचन सुननेके लिये लालायित रहते हैं, अतः आप हमें आज्ञा देनेकी कृपा कीजिये। मुनिराज! आपके चरणोंके दर्शनसे ही मुझे सभी इष्ट सिद्धि हो गयी हैं। आपने अपने शुभागमनके पुण्यसे

हमलोगोंको संयुक्त कर दिया। (बात यह है कि इन्द्रसभामें चिरजीवियोंके विषयमें चर्चा हो रही थी, उसी प्रसङ्गमें आपको हमारा स्मरण हो आया। इसी कारण आपने अपने चरणोंसे इस स्थानको तथा मुझे भी पवित्र बनाया है। मुनिश्रेष्ठ! इस प्रकार यद्यपि आपके आगमनका प्रयोजन मुझे ज्ञात हो गया है, फिर भी जो मै आपसे पूछ रहा हूँ, इसका कारण यह है कि आपके वचनामृतके रसास्वादकी वाञ्छा उत्तरोत्तर बढ़ती ही जा रही है। श्रीराम! तीनो कालोंका निर्मल ज्ञान रखनेवाले उस चिरजीवी पक्षी भुशुण्डने जब इस प्रकार पूछा, तब मैंने उसे यों उत्तर दिया।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—पक्षियोंके सरदार! तुम जो कुछ कह रहे हो, वह बिल्कुल सत्य है। आज मैं तुम चिरजीवीको देखनेके लिये ही यहाँ आया हूँ। सौभाग्यकी बात है कि तुम्हारा अन्तःकरण पूर्णतया शान्त है, तुम सकुशल हो और परमात्मज्ञान-सम्पन्न होनेके कारण इस भीषण जगज्जालमें भी नहीं फँसे हो। परंतु ऐश्वर्यशाली वायसराज! मेरे मनमें एक संदेह है, उसे तुम अपने यथार्थ वचनोंद्वारा दूर करो। (वह संशय यह है कि) तुम किस कुलमें उत्पन्न हुए हो? किस प्रकार तुम्हें ज्ञेय-तत्त्वका ज्ञान प्राप्त हुआ? तुम्हारी आयु कितनी है? तुम्हें अपना कौन-सा वृत्तान्त अर्थात् किस कल्पका चरित्र याद है? किस महानुभावने तुम-जैसे दीर्घदर्शीके लिये यह निवासस्थान निश्चित किया है?

श्रीराम! वह भुशुण्ड न तो अभीष्ट-लाभसे प्रसन्न ही होता था, न तो उसकी बुद्धि ही क्रूर थी। उसके सभी अङ्ग सुन्दर थे तथा शरीरका वर्ण वर्षाकालीन मेघके सदृश श्याम था। उसके वचन स्नेहपूर्ण और गम्भीर होते थे। वह मुसकुराकर ही बोलता था। तीनों लोकों-की इयत्ता उसके लिये हस्तामलकवत् थी। वह सम्पूर्ण भोगोंको तृण-सरीखे तुच्छ समझता था। वह परावर ब्रह्मका ज्ञाता था। उसकी बुद्धि पूर्णतया शान्त थी तथा वह शान्त और परमानन्दसे परिपूर्ण था। उसके वाक्य प्रिय और मधुर, अतएव सुनने योग्य तथा वीणाके गानकी भाँति मनोहर थे। उसका शरीर तो ऐसा लगता था मानो सम्पूर्ण भयोंका अपहरण करनेवाले स्वयं ब्रह्मने ही नवीन भुशुण्ड-शरीर धारण किया हो। वह स्वाभाविक प्रसन्नतासे युक्त था तथा प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये उत्सुक होनेके कारण उसके मुखकी अद्भुत शोभा हो रही थी। इस प्रकार उस वायसराज भुशुण्डने शुद्ध, अमृतमय तथा क्रमबद्ध रूपसे निर्मल वाणीद्वारा अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त मुझसे कहना आरम्भ किया।

(सर्ग १४—१७)

भुशुण्डका वसिष्ठजीसे अपने जन्मवृत्तान्तके प्रसङ्गमें महादेवजी तथा मातृकाओंका वर्णन करते हुए अपनी उत्पत्ति, ज्ञान-प्राप्ति और उस घोंसलेमें आनेका वृत्तान्त कहना

भुशुण्ड बोला—मुनिवर वसिष्ठजी ! इस जगत्में देवाधिदेव महादेव समस्त स्वर्गवासी देवताओंमें श्रेष्ठ हैं। ब्रह्मादि देवता भी उनकी अभिवन्दना करते हैं। उनके शरीरके वामार्धमें सौन्दर्यशालिनी भगवती पार्वती विराजमान रहती हैं। उन महादेवजीके मस्तकपर गङ्गारूपी पुष्पमाला सुशोभित है, जो हिमके हारकी भाँति धवल तथा लहरीरूपी पुष्प-गुच्छोंसे गुँथी हुई है। उस मालाने ही उनके जटा-जूटको आवेष्टित कर रखा है। क्षीरसागरसे जिसकी उत्पत्ति हुई है तथा जिससे अमृतके झरने झरते रहते हैं, वह शोभाशाली चन्द्रमा उनके ललाटमें स्थित

है। उस चन्द्रमाके अनवरत अमृत-प्रवाहसे अभिषिक्त होनेके कारण जिसकी विषैली शक्ति शान्त होकर अमृत-स्वरूपिणी हो गयी है तथा जिसका वर्ण इन्द्रनीलमणिके समान श्याम है, वह कालकूट विष उनके कण्ठमें आभूषणके समान सुशोभित है। निर्मल अग्निसे जिनकी उत्पत्ति हुई है, वह अत्यन्त शुभ्र भस्म उन महादेवजीका भूषण है। आकाश ही उनका वस्त्र है, जो चन्द्रमाकी सुधाधारासे प्रक्षालित, नील मेघके समान सुशोभित और तारारूपी बिन्दुओंसे समन्वित है। हिलनेके कारण जिनके मस्तककी मणियाँ चमक रही हैं तथा जिनकी कान्ति तपाये हुए सुवर्णके समान है, ऐसे चिकने अङ्गवाले सर्प ही उनके हाथके कङ्कण हैं। उनका मुख तीन नेत्रोंसे देदीप्यमान है। जैसे प्रमथगण उनके परिवाररूप हैं, उसी प्रकार निर्मल कान्तिवाली मातृकाएँ भी उनके परिकरमें ही हैं। ये मातृकाएँ पर्वतशिखरोंपर, आकाशमें, विभिन्न लोकोंमें, गड्ढोंमें, श्मशानोंमें तथा प्राणियोंके शरीरोंमें निवास करती हैं। उन सभी मातृकाओंमें जया, विजया, जयन्ती, अपराजिता, सिद्धा, रक्ता, अम्बुजा और उत्पला—ये आठ मातृदेवियाँ प्रधान हैं। शेष मातृकाएँ इन्हीं आठोंका अनुगमन करती हैं।

दूसरोंको मान देनेवाले मुनीश्वर ! उन महाशक्तिशालिनी मातृकाओंमें माता अम्बुजा अत्यन्त विचित्र हैं। उनका वाहन कौआ है। उस कौएका नाम चण्ड है। वह इन्द्रनील-पर्वतके समान नीला है तथा उसके ठोरकी हड्डी वज्रके समान कठोर है। एक सुन्दरी बात है, भयंकर चेष्टावाली तथा आठ सिद्धियोंसे सम्पन्न वे सभी मातृकाएँ किसी कारणवश आकाशमें इकट्ठी हुईं। वहाँ उन सबका एक महोत्सव हुआ, जो नाच-गान आदिसे अत्यन्त मनोहर था। उस उत्सवमें सभी देवीके रथमें जुतनेवाली उनकी दासी हाथियों और अलम्बुसा देवीका वाहन चण्डनामक काक—ये सभी

आकाशप्रदेशमें एकत्र होकर नृत्य करने लगे। इस प्रकार

साथ-साथ नाचनेके कारण वह वायस सात कुलहंसियोंका वल्लभ हो गया। फिर तो उसने क्रमशः प्रत्येक हंसीके साथ रमण किया, जिससे वे ब्राह्मी शक्तिके रथकी हंसियाँ गर्भवती हो गयीं। मुनीश्वर! तब उन हंसियोंने ब्राह्मी-देवीसे अपना वृत्तान्त यथार्थ रूपसे कह सुनाया।

इसपर ब्राह्मीदेवीने कहा—पुत्रियो! इस समय तुमलोग गर्भवती हो गयी हो, इसलिये मेरा रथ वहन करनेमें समर्थ नहीं हो; अतः अब तुमलोग स्वेच्छानुसार विचरण करो। इस प्रकार ब्राह्मीदेवी दयापरवश हो गर्भके कारण अलसाई हुई उन हंसियोंसे ऐसा कहकर सुखपूर्वक निर्विकल्प समाधिमें स्थित हो गयीं। तदनन्तर समय आनेपर उन हंसियोंने इक्कीस अंडे दिये। मुने! इस प्रकार उन अंडोंसे ये हमलोग इक्कीस भाई चण्डके पुत्ररूपमें कौएकी योनिमें उत्पन्न हुए। धीरे-धीरे हम बड़े हुए। हमारे पर निकल आये और हम आकाशमें उड़ने योग्य भी हो गये। जब भगवती ब्राह्मी समाधिसे विरत हुईं, तब हमलोगोंने अपनी माता हंसियोंके साथ उन देवीकी चिरकालतक भलीभाँति आराधना की। तदनन्तर उपयुक्त समय आनेपर कृपापरवश हुई भगवती ब्राह्मीने

हमलोगोंपर ऐसा अनुग्रह किया, जिसके फलस्वरूप हमलोग जीवन्मुक्त होकर स्थित हैं। जब हमलोगोंका मन पूर्णतया शान्त हो गया, तब ऐसी धारणा हुई कि अब एकान्त प्रदेशमें चलकर ध्यान-समाधिमें स्थित रहना चाहिये। ऐसा निश्चय करके हमलोग अपने पिताजीके पास विन्ध्यप्रदेशमें गये। वहाँ पहुँचनेपर पिताजीने हमलोगोंका आलिङ्गन किया। तत्पश्चात् हमलोगोंने अलम्बुसा देवीका पूजन किया, जिससे उन देवीने हमलोगोंको कृपादृष्टिसे देखा। फिर तो हमलोग समाहित-चित्त होकर वहीं रहने लगे।

तब पिता चण्डने पूछा—पुत्रो! क्या तुमलोग इस जगज्जालसे, जो अनन्त वासनारूपी तन्तुओंसे गुँथा हुआ है, मुक्त हो चुके हो? यदि नहीं तो हम इन मृत्यु-

कत्सला भगवती अलम्बुसासे प्रार्थना करें, जिससे तुमलोग ज्ञानमें पारंगत हो जाओगे।

कौओंने कहा—पिताजी ! ब्राह्मीदेवीकी कृपासे हम-लोगोंको ज्ञेय तत्त्वका पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो चुका है; किंतु अब हमें एकान्तवासके लिये किसी उत्तम स्थानकी अभिलाषा है।

चण्डने कहा—पुत्रो ! मेरु नामक एक अत्यन्त ऊँचा पर्वत है, जो रत्नसमूहोंका आधार और देवताओंका आश्रय-स्थान है। उसके पृष्ठभागमें एक महान् कल्पवृक्ष है, जो नाना प्रकारके प्राणियोंसे समावृत है। उसके दाहिने तनेपर एक शाखा है, जिसमें सुवर्ण-सदृश पीले रंगके चमकीले पल्लव लगे हैं और वह रत्न-तुल्य घने पुष्प-गुच्छोंसे तथा चन्द्रबिम्बकी तरह प्रकाशमान फलोंसे सुशोभित है। पुत्रो ! पूर्वकालमें मैंने उसी शाखापर चमकीली मणियोंसे युक्त घोंसला बनाया था और उसीमें क्रीडा की थी। उस घोंसलेके बाहरी दरवाजोंकी रचना

चिन्तामणिकी शलाकाओंसे की गयी है। वह रत्न-सदृश चमकीले पुष्पदलोंसे आच्छादित, सुस्वादु रसयुक्त फलोंसे युक्त और विचारपूर्वक व्यवहार करनेवाले कौओंके बच्चोंसे परिपूर्ण है। अतः प्यारे बच्चो ! तुमलोग उसी घोंसलेपर जाओ। वहाँ रहते हुए तुमलोगोंको पर्याप्त मात्रामें भोग और निर्विघ्न मोक्ष दोनों प्राप्त होंगे।

मुनिवर ! यों कहकर हमारे पिताने हमलोगोंका चुम्बन तथा आलिङ्गन किया। तब हमलोग भगवती अलम्बुसा और पिताजीके चरणोंमें अभिवादन करके अलम्बुसाके वासस्थान उस विन्ध्यप्रदेशसे उड़ चले। फिर तो क्रमशः आकाशको लाँघकर और मेघोंके कोटरोंसे निकलकर पवनलोकमें जा पहुँचे। वहाँ हमलोगोंने आकाशचारी देवोंको प्रणाम किया। मुनीश्वर ! फिर सूर्यमण्डलका अतिक्रमण करके हमलोग स्वर्गकी अमरावती-पुरीमें गये और फिर स्वर्गको लाँघकर ब्रह्मलोकमें पहुँच गये। वहाँ हमलोगोंने माता भगवती ब्राह्मीदेवीको प्रणाम किया और तुरंत ही पिताद्वारा कहा हुआ वह सारा वृत्तान्त उन्हें ज्यों-का-त्यों कह सुनाया। तब उन्होंने स्नेहपूर्वक हमलोगोंका आलिङ्गन किया और 'जाओ' यों आज्ञा प्रदान करके हमें उत्साहित किया। तत्पश्चात् हमलोग उन्हें नमस्कार करके ब्रह्मलोकसे चल पड़े। आकाशमार्गसे चलनेमें हमलोग चपल तो थे ही; अतः पवनलोकमें विचरते हुए लोकपालोंकी पुरियोंको, जो सूर्यके समान देदीप्यमान है, लाँघकर इस कल्पतरुपर आ पहुँचे और अपने घोंसलेमें प्रविष्ट हो गये। मुने ! यहाँ सारी बाधाएँ हमलोगोंसे दूर रहती हैं और हमलोग सदा समाधिमें ही स्थित रहते हैं। महानुभाव ! आपके पूर्व प्रश्नके उत्तरमें हमलोग जैसे उत्पन्न हुए, जिस प्रकार यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेसे हमलोगोंकी बुद्धि शान्त हुई एवं जिस तरह हमलोग इस घोंसलेमें आये—वह सारा वृत्तान्त आपको अखिलरूपसे भलीभाँति कह सुनाया।

(सर्ग १८-१९)

'तुम्हारी कितनी आयु है और तुम किन-किन वृत्तान्तोंका स्मरण करते हो ?' वसिष्ठजीद्वारा पूछे हुए इन प्रश्नोंका भुशुण्डद्वारा समाधान

भुशुण्डने कहा—मुने ! मै जो निर्विघ्नतापूर्वक आपका दर्शन कर रहा हूँ, इससे प्रतीत होता है कि चिरकालसे संचित किये गये मेरे पुण्योंका फल आज ही प्रकट हुआ है । मुनिराज ! आज आपके दर्शनसे यह घोंसला, यह शाखा, यह मैं और यह कल्पतरु—ये सब-के-सब पवित्र हो गये ।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—पक्षिराज ! उस प्रकार बलवान् एवं अगाध बुद्धिसम्पन्न तुम्हारे भाई यहाँ दिखायी क्यों नहीं देते ? अकेले तुम्हीं क्यों दृष्टिगोचर हो रहे हो ?

भुशुण्डने कहा—निष्पाप महर्षे ! हमलोगोंको यहाँ रहते बहुत लम्बा समय व्यतीत हो गया, यहाँतक कि दिनकी भाँति युगोंकी पङ्क्तियाँ समाप्त हो गयीं । अतः इतना लंबा समय बीत जानेके कारण मेरे सभी छोटे भाई तृणकी तरह अपने शरीरोंका त्याग करके कल्याण-मय शिवपदमें लीन हो गये; क्योंकि चाहे कोई दीर्घायु हो, महान् हों, सज्जन हों, बलवान् हों—कैसे भी क्यों न हों, अलक्षितस्वरूपवाला काल सभीको निगल जाता है ।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—प्यारे वायसराज ! जिस समय प्रलयवायु अनवरत वेगपूर्वक बहने लगती है, उस समय क्या तुम्हें खेद नहीं होता ? उदयाचल और अस्ताचलके अरण्यसमूहोंको भस्म करनेवाली सूर्यकी किरणोंसे क्या तुम्हें कष्ट नहीं होता ? यह कल्पवृक्ष जो स्वयं ही अत्यन्त ऊँचा है तथा ऊँचे-से-ऊँचे स्थानपर स्थित है, जागतिक विषम क्षोभोंसे क्षुब्ध क्यों नहीं होता ?

भुशुण्डने कहा—भगवन् ! हम सदा परमात्मामें ही संतोष मानकर स्थित रहते हैं, इसलिये भ्रमके अवसर आनेपर भी हमें कभी इस जगत्में भ्रम नहीं होता । ब्रह्मन् ! हम अपने स्वभावमात्रसे संतुष्ट रहते हैं और कष्ट-दायक विचारोंसे मुक्त होकर अपने इस घोंसलेमें रहकर केवल कालयापन करते हैं । हमें न तो इस देहके जीवित रहनेसे किसी फलकी अभिलाषा है और न हम मरणद्वारा इसका विनाश ही चाहते है; क्योंकि हमलोग वर्तमान समयमें जिस प्रकार स्थित है, वैसे ही आगे भी स्थित रहेंगे । हमने प्राणियोंकी जन्म-मरण आदि दशाओंका अवलोकन कर लिया और हमारे मनने अपने चञ्चल स्वरूपका सर्वथा त्याग कर दिया है । निरन्तर शान्ति प्रदान करनेवाले अपने अविनाशी सच्चिदानन्दघनस्वरूप ज्ञानमें स्थित होकर मैं इस कल्पवृक्षके ऊपर बैठा हुआ सदा कालकी कलापूर्ण गतिको जानता रहता हूँ । ब्रह्मन् ! मैं रत्न-सदृश चमकीले पुष्प-गुच्छोंके प्रकाशसे युक्त इस कल्प लतागृहमें बैठकर प्राणायामके द्वारा योगबलसे सम्पूर्ण कल्पकी बात जान लेता हूँ । मै इस ऊँचे शिखरपर बैठा हुआ अपनी बुद्धिसे लोकोंके कालक्रमकी स्थितिको जानता रहता हूँ । मुनिवर ! मेरा मन सार और असार वस्तुओंका विभाग करनेवाले ज्ञानकी प्राप्तिसे उत्तम शान्तिको प्राप्त हो गया है, अतः इसकी चञ्चलता नष्ट हो गयी है और अब यह शान्त होकर भलीभाँति स्थिर हो गया है । अगाध-बुद्धिसम्पन्न महर्षे ! सासारिक व्यवहारोंसे उत्पन्न मिथ्या आशारूपी पाशोंसे बँधा हुआ भूलोकवासी साधारण कौआ जिस प्रकार सिसकारियोंसे भयभीत हो जाता है, उस प्रकार मै भयभीत नहीं होता; क्योंकि उत्कृष्ट शान्तिरूप धर्मवाली तथा आत्मप्रकाशसे शीतल हुई बुद्धिद्वारा जागतिक मायाको देखते हुए हमलोग धैर्यसम्पन्न हो गये हैं, इसलिये भयंकर दशाओंमें भी हमारी बुद्धि पर्वतके समान स्थिर रहती है । परम ऐश्वर्यशाली मुने ! समस्त भूतसमुदाय व्यवहारदृष्टिसे आते और जाते हैं, परंतु परमार्थदृष्टिसे न कोई आता

है न जाता है; अतः इस विषयमें हमलोगोंको भय कैसा। क्योंकि प्राणि-समुदायरूपी तरङ्गोंसे युक्त तथा कालसागरमें प्रवेश करनेवाली संसार-सरिताके तटपर स्थित होते हुए भी हमलोग उसकी उपेक्षा कर रहे हैं। जिनके शोक, भय और आयास नष्ट हो चुके हैं तथा जो आत्मलाभसे संतुष्ट हैं—ऐसे आप-सरीखे उत्तम पुरुष हमलोगोंपर अनुग्रह करते रहते हैं; इसलिये हमलोग सारे दुःखोंसे मुक्त हो गये हैं। भगवन्! हमलोगोंका मन यद्यपि व्यवहारार्थ इधर-उधर कार्योंमें व्यस्त रहता है, तथापि न तो वह राग आदि वृत्तियोंमें फँसता है और न तत्त्व-विचारसे शून्य ही होता है। क्योंकि हमारा आत्मा निर्विकार, क्षोभरहित और शान्त हो गया है, इसलिये चिद्रूप तरङ्गवाले हमलोग पूर्णिमाके पर्वकालमें बढ़नेवाले महासागरकी भाँति प्रबुद्ध हो गये हैं। ब्रह्मन्! इस समय आपके आगमनसे हमलोगोंका अन्तःकरण हर्षसे प्रफुल्लित हो उठा है। समस्त एषणाओंका परित्याग कर चुकनेवाले संत-महात्मा अपने शुभागमनद्वारा जो हमपर अनुग्रह करते हैं, इससे बढ़कर कल्याणकारक मैं अपने लिये और कुछ नहीं समझता। भला, आपातरमणीय भोगोंसे कौन-सा लाभ मिल सकता है? अर्थात् कुछ नहीं। किंतु सत्सङ्गरूपी चिन्तामणिसे तो सबके सारभूत यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। सज्जन-शिरोमणे! आपकी वाणी स्नेहपूर्ण, गम्भीर, कोमल, मधुर, उदार और धीरतायुक्त है; मैंने परमात्माको जान लिया है और आपके दर्शनसे मैं पवित्र हो चुका हूँ। इसलिये मेरी तो ऐसी धारणा है कि आज मेरा जन्म सफल हो गया; क्योंकि साधु पुरुषोंका सङ्ग समस्त भयोंका अपहरण करनेवाला होता है।

मुनीश्वर! युगान्तकालमें जब भीषण उपद्रव होने लगते हैं और प्रचण्ड वायु बहने लगती है, उस समय भी यह कल्पवृक्ष सुस्थिर रहता है। यह कभी भी कम्पित नहीं होता। अन्य लोकोंमें विचरण करनेवाले समस्त प्राणियोंके लिये यह अगम्य है, इसीलिये हमलोग यहाँ सुखपूर्वक निवास करते हैं। ऐसे उत्तम वृक्षपर निवास करनेवाले हमलोगोंके निकट भला, आपत्तियाँ कैसे फटक सकती हैं।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—महाबुद्धिमान् भुशुण्ड! प्रलय-कालमें जब सूर्य और चन्द्रमाको भी गिरा देनेवाली उत्पातवायु बहने लगती है, उस समय तुम सन्तापरहित कैसे रह पाते हो?

भुशुण्डने कहा—मुनिश्रेष्ठ! कल्पान्तके समय जब सांसारिक व्यवहारका विनाश हो जाता है, उस समय जैसे कृतघ्न आपत्तिकालमें सन्मित्रको त्याग देता है, उसी तरह मैं इस घोंसलेको छोड़ देता हूँ और आकाशमें ही स्थित रहता हूँ। उस अवसरपर वासनाशून्य मनकी तरह मैं सारी कल्पनाओंसे रहित रहता हूँ और मेरा सारा शरीर निश्चल हो जाता है। फिर मैं ब्रह्माण्डके उस पार पहुँचकर समस्त तत्त्वोंके अन्तर्भूत एवं विशुद्ध परमात्मामें अचल सुषुप्तावस्थाके सदृश निर्विकल्पसमाधिमें तबतक स्थित रहता हूँ, जबतक कमलयोनि ब्रह्मा पुनः सृष्टिकर्ममें प्रवृत्त नहीं होते। सृष्टिरचना हो जानेके पश्चात् मैं ब्रह्माण्डमें प्रवेश करके पुनः अपने इस घोंसलेमें आ जाता हूँ।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—विहगराज! कल्पान्तके अवसरोंपर जैसे तुम धारणा, ध्यान और समाधिके द्वारा अखण्डरूपसे स्थित रहते हो, वैसे अन्य योगी क्यों नहीं रहते?

भुशुण्डने कहा—ब्रह्मन्! यह तो परमेश्वरकी नियामिका शक्ति है, जो सबको नियमबद्ध रखती है। उसका उल्लङ्घन करना कठिन है। इसी कारण मुझे ऐसे रहना पड़ता है और दूसरे योगी दूसरी प्रकारसे रहते हैं। जो अवश्यम्भावी है, उसकी इदमित्थंरूपसे अवधारणा नहीं की जा सकती; क्योंकि परमेश्वरकी नियामिका शक्तिरूप स्वभावका ऐसा निश्चय है कि जैसा होनहार होता है, वैसा ही होता है। इसीलिये प्रत्येक कल्पमें

केवल मेरे संकल्पसे ही मेरुगिरिके इसी शिखरपर इस प्रकार यह कल्पवृक्ष बारंबार उत्पन्न होता है।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—कल्याणस्वरूप वायसराज! तुम्हारी आयु अत्यन्त लंबी है। तुम भूतकालीन पदार्थोंका निर्देश करनेवालोंमें अग्रगण्य, ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न और धीर हो। तुम्हारी मनोगति योगसाधनके योग्य है। तुमने अनेक प्रकारकी असंख्य सृष्टियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी देखा है। अतः अब यह बताओ कि इस सृष्टि-क्रममें तुम्हें किस-किस आश्चर्यजनक सृष्टिका स्मरण है?

भुशुण्डने कहा—मुनिश्रेष्ठ! मुझे इस पृथ्वीके विषयमें ऐसा स्मरण है कि किसी समय यह शिला और वृक्षोंसे रहित थी। इसपर तृण और लता आदि भी नहीं थे; पर्वत, वन और भाँति-भाँतिके वृक्ष—ये कुछ भी नहीं थे और यह मेरुके नीचे स्थित थी। वहाँ यह ग्यारह हजार वर्षोंतक भस्मसे परिपूर्ण रही—ऐसा मुझे सम्यक् रूपसे स्मरण है। मुझे यह भी खूब याद है कि जब बल और ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हुए असुरोंका घोर संग्राम चल रहा था, उस समय इस पृथ्वीका भीतरी भाग क्षीण हो गया था और यह युद्धसे भागे हुए जनोंसे परिपूर्ण हो गयी थी। फिर एक चतुर्युगीतक यह उन मतवाले असुरोंके अधिकारमें रही, इसका भी मुझे पूर्ण स्मरण है। अन्य चतुर्युगीके दो युगोंतक यह भूमि बनैले वृक्षोंसे खचाखच भरी रही। उस समय उन वृक्षोंके अतिरिक्त और किसी पदार्थका निर्माण नहीं हुआ था—इसका भी मुझे ठीक-ठीक स्मरण है। एक समय यह वसुधा चारों युगोंसे भी अधिक कालतक घने पर्वतोंसे आच्छादित रही। उसपर मनुष्य चल-फिर भी नहीं सकते थे—यह भी मुझे स्मरण है। मुझे वह समय भी याद आता है, जब अन्तरिक्ष आदि लोकोंमें समस्त विमानचारी देवता भयके कारण अन्तर्धान हो गये थे और यह पृथ्वी वृक्षशून्य होकर अन्धकारसे आच्छादित हो गयी थी। इनका तथा इनके अतिरिक्त अन्य बहुत-सी बातोंका मुझे स्मरण है; परंतु इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ। जो सार वस्तु है, उसे मै संक्षेपसे कहता हूँ, सुनिये। ब्रह्मन्! मुझे तो यहाँतक स्मरण है कि मेरे सामने सैकड़ों चतुर्युगियाँ बीत गयीं और ऐसे असंख्य मनु समाप्त हो गये, जो सब-के-सब प्रभावाधिक्यसे परिपूर्ण थे। मुझे एक ऐसी सृष्टिका स्मरण है, जिसमें पर्वत और भूमिका नाम-निशान भी नहीं था। चन्द्रमा और सूर्यके बिना ही पूर्ण प्रकाश छाया रहता था और देवता तथा सिद्ध मानव आकाशमें ही रहते थे। मुझे ऐसी ही एक और सृष्टिका स्मरण है, जिसमें न कोई इन्द्र था न भूपाल तथा उत्तम, मध्यम और अधमका भेद भी नहीं था। सब एकरूप था और दिशामण्डल अन्धकारसे व्याप्त था।

मुनिराज! पहले सृष्टि-रचनाका संकल्प हुआ, फिर तीनों लोकोंका निर्माण हुआ। उस त्रिलोकीमें अवान्तर प्रदेशोंका विभाग होनेके बाद उनमें सात कुलपर्वतोंकी स्थापना हुई। उन्हीं प्रदेशोंमें जम्बूद्वीपकी पृथक् स्थापना हुई। ब्रह्माजीने उस जम्बूद्वीपमें ब्राह्मण आदि वर्ण, उनके धर्म और उन वर्णोंके लिये योग्य विधाविशेषोंकी सृष्टि की। तत्पश्चात् अवनिमण्डल एवं नक्षत्र-चक्रकी स्थिति और ध्रुवमण्डलका निर्माण किया। तात! तदनन्तर चन्द्रमा और सूर्यकी उत्पत्ति, इन्द्र और उपेन्द्रकी व्यवस्था, हिरण्याक्षद्वारा पृथ्वीका अपहरण, वराहरूपधारी भगवान्-द्वारा उसका उद्धार, भूपालोंकी रचना, मत्स्यरूपधारी भगवान्द्वारा वेदोंका लाया जाना, मन्दराचलका उन्मूलन, अमृतके लिये क्षीरसागरका मन्थन, गरुड़का शैशव, जब कि उनके पंख नहीं जमे थे, और सागरोंकी उत्पत्ति आदि जो निकटतम सृष्टिकी स्मृतियाँ हैं, उन्हें तो मेरी अपेक्षा अल्प आयुवाले योगी भी स्मरण करते हैं; अतः उनमें मेरी क्या आदर-बुद्धि हो सकती है।

मुनिश्रेष्ठ! हयग्रीव, हिरण्याक्ष, कालनेमि, बल, हिरण्यकशिपु, क्राथ, बलि और प्रह्लाद आदि असुरोंमें,

शिबि, न्यङ्कु, पृथु, उलाख्य, वैन्य, नाभाग, केलि, नल, मान्धाता, सगर, दिलीप और नहुष आदि नरेशोंमें तथा आत्रेय, व्यास, वाल्मीकि, शुक, वात्स्यायन, उपमन्यु, मणीमङ्कि और भगीरथ आदि महर्षियोंमें कुछ तो सुदूर भूतकालमें, कुछ निकटतम अतीतमें और कुछ इसी वर्तमान सृष्टिमें उत्पन्न हुए हैं; अतः इनके स्मरणकी तो बात ही क्या है। मुनिवर! आप तो ब्रह्माके पुत्र हैं। आपके भी आठ जन्म हो चुके हैं। इस आठवें जन्ममें मेरा आपके साथ समागम होगा—यह मुझे पहलेसे ही ज्ञात था। यह वर्तमान सृष्टि जैसी है, इसके जैसे आचरण हैं और जैसा इसका अवयव-संस्थान एवं दिशागण है, ठीक इसी तरहकी तीन सृष्टियाँ पहले भी हो चुकी हैं, जिनका मुझे भलीभाँति स्मरण है। अमृतके लिये, जिसमें मन्दराचलके आकर्षण-के प्रयाससे देवता और दैत्य व्याकुल हो गये थे—ऐसा यह बारहवाँ समुद्र-मन्थन है, यह भी मुझे स्मरण है। मुने! प्रत्येक युगमें अध्येता पुरुषोंकी बुद्धियोंके न्यूनाधिक होनेके कारण ब्रह्मचर्य आदि क्रियाओं, शिक्षा-कल्प आदि अङ्गों और स्वर आदिके उच्चारणपूर्वक पाठकी विचित्रतासे युक्त वेद भी मेरे स्मृतिपथमें वर्तमान हैं। निष्पाप महर्षे! युग-युगमें जो एकार्थक, विस्तारयुक्त तथा बहुत-से पाठभेदवाले पुराण प्रवृत्त होते हैं, उन सबका भी मुझे स्मरण है। पुनः प्रत्येक युगमें वेद आदि शास्त्रोंके ज्ञाता व्यास आदि महर्षियोंद्वारा विरचित महाभारत आदि इतिहास भी मुझे याद हैं। इनके अतिरिक्त रामायण नामसे प्रसिद्ध जो दूसरा महान् आश्चर्यजनक इतिहास है; जिसकी श्लोक-संख्या एक लाख है, उस ज्ञान-शास्त्रका भी मुझे स्मरण है। उस शास्त्रमें बुद्धिमानोंके लिये हाथपर रक्खे हुए फलकी तरह 'श्रीरामकी तरह व्यवहार करना चाहिये, परंतु रावणके विलासी जीवनका अनुकरण नहीं करना चाहिये' ऐसा ज्ञान बतलाया गया है। उसके निर्माता महर्षि वाल्मीकि हैं। अब उनके द्वारा जगत्में जो (वसिष्ठ-राम-संवादरूप) दूसरे ज्ञानशास्त्रकी रचना की जायगी, उसका भी मुझे ज्ञान है और समयानुसार वह आपको भी ज्ञात हो जायगा। यह जगत्स्वरूप भ्रान्ति जलमें बुलबुलेके समान कभी स्थित-सी दीख पड़ती है, किंतु वास्तवमें इसका किसी भी कालमें अस्तित्व नहीं है। मेरे पिता चण्डके जीवनकालमें इस कल्पतरुकी जैसी शोभा और जैसा संगठन था, वह आज भी वैसा ही है; इसीलिये इस समय मैं यहाँ स्थित हूँ। (सर्ग २०–२२)

जिसे मृत्यु नहीं मार सकती, उस निर्दोष महात्माकी स्थितिका, परमतत्त्वकी उपासनाका तथा तीनों लोकोंके पदार्थोंमें सुख-शान्तिके अभावका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—महाबाहु श्रीराम! तदनन्तर कल्पवृक्षके अग्रभागमें आसीन इस वायसराज भुशुण्डसे मैंने जाननेके लिये यह पूछा—'पक्षियोंके श्रेष्ठ राजा! जगत्में विचरण करनेवाले तथा व्यवहारमें लगे हुए प्राणियोंकी देहको मृत्यु कैसे बाधा नहीं पहुँचाती?'

भुशुण्डने कहा—सर्वज्ञ ब्रह्मन्! आप यद्यपि सब कुछ जानते हैं, फिर भी जो मुझसे जिज्ञासुकी तरह पूछते हैं, वह ठीक ही है; क्योंकि स्वामी प्रश्नोंद्वारा अपने सेवकोंकी वाक्पटुता प्रसिद्ध कराया करते हैं। फिर भी आप जो मुझसे पूछते हैं, उसका मैं उत्तर आपको देता हूँ; क्योंकि आज्ञाका पालन ही सज्जनोंकी सबसे बड़ी सेवा है, ऐसा मुनिलोग कहते हैं। महाराज! पापरूप मोती जिसमें पिरोये गये हैं, ऐसी वासनारूपी तन्तुसंतति जिसके हृदय-कमलमें ग्रथित नहीं रहती अर्थात् जो वासना और पापसे रहित है, उसको मृत्यु मारनेकी इच्छा नहीं करती। जो

शरीर-लताके घुनरूप मानसिक चिन्ताओंसे और आशाओंसे रहित है, उसको मृत्यु मारनेकी इच्छा नहीं करती। राग-द्वेषरूपी विषसे परिपूर्ण अपने मनरूपी बिलमें रहनेवाला लोभरूपी सर्प जिसको नहीं डँसता, उसे मृत्यु मारनेकी इच्छा नहीं करती। शरीररूपी समुद्रका वडवाग्निरूप अतएव समस्त विवेकरूपी जलको पी जानेवाला क्रोध जिसको दग्ध नहीं करता, उसे मृत्यु मारनेकी इच्छा नहीं करती। तिलोंकी बड़ी राशिको पेर देनेवाले कठिन कोल्हू-की तरह उग्रतापूर्वक कामदेव जिसे पीड़ा नहीं पहुँचाता, उसे मृत्यु मारनेकी इच्छा नहीं करती। जिसका चित्त एक निर्मल परम पवित्र सच्चिदानन्दघन ब्रह्मरूप परमपदमें स्थित है, उसको मृत्यु मारनेकी इच्छा नहीं करती। शरीररूपी पुष्पित वनमें प्रवेशकर उछल-कूद मचानेवाला जिसका बलवान् मन वानरकी तरह चञ्चल नहीं है, उसको मृत्यु मारनेकी इच्छा नहीं करती। ब्रह्मन्! ये पूर्वोक्त महान् दोष संसाररूपी व्याधिके कारण हैं। ये दोष विक्षेपरहित चित्तको तनिक भी नहीं झकझोरते। अज्ञानके कारण शारीरिक एवं मानसिक पीड़ाओंसे उत्पन्न नाना प्रकारके दुःख विक्षेपरहित चित्तको छिन्न-भिन्न नहीं कर पाते।

जिसका चित्त परमात्माके स्वरूपमें सम्यक् प्रकारसे स्थित है, वह पुरुष शास्त्रानुसार व्यवहार करता हुआ भी वास्तवमें न कुछ देता है न लेता है, न कुछ त्याग करता है और न कुछ माँगता ही है। जिस महापुरुषका चित्त परमात्मामें स्थित है, उसे उपार्जन करनेके अयोग्य दुष्ट धनादि, बुरे आरम्भ, राग-द्वेष आदि दुर्गुण, कठोर वचन, दुराचार—ये सब विचलित नहीं कर सकते अर्थात् उसके निकट भी नहीं जा सकते। जिसका चित्त परमात्मामें स्थित है, उसके न चाहनेपर भी न्याय आदि गुणोंसे युक्त अनेक सम्पत्तियाँ उसके पीछे-पीछे दौड़ती हैं। इसलिये कल्याण-कामी मनुष्यको चाहिये कि जो परिणाममें हितकर, सत्य, अविनाशी, संशयरहित एवं विषयाभिलाषरूपी दृष्टिसे रहित है, उसी एक परमात्म-तत्त्वमें मनको स्थिर करे। जो सदा ही परम ग्राह्य है एवं जो आदि, मध्य और अन्तमें सुन्दर, मधुर तथा हितकारक है, उस परमात्म-तत्त्वमें मनको स्थिर करना चाहिये। जो अविनाशी है, मनके लिये सदा हितकर है, वास्तविक ध्रुव सत्य है, आदि, मध्य एवं अन्तमें सदा-सर्वदा परिपूर्ण है तथा जिसकी सभी संतलोग प्रीतिपूर्वक उपासना करते हैं, उस परमात्म-तत्त्वमें मनको स्थिर करना चाहिये। जो बुद्धिसे परे है, ज्ञानस्वरूप है, सबका आदिकारण है, निरतिशय परम अमृतस्वरूप है तथा जिससे अधिक मङ्गलमय दूसरा कोई नहीं है, उस परमतत्त्व परमात्मामें मनको स्थिर करना चाहिये; क्योंकि देवताओं, असुरों, गन्धर्वों, विद्याधरों, किन्नरों तथा देवाङ्गनाओंसे युक्त स्वर्गमें कुछ भी सुस्थिर एवं उत्तम तत्त्व नहीं है।

तात! वृक्षोंसे, राजा-महाराजाओंसे, पर्वत, नगर एवं ग्वालोंकी आवास-भूमिसे तथा समुद्रसे युक्त भूमण्डलमें कुछ भी स्थायी और शोभन तत्त्व नहीं है। नागों, असुरों तथा असुरोंकी स्त्रियोंसे युक्त समस्त पाताल-लोकमें भी कोई स्थिर एवं मङ्गलदायक पदार्थ नहीं है। जिसमें स्वर्ग, देवलोक, पृथ्वीसहित पाताल एवं दसों दिशाएँ हैं, ऐसे इस सम्पूर्ण जगत्में कोई भी स्थिर और मङ्गलदायक पदार्थ नहीं है। तात्पर्य यह कि त्रिलोकमय सम्पूर्ण संसारमें आधि, व्याधि, चिन्ता, शोक ही भरे हैं; वास्तविक सुख-शान्तिका नामोनिशान भी नहीं है। इसलिये नाशवान् क्षणभङ्गुर संसारसे तीव्र वैराग्य करना चाहिये। अतएव सम्पूर्ण भूमण्डलका एकछत्र सम्राट् होना श्रेष्ठ नहीं, सबसे बड़े अभिज इन्द्र, बृहस्पति आदि देवता होना यानी स्वर्गका अधिपति होना भी श्रेष्ठ नहीं तथा पातालमें सम्पूर्ण पृथ्वीको

धारण करनेमें समर्थ शेषनाग होना यानी पातालका अधिपति होना भी श्रेष्ठ नहीं; क्योंकि ये सब क्षणभङ्गुर—नाशवान् हैं। जहाँ विवेकी पुरुषोंका मन पूर्णकाम होकर सुख-शान्ति पाता है, वैसी वास्तविक सुख-शान्ति वहाँ लेशमात्र भी नहीं है। आधि-व्याधियोंसे प्रचुर चिरजीविता भी श्रेष्ठ नहीं, समस्त व्याधियोंका विनाशरूप मरण भी अखिल दुःखोंकी निदान दृढ़ अज्ञतारूप होनेसे श्रेष्ठ नहीं है, नरक तथा स्वर्ग भी श्रेष्ठ नहीं; क्योंकि जहाँ विवेकी पुरुषोंका मन पूर्णकाम होता है, वैसा वहाँ कुछ भी नहीं है। उस प्रकारके सम्पूर्ण विविध सृष्टियोंके क्रम अज्ञानी मनुष्यको बुद्धिकी मूढ़ताके कारण ही रमणीय प्रतीत होते हैं। इसलिये जो महान् संत हैं, वे अनित्य, क्षणभङ्गुर, नाशवान् मायिक पदार्थोंमें चिरविश्राम कैसे कर सकते हैं? क्योंकि उनमें वास्तविक सुख-शान्ति और विश्रामका अत्यन्त अभाव है। इसलिये विवेकी पुरुषोंको उनमें अत्यन्त वैराग्य करके उनसे उपरत हो जाना चाहिये। (सर्ग २३)

प्राण-अपानकी गतिको तत्त्वतः जाननेसे मुक्ति

भुशुण्डने कहा—महाराज! कभी नष्ट न होनेवाली, संशयोंसे रहित एक परमात्मदृष्टि ही समस्त ज्ञानोंमें सबसे उन्नत और सबसे श्रेष्ठ है। ब्रह्मन्! परमात्मविषयक विचार समस्त दुःखोंका अन्त कर देनेवाला तथा अनादि-कालसे चले आते हुए अज्ञानसे परिपूर्ण, दुःखप्न-तुल्य संसाररूपी भ्रमका विनाश करनेवाला है। भगवन्! समस्त संकल्पोंसे रहित परमात्मविषयक भावनासे अज्ञानरूपी अन्धकारका, उसके कार्योंके साथ, भली प्रकार विनाश हो जाता है। किंतु सामान्य बुद्धिवाले प्राणी समस्त कल्पनाओंसे अतीत इस परमपदको कैसे प्राप्त कर सकते हैं? अर्थात् साधारण पुरुषोंके लिये वह पद प्राप्त होना कठिन है। इस परमात्मविषयक भावनाके अनेक भेद हैं। उनमेंसे सम्पूर्ण दुःखोंका विनाश करनेवाली प्राणभावनाका मैंने आश्रय लिया है, वही यहाँ मेरे जीवनका आधार है।

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम! जब मननशील भुशुण्ड इस प्रकार कह रहे थे, तब जानते हुए भी मैंने शान्त भावसे उनसे फिर कौतुकवश पूछा—'समस्त संदेहोंको काटनेवाले अत्यन्त दीर्घजीवी सज्जनस्वभाव भुशुण्ड! तुम मुझसे ठीक-ठीक कहो कि प्राणकी भावना किसे कहते हैं?'

भुशुण्डने कहा—मुने! आप समस्त वेदान्तके ज्ञाता हैं, समस्त संशयोंका विनाश करनेवाले हैं, तथापि केवल विनोदके लिये ही मुझ-जैसे कौएसे इस विषयका प्रश्न कर रहे हैं—ऐसा मैं मानता हूँ। महाराज! भुशुण्डको जिसने चिरजीवी बनाया है तथा जिसने भुशुण्डको आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करायी है, उस प्राण-समाधिका निरूपण मैं कहता हूँ, सुनिये। मुनिराज! इडा और पिङ्गला नामकी दो अत्यन्त सूक्ष्म नाड़ियाँ इस देहरूपी घरके बीच दाहिने और बायें भागमें स्थित कोष्ठमें यानी कुक्षिमें रहती हैं। उनका किसीको भान नहीं होता, वे केवल नासापुटमें प्राणसंचारद्वारा प्रतीत होती हैं। उक्त देहमें यन्त्रके सदृश तीन कमलके जोड़े हैं। वे अस्थि-मांसमय एवं अत्यन्त मृदु हैं। उनमें ऊपर और नीचे दोनों ओरसे नालदण्ड लगे हुए हैं और वे सम्पुटित होकर एक दूसरेसे मिले हुए कोमल सुन्दर दलोंसे सुशोभित हैं। उन तीन हृदय-कमलयन्त्रोंमें प्राणकी समस्त शक्तियाँ ऊपर और नीचेकी ओर उसी प्रकार फैली हुई हैं, जिस प्रकार चन्द्र-बिम्बसे किरणें फैलती हैं। इन प्राणशक्तियोंसे ही शीघ्रगति, आगति, विकर्षण, हरण, विहरण, उत्पतन एवं निपतनकी क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं। मुने! हृदय-कमलमें स्थित यही वायु पण्डितों-द्वारा प्राणके नामसे कही जाती है। इसीकी कोई एक शक्ति नेत्रोंको स्पन्दित करती है यानी नेत्रोंमें निमेष-

उन्मेषकी क्रिया करती है। उसीकी कोई एक शक्ति स्पर्शका ग्रहण करती है, दूसरी कोई शक्ति नासिकाद्वारा श्वास-उच्छ्वासका निर्वाह करती है, कोई एक दूसरी शक्ति अन्नका परिपाक करती है तो कोई अन्य शक्ति वाक्योंका उच्चारण करती है। महाराज! इस विषयमें अधिक कहनेसे क्या लाभ। शरीरमें जो कुछ क्रिया या व्यापार होता है, वह सब शक्तिसम्पन्न वायु ही कराती है, जिस प्रकार यन्त्रचालक कठपुतलीसे नृत्यादि चेष्टा कराता है। उसमें ऊर्ध्वगमन और अधोगमन—ये दो प्रकारके संकेतवाले जो दो वायु प्रसृत होते हैं, वे दोनों श्रेष्ठ वायु प्राण एवं अपान नामसे प्रसिद्ध एवं प्रकट है। मुने! मै उनकी गतिका सदा अनुसरण करता हुआ स्थित रहता हूँ। उनका स्वरूप सदा शीतल और उष्ण रहता है एवं वे दोनों निरन्तर शरीरके भीतर आकाश-मार्गकी यात्रा करते रहते हैं। उन प्राण और अपान नामक वायुओंकी—जो शरीरमें सदा संचरण करते हैं तथा जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्तिमें सदा समानरूप हैं—गतिका अनुसरण करते हुए मेरे दिन सुषुप्ति-अवस्थामें स्थित मनुष्यकी भाँति व्यतीत हो रहे हैं। एक हजार अंशोंमें विभक्त कमलतन्तुके लक्ष्यमात्रकी अपेक्षा भी अत्यन्त दुर्लक्ष्य ये नाडियाँ हैं, अतः उनमें विद्यमान इन प्राण और अपान दोनों वायुओंकी भी गति दुर्बोध है। महात्मन्! हृदय आदि स्थानोंमें निरन्तर विचरण करनेवाले प्राण और अपान वायुओंकी गतिके तत्त्वको जानकर उसका अनुसरण करनेवाला प्रसन्नचित्त पुरुष जन्म-मरणरूपी फाँसीसे छूटकर सदाके लिये मुक्त हो जाता है। वह फिर इस संसारमें लौटकर नहीं आता।

(सर्ग २४)

पूरक, रेचक, कुम्भक प्राणायामका तत्त्व जानकर अभ्यास करनेसे मुक्ति और सर्वशक्तिमान् परमात्माकी उपासनाकी महिमा

भुशुण्डने कहा—ब्रह्मन्! इस प्राणमें स्पन्दन-शक्ति तथा निरन्तर गतिक्रिया रहती है। यह प्राण बाह्य एवं आन्तर सर्वाङ्गोंसे परिपूर्ण देहमें ऊपरके स्थानमें—हृदय-देशमें स्थित रहता है। अपानवायुमें भी निरन्तर स्पन्द-शक्ति तथा सततगति रहती है। यह अपानवायु भी बाह्य एवं आन्तर समस्त अङ्गोंसे परिपूर्ण शरीरमें नीचेके स्थानमें—नाभिदेशमें स्थित रहता है। मुनिवर! किसी प्रकारके यत्नके बिना प्राणोंकी हृदय-कमलके कोशसे होने-वाली जो स्वाभाविक बहिर्मुखता है, विद्वान्लोग उसे 'रेचक' कहते हैं। बारह अंगुलपर्यन्त बाह्य प्रदेशकी ओर नीचे गये हुए प्राणोंका लौटकर भीतर प्रवेश करते समय जो शरीरके अङ्गोंके साथ स्पर्श होता है, उसे 'पूरक' कहते हैं। अपानवायुके शान्त हो जाननेपर जबतक हृदयमें प्राणवायुका अभ्युदय नहीं होता, तबतक वह वायुकी कुम्भकावस्था (निश्चल स्थिति) रहती है, जिसका योगीलोग अनुभव करते हैं। इसीको आभ्यन्तर कुम्भक कहते हैं। ब्रह्मन्! मृत्तिकाके अंदर असिद्ध घटकी स्थितिके सदृश बाहर नासिकाके अग्रभागसे लेकर बराबर सामने बारह अंगुलपर्यन्त आकाशमें जो अपानवायुकी निरन्तर स्थिति है, उसे पण्डितलोग 'बाह्य कुम्भक' कहते हैं। अतः बाहर प्राण-वायुके अस्तंगत होनेपर जबतक अपान-वायुका उद्गम नहीं होता, तबतक एकरूपसे स्थित पूर्ण (दूसरा) बाह्य कुम्भक रहता है, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। प्राण और अपानवायुके स्वभावभूत ये जो बाह्य और आभ्यन्तर कुम्भकादि प्राणायाम हैं, उनका भली प्रकार तत्त्व-रहस्य जानकर निरन्तर उपासना करनेवाला पुरुष पुनः इस संसारमें उत्पन्न नहीं होता। प्राणायामके तत्त्व-रहस्यको जाननेवाले योगीके स्वभावतः अत्यन्त चञ्चल ये वायु चलते, बैठते, जागते या सोते—सभी अवस्थाओंमें उसके इच्छानुसार निरुद्ध हो जाते हैं। मनुष्य अपने भीतर बुद्धिपूर्वक सम्यक् प्रकारसे इन कुम्भक आदि प्राणायामोंका स्मरण करता हुआ जो कुछ करता है या

खाता है, उनमें वह कर्तृत्व आदिके अभिमानसे तनिक भी ग्रस्त नहीं होता।

महर्षे! इस प्रकार प्राणायामका अभ्यास करनेवाले पुरुषका मन विषयाकार वृत्तियोंके होनेपर भी बाह्य विषयोंमें रमण नहीं करता। जो शुद्ध और तीक्ष्ण बुद्धि-वाले महात्मा इस प्राणविषयक दृष्टिका अवलम्बन करके स्थित हैं, उन्होंने प्रापणीय पूर्ण ब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लिया और वे ही समस्त खेदोंसे रहित हैं। बैठते, चलते, सोते और जागते—सदा-सर्वदा पुरुष यदि तत्त्व-रहस्य समझकर प्राणायामका अभ्यास करें तो वे कभी बन्धनको प्राप्त ही न हों। प्राण और अपानकी उपासना-द्वारा प्राप्त यथार्थ ज्ञानसे युक्त पुरुषोंका मन, जो मलरूप मोहसे रहित एवं स्वस्थ है, इस अन्त:स्थित परमात्मामें ही सदा-सर्वदा लगा रहता है। शास्त्रविहित सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी शुद्धान्त:करण निष्कामी ज्ञानी पुरुष प्राणापानकी गतिको तत्त्वत: जानकर भलीभाँति स्वस्थ हो सच्चिदानन्दघन परमात्माको प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मन्! हृदय-कमलसे प्राणका अभ्युदय होता है और बाहर बारह अंगुलपर्यन्त प्रदेशमें यह प्राण विलीन होकर रहता है। इसीको 'बाह्य कुम्भक' कहते हैं। महामुने! बाहर बारह अंगुलकी चरम सीमासे अपानका उदय होता है और हृदय-प्रदेशमें स्थित कमलमें उसकी गति अस्त हो जाती है; इसीको 'आभ्यन्तर कुम्भक' कहते हैं। जिस बारह अंगुलकी चरम सीमाके आकाश प्रदेशमें प्राणकी समाप्ति हो जाती है, उसी आकाश-प्रदेशसे यह अपान उसीके बाद उत्पन्न हो जाता है। यह प्राण-वायु अग्नि-शिखाकी भाँति बाह्य आकाशके सम्मुख होकर बहता है और अपान-वायु जलकी तरह हृदयाकाशके सम्मुख होकर निम्नभागमें बहता है। चन्द्रमारूप अपान-वायु शरीरको बाहरसे पुष्ट करता है और सूर्यरूप प्राण-वायु इस शरीरको भीतरसे परिपक्व कर देता है। प्राण वायु निरन्तर हृदया-काशको सनसकर पश्चात् मुखाग्रभागके आकाशको तपाता है; क्योंकि यह उत्तम सूर्य ही है। अपान-वायुरूप यह चन्द्रमा पहले मुखके अग्रभागको पुष्टकर तदनन्तर हृदया-काशका अपने अमृत-प्रवाहसे पोषण करता है। अपानरूप चन्द्रमाकी किरणका प्राणरूपी सूर्यके साथ आभ्यन्तर कुम्भकके समय जिस हृदयस्थ ब्रह्मसे सम्बन्ध होता है, उस ब्रह्मपदको प्राप्तकर पुरुष पुन: शोकको प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार प्राणरूपी सूर्यकी किरणका अपान-रूपी चन्द्रमाके साथ बाह्य-कुम्भकके समय जिस बाह्य-प्रदेशस्थित ब्रह्मसे सम्बन्ध होता है, उस ब्रह्मपदको प्राप्तकर मनुष्य पुनर्जन्म प्राप्त नहीं करता।

मुने! जो पुरुष हृदयाकाशमें स्थित प्राणरूप सूर्य-देवको उदय-अस्त, चन्द्रमा-रश्मि और गमनागमनसहित तत्त्वसे अनुभव करता है, वही यथार्थ अनुभव करता है। जैसे बाह्य अन्धकारके नष्ट हो जानेपर बाहरके पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं, उसी प्रकार हृदयस्थित अज्ञानके नष्ट हो जानेपर शुद्धस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है। प्राण-वायुके विलीन हो जानेपर और अपान-वायुके उदयके पूर्व बाह्य कुम्भकका चिरकालतक अभ्यास करनेसे योगी शोकसे रहित हो जाता है। अपान-वायुके विलीन होनेपर और प्राण-वायुके उदयसे पूर्व भीतरी कुम्भकका चिरकालतक अभ्यास करनेसे योगी शोकसे रहित हो जाता है। जिस हृदयवर्ती ब्रह्मरूप स्थानमें ये प्राण और अपान दोनों विलीन हो जाते हैं, उस शान्त, आत्मस्वरूप ब्रह्मरूप पदका अवलम्बन करनेसे योगी अनुतप्त नहीं होता। महर्षे! जिस चिन्मय परब्रह्म परमात्मामें अपानके साथ प्राणका, प्राणके साथ अपानका तथा उन दोनोंके साथ बाह्य एवं आभ्यन्तर देश-कालका विलय हो जाता है, उसी परब्रह्मरूप पदका आप दर्शन कीजिये।

जिस समय अपानके प्राकट्यसे पूर्व प्राण विलीन हुआ रहता है, उस समय किसी प्रकारके यत्नके बिना स्वाभाविक सिद्ध हुई जो बाह्य-कुम्भक अवस्था है, उसीको योगीलोग 'परम पद' कहते हैं। किसी प्रकारके यत्नके बिना ही

सिद्ध हुआ अन्तःस्थ कुम्भक सर्वातिशायी ब्रह्मरूप परमपद है। यह परमात्माका वास्तविक स्वरूप है और यही सदा प्रकाशमय परम विशुद्ध चेतन है। इसको प्राप्त कर मनुष्य शोकसे रहित हो जाता है। जो प्राण-विलयका और जो अपान-विनाशका समीप एवं अन्तमें रहकर प्रकाशक है तथा जो प्राण और अपानके अंदर रहता है, हमलोग उस चेतन परमात्माकी उपासना करते हैं। जिसकी सत्ता-स्फूर्तिसे मन मनन करता है, बुद्धि निश्चय करती है एवं अहंकार अहंताको प्राप्त है, उस सच्चिदानन्दघन परमात्माकी हमलोग उपासना करते हैं। जिस परमात्मामें समस्त पदार्थ विद्यमान हैं, जिससे समस्त जगत् उत्पन्न हुआ है, जो सर्वात्मक है, जो सब ओर स्थित है और जो सर्वमय है, हमलोग उस चिन्मय परमात्माकी निरन्तर उपासना करते हैं। जो सम्पूर्ण ज्योतियोंका प्रकाशक है, जो समस्त पवित्रोंका भी परम पवित्र है, जो सम्पूर्ण संकल्प-विकल्प आदि भावनाओंसे रहित है, उस चेतन परब्रह्म परमात्माकी हम उपासना करते हैं। जहाँपर प्राण विलीन हो जाता है, जहाँ अपान भी अस्त हो जाता है तथा जहाँ प्राण और अपान दोनों उत्पन्न भी नहीं होते, हमलोग उस चेतन तत्त्वरूप परमात्माकी उपासना करते हैं। बाह्य और आभ्यन्तर प्रदेशमें स्थित, योगियोंद्वारा अनुभूत होनेवाले जो दो प्राण और अपानकी उत्पत्तिके स्थान हैं, उन दोनोंके अधिष्ठानभूत चेतन तत्त्वकी हम उपासना करते हैं। जो प्राण और अपानके विवेकमें हेतु है, जो उनके अस्तित्वका ज्ञान करानेवाला है, जो स्वयं रूपरहित है एवं जो प्राणोपासनासे प्राप्तव्य है, उस चिन्मय विज्ञानानन्दघन परमात्माकी हम उपासना करते हैं। (सर्ग २५)

भुशुण्डकी वास्तविक स्थितिका निरूपण, वसिष्ठजीद्वारा भुशुण्डकी प्रशंसा, भुशुण्डद्वारा वसिष्ठजीका पूजन तथा आकाशमार्गसे वसिष्ठजीकी स्वलोकप्राप्ति

भुशुण्डने कहा—महामुने! मैंने प्राणसमाधिके द्वारा पूर्वोक्त रीतिसे विशुद्ध परमात्मामें यह चित्त-विश्रामरूप परम शान्ति क्रमशः स्वयं प्राप्त की है। मैं इस प्राणायामका अवलम्बन करके दृढ़तापूर्वक स्थित हूँ। इसलिये सुमेरुपर्वतके विचलित होनेपर भी मैं चलायमान नहीं होता। चलते-बैठते, जागते या सोते अथवा स्वप्नमें भी मैं अखण्ड ब्रह्माकारवृत्तिरूप समाधिसे विचलित नहीं होता; क्योंकि तपस्वियोंमें महान् वसिष्ठजी! प्राण और अपानके संयमरूप प्राणायामके अभ्याससे प्राप्त परमात्माके साक्षात् अनुभवसे मैं समस्त शोकोंसे रहित आदिकारण परमपदको प्राप्त हो गया हूँ। ब्रह्मन्! महाप्रलयसे लेकर प्राणियोंकी उत्पत्ति एवं विनाशको देखता हुआ मैं ज्ञानवान् हुआ आज भी जी रहा हूँ। जो बात बीत चुकी और जो होनेवाली है, उसका मैं कभी चिन्तन नहीं करता। उपर्युक्त प्राणायामविषयक दृष्टिका अपने मनसे अवलम्बन करके इस कल्पवृक्षपर स्थित हूँ। न्याययुक्त जो भी कर्तव्य प्राप्त हो जाते हैं, उनका फलाभिलाषाओंसे रहित होकर केवल सुषुप्तिके समान उपरत बुद्धिसे अनुष्ठान करता रहता हूँ। प्राण और अपानके संयोगरूप कुम्भक-कालमें प्रकाशित होनेवाले परमात्मतत्त्वका निरन्तर स्मरण करता हुआ मैं अपने आपमें स्वयं ही नित्य संतुष्ट रहता हूँ। इसलिये मैं दोषरहित होकर चिरकालसे जी रहा हूँ। मैंने आज यह प्राप्त किया और भविष्यमें दूसरा सुन्दर पदार्थ प्राप्त करूँगा, इस प्रकारकी चिन्ता मुझे कभी नहीं होती। मैं अपने या दूसरे किसीके कार्योंकी किसी समय कहींपर कभी स्तुति और निन्दा नहीं करता। शुभकी प्राप्ति होनेपर मेरा मन हर्षित नहीं होता और अशुभकी प्राप्ति होनेपर कभी खिन्न नहीं होता; क्योंकि मेरा मन नित्य सम ही रहता है।

मुने ! मेरे मनकी चञ्चलता शान्त हो गयी है । मेरा मन शोकसे रहित, स्वस्थ, समाहित एवं शान्त हो चुका है । इसलिये मैं विकार-रहित हुआ चिरकालसे जी रहा हूँ ।' लकड़ी, रमणी, पर्वत, तृण, अग्नि, हिम, आकाश—इन सबको मैं सममावसे देखता हूँ । जरा और मरण आदिसे मैं भयभीत नहीं होता एवं राज्य-प्राप्ति आदिसे हर्षित नहीं होता । इसलिये मैं अनामय होकर जीवित हूँ । ब्रह्मन् ! यह मेरा बन्धु है, यह मेरा शत्रु है, यह मेरा है एवं यह दूसरेका है—इस प्रकारकी भेद-बुद्धिसे मैं रहित हूँ । ग्रहण और विहार करनेवाला, बैठने और खड़ा रहनेवाला, श्वास तथा निद्रा लेनेवाला यह शरीर ही है, आत्मा नहीं—यह मैं अनुभव करता हूँ । इसलिये मैं चिरजीवी हूँ । मैं जो कुछ क्रिया करता हूँ, जो कुछ खाता-पीता हूँ, वह सब अहंता-ममतासे रहित हुआ ही करता हूँ । मैं दूसरोंपर आक्रमण करनेमें समर्थ हुआ भी आक्रमण नहीं करता, दूसरोंके द्वारा खेद पहुँचाये जानेपर भी दुःखित नहीं होता एवं दरिद्र होनेपर भी कुछ नहीं चाहता; इसलिये मैं विकार-रहित हुआ बहुत कालसे जी रहा हूँ । मैं आपत्तिकालमें भी चलायमान नहीं होता, वरं पर्वतकी तरह अचल रहता हूँ । जगत्-आकाश, देश-काल, परम्परा-क्रिया—इन सबमें चिन्मयरूपसे मैं ही हूँ, इस प्रकारकी मेरी बुद्धि है; इसलिये मैं विकाररहित हुआ बहुत कालसे स्थित हूँ । ज्ञानके पारंगत ब्रह्मन् ! एकमात्र आपकी आज्ञाका पालन करनेके लिये ही धृष्टतापूर्वक मैंने, जो और जैसा हूँ, वह सब आपसे यथार्थरूपसे बता दिया है ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—'ऐश्वर्यपूर्ण पक्षिराज ! यह बड़े हर्षका विषय है, जो आपने कानोंके लिये भूषण-स्वरूप यह अत्यन्त आश्चर्यमयी अपनी अलौकिक स्थिति मुझसे कही है । वे महात्मा धन्य हैं, जो ब्रह्माजीके समान स्थित अत्यन्त दीर्घजीवी आपके दर्शन करते हैं । ये मेरे नेत्र भी धन्य हैं, जो बराबर आपके दर्शन कर रहे हैं । आपने मुझसे बुद्धिको पवित्र करनेवाला अपना सम्पूर्ण जीवन-वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों ठीक-ठीक कहा है । मैंने सब दिशाओंमें भ्रमण किया और देवताओं एवं बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ताओंकी ज्ञान आदि विभूतियोंको देखा, परंतु इस जगत्में आपके समान दूसरे किसी महान् ज्ञानीको नहीं देखा । इस संसारमें भ्रमण करनेपर किसी-को किसी महान् पुरुषकी प्राप्ति हो भी सकती है; परंतु आप-जैसे ज्ञानी महात्माओंका प्राप्त होना तो इस जगत्में कहीं भी सुलभ नहीं है अर्थात् दुर्लभ है । पुण्य-देह एवं विमुक्तात्मा आपका अवलोकन करके मैंने तो आज अत्यन्त कल्याणकर एक बहुत बड़ा कार्य सम्पादन कर लिया है । पक्षिराज ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम अपनी शुभ गुफामें प्रवेश करो; क्योंकि मध्याह्न कर्तव्यके लिये मेरा समय हो गया है; अतः मैं भी देवलोकमें जा रहा हूँ ।' श्रीराम ! यह सुनकर चिरंजीवी भुशुण्डने वृक्षसे उठकर अर्घ्य, पाद्य और पुष्पोंसे त्रिनेत्रधारी महादेवजीके समान मेरी पैरसे लेकर मस्तकपर्यन्त भक्तिपूर्वक पूजा की । तदनन्तर 'आप मेरे पीछे चलनेके लिये अधिक श्रम न करें' इस प्रकार कहता हुआ मैं आसनसे उठकर आकाशमार्गसे चला गया । भुशुण्डका स्मरण करते हुए

अरुन्धतीसे पूजित मैंने भी सप्तर्षि-मण्डलको प्राप्तकर मुनियोंका दर्शन किया।

श्रीराम! सत्ययुगके प्रथम दो शतक जब व्यतीत हो चुके थे, तब मेरु पर्वतके उस कल्पवृक्षपर भुशुण्डके साथ मैंने पहले-पहल भेंट की थी। इस समय सत्ययुगके क्षीण हो जानेपर त्रेतायुग चल रहा है और इस त्रेतायुगके मध्यमें आप प्रकट हुए हैं। आजसे आठ वर्ष पहले सुमेरु पर्वतके उसी शिखरके ऊपर ज्यों-का-त्यों अजररूपधारी वह भुशुण्ड मुझसे फिर मिला था। इस प्रकारका विचित्र उत्तम भुशुण्ड-वृत्तान्त मैंने तुमसे कहा, इसका श्रवण और विचार करके जैसा उचित समझो, वैसा करो।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! बुद्धिमान् भुशुण्डकी इस उत्तम कथाका जो विशुद्धबुद्धि मनुष्य भली प्रकार विवेक-पूर्वक विचार करेगा, वह इसी शरीरमें जन्मादि भयोंसे परिपूर्ण इस माया-नदीको पार कर जायगा। (सर्ग २६-२७)

शरीर और संसारकी अनिश्चितता तथा भ्रान्तिरूपताका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—निष्पाप श्रीराम! इस प्रकार यह भुशुण्ड-वृत्तान्त मैंने तुमसे कहा। इस विवेक-युक्त यथार्थ बुद्धिसे भुशुण्ड मोह-संकटसे तर गया था। पूर्वोक्त प्राण और अपानकी उपासना करनेवाले सभी अनासक्तबुद्धि मनुष्य भुशुण्डकी तरह परमपदरूप परमात्मामें स्थिति प्राप्त करते हैं। श्रीराम! इन सब विचित्र विज्ञानोपासनाओंका तुमने श्रवण किया। अब बुद्धिका अवलम्बन करके जैसा उचित समझो, वैसा करो।

श्रीरामजीने कहा—भगवन्! आपने जो भुशुण्डका उत्तम, यथार्थ तत्त्वका बोधक और आश्चर्यजनक श्रेष्ठ चरित्र कहा, उससे मुझे अत्यन्त हर्ष हुआ। ब्रह्मन्! मांस, चर्म और अस्थिसे निर्मित शरीररूपी घरका जो आपने वर्णन किया है, उसकी किसने रचना की, कहाँसे वह उत्पन्न हुआ, किस तरहसे स्थित हुआ और उसमें कौन रहता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघव! परब्रह्मरूप परमार्थ-तत्त्वको जाननेके लिये तथा संसारके कारणरूप अनेक दोषोंके विनाशके लिये मेरे द्वारा तत्त्वतः कहे जानेवाले इस उपदेशको तुम सुनो। श्रीराम! इस शरीररूपी घरका—जिसमें हड्डियाँ ही खंभे हैं, मुख आदि नौ दरवाजे हैं और जो रक्त और मांससे लीपा गया है—वास्तवमें किसीने भी निर्माण नहीं किया है। यह शरीर केवल आभासरूप (झलकमात्र) ही है—बिना निर्माताके ही अज्ञानसे भासित होता है। यह देह प्रतीत होता है, इसलिये इसे सत् कहा गया है और वास्तवमें यह नहीं है, इसलिये असत् कहा गया है। जैसे स्वप्नकालमें ही स्वाप्निक पदार्थ सत्-से प्रतीत होते हैं, किंतु जाग्रत्कालमें वे असत् हैं—उनका अत्यन्त अभाव है, तथा जैसे मृगतृष्णिकाका जल भी मृगतृष्णिकाकी प्रतीति होनेपर ही सत्-सा रहता है, अन्य विचारकालमें वह असत् रहता है, वैसे ही देहकी प्रतीति होनेपर देह सत्य-सी है और आत्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर असत्य है, अर्थात् उसका अत्यन्त अभाव है। इसलिये ये शरीर आदि, जो केवल आभासरूप ही हैं, अज्ञानकालमें ही प्रतीत होते हैं।

श्रीराम! भला, बतलाओ तो सही कि सुख-शय्यापर सोये हुए तुम जिस स्वप्न-देहसे विविध दिशाओंमें परिभ्रमण करते हो, वह तुम्हारी देह किस स्थानमें स्थित है। स्वप्नोंमें भी जो दूसरा स्वप्न आता है, उस स्वप्नमें जिस देहसे बड़े-बड़े पृथिवी-तटोंपर तुम परिभ्रमण करते हो, वह तुम्हारी देह कहाँ स्थित है? मनोराज्यके भीतर कल्पित दूसरे मनोराज्यमें बड़े-बड़े वैभवपूर्ण स्थानोंमें

संकल्पद्वारा जिस देहसे तुम भ्रमण करते हो, वह तुम्हारी देह कहाँ स्थित है अर्थात् कहीं नहीं। श्रीराम! ये शरीर जिस प्रकार मानसिक संकल्पसे उत्पन्न—अतएव सत् और असद्रूप हैं, ठीक उसी प्रकार यह प्रस्तुत शरीर भी मानसिक संकल्पसे उत्पन्न—अतएव सद्रूप और असद्रूप हैं। यह मेरा धन है, यह मेरा शरीर है, यह मेरा देश है—इस प्रकारकी जो भ्रमजनित प्रतीति होती है, वह भी अज्ञानसे ही होती है; क्योंकि धन आदि सब कुछ चित्तजनित सकल्पका ही कार्य है। रघुनन्दन! इस ससारको एक तरहका दीर्घ स्वप्न, दीर्घ चित्तभ्रम या दीर्घ मनोराज्य ही समझना चाहिये। स्वप्न और संकल्पोंसे (मनोराज्योंसे) जैसे एक विलक्षण बिना हुए ही जगत्की प्रतीति होती है, वैसे ही यह व्यावहारिक जगत्की स्थिति भी एक प्रकारसे सकल्पजनित एवं विलक्षण (अनिर्वचनीय) ही है; क्योंकि वह बिना हुए ही प्रतीत होती है। श्रीराम! पौरुष-प्रयत्नसे मनको अन्तर्मुख बनानेपर जब परमात्माके तत्त्वका यथार्थ साक्षात्कार हो जाता है, तब यह जगदाकार सकल्प चिन्मय परमात्मरूप ही अनुभव होने लगता है, किंतु यदि उसकी विपरीत रूपसे भावना की जाय तो विपरीत ही अनुभव होने लगता है (भावनाके अनुसार ही ससार है)। क्योंकि 'यह वह है', 'यह मेरा है' और 'यह मेरा संसार है'—इस प्रकारकी भावना करनेपर देहादि जगद्रूप संकल्प जो सत्य-सा प्रतीत होता है, वह केवल सुदृढ भावनासे ही होता है। दिनके व्यवहारकालमें मनुष्य जैसा अभ्यास करता है, वैसा ही स्वप्नमें उसे दिखलायी पडता है। उसी प्रकार बारबार जैसी भावना की जाती है, वैसा ही यह संसार दिखलायी देता है। जैसे स्वप्नकालमें थोड़ा-सा समय भी अधिक समय प्रतीत होता है, वैसे ही यह संसार अल्पकालस्थायी और विनाशशील होनेपर भी स्थिर प्रतीत होता है।

जैसे सूर्यकी किरणोंसे मरुभूमिमें मृगतृष्णा-नदी दिखायी देती है, वैसे ही ये पृथिवी आदि पदार्थ वास्तविक न होनेपर भी संकल्पसे सत्य-से दिखायी देते है। जिस प्रकार नेत्रोके दोषसे आकाशमे मोरपंख दिखायी देते है, वैसे ही बिना हुए ही यह जगत् मनके भ्रमसे प्रतीत होता है। किंतु दोषरहित नेत्रसे जैसे आकाशमे मोरपख नहीं दिखायी देते, वैसे ही यथार्थ ज्ञान होनेपर यह जगत् दिखलायी नहीं पडता। श्रीराम! जिस प्रकार डरपोक मनुष्य भी अपने कल्पित मनोराज्यके हाथी, बाघ आदिको देखकर भयभीत नहीं होता, क्योंकि वह समझता है कि यह मेरी कल्पनाके सिवा और कुछ नहीं है, वैसे ही यथार्थ ज्ञानी पुरुष इस संसारको कल्पित समझकर भयभीत नहीं होता; क्योंकि ये भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनो जगत् प्रतीतिमात्र ही है। वे वास्तवमें नही है, इसलिये सत् नहीं हैं और उनकी प्रतीति होती है, इसलिये उनको सर्वथा असत् भी नही कह सकते; अतएव अन्य कल्पनाओंका अभाव ही परमात्माका यथार्थ ज्ञान है। इस ससारमें व्यवहार करनेवाले सभी मनुष्योंको अनेक प्रकारकी आपदाएँ स्वाभाविक ही प्राप्त हुआ करती हैं। क्योंकि यह जगत्-समूह वैसे ही उत्पन्न होता है, बढता है और विकसित होता है, जैसे समुद्रमें बुद्बुदों-का समूह; फिर इस विषयमें शोक ही क्या। परमात्मा जो सत्य वस्तु है, वह सदा सत्य ही है और यह दृश्य जो असत्य वस्तु है, वह सदा असत्य ही है; इसलिये मायारूप विकृतिके वैचित्र्यसे प्रतीयमान इस प्रपञ्चमें ऐसी दूसरी कौन वस्तु है, जिसके विषयमें शोक किया जाय?

इसलिये असत्यभूत इस ससारमें तनिक भी आसक्ति नहीं रखनी चाहिये; क्योंकि जैसे रज्जुसे बैल दृढ बँध जाता है, वैसे ही आसक्तिसे यह मनुष्य दृढ बँध जाता है। अत निष्पाप श्रीराम! 'यह सब ब्रह्मरूप ही है' इस प्रकार समझकर तुम आसक्तिरहित हुए इस संसारमें विचरण करो। मनुष्यको विवेक-बुद्धिसे आसक्ति और

अनासक्तिका परित्याग करके अनायास ही शास्त्रविहित कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये, शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका कभी नहीं। अर्थात् उनकी सर्वथा उपेक्षा कर देनी चाहिये। यह दृश्यमान प्रपञ्च केवल प्रतीतिमात्र है, वास्तवमें कुछ नहीं है—यों जिस मनुष्यको भलीभाँति अनुभव हो जाता है, वह अपने भीतर परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है। अथवा 'मैं और यह सारा प्रपञ्च चैतन्यात्मक परब्रह्मस्वरूप ही है'—इस प्रकार अनुभव करनेपर अनर्थकारी यह व्यर्थ जगद्रूपी आडम्बर प्रतीत नहीं होता। श्रीराम! जो कुछ भी आकाशमें या स्वर्गमें या इस संसारमें सर्वोत्तम परमात्म-वस्तु है, वह एकमात्र राग-द्वेष आदिके विनाशसे ही प्राप्त हो जाती है। किंतु राग-द्वेष आदि दोषोंसे आक्रान्त हुई बुद्धिके द्वारा जैसा जो कुछ किया जाता है, वह सब कुछ मूढ़ोंके लिये तत्काल ही विपरीत रूप (दुःखरूप) हो जाता है। जो पुरुष शास्त्रोंमें निपुण, चतुर एवं बुद्धिमान् होकर भी राग-द्वेष आदिसे परिपूर्ण हैं, वे संसारमें शृगालके तुल्य हैं। उन्हें धिक्कार है। धन, बन्धुवर्ग, मित्र—ये सब बार-बार आते और जाते रहते हैं; इसलिये उनमें बुद्धिमान् पुरुष क्या अनुराग करेगा। कभी नहीं, उत्पत्ति-विनाशशील भोग-पदार्थोंसे परिपूर्ण संसारकी रचनारूप यह परमेश्वरकी माया आसक्त पुरुषोंको ही अनर्थ गर्तोंमें ढकेल देती है। राघव! वास्तवमें धन, जन और मन सत्य नहीं हैं, किंतु मिथ्या ही दीख पड़ते हैं। क्योंकि आदि और अन्तमें सभी पदार्थ असत् हैं और बीचमें भी क्षणिक एवं दुःखप्रद हैं; इसलिये बुद्धिमान् पुरुष आकाश-वृक्षके सदृश कल्पित इस संसारसे कैसे प्रेम करेगा। (सर्ग २८)

संसार-चक्रके अवरोधका उपाय, शरीरकी नश्वरता और आत्माकी अविनाशिता एवं अहंकाररूपी चित्तके त्यागका वर्णन तथा श्रीमहादेवजीके द्वारा श्रीवसिष्ठजीके प्रति निर्गुण-निराकार परमात्माकी पूजाका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जब केवल संकल्परूपी नाभिका भली प्रकार अवरोध कर दिया जाता है, तभी यह संसाररूपी चक्र घूमनेसे रुक जाता है। किंतु सकल्पात्मक मनोरूप नाभिको राग-द्वेष आदिसे क्षोभित करनेपर यह संसाररूपी चक्र रोकनेकी चेष्टा करनेपर भी वेगके कारण चलता ही रहता है। इसलिये परम पुरुषार्थका आश्रय लेकर श्रवण, मनन, निदिध्यासनकी युक्तियोंके द्वारा ज्ञानरूपी बलसे चित्तरूपी संसार-चक्रकी नाभिका अवश्य अवरोध करना चाहिये। क्योंकि कहींपर ऐसी कोई वस्तु उपलब्ध है ही नहीं, जो उत्तम बुद्धि तथा सौजन्यसे परिपूर्ण शास्त्रसम्मत परम पुरुषार्थसे प्राप्त न की जा सके।* श्रीराम! आधि और व्याधिसे निरन्तर दुःखित, अश्रु आदिसे क्लिन्न तथा क्षय विनाशशील इस शरीरमें उस प्रकारकी भी स्थिरता नहीं रहती, जिस प्रकारकी चित्रलिखित पुरुषमें रहती है। चित्रित मनुष्यकी यदि भलीभाँति रक्षा की जाय तो वह दीर्घ-कालतक सुशोभित रहता है; किंतु उसका बिम्बरूप शरीर तो अनेक यत्नोंसे रक्षित होनेपर भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। स्वप्न आदिका शरीर स्वप्नकालीन संकल्पसे जनित होनेके कारण दीर्घकालीन सुख-दुःखोंसे आक्रान्त नहीं होता। यह शरीर तो दीर्घकालीन सकल्पसे उत्पन्न होनेके कारण दीर्घकालके दुःखोंसे आक्रान्त रहता है। सकल्पमय यह शरीर स्वयं भी नहीं है और न आत्माके साथ इसका सम्बन्ध ही है; अतः इस शरीरके लिये यह अज्ञानी जीव निरर्थक क्लेशका भाजन क्यों बनता है? अर्थात् इसमें एकमात्र अज्ञान ही हेतु है। जिस प्रकार चित्रलिखित पुरुषका क्षय या विनाश हो जानेपर बिम्बरूप देहकी हानि नहीं होती, उसी प्रकार संकल्पजनित पुरुषका क्षय या विनाश हो जानेपर आत्माकी कुछ भी

* प्रज्ञासौजन्ययुक्तेन शास्त्रसबलितेन च।
पौरुषेण न यत्प्राप्त न तत्क्वचन लभ्यते॥
(नि० पू० २९। ८)

हानि नहीं होती । जिस प्रकार मनोराज्यमें उत्पन्न शरीर आदि पदार्थोंका क्षय या विनाश हो जानेपर आत्माकी कुछ भी हानि नहीं होती, जिस प्रकार स्वप्नमें उत्पन्न पदार्थोंका क्षय या विनाश हो जानेपर आत्माकी हानि नहीं होती अथवा जिस प्रकार मृगतृष्णिका-नदीके जलका क्षय या विनाश हो जानेपर वास्तविक जलकी कुछ भी हानि नहीं होती, उसी प्रकार एकमात्र सङ्कल्पसे उत्पन्न, स्वभावतः विनाशशील इस शरीररूपी यन्त्रका क्षय या विनाश हो जानेपर आत्माकी कुछ भी हानि नहीं होती । अतः शरीरके लिये शोक करना निरर्थक ही है । चित्तके संकल्पसे कल्पित तथा दीर्घकालीन स्वप्नमय इस देहके अलंकारोंसे भूषित या आधि-व्याधिसे दूषित हो जानेपर चेतन आत्माकी कुछ भी हानि नहीं है । श्रीराम ! देहका विनाश होनेपर चेतन आत्मा विनष्ट नहीं होता ।

अज्ञानरूपी चक्रके ऊपर स्थित हुआ जीवात्मा जिस देहके जन्म-मरणरूपी चक्रको देखता रहता है, वह उत्तरोत्तर अधिक भ्रान्तिको देनेवाला, स्वयं भ्रान्तिरूप, पतनोन्मुख स्वरूपसे ग्रस्त, भली प्रकार अनर्थ-गर्तोंमें गिराया गया, हत एवं हन्यमान ही दीख पड़ता है । इसलिये मनुष्यको उत्तम धैर्यका भली प्रकार आश्रय लेकर इस अनादि दृढ़ीभूत भ्रमका परित्याग कर देना चाहिये । मिथ्या अज्ञानके द्वारा एकमात्र सङ्कल्पसे उत्पन्न हुआ यह शरीर सत्य-सा होनेपर भी वास्तवमें असत्य ही है; क्योंकि जो वस्तु अज्ञानसे उत्पन्न हुई है, वह किसी समय भी सत्य नहीं हो सकती । श्रीराम ! जड पदार्थके द्वारा जो कुछ किया जाता है, वह किया हुआ नहीं माना जाता, इसलिये यह देह कार्य करता हुआ भी कहीं कुछ भी नहीं करता । जड देह तो इच्छासे रहित है और इस निर्विकार आत्मामें इच्छा रहती नहीं, इसलिये कोई कर्ता है ही नहीं । आत्मा शरीरका द्रष्टामात्र है । अपने शरीररूपी घरसे चित्तरूपी वेतालको हटा देनेपर इस संसाररूपी शून्य नगरमें पुरुष कभी भी नहीं डरता । विशद बुद्धिसे अहंकारकी वासना छोड़कर और अहंकारको सर्वथा भूलकर शीघ्रातिशीघ्र अपनी आत्माका ही अवलम्बन करना चाहिये । अहंकारसे युक्त बुद्धिसे जो क्रिया की जाती है, विषवल्लीके सदृश उसका फल मरणरूप ही होता है । विवेक एवं धैर्यसे रहित जिस मूर्खने अपने अहंकाररूपी महोत्सवका अवलम्बन किया, उसे तुम तत्काल विनष्ट हुआ ही समझो । राघव ! जिन बेचारोंको अहंकाररूपी पिशाचने अपने अधीन बना लिया, वे सब नरकरूपी अग्नियोंके इन्धन ही बन गये अर्थात् वे नरककी ज्वालासे जलते रहते हैं । पापशून्य राघव ! 'हा ! हा ! मैं मर गया हूँ', 'मैं जल गया हूँ' इत्यादि जो दुःखवृत्तियाँ हैं, वे अहंकाररूपी पिशाचकी ही शक्तियाँ हैं, दूसरेकी नहीं । जिस प्रकार सर्वत्र व्यापक आकाश कहीं किसीसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सर्वत्र व्यापक आत्मा भी अहंकारसे लिप्त नहीं होता । श्रीराम ! प्राणवायुसे युक्त यह चञ्चल देहरूपी यन्त्र जो कुछ करता एवं जो कुछ लेता है वह सब अहंकारकी ही चेष्टा है ।

श्रीराम ! जड चित्तका, जो आत्मासे सर्वथा पृथक् है, चेतन आत्माके साथ कभी सम्बन्ध हो ही नहीं सकता । चित्त ही आत्मा है—यों अज्ञानसे ही प्रतीत होता है । यह जो आत्मा है, वह ज्ञानस्वरूप (चैतन्यरूप), अविनाशी, सर्वत्र विद्यमान और व्यापक है, जब कि अहंकाररूप चित्त तो मूर्ख और हृदयवर्ती सबसे बड़ा अज्ञान है । जिस पुरुषका चित्तरूपी वेताल शान्त हो चुका है, ऐसे पुरुषका गुरु, शास्त्र, धन और बन्धु उसी प्रकार उद्धार करनेमें समर्थ हैं, जिस प्रकार अल्प कीचड़में फँसे हुए पशुका मनुष्य उद्धार करनेमें समर्थ हो । इस जगत्‌रूपी महान् अरण्यमें अपनेद्वारा ही स्वयं दृढ़तासे धैर्य धारणकर अपना उद्धार कर लेना चाहिये । श्रीराम ! मनुष्यको उचित है कि विषयरूपी सर्पोंका बहिष्कार कर दे, आर्योंके मार्गका अनुसरण करे और महावाक्योंके अर्थका भली प्रकार विचार करके अपनी अद्वितीय आत्माका ही आश्रय ले । मनुष्यको अपवित्र, तुच्छ, भाग्यरहित तथा दुष्ट आकृतिवाले इस शरीरके आरामके लिये विषयभोगमें कभी नहीं फँसना चाहिये; क्योंकि इसमें फँसे हुए पुरुषोंका चित्तरूप

क्रूर राक्षसी खा डालती है। जैसे पत्थरका पत्थरपन अथवा जैसे घटका घटपना सामान्य सत्तास्वरूप परमात्मासे अभिन्न ही है, वैसे ही समष्टि-व्यष्टि मन आदि भी परमात्मासे अभिन्न ही हैं। श्रीराम! इस विषयमें आगे कही जानेवाली महान् अज्ञानकी नाशक मानस-शिवपूजारूप यह दूसरी बात तुम श्रवण करो, जो चन्द्रमौलि भगवान् शंकरने कैलास पर्वतकी कन्दरामें जन्म-मरणरूप दुःखकी शान्तिके लिये मेरे समक्ष कही थी।

कैलासनामक एक पर्वतोंका राजा है। वह अपनी ऊँचाईसे स्वर्गलोकको भी पार कर गया है और वह उमापति भगवान् श्रीशंकरका निवासस्थान है। वहाँपर स्वयं प्रकाशमान भगवान् महादेवजी रहते हैं। पहले किसी समय उसी पर्वतपर उन देवाधिदेवकी पूजा करता हुआ मैं गङ्गाजीके किनारे आश्रम बनाकर रहता था। तपके लिये वहाँपर मैंने दीर्घकालतक तपस्वियोंके आचरणका अनुसरण किया। वहाँपर मेरे चारो ओर सिद्धोंके समूह रहते थे। मैं उनसे विचार-विनिमय करके शास्त्रीय दुरूह तत्त्वोंका अनुशीलन करता था। मैंने फूल चुननेके लिये एक डलिया रख छोड़ी थी और अनेक शास्त्रीय पुस्तकें भी जुटा रखी थीं। श्रीराम! उस तरहके गुणोंसे सम्पन्न कैलासवनके कुञ्जोंमें तपश्चर्या करते हुए मेरा बहुत समय व्यतीत हो गया। इसके अनन्तर किसी एक समयकी बात है—श्रावणके कृष्णपक्षकी अष्टमी तिथि थी और रात्रिका प्रथम भाग यानी प्रदोषकाल पूजा, जप, ध्यान आदिमें व्यतीत हो चुका था। उस समय उस अरण्यमें मैंने तत्काल ही उत्पन्न हुआ एक बड़ा तेज देखा। वह तेज सैकड़ों बादलोंके तुल्य सफेद एवं असंख्य चन्द्रबिम्बोंके सदृश चमकीला था, उस तेजकी चकाचौंधसे दिशाओंके समस्त कुञ्ज चमक उठे। उसे देखकर मैंने भीतरकी प्रकाशमान दिव्य-दृष्टिसे उसके विषयमें विचार किया और तदनन्तर फिर बाह्यदृष्टिसे विशेष अवयवोंके अनुसंधानपूर्वक उसका अवलोकन किया। विचारकर ज्यों ही मैं सामनेका शिखर-प्रदेश देखता हूँ, त्यों ही चन्द्रकलाधर महादेवजी उपस्थित हो

गये। वहाँ अर्घ्यपात्र लेकर सावधान एवं प्रसन्न-मन मैं उन गौरीपतिके निकट गया। तदनन्तर चन्द्रज्योत्स्नाके समान कोमल, शीतल तथा समस्त संतापोंका अपहरण करनेवाली उस महादेवजीकी दृष्टिका मैं दीर्घकालतक भाजन बना रहा। पुष्पोंके शिखरपर उपविष्ट तीनों लोकोंके साक्षी उन देवाधिदेवको मैंने समीप जाकर अर्घ्य, पुष्प तथा पाद्य समर्पण किया। उनके सामने मैंने अनेक मन्दार-पुष्पोंकी अञ्जलियाँ बिखेर दीं और नानाविध नमस्कार एवं स्तोत्रोंसे शिवजीका अभ्यर्चन किया। तदनन्तर मैंने शिवजीकी पूजाके सदृश ही पूजासे सखियोंसे युक्त तथा गणमण्डलसे परिवेष्टित भगवती गौरीका उत्तम रीतिसे पूजन किया। पूजाकी समाप्ति होनेपर उनकी आज्ञासे पुष्पमय शिखरपर बैठे हुए मुझसे अर्धचन्द्रकी कला धारण करनेवाले भगवान् उमापति परिपूर्ण हिमांशुकी किरणके सदृश शीतल वाणीसे कहने लगे।

भगवान् उमापतिने कहा—ब्रह्मन्! शान्तिसे युक्त, परमात्मामें विश्राम लेनेवाली तथा कल्याण करनेवाली तुम्हारी चित्तवृत्तियाँ अपने स्वरूपमें अवस्थित तो हैं? तुम्हारा कल्याणकारी तप निर्विघ्नरूपसे बराबर चल रहा है न? तुमने प्राप्तव्य वस्तु प्राप्त कर ली है न? और सांसारिक भय शान्त हो रहे हैं न?

(श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—) रघुनन्दन! समस्त लोकोंके एकमात्र हेतु देवाधिदेव महादेवजीके उस प्रकार कहनेके अनन्तर विनययुक्त वाणीसे मैंने उनसे निवेदन किया—'महेश्वर! देवाधिदेव! त्रिलोचन! आपकी निरन्तर स्मृतिसे प्राप्त हुए उत्तम कल्याणसे सम्पन्न पुरुषोंके लिये इस संसारमें कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है और न किसी तरहके भय ही हैं। आपके निरन्तर स्मरणसे जनित आनन्दके कारण जिनका चित्त चारों ओरसे मुग्ध हो गया है, ऐसे पुरुषोंको इस जगत्कोशमें सभी प्राणी प्रणाम करते हैं। एकमात्र आपके अनुस्मरणमें निरन्तर जिनका मन लगा रहता है, ऐसे पुरुष जहाँ स्थित रहते हैं, वे ही देश, वे ही जनपद, वे ही दिशाएँ और वे ही पर्वत प्रशस्ततम हैं। प्रभो! आपका अनुस्मरण पूर्व-सञ्चित, वर्तमान और भविष्यके पुण्यसमूहकी वृद्धि करता है। आपका अनुस्मरण ज्ञानरूपी अमृतका एकमात्र आधार-भूत कलश है, धृतिरूपी ज्योत्स्नाके लिये चन्द्रमा है और मोक्षरूपी नगरका द्वार है। समस्त भूतोंके अधिपते! आपके निरन्तर चिन्तनरूपी उदार चिन्तामणिसे शोभित मैंने समस्त वर्तमान और भविष्यत्कालीन आपत्तियोंको परसे ठुकरा दिया है।' श्रीराम! सुप्रसन्न उन भगवान् शंकरजीसे यों कहकर फिर नतमस्तक हो मैंने जो कुछ कहा, उसे तुम सुनो! 'भगवन्! यद्यपि आपकी अनुकम्पासे मेरे लिये समस्त दिशाएँ अभीष्ट पदार्थोंसे परिपूर्ण हैं, तथापि देवेश! मुझे जो एक सदेह है, उसके विषयमें आपसे निर्णय पूछता हूँ। प्रभो! वह देवार्चन-विधान किस तरहका है, जो उद्वेगका नाशक, विकाररहित, समस्त पापोंका विनाशकारी तथा समस्त कल्याणोंका अभिवर्धक है? उसे प्रसन्नमतिसे आप मुझसे कहिये।'

श्रीमहादेवजीने कहा—ब्रह्मज्ञानियोंमें अग्रगण्य मुनिवर! मैं तुमसे सर्वश्रेष्ठ वह देवार्चनका विधान कहता हूँ, जिसका अनुष्ठान करनेसे तत्काल ही मनुष्य मुक्त हो जाता है। जो आदि और अन्तसे रहित, वास्तविक ज्ञानस्वरूप है, वही 'देव' कहा जाता है। सबको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला सत्-स्वरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही 'देव' शब्दका वाच्य है, इसलिये उसीकी पूजा करनी चाहिये। कौन पूज्य है, इस विषयका तात्त्विक ज्ञान रखने-वाले विद्वान् कहते हैं कि एकमात्र निर्गुण निराकार विज्ञानानन्दघन विशुद्ध परमात्मा शिव ही पूज्य है और उसकी पूजन-सामग्रीमें ज्ञान, समता और शान्ति—ये सबसे श्रेष्ठ पुष्प हैं। महर्षे! ज्ञानस्वरूप परमात्मदेवकी ज्ञान, समता और शान्तिरूप पुष्पोंसे जो पूजा की जाती है, उसीको आप वास्तविक देवार्चन जानिये। परमात्मा ही विज्ञानस्वरूप देव, भगवान् शिव और परम कारण-स्वरूप है। अतः ज्ञानरूप पूजन-सामग्रीसे उसीकी सदा-सर्वदा पूजा करनी चाहिये। वसिष्ठजी! आप जीवात्माको चिन्मय आकाशस्वरूप अविनाशी अकृत्रिम सच्चिदानन्द परमात्मस्वरूप ही जानिये। एकमात्र वह परमात्मा ही पूज्य है, उसके सिवा दूसरा कोई पूज्य नहीं है। अतः उस विज्ञानानन्दघन परमात्माकी पूजा ही पूजा है। महर्षे! जो परमार्थतः सबसे श्रेष्ठ है, जो आपका—'तत्' पदार्थका, मेरा तथा समस्त जगत्का स्वरूपभूत है, एवं जो स्वयं परिपूर्णस्वरूप है, ज्ञानरूप सामग्रीसे पूजा करने योग्य उस देवका मैंने आपसे वर्णन कर दिया। सभी वस्तुओंका, समस्त जगत्का, दूसरेका, आपका और मेरा सर्वव्यापी चिन्मय परमात्मा ही पारमार्थिक स्वरूप है, दूसरा नहीं। (सर्ग २९)

चेतन परमात्माकी सर्वात्मता

श्रीमहादेवजीने कहा—ब्रह्मन्! इस रीतिसे यह समस्त संसार एकमात्र परमात्मस्वरूप ही है। ब्रह्म ही परम आकाश है और यही सबसे बड़ा देव कहा गया है। इस परमदेवका पूजन सबमें कल्याणकर है। उसीसे सब कुछ प्राप्त होता है। वही समस्त जगत्-सृष्टिके आरोपका अधिष्ठान है और उसीमें यह सब व्यवस्थित है। स्वाभाविक आदि-अन्तसे रहित, अद्वितीय, अखण्ड नित्य परमानन्द उसी एकमात्र देवके अर्चनसे प्राप्त होता है। वह सच्चिदानन्द कल्याणस्वरूप शिव समस्त गुणोंसे अतीत और सम्पूर्ण सकल्पोंसे रहित है। मुने! देश और काल आदि परिच्छेदोंसे रहित, समस्त संसारका प्रकाश करनेवाला विशुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा ही देव कहा जाता है। वही परब्रह्म परमात्मा 'ॐ', 'तत्', 'सत्' —इन नामोंसे कहा गया है। वह स्वभावतः महान्, ध्रुव, सत्यस्वरूप है, सर्वत्र समभावसे व्यापक है; वही महान् चेतन और परमार्थस्वरूप कहा जाता है। पापशून्य मुने! अरुन्धतीका और आपका जो चैतन्य तत्त्व है, पार्वतीजीका, मेरा और गणोंका जो चैतन्य तत्त्व है तथा जो चैतन्य तत्त्व तीनों जगत्में परिपूर्ण है, उत्तममति तत्त्वज्ञ लोग उसे ही परमदेव परमात्मा समझते हैं। एकमात्र चिन्मय परमात्मा ही इस दृश्य संसारका सार है; इसलिये सकल-सार भूत वस्तुओंकी भी सारूपताको प्राप्त हुआ वह सर्वरूप परम देव परमात्मा मैं हूँ। ब्रह्मन्! वह परमात्मा सर्वव्यापी होनेसे किसीके लिये भी दूर नहीं है; अतः वह किसीके लिये दुष्प्राप्य भी नहीं है। वह शरीरके बाहर-भीतर—सर्वत्र स्थित है। वही यह परमात्मा चिन्मय, सूक्ष्म, सर्वव्यापी और मायारहित है। देव, दानव और गन्धर्वों तथा पर्वत, समुद्र आदिसे युक्त यह सम्पूर्ण जगत् उस चैतन्यमें स्थित होकर कर्मानुसार उसी प्रकार घूमता रहता है, जिस प्रकार जल-भँवरमें जल।

ब्रह्मन्! चिन्मय परमात्माने ही गदा, चक्र आदि आयुधोंसे युक्त चतुर्भुज विष्णुरूपसे समस्त असुर-समूहका उसी प्रकार विनाश कर दिया था, जिस प्रकार वर्षाऋतु इन्द्रधनुषसे युक्त मेघरूपसे आतपका विनाश कर देती है। चेतन परमात्माने ही वृषभ और चन्द्रमाके चिह्नोंसे युक्त त्रिनेत्र रूप धारण कर गौरीको प्राप्त किया है। चेतन परमात्मा ही भगवान् विष्णुके नाभि-कमलमें भ्रमरके समान ध्यानमें तल्लीन एवं वेदत्रयीरूपी कमलिनीका महान् सरोवरस्वरूप ब्रह्माजीका रूप धारण करता है। इसी महाचैतन्य परमात्माके सकाशसे सूर्य-चन्द्रमा आदि सदा प्रकाशित होते हैं। निर्मल चेतनरूपी चन्द्रबिम्बमें खरगोशकी तरह सम्बन्ध प्राप्तकर यह जगत्में स्थित पदार्थोंकी शोभा सर्वत्र दिखायी पड़ती है। भद्र! सुनो, यद्यपि इस देहरूपी वृक्षमें हाथ, पैर आदि अपने अङ्ग ही शाखाएँ हैं और केशोंका समूह ही सुन्दर लताओंका समूह है, तथापि यह वृक्ष क्या पर्यायरूपसे चेतनके सम्बन्धके बिना किसी तरह शोभित हो सकता है? चराचर पदार्थोंका निर्माण करनेवाला भी यह चेतन ही है, दूसरा नहीं। इसलिये एकमात्र चेतन ही अपने सकल्पसे जगत्रूपमें प्रकट है। ब्रह्मन्! वस्तुतः इस शरीरमें दो प्रकारका सर्वभूतस्वरूप चेतन है—एक तो चञ्चलस्वभाव जीवात्मा और दूसरा निर्विकल्प परम चेतन परमात्मा। वह चेतन परमात्मा ही अपने सकल्पसे जीवात्माके रूपमें अपनेसे भिन्न-सा होकर स्थित है। वह चेतन परमात्मा ही अपने संकल्पसे आकाश आदि पाँच भूतों, शब्दादि पाँच विषयों, प्राणापानादि पाँच प्राणों और देश-कालके रूपमें परिणत होता है। सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही नारायण होकर समुद्रमें शयन करता है, ब्रह्मा होकर ब्रह्मलोकमें ध्यानस्थित रहता है, हिमालय पर्वतपर पार्वतीके सहित महादेवजीका रूप धारण कर निवास करता है और वैकुण्ठमें देवश्रेष्ठ विष्णुका रूप धारणकर रहता है। वह परमात्मा ही सूर्य बनकर

दिवसका निर्माण करता है, मेघ बनकर जल बरसाता है, वायु बनकर बहता है। सबका आत्मा, सर्वत्र व्यापक एवं अपनी समस्त सकल्पशक्तिके प्रभावसे सर्वस्वरूप होनेके कारण वह चिन्मय ब्रह्म जगत्-रूप हो जाता है। वास्तवमें तो वह विज्ञानानन्द परमात्मा आकाशसे भी बढ़कर निर्मल और सूक्ष्म है। वह परमात्मा जब-जब जहाँपर जिस भावसे जिस तरह सकल्प करता है, तब-तब वहाँ वैसा ही बन जाता है। (सर्ग ३०)

शुद्ध चेतन आत्मा और जीवात्माके स्वरूपका विवेचन

श्रीमहादेवजीने कहा—ब्रह्मन्! चेतन जीवात्मा अज्ञानके कारण 'मैं दुखी हूँ' इस भावनासे व्यर्थ ही दुखी होता है और 'मै नष्ट हो गया; मै मर गया' यों भावना करता हुआ रोता रहता है। किंतु जिस प्रकार पत्थरमें तेल नहीं रहता, उसी प्रकार शुद्ध चेतन आत्मामें दृश्य, दर्शन और द्रष्टाकी त्रिपुटी नहीं रहती। जैसे चन्द्रमामें कालिमा नहीं रहती, वैसे ही शुद्ध आत्मामें कर्ता, कर्म और करण नहीं रहते। जिस प्रकार आकाशमें नवीन अङ्कुरका अभाव है, उसी प्रकार आत्मामें प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण—इन तीनोंका अभाव है। जिस प्रकार नन्दन-वनमें खैरके वृक्षका अभाव है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मामें मन, मनन और दृश्य विषयका अभाव है। जैसे आकाशमें पर्वतका अभाव है, वैसे ही शुद्ध चेतनमें मै-पना, तू-पना और वह-पना आदि नहीं है। जैसे काजलमें सफेदी नही रहती, वैसे ही चेतनमें अपनी देह तथा परायी देहका भाव नहीं रहता। वह शुद्ध चेतन आत्मा केवल, निर्विकल्प, सर्वव्यापक, सम्पूर्ण तेजोंको भी प्रकाशित करनेवाला, स्वच्छ और परम श्रेष्ठ है। वह सम्पूर्ण पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाला, सर्वव्यापक, नित्य शुद्ध, नित्य प्रकाशरूप, मनसे रहित, निर्विकार और निरञ्जन है। एक वही घट और पटमें, वट और दीवालमें, शकट और वानरमें, गदहे और असुरमें, सागर और आकाशादि भूतोंमें तथा नर और नागमें—सर्वत्र व्यापक होकर स्थित है। वह शुद्ध हुआ भी मलिन-सा, निर्विकल्प हुआ भी सविकल्प-सा, चेतन हुआ भी जड-सा और सर्वव्यापी हुआ भी एकदेशीय-सा प्रतीत होता है। कर्मेन्द्रियोंकी प्रवृत्तिमें तत्परता संकल्पसे होती है। वह संकल्प मननजनित है। वह मनन चित्तकी अशुद्धिके कारण होता है और उन सबका साक्षी आत्मरूप चेतन सर्वविध मलोंसे रहित है। जिस प्रकार स्फटिक-शिलामें अरण्य, पर्वत, नदी आदिका प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार अपने स्वरूपमें ही स्थित प्रकाशस्वरूप नित्य चेतनके अन्तःकरणमें इस जगत्का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इस जगत्को अपने सकल्पमें धारण करनेवाला अद्वितीय, निर्विकार चेतन न उत्पन्न होता है न विनष्ट होता है, न क्षीण होता है और न बढ़ता ही है। अर्थात् वह सब प्रकारके विकारोंसे रहित है। असत्स्वरूप यह जगत् अज्ञानके कारण विशाल स्वप्नकी तरह आत्मामें ही प्रतीत होता है। किंतु वास्तवमें मृगतृष्णिका-जलके सदृश प्रतीत होनेवाला यह जगत् तनिक भी सत्य नहीं है। मुने! यह परम चेतन आत्मा अपने पुर्यष्टकमें* ही प्रतिबिम्बित होता है, जैसे स्वच्छ दर्पणमें ही प्रतिमा दिखलायी पड़ती है। महर्षे! अनेक प्रकारकी कल्पनाओंसे ग्रस्त यह पुर्यष्टकरूप दृश्यसमूह शुद्ध चिन्मय आत्मासे ही उत्पन्न होता है, उसीमें स्थित और विलीन हो जाता है। इसलिये यह सम्पूर्ण विश्व विशुद्ध चेतन आत्मस्वरूप ही है, दूसरा नहीं—यह जानिये।

---

* मनो बुद्धिरहंकारस्तथा तन्मात्रपञ्चकम्।
इति पुर्यष्टकं प्रोक्तं देहोऽसावातिवाहिक॥
(नि० पू० ५१। ५०)

'मन, बुद्धि, अहंकार एवं पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ—इन आठोंका समूह 'पुर्यष्टक' कहा गया है और यही 'आतिवाहिक' देह कहा गया है।'

जिस प्रकार जड लोहा लोह-चुम्बकके सानिध्यसे संचरणशील होता है, उसी प्रकार सर्वव्यापी सत्स्वरूप परमात्माके सांनिध्यसे यह जीवात्मा संचरणशील होता है। अर्थात् सर्वत्र स्थित परमात्मशक्तिसे ही यह जीव चेष्टा करता है। यह जीव अज्ञानसे अपने वास्तविक स्वरूपको भूल जानेके कारण देहके सम्बन्धसे जड-सा हो गया है तथा अपना विशुद्ध चैतन्यरूप स्वभाव भूल जानेके कारण ही यह चेतन चित्त-सा बन गया है। ब्रह्मन्! परमात्माने ही शरीररूपी गाड़ी खींचनेके लिये मन:शक्ति और प्राण-शक्ति—ये दो सुदृढ़ बैल उत्पन्न किये है। सच्चिदानन्दघन निर्विकार परमात्माके सकाशसे ही यह जीव जीवन धारण करता है, जिस प्रकार दीपकके सकाशसे घर शोभा देता है। अज्ञानके कारण इस जीवकी आधियाँ एवं व्याधियाँ उसी प्रकार उत्तरोत्तर स्थूलता प्राप्त करती है, जिस प्रकार जलका तरङ्गरूप और उस तरङ्गरूपका फेनरूप उत्तरोत्तर स्थूलता प्राप्त करता है। सर्वशक्तिरूप होनेपर भी वही चेतन जीवात्मा अज्ञानके कारण 'मै चेतन नहीं हूँ' इस भावनासे इस देहमें परवशता प्राप्त करता है, किंतु अपने स्वरूपके ज्ञानसे मोह-रहित हो जाता है। हृदयरूप कमल-पत्रके चेष्टा-रहित हो जानेपर ये प्राण शान्त हो जाते है, जिस प्रकार पंखेके कम्पनशून्य हो जानेपर पवनकी शक्तियाँ विलीन हो जाती है। हृदयरूप कमल-पत्रके स्फुरणसे यह पुर्यष्टक विस्पष्ट हो जाता है और हृदय-कमलरूप मन्त्र जब चलनेसे रुक जाता है यानी निश्चल हो जाता है, तब वह भी विनष्ट हो जाता है। द्विजवर! जबतक देहमें पुर्यष्टक विद्यमान रहता है, तबतक देह जीवित रहती है और जब देहमेंसे पुर्यष्टक विलीन हो जाता है, तब देह 'मृत' कही जाती है। किंतु जब शरीरका हृदय-कमलरूपी यन्त्र सदा चलता रहता है, तब यह जीव अपने संकल्पवश प्रकृतिके अधीन हुआ कर्म करता रहता है। पर राग-द्वेषरहित विशुद्ध वासना जिनके हृदयमें रहती है, वे अटल एवं एकरूप रहनेवाले मनुष्य जीवन्मुक्त है। हृदय-कमलरूपी यन्त्रके रुक जाने तथा प्राणके शान्त हो जानेपर यह देह पृथ्वीपर लकडी और ढेले आदिकी भाँति गिर जाती है। मुने! ज्यो ही हृदयाकाशके वायुमें अर्थात् प्राणमें यह पुर्यष्टक लीन हो जाता है, त्यों ही मन भी प्राणमें ही विलीन हो जाता है। जिस प्रकार घरके लोगोके घर छोडकर दूर चले जानेपर घर शून्य हो जाता है, उसी प्रकार मन एवं प्राणसे शून्य हुआ यह शरीर शवरूप हो जाता है। जिस प्रकार नाना प्रकारके पत्ते उत्पन्न हो-होकर समय पाकर वृक्षसे झड़ जाते हैं, उसी प्रकार प्राणियोके ये शरीर भी झड जाते है—विनष्ट हो जाते है। जीवोके ये शरीर और वृक्षोंके पत्ते उत्पन्न और नष्ट होते ही रहते हैं, अत: उनके विषयमें शोक ही क्या है। चैतन्य-स्मुद्र परमात्मामें ये देहरूपी बुदबुद कहीं एक प्रकारके तो कहीं दूसरे प्रकारके उत्पन्न होते रहते है। बुद्धिमान् जन विनाशशील समझकर इनपर विश्वास नही करते।

(सर्ग ३१-३२)

संकल्पत्यागसे द्वैतभावनाकी निवृत्ति और परमपद-स्वरूप परमात्माकी प्राप्तिका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—मस्तकमें अर्धचन्द्र धारण करनेवाले महादेव! व्यापकस्वरूप अनन्त एवं अद्वितीय चेतन ब्रह्म-तत्त्वमें द्वित्व (भेद) कैसे प्राप्त हुआ? एव उसका बुद्धिसे निवारण कैसे हो, ताकि जीवके दु:खोका सर्वथा नाश हो जाय?

श्रीमहादेवजीने कहा—जब वह ब्रह्म सत्स्वरूप, अद्वितीय और सर्वशक्तिमान् है, तब उसमे यह भेद और अभेदकी कल्पना ही निर्मूल है। जैसे तरङ्ग, कण, कल्लोल और जलप्रवाह जलसे विभक्त नहीं रहते, वैसे ही ब्रह्मकी सर्वशक्ति वास्तवमें ब्रह्मसे विभक्त नहीं रहती।

जिस प्रकार फूल, कोंपल, पत्ते आदि लतासे वास्तवमें भिन्न नहीं हैं, वैसे ही द्वित्व, एकत्व, जगत्त्व, तू-पन, मैं-पन आदि भी चेतनसे भिन्न नहीं हैं। चेतनका देश, काल, क्रिया आदिरूप जो भेद किया गया है, वह भेद चेतनस्वरूप ही है। 'वास्तवमें चेतनमें द्वैत (भेद) है ही नहीं, तब उसमें भेद आया कहाँसे ?'—यह प्रश्न ही नहीं बनता; क्योंकि देश, काल और क्रियाकी सत्ता एवं नियति आदि शक्तियाँ स्वयं चेतनकी सत्तासे ही सत्तायुक्त होकर स्थित हैं, इसलिये वे सब चेतनस्वरूप परमात्मा ही हैं। वही यह चेतन तत्त्व परम ब्रह्म, सत्य, ईश्वर, शिव तथा निराकार, एक परमात्मा आदि अनेक नामोंसे कहा जाता है। इन नामों एवं रूपोंसे अतीत जो परमात्माका स्वरूप है तथा जो सम्पूर्ण मलोंसे रहित आत्मपदार्थ है, वह वाणी और मनका विषय नहीं है। जो यह संसार दिखायी दे रहा है, वह उस महाचेतन परमात्मारूपी लताके फल, पल्लव तथा पुष्प आदिरूप ही है, अतः उससे भिन्न नहीं। किंतु अज्ञानी जीवको अपने ही द्वैतसंकल्पसे एकमें ही द्वैतकी इसी प्रकार प्रतीति होती है, जैसे पुरुषकी वेताल-कल्पनासे उसे भयंकर वेतालकी प्रतीति होने लगती है। जैसे 'मैं कुछ नहीं करता' इस तरहके संकल्पसे पुरुषका कर्तृत्व निवृत्त हो जाता है, उसी प्रकार जीवात्मामें प्रतीत होनेवाला द्वैत भी अद्वैत-भावनासे निवृत्त हो जाता है।

द्वैत-संकल्पसे तो एक ही वस्तुमें द्वित्वकी प्राप्ति होती है, पर अद्वैतभावनासे अनेकात्मक जगत्का भी द्वित्व नष्ट हो जाता है। क्योंकि विकार आदिसे शून्य, सदा सर्वगामी तथा परमात्माका स्वरूपभूत होनेसे आत्मामें कभी द्वैतभाव नहीं रहता। मुने! अपने संकल्पसे निर्मित मनोराज्य और गन्धर्वनगरकी तरह जो वस्तु अपने संकल्पसे बनायी गयी है, वह संकल्पके अभावसे नष्ट हो जाती है। केवल दृढ़ संकल्पसे जो यह संसाररूपी दुःख प्राप्त हुआ है, वह केवल संकल्पके अभावसे ही नष्ट हो जायगा, फिर इस विषयमें क्लेश ही क्या ? क्योंकि तनिक भी संकल्प करके मनुष्य दुःखमें डूब जाता है और कुछ भी संकल्प न करके वह अविनाशी सुख पाता है। अतः मुने! अपने विवेकरूपी पवनसे संकल्परूप मेघोंका विनाश करके शरत्कालमें आकाश-मण्डलकी भाँति तुम उत्तम निर्मलता प्राप्त करो। अविवेकरूप प्रबल प्रवाहसे उमड़ती हुई उन्मत्त संकल्प-रूप नदीको तुम मणिमन्त्रसे सुखा दो और उसमें बहते हुए अपने-आपको धैर्य देकर मनसे रहित हो जाओ एवं अपने-आप अपने संकल्पात्मक कालुष्यका विनाश करके आत्माकी उत्तम विशुद्धता प्राप्त कर अविनाशी आनन्दरूप हो जाओ। यह आत्मा समस्त शक्तियोंसे परिपूर्ण है, अतः जब कभी वह किसी वस्तुकी जैसी भी भावना करता है, अपने संकल्पसे रचित उस वस्तुको उसी समय वैसी ही देखता है। ब्रह्मन्! यह उत्पन्न हुआ मिथ्यारूप जगत् एकमात्र सकल्पात्मक ही है; अतः केवल संकल्पके अभावसे ही कहीं भी विलीन हो जाता है। इसलिये संकल्परूप जड़को उखाड़कर अत्यन्त दृढताको प्राप्त हुई इस तृष्णारूपी करंजलताको आप सुखा डालिये। जिस प्रकार गन्धर्वनगरकी उत्पत्ति और विनाश प्रतीतिमात्र ही हैं, उसी प्रकार यह संसाररूप भ्रमकी उत्पत्ति और विनाश भी प्रतीतिमात्र ही हैं। मुने! मैं एक हूँ, मैं परमात्मा हूँ—इस प्रकारकी भावना कीजिये। इस भावनासे आप परमात्मा ही हो जायँगे।

महर्षे! चेतन जीवात्माने अज्ञानके कारण अपने संकल्पसे संसाररूपता प्राप्त की है; किंतु वास्तवमें मोहरूपी कलङ्कसे रहित वह असंसारी है तथा वह ब्रह्मसे अभिन्न और अद्वैत ब्रह्मरूप है। मैं दृश्य देहादि-स्वरूप हूँ—इस प्रकार मोहको प्राप्त हुआ चेतन जीवात्मा संसारमें फँस जाता है; पर वही शुद्ध चिन्मय

परमात्मस्वरूपको, जो अपनेसे अभिन्न है, अनुभव करके संसारके बन्धनसे निर्मुक्त हो जाता है। पुनरावृत्ति-रहित निरतिशयानन्दस्वरूप परमात्माके ज्ञानसे परिपूर्ण चेतन जीवात्मा परमपद प्राप्तकर समस्त श्रमोंसे निर्मुक्त हुआ व्यापक ब्रह्मपदमें विश्राम करता है। मनसे रहित यही चेतन जीवात्मा शान्तिसे सुशोभित सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतियोंसे एवं अन्धकार-अज्ञान आदि जडतासे रहित तथा विस्तृत आकाशकी भाँति परम सुन्दर है। वह दोषरहित जीवात्मा अपने वास्तविक परमात्मस्वरूपमें स्थित हो जब तुर्यातीत अवस्थाको प्राप्त हो जाता है, तब वह परमपदको प्राप्त होता है। वह परमपद सभी उत्तमोत्तम अवस्थाओंकी परम अवधि है, परम मङ्गलरूप होनेके कारण समस्त मङ्गलोंमें प्रधान मङ्गल है। वही एक अखण्ड परम पवित्र चेतनरूप है। मुने! वह परमपद जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं और कल्पनासे अतीत है। उसीका आपसे मैंने वर्णन किया है। उसी पदमें आप सदा स्थित रहें। वह पद ही अविनाशी पूज्य देव है। मुनीश्वर! इस समस्त जगत्का उपादान वही परमदेव है—इस ज्ञानसे यह समस्त विश्व चिन्मय ब्रह्मरूप ही है। यह विश्व ब्रह्मके संकल्पसे कल्पित होनेके कारण प्रतीत होता है; किंतु यथार्थ ज्ञान होनेपर वास्तवमें इसकी सत्ता नहीं रहती, इसलिये यह नहीं है। वह परमपद शान्त, शिव एवं वाणीके व्यापारसे अतीत है। 'ॐ' इस अक्षरकी जो आनन्दमयी तुरीयामात्रा है, वही परमगति है।

(सर्ग ३३-३४)

सबके परम कारण परम पूजनीय परमात्माका वर्णन

श्रीमहादेवजीने कहा—मुने! आप पूर्वोक्त विचारका अवलम्बन करके अपने पारमार्थिक स्वरूपका ही प्रमाणोंसे शीघ्र निर्धारण करें एवं उसके विपरीत अनर्थरूप देहाभिमानका अवलम्बन न करें। जो इस संसारमें जानने-योग्य है, उस परमात्माको तत्त्वज्ञानीने जान लिया। फिर संसारके भ्रमके साथ उसका कोई प्रयोजन नहीं रहा। अतः उस तत्त्वज्ञानीके लिये कर्तव्य या अकर्तव्य कुछ नहीं रहता, यह मैं जानता हूँ। आप इन शान्तिमय और अशान्तिमय विकल्पोंका यदि दलन करते हैं तो आप धीर हैं। यदि वैसा नहीं करते तो आप धीर नहीं हैं। इसलिये आस्था रखकर आप परमात्मदर्शी बन जाइये। ब्रह्मज्ञानके लिये शीघ्र ही उपर्युक्त दृष्टिका आश्रय करके मेरे द्वारा जो कुछ कहा जाय, उसे सुनिये। आत्मज्ञानके प्रयत्नके बिना चुपचाप बैठे रहनेसे क्या लाभ? त्रिशूलधारी भगवान् शंकर इस प्रकार कहकर फिर बोले कि 'आप बाह्यदेहमें आत्मबुद्धि मत कीजिये; क्योंकि यन्त्रकी भाँति प्राणसे ही यह शरीर चेष्टा करता है और प्राणवायुसे रहित शरीर निश्चेष्ट हो मूकके सदृश स्थित रहता है; किंतु चेतन जीवात्मा आकाशसे बढ़कर निर्मल और अव्यक्त है। सत्स्वरूप परमात्माकी सत्ता ही चेतन जीवात्माके अस्तित्वमें कारण है। जीवात्माके बिना तो प्राण और देह—ये दोनों नष्ट हो जाते हैं और देह-वियोगसे प्राण वायुमें विलीन हो जाता है; आकाशसे भी निर्मल चेतन आत्मा नष्ट नहीं होता। इसलिये संसार-भ्रमसे उसका क्या प्रयोजन है? ब्रह्मज्ञानके द्वारा दोषोंसे रहित हो जीवात्मा परमशिव परब्रह्म परमात्मा हो जाता है। वह परब्रह्म ही हरि है, वही शिव है, वही हिरण्यगर्भ है, वही चतुर्मुख ब्रह्मा है, वही इन्द्र है; वही वायु, वह्नि, चन्द्र एवं सूर्यरूप है और वही परमेश्वर है। वही सर्वव्यापी परमात्मा, सर्वचेतनोंका मूल स्रोत, देवेश, देवभृत्, धाता, देवदेव और स्वर्गका अधिपति है। जिस तरह पल्लवोंका मूलबीज वृक्ष है, उसी तरह सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदिका मूल बीज है। वही सच्चिदानन्दघन परब्रह्म

ज्ञानी महात्माओंका वन्दनीय और पूजनीय है; क्योंकि सबका बल और नाम उसीके हैं। वही सर्वात्मक, प्रकाशरूप, समस्त ज्ञानोंका एकमात्र उत्पादक और सबको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला है। महर्षे! सबका आदि कारण तथा पूजा, नमस्कार, स्तुति और अर्घ्यके योग्य एवं समस्त देवताओंका स्वामी वही परम चेतन परब्रह्म परमात्मतत्त्व है—यह आप जान लें। यही बड़े-बड़े ज्ञातव्य पदार्थोंकी भी चरम सीमा है। जरा, शोक एवं भयके विनाशक इस परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार करके मनुष्य फिर संसारमें भूने हुए बीजकी भाँति जन्म नहीं लेता। विप्रेन्द्र! तत्त्वसे जान लिये जानेपर जो समस्त प्राणियोंको अभय कर देता है, जो सबका आदिकारण है और जो अनायास उपासनाके योग्य है, आप वही अज, परम एवं परमात्मरूप परमपद हैं।

मुने! समस्त पदार्थोंके भीतर रहनेवाले अनुभवस्वरूप एकमात्र विशुद्ध प्रकाशमय परमचेतन परमात्माको मुनिलोग महादेवरूप परमेश्वर समझते हैं। वह परमचेतन तत्त्व सम्पूर्ण कारणोंका कारण है, किंतु वास्तवमें उसका कोई कारण नहीं है; वह अपनी सत्तासे समस्त भावोंको सत्ता प्रदान करनेवाला है, किंतु स्वयं भावनाका विषय नहीं है। वह विशुद्ध और अजन्मा है। वही समस्त चेतनोंका चेतन, दृश्य विषयोंका प्रकाशक और दृश्य-संसारका परम आधार है। उसीको मुनिलोग चक्षु आदि एवं सूर्य आदि प्रकाशकोंको प्रकाशक, स्वयं चक्षु-सूर्य आदि प्रकाशकोंद्वारा प्रकाशित न होनेवाला, अलौकिक, समस्त बीजोंका भी बीज, ज्ञानस्वरूप और विशुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मा कहते हैं। सत्य प्रतीत होनेवाला दृश्य संसार और असत्य न प्रतीत होनेवाली प्रकृति—इन दोनोंका कारण होनेसे वह चिन्मय परमात्मा तत्स्वरूप है; किंतु वास्तवमें वह प्रकृति और संसारसे रहित, परमशान्त है। इस महान् चिन्मय परमात्मामें पहले करोड़ों जगद्रूपी मरु-मरीचिकाएँ हो चुकी हैं, आगे भी होती रहेंगी और वर्तमान कालमें भी हो रही हैं। महान् मेरुपर्वत एवं महान् कल्प आदि काल उस चेतन तत्त्व परमात्मामें समाये हुए हैं। फिर भी वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतम है। कर्तापनके अभिमानसे रहित होनेके कारण यह परमात्मा कुछ न करते हुए ही संसारकी रचना करता है और यह संसारका उद्धाररूप महान् कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता। जिस परमात्माके संकल्पमें यह समस्त संसार विद्यमान है, जिससे यह सारा संसार उत्पन्न हुआ है, जो सर्वस्वरूप है, जो सब ओर व्याप्त है एवं जो सर्वमय है, उस सर्वात्मक परमात्माको बार-बार नमस्कार है।*

(सर्ग ३५-३६)

परमशिव परमात्माकी अनन्त शक्तियाँ

श्रीमहादेवजीने कहा—महर्षे! उस समस्त जगत्सत्ता-स्वरूप मणिकी पिटारी परम चेतन सर्वेश्वर परमात्मामें उनकी शक्तियाँ प्रत्यक्ष आविर्भूत होती रहती हैं। उनमेंसे परमात्माकी एक शक्ति महाकाशरूप दर्पणके अंदर अपनी सत्ताके प्रतिबिम्बके सदृश कल्प-निमेषनामक निर्मल कालात्मक शरीर धारण करती है। जैसे घरमें दीपकके रहनेपर घरभरकी क्रियाएँ प्रकाशित हो जाती हैं, वैसे ही साक्षीरूपी उस प्रकाशात्मक, सत्यस्वरूप चेतन-तत्त्वके रहनेपर ही जगत्‌रूप चित्तकी परम्पराएँ प्रकाशित होती हैं।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—जगत्‌के स्वामिन्! इन सदा-शिवकी कौन-सी शक्तियाँ हैं, वे किस तरहसे रहती हैं,

* यस्मिन् सर्वे यतः सर्वे यः सर्वे सर्वतश्च यः। यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः॥

(नि० पू० ३६। १८)

उनकी साक्षिताका क्या स्वरूप है, उनका व्यवहार क्या है और वे कितनी हैं ?

श्रीमहादेवजीने कहा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले सौम्य ! उस निराकार, सर्वात्मक, अप्रमेय, परमशान्त, सच्चिदानन्दघन सदाशिव परमात्माकी इच्छासत्ता, व्योमसत्ता, कालसत्ता तथा नियति-सत्ता और महासत्ता—ये पाँच सत्तात्मक शक्तियाँ हैं। (तात्पर्य यह है कि 'सोऽकामयत बहु स्याम्' इस श्रुतिके अनुसार सबसे पहले उनकी इच्छासत्ता अभिव्यक्त हुई। तदनन्तर आकाशकी अभिव्यक्ति होनेपर आकाशसत्ता, तदनन्तर कालात्मक सूत्रकी अभिव्यक्ति होनेपर कालसत्ता, सद्भूके नियत संस्थानवाले भूत एवं भौतिक पदार्थोंका आविर्भाव होनेपर नियति-सत्ता अभिव्यक्त हुई और तदनन्तर उनमें अनुस्यूत महासत्ता अभिव्यक्त हुई।) इनके सिवा ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति कर्तृत्वशक्ति और अकर्तृत्वशक्ति आदि परमात्माकी अनेक शक्तियाँ हैं। उन सदाशिवस्वरूप परमात्माकी इन शक्तियोंका कोई अन्त नहीं है।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—देव ! ये उपर्युक्त शक्तियाँ हुईं किस निमित्तसे ? इनमें बहुत्व कैसे आया ? इनका उदय कैसे हुआ ? एवं शक्ति और शक्तिमान् दोनोंमें परस्पर-विरुद्ध भेद और अभेद किस युक्तिसे रह सकते हैं ?

श्रीमहादेवजीने कहा—महर्षे ! अनन्त असीम आकारवाले सदाशिवरूप परमात्माकी यह चिन्मात्ररूपता ही उसकी शक्ति कही जाती है। एकमात्र कल्पनासे ही वह चेतन परमात्मासे भिन्न-सी प्रतीत होती है, वास्तवमें कुछ भी भेद नहीं है। ज्ञातृत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, साक्षित्व आदि कल्पनाओंसे परमात्माकी ये शक्तियाँ उसी प्रकार विविध स्वरूप धारण करती हैं, जैसे समुद्रमें तरङ्ग आदि भेद-कल्पनाओंसे जल विविध रूप धारण करता है। गमनशील ब्रह्माण्डरूपी नृत्य-मण्डपमें ऋतु, मास आदि काल नियति-क्रमद्वारा महाकालरूपी नटसे उत्तम रीतिसे शिक्षित हुई उस प्रकारकी शक्तिरूपिणी नटियाँ नाचती हैं। यही परा और अपरा एवं नियति कही जाती है। ईश्वरकी क्रिया, कृति, इच्छा या काल इत्यादि उसीके नाम हैं। तृणसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त जितने चराचर जीव हैं, उनको मर्यादामें रखनेवाली नियति कही जाती है। महर्षे ! नाट्यशास्त्रमें प्रसिद्ध स्वेद, स्तम्भ, रोमाञ्च आदि विकारोंसे व्याप्त, चिरकालसे प्रवृत्त हुए इस संसारनामक नाटकके नाट्योंमें सारभूत नियति नटीके विलासमें अधिपति होकर देखनेवाला सदा उदितस्वभाव यह परमेश्वर अद्वितीय होकर ही स्थित है। वह परमार्थतः उस नटी और नाट्यसे भिन्न नहीं है। (सर्ग ३७)

सच्चिदानन्दघन परमदेव परमात्माके ध्यानरूप पूजनसे परमपदकी प्राप्ति

श्रीमहादेवजी कहते हैं—महर्षे ! उस परमात्मदेवके पूजनके जितने क्रम हैं, उन सबमें पहले देहाभिमानको प्रयत्नपूर्वक छोड देना चाहिये। ध्यान ही इस परमात्मदेवकी पूजा है। इसलिये तीनों भुवनोंके आधारभूत इस परमात्मदेवकी निम्न प्रकारके ध्यानसे सदा पूजा करनी चाहिये। वह चेतन परमात्मा ज्ञानके द्वारा लाखों सूर्योंके समान देदीप्यमान, सूर्य आदि समस्त प्रकाशकोंका भी प्रकाशक तथा सबसे परे रहनेवाला ज्ञानस्वरूप है। उसका मनसे चिन्तन करना चाहिये। इस नियति-नाटकके साक्षी परमात्माका इतना बड़ा स्वरूप है कि सबसे बड़े असीम आकाशका जो विपुल विस्तार है, वह उसकी गर्दन है; नीचेके आकाशका जो असीम विस्तार है, वह उसका चरण-सरोज है। सीमा-शून्य दिशाओंके किनारोंका यह जो विस्तार है, वही उसका भुजमण्डल है और उसीसे वह सुशोभित है; उन हाथोंमें उसने विविध ब्रह्माण्डोंमें विद्यमान बड़े-बड़े सत्य आदि लोकरूप श्रेष्ठ आयुधोंको ग्रहण कर रक्खा है। उसके हृदय-कोशके एक कोनेमें अनेक ब्रह्माण्ड-समूह

छिपे हुए हैं। वह प्रकाशस्वरूप एवं तमसे परे है और उसके स्वरूपका कहीं पार भी नहीं पाया जा सकता। पूर्वोक्त नियतिके नाटकका साक्षी यह परमात्मा ही परमदेव है। यही समस्त पदार्थोंका आश्रय, सर्वव्यापक, चिन्मय और अनुभवरूप है। सभी सज्जनोंद्वारा यही सर्वदा पूजनीय है। यही परमदेव परमात्मा घटमें, पटमें, वटमें, दीवालमे, छकड़ेमें और वानर आदि प्राणियोंमें समभावसे स्थित है। यही परमात्मा शिव, हर, हरि, ब्रह्मा, इन्द्र, कुबेर और यमस्वरूप है। अनेक प्रकारकी घट-पट आदि आकृतियोंको लेकर असंख्य पदोंसे बोधित होनेवाली तथा उन आकृतियोंको छोड़नेपर एक पदसे बोधित होनेवाली सत्तारूप इस जगज्जालका उत्पादक महाकाल इस परमात्मदेवका द्वारपाल है। पर्वतों एवं चौदह भुवनोंके असीम विस्तारसे युक्त यह ब्रह्माण्ड-मण्डल इस परमात्मदेवके किसी एक देह-कोणमें स्थित होकर उसके अङ्गका अवयवरूप हो गया है।

महर्षे! जिसके हजारों कान एवं आँखें हैं, हजारों मस्तक हैं और जो स्वयं हजारों भुजाओंसे विभूषित है, ऐसे शान्तस्वभाव महादेवका चिन्तन करना चाहिये। वह परमात्मा सभी जगह दर्शन-शक्तिसे परिपूर्ण है यानी सर्वत्र देखता है, सब ओर घ्राण-शक्तिसे समन्वित है, सर्वतः स्पर्शन-शक्तिसे युक्त है, सभी ओर रसन-शक्तिसे परिपूर्ण है, सर्वत्र श्रवण-शक्तिसे व्याप्त है, सर्वत्र मनन-शक्तिवाला है; तथापि वह सर्वथा संकल्पसे रहित है एवं सभी ओर सर्वश्रेष्ठ कल्याणस्वरूप है। उस परमात्मदेवका चिन्तन करना चाहिये। नित्य, सम्पूर्ण जगत्के कर्ता, सबको अपने-अपने संकल्पके अनुसार समस्त पदार्थ प्रदान करनेवाले, सारे प्राणियोंके अन्तःकरण-में स्थित और सभीके लिये एकमात्र साध्य, सर्वस्वरूप उस परमात्मदेवका चिन्तन करना चाहिये। इस प्रकार ध्यानके द्वारा उस देवाधिदेवकी पूजा करनी चाहिये। अनायास प्राप्त होने योग्य, शान्तिमय, अविनाशी, अमृतस्वरूप एकमात्र परमात्मस्वरूपके ज्ञानसे सदा इस देवकी पूजा की जा सकती है। जो यह हृदयप्रदेशमें स्थित शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माका निरन्तर अनुभव है, यही श्रेष्ठ ध्यान है और यही परम पूजा कही गयी है। देखते-सुनते, स्पर्श करते सूँघते-खाते, चलते-सोते, श्वास-प्रश्वास लेते, बोलते, त्याग करते और ग्रहण करते—सभी समय मनुष्यको शुद्ध चिन्मय परमात्माके ध्यानमें ही तत्पर रहना चाहिये। इस परमात्माके लिये शुद्ध ज्ञानरूप ध्यान ही प्रियतम वस्तु है, अतः ध्यानसे ही उसके लिये उपहार है। ध्यान ही उसके लिये अर्घ्य, पाद्य और पुष्प है। मुने! यह परमात्मदेव ध्यानसे ही प्रसन्न होता है। इस प्रकार आठों पहर ध्यानद्वारा पूजन करनेसे मनुष्य परमधाममें निवास करता है। महर्षे! जो यह परमात्मदेवका उत्तम पूजन मैंने आपसे कहा है, यही परम योग है, यही वह उत्तम कर्म है। आत्मरूप वसिष्ठजी! जो मनुष्य दुःख और विक्षेपसे रहित हो सारे पापोंके विनाशक एवं परम पवित्र इस ध्यानरूप पूजनको करेगा, उस समस्त बन्धनोंसे मुक्त और ब्रह्मतत्त्वको प्राप्त पुरुषकी जगत्में सुर एवं असुर वैसे ही वन्दना करेंगे, जैसे वे मेरी वन्दना करते हैं।

महर्षे! यह ध्यान पवित्र करनेवालोंको भी पवित्र करनेवाला तथा सम्पूर्ण अज्ञानोंका नाशक है। अतः शरीरमें स्थित, समस्त ज्ञानोंके उत्पादक एवं बोधक परम कल्याणस्वरूप इस परमात्मदेवका अपने अन्तः-करणसे नित्य ही ध्यान करना चाहिये। सबके हृदयरूपी गुहामें स्थित, समस्त ज्ञान और ज्ञेयके ज्ञाता, सम्पूर्ण कर्मोंके कर्ता और समस्त ज्ञानोंके स्मर्ता, सम्पूर्ण प्रकाशों-से भी अधिक प्रकाशरूप तथा सर्वव्यापी परम शिव परमात्माका ध्यान करना चाहिये। वह परमात्मा मनकी मननात्मिका शक्तिमें, प्राण एवं अपानके मध्यमें तथा हृदय, कण्ठ, तालु और भौंके मध्यमें स्थित (व्यापक) है। वह कलाओंकी कल्पनाओंसे रहित और देहके एक-

देशभूत सुन्दर हृदय-कमलमें विशेषरूपसे और सम्पूर्ण देहमें समानरूपसे स्थित है। वह परमात्मा केवल चेतन और शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। उसका चिन्तन करना चाहिये।

इसके सिवा ध्यानका एक दूसरा प्रकार यह है कि मैं जीवात्मा ही परिच्छेदशून्य आकारवाला, अनन्तस्वरूप, सम्पूर्ण पदार्थोंसे परिपूर्ण, सब वस्तुओंका पूरक एवं अखण्ड अद्वितीय शिवस्वरूप परमात्मा हूँ—इस प्रकार स्वच्छ और अत्रैकिक भावना करके देवभावसे परिपूर्ण यह जीवात्मा महान् परमात्मा बन जाता है। वह परमात्माको प्राप्त पुरुष सबमें सम रहता है। उसका व्यवहार भी समान होता है। उसका ज्ञान भी सम होता है। उसका भाव भी सम होता है। उस सौम्य पुरुषका उद्देश्य भी महान् सुन्दर होता है। वह देहपातपर्यन्त अखण्ड तत्त्वज्ञानसे युक्त होता हुआ चिरकालतक निरन्तर परमात्माका ध्यानरूप पूजन ही करता रहता है। इसलिये मनुष्यको उचित है कि सज्जनोंके हृदयमें रहनेवाली, चन्द्रमाकी भाँति शीतल, मधुर-स्वभाव, दृढ़ मैत्रीसे हृदय-प्रदेशमें स्थित उस परमात्मदेवकी ध्यानरूप पूजा करे। दुष्टोंकी उपेक्षा, दुखियोंपर दया, पुण्यात्माओंके प्रति हृदयकी नित्य मुदिता (प्रसन्नता) की भावनासे, शुद्ध सामर्थ्यकी पद्धतिसे और ज्ञानरूप ध्यानसे उस परमात्मदेवकी पूजा करे।

प्रारब्धसे प्राप्त सम्पूर्ण इष्ट एवं अनिष्ट पदार्थोंमें सर्वदा ही परम समताका आश्रय लेकर नित्य चेतन परमात्माका ध्यानरूप व्रत करना चाहिये। अनुकूल और प्रतिकूल-की प्राप्तिमें सम होकर नित्य चिन्मय परमात्माके ध्यानरूप व्रतका अनुष्ठान करना चाहिये। यह मैं हूँ और यह मैं नहीं हूँ—इस प्रकारके भेदको छोड़ देना चाहिये तथा 'यह सब ब्रह्म ही है' इस प्रकार निश्चय करके नित्य चिन्मय परमात्माके ध्यानरूप व्रतका आचरण करना चाहिये। महर्षे! इस परमात्माके ध्यानरूप पूजाके विधानमें जो द्रव्य-सम्पत्तियाँ बतलायी गयी हैं, वे सब एकमात्र समतारूप रससे परिपूर्ण होनेके कारण मधुर-रसवती ही हो जाती हैं। रसमयी शक्ति-समता मधुर और अतीन्द्रिय है। उस समतासे जो भी दृश्य विषय भावित होगा, वह तत्क्षण ही अमृततुल्य मधुर हो जायगा। समतारूप अमृतसे जो-जो भावित होता है, वह सब परम मधुरताको प्राप्त होता है। ब्रह्मैक्य-दर्शनस्वरूप समतासे स्वयं आकाशकी तरह विकारशून्य होकर मनके लय होनेपर जो स्वाभाविक स्थिति है, वही परमात्माकी ध्यानरूप पूजा कही जाती है। महात्मा ज्ञानीको पूर्णचन्द्रकी भाँति परिपूर्ण, समताके द्वारा समान ज्ञानवान्, एक, चिन्मय, स्वच्छ और स्फटिक-शिलाकी तरह निर्मल एवं दृढ होना चाहिये। जो भीतर आकाशकी तरह विशाल और बाहर न्यायतःप्राप्त कार्योंको करनेवाला, आसक्तिसे रहित एवं परमात्माके यथार्थ तत्त्वका पूर्णतया ज्ञाता है, वही सच्चा उपासक है। अज्ञानरूप मेघोंके नष्ट होनेपर स्वप्नमें भी जिसमें राग-द्वेष आदि हृदय-विकार नहीं देखे जाते तथा जिसका अहंता-ममतारूप कुहरा शान्त हो चुका है, ऐसे निर्मल आकाशके समान वह तत्त्वज्ञ सुशोभित होता है।

महर्षे! यथासमय और यथाशक्ति आप जो कुछ भी कर्म करते हैं अथवा नहीं करते, उसीको चिन्मय शिवस्वरूप परमात्माका अन्तःपूजन समझना चाहिये। इस प्रकारके पूजनसे ही साधक अपने पारमार्थिक निरतिशय आनन्दमय स्वरूपका अनुभव करता है। शिव, शान्त, अन्यसे प्रकाशित न होनेवाला, स्वप्रकाशरूप परमात्मा ही जगत्के रूपमें प्रतीत हो रहा है। ब्रह्मन्! भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों जगत्में व्यापक, परम विशुद्ध चेतन परमात्मारूप ईश्वरके स्वरूपका वाणीसे वर्णन भी नहीं किया जा सकता। इसलिये वसिष्ठजी! तुच्छ दृष्टिका परित्याग करके और अपनी अखण्ड दृष्टिका आश्रय लेकर सम,

निर्मलमन, शान्त, राग और दोषसे रहित तथा शोक-रहित बुद्धिसे युक्त होकर आप न्यायतःप्राप्त पदार्थोंसे परमात्मदेवकी पूजा करते हुए स्थित रहें।

(सर्ग ३८-४०)

शास्त्राभ्यास और गुरूपदेशकी सफलता, ब्रह्मके नाम-भेदोंका और स्वरूपका रहस्य एवं दुःखनाशका उपाय

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—देव ! शिव, परब्रह्म, आत्मा और परमात्मा किसके नाम कहे गये हैं ? तीनों लोकोंके स्वामिन् ! भगवन् ! 'तत्', 'सत्', 'किंचित्', 'न किंचित्', 'शून्य' और 'विज्ञान' आदि भेद किसके कहे गये हैं ?

श्रीमहादेवजीने कहा—मुने ! आदि और अन्तसे रहित, प्रकाशान्तरकी अपेक्षा न रखनेवाली, स्वतःप्रकाश-स्वरूप जो सत् वस्तु अपनी महिमामें अपने-आप विद्यमान है, वही 'किंचित्' शब्दसे कही जाती है; और वह इन्द्रियोंके द्वारा जाननेमें नहीं आती, इसलिये 'न किंचित्' शब्दसे कही जाती है।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—ईशान ! जो बुद्धि आदिसे युक्त चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियोंके जाननेमें नहीं आता, उस परमब्रह्मका संशयरहित अधिकारीद्वारा कैसे साक्षात्कार किया जाता है ?

श्रीमहादेवजीने कहा—महर्षे ! जिसमें अविद्याका नाममात्र अंश है, ऐसा केवल सात्त्विक और मोक्षकी चाह रखनेवाला साधक शास्त्राभ्यास आदि सात्त्विक उपायोंसे अविद्याका प्रक्षालन करता है, तब अविद्याका क्षय होनेपर वह अपने-आप ही अपनेद्वारा परमात्मा-का अनुभव करता है। आत्मा ही परमात्माको देखता है और आत्मरूपसे ही उसका विचार करता है। इस संसारमें एकमात्र परमात्मा ही सत् है, अविद्या नहीं; इसे ही अविद्याका क्षय कहते हैं। जो कुछ यह नाना-विध विनाशशील दृश्य वस्तु है, इसे आप परमात्मा न समझिये; क्योंकि यह मिथ्या है। परब्रह्म परमात्मा तो सम्पूर्ण इन्द्रियोंके क्षयसे प्राप्य है। जो वस्तु जिसका नाश होनेपर प्राप्त होती है, वह वस्तु उसके उपस्थित रहते कभी प्राप्त नहीं हो सकती। शिष्यके बोधके लिये किये गये गुरूपदेशसे अनिर्देश्य और अव्यक्त परमात्मा उसे स्वयं प्राप्त हो जाता है। गुरुके उपदेशों और शास्त्रार्थोंके बिना भी परमात्माका ज्ञान नहीं होता; क्योंकि इन सबके संयोगसे ही परमात्माका ज्ञान होता है। कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय आदिका नाश तथा सुख, दुःख आदिका अभाव होनेपर जो बच रहता है, वह शिवस्वरूप परमात्मा ही 'तत्'-'सत्' इत्यादि नामोंसे कहा गया है। वास्तवमें तो यह सम्पूर्ण जगत् है नहीं, बल्कि परमात्माका सकल्प होनेके कारण यह उसका स्वरूप ही है। वह सत्-स्वरूप परमात्मा आकाशसे भी अत्यन्त बढ़कर निर्मल और अनन्त है। विशुद्ध अन्तःकरणवाले मुमुक्षु पुरुषोंने मोक्षके उपासकोंके बोधके लिये नाम-रूपरहित सच्चिदानन्द परमात्मामें चेतन, ब्रह्म, शिव, आत्मा, ईश, परमात्मा और ईश्वर आदि पृथक्-पृथक् नाम रूपोंकी कल्पना कर रक्खी है। वसिष्ठजी ! इस तरह जगत्तत्त्व एवं शिवनामक परमात्मतत्त्व ही सर्वदा सब तरहसे सब कुछ है। इसलिये आप इसे जानकर सुखपूर्वक स्थित हो जायँ। प्राचीन मुमुक्षु लोगोंने शिव, आत्मा और परब्रह्म इत्यादि नामोंसे उस परमात्माकी भिन्न-भिन्न कल्पना की है; वस्तुतः एक परमात्मा ही है, उसमें कुछ भी भेद नहीं है। मुनिनायक ! इस प्रकार ज्ञानपूर्वक ध्यानरूप पूजा करनेवाला ज्ञानी पुरुष उस परमपदको प्राप्त हो जाता है।

श्रीवसिष्ठजी बोले—भगवन् ! मिथ्या होने हुए भी

यह जगत् किस प्रकार सत्-सा प्रतीत होता है, वह सब कुछ फिर संक्षेपमें मुझसे कहनेकी कृपा कीजिये ।

श्रीमहादेवजीने कहा—मुने ! जो यह ब्रह्म, शिव, ईश्वर इत्यादि शब्दोंका अर्थ है, उसे ही विशुद्ध चिन्मय परमात्मा समझिये जैसे जलके आधारभूत समुद्रमें जल ही तरङ्गके रूपमें प्रकट होता है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मामें केवल अद्वितीय सद्रूप ब्रह्म ही जगत्के रूपमें प्रकट हो रहा है; क्योंकि सारा जड दृश्यसमूह चेतन परमात्मरूप ही है, इस प्रकारका ज्ञान होनेपर वह दृश्यसमूह मनोराज्यके संकल्पनगरकी तरह हो जाता है । यह जगत् परमात्माका संकल्प है, इस यथार्थ अनुभवसे सम्पूर्ण दृश्य जगत् कल्याणमय परमात्मा ही बन जाता है ।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—भगवन् ! इस जगत्की भले ही गन्धर्वनगरसे अथवा स्वप्नके मनुष्यसे उपमा दी जाय, फिर भी यह दुःखका कारण तो है ही । अतः दुःखके नाशके लिये यहाँ कौन-सी युक्ति है ?

श्रीमहादेवजीने कहा—महर्षे ! वासनाके कारण दुःख उत्पन्न होता है और वह वासना सत् पदार्थमें हुआ करती है; किंतु यह जगत् तो मृगतृष्णाके जलकी तरङ्गके समान मिथ्या ही है । इसलिये वासना कैसे, किसमें, किसको, कहाँसे होगी ? स्वप्नावस्थाका पुरुष भला कैसे मृगतृष्णाके जलका पान कर सकता है । द्रष्टाके सहित, अहंतासे युक्त और मन तथा मनन आदिके साथ इस जगत्का जब स्वप्नवत् अस्तित्व ही नहीं है,तब जो शेष रह जाता है, वही सद्वस्तु परमात्मा है । उस परमात्मामें न तो कोई वासना रहती है, न कोई वासना करनेवाला और न कोई वासनाका विषय ही रहता है । किंतु एकमात्र वह परमात्मा ही रहता है, जिसमें कल्पना-भ्रमका अत्यन्त अभाव है । प्रतीत होनेके कारण सत्य और वास्तवमें असत्य संसाररूप वेताल शून्यस्वरूप होनेके कारण जिस ज्ञानवान्की दृष्टिमें असत्य ही है, उसकी दृष्टिमें केवल परमात्माके सिवा और दूसरा क्या अवशिष्ट रह सकता है ? अर्थात् कुछ नहीं । इस प्रकार शून्यमें ही वेतालकी तरह यह चित्त-वासना उत्पन्न हुई है, जिसका नाम जगत् है । उसकी शान्ति हो जानेपर अक्षय शान्ति ही अवशिष्ट रहती है । किंतु अहंतामें, जगत्में तथा मृगतृष्णाके जलमें जिस अज्ञानी मनुष्यकी आस्था (सत्ताबुद्धि) बँधी हुई है, उसको बार-बार धिक्कार है ! वह अज्ञानी उपर्युक्त उपदेशके योग्य नहीं । इस जगत्में ज्ञानीलोग जिज्ञासु विवेकी मनुष्यको ही उपदेश दिया करते हैं, न कि उस बालबुद्धिवाले अविवेकीको, जो अनेक प्रकारकी भ्रान्तियोंसे ग्रस्त है, श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा त्याज्य है एवं देह आदिमें अभिमान रखता है ।

(सर्ग ४१)

समष्टि-व्यष्ट्यात्मक जो संसार है, वह सब माया ही है—यह उपदेश देकर भगवान् श्रीशंकरका अपने वासस्थानको जाना तथा श्रीवसिष्ठजी और श्रीरामजीके द्वारा अपनी-अपनी स्थितिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—भगवन् ! सृष्टिके आदिमें देहके सम्बन्धसे संसारमें भ्रमण करनेवाला वह जीवात्मा मायारूप आकाशमें स्थित हुआ किस अवस्थाको प्राप्त करता है ?

भगवान् शंकरने कहा—मुने ! जिस प्रकार स्वप्न-मनुष्य स्वप्नके संसारको देखता है, उसी प्रकार वह जीवात्मा भी परम सूक्ष्म मायामय आकाशमें कर्मानुसार शरीरोंको देखता है । जैसे आज भी स्वप्नमनुष्य चैतन्यघन आत्माके सर्वत्र व्यापक होनेसे स्वप्नमें कार्य करता है, वैसे ही देहधारी जीवात्मा भी जाग्रदवस्थामें कार्य करता है । जिस तरह शून्यस्वरूप वेताल वास्तविक

दृष्टिसे असद्रूप है, किंतु भ्रमसे सद्रूप प्रतीत होता है, उसी प्रकार यह समस्त जगत् वास्तवमें असत् है, किंतु भ्रमसे सद्रूप प्रतीत होता है; इसलिये जगत्का कारण वास्तवमें अहंकार ही है। यह संसार वास्तवमें सत् नहीं है; न यह कल्पित है न क्षणिक है, न यह कुछ उत्पन्न ही होता है और न कुछ विनष्ट ही होता है। वास्तवमें इसका अत्यन्त अभाव है। चेतन जीवात्मा ही सम्पूर्ण प्रपञ्चकी संकल्परूपसे अपनेमें उसी प्रकार कल्पना करता है, जिस प्रकार मनुष्य स्वप्नमें नगरका निर्माण और विनाश करता है पर जागनेपर वास्तवमें उसका स्वप्नके देश और कालसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता। इस विनाशशील संसारका वास्तविक स्वरूप तत्त्वसे समझ लेनेपर इस मायारूप संसारकी भेदसत्ताका अभाव हो जाता है। तदनन्तर ज्ञानपूर्वक ध्यानके अभ्याससे कल्याणमय शिवरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। नहीं तो यह जीवात्मा अपने कर्मानुसार देह, इन्द्रिय आदिके संयोग-क्रमसे मृगी, लता, कीट, देव, असुर आदिरूप हो जाता है। नित्य, व्यापक, अनन्त दृढ़ और विश्वमें व्याप्त एवं विश्वके कर्ता जिस परब्रह्ममें यह जगत् कल्पित है, विवेक होनेपर वह जगत् न दूर है न समीप, न ऊपर न नीचे, न आपका है न मेरा, न पहले था न आज है, न प्रात:कालमें है न सत् है न असत् और न सत् और असत्के मध्यमें है अर्थात् वास्तवमें यह कल्पनामात्र ही है। मुने! जैसा आपने पूछा; वैसा ही मैंने उत्तर दे दिया। आपका कल्याण हो। अब हमलोग अपनी अभिलषित दिशाकी ओर जा रहे हैं। पार्वती! आओ, उठो।

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम! ऐसा कहकर वे नीलकण्ठ भगवान् शंकर जिनके ऊपर मैंने उस समय पुष्पाञ्जलि

समर्पित की थी अपने परिवारके साथ आकाशकी ओर चले गये। तब पहलेसे ही शान्तस्वभाववाला मैं त्रिभुवनके अधिपति उमापतिके जानेके बाद क्षणभर चुप रहकर उनके स्मरणपूर्वक उनके द्वारा उपदिष्ट परमात्मदेवका ज्ञानपूर्वक ध्यानरूप पूजन नवीन (परिष्कृत) और श्रद्धा आदिसे पवित्र हुई बुद्धिसे करने लगा।

रघुनन्दन! महादेव शंकरजीने सच्चिदानन्द परमात्माका ध्यानरूप यह सर्वोत्कृष्ट पूजन मुझसे कहा है और स्वयं मैं भी उसे तत्त्वसे जानता हूँ। जिस तरहका यह जगत्का स्वरूप है, उसे तुम भी तत्त्वसे जानते ही हो। जैसे जलका द्रवत्व स्वभाव है, जैसे वायुका स्पन्दत्व स्वभाव है और जैसे आकाशका शून्यत्व स्वभाव है, वैसे ही परमात्माका सर्गत्व (सृजन) स्वभाव है। श्रीराम! तबसे लेकर आजतक उसी क्रमसे मैं शान्तिपूर्वक परमात्माका ध्यानरूप पूजन करता आ रहा हूँ। इसलिये मनुष्यको धन और बन्धुओंकी उत्पत्ति और विनाश होनेपर हर्ष

और विवाद नहीं करना चाहिये; क्योंकि ये सभी संसारके अनुभव सदा विनश्वर ही हैं। श्रीराम ! प्रमथन-शील चित्र-विचित्र परिस्थितियाँ जिस प्रकार आती है, जाती है और पुरुषको पराजित करती हैं, यह सब तुम भी जानते ही हो। इसी प्रकार प्रेम और धन आते रहते है और यों ही चले भी जाते है। वे जगत्के व्यवहार वास्तवमें न तो तुम्हारे अदर हैं और न तुम ही उनके अदर हो। इस प्रकार यह जगत् तुच्छ ही है। केवल चेतनस्वरूप व्यापक देहवाले श्रीराम ! यह जगत् तुम्हारा सकल्प होनेके कारण तुम्हारा स्वरूप ही है। अत. तुम्हारे लिये हर्ष और शोकका प्रसङ्ग ही क्या है। तात ! तुम चिन्मात्र स्वरूप हो। यह जगत् तुमसे पृथक् नहीं है। इसलिये तुमको किस प्रकार और कहाँ हेय और उपादेयकी कल्पना हो सकती है ? तुम सम, ज्ञानस्वरूप और उदारधी होकर सदा ब्रह्मके ध्यानमे तत्पर होते हुए समुद्रकी तरह परिपूर्ण (परितृप्त) रूपसे स्थित रहो ! रघुनन्दन ! यह सब तुमने सुना और परिपूर्ण-बुद्धि होकर तुम स्थित भी हो; इस विषयमे और जो कुछ पूछना चाहो, पूछो। पहले जो तुमने प्रश्न किये थे, उनमेंसे यदि कोई उत्तरके बिना रह गया हो तो उसे भी आज पूछ लो।

श्रीरामजीने कहा—ब्रह्मन् ! न तो आत्मा उत्पन्न होता है न मरता है और न मायासे कलङ्कित ही है तथा 'यह सारा जगत् ब्रह्ममय है' इस प्रकारका निश्चय मेरा है। भगवन् ! मेरा मन शुद्ध और सब प्रकारके प्रभोंसे, सशयोंसे और इच्छित पदार्थोंसे निवृत्त है। इस चराचर संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसकी मुझे इच्छा और अभिलाषा हो तथा ऐसी कोई वस्तु भी नहीं है, जो मेरे लिये त्याज्य और ग्राह्य हो। मुझे न स्वर्गकी आकांक्षा है और न नरकसे द्वेष है; किंतु मन्दराचलकी तरह सशयरहित हुआ मै अपने स्वरूपमें स्थित हूँ। यह जगत् जिस स्वरूपका दिखायी देता है, उसी स्वरूपका है, उससे भिन्न उसका कोई दूसरा स्वरूप नहीं है—यों जो मूर्ख जानता है, उसके हृदयमें ज्वालाके सदृश अधिक संतापदायिनी, कुत्सित संशय-समूहोंसे होनेवाली 'यह वस्तु है और यह अवस्तु है' इस प्रकारकी कल्पनाएँ पर्यायरूपसे उत्पन्न होती रहती है। मूढ पुरुष जिन धन आदि विषयोंके लिये कृपणता करता है, जगत्की वे वस्तुएँ वास्तवमें हैं ही नहीं। परमेश्वर ! हमने सम्पत्तियोंकी अवधि जान ली, आपत्तियों-की सीमाका भी अन्त देख लिया। हम सर्वसार अपने स्वरूपमे दीनतारहित और परिपूर्ण हुए स्थित है।

(सर्ग ४२-४३)

ज्ञानकी प्राप्तिके लिये वासना, आसक्ति और अज्ञानके नाशसे मनके विनाशका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! आसक्तिसे तथा कर्तृत्वाभिमानसे रहित एवं न्याययुक्त व्यवहार करने-वाले अन्तःकरणसे इन्द्रियोंके साथ तुम जो कुछ करते हो, वह कर्म कर्म ही नहीं है। जिस तरह प्राप्तिकालमें विषय तुष्टिकारक होता है, उसी तरह उसके बाद दूसरे कालमें नहीं होता। इसलिये बालबुद्धि अविवेकी ही क्षणिक सुख देनेवाले विषयोंमें आसक्त होता है, विवेकी नहीं। श्रीराम ! तुम आत्मज्ञानी हो। इसलिये अहकार तुम्हारा पतन नहीं कर सकता; क्योंकि जिसने निरन्तर असीम सत्यस्वरूप ब्रह्मका स्मरण किया है और जो तत्त्वज्ञानरूप सुमेरु पर्वतके शिखरपर स्थित है, उस पुरुषका पुनर्जन्मरूप पतन नहीं हो सकता। श्रीराम ! तुम्हारा जो यह समता एवं सत्यतामय स्वभाव मुझे दिखायी देता है, इससे मै मानता हूँ कि तुम सकल्प-विकल्प और अविद्यासे रहित हो, अपने स्वरूपमें भलीभाँति स्थित हुए तुम मानो मुझे यह

प्रत्यक्ष करा रहे हो कि सागरके समान पूर्ण समता तुममें विद्यमान है। जिस-जिस वस्तुको तुम देख रहे हो, उस-उस वस्तुमें समानभावसे सत्तारूप सच्चिदानन्द-घन परमात्मा स्थित है।

जिस प्रकार चित्रलिखित पुरुषमें संसारकी भावना नहीं हो सकती, उसी प्रकार दृश्य और दर्शनके सम्बन्ध-का अभाव होनेपर हृदयमें जगत्की भावना उत्पन्न नहीं हो सकती। चित्तके संकल्पसे उत्पन्न जगत् चित्तके संकल्पका अभाव होनेपर उसी प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार जलकी चञ्चलतासे उत्पन्न तरङ्ग जलकी चञ्चलताका अभाव होनेपर विलीन हो जाती है। वासनाके त्यागसे, परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे अथवा प्राणोंके निरोधसे चित्तके संकल्परहित हो जाने-पर जगत् कहाँसे उत्पन्न होगा? जब चित्त-संकल्पके अभावसे अथवा प्राणोंके निरोधसे चित्तका विनाश हो जाता है, तब जो बच रहता है, वही परमपद है। जहाँ चित्तका अभाव है, वहाँ वह सारा सुख स्वाभाविक ब्रह्मसुखरूप ही है। वह सुख स्वर्गादि भोगभूमियोंमें नहीं हो सकता। चित्तका विनाश होनेपर जो ब्रह्मविषयक सुख होता है, वह वाणीसे भी नहीं कहा जा सकता। वह सुख सब समय एकरस रहता है—न घटता है न बढ़ता है। परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे चित्तका अन्त (अभाव) हो जाता है। बालकल्पित वेतालकी तरह अज्ञानसे मोह घनरूपता प्राप्त करता है। उस अज्ञानसे ही चित्तकी सत्ता प्रतीत होती है। ज्ञानीका चित्त चित्त नामसे नहीं कहा जाता, किंतु सत्त्व नामसे कहा जाता है। चित्तका स्वरूप वास्तवमें किसी भी कालमें नहीं है। उसका स्वरूप भ्रान्तिसे प्रतीत होता है। इसलिये भ्रान्तिका नाश होनेपर उसका विनाश हो जाता है। वह मिथ्या भ्रान्ति तत्त्वज्ञानसे शान्त हो जाती है; क्योंकि जो सद् वस्तु है, उसका अभाव कभी नहीं होता। जैसे खरगोशके सींगकी सत्ताका अभाव है, वैसे ही विकल्परूप मन आदिका भी अभाव है। वे सब आत्मामें आरोपित हैं। इसलिये उनका परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे विनाश हो जाता है। (सर्ग ४४-४५)

शिलाके रूपमें ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघवेन्द्र! प्रेममय होनेसे स्निग्ध (चिकनी), स्वयम्प्रकाश होनेसे स्पष्ट, आनन्द-मय होनेसे मृदुल स्पर्शवाली, अनन्त होनेके कारण महाविस्तारसे युक्त, प्रचुर होनेसे घन, नित्य विकार-रहित एक ब्रह्मरूप महती शिला है। उस महा-शिलाके भीतर मनःकल्पनाओंसे अनन्त वे सभी भुवनादिरूप कमल विराज रहे हैं। यहाँपर मैंने यह कोई अपूर्व शिला ही दृष्टान्तरूपसे आपके समक्ष उपस्थित की है, जिसकी महाकुक्षिके भीतर यह सब जगत् प्रतीत होनेके कारण तो है, किंतु वास्तवमें नहीं है। तुमसे उस चिन्मय ब्रह्मरूप शिलाका ही मैंने कथन किया है, जिसके सकल्पमें ये सारे जगत् विद्यमान हैं। इस सच्चिदानन्द ब्रह्ममें शिलाकी ज्यों घनता, एकरूपता आदि हैं। अत्यन्त घनीभूत अङ्गोंवाली और पोलसे रहित इस सच्चिदानन्दघनरूप शिलाके अंदर यह जगत्-समूह कल्पित है। यद्यपि उस चेतनरूप शिलामें स्वर्ग, पृथिवी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियाँ और दिशाएँ विद्यमान प्रतीत होती हैं, तथापि उसमें वस्तुतः तनिक भी अवकाश नहीं है। इस चेतनरूप शिलामें घनीभूत अवयवोंवाला जगद्रूपी कमल विकसित हो रहा है। वह यद्यपि उससे पृथक्-सा प्रतीत होता है, तथापि वास्तवमें उससे पृथक् नहीं है। श्रीराम! जैसे पत्थरमें चित्रकारकी मन:कल्पनासे शङ्ख, कमल आदि चित्र निर्मित किये जाते हैं, वैसे ही एकमात्र मनकी कल्पनासे इस चेतनरूप शिलामें भूत, वर्तमान और भविष्यत्—सारा संसार चित्रित किया गया है। प्राकृत शिलामें

जैसे पुतली आदि वास्तविक-से प्रतीत होते हैं, पर वास्तविक है नहीं; अपितु शिलारूप ही हैं, वैसे ही चेतन शिलामें सभी पदार्थ वास्तविक-से प्रतीत होनेपर भी वास्तविक नहीं हैं, किंतु चिन्मय ब्रह्म ही हैं। भीतर स्थित शङ्ख, कमल आदि आकारोंसे युक्त शिला अनेकरूपसे प्रतीत होती हुई भी जैसे घनीभूत एक शिला ही है, वैसे ही कल्पित आकारोंसे युक्त होकर अनेक आकृतियोंके रूपमें प्रतीत होता हुआ भी वास्तवमें घनीभूत एक ब्रह्म ही है। जिस प्रकार पाषाण-शिलाके भीतर शिल्पीद्वारा लिखित कमल, उस शिला-कोशसे अभिन्न होनेपर भी, अपने परिच्छिन्न आकारसे युक्त होकर उससे भिन्न-सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार चेतनके स्वरूपसे अभिन्न होनेपर भी यह सृष्टि उससे अन्य—परिच्छिन्न आकारवाली होकर उससे भिन्न-सी प्रतीत होती है, वास्तवमें भिन्न नहीं है। वास्तवमें ये प्रतीत होनेवाले भुवन आदि विकार विकारादि अर्थोंसे शून्य ब्रह्मरूप ही हैं। विषयोंका ग्रहण और अग्रहण भी ब्रह्मरूप ही हैं; क्योंकि ब्रह्म अनन्त है। विकार आदि रूपसे ब्रह्म ही अवस्थित है और ब्रह्म ही क्रमशः विकार आदिके रूपमें उत्पन्न हुआ है। इस चेतन शिलाके भीतर जो ये विकारादि पदार्थ प्रतीत हो रहे हैं, उन्हें तुम मृगतृष्णा-जलके सदृश समझो। जिस प्रकार रेखाओं एवं उपरेखाओंसे युक्त एक ही स्थूल शिला दीखती है, उसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्म ही त्रैलोक्यसे युक्त प्रसिद्ध जगत्‌रूपसे दीखता है। जैसे इस लौकिक शिलाके भीतर सर्वदा स्थित शिल्पीके वासनास्वरूप कमल आदि वास्तवमें न उदित होते हैं और न अस्त ही होते हैं, वैसे ही इस चेतन शिलामें मनोरूप जगत्‌की गति भी वास्तवमें न उदित होती है और न अस्त ही होती है। जिस तरह शिलाके भीतरकी रेखा आदि शिलासे भिन्न नहीं हैं, किंतु शिलामय ही है, उसी तरह कर्तृत्व आदि जगत् चेतनका संकल्प होनेसे चिन्मय ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं, किंतु ब्रह्मरूप ही हैं।

रघुनन्दन! देश, काल, क्रिया आदि भी ब्रह्मरूप ही हैं; अतः 'यह अन्य है', 'यह अन्य है' इस प्रकारकी कल्पना यहाँ नहीं बन सकती। जिस प्रकार चिन्तामणिके अन्तर्गत चिन्तकोंके अनन्त फल पर्याप्त-रूपसे रहते हैं, उसी प्रकार परम चेतन परमात्मरूप मणिमें अनन्त जगत् रहते हैं। समुद्रमें स्थित आवर्त, तरङ्ग आदिरूप जलस्पन्दनके विलासकी तरह और शिलाके भीतर अङ्कित कमलकी तरह यह अद्वितीय चेतन परमात्मा जगद्रूपसे नाना प्रतीत होता है। जो वर्तमान-कालिक जगत् है, वह चेतनमें एक तरहसे शिलामें खुदी गयी मूर्तिके सदृश है और जो जगत् वर्तमानकालमें नहीं है यानी भूत एवं भविष्यत्कालिक जो जगत् है, वह एक तरहसे चेतन शिलामें न खोदी गयी मूर्तिके सदृश है। जैसे कमल आदि शब्द और उनके अनेकों अर्थ शिलाको छोड़कर नाना-से प्रतीत होते हैं, वास्तवमें शिलासे उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है। वैसे ही अद्वय चेतन परमात्माको छोड़कर ये जगदादि शब्द और उनके अर्थ नाना-से प्रतीत होते हैं; वास्तवमें चिन्मय परमात्मासे पृथक् उनका अस्तित्व नहीं है, किंतु वे चिन्मय परमात्मा ही हैं। श्रीराम! मरु-मरीचिका मृगकी दृष्टिमें तो निर्मल जलराशि ही है, किंतु विवेक-बुद्धिसे सम्पन्न विद्वानोंको स्थलपर सूर्यकी किरणें ही पड़ती हुई दिखायी देती हैं। वहाँ जैसे सत्स्वरूप किरणें ही असत् जलराशिके रूपमें दिखायी पड़ती हैं, वैसे ही सच्चिदानन्द-स्वरूप तुम ही असत् जगद्रूपसे प्रतीत होते हो। वास्तवमें तो तुम सच्चिदानन्द-स्वरूप हो। जैसे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें उत्पत्ति-विनाशका अभाव है, वैसे ही जगत्‌में भी उत्पत्ति-विनाशका अभाव है; क्योंकि जिस प्रकार मरुभूमिमें सूर्यकी किरणें जलरूपसे प्रतीत होती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म ही जगद्रूपसे प्रतीत होता है। जैसे सूर्यकी धूपसे बर्फ गलकर जलरूप ही हो जाता है,

वैसे ही मेरु, तृण, गुल्म, मन और जगत् आदि सारे पदार्थ परमात्माके यथार्थज्ञानसे परम विशुद्ध परमात्मा ही हो जाते हैं, यों ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं। (सर्ग ४६-४७)

परमात्माके स्वरूपका और अविद्याके अत्यन्त अभावका निरूपण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! अपने अतिशय परमानन्दमय स्वरूपका अनुभव करनेवाले ज्ञानी मुनि, देवतागण, सिद्ध और महर्षिलोग सर्वदा तुरीय पदमें स्थित रहते हैं। व्यवहारमें लगे हुए जो लोग बाह्य दृश्य विषयोंमें सत्यताकी भावनासे रहित हैं, जो पुरुष विषयेन्द्रिय-सम्बन्धोंका परित्याग करके समाधिमें निरत हैं, चित्रलिखित देहधारियोंकी भाँति जो प्राणोंके स्पन्दनसे रहित हैं और उन्हींकी भाँति जो मनोगतिसे भी शून्य हैं, वे सब अपने उस परमपद-स्वरूप परमात्मामें—जहाँ मनका एवं दृश्यकी आसक्तिका अभाव है—समानभावसे नित्य स्थित हैं। वह विशुद्ध चिन्मय परमात्मा न तो दृष्टिका विषय है और न उपदेशका ही विषय है। वह न तो अत्यन्त समीप है और न दूरवर्ती ही है; किंतु केवल अनुभवसे ही प्राप्य और सब जगह समानभावसे स्थित है। शुद्ध सच्चिदानन्द परमात्मा न देहस्वरूप है न इन्द्रिय एवं प्राणरूप है, न चित्तस्वरूप है न वासनारूप है, न स्पन्दस्वरूप है न ज्ञानरूप है और न जगद्रूप ही है, बल्कि इन सबसे अति परे महान् श्रेष्ठ है। वह न सद्रूप है न असद्रूप है और न सत् एवं असत्के मध्यवर्ती ही है। वह न तो शून्यस्वरूप है और न अशून्य-स्वरूप ही है; वह देश, काल एवं वस्तु भी नहीं है; किंतु ब्रह्मस्वरूप ही है, उससे भिन्न कुछ नहीं। वह ब्रह्म देह आदि समस्त पदार्थोंसे रहित है और जिसके रहनेपर यह दृश्य जगत् आविर्भाव, तिरोभाव आदिरूपसे स्पन्दित होता है वह परमात्मपद ही है। ये हजारों देहरूप घडे उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होते हैं; किंतु बाहर एवं भीतर व्याप्त इस परमात्म-स्वरूप आकाशका नाश नहीं होता (अर्थात् जिस प्रकार घड़ोंका नाश होनेपर भी घटाकाशका नाश नहीं होता, उसी तरह देहका नाश होनेपर भी परमात्माका नाश नहीं होता।) आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ श्रीराम ! उपर्युक्त देहादि सम्पूर्ण जगत् परमात्मरूप ही है, किंतु वह जगत् केवल अज्ञानवश ही परमात्मासे पृथक्-सा प्रतीत होता है। तुम्हें तो अपनी पवित्र बुद्धिसे यह ज्ञात ही है कि यह विश्व परमात्मस्वरूप है। स्थावर एवं जङ्गम-स्वरूप जो कुछ यह जगत् दीखता है, वह सब ब्रह्म ही है; किंतु वास्तवमें वह ब्रह्म लक्षणों और गुणोंसे, मलसे, विकारोंसे तथा आदि और अन्तसे रहित एवं नित्य, शान्त और समस्वरूप है।

श्रीराम ! दही बन जानेसे दूध पुनः अपने दूध-रूपमें नहीं आता। किंतु ब्रह्म ऐसा नहीं है। आदि, मध्य और अन्त—किसी भी दशामें ब्रह्म तो निर्विकार ब्रह्मरूप ही ज्ञात होता है। इसलिये दूध आदिके समान ब्रह्ममें विकारिता नहीं है। समस्वरूप ब्रह्मका आदि और अन्तमें जो क्षणभरके लिये विकार दिखलायी पडता है, उसे तुम जीवात्माका भ्रम समझो; क्योंकि अविकारी ब्रह्ममें कोई विकार नहीं हो सकता। उस ब्रह्ममें दृश्य-दर्शनका अत्यन्त अभाव है। वास्तवमें वह ब्रह्म संसारके सम्बन्धसे रहित, सच्चिदानन्दघन कहा गया है। आदि और अन्तमें जिस वस्तुका जो स्वरूप है, वही उसका नित्य स्वरूप है। यदि मध्यमें उसका अन्य रूप दिखलायी पडता है तो वह केवल अज्ञानके कारण ही दिखायी देता है। वास्तवमें परमात्मा तो आदि, अन्त और मध्यमें सर्वत्र सदा एकरूप है; क्योंकि स्वस्वरूप परमात्मतत्त्व कभी भी विषमभावको प्राप्त नहीं होता। निराकार, अद्वितीय

तथा नित्यस्वरूप होनेके कारण यह परब्रह्म परमात्मा कभी भाव-विकारोंसे युक्त नहीं होता।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—ब्रह्मन्! अद्वितीय तथा अत्यन्त शुद्ध नित्य ब्रह्ममें जीवात्माके भ्रमरूप अविद्याका आगमन कैसे हुआ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! विकार तथा आदि और अन्तसे रहित यह पूर्ण ब्रह्मतत्त्व पहले भी था, इस समय भी है और भविष्यमें भी सदा रहेगा। वास्तवमें अविद्याका किंचिन्मात्र भी अस्तित्व नहीं है, यह मेरा दृढ़ निश्चय है। 'ब्रह्म' इस शब्दसे जो वाच्य एवं वाचकका पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाता है, उसका भी भेदमें तात्पर्य नहीं है, किंतु वह समझानेके लिये ही है। श्रीराम! तुम और मैं, यह संसार और दिशाएँ, आकाश और पृथ्वी अथवा अनल आदि सब-के-सब आदि और अन्तसे रहित ब्रह्म ही हैं, अविद्या तो वास्तवमें है ही नहीं; क्योंकि मुनिलोग 'अविद्या'को भ्रममात्र और असत् कहते हैं। श्रीराम! वास्तवमें जो वस्तु है ही नहीं, वह सत्य कैसे समझी जा सकती है। वेद-रूप वाणीका रहस्य जाननेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ विद्वानोंने 'यह अविद्या है और यह जीव है' इत्यादि कल्पना अज्ञानी जनोंको उपदेश देनेके लिये ही की है। केवल युक्तिसे ही बोध कराकर इस जीवको परमात्मामें नियुक्त किया जा सकता है; क्योंकि जो कार्य युक्तिसे सम्पादित होता है, वह सैकड़ों अन्य उपायोंसे नहीं होता। अज्ञानी दुर्मतिके सम्मुख उसे सुहृद् समझकर 'यह सब कुछ ब्रह्म है' यों जो पुरुष कहता है, उसका वह कथन एक ठूँठको दुःख निवेदन करनेके समान है। उससे कोई लाभ नहीं है। क्योंकि मूर्ख युक्तिसे प्रबोधित होता है और प्राज्ञ तत्त्वसे। युक्तिसे बोध कराये बिना मूर्खको ज्ञान नहीं होता। श्रीराम! मैं ब्रह्म हूँ, तीनों जगत् ब्रह्म हैं, तुम ब्रह्म हो और यह दृश्य पृथ्वी भी ब्रह्म ही है; ब्रह्मसे पृथक् कोई दूसरी कल्पना ही नहीं है। रघुनन्दन! सोते जागते, चलते-फिरते, बैठते, श्वास लेते—सब समय अपने हृदयमें 'सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही मैं हूँ' ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि तुम वास्तवमें सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित, शान्त, चिन्मय ब्रह्म हो यथा सर्वव्यापी, अद्वितीय, शुद्ध ज्ञान-स्वरूप, आदि और अन्तसे रहित, प्रकाशात्मक परम-पदस्वरूप हो एवं ब्रह्म, तुरीय, आत्मा, अविद्या, प्रकृति—ये सब भी अभिन्न, अद्वितीय नित्य परमात्मस्वरूप ही हैं। जैसे मिट्टीसे घड़ा पृथक् नहीं है, वैसे ही परमात्मासे प्रकृति पृथक् नहीं है। जैसे वायु और उसका स्पन्दन एक ही पदार्थ हैं और नामसे दोनों भिन्न होते हुए भी वास्तवमें भिन्न नहीं हैं वैसे ही परमात्मा और प्रकृति—ये दोनों एक हैं और नामसे भिन्न होते हुए भी वास्तवमें भिन्न नहीं हैं। जैसे अज्ञानसे रज्जुमें सर्पकी प्रतीति होती है, वैसे ही अज्ञानसे इन दोनोंमें भेद जान पड़ता है और वह भेद यथार्थ ज्ञानसे ही विनष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह कि परमात्माके सिवा—उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। (सर्ग ४८-४९)

जीवात्माका अपनी भावनासे लिङ्गदेहात्मक पुर्यष्टक बनकर अनेक रूप धारण करना

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्! मुझे सम्पूर्ण ज्ञातव्य (जानने योग्य) वस्तुका ज्ञान है और अविनाशी द्रष्टव्य वस्तुका अनुभव है तथा मैं आपके सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मज्ञानरूप उपदेशामृतसे तृप्त हूँ। सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मासे यह पूर्ण संसार परिपूर्ण है। पूर्ण-ब्रह्म परमात्मासे ही यह संसार उत्पन्न होता है, पूर्ण-ब्रह्म परमात्माद्वारा ही यह संसार पूरित है एवं पूर्णब्रह्म परमात्मामें ही यह संसार स्थित है; तथापि ब्रह्मन्! बहुत लोगोंके ज्ञानकी अभिवृद्धिके लिये लीलासे मैं आपसे यह प्रश्न पूछता हूँ। मृत प्राणीके श्रोत्र, चक्षु, त्वचा,

रसना और घ्राण—ये इन्द्रियगोलक प्रत्यक्ष विद्यमान रहते हुए भी अपने अपने विषयोंका ग्रहण क्यों नहीं करते और जीते हुए प्राणीकी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंका ग्रहण कैसे करती हैं ? जडरूप होती हुई भी ये इन्द्रियाँ शरीरके भीतर स्थित रहकर घटादि बाह्य पदार्थोंका अनुभव कैसे करती हैं और कैसे नहीं भी करतीं ? महर्षे ! यद्यपि मैं इन विशेषोंको जान रहा हूँ, तथापि आपसे फिर पूछता हूँ, उसे आप कृपापूर्वक पूर्णरूपसे कहिये ।

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम ! इस संसारमें विशुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्मके सिवा इन्द्रिय, चित्त और घट आदि किसी भी अन्य पदार्थका पृथक् अस्तित्व नहीं है । अर्थात् एक विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही हैं । वह चिन्मय परमात्मा ही प्रकृति बन गया है । उसी प्रकृतिके अंशसे इन्द्रिय आदि एवं घट आदि उत्पन्न हुए हैं । किंतु आदि और अन्तसे रहित, विकार-रहित, प्रकाशस्वरूप, शुद्ध चैतन्यमात्र, जगत्-कारणरूप ब्रह्म वास्तवमें मायासे रहित है । यह अज्ञानी जीवात्मा ही अज्ञानके कारण अपनी भावनाके अनुसार संसारका रूप धारण करता है । वह अहं-भावनासे 'अहंकार', मननसे 'मन', निश्चयकी भावनासे 'बुद्धि', इन्द्रियोंकी भावनासे 'इन्द्रिय', देहकी भावनासे 'देह' और घटकी भावनासे घट बन जाता है । इस प्रकार अपनी भावनाके कारण यह जीवात्मा पुर्यष्टक बन जाता है । ज्ञानेन्द्रियोंके व्यापारोंको लेकर 'मैं ज्ञाता हूँ', कर्मेन्द्रियोंके व्यापारोंको लेकर 'मैं कर्ता हूँ', उन ज्ञान-कर्मेन्द्रियोंके व्यापारोंसे जनित सुख-दुःखोंका आश्रय होनेसे 'मैं भोक्ता हूँ', उदासीन होकर सबका प्रकाशन करनेसे मैं 'साक्षी हूँ' इत्यादि अभिमानयुक्त जो चैतन्य है, वही 'जीव' कहा गया है । वही जीवात्मा अपनी भावनासे समय-समयपर स्वयं ही अनेकरूप हो जाता है । जैसे जल सींचनेसे बीजके पल्लव आदि आकार होते हैं, वैसे ही भावनाके अनुसार उस जीवके भी शरीर आदि, स्थावर आदि एवं जंगम आदि अनेक रूप होते हैं; क्योंकि वह जीवात्मा अज्ञानसे यह मान लेता है कि मैं चेतन आत्मा नहीं हूँ, किंतु शरीर आदि हूँ । वासनाओंके वशीभूत हुआ यह जीव कर्मानुसार चिरकालतक स्वर्ग-नरकमें आवागमनों-द्वारा जगत्में घूमता ही रहता है । इनमेंसे कोई तो विशुद्ध जन्मके कारण पहले जन्ममें ही परमात्माको यथार्थ जानकर आदि-अन्तसे रहित परमपद परमात्माको प्राप्त हो जाता है । कोई बहुत कालतक अनेक योनियोंमें प्राप्त सुख-दुःखादि भोगोंके अनन्तर परमात्माके यथार्थ ज्ञान-द्वारा परमपदको प्राप्त होता है । श्रीराम ! बाह्य विषयोंके ज्ञानमें इन्द्रिय-सम्बन्ध ही सदा कारण है और वह इन्द्रियोंका सम्बन्ध चित्तसे युक्त जीवित पुरुषमें ही सम्भव है; मृत पुरुषमें कभी नहीं । जब ज्ञानपर चढ़े हुए चमकीले नवीन रत्नके समान आँखोंके तारेमें बाह्य दृश्य पदार्थ प्रतिबिम्बित होता है, तब उस पदार्थका हृदयमें प्रतिबिम्ब पड़नेके कारण, देहाभिमानी जीवके साथ सम्बन्ध हो जाता है । इस रीतिसे बाह्य वस्तु जीव-द्वारा हृदयमें जानी जाती है । (सर्ग ५०)

पुर्यष्टक बने हुए जीवात्माको तत्त्वज्ञानसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति होनेका कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! व्यष्टि चेतन जीवात्मा गर्भमें चक्षु आदि इन्द्रियोंके प्रादुर्भावसे सम्पन्न पुर्यष्टकस्वरूप हो जानेपर जिस वस्तुकी जिस प्रकार भावना करता है, उसी प्रकार उसे अपनी भावनासे तत्काल ही अनुभव करने लगता है । किंतु वास्तवमें अद्वितीय, असीम और अवेद्य होनेसे निर्विकार शुद्ध आत्मामें दूसरे किसी पदार्थका अस्तित्व है ही नहीं । अतः वह चेतन आत्मा वास्तवमें दृश्यके सम्बन्धसे कभी भी मनोरूपता, जीवरूपता अथवा पुर्यष्टकरूपताको नहीं प्राप्त होता । श्रीराम ! परमात्मा तो वास्तवमें विद्या

आदिद्वारा नहीं जाना जा सकता और वह सदा विद्यमान होते हुए भी अश्रद्धालु विश्वासहीन पुरुषोंके लिये नहीं है। वही 'परमात्मा' इस नामसे कहा गया है तथा वही पाँचों इन्द्रिय और छठे मनसे अतीत है अर्थात् इनके द्वारा वह जाना नहीं जा सकता। 'उस परमात्मासे चेतन जीव उत्पन्न होता है' इत्यादि मननात्मक कल्पना एकमात्र शिष्योंको समझानेके लिये ही कही गयी है। वास्तवमें परमात्मासे भिन्न अन्य कुछ है ही नहीं। जैसे मृगतृष्णा-जलको प्रयत्नसे भी किसीने कहीं नहीं पाया, उसी प्रकार प्रतीत होनेपर भी जो अभावरूप पदार्थ हैं, वे प्रयत्नसे भी किस तरह पाये जा सकते हैं। क्योंकि असत् पदार्थ ही सत् प्रतीत होता है। उसकी सत्यता असद्रूप अविद्यासे ही है। ज्ञानसे तो जो वस्तु वास्तवमें जिस प्रकारकी रहती है, वह उसी प्रकारकी अनुभूत हो जाती है और भ्रान्ति नष्ट हो जाती है। ये इन्द्रिय, मन, प्राण आदि आन्तरिक पदार्थ हैं और ये घट आदि बाह्य पदार्थ हैं—ऐसे विचारवाला जीवात्मा जिसकी जैसी भावना कर लेता है, उसे वैसी ही प्रतीति होने लगती है। द्वैत एवं अद्वैतरूप यह सम्पूर्ण जगत् उसी प्रकार परमात्मासे ही बना है, जैसे ईखके रससे खोड और मिट्टीसे महान् घट। खाँड, घट आदिमें—देश, काल आदिसे परिच्छिन्न होनेके कारण—अवयव-विन्यास, विकार आदि हो सकते हैं; परंतु ब्रह्म तो देश, काल आदिसे परिच्छिन्न नहीं है; सुतरा उसमें वे विकार आदि वास्तवमें हो ही नहीं सकते। केवल ब्रह्ममें जगत्की कल्पनामात्र है। क्योंकि जिस प्रकार भूषणमें स्थित सुवर्णमें यानी सुवर्णके आभूषणमें सत्य एवं असत्यरूप सुवर्णत्व और कटकत्व दोनों रहते हैं, उसी प्रकार परमात्मामें भी चेतनता और जडता दोनों रहती हैं। तात्पर्य यह कि जैसे स्वर्ण ही आभूषणके रूपमें प्रतीत होता है, वैसे ही चेतन ब्रह्म ही जड जगत्के रूपमें प्रतीत होता है।

जैसे मनुष्य स्वप्नमें शीघ्र ही दीवाल बनकर पट बन जाता है, वैसे ही मरणकालमें जीवात्मा दूसरा शरीर अपने-आप बन जाता है। स्वप्नमें अपने संकल्पसे ही जीवात्मा जन्मता-मरता है। वास्तवमें यह सब मिथ्या है। इस जीवकी अपनी वासना ही पाञ्चभौतिक देह होकर उसी प्रकार आगे खड़ी हुई-सी रहती है, जिस प्रकार बालकके आगे कल्पित असत्य महान् प्रेत खड़ा हुआ-सा रहता है। मन, बुद्धि, अहंकार एवं पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ—इन आठोंका समूह पुर्यष्टक कहा गया है और यही 'आतिवाहिक' देह कहा गया है।* सजीव पहाड़, वृक्षरूप स्थावर आदि अवस्थाओंमें तथा कल्पवृक्षकी अवस्थाओंमें भी पाषाण-शिलाके समान घनीभूत जडतावाली (तमोयुक्त) यह आतिवाहिक देह (लिङ्गशरीर) सुषुप्ति-अवस्थामें स्थितकी ज्यों ही स्थित रहती है। जीवात्माके यथार्थ ज्ञानसे ही मुक्ति होती है और उसी ज्ञानसे वह परमात्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है। जीवात्माके यथार्थ ज्ञानसे जो मुक्ति प्राप्त होती है, वह शास्त्रोंमें दो प्रकारकी बतलायी गयी है—एक जीवन्मुक्ति और दूसरी विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्ति ही तुरीयावस्था है। उसके परे तुरीयातीत परम ब्रह्मपद है। यथार्थ ज्ञान होनेसे यह जीव प्रबोधस्वरूप हो जाता है यानी उत्कृष्ट चैतन्यात्मक ब्रह्मरूप हो जाता है और वह यथार्थज्ञान या बोध पुरुष-प्रयत्नसे साध्य है। जो जीवात्मा अपने सर्वव्यापी स्वरूपको यथार्थ जान जाता है, वह सच्चिदानन्दमय ही हो जाता है। किंतु जो जीव उपर्युक्त ज्ञानसे शून्य है, वह अज्ञानवश शिलाकी तरह दृढीकृत अपने हृदयमें दीर्घतम संसारस्वप्न-भ्रान्तिरूप तीव्र भयका अनुभव करता रहता है। जीवके

* इन्हींको योगदर्शन (२। १९) और सांख्यकारिका (३) में शब्द स्पर्श रूप-रस-गन्धरूप पञ्चविषयात्मक सूक्ष्म तन्मात्राएँ कहा गया है, एवं गीतामें आकाश-वायु-तेज-जल-पृथ्वीरूप सूक्ष्म महाभूत बताया गया है (७। ४; १३। ५)।

क्षीरसागरमें शेष-शय्यापर विराजित भगवान्‌का जगत्‌की स्थितिको देखना

(उपशम-प्रकरण सर्ग ३८)

भीतर चिन्मय आत्माके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। पर यह अज्ञानके कारण उसी चेतन आत्माको जड देहके रूपमें समझकर व्यर्थ ही शोक किया करता है। जीवात्माके भीतर परमब्रह्मके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। अहो! जहाँ-तहाँ यह जो जगत् प्रतीत होता है, वह मायाका ही परिणाम है।

श्रीराम! वासनाओंका बन्धन ही इस जीवात्माके लिये बन्धन है, वासनाओंका अभाव ही इसका मोक्ष है और वासनाओंका लय ही सुषुप्ति-अवस्था है; और वही वासना स्वप्नमें नाना प्रकारसे प्रकट होती है। जब यह जीव वासनाओंकी घनतासे मोहित होता है, तब वह स्थावर आदि योनियोंको प्राप्त होता है; जब मध्यम प्रकारकी वासनाओंसे युक्त होता है, तब पशु-पक्षी आदि योनियोंको प्राप्त होता है और जब क्षीण वासनाओंसे समन्वित होता है, तब मनुष्य-देव-गन्धर्व आदि योनियोंको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि वासनाओंके क्षयके तारतम्यसे उत्तरोत्तर शुभयोनिकी प्राप्ति होती है। किंतु परमात्मा तो वास्तवमें न किसीका त्याग करता है और न किसीका ग्रहण ही करता है। वास्तवमें परमात्मासे भिन्न किसीका अस्तित्व है ही नहीं। अतः यहाँ बाह्य और आन्तर कलात्मक जगत्के रूपमें वह परमात्मा ही अपने संकल्पसे प्रकाशित होता है, अतः परमात्माके सिवा और कुछ नहीं है। ये तीनों जगत् चिन्मय परमात्माका सकल्प ही हैं। इसलिये भेदके विकल्पोंसे प्रयोजन ही क्या रहा। अब हम सच्चिदानन्द परमात्मामें नित्य स्थित हैं। इस बाह्य-आन्तर जगत्का भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों कालोंमें ही अत्यन्त अभाव है। अर्थात् वास्तवमें यह जगत् न पहले था, न अभी है और न भविष्यमें ही कायम रहेगा। जैसे समुद्र तरङ्ग आदि समस्त भेदोंसे रहित, सम्पूर्णरूपसे केवल विशुद्ध द्रवात्मक जलस्वरूप ही है, वैसे ही यह जगत् भी समस्त भेदों और विकारोंसे रहित केवल परमपद ब्रह्मस्वरूप ही है।

(सर्ग ५१)

श्रीकृष्णार्जुन-आख्यानका आरम्भ—अर्जुनके प्रति भगवान् श्रीकृष्णद्वारा आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—महाबाहु श्रीराम! अब कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा कहे हुए उस शुभ अनासक्ति-योगको तुम सुनो, जिसका अवलम्बन करके मनुष्य जीवन्मुक्त महामुनि बन जाता है। उस उपदेशको सुनकर महाराज पाण्डुका पुत्र अर्जुन जीवन्मुक्तिरूप सुखसे युक्त हुआ अपना जीवन बितायेगा।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—ब्रह्मन्! कृपाकर आप मुझे यह बतलाइये कि वह पाण्डुनन्दन इस पृथ्वीपर कब उत्पन्न होगा और उसके प्रति अनासक्तिका वर्णन भगवान् श्रीकृष्ण किस तरह करेंगे?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! एक समय यह पृथ्वी मृत्युलोकमें आये हुए भारस्वरूप पापी प्राणियोंसे व्याप्त, वन-गुल्मोंसे सकीर्ण-सी और दीन हो जायगी। उस समय पापी मनुष्योंके भारसे पीडित यह दीन पृथ्वी शरण पानेके लिये भगवान् विष्णुके समीप उसी तरह जायेगी, जिस तरह लुटेरोंसे लूटी गयी कातर स्त्री अपने पतिके समीप जाती है। तब सम्पूर्ण देवांशोंके साथ भगवान् श्रीहरि नर और नारायणके अवतारस्वरूपमें दो शरीरोंसे पृथ्वीपर प्रकट होंगे। उनमेंसे श्रीहरिके नारायणस्वरूपका साक्षात् अवतार एक तो 'श्रीवासुदेव' इस नामसे विख्यात होगा और दूसरा अंशावतार नरस्वरूप पाण्डुपुत्र 'अर्जुन' इस नामसे विख्यात होगा और चारों समुद्रोंसे घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वीका अधिपति एवं धर्मका पुत्र 'युधिष्ठिर' इस नामसे प्रसिद्ध होगा। वह पाण्डुपुत्र धर्मज्ञ होगा, उसका

चचेरा भाई 'दुर्योधन' नामसे विख्यात होगा और उस दुर्योधनका 'भीम' नामक द्वितीय पाण्डु-पुत्र वैसा ही प्रतिद्वन्द्वी होगा, जैसे सर्पका प्रतिद्वन्द्वी नकुल। पृथ्वीको अपने-अपने अधिकारमें करनेके लिये परस्पर युद्ध करनेमें तत्पर उन दोनोंकी भयंकर अठारह अक्षौहिणी सेना कुरुक्षेत्रमें होनेवाली महाभारतकी लड़ाईमें इकट्ठी होगी। रघुनन्दन! महान् गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुनकी देहसे उन सेनाओंको नष्टकर श्रीविष्णुभगवान् (श्रीकृष्ण) पृथ्वीको भारसे मुक्त कर देंगे। युद्धके प्रारम्भमें भगवान् विष्णुका अंश अर्जुन प्राकृतभावमें स्थित होकर हर्ष और शोकसे युक्त मनुष्य-धर्मवाला बन जायगा। दोनों सेनाओंमें पहुँचे हुए और मरनेके लिये तैयार अपने बन्धुओंको देखकर वह अर्जुन विषादको प्राप्त हो जायगा और युद्ध करना अस्वीकार कर देगा। राघव! उस समय अर्जुनको उपस्थित कार्यकी सिद्धिके लिये श्रीविष्णुभगवान् अपने ज्ञानमय श्रीकृष्णस्वरूपसे इस प्रकार उपदेश देंगे—

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता। जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है और न किसीके द्वारा मारा जाता है। अनन्त, एकरूप, सत्स्वरूप और आकाशसे भी अत्यन्त सूक्ष्म प्रभावशाली परम शुद्ध आत्माका किससे किस तरह क्या नष्ट होता है? अर्थात् उसका किसी प्रकार कभी विनाश नहीं होता। अतएव ज्ञानस्वरूप अर्जुन! तुम आदि और मध्यसे रहित, अनन्त एवं अव्यक्त अपने वास्तविक स्वरूपका अवलोकन करो। तुम अप्रमेय, दोषरहित, चैतन्यस्वरूप, अज, नित्य और विशुद्ध हो।' (सर्ग ५२)

कर्तृत्वाभिमानसे रहित पुरुषके कर्मोंसे लिप्त न होनेका निरूपण एवं सङ्गत्याग, ब्रह्मार्पण, ईश्वरार्पण, संन्यास, ज्ञान और योगकी परिभाषा

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—अर्जुन! तुम स्वयं जरा-मरणसे रहित नित्य चिन्मय आत्मस्वरूप हो। तुम 'मारने-वाले' नहीं हो, अतः इस अभिमानरूप दोषका त्याग कर दो। क्योंकि जिस पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है तथा जिसकी बुद्धि सांसारिक पदार्थोंमें और कर्मोंमें लिप्त नहीं होती, वह पुरुष इन सब लोकोंको मारकर भी वास्तवमें न तो मारता है और न पापसे बँधता है। इसलिये 'अयम्' यानी यह संसार 'सोऽहम्' यानी वह मारनेवाला मैं, 'इदम्' यानी यह देह और 'तन्मे' यानी वे बन्धु आदि मेरे हैं—इस तरहकी अन्तःकरणमें उत्पन्न हुई वृत्तिका त्याग कर दो। क्योंकि भारत! इसी बुद्धिवृत्तिके कारण 'मैं पापोंसे युक्त हूँ', 'मैं विनाशशील हूँ' इत्यादि भ्रान्तियोंके अधीन होकर तुम चारों ओर सुख-दुःखोंसे संतप्त हो रहे हो। वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म अपनी आत्माके अंशरूप गुणोंके द्वारा ही विभागपूर्वक किये जाते हैं; तो भी जिसका अन्तःकरण अहंकारसे मोहित हो रहा है, वह अज्ञानी 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मानता है। महात्मा पुरुषके अन्तःकरणमें 'मैं' नामकी कोई वस्तु नहीं है; फिर तुम्हारे लिये कौन पदार्थ क्लेशकारक है? अर्थात् कोई नहीं। भारत! बहुतोंने मिलकर एक साथ जिस कार्यका सम्पादन किया हो, उसमें यदि किसी एकको 'मैंने ही यह किया है' यों अभिमान-जन्य दुःख होता है तो वह हास्यास्पद ही है। क्योंकि कर्मयोगी ममत्वबुद्धिरहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तः-करणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं। तथा जिसका शरीर

अहंतारूपी विषसे दूषित नहीं हुआ वह रागादिरूपी हैजेसे मुक्त योगी कर्म करते हुए और न करते हुए भी लिप्त नहीं होता। जैसे विवेकी और लौकिक विषयोंका ज्ञाता होनेपर भी दुष्ट-प्रकृति पुरुष कहीं शोभा नहीं पाता, वैसे ही ममतारूपी दोषसे दूषित मनुष्य कहीं भी शोभा नहीं पाता। जो ममता और अहंकारसे रहित, सुख और दुःखोंकी प्राप्तिमें सम और क्षमावान् है, वह मनुष्य कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता। पाण्डुपुत्र! यह शास्त्रविहित उत्तम क्षात्रकर्म तुम्हारा स्वकर्म है। वह बन्धु-वधरूप होनेसे क्रूर होनेपर भी कर्तव्यबुद्धिसे किये जानेपर सुख, अभ्युदय और कल्याणका जनक है।

धनंजय! तुम आसक्तिको त्यागकर योग—समतामें स्थित हुए कर्तव्यकर्मोंको करो। क्योंकि आसक्तिरहित होकर न्यायसे प्राप्त कर्म करनेवाला मनुष्य कर्मोंसे नहीं बँधता। तुम शान्तिमय ब्रह्मस्वरूप होकर कर्मको ब्रह्ममय बना दो। अपने सत्कर्मोंको ब्रह्मार्पण कर देनेपर तुम शीघ्र ब्रह्म ही हो जाओगे। अपने सम्पूर्ण स्वार्थोंको परमेश्वरमें समर्पितकर तथा अपने-आपको भी परमेश्वरमें समर्पितकर पापरहित हुए एवं सर्वभूतोंका आत्मा बनकर इस भूतलको विभूषित करते हुए तुम परमात्मा बन जाओ। तुम सभी संकल्पोंसे रहित हो; इसलिये अब समस्वरूप, शान्तचित्त मुनि बनकर कर्मफलत्यागरूपी संन्यासयोगमें आत्माको युक्त करके कर्म करते हुए ही मुक्त हो जाओ।

अर्जुनने पूछा—भगवन्! सङ्ग-त्याग, ब्रह्मार्पण, ईश्वरार्पण, सर्वथा संन्यास तथा ज्ञान और योगका विभाग क्या है? प्रभो! मेरे मोहकी निवृत्तिके लिये यह सब कहिये।

श्रीभगवान्‌ने कहा—सारे संकल्पोंकी भलीभाँति शान्ति हो जानेपर सम्पूर्ण वासनाओं और भावनाओंसे रहित जो विशुद्ध केवल चेतनतत्त्व है, वही परब्रह्म परमात्मा कहा गया है। संस्कारके द्वारा पवित्र बुद्धिवाले पुरुषोंने उस परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके साधनको ही ज्ञान कहा है और उसीको योग कहा है तथा 'सम्पूर्ण संसार ब्रह्म ही है', और 'मैं भी ब्रह्मरूप ही हूँ'—इस प्रकार अपने आपको ब्रह्ममें अर्पण कर देनेको ब्रह्मार्पण कहा है एवं सम्पूर्ण कर्मफलोंके त्यागको ज्ञानियोंने संन्यास कहा है। संकल्प-समूहोंका जो त्याग है, वही असङ्ग (आसक्तिका अभाव) कहा गया है। आसक्तिके अभावका नाम ही सङ्गत्याग है। सभी संकल्प-विकल्प समूहोंमें जो एक ईश्वरकी भावना है तथा जीव और ईश्वरके एकत्वकी भावना है, उसीको जीवात्माका ईश्वरमें अर्पण कहा गया है। क्योंकि अज्ञानके कारण ही चेतन परमात्मामें इन जीव और जगत् आदिका नाममात्र ही भेद है। वास्तवमें यह नाम-रूपात्मक सम्पूर्ण जगत् ज्ञान-स्वरूप है; अतः जगत् एक ब्रह्ममय ही है, इसमें तनिक भी संशय नहीं है। अर्जुन! दिशाएँ मैं हूँ, जगत् मैं हूँ, आत्मा मैं हूँ और कर्म भी मैं ही हूँ। काल मैं हूँ, अद्वैत और द्वैत—सब मैं ही हूँ। इसलिये मुझमें मन लगाओ, मेरे भक्त बनो, मेरे पूजक बनो, मुझको प्रणाम करो। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तुम मुझको ही प्राप्त होओगे।

अर्जुनने पूछा—देवेश्वर! आपके पर और अपर—दो रूप किस प्रकारके हैं और परमपदरूप सिद्धिके लिये किस समय किस रूपका आश्रय लेकर मैं स्थित रहूँ?

श्रीभगवान्‌ने कहा—निष्पाप अर्जुन! यह जान लो कि मेरे दो रूप हैं—एक तो सामान्य रूप और दूसरा परम रूप। शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म धारण करनेवाला चतुर्भुज साकारस्वरूप तो मेरा सामान्य रूप है और जो मेरा विकाररहित, अद्वितीय, आदि और अन्तसे रहित निर्गुण निराकार स्वरूप है, वह परम रूप है; वही ब्रह्म, शुद्ध आत्मा, परमात्मा आदि शब्दोंसे कहा जाता है। तुम सम्प्रबुद्ध होकर परम उत्कृष्ट, आदि और अन्तसे रहित मेरे उस रूपको जान जाओगे, जिसके जानसे प्राणी इस संसारमें फिर उत्पन्न नहीं होता। अरिमर्दन! यदि

तुम ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करनेके योग्य हो तो मुझ परमेश्वरकी आत्माको और अपनी आत्माको एकरसकर अखण्ड परिपूर्णात्माका तत्काल आश्रय ले लो। 'यह मैं हूँ' और 'यह भी मै हूँ' इत्यादि जो कुछ मैं कहता हूँ, वह सब इस आत्मतत्त्वका ही उपदेश मै तुम्हें देता हूँ। मैं समझता हूँ कि मेरे उपदेशसे तुम भली प्रकार प्रबुद्ध हो चुके हो, ब्रह्मपदमें विश्रान्ति पा चुके हो और सर्वसंकल्पोंसे भी मुक्त हो चुके हो। अब तुम सत्य एवं अद्वितीय आत्मस्वरूप होकर स्थित रहो एवं सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त और सबको समभावसे देखनेवाले तुम आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखो—अर्थात् एक परमात्माके सिवा और कुछ नहीं है, ऐसा समझो। क्योंकि जो पुरुष 'सब कुछ ब्रह्म ही है' 'मैं भी ब्रह्म ही हूँ' इस प्रकार एकीभावका आश्रय लेकर सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित परमात्माको भजता है, वह सब प्रकारसे व्यवहार करता हुआ भी पुनः इस संसारमें उत्पन्न नहीं होता, अर्थात् वह परमपदको प्राप्त हो जाता है। 'सर्व' शब्दका अर्थ है—एकत्व और वह एकत्व परमात्माका वाचक है। वह परमात्मा प्रत्यक्ष प्रतीत न होनेके कारण सत् भी नहीं कहा जा सकता और ध्रुव सत्य भावरूप होनेके कारण असत् भी नहीं कहा जा सकता; अतः वह सत्-असत्से विलक्षण है। वह जिसके अनुभवमें आ जाता है, उसे शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। जो तीनों लोकोंके अन्तःकरणके भीतर स्थित हुआ प्रकाश देता है और जो ज्ञानियोंके अनुभवमें प्रत्यक्ष है, निश्चय ही वही मैं परमात्मा हूँ।

सम्पूर्ण शरीरोंके भीतर जो दृश्य संसारसे रहित और सूक्ष्मरूपसे व्यापक अनुभवस्वरूप है, वही यह सर्वव्यापी परमात्मा है। बाहर-भीतर प्रकाश करनेवाला तेजस्वरूप मैं देहोंके भीतर प्रत्यक्ष विद्यमान रहता हुआ भी प्रतीत नहीं होता। जिस तरह हजारों घड़ोंके बाहर और भीतर आकाश समभावसे व्यापक है, उसी तरह भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों जगत्में स्थित शरीरोंके भी बाहर और भीतर मैं व्यापक हूँ; किंतु लाखों देहोंके भीतर समभावसे व्यापक हुआ भी यह परमात्मा सूक्ष्म होनेके कारण प्रतीत नहीं होता। ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त जितना भी पदार्थ-समूह है, उसमें जो समभावसे नित्य स्थित है, विद्वान्लोग उसे ही नित्य चिन्मय परमात्मा जानते हैं। विनाशशील पदार्थोंमें साक्षीकी भाँति समभावसे स्थित अविनाशी परमात्माको जो देखता है, वही यथार्थ देखता है। पाण्डुनन्दन! 'समस्त शरीरोंमें चेतन ही मैं हूँ, शरीर मैं नहीं हूँ' इस प्रकार जो मैं कहता हूँ, वह अद्वितीय परमात्मा मैं सबका आत्मा हूँ। तुम मुझे इस प्रकार तत्त्वतः जानो। जिस प्रकार पर्वतोंका वास्तविक स्वरूप पाषाण ही है, वृक्षोंका स्वरूप काष्ठ ही है और तरङ्गोंका स्वरूप जल ही है, उसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थोंका वास्तविक स्वरूप परमात्मा ही है। जो पुरुष परमात्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको परमात्मामें कल्पित देखता है एवं आत्माको अकर्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है। अर्जुन! नाना प्रकारके आकार-विकारोंवाले तरङ्गोंमें जैसे जल व्यापक है या कडे-कुण्डल आदिमें सुवर्ण व्यापक है, वैसे ही विविध प्रकारके समस्त प्राणियोंमें परमात्मा समभावसे व्यापक है। तथा जिस प्रकार जलमें नाना प्रकारके चञ्चल तरङ्ग-समूह हैं या सुवर्णमें कडे-कुण्डल आदि हैं, उसी प्रकार परमात्मामें ये समस्त भूत-प्राणी भी हैं। इसलिये भारत! सम्पूर्ण पदार्थ और भूत-प्राणी एवं परम ब्रह्म—इन सबको एकरूप ही जानो, इनमें लेशमात्र भी पृथक्त्व नहीं है। इस प्रकारके उपदेशोंको सुनकर और निश्चयपूर्वक भीतर अभय ब्रह्मकी भलीभाँति भावना करके समबुद्धि महात्मालोग जीवन्मुक्त होकर इस संसारमें विचरा करते है। जिनका मान और मोह नष्ट हो गया है, जिन्होंने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है, जिनकी

परमात्माके स्वरूपमें नित्य स्थिति है और जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे नष्ट हो गयी हैं—वे सुख-दुःखनामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं।

(सर्ग ५३)

श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनके प्रति कर्म और ज्ञानके तत्त्व-रहस्यका प्रतिपादन

श्रीभगवान्‌ने कहा—महाबाहो अर्जुन! तुम फिर भी मेरे परम रहस्य और प्रभावयुक्त वचनको सुनो, जिसे मैं अतिशय प्रेम रखनेवाले तुम्हारे लिये हितकी इच्छासे कहूँगा। कुन्तीपुत्र! सर्दी, गर्मी और सुख-दुःखको देनेवाले इन्द्रिय और विषयोंके संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं; इसलिये भारत! उनको तुम सहन करो। इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंका विषय-संसर्ग, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व या इनसे भिन्न जो कुछ भी पदार्थ हैं, वे सब-के-सब एक सच्चिदानन्दघन परमात्मासे तनिक भी पृथक् नहीं हैं अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही है। अतः फिर सुख और दुःख कहाँ? आदि-अन्तसे रहित तथा अवयवहीन परमात्मामें पूर्णता और अपूर्णता कैसे हो सकती है। इसलिये जो पुरुष सुख-दुःखमें समान और धीर है, वह अमृतमय ब्रह्मपदको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। वास्तवमें सभी तरहसे सुख-दुःखोंका अस्तित्व तनिक भी नहीं है। परमात्मतत्त्व ही सर्वस्वरूप है, इसलिये अनात्मरूप संसारकी सत्ता कैसे स्थिर होगी। क्योंकि असत् वस्तुकी तो सत्ता है नहीं और सत्‌का अभाव नहीं है अतएव सुख-दुःख आदि हैं ही नहीं, केवल एक सर्वव्यापी परमात्मा ही है। अर्जुन! यद्यपि आत्मा दृश्य पदार्थोंका साक्षीरूपसे साक्षात्कार करनेवाला चेतनस्वरूप है और शरीरके अंदर रहता भी है, तथापि वह सुखोंसे न तो हर्षित होता है और न दुःखोंसे दुखित ही। परमात्मासे पृथक् देह आदि कुछ भी नहीं है और न दुःख आदि ही हैं; अतः वास्तवमें कौन किसका अनुभव करेगा? क्योंकि एक परमात्माके सिवा दूसरी वस्तु है ही नहीं। भारत! यह दुःख अज्ञानसे उत्पन्न एक प्रकारकी भ्रान्ति ही है अतः परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे वह सर्वथा विनष्ट हो जाता है। जिस प्रकार रज्जुका यथार्थ तत्त्व न जाननेसे उत्पन्न हुआ रज्जुमें सर्पका भय रज्जुके यथार्थ ज्ञानसे नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञानसे उत्पन्न हुए देह एवं दुःखादिका अस्तित्व परमात्माके तात्त्विक ज्ञानसे नष्ट हो जाता है। यह विश्व नित्य एवं पूर्ण ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म न तो नष्ट होता है और न उत्पन्न ही होता है, इसे ही ध्रुव सत्य जानो। यही यथार्थ बोध है।

अर्जुन! तुम मान, मद, शोक, भय, इच्छा, सुख, दुःख—इस सम्पूर्ण असद्रूप जड द्वैत-प्रपञ्चसे रहित हो जाओ और एकमात्र अद्वितीय चिन्मय सत्स्वरूप परमात्मामें तद्रूप हो जाओ। भारत! सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय और पराजयके ज्ञानसे रहित होकर तुम एकमात्र शुद्ध ब्रह्मरूप हो जाओ; क्योंकि तुम ब्रह्मरूप ही हो। अर्जुन! तुम जो कर्म करते हो, जो खाते हो, जो हवन करते हो, जो दान देते हो और भविष्यमें जो कुछ शास्त्रानुकूल अनुष्ठान करोगे, वह सब परमात्म-रूप ही है—इस प्रकारके ज्ञानमें स्थिर रहो। जो पुरुष अपने अन्तःकरणमें जिस पदार्थका संकल्प करता है, वह निस्संदेह उसी रूपमें बदल जाता है। इसलिये अर्जुन! सत्यस्वरूप ब्रह्मको प्राप्त करनेके लिये तुम सत्यस्वरूप ब्रह्म हो जाओ। क्योंकि जो पुरुष विनाशशील क्रियारूप संसारमें अक्रिय सच्चिदानन्द ब्रह्मको स्थित देखता और अक्रिय सच्चिदानन्द ब्रह्ममें विनाशशील क्रियारूप संसारको कल्पित देखता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानवान् है और सम्पूर्ण कर्मोंको कर चुका है—ऐसा कहा गया है—इसलिये अर्जुन! तुम कर्मोंमें वासना तथा कर्तापनके अभिमानसे रहित हो

जाओ । तुम्हारी कर्मोंको न करनेमें आसक्ति न हो और तुम योगमें स्थित हुए अनासक्तभावसे शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मोंका आचरण करो । मूढ़ता, अकर्मण्यता तथा कर्मोंमें आसक्तिके आश्रयसे रहित हुए सबमें समभाव होकर स्थित रहो । जो पुरुष समस्त कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका सर्वथा त्याग करके संसारके आश्रयसे रहित हो गया है और परमात्मामें नित्य तृप्त है, वह कर्मोंको भलीभाँति करता हुआ भी वास्तवमें कुछ भी नहीं करता ।

परमात्माके यथार्थ तात्त्विक ज्ञानका आश्रय लेनेवाले आसक्तिरहित महात्माके हृदयमें सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी कहीं कभी कर्तृत्वाभिमान नहीं होता । कर्तृत्वाभिमान न रहनेसे अभोक्तृत्वकी सिद्धि होती है और भोक्तृत्वके अभावसे समता और एकताकी सिद्धि होती है । उस समता और एकतासे अनन्तताकी सिद्धि होती है तथा उससे अनन्त नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है । जिसके सम्पूर्ण शास्त्रसम्मत कर्म बिना कामना और संकल्पके होते हैं तथा जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्निके द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं । जो सम, सौम्य, स्थिर, स्वस्थ, शान्त और सब पदार्थोंसे निःस्पृह होकर स्थित रहता है, वह कर्म करता हुआ भी वास्तवमें कुछ नहीं करता । इसलिये अर्जुन ! तुम हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंसे रहित, नित्य वस्तु परमात्मामें स्थित, योग-क्षेमको न चाहनेवाले और स्वाधीन अन्तःकरणवाले हो जाओ एवं न्यायसे प्राप्त शास्त्रोक्त कर्मोंको करते हुए पृथ्वीको विभूषित करनेवाले आदर्श पुरुष बन जाओ । जो मूढबुद्धि मनुष्य समस्त इन्द्रियोंको हठपूर्वक ऊपरसे रोककर मनसे उन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है । किंतु अर्जुन ! जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त हुआ समस्त इन्द्रियोंद्वारा कर्मयोगका आचरण करता है, वही श्रेष्ठ है । जैसे नाना नदियोंके जल सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं । (सर्ग ५४)

श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनके प्रति देहकी नश्वरता, आत्माकी अविनाशिता, मनुष्योंकी मरणस्थिति और स्वर्ग-नरकादिकी प्राप्ति एवं जीवात्माके संसारभ्रमणमें कारणरूप वासनाके नाशसे मुक्तिका प्रतिपादन

श्रीभगवान्‌ने कहा—पार्थ ! बुद्धिमान् पुरुषको उचित है कि प्रारब्धानुसार न्यायसे प्राप्त भोगोंका त्याग न करे और अप्राप्त भोगोंको पानेकी इच्छा न करे एवं न्यायसे प्राप्त भोगोंका शास्त्रानुकूल उपभोग करते हुए भी समभावसे स्थित रहे। महाबाहु अर्जुन ! जन्मादि विकारस्वभाववाले अनात्मरूप जड देहमें मै-पनकी भावना मत करो, अपितु जन्मादि विकारसे रहित सत्य चिन्मय आत्मामें ही आत्माकी भावना करो । देहका नाश होनेपर अविनाशी आत्माका नाश नहीं होता । इसलिये सम्पूर्ण परिग्रहोंसे रहित, चित्तरहित पुरुषका पतन नहीं होता । वह कर्मोंको करता हुआ भी कुछ नहीं करता; क्योंकि परमात्माके यथार्थ तात्त्विक ज्ञानका आश्रय लेनेवाले आसक्तिरहित महात्माके हृदयमें सम्पूर्ण कर्म करते हुए भी कहीं कभी कर्तृत्वाभिमान नहीं होता । अर्जुन ! यह आत्मा अविनाशी, आदि और अन्तसे रहित, अजर कहा गया है; इसलिये 'आत्माका नाश होता है' यह दुःखदायी दुर्बोध तुम-जैसे मनुष्यको नहीं होना चाहिये । उत्तम आत्मज्ञानी लोग 'आत्मा नाशवान् है' इस रूपसे आत्माको नहीं देखते । देहाभिमानी

अज्ञानी मनुष्य ही आत्मामें आत्माको अनात्मरूपसे देखते हैं यानी देहको ही आत्मा मानते हैं। तथा यह नष्ट हो गया और यह प्राप्त हो गया—इत्यादि भावनाएँ वन्ध्या स्त्रीके पुत्रके समान मोहजनित भ्रम (असत्) हैं। असत् वस्तुकी तो सत्ता नहीं है और सत्का अभाव नहीं है। इस प्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है। नाशरहित तो तुम उसको जानो, जिससे यह सम्पूर्ण जगत्—दृश्यवर्ग व्याप्त है। इस अविनाशीका विनाश करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है। इस नाशरहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिये भरतवंशी अर्जुन! तुम युद्ध करो। आत्मा एक है और द्वैत है ही नहीं; अतः आत्माके सिवा दूसरे असत् पदार्थकी उत्पत्ति हो कैसे सकती है? क्योंकि सत्का नाश नहीं होता, इसलिये यह सद्रूप परमात्मा अविनाशी और अनन्त है।

अर्जुनने पूछा—भगवन्! तब तो 'मैं मर गया हूँ' इस प्रकार मनुष्योंकी मरणस्थिति किस हेतुसे प्राप्त होती है और उस स्थितिमें प्रभो! लोगोंको प्रसिद्ध स्वर्ग और नरक कैसे प्राप्त होते हैं?

श्रीभगवान्‌ने कहा—अर्जुन! पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन और बुद्धि—इनसे युक्त तन्मात्राओंका जो समूह है, अज्ञानसे तत्स्वरूप हुआ ही जीव देहोंमें स्थित रहता है। वह देहमें स्थित जीवात्मा वासनासे उसी तरह खींचा जाता है, जिस तरह रस्सीसे बछड़ा। वह शरीरके अंदर पिंजरेमें पक्षीकी तरह बैठा रहता है। जब देश और कालसे जर्जर हुए शरीरसे यह जीव वासना लेकर निकल जाता है, तब इसीको लोग मरना कहते हैं। जैसे वायु गन्धके स्थानसे गन्धको ग्रहण करके ले जाता है, वैसे ही यह जीवात्मा श्रोत्र, चक्षु और त्वचाको तथा रसना और घ्राणको ग्रहण करके पूर्व शरीरसे दूसरे शरीरमें चला जाता है। इसका शरीर वासनामय ही है यानी केवल वासनाके अनुसार ही उत्पन्न हुआ है, अन्य किसी दूसरे कारणसे नहीं। अतएव वासनाका त्याग होनेपर लिङ्गदेह विनष्ट हो जाता है और उस लिङ्गदेहके विनष्ट हो जानेपर वह जीवात्मा परमपदको प्राप्त हो जाता है। यह वासनामय जीव वासनासे परिपुष्ट होकर अज्ञानसे अनेक भ्रमोंका भार ढोता हुआ कर्मानुसार नाना योनियोंमें भ्रमण करता है; यही जीवात्माका जन्म-मरण है। कुन्तीपुत्र अर्जुन! शरीरसे जीवके निकल जानेपर देह इसी प्रकार कम्पनशून्य हो जाती है, जिस प्रकार वायुके शान्त हो जानेपर वृक्ष। जब शरीर जीवात्मासे रहित हो जाता है, तब वह 'मर गया' यों कहा जाता है। अनादि अविद्यासे मूढबुद्धि यह जीव अपने कर्म और वासनाके अनुसार नरक, स्वर्ग, (इसी लोकमें) पुनर्जन्म आदि, जिनमें भ्रमण करनेका उसने चिरकालसे अभ्यास किया है, अनुभव करता रहता है।

अर्जुनने पूछा—जगत्पते! इस जीवका स्वर्ग, नरक, मर्त्यलोक आदिमें जो भ्रमण होता है, उसमें कारण क्या है, यह आप मुझसे कहिये।

श्रीभगवान् बोले—अर्जुन! चिरकालिक अभ्याससे प्रौढ हुई स्वप्नतुल्या यह वासना ही जीवको संसाररूप भूलभुलैयामें डालती है; इसलिये तत्त्वज्ञानके अभ्याससे वासनाका समूल क्षय ही जीवके लिये कल्याणकारक है।

अर्जुनने पूछा—देवदेवेश! यह वासना किससे उत्पन्न हुई और वह किस प्रकार नष्ट होती है?

श्रीभगवान् बोले—कौन्तेय! अनात्मवस्तु देहमें आत्मभावनारूप यह वासना अज्ञानस्वरूप मोहसे उत्पन्न हुई है और परमात्माके यथार्थ अनुभवरूप ज्ञानसे यह विनष्ट हो जाती है। तुम पवित्रात्मा हो चुके हो और सत्य वस्तुका विवेक भी तुम्हें हो चुका है। अब तुम 'यह', 'वह', 'मैं' और 'ये लोग' इत्यादि-रूप वासनासे रहित हो जाओ। क्योंकि भारत! दूसरेके अधीन न रहनेवाला, संकल्परहित और अविनाशी

जीवात्माका परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे वासनासे छूट जाना ही उसका 'मोक्ष' है। महाबाहु अर्जुन! वासनारूप रज्जुके बन्धनसे छूटा हुआ पुरुष 'मुक्त' कहा जाता है। अतः तुम वासनासे रहित होकर जीते-जी ही उस वास्तविक यथार्थ तत्त्वका अनुभव करो। जो वासनासे रहित नहीं है,—भले ही वह समस्त धर्मोंके परायण क्यों न हो; सर्वज्ञ यानी समस्त सांसारिक विषयोंका पण्डित ही क्यों न हो—फिर भी वह पिंजरेमें स्थित पंछीकी भाँति सब ओरसे वासना-जालसे बँधा हुआ है। क्योंकि वासना ही बन्धन है और वासनाका क्षय ही मोक्ष है। (सर्ग ५५)

श्रीभगवान्‌के द्वारा अर्जुनके प्रति जीवन्मुक्त अवस्था और जगद्रूप चित्रका वर्णन एवं वासनारहित और ब्रह्मस्वरूप होकर स्थित रहनेका उपदेश तथा इस उपदेशको सुनकर तत्त्वज्ञानके द्वारा अर्जुनकी अविद्यासहित वासनाका और मोहका नाश हो जाना

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—अर्जुन! इस प्रकार वासना-निवृत्तिरूप जीवन्मुक्तिके द्वारा तुम आन्तरिक शान्ति प्राप्तकर बन्धुवधप्रयुक्त दुःखका निःशेषरूपसे परित्याग कर दो। निष्पाप अर्जुन! जरा और मरणसे रहित, आकाशकी तरह विशाल चित्तवाले तथा इष्ट एवं अनिष्ट विषयोंके संकल्पोंसे रहित होकर तुम वीतराग हो जाओ। सदासे चला आनेवाला स्वधर्मरूप कर्म जो समभावसे किया जाता है, वह तो जीवन्मुक्तोंके लिये स्वाभाविक ही है और वही जीवन्मुक्तता है। 'यह कर्म मैं छोड़ता हूँ' और 'इस कर्मको मैं अङ्गीकार करता हूँ'—इस प्रकार जो त्याग और ग्रहणका निर्णय है, वह एकमात्र अज्ञानियोंके मनका स्वरूप है; ज्ञानियोंकी तो उनमें सम स्थिति रहती है। जिसकी इन्द्रियाँ कछुएके अङ्गोंकी भाँति इन्द्रियोंके विषयोंसे हटकर अन्तःकरणमें स्थिर हो जाती हैं, वही स्थितप्रज्ञ और जीवन्मुक्त है। कमलनयन! वास्तवमें यह संसार आकाशसे भी बढ़कर वैसे ही शून्यरूप है, जैसे स्वप्नमें क्षणमात्रमें चित्तमें होनेवाले तीनों लोकोंका नाश और उत्पत्ति—यह तुम जानो। क्योंकि आत्मा, मन और उसका कार्य यह बाह्य और आभ्यन्तर सम्पूर्ण जगत् स्वप्नकी तरह शून्य है (असत् ही हैं)। यह सब चिरकालिक मनोराज्य है, इसलिये अज्ञानी मनुष्योंको इसमें सत्यत्वकी प्रतीति होती है। किंतु वह सत्यत्वकी प्रतीति तत्त्व-ज्ञानरूप आलोकसे नष्ट हो जाती है। चित्तरूपी चितेरेके चित्रमें अवस्थित त्रिभुवन आदि विचित्र मूर्तियाँ आधारभूत भीतके न रहनेसे बाहर आकार-रहित यानी मिथ्या ही हैं। अर्जुन! वास्तवमें न तो उन चित्त-कल्पित मूर्तियोंका अस्तित्व है और न तुम्हारे शरीरका ही अस्तित्व है; इसलिये कौन किससे मारा जाता है? अतः नाश्य-नाशकका मोह छोड़कर तुम निर्मल बनकर ब्रह्मरूप परमपदमें स्थित हो जाओ। अर्जुन! जैसे एकमात्र चित्तमें रहनेवाला मनोराज्यरूप चित्र आकारवाला प्रतीत होता हुआ भी वास्तवमें शून्यस्वरूप होनेसे असत् ही है, वैसे ही यह जगत् भी शून्यस्वरूप है—यह तुम जानो। अर्जुन! मन ही क्षणको कल्प कर देता है और असत्‌को उत्पन्न कर देता है—यह जो मनके विषयमें आश्चर्य है, वह तो बहुत ही थोड़ा है; उससे भी बढ़कर तो आश्चर्य यह है कि वह असत् जगत्‌को भी शीघ्र सद्रूप कर देता है। इसलिये यह जगद्रूप भ्रान्ति इस प्रकारके आश्चर्य पैदा करनेवाले मनसे ही उत्पन्न हुई है। क्षणभरके लिये ही अज्ञानवश चित्र-विचित्रस्वरूप प्रतीत हुआ जो यह मनोराज्य है, वही दृश्यमान इस प्रपञ्च-जालके रूपमें प्रतीत होता है। यद्यपि ज्ञानियोंकी दृष्टिमें स्वतः नित्यमुक्त आत्मामें

अध्यस्त और एकमात्र कल्पनासे उत्पन्न होनेके कारण प्रतीतिकालमात्रस्थायी यह तुच्छ जगत् क्षणिक ही है, तथापि इसी क्षणिक जगत्‌के विषयमें इसके वास्तविक स्वरूपसे अपरिचित अज्ञानी लोगोंने वज्रसारकी तरह दृढ़ कल्पना कर रक्खी है अर्थात् इस असत् जगत्‌को सत्य मान रक्खा है। अहो! अत्यन्त आश्चर्य है कि यह उज्ज्वल चित्र आधारके बिना ही उत्पन्न होकर सामने दिखलायी दे रहा है। यह जगद्रूप चित्र भलीभाँति लोगोंका अनुरञ्जन करनेवाला है और दृष्टि, मन आदिको भी लुभानेवाला है। यह नाना प्रकारके प्राणियोंसे युक्त है, अद्भुत है, आकाशके समान शून्यरूप है और नाना प्रकारके विलासोंसे वेष्टित भी है। इस प्रकारके इस जगत्‌रूप चित्रका शीघ्र ही अद्भुत चित्रोंका निर्माण करनेमें समर्थ चित्तरूप चित्रकारने आकाशमें ही चित्रण किया है।

अर्जुन! चेतन आकाशस्वरूप ब्रह्मसे निर्मित सब कुछ ब्रह्म ही है। ब्रह्ममें ब्रह्मके द्वारा ब्रह्म विलीन होता है। ब्रह्ममें ही ब्रह्मके द्वारा ब्रह्मका उपभोग किया जाता है और ब्रह्मद्वारा ब्रह्ममें ब्रह्मका ही विस्तार हुआ है। जैसे प्रतिबिम्ब अपने आधार दर्पणमें प्रतीत होता है, वैसे ही यह जगत् भी अपने आधार ब्रह्ममें ही प्रतीत होता है। अर्जुन! जब ब्रह्ममें प्रतिभासित छेदन-भेदन आदि सम्पूर्ण व्यवहार और उनका विषय जगत्—ये सब ब्रह्मसे अभिन्न होकर एकमात्र चिन्मय आकाश-स्वरूप ही हैं, तब किस कर्ता या करणसे किस प्रकारसे किस देश या किस कालमें क्या छिन्न-भिन्न किया जा सकता है। इसलिये बोधसे तुम्हारी वासनाओंका अभाव सिद्ध ही है। जो वासनासे रहित नहीं है, भले ही वह समस्त शास्त्रीय कर्मोंके परायण हो और समस्त सांसारिक विषयोंका ज्ञाता हो; फिर भी वह वैसे ही अत्यन्त बद्ध है, जैसे पिंजरेमें स्थित सिंह। जिसकी चित्तरूपी भूमिमें अणुमात्र भी वासनारूप बीज पड़ा रहता है, उसका संसाररूप जंगल पुनः बढ़ जाता है। जब सत्यस्वरूप परमात्माका यथार्थ ज्ञान अभ्यासके द्वारा हृदयमें दृढ़ हो जाता है, तब वासना पूर्णतया नष्ट हो जाती है और वह फिर उत्पन्न नहीं होती। वासनाओंके पूर्णतया नष्ट हो जानेपर विशुद्ध जीवात्मा सांसारिक सुख-दुःखादि वस्तुओंमें वैसे ही चिपा नहीं होता, जैसे पानीमें कमलका पत्ता। अर्जुन! असत्‌रूप वासनाओंसे रहित तुम मुझसे सुने हुए पवित्र उपदेशको भलीभाँति समझकर परमात्मामें चित्त-को विलीनकर भय और मोहसे रहित एवं शान्त निर्वाण ब्रह्मस्वरूप हुए स्थित रहो।

अर्जुनने कहा—अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है। अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—अर्जुन! यदि परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे तुम्हारे हृदयमें रागादि वृत्तियाँ अशेषरूपसे शान्त हो चुकीं तो तुम जान लो कि तुम्हारा सवासनात्मक चित्त भी भीतर शान्त होकर निर्वासनताको प्राप्त हो गया। इस सत्त्वावस्थामें सर्वस्वरूप जीवात्मा सम्पूर्ण वासनाओं और विषयोंसे मुक्त हो जाता है। उस जीवात्माके यथार्थ स्वरूपको कोई भी उसी प्रकार नहीं देख सकते, जिस प्रकार भूमिसे आकाशमें उड़कर दूर देशमें गये हुए पक्षीको। पार्थ! मन-इन्द्रियोंके प्रकाशक, शुद्धस्वरूप, संकल्परहित, निर्विषय इस जीवात्माको मन-इन्द्रियोंसे दूर समझो। जैसे अग्निके पर्वतपर पहुँचकर हिमकण सर्वथा नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे अविद्या भी नष्ट हो जाती है। नाना प्रकारके आकार और विकारोंवाली यह अविद्या तभीतक रहती है, जबतक जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप—विशुद्ध विज्ञानानन्दघन परमात्माको भलीभाँति नहीं जान लेता। जो समग्र परमात्मा अपने आपसे परिपूर्ण है, समस्त

दृश्य संसारसे रहित है और वाणीसे अतीत है, उस अनुपम परम वस्तु परमात्माकी किसके साथ उपमा दी जा सकती है अर्थात् किसीके साथ नहीं। इसलिये अर्जुन! तुम अभीष्ट कामनाओंकी निवृत्तिरूप युक्तिसे विषयात्मक विषसे उत्पन्न महामारीरूप अन्तःकरणकी वासनाको निपुणतापूर्वक दूर कर संसारसे तथा सम्पूर्ण भयोंसे रहित परमात्मस्वरूप ही हो जाओ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! इस प्रकार उपदेश देकर त्रिलोकीके अधिपति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके क्षणभरके लिये मौन धारण कर सामने स्थित हो जाने-पर वहाँ (द्वापर युगमें) पाण्डुपुत्र अर्जुन पुनः यह वचन कहेगा।

अर्जुनने कहा—भगवन्! आप सम्पूर्ण लोकोंका भरण-पोषण करनेवाले हैं। आपके वचनसे मेरी यह बुद्धि शोकरहित और ज्ञानसम्पन्न हो गयी है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! इस प्रकारके वचन कहकर और उठकर गाण्डीव-धनुर्धारी वह पाण्डुपुत्र अर्जुन, जिसके सारथि श्रीकृष्ण होंगे, सदेह-रहित हुआ रणलीला करेगा। वह अर्जुन पृथ्वीको ऐसी रक्तकी महानदियोंसे पूर्ण कर देगा, जिनमें आहत हुए बड़े-बड़े हाथी, घोड़े, सारथि आदि बह जायँगे और आकाशको भी ऐसा बना देगा कि सूर्य बाणोंके तथा धूलिके समूहोंसे आच्छादित हो जायगा। (सर्ग ५६—५८)

परमात्माकी नित्य सत्ता, जगत्‌की असत्ता एवं जीवन्मुक्त-अवस्थाका निरूपण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जिससे यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् स्थित रहता है, जो सम्पूर्ण जगत्स्वरूप है, जो सब ओर विद्यमान है और जो सर्वमय है, उसीको नित्य परमात्मा समझो। वह परमात्मा अश्रद्धालुके लिये दूर होता हुआ भी श्रद्धालुके लिये समीप ही है। वह सर्वव्यापी होनेसे सबमें स्थित है, एवं वास्तवमें ज्ञान और ज्ञेयसे रहित सच्चिदानन्द परमपदस्वरूप है। वही परमपद सबकी पराकाष्ठा है, वही सम्पूर्ण दृष्टियोंमें सर्वोत्तम दृष्टि है, वही सारी महिमाओंकी सर्वोत्तम महिमा है तथा वही गुरुओंका भी गुरु है। वही सबका आत्मा है और वही विज्ञान है, वही शून्यस्वरूप है, वही परब्रह्म है, वही परम कल्याण है, वही शान्त और मङ्गलमय शिव है, वही परम विद्या है और वही परम स्थिति है। उस परमात्मामें यह जगत् अविचारसे ही सत्य-सा प्रतीत होता है, किंतु वास्तवमें विवेकपूर्वक विचार करनेसे असत् है। आदि और अन्तसे रहित आकाशके समान व्यापक मैं ही परब्रह्म परमात्मा हूँ, मुझसे अतिरिक्त यह संसार कुछ भी नहीं है—यों निश्चय करनेपर फिर ब्रह्मस्वरूप मुझमें परिमितता नहीं रह सकती। जो पुरुष इस प्रकारके निश्चयसे युक्त रहता है, वह बाहरसे लोक-शास्त्रकी मर्यादा-के अनुसार कार्य करनेपर भी वास्तवमें उत्पत्ति और विनाशसे रहित है। जिसका मन समसे-भी-सम ब्रह्ममें लीन होकर फिर न उदित होता है और न अस्त होता है एवं जिसकी बुद्धिमें मनका अभाव है, वह महात्मा ब्रह्मरूप ही है। एकमात्र ब्रह्मभावनासे अद्वितीय परमपद पर आरूढ हुआ वह महात्मा व्यवहार करता हुआ भी क्षोभको प्राप्त नहीं होता। व्यवहार करते हुए भी जिस पुरुषके हृदयमें मानापमानसे जनित सुख-दुःख आदि विकार तनिक भी नहीं होते, वह पुरुष मुक्तिका अधिकारी है।

वह शान्त चेतन परमात्मा अपने-आप ही अपनेमें संकल्प करता है। उसका संकल्प ही संसार है और उसके संकल्प-का अभाव ही परमपद है। इसलिये परमात्माके संकल्पका अभाव होनेसे ही इस संसारका अभाव हो जाता है। अतः मुनिलोग परमात्माके संकल्पको ही प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय

आदिरूप संसार-चक्रकी परम्परा कहते हैं। जैसे सुवर्णमें कड़ा-कुण्डल आदि सुवर्णसे पृथक् नहीं हैं, वैसे ही परमात्माका संकल्प यह संसार भी परमात्मासे पृथक् नहीं है। परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे ही भोग-वासना क्षीण हो जाती है और भोग-वासनाका अभाव ही ज्ञानीका उत्तम लक्षण है। ज्ञान और वैराग्यके कारण तत्त्वज्ञ पुरुषको संसारके भोग स्वभावसे ही रुचिकर नहीं होते। यह संसार सर्वात्मस्वरूप परमात्मा ही है—इस प्रकारका जिसके हृदयमें दृढ अनुभव है, वही जीवन्मुक्त कहा गया है। किंतु यह जीवात्मा जबतक अज्ञानसे आवृत रहता है, तबतक दृश्य विषयभोगोंमें स्थित हुआ संसार-का संकल्प करता रहता है। जब अन्तःकरणमें उत्तम तत्त्वज्ञानका उदय हो जाता है, तब संकल्प-विकल्पका यह क्रम बुझे हुए दीपककी भाँति शान्त हो जाता है। स्वयम्प्रकाश, चैतन्यरूप, सम्पूर्ण पदार्थोंका आश्रय और विषयोन्मुखतासे रहित शुद्ध चेतनका जो स्वरूप है, उसे ही तुम परमपद जानो। यह संसार संकल्पमय ही है; इसलिये संकल्प नष्ट हो जानेपर संसार भी नष्ट हो जाता है और फिर सच्चिदानन्द परमात्मा ही रह जाता है। (सर्ग ५९)

परब्रह्म परमात्माके सत्ता-सामान्य स्वरूपका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! इस प्रकार सबका आदि परमतत्त्व सच्चिदानन्दघन ही परमपद है। उस सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको यथार्थ ज्ञानसे प्राप्त-कर यह जीव अज्ञानियोंकी तरह मृत्युको नहीं प्राप्त होता (अर्थात् वह जन्म-मरणसे छूट जाता है)। उसे प्राप्तकर वह शोचनीय नहीं रह जाता। उसे पा लेनेपर वह अज्ञानियोंकी तरह जीवन धारण नहीं करता (अर्थात् वह कुछ विलक्षण ही बन जाता है) और उसे प्राप्तकर वह सर्वव्यापी होनेके कारण सीमाओंमें नहीं बँधता। आकाशके समान अनन्त परमात्माके सत्ता-सामान्य स्वरूपका यदि जीव थोड़ी देर और थोड़ा-सा भी चिन्तन करता है तो वह मुक्तचित्त मुनि बन जाता है और उस अवस्थामें संसारके समस्त कार्योंको करते हुए भी कभी संतप्त नहीं होता।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—महर्षे! 'सत्ता-सामान्य' शब्दसे आप किसे ग्रहण करते हैं—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्तका जहाँ लय हो गया है, उस (निर्विशेष) तत्त्वको या मन आदि विशेषताओंसे युक्त (सविशेष) तत्त्वको?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! जो सर्वव्यापक, आदि और अन्तसे रहित तथा सदा समभावसे स्थित है, वह ज्ञानसे प्राप्तव्य तथा सम्पूर्ण वस्तुओंका तत्त्वभूत ब्रह्म ही यहाँपर 'सत्ता-सामान्य' शब्दसे कहा गया है। वह ब्रह्म आकाशमें आकाशरूपसे, शब्दमें शब्दरूपसे, स्पर्शमें स्पर्शरूपसे तथा त्वचामें त्वग्रूपसे है। रसमें रसरूपसे, रसनेन्द्रियमें रसनेन्द्रियरूपसे विद्यमान है। रूपमें रूपस्वरूपसे, नेत्रमें नेत्ररूपसे, घ्राणेन्द्रियमें घ्राणरूपसे और गन्धमें गन्धरूपसे है। शरीरमें शरीररूप-से, पृथ्वीमें पृथ्वीरूपसे है। दूधमें दूधरूपसे, वायुमें वायुरूपसे, तेजमें तेजरूपसे, बुद्धिमें बुद्धिरूपसे, मनमें मनरूपसे और अहंकारमें अहंकाररूपसे विद्यमान है। वृक्षमें वृक्षरूपसे, पटमें पटरूपसे, घटमें घटरूपसे और वटमें वटरूपसे विद्यमान है। स्थावरमें स्थावररूपसे, जंगममें जंगमरूपसे, जडमें जडरूपसे और चेतनमें चेतनरूपसे विद्यमान है। देवोंमें देवतारूपमें, मनुष्योंमें मनुष्यरूपसे, तिर्यक्-योनियोंमें तिर्यक्रूपसे और कृमियोनियोंमें कृमिरूपसे विद्यमान है। कालके क्रममें कालरूपसे, ऋतुओंमें ऋतुरूपसे एवं त्रुटि, क्षण, निमेष आदिमें भी वह सर्वव्यापी ब्रह्म ही उस-उस रूपसे विद्यमान है। इस प्रकार सभी पदार्थोंमें तत्-तत् रूपसे रहता

हुआ वह परब्रह्म परमात्मा सत्ता-सामान्य स्वरूपसे उसी तरह उनसे अभिन्न है, जैसे समुद्रगत कल्लोल, जलकण तथा लहरें जलसामान्यसे अभिन्न हैं। सबमें समान भावसे सत्तरूपमें व्यापक होनेके कारण वह परमात्मा ही सत्ता-सामान्य कहा गया है। श्रीराम! सत्य चिन्मय-स्वरूप इस परमात्माद्वारा कल्पित होनेके कारण इन पदार्थोंकी अनेकरूपता वैसे ही मिथ्या है, जिस प्रकार बालकद्वारा परछाईंमें कल्पित प्रेत।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! मुनि वसिष्ठके इतना कह चुकनेपर दिन बीत गया, सूर्य अस्ताचलको चले गये, सभासद्गण भी सायंकालिक कृत्य—स्नान, संध्योपासना आदि करनेके लिये मुनिको नमस्कार करके उठ गये और रात बीतनेपर सूर्यदेवकी किरणोंके साथ ही फिर दूसरे दिन सभामें प्रविष्ट हुए। (सर्ग ६०)

संसारके मिथ्यात्वका दिग्दर्शन तथा मोहसे जीवके पतनका कथन

श्रीरामजीने पूछा—मुने! जिस प्रकार हमलोगोंके लिये स्वप्नके नगर, राजधानियाँ तथा राज्य मिथ्या हैं, उसी प्रकार यदि ब्रह्मा आदिके लिये भी शरीर-धारण एवं उत्पन्न हुआ यह सम्पूर्ण जगत् मिथ्या ही है तो हमलोगोंको इसकी सत्यतामें अत्यन्त दृढ विश्वास क्यों होता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! प्रजापतिने इस सृष्टिके पूर्व जो सृष्टि-रचना की थी, वह भी हमारे अनुभवमें आनेवाली वर्तमान सृष्टिके समान ही सत्य प्रतीत होती थी, तथापि वह ब्रह्माजीका संकल्प होनेके कारण वास्तविक न थी। इसी प्रकार यह सृष्टि भी वास्तविक नहीं है। सच्चिदानन्द परमात्माके सर्वव्यापी होनेसे जीव भी सर्व-व्यापी है और उस परमात्माकी सत्तासे ही यह संसार सत्य-सा भासित होता है। किंतु वास्तवमें यह संसार अज्ञानसे उत्पन्न होता है और तत्त्वज्ञानसे नष्ट हो जाता है। श्रीराम! सोये हुए पुरुषको अपने तथा अन्य सभी पदार्थोंके रूपमें दीखनेवाला स्वप्न जैसे मिथ्या है, वैसे यह दृश्य संसार भी मिथ्या है। जो स्वप्नका संसार पुरुषसे उत्पन्न है, वह पुरुषका स्वरूप ही है—जैसे किसी बीजसे उत्पन्न वृक्षसहित फल बीजरूप ही है, यह बात भली प्रकार अनुभूत है। जो असत्यसे उत्पन्न होता है, उसे असत्य ही समझो। अतः स्वप्न-पुरुषसे उत्पन्न जो असत् पदार्थोंकी भावना है, वह दृढ सत्यरूपसे प्रतीत होनेपर भी असत्य ही है, इसलिये त्याग कर देने योग्य है। जैसे हमलोगोंको स्वप्नमें प्रतीत होनेवाला सृष्टि आदि कार्य दृढरूप (सत्य) दीखनेपर भी क्षणस्थायी (मिथ्या) ही होता है, उसी प्रकार सामने वर्तमान यह प्रजापतिके संकल्पसे रचित सृष्टि भी मिथ्या ही है। जैसे द्रवत्वके कारण आवर्तरूप परिवर्तनोंसे जल स्फुरित होता है, उसी प्रकार चिन्मय ब्रह्मके संकल्पसे यह सृष्टि स्फुरित हो रही है। जो देश और कालमें, क्रियाओंसे, द्रव्योंसे, मणियोंसे तथा संकल्पोंसे प्रकट हैं, ऐसे असंख्य पदार्थ गन्धर्व-नगरके सदृश (मिथ्या) होनेपर भी सत्यके समान प्रतीत होते हैं। इस संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो सत्य न हो; क्योंकि सब कुछ ब्रह्मका संकल्प होनेसे ब्रह्मका स्वरूप ही है एवं ब्रह्मका स्वरूप होनेसे सत्य ही है। साथ ही ऐसी कोई वस्तु भी नहीं है, जो असत्य न हो; क्योंकि सब कल्पनामात्र होनेसे असत्य ही है। जैसे स्वप्नमें निमग्न पुरुष स्वप्नकालमें वस्तुओंकी स्थिर स्थिति ही देखता है, उसी प्रकार इस सृष्टिमें जिस अज्ञानीकी बुद्धि निमग्न है, वह सब विषयोंकी स्थिर स्थिति ही देखता है, किंतु यह सृष्टि वास्तवमें स्वप्नवत् कल्पना-मात्र है। संसारको अत्यन्त स्थिर समझनेवाला यह जीव एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें प्रवेश करनेवालेकी तरह मोहके कारण एक भ्रमसे दूसरे भ्रममें पड़ जाता है। (सर्ग ६१)

चार प्रकारका मौन और उनमेंसे जीवन्मुक्त ज्ञानीके सुषुप्त मौनकी श्रेष्ठता

इसके अनन्तर भिक्षु आख्यानका वर्णन करके श्रीवसिष्ठजी कहते है—श्रीराम ! मुनिवरोंने दो तरहके मुनि बतलाये हैं—एक काष्ठतपस्वी और दूसरा जीवन्मुक्त। परमात्माकी भावनासे रहित शुष्क क्रियामें बद्धनिश्चय और हठसे सम्पूर्ण इन्द्रियोंको जीत रखनेवाला मुनि काष्ठमौनी कहा गया है । इस विनाशशील संसारके स्वरूपको यथार्थरूपसे जानकर जो विशुद्धात्मा और परमात्ममें स्थित ज्ञानी महात्मा बाहर न्याययुक्त लौकिक व्यवहार करता हुआ भी भीतर विज्ञानानन्दघन परमात्मामें तृप्त रहता है, वह जीवन्मुक्त मुनि कहा गया है । मौनको जाननेवाले मुनियोंने मौनके चार भेद बतलाये हैं—वाङ्मौन, इन्द्रियमौन, काष्ठमौन और सुषुप्तमौन। वाणीका निरोध वाङ्मौन, हठपूर्वक विषयोंसे इन्द्रियोंका निग्रह इन्द्रियमौन और सम्पूर्ण चेष्टाओंका त्याग काष्ठमौन कहलाता है। एवं परमात्माके स्वरूपानुभवमें जो जीवन्मुक्त निरन्तर लगा रहता है, उसके मौनको सुषुप्तमौन कहते हैं। काष्ठमौनमें वाङ्मौन आदि तीनों मौनोंका अन्तर्भाव है और सुषुप्तमौनावस्थामें जो तुर्यावस्था है, वही जीवन्मुक्तोंकी स्थिति है। ऊपर जो तीन प्रकारका मौन कहा गया है, वह प्रस्फुरित हुए चित्तका चलन ही है। अतएव ये तीनों मौन उपादेय नहीं वरं त्याज्य हैं। किंतु इन तीनोंसे भिन्न चौथा जो सुषुप्तमौन है, वह जीवन्मुक्तोंकी स्थिति है। इसमें स्थित जीवात्माका पुनर्जन्म नहीं होता। इसमें सम्पूर्ण इन्द्रिय-वृत्तियाँ अनुकूलमें तो हर्षित नहीं होतीं और प्रतिकूलमें घृणा नहीं करतीं । जो विभागरहित, अभ्यासरहित एवं आदि और अन्तसे रहित है तथा जो ध्यान करते हुए या ध्यान न करते हुए सभी अवस्थाओंमें समभावसे स्थित है, वही सुषुप्तमौन कहा जाता है । अनेक प्रकारके विभ्रमयुक्त संसारके और परमात्माके तत्त्वको यथार्थरूपसे जाननेपर जो सदेहरहित स्थिति होती है, वही सुषुप्त मौन है। जो सर्वशून्य, आलम्बन रहित, शान्तिस्वरूप, विज्ञानमात्र तथा सत्-असत्से रहित स्थिति है, वह उत्तम सुषुप्त मौन कही गयी है। इस जगत्में विकार-रहित, सर्वात्मक तथा सत्ता-सामान्यस्वरूप परमात्मा मैं ही हूँ—इस तरहकी ज्ञानावस्थाको सौषुप्तमौन कहते हैं। ब्रह्मभूत श्रीराममद्र ! जाग्रदवस्थामें सब ओर भलीभाँति व्यवहार करता हुआ अथवा सम्पूर्ण व्यवहारोंको छोड़कर समाधिमें स्थित हुआ जीवन्मुक्त देहयुक्त होनेपर भी सम्पूर्ण निर्मल शान्तिवृत्तिसे युक्त तुरीयावस्थामें ही स्थित एवं विदेहस्वरूप ही है।

(सर्ग ६२—६८)

सांख्ययोग और अष्टाङ्गयोगके द्वारा परमपदकी प्राप्ति

श्रीवसिष्ठजी कहते है—श्रीराम ! जड आकाशसे भी अत्यन्त स्वच्छ चेतनस्वरूप परमात्माकाश है और उस परमात्माकाशभावकी प्राप्ति ही परम श्रेय (मोक्ष) है। वह कैसे प्राप्त की जाती है, यह मैं बतलाता हूँ; सुनो। परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे और नित्य एकरस समाधिसे जो सांख्ययोगके द्वारा ज्ञानी हुए हैं, वे सांख्य-योगी कहे गये हैं । जो प्राणादि वायुओंके संयमपूर्वक अष्टाङ्गयोगके द्वारा अनामय, आदि-अन्तसे रहित परम-पदको प्राप्त हो गये हैं, वे योग-योगी कहे गये हैं। वह स्वाभाविक परम शान्त पद सभी योगियोंके लिये उपादेय है । कुछ लोग उस पदको सांख्ययोगद्वारा प्राप्त हो चुके हैं और कुछ लोग इसी देहने अष्टाङ्ग-योगके द्वारा प्राप्त हो चुके हैं। जो सांख्य और योगको एक समझता है, वही ठीक समझता है । क्योंकि जो परमपद सांख्ययोगियोंद्वारा प्राप्त किया जाता है; वही अष्टाङ्गयोगियोंद्वारा भी प्राप्त किया जाता है। जहाँ प्राण, मनकी वृत्ति तथा वासनारूपी जाग्रत्का अत्यन्त अभाव है, उसीको परमपद समझो। वासनाको ही चित्त

कहते हैं। वही संसारका कारण है। वह चित्त सांख्य या योग दोनोंमेंसे किसी एक साधनके द्वारा विलीन होकर संसारकी निवृत्तिका कारण हो जाता है। यह संसार मनके संकल्पसे उत्पन्न हुआ है। उससे उत्पन्न ममता, अहंता, संसृति, उपदेश्य-उपदेशादि, बन्ध और मोक्षकी सत्ता ही कहाँ है अर्थात् सब संकल्पमात्र हैं। एक विज्ञानानन्दघन परमार्थ-तत्त्वका दृढ़ अभ्यास, प्राणोंका विलीन होना तथा मनोनाश—यही 'मोक्ष' शब्दके अर्थ-का संग्रह है यानी ये ही मोक्षके साधन हैं।

श्रीराम! इन तीनो उपायोंमें मनोनाशको ही मुख्य साध्य जानो। मनोविनाश जितना ही शीघ्र होगा उतना ही शीघ्र कल्याण होगा। परमात्माके यथार्थज्ञानसे सभी पदार्थोंका अभाव हो जाता है, जिससे वासनाका विनाश होनेपर प्राण और चित्तका वियोग हो जाता है। फिर भलीभाँति शान्त हुआ मन देह-रूपताको नहीं प्राप्त होता। मनके विनाशसे ही जीवात्माको परमपदकी प्राप्ति होती है, अतः मुनिगण वासनाको ही मन जानते हैं। चित्तका स्वरूप केवल वासना ही है। उस चित्तका अभाव होनेपर परमपद प्राप्त हो जाता है। रामभद्र! रज्जुमें सर्पभ्रमके सदृश मिथ्यारूप इस संसारका स्वयं ही विवेकज्ञानसे अच्छी तरह विनाश हो जाता है। एक विज्ञानानन्दघन परमार्थ-तत्त्वका दृढ़ अभ्यास, प्राणनिरोध और मनो-विनाश—ये जो तीन उपाय हैं, इनमेंसे किसी एककी सिद्धि हो जानेपर ही दूसरे भी परस्पर सिद्ध हो जाते हैं। ताड़के पत्तोंसे निर्मित पंखेको चलाना जब बंद कर दिया जाता है तब पवन जैसे अपने-आप शान्त हो जाता है, वैसे ही जब प्राणरूप वायुका स्पन्दन शान्त हो जाता है, तब मन भी अपने-आप शान्त हो जाता है। जैसे वायुका चलना रुक जानेपर गन्धका प्रसार भी रुक जाता है, वैसे ही मनका चलना रुक जानेपर प्राण-वायुओंका चलना भी रुक जाता है। सभी प्राणियोंके प्राण और चित्त दोनों उसी प्रकार एक दूसरेसे निरन्तर मिले-जुले रहते हैं, जिस प्रकार पुष्प और गन्ध एवं तिल और तेल एक दूसरेसे निरन्तर मिले-जुले रहते हैं। आधार और आधेयके समान अर्थात् अग्नि और उष्णताके समान दोनोंमेंसे किसी एकका विनाश हो जानेपर दोनों विनष्ट हो जाते हैं और अपने विनाशके द्वारा वे दोनों जीवात्माके लिये एक महान् मोक्ष-नामक कार्य सम्पन्न कर देते हैं। एक ब्रह्मतत्त्वके दृढ़ अभ्याससे द्वैत-वासनासे रहित होकर मन शान्त हो जाता है और इससे प्राण भी शान्त हो जाता है; क्योंकि प्राणका स्वभाव मनके साथ विलीन हो जाना ही है। मनुष्यको एक सुदृढ़ परमात्मतत्त्वमें तबतक तदाकारवृत्ति बनाये रखनी चाहिये, जबतक उस वृत्तिका ही अभ्यासके द्वारा अभाव न हो जाय। क्योंकि निग्रहवृत्तिसे युक्त पुरुषोंका चित्त स्वयं ही प्राणोंके साथ विलीन हो जाता है और परमतत्त्व अवशिष्ट रह जाता है। चित्त जिस किसी वस्तुमें तन्मय हो जाता है, वह शीघ्र तद्रूप ही बन जाता है; अतः दीर्घकालतक परमात्मतत्त्वके अभ्यासमे वह समस्त विशेषोंसे मुक्त होकर निर्विशेष ब्रह्मरूप ही हो जाता है। श्रीराम! यदि परमपदमें चित्त मुहूर्तमात्र भी विश्रामको प्राप्त हो जाय तो उसे तुम ब्रह्मरूपमें ही परिणत हुआ समझो। जिसमे अविद्याका अभाव हो चुका है, ऐसा विशुद्ध चित्त 'सत्त्व'शब्दसे कहा जाता है। जिसमें संसारकी बीजरूपा वासना दग्ध हो गयी है, वह चित्त फिर कभी ब्रह्मरूपतासे अलग नहीं होता; क्योंकि वह ब्रह्ममें तद्रूप हो गया है। जिसकी अविद्या निवृत्त हो चुकी है, जो सत्त्वभावमें स्थित है, जो वासना-रहित हो चुका है, ऐसा कोई विरला मनुष्य आकाशके समान निर्गुण-निराकार विज्ञानानन्दघन परमतत्त्वको देखता है और तत्काल मुक्त हो जाता है। (सर्ग ६९)

वेताल और राजाका संवाद

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जिस अवस्थामें जीव ब्रह्म हो जाता है और चित्तका विनाश हो जाता है तथा विवेकपूर्वक विचारसे अविद्याका अन्त—अभाव हो जाता है, वही जीवात्माका मोक्ष कहा जाता है। मृगतृष्णा-जलकी तरह मिथ्या मन तथा अहंता आदि प्रपञ्च क्षणभरके लिये ही प्रतीत होते हैं और पूर्वोक्त विवेकपूर्वक विचारसे विलीन हो जाते हैं । भद्र ! इस संसाररूपी स्वप्न-विभ्रमके सम्बन्धमें वेतालद्वारा किये गये इन शुभ प्रश्नोंको तुम सुनो, जो मुझे प्रसङ्गवश स्मरण हो आये हैं । विन्ध्याचलके महान् वनमें एक विशालकाय वेताल रहता था । किसी समय वह गर्वमें भरकर प्राणियोंको मार डालनेकी इच्छासे किसी नगरमें गया । पहले वह वेताल किसी एक सज्जन नामक राजाके देशमें रहता था । उस राजाद्वारा किये गये अनेक वधके योग्य मनुष्योंकी बलिके उपहारसे सदा तृप्त होकर वह सुखसे रहता था । सामने आये हुए निरपराधी मनुष्यको वह भूखसे पीड़ित होनेपर भी अकारण नहीं मारता था; क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष न्यायके ही पक्षपाती होते हैं । किसी समय न्यायोचित भक्ष्य न मिलनेके कारण अरण्यवासी वह वेताल क्षुधासे प्रेरित होकर न्यायप्राप्त मनुष्यका भक्षण करनेके लिये नगरके भीतर चला गया । उस नगरमें प्रजा-रक्षाके लिये रात्रिमें विचरण करता हुआ राजा उसे मिला । उस राजासे यह उग्र निशाचर भयंकर शब्दोंमें कहने लगा ।

वेतालने कहा—राजन् ! इस समय मुझ भयंकर वेतालके द्वारा तुम पकड़ लिये गये हो । कहाँ जा रहे हो ? अब तुम मर चुके । आज तुम मेरे भोजन बन जाओ ।

राजाने कहा—निशाचर ! यदि तुम यहाँ बलपूर्वक अन्यायमार्गसे मुझे खा जाओगे तो निश्चय ही तुम्हारे मस्तकके हजारों टुकड़े हो जायँगे ।

वेतालने कहा—राजन् ! मैं तुम्हें अन्यायपूर्वक नहीं खाऊँगा; परंतु तुम्हें मैं यह न्याय बतलाता हूँ कि तुम राजा हो, इसलिये तुम्हें अर्थियोंके सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण करने चाहिये । मेरी इस याचनाको, जो पूर्ण करने योग्य है, तुम पूर्ण करो । मैं यहाँ तुमसे जो प्रश्न कर रहा हूँ, इनका भलीभाँति उत्तर दो । राजन् ! किस सूर्यकी किरणोंके ये ब्रह्माण्डरूपी छोटे अणु हैं और किस पवनमें महागगनरूपी भ्रमरेणु स्फुरित होते हैं ? एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें जाता हुआ जीवात्मा पहलेके सैकड़ों या हजारों स्वप्नोंके अस्तित्वको छोड़ता हुआ भी किस प्रकाशक स्वच्छ वास्तविक स्वरूपका परित्याग नहीं करता ? जिस प्रकार केलेका खंभा भीतरसे भी

भीतर और उसके भी भीतर बार-बार देखनेसे केवल छिलकामात्र ही रहता है, उसी प्रकार सबके भीतर-के भीतर और उसके भी भीतर ऐसा कौन अणु है, जो प्रकाशक स्वच्छ आत्मस्वरूप है। ब्रह्माण्ड, आकाश, भूतोंके आधारभूत भुवन, सूर्यमण्डल तथा मेरु—ये सब जो बड़े-बड़े महान् पदार्थ प्रसिद्ध हैं—ये अणुत्व धर्म न छोड़नेवाले ऐसे किस अणुके परमाणु हैं? किस अवयव-रहित परमाणुरूप महागिरिकी शिलाके भीतर ये भूत, भविष्य, वर्तमान—तीनों जगत् हैं? दुष्ट राजन्! यदि तुम इन प्रश्नोंका उत्तर मुझे न दे सकोगे तो तुम्हें खाकर फिर तुम्हारे नगरके प्राणियोंको बलपूर्वक पकड़कर उन्हें यमराजकी तरह निगल जाऊँगा। (सर्ग ७०)

वेतालकृत छः प्रश्नोंका राजाद्वारा समाधान

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रामभद्र! जब ऐसा कहकर वेताल चुप हो गया, तब वह राजा हँसकर यह कहने लगा।

राजाने कहा—वेताल! यह चराचर जगत्‌रूपी फल उत्तरोत्तर दशगुण पञ्चभूतोंकी परतसे घिरा हुआ है—अर्थात् इस जगत्‌के सब ओर पृथ्वीका घेरा है। उसके बाद पृथ्वीसे दसगुना जल, जलसे दसगुना तेज, तेजसे दस-गुना वायु और वायुसे दसगुना आकाश है। ऐसे हजारों फल जहाँ विद्यमान हैं, ऐसी बहुत ऊँची एक शाखा है। उस प्रकारकी बड़ी-बड़ी हजारो शाखाएँ जहाँ विद्यमान हैं, ऐसा बड़े आकारवाला एक महान् वृक्ष है। इसी प्रकारके हजारों वृक्ष जिसमें हैं, ऐसा एक वन है। उसी प्रकारके हजारों वन जहाँपर हैं, ऐसा उन्नत शिखरोंसे युक्त चारों ओरसे परिपूर्ण आकारवाला एक विशाल पर्वत है। जहाँपर वैसे हजारों पर्वत हैं, ऐसा अत्यन्त विस्तीर्ण विशाल खोहोंवाला एक देश है। वैसे हजारो देश जहाँपर विद्यमान हैं, ऐसा बड़े-बड़े ह्रद और नदियोंसे युक्त एक बहुत बड़ा द्वीप है। वैसे अनन्त दीप जिसमें हैं, ऐसी चित्र-विचित्र रचनाओंसे युक्त एक पृथ्वी है। उस प्रकारके हजारों पृथ्वीमण्डल जिसमें विद्यमान हैं, ऐसा एक अत्यन्त विस्तृत महान् भुवन है। उस तरहके असंख्य महान् भुवन जिसमें विद्यमान हैं, ऐसा विस्तृत आकाशके सदृश एक महान् प्रचण्ड ब्रह्माण्ड है। इस-इस तरहके असंख्य ब्रह्माण्ड जिसमें विद्यमान हैं ऐसा एक चञ्चलतारहित असीम जलनिधि है। उस तरहके लाखों सागर जिसमें कोमल तरङ्गरूप हैं, ऐसा एक अपने स्वरूपमें विलास करनेवाला निर्मल महार्णव है। उस प्रकारके हजारों महार्णव जिसके उदरके जलरूप हैं, ऐसा एक कोई बड़ा भारी परिपूर्णाकृति पुरुष है। ऐसे-ऐसे लाखों पुरुषोंकी माला जिसके वक्षःस्थलमें स्थित है, ऐसा एक परम पुरुष है, जो सब सत्ताओंका प्रधान है। इस प्रकारके असंख्य महापुरुष जिसके मण्डलमें स्फुरित हो रहे हैं, ऐसा एक महान् आदित्य है। ये सब कल्पनाएँ ही इस आदित्यरूप ब्रह्मकी रश्मियाँ हैं। ब्रह्माण्ड ही इस आदित्य (ब्रह्म) की दीप्तियोंके त्रसरेणु हैं। मैंने तुमसे जिस सूर्यका कथन किया था, सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही वह सूर्य है; इसीके प्रभावसे सारा जगत् प्रकाशित होता है। वेताल! पूर्वोक्त असंख्य पदार्थ जिससे प्रकाशित होते हैं, ऐसा विज्ञानस्वरूप परम सूर्य है और ये जो विस्तृत ब्रह्माण्ड हैं, वे उसी सूर्यकी किरणोंमें स्फुरित होनेवाले त्रसरेणु हैं। इस प्रकार यह तुम्हारे प्रथम प्रश्नका उत्तर दिया गया।

वेताल! कालकी सत्ता, आकाशकी सत्ता, जीवात्मा-की सत्ता तथा शुद्ध चेतन आत्माकी सत्ता—इत्यादि-सब सूक्ष्म होनेसे निर्दोष रज हैं। वे परमात्मारूपी महावायुमें कल्पित अनेक विकारोंसे चञ्चल होकर स्फुरित होते हैं। 'जगत्' नामक महास्वप्नमें एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें जाता हुआ जीवात्मा परम शान्तिको बढ़ानेवाले

अपने महान् शुद्ध आत्मस्वरूपको नहीं छोड़ता। जैसे केलेका खंभा ज्यों-ज्यों छीला जाता है त्यों-त्यों उसके भीतर-भीतर केवल पत्ता ही मिलता जाता है, वैसे ही परिणामशील यह विश्व ज्यों-ज्यों भीतर-भीतर देखा जाता है त्यों-त्यों उसमें ब्रह्म ही मिलता जाता है। वह आकाश-के तुल्य निराकार, अनिर्वचनीय परमात्मा सत्, ब्रह्म, आत्मा आदि शब्दोंसे कहा जाता है। सूक्ष्म मन और इन्द्रियोंके द्वारा अप्राप्य होनेके कारण परमात्मा परमाणु कहा गया है। अनन्त होनेके कारण परमात्मा ही मेरु आदि पर्वतोंका मूल है। परमाणुस्वरूप होते हुए भी इस परमपुरुष अनन्त परमात्मामें ब्रह्माण्ड, आकाश, भुवन, सूर्यमण्डल और मेरु—ये सब पदार्थ परमाणुकी तरह प्रतीत होते हैं। यह परमात्मा चक्षु आदि इन्द्रियोंसे ग्राह्य न होनेसे परमाणु कहा गया है और सब ओर परिपूर्ण होनेसे महापर्वत कहा गया है। वास्तवमें यह परम पुरुष परमात्मा अवयवरहित है, किंतु दृश्यके सम्बन्धसे अवयव-युक्त दिखायी पड़ता है। अज्ञानी वेताल! ये सब जगत् उस विज्ञानस्वरूप परमात्माके संकल्पसे कल्पित हैं। अतः तुम उस अनन्त, शान्त स्वभाव अपार परमपदको अनुभव करो और शान्त हो जाओ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! राजाके मुखसे इस प्रकार प्रश्नोंका समाधान सुनकर शुद्धान्तःकरण वेताल विचारयुक्त बुद्धिसे परम शान्तिको प्राप्त हो गया। निर्दोष आत्माको तत्त्वसे समझकर और भयंकर क्षुधाको भूलकर वह शान्तमन वेताल परमात्माके ध्यानमें अचल स्थिर हो गया। (सर्ग ७१—७३)

भगीरथके गुण, उनका विवेकपूर्वक वैराग्य और अपने गुरु त्रितलके साथ संवाद

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! देहयात्रार्थ प्रारब्धवश प्राप्त हुए अर्थसे संतुष्ट रहनेवाले प्रयत्नशील पुरुषके दुस्साध्य अर्थ भी भगीरथ राजाकी तरह सिद्ध हो जाते हैं। जिसका पूर्णरूपसे मन शान्त हो गया है, जिसकी वृत्तियाँ पर्याप्तरूपसे तृप्त हो गयी हैं, जिसकी आनन्दघनस्वरूप सम ब्रह्ममें निरन्तर निष्ठा है, उस महापुरुषके दुर्लभतर अभीष्ट कार्य भी उसी प्रकार सिद्ध हो जाते हैं, जिस प्रकार भगीरथका सगरपुत्रोंके उद्धारके लिये संजीवन गङ्गावतरणरूप अत्यन्त दुर्लभ कार्य सिद्ध हो गया था।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—प्रभो! राजा भगीरथके चित्त-कौशलसे गङ्गावतरणरूप दुस्साध्य कार्य किस रीतिसे सिद्ध हुआ था, वह मुझसे कहिये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! समुद्रोंसे युक्त पृथ्वी-का एक अत्यन्त धार्मिक भगीरथ नामका राजा हो चुका है। वह राजमण्डलमें सबसे श्रेष्ठ था। चन्द्रमाकी तरह प्रसन्न-मुख एवं चिन्तामणिके सदृश अभीष्ट अर्थोंको देनेवाले इस राजासे याचकगण अपने संकल्पके अनुसार ही अभीष्ट अर्थ प्राप्त करते थे। वह श्रेष्ठ पुरुषोंकी रक्षाके लिये निरन्तर धन देता था। न्यायसे प्राप्त तृण भी ले लेता था। वह याचकोंकी अभीष्ट-सिद्धिके लिये चिन्ता-मणिके सदृश था। मृदु और शीतल स्पर्शवाला वह ब्रह्म-तत्त्वज्ञानियोंकी संनिधिमें उनके चित्तको आह्लादित करता हुआ उसी प्रकार द्रवीभूत हो जाता था, जिस प्रकार चन्द्रमाकी संनिधिमें चन्द्रकान्तमणि। उसने अगस्त्य-मुनिद्वारा शोषित सागरको गङ्गाके प्रवाहसे उसी तरह पूरा कर दिया, जिस तरह याचकोंके समूहको धनसे पूरा किया था। पातालवासी अपने पूर्वजोंको उस लोकबन्धुने गङ्गारूपी सीढ़ी लगाकर ब्रह्मलोकमें पहुँचाया। गङ्गाजीको यहाँ लानेके उद्देश्यसे अपनी तपस्यासे ब्रह्मा, शंकर और जह्नुकी आराधना करते हुए उस दृढ़ निश्चयसे युक्त भगीरथने बार-बार क्लेश सहन किया। श्रीराम! इस लोकयात्राका खूब विचार करते हुए उस राजाको युव-अवस्थामें ही तीव्र वैराग्यकी विलक्षणताने विवेकयुक्त विचार

उत्पन्न हुआ। वह राजा एकान्तमें असमञ्जसमें पड़कर व्याकुल हो इस संसारयात्राका प्रतिदिन यों विचार करने लगा—'इस संसारमें, जिसके प्राप्त हो जानेसे दूसरा कोई प्राप्य पदार्थ अवशिष्ट नहीं रहता, मैं उसी कर्मको सुकृत समझता हूँ। शेष कर्म तो विषूचिका (हैजेकी बीमारी) है। पुनः-पुनः पर्युषित कर्म करता हुआ मूढ-बुद्धि प्राणी लज्जित नहीं होता। कोई मूर्ख प्राणी तो अवश्य ही बालककी तरह बार-बार एक ही कर्म करता रहता है।' इस तरह चिन्ता करनेके अनन्तर संसारसे अत्यन्त भयभीत उद्विग्न-मन राजा भगीरथने एक दिन अपने गुरु त्रितलसे पूछा।

भगीरथने कहा—विभो! बहुत कालसे इन सारहीन सांसारिक वृत्तिरूप बड़े-बड़े जंगलोंमें भटकते हुए हम सब अत्यन्त खिन्न हो गये हैं। भगवन्! संसारमें फँसानेवाले जरा-मरण-मोहादिरूप सब दुःखोंका अन्त कैसे होता है?

त्रितल बोले—निष्पाप राजन्! चिरकालसे अभ्यस्त अन्तःकरणकी समतासे उत्पन्न, निर्विशेष, अखण्ड और व्यापक ज्ञेय परमात्माके ज्ञानसे सब दुःख नष्ट हो जाते हैं, सारी ग्रन्थियाँ सब ओरसे टूट जाती हैं, सारे संशय तथा कर्म शान्त हो जाते हैं। राजन्! तत्त्वज्ञानियोंने शुद्ध ज्ञानस्वरूप परमात्माको ही ज्ञेय बतलाया है और वह परमात्मा सर्वव्यापी तथा नित्य है। वह उत्पत्ति-विनाशसे रहित है।

भगीरथने कहा—मुनीश्वर! यह तो मैं अच्छी तरह जानता हूँ कि चिन्मय, निर्गुण, शान्त, निर्मल और अच्युत परमात्मा है तथा देह आदि अन्य कुछ भी नहीं है—कल्पनामात्र है। किंतु भगवन्! ज्ञेयस्वरूप परमात्माके स्वरूपमें मेरी अचल स्थिति (समाधि) नहीं हो रही है। इसमें क्या कारण है? मैं किस उपायसे उसे प्राप्त करूँ?

त्रितल बोले—हृदयाकाशमें यह चित्त जब ज्ञानके द्वारा ज्ञेयस्वरूप परमात्मामें स्थिर हो जाता है, तब यह जीव सर्वात्मरूप परमात्माको प्राप्त होकर पुनः संसारमें उत्पन्न नहीं होता। पुत्र, स्त्री, घर और धन आदिमें आसक्तिका अभाव, ममताका न होना तथा प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें सदा ही चित्तका सम रहना, अनन्ययोगसे—आत्मा ही ब्रह्म है, ब्रह्मके सिवा दूसरा कोई पदार्थ है ही नहीं, इस प्रकारकी अभेदभावनासे निरन्तर आत्मामें ब्रह्म-भावना, एकान्त और शुद्ध देशमें रहनेका स्वभाव और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेमका न होना, अध्यात्म-ज्ञानमें नित्य-स्थिति और तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माको ही देखना—यह सब ज्ञान है और जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है, ऐसा कहा गया है। राजन्! अहंभावकी शान्ति हो जानेपर राग-द्वेषका विनाश कर देनेवाला तथा जन्म-मरणरूप संसार-व्याधिकी औषध परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

भगीरथने कहा—महाभाग! पर्वतमें दीर्घकालसे सुदृढ हुए वृक्षकी तरह अपने शरीरमें दीर्घकालसे सुदृढ़ हुए अहंभावका मैं कैसे त्याग करूँ?

त्रितल बोले—राजन्! पौरुष-प्रयत्नसे विषय-भोगोंकी भावनाका त्याग कर फिर परमात्माकी सत्ताका अनुभव करनेसे अहंकारका विनाश हो जाता है। जबतक सम्पूर्ण पदार्थोंका सर्वथा त्याग नहीं किया जाता, तबतक यह अहंकार बना रहता है। यदि विवेकपूर्वक विचार-बुद्धिसे सबका परित्याग करके तुम निश्चल होकर स्थित हो जाओ तो अहंकारका अभाव होकर तुम परमपद-स्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाओगे। यदि तुम्हारे सम्पूर्ण राजचिह्न आदि विशेषणोंका त्याग हो जाय, यदि तुम भयसे रहित हो जाओ, यदि तुम समस्त धनादिकी इच्छाओंका त्याग कर दो, यदि तुम शत्रुओंके लिये ही सम्पूर्ण ऐश्वर्यका त्याग करके और अकिञ्चनभावको प्राप्तकर अहंभावसे निवृत्त हो जाओ, यदि तुम अपने देहके अभिमानसे रहित होकर उन सब शत्रुओंमें ही भिक्षाटन करने लगो तो तुम उच्च-से-उच्च स्थितिको प्राप्त होकर परमपदरूप परमात्माको प्राप्त हो जाओगे। (सर्ग ७५)

राजा भगीरथका सर्वस्वत्याग, भिक्षाटन और गुरु त्रितलके साथ निवास, भगीरथको पुनः राज्यप्राप्ति और ब्रह्मा, रुद्र आदिकी आराधना करनेसे गङ्गाजीका भूतलपर अवतरण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! तदनन्तर उन गुरुजीके मुखसे इस प्रकारका उपदेश सुनकर राजा भगीरथ मनमें कर्तव्य निश्चित कर उसके अनुष्ठानमें तत्पर हो गया। कुछ ही दिन व्यतीत होनेपर राजा भगीरथने एकमात्र सर्व-

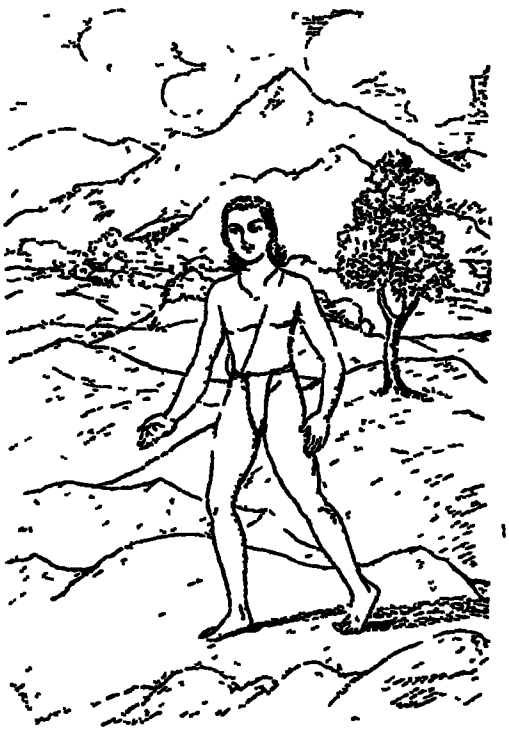

त्यागकी सिद्धिके लिये अग्निष्टोम यज्ञका अनुष्ठान किया। उसमें उसने ब्राह्मणों तथा अपने बन्धुओंको गौ, पृथ्वी, घोड़े, सुवर्ण आदि समस्त धन दे दिया। तदनन्तर उसने सम्पूर्ण धनसे खाली तथा चिन्तामग्न मन्त्री, नागरिक, प्रजा आदिसे युक्त अपने राज्यको तृणके समान समझकर सीमाके पासके अपने शत्रुको दे दिया। जब महल, मण्डल एवं राज्यपर शत्रुने अधिकार कर लिया, तब मननशील राजा भगीरथ एकमात्र कटिवस्त्र धारण किये अपने मण्डलसे निकल गया। अपने मण्डलसे निकलकर धैर्यवान् राजा भगीरथने अपनी राजधानीसे बहुत दूरके गाँवों और वनोंमें निवास किया, जहाँ लोग उसके नाम-रूपको नहीं पहचान सकते थे। इस प्रकार व्यवहार करते हुए राजा थोड़े ही समयमें समस्त एषणाओंसे रहित हो उत्तम उपरतिके कारण परमात्मामें परम विश्रामको प्राप्त हो गया। किसी समय राजा भगीरथ घूमता हुआ अपने नगरमें ही चला आया और वहाँ उसने अनेक घरों, नागरिकों और मन्त्रियोंसे भिक्षाकी याचना की। उन नागरिकों और मन्त्रियोंने राजा भगीरथको पहचान लिया और उन विषादयुक्त लोगोंने पूजन-सामग्रीसे विधिवत् उसकी पूजा की

'प्रभो! आप अपना राज्य ले लीजिये, इस प्रकार शत्रु-द्वारा प्रार्थना किये जानेपर भी उस मननशील राजाने, जिसने सर्वत्याग कर दिया था, भोजनके सिवा तृणमात्र भी ग्रहण नहीं किया। कुछ दिन वहींपर बिताकर वह अन्यत्र चला गया। लोगोंने उस समय 'क्या ये ही भगीरथ राजा हैं? ये ही हमलोगोंको छोड़कर चले गये? अहो! महान् कष्ट है।' इस प्रकार उसके विषयमें शोक किया। तदनन्तर दूसरे स्थानोंमें विचरण करते हुए शान्तचित्त, स्थिरबुद्धि एवं परम सुखी वह नरेश किसी समय अपने आत्माराम बितल नामक गुरुके पास गया। प्रणाम आदिसे अपने गुरुका स्वागत-सत्कार करके उनके साथ कुछ कालतक पर्वत, वन, गाँव और नगरमें तथा अनेक सत्पुरुषोंके बीच निवास किया। वे दोनों उत्तम मुनि अपने पूर्वकृत कर्मोंके फलस्वरूप प्राप्त हुए सुख और दुःख दोनोंका आदर करते थे। वे समस्त इच्छाओंसे रहित थे और समके भी समरूप सच्चिदानन्द ब्रह्ममें एकरस होकर परम शान्तिको प्राप्त हो गये थे।

किसी एक अन्य देशमें विद्यमान उत्तम नगरमें पुत्र-रहित राजाकी मृत्यु हो गयी थी। शासकके अभावके कारण जिनके देशकी प्रजा-पालन-मर्यादा नष्ट हो चुकी थी, उस देशके उदास मन्त्री आदि प्रजावर्ग प्रजा-पालनयोग्य उदार गुण-लक्ष्मीसे युक्त किसी एक सुन्दर राजाकी खोजमें थे। वे मन्त्री आदि प्रजावर्ग भिक्षाचरणमें रत, विरक्त, तपस्वी भगीरथ मुनिके पास पहुँचे। वे उनको प्रजापालन-योग्य समस्त शुभ गुणोंसे युक्त जानकर आदर-सत्कार-पूर्वक ले आये और उनको सेनासहित गजपर अभिषिक्त

करके राजा बना दिया। वहींपर उस राजाका परिपालन करते हुए राजा भगीरथके पास पहले आदर पाये हुए कोसल देशके मन्त्री, पुरोहित आदि प्रजावर्ग भी आये और राजाधिराज भगीरथसे यों कहने लगे।

प्रजावर्गने कहा—राजन्! अयोध्याका राज्य छोड़ते समय आपने मौकेके पासमें स्थित अपने जिस शत्रु राजाको राज्यदानसे पुरस्कृत किया था, उसने मृत्युने निगल लिया है। इस कारण अपने पूर्वराज्यकी रक्षा करनेकी

आप दया कीजिये। बिना इच्छाके प्राप्त हुए राज्यका त्याग करना उचित नहीं।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! इस प्रकार प्रजावर्गके प्रार्थना करनेपर राजा भगीरथने उनकी बात मान ली और वे सात समुद्रोंसे युक्त पृथ्वीके स्वामी हो गये। राजा भगीरथ सर्वत्र समभाव रखनेवाले, शान्तचित्त, मननशील, वीतराग एवं मत्सर-रहित थे। जिन्होंने अश्वका अन्वेषण करनेके लिये भूमि खोदकर सागरके सदृश गर्त निर्माण किया था और जो कपिलकी क्रोधाग्निसे पातालतलमें भस्मीभूत हो चुके थे, उन अपने पितामहोंको तारनेमें गङ्गाजल ही समर्थ है, जब यह बात राजाने सुनी; तब भूतलपर गङ्गाजीको लानेके लिये जितेन्द्रिय पृथ्वीपति भगीरथ मन्त्रियोंके सिरपर समस्त राज्यभार छोड़कर तपके लिये निर्जन अरण्यमें चले गये। उस अरण्यमें हजार वर्षतक ब्रह्माजी, शंकरजी और जह्नु मुनिकी बार-बार आराधना करके वे इस पृथ्वीतलपर गङ्गाजीको ले आये। तभीसे ये पुण्यतोया त्रिपथगा गङ्गाजी, जो निर्मल तरङ्ग-मालाओंसे रञ्जित जगत्पति शशिभूषण शिवजीके मस्तकमें सुशोभित तथा महात्माओंके महान् पुण्योंकी राशि हैं, आकाशतलसे पृथ्वीपर गिरती हैं। चञ्चल तरङ्गमालाओं-

से सुशोभित, अपने फेनपुञ्जरूप हाससे युक्त, प्रसन्न पुण्यरूपा मञ्जरीसे समन्वित तथा धर्मकी संततिस्वरूप यह त्रिमार्गगामिनी गङ्गा उसी समयसे इस पृथ्वीपर पृथ्वीपति भगीरथकी समुद्रपर्यन्त कीर्ति विस्तार करनेके लिये एक तरहकी वीथिका ही बन गयी है। (सर्ग ७५-७६)

शिखिध्वज और चूडालाके आख्यानका आरम्भ, शिखिध्वजके गुणोंका तथा चूडालाके साथ विवाह और क्रीडाका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! अब तुम अविचल राजा शिखिध्वजकी तरह शान्तिपूर्वक अपने स्वरूपमें स्थित रहो।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! यह शिखिध्वज कौन था और उसने परमपद कैसे प्राप्त किया? गुरुवर! उसका चरित्र मुझसे कहिये, जिससे मैं उसे अच्छी प्रकार जान सकूँ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! अतीतकालीन सातवें मन्वन्तरकी चतुर्थ चतुर्युगीके द्वापर युगमें कुरुवंशमें इसी महासर्गमें शिखिध्वज नामका राजा हुआ था। जम्बूद्वीपमें प्रसिद्ध विन्ध्याचलके समीपवर्ती मालवदेशकी उज्जयिनी नगरीमें वह राजा राज्य करता था। वह धैर्य, औदार्य आदि गुणोंसे युक्त था। उसमें क्षमा, शम, दम विद्यमान थे। वह वीरतासे पूर्ण था। शुभ कर्मोंके अनुष्ठानमें लगा रहता था। मितभोगी था। इस प्रकार वह अनेक गुणोंका खजाना था। समस्त यज्ञोंका निरन्तर अनुष्ठान

करता था। उसने बड़े-बड़े धनुर्धारियोंको जीत लिया था। वह लोकोपयोगी शुभकार्योंको करता था और पृथ्वीका पालन करता था। वह कोमल, स्निग्ध और मधुर स्वभाववाला दक्ष तथा प्रेमका समुद्र-था। वह सुन्दर, शान्त, भाग्यवान्, प्रतापी और धर्मवत्सल था। वह विनययुक्त वाक्योंका प्रयोग करता था तथा याचकोंको सभी प्रकारके पदार्थ देता था। वह उत्तम पदार्थोंका भोक्ता, सत्सङ्गसे युक्त और समस्त वेद-शास्त्रोंका उत्तम श्रोता था। वह शिखिध्वज सब बातोंको जानते हुए भी जानकारीके अभिमानसे रहित था, स्त्री-व्यसन आदिका तो उसने तृणवत् त्याग कर दिया था। बाल्यकालमें ही उसके पिता स्वर्ग चल दिये थे। उसके बाद अपने बाहुबलसे उस जितेन्द्रिय शिखिध्वजने सोलह वर्षतक स्वयं ही दिग्विजय करके अखिल भूमण्डलको अपनी साम्राज्य-सम्पत्तिमें परिणत कर दिया। तदनन्तर निःशङ्क होकर धर्मसे प्रजाका पालन करते हुए वे बुद्धिमान् राजा शिखिध्वज मन्त्रियोंके साथ अपने यशसे दिशाओंको उज्ज्वल करते हुए स्थित थे।

जब वे युवा हो गये, तब उन्होंने अनेक वन और उपवनोंमें, लीला-सरोवरोंमें, लतागृहोंमें तथा विविध भूमियोंमें विचरण किया। उन्होंने वन और उपवनके गुण-वर्णनसे युक्त शृङ्गाररससे परिपूर्ण कथाओंमें रस लिया तथा सुवर्ग-कलशके सदृश स्तनवाली, हारसे सुशोभित शरीर तथा चञ्चल केशोंसे युक्त कुमारियोंका मनसे आदर किया। चतुर मन्त्रियोंने राजाका अभिप्राय जान लिया। तदनन्तर राजाके विवाहके लिये विचार करके मन्त्रियोंने सौराष्ट्रदेशके राजासे युवती कन्याकी याचना की। राजा शिखिध्वजने नवीन यौवनसे सम्पन्न तथा अपने अनुरूप उस उत्तम कन्याके साथ विधिपूर्वक विवाह किया। राजा शिखिध्वजकी पत्नी

संसारमें चूडाला नामसे विख्यात थी। वह भी अपने अनुरूप पति प्राप्तकर प्रफुल्लित हो रही थी। राजा शिखिध्वज नील कमलके सदृश नेत्रवाली उस चूडालाको स्नेहसे प्रसन्न रखते थे। एक दूसरेके प्रति अर्पित चित्तवाले उन दोनोंकी प्रीति उत्तरोत्तर बढती ही जाती थी। हाव, भाव, विलास आदि शृङ्गारमयी चेष्टाविशेषोंसे परिपूर्ण-अङ्गोंके कारण वह चूडाला सुन्दर नवीन लताके समान शोभित हो रही थी। शिखिध्वज राजाको मन्त्रियोंद्वारा सभी उपभोग-सामग्री समयानुसार समर्पित की जाती थी। उसकी प्रजा सुव्यवस्थित थी। परम सुखी वह राजा कमलिनीके साथ राजहंसके सदृश उस प्रियतमाके साथ रमण करता था। वे दोनो निरन्तर एक दूसरेसे मिले हुए थे। एक दूसरेकी चेष्टाएँ उन्हें प्रिय लगती थीं। एक दूसरेसे शिक्षाग्रहण करनेके कारण वे दोनों सम्पूर्ण कलाओंके ज्ञाता हो गये थे। परस्पर अत्यन्त मित्रताको प्राप्त हुए वे दोनों एक दूसरेके हृदयमें

बस जानेके कारण मानो एकरूप ही हो गये थे। जैसे ब्रह्मचारी नियतकालतक गुरुमुखसे अध्ययन करके समस्त शास्त्रोंका पण्डित हो जाता है, वैसे ही कुछ नियतकालतक अपने स्वामीके मुखसे सुन-सुनकर समस्त शास्त्रोंके तात्पर्यमें और चित्रकला आदिमें भी चातुर्यप्राप्तकर चूडाला समस्त विद्याओंकी पण्डिता हो गयी थी तथा चूडालाके द्वारा इस शिखिध्वजने भी नृत्य, वाद्य आदि जितने कला-कौशल हैं, उन सबका शिक्षण ग्रहण किया और वे कलाओंके पारंगत विद्वान् हो गये। उन दोनोंकी बुद्धि चातुर्यसे युक्त तथा सुन्दर थी। वे दोनों स्नेहसे प्रसन्न और मधुर लगते थे। ज्ञानतत्त्वका कथन करनेमें भी वे समान थे। श्रेष्ठ पुरुषोंका अनुकरण करते थे। सदाचार-परायण थे। प्रजाजनोंके वृत्तान्तका भी ज्ञान रखते थे। वे समस्त कलाओंके पण्डित एवं शृङ्गारादि नवरसरूपी रसायनोंसे सुशोभित थे।

(सर्ग ७७)

क्रमसे उन दोनोंकी वैराग्य एवं अध्यात्मज्ञानमें निष्ठा तथा चूडालाको यथार्थ ज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! इसी प्रकार अनेक वर्षोंतक दृढ़ प्रेमसे सम्पन्न उस दम्पतीने प्रतिदिन यौवनकी अमन्द लीलाओंद्वारा रमण किया। यों एकके बाद एक करके अनेक वर्ष बीत गये और फूटे हुए घड़ेसे जलके क्षय होनेकी भाँति धीरे-धीरे तारुण्यका क्षय होते देख उन दोनोंने विचार किया—'समुद्रकी तरङ्गोंके समान चञ्चल, क्षणभङ्गुर शरीरसे व्यवहार करनेवाले जीवका पके हुए फलके पतनकी तरह मरण अवश्यम्भावी है। अब इस देहमें वृद्धावस्था आनेकी तैयारी कर रही है; क्योंकि आयु निरन्तर क्षीण होती जाती है। यह जीर्ण जीवन इन्द्रजालके सदृश असत्य ही है। यह शरीर वर्षाकालमें जलके बुद्बुदकी भाँति क्षणभरमें ही विलीन हो जानेवाला है। विचार करनेसे जगत्का यह व्यवहार कदली-गर्भके सदृश निस्सार ही सिद्ध होता है। इस संसारमें ऐसी कौन वस्तु है, जो शुभ, सुस्थिर एवं अत्यन्त सुन्दर हो, अर्थात् कोई भी नहीं है।' उस दम्पतीने इस प्रकार निश्चय करके संसाररूपी व्याधिकी असली औषध अध्यात्मशास्त्रका दीर्घकालतक विवेकपूर्वक विचार किया। केवल आत्मज्ञानसे ही संसाररूपी महामारी शान्त हो जाती है, यह निर्णयकर वे दोनों आत्माका ज्ञान सम्पादन करनेमें तत्पर हो गये। अध्यात्मज्ञानमें ही उनका चित्त लग गया था। प्राण भी उसीमें लगे थे। उसीमें उनकी निष्ठा थी। अध्यात्मज्ञानका ही उन्होंने आश्रय लिया था। वे उसीकी अर्चनामें लगे रहते थे। उनकी इच्छा भी अध्यात्म-ज्ञानकी ही रहती थी और उस समय इस संसारसे वे दोनों विरक्त हो गये थे। उन्होंने अध्यात्मज्ञानमें ही दृढ़ अभ्यास बढ़ा लिया था। वे एक दूसरेको अध्यात्मज्ञानका ही प्रबोध कराते थे। उनकी प्रीति उसी ज्ञानमें थी एवं परस्पर उनका समस्त आरम्भ उसीमें होता था।

तदनन्तर वह चूडाला अध्यात्मविषयको जाननेवाले महात्माओंके मुखसे संसार-दुःखसमुद्रसे पार करनेमें समर्थ आत्मज्ञानोपयोगी मनोहर पदक्रमोंसे संयुक्त शास्त्रार्थोंका निरन्तर श्रवण करके बाह्य शरीरके व्यापारोंसे उपरत और उज्ज्वल उग्रबुद्धिसे युक्त हो अपनी आत्माके विषयमें इस प्रकार अहर्निश विचार करने लगी।

'अब मैं स्वयं विवेचन करके अपने आपका पता लगाती हूँ कि मैं क्या हूँ तथा यह संसाररूप मोह किसको, कैसे, कहाँसे प्राप्त हुआ है। यह देह तो जड है; इसलिये देह मैं नहीं हूँ, यह अटल निश्चय है। हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रिय-समुदाय भी इस शरीरसे अभिन्न अवयवरूप ही हैं। कभी अवयव और अवयवीमें भेद नहीं होता, इसलिये वे भी जड ही हैं। ज्ञानेन्द्रिय-

समुदाय भी शरीरावयवरूप ही है, इसलिये वह भी जड ही दीख पड़ता है। संकल्पात्मक शक्ति रखनेवाला जो मन है, उसे भी मैं जड ही मानती हूँ; क्योंकि ज्ञानेन्द्रियाँ मनसे ही प्रेरित होती हैं। जैसे गोफनसे पाषाण प्रेरित होता है, वैसे ही मन भी बुद्धिके निश्चयोंसे प्रेरित होता है; इस तरह निश्चयरूपा बुद्धि भी जड ही है, यह अटल निश्चय है। अहंकार भी सारशून्य तथा मुर्देके सदृश है, इसलिये जड ही है; क्योंकि बुद्धि अहकारसे प्रेरित होती है। अहंकार भी जड ही है, क्योंकि वह जीवात्मासे अध्यस्त है। यह चेतन जीव प्राणवायुरूप उपाधिसे उपहित हुआ हृदयमें रहता है। वह परमात्माका अंश होनेके कारण परमात्माकी सत्तासे ही सत्तावान् है। चेतनस्वरूप आत्मा मिथ्या जड विषयोंके साथ तादात्म्य एवं संसर्गका अध्यास करके ही जड-जैसा बन जाता है और अपने असली शुद्ध चिन्मय स्वरूपको भूल जाता है। चेतन जीवात्माकी विषयोंके साथ एकाग्रता होनेपर वह एक क्षणमें अपने स्वरूपको भूलकर तत्स्वरूप हो जाता है। इस प्रकार जब विषयोंके सम्मुख होनेसे यह चेतन जीवात्मा जड, शून्य, मिथ्याके समान हो जाता है, तब चिन्मय परमात्माके द्वारा प्रबोधित किया जाता है।'

इस प्रकार विचारकर फिर उस चूडालाने यह सोचा कि किस उपायसे यह जीवात्मा प्रबुद्ध हो। बहुत समयके बाद उसने आत्मतत्त्वको जान लिया और वह कहने लगी—'अहो! बड़े आनन्दका विषय है कि दीर्घकालके बाद मुझे उस निर्विकार जानने योग्य परमात्माके स्वरूपका अनुभव हो गया, जिसे जान लेनेपर पुरुष फिर उससे च्युत नहीं होता। वास्तवमें एक महान् चेतन परमात्मा ही इस संसारमें सत्यरूपसे विराजमान है। उसको महासत्ता भी कहते हैं। यह निष्कलङ्क, समरूप, विशुद्ध और अहंकाररहित है। उसका स्वरूप शुद्ध विज्ञान ही है। वह परम मङ्गलमय केवल सत्यस्वरूप है। वह अपने परमानन्द-स्वरूपसे कभी विचलित नहीं होता। एक बार उसका साक्षात्कार हो जानेपर वह फिर सदा प्रत्यक्ष रहता है, उसका कभी अभाव नहीं होता। वह ब्रह्म, परमात्मा आदि नामोंसे कहा गया है। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूप त्रिपुटी इस परमात्मासे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। वह चेतन परमात्मा ही मन, बुद्धि, आदि इन्द्रिय पदार्थोंके रूपमें प्रकट होकर क्रियाशील होता है। जैसे समुद्रके जलमें तरङ्ग आदि वास्तवमें उत्पन्न न हुए भी उत्पन्न हुए-से प्रतीत होते हैं, वैसे ही महाचेतनमें जगत् वास्तवमें उत्पन्न न होते हुए भी उत्पन्न हुआ-सा प्रतीत होता है। इस नित्य चिन्मय परमात्माके जन्म, मरण, सद्गति, असद्गति या नाशकी कहीं सम्भावना ही नहीं है। यह परमात्मा अच्छेद्य, अदाह्य और परम विशुद्ध है। अहा! मैं बहुत कालके बाद शान्त होकर सब ओरसे परम निर्वाणपदको प्राप्त हुई हूँ। कुम्हार आदिके द्वारा बनायी गयी मृत्तिकाकी सेना जैसे मृत्तिकारूप ही है, वैसे ही सुर, असुर आदिसे युक्त यह विश्व स्वभावतः परब्रह्मस्वरूप ही है तथा द्रष्टा एवं दृश्यरूप सत्ता भी एक चैतन्य-स्वरूप ही है। यह ऐक्य है, यह द्वैत है; यह मैं हूँ, यह मैं नहीं हूँ इत्यादि भ्रमजनित मोह क्या चीज है और वह किस तरह, किसको, कहाँसे और कहाँ हुआ है? अर्थात् किसीको कहीं नहीं। यह सब मिथ्या है। अतः मैं अपने अंदर अनन्त पारमार्थिक स्वरूपको अनायास प्राप्तकर अब शान्तरूपसे स्थित हूँ। न तो इदं है, न अह है और न दूसरा है एवं न भाव है और न अभाव ही है। सब कुछ शान्त, निरालम्ब केवल परब्रह्मस्वरूप परमात्मा ही है।' इस प्रकार परमात्माके मननमें परायण वह चूडाला यथार्थ ज्ञानके द्वारा उस परमात्माके वास्तविक स्वरूपको तत्त्वसे जानकर राग, भय, मोह आदि अज्ञान-विकारोंके शान्त होनेसे उसी प्रकार शान्त हो गयी, जैसे शरत्-कालमें आकाश बादलोंसे रहित हो जाता है। (सर्ग ७८)

चूडालाको अपूर्व शोभासम्पन्न देखकर राजा शिखिध्वजका प्रसन्न होना और उससे वार्तालाप करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! चूडाला संसारके सम्बन्धों, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों, राग और इच्छाओंसे रहित हो गयी थी । वह न किसी पदार्थका ग्रहण करती थी और न किसीका त्याग करती थी । केवल न्यायसे प्राप्त आचरण करती थी । संसाररूपी महासमुद्रको वह पार कर गयी थी । संदेहरूपी जालसे मुक्त हो गयी थी । वह परमात्माके महान् लाभसे परिपूर्ण हो गयी थी । इस प्रकार सुन्दर वर्णवाली शिखिध्वजकी श्रेष्ठ धर्मपत्नी वह चूडाला थोड़े ही कालमें जाननेयोग्य परमात्माको यथार्थ जान गयी । अपने विवेकके दृढ अभ्यास-बलसे परमात्माका यथार्थ अनुभव हो जानेपर वह परम शोभा पाने लगी । किसी समय उस सुन्दर अङ्गोंवाली चूडालाको अपूर्व शोभासे युक्त देख राजा शिखिध्वजने हँसते हुए कहा—'प्रिये ! इस समय तुम वैसे ही अत्यन्त सुशोभित हो रही हो, जैसे तुमने अमृतका सार पी लिया हो या अलभ्य परमात्मपदकी प्राप्ति कर ली हो अथवा आनन्दप्रवाहसे तुम परिपूर्ण हो गयी हो । इस समय मैं तुम्हारे चित्तको भोग लालसासे रहित, शान्त, विवेकसे बलिष्ठ, समताको प्राप्त, गम्भीर और चञ्चलतारहित देख रहा हूँ । तुम्हारे मनके साथ किसी भी विभवानन्दकी वस्तुसे उपमा नहीं दी जा सकती । भद्रे ! क्या तुमने अमृत पी लिया है या किसी साम्राज्यकी प्राप्ति कर ली है या मन्त्रके प्रयोग या योगके साधनसे अमरता प्राप्त कर ली है ? नील कमलके सदृश नेत्रोंवाली ! क्या तुमने राज्य, चिन्तामणि और त्रैलोक्यसे भी बढ़कर किसी अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति कर ली है ?'

चूडालाने कहा—आर्य ! इस समस्त विनाशशील संसारका त्यागकर इससे भिन्न सत्-असत्-स्वरूप सर्वात्मक परमात्माका मैंने आश्रय लिया है, इसीलिये मैं परम श्रीसम्पन्न होकर स्थित हूँ । एकमात्र आकाश-सदृश विमल अद्वितीय केवल हृदयरूप चिन्मय ब्रह्ममें अकेली ही मैं रमण करती हूँ, राजलीलाओंमें मैं कभी रमण नहीं करती; इसलिये मैं परम श्रीसम्पन्न होकर स्थित हूँ । मूल्यवान् आसन, उद्यान और घरोंमें रहकर भी मैं परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहती हूँ तथा विषय-भोगोंसे दूर हूँ; इसीलिये मैं परम शोभायुक्त हुई स्थित हूँ । मैं सुख-सम्पत्ति नहीं चाहती, न अर्थ और अनर्थको ही चाहती हूँ; दूसरी किसी प्रकारकी स्थिति भी नहीं चाहती । जो कुछ न्यायसे प्रारब्धानुसार प्राप्त होता है, उसीसे संतुष्ट रहती हूँ । इसीसे मैं परम श्रीसम्पन्न होकर स्थित हूँ । राग और विद्वेषको विनष्ट कर देनेवाली आत्मविषयक बुद्धि और शास्त्रदृष्टिरूपी सखियोंके साथ मैं रमण करती हूँ; इसलिये मैं परम शोभासम्पन्न होकर स्थित हूँ । (सर्ग ७९)

राजा शिखिध्वजका चूडालाके वचनोंको अयुक्त बतलाना, चूडालाका एकान्तमें योगाभ्यास करना एवं श्रीरामचन्द्रजीके पूछनेपर श्रीवसिष्ठजीके द्वारा कुण्डलिनीशक्तिका तथा विभिन्न शरीरोंमें जीवात्माकी स्थितिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! परमात्माके स्वरूपमें स्थित उस चूडालाके इस प्रकार कहनेपर उसके वचनोंका रहस्य न जाननेके कारण राजा शिखिध्वज हँसते हुए कहने लगे।

शिखिध्वजने कहा—सुन्दरी राजपुत्रि ! तुम बालबुद्धि हो। तुम्हारा वचन युक्तिसंगत नहीं है। तुम जिस प्रकार राजलीलाओंमें रमण करती आयी हो, उसी प्रकार रमण किया करो। भद्रे ! बतलाओ तो सही जो वस्तु आकार-सामान्यका परित्याग करके कभी भी प्रत्यक्ष न होनेवाली निराकारताको प्राप्त हो चुकी है, वह प्रत्यक्ष और अस्तित्वसे शून्य वस्तु कैसे शोभित हो सकती है ? धनादि समस्त भोग-वस्तुओंका परित्याग करके जो एक शून्य आकाशमें ही रमण करता है, वह शोभित होता है—यह कहना कैसे संगत हो सकता है ? जो धीरबुद्धि पुरुष वस्त्र, भोजन, शय्या आदि सारे साधनोंका परित्याग करके अकेला स्वरूपमें ही स्थित रहता है, वह कैसे शोभित हो सकता है ? इसलिये सुन्दरी ! तुम बाला हो, मुग्धा हो और चपल हो। विलासिनि ! अनेक प्रकारके आलाप-विलासोंसे जिस तरह मैं क्रीड़ा करता हूँ, उसी तरह तुम भी क्रीडा करो।

राजा शिखिध्वजने इस प्रकार अपनी प्रिया चूडालाके प्रति कहकर अट्टहास करते हुए मध्याह्नमें स्नान करनेके लिये उठकर चूडालाके महलसे प्रस्थान किया। 'बड़े दुःखका विषय है कि अभीतक राजा अपने स्वरूपमें स्थित नहीं हुए हैं। मेरे वचनोंको भी वे न समझ सके—इस प्रकारके विचारसे खिन्न हुई वह चूडाला अपने कार्यमें संलग्न हो गयी। रामभद्र ! तदनन्तर वहींपर उस प्रकारके भिन्न-भिन्न आशयसे युक्त उन दोनोंका उस समय भी पहलेकी सांसारिक क्रीड़ाओंमें उसी तरह बहुत काल चला गया। एक समयकी बात है, नित्यतृप्त और इच्छारहित चूडालाको लीलावश आकाशमें गमनागमन करनेकी स्फुरणा हुई। तब वह राजपुत्री आकाशमें गमनागमनकी सिद्धिके लिये सम्पूर्ण भोगोंकी अवहेलना करके और निर्जन स्थानमें आकर अकेली ही एकान्तमें आसन लगाकर ऊर्ध्वगामी प्राणवायुका निरोध करनेके लिये अभ्यास करने लगी।

श्रीरामजीने कहा—प्रभो ! जो-अनात्मज्ञ पुरुष हैं, वे अपनी सफलताके लिये अथवा जो आत्मज्ञ हैं, वे केवल लीलाके लिये किस क्रमसे इन सिद्धियोंको सिद्ध करते हैं, वह मुझसे कहिये ।

श्रीवसिष्ठजी बोले—प्रिय राघव ! इस जगत्में सभी जगह साध्य वस्तु तीन तरहकी होती है—उपादेय (ग्रहण करनेयोग्य), हेय (त्याज्य) और उपेक्षाके योग्य । सद्बुद्धे ! जो वस्तु साक्षात् या परम्परासे सुखदायक होती है, वह उपादेय होती है; जो सुख-विघातक होती है, वह हेय होती है एवं जो वस्तु इन दोनोंके बीचकी होती है, वह उपेक्ष्य होती है—ऐसा अनुभवी लोगोंका कहना है । परमात्मतत्त्वको जाननेवाले श्रेष्ठबुद्धि विद्वान्की दृष्टिमें जब यह सब परमात्मस्वरूप हो जाता है, तब इन तीनों पक्षोंमेंसे कोई भी पक्ष नहीं रहता । किसी समय ज्ञानी व्यवहारकालमें लीलासे ही इस समस्त जगत्को उपेक्षा-बुद्धिसे केवल देखता है और समाधिकालमें नहीं देखता । ऐश्वर्यादि एक ही वस्तु ज्ञानीकी दृष्टिमें उपेक्षाके योग्य, मूढ़की दृष्टिमें उपादेय और उत्तम वैराग्यसम्पन्न पुरुषकी दृष्टिमें हेय हो जाती है । श्रीराम ! आकाशगमन आदि सिद्धियोंका क्रम कैसा है, उसे तुम अब सुनो । देश, काल, क्रिया एवं द्रव्यकी अपेक्षा रखनेवाली सब तरहकी सिद्धियाँ यहाँ जीवको मोहित करती हैं । मणि, ओषधि, तप, मन्त्र और क्रियासे होनेवाली सिद्धिके क्रमका निरूपण अनावश्यक है; क्योंकि यह अध्यात्मविषयमें विघ्न ही है । कृतार्थ श्रीराम ! सिद्धदेशके नामसे प्रसिद्ध श्रीशैल अथवा मेरुपर्वत-पर निवास करनेवाले पुरुषको सिद्धि होती है—इसका भी विस्तारपूर्वक वर्णन करना अध्यात्मविषयमें हानिकर है । इसलिये शिखिध्वजकी कथाके प्रसङ्गसे प्राप्त सिद्धिरूपी फलसे युक्त इस प्राणादि वायुकी अभ्यास-क्रियाको तुम श्रवण करो । सत्य अर्थसे भिन्न पदार्थोंकी वासनाओंका त्याग करके गुदा आदि द्वारोंके संकोचसे; सिद्धादि आसन, काया, मस्तक और गर्दनकी समता, निश्चलता तथा नासिकाके अग्रभागमें दृष्टिको स्थिर करना आदि योगशास्त्रोक्त क्रियाओंसे; भोजन और आसनकी पवित्रतासे, भलीभाँति योगशास्त्रके परिशीलनसे, उत्तम आचरणसे, सज्जनोंके सङ्गसे, सर्वत्यागसे, सुखासनसे बैठकर कुछ कालतक प्राणायामके दृढ अभ्याससे, क्रोध-लोभ आदिके सर्वथा त्यागसे तथा भोगोंके त्यागसे एवं रेचक, पूरक और कुम्भकका अच्छी तरह अभ्यास हो जानेपर प्राणोंपर पूर्ण प्रभुत्व हो जानेसे योगीके पाँचों प्राण उसी तरह उसके अधीन हो जाते हैं, जिस तरह राजाके सेवक राजाके वशमें होते हैं ।

राघव ! प्राणायामके द्वारा देहमें स्थित प्राण-अपान वायुके अपने अधीन हो जानेपर राज्यसे लेकर मोक्षपर्यन्त सभी सम्पत्तियाँ सुखसाध्य हो जाती हैं । मण्डलाकार (गोल कुण्डलाकार) से युक्त, मर्म (नाभि) स्थानमें

समाश्रित, सौ नाड़ियोंकी आश्रय आन्त्रवेष्टनिका (सुषुम्ना) नामकी नाड़ी है। श्रीराम! देव, असुर, मनुष्य, मृग, नक्र, खग, कीट, पतङ्ग आदि सब प्रकारके प्राणियोंमें वह नाड़ी स्थित है। गुदासे लेकर भौंहके बीचतक सब छिद्रोंका स्पर्श करती हुई वह सुषुम्ना नाडी मनकी वृत्तियोंसे भीतर चञ्चल और बाहर प्राणादिसे स्पन्दयुक्त होकर सदा स्थित रहती है। वह कुण्डलाकार वाहिनी है, इसलिये कुण्डलिनी नामसे कही गयी है। वह सब प्राणियोंकी परमा शक्ति है तथा प्राण, इन्द्रिय, बुद्धि आदि सभी शक्तियोंकी सत्तास्फूर्तिकी निर्वाहक होनेसे सबको वेग प्रदान करनेवाली है। वही अपने मुखसे प्राणवायुको ऊपर फेंकती है और अपानको नीचे खींचती है, इसलिये सदा साँस खींचती हुई स्पन्दनमें हेतु बनी वह ऊपरकी ओर मुँह करके कुपित सर्पिणीकी तरह स्थित रहती है। यह कोमल स्पर्शवाली कुण्डलिनी कमलमें भ्रमरकी तरह देहमें जैसे-जैसे स्फुरित होती है, वैसे-वैसे अन्तःकरणमें ज्ञान होता है। उस कुण्डलिनीमें हृदयकोशकी समस्त नाड़ियाँ सम्मिलित हैं। वे सब नाड़ियाँ सागरमें नदियोंकी तरह उसीसे बारंबार उत्पन्न होती हैं तथा उसीमें विलीन होती जाती हैं। प्राणरूपसे उसके ऊर्ध्वगमनमें उत्सुक होने तथा अपानरूपसे अधःप्रवेशकी ओर उन्मुख होनेसे एक वही सम्पूर्ण ज्ञानोंकी साधारण बीज कही गयी है।

निष्पाप श्रीराम! पशुओंसे लेकर स्थावर आदि देहोंमें तथा मनुष्यादि शरीरोंमें जिस तारतम्यसे जीवात्मा रहता है, यह मैं तुमसे क्रमशः कहता हूँ, सुनो। यह सत्य, नित्य चेतन, विकारशून्य और अनामय जीवात्मा अपनी कल्पनासे पञ्चभूतोंके रूपसे स्थित होता है। पूर्वकृत कर्मोंके अनुसार जीवात्माकी कल्पनासे पञ्चभूत मनुष्यादि देहभावकी, तिर्यग् देहभावकी, सुवर्णभावकी, देशादिभावकी और द्रव्यादिभावकी प्राप्ति होती है। रघुनन्दन! इस तरह यह संसार केवल पञ्चभूतका विकासमात्र ही है और वह चेतन जीवात्मा ही यहाँ सर्वत्र विद्यमान है। वही जीवात्मा केवल पञ्चभूतोंके सम्बन्धसे मनुष्यादि देहोंमें बौद्धिक ज्ञानकी विशेषताके कारण चेतन-प्रधान, कहीं (तिर्यगादिमें) जड-चेतन उभय-प्रधान और वृक्ष, पहाड़ आदि स्थावर योनियोंमें जड-प्रधान रहता है। निष्पाप श्रीराम! देहादि आकारमें परिणत पञ्चभूत जीवका संकल्प होनेके कारण जीव कहलाता है और पहाड आदि तो केवल जड ही हैं एवं वृक्षादि स्थावर बाहरकी वायुसे स्पन्दनशील (चेष्टावान्) होते हैं।। पञ्चभूतसमूहात्मक मेरु पर्वत आदि तो तृणकी भाँति जड हैं; किंतु ये वृक्ष, कीट आदि स्थावर-जंगम प्राणी चेतन हैं। इनमें वृक्ष आदि स्थावर जातिकी वासना निद्राग्रस्त मनुष्यकी वासनाकी भाँति प्रसुप्त है तथा मनुष्य और देवता आदिमें बुद्धिकी अधिकताके कारण उनकी वासना प्रबुद्ध है। पशु, पक्षी आदि मलिन वासनासे युक्त हैं, किंतु मनुष्योंमें कुछ मोक्षगामी मनुष्य वासनाओंसे रहित हैं; क्योंकि वे विवेकको प्राप्त हो गये हैं। अतः वे इस संसारमें पुनः जन्म-धारण नहीं करते; किंतु इनसे भिन्न अविवेकी मनुष्य बार-बार संसारमें भ्रमण करते रहते हैं। (सर्ग ८०)

आधि और व्याधिके नाशका तथा सिद्धिका और सिद्धोंके दर्शनका उपाय

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—मुनीश्वर! इस शरीरमें आधि (मानसिक) और व्याधि (शारीरिक) रोग किससे उत्पन्न होते हैं तथा किससे विनष्ट होते हैं? यह मुझको समझाकर कहिये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! आधि और व्याधि—ये दोनों दुःखके कारण हैं । औषधादिके द्वारा इनकी निवृत्तिसे सुख प्राप्त होता है तथा ज्ञानके द्वारा इनका समूल नाश होता है । वही मोक्ष कहलाता है । शरीरके अंदर आधि और व्याधियाँ कभी परस्पर एक दूसरेकी कारण बनकर उत्पन्न होती हैं अर्थात् कभी आधिसे व्याधि हो जाती है और कभी व्याधिसे आधि हो जाती है। कभी आधि-व्याधि—दोनों एक साथ हो जाती हैं और कभी सुखके अनन्तर दुःखरूप ये आधि-व्याधि क्रमसे उत्पन्न होती हैं । शारीरिक दुःखको व्याधि कहते हैं और वासनामय मानसिक दुःखको आधि । श्रीराम ! यह जान लेना चाहिये कि अज्ञान ही इन दोनोंका मूल कारण है । यथार्थ ज्ञान होनेपर इनका अवश्य विनाश हो जाता है । यथार्थ परमात्म-ज्ञान और इन्द्रिय-निग्रहके अभावसे, राग-द्वेषमें फँस जानेसे तथा यह प्राप्त हो गया, यह प्राप्त होना शेष है—इस तरह रात-दिन चिन्ता करनेसे जडताके कारण महामोहदायिनी आधियाँ (मानसिक व्यथाएँ) उत्पन्न होती हैं । प्रबल इच्छाओंके पुनः-पुनः स्फुरित होनेसे, मूर्खतासे, चित्तके न जीतनेसे, दुष्ट अन्न खानेसे तथा श्मशान आदि निकृष्ट स्थानोंमें निवास करनेसे शरीरमें व्याधियाँ (शारीरिक रोग) उत्पन्न होती हैं । आधी रातमें तथा प्रदोषादि कालमें भोजन एवं मैथुनादि व्यवहारसे, दुष्कर्म करनेसे, दुर्जनोंकी सङ्गतिरूप दोषसे तथा विष, सर्प, व्याघ्र और चोर आदिका मनमें भय होनेसे शरीरमें व्याधि उत्पन्न होती है । नाडियोंके छिद्रोंमें अन्नके रसका प्रवेश न होनेके कारण नाड़ियोंके क्षीण होनेसे अथवा उन छिद्रोंमें अन्नके रस एवं वायु आदिके अधिक प्रवेश हो जानेके कारण नाडियोंके एकदम भर जानेसे, कफ, पित्त आदिके प्रकोपसे, प्राण तथा शरीरके व्याकुल हो जाने आदि अनेक दोषोंके द्वारा रोग उत्पन्न होता है ।

अभिमतपदार्थोंकी प्राप्ति होनेसे व्यावहारिक व्याधियों तथा आधि (अज्ञान) के क्षयसे आधिसे उत्पन्न मानसिक व्याधियाँ भी मर्दामोति नष्ट हो जाती हैं । राघव ! आत्मज्ञानके बिना जन्मादि विकारोंकी जड़ व्याधि (अज्ञान) नष्ट नहीं होती, क्योंकि रज्जुके यथार्थ ज्ञानसे ही रज्जुमें प्रतीत होनेवाला सर्प नष्ट होता है । जैसे वर्षाकालकी नदी अपने तटके सभी वृक्षोंको जड़से उखाड फेंकती है, वैसे ही सम्पूर्ण आधि और व्याधियोंको जडसे उखाड़ फेंकनेवाला जन्मादि विकारोंकी मूल अज्ञानरूपी व्याधिका क्षय भी है, जो परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे होता है । सामान्य व्याधियाँ तो आयुर्वेदोक्त ओषधियों तथा मन्त्रादि शुभ कर्मोंसे अथवा वृद्धोंकी परम्परासे कथित औषधोंसे नष्ट हो जाती हैं। श्रीराम ! तीर्थोंमें स्नान, मन्त्र, औषध आदि उपाय, वृद्धजनोंसे प्राप्त हुई ओषधियाँ तथा आयुर्वेदशास्त्रको तो आप स्वयं खूब जानते हैं । इनसे अतिरिक्त और मैं क्या आपको उपदेश दूँ ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—गुरुवर ! आधिसे व्याधि कैसे उत्पन्न होती है और औषधके अतिरिक्त मन्त्र, पुण्य आदिरूप युक्तिसे वह कैसे नष्ट होती है ?

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम ! मानसिक पीड़ाओंसे चित्तके व्याकुल हो जानेपर शरीरमें क्षोभ हो जाता है; इसलिये क्रोधी मनुष्य अपने आगेका उचित मार्ग नहीं देख पाता । वह उचित मार्गको न देखकर कुमार्गकी ओर उसी प्रकार दौड़ता है, जिस प्रकार बाणसे घायल हुआ हरिण अपने स्वाभाविक मार्गको छोड़कर अन्य मार्गकी ओर दौड़ता है । प्राण-वायुके विषम चलनेपर कफ, पित्त आदिके भर जानेसे नाड़ियाँ विषम स्थितिको प्राप्त हो जाती हैं, जैसे राजाके अव्यवस्थित हो जानेपर वर्णाश्रमकी मर्यादा विषम-स्थितिको—विपरीतताको प्राप्त हो जाती है । प्राण-वायुके संचारका क्रम विषम हो जानेसे खाया हुआ अन्न कुजीर्णता, अजीर्णता

या अजीर्णतारूप दोषको ही प्राप्त होता है । इस तरह आधिसे व्याधि उत्पन्न होती है और आधिके अभावसे व्याधि भी नष्ट हो जाती है । जिस प्रकार मन्त्रोंसे व्याधियाँ विनष्ट होती हैं—वह भी क्रम तुम सुनो। जिस तरह हरेंका फल खानेसे स्वाभाविक ही दस्त लग जाते हैं, उसी तरह वायु, अग्नि, पृथ्वी, जल आदिके बीजरूप य र ल व आदि मन्त्रोंके वर्ण भी मान्त्रिक भावनाके वशमें नाडियोंमें रोगाकारमें परिणत अन्नरसोंका उत्सारण, पाचन आदि कार्य करते हैं । साधु-सेवारूप पवित्र पुण्यक्रियासे मन निर्मलताको प्राप्त होता है। चित्तके शुद्ध हो जानेपर शरीरमें आनन्द बढ़ता है । अन्तःकरणकी शुद्धिसे ये प्राणवायु अपने क्रमसे बहते हैं और अन्नका उचित परिपाक करते हैं। इससे सब व्याधियाँ नष्ट हो जाती हैं । श्रीराम ! इस प्रकार आधि और व्याधिके नाश तथा उत्पत्तिके क्रमका वर्णन मैंने तुमसे कर दिया। अब तुम प्रकृत प्रसंगको सुनो ।

राघव ! पुर्यष्टक नामक लिङ्गात्मक जीवकी आधारभूत कुण्डलिनीको तुम सुगन्धकी आधारभूत पुष्पमञ्जरीकी भाँति जानो । पूरकके अभ्याससे जब प्राणी कुण्डलिनीको भर करके यानी कूर्माकार नाड़ीमें प्राणवायुको रोककर समरूपसे स्थित होता है, तब मेरु पर्वतके समान स्थिरता अर्थात् भैरवी सिद्धि तथा कायाकी गुरुता (गरिमा नामक सिद्धि) उसे प्राप्त होती है । जिस समय पूरकसे पूर्ण शरीरके भीतर मूलाधारसे लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त लंबा करके प्राणवायुको ऊपर खींचकर प्राणवायुके निरोधसे उत्पन्न गरमी और तत्प्रयुक्त शारीरिक और मानसिक कष्ट सहन करनेके लिये सवित् (कुण्डलिनी) ऊपरकी ओर पहुँचायी जाती है । उस समय प्राणवायुको ऊपर खींचनेसे दण्डके सदृश लंबी होकर वह कुण्डलिनी देहमें बँधी हुई लताके समान सब नाड़ियोंको अपने साथ लेकर अधिक अभ्यास होनेके कारण सर्पिणीकी भाँति शीघ्र ऊपर चली जाती है । उस समय नाड़ियोंमें वायु भर जानेसे पैरसे लेकर मस्तकतक बिल्कुल हलके हुए इस शरीरको कुण्डलिनी इस प्रकार ऊपर उठा ले जाती है, जिस प्रकार पवनमें पूर्ण जलगत भाथी मनुष्यको जलके ऊपर उठा ले जाती है, यही योगियोंका आकाशगमन है । इस प्रकार अभ्याससे युक्त आकाशगामी योगसे* अर्थात् आकाशके साथ शरीरका सम्बन्ध रखनेके लिये किये गये संयमरूप योगसे योगी लोग ऊर्ध्व गतिको प्राप्त हो जाते हैं । जिस समय दूसरी नाड़ियोंके व्यापारको रोक देनेवाले रेचक प्राणायामके प्रयोगसे ऊपरकी ओर खींच ली गयी कुण्डलिनीरूपा प्राणशक्ति सुषुम्ना नाड़ीके भीतर प्राणवायुके प्रवाहसे मस्तकके दोनों कपालोंकी संधिरूप कपाट (किवाड़) के बारह-बारह अंगुल स्थानमें मुहूर्तभरके लिये स्थित रहती है, उस समय आकाशगामी सिद्धोंके दर्शन होते हैं;† किंतु अज्ञानका आश्रय करनेवाला मलिन पुरुष इन्द्रियोंसे या दूसरे किसी अदिव्य उपायसे या इस पृथ्वीपर विचरण करनेवाला कोई भी पुरुष वायुस्वरूप आकाशगामी सिद्धोंको कभी नहीं देख सकता । परंतु राघव ! योगके अभ्याससे मनके संस्कृत हो जानेपर विषयोंसे दूर संस्थित बुद्धिरूपी नेत्रसे स्वप्नकी भाँति आकाशगामी सिद्ध दिखायी देते हैं और वे अभीष्ट अर्थोंको भी देते

---

* इसका वर्णन योगदर्शनमें इस प्रकार आया है—

'कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ।'

(योग० विभूति० ४२)

'शरीर और आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे अथवा हल्की वस्तु (रूई आदि) में संयम करनेसे आकाशमें चलनेकी शक्ति आ जाती है ।'

† योगदर्शनमें बतलाया गया है—

'मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ।' (योग० विभूति० ३२)

'सिरके कपालमें एक छिद्र है, इसीको ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं, वहाँ जो प्रकाशमयी ज्योति है उसमें संयम करनेवालेको पृथ्वी और स्वर्गके बीचमें विचरण करनेवाले सिद्धोंके दर्शन होते हैं ।'

हैं। जिस प्रकार स्वप्नमें पदार्थोंका अवलोकन होता है, उसी प्रकार सिद्धोंके भी दर्शन होते हैं। केवल स्वप्नकी अपेक्षा विशेषता यही है कि सिद्धोंकी प्राप्तिमें संवाद, वरदान आदि फलरूप पदार्थोंकी प्राप्ति होती है।

रेचक प्राणायामके अभ्यासरूप युक्तिसे मुखसे बारह-बारह अंगुलपरिमित देशमें प्राणको चिरकालतक स्थित रखनेपर योगी अन्य शरीरमें प्रवेश कर सकता है। सारे शरीरमें प्रदीप्त उस जाठराग्निसे स्वभावतः शीत-वातात्मक वह शरीर ऐसे ही उष्णताको प्राप्त होता है जैसे सूर्यसे तीनों लोक। तारोंके आकारके समान तथा हृदयपद्ममें सुवर्ण-भ्रमरके सदृश वह तेज इस शरीरमें चारों ओर विचरता है, जो योगियोंकी—चिन्त्य दशाको प्राप्त है अर्थात् योगी लोग जिसकी उपासना करते हैं। इस प्रकारसे उपासित वह तेज प्रकाशस्वरूप ज्ञान प्रदान करता है, जिससे लाख योजनकी दूरीपर स्थित वस्तु भी सदा आँखोंके सामने दिखायी देती है। उष्ण-प्रकृति प्राणवायु अग्निस्वरूप है तथा शीतल-प्रकृति अपान वायु चन्द्र-स्वरूप है। छाया और घामकी भाँति ये दोनों मुखरूप मार्गमें स्थित रहते हैं। (सर्ग ८१)

ज्ञानसाध्य वस्तु और योगियोंकी परकाय-प्रवेश-सिद्धिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! योगके द्वारा साध्य अणिमादि पदार्थोंका साधन तुम सुन चुके। अब श्रवण-भूषण ज्ञानके द्वारा साध्य विषयको सुनो। इस संसारमें एक, अद्वितीय, शुद्ध, सौम्य, अनिर्देश्य, सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर और शान्तिमय सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही है। न यह दृश्य जगत् है, न इसकी कोई क्रिया है। यह जीव इस मिथ्या शरीरको सङ्कल्प-भ्रमसे उसी प्रकार देखता है, जिस प्रकार बालक उद्दण्ड प्रेतको। जब प्रज्वलित ज्ञानदीपसे उत्तम प्रकाश हो जाता है, तब इस जीवका सङ्कल्पमोह उसी तरह विनष्ट हो जाता है, जिस तरह शरत्कालमें मेघ। जागनेपर जैसे प्राणी स्वप्नके संसारको नहीं देखता, वैसे ही सच्चिदानन्द परमात्माका साक्षात्कार हो जानेपर जीवात्मा देहको आत्मबुद्धिसे नहीं देखता। अनात्मिक शरीर आदिमें तात्त्विक भावनासे यह जीव देहसे आवृत होकर स्थित रहता है; किंतु एक ब्रह्मतत्त्वकी भावनासे देहसे रहित, श्रीमान् और परम सुखी हो जाता है। अनात्म शरीर आदिमें जो आत्माकी भावना है, वह हृदयका बड़ा भारी अन्धकार है। वह सूर्य आदिके प्रकाशसे दूर नहीं किया जा सकता। वह अज्ञान-अन्धकार तो परमात्मामें ही आत्म-भावनासे—'सर्वव्यापक निरञ्जन और निर्मल सच्चिदानन्द ब्रह्म मैं ही हूँ'—इस यथार्थ ज्ञानरूपी सूर्यसे ही नष्ट होता है।

अन्य तत्त्वज्ञानी योगी लोग जिस पदार्थकी जिस रीतिसे भावना करते हैं, वे उस पदार्थको उसी रीतिसे शीघ्र अपनी उस दृढ़भावनाके बलसे देख लेते हैं किंतु राघव! दृढभावनाके अनुसन्धानसे विमूढ़ अज्ञानी प्राणी तो विष-को अमृतके समान और अमृतको भी विषके समान समझ लेते हैं। इस प्रकार दृढ़ भावनासे जिस विमूढ़ अज्ञानी प्राणीके द्वारा जिस पदार्थकी जिस रीतिसे भावना की जाती है, उसी समय वह प्राणी वही बन जाता है, यह संसारमें देखा भी जाता है। जैसे स्वप्नका संसार स्वप्नमें प्रत्यक्षकी भाँति दीखता है, वैसे ही सत्यकी भावनासे देखा गया यह शरीर हो जाता है और असत्यकी भावनासे विवेकपूर्वक देखा गया यह शरीर शून्यताको—अभावको प्राप्त हो जाता है।

साधुस्वभाव श्रीराम! अणिमादि पदकी प्राप्तिमें तुमने इस प्रकारसे ज्ञानयुक्ति तो सुन ली। अब तुम यह दूसरी युक्ति सुनो। जिस तरह वायु पुष्पमेंसे गन्ध लेकर उसका घ्राणेन्द्रियके साथ सम्बन्ध कर देता है, उसी तरह योगी

रेचकके अभ्यासरूप योगसे कुण्डलिनीरूप घरसे बाहर निकलकर ज्यों ही दूसरे शरीरमें जीवका सम्बन्ध करता है, त्यों ही यह शरीर परित्यक्त हो जाता है। जीव-रहित यह देह चेष्टाओंसे रहित होकर काठ और मिट्टीके ढेलेके सदृश पडा रहता है। जैसे सिंचन करनेवाला पुरुष जलपूर्ण कुम्भसे वृक्ष और लताको सींचनेकी इच्छा करता है, उसे ही सींचता है, वैसे ही अपनी रुचिके अनुसार देह, जीव, बुद्धि, स्थावर और जङ्गम सबमें उनकी सम्पत्तिका भोग करनेके लिये जीवको प्रविष्ट किया जाता है।

उक्त प्रणालीसे परदेहमें सिद्धिश्रीका उपभोग कर स्थित हुआ योगी यदि अपना पहला शरीर विद्यमान रहा तो उसमें पुनः प्रविष्ट हो जाता है और यदि न रहा तो दूसरे शरीरमें जबतक उसकी रुचि रहती है, तबतक उसमें प्रविष्ट होकर स्थित रहता है। अथवा देहादि सम्पूर्ण कल्पित पदार्थोंको और जगत्‌को सर्वव्यापी ज्ञानसे परिपूर्ण करके पूर्णरूपसे स्थित रहता है। श्रीराम! योगरूप ऐश्वर्यसे सम्पन्न चेतन जीवात्मा सदा प्रकट दोषशून्य परमात्म-तत्त्वको जानकर जो भी कुछ जैसा चाहता है, वैसा ही उसे तत्काल प्राप्त कर लेता है। वास्तवमें अनावरणतारूप उत्तम पद ही यथार्थ पद है, यों अनुभवी लोग कहते हैं। (सर्ग ८२)

चूडालाकी सिद्धिका वैभव, गुरूपदेशकी सफलतामें किराटका आख्यान, शिखिध्वजका वैराग्य, चूडालाका उन्हें समझाना, राजा शिखिध्वजका आधी रातके समय राजमहलसे निकलकर चल देना और मन्दराचलके काननमें कुटिया बनाकर निवास करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! इस प्रकार निरन्तर योगका अभ्यास करनेवाली वह राजरानी सती-साध्वी चूडाला अणिमा आदि अष्ट सिद्धियोंके गुणोंके ऐश्वर्यसे सम्पन्न हो गयी। मोह आदि दोषों तथा त्रिविध तापोंका उपशम हो जानेसे उसका हृदय गङ्गाजीकी भाँति निर्मल और शीतल हो गया। वह कभी आकाशमार्गसे गमन करती थी, कभी समुद्रके भीतर द्वीपोंमें पहुँच जाती थी और कभी स्वेच्छानुसार भूतलपर विचरण करती थी। यों विजलीकी प्रभाके समान चमकीले आभूषणोंसे विभूषित वह सुन्दरी चूडाला आकाशगामिनी होकर यत्र-तत्र घूमने-फिरने लगी। वह मोतियोंमें प्रविष्ट हुए धागेकी भाँति काष्ठ, तृण, पत्थर, भूत, आकाश, वायु, अग्नि, जल आदि सभी पदार्थोंमें निर्विघ्नतापूर्वक प्रवेश कर जाती थी। इस प्रकार उसने मेरुगिरिके शिखरोंपर, लोकपालोंके नगरोंमें और दिशा एवं आकाशके मध्यमें स्थित सारे भुवनोंमें सुखपूर्वक विचरण किया तथा पशु-पक्षी, भूत-पिशाच आदि एवं नाग, देवता, असुर, विद्याधर, अप्सरा और सिद्धोंके साथ सम्भाषण आदि व्यवहार भी किया।

चूडाला अपने स्वामी राजा शिखिध्वजको अनेक बार यत्नपूर्वक ज्ञानामृत का उपदेश करती, परंतु उनकी समझमें कुछ भी नहीं आता। जैसे बालकको विधाके गुणका अनुभव नहीं होता, वैसे ही इतने लंबे कालतक सम्पर्कमें रहनेपर भी राजा शिखिध्वज यह न जान सके कि मेरी पत्नी चूडाला ऐसी गुणशालिनी है। चूडालाने भी अनधिकारी समझकर आत्मशान्तिकी प्राप्तिसे रहित राजाके सामने अपनी अणिमादि सिद्धियोंके ऐश्वर्यको उसी प्रकार प्रकट नहीं किया, जैसे शूद्रको यज्ञक्रिया नहीं दिखलायी जाती।

श्रीरामजीने पूछा—ऐश्वर्यशाली गुरुदेव! इतनी बड़ी सिद्धयोगिनी चूडालाके प्रयत्नसे भी जब राजा शिखिध्वज ज्ञान नहीं प्राप्त कर सके, तब भला, अन्य साधारण व्यक्तिको ज्ञानकी प्राप्ति कैसे हो सकती है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुकुलभूषण राम! गुरुद्वारा उपदेश प्राप्त करनेका क्रम केवल शास्त्र-मर्यादाका पालन-मात्र है। ज्ञान-प्राप्तिका कारण तो शिष्यकी विश्वासयुक्त विशुद्ध प्रज्ञा ही है; क्योंकि जाननेयोग्य ब्रह्म शास्त्रोंके श्रवणसे अथवा किसी पुण्यकर्मसे नहीं जाना जाता, उसे तो आत्मा ही जानता है।

श्रीरामजीने पूछा—मुनिश्रेष्ठ! यदि ऐसी ही बात है कि गुरूपदेश आत्मज्ञानमें कारण नहीं है तो जगत्में जो यह क्रम प्रचलित है कि आत्मज्ञानका कारण गुरूपदेश है, यह कैसे उचित होगा?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघव! (मैं इस विषयमें एक दृष्टान्त देता हूँ, सुनो—) विन्ध्याचलके जंगली प्रदेशमें एक किराट रहता था। वह धन-धान्यसम्पन्न होनेपर भी अत्यन्त कृपण था। श्रीराम! एक बार वह उस जंगली मार्गसे कहीं जा रहा था कि उसकी एक कौडी किसी घास-फूससे ढके हुए स्थानमें गिर पड़ी। कृपण-शिरोमणि तो वह था ही; अतः उस एक कौडीको वह तीन दिनोंतक चारों ओर सारे घास-फूसोंको उलटकर खोजनेका प्रयत्न करता रहा। उसके मनमें बारंबार ऐसी कल्पना उठ रही थी कि यदि यह कौडी मिल जाती तो समयानुसार इस एकसे चार, चारसे आठ, आठसे सौ, नौसे हजार और हजारसे कई हजार कौडियाँ हो जातीं। उस समय सहस्रों मनुष्य उस कृपणका उपहास कर रहे थे; परंतु वह उनकी तनिक भी परवा न करके उस वनमें आलस्यरहित होकर रात-दिन खोजता ही रहा। तदनन्तर तीन दिनोंतक अथक परिश्रम करनेके पश्चात् उसे उस जगहमें एक महान् चिन्तामणि प्राप्त हुई, जो पूर्णिमाके चन्द्रमण्डल-सी आकार-प्रकार एवं प्रकाशवाली थी। उसे

पाकर किराटका हृदय प्रसन्न हो गया और वह आनन्द-पूर्वक घर लौट आया। वह चिन्तामणि जगत्के समस्त ऐश्वर्यके समान थी। उसकी प्राप्ति हो जानेसे वह सुख-शान्तिपूर्वक रहने लगा। निष्पाप राम! वह समस्त इन्द्रियोंसे अतीत है और शास्त्रोपदेशसे विचारशील वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, इसलिये गुरूपदेशसे ज्ञान [illegible]

प्राप्ति नहीं होती अर्थात् आत्मज्ञानमें उपदेश कारण नहीं है। फिर भी गुरूपदेशके बिना आत्मतत्त्वकी प्राप्ति हो भी नहीं सकती; वह कृपण कौड़ीकी खोज न करता तो चिन्तामणिकी उपलब्धि उसे कैसे होती! इसलिये जैसे चिन्तामणिकी प्राप्तिमें कौड़ीकी खोज कारण है, वैसे ही इस महान् अर्थरूप आत्मतत्त्वकी प्राप्तिमें गुरूपदेश पूर्णतया कारण न होनेपर भी कारणताको प्राप्त है। क्योंकि श्रीराम! पुरुष कार्य तो कुछ और ही करता है और उसे उस कार्यका फल अन्य ही मिलता है। यह बात तीनों लोकोंमें देखी-सुनी जाती है; इसलिये आत्मज्ञानके अनन्तर इस काल्पनिक जगत्‌को अनासक्ति और निष्कामभावसे वहन करना ही श्रेयस्कर है।

राघव! तदनन्तर राजा शिखिध्वज तत्त्वज्ञानरूप परम-पदकी प्राप्तिके बिना वैसे ही अत्यन्त मोहको प्राप्त हो गये, जैसे संतानहीन पुरुष पुत्र-अभावरूपी तमसे अंधा-सा हो जाता है। उनका मन दुःखाग्निसे संतप्त हो उठा। अतः प्रियवर्ग-द्वारा लायी गयी भोग-सामग्रियाँ उन्हें आगकी लपट-सी प्रतीत होने लगीं। वैराग्यके कारण उनका मन उनमें तनिक भी सुखका अनुभव नहीं करता था। उन्हें अब एकान्त प्रदेशोंमें, निर्झर-तटोंपर और गुफाओंमें ही निवास करना वैसे ही अधिक रुचने लगा, जैसे व्याधके बाणप्रहारसे मुक्त हुआ जन्तु एकान्तमें छिपना ही पसंद करता है। रघुनन्दन! राजा शिखिध्वज सान्त्वनापूर्वक अनुनय-विनय करनेवाले एवं समझाने-बुझानेवाले भृत्योंके प्रार्थना करनेपर दिनका सारा काम-काज करते थे। परंतु उनका वैराग्य प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा था। उनकी बुद्धि अत्यन्त शान्त थी। वे परिव्राजक-की भाँति रहते थे। इसलिये विशाल विषयभोगों तथा राज्यश्रीका उपभोग करनेमें उनका मन खिन्न हो जाता था। दूसरोंको मान देनेवाले श्रीराम! वे देवकार्यके निमित्त तथा ब्राह्मणों और स्वजनोंके लिये गौ, भूमि और सुवर्ण आदिका खुले हाथों दान करने लगे। वे तप करनेके

हेतु कृच्छ्र-चान्द्रायण आदि व्रतोंका अनुष्ठान तथा तीर्थों. वनों और आश्रमोंमें भ्रमण करने लगे। इतनेपर भी, उन्हें तनिक-सी भी शोकशून्य स्थिति वैसे ही नहीं प्राप्त हुई, जैसे धनार्थी पुरुषको खानरहित भूमिके खोदनेसे निधिकी प्राप्ति नहीं होती। इस प्रकार महान् बुद्धिमान् होते हुए भी राजा शिखिध्वज चिन्तारूपी अग्निसे संतप्त होकर सूखते जा रहे थे। तब वे संसाररूपी व्याधिकी ओषधिके विषयमें विचार करने लगे। यों चिन्तापरवश होकर वे दीन हो गये। उन्हें अपना राज्य विष-सा प्रतीत होने लगा। इस प्रकार उनकी बुद्धि विषयोंसे खिन्न हो गयी, अतः बहुमूल्य भोगपदार्थ सामने रखे जानेपर भी वे वैराग्ययुक्त राजा उनकी ओर ताकते भी नहीं थे। इसी स्थितिमें एक दिन चूडाला महलमें बैठी हुई थी, तब राजा उससे मधुर वाणीमें बोले।

शिखिध्वजने कहा—सूक्ष्माङ्गी प्रिये! मैंने बहुत दिनोंतक राज्यका उपभोग किया और विभवपूर्ण पदोंको

भी भोग लिया। अब मुझे वैराग्य हो गया है, अतः मैं वन जाना चाहता हूँ; क्योंकि वनवासी मुनिपर सांसारिक सुख, दुःख, आपत्ति, सम्पत्ति—ये कोई भी अपना अधिकार नहीं जमा सकते। न तो उन्हें देशके विनाशसे मोह-पूर्वक दुःख होता है और न संग्राममें प्रजाजनोंका क्षय ही करना-कराना पड़ता है; अतः मैं वनवासी मुनियोंके सुखको राज्य-सुखकी अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट मानता हूँ। वैराग्ययुक्त मन जैसा एकान्तमें सुखका अनुभव करता है, वैसा सुख उसे न तो चन्द्रवदनी रमणियोंके मुख-मण्डलोंमें मिलता है और न ब्रह्मा एवं इन्द्रके भवनोंमें ही प्राप्त होता है। इसलिये सुन्दरि! मैंने जो यह वन-गमनका उत्तम विचार किया है, इसमें बाधा डालना तुम्हारे लिये उचित नहीं है; क्योंकि कुलीन स्त्रियाँ स्वप्नमें भी पतिकी इच्छाको भङ्ग नहीं करतीं।

चूडाला बोली—नाथ! जैसे वसन्त ऋतुमें पुष्पकी शोभा होती है और शरद् ऋतुमें पुष्प भला मालूम देता है, उसी तरह जिस कार्यके करनेका अवसर प्राप्त हो, उसीका सम्पादन करनेसे उसकी शोभा होती है कालके कार्यमें नहीं। इसलिये जिनके शरीर बुढ़ा हो गये हैं, उन्हींके लिये वनका आश्रय लेना आप जैसे युवकोंके लिये नहीं। इसी कारण यह विचार मुझे पसन्द नहीं है। प्रियतम! जब अवस्था आनेपर हम दोनोंके सिरके बाल श्वेत पुष्प बिल्कुल सफेद हो जायँगे, उस समय हम दो साथ ही घरसे निकलकर वनको चले चलेंगे। राजन्! बिना समयके ही प्रजापालनरूप कर्मका कर देनेवाले राजाके राज्यका विनाश हो जाता है उसे महान् पापका भागी होना पड़ता है अवसरके ही कार्य करनेवाले राजाको प्रजाएँ हैं। इसी प्रकार न करनेयोग्य कार्यसे रोककर स्वामी नौकरको परस्पर मना करते ही हैं।

शिखिध्वजने कहा—कमलनयनी प्रिये! अभीष्ट कार्यमें विघ्न मत डालो। अब तुम मुझे दूर एकान्त वनमें गया हुआ ही समझो। अनिन्दि कठोर-से-कठोर अङ्गवाली स्त्रियाँ भी वनवासके नि नहीं हो सकतीं, फिर तुम्हारे अङ्ग तो बहुत कोम तुम अभी नवयुवती हो, अतः तुम्हें तो वनमें न चाहिये। वनवास तो पुरुषोंके लिये भी कठिन होता है; अतः तुम्हें तो प्रजाका पालन क इस उत्तम राज्यमें ही रहना चाहिये; क्योंकि पति जानेपर कुटुम्बका भार वहन करना स्त्रीका धर्म

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! अपनी उस च प्राणप्रियासे ऐसा कहकर जितेन्द्रिय राजा शि स्नान करनेके लिये उठकर चल दिये और स्नान कर अपने सम्पूर्ण दैनिक कार्योंका सम्पादन किया सायंकाल हुआ, तब पुनः संध्याकालीन समस्त पूरा करके वे अपनी प्रिय पत्नी चूडालाके साथ सो गये। तदनन्तर आधी रातके समय जब स सन्नाटा छा गया, सारी जनता नींद लेनेमें ल

और कोमल बिछावनसे युक्त पलंगपर सोयी हुई चूडाला भी गाढ़ निद्रामें निमग्न हो गयी, तब जिस पलंगके आधे बिस्तरपर पत्नी सोयी हुई थी, उस पलंगसे राजा उठ खड़े हुए और 'हे राजलक्ष्मि ! तुम्हें नमस्कार है' यों कहकर अकेले ही अपने राजमहलसे चल पड़े ।

चलते-चलते वे महासागरमें प्रवेश करनेवाले नदकी तरह एक भयंकर अरण्यमें जा पहुँचे । पुनः प्रातःकाल होनेपर राजा शिखिध्वज वेगपूर्वक वहाँसे आगे चले और बारह दिनोंमें बहुत-से नगरों, देशों, पर्वतों और नदियोंको लाँघ गये । तत्पश्चात् वे मन्दराचलके तटवर्ती एक काननमें जा पहुँचे, जो मनुष्यके लिये अति दुर्गम था । वहाँसे मनुष्योंकी बस्ती और नगर अत्यन्त दूर पड़ते थे । वहाँ उन्होंने एक चौरस एवं शुद्ध स्थानमें, जो जलसे घिरा हुआ, शीतल, हरी-हरी घासोंसे आच्छादित होनेके कारण श्याम, स्निग्ध तथा फलोंसे लदे हुए वृक्षोंसे सम्पन्न था, मञ्जरीयुक्त लताओंसे बाँधकर अपने लिये एक पर्णशाला बना ली । फिर राजाने अपनी उस कुटियामें बाँसका चिकना डंडा, फलाहारके लिये पात्र, अर्घ्यपात्र, पुष्पपात्र, कमण्डलु, रुद्राक्षकी माला, शीतका निवारण करनेके लिये गुदड़ी, चटाई और मृगचर्म आदि लाकर यथास्थान रख दिये । इनके सिवा और भी जो कोई वस्तु तापस-कर्मोपयोगी प्रतीत हुई, राजाने उसे भी लाकर वहाँ रख लिया । फिर दिनके प्रथम प्रहरमें प्रातःकाल उन्होंने संध्यापूर्वक जप और दूसरे प्रहरमें पुष्प आदिका संचय कर लेनेके बाद स्नान और देवार्चन किया । तत्पश्चात् कुछ जंगली फल, कन्द-मूल और कमण्डलु आदि खाकर उन जितेन्द्रिय नरेशने जपपरायण हो अकेले ही वह रात बितायी । इस प्रकार मन्दराचलकी तलहटीमें अपने द्वारा बनायी गयी पर्णशालाके भीतर बैठकर जप करते हुए मालव-नरेश शिखिध्वज खेदरहित होकर दिन बिताने लगे । वे अपने पूर्वानुभूत नित्य नूतन राजसी भोगविलासोंका कुछ भी स्मरण नहीं करते थे । भला, जिसके हृदयमें विवेकपूर्वक वैराग्यका उदय हो जायगा, उसके मनका अपहरण राज्यलक्ष्मियाँ कैसे कर सकती हैं ! (सर्ग ८३-८४)

सोकर उठी हुई चूडालाके द्वारा राजाकी खोज, वनमें राजाके दर्शन और राजाके भविष्यका विचार करके चूडालाका लौटना, नगरमें आकर राज्य-शासन करना, तदनन्तर कुछ समय बाद राजाको ज्ञानोपदेश देनेके लिये ब्राह्मणकुमारके वेषमें उनके पास जाना, राजाद्वारा उसका सत्कार और परस्पर वार्तालापके प्रसंगमें कुम्भद्वारा कुम्भकी उत्पत्ति, वृद्धि और ब्रह्माजीके साथ उसके समागमका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलभूषण राम ! इस प्रकार राजा शिखिध्वज वनमें, एक तापसको जिन-जिन वस्तुओंकी आवश्यकता पड़ती है, उन पदार्थोंका संग्रह करके कुटियामें रहने लगे । इधर घरपर चूडालाने क्या

किया—अब उसे सुनो। आधी रातके समय जब राजा शिखिध्वज महलसे निकलकर दूर चले गये, तब अकस्मात् चूडालाकी नींद टूटी। वह तत्काल उठकर शय्यापर बैठ गयी और चिन्ताग्रस्त होकर यों विचार करने लगी—

'दुःखकी बात है, जो मेरे पतिदेव राज्यका परित्याग करके घरसे वनको चले गये; अतः अब मेरा यहाँ रहना किस कामका ? मैं भी उनके समीप ही जाऊँगी; क्योंकि ब्रह्माने स्त्रियोंके लिये पतिको ही एकमात्र गति निर्धारित किया है।' यों सोच-विचारकर चूडाला पतिका अनुगमन करनेके लिये उठ खड़ी हुई और झरोखेके रास्ते निकलकर आकाशमें जा पहुँची। वहाँ आकाशमण्डलमें स्थित होकर उसने अपने पतिको निर्जन वनमें भटकते देखा। फिर वह उनके भविष्यके विषयमें पूर्णरूपसे विचार करने लगी। राघव! उसने अपने योगबलसे राजाको जैसे, जिस निमित्तसे, जिस देश और कालमें जितने कार्यका जिस रीतिसे सम्पादन तथा जिस प्रकार निर्वाणकी प्राप्ति आदि करनी होगी, उन सभी अवश्यंभावी विषयोंका योगके द्वारा अनुभव किया और फिर उन्हींके अनुकूल आचरण करनेके लिये वह ऐसा सोचकर आकाशसे लौट पड़ी कि दैवका यही निश्चित विधान मालूम पड़ता है कि कुछ कालके बाद ही मैं इनके समीप जाऊँ, अतः अभी मेरा वनमें जाना ठीक नहीं है। इस प्रकार निश्चय करके चूडालाने वहाँसे लौटकर पुनः अपने अन्तःपुरमें प्रवेश किया।

दूसरे दिन उसने ऐसी घोषणा करा दी कि 'किसी विशेष कारण बस महाराज इस समय बाहर गये हुए हैं।' इस प्रकार समस्त पुरवासी जनोंको आश्वासन देकर सुन्दरी चूडाला वहाँ रहने लगी। जैसे धानकी रखवाली करनेवाली स्त्री समयानुसार पके हुए धानके खेतकी रक्षा करती है, वैसे ही वह समतापूर्वक अपने स्वामीकी शासनप्रणालीके अनुसार राज्यकी देख-भाल करने लगी। इस प्रकार वनमें राजा शिखिध्वजके और अपने महलमें चूडालाके क्रमशः दिन, पक्ष, मास, ऋतु और वर्ष बीतने लगे। यों सुन्दरी चूडालाको राजमहलमें और शिखिध्वजको जंगली लताकुञ्जोंमें निवास करते अठारह वर्ष बीत गये। तदनन्तर बहुत वर्षोंतक उस महाशैलकी तलहटीमें निवास करते हुए राजा शिखिध्वज वृद्धावस्थाको प्राप्त हो गये। इधर चूडाला अपने पतिकी रागादि वासनाओंके परिपाकको लक्ष्य करके उतने कालतक प्रतीक्षा करती रही। जब वनमें रहते हुए जरावस्थासे युक्त राजा शिखिध्वजके बहुत-से वर्ष व्यतीत हो गये, तब पतिके प्रति अपने कर्तव्यकी भावनासे प्रेरित होकर चूडालाके मनमें ऐसा विचार उदय हुआ कि अब मेरे लिये पतिके समीप जानेका समय आ गया है। यों सोचकर वह मन्दराचलकी उपत्यकामें जानेके लिये तैयार हो गयी और रात्रिके समय अन्तःपुरसे निकलकर आकाशमार्गसे उड़ चली। वह वायुमण्डलमें होकर यात्रा कर रही थी। जब वह आकाशके मध्यमें पहुँची, तब उसने बादलोंमें चमकती हुई बिजलियोंका बारंबार अवलोकन किया। उस समय वह मन-ही-मन कहने लगी—'अहो! प्राणियोंका स्वभाव जीवनपर्यन्त शान्त नहीं होता, इसी कारण आज मेरा भी मन उत्कण्ठित हो ही गया। किंतु अरे चित्त! यह तुम्हारा कोई दोष नहीं है; क्योंकि तुम्हारी उत्कण्ठा तो अपने स्वामीके प्रति है न। फिर भी तुम उत्कण्ठासे परिपूर्ण होकर स्थित रहो, तुम्हारे भलीभाँति उत्कण्ठित होनेसे मेरा क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है; क्योंकि मेरे स्वामी तो अब तपस्वी हैं। अतः वे क्षीणकाय एवं वासनाशून्य हो गये होंगे। मैं तो ऐसा समझती हूँ कि उनका मन अब राज्य आदि भोगोंकी ओरसे उपरत हो गया होगा। जैसे वर्षाकालकी क्षुद्र नदी महानदमें मिलकर उसीमें विलीन हो जाती है, वैसे ही उनकी वासनालता महान् आत्मामें एकनिष्ठ हो गयी होगी। वे एकात्मा होकर एकान्तमें ही रत रहते होंगे तथा उन वीतरागकी वासनाएँ शान्त हो गयी होंगी।

मेरे विचारमें तो ऐसा आता है कि अब मेरे स्वामीकी स्थिति सूखे वृक्षकी-सी हो गयी होगी। तथापि चित्त ! तुम्हें उत्कण्ठित होनेकी क्या आवश्यकता है। मैं स्वयं अपने योगबलसे पतिदेवकी बुद्धिको उद्बुद्ध करके उन्हें उत्कण्ठित कर दूँगी और फिर तुम्हारे साथ मिला दूँगी। मैं अपने मुनिस्वरूप स्वामीके इच्छारहित मनको समतायुक्त बनाकर राज्यमें ही नियुक्त करूँगी और फिर हम दोनों चिरकालतक सुखपूर्वक निवास करेंगे। अहो ! निश्चय ही चिरकालके पश्चात् मैं इस शुभ मनोरथको प्राप्त करूँगी।

यों सोचकर चूडाला आकाशमार्गसे उड़ती हुई पर्वतों, देशों, मेघों तथा दिग्दिगन्तोंको लाँघकर मन्दराचलकी उस

कन्दराके निकट जा पहुँची। वहाँ वह अदृश्यरूपसे आकाशमें ही स्थित रही। फिर वृक्षों और लताओंके स्पन्दनसे गमनागमनको सूचित करनेवाली वायुकी तरह उसने वनके भीतर प्रवेश किया। वहाँ उसने वनके किसी एक प्रदेशमें पर्णशाला बनाकर उसमें बैठे हुए अपने पतिको देखा। जो पहले हार, बाजूबंद, कड़े और कुण्डल आदिसे विभूषित होकर सुमेरुके समान कान्तिमान् दीखते थे, उन्हींको आज चूडालाने कृशकाय, कृष्णवर्ण तथा जीर्ण-शीर्ण पत्तेकी तरह शुष्क शरीरवाला देखा। उनके सिरपर जटाएँ बँध गयी थीं तथा शरीरपर वल्कल-वस्त्र शोभा दे रहा था। शान्त तो वे थे ही; अतः अकेले ही भूमिपर बैठकर पुष्पोंकी माला गूँथ रहे थे। उन्हें देखकर सर्वाङ्गसुन्दरी चूडालाका मन कुछ खिन्न हो गया; फिर वह मन-ही-मन कहने लगी—'अहो ! मेरे पतिकी यह कैसी अज्ञानभरी मूर्खता है। इसी मूर्खताके प्रसादसे ही ऐसी दशाएँ आया करती हैं। ये शोभाशाली नरेश मेरे परम प्रिय पति हैं। इनका हृदय गाढ़ मोहसे आहत हो गया है, इसी कारण ये इस दशाको प्राप्त हो गये हैं। अतः अब मैं इन्हें सर्वोत्तम ज्ञान प्रदान करनेके लिये अपने इस रूपका परित्याग करके किसी अन्य रूपसे इनके समीप जाऊँगी; क्योंकि यदि मैं इसी रूपसे जाती हूँ तो 'यह बाला मेरी प्रेयसी प्रिया है' यों समझकर ये मेरे कथनपर भलीभाँति ध्यान नहीं देंगे, इसलिये तपस्वीका वेष धारण करके इनके सामने उपस्थित होकर मैं क्षणभरमें इन्हें प्रबुद्ध कर दूँगी। इस समय मेरे स्वामीकी बुद्धि रागादि वासनाओंके परिपाकसे परिपक्व हो गयी है, अतः अब इनके निर्मल चित्तमें आत्मतत्त्व भलीभाँति प्रकट हो सकता है।' यों मन-ही-मन विचार करके चूडाला थोड़ी देरतक ध्यानमग्न हो गयी। फिर, तत्काल ही जल-तरङ्गकी तरह उसका रूप बदल गया और वह एक ब्राह्मणकुमारके रूपमें परिवर्तित हो गयी। फिर तो वह उसी रूपसे उस जंगलमें उतर पड़ी और अपने पतिदेवके सामने जाकर खड़ी हो गयी। उस समय उसका मुख मन्द मुसकानसे सुशोभित हो रहा था।

उस द्विजपुत्रका शरीर तपाये हुए सुवर्णके समान गौरवर्णका था, कंधेपर शुक्ल यज्ञोपवीत लटक रहा था और

वह दो निर्मल स्वच्छ वस्त्रोंसे आच्छादित था। इस प्रकार वह दूसरे वनसे आया हुआ मूर्तिमान् तप-सा ही प्रतीत होता था। उस शोभाशाली द्विजकुमारको अपने सामने देखकर राजा शिखिध्वजने समझा कि यह कोई देवपुत्र आया हुआ है, अतः वे अपनी खड़ाऊँ छोड़कर तुरंत ही उठ खड़े हुए और बोले—'देवपुत्र! आपको

नमस्कार है। आइये, इस आसनपर विराजिये।' यों कहकर उन्होंने अपने हाथसे उसके सामने एक पत्तेका आसन रख दिया। तब ब्राह्मणकुमारने भी कहा—'राजर्षे! आपको प्रणाम है।'

शिखिध्वजने कहा—महाभाग देवपुत्र! कहाँसे आपका शुभागमन हुआ है? आज मुझे जो आपका दर्शन प्राप्त हो गया, इससे मैं आजका दिन सफल समझता हूँ। मानद! आपका कल्याण हो। आपके लिये यह अर्घ्य है, यह पाद्य है, ये पुष्प हैं और यह गुँथी हुई माला है—इन्हें आप ग्रहण करनेकी कृपा करें।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—निष्पाप राम! ऐसा कहकर राजा शिखिध्वजने ब्राह्मणकुमारके वेषमें आयी हुई अपनी उस प्रियतमा पत्नीको शास्त्रविधिके अनुसार अर्घ्य, पाद्य, पुष्प और माला आदि समर्पित किये।

तत्पश्चात् (ब्राह्मणकुमारके वेषमें) चूडाला बोली—सज्जनशिरोमणे! आपने शान्त मनसे निर्वाण-प्राप्तिके लिये फलकी कामनासे रहित उत्कृष्ट तपका संचय तो कर लिया है न? क्योंकि सौम्य! आपने जो धन, धान्य-सम्पन्न राज्यका परित्याग करके महावनका आश्रय लिया है, आपका यह शान्त व्रत तलवारकी धारके समान है।

शिखिध्वजने कहा—भगवन्! आपके लोकोत्तर चिह्न-स्वरूप सौन्दर्यसे ही ज्ञात हो रहा है कि आप कोई देवता हैं, इसीसे सब कुछ जानते हैं। इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है? सौन्दर्यशाली देव! अभी मेरी प्रियतमा भार्या वर्तमान है। आजकल वह मेरे राज्यका संचालन कर रही है। उसीके सारे अङ्गोंकी तरह आपके आज हर्षित हो रहे हैं। अभ्यागतका आदर-सत्कार करनेसे अपना जीवन सफल हो जाता है, इसलिये सत्पुरुष अभ्यागत-को देवतासे भी बढ़कर पूज्य मानते हैं। (इसी कारण मैंने आपका आतिथ्य किया है।) निर्मल चन्द्रमाके समान कान्तिमान् मुखवाले देवपुत्र! अब मेरे मनमें एक संशय है, उसका आप निवारण कीजिये। वह संशय यह है कि आप कौन हैं? किसके पुत्र हैं? और मुझपर कृपा करके कहाँसे और किस लिये यहाँ पधारे हैं?

ब्राह्मणकुमार बोला—राजन्! आपके प्रश्नानुसार मैं सारी बातें कहता हूँ, सुनिये। इस जगन्मण्डलमें मुनिवर नारद रहते हैं। उनका हृदय परम विशुद्ध है। उनके शरीरका वर्ण पुण्यलक्ष्मीके कमनीय मुखमें सुशोभित कर्पूर-के तिलकके सदृश गौर है। किसी समय वे देवर्षि मेरुगिरिकी चन्दरामें प्यानावस्थित थे। उस गुफाके अभ्यन्तर ही उत्तुङ्ग तरङ्गोंवाली गङ्गाजी बह रही थीं, जिनका रङ्ग मेरुगिरिके सौन्दर्यसे उद्भासित हो रहा था, जिसमें से

हारकी तरह सुशोभित हो रही थीं। उसी गङ्गा नदीके तटपर एक बार ध्यानसे विरत होनेपर नारद मुनि बैठे थे, तबतक उन्हें कङ्कणोंकी झनकारसे युक्त जलक्रीडाकी कल-कल ध्वनि सुनायी पड़ी। सुनते ही उनके मनमें कुछ कुतूहल उत्पन्न हो गया और उन्होने यह जानना चाहा कि यह क्या है। फिर तो कौतुकवश चारों ओर दृष्टि दौड़ानेपर उन्हें नदीमें रम्भा, तिलोत्तमा आदि अप्सराओंका दल दिखायी पड़ा, जो जलक्रीडासे निवृत्त होकर बाहर निकल रहा था। भींग जानेके कारण उनके समस्त अङ्ग ऊपरसे नीचेतक दीख रहे थे और वे परस्पर एक दूसरेमें प्रतिबिम्बित हो रहे थे, जिससे वे एक दूसरीके लिये दर्पण-सी बन गयी थीं। एक ही स्थानपर एकत्रित किये गये चन्द्रमण्डलके कलापुञ्जकी भाँति उस कमनीय नारीदलको देखकर जब सहसा नारदमुनिका चित्त क्षुब्ध हो उठा, तब उनका वीर्य स्खलित हो गया।

तदनन्तर नारदमुनिने अपने मनरूपी उन्मत्त गजराजको विशुद्ध बुद्धिरूपी रस्सेसे विवेकरूपी सुदृढ़ आलानमें बाँध दिया और उस स्खलित हुए वीर्यको, जो प्रलयकालीन अग्निके तापसे पिघले हुए चन्द्रद्रवके सदृश तथा पारद और सुवर्ण आदि शम्भुके दिव्य वीर्यके समान था, अपने पास ही पड़े हुए एक अद्भुत कान्तिमान् स्फटिक कुम्भमें स्थापित कर दिया। फिर उन्होने उस कुम्भको अपने संकल्पजनित दूधसे परिपूर्ण कर दिया, कुछ ही दिनोंमें वह घटस्थित शुभ गर्भ वृद्धिको प्राप्त हो गया। फिर तो जैसे मास चन्द्रमाको तथा वसन्त ऋतु पुष्पोंको उत्पन्न करती है, उसी प्रकार समय आनेपर उस घटने एक कमलदल-सदृश नेत्रोंवाले बालकको जन्म दिया। कुम्भसे वह बालक सम्पूर्ण अङ्गोंसे परिपूर्ण होकर निकला था। उस समय वह ऐसा जान पड़ता था मानो क्षीरसागरसे दूसरा क्षयरहित पूर्ण चन्द्रमा निकला हो। शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान वह कुछ ही दिनोंमें बढ़कर बड़ा हो गया। उसका शरीर अनुपम सौन्दर्यसे युक्त था। जब वह जातकर्म आदि सभी संस्कारोंसे सम्पन्न हो गया, तब मुनिवर नारदने अपना सारा विद्याधन उस बालकमें उसी प्रकार स्थापित कर दिया, जैसे एक पात्रमें रखा हुआ धन दूसरे पात्रमें उँड़ेल दिया जाता है। थोड़े ही दिनोंमें वह सम्पूर्ण वाङ्मयका विशिष्ट ज्ञाता हो गया। इस प्रकार मुनिवर नारदने उसे अपना प्रतिबिम्ब-सा बना दिया।

तदनन्तर नारदजी अपने पुत्रको साथ लेकर ब्रह्मलोकको गये और वहाँ उससे अपने पिता ब्रह्माजीके चरणोंमें अभिवादन करवाया। प्रणाम कर चुकनेके बाद ब्रह्माजीने अपने पौत्रसे परीक्षार्थ वेदादि शास्त्रोंके विषयमें प्रश्न किये और उनका समुचित उत्तर पानेपर उन्होंने उसे पकड़कर अपनी गोदमें बैठा लिया। फिर तो, उन कमलयोनिने उस कुम्भ नामवाले पौत्रको केवल आशीर्वाद देकर सर्वज्ञ तथा ज्ञानका पारगामी विद्वान् बना दिया। साधुशिरोमणे! वह कुम्भ मैं ही हूँ। कुम्भसे उत्पन्न होनेके कारण मेरा ही नाम कुम्भ पड़ा है। मैं नारदमुनिका पुत्र और पद्मजन्मा ब्रह्माका पौत्र हूँ। ब्रह्मलोक ही मेरा घर है। वहीं मैं अपने पिताजीके साथ सुखपूर्वक निवास करता हूँ। चारों वेद मेरे सुहृद् हैं। मैं किसी कार्यवश नहीं, बल्कि कौतुकवश स्वेच्छानुसार सभी लोकोंमें विचरता हूँ। जब मैं भूलोकमें विचरण करता हूँ, उस समय मेरे पैर भूतलपर नहीं पड़ते, धूलिकण अङ्गोंका स्पर्श नहीं करते और मेरा शरीर कभी मलिन नहीं होता। आज मैं आकाशमार्गसे जा रहा था कि सामने आप दिखायी पड़ गये, इसलिये यहाँ चला आया हूँ। वनवासके गुणों तथा तज्जन्य फलोंके ज्ञाता साधो! इस प्रकार अपने अनुभवके अनुसार मैंने सारा-का-सारा वृत्तान्त आपको बतला दिया।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—मुने! महर्षि वसिष्ठके इस प्रकार कहते-कहते वह दिन समाप्त हो गया। जब भगवान् सूर्य अस्ताचलकी ओर जाने लगे, तब वह सभा

विसर्जित हुई और सभी सभासद् मुनिवर वसिष्ठको नमस्कार करके सायंकालीन विधिका सम्पादन करनेके लिये स्नान करने चले गये और रात्रि व्यतीत होनेपर पुनः सूर्योदय होते-होते सभामें जुट गये। (सर्ग ८५-८६)

राजा शिखिध्वजद्वारा कुम्भकी प्रशंसा, कुम्भका ब्रह्माजीके द्वारा किये हुए ज्ञान और कर्मके विवेचनको सुनाना, राजाद्वारा कुम्भका शिष्यत्व-स्वीकार

राजा शिखिध्वजने कहा—देवकुमार ! मैं तो ऐसा समझता हूँ कि जैसे आँधी मेघोंको उड़ाकर पर्वतपर पहुँचा देती है, उसी प्रकार मेरी संचित पुण्यराशिने अप्रकटरूपसे फलदानोन्मुख होकर आपको यहाँ भेजा है। साधो ! आपके वचनोंसे तो मानो अमृत टपक रहा है, अतः आपके साथ आज जो मेरा समागम हो गया, इससे अब मैं धर्मात्माओंकी गणनामें सर्वप्रथम गिना जाऊँगा। प्रभो ! साधु-समागमसे चित्तको जैसी शान्ति उपलब्ध होती है, वैसी शान्ति राज्य-लाभ आदि कोई भी पदार्थ नहीं दे सकते; क्योंकि सत्सङ्ग होनेपर सामान्यरूपसे अपरिमित ब्रह्मानन्दरूप सुख प्रकट होने लगता है, जिससे कल्पनाजनित सुख प्रदान करनेवाले रागादि दोषोंका विचार ही नष्ट हो जाता है।

(देवपुत्रके वेषमें) चूडाला बोली—साधुश्रेष्ठ ! सुनिये इस कथाको। मैंने तो आपके प्रश्नानुसार अपना सारा वृत्तान्त आपको बता दिया। अब आप मुझे अपना परिचय दीजिये—आप कौन हैं ? इस पर्वतपर क्या कर रहे हैं ? आपको अरण्यवास करते कितना समय बीत गया और इससे आप अब कौन-सा कार्य सिद्ध करना चाहते हैं ?—यह सब बताइये।

शिखिध्वजने कहा—भगवन् ! आप तो स्वयं ही देवकुमार हैं, अतः लोकवृत्तान्त और परमार्थवृत्तान्तके पूर्ण ज्ञाता हैं। मेरे विषयमें भी आप सब कुछ यथार्थ रूपसे जानते ही हैं, फिर, इसके अतिरिक्त मैं और क्या कहूँ। आर्य ! यद्यपि आप मुझे जानते हैं, फिर भी मैं आपसे अपना परिचय संक्षेपमें दे रहा हूँ, सुनिये। मैं शिखिध्वज नामका राजा हूँ और अपने राज्यका परित्याग करके यहाँ चला आया हूँ। मैं जन्म-मरणसे भीत हो गया हूँ, अतः इस वनमें निवास करता हूँ। तत्त्वज्ञ ! मुझे सबसे बड़ा भय तो इस बातका है कि कहीं संसारमें मेरा पुनर्जन्म न हो जाय। यद्यपि मैं दिग्दिगन्तोंमें भ्रमण कर रहा हूँ और कठोर तप भी कर रहा हूँ, तथापि मुझे अभी वास्तविक शान्ति प्राप्त नहीं हुई है, शास्त्रोक्त प्रक्रियाका समुचित रूपसे सम्पादन करनेपर भी मुझे दुःख-पर-दुःख ही मिलते जा रहे हैं और मेरे लिये अमृत भी विषवत् हो गया है। (भगवन् ! इसका क्या कारण है ?)

(देवपुत्रके रूपमें) चूडाला बोली—साधो ! पहले किसी समय मैंने अपने पितामह ब्रह्माजीसे ऐसा प्रश्न किया था—'प्रभो ! ज्ञान और कर्म—इन दोनोंमें जो एकमात्र श्रेयस्कर हो, उसे मुझे बतानेकी कृपा कीजिये।'

तब ब्रह्माजीने कहा—बेटा ! ज्ञान और कर्ममें ज्ञान ही परम श्रेयस्कर है; क्योंकि उससे भलीभाँति कैवल्य-स्वरूप परमात्माका साक्षात् अनुभव हो जाता है; परंतु पुत्र ! जिन्हें ज्ञान-दृष्टिकी प्राप्ति नहीं हुई है, उनके लिये कर्म ही सबसे बढ़कर है; क्योंकि जिसके पास रेशमी साल नहीं है, वह क्या साधारण कम्बलको भी छोड़ देता है ? अज्ञानीके सभी कर्म सफल हैं अर्थात् जन्म-मरणरूप फल प्रदान करते हैं; क्योंकि कर्मोंकी सफलतामें प्रयोजक वासनाएँ उसमें बनी हुई हैं; परंतु जो ज्ञानसम्पन्न है, उसके सभी कर्म निष्फल हैं अर्थात् वे जन्म-मरणरूप फल नहीं देते; क्योंकि उसकी सारी वासनाएँ नष्ट हो चुकी हैं। जैसे ऋतु-परिवर्तनके समय पहली ऋतुके गुणोंका आगामी ऋतुमें विनाश हो जाता है, उसी तरह वासनाका क्षय हो जानेपर कर्मफल भी नष्ट हो जाता है। वत्स ! वास्तवमें वासना कार्यवस्तु है ही नहीं, किंतु जैसे मरुस्थलमें असत्यरूपसे जल प्रतीत होता है, उसी प्रकार वह मूर्खताके कारण अज्ञानीमें अहंकार आदिका रूप धारण करके असत्यरूपसे प्रकट होती है। परंतु 'सर्वं ब्रह्म—सब कुछ ब्रह्म ही है' ऐसी भावना करनेसे जिसके अज्ञानका नाश हो गया है, उसके मनमें वासना उत्पन्न ही नहीं होती। ठीक उसी तरह, जैसे बुद्धिमान् पुरुषको मरुस्थलमें जलकी भ्रान्ति नहीं होती। अपने भीतरसे वासनामात्रका पूर्णतया परित्याग कर देनेसे जीव जरा-मरणरहित एवं पुनर्जन्मशून्य परमपदको प्राप्त हो जाता है।

(देवपुत्रके रूपमें) चूडाला कहती है—राजर्षे ! इस प्रकार जब वे ब्रह्मा आदि महापुरुष भी ज्ञानको ही परमोत्कृष्ट श्रेय बतलाते हैं, तब आप उस ज्ञानसे रहित क्यों हैं ? भूपाल ! 'इधर कमण्डलु है, इधर दण्डकाष्ठ है, इधर कुशकी चटाई है'—ऐसे अनर्थोंसे परिपूर्ण इस संसारमें क्यों सुख मान रहे हैं ? राजन् ! मैं कौन हूँ ? यह जगत् कैसे उत्पन्न हुआ है और किस उपायसे इसकी शान्ति होगी ?—इन प्रश्नोंपर किसलिये आप विचार नहीं करते ? क्यों अज्ञानी बने बैठे हैं ? नरेश ! जो सगुण-निर्गुणरूप परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले हैं, ऐसे महात्माओंके पास जाकर 'बन्धन कैसे हुआ और मोक्षका उपाय क्या है ?' यों प्रश्न करते हुए आप उनके चरणोंकी सेवा क्यों नहीं करते ? यहाँ पर्वतकी कन्दरामें बैठे इस कठोर तपस्यामें आप अपना जीवन क्यों बिता रहे हैं ? जिस युक्तिसे संसार-बन्धनसे मुक्ति मिलती है, वह तो समतापूर्ण दृष्टिवाले महात्माओंके पास जाकर उनसे पूछनेसे, उनकी सेवासे तथा उनके समागमसे ही उपलब्ध होती है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! उस देव-रूपिणी कान्ता चूडालाने जब इस प्रकार ज्ञानोपदेश किया, तब राजा शिखिध्वजकी आँखोंसे अश्रुधारा बह लगी और वे इस प्रकार बोले।

शिखिध्वजने कहा—देवकुमार ! बहुत कालके पश्चात् आज आपने मुझे प्रबुद्ध कर दिया। अहो ! इतने दिनोंतक साधु समागमका परित्याग करके मैं उ वनमें निवास करता रहा, यह मेरी मूर्खताका परिचायक है। आप जो स्वयं ही यहाँ पधारकर मुझे ज्ञानोपदेश कर रहे हैं, इससे तो मैं समझता हूँ कि निश्चय ही मे सम्पूर्ण पापोंका विनाश हो गया। सुमुख ! अब आ ही मेरे गुरु हैं, आप ही मेरे पिता हैं और आप ही मे मित्र हैं। मैं आपका शिष्य हूँ और आपके चरणों नतमस्तक हूँ, मुझपर कृपा कीजिये। भगवन् ! जि आप सर्वोत्तम समझते हों और जिसे जान लेनेपर फि शोक नहीं करना पड़ता तथा जिसको प्राप्त करके मैं मुक्त हो जाऊँगा, उस परब्रह्म-तत्त्वका मुझे शीघ्र ह उपदेश दीजिये।

(देवपुत्रके रूपमें)चूडाला बोली—राजर्षे ! यदि आ मेरे वचनोंको उपादेय मानते हों अर्थात् उन्हें सुननेक श्रद्धा रखते हों तब तो मैं अपनी जानकारीके अनुस

उस ब्रह्मका उपदेश करूँगा, अन्यथा कुछ भी नहीं कहूँगा; क्योंकि अश्रद्धालुके सामने कुछ कहना निरर्थक होता है। साथ ही जिनके वचनोंमें श्रोताकी श्रद्धा नहीं होती और जिससे कौतूहलसे प्रश्न किया जाता है, उस वक्ताके वचन निष्फल हो जाते हैं।

शिखिध्वजने कहा—गुरुदेव! मैं आपसे यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि आप जो कुछ उपदेश देंगे, मैं उसे वेदके विधि-वाक्यकी भाँति निश्चय ही तुरंत ग्रहण कर लूँगा।

(देवपुत्रके रूपमें) चूडाला बोली—राजन्! जैसे छोटा शिशु अपने पिताके वचनको बिना मनु-नच किये प्रमाणबुद्धिसे स्वीकार कर लेता है, वैसे ही आप भी मेरे इन वचनोंको ग्रहण कीजिये। राजन्! सुनिये, मैं एक ऐसे मनोहर कथानकका वर्णन करूँगी, जो आपके चरित्रके सदृश है। वह चिरकालके पश्चात् उन्नतिको प्राप्त होती हुई मन्दमतियोंकी बुद्धिको उद्बुद्ध करनेवाला है तथा उत्कृष्ट बुद्धिवालोंको शीघ्र ही भ्रमरूपमें उड़ा करनेवाला है। (सर्ग ८७)

चिरकालकी तपस्यासे प्राप्त हुई चिन्तामणिका त्याग करके मणिबुद्धिसे काँचको ग्रहण करनेकी कथा तथा विन्ध्यगिरिनिवासी हाथीका आख्यान

(देवपुत्रके रूपमें) चूडाला कहती है—राजन्! एक श्रीसम्पन्न पुरुष था, जो कलाओंका ज्ञाता, अस्त्र-विद्यामें निपुण और व्यवहार करनेमें भी चतुर था। वह जिन-जिन कार्योंके करनेका संकल्प करता, उन्हें पूरा करके ही छोड़ता था। इतना होनेपर भी उसे परमपदका ज्ञान नहीं था। तब वह अनन्त प्रयत्नोंसे उपलब्ध होनेवाली चिन्तामणिकी प्राप्तिके लिये तपश्चर्यामें प्रवृत्त हुआ। उस दृढ़निश्चयी पुरुषके कुछ कालतक महान् प्रयत्न करनेपर चिन्तामणि प्रकट हुई। भला, उद्योगी पुरुषोंके लिये ऐसी कौन-सी वस्तु है जो सुलभ नहीं हो सकती, क्योंकि यदि अकिंचन भी कष्टकी परवा न करके अपनी बुद्धिके सहारे कार्यमें प्रवृत्त होकर उद्यम करता है तो उसे भी उस कार्यको निर्विघ्नतापूर्वक सम्पन्न करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार उस उत्तम मणिराजके प्राप्त होनेपर वह यह निश्चय नहीं कर सका कि यह चिन्तामणि ही है। तब घोर दुःख और परिश्रमसे उपलब्ध हुई उस चिन्तामणिकी उपेक्षा करके वह अपने विस्मययुक्त मनसे यों विचार करने लगा—'यह चिन्तामणि है या नहीं है, क्योंकि यदि चिन्तामणि होती तो यह मेरे सामने प्रत्यक्ष नहीं होती। मैं इसका स्पर्श करूँ या न करूँ? कहीं ऐसा न हो कि यह मेरे छूनेसे अदृश्य हो जाय। निश्चय ही इतने ही समयमें उस वास्तविक मणिराजकी प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि शास्त्रोंका कथन है कि उसके लिये जीवनपर्यन्त प्रयत्न करना पड़ता है। भला, मेरी ऐसी उत्कृष्ट भाग्य-सम्पत्ति कहाँ हो सकती है, जो इतने थोड़े कालमें सम्पूर्ण सिद्धियोंको प्रदान करनेवाली उस चिन्तामणिको मैं पा लूँ। मेरी तपस्या तो बहुत थोड़ी है। मैं साधुओंमें एक तुच्छ मनुष्य हूँ और दुर्भाग्यका एकमात्र पात्र हूँ। ऐसी स्थितिमें सिद्धियाँ मेरे निकट कैसे आ सकती हैं।'

इस प्रकार वह मूर्ख तर्क-वितर्कके हिंडोलेमें झूलता हुआ बहुत देरतक विचार करता रहा। अन्तमें गत्वा उसने उस मणिके ग्रहण करनेका विचार छोड़ दिया; क्योंकि मूर्खताके कारण उसकी बुद्धि मूढ़ हो गयी थी। ऐसा नियम भी है कि जो वस्तु जिसे जिस समय (प्रारब्धके कारण) प्राप्त नहीं होती, वह उसे उस समय पा नहीं सकता। देखो न, उस दुर्बुद्धिने प्राप्त हुई चिन्तामणिकी भी उपेक्षा कर दी। इस प्रकार जब वह तर्क-वितर्क करता ही रह गया, तब वह मणि उसके पाससे अदृश्य हो गयी, क्योंकि

अवहेलना करनेवालेको सिद्धियाँ उसी प्रकार छोड़ देती हैं, जैसे धनुषसे छोड़ा हुआ बाण प्रत्यञ्चाका परित्याग कर देता है । सिद्धियाँ जब आती हैं, तब वे सभी अभीष्ट पदार्थोंको देती रहती हैं, परंतु अवहेलना करनेपर जब वे वापस जाने लगती हैं, उस समय वे उस पुरुषकी बुद्धिका विनाश कर डालती हैं ।

इस प्रकार उस चिन्तामणिके अदृश्य हो जानेपर वह पुनः उस उत्तम रत्नकी प्राप्तिके लिये यत्नपूर्वक चेष्टा करने लगा; क्योंकि अटल निश्चयवाले मनुष्य अपने कार्यसे उद्विग्न नहीं होते । कुछ समयके बाद उसे अत्यन्त कान्तिमान् एक काँचका टुकड़ा दिखायी पड़ा । फिर तो, जैसे मोहग्रस्त अज्ञानी पुरुष मिट्टीको सुवर्ण समझने लगता है, उसी प्रकार उस मूर्खने 'यही चिन्तामणि है' यों निश्चय करके उसकी उपादेयता स्वीकार कर ली । उस काँचकी मणिको लेकर उसने सोचा कि अब तो इस चिन्तामणिके प्रभावसे मुझे सारी अभीष्ट वस्तुएँ अनायास ही मिल जायँगी, फिर इन धन-सम्पत्तियोंको लेकर क्या करना है—ऐसा विचारकर उसने अपनी पहली सम्पत्तिका त्याग कर दिया । उसे विश्वास हो गया कि 'अब तो घरसे दूर जाकर इच्छानुसार सम्पत्ति-सम्पन्न होकर मैं सुखपूर्वक जीवन-यापन करूँगा—ऐसी धारणा करके वह मूर्ख निर्जन काननमें चला गया। वहाँ पहुँचनेपर, उसे उस काँच-खण्डसे कुछ मिलना-जुलना तो था ही नहीं, वह भारी विपत्तिमें फँस गया । मूर्खताके कारण जैसे दुःख मनुष्यके सामने आते हैं, वैसे दुःख तो भीषण आपत्तियोंमें फँसनेपर, बुढ़ापेसे तथा मृत्युसे भी नहीं प्राप्त होते । अतः एकमात्र मूर्खता ही सम्पूर्ण दुःखोंकी प्राप्तिमें कारण है ।

भूपाल ! अब यह दूसरा मनोहर उपाख्यान सुनो । साधो ! यह आपके वृत्तान्तके ही अनुरूप है और बुद्धिको परमोत्कृष्ट ज्ञान प्रदान करनेवाला है । राजन्! विन्ध्यगिरिके किसी वनमें एक हाथी रहता था, जो बड़े-बड़े यूथपतियोंके यूथका भी अधिपति था । उसके दोनों दाँत बहुत सफेद और लंबे थे तथा वज्रकी ज्वालाके समान चमकीले एवं तीक्ष्ण थे । एक बार एक महावतने उसे चारों ओरसे लोहेकी शृङ्खलासे जकड़कर वैसे ही बाँध दिया, जैसे मुनिवर अगस्त्यने विन्ध्याचलको और उपेन्द्रने असुरराज बलिको बाँध दिया था । बँधा तो वह था ही, ऊपरसे उसके गण्डस्थलोंपर शस्त्रोंकी मार भी पड़ रही थी, जिससे वह धैर्यशाली गजराज भीषण यन्त्रणा भोग रहा था । उसे बड़ी पीड़ा हो रही थी । इस प्रकार लोहेकी जंजीरमें बँधे हुए उस गजराजको जब तीन दिन बीत गये, तब उसे बड़ा खेद हुआ और उस बन्धनको तोड़ डालनेके लिये तैयार होकर उसने चिग्घाड़ना शुरू किया । फिर तो चार ही घड़ीमें घोर प्रयास करके उस हाथीने अपने दोनों दाँतोंसे बन्धनको छिन्न-भिन्न कर दिया । उसका शत्रु महावत दूरसे ही उसकी बन्धन-छेदन-क्रियाको देख रहा था । जब उस हाथीका बन्धन टूट गया, तब वह महावत पहले एक ताड़वृक्षपर चढ़कर वहींसे अंकुशद्वारा उस हाथीको वशमें करनेके लिये उसके सिरको लक्ष्य करके कूद पड़ा; परंतु उसके पैर हाथीके सिरपर नहीं पहुँच सके, जिससे वह घबराकर भूमिपर गिर पड़ा ।

राजर्षे ! तिर्यग्-योनिमें भी प्रकाशमान एवं विशुद्ध गुणोंसे युक्त साधु-स्वभाववाले जीव देखे जाते हैं, इसीलिये अपने शत्रुभूत महावतको सामने गिरा हुआ देखकर उस गजराजके हृदयमें करुणा उत्पन्न हो गयी । वह सोचने लगा—'यदि मैं इस गिरे हुएको पैरोंसे कुचल दूँ तो इससे मेरा कौन-सा पुरुषार्थ सिद्ध होगा।' यों विचारकर हाथीने अपने शत्रुभूत उस महावतके प्राण नहीं लिये । जब वह हाथी वहाँसे जंगलकी ओर चला गया, तब महावत उठ बैठा । उसका शरीर और बुद्धि—दोनों स्वस्थ थे । हाथीके जानेके साथ-ही-साथ

उसकी व्यथा भी दूर हो गयी। इतने ऊँचे ताड़वृक्षकी चोटीसे गिरनेपर भी उसका अङ्ग-भङ्ग नहीं हुआ था। वह पैदल चलनेमें बड़ा उत्साही था। इस प्रकार जब उस हाथीके शत्रु महावतका प्रयोजन सिद्ध नहीं हुआ और हाथी उसके हाथसे निकल गया, तब उसे महान् दुःख हुआ। वह पुनः यत्नपूर्वक वनमें झाड़ियोंमें छिपे हुए उस हाथीकी खोज करने लगा। चिरकालके पश्चात् इसे वही गजराज मिला, जो एक जंगलमें वृक्षके नीचे बैठकर विश्राम कर रहा था। तब उस धूर्त महावतने, जहाँ वह हाथी बैठा था, उसके समीप ही हाथीके फँसाने योग्य एक गोलाकार गड्ढा खोदकर तैयार किया और ऊपरसे उसे कोमल लताओंसे ढक दिया।

कुछ ही दिनोंके बाद जब वह हाथी वनमें विहार कर रहा था कि यकायक उसी गड्ढेमें जा गिरा। तब उस महावतने गड्ढेमें गिरे हुए उस हाथीको पुनः सुदृढ़रूपसे बाँध दिया, जो आज भी भूगर्भमें पड़ा दुःख भोग रहा है। यदि वह हाथी अपने सामने गिरे हुए शत्रुको पहले ही मार डाले होता तो आज उसे शत्रु-द्वारा गर्तबन्धनरूप दुःखकी प्राप्ति नहीं हुई होती। जो मनुष्य मूर्खतावश वर्तमान क्रियाओंद्वारा आगामी कालका शोधन नहीं कर लेता, वह विन्ध्यगिरिनिवासी गजराजकी भाँति ही दुःखका भागी होता है। वह हाथी 'मैं शृङ्खलाबन्धनसे मुक्त हो गया हूँ' इतने मात्रसे ही संतुष्ट हो गया; परंतु दूर चले जानेपर भी वह पुनः अज्ञानवश बन्धनमें पड़ गया। भला, मूर्खता कहाँ नहीं बाधा पहुँचाती अर्थात् सर्वत्र बाधा देती ही है। महात्मन्! 'बद्ध हुआ भी मैं बन्धनरहित हूँ' इस प्रकारकी चित्तगत मूर्खताको ही परम बन्धन समझना चाहिये। अतः उससे छुटकारा पानेके लिये परमात्माके सङ्कल्पसे उत्पन्न सम्पूर्ण त्रिलोकीको परमात्माका स्वरूप समझना चाहिये। जिसे इस प्रकारका ज्ञान नहीं है और जो मूर्खतामें स्थित है, उसके लिये वह स्वयं ही सहसा समस्त बन्धनोंका कारण बन जाता है। (सर्ग ८८-८९)

कुम्भद्वारा चिन्तामणि और काँचके आख्यानके तथा विन्ध्यगिरिनिवासी हाथीके उपाख्यानके रहस्यका वर्णन

राजा शिखिध्वजने कहा—देवपुत्र! आपने चिन्तामणिकी प्राप्ति तथा विन्ध्यगिरिनिवासी गजराजके बन्धन आदिका जो कथाप्रसङ्ग मुझे सुनाया है, उसका अब स्पष्टीकरण कीजिये।

(देवपुत्रके रूपमें) चूडाला बोली—राजन्! मैंने आपको जो विचित्र कथा सुनायी थी, उसका रहस्य भी सुनिये। महीपते! उसमें जो वह शास्त्रार्थकुशल किंतु तत्त्वज्ञानमें मूर्ख चिन्तामणिका साधक बतलाया गया है, वह तो आप ही हैं। साधो! अकृत्रिम सर्वस्व-त्यागको चिन्तामणि समझिये, जो सम्पूर्ण दुःखोंका अन्त करनेवाली है। शुद्ध बुद्धिपूर्वक आप उसीका साधन कर रहे हैं। किंतु निष्पाप राजन्! वास्तविक शुद्ध सर्व-त्यागसे ही सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है, कृत्रिम त्यागसे नहीं। यद्यपि आपने स्त्री-पुत्र धन-दौलत और बन्धु-बान्धवोंसहित सम्पूर्ण राज्यका परित्याग कर दिया है और अपने देशसे बहुत दूर आकर इस आश्रममें अपना निवासस्थान बनाया है तथापि आपके इस सर्वस्व-त्यागमें अभी अहंकारका त्याग शेष रह गया है। अभी आपके मनमें ऐसी धारणा बनी हुई है कि यह सर्व-त्याग वह महान् अभ्युदयशाली परमानन्द नहीं है। वह तो इससे भी उत्कृष्ट कोई दूसरी महान् वस्तु है, जो चिरकालकी साधनासे उपलब्ध होती है। ऐसी चिन्ता करनेसे धीरे-धीरे जब आपके हृदय-प्रदेशमें पर्याप्त वृद्धि हो गयी, तब वह त्याग कहीं अन्तर्हित

गया। जैसे वायुके स्पन्दनसे युक्त वृक्षका निश्चल रहना असम्भव है, वैसे ही जो थोड़ी-सी भी चिन्ताको अपने हृदयमें स्थान देता है, उसका त्याग कैसे सिद्ध हो सकता है?

राजन्! चिन्ता ही चित्त कहलाती है। संकल्प तो उस चित्तका दूसरा नाम है। भला, उस चिन्ताके स्फुरित रहते हुए वस्तुतः चित्तका त्याग कैसे सम्भव है? साधुशिरोमणे! क्षणभरमें ही त्रिलोकीके आधारभूत चित्तके चिन्ताग्रस्त हो जानेपर निरञ्जन सर्वत्यागकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? आपका प्राप्त किया हुआ चिन्तामणिरूप त्याग, अवहेलना कर देनेसे आपकी सारी उत्कृष्ट निश्चिन्तताको लेकर चला गया। कमललोचन! इस प्रकार सर्वत्यागरूपी चिन्तामणिके चले जानेपर आपने अपने संकल्परूपी नेत्रोंसे देखकर तपरूपी काँचको ही चिन्तामणि समझ लिया। जैसे दृष्टिभ्रम हो जानेपर जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमामें वास्तविक चन्द्रमाकी भावना हो जाती है, वैसे ही आपने इस दुःखभूत तपस्यामें ही दृढ़ ग्राह्यभावना कर ली है। पहले तो आपने मनको वासनाशून्य करके अनासक्त भावसे सर्वत्यागका उपक्रम किया और पीछे वासनायुक्त होकर अनन्त तपस्याकी क्रिया स्वीकार कर ली। इस क्रियामें तो दुःख-ही-दुःख है। साधो! अब तो आप वर्धमान दुःखोंसे परिपूर्ण राज्यरूपी फंदेसे निकलकर वनवास नामक एक दूसरे सुदृढ़ बन्धनसे बँध गये हैं। इस समय आपको शीत, वात और आतप आदिकी चिन्ता पहलेसे दुगुनी हो गयी है। मैं तो यह समझता हूँ कि वनवासके गुण-दोषकी जानकारी न रखनेवालोंके लिये वनवास बन्धनसे भी अधिक कष्टप्रद हो जाता है। आपको मिला तो है काँचका टुकड़ा, परंतु आप समझ रहे हैं कि मुझे चिन्तामणि मिल गयी। कमललोचन नरेश! इस प्रकार मैंने मणि-प्राप्तिके प्रयत्नकी कथाके सदृश आपके चरित्रको सम्यक्‌रूपसे आपके सामने प्रकट कर दिया। अब आप स्वयं ही अपनी बुद्धिसे उस निर्मल बोध्य वस्तुका विचार कीजिये तथा सर्व त्याग और तपस्या—इन दोनोंमें आपको जो उत्तम प्रतीत हो, उसे हृदयमें धारण करके परिपक्व बनाइये।

राजसिंह! अब आप पूर्ण तत्त्वबोधके लिये विन्ध्यगिरि-निवासी गजेन्द्रके वृत्तान्तकी व्याख्या सुनिये। वह बड़ी ही आश्चर्यजनक है। मैंने विन्ध्याचलके वनमें निवास करनेवाले जिस हाथीका वर्णन किया था, वही इस भूमिपर आप हैं। उसके जो दो श्वेतवर्णके दाँत थे, वे ही आपके वैराग्य और विवेक हैं। हाथीको आक्रान्त करनेमें तत्पर जो वह महावत था; वह आपका अज्ञान है, जो आपको दुःख दे रहा है। राजन्! जैसे अत्यन्त बलशाली हाथीको निर्बल महावत दुःख दे रहा था, उसी प्रकार, यद्यपि आप अत्यन्त शक्तिसम्पन्न हैं तथापि मूर्खतारूपी दुर्बल महावत आपको एक दुःखसे दूसरे दुःखमें तथा एक भयसे दूसरे भयमें पहुँचा रहा है। जिस वज्र-सदृश सुदृढ़ लोहशृंखलासे वह हाथी बाँधा गया था, वह शृंखला आपका आशापाश है, जिससे आप सिरसे पैरतक बँधे हैं। राजर्षे! आशा लोहकी जंजीरसे भी बढ़कर भयंकर, विशाल और सुदृढ़ होती है; क्योंकि लोह तो काल पाकर पुराना होनेपर नष्ट भी हो जाता है, परंतु आशातृष्णा तो दिनोदिन बढ़ती ही चली जाती है। वहाँ पास ही छिपकर बैठा हुआ जो शत्रु महावत उस हाथीकी ओर देख रहा था, वह महावत आपका अज्ञान* है, जो एकाकी बँधे हुए आपकी ओर क्रीडाके लिये आँख लगाये हुए है। साधो! हाथीने जो शत्रुद्वारा किये गये शृंखला-बन्धनको तोड़ डाला था, वह आपके भोग एवं अकण्टक राज्यके त्यागके समान है; क्योंकि शस्त्र और शृंखलाबन्धनका तोड़ डालना तो कदाचित् आसान भी हो सकता है, किंतु मनसे भोगोंकी आशाका निवारण

* यह अज्ञानमें चेतनत्वका आरोप करके कहा गया है।

करना अत्यन्त दुष्कर है। जैसे हाथीद्वारा बन्धन तोड़ दिये जानेपर महावत ऊपरसे गिर पड़ा था, उसी तरह आपके राज्यका परित्याग कर देनेपर अज्ञानका पतन हो गया था। जिस समय आप वनके लिये प्रस्थित हुए थे, उसी समय आपने अज्ञानको क्षत-विक्षत कर दिया था, परंतु घायल होकर सामने पड़े हुए उसका मनस्त्यागरूपी महान् खड्गद्वारा वध नहीं किया। यही कारण है कि वह पुनः उठ खड़ा हुआ और आपके द्वारा की गयी अपनी पराजयका स्मरण करके उसने आपको इस तपःप्रपञ्चरूपी भीषण गड्ढेमें ढकेल दिया। यदि आपने राज्य-त्याग करते समय ही वैसी दुरवस्थामें पड़े हुए अज्ञानका वध कर दिया होता तो वह उसी समय नष्ट हो गया होता, फिर वह आपको तपरूपी गर्तमें नहीं गिरा पाता। राजन्! हाथीके वैरी उस महावतने जो गोलाकार गड्ढेका निर्माण किया था, वह आपके अज्ञानने तपरूपी सम्पूर्ण दुःखोंका गर्त बनाकर आपको समर्पित किया है। वह गड्ढा जो कोमल लताओंसे आच्छादित किया गया था, वह आपका तपोद्रव्य ही स्वर्ग गुणों तथा सज्जनोंके समागमसे आवृत है। नरेश! इस प्रकार आज भी आप इस अत्यन्त भयंकर तथा दुःखदायक तपरूपी गर्तमें बँधे हुए पड़े हैं। भूपाल! आप गज हैं, आशाएँ जंजीर हैं, अज्ञान शत्रुभूत महावत है, उग्र तपस्याका आग्रह ही गर्त है, भूतल विन्ध्यगिरि है। इस प्रकार मैंने आपका वृत्तान्त हाथीके उपाख्यान-द्वारा कह सुनाया, अब आप जैसा करना उचित समझें, वैसा ही कीजिये। (सर्ग ९०-९१)

कुम्भकी बातें सुनकर सर्वत्यागके लिये उद्यत हुए राजा शिखिध्वजद्वारा अपनी सारी उपयोगी वस्तुओंका अग्निमें झोंकना, पुनः देहत्यागके लिये उद्यत हुए राजाको कुम्भद्वारा चित्त-त्यागका उपदेश

(देवपुत्रके रूपमें) चूडालाने कहा—राजर्षे! चूडाला बड़ी नीतिनिपुण तथा ज्ञेय वस्तुके ज्ञानसे सम्पन्न है, उसने उस समय जिस ज्ञानका उपदेश दिया था, उसे आपने क्यों नहीं स्वीकार किया? वह तत्त्वज्ञानियोंमें सर्वश्रेष्ठ है तथा जो कुछ कहती और करती है, वह सब सत्य ही होता है; अतः आपको उसके कथनका आदर-पूर्वक पालन करना उचित था। नरेश्वर! यदि आपने चूडालाके वचनका आदर नहीं किया तो सर्वत्यागका ही पूर्णरूपसे आश्रय क्यों नहीं लिया?

राजा शिखिध्वज बोले—प्रियवर! मैंने राज्य छोड़ा, घर छोड़ा, धन-धान्यसम्पन्न देश छोड़ा, पत्नी भी त्याग दी; फिर भी आप कहते हैं सर्वत्याग क्यों नहीं किया—इसका क्या कारण है?

(देवपुत्रके रूपमें) चूडालाने कहा—राजन्! धन, स्त्री, गृह, राज्य, भूमि, छत्र और बन्धु-बान्धव—ये सब आपके तो हैं नहीं; फिर आपका सर्वत्याग हुआ कैसे? आपका जो सबसे उत्तम भाग है, उसका त्याग तो अभी हुआ ही नहीं। उसका पूर्णरूपसे परित्याग कर देनेपर ही आप सर्वत्यागी शोकरहित हो सकेंगे।

राजा शिखिध्वज बोले—देवि! अच्छा, यदि आप ऐसा मानते हैं कि यह सारा राजपाट मेरा नहीं है तो पर्वत, वृक्ष और लता-ओंसे परिपूर्ण यह सम्पूर्ण वन तो मेरा है न? मैं इसीका परित्याग कर रहा हूँ।

कुम्भने कहा—राजन्! यह पर्वतका तट, वन, गर्त, जल और वृक्षके नीचेकी भूमि—ये सब आपके तो हैं नहीं; फिर आपका सर्वत्याग कैसे सम्पन्न हुआ? आपका जो सबसे उत्तम भाग है, वह तो उसी दिन त्यागा हुआ ही पड़ा है। उसका पूर्णरूपसे त्याग कर

देनेपर ही आप परम अशोक-पदको प्राप्त कर सकेंगे।

शिखिध्वज बोले—अच्छा, यदि ये वन आदि सारी वस्तुएँ मेरी नहीं हैं तो बावली और चबूतरा आदिसे युक्त यह मेरा आश्रम ही मेरा सर्वस्व है। मैं इसका अभी त्याग किये देता हूँ।

कुम्भने कहा—राजन्! ये जो वृक्ष, बावली (जलाशय), चबूतरा, गुल्म, आश्रम और लताओंकी पंक्तियाँ हैं, इनमेंसे कुछ भी आपका नहीं है; फिर आपका सर्वत्याग कैसे सिद्ध हुआ! अभी तो आपका सबसे उत्तम भाग पड़ा ही है, आपने उसका त्याग किया ही नहीं। उसका पूर्णरूपसे त्याग कर देनेपर ही आपको उत्कृष्ट अशोक-पद मिल सकेगा।

शिखिध्वज बोले—ठीक है, यदि ये सारी वस्तुएँ मेरी नहीं हैं तो ये पात्र आदि तथा मृगचर्म, दीवाल और कुटीर आदि ही मेरे सर्वस्व हैं। मैं इन्हींको छोड़ रहा हूँ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! ऐसा कहकर राजा शिखिध्वजने भाण्ड आदि उन समस्त सामग्रियोंको आश्रमसे निकालकर एक जगह स्थापित किया, फिर सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी करके अग्नि प्रज्वलित की और उन सभी वस्तुओंको उस आगमें डालकर वे पुनः अपने आसनपर बैठ गये। तत्पश्चात् उन्होंने अक्षमाला तथा मृगचर्मको भी उसी आगमें झोंक दिया और कमण्डलु एक श्रोत्रिय ब्राह्मणको दे दिया; क्योंकि ऐसा नियम है कि अपनी जो उत्तम वस्तु हो, उसे या तो किसी महात्माको दे दे अथवा अग्निमें जला दे। फिर राजाने अपनी कोमल चटाईको भी चित्तशुद्धि तथा चेतन ब्रह्ममें विश्राम प्राप्तिके लिये उसी धधकती आगमें फेंक दिया। फिर कुम्भको सम्बोधित करके वे बोले—'कुम्भ! जो वस्तु त्याज्य है, उसे सदा शीघ्र-से-शीघ्र त्याग देना चाहिये। साधो! मैं निष्क्रिय होनेके लिये अपनी क्रियोपयोगी सारी वस्तुओंका त्याग कर रहा हूँ; क्योंकि अयोग्य वस्तुको कौन ढोता फिरे।'

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव! तदनन्तर राजा शिखिध्वजने अपनी सूखी फूसकी कुटियाको, जो अपने अज्ञानी मनके मिथ्याभूत संकल्पद्वारा कल्पित थी, जलाकर भस्म कर दिया। उन मौनी राजाकी बुद्धि समतायुक्त हो गयी थी और मन उद्वेगरहित हो गया था, अतः उन्होंने वहाँ जो कुछ भी सामग्री शेष रह गयी थी, उस सबको क्रमशः जला दिया। यहाँतक कि उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक अपनी लँगोटी और भोजनपात्र तथा भोजन आदिको भी फूँक दिया। जब सूखी लकड़ीके साथ-साथ वे बर्तन आदि सारे पदार्थ आगमें जल रहे थे, उस समय जिनका देहमात्र शेष रह गया था वे राजा शिखिध्वज रागरहित हो प्रसन्नतापूर्वक बोले।

शिखिध्वजने कहा—देवकुमार! आश्चर्य है, चिरकालके पश्चात् आपने अपने ज्ञानोपदेशद्वारा मुझे प्रबुद्ध कर दिया, जिससे अब मैं वस्तु-विषयक वासनाका परित्याग करके सर्वत्यागी होकर स्थित हूँ तथा केवल, शुद्ध, सुखसे सम्पन्न और ज्ञानवान् हो गया हूँ। जिसमें ममता-सकल्पप्रयुक्त संग्रहक्रम वर्तमान है, ऐसी यह सामग्री किस कामकी। अब तो नाना प्रकारके बन्धनोंके हेतुभूत विषय ज्यों-ज्यों प्रक्षीण होते जा रहे हैं, त्यों त्यों मेरा मन परमानन्दमें निमग्न होता जा रहा है। मुझे शान्ति मिल रही है। मैं परमानन्दस्वरूपको प्राप्त हो रहा हूँ और विजयी हो रहा हूँ; अतः अब मैं पूर्ण सुखी हूँ। मेरे सम्पूर्ण बन्धन नष्ट हो गये; क्योंकि मैंने सर्वत्याग कर दिया। देवपुत्र! महान् त्याग करनेके कारण अब दिशाएँ ही मेरे लिये वस्त्र हैं और दिशाएँ ही मेरे लिये घर हैं। यहाँतक कि मैं स्वयं ही दिशाओंके समान स्थित हूँ। अब बताइये और क्या शेष रह गया है?

कुम्भने कहा—महाराज शिखिध्वज! अभी भी आपने सभी वस्तुओंका पूर्णतया त्याग नहीं किया है,

अतः सर्वत्यागजन्य परमानन्दकी प्राप्तिका व्यर्थ ही अभिनय मत कीजिये। अपने सर्वोत्तम भागका तो अभी आपने त्याग किया ही नहीं, जिसके पूर्णतः त्याग करनेसे ही आपको परम अशोक-पदकी प्राप्ति हो सकेगी।

शिखिध्वज बोले—देवतात्मज! अब तो सर्वत्यागमें मेरा यह शरीर, जो रक्त-मांसमय तथा इन्द्रियसे युक्त है, शेष रह गया है; इसलिये अब मैं पुनः उठकर बिना किसी विघ्न-बाधाके इस शरीरको गड्ढेमें गिराकर विनष्ट कर दूँगा और सर्वत्यागी हो जाऊँगा।

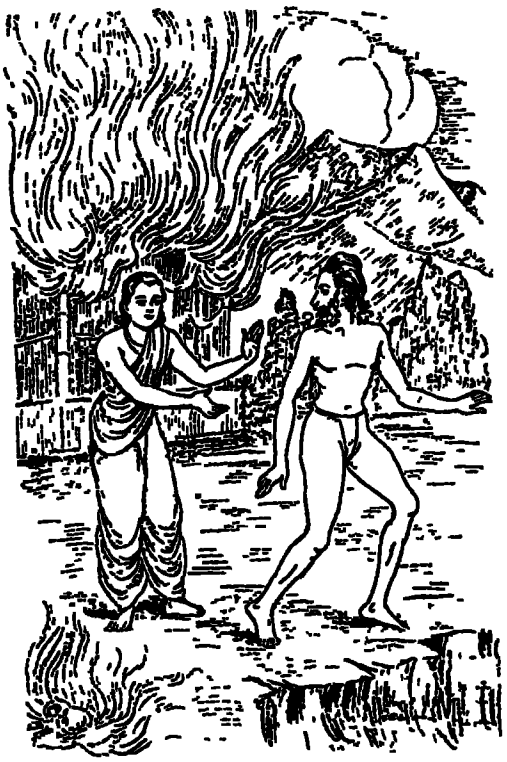

कुम्भने कहा—राजन्! इस बेचारे निरपराध शरीरको आप क्यों महान् गर्तमें गिराना चाहते हैं? आप तो उस अज्ञानी बैलके सदृश प्रतीत होते हैं, जो कुपित होनेपर अपने बछड़ेको ही मारता है। यह बेचारा शरीर तो जड़, तुच्छ और मूकात्मा है। सदा ध्यानस्थ-सा बना रहता है। इसने आपका कोई अपराध भी नहीं किया है, अतः व्यर्थ ही आप इसका त्याग मत कीजिये। जैसे वायुद्वारा स्पन्दन (फलादिका पतन) होनेपर फलवान् वृक्षका कोई अपराध नहीं माना जाता, उसी प्रकार सुख-दुःख आदिका अनुभव-स्थान होनेमात्रसे शरीरको अपराधी नहीं कहा जा सकता। स्पन्दनशील वायु ही बलपूर्वक फल, पल्लव और पुष्पोंको गिराती है, फिर बेचारे साधुस्वभाव वृक्षका क्या अपराध? इसी प्रकार साधु शरीरने साधु आत्माका कौन-सा अपराध किया है? कमलनेत्र! साथ ही, शरीरका त्याग कर देनेपर भी आपका सर्वत्याग निष्पन्न तो होगा नहीं; फिर व्यर्थ ही आप इस निरपराध शरीरको गड्ढेमें क्यों फेंक रहे हैं? देहका त्याग कर देनेपर सर्वत्याग सिद्ध नहीं होता। जैसे उन्मत्त गजराज वृक्षको तहस-नहस कर देता है, उसी तरह जिसके द्वारा यह शरीर क्षुब्ध हो उठता है, उस पापात्माका यदि आप पूर्णतया त्याग करते हैं तभी आप महान् त्यागी हैं। भूपते! उस पापात्माका परित्याग कर देनेपर देहादि समस्त पदार्थोंका अपने-आप त्याग हो जाता है। यदि उसका त्याग नहीं हुआ तो गर्तमें गिरकर नष्ट हुआ भी शरीर उस पापात्मासे बारबार उत्पन्न होता रहेगा।

शिखिध्वज बोले—सौन्दर्यशाली देव! इस शरीरका संचालन करनेवाला वह पापात्मा कौन है? जन्मादि कर्मोंका बीज क्या है और किसका त्याग कर देनेपर सर्वत्याग सम्पन्न होता है?

कुम्भने कहा—साधुस्वभाव नरेश! शरीर अथवा राज्यका त्याग कर देनेसे तथा कुटिया जलाकर भस्म कर देनेसे सर्वत्याग सम्पन्न नहीं होता, वह तो सर्वात्मक एवं सर्वव्यापी सकल्पद्वारा सबके एकमात्र कारणभूत सर्ग मात्रका परित्याग कर देनेपर ही निष्पन्न होगा।

शिखिध्वज बोले—समस्त तत्त्वज्ञानियोंमें श्रेष्ठ मुने! अच्छा, यह बतलाइये आपने जिस सर्वथा एवं सर्वदा त्यागने योग्य, सर्वगत एवं सर्वात्मक वस्तुका नाम लिया है, वह सर्वात्मा किसे कहते हैं?

कुम्भने कहा—नरेश्वर! आप चित्तको ही भव,

चित्तको ही पापात्मा पुरुष और चित्तको ही जगज्जाल समझिये। यह चित्त ही 'सर्व' —सर्वात्मा कहलाता है। महीपाल! जैसे वृक्षका बीज वृक्ष ही होता है, उसी तरह मन ही राज्य, देह और आश्रम आदि समस्त वस्तुओंका बीज है। अतः सबके बीजभूत उस मनका परित्याग कर देनेपर सबका त्याग स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। भूपते! उस मनके त्याग-अत्यागपर ही सर्वत्यागका होना-न-होना निर्भर करता है। राजन्! ये राज्य अथवा कानन आदि सभी वस्तुएँ चित्तयुक्त अर्थात् चित्तके साथ सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषके लिये केवल दुःखरूप हैं और जिसका चित्तके साथ सम्बन्धविच्छेद हो गया है, उसके लिये ये ही परम सुखस्वरूप हैं। जैसे बीज समय पाकर वृक्षरूपमें परिणत हो जाता है, वैसे ही यह चित्त ही जगत् एवं देहादि आकार धारण करके सबमें व्याप्त हो रहा है। जैसे वायुसे वृक्ष, भूकम्पसे पर्वत और लोहारसे धौंकनी संचालित होती है, उसी प्रकार इस शरीरका संचालक चित्त है। राजन्! इस चित्तको आप समस्त प्राणियोंके उपभोगोंका, जरा-मरण और जन्म आदि देहधर्मोंका तथा महामुनियोंके धर्मोंका अटूट खजाना ही समझिये। चित्त ही अपने संकल्पद्वारा जगत् तथा देहादि विविध आकार धारण करके सबमें व्याप्त हो रहा है। महीपते! इस प्रकार चित्त ही सब कुछ बनता है; अतः उसका त्याग हो जानेपर सारी आधि-व्याधियोंकी सीमाका विनाश करनेवाला सर्वत्याग अपने-आप ही सिद्ध हो जाता है। त्यागके तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठ राजन्! चित्तत्यागको ही सर्वत्याग कहा जाता है। महाबाहो! उसके सिद्ध हो जानेपर विज्ञानानन्दघन सत्य वस्तुका अनुभव अपने-आप ही अवश्य हो जाता है। चित्तका अभाव हो जानेपर द्वैत अद्वैत आदि सभी भावनाओंका सर्वथा विनाश हो जाता है और एकमात्र शान्त, निर्मल, अनामय परमपद ही शेष रह जाता है। चित्तको इस संसाररूपी धानका खेत कहा जाता है। जैसे जल ही तरङ्गरूपसे दीख पड़ता है, वैसे विचित्र चेष्टाओंवाला चित्त ही अपने सकल्पसे भाव और अभावका आकार धारण करनेवाले पदार्थोंके रूपसे परिणत होता है। भूपते! चित्तविनाशरूपी सर्वत्यागसे सर्वदा सभी वस्तुएँ वैसे ही सुलभ हो जाती हैं, जैसे साम्राज्यकी प्राप्तिसे सांसारिक पदार्थोंका समस्त अभाव मिट जाता है। जैसे राज्यादि समस्त वस्तुओंका त्याग कर देनेपर अकेले आप अवशेष रह गये हैं, वैसे ही सर्वत्याग कर देनेपर एकमात्र विज्ञानात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है।

राजन्! सर्वत्यागरूपी रसका आस्वादन कर लेनेपर जरा-मरण आदि कोई भी भय पुरुषको बाधा नहीं पहुँचा सकता। निर्मल कान्तिवाले महत्त्वकी प्राप्तिका कारण भी सर्वत्याग ही है। अब आप सर्वत्याग करनेके लिये प्रस्तुत हो गये हैं, इसीसे आपको बृहत्तम बुद्धिस्थिरता प्राप्त हो रही है। नरेश्वर! सर्वत्याग परमानन्दस्वरूप है। इसके अतिरिक्त अन्य सब अत्यन्त भीषण दुःखरूप है—यों विचारपूर्वक स्वीकार करके जैसा आप चाहते हों, उसीके अनुसार आचरण कीजिये। सर्वत्याग करनेवाले पुरुषके पास प्रारब्धानुसार सभी वस्तुएँ अपने-आप उपस्थित होती हैं। सर्वत्यागके अदर आत्मप्रसादक ज्ञान वर्तमान रहता है। महाराज! सर्वत्याग सारी सम्पत्तियोंका आश्रयस्थान है, इसीलिये जो कुछ भी ग्रहण नहीं करता, उसे सब कुछ दिया जाता है। भूपते! सर्वत्याग करके आप शान्त, स्वस्थ, आकाशके समान निर्मल एवं सौम्य आदि जिस रूपमें होना चाहते हैं, उस रूपमें हो जाइये। महीपाल! पहले आप सारी वस्तुओंका परित्याग कर दीजिये! तदनन्तर जिस मनसे उनका त्याग किया है, उस मनका भी त्याग कीजिये; फिर त्याग-अभिमानरूपी मलसे भी रहित होकर जीवन्मुक्तस्वरूप हो जाइये।

(सर्ग ९२-९३)

चित्तरूपी वृक्षको मूलसहित उखाड़ फेंकनेका उपाय और अविद्यारूप कारणके अभावसे देह आदि कार्यके अभावका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! इस प्रकार चित्तके परित्यागका उपाय कुम्भ ऋषिके बतलानेपर अपने अन्तःकरणमें बार-बार विचार करते हुए वे सौम्य राजा शिखिध्वज यह वचन बोले ।

राजा शिखिध्वजने कहा—मुने ! जाल जैसे व्याकुल मछलीको पकड़ लेता है, वैसे ही इस चित्तको पकड़ लेना तो मैं जानता हूँ, परंतु इसका त्याग मैं नहीं जानता । भगवन् ! सबसे पहले तो आप मुझे चित्तका क्या स्वरूप है, यह ठीक-ठीक कहिये । इसके बाद प्रभो ! चित्तके परित्यागकी यथावत् विधि बतलाइये ।

कुम्भ बोले—महाराज ! वासनाको ही चित्तका स्वरूप समझिये । उसका त्याग अत्यन्त सुगम और सुखसाध्य है । राज्यकी अपेक्षा उस त्यागमें अधिक आनन्द है और पुष्पकी अपेक्षा वह अधिक सुन्दर है । मूर्खके लिये तो चित्तका परित्याग करना उतना ही दुःसाध्य है, जितना कि पामरके लिये साम्राज्य प्राप्त करना ।

राजा शिखिध्वजने कहा—मुने ! आपके वचनसे चित्तका स्वरूप वासनामय है, यह तो जानता हूँ, परंतु उसका परित्याग वज्रको निगल जानेकी अपेक्षा भी अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ । यह चित्त संसाररूपी सुगन्धित पुष्प है, दुःखरूपी दाहजनक अग्नि है तथा शरीररूपी यन्त्रका संचालक है । इसका अनायास त्याग जिस तरह होता हो, वह बतलाइये ।

कुम्भ बोले—साधो ! इस चित्तका सर्वथा नाश ही संसारका भी नाश है, यही चित्तका अच्छी प्रकारसे त्याग है—ऐसा दीर्घदर्शी महात्माओंने कहा है ।

राजा शिखिध्वजने कहा—मुने ! परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप सिद्धिके लिये मैं चित्त-त्यागकी अपेक्षा तो चित्तका विनाश ही विशेष अच्छा समझता हूँ, परंतु सैकड़ों व्याधियोंके मूल इस चित्तका अभाव कैसे होता है ?

कुम्भ बोले—राजन् ! शाखा, फल और पत्तोंसे युक्त चित्तरूपी वृक्षका अहंकार ही बीज है । अतः आप उस वृक्षको मूलसहित उखाड़ फेंकिये और अपना हृदय आकाशके सदृश निर्मल बना डालिये ।

राजा शिखिध्वजने कहा—मुने ! चित्तका मूल क्या है, अङ्कुर क्या है और इसका कौन-सा खेत है, इसकी शाखाएँ और स्कन्ध कौन हैं तथा यह मूलसहित कैसे उखाड़कर फेंक दिया जाता है ?

कुम्भ बोले—महामते ! यह अहंकार ही इस चित्तरूपी वृक्षका बीज (मूल) है, इसे आप जान लीजिये । परमात्माकी माया ही इस मायामय संसारका खेत है । इसलिये इस चित्तका भी वह परमात्माकी माया ही खेत है । इस प्रथम उत्पन्न मूलसे अनन्त देहमें आत्मविषयक निश्चय (बुद्धि) ही इसका अङ्कुर है । जो निराकार निश्चयात्मक समझ है, वही बुद्धि कही जाती है । इस बुद्धि नामक अङ्कुरकी जो सङ्कल्परूप स्थूलता उत्पन्न होती है, उसका चित्त और मन नाम पड़ा हुआ है । ये इन्द्रियाँ ही इस चित्तरूपी वृक्षकी चारों ओर फैली हुई लंबी विस्तृत शाखाएँ हैं और जन्म-मरण आदि हजारों अनर्थोंके कारण शुभ और अशुभरूप कर्मोंसे परिपूर्ण जो तुच्छ विषयभोग हैं, वे इसकी छोटी-छोटी अवान्तर शाखाएँ हैं । इस तरहके इस जटिल चित्तरूपी वृक्षकी शाखाओंका (विषयभोगोंमें आसक्तिका) वैराग्यसे प्रतिक्षण छेदन करते हुए आप इसके जड़कालमूलको उखाड़ फेंक देनेवाले सच्चिदानन्द परमात्माके चिन्तनमें पूर्ण प्रयत्न कीजिये ।

राजा शिखिध्वजने कहा—मुने ! चित्तकी पूर्ण

शाखा आदिका छेदन करता हुआ मैं उसके मूलको अशेषरूपसे किस तरह उखाड़ फेंकूँ ?

कुम्भ बोले—राजन् ! फल और स्पन्दन आदिसे युक्त विविध वासनाएँ चित्तरूपी वृक्षकी शाखाएँ हैं। तीव्र विवेक-वैराग्यके द्वारा वे वासनारूपी शाखाएँ नष्ट हो जाती हैं; क्योंकि जिसका मन किसी विषयमें आसक्त नहीं है, जो मौनी और तर्क-वितर्कसे रहित है तथा जो न्यायसे प्राप्त हुए कार्यका शीघ्र सम्पादन कर लेता है, उस पुरुषका चित्त नष्ट हो जाता है। जो पुरुष अपने पुरुषार्थसे चित्तरूपी वृक्षकी शाखाओंको काटता रहता है, वह मूलका भी उच्छेद करनेमें समर्थ हो जाता है। चित्तवृक्षकी शाखाओंका छेदन करना तो गौण है और मूलका छेदन करना प्रधान है, इसलिये आप अहंकाररूप मूलका उच्छेद करनेमें तत्पर हो जाइये। महाबुद्धे ! मुख्यरूपसे इस चित्तरूपी वृक्षको मूलसहित जला डालिये। ऐसा करनेपर अचित्तता हो जायगी।

राजा शिखिध्वजने कहा—मुने ! अहंभावात्मक चित्त-रूपी वृक्षके बीज (मूल) को जलानेमें कौन-सी अग्नि समर्थ होगी ?

कुम्भ बोले—राजन् ! 'मैं कौन हूँ' इस विषयका विवेक-विचारपूर्वक यथार्थ ज्ञान ही चित्तरूपी वृक्षके मूलको जलानेकी अग्नि कही गयी है।

राजा शिखिध्वजने कहा—मुने ! इस विषयमें मैंने अनेक बार अपनी बुद्धिसे अच्छी तरह विचार कर लिया है—मैं अहंकार नहीं हूँ और न पृथ्वी और उसके अन्तर्गत वनमण्डलादिसे मण्डित जगत् ही हूँ। जड होनेके कारण पर्वतका तट, विपिन, पत्र, स्पन्दन आदि और देहादि मैं नहीं हूँ तथा मास, हड्डी और रक्त आदि भी मैं नहीं हूँ। मैं न तो कर्मेन्द्रिय हूँ और न ज्ञानेन्द्रिय हूँ। जड होनेके कारण मन-बुद्धि भी मैं नहीं हूँ। जैसे नेत्रदोषसे आकाशमें प्रतीत होनेवाला वृक्ष आकाशसे भिन्न नहीं है; वैसे ही परमात्माके संकल्पसे उत्पन्न होनेवाले सम्पूर्ण पदार्थ परमात्मासे भिन्न नहीं हैं, परमात्माके ही स्वरूप हैं। भगवन् ! इस तरह अहंकाररूपी मलका परिमार्जन जानता हुआ भी मैं अन्तर्यामी परमात्माको नहीं जान सका हूँ। इसलिये मैं रात-दिन चिन्तासे जल रहा हूँ। इस चित्तरूपी वृक्षके बीज अहंकाररूप मलका त्याग करना मैं नहीं जानता हूँ; क्योंकि बार-बार त्याग करनेपर भी मैं उससे छुटकारा नहीं पा सका हूँ। मुने ! शरीर आदिमें अहंताभिमानरूप जो दोष है उसका कारण शरीर आदिका परिज्ञान ही है, यह मैं जानता हूँ। मुनीश्वर ! वह जिस उपायसे शान्त हो जाय, वह उपाय मुझसे कहिये। यह अहंभाव जीवात्माको विषयोंकी ओर आकृष्ट करता है, जिससे दुःख ही प्राप्त होता है। इसलिये उस दुःखकी शान्तिके लिये विषयभोगरूपी दृश्यवर्गका जिस उपायसे अभाव होता हो, वह मुझसे कहिये। मुने ! जिस पदार्थका प्रत्यक्षात्मक कोई एक स्वरूप उपलब्ध हो रहा है, वह असत्-स्वरूप कैसे है ? हाथ, पैर आदिसे संयुक्त तथा क्रिया-फलरूप विलास आदिसे समन्वित हमलोगोंसे सदा अनुभूत होनेवाला यह शरीर मिथ्या कैसे है ?

कुम्भने कहा—भूमिपाल ! इस संसारमें वास्तवमें जिस कार्यका कारण विद्यमान नहीं है, वह कार्य भी अपना अस्तित्व नहीं रखता, फिर उसका ज्ञान तो विभ्रम ही है। बिना कारणके यह शरीररूपी कार्य नहीं रह सकता। जिस द्रव्यका बीज नहीं है, उसकी उत्पत्ति कहाँ कभी होती है ? अर्थात् कभी नहीं। बिना कारणके जो कार्य सामने सत्‌की भाँति प्रतीत होता है उसे मृगतृष्णाजलके सदृश, देखनेवाले मनुष्यके भ्रमसे उत्पन्न (मिथ्या) समझिये। मिथ्या भ्रमसे विद्यमान शरीर आदिको आप अविद्यमान ही जानिये; क्योंकि अत्यधिक यत्नशील मनुष्यको भी यह मृगतृष्णा-जल प्राप्त नहीं होता। राजन् ! शरीर आदि अस्थिपञ्जररूपी यह कार्य

बिना कारणके ही अनुभूत हो रहा है। इसलिये वास्तवमें किसीसे उत्पन्न न होनेके कारण इसे अविद्यमान ही जानिये।

राजा शिखिध्वज बोले—मुनीश्वर! हाथ, पैर आदिसे युक्त प्रतिदिन दिखायी देनेवाले इस शरीरका भला पिता कारण कैसे नहीं है?

कुम्भने कहा—राजन्! कारणरूप पिताका भी अभाव होनेसे वास्तवमें पिता भी कारण नहीं है। जो पदार्थ असत्से उत्पन्न होता है, वह असत् ही है। कार्यभूत पदार्थोंका कारण बीज कहा जाता है। इसलिये जिस कार्यका कारण नहीं है, वह कार्यभी कारणरूप बीजका अभाव रहनेसे नहीं है। मनुष्यको जो उसका ज्ञान होता है वह तो बिल्कुल विभ्रम है। जगत्में जो वस्तु बीजरूप कारणसे रहित है, वह है ही नहीं। अतः उसका जो मनुष्यको ज्ञान होता है, वह नेत्र-दोषसे दीखनेवाले दो चन्द्रमा, मरुभूमिमें जल और प्रस्तरपुत्रके समान बुद्धिका भ्रम ही है—मिथ्या है।

(सर्ग ७१)

जगत्के अत्यन्ताभावका, राजा शिखिध्वजको परम शान्तिकी प्राप्तिका तथा जाननेयोग्य परमात्माके स्वरूपका प्रतिपादन

राजा शिखिध्वजने पूछा—मुने! ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त जो कुछ यह संसार भासित होता है वह यदि भ्रमरूप ही है तो फिर वह दुःखदायी कैसे है?

कुम्भ बोले—राजन्! वास्तवमें पितामहकी भी सत्ता नहीं है, फिर उनके द्वारा निर्मित प्रपञ्चकी सत्ता हो ही कैसे सकती है। जो वस्तु असत् वस्तुसे सिद्ध की जाती हो, वह त्रिकालमें भी सिद्ध नहीं हो सकती। यह जो भूत-सृष्टि दिखायी पड़ती है, वह मृगतृष्णाजलके सदृश मिथ्या ही उदित हुई है, इसलिये शुक्तिसे रजत-ज्ञानके सदृश विचारसे ही उसका विलय हो जाता है। कारणका अस्तित्व न होनेसे कार्यकी सत्ता हो ही नहीं सकती। जो असत् कारणसे असत् कार्यकी उत्पत्ति प्रतीत होती है, उसका स्वरूप मिथ्याज्ञानके अतिरिक्त और कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। मिथ्याज्ञानके कारण दिखायी पड़नेवाला पदार्थ किसी कालमें भी अस्तित्व नहीं रख सकता, क्या कहीं किसीने मृगतृष्णा-जलसे घड़े भरे हैं?

राजा शिखिध्वजने कहा—मुनिवर! अनन्त, अजन्मा, अव्यक्त, आकाशकी तरह निराकार, अविनाशी, शान्त, परब्रह्म परमात्मा सृष्टिके आदिरचयिता ब्रह्माका कारण क्यों नहीं है?

कुम्भ बोले—राजन्! वास्तवमें शुद्ध निर्विशेष अद्वितीय ब्रह्म न तो कार्य है और न कारण ही है; क्योंकि निर्विकार होनेसे उसमें कारणत्व और कार्यत्वका अभाव है। इसलिये वस्तुतः ब्रह्म न कर्ता है, न कर्म है और न कारण ही है। उसका न कोई निमित्त है और न कोई उपादान है। वह तर्कका विषय नहीं है, अतः वह अविज्ञेय है। जो अनवद्य, अविद्य, शान्त, विकार-शून्य और कल्याणरूप है, उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व किस तरह, किसका, किनसे और किस तरह हो? अतः यह जगत् वास्तवमें किसीसे उत्पन्न नहीं है और न इसकी सत्ता ही है। इसलिये ब्रह्म न कर्ता है और न भोक्ता है; किंतु सब कुछ शान्त, चिन्मय, अनामय ब्रह्म ही है। वास्तवमें कारणकी सत्ता ही नहीं है। इसलिये यह जगत् किसीका भी कार्य नहीं है, क्योंकि कारणका स्वरूप न रहनेसे जो उत्पत्ति दिखायी देती है, वह केवल भ्रमसे ही है; क्योंकि सत्य न होनेसे इस सृष्टिका तीनों कालोंमें अत्यन्त अभाव है। यह

जगत् जब किसी भी कारणका कार्य नहीं है, तब अनायास समस्त पदार्थोंका मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है। पदार्थोंका मिथ्यात्व सिद्ध हो जानेपर फिर ज्ञान किसका और जब ज्ञानका ही अभाव सिद्ध हो गया, तब अहंकारका कोई कारण ही नहीं रहता। इसलिये राजन्! आप शुद्ध मुक्त ही हैं। फिर बन्धन और मोक्षकी बात ही क्या है?

राजा शिखिध्वजने कहा—भगवन्! मैं वास्तविक तत्त्वको जान गया। आपने बहुत ही उत्तम और युक्तियुक्त कहा है। मैं यह भी समझ गया कि कारणका अभाव होनेसे ब्रह्म भी जगत्का कर्ता नहीं है। अतः कर्ताके अभावसे जगत्का अभाव है और जगत्के अभावसे पदार्थका अभाव है। इससे उसके बीज चित्त आदिका भी अभाव है और इसीसे अहंता आदिकी भी सत्ता नहीं है। इस प्रकारकी स्थिति होनेपर मैं विशुद्ध ही हूँ, सर्वज्ञ हूँ और कल्याणस्वरूप हूँ; क्योंकि परमात्मासे भिन्न दृश्य विषय कुछ है ही नहीं, यह आपने मुझे समझा दिया। इसलिये सब पदार्थोंका स्वरूप जान लेनेपर 'अहम्' आदिसे लेकर अन्ततक जितने दृश्य पदार्थ हैं, वे सब असद्रूप ही भासते हैं; इसलिये मैं आकाशकी भाँति शान्त हुआ समभावसे नित्य स्थित हूँ। अहो! देश, काल, कला एवं क्रियाओंसे युक्त यह जो जगत्के पदार्थोंकी नाना दृष्टि थी, वह दीर्घकालके अनन्तर शान्त हो गयी अर्थात् मुझे दृश्य जगत्के अभावका ज्ञान हो गया। अब केवल अविनाशी शान्त ब्रह्म ही स्थित है। अब मैं शान्तिमय मुक्तस्वरूप और परिपूर्ण हूँ। मैं क्रिया, उत्पत्ति और विनाशसे रहित हूँ। मैं अतिशय शुभ, कल्याणस्वरूप विशुद्ध परमात्मस्वरूप हूँ।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! राजा शिखिध्वज पूर्वोक्त रीतिसे परब्रह्ममें विश्राम पाकर दो घड़ीतक वायुरहित स्थानमें दीपशिखाकी तरह निश्चल तथा शान्तचित्त हो गये। फिर जब राजा शिखिध्वज निर्विकल्प समाधिमें स्थित थे, तब अपनी सहज लीलाभरी वाणीसे कुम्भने उन्हें तत्काल जगाया।

कुम्भने कहा—राजन्! अब आप अज्ञानरूपी निद्रासे जाग गये हैं और कल्याणरूप होकर स्थित हैं। प्रिय! जब परमात्माका एक बार स्पष्टरूपसे अनुभव हो जाता है, तब उसके लिये समस्त अनिष्टकारक पदार्थोंका अभाव हो जाता है। अतः अब आप समस्त कल्पनारूपी दोषोंसे रहित हो जीवन्मुक्त बन गये हैं।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! जब मुनिश्रेष्ठ उस कुम्भने राजा शिखिध्वजको इस तरह समझाया, तब वे ज्ञानी हो गये और महामोहसे रहित हो शोभा पाने लगे।

(तब) कुम्भने कहा—महाराज! मैंने पहले जिस आत्मतत्त्वका उपदेश दिया था, उसे ग्रहणकर अज्ञानरूपी आवरणसे मुक्त हो जानेके कारण आप देदीप्यमान होकर खूब शोभा पा रहे हैं। अब आपको जाननेके लिये जो यह कुछ बच गया है, उसे सुनिये। राजन्! यह जो कुछ भी स्थावर, जङ्गम नानाविध आकार-प्रकारसे भरा हुआ जगत् दिखायी पड़ता है, वह सब कल्पकी समाप्तिमें विनष्ट हो जाता है। तदनन्तर जब महाकल्पकी लीला समाप्त हो जाती है, तब एकमात्र प्रसन्न, गम्भीर, सर्वव्यापक सच्चिदानन्द परमात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है। वह परमात्मा केवल चिन्मय, विशुद्ध, शान्त, परम अनन्त, सम्पूर्ण कल्पनाओंसे रहित और परम दिव्य ज्ञानस्वरूप है। वह तर्करहित, अनिर्देश्य, समस्वरूप, कल्याणमय, निन्दारहित, ज्ञानसे परिपूर्ण एवं निर्वाग ब्रह्मस्वरूप है। इसलिये राजन्! परमात्मासे भिन्न कोई भी दूसरी कल्पना इस संसारमें है ही नहीं। आपको जो निर्मल परमात्मतत्त्व ज्ञात हुआ है, वही परिपूर्ण और अविनाशी ब्रह्म है। सम्पूर्ण आकार-प्रकारोंसे युक्त हो प्रकट हुआ-सा वह सर्वस्वरूप होकर सदा ही स्थित रहता है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे

अगम्य होनेके कारण वह अनिर्वचनीय, अति उत्तम और विलक्षण पदार्थ है। वह सर्वस्वरूप परमात्मा सबका आत्मा है। वह अति सूक्ष्म, शुद्ध तथा अनुभवस्वरूप है। वह वास्तवमें न कर्ता है, न कर्म है और न कारण ही है। वह सत्-चित्-आनन्दमय परमात्मा अविनाशी, अगम्य तथा स्वयं अनुभवस्वरूप है। यह जगत् यथार्थरूपसे जान लिये जानेपर परम कल्याणकारक हो जाता है; क्योंकि यह परमात्माके संकल्पसे उत्पन्न होनेके कारण परमात्माका स्वरूप ही है। किंतु यदि जगत् यथार्थरूपसे न जाना गया तो वह भयंकर दुःख देनेवाला और अकल्याणकारक होता है। जैसे अग्नि चित्र-विचित्र रूपसे आविर्भूत हुई भी वास्तवमें वह अपने ही स्वरूपसे रहती है, वैसे ही संकल्पसे अन्यान्य रूपोंमें आविर्भूत हुई भी ब्रह्मसत्ता अपने यथार्थ ब्रह्मरूपसे ही स्थित रहती है। वास्तवमें जगत्का कोई भी कारण नहीं है; अतः इसका तीनों कालोंमें अत्यन्त अभाव है। ब्रह्म ही जगत्के रूपमें प्रतीत होता है।

कुम्भने कहा—महाराज! अपनी ही सत्तामें स्थित ब्रह्म वास्तवमें तो न किसीका उपादान कारण है और न किसीका निमित्त कारण है। वह केवल विशुद्ध अनुभवरूप है। अनुभवरूप उससे भिन्न दूसरा कुछ भी पदार्थ नहीं है। जो कुछ अहंता आदि जगत् प्रतीत होता है वह भी ब्रह्मका संकल्प होनेके कारण अनन्त ब्रह्मरूप ही है।

राजा शिखिध्वज बोले—मुनिवर! मैं मानता हूँ कि कल्याणमय परमात्मामें वास्तवमें अहतादि जगत् नहीं है; परंतु उसमें जो जगत्का ज्ञान होता है, वह किस कारणसे होता है, इसे शीघ्र मुझसे कहिये।

कुम्भने कहा—साधो! असीम जगत्का विस्तार करनेवाला जो अनादि-अनन्त ब्रह्म है, वही अपने संकल्पसे जगत् और जगत्के ज्ञानके सदृश बनकर अवस्थित है; इसीलिये वही जगत्-स्वरूप कहा जाता है। जिस प्रकार जलमें रस सार वस्तु है, उसी प्रकार सब पदार्थोंकी सार वस्तु परमात्मा ही है। यदि शान्त ब्रह्मरूप पद जगत्का कारण माना जाय तो फिर निष्क्रिय, अगम्य, अतर्क्य आदि शब्दोंसे जो ब्रह्मका वर्णन किया गया है, वह कैसे सिद्ध होगा? इन सब युक्तियोंसे यह निश्चित होता है कि वास्तवमें यह ब्रह्म किसी भी कार्यका न निमित्त कारण है और न उपादान कारण ही है, अतः इस सृष्टिका अस्तित्व किसी कालमें है ही नहीं। चिन्मय परमात्माके अतिरिक्त इस सृष्टिकी दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं, जिससे कि उसका वर्णन किया जाय। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जड दृश्य जगत्की सत्ता है ही नहीं। जो भी कुछ यह दीखता है, वह एक मात्र चैतन्य-घन ही अपने संकल्पसे स्फुरित हो रहा है। यही अहंभाव, जगत् आदि शब्द और शब्दार्थरूप रूपोंसे युक्त-सा होकर भासता है। घट, पट आदि जागतिक वस्तु चिन्मय नहीं हो सकती, क्योंकि जागतिक वस्तुओंका नाश अवश्यम्भावी है। साधो! यह चेतन है और यह जड है'—इस प्रकारकी जो कल्पना होती है वह केवल चित्तकी चञ्चलता है, इससे युक्त कुछ भी नहीं है। संसारमें केवल चैतन्यतत्त्व ब्रह्मकी ही सत्ता है। द्वित्व और एकत्व कुछ नहीं है, केवल कल्पना-मात्र है। राजन्! इसलिये जगद्रूप पदार्थोंकी सत्ताका अभाव होनेपर उनकी भावनाकी कल्पना स्वतः सिद्ध हो जाती है। सम्पूर्ण भावनाओंका उत्पत्ति-स्थान तो आपकी अहंभावनाका अस्तित्व है, [illegible] अहंभावका अभाव होनेपर जिस [illegible] है जिसे कि चित्त कहा जाता है। इसलिये चित्त भी अहंरूप है। इसलिये चित्त [illegible] पदार्थ है ही नहीं और जीव [illegible] दृश्यका भेद भी नहीं है। [illegible] मनसे युक्त और तीनों ही [illegible]

सच्चिदानन्दमय हो जाते हैं। शुद्ध चैतन्यदृष्टिके सम्बन्धसे जड पदार्थकी कदापि सिद्धि न होनेके कारण, जड पदार्थोंकी भावनाका भी अभाव हो जानेसे भावना-जनित जीवरूप नहीं रहता, केवल स्वयं परमात्मा ही रहता है। 'सब ब्रह्मस्वरूप ही है' इत्यादि वेदार्थ-भावनासे जनित ब्रह्मसाक्षात्कारद्वारा केवल चिन्मय ब्रह्म-के ही प्रकाशित हो जानेपर फिर शोक कहाँ ? फिर तो, शोकका अत्यन्त अभाव हो जाता है। समस्त द्वैतका बाध हो जानेपर एक ब्रह्मरूप ही रह जाता है। वह ब्रह्म विशुद्ध, कारणशून्य, शाश्वत एवं आदि और मध्यसे रहित है।

(सर्ग ९५–९७)

चित्त और संसारके अत्यन्त अभावका तथा परमात्माके भावका निरूपण

कुम्भ कहते हैं—राजन्! चित्त नामका पदार्थ किसी कालमें, किसी देशमें या किसी वस्तुरूपमें कहीं है ही नहीं। यह जो चित्त-सा प्रतीत हो रहा है, वह अविनाशी ब्रह्म ही है। सम्पूर्ण चित्त आदि प्रपञ्च अज्ञानात्मक हैं, इसलिये उसका अस्तित्व ही नहीं है; क्योंकि जो अज्ञानात्मक वस्तु रहती है, उसका ज्ञानसे बाध हो जाता है। अतः अधिष्ठान ब्रह्ममें अहम्, त्वम्, तत् इत्यादि कल्पनाएँ कैसे रह सकती हैं ? जो कुछ भी यह प्रकट जगत् है, वह कुछ है ही नहीं। सब ब्रह्म ही है; अतः कौन किसको कैसे जाने ? प्राकृत प्रलयके अनन्तर सृष्टिके आरम्भमें जो यह चित्त आदि जगत् उत्पन्न प्रतीत होता है, वह वास्तवमें है ही नहीं। मैंने 'यह चित्त-सा मालूम पड़ता है', इत्यादि रूपसे जो कहीं-कहीं निर्देश किया है, वह केवल आपके बोधके लिये ही किया है। उपादान आदि कारणरूपसे जो प्रसिद्ध हैं, उनका भी अस्तित्व नहीं है और जितने भावरूपसे प्रसिद्ध हैं, उनका भी अस्तित्व नहीं है, इसलिये इस असत् जगत्का ब्रह्म कारण नहीं है; क्योंकि अज्ञानजनित भ्रान्तिरूप ही जगत् है, इसलिये उसकी किसी कालमें सत्ता ही नहीं है। अतः यह जो दिखायी पड़ता है, वह भासनात्मक ब्रह्म ही है, दूसरा नहीं। जो देव नाम और रूपसे रहित है, उस ब्रह्मरूप देवके विषयमें यह कहना कि यह देव इस मिथ्या जगत्का निर्माण करता है, वास्तवमें न तो युक्तिसंगत है, न सत्य है और न अद्वैतवादियों-का वैसा अनुभव ही है। राजन्! इसी प्रयोगसे चित्त-का अस्तित्व नहीं है; क्योंकि जब जगत्का ही अस्तित्व नहीं है, तब जगत्के अन्तर्गत चित्तका अस्तित्व कैसे हो सकता है ? चित्त तो वासनामात्ररूप है। वासना तब होती है, जब कि वासनाका विषय रहे। परंतु वासनाका विषय जो जगत् है, वह तो स्वयं असत् है, अतः चित्तका अस्तित्व ही कहाँ है ? वास्तवमें तो कारणके अभावसे ही यह दृश्य वासनाका विषय जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ है; फिर चित्त आया ही कहाँसे ?

अतः केवल चिन्मय विशुद्ध विज्ञानस्वरूप परमात्मा ही अपने संकल्पसे स्फुरित हो रहा है, इसलिये उससे भिन्न जगत्की सत्ता कहाँसे आयी ? समस्त अनर्थोंको उत्पन्न करनेवाला अहम्, त्वम्, जगत् इत्यादि जो यह अनुभव होता है, वह वास्तविक नहीं है; स्वप्नके सदृश मिथ्या ही है। वासनाके विषय जगत्की असत्ता होनेसे वासनाकी सत्ता नहीं है, इसलिये फिर वासनात्मक चित्त ही कैसा, कहाँ, किससे और किस तरहसे हो सकता है ? जो परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे रहित हैं, वे अज्ञानी ही चित्त और इस दृश्य जगत्को सत्य समझते हैं। वस्तुतः चित्त असत् है, उसका

कोई आकार नहीं है और न वह उत्पन्न ही हुआ है। क्योंकि लोक, शास्त्र और अनुभवसे दृश्य वस्तुमें अनादिता, अजता और स्थिरता सम्भव नहीं है। जिसकी बुद्धिमें लोक, शास्त्र और वेद प्रमाण नहीं है, वह अत्यन्त मूर्ख है। अत. सज्जनको उसके कथनका कभी अवलम्बन नहीं करना चाहिये। वास्तवमें शास्त्रीय बोधसे सब कुछ ब्रह्म ही ब्रह्म है। न तो कहीं जगत् आदिका ज्ञान है, न कहीं चित्तका ही भाव है और न अभाव है तथा न कहीं द्वैत है, न कहीं अद्वैत ही है। यह समस्त जगत् आश्रयरहित, परम शान्त, अजन्मा अनादि परमात्मरूप ही है। किन्तु यह जो अज्ञानियोंद्वारा देखे गये रूपसे युक्त जगत् है, वह न नाना है और न अनाना ही है। अतः आप मौन व्रत धारण करके काठके सदृश स्थित रहिये।

राजा शिखिध्वजने कहा—महामुने! आपकी दयासे मेरा मोह नष्ट हो गया। मुझे ब्रह्मके स्वरूपकी स्मृति प्राप्त हो गयी, मेरा संदेह दूर हो गया। मेरी बुद्धि परम विश्रामको प्राप्त हो गयी, अब मैं आत्मवान् होकर स्थित हूँ। अब मैंने ज्ञेय वस्तु परमात्माके स्वरूपका अनुभव कर लिया, मैं महामौनी हो गया, मायारूपी महासमुद्रको पार कर गया; अब मैं शान्त हूँ, मैं अहंकारस्वरूप नहीं हूँ, आत्मज्ञानी बनकर सम्पूर्ण विकारोंसे रहित होकर अवस्थित हूँ। अहो! अति चिरकालतक मैं भवसागरमें परिभ्रमण करता रहा। परंतु अब मैं क्षोभरहित अक्षय परमपदको प्राप्त हो गया हूँ। मुने! इस तरह अवस्थित होनेपर मूर्खोंके माने हुए अहंतासहित ये भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों जगत् नहीं हैं। जो कुछ यह भासित हो रहा है, उसे ब्रह्मका संकल्प होनेके कारण मैं ब्रह्मरूप ही समझता हूँ।

कुम्भ बोले—राजन्! आपका कथन सत्य है। जिस चिन्मय परमात्मामें वस्तुतः यह जगत् ही नहीं है, वहाँ आकाशमें बिना हुए प्रतीत होनेवाले गन्धर्वनगरके समान इस तरहका 'अहं, त्वम्' आदि अनुभव कैसा, कहाँ, किस निमित्तसे और किस प्रकार हो सकता है! जैसे कटक, कुण्डल आदि भावनाके शान्त हो जानेपर सुवर्णमात्र अवशिष्ट रह जाता है, वैसे ही जगदादि भावनाओंके शान्त हो जानेपर एकमात्र ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है। 'देह आदि मैं हूँ' इस तरहकी भावना अत्यन्त विनाशकारक बन्धनके लिये होती है तथा 'देहादिरूप मैं नहीं हूँ' इस तरहकी भावना विशुद्ध मोक्षके लिये होती है। अहंकार-ज्ञानका अभाव मोक्ष है तथा अहंकार-ज्ञान ही बन्धन है। इसलिये राजन्! 'मैं वह साक्षात् ब्रह्म ही हूँ, अहंकार मैं नहीं हूँ' इस प्रकारके शुद्ध कैवल्यात्मक बोधसे युक्त होकर आप आत्मवान् हो जाइये। जिस तरह समुद्रमें तरंग आदि वास्तवमें जलमात्र ही हैं, उसी तरह ब्रह्ममें संसार और संसारके पदार्थ परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर एकमात्र परमात्मस्वरूप ही हैं। यह सृष्टि ही सृष्टि शब्दके अर्थसे रहित परब्रह्म है और परब्रह्म ही सृष्टि है; क्योंकि यही शाश्वत परब्रह्म 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्यका अर्थ है। समस्त शब्द और उनके अर्थकी भावनाका जहाँ अभाव है, वह शुद्ध, नित्य, चेतन, अजन्मा परमात्मा ही ब्रह्म शब्दसे कहा जाता है; क्योंकि परमात्माका यथार्थ अनुभव हो जानेपर जन्म आदि और उनके अर्थरूप संसारका ज्ञान नहीं रहता, तब एक अजर, शान्त ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है। उसमें [illegible] भी गति नहीं है।

[illegible]

ब्रह्मसे जगत्‌की पृथक् सत्ताका निषेध तथा जन्म आदि विकारोंसे रहित ब्रह्मकी स्वतः सत्ताका विधान

कुम्भने कहा—राजन् ! जिसमें कारणता है, उसका वह कार्य सिद्ध हो सकता है । वास्तवमे जो निर्विशेष ब्रह्म है वह तो किसीका कारण ही नहीं, फिर उससे कार्य होगा ही कैसे ? जो कार्य कारणसे उत्पन्न होता है, वह कारणके सदृश होता है । जो यहाँ उत्पन्न ही नहीं होता, उसमें भला सादृश्य आयेगा ही कहाँसे ? भला आप बतलाइये तो सही, जिसका कोई बीज ही नहीं है, वह उत्पन्न कैसे होगा ? जो वस्तु अतर्क्य, अगम्य और निर्विशेष है, उसमें बीजता ही कहाँ ठहरेगी ? देश और कालके वशसे सभी पदार्थ कारणसे युक्त और प्रमाणसे गम्य होते है । किंतु अकर्ता होनेसे ब्रह्म निमित्त और उपादान कारणोंका प्रमाण कैसे सिद्ध हो सकता है ? क्योंकि कर्ता, कर्म और कारणशून्य कल्याणमय परमात्मामें कारणता नहीं है, इसलिये जगत् शब्दार्थ ज्ञानका वह कारण नहीं हो सकता । अतएव राजन् ! जो सत्स्वरूप निर्विशेष ब्रह्म है, वह 'मैं ही हूँ' इस प्रकार आप निश्चय कीजिये । यह प्रतीति होनेवाला जगत् अज्ञानियोंकी दृष्टिमें ही सत् है; क्योंकि वह एक अद्वितीय चिन्मय अजर और शान्त निर्विशेष ब्रह्म ही वास्तवमें प्रमाणित है । किंतु अलातचक्रके सदृश भ्रमाकृति जो यहाँ जगत्, चित्त आदि दिखायी देता है, वह मृगतृष्णा-जल, दृष्टिदोषसे दो चन्द्रमा आदिकी भ्रान्ति तथा बालकल्पित प्रेत आदिकी भाँति है । जो जगत् सर्वथा भ्रमात्मक है, वह भला सत्य नामसे कैसे कहा जा सकता है ? अज्ञानजनित भ्रान्ति ही अन्तःकरण और चित्तादि शब्दोसे कही जाती है ।

जैसे मरुमरीचिकामें प्रतीत होनेवाले जलका ज्ञान 'यह जल नहीं है,' इस यथार्थ ज्ञानसे नष्ट हो जाता है, वैसे ही यह चित्त है । इस रूपसे हृदयमें दृढ हुआ जो अज्ञानात्मक विकार है, वह 'यह चित्त नहीं है' इस यथार्थ ज्ञानसे समूल विनष्ट हो जाता है । जैसे अज्ञान-भ्रमसे उत्पन्न हुई रज्जुमें सर्परूपता 'यह सर्प नहीं है' इस तरहके हृदयमें दृढ हुए यथार्थ ज्ञानसे नष्ट हो जाती है, वैसे ही आत्मामें अज्ञान-भ्रमसे उत्पन्न हुआ मनोरूप चित्त 'यह चित्त नहीं है' इस तरहके हृदयमें दृढ हुए यथार्थ विज्ञानसे विनष्ट हो जाता है । मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आदि सारे पदार्थ हृदयमें अज्ञानसे उत्पन्न हुए है । वस्तुतः इस जगत्‌में चित्त नहीं है और इसी तरह अहंकारादिसे संयुक्त देहादि कुछ भी नहीं है, किंतु एकान्त निर्मल एक आत्मा ही है । अज्ञानी जीवोंके द्वारा ही अज्ञानसे मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारकी रचना की गयी है । किंतु आज आपने संकल्पके अभावके द्वारा उन सबका परित्याग कर दिया है; क्योंकि जो पदार्थ सकल्पसे आता है, उसका संकल्पका अभाव होते ही विनाश हो जाता है । जैसे जलसे समुद्र परिपूर्ण है, वैसे ही सच्चिदानन्दघन परमात्म-तत्त्वसे यह सारा संसार परिपूर्ण है । न मैं हूँ, न आप हैं, न अन्य हैं, न ये सब पदार्थ हैं । न चित्त है, न इन्द्रियाँ हैं और न आकाश ही है । केवल एक विज्ञानानन्दघन विशुद्ध परमात्मा ही है । घट-पटादि दृश्य-जगत्‌के आकाशरूपसे एक वह परमात्मा ही दिखायी देता है । 'यह चित्त है, यह मैं हूँ' इत्यादि तो असत्य कल्पनाएँ है । महीपते ! वास्तवमें तो इस त्रैलोक्यमें न कोई जन्म लेता है और न कोई मरता ही है । सत् और असत् भावनारूप यह केवल चेतनका संकल्पमात्र है । जब वास्तवमें एक सर्वात्मक व्यापक ब्रह्म परमात्मा ही प्रकट है, तब द्वित्व और एकत्व कैसे रह सकता है और कैसे संशय तथा भ्रम ही रह सकता है ? मित्र ! केवल निर्मल अनन्त परमात्म-स्वरूप आपका न तो कुछ विनष्ट हो सकता है और न कुछ बढ़ ही सकता है; क्योंकि जो अजन्मा, अजर, अनादि, अद्वितीय, विशुद्ध, सदा एकरूप, चिन्मय, संकल्परहित, सत्स्वरूप वस्तु है, वही परमात्म-तत्त्व है । (सर्ग १००)

राजा शिखिध्वजकी ज्ञानमें दृढ़ स्थिति तथा जीवन्मुक्तिमें चित्तराहित्य एवं तत्त्वस्थितिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलभूषण राम ! इस प्रकार कुम्भके स्वाभाविक वचनोंपर विचार करके राजा शिखिध्वज उसी क्षण स्वयमेव आत्मपदमें स्थित हो गये। फिर तो उनके मन और नेत्रोंका व्यापार बंद हो गया, वाणी शान्त हो गयी तथा वे ध्यानस्थ होकर मनन करने लगे, उस समय उनके शरीरके सभी अवयव ऐसे निश्चल हो गये, मानो शिलातलपर खुदी हुई कोई मूर्ति हो। महाबाहो ! तदनन्तर दो ही घड़ीके बाद जब उनकी ध्यानमुद्रा भंग हुई और वे विकसित नेत्रोंसे कुम्भ-की ओर देखने लगे, तब कुम्भरूपिणी चूडालाने राजासे प्रश्न करना आरम्भ किया।

कुम्भने पूछा—राजन् ! जो अत्यन्त प्रकाशमान, शुद्ध, विस्तृत एवं निर्मल है तथा जो निर्विकल्प-समाधिमें स्थित रहनेवाले योगियोंके लिये सुन्दर शय्याके समान है, उस आत्मपदमें आपको आनन्दपूर्वक विश्रान्ति प्राप्त हो चुकी न ? आपका अन्तःकरण प्रबुद्ध हो गया न ? आपने भ्रान्तिका परित्याग कर दिया न ? ज्ञातव्यका ज्ञान प्राप्त कर लिया और द्रष्टव्य वस्तु देख ली न ?

शिखिध्वज बोले—भगवन् ! आपकी कृपासे मुझे उस महती पदवीका साक्षात्कार हो गया, जो निरति-शयानन्दकी भूमिका और समस्त उत्कर्षोंकी पराकाष्ठा है। अहो ! जानने योग्य वस्तुओंके ज्ञानसे सम्पन्न संत-महात्माओंका सङ्ग अपूर्व एवं सर्वोत्तम अमृतमय होता है, अतः सर्वोत्कृष्ट फल प्रदान करनेवाला है। प्रभो ! जिस महामृतकी उपलब्धि मुझे सारे जन्ममें भी नहीं हुई, वही आज आपके समागमसे अनायास ही सुलभ हो गयी। परंतु कमललोचन ! इस अनन्त, आद्य एवं अमृतस्वरूप आत्मपदकी प्राप्ति मुझे पहले ही क्यों नहीं हो गयी ?

कुम्भने कहा—राजन् ! जब भोगेच्छाओंका परित्याग कर देनेसे मन पूर्णतः शान्त हो जाता है और सम्पूर्ण इन्द्रियगणोंके भोगरूप दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है, तब चित्तमें उपदेशककी विमल उक्तियाँ उसी प्रकार स्थित हो जाती हैं, जैसे शुद्ध स्वच्छ कपूर कुंकुमसंमिश्रित जलके छींटे। कमलनयन ! आपके अपने वासनात्मक अनन्त दोषोंका, जो अनेक जन्मोंके शरीरोंद्वारा संगृहीत किये हुए थे, परिपाक आज प्रकट हुआ है। साधुशिरोमणे ! कालद्वारा परिपक्व होकर सम्पूर्ण दोष शरीरसे निकल जाते हैं। सखे ! शरीरसे वासनात्मक दोषोंके निकल जानेपर गुरुदेव जो कुछ निर्मल उपदेश देते हैं, वह शीघ्र ही अन्तःकरणमें प्रविष्ट हो जाता है। महाप्ते ! दोषोंका परिपाक सम्पन्न हो जानेपर आज मैंने आपको उद्बुद्ध किया है। इसी कारण आज ही आपके अज्ञानका विनाश हो गया। आज आपके सभी दोष परिपक्व हो-होकर नष्ट हो गये। आज ही आपने सम्यक्रूपसे ज्ञानोपदेश धारण किया है। आज ही आप उपदेशसम्पन्न हुए हैं और आज ही आप प्रबोधवान् भी हुए हैं। सम्बुद्धके ज्ञानसे आज आपके समस्त शुभ-अशुभ कर्मोंका सम्यक् विनाश हो गया। महीपते ! जबतक इस विनका पूर्वभाग बीत रहा था, तबतक आपके चित्तमें 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' ऐसा अज्ञान वर्तमान था; परंतु भूपते ! इस समय मेरा वचनोपदेश श्रवण करके आपने अपने हृदयसे उस अज्ञानको निकाल फेंका है, जिससे आपके चित्तका विनाश हो गया है; अतः अब आप भलीभाँति प्रबुद्ध हो गये हैं। राजन् ! जबतक हृदयमें मनका अस्तित्व बना रहता है, तबतक अज्ञान रहता है, किंतु उसी अस्तित्व-रूपसे चित्तका विनाश हुआ, वही तत्त्वज्ञ अनुभव किया जाता है। द्वैत और अद्वैतकी दृष्टि ही चित्त है और वही अज्ञान भी कहा जाता है; इन दोनोंकी दृष्टिका जो विनाश है, वही ज्ञान और वही परम गति है। नरेश्वर ! जो प्रतीत होनेके कारण सत् और जाननेमें न होनेके कारण असत् है तथा जो चित्त उसकी उपलब्धि

स्थान है, उस चित्तका तो आपने विनाश कर ही दिया। इससे अब आपका ज्ञान जाग उठा है और आप विमुक्त हो गये हैं । अत. अब आप शोकशून्य, आयासरहित नि.सङ्ग, अनन्य, आत्मज्ञानसम्पन्न, महान् अभ्युदयसे युक्त, मौनी एवं मुनि होकर अपने निर्मलस्वरूपमें स्थित रहिये ।

शिखिध्वज बोले—भगवन् ! यों आपके कथनानुसार जो मूर्ख जीवके लिये ही चित्त है, ज्ञानीके लिये नहीं; किंतु प्रभो ! यदि आत्मज्ञानीके लिये चित्त है ही नहीं तो ये आप-जैसे जीवन्मुक्त मनुष्य मनसे रहित होकर जगत्में कैसे विचरण करते हैं ? यह बतलानेकी कृपा कीजिये ।

कुम्भने कहा—तत्त्वज्ञ ! आप जैसा कह रहे हैं यह ठीक वैसा ही है; इसमें थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं है। जैसे पत्थरमे अङ्कुर नहीं निकलता, उसी प्रकार जीवन्मुक्तोंका चित्त व्यापारशून्य हो जाता है; क्योंकि पुनर्जन्म लेनेमें सहायक जो घनीभूत वासना होती है, वही चित्त शब्दसे कही जाती है और वह आत्मज्ञानीमें रहती नहीं । आत्मज्ञानसम्पन्न पुरुष जिस वासनाद्वारा सांसारिक कर्मोंका व्यवहार करते हैं, उसे आप 'सत्त्व' नामवाली समझिये । वह वासना पुनर्जन्मसे रहित होती है। जो सत्त्वमें स्थित हैं तथा जिनकी इन्द्रियाँ सम्यक्-प्रकारसे वशमें हैं, ऐसे जीवन्मुक्त महात्मा आसक्तिरहित होकर विचरते है; परंतु चित्तस्थ पुरुष वैसा कभी नहीं कर सकते । राजन्! अज्ञानसे आच्छादित चित्तको 'चित्त' कहते हैं और प्रबुद्ध चित्त 'सत्त्व' कहा जाता है। जो अज्ञानी हैं वे 'चित्त' में स्थित रहते हैं और महाबुद्धिमान् ज्ञानी लोग 'सत्त्व'में स्थित रहते हैं। भूपते! चित्त बारंबार उत्पन्न होता है; किंतु सत्त्व पुनः नहीं पैदा होता; इसीलिये अज्ञानी बन्धनमें पड़ता है, ज्ञानी नहीं पड़ता । राजन् ! मुझे यह ठीक-ठीक पता है कि आज आपने पूर्णरूपसे अपने चित्तका विनाश कर दिया है जिससे आप सत्त्वसम्पन्न हो गये हैं और महात्यागी बनकर स्थित हैं । आज आपकी सारी वासनाएँ नष्ट हो गयी हैं, जिससे आपकी विशेष शोभा हो रही है ।

मुने ! मैं यह भी मानता हूँ कि आपका मन आकाशकी तरह निर्मल हो गया है । आप परम शान्तिको प्राप्त हो गये हैं और सिद्ध होकर सर्वोत्कृष्ट समस्थितिमें पहुँच गये हैं । राजन् ! यह वही महात्याग है, जिसमें आपने अपने सर्वस्व-रूप चित्तका परित्याग कर दिया है । भला, तप आपके कितने दुःखोंका विनाश करनेमें समर्थ होता । यह जो उपरनिरूप परम सुख है, यही अक्षय सुख है । यही वास्तवमें सत्य है। स्वर्गादिका जो थोडा-बहुत सुख है, वह सत्य नहीं है; क्योंकि वह विनाशशील है तथा उत्पत्ति एवं विनाशयुक्त होनेके कारण वर्तमानकालमें ही प्रतीत होता है ।

राजर्षे ! जैसे आकाशसे भी अत्यन्त निर्मल सच्चिदानन्द परमात्मासे सभी पदार्थ समुद्भूत होकर दृष्टिगोचर होते हैं, वैसे ही वे उसी परमात्मामें विलीन भी हो जाते है । सकल्पसे ही जिनकी उत्पत्ति हुई है, ऐसे पदार्थोंको आत्मज्ञानी महात्मा लोग जलमें प्रतिबिम्बित सूर्योंकी तरह समझकर ग्रहण नहीं करते। सज्जनशिरोमणे! जगत्में जिसका चित्त स्पन्दनरहित हो गया है, उसके समीप संसार आ ही नहीं सकता; क्योंकि महीपाल ! इस त्रिलोकीमें जो जो दुःख जीवको प्राप्त होते हैं, वे सभी चित्तकी चपलतासे ही उत्पन्न हुए रहते हैं । इसलिये जिसका चित्त स्थिर, शान्त, स्पन्दनशून्य और चञ्चलतारहित हो गया है, वही मनुष्य सदा परमानन्दमें निमग्न रहता है और वही साम्राज्य —परमात्म-साक्षात्कारका पात्र होता है ।

शिखिध्वज बोले —सम्पूर्ण संशयोंका उच्छेद करनेवाले विभो ! स्पन्द और अस्पन्द—ये दोनो किस प्रकार एकताको प्राप्त होते हैं, वह विधि मुझे शीघ्र बतलानेकी कृपा कीजिये ।

कुम्भने कहा—राजन्! जैसे सागर जलरूपसे एक है, उसी तरह यह सारा जगत् चिन्मात्रस्वरूप होनेके कारण एक ही वस्तु है; अतः जैसे तरङ्गें शुद्ध जलको ही उछालती हैं, वैसे ही बुद्धिवृत्तियाँ उसी चिन्मात्रको स्पन्दित करती हैं। तात! श्रुतियाँ जिसका ब्रह्म, चिन्मात्र, अमल और सत्त्व आदि नामोंद्वारा गान करती हैं, उसीको मूढ लोग जगद्रूपसे देखते हैं। इस संसारका स्वरूप तो चेतन परमात्माका स्पन्दनमात्र है, इसलिये यथार्थ दृष्टिवालोंके लिये तो इसका विनाश ही हो जाता है; परंतु जिन्हें यथार्थदृष्टिकी प्राप्ति नहीं हुई है, ऐसे पुरुषोंको रज्जुमें सर्पभ्रान्तिकी भाँति यह असत्यसे ही प्रतीत होता। जैसे चक्षुरिन्द्रियके दोषसे दो होनेपर एक ही चन्द्रमा दृष्टिगोचर होता है, उसी तरह शास्त्रोंके अभ्यास और सत्पुरुषोंके सङ्गसे जब समय पाकर चित्त शुद्ध हो जाता है, तब एकमात्र चेतन परमात्माके स्वरूपका अनुभव होता है। साधो! आप आदि सर्गमें ही अपने स्व-स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं। देहादि रूपोंमें आपका भेद भाव नहीं रह गया है, आप महान् चिन्मात्र हो गये हैं और आपका शोक नष्ट हो गया है, अतः अब आप अपने उसी पदमें प्रविष्ट हुए स्थित रहिये। (सर्ग १०१)

कुम्भके अन्तर्हित हो जानेपर राजा शिखिध्वजका कुछ कालतक विचार करनेके पश्चात् समाधिस्थ होना, चूडालाका घर जाकर तीन दिनके बाद पुनः लौटना, राजाके शरीरमें प्रवेश करके उन्हें जगाना और राजाके साथ उसका वार्तालाप

कुम्भने कहा—महाराज शिखिध्वज! जिस प्रकार यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है और जैसे विलीन हो जाता है, वह सारा-का-सारा वृत्तान्त मैंने आपसे वर्णन कर दिया। इसे सुनकर, समझकर तथा मनन करके स्पष्टरूपसे प्रत्यक्ष प्राप्त परमपदमें आप स्वेच्छानुसार स्थित रहिये। संकल्पपरम्परासे तथा किसी भी वस्तुकी अभिलाषासे रहित आपको सदा आत्मदृष्टिमें ही स्थित रहना चाहिये; क्योंकि यही दृष्टि परम पावन है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! कुम्भके यों कहनेपर राजा शिखिध्वज हाथमें फूल लेकर कुम्भको प्रणाम करनेके लिये प्रतिवचन बोलना चाहते थे कि तबतक कुम्भ अन्तर्धान हो गये। इस प्रकार कुम्भके अन्तर्हित हो जानेपर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे उसी विस्मयोत्पादक घटनाका विचार करते हुए चित्रलिखित-से अवाक् रह गये। फिर वे यों सोचने लगे—'अहो! ब्रह्मकी लीला बड़ी विचित्र है, जो कुम्भके व्याजसे मुझे सदा अभ्युदयस्वरूप ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त हुआ। अहो! उन देवकुमारने मुझको अत्यन्त ही सुन्दर एवं युक्तियुक्त उपदेश

दिया, जिसके प्रभावसे [illegible] पद्म हुआ मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ। [illegible] कर्मजालरूपी दलदलमें, जो [illegible]

हुआ हूँ; क्योंकि मेरी तो ऐसी धारणा है कि इस जगत्में आपके समान मेरा बन्धु; आप्त, सुहृद्, मित्र, सखा, विश्वासपात्र व्यक्ति अथवा अनुयायी दूसरा कोई नहीं है।

शिखिध्वज बोले—अहो! देवपुत्र! असङ्ग होते हुए भी जो आप मेरे समागमकी इच्छा रखते हैं, इससे प्रतीत होता है कि आज निश्चय ही मेरे पुण्य सफल हो गये।

कुम्भने कहा—राजन्! आपको महानन्दस्वरूप परमपदमें विश्रामकी प्राप्ति हो गयी न? आप इस भेदमय दुःखसे सर्वथा रहित हो गये हैं न? भोगकी नीरसताका विचार करके आपातरमणीय संकल्पोंसे आपका प्रेम एकदम निर्मूल हो गया है न? आपका मन हेय और उपादेयकी अवस्थाको अतिक्रान्त कर गया है न? वह शान्त, शम-सम्पन्न होनेसे समतायुक्त और प्रारब्धानुसार प्राप्त पदार्थोंमें उद्वेगशून्य होकर ही स्थित रहता है न?

शिखिध्वज बोले—भगवन्! चिरकालके पश्चात् थोड़े ही समयमें मैं निर्विकार होकर पूर्ण विश्रामको प्राप्त हो गया हूँ। मुझे सम्पूर्ण प्राप्तव्य पदार्थ उपलब्ध हो चुके है। अब मैं पूर्णतया तृप्त हो गया हूँ। जिस ब्रह्मका मुझे न तो ज्ञान ही था और न जिसकी प्राप्ति ही हुई थी, उसे मैंने जान लिया और प्राप्त भी कर लिया तथा छोड देने योग्य संसारका त्याग भी कर दिया। अब मेरा मन वासनारहित हो गया है और मैंने परमात्मस्वरूप परम तत्त्वका आश्रय भी ले लिया है। अब मेरे लिये कुछ भी शेष नहीं रह गया है। अब तो मै सांसारिक वासनाओंसे शून्य मोह और भयसे रहित, वीतराग, नित्य ज्ञानस्वरूप, सर्वत्र समतापूर्ण, सर्वथा सौम्य, सर्वात्मक, सारी कल्पनाओंसे मुक्त, आकाशमण्डलके समान निर्मल तथा एकरूप होकर स्थित हूँ।

(सर्ग १०२-१०३)

कुम्भ और शिखिध्वजका परस्पर सौहार्द, चूडालाका राजासे आज्ञा लेकर अपने नगरमें आना और उदास-मन होकर पुनः राजाके पास लौटना, राजाके द्वारा उदासीका कारण पूछनेपर चूडालाद्वारा दुर्वासाके शापका कथन और चूडालाका दिनमें कुम्भरूपसे और रातमें स्त्रीरूपसे राजा शिखिध्वजके साथ विचरण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! वे दोनों कुम्भ और शिखिध्वज तत्त्वज्ञानी तो थे ही, अतः वे परस्पर इस प्रकारकी अध्यात्मविषयकी विचित्र कथाएँ कहते हुए तीन मुहूर्त—छः घड़ीतक उस वनमें बैठे रहे। तत्पश्चात् वे वहाँसे उठकर किसी दूसरे शिखरपर जाकर वहाँके सरोवरपर तथा आनन्ददायक वनमें विचरण करने लगे। इस प्रकार उस महावनकी उन वनवीथियोंमें वैसा आचरण करते हुए तथा परस्पर वैसी कथाओंको कहते-सुनते हुए उन दोनोंके आठ दिन बीत गये। तब कुम्भने राजासे कहा—'राजन्! आओ अब हमलोग इस पर्वतपर किसी दूसरे वनमें चलें।' राजाने कुम्भकी बात मानकर स्वीकार कर लिया। फिर तो वे दोनों वहाँसे चल पड़े और अनेक तरहके वनों, जंगलों, जलाशयोंके तटों, सरोवरों, कुञ्जों, भीषण शिखरों, नदी प्रदेशों, ग्रामों, नगरों, उपवनों, पर्वतीय गोष्ठों, कुञ्जों तीर्थस्थानों और आश्रमोंमें घूमते रहे। वे पूर्णतया शान्त तो थे ही, अतः एक ही साथ रहते थे। उनमें स्नेह, सत्त्व और उत्साह एक-सा था। राघव! वे देवताओं और पितरोंकी पूजा भी एक ही साथ करते थे और उनका भोजन भी एक साथ ही होता था। श्रीराम! 'यह अपना घर है और यह नहीं है' ऐसी वैकल्पिक धारणा उन दोनोंके मनका कभी अपहरण नहीं कर पाती थी। वे कभी अपने शरीरपर धूल लपेट लेते, कभी चन्दनका लेपन कर लेते, कभी भस्म रमा लेते, कभी दिव्य वस्त्र धारण कर लेते, कभी

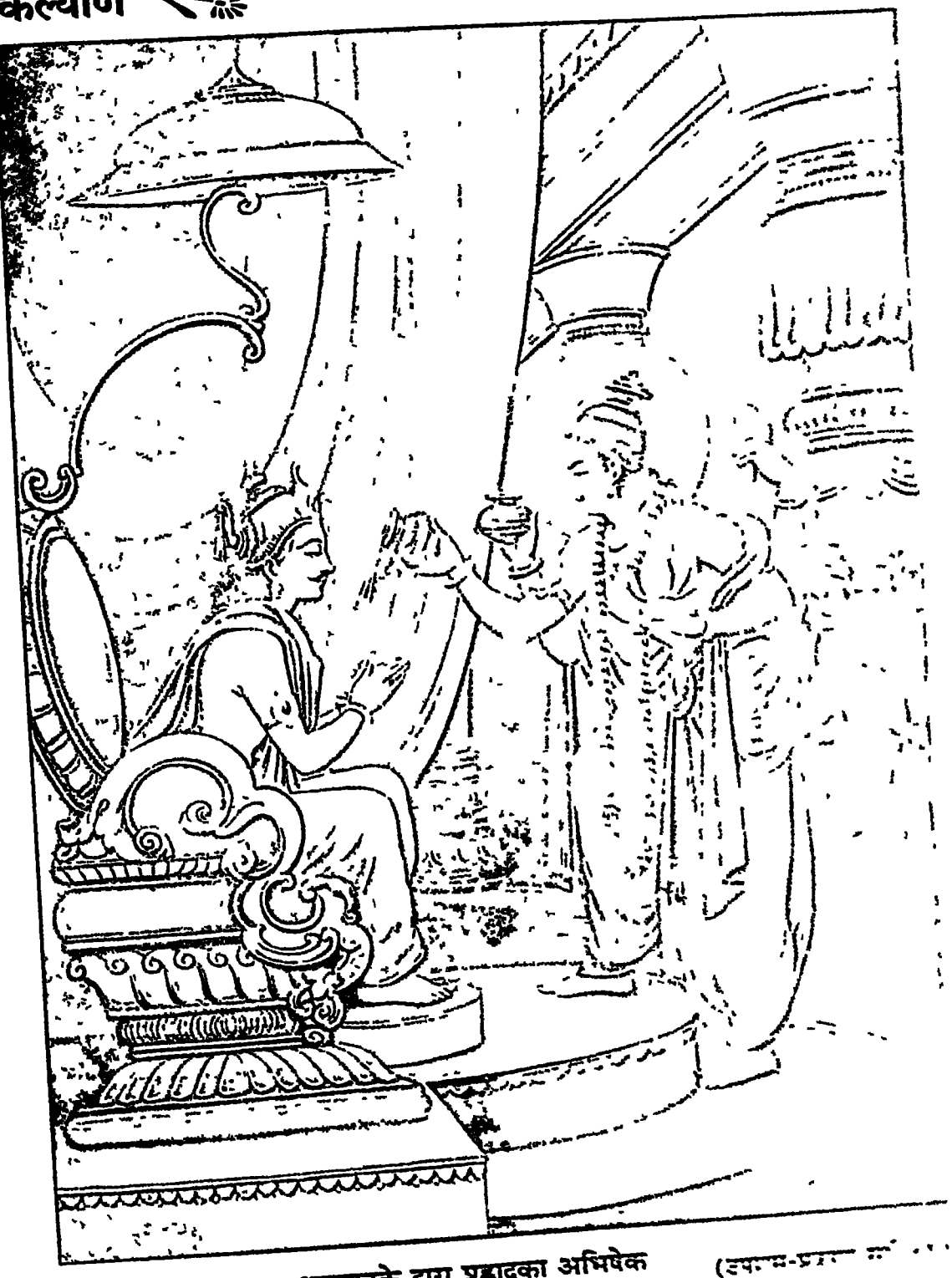

भगवान्‌के द्वारा प्रह्लादका अभिषेक

उसे पल्लवोंसे आच्छादित कर लेते और कभी पुष्पोंसे सजा लेते। इस प्रकार वे दोनों मित्र साथ-साथ विचरण करते थे।

कुछ ही दिनोंके बाद समचित्तता तथा सत्त्वकी उत्कृष्टताके कारण राजा शिखिध्वज भी कुम्भके ही समान शोभा पाने लगे। तब मालिनी चूडालाने राजा शिखिध्वजको देवकुमारके सदृश उत्तम शोभासे सम्पन्न देखकर विचार किया कि 'अब मैं इस काननमें अपनी बुद्धिसे सोचकर कुछ ऐसे प्रपञ्चकी रचना करूँ जिससे दूसरोंको मान देनेवाले ये मेरे स्वामी राजा शिखिध्वज मुझमें रति-सुखके इच्छुक हो जायँ।' यों सोच-विचारकर कानन-कुञ्जमें बैठी हुई कुम्भवेषधारिणी चूडाला अपने पतिसे बोली—

कुम्भने कहा—'राजन्! मैं स्वर्ग जा रहा हूँ और सायंकाल होते होते वहाँसे निश्चय ही लौट आऊँगा; क्योंकि आपका सङ्ग मुझे स्वर्गसे भी बढ़कर सुखप्रद है।'

'अच्छा, आप शीघ्र ही लौटियेगा।' राजाके ऐसा कहनेपर कुम्भ उस वनप्रान्तसे उड़कर शरत्कालीन मेघके सदृश आकाशमें जा पहुँचे। वहाँ आकाशमार्गसे जाते हुए कुम्भने राजाके ऊपर पुष्पाञ्जलि छोड़ दी। राजा शिखिध्वज भी जाते हुए कुम्भकी ओर तबतक टकटकी लगाये देखते ही रहे, जबतक वे उनकी आँखोंसे ओझल नहीं हो गये।

उधर आकाशमें राजा शिखिध्वजकी आँखोंसे ओझल होते ही सुन्दरी चूडालाने कुम्भ-शरीरका परित्याग कर दिया और वह पुनः अपने पूर्वरूपमें आ गयी। फिर आकाश-मार्गसे चलकर वह स्वर्गके समान रमणीय अपने नगरमें जा पहुँची और अदृश्यरूपसे अपने अन्तःपुरमें जो सुन्दरी स्त्रियोंसे खचाखच भरा था, प्रवेश कर गयी। वहाँ झटपट सारा राज्यकार्य सँभालकर वह पुनः राजा शिखिध्वजके समक्ष आ गयी। पर आज उसके चेहरेपर उदासी छायी थी। यों उदास-मन कुम्भको सामने देखकर राजा शिखिध्वज उठकर खड़े हो गये। उनका भी चित्त उदास हो गया, फिर वे आदरपूर्वक यों कहने लगे—'देवपुत्र! आपको नमस्कार है। आप तो उदासीमें डूब पड़ते हैं। आप कुम्भ तो हैं न! इस उदासीको छोड़िये और इस आसनपर विराजिये। मित्रवर! जिन्हें वेद्य वस्तुका ज्ञान प्राप्त हो चुका है तथा जो अपने स्वरूपमें स्थित हो गये हैं, ऐसे संत महात्मालोग हर्ष-विषादसे रहित स्थितिका उसी प्रकार आश्रय नहीं ग्रहण करते, जैसे कमलपत्र जलका।'

तब कुम्भने कहा—'राजन्! जैसे जबतक तिल है, तबतक तेल रहता है, उसी तरह जबतक देह है, तबतक उसकी अच्छी-बुरी दशा भी होती है। परंतु योगमें सिद्ध-की जो समता होती है, वही देहकी अच्छी-बुरी दशाओं-द्वारा प्राप्त दुःखसे रहित होना है। तत्त्वज्ञानी लोग तो, जबतक प्राप्त हुए अन्तिम देहका पतन नहीं हो जाता बुद्धि आदिकी समता तथा हाथ-पैर आदिके सञ्चालनमें तबतक ईश्वरीय विधानके अनुसार सम्मत दिखाते रहते हैं।'

शिखिध्वज बोले—महाभाग! आप तो तत्त्वज्ञानियोंमें श्रेष्ठ हैं। देवता होते हुए भी आपको ऐसी उदासी किस कारणसे प्राप्त हुई—यह बतलानेकी कृपा कीजिये।

तब कुम्भने कहा—भद्र! जब मैं यहाँसे गया, तब आपको पुष्पाञ्जलि समर्पित करके आकाशमार्गसे लौटता हुआ स्वर्गमें जा पहुँचा। वहाँ पिताजीके साथ मैं उनके सभाभवनमें क्रमानुसार बैठा था। तब सभा-दिग्दर्शन-समय आया और पिताजीने मुझे जानेकी आज्ञा दी, तब मैं उठकर यहाँ आनेके लिये स्वर्गसे चल पड़ा और नन्दनवनमें आ पहुँचा। आगे बढ़नेपर मैंने देखा कि महान् तपस्वियोंके मध्यसे होकर मुनिवर दुर्वासा बड़े वेगसे इधर ही आ रहे हैं। वे भूतलपर स्थित महात्माओंको दर्शन देते हुए जा रहे थे। तब मैंने भी आकाशमार्गसे ही आगे बढ़कर उन मुनिश्रेष्ठको अभिवादन किया और कहा—'मुने! आप मेघके सदृश यह धारण करनेके कारण अत्यन्त कृष्णवर्ण नागकी त्वचा क्यों धारण किये हुए हैं?' तुम्हारी इस देहके महाराज! यह सुनकर दुर्वासाजी मुझे शाप देते हुए

बोले—'जाओ, इस दुर्वचनके कारण आजसे तुम प्रत्येक रात्रिमें स्तन और केश आदि स्त्री-चिह्नोंसे युक्त होकर हाव-भाव आदि विलासोंवाली कमनीया रमणीके रूपमें बदल जाया करोगे।' वृद्ध ब्राह्मण दुर्वासाके मुखसे निकले हुए उस अशुभ वचनको सुनकर, जबतक मैं कुछ थोड़ा विचार करने लगा, तबतक वे मुनि अन्तर्धान हो गये। इसी कारणसे मेरा मन उदास हो गया है और मैं सीधे आकाश-तलसे यहाँ चला आया हूँ। सज्जनशिरोमणे! इस प्रकार मैंने अपना सारा वृत्तान्त आपको सुना दिया। अब मैं रात्रिमें स्त्री हो जाऊँगा। भला, रात्रिमें मैं इस स्त्रीत्वका निर्वाह कैसे कर सकूँगा? अहो! संसारमें होनहारकी बड़ी विलक्षण गति है। हाय! रातमें जब मेरा स्त्रीरूप हो जायगा, उस समय मैं लज्जापरवश होकर गुरुजनों, देवताओं और ब्राह्मणोंके सामने निर्बाधरूपसे कैसे रह सकूँगा!

शिखिध्वज बोले—देवपुत्र! जगत्में जो कुछ भी दुःख अथवा सुख प्राप्त होते हैं, वे सभी प्रारब्धानुसार शरीरके लिये ही होते हैं। उनमेंसे किसीका भी आत्मापर प्रभाव नहीं पड़ता। मुने! आप तो शास्त्रको भूषणकी तरह धारण करनेवाले हैं, इसलिये किसी भी कार्यफलके विषयमें विचार करना आपके लिये उचित नहीं है। फिर, यदि आप-जैसे विवेकी पुरुष भी यों विचार करने लगेंगे तो अन्य अविवेकी जनोंके खेद-नाशका क्या उपाय होगा! मैं तो ऐसा समझता हूँ कि खेदका विषय उपस्थित होनेपर कुछ खेदोचित वचन कहना चाहिये—इसी अभिप्रायसे आपने ऐसा कहा है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव! तदनन्तर जब चन्द्रोदयका समय आया, तब उन दोनों मित्रोंने उठकर संध्या-वन्दन किया और फिर जप-कर्म समाप्त करके वे लताओंके एक समूहमें जा बैठे। वहाँ जब कुम्भ धीरे-धीरे स्त्रीरूपमें परिवर्तित होने लगे, तब वे सामने बैठे हुए राजा शिखिध्वजसे गद्गद वाणीमें बोले—'राजन्! मैं तो ऐसा समझता हूँ कि आपके सामने मैं लज्जाके साथ-ही-साथ स्त्रीभावको प्राप्त होता जा रहा हूँ!'

दो घड़ीतक विचार करनेके पश्चात् राजा शिखिध्वज इस प्रकार कहने लगे—'अहो! दुःखकी बात है; ये कुम्भमुनि, जो महान् सत्त्वसम्पन्न थे, वे ही अब सुन्दरी स्त्री बन गये। साधुशिरोमणे! आप तो तत्त्वज्ञानी हैं। दैवकी गति भी आपसे छिपी नहीं है; अतः इस अवश्यम्भावी घटनाके विषयमें विचार मत कीजिये। ये जो अवश्यम्भाविनी सुख-दुःखात्मक दशाएँ हैं सभी तत्त्वज्ञानियोंके केवल शरीरपर ही प्रभाव डाल पाती हैं, उनके अन्तःकरणपर नहीं; परंतु ये ही अविवेकियोंके केवल शरीरपर ही नहीं, अन्तःकरणतक पहुँच जाती हैं।'

कुम्भने कहा—राजन्! ठीक है, ऐसा ही हो। अब मैं रात्रिके समय अपने स्त्री-भावको स्वीकार कर लेता हूँ और इसके लिये चिन्ता भी नहीं करूँगा; भला, दैव-का उल्लङ्घन कौन कर सकता है।

तदनन्तर जब प्रातःकाल हुआ, तब कुम्भने उस युवती स्त्रीके स्वरूपका परित्याग कर दिया और अपना वही कुम्भरूप धारण कर लिया। इस प्रकार वह राजरानी सुन्दरी चूडाला अपने पतिके पास पहले कुम्भरूपसे उपस्थित हुई, तत्पश्चात् स्त्रीरूप धारण करके आयी। वह रात्रिमें कुमारी-धर्मसे युक्त होकर और दिनमें कुम्भरूप धारण करके अपने मित्र एवं स्वामी शिखिध्वजके साथ वनप्रान्तोंमें विचरण करती थी। योगबलसे उसका गमनागमन कहीं रुकता नहीं था। इस प्रकार वह नारी चूडाला पुष्पमालाओं एवं हारोंसे विभूषित होकर अपने मित्र एवं प्रियतम पति-के साथ कैलास, मन्दर, महेन्द्र, सुमेरु और सह्यगिरिके शिखरोंपर स्वेच्छानुकूल विचरण करती रही।

(सर्ग १०४-१०५)

महेन्द्र पर्वतपर अग्निके साक्ष्यमें मदनिका (चूडाला) और शिखिध्वजका विवाह, एक सुन्दर कन्दरामें पुष्प-शय्यापर दोनोंका समागम, शिखिध्वजकी परीक्षाके लिये चूडालाद्वारा मायाके बलसे इन्द्रका प्राकट्य, इन्द्रका राजासे स्वर्ग चलनेका अनुरोध, राजाके अस्वीकार करनेपर परिवारसहित इन्द्रका अन्तर्धान होना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! तदनन्तर कुछ ही दिनोंके बीतनेके बाद कुम्भरूपधारिणी सती चूडाला अपने स्वामी राजा शिखिध्वजसे इस प्रकार बोली—'कमलपत्रसदृश नेत्रोंवाले महाराज ! मेरी यह बात सुनिये। मैं प्रतिदिन रात्रिके समय स्त्री ही बनकर रहता हूँ, इसलिये मैं अपने इस प्रकारके स्त्री-धर्मको सफल बनाना चाहता हूँ। इसके लिये विवाहद्वारा अपनेको किसी योग्य पतिके हाथों सौंप देनेका मेरा विचार है। इस विषयमें त्रिलोकीमें केवल आप ही मुझे पतिरूपसे पसंद आ रहे हैं, अतः विवाह-विधिसे आप सर्वदा रात्रिके समय पत्नी-रूपमें मुझे स्वीकार कीजिये। राजन् ! चारों ओरसे सारी वस्तुओंमें इच्छा, अनिच्छा तथा तज्जनित फलका त्याग करके हमलोग इच्छा-अनिच्छासे रहित हो गये हैं अतः इस अभीष्ट कार्यको आप अवश्य सम्पन्न करें।

तब शिखिध्वज बोले—सखे ! इस विवाहकार्यके करनेसे मुझे शुभ अथवा अशुभ—किसी प्रकारके फल-की सम्भावना नहीं दीख रही है, अतः आपको जैसा रुचे, वैसा ही कीजिये।

कुम्भने कहा—महीपाल ! यदि ऐसी बात है तो आज यह श्रावणमासकी पूर्णिमा है, अतः आज ही शुभ लग्न है; क्योंकि कल ही मैंने विवाहसम्बन्धी सारी गणना कर ली थी। महाबाहो ! आज रातमें सम्पूर्ण कलाओंसे परिपूर्ण निर्मल चन्द्रमाके उदय होनेपर हम दोनोंका विवाह होगा। राजन् ! उठिये और हम दोनों वनके भीतरसे अपने विवाहके लिये चन्दन और पुष्प आदि सामग्री एकत्र करें।

यों कहकर कुम्भ उठे और राजा शिखिध्वजके साथ पुष्पोंको चुनने तथा सामग्रियोंके संग्रह करनेमें जुट गये। इस प्रकार एक सुन्दर गुफामें सारी विवाह-सामग्री जुटाकर वे दोनों प्रेमी मित्र मन्दाकिनी नदीमें स्नान करनेके लिये गये। वहाँ नहा धोकर इन दोनोंने देवताओं, पितरों और ऋषियोंका पूजन किया; क्योंकि जैसे उन्हें क्रियाजनित फलकी इच्छा नहीं थी, उसी प्रकार शास्त्रविहित क्रियाका त्याग भी उन्हें पसंद नहीं था। तदनन्तर कल्पवृक्षके उज्ज्वल वर्णके वस्त्र पहनकर तथा फल खाकर वे दोनों क्रमशः विवाह स्थानमें आये। फिर सूर्यास्त होनेपर उन्होंने संध्या-वन्दनकी विधि पूरी की और मन्त्र-जप तथा अवमर्षण आदि भी किया। इतने-में ही कुम्भ स्त्रीरूपमें परिणत हो गये। तब वे सोचने लगे कि 'यह वधू तो मैं बन गया। अब मुझे अपना शरीर वरको दे देना चाहिये; क्योंकि समयोचित कृत्यका पालन अवश्य करना चाहिये। यह मैं वधू हूँ और अब मेरे मनोनीत वर सामने उपस्थित हैं। यह आपके परिणय-का समय है, अतः आइये और मुझे ग्रहण कीजिये।' यों विचारकर वह वरके समीप, जो सामने अग्निके निकट स्थित तथा उगते हुए सूर्यके समान तेजस्वी थे, गयी और यों बोली—'महाभाग ! मैं आपकी भार्या हूँ। मेरा नाम मदनिका है। मैं आपके चरणोंमें यह साष्टांग प्रणाम करती हूँ। नाथ ! अब आप शास्त्रोक्त विधिके अनुसार अग्नि प्रज्वलित करके मेरा पाणिग्रहण कीजिये।'

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! तदनन्तर उन दोनोंने वेदीके समीप खड़े हुए वृक्षोंकी पत्तों लगी हुई लताओंसे सजाया। फिर उस वेदीके मध्यभागमें अग्निकी स्थापना करके उसे चन्दनकी लकड़ियोंसे प्रज्वलित किया। जब लपटें निकलने लगीं, तब दक्षिण ओरसे उस अग्नि-

की प्रदक्षिणा की । तत्पश्चात् उस अग्निके सामने पल्लवके आसनपर वे पूर्वाभिमुख हो दोनों आसीन हो गये । उस समय उन दोनों वर-वधूकी अद्भुत शोभा हो रही थी । फिर शिखिध्वजने उठकर स्वयं ही उस कान्ता मदनिकाका पाणिग्रहण किया । उस समय उस वनमें उन दोनोंकी परस्पर शिव-पार्वतीके समान शोभा हो रही थी । फिर उस मङ्गलस्वरूप दम्पतीने उस अग्निकी प्रदक्षिणा की । उन दोनोंने परस्पर एक दूसरेको अपना हृदय, जो प्रेमके लिये लोलुप तथा सर्वोत्तम ज्ञानसे पूर्ण था, समर्पित कर दिया । उन्होंने अग्निकी तीन बार

प्रदक्षिणा की और उसमें लाजाहोम किया । इस प्रकार समान रूपसे संतुष्ट हुए वर-वधूने एक दूसरेद्वारा पकड़े गये अपने हाथको छुड़ा लिया । तदनन्तर उन दोनों प्रेमियोंने वहाँसे उठकर एक सुन्दर कन्दरामें, जिसका उन्होंने पहलेसे ही स्वयं निर्माण कर रखा था और जिसमें चमकीले दीपक जल रहे थे, प्रवेश किया । और वे दोनों पुष्पशय्यापर बैठ गये । फिर तो, परस्पर प्रेमभरे तरह-तरहके मनोहर वाग्विलासोंसे, समयोचित आलिङ्गन आदि कृत्योंसे, प्रेमयुक्त व्यवहारोंसे तथा नये-नये सुखोपभोगसे उस उत्तम दम्पतिकी वह लंबी रात एक मुहूर्तके समान बीत गयी ।

रघुकुलभूषण राम ! इस प्रकार वे दोनों कुम्भ और शिखिध्वज उस महेन्द्राचलकी गुफामें स्वयं विवाहित होकर देवतुल्य परम प्रेमी दम्पती बन गये । दिनमें तो वे परम प्रेमी मित्र बन जाते थे और रातमें प्रिय पति-पत्नी हो जाते थे । प्रभा और दीपककी तरह वे परस्पर घुले-मिले रहते थे, अलग तो कभी होते ही नहीं थे । इस प्रकार जब धीरे-धीरे कुछ मास व्यतीत हो गये, तब देवपुत्रका स्वरूप धारण करनेवाली चूडालाने विचार किया कि अब मैं नाना प्रकारके उत्तम-उत्तम उपभोगोंद्वारा राजा शिखिध्वजकी परीक्षा करूँगी, जिससे इनका चित्त कभी भी भोगोंमें अनुरक्त नहीं होगा । ऐसा सोचकर चूडाला-ने अपनी मायाके बलसे उस वनस्थलीमें देवगणों तथा अप्सराओंके साथ पधारे हुए इन्द्रको दिखलाया । परिवार-सहित इन्द्रको अपने निकट आया हुआ देखकर वनवासी राजा शिखिध्वज उनकी विधिवत् पूजा करके पूछने लगे ।

शिखिध्वज बोले—देवराज ! आपने इतनी दूरसे यहाँ आनेका कष्ट क्यों उठाया ? आप जिस प्रयोजनसे यहाँ पधारे हैं, उसे बतलानेकी कृपा कीजिये ।

इन्द्रने कहा—राजन् ! आपके गुणाधिक्यरूपी सूत्रने हमारे हृदयको बाँध रखा है, जिससे खिंचकर हम आकाश-से यहाँ आ गये हैं । महाराज ! अब उठिये और स्वर्ग चलिये; क्योंकि वहाँ यूथ-के-यूथ देवता तथा देवाङ्गनाएँ आपके गुणोंको सुनकर विस्मय-विमुग्ध हो रहे हैं और वे सब-के-सब आपके शुभागमनकी प्रतीक्षामें बैठे हैं । इसलिये आप पादुका, गुटिका, खड्ग और पारद आदि रसोंको भी लेकर सिद्धमार्गसे स्वर्गलोकमें चलना स्वीकार कीजिये । राजर्षे ! आप जीवन्मुक्त तो हैं ही, अतः देवलोकमें पधारकर आप अनेक प्रकारके भोगोंका उपभोग करें, इसी कारण मैं आपके पास आया हूँ । साधो ! आपके समान जो संत-महात्मा हैं, वे न तो प्राप्त हुई लक्ष्मीका तिरस्कारद्वारा अपमान करते हैं और न अप्राप्त-की कामना ही करते हैं । महात्मन् ! जैसे भगवान् नारायणके शुभागमनसे त्रिलोकी पवित्र हो जाती है, वैसे ही आप बिना किसी विघ्न-बाधाके स्वर्ग पधारें और वहाँ सुखपूर्वक विहार करें, जिससे वह स्वर्ग पवित्र हो जाय ।

शिखिध्वज बोले—देवेन्द्र ! मैं तो सभी देशोंको स्वर्ग-सा ही मानता हूँ; क्योंकि मैं जिस परमात्माको स्वर्ग मानता हूँ, उसकी सत्ता सदा सर्वत्र वर्तमान है; अतः मेरे लिये कहींपर भी एकदेशी स्वर्ग नहीं है । प्रभो ! मैं सभी जगह संतुष्ट रहता हूँ और सभी स्थानोंमें विचरण करता हूँ । मेरे मनमें किसी प्रकारकी इच्छा तो है नहीं, अतः मैं सर्वत्र आनन्दसे परिपूर्ण रहता हूँ । इन्द्र ! इन्हीं सब कारणोंसे एक स्थानमें स्थित रहनेवाले किसी ऐसे एकदेशी स्वर्गमें जानेकी तो मैं इच्छा ही नहीं करता । इसलिये मैं आपकी आज्ञाका पालन नहीं कर सकूँगा ।

इन्द्रने कहा—साधुशिरोमणे ! जिन्हें ज्ञातव्य वस्तुका ज्ञान प्राप्त हो गया है तथा जिनकी बुद्धि परिपूर्ण हो गयी है, उनके लिये भोगोंका उपभोग करना और न करना बराबर है; अतः आपके लिये भोगोंका सेवन करना उचित है । देवगण इन्द्रके यों कहनेपर भी जब राजा मौन ही रहे, तब इन्द्रने पुनः कहा—'राजन् ! जब आपकी ऐसी ही धारणा है, तब मैं ही यहाँसे चला जाता हूँ ।' यों कहकर 'राजन् ! आपका कल्याण हो' यह आशीर्वाद देते हुए इन्द्र वहीं अन्तर्धान हो गये । देवराजके अदृश्य होते ही उनके साथका देवसमूह भी क्षणभरमें अदृश्य हो गया ।

(सर्ग १०६-१०७)

राजा शिखिध्वजके क्रोधकी परीक्षा करनेके लिये चूडालाका मायाद्वारा राजाको जार-समागम दिखाना और अन्तमें राजाके विकारयुक्त न होनेपर अपना असली रूप प्रकट करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! इन्द्र-दर्शनकी माया-का उपसंहार करके चूडाला मन-ही मन विचार करने लगी—'बड़े सौभाग्यकी बात है, जो विषय-भोगोंकी लालसा इन नरेशके मनको आकृष्ट करनेमें समर्थ न हो सकी । इन्द्रके आनेपर भी ये निर्विकार शान्त ही रहे । इनके शरीरके अवयवोंकी स्थिति पूर्ववत् समान रही तथा बिना किसी प्रकारके क्षोभ एवं अवहेलनाके इन्होंने इन्द्रके साथ उचित व्यवहार भी किया । अतः अब मैं पुनः एक ऐसे मायाप्रपञ्चकी रचना करूँगी, जिसमें राग-द्वेषकी प्रधानता रहेगी और जो बुद्धिका अपहरण करनेवाला होगा । फिर उसके द्वारा आदर-पूर्वक इनकी परीक्षा करूँगी ।' ऐसा निश्चय करके रात्रिमें चन्द्रोदय होनेपर उसने उस वनमें सुन्दरी मदनिकाका रूप धारण कर लिया । उस समय जब राजा शिखिध्वज

नदीके तटपर संध्यावन्दन तथा जप-कर्ममें तत्पर होकर ध्यानस्थ थे और शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु वह रही थी, तब मदनिका काम-मदसे विह्वल हुई-सी संतानक वृक्षोंके एक लताकुञ्जमें प्रविष्ट हुई। वह कुञ्ज सघन पुष्पगुच्छोंसे सुशोभित था तथा वनदेवियोंके शुद्ध अन्तःपुर-सा प्रतीत होता था। वहाँ पुष्पहारोंसे सजी हुई मदनिकाने अपने संकल्पसे एक पुष्पशय्या तैयार की और उसपर मायानिर्मित एक सुन्दर जार पुरुषको लेकर उसके गलेसे लिपटकर लेट गयी।

उधर जपकर्म समाप्त होनेपर जब राजा शिखिध्वज उस स्थानसे उठे और एक कुञ्जसे दूसरे कुञ्जमें मदनिकाका अन्वेषण करने लगे, तब उन्हें उस लतागृहमें मदनिका दीख पड़ी। उसके गलेसे एक मनोहर जार पुरुष लिपटा हुआ था। उस पुरुषके कंधे लंबे केशोंसे आच्छादित थे और शरीरमें चन्दनका अनुलेप लगा हुआ था। उसके सिरकी सजावट शय्यापर इधर-उधरके परिवर्तन एवं परस्परके मर्दनसे अस्त-व्यस्त हो गयी थी। वह मदनिकाकी भुजाको, जिसकी कान्ति सुवर्णकी-सी थी तथा जो मोड़नेके कारण दो भुजा-सी लग रही थी, तकिया बनाकर उसपर अपना कान, नेत्रप्रान्त, कपोल और केश रखकर लेटा हुआ था। तदनन्तर राजाने पुनः देखा—उन दोनों स्त्री-पुरुषोंके मुख परस्पर एक-दूसरेसे सटे हुए हैं और उनपर मुसकराहट खेल रही है। शयन करते समय उनके पुष्पहार हिल रहे हैं। वे कामवेगसे आतुर और व्याकुल हैं। परस्पर आलिङ्गनके बहाने वे एक-दूसरेको अपना प्रेम समर्पित कर रहे हैं। वे एक दूसरेके उन्मुख, समान आनन्दसे परिपूर्ण तथा प्रबल काममदसे भरपूर हो गये हैं। यह सब देखकर भी राजा शिखिध्वजके मनमें जरा-सा भी क्रोध-विकार उत्पन्न नहीं हुआ, उलटे वे परम संतुष्ट हुए और कहने लगे—'अहो! ये दोनों व्यभिचारी कैसे आनन्दमग्न हैं।' सहसा राजाको आया हुआ देखकर जब वे दोनों डर गये, तब राजाने कहा—'तात! भय मत करो। तुम दोनों स्वेच्छानुसार सुखपूर्वक जैसे सोये हो, वैसे ही सोये रहो। मैं इसमें विघ्न नहीं डालूँगा।' यों कहकर राजा वहाँसे चले गये।

तदनन्तर दो ही घड़ीके बाद चूडाला उस प्रपञ्चका उपसंहार करके लतागृहसे बाहर निकली। उस समय उसका शरीर प्रियतमके साथ सम्भोग करनेके कारण प्रफुल्लित दीख रहा था। बाहर आकर उसने देखा कि राजा शिखिध्वज एकान्तमें एक सुन्दर शिलापर बैठे हैं। उनकी समाधि लग गयी है, जिससे उनके नेत्र थोड़े खुले हुए हैं। तब सुन्दरी मदनिका राजाके निकट गयी और क्षणभरतक चुपचाप खड़ी रही। उस समय लज्जाके कारण उसका मुख नीचे झुक गया था और उसकी कान्ति मलिन हो गयी थी तथा मन खिन्न था। क्षणभरके बाद जब राजा शिखिध्वज ध्यानसे विरत हुए, तब मदनिकाको पास ही खड़ी देखा। उसे देखकर उनकी बुद्धिमें जरा-सा भी क्षोभ नहीं हुआ। वे उससे अत्यन्त मधुर वाणीमें कहने लगे—'सुन्दरि! क्या किसीने शीघ्र ही तुम्हारे सुखमें विघ्न डाल दिया? तुमने सुखका उपभोग तो किया है न? (इसमें लज्जित होनेकी क्या बात है; क्योंकि) संसारमें जितने प्राणी हैं, वे सभी सुखके लिये ही तो प्रयत्न करते हैं। अतः तुम जाओ और पुनः अपनी प्रणयगर्भित चेष्टाओंसे अपने उस प्रियतमको संतुष्ट करो। मानिनि! तुम्हारे इस कार्यसे मेरे मनमें किसी प्रकारकी उद्विग्नता नहीं है। यहाँ मेरे और कुम्भमें तो रागका लेशमात्र भी नहीं रह गया है, अतः हम दोनों तो वीतराग हो चुके हैं। तुम तो हमलोगोंसे भिन्न एक तीसरी नारी हो, जो महर्षि दुर्वासाके शापसे उत्पन्न हुई हो; अतः तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा ही करो।'

तब मदनिका बोली—महाभाग! आपका कथन बिलकुल सत्य है; परंतु मैं क्या करूँ, स्त्रियोंका स्वभाव ही बड़ा चञ्चल होता है। उनमें पुरुषोंकी अपेक्षा कामका

वेग भी अठगुना बताया जाता है; अतः आप मुझपर क्रोध न करें। महाराज! जब आप संध्यावन्दन तथा जपकर्ममें रत हो गये, तब रात्रिके समय इस गहन काननमें उस कामी पुरुषने मुझे पकड़ लिया। उस समय मैं दीन अबला कर ही क्या सकती थी। राजन्! स्त्रियोंका ऐसा स्वभाव ही होता है कि वे अपने कामवेगको रोक नहीं सकतीं। अतः प्राणनाथ! एक तो मैं अबला नारी, दूसरे नवयुवती और मूढ़ हूँ; इसी कारण मुझसे यह महान् अपराध हो गया। अब आप मुझे क्षमा करें; क्योंकि क्षमा करना साधु पुरुषोंका स्वभाव ही होता है।

शिखिध्वजने कहा—बाले! तुम्हारे इस कृत्यसे मेरे अन्तःकरणमें क्रोध तो तनिक-सा भी नहीं है, परंतु मैं अब तुम्हें अपनी वधूके रूपमें केवल इस कारणसे स्वीकार करना नहीं चाहता कि साधुपुरुष इस कर्मकी घोर निन्दा करेंगे। इसलिये अङ्गने! अब हम दोनों पहलेकी तरह मित्रभावसे वीतराग होकर वनप्रान्तोंमें नित्य साथ-साथ ही सुखपूर्वक विचरण करेंगे।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! इस प्रकार जब राजा शिखिध्वज समत्वभावमें स्थित हो गये, तब उन्हें रागद्वेषकी भावनाओंसे निर्मुक्त देखकर चूडालाका मन प्रसन्न हो गया और वह मन-ही-मन विचार करने लगी—'अहो! ये राजा शिखिध्वज अब सर्वोत्कृष्ट समताको प्राप्त हो गये हैं। रागसे शून्य हो जानेके कारण अब इनमें क्रोधका लेशमात्र भी अवशिष्ट नहीं है। अब ये सचमुच जीवन्मुक्त हो चुके हैं। तभी तो जिन्हें स्वयं इन्द्र प्रदान कर रहे थे, वे उत्तमोत्तम भोग, इनको विचलित नहीं कर सके तथा बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ, सुख, दुःख, आपत्ति और सम्पत्ति भी इन्हें अपनी ओर आकृष्ट करनेमें समर्थ न हो सकीं। एक जीवन्मुक्तमें जितनी निर्दोष महान् ऋद्धियाँ बतायी जाती हैं, वे सब-की-सब इस समय अकेले इन्हींका आश्रय ले रही हैं, अतः ये दूसरे नारायणकी तरह जान पड़ते हैं। इसलिये अब मैं इस कुम्भरूपका परित्याग करके चूडाला ही बन जाऊँगी और इन्हें अपने सच्चे वृत्तान्तका स्मरण दिलाऊँगी।' यों विचारकर चूडालाने तुरंत ही मदनिकाके शरीरको छोड़कर वहीं अपनेको चूडालाके रूपमें प्रकट कर दिया। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो चूडाला मदनिकाके उसी शरीरसे निकली

हैं। तत्पश्चात् वह योगधारणासे युक्त होकर राजाके सामने सुशोभित हुई। राजाने प्रेमसे आकुल होकर निर्दोष अङ्गोंवाली उस कमनीया मदनिकाको ही अपनी प्रियतमा भार्या चूडालाके रूपमें स्थित देखा। उस समय चूडाला भूमितलसे प्रकट हुई लक्ष्मी (श्री) के समान सुशोभित हो रही थी तथा रत्नस्तम्भसे निकली हुई रत्नप्रभाकी भाँति उदीप्त हो रही थी। इस प्रकार राजा शिखिध्वजने अपनी प्राणप्रियाको सामने उपस्थित देखा।

(शेष १०८)

ध्यानसे सब कुछ जानकर राजा शिखिध्वजका आश्चर्यचकित होना और प्रशंसापूर्वक चूडालाका आलिङ्गन करना तथा उसके साथ रात बिताना, प्रातःकाल संकल्प-जनित सेनाके साथ दोनोंका नगरमें आना और दस हजार वर्षोंतक राज्य करके विदेहमुक्त होना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलभूषण राम ! तदनन्तर अपनी प्यारी पत्नी चूडालाको देखकर आश्चर्यके कारण राजा शिखिध्वजके नेत्र प्रफुल्लित हो उठे । तब वे आश्चर्ययुक्त वाणीसे इस प्रकार बोले—'सुन्दरि ! तुम अपने शरीरसे, व्यवहारसे, मन्द-मुसुकानसे, अनुनय-विनयसे तथा पत्नीसम्बन्धी विलाससे ऐसी उपलक्षित हो रही हो, मानो मेरी भार्या चूडालाकी ही प्रतिमूर्ति हो ।'

चूडालाने कहा—प्रभो ! हाँ, ऐसा ही समझिये, निस्सदेह मैं चूडाला ही हूँ । आज मैंने अपने पहलेके स्वाभाविक शरीरसे साक्षात् आपको प्राप्त किया है । इस वनमें मैंने जो कुम्भ आदिके देहनिर्माणद्वारा माया-प्रपञ्च प्रकट किया था, वह तो केवल आपको प्रबुद्ध करनेके लिये ही था । महाराज ! जब आप मोहवश राज्यका परित्याग करके तपस्याके लिये वनमें चले आये, तभीसे मैं आपको ज्ञानसम्पन्न बनानेके लिये प्रयत्न कर रही थी । भूपते ! इस कुम्भवेषसे मैंने ही आपको प्रबुद्ध किया है । मैंने मायाद्वारा जो कुम्भ मदनिका आदिके शरीरका निर्माण किये थे, उसका एकमात्र प्रयोजन आपको प्रबुद्ध करना ही था । वास्तवमें कुम्भ आदि कुछ भी सत्य नहीं है । राजन् ! (यदि मेरी बातोंपर विश्वास न आता हो तो) अब तो आप जाननेयोग्य परमात्माको जान चुके हैं, अतः ध्यान लगानेसे आप यह सारा दृश्य अविकल रूपसे देख सकेंगे । इसलिये तत्त्वज्ञ ! अब शीघ्र ही ध्यान लगाकर देखिये ।

चूडालाके ऐसा कहनेपर राजा आसन लगाकर बैठ गये और ध्यानद्वारा उन्होंने अपना सारा वृत्तान्त अच्छी तरहसे जान लिया । मुहूर्तमात्रके ध्यानसे ही राजाने राज्य-परित्यागसे लेकर चूडालाके साक्षात्कारपर्यन्त अपने विषयमें जितनी घटनाएँ घटी थीं, उन सबको प्रत्यक्षरूपसे देख लिया । तत्पश्चात् समाधि भंग होनेपर हर्षातिरेकसे राजाके नेत्रकमल विकसित हो उठे, भुजाएँ रोमाञ्चके कारण उज्ज्वल हो गयीं । उन्होंने तुरंत ही दोनों ही भुजाओंको फैलाकर अपनी प्रियतमा पत्नी चूडालाका गाढ आलिङ्गन किया । उस समय स्नेह घनीभूत होकर ढपक रहा था, आँखोंसे प्रेमाश्रु झर रहे थे और प्रेम स्फुरित हो रहा था । तदनन्तर शिखिध्वजने कहा—'प्रिये ! तुम बालचन्द्रमाके सदृश सुन्दरी हो, फिर भी तुमने अपने पतिके लिये चिरकालतक कितना दारुण कष्ट उठाया है । मैं इस दुस्तर भवकूपमें डूब रहा था,

तुमने अपनी जिस सत्त्वमयी बुद्धिके आश्रयसे मेरा उससे उद्धार किया है, तुम्हारी उस बुद्धिकी उपमा भला, किससे दी जा सकती है ? वह अनुपमेय है। सुन्दरि ! अलौकिक सौन्दर्यवाली नारियोंमें धी, श्री, कान्ति, क्षमा, मैत्री और करुणा आदि उत्तम रूपवती मानी जाती हैं; परंतु तुम तो उन सभीमें मुख्य प्रतीत हो रही हो। तुमने घोर प्रयत्न करके मुझे ज्ञानसम्पन्न बनाया है। इस उपकारके बदलेमें मैं ऐसा कौन-सा कार्य करूँ जिससे तुम्हारा मन प्रसन्न हो। प्रिये ! जो कुलीन स्त्रियाँ होती हैं, वे उद्योगपरायण होकर अनादि कालसे चले आते हुए अत्यन्त गहनसे भी गहन मोहरूपी सागरमें पड़े अपने पतिका उद्धार कर ही लेती हैं। यहाँतक कि कुलाङ्गनाएँ अपने पतिके लिये सखा, भ्राता, सुहृद्, भृत्य, शिक्षक, मित्र, धन, सुख, शास्त्र, घर, दास आदि सब कुछ बन जाती हैं। अतः जिनमें इहलोक तथा परलोक—दोनोंका सम्पूर्ण सुख प्रतिष्ठित है, उन कुलाङ्गनाओंका सभी प्रयत्नोंद्वारा सर्वदा सम्यक्रूपसे आदर-सत्कार करना चाहिये। रूप, सौजन्य और उत्तमोत्तम गुणरूपी रत्नोंसे विभूषित प्रिये ! तुम पतिव्रता सती हो। तुम्हारी सारी इच्छाएँ शान्त हो गयी हैं और तुम संसार-सागरसे पार हो चुकी हो—ऐसी दशामें तुम्हारे इस उपकारका प्रतिशोध मैं कैसे कर सकूँगा।'

तब चूडाला बोली—पतिदेव ! बारंबार शुक क्रियाजालमें फँसकर जब आपका आत्मा व्याकुल हो जाता था, तब उसे देखकर मैं आपके लिये अत्यन्त चिन्तातुर हो जाती थी; इसलिये आपके आत्माको ज्ञानसम्पन्न बनाकर मैंने अपना ही तो स्वार्थ सिद्ध किया है—(अपनी चिन्ताका तो नाश किया है। इसमें आपका क्या उपकार किया।) आप तो व्यर्थ ही इस बातको लेकर मेरी प्रशंसा कर रहे हैं।

शिखिध्वजने कहा—वरारोहे ! ठीक है, तुम जिस प्रकारके शुभ स्वार्थका सम्पादन कर रही हो, वैसा ही स्वार्थ सभी कुलाङ्गनाएँ सिद्ध करें।

चूडाला बोली—देव ! यह करें, यह न करें, इसे प्राप्त करें' इस प्रकारकी बुद्धिकी आपने हास्यजनक कोमलतारूप जो स्थिति थी, उसका आप क्या अपने अंदर उपहास करते हैं ? क्योंकि जैसे आकाशमें पर्वत नहीं दीख पड़ते, उसी प्रकार आपमें से पहलेके तुच्छ तृष्णाओंका समूह तथा दुःखित संसारकी कल्पनाएँ अब दृष्टिगोचर नहीं हो रही हैं। प्रियतम ! अब आपका कैसा स्वरूप बन गया है ? किस वस्तुमें आपकी निष्ठा है और आप क्या चाहते हैं ? विभो ! आप अपनी पिछली शारीरिक चेष्टाओंको कैसा देखते हैं ?

शिखिध्वजने कहा—प्रिये ! जिस-जिसके अंदर तुम हो, उसी-उसीके अंदर मैं उपस्थित हूँ। मैं इच्छा और स्पृहासे तथा एकदेशतासे रहित हो गया हूँ, आकाशके समान निर्मल हूँ, शान्त हूँ और वास्तविक परमार्थस्वरूप परमात्मा हूँ। भ्रमरलोचने ! मैं समस्त वस्तुओंसे भिन्न एकमात्र चिन्मय परमार्थस्वरूप हूँ। परिदेवि ! जो 'सत्' वस्तु—सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है, वही मैं हूँ। इसके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं कह सकता। सद्भावदर्शक चञ्चल कटाक्षवाली प्रिये ! तुम मेरी गुरु हो, अतः मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। तुम्हारी ही कृपासे मैं इस भवसागरसे पार हो पाया हूँ। अब मैं शान्त, अपने आत्मस्वरूपमें स्थित, कोमल, प्रसन्नमति, अच्छिन्न और एकदेशतासे रहित, सर्वव्यापक और आकाशमें भी अति निर्मल आकाशकी तरह स्थित हूँ।

चूडाला बोली—प्राणनाथ ! अब तो आप शान्त, सम्पन्न तथा मेरे हृदयलब्ध हैं। अपनी बुद्धि आपने है, प्रभो ! बताइये, अब आप क्या करना चाहते हैं ?

शिखिध्वजने कहा—देवि ! मेरे पूर्व और

आसक्तिसे रहित हो जानेके कारण मैं प्रारब्धानुसार न्यायतः प्राप्त वस्तुकी न तो प्रशंसा करता हूँ और न निन्दा ही करता हूँ। अतः अब तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा ही करो।

चूडाला बोली—जीवन्मुक्तस्वरूप महाबाहो! यदि ऐसी बात है तो अब आप मेरा मत सुनिये और उसे सुनकर तदनुकूल आचरण कीजिये। महाराज! सर्वत्र अद्वैतका बोध होनेसे हमलोगोंके अज्ञानका विनाश हो गया है, अतः अब हमलोग सारी इच्छाओंसे मुक्त होकर आकाशकी तरह निर्मल रूपमें स्थित हैं। प्रभो! इस समय राज्य-शासनद्वारा क्रमशः अपनी अवशिष्ट आयु बिताकर कुछ कालके बाद हमलोग विदेहमुक्त हो जायँगे। इसलिये नाथ! अब आप अपने नगरमें लौट चलिये और राजसिंहासनपर बैठकर राजकाज सँभालिये। रमणियोंकी भूषणस्वरूपा मैं आपकी पटरानी होकर रहूँगी। राजन्! न तो मुझे भोगोंकी इच्छा है, न विभूतियोंकी। मैं तो स्वभाववश जो कुछ भी न्यायतः प्राप्त हो जाता है, उसीसे निर्वाह करती हूँ। यह स्वर्ग, राज्य अथवा क्रिया—कोई भी मेरे लिये सुखदायक नहीं है। मैं तो अपने स्वरूपमें स्थित होकर तदनुकूल व्यापार-से युक्त हो अपनी वास्तविक स्थितिके अनुसार बिना किसी क्षोभके स्थित रहती हूँ। 'यह सुख है और यह दुःख है' इस द्वन्द्वके नष्ट होनेके साथ-साथ मैं शान्त परमपदमें सुखपूर्वक स्थित हूँ।

शिखिध्वजने कहा—विशाल नेत्रोंवाली प्रिये! तुमने अपनी निर्विकार बुद्धिसे जो कुछ कहा है, वह ठीक ही है। हमें राज्यके ग्रहण अथवा त्यागसे क्या प्रयोजन है। हमलोग सांसारिक सुख-दुःखकी चिन्ता और मत्सरसे रहित मत्सरशून्य और ब्रह्मस्वरूपमें स्थित हुए यथाप्राप्त स्थितिके अनुसार निवास करेंगे।

इस प्रकार वहाँ उन दोनों निर्दोष एवं प्रेमी पति-पत्नीके बहुत देरतक परस्पर वार्तालाप करते हुए सायंकाल हो गया। तब उन दोनोंने उठकर अपना दैनिक कार्य सम्पन्न किया। वे दोनों जीवन्मुक्त तो थे ही, अतः स्वर्गकी सिद्धिका अनादर करके सर्वथा समचित्त हो वे दोनों एक ही शय्यापर बैठ गये। उनकी वह रात्रि तरह-तरहकी प्रेममरी चेष्टाओंकी पूर्तिमें ही बीत गयी।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! तदनन्तर प्रातः-काल होनेपर वे प्रेमी दम्पति उस सुन्दर कन्दरामें बिछे हुए कोमल एवं चिकने पत्तोंके आसनपर उठकर बैठ गये। उस समय चूडालाने कहा—'प्रभो! आपका यह शान्त तेजःस्वरूप केवल मुनियोंके योग्य है, अतः इसका परित्याग करके अब आपको इन्द्रादि अष्ट लोकपालोंके समान तेजस्वी रूप धारण करना चाहिये।'

उस वनमें चूडालाके यों कहनेपर राजा शिखिध्वजने 'ठीक है, ऐसा ही करूँगा' यों कहकर महाराजका स्वरूप धारण कर लिया और अपनी प्रिया चूडालासे कहा—'कमलदलके सदृश नेत्रोंवाली प्राणवल्लभे! अब तुम्हें चाहिये कि क्षणभरमें ही अपने सत्यसंकल्पसे महान् वैभवसे युक्त विशाल सैन्यदल एकत्र कर दो।' अपने पतिकी यह बात सुनकर सुन्दरी चूडालाने ज्यों ही सेनाका संकल्प किया, त्यों ही उन दोनोंने देखा कि एक विशाल सेना सामने प्रत्यक्ष खड़ी है, जिसने उस काननको ठसाठस भर दिया है। वह हाथी-घोड़ोंसे भरी-पूरी है तथा पताकाओंसे आकाशको पूर्ण-सा कर रही है। जिसकी तुरही आदिके शब्द पर्वतोंकी गुफाओं तथा गहन कोटरोंको प्रतिध्वनित कर रहे हैं। तब उस सेनामें, जिसके चारों ओर राजालोग मण्डलाकारमें खड़े थे तथा हृष्ट-पुष्ट सामन्त जिसकी रक्षा कर रहे थे ऐसे एक मदस्रावी गजराजकी पीठपर वे राजदम्पति सवार हुए। तत्पश्चात् अपनी प्रियतमा महा-रानीसहित महाबली राजा शिखिध्वजने पैदल सैनिकों तथा रथोंसे खचाखच भरी हुई उस विशाल सेनाके साथ उस वनसे प्रस्थान किया। उस महेन्द्र पर्वतसे चलकर राजा शिखिध्वज मार्गमें काननोंसहित पर्वत, देश, नदी

और ग्रामोंको देखते हुए तथा अपना सारा वृत्तान्त एवं तदन्तर्गत घटनास्थल अपनी प्रिया चूडालाको दिखाते हुए थोडे ही समयके बाद अपनी पुरीमें जा पहुँचे, जो स्वर्गके समान शोभायमान हो रही थी।

वहाँ पहुँचनेपर जय-जयकारके तुमुल नादसे जब राजाके सम्मानित सामन्तोंको पता लगा कि महाराज पधार रहे हैं, तब वे उनके स्वागतके लिये सेना लेकर नगरसे बाहर निकले। उस समय तुरहीके तुमुल नादसे निनादित हुई दोनों सेनाएँ एकमेक हो गयीं। तत्पश्चात् राजा शिखिध्वजने उन दोनों सेनाओंके साथ नगरमें

प्रवेश किया। उस समय नगरकी नारियाँ राजाके ऊपर अञ्जलि भर-भरकर लाजा और पुष्पोंकी वर्षा कर रही थीं। राजा शिखिध्वज व्यापारियोंके मार्गसे, जो इन्द्रोत्सव परम रमणीय था, देखते हुए राजमहलमें प्रविष्ट हुए। वह महल ध्वजा-पताकाओंसे खूब सजाया गया था और राजाके योग्य सारी माङ्गलिक वस्तुओंसे सम्पन्न था। वहाँ राजाने नमस्कार करते हुए प्रजावर्गका भलीभाँति सम्मान किया। इस प्रकार सात दिनोंतक नगरमें बड़े धूमधामके साथ उत्सव मनाकर राजा अपने अन्तःपुरमें निवास करते हुए अपने राज्यका पालन करने लगे। श्रीराम! इस प्रकार भूतपर चूडालाके साथ दस हजार वर्षोंतक राज्य करनेके पश्चात् राजाका देहावसान हो गया। वे महाबुद्धिमान् नरेश इस शरीरको त्यागकर परमपदस्वरूप निर्वाणको प्राप्त हो गये।

श्रीराम! राजा शिखिध्वजके भय और विषाद नष्ट हो गये थे। मान और मात्सर्यसे वे रहित हो गये थे तथा वे न्याययुक्त प्राप्त शास्त्रोक्त स्वाभाविक कर्मोंका सम्पादन करनेवाले थे। भोगोंमें उनकी वैराग्यबुद्धि हो गयी थी और वे सबमें समरूप ब्रह्मदृष्टिसे युक्त हो गये थे। इस प्रकार उपर्युक्त बोधके द्वारा उन्होंने मृत्युको—इस शत्रुको जीतकर दस हजार वर्षोंतक एकच्छत्र राज्य किया था।

(सर्ग १०९-११०)

बृहस्पतिपुत्र कचकी सर्वत्याग-साधनसे जीवन्मुक्ति, मिथ्यापुरुषकी आख्यायिका और उसका तात्पर्य

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! यह शिखिध्वजकी कथा मैंने तुमसे आद्योपान्त कह दी। श्रीराम! राजा शिखिध्वजने जिस प्रकार व्यवहार करते हुए राज्य किया, उसी प्रकार तुम भी राज्य-व्यवहार करो। शिखिध्वजकी तरह ही बृहस्पतिके पुत्र कचने भी इस प्राप्त किया था।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्! बृहस्पतिके पुत्र समस्त वैभवोंसे परिपूर्ण कचने किस प्रकार इस प्रा

किया था, उस क्रमको संक्षेपमें मुझसे कहिये।

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम! देवताओंके आचार्य बृहस्पतिके पुत्र श्रीमान् कचने राजा शिखिध्वजकी तरह ही सर्वोत्तम ज्ञान प्राप्त किया था। इसकी कथा तुम सुनो। कचका अभी बाल्यकाल समाप्त ही हुआ था और ज्यों ही यौवन आरम्भ हुआ, त्यों ही वह संसार-सागरको तर जानेके लिये कटिबद्ध हो गया। वह पद और पदार्थका यथार्थ ज्ञाता था। वह अपने पिता बृहस्पतिसे कहने लगा—

कचने कहा—भगवन्! सब धर्मोंका ज्ञान रखनेवाले पिताजी! मैं इस संसाररूपी जालसे कैसे बाहर निकल सकता हूँ, यह आप बताइये।

बृहस्पति बोले—पुत्र! अनर्थरूप हजारों मगरोंके निवासस्थान इस संसार-सागरसे किसी प्रकारके उद्वेगके बिना किये गये सर्व-त्यागसे तत्काल ही प्राणी बाहर निकल जा सकता है।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! अपने पिताका यह परम पवित्र वचन सुनकर कच सब कुछ परित्याग करके एकान्त वनमें चला गया। पुत्रके चले जानेसे बृहस्पतिको चित्तमें जरा भी उद्वेग नहीं हुआ; क्योंकि जो महान् होते हैं, उनका मन संयोग और वियोग—दोनोंमें सुमेरु पर्वतके सदृश अचल रहता है। वनमें जानेके अनन्तर उसे जब आठ वर्ष व्यतीत हो गये, तब किसी महारण्यमें उस कचने अपने पिताजीका दर्शन किया। कचने पहले अपने पिताजीकी विधिपूर्वक पूजा की, फिर उन्हें प्रणाम किया। बृहस्पतिने भी अपने पुत्रका आलिङ्गन किया। इसके बाद कचने अत्यन्त मधुर वाणीमें बृहस्पतिसे कहा—

कचने कहा—पिताजी! मैंने जो सर्व-त्याग किया है, उसका आज यद्यपि आठवाँ वर्ष है, तथापि मुझे अभीतक निर्मल शान्ति प्राप्त नहीं हुई।

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम! कच अरण्यमें इस प्रकार दीन वचन बोल ही रहा था कि 'सभीका त्याग करो' यों कहकर बृहस्पति आकाशमें जाकर अदृश्य हो गये। बृहस्पतिके चले जानेके अनन्तर कचने अपने शरीरपरसे वल्कल आदिका भी परित्याग कर दिया और शरत्कालके आकाशकी तरह वह दिगम्बर हो गया। वह अनावृत दिशाओंमें रहने लगा। उसका शरीर शान्त और सुन्न हो गया था तथा वह श्वासमात्र ले रहा था। तीन वर्षके बाद खिन्न-चित्त उसने किसी एक जंगलमें फिर अपने गुरु उन्हीं पिताजीका दर्शन किया। भक्तिसे उसने अपने पिताजीका पूजन-अभिवादन आदि किया। पिताने भी अपने पुत्रका आलिङ्गन किया। इसके अनन्तर कच दुःखित होकर गद्गद वाणीसे पूछने लगा।

कचने कहा—पिताजी! मैंने सबका त्याग कर दिया, कन्था, दण्ड, कमण्डलु आदिका भी त्याग कर दिया। तथापि अपने आत्मपदमें मेरी स्थिति नहीं हुई। अब मैं क्या करूँ?

बृहस्पति बोले—पुत्र! चित्त ही सब कुछ है; अतः उसीका त्यागकर तुम अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओ। सर्वज्ञ लोग चित्तत्यागको ही सर्वत्याग कहते हैं।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! पुत्रसे ऐसा कहकर बृहस्पति शीघ्रतासे आकाशमें उड़ गये। इसके अनन्तर अन्तःकरणसे खेद निकालकर वह कच त्यागके उद्देश्यसे चित्तकी खोज करने लगा। खोज करनेपर भी जब उसे चित्तकी प्राप्ति नहीं हुई, तब उसने विवेकपूर्वक विचार किया कि 'देह आदि जो भी कुछ ये प्रसिद्ध पदार्थ हैं, वे तो चित्त नहीं कहे जा सकते और उनमें चित्त कहाँ रहता है, इसका भी निरूपण नहीं हो सकता। इसलिये बेचारे अपराधशून्य देह आदिका मैं व्यर्थ ही क्यों त्याग करूँ! इस परिस्थितिमें अब चित्तस्वरूप महाशत्रुको जाननेके लिये पिताजीके पास

ही जाता हूँ। उनसे जानकर मैं उसका त्याग करूँगा। तदनन्तर शीघ्र ही समस्त शोकोंसे मुक्त हो जाऊँगा।'

रघुवर! ऐसा विचारकर वह कच स्वर्गमें चला गया तथा बृहस्पतिके पास जाकर उसने स्नेहपूर्वक वन्दना और प्रणाम किया। फिर, एकान्तमें उसने उनसे पूछा—'भगवन्! चित्त क्या है? इसका आप मुझे

उपदेश दीजिये और चित्तका स्वरूप भी बतलाइये, जिससे कि मैं उसका त्याग करूँ।'

बृहस्पतिने कहा—आयुष्मन्! चित्त-तत्त्वज्ञ महानुभाव अपने अहंकारको ही चित्त जानते हैं; अतः प्राणीका जो यह भीतरी अहंभाव है, वही चित्त कहा जाता है।

कचने कहा—तैंतीस करोड़ देवताओंके गुरो! महामते! अहंभाव ही चित्तरूप कैसे हो सकता है, उसे मुझसे कहिये। योगियोंमें श्रेष्ठ! मैं तो मानता हूँ कि इसका त्याग इतना असम्भव-सा है कि किसी प्रकार सिद्ध हो ही नहीं सकता। इसलिये इसका त्याग कैसे होगा?

बृहस्पतिने कहा—पुत्र! अहंकाररूप चित्तका त्याग तो फूलोंके मर्दनसे भी और नेत्रोंके मीलनसे भी अत्यन्त सुलभ है; अतः इसके त्यागमें तनिक भी क्लेश नहीं है। तनय! इसका त्याग जिस उपायसे सुलभ होता है, वह उपाय मैं तुम्हें बतलाता हूँ, सुनो। जो वस्तु केवल अज्ञानसे उत्पन्न होती है, उसका परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे विनाश हो जाता है। पुत्र! जैसे मिथ्या भ्रम कुछ वस्तु नहीं है, वैसे ही अहंकार भी वास्तवमें कुछ है ही नहीं। अज्ञानियोंकी दृष्टिसे यह उसी प्रकार असत् होता हुआ भी सत्-सा प्रतीत होता है, जिस प्रकार बालककी दृष्टिसे असत् वेताल प्रतीत होता है। जैसे रज्जुमें भ्रान्तिसे बिना हुए ही साँप दिखायी पड़ता है, जैसे मरुभूमिमें बिना हुए ही जल दिखायी पड़ता है, वैसे ही अज्ञानसे अहंकार भी मिथ्या ही प्रतीत होता है। जैसे चन्द्रमा एक ही है; परंतु नेत्र-दोषसे मिथ्या ही दो दिखायी देता है, वैसे ही यह अहंकार अज्ञानसे ही दिखायी देता है। यह अज्ञानसे प्रतीत होता है; इसलिये तो असत्य नहीं है, और वास्तवमें है नहीं; इसलिये सत्य नहीं है। एक, आदि और अन्तसे रहित, चैतन्यमात्र, सभी ओरसे निर्मल, अज्ञानसे भी अत्यन्त स्वच्छ सर्वानुभवरूप परमात्मा ही सत्य वस्तु है। सभी जगह और सभी प्राणियोंमें बिना भेद ओरसे प्रकाश फानेवाला यही एक निष्कलङ्क परमात्मा उसी प्रकार प्रकाशित होता है, जिस प्रकार समुद्रकी चञ्चल अनन्त तरङ्गोंमें जल। विवेकपूर्वक विचार करना चाहिये कि यह अहंकार नामकी कौन वस्तु है और किस प्रकार किससे उत्पन्न हुई है? अज्ञानके कारण ही यह प्रतीत होता है; सत्य मिथ्या है। इसलिये पुत्र! यह देह आदि मैं हूँ, मेरा पुत्र, परिवारवाला और देश-कालमें परिच्छिन्न जिस विज्ञानको

छोड़ दो। तुम तो देश, काल आदि परिच्छेदोंसे शून्य, स्वच्छ, निरन्तर उदय-स्वभाव, व्यापक, सब पदार्थोंके रूपसे भासमान, निर्मल, अद्वय केवल सच्चिदानन्दमय हो। तुम सर्वदा ही अत्यन्त विशुद्ध, अनन्त, नित्य चिन्मय परमात्मा हो। कच! सत्स्वरूप तुम्हारा यह अहंभाव क्या वस्तु है? अर्थात् कुछ नहीं है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! देवगुरु बृहस्पतिसे अपनी आत्माको परमात्माके साथ एकरूपतासे सम्पन्न करानेवाला उत्तमोत्तम इस प्रकारका परम उपदेश पाकर उनका पुत्र कच जीवन्मुक्त हो गया। जिस प्रकार बृहस्पतिका पुत्र कच ममता और अहंकाररहित, अज्ञानमूलक जडचेतनकी ग्रन्थिसे रहित और परम शान्तबुद्धि होकर ब्रह्ममें स्थित रहा, उसी प्रकार तुम भी निर्विकार होकर स्थित रहो। इस अहंकारको तुम असत् समझो; क्योंकि मिथ्या खरगोशके सींगोंका त्याग और ग्रहण क्या? तुम एकदेशी नहीं हो। संकल्परहित, सर्वभावरूप सर्वव्यापी, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर, मनसे रहित केवल सच्चिदानन्दघन-स्वरूप हो। निष्पाप श्रीराम! यह मायामय सम्पूर्ण जगत् अज्ञानसे तो सत्-सा दिखायी पड़ता है और ज्ञानसे वह सब ब्रह्मरूप ही है; क्योंकि यह अत्यन्त गाढ़, जो संसारकी माया है, उसका पार पाना यद्यपि अत्यन्त कठिन है, तथापि जैसे शरद् ऋतुसे कुहरा नष्ट हो जाता है, वैसे ही यह माया परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे तुरंत नष्ट हो जाती है।

श्रीरामजीने कहा—गुरुवर! ज्ञातव्य तत्त्वके ज्ञानसे तृप्त हुआ भी मैं आपसे यह प्रश्न पूछता हूँ। भला बतलाइये तो सही कि कौन ऐसा प्राणी है, जो तृप्त होता हुआ भी सामने रखे हुए अमृतरूपी पेयको न पीयेगा? मुनिश्रेष्ठ! मुझसे शीघ्र यह बतलाइये कि मिथ्यापुरुष नामकी कौन वस्तु है, जिसने सत्य वस्तु ब्रह्मको असत्य-सा बना रखा है और असत्य वस्तु समस्त जगत्को सत्य-सा बना डाला है?

श्रीवसिष्ठजी बोले—राघव! मिथ्यापुरुषको जाननेके लिये यह सुन्दर हास्यप्रद आख्यायिका तुम सुनो, जो मेरे द्वारा कही जाती है। महाबाहो! कोई एक माया-यन्त्रमय पुरुष था। वह केवल बालकके सदृश तुच्छबुद्धि, मूढ़ और अज्ञानसे आवृत था। वह किसी एक निर्जन एकान्त प्रदेशमें उत्पन्न हुआ था और उसी शून्य प्रदेशमें रहता था। वह वास्तवमें आकाशमें नेत्रदोषसे दिखायी पड़नेवाले केशोंके झुंड-सदृश और मरुभूमिमें मृगतृष्णाजलके सदृश मिथ्या ही था। वहाँ वृद्धिको प्राप्त हुए उस मिथ्यापुरुषके मनमें यह संकल्प हुआ कि मेरी प्रियसे प्रिय वस्तु आकाश है, अतः उसे कहीं-पर रखकर स्वयं मैं ही उसकी बड़े आदरसे रक्षा करूँ। इस प्रकार विचार करके आकाशकी रक्षाके लिये उसने एक घरका निर्माण किया। रघुनन्दन! तदनन्तर उस घरके अंदर उसने यह आस्था बाँध ली कि यह आकाश मेरा है और इसकी मैंने रक्षा की है और उस गृहाकाशसे वह सन्तुष्ट हो गया। इसके अनन्तर कुछ कालके बाद वह उसका घर नष्ट हो गया। जब वह नष्ट हो गया, तब मिथ्यापुरुष इस प्रकार शोक करने लगा—'हा गृहाकाश, तुम नष्ट हो गये, अरे! तुम एक ही क्षणमें कहाँ चले गये। हा हा! तुम टूट गये। तुम बड़े अच्छे थे।'

इस प्रकार सैकड़ों बार शोक कर फिर उस दुर्बुद्धि मिथ्यापुरुषने वहाँपर आकाशकी रक्षा करनेके लिये एक कूपका निर्माण किया और उसी कूपाकाशकी रक्षामें तत्पर होकर संतुष्ट हो गया। कुछ समयके बाद उसका वह कूप भी नष्ट हो गया। जब कूपाकाशका नाश हो गया, तब वह महान् शोक-सागरमें निमग्न हो गया। कूपाकाशके लिये शोक कर चुकनेके अनन्तर उसने तत्काल ही एक घड़ेका निर्माण किया और घटाकाशकी रक्षामें तत्पर होकर संतुष्ट हो गया। रघुकुलश्रेष्ठ! कालसे उसका वह घट भी नष्ट हो गया। भाग्यहीन जिस किसी दिशाका ग्रहण करता है, वही नष्ट हो जाती

है। घड़ेके आकाशका शोक कर लेनेके बाद उसने आकाशकी रक्षाके लिये कुण्डका निर्माण किया और पहलेकी तरह ही कुण्डाकाशकी रक्षाके लिये तत्पर होकर संतुष्ट हो गया। कुछ कालके बाद उसका कुण्ड भी उसी प्रकार विनाशको प्राप्त हो गया, जिस प्रकार तेजसे अन्धकारका नाश हो जाता है। कुण्डाकाशके विषयमें भी उसने महान् शोक किया। कुण्डके आकाशका शोक करनेके बाद उसने आकाशकी रक्षाके लिये एक ऐसे घेरेका निर्माण किया, जिसमें चारों ओर कमरे तथा बीचमें एक बड़ा कमरा था, फिर उसीके आकाशकी रक्षामें तन्मय होकर वह संतुष्ट हो गया। जिसने अनेक प्रजाओंका ग्रास कर लिया है, समयपर वह काल इस घरको भी खा गया। उससे भी वह शोक-निमग्न हो गया। उस चतुःशाल घरके शोकके बाद उसने आकाशकी रक्षाके लिये मेघाकार कुसूल (कोठार) बनाया और फिर उसीके आकाशकी रक्षामें निरत हो संतुष्ट हो गया। उसके उस कुसूलको भी कालने वैसे अपहृत कर लिया, जैसे वायु मेघको अपहृत कर लेता है। उस कुसूल-विनाशके शोकसे वह अत्यन्त सन्तप्त हो गया। इस प्रकार घर, चतुःशाल, कुण्ड और कुसूल आदिसे आकाशकी रक्षा करते हुए उस मिथ्यापुरुषका यह कभी समाप्त न होनेवाला काल बीतता ही जाता था। श्रीराम! इस प्रकार गहन घर, कूप, कुण्ड आदि उपाधियोंसे आकाशको आत्मबुद्धिसे पकड़कर स्थित हुआ वह मिथ्यापुरुष गमनागमनकी आसक्तिसे मूढ़ और विवश होकर एक दुःखसे अति कठिन दूसरे दुःखमें आता और जाता रहता है।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—प्रभो! मिथ्यापुरुषके प्रसंगसे आपने जिस मायामय पुरुषका कथन किया, वह किस अभिप्रायसे किया है और उसके द्वारा किये गये आकाश-रक्षणका भी क्या अभिप्राय है, यह मुझसे कहिये।

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम! सुनो। जो मैंने मिथ्यापुरुषकी कथा तुमसे कही है, उसका यथार्थ तत्त्व तुमसे प्रकट करता हूँ। रघुनन्दन! मैंने आख्यानमें जिस मिथ्यापुरुषका उस कथामें उल्लेख किया है, उसे तुम अहंकार ही जानो। वह शून्य आकाशमें मायासे उत्पन्न हुआ है। जिस मायामय आकाशके एक कोनेमें यह जगत् स्थित है, वह स्वयं सृष्टिके आदिमें भी असीम, असत् और शून्यरूप ही रहता है। उस मायाकाशके अंदर प्राणियोंसे अत्यन्त अगम्य परमब्रह्म परमात्मा विराजमान है और उसी ब्रह्मरूप मायाकाशमें आत्ममें अहंकारका वैसे ही उदय होता है, जैसे आकाशमें शब्द और वायुसे स्पन्दनका उदय होता है। यह अहंकार ही पूर्वोक्त कथाका मायापुरुष है और यही मिथ्यापुरुष है; क्योंकि मायासे जो अहंकार उत्पन्न हुआ है, वह असत् एवं मिथ्यारूप ही है। कुँआ, कुण्ड, चतुःशाल, घड़ा आदि शरीरोंकी रचना कर मैंने उनके स्वरूपकी कथा की—यों अहंकारने ही आकाशमें संकल्प किया था। जगदाकाररूप विभ्रमोंसे यह अहंकार ही जीवात्माको मोहित करता है। उस व्यापक, शून्य, चिदाकाश ब्रह्ममें यह जगत् निश्चय ही मिथ्या है। उसमें यह अहंकाररूप पुरुष मिथ्या ही सुख-दुःखका अनुभव करता हुआ स्थित था। श्रीराम! आकाशमें आकाशकी रक्षा करते हुए उस मिथ्यापुरुषने घट, कुण्डिका, कुसूल आदि उनके आकाशोंका रक्षण करनेमें अनेक जन्मोंके दुःखोंका ही अनुभव किया था। जो आत्मा है, वह तो अणुसे भी बड़ा है, परम शुद्ध है, अत्यन्त सूक्ष्म है, परम कल्याणरूप तथा शुभ है। उसको कौन पकड़ सकता है और कौन उसकी रक्षा कर सकता है? [illegible] आदिके विनष्ट हो जानेपर भी [illegible] नष्ट नहीं होता, वैसे ही देहके नष्ट हो जानेपर भी [illegible] जीवात्माका भी विनाश नहीं होता, [illegible] आत्मा शुद्ध, केवल, चिन्मय तथा अजर और अमर है

अत्यन्त सूक्ष्म तथा अहंकारसे रहित नित्य स्वप्रकाशरूप चेतन ही है; इसलिये आकाशके समान उसका नाश नहीं होता। वास्तवमें तो कहीं, किसी समय न कुछ उत्पन्न होता है और न मरता ही है, केवल ब्रह्म ही जगत्‌के रूपमें प्रकाशित हो रहा है। आदि, मध्य और अन्तसे तथा उत्पत्ति और विनाशसे रहित वह परमात्मा एक, अद्वितीय, सत्य, परमपदस्वरूप और शान्तिमय है।

(सर्ग १११, ११२, ११३)

सब कुछ ब्रह्म ही है—इसका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! सृष्टिके आदि-कालमें परब्रह्मसे यह संकल्प-विकल्पात्मक समष्टि मन उत्पन्न हुआ। वह उस परब्रह्ममें स्थित हुआ ही अनेक भिन्न-भिन्न कल्पनाओंका निमित्त बनकर आजतक विद्यमान है। जैसे फूलोंमें सुगन्ध, सागरमें बड़े-बड़े तरङ्ग और सूर्यमें किरणें स्वाभाविक ही रहती हैं, वैसे ही ब्रह्ममें मन भी स्वाभाविक ही रहता है। किंतु राघव! जो पुरुष इन किरणोंकी आदित्यसे अलग भावना करता है, उस पुरुषके लिये ये किरणे, आदित्यसे अलग ही हैं। जिसने केयूरकी सुवर्णसे पृथक्‌रूपसे भावना की, उसकी दृष्टिमें सुवर्णसे पृथक् ही केयूर प्रतीत होता है; क्योंकि उसकी भावनामें केयूर सुवर्ण नहीं है। परंतु जिसने किरणोंकी आदित्य-स्वरूपसे ही भावना की, उसकी दृष्टिमें वे किरणें आदित्यरूप ही ठहरती हैं और वह यह कहता है कि आदित्य रश्मिभेदोंसे शून्य ही है यानी आदित्य और किरणोंका परस्पर कोई भेद नहीं है। जिसने तरङ्गकी जलभिन्नरूपसे भावना की, उसमें एकमात्र तरङ्ग-बुद्धि ही स्थित रहती है, जल-बुद्धि नहीं। किंतु जो पुरुष तरङ्गकी जलरूपतासे भावना करता है उसे सामान्य जल-बुद्धि ही होती है। ऐसा पुरुष जल और तरङ्गके भेदसे निर्मुक्त निर्विकल्पक कहा जाता है। जो पुरुष केयूर स्वर्णसे भिन्न नहीं है, ऐसी भावना करता है, वह सामान्य स्वर्ण-बुद्धिवाला भेदशून्य निर्विकल्प कहा जाता है। ज्वालापङ्क्ति अग्निसे भिन्न है, जो पुरुष ऐसी भावना करता है उसे अग्नि-बुद्धि उत्पन्न नहीं होती, केवल ज्वाला-बुद्धि ही रहती है। किंतु ज्वालाकी पङ्क्ति अग्निसे भिन्न नहीं है, इस प्रकार जो भावना करता है उसको केवल अग्नि-बुद्धि ही रहती है और उसे निर्विकल्पक कहा जाता है। जो पुरुष निर्विकल्प है, वही महान् है। उसकी बुद्धि कभी क्षीण नहीं होती, सदा एकरस रहती है। उसने प्राप्तव्य वस्तु परमात्माको प्राप्त कर लिया। इसलिये वह सांसारिक पदार्थोंमें कभी नहीं फँसता। स्वप्रकाश स्वयं आत्मा ही अपने आप जब संकल्प करता है, तब वह आत्मा ही भिन्नकी तरह भासनेवाला संकल्पात्मक मन हो जाता है। फिर मन ही अपनी विश्वाकार आकृति-की भावना कर लेता है। वह विश्वाकार संकल्परूप चित्त इस जगत्‌की जिस रूपसे कल्पना करता है, तत्क्षण ही संकल्पोंसे वह तद्रूप हो जाता है। यह जो जगद्रूप विशाल आकार देखा जाता है, सब मनका संकल्प ही है। वह सत्य तो इसलिये नहीं है कि वह वास्तवमें संकल्परूप होनेके कारण मिथ्या है और सर्वथा सत्य इसलिये नहीं कहा जाता कि वह प्रतीत होता है। किंतु स्वप्नोंके सदृश अनिर्वचनीय ही उत्पन्न हुआ है; क्योंकि वह स्वप्नके संसार-जालके समान है। जैसे साधारण प्राणीके मनका संकल्प विविध सामग्री-रचनाओंसे सुन्दर लगता है, वैसे ही हिरण्यगर्भका भी यह व्यापक मनका संकल्प सुन्दर लगता है। 'जगत् परब्रह्म-स्वरूप है' इस प्रकारकी भावना करनेपर यह जगत् ब्रह्ममें विलीन हो जाता है। वास्तवमें तो यदि देखा जाय, तो यह जगत् कुछ भी नहीं है। किंतु यदि दृश्य जगत्‌को अपरमार्थतः देखा जाय, तो वह

हजारों शाखा-प्रशाखाओंमें विभक्त हो जाता है। अतः तुम जो कुछ करते हो, उसे निर्मल चिन्मय ब्रह्म ही समझो; क्योंकि ब्रह्म ही जगत्‌के रूपमें वृद्धिको प्राप्त हो रहा है। इसलिये उस ब्रह्मसे भिन्न और कुछ भी नहीं है।

(सर्ग ११४)

भृङ्गीशके प्रति महादेवजीके द्वारा महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागीके लक्षणोंका निरूपण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! किसी समयकी बात है कि सुमेरु पर्वतके अग्निसदृश उत्तरीय शिखर-पर अपने समस्त परिवारके साथ भगवान् शङ्कर विराजमान थे। अपने परिवारके साथ बैठे हुए उमापतिसे साधारण आत्मज्ञान रखनेवाले महान् तेजस्वी विनम्र भृङ्गीशने, जो वहींपर उपस्थित था, अञ्जलि बाँधकर पूछा—'महाराज! इस क्षणभङ्गुर जगद्रूपी घरके अंदर विश्रामसुखसे किस आन्तरिक निश्चयका अवलम्बन करके मैं समग्र चिन्ताज्वरसे मुक्त होकर निश्चलरूपसे स्थित रह सकता हूँ?'

भगवान् शङ्कर बोले—अनघ! तुम समस्त शङ्काओंसे रहित होकर अविनाशी अचल धैर्यका अवलम्बन कर महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी हो जाओ।

भृङ्गीशने कहा—प्रभो! ऐसे वे कौन-से लक्षण हैं, जिनकी प्राप्ति हो जानेपर पुरुष महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी कहा जा सकता है, उन्हें मुझसे भली-भाँति कहिये।

भगवान् शङ्कर बोले—महाभाग! अहंता, पाप और मात्सर्यसे रहित जो मननशील पुरुष उद्वेगसे रहित हो शास्त्रविहित क्रियाओंका अनुष्ठान करता है, वह महाकर्ता कहा जाता है। जो कहींपर भी स्नेह नहीं रखता, जो साक्षीके सदृश निर्विकार रहता है और जो न्याययुक्त प्राप्त कार्यका निष्कामभावसे आचरण करता है, वह पुरुष महाकर्ता कहा जाता है। उद्वेग और हर्षसे रहित जो पुरुष निर्मल समबुद्धिसे शोकजनक परिस्थितियोंमें शोक नहीं करता और हर्षजनक परिस्थितियोंमें हर्ष नहीं करता, वह महाकर्ता कहा जाता है। जो ज्ञानवान् मुनि अपने प्रारब्धसे जिस समय जो भी कोई शास्त्रोचित कार्य प्राप्त हो जाय, उस समय उस कार्यको आसक्ति-रहित हो करता है, वह महाकर्ता कहा जाता है। जन्म, स्थिति और विनाशमें तथा उत्पत्ति-विनाशशील पदार्थोंमें जिसका मन सम ही रहता है, वह महाकर्ता कहा जाता है।

जो किसीसे द्वेष नहीं करता, जो किसीकी अभिलाषा नहीं करता और जो प्रारब्धके अनुसार न्याययुक्त प्राप्त हुए सारे पदार्थोंका उपभोग करता है, वह महाभोक्ता कहा जाता है। जो पुरुष अहंकारसे रहित और परमात्मामें स्थित होनेके कारण न्यायपूर्वक इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण करता हुआ भी ग्रहण नहीं करता, कर्मोंका आचरण करता हुआ भी आचरण नहीं करता एवं पदार्थोंका उपभोग करता हुआ भी उपभोग नहीं करता, वह महाभोक्ता कहा जाता है। जो पुरुष बुद्धिकी स्थिरतासे रहित होकर स्वप्नके सदृश समस्त लोकव्यवहारोंका किसी प्रकारकी इच्छाके बिना अनुभव करता है, वह पुरुष महाभोक्ता कहा जाता है। जैसे समुद्र नाना नदियोंके जलको समरूपसे ग्रहण करता है, वैसे ही जो पुरुष अपने-अपने बड़े-बड़े सुख-दुःखोंको समानरूपसे सहन करता है, वह महाभोक्ता कहा जाता है। जो पुरुष कटु, तिक्त, नमकीन, तीते, मीठे, खारे, स्वादु या अस्वादु अन्नोंमें प्राप्त अन्नको समान बुद्धिसे ग्रहण करता है—वह महा-भोक्ता कहा जाता है।

काम्य कर्म, निषिद्ध कर्म, सुख, दुःख, जन्म और मृत्युका जिसने विवेकपूर्वक सर्वथा त्याग कर दिया है, वह महात्यागी कहा जाता है। सम्पूर्ण इच्छाओं, समस्त संशयों, वाणी, मन और शरीरकी सभी चेष्टाओं तथा सम्पूर्ण सांसारिक निश्चयोंका जिस पुरुषने विवेकपूर्वक सर्वथा त्याग कर दिया है, वह महात्यागी कहा जाता है। यह जितनी भी सम्पूर्ण दृश्यरूप मनकी कल्पना दिखायी दे रही है, उसका जिस पुरुषने अच्छी तरहसे त्याग कर दिया है, वह महात्यागी कहा जाता है।

निष्पाप श्रीराम! देवदेवेश भगवान् शङ्करने बहुत दिन पहले भृङ्गीशको इस तरहका उपदेश दिया था। श्रीराम! सदा प्रकाशमान, निर्मलस्वरूप, आदि और अन्तसे शून्य केवल परब्रह्म ही है, ब्रह्मसे अतिरिक्त कुछ भी पदार्थ नहीं है; क्योंकि इस संसारमें जो कुछ भी प्रतीत होता है, वह सब कुछ कल्पोंके कार्यका एकमात्र मूल कारण निर्विकार परमात्मस्वरूप परब्रह्म ही है। वह परमात्मा बड़े-बड़े अनेक सर्गोंसे विशाल आकारवाला होनेपर भी वास्तवमें आकाशके समान निराकार ही है। कहींपर कुछ भी पदार्थ, फिर चाहे वह स्थूल हो, सूक्ष्म हो अथवा कारणरूप हो,—सदा एकरस परब्रह्मसे भिन्न किसी तरह नहीं हो सकता; इसलिये तुम 'मैं सद्रूप ब्रह्म हूँ,' इस प्रकारका अपने अंदर निश्चय करके स्थित रहो। (सर्ग ११५)

सर्वथा विलीन हुए या विलीन होते हुए अहंकार-रूप चित्तके लक्षण

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—सर्वधर्मज्ञ! भगवन्! अहंकार नामक चित्त जिस समय सर्वथा विलीन हो जाता है या विलीन होने लग जाता है, उस समयके वासनारहित अन्तःकरणका क्या स्वरूप होता है?

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम! वासनारहित अन्तःकरणको बन्धपूर्वक उत्पन्न हुए भी—लोभ, मोह आदि दोष वैसे ही लिप्त नहीं कर सकते, जैसे कमलपत्रको जल लिप्त नहीं कर सकते। अहंकार नामक चित्त और पापके विलीन हो जानेपर पुरुष सदा शान्त प्रसन्नमुख रहता है। उस समय साधककी वासनाओंका समूह छिन्न-भिन्न-सा होकर धीरे-धीरे बिल्कुल क्षीण होने लग जाता है। क्रोध और मोहका क्षय होने लगता है। काम और लोभ चले जाते हैं। इन्द्रियाँ और दुःख विकसित नहीं होते। ये सुख-दुःख आदि प्रतीत होनेपर भी, तुच्छ होनेके कारण, उस साधकके मनको लिप्त नहीं कर सकते। चित्तके विलीन हो जानेपर उस श्रेष्ठ साधक पुरुषकी देवतागण भी प्रशंसा करते हैं। उस पुरुषके हृदयमें शीतल चाँदनीरूपी समता उत्पन्न होती है। ऐसा श्रेष्ठ साधक पुरुष उपशान्त, कमनीय, सेव्य, अप्रतिरोधी (दूसरेकी इच्छाका विघात न करनेवाला), विनीत, बलशाली और स्वच्छ श्रेष्ठ शरीरवाला होकर रहता है। जो बुद्धिकी तीक्ष्णतासे प्राप्त करने योग्य है और जिसकी प्राप्ति होनेपर समस्त आपत्तियाँ अस्त हो जाती हैं, उस परमात्म-वस्तुमें जो मनुष्य मोहके कारण प्रवृत्त नहीं होता, उस नराधमको धिक्कार है। श्रीराम! दुःखरूपी रत्नोंकी खानि और जन्म-मरणरूप संसार-सागरके पार होनेकी इच्छावाले पुरुषको निरतिशयानन्दमय परमात्मामें नित्य निरन्तर समुचित विश्राम पानेके लिये 'मैं कौन हूँ' 'यह जगत् क्या है, परमात्मतत्त्व कैसा है? इन तुच्छ भोगोंसे कौन-सा फल मिलेगा?' इन प्रश्नोंपर विवेकपूर्वक विचार करना चाहिये। यही परम साधन है। इसलिये मनुष्यको उपर्युक्त साधनका आश्रय लेना चाहिये।

(सर्ग ११६)

महाराज मनुका इक्ष्वाकुके प्रति, 'मैं कौन हूँ, यह जगत् क्या है'—यह बताते हुए देहमें आत्मबुद्धिका परित्यागकर परमात्मभावमें स्थित होनेका उपदेश

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! तुम्हारे वंशके आदिपुरुष इक्ष्वाकु नामक राजा जिस प्रकारके विवेकपूर्वक विचारसे मुक्त हो गये, उस विचारको तुम सुनो। अपने राज्यका परिपालन करते हुए इक्ष्वाकु नामक राजा किसी समय एकान्तमें जाकर अपने मनमें स्वयं यह विवेकपूर्वक विचार करने लगे कि 'बुढ़ापा, मृत्यु, क्षोभ, सुख, दुःख तथा भ्रमसे युक्त इस दृश्य-प्रपञ्चका हेतु क्या है ?' इस प्रकार विचार करते हुए भी वे जब जगत्के कारणको न समझ सके, तब उन्होंने एक दिन ब्रह्मलोकसे आये हुए सभामें बैठे तथा पूजित हुए अपने पिता प्रजापति मनुसे पूछा।

इक्ष्वाकुने कहा—भगवन् ! आपकी दया ही आपसे पूछनेके लिये मुझे प्रेरित कर रही है। करुणानिधे ! 'यह सृष्टि कहाँसे आयी है, इसका स्वरूप कैसा है तथा कब किसने इसकी रचना की है ?' यह आप कहिये। भगवन् ! विस्तृत जालमें फँसे हुए पक्षीकी भाँति मैं इस विषम संसारजालसे किस प्रकार मुक्त हो सकूँगा ?'

मनु बोले—राजन् ! तुम्हारे अंदर सुन्दर विकासयुक्त विवेकका उदय हुआ है, तभी तुमने यह प्रश्न किया है। यह प्रश्न किया मिथ्या संसारजालका उच्छेद करनेवाला तथा सब प्रश्नोंका सार है। महीपते ! यह जो कुछ जगत् दिखायी दे रहा है, वस्तुतः कुछ भी नहीं है। यह आकाशमें प्रतीत होनेवाले गन्धर्वनगरकी भाँति तथा मरुस्थलमें प्रतीत होनेवाले जलकी भाँति मिथ्या है। किन्तु जो अविनाशी परब्रह्म है, वही 'सत्' और 'परमात्मा' इत्यादि नामोंसे कहा जाता है। उस परमात्मारूप दर्पणमें यह दृश्यरूप जगत् प्रतिबिम्बकी तरह प्रतीतिमात्र है। इसलिये वस्तुतः संसारमें न तो किसीका बन्धन है और न मोक्ष है। केवल एकमात्र सब विकारोंसे शून्य ब्रह्म ही है। जैसे समुद्रमें एक ही जल अनेक तरङ्गोंके रूपमें प्रतीत होता है, उसी तरह एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही अनेक रूपोंमें प्रतीत होता है। उस ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, इसलिये राजन् ! तुम द्वैत और द्वैतसे रहित होकर निर्भय-पदरूप परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाओ।

अज्ञानकी उपाधिसे युक्त जीव कर्मानुसार [illegible] भोगते हुए अनेक योनियोंमें भ्रमण करते रहते हैं। किन्तु वास्तवमें सुख-दुःख और मोह आदि चित्तके धर्म ही होते हैं, आत्मामें नहीं। परमेश्वर न तो तर्कके स्वाध्यायद्वारा और न गुरुके द्वारा ही दिखायी देते हैं। वह तो अपनी सत्त्वस्थ—श्रद्धायुक्त पवित्र और स्थिर बुद्धिसे ही अपने आप दिखायी देता है। जिस प्रकार जैसे मार्गमें राग-द्वेषरहित बुद्धिसे पथिक चलते रहते हैं, वैसे ही अपनी राग-द्वेषरहित बुद्धिसे ही इन अपनी इन्द्रिय आदिका अवलोकन करना चाहिये। अपनी बुद्धिसे देहादि पदार्थमात्रका मोह त्यागकर अपने अन्तःकरणको शान्तिमय बनाकर शिव परमात्ममय हो जाओ। यह देह [illegible] बुद्धिको फँसानेवाली है। इसलिये मुमुक्षु पुरुषोंको इस देहमें बुद्धिको कभी नहीं लगाना चाहिये। मैं तो सूक्ष्मतर सच्चिदानन्दघन हूँ—ऐसी जो निश्चय बुद्धि है, वह संसार-बन्धनसे छुड़ानेवाली है। जैसे बेटा, कड़े, कुण्डल आदि आभूषणोंका आधार सोना ही है, वैसे ही मनके कार्यरूप जगत्का आधार परमात्माका संकल्प होनेसे परमात्मा ही है। [illegible] अनात्म देहादि दृश्यप्रपञ्चको आत्मारहित समझ, अन्तःकरणको शान्तिसे युक्त बनाकर अनायास अक्षय निर्वाणको [illegible] हो जाओ। जैसे [illegible] बुद्बुद और तरङ्ग आदि जलके आकारोंमें दिखायी देता है, वैसे ही [illegible]

सच्चिदानन्द ब्रह्म ही नाना प्रकारके आकारोंमें प्रकट होता है। वत्स! तुम सङ्कल्परूपी कलङ्कोंसे रहित चित्तको परमात्मामें स्थापित करके कर्म करते हुए भी कर्तापनके अभिमानसे रहित, शान्त और सुखपूर्वक ब्रह्मके स्वरूपमें स्थित हुए राज्य-पालन करो।

जैसे चन्द्र, सूर्य, अग्नि, तप्तलोह एवं रत्न आदिके प्रकाश, वृक्षोंके पत्ते तथा झरनोंके कण कल्पित हैं, वैसे ही इस ब्रह्ममें जगत् तथा बुद्धि आदि भी कल्पित ही हैं तथा वही ब्रह्म जगद्रूप होकर अज्ञानियोंके लिये दुःखप्रद हो रहा है। अहो! विश्वको मोहमें डाल देनेवाली यह माया कैसी विचित्र है, जिसके कारण संपूर्ण अङ्गोंमें भीतर और बाहर सब जगह व्याप्त परमात्माको यह जीव नहीं देख सकता। इसलिये अहंकारसे रहित निर्मल सात्त्विक अन्तःकरणसे 'सभी पदार्थ निराकार सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है'—ऐसी भावना करे। 'यह रमणीय है और यह रमणीय नहीं है'—इस प्रकारकी भावना ही तुम्हारे दुःखका कारण है। वह भावना जब सर्वत्र समदृष्टिरूपी अग्निसे जल जाती है, तब कहीं भी दुःखका नामोनिशान भी नहीं रह जाता। निर्वासनारूप अस्त्रसे प्रियाप्रिय-रूप विषमताको परम पुरुषार्थके द्वारा तुम स्वयं ही काट डालो। राजन्! तुम निर्वासनारूप अस्त्रसे वासनारूप कर्म-वनको काटकर सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर ब्रह्मभाव प्राप्तकर शोकरहित हो जाओ। पुत्र! तुम सदसद्वस्तुके विवेकरूप विचारसे युक्त होकर समस्त कल्पनाओंसे रहित हो जाओ तथा समस्त विशाल भुवनोंको परमात्माके स्वरूपसे परिपूर्ण समझो। तदनन्तर जन्म-मरणरूप रोगसे रहित होकर परब्रह्म परमात्माके आनन्दका अनुभव करते हुए दीर्घकाल-तक स्थिर रहो और समता तथा शान्तिसे युक्त होकर निर्भय चेतन ब्रह्मस्वरूप बन जाओ।

(सर्ग ११७—११९)

सात भूमिकाओंका, जीवन्मुक्त महात्मा पुरुषके लक्षणोंका एवं जीवको संसारमें फँसानेवाली और संसारसे उद्धार करनेवाली भावनाओंका वर्णन करके मनु महाराजका ब्रह्मलोकमें जाना

मनु महाराजने कहा—राजन्! सबसे पहले शास्त्र और सज्जनोंकी संगतिसे अपनी बुद्धि शुद्ध और तीक्ष्ण करनी चाहिये। यही योगीके योगकी पहली भूमिका कही गयी है। इसका नाम 'श्रवण' भूमिका है। सच्चिदानन्द ब्रह्मके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना 'मनन' नामक दूसरी भूमिका है। संसारके संगसे रहित होकर परमात्माके ध्यानमें नित्य स्थित रहना 'निदिध्यासन' नामक तीसरी भूमिका है। जिसमें वासनाका अत्यन्त अभाव है, वह ब्रह्म-साक्षात्कारसे अज्ञान आदि निखिल प्रपञ्चकी निवृत्ति करनेवाली 'विलापनी' नामकी चौथी भूमिका है। इस 'ब्रह्मवित्' पुरुषको संसार स्वप्नवत् प्रतीत होता है। विशुद्ध चिन्मय आनन्दस्वरूपकी प्राप्ति पाँचवीं भूमिका है। इस भूमिकामें जीवन्मुक्त पुरुष आधे सोये या जागे हुए पुरुषके सदृश रहता है। अर्धसुप्त पुरुषको संसारकी जैसी प्रतीति होती है, वैसी ही इस 'ब्रह्मविद्वर' जीवन्मुक्त पुरुषको होती है। छठी भूमिकामें एक विज्ञानानन्दघन परमात्माका ही अनुभव रहता है, संसारका अनुभव ही नहीं रहता। जैसे सुषुप्ति अवस्थामें मनुष्यको संसारकी प्रतीति नहीं होती, वैसे ही इस 'ब्रह्मविद्वरीयान्' योगीको जाग्रत् अवस्थामें भी संसारकी प्रतीति नहीं होती। इसे स्वसंवेदनरूप शान्तिमय 'तुर्यावस्था' कहते हैं। केवल विदेह-मुक्तिरूप अवस्था ही सप्तम भूमिका है। यह अवस्था समता, स्वच्छता और सौम्यतारूप है*। (इस

* शास्त्रसज्जनसम्पर्कैः प्रज्ञामादौ विवर्धयेत्।
प्रथमा भूमिकैषोक्ता योगस्यैव च योगिनः॥
विचारणाद्वितीया स्यात्तृतीयाऽसङ्गभावना।
विलापनी चतुर्थी स्याद्वासनाविलयात्मिका॥
शुद्धसंविन्मयानन्दरूपा भवति पञ्चमी।
अर्धसुप्तप्रबुद्धाभो जीवन्मुक्तोऽत्र तिष्ठति॥

तुर्यातीत सप्तम भूमिकामें स्थित योगीको 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' कहते हैं। इसमें गाढ़ सुषुप्तिकी तरह संसारका अत्यन्त अभाव हो जाता है। छठी भूमिकामें स्थित योगीको तो दूसरेके द्वारा जगाये जानेपर प्रबोध होता है। किंतु सातवीं भूमिकामें स्थित योगी मुर्देकी भाँति दूसरेके द्वारा जगाये जानेपर भी नहीं जागता; क्योंकि वह जीता हुआ ही मुर्देके तुल्य है। वह जीता है तो भी थोड़े समय ही जीता है। मरनेपर उसकी आत्मा ब्रह्ममें विलीन हो जाती है, तब उसको भी विदेहमुक्त कहते हैं। यह तुर्यातीत अवस्था परम मुक्तिरूप है।

इन सातोंमें जो पहलेकी तीन भूमिकाएँ हैं, वे जाग्रद्रूप ही हैं और जो चौथी भूमिका है वह तो स्वप्न ही कही गयी है; क्योंकि उसमें जगत् स्वप्नके सदृश प्रतीत होता है। आनन्दके साथ एकात्मभाव हो जानेसे पाँचवीं भूमिका अर्ध-सुषुप्तरूप है तथा अन्य पदार्थोंके ज्ञानसे रहित एकमात्र स्वसंवेदनरूप छठी भूमिका तुर्य शब्दसे कही जाती है। तुर्यातीत शब्दसे कहलानेवाली अवस्था सातवीं भूमिका सबसे अन्तिम है। यह अवस्था मन और वाणीसे परे है तथा केवल स्वप्रकाश परब्रह्मरूप ही है। राजन्! इस सप्तम भूमिकाके अवलम्बनसे सब दृश्योंको ब्रह्ममें विलीन करके तुम यदि दृश्यके चिन्तनसे रहित हो जाओगे तो निश्चय ही मुक्त हो जाओगे, इसमें सन्देह नहीं; क्योंकि जिसकी बुद्धि भोगों और सुख-दुःखोंसे लिपायमान नहीं होती, वही पुरुष जीवन्मुक्त है। 'मैं जीवन-मरण, सत्-असत् सबसे रहित हूँ'—इस प्रकार जो मनुष्य आत्माराम होकर स्थित रहता है, वह जीवन्मुक्त कहा गया है। मनुष्य व्यवहार करे चाहे न करे, गृहस्थ हो चाहे अकेला विचरण करनेवाला यति हो, परंतु 'मैं वास्तवमें कुछ भी नहीं हूँ, केवल सच्चिदानन्द ब्रह्म ही हूँ' ऐसा निश्चय करनेसे सदा शोकसे मुक्त ही रहता है। 'मैं निर्लेप, अजर, राग-रहित, वासनाओंसे शून्य, शुद्ध अनन्त चिन्मय ब्रह्म हूँ'—ऐसा मानकर पुरुष सदाके लिये शोकसे मुक्त हो जाता है। 'मैं अन्त और आदिसे रहित, शुद्ध-बुद्ध, अजर-अमर और शान्त हूँ तथा सभी पदार्थोंमें समरूपसे स्थित हूँ'—ऐसा मानकर पुरुष सदाके लिये शोकसे परे हो जाता है। क्षीण वासनासे युक्त हो या सर्वथा वासनासे रहित होकर जो पुरुष जिस अर्थका सेवन करता है वह अर्थ उस पुरुषके लिये न सुखजनक होता है और न दुःखजनक ही होता है। अनघ! वासनारहित बुद्धिसे जो कर्म किया जाता है, वह कर्म जले हुए बीजके सदृश रहता है। वह फिर अङ्कुर उत्पन्न नहीं करता अर्थात् भावी जन्मको देनेवाला नहीं होता। देह, इन्द्रिय आदि जो भिन्न-भिन्न करण हैं, उन्हींके द्वारा कर्म किये जाते हैं। ऐसी स्थितिमें जीवात्मा कर्ता नहीं है, इसलिये भोक्ता भी नहीं है। यह परमात्म-विषयक ज्ञानकी वृत्ति यदि भीतर एक बार उत्पन्न हो जाय तो उर्वरा भूमिमें बोये गये धानके सदृश अनिवार्यरूपसे दिन-पर-दिन बढ़ती ही जाती है।

राजन्! व्यष्टिचेतनको जबतक विषयभोगकी अभिलाषा बनी रहती है, तभीतक उसकी 'जीव'-संज्ञा है। यह अभिलाषा भी अज्ञानके कारण ही है। जब यथार्थ ज्ञानसे विषयभोगकी अभिलाषा नष्ट हो जाती है, तब यह व्यष्टि-चेतन जीवत्वरहित और निर्विकार होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। राजन्! कर्मानुसार ऊपरके लोकसे नीचेके लोकमें तथा नीचेके लोकसे ऊपरके लोकमें दीर्घकालतक आवागमन करते हुए तुम संसाररूपी अरहट्टकी चिन्तारूपी रज्जुमें घड़ेके सदृश मत बनो। 'ये पुत्र-कलत्र आदि मेरे हैं और मैं इन पुत्र-कलत्र आदिका हूँ' इस प्रकारके व्यवहाररूपी दृढ़ भ्रमका जो शठ मोहसे सेवन करते हैं, वे नीचीसे भी नीची योनिको

स्वसंवेदनरूपा च षष्ठी भवति भूमिका।
आनन्दैकघनाकारा सुषुप्तसदृशस्थितिः॥
तुर्यावस्थोपशान्ताथ मुक्तिरेवेह केवलम्।
समता स्वच्छता सौम्या सप्तमी भूमिका भवेत्॥
(नि० पू० १२०। १-५)

प्राप्त होते हैं। 'पुत्र-कलत्र आदिका मैं सम्बन्धी हूँ और पुत्र, कलत्र आदि परिवार मेरा सम्बन्धी है तथा मैं ऐसा हूँ' इस प्रकारके मोहको जिन लोगोंने बुद्धिपूर्वक छोड़ दिया है, वे महानुभाव ऊँचेसे भी ऊँचे लोकको प्राप्त होते हैं। इसलिये राजन्! तुम अपने आप ही प्रकाशित होनेवाले चिन्मय परमात्माका शीघ्र ही आश्रय लेकर स्थित हो जाओ और समस्त जगत्‌को परिपूर्ण अनन्त विज्ञानानन्दघनरूप ही देखो। जिस समय तुम इस प्रकारके सर्वव्यापी, पूर्ण, चिन्मय परमात्माके स्वरूपको यथार्थरूपसे जान जाओगे, उसी समय संसारसे तर जाओगे और परब्रह्म हो जाओगे; क्योंकि जो पुरुष विज्ञानानन्दघन-स्वरूप हो गया है, जो संसाररूपी मृत्युसे पार हो चुका है और जिसका चित्त विलीन हो गया है, उस महापुरुषको जो परमानन्द प्राप्त होता है, उसकी उपमा किस आनन्दसे दी जा सकती है! इस परमात्माके स्वरूपको प्राप्त करनेपर अविद्या शान्त हो जाती है। फिर, उसके लिये ब्रह्मकी प्राप्तिके सिवा मोक्ष नामका न कोई देश है, न कोई काल है और न कोई स्थिति ही है; क्योंकि यह जो वासनारूपी अविद्या है, वह अहंकाररूपी मोहके विनाशसे विलीन हो जाती है और अविद्याका यह अभाव ही प्रसिद्ध मोक्ष है। जब योगीपुरुषकी अविद्या नष्ट हो जाती है, तब उसकी नाना प्रकारके शास्त्रार्थोंके विचारकी चञ्चलता शान्त हो जाती है। काव्य, नाटक आदि विषयोंकी उत्कण्ठा नष्ट हो जाती है और उसके सारे विकल्प-विभ्रम विलीन हो जाते हैं। वह केवल शाश्वत और सम परमात्मस्वरूप होकर सुखपूर्वक स्थित रहता है।

जो वाणीसे अतीत ब्रह्ममें स्थित है तथा विषय-कामनासे रहित है, वह पुरुष संसारमें परम शोभासे सम्पन्न है। वह गम्भीर, प्रसन्न तथा निरन्तर परमात्माके आनन्दमें मत्त योगी स्वयं ही अपने आत्मस्वरूप परब्रह्ममें रमण करता रहता है। वह सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंका त्याग करनेवाला, ब्रह्मानन्दमें नित्य तृप्त और संसारके आश्रयसे रहित योगीपुरुष पुण्य-पाप और हर्ष-शोक आदि विकारोंसे लिपायमान नहीं होता, जनसमूहमें विचरण करता हुआ भी वह ब्रह्मज्ञानी अपनी देहके छेदन या पूजनसे शोक या हर्षका अनुभव नहीं करता। उस ब्रह्मज्ञानी पुरुषसे प्राणियोंको उद्वेग नहीं होता। वह भी दूसरे प्राणियोंकी प्रतिकूल चेष्टासे उद्वेगवान् नहीं होता। वह ज्ञानीपुरुष अपने शरीरका किसी तीर्थमें त्याग कर दे या किसी चाण्डालके घरमें त्याग कर दे अथवा कभी भी शरीरका त्याग न करे या वर्तमान क्षणमें ही त्याग कर दे, फिर भी वह ज्ञानप्राप्तिकालमें पहलेसे ही अन्तःकरणसे रहित और जीवन्मुक्त हो चुका है। अहंकारकी भ्रान्ति बन्धनकारक है और ज्ञानसे अहंकारका नाश होकर मोक्ष-की प्राप्ति होती है। विभूति और वैभव चाहनेवाले पुरुष-को प्रयत्नपूर्वक उपयुक्त ज्ञानी महात्मा पुरुषकी पूजा, स्तुति, नमस्कार, दर्शन और अभिवादन करना चाहिये। प्रिय पुत्र! जो सांसारिक दोषोंसे सर्वथा रहित हैं, उन जीवन्मुक्त आत्मज्ञानी सज्जनोंकी श्रद्धाभक्तिपूर्वक सेवा-पूजा करनेसे जो परम पवित्र पद प्राप्त होता है, वह न तो यज्ञों और तीर्थोंसे प्राप्त होता है एवं न तपस्याओं तथा दानोंसे ही।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं – श्रीराम! यों कहकर मनु-भगवान् ब्रह्मलोकको चले गये और इक्ष्वाकु भी उस बोधरूप दृष्टिका अवलम्बन करके स्थिर हो गये।

(सर्ग १२०–१२२)

श्रीवसिष्ठजीके द्वारा श्रीरामचन्द्रजीके प्रति जीवन्मुक्त पुरुषकी विशेषता, रागसे बन्धन और वैराग्यसे मुक्ति तथा तुर्यपद और ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—आत्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ भगवन्! ऐसा होनेपर श्रेष्ठबुद्धि आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुषमें अन्य सिद्धोंकी अपेक्षा कौन-सी विशेषता होती है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी पुरुषकी बुद्धि सच्चिदानन्द परमात्मामें ही दृढ़रूपसे जम जाती है। यही कारण है कि वह नित्यतृप्त शान्तचित्त पुरुष परमात्म-स्वरूपमें ही स्थित रहता है। मन्त्र, तप एवं तन्त्रकी सिद्धिसे युक्त सिद्धोंके द्वारा प्राप्त की गयी जो आकाशगमन आदि सिद्धियाँ हैं, उनमें कौन-सी अपूर्व (महत्त्वकी) विशेषताकी बात है? मन्त्रसिद्धि आदिसे युक्त उन सिद्धोंने प्रयत्नपूर्वक साधन कर जिन अणिमादि सिद्धियोंकी प्राप्ति की है, उनमें ब्रह्मज्ञानी पुरुष कोई विशेषता नहीं समझता। उस जीवन्मुक्त महात्मामें यही विशेषता है कि वह मूढ़बुद्धि अज्ञानी पुरुषोंके समान नहीं रहता। उस महाबुद्धिका मन सभी वस्तुओंमें आसक्तिके परित्यागके कारण रागरहित तथा निर्मल ही बना रहता है और वह कभी भी विषयभोगोंमें नहीं फँसता है। जिसका स्वरूप समस्त बाहरी चिह्नोंसे रहित है तथा तत्त्वज्ञानसे दीर्घकालिक सांसारिक भ्रमकी निवृत्ति हो जानेके कारण जो परम शान्तिको प्राप्त हो चुका है, उस ज्ञानी महापुरुषमें काम, क्रोध, विषाद, मोह, लोभ आदि आपत्तियोंका नित्य अत्यन्त अभाव ही रहता है।

प्रिय श्रीराम! महासर्गके आरम्भमें प्राणी उस परमात्मासे निकलकर अपने अपने कर्मोंके अनुसार अनेक प्रकारके जन्मोंका अनुभव करते हैं। परमात्मासे निकलनेके बाद उन जीवोंके अपने-अपने जो कर्म हैं वे ही सुख और दुःखके कारण होते हैं तथा अपनी-अपनी समझके अनुसार उत्पन्न हुआ जो संकल्प है वही शुभाशुभ कर्मोंका कारण होता है। निष्पाप श्रीराम! ये इन्द्रियाँ जिस-जिस विषयकी ओर निरन्तर दौड़ती हैं, उस-उस विषयमें पुरुष रागके द्वारा बँध जाता है। इसलिये उन विषयोंमें राग न करनेवाला पुरुष ही मुक्त होता है। अतएव तृणसे लेकर देवादि शरीरतकके जितने स्थावर-जङ्गमरूप विनाशशील पदार्थ हैं, उनमें तुमको रुचि नहीं करनी चाहिये। तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ हवन करते हो और जो कुछ दान करते हो, उन सब क्रियाओंमें तुम वास्तवमें न कर्ता हो और न भोक्ता हो; क्योंकि तुम उन सबसे मुक्त और शान्तस्वरूप हो। जो महात्मा पुरुष हैं, वे न तो अतीतके विषयमें शोक करते हैं और न भविष्यके विषयमें चिन्ता ही करते हैं। वे तो वर्तमानकालमें जो कुछ न्याययुक्त कर्म प्राप्त हो जाता है, उसीका उचितरूपमें सम्पादन करते हैं। श्रीराम! तृष्णा, मोह, मद आदि जितने त्याज्य भाव हैं वे सब मनमें ही स्थित रहते हैं, इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको अपने विवेक-विचारयुक्त मनके द्वारा ही मनसहित उनका विनाश कर देना चाहिये; क्योंकि जैसे अति तीक्ष्ण लोहेसे लोहा काटा जाता है, वैसे ही सब भ्रमोंकी शान्तिके लिये अति तीक्ष्ण विवेक-विचारयुक्त मनसे दोषसहित मन काटा जाता है।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—मुनिनायक! जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें व्यापक और अन्वित जो तुर्यरूप है, उसका विशेषरूपसे विवेचन करते हुए बतलाइये।

श्रीवसिष्ठजी बोले—श्रीराम! जो असक्त, सम और स्वच्छ स्वरूपस्थित है वही तुर्य है। जिसमें जीवन्मुक्त पुरुषोंकी स्थिति है, जो स्वच्छ, समरूप और शान्त है तथा जो व्यवहारकालमें साक्षीरूप है, वही तुर्यावस्था कही

जाती है। संकल्पोंका अभाव रहनेके कारण यह अवस्था न जाग्रत् है, न स्वप्न है और अज्ञानका अभाव होनेसे यह न सुषुप्त ही है अर्थात् यह इन तीनों अवस्थाओंसे अतीत है। ज्ञानके द्वारा सामने दिखायी देनेवाले इस जगत्की जो निवृत्ति है, परमात्मामें स्थित एवं भलीभाँति प्रबुद्ध हुए ज्ञानी पुरुषोंकी उसी अवस्थाको तुर्यपद कहते हैं। अहंकारका त्याग होनेपर और चित्तके विलीन हो जानेपर जब समताकी उत्पत्ति हो जाती है, तब उसे तुर्यावस्था कहते हैं।

श्रीराम! इसके अनन्तर अब तुम्हें मैं एक दृष्टान्त बतला रहा हूँ, उसे सुनो। किसी एक विस्तृत घने जंगलमें महामौन धारण करके बैठे हुए किसी एक अद्भुत मुनिको देखकर एक व्याधने उनसे पूछा—'मुने मेरे बाणके द्वारा घायल एक मृग इधर आया था, वह कहाँ चला गया?' इस प्रकारका उस व्याधका प्रश्न सुनकर उस मुनिने उस व्याधको उत्तर दिया—'सखे! हम जंगलके निवासी मुनि समता और शीलवान् होते हैं। व्यवहारका कारण जो अहंकार है, वह हमलोगोंमें नहीं है। सम्पूर्ण इन्द्रियोंका कार्य अकेला अहंकाररूप मन ही करता है और वह मेरा मन निःसंदेह चिरकालसे विलीन हो चुका है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक किसी भी अवस्थाको मैं नहीं जानता। इन अवस्थाओंसे अतीत एकमात्र तुर्यपदमें हो, जहाँ दृश्यका अभाव है, मैं स्थित रहता हूँ।' रघुनन्दन! उस मुनिश्रेष्ठके ऐसे वचन सुनकर वह व्याध उनके अर्थको न समझकर अपनी अभीष्ट दिशाकी ओर चला गया। इसीलिये मैं कहता हूँ कि महाबाहो! तुर्यसे श्रेष्ठ अन्य कोई अवस्था नहीं है। कल्पनासे रहित सच्चिदानन्द परमात्मा ही तुर्य है और वही यहाँ विद्यमान है, उसके सिवा अन्य कुछ नहीं है; क्योंकि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ चित्तका ही विकार होनेसे उसका स्वरूप है। जाग्रत् अवस्थाका चित्त घोर है, स्वप्न अवस्थाका चित्त शान्त है और सुषुप्त अवस्थाका चित्त मूढ़ है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंसे रहित हुआ चित्त 'मृत' है। जो 'मृत' चित्त है, उसमें एकमात्र सत्त्व ही समरूपसे स्थित रहता है। इसीका समस्त योगीजन बड़े यत्नके साथ सम्पादन करते हैं और मुक्त हो जाते हैं।

समस्त दृश्य-जगत्का बाध करना ही सम्पूर्ण अध्यात्मशास्त्रोंका परम सिद्धान्त है। वहाँ न तो अविद्या है और न माया ही है; किंतु एक अद्वितीय, क्रियारहित शान्त विज्ञानानन्दघन परब्रह्म ही है। जो शान्त, चेतन, स्वच्छ, सर्वत्र एकरूपसे विद्यमान तथा सर्वशक्तिसम्पन्न 'ब्रह्म' नामसे कहा गया है, उसे अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार निर्णय करके कोई शून्य, कोई विज्ञानमात्र और कोई ईश्वररूप कहते हुए आपसमें विवाद किया करते हैं। मनुष्यको रमणीय या अरमणीय वस्तुको देखकर उनमें समभावसे स्थित रहना चाहिये। बस, इतने ही अपने साधनसे यह संसार जीत लिया जाता है। सुख या दुःख अथवा सुख-दुःख-मिश्रित पदार्थके प्राप्त होनेपर उनकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिये। बस, इतने ही अपने साधनसे वास्तविक अक्षय अनन्त सुखरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। जिसने तीनो लोकोंकी सभी वस्तुओंके साररूप परमात्माका ज्ञान कर लिया है, जो शोभायमान तथा अमृतमय है और जिसका अन्तःकरण पूर्ण चन्द्रमण्डलके सदृश शान्त है, ऐसा परमपदमें स्थित ज्ञानी महात्मा पुरुष विज्ञानानन्दघन परमात्माको प्राप्त करता है। वह कर्मोंको करता हुआ भी कुछ नहीं करता।

(सर्ग १२३—१२५)

योगकी सात भूमिकाओंका अभ्यासक्रम और लक्षण, योगभ्रष्ट पुरुषकी गति एवं महान् अनर्थकारिणी हथिनीरूप इच्छाके स्वरूप और उसके नाशके उपाय

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—मुने ! सातों योगभूमिकाओंका अभ्यास कैसे किया जाता है तथा प्रत्येक भूमिकामें योगीके चिह्न किस तरहके होते हैं ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जीव चौरासी लाख योनियोंमें घूमता हुआ अन्तमें मनुष्य-जन्ममें भाग्योदय होनेपर विवेकी बन जाता है । 'अहो ! संसारकी यह व्यवस्था बिल्कुल असार है । इस व्यवस्थासे मुझे क्या प्रयोजन है ? इन व्यर्थ कर्मोंसे ही मैं अपना दिन क्यों बिता रहा हूँ ? मैं वैराग्यवान् बनकर किस तरह संसार-सागरको तैर जाऊँ'—इस प्रकारके विचारमें जब सद्बुद्धि प्राणी तत्पर होता है, तब उसके हृदयमें भोगों और सांसारिक सकल्पोंमें हर समय वैराग्य रहता है । वह सत्सग, स्वाध्याय, ईश्वरोपासना आदि उत्तम क्रियाओंका अनुष्ठान करता है और उन्हींमें प्रसन्न रहता है । तुच्छ व्यर्थ चेष्टाओंमें उसे निरन्तर वैराग्य रहता है । वह दूसरोंके दोषोंको प्रकट नहीं करता और स्वयं यज्ञ, दान, तप, सेवा-पूजा आदि पुण्य कर्मोंका ही सेवन करता है । वह किसीके भी मनमें उद्वेग न पहुँचानेवाले शास्त्रविहित विनययुक्त कर्मोंका आचरण करता है, शास्त्रविपरीत कर्मसे सदा डरता रहता है और सांसारिक विषयभोगोंकी कभी अभिलाषा नहीं करता । वह स्नेह और प्रणयसे पूर्ण, कोमल, सत्य, प्रिय और हितकारक तथा देश-कालोचित वचन बोलता है । वह मन, कर्म एवं वाणीसे सत्पुरुषोंका संग और सेवा करता है । जिस-किसी जगहसे ज्ञानदायक शास्त्रोंको प्राप्त करके उनका विवेक-विचारपूर्वक स्वाध्याय करता है । ससार-सागरको तैर जानेके लिये इस प्रकारके विचारसे सम्पन्न पुरुष प्रथम 'शुभेच्छा' नामक भूमिकाको प्राप्त होता है । इसमें उसे आत्मोद्धारके सिवा और कोई भी इच्छा नहीं रह जाती । इसीको 'श्रवण' भूमिका भी कहते हैं ।

इसके बाद अधिकारकी प्राप्ति होनेपर वह 'विचार' नामक दूसरी योगभूमिकामें प्रवेश करता है । उस समय वह श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा, ध्यान और कर्मोंमें तत्पर रहनेवाले पुरुषोंमेंसे, जिन्होंने अध्यात्म-शास्त्रोंकी प्रशस्त व्याख्या करनेके कारण अच्छी ख्याति प्राप्त कर ली है, उन श्रेष्ठ विद्वानोंका आश्रय लेकर उनके उपदेशानुसार साधन करता है । वह अध्यात्मशास्त्रका श्रवण करके कार्य और अकार्यके स्वरूपको तत्त्वतः जान लेता है । वह मद, अभिमान, मात्सर्य, मोह और लोभको उसी तरह छोड़ देता है, जिस तरह सौंप केंचुलको । उपर्युक्त यथार्थ निश्चयसे युक्त पुरुष सत् शास्त्र, गुरु और सज्जनोंकी सेवासे ब्रह्मविषयक रहस्यको विवेक-विचार-पूर्वक यथार्थरूपसे पूर्णतया जान लेता है और उसके अनुसार मनन करता है । वह अध्यात्मविषयक शास्त्रोंके वाक्यार्थमें अपनी बुद्धिको निश्चलतापूर्वक स्थापित करता है, तपस्वियोंके आश्रमोंमें निवास करता है, अध्यात्मशास्त्रोंकी कथाओंका मनन करता है तथा निन्दनीय संसारके विषय-भोगरूप पदार्थोंसे वैराग्य करके पत्थरकी चट्टानरूपी शय्यापर आसीन हो अपनी आयु बिताता है । अध्यात्म-विषयक सत्-शास्त्रोंके अध्ययन-मननरूप अभ्याससे तथा निष्काम पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानसे उस पुरुषको अध्यात्मविषयक यथार्थ दृष्टि प्राप्त हो जाती है । इस भूमिकाका नाम 'विचारणा' है । इसीको 'मनन' भी कहते हैं ।

तीसरी भूमिकामें पहुँचकर विवेकी पुरुष दो प्रकारके असङ्गका अनुभव करता है । श्रीराम ! तुम उसके इस भेदको सुनो । यह असङ्ग दो तरहका है—एक असङ्ग और दूसरा श्रेष्ठ (विशेष) । 'मैं न कर्ता हूँ और न भोक्ता ही; मैं सांसारिक कर्मोंके लिये बाध्य नहीं हूँ और न दूसरोंके लिये बाधक हूँ ।' इस प्रकारके निश्चयसे

विषयभोगोंकी आसक्तिसे रहित होना ही सामान्य असङ्ग है। 'सुख या दुःखकी प्राप्ति पूर्वकर्मके अनुसार निश्चित और ईश्वरके अधीन है अर्थात् ईश्वरके विधानके अनुसार होती है। इसमें मेरा कर्तृत्व कैसा ? ये विस्तृत विषयभोग अन्तमें संताप देनेवाले होनेके कारण महारोग हैं तथा ये सांसारिक सारी सम्पत्तियाँ परम आपत्तियाँ हैं। संयोगका अन्तमें वियोग निश्चित है और ये मनके सारे विकार बुद्धिकी व्याधियाँ हैं। सब पदार्थोंको ग्रास बना लेनेके लिये काल सदा तैयार रहता है।' इस तरह अध्यात्मविषयक वचनोंके अर्थमें संलग्न चित्तवाले पुरुषकी सम्पूर्ण पदार्थोंमें जो आन्तरिक मिथ्यात्वकी भावना है, वह भी सामान्य असङ्ग कहलाता है। इस पूर्वोक्त अभ्यासयोगसे, महापुरुषोंकी संगतिसे, दुर्जनोंकी संगतिके त्यागसे, आत्मज्ञानके प्रयोगसे तथा लगातार अभ्यासयोगद्वारा अपने पुरुष-प्रयत्नसे संसारसागरके पार, सबके सार, परम कारणभूत परमात्माके ध्यानकी स्थिति हस्तामलकवत् दृढ़रूपसे खूब स्पष्ट हो जानेपर जो नाम-रूपकी भावनासे रहित होकर 'न मैं कर्ता हूँ, न ईश्वर कर्ता है, न प्रारब्ध कर्ता है'—यों शान्त और मौनरूपसे स्थित रहना है वही श्रेष्ठ (विशेष) असङ्ग कहलाता है। तथा जो शान्त, आदि-अन्तसे रहित सुन्दर सच्चिदानन्दघन ब्रह्म है वही श्रेष्ठ असङ्ग कहा जाता है। यही श्रेष्ठ असङ्ग नामक तीसरी भूमिका है। इसीको 'निदिध्यासन' भी कहते हैं। इस भूमिकामें स्थित पुरुष सम्पूर्ण संकल्पोंकी कल्पनाओंसे शून्य होकर परमात्माके ध्यानमें स्थित हो जाता है।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—भगवन्! असत्कुलमें उत्पन्न, कामोपभोगमें ही प्रवृत्त, अधम तथा योगी महात्माके सङ्गसे रहित मूढ़ मनुष्यका उद्धार कैसे होगा ? तथा पहली, दूसरी, तीसरी भूमिकामें आरूढ़ होकर मरे हुए प्राणीकी कैसी गति होती है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! प्रवृद्ध रागादि दोषों-वाले मूढ़ पुरुषको सैकड़ों जन्मोंके बाद जबतक काकतालीय न्यायसे या महापुरुषोंके सङ्गसे वैराग्य उत्पन्न नहीं हो जाता, तबतक उसका यह विस्तृत संसार रहता ही है अर्थात् बिना वैराग्यके उसका उद्धार होना कठिन है। वैराग्य उत्पन्न हो जानेपर प्रथम भूमिकाका उदय प्राणीको अवश्य होता है और तदनन्तर उसका संसार नष्ट हो जाता है, यही शास्त्रोंका परम सिद्धान्त है! प्रथम आदि भूमिकाओंमें पहुँचकर मरनेवाले प्राणीका भूमिकाओंके अनुसार ही पूर्वजन्मका दुष्कृत नष्ट हो जाता है। तदनन्तर वह योगी देवताओंके विमानोंमें, लोकपालोंके नगरोंमें तथा सुमेरु पर्वतके वन-कुञ्जोंमें, अप्सराओंके साथ रमण करता है। उसके बाद पूर्वजन्ममें किये गये पुण्यों और पापोंका भोगसमूहोंके द्वारा नाश हो जानेपर वे योगी लोग पृथ्वीपर पवित्र, गुणवान् और लक्ष्मीवान् सज्जनोंके घरमें जन्म लेते हैं और वहाँ जन्म लेकर वे लोग पूर्वजन्मके योग-साधनके संस्कारोंके अनुसार योगका ही साधन करते हैं। वहाँपर पूर्वजन्ममें की गयी भावनाओंसे अभ्यस्त हुए योगभूमिकाओंके क्रमका स्मरण करके वे बुद्धिमान् लोग आगेके भूमिका-क्रमका भलीभाँति अभ्यास करने लग जाते हैं।

श्रीराम! ये पूर्वोक्त तीनों भूमिकाएँ जाग्रत् कही गयी हैं; क्योंकि इन भूमिकाओंमें यथावत् भेदबुद्धि रहनेसे यह सम्पूर्ण दृश्यसमूह उस जाग्रत्कालकी तरह ही दिखायी पड़ता है। इन तीनों भूमिकाओंमें योगयुक्त पुरुषोंमें केवल आर्यता (श्रेष्ठता) का उदय होता है, जिसे देखकर मूढ़बुद्धि पुरुषोंको भी मुक्त होनेकी अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। जो मनुष्य शास्त्रविहित कर्तव्य-कर्मोंका भलीभाँति सम्पादन करता है तथा शास्त्र-निषिद्ध कर्मोंको सर्वथा नहीं करता है एवं सदाचारमें स्थित रहता है, वह आर्य कहा गया है। श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा आचरित, शास्त्रोक्त तथा मनको प्रिय और हितकर यथोचित व्यवहारोंको जो ग्रहण करता है, वह आर्य कहा गया है।

योगीकी वही आर्यता प्रथम भूमिकामें अङ्कुरित, द्वितीय भूमिकामें विवेकके द्वारा विकसित तथा तृतीय भूमिकामें संसारके असङ्ग और परमात्माके ध्यानरूप फलसे फलित होती है। इस तीसरी भूमिका (आर्यता) की प्राप्तिके बीचमें ही मृत्युको प्राप्त हुआ योगी पुरुष शुभ संकल्पयुक्त भोगोंका चिरकालतक उपभोगकर पुनः योगी ही होता है। क्रमशः तीनों भूमिकाओंका अभ्यास करनेसे अज्ञानके नष्ट हो जानेपर वास्तविक ज्ञानका उदय होनेके बाद जब चित्त पूर्ण-चन्द्रोदयके सदृश हो जाता है, तब चौथी भूमिकामें पहुँचे हुए युक्तचित्त योगीलोग सम्पूर्ण जगत्‌में विभागसे तथा आदि और अन्तसे रहित समभावसे परिपूर्ण सच्चिदानन्द ब्रह्मका ही अनुभव करते हैं। द्वैतके सर्वथा शान्त हो जानेपर जब अद्वैत ही अचल रह जाता है तब चौथी भूमिकामें गये हुए योगीलोग समस्त संसारको स्वप्नके समान अनुभव करते हैं। इसलिये पूर्वोक्त तीन भूमिकाओंको तो जाग्रत् कहते हैं और चौथी भूमिकाको स्वप्न कहते हैं।

जो पुरुष पञ्चम भूमिकामें पहुँच गया है, वह केवल सत्स्वरूप ब्रह्म बनकर रहता है। इस अर्धसुषुप्त पञ्चम भूमिकाको प्राप्त करके पुरुष समस्त विकारोंसे मुक्त हो जाता है और अद्वैत परब्रह्मरूप तत्त्वमें नित्य स्थित हो जाता है। पाँचवीं भूमिकामें स्थित पुरुष अन्तर्मुख वृत्तिसे रहता है। बाह्य व्यापारमें लगा हुआ भी निरन्तर चारों ओरसे शान्त होनेके कारण तन्द्रामें स्थितके सदृश दिखायी देता है। वह कभी तो बाहरी व्यवहार करता है और कभी अटल समाधिमें स्थित रहता है। इस भूमिकामें वासनाशून्य होकर अभ्यास करता हुआ पुरुष क्रमशः तुर्या नामकी छठी भूमिकामें चला जाता है। उस भूमिकामें निर्विकल्प होनेके कारण योगी द्वैत और अद्वैतकी भावनासे रहित हो जाता है। वह चिज्जड-ग्रन्थिसे और संदेहसे रहित हो जाता है। वह वासनाओंसे रहित जीवन्मुक्त योगी चित्रलिखित प्रदीपकी भाँति निर्वाणको न प्राप्त हुआ भी निर्वाणको प्राप्त हुआ-सा स्थित रहता है। (उसको बाहरी ज्ञान नहीं रहता। किंतु दूसरोंके चेष्टा करनेपर बाह्य ज्ञान हो सकता है।) वह जीवन्मुक्त योगी बाहर और भीतरसे शून्य आकाशमें स्थित घटकी तरह बाहर-भीतर संसारसे रहित रहता है तथा सागरमें परिपूर्ण घटके समान बाहर-भीतर ब्रह्मसे परिपूर्ण रहता है। तदनन्तर छठी भूमिकामें स्थित हुआ वह योगी सातवीं भूमिकामें पहुँचता है। सातवीं योग-भूमिका विदेहमुक्तता कही गयी है। वह शान्तस्वरूप, वाणीसे अगम्य और सभी भूमिकाओंकी सीमा है।

शैव उसे शिव कहते हैं, वेदान्ती उसे ब्रह्म कहते हैं और साङ्ख्यवादी उसे प्रकृति और पुरुषका यथार्थ ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न लोगोंने अपनी बुद्धिके अनुसार अनेक रूपोंसे सप्तम भूमिकाकी भावना की है। यद्यपि यह भूमिका सर्वथा उपदेशयोग्य नहीं है, तथापि किसी तरह इसका उपदेश किया ही जाता है। (इस भूमिकामें स्थित योगीको दूसरोंके द्वारा चेष्टा करनेपर भी संसारका ज्ञान नहीं होता।) श्रीराम! ये सातों भूमिकाएँ मैंने तुमसे कह दीं। इनके अभ्यासयोगसे मनुष्य सम्पूर्ण दुःखोंसे रहित हो जाता है। धीरे-धीरे चलनेवाली अत्यन्त मदोन्मत्त, लड़ाई करनेमें सदा तत्पर, अपने बड़े-बड़े दाँतोंमें स्थानिको प्राप्त करनेवाली तथा अनन्त अनर्थोंको पैदा करनेवाली एक हथिनी है। उसे यदि किसी तरह मार दिया जाय तो मनुष्य इन उपर्युक्त समस्त भूमिकाओंमें विजयी बन सकता है। वह मदोन्मत्त हथिनी जबतक पराक्रमसे जीत नहीं ली जाती, तबतक कौन ऐसा वीर योद्धा है, जो उपर्युक्त भूमिका-सम्पत्तिरूपी समरभूमियोंमें प्रवेश करनेमें भी समर्थ हो!

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! वह मत्त हथिनी कौन है, वे समरभूमियाँ कौन हैं, वह कैसे मारी जाती है तथा वह चिरकालतक कहाँ रमण करती है!

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! 'मुझसे यह सिद्ध जाप,'

ऐसी जो 'इच्छा' है, उसीका नाम हथिनी है। वह शरीर-रूपी जंगलमें रहती है और मत्त होकर अनेक तरहके शोक, मोह आदि विकारोंको उत्पन्न करनेमें लगी रहती है। मतवाले इन्द्रियोंके समूह ही उसके उग्र प्रकृतिके बच्चे हैं। वह जीभसे मनोहर भाषण करती है, शुभाशुभ कर्मरूपी दो दाँतोंसे युक्त वह मनरूपी गहन स्थानमें लीन रहती है। चारों ओर दूरतक फैले हुए वासनाओं-का समूह ही इस हथिनीका मद है। और श्रीराम! संसार-की स्मृतियाँ इसकी युद्धभूमियाँ हैं। यहाँपर पुरुष बार-बार जय और पराजयका अनुभव करता है। यह इच्छा नामवाली हथिनी लोभी मनुष्योंको मारती है। वासना, इच्छा, मनन, चिन्तन, सकल्प, भावना और स्पृहा इत्यादि इसके नाम हैं। यह अन्तःकरणरूपी कोशके अंदर रहती है। बहुत दूरतक फैली हुई तथा सब पदार्थोंमें निवास करनेवाली इस इच्छारूपी हथिनीपर अवहेलनापूर्वक 'धैर्य' नामक सर्वश्रेष्ठ अस्त्रसे प्रहार करके सब प्रकारसे विजय प्राप्त कर लेनी चाहिये।

'यह वस्तु मुझे इस प्रकार प्राप्त हो जाय!' यह इच्छा जबतक अन्तःकरणके भीतर प्रकट रहती है, तभीतक यह महाभयंकर कुत्सित संसार रूपी महाविषसे उत्पन्न विषूचिकारूपी महामारी बनी रहती है। 'यह मुझे मिल जाय' यह जो संकल्परूप इच्छा है, बस, यही संसार है तथा इसका शान्त हो जाना ही मोक्ष है, यही ज्ञानका सार है। इच्छारहित विशुद्ध अन्तःकरणमें महापुरुषोंके पवित्र और सात्त्विक प्रसन्नता पैदा करनेवाले हितमय उपदेश दर्पणमें तैल-बिन्दुकी भाँति जम जाते हैं। एकमात्र विषयोंके स्मरणका परित्याग कर देनेसे इच्छारूपी संसारका अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता। विषके तुल्य अनेक प्रकारका अनर्थ पैदा करनेवाली इस इच्छाको तनिक-सी बढ़ते ही विषयोंके विस्मरणरूप शस्त्रसे काट डालना चाहिये। इच्छासे युक्त जीवात्मा दीनताको कभी भी नहीं छोड़ सकता। सुन्दर असंवेदनमें यानी उत्तम रूपसे विषयोंका स्मरण न होनेमें श्रेष्ठ प्रयत्न यही है कि चित्त अपने अंदर संकल्पोंसे रहित होकर मृतककी तरह स्थित रहे।

'यह मुझे मिल जाय' इस तीव्र इच्छाको ही उत्तम पुरुष 'संकल्प' कहते हैं और जो संसारके पदार्थोंकी भावनासे रहित होना है, उसीको 'संकल्पका त्याग' कहते हैं। श्रीराम! सकल्पको ही तुम स्मरण समझो। और विस्मरण (संकल्पके अभाव) को विद्वान्लोग कल्याण-रूप समझते हैं। सकल्पमें पहलेके अनुभव किये हुए पदार्थोंकी तथा भविष्यमें होनेवाले पदार्थोंकी भी भावना की जाती है। मैं ऊपर हाथ उठाकर बार-बार ऊँचे स्वरसे चिल्लाकर यह कह रहा हूँ, किंतु इसे कोई सुनता नहीं कि संकल्पत्याग ही परम श्रेयका सम्पादक है। इसकी भावना लोग अपने हृदयमें क्यों नहीं करते?

श्रीराम! सम्पूर्ण इन्द्रियों और मनके व्यापारोंसे रहित और ध्यान-समाधिमें लीन बैठा हुआ पुरुष उस परम पदको प्राप्त करता है, जहाँ एकच्छत्र साम्राज्य भी तृणके सदृश तुच्छ है। इस विषयमें अधिक कहनेकी क्या आवश्यकता है? संक्षेपसे मैं इतना ही कहता हूँ कि संसारका सकल्प ही सबसे बढ़कर बन्धन है और उस संकल्पका अभाव ही मोक्ष है। संसारके स्मरणके अभावको ही स्वाभाविक 'चित्त-विनाशस्वरूप योग' कहते हैं और वह अक्षय योग शान्तरूपसे नित्य स्थित है। श्रीराम! शिव, सर्वव्यापी, शान्तिमय, चिन्मय, अज और कल्याणरूप ब्रह्मके साथ जो जीव-ब्रह्मके एकत्वका निश्चय है, वही वास्तविक सर्वत्याग है। श्रीराम! अहंता-ममताकी भावना रखनेवाला मनुष्य दुःखसे कभी छुटकारा नहीं पाता; किंतु अहंता-ममताकी भावनासे रहित हुआ मनुष्य मुक्त हो जाता है।

(सर्ग १२६)

भरद्वाज मुनिके उत्कण्ठापूर्वक प्रश्न करनेपर श्रीवाल्मीकिजीके द्वारा जगत्‌की असत्ता और परमात्माकी सत्ताका प्रतिपादन करते हुए कल्याणकारक उपदेश

श्रीभरद्वाजजीने पूछा—गुरो ! निश्चय ही श्रीरामभद्र तो परम योगी, सबके वन्दनीय, देवताओंके भी ईश्वर, जन्म-मरणसे रहित, विशुद्ध ज्ञानमय, समस्त उत्तम गुणोंकी खान, समस्त ऐश्वर्योंके आधार तथा तीनों लोकोंके उत्पादन, रक्षक एवं अनुग्रह करनेवाले थे । उन ब्रह्मानन्दसे परिपूर्ण पूर्णज्ञानी और विशुद्धबुद्धि रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामभद्रने मुनिवर वसिष्ठजीके द्वारा उपदिष्ट इस अति प्राचीन समस्त ज्ञानरूपी सारका श्रवण कर क्या और भी कुछ पूछा था ?

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—भरद्वाज ! वसिष्ठ मुनिके वेदान्तशास्त्रके संग्रहरूप वचनोंका श्रवण कर अखिल विज्ञानोंके ज्ञाता कमललोचन श्रीरामभद्र अपने चिन्मय आनन्द-स्वरूपमें स्थित रहे । उस समय वे प्रश्न, उत्तर और विभाग आदि करनेकी पद्धतिसे उपरत हो गये थे । उनका चित्त आनन्दरूप अमृतसे पूर्ण था । वे चिन्मय और सर्वव्यापी होनेके कारण अपने मङ्गलमय स्वरूपमें ही सम-भावसे नित्य स्थित थे । अतः उन्होंने उस समय वसिष्ठजीसे कुछ भी नहीं पूछा ।

श्रीभरद्वाजजीने पूछा—मुनिनायक ! कहाँ तो मेरे-जैसे मूर्ख, स्तब्ध, अल्पज्ञ, पापी और कहाँ ब्रह्मा आदि देवता भी जिसकी आकाङ्क्षा करते हैं—उन भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी अपने स्वरूपमें स्थिति ! मुनीश्वर ! अहो ! मैं किस प्रकार परमात्मपदमें विश्राम पा सकूँगा और इस दुस्तर संसाररूपी महासागरके मोहरूपी जलसे किस प्रकार पार हो सकूँगा ? यह शीघ्र मुझसे कहिये ।

श्रीवाल्मीकिजी बोले—शिष्य ! श्रीवसिष्ठजीके द्वारा कथित आरम्भसे अन्ततक सम्पूर्ण राम-वृत्तान्त, मैंने तुमको सुना दिया, अब तुम अपनी बुद्धिसे पहले विवेकपूर्वक विचारकर पीछे उसका मनन करो । मैं भी इस विषयमें तुमसे जो वर्णन करने योग्य रहस्य है, उसे कहता हूँ, सुनो । भद्र ! यह जो यहाँ संसाररूप अविद्या-प्रपञ्च दीख रहा है, वह तनिक भी सत्य नहीं है । अर्थात् समस्त संसाररूप प्रपञ्च सर्वथा मिथ्या ही है । विवेकी पुरुष वास्तविक तत्त्वको विवेचनपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं, किंतु अविवेकी मनुष्य वाद-विवाद करते रहते हैं । प्रिय मित्र ! वास्तवमें सच्चिदानन्द परमात्मासे अतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं है अतः प्रपञ्चसे तुम्हारा क्या प्रयोजन है ? मैं तुमसे आगे जो वेदान्तशास्त्रोंके रहस्य बतलाता हूँ, उनके अभ्याससे तुम अपने चित्तको परम विशुद्ध बना डालो ।

मित्र ! यह जो संसाररूप प्रपञ्च दीखता है, इसके मूलमें भी सत्ताका अभाव ही है और इसके अन्तमें भी सत्ताका अभाव ही है । मध्यकालमें भी विचार करनेपर इसकी कोई सत्ता न होनेके कारण केवल प्रतीतिमात्र ही है । अतः विवेकी पुरुष इस संसारमें किसी तरहका विश्वास नहीं करते; क्योंकि अनादि वासनाके दोषसे ही यह असत् संसार दिखायी देता है । इसका गन्धर्वनगरके सदृश मिथ्या स्वरूप है और यह अनेक प्रकारके भ्रमोंसे भरा है । भद्र ! तुम चिन्मय कल्यागरूपी अमृत-रसका अभ्यास न कर विषय-वासनारूपी विषलताका आश्रय कर क्यों व्यर्थ मोहमें फँसे हो ? सखे ! यह समस्त जगत् न तो आरम्भमें है और न अन्तमें ही है । इसलिये तुम यह भी समझ लो कि मध्यमें भी यह है ही नहीं । इस जगत्‌का सारा वृत्तान्त स्वप्न-जैसा है । अज्ञानमूलक ये सारे भेद जलमें बुद्बुदोंकी तरह क्षण-क्षणमें उत्पन्न होते रहते हैं; और अज्ञानका नाश होते ही एकमात्र ज्ञानरूप समुद्रमें विलीन हो जाते हैं । अकेला अज्ञानरूपी समुद्र ही समस्त जगत्‌को व्याप्त करके स्थित है । इस समुद्रमें

अविद्यारूप वायुसे उत्पन्न सबसे बड़ा यह 'अहम्' नामका तरङ्ग है। उन-उन विषयोंमें चित्तके गिरनेके जो नाना प्रकार हैं, उनके हेतुभूत राग आदि दोष इस समुद्रके छोटे-छोटे कल्पित तरङ्ग हैं। ममता ही इसमें आवर्त है, जो स्वतः ही इच्छानुसार प्रवृत्त होता रहता है। इस समुद्रमें राग और द्वेष बड़े-बड़े मगर हैं, उन्हीं दो मगरोंसे मनुष्य पकड़ लिया जाता है और उसका निश्चय ही अनर्थरूपी पातालमें प्रवेश हो जाता है। यह प्रवेश किसीसे भी रोका नहीं जा सकता। भद्र! प्रशान्त तथा अमृतरूप तरङ्गोंसे पूर्ण केवल आनन्दामृतके समुद्रमें ही प्रवेश करना चाहिये। व्यर्थ द्वैतरूप मकरोंसे पूर्ण लवणसागरके तरङ्गोंमें क्यों प्रवेश करते हो?

प्रसिद्ध परमात्माका जो सूक्ष्म तत्त्व है, वह अज्ञानी लोगोंके लिये अज्ञानसे आवृत रहता है। इसलिये जैसे साधारण मनुष्यको जलमें स्थल और स्थलमें जलका भ्रम हो जाता है, वैसे ही अज्ञानी मनुष्योंको अनात्मामें आत्माका और आत्मामें अनात्माका भ्रम हो जाता है। मित्र! वास्तवमें न तो असद् वस्तुकी उत्पत्ति होती है और न सद् वस्तुका कभी अभाव होता है। केवल मायाद्वारा रचित विचित्र-विचित्र रचनाओंके ये आविर्भाव और तिरोभाव होते रहते हैं। इसलिये प्रचण्ड बने हुए अज्ञानकी इस व्यामोह-शक्तिको विशुद्ध सत्त्वके बलसे जीतकर विश्वासयुक्त मनसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि साधनोंका अनुष्ठान करो। इसके अनन्तर ध्यान-समाधिके द्वारा अपने-आप ही परमात्माके शुद्ध स्वरूपका अनुभव करो, जिसके द्वारा अज्ञानसे आच्छादित तुम्हारी बुद्धिरूपी रात्रि दिनके रूपमें परिणत हो जाय। केवल पुरुष-प्रयत्नरूप कर्मोंसे महेश्वरकी कृपा प्राप्त होनेपर ही मनुष्य प्राप्तव्य वस्तु परमपदरूपी परमात्माकी प्राप्ति कर लेते हैं। भरद्वाज! तुम अपने विवेकसे इस मोहका स्पष्टरूपसे त्याग कर दो। फिर तो तुम असाधारण परमात्माके यथार्थ ज्ञानको प्राप्त कर लोगे। इसमें संदेह नहीं है। पुत्र! कामना और आसक्ति होनेपर शत्रुस्वरूप हुए जिस पुण्यकर्मसे तुम्हें इस प्रकारका बन्धन प्राप्त हुआ है, कामना और आसक्तिसे रहित होनेपर मित्रस्वरूप हुए उसी पुण्यकर्मसे ज्ञानके द्वारा तुम मोक्ष पा जाओगे; क्योंकि रागादि दोषोंसे रहित सज्जनोंका यह सत्कर्मोंका संवेग प्राणियोंके पूर्वजन्मके पापोंको नष्ट करता हुआ उनके त्रिविध तापोंको वैसे ही शान्त कर देता है, जैसे वर्षाका जलसमूह दावानलको।

मित्र! संसारचक्रके आवर्तरूपी भ्रममें यदि तुम भ्रमण करना नहीं चाहते तो सारे काम्य-कर्मोंको छोड़कर केवल ब्रह्ममें आसक्त हो जाओ। ब्रह्ममें प्रीति न होकर जबतक बाह्य विषयोंमें आसक्ति है, तभीतक विकल्पसे उत्पन्न हुआ यह सब जगत् दिखायी देता है। जैसे जलके तरङ्गयुक्त होने-पर ही समुद्र अपने तटको ओर जाकर उससे टक्कर खा करके विक्षिप्त होता है, जलके निश्चल रहनेपर तो वह केवल जलरूप ही दिखायी देता है। इसी प्रकार ब्रह्ममें चित्तकी स्थिरता होनेपर केवल ब्रह्म ही दिखायी देता है। किंतु जैसे समुद्रकी तरङ्गोंसे तृण विचलित रहते हैं, वैसे ही जो हर्ष और शोकसे विचलित हो जाते हैं, वे लोग श्रेष्ठ नहीं माने जाते। सखे! वह सारा जीवसमूह हर्ष-विषाद आदि अवस्थारूप झूलेपर निरन्तर आरूढ है। इसे राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि रूप छः झूलोंमें झुलाकर काल क्रीडा करता है। अतः इसमें तुम खिन्न क्यों हो रहे हो? इस तरह क्रीडा करनेवाला काल ही अनेक उपायोंसे एकके पीछे एक अनेक सृष्टियोंको उत्पन्न करता है, विनाश करता है, फिर तत्काल ही उत्पन्न करता है और फिर विनाश करता है। जब देवगण भी दुष्ट कालके पिण्डसे छुटकारा नहीं पाते, तब क्षणभङ्गुर विनाशशील शरीरोंकी तो बात ही क्या? इसीलिये भरद्वाज! अनेक तरङ्गोंसे युक्त इस जगत्को क्षणभङ्गुर देखकर ज्ञानी पुरुष तनिक भी

शोक नहीं करता। अतः तुम अमङ्गलरूप शोकको छोड़ दो, कल्याणकारी वस्तुओंका विचार करो और विशुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्माका चिन्तन करो। जो पुरुष देव, द्विज और गुरुओंके ऊपर परिपूर्ण श्रद्धा रखकर निर्मल चित्तवाले हो गये हैं और जो वेदादि सत्-शास्त्रोंमें विश्वासपूर्वक प्रामाण्य बुद्धि रखते हैं, उन पुरुषोंके ऊपर परमात्माका परम अनुग्रह होता है।

भरद्वाजजीने कहा—भगवन्! आपके प्रसादसे मैंने पूर्णरूपसे ब्रह्म और जगत्का सारा तत्त्व जान लिया। वैराग्यरूप साधनसे बढ़कर दूसरा कोई बन्धु नहीं है और संसारकी प्रीतिसे बढ़कर दूसरा कोई शत्रु नहीं है। अब मैं महाराज वसिष्ठजीद्वारा समस्त ग्रन्थमें कहे गये ज्ञानरूपी रहस्यका सम्पूर्ण निचोड़ थोड़े शब्दोंमें सुनना चाहता हूँ। कृपाकर कहिये।

श्रीवाल्मीकिजी बोले—भरद्वाज! मुक्ति देनेवाले इस महान् ज्ञानको तुम सुनो। इसके केवल सुननेसे ही तुम फिर संसाररूपी सागरमें नहीं डूबोगे। जो देव वास्तवमें एक होता हुआ भी ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि भेदोंसे अनेक प्रकारका होकर स्थित है, उस सच्चिदानन्द-रूप परमात्माको नमस्कार है। जब सारे प्रपञ्चका अपने कारणमें लय किया जाता है, तब जिस उपायसे परम तत्त्व प्रकाशित होता है, उस उपायको तुम्हें संक्षेपसे युक्तिके अनुसार कहता हूँ। अपने अन्तःकरणसे तत्त्वका स्वयं ही विचार करना चाहिये। इसीसे यह परमात्मा प्राप्त किया जा सकता है। उसके प्राप्त होनेपर पुरुष फिर शोक नहीं करता। सत्सङ्ग और सत्-शास्त्रसे प्राप्त विवेक-से वैराग्ययुक्त होकर पुरुषको उसी तत्त्वका बार-बार चिन्तन करना चाहिये। (सर्ग १२७)

श्रीवाल्मीकिजीके द्वारा लय-क्रमका और भरद्वाजजीके द्वारा अपनी स्थितिका वर्णन, वाल्मीकिजी-द्वारा मुक्तिके उपायोंका कथन, श्रीविश्वामित्रजीद्वारा भगवान् श्रीरामके अवतार ग्रहण करनेका प्रतिपादन एवं ग्रन्थश्रवणकी महिमा

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—भरद्वाज! निषिद्ध कर्म, सकाम कर्म तथा विषयोंके साथ इन्द्रियोंके सम्बन्धसे जनित सुख-भोगसे रहित शम, दम और श्रद्धासे युक्त पुरुष कोमल आसनपर बैठकर चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको जीत करके तबतक ॐकारका उच्चारण करता रहे, जब-तक मन पवित्र और प्रसन्न न हो जाय। तदनन्तर अपने अन्तःकरणकी विशुद्धिके लिये प्राणायाम करे और उसके बाद विषयोंसे इन्द्रियोंको धीरे-धीरे खींच ले। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और क्षेत्रज्ञ इनमें जिस-जिसकी जिस-जिससे उत्पत्ति हुई है, उस-उसको जानकर उन-उनके उपादानकारणमें उन सबको विलीन कर दे। पहले अपने-आपको चराचर विश्वमें अनुभव करे। इसके बाद सारे विश्वको अपने आत्माके अंदर अनुभव करे: फिर विवेकके द्वारा इसका भी अभाव करके केवल आत्मामें ही स्थित रहे। तदनन्तर प्रकृतिसहित अपने स्वरूपमें आत्मभावना करे। इसके पश्चात् परम कारणरूप वैसे निर्विशेष निराकार शुद्ध सच्चिदानन्दघन परमात्मामें आत्मभावना करे।

(अब देह, इन्द्रिय आदिमें जिसकी जिससे उत्पत्ति हुई है, उसका उसमें लय करनेका प्रकार बतलाते हैं—) अपने स्थूल देहके मांस आदि, जो पार्थिव भाग हैं उनका पृथिवीमें, रक्त आदि जो जलीय भाग हैं उनका जलमें तथा जो तैजस भाग हैं उनका अग्निमें विवेकके द्वारा विलय कर दे। प्राणवायुका महावायु-में और आकाश-अंशका आकाशमें लय कर दे। अपने श्रोत्रेन्द्रियका दिशाओंमें और घ्राणेन्द्रियका पृथिवीमें लय कर दे। चक्षुरिन्द्रियका सूर्यमें तथा रसनेन्द्रियका उसके देवता वरुणमें (एवं त्वगिन्द्रियका वायुमें)

कर दे। समष्टि प्राणका वायुमें, वाणीका अग्निमें और हस्तेन्द्रियका इन्द्रमें लय कर दे। अपने पादेन्द्रियका विष्णुमें तथा गुदा-इन्द्रियका मित्रमें लय कर दे। उपस्थेन्द्रियका कश्यपमें लय करके मनका चन्द्रमामें लय कर दे। बुद्धिका ब्रह्मामें लय कर दे। मित्र! इन्द्रियोंके रूपमें देवता ही स्थित हैं। इनका मैं तुम्हें तत्त्वोपदेश-द्वारा लय करनेका आदेश श्रुति-वाक्यको प्रमाण मानकर ही दे रहा हूँ। मैंने अपने मनसे किसी तरहकी कोई कल्पना करके इन अर्थोंको तुम्हारे सामने प्रकट नहीं किया है। इस तरह अपनी देहको उसके कारणमें विलीन करके 'मैं विराट् हूँ' ऐसा चिन्तन करे। (इसके बाद पूर्वोक्त क्रमसे परमात्मामें आत्मभावना करे।) सारे ब्रह्माण्डके भीतर जो यह सदाशिवरूप परमात्मा व्यापक है, वही सम्पूर्ण भूतोंका आधार तथा कारण कहा गया है। वही परमात्मा जगत्के व्यवहारमें यज्ञके रूपमें स्थित है।

(अब पृथ्वी आदि भूतोंके लयका क्रम बतलाते हैं—) योगीको चाहिये कि वह पृथ्वीका जलमें लय करके उस जलको फिर तेजमें लीन कर दे। तेजको वायुमें विलीन करके उस वायुको फिर आकाशमें विलीन कर दे और आकाशका समस्त भूतोंकी उत्पत्तिके कारणभूत महाकाश-में लय कर दे। योगी उस महाकाशमें एकमात्र लिङ्गशरीर धारण किये हुए स्थित रहे। वासनाएँ, सूक्ष्मभूत, कर्म, अविद्या, दस इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन सबको पण्डितलोग लिङ्गशरीर कहते हैं।* तदनन्तर वह योगी बाहर निकलकर वहाँ 'मैं शुद्ध आत्मा हूँ' यों चिन्तन करे। फिर वह बुद्धिमान् योगी सूक्ष्म और निराकार अव्याकृत प्रकृतिमें अपने लिङ्गशरीरको भी विलीन करके स्थित रहे। जिसमें यह समस्त जगत् रहता है वह अव्यक्त अव्याकृत (माया) नाम और रूपसे रहित है। उसीको कोई प्रकृति, कोई माया तथा कोई परमाणु एवं कोई अविद्या कहते हैं। उस अव्याकृतमें प्रलयकाल-में सभी प्राणीपदार्थ लयको प्राप्त होकर अव्यक्तरूपसे अवस्थित रहते हैं। जबतक दूसरी सृष्टि नहीं होती तबतक वे सभी प्राणी-पदार्थ परस्परके सम्बन्धसे शून्य तथा आस्वादसे रहित होकर उस अव्याकृत (प्रकृति) स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं और प्रलयके अनन्तर सृष्टि-कालमें फिर उसी प्रकृतिभूत अव्याकृतसे सब उत्पन्न हो जाते हैं। सर्गके आदिमें प्रकृतिसे अनुलोम-क्रमसे सृष्टि होती है और प्रलयके आरम्भमें प्रतिलोम-क्रमसे प्रकृतिमें सारी सृष्टि विलीन हो जाती है। इसलिये जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनो अवस्थाओंसे रहित होकर अविनाशी तुरीय पदकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मका ध्यान करे। पूर्वोक्त प्रकारसे लिङ्गशरीरको भी कारणमें विलीन करके स्वयं सच्चिदानन्द परमात्मामें प्रविष्ट हो जाय।

श्रीभरद्वाजजीने कहा—महाराज! मैं अब लिङ्गशरीर-रूपी बेड़ीके बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो गया हूँ और सच्चिदानन्दका अंश होनेसे सच्चिदानन्द ब्रह्ममें प्रविष्ट हो गया हूँ। अंश और अंशीका वस्तुतः अभेद होनेके कारण अब मैं समस्त उपाधियोंसे रहित परब्रह्म परमात्मा ही हूँ। मैं कूटस्थ, शुद्ध और व्यापक हूँ। जैसे जलमें छोड़ा हुआ जल, दूधमें छोड़ा हुआ दूध और घीमें छोड़ा हुआ घी—सब-के-सब विनष्ट न होते हुए ही तद्रूप हो जाते हैं, किसी पृथक्रूपसे गृहीत नहीं होते, वैसे ही सर्वभावसे नित्य आनन्दस्वरूप सर्वसाक्षी, परम कारण चेतन परब्रह्म परमात्मामें प्रविष्ट होकर मैं तद्रूप ही हो गया हूँ। नित्य, सर्वव्यापी, शान्त, सर्वदोषरहित, अक्रिय, शुद्ध, परब्रह्म परमात्मा मैं ही हूँ। पुण्य और पापसे रहित, जगत्का परम कारण अद्वितीय, आनन्दमय, अविनाशी और चिन्मयस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही मैं हूँ। इस प्रकारके लक्षणोंसे युक्त, प्रकृतिके सत्त्व, रज, तम—तीनों गुणोंसे अतीत, सर्वव्यापक और

*वासना भूतसूक्ष्माश्च कर्माविद्ये तथैव च॥
दशेन्द्रियमनोबुद्धिरेतल्लिङ्गं विदुर्बुधाः।
(नि० पू० १२८। १८-१९)

सर्वस्वरूप ब्रह्मका निष्काम भावसे अपने कर्तव्यका पालन करते हुए सदा ध्यान करना चाहिये। इस रीतिसे परब्रह्मविषयक अभ्यास करनेवाले पुरुषका मन ब्रह्ममें विलीन हो जाता है और मनके विलीन हो जानेपर उसे स्वयं ही अपने आत्मस्वरूपका अनुभव हो जाता है। आत्माका अनुभव होनेपर सम्पूर्ण दुःखोंका अन्त होकर आत्मामें आनन्दका अनुभव होने लगता है तथा आत्मा स्वयं ही अपने-आप अपने परमानन्द परमात्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है। तदनन्तर 'मुझसे अतिरिक्त कोई दूसरा सच्चिदानन्दमय परमात्मा नहीं है। मैं ही अद्वितीय परब्रह्म हूँ'—इस प्रकार हृदयमें परमात्माका अनुभव हो जाता है। गुरो! आपके द्वारा कहा गया यह सब ज्ञान मुझे अवगत हो गया। मेरी बुद्धि सर्वथा निर्मल हो गयी। अब मेरा यह संसार चिरकाल-तक स्थिर नहीं रह सकता। भगवन्! अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि ज्ञानियोंके लिये कौन-सा कर्म विहित है? क्या उन्हें कर्मोंका अनुष्ठान नहीं करना चाहिये और यदि करना चाहिये तो क्या केवल प्रवृत्तिरूप कर्मोंका ही अनुष्ठान करना चाहिये या निवृत्तिरूप कर्मोंका भी?'

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—मुमुक्षु पुरुषोंको वही कर्म करना चाहिये, जिसमें कोई दोष नहीं हो, विशेष करके मुमुक्षुको काम्य और निषिद्ध कर्म कभी नहीं करना चाहिये। संकल्पोंसे रहित होकर जब जीवात्मा ब्रह्मके लक्षणोंसे युक्त हो जाता है, तब उसकी सभी इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं और वह सर्वव्यापी परब्रह्म परमात्मस्वरूप बन जाता है। 'देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे परे जो जीवात्मा है तथा उससे भी परे जो सच्चिदानन्द ब्रह्म है, वही मैं हूँ' इस प्रकार निश्चयपूर्वक जब जीवात्मा एकत्वभावसे ध्यान करता है, तब वह सदाके लिये मुक्त होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। जब जीवात्मा कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्वसे तथा सम्पूर्ण देहादि उपाधियोंसे एवं सुख और दुःखोंसे रहित होता है, तब वह सर्वथा मुक्त समझा जाता है। जब जीवात्मा सम्पूर्ण भूतोंमें आत्माको तथा आत्मामें सम्पूर्ण भूतोंको अभेदरूपसे देखने लगता है, तब यह जीवात्मा संसारसे सर्वथा मुक्त हो जाता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंसे रहित होकर जब जीवात्मा तुरीय आत्मानन्द-रूपमें प्रवेश करता है, तब वह सर्वथा मुक्त समझा जाता है; क्योंकि शास्त्रोंके विवेकपूर्वक विचारसे, गुरुके वाक्योंका अर्थ और भाव यथार्थ समझनेसे तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासनके अभ्याससे सब प्रकारसे सिद्धि प्राप्त होती है अर्थात् वह सदाके लिये मुक्त हो जाता है, यह वेदोंका आदेश है। इसलिये भरद्वाज! तुम सब कुछ छोड़कर केवल ध्यान समाधिके लिये अभ्यासमें अपना मन तत्परतापूर्वक स्थिर करो। जब महामना साधु-स्वभाव श्रीरामचन्द्रजी अपने ब्रह्मरूपमें समाधिस्थ थे, उस समय ऋषियोंमें सर्वश्रेष्ठ श्रीवसिष्ठजीसे श्रीविश्वामित्रजी कहने लगे।

श्रीविश्वामित्रजीने कहा—ब्रह्मपुत्र महाभाग वसिष्ठजी! आप महान् हैं। आपने अपना गुरुत्व शीघ्र ही हमलोगोंको दिखला दिया; क्योंकि अपने दर्शन, स्पर्श और वाक्यप्रयोगसे जो कृपा करके शिष्यके शरीरमें शिव-स्वरूप परमात्मभावका समावेश करा दे, वही सच्चा गुरु है। गुरुवाक्य-श्रवणसे होनेवाले ज्ञानमें शिष्यकी श्रद्धा-पूर्वक पवित्र बुद्धि ही कारण है। यह ज्ञानकी प्राप्ति ही गुरु और शिष्यके समागमका वास्तविक प्रयोजन है। विभो! आप तो परमपदमें स्थित हैं, परंतु हमलोग अभीतक यज्ञादि कार्योंमें लगे हुए हैं। बड़े कष्टके साथ जिसके लिये मैंने स्वयं राजा दशरथसे प्रार्थना की है और जिस उद्देश्यसे मैं यहाँ आपके पास आया हूँ, उस मेरे निर्विघ्न यज्ञसिद्धिरूप कार्यका स्मरण करते हुए आप श्रीरामचन्द्रजीको अब समाधिसे उठानेकी कृपा कीजिये। मुने! मेरे उस समस्त कार्यको आप अपने शुद्ध मनसे व्यर्थ

न बनाइये, क्योंकि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके समाधिसे उठनेपर उनके अवतारके जो अन्य प्रयोजन, देवताओं और ऋषियोंके कार्य हैं, उनका भी हमलोग सम्पादन कर लेंगे। जब मैं श्रीरामचन्द्रजीको अपने आश्रममें ले जाऊँगा, तब वे राक्षसोंका नाश करेंगे और उसके बाद अहल्याको शापसे मुक्त करेंगे। तदनन्तर निश्चयपूर्वक भगवान् शङ्करका धनुष तोड़कर जनकदुलारी सीताके साथ अपना विवाह करेंगे। इस संसारमें पिता-पितामहके राज्यका त्यागकर वनवासके निमित्त वनमें पहुँचकर अभय और निःस्पृह श्रीरामचन्द्रजी राक्षसोंका वध करके दण्डकारण्यके निवासी मुनियो, अनेक तीर्थों तथा अन्यान्य प्राणियोंका उद्धार करेंगे। सीताहरणके निमित्त रावण आदिका वध करके श्रीरामचन्द्रजी इन्द्रके वरदानद्वारा युद्धमें मरे हुए वानर आदिको पुनर्जीवित हुए दिखलायेंगे। तदनन्तर साध्वी सीताकी अग्निमें प्रवेशके द्वारा शुद्धिके उद्देश्यसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने चरित्रकी आदर्शता दिखलायेंगे। जो लोग भगवान् श्रीरामका दर्शन करेंगे, उनके चरित्रका स्मरण तथा श्रवण करेंगे एवं जो लोग भगवान्के स्वरूपका दूसरोंको बोध करायेंगे, उन सम्पूर्ण अवस्थाओंमें स्थित अपने भक्तोंको भगवान् श्रीरामचन्द्रजी जीवन्मुक्ति प्रदान करेंगे। इस प्रकार तीनों लोकोंका तथा मेरा भी हित इन महापुरुष भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा सम्पूर्णरूपसे सम्पन्न होगा। सज्जनो! आप सब लोग इन भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको नमस्कार कीजिये। इनके नमस्कारसे ही आपलोग सारे संसारको जीत लेंगे अर्थात् आपलोगोंको किसी दूसरे साधनकी आवश्यकता न होगी। आपलोग चिरकालतक बढ़ते रहें।

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—भरद्वाज! इस प्रकारका विश्वामित्रजीका भाषणरूप श्रीरामचन्द्रजीकी भावी चरित्ररूप दुर्लभ कथा सुनकर श्रीवसिष्ठ आदि सभी श्रेष्ठ योगीन्द्र तथा सिद्ध पुनः भगवान् श्रीरामकी चरणकमलरजके आदरमें यानी नमस्कारमें तथा उनके स्मरण में स्थित हो गये। जानकीपति श्रीरामकी भावी कथा सुननेसे भगवान् वसिष्ठजी तथा और दूसरे महर्षि भी तृप्त नहीं हो सके। इसलिये उन सबने दूसरोंके द्वारा कहे गये उन गुणसागर भगवान्के गुणोंका पुनः श्रवण किया तथा सुने हुए गुणोंका दूसरोंसे वर्णन किया। तदनन्तर महर्षि भगवान् वसिष्ठजी मुनिवर विश्वामित्रजीसे कहने लगे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—मुनि विश्वामित्रजी! इन श्रोताओंको आप साफ-साफ बतला दीजिये कि ये राजीवलोचन रघुनन्दन श्रीरामचन्द्रजी पूर्वमें देव या मनुष्य क्या थे।

श्रीविश्वामित्रजीने कहा—सज्जनो! आप सब लोग इन्हीं श्रीरामचन्द्रजीमें विश्वास कीजिये कि परमपुरुष परब्रह्म परमात्मा ये ही हैं। इन्होंने ही विश्वके कल्याणके लिये विष्णुरूपसे क्षीरसागरका मन्थन किया था। गूढ़ अभिप्रायसे भरे उपनिषदादि शास्त्रोंके तत्त्वगोचर साक्षात् परब्रह्म ये ही हैं। परिपूर्णपरानन्द, समस्तरूप, श्रीवत्सके चिह्नसे सुशोभित भगवान् विष्णुरूप यही श्रीरामचन्द्रजी जब भक्तिसे भलीभाँति प्रसन्न होते हैं, तब सब प्राणियोंको परम पुरुषार्थरूप मोक्ष देते हैं। कुपित होकर यही श्रीरामचन्द्रजी शिवरूपसे संसारका संहार करते हैं और यही ब्रह्मारूपसे विनाशशील संसारकी रचना करते हैं। यही विश्वके आदि, विश्वके उत्पादक, विश्वके धाता, पालनकर्ता तथा महासखा भी हैं। यही भगवान् ऋक्, यजु., सामवेदमय हैं, तीनों गुणोंसे परे अति गहन यही हैं और शिक्षा, कल्प आदि छः अङ्गोंसे समन्वित वेदात्मा अद्भुत पुरुष भी यही हैं। विश्वका पालन करनेवाले चतुर्भुज विष्णुभगवान् यही हैं, विश्वके रचयिता चतुर्मुख ब्रह्मा यही हैं और सारे संसारका संहार करनेवाले त्रिलोचन भगवान् शिव भी यही हैं। ये अजन्मा होते हुए भी

अपनी योगमायाके सम्बन्धसे अवतार लेते हैं। ये सबसे महान् हैं। ये सदा जागते रहते हैं और रूपरहित हुए भी ये विश्वरूप हैं। ये भगवान् ही इस विश्वको अपने संकल्पसे धारण करते हैं। ये राजा दशरथजी धन्य हैं, जिनके पुत्र परमपुरुष परमात्मा हुए। वह दशग्रीव रावण भी धन्य है, जिसका ये अपने चित्तसे चिन्तन करेंगे। क्षीरसागरमें शयन करनेवाले विष्णुभगवान् ही श्रीरामचन्द्रजीके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं। ये ही श्रीरामचन्द्रजी सच्चिदानन्दघन अविनाशी परमात्मा हैं। अपनी इन्द्रियोंको रोक रखनेवाले योगीलोग ही श्रीरामचन्द्रजीको वस्तुतः जानते हैं। हमलोग तो इनके इस सगुण साकार स्वरूपका ही निरूपण या दर्शन करनेमें समर्थ है। वसिष्ठजी! हमलोगोंने ऐसा सुना है कि ये ही भगवान् श्रीरामचन्द्रजी रघुवंशके पापोंका सर्वथा विनाश करनेवाले हैं। अब आप कृपाकर इन्हें व्यवहारमें लगाइये।

श्रीवाल्मीकिजीने कहा—भरद्वाज! यों कहकर महामुनि विश्वामित्रजी चुपचाप बैठ गये। तदनन्तर महातेजस्वी वसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीसे कहने लगे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—चिन्मय महापुरुष महाबाहु श्रीराम! यह विश्रामका समय नहीं है। उठो और इस संसारके लिये आनन्दकारक बनो। पुत्र! विनाशशील राज्य कार्योंका अवलोकन करके देवताओं और मुनियोंको सङ्कटसे उद्धार करनेके भारका वहन करो और सुखी रहो।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! गुरु वसिष्ठजीके उपर्युक्त वचनोंको सुनकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजी समाधिसे सचेत हो गये और सावधान होकर कहने लगे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—महामुने! वेदो, आगमों, पुराणों और स्मृतियोंमें भी गुरु-वाक्यका पालन करना ही विधि कहा गया है और उसके विरुद्ध आचरण करना निषेध कहा गया है। यों कहकर उन महात्मा वसिष्ठजीके चरणोंमें अपने सिरसे नमस्कार कर सबके आत्मस्वरूप करुणासागर श्रीरामचन्द्रजी सबसे बोले—'सभ्य पुरुषो! आप सब लोग हमारे इस निर्णयको अच्छी तरह सुन लीजिये। इससे आपलोगोंका बड़ा कल्याण होगा। कल्याणकामी पुरुषके लिये इस संसारमें परमात्मज्ञान तथा परमात्मज्ञानी गुरुसे बढ़कर कुछ भी नहीं है।'

सिद्ध आदि सब लोगोंने कहा—श्रीरामचन्द्रजी! आप जैसा कह रहे हैं, वैसा ही आपकी दयासे हमलोगोंके मनमें पहलेसे ही स्थित है और अब तो वह सब आपके इस संवादसे और भी विशेष दृढ़ हो गया है। महाराज श्रीरामचन्द्रजी! आप सुखी होइये, आपको नमस्कार है। अब हमलोग वसिष्ठजीसे भी अनुमति लेकर जहाँसे आये थे, वहीं जा रहे हैं।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! यों कहकर भगवान् श्रीरामचन्द्रजीकी स्तुति करते हुए वे सब-के-सब चल दिये। श्रीरामचन्द्रजीके ऊपर पुष्पोंकी वृष्टि होने लगी। श्रीरामचन्द्रजीकी यह सब कथा मैंने तुमसे कह सुनायी। इसी क्रमयोगसे तुम भी साधन करते हुए सुखी रहो। मुनिवर वसिष्ठजीकी वचन-पङ्क्तिरूपी रत्नमालासे विभूषित यह जो श्रीरामचन्द्रजीकी कथा मैंने तुमसे कही है, वह सम्पूर्ण कवियों और योगियोंके लिये सेवनयोग्य है तथा परम गुरुकी दयादृष्टिसे वह मुक्तिमार्गको देती है। जो कोई मनुष्य वसिष्ठजी और श्रीरामचन्द्रजीके इस संवादको प्रतिदिन श्रद्धापूर्वक सुनेगा, वह किसी अवस्थामें रहते हुए भी एकमात्र श्रवणसे ही मुक्त हो जायगा और परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेगा।

(सर्ग १२८)

निर्वाण-प्रकरण पूर्वार्ध सम्पूर्ण

निर्वाण-प्रकरण (उत्तरार्ध)

कल्पना या संकल्पके त्यागका स्वरूप, कामना या संकल्पसे शून्य होकर कर्म करनेकी प्रेरणा, दृश्यकी असत्ता तथा तत्त्वज्ञानसे मोक्षका प्रतिपादन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—ब्रह्मन्! जब पुरुष देह, प्राण आदिमें अहता, ममता आदि कल्पनाओंको त्याग देगा, तब फिर उससे कोई भी कर्म नहीं बन सकता। ऐसी दशामें शरीरके भरण-पोषणकी चेष्टासे भी विरत हो जानेके कारण उस देहधारी जीवका शरीर शीघ्र ही गिर सकता है। अतः जीवित पुरुषके लिये यह कल्पना-त्यागपूर्वक व्यवहार कैसे सम्भव है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! जीवित पुरुषके लिये ही कल्पनाओंका त्याग सम्भव है। जो जीवित नहीं है, उसके लिये नहीं। इस कल्पना-त्यागका यथार्थ स्वरूप क्या है, यह बतलाता हूँ, सुनो। कल्पना-के स्वरूपको जाननेवाले विद्वान् अहंभावना (आत्माको देहमात्र मान लेने) को ही कल्पना कहते हैं तथा आत्माको आकाशके समान अपरिमित, अनन्त और व्यापक जानकर परमात्माके वास्तविक स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करना ही तत्त्वज्ञ पुरुषोंके मतमें कल्पनाका या संकल्पका त्याग कहलाता है। संकल्पशून्य होकर चुपचाप स्थित रहनेसे ही उस परमपदकी प्राप्ति होती है, जहाँ उच्च कोटिका साम्राज्य भी तिनकेके समान तुच्छ प्रतीत होता है। समस्त कर्म और उनके विस्तृत फलोंको सोये हुए पुरुषकी भाँति सर्वथा भूलकर प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए कार्यके लिये संकल्पशून्य होकर मनुष्यको चेष्टा करते रहना चाहिये। अपने कर्मोंमें यदि वासना-रहित प्रवृत्तिका अभ्यास हो जाय तो यही उच्चकोटिका धैर्य है, जो भावी जन्मरूपी ज्वरका निवारण कर देता है। वासना और संकल्पसे शून्य होकर प्रारब्धवश प्राप्त हुए कार्यका अनुसरण करते हुए चाकके ऊपर घूमनेवाले घट आदिकी भाँति धीरे-धीरे उपरत होते हुए कर्मोंमें लगे रहना चाहिये।

सम, शान्त, कल्याणमय, सूक्ष्म, द्वित्व और एकत्वसे रहित, सर्वत्र व्यापक, अनन्त तथा शुद्धस्वरूप परब्रह्म परमात्माके प्राप्त होनेपर किसलिये कौन खिन्न हो सकता है? जो पुरुष संकल्पशून्य और शान्त हो गया है अर्थात् जिसे परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो गयी है, उसे अपने शरीरके रहने या न रहनेसे कोई प्रयोजन नहीं है तथा इस लोकमें किसी कर्मके किये जाने अथवा न किये जानेसे भी उसका कोई, किञ्चित् मात्र भी प्रयोजन नहीं है। रघुनन्दन! जैसे सुवर्ण ही कड़े और बाजूबन्दके रूपमें प्रतीत होता है; किंतु वास्तवमें सुवर्णसे पृथक् इन आभूषणोंके नामरूप-की सत्ता नहीं है, उसी प्रकार यह जो कुछ जगत्‌रूपमें दिखायी देता है, प्रतीतिमात्र ही है। परमात्मासे पृथक् इसकी सत्ता नहीं है। परमात्मासे भिन्न इसकी सत्ताका अनुभव न होनेको ही ज्ञानी पुरुषोंने इस जगत्‌का नाश माना है। जगद्-भ्रमका निवारण हो जानेपर इसके अधिष्ठानरूपसे अवशिष्ट जो परमात्मा है, वही परमार्थ सत्य है।

श्रीरामजीने पूछा—प्रभो! 'मैं' और 'मेरा' इत्यादि जो दृश्य है, उसको असत् मानकर उसका चिन्तन न करनेवाले ज्ञानी पुरुषको कर्मोंके त्यागसे कौन-सा अशुभ और कर्मोंके सम्पादनसे कौन-सा शुभ फल प्राप्त होता है।

श्रीवसिष्ठजी बोले—रघुनन्दन! जबतक देहरूपी उपाधि विद्यमान है, तबतक इस भावनामय सूक्ष्म कर्मका क्या त्याग हो सकता है और क्या अनुष्ठान। देहके रहते हुए यह जीव-चेतन बाह्य और आभ्यन्तर जिस-जिस वस्तुकी भावना करता है, वह-वह तत्काल उसको

प्रतीत होने लगती है। भले ही, उसका आकार सत्य हो या भ्रमसे भरा हुआ असत्य। यदि वह किसी वस्तुकी भावना नहीं करता तो इस संसार-भ्रमसे पूर्णतया मुक्त हो जाता है। वह भ्रम सत्य हो या असत्य, इस विचारसे क्या प्रयोजन है? बोध होनेके पश्चात् इस दृश्यकी प्रतीतिका स्वयं ही लय हो जानेसे जो इसका अत्यन्ताभाव सिद्ध होता है, उसीको जगत्का त्याग, अनासक्ति एवं मोक्ष माना गया है। इसलिये जबतक यह शरीर विद्यमान है, तबतक कर्मोंका सर्वथा त्याग नहीं हो सकता। परंतु जो अज्ञानी कर्मका आदर करते हैं, वे उसके मूलको नहीं छोड़ते हैं। मनका जो वासनात्मक संकल्प है, वही अपने कर्मका मूल है। जबतक यह शरीर है, तबतक ज्ञानके बिना उस मानसिक संकल्पका उच्छेद नहीं हो सकता। परंतु जो तत्त्वज्ञानके द्वारा मनके संकल्पोंका निवारण कर देता है, वह संसाररूपी वृक्षका मूलोच्छेद कर डालता है। (सर्ग १-२)

समूल कर्मत्यागके स्वरूपका विवेचन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जब यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि न तो असत् वस्तुकी सत्ता हो सकती है और न सत्-वस्तुका अभाव ही, तब दृश्य विषयोंके प्रति उन्मुखताका निवारण स्वयं सुगम हो जाता है। (क्योंकि दृश्यकी असत्ताका प्रतिपादन किया जा चुका है। जो वस्तु है ही नहीं, उसका चिन्तन कोई समझदार मनुष्य कैसे करेगा?) विवेकी पुरुषको चाहिये कि वह अपने शुभाशुभ कर्मको नष्ट कर दे। आत्माके साथ कर्मका कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनोंसे रहित है। इस तत्त्वज्ञानके द्वारा कर्मोंका नाश स्वतः सिद्ध हो जाता है। समस्त कर्मोंके मूलभूत मानसिक संकल्पका विनाश करनेसे संसार पूर्णतः शान्त हो जाता है। जब कर्मके मूल कारणका भलीभाँति विचार किया जाता है, तब समस्त कर्मोंका अभाव अपने-आप ही सिद्ध हो जाता है। (क्योंकि जब चित्त और उसका सकल्प ही मिथ्या है, तब उससे होनेवाला कर्म सत्य कैसे हो सकता है!) अथवा चिन्मय आत्मा अपने भीतर जिस चित्त नामक कर्मबीजका—क्रिया, करण और कर्तारूप त्रिपुटीका निर्माण करता है, वह उस आत्मासे किञ्चिन्मात्र भी भिन्न नहीं है। इसलिये बाहर और भीतर (जाग्रत् तथा स्वप्न-सुषुप्तिमें) जो पदार्थोंकी प्रतीति होती है, वह आत्मस्वरूप ही है, आत्मासे भिन्न नहीं है।

किंतु वास्तवमें रघुनन्दन! सम्पूर्ण कर्मोंका विस्तार यह शरीर है। उसका मूल अहंकार है और शाखा-प्रशाखाएँ संसार। चिन्तन या भावनाका जहाँ बाध हो जाता है, उस अहंकारशून्य स्थितिसे इस संसारका मूलोच्छेद हो जानेके कारण वह उसी तरह शान्त हो जाता है, जैसे स्पन्दनशून्य वायु। जैसे नदीके प्रवाहमें पड़ा हुआ तृण-काष्ठ आदि सब कुछ स्वभावतः बहता रहता है, उसी प्रकार ज्ञानियोंकी कर्मेन्द्रियोंसे किसी प्रकारके मनोविकारके बिना ही अधसोये पुरुषकी भाँति स्वाभाविक चेष्टा होती रहती है। वासनाशून्य निरतिशय ब्रह्मानन्दके प्राप्त हो जानेपर विषय-सुख अत्यन्त नीरस हो जाते हैं। फिर न वे बाहर अपना प्रभाव डाल पाते हैं, न भीतर। विषयों और वासनाओंसे रहित, शान्त और चैतन्यके अनुसंधानसे हीन जो सकल्परहित स्थिति है, उसीको कर्मत्याग कहते हैं। दीर्घकालके भूले हुए कर्मकी भाँति विषयोंका पुनः स्मरण न होना कर्मत्याग कहलाता है। जो मिथ्या ज्ञान रखनेवाले पुरुष मूल-त्यागके बिना केवल कर्मेन्द्रिय-संयमरूप त्याग करते हैं, वे मूढ़ पशु-तुल्य हैं। उनको वह कर्मत्यागरूपिणी पिशाची खा जाती

है। किंतु जो मूलसहित कर्मत्यागके द्वारा शान्ति पा चुके हैं, उनके लिये इस जगत्‌में किसी कर्मके करने या न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं है। जिसका समूल त्याग कर दिया जाता है, वही वास्तवमें त्याग है। मूलका उच्छेद किये बिना जो ऊपरसे कर्मका त्याग किया जाता है, वह वृक्षकी जड़ न काटकर उसकी शाखा काटनेके समान व्यर्थ है। जिस कर्मरूपी वृक्षकी जड़ न काटकर केवल शाखामात्रका उच्छेद किया जाता है, वह पुनः सहस्रों शाखाओंसे विस्तारको प्राप्त हो केवल दुःख देनेके लिये बढ़ता रहता है। प्रिय राममद्र! संकल्पशून्यता-रूप त्यागसे ही वास्तवमें कर्मत्याग सिद्ध होता है, दूसरे किसी क्रमसे नहीं। ज्ञानके द्वारा कर्मत्यागके सिद्ध हो जानेपर वासनारहित जीवन्मुक्त पुरुष घरमें रहे या वनमें, दीन-हीन अवस्थाको पहुँच जाय या लौकिक उन्नतिको प्राप्त हो, उसके लिये सभी अवस्थाएँ एक-सी हैं। जिसका चित्त शान्त है, उस पुरुषके लिये घर ही दूरवर्ती निर्जन वन है। परंतु जिसका चित्त शान्त नहीं है, उस पुरुषके लिये निर्जन वन भी जनसमुदायसे भरा हुआ नगर है। (सर्ग ३)

संसारके मूलभूत अहंभावका आत्मबोधके द्वारा उच्छेद करके परमात्मस्वरूपसे स्थित होनेका उपदेश

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! चेतन आत्माके स्वरूपका तत्त्वतः बोध प्राप्त होनेपर जब अहंता आदिके साथ ही सम्पूर्ण जगत् शान्त हो जाता है, तब तेल समाप्त होनेपर बुझे हुए दीपककी भाँति सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चका त्याग सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं। 'कर्मोंका त्याग त्याग नहीं है। 'जहाँ जगत्‌का भान ही नहीं है, वह एकमात्र शुद्ध आत्मा ही अहंता आदि विकारोंसे रहित एवं अविनाशी है।'—इस प्रकारका बोध ही वास्तविक त्याग कहा गया है। 'यह स्त्री, पुत्र, धन आदि सब मेरे हैं, यह शरीर, इन्द्रिय आदि ही मैं हूँ' इस प्रकारकी अहता-ममताका सर्वथा अभाव होनेपर जो शेष रहता है वही कल्याणमय, शान्त, बोधस्वरूप परमात्मा है। उससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है। परमात्माके यथार्थ ज्ञानके द्वारा अहंताका क्षय हो जानेपर ममताका आधारभूत सारा संसार ही विनष्ट हो जाता है। फिर सर्वत्र परिपूर्ण एकमात्र शान्तस्वरूप सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही स्थित रहता है। अहंकारकी भावना करनेवाला जीवात्मा एकमात्र अहं-भावनाका त्याग कर देनेमात्रसे बिना किसी विघ्न-बाधाके शान्तस्वरूप हो जाता है। यह मुक्ति इतने ही मात्र साधनसे सिद्ध हो जाती है। तब फिर संसारमें भटक-कर व्यर्थ कष्ट क्यों उठाया जाय? 'मैं देह आदि नहीं हूँ। विशुद्ध चेतनमात्र हूँ।' इस बुद्धिको भी यदि कोई द्वैतभ्रम ही कहे तो उसके लिये यह उत्तर है कि यह बुद्धि परमार्थ-स्वभावको छोड़कर और कुछ भी नहीं है। चिन्मय परमात्मा तो आकाशके समान विशद है। उसमें भ्रम कहाँ ठहर सकता है? न भ्रम है, न भ्रमका साधन है, न भ्रमका फल है और न भ्रमका कोई आश्रय ही है। यह जो कुछ दिखायी देता है, सब अज्ञानजनित ही है। ज्ञानका प्रकाश होते ही यह अज्ञानजन्य अन्धकार नष्ट हो जायगा। यह जो सब ओर फैला हुआ प्रपञ्च दृष्टिगोचर होता है, वास्तवमें यह है ही नहीं, केवल एक शान्तस्वरूप परमात्मा ही है।

जो अपने अंदरकी मनोवृत्तिको जीत रहा है या जीत चुका है, वही विवेकका पात्र है और उसे ही पुरुष कहते हैं; क्योंकि उसीने पुरुषार्थ करके अपना जीवन सफल किया है। जब मनुष्य अस्त्र-शस्त्रोंकी मार और रोगोंकी पीड़ाएँ भी सह लेता है, तब 'मैं यह शरीर आदि नहीं हूँ' इतनी-सी भावनामात्रको सह लेनेमें कौन-सा कष्ट है; क्योंकि संसारके जितने पदार्थ हैं, उन सबका अङ्कुर (कारण) अहंभाव ही है। इसलिये ज्ञानके द्वारा उस अहंभावका उन्मूलन हो जानेपर संसारकी जड़ अपने आप उखड़ जाती है। जैसे मुँहसे निकली हुई भाप निःसार होनेपर भी सारवान् स्वच्छ दर्पणको मलिन कर देती है और उसके मिट जानेपर वह दर्पण पुनः स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार इस अहंभावरूपी निःसार बाष्पसे भी सारवान् परमात्मारूपी दर्पण मलसे आवृत-सा हो जाता है; किंतु उस अहंभावके शान्त होते ही शुद्ध स्वच्छरूपसे प्रकाशित होने लगता है। अहंभावशून्य परब्रह्म परमात्मामें विलीन हुई यह अहंता भी ब्रह्मरूप ही हो जाती है, अतः उसका पृथक् कोई नाम रूप नहीं रह जाता। अहंकार ही इस जगत्का बीज है। परंतु ज्ञानाग्निके द्वारा जब वह अहंकाररूपी बीज दग्ध हो जाता है, तब जगत् और बन्धन इत्यादिकी कल्पना ही नहीं रह जाती।

वह परब्रह्म परमात्मा सत्स्वरूप और कल्याणमय है। जैसे घट-बुद्धिसे घटमें एकदेशिता होनेपर मृत्तिकाके स्वरूपका विस्मरण हो जाता है, उसी प्रकार अहंतासे परमात्माके स्वरूपकी विस्मृति हो जाती है। अहंकाररूपी बीजसे ही यह दृश्य-प्रपञ्चकी सत्तारूपिणी लता उत्पन्न हुई है, जिसमें अनन्त जगत्रूपी फल पैदा होते और नष्ट होते रहते हैं। नित्य परमात्मतत्त्वके ज्ञानसे जब अहंकारको सर्वथा नष्ट कर दिया जाता है, तब यह संसाररूपिणी मृगतृष्णा सर्वथा शान्त हो जाती है। निष्पाप रघुनन्दन! किसी दूसरे सहायक साधनोंके बिना ही अपने प्रयत्नमात्रसे सिद्ध होनेवाली अहंभावकी निवृत्तिके सिवा मुझे दूसरा कोई कल्याणकारी साधन नहीं दिखायी देता। (सर्ग ४)

उपदेशके अधिकारीका निरूपण करते हुए वसिष्ठजीके द्वारा भुशुण्ड और विद्याधरके संवादका उल्लेख—विद्याधरका इन्द्रियोंकी विषयपरायणताके कारण प्राप्त हुए दुःखोंका वर्णन करके उनसे अपने उद्धारके लिये प्रार्थना करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जैसे स्वच्छ निर्मल वस्तुपर तेलकी एक बूँद भी पड़ जाय तो अपना प्रभाव डाल देती है, उसी प्रकार शुद्ध चित्तवाले पुरुषको दिया हुआ थोड़ा-सा भी उपदेश उसपर अपना प्रभाव डाल देता है। परंतु जिनका चित्त अहंभावके कारण बढ़ा हुआ है, उन्हें दिया हुआ उपदेश उसी तरह लागू नहीं होता, जैसे दर्पणमें मोती नहीं घुस सकता। इस विषयमें विद्वान्लोग इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, जिसे बहुत दिन पहले सुमेरु पर्वतके शिखरपर भुशुण्डजीने मुझसे कहा था।

प्राचीन कालकी बात है, सुमेरु पर्वतके शिखरकी एक एकान्त गुफामें किसी समय अध्यात्मचर्चाके प्रसङ्गमें मैंने भुशुण्डजीसे पूछा—'भुशुण्डजी! यह तो बताइये, कौन ऐसा मूढबुद्धि, आत्मज्ञान-शून्य तथा चिरंजीवी पुरुष है, जिसका आपको स्मरण है?' प्रिय श्रीराम! मेरे इस प्रकार पूछनेपर भुशुण्डजीने यह उत्तर दिया।

भुशुण्डजी बोले—महर्षे ! पूर्वकालमें लोकालोकान्तर पर्वतकी चोटीपर एक विद्याधर रहता था । उसकी इन्द्रियाँ उसके वशमें नहीं थीं । इसके कारण उसे बड़ा खेद था । अतएव वह सूख-सा गया था । यद्यपि उसे आत्मतत्त्वका ज्ञान नहीं था, तथापि वह श्रेष्ठ और विचारशील था । उसने अनेक प्रकारसे तप किये थे, यम और नियमोंका पालन किया था । इससे उसकी आयु कभी क्षीण नहीं होती थी । इसीलिये वह पहले चार कल्पोंतक जीवित रहा । तदनन्तर चौथे कल्पके अन्तमें उचित कारण-सामग्री जुट जाने अर्थात् चिरकालसे अभ्यस्त तप और नियम आदिका प्रभाव पड़नेसे उसके भीतर विवेकका उदय हुआ । उसने सोचा—बारंबार जन्म, बारंबार मरण और बारंबार वृद्धावस्थाकी प्राप्ति न हो, इसका क्या उपाय है । अबतक संसारबन्धनसे मुक्त न होनेके कारण मुझे लज्जा होती है; अतः ऐसी कौन-सी एक वस्तु है, जो सदा निर्विकारभावसे स्थित रहती है ।' यों सोचकर पाँच प्राण, दस इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा स्थूलशरीर—इन अठारह अवयवोंसे युक्त अपनी पुरीको चिरकालतक धारण करनेसे विरक्त-चित्त होकर वह विद्याधर कुछ पूछनेके लिये मेरे पास आया । अब उसे संसारमें कोई रस नहीं मिल रहा था । मेरे समीप आकर उसने बड़े आदरके साथ मुझे नमस्कार किया, तब मैंने भी उसका आतिथ्य-सत्कार किया । तत्पश्चात् अवसर पाकर उसने यह उत्तम बात कही ।

विद्याधरने कहा—भुशुण्डजी ! जो परम उदार, दुःखहीन, क्षय और वृद्धिसे वर्जित तथा आदि और अन्तसे रहित है, उस पावन पदका आप मुझे शीघ्र उपदेश दीजिये । महर्षे ! इतने समयतक मैं जडस्वरूप बनकर मोहकी प्रगाढ़ निद्रामें सोया हुआ था । अब तीव्र वैराग्यके कारण अन्तःकरण शुद्ध हो जानेसे मैं जाग उठा हूँ । मनके महान् रोग कामसे मैं बहुत पीड़ित हूँ । अज्ञानकी वृत्तियों और दुर्वासनाओंमें पड़कर क्षुब्ध हूँ । मेरी चेष्टाओंका अन्त होना बहुत कठिन हो रहा है । अहंभावके रूपमें स्थित जो मोह है, उससे आप मेरा

शीघ्र उद्धार कीजिये। पहले सहस्रों बार उपभोगमें लाये हुए शब्दादि विषयोंसे ही अत्यन्त तुच्छ सुखके लिये जो इन्द्रियोंद्वारा सम्पर्क स्थापित किया जाता है, वह अपने आपको धोखा देना है। ऐसी विडम्बनाओंसे बारंबार ठगे जाकर मनुष्य चिरकालसे अत्यन्त खिन्न रहते हैं। विषय-भोग आरम्भमें रमणीय प्रतीत होते हैं। किंतु वे क्षणमें ही नष्ट हो जानेवाले हैं। उनमें शीघ्र ही विकार पैदा हो जाता है। वे संसारबन्धनके हेतु हैं; अतएव बड़े भयकर हैं।

मेरा नेत्र सुन्दर रूप निहारनेके लिये अत्यन्त चञ्चल तथा सुन्दरी नारीका मुँह देखनेके लिये लालायित रहता था। बाह्य और आभ्यन्तर प्रकाशकी सहायतासे मनको दूषित करनेके लिये विषयोंके साथ सम्बन्ध स्थापित करके इसने मुझे भारी दुःखमें डाल दिया। नारीके शरीरमें जो ये वस्त्र और आभूषण आदि हैं, ये ही उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं, वास्तवमें वह रक्त-मांस आदिका पिण्ड है। इस तरहका विचार न करके केवल रूपमात्रका अनुसरण करनेके स्वभावसे युक्त होनेके कारण ये नेत्र अयोग्य विषयकी ओर भी दौड़ पड़ते हैं।

तात! यह घ्राणेन्द्रिय इस संसारमें अनर्थकी प्राप्तिके लिये ही चारों ओर दौड़ लगा रही है। तेज दौड़नेवाले घोड़ेकी भाँति इसे मैं रोक नहीं पाता हूँ। मेरी यह रसना शास्त्रके अनुसार भक्ष्याभक्ष्यका विचार न करके चिरकालसे नाना प्रकारके रसोंका आस्वादन कर रही है। इसने मुझे गजराजों और गीदड़ोंसे भरे हुए दुःखके पहाड़ोंपर चढ़ाकर बड़ा तंग किया है। जैसे ग्रीष्म ऋतुमें प्रचण्ड किरणोंसे तपते हुए सूर्यके तापको रोकना असम्भव है, उसी प्रकार मेरी स्त्रगिन्द्रियमें जो दूसरोंके आलिङ्गनकी लम्पटता आ गयी है, उसे मैं रोक नहीं सकता। मुने! जैसे नयी-नयी घास चरनेकी इच्छा हरिणको विषम संकटमें (तिनकोंसे ढके हुए कूपमें) डाल देती है, उसी प्रकार मेरी ये श्रवणशक्तियाँ सुमधुर शब्दोंके रसास्वादनकी अभिलाषा लेकर मुझे विषम संकटमें डाल देती हैं। विनम्र सेवकोंके मुखसे निकली हुई, प्रियकारिणी (आनन्ददायिनी), विनयपूर्ण तथा वाद्यगीतकी मधुर ध्वनिसे मिली हुई सुन्दर शब्द-सम्पत्तियोंका मैंने श्रवण किया है।

खनखनाते हुए मणियोंके आभूषण जिनकी शोभा बढ़ाते हैं, ऐसी सुन्दरी स्त्रियों तथा जो अपनी सौन्दर्य-सम्पदासे सबके मनको हर लेती हैं, ऐसी राज्यलक्ष्मियों, दिशाओं तथा समुद्र और पर्वतोंकी तटभूमियोंका मैंने बारंबार अवलोकन किया है। मैंने विनयशालिनी प्रियतमाओंद्वारा लाये गये, स्वादिष्ट मधुर आदि रसोंके चमत्कारोंसे मनको मोह लेनेवाले तथा उत्तम गुणोंसे सुशोभित छः प्रकारके रसोंका चिरकालतक आस्वादन किया है। मैंने सब ओर भोगभूमियोंमें रेशमी मुलायम वस्त्रों, सुन्दर कामिनियों, मनोहर हारों, फूल-बिछी शय्याओं तथा शीतल, मन्द, सुगन्ध हवाओंका बिना किसी विघ्न-बाधाके भलीभाँति स्पर्श (आलिङ्गन) प्राप्त किया है। मुने! चन्दन, अगुरु आदि ओषधियों, भाँति-भाँतिके फूलों तथा ढेर-के-ढेर कपूर एवं कस्तूरी आदिके संचयसे प्रकट होनेवाली सुगन्धोंका, जो मन्द-मन्द वायुसे प्रेरित होकर मेरी नासिकातक पहुँचती थीं, मैंने दीर्घकालतक अनुभव किया है। मैंने शब्द आदि विषयोंका बारंबार श्रवण, स्पर्श, दर्शन, रसास्वादन तथा सुगन्ध-सेवन किया है। पर अब तीव्र वैराग्यके कारण ये विषय मेरे लिये रसहीन हो गये हैं। अतः शीघ्र बताइये, अब मैं पुनः किस वस्तुका सेवन करूँ! चिरकालतक अकण्टक राज्य किया, सुन्दरियोंका उपभोग किया और शत्रुओंकी बड़ी भारी सेनाओंको मिट्टीमें मिला दिया। यह सब करके अब कौन-सी अपूर्व वास्तविक वस्तु शेष है, जिसकी प्राप्ति की जाय!

विषयोंकी इन दुरन्त वनश्रेणियोंमें इन्द्रियरूपी लुटेरोंने मुझे चिरकालतक उसी तरह ठगा है, जैसे धूर्त

किसी भोले-भाले बच्चेको ठग लेते हैं। मतवाले हाथी ऐरावतके कुम्भस्थलको विदीर्ण कर देना सरल है; परंतु कुमार्गमें प्रवृत्त हुई अपनी इन इन्द्रियोंको रोकना सरल नहीं है। जो लोग जितेन्द्रिय तथा महान् सत्त्वगुणसे सम्पन्न हैं, वे ही इस भूतलपर मनुष्य कहे जाने योग्य हैं, इनके अतिरिक्त दूसरे मानवोंको तो मैं मांसकी बनी हुई चलती-फिरती मशीनें समझता हूँ। भोगोंकी आशाका परित्याग कर देनेके सिवा दूसरे कोई ऐसे साधन नहीं हैं, जो इन्द्रियरूपी महान् रोगोंकी शान्ति कर सकें। इनकी शान्तिके लिये न तो ओषधियाँ, न तीर्थ और न मन्त्र ही लाभकारी सिद्ध होते हैं। जैसे विशाल वनमें बहुतसे लुटेरे यात्रा करनेवाले अकेले पथिकको महान् कष्टमें डाल देते हैं, उसी प्रकार विषयोंकी ओर दौड़नेवाली इन इन्द्रियोंने मुझे अत्यन्त खेदजनक अवस्थामें पहुँचा दिया है। गहरे गड्ढे और इन्द्रियाँ एक-सी ही हैं, दोनों ही प्राणियोंको नीचे गिरानेमें अत्यन्त कुशल हैं। उनमें दोषरूपी विषधर सर्प वास करते हैं तथा इनमें विषयरूपी लाखों रूखे काँटे होते हैं। राक्षस और अपनी इन्द्रियाँ दोनों एक-से स्वभाववाले हैं। दोनों अपने ही पालन-पोषणमें तत्पर, अनार्य, दुःसाहसी तथा अन्धकारमें विहार करनेवाले होते हैं। जीर्ण बाँस आदिकी लकड़ियाँ और इन्द्रियाँ भीतरसे खोखली, निस्सार, टेढ़ी, गाँठवाली तथा एकमात्र जलानेके ही योग्य होती हैं। दुखियोंका उद्धार करनेवाले महात्मन्! इस प्रकार इन इन्द्रियोंके कारण मैं विपत्तिके समुद्रमें डूबा हुआ हूँ। मेरे पास आत्मरक्षाका कोई साधन नहीं है। आप स्वयं ही कृपा करके मेरा उद्धार कीजिये; क्योंकि संसारमें जो कोई भी श्रेष्ठ संत-महात्मा हैं, उनका समागम बड़े-से-बड़े शोकको हर लेनेवाला है, ऐसा सभी सत्पुरुष कहते हैं। (सर्ग ५-६)

भुशुण्डजीद्वारा विद्याधरको उपदेश—दृश्य-प्रपञ्चकी असत्ता बताते हुए संसार-वृक्षका निरूपण

भुशुण्डजी कहते हैं—ब्रह्मन्! विद्याधरके उस पवित्र वचनको सुनकर मैंने उसके प्रश्नके अनुसार सुस्पष्ट पदोंसे युक्त वाणीद्वारा उसे इस प्रकार उत्तर दिया—'विद्याधर! यह बड़ी अच्छी बात है कि तुम अपने कल्याणके लिये जाग उठे हो। सौभाग्यका विषय है कि तुम्हें चिरकालके बाद संसाररूपी अन्धकारपूर्ण कूपसे ऊपर उठनेकी इच्छा हुई है। आज विवेकसे युक्त हुई तुम्हारी पवित्र बुद्धि अग्निसे व्याप्त सुवर्णकी भाँति अद्भुत शोभा पा रही है। मुझे विश्वास है कि विवेकसे निर्मल हुई तुम्हारी बुद्धि मेरी उपदेशवाणीके तात्पर्यको सुन्दर ढंगसे अनायास ही ग्रहण कर सकती है; क्योंकि स्वच्छ दर्पणमें पदार्थोंका प्रतिबिम्ब अनायास ही प्रकट हो जाता है। इस समय मैं जो कुछ कहूँ, वह सब तुम्हें स्वीकार कर लेना चाहिये; क्योंकि मैंने चिरकालतक अनुसंधान करके इस विचारको निश्चित किया है। अतएव तुम्हें इस विषयमें कोई दूसरा विचार नहीं करना चाहिये। जो कुछ अहंकार आदि तुम्हारे अन्तःकरणमें प्रतीत हो रहा है, वह सब तुम नहीं हो। इन दृश्योंमें ही कोई आत्मा है, जिसे ढूँढ़कर प्राप्त करना है, ऐसा विचारकर यदि चिरकालतक अपने भीतर ढूँढ़ते रहोगे तो भी तुम्हें अपने स्वरूपभूत आत्माकी उपलब्धि नहीं होगी। इसलिये दृश्यमात्र ही जिसका लक्षण है, उस अज्ञानको छोड़कर तुम उसके साक्षीको आत्मा समझो।

जैसे मृगतृष्णामें जलकी प्रतीति होनेपर भी वास्तवमें वहाँ जल नहीं होता है, उसी प्रकार सारा विश्व अवस्तुरूप होनेके कारण सद्रूपसे प्रतीत होनेपर भी असत् ही है। अथवा ऐसा समझो कि यह जो कुछ भासित होता है, वह सब ब्रह्म ही है या यों समझो कि वह कुछ

भी नहीं है अथवा कोई अनिर्वचनीय वस्तु ही है। तुम अहंताको ही इस विश्वका बीज—मूलकारण समझो; क्योंकि उसीसे पर्वत, समुद्र, पृथ्वी और नदी आदिके सहित यह जगत्-रूपी वृक्ष प्रकट हुआ है और इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्तिरूपी रससे परिपूर्ण जो ऊपरके भुवन हैं, वे ही इस वृक्षके मूल भाग हैं। चारों युग इसमें लगे हुए घुन हैं। अज्ञान ही इसकी उत्पत्तिकी भूमि है। जीवमात्र इसपर बसेरे लेनेवाले करोड़ों पक्षी हैं। भ्रान्ति-ज्ञान इस वृक्षका विशाल तना है और तत्त्वज्ञानसे उपलब्ध होनेवाला मोक्ष ही इस वृक्षको दग्ध करनेवाली अग्नि है। इन्द्रियों-द्वारा विषयोंकी उपलब्धि और मनसे होनेवाले संकल्प-विकल्प आदि इस वृक्षके विविध भाँति-भाँतिके सौरभ (सुगन्ध) है। विशाल आकाश महान् वन है। ऋतुएँ इसकी विचित्र शाखाएँ हैं, दसों दिशाएँ उपशाखाएँ हैं। इस तरह संसाररूपी वृक्ष अपने मूलभागसे पातालको, मध्यभागसे सम्पूर्ण दिशाओंको और शिखाभागसे अन्तरिक्षको परिपूर्ण करके वास्तवमें असद्रूप होता हुआ भी सत्के समान प्रतीत होता है। (सर्ग ७)

संसार-वृक्षके उच्छेदके उपाय, प्रतीयमान जगत्की असत्ता, ब्रह्ममें ही जगत्की प्रतीति तथा सर्वत्र ब्रह्मकी सत्ताका प्रतिपादन

भुशुण्डजी कहते हैं—विद्याधर! पातालसहित यह पृथ्वी जिसका आधार (मूलभाग) है, लोकालोकपर्यन्त फैले हुए पर्वतोंकी कन्दराएँ जिसकी वेदी हैं, ऐसा यह संसार-रूपी वृक्ष अहंकाररूप बीजसे उत्पन्न होता है। ज्ञानरूपी अग्निसे जब इसका बीज दग्ध हो जाता है, तब कुछ भी उत्पन्न नहीं होता। यहाँ जो कुछ प्रतीत हो रहा है, सब असत्य ही है। मायाके हाथी-घोड़ोंकी तरह कहींसे यों ही पैदा हो गया है। संकल्प-विकल्पको त्याग देने-मात्रसे इस संसार-भ्रमका नाश हो जाता है। शुद्धात्मन्! तुम पहले पतनके हेतुभूत अविवेक-पदमें स्थित थे। किंतु अब उससे भिन्न उस पुण्यमयी दूसरी विवेक-पदवीको प्राप्त हो गये हो, जो तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाली है। अतः मेरा अनुमान है कि इस मनके द्वारा अब फिर तुम नीचे नहीं गिरोगे। इसलिये तुम मन और वाणीकी चेष्टासे रहित, निर्मल, सच्चिदानन्द परमात्मपदका आश्रय लेकर सम्पूर्ण दृश्यसमूहको त्याग दो।

निष्पाप विद्याधर! दृश्यको याद न रखते हुए सब प्रकारके तापसे शून्य एवं शान्त सच्चिदानन्दघन-स्वरूपसे स्थित रहो। अहंकारकी सत्ता नहीं है, इस भावनासे अहंकाररहित होकर यदि तुम्हारा चेतन-स्वरूप चिन्मय परमात्मामें पूर्णरूपसे मिलकर एक हो जाय तो दूसरी कोई प्रकाशित वस्तु है ही नहीं. फिर तुम्हारे स्वरूपभूत ब्रह्मकी किससे उपमा दी जाय।

चिन्मय परमात्मासे भिन्न माने गये इस जगत्के स्फुरणको तुम चिन्मय परमात्मासे ही उत्पन्न हुआ जानो; क्योंकि काष्ठ, जल और दीवार सबमें ही परम परमाणु विराजमान है। सभी स्थानोंमें सृष्टिका समूह परस्पर गुँथा हुआ स्थित है। ब्रह्म और जगत्में जो भेद कहा गया है, वह असत् है। जैसे सुवर्ण और कटकमें भेद नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म और जगत्में भी भेद नहीं है। (सर्ग ८–१०)

चिन्मय परब्रह्मके सिवा अन्य वस्तुकी सत्ताका निराकरण, जगत्‌की निःसारता तथा सत्सङ्ग, सत्-शास्त्र-विचार और आत्मप्रयत्नके द्वारा अविद्याके नाशका प्रतिपादन

भुशुण्डजी कहते हैं—विद्याधर ! जैसे 'महाकाशमें घटाकाश उत्पन्न हुआ है' अपने मनसे इस तरहकी कल्पना करना भ्रममात्र ही है; उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मामें प्रपञ्चात्मक असद्रूप अहंभावकी भावना केवल भ्रम ही है। सम्पूर्ण कल्पनाओंका अधिष्ठान वह ब्रह्म परम सूक्ष्म है। उसीकी कल्पना यह आकाश आदि जगत् है। देश, काल आदि जगत् तथा इसके सहस्रों अवान्तर कार्यरूपी विस्तारोंमें भी एकमात्र घन, सूक्ष्म, चिन्मय ब्रह्मके विस्तारके सिवा दूसरा कोई वास्तविक रूप हो, यह सम्भव नहीं है। चिन्मय परमात्माका विस्तार होनेसे ही काल, आकाश, नौका, जल, स्थल, निद्रा, जाग्रत् और स्वप्नमें भी जगत् उत्पन्न हुआ-सा प्रतीत होता है। विद्याधर! यह जगत् किसी पटपर अङ्कित हुए विशाल राज्यके चित्रके समान सुन्दर जान पड़ता है। इसमें सहस्रों खुर (पैर), मस्तक, नेत्र, हाथ और मुख, मुखोंकी चेष्टाएँ तथा तर्क-वितर्क दृष्टिगोचर होते हैं। इसमें परिमित जगहमें ही नाना प्रकारके पर्वत, शरीर, दिशा, देश और नदी आदि दृश्य वस्तुओंका चित्रण हुआ है। यह भीतरसे शून्य और निःसार है। अनेक प्रकारके रंगोंसे रँगा हुआ है। वैराग्य-भावके प्रकट होते ही इसका विनाश हो जाता है। इस चित्रमय जगत्‌में देवता, असुर, गन्धर्व, विद्याधर, बड़े-बड़े नाग और मनुष्य आदि प्राणी अङ्कित हैं। जैसे नूतन चित्र अंगुलियोंद्वारा किया गया मर्दन नहीं सह सकता, उसी तरह यह जगत् विचारको नहीं सहन कर पाता अर्थात् जैसे हाथसे रगड़नेपर चित्र मिट जाता है, उसी तरह विवेकपूर्वक विचार करनेपर यह जगत् भी नहीं टिक पाता है। मानसिक संकल्प-विकल्पसे ही यह प्रकाशमें आता है। हृदयको क्षुब्ध कर देनेवाली काम-वासनारूप जालके समूहोंसे निबद्ध, सम्पूर्ण आवर्त-रूपी विकारोंसे युक्त, स्त्री-पुत्र आदिमें फैलते हुए स्नेहसे मिश्रित तथा मिथ्या होनेके कारण अजात विषयोंके बारंबार आस्वादनके द्वारा प्रसारको प्राप्त हुआ जो जीवात्माका सकल्प है, वह चित्रलिखित विशाल राज्यके रूपमें वर्णित यह संसार है। विद्याधर ! मन, अहङ्कार, बुद्धि आदि जो कुछ भी विकल्पक ज्ञान है, उस सबको तुम एकमात्र अविद्या ही समझो, जो पुरुष-प्रयत्नसे शीघ्र नष्ट हो जाती है।

इतना प्रसंग सुनानेके बाद श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! संसार-सागरको पार करनेकी इच्छावाले विरक्त श्रेष्ठ पुरुषके साथ तथा परमात्मज्ञानीके साथ भी बैठकर इस संसारके विषयमें विवेकी मनुष्यको विचार करना चाहिये (कि यह क्या है ? इसका परिणाम, मूल और सार क्या है ? तथा इससे मुक्त होनेका क्या उपाय है ?)। विवेकी पुरुषको उचित है कि वह जहाँ-कहींसे भी विरक्त, ईर्ष्यारहित एवं परमात्मज्ञानी श्रेष्ठ पुरुषको ढूँढ़ निकाले और यत्नपूर्वक उसका संग और सेवा करे। ज्ञेय तत्त्वका ज्ञान रखनेवाले विद्वानोंमें श्रेष्ठ श्रीराम ! तुम यह अच्छी तरह जान लो कि श्रेष्ठ पुरुषका संग सिद्ध हो जानेपर साधकको महान् श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होती है, जिससे अविद्याका आधा भाग तत्काल नष्ट हो जाता है। इस प्रकार अविद्याका आधा भाग तो सत्संग-से नष्ट होता है और एक चौथाई भाग शास्त्रोंके तात्पर्यकी आलोचनासे दूर हो जाता है; फिर जो चतुर्थ भाग शेष रह जाता है, उसे मनुष्यको अपने प्रयत्नसे परमात्म-साक्षात्कारके द्वारा नष्ट कर देना चाहिये। यदि संसार-बन्धनसे मुक्त होनेकी एकमात्र उत्कट इच्छा उत्पन्न हो जाय तो वह इच्छा वैराग्यके द्वारा उस पुरुषको भोगों और उसके साधनोंसे दूर हटा देती है। भोग-इच्छाका नाश हो जानेपर अविद्याका चतुर्थ अंश अपने यत्नसे नष्ट

हो जाता है। सत्संग, शास्त्रोंके अर्थका विवेकपूर्वक विचार और अपना प्रयत्न—इन सब साधनोंकी एक साथ प्राप्ति होनेपर एक ही समयमें अथवा एक-एक साधनके प्राप्त होनेपर क्रमशः अविद्यारूपी मलका नाश होता है। अविद्याका नाश हो जाना ही जिसका एकमात्र स्वरूप है, ऐसा जो अविद्याकी निवृत्तिके पश्चात् तत्त्व शेष रहता है, उस नाम और अर्थसे रहित परम वस्तुको वास्तवमें नित्य सत्य होनेके कारण सत् और प्रतीत न होनेके कारण असत् भी कहा गया है। वह परमार्थ वस्तु आनन्दघन, जरा आदि विकारोंसे रहित, अनन्त और एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म ही है। संकल्पमात्रमें स्फुरित होनेवाला नाम-रूपात्मक जगत् तो वास्तवमें है ही नहीं। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयकी जो त्रिपुटी है, उसके मोहसे तुम सर्वथा रहित हो। अतः निर्वाण ब्रह्मरूपसे सर्वत्र व्याप्त हुए सदा शोकशून्य अवस्थामें स्थित हो।

(सर्ग ११-१२)

त्रसरेणुके उदरमें इन्द्रका निवास और उनके गृह, नगर, देश, लोक एवं त्रिलोकके साम्राज्यकी कल्पनाका विस्तार

भुशुण्डजी कहते हैं—विद्याधर! किसी समयकी बात है, कहीं किसी कल्पवृक्षमें उसकी युगल शाखामें ब्रह्माण्डरूपी गूलरका फल प्रकट हुआ। उसके भीतर तीनों लोकोंके स्वामी देवताओंके राजा इन्द्र उसी तरह निवास करते थे, जैसे शहदके छत्तेमें मधु-मक्खियोंका स्वामी। वे गुरुके उपदेश और अपने अभ्याससे अविद्याके आवरणका नाश करके महात्मा हो गये थे। अपने अन्तःकरणमें सदा परमात्माके स्वरूपका चिन्तन करते रहते थे। पूर्वापरका ज्ञान रखनेवाले विद्वानोंमें उनका सबसे ऊँचा स्थान था। तदनन्तर एक समय प्रभावशाली भगवान् नारायण और शिव आदि, जब कहीं अपने लोकातीत परमधाममें विराजमान थे, उस समय उन देवराज इन्द्रने अकेले ही अस्त्र-शस्त्ररूपी अग्निज्वालाको धारण करनेवाले महापराक्रमी असुरोंके-सा युद्ध किया, उसमें उनकी पराजय हुई और उन्हें तुरंत ही युद्धभूमिसे भागना पड़ा। शत्रु उनके पीछे पड़ गये थे; अतः वे बड़े वेगसे दसों दिशाओंमें भागते फिरे। उन्हें कहीं भी ऐसा आश्रय नहीं मिला, जहाँ वे विश्राम ले सकें। इतनेमें ही उनके शत्रुओंकी दृष्टि कहीं इधर-उधर चली गयी। उस समय इन्द्रको छिपनेके लिये थोड़ा-सा अवसर मिल गया। उन्होंने अपने संकल्पजनित स्थूल साकार रूपको शान्त करके अपने अन्तःकरणके भीतर ही सूक्ष्मभूतमें विलीन कर दिया और अत्यन्त अणुरूप होकर बाहर सूर्यकी किरणोंमें स्थित किसी त्रसरेणुके भीतर संकल्पमात्रसे प्रवेश किया, वहाँ उन्हें शीघ्र ही विश्राम प्राप्त हुआ। फिर तो उन्हें युद्धकी बात भूल गयी और इसीलिये वहाँसे बाहर निकलनेका संकल्प भी निवृत्त हो गया। वहाँ उन्होंने अपने रहनेके लिये एक घरकी कल्पना की और क्षणभरमें उन्हें अनुभव हुआ कि घरका निर्माण हो गया और मैं उसमें रह रहा हूँ। उस संकल्पकल्पित भवनके भीतर एक कमलके आसनपर बैठकर वे उसी तरह आनन्दका अनुभव करने लगे, जैसे अपने स्वर्गीय सदनमें सिंहासनपर बैठकर किया करते थे।

उस घरमें रहते हुए इन्द्रने एक ऐसा कल्पित नगर देखा, जिसके परकोटे और महल मणि, मोती तथा मूँगे आदिसे बने हुए थे। उस नगरके भीतर जाकर देवराजने जब इधर-उधर दृष्टिपात किया, तब उन्हें एक देश दिखायी दिया, जो अनेकानेक पर्वत, ग्राम, गोशाला, नगर और काननोंसे सुशोभित था। तत्पश्चात् वैसे ही संकल्पसे युक्त हुए इन्द्रने एक विशाल लोक

अनुभव किया, जिसमें बहुत-से पर्वत, समुद्र, पृथ्वी, नदियाँ, नरेश और उनके राज्यकी सीमाएँ दृष्टिगोचर होती थीं। वह लोक क्रिया तथा काल आदिकी कल्पनाओंसे युक्त था। इसके बाद उसी तरहके सकल्पका आनन्द लेनेवाले देवेन्द्रने वहाँ तीनों लोकोंको देखा, जो पाताल, पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग, सूर्य और पर्वत आदि अनेक पदार्थोंसे भरे-पूरे थे। फिर उसी त्रिलोकीमें भोगराशिसे विभूषित हुए इन्द्र देवराजके पदपर प्रतिष्ठित हुए। कुछ कालके बाद उन्हें एक पराक्रमी पुत्र प्राप्त हुआ, जिसका नाम था कुन्द। तत्पश्चात् वे प्रशंसाके योग्य देवराज इन्द्र जीवनके अन्तमें शरीरका परित्याग करके मोक्षको प्राप्त हो गये। इसके बाद उनके पुत्र कुन्द त्रिलोकीके राजा हुए। फिर वे भी अपने एक पुत्रको जन्म देकर जीवनके अन्तमें कालके अधीन हो परमपदको प्राप्त हुए। तदनन्तर कुन्दका पुत्र भी पिताकी ही भाँति दीर्घकालतक राज्य करनेके पश्चात् अपने पुत्रको राजसिंहासनपर बिठाकर जीवनके अन्तमें परमपदको प्राप्त हो गया। सुन्दर! इस प्रकार उस देवराज इन्द्रके सहस्रों पौत्र राज्यपर प्रतिष्ठित हुए और कालके गालमें चले गये। आज भी वहाँ उन्हींके पौत्रोंका राज्य है, जिनमेंसे अंशक इस समय राजसिंहासनपर प्रतिष्ठित है।

(सर्ग १३)

इन्द्र-कुलमें उत्पन्न हुए एक इन्द्रका विचार-दृष्टिसे परमात्मतत्त्वका साक्षात्कार करके इस त्रिलोकीके इन्द्रपदपर प्रतिष्ठित होना तथा अहंभावनाके निवृत्त होनेसे संसार-भ्रमके मूलोच्छेदका कथन

भुशुण्डजी कहते हैं—विद्याधर! पहले जिनकी चर्चा की गयी है, उन्हीं इन्द्रके कुलमें कोई उत्तम गुणोंसे सम्पन्न कान्तिमान् बालक उत्पन्न हुआ, जो देवराजके पदपर प्रतिष्ठित हुआ। कुछ कालके पश्चात् बृहस्पतिके उपदेशसे उन इन्द्रके उस वंशजको आत्मतत्त्वका साक्षात्कार करानेवाला ज्ञान प्राप्त हुआ। फिर तो उसे जानने योग्य आत्मतत्त्वका ज्ञान हो गया। वह प्रारब्धके अनुसार जो कुछ प्राप्त होता, उसीमें संतोष करता था। इस प्रकार रहते हुए उस इन्द्रवंशी देवराजने तीनों लोकोंका राज्य किया।

ज्ञान-बलसे सुशोभित होनेवाले उन देवेन्द्रके मनमें किसी समय ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई कि 'मैं भलीभाँति ध्यान लगाकर ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार करूँ।' ऐसा विचार कर वे एकान्तमें बैठ गये और बाहर-भीतरके सम्पूर्ण विक्षेपोंसे रहित शान्त-चित्त हो ध्यान-समाधि लगाकर परब्रह्मके स्वरूपको विचार-दृष्टिसे देखने लगे। उन्होंने अनुभव किया कि परब्रह्म परमात्मा सम्पूर्ण शक्तियोंसे सम्पन्न है। सर्व-वस्तुस्वरूप, सर्वत्र व्यापक, सब प्रकारसे सर्वदा सर्वमय है। सबके साथ सर्वत्र विद्यमान है और सबमें व्यापक है। उसके सब ओर हाथ-पैर हैं, सब ओर नेत्र, मस्तक और मुख हैं तथा सब ओर कान हैं; क्योंकि वह संसारमें सबको व्याप्त करके स्थित है। वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंके गुणोंसे रहित होता हुआ भी सम्पूर्ण इन्द्रियोंके गुणोंसे युक्त है। आसक्तिरहित होनेपर भी सबका धारण-पोषण करनेवाला है तथा निर्गुण होकर भी गुणोंको भोगनेवाला है। वह चराचर सभी प्राणियोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है। अचर और चररूप भी वही है। सूक्ष्म होनेके कारण वह जाननेमें नहीं आता है। वह अति समीपमें है और दूरमें भी है। चन्द्रमा और सूर्यके रूपमें वही है। उसीने पृथ्वीका रूप धारण कर रखा है और वही पर्वत तथा समुद्रके रूपमें है, वह सर्वत्र सारभूत एवं गुरु है। वही आकाशरूपसे विद्यमान है। सर्वत्र संसृति और जगत्के रूपमें भी वही है। वह सभी स्थानोंमें मोक्षरूपसे

विद्यमान है। सभी जगह वह चिन्मय तत्त्वरूपसे स्थित है। वह सर्वत्र सभी पदार्थोंके रूपमें है और वास्तवमें सब ओरसे सबसे रहित है। इस प्रकार परम बुद्धिमान् और उदारचित्त उस इन्द्रने देरतक ध्यान लगाकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको एकमात्र परमात्मामें स्थित देखते हुए हमलोगोंके द्वारा अनुभवमें लाये जानेवाले इस जगत्का भी अवलोकन किया। तदनन्तर इस सृष्टिके ब्रह्माण्डमें विचरता हुआ वह इन्द्र वहाँके इन्द्रलोकमें पहुँचकर जब इन्द्रके समीप गया, तब उसका 'मैं इन्द्र हूँ' यह संस्कार जाग उठा और वह प्रारब्धवश वहाँका इन्द्र हो गया। तत्पश्चात् वह सैकड़ों वृत्तान्तोंसे सुशोभित इस त्रिभुवनके राज्यका शासन करने लगा। त्रसरेणुके उदरमें निवास करनेवाला जैसे यह परम कान्तिमान् तथा इन्द्रकुलमें उत्पन्न इन्द्र बनाया गया है, वैसे ही इधर-उधर ऐसे व्यवहारवाले लाखों इन्द्र इस चेतन आकाशमें हो चुके हैं और मौजूद हैं।

विद्याधर! तुम यह अच्छी तरह समझ लो कि जगत् अहंकारका कार्य है। अहंकारके भीतर जगत् कल्पित है और जगत्के अंदर अहंकार व्यापक है। जो पुरुष सकल्प-शून्यतारूप ज्ञानसे जगत्के बीजभूत अहंभावका मार्जन कर देता है, उसने मानो जगत्-रूपी मलको जलके द्वारा ही पूर्णरूपसे धो डाला है। अतः विद्याधर! अहता नामकी भी कोई वस्तु कहीं नहीं है। वह अवास्तविक होनेके कारण खरगोशके सींगकी भाँति असत् एवं बिना कारणके ही प्रकट हुई है। (सर्ग १४-१५)

शुद्ध चित्तमें थोड़े-से ही उपदेशसे महान् प्रभाव पड़ता है, यह बतानेके लिये कहे गये भुशुण्डवर्णित विद्याधरके प्रसंगका उपसंहार, जीवन्मुक्त या विदेहमुक्तके अहंकारका नाश हो जानेसे उसे संसारकी प्राप्ति न होनेका कथन

भुशुण्डजी कहते हैं—मुने! मैं इस प्रकार उपदेश दे ही रहा था कि उस विद्याधर-राजका सारा दृश्य-विषयक संकल्प शान्त हो गया। उसकी समाधि लग गयी। मैंने बारबार उसे इधर-उधरसे हिला-डुलाकर जगाया; परंतु परम निर्वाण पदको प्राप्त वह विद्याधर फिर सामनेके दृश्य विषयोंकी ओर उन्मुख नहीं हुआ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! भुशुण्डजीका बताया हुआ विद्याधरका इतिहास मुझे स्मरण हो आया; इसीलिये मैंने तुमसे कहा था कि शुद्ध चित्तमें उपदेश उसी तरह प्रभाव डालता है, जैसे पानीमें तेलकी बूँद। अहंभावना ही दुःखनामक मेरुके वृक्षका मुख्य बीज है। उस अहंभावनाके समान ही 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धि भी उस वृक्षका आदिकारण है; क्योंकि यही रागादिरूपिणी शाखाओंके विस्तारका कारण है। पहले बीजरूपिणी अहंभावना होती है। फिर वृक्षरूपिणी ममभावना होती है। तत्पश्चात् शाखारूपिणी इच्छा (राग) की प्रवृत्ति होती है। यह इच्छा ही इदंपदार्थके रूपमें सैकड़ों अनर्थोंको उत्पन्न करनेवाली तथा संसार-भ्रमका धारण-पोषण करनेवाली है।

रघुनन्दन ! मेरु पर्वतके शिखरपर पक्षिराज मुक्तात्मा मुनि काकभुशुण्डजी मुझसे पूर्वोक्त विद्याधरकी कथा सुनाकर चुप हो गये । श्रीराम ! तत्पश्चात् मै उन मुनिसे और उस सिद्ध विद्याधरसे भी विदा लेकर मुनिमण्डलीसे मण्डित अपने आश्रमपर आ गया। इस प्रकार आज मैंने तुमसे काक-भुशुण्डजीद्वारा कही गयी कथासे प्रतिपादित विषयका वर्णन किया है, जिसके अनुसार यह ज्ञात हुआ कि भुशुण्ड-जीके थोड़े से उपदेशसे ही विद्याधरको तत्त्वज्ञान प्राप्त होकर परम शान्ति मिल गयी । रघुनन्दन ! पक्षिराज भुशुण्डके साथ जब मेरा समागम हुआ था, तबसे आजतक ग्यारह महायुग व्यतीत हो चुके हैं ।

श्रीराम ! यह सबको ज्ञात है कि बीजके भीतर सैकड़ों शाखाओंसे युक्त तथा पत्र, पुष्प और फलसे सम्पन्न वृक्ष विद्यमान है; क्योंकि बीजारोपणके पश्चात् प्रकट हुए उस वृक्षको सब लोग अपनी आँखोंसे देखते हैं, इसी तरह अहंकाररूपी सूक्ष्म बीजके भीतर समस्त दृश्यज्ञानसे युक्त यह शरीर वर्तमान है, यह विवेकी पुरुषोंने विचार-दृष्टिसे देखा है । परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर सच्चिदानन्द परमात्मस्वरूप हुए जीवन्मुक्त पुरुषका शरीर लोकदृष्टिसे विद्यमान होनेपर भी वह अहतामूलक अभिमानको नहीं प्राप्त होता । अतएव उससे संसाररूपी वृक्षका प्राकट्य नहीं होता अथवा जो विदेहमुक्त होकर निरतिशय आनन्दस्वरूप परमात्मामें प्रतिष्ठित हो चुका है, उस पुरुषके बोधरूपी महाग्निसे दग्ध हुए असत्स्वरूप अहंतारूपी बीजके भीतरसे फिर इस संसाररूपी वृक्षका प्रादुर्भाव नहीं होता । (सर्ग १६-१७)

मृत पुरुषके प्राणोंमें स्थित जगत्के आकाशमें भ्रमणका वर्णन तथा परब्रह्ममें जगत्की असत्ताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! सम्पूर्णतः नाश-रूप मृत्यु कभी नहीं होती है । अपने दूसरे संकल्पोंका कुछ कालतक स्थिर रहना ही मरण कहलाता है । प्राणके भीतर चित्त है और चित्तके भीतर विविध आकार-प्रकारसे युक्त जगत् वैसे ही विद्यमान है, जैसे बीजके भीतर वृक्ष । पुरुषकी मृत्यु हो जानेपर उसके शरीरसे निकले हुए प्राण बाह्याकाशमें भरे हुए वायुसमूहके साथ ऐसे मिल जाते हैं, जैसे समुद्रके जल नदियोंके जलके साथ मिलकर एक हो जाते हैं । आकाशमें विद्यमान वायुके भीतर मृत प्राणियोंके प्राण हैं । उन प्राणोंके भीतर उनका मन है और उस मनके भीतर जगत्को उसी प्रकार स्थित समझो, जैसे तिलमें तेल रहता है । रघुनन्दन ! जैसे वायुमें स्थित सुगन्ध इधर-उधर ले जायी जाती है, उसी तरह प्राण-वायुमें स्थित आकाशात्मक जगत् इधर-उधर यत्र-तत्र ले जाये जाते हैं । जैसे घड़ेको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें पहुँचा देनेपर उसके भीतरके आकाशमें कोई भेद नहीं होता, उसी प्रकार स्पन्दन आदिसे युक्त चित्तमें तीनों जगत्का भ्रम रहनेपर भी चेतन आत्मामें वस्तुतः वह स्पन्दन और भ्रम नहीं होता है । जगत् और इसका भ्रम दोनों उदित नहीं हैं । यदि उदित हों तो भी वायुद्वारा किये गये इस पृथ्वीके परिभ्रमण आदिको इसके ऊपर स्थित हुए प्राणी उसी तरह नहीं देख पाते हैं, जैसे नौकाके भीतर बैठे हुए मनुष्य उसकी गतिको नहीं देखते हैं । वे तीनों लोक देश, काल, क्रिया तथा द्रव्यरूप ही हैं और अहंकार भी इन देश, काल आदिके साथ सम्बन्ध रखनेके कारण देश-कालादि रूप ही है । अतः देश-कालादिरूप जगत् और अहंकारमें भेद नहीं है । अज्ञानीमें जिस प्रकार विकल्प-सम्पत्तिका उदय होता है, उस प्रकार ज्ञानीमें निश्चय ही उसका उदय नहीं होता है । चेतन आकाशरूप परमात्मा सर्वव्यापी और अनन्त हैं । इसलिये वह विकल्प-सम्पत्ति उसका स्वरूप न होनेके कारण सत्स्वरूपा नहीं है ।

परम चेतन—परब्रह्म परमात्मा सर्वस्वरूप सर्वशक्तिमान् है इसलिये उसमें गुण, वस्तु, क्रिया और जाति आदिसे अनन्तरूपताको प्राप्त तथा नाना प्रकारके कार्यों-का आरम्भ करनेवाले दिगन्तवर्ती जनसमुदायसे परिपूर्ण ये सब संसार चञ्चल जलाशयके भीतर प्रतिबिम्बित क्षणभङ्गुर नगरों एवं अपने अन्त:करणमें स्थित समस्त उपकरणोंसे भरे महानगरोंके समान असद्रूपसे ही स्थित हैं।

(सर्ग १८)

जीवके स्वरूप, स्वभाव तथा विराट् पुरुषका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जो वास्तवमें न परम अणुरूप कहा जा सकता है और न स्थूल, शून्य या अन्य कुछ ही, वरं जो चिन्मय, स्वानुभवरूप और सर्वव्यापक है, वही जीव कहा जाता है। जिस-जिस पदार्थका जो भाव—असाधारण स्वरूप है, उसके रूपमें उस-उस पदार्थमें स्थित होकर जो तदाकार भासित होता है, उसे तुम जीव ही समझो; क्योंकि बारंबार देखनेपर उन-उन पदार्थोंके आकारमें उसीका अनुभव होता है। श्रीराम ! जीव जहाँ जिस प्रकार जो-जो संकल्प करता है, वहाँ वह तत्काल वैसा ही आकार धारण कर लेता है। जैसे चलना या हिलना-डुलना आदि चेष्टा वायुका स्वभाव है, उसी प्रकार विचित्र वस्तुओंका अनुभवरूप संसार जीवका स्वभाव ही है। इस बातका अपने अनुभवसे ही निर्णय कर लेना चाहिये। बालकको होनेवाले यक्षभ्रमके समान इसका हम उपदेशके द्वारा साधन नहीं करना चाहते। जीव चैतन्यघनस्वरूप होनेके कारण ही अहंभावनासे ही देश, काल, क्रिया और द्रव्यकी शक्तियोंका निर्माण करके स्थित होता है।

सर्वप्रथम परब्रह्म परमात्मासे मनोमयरूपसे उदित विराट् पुरुष (हिरण्यगर्भ) प्रकट हुआ। अतः वह आकाशके समान विशद, शान्त, नित्य, अनन्तस्वरूप और प्रकाशमय है। वह अद्वितीय विराट् पुरुष सबसे उत्कृष्ट परमेश्वररूप है। वह पञ्चभूतात्मक न होनेपर भी पञ्चभूतात्मक-सा भासित होता है। वह अपने ही संकल्पसे कल्पित अनेक कल्पोंमें तथा क्षणभरमें स्वेच्छानुसार स्वयं प्रकट होता है और बारंबार प्रकट होकर फिर स्वयं ही अदृश्य हो जाता है। वह आकाशस्वरूप, सर्वव्यापी, अनन्त परमेश्वर स्थूल, सूक्ष्म, व्यक्त एवं अव्यक्तरूप हो सबके बाहर-भीतर स्थित है। वह वास्तवमें किंचिद्रूप न होनेपर भी व्यवहारकालमें किंचिद्रूप अवश्य है।

श्रीराम ! उस विराट् पुरुषके मूर्तामूर्त-स्वरूप आठ अङ्ग हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियसहित प्राण, छठी इन्द्रिय मन और अहंकार। उसी पुरुषने चार मुखोंसे युक्त होकर शब्द और अर्थकी कल्पनासे युक्त ऋक् आदि चारों वेदोंका गान किया है। उसीने भारतीय सदाचारकी मर्यादा स्थापित की है, जो आज भी यथावत्रूपसे चली आ रही है। ऊपर अनन्त आकाश उस पुरुषका मस्तक है। नीचेका भूतल आदि उसके पैरोंका तलवा है। मध्यवर्ती आकाश उसका उदर है तथा यह ब्रह्माण्डमण्डप उसका शरीर है। अनन्त लोक-लोकान्तर उस पुरुषके पार्श्वभाग हैं। जल रक्त है। पर्वत मांसपेशियाँ हैं और सदा अविच्छिन्नभावसे बहनेवाली नदियाँ उसकी नाड़ियाँ हैं। समुद्र रक्तके आधार (रक्त-सञ्चयकी पेशियाँ) हैं। द्वीप ही कोशोंको आवेष्टित करने-वाली आँतें हैं। दिशाएँ फैली हुई भुजाएँ हैं। तारिकाएँ रोमावली हैं। उनका श्वास वातस्कन्ध प्राणवायु है। सूर्य-मण्डल प्रचण्ड नेत्र है और बड़वानल उसका पित्त है। चन्द्रमण्डल संकल्पात्मक मन है तथा परब्रह्म ही सारभूत आत्मा है। चन्द्रमारूपी मन ही शरीररूपी वृक्षका मूल कर्मरूपी विटपका बीज तथा सम्पूर्ण भावपदार्थोंका उद्भावन

एवं संवर्धन करनेसे आनन्दका कारण है। इस प्रकार भाँति-भाँतिके आचारोंसे युक्त विराट् पुरुष सहस्रों बार प्रकट हो चुके हैं तथा सैकड़ों महाकल्प बीत चुके हैं, भविष्यमें होनेवाले हैं और इस समय भी विद्यमान हैं। रघुनन्दन! जो ब्रह्मसे अभिन्न है; अतएव जिसका महान् सम्बन्ध अनन्त कालतक बना रहता है, उस अनुभवरूप अधिष्ठान-सत्ताके द्वारा परम विराट् पुरुष सब देश-कालमें स्थित रहता है। (सर्ग १९)

जगत्‌की संकल्परूपता, अन्यथादर्शनरूप जीवभाव तथा अहंभावनारूप महाग्रन्थिके भेदनसे ही मोक्षकी प्राप्तिका कथन और ज्ञानबन्धुके लक्षणोंका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! यह पञ्चभूतात्मा संकल्पपुरुष (विराट्) स्वयं जैसा-जैसा संकल्प करता है, वह ब्रह्मरूप आकाश भी वैसा ही प्रतीत होने लगता है। अतः विद्वान् पुरुष समस्त जगत्‌को विराट् पुरुषका एक सकल्प ही मानते हैं। वास्तवमें कहीं कोई वस्तु न तो स्थूल है और न सूक्ष्म ही है। भ्रमसे जहाँ जिस प्रकारकी कल्पनाका विस्तार होता है, वहाँ तत्काल वैसा ही अनुभव होने लगता है। मन चन्द्रमासे उत्पन्न हुआ है और चन्द्रमा मनसे। जैसे कुहरेसे आच्छादित हुई वस्तुका यथार्थ ज्ञान न होकर विपरीत ज्ञान होता है, उसी तरह अज्ञानसे आवृत आत्माका भी यथार्थ ज्ञान न होकर, जो अन्य प्रकारसे देखना या समझना है, वही जीवका स्वरूप है। इसीलिये विषयात्मक वस्तुओंमें उसकी प्रवृत्ति होती है। वह प्राण और इन्द्रिय आदि जड वस्तुओंसे तादात्म्यभावको प्राप्त होकर अपने यथार्थ-स्वरूपको उसी प्रकार नहीं देख पाता, जैसे जन्मान्ध मनुष्य मार्ग नहीं देख सकता। जगत्‌के रूपमें बढ़ी हुई अविद्या-शक्तिसे आवृत होकर जीव अपने अद्वैत स्वरूपमें ही द्रष्टा-दृश्य आदि द्वैतकी कल्पना करके उसमें अभिनिवेश (सुदृढ आग्रह) कर बैठता है। जैसे वायु स्पन्द-शक्तिसे आवृत होती है, उसी तरह उस अविद्या-शक्तिसे आच्छादित हुआ जीव अपने यथार्थ स्वरूपको नहीं देख पाता। अज्ञानकी सबसे बड़ी गाँठ है अहंभावना। वह मिथ्या विषयभूत और असत् है। उसका जो भेदन है, उसीको तत्त्वज्ञ पुरुषोंने मोक्ष कहा है।

श्रीराम! मनुष्यको सदा ज्ञानी ही होना चाहिये, ज्ञानबन्धु नहीं। मैं अज्ञानीको अच्छा समझता हूँ, परंतु ज्ञानबन्धुको नहीं।

श्रीरामजीने पूछा—मुने! ज्ञानबन्धु किसे कहते हैं और ज्ञानी कौन बताया जाता है? ज्ञानबन्धु होनेका क्या फल है और ज्ञानी होनेपर कौन-सा फल प्राप्त होता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! जैसे शिल्पी जीविकाके लिये ही शिल्पकलाको सीखता है, उसी प्रकार जो मनुष्य केवल भोगोपार्जनके लिये शास्त्रको पढ़ता और उसकी व्याख्या करता है किंतु स्वयं शास्त्रके कथनानुसार अनुष्ठानमें लगनेका प्रयत्न नहीं करता, वह ज्ञानबन्धु कहलाता है। शास्त्रोंके अभ्याससे जिसे शाब्दिक बोध तो प्राप्त हो गया है, परंतु विनाशशील भोग-व्यवहारोंमें उनसे वैराग्य आदिके रूपमें उस बोधका कोई फल नहीं दिखायी देता, उसका वह बोध केवल शिल्प है—तत्त्व-ज्ञानकी कथा कहकर दूसरोंको ठगनेके लिये चातुर्यपूर्ण कलामात्र है; उस कलासे केवल जीवननिर्वाह मात्र करने-वाला होनेके कारण वह पुरुष ज्ञानबन्धु कहलाता है। जो केवल भोजन और वस्त्रमात्रसे संतुष्ट हो भोजन आदिकी प्राप्तिको ही शास्त्राध्ययनका फल समझते हैं, वे शास्त्रोंके अर्थको शिल्पकलाके रूपमें धारण करनेवाले हैं। ऐसे पुरुषोंको ज्ञानबन्धु जानना चाहिये। तत्त्वज्ञ पुरुष परमात्म-ज्ञानको ही ज्ञान मानते हैं। उससे भिन्न जो दूसरे-दूसरे ज्ञान हैं, वे ज्ञानाभासमात्र हैं; क्योंकि उनके द्वारा सार-

तत्त्व परब्रह्म परमात्माका बोध नहीं होता। जो परमात्म-ज्ञानको न पाकर अन्य प्रकारके ज्ञानलेशकी प्राप्तिसे ही संतुष्ट हो लौकिक सुखके लिये कष्ट-साध्य चेष्टाएँ किया करते हैं, वे ज्ञानबन्धु माने गये हैं। मनुष्यको चाहिये कि इस संसारमें आहारकी प्राप्तिके लिये शास्त्रानुकूल अनिन्द्य कर्म करे। आहार भी उतना ही करे, जितनेसे प्राणोंकी रक्षा हो सके। प्राणरक्षा भी तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये ही करे। तत्त्वज्ञानकी इच्छा सबके लिये अत्यन्त आवश्यक है, जिससे फिर कभी जन्म-मरण आदि दुःखोंकी प्राप्ति न हो।* (सर्ग २०-२१)

ज्ञानीके लक्षण, जीवके बन्धन और मोक्षका स्वरूप, ज्ञानी और अज्ञानीकी स्थितिमें अन्तर, दृश्यकी असत्ता तथा परब्रह्मकी सत्ताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जो तत्त्वज्ञानके द्वारा ज्ञातव्य परब्रह्म परमात्मामें दृढ़ निष्ठा हो जानेके कारण पूर्वकृत कर्मोंके फलस्वरूप सुख-दुःखादि प्रारब्धका, शब्द आदि जड विषयोंका तथा चित्तका भी सद्रूपसे अनुभव नहीं करता है, वह ज्ञानी कहलाता है। परमात्माके स्वरूपको यथार्थ रूपसे जान लेनेपर जिस तत्त्वज्ञके समस्त व्यवहार उस तत्त्वज्ञानके अनुरूप ही होते हैं एवं जिसके चित्तकी सम्पूर्ण वासनाओंका अभाव हो चुका है, वह ज्ञानी कहलाता है। जो परमात्म-लाभसे संतुष्ट हो स्वाभाविक-रूपसे परम शान्त है तथा जिसकी सभी चेष्टाओंमें बुद्धिमान् पुरुषोंको आन्तरिक शान्तिका अनुभव होता है, वह ज्ञानी कहलाता है। जो बोध मोक्षका कारण है, पुनर्जन्मका कभी नहीं, उसीका नाम ज्ञान है। उसके सिवा दूसरा जो शब्दज्ञानका चातुर्य है, वह शिल्प-जीविका—जीवननिर्वाहकी कलामात्र है। उसे भोजन, वस्त्रको जुटानेवाली व्यवस्था समझना चाहिये। प्रारब्धके अनुसार जो भी कार्य प्राप्त हो जाय, उसमें जो पुरुष कामना और संकल्पसे रहित होकर प्रवृत्त होता है तथा जिसका हृदय शरत्कालके आकाशकी भाँति आवरण-शून्य ज्ञानके आलोकसे प्रकाशित है, वह पण्डित (ज्ञानी) कहलाता है।

ये जो जगत्के विविध पदार्थ हैं, वे किसी कारणके बिना ही उत्पन्न-से होते हैं। इसलिये ये वास्तवमें हैं ही नहीं, तो भी विद्यमानकी भाँति प्रतीत होते हैं। जो असत्य होते हुए भी भासित हो रहे हैं, उन पदार्थोंकी प्रतीतिमें एकमात्र यह अज्ञान ही कारण है। इस अज्ञानका ज्ञानकालमें तत्काल नाश हो जाता है। यह जीव अपनेसे भिन्न जड अहंकार और शरीर आदिका जब अनुभव करता है, तब तत्काल ही उनके साथ अपना तादात्म्य मानकर उनको अपना स्वरूप समझ बैठता है। यही इसका संसार-बन्धन है और जब यह अपनेको चिन्मय समझता है, तब सच्चिदानन्द परमात्मस्वरूप ही हो जाता है। यही इसका मोक्ष है। यह जीव जो अज्ञान-निद्रामें पड़कर अचेत हो रहा है, जब जाग उठता है, तब परमात्मरसके आवेशसे परमात्मरूपताको ही प्राप्त हो जाता है—ठीक उसी प्रकार जैसे हेमन्त ऋतुमें सोया हुआ-सा आमका वृक्ष वसन्त ऋतुमें रसावेशके कारण प्रबुद्ध-सा होकर जब पल्लवित एवं पुष्पित हो जाता है, तब 'सहकार' नाम धारण करता है। जो दृश्य शोभाके पारदर्शी ज्ञानी पुरुष परादृष्टि (तत्त्वज्ञान) को प्राप्त कर चुके हैं, उन्हें इस विस्तृत दृश्यप्रपञ्चके विद्यमान होनेपर भी इसका भान नहीं होता (वे सबको परब्रह्म ही समझते हैं)। जो परादृष्टिको प्राप्त हो चुके

---

* अत्राहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्यं कुर्यादाहारं प्राणसंधारणार्थम्।
प्राणा संधार्यास्तत्त्वजिज्ञासनार्थं तत्त्वं जिज्ञास्यं येन भूयो न दुःखम्॥
(नि० उ० २१। १०)

हैं, उन्हें दृश्य-प्रपञ्चका भान न होनेके कारण उनकी चेष्टा भी वास्तवमें चेष्टा नहीं होती। ज्ञानी पुरुष दृश्य-दर्शनके अभिमानसे बँधते नहीं, इसलिये बन्धनमुक्त साँड़की भाँति सांसारिक कर्मबन्धनके सम्बन्धसे रहित रहते हैं। वे प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए कर्मोंके लिये उसी तरह काम और संकल्पसे रहित होकर चेष्टाएँ करते हैं, जैसे वृक्षके पत्तोंको कम्पित करनेमें वायु। जो संसारके पारदर्शी पुरुष सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मदृष्टिको प्राप्त कर चुके हैं, वे कर्मकी प्रशंसा नहीं करते हैं—ठीक उसी तरह, जैसे नदीके तटपर निवास करनेवाले पुरुष कूपकी प्रशंसा नहीं करते। किंतु अज्ञानी पुरुषोंकी इन्द्रियाँ अधःपतनके हेतुभूत विषयोंपर इस प्रकार गिरती हैं, जैसे गीध मांसके ऊपर टूट पड़ता है। इसलिये विद्वान् पुरुषको चाहिये कि वह इन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको मनके द्वारा वशमें करके समाहित-चित्त हो उस परब्रह्म परमात्माके चिन्तनमें लग जाय।

जैसे सुवर्ण कटक, कुण्डल आदि आभूषणोंसे भिन्न नहीं है, उसी तरह ब्रह्म भी सृष्टिसे भिन्न नहीं है; इसीसे 'सृष्टि' आदि शब्दोंका अर्थ तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें कल्याणमय ब्रह्म ही कहा गया है। जैसे कल्पके अन्तमें जब एकमात्र अन्धकार ही छा जाता है, तब यह सारा व्यवहार निर्विभाग और निराभास ही रहता है, वैसे ही सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें यह जगत् विभाग और आभाससे रहित ही रहता है। जैसे अवयवरहित आकाशमें दिशाओंके विभागरूप आकाशके अवयवोंकी अभिन्न सृष्टि भासित होती है, उसी प्रकार अवयवरहित शिवस्वरूप परब्रह्म परमात्मामें यह द्वैताद्वैत सृष्टि भी अभिन्नरूपसे विद्यमान है। इस प्रकार जगत्के भीतर अहंकार और अहंकारके भीतर जगत् है। ये दोनों एक दूसरेमें उसी प्रकार स्थित हैं, जैसे केलेके तनेकी छालमें तना और तनेमें उसकी छाल होती है।

जिस ग्वालेका मन गोशालाके बर्तनों (दूध दुहनेके पात्रों) में लगा हुआ है, वह घरमें रहकर घरके काम करता हुआ भी उन्हें नहीं देख पाता, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष जीवन-निर्वाहके लिये सब कार्य करता हुआ भी ब्रह्मचिन्तनमें रत होनेके कारण उन्हें नहीं देखता है। जिसके भीतर तुच्छ दृश्य-प्रपञ्चकी भावना नहीं है, वह जीते-जी आकाशके समान निर्मल और बन्धनसे छूटे हुएकी भाँति मुक्त है। जो पुरुष सांसारिक पदार्थोंमें अभावरूपताकी भावना नहीं करता, मोक्षके लिये यत्न न करनेवाले उस पुरुषका जन्म-मरणरूपी अनन्त दुःख कभी शान्त नहीं होता। तत्त्वज्ञानी पुरुष यहाँ सम्राट्के समान शोभा पाता है। उसे प्रारब्ध-वश जो कोई भी वस्त्र देकर उसके शरीरको ढक देता है, जो कोई भी भोजन करा देता है तथा वह जहाँ-कहीं भी सो जाता है। वह समग्र विशुद्ध वासनाओंसे युक्त होकर भी वासनारहित ही रहता है। भीतरसे शून्य होता हुआ भी परिपूर्णात्मा होता है अर्थात् उसका अन्तःकरण पूर्ण परब्रह्मकी भावनासे भरा होता है और जैसे आकाशमें वायु चलती है, उसी तरह उसकी भी साँस चलती रहती है (परंतु वह देह और उसकी वासनाओंसे रहित हुआ परब्रह्मरूपसे ही स्थित रहता है)। तत्त्वज्ञानी पुरुष निर्वाण-दशाको प्राप्त हो मनके द्वारा ब्रह्मभावका मनन करनेसे जब परमानन्दमें निमग्न हो जाता है, तब नींदमें पड़े हुए मनुष्यकी भाँति आसन, शय्या अथवा सवारीमें स्थित वह यत्नपूर्वक जगानेसे भी नहीं जागता। रघुनन्दन! तत्त्वज्ञानी और अज्ञानी—दोनोंके सम्पूर्ण उत्पत्ति-विनाशशील कर्मोंमें वासना-शून्यताके सिवा दूसरा कोई अन्तर नहीं होता (अर्थात् ज्ञानी वासनारहित होकर कर्म करता है और अज्ञानी वासनायुक्त होकर)।

यह सारा दृश्य-प्रपञ्च नष्ट होता है और नष्ट होकर फिर उत्पन्न होता है, इसलिये असत् है। परंतु जो न तो कभी नष्ट हुआ और न उत्पन्न ही हुआ, वही सत्स्वरूप परमात्मा है और वह परमात्मा ही तुम हो। ज्ञानसे जगत्-रूपी भ्रमका मूल (अज्ञान) नष्ट हो जाता है। फिर

तो ढूँढ़नेपर भी इस भ्रमका पता नहीं चलता। जैसे मृगतृष्णा जल नहीं दे सकती, उसी तरह निर्मूल हुआ भ्रम संसाररूपी अङ्कुर नहीं उत्पन्न कर सकता। जैसे जला हुआ बीज अङ्कुरित नहीं हो सकता, उसी प्रकार परमात्माके यथार्थ ज्ञानसे छिन्न हुई अहंभावना दिखायी देनेपर भी मनोभूमिमें संसाररूपी वृक्षका अंकुर नहीं उत्पन्न कर सकती। मानसिक विकारोंसे रहित वीतराग तत्त्वज्ञानी पुरुष कर्म करे या न करे, उसकी स्थितिमें कोई अन्तर नहीं आता। वह तो मनके संकल्पसे रहित एवं नित्य शान्त हुआ परब्रह्म परमात्मामें ही स्थित रहता है। जो लोग योगका आश्रय लेकर शान्त बने हुए हैं, वे योगी भी चित्तका उपशमन होनेपर ही भलीभाँति शान्त हो पाते हैं, अन्यथा नहीं; क्योंकि उनकी भोग-वासनाएँ मूलतः क्षीण नहीं होतीं। (कारण यह है कि इन वासनाओंकी खानरूप जो चित्त है, वह तो उनका बना ही रहता है।) अनन्त, अव्यक्त एवं सुन्दर चिदाकाशरूप कर्पूर अपने भीतर स्वयं जो चमत्कार प्रकट करता है, उसीको वह जगत्‌रूपसे जानता है। रघुनन्दन! इस तरह यह जगत् तत्त्वज्ञानी पुरुषको उसका सांसारिक भ्रम दूर हो जानेके कारण प्रकाशमय तथा शान्त अक्षय ब्रह्मरूप ही भासित होता है, जब कि अज्ञानीको यह परमार्थतः परब्रह्म परमात्मामें स्थित होकर भी भोगजनित आनन्दके अनुगत ही प्रतीत होता है। (इस प्रकार दोनोंकी दृष्टियोंमें भेद है।) (सर्ग २२)

मरुभूमिके मार्गमें मिले हुए महान् वनमें महर्षि वसिष्ठ और मङ्किका समागम एवं संवाद

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! पहलेकी बात है। मङ्किनामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण थे, जो बड़े कठोर व्रतका पालन करते थे। उन्हें मेरे उपदेशसे किस प्रकार निर्वाणपदकी प्राप्ति हुई, यह बताता हूँ, सुनो। एक समय तुम्हारे पितामह राजा अजके किसी कार्यसे बुलाने-पर मैं आकाशमण्डलसे इस पृथ्वीपर आया। तुम्हारे पितामहकी नगरी अयोध्याको आते समय मैं भूतलपर विचरता हुआ किसी ऐसे विशाल वनमें आ पहुँचा, जहाँ बड़ी कड़ाकेकी धूप पड़ रही थी। श्रीराम! अविच्छिन्नरूपसे धूल उड़नेके कारण वह सारा जंगल धूसर हो रहा था। वहाँ तपी हुई बालूके कण खूब चमक रहे थे। उस वन-का कहीं ओर-छोर नहीं दिखायी देता था। वहाँ कहीं-कहीं निकृष्ट श्रेणीके गाँवके चिह्न दृष्टिगोचर होते थे। मैं उस जंगलमें जाकर ज्यों ही इधर-उधर घूमने लगा, त्यों ही मुझे अपने सामने एक पथिक दिखायी दिया जो श्रमसे थककर इस प्रकार कह रहा था।

पथिक कह रहा था—अहो! जैसे दुष्ट पुरुषोंका पापपूर्ण सङ्ग संताप देनेवाला ही होता है, इसी प्रकार

प्रचण्ड आतपसे तपते हुए ये सूर्यदेव इस समय सब ओरसे खेद ही प्रदान कर रहे हैं। मेरे सारे मर्मस्थल मानो जलते जा रहे हैं। इस धूपमें आग-सी जल रही है। सारी वन-श्रेणियाँ तप्त हो उठी हैं। इनके पत्ते और फूल सिकुड़ गये हैं। इसलिये यह सामने जो छोटा-सा गाँव दिखायी दे रहा है, मैं पहले इसीमें प्रवेश करता हूँ। वहाँ शीघ्रतापूर्वक थकावट दूर करके तीव्र गतिसे अपना रास्ता लूँगा। (यों कहकर वह सामनेके छोटे-से गाँवमें, जहाँ किरातोंकी बस्ती थी, ज्यों ही घुसने लगा त्यों ही मैंने उससे यह बात कही—सुन्दर शरीरवाले साथी! जान पड़ता है, तुम्हें वीतराग अकिंचन पुरुषोंके संचरण योग्य मार्गका ज्ञान नहीं है। मरुभूमिके मार्गमें मिले हुए इस महान् जंगलके राही! तुम्हारा स्वागत है। नीचेके मार्गसे चलनेवाले राहगीर मनुष्य देशके इस मार्गपर, जहाँ जनसमुदायसे भरे हुए गाँवका अभाव है, थोड़ा-सा विश्राम कर लेनेपर भी चिरस्थायी विश्राम प्राप्त नहीं कर सकोगे। (तात्पर्य यह कि तुम सकाम कर्मके पथपर चल रहे हो। इस सकाम-कर्मोपासनाद्वारा दक्षिणमार्गसे स्वर्गादि लोकोंमें जाकर कुछ कालतक मनोऽनुकूल सुख भोगनेपर भी वहाँ देहाभिमानसे बँधे रहनेके कारण चिरस्थायी परमानन्दस्वरूप मोक्ष नहीं पा सकोगे।) पामरोंके आवासस्थान इस गाँवमें (देहाभिमानियोंके निवासस्थान इस शरीरमें) विश्राम नहीं मिल सकता। जैसे नमकीन पानी पीनेसे प्यास बढ़ती ही है, घटती नहीं, उसी प्रकार यहाँ सुखभोगकी इच्छा बढ़ती है, परंतु पूरी नहीं होती। यहाँ रहनेवाले प्राणी काम, धनकी आसक्ति और द्वेष आदिमें ही पुरुषार्थकी पराकाष्ठा समझते हैं। इनके विचार जले हुए हैं। इसलिये ये आपातरमणीय सकाम कर्मोंमें ही रमते रहते हैं, जिससे उनमें कुलीनताके कारण विस्तारको प्राप्त होनेवाली, उदार, शीतल तथा ब्रह्मानन्दसे सुशोभित होनेवाली विवेकयुक्त बुद्धि नहीं होती। जैसे मधुमिश्रित विषके कण पलभरके लिये स्वादमें मीठे होते हैं, किंतु दूसरे ही क्षण अपनी ओरसे विराग उत्पन्न कर देते हैं और अनिवार्यरूपसे मृत्युदायक होते हैं, उसी प्रकार ग्राम्य सुखभोग क्षणभरके लिये मधुर प्रतीत होते हैं किंतु दूसरे ही क्षण विराग पैदा कर देने तथा प्रायः मार डालनेवाले होते हैं (अतः इनके उपभोगसे तुम्हें चिर विश्रामकी उपलब्धि नहीं हो सकती)।' निष्पाप श्रीराम! जब मैंने ऐसी बात कही, तब मेरे वचनसे उसे इतनी शान्ति मिली, मानो उसने अमृतमय जलसे स्नान कर लिया हो। तत्पश्चात् वह मुझसे इस प्रकार बोला।

पथिकने कहा—भगवन्! आप कौन हैं? आप भीतरसे पूर्णकाम आत्मज्ञानी महात्मा जान पड़ते हैं। आप इस जगत्को शान्तभावसे देख रहे हैं। क्या आपने अमृतका पान किया है? क्या आप सम्राट् या विराट् पुरुष हैं? सम्पूर्ण अर्थोंसे रिक्त होते हुए भी आप परिपूर्ण चन्द्रमाके समान सुशोभित हो रहे हैं। मुने! आपका शान्त, कान्तिमान्, अप्रतिहत, सब ओरसे निवृत्त तथा शक्तिशाली तेजस्वी रूप जो दिखायी देता है, यह कैसे? आप पृथिवीपर स्थित होकर भी ऐसे जान पड़ते हैं, मानो समस्त लोकोंके ऊपर आकाशमें खड़े हों। आपकी संसारमें कहीं भी आस्था नहीं है, तथापि मुझ-जैसे लोगोंके उद्धारके लिये आप अत्यन्त दृढ़ आस्थासे युक्त दिखायी देते हैं। आप पूर्ण चन्द्रमाके समान सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त होते हुए भी निष्कलङ्क हैं। आपका अन्तःकरण शीतल है। आप प्रकाशमान, समत्वबुद्धिसे युक्त तथा रसायनकी राशिसे सम्पन्न होकर अपनी सहज शोभासे प्रकाशित हो रहे हैं। महाभाग ब्रह्मर्षे! मैं शाण्डिल्य गोत्रमें उत्पन्न ब्राह्मण हूँ। मेरा नाम भङ्कि है। मैं तीर्थयात्राके लिये निकला था। मैंने दूरतकका रास्ता तै करके बहुत-से तीर्थोंका दर्शन किया है और अब दीर्घकालके पश्चात् अपने घरको जानेके लिये उद्यत हुआ हूँ। इस ब्रह्माण्डके भीतर बिजलीकी चमकके समान क्षण-

भङ्गुर भूतोंको देखकर मेरा मन संसारसे विरक्त हो रहा है। अतः अब मुझे घर लौटनेका उत्साह नहीं है। भगवन्! मुझपर कृपा करके आप अपना यथार्थ परिचय दीजिये; क्योंकि साधु पुरुषोंके हृदयरूपी सरोवर स्वच्छ एवं गम्भीर होते हैं। दर्शनमात्रसे ही मित्रता[1] करनेवाले आप-जैसे महात्माओंके सामने आ जानेपर ही समस्त प्राणी कमलोंके समान विकसित और आश्वस्त होते हैं। प्रभो! मैं समझता हूँ कि मेरा यह मन मोहवश संसार-भ्रमजनित दुःखको मिटानेमें समर्थ नहीं है। अतः आप मुझे तत्त्वज्ञानका उपदेश देनेकी कृपाद्वारा अनुगृहीत कीजिये।

तब मैंने कहा—महाबुद्धे! मैं आकाशवासी वसिष्ठ मुनि हूँ। राजर्षि अजके किसी आवश्यक कार्यसे मैं इस मार्गपर उपस्थित हुआ हूँ। ब्रह्मन्! अब तुम विषाद न करो; क्योंकि मनीषी पुरुषोंके मार्गपर आ गये हो और प्रायः संसार-सागरके दूसरे तटपर आ पहुँचे हो। जो महात्मा नहीं है, उसकी बुद्धि और वाणी इस तरहके वैराग्य-वैभवसे उदार नहीं होती तथा उसकी आकृति भी इतनी शान्तिपूर्ण नहीं दिखायी देती। जैसे धीरे-धीरे सानपर घिसनेसे मणि साफ होकर चमक उठती है, उसी प्रकार राग आदि मलोंके पक जानेसे चित्तमें विवेकका उदय होता है। बताओ, तुम क्या जानना चाहते हो? और इस संसारको क्यों छोड़नेकी इच्छा रखते हो? मैं तो यह मानता हूँ कि साधक अपने ही प्रयत्नोंसे महात्माओंके दिये हुए उपदेशको सफल बनाता है। जिसकी वासना रागादि मलोंसे रहित हो गयी है, अतएव जिसका हृदय वैराग्य आदि उत्तम साधनोंसे सम्पन्न है तथा जिसकी बुद्धि नित्यानित्य एवं सारासारके विवेकसे सुशोभित है, ऐसा साधक ही महापुरुषोंके उपदेशरूपी तेजसे शोकरहित विशुद्ध परमात्म-तत्त्वको प्राप्त करनेका अधिकारी होता है, दूसरा नहीं। इसलिये जन्म आदि सम्पूर्ण दुःखोंसे पार होनेकी इच्छा रखनेवाले तुमसे मैं यह कहता हूँ कि तुम उपदेश पानेके योग्य हो। अतः अपना पूर्व वृत्तान्त बताओ।

(सर्ग २३)

मङ्किके द्वारा संसार, लौकिक सुख, मन, बुद्धि और तृष्णा आदिके दोषों तथा उनसे होनेवाले कष्टोंका वर्णन और वसिष्ठजीसे उपदेश देनेके लिये प्रार्थना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! जब मैंने ऐसी बात कही, तब मङ्कि मेरे चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करके नेत्रोंमें आनन्दके आँसू भरकर मार्गमें चलते हुए ही इस प्रकार बोले।

मङ्किने कहा—भगवन्! जैसे नेत्र बारंबार दसों दिशाओंकी ओर दृष्टिपात करते हैं, उसी प्रकार मैंने भी संत-महात्माकी खोजके लिये अनेक बार दसों दिशाओंमें भ्रमण किया; परंतु संशयका विनाश करनेवाला कोई श्रेष्ठ महापुरुष मुझे नहीं मिला। आज आपको पाकर मैंने समस्त शरीरोंके सारोंके भी सार इस ब्राह्मणशरीरका फल पा लिया। भगवन्! संसाररूपी दोष प्रदान करनेवाली दशाओंको देखते-देखते मैं उद्विग्न हो उठा हूँ। मुने! संसारके सभी सुख अन्ततोगत्वा अवश्य ही दुःखरूपमें परिणत हो जाते हैं, इसलिये वे अत्यन्त दुःखरूप ही हैं। इन सांसारिक सुखोंकी अपेक्षा तो दुःख ही श्रेष्ठ है। अन्तमें सुदृढ़ दुःखकी प्राप्ति करानेके कारण ये लौकिक सुख मुझे दुःखसे ही लाल रंगे हैं, मानो मेरे लिये दुःख ही सुखके रूपमें प्राप्त हुआ हो।

---

१. मित्रका दूसरा अर्थ सूर्य है। सूर्यके सामने कमल खिलते हैं, अतः यहाँ 'मित्रता' शब्द मैत्री तथा सूर्यसत्ता दोनों अर्थोंका वाचक है।

दाँत, केश और आँतोंके साथ ही मेरी अवस्था भी अब जरासे जर्जर हो गयी है। मेरा मन पीपलके उडते हुए सूखे पत्ते आदिके संचयसे गदे गाँवोंके मध्यभागकी भाँति मलिन हो गया है तथा मेरी जीविका भी नाना प्रकारकी भोग-वासनारूपी दुर्गन्धोंको अपने अङ्गमें धारण करनेवाली गृध्रतुल्य इन्द्रियोंके कारण निकृष्ट गाँवोंकी स्थितिके समान अत्यन्त पापपूर्ण एवं दुःखदायिनी हो गयी है। मेरी बुद्धि काँटेदार वृक्षपर फलनेवाली बेरके समान विकराल एवं कुत्सित है। आयाससे युक्त और अज्ञानान्धकारसे आच्छादित जो विषयोंकी निरन्तर चिन्ता है, उसमें रत रहकर मैंने अपनी सारी आयु व्यर्थ गवाँ दी है। ब्रह्म-साक्षात्कार-रूपी प्रकाश मुझे इस जीवनमें अभीतक नहीं मिला। खलोंमें आसक्त हुआ यह जीवन जीर्ण हो चला, परंतु अबतक मैं संसारको पार न कर सका। जन्म-मरणका भय देनेवाली भोगोंकी अभिलाषा दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। कण्टकयुक्त और अपवित्र स्थानमें स्थित भिलावेके वृक्षकी भाँति मेरा मन भी क्रूरतासे युक्त और अपवित्र विषयोंमें रत है। यह सारे शरीरमें फैलने या रेंगने-वाले अर्जुनवात नामक रोगके समान चञ्चल है तथा असत् होनेपर भी सङ्कल्पद्वारा बड़े-बडे कर्मोंका आरम्भ करनेवाला है। इसकी इच्छाएँ कभी पूरी नहीं हुईं तथा शरीरोंके मरनेपर भी इसकी मृत्यु नहीं हुई। यह केवल दुःख देनेके लिये ही उछल-कूद मचाता है। मैंने अवस्तुको ही वस्तु समझा है। मेरा मनरूपी हाथी मतवाला हो गया है और इन्द्रियाँ मुझे काटे डालती हैं। न जाने मेरी क्या दशा होगी। मैंने ज्ञानी पुरुषोंकी सेवा करके वह शास्त्रीय दृष्टि नहीं प्राप्त की, जो संसार-सागरसे पार करनेके लिये नौकाके समान है। तात! इसलिये इस प्रकार सब ओरसे अनर्थोंकी ही प्राप्ति होनेके कारण मैं अत्यन्त भयंकर मोहमें डूब गया हूँ। इस मोह सागरसे उद्धार पानेके लिये भविष्यमें जो कल्याणकारी उपाय हो, उसीको मैं पूछ रहा हूँ। अतः कृपा करके आप उसे बताइये। श्रेष्ठ महात्मा पुरुषका सङ्ग प्राप्त होनेपर मोहका नाश हो जाता है और समस्त आशाएँ निर्मल हो जाती हैं—ठीक उसी तरह जैसे शरत्काल आनेपर कुहरे मिट जाते हैं और सम्पूर्ण दिशाएँ स्वच्छ हो जाती हैं। संतोंकी महिमाके विषयमें जो ऐसी बात कही गयी है, वह आपके द्वारा मुझे भवरोगको शान्त करनेवाले बोधकी प्राप्ति करनेके साथ ही सत्य एवं सफल हो। (सर्ग २४)

संसारके चार बीजोंका वर्णन और परमात्माके तत्त्वज्ञानसे ही इन बीजोंके विनाशपूर्वक मोक्षका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजीने (मैंने) कहा—ब्रह्मन्! संवेदन[1], भावना[2], वासना[3] और कलना[4]—ये चार ही शब्द ऐसे हैं, जिनके अर्थ इस संसारमें अनर्थ पैदा करनेवाले हैं। ये सभी मिथ्या होनेके कारण निष्प्रयोजन हैं, तथापि अविद्यासे विस्तारको प्राप्त हो रहे हैं। वेदन और भावन—इन दोको समस्त दोषोंका आश्रय समझो। इनमें भी जो भावन है, उसीमें सारी आपत्तियाँ निवास करती हैं—ठीक वैसे ही, जैसे वसन्तऋतुके द्वारा प्रवर्तित रसमें ही पुष्प, पल्लव आदिसे समृद्ध लताएँ विद्यमान रहती हैं (क्योंकि लताका सारा वैभव उस रसका ही परिणाम होता है)। यह संसारमार्ग बड़ा गहन है। इसपर वासनाका आवेश लेकर चलते हुए प्राणीके ऊपर विचित्र परिणामवाले अनेक प्रकारके घटना-चक्र आते रहते हैं। जो

१. पहले-पहल इन्द्रियोंसे जो विषयोंका उपभोग होता है उसीको संवेदन कहते हैं। २. विषयोंके नष्ट हो जानेपर उनका बारबार चिन्तन ही भावन कहा गया है। ३. बारंबार विषय-चिन्तनसे जो चित्तमें विषयोंका दृढ संस्कार जम जाता है, उसका नाम वासना है। ४. उस वासनाके कारण मृत्युकालमें भावी शरीरके लिये जो स्मृति होती है, उसको कलना कहते हैं।

विवेकी है, उसका संसारभ्रम वसन्तके अन्तमें ग्रीष्म ऋतुके तापसे सूख जानेवाले पृथ्वीके रसकी भाँति वासना-सहित नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार वसन्त ऋतुका रसप्रवाह कदलीवनमें फैलनेवाली कदलीका विस्तार करती है, उसी प्रकार वासना मनोरूपी काँटेदार झाड़ी-का प्रसार करती है। यहाँ अद्वितीय विशुद्ध सच्चिदानन्द-घन परमात्माके सिवा दूसरा कुछ भी नहीं है। जैसे अनन्त आकाशमें शून्यरूपताको छोड़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार अनीम परमात्मामें चैतन्य सत्ताके सिवा और कोई वस्तु नहीं है। जैसे बालकको वेतालके न होनेपर भी अज्ञानवश उसके होनेका भ्रम हो जाता है, उसी प्रकार असत् होकर भी सत्की भाँति भासित होनेवाला यह संसार परमात्मतत्त्वको न जाननेके कारण ही अनुभवमें आ रहा है। परमात्मतत्त्वके ज्ञानका प्रकाश होते ही यह क्षणभरमें नष्ट हो जाता है। जो वस्तु तत्त्वज्ञानसे ज्ञात होती है, वह ज्ञानस्वरूप ही कही जाती है; क्योंकि अज्ञान ज्ञानका विरोधी है, इसलिये वह ज्ञानरूपसे नहीं जाना जाता। इस तरह विचार करनेसे ज्ञेय और ज्ञान दोनों एकरूप सिद्ध होते हैं। उनमें कोई भेद नहीं है। द्रष्टा, दर्शन और दृश्य—इन तीनोंमेंसे प्रत्येककी बोधरूपता ही सार है। जैसे आकाशमें फूल नहीं होता, उसी तरह द्रष्टा आदिकी त्रिपुटीमें ज्ञानरूपतासे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं होती। 'यह मेरा है' इस तरहकी ममता ही बन्धनमें डालनेवाली है और 'मैं यह शरीर आदि नहीं हूँ' इस प्रकार जो अहंताका अभाव है, वह ममताके बन्धनको दूर करके मुक्ति प्रदान करनेवाला है—जब यह समझ पूर्णतया अपने अधीन हो जाय, तब अज्ञान कहाँ रहा! अपनी वासना और अभिमानके अनुसार राग आदि रससे रञ्जित लोग हथेलीसे ताड़ित हुए गेंदके समान खूब इधर-उधर उछल-कूदकर अन्तमें नरकोंके गर्तमें गिर जाते हैं। वहाँ दीर्घ-कालतक तरह-तरहकी वासनाओंके कष्टोंसे भलीभाँति जर्जर हो कालान्तरमें पुनः स्थावर, कृमि-कीट आदि दूसरे-दूसरे रूपोंमें प्रकट होते हैं। (मानव-जन्म तो उनके लिये दुर्लभ ही बना रहता है।) (सर्ग २५)

भावना और वासनाके कारण संसार-दुःखकी प्राप्ति तथा विवेकसे उसकी शान्ति, सर्वत्र ब्रह्मसत्ताका प्रतिपादन एवं मङ्किके मोहका निवारण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—ब्रह्मन्! संसारके ये सभी पदार्थ वनमें बिखरे हुए प्रस्तर-खण्डोंके समान एक-दूसरेसे कोई लगाव नहीं रखते। भावना ही इन्हें एक-दूसरेसे जोड़नेके लिये शृङ्खला है। अहो! कितने आश्चर्यकी बात है कि वासनाके वशीभूत होकर विवश हुए ये समस्त प्राणी विभिन्न जन्मोंमें विचित्र प्रकारके सुख-दुःखोंको भोगते रहते हैं। अहो! यह वासना बड़ी विषम है, जिसके वशमें होकर लोग असत् विषयोंसे ही अपने मनमें तृप्तिका अनुभव करते हैं, यद्यपि यह तृप्ति उनका भ्रम ही है। जैसे रूपका अवलोकन दृष्टिका प्रसारमात्र है, उसी प्रकार अहंकारयुक्त जगत् जीवात्माके अविवेक और प्रमादसे पूर्ण मानसिक सङ्कल्पका विस्तारमात्र है। जैसे वायु अपनी चेष्टाका प्रसार करती है, उसी प्रकार विशुद्ध जीवात्मा वास्तवमें शुद्ध होनेपर भी किंचित् अविवेक-जनित प्रसरणमात्रसे अहंकारयुक्त असत् जगत्का विस्तार करता है। जैसे जड आकाश शून्यमात्र है, वायु स्पन्दनमात्र है और लहर आदि जलमात्र ही हैं, उसी प्रकार यह जगत् भी जीवात्माकी भावना या सङ्कल्पमात्र ही है। 'ब्रह्म' शब्दसे जिस सत्ताका प्रतिपादन किया जाता है, वही सम्पूर्ण पदार्थोंका असली वास्तविक रूप है। उसमें किसी तरहकी भावना नहीं

है। इसलिये सब कुछ अविनाशी ब्रह्ममय ही है।

प्रिय विप्रवर! आकाशके समान निर्मल आत्मामें मनको विलीन करके स्थित हुए ज्ञानयोगीको नाम और रूपकी प्रतीति ही नहीं होती। स्वरूपस्थितिके लिये उसके द्वारा किया गया अभ्यास जबतक दृढ़ नहीं हो जाता, तभीतक उसे अपने मनमें स्वप्न-विकारके समान नाम-रूपका भान होता है। मन जहाँ जो कुछ निर्माण या प्रसार करता है, वहाँ वह स्वयं ही उन-उन वस्तुओंका रूप धारण करके स्थित हो जाता है। अतः मनसे भिन्न किसी दृश्य वस्तुकी सत्ता न होनेके कारण यह दृश्य-प्रपञ्च वास्तवमें है ही नहीं। फिर कौन कहाँ किसकी सृष्टि करता है? जब जीवात्मामें अहंताकी रेखा खिंच जाती है, तभी वह संसार-भ्रमरूप भाव-विकारसे युक्त हो जाता है और जब अहंताकी वह रेखा मिट जाती है, तब वह अपने स्वरूपमात्रमें स्थित हो सहज शान्तिसे सुशोभित होता है। परमात्मा मोक्षस्वरूप, मनसे रहित, मौनी, कर्ता, अकर्ता और शीतल है। वह ज्ञानस्वरूप एवं शान्त ही है। वह दृश्य-प्रपञ्चसे शून्य होता हुआ ही सर्वत्र परिपूर्ण है। जैसे किसी यन्त्रद्वारा बनाये गये पुतलेका शरीर वासना और चेष्टासे शून्य होता है, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा वास्तवमें वासनारहित एवं स्पन्दनशून्य है। वह व्यवहार-परायण प्रतीत होकर भी अपने यथार्थ स्वरूपमें ही स्थित रहता है।

जैसे झूलते हुए झूलेमें सोये हुए बालकके अङ्ग नहीं हिलते, झूलेके हिलनेसे ही उन अङ्गोंका हिलना प्रतीत होता है, उसी प्रकार आत्मज्ञानी पुरुषमें स्वरूपानुसंधानके सिवा दूसरी कोई चेष्टा नहीं होती; वे परेच्छासे ही चेष्टाशील दिखायी देते हैं, स्वतः नहीं। आशा, चेष्टा, एषणा और कामना आदिसे रहित तथा बहिर्मुख वृत्तिसे शून्य जो अखण्ड आत्मबोध है, वह शान्त, अनन्त आत्मस्वरूप ही है। अतः उसे शरीर आदिका अनुसंधान होना कैसे सम्भव है। समस्त कामनाओंसे रहित जीवन्मुक्त ज्ञानी पुरुषको, जो द्रष्टा, दृश्य और दर्शनकी त्रिपुटीसे रहित निराकार ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार कर चुका है, शरीरका अनुसंधान कैसे हो सकता है। समस्त वस्तुओंकी अपेक्षा (इच्छा) ही सुदृढ़ बन्धन है और उनकी उपेक्षा ही मुक्ति है। जो उस मुक्तिमें विश्राम कर रहा है, उसे किस वस्तुकी इच्छा हो सकती है। तत्त्वज्ञानी विद्वान् केवल अपने यथार्थ स्वरूपमें ही स्थित रहता है। उसकी सारी इच्छाएँ और चेष्टाएँ शान्त हो जाती हैं तथा उसकी सब उत्कण्ठाएँ दूर हो जाती हैं। उसे अपने शरीरका भी भान नहीं होता।

श्रीराम! मेरे इस उपदेशको सुनकर मङ्किने वहीं अपने महान् मोहको भी उसी तरह पूर्णरूपसे त्याग दिया, जैसे साँप अपनी केंचुलको छोड़ देता है। प्रारब्धवश प्राप्त हुए कार्यको वासनाशून्य होकर करते हुए मङ्किमुनि सौ वर्षोंके पश्चात् एक पर्वतपर समाधिमें स्थित हो गये। वे आजतक वहाँ प्रस्तरके समान निश्चल होकर बैठे हैं। उनकी नेत्र आदि समस्त इन्द्रियाँ शान्त हो गयी हैं। कभी-कभी दूसरोंद्वारा जगाये जानेपर ज्ञानयोगी मङ्कि समाधिसे जग भी जाते हैं।

(सर्ग २६)

आत्मा या ब्रह्मकी समता, सर्वरूपता तथा द्वैतशून्यताका प्रतिपादन; जीवात्माकी ब्रह्मभावनासे संसार-निवृत्तिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! सर्वत्र व्यापक परमात्मा एक होता हुआ ही सभी रूपोंमें विराजमान है। उसमें अज्ञानवश ही अनेकताकी कल्पना हुई है। ज्ञान हो जानेपर तो न वह एक है और न अनेक

या सर्वरूप ही; फिर उसमें नानात्वकी कल्पना कैसे हो सकती है। आदि-अन्तसे रहित सारा आकाश चित्तत्त्व—सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मासे परिपूर्ण है। फिर शरीरकी उत्पत्ति और विनाश होनेपर भी उस चेतन तत्त्वका खण्डन कैसे हो सकता है। अमावास्याके बाद जब प्रतिपदाको चन्द्रमाकी एक कला उदित होती है, तब समुद्र आनन्दके मारे उछलने लगता है और जब प्रलयकालकी प्रचण्ड वायु चलती है, तब वह सूख जाता है। परंतु आत्मतत्त्व कभी किसी अवस्थामें न तो क्षुब्ध होता है और न क्षीण ही होता है। वह सदा सममावसे सौम्य बना रहता है। जैसे नावपर यात्रा करनेवाले पुरुषको स्थावर वृक्ष और पर्वत आदि चलते-से प्रतीत होते हैं तथा जैसे सीपीमें लोगोंको चाँदीका भ्रम होता है, उसी प्रकार चित्तको चिन्मय परमात्मामें देहादिरूप जगत्की प्रतीति होती है। यह शरीर आदि चित्तकी कल्पना है और शरीर आदिकी दृष्टिसे चित्तकी कल्पना हुई है। इसी प्रकार देह और चित्त दोनोंकी दृष्टिसे जीवभावकी कल्पना हुई है। वास्तवमें ये सब-के-सब परमपदस्वरूप परब्रह्म परमात्मामें बिना हुए ही प्रतीत होते हैं अथवा ये सब-के-सब चिन्मय परम तत्त्वसे भिन्न नहीं हैं; ऐसी दशामें द्वैत कहाँ रहा? परब्रह्म परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर यह सब कुछ एकमात्र शान्तस्वरूप ब्रह्म ही सिद्ध होता है। अतः ब्रह्मके सिवा जगत् आदि दूसरा कोई पदार्थ नहीं है और न दूसरी कोई भ्रान्ति ही है।

रघुनन्दन! वासनायुक्त जीवात्माकी भावनासे जगत् सम्पत्तिका प्रादुर्भाव होता है और वासनाशून्य जीवात्माकी ब्रह्मभावनासे संसारकी निवृत्ति होती है। जीवात्माका जो वासनारहित विशुद्ध स्पन्दन (भावना) है, उसे स्पन्दन माना ही नहीं गया है, जैसे समुद्रमें भँवर आदिके द्वारा भीतर घुमती हुई तरङ्ग स्पन्दनशील होनेपर भी स्पन्दनशून्य ही मानी जाती है। किंतु जन्मकी कारणभूता जो जीवात्माकी दृश्यभावना है, उसके भीतर जो वासनारस विद्यमान है, वही अङ्कुर प्रकट करता है; अतः उसीको असङ्गरूप अग्निसे जलाकर भस्म कर देना चाहिये। मनुष्य कर्म करता हो या न करता हो; परंतु शुभाशुभ कार्योंमें वह जो मनसे डूब नहीं जाता, उसकी इस अनासक्तिको ही विद्वान् पुरुष असङ्ग मानते हैं अथवा वासनाको उखाड़ फेंकना ही असङ्ग कहा गया है। अहंभावका त्याग करना ही संसार-सागरसे पार होना है और उसीका नाम वासनाक्षय है। इसके लिये अपने पुरुषार्थके सिवा दूसरी कोई गति नहीं है। श्रीराम! तुम तो आत्माराम और पूर्णकाम हो ही। सारी इच्छाओंसे रहित निश्शङ्क हो समस्त कार्य करते हुए भी केवल अपने चिन्मय स्वरूपमें ही स्थित हो। भय तुमसे सदा दूर ही रहता है। अतः अपनी सहज शान्तिके द्वारा सबके मनोऽभिराम बने रहो।

(सर्ग २७-२८)

परमार्थ-तत्त्वका उपदेश और स्वरूपभूत परमात्मपदमें प्रतिष्ठित रहते हुए व्यवहार करने रहनेका आदेश देते हुए वसिष्ठजीका श्रीरामके प्रश्नोंका उत्तर देना तथा संसारी मनुष्योंको आत्मज्ञान एवं मोक्षके लिये प्रेरित करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! तुम आकाशके समान विशद और तत्त्वके ज्ञाता हो। एकमात्र सच्चिदानन्दघन परमात्मपदमें तुम्हारी स्थिति है। तुम सर्वत्र सम सौम्य और सम्पूर्णानन्दमय हो, तुम्हारा अन्तःकरण ब्रह्मस्वरूप एवं विशाल है। निष्पाप रघुनन्दन! जो पुरुष अपनी इन्द्रियोंको अन्तर्मुख करके सदा ब्रह्मानन्दमें निमग्न हो आत्माराम, शान्त एवं उदार-भावसे कार्य करता है, वह जन्म-मरणके क्लेशसे रहित

होता है। जो समस्त संकल्प-विकल्पोंसे रहित अपनी बुद्धिगुहा—हृदयाकाशमें विराजमान परमात्मपदमें स्वेच्छानुसार स्थित रहता है, वह अपने आत्मामें ही रमण करनेवाला परमेश्वररूप ही है। जो लोग सदा अन्तर्मुख रहकर बाहरके कार्योंका सम्पादन करते रहते हैं, उनके जीवित रहते हुए भी उनके मनमें उसी तरह वासना नहीं उत्पन्न होती, जैसे जड पत्थरोंमें वह नहीं उत्पन्न होती। जगत् न तो द्वैतरूपमें है और न अद्वैतरूपमें ही।

श्रीरामजीने पूछा—मुनिश्रेष्ठ! यदि ऐसी बात है तो अहंमात्रकी प्रतीतिरूप वसिष्ठ-नामक आप यहाँ कैसे स्थित हैं? यह बताइये।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! श्रीरघुनाथजीके इस प्रकार प्रश्न करनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ वसिष्ठजी आधे मुहूर्ततक चुपचाप ही बैठे रह गये। उनकी यह चेष्टा सुस्पष्ट ज्ञात हो रही थी। उनके चुप हो जाने-पर सभामें जो बड़े-बड़े लोग बैठे हुए थे, वे संशयके समुद्रमें गोते लगाने लगे। तब श्रीरामचन्द्रजीने फिर पूछा—'भगवन्! आप मेरी ही तरह चुपचाप क्यों बैठे हैं? संसारमें कोई ऐसा प्रश्न नहीं है, जिसका उत्तर आप-जैसे श्रेष्ठ पुरुष न दे सकें।'

श्रीवसिष्ठजीने कहा—निष्पाप रघुनन्दन! मुझमें कुछ कहनेकी शक्ति न होनेके कारण मेरे पास युक्तियोंका अभाव हो गया हो ऐसी बात नहीं है। परंतु यह प्रश्न जिस कोटिका है, उसमें चुप हो जाना ही इसका उत्तर है। प्रश्नकर्ता दो प्रकारके होते हैं—एक तत्त्वज्ञ और दूसरे अज्ञानी। अज्ञानी प्रश्नकर्ताको अज्ञानी बनकर ही उत्तर देना चाहिये और ज्ञानीको ज्ञानी बनकर। परम सुन्दर श्रीराम! तत्त्वज्ञ पुरुषको उसके प्रश्नका कलङ्कयुक्त उत्तर नहीं देना चाहिये। परंतु कोई भी ऐसी वाणी नहीं है, जो निष्कलङ्क हो और तुम केवल ज्ञानी ही नहीं, परम ज्ञानी हो। अतः तुम्हारे प्रश्नका मौन ही उत्तर है। जो परमपद है, वह तत्त्वज्ञानके पूर्व इस रूपमें उपस्थित किया जाता है जिससे उसके विषयमें उपदेश वाणीकी प्रवृत्ति हो सके। अतः अज्ञानसे ही उसको ससंकल्प वाणीका विषय बताया गया है एवं उसका कल्पित स्वरूप ही उपदेशका विषय होता है। किंतु तत्त्वज्ञानके पश्चात् जो उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट होता है, उसे मौन अर्थात् वाणीका अविषय ही कहा गया है। इसीलिये तुम-जैसे तत्त्वज्ञशिरोमणिको मौनके रूपमें ही सुन्दर उत्तर दिया गया है। प्रिय रघुनन्दन! वक्ता पुरुष स्वयं जैसा होता है, उसके अनुरूप ही वह उपदेश करता है। मैं ज्ञेय ब्रह्मरूप ही हूँ। अतः उस परमपदमें प्रतिष्ठित हूँ, जहाँ वाणीकी पहुँच नहीं है। जो वाणीसे अतीत पदमें प्रतिष्ठित है, वह वाणीरूप मलको कैसे ग्रहण कर सकता है। मैं मौन रहकर उस तत्त्वका प्रतिपादन कर रहा हूँ, जो अनिर्वचनीय है—जिसका वाणीद्वारा ठीक-ठीक वर्णन हो नहीं सकता, क्योंकि वाणी संकल्परूप कलङ्कसे युक्त होती है।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! वाणीमें जो-जो दोष आते हैं, उनका आदर न करके विधिरूपसे और निषेधरूपसे यह बताइये कि वास्तवमें आप कौन हैं?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन! यदि तुम मुझसे मेरे स्वरूपका परिचय सुनना चाहते हो तो इस विषयको यथावत् सुनो। 'तुम कौन हो,' 'मैं कौन हूँ' और 'यह जगत् क्या है' इसका विवेचन किया जा रहा है। तात! यह जो निर्विकार अनन्त चिन्मय परमात्मा है, वही मैं हूँ। इसमें बाह्य और आभ्यन्तर विभागोंका सर्वथा अभाव है तथा यह समस्त कल्पनाओंसे परे है। मैं निर्मल अनन्त चेतन हूँ, तुम अनन्त चेतन हो, सारा जगत् अनन्त चेतन है और सब कुछ अनन्त चेतनमात्र ही है। विशुद्ध ज्ञानस्वरूप परमात्मामें मैं विशुद्ध

ज्ञानस्वरूप परमात्मा ही हूँ। मुझमें भेदज्ञानकी दृष्टि है ही नहीं। अतः मैं किसी भी वस्तुको अपनेसे भिन्न कहना नहीं जानता। जीवित रहकर व्यवहारपरायण होता हुआ भी जो परम शान्त है, उस ज्ञानी पुरुषकी जो मुर्देके समान स्थिति है, उसीको परमपद कहते हैं। जो बाहर-भीतरके साधनोंसे रहित, शान्त, अनन्त, साधनरूप और सम है, जिसे न सुख कहा जा सकता है न दुःख, जो 'अहं' भी नहीं है तथा 'यत्र नान्यत् पश्यति' इत्यादि श्रुतिके द्वारा जिसके स्वरूपका निर्देश कराया गया है, वह कल्याणस्वरूप तत्त्व ही परम पद है। उसे मैं अपनेसे भिन्न नहीं समझता। वस्तुतः उसे दूसरा कोई नहीं जानता। लोकैषणासे विरक्त ज्ञानी पुरुषके द्वारा आत्मामें ज्ञातापनकी भाँति उसका स्वयं ही अनुभव किया जाता है। उस परम पद-में न अहंता (मैं-पन) है न त्वत्ता (तू-पना), न अहंताका अभाव है और न अन्यता ही। वह केवल निर्वाणस्वरूप विशुद्ध कल्याणमय कैवल्य ही है। इस चेतन जीवात्माका चेत्य विषयोंकी ओर उन्मुख होना ही चित्तरूपता है, यही इसका संसार है और यही महान् कष्ट देनेवाला बन्धन है। चेतन जीवात्माका चेत्य विषयोंकी ओर उन्मुख न होना ही अचेत्यरूपता है। इसीको मोक्ष समझो। यही शान्त एवं अविनाशी परमपद है। जो दिशा और देश-काल आदिकी सीमासे बँधा हुआ नहीं है, वह शान्तस्वरूप शान्तात्मा परमात्मा ही सर्वत्र विराजमान है, उसमें चेत्य (दृश्य) की सम्भावना ही नहीं है। फिर कौन, किसका और किस प्रकार चिन्तन करता है? ये जो मन-बुद्धि आदि हैं, ये सब अन्तर्मुख दशामें चैतन्यरूप ही हैं। मन-बुद्धि आदि शब्दोंके अर्थरूपसे भावित होनेपर वे ही जडरूप मानी गयी हैं। समस्त दृश्योंका बाध हो जानेपर जो विशुद्ध चैतन्यस्वरूप परमात्मा अवशिष्ट रह जाता है, उसमें और शून्य आकाशमें क्या अन्तर है—इसे साधारण लोग नहीं जानते—विद्वान् ज्ञानी पुरुष ही जानते हैं। उनका कहना है, कि वह परमात्मा चिन्मय और निरतिशयानन्दस्वरूप है, इसलिये वाणीका विषय नहीं होता। जैसे अन्धकारमें देखनेका प्रयत्न करनेसे नेत्रोंमें कुछ सदसद्रूप आभास दीखता है, उसी प्रकार ब्रह्ममें जो आभास परिलक्षित होता है, वही यह जगत् है। 'मैं अज्ञानी हूँ' इस रूप-में जो जीवोंको अपने अज्ञानका बोध होता है, उसमें सुरक्षित अज्ञानरूपी वायुका सहारा पाकर उनकी अविद्याग्नि प्रज्वलित होती रहती है। फिर जब उन्हें 'मैं ब्रह्म हूँ' यह यथार्थ बोध होता है, तब वही वायु उस अविद्याग्निको दुर्बल पाकर बुझा देती है।

अनावृत स्वप्रकाश निरतिशयानन्दरूपसे स्थित हुए तत्त्वज्ञानी पुरुषोंकी संसारके भानसे रहित तथा दुःखरूप क्षोभसे शून्य जो स्थिति है, उसीको मोक्ष कहते हैं और वही अविनाशी पद है। परमात्मज्ञानके साथ सांसारिक पदार्थोंके ज्ञानसे युक्त हो मनुष्य मुनि बन जाता है। परंतु जो परमात्माके अज्ञानके साथ-साथ सांसारिक पदार्थों-के ज्ञानसे शून्य होता है, वह पशु एवं वृक्ष बन जाता है। जैसे सुषुप्तावस्थामें स्वप्नका लय हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप परमात्माका यथार्थ ज्ञान होनेपर उस तत्त्वज्ञके समाहित अन्तःकरणके भीतर सारे दृश्य-प्रपञ्चका लय हो जाता है। फिर तो केवल अपना परमात्मस्वरूप ही लक्षित होता है। जैसे आकाशमें नीलिमाकी प्रतीति भ्रममात्र ही है, उसी प्रकार कल्याणस्वरूप परमात्मामें पृथ्वी आदि पाञ्चभौतिक जगत्की प्रतीति भ्रमके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जैसे आकाश नील आदि वर्णोंसे रहित निर्मल है, उसी प्रकार चिन्मयरूप परमात्मा भी दृश्य-प्रपञ्चसे रहित एवं निर्मल है। जिस पुरुषकी बुद्धिमें यह निश्चय हो गया है कि यह सारा दृश्य-प्रपञ्च असत् (मिथ्या) ही है, वह समस्त विशुद्ध वासनाओं-से युक्त होनेपर भी उन वासनाओंसे रहित ही है। सर्वव्यापी शुद्ध-बुद्ध परमात्मामें कर्तृत्व और भोक्तृत्वका

होना असम्भव है; इसलिये यहाँ न दुःख है न सुख, न पुण्य है न पाप और न किसीका कुछ नष्ट ही हुआ है। जिस अहंकारमें यह ममताबुद्धि होती है, वह भी दो चन्द्रमा और स्वप्नके नगरकी भाँति असत् (मिथ्या) ही है; इसलिये सब कुछ निराकार एवं निराधार है। समस्त द्वैतसे रहित तत्त्वज्ञ पुरुष व्यवहारपरायण हो अथवा काष्ठ या पाषाणके समान निश्चल होकर चुपचाप बैठा रहे, सभी अवस्थाओंमें वह ब्रह्मस्वरूपताको ही प्राप्त है। रघुनन्दन ! जो ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंद्वारा पूर्णरूपसे सेवित है, जिसे दूसरा कोई छीन नहीं सकता तथा जो ज्ञानस्वरूप, निर्मल, शिव, अजन्मा, अविनाशी, नित्य-सिद्ध, सम, परमार्थ सत्य तथा शान्त ब्रह्मपद है, वही तुम हो। तुम उस परमपदमें नित्य प्रतिष्ठित हो।

अहंभावना ही सबसे बड़ी अविद्या है, जो मोक्षकी प्राप्तिमें रुकावट डालनेवाली होती है। मूढ़ मनुष्य उस अविद्याके द्वारा ही जो मोक्षका अन्वेषण करते हैं, वह उनकी पागलोंकी-सी चेष्टा है। अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाली अहंता ही अज्ञानकी सत्ताका पूर्ण परिचय देनेवाली है; क्योंकि जो तत्त्वज्ञानी शान्त पुरुष है, उसमें ममता या अहंता नहीं रहती। अहंताका भलीभाँति त्याग करके आकाशकी भाँति निर्मल तथा मुक्त हुआ ज्ञानी पुरुष सदाके लिये निश्चिन्त हो जाता है; उसका शरीर रहे या न रहे; उसकी उपर्युक्त स्थितिमें कोई अन्तर नहीं आता। जो तत्त्ववेत्ता पुरुष भीतरकी मानसिक तरङ्गोंसे कभी क्षुब्ध नहीं होता, बाहरसे भी अस्तगत सूर्यकी भाँति शान्त रहता है और जिसे सदा प्रसन्नता बनी रहती है, वह मुक्त कहलाता है। इष्ट और अनिष्ट वस्तुओंकी प्राप्ति होनेपर भी वह सदा शान्त बना रहता है—हर्ष और शोकके वशीभूत नहीं होता। व्यवहारमें संलग्न रहनेपर भी द्वैतभावका अनुभव नहीं करता तथा भीतरसे पूर्ण परमानन्दमें निमग्न रहता है। जैसे समुद्रमें जलरूप आधारकी सत्ता ही नावों या जहाजोंको क्रय-विक्रयकी वस्तुओंका दुःखद भार वहन करनेके लिये अवसर देती है, उसी प्रकार जीव और जगत्‌की जड सत्ता ही तृष्णाके पाशमें बँधे हुए मनुष्योंको इस जगत्‌में केवल दुःखका भार वहन करनेके लिये प्रेरित करती है। जो-जो वस्तु संकल्पसे प्राप्त होती है, वह संकल्पसे ही नष्ट भी हो जाती है। इसलिये जहाँ इस संकल्पकी सम्भावना ही नहीं है, वही सत्य एवं अविनाशी पद है। विचार करनेसे जिन पुरुषोंके सम्पूर्ण विशेष (भेदभाव) शान्त हो चुके हैं, उनके लिये केवल अहंताका नाश करनेवाली मुक्तिका उदय होता है। उनका कुछ बिगड़ता नहीं। अज्ञानी पुरुषो ! मोक्षकी प्राप्तिके लिये भोगोंके त्याग, विवेक-विचार तथा मन और इन्द्रियोंके निग्रहरूप पुरुषार्थ—इन तीनके सिवा चौथी किसी वस्तुका उपयोग नहीं है। अतः अनात्मवस्तुका त्याग करके तुमलोग शीघ्र अपने आत्माकी ही शरणमें आ जाओ।

(सर्ग २९-३०)

निर्वाणकी स्थितिका तथा 'मोक्ष स्वाधीन है' इस विषयका सयुक्तिक वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलभूषण राम ! ब्रह्मके अतिरिक्त न नाश है न अस्तित्व, न अनर्थ है न जन्म-मृत्यु, न आकाश है न शून्यता और न नानात्व ही है। अर्थात् सब कुछ ब्रह्म ही है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं। जिसे मिथ्या अवभासित होनेवाले संकल्पनगरका नाश किसी प्रकार सम्भव नहीं—क्योंकि वह तो मिथ्या है ही, फिर उसका विनाश कैसा, उसी तरह जगत् और अहंकार आदि भी असत् हैं, अतः उनके लिये 'नाश' शब्दका प्रयोग नहीं होता; क्योंकि असत् वस्तु स्वयं ही विद्यमान नहीं रहती। स्वप्नपुरुषकी भाँति जिन

अज्ञानियोंकी दृष्टिमें यह संसार विद्यमान है, वे पुरुष तथा वह सृष्टि—सब-के-सब मृगतृष्णाकी जलतरङ्गके समान मिथ्या ही हैं। यही कारण है कि जो लोग असत्पदार्थोंको ही सत्-सा मानते हैं, उनकी उस मान्यताको हमलोग वन्ध्यापुत्रकी वाणीकी तरह निर्णयात्मक नहीं समझते। इसीलिये जलसे परिपूर्ण महासागरकी तरह तत्त्वज्ञानियोंकी पूर्णता कोई अपूर्व ही होती है—वे सदा चिदानन्दसे परिपूर्ण रहते हैं; क्योंकि वे द्रष्टा और दृश्यांशके फेरमें नहीं पड़ते। वे व्यवहारयुक्त हों अथवा व्यवहारशून्य—किसी भी अवस्थामें पर्वतकी भाँति निश्चल और वायुशून्य स्थानमें रखे हुए समप्रकाशयुक्त दीपककी तरह एकरस रहते हुए सदा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहते हैं।

श्रीराम! अज्ञानी पुरुष तो इस जगत्में वासनारूप ही है और वह वासना तत्त्वदृष्टिसे विचार करनेपर ठहरती नहीं; परंतु कोई भी उस वासनाके असली स्वरूपपर विचार नहीं करता, इसी कारण यह संसार उपस्थित हुआ है। वास्तवमें तो जिस पुरुषको इस संसारका भ्रम है, वह असत् ही है और असत् पदार्थ तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर मृगतृष्णाके जलकी भाँति लक्षित होता नहीं; फिर किसीके लिये भी कौन-सा संसार कहाँसे आ गया। 'यह सारा दृश्य जगत् सद्ब्रह्म ही है' ऐसा स्पष्ट ज्ञान हो जानेपर कल्याणमय ब्रह्मरूपका उदय होता है। जिसे परम पदमें विश्राम प्राप्त हो चुका है, ऐसे समदर्शी—तत्त्वज्ञानीके आचरणमें शान्तरूपता अथवा राग-द्वेषशून्य व्यवहार दोनों परिलक्षित होते हैं। अथवा जो निर्वाणरूप सप्तम भूमिकामें पहुँच चुका है, उस ज्ञानीकी शान्तरूपता ही अवशेष रह जाती है; क्योंकि वह तो वासनारहित मुनि हो जाता है, फिर वह व्यवहार कैसे कर सकता है। परंतु जबतक उस ज्ञानीका निर्वाण (सप्तम भूमिकाकी प्राप्ति) सुदृढ़ नहीं हो जाता, तबतक वह राग-द्वेष और भय आदिसे रहित हो व्यवहार करता है। तथा सप्तम भूमिकामें सुदृढ़ रूपसे स्थित हुए ज्ञानीका मन शान्त हो जाता है। उसके राग-द्वेष, भय, क्रोध आदि विकार सर्वथा नष्ट हो जाते हैं तथा वह मुनि होकर शिला न होते हुए भी शिलाकी तरह सदा निश्चलरूपसे स्थित रहता है।

राघव! आत्मा ही बाह्यताकी भावना करनेसे बाह्य और आत्मत्वकी भावना करनेसे आत्मरूप होता है, इसलिये परब्रह्म-तत्त्वमें तत्-तत् भावना ही उसके बाह्य और आन्तर होनेमें कारण है। अन्तःकरणमें जो जाग्रत्-स्वप्नादिकी विभ्रान्ति है, वही बाह्यता कही जाती है। वस्तुतः तो जैसे दूधको दो पात्रोंमें रख देनेसे उस दूधमें कोई भेद नहीं होता, उसी तरह स्वप्न और जाग्रत्में थोड़ा-सा भी अन्तर नहीं है। उनमें जो जाग्रत्में स्थिरता और स्वप्नमें अस्थिरताकी प्रतीति हुआ करती है, वह तो केवल भ्रान्तिमात्र है। उसी तरह जाग्रत्में आधारता और स्वप्नमें आधेयता-की प्रतीति भी जल और उसकी तरङ्गकी भाँति भेदशून्य ही है। जैसे आत्माके अन्यत्वज्ञानसे स्वप्नकालके पदार्थोंमें भी अन्यताकी प्रतीति होती है और आत्मैक्यका ज्ञान हो जानेपर उस आत्मासे भिन्न कुछ नहीं दीखता, उसी तरह जाग्रत्-कालमें जबतक शुद्ध आत्मतत्त्वका ज्ञान नहीं हो जाता, तभीतक पदार्थोंमें अन्यरूपता प्रतीत होती है। आत्मतत्त्वका बोध हो जानेपर तो सभी एकरूप-से ही दीखते हैं। परमात्माका जो कल्पनाओंसे रहित तथा शान्त रूप है, उसकी जिस जिस रूपमें भावना की जाती है, वह उसी रूपमें परिणत हो जाता है। स्वप्नादिके ज्ञानके भाँति शान्त हो जानेपर परमात्माका जो शुद्ध रूप अवशिष्ट रहता है, उसे 'वह है' न तो ऐसा ही कह सकते हैं और न 'वह नहीं है' ऐसा ही कह सकते हैं; अतः वह वाणीका विषय नहीं है।

वत्स राम ! चितिका जो बाह्य पदार्थोंकी ओर प्रसरण है, वह तो (अज्ञानयुक्त) अनुभवसे ही सिद्ध है। जब विद्यासे उस अनुभवका बाध हो जाता है, तब पुरुषको असत् पदार्थका अनुभव नहीं होता। उस समय उसके अनुभवमें यह बात आती है कि जैसे बालक असत्य प्रेतका अनुभव करता है, वैसे ही मैं भी व्यर्थ ही अबतक असत् पदार्थका अनुभव करता रहा। जब अपने अंदर 'यह मैं हूँ' ऐसा अनुभव होने लगता है, तब वह अहंभाव भी दुःख (बन्धन) का ही कारण होता है और जब अहंकारका अनुभव नहीं होता, तब वह मुक्तिका कारण बन जाता है; अतः बन्धन और मुक्ति तो अपने ही अधीन हैं। श्रीराम ! जिस पुरुषकी वासना सुदृढ़ हो गयी है, वह जैसे संकल्पद्वारा रचित रूपालोक और मानसिक व्याधियोंका अनुभव करता है, उसी तरह असत् दुःखका भी स्वप्नद्रष्टाकी तरह आश्रय ग्रहण करता है; परंतु जिसकी वासनाएँ क्षीण हो गयी हैं, उसे जैसे संकल्प-शून्य रूपालोक और मानसिक व्याधियोंका अनुभव नहीं होता, वैसे ही वह प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए दुःखका भी सोये हुए पुरुषकी भाँति उपभोग नहीं करता। इसलिये जैसे देश, काल और क्रियाके सम्पर्कसे पदार्थोंमें उत्पन्न हुई भावना पदार्थरूपताको प्राप्त होती है, वैसे ही वासना ही अत्यन्त सूक्ष्म होकर मुक्तिमें कारण होती है। जैसे आकाशमें उत्पन्न होनेवाले मेघ और कुहरा आदि अत्यन्त सूक्ष्म हो जानेसे उसी आकाशके रूपमें परिणत हो जाते हैं, वैसे ही वासना अत्यन्त सूक्ष्म होकर मुक्तिके स्वरूपमें परिणत हो जाती है।

आत्मामें जो यह जगत् आदि भासित होता है, वह 'मैं कौन हूँ ?' और 'यह कैसे उत्पन्न हुआ ?' इस प्रकारके विचारसे ही शान्त हो जाता है। 'जब अहंताकी सत्ताका अभाव ही मोक्ष है, तब इतनेको ही लेकर मूढ़ताका आश्रय क्यों ग्रहण किया जाय ?' ऐसा ज्ञान सत्सङ्ग और विचारसे शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। जैसे प्रकाशसे अन्धकारका और दिनसे रात्रिका विनाश हो जाता है, वैसे ही तत्त्वज्ञानीके सङ्गसे अहंता-रूपी बन्धन नष्ट हो जाता है।

रघुनन्दन ! जैसे आकाशमें चाहे जितने घने बादल छा जायँ और महासागरमें तरङ्गें उठने लगें, किंतु उनसे आकाश तथा महासागरमें किसी प्रकारकी हानि अथवा वृद्धि नहीं होती, उसी प्रकार सम्पूर्ण संकल्पोंसे रहित ज्ञानीको इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिमें कुछ भी लाभ-हानिका अनुभव नहीं होता। समस्त विकारोंसे शून्य एवं परिपूर्ण-स्वरूप शान्त ब्रह्मका विचार कर लेनेपर—परमात्माका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर यह सारा जगत्-प्रपञ्च मृगतृष्णाके जलकी भाँति असत् सिद्ध हो जाता है। उस समय अहंताका भी विनाश हो जाता है; तब भला, उस ज्ञानीको संसारके मनन आदिका भ्रम कहाँ, कैसे और किस कारणसे हो सकता है। (सर्ग ३१-३२)

जीवकी बहिर्मुखताके निवारणसे भ्रान्तिकल्पनाके निवर्तक उपाय तथा परलोककी चिकित्साका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—वत्स राम ! यदि सत्पुरुषोंके समागमसे विकासको प्राप्त हुई अपनी बुद्धिरूप पुरुषार्थके द्वारा पुरुषको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई तो फिर उसके अतिरिक्त उसकी प्राप्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है। एकमात्र अहंताको छोड़कर दूसरी कोई अविद्या है ही नहीं। उसकी भावना न करनेसे जब उस अहंताका शमन हो जाता है, तब दूसरा कोई मोक्ष पाना शेष नहीं रह जाता अर्थात् अहंताका नाश ही मोक्ष है। पत्थरके सदृश निश्चल वृत्तिवाले जिस पुरुषके लिये यह साग जगत् असत् होता हुआ भी सत्की तरह शान्त हो गया

है, उस महात्माको नमस्कार है। जिसका चित्त परब्रह्ममें पूर्णतया लीन हो गया है, उसे पत्थरके सदृश बाहरका ज्ञान नहीं होता और भीतर चितिरूपताकी भावनासे उसकी संकल्प-शून्य-सी अवस्था हो जाती है, जिससे उसके लिये यह सारा दृश्य-प्रपञ्च शान्त हो जाता है।

श्रीराम! प्राणियोंके लिये दो व्याधियाँ बड़ी भयंकर हैं—एक तो यह लोक और दूसरा परलोक। क्योंकि इन्हीं दोनोंसे पीड़ित होकर सभी प्राणी भीषण दुःख भोगते हैं। इनमें जो अज्ञानी जीव हैं, वे इस लोकमें व्याधिग्रस्त होनेपर उसके निवारणके लिये भोग-रूपी कुत्सित औषधोंद्वारा जीवनपर्यन्त यथाशक्ति प्रयत्न करते हैं; परंतु परलोकरूपी व्याधिके लिये वे कुछ भी चिकित्सा नहीं करते। तथा जो उत्तम पुरुष हैं, वे परलोकरूपी महाव्याधिकी चिकित्साके लिये अमृत-तुल्य शम, सत्सङ्ग और आत्मविचाररूप उपायोंद्वारा प्रयत्न करते हैं। जो लोग परलोकरूपी व्याधिकी चिकित्साके लिये सदा सावधान रहते हैं, वे मोक्षमार्गकी उत्कट इच्छा उत्पन्न होनेपर अपनी शम-शक्तिद्वारा विजयी होते है। जो पुरुष इस लोकमें ही नरकरूपी व्याधिकी चिकित्सा नहीं कर लेता, वह रोगग्रस्त होकर औषधरहित स्थान (नरक) में जाकर फिर क्या करेगा। इसलिये अज्ञानियो! तुमलोग इहलोककी चिकित्सामें ही अपने जीवनको मत गँवा दो। इसीके साथ-साथ आत्मज्ञानरूपी औषधोंद्वारा परलोककी भी चिकित्सा कर लो। अरे! यह आयु तो वायुके वेगसे हिलते हुए पत्तेके ऊपर पड़े हुए छोटे-से जल-कणके समान क्षणभङ्गुर है, अतः पूर्ण प्रयत्नपूर्वक शीघ्र ही परलोकरूपी महाव्याधिकी चिकित्सामें जुट जाओ; क्योंकि शीघ्र ही यत्नपूर्वक परलोकरूपी महा-व्याधिकी चिकित्सा कर लेनेपर इस लोककी व्याधि तत्काल ही अपने-आप नष्ट हो जाती है।

राघव! जितने जन्तु हैं, वे सभी संवित्तत्त्व (आत्माके ही स्वरूप) हैं और उस संवित्के संकल्पका जो विस्तार है, वही जगत् है। ऐसा यह सारा जगत् एक छोटे-से परमाणुके भीतर सैकड़ों पर्वतोंके विस्तारसहित विद्यमान है। आत्मचितिका जो प्रसरण है, वह बाह्य तथा आन्तर विषय है। उन विषयोंका विस्तार चेतन-आकारमें ही अनुभव होता है, इसलिये जगत्का भ्रम कभी सत्य नहीं हो सकता। यदि मनुष्य अपने पुरुषार्थके चमत्कार-से भोगरूपी कीचड़के समुद्रमें फँसे हुए अपने आत्माका उद्धार नहीं कर लेता तो फिर उसके उद्धारका दूसरा कोई उपाय नहीं है। जो मनुष्य अपने आत्माको काबूमें नहीं कर सका है, अतएव विषयभोगरूपी दलदलमें फँसा है, वही मूढ़ सम्पूर्ण आपत्तियोंका पात्र है। जैसे बाल्यावस्था जीवनकी प्रथम सीढ़ी मानी जाती है, वैसे ही भोगोंका सर्वथा त्याग, जो रागोंसे शान्ति प्रदान करनेवाला है, मोक्षका प्रथम सोपान है; परंतु जो अज्ञानी हैं, उनकी जीवन-रूपी नदियाँ करुण-क्रन्दनोंसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त भयावनी होती हैं। उनमें वासनाओंसे उत्पन्न अनेक प्रकारके विक्षोभरूपी कल्लोल साथ-साथ बहनेवाली भँवरियाँ हैं। जैसे अज्ञानसे दो चन्द्रमा, बाल-बेताल, मृगतृष्णाका जल और स्वप्न-संसार—ये सभी प्रकट होते हैं, वैसे ही अज्ञानियोंके लिये जीवकी बहिर्मुखताके कारण अनेक प्रकारके सर्ग उत्पन्न होते रहते हैं। सवित्की बहिर्मुखताके भ्रमसे आकाश-मण्डलमें (गन्धर्व-नगर आदि) बहुत-से जगत् सत्-से अनुभूत होने लगते हैं; परंतु विचार करनेपर वे सत्य नहीं ठहरते। सवित्का निर्वाण—बहिर्मुखताका न होना जगत्का स्वरूप है और सवित्का उन्मीलन जगत् है। वस्तुतः तो न कुछ अंदर है न बाहर, जो कुछ है वह सर्वात्मक ब्रह्म ही है।

चिद्रूप, अजन्मा, अव्यक्त, एक, अविनाशी, ईश्वर, सत्व और भावत्वसे रहित ब्रह्म ही सर्वत्र व्याप्त है। वह आकाशसे भी अत्यन्त शान्त है। जैसे आत्मामें स्वप्नका अनुभव भ्रान्ति है, वैसे ही ब्रह्मरूपी समुद्रमें अविद्या-जनित संसाररूपी तरङ्गें भी भ्रान्तिरूप ही हैं। वास्तवमें तो परमात्मामें न स्वप्न है न सृष्टि ही है। ब्रह्म एक ही है, उसमें न तो कोई आभास है, न चित्स्वरूप कोई दूसरा धर्म है और न जडता है। वह न सत् है, न असत् है; बल्कि वह सत्-असत्से विलक्षण सम, अविनाशी और द्वैतभावसे रहित है। पूर्वोक्त स्थितिके अनुसार आचरण करनेवाले जिस सत्पुरुषको यथार्थ आत्मज्ञान उत्पन्न हो गया है, उसे मुनियोंमें श्रेष्ठ कहा जाता है। जैसे संकल्प-जनित नगरकी सृष्टि पुनः उसका संकल्प न करनेसे नष्ट हो जाती है, वैसे ही विषयानुभवसे उत्पन्न अहंकाररूप जगत् पुनः अनुभव न करनेसे चिद्ब्रह्ममें लीन हो जाता है। वास्तवमें तो यहाँ किसी भी पदार्थका कोई स्वभाव है ही नहीं। ये जितनी अनुभूतियाँ हैं, ये सभी महाचितिरूप जलकी द्रवस्वरूपा हैं। वे ही अनुभूतियाँ महाचेतनरूपी वायुके स्पन्दन हैं तथा इन्हींको ब्रह्मरूपी आकाशकी शून्यता भी जानना चाहिये। जैसे वायु और उसका स्पन्दन—दोनों अभिन्न हैं, वैसे ही ब्रह्म और उसकी सृष्टिमें भी कोई भेद नहीं है। परंतु अपने स्वरूपकी भ्रान्ति हो जानेपर उनमें विभिन्नता प्रतीत होती है, यद्यपि वह स्वप्नमें देखी गयी अपनी मृत्युके समान असत्य है। जबतक ब्रह्मविचार स्पष्ट नहीं हो जाता, तभीतक यह भ्रान्ति रहती है; परंतु विचार स्पष्ट होते ही वह भ्रान्ति ब्रह्मरूपताको प्राप्त हो जाती है।

(सर्ग ३३)

जगत्के स्वरूपका विवेचन और ब्रह्मके स्वरूपका सविस्तर वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलभूषण राम! तुम ऐसा समझो कि सुखके प्राप्त होनेपर दुःखका और दुःखके प्राप्त होनेपर सुखका नाश हो जाता है; अतः ये दोनों ही नाशवान् हैं और जिसका नाश नहीं होता, वह अविनाशी आत्मा है। बस, अब इस विषयमें विशेष शास्त्रोपदेश करना व्यर्थ है। जिसके मनमें इच्छाओंकी परम्परा बनी हुई है, उसे सुख-दुःखादि अवश्य ही प्राप्त होते रहते हैं। इसलिये यदि उन सुखादि रोगोंकी भलीभाँति चिकित्सा करना अभिप्रेत है तो पहले इच्छाका ही परित्याग करना चाहिये। परमपदरूप परमात्मामें अहंकार और इस जगत्की भ्रान्ति है ही नहीं। वह तो शान्त, निरालम्ब, सर्वात्मक, अविनाशी मोक्षरूप है। वास्तवमें तो न अहं है, न जगत् है; क्योंकि जो शान्त और अद्वितीय है, वह तो सर्वात्मकरूप है। ऐसी दशामें उसमें कर्तृत्व और भोक्तृत्व कैसे और कहाँसे सम्भव हो सकते हैं। ज्ञान भी आत्मस्वरूप ही है, अतः जो कुछ दीखता है, वह सब तद्रूप ही है। इसलिये अहंकारसहित सारा जगत् परमात्मासे अभिन्न है। एक आत्मा ही जब अज्ञानके कारण अनेकरूपताको प्राप्त हुआ-सा दीखता है, तब वही संसार कहलाता है और वह संसार स्वयं असत् है, इसी कारण तत्त्वदृष्टिसे विचार करनेपर उसकी सत्ता उपलब्ध नहीं होती। जैसे प्रवहणशील होनेके कारण सागर तरङ्गोंके रूपमें प्रतीत होता है, उसी तरह चिद्रूप होनेके कारण यह ब्रह्म ही अपनी सत्तासे निर्मल जगत्के रूपमें विकसित हुआ-सा जान पड़ता है। जैसे मेघाच्छादित आकाशमें वृक्ष, हाथी, घोड़े और मृग आदिका आकार परिलक्षित होता है, वैसे ही अवयव एवं आकाररहित परब्रह्ममें सृष्टि और अहंकारका रूप दीख पड़ता है। यह सारा जगत् परब्रह्ममें उसका अवयव-सा प्रतीत होता है। रामभद्र! उसकी उपमा यों समझो—जैसे वटवृक्ष और

उसके बीजमें कार्य-कारणभाव है, वैसी ही कार्य-कारणता जगत् और ब्रह्ममें है। वस्तुतः तो न तुमलोग हो, न हमलोग हैं, न ये जगत् हैं और न आकाश आदि ही हैं; बल्कि सर्वोपद्रवशून्य अपरोक्ष ब्रह्म ही सर्वत्र अशेषरूपसे वर्तमान है।

रघुकुलतिलक! जैसे वायु और स्पन्दनमें भेद-प्रतीति होती है, वैसे ही अद्वितीय ब्रह्म और जीवात्मामें भी अज्ञानसे भेद प्रतीत होता है; अतः इस विषयमें ऐसा समझना चाहिये कि चित् और अचित्‌का भेददर्शन ही संसार है तथा अद्वितीय ब्रह्म और जीवात्माकी एकता ही मोक्ष है। इस प्रकार यह सारा जगत् निर्विकार परब्रह्ममय है, अतः इसे भी निर्विकार, आदि-अन्तरहित और निरामय ही समझो। संकल्पजनित नगरके समान द्वैताद्वैत-विकाररूप यह जगत् जीवके अपने ही संकल्पसे उत्पन्न होता है और अपने ही संकल्पसे नष्ट भी हो जाता है। वस्तुतः इस जगत्-रूप ब्रह्ममें कुछ भी उत्पन्न नहीं होता—ठीक वैसे ही, जैसे जलकी तरङ्गका उठना वास्तवमें उत्पन्न होना नहीं है और उसका नष्ट होना वास्तवमें नाश नहीं है; क्योंकि दोनों अवस्थाओंमें वह एकमात्र जल ही है।

रघुनन्दन! क्षणमात्रमें ही एक देशसे दूसरे अत्यन्त दूर देशमें प्राप्त हुए संवित् (ज्ञान) का उन दोनों देशोंके मध्यमें जो निर्मल रूप होता है, वही परब्रह्म परमात्माका सर्वोत्कृष्ट रूप है। जीवन्मुक्तोंकी स्थिति तथा आचारके अनुसार व्यवहार करते हुए उस निराभास, सत्य तथा वासना और इच्छासे रहित चित्स्वरूपसे सुमेरु-गिरिकी तरह कभी चलायमान न होना ही विद्या है तथा भलीभाँति विवेक-विचारपूर्वक अन्वेषण करनेपर जिसकी उपलब्धि नहीं होती, वही अविद्या है। अविद्याका अभाव हो जानेपर क्या कहीं चिति और चेत्यका भेद सम्भव हो सकता है? अर्थात् नहीं। और भेदका अभाव हो जानेपर फिर चिति अपने अंदर कैसे किसीको प्रकट कर सकेगी; इसलिये शान्ति—विषयशून्य चिन्मात्र स्थिति ही स्वतः प्रकट होती है। वास्तवमें तो ब्रह्म और जगत् एक ही हैं, अज्ञानके कारण वे अनेक-से अर्थात् विभिन्न जान पड़ते हैं। अज्ञानसे ही सर्वव्यापी, परिपूर्ण तथा शुद्ध ब्रह्म अपूर्ण एवं अशुद्ध-सा प्रतीत होता है। वही स्वयं अज्ञानसे निर्विकार होते हुए विकारयुक्त, शान्त एवं समरूप होते हुए अशान्त एवं विषम, सत् होते हुए असत् होनेके कारण असत्, तद्रूप होते हुए अन्यरूप, विभाग-रहित होते हुए विभागवाला, जड़तारहित होते हुए जड़तायुक्त, निर्विषय होते हुए विषयी, अवयवशून्य होते हुए सावयव, स्वप्रकाश होते हुए घनान्धकार और पुरातन होते हुए नूतनके समान प्रतीत होता है। वह परमाणुसे भी अत्यन्त सूक्ष्म होकर जगत्-समूहोंको अपने उदरमें समेट लेनेवाला है।

वत्स राम! वह अनन्त और अपार होकर भी किसी एक स्थानपर नियतरूपसे स्थित नहीं रहता तथा आकाश-में भी वनकी कल्पना और पर्वतका निर्माण करनेमें तत्पर रहता है। (अर्थात् असम्भवको भी सम्भव कर सकता है।) वह सूक्ष्म पदार्थोंमें सबसे सूक्ष्म, स्थूलोंमें सबसे स्थूल, गरिष्ठोंमें सबसे अधिक गरिष्ठ और श्रेष्ठोंमें सबसे बढ़कर श्रेष्ठ है तथा कर्ता, कर्म और कारणसे रहित है। वह जगत्‌का उद्गमस्थान होकर भी नित्य अरण्यकी भाँति शून्य है और असंख्य पर्वतोंकी कठोरतासे युक्त होनेपर भी आकाशके लवांशसे भी कोमल है। वह प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक कालस्वरूप होकर प्रायः सबसे परे, प्राचीन होनेपर भी कोमल और नवीन, प्रकाशस्वरूप होकर भी अन्धकारके सदृश मलिन और प्रलयकालीन तमस्वरूप होकर भी प्रकाशरूपसे सर्वत्र व्याप्त है। वह प्रत्यक्ष होते हुए भी आँखोंकी पहुँचके बाहर, परोक्ष होते हुए भी सबके उपस्थित, चिद्रूप होते हुए भी जड़ और जड़ होते हुए भी चिद्रूप है। वह ब्रह्म अनन्तभावरूप होकर अल्पभाव और

अहंभावरूप होकर अनहंभाव तथा अन्यरूप होकर आत्मरूप और आत्मरूप होकर अन्यरूप-सा स्थित है। इस चिद्रूपी परिपूर्ण सागरके भीतर ये त्रिभुवनरूपी तरङ्गें, द्रवता ही जिनका स्वभाव है, स्फुरित-सी हो रही हैं। यह चिद्रूप परमदेव यद्यपि देश-काल आदि अवयवोंसे रहित है, तथापि रात-दिन असद्रूप जगत्का वैसे ही विस्तार करता रहता है, जैसे जल तरङ्गसमूहका। इस चिद्रूपी जलकी जो द्रवता है वही जगत् कहलाता है। उस जगत्के संवित्द्वारा उपलब्ध खादिष्ट रूप, रस आदि विषय ही अङ्ग हैं और वह भुवनरूपी आवर्तोंसे युक्त है। इस उदीप्त चितिके प्रकाशित रहने-पर सम्पूर्ण प्रकाशशील पदार्थोंकी श्री उसके सामने शान्त हो जाती है और पुनः उसीसे उत्पन्न भी होती है, जैसे सूर्य आदिके तेजसे उनका अपना प्रकाश। यह चिदाकाश रङ्गभूमिके समान है, इसमें नियति (ईश्वरका विधान) रूपी नर्तकी भुवन-रचनारूपी नाटकके विभ्रमोंसे युक्त होकर अनवरत कार्यमें संलग्न हो रात-दिन नाचती रहती है। इस परब्रह्म परमात्माका उन्मेष ही जगत्का सौन्दर्य है और निमेष ही प्रलयका सूचक है। वास्तवमें तो वह उन्मेष और निमेषसे रहित होकर अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है।

(सर्ग ३४-३५)

जीवन्मुक्तिकी प्रशंसा तथा 'इच्छा ही बन्धन है और इच्छाका त्याग ही मुक्ति है' इसका सविस्तर वर्णन और उससे छूटनेके उपायका निरूपण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलभूषण राम! जितने अनर्थस्वरूप सांसारिक पदार्थ हैं, वे सभी जलमें आवर्त-की भाँति भिन्न-भिन्न रूप धारण करके चमत्कार पैदा करते हैं अर्थात् इच्छाओंको उत्पन्न करके चित्तको मोहमें डाल देते हैं; परंतु जैसे सभी लहरें जलस्वरूप ही हैं, वैसे ही सम्पूर्ण पदार्थ वस्तुतः नश्वर स्वभावके ही हैं। जैसे बालककी चिन्तासे कल्पित यक्ष-पिशाच आदिका रूप उसके सामने आकाशमें दीख पड़ता है; परंतु मुझ-जैसे ज्ञानीके लिये वह कुछ भी नहीं है, उसी तरह मेरी दृष्टिमें तत्त्वतः यह विश्व कुछ नहीं है, परंतु अज्ञानीके चित्तमें यही सत्य-सा प्रतीत होता है। यह विश्व पत्थरपर खुदी हुई पुतलियोंकी सेनाकी भाँति रूपालोक तथा बाह्य और आभ्यन्तर विषयसे शून्य है, फिर इसमें विश्वता कैसी? परंतु अज्ञानियोंके लिये यह रूपालोक और मनन आदिसे युक्त प्रतीत होता है। श्रीराम! जगत्को जगद्रूपसे जानना भ्रम है और इसे जगद्रूपसे न जानना भ्रमशून्यता है। राघव! त्वत्ता और अहंता आदि सारे विभ्रम-विलास शान्त, शिव तथा शुद्ध ब्रह्मस्वरूप ही हैं, इसीलिये मुझे ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं दिखायी पड़ता—ठीक वैसे ही जैसे आकाशमें कानन दृष्टिगोचर नहीं होता।

श्रीराम! जिसकी चेष्टा प्रारब्धप्राप्त कर्मोंमें कठपुतली-की तरह इच्छाशून्य तथा व्याकुलतारहित होती है, वही विश्रान्त मनवाला जीवन्मुक्त मुनि है। जीवन्मुक्त ज्ञानीको इस जगत्का जीवन बाँसकी तरह बाहर-भीतर-से शून्य, रसहीन और वासनारहित प्रतीत होता है। जिसकी इस दृश्य-प्रपञ्चमें रुचि नहीं है और हृदयमें जिसे चिन्मात्र अदृश्य ब्रह्म ही अच्छा लगता है, उसने मानो बाहर-भीतरसे शान्ति प्राप्त कर ली और वह इस भवसागरसे पार हो गया।

रघुनन्दन! शास्त्रज्ञोंका कहना है कि मनका इच्छा-रहित हो जाना ही समाधि है; क्योंकि मनको जैसी शान्ति इच्छाका त्याग कर देनेसे प्राप्त होती है, वैसी सैकड़ों उपदेशोंसे भी उपलब्ध नहीं होती। इच्छाकी उत्पत्तिसे जैसा दुःख प्राप्त होता है, वैसा दुःख तो नरकमें भी नहीं मिलता; और इच्छाकी शान्तिसे

शेषनागपर भगवान् विष्णु, स्वर्गमें इन्द्र और पातालमें प्रह्लाद

(उपसंहार-प्रकरण, सर्ग ४२)

जैसा सुख मिलता है, वैसे सुखका अनुभव तो ब्रह्मलोकमें भी नहीं होता। इसीलिये समस्त शास्त्रों, तपस्याओं, यमों और नियमोंका पर्यवसान इतनेमें ही है कि इच्छा-मात्रको ही दुःखदायक चित्त कहते हैं और उस इच्छा-की शान्ति ही मोक्ष कहलाता है। प्राणीके हृदयमें जैसी-जैसी और जितनी-जितनी इच्छा उत्पन्न होती है, उतनी-उतनी ही उसके दुःखोंके बीजोंकी मूँठ बढ़ती जाती है तथा विवेक-विचारद्वारा जैसे-जैसे उसकी इच्छा क्षीण होती जाती है, वैसे-वैसे ही उसके दुःखोंकी चिन्तारूपी विषूचिका शान्त होती जाती है। सांसारिक विषयोंकी इच्छा आसक्तिवश ज्यों-ज्यों घनीभूत होती जाती है, त्यों-त्यों दुःखोंकी चिन्तारूपी विषैली तरङ्गें बढ़ती जाती हैं। यदि अपने पौरुष-प्रयत्नके बलसे इस इच्छा-रूपी व्याधिकी चिकित्सा न की जा सकी तो मैं यह दृढ़तापूर्वक समझता हूँ कि इस व्याधिसे छूटनेके लिये दूसरी कोई औषध है ही नहीं। यदि एक ही साथ सम्पूर्ण इच्छाओंका पूर्णतया त्याग न किया जा सके तो धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा करके ही उसका त्याग करना चाहिये। रहना चाहिये इच्छा-त्यागके साधनमें संलग्न ही; क्योंकि सन्मार्गका पथिक दुःखभागी नहीं होता। जो नराधम अपनी इच्छाओंके क्षीण करनेका प्रयत्न नहीं करता, वह मानो दिन-पर-दिन अपने-आपको अन्धकूपमें फेंक रहा है। इच्छा ही दुःखोंको जन्म देनेवाली इस संसृतिरूपी बेलका बीज है। यदि उसे आत्मज्ञानरूपी अग्निसे भलीभाँति जला दिया जाय तो यह पुनः अङ्कुरित नहीं होती।

रघुकुलभूषण राम! इच्छामात्र ही संसार है और इच्छाका अवेदन—अभाव ही निर्वाण है। इसलिये निरर्थक नाना प्रकारके उलट-फेरमें न पड़कर केवल ऐसा यत्न करना चाहिये कि इच्छा उत्पन्न ही न हो। जिसे अपनी बुद्धिसे इच्छाका विनाश करना दुस्साध्य प्रतीत होता हो, उसके लिये गुरुका उपदेश और शास्त्र आदि निश्चय ही निरर्थक हैं। जैसे अपनी जन्म-भूमि जंगलमें हरिणीकी मृत्यु निश्चित है, वैसे ही नानाविध दुःखोंका विस्तार करनेवाली इच्छारूपी विषके विकारसे युक्त इस जगत्में मनुष्योंकी मृत्यु बिल्कुल निश्चित है। यदि मनुष्य इच्छाद्वारा बालकों-जैसा मूढ़ न बना दिया जाय तो उसे आत्मज्ञानके लिये बहुत थोड़ा ही प्रयत्न करना पड़े। इसलिये सब तरहसे इच्छाको ही शान्त करना चाहिये; क्योंकि उसकी शान्तिसे परम पदकी प्राप्ति होती है। इच्छारहित हो जाना ही निर्वाण है और इच्छायुक्त होना ही बन्धन है; इसलिये यथाशक्ति इच्छाको जीतना चाहिये। भला, इतना करनेमें कौन-सी कठिनाई है? जन्म, जरा और मृत्युरूप करञ्ज और खैरके वृक्ष-समूहोंका बीज इच्छा ही है, अतः उसे शमरूपी अग्निसे सदा भीतर-ही-भीतर जला डालना चाहिये। जहाँ-जहाँ इच्छाका अभाव है, वहाँ-वहाँ मुक्ति निश्चित ही है; अतः विवेक-वैराग्य आदि उपायोंकी प्राप्तिपर्यन्त अपनी शक्तिके अनुसार उत्पन्न हुई इच्छाका सर्वथा विनाश कर डालना चाहिये। इसी तरह जहाँ-जहाँ इच्छाका सम्बन्ध है, वहाँ-वहाँ पुण्य-पापमयी दुःखराशियों तथा विस्तृत पीडाओंसे युक्त बन्धन-पाशोंको उपस्थित ही समझो। ज्यों-ज्यों पुरुषकी आन्तरिक इच्छा शान्त होती जाती है, त्यों-त्यों उसका मोक्षके लिये कल्याणकारक साधन बढ़ता जाता है। विवेकहीन आत्माकी इच्छाको जो भलीभाँति पूर्ण करना है, वही मानो संसाररूपी विष-वृक्षको सींचना है।

(सर्ग ३६)

तत्त्वज्ञान हो जानेपर इच्छा उत्पन्न होती ही नहीं और यदि कहीं उत्पन्न होती-सी दीखे तो वह ब्रह्मस्वरूप होती है—इसका सयुक्तिक वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! यदि आत्माके अतिरिक्त यहाँ कोई दूसरी वस्तु विद्यमान हो, तब तो इच्छापूर्वक उसे प्राप्त करनेकी चेष्टा की जाय; परंतु जब उसके सिवा दूसरी किसी वस्तुकी सत्ता है ही नहीं, तब आत्मासे भिन्न किस पदार्थकी इच्छा कैसे की जाय ? वह चिदात्मा आकाशरूप है और स्वयं आकाश ही आकाशरूप विषय और उसका ज्ञाता है तथा जगत्का आभास भी आकाशस्वरूप ही है—ऐसी दशामें यहाँ इच्छाका विषय ही क्या है। जहाँ निर्वाण है, वहाँ दृश्य-प्रपञ्च आदि नहीं रहते और जहाँ दृश्य-प्रपञ्च वर्तमान है, वहाँ निर्वाणका रहना असम्भव है। इस प्रकार छाया और आतपकी भाँति इन दोनोंके परस्पर सहयोगका अनुभव नहीं होता। यदि ये दोनों एक साथ रहते तो परस्पर बाधित होनेके कारण दोनों असत्य हो जाते और असत्यमें निर्वाण रहता नहीं; क्योंकि निर्वाणका अनुभव अजर-अमर और दुःखरहित रूपसे होता है। अधम प्राणियो ! दृश्य-प्रपञ्च तो आत्माको बन्धनमें डालनेवाला है, अतः तुमलोग उसे भस्म क्यों नहीं कर डालते और स्पष्टरूपसे स्फुरित होती हुई परमार्थ-वस्तुका दर्शन क्यों नहीं करते।

जब कार्य-कारणभाव आदि सब कुछ ब्रह्मरूप ही भासने लगता है तभी इस विस्तृत चिन्मात्रस्वरूप प्रत्यगात्मामें ब्रह्मता सिद्ध होती है। अतः जो लोग इस एकमात्र चिदाकाशस्वरूप सर्वात्मक ब्रह्मके सर्वत्र व्याप्त रहते हुए ब्रह्मज्ञानके लिये अन्य साधनोंका अन्वेषण करते फिरते हैं, उन मृगरूपी शिष्योंसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। जब न दुःख है न सुख है, जगत् भी शान्त और मङ्गलमय है तथा चिन्मात्रतासे भिन्न दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, तब इच्छा कहाँसे उत्पन्न हो सकती है। जैसे मिट्टीके बने हुए योद्धाओंकी सेनामें मिट्टीके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, वैसे ही सदात्मक जगत् और अहंता आदि दृश्य-प्रपञ्चमें ब्रह्मके सिवा और कुछ नहीं है।

श्रीरामजीने पूछा—मुनीश्वर ! यदि ऐसी बात है तब तो इच्छाका उदय हो या न हो; क्योंकि वह भी तो ब्रह्मरूप ही ठहरी। ऐसी दशामें उसके विधि-निषेधसे कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होगा ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! आत्मतत्त्वका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर इच्छा ब्रह्मरूप ही हो जाती है, उससे भिन्न नहीं रहती; अतः तुमने जैसा समझा है वह बिल्कुल सत्य है;किंतु इस विषयमें मेरी यह बात और सुनो। जब-जब आत्मज्ञानका उदय होता है, तब-तब इच्छा शान्त हो जाती है। जैसे सूर्योदय होनेपर रात्रि विलीन हो जाती है, वैसे ही आत्मज्ञान हो जानेपर इच्छा आदि सभी विकार शान्त हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों ज्ञानका उदय होता है, त्यों-त्यों द्वैतकी शान्ति और वासनाका विनाश होता जाता है। ऐसी स्थितिमें भला, इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है। सम्पूर्ण दृश्य पदार्थोंसे वैराग्य हो जानेके कारण जिसकी किसी विषयमें इच्छा उत्पन्न होती ही नहीं, उस पुरुषकी अविद्या शान्त हो जाती है और निर्मल मुक्तिका उदय हो जाता है। फिर तो उसका दृश्य-प्रपञ्चविषयक वैराग्य और अनुराग—दोनों नष्ट हो जाते हैं। उस समय उसका एकमात्र ऐसा स्वभाव ही हो जाता है कि उसे द्रष्टा और दृश्यकी शोभा रुचती ही नहीं। ऐसी परिस्थितिमें उस तत्त्वज्ञानीकी इच्छा और अनिच्छा—दोनों ही ब्रह्मस्वरूप ही हैं, इसमें तनिक भी संशय नहीं है अथवा तत्त्वज्ञानीमें अवश्य ही इच्छा उत्पन्न ही नहीं होती। यदि किसी मनुष्यको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो

गयी तो उसकी इच्छा शान्त हो जाती है; क्योंकि प्रकाश और अन्धकारकी तरह इच्छा और तत्त्वज्ञान—ये दोनों एक साथ रह ही नहीं सकते । और जिसकी सारी इच्छाएँ शान्त हो गयी हैं, उसको भला, कौन किस प्रयोजनके लिये क्या उपदेश दे सकता है । जो इच्छाओंका अत्यन्त क्षीण हो जाना, समस्त प्राणियोंको आह्लादित करना अथवा आत्मानन्दका अनुभव है, वही तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका लक्षण है । तत्त्वज्ञानीको जब किसी भी भोगपदार्थमें स्वादका अनुभव नहीं होता, तब सारा दृश्य-प्रपञ्च उसे फीका लगने लगता है । उस समय उसकी इच्छाका प्रसार रुक जाता है और तभी उसे मुक्ति भी मिल जाती है । तत्त्वज्ञान हो जानेसे जो एकता और अनेकता अर्थात् द्वैताद्वैतके प्रपञ्चसे मुक्त होकर शान्त हो गया है, उसके इच्छा और अनिच्छा आदि सभी भाव शिवात्मक—परब्रह्मस्वरूप हो जाते हैं । उसका न इच्छासे न अनिच्छासे, न सद्वस्तुसे न असद्वस्तुसे, न अपनेसे न परायेसे, न जीवनसे न मरणसे—यों किसीसे भी सरोकार नहीं रह जाता ।

रघुवीर ! जिसे निर्वाणका तत्त्वज्ञान हो गया है, उसके हृदयमें तो इच्छा उत्पन्न होती ही नहीं । यदि कदाचित् उसमें इच्छा-सी उत्पन्न हो भी जाय तो वह शाश्वत ब्रह्मस्वरूप ही होती है । 'यह जगत् न दुःखरूप है न सुखरूप, बल्कि अज, शिवस्वरूप और शान्त है'—ऐसी भावनासे जिसका अन्तःकरण शिलाकी भाँति सुदृढ़ हो गया है, उसे विद्वान् लोग तत्त्वज्ञ कहते हैं । इस प्रकार पूर्ववर्णित परमात्मतत्त्वका निश्चय करके जो धीरात्मा योगी निरतिशयानन्दस्वरूप परमात्माकी भावनासे विषको अमृतरूपमें परिवर्तित कर देनेकी भाँति दुःखका सुखरूपमे अनुभव करता है, वह प्रबुद्ध कहा जाता है । जगत्की सत्ताका अभाव समझमें आ जानेपर जब एकमात्र दृश्यानुभवरहित चिन्मय आकाश ही सर्वत्र व्याप्त दीखता है, तब सबमें समानरूपसे रहनेवाले, सौम्य, शान्त एवं आनन्दमय परमात्मामें स्थिति हो जानेपर जीवका अहंताका भ्रम मिट जाता है । यह जो कुछ चराचरात्मक जगत् दिखायी पड़ रहा है, वह सब शान्त चिदाकाशात्मक ब्रह्मरूप ही है । इसके सिवा और जो कुछ दीखता है, वह दूसरेके मनोराज्यके नगरकी तरह असत् है । स्वप्नमें देखे गये नगर और बालकद्वारा कल्पित प्रेतकी तरह यह जो कुछ दीख रहा है, उसमें असत्यताके अतिरिक्त और क्या है अर्थात् वह निश्चय ही असत्य है । चूँकि सत्य ब्रह्म ही 'अहम्' 'इदम्' आदि रूपसे असत्-सा भासित होता है, इसलिये यह भ्रान्ति भ्रान्तिप्रद पुरुषके बिना ही स्फुरित होती है; अतएव वह असत्य है ।

रामभद्र ! वास्तवमें तो चाहे इच्छा हो या अनिच्छा, सृष्टि हो अथवा प्रलय; इससे यहाँ न तो किसीकी कोई हानि है और न इससे कुछ लाभ ही है । ये जो इच्छा-अनिच्छा, सत्-असत्, भाव-अभाव और सुख-दुःख आदिकी कल्पनाएँ हैं, इनमेंसे किसीका भी तत्त्वज्ञानीके चिदाकाशमें उत्पन्न होना सम्भव नहीं है । विवेकद्वारा प्राप्त हुई शान्तिमें मग्न हुए जिस विवेकीकी इच्छाएँ दिन-पर-दिन क्षीण होती जाती हैं, उसीको मोक्षका अधिकारी कहा जाता है । किंतु जिस अविवेकीका हृदय इच्छारूपी छुरीसे छिद्र हो गया है, उसमें ऐसी भीषण वेदना होती है, जिसे ये मणि, मन्त्र और महौषध आदि भी मिटानेमें समर्थ नहीं हो सकते । वस्तुतः तो इस परमात्मामें जगत् आदि कुछ भी पदार्थ न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट ही होता है; बल्कि निद्रागत स्वप्नकी तरह केवल प्रतिभासित होता है । प्रतिभासमात्र होनेके कारण पृथ्वी आदि कारणोंसहित इस देहकी भी सत्ता नहीं है, केवल चिन्मात्र ब्रह्म ही स्थित है ।

रघुकुलतिलक! योगीजन ज्ञानरूप सिद्धौषध-मूर्छनके प्रयोगसे आधे क्षणमें ही जगत्को असद्रूपमें और

आकाशको तीनों लोकोंके रूपमें परिवर्तित कर देते हैं। जैसे आकाशमें सिद्धसंकल्पद्वारा कल्पित असंख्य नगर गुप्तरूपसे स्थित रहते हैं, वैसे ही अनन्त चिन्मय परब्रह्मके संकल्पमें सहस्रों सृष्टियाँ अन्तर्हित रहती हैं। जैसे महासागरमें उठी हुई विशाल लहरियाँ परस्पर संयुक्त होनेपर भी एक-दूसरीसे पृथक्-सी स्थित जान पड़ती हैं; परंतु वास्तवमें वे जलसे भिन्न नहीं हैं, वैसे ही महान् चेतन-ब्रह्ममें बहुत-सी बड़ी-बड़ी सृष्टियाँ परस्पर मिली हुई होनेपर भी पृथक्-सी स्थित हैं। वास्तवमें तो वे उससे पृथक् नहीं हैं। श्रीराम! सारे भूत-प्राणी अविनाशी परम शिवस्वरूप ब्रह्ममें स्थित हैं और उसीमें ये सारी सृष्टियाँ भी आकाशमें शून्यताके उल्लासकी भाँति स्वच्छन्दरूपसे स्थित हैं। राघव! काल, उसके अन्तर्गत ब्रह्माण्ड-समूह, उसके भीतर चौदह भुवन, उन भुवनोंमें 'अहं' 'त्वं' आदि भोक्ता, भोक्ताओंके भोगोंके साधनभूत इन्द्रियसमूह, इन्द्रियोंके विषय शब्द-स्पर्श आदि और अद्भुत भोग—यह सब कुछ एकमात्र शान्त, अज, अव्यय चिदाकाश ही है—यों निश्चय हो जानेपर राग आदि किसी भी विकारका उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। (सर्ग ३७)

चेतन ही जगत् है—इसका तथा तत्त्वज्ञानी और जगत्के स्वरूपका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! ब्रह्मका स्वरूप सबसे सूक्ष्म है, इसलिये जो-जो वस्तु जिस-जिस रूपसे अत्यन्त अणुस्वरूप है, वह-वह उसी-उसी रूपमें सूक्ष्मभूत ब्रह्मवस्तु है। ऐसी दशामें ब्रह्मवस्तु ही सर्वत्र वर्तमान है। जैसे घटादि पदार्थ अगल-बगल तथा ऊपर-नीचे सर्वत्र मिट्टी ही है, उससे भिन्न नहीं, वैसे ही इस जगत्को जिसने जिस रीतिसे परीक्षा करके देखा, उसे वस्तुतः यह ब्रह्मस्वरूप ही दीख पड़ा। जैसे सुवर्णके भूषणादि सैकड़ों रूपोंमें परिवर्तित हो जानेपर भी उन रूपोंमें सुवर्णत्व ही वर्तमान रहता है, वह दूसरा कुछ नहीं हो जाता, वैसे ही शान्त ब्रह्मके अनेकों जगद्भाव तथा जीवभावमें परिणत होनेपर भी वह उनमें अपने शान्तब्रह्मस्वरूपसे ही स्थित रहता है।

राघव! जिस महात्मा पुरुषकी दृष्टिमें सारा विश्व ही निराकार चेतनाकाशरूप ब्रह्ममें प्रतीत होता है, उस मनो-व्यापारशून्य योगीको किसी निमित्तसे किसी पदार्थकी इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है? जो पूर्णतया शान्त तथा विशेषरूपसे इच्छाओंसे रहित हो गया है, उस सत्ता-असत्ता अर्थात् वैभव एवं दारिद्र्यको समानरूपसे देखनेवाले ज्ञानीकी महिमाका आकलन करनेमें कौन समर्थ हो सकता है। जो विशुद्ध ज्ञानस्वरूप, आत्म-प्रकाशसम्पन्न और चिदाकाशरूप हो गये हैं, उनका न कुछ बिगड़ता है और न कुछ बनता है; किंतु जो अज्ञानी है, उसके मृगतृष्णारूपी नदीके तटके समान भ्रान्त आत्मामें जन्म-मरण असत् होते हुए भी भ्रमवश सत्-से प्रतीत होते हैं। जब उनकी सम्यक्रूपसे परीक्षा कर ली जाती है, तब न तो भ्रान्ति रह जाती है, न परीक्षक रहते हैं और न जनन-मरणका ही नाम-निशान रह जाता है। उस समय केवल अविनाशी शान्त ब्रह्म ही रह जाता है। जो मैं हूँ, जो तुम हो, जो इच्छाएँ एवं दिशाएँ हैं, जो क्रिया, काल और आकाशादि हैं, तथा जो लोकालोक आदि पर्वत हैं, उन सबमें शिव-स्वरूप चिदाकाश ब्रह्म ही व्याप्त है। इसी तरह जो बाह्य और आन्तर विषय हैं, जो भूत आदि तीनों काल हैं, जो जगत् है तथा जो जरा, मरण और पीड़ा आदि हैं, वे सभी महाचिदाकाशस्वरूप ब्रह्म ही हैं। जो वासनारहित हो गया है, जिसे वर्तमान भोग नीरस मालूम देते हैं और भावी भोगोंकी जिसे इच्छा नहीं है, ऐसे साधकके लिये सत्-शास्त्रके अतिरिक्त आत्मसुखकी प्राप्तिका हेतु और क्या हो सकता है।

रघुनन्दन ! जिसे संसारको क्षीण कर देनेवाले स्वाभाविक सत्य अर्थका साक्षात्कार हो गया है, वह पुरुष संकल्परहित हो जाता है; क्योंकि वह संकल्पको आत्मासे पृथक् जानता ही नहीं, इसलिये यह संकल्पाभास असत् है। जिसके आवरण क्षीण हो गये हैं और जिसकी सारी इच्छाएँ शान्त हो गयी हैं, वह परमानन्दरूपी अमृतसे परिपूर्ण हो जाता है और निरतिशयानन्द-स्वरूप ब्रह्म-सत्तासे ही सुशोभित होता है। जैसे पूर्णिमाके चन्द्रमासे सारा आकाश-मण्डल उद्दीप्त हो जाता है, वैसे ही जिसकी बुद्धि ज्ञानालोकसे प्रकाशित है और जो समस्त संदेहरूपी घोर अन्धकारात्मक कुहासेको छिन्न-भिन्न कर देनेके लिये वायुके समान है, उस पुरुषसे सारा देश उद्भासित हो उठता है। विचारजन्य तत्त्वज्ञानसे देखनेपर जिसका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता, वह सदाके लिये सत्ताहीन है; इसलिये जगत्‌का रूप स्वरूपरहित है और ब्रह्म स्वयं अपने ही रूपमें स्थित है।

श्रीराम ! जैसे स्वप्नद्रष्टा पुरुषोंको स्वप्न सत्-सा प्रतीत होता है, वैसे ही अज्ञानियोंकी दृष्टिमें मेरा शरीर भी सत् ही है; परंतु मेरी दृष्टिमें वह निश्चय ही उसी प्रकार असत् है, जैसे सुषुप्त पुरुषकी दृष्टिमें स्वप्न। उसके साथ जो मेरा व्यवहार होता है, वह स्व-स्वरूपमें परम-स्वरूप ही है; परंतु वे जो कुछ देखते हैं, भले ही देख करें, उनसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं है। मैं उनके वसिष्ठरूपमें तो कुछ नहीं हूँ, किंतु स्वरूपमें परमें स्थित हूँ। यह व्यापक ब्रह्मसत्ता मानो तुम्हारे ही लिये वसिष्ठरूपसे प्रकट हुई है और मेरी यह वाणी भी ब्रह्म-सत्तारूप ही है। जिसे प्रतिकूल दुःख आदि भी अनुकूल प्रतीत होते हैं, उस शुद्ध ब्रह्मस्वरूप तत्त्वज्ञानीके हृदयमें न तो भोगोंकी इच्छा ही जाग्रत् होती है और न मोक्षेच्छा ही। मनुष्योंका जो यह बन्धन और मोक्षका क्रम है, यह तो स्वभावके ही अधीन है। यह संसार-पीड़ा तो मोहके कारण ही उत्पन्न हुई है। कैसा आश्चर्य है जो गौके खुरमें सागरका भ्रम हो रहा है। जब-जब ज्ञान-रूप सूर्य अपने पूर्ण प्रकाशसे स्थित होता है, तब-तब भोगरूपी अन्धकारका नाश हो जाता है और उसका अस्तित्व रहते हुए भी वह अनुभवमें नहीं आता। यों भोगान्धकारके नष्ट हो जानेपर बुद्धि आदि करणोंका समूह अज्ञानकी सत्तासे रहित हो जाता है और ब्रह्माकार-वृत्तिके प्रकाशसे उद्भासित हो उठता है। इसीलिये वह दीपकके प्रकाशकी तरह ब्रह्मभूत होकर चारों ओर भासित होने लगता है। (सर्ग ३८-३९)

जीवन्मुक्तके द्वारा जगत्‌के स्वरूपका ज्ञान, स्वभावका लक्षण तथा विश्व और विश्वेश्वरकी एकता और स्वात्मभूत परमेश्वरकी पूजाका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! विषयभोग भवरूपी महान् रोग है, भाई-बन्धु आदि सुदृढ़ बन्धन हैं और धन-सम्पत्ति महान् अनर्थके कारण हैं—यों समझकर अपने द्वारा आत्मामें ही शान्ति-लाभ करना चाहिये। जैसे सुषुप्ति-अवस्थामें पड़े हुए पुरुषको स्वप्नका भान नहीं होता और स्वप्नद्रष्टाको सुषुप्तिका ज्ञान नहीं होता, वैसे ही ब्रह्मस्वरूपमें स्थित पुरुषको जगत्‌का भान नहीं होता और जगज्जालमें फँसा हुआ ब्रह्मस्वरूपसे अनभिज्ञ रहता है। परंतु जिसकी बुद्धि पूर्णतया शान्त हो गयी है तथा जो जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी है, वह ब्रह्म और जगत्‌के प्रकाशमान रूपको वैसे ही जानता है, जैसे जाग्रत् और स्वप्नद्रष्टाको क्रमशः उनके रूपकी जानकारी रहती है। तत्त्वज्ञानीको इस सम्पूर्ण जगत्‌के यथार्थ स्वरूपका ठीक-ठीक ज्ञान हो जाता है, जिससे वह [illegible] मेघके समान शुद्धात्मा होकर सदीभाँति शान्त हो जाता है।

रामभद्र ! जैसे जहाँ सूर्य होंगे वहाँ प्रकाश अवश्यम्भावी है, उसी प्रकार जहाँ तत्त्वज्ञानी पुरुष होंगे, वहाँ विभवोंसे पूर्ण ऐश्वर्य रहेगा ही। वह ऐश्वर्य [illegible]

जो कर्ता, कर्म और करण आदि सामग्रियोंसे रहित, द्रष्टा, दृश्य और दर्शनसे शून्य तथा उपादेय पदार्थोंसे हीन है, दीवालरूपी आधारके बिना ही आविर्भूत हुआ है। तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो जानेसे जाग्रत्-कालमें जो राग और वासनासे रहित सुषुप्ति-अवस्था प्राप्त होती है, उसे तत्त्वज्ञ पुरुष स्वभाव कहते हैं, और उसमें परिनिष्ठित हो जाना मुक्ति कहलाती है। ऐसी निष्ठा प्राप्त हो जानेपर तत्त्वज्ञानीको कर्ता, कर्म और करणसे हीन, द्रष्टा, दृश्य और दर्शनसे शून्य तथा बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंसे रहित ब्रह्म जगद्रूपसे स्थित जान पड़ता है अर्थात् जगत् ब्रह्मस्वरूप ही प्रतीत होता है। उस समय उस ज्ञानीको ऐसा लक्षित होता है कि प्रकाशमान वस्तुमें प्रकाशमान वस्तु प्रकाशित हो रही है, पूर्णमें पूर्ण स्थित है और द्वैताद्वैतरहित प्रत्यगात्मामें द्वैताद्वैतशून्य ब्रह्म ही अखण्ड एकरसरूपसे स्थित है। वस्तुतः तो ब्रह्मके सृष्टिरूपमें स्थित होनेपर भी आकाशमण्डलके सदृश शान्त एवं सत्यस्वरूप स्वयं परमात्मा ही अपने सत्यस्वरूपमें शिला-जठरकी भाँति अक्षुब्ध हुआ स्थित है। जैसे भविष्यमें जिस नवीन नगरका निर्माण करना होता है, उसका नक्शा पहलेसे ही चित्तमें वर्तमान रहता है, उसी तरह यह पूर्ण प्रकाशस्वरूप जगत् ब्रह्ममें ही स्थित है। जैसे गन्धर्वनगर एवं तल-मलिनता आदि दोषोंका बाध हो जानेपर आकाश अकस्मात् ही अपने शून्यस्वभावसे दीखने लगता है, उसी तरह तत्त्वज्ञान हो जानेपर जब सृष्टि उत्पत्ति-विनाशसे रहित मिथ्या सिद्ध हो जाती है, तब हठात् आनन्दघन ब्रह्म ही विशेषरूपसे भासित होने लगता है।

रघुकुलभूषण राम! जैसे किसी सहायककी अपेक्षा किये बिना ही वायुमें स्पन्दन होता है और जैसे सूर्य आदिकी प्रभाका प्रसार होता है, वैसे ही यह जगत् परब्रह्म परमात्मामें स्थित है और उसीसे प्रादुर्भूत होता है। जैसे जलमें द्रवत्व, आकाशमें शून्यता और वायुमें स्पन्दन ओतप्रोत है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मामें अनिर्वचनीय विवर्तरूप यह जगत् है। महाचिद्रूप महाकाशमें जो यह जगत् भासित होता है, वह चिद्रूप ही है, जो मणिमें उसकी निर्मलताकी तरह स्फुरित होता है। जैसे वायु और उसके स्पन्दनका भेद कथनमात्र है, वास्तविक नहीं, वैसे ही विश्व और विश्वेश्वरका भेद भी असत्-रूप ही है। जो तीनों कालोंमें सत् है और जिसमें द्वैतकी सम्भावना नहीं है, वह महाचिन्मात्रस्वरूप ब्रह्म ही विश्व-रूपमें भासता है। वास्तवमें तो न विश्व ही सत् है और न विश्वका स्वरूप ही। जो रूप ब्रह्मका है, वही रूप जगत्का है तथा जो रूप आकाशका है, वही रूप उसके गुण सारी शून्यताका है; फिर इनमें द्वैत-अद्वैतका होना असम्भव है। पत्थरपर खुदी हुई सेनामें पाषाणत्वकी तरह एकात्मा, सर्वव्यापक, निर्मल, चिन्मात्र, सर्वस्वरूप परब्रह्म परमात्माके स्थित रहते कार्य-कारणकी विचित्रता कहाँसे और कैसे सम्भव हो सकती है तथा द्वैतके सम्भव न होनेके कारण आकाशमें आकाशशून्यता कैसे हो सकेगी।

वत्स राम! ज्ञान-प्राप्तिके लिये पूर्ण विवेकरूपी उपचारसे यथाप्राप्त पूजन-सामग्रीद्वारा बुद्धिपूर्वक स्वभाव-रूप परमेश्वरकी पूजा करनी चाहिये; क्योंकि विचार, शम, सत्सङ्ग और त्यागरूपी पुष्पोंद्वारा पूजित हुआ परमेश्वर तुरत मोक्षरूपी फल प्रदान करता है। सज्जन-शिरोमणे! वह परमेश्वर तो अपना आत्मा ही है। एक-मात्र यथार्थ अनुभवरूपी पूजन-सामग्रीसे पूजित होनेपर, जो सर्वोत्तम मोक्ष-फल प्रदान करनेवाला है, वह आत्मा-रूपी ईश्वर जहाँ वर्तमान है, वहाँ उसे छोड़कर भला, कौन ऐसा मूर्ख होगा, जो किसी दूसरेका आश्रय ग्रहण करेगा। मनुष्यको अपने अंदर शमरूपी अमृतके सिंचन-से विवेकको धीरे-धीरे ऐसा बढ़ाना चाहिये, जिससे वह विषयोंकी भ्रान्तिसे पुनः नष्ट न हो जाय। उसे चाहिये कि वह देहकी सत्ताकी अवहेलना करके उसमें स्थित तात्त्विक वस्तुका साक्षात्कार करे और लज्जा, भय,

विषाद, ईर्ष्या, सुख और दुःखपर समानरूपसे विजय प्राप्त करे।

राघव! जैसे संकल्पकी शान्ति हो जानेपर संकल्प-नगर सदाके लिये शान्त हो जाता है तथा जैसे जाग्रत् पुरुषके लिये स्वप्न नष्ट हो जाता है, वैसे ही आत्म-ज्ञानीकी दृष्टिमें यह सारा जगत् सदाके लिये अस्त-सा दीख पड़ता है। यदि कोई पुरुष अविद्या-स्वरूप जिस-किसी काल्पनिक उपदेशसे 'मैं कृतार्थ हो गया हूँ' यों अपनेको मानने लगता है तो अज्ञानी होनेके कारण वह वास्तवमें अकृतार्थ ही है। मूर्खतासे विमोहित होनेके कारण ही वह अपनेको कृतार्थ मानने लगता है, परंतु दूसरे ही क्षण जब उसे नाना प्रकारके कष्ट आ घेरते हैं, तब उसे अपनी अकृतार्थताका ज्ञान होता है। विद्वानोंका मत है कि जो काल्पनिक उपदेश है, वह क्षणभरमें ही भाव, अभाव और इन्द्रके विलाससे दुःखदायी हो जाता है; अतः यह निश्चय उपाय नहीं है। जगद्भ्रमका पूर्णतया ज्ञान हो जानेपर जो वासनारहित स्थिति प्राप्त होती है, उसीको निर्वाण कहा जाता है। उसके प्राप्त होनेपर समूर्ण विघ्न स्वतः ही नीरस हो जाते हैं। (सर्ग ४०-४२)

जगत्‌की असारताका निरूपण करके तत्त्वज्ञानसे उसके विनाशका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुवीर! जो अज्ञानरूपी ज्वरसे मुक्त हो गया है और जिसका आत्मा ज्ञान-प्राप्तिसे शान्त हो गया है, उसका यही लक्षण है कि उसे फिर भोगरूपी जल रुचिकर नहीं लगता। जैसे स्वप्नमें दृष्टिगोचर हुए पदार्थ जाग जानेपर उस स्वप्नद्रष्टाको न तो किसी प्रकारका आनन्द देते हैं और न उसकी दृष्टिमें उनकी सत्ता ही रहती है, उसी तरह 'यह मैं हूँ, यह जगत् है' इत्याकारक भ्रमसे प्रतीत हुए पदार्थ तत्त्वज्ञानीके लिये न तो आनन्ददायक होते हैं और न अपना अस्तित्व ही रखते हैं। जैसे विभ्रमस्वरूप यक्षनगर वास्तवमें मिथ्या हैं, वैसे ही अहंता और जगत् भ्रमरूप ही हैं। वस्तुतः तो वे मिथ्या ही हैं। जैसे आवरणशून्य होनेके कारण विभ्रमरूपी यक्ष जंगलमें प्रतीत होते हैं, वैसे ही ये चौदह भुवन भी प्रतीत होते हैं। सत्ताकी उत्पत्तिसे शून्य यह विस्तृत दृश्य-प्रपञ्च द्रष्टाके संकल्पसे होनेवाला होनेसे द्रष्टाका स्वरूप ही है अथवा कुछ भी नहीं है; क्योंकि परमार्थ चिद्रूप सत् क्या कहीं तुच्छ दृश्यरूपसे स्थापित किया जा सकता है? अर्थात् कदापि नहीं। जैसे वसन्तऋतुका रसप्रवाह वृक्ष और लताओंके रूपमें दृष्टिगोचर होता है, वैसे ही अपने स्वरूपमात्रसे परिपूर्ण कर देनेवाली आत्मचेतनता ही सृष्टिके रूपमें परिणत हुई है।

रघूद्वह! यह जो जगत्‌का आभास है, वह विशुद्ध चिन्मात्रका आभासरूप ही है; फिर इसमें एकत्व और द्वित्वकी कल्पना कैसे हो सकती है। सज्जनो! तुमलोग चिन्मय आकाशरूप हो जाओ, परम रस निरतिशयानन्दका पान करो और निर्वाणानन्दस्वरूप नन्दनवनमें निश्शङ्क होकर निवास करो। अरे भ्रान्तबुद्धि मनुष्यो! तुमलोग संसाररूपी काननकी इन अत्यन्त शून्य मरुस्थलियोंमें मृगमरीचिकाके पीछे भागते हुए हिरनोंकी तरह क्यों भटक रहे हो? तुम्हारी बुद्धि त्रिलोकीरूपी मृगतृष्णाके जलकी चकाचौंधमें पड़कर अंधी हो गयी है और तुम्हारे हृदयको आताप प्राप्त कर लिया है, अतः तुमलोग व्यग्र होकर तृष्णाके पीछे मत दौड़ो। बाह्य और आन्तरिक मरुमरीचिकाके जलका पान करनेवाले हिरनरूपी जीवो! तुमलोग व्यर्थ ही परिश्रम करके अपनी आयु मत गँवाओ, मत गँवाओ। यह जगत् गन्धर्वनगरके समान है। इसमें चित्तका अपहरण करनेवाले महान् अहंकारसे मुक्त होकर तुमलोग अपना विनाश मत करो। इन सुखस्वरूप दीखनेवाले कामिनी

विषयभोगोंको दुःखरूप ही समझो । मनुष्यो ! ये मानव-देह वायुके झोंकेसे चञ्चल हुई पीपलवृक्षकी ऊपरी शाखाके पत्तोंपर स्थित ओसकी बूँदोंके सदृश क्षणभङ्गुर हैं अतः तुमलोग इन अन्धकारपूर्ण गर्भशय्याओंपर शयन मत करो । आदि-अन्तरहित पारमार्थिक ब्रह्मभावमें लगातार शान्तभावसे स्थित रहो । द्रष्टा-दृश्य आदि विरुद्ध स्वभावरूपी दोषसे अपना पतन मत कर डालो । यह संसार तो अज्ञानीकी ही दृष्टिमें सत्य है । वास्तवमें तो इसमें कुछ भी सत्य नहीं है । 'यह मै हूँ और यह मेरा है' इस प्रकारके अभिमानरूपी भ्रान्तिकी सर्वथा शान्ति ही मुक्ति है और वह मुक्ति जिस-किसी भी प्रकारसे स्थित योगीकी अपने स्वरूपकी सत्ता ही है ।

रघुकुलतिलक राम ! जो संसार-मार्गमें चलते-चलते थकावटसे चूर हो गया है, उस पथिकके लिये निर्वाणता, वासनाशून्यता, त्रिविध तापशून्यता और उत्कृष्ट ज्ञान—ये शान्ति प्रदान करनेवाले विश्रामस्थान हैं । यह जगत्‌रूपी पदार्थ परस्पर अनिर्वचनीय है । इसे तत्त्वज्ञानी जैसा समझता है, वैसा मूर्ख नहीं जानते और जैसा मूर्ख जानता है, वैसा तत्त्वज्ञानी नहीं समझते अर्थात् अज्ञानीके लिये यह दुःखमय है और ज्ञानीके लिये आनन्दमय ब्रह्म है । जीवन्मुक्त ज्ञानीके लिये भ्रान्तिकी शान्ति हो जानेपर जगत्‌का स्वरूप भी नष्ट हो जाता है । उसकी दृष्टिमें तो एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही विद्यमान दीखता है । जैसे खूब जले हुए घास-फूसोंकी भस्मराशि वायुके वेगसे उड़कर न जाने कहाँकी कहाँ चली जाती है, वैसे ही सत्पुरुषोंकी संगतिसे आत्मस्वरूपमें विश्राम प्राप्त हो जानेपर इस जगत्‌का अस्तित्व न जाने कहाँ विलीन हो जाता है । क्योंकि जो समस्त प्राणियोंकी रात्रिके समान है, उस परमानन्दमें संयमी पुरुष जागता रहता है और जिस संसारमें प्राणी जागते रहते हैं, वह तत्त्वद्रष्टा ज्ञानीके लिये रात्रिके समान है । जैसे जन्मान्धको रूपका अनुभव नहीं होता, वैसे ही ज्ञानीको जगत्‌का अनुभव नहीं होता और यदि कदाचित् होता भी है तो वह भ्रम-तुल्य एवं असद्रूप ही होता है । अज्ञानियोंके लिये दुःखरूपसे प्रसिद्ध जो तीनों लोक हैं, वे अज्ञानियोंकी ही दृष्टिमें हैं, तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें उनका अस्तित्व नहीं है; क्योंकि वे सत् नहीं हैं ।

श्रीराम ! जैसे नदियोंका जल जबतक समुद्रमें नहीं मिल जाता तबतक नदी, प्रवाह आदि सैकड़ों नाम-रूपोंमें व्यवहृत होता है, किंतु जब वह समुद्रमें मिलकर एकाकार हो जाता है, तब एकमात्र जल ही कहलाता है, वैसे ही बाह्य और आभ्यन्तररूपमें जो अर्थों एवं अनर्थोंका समुदाय संकल्पसे प्रतीत होता है, वह व्यापक मन ही है; क्योंकि उसीसे अर्थोंकी प्रतीति होती है । जैसे जल और उसकी तरङ्गमें कोई भेद नहीं है, वैसे ही मन और सांसारिक पदार्थोंमें भिन्नता नहीं है ।

संसारके सभी पदार्थ संकल्परूप ही हैं, इसलिये विवेकी पुरुष उनकी कामना नहीं करते । मन भी संकल्प-रूप है, इसी कारण सम्यक् ज्ञान हो जानेसे मन और पदार्थ दोनोंकी शान्ति हो जाती है । जैसे मिट्टीकी मूर्तिमें कोई पुरुष अज्ञानवश शत्रुताकी कल्पना कर लेता है, किंतु ज्यों ही विवेकसे उसे ज्ञात होता है कि यह मिट्टी है त्यों ही उसकी शत्रुता और भय—दोनों उस मूर्तिसे निकल जाते हैं, वैसे ही ज्ञानीके ये अर्थ और मन—दोनों ही स्वतः नष्ट हो जाते है । जैसे पास ही सोये हुए पुरुषका स्वप्न और डरपोक बच्चेके सामने दीखनेवाला पिशाच असत् है, उसी तरह प्रारब्धानुसार प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखादि भोगोंका साधनभूत जगत्, संसारकाल दैवकृत जन्मादि विकार, उसका भोक्ता अज्ञानी और अज्ञानीके शब्दादि विषय—ये सभी असत् हैं । जैसे धीर-वीर पुरुषकी दृष्टिमें पिशाचबुद्धिका अस्तित्व नहीं रहता, वैसे ही ज्ञानीकी दृष्टिमें अज्ञानीके जगत्‌की सत्ता नहीं रहती । अज्ञानी तो चिरकालतक ज्ञानीको भी अज्ञ ही समझता है; क्योंकि उसकी दृष्टिमें तो वन्ध्या भी पुत्र-पौत्रोंके विस्तारद्वारा बढ़ती है, जो सर्वथा असम्भव है ।

रामभद्र ! यह संसार तो मनसे ही उत्पन्न होता है

और परमात्मज्ञानसे शान्त हो जाता है, परंतु मनुष्य सीपीमें चाँदीके भ्रमकी भाँति संसारभ्रममें पड़कर व्यर्थ ही कष्ट उठाता है। संसारके अभाव और परब्रह्म परमात्माके वास्तविक स्वरूपको यथार्थ जान लेना ही ज्ञान है। निर्वाणसे भिन्न 'अहम्' इत्याकारक भ्रमरूप जो सत्ता है, वह तो दुःखका ही कारण होती है। इस अहंकारका स्वरूप मृगतृष्णाके जलके सदृश असत् एवं शून्य है—ऐसा ब्रह्मज्ञान हो जानेपर अहंकार पूर्णतया शान्त हो जाता है। बोधस्वरूप ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान न होनेसे यह अज्ञानी जीवात्मा देश-काल आदि सामग्रीके बिना ही जगद्रूपताको प्राप्त हो जाता है। वस्तुतः तो यह परमात्मा एक ही है। यद्यपि शुद्ध चिन्मात्रमें अज्ञान आदि सिद्ध होना सम्भव नहीं है, तथापि अज्ञानावस्थामें एक दृश्यके बोधनके लिये उसमें उसकी कल्पना कर ली जाती है। अतः तत्त्वज्ञानके द्वारा मूलअज्ञानका उपशम हो जानेपर जब मनुष्योंका अभिमान नष्ट हो जाता है, तब वे सम्पूर्ण परमात्मामें लीन हो जाते हैं। उन्हें निर्वाणानन्दकी प्राप्ति हो जाती है, जिससे वे शान्त एवं क्लेशरहित होकर निरन्तर सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही समाधिस्थ रहते हैं। (सर्ग १३)

प्राणियोंके श्रान्त हुए मनरूपी मृगके विश्रामके लिये समाधिरूपी कल्पद्रुमकी उपयोगिताका वर्णन

श्रीरामजीने कहा—मुनिवर! अब आप समाधिरूपी वृक्षके स्वरूपका, जो विवेकी पुरुषोंके जीवनोपयोगी फलोंसे सुशोभित, लताओंसे परिवेष्टित, पुष्पोंसे सुरभित और मनरूपी मृगको विश्राम देनेवाला है, क्रमशः वर्णन कीजिये।

श्रीवसिष्ठजी बोले—रघुनन्दन! मैं उस समाधिरूपी वृक्षका वर्णन कर रहा हूँ, सुनो। वह विवेकी पुरुषरूपी वनमें उत्पन्न हुआ है और ऊपरको बढ़ता ही जा रहा है। पत्रों, पुष्पों और फलोंसे लदा हुआ वह वृक्ष ज्ञानी जनोंको सर्वथा जीवन प्रदान करनेवाला है। विद्वानोंका कहना है कि दुःखके कारण अथवा स्वयं ही—जिस-किसी भी प्रकारसे इस संसाररूपी वनसे उत्पन्न हुआ जो परम वैराग्य है, वही उस समाधिरूपी वृक्षका बीज है और चित्त उस बीजके उगनेके लिये उत्तम क्षेत्र है, जो शुभकर्म-समूहरूपी हलसे जोता गया है, रात-दिन शान्ति आदि जलसे सींचा गया है और प्राणायामरूपी जल-प्रवाहसे युक्त है। जब विवेकी जनरूपी काननमें चित्तरूपी भूमि विवेकद्वारा परिष्कृत हो जाती है, तब संसारसे वैराग्यरूप समाधि-वृक्षका बीज स्वयं ही जाकर उस भूमिमें गिरता है। उस समय दृढ़ बुद्धिवाले पुरुषको चाहिये कि अपने चित्तरूपी भूमिमें गिरे हुए उस ध्यान-समाधिबीजको खेदरहित होकर यत्नपूर्वक सींचता रहे तथा कायिक, वाचिक और मानसिक तप एवं दानसे, अमानित्व आदि गुणोंसे और तीर्थसेवनसे निवासरूपी शान्तिमयी वृत्तिसे उस बीजकी यत्न-पूर्वक रक्षा करता रहे। इस प्रकार सिंचन आदिके पश्चात् जब उस बीजमें अङ्कुर निकल आये, तब उसकी रक्षाके लिये रखवाली करनेमें अत्यन्त निपुण सन्तोष नामक पुरुषको उसकी प्रियपत्नी मुदिताके साथ रक्षकरूपमें नियुक्त कर देना चाहिये। तत्पश्चात् उस अङ्कुरका विनाश कर डालनेके लिये दृढ़ पड़नेवाली दुर्वासनाओंमें स्थित आशारूपी सिंहों, पुत्र-मित्रादिके अनुरागरूपी पक्षियों और मान-गर्व आदि सींगोंवाले मृगोंसे उस रक्षकके द्वारा भगा देना चाहिये। सिंह आदि जन्तुओंके खेलसे अत्यन्त कोमल सत्कर्मरूपी अङ्कुरोंसे सम्पन्न तथा अचिन्त्य ब्रह्मरूपी आकाशमें प्रकाश फैलानेवाले ज्ञानरूपी सूर्यकी धूपसे तमोगुणका अन्धकार नष्ट कर देना चाहिये। इस अङ्कुरका विनाश न होने

लिये उसपर तरङ्गोंके समान चञ्चल एवं विनाशी सम्पत्तिरूपी नारियाँ तथा दुष्कृतरूपी मेघोंद्वारा प्रेरित वज्र टूटे पड़ते हैं, इसलिये धैर्य, औदार्य, दया आदि मन्त्रों तथा जप, स्नान, तप और दम आदिके सहयोगसे प्रणवार्थ-चिन्तनरूपी त्रिशूलके द्वारा उनका निवारण कर देना चाहिये। इस प्रकार जब उस ध्यान-बीजकी भलीभाँति रक्षा की जाती है, तब उससे विवेक नामक नवीन अङ्कुर उत्पन्न होता है, जो जन्मसे ही उन्नति-शील और सौन्दर्यशाली होता है।

राघव! तदनन्तर उस अङ्कुरसे अपने-आप दो पत्ते निकलते हैं, जिनमें एक है 'शास्त्र-चिन्तन' और दूसरा है 'सत्पुरुषोंका सङ्ग'। आगे चलकर जब यह संतोषरूपी त्वचासे वेष्टित और वैराग्यरूप रससे अनुरञ्जित होता है, तब यह तना, दृढ़मूलता और समुन्नतिको धारण करता है। इस प्रकार शास्त्र-चिन्तनरूपी वर्षाके जलसे आप्लावित होकर जब इसका हृदय वैराग्यरूपी रससे परिपुष्ट हो जाता है, तब यह अपनी आयुके थोड़े ही समयमें परमोत्कृष्ट उन्नतिको प्राप्त हो जाता है। धीरे-धीरे शास्त्रार्थचिन्तन, सत्पुरुष-समागम और वैराग्यरूपी रससे जब वह अत्यन्त हृष्ट-पुष्ट हो जाता है, तब राग-द्वेषरूपी बंदरोंद्वारा क्षुब्ध किये जानेपर वह जरा-सा भी कम्पित नहीं होता। तदनन्तर विज्ञानसे अलंकृत आकारवाले उस वृक्षसे आत्मरससे सुशोभित तथा दूर देशतक विस्तार करनेवाली ये स्फुटता (आत्मतत्त्वका स्पष्ट आविर्भाव), सत्यता, सत्ता (आत्मरूपसे स्थिति), धीरता, निर्विकल्पता, समता, शान्तता, मैत्री, करुणा, कीर्ति और आर्यता आदि लताएँ (शाखा-प्रशाखाएँ) उत्पन्न होती हैं। यों गुण-रूपी पत्तों तथा यशरूपी पुष्पोंसे लदी हुई इन लताओंसे समृद्ध हुआ वह ध्यान-समाधि-वृक्ष संन्यासी (अहंकार-त्यागी)के लिये कल्पवृक्षका काम करता है।

राममद्र! इस प्रकार जब वह उत्तम ज्ञानरूपी (समाधिरूपी) वृक्ष लता, पल्लव और पुष्पोंसे विभूषित हो जाता है, यशरूपी पुष्पगुच्छोंसे उसकी अद्भुत छटा दीखने लगती है, उसमें गुणरूपी पल्लव लहलहाने लगते हैं और उसकी आकृति प्रज्ञारूपी मञ्जरियोंसे सुशोभित हो जाती है, तब वैराग्य-रसको टपकानेवाला वह वृक्ष दिन-पर-दिन आगामी (मूलाज्ञानके उच्छेदक ब्रह्मसाक्षात्काररूपी) ज्ञानका प्रदाता होता है। उस समय वह वर्षाकालीन मेघकी तरह सारी दिशाओंको शीतल कर देता है और सम्पूर्ण सांसारिक तापको वैसे ही शान्त कर देता है, जैसे दिनमें प्रकट हुए सूर्यके तापको रातमें चन्द्रमा शान्त कर देता है, जैसे मेघोंकी घटा छाया पैदा कर देती है, वैसे ही वह वृक्ष उपशमरूपी छायाका विस्तार करता है। वह उपशम चित्तको ऐसा सुदृढ़ बनाता है, जैसे पूर्वी हवा बादलको घना कर देती है, वह परमात्मज्ञानके मूलबन्धको वैसे ही अपने-आप सुदृढ़ कर लेता है, जैसे कुलपर्वत अपने मूलको। तथा वह अपने ऊपर कैवल्य नामक फलके उत्पन्न होनेमें सहायक शान्ति आदि माङ्गलिक पुष्पगुच्छों-की रचना करता है। पुरुषके हृदय-काननमें जब प्रति-दिन छायावितानसे संयुक्त विवेकरूपी कल्पवृक्ष वृद्धिंगत होता रहता है, तब भूतलके त्रिविध तापोंका हरण करनेवाली बुद्धिरूपी लता उल्लसित हो उठती है और उससे मनोहर शीतलता प्रकट होती है। उसी छायामें मनरूपी मृग, जो अनेक जन्मोंमें भटकनेवाला प्राचीन बटोही है और मार्गमें नानावादियोंके कोलाहलसे व्यग्र हो गया है, संसाराटवीमें भटकते-भटकते थककर—यहाँ विश्राम पाकर सुखकी साँस लेता है।

राघवेन्द्र! सत्तामात्र ही जिसका आत्मा है, ऐसे पुरुषरूपी चमड़ेका अपहरण करनेके लिये काम आदि छः शत्रु उसके पीछे पड़े हैं और वह नाना प्रकारके असार शरीरादिरूप कँटीली झाड़ियोंमें अपनेको छिपाता फिरता है, जिससे उसका मुख छिन्न-भिन्न हो गया है।

वासनारूपी वायुसे प्रेरित होकर संसाराटवीमें भटकता हुआ यह मनोमृग अहंतारूपी मृगमरीचिकाकी ओर सर्वदा दौड़ते रहनेसे अन्तःकरणकी तृष्णारूपी विषके दाहसे अत्यन्त व्याकुल हो गया है। बड़े-बड़े भोगोंमें यह आदरबुद्धि रखनेवाला है। इसी कारण दूर देशमें उत्पन्न हुए हरे-हरे तृणरूपी विषय-भोगोंके लिये दौड़ते रहनेसे इसका शरीर जर्जर हो गया है और पुत्र-पौत्रके पालनकी व्यग्रतासे संतप्त होकर यह अनर्थरूपी गड्ढेमें जा गिरा है। सम्पत्तिरूपी लतामें फँसकर जब यह लड़खड़ाकर गिर पड़ता है, उस समय प्राप्त हुए संकटोंसे इसका शरीर घायल हो जाता है और जब यह ताप-शान्तिके लिये तृष्णारूपी सुहावनी सरिताके निकट जाता है, तब हर्ष-शोक आदि तरङ्गोंसे आहत होकर दूर जा पड़ता है। फिर वह व्याधिरूपी दुष्ट व्याधोके भयसे भाग छूटनेमें ही लग जाता है। उस समय उसे दैव-प्रारब्धकी कुछ भी सम्भावना नहीं रहती, जिससे वह मानो व्याध आ पहुँचा है—इस प्रकारके भयसे अपने आकारको संकुचित कर लेता है।

राजकुमार! यह मनोमृग ज्ञानेन्द्रियोंके आस्वादके विषयभूत स्थानोंसे उत्पन्न दुःखरूपी बाणोंसे भयभीत, काम-क्रोधादि शत्रुओंके आक्रमणसे व्यग्र और पत्थरके प्रहारके सदृश दुःखानुभवके संस्कारोंसे युक्त है। स्वर्ग-नरकरूपी ऊँचे-नीचे स्थानोंमें बारंबार चढ़ने और गिरनेसे यह अत्यन्त व्याकुल हो गया है। काम-क्रोधादि विकार-रूपी पत्थरोंकी निरन्तर चोट लगनेसे इसका शरीर चूर-चूर हो गया है। तृष्णारूपी सुन्दर लताकुञ्जोंमें प्रवेश करते-करते इसकी देह क्षत-विक्षत हो गयी है। इसे परमात्माकी मायाका कुछ भी ज्ञान नहीं है, इसलिये इसने अपनी बुद्धिसे नाना प्रकारके मिथ्या व्यवहारोंकी कल्पना कर ली है। जिसे काबूमें लाना अत्यन्त कठिन है, ऐसे कामरूपी गजेन्द्रकी गर्जनासे यह भयभीत हो गया है और इन्द्रियसमूहरूपी गाँवमें पहुँचकर पुनः उन्हें मारे भागनेमें ही तत्पर है। विषयरूपी अङ्गनाके अत्यन्त विषैले फुत्कारोंसे इसे मूर्च्छा आ गयी है। यह कामुक कामिनीरूपी भूमिमें पहुँचकर प्रायः विषयरससे अत्यन्त मर्दित हो गया है। क्रोधरूपी दावानलसे दग्ध हो जानेके कारण इसकी पीठपर छाले पड़ गये हैं, जिसकी गर्मीसे यह छटपटा रहा है और सदा विषयोंमें बारंबार भ्रमण करनेके कारण भीषण दुःखोंकी प्राप्तिसे उसके भीतर भी जलन हो रही है। अपने आत्मामें संलग्न नाना प्रकारकी अभिलाषाएँ ही मानो मच्छर हैं, जो इसे डँस जानेके लिये इसके पीछे पड़ गये हैं। भोगोंके लोभसे उत्पन्न मनोहर प्रमोदरूपी सियार बहुत दिनोंसे इसके पीछे दौड़ रहा है। एक तो यह यों ही अपने कर्म और कर्तृत्वके चक्करमें पड़कर उद्भ्रान्त हो गया है, उसपर दरिद्रतारूपी सिंह इसका पीछा कर रहा है। यह पुत्र-कलत्रादिमें आसक्तिरूपी व्यामोहके धुएँसे अंधा हो गया है, जिससे इसका शरीर जर्जर पर्वत-शिखरसे लुढ़ककर गड्ढेमें गिर रहा है। मलरूपी बिल्ली दहाड़से इसका हृदय काँप उठा है, जिससे यह भयभीत हो गया है और प्रसिद्ध मृत्युरूपी व्याघ्रके प्रहार करनेसे अगस्त्य-पुण्यकी तरह सुखपूर्वक विदीर्ण करनेयोग्य हो रहा है। निर्जन वनमें गर्वरूपी अजगर इसे शीघ्र ही निगल जानेके लिये ताक लगाये बैठा है। अनेकविध कामनाओंकी सिद्धिके लिये यह जहाँ-तहाँ अपने मनुष्य-तुल्य दोतोंको छिपाता फिर रहा है अर्थात् दीनता प्रकट कर रहा है। युवावस्थारूपी प्रियतमा पहले इसका चिर-सा आलिङ्गन करके इसका परित्याग कर चुकी है। अब शंशपात-सदृश कुपित हुई इन्द्रियोंने इसे नाजुक कुत्सित स्थानोंमें ले जाकर डाल दिया है। इस प्रकार यह मनोमृग जब जन्मान्तरार्जित पुण्यके उदयसे कहीं सत्सङ्ग साधनसे युक्त होकर इस पूर्वोक्त सम्पत्तिके लोभ से

जाता है, तब वह वैसे ही विश्राम-सुखका अनुभव करता है जैसे रातके अंधकार और शीतसे पीड़ित प्राणीको सूर्योदय होनेपर आनन्द प्राप्त होता है।

श्रोताओ! आत्मज्ञानसे शून्य मूर्खलोग ताली, तमाल और मौलसिरीके वृक्ष-गुल्मोंमें बने हुए विश्रामस्थानोंमें प्रचुर पुष्पोंके विलासरूपी हासोंके समान तुच्छ अनित्य भोगमें फँसे रहनेके कारण जिस निरतिशयानन्दका नाम भी नहीं जान पाते, उस मोक्ष नामक परम आनन्दको तुमलोगोंका अपना मनरूपी मृग इस समाधि-वृक्षके नीचे आनेसे प्राप्त कर सकता है। (सर्ग ४४)

जीवात्माके ध्यान-वृक्षपर चढ़नेका और वास्तविक सुखकी प्राप्तिका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—शत्रुसूदन राम! इस प्रकार जब इस मनोमृगको उस समाधि-वृक्षकी छायामें विश्राम-सुखका अनुभव होने लगता है, तब वह उसीसे प्रेम करने लगता है; और किसी वृक्षके नीचे नहीं जाता। तदनन्तर इतने समयके बाद वह विवेकपूर्ण समाधिवृक्ष पारमार्थिक आत्मस्वरूपभूत मोक्षफलको पूर्णरूपसे प्रकट करता है। तब उस उत्तम वृक्षके नीचे बैठा हुआ अपना यह मनोमृग उस ध्यानद्रुमकी शाखाओंके अग्रभागमें लटकते हुए मोक्ष-रूपी पावन फलको देखता है। उस फलका आस्वादन करनेके लिये विशाल अध्यवसायसे युक्त तथा जड दृश्यवर्गका अत्यन्त अभाव कर देनेवाला विरक्त पुरुष ही उस वृक्षपर चढ़ता है। उस उत्तम फलको प्राप्त करनेकी इच्छासे विवेकपूर्ण ध्यान-वृक्षपर चढा हुआ पुरुष पुरानी केंचुलका परित्याग करनेवाले साँपकी तरह अपने प्राक्तन संस्कारोंका त्याग कर देता है। वह अपनेको उस ऊँचे स्थानपर चढा हुआ देखकर अट्टहास करने लगता है और विचारता है—'ओह! इतने समयतक मै कैसा दीन बना रहा।' उस समय वह करुणा* आदि जिनका स्वरूप है, ऐसी उस वृक्षकी शाखाओंके मध्यमें भ्रमण करता हुआ लोभरूपी सर्पको वशमें करके सम्राट्की तरह सुशोभित होता है। न तो वह प्राप्तवस्तुकी उपेक्षा करता है और न अप्राप्तकी इच्छा; बल्कि सम्पूर्ण वृत्तियोंमें उसका अन्तःकरण चन्द्रमाकी भाँति सौम्य एवं शीतल हो जाता है। वह उसकी दृष्टिमें स्त्री, पुत्र, मित्र और धन-सम्पत्ति आदि सारे पदार्थ स्वप्नमें उत्पन्न हुएके समान लगने लगते हैं। उन्मत्तकी चेष्टाके समान जिसका आकार है तथा जो तरङ्गोंकी तरह क्षणभङ्गुर आधारवाली है, ऐसी संसाररूपी नदीकी चालोंको अपने सामने उपस्थित देखकर वह हँसता है। उसमें लोकैषणा, दारैषणा, वित्तैषणा आदि कोई भी एषणा नहीं रहती। पूर्वपदमें विश्रान्त होनेके कारण वह जीता हुआ ही मृतक-तुल्य हो जाता है। उसकी दृष्टि केवल शुद्ध-बोधस्वरूप सर्वोत्कृष्ट उस परमात्म ज्ञानरूप फलपर ही लगी रहती है, जिससे वह परमोच्च स्थानपर आरूढ़ हो जाता है। संतोषरूपी अमृतसे परिपुष्ट हुआ वह पुरुष अपनी पूर्वदशाका बारंबार स्मरण करके अनर्थस्वरूप अर्थोंके (धनोंके) नाश हो जानेपर भी परम संतुष्ट ही रहता है।

रघुनन्दन! इस प्रकार परमार्थरूप फल प्रदान करनेवाली उस महापदवीपर गमन करता हुआ वह ज्ञानी पुरुष वाणीके अगोचर भूमिका—जीवन्मुक्त स्थितिको प्राप्त हो जाता है। दैववश बिना प्रयत्न किये ही कहींसे अकस्मात् भोगोंके प्राप्त हो जानेपर भी वह उनसे विरक्त ही रहता है। वह मौनी पुरुष सांसारिक वृत्तियोंसे उपराम, परम आनन्दयुक्त और अंदरमें परिपूर्ण मनवाला होकर किसी अनिर्वचनीय स्थितिको प्राप्त हो जाता है। वह योगी पुरुष आकाशकी तरह समतायुक्त होकर सम्पूर्ण

---

* आदिपदसे यहाँ—
'अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।'
(गीता १६। १–३ में वर्णित)
दैवीसम्पत्तियोंका ग्रहण है।

दृश्य बुद्धिका परित्याग करके निरतिशयानन्द ब्रह्मभावरूप फलको ग्रहण करता है और उसीसे परितृप्त होता है। इस प्रकार जो लोकैषणासे विरक्त हो गया है, दारैषणाका त्याग कर चुका है और धनैषणासे पूर्णतया मुक्त हो गया है, वही उस परमपदमें विश्राम पाता है। जिस पुरुषकी दृश्य पदार्थोंमें आत्यन्तिकी विरक्ति देखी जाती है, वही वास्तवमें तत्त्वज्ञानी है; क्योंकि अज्ञानीमें दृश्यका त्याग करनेकी सामर्थ्य ही नहीं है। परमात्मनिष्ठ होनेके कारण जो तृष्णासे रहित हो गया है तथा तीनो एषणाओंका परित्याग कर चुका है, उस ज्ञानीका ध्यान इच्छा न रहते हुए भी अपने-आप होता रहता है।

रघुवीर! विषयोंसे जो आत्यन्तिक विरक्ति है, वही समाधि कहलाती है। जिसने उसका सम्पादन कर लिया, वह निश्चय ही मनुष्यरूपमें परब्रह्म है, उसे हमारा प्रणाम है। जिसकी विषय-विरक्ति अत्यन्त सुदृढ़ हो गयी है, निस्संदेह उसके ध्यानको इन्द्रसहित देवता और असुर भङ्ग करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। बुद्धिमानो! विश्व शब्दका अर्थ तो मूर्खोंके लिये ही है, वह पण्डितोंका विषय नहीं है; इसलिये जिस परमानन्द ब्रह्ममें तत्त्वज्ञानी और मूर्ख तथा विश्व और विश्वेशका अभेदरूपसे भान होता है, उसीमें तुमलोग भी विश्राम करो; क्योंकि इस जगत्‌में मनन आदि भूमिकाओंमें आरूढ़ होनेकी इच्छावाले विवेकियों अथवा परमानन्दप्राप्तिमें आरूढ़ हुए सिद्धों—सभीने यह निर्णय किया है कि पदार्थोंमें परमात्मासे अतिरिक्त सत्-असत् कुछ भी नहीं है। इस निर्वाणकी प्राप्तिके लिये तीन प्रकार उपाय हैं—एक शास्त्रार्थचिन्तन, दूसरा साधुसमागमकी संगति और तीसरा ध्यान। इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। यद्यपि जगद्-भ्रान्ति निर्मूल है, तथापि जिस लौकिक ज्ञानसे उसका शीघ्र ही विनाश नहीं हो जाता, उस ज्ञानसे मनुष्यका अज्ञान उसी प्रकार नहीं दूर होता, जैसे चित्रलिखित अग्निसे सर्दी नहीं मिटती। जैसे अज्ञानीके अज्ञानके कारण जगद्-भ्रम कहा जाता है, वैसे ही तत्त्वज्ञानीके ज्ञानके प्रभावसे वह भ्रम नष्ट हो जाता है। तत्त्वज्ञानीके चित्तमें जगत्‌की स्थिति संकल्पमात्र ही है; क्योंकि बोध हो जानेपर ज्ञानीकी दृष्टिमें निस्सन्देह न तो अहंकार रह जाता है और न जगत्‌की स्थिति ही रहती है। उसको तो परम-प्रकाशस्वरूप जगत्‌की कोई अपूर्व ही स्थिति भासती है, परंतु जो पूर्ण ज्ञानी नहीं है, उसका चित्त सूखे और गीले काष्ठकी भाँति बोध और अबोध—दोनोंसे युक्त रहता है। इन दोनों ज्ञान और अज्ञानमें जो भाव प्रबल होता है, वह तद्रूप होकर ही रहता है, किंतु तत्त्वज्ञानी ब्रह्मके सिवा जगत्‌के भाव-अभावकी सत्यतामें बिल्कुल नहीं मानता। (सर्ग ४५)

ध्यानरूपी कल्पद्रुमके फलके आस्वादनसे मनकी स्थितिका तथा मुक्तिके विभिन्न साधनोंका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जब परमार्थरूप फलका ज्ञान हो जाता है और मुक्तिकी स्थिति दृढ हो जाती है, तब बोध भी शान्त हो जाता है और अनन्त परमात्मस्वरूपका प्रकाश करनेवाली परमार्थ-दशा ही शेष रह जाती है। मनस्ता—मननस्वभावता न मालूम कहाँ विलीन हो जाती है और निर्वाच, विभागरहित, सर्वव्यापक, पूर्ण, विशुद्ध, सद्रूपिणी परमानन्दमयता ही रह जाती है। उस समय जीवात्माके परमार्थस्वरूपताको प्राप्त हो जानेपर मन, वासना, कर्म, कर्म आदि भी सभी चले जाते हैं—इसका कुछ भी पता नहीं लगता। जिसे सम्पूर्ण भोगोंसे विरक्ति हो गयी है, जिसकी इन्द्रिय-वृत्तियाँ पूर्णतया शान्त हो गयी हैं, सम्पूर्ण रस जिसके लिये नीरस हो गये हैं, जो अपने आत्मामें ही रमण करनेवाला है, जिसकी मनोवृत्तियाँ शान्त हो गयी हैं तथा जो बिना प्रयत्नके ही विश्रान्ति प्राप्त कर चुका है, ऐसे योगीकी स्थिति स्वतः ही सिद्ध हो

जाती है; फिर इस विषयमें विचार ही कौन करे।

विषयोंसे जो दृढ़ वैराग्य और परम उपरति है, वही ध्यान कहलाता है और वही जब भलीभाँति परिपक्व हो जाता है, तब वज्रके समान सुदृढ़ अर्थात् वज्रध्यान हो जाता है। यह जो भोगोंसे वैराग्य है, यही अङ्कुरित होनेपर परम उपरति होकर, ध्यान कहा जाता है और दृढ़ होनेपर उसीकी समाधि संज्ञा होती है। जो दृश्यप्रपञ्चके स्वादसे मुक्त हो गया है और जिसे यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति हो चुकी है, उस मुनिकी तो अविराम निर्विकल्प समाधि लगी रहती है। जब भोग अच्छे नहीं लगते, तब यथार्थ ज्ञानका उदय होता है और जिसे विषय-भोग रुचिकर नहीं लगते, वह ज्ञानी कहा जाता है। जिस ज्ञानीको अपने स्वभावमें विश्राम प्राप्त हो चुका है, उसका स्वभाव भोगी कैसे हो सकता है; क्योंकि आत्मविरुद्ध स्वभाव ही भोग है, फिर उस स्वभावके क्षीण हो जानेपर भोगिता कहाँसे और कैसे प्राप्त हो सकती है। श्रीराम! साधकको चाहिये कि वह पहले वेदान्त श्रवण करे, फिर स्वाध्याय करे, तत्पश्चात् प्रणव आदिका जप करे। तदनन्तर ध्यान-समाधिमें लीन हो। समाधिसे विरत होनेपर वह थका हुआ साधक पुनः पूर्ववत् श्रवण, पाठ और जपका ही आश्रय ले।

राघवेन्द्र! जो संसारका भार ढोते-ढोते अत्यन्त थक गया है और संकटोंको झेलते-झेलते जिसका शरीर जर्जर हो गया है, अतएव विश्राम करना चाहता है, उसके उस विश्राम-क्रमको सुनो—जैसे पथिक यज्ञ-यूपोंसे दूर हट जाता है, वैसे ही ऐसा पुरुष अज्ञानियोंको दूरसे ही त्याग देता है और तत्त्वज्ञानियोंका अनुगामी होकर स्नान, दान, तप और यज्ञ आदिका अनुष्ठान करता है तथा सदा परोपकारमें तत्पर रहता है, जिससे 'परप्रज्ञानुग' कहा जाता है। वह सभी जनोंका प्रिय तथा शास्त्रानुकूल पवित्र कर्मोंका रसिक होता है और सभीके साथ सौम्य व्यवहार करता है। ऐसे पुरुषकी नवीन संगति, जो नवनीतके समान स्वच्छ, स्नेहभरी, कोमल, मनोहर और सुखादु होती है, सम्पर्कमें आनेवाले जनको सुख प्रदान करती है। विवेकी पुरुषके चरित्र, जो चन्द्रमाके किरणसमूहकी तरह अत्यन्त शीतल और पवित्र होते हैं, सुननेवाले मनुष्यको पूर्ण रूपसे शीतल कर देते हैं।

सत्पुरुषोंके सङ्गसे जैसी निर्भय शान्ति प्राप्त होती है, वैसी शान्ति राशि-राशि पुष्पोंसे भरे हुए उद्यानखण्डोंमें भी नहीं मिलती। ज्ञानी पुरुषोंकी संगति मन्दाकिनीके जलकी तरह लोगोंके पापोंका प्रक्षालन करके विशुद्धता प्रदान करती है। संसार-सागरसे पार जानेकी इच्छावाले विरक्त ज्ञानी पुरुषोंके समागमसे मनुष्यका हृदय वैसे ही शीतल हो जाता है, जैसे हिम और पुष्पशरोंसे निर्मित घरोंमें निवास करनेपर होता है। क्रमशः किये गये न्यायोचित निष्काम कर्मसे बुद्धि विशुद्ध हो जाती है और बुद्धिके निर्मल होनेपर जैसे स्वच्छ दर्पण प्रतिबिम्बको तुरंत धारण कर लेता है, वैसे ही मनुष्य शास्त्रोंके अभिप्रायको अपने अन्तःकरणमें यथार्थरूपसे ग्रहण कर लेता है। फिर विवेकी पुरुषके हृदयमें शास्त्रार्थ-रससे सुशोभित उत्तम प्रज्ञा उन्नतिको प्राप्त होती है। जिसका आत्मा साधु-समागमसे शुद्ध तथा शास्त्रार्थ-चिन्तनसे परिमार्जित हो गया है, वह प्राज्ञ पुरुष परम शोभा पाता है, प्राज्ञ पुरुष शास्त्र और सत्पुरुषोंके सङ्गका ऐसा अनुसरण करता है, जिससे इनमें अत्यन्त आसक्ति होकर इन्हींका अनुभव होता रहता है। क्रमशः सज्जनताको प्राप्त करके वह शास्त्रार्थकी भावनासे पूर्णतया भावित हो जाता है। फिर भोगोंका तिरस्कार करके वह पिंजरेसे छूटे हुए सिंहकी तरह शोभा पाने लगता है। भोगोंके पीछे दौड़ना बहुत बड़ा दुर्भाग्य है, इसलिये दिन-पर-दिन उसका त्याग करनेवाले विवेकी पुरुषके द्वारा उसका कुल उसी प्रकार चमकने लगता है, जैसे चन्द्रमासे तारोंका समूह।

राघव ! जिन्होंने तीनों लोकोंको तृण-तुल्य समझ लिया है, उनकी प्रशंसा महात्मालोग वैसे ही करते हैं, जैसे स्वर्गलोकमें स्वर्गवासी कल्पवृक्षका गुण गाते हैं। ऐसा पुरुष भूतलपर उदित हुए चन्द्रमाके समान होता है, अतः जिनके नेत्र विस्मयसे उत्फुल्ल हो गये हैं ऐसे साधु-महात्मा सौहार्दवश उसका दर्शन करनेके लिये आते हैं। भोगोंके प्रति उसकी आदरबुद्धि सदाके लिये नष्ट हो जाती है। इसलिये न्यायप्राप्त भोगोंके प्राप्त होनेपर भी वह उनका आदर नहीं करता। तदनन्तर जैसे स्वास्थ्य चाहनेवाला व्यक्ति वैद्यका आश्रय ग्रहण करता है, उसी प्रकार सर्वोत्कृष्ट कल्याणकी प्राप्तिके लिये वह स्वयं ही सत्सङ्ग करता है। उस सत्सङ्गके परिणामस्वरूप उसकी बुद्धि परम उदार हो जाती है, जिससे वह अत्यन्त निर्मल जलवाले सरोवरोंमें प्रविष्ट हुए गजराजकी तरह शास्त्रार्थ-चिन्तनमें निमग्न हो जाता है। जैसे सूर्यदेव अन्धकारमग्न प्राणीको अपने निकट आनेपर अपने प्रकाशसे पूर्ण कर देते हैं, वैसे ही सज्जन पुरुष अपने सम्पर्कमें आये हुए मनुष्यको विपत्तियोंसे उबारकर दैवी सम्पत्तियोंसे युक्त कर देता है।

जो विवेकी है, उसकी बुद्धि पहलेसे ही दूसरेका धन ग्रहण करनेसे विरत रहती है; क्योंकि उसे प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए अपने ही धनसे सतोष रहता है तथा पर-धनके ग्रहणसे विरत एवं संतोषामृतसे परिपूर्ण हुआ वह क्रमशः अपने स्वार्थोंकी भी उपेक्षा कर देना चाहता है। वह याचकको ऋण और शाक आदि जो कुछ अपने पास मौजूद रहता है, वह सब दे देना है। यहाँतक कि उसी अभ्यासयोगसे वह अपना शरीर भी दे डालता है। विवेकी पुरुषको चाहिये कि पहले वह पर-धनके ग्रहणसे यत्नपूर्वक विरत हो जाय। जब इसका पूर्णतया अभ्यास हो जाय, तब उसे विवेकबलसे स्वार्थोंसे आसक्ति हटा लेनी चाहिये।

श्रीराम ! जैसे सरोवर वर्षाके जलसे ही भरता है, उसी तरह मनुष्यका अन्तःकरण संतोषसे ही परिपूर्ण होता है। जैसे वसन्त ऋतुके आगमनसे सुन्दर पुष्पोंसे लदे हुए वृक्षोंसे वन लहलहा उठता है, वैसे ही साधु पुरुष संतोषसे ही गम्भीर, शीतल, मनोहर, प्रसन्न और रसशालिनी ओजस्विताको पाकर शोभित होने लगता है। किंतु जो असंतुष्ट है और सदा धनके लिये लालायित रहता है, उसकी प्रकृति दीन हो जाती है और वह पादपीठ (खड़ाऊँ या पनही) की मारसे पिसे हुए कीड़ेकी भाँति चेष्टा करता रहता है तथा एक दुःखसे दूसरे दुःखको प्राप्त होता रहता है। जो धनके लोभी होते हैं, उनकी आकृति विकृत हो जाती है। उन्हें क्षुब्ध समुद्रमें गिरे हुए तथा लहरोंके थपेड़ोंसे व्याकुल हुए जीवोंकी भाँति कभी स्वस्थ स्थिति प्राप्त नहीं होती। अर्थसम्पत्ति और नारी—ये दोनों ही उत्ताल तरङ्गोंकी तरह क्षणविध्वंसी हैं और सर्पके फनकी छत्रछायाके समान हैं, अतः कौन विद्वान् उनमें मन लगायेगा। धनके उपार्जन और रक्षणमें जो यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं, उन्हें जानता हुआ भी जो मूढ़ धनकी अभिलाषा करता है, वह मनुष्य होते हुए भी पशु-तुल्य है; अतः उसका स्पर्शतक नहीं करना चाहिये। * जो संतोषरूपी हेमुअसे मनके आन्तरिक-व्यापारोंको और आन्तरिक संकल्प आदिको एक साथ ही काट डालता है, उसका क्षेत्र—आनन्दकी उत्पत्तिका स्थान हृदय—प्रकाशित हो उठता है। पुरुषमें चाहिये कि पहले संसारसे विरक्ति प्राप्त करे। तदनन्तर वह जानेवाले सत्पुरुषोंका सङ्ग और शास्त्रोंका अभ्यास करे। शास्त्रोंके अर्थोंकी बार-बार आवृत्ति करके उनमें दृढ़ हो जाय। तब कहीं उसे संतोष सुलभ होता है और उसके दृढ़तासे परमार्थतत्त्वकी प्राप्ति होती है। (सर्ग ४६-५७)

---

* सम्पदः प्रमदाश्चैव तरङ्गोच्छ्रायभङ्गुराः। कस्तासु विश्वसेज्जन्तुः पश्यन्नेव मृतः पुरः॥
अर्थोपार्जनरक्षणाः जानन्नपि कदर्थनाम्। य इच्छति मुहुर्मूढो दृष्ट्वा तं नमस्कुरु॥
[illegible] उ० ४६। ४-५

वैराग्यके दृढ़ हो जानेपर पुरुषकी स्थिति, आत्माद्वारा विवेक नामक दूतका भेजा जाना, विवेक-ज्ञानसम्पन्न पुरुषकी महिमा तथा जीवके सात रूपोंका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलभूषण राम ! जब संसारसे विरक्ति सुदृढ़ हो जाती है, सत्पुरुषोंका सङ्ग प्राप्त हो जाता है, बुद्धिद्वारा शास्त्रों—'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके अर्थका ज्ञान हो जाता है, भोगोंकी तृष्णा नष्ट हो जाती है, विषय नीरस लगने लगते हैं, श्रेष्ठताका उदय हो जाता है, चिन्मय आत्मा प्रत्यक्ष हो जाता है तथा हृदयमें परमात्मप्राप्तिकी पूर्ण श्रद्धा हो जाती है, उस समय विवेकी पुरुष उसी प्रकार धनकी कामना नहीं करता, जैसे लोग अन्धकारको नहीं चाहते और जो सम्पत्ति उसके पास पहलेसे मौजूद रहती है, उसे वह जूँठी पत्तलकी तरह त्याग देता है। यद्यपि इन्द्रियोंके भोगरूपी विषय बारंबार उसकी इन्द्रियोंके सम्पर्कमें आते हैं तथापि उसे उनका अनुभव नहीं होता; क्योंकि उसका मन सर्वथा शान्त हो गया रहता है। अतः विवेकी पुरुष एकान्त स्थानोंमें, दिशाओंके छोरोंमें, सरोवरोंपर, काननोंमें, उद्यानोंमें, पुण्य-प्रदेशोंमें अथवा अपने ही घरोंमें, रुचिर वाटिकाओंमें, आयोजित भोजनादि व्यापारोंमें तथा शास्त्रोंके तर्कपूर्ण विचारोंमें आसक्ति न होनेके कारण वहाँ चिरकालतक स्थित नहीं रहता। यदि कहीं वह उन स्थानोंमें कुछ देरतक ठहर गया तो वहाँ भी वह तत्त्वज्ञका ही अन्वेषण करता है; क्योंकि वह विवेकी, पूर्ण शान्त, इन्द्रिय-निग्रही, स्वात्माराम, मौनी और एकमात्र विज्ञानस्वरूप ब्रह्मका ही कथन करनेवाला होता है। इस प्रकार अभ्यासके बलसे वह शान्त विवेकी पुरुष स्वयं ही परम पदस्वरूप परमात्मामें विश्राम प्राप्त कर लेता है।

राघव ! एकमात्र बोधके साथ अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण जहाँ वस्तुतः न बोधता है, न पदार्थ है और न पदार्थोंका अभाव है, उसे परमपद कहते हैं। जिन्हें परमात्मतत्त्वसाक्षात्काररूप परम पदमें विश्राम प्राप्त हो चुका है तथा जो मनोलयकी अवस्थाको पहुँच चुके हैं, ऐसे सज्जनोंको विषय उसी प्रकार नहीं रुचते, जैसे हृदयहीन पत्थरोंको दूधके स्वादका अनुभव नहीं होता। जैसे दीपक अन्धकारका नाश कर देता है, वैसे ही निर्मल परमात्मपदमें स्थित ज्ञानी पुरुष अपने हृदयस्थित अज्ञानरूपी अन्धकारको तथा बाहरी राग, द्वेष, भय आदिको दूर हटा देता है। जिसमें तमोगुणका सर्वथा अभाव है जिसके सम्पूर्ण अंश रजोगुणसे रहित हो गये हैं तथा जो सत्त्वगुणको भी लाँघ चुका है, वह मनुष्यरूपमें सूर्य है; अतः उसे प्रणाम करना चाहिये। ये जितने चराचर जीव तथा भूत-प्राणी हैं, वे सब-के-सब स्वेच्छानुसार उपहार-सामग्री प्रदान करके निरन्तर उसी परमात्माका पूजन करते हैं। इस प्रकार जब अनेक जन्मोंतक यथाभिमत इच्छासे यह परमात्मा पूजित होता है, तब अपने पुजारीपर प्रसन्न हो जाता है। फिर तो प्रसन्न हुआ स्वयंदेवाधिदेव महेश्वररूप परमात्मा पूजककी शुभ कामनासे उसे ज्ञान प्रदान करनेके लिये अपने पावन दूतको तुरंत प्रेरित करता है।

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! परमेश्वररूप परमात्मा किस दूतको प्रेरित करता है और वह दूत किस प्रकार ज्ञानोपदेश करता है—यह मुझे बतलाइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रामभद्र ! परमात्मा जिस दूतको प्रेरित करता है, उसका नाम विवेक है, वह सदा आनन्द देनेवाला है। वह अधिकारी पुरुषके हृदयरूपी गुफामें वैसे ही स्थित हो जाता है, जैसे आकाशमें चन्द्रमा। वही विवेक वासनायुक्त अज्ञानी जीवको ज्ञान प्रदान करता है और धीरे-धीरे इस संसारसागरसे उद्धार कर देता है। यह ज्ञानरूप अन्तरात्मा ही सबसे

बड़ा परमेश्वर है। वेद-सम्मत जो प्रणव है, वह इसी-का बोधक शुभ नाम है। नर, नाग, सुर, असुर—सभी जप, होम, तप, दान, पाठ, यज्ञ और कर्मकाण्डद्वारा नित्य इसीको प्रसन्न करते हैं। वही परमात्मा सर्वत्र विचरण करता है, जागता है और देखता है। इसीकी आँख, कान, हाथ, पैर सर्वत्र व्याप्त* हैं। यही चिन्मय परमात्मा विवेक-दूतको उद्बुद्ध करके उसके द्वारा चित्तरूपी पिशाचको मारकर जीवको अपनी दिव्य अनिर्वचनीय स्थितितक पहुँचा देता है। इसलिये सम्पूर्ण संकल्प-विकल्पोंको, विकारोंको तथा अर्थसंकटोंको छोड़कर अपने पुरुषार्थसे स्वयं ही उस चिन्मय परमात्माको प्रसन्न कर लेना चाहिये; क्योंकि इस संसाररूपी रात्रिके घने अन्धकारमें, जिसमें मनरूपी पिशाच घूम रहा है और अज्ञानरूपी काली घटा छायी हुई है, परमात्मा ही पूर्णिमाके चन्द्रमाकी तरह सर्वत्र प्रकाश करता है।

यह संसार एक भीषण समुद्रके समान है। इसका तरी भाग मरणरूपी अगाध भँवरोंके कल्लोलोंसे आकुल हो रहा है। यह तृष्णारूपी तरङ्गोंसे चञ्चल हो रहा है। अपना मनरूपी प्रचण्ड वायु उद्रेकित कर रही है। चराचर भूतरूप जलकणोंसे व्याप्त है और इन्द्रिय-ही मकरोंसे भरे रहनेके कारण अत्यन्त गहन है। समुद्रको पार करनेके लिये विवेक ही महान् जहाज इस प्रकार शास्त्रविहित अभीष्ट पूजनसे प्रसन्न हुआ त्मा पहले विवेकरूपी पावन दूत भेजकर सत्सङ्ग, भ्यास और परमार्थ वस्तुके उत्तम ज्ञानद्वारा जीवको ीय, निर्मल एवं सर्वोच्च पदतक पहुँचा देता है। द ! जिनका विवेक परिपुष्ट हो गया है और जिन्होंने वासनारूपी मदिरा परित्याग कर दिया है, उन महात्माओंके अंदर कोई अपूर्व ही मस्ती उत्पन्न होती है। वस्तुतः भ्रान्तिके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जानेसे वासना और भ्रान्ति अपने-आप निवृत्त हो जाती है। भला स्वप्नका स्वप्नरूपसे ज्ञान हो जानेपर उसमें सत्यत्वकी भावना किसे हो सकती है। वासनाका अभाव ही संसारका उपशमन है। वासना ही महाकाय पिशाचिनी है, इसीलिये बुद्धिमान् लोग इसका विनाश करनेमें तत्पर रहते हैं।

पूर्वाभ्यासवश पुरुषोंकी अज्ञानप्रयुक्त उन्मत्तता जैसे-जैसे उत्पन्न हुई रहती है, वैसे-वैसे ही वह ज्ञानके भलीभाँति अभ्यस्त होनेसे समयानुसार धीरे-धीरे निवृत्त भी हो जाती है। ज्ञानी पुरुष ज्ञानयज्ञमें दीक्षित होकर मनरूपी यूपयज्ञस्तम्भको सुदृढ़रूपसे गाड़ देता है और संसारकी असत्ताके अनुभवद्वारा विधि-विधान करके सर्वस्वत्यागरूप दक्षिणा देकर सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लेता है। उस समय चाहे अंगारोंकी वृष्टि हो, प्रलयाग्निकी वायु चलने लगे अथवा भूतल उछलकर आकाशमें चला जाय, परंतु ज्ञानी पुरुष अपने स्वरूपमें ही समभावसे स्थित रहता है। पूर्ण वैराग्यसे जिसका मन सर्वथा शान्त हो गया है और जिसने अपने मनको पूर्णतया निरुद्ध कर लिया है, ऐसा पुरुष सदा वज्र-तुल्य सुदृढ़ समाधिमें ही स्थित रहता है। इसके अतिरिक्त उसकी दूसरी स्थिति नहीं होती; क्योंकि बाह्य पदार्थोंसे अत्यन्त वैराग्य हो जानेसे मन जैसे पूर्णरूपसे शान्त होता है, वैसा शान्त वह अनन्त शास्त्राभ्यास, उपदेश, तप और इन्द्रियनिग्रह आदिसे नहीं होता।

वासनासे रहित हो जानेपर तो सभी जीव मुक्त हैं, परंतु वासनाकी विभिन्नताके कारण वे मुक्त पक्षीकी तरह उड़-उड़कर विभिन्न स्वर्ग-नरक आदि लोकोंमें गिरते हैं।

श्रीरामजीने कहा—भगवन्! जैसे इन्द्रियोंसे रहित

---

* सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
(गीता १३। १३)

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्' श्रुतियाँ भी ऐसा ही प्रतिपादन करती हैं।

सातों समुद्रोंमें क्षीर आदिके भेदसे सात प्रकारके जल हैं उसी प्रकार सात प्रकारके रूपोंको धारण करनेवाले जीवोंके भेदको आप वर्णन करनेकी कृपा करें ।

श्रीवसिष्ठजी बोले—रघुनन्दन ! किसी प्राचीन कल्पके किसी जगत्में कहींपर कुछ जीव सुषुप्ति-अवस्थामें स्थित थे । वे अपने प्राणयुक्त शरीरोंके कारण जीवित ही थे । उनमें जो लोग स्वप्न देख रहे थे, उनके स्वप्न-सदृश ही इस जगत्को समझना चाहिये और उन्हीं जीवोंको 'स्वप्नजागर' कहा जाता है । उन सोये हुए जीवोंका जो अपने-आप प्रकट हुआ स्वप्न-प्रपञ्च है, वही कभी-कभी जब हमलोगोंका विषय बन जाता है, तब हमलोग उनके 'स्वप्ननर' कहलाते हैं । चिरकालके पश्चात् जब उनका वह स्वप्न जाग्रत्-रूप हो जाता है, तब उनके स्वप्नके वे जीव 'स्वप्न-जाग्रत्' कहे जाते हैं । वास्तवमें वे उनके स्वप्नमें ही स्थित है । इस स्वप्न-प्रपञ्चके समाप्त होनेपर यदि ज्ञान हो गया, तब तो वे तत्त्वज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाते हैं और यदि ज्ञान न हुआ तो गाढ निद्राके वशीभूत होकर वे सकल्पानुसार उसी प्रकारके दूसरे शरीर धारण कर लेते हैं और उसी तरहका दूसरा कल्पित जगत्कल्प देखते हैं; क्योंकि कल्पनाभासरूपी आकाशकी कहीं निरवकाशता नहीं रहती । चिरकालके अभ्याससे जिन जीवोंका जागराभिमान घनीभूत संकल्पमें है तथा जिनके मनकी चेष्टाएँ भी संकल्पमें ही हैं, वे जीव 'संकल्पजागर' कहलाते हैं । वे संकल्पका उपशमन हो जानेपर पुनः पूर्ववत् अथवा उससे भी विलक्षण व्यवहार करने लगते हैं, अतः उनके शरीरमें हमलोग 'संकल्प-पुरुष' रूपसे स्थित माने जाते हैं । जो विशाल आत्मावाले प्रधान पुरुष ब्रह्माके रूपसे अवतीर्ण हुए हैं और पहलेके उत्पत्तिविकासरूप स्वप्नसे रहित हैं, वे 'केवलजागर' कहे गये है । पुनः वे ही जीव जब प्रौढ होकर जन्मान्तरोंमें जन्म धारण करते जाते हैं और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें विचरते रहते हैं, तब 'चिरजागर' कहलाते है । वे चिरजागर जीव ही जब पापरूप दुष्कर्मोंके आवेशसे जड-स्थावररूपमें प्रकट होते हैं और जाग्रत्-अवस्थामें भी घनीभूत अज्ञानसे परिपूर्ण हो जाते हैं, तब 'घनजागर' कहे जाते हैं । जो शास्त्रार्थचिन्तन और सत्सङ्गके द्वारा उपदेश ग्रहण करके ज्ञानसम्पन्न हो गये है और जाग्रत्को भी स्वप्न-सरीखे देखते हैं, वे 'जाग्रत्स्वप्न' कहलाते हैं । जिन्हें यथार्थज्ञानकी प्राप्ति हो गयी है और जो परमपदमें विश्राम कर चुके हैं, तुरीय भूमिकाको प्राप्त हुए वे जीव 'क्षीणजाग्रत्' कहे जाते हैं ।

(सर्ग ४८–५०)

दृश्य जगत्की असत्ता, सबकी एकमात्र ब्रह्मरूपता तथा तत्त्वज्ञानसे होनेवाले लाभका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! सृष्टिका वास्तवमें कोई कारण नहीं है, इसीलिये न यह उत्पन्न होती है और न नष्ट । जैसा कारण होता है, वैसा ही कार्य उत्पन्न होता है । परंतु जब सृष्टिका कारण ही कल्पित एवं मिथ्या है, तब उससे होनेवाला सृष्टिरूप कार्य भी कल्पित और मिथ्या ही सिद्ध होता है । जैसे प्रशान्त महासागरके भीतर लहर और भँवर आदि उससे अभिन्न रूपमें ही स्थित हैं, उसी प्रकार क्षोभरहित परब्रह्ममें जगत् और चित्त आदि स्थित है, जो इस ब्रह्मसे भिन्न नहीं है । जैसे अपने भीतर अनेक बर्तनोंको रखनेवाला मिट्टीका लोंदा एक रूपसे ही स्थित रहता है, उसी प्रकार अपने उदरमें अनेक ब्रह्माण्डभाण्डको धारण करनेवाला सर्वात्मा निर्मल ब्रह्म भी एक ही है । जैसे सुवर्ण अपने भीतर कडा, कुण्डल आदि अनेक नाम-रूपवाले आभूषणोंको धारण करता है और उन सबके रूपमें स्वयं ही स्थित होता है, उसी प्रकार सुवर्णस्थानीय ब्रह्म ही दृश्यजगत्के रूपमें स्थित है । ज्ञानी पुरुष स्वप्नकालमें स्वप्नको ही जाग्रत्रूप जानते हैं; क्योंकि

उन्होंने वासनाओंसे व्याप्त मनको ग्रहण नहीं किया है और वे जाग्रत्-कालमें जाग्रत्को भी स्वप्न समझते हैं; क्योंकि उन्हें सत्यस्वरूप आत्माका बोध हो चुका है।

जैसे पता लगानेपर मृगतृष्णाका जल मिथ्या सिद्ध होता है, उसी प्रकार बारंबार इन्द्रियोंके सम्पर्कमें आनेपर भी यह दृश्य-प्रपञ्च तत्त्वज्ञान होते ही मिथ्या सिद्ध हो जाता है। जैसे प्रज्वलित अग्निमें घी और इन्धन सब विलीन होकर एकरूप हो जाते हैं, वैसे ही विज्ञानकालमें जगत्, मन और द्रष्टा आदि सब एकमात्र ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाते हैं। जाग्रत्को स्वप्नवत् मिथ्या समझ लेनेपर वह अपनी दृढ़ताको छोड़ देता है और अत्यन्त कोमल बन जाता है। तात्पर्य यह कि उसके मिथ्यात्वका दृढ़ निश्चय हो जाता है। देश, कालरूप निमित्तके बिना ही जाग्रत् और स्वप्नका निर्माण करके यथास्थित बोधस्वरूप साक्षी चेतन आत्मा ही जगत्के रूपमें घनीभावको प्राप्त-सा हुआ है। इस प्रकार विचारके द्वारा जब जाग्रत् भी क्षणभङ्गुर या मिथ्या सिद्ध हो जाता है, तब स्वत. क्षीण होने लगता है और उसके प्रति होनेवाली वासना उसी प्रकार घटने लगती है, जैसे वर्षाका जल शरत्कालमें क्षीण होने लगता है। विवेकी पुरुषकी दृष्टिमें अत्यन्त तुच्छताको प्राप्त हुई दृश्य-लक्ष्मी विद्यमान होनेपर भी रुचिकर नहीं लगती। स्वप्नकी भाँति उसे मिथ्या समझ लेनेके कारण वह उसमें रस नहीं लेता है। महामते! जैसे स्वप्न ही [illegible] पुरुषोंको सामने दिखायी देनेपर भी मृगतृष्णाका मिथ्या जल उनकी प्यास नहीं बुझा सकता, उसी प्रकार ये असत्य विषय किसी भी ज्ञानी पुरुषको कैसे वास्तविक प्रतीत हो सकते हैं?

श्रीराम! जिसे असत्य समझ लिया गया, उसमें उपादेयबुद्धि कैसे रह सकती है? भला कौन ऐसा मनुष्य है, जो स्वप्नको स्वप्न समझ लेनेपर उसमें दीखे हुए सुवर्णको लेनेके लिये दौड़ता हो। जब दृश्य जगत्को स्वप्नके समान मिथ्या समझ लिया गया, तब उसके प्रति होनेवाली आसक्ति दूर हो जाती है तथा द्रष्टा और दृश्यके सम्बन्धमें जो चेतन और जड़ ग्रन्थिरूप दोष प्राप्त हुआ है, उसका उच्छेद हो जाता है। गन्धर्वनगरके समान दीखनेवाला जो भ्रान्तिरूप सम्पूर्ण जगत् है, वह अज्ञानसे ही है। तत्त्वज्ञान होनेपर सब ओर फैले हुए दीपकके प्रकाशके समान यह प्रकाशित हो उठता है और इसकी अन्धकाररूपता दूर हो जाती है। जैसे बादलोंके हट जानेपर केवल स्वच्छ आकाश दिखायी देता है, उसी प्रकार जगत्की भ्रान्ति दूर हो जानेपर एकमात्र बुद्ध परब्रह्म परमात्माका ही अनुभव हो जाता है।

(सर्ग ५१)

सृष्टिकी असत्यता और एकमात्र अखण्ड ब्रह्मसत्ताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! यह जगत् मूढ़ पुरुषकी दृष्टिमें है; इसीलिये उसके मनमें भी है। परंतु जो विवेकी पुरुष है, वह शास्त्रद्वारा निश्चित तथा पूर्वापरसे समन्वित अर्थको ही देखता है और उसीको ग्रहण करता है। शास्त्रनिषिद्ध वस्तु दृष्टिपथमें आ जाय तो भी वह न तो उसकी ओर देखता है और न उसे ग्रहण ही करता है।

सभी प्रकारोंसे युक्त यह जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम जगत् दिखायी देता है, वह सब कल्पके अन्तमें नष्ट हो जाता है। सृष्टिके पहले जो संसारकी [illegible] नष्ट हो चुकी थी, वही फिर आविर्भूत हुई है—इसका निषेध करना असम्भव है; क्योंकि नष्ट हुई वस्तुकी फिर उत्पत्ति कैसे सम्भव हो सकती है। यदि नष्टकी उत्पत्ति [illegible] तब यह संदेह मिटा ही समझना चाहिये कि यह सत्य है या अन्य? परंतु हम तो अनुभवका आश्रय लेते हैं; अतः नष्टकी उत्पत्ति कैसे स्वीकार कर सकते हैं? जो

वस्तु उपलब्ध होकर भी अभाव दशाको प्राप्त हो जाती है, वह नष्ट ही है; क्योंकि उपलब्धका अदर्शन ही नाश है। यदि नाशकी कोई और परिभाषा हो तो वह कैसी है, यह तुम्हीं बताओ। यदि कहें कि नष्ट हुई वस्तु ही फिर उत्पन्न हुई है तो ऐसी प्रतीति किसको होती है? अतः जो वस्तु उत्पन्न है, उसका नाश अवश्य होता है। और पुनः-पुनः दूसरेकी ही उत्पत्ति या प्रवृत्ति होती है; यही कहना उचित है।

वृक्षके बीच-बीचमें जो स्कन्ध, शाखा, उपशाखा, पत्र, पुष्प तथा फलादिरूप अवयव है, उनमें समस्त वृक्ष-शरीरको व्याप्त करके स्थित एक बीज-सत्ता ही है। जब सर्वत्र एक ही सत्ता है, तब उसमें कार्यकारणभावकी कल्पना कैसे की जा सकती है? विचार तथा अपने अनुभवरूप प्रमाणसे यह सब शान्त, अनादि, अनन्त और आकाशके समान निर्मल केवल बोधस्वरूप परमात्मा ही है, क्योंकि सब कुछ परमात्माका ही स्वरूप है। वह परमपदस्वरूप परमात्मा वाणीका अविषय, अव्यक्त, इन्द्रियातीत, नाम-रूपसे रहित, सर्व-भूतस्वरूप, शून्यमय है तथा सत् एवं असत् भी वही है। वस्तुतः वह न वायु है, न आकाश है, न मन है, न बुद्धि आदि है और न शून्यरूप ही है। वह कुछ न होकर भी सर्वस्वरूप है। कोई और ही (विलक्षण एवं अनिर्वचनीय) परम व्योम (चिन्मय आकाशरूप) है। उस परमपदमें स्थित एवं समस्त कल्पनाओंसे मुक्त तत्त्वज्ञानी ही उस परमात्मवस्तुका अनुभव करता है, दूसरे लोग तो केवल अभ्यासमें लाये गये शास्त्रोंके अनुसार ही उसका वर्णन करते हैं। वास्तवमें वह परमात्मा न काल है, न मन है, न जीव है, न सत् है, न असत् है, न देश है, न दिशा है, न इनका मध्य है, न अन्त है, न बोध है और न अबोध ही है।

योगी लोग उस परमात्मपदको सर्वात्मक और समस्त पदार्थोंसे रहित देखते हैं। वह आदि पद ज्ञानयोगी महात्माओंकी दृष्टिमें सर्वरूप, सर्वात्मक, सर्वार्थरहित और सर्वार्थपरिपूर्ण है। जिसका अन्तःकरण स्वच्छ है, जो तत्त्वज्ञ एवं शान्त है और परम प्रकाशस्वरूप परमात्माको प्राप्त है, वही उसके यथार्थ स्वभावको देख या समझ पाता है। जैसे सुवर्ण-पिण्डके भीतर आभूषण तथा मुद्रा आदिका समूह कल्पित है, उसी प्रकार 'यह', 'तुम' और 'मैं' इत्यादिके रूपमें प्रतीत होनेवाला भूत, वर्तमान और भविष्यकालके जगत्का भ्रम उस परमात्मामें कल्पनासे ही स्थित है, वास्तवमें नहीं। परब्रह्मरूपी काष्ठ-स्तम्भमें यह त्रिलोकीरूपिणी पुतली यद्यपि खुदी हुई नहीं है तो भी प्रतीत हो रही है, साक्षीरूपी शिल्पीकी दृष्टिमें समायी हुई है। खम्भेमें तो खुदी हुई पुतलियाँ ही दृष्टिगोचर होती हैं। परंतु उस क्षोभरहित परब्रह्म परमात्मारूपी महासागरमें बिना हुए ही ये सृष्टिकी तरङ्गें दृष्टिगोचर हो रही हैं, नित्य निरतिशयानन्दमय जलसे भरे हुए चैतन्य-रूपी सरोवरमें चिन्मय मेघोंकी अमृतमयी वर्षाके समान ये दृष्टिगत सृष्टियाँ भासित हो रही हैं। वह परमात्मा विभागशून्य—अखण्ड एकरस है तो भी उसमें ये सृष्टि-दृष्टियाँ विभागपूर्वक स्थित प्रतीत होती हैं। ब्रह्म क्षोभ-रहित है तो भी उसमें ये क्षुभित-सी देखी जाती है तथा वह परमात्मा सच्चिदानन्दघन है। उसमें इन दृष्टिगत सृष्टियोंका कहीं पता नहीं है तो भी ये उसके भीतर प्रतीत होती हैं। (सर्ग ५२)

परमात्मामें सृष्टिभ्रमकी असम्भवता, पूर्ण ब्रह्मके स्वरूपका निरूपण तथा सबकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! उस शुद्ध बुद्ध परमात्मामें सृष्टिके कारणभूत मल, आकार, बीज, माया, मोह और भ्रम आदि किसीका भी होना वास्तवमें सम्भव नहीं है। वह केवल (अद्वितीय), शान्त, अत्यन्त निर्मल

और आदि-अन्तसे रहित है। वह इतना सूक्ष्म है कि उसके भीतर आकाश भी प्रस्तरके समान स्थूल कहा जा सकता है। जिसकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं है, उस दृश्य-प्रपञ्चकी सत्ता यहाँ कदापि सम्भव नहीं है। तथा जो सदा स्वानुभवैकगम्य नित्य परमात्मवस्तु है, उसकी सत्ताका निराकरण करनेकी शक्ति किसमें है? संसार ब्रह्मस्वरूप होनेके कारण चैतन्यमय ही है। इसमें जो जड आकारकी प्रतीति होती है, वह भ्रमसे ही है। इसलिये सब कुछ एक, अजन्मा, शान्त, द्वैताद्वैतसे रहित तथा निरामय ब्रह्म ही है। पूर्ण परब्रह्म परमात्मासे पूर्णका ही विस्तार हो रहा है। पूर्णमें पूर्ण ही विराज रहा है। पूर्णसे पूर्णका ही उदय हुआ है तथा पूर्णमें पूर्ण ही प्रतिष्ठित है। वह पूर्ण ब्रह्म शान्त, सम, उत्पत्ति-विनाशसे रहित, निराकार, अजन्मा, आकाशकी भाँति व्यापक, विशुद्ध और अद्वितीय है। वह सर्वरूप है और सत्-असत् स्वरूप तथा एक होकर ही सदा स्थित रहता है। सबका आदि वही है। मोक्ष उसका अपना ही स्वरूप है तथा वह उत्कृष्ट ज्ञानरूप है।

'तू', 'मैं' और 'यह जगत्'—इत्यादि जो शब्द हैं, इनका अर्थ ब्रह्म ही है और वह ब्रह्ममें ही विद्यमान है। वह ब्रह्म शान्त, सबमें समानरूपसे ही प्रकाशित होनेवाला तथा सत् है। वह पृथक् स्थित न होकर ही अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित है। समुद्र, पर्वत, मेघ, पृथ्वी तथा विस्फोट आदिसे युक्त होकर भी यह जगत् वास्तवमें अजन्मा तथा काष्ठमौनके समान निष्क्रिय ब्रह्मरूप ही है। उस ब्रह्ममें न तो ज्ञातापन है, न कर्तापन है, न जडता है और न भोक्तापन है, न शून्यता है, न अर्थरूपता है और न आकाशरूपता ही है। वह सत्य, घन, अद्वितीय, जन्म आदिसे रहित, सर्वव्यापी, सर्वरूप, शान्त, अनादि, अनन्त तथा एक रूप ही है। मरना-जीना, सत्य-असत्य तथा शुभ और अशुभ जो कुछ भी है, वह सब एकमात्र जन्मरहित चेतनाकाश-स्वरूप है। जैसे ऊर्णनाभका तन्तुजाल उसीरूप ही होता है, उसी प्रकार सब कुछ ब्रह्म ही है। उसमें भी परम शान्त चेतनाकाशस्वरूप ब्रह्मका ही यह यह जगत् है, जो आदि और अन्तमें अव्यक्त तथा मध्यमें ही इस प्रकार व्यक्त होता है। जैसे जल ही फेन आदिके रूपमें दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार ब्रह्म ही जगत्‌रूपमें भासित होता है। जो उत्पन्न होता है और उत्पन्न है, वह कार्यरूप तथा जो उत्पन्न नहीं होता है और उत्पन्न नहीं है, वह कारणरूप भी उस चेतन परमात्मासे भिन्न नहीं है। अतः इस सृष्टिका ब्रह्मसे भिन्न कोई कारण नहीं है। जैसे प्रयत्नपूर्वक खोज करनेपर भी खरगोशके सींगका पता नहीं आ सकता, वैसे ही इस सृष्टिका वास्तविक कोई कारण नहीं उपलब्ध होता।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! जैसे बटबीजके भीतर भावी विशाल वृक्ष विद्यमान होता है, वैसे ही ब्रह्मके परमाणु परमात्मामें यह सारी सृष्टि विद्यमान रहती है, ऐसा क्यों न मान लिया जाय?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! जहाँ बीज है, वहीं वटवृक्षकी विशाल शाखा हो सकती है; क्योंकि वह सहकारी कारणोंसे उत्पन्न होती और पलती है; परंतु जब सम्पूर्ण भूतोंका प्रलय हो जाता है, तब पीछे बीज शेष रह जाता है और उसका सहकारी कारण भी क्या रहता है; जिसके सहयोगसे जगत्‌की उत्पत्ति हो। जो शान्त परब्रह्म है, उसमें जगत्‌की कल्पना हो सकती है। उसमें तो परमाणुरूप भी बीज नहीं होता, फिर बीजत्व कैसे आ सकता है? इस प्रकार विचार करनेपर बीजभूत कारणका होना तो सर्वथा असम्भव है, तब जगत्‌की सत्ता किस प्रकार, किस साधनसे, किस निमित्तसे, कहाँ और क्या हो सकती है, इसलिये जो सत्‌रूप परमात्मा है, वही अपने स्वरूपभूत संकल्पसे यह जगत् बनकर स्थित

है। यहाँ न तो कोई वस्तु उत्पन्न होती है और न उसका नाश ही होता है, जैसे आकाशमें अवकाश और जलमें द्रवत्व है, उसी प्रकार परमात्मामें सृष्टि स्थित है। (सर्ग ५३-५४)

ब्रह्ममें ही जगत्‌की कल्पना तथा जगत्‌का ब्रह्मसे अभेद, पाषाणोपाख्यानका आरम्भ—वसिष्ठजीका लोकगतिसे विरक्त हो सुदूर एकान्तमें कुटी बनाकर सौ वर्षोंतक समाधि लगाना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! उत्पत्ति, विनाश, ग्रहण, त्याग, स्थूल, सूक्ष्म, चर, अचर आदि सभी पदार्थ सृष्टिके आरम्भ-कालमें उत्पन्न नहीं हुए थे; क्योंकि इनकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं था। जैसे नदियोंकी तरङ्ग-लेखा पहलेकी भाँति आज भी वह रही है, वैसे ही चेतनका संकल्प ही कल्पके आदिसे प्रलयपर्यन्त पदार्थोंके स्वभावका व्यवस्थापक है। पदार्थोंकी रचना दृष्टियोंमें ही प्रकट है। उनकी वास्तविक सत्ता नहीं है। जैसे जल-तरङ्गोंकी शोभा ही नदियोंकी रचना बन गयी है, उसी तरह चेतन आकाशमें विद्यमान चैतन्यरूप बीजकी सत्ता ही उसके भीतर सृष्टिरूपताको प्राप्त हो गयी है अर्थात् सृष्टिकी सत्ता चेतन सत्तासे पृथक् नहीं है। सब प्रकारके भेदज्ञानका निवारण हो जानेपर पुरुषमें जो एक शुद्ध ज्ञानका उदय होता है, तद्रूप ही वह बन जाता है। इसीसे वह मुक्त कहा जाता है। इसलिये उसमें बन्धन और मोक्षकी दृष्टियाँ कैसे रह सकती हैं ? चेतन आकाशमें जो यह जगत्-नामक मलिनता प्रतीत हो रही है, पूर्वोक्तरूपसे विचार करनेपर यह निष्कलङ्क एवं निर्वाणरूप ब्रह्म ही सिद्ध होता है। कोई भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ यह ब्रह्म व्याप्त न हो। यह जगत् अनेक रूप नहीं है, अपितु आकाशमें शून्यत्व तथा समुद्रमें द्रवत्वके समान ब्रह्मसे अभिन्न ही है।

रघुनन्दन ! चिन्मय आकाश परब्रह्म परमात्मामें सर्वत्र और सदा सब कुछ भलीभाँति विद्यमान है। साथ ही वह सर्वथा स्वच्छ है अर्थात् वह अपनी मलिनतासे ब्रह्मको दूषित नहीं करता है। वैसे ही जैसे सम्पूर्ण आकाशमें नीलरूपसे भासित होनेवाली शून्यता अपने मलसे मलिनता पैदा करके उसे दूषित नहीं करती। श्रीराम ! इस विषयमें पाषाणाख्यान सुना रहा हूँ, सुनो—यह अविद्यारूपी रोगको दूर करनेके लिये रसायन है। पूर्वकालमें मैंने ही जो कुछ देखा था, उसीका इस आख्यायिकामें वर्णन है। यह विचित्र होनेके साथ ही इस प्रसङ्गके अनुकूल है। एक समयकी बात है, मैं जानने योग्य परमात्म-तत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लेनेके कारण पूर्णकाम हो गया था। इसलिये मेरे मनमें यह इच्छा हुई कि घनीभूत भ्रमसे भरे हुए इस लोकव्यवहारको छोड़ दूँ, तब ध्यानमें एकतान होकर धीरे-धीरे दीर्घकालिक विश्रामके लिये सम्पूर्ण चञ्चलताका त्याग करके मैंने एकान्त स्थानमें रहनेकी अभिलाषा की और शीघ्रतापूर्वक शान्तिकी ओर अग्रसर होने लगा। उस समय मैं किसी देवताके स्थानमें स्थित था और जगत्‌की विविध एवं क्षणभङ्गुर गतियोंका अवलोकन कर रहा था। इतनेमें ही मैं यह सोचने लगा कि इस लोककी अवस्था बड़ी नीरस है। देखनेमें सुन्दर और परिणाममें विनाशशील होनेके कारण आपातरमणीय है, इसलिये मैं ऐसा मानता हूँ कि यह कहीं किसीको, किसी भी कारणसे और कभी भी सुख नहीं दे सकती। अतः कौन-सा ऐसा प्रदेश होगा, जो बिलकुल सूना हो और जहाँ रहनेसे इन पाँचो बाह्य विषयोंकी वेदनाएँ अनुभवमें न आवें ? मेरे विचारसे तो यह आकाश ही, जो सब ओरसे सूना होनेके कारण विक्षेपके उपकरणोंसे रहित है, मेरी समाधिके लिये अधिक उपयोगी होगा।

मै इसके किसी दूरवर्ती कोनेमें उत्तम योगयुक्तिका आश्रय लेकर स्थित रहूँगा, आकाशके एक कोनेमें संकल्पसे ही कुटी बनाकर उसके भीतर सुदृढ़ हो वासनारहित होकर निवास करूँगा।'

ऐसा सोचकर निर्मल आकाशमें ज्यों ही मै आगे बढ़ा, त्यों ही देखता हूँ कि इस आकाशका भी सारा अन्तःप्रान्त विक्षेपके कारणोंसे व्याप्त है। अनेक प्रकारके भूतगण यहाँ विचर रहे हैं। तब मै आकाशवर्ती भूतगणोंको त्यागकर वहाँसे दूरातिदूर एकान्त स्थानमें जा पहुँचा, जो अत्यन्त विस्तृत और सूना था। वहाँ बहुत धीमी-धीमी हवा चल रही थी। खममें भी भूतगण वहाँ नहीं पहुँच सकते थे। न तो वहाँ मङ्गलसूचक शुभ शकुन होते थे और न उत्पातसूचक अपशकुन। तुम उस स्थानको संसारी पुरुषोंके लिये अलभ्य समझो। उस शून्य प्रदेशमें मैने अपने संकल्पसे ही एक कुटीका निर्माण किया। उसका भीतरी भाग स्वच्छ एवं विशद था। उसकी दीवारोंमें कहीं छेद नहीं थे। इसलिये वह घनीभूत जान पड़ती थी तथा देखनेमें कमल-कोशके समान सुन्दर लगती थी। फिर मैंने मन-ही-मन यही सङ्कल्प किया कि यह कुटी समस्त भूतोंके लिये अगम्य हो जाय। तत्पश्चात् मैं उन सब भूतोंके लिये अगम्य कुटीरमें प्रविष्ट हुआ। वहाँ पद्मासन लगाकर शान्त-चित्त हो मैंने अन्तर्मौन धारण कर लिया। साथ ही यह निश्चय किया कि मैं दसके बाद ही मै इस समाधिसे उठूँगा। इसके बाद मैं निश्चिन्त समाधिमें स्थित हो गया। उस समय ऐसा जान पड़ता था मानो मैंने निद्राकी मुद्रा धारण कर ली हो। मेरी बुद्धिमें समता थी। मैं निर्मल आकाशके समान शुद्धभावसे अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित था। ऐसा लगता था मानो आकाशसे खोदकर मेरी प्रतिमा प्रकट की गयी हो। इस प्रकार सौ वर्षोंका समय मेरे लिये एक पलके समान व्यतीत हो गया; क्योंकि समाधिमें चित्तको एकाग्र करनेवाले पुरुषके लिये बहुत समयतक रहनेवाली बड़ी-बड़ी गतियाँ भी थोड़ी प्रतीत होती हैं। तदनन्तर काल्पनिक अहंकाररूपी पिशाच इच्छारूपिणी पत्नीके साथ कहींसे मेरे पास आ धमका। (सर्ग ५५-५६)

अहंकाररूपी पिशाचकी शान्तिका उपाय—सृष्टिके कारणका अभाव होनेसे उसकी असत्ता तथा चिन्मय ब्रह्मकी ही सृष्टिरूपताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीरामभद्र! अज्ञानसे अपने अन्तःकरणमें अहंभावरूपी पिशाचकी कल्पना कर ली गयी है, जो वास्तवमें है नहीं। जैसे हाथमें दीपक लेकर ढूँढ़नेवालेको अन्धकारका स्वरूप नहीं दिखायी देता, वैसे ही विचारशील पुरुष यदि देखे तो उसे अज्ञानकी उपलब्धि नहीं हो सकती। अहता-रूपिणी पिशाचीके स्वरूपपर विचार करते हुए जैसे-जैसे उसकी ओर देखा जाता है, वैसे-ही-वैसे वह छिपती जाती है। सृष्टिकी सत्ता होनेपर ही अविद्याका अस्तित्व सम्भव हो सकता है, और किसी हेतुसे नहीं। परंतु यह सृष्टि तो कभी उत्पन्न हुई ही नहीं। केवल अज्ञानियोंके अनुभवमें आती है। वास्तवमें यह है नहीं। जैसे आकाशमें कभी वृक्ष पैदा नहीं हुआ, उसी प्रकार सृष्टिका कोई कारण न होनेसे यह पूर्वकालमें भी उत्पन्न नहीं हुई थी। मनसहित पाँच इन्द्रियोंसे ग्रहण न होने-वाला निराकार परमात्मा मनसहित पाँच इन्द्रियोंके विषय-भूत साकार जगत्का वस्तुतः कारण कैसे हो सकता है? कहते हैं बीजरूपी कारणसे अङ्कुररूपी कार्य उत्पन्न होता है। परंतु जहाँ बीज भी नहीं है, वहाँ अङ्कुर कैसे हो सकता है? कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति कदापि सम्भव नहीं है। आकाशमें कब, किसने, कौन-सा वृक्ष स्थापित होते देखा या सुना है? अतः आपने

रहनेवाला चिन्मयाकाशरूप ईश्वर ही अपने स्वरूपमें सृष्टि-रूपसे स्फुरित हो रहा है। उसका स्वभाव ही सृष्टिके नामसे विख्यात है। अतः चिन्मय होनेके कारण यह सृष्टि चैतन्यरूप ही है। सृष्टिके आरम्भमें विषयज्ञानशून्य जो शुद्ध एक अजन्मा अव्यय आदि और अन्तसे शून्य परब्रह्म स्थित था, वही हमारे समक्ष सृष्टिरूपसे विराजमान है। वास्तवमें यहाँ सृष्टि नामकी कोई वस्तु है ही नहीं और न ये भूगोल तथा खगोल आदि ही हैं। सब कुछ शान्त, अवलम्बनशून्य, ब्रह्ममात्र ही है और ब्रह्ममें ही स्थित है। भाव्य, भावक और भाव आदिकी जो निरन्तर उत्पत्ति प्रतीत होती है, वह सब स्वच्छ चिन्मयाकाश ही स्वयं अपने आपमें स्थित है। ऐसी अवस्थामें कहाँसे सृष्टि हुई, कहाँसे अविद्या आयी और कहाँ अज्ञता एवं अहंकार आदिकी स्थिति है? सब शान्त, चिद्घन ब्रह्म ही तो है। इस प्रकार मैने तुमसे अहंकारकी शान्तिका उपाय बताया है। अहंभावको यदि अच्छी तरह जान लिया जाय तो बालकल्पित पिशाचकी भाँति वह स्वतः शान्त हो जाता है।

समस्त सृष्टियाँ ब्रह्ममें ही कल्पित हैं—इस दृष्टिसे परमात्मा ब्रह्मका कोई अणु अंश भी ऐसा नहीं है, जो सृष्टियोंसे ठसाठस भरा हुआ न हो। परंतु वे सृष्टियाँ भी वास्तवमें कहीं उपलब्ध नहीं होती हैं। वह सब कुछ परब्रह्म-रूप आकाश ही है। सृष्टियोंमें कोई सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग भी ऐसा नहीं है, जो सदा ब्रह्मस्वरूप न हो। इसलिये ब्रह्म और सृष्टि इन नामोंमें ही उच्चारणमात्रका भेद है, इनसे प्रतिपादित होनेवाली वस्तुमें नहीं। सृष्टि ही परब्रह्म है और परब्रह्म ही सृष्टि है। अग्नि और सूर्यकी उष्णताओंके समान इनमें तनिक भी भेद नहीं है। श्रीराम! व्यवहारमें लगे हुए ज्ञानीके लिये भी यह सब कुछ शान्त, एक, अनादि, अनन्त, स्वच्छ, निर्विकार, शिलाके सदृश अत्यन्त घन और मौन ब्रह्मरूप ही है। (सर्ग ५७-५८)

समाधिकालमें वसिष्ठजीके द्वारा अनन्त चेतनाकाशमें असंख्य ब्रह्माण्डोंका अवलोकन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघवेन्द्र! तदनन्तर, (सौ वर्षोंके पश्चात्) मैं ध्यानसे जगा—समाधिसे विरत हुआ। उस समय वहाँ मुझे एक मधुर ध्वनि सुनायी दी, जो बड़ी मनोरम थी; परंतु उसके पद और अक्षर अधिक स्पष्ट नहीं थे। वह ध्वनि पदार्थ और वाक्यार्थ-का बोध करानेमें समर्थ नहीं थी। किसी नारीके कण्ठसे निकली हुई वाणीके समान उसमें स्वाभाविक कोमलता और मधुरता थी, स्वरमें काफी लोच था, उच्चस्वरसे उच्चारित न होनेके कारण उस ध्वनिमें गम्भीरता (दूरसे सुनायी देनेकी योग्यता) नहीं थी। इस प्रकार उसके विषयमें मैने कुछ कालतक तर्क-वितर्क किया, वह आवाज ऐसी लगती थी, मानो भ्रमरोंका गुंजारव हो रहा हो, तन्त्रीके तार झंकृत होने लगे हों। वह न तो किसी बालकका रोदन था और न द्विजबालकके वेदाध्ययनका स्वर ही। कमलकोषमें गुंजारव करनेवाले भ्रमरकी ध्वनि-से वह आवाज मिलती-जुलती थी। उस शब्दको सुन-कर मुझे बड़ा विस्मय हुआ। मैं दसों दिशाओंमें दृष्टि फैलाकर वह शब्द करनेवाले प्राणियोंका अन्वेषण करने लगा। उस समय वहाँ मेरे हृदयमें यह विचार उत्पन्न हुआ—'अहो! आकाशका यह भाग लाखों योजनकी दूरी लाँघकर बहुत ऊँचाईपर स्थित है। जिन मार्गोंसे सिद्ध पुरुष ही विचरण करते हैं, उनसे भी शून्य यह प्रदेश है। इसलिये इस एकान्त स्थानमें ऐसे शब्दकी उत्पत्ति कहाँसे हो रही है? मैं यत्नपूर्वक दृष्टिपात करने-पर भी शब्द करनेवालेको नहीं देख रहा हूँ। मेरे सामने यह जो अनन्त निर्मल आकाश है, सब ओरसे सूना-ही-सूना दीख रहा है। प्रयत्नपूर्वक देखनेपर भी यहाँ मुझे कोई प्राणी नहीं दीखता है। अच्छा तो मैं अपने इस देहाकाशको ध्यानके द्वारा यहीं ज्यों-का-त्यों स्थापित करके चेतनाकाशस्वरूप होकर अव्याकृत आकाशके

साथ उसी तरह एक हो जाता हूँ, जैसे जलबिंदु साधारण जलके साथ मिलकर एकरूप बन जाता है।' यों सोचकर मैं इस शरीरका त्याग करनेके लिये पद्मासनसे बैठ गया और समाधि लगानेके लिये मैंने पुनः अपनी आँखें बंद कर लीं। तदनन्तर इन्द्रिय-सम्बन्धी बाह्य विषयोंका तथा आन्तरिक विषयोंका भी स्पर्श त्यागकर मैं एकमात्र संकल्परूप चित्ताकाश बन गया। इसके बाद क्रमशः उस चित्ताकाशको भी त्यागकर मैं बुद्धितत्त्वके स्थानमें पहुँच गया। फिर उसे भी छोड़कर चेतनाकाशमय अपने वास्तविक स्वरूपमें पहुँच गया।

फिर तो चैतन्यमय महाकाशके साथ एक होकर मैं असीम और सर्वव्यापी बन गया। निराकार और निराधार रहकर समस्त पदार्थोंका आधार बन गया। तब वहाँ मुझे झुंड-के-झुंड त्रैलोक्य, सैकड़ों संसार तथा लाखों या असंख्य ब्रह्माण्ड दिखायी देने लगे। वे सब ब्रह्माण्ड मायामय निर्मल आकाशमात्र रूपवाले थे। अतः वे परस्पर एक दूसरेकी दृष्टिमें नहीं आते थे। वे नाना प्रकारके आचार-विचारोंसे सम्पन्न थे; परंतु एक दूसरेके लिये शून्यरूप ही थे। परम चेतन आकाशके कोषमें स्थित हुए वे सब लोक शून्यतारूप ही थे, सत्य नहीं थे। कबसे उनकी सृष्टि हुई थी, यह किसीको ज्ञात नहीं था। वे सब-के-सब अज्ञानरूप दोषसे युक्त चिन्मय परमात्मामें अनादिकालसे ही कल्पित थे। चैतन्यके चमत्कारसे चमत्कृत चेतनाकाशमें सैकड़ों समुद्र, सूर्य, आकाश तथा मेरु आदि पर्वतोंसे युक्त स्वप्नके समान वे लोक भासित होते थे तथा रजोगुण और तमोगुणसे कलुषित जान पड़ते थे। वास्तवमें उनकी सत्ता न होनेसे कारणरहित पृथ्वी आदिका अनुभव भी भ्रममात्र ही था। अतः ब्रह्मरूप अधिष्ठानकी सत्ता लेकर ही वे सब जगत् विद्यमान थे। उस अधिष्ठान सत्ता न लेकर तो वे स्वरूपतः विद्यमान नहीं ही थे। मृगतृष्णाके जल-प्रवाह तथा आकाशकी नीलिमाके समान वे सब भ्रमरूप अनुभवसे ही उत्पन्न हुए थे। अतः स्वरूपतः सत्य नहीं थे। परंतु सत्यरूप अधिष्ठानकी सत्तासे सत्य जान पड़ते थे। परब्रह्मरूपी गूलरके वृक्षमें भोग आदि विचित्र रसोंसे परिपूर्ण ब्रह्माण्डरूपी फल लगे थे, जो हवाके झोंकोंसे झूम रहे थे। देवता, असुर और मनुष्य आदि प्राणी उन फलोंके भीतर जन्तुओंके समान प्रतीत होते थे। तुम, मैं और यह आदि अभिमानपूर्ण बुद्धिके द्वारा अत्यन्त दृढ़ बनाये गये वे सब लोक गीली मिट्टीसे बने हुए उन खिलौनोंके समान जान पड़ते थे, जो सूर्यकी किरणोंसे सूखकर कड़े हो गये हों।

वास्तवमें वे जगत् परमार्थ चैतन्यरूप ही थे, तथापि उससे भिन्नके समान प्रतीत होते थे। असत् होते भी प्राप्त-से जान पड़ते थे तथा सदा असत् होते भी सद्रूप-से भासित होते थे। परमाणुरूपी सूर्यके तेजके भीतर वे केवल आभासरूप थे और वायुके स्पन्दनकी भाँति स्वतः उत्पन्न हुए थे। श्रीराम! उस समाधिमें मैंने अनन्त चेतनाकाशके भीतर अनन्त ही उत्पन्न एवं विनष्ट होनेवाले बहुत-से लोक देखे, जो विचित्र रंग (रतौंधी) से युक्त आँखोंवाले पुरुषके द्वारा देखे गये भ्रममात्र ही सिद्ध होते थे। (सर्ग ५९)

श्रीवसिष्ठजीका समाधिकालमें अपनी स्तुति करनेवाली स्त्रीका अवलोकन और उनकी उपेक्षा करके अनेक विचित्र जगत्का दर्शन करना तथा महाप्रलयके समय सब जीवोंके प्रकृतिलीन हो जानेपर पुनः किसको सृष्टिका ज्ञान होता है, श्रीरामके इस प्रश्नका उत्तर देना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! तदनन्तर उपर्युक्त रूपसे पूर्वोक्त शब्दके कारणका विचार करता हुआ मैं आवरणरहित चेतनाकाशमें [illegible] तक इधर-उधर भ्रमण करता रहा। [illegible]

ध्वनिके समान वह शब्द मेरे कानोंमें पडा। क्रमशः उसके पद स्पष्ट होने लगे। फिर मुझे यह मालूम हुआ कि किसीके द्वारा आर्या छन्दका पद गाया जा रहा है। फिर जहाँसे वह शब्द प्रकट हो रहा था उस स्थानपर दृष्टि पडी। वहाँ मुझे एक स्त्री दिखायी दी, जो दूर नहीं थी। वह सुवर्ण-द्रवके समान गौरकान्तिसे आकाशमण्डलको प्रकाशित कर रही थी। उसके गलेके हार तथा शरीरके वस्त्र कुछ-कुछ हिल रहे थे। उसके नेत्रप्रान्त अलकावलियोंसे किंचित् आवृत हो रहे थे। उसे देखकर ऐसा जान पडता था मानो दूसरी लक्ष्मी आ गयी हो। उसका मुखमण्डल पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर था। वह जब हँसती थी, तब फूलोंके ढेर-से झरते जान पड़ते थे। आकाशका कोश ही उसके रहनेका घर था। उसका सौन्दर्य चन्द्रमाकी किरणोंको लज्जित कर रहा था। वह ऐसी जान पडती थी मानो मोतियोंके समूहसे उसका निर्माण हुआ हो। वह कमनीय कान्तिमती नारी मेरा अनुसरण करनेके लिये उद्यत जान पड़ती

थी। मेरे पास खडी हो मधुर मुस्कान और उत्तम भाव-विलाससे सुशोभित वह मनोहारिणी स्त्री मधुर स्वरसे कोमल वाणीमें इस आर्या छन्दका पाठ करने लगी:—

असदुचितरिक्तचेतन-
संसृतिसरिति प्रमुह्यमानानाम्।
अवलम्बनतटविटपिन-
मभिनौमि भवन्तमेव मुने॥

'मुने! आपका अन्तःकरण उन राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोषोंसे सर्वथा शून्य है, जो असत्पुरुषोंके ही हृदयमें रहने योग्य हैं। आप संसार-सरितामें डूबकर मोहित होनेवाले प्राणियोंके आश्रयभूत तटवर्ती वृक्ष हैं; अतः मै सब ओरसे आपकी ही स्तुति करती हूँ।'

श्रीराम! यह सुनकर मैने उस मनोहर मुख एवं मधुर स्वरवाली स्त्रीकी ओर देखा और यह सोचकर कि 'यह तो स्त्री है, इससे मेरा क्या प्रयोजन है?' उसकी अवहेलना करके मै आगे बढ़ गया। तदनन्तर लोकसमूहोंसे युक्त माया दिखायी दी, उसे देखकर मुझे बड़ा विस्मय हुआ। फिर उसका भी अनादर करके मै आकाशमें विचरण करनेको उद्यत हुआ। इसके बाद मैने आकाशमें स्थित हुई जगन्मायाका निरीक्षण करनेके लिये चिन्मयाकाशरूपसे ज्यों ही चेष्टा की, त्यों ही वे सारे-के-सारे उग्र जगत् उसी तरह शून्यरूप हो गये जैसे स्वप्न, संकल्प (मनोराज्य) तथा कहानीमें वर्णित जगत् शून्यरूप होते हैं। इस प्रकार बताये गये वे सभी लोक होनेवाले प्रलयकालके दृश्यको वैसे ही नहीं जान पाते हैं, जैसे एक ही घरमें सोये हुए अनेक पुरुष एक दूसरेके स्वप्नमें होनेवाले रण-कोलाहलको नहीं सुनते हैं। श्रीराम! चेतनमें ही सब कुछ है, चेतनसे ही सब कुछ है, चेतन ही सब कुछ है और चारो ओरसे चेतन-ही-चेतन है। सारी सत्ता चिन्मय तथा सद्रूप ही है। यही मैने वहाँ पूर्णरूपसे देखा।* यह जो दृश्योंका दर्शन होता है, वह भ्रममात्र

* चिति सर्वं चितः सर्वं चित्सर्वं सर्वतश्च चित्।
चित्सत्सर्वात्मिकेत्येतद् दृष्टं तत्र मयाखिलम्॥
(नि० प्र० उ० ६० । २३)

है। आकाशमें प्रतीत होनेवाले वृक्षकी मञ्जरी हूँ। सब कुछ चेतनाकाशका स्वरूप ही है। इस बातका मुझे वहाँ अनुभव हुआ। समष्टि बुद्धिरूप आकाशके साथ एकरूप होकर व्यापक, अनन्त एवं बोधस्वरूप हुए मैंने इसका अनुभव किया। सम्पूर्ण जगत्का यह मायाजाल ब्रह्माकाशरूप ही है, दसों दिशाएँ ब्रह्माकाश ही हैं तथा कला, काल, देश, द्रव्य और क्रिया आदि भी ब्रह्माकाशरूप ही हैं। जो सब प्रकारके नाम और रूपसे रहित, पाषाणकी प्रतिमाके समान मौन और ज्योति-स्वरूप है, वही परब्रह्म परमात्मा यत्किंचित् नाम-रूपात्मक होकर जगत् कहलाता है। वहाँ समाधि-कालमें ऐसे लाखों जगत् भी अनुभवमें आये थे, जिनमें चन्द्रमण्डल भी उष्ण थे और सूर्य भी शीतलताकी मूर्ति जान पड़ते थे। श्रीराम! कोई जगत् गिर रहे थे, कितने ही आकाशमें उड़ रहे थे और बहुतेरे सम्पूर्ण दिशाओंमें भ्रान्तिपूर्ण पदोंमें प्रतिष्ठित थे। इस तरह चैतन्य समुद्रके चञ्चल बुद्बुदोंके रूपमें दिखायी देनेवाले उन असंख्य लोकोंमें ऐसी कौन-सी वस्तु है, जो मैंने न देखी हो।

श्रीरामजीने पूछा—मुने! महाकल्पके विनाशकालमें जब समस्त भूतोंका समुदाय मूलप्रकृतिमें विलीन हो जाता है, तब पुनः किसको किस तरह सृष्टिका ज्ञान होता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामभद्र! महाप्रलय-कालमें पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश—इन सम्पूर्ण विशेष पदार्थोंका विनाश हो जानेपर ब्रह्मासे लेकर स्थावरतकके सभी जीव-जगत् जब मूलप्रकृतिमें विलीन हो जाते हैं, तब पुनः जिस प्रकार इस जगत्का अनुभव होता है, वह बताता हूँ, सुनो। महाप्रलयके पश्चात् जो कुछ रहता है, वह शब्दादि व्यवहारसे सर्वथा अतीत अनन्त अद्वैत तत्त्व ही होता है। उसे मुनिजन परमार्थ चैतन्यघन कहते हैं। वह जगत् उसका हृदय है। अतः उससे भिन्न नहीं है। वही परमात्मदेव यह संकल्प करता है कि जगत् मेरा अपना स्वभाव और हृदय है। उस दृष्टिसे वह जगत्की सत्ता नहीं मानता है। इस प्रकार जब वह विचार करता है, तब जगत् नामकी कोई वस्तु नहीं रहती है। फिर क्या नष्ट होता है और क्या उत्पन्न। जैसे परम कारण परमात्मा अविनाशी है, वैसे ही उसका हृदय भी। महाकल्प आदि भी उसके अवयव ही हैं। अतः वे भी परमात्मासे भिन्न नहीं हैं। केवल अज्ञान ही यहाँ जगत् और परमात्मामें भेदकी प्रतीति कराता है, परंतु विचारपूर्वक देखा जाय तो उस अज्ञानका भी कहीं पता नहीं लगता है। अतः एकमात्र सच्चिदानन्दघन परमात्मा ही सदा और सर्वत्र विराजमान है। जगत्, उसकी उत्पत्ति तथा विनाश सर्वथा मिथ्या कल्पना है। इसलिये कभी कहीं किसीका कुछ भी न तो नष्ट होता है और न उत्पन्न ही होता है। यह जो दृश्य जगत् है, वह सत्य, अजन्मा, ब्रह्मरूपसे ही स्थित है। यह अनादि जगत् कभी उत्पन्न नहीं हुआ है। यहाँ इस जगत्के रूपमें केवल ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही हैं। इस प्रकार विचारदृष्टिसे देखनेपर अष्ट सिद्धियोंसे युक्त ऐश्वर्य भी तृणके समान नि सार ही सिद्ध होता है। ऐसा जाननेवाला अधिकारी पुरुष अपनेमें ब्रह्मभावका निश्चय करके अपने आत्मामें ही पूर्ण संतुष्ट रहता है। (सर्ग ६०-६१)

वसिष्ठजीके द्वारा चिदाकाशरूपसे देखे गये जगतोंकी अपनेसे अभिन्नताका कथन, आयोगंधर नामक ब्रह्मचारी स्त्रीके कार्य तथा सम्भाषण आदिके विषयमें श्रीरामके प्रश्न और वसिष्ठजीके उत्तरका कथन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—भगवन्! उस समय आपने पक्षियोंकी भाँति आकाशमें उड़ते हुए जो जगत्-समूहका अवलोकन किया था, उन सबमें आपने स्थित होकर किया था या सम्पूर्ण चिदाकाशमात्र ब्रह्मरूपसे?

श्रीवसिष्ठजी बोले—रघुनन्दन ! उस समय तो मैं सर्वव्यापी, अनन्तात्मा चिन्मयाकाशरूप हो गया था, उस अवस्थामें मेरा कहीं आना-जाना कैसे सम्भव हो सकता था ? न तो एक स्थानपर खड़े हुए पुरुषकी भाँति ही स्थित था और न गतिशील ही था, इस प्रकार परमात्म-स्वरूप चिदाकाशमें ही रहकर मैंने अपने इस व्यापक शरीरके द्वारा यह सारा जगत्समूह देखा था। जैसे शरीराभिमानीके रूपमें स्थित होनेपर मै पैरसे लेकर मस्तकतकके अपने सभी अङ्गोंको देखता हूँ, उसी प्रकार मैंने इन चर्मचक्षुओंके बिना भी चिन्मय नेत्रसे सारे जगत्समुदायका अवलोकन किया था। इस विषयमें तुम्हारे लिये प्रमाण है, सपनेमें देखा हुआ संसार-विभ्रम; क्योंकि स्वप्नमें जो दृश्य अनुभूत होता है, वह चेतनाकाशरूप ही है, उसके सिवा दूसरा कुछ नहीं है। जैसे वृक्ष अपने पत्र, पुष्प और फल आदिको देखता है, वैसे ही मैंने भी अपने ज्ञानरूपी नेत्रसे सारे जगत्को देखा था। जैसे अवयवी अपने अवयवोंको अपनेमें ही अभिन्नरूपसे देखता है, उसी प्रकार मैंने इन समस्त सर्गोंको अपनेसे अभिन्न ही देखा और समझा था। श्रीराम ! बोधस्वरूप परमात्माके साथ एकताको प्राप्त हुआ मैं आज इस समय भी उन विविध सर्गोंको शरीर, आकाश, पर्वत, जल और स्थलको भी उसी तरह देख रहा हूँ।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! कमलनयन ! आप जब इस प्रकार अनुभव कर रहे थे, तब आर्याछन्दका पाठ करनेवाली उस कान्तिमती नारीने क्या किया ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! वह भी चिन्मयाकाशरूपसे ही आकाशमें मेरे समीप विनयपूर्वक खड़ी थी और उसी आर्याछन्दका पाठ कर रही थी। उस समय वह देवाङ्गनासी जान पड़ती थी। जैसे मेरा शरीर चिन्मयाकाशमय था, उसी प्रकार उसका भी था। मैंने उस पूर्वशरीरसे वैसी ललना कभी नहीं देखी थी। मेरा शरीर चेतन-आकाशमात्र था, वह भी चेतनाकाशमय रूप धारण किये हुए थी और सारा जगज्जाल भी उस समय वहाँ चिन्मयाकाशरूपसे ही स्थित था।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् ! शरीरमें स्थित जीभ, तालु, ओठ तथा प्राणोंके प्रयत्नोंसे उत्पन्न हुए वर्णोंद्वारा जो वाक्य सम्पन्न होता है, वह आकाश-शरीरधारिणी उस स्त्रीके मुखसे कैसे प्रकट हुआ ? विशुद्ध चेतनाकाशरूप आत्माओंको रूपका दर्शन और आभ्यन्तर मनका अनुभव होना कैसे सम्भव है ? उस समय आपने जो जगत्के दर्शन और सम्भाषण आदि व्यवहार किये थे, उनकी सङ्गति कैसे लगती है ? आप इस विषयमें अपना यथार्थ निश्चय बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! जैसे स्वप्नमें चिन्मयाकाश आत्मा ही बाह्य तथा आभ्यन्तर पदार्थोंके रूपसे प्रकट होता है वैसे ही मेरे उस समाधिकालमें भी यह सारा दृश्य प्रपञ्च चिन्मयाकाशरूपसे ही स्थित था। केवल वही दृश्य चिन्मयाकाशरूप रहा हो, ऐसी बात नहीं है, किंतु ये जितने पदार्थ हमलोगोंकी बुद्धिके विषय हैं, ये सब-के-सब तथा यह सारा संसार भी स्वच्छ चिन्मयाकाशरूप ही है। हमारे लिये जैसा वह था, वैसा ही सारा जगत् है। जैसे स्वप्नमें पृथ्वीपर खेती आदिके रास्तोंपर आने-जानेके तथा पर्वत-प्रासाद आदिके ऊपर शयन आदिके जो व्यवहार होते हैं, वे सब चिदाकाशरूप ही हैं, उसी तरह उस समय 'मैं,' 'तुम', 'वह स्त्री' तथा 'वह' और 'यह' सब कुछ चिदाकाशरूप ही था। रघुनन्दन ! तदनन्तर जैसे स्वप्नमें स्वप्नगत मनुष्योंके साथ व्यवहारकार्य चलता है, उस समय उस स्त्रीके साथ मेरा वार्तालाप-व्यवहार भी उसी तरह आरम्भ हुआ। जैसे वह स्वप्नसदृश व्यवहार चिदाकाशरूप ही था, उसी प्रकार तुम मुझको, इस आत्माको तथा जगत्को भी चिदाकाशरूप ही समझो। (सर्ग ६२)

स्वप्नजगत्की भी ब्रह्मरूपता एवं सत्यताका प्रतिपादन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—मुने ! मुख, जीभ आदि अवयवोंसे रहित एकमात्र संकल्परूप देहसे आपका उस स्त्रीके साथ सम्भाषण आदि व्यवहार कैसे हुआ ? उस दशामें आपने क च ट त प आदि वर्णोंका कैसे उच्चारण किया ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! चिदाकाशस्वरूप तत्त्वज्ञानियोंके संकल्पमय देहवाले मुखसे क च ट त प आदि वर्णोंका किसी कालमें भी वैसे ही उच्चारण नहीं होता, जैसे मृतकोंके मुखसे कोई अक्षर नहीं निकलता है। (स्वप्नकी भाँति ही वहाँ भी हुआ।)

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—भगवन् ! जब यह जगत् स्वप्नरूप ही है, तब जाग्रत्-रूपसे कैसे स्थित है ? तथा असत्य होकर ही यह सत्य-सा कैसे हो गया ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! यह सब जगत् कैसे स्वप्नमय ही है, यह सुनो—स्वप्नके समान ही ये जगत् न तो आत्मासे भिन्नरूप हैं, न आत्माके समान सत्यरूप हैं और न स्थिर ही हैं। ये सब-के-सब एकमात्र अनिर्वचनीय आत्मसत्तासे स्थित हैं। वे सब जगत् एक-दूसरेको किंचिन्मात्र भी नहीं देख पाते तथा कोठीके भीतर रखे गये जड बीजोंकी एक राशिकी तरह भीतर-ही-भीतर सड़-गलकर नष्ट भी हो जाते हैं। नष्ट होकर भी वे चेतन-रूप ही रहते हैं, सर्वथा शून्य नहीं हो जाते। वे आपसमें एक-दूसरेको नहीं जानते। अज्ञानसे उनका चेतना-रूप ढक जानेके कारण निरन्तर सोये हुएके सदृश स्वप्नका अनुभव करते हैं। सोये हुए स्वप्नरूप जगज्जालकी व्यवस्थाके अनुसार व्यवहार करनेवाले जो राक्षस स्वप्नमें स्वप्नगत देवताओंद्वारा मारे गये, वे अब भी उसी स्वप्नमें स्थित हैं। श्रीराम ! बताओ तो सही, इस तरह जो स्वप्नमें मारे गये, वे क्या करते हैं ? अज्ञानके कारण मुक्त नहीं हुए तथा चेतन होनेके कारण पत्थरके सदृश भी स्थित न रहे। वे लोग पर्वत, सागर, पृथ्वी तथा अनेक जीव-जन्तुओंसे भरे इस सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चको चिरकाल-तक उसी तरह अनुभव करते हैं जैसे हमलोग (इसीलिये उनका अपना-अपना स्वप्न चिरकालकी अनुवृत्तिसे हमलोगोंके अनुभवकी तरह जाग्रदवस्थारूप ही हो जाता है।) उनके कल्प और जगत्की स्थिति भी वैसी ही है, जैसी हमलोगोंकी है और हमलोगोंके जगत्की स्थिति भी वैसी ही है जैसी उन लोगोंकी है। उनके स्वप्नके वे पुरुष अपने तथा अन्य पुरुषके भी अनुभवसे सत्य ही हैं; क्योंकि अपनी तथा दूसरेकी सत्ताका निमित्तभूत जो अधिष्ठानस्वरूप चेतन है, वह सर्वव्यापी होनेके कारण सत्य एवं सम है। जैसे आत्मामें वे स्वप्नके पुरुष सत्य हैं, वैसे ही दूसरे पुरुष भी, जिनका प्रत्येक स्वप्नमें मुझे अनुभव होता है, वे सत्य ही हैं। तुमने अपने स्वप्नमें जो अनेक नगर तथा नागरिक देखे थे, वे सब वैसे ही अब भी स्थित हैं; क्योंकि सर्वव्यापी ब्रह्म सर्वस्वरूप है। भीतमें, आकाशमें, पाषाणमें, जलमें और स्थलमें सर्वत्र भिन्न-भिन्न पदार्थोंके अंदर चिन्मात्र परमात्मा ही विराजमान है। वही सम्पूर्ण विश्वरूपसे स्थित है; अतः चिन्मात्र परमात्माके सर्वव्यापी होनेसे जहाँ तहाँ सर्वत्र ही जगत् हैं। इनकी संख्या यहाँ कैसे बतलायी जा सकती है ? तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें वह सारा जगत् परब्रह्म ही है; परंतु अज्ञानियोंके मनमें दृश्य-प्रपञ्चरूपसे स्थित है।

(सर्ग ६३)

श्रीवसिष्ठजीके पूछनेपर विद्याधरीके द्वारा अपने जीवन-वृत्तान्तका वर्णन, अपनी युवावस्थाके व्यर्थ बीतनेका उल्लेख

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! तदनन्तर मैंने उस सुन्दरी ललनासे, जिसके नेत्र नील कमल-से विलसित, खिले हुए मालती-पुष्पके समान शोभा पाते थे, उसकी ओर देखकर कौतुकपूर्वक पूछा—'कमलपुष्पके भीतरी भाग—केसरकी-सी सुनहरी कान्तिवाली सुन्दरी ! तुम कौन हो ? मेरे पास किसलिये आयी हो ? किसकी पुत्री या पत्नी हो ? क्या चाहती हो ? कहाँ गयी थी ? और कहाँकी रहनेवाली हो ?'

विद्याधरीने कहा—मुने ! मै अपना वृत्तान्त ठीक-ठीक बतला रही हूँ, सुनिये। यद्यपि परायी स्त्रीके साथ एकान्तमें आलाप करना उचित नहीं है तथापि मैं बड़े कष्टमें हूँ और संकटसे छुटकारा पानेके हेतु प्रार्थना करनेके लिये आयी हूँ; अतः आप करुणावश मुझसे बिना किसी हिचकके मेरा समाचार पूछ सकते हैं। महर्षे ! परमोत्कृष्ट चिन्मय आकाशके किसी छोटे-से कोनेमें आपका यह आश्रमरूपी विलक्षण संसार बसा हुआ है। इसमें पाताल, भूतल और स्वर्ग—ये तीन प्रकोष्ठ (बड़े-बड़े आँगन) हैं। वहाँ हिरण्यगर्भ ब्रह्माके आकारमें स्थित हुई मायाने कल्पना नामक एक कुमारी-(गृह-स्वामिनी) का निर्माण किया है। इन तीनोंमें जो भूतल है, वह कंगनकी-सी आकृतिवाले द्वीपों और समुद्रोंसे घिरा हुआ है; अतः उनके रंगोंसे अनुरञ्जित हो ताम्रवर्णका दिखायी देता है; साथ ही कुछ ऊँचा भी है। इस प्रकार यह भूतल उपर्युक्त कंगनसे विभूषित जगल्लक्ष्मीकी कलाईके समान जान पड़ता है। द्वीपों और समुद्रोंके अन्तमें चारों ओरसे दस हजार योजनोंतक सुवर्णमयी भूमि स्थित है। उसके अन्तिम छोरपर लोकालोक नामसे विख्यात पर्वत है, जो जगल्लक्ष्मीकी ऊँची कलाईके समान शोभा पानेवाले इस भूपीठको कंगनके समान चारों ओरसे घेरे हुए है। उस लोकालोक पर्वतके शिखरोंपर रत्नमयी बड़ी-बड़ी शिलाएँ हैं, जो आकाशके समान निर्मल हैं। उन शिलाओंके बीचमें लोकालोक पर्वतके उत्तर भागमें उसके पूर्ववर्ती शिखरकी जो एक शिला है, उसके भीतर मै निवास करती हूँ। उस शिलाका त्वचा-भाग कभी क्षीण न होनेवाले वज्रसार मणिके समान कठोर है। विधाताने मुझे वहाँ बाँध रखा है और इस प्रकार विवश होकर मै उस प्रस्तर-यन्त्रमें वास कर रही हूँ। मुने ! मै समझती हूँ कि उस शिलामें रहते हुए मेरे असंख्य युग बीत गये। केवल मैं ही नहीं बँधी हूँ, मेरे पतिदेव भी उसके भीतर वैसे

ही बँधे हैं, जैसे सायंकालिक कमलकोशमें भ्रमर बँध जाता है। उस शिलाके कोटरमें, उसके संकीर्ण स्थानमें पतिके साथ रहकर मैंने दीर्घकालतक सुख-दुःखका अनुभव किया है और इस अनुभवमें मेरे असंख्य वर्ष-समूह बीत गये हैं; किंतु अभीतक हम दोनों अपने एकमात्र दोष (कामना) के कारण मोक्ष नहीं पा रहे हैं। उसी तरह परस्पर ममता बाँधे हम दीर्घकालसे वहीं रहते हैं।

मुनीश्वर! उस पाषाणके संकटमें केवल हमीं दोनों नहीं बँधे हैं, हमारा सारा परिवार भी वहीं बँधा पड़ा है। उसमें बँधे हुए मेरे पति ब्राह्मणकुलमें उत्पन्न हुए हैं और प्राचीन कालके वृद्ध पुरुष हैं। यद्यपि वे सैकड़ों वर्षोंसे जी रहे हैं तथापि एक स्थानसे दूसरे स्थानतक चल नहीं सकते। वे बचपनसे ही ब्रह्मचारी हैं। वेदाध्ययनमें तत्पर रहते और छात्रोंको पढ़ाते हैं, किंतु आलसी हैं। एकान्त स्थानमें अकेले ही बैठे रहते हैं। उनके बर्तावमें कुटिलता नहीं है। वे चपलतासे कोसों दूर रहते हैं। वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे! मैं उन्हींकी भार्या हूँ; किंतु मुझमें एक व्यसन है। मैं उन पतिदेवके बिना पलभर भी देह धारण करनेमें समर्थ नहीं हूँ। ब्रह्मन्! मेरे पतिने मुझे पत्नीरूपमें किस प्रकार प्राप्त किया और हम दोनोंका यह स्वाभाविक स्नेह परस्पर किस प्रकार बढ़ा, यह बताती हूँ, सुनिये।

पहलेकी बात है, मेरे पतिने जन्मके पश्चात् बाल्यावस्थामें ही किंचित् ज्ञान प्राप्त कर लिया और एक सत्पुरुषकी भाँति अपने निर्मल गृहमें वे रहने लगे। उन दिनों उन्होने विचार किया कि मैं वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न रहनेवाला ब्राह्मण हूँ। मुझे अपने ही अनुरूप ऐसी भार्या कहाँसे प्राप्त हो सकती है, जो उत्तम जन्मके कारण शोभा पा रही हो! इस प्रकार चिरकालतक चिन्तन करके उन्होंने अपने कर्तव्यका निश्चय किया और स्वयं ही मेरे नायने अनिन्द्य सौन्दर्यसे युक्त अङ्गवाली मुझ नारीको मानसिक संकल्पसे प्रकट किया। मानो चन्द्रदेवने निर्मल चाँदनी प्रकट की हो। मनसे उत्पन्न होनेके कारण मैं उनकी मानसी भार्या हुई और जैसे वसंत ऋतुमें मन्दार वृक्षकी उत्तम एवं सुन्दरी मञ्जरी बढ़ती है, उसी प्रकार मैं भी बढ़ने लगी। मैं निरन्तर लीला-विलासमें ही निरत रहने लगी। मेरे नेत्र लीला-पूर्ण तिरछी चितवनसे देखने लगे। मुझे सदा गाना-बजाना ही प्रिय लगने लगा। भोगोंसे कभी मुझे तृप्ति नहीं होती थी। मेरा दिनोदिन भोगोंमें अनुराग बढ़ता गया। आदरणीय महर्षे! मेरे पतिदेव दीर्घसूत्री और स्वाध्यायशील होनेके कारण तपस्यामें ही लगे रहे। उन्होंने किसी तरहकी भी अपेक्षा मनमें लेकर मेरे साथ अबतक विवाह नहीं किया। इसलिये यौवनसम्पन्न तरुणी स्त्री मैं उन्हें प्राप्त न कर सकनेके कारण व्यसनकी आगसे उसी प्रकार जलने लगी, जैसे कोई कमलिनी आगसे झुलस रही हो। फूलोंकी वर्षासे हरी-भरी सारी उद्यान-भूमियाँ मेरे लिये तपी हुई बालुकाराशिसे आच्छादित सूनी मरुभूमियोंकी भाँति दाहक प्रतीत होने लगीं। जो पदार्थ सुन्दर, उचित, स्वादु और मनोहर हैं, उन्हें देखकर मेरी ये आँखें आँसुओंसे भर आतीं। मैं रमणीय स्थानमें रोती। जो स्थान न रम्य है न अरम्य—मध्यम कोटिका है, वहाँ मैं सौम्य हो जाती और जो असुन्दर स्थान है वहाँ मैं प्रसन्न रहती। न जाने मुझ दीना नारीकी ऐसी अवस्था कैसे हो गयी! भगवन्! इस प्रकार मेरे नवीन यौवनके बहुत-से दिन व्यर्थ बीत गये।

(सर्ग ६४)

विद्याधरीका वैराग्य और अपने तथा पतिके लिये तत्त्वज्ञानका उपदेश देनेके हेतु उसकी वसिष्ठ मुनिसे प्रार्थना

विद्याधरी बोली—मुने ! तदनन्तर जैसे शरत्काल बीतनेपर रसहीन हुए पल्वलोकी लाली मिट जाती है, उसी प्रकार दीर्घकालके पश्चात् मेरा वह अनुराग विरागके रूपमें परिणत हो गया। मैं सोचने लगी—'मेरा स्वामी बूढ़ा होनेके कारण एकान्तवासका रसिक, नीरस और स्नेहशून्य हो गया। यद्यपि उसकी बुद्धिमें कुटिलता नहीं है, तो भी वह मेरी ओरसे सदा मौन ही रहता है; अतः मै समझती हूँ कि मेरे जीवनका कोई फल नहीं है, इसलिये अब इसे रखनेसे क्या लाभ। बचपनसे ही विधवा हो जाना अच्छा है, मर जाना भी अच्छा है अथवा रोगोंका आक्रमण तथा दूसरी-दूसरी विपत्तियोंका टूट पड़ना भी अच्छा है; परंतु जिसका स्वभाव मनके अनुकूल न हो, ऐसे पतिका मिलना अच्छा नहीं। उसी स्त्रीका जीवन सफल है, जिसका पति सदा उसके अनुकूल चलता हो; वही धन-सम्पत्ति सार्थक है, जिसका साधु-पुरुष उपयोग करते हैं तथा वही बुद्धि, वही साधुता और वही समदर्शिता उत्तम है, जो मधुर एवं उदार है। यदि पति और पत्नी एक-दूसरेके प्रति पूर्ण अनुराग रखते हो तो उनके मनको आधि-व्याधियाँ, विपत्ति-समूह तथा दुर्भिक्ष लानेवाले उपद्रव भी कष्ट नहीं पहुँचा सकते। जिन स्त्रियोके पति प्रतिकूल स्वभाववाले हों अथवा जो स्त्रियाँ विधवा हो गयी हों, उनके लिये फूलोंसे भरी हुई पुष्प-वाटिकाएँ तथा नन्दनवनकी भूमियाँ भी मरुभूमिके समान दुःखद हो जाती हैं। संसारके सारे पदार्थ स्त्रियोंद्वारा स्वेच्छानुसार त्याग दिये जाते हैं, परंतु वे किसी भी दशामें पतिको नहीं त्याग सकतीं।

मुनीश्वर ! अब मेरा वह पतिविषयक अनुराग वैसे ही विरागरूपमें परिणत हो गया है, जैसे पालेकी मारी या जलायी कमलिनीका राग क्रमशः नीरस हो जाता है। मुने ! अब मुझे समस्त पदार्थोंके प्रति वैराग्य हो गया है, इसलिये मैं इस समय आपके उपदेशसे अपनी मुक्ति चाहती हूँ। जिन्हें मनोवाञ्छित वस्तुओंकी प्राप्ति नहीं हुई, जिनकी बुद्धि परमात्मपदमें विश्राम न पा सकी तथा जो मरणतुल्य दुःखोंके प्रवाहमें बहे जा रहे हैं, ऐसे लोगोंके लिये जीनेकी अपेक्षा मर जाना अच्छा है। मेरे पतिदेव भी अब मोक्ष पानेके लिये ही दिन-रात चेष्टा करते रहते हैं। जैसे राजा किसी राजाकी सहायतासे दूसरे राजापर विजय पानेके लिये सचेष्ट होता है, इसी प्रकार मेरे पति भी मनके द्वारा ही मनको जीतनेके प्रयत्नमें सावधानीके साथ लगे हुए हैं। ब्रह्मन् ! आप मेरे उन पतिका और मेरा भी अज्ञान दूर करनेके लिये न्याययुक्त वाणीद्वारा उपदेश देकर आत्मतत्त्वका ज्ञान कराइये। जब मेरे पति मेरी उपेक्षा करके ही परमात्म-तत्त्वके चिन्तनमें लग गये, तब वैराग्यने मेरे लिये ससारकी स्थितिमें नीरसता पैदा कर दी।

मै संसारकी वासनाके आवेशसे शून्य हूँ, इसलिये आकाशमें विचरनेकी शक्तिरूप सिद्धि प्रदान करनेवाली खेचरी मुद्रानामक तीव्र एवं अभीष्ट धारणाको बाँधकर सुस्थिरचित्त हो गयी हूँ। उक्त धारणाके द्वारा आकाशमें विचरनेकी शक्ति पाकर मैने पुनः दूसरी धारणाका अभ्यास किया, जो सिद्ध पुरुषोंका सङ्ग एवं उनके साथ सम्भाषणरूप फल देनेवाली है। (इसीलिये आज यहाँ आकर आपके साथ वार्तालाप करनेका सौभाग्य प्राप्त कर सकी।) तत्पश्चात् मै अपने निवासभूत ब्रह्माण्डके

पूर्वापर भागघटित (नीचे-ऊपरके सम्पूर्ण) आकारको भलीभाँति देखनेकी इच्छासे तदाकार भावनामयी धारणा बाँधकर स्थित हुई। वह धारणा भी मेरे लिये सिद्ध हो गयी। फिर मै अपने उस ब्रह्माण्डके अंदरकी सभी वस्तुओंको देखकर जब बाहर निकली, तब वह लोकालोक पर्वतकी स्थूल शिला मुझे दिखायी दी। मेरे पतिदेव केवल शुद्ध वेदार्थके एकान्तचिन्तनमें ही लगे रहते हैं। उनकी सारी एषणाएँ दूर हो चुकी हैं। वे न तो किसीका आना जानते हैं न जाना—उन्हें न तो भूतकालका पता रहता है, न वर्तमान और भविष्यका ही। अहो! उनकी कैसी अद्भुत स्थिति है! परन्तु वे मेरे पति विद्वान् होते हुए भी अबतक परमपदको प्राप्त न कर सके। अब वे और मैं दोनों ही परमपदको पानेकी इच्छा रखते हैं। ब्रह्मन्! आपको हमारी यह प्रार्थना सफल करनी चाहिये; क्योंकि महापुरुषोंके पास आये हुए कोई भी याचक कभी विफलमनोरथ नहीं होते। दूसरोंको मान देनेवाले महर्षे! मैं आकाशमण्डलमें सिद्ध-समूहोंके बीच सदा घूमती रहती हूँ; परंतु यहाँ आपके सिवा दूसरे किसी ऐसे महात्माको नहीं देखती जो अज्ञानके गहन वनको दग्ध करनेके लिये दावानलके तुल्य हो। ब्रह्मन्! करुणासागर! संत-महात्मा अकारण ही प्रार्थीजनोंकी मनोवाञ्छा पूर्ण किया करते हैं, इसलिये आपकी शरणमें आयी हुई मुझ अबलाका आप तिरस्कार न करें। तत्त्वज्ञानका उपदेश देकर मुझे और मेरे पतिको कृतार्थ करें। (सर्ग ६५)

श्रीवसिष्ठजीका विद्याधरीके साथ लोकालोकपर्वतपर पाषाणशिलाके पास पहुँचना, उस शिलामें उन्हें विद्याधरीकी बतायी हुई सृष्टिका दर्शन न होना, विद्याधरीका इसमें उनके अभ्यासाभावको कारण बताकर अभ्यासकी महिमाका वर्णन करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! ब्रह्माण्डके पूर्ववर्णित ऊर्ध्व आकाशमें संकल्पद्वारा कल्पित आसनपर बैठे हुए मैने, उसी आकाशमें कल्पित आसनपर स्थित हुई वह नारी जब मेरे पूछनेपर उपर्युक्त बातें कह चुकी, तब पुनः उससे प्रश्न किया—'बाले! शिलाके पेटमें तुम-जैसे देहधारियोंकी स्थिति कैसे हो सकती है? उसमें हिलना-डुलना कैसे होता होगा? तथा तुमने वहाँ किस लिये घर बनाया?'

विद्याधरी बोली—मुने! जैसे आपलोगोंका यह संसार बहुत ही विस्तृतरूपसे प्रकाशित हो रहा है, उसी प्रकार उस शिलाके उदरमें सृष्टि और संसारसे युक्त हम-लोगोंका जगत् भी स्थित है। वहाँ भी यहाँकी भाँति ही देवता, असुर, गन्धर्व, पृथ्वी, पर्वत, पाताल, समुद्र, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य और चन्द्रमा आदि सब वस्तुएँ हैं।

मुने! यदि आप मेरी बातको असम्भव समझते हों तो आइये, उस सृष्टिको अच्छी तरह देख लीजिये, मेरे साथ चलनेके लिये कृपा कीजिये; क्योंकि बड़े लोगोंको आश्चर्ययुक्त वस्तुएँ देखनेके लिये बड़ा कौतूहल होता है। रघुनन्दन! तब मैने 'बहुत अच्छा' कहकर उसकी बात मान ली और शून्य (आकाश)-रूप हो, शून्यरूपधारिणी उस नारीके साथ शून्य आकाशमें उसी तरह उड़ना आरम्भ किया, जैसे आँधी या बवंडरके साथ फूलोंकी सुगन्ध उड़ती है। तदनन्तर दूरतकका रास्ता तै करनेके बाद आकाशकी शून्यताको लाँघकर मैं उस नारीके साथ

आकाशवर्ती भूतसमुदायके पास जा पहुँचा। चिरकालके बाद आकाशमें प्राणियोंके संचारमार्गको पारकर मै लोकालोक पर्वतके शिखरके ऊपर आकाशभागमें पहुँच गया, उस शिखरके पूर्वोत्तर भागमें स्थित चन्द्रतुल्य उज्ज्वल बादलके पीठभागसे नीचे उतरकर वह नारी मुझे उस ऊँची शिलाके पास ले गयी, जो तपाये हुए सुवर्णकी बनी जान पड़ती थी। मैंने उस शुभ्र शिलाको जब अच्छी तरह देखना आरम्भ किया, तब उसमें वह जगत् मुझे नहीं दिखायी दिया। केवल वह सुवर्णमयी शिला ही अग्निलोक (सुमेरु) के उच्चतम तटकी भाँति दृष्टिगोचर हुई। तब मैंने उस कान्तिमती नारीसे पूछा—'तुम्हारी वह सृष्टिभूमि कहाँ है ? उस लोकके रुद्र, सूर्य, अग्नि और तारे आदि कहाँ हैं तथा भूर्भुवः आदि सातों भिन्न-भिन्न लोक कहाँ हैं ? समुद्र, आकाश और दिशाएँ कहाँ हैं ? प्राणियोंके जन्म और नाश कहाँ हो रहे हैं ? बड़े-बड़े मेघोंकी घटाएँ कहाँ घिरी हुई हैं ? ताराओंकी तडक-भड़कसे युक्त आकाश यहाँ कहाँ दिखायी देता है ? कहाँ हैं शैलशिखरोंकी वे श्रेणियाँ ? कहाँ है महासागरोंकी पङ्क्तियाँ ? कहाँ हैं मण्डलाकार सातों द्वीप और कहाँ है तपाये हुए सुवर्णके सदृश वह भूमि ? कार्य और कारणकी कल्पनाएँ कहाँ हैं ? भूतों और उनके भवनोंका भ्रम कहाँ हो रहा है ? कहाँ हैं विद्याधर और गन्धर्व ? कहाँ हैं मनुष्य, देवता और दानव तथा कहाँ हैं ऋषि, राजा और मुनि ? नीति-अनीतिकी रीतियाँ कहाँ चलती हैं ? हेमन्त ऋतुकी पाँच पहरवाली रातें यहाँ कहाँ हो रही है ? स्वर्ग और नरकके भ्रम कहाँ हैं ? पुण्य और पापकी गणना कहाँ हो रही है ? कल्प और कालकी क्रीडाएँ कहाँ होती है ? देवताओं और असुरोंमें कहाँ वैर देखे जाते हैं तथा द्वेष और स्नेहकी रीतियाँ कहाँ उपलब्ध होती हैं ?' मेरे इस प्रकार पूछनेपर निर्मल नेत्रवाली उस सुन्दरीने आश्चर्यचकित दृष्टिसे मेरी ओर देखकर इस प्रकार कहा।

विद्याधरी बोली—सर्वस्वरूप ब्रह्मर्षे ! मैं भी अब पहलेकी भाँति अपने उस सम्पूर्ण जगत्को तो इस शिला के भीतर नहीं देख रही हूँ; परंतु मैंने जिन मनुष्य, गन्धर्व आदिका पहले वर्णन किया है, उन सबको दर्पणमें स्थित प्रतिबिम्बकी भाँति इस शिलामें प्रतिबिम्बित देखती हूँ। इस समय जो कुछ दीखता है, वह पहले देखे गये नगरसे भिन्न-सा है। मुने ! मुझे जो उस जगत्का कुछ-कुछ दर्शन हो रहा है, उसमें नित्यका मेरा अनुभव ही कारण है। आपको यह अनुभव नहीं है, इसीलिये आपको उसका दर्शन नहीं हो रहा है। इसके सिवा चिरकालतक हमलोगोंमें जो यह एक अद्वैतकी चर्चा चलती रही है, उससे विशुद्ध आतिवाहिक (सूक्ष्म मनोमय) देहका विस्मरण हो गया है। इसके कारण भी आपको वह जगत् नहीं दीखता और मुझको स्फुटरूपसे उसका दर्शन होता है। मैंने चिरकालसे जिसका अत्यन्त अभ्यास किया था, मेरा वह जगत् भी आकाश-लताके समान अदृश्य हो गया है; क्योंकि मैं स्पष्टरूपसे उसे नहीं देख पा रही हूँ। जो संसार पहले मेरे लिये अत्यन्त प्रकट था, उसीको इस समय मैं दर्पणमें प्रतिबिम्बितकी भाँति अस्पष्टरूपसे देख रही हूँ। नाथ ! हम दोनोंमें परस्पर दीर्घकालतक जो सम्भाषण हुआ, उससे अपने अत्यन्त विशुद्ध एवं व्यापक स्वास्थ्य

(धारणाभ्यास-जनित मनोमयदेहरूपता) का विस्मरण हो गया। प्रभो! जो अभ्यासजनित संस्कार शुद्ध चेतन आकाशके रससे उद्बुद्ध होकर प्रकाशित होता है, उसीके आकारका आन्तरिक चित्त भी हो जाता है। बाल्यावस्थासे लेकर अबतक वही वस्तुस्थिति देखी जाती है। भगवन्! यह जो आपके साथ संवाद हुआ है, इसने अपने जगत्‌के निरन्तर अभ्यासके कारण पूर्व जगत्‌के भ्रमसे युक्त हुई मुझको निश्चय ही वशमें कर लिया। इसीलिये वह संस्कार लुप्त-सा हो गया। भूत और वर्तमानकालके दो भ्रमोंमेंसे वर्तमानकालका भ्रम ही बलवान् होनेके कारण विजयी हुआ।

मैं एक पाषाण-शिलामें निवास करनेवाली अबला हूँ, बाला एवं आपकी शिष्या हूँ; फिर भी मैं तो इस शिलाके भीतर स्थित हुई सृष्टिको देखती हूँ और आप सर्वज्ञ होकर भी नहीं देखते। देखिये, यह अभ्यासका विस्तार कैसा आश्चर्यजनक है। अभ्याससे अज्ञानी भी धीरे-धीरे ज्ञानी हो जाता है, पर्वत भी चूर्ण हो जाता है और बाण अपने महान् लक्ष्यको भी वेध डालता है। देखिये, यह अभ्यासकी प्रबलता कैसी है! मुने! अभ्याससे कटु पदार्थ भी मनको प्रिय लगने लगता है—अभीष्ट वस्तु बन जाता है। अभ्याससे ही किसीको नीम अच्छा लगता है और किसीको मधु। निकट रहनेका अभ्यास होनेपर जो भाई-बन्धु नहीं है, वह भी भाई-बन्धु (आत्मीय) बन जाता है और दूर रहनेके कारण बारबार मिलनेका अभ्यास न होनेसे भाई-बन्धुओंका स्नेह भी घट जाता है। भावनाके अभ्याससे ही यह आतिवाहिक शरीर भी, जो केवल विशुद्ध चेतनाकाशरूप है, आधिभौतिक बन जाता है। यह आधिभौतिक शरीर भी धारणाके अभ्यासकी भावनासे पक्षियोंके समान आकाशमें उड़नेकी सिद्धि प्राप्त कर लेता है। देखिये, अभ्यासकी कैसी महिमा है! निरन्तर अभ्यास करनेसे दुस्साध्य पदार्थ भी सिद्ध (सुलभ) हो जाते हैं, शत्रु भी मित्र बन जाते हैं और विष भी अमृत हो जाते हैं। जिसने इष्ट वस्तुके लिये अभ्यास छोड़ दिया है, वह मनुष्योंमें अधम है। वह कभी उस वस्तुको नहीं पाता। ठीक उसी तरह जैसे वन्ध्या स्त्री अपने गर्भसे पुत्र नहीं पाती। जो नराधम अपनी अभीष्ट वस्तुके लिये अभ्यास (बारंबार प्रयत्न) नहीं करता, वह अनिष्ट वस्तुमें ही रत रहता है; इसलिये वह अनिष्टको ही प्राप्त होता है और एक नरकसे दूसरे नरकमें गिरता रहता है। जिससे संसार असार बन जाता है। पर विवेकका सेवन करनेवाले जो श्रेष्ठ पुरुष आत्म-विचार नामक अभ्यासको नहीं छोड़ते, वे निश्चय ही इस बढ़ी-चढ़ी विस्तृत माया-नदीको पार कर जाते हैं। इष्ट वस्तुके लिये किया गया चिरकालिक अभ्यासरूपी सूर्य प्रजाजनोंके समक्ष ऐसा प्रकाश फैलाता है, जिससे वे देहरूपी भूतलपर रहकर जन्म-मरण आदि सहस्रों अनर्थोंको पैदा करनेवाली इन्द्रियरूपिणी रात्रिको नहीं देखते। बारंबार किये जानेवाले प्रयत्नको अभ्यास कहते हैं, उसीका नाम पुरुषार्थ है। उसके बिना यहाँ कोई गति नहीं है। अपने विवेकसे उत्पन्न हुए दृढ़ अभ्यास नामक अपने कर्मको यत्न कहते हैं। उसीसे यहाँ सिद्धि प्राप्त होती है, और किसी उपायसे नहीं। इन्द्रियोंपर विजय पानेमें समर्थ वीरपुरुषके लिये अभ्यास-

रूपी सूर्यके तपते रहनेपर भूमिमें, जलमें और आकाशमें भी ऐसी कोई अभिलषित वस्तु नहीं है, जो सिद्ध नहीं हो सकती। भूमण्डलमें तथा पर्वतकी समस्त निर्जन गुफाओंमें जितने भयके कारण हैं, वे सब अभ्यासशाली पुरुषके लिये अभयदायक बन जाते हैं।

(सर्ग ६६-६७)

श्रीवसिष्ठजीके द्वारा आतिवाहिक शरीरमें आधिभौतिकताके भ्रमका निराकरण

विद्याधरीने कहा—अतः मुने! अब हम दोनों निर्मल परमात्मामें सर्वबोधानुकूल समाधिरूप धारणा-द्वारा अपने प्राचीन आतिवाहिक भावका पुनः अभ्यास करें। ऐसा करनेसे ही इस शिलाके भीतरका जगत् प्रकट होगा।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! उस पर्वतपर विद्याधरीने जब यह युक्तियुक्त बात कही, तब मैं पद्मासन लगाकर बैठ गया और समाधिमें स्थित हो गया। उस समय सम्पूर्ण बाह्य पदार्थोंकी भावनाका त्याग हो जानेपर चिन्मात्रस्वरूप होकर मैंने उस पूर्वके अर्थकी—आधिभौतिक देहादिकी भावना एवं उसके संस्कार-मलका भी सर्वथा त्याग कर दिया। तत्पश्चात् चेतनाकाशरूपताको प्राप्त हो मैंने उसी तरह उत्तम दृष्टि प्राप्त कर ली, जैसे शरत्काल आनेपर आकाश निर्मलताको धारण कर लेता है। तदनन्तर सत्यस्वरूप परमात्माके सुदृढ़ ध्यानाभ्याससे मेरी देहमें आधिभौतिकताकी भ्रान्ति निश्चय ही दूर हो गयी तथा तत्काल ही उदय एवं अस्तसे रहित होनेपर भी नित्य उदित रहनेवाली और अत्यन्त निर्मल महाचेतनाकाशरूपता प्रकट-सी हो गयी। इसके बाद जब मैं साक्षीरूप अपने ही निर्मल तेजसे देखने लगा, तब वास्तवमें मुझे न तो वह आकाश दीख पड़ा और न वह पाषाणशिला ही कहीं दिखायी दी। सब कुछ केवल परमतत्त्वमय ही दृष्टिगोचर हुआ। मैंने स्वरूपबोधके पहले कभी जिसकी आकृति शिलामयी देखी थी, बोधके पश्चात् उसे स्वच्छ चिद्घन ब्रह्माकाशरूप ही देखा, पृथ्वी आदि विकारोंके रूपमें उस सद्-वस्तुको कहीं नहीं देखा। प्रिय श्रीराम! यह जो वर्तमान-कालका दृश्य-प्रपञ्च मनको प्रत्यक्ष दिखायी दे रहा है, यह आधिभौतिक देह आदिकी कल्पनाद्वारा अत्यन्त असद्रूपसे ही प्रकट हुआ है। अतः इसे तुम प्रत्यक्ष ही असत् समझो और उस योगिप्रत्यक्षको ही मुख्य प्रत्यक्ष जानो; क्योंकि उसमें सद्रूप परमात्माके यथार्थ स्वरूपका साक्षात्कार होता है। अहो! परमेश्वरकी माया कैसी विचित्र है, जिससे प्राक्-प्रत्यक्षमें (अर्थात् पहलेसे ही जो प्रत्यक्ष है, उस साक्षी चेतनमें) तो परोक्षताका निश्चय हो रहा है और इस परोक्ष मनमें प्रत्यक्षभावकी कल्पना आ गयी है। यद्यपि सुवर्णसे कड़ा बनता है—इसका सभीको अनुभव है, तथापि यह निश्चय है कि सुवर्ण कड़ा नहीं है। उसी प्रकार सूक्ष्मशरीरमें आधिभौतिकता नहीं है। यह जीव विचार न करनेके कारण भ्रमको यथार्थ और यथार्थको भ्रम समझ रहा है। अहो! यह कैसी मूढ़ता है। जैसे

सीपीमें चाँदी, मृगतृष्णामें जल और एक चन्द्रमामें दो चन्द्रमाकी बुद्धि मिथ्या ही है, उसी प्रकार आतिवाहिक (सूक्ष्म) शरीरमें आधिभौतिकता (स्थूल-रूपता) की बुद्धि भी मायासे ही हो रही है, वह वास्तविक नहीं है। जो असत् है, उसे सत्य मान लिया गया है और जो सत्य है, उसे असत् समझ लिया गया है। अहो! जीवके अविचारसे उत्पन्न हुए इस मोहकी कैसी महिमा है! जो आदि प्रत्यक्ष (सूक्ष्मशरीर) को छोड़कर इस वर्तमान प्रत्यक्ष (स्थूलशरीर) में ही सत्यबुद्धि करके स्थित है। वह मानो मृगतृष्णाका जल पीकर तृप्तिका अनुभव करता हुआ सुखपूर्वक बैठा है।

विषयोंका जो सुख है, वह क्षणभङ्गुर है, इसका सबको बारंबार अनुभव होता है। इसलिये उस सुखको दुःखरूप ही कहा गया है तथा जो नित्य, अनादि और अनन्त आत्मसुख है, उसीको वास्तविक सुख बताया गया है। अज्ञानीकी दृष्टिमें यह जगद्रूप भ्रान्ति ही सत्यरूपताको प्राप्त हो गयी है। मदिरा पीकर मतवाले हुए पुरुषको ये सुस्थिर वृक्ष और पर्वत भी नाचते-से प्रतीत होते हैं। जो योगियोंके प्रत्यक्ष अनुभवमें आये हुए, सर्वत्र अप्रतिहत, अद्वैत बोधरूप, पूर्णानन्दैकरस चित्-स्वरूप ब्रह्मकी सत्ता प्रत्यक्ष होनेपर भी दूसरे तुच्छ प्रत्यक्ष नेत्र आदि इन्द्रियोंसे दीखनेवाले रूप आदि विषयको सत्य मानकर उसका आश्रय लेते हैं, वे महान् मूर्ख हैं। अपने-आपको ही धोखा देनेवाले उस तृणतुल्य अधम पुरुषोंसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं है।

(सर्ग ६८)

विद्याधरीका पाषाण-जगत्‌के ब्रह्माजीको ही अपना पति बताना और उन्हें समाधिसे जगाना, उनके और देवतादिके द्वारा वसिष्ठजीका स्वागत-सत्कार, वसिष्ठजीके पूछनेपर ब्रह्माजीका उन्हें अपने यथार्थ स्वरूपका परिचय देना और उस कुमारी नारीको वासनाकी देवी बताना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! तदनन्तर अबाध चेष्टावाली वह विद्याधरी उस शिलाके भीतर स्थित हुई सृष्टिमें प्रविष्ट हुई। फिर मैं भी उसके साथ संकल्परूप होकर वहाँ जा पहुँचा। वह उद्यमशील तथा उत्कृष्ट शोभासे युक्त नारी उस जगत्‌के ब्रह्मलोकमें पहुँचकर ब्रह्माजीके सामने बैठ गयी और बोली—'मुनिश्रेष्ठ! यही मेरे पति हैं, जो मेरा पालन करते हैं। इन्होंने पूर्वकालमें मेरे साथ विवाह करनेके लिये अपने मनके द्वारा मुझे उत्पन्न किया था। ये पुरातन पुरुष हैं और मैं भी अब जरावस्थाको आ पहुँची हूँ। इन्होंने आजतक मेरे साथ विवाह नहीं किया; इसलिये मैं विरक्त हो गयी हूँ। इनको भी वैराग्य हो गया है। ये उस परम पदको प्राप्त करना चाहते हैं, जहाँ न कोई द्रष्टा है, न दृश्य है और न शून्य ही है। इसलिये मुनीश्वर! आप मुझको और इनको भी तत्त्वज्ञानका उपदेश देकर उस परब्रह्म परमात्माके पथमें लगा दीजिये, जो वैज्ञानिक प्रत्यक्षमें रहनेवाली सारी सृष्टियोंके मूल कारण हैं।'

मुझसे ऐसा कहकर वह उन ब्रह्माजीको जगानेके लिये इस प्रकार बोली—'नाथ! ये मुनिनाथ वसिष्ठजी आज इस घरमें पधारे हैं। ये मुनि दूसरे ब्रह्माण्ड-रूपी घरमें रहनेवाले ब्रह्माजीके पुत्र हैं। प्रभो! गृहस्थके घरपर आये हुए अतिथिके योग्य पूजाद्वारा आप इन गृहागत महर्षिका पूजन कीजिये। समाधिसे उठिये और अर्घ्य, पाद्य देकर इन मुनीश्वरकी पूजा कीजिये; क्योंकि आप-जैसे महात्माओंको महापुरुषोंकी पूजासे प्राप्त होनेवाला महान् फल ही रुचता है।'

श्रीराम! उस विद्याधरीके ऐसा कहनेपर वे परम बुद्धिमान् ब्रह्माजी समाधिसे जाग उठे। नींदके त्यागे उन विद्वान् ब्रह्माने धीरेसे अपनी आँखें खोलीं। मानो शिशिर ऋतुकी समाप्ति होनेपर वसन्त ऋतुने पृथ्वीपर

उत्पन्न हुए दो फूलोंको विकसित कर दिया हो। उनके वे विभिन्न अङ्ग धीरे-धीरे अपनी-अपनी सजगता (ज्ञानयुक्त चेष्टा) प्रकट करने लगे, मानो वसन्त ऋतुके नूतन पल्लव नूतन रसकी अभिव्यक्ति कर रहे हों। तदनन्तर देवताओं, सिद्धों और अप्सराओंके समुदाय चारों ओरसे वहाँ उसी तरह आ पहुँचे, जैसे प्रातःकाल विकसित कमलोंसे सुशोभित सरोवरमें झुंड-के-झुंड हंस आ गये हों। ब्रह्माजीने सामने खड़े हुए मुझको और उस विलास-शालिनी विद्याधरीको देखा। देखकर वे प्रणवपूर्वक स्वरसहित उच्चरित होनेवाली सुन्दर वेदवाणीके समान मधुर वचन बोले—

उस दूसरे संसारके ब्रह्माजीने कहा—मुने! आपने हाथपर रखे हुए आँवलेके समान इस असार संसारके सारतत्त्वको देख और जान लिया है। आप ज्ञानरूपी अमृतकी वर्षा करनेवाले महामेघ हैं। आपका स्वागत है। महर्षे! इस समय आप इस अत्यन्त दूरवर्ती मार्गपर आ पहुँचे है। बहुत दूरका रास्ता तै करनेके कारण आप बहुत थक गये होंगे। यह आसन है, इसपर बैठिये।

उनके ऐसा कहनेपर मै बोला—'भगवन्! मै आपको प्रणाम करता हूँ।' ऐसा कहता हुआ मै उनकी दृष्टिके संकेतसे दिखाये गये एक मणिमय पीठपर बैठ गया। फिर तो देवता, ऋषि, गन्धर्व, मुनि और विद्याधरोंद्वारा मेरी स्तुति की जाने लगी। इसके बाद पूजा, नमस्कार तथा अन्य समुचित नीतियुक्त व्यवहार सम्पादित हुए। दो घड़ीमें जब सम्पूर्ण भूतगणोंद्वारा किया गया प्रणाम-समारोह शान्त हुआ, तब उन ब्रह्माजीसे मैने कहा—'भूत, वर्तमान और भविष्यके स्वामी ब्रह्मदेव! यह क्या बात है कि यह नारी मेरे पास गयी और कहने लगी कि 'आप अपने ज्ञानोपदेशसे प्रयत्नपूर्वक हमें बोधकी प्राप्ति कराइये' देव! आप तो सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी तथा समस्त ज्ञानोंमें पारंगत हैं। जगत्पते! बताइये, यह काममूढा स्त्री आपके विषयमें क्या कहती है। देव! जब आपने इसे अपनी पत्नी बनानेके लिये ही उत्पन्न किया था तब फिर इसे उस पदपर क्यों नहीं प्रतिष्ठित किया, इसको वैराग्यकी ओर आप क्यों ले गये?'

दूसरे जगत्के ब्रह्माजी बोले—मुने! सुनिये, जैसी बात है, उसे आपके सामने ठीक-ठीक बता रहा हूँ; क्योंकि सत्पुरुषोंके सामने सब बातें यथार्थ और पूर्णरूपसे कहनी चाहिये। मुने! वह जो शान्त, अजन्मा, अजर एवं अनिर्वचनीय परमार्थ सद्वस्तु ब्रह्म है, उसीको चेतन अथवा चित्तत्त्व कहते हैं। चैतन्य ही उसका एकमात्र स्वरूप है। उसी परमात्माने अपने स्वरूपभूत चैतन्यसे मुझे प्रकट किया है। मै चिदाकाशरूप ही हूँ और सदा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता हूँ, जब सृष्टि उत्पन्न होकर यथावत् रूपसे स्थित हो जाती है, तब मेरा व्यावहारिक नाम स्वयम्भू होता है। वास्तवमें न तो मै उत्पन्न होता हूँ और न कुछ देखता ही हूँ। मै समस्त आवरणोंसे मुक्त रहकर चेतनाकाशरूप हो चेतनाकाशमें ही स्थित हूँ। यह जो आप मेरे सामने है और मैं आपके सामने हूँ तथा हमलोगोंमें जो यह परस्पर सम्भाषण हो रहा है, यह वैसा ही है, जैसे समुद्रमें एक तरङ्गके आगे दूसरी तरङ्ग हो और स्वयं समुद्र ही उन तरङ्गोंके घात-प्रतिघातके रूपमें शब्द कर रहा हो। इस विषयमे मेरी ऐसी ही मान्यता है। इस प्रकार समुद्रसे तरङ्गोंकी कल्पनाके समान जिसने अपनी और दूसरेकी दृष्टिसे देखे जानेवाले भेदकी किंचित् कल्पना कर ली है तथा कालवशात् अपने स्वरूपको भी किंचित् भुला देनेके कारण जिसकी आकृति कुछ मलिन-सी हो गयी है, वह मै चिदाभासमात्र ही हूँ। ऐसे रूपवाले मुझ ब्रह्माके अन्तःकरणमें जो ममता और अहंताकी वासना

उदित हुई है, वह उस कुमारी स्त्रीसे भिन्न जो आप हैं, आपको अन्य-सी प्रतीत होती है और मुझे अनन्य-सी जान पड़ती है । वह वासना हम दोनोंकी दृष्टिसे उदित (प्रकट) भी है और अनुदित (अप्रकट) भी । वस्तुतः मै अविनाशिनी सत्तावाला हूँ; क्योंकि कभी मेरी उत्पत्ति नही हुई है । मै आत्मरूपसे अपने आपमें ही स्थित हूँ । स्वभावसे ही मै अच्युत, अपने आत्मामें रमण करनेवाला तथा स्वयं ही सब कुछ करनेमें समर्थ हूँ । यह कुमारी स्त्रीके रूपमें जो सामने खड़ी है, वासनाकी अधिष्ठात्री देवी ही है । यह न तो मेरी गृहिणी है और न गृहिणी बनानेके निमित्त मैंने इसका सत्कार ही किया है । अपनी वासनाके आवेशवश इसके मनमें यह भाव उत्पन्न हो गया कि 'मै ब्रह्माजीकी पत्नी हूँ ।' इस भावनाको लेकर यह स्वयं ही अत्यन्त दुःख उठा रही है और वह भी व्यर्थ । यही सारे जगत्‌के भीतर वासना बनकर बैठी हुई है । (सर्ग ६९)

पाषाण-जगत्‌के ब्रह्माद्वारा वासनाकी क्षयोन्मुखता एवं आत्मदर्शनकी इच्छा बताकर शिलाकी चितिरूपता तथा जगत्‌की परमात्मसत्तासे अभिन्नताका प्रतिपादन करके वसिष्ठजीको अपने जगत्‌में जानेके लिये प्रेरित करना

अन्य जगत्‌के ब्रह्माजी कहते हैं—मुनिश्रेष्ठ ! (मैने अपने संकल्पसे कल्पित दो परार्ध वर्षोंकी आयु बिता दी) अब चिदाकाशरूप मै निरतिशयानन्दस्वरूप, ब्रह्माकाशमयी परम कैवल्यरूपा स्थितिको प्राप्त करना चाहता हूँ, इसीसे यहाँ मेरी वासनाद्वारा रचे गये इस संसारमें नित्य, नैमित्तिक, दैनन्दिन और आत्यन्तिक ये चारो प्रकारके प्रलय उपस्थित हो गये है । मुनीश्वर ! इस महाप्रलयकालमे अब मैने इसे त्याग देने—इस वासनाका मूलोच्छेद करके इसे अपनी सत्तासे गिरा देनेके उद्योग-का निश्चित रूपसे आरम्भ कर दिया है, इसीसे यह विरसताको प्राप्त अर्थात् विनाशोन्मुख हो गयी है । जब मै चित्ताकाशरूपताको त्यागकर आदि चेतनाकाशरूप महाकाश होने जा रहा हूँ, तब यहाँ महाप्रलयका आना और वासनाका विनाश होना अवश्यम्भावी है । यही कारण है कि यह विरस होकर मेरे मार्गकी ओर दौड रही है । भला, ऐसा कौन उदारबुद्धि प्राणी है, जो अपने जन्मदाताका अनुसरण न करना हो ? आज यहाँ चारो युगोका विनाश उपस्थित है, अन्तिम कल्प, अन्तिम मन्वन्तर तथा अन्तिम कलियुगकी समाप्तिका समय आ गया है, इसलिये आज ही प्रजा, मनु, इन्द्र तथा देवताओंका यह अन्तकाल आ पहुँचा है । आज ही यह कल्पका अन्त, महाकल्पका अन्त, मेरी वासनाका अन्त और मेरे देहाकाश-का भी अन्त होनेवाला है । ब्रह्मन् ! इसीलिये यह वासना अब क्षीण होनेको उद्यत है, जब कमलोंसे भरा हुआ सरोवर ही सूख रहा हो, तब गन्धलेखा कहाँ ठहर सकती है ? केवल अभिमान ही जिसका शरीर है, ऐसी इस वासनाको स्वभावतः स्वयं ही आत्मदर्शनकी इच्छा होती है । आत्मसाक्षात्कारके लिये किये गये धारणाभ्यास-रूप योगसे इसने अन्य ब्रह्माण्डमे जाकर वहाँ आपके जगत्‌का दर्शन किया, जहाँ धर्म आदि चारो वर्णोंके अनुष्ठानमे लगी हुई स्वतन्त्र प्रजा निवास करती है । आकाशमे विचरती हुई इस विद्याधरीने उसी सिद्धिकी सामर्थ्यसे लोकालोक पर्वतके शिखरकी शिला देखी, जो इसके अपने जगत्‌की आधारभूत है तथा हमारी दृष्टिमे केवल आकाशरूप ही है । जिस जगत्‌रूपी पर्वतपर यह जगत् है और जिसमे उसकी शिलारूपता है, वैसा तथा हमारे जगत्‌रूप पदार्थोंमे ऐसे-ऐसे अनेक दूसरे जगत् भी हैं । यह जगतरूपी भ्रान्ति जिनकी समझमें आ गयी अर्थात् जिनकी दृष्टिमें यह चेतनाकाशके रूप एकरूपताको प्राप्त हो गयी, वे कभी मोहमे नही पड़ते

हैं और शेष जितने लोग है, वे भ्रमके ही भागी होते हैं।

मुने! इस विद्याधरीको वैराग्यके कारण उत्पन्न अपने मनोरथको सिद्ध करनेकी इच्छा हुई। इसीलिये इसने अन्य बहुत-सी धारणाओंका अभ्यास करके उनके प्रभावसे आपका दर्शन प्राप्त किया। आदि-अन्तसे रहित एवं अनामय विद्यारूपा ब्रह्मकी चिन्मयी मायाशक्ति सब ओर व्याप्त है। इस जगत्‌में कोई भी कार्य न तो कभी उत्पन्न होते हैं और न नष्ट ही होते हैं। केवल चित् ही द्रव्य, काल और क्रियाके रूपमें प्रकाशित हो तप रही है। ये जो देश, काल, क्रिया, द्रव्य, मन और बुद्धि आदि है, सब-के-सब चेतनरूपी शिलाकी मूर्तियाँ हैं। इनका न कभी उदय होता है और न अस्त ही। इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें। यह चिच्छक्ति ही शिलाका आकार धारण करके स्थित है। जैसे स्पन्दन वायुका स्वरूप है, उसी प्रकार सारा जगत्-समुदाय इस चिच्छक्तिका अभिन्न अङ्ग ही है। यह जो चितिरूपा शिला है, आदि-अन्तसे रहित है। किंतु भ्रमसे सादि और सान्त बन जाती है। निराकार होती हुई भी साकार हो जगत्‌रूप अङ्गोंसे युक्त बनकर स्थित हो जाती है। जैसे महाकाशके भीतर दूसरे-दूसरे आकाश (घटाकाश, मठाकाश आदि) महाकाशकी सत्तासे ही विद्यमान हैं, अपना पृथक् अस्तित्व नहीं रखते हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् शून्यरूप होते हुए भी शान्तस्वरूप सर्वव्यापी चेतनाकाश परमात्मामें उसीकी सत्तासे सर्वत्र विद्यमान है। परंतु वे अपनी पृथक् सत्ता नहीं रखते हैं, इस दृष्टिसे उनके विषयमें 'हैं' और 'नहीं हैं'—ये दोनों बातें कही जा सकती हैं। मुनिवर वसिष्ठ! अब आप यहाँसे अपने जगत्‌को जाइये और इस समय अपने पूर्व-कल्पित एकान्तवर्ती आसनपर समाधि लगाकर परम शान्तिका अनुभव कीजिये। मेरे जो कल्पित बुद्धि आदि जागतिक पदार्थ हैं, वे प्रलयको प्राप्त हो परम अव्यक्त तत्त्वमें मिल जायँ; क्योंकि इस समय हम परब्रह्म परमात्मपदको प्राप्त हो रहे है। (सर्ग ७०)

पाषाण-शिलाके भीतर बसे हुए ब्रह्माण्डके महाप्रलयका वर्णन तथा ब्रह्माके संकल्पके उपसंहारसे सम्पूर्ण जगत्‌का संहार क्यों होता है, इसका विवेचन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! ऐसा कहकर वे भगवान् ब्रह्मा सम्पूर्ण ब्रह्मलोकवासियोंके साथ पद्मासन लगाकर बैठ गये और फिर कभी न टूटनेवाली समाधिमें स्थित हो गये। उन्हींका अनुसरण करती हुई वह वासनाकी अधिष्ठात्री देवी सती-साध्वी कुमारी विद्याधरी भी उन्हींकी भाँति ध्यानमग्न हो शान्त हो गयी। उसका कोई भी अंश (स्मृति-बीजभेद) शेष नहीं रह गया। वह आकाशरूपिणी (शून्यस्वभावा) हो गयी। ब्रह्माजीका संकल्प धीरे-धीरे विरस होने लगा। जिस समय उनके संकल्पमें विरसता आयी, उसी क्षणसे तुरंत ही पर्वत, द्वीप सौर समुद्रोसहित पृथ्वीकी तृण, गुल्म, लता और धान आदिको उत्पन्न करनेकी सारी शक्ति धीरे-धीरे नष्ट होने लगी। जैसे हमलोगोंके अन्न संवेदनशक्तिके क्षीण होनेपर नीरस हो जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्माजीकी अङ्गभूता पृथ्वीकी संवेदनशक्तिका उपसंहार होनेसे वह नीरसताको प्राप्त हो गयी। ब्रह्माजीके द्वारा उपेक्षित होनेपर पृथ्वी आदि तथा असुर आदि—ये दो तरहके महाभूत सब ओरसे क्षुब्ध हो उठे। चन्द्रमा, सूर्य, वायु, इन्द्र, अग्नि और यम—ये सब-के-सब महाप्रलयके कोलाहलसे व्याकुल हो गये। उनका अधिकार एवं प्रभाव ब्रह्मलोकमें मिल गया। वे अपने स्थानसे नीचे गिरने लगे। भूकम्पोंके कारण बड़े-बड़े पर्वत जोर-जोरसे झूमने और झोंके खाने लगे, मानो वे झूला झूलनेके सुखका अनुभव कर रहे हों। उनके ऊपरकी वृक्षश्रेणियाँ

कटकट शब्दके साथ टूट-टूटकर गिरने लगीं। भूकम्पके कारण कैलास, मेरु और मन्दराचलकी कन्दराएँ हिलने लगीं और कल्पवृक्षोंसे टूटकर लाल रंगके पुष्पगुच्छोंकी वर्षा होने लगी। रघुनन्दन! लोकान्तर-पर्वत, नगर, समुद्र और वनपर्यन्त सारा जगत् कल्पान्तकालकी उत्पात-वायुके झोंकेसे परस्पर टकराकर हताहत होते हुए प्राणियोंके कोलाहलसे व्याप्त एवं जीर्ण-शीर्ण हो गया, मानो रुद्रदेवके बाणोंसे दग्ध हुआ त्रिपुर-नगर भरे हुए समुद्रमें गिर रहा हो।

रघुनन्दन! जब विराट्स्वरूप स्वयम्भू ब्रह्माने अपने प्राणोंका आकर्षण एवं निरोध किया, तब वातस्कन्धनामसे स्थित आकाशजन्मा वायुने अपनी मर्यादा (ग्रह, नक्षत्र आदिको धारण करनेकी जिम्मेदारी) छोड़ दी। ब्रह्माजीने जब प्राणवायुरूप वातस्कन्धका अपने भीतर उपसंहार करना आरम्भ किया, तब पूर्वोक्त मर्यादाको त्यागकर साम्यावस्थाको पहुँचनेके लिये वायुमें क्षोभ उत्पन्न हुआ और उस क्षोभ-के कारण निराधार होकर आकाशमण्डलसे तारे टूट-टूटकर वैसे ही भूमिपर गिरने लगे, जैसे कहीं आग लगनेपर यदि जोरसे हवा चलती हो तो बड़े-बड़े लुआठे उड़ने और गिरने लगते हैं। उस समय आकाशसे भूतलपर गिरते हुए तारे वृक्षसे झड़ते हुए फूलोंके समान जान पड़ते थे। ब्रह्माजीका संकल्परूप ईंधन जब प्रलयोन्मुख हो गया, तब जैसे जलती हुई लपटें बुझ जाती हैं, वैसे ही सिद्धोंकी गतियाँ भी शान्त हो गयीं, अपनी शक्तिका नाश हो जानेपर प्रलय-वायुके वेगसे पतली रूईके समान आकाशमें उड़ते और भटकते हुए सिद्धसमुदाय मूक होकर नीचे गिरने लगे। भूकम्पसे चञ्चल हुए देवगिरि सुमेरुके शिखर, इन्द्रादि देवताओंके नगरों तथा कल्पवृक्षोंके समूहोंसहित धड़ाधड़ धराशायी होने लगे।

रघुनन्दन! पहले न तो कोई असत् वस्तु थी और न सत् ही; किंतु सभी विकारोंसे रहित एकमात्र चिन्मय परमाकाश ही था; जो अकेला ही सम्पूर्ण दिशाओंमें व्याप्त था। उसी परमाकाशने अपने स्वरूपका परित्याग न करके निर्विकार रहते हुए ही अपनी आकाशताको अपनेसे भिन्न वस्तुके रूपमें कल्पना की। उसे अपनेसे पृथक् चेत्यके रूपमें जाना, चिद्रूप होनेसे वह चेतन कहा गया है। जैसे लोग संकल्प-नगरको शून्यरूप होते हुए भी साकार देखते हैं, वैसे ही अजन्मा परमात्मा शून्यरूप आकाशको ही देहरूप देखने लगा। आकाशमें आकाशको ही अपना शरीर मानने लगा। श्रीराम! इस प्रकार विचार करनेसे सिद्ध होता है कि ये जो ब्रह्मा हैं, वे ही यह वर्तमान जगत् बनकर स्थित हैं। विराट् ब्रह्माका जो देह है, वही यह जगत् है। संकल्पाकाशरूप ब्रह्माजीको जो भ्रम हुआ है, वही इस जगत्-के रूपमें भासित हो रहा है और उसीको ब्रह्माण्ड कहा गया है। संकल्पसे ही जिसकी कल्पना हुई है, वह यह सारा जगत् आकाशरूप ही है। वास्तवमें न तो जगत् है और न कहीं त्वत्ता-मत्ता ('तुम' और 'मैं' के भाव) ही हैं। चिन्मात्र परब्रह्म परमात्मा स्वयं ही अद्वैत आत्मा-काशमें जगत् आदिरूप प्रकाशसे प्रकाशित हो आस्वाद या अनुभवका विषय हो रहा है। जैसे वायु अपनी गति-शीलताके कारण अनुभवमें आती रहती है। यह जगत् अद्वैतको छोड़ देनेपर कुछ है, ऐसा जान पड़ता है और द्वैतको त्याग देनेपर कुछ भी नहीं है, ऐसा प्रतीत होता है। वास्तवमें जगत् द्वैत और अद्वैत—दोनोंसे रहित, शून्य, निर्मल और निरामय चेतनाकाशरूप ही समझो। राघवेन्द्र! अनादि, नित्यानुभवरूप जो एकमात्र साक्षी चेतन है, वही दृश्य बनकर स्थित है। उसने भिन्न दूसरी कोई दृश्य नामक वस्तु नहीं है। सत्यानुभव-रूप परमात्मामें जो अनेक प्रकारके अज्ञान प्रतीत होते हैं, वे ही विचित्र भ्रम पैदा करके सुविस्तृत दृश्य जगत्का महान् दृश्य उपस्थित करते हैं। (सर्ग ७१-७२)

ब्रह्मा और जगत्‌की एकताका स्थापन तथा द्वादश सूर्योंके उदयसे जगत्‌के प्रलयका रोमाञ्चकारी वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघवेन्द्र ! ये विराटरूपधारी विधाता समष्टि मनरूप होनेके कारण स्वयं ही मन है, अतः इनके लिये दूसरे मनकी आवश्यकता नहीं है। यही नहीं, ये विराट् पुरुष स्वयं ही इन्द्रियाँ है। अतः इन्हें दूसरी इन्द्रियोंके उपभोगकी आवश्यकता नहीं होती। इन्होंने ही तो अन्य सब शरीरोंमें इन्द्रियोंकी सृष्टि की है। इन्द्रियसमुदाय इनकी कल्पनामात्र ही है। इन्द्रिय और चित्तमें अवयवावयवी-भाव सम्बन्ध है। इन्द्रियाँ अवयव है और चित्त अवयवी—इन दोनोंका शरीर एक है, अतः इनमें थोड़ा-सा भी भेद नहीं है। पूर्णतः एकता है। संसारके जो कोई भी कार्य हैं, वे सब-के-सब उस विराट् पुरुषके ही है। क्योंकि ब्रह्माके संकल्प ही विभिन्न व्यष्टि वृत्तिसे अपनेमें भेदका आरोप करके जगद्-व्यवहारके रूपमें चल रहे हैं। उसीकी सत्तासे अनन्ताकार जगत्‌की सत्ता है और उसके संकल्पके उपसंहारसे ही जगत्‌का संहार है। वायु और उसकी चेष्टामें जैसी एकता है, वैसी ही एकता या एकसत्ता ब्रह्मा और जगत्‌की भी है। जगत्, ब्रह्मा और विराट—ये तीनों पर्यायवाची शब्द है। जगत् और ब्रह्मा शुद्ध चेतनाकाशरूप परमात्माके संकल्पमात्र ही हैं।

रघुनन्दन ! मेरे सामने ब्रह्मलोक था। ब्रह्माजी ध्यानमग्न हो गये थे। मैंने धीरे-धीरे सम्पूर्ण दिशाओंमें दृष्टि डाली। उस समय अपने सम्मुख देखा, मध्याह्न कालमें तपते हुए सूर्यके अतिरिक्त पश्चिम दिशामें भी एक दूसरा सूर्य प्रकट हुआ, जो स्पष्ट दिखायी देता था वह पश्चिम दिशाके मध्यभागमें दाह-सा उत्पन्न कर रहा था, मानो किसी पर्वतके ऊपर वहाँकी वनस्थलीमें दावानल प्रज्वलित हो उठा हो। आकाशमें अग्निलोक प्रकट हो गया हो अथवा महासागरमें वड़वाग्नि उद्दीप्त हो उठी हो। फिर तो क्रमशः नैर्ऋत्यकोण, दक्षिण दिशा, अग्निकोण, पूर्वदिशा, ईशान कोण, उत्तर दिशा, वायव्यकोण तथा पश्चिम दिशामें भी एक-एक सूर्य प्रकाशित हो उठा। उन सबको देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैं विधाताकी प्रतिकूलतापर विचार करने लगा। इतनेमें ही भूतलसे भी शीघ्र ही एक सूर्य प्रकट हुआ, मानो समुद्रसे बड़वानल ऊपरको उठ गया हो। फिर दिशाओंके मध्यवर्ती आकाशमें ग्यारहवाँ सूर्य उदित हुआ। दिशाओंके मध्यवर्ती सूर्यको ग्यारहवाँ कहा गया है, इससे सिद्ध होता है कि उसके ऊपर भी बारहवाँ सूर्य प्रकट हो चुका था। इस प्रकार एक भूतलपर, एक मध्य आकाशमें और एक उससे भी ऊपर—तीन सूर्य एकके ऊपर एकके क्रमसे दिखायी देते थे। इस तरह कुल मिलाकर बारह सूर्य प्रकट हुए थे। इनमें ग्यारहवाँ सूर्य भगवान् रुद्रका ही शरीर था और उसके भीतर तीन सूर्योंके रूपमें मानो तीन नेत्र प्रकट हो गये थे। वह अकेला ही बारह सूर्योंके बराबर देदीप्यमान था। वह बारह सूर्योंका समुदाय-सा जान पड़ता था, जो सम्पूर्ण दिशाओंमें प्रचण्ड दाह उत्पन्न कर रहा था। जैसे दावानल सूखे वनको जला देता है, वैसे ही वह समस्त जगत्‌को दग्ध करने लगा। इन सूर्योंके उदय होनेसे समस्त ब्रह्माण्डमण्डलको सुखा देनेवाला ग्रीष्म ऋतुका भीषण दिन प्रकट हो गया था। कहीं भी उल्मुको (लुआठे) के समूह नहीं दिखायी देते थे। बिना अग्निके ही अग्निदाह हो रहा था (अर्थात् सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंसे ही सब कुछ स्वाहा हो रहा था, लौकिक अग्नि नहीं दिखायी देती थी)। कमलनयन श्रीराम ! बिना अग्निके ही होनेवाले उस अग्निदाहसे मेरे सारे अङ्ग दावानलसे झुलसे हुएकी भाँति व्यथित हो उठे। तब मैं उस प्रदेशको छोड़कर बहुत दूर चला आया।

---

१. पश्चिम दिशामें सूर्यके प्रकट होनेका जो पहले वर्णन आ गया है, उसका यहाँ अनुवादमात्र है। तात्पर्य यह कि अबतक आठों दिशाओं तथा मध्याह्नकालिक सूर्यको लेकर नौ सूर्य वसिष्ठजीके दृष्टिपथमें आ गये थे।

राघवेन्द्र ! वहाँसे मैंने दसो दिशाओंमें उदित हो तपते हुए बारह सूर्योंके समुदायको देखा, जिसके प्रचण्ड तेजसे सातों विशाल महासागर काढ़ेकी भाँति खौल रहे थे और उनसे महान् खल-खल शब्द प्रकट हो रहा था। समस्त लोकों और नगरोंके भीतरी भाग प्रचण्ड ज्वालाओं तथा अंगारोंसे भर गये थे। आगकी लपटें लाल रंगके गाढ़े कपड़ोंके समूहकी भाँति दिखायी देती थीं, जिन्होंने सारे पर्वतोंको सिन्दूरी-रंगका बना दिया था। लोकपालोंके जलते हुए बड़े-बड़े घरोंमें ज्वालाव्याप्त दिशारूपी वस्त्र सुस्थिर विद्युत्‌की भाँति दीप्तिमान् दिखायी देते थे। नगरोंके समूह कटकट और चटचट शब्दके कोलाहलसे परिपूर्ण हो रहे थे। भूतलसे शिलाके समान घनीभूत दण्डाकार धूम प्रकट करके वे बारह सूर्य समस्त भुवनोंके निवासमण्डपको मानो सहस्रों काँचके खम्भोंसे सुशोभित कर रहे थे। प्राणियोंके निवासभूत नगरोंके धराशायी होने और फटनेसे भयानक चटचट शब्द हो रहे थे। तारे टूट-टूटकर गिर रहे थे। सभी स्थानोंमें अपने-अपने घरोंके भीतर तापसे जलते हुए जन-समुदाय इधर-उधर भाग रहे थे। चीखने-चिल्लानेके साथ मरे-पचे प्राणियोंके दग्ध शरीरोंसे सम्पूर्ण दिशाओंमें दुर्गन्ध फैल रही थी। समुद्रकी नपी हुई जलराशिमें राँधे जाते हुए जलचरोंके समुदाय छटपटा रहे थे। सम्पूर्ण दिशाओंमें फैली हुई आगसे गाँवों और नगरोंका सब कुछ स्वाहा हो गया था। वहाँ कोई रोनेवाला भी नहीं रह गया था। दिग्गजोंके शरीर दग्ध होकर फट गये थे। वे अपने दाँतोंसे दिगन्त पर्वतोंको उठाये हुए ही जल गये थे। पर्वतोंकी गुफाओंमें भरे हुए धूममण्डल उन सूर्योंके कुण्डलोंसे जान पड़ते थे। धराशायी होते हुए पर्वतोंसे पिसकर कितने ही नगरोंके समुदाय चूर-चूर हो गये थे। गिरिराजोंपर निवास करनेवाले गजराजोंको वे सूर्यमण्डल पच-पचकी आवाजके साथ पका रहे थे। सन्तापसे तप्त होकर उछलते हुए प्राणियोंको देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो उनके निवासभूत समुद्रों और पर्वतोंको भी ज्वर आ गया हो। उन सूर्योंके तापसे हृदय फट जानेके कारण नि सार हुए विद्याधर और उनकी अङ्गनाएँ नीचे गिर रही थीं। कुछ लोग जोर-जोरसे रोने-चिल्लानेके कारण थक गये थे और कुछ योगी लोग ब्रह्मरन्ध्रको फोड़कर ऊर्ध्वगतिको प्राप्त हो अमर पद (मोक्ष) में प्रतिष्ठित हो चुके थे। स्वर्गलोकमें जलती हुई ज्वालाओंद्वारा भूतलसे लेकर पातालतकका भाग खूब तप रहा था। सूखते हुए समुद्रमें निरन्तर पकते हुए भयंकर जलचर उछलते और छटपटाते दिखायी देते थे। जलरूपी इन्धन न मिलनेसे मानो बड़वानल उछलकर आकाशमें चला गया था और वही सहस्रों रूप धारण करके मानो गगनाङ्गनाओंको पकड़कर नृत्य कर रहा था। महाप्रलयकालका प्रचण्ड अनल ज्वालारूपी पलाश-पुष्पके समान लाल रंगवाले वस्त्रसे सुशोभित हो नटराजकी भाँति ताण्डव नृत्य-सा करनेके लिये उद्यत हुआ था। उल्मुक ही मानो उसके लिये पुष्पहार थे। वेगसे फटते हुए बाँस आदिके फट-फट शब्द मानो उसके पैरोंकी धमक थे। वह उद्भट भटकी भाँति वीरोचित शब्द करता हुआ कालरूपी भुजाओंको ऊपर उठाये, धूमरूपी केश छिटकाये, जगत्‌रूपी जीर्ण कुटीमें नृत्य कर रहा था। उस समय वनोंके समूह, ग्राम, नगर, मण्डल, द्वीप, दुर्ग, जंगल, स्थल, पृथ्वीके समस्त छिद्र, उसके ऊपरका महान् आकाश, दसों दिशाएँ, द्युलोक तथा उसके ऊपरका भाग—ये सब-के-सब जल रहे थे। गड्ढे, रहट, बाजार, हाट, अट्टालिका और नगरसमूहसे सुशोभित दिशाओंके तटप्रान्त, पर्वतोंके शिखर, सिद्धोंके समूह, पर्वत, सागर, सरोवर, तालाब, तलैया, नदी, देवता, असुर, मनुष्य, सर्प तथा पुरुष-समूह रुद्रदेवके नेत्रोंकी सन्सनाती हुई ज्वालाओंसे दग्ध हो रहे थे।

अनेक सूर्योंके उदय और अस्त आदिसे विन्ध्याचल भी व्यथित हो उठा था। आकाश जलकणों कमलोंसे सुशोभित सरोवरके समान दिखायी देता था।

धूममालाएँ भ्रमरावलियोंका भ्रम उत्पन्न करती थीं। उस महाप्रलयकालमें छाती पीट-पीटकर रोती हुई जगल्लक्ष्मीके हृदयस्थलपर रखे हुए हाथकी कलाईमें यह दग्ध हुई पृथ्वी सोनेके कंगन-सी जान पड़ती थी। समुद्र कायके समान दिखायी देते थे, फेन-राशिके विकाससे पुष्ट हो रहे थे तथा सूर्यके प्रतिबिम्बरूपी तिलकसे अलंकृत अपने मुखपर तरङ्गरूपी हाथोंसे आघात करते हुए मानो (सिर पीट-पीटकर) रो रहे थे। सुवर्ण-द्रव, निकटवर्ती पर्वत, इन्द्र, कल्पवृक्ष, देवागार तथा गुहागृहोंसे युक्त सुन्दर आकारवाला सुमेरु पर्वत उस समय उसी तरह पिघल गया, जैसे कड़ी धूप होनेपर बर्फ गल जाता है। बाहर-भीतरसे शीतल एवं शुद्ध हिमवान् पर्वत उस प्रचण्ड प्रलयाग्निसे लाखके समान क्षणभरमें पिघल गया। श्रीराम! उस अवस्थामें भी मलय-पर्वत अपने निर्मल सौरभको नहीं छोड सका था; क्योंकि उदारचेता महापुरुष विनाशके समय भी अपने उत्तम गुणका परित्याग नहीं करते हैं। महान् पुरुष स्वयं नष्ट होता हुआ भी दूसरोंको आह्लाद ही प्रदान करता है। किसीको भी दुःख नहीं देता है। ठीक वैसे ही, जैसे चन्दन दग्ध होनेपर भी जीववारियोंको आनन्द ही देता है।* उत्तम वस्तु कभी अवस्तुता (असत्ता या निकृष्ट अवस्था) को नहीं प्राप्त होती, जैसे सोना प्रलयाग्निसे दग्ध हो जानेपर भी सर्वथा नष्ट नहीं होता है। (सर्ग ७३—७५)

प्रलयकालके मेघोंद्वारा भयानक वृष्टि होनेसे एकार्णवकी वृद्धि तथा प्रलयाग्निका बुझ जाना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जब भूमण्डल और पर्वत-समूहका विस्तार अंगार-राशिसे भर गया, सर्वत्र ज्वालामालाओंका समूह छा गया और द्वादश सूर्यों-का तेज सुस्पष्टरूपसे प्रकाशित होने लगा; जब ब्रह्मरूपी प्रस्तररहित सरोवरमें ज्वालारूपी दलोंसे सुशोभित एवं चिनगारीरूप केसरों एवं उल्मुकोंसे युक्त प्रलयाग्निरूपी कमलिनीके वायुप्रधान सर्प एवं पर्वतरूप मूल पातालतक महान् अङ्गाररूपी कीचड़में मग्न हो गये, तब आकाशको सचरणके योग्य देख मशकमें पानी ढोनेवाले ऊँटोंकी सेनाके समान कल्पान्तकालिक संवर्तक नामवाले मेघोंके समूह जो काजलकी भाँति काले थे, गर्जन-तर्जन करते हुए निकट आ गये। फिर तो वहाँ प्रबल प्रचण्ड धार वृष्टि होने लगी। आकाशमें वज्रकी कठोर गड़गड़ाहट सुनायी देने लगी, मानो सारा ब्रह्माण्ड फूटा और फटा जा रहा हो। जैसे दावानलके प्रज्वलित होनेपर सारे वनमें भीषण लपटें छा जाती हैं, उसी प्रकार आकाशरूपी वनमे विद्युत्का प्रकाश छा जानेके कारण वह वर्षा बडी भयावनी जान पड़ती थी। पृथ्वी चटचट शब्दके साथ टूटने लगी, उसकी अङ्गारराशियाँ फूट-फूटकर बुझने लगीं। मेघोंकी गर्जनाओंके साथ ही बढ़ती हुई घोर वृष्टिसे लोक-लोकान्तर धराशायी होने लगे। अंगारयुक्त जगत्‌रूपी गेहमें विलास करनेवाली वह वृष्टि धरतीकी ज्वालारहित वाष्प-शोभासे सत्कृत हुई। उस शोभाने प्रकट होकर मानो सखीकी भाँति उसकी अगवानी की।

तदनन्तर जब पृथ्वी, जल, तेज और वायु—इन चारो महाभूतोंमें परम विक्षोभ उत्पन्न हो गया, तब उस महाप्रलयकी वेलामें तीनों लोक ऐसे जान पडते थे, मानो तमालके वन उड़ रहे हों। सारी त्रिलोकी भस्ममेघ, धूम-मेघ, महाकल्पान्तकारी मेघ, वाष्परूपी मेघ तथा ऊपर छाये हुए जलकणरूपी मेघ—इन पाँच प्रकारके मेघोंसे आच्छादित हो रही थी। आकाशमें लगातार खम्भोंके समान मोटी मूसलधार वृष्टि हो रही थी, कल्पान्तकालकी

* तस्यामपि दशायां तु मलयोऽमलसौरभः। आसीत्यजत्युदारात्मा न नाशेऽप्युत्तमं गुणम्॥
नश्यन्नपि महान् ह्लाद न खेदं सम्प्रयच्छति। चन्दन दग्धमप्यासीदानन्दायैव जीवताम्॥
(निर्वाण-प्रकरण उ० ७५। ५१-५२)

आगको बुझा देनेवाली उस अन्धाधुंध वर्षासे ढम-ढमकी घनी घोर आवाज हो रही थी। उस समय सारे समुद्र नदियोंके समूहोंद्वारा, जिनमें गङ्गा एक छोटी तरङ्ग-सी जान पड़ती थी, भरे जा रहे थे। आकाशवर्ती भयानक मेघोंकी ही भाँति वे सरिताएँ भी अपनी जलराशिसे समुद्रोंको परिपूर्ण कर रही थीं। पर्वतोंका आधारपीठ भूतल जीर्ण-शीर्ण होकर खण्ड-खण्ड हो चुका था, इसलिये उन पर्वतोंके तटप्रान्त गल गये थे। इधर उन्हें प्रलय-कालकी वायु उड़ा रही थी। इस अवस्थामें उन लुढ़कते हुए पर्वतोंके गिरनेसे संसारके सारे समुद्र उनके द्वारा सङ्कीर्ण-से हो रहे थे। समुद्रकी तरङ्गोंद्वारा ऊपर फेंके गये प्रस्तरखण्डोंसे बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देनेवाली प्रलयवायु समुद्रकी गर्जनाके समान भीषण एवं गम्भीर घोष करती हुई त्रिलोकीकी सारी दिशाओंके तटप्रान्तको नष्ट-भ्रष्ट किये देती थी। प्रचण्ड वायुके टकरानेसे पर्वत-समूहोंकी गुफाओंमें जो भाँय-भाँयकी आवाज उठ रही थी, उससे सारा संसार व्याप्त हो गया था। लोकपालोंके नगर झोंके खा-खाकर चक्कर काटते हुए सब ओर गिर रहे थे। बड़े-बड़े पर्वतोंके विस्तृत भाग नष्ट हो गये थे।

उस समय धूम और भस्मके बादल प्रकट होने लगे, पानीकी बाढ़से जनपद और नगरोंके समूह जलाशयी होने लगे। ऊँची-ऊँची तरङ्गें उठने लगीं और भूतल तथा पर्वत डूबने लगे। भँवरोंमें पड़कर घर्घर-ध्वनि करने-वाले और आपसमें टकराकर एक दूसरेको विदीर्ण कर देनेके लिये उद्यत ऊँचे-ऊँचे पर्वत समुद्रमें बिखरे पत्तोंके समान चक्कर काट रहे थे। घूमते हुए मेरुओं धूमकेतुओंके उत्पात उठ रहे थे। इससे इस जगत्‌की ओर देखना अत्यन्त कठिन हो गया था। सातवें पातालतकका सारा संसार अपने स्थानसे च्युत हुए द्वीपों और सागरोंसहित भूमण्डलके बड़े-बड़े खण्डों और लुढ़कते हुए अन्य पाताल-मण्डलोंसे पूर्ण-सा जान पड़ता था। नीचे सातवें पातालतक, मध्यमें भूमण्डल एवं पर्वतोंतक और ऊपर आकाश-मण्डलतक एकार्णव बना हुआ सारा जगत् प्रलय-वायुसे परिपूर्ण हो रहा था।

(सर्ग ७६-७७)

बढ़ते हुए एकार्णवका तथा परिवारसहित ब्रह्माके निर्वाणका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जब वायु, वर्षा, हिम और दूसरे-दूसरे उत्पातोंके आगमनसे भूमण्डल नष्ट-भ्रष्ट हो गया, तब समुद्रके जलका वेग इस तरह बढ़ने लगा जैसे कलियुगमें राजाका वेग। वह एकार्णव आकाश-गङ्गा-के प्रवाहमें पड़ी हुई मेघधाराओंके गिरनेसे वेगपूर्वक बढ़ने लगा। तत्काल प्रकट हो मेरु और मन्दराचलके समान प्रकाशित होनेवाली सहस्रों सरिताओंने भी उसे बढ़ानेमें योग दिया। इस प्रकार जलसे भरे होनेके कारण वह एकार्णव उच्चताके अभिमानसे युक्त हो गया। उसने बड़े-बड़े पर्वतोंको सूखे तिनकोंके सपान पकड़कर अपनी विस्तृत भँवरोंमें डाल दिया। वे वहीं चक्कर काटने लगे। उस एकार्णवने ऊँची उठती हुई उत्ताल तरङ्गोंके अग्रभागसे सूर्यमण्डलको भी निगल लिया। प्रचण्ड वायुके द्वारा उत्पन्न किये गये अपूर्व जल-प्रवाहरूपी कुछ पर्वतोंसे युक्त हुआ वह महार्णव महान् घुर्घुर और भयानक घर्घर ध्वनिके साथ अपने विशाल वेगको बढ़ाता जा रहा था। ब्रह्माण्ड-खण्डों-के बारंबार एक-दूसरेसे टकरानेके कारण उसकी उच्चता बढ़ती जा रही थी और वह ऊपर-नीचे सारे योजनोंतक फैले हुए उच्चतम पदार्थोंको भी आत्मसात् करता जा रहा था। पंखयुक्त पर्वतोंके समान उठी हुई अनन्त तरङ्ग-समूहरूपी भुजाओंद्वारा वह महासागर पुष्कर और आवर्तक नामक कल्पान्तकारी मेघोंका मानो आलिङ्गन कर रहा था। त्रिलोकीको अपना ग्रास बनाकर पूर्णतः तृप्त हो वह घोर स्वरमें गीत-सा गा रहा था और उन्मत्तकरूपी झाड़ोंसे

अलंकृत अपनी तरङ्गमयी भुजाओंको उठाकर नृत्य-सा करता-जान पडता था। रघुनन्दन! उस समय न तो आकाश था, न दिगन्त था, न नीचेका लोक था, न ऊपरका लोक था, न कोई भूतवर्ग था और न कहीं सृष्टि ही थी। सर्वत्र केवल जल-ही-जल दृष्टिगोचर होता था।

रघुनन्दन! जब तपोलोकपर्यन्त सारा जगत् प्रलयकालके एकार्णवमें निमग्न हो गया, तब सत्यलोकके निकट आकाशमें स्थित होकर मैंने महान् प्रकाशसे युक्त ब्रह्मलोकपर उसी प्रकार दृष्टि डाली, जैसे सूर्य प्रातःकाल संसारपर अपनी प्रभा बिखेरते है। दृष्टि डालते ही समाधिमें अविचलभावसे स्थित हुए परमेष्ठी ब्रह्मा अपने मुख्य-मुख्य परिवारके साथ दिखायी दिये, वे ऐसे जान पड़ते थे मानो पत्थरकी बनी हुई प्रतिमा हो। वहाँ देवताओं तथा शुद्ध अन्तःकरणवाले मुनियोंका समुदाय भी बैठा था। शुक्र, बृहस्पति, इन्द्र, कुबेर, यम, सोम, वरुण, अग्नि तथा अन्य देवर्षि भी वहाँ देखनेमें आये। देव, गन्धर्व, सिद्ध और साध्योके नायक भी वहाँ उपस्थित थे। वे सब-के-सब पद्मासन लगाये इस तरह ध्यानमग्न होकर बैठे थे, मानो चित्रमें अङ्कित किये गये हों। वे निष्प्राणके समान वहाँ चेष्टाशून्य होकर बैठे थे। तदनन्तर पूर्वोक्त बारह सूर्य भी उसी स्थानपर आये और उन्हीं लोगोंकी भाँति पद्मासन लगाकर ध्यानमें मग्न हो गये। इसके बाद दो ही घड़ीमें मैंने अपने सामने बैठे हुए ब्रह्माजीको इस अवस्थामें देखा। वे ब्रह्मका चरम साक्षात्कार प्राप्त करके अविद्याकल्पित सारे प्रपञ्चका बाध हो जानेसे निद्रारहित (प्रबोधको प्राप्त) हो गये थे। जैसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नमें देखे गये पदार्थसमूहको बाधित और केवल अपनेको ही अवशिष्ट देखता है, वैसे ही वे आत्मावशिष्ट दिखायी दिये। फिर, ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीके परिवारके जितने लोग थे, उन सबको मैंने वहाँ वैसे ही तिरोहित पाया, जैसे तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंकी वासना तत्त्वज्ञानसे बाधित होकर अदृश्य हो जाती है। जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष अपने सामनेके स्वप्नगत नगरको नहीं देखता है, वैसे ही मैंने वहाँ किसीको भी नहीं देखा। उस समय वह ब्रह्मलोक तथा उनका ब्रह्माण्ड, जो ब्रह्माजीके सकल्पसे ही बना था, निर्जन वन-सा सूना हो गया। जैसे भूतलपर अकस्मात् कोई भयकर दुर्घटना होनेसे कोई नगर सर्वथा नष्ट हो गया हो, वही दशा उस ब्रह्माण्डकी हुई थी। तदनन्तर आकाशमें स्थित हुए मैंने ध्यान लगाकर यह जाना कि सभी लोग ब्रह्माजीके समान ही नाम-रूपका परित्याग करके निर्वाण-पदको प्राप्त हो गये हैं। वासनाका लय हो जानेपर वे सब-के-सब अपने विशुद्ध ब्रह्मरूपमें स्थित हो जानेके कारण अदृश्य हो गये थे। जैसे जगे हुए पुरुषोंके स्वप्नलोक उनके स्वप्नरूपमें ही लीन हो जानेसे दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। जैसे स्वप्नमें अपना शरीर आकाशमें उड़ता दिखायी देता है, किंतु जागनेपर वह वासना शान्त हो जानेके कारण कुछ भी नहीं दीखता है, इसी प्रकार जाग्रत्-कालमें भी वासना रहनेपर ही शरीर दिखायी देता है। तत्त्वज्ञानके द्वारा वासनाका सर्वथा क्षय हो जानेपर कुछ भी नहीं दिखायी देता। वासनाका क्षय होनेसे द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूपी रोग शान्त हो जाता है, वासनाकी सत्ता रहनेपर ही यह सृष्टिनामक पिशाची प्रकट होती है।

रघुनन्दन! सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माको सृष्टि रचनेकी इच्छा उत्पन्न होती है। तदनन्तर पूर्वकालकी जगत् वासनाओंका जगद्रूपमें उद्भव होता है। इसलिये वासनाकी शान्तिको निर्वाण समझना चाहिये और वासनाकी सत्ताको ही संसाररूपी भ्रम जानना चाहिये। चित्तकी वृत्तिको जगाकर बहिर्मुख कर देनेसे बन्धन होता है और उसे परमात्मामें लीन कर देनेपर निर्वाण प्राप्त होता है। चित्तवृत्तिका जागरण ही संसाररूपी शिशुको प्रकट करनेवाला गर्भाशय है। उससे उत्पन्न हुआ यह जगत् असत् होकर भी सत्के समान भासित होता है। चित्तके संकल्पका जाग्रत्

होना ही बन्धन बताया गया है और उसे भुलाकर—आत्मामें लीन करके अपने चैतन्य-स्वरूपका अनुभव करना ही मोक्ष कहा गया है। रघुनन्दन! बन्ध, मोक्ष आदिकी सारी शङ्काएँ छोड़कर निर्वाणरूप, वासनाशून्य, अनन्त, अनादि, विशुद्ध, केवल बोधस्वरूप, द्वैताद्वैतसे रहित, परिपूर्ण ब्रह्मस्वरूप हुए आकाशके समान विशद अन्तःकरणसे युक्त, बन्धनमुक्त तथा शान्तभावसे स्थित रहना चाहिये। (सर्ग ७८-७९)

ब्रह्मलोकवासियों तथा द्वादश सूर्योका निर्वाण, अहंकाराभिमानी रुद्रदेवका आविर्भाव, उनके अवयवों तथा आयुधका विवेचन, उनके द्वारा एकार्णवके जलका पान तथा शून्य ब्रह्माण्डकी चेतनाकाशरूपताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! इस तरह ब्रह्मलोकके वे सभी निवासी जैसे बत्ती जल जानेसे दीपक बुझ जाते हैं, वैसे ही वासनाका नाश होनेसे अदृश्य हो गये। ब्रह्माजीके ब्रह्मलीन हो जानेपर पूर्वोक्त बारह सूर्य अपनी प्रभासे प्रकाशित हो पृथ्वी आदि जगत्‌की भाँति उस ब्रह्मलोकको भी जलाने लगे। ब्रह्माजीके लोकको दग्ध करके उन्हींकी भाँति ध्यानपरायण हो वे भी तैलरहित दीपककी भाँति शान्त हो गये—निर्वाण पदको प्राप्त हो गये। तदनन्तर जैसे रातमें अन्धकार भूमण्डलको व्याप्त कर लेता है, वैसे ही उत्ताल तरङ्गोंसे युक्त उस एकार्णवकी बाढ़ने विधाताके उस लोकको भी जलसे आप्लावित कर दिया। इस प्रकार जब ब्रह्मलोकपर्यन्त वह सारा ब्रह्माण्ड एकार्णवके जलसे परिपूर्ण हो गया, तब वे कल्पान्तकारी मेघ छिन्न-भिन्न हो उस जलराशिमें ही विलीन हो गये।

इसी बीचमें मैंने वहाँ एक भयंकर रूप देखा, जो आकाशके मध्यभागसे प्रकट हुआ था। उसे देखकर मैं कुछ डर गया। उसकी आकृति कल्पान्तकालिक जगत्‌के समान काली थी। उसने सारे आकाशको व्याप्त कर रखा था और देखनेमें ऐसा जान पड़ता था, मानो कल्पभरकी सारी रातोंका एकत्र संचित हुआ अन्धकार ही देह धारण करके खड़ा हो गया हो। वह प्रातःकालके एक लाख सूर्योंका प्रकाशमान तेज अकेला ही धारण करता था। उसके तीन नेत्र थे, जो तीन सूर्योंके समान दिखायी देते थे और सुस्थिर विद्युत्-समूहके समान भयंकर जान पड़ते थे। उन नेत्रोंकी प्रभासे उसका मुखमण्डल अत्यन्त देदीप्यमान दिखायी देता था। वह पुरुष अपने अङ्गोंसे ज्वालापुञ्ज बिखेर रहा था। उसके पाँच मुख, दस भुजाएँ और प्रत्येक मुखमें तीन-तीन नेत्र थे। उसने अपने हाथमें एक त्रिशूल ले रखा था। उस अनन्त आकाशमें उसका वह विशाल शरीर व्याप्त हो रहा था। वह पुरुष आगेकी ओर बढ़ा आ रहा था। आकाशके समान विशाल और मेघके समान श्याम शरीरको धारण करके वह खड़ा था। एकार्णवमें डूबे हुए ब्रह्माण्डसे बाहर आकाशमें उसकी स्थिति थी। वह ऐसा प्रतीत होता था मानो आकाश हाथ-पैर आदि शरीरको धारण करके दृष्टिपथमें आ रहा हो। अपनी नासिकासे निकली हुई साँसके आने-जानेसे वह उस एकार्णवको कम्पित किये दे रहा था। वह अपने बाहुदण्डसे क्षीरसागरको विक्षुब्ध कर देनेवाले भगवान् विष्णुके समान जान पड़ता था। ऐसा लगता था, मानो उस कल्पान्तकालीन महासागरकी जलराशि ही पुरुषरूप धारण करके खड़ी हो गयी हो अथवा जिसका कोई कारण नहीं, वह सबका कारणभूत अहंकार ही मूर्तिमान् होकर आ गया हो या कुलपर्वतोंका समूह ही अपने पंखसमूहोंद्वारा उड़नेकी लीला करता हुआ समस्त

आकाशको परिपूर्ण करके ऊपरको उठ गया हो। उसके हाथमें त्रिशूल था और उसके तीन नेत्र थे। इन लक्षणोंसे मैंने पहचान लिया कि ये भगवान् रुद्र हैं। तब मैंने दूरसे ही उन परमेश्वरको नमस्कार किया।

श्रीरामजीने पूछा—मुने! रुद्रदेवने वैसा भयंकर रूप क्यों धारण किया था? वे काले और विशालकाय क्यों हुए थे? उनके पाँच मुख कौन-कौन और कैसे हैं? वे कैसे और कौन-सी दस भुजाएँ धारण करके वहाँ उपस्थित हुए? उनके तीन नेत्र कौन-कौन-से थे? उनका शरीर ऐसा भयंकर क्यों था? वे अकेले क्यों थे? वहाँ प्रकट होनेमें उनका प्रयोजन क्या था? वे किससे प्रेरित होकर आये थे? उन्होंने वहाँ क्या किया था? और उनकी छाया कौन थी? ये सब बातें मुझे बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! वे परमेश्वर वहाँ अहंकारके अभिमानीरूपसे रुद्रनामधारी होकर प्रकट हुए थे। उस समय उनकी जो मूर्ति दिखायी दी थी, वह निर्मल आकाशरूपी ही थी। वे महातेजस्वी भगवान् रुद्र आकाश-रूपधारी होनेके कारण आकाशके समान ही श्यामवर्णसे युक्त दिखायी देते थे। चेतनाकाशमात्र ही उनका सारभूत स्वरूप है, इसलिये वे आकाशात्मा कहे गये हैं। सम्पूर्ण भूतोंके आत्मा और सर्वव्यापी होनेके कारण ही वे विशालकाय बताये गये हैं। उन अहंकाररूपी रुद्रकी प्रत्येक शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली जो पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, उन्हींको ज्ञानी पुरुष उन रुद्रदेवके पाँच मुख बताते हैं। इसीलिये ज्ञानेन्द्रियाँ सब ओरसे प्रकाशस्वभाव कही गयी हैं। पाँच कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ) तथा उनके पाँच विषय (बोलना, ग्रहण करना, विचरना, मलत्याग करना और विषयसुखकी उपलब्धि कराना)—ये दस क्रमशः उनकी दाहिनी-बायीं भुजाएँ हैं। उस प्रलयकालमें सम्पूर्ण भूतोंसे परित्यक्त होकर आकाशमात्र रूपधारी वे रुद्रदेव एक क्षणतक वहाँ सबको विक्षुब्ध करते हुए-से स्थित रहते हैं। फिर कारणभूत अहंकार-शरीरसे रहित हो परम शान्त हो जाते हैं। सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण; भूत, भविष्य और वर्तमान—ये तीन काल; चित्त, अहंकार और बुद्धि—ये त्रिविध अन्तःकरण; अ, उ और म्—ये प्रणवके तीन अक्षर तथा ऋक्, साम और यजुष्—ये तीन वेद ही उन भगवान् रुद्रदेवके नेत्ररूपसे स्थित हैं। उन्होंने अपनी मुट्ठीमें त्रिलोकीरूप त्रिशूलको धारण कर रखा है। उस समय समस्त भूतगणोंमें भी उनके सिवा दूसरा कोई स्थित नहीं था। इसलिये वे वहाँ अहंकारात्मक रुद्रके रूपमें देहाभिमानी-से होकर खड़े थे।

श्रीराम! तदनन्तर मैंने देखा, वे परमेश्वर वहाँ उद्यमपूर्वक श्वास-वायुके वेगसे उस महासागरको पी जानेके कार्यमें प्रवृत्त हुए। उनके फैले हुए मुखका भीतरी भाग ज्वालामालाओंसे व्याप्त दिखायी देता था। उनकी श्वास-वायुसे आकृष्ट हुआ महासागर उनके भीतर उसी तरह समा गया, मानो वह बड़वानलमें विलीन हो गया हो। अहंकारस्वरूप भगवान् रुद्र ही कल्पपर्यन्त बडवानल होकर समुद्रमें निवास करते है और उसका जल पीते रहते हैं। किंतु प्रलयकालमें वे सारे समुद्रको ही पी जाते हैं। जैसे जल पातालमें, साँप बिलमें और पाँचों प्राणवायु प्राणियोंके मुखाकाशमें प्रविष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार वह सारा समुद्र वेगपूर्वक रुद्रदेवके मुखके भीतर एक ही क्षणमें समा गया। उन श्यामरूपधारी रुद्रने थोड़ी ही देरमें उस जलको इस तरह पी लिया, जैसे सूर्यदेव अन्धकारको और सत्पुरुषोंका सङ्ग दोष-समूहको पी जाता—नष्ट कर देता है। तत्पश्चात् ब्रह्म-लोकसे लेकर पातालतक सारा स्थान धूलि, धूम, वायु, समुद्र तथा भूतगणोंसे रहित होकर शून्य, सम एवं शान्त आकाशमात्र रह गया। रघुनन्दन! उस समय वहाँ आकाशके समान निर्मल तथा चेष्टारहित केवल ये

चार पदार्थ ही दिखायी देते थे—एक तो वे नील गगनकी-सी आकृतिवाले भगवान् रुद्र ही दिखायी देते थे, जो आकाशके मध्यभागमें बिना किसी आधारके स्थित थे। दूसरा ब्रह्माण्ड-सदनका निचला भाग था, जो सातों पातालोंसे भी नीचे बहुत दूर दृष्टिगोचर होता था। वह पृथ्वी और आकाशके तल-भाग-सा जान पड़ता था। तीसरा पदार्थ था, ब्रह्माण्डमण्डलके ऊपरका भाग, जहाँ अत्यन्त दूर होनेके कारण दृष्टि नहीं पहुँचती थी; अतएव वह दुर्लक्ष्य आकाशके समान नीला जान पड़ता था। ब्रह्माण्डके वे ऊर्ध्व और अधोभाग अत्यन्त दूर होनेके कारण एक दूसरेसे विलग थे। उन दोनोंके बीचमें जो अनादि, अनन्त और विस्तृत ब्रह्मके समान निर्मल आकाश था, उसीको उस समय मैंने चौथे पदार्थके रूपमें देखा था। इन चारोंके सिवा दूसरी कोई वस्तु यहाँ मेरे देखनेमें नहीं आयी।

पार्थिव पदार्थोंका वह भाग, जो ब्रह्माण्ड-कपाल कहलाता है, कमलदलके समान स्थित है। जल आदि वस्तुएँ आधाररूपसे आश्रय लेनेके लिये उसीकी ओर दौड़ती हैं, जैसे बच्चे अपनी माँकी ओर दौड़े जाते हैं। जैसे प्याससे प्राणी जलकी ओर भागे जाते हैं, उसी प्रकार वे जलादि पदार्थ ब्रह्माण्ड नामक महाशरीरके निकटतम भागकी ओर दौड़ते हैं। जैसे शरीरसे जुड़े हुए हाथ-पैर आदि अवयव अपनी अत्यन्त दृढ़ संयोगकी स्थितिको नहीं छोड़ते हैं, वैसे ही तैजस आदि पदार्थ भीतरसे ब्रह्माण्ड-शरीरका ही आश्रय ले अपनी स्थितिको नहीं छोड़ते हैं।

इस ब्रह्माण्डको यद्यपि किसीने धारण नहीं किया है तथापि वह परमात्माकी अचिन्त्य धारणात्मिका शक्तिसे अच्छी तरह धारित ही है। उसीके कारण यह पतनोन्मुख होनेपर भी गिरता नहीं है। यह सारा जगत् आकाररहित होनेपर भी स्वप्ननगरके समान साकार दिखायी देता है। जैसे चैतन्य शक्तिका प्रकाश होता है, वैसा ही यह जगत् भी स्थित है। जैसे आकाशमें श्यामता और शून्यता है, जैसे वायुमें गतिशीलता है, उसी तरह चेतनाकाश परमात्मामें यह जगत् स्थित है।

(सर्ग ८०)

रुद्रकी छायारूपिणी कालरात्रिके स्वरूप तथा ताण्डव-नृत्यका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! तदनन्तर उस समय उस महाकाशमें मैंने देखा, भगवान् रुद्र मत्त-से होकर अखण्ड ताण्डवमें प्रवृत्त हो रहे हैं। उनकी आकृति बहुत दूरतक फैली हुई थी। उनका शरीर आकाशके समान ही व्यापक दिखायी देता था। उनका आकार बहुत बड़ा था। उन्हें देखकर ऐसा लगता था, मानो एकार्णवका जल ही तत्काल देह धारण करके खड़ा हो गया हो। इसके बाद मुझे दिखायी दिया कि उनके शरीरसे छाया-सी निकल रही है, जो ताण्डव-नृत्यमें उनका अनुकरण एवं अनुसरण करनेवाली है। उस समय मेरे मनमें यह प्रश्न उठा कि द्वादश सूर्योंके विद्यमान न रहनेपर जब आकाशमें महान् अन्धकार छा रहा है, तब यह छाया कैसे स्थित हुई है? मैं इस प्रकार विचार कर ही रहा था कि वह तत्काल नृत्य करती हुई शीघ्रतापूर्वक उनके आगे जाकर खड़ी हो गयी। उसका शरीर भी बहुत विस्तृत था तथा वह भी अपने तीन नेत्रोंसे सुशोभित हो रही थी। उसका रंग घोर काला था। वह बहुत ही दुर्बल थी। उसके अङ्गोंमें नस-नाड़ियोंके जाल सुस्पष्ट दिखायी देते थे। वह जरासे जर्जर हो रही थी। आकृति विशाल थी, मुखपर आगकी ज्वालाएँ व्याप्त थीं। वनके चञ्चल पत्र-पुष्प आदि मुकुट बनकर उसके मस्तककी शोभा बढ़ाते थे। वह कोयलेके समान काली थी मानो काली रात्रि ही उसका रूप धारण करके आ गयी हो, अन्धकारलक्ष्मी ही मूर्तिमती

हो गयी हो। वह बहुत लंबी थी। उसका मुँह विकराल दिखायी देता था। वह इस तरह खड़ी थी मानो आकाशको नापनेके लिये उद्यत हो। अपने बड़े-बड़े घुटनों और भुजाओंके भ्रमणसे वह समस्त दिशाओंको मानो नाप लेना चाहती थी। वह ऐसी दुर्बल थी मानो बहुत कालतक उसे उपवास करना पड़ा हो। उसके विशाल शरीरमें सर्वत्र गड्ढे-ही-गड्ढे दीख रहे थे। वह काजलकी-सी काली और मेघमालाकी भाँति वायुके वेगसे चञ्चल जान पड़ती थी। जब वह बहुत बड़ी और दुर्बल होनेके कारण खड़ी होनेमें भी असमर्थ हो गयी, तब विधाताने मानो उसे नस-नाड़ियोंकी लंबी रस्सियोंसे बाँध दिया (जिससे वह अच्छी तरह खड़ी रह सके)। नस-नाड़ियों और अँतड़ियोंकी रस्सियोंद्वारा उसके सिर और हाथ-पैर आदि सभी अङ्ग इस तरह बँधे हुए दिखायी देते थे, मानो मूलसे लेकर शाखाओंके अग्रभागतक सूतोंसे बँधी हुई काँटेदार वृक्षकी झाड़ी हो। अनेक वर्णोंके सूर्यादि देवताओं तथा दानवोंके मस्तकरूपी कमलोंके समूहोंकी माला उसके कण्ठमें शोभा दे रही थी। हर्षसे प्रज्वलित तथा निर्मल प्रभासे पूर्ण अग्निकी ज्वाला ही उसके लिये ऑचल थी। उसके लंबे-लंबे कानोंमें नाग झूल रहे थे। उसने दो मनुष्योंकी लाशोंको कुण्डलके रूपमें धारण कर रखा था। जैसे सूखी लौकीकी लतामें दो बड़े-बड़े फल लटक रहे हों, उसी प्रकार उसकी छातीमें कुछ-कुछ हिलते हुए काले रंगके दो स्तन दिखायी देते थे, जो बहुत बड़े होनेके कारण जाँघ-तक लटक रहे थे। उसके शरीरको देखकर मैंने यह अनुमान कर लिया कि यह वही कालरात्रि है, जिसके विषयमें साधु पुरुषोंने यह निर्णय किया है कि 'ये भगवती काली है।' उसके तीन नेत्र आगकी ज्वालासे परिपूर्ण थे। ललाटप्रान्त इन्द्रनील मणिके समान चमक रहा था। उसकी दोनों ठोढ़ियाँ गहरी होनेके कारण भयंकर जान पड़ती थीं। वात-स्कन्ध (प्रवह आदि वायु)-रूपी तागोंमें पिरोयी हुई तारावलियाँ उसके कण्ठदेशमें मुक्ताहारका काम दे रही थीं। वह वर्षा करनेवाले कल्पान्त-कालके मेघोंकी भाँति शोभा पानेवाली भ्रमणशील भुजाओंद्वारा सम्पूर्ण दिङ्मण्डलको व्याप्त करके खड़ी थी। वे भुजाएँ अपने नखोंकी कान्ति बिखेर रही थीं। हिमालय और सुमेरु पर्वत उसके दोनों कानोंमें चाँदी और सोनेकी बालियाँ बनकर शोभा बढ़ा रहे थे। ब्रह्माण्डरूपी घुँघुरुओंसे बनी हुई विशाल माला उसके कटिभागमें करधनीका काम दे रही थी। शिखर, वन और नगररूपी पुष्पगुच्छोंसे युक्त तथा पुराने नगर, वन, द्वीप और ग्रामरूपी कोमल पल्लवोंसे अलंकृत सातों कुलपर्वत उस भगवती कालीके गलेकी पुष्पमालाएँ बने हुए थे।

श्रीराम ! उस देवीके अङ्गोंमें मैंने पुर, नगर, ऋतु, तीनों लोक, मास तथा दिन-रातरूपी फूलोंकी मालाएँ देखी थीं। उसके शरीरमें व्यक्त रूपसे स्थित नगर, ग्राम और पर्वत आदि मानो पुनर्जन्म पानेके आनन्दसे उल्लसित हो उसके साथ-साथ नाच रहे थे। कभी-कभी वह नहीं नाचती थी तो भी पर्वत, वन और काननोंसहित नाना आकारवाला सारा जगत्, जो मरकर फिर लौटा था, नाचता ही रहता था। वह कालरात्रि जब चतुराईके साथ नृत्य करने लगती थी, तब चन्द्रमा, सूर्य, दिन और रात उसके नखाग्र-भागकी रेखाओंके भीतर विद्यमान प्रभामें मिलकर घूमते हुए सुवर्ण-सूत्रके समान दीर्घाकार प्रतीत होते थे। जब भगवती कालरात्रिका ताण्डव-नृत्य होने लगता था, तब इन्द्र आदि देवता और असुर अपनी-अपनी अधिकार-प्रवृत्तिसे और-ही-और बनकर वायुसे उड़ाये गये मच्छरोंके समान अथवा अस्थिर विद्युत्के समान आते-जाते दिखायी देते थे। भगवतीके शरीरमें जो सर्ग दिखायी देता था, उसमें सृष्टि-प्रलय, सुख-दुःख, भव-अभव,

इच्छा-अनिच्छा, विधि-निषेध, जन्म-मरण एवं भ्रम आदि विभिन्न प्रकारके भाव कभी सदा एक साथ और कभी पृथक्-पृथक् रूपसे सुशोभित होते थे। सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त देवी कालरात्रि चैतन्य-शक्तिरूपा जगन्मयी, अनन्त एवं विशाल आकाशकोशके सदृश विशुद्ध शरीरवाली है। वह देवी (सूप) कुदाल, ओखली, चटाई, फाल, घट, पिटारी, मूसल, डोल या बाल्टी, बटलोई और खम्भे—इत्यादि वस्तुओंको भी फूलके समान मानकर उनकी माला धारण करके नृत्य करती थी। (सर्ग ८१)

रुद्र और काली आदिके रूपमें चिन्मय परमात्म-सत्ताकी ही स्फूर्तिका प्रतिपादन तथा सच्चिदानन्दघनका विलास ही रुद्रदेवका नृत्य है—इसका कथन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—भगवन्! जब प्रलय-कालमें सब कुछ नष्ट हो गया, तब वह देवी कालरात्रि अपने किस शरीरसे नाच रही थी? सूप, फाल और घट आदिसे (जो उस समय नष्ट हो चुके थे) उसका मान्त्र धारण करना क्या है? यदि ये सब वस्तुएँ थीं ही तो फिर त्रिलोकीका नाश क्या हुआ? और यदि त्रिलोकी नष्ट हो गयी थी तो कालीके शरीरमें इन सब वस्तुओं-की स्थिति क्यो और कैसे सम्भव हुई? निर्वाणको प्राप्त हुआ जगत् फिर आकर नाचने कैसे लगा?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! वास्तवमें न वह पुरुष था, न वह स्त्री थी, न वह नृत्य हुआ न वे दोनों रुद्र और काली वैसे विशेषणोसे युक्त ही थे। उनके आचार-व्यवहार भी वैसे नहीं थे और उनकी वे आकृतियाँ भी नहीं थीं। जो कारणोका भी परम कारण है,—वह अनादि, चिन्मय आकाशस्वरूप, अनन्त, शान्त, प्रकाशरूप, अविनाशी, सर्वव्यापी, सच्चिदानन्द-घन, शिवस्वरूप साक्षात् ब्रह्म ही भैरव (रुद्र) के आकारमें दिखायी देता था। जगत्का नाश हो जानेपर उस रुद्रदेवके रूपमें स्थित हुआ वह चेतनाकाशस्वरूप परमात्मा ही था। चेतन होनेके कारण वह परमात्मा अपने चैतन्यस्वभाव वैभवको छोड़कर नहीं रह सकता। जैसे सुवर्ण कटक-कुण्डल आदिके रूपमें अवस्थित होता ही है, वह उन आकृतियोका सर्वथा त्याग करके नही रहता, उसी प्रकार परमात्मा भी लीलाके लिये उमा, महेश्वर आदि सगुणरूप धारण करता ही है। वह अपने लीला-स्वभावको सर्वथा छोड़ नहीं सकता। बुद्धिमान् रघुनन्दन! तुम्हीं बताओ, सुवर्ण कटक-कुण्डल आदि आकृतियोको क्यों नही धारण करेगा? क्योंकि वह उसका स्वभाव है। इसी प्रकार ब्रह्म भी सकल्पद्वारा एकसे अनेक रूपमें प्रकट होता है, यह उसका श्रुतिप्रसिद्ध स्वभाव है। कोई भी पदार्थ अपने स्वभावके बिना कैसे रह सकता है?

रघुनन्दन! जन्म, मरण, माया, मोह, मन्दता, अवस्तुता, वस्तुता, विवेक, बन्ध, मोक्ष, शुभ, अशुभ, विद्या, अविद्या, निराकारता, साकारता, क्षणकाल, दीर्घकाल, सत्, असत्, सदसद्भाव, मूर्खता, पाण्डित्य, देश, काल, क्रिया, द्रव्य, कलना, केलि, कल्पना, रूप आदि विषयोंका बाह्य इन्द्रियोद्वारा ग्रहण, उन्हीं विषयोका मनके द्वारा चिन्तन, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, तेज, जल, वायु, आकाश तथा पृथिवी आदिके रूपमें जो यह दृश्य-प्रपञ्च फैला हुआ है, यह सब शुद्ध, निरामय चेतनाकाशरूप परमात्मा ही है। यह अपनी शुद्ध चिदाकाशरूपताका परित्याग न करता हुआ ही सर्व-स्वरूप होकर स्थित है। मैंने जिस चिन्मय परमाकाशका वर्णन किया है, वह परमात्मा ही यहाँ शिव कहा गया है। यह सनातन पुरुष है। यही विष्णुरूपसे स्थित होता है

और यही पितामह ब्रह्मा है। यही चन्द्रमा, सूर्य, इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, अग्नि, वायु, मेघ और महासागर है। यही भूत, भविष्य और वर्तमान काल है। जो वस्तु है और जो नहीं है, वह सब परमाकाशरूप परमात्मा ही है।

श्रीराम! मैंने जिस चिन्मय परमाकाशस्वरूप परमात्माका वर्णन किया है, वही श्रुतियोंमें शिव कहा गया है और वही प्रलयकालमें रुद्र होकर नृत्य करता है। विद्वानों और पुण्यात्माओंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन! उस रुद्रदेवकी जो आकृति बतायी गयी है, वह वास्तवमें उसकी आकृति नहीं है। उस समय सच्चिदानन्दघनरूप आकाश ही उस आकारमें स्फुरित होता है। तत्त्वदृष्टिसे मैंने वह आकृति उस समय शान्त चेतनाकाशरूप ही देखी। मैंने ही उसे यथावत्‌रूपसे जाना। दूसरा कोई पुरुष जो तत्त्वदृष्टिसे रहित है उसे उस रूपमें नहीं देखता है। जैसे सुवर्ण ही विभिन्न आकृतियोंसे सुशोभित होनेवाले कटक-कुण्डल आदि अलङ्कारोंके रूपमें स्थित होता है, वैसे ही सत्स्वरूप चेतन ब्रह्म ही अपने स्वभावसे रुद्ररूप धारण करके विराजमान होता है। जो चिद्घन परमात्माका स्पन्द है, वही भगवान् शिवका स्पन्द (स्फुरण) है। वही हम लोगोंके सामने वासनावश नृत्यरूपके रूपमें प्रकाशित होता है। अतः प्रलयकालमें वे भगवान् शिव भयंकर आकृतिवाले रुद्र होकर जो वेगपूर्वक नृत्य करते है, उसे सच्चिदानन्दघन परमात्माका अपना सहज विलास ही समझना चाहिये। (सर्ग ८२-८३)

शिव और शक्तिके यथार्थ स्वरूपका विवेचन

श्रीरामजीने पूछा—मुने! अब यह बताइये कि जो काली नृत्य करती है, उसका क्या स्वरूप है? तथा वह जिन सूप, फाल, कुदाल और मूसल आदि वस्तुओंकी माला धारण करती है, उनका स्वरूप क्या है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! वे जो भैरव या रुद्र बताये गये हैं, उन्हींको चेतनाकाश-स्वरूप शिव कहते है। उनकी जो मनोमयी स्पन्दशक्ति है, उसे काली समझो। वह शिवसे भिन्न नहीं है। जैसे वायु और उसकी गति-शक्ति एक हैं, जैसे अग्नि और उसकी उष्णता या दाहक-शक्ति एक ही हैं, वैसे ही सच्चिदानन्दघन शिव और उनकी स्पन्दशक्ति (क्रियाशक्ति)-रूपा माया दोनो सदा एक ही हैं। जैसे गतिशक्तिसे वायु और उष्णताशक्तिसे अग्नि ही लक्षित होते हैं, उसी प्रकार अपनी स्पन्दशक्तिके द्वारा निर्मल चिदानन्दघन शान्तस्वरूप शिवका ही प्रतिपादन होता है। स्पन्दन या मायाशक्तिके द्वारा ही शिव लक्षित होते हैं, अन्यथा नहीं। शिवको ब्रह्म ही समझना चाहिये, उस शान्त-स्वरूप शिवका वर्णन बड़े-बड़े वाणीविशारद विद्वान् भी नहीं कर सकते। मायामयी जो स्पन्दनशक्ति है, वही ब्रह्मस्वरूप शिवकी इच्छा कही जाती है। वह इच्छा इस दृश्याभास-रूप जगत्‌का उसी तरह विस्तार करती है, जैसे साकार पुरुषकी इच्छा काल्पनिक नगरका निर्माण करती है। इस प्रकार शिवकी इच्छा ही कार्य करती है। निराकार ब्रह्म-शिवकी वह मायामयी स्पन्दनशक्तिरूपा इच्छा ही इस सम्पूर्ण दृश्यजगत्‌का निर्माण किया करती है। वही अपने अन्तर्गत चिदाभासके द्वारा उद्दीप्त होकर जीव-चैतन्य अथवा चितिशक्ति कही गयी है। वही जीनेकी इच्छा-वाले प्राणियोंका जीवन है। वह स्वयं ही जगत्‌के रूपमें परिणत होनेके कारण समस्त सृष्टिकी प्रकृति (उपादान) है। दृश्याभासोंमें अनुभूत होनेवाले उत्पाद्य, आप्य, संस्कार्य और विकार्यरूपी चार प्रकारके फलोंका सम्पादन करनेके कारण वही क्रिया भी कहलाती है। ब्रह्माण्डरूप धारण करनेवाली वह शक्ति या काली प्रलयकालमें जब समुद्र आदिके जलसे भीगी होती है, तब बड़वाग्निकी शिखाके समान तपनेवाले ग्रीष्मऋतुके

प्रचण्ड सूर्य आदिकी ज्योतियोंसे सुखायी जाती है; इसलिये उसे 'शुष्का' भी कहते हैं। दुष्टोपर स्वभावतः अत्यन्त क्रोध करनेके कारण वह 'चण्डिका' कही गयी है। उसकी अङ्गकान्ति उत्पल—नील कमलके समान है; इसलिये उसका नाम 'उत्पला' भी है। एकमात्र जयमें प्रतिष्ठित होनेके कारण उसे 'जया' कहा गया है। सिद्धियोंका आश्रय होनेसे वह 'सिद्धा' कही गयी है। चूँकि जया है, इसीलिये 'जयन्ती' भी है। विजयका आधारभूत होनेसे उसे 'विजया' कहा गया है। अत्यन्त पराक्रमके कारण वह 'अपराजिता' नामसे प्रसिद्ध है। उसका निग्रह करना किसीके लिये भी दुष्कर कार्य है, अतः उसका नाम 'दुर्गा' है। ओंकारकी सारभूता शक्ति होनेसे वह 'उमा' कही गयी है। अपने मन्त्रका गान या जप करनेवालोंके लिये त्राणकारक तथा परमपुरुषार्थरूप होनेके कारण उस देवीका नाम 'गायत्री' है। जगत्‌के प्रसवकी भूमि होनेसे उस जगज्जननीका नाम 'सावित्री' है। स्वर्ग और अपवर्गके साधनभूत कर्म उपासना एवं ज्ञानमयी दृष्टियोंका प्रसार करनेके कारण उस देवीको 'सरस्वती' कहा गया है। पार्वतीरूपमें उस देवीके अङ्ग और शरीर अत्यन्त गौर हैं, इसलिये वह 'गौरी' कहलाती है। वह महादेवजीके आधे शरीरमें संयुक्त है (अतएव भगवान् शिवको 'अर्धनारीश्वर' कहते हैं)। सुप्त और जाग्रत् जितने भी त्रिभुवनके प्राणी हैं, उनके हृदयमें नित्य-निरन्तर अकारादि मात्राओंसे रहित शब्दब्रह्म (प्रणव) के नादका उच्चारण होता रहता है। वह नाद अर्धमात्रास्वरूप होनेसे 'इन्दुकला' कहलाता है। वह इन्दुकला ही 'उमा' है। शिव और शिवा (रुद्र और काली) दोनों ही आकाशरूप हैं। अतः उनका शरीर काला दिखायी देता है (इसीलिये उन्हें काल-भैरव और काली कहते हैं)।

स्पन्दन (स्फुरण) मात्र ही जिसका एक स्वरूप है, वह भगवती काली 'क्रियाशक्ति' है। वही 'दान दे', 'स्नान करे' और 'अग्निमें आहुति दे' इत्यादि विधि-वाक्योद्वारा विहित दान, स्नान और यज्ञ आदि श्रेष्ठ शरीर धारण करती है। वास्तवमें वह अनादि, अनन्त चिति-शक्ति है और अपनी इच्छासे ही अपनेमें सम्पूर्ण वैदिक क्रियारूपसे प्रकाशित होती है। वह आकाश-रूपिणी है। वही स्पन्दन (स्फुरण) रूप धर्मवाली कान्तिमती दृश्य लक्ष्मीके रूपमें प्रकट होती है। उस काली देवीके जो नाना प्रकारके अभिनय और नृत्य हैं, वे ही ब्रह्माजीकी सृष्टिमें ये जन्म, जरा और मरणकी रीतियाँ हैं। वह नील कमलिनीके समान कान्तिवाली होनेके कारण 'काली' कहलाती है। वही 'क्रियाशक्ति' एवं 'ब्रह्माण्डकालिका'[1] कही गयी है। वह अपने ही अवयवभूत इस दृश्य लक्ष्मीको हृदयमें धारण करती है।

रघुनन्दन जैसे शून्यता आकाशका अङ्ग है, गतिशीलता वायुका अङ्ग है, चाँदनीमें खिलनेवाले कुमुद आदि पुष्प चाँदनीके अङ्ग हैं, उसी तरह क्रिया एवं दृश्य-जगत् चितिशक्तिके अङ्ग हैं। वास्तवमें उसका स्वरूप शिव, शान्त, आयासरहित, अविनाशी एवं निर्मल समझना चाहिये। उसमें थोड़ी-सी भी निश्चलता या चेष्टाशीलता नहीं है। इसलिये चितिशक्तिके खजानेमें मौजूद सारी सृष्टिपरम्पराएँ आत्माकी सत्यताके कारण ही सत्य प्रतीत होती हैं। वह भी उसीको, जो उनकी भावना करता है। दूसरेके लिये वे सब-की-सब असत्य ही है। भूत, भविष्यत् और वर्तमानके जितने भी संकल्प तथा स्वप्नके नगरसमूह है, वे सब सत्य ही हैं, अन्यथा वह परब्रह्म सर्वरूप है, यह कथन कैसे ठीक हो सकता है? अन्य देशोंमें स्थित जो पर्वत, ग्राम आदि हैं, वे वहाँ जानेसे दूसरेको भी उपलब्ध होते हैं, उसी तरह कोई योगसिद्ध पुरुष यदि परकायप्रवेश-सिद्धिके द्वारा स्वप्नद्रष्टाके हृदयमें जाकर उसका मनरूप होकर देखे तो वह उसके स्वप्नगत पदार्थोंको उपलब्ध कर सकता है। जैसे गाढ़ निद्रामें

१. ब्रह्माण्डरूपी बीजकोशोंका निर्माण करनेवाली।

सोये हुए पुरुषको उठाकर एक स्थानसे दूसरे स्थानपर रख दिया जाय तो भी उसके शरीरके लुढ़के होनेपर भी उसका स्वप्नगत नगर नहीं लुढ़कता है; वैसे ही नृत्य करती हुई कालरात्रिके शरीरके चालित होनेपर भी उसके भीतर सोया हुआ जगत् न तो चालित होता और न लोटता है। जैसे दर्पणमें प्रतिबिम्ब होता है, उसी तरह कालीके शरीरमें जगत्की स्थिति है। (सर्ग ८४)

प्रकृतिरूपा कालरात्रिके परमतत्त्व शिवमें लीन होनेका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जो तत्त्वज्ञ नहीं है, उसकी दृष्टिमें वह चितिशक्ति ही क्रिया-रूप है। वह अनामय (निर्विकार) है तथापि स्वभावसे ही नृत्य करती है। उस क्रिया-रूपा चिति-शक्तिके कुदाल और पिटारी आदि आभूषण हैं। जैसे वायुकी गति या चेष्टा वायुसे भिन्न नहीं है, वैसे ही शिवस्वरूप परमात्माकी इच्छा-स्वरूपा वह कालरात्रि उससे भिन्न नहीं है। जैसे वायुके भीतरकी चेष्टा वायुरूप ही है; अतएव उसे चेष्टा नहीं भी कह सकते हैं, वैसे ही शिवकी इच्छा शिवके स्वरूपसे भिन्न नहीं है, अतएव शिवरूप ही है। इसीलिये वह अनिच्छा ही है। इस दृष्टिसे शिवमें इच्छाका अभाव है।

वह कालरात्रि जब उस महाकाशमें नृत्य कर रही थी, उस समय उसने प्रेमावेशवश स्वयं अपने आवरणकारी अंशको हटाकर निकटवर्ती शिवका वैसे ही स्पर्श कर लिया, जैसे समुद्रजलकी रेखा अपने नाशके लिये ही बडवानलका स्पर्श कर लेती है। परम कारणरूप शिवका स्पर्श होते ही वह कालरात्रि धीरे-धीरे क्षीण होकर अव्यक्त भावको प्राप्त होने लगी। पहले तो वह अपने विशाल आकारका परित्याग करके पर्वताकार बन गयी। फिर नगराकार होकर विचित्र कल्पना-रूप पल्लवसे सुशोभित वृक्षके समान सुन्दरी बन गयी। इसके बाद उस आकारको भी छोडकर वह व्योमाकार हो शिवके ही स्वरूपमें वैसे ही प्रविष्ट हो गयी, जैसे नदी अपने वेगको शान्त करके महासागरमें मिल जाती है। तदनन्तर शिवासे रहित हो वे शिवस्वरूप परमात्मा एकाकी शिवरूपमें ही शेष रह गये। उस पूर्ववर्णित आकाशमें वे सर्वसंहारकारी रुद्र सारे उपद्रवोंकी शान्ति होनेपर अकेले शान्तभावसे स्थित हुए।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् ! शिवजीका स्पर्श प्राप्त होते ही वह परमेश्वरी शिवा क्यों शान्त हो गयी ? यह मुझे यथार्थरूपसे बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! वह शिवा परमेश्वर शिवकी इच्छारूपा प्रकृति कही गयी है। वही जगन्मायाके नामसे विख्यात है। वह परमेश्वर शिवकी स्वाभाविक स्पन्द-शक्ति है। वे परमेश्वर प्रकृतिसे परे पुरुष कहे गये हैं। वायु भी उन्हींका स्वरूप है। वे शिवरूप-धारी शान्त परमात्मा शरत्कालके आकाशकी भाँति निर्मल एवं परम शान्तिमान् हैं। स्पन्दन (स्फुरणा या चेष्टा) मात्र ही जिसका स्वरूप है, वह परमेश्वरकी इच्छारूपा चिति-शक्ति भ्रमरूपिणी प्रकृति है। वह तभी-तक इस संसारमें भ्रमण करती है, जबतक कि नित्य-तृप्त, निर्विकार, अजर, अनादि, अनन्त एवं अद्वैत परमात्मा शिवका साक्षात्कार नहीं कर लेती। यह प्रकृति एकमात्र चैतन्यधर्मिणी है। अतः उसे चिति-शक्ति ही समझना चाहिये। यह चिति देवी जब शिवका स्पर्श करती है, तब पूर्णतः शिवस्वरूप ही हो जाती है। जैसे नदी समुद्रका स्पर्श करते ही अपने नाम और रूपको त्यागकर उसके भीतर समा जाती है, वैसे ही प्रकृति पुरुषका स्पर्श प्राप्त करते ही उसके भीतर एकताको प्राप्त हो अपनी प्रकृति-रूपताका परित्याग कर देती

है। उस समय प्रकृति चिति—निर्वाण-रूप परम पदको प्राप्त हो तद्रूप बन जाती है, जैसे नदी समुद्रमें मिलकर समुद्ररूप हो जाती है। रघुनन्दन! वह चिति शक्ति तभीतक मोहवश इन व्याकुल सृष्टिपरम्पराओं और उनकी जन्म आदि दशाओंमें भ्रमण करती रहती है, जबतक कि परब्रह्म परमात्माका दर्शन नहीं कर लेती। उनका दर्शन कर लेनेपर वह तत्काल उन्हींमें समा जाती है। (सर्ग ८५)

रुद्रदेवका ब्रह्माण्डखण्डको निगलकर निराकार चिदाकाशरूपसे स्थित होना तथा वसिष्ठजीका उस पाषाण-शिलाके अन्य भागमें भी नूतन जगत्‌को देखना और पृथ्वीकी धारणाके द्वारा पार्थिव जगत्‌का अनुभव करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! जब मैं खड़ा-खड़ा वह सब देख रहा था, तब मुझे दिखायी दिया कि वे भगवान् रुद्र तथा ब्रह्माण्डके वे दोनों खण्ड या कपाल चित्र-लिखितके समान निश्चेष्ट हैं। तदनन्तर एक ही मुहूर्तमें आकाशके बीच रुद्रदेवने ब्रह्माण्डके उन दोनों खण्डोंको अपनी सूर्यरूपिणी दृष्टिसे उसी तरह देखा, जैसे द्युलोक और भूलोकको देख रहे हों। फिर पलक मारते-मारते उन दोनों ब्रह्माण्डखण्डोंको अपनी श्वास-वायुके द्वारा खींचकर उन्होंने पाताल-गुफाके समान मुँहमें डाल लिया। इस प्रकार ब्रह्माण्डखण्डरूपी दुग्धसार तथा मिष्टान्नराशिको अपना ग्रास बनाकर वे भगवान् रुद्र उस समस्त आकाशमें चिदाकाशरूप होकर अकेले ही रह गये। तदनन्तर वे एक ही मुहूर्तमें बादलके समान हल्के और छोटे हो गये। फिर छड़ीके समान और उसके बाद बित्ते भरके हो गये। तत्पश्चात् जिन्हें वैसे विशाल रूपमें देखा गया था, वे रुद्र मुझे काँचके टुकड़ेकी एक कणिकाके समान दिखायी दिये। इसके बाद मैंने आकाशसे दिव्यदृष्टिद्वारा देखा, वे परमाणुके बराबर हो गये थे। परमाणुरूप होनेके पश्चात् वे अदृश्य हो गये। इस तरह भरे-पूरे जगत्‌से लेकर रुद्र-शरीरतक वह सारा महान् आरम्भ मेरे देखते-देखते शरत्कालके मेघखण्ड-की भाँति विलीन हो गया। श्रीराम! जैसे भूखा हिरन छोटे-से पत्तेको निगल जाता है, उसी प्रकार भगवान् रुद्रने जब इस प्रकार आवरणोंसहित समस्त ब्रह्माण्डको उदरस्थ कर लिया, तब दृश्यरूपी मलसे रहित केवल चेतनाकाश-रूप शान्त परमात्मा परब्रह्म ही शेष रह गया। उसका न कहीं आदि है न अन्त। चिन्मय आकाशमात्र ही उसका स्वरूप है। रघुनन्दन! इस तरह मैंने पाषाण-खण्डके कोटरमें दर्पणमें दीखनेवाले प्रतिबिम्बकी भाँति उस महान् विभ्रमरूप ब्रह्माण्ड एवं उसके महाप्रलयका दृश्य देखा था।

तदनन्तर उस विद्याधरीका, उस शिलाका तथा उस संसारभ्रमका स्मरण करके मैं वैसे ही आश्चर्य-चकित हो गया, जैसे कोई गाँवका रहनेवाला गँवार पहले-पहल राजद्वारपर पहुँचकर विस्मयसे विमुग्ध हो जाता है। इसके बाद मैंने पुनः उस सुवर्णशिलाको ध्यानसे देखना आरम्भ किया। फिर तो मुझे कालीके शरीरमें स्थित हुए संसारकी भाँति उसमें सर्वत्र नूतन सर्ग दृष्टिगोचर होने लगे। वह घनीभूत मण्डलाकार सुवर्णमयी विस्तृत पाषाणशिला एकरूपमें ही स्थित थी और सन्ध्याकालके मेघकी भाँति परम सुन्दर दिखायी देती थी। इसके बाद मैंने आश्चर्यचकित हो उस शिलाके दूसरे भागके विषयमें भी उसी परादृष्टिसे विचार करना आरम्भ किया। विचार करते-करते देखता हूँ तो उस शिलाका दूसरा भाग भी उसी तरह जगत्‌के आरम्भसे ठसाठस भरा हुआ है। वहाँ पूर्ववत् एक छिद्र (आकाश) में नाना पदार्थोंसे सुन्दर संसार बसा हुआ था। उस शिलाके जिस-जिस प्रदेशको मैंने देखा, वहाँ-वहाँ दर्पणमें प्रतिबिम्बकी भाँति मुझे निर्मल जगत्‌का दर्शन हुआ।

रघुनन्दन ! तदनन्तर चेतनाकाशस्वरूप निर्विकार अनन्त एवं सर्वव्यापी ब्रह्मरूपसे स्थित हुए मैंने जब समाहित-चित्त होकर देखा तो अपने शरीरके भीतर ही मुझे सृष्टिरूपी वृक्ष एक अङ्कुरके रूपमें स्थित दिखायी दिया। जैसे डेहरीके भीतर रखा हुआ बीज वर्षाके जलसे भीग जानेपर अङ्कुरित हो जाता है, उसी प्रकार मेरे भीतर सृष्टि-बीज अङ्कुरित हुआ था। जैसे बीजके भीतर विद्यमान अङ्कुर सींचनेसे विकसित हो ऊपरकी ओर निकल आता है, उसी प्रकार मूर्त, अमूर्त, जड और चेतन सभी वस्तुओंमें जगत् विद्यमान है। जैसे सुषुप्तावस्थासे स्वप्नावस्थाको प्राप्त हुए चिन्मात्र पुरुषकी अपनी ही चेतनासे स्वप्नजगत्की दृश्य-लक्ष्मीका विकास होता है अथवा जैसे स्वप्नावस्थाके हट जानेपर जगे हुए पुरुषके समक्ष जाग्रत्-कालका दृश्य-प्रपञ्च विकासको प्राप्त होता है, उसी तरह जिसने सृष्टिके आरम्भमें अपने स्वरूपका पृथक् रूपसे अनुभव किया है, ऐसे आत्मामें इस सृष्टिका उदय होता है। हृदयाकाशमें उदित हुआ यह सर्ग चेतनाकाशसे पृथक् नहीं है।

तदनन्तर पृथ्वीकी धारणासे युक्त होकर मैं ध्यान करने लगा। पृथ्वीकी धारणा करनेपर उसके अभिमानी जीवकी स्वरूपता प्राप्त करके मैं द्वीप, पर्वत, तृण और वृक्षादिरूपी देहसे युक्त हो वहाँके जगत्का अनुभव करने लगा। मैं सम्पूर्ण भूमण्डल बन गया। नाना प्रकारके वन और वृक्ष मेरे शरीरके रोम हो गये। नाना प्रकारकी रत्नावलियाँ मेरे शरीरमें व्याप्त थीं और अनेकानेक नगर मेरे लिये आभूषणका काम दे रहे थे। पृथ्वीका रूप धारण करके मैं नदी, वन, समुद्र, दिगन्त, पर्वत तथा द्वीप नामक प्राणियोंके भोग्यस्थलों और जंगल-समूहोंसे व्याप्त हो गया। नाना प्रकारके पदार्थोंकी श्रेणियोंसे भरे हुए अनेकानेक मण्डल-कोश दृष्टिगोचर होने लगे तथा मैं लता, सरोवर, सरिता और कमलसमूहोंसे सुशोभित होने लगा।

(सर्ग ८६-८७)

श्रीवसिष्ठजीके द्वारा जल और तेजस्-तत्त्वकी धारणासे प्राप्त हुए अनुभवका उल्लेख

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! अब यह बताइये कि उस समय आपने विभिन्न भूभागोंके भीतर कहीं ब्रह्माण्डोंके दर्शन किये थे या नहीं?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! पहले शिलामें जैसे सम्पूर्ण जगत् देखा गया था, वैसे ही उस समय भूमण्डलके सभी स्थानोंमें मुझे जगत्का जाल-सा बिछा हुआ दिखायी दिया। वह सारा दृश्यमय प्रपञ्च द्वैतमय होता हुआ भी वास्तवमें शान्त अद्वैत ही है। सभी स्थानोंमें जगत् है और सर्वत्र सबके आधाररूपसे ब्रह्म विराजमान है। अतः सब कुछ परम शान्त चिदाकाश-स्वरूप ब्रह्म ही है और सभी अनेक प्रकारके आरम्भोंसे परिपूर्ण है। रघुनन्दन! यद्यपि यह दृश्य 'सत्' और 'अहम्' इत्यादि रूपसे अनुभवमें आता है, तथापि उसका अस्तित्व परमार्थ-दशामें है ही नहीं और यदि है तो वह सब अजन्मा—निर्विकार ब्रह्म ही है!

मैंने धारणाद्वारा पृथ्वीका रूप धारण करके जैसे वहाँ नाना प्रकारके जगत् देखे थे, वैसे ही जलतत्त्वकी धारणासे जलरूप होकर वहाँ भी वैसे ही जगत्का दर्शन किया। जैसे काट-छाँटकर स्वच्छ किये गये इन्द्रनीलमणिके समान नील वर्णवाले भगवान् विष्णु शेषनागके अङ्कोंपर भगवती लक्ष्मीजीके साथ विश्राम करते हैं, उसी प्रकार श्याम-शरीरवाले मैंने भी बादलोंके आसनोंपर विद्युन्मयी वनिताके साथ विश्राम किया। रसरूप होनेके कारण मैंने जिह्वासम्बन्धी एक-एक अणुके साथ रहकर उत्तम अनुभव प्राप्त किया, जिसे मैं अपने शरीरका नहीं केवल ज्ञानरूप आत्माका ही

अनुभव मानता हूँ। जलकणका रूप धारण करके हवाके रथपर चढ़कर मैंने आकाशकी निर्मल गलियोंमें सुगन्धकी भाँति विचरण किया। जलकी समता प्राप्त करा देनेवाली उस जलमयी धारणाके द्वारा अजड होकर भी जड (जल)-सा बनकर तथा समस्त पदार्थोंके भीतर ज्ञातारूपसे रहता हुआ भी दूसरोंके द्वारा अज्ञात होकर रहा।

रघुनन्दन! तत्पश्चात् मैं तेजस्तत्त्वकी बढ़ी हुई धारणाके द्वारा चन्द्रमा, सूर्य, तारा और अग्नि आदि विचित्र अवयवोंसे युक्त तेज बन गया। तेजके सदा सत्त्व-प्रधान होनेके कारण मैं प्रकाशरूप बनकर चमक उठा। संसारमें जितने भी रूप हैं, वे सब प्रकाशके ही अङ्ग हैं। अतः सदा प्रकाशकी गोदमें शयन करनेवाले शुक्ल, कृष्ण और अरुण आदि समस्त वर्णोंका मैं स्वरूपदाता पिता हो गया। अपने तेजःस्वरूपसे मैं दिग्वधुओंके लिये स्वच्छ दर्पण बन गया। रात्रिरूपी कुहरेको नष्ट करनेके लिये वायु-स्वरूप हो गया। चन्द्रमा, सूर्य और अग्निका तो जीवन-सर्वस्व ही था। मैं स्वर्गलोकके लिये कुंकुमका आलेप बन गया। मैं तेज बनकर सुवर्ण आदि सुन्दर वर्ण (रंग) बन गया, मनुष्य आदिमें पराक्रम हो गया, रत्न आदिमें चकाचौंध पैदा करनेवाली कान्ति बन गया और वर्षाऋतुमें विद्युत्का प्रकाश हो गया। तेजकी धारणासे तेजोमय होकर मैं उन वृत्र आदि असुरोंके मस्तकपर वज्रका प्रहार बन गया; जो अपने थप्पड़से शत्रुओंका सिर फोड़ डालते थे। साथ ही सिंह आदिके हृदयमें पराक्रम बनकर बैठ गया। रणाङ्गणमें निर्भय विचरण करानेवाला जो उद्भट पराक्रम वीरपुरुषोंके भीतर प्रसिद्ध है, वह भी मैं ही बन गया। वह भी साधारण पराक्रम नहीं, अपितु जो कठोर लोह-कवचोंको तोड़नेवाले खड्गोंके परस्पर आघातोंसे उत्पन्न हुई टंकारध्वनिसे अत्यन्त पटु तथा महान् आडम्बरसे युक्त हो। सूर्यस्वरूप होकर मैंने दसों दिशाओंमें फैले हुए किरणरूपी हाथोंसे जगत्‌रूपी पक्षीको, जिसके बड़े-बड़े पर्वत अङ्ग थे, पकड़ लिया। उस समय मुझको यह सारा भूतल एक छोटेसे गाँवके समान दिखायी दिया। चन्द्रमाके रूपमें प्रकट होनेपर मेरा आकार अमृतसे भरी हुई झीलके समान हो गया। मैं द्युलोकरूपी सुन्दरीका मुख बन गया। निशारूपिणी निशाचरीके हास्य-सा लगने लगा और रात्रिमें यत्र-तत्र प्रवेश करनेवाले पुरुषोंके लिये प्रकाश-दीपका काम देने लगा। मैंने अग्नि बनकर दावानलकी ऐसी ज्वाला फैलायी, जिससे लकड़ियोंका तत्काल विदारण हो जाता था और मेरी दुर्निवार दीप्ति बढ़ जाती थी। बड़े-बड़े काष्ठोंके फूटने और फटनेसे अत्यन्त कठोर शब्द उत्पन्न होते थे। यज्ञाग्नि बनकर मैंने हविष्यादिका भी कल्याणकारी कार्य सम्पन्न किया। कहीं लोहार आदिकी प्रयोगशालाओंमें मैंने तप्त लोहपिण्ड आदिमें रहकर हथौड़े आदिसे ताड़ित होनेपर उन ताड़नकर्ताओंको जलानेके लिये आगकी चिनगारियाँ प्रकट की थीं।

श्रीरामजीने पूछा—मानदाता मुने! उस अवस्थामें आपको सुखका अनुभव हुआ या दुःखका? यह मुझे मेरी जानकारीके लिये बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! जैसे सोया हुआ पुरुष चेतन होता हुआ भी जडताका अनुभव करता है, वैसे ही चेतनाकाश अपने संकल्पसे दृश्यभावको प्राप्त होकर जडताका-सा अनुभव करता है। जब ब्रह्म अपनेको पृथ्वी आदिके रूपमें समझता है, तब सुप्तकी भाँति जड-सा बनकर स्थित रहता है। इसका जो सच्चिदानन्दात्मक यथार्थ स्वभाव है, उसका कभी अन्यथाभाव नहीं होता।

(सर्ग ९०-९१)

धारणाद्वारा वायुरूपसे स्थित हुए वसिष्ठजीका अनुभव

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! तदनन्तर मैं जगत्‌को देखनेके कौतूहलसे धीर-चित्तवृत्तिके द्वारा वायुमयी विस्तृत धारणा करके वायुरूप हो गया और लता-वल्लीरूपिणी ललनाओंको नचाने लगा। कमल, उत्पल और कुन्द आदि पुष्पसमूहोंकी सुगन्धका संचय करके उसकी रक्षा करने लगा। नन्दनवनमें मेरा आना-जाना अत्यन्त मधुर और उदार होता था; क्योंकि वहाँ बड़ी मधुर सुगन्ध सुलभ होती थी। चन्द्रमण्डलमें जो श्रेष्ठ अमृत है, उसका चिरकाल-तक उपभोग करके पूर्णरूपसे घिरे हुए मेघोंकी घटारूप शय्यापर सोकर तथा कमलवनोंको कम्पित करके मैं प्राणियों-के श्रमका निवारण किया करता था। आकाशरूपी पुष्पका मैं ही सौरभ था। अतएव उसके गुणभूत सभी शब्दों-का मैं सहोदर भाई बन गया। प्राणियोंके अङ्गों और उपाङ्गोंमें प्रेरक बनकर उनकी नाड़ीरूप नालियोंमें जल-सा हो गया था। मैं सुगन्धरूपी रत्नोंका लुटेरा, विमान-रूपी नगरोंकी आधारभूमि, दाहरूपी अन्धकारका निवारण करनेके लिये चन्द्रमा तथा शीतरूपी चन्द्रमाकी उत्पत्तिके लिये क्षीरसागर था। एक ही क्षणमें मैं समस्त पर्वतोंको उखाड़कर फेंकनेमें समर्थ था। वायुरूप बनकर मैंने छः प्रकारकी क्रियाएँ करते-करते प्रलयपर्यन्त कभी भी विश्राम नहीं लिया। मेरे वे छः कर्म इस प्रकार थे। हिम और घी आदिको जमा देना—उसका पिण्ड बनाना, कीचड़ आदिको सुखाना, मेघ आदिको धारण करना, तृण आदिमें हलचल पैदा करना, सुगधको इधर-उधर ले जाना तथा ताप हर लेना।

श्रीराम ! इस प्रकार उस समय पृथ्वी आदि पाँच भूतोंका रूप धारण करके मैंने उस त्रिलोकीरूप कमलके उदरमें भलीभाँति विहार किया। पृथ्वी, जल, वायु और तेजके समूहरूप वृक्षोंके शरीरमें निवास करते हुए मैंने मूल-जालके द्वारा पृथ्वीका रस पीया और उसके स्वादका अनुभव किया। अमृतसे पूर्ण घनीभूत अङ्गवाले तथा चन्दन-द्रवके समान शीतलता आदि गुणोंसे सुशोभित चन्द्रबिम्बोंपर जो बर्फकी बनी हुई शय्याओंके समान थे, मैंने अच्छी तरह लोट-पोट किया है। उपभोगके बाद बचा हुआ पुष्परस भ्रमरको देते हुए मैंने सभी दिशाओं और सभी ऋतुओंमें समस्त वनसमूहोंके भीतर नाना प्रकारकी सुगन्धोंसे परिपूर्ण पुष्पराशियोंका अच्छी तरह सेवन किया है। कुमुद, कह्लार और कमलोंसे पूर्ण नलिनी-वनमें मैंने मधुर बोली बोलनेवाली हंसियोंके साथ लीला-पूर्वक कोमल कलकल नाद किया है। रघुनन्दन ! मेरी कृपासे प्रसन्न हुए सूर्य आदि देवताओंने शरीरसे कृष्ण, रक्त, श्वेत, अश्वेत, पीत एवं हरित वर्णोंसे हरे वृक्षोंकी भाँति मेरे शरीरमें स्थिति प्राप्त की थी। समुद्रोंसे घिरी हुई तथा सात द्वीपोंके कारण मानो सात रूप धरनेवाली इस भूमि-को मैंने अपनी कलाईमें कंगनकी भाँति धारण कर लिया था। श्रीराम ! समस्त ब्रह्माण्डरूप होनेके कारण यद्यपि सारे पाताल मेरे चरण बन गये थे, मैं भूतलको उदरके रूपमें धारण कर रहा था और आकाश मेरा मस्तक था, तथापि मैंने अपनी परम सूक्ष्म चिन्मात्रस्वरूपताका कभी त्याग नहीं किया था। इस प्रकार चिदाकाशरूपसे स्थित हुए मैंने भूमि, जल, अग्नि और वायुका स्वरूप धारण किया। जैसे प्रसिद्ध चिति शक्ति स्वयं ही स्वप्नमें नगर आदिका रूप धारण करती है, उसी प्रकार मेरेद्वारा भूमि आदिका स्वरूप-धारण माया शक्तिका विस्तार ही था। (सर्ग ९२)

कुटीमें लौटनेपर वसिष्ठजीको अपने शरीरकी जगह एक ध्यानस्थ सिद्धका दर्शन, उनके संकल्पकी निवृत्तिसे कुटीका उपसंहार, सिद्धका नीचे गिरना और वसिष्ठजीसे उसका अपने वैराग्यपूर्ण जीवनका वृत्तान्त बताना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! इस प्रकार धारणाके द्वारा सिद्ध हुए पृथ्वी आदिके रूपसे जगत्-शरीरका अवलोकन करनेके बाद पूर्वोक्त कौतुकदर्शनके संकल्प और प्रयत्नसे निवृत्त हो मै पुनः पहलेके समाधि-स्थान आकाश-कुटीरके प्रदेशकी ओर लौट आया। वहाँ आनेपर देखता हूँ कि मेरा अपना शरीर कहीं भी स्थित नहीं दिखायी देता है। वहाँ अपने सामने बैठे हुए किसी दूसरे ही सिद्धपुरुषको मै देख रहा हूँ, जो अकेला है। वह सिद्ध समाधिनिष्ठ होकर बैठा था और अभीष्ट परम पदको प्राप्त हो चुका था। उसने पद्मासन बाँध रखा था। वह परम शान्त था और समाधिमें चित्तके स्थिर हो जानेसे उसका शरीर हिलता-डुलता नहीं था। भस्मनिर्मित त्रिपुण्ड्रकी रेखाओंसे युक्त, सौम्य तथा समान विस्तारवाले कंधोंसे उसकी ग्रीवा बड़ी सुन्दर दिखायी देती थी। उसका मन उदार ब्रह्मतत्त्वमें विश्राम ले रहा था। इसलिये उसका शरीर सुस्थिर और मुख अत्यन्त प्रसन्न था। उस प्रसन्न मुखसे सुशोभित उसके मस्तककी जो निश्चल अवस्था थी, उसके कारण वह सिद्ध बड़ा सुन्दर दिखायी देता था। नाभिके निकट उत्तानभावसे रखे हुए उसके दोनों हाथों-की शोभा दो प्रफुल्ल कमलोंकी शोभाके समान जान पड़ती थी। उन हाथोंकी शोभाके रूपमें मानो हृदय-कमलके प्रकाश ही बाहर प्रकट हो गये हों—ऐसा जान पड़ता था। उन कर-कमलोंकी प्रभासे वह सिद्धपुरुष प्रकाशित हो रहा था। उसके दोनों नेत्रोंकी पलकें बंद थीं। उसकी बाह्येन्द्रियोंके सारे व्यापार क्षीण हो गये थे। विक्षोभसे रहित तथा पूर्णरूपसे शान्त, अन्तःकरणरूपिणी गुफाको उसने अपनी धीर मनोवृत्तिके द्वारा इस तरह धारण कर रखा था, मानो समस्त उत्पातोंसे रहित शान्त आकाशको धारण किया हो। उस कुटीमें जब मैंने अपना शरीर नहीं देखा और सामने उस मुनिको ही देखा, तब मैंने अपने शुद्ध चित्तके द्वारा वहाँ यों विचार किया।

"जान पड़ता है ये कोई महान् सिद्ध महात्मा हैं, जो मेरी ही तरह सोच-विचारकर एकान्त महाकाशमें विश्राम लेनेकी इच्छासे इस दिगन्तमें आ पहुँचे हैं। 'मै समाधिके योग्य एकान्त स्थान पा जाऊँ, इस चिन्तामें ही पड़कर ये सत्यसंकल्पशाली महात्मा इधर आये है और इन्हें यह कुटी दिखायी दी है। उसके बाद दीर्घकालतक जब मैं नहीं लौटा हूँ, तब मेरे पुनः आगमनकी बात इनके ध्यानमें नहीं आयी है और इन्होंने शवरूपमें पड़े हुए मेरे शरीरको यहाँसे हटाकर स्वयं इस कुटियामें आसन जमा लिया है। मेरा वह शरीर तो अब नष्ट हो गया। अतः अब इस आतिवाहिक देहसे ही मैं अपने सप्तर्षिलोकको चलूँ'—ऐसा निश्चय कर मैं ज्यों ही वहाँसे चलनेको उद्यत हुआ, त्यों ही मेरे पूर्वसंकल्पका क्षय हो जानेसे वह कुटी अदृश्य हो गयी और वहाँ केवल आकाशमण्डल रह गया। फिर तो समाधिमें स्थित हुए वे सिद्धबाबा निराधार होकर नीचेकी ओर गिरने लगे।

मैंने पहले यह संकल्प किया था कि जबतक मैं यहाँ रहूँ, तबतक यह कुटी भी रहे, परंतु अब वह संकल्प क्षीण हो जानेसे कुटिया नष्ट हो गयी और सिद्ध महात्मा क्षण-भरमें वहाँसे गिर पड़े। तब सुजनता या कौतुकवश मैं उन गिरते हुए सिद्धपुरुषके साथ उस मनोमय (आति-वाहिक) शरीरसे ही आकाशसे भूतलकी ओर चला। गिरते समय उनका पैर पूर्ववत् पृथ्वीसे जा लगा और

मस्तक ऊपरकी ओर ही उठा रहा। वे पद्मासन लगाये हुए ही वहाँ गिरे थे। उनके प्राणने अपान वायुको ऊपरकी ओर खींच रखा था। इसीलिये वे पहले जिस प्रकार बैठे थे, उसी अवस्थामें आकाशसे नीचे आ गये। वे सिद्धपुरुष इतने ऊँचेसे गिरनेपर भी समाधिसे जगे नहीं; क्योंकि चित्तके परमात्मामें दृढ़तापूर्वक लगे रहनेके कारण वे अचेतन-से हो रहे थे। साथ ही उनका कोई अङ्ग भी भङ्ग नहीं हुआ; क्योंकि वे योगके प्रभावसे रूईके ढेरकी भाँति बहुत ही हल्के बन गये थे। तब मैंने उन्हें समाधिसे जगानेके लिये प्रयत्न आरम्भ किया और बादलका रूप धारण करके आकाशमें गर्जन-तर्जनके साथ वर्षा आरम्भ कर दी। ओले और वज्र गिरने लगे। जैसे बादल या वर्षा मोरको जगाती है, उसी प्रकार मैंने अपने बुद्धि-कौशलसे उस दिगन्तमें उन सिद्धपुरुषको जगाया। समाधिसे जागनेके बाद उनके समस्त अङ्गोंकी शोभा प्रकाशित होने लगी और उनके नेत्र भी विकसित हो उठे। उस समय वे ऐसे लगते थे, मानो वर्षाकालमें धारावाहिक वृष्टिसे विकसित हुआ कमलोंका वन हो। समाधिसे जागनेपर मैंने उनसे शुद्ध भावसे पूछा—'मुनीश्वर! आप कहाँ हैं और यह क्या कर रहे हैं? आप कौन हैं? इतनी दूरीसे आप नीचे गिरे हैं, फिर भी आप अपने चित्तमें उसका अनुभव क्यों नहीं कर रहे हैं?' मेरे इस प्रकार पूछनेपर उन्होंने मेरी ओर देखा। फिर अपनी पूर्वगतिका स्मरण करके वे मुझसे उसी तरह सुन्दर वचन बोले, जैसे चातक मेघसे बोलता है।

सिद्धने कहा—ब्रह्मन्! जबतक मैं अपने वृत्तान्तका स्मरण न कर लूँ, तबतक आप मेरे उत्तरके लिये प्रतीक्षा कीजिये। मैं आपसे अपना सारा पिछला वृत्तान्त कहूँगा।

इतना कहकर उन्होंने अपने पूर्व वृत्तान्तको शीघ्र ही स्मरण कर लिया। इसके बाद वे चन्द्रमाकी किरणोंके समान शीतल एवं मनोहर वाणीमें मुझसे बोले।

सिद्धने कहा—ब्रह्मन्! इस समय मैंने आपको पहचान लिया है। अतः प्रणाम करता हूँ। अबतक ऐसा न करनेसे मेरेद्वारा जो अपराध बन गया है, इसे आप क्षमा करें; क्योंकि क्षमा सत्पुरुषोंका स्वभाव है। मुने! जैसे कमलोंमें भौंरा भ्रमण करता है, उसी प्रकार मैंने सुदीर्घकालतक भोगरूपी सुगन्धसे पूर्ण मोहकारक देवोद्यान-भूमियोंमें चिरकालतक भ्रमण किया है। तदनन्तर चित्तरूपी जल-तरङ्गोंके हिलोरोंसे युक्त दृश्य-रूपिणी नदीमें उसके मण्डलाकार आवर्तों (भँवरों) द्वारा निरन्तर बहाये जाते हुए मैंने दीर्घकालके बाद विवेकका आविर्भाव होनेपर संसारसे उद्विग्न हो इस तरह विचार किया—'अहो! इस संसारमें शब्द, रूप, रस, स्पर्श और गन्धमात्रको छोड़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है; अतः इतने ही मात्रमें—ऐसे तुच्छ विषय-भोगमें मै क्यों रमण करूँ? विषयोंमें विषोंकी विषमता भरी है, सुन्दरी स्त्रियाँ कामरूप मोहको ही देनेवाली हैं तथा राग सरस पुरुषको भी विरसता प्रदान करनेवाले हैं; इनमें लोटनेवाला कौन पुरुष नष्ट नहीं हुआ? इस शरीरमें शीघ्र प्राप्त होनेवाली जीर्ण-शीर्ण वृद्धावस्था एक विशाल बगुलीके समान है। वह यही सोचती रहती है कि मैंने इस जीवनरूपी कीचड़ या सेवारमें बहुत बड़ी मछली पा ली है। इसी भावसे वह इस शरीरको तत्काल उदरस्थ कर लेना चाहती है। यह शरीर समुद्रमें दीखनेवाले बुलबुलेके समान शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाला है। यह सामने स्फुरित होता हुआ ही सहसा दीपशिखाके समान बुझकर अदृश्य हो जाता है।

'यह जीवन एक महानदी है। इसमें नाना प्रकारके विक्षेप बड़ी-बड़ी लहरोंके समान हैं। काल-चक्र ही इसमें भँवरे बनकर उठता है। जन्म और मरण ही इसके दो ऊँचे और विशाल तट हैं तथा इसमें सुख-दुःखकी छोटी-छोटी तरङ्गें उठती रहती हैं।

यौवनका उल्लास ही इसकी कीचड है। वृद्धावस्थाके सफेद केश ही इसके धवल फेन हैं। कमी काकतालीय संयोगसे इसमें सुखके बुद्बुद भी उठ जाते हैं। व्यवहार ही इसके महाप्रवाहकी रेखा है। इसमें नाना प्रकारके जड-रव (मूर्खोके कोलाहल) ही जलरव (जलकी ध्वनि) हैं। राग-द्वेषरूपी बादल इसे बढ़ाते रहते हैं तथा भूतलपर इसका शरीर सदा ही चञ्चल रहता है। लोभ और मोहके महान् आवर्त इसमें उठते रहते हैं। पात और उत्पातसे इसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार यह जीवन नामक नदी शब्दमात्रसे तो अत्यन्त शीतल है; परतु वास्तवमें त्रिविध तापोंसे अत्यन्त संतप्त रहा करती है। यह महान् खेदका विषय है। संसाररूपी नदीके जलस्थानीय जो इष्ट, मित्र, पुत्र आदिके समागम और धन है, उनमें पहले-पहलेके तो चले जाते हैं और नये-नये आते रहते हैं। (इस प्रकार यहाँ कुछ भी स्थिर नहीं है।) यहाँ जो पदार्थ प्राप्त है, वे नष्ट हो जाते हैं। अतः उन क्षणभङ्गुर पदार्थोंसे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। जब प्राप्त हुई वस्तुओंकी यह दशा है, तब जो नये पदार्थ प्राप्त होते हैं, उनपर भी यहाँ कैसे आस्था हो सकती है ? ससारमें जितनी नदियाँ हैं, उन सबका जल उद्गमस्थानसे आता और समुद्रकी ओर जाता रहता है। परंतु इस शरीररूपी नदीका जो आयुरूपी जल है, वह केवल जाता ही है, फिर आता नहीं। भयंकर शत्रुभूत विषयरूपी चतुर चोर चारों ओर विचरते रहते हैं, वे विवेकरूपी सारा धन हर ले जाते हैं। अत मुझे निरन्तर जागते रहना चाहिये। यहाँ मैं सो कैसे रहा हूँ ? आज यह हुआ, कल यह होगा, यह इसका है और यह मेरा है—इस प्रकार संकल्प-विकल्प करता हुआ मनुष्य बीती हुई आयु और आयी हुई मौतको नहीं जान पाता है। यह कैसी आश्चर्यकी बात है ! खूब खा-पी लिया, अनन्त वनभूमियोंमें विचरण कर लिया और बहुत-से सुख-दु.ख भी देख लिये। अब यहाँ और क्या करना या पाना शेष रह गया है ? मैंने ऊँचे शिखरोंवाले मेरु पर्वतकी उद्यान-भूमियोंमें अच्छी तरह भ्रमण किया। लोकपालोंके श्रेष्ठ नगरोंमे भी मैं घूम लिया। परंतु वहाँ भी कौन-सा स्वाभाविक सुख प्राप्त हुआ ?

'धन, मित्र, सुख और भाई-बन्धु कोई भी कालग्रस्त मनुष्यकी रक्षा नहीं कर सकते। मनुष्यका जीवन धूलि-राशिके समान अस्थिर है, उसकी स्थिति सुदृढ नहीं है। जैसे पर्वतशिखरोंपर गिरा हुआ वर्षाका जल प्रतिक्षण व्यर्थ नष्ट होता है, वैसे ही भीतरसे विषयोंमें आसक्त मनुष्य क्षण-क्षणमें क्षीण हो अन्तमें पुरुषार्थशून्य रहकर ही अस्त (मृत्युको प्राप्त) हो जाता है। कोई भी भोग मेरे मनको नहीं लुभा रहे है। यहाँके वैभव भी मुझे सुन्दर नहीं लगते हैं। यह जीवन भी मदमत्त युवतीके कटाक्षपातकी भाँति चञ्चल एव क्षणभङ्गुर है। मुने ! यहाँ कहाँ, किसको, किस तरह और किस उपायसे आश्वासन प्राप्त हो। पापिनी मृत्यु आज या कल मस्तकपर पैर रख ही देगी अथवा माथेपर विपत्तिका पहाड डाल ही देगी। यह शरीर एक दिन पत्तेके समान झड जानेवाला है। जीवनकी स्थिति भी जीर्ण-शीर्ण ही है। बुद्धि अधीरतासे ग्रस्त है और विषयोंके रस नीरस हो गये हैं। नीरस विषय और उनके मनोरथ मेरी विस्तृत आयुको ले बीते। इनसे मेरे लिये कोई चमत्कारजनक पुरुषार्थ नहीं सिद्ध हुआ। आज मेरा मोह मन्द पड गया है। इस शरीरका इस जगत्‌में कोई उपयोग नहीं है। विषयोंमें आस्था या आसक्ति न करना ही ऊँची स्थिति है और जीवनके प्रति आस्था रखना ही सबसे अधम अवस्था है। अहो ! यह सम्पत्ति क्या मिली, विपत्ति ही सिरपर आ पडी है, जो भारी मोहमे डालनेवाली है। विवेकी पुरुषको सदा ऐसा ही मानना चाहिये और इस ससारमें कभी आसक्त नहीं होना चाहिये।

जैसे समुद्रपत्नी सरिताएँ भूतलपर अपने शरीरको आन्दोलित करती हुई समुद्रकी ओर दौड़ रही हैं, उसी प्रकार जनता विषयोंकी ओर दौड़ी जा रही है। यहाँ आयु ही उत्पात-वायु है। मित्र ही बड़े भारी शत्रु हैं। बन्धु ही बन्धन हैं और धन ही बड़ी भारी मौत है। सुख ही अत्यन्त दुःख है। सम्पत्तियाँ ही भारी विपत्तियाँ हैं। भोग ही संसारके महान् रोग हैं तथा रति ही भारी अरति (दुःख) है। यहाँका सुख केवल दुःख देनेके लिये है और जीवन भी मृत्युकी धरोहर है। अहो! यह मायाका विस्तार कितना दुःखद है!* विषय-सेवनरूप जो भोग हैं, उन्हें सर्पोंका फन ही समझना चाहिये; क्योंकि वे थोड़ा-सा भी स्पर्श होनेपर डँस ही लेते हैं। किंतु विचार-दृष्टिसे देखनेपर प्रतिक्षण विनाश-शील ही हैं। जो भोगोंकी अभिलाषासे उनके प्रति तृष्णा बाँधे बैठे हैं, उन लोगोंका उसी तरह पग-पगपर अपमान होता है, जैसे बन्धन-स्तम्भमें बँधे हुए जंगली हाथियोंका हुआ करता है।

'सम्पत्तियाँ और युवती स्त्रियाँ ये तरङ्गोंकी गोदके समान क्षणभङ्गुर हैं। इतना ही नहीं, वे सर्पके फनकी छाया हैं। कौन विवेकी पुरुष उनमें आसक्त होगा? जो आरम्भमें रमणीय प्रतीत होनेवाले किंतु अन्तमें अत्यन्त नीरस सिद्ध होनेवाले विषयभोगोंमें रमते हैं, वे नरकोंमें ही गिरते हैं†। धन राग-द्वेषादि द्वन्द्व दोषोंसे आक्रान्त हैं। उनका उपार्जन करना भी अत्यन्त कठिन होता है तथा प्राप्त हो जानेपर भी वे स्थिर नहीं रहते हैं। अतः वे अधम पुरुषोंके लिये ही सेवन करने योग्य हैं। जो आरम्भमें मधुर लगती है, परंतु अन्तमें दुःख ही देनेवाली है, वह लक्ष्मी (लौकिक सम्पत्ति) जगत्‌को मोहमें ही डालती है*। उसका विलास क्षणभरके लिये ही होता है। कोई महान्-से-महान् पुरुष क्यों न हों, उनके जीवनमें भी एक दिन मृत्यु अवश्य उपस्थित होगी। देहधारियोंकी आयु शाखाके अग्रभागमें लटकी हुई ओसकी बूँदके समान शीघ्र ही नष्ट होनेवाली है। जरा अवस्थाको प्राप्त होते हुए पुरुषके केश पक जाते हैं, दाँत भी टूट जाते हैं। उसकी और सब वस्तुएँ भी जीर्ण होकर क्षीण हो जाती हैं। परंतु एकमात्र तृष्णा ही ऐसी है जो जीर्ण नहीं होती है, वह नित्य नयी ही बनी रहती है।† हाथकी अञ्जलिमें रखे हुए जलकी भाँति यह जीवन शीघ्र ही स्खलित हो जाता है। वह नदीके प्रवाहकी भाँति चला जाता है और लौटता नहीं है। इस जगत्‌में जो रमणीय जान पड़ते हैं, उन पदार्थोंमें मैंने अरमणीयता देखी है। स्थिर वस्तुओंमें भी अस्थिरताका दर्शन किया है और सत्य दीखनेवाले पदार्थोंमें भी मुझे असत्यता दिखायी दी है। इसीलिये मैं यहाँसे विरक्त हो उठा हूँ। मनके सर्वथा वासनाशून्य हो जानेपर जब परमात्मामें विश्रान्ति प्राप्त होती है, उस समय जो आनन्द मिलता है, वह पाताल, भूतल और स्वर्गके भी किन्हीं भोगोंमें नहीं मिल सकता।'

मुने! इस तरह दीर्घकालतक विचार करनेसे अब अहंकारशून्य हो मैंने अपनी बुद्धिके द्वारा स्वर्ग और

---

* उत्पातवायुरेवायुर्मित्राण्येवातिशत्रवः ।
बान्धवो बन्धनान्येव धनान्येवातिनैधनम् ॥
सुखान्येवातिदुःखानि सम्पदः परमापदः ।
भोगा भवमहारोगा रतिरेव परारतिः ॥
आपदः सम्पदः सर्वाः सुखं दुःखाय केवलम् ।
जीवित मरणायैव बत मायाविजृम्भितम् ॥
(निर्वाणप्रकरण उ० ९३ । ७१–७३)

† आपातरमणीयेषु रमन्ते विषयेषु ये ।
अत्यन्तविरसान्तेषु पतन्ति निरयेषु ते ॥
(नि० प्र० उ० ९३ । ८०)

* आपातमात्रमधुरा दुःखपर्यवसायिनी ।
मोहनायैव लोकस्य लक्ष्मीः क्षणविलासिनी ॥
(नि० प्र० उ० ९३ । ८२)

† जीर्यन्ते जीर्यतः केशा दन्ता जीर्यन्ति जीर्यतः ।
क्षीयते जीर्यते सर्वं तृष्णैवैका न जीर्यते ॥
(नि० प्र० उ० ९३ । ८६).

अपवर्गसे भी विरक्ति प्राप्त की है। इस कारण मै भी आपकी ही भाँति चिरकालतक एकान्तमें विश्रामके लिये आकाशके इस स्थानतक आया और यहाँ मुझे आपकी कुटी दिखायी दी। आपकी ही यह कुटी है और आप पुनः यहाँ पधारेंगे, यह बात उस समय मैंने नहीं सोची थी। यह सब तो मुझे आज ही ज्ञात हुआ है। उस समय तो अनुमानसे मैंने यही जाना था कि यह कोई सिद्धपुरुष था, जो यहाँ अपना शरीर त्यागकर निर्वाण पदको प्राप्त हो गया है। भगवन्! यही मेरा वृत्तान्त है और यह मै आपके सामने उपस्थित हूँ। मैंने सब बातें आपको बता दीं। अब आप जैसा उचित समझें, करें। (सर्ग ९३)

श्रीवसिष्ठजी और सिद्धका आकाशमें अभीष्ट स्थानोंको जाना, वसिष्ठजीका मनोमय देहसे सिद्धादि लोकोंमें भ्रमण करना, श्रीवसिष्ठजीका अपनी सत्य-संकल्पताके कारण सबके दृष्टिपथमें आना, व्यवहारपरायण होना तथा 'पार्थिव वसिष्ठ' आदि संज्ञाओंको प्राप्त करना, पाषाणोपाख्यानकी समाप्ति और सबकी चिन्मयब्रह्मरूपताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! तत्पश्चात् मैंने सिद्धसे इस प्रकार कहा—'महात्मन्! मैंने भी तो आपके विषयमें कोई विचार नहीं किया, इसीसे उस कुटीको आकाशमें स्थिर नहीं कर दिया। उसे स्थिर कर दिया होता तो आपकी स्थिति भी सुस्थिर हो गयी होती। आपको इस प्रकार नीचे नहीं गिरना पड़ता (अतः हम दोनोंसे परस्पर अपराध हुए हैं, इसलिये दोनों ही दोनोंको क्षमा कर दें)। उठिये, अब हम दोनों सिद्धलोकोंमें चलकर पूर्ववत् निवास करें।' तदनन्तर हम दोनों गुलेलसे फेंके गये दो पत्थरकी गोलियोंके समान एक साथ ही तीव्र गतिसे आकाशमें उड़ें। उस समय हमारी स्थिति दो तारोंके समान हो रही थी। ऊपर जाकर हम दोनोंने एक दूसरेको प्रणामपूर्वक विदा किया। फिर वे सिद्ध महात्मा अपने अभीष्ट स्थानको चले गये और मैं अपने अभीष्ट स्थानमें आ गया।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—भगवन्! आपका वह शरीर तो पृथ्वीपर गिरकर धूलके परमाणुओंमें मिल गया होगा! फिर आप किस शरीरसे सिद्ध लोकोंमें विचरे?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! हाँ, मुझे याद आ गया। उसके बादका मेरा वृत्तान्त सुनो। जगत्‌रूपी गृहमें, सिद्धोंके समूहोंमें तथा लोकपालोंकी पुरियोंमें भ्रमण करते हुए मुझ वसिष्ठकी आत्मकथा इस प्रकार है—एक दिन मैं इन्द्रपुरीमें गया, परंतु वहाँ स्थूल शरीरसे रहित हो आतिवाहिक (सूक्ष्म) देहसे गये हुए मुझको न तो किसीने देखा और न पहचाना ही। मनका मनन ही एकमात्र मेरा स्वरूप था। मैं पृथ्वी आदिसे सर्वथा रहित था। संकल्प-कल्पित पुरुषकी भाँति मेरा कोई दृश्य आकार नहीं था। मुझसे किसीका स्पर्श न होनेके कारण मैं घट-पट आदि पदार्थोंका अवरोधक नहीं था। जगत्‌के पदार्थ-समुदाय भी मुझे कहीं आने-जानेसे रोक नहीं पाते थे। मैं अपने अनुभवकी ओर ही उन्मुख था अर्थात् अपना अनुभव ही मेरा शरीर था तथा अपने समान स्थितिवाले मनोमय पुरुषोंके साथ ही मै व्यवहार करता था।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—भगवन्! यदि देहरहित एवं आकाशस्वरूप होनेके कारण आप किसीको दिखायी नहीं देते थे तो उस सिद्धने आपको उस सुवर्णमयी भूमिमें कैसे देखा था?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! मुझ-जैसा ज्ञानयोगसे सिद्ध हुआ पुरुष संकल्पकल्पित पदार्थोंका जिस तरह अवलोकन करता है, उस तरह असंकल्पित पदार्थोंको

नहीं ग्रहण करता; क्योंकि उसका शरीर सत्यसंकल्पमय होता है। निर्मल अन्तःकरणवाला सूक्ष्म शरीरधारी पुरुष भी लौकिक व्यवहारोंमें मग्न होनेपर क्षणभरमें ही अपना सूक्ष्म शरीर भूल जाता है। उस समय मैंने यह संकल्प किया था कि यह सिद्धपुरुष मुझे देखे। इसलिये उसने मुझे देखा; क्योंकि वह मेरे संकल्पित अर्थका भाजन था। परस्पर सिद्ध एवं विरुद्ध मनोरथवाले दो सिद्धोंमें जो अधिक शुद्ध अन्तःकरणवाला और पुरुषोचित प्रयत्नसे युक्त होता है, वही अपने अभीष्ट-साधनमें विजयी होता है। जब मै सिद्धसमूहों तथा लोकपालोंकी पुरियोंमें भ्रमण कर रहा था, उस समय व्यवहार-समूहोंके प्राप्त होनेसे मुझे अपनी आतिवाहिकता विस्मृत हो गयी थी—मैं अपने सूक्ष्म शरीरको भूल गया था। जब ऐसी स्थिति आ गयी, तब मैं उस महाकाशमें दूसरोंके साथ व्यवहार करनेमें प्रवृत्त हुआ। परंतु मेरा रूप ऐसा चञ्चल था कि वहाँ मुझे कोई देख नहीं पाता था। उस समय न तो मुझे तूर्य, चन्द्रमा तथा इन्द्र आदि देख पाते थे और न देवता, सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर एवं अप्सराओंकी ही मुझपर दृष्टि पड़ती थी। वे लोग मेरी बाततक नहीं सुन पाते थे। यह सब सोचकर किसीके हाथ बिके हुए सत्पुरुषकी भाँति मैं मोहमें पड़ गया—किंकर्तव्यविमूढ-सा हो गया। इसके बाद मैने सोचा, 'मैं तो सत्यकाम हूँ। जो भी संकल्प करूँगा—सत्य होगा', यह बात ध्यानमें आते ही मैंने संकल्प किया—'ये देवतालोग मुझे देखें'। ऐसा संकल्प होते ही उस देवलोकमें मेरे सामने रहनेवाले सभी देवता मुझे तत्काल देखने लगे, जैसे नगरमें आये हुए इन्द्रजालमय वृक्षको सभी दर्शक शीघ्र ही देखने लगते हैं। तत्पश्चात् देवताओंके घरोंमें मेरा सब व्यवहार चलने लगा। मैं अपने यथोचित आचारका पालन करता हुआ निःसंकोच वहाँ रहने लगा जिन लोगोंको मेरे वृत्तान्तका ज्ञान नहीं था, उनमेंसे जिन्होंने सर्वप्रथम मुझे अपने आँगनमें आविर्भूत हुआ देखा, उन लोगोंने पृथ्वीसे ही मेरी उत्पत्तिकी कल्पना करके मुझे 'पार्थिव वसिष्ठ' कहा—फिर इसी नामसे लोकमें मेरी प्रसिद्धि हुई। जो लोग आकाशमें रहते थे, उनमेंसे जिन महानुभावोंने मुझे आकाशमें भगवान् सूर्यदेवकी किरणोंसे प्रकट हुआ देखा, उन्होंने लोकमें 'तैजस् वसिष्ठ' नाम देकर मुझे प्रसिद्ध किया तथा जिन आकाशवासी सिद्धोंने वायुसे मेरा प्राकट्य देखा, उन्होंने मुझे 'वात-वसिष्ठ' की संज्ञा दी तथा जिन मुनीश्वरोंने मुझे जलसे उठते देखा, उन्होंने मुझे 'वारिवसिष्ठ' नाम दिया। इस प्रकार दृष्टिभेदसे मेरी यह जन्मपरम्परा कल्पित हुई है। तभीसे लोकमें मैं कहीं पार्थिव, कहीं जलमय, कहीं तैजस् और कहींपर मारुत-वसिष्ठ नामसे विख्यात हुआ।

इस तरह कहीं आकाश आदि पञ्चभूतरूपसे स्फुरित होनेपर भी मैं एकमात्र चिन्मय स्वभाववाला निराकार, चेतनाकाशरूप परब्रह्म ही हूँ तथा तुमलोगोंके बीच उपदेश आदि व्यवहारकी सिद्धिके लिये स्थूल आकारसे युक्त भी दिखायी देता हूँ। जैसे जीवन्मुक्त तत्त्वज्ञानी पुरुष सारा व्यवहार करता हुआ भी ब्रह्माकाशरूपसे ही स्थित रहता है, उसी तरह विदेहमुक्त भी ब्रह्मरूपसे ही स्थित होता है। किंतु जिस पुरुषकी बुद्धि संसारवासनावश देह और इन्द्रियके द्वारा भोगनेयोग्य अयोग्य वस्तु—विषयभोगमें आसक्त होती है तथा जिसके मनमें कभी मोक्षकी आकाङ्क्षा नहीं जाग्रत् होती, वह मन्दबुद्धि मानव मनुष्य नहीं, कुत्ता अथवा कीड़ा है* (क्योंकि वह भोगरूपी गंदी चीजको पसंद करता है, मनुष्य तो वही है जो मोक्षके लिये प्रयत्नशील है)। श्रीराम! चित्तका सर्वथा शान्त एवं शीतल होना मोक्ष है तथा उसका संतप्त होना ही बन्धन है। ऐसे मोक्षमें भी लोगोंकी

* संसारवासनाभावरूपे सक्ता नु यस्य धीः।
मन्दो मोक्षे निराकाङ्क्षी स श्वा कीटोऽथवा जनः॥
(नि० प्र० उ० ९५। २६)

राजा बलि और शुक्राचार्य (उपशम-प्रकरण सर्ग ४५-४६)

रुचि नहीं हो रही है। अहो! यह संसार कितना मूढ़ है! यह मानव-समुदाय स्वभावसे ही विषयोंके वशीभूत है। इसीलिये एक दूसरेकी स्त्री और धनका अपहरण करनेके लिये लोलुप हो रहा है। जब वह मुमुक्षु होकर शास्त्रोंके अर्थका विचार करता है, तब यथार्थ दृष्टि (तत्त्व-साक्षात्कार) प्राप्त करके सदाके लिये सुखी हो जाता है।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! जब वसिष्ठ मुनि इतना उपदेश दे चुके, तब वह दिन बीत गया। भगवान् सूर्य अस्ताचलको चले गये। इधर उस राज-सभाके लोग सायंकालिक कृत्यके हेतु स्नान करनेके लिये मुनिवर वसिष्ठको नमस्कार करके उठ गये तथा रात बीतनेपर सूर्यदेवकी किरणोंके उदयके साथ ही फिर उस सभामें लौट आये।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—कर्तव्यका ज्ञान रखनेवाले रघुनन्दन! यह मैंने तुमसे पाषाणोपाख्यान कहा। इस आख्यायिकासे जो विज्ञानदृष्टि प्राप्त होती है, उससे यही समझना चाहिये कि सारी सृष्टियाँ चेतनाकाशमें ही स्थित हैं। यहाँ जो कुछ भी दीखता है, उसे चिन्मय ब्रह्म ही समझना चाहिये। जैसे स्वप्न-दर्शनके समय जो नगर प्रकट होता है, वह अपने चिन्मय स्वरूपसे कदापि भिन्न नहीं है। वस्तुतः यह सृष्टि नहीं है, एकमात्र चैतन्य-शक्ति ही विराज रही है। जैसे सोनेके आभूषणोंमें सोना ही सत्य है, अंगूठी आदिके नाम और आकार नहीं। जैसे स्वप्नमें निर्विकार चिति-शक्ति ही पर्वतके रूपमें प्रकाशित होती है, उसी तरह निराकार ब्रह्म ही सृष्टिके रूपमें भासित हो रहा है। ब्रह्मके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। यह सारा दृश्य चिन्मय आकाशरूप, अनन्त, अजन्मा और अविनाशी ब्रह्म ही है। वस्तुतः सहस्रों महाकल्पोंमें भी न तो यह उत्पन्न होता है और न इसका नाश ही होता है। पुरुष चेतनाकाश-रूप ही है। यह जो आप पुरुषोत्तम बैठे हैं, चेतना-काशरूप ही हैं। मैं भी अजर-अमर चेतनाकाश ही हूँ और ये तीनों लोक चेतनाकाश ही हैं। 'मैं अद्वितीय चिन्मात्र ब्रह्म ही हूँ। ये शरीर आदि मेरे नहीं हैं।' जब ऐसा बोध प्राप्त हो जाता है, तब जन्म-मरण आदि अनर्थ कहाँ रह सकते हैं? मैं 'चिन्मात्र निर्मल ब्रह्म हूँ।' इस आत्मानुभवको जो स्वयं ही कुतर्कोंद्वारा खण्डित करते हैं वे आत्महत्यारे हैं। उन्हें विपत्तियोंके महासागरमें डूबना पड़ता है। 'मैं आकाशसे भी स्वच्छ, नित्य अनन्त एवं निर्विकार चेतन हूँ, ऐसी दशामें क्या मेरा जीना, क्या मरना अथवा क्या सुख-दुःख भोगना है? मैं परमाकाशस्वरूप चेतन ब्रह्म हूँ। ये शरीर आदि मेरे कौन होते हैं!' इस तरह विद्वानोंके द्वारा अन्तःकरणमें किये गये अनुभवका जो कुतर्कोंद्वारा अपलाप या खण्डन करता है, वह पुरुष आत्मघाती है। उसे बारंबार धिक्कार है। 'मैं स्वच्छ चेतनाकाश हूँ।' जिस पुरुषका यह स्पष्ट अनुभव नष्ट हो गया हो, उसे विद्वान् पुरुष जीवित शव समझते हैं अर्थात् वह जीता हुआ भी मुर्देके समान है। 'मैं ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा हूँ। देह और इन्द्रियाँ मेरी कौन होती हैं।' इस प्रकार अपरोक्षज्ञानके द्वारा जिसने आत्माको उपलब्ध कर लिया है, अविद्या आदि मलोंसे रहित उस विशुद्ध पुरुषको मृत्यु आदि आपदाएँ विमोहित नहीं कर पातीं। जो शुद्ध चिन्मय परमात्माका आश्रय लेकर सुस्थिर हो गया है, उस महापुरुषको मानसिक चिन्ताएँ उसी तरह मोहित नहीं कर पाती हैं, जैसे महान् पत्थरको तुच्छ बाण। जिन पुरुषोंने अपने चिन्मय स्वभावको भुलाकर नश्वर शरीरपर ही आस्था बाँध रखी है, उन्होंने वास्तवमें सुवर्णको त्यागकर भस्मको ही सोना मानकर ग्रहण किया है। 'मैं देहरूप ही हूँ' इस भावनासे पुरुषके बल, बुद्धि और तेजका नाश हो जाता है तथा 'मैं चेतन आत्मा हूँ' इस दृढ़ निश्चयसे उसके बल, बुद्धि और तेजकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। 'मैं न तो छेदा जाता हूँ और न जलाया ही जाता हूँ; क्योंकि मैं वज्रके समान सुदृढ़ चिन्मय परमात्मा हूँ। मेरी

अपने चिन्मय स्वरूपमें ही नित्य स्थिति है। मैं देहाभिमानी नहीं हूँ।' जिस पुरुषको ऐसा निश्चय हो गया है, उसके लिये यमराज भी तृणके समान तुच्छ है। चेतनपुरुष इस जगत्‌में जिस-जिस वस्तुको जिस रूपसे देखता या समझता है, उस वस्तुका उसी रूपसे अनुभव करने लग जाता है। यह अनुभवसिद्ध बात है। इसलिये ये सब पदार्थ विषामृत (विषको अमृत-) दृष्टिसे देखे गयेके समान स्थित हैं। अतः कोई भी वस्तु चेतन आत्मासे भिन्न नहीं है, यह बात पूर्णतः सिद्ध हो चुकी है।

(सर्ग ९४—९६)

परमपदके विषयमें विभिन्न मतवादियोंके कथनकी सत्यताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! 'यह जगत् परमात्माका स्वप्न है, इसलिये चिन्मय है, ब्रह्माकाशरूप है, अतः सब कुछ ब्रह्म ही है।' इस दृष्टिसे सबको सत्य जगत्‌का ही अनुभव होता है, असत्यका नहीं। 'पुरुष चिन्मय एवं अकर्ता है। अव्यक्त प्रकृतिसे महत्तत्त्व आदि-के क्रमसे इस जगत्‌की उत्पत्ति होती है।' ऐसी दृष्टि रखनेवाले आचार्य महानुभावोंके मतको भी सत्य ही समझना चाहिये; क्योंकि इस भावका चिन्तन करनेसे ऐसा ही अनुभव होता है। 'यह सारा दृश्य ब्रह्मका विवर्त है—ब्रह्म ही इस दृश्यजगत्‌के रूपमें भासित हो रहा है' ऐसी बातें कहनेवाले महापुरुषोंका मत भी सत्य ही है; क्योंकि इस तरह आलोचना करनेपर इसी रूपमें समस्त पदार्थोंका अनुभव होता है। इसी प्रकार जो लोग 'सम्पूर्ण जगत्‌को परमाणुओंका समूहरूप' ही मानते हैं, उनका वह मत भी सत्य ही है; क्योंकि उन्हें जिस-जिस पदार्थके विषयमें जैसा-जैसा अनुभव हुआ, उस-उस अनुभवके अनुसार की गयी उनकी कल्पना भी ठीक ही है। 'इस लोक या परलोकमें जो कुछ जैसा देखा गया है, वह वैसा ही है। उसे न सत् कह सकते हैं, न असत्। वास्तविक तत्त्व इन दोनोंसे विलक्षण एवं अनिर्वचनीय है।' इस तरहका जो प्रौढ आध्यात्मिक मत है, वह भी सत्य ही है; क्योंकि वे वैसा ही अनुभव करते हैं। कुछ लोगोंका कहना है कि 'बाह्य—पृथ्वी आदि चार भूतोंका समुदाय ही जगत् है। इससे भिन्न अन्तर्यामी आत्माकी सत्ता नहीं है।' ऐसा कहनेवाले जो नास्तिक हैं परंतु वे भी अपनी दृष्टिसे ठीक ही कहते हैं; क्योंकि वे इन्द्रियातीत आत्माको अपने स्थूल देहमें ही ढूँढ़ते हैं, परंतु उसे पाते नहीं हैं। क्षणिक विज्ञानवादी जो 'प्रत्येक पदार्थको क्षणभङ्गुर' बताते हैं, उनका वह मत भी युक्ति-संगत ही है; क्योंकि सभी पदार्थोंका निरन्तर परिवर्तन एवं उलट-फेर देखनेमें आता है।

परमपद सम्पूर्ण शक्तियोंसे युक्त है। इसलिये उसके विषयमें जो जैसा कहता है, वह सभी सम्भव है। 'जैसे घडेके भीतर बंद हुआ गौरैया घड़ेका मुँह खोल देनेपर उड़कर बाहर चला जाता है, वैसे ही देहके भीतर बंद और देहके बराबर आकारवाला जीव कर्मक्षय हो जानेपर उड़कर परलोकमें चला जाता है।' इस मतको माननेवाले लोगोंकी कल्पना भी उनके मतानुसार ठीक है। इसी तरह म्लेच्छोंका यह मत है कि 'जीव देहके बराबर ही बड़ा है। उसे ईश्वरने उत्पन्न किया है। जहाँ शरीर गाड़ा जाता है, वह वहीं रहता है। ईश्वर कालान्तरमें उसके विषयमें विचार करते हैं। तब उन्हीं-की इच्छासे उसकी मुक्ति होती है अथवा वह स्वर्ग या नरकमें डाला जाता है।' आत्मसिद्धिके लिये की हुई म्लेच्छोंकी यह कल्पना उनके भावके अनुसार ठीक कही जा सकती है और उनके देशोंमें वह दूषित नहीं मानी जाती है। जो संत महात्मा हैं, वे 'ब्राह्मण, अग्नि, विष, अमृत, मरण और जन्म आदिमें भी समभाव' रखते हैं। यह भी ठीक ही है; क्योंकि विभिन्न विचारधाराके विद्वानोंका जो मत है, वह सब सर्वात्मा ब्रह्मसे भिन्न नहीं है।

इसलिये अपने-अपने मतके अनुसार साधन करनेपर उन्हें तदनुसार सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है। आस्तिकोंके मतमें 'जैसे यह लोक है, वैसे परलोक भी है। अतः पारलौकिक लाभके लिये किये गये तीर्थ-स्नान और अग्निहोत्र आदि निष्फल नहीं हैं।' ऐसी जो उनकी भावित भावना है, उसे सत्य ही समझना चाहिये। 'यह जगत् न तो शून्य है और न अशून्य ही है, किंतु अनिर्वचनीय है' इस प्रकार माननेवाले वादियोंका मत भी असत्य नहीं है; क्योंकि सर्वशक्तिमान् ब्रह्मकी जो मायाशक्ति है, वह न तो शून्यरूप है और न सत्य ही है किंतु उसे अनिर्वचनीय समझना चाहिये। इसलिये जो अपने जिस निश्चयमें दृढ़तापूर्वक स्थित है, वह यदि बालोचित चपलता या मूढ़ताके कारण उस निश्चयसे हटे नहीं तो उसका फल अवश्य पाता है।

बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि सबसे पहले श्रेष्ठ वस्तुके विषयमें विद्वानोंके साथ विचार कर ले, विचारके बाद जो निश्चित सिद्धान्त स्थापित हो, उसीको ग्रहण करे। दूसरे जैसे-तैसे निश्चयको नहीं ग्रहण करना चाहिये। शास्त्रोंके स्वाध्याय और सद्व्यवहारकी दृष्टिसे जिस देशमें जो भी उत्तम बुद्धिसे युक्त हो, उस देशमें वही विद्वान् या पण्डित है। अतः सद्ज्ञानकी प्राप्तिके लिये उसीका आश्रय लेना चाहिये। उत्तम शास्त्रके अनुसार व्यवहार करनेवाले तथा तत्त्वज्ञानके लिये परस्पर वाद-विवाद करनेवाले सत्पुरुषोंमें जो सबको आह्लाद प्रदान करनेवाला और अनिन्दनीय हो, वही श्रेष्ठ है। अतः उसीका आश्रय लेना चाहिये। रघुनन्दन! प्रत्येक जातिमें कुछ ऐसे नामी विद्वान् होते हैं, जिनके सूर्यतुल्य प्रकाशसे दिन प्रकाशित एवं सार्थक होते हैं। जो मूढ़ हैं, वे सभी मोहरूपी महासागरमें संसारचक्रके आवर्तन-प्रत्यावर्तन-से ऊपर-नीचे होते हुए तृणके समान बहते रहते हैं।

(सर्ग ९७)

तत्त्वज्ञानी संतोंके शील-स्वभावका वर्णन तथा सत्संगका महत्त्व

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! जो विवेकी पुरुष संसारसे विरक्त हो परम पद परब्रह्म परमात्मामें विश्राम कर रहे हैं, उनके लोभ, मोह आदि शत्रु स्वतः नष्ट हो जाते हैं। वे तत्त्वज्ञानी महात्मा न कोई अनुकूल वस्तु पाकर हर्षित होते हैं, न किसीके प्रतिकूल बर्तावसे कुपित होते हैं। न आवेशमें आते हैं, न आहारका संग्रह करते हैं, न लोगोंसे उद्विग्न होते हैं और न स्वयं ही लोगोंको उद्वेगमें डालते हैं। वे किसी भी बुरी-अच्छी कामनासे हठपूर्वक कष्टसाध्य वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानमें नहीं प्रवृत्त होते हैं। उनका आचरण मनोरम और मधुर होता है। वे प्रिय और कोमल वचन बोलते हैं। चन्द्रमाकी किरणोंके समान अपने सङ्गसे अन्तःकरणमें आह्लाद प्रदान करते हैं। कर्तव्योंका विवेचन करते और क्षणभरमें ही विवादका निर्णय कर देते हैं। उनका आचरण दूसरोंको उद्वेगमें डालनेवाला नहीं होता है। वे सबके प्रति बन्धुभाव रखते हैं और बुद्धिमानोंके समान समुचित बर्ताव करते हैं। बाहरसे उनका आचरण सबके समान ही होता है, किंतु भीतरसे वे सर्वथा शीतल होते हैं। तत्त्वज्ञानी महात्मा शास्त्रोंके अर्थोंमें बड़ा रस लेते हैं। जगत्में क्या उत्तम, अधम अथवा भला-बुरा है, इसका उन्हें अच्छी तरह ज्ञान होता है। त्याज्य और ग्राह्यका भी वे ज्ञान रखते हैं तथा प्रारब्धवश जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसका अनुसरण करते हैं। लोक और शास्त्रके विरुद्ध कार्योंसे वे सदा विरत रहते हैं। सज्जनोंके बीच रहने या सत्संग करनेके रसिक होते हैं। घरपर आये हुए याचकरूपी भ्रमरका वे प्रफुल्ल कमलोंके समान अपने ज्ञानका अनावृत सुगंध फैलाकर तथा उत्तम आश्रय एवं सुखद भोजन

देकर आदर-सत्कार करते हैं। जनताको अपनी ओर खींचते हैं और लोगोंके पाप-ताप हर लेते हैं। वर्षाकालके मेघोंकी भाँति वे स्निग्ध एवं शीतल होते हैं। धीर स्वभाववाले ज्ञानी पुरुष राजाओंके नाशक और देशको छिन्न-भिन्न करनेवाले व्यापक जन-क्षोभको उसी प्रकार रोक देते हैं, जैसे पर्वत भूकम्पको।

ज्ञानी पुरुष चन्द्रमण्डलके समान सुन्दर अङ्गवाली गुणशालिनी पत्नीके समान विपत्तिकालमें उत्साह एवं धैर्य प्रदान करते हैं और सम्पत्तिके समय सुख पहुँचाते हैं। साधुपुरुष वैशाख मास या वसन्तके समान अपने सुयशरूपी पुष्पसे सम्पूर्ण दिशाओंको निर्मल बनाते, उत्तम फलकी प्राप्तिमें कारण बनते और कोकिलके समान मीठी वाणी बोलते हैं। आपदाओंमें, बुद्धिनाशके अवसरोंपर भूख-प्यास, शोक-मोह तथा जरा-मरण—इन छः ऊर्मियोंके प्राप्त होनेपर, व्याकुलताकी दशामें तथा घोर संकट आनेपर साधु पुरुष ही सत्पुरुषोंके आश्रयदाता होते हैं। काल-सर्पसे भरे हुए अत्यन्त भयंकर संसार-सागरको सत्संगरूपी जहाजके बिना दूसरी किसी नौकासे पार नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त उत्तम गुणोंमेंसे एक भी गुण जिसमें उपलब्ध हो, उसके उसी गुणको सामने रखकर उसमें दीखनेवाले सब दोषोंकी उपेक्षा करके उसका आश्रय लेना चाहिये। सारे कामोंको छोड़कर सत्पुरुषोंका सङ्ग करे; क्योंकि यह सत्संगरूपी कर्म निर्बाधरूपसे इहलोक और परलोक दोनोंका साधक होता है। किसी समय कहीं भी सत्पुरुषसे अधिक दूर नहीं रहना चाहिये। विनययुक्त बर्ताव करते हुए सदा साधुपुरुषोंका सेवन करना चाहिये; क्योंकि सत्-पुरुषके समीप जानेवाले मनुष्यका उसके शान्ति आदि प्रसरणशील उत्तम गुण अनायास ही स्पर्श करते हैं, जैसे सुगन्धित पुष्पवाले वृक्षके निकट जानेसे उसके पुष्प-पराग बिना यत्नके ही सुलभ हो जाते हैं।

(सर्ग ९८)

सत्का विवेचन और देहात्मवादियोंके मतका निराकरण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! जो वस्तु शास्त्रीय विचारसे उपलब्ध होती है तथा जिसकी सत्ता हेतुओं और युक्तियोंद्वारा सिद्ध है, वही सत् कही गयी है। शेष सभी वस्तुएँ प्रतीतिमात्र हैं। जो तीनों कालोंमें कभी हुई ही नहीं, वह वस्तु सत् कैसे हो सकती है ? मूर्खकी दृष्टिमें इस संसारका जैसा स्वरूप है, उसे वही जानता है। हमलोगोंको उसका अनुभव नहीं है। मृग-तृष्णाकी नदीके जलमें जो मछली रहती है, वही उसकी मिथ्या चञ्चल लहरोंके आवर्तन-प्रत्यावर्तनको जानती होगी। तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें तो केवल एकमात्र चेतनाकाश ही बाहर-भीतर, तुम-मैं इत्यादि सब कुछ बनकर प्रकाशित हो रहा है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! जिन लोगोंका यह पक्ष (मत) है कि 'जबतक जीवे, तबतक सुखसे जीवे, मृत्यु अप्रत्यक्ष नहीं है। जो शरीर जलकर भस्म होकर बुझ गया, उसका पुनः आगमन कहाँसे हो सकता है ?' उनके लिये इस संसारमें दुःख-शान्तिका क्या उपाय है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! संवित्का जो-जो निश्चय होता है, वह अपने भीतर अखण्डरूपसे उसीका अनुभव करती है। इस बातका सब लोगोंको प्रत्यक्ष अनुभव है। अन्तःकरणमें नित्य-निरन्तर जैसी बुद्धिका उदय होता है, मनुष्य वैसा ही हो जाता है। यदि सवित्के बोधसे पुरुष दुखी हुआ है तो जबतक यह विरुद्ध बोध रहेगा, तबतक जीव दुःखमय बना रहेगा। यह जगत् सच्चिदानन्दरूप ब्रह्माकाशका स्फुरणमात्र ही है, ऐसी भावना दृढ़ हो जाय तो वह दुःखका बोध कैसे हो सकेगा ? जो जगत् वस्तुतः कूटस्थ अद्वितीय चेतनाकाशरूप

है, उस जगत्‌से किसको कैसे दुःखका बोध हो सकता है। जीवकी जैसी दृढ़ भावना होती है, उसीके अनुसार वह सुखी या दुखी होता है, ऐसा निश्चय है। जिनके मतमें चेतनसे शरीरोंकी कल्पना हुई है, वे श्रेष्ठ पुरुष वन्दनीय हैं; परंतु जिनके मतमें शरीरसे चेतनकी उत्पत्ति होती है, उन नराधमोंसे बाततक नहीं करनी चाहिये। (ऐसे लोग दुःखसे कैसे छूट सकते हैं।)

(सर्ग ९९-१००)

सबकी चिन्मात्ररूपताका निरूपण तथा ज्ञानी महात्माके लक्षणोंका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! चिन्मात्र ही पुरुष है, वही इस प्रकार नाना रूपोंमें अवस्थित है। उस चिन्मात्र परम पुरुष परमात्माके सिवा दूसरी किस वस्तुकी सत्ता यहाँ सम्भव हो सकती है? मेरे सारे अङ्ग चूर-चूर होकर परमाणुके तुल्य हो जायँ अथवा बढ़कर सुमेरु पर्वतके समान विशाल हो जायँ, इससे मेरी क्या क्षति हुई अथवा क्या वृद्धि हुई? क्योंकि मेरा वास्तविक स्वरूप तो सच्चिदानन्दमय है। हमारे पितामह आदिके शरीर मर गये, किंतु उनका चैतन्य तो नहीं मरा है। यदि वह भी मर जाता तो मृत आत्मावाले उनका तथा हमलोगोंका फिर जन्म नहीं होता। किंतु पुरुष अविनाशी चिन्मय ही है। वह आकाशके समान नित्य है। उसका कभी नाश नहीं होता है। 'मैं नष्ट होता हूँ या मरता हूँ' इस तरहका जो शोक है, वह सर्वथा व्यर्थ है। इसलिये न तो मरण दुःखरूप है और न जीवित रहना सुखरूप। यह सब कुछ नहीं है। केवल अनन्त चेतन परमात्मा ही इस तरह स्फुरित हो रहा है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! आदि और अन्तसे रहित परमतत्त्व परमात्माका भलीभाँति ज्ञान हो जानेपर उत्तम पुरुष कैसा—किन-किन लक्षणोंसे सम्पन्न हो जाता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! जिसे ज्ञेय वस्तु परमात्माका भलीभाँति ज्ञान हो गया है, ऐसा जीवन्मुक्त श्रेष्ठ पुरुष कैसा होता है तथा वह जीवनपर्यन्त कैसे स्वभावसे युक्त हो किस आचारका पालन करता रहता है, यह बताया जाता है, सुनो। ऐसा पुरुष यदि जंगलमें रहता हो तो वहाँ पत्थर भी उसके मित्र हो जाते हैं। वनके वृक्ष बन्धु-बान्धव और वन्य मृगोंके बच्चे उसके खजन बन जाते हैं। यदि वह विशाल राज्यमें रहता हो तो वहाँ जनसमुदायसे भरा हुआ स्थान भी उसके लिये शून्य-सा ही हो जाता है। विपत्तियाँ बड़ी भारी सम्पत्तियाँ हो जाती हैं और नाना प्रकारके व्यसन ही उसके लिये सुन्दर उत्सव बन जाते हैं। उसके लिये असमाधि भी समाधि है। दुःख भी महान् सुख ही है। वाणीका व्यवहार भी मौन है और कर्म भी अकर्म ही है। वह जाग्रत्-अवस्थामें रहकर भी सुषुप्तिमें ही स्थित है (क्योंकि निर्विकल्प आत्मामें उसकी सुदृढ़ स्थिति है)। वह जीवित रहता हुआ भी देहाभिमानसे शून्य होनेके कारण मृतके ही तुल्य है। वह समस्त आचार-व्यवहार-का पालन करता है, तो भी कर्तृत्वके अभिमानसे रहित होनेके कारण कुछ भी नहीं करता है। वह रसिक होकर भी अत्यन्त विरक्त है। करुणारहित होकर भी सबको अपना बन्धु मानकर सबके प्रति स्नेह रखता है। निर्दय होकर भी अत्यन्त करुणासे भरा हुआ है और स्वयं तृष्णासे शून्य होकर भी पराये हितके लिये तृष्णा रखता है। उसके आचारका सभी अभिनन्दन करते हैं तथापि वह सभी आचारोंसे बहिष्कृत है। शोक, भय और आयाससे शून्य होनेपर भी वह दूसरोंका दुःख देखकर शोकयुक्त-सा दिखायी देता है। उस पुरुषसे जगत्‌के प्राणियोंको कभी उद्वेग नहीं प्राप्त होता तथा वह भी उनसे कभी उद्विग्न नहीं होता। संसारमें (ब्रह्मा-

नन्दका) रसिक होकर भी वह संसारी मनुष्योंसे अत्यन्त विरक्त होता है। वह प्राप्त हुई वस्तुका न तो अभिनन्दन करता है और न अप्राप्त वस्तुकी अभिलाषा ही । अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थका अनुभव होनेपर भी वह हर्ष और विषादमें नहीं पड़ता। वह दुखी पुरुषके पास दुखियोंकी ही चर्चा करता है, सुखीके पास सुखकी ही कथा कहता है और स्वयं सभी अवस्थाओंमें हार्दिक दुःख-सुखसे पराजित न होकर सदा एक-सा स्थित रहता है। शास्त्रविहित शुभकर्मसे भिन्न दूसरा कोई निषिद्ध कर्म उसे किंचिन्मात्र भी अच्छा नहीं लगता। महात्मा पुरुषोंका यह स्वभाव ही है कि वे शास्त्रविपरीत चेष्टा कभी नहीं करते हैं।

जीवन्मुक्त महात्मा न तो कहीं आसक्त होता है और न किसीसे अकस्मात् विरक्त ही होता है। वह धनके लिये याचक होकर नहीं घूमता है और भीतरसे वीतराग होकर भी ऊपरसे रागयुक्त-सा जान पड़ता है। शास्त्रके अनुसार व्यवहार करते हुए क्रमशः जो सुखदुःख प्राप्त होते हैं, उनसे वस्तुतः वह अछूता रहता है तो भी उनका स्पर्श-सा करता जान पडता है। वह उन सुख-दुःखोंसे हर्ष और विषादके वशीभूत नहीं होता। अवश्य ज्ञानी महात्मा दूसरोंके सुखसे प्रसन्न और दूसरोंके ही दुःखसे दुखी देखे जाते हैं, परंतु वे भीतरसे अपने समतापूर्ण स्वभावका परित्याग कभी नहीं करते; क्योंकि वे संसाररूपी नाट्यशालाके नट हैं। अपने कहे जानेवाले पुत्र आदि जितने पदार्थसमूह हैं, वे सब वस्तुतः पानीके बुलबुलोंके समान मिथ्या हैं। अतः तत्त्वदर्शी महात्माका उनके प्रति (मोहरूप) स्नेह नहीं होता है। पर वह ज्ञानी महात्मा स्नेहरहित होनेपर भी घनीभूत स्नेहसे आर्द्र हृदयवाले पुरुषकी भाँति यथायोग्य वात्सल्य-वृत्तिका दर्शन कराता हुआ व्यवहार करता है। वह बाहरसे समस्त शिष्टाचारोंके पालनमें संलग्न रहकर भी भीतर सर्वथा शान्त बना रहता है। उसके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका आवेश नहीं होता तो भी बाहरसे कभी-कभी आविष्ट-सा दिखायी देता है।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—मुनीश्वर ! अश्वके सदृश ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए कलुषित चित्तवाले दम्भी मनुष्य भी तो झूठमूठमें अपनी तपस्याकी दृढ़ता दिखलानेके लिये ऐसे लक्षणोंसे युक्त हो सकते हैं। फिर, कौन सच्चे महात्मा हैं और कौन दम्भी, इसे कौन जान सकता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! ये लक्षण सत्य हों या असत्य, किंतु ऐसे लक्षणोंसे युक्त स्वरूपका होना हर हालतमें अच्छा ही है (इन लक्षणोंसे सम्पन्न पुरुष दम्भी हो तो भी आदरणीय ही है)। जो वेदार्थ-तत्त्व—परमात्माके ज्ञाता हैं, उनमें तो ये गुणसमूह स्वाभाविक अनुभवके बलसे ही प्रतिष्ठित रहते हैं। वे जीवन्मुक्त पुरुष वीतराग तथा क्रियाके फलोंमें आसक्तिसे शून्य होते हुए ही रागयुक्त पुरुषोंके समान चेष्टा करते हैं। वे दुखियोंको देखकर सहसा करुणासे भर जाते हैं। चित्तरूपी दर्पणमें प्रतिबिम्बित हुए समस्त दृश्यप्रपञ्चको वे कपटभूमिके समान असत् देखते हैं। स्वप्नमें हस्तगत हुए सुवर्णको जैसे जाग्रत्कालमें असत् माना जाता है, वैसे ही वे इस जगत्को असत् समझते हैं।

जिन्हें ज्ञेय पदार्थ—परमात्माका भलीभाँति ज्ञान हो चुका है और जो उन ज्ञानी महात्माओंके समान ही पवित्र अन्तःकरणवाले हैं, वे ही उन महात्माओंके महत्त्वको ठीक-ठीक जान पाते हैं, जैसे साँपके पदचिह्नोंको साँप ही समझ पाते हैं। श्रेष्ठ पुरुष तो अपने सर्वोत्तम भावको छिपाये फिरते हैं। भला, गाँव और नगरोंके धनोंसे जिसका खरीदा जाना असम्भव है, ऐसी कौन-सी चिन्तामणि बाजारमें बिकनेके लिये आती है ? उन तत्त्वज्ञानी महात्माओंका भाव अपने गुणोंको छिपाये रखनेमें ही होता है, दूसरोंके सामने प्रदर्शन करनेमें नहीं; क्योंकि वे वासनासे शून्य, द्वैत-

हीन एवं अभिमानसे रहित होते हैं ।* श्रीराम ! उन महात्माओंको एकान्तसेवन, असम्मान, बुरी स्थिति तथा साधारण लोगोंद्वारा की गयी अवहेलना—ये सब चीजें जैसा सुख पहुँचाती हैं, वैसा सुख उन्हें बड़ी-बड़ी समृद्धियाँ भी नहीं दे सकतीं ।

तत्त्वज्ञानका सारभूत जो निरतिशय आनन्द है, वह एकमात्र अपने अनुभवसे ही जाननेयोग्य है, उसे दूसरेको दिखाया नहीं जा सकता । तत्त्वज्ञ पुरुष भी उसे नहीं देखता, केवल स्वप्रकाशरूपसे उसका अनुभव करता है । 'लोग मेरे इस गुणको जानें और मेरी पूजा करें' ऐसी इच्छा अहंकारियोंको ही होती है । जिनका चित्त अहंकारसे मुक्त है, उनके भीतर ऐसी इच्छाका उदय नहीं होता है । † रघुनन्दन ! आकाशमें गमन आदि जो क्रियाफल हैं, वे तो मन्त्र और औषधके प्रभावसे अज्ञानियोंके लिये भी सिद्ध (सुलभ) हो जाते हैं । कोई ज्ञानी हो या अज्ञानी, जो लक्ष्यसिद्धिके लिये जैसा क्लेश सहन करनेमें समर्थ हो, वह वैसा ही फल कर्मानुसार अवश्य प्राप्त कर लेता है । चन्दनकी सुगन्धकी भाँति विहित और निषिद्ध कर्मोंका फल सभीके हृदयमें अपूर्व रूपसे विद्यमान है । समय पाकर प्रकट हुए उस फलको उसका अधिकारी जीव अवश्य पाता है । 'यह आकाशगमन आदि फल कुछ भी नहीं है—अत्यन्त तुच्छ है अथवा मनका भ्रममात्र है, या अधिष्ठानभूत चिदाकाशमात्र है'—जिसे ऐसा ज्ञान हो गया है, वह वासनाशून्य तत्त्वज्ञ पुरुष कर्मकी बवंडररूप उन मन्त्रौषधि-साध्य क्रियाओंका साधन कैसे करेगा ? उस महापुरुषका इस विश्वमें न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मोंके न करनेसे ही किसी भी प्राणीमें उसका किंचिन्मात्र भी स्वार्थका सम्बन्ध नहीं रहता । इस पृथ्वीपर, स्वर्गमें अथवा देवताओंके यहाँ भी कहीं कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो उस उदारचेता परमात्मज्ञानीको लुभा सके ।* जिसके लिये सारा संसार ही तिनकेके समान तुच्छ हो गया है, जिसमें रजोगुणका लेश भी नहीं है, उस ज्ञानी महात्माके लिये एकमात्र परमात्मासे भिन्न दूसरी कौन-सी वस्तु उपादेय हो सकती है ?

लोकसंग्रहके लिये जिसने जगत्‌के व्यवहारोंका पूर्णरूपसे निर्वाह किया है, जिसका हृदय परिपूर्ण (निष्काम) है, वह मननशील जीवन्मुक्त पुरुष अपने स्वरूपमें ज्यों-का-त्यों स्थिर रहकर यथाप्राप्त शिष्टाचारका अनुसरण करता है । जो भीतरसे नित्य शान्त और मौनी है तथा जिसकी मनोभूमि सत्त्वगुणमय हो गयी है, वह महात्मा भरे हुए महासागरके समान सब ओरसे पूर्ण होता है । तथा उसका आशय गम्भीर होनेके साथ ही सुस्पष्ट होता है । तत्त्वज्ञानी पुरुष अमृतसे भरे हुए सरोवरके समान अपने आत्मामें स्वयं ही आनन्दकी हिलोरें लेता है तथा निर्मल एवं पूर्ण चन्द्रमाके समान दूसरोंको भी आह्लाद प्रदान करता है ।

'यह सारा विश्व भ्रममात्र है, मिथ्या इन्द्रजाल है'—ऐसे दृढ़ निश्चयके कारण ज्ञानी पुरुष इच्छाओंसे सर्वथा रहित हो जाता है । ज्ञानी महात्मा अपने शरीरके सर्दी-गरमी आदि दुःखोंको भी इस तरह अवहेलना-पूर्वक देखता है, मानो वे दूसरेके शरीरमें हों ।

---

* भावं निगूहयन्त्येते तमुत्तममनुत्तमाः ।
ग्राम्यैर्धनैः किलानर्घ्यः कश्चिन्तामणिरापणे ॥
तस्मिन्निगूहने भावो यतस्तेषा न दर्शने ।
निर्वासना गतद्वैता गतमानाः किलाङ्गते ॥
(नि० प्र० उ० १०२ । २७-२८)

† गुणं ममेमं जानातु जनः पूजा करोतु मे ।
इत्यहंकारिणामीहा न तु तन्मुक्तचेतसाम् ॥
(नि० प्र० उ० १०२ । ३१)

* न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा क्वचित् ।
यदुदारमनोवृत्तेर्लोभाय विदितात्मनः ॥
(नि० प्र० उ० १०२ । ३८)

केवल परहितके लिये फल-फूल धारण करनेवाली लताके समान धीर वृत्तिसे तथा करुणाके कारण उदार वृत्तिसे वह महात्मा दुखी प्राणियोंका परिपालन करता है। वह संसारसे विरक्त होकर ऐसी सारभूत स्थितिको अपनाता है, जिसमें जलमात्र ग्रहण करके भी संतोष माना जाता है। साधारण लोगोंके समान यथाप्राप्त व्यवहारका सम्पादन करता हुआ वह महात्मा चराचर भूतोंके ऊपर (परब्रह्म परमात्मामें) ही स्थित होता है।

कोई महात्मा पर्वतकी गुफाको ही घर मानकर उसमें रहता है। कोई पवित्र आश्रममें निवास करता है। कोई गृहस्थाश्रमी होता है और कोई प्रायः इधर-उधर घूमता रहता है। कोई भिक्षाचर्यासे निर्वाह करता है, कोई एकान्तमें बैठकर तपस्या करता है, कोई मौनव्रत धारण किये रहता है, कोई परमात्माके ध्यानमें संलग्न होता है, कोई प्रख्यात पण्डित होता है, कोई श्रुतियोंका श्रोता होता है, कोई राजा, कोई ब्राह्मण और कोई मूढ़के समान स्थित रहता है, कोई सिद्ध गुटिका, अंजन और खड्ग आदिसे सिद्ध होकर आकाशगामी बना रहता है, कोई शिल्पकलासे जीवन-निर्वाह करता है, कोई पामरके समान रूप धारण किये रहता है। कोई सारे वैदिक आचारोंका परित्याग कर देता है तो कोई कर्मकाण्डियोंका सरदार बना रहता है, किसीका चरित्र उन्मत्तोंके समान होता है और कोई संन्यास-मार्गका आश्रय लेता है।

शरीर आदि और चित्त आदि कुछ भी पुरुषका स्वरूप नहीं है। केवल चेतन-तत्त्व ही पुरुष है। उसका कभी नाश नहीं होता है। यह आत्मा अच्छेद्य है—इसे कोई काट नहीं सकता। यह अदाह्य है—इसे कोई जला नहीं सकता। यह अक्लेद्य है—इसे कोई पानीसे भिगो या गला नहीं सकता। यह अशोष्य है—इसे कोई सुखा नहीं सकता। यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है। तत्त्वज्ञ पुरुष पातालमें समा जाय, आकाशको लाँघकर उसके ऊपर चला जाय अथवा सम्पूर्ण दिशाओंमें वेगपूर्वक भ्रमण करे, जिससे पर्वत आदिसे टकराकर वह पिस जाय या चूर-चूर हो जाय, परंतु उसका जो चिन्मात्र स्वरूप है वह अजर-अमर बना रहता है, वह कभी नष्ट नहीं होता; क्योंकि वह आकाशके समान अनन्त सदा शान्त, अजन्मा और कल्याणमय परमात्मस्वरूप ही है।

(सर्ग १०१, १०२)

इस शास्त्रके विचारकी आवश्यकता तथा इससे होनेवाले लाभका प्रतिपादन, वैराग्य और आत्मबोधके लिये प्रेरणा तथा विचारद्वारा वासनाको क्षीण करनेका उपदेश

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम! शम, दम आदि साधनसे सम्पन्न पुरुषको चाहिये कि वह उद्वेग छोड़कर प्रतिदिन गुरु-शुश्रूषा आदि नियमपूर्वक करता हुआ इस महारामायण नामक शास्त्रका विचार करे। यह शास्त्र इहलोक और परलोक दोनोंके लिये हितकर तथा कल्याणकारी है। आप सब सभासद् भाँति-भाँतिकी असम्भावना एवं विपरीतभावना आदिको अपने हृदयमें स्थान दिये हुए हैं। इसलिये मिल-जुलकर अभ्यास न करनेसे आप लोगोंका जाना हुआ भी यह आत्मज्ञान भूल जानेके कारण अनजाना-सा हो रहा है। जो जिस वस्तुको चाहता है, वह उसके लिये यत्न करता है। वह यदि थककर उस प्रयत्नसे निवृत्त न हो जाय तो अपनी अभीष्ट वस्तुको अवश्य प्राप्त कर लेता है। इस शास्त्रके सिवा कल्याणका सर्वश्रेष्ठ साधन आजतक न तो हुआ है और न आगे होगा ही। इसलिये परम बोधकी प्राप्तिके लिये इसीका बारंबार विचार एवं मनन करना चाहिये। इस शास्त्रका भलीभाँति विचार करके स्थित हुए पुरुषको स्वयं ही उत्तम परमात्मतत्त्वका बोध एवं अनुभव होने लगता है। वरदान और शापकी भाँति यह विलम्बसे अपना फल नहीं प्रकट करता।

यह परमात्मबोध संसार-मार्गके श्रमको हर लेनेवाला है। जो न तो पिताने, न माताने और न गुरु कर्मोंने ही अबतक सिद्ध किया है, वही आपका परम कल्याण यह महारामायण-शास्त्र तत्काल सिद्ध कर देगा, यदि आप अभ्यासपूर्वक इसे भलीभाँति जान लें। साधुशिरोमणे! यह संसार-बन्धनमयी विषूचिका (हैजा) बड़ी भयंकर है और दीर्घकालतक टिकी रहनेवाली है। आत्मज्ञानके सिवा दूसरी किसी दवासे यह कभी शान्त नहीं होती।

मनुष्यो! आपातमधुर, शून्य एवं निस्सार विषयोंका आस्वादन करते हुए तुमलोग खाली हवा चाटनेवाले सर्पोंके समान आकाशरूपी अनन्त संसारकी ओर पैर न बढ़ाओ। बड़े कष्टकी बात है कि तुम्हारे दिन केवल लौकिक व्यवहारमें ही इस तरह बीत रहे हैं कि वे कब आये और कब गये, इसका तुम्हें पता ही नहीं लगता। इन्हीं बीतते हुए दिनोंके द्वारा तुमलोग केवल अपनी मौतकी राह देख रहे हो। लोगो! तुम मान और मोहसे रहित होकर तत्त्वज्ञानके द्वारा उत्तम मोक्ष-पदको प्राप्त करो। अधम संसार-गतिमें न पड़ो। आत्मज्ञानके द्वारा बड़ी-से-बड़ी आपत्तियोंका मूलोच्छेद कर दिया जाता है। जो आज ही मरणरूपी आपत्तिसे बचनेका उपाय नहीं करता है, वह मूढ़ रुग्णावस्थामें, जब मौत सिरपर सवार हो जायगी, तब क्या करेगा?

आदरणीय सभासदो! मैं न तो मनुष्य हूँ, न गन्धर्व हूँ, न देवता हूँ, न राक्षस ही हूँ, अपितु आप लोगोंका सूक्ष्म संविद्रूप विशुद्ध आत्मा हूँ और इस प्रकार उपदेश देनेके लिये यहाँ बैठा हूँ। आपलोग भी शुद्ध चैतन्यमात्र ही हैं। अत्यन्त निर्मल चिन्मात्रस्वरूप मैं आपलोगोंके पुण्यसे ही यहाँ उपस्थित हूँ। आपकी आत्मासे भिन्न नहीं हूँ। जबतक मौतके काले दिन नहीं आ रहे हैं, तभीतक सब वस्तुओंमें वैराग्यरूपी पहला सार पदार्थ समेटकर रख लो। जो इस शरीरमें रहते हुए ही नरकरूपी रोगकी चिकित्सा नहीं कर लेता, वह औषधशून्य प्रदेश (परलोक) में पहुँचकर उस रोगसे पीड़ित होनेपर क्या करेगा? जबतक समस्त पदार्थोंकी ओरसे वैराग्य नहीं प्राप्त होता, तबतक उन पदार्थोंकी वासना क्षीण नहीं होती है। महामते! आत्माका पूर्णरूपसे उद्धार करनेके लिये वासनाको क्षीण करनेके सिवा दूसरा कोई उपाय कभी सफल नहीं होता। पदार्थोंकी सत्ता होती है, तभी उनमें अनुकूलता बुद्धि होनेसे वासना होती है। किंतु ये पदार्थ तो खरगोशके सींग आदिकी भाँति हैं ही नहीं। (फिर उनमें वासना बनी रहनेका क्या कारण है?) जगत्‌के सभी पदार्थ तभीतक मनोहर प्रतीत होते हैं, जबतक कि उनके स्वरूपपर सम्यक् विचार नहीं किया जाता। विचार करनेपर उनकी सत्ता ही सिद्ध नहीं होती। अतः वे जीर्ण-शीर्ण होकर न जाने कहाँ विलीन हो जाते हैं। (सर्ग १०३)

मोक्षके स्वरूप तथा जाग्रत् और स्वप्नकी समताका निरूपण

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—निर्मल आत्मस्वरूपका ज्ञान प्राप्त हो जानेपर जो लौकिक दुःख और सुखसे रहित अक्षय परमानन्दरूपता प्राप्त होती है, वही मोक्ष है। वह शरीरके रहने या न रहनेपर भी समानरूपसे ही उपलब्ध होता है। उसी मोक्ष-सुखमें सबका पूर्ण विश्राम हो।

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—स्वप्न और जाग्रत्-दोनों एक समान कैसे हो सकते हैं?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्नके संसारमें स्वप्नगत बन्धुजनोंके साथ विहार करनेके पश्चात् वहाँ मृत्युको प्राप्त होता है। स्वप्न-शरीरकी निवृत्ति ही स्वप्नद्रष्टाकी मृत्यु है। स्वप्न-संसार

मरकर जीव जब स्वप्नगत प्राणियोंसे वियुक्त होता है, तब इस जाग्रत्-संसारमें जागता है और निद्रासे मुक्त कहलाता है। जो स्वप्नका द्रष्टा है, वह स्वप्न-संसारमें अनेकानेक सुख-दुःख-दशाओंका, मोहका तथा रात और दिनके उलट-फेरका अनुभव करके वहाँ मरता—स्वप्न-शरीरका त्याग करता है। फिर निद्रा टूट जानेके कारण निद्राके अन्तमें वह यहाँ शयनस्थानमें मानो नया जन्म लेना है और जाग्रत्-शरीरसे सम्बद्ध होता है। तदनन्तर 'ये स्वप्नमें देखे गये बन्धु-बान्धव सत्य नहीं थे' इस विश्वाससे युक्त होता है। जैसे स्वप्न देखनेवाला पुरुष स्वप्नके संसारमें मृत्युको प्राप्त होकर अर्थात् स्वप्न-शरीरका त्याग करके दूसरे जाग्रन्मय स्वप्नको देखनेके लिये पुनः जन्म लेता या जाग्रत्-शरीरसे सम्बद्ध होता है, उसी तरह जाग्रन्मय स्वप्न देखनेवाला पुरुष जाग्रत्-संसारमें मृत्युको प्राप्त होकर दूसरे जाग्रन्मय स्वप्नको देखनेके लिये पुनर्जन्म ग्रहण करता है। जैसे एक जाग्रत्में मरकर दूसरे जाग्रत्में उत्पन्न हुआ पुरुष पूर्व जाग्रत् प्रपञ्चके विषयमें 'वह स्वप्न एवं असत् था' ऐसी प्रतीतिको नहीं प्राप्त होता, उसी तरह एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नको प्राप्त हुआ पुरुष बादवाले स्वप्नमें स्वप्नकी प्रतीतिको नहीं प्राप्त होता, वरं जाग्रत्की ही प्रतीति ग्रहण करता है। यह उसकी बुद्धिकी मूढ़ताका ही परिणाम है। जैसे बादवाले स्वप्नमें जाग्रत्की प्रतीति भ्रममात्र ही है, वैसे ही पूर्व-जाग्रत्को स्वप्न और असत् न समझना भी मूढ़ता ही है। स्वप्नद्रष्टा पुरुष स्वप्नमें भी फिर अन्य स्वप्न-दर्शनका अनुभव करता हुआ उस स्वप्नको ही जाग्रत्-रूपसे ग्रहण करता है। इस प्रकार जाग्रत् और स्वप्न नामकी दो अवस्थाओंमें जीव न तो स्वतः उत्पन्न होता है और न मरता ही है। किंतु उन-उन जाग्रत् और स्वप्नके शरीरोंमें अभिमान करता और छोड़ता है। यही उसका जन्म लेना और मरना है। स्वप्न-द्रष्टा जीव स्वप्नमें मरकर इस जागरण अवस्थामें जागा हुआ कहलाता है और इस जाग्रत्में मरा हुआ जीव अन्यत्र जाग्रत्रूप स्वप्नमें जागा हुआ कहा जाता है, (इस तरह स्वप्न और जाग्रत्की समता ही सिद्ध होती है)। एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें स्थिति होनेपर दूसरा स्वप्न ही पहले स्वप्नकी अपेक्षा वर्तमान होनेसे जाग्रत् समझा जाता है। इसी प्रकार जाग्रत्में मरकर दूसरे जाग्रत्रूप स्वप्नमें जगे हुए पुरुषके लिये पहली जाग्रदवस्था अवश्य ही स्वप्न हो जाती है। इस दृष्टिसे जाग्रत् और स्वप्न—दोनों ही अतीत घटनाके समान हैं। वर्तमानकालमें दोनोंमेंसे किसीकी भी सत्ता नहीं है। इस कारण वे परस्पर एक दूसरेके उपमान और उपमेय बने हुए हैं। वर्तमान अवस्थामें तो स्वप्न भी जाग्रत्के समान ही प्रतीत होता है और बीता हुआ जाग्रत् भी स्वप्नके समान ही है। वास्तवमें दोनों ही असत् हैं। केवल चिदाकाश ही स्वप्न और जाग्रत्के रूपमें स्फुरित होता है। सौभाग्यशाली रघुनन्दन! जैसे स्वप्नमें दीखनेवाले नगर, पर्वत और गृह आदि चिन्मय आकाश ही हैं, उसी तरह जाग्रत्में भी ये नगर, पर्वत आदि चिदाकाश-मय ही हैं। स्वप्न और जाग्रत्—दोनों अन्तमें विकल्प-शून्य, शान्त, अनन्त, एक चिन्मात्र ही शेष रह जाते हैं। इस प्रकार तत्त्वके विषयमें वादियोंका विवाद व्यर्थ है। (सर्ग १०४-१०५)

चिदाकाशके स्वरूपका प्रतिपादन तथा जगत्की चिदाकाश-रूपताका वर्णन

श्रीरामचन्द्रजीने पूछा—ब्रह्मन्! चेतनाकाशरूप जो परब्रह्म है, वह कैसा है? यह कृपापूर्वक फिर बताइये। आपके मुखारविन्दसे इस अमृतमय उपदेशको सुनते हुए मुझे तृप्ति नहीं हो रही है।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जैसे समान रूप-रंगवाले दो जुड़वें भाइयोंके व्यवहारके लिये दो पृथक् नाम रखे जाते हैं, वैसे ही अखण्ड सच्चिदानन्दघन स्फटिक शिलामें प्रतिविम्बकी भाँति स्थित हुए जो दो प्रपञ्च हैं, उनके व्यवहारके लिये दो नाम रख दिये गये हैं—जाग्रत् और स्वप्न । जैसे दो जलोंमें भेद नहीं होता, उसी प्रकार इन जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओंमें भी वास्तविक भेद नहीं है; क्योंकि वे दोनों ही एक, निर्मल चिन्मात्र आकाशरूप ही हैं । जिसमें सब कुछ लीन होता है, जिससे सबका प्रादुर्भाव होना है, जो सर्वरूप है, जो सब ओर व्याप्त है तथा जो नित्य सर्वमय है, उस परब्रह्म परमात्माको ही चेतनाकाश या चिदाकाश कहते हैं । स्वर्गमें, भूतलमें, बाहर-भीतर तथा दूसरेमें जो सम नामक ज्योति:स्वरूप परमतत्त्व प्रकाशित हो रहा है, वह चिदाकाश कहलाता है । सम्पूर्ण विश्व जिसका अङ्ग है, जिस नित्य सर्वव्यापी परमात्मामें यह मूर्त और अमूर्त जगत् उसी तरह प्रकट है, जैसे मजबूत तागेमें माला, उसीको चिदाकाश कहते हैं । सुषुप्ति और प्रलयरूप निद्राकी निवृत्ति होनेपर जिससे विश्व प्रकट होता है और जिसकी विक्षेपशक्तिके शान्त होनेपर उसका लय हो जाता है, उस परब्रह्म परमात्माको चिदाकाश कहते हैं । जिसके उन्मेष और निमेषसे (पलकोंके उठाने और गिरानेसे) जगत्की सत्ताके लय और उदय होते हैं, जो स्वानुभवरूप होकर अपने हृदयमें स्थित है, उसे चेतनाकाश समझना चाहिये । श्रुतिने 'यह नहीं, यह नहीं' इस प्रकार निषेधमुखसे सबका निराकरण करके जिसे उस निषेधकी अवधि बताकर उसके तटस्थ लक्षणका सर्वथा निर्णय कर दिया है तथा जो सदा सब कुछ होकर भी वस्तुत: कुछ नहीं है, वह सर्वाधार परमात्मा चिदाकाश कहलाता है । बाह्य और आभ्यन्तर विषयोंसे युक्त यह इस तरह दृष्टिगोचर होनेवाला सारा विश्व जैसा है, उसी रूपमें चेतनाकाशमय ही है । अत: इन्द्रियोंसे विषयोंका अनुभव करते हुए भी अन्त:करणको वासनाशून्य रखकर तत्त्वज्ञानद्वारा शुद्ध-बुद्ध एकमात्र सच्चिदानन्दघनरूप हो सुषुप्तिकी भाँति स्थित रहना चाहिये । वासनाशून्य शान्तचित्त हो जीवित रहते हुए भी पाषाणके समान मौन धारणकर सच्चिदानन्दघन परमात्मामें निमग्न रहते हुए ही बोलना, चलना और खाना-पीना चाहिये ।

पृथ्वी आदिसे रहित जो स्वप्न-जगत् है और पृथ्वी आदिसे युक्त जो जाग्रत्कालका जगत् है—ये दोनों ही प्रकारके जगत् चिदाकाशरूप हैं । जैसे स्वप्न आदि अवस्थाओंमें केवल चिन्मयमणि (आत्मा) ही विभिन्न वस्तुओंके रूपमें भासित होती है, उसी प्रकार इस जाग्रत्-कालिक दृश्यप्रपञ्चके रूपमें केवल चिदाकाश ही स्फुरित हो रहा है । इस चिदाकाशका जो स्वानुभवैकगम्य निराकार रूप है, वही भूतल आदिके रूपसे दृश्य नाम धारण करके प्रतीतिका विषय हो रहा है । (सर्ग १०६-१०७)

राजा विपश्चित्के सामन्तोंका वध, उत्तर दिशाके सेनापतिका घायल होकर आना तथा शत्रुओंके आक्रमणसे राजपरिवार और प्रजामें घबराहट

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! इस भूतल आदिके रूपसे दृश्यकी प्रतीति होना ही अविद्या है । जिन अज्ञानियोंके अन्त:करणमें अविद्या विद्यमान रहती है, उनकी उस अविद्याका (ज्ञानके विना) कोई अन्त नहीं है, जिस प्रकार ब्रह्मका कोई अन्त नहीं है । इस विषयमें मैं तुम्हें एक कथा कहता हूँ, सुनो । लोकालोक पर्वतकी किसी स्वर्णमयी-सी शिलाके भीतर विद्यमान चिदाकाशके एक कोनेमें किसी प्रदेशके अन्तर्गत एक त्रिलोकी बसी हुई है, जो इसी त्रैलोक्यके समान है और वहाँ भी यहींकी व्यवस्थाके अनुसार देश, काल आदिकी मर्यादा नियत है । वहाँ जम्बूद्वीप नामक एक भूभाग है, जो सम्पूर्ण भूमण्डलका भूषणरूप है । वहाँकी समतल भूमिपर जहाँ गमनागमनादि

व्यवहार सुगमतापूर्वक होते हैं, एक नगरी थी, जिसका नाम था ततमिति। उस नगरीमें विपश्चित् नामसे विख्यात कोई राजा थे, जो अपनी विद्वत्ताके कारण श्रेष्ठ सभासदोंसे सुशोभित अपनी राजसभामें विशेष शोभा पाते थे। राजा विपश्चित् बड़े स्वाभिमानी नरेश थे। उनकी बुद्धि सदा ब्राह्मणोंके हित-चिन्तनमें लगी रहती थी। इसीलिये वे देवताओंमें ब्राह्मणस्वरूप अग्निदेवका ही भक्तिपूर्वक पूजन करते थे। अग्निके सिवा दूसरे किसी देवताको वे नहीं मानते थे। राजा विपश्चित्के मन्त्रियोंमें चार प्रधान थे, जो चारों दिशाओंमें स्थित चार महासागरोंके समान मर्यादा-पालनके लिये नियुक्त थे। समुद्र मत्स्यों और मगरोंके समूहमे युक्त होते हैं तो वे मन्त्री हाथी और घोड़ोंके समुदायसे सम्पन्न थे। समुद्रोंमें आवर्तों (भँवरों) का व्यूह होना है तो इनके मन्त्रीलोग सैनिकोंके चक्रव्यूहसे युक्त थे। समुद्र तरङ्गमालाओंसे व्याप्त होते हैं तो मन्त्रीलोग सैनिकोंकी श्रेणियोंसे घिरे हुए थे। समुद्रोंमें निष्कम्प पर्वतोंके बलकी अधिकता होती है तो ये मन्त्रीलोग अडिग सैनिकोंकी शक्तिसे सर्वथा बढ़े-चढ़े थे।

एक दिन उनके पास पूर्वदिशासे एक चतुर गुप्तचर आया। उसने एकान्तमें राजासे मिलकर यह बड़ी भयंकर बात सुनायी—'महाराज! पूर्वदिशाके सामन्तकी ज्वरसे मृत्यु हो गयी है, मानो वे शत्रुविजयी आपकी आज्ञा पाकर यमराजको जीतनेके लिये गये हैं। उनके मरनेके बाद आपके दूसरे सामन्त दक्षिण देशके नायक सब ओरसे पूर्व और दक्षिण दिशाको जीतनेके लिये आगे बढ़े, परंतु शत्रुने पूर्व और पश्चिमकी सेनाओंद्वारा आक्रमण करके उन्हें भी मार डाला। उनके मरनेपर आपके तीसरे सामन्त जो पश्चिम दिशाके शासक थे, अपनी सेनाके साथ दक्षिण और पूर्व दिशाओंको शत्रुओंसे छुड़ानेके लिये प्रस्थित हुए, इतनेमें ही शत्रुओंने पूर्व और दक्षिण देशके राजाओंके साथ मिलकर बीच रास्तेमें ही युद्ध करके उन्हें भी स्वर्गलोकमें पहुँचा दिया।'

वह गुप्तचर इस प्रकार कह ही रहा था कि एक दूसरा गुप्तचर प्रलयकालके जल-प्रवाहकी भाँति राजमहलमें प्रविष्ट हुआ। वह बड़ी उतावलीके साथ आया था और अत्यन्त पीड़ित जान पड़ता था।

उस नये गुप्तचरने कहा—देव! उत्तर दिशाके सेनाध्यक्षपर शत्रुओंने आक्रमण कर दिया है। वे बाँध टूटनेपर वेगसे बहनेवाले जल-प्रवाहकी भाँति सेना-सहित इधर ही आ रहे हैं।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! यह सुनकर राजाने अब समय बिताना व्यर्थ समझा और अपने सुन्दर महलसे बाहर निकलते हुए इस प्रकार कहा—'सामन्त-नरेशों और मन्त्रियोंको कवच आदिसे सुसज्जित करके शीघ्र बुलाया जाय, शस्त्रागार खोल दिये जायँ, भयानक अस्त्र-शस्त्र बाँटे जायँ, समस्त योद्धा अपने-अपने शरीरमें कवच बाँध लें, पैदल सैनिक शीघ्र तैयार होकर आ जायँ, सेनाओंकी तुरंत गणना की जाय, श्रेष्ठ सैनिकोंको प्रोत्साहित किया जाय, सेनापतियोंकी नियुक्ति हो और सब ओर गुप्तचर भेजे जायँ।'

राजा विपश्चित् रोषावेशमें भरे थे। वे बड़ी उतावलीके साथ जब इस प्रकार आज्ञा दे रहे थे, उसी समय द्वारपाल भीतर आकर महाराजको प्रणाम करके घबराये हुए स्वरमें बोला।

द्वारपालने कहा—देव! उत्तर दिशाके सेनापति दरवाजेपर खड़े हैं और जैसे कमल सूर्यके दर्शनकी इच्छा करता है, उसी प्रकार वे राजाधिराज महाराजका दर्शन चाहते हैं।

राजा बोले—द्वारपाल! जल्दी जाओ। पहले सेनापतिको ही भीतर ले आओ। उनसे सब वृत्तान्त

सुनकर मैं यह जान सकूँगा कि दिगन्तोंमें कैसी घटना घटित हुई है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राघव! राजाके इस प्रकार आदेश देनेपर द्वारपालने सेनापतिको तत्काल भीतर भेजा। राजाने देखा, उत्तर दिशाके नायक सामने खड़े होकर मुझे प्रणाम कर रहे हैं। इनका सारा शरीर क्षत-विक्षत हो गया है। प्रत्येक अङ्गमें बाण धँसे हुए हैं, जोर-जोरसे साँस चल रही है, मुँहसे खून निकल रहा है, निर्बल होनेपर ही ये शत्रुसे पराजित हुए हैं। सेनापतिने लगातार साँस लेते हुए भी धैर्यपूर्वक अपने शरीरकी व्यथाको सहन करके महाराजको प्रणाम किया और शीघ्रतापूर्वक इस प्रकार कहना आरम्भ किया।

सेनाध्यक्ष बोले—देव! आपके तीन दिशाओंके सामन्त बहुत बड़ी सेनाके साथ मानो आपकी आज्ञासे ही यमराजको जीतनेके लिये यमलोकको चले गये। तदनन्तर उनके देशोंकी रक्षा आदि करनेमें मुझे असमर्थ समझकर बहुत-से भूपाल मेरा पीछा करते हुए बलपूर्वक यहाँ आ पहुँचे हैं। महाराजके इस राज्यमें शत्रुओंकी बहुत बड़ी सेना आ गयी है। अब जो कर्तव्य प्राप्त है, उसे कीजिये। शत्रुओंको मार भगाइये। महाराजके लिये किसीपर भी विजय पाना कठिन नहीं है।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! युद्धस्थलमें क्षत-विक्षत होनेसे अत्यन्त पीड़ित हुए उत्तर दिशाके सेनानायक जिस समय उपर्युक्त बातें कह रहे थे, उसी समय सहसा दूसरा पुरुष भीतर आकर यों बोला—'नरेश्वर! इस मण्डलके बहुत-से लोग पीपलके पत्तेकी तरह काँप रहे हैं। चारों ओर शत्रुओंकी बड़ी भारी सेनाएँ खड़ी हैं। जैसे लोकालोक पर्वतके तट सारी वसुधाको घेरे हुए हैं, वैसे ही हमारे शत्रुओंने इस भूमिको घेर लिया है। उनके हाथोंमें चक्र, गदा, प्रास और भालोंके समूह चमक रहे हैं। पताकाओं, अस्त्र-शस्त्रों, अन्य चपल सामग्रियोंसे तथा योद्धाओंसे युक्त रथ इधर-उधर दौड़ रहे हैं। वे उड़नेवाले त्रिपुरसमूहोंके समान जान पड़ते हैं।'

यों कहकर प्रणाम करके वह पुरुष तुरंत लौट गया, मानो समुद्रकी लहर कोलाहल करके शान्त हो गयी हो। राजाके महलमें खलबली मच गयी। उसकी दशा प्रचण्ड आँधीसे व्याप्त हुए विशाल वनके समान हो गयी थी। मन्त्री, राजा, योद्धा, आज्ञाकारी सेवक, हाथी, घोड़े, रथ, स्त्रियाँ, परिचारकवर्ग और नागरिकोंके समुदाय सभी घबराये हुए थे। सबने भयके कारण आत्मरक्षाके लिये अपने हाथोंमें हथियार उठा लिये थे।

(सर्ग १०८)

राजा विपश्चित्‌का अपने मस्तककी आहुतिसे अग्निदेवको संतुष्ट करके चार दिव्यरूपोंमें प्रकट होना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! इसी बीचमें जिनके अन्तरिक्ष लोकपर दैत्योंने आक्रमण किया हो, उन देवराज इन्द्रके समीप जैसे मुनि आते हैं, उसी प्रकार राजा विपश्चित्‌के पास उनके अन्य सब मन्त्री आये और इस प्रकार बोले—'देव! हमने यही निर्णय किया है कि अब हमारे शत्रु साम, दान और भेद—इन तीन उपायोंद्वारा वशमें किये जाने योग्य नहीं रह गये हैं। इसलिये उनपर दण्डका ही प्रयोग कीजिये।

राजा बोले—अच्छा, अब आपलोग शीघ्र ही युद्धके लिये जाइये और नगररक्षा एवं व्यूहरचना (मोर्चाबंदी) की व्यवस्था कीजिये। मैं स्नान करके अग्निदेवका पूजन करनेके पश्चात् समराङ्गणमें आऊँगा।

ऐसा कहकर राजाने गङ्गाजलसे भरे हुए घड़ोंद्वारा स्नान किया। तत्पश्चात् वे अग्निशालामें गये। वहाँ शास्त्रीय विधिसे अग्निदेवका आदरपूर्वक पूजन करके उन्होंने इस प्रकार विचार किया—'मैं विजय प्रदान करनेवाले

देवता अग्निको यहीं अपने मस्तककी आहुति दे दूँ।'

ऐसा निश्चय करके राजा बोले—देवेश्वर अग्निदेव! मेरा यह मस्तक आपको आहुतिके रूपमें समर्पित है। आज मेरे द्वारा यह अपूर्व पुरोडाश दिया जा रहा है। भगवन्! यदि मेरे द्वारा दी हुई मस्तककी इस आहुतिसे आप संतुष्ट हों तो आपके इस कुण्डसे मेरे चार शरीर प्रकट हों। वे चारों भगवान् नारायणकी चार भुजाओंके समान बलवान् और शोभासे दीप्तिमान् हों। उन चार शरीरोंद्वारा मै चारों ही दिशाओंमें बिना किसी विघ्न-बाधाके शत्रुओंका वध करूँ। प्रभो! मेरे मनमें आपके दर्शनकी इच्छा है; अतः आप मुझे दर्शन देनेकी भी कृपा करें।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! ऐसा कहकर उन महीपालने तलवार हाथमें लेकर अपने मस्तकको उसी प्रकार शीघ्र काट डाला, जैसे किसी बालकने खेल-खेलमें ही कुछ हिलते हुए कमलको तोड़ लिया हो। फिर उन्होंने अग्निदेवके उद्देश्यसे कटे हुए उस मस्तककी ज्यों ही आहुति दी, त्यों ही वे नरेश अपने शरीरके साथ ही अग्निमें गिर पड़े। उस शरीरको अपना आहार बनाकर अग्निदेवने उसे चौगुना करके उन्हें लौटा दिया। सच है, महापुरुषोंके उपयोगमें आयी हुई वस्तु तत्काल ही वृद्धिको प्राप्त हो जाती है। तदनन्तर वे पृथ्वीनाथ चार शरीर धारण करके अग्निकुण्डसे बाहर निकले। उस समय वे तेजःपुञ्जसे प्रज्वलित हो रहे थे और क्षीरसागरसे प्रकट हुए तेजस्वी नारायणदेवके समान जान पड़ते थे। राजाके वे चारों शरीर सूर्यकी-सी प्रभासे प्रकाशित हो रहे थे और साथ ही उत्पन्न हुए उत्तम मुकुट, आभूषण, अस्त्र-शस्त्र एवं वस्त्रोंसे सम्पन्न थे। कवच, शिरस्त्राण, किरीट-रत्न, कङ्कण, बाजूबंद, हार और बड़े-बड़े कुण्डलके साथ ही वे चारों शरीर प्रकट हुए थे। वे सबकी रक्षा करनेमें समर्थ और उच्च आशयवाले थे। सबकी आकृति एक-सी थी। वे समान अवयवोंसे सुशोभित थे और सब-के-सब चञ्चल उच्चैःश्रवाके समान उत्तम अश्वोंपर आरूढ थे। उन सबके पास सुनहरे बाणोंसे भरे हुए तरकस थे। वे चारों महामनस्वी थे और सभी एक समान डोरीवाले धनुष धारण किये हुए थे। उन सबके शरीरोंमें सर्वथा समानता थी और वे सभी शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न थे। वे पुरुष जिस हाथी, रथ और घोड़ेपर सवार होते थे, वह शत्रुओंद्वारा प्रयुक्त मन्त्र, तन्त्र, ओषधि, यन्त्र तथा अस्त्र-शस्त्र आदि दोषोंका लक्ष्य नहीं होता था। वे चारों चन्द्रमाकी प्रभाके समान अपनी हास्य-छटासे चारों ओर प्रकाश बिखेरते थे और आहुति पाकर प्रज्वलित हुए अग्निदेवसे सुन्दर विग्रहधारी चार विष्णु, चार समुद्र अथवा चार वेदोंके समान प्रकट हुए थे। (सर्ग १०९)

चारों विपश्चितोंका शत्रुओंके साथ युद्ध, भागती हुई शत्रुसेनाका पीछा करते हुए उनका समुद्रतटतक जाना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! तदनन्तर नगरके समीप पहुँचे हुए शत्रुओंके साथ चारों दिशाओंमें बड़ा भयंकर युद्ध छिड़ गया। चारों विपश्चित् चारों ओर शत्रुओंसे लोहा लेनेके लिये चतुरंगिणी सेनाके साथ समराङ्गणमें जा पहुँचे। उन्होंने शत्रुओंकी सेनाको समुद्रके समान उमड़ती देख उसे पी जानेका विचार किया और सब ओर वायव्यास्त्रका संधान किया, उसके साथ ही पर्जन्यास्त्रको भी छोड़ा। फिर तो उनके भीषण धनुषोंसे बाण आदि अस्त्रोंकी नदियाँ बहने लगीं। साथ ही तलवार आदिकी वर्षा होने लगी। उस महान् युद्धमें शत्रुओंकी सेनाका घोर संहार हुआ। समस्त सैनिक, जो मरनेसे बच गये थे, भागने लगे। वे चारों

विपश्चित् इस तरह भागते हुए शत्रुओंकी सेनाका पीछा करते-करते बहुत दूर चले गये। सम्पूर्ण शक्तियोंसे परिपूर्ण एकमात्र चेतन परमेश्वरसे प्रेरित हो समान अभिप्रायवाले उन चारों वीरोंने सम्पूर्ण दिशाओंमें विजय प्राप्त कर ली। जैसे नदियोंके प्रवाह समुद्रतक जाते हैं, वैसे ही उन्होंने समुद्रके किनारेतक शत्रुओंका पीछा किया। दूरतक बिना विश्राम किये चलते रहनेसे विपश्चित्‌के सैनिकोंके जीवन-निर्वाह और युद्ध आदिके सारे साधन प्रतिदिन छोटी-छोटी नदियोंके जलकी भाँति क्षीण होते गये। उनके शत्रुओंका भी यही हाल हुआ। प्रतिदिन दौडते हुए उनकी और शत्रुओंकी सारी सेनाएँ मुमुक्षुओंके पुण्य और पापकी भाँति निरन्तर नष्ट होने लगीं। जब सारे सैनिक नष्ट हो गये, तब उनके वे दिव्यास्त्र सफल होकर आकाशमें ही शान्त हो गये, जैसे जलाने योग्य ईंधन आदिका अभाव हो जानेपर आगकी ज्वालाएँ स्वयं ही बुझ जाती हैं। म्यानों, तरकसों तथा रथ, घोडे, हाथी और वृक्षसमुदाय आदि स्थानोंमें पड़े हुए अस्त्र-शस्त्र सायंकाल घोंसलोंमें छिपकर नींद लेनेवाले पक्षियोंके समान निश्चेष्ट हो गये। उस समय शून्यतारूपी जलसे भरा हुआ निर्मल आकाश बढ़े हुए विस्तृत एकार्णवके समान जान पड़ता था। उसके अस्त्र-शस्त्ररूपी जल-जन्तु मानो शान्त होकर कीचड़में विलीन हो गये थे। बाणरूपी जलकणोंकी वर्षाके कारण फैला हुआ कुहरा वहाँसे हट गया था, चक्ररूपी सैकडों आवर्त अब नहीं उठते थे। वहाँ निर्मल सौम्यता विराज रही थी। बादलोंके वेगपूर्वक वर्षा करनेसे उत्तुङ्ग तरङ्गोंकी भाँति ऊँची-ऊँची जलधाराएँ शान्त हो चुकी थीं। नक्षत्ररूपी रत्नराशि अदर छिप गयी थी और सूर्यरूपी बडवानल उसके एक देशमें विद्यमान था। सूर्य आदिके विस्तृत प्रकाशसे युक्त, गम्भीर एवं प्रभापूर्ण, धूलरहित वह स्वच्छ आकाश महात्माओंके रजोगुणरहित, आत्मप्रकाशसे पूर्ण, गम्भीर एव प्रसन्न मनकी भाँति शोभा पा रहा था। उन चारों विपश्चितोने चारों समुद्रोंको आकाशके छोटे भाइयोंके समान देखा, जो विमल, विस्तृत एवं सम्पूर्ण दिशाओंको परिपूर्ण करके स्थित थे। ऊँची-ऊँची तरङ्गें, जिनमें जल-जन्तु भी ऊपरको उठ जाते थे, इस तरह नीचे गिरती थीं, मानो आकाशके टुकडे-टुकड़े होकर नीचे गिर रहे हों। अपनी उठती हुई तरङ्गोंद्वारा अगवानी-सी करते हुए क्षारसमुद्रके विशाल तटपर जब विपश्चित्‌की सेना पहुँची, तब उन्हें अपने सामने गगनचुम्बी पर्वतके शिखरपर भ्रमरोंके समान काली वनपङ्क्ति शोभा पाती दिखायी दी, जो इलायची, लौंग, मौलसिरी, आँवला, तमाल, हिताल और ताड़के पत्तोंके ताण्डव-नृत्यसे विभक्त-सी जान पड़ती थी।

(सर्ग ११०—११३)

विपश्चित्‌के अनुचरोंका उन्हें आकाश, पर्वत, पर्वतीय ग्राम, मेघ, कुत्ते, कौए और कोकिल आदिको दिखाकर अन्योक्तियोंद्वारा विशेष अभिप्राय सूचित करना

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! तदनन्तर वहाँ पार्श्ववर्ती मन्त्री आदिने उन चारों विपश्चितोंको उस समय भिन्न-भिन्न वन, वृक्ष, समुद्र, पर्वत, ग्राम, मेघ और वनचर दिखाये।

तत्पश्चात् उन अनुचरोंने कहा—देव! देखिये, यहाँ युद्धमें लगे हुए सीमाप्रान्तके राजाओंके अस्त्र-शस्त्रोंकी राशियाँ चमचमा रही हैं और इनकी चतुरङ्गिणी सेनाएँ इधर-उधर विचर रही हैं। देखिये, देखिये, युद्धमें वीरोंद्वारा सम्मुख मारे गये सहस्रों वीरोंको विमानोंपर चढा-चढाकर स्वर्गीय अप्सराएँ उन विमानोंद्वारा आकाशमें लिये जा रही हैं। जो युद्धमें सामने आये हुए योद्धाको धर्मके अनुकूल चलते हुए योग्य[1] अवस्थामें वध करता है, वही शूरवीर

१. योग्य अवस्थासे तात्पर्य यह है कि यदि विपक्षी पैदल हो तो स्वय भी उसके साथ पैदल ही लड़ा जाय अथवा उसे

तया स्वर्गका अधिकारी है, दूसरा नहीं । महाराज ! देखिये, आकाश प्रबल मेघरूपी महासागरसे भरा हुआ है। उधर दृष्टिपात कीजिये, उसने चञ्चल तारोंके विशाल हार पहन रखे हैं। यह देखिये, इधर घने अन्धकारके समान वह नीला दिखायी देता है। उधर दृष्टि डालिये, वह चन्द्रमाकी उज्ज्वल किरणोंसे धोया हुआ-सा जान पड़ता है। आकाश यद्यपि जगत्‌के सम्पूर्ण दोषोंसे पूर्ण है, फिर भी वह सदा ही अविकारी रहता है। मैं समझता हूँ इस आकाशको तत्त्वज्ञानी पुरुषकी भाँति सर्वानर्थ-शून्यताका सुख प्राप्त है। धूम, बादल, धूल, अन्धकार, सूर्य, चन्द्रमा, संध्या, ताराबृन्द, विमान, गरुड़, पर्वत, देवता और असुर—इन सबके क्षोभ आकाशमें ही होते हैं तो भी उनसे प्रभावित होकर यह अपने स्वभाव (निर्विकारता एवं शान्ति) का कभी त्याग नहीं करता। अहो ! जिसका आशय महान् है, उसकी स्थिति अत्यन्त उन्नत एव विचित्र दिखायी देती है।

यह जो त्रिभुवनरूपी भवन है, इसमें काल और क्रिया—ये दो दम्पति चिरकालसे रहते और इसकी रक्षा करते हैं, ठीक उसी तरह, जैसे माली और मालिन फूलोंसे भरे हुए उपवनमें रहते और उसकी देख-भाल करते हैं। यद्यपि काल और क्रियाके द्वारा इस त्रिभुवन-भवनकी रक्षा नहीं होती, अपितु प्रतिदिन इनके द्वारा इसके नाशकी ही व्यवस्था होती रहती है तथापि आजतक नष्ट नहीं हो रहा है, यह कैसी आश्चर्यजनक माया है !

मालूम होता है आकाश वृक्ष आदिकी अधिक उन्नतिको रोकता है—उन्हें बहुत ऊँचा नहीं बढ़ने देता। यदि कहें कि आकाशमें कोई निरोधक व्यापार है ही नहीं, फिर वह किसीकी उन्नतिके अवरोधका कर्ता कैसे हो सकता है तो वह ठीक नहीं है। यद्यपि आकाश अकर्ता ही है, तथापि महान् है और महान्‌में उसकी महिमासे ही कर्तृत्वका उदय हो जाता है। जहाँ लाखों जगत् उत्पन्न और विलीन होते है, उस आकाशको शून्य कहा जाता है। शून्यतावादीके इस प्रौढ़ पाण्डित्यको धिक्कार है। समस्त प्राणी आकाशसे ही उत्पन्न होते, आकाशमें ही स्थिर रहते और आकाशमें ही विलीन होते हैं। इसलिये शास्त्रसिद्ध ईश्वरका लक्षण आकाशमें घटित होनेके कारण वह ईश्वररूप ही है। जिसमें इस जगत्‌रूपी भ्रमका उदय और अस्त होता है, जो असीम होनेके कारण समस्त वस्तुओंको अपने शरीरमें धारण करता है और त्रिलोकीरूपी मणियोंका सुविस्तृत आधार है, वह महाकाश चित्स्वरूप है और परब्रह्म ही है; ऐसा मेरा विश्वास है।

देखिये, यहाँ सुमेरु पर्वतके शिखरपर निर्मल कान्तिवाली एक सुवर्णमयी शिला है, जो सारी-की-सारी सूर्यकी किरणोंके पड़नेसे अपनी प्रभासे इस तरह उद्भासित हो रही है, मानो तटतक आनेवाली समुद्रकी चञ्चल लहरोंसे फेंका गया बडवानलका कोई कण प्रकाशित हो रहा हो। इस पर्वतीय ग्रामकी गौओंके झुंडमें तुरंत खिली हुई कलिकाओंके दलोंके भीतर छिपे-छिपे गुञ्जारव करनेवाले मदान्ध भ्रमरोंके दर्शनसे उद्दीपित कामनावाले गिरि-गह्वरनिवासी पामर लोगोंको भी जो आनन्द प्राप्त होता है, वह नन्दनवनमें विहार करने-वाले देवताओंको भी सुलभ नहीं है। इस पर्वतराज-के जंगलोंमें बसे हुए ये गाँव अपनी शोभा और महत्तासे चन्द्रमाको भी पराजित कर रहे हैं। जिनके एक बगलमें प्रकाशित मनोहर चन्द्रमण्डल मण्डन (आभूषण) का काम दे रहा है और दूसरी बगलमें जलके भारसे भारे हुए मेघरूपी गजराज विश्राम करते हैं; ऐसे पर्वत-तटोपर बसे हुए इन

कोई योग्य सवारी दे दी जाय। इसी तरह यदि वह शस्त्ररहित हो तो स्वय भी शस्त्रहीन होकर उसके साथ युद्ध किया जाय अथवा उसे भी शस्त्र दे दिया जाय।

गाँवोंमें जो विलासलक्ष्मी लक्षित होती है, वह ब्रह्माजीके वैभवशाली राज्योंमें भी कहाँ सुलभ है ?

देखिये, स्फटिक मणिके खम्भोंकी राशियोंके समान सुरम्य एवं मोटी धारसे गिरनेवाले निर्झर-सलिलसे सुशोभित इस ग्रामगुफामें ये मोरनियाँ कैसा नृत्य कर रही हैं। जहाँ निर्झरोंसे झरते हुए जलका कलकल नाद फैल रहा है, ऐसे इस पर्वतीय ग्रामके कुञ्जोंमें विलासिनी मयूरियाँ और फूलोंके भारसे झुकी हुई लताएँ भी नाच रही हैं।

(अब मेघके व्याजसे किसी ऐसे दाताको लक्ष्य करके निम्नाङ्कित बात कही जाती है, जो दान करते समय पात्रापात्र और गुण-अवगुणका विचार न करता हो, इसे अन्योक्ति कहते हैं—) मेघ ! तुम्हारा शील-स्वभाव श्रीमानोंके समान है, आशय (हृदय) महान् (उदार) है। तुम आतप (संताप) को हर लेते हो। तुम्हारी आकृतिसे ही उच्चता और गम्भीरता व्यक्त होती है। तुम पर्वतों (अथवा राजाओं) के शिरोभूषण हो और भूतलके लिये रसके एकमात्र आधार हो। इस प्रकार तुममें बहुतसे गुण हैं, परंतु यह एक ही बात हमारे हृदयको छेदे डालती है कि तुम हर्षसे वर्षा (दान) करते समय ऊसर भूमियोंमें, ताल-तलैयोंमें और वहाँके कटीले वृक्षोंमें भी उसी तरह जलका विभाजन करते हो, जैसा सुन्दर उपजाऊ खेतोंमें किया करते हो (योग्यता-अयोग्यताका कोई विचार नहीं करते हो)।

(अब दान देनेके पूर्व दान लेनेवालोंके प्रति कठोर और कटुवचन सुनानेवाले दाताको लक्ष्य करके निम्नाङ्कित बात कही जाती है, यह भी मेघान्योक्ति ही है—) जलद ! तुम प्रतिदिन समुद्र और गङ्गा आदि उत्तम तीर्थोंकी जलराशिसे स्नान करते हो, ऊँचे स्थानपर बैठे हो, शुद्ध होकर वनभूमिमें निवास करते और मुनियोंके समान मौनव्रतका आश्रय लेते हो। यद्यपि शरत्-कालमें सब कुछ लुटाकर तुम खाली हो जाते हो तो भी तुम्हारे शरीरपर अत्यन्त उत्तम उज्ज्वल कान्ति ही लक्षित होती है। परंतु ऐसे होकर भी जो तुम जलदानके लिये ऊपर उठकर बिजलीके साथ वज्रकी गडगडाहट पैदा करते हो, यह क्या है ? तुम्हारा ऐसा तुच्छ आचरण क्यों होता है ?

अयोग्य स्थानमें पड जानेपर सारी अच्छी वस्तु भी बुरी हो जाती है। देखो न, मेघरूपी दूषित स्थानको पाकर श्वेत जल भी काला हो गया है। अहो ! मेघने जलकी वर्षा की और उस जलसे सारी पृथ्वी आप्लावित हो गयी। जैसे धनाढ्य पुरुष अपने दीन-दुखी प्रेमीको धन-दौलतसे पुष्ट करते हैं, उसी प्रकार जलने भूतलकी मुर्झायी हुई खेतीको हरी-भरी एवं पुष्ट कर दिया। यह कितने हर्षकी बात है।

(शूरवीर और कायरमें अन्तर बतानेवाली अन्योक्ति—) सिंह और कुत्ता दोनोंमें समानरूपसे पशुता विद्यमान है—दोनों पशु जातिके ही जीव हैं परंतु मेघगर्जन आदिसे होनेवाले कोलाहलको सिंह और ही प्रकारसे सहता है और कुत्ता और ही प्रकारसे। सिंह उस कोलाहलको सुनकर मनमें क्षोभ या भयका अनुभव नहीं करता। वह उपेक्षासे आँखें बंद करके सहन करता है। परंतु कुत्ता मेघ-गर्जनको सुनकर मन-ही-मन भयसे काँप उठता है और भयसे ही आँखें बंद करके उस कोलाहलको सहन करता है।

(कुत्ते-जैसे स्वभाववाले मनुष्यको लक्ष्य करके कही गयी अन्योक्ति—) सदा अपवित्र रहनेवाले कुत्ते ! तू अपने प्रियजनों (सजातीय कुत्तों) के ही निकट आने-पर भों-भों किया करता है। तेरा सारा समय गली-कूचोंमें मारे-मारे फिरनेमें ही व्यतीत होता है। मालूम होता है तुझे अपनी चित्तवृत्तिके ही अनुरूप मानकर किसी मूर्खने तुझको अपने इन दुर्गुणोंकी शिक्षा दे दी है। जीवके कर्मोंकी विषमतावश विषम जगत्‌की रचना करनेवाले विधाताने अपनी पुत्री देवशुनी सरमाके पुत्ररूप अपने

दौहित्र कुत्तेमें उसके अनुरूप सभी धर्मोंका एकत्र दर्शन करानेके लिये निम्नाङ्कित सब बातें एक साथ ही रच डालीं। वे सब बातें इस प्रकार हैं—अपने ही बनाये हुए कूड़े-करकटके अपवित्र गड्ढेमें रहना, गूह और पीब खाना, जहाँ सबकी दृष्टि पड़ती हो, ऐसी सड़कों या खुली जगहोंमें कुत्सित मैथुनकी इच्छा तथा सबसे निन्दनीय शरीर। इन सबको विधाताने कुत्तोंके ही हवाले कर दिया।

किसीने कुत्तेसे पूछा—'तुझसे बढ़कर नीच कौन है ?' ऐसा प्रश्न करनेवालेसे कुत्तेने हँसकर कहा—'जो मूर्खता (अज्ञान), अपवित्र देहादिका अभिमान तथा अन्धता (विचाररूपी दृष्टिसे वञ्चित होना)—इन दुर्गुणोंका एवं अशुभ वस्तुका सेवन करता है, वह मुझसे भी अधिक नीच है।' प्रश्न करनेवालेने फिर पूछा—'तुझमें कौन-से ऐसे गुण हैं, जिसके कारण तुझे मूर्खसे अच्छा समझा जाय ?' कुत्तेने उत्तर दिया—'शूरता, स्वाभाविक स्वामिभक्ति और धृति (थोड़ेमें ही संतोष कर लेनेकी क्षमता)—ये सुन्दर गुण जो मुझमें हैं, लाखों प्रयत्न करके ढूँढ़नेपर भी मूर्खके पास नहीं पाये जा सकते।' कुत्ता सदा अपवित्र वस्तु खाता है, अपवित्र विष्ठाके ढेरमें ही सदा रमता है, नेवले, चूहे आदि जीवित प्राणियोंको भी चुपचाप खा जाता है और निर्बल बकरीके बच्चे आदिको भी बिना किसी अपराधके ही काट खाता है तथा कुतियाके साथ मैथुनमें प्रवृत्त होनेपर सब लोग आकर उसे ढेले मारते हैं। विधाताने संसारमें बेचारे असमर्थ कुत्तेको जन्मभर दुःख भोगनेके लिये ही रचा है।

(कोई अनुचर शिवलिङ्गपर बैठे हुए कौएकी ओर राजाका ध्यान आकृष्ट करता हुआ कहता है—) शिव-लिङ्गके ऊपर बैठकर काँव-काँव करता हुआ यह कौआ अपने आपको ही दृष्टान्तरूपसे दिखाकर कहता है—'लोगो ! अधोगतिमें डालनेवाले जितने पातक हैं, उन सबमें श्रेष्ठ है शिव-सम्पत्तिका उपभोग। इस महान् पातकमें स्थित हुए मुझ कौएको प्रत्यक्ष देखो।'

नीच कौए ! तू सदा कानोंको कटु प्रतीत होनेवाली काँव-काँवकी आवाज किया करता है और इसके द्वारा तूने मीठी बोली बोलनेवाले हंस आदिके गुणोंको कवलित कर लिया है—मिटा दिया है। अब सरोवरके भीतर कीचड़में घूमता हुआ जो तू अपनी कठोर बोलीसे भ्रमरों-के मधुर गुञ्जारवको छिपाये देता है, यह मेरे सिरपर बाणोंके प्रहारकी-सी वेदना पैदा करता है।

कौआ सरोवरमें आनेपर भी जो नरकसमूह (गन्दी चीजों) को ही खाता है और कमलकी नालको छोड़ देता है, इस विषयमें आपको कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये। जिसको जिस वस्तुके खानेका अभ्यास है, उसे सदा वही स्वादिष्ट प्रतीत होती है।

नाना प्रकारके वन-पुष्पोंके केसर लग जानेसे कौएका शरीर सफेद-सा दिखायी देने लगा। इतनेसे ही लोगोंने उसे हंस समझ लिया; किंतु जब उसने सड़े-गले कीडों-मकोड़ोंको निगलना आरम्भ किया, तब उसका असली रूप पहचानमें आ गया—सबने जान लिया कि यह कौआ है।

कौओंके झुंडमें बैठा हुआ कोकिल मौन, चेष्टा, विहार, रूप-रंग और आकार-प्रकारमें कौओंके साथ पूरी समानता रखनेपर भी मीठी बोलीके द्वारा दूरसे ही पहचान लिया जाता है कि यह कौआ नहीं, रुचिर कान्तिवाला कोकिल है—ठीक उसी तरह, जैसे मूर्खोंके बीचमें बैठे हुए पण्डितकी पहचान हो जाती है। अपनी आकृतिसे ही भव्य गुणोंको सूचित करनेवाले सभी पुरुष अनुरूप आन्तरिक चमत्कारसे ही विख्यात हो जाते हैं।

भैया कोकिल ! इस समय यह मधुर कलरव करनेसे कोई लाभ नहीं। इससे तुम्हारा बहुमूल्य गुण नहीं प्रकट हो रहा है। किसी विशाल वृक्षकी कन्दराके भीतर जीर्ण-शीर्ण पत्तोंसे ढके हुए खोखलेमें चुपचाप बैठे रहो। यह कर्ण-कटु काँव-काँवकी रट लगानेवाले कौओंसे भरा हुआ शिशिरका

समय है। सखे! इस समय यह वसन्तका उत्सव नहीं है।

यह कोयलका बच्चा अपनी माता काकीको छोड़कर जो चला गया, यह एक आश्चर्यकी बात है। फिर यह काकी माँ, जो इस बच्चेको चोंच और पंजोसे मार रही है, यह दूसरा आश्चर्य है। मै इन बातोंपर क्षणभर ज्यों ही सोच-विचार करने लगा, त्यों ही यह कोयलका बच्चा भी अपनी माँके समान बढ़नेके लिये उत्साहसे सम्पन्न हो गया। यह तीसरा आश्चर्य दृष्टिगोचर हुआ। वास्तवमें स्वभाव-सुभग भाग्यशाली पुरुष जिस दिशामें आता है, वही उसके लिये माहात्म्यदायिनी बन जाती है।

(सर्ग ११४–११६)

सरोवर, भ्रमर और हंसविषयक अन्योक्तियाँ

विपश्चित्के सहचरोंने कहा—राजन्! देखिये, यहाँ सामने पर्वतके शिखरपर जो सुन्दर सरोवर है, उसमें कह्लार, कमल और उत्पलोंकी नालके लिये ललकते हुए विचित्र कलरव करनेवाले हंस आदि पक्षी सब ओर फैले हुए हैं। इससे वह सरोवर ऐसा जान पड़ता है, मानो नक्षत्रोंसहित आकाश ही उसमें प्रतिबिम्बित हो रहा है। यह सरोवर इस पृथ्वीपर कमलासन ब्रह्माजीका गृह-सा जान पडता है। इसमें जो सहस्रदल-कमल खिले हुए हैं, उनकी नालें बहुत ऊपरतक उठी हुई हैं और उनके कोशस्थलोंमें सुन्दर शोभाका भार लिये राजहंस बैठे हुए हैं (ब्रह्मलोकमें भी यही विशेषता है)। इसके सिवा ब्रह्माजीके भवनमें भ्रमरोंके समान काली इन्द्रनीलमणिकी चौकीपर ब्राह्मणलोग विराजमान होते हैं। इस सरोवरमें काले-काले भौंरे ही इन्द्रनीलमणिकी चौकी हैं। उनसे संयुक्त फूलोंपर बैठे हुए पक्षियोंके समूह ही ब्राह्मण-वृन्दका स्थान ग्रहण किये हुए हैं।

पवित्र-हृदयके समान निर्मल कमलोंसे भरा हुआ और हृदयको अत्यन्त आह्लाद प्रदान करनेवाला यह स्वादिष्ठ जलसे परिपूर्ण सरोवर सत्सगके समान सुशोभित होता है। सत्संग भी हृदयारविन्दको पवित्र करनेवाला, मनको आनन्द देनेवाला, अत्यन्त सरस और मधुर होता है। हेमन्तऋतुमें सरस सारसोंसे युक्त यह सरोवर कुहासेसे ढक जानेके कारण कुछ-कुछ दिखायी देता है। बर्फसे ढके रहनेके कारण इसकी श्यामता दूर हो गयी है। यह सफेद-सा दीखने लगा है। अतएव बर्फके बादल-सा जान पडता है। इसके जलबिन्दुओंको छूकर बहनेवाली वायु बड़ी कठोर जान पड़ती है।

राजन्! जैसे यह दृश्यजगत् ब्रह्मसे भिन्न नहीं है—विकार आदिसे रहित ब्रह्मरूप ही है, तथापि ब्रह्मसे पृथक्-सा प्रतीत होता है, उसी तरह इस जलमें जो तरङ्ग आदि हैं, वे जलसे भिन्न नहीं हैं तो भी उससे पृथक्-से स्थित हैं। हाय! अपने ही जलसे बहाये जाकर चक्राकार भँवर प्रकट करनेवाले इन जलाशयोंकी एकके बाद दूसरीके क्रमसे उठनेवाली तरङ्ग-परम्परा बड़ी विषम है। (इसका दूसरा अर्थ यों समझना चाहिये—) जिनका अन्तःकरण जड या मूढ़ है, वे अपने ही अज्ञानसे संसारके प्रवाहमें बहते हैं और अपने लिये शुभाशुभ कर्मोंके चक्रका निर्माण करते हैं। उनके मनोरथरूपी तरङ्गोंकी परम्परा संकटमें डालनेवाली होती है।

जलमे उत्पन्न होनेवाले कमल, उत्पल आदिके ससर्गसे जीर्ण हुए इस सरोवरकी उपमा विविध जड योनियोंके सम्बन्धसे जर्जर हुए देहधारी जीवके मनसे दी जाती है। सरोवरमें कमल आदिकी तथा मनमें भिन्न-भिन्न योनियोंके शरीरोंकी जर्जर-दशापर्यन्त जो तरङ्गें (विषय-भोगोंकी अभिलाषाएँ) उठती हैं, उनके वेगसे व्याप्त इच्छा-द्वेष आदि वृत्तियोंके परिवर्तनोंकी भाँति जो असंख्य कमल प्रकट होते है, उन्हें कौन गिन सकता है?

अहो ! जड अथवा जलके संगमका कैसा विचित्र प्रभाव है कि मुकुलावस्थामें कमल भी अपने सौन्दर्य, सौगन्ध्य और माधुर्यादि गुणोंको दोषोंकी तरह गलेके भीतर छिपाये रखता है तथा कुरूप काँटोंको सबके सामने प्रकट करके दिखाता है (यह कुसंगतिका फल है)। जो गुण कमलके तन्तुओंकी भाँति छिद्रयुक्त (सदोष), कमजोर, सूक्ष्म, छिपाये हुए, जडतासे संयुक्त और अधिक होनेपर भी सारहीन हों, उनसे कोई लाभ नहीं है।

भगवान् विष्णुके वक्षःस्थलमें विराजमान, सौन्दर्य-माधुर्यकी देवी भगवती लक्ष्मी भी शोभाके लिये ही हाथमें कमल धारण करती हैं; कमलकी इससे बढ़कर प्रशंसा और क्या हो सकती है !

जो भ्रमर कमलोंके मधुर मकरन्दके मद और आमोद-से मतवाले हो उन्हीं कमलोंपर गुञ्जारव करते हैं, वे अन्य फूलोंके रसास्वादनसे संतुष्ट हुए दूसरे भौंरोंका मानो उपहास करते हैं।

अरे भ्रमर ! तू नाना प्रकारके फूलोंके रसका आस्वादन करता हुआ समस्त पर्वतोंके लताकुञ्जोंमें जो प्रतिदिन चक्कर लगाता रहता है, उससे आजतक संतुष्ट क्यों नहीं हो रहा है ? जान पड़ता है तेरा हृदय शुद्ध नहीं, दूषित है। मालूम होता है अबतक तुझे वनोंसे सारतत्त्व नहीं प्राप्त हुआ (तभी तो तुझमें असंतोष बना रहता है)।

मधुप ! तू कमलकुलके मकरन्दका आस्वादन करनेमें प्रवीण है; अतः कमलोंसे भरे हुए सरोवरमें ही चला जा। मकरन्दसे पुष्ट हुए अपने इस शरीरको बेरोंकी झाड़ियोंमें इनके कण्टकरूपी आरोंसे विदीर्ण न कर।

हंस ! तुम जलकाक, बगुले और कौए आदि हिंसक जन्तुओंसे भरे हुए इस तालाबमें सदा अकेले न रहा करो। आपत्तिकालमें भी समान शील, अवस्था और भाषावाले स्वजनवर्गके साथ रहना ही अच्छा फल देने-वाला होता है। (सर्ग ११७)

बगुले, जलकाक, मोर और चातकसे सम्बन्ध रखनेवाली अन्योक्तियाँ

अब राजाके सहचर-सहचरियोंने कहा—राजन्! देखिये, बगुला प्रायः गुणहीन होता है, तो भी इसमें एक गुण अवश्य है, यह 'प्रावृट्-प्रावृट्' कहकर सदा वर्षाकालका स्मरण दिलाता है।

ओ बगुले ! तालाबमें बैठनेपर तू अपनी सफेद पाँखों-से हंस-सा ही जान पड़ता है, परंतु मेरी एक सलाह मान ले—जलकाकोंके साथ मैत्री, प्राणिवधकी क्रूरता और कर्णकटु वाणी—इन दोषोंको त्यागकर तू स्पष्ट रूपसे हंस बन जा। (तू अपनेमें रूप-रंगके साथ गुण भी हंसोंके ही संचित कर।)

'इस तरह स्वार्थके लिये लोगोंका गला घोंटा जाता है' इस बातको अपने व्यवहारसे दिखाता हुआ मद्गु (जलकाक) मेरा गुरु बन गया है—ऐसा कहकर दुष्ट लोग उसकी प्रशंसा करते हैं।

गर्दन ऊँची किये और सुन्दर सफेद पंख फैलाये बगुलेको आकाशमें उड़ता देख लोगोंने जाना कि यहाँ हंस ही आ गया, किंतु जब वह तलैयामें उतरकर कीचड़-भरे जलसे मछली पकड़ने लगा तो सब लोगोंको निश्चय हो गया कि यह बगुला ही है।

जो बहुत समयतक अपनी अत्यन्त चपलताका परिचय दे चुके थे, वे ही बगुले जब मछलियोंको पकड़नेके लिये तपस्याका ढोंग रचने लगे—तपस्वीकी तरह ध्यान लगाकर बैठे; तब वहाँ इसी स्वभाववाले धूर्तोंको अन्धकारकी प्रतीक्षामें ध्यान लगाकर बैठा देख तटपर खड़ी हुई एक चतुर नारीको बड़ा विस्मय हुआ।

बगुला, जलकाक और अन्यान्य हिंसक जलजन्तु सदा एक ही स्थानमें रहते हैं तो भी मूर्ख और विद्वानोंकी बुद्धिके समान इनकी बुद्धिका एक-दूसरेसे मेल नहीं है।

वह देखिये, खञ्जनकी चोंचमें पड़ा हुआ कीट किट-किटा रहा है। यह उसके पूर्वसंचित पाप या दुर्भाग्यकी पताका है, जो ऊँचे स्थानमें फहरा रही है।

मोरका हृदय ऊँचा और उदार होता है। वह जब इन्द्रसे जलकी याचना करता है, तब इन्द्र उसके उसी गुणसे संतुष्ट होकर वर्षाद्वारा सारी पृथ्वीको जलसे भर देते हैं।

ये मोर स्तन पीनेवाले बच्चोंकी तरह मेघोंका अनुसरण करते हैं। इससे यह अनुमान होता है कि मलिनका पुत्र मलिन ही होता है।

सत्पुरुषोंके हृदयकी भाँति निर्मल महान् सरोवरको छोड़कर मोर मेघका थूका हुआ पानी क्यों पीता है? मेरी समझमें इसका एक ही कारण है, स्वाभिमानी मयूर किसीके सामने सिर झुकाना नहीं चाहता। मेघका पानी पीते समय उसका सिर ऊँचा रहेगा; किंतु सरोवरका जल पीते समय उसके सामने नतमस्तक होनेका भय है।

राजन्! देखिये, जिनके पङ्खरूपी मेघ सुशोभित हो रहे हैं तथा जो अपने पङ्खोंके कान्तिमान् चन्द्रचिह्नको कम्पित कर रहे हैं, वे मोर वर्षा ऋतुके बच्चोंकी भाँति नाच रहे हैं।

चकित चातक! तुम गरमेंमें वनप्रान्तके भीतर सूखे वृक्षके खोंखलेमें रहनेका जो आग्रह दिखा रहे हो, इससे तुम्हारा अत्यन्त अभिमान सूचित हो रहा है। यह अभिमान दावानलमें जल जानेकी सम्भावनासे दूषित है, अतः तुम्हारे लिये सुखद नहीं हो सकता। भैया! मेरी सलाह मानो तो कदली-वनके निकटवर्ती शीतल हरित तिनकोंको चरो, नहरोंके पानी पीओ और कदली वनमें विश्राम करो। (मेघसे बरसते हुए जलके सिवा दूसरे किसी जलको नहीं पीऊँगा, इस दुराग्रहको छोड़ दो।)

ओ मयूर! यह समुद्रकी जलराशिसे भरे हुए पेट-वाला और आकाशमें ऊपर उठनेकी इच्छावाला जलधर (मेघ) नहीं है। दावानलसे जले हुए वनवृक्षोंके खोंखलेके अग्रभागसे प्रकट होनेवाली धूममालाका मण्डल है, जो इस पर्वतसे अभी-अभी ऊपरको उठा है।

(सर्ग ११८-११९)

वायु, ताड़, पलाश, कनेर, कल्पवृक्ष, वनस्थली और चम्पकवनका वर्णन करते हुए सहचरोंका महाराजसे राजाओंकी भेंट स्वीकार करके उन्हें विभिन्न मण्डलोंकी शासन-व्यवस्था सौंपनेके लिये अनुरोध करना तथा विपश्चितोंका अग्निसे वरदान प्राप्त करके दृश्यकी अन्तिम सीमा देखनेके लिये उद्यत होना

सहचर कहते हैं—राजन्! यहाँ पुष्प-परागोंसे विभूषित नाना प्रकारकी वायु बह रही है, जो केलेकी कलियोंके स्वच्छ गुच्छको विकसित करनेमें विशेष निपुण है।

यह ताड़का पेड़ खम्भेकी तरह सीधा खड़ा है; अतः इसपर किसीका चढ़ना कठिन है। इसीलिये यह किसी याचकको किंचिन्मात्र भी न तो फल देता है और न पत्ता ही। इसकी यह ऊँची आकृति भी याचकोंकी अभिलाषाको पूर्ण न कर सकनेके कारण रूपहीन ही है—शोभा नहीं पाती है।

राजन्! जो गुणहीन जड (वृक्ष अथवा उदारता आदि गुणोंसे रहित मूर्ख) हैं, उनके लिये राग (शृङ्गार) ही शोभावर्द्धक होता है। वह फूला हुआ पलाशका पेड़ राग—फूलोंके शृङ्गारसे ही वनमें राजाकी भाँति सुशोभित होता है।

भैया! आओ, मैंने कुछ और ही समझा था; परंतु यह कनेर है, विकारका ही भाजन है। इसे देख मनमें यह सोचकर विषाद होता है कि कहाँ-से-कहाँ मैं इसके पास आ गया। इसमें सुगन्ध तो नाममात्रको नहीं है। गुणहीन जन्तुकी भाँति इसका अनुसरण करनेसे क्या लाभ होगा?

पृथ्वीनाथ ! देखिये, कल्पवृक्षोंके वनकी शीतल छायामें विश्राम करते हुए ये सिद्ध और विद्याधररूप पथिक वीणा आदि वाद्योंके साथ गीत गा रहे हैं। देखिये न, वनमें इस कल्पवृक्षके एक-एक पत्तेपर देव-सुन्दरियाँ विश्राम करती, गाती और हँसती हैं ?

उदार बुद्धिवाले ! ये सिद्ध, विद्याधर आदि नन्दनवनमें भी वैसा आनन्द नहीं पाते हैं, जैसा कि इन शुद्ध, शान्त, नीरव वनस्थलियोंमें पाते हैं। ये रमणीय और निर्जन वनस्थलियाँ मुनिके विरागी चित्तको और विषयीके रागी हृदयको समानरूपसे आनन्द प्रदान करती हैं।

देखिये, खिले हुए चम्पाके वन जब हवासे हिलते हैं, तब जलते हुए पर्वतोंके समान जान पड़ते हैं। उस अवस्थामें वहाँसे दूर मँडराते हुए भ्रमर और छाये हुए मेघ धूममालाके समान प्रतीत होते हैं।

महाराज ! देखिये, क्षार समुद्रके तटका यह भूभाग उपहार हाथमें लेकर आये हुए राजाओंसे भर गया है और उन सबका कोलाहल यहाँ व्याप्त हो गया है, जो बड़ा भला मालूम होता है।

देव ! पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तरके क्षार सागरतक इस जम्बूद्वीपमें जो नरेश इस भयकर युद्धसे जीवित बच गये हैं, उन सबके मस्तकपर अपने चरण रखनेका अनुग्रह कीजिये तथा भिन्न-भिन्न जनपदोंके भूभागकी प्रत्येक दिशामें चिरकालिक रक्षाके लिये नीतिशास्त्रके अनुसार क्षमापूर्वक योग्य व्यक्तियोंको शान्त चित्तसे शासन-व्यवस्थाका अधिकार दीजिये। तत्पश्चात् अस्त्र-शस्त्र और अनुपम सेनाओंका बँटवारा कर दीजिये।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! तदनन्तर उन चारों विपश्चितोंने समुद्रतटकी भूमिपर बैठकर राज्यका यह सारा प्रयोजन (मण्डलकी सीमा बाँधने आदिका कार्य) सिद्ध किया। इतनेमें ही मेघमालाके समान काली रात आयी और सब ओर फैल गयी। तत्पश्चात् वे सभी विपश्चित् जो दिनका कार्य पूरा कर चुके थे, सोनेके लिये अपनी शय्याओंपर आरूढ़ हुए। वे नदियोंके प्रवाहकी भाँति बहुत दूर समुद्रतक चले आये थे। इसलिये मन-ही-मन आश्चर्यसे चकित हो इस प्रकार विचार करने लगे—'यह सब ओर फैली हुई दृश्य-जगत्की शोभा कितनी विस्तृत होगी ? इस जम्बूद्वीपके बाद खारे पानीका समुद्र है। उसके बाद प्लक्षद्वीपकी भूमि है। तत्पश्चात् क्षार समुद्रसे दुगुना बड़ा इक्षुरसका समुद्र है। उसके बाद कुशद्वीप है। तदनन्तर सुराका सागर है। इसी प्रकार क्रमसे सात समुद्र और सात द्वीपोंके बाद अन्तमें क्या होगा ? फिर उसके बाद भी क्या होगा ? यह दृश्यरूपिणी माया न जाने कितनी बड़ी और कैसी होगी ? इसलिये हमलोग भगवान् अग्निदेवसे प्रार्थना करें। उनके वरदानसे हम अनायास ही इन सम्पूर्ण दिशाओंका अन्तिम सीमातक अवलोकन कर सकेंगे।' ऐसा सोचकर यथास्थान बैठे हुए वे सब विपश्चित् एक साथ ही भगवान् अग्निका आवाहन करने लगे। तब भगवान् अग्निदेव इन चारोंके समक्ष साकार होकर प्रकट हुए और बोले—'पुत्र ! मुझसे वर माँगो।'

विपश्चित् बोले—देव ! सुरेश्वर ! हम इस पञ्चभूतात्मक दृश्यजगत्का अन्त देखना चाहते हैं, जहाँतक इस देहसे जाना सम्भव हो सके, वहाँतक इस देहसे, जहाँ यह न जा सके वहाँ मन्त्रके प्रभावसे संस्कारयुक्त किये गये इसी शरीरसे, तथा जहाँ इस संस्कारयुक्त शरीरकी भी गति न हो सके, वहाँ मनसे जाकर हम दृश्य जगत्का अन्त देखें। जो जिस रूपमें मनसे प्रत्यक्ष होनेयोग्य तथा जाननेयोग्य हो उन सभी पञ्चभूतात्मक पदार्थोंका हम दर्शन कर सकें—यह उत्तम वर आप हमें दें। प्रभो ! सिद्ध योगी अपने योगके प्रभावसे जहाँतक जा सकते हों, वहाँतकका मार्ग हम इसी शरीरसे तै करें। जहाँ योगियोंकी भी पहुँच न हो, उस अगम्य दृश्यको हम मनसे ही देखें। सिद्ध योगियोंके गम्य मार्गपर चलते समय हमारी मृत्यु न

हो तथा जिस मार्गमें देहका रहना सम्भव ही न हो, वहाँ हमारा मन ही यात्रा करे।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! उनके इस प्रकार वर माँगनेपर 'ऐसा ही होगा' यों कहकर अग्निदेव सहसा एक ही क्षणमें अदृश्य हो गये, मानो बडवानलरूपसे समुद्रमें जानेके लिये उन्हें जल्दी लगी रही हो। इस तरह वर देकर अग्निदेव चले गये। तत्पश्चात् रात्रि आयी और कुछ देर ठहरकर वह भी चली गयी। इसके बाद सूर्यदेव आये। साथ ही उन विपश्चितोंके हृदयमें विशाल समुद्रको लाँघनेकी इच्छा भी आयी। (सर्ग १२०-१२१)

चारों विपश्चितोंका समुद्रमें प्रवेश और प्रत्येक दिशामें उनकी पृथक्-पृथक् यात्राका वर्णन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—श्रीराम ! तत्पश्चात् प्रातःकाल मुख्य-मुख्य मन्त्रियोंके मना करनेपर भी वे चारों विपश्चित् हठपूर्वक नीतिशास्त्रके अनुसार पृथ्वीके राज्यविभाग और उनकेशासनकी भलीभाँति पूरी व्यवस्था करके दिगन्तके दर्शनकी अतिशय उत्कण्ठासे भर गये, मानो उनके शरीरपर किसी ग्रहका आवेश हो गया हो। उस समय उनका सारा परिवार रोते हुए मुखसे करुणाजनक क्रन्दन कर रहा था। उन चारोंने उन्हें ऐसा करनेसे रोका और स्वयं आसक्तिशून्य होनेके कारण अभिमान, ईर्ष्या, लोभ, शत्रुओंके पराभवकी इच्छा, राज्य, स्त्री एवं पुत्र आदिको त्यागकर वे यह कहते हुए चल दिये कि 'हमलोग समुद्रके पार जा दिगन्तका दर्शन करके अभी क्षणमें लौटे आ रहे हैं।'

अग्निदेवकी प्रसन्नतासे प्राप्त मन्त्रकी शक्तिसे पाँचों भूतोंपर विजय प्राप्त करके वे उत्तम सिद्ध हो गये थे। अतः उस समय उन्होंने पैदल ही समुद्रमें प्रवेश किया। वे चारों विपश्चित् प्रत्येक दिशामें समुद्रके भीतर प्रविष्ट होकर स्थलकी ही भाँति जलमें भी पैरोंसे ही चलने लगे। जलके भीतर भूपृष्ठकी भाँति तरङ्गसमूहोंपर पैर रखकर अकेले-ही-अकेले जानेको उद्यत वे चारों विपश्चित् अपनी सेनासे बहुत दूर निकल गये। वे एक-एक पग चलकर जब महासागरके भीतर प्रवेश करने लगे, तब तटपर खड़े हुए उनके सम्बन्धी उन्हें तबतक देखते रहे, जबतक कि वे शरत्कालके आकाशमें प्रविष्ट हुए मेघखण्डोंके समान अदृश्य नहीं हो गये। यद्यपि उन्हें चञ्चल गजराजोंके समान उठी हुई तरङ्गमालाओंसे टकराना पड़ता था, तथापि वे तटपर बने हुए पथरीले परकोटोंके समान अपना धैर्य नहीं छोड़ते थे। वे चारों विपश्चित् समुद्रकी जलराशिमें आगे बढ़ने लगे। जलके मगर उनके सहचर (साथी) थे। वे शौर्यसम्पन्न नाकों और केकड़ोंसे व्याप्त भँवरोंमें चारों ओरसे घिर जाते थे। बीचमें जानेपर बहुसंख्यक मेघोंके समान रूपवाली और व्यक्ताव्यक्त किरणराशिसे सुशोभित होनेवाली भ्रान्त मुक्तामणियों तथा वृक्षोंकी लताके समान दीखनेवाली जलमय तरङ्गोंके जलकणरूपी फूलोंद्वारा वे पग-पगपर अपने शरीरको विभूषित एवं सुशोभित करते जा रहे थे।

उन चारों विपश्चितोंमेंसे जो पश्चिम दिशाका अन्त देखनेके लिये प्रस्थित हुआ था, वह अपनेको अमर माननेवाले एक मत्स्यके द्वारा निगल लिया गया। वह मत्स्य मत्स्यावतारधारी भगवान् विष्णुके कुलमें उत्पन्न हुआ था और उसका वेग झेलमकी प्रखर धारमें बहनेवाली नौकाके समान तीव्र था। किंतु उस मत्स्यके लिये उस राजाको पचाना बड़ा कठिन काम था। इसलिये क्षीरसागरमें पहुँचकर उसने उसे उगल दिया; तब वह क्षीरसारको लाँघकर दूर दिगन्तमें चला गया।

दक्षिण दिशाका अन्त देखनेके लिये चला हुआ विपश्चित् जब इक्षुरसके समुद्रमें पहुँचा, तब उसके तटवर्ती यक्षनगरमें निवास करनेवाली एक यक्षिणीने, जो वशीकरण विद्यामें अत्यन्त निपुण थी, उसे देखा। देखकर अपने विद्याके बलसे आकृष्ट करके उसे अपना प्रेमी बना लिया।

पूर्व दिशाकी चरम सीमा देखनेके लिये आगे बढ़ा हुआ विपश्चित् जब गङ्गाजीके मुहानेपर पहुँचा, तब उसने एक मगरपर आक्रमण किया, जो उसे निगल जानेके लिये उद्यत था। उसने उस मगरको गङ्गामें खींचकर चीर डाला, तब गङ्गाने विपश्चित्को पीछे लौटाकर कान्यकुब्ज नगरमें छोड़ दिया।

उत्तर दिशाका अन्त देखनेके लिये चले हुए विपश्चित्ने उत्तर कुरुदेशमें श्रीउमा-महेश्वरकी आराधना करके अणिमा आदि सिद्धियोंको प्राप्त कर लिया। उस सिद्धिके कारण दिगन्तमें मरणका भय उसे बाधा नहीं पहुँचाता था। मार्गमें कितने ही मगर और जलहस्ती उसे निगलते और उगलते गये, किंतु उस सिद्धिके प्रभावसे ही उसके शरीरको कोई क्षति नहीं पहुँची। वह बहुतसे द्वीप-द्वीपान्तरों और कुलपर्वतोंको लाँघता हुआ आगे बढ़ गया।

पश्चिम दिशामें गये हुए विपश्चित्को जिसकी अङ्ग-कान्ति कुशके ही समान थी, कुशद्वीपमें पक्षिराज गरुड़ने अपनी पीठपर बिठा लिया और बड़े वेगसे अनेक समुद्रोंके पार पहुँचा दिया।

पूर्व दिशावाला विपश्चित् कान्यकुब्ज देशसे चलकर जब क्रौञ्चद्वीपके एक पर्वतपर गया, तब वहाँ वनके भीतर रहनेवाला कोई राक्षस उसे निगल गया। परंतु उस राजाने राक्षसकी अँतड़ियोंको काटकर उसके वक्षःस्थलको विदीर्ण कर दिया।

दक्षिण दिशाकी ओर गया हुआ विपश्चित् दक्षके शापसे क्षणभरमें यक्ष हो गया। फिर सौ वर्षोंके बाद शाकद्वीपमें उसे उस शापसे छुटकारा मिला।

उत्तर दिशाका यात्री विपश्चित् छोटे-बड़े नदी-नाले और समुद्रोंको बड़े वेगसे लाँघता हुआ स्वादिष्ट जलवाले महासागरके उस पार सुप्रसिद्ध सुवर्णमयी भूमिमें जा पहुँचा, किंतु वहाँ एक सिद्धके शापसे शिला हो गया। तदनन्तर सौ वर्षके बाद अग्निदेवके अनुग्रहसे उस सिद्धने विपश्चित्को शापसे मुक्त कर दिया। इससे वह बहुत प्रसन्न हुआ।

पूर्वका यात्री विपश्चित् आठ वर्षोंतक नारियलके वृक्षोंसे भरे हुए एक देशके निवासियोंका राजा होकर रहा। वह बड़ा धर्मात्मा था। इसलिये उसे वहाँ अपने पूर्व-जन्मकी स्मृति हो आयी। वह नारियलके फलोंसे जीवन-निर्वाह करने लगा। मेरु पर्वतके उत्तर एक कल्पवृक्षका वन था, जिसमें एक अप्सराके साथ उसने दस वर्षोंतक निवास किया।

पश्चिम जानेवाला विपश्चित् पक्षियोंपर विश्वास जमाने—उन्हें वशमें कर लेनेकी विद्याका मर्मज्ञ था (अतएव पहले गरुड़ने उसे पीठपर बिठाकर समुद्रके पार पहुँचा दिया था)। फिर वह शाल्मलिद्वीपके सुविख्यात सेमलके वृक्षपर एक मादा पक्षीके घोंसलेमें उसके साथ क्रीड़ा करता हुआ कई वर्षोंतक रहा। फिर कोमल लता-वल्लरियोंसे अलंकृत मन्दराचलपर मन्दार वृक्षोंके निकुञ्ज-भवनमें मन्दरी नामवाली एक किन्नरीने विपश्चित्की एक दिन सेवा की।

तत्पश्चात् पूर्व दिशाके विपश्चित्ने क्षीरसागर-तटवर्ती वनके भीतर कल्पवृक्षोंकी वन श्रेणियोंमें नन्दनवनकी देवियों-अप्सराओंके साथ कामासक्त होकर सत्तर वर्ष व्यतीत किये।

(सर्ग १२२-१२३)

विपश्चितोंके विहारका तथा जीवन्मुक्तोंकी सर्वात्मरूप स्थितिका वर्णन

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! जब वे सभी विपश्चित् एक चैतन्यमय थे और उन सबका शरीर भी एक ही था, तब शरीर एक होते हुए उनकी इच्छाएँ विभिन्न कैसे हो गयीं?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघवेन्द्र ! जैसे स्वप्नावस्थामें चित्त स्वय अपनेमें ही स्वप्न-दृष्ट पदार्थोंके रूपमें नाना प्रकारका हो जाता है, उसी तरह एक चैतन्य घनाकाश सर्वव्यापी अखण्ड होते हुए भी मायावश भिन्न-सा बन जाता है । इसलिये जिस विपश्चित्के समक्ष जो वस्तु आयी, वह उसीमे तन्मयताको प्राप्त होकर उसीके वशमें हो गया । एक देशमें स्थित रहते हुए भी योगी सर्वत्र व्याप्त होकर तीनों कालोंमें सब काम करते और सब पदार्थोंका अनुभव करते हैं। दसों दिशाओंमें स्थित वे विपश्चित् यद्यपि वास्तवमें एक चैतन्यमय थे, तथापि उन्होंने अज्ञानवश वैसा ही व्यवहार किया, जिससे उन्हें सुख-दु ख आदिकी प्राप्ति हुई । जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने भूमिपर शयन किया, द्वीप द्वीपान्तरोंमें सुख-दुःखका उपभोग किया, वन-श्रेणियोंमें विहार किया, मरुस्थलोंकी यात्रा की, पर्वतमालाओंमें निवास किया, सागर-कुक्षियोंमें भ्रमण किया, अनेक द्वीपोंमें विश्राम किया, मेघमालाओंसे आच्छादित पर्वतशिखरोंपर गुप्तरूपसे वास किया, सागरमालाओंमें जन्म धारण किया तथा ओषियोंमें, जलतरङ्गोंमें, पर्वतों और समुद्रोंके तटोंपर एव नगरोंमें विविध क्रीडएँ कीं ।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् ! एक देशमें स्थित रहते हुए भी योगीलोग चारों ओर व्याप्त होकर तीनों कालोंमें सम्पूर्ण कार्य कैसे करते हैं ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! इस जगत्में अज्ञानियोंकी दृष्टिमें जो स्थूल वस्तु है, उससे हम ज्ञानियोंका कोई प्रयोजन नहीं है; किंतु ज्ञानियोंकी दृष्टिसे जो चिन्मात्र वस्तु है, उसका वर्णन करता हूँ; सुनो । तत्त्वज्ञोंकी दृष्टिसे चिन्मात्र सत्तासामान्यके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु है ही नही । दृश्यके अत्यन्ताभावका ज्ञान होनेपर सृष्टि और प्रलयकी दृष्टिका विनाश होनेके पश्चात् चिन्मात्र सत्तासामान्यमें निरन्तर विश्रामको प्राप्त हुए सर्वेश्वरका यहाँ सर्वदा सर्वत्व और सर्वात्मत्व ही वर्तमान है । ऐसी दशामें भला बताओ तो सही, कौन कैसे कहाँ कब और क्योंकर उसका निरोध कर सकता है ? वह सर्वव्यापी सर्वात्मा जब जहाँ जिस रूपमें प्रकट होना चाहता है, तब वहाँ उसी रूपमें प्रकट हो जाता है; क्योंकि उस सर्वात्मामें कौन-सी वस्तु नहीं है ? तुम ऐसा समझो कि अतीत, वर्तमान और भविष्य, स्थूल-सूक्ष्म, दूर निकट तथा निमेष और कल्प आदि जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब की सब अपने स्वरूपका त्याग किये बिना ही सत्तासामान्य-स्वरूप सर्वात्मामें सर्वदा ही वर्तमान हैं । किंतु वास्तवमें मायासे उल्लासको प्राप्त हुआ यह दृश्य-प्रपञ्च न उत्पन्न हुआ है और न निरुद्ध हुआ है; बल्कि ज्यों-का-त्यों स्थित है ।

महाबाहु श्रीराम ! वे विपश्चित् पूर्णतया प्रबुद्ध नही थे, बल्कि बोधदृष्टि तथा अबोध-दृष्टिके मध्यमें वे दोलायमान-से स्थित थे । उन अर्धप्रबुद्ध विपश्चितोंमें चारों ओरसे नित्य मोक्ष तथा बन्धनके लक्षण दृष्टिगोचर होते थे । उस पूर्वोक्त संशयग्रस्त धारणासे युक्त होनेके कारण वे विपश्चित् परब्रह्म-प्राप्त योगी न थे, किंतु धारणासे प्राप्त हुए सिद्धिवाले धारणा-योगी थे । राजीवलोचन राम ! जिन्हें परम ज्ञानकी प्राप्ति हो गयी है तथा जिनमें अविद्याका लेशमात्र भी नहीं है, वे विपश्चित् यदि ऐसे ज्ञानयोगी होते तो क्या वे अविद्याकी ओर दृष्टिपात करते ? वे तो अग्निदेवके वरदानसे सिद्धिप्राप्त धारणा-योगी थे । उनमें अविद्या वर्तमान थी, इसी कारण वे आत्मविचारहीन थे । जीवन्मुक्तोंका भी शरीर देहधर्मसे युक्त रहता है; किंतु उस शरीरके भीतर जो उनका चित्त है वह अचल ही रहता है अर्थात् उसमें देहधर्म नहीं व्याप्त होते । अतः जीवन्मुक्त पुरुषके शरीरको चाहे टुकडे-टुकडे करके काट डाला जाय अथवा उसे राजसिंहासनपर बैठाया जाय—इस प्रकारकी रोने और हँसनेकी दोनों अवस्थाओंमें उसे न तो कुछ दुःखका अनुभव होता है और न सुखका ही ।

जीवन्मुक्त पुरुषोंका शरीर आदि आत्मस्वभावसे कभी पृथक् नहीं है। इसीलिये जीवन्मुक्त पुरुष मरा हुआ भी मरता नहीं, रोता हुआ भी रोता नहीं और हँसता हुआ भी हँसता नहीं अर्थात् वह मरणादि अवस्थाओंमें हर्ष-शोकसे युक्त नहीं होता। तथापि व्यवहारकालमें अज्ञानी और ज्ञानी जीवन्मुक्तके आचरण प्रायः एक-से ही होते हैं। प्रह्लाद, बलि, वृत्र आदि यद्यपि वीतराग जीवन्मुक्त ही थे पर उनके व्यवहार रागियोंके-से होते थे। हाँ, बन्धन तथा मोक्षका कारण तो वासना और वासनाशून्यता ही है। (सर्ग १२४-१२५)

मरे हुए विपश्चितोंके संसारभ्रमणका तथा उत्तरदिशागामी विपश्चित्के भ्रमणका विशेषरूपसे वर्णन

श्रीरामजीने पूछा—मुनिश्रेष्ठ ! तदनन्तर वे विपश्चित् उन दिगन्तोंमें तथा द्वीपों, सागरों, काननों और पर्वत-भूमियोंमें जाकर क्या करते हुए निवास करते रहे ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स राम ! उनमेंसे एक विपश्चित् क्रौञ्चद्वीपके सीमा-भूत पर्वतके पश्चिमी तटपर एक हाथीद्वारा दाँतों एवं गण्डस्थलोंसे उस पर्वतकी शिलापर कमलकी तरह पीस डाला गया। दूसरे विपश्चित्को, जिसका शरीर क्षत-विक्षत हो गया था, एक राक्षसने आकाशमार्गसे ले जाकर समुद्रवर्ती बडवानलमें झोंक दिया, जिससे वह वहीं जलकर भस्म हो गया। तीसरेको एक विद्याधर इन्द्र-सभामें ले गया। वहाँ उसने इन्द्रको प्रणाम नहीं किया, जिससे इन्द्रने कुपित होकर उसे शाप दे दिया। उस शापसे वह जलकर भस्म हो गया। चौथा कुशद्वीपकी सीमापर स्थित पर्वतकी तलहटीमें बहनेवाली नदीके कछारमें बड़ी सावधानीसे जा रहा था, परंतु किसी महाबली मगरने उसके आठ टुकड़े कर दिये, जिससे वह मर गया। इस प्रकार वे चारों भूपाल (विपश्चित्) दिगन्तोंमें जाकर मृत्युको प्राप्त हो गये। मृत्युके पश्चात् उन विपश्चितोंकी संवित्ने पूर्व-संस्कारवश आकाशात्मा बनकर आकाशमें ही पृथ्वीमण्डलको देखा फिर दृश्य और दर्शनके मध्यमें, भूमण्डलका अनुभव ही जिसकी आकृति है, उस अविद्याकी निष्ठा—इयत्ताको देखनेके लिये वे द्वीप-द्वीपान्तरोंमें भटकते रहे।

राघव ! उनमें जो विपश्चित् पश्चिम दिशाकी ओर चला था, वह सातों द्वीपों तथा सातों महासागरोंको लाँघकर घनभूमि (पूर्वोक्त स्वर्णमयी भूमि) में जा पहुँचा। वहाँ उसे भगवान् जनार्दनके दर्शन हुए। फिर उन्हीं भगवान्से अनुपम ज्ञान (ब्रह्मविद्या) प्राप्त करके वह उसी स्थानमें पाँच वर्षतक समाधिस्थ हुआ बैठा रहा। तदनन्तर वह देहका परित्याग करके निर्वाणको प्राप्त हो गया। पूर्व दिशामें गया हुआ विपश्चित् पूर्णिमाके चन्द्रमण्डलके निकट अपने शरीरको स्थापित करके उसमें चन्द्रत्वकी भावना करता रहा। चिरकालके बाद जब उसका पूर्वशरीर नष्ट हो गया, तब वह चन्द्रलोकमें स्थित हो गया। राजकुमार राम ! दक्षिण दिशागामी विपश्चित् शाल्मलिद्वीपमें जाकर अपने शत्रुओंकी जड़ उखाड़ करके आज भी वहाँ राज्य कर रहा है। और उत्तर दिशाको प्रस्थान करनेवाला विपश्चित् सप्तमाम्बुधि—क्षीरोदक-सागरमें जा पहुँचा, जिसमें चञ्चल एवं विशाल तरङ्गें किलोल कर रही थीं। वहाँ उसने एक मगरके पेटमें एक हजार वर्षतक निवास किया। उस समय वह उसी मगरके पेटका मांस खाकर जीवन-निर्वाह करता था। इस प्रकार जब वह मगरराज मर गया, तब वह उसके पेटसे निकलकर दूसरे मगरकी तरह समुद्रसे बाहर आया। तदनन्तर हिमके समान स्वच्छ जलसे भरे हुए उस सागरकी अस्सी हजार योजनकी विस्तारवाली घनी भूमिको लाँघकर वह दस हजार योजनके विस्तारवाले एक विशाल मैदानमें जा पहुँचा, जिसकी भूमि स्वर्णमयी थी और मध्यभाग बहुत बड़ा

था। उसमें देवतालोग विहार करते थे। वहीं उसकी मृत्यु हो गयी। उस भूमिमें देवगणोंके मध्य मरनेसे उस विपश्चित्को उसी प्रकार उत्तम देवत्वकी प्राप्ति हो गयी, जैसे अग्निके बीच पड़ा हुआ काष्ठ क्षणभरमें ही अग्नि-रूप हो जाता है। फिर वह एक प्रधान देवता होकर उस लोकालोक पर्वतपर गया, जो भूमण्डलरूपी वृक्षका थाला-सा स्थित है।

रामभद्र! उसका दिगन्तदर्शनरूपी पूर्वसंस्कार उसे पूर्णतया अभ्यस्त था ही, अतः वह उस उत्कृष्ट निश्चयसे प्रेरित होकर ज्यों ही आगे बढ़ा, त्यों ही उस लोकालोक-गिरिके शिखरसे अन्धकारमय गर्तमें जा गिरा। वहाँ उसने देखा कि पर्वत-शिखर-सरीखे विशालकाय मांसभक्षी पक्षी उसके उस देव-शरीरको नोच-नोचकर खा रहे हैं और पूर्वचिन्तित दिगन्तदर्शनके कार्यमें उसका मनोमय शरीर ही प्रसार कर रहा है; क्योंकि जहाँ उसकी मृत्यु हुई थी, वह प्रदेश परम पावन था। इसी कारण उस निर्मल हृदयवाले विपश्चित्को अपने सूक्ष्म शरीरमें आधिभौतिकताका बोध तो नहीं हुआ, परंतु मनके व्यापारसे रहित शान्त स्थितिरूप उत्तम बोधकी प्राप्ति नहीं हुई। उसे तो आतिवाहिक शरीरका ही विशेषरूपसे ज्ञान था, इसी कारण उसने अपने मनको आगे बढ़ते हुए देखा। आतिवाहिकके ज्ञानसे उसे गर्भवास-तुल्य अन्धकार दीख पड़ा। उस अन्धकारकी समाप्तिपर ब्रह्माण्डकटाहरूपी भूखण्ड दृष्टिगोचर हुआ, जो वज्र-सदृश सारवान्, स्वर्णमय और करोड़ों योजन विस्तारवाला है। उसके बाद उसे उस भूखण्डसे आठगुना विस्तारवाला जल मिला, जो ब्रह्माण्डकटाहकी भूमिके समान समुद्रकी पीठकी भाँति स्थित था। उसे पार करनेके बाद वह एक तेजयुक्त स्थानमें जा पहुँचा, जो प्रलयाग्निकी घनीभूत लपटोंके पिण्डीभूत कोटरके समान चमकीला था और जहाँ बहुत-से सूर्य अपना प्रकाश फैला रहे थे, जिससे वह अत्यन्त भीषण लग रहा था। उस तैजस आवरणमें वह दाह-शोक आदिसे रहित मनोमय देहसे विचरण कर रहा था। इतनेमें उसे ऐसा भान हुआ कि वह वायुरूप आवरणमें आ पहुँचा। उस समय उसे यह ज्ञात हुआ कि मेरा सूक्ष्म आत्मा ही ले जाया जा रहा है और वह चित्तमात्र आत्मा किस प्रकार ले जाया जा रहा है—यह भी मालूम हुआ। ऐसे ज्ञानके बलसे उस धीरात्माने उस वायुसागरको पार किया। उसके बाद वह उससे भी दसगुने विस्तृत शून्य स्थानमें जा पहुँचा। उसे लाँघकर वह असीम महान् आकाशमें प्रविष्ट हुआ। जिसमें सब कुछ विलीन होता है, जिससे सब कुछ आविर्भूत होता है तथा जो कुछ नहीं है और सब कुछ है, उस महान् आकाशमें मनोमय देहसे भ्रमण करता हुआ वह बहुत दूर चला गया। वहाँ उसने पृथ्वी, जल, तेज, वायु, तथा जगत् देखा। फिर संसारकी रचनाएँ, सृष्टियाँ और दिशाएँ दृष्टिगोचर हुईं। तत्पश्चात् पर्वत, आकाश, देवता-मनुष्य और पञ्चमहाभूतोंके अन्तमें घनीभूत आकाश दीख पड़ा। पुनः जगत्, दिशाएँ, आकाश और दूसरी अव्यवस्थित सृष्टियाँ परिलक्षित हुईं। यों दीर्घकालसे विहार करता हुआ वह आज भी वहाँ स्थित है। चिरकालसे अभ्यस्त हुए अपने जगत्-सत्यतारूप निश्चयसे वह विरत नहीं हो रहा है; क्योंकि अविद्याका अन्त तो है नहीं किंतु जब उसकी सत्यता जान ली जाती है, तब वह भी ब्रह्मरूप हो जाती है। वास्तवमें तो पूर्णात्मा ब्रह्ममें अविद्या है ही नहीं। यह दृश्य है, यह अविद्या है, यह तो उसकी कल्पना है। राघव! वह विपश्चित् आज भी तत्त्वज्ञान न होनेके कारण उन पूर्वदृष्ट स्थानोंमें ही तथा उन्हींके सदृश अन्य सृष्टियों तथा वनखण्डोंमें अपनी वासनाकी उत्कटताके कारण चिरकालसे दूर-से-दूर बार बार भ्रमण कर रहा है।

(सर्ग १२६–१२८)

शेष दो विपश्चितोंके वृत्तान्तका वर्णन तथा मृगरूपमें श्रीरामचन्द्रजीको प्राप्त हुए एक विपश्चित्‌का राजसभामें लाया जाना

श्रीरामजीने पूछा—मुनिश्रेष्ठ ! अब यह बतलाइये कि एक विपश्चित् तो भगवत्कृपासे मुक्त हो गया और दूसरा अभीतक अविद्यामें भ्रमण कर रहा है। शेष चन्द्रलोक और शाल्मलिद्वीपमें निरुद्ध हुए उन दोनों विपश्चितोंकी फिर क्या दशा हुई ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! उन दोनों विपश्चितोंमेंसे एक चिरकालसे अभ्यस्त हुई वासनाओंके वशीभूत होकर अनेक प्रकारके शरीरोंसे द्वीप-द्वीपान्तरोंमें भ्रमण करता हुआ उत्तर-दिग्वर्ती विपश्चित्‌की ही गतिको प्राप्त हुआ। उसीकी तरह परमाकाशरूपी खोखलेमें क्रमशः ब्रह्माण्डके आवरणोंका परित्याग करके लाखों सृष्टियोंको देखता हुआ वह आज भी उसी तरह स्थित है। उन दोनोंमेंसे जो दूसरा था, उसकी चन्द्रमाके निकट अपने शरीरको रखकर अभ्यास करनेके कारण चन्द्रमृगमें पूर्णतया आसक्ति हो गयी, जिससे वह प्रतिमास चन्द्रमाके साथ भ्रमण करनेवाली देहोंसे युक्त हो गया। तत्पश्चात् उनका परित्याग करके वह पर्वतपर मृगरूपमें स्थित है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! चारों विपश्चितोंकी एक ही वासना थी, फिर वह उत्तम अधम फल प्रदान करनेवाली भिन्न-भिन्न कैसे हो गयी ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुवीर ! प्राणीकी भलीभाँति अभ्यस्त हुई वासना देश, काल और क्रियाके वशसे कोमल और अत्यन्त परिपाकवश दृढ़मूल होती है। उनमें जो कोमल है, वह अन्यरूपताको प्राप्त होती है, किंतु जो बद्धमूल है, उसमें शीघ्र अन्यरूपता नहीं होती। देश, काल और क्रिया आदिकी जो एकता है, वही वासनाकी एकता है। उन दोनोंमें भिन्नता आ जानेपर जो बलवती होती है, उसीकी विजय होती है। इस प्रकार वे विपश्चित् एक साथ उत्पन्न होकर शरीर-भेदसे चार रूपोंमें हो गये। उनमेंसे आदिके दोको तो अविद्याने आकृष्ट कर लिया, एक वासनाके वशीभूत होकर मृग बन गया और एककी मुक्ति हो गयी।

श्रीराम ! इस प्रकार उन विपश्चितोंका सारा वृत्तान्त मैंने स्पष्टरूपसे तुम्हें कह सुनाया। यह अविद्या कारण ब्रह्मकी भाँति अनन्त ही है; क्योंकि वह तत्स्वरूप ही है। यों वे अज्ञानी विपश्चित् उस ब्रह्माण्ड-मण्डपके अंदर भटकते रहे, परंतु उन्हें अविद्याका ओर छोर नहीं मिला। यह अनन्तरूपा अविद्या ब्रह्मरूप ही है; क्योंकि वह ब्रह्ममयी है। इसीलिये जबतक इसका यथार्थ ज्ञान नहीं हो जाता, तभीतक इसकी सत्ता है; तत्त्वज्ञान हो जानेपर तो इसका अस्तित्व ही मिट जाता है। इसी कारण वे विपश्चित् परब्रह्माकाशमें अत्यन्त दूर पहुँचकर अविद्याद्वारा कल्पित कतिपय अन्य संसार-रूपोंमें भटकते रहे। उनमेंसे एक मुक्त हो गया, एक मृग बन गया। शेष दो अपने प्राक्तन प्रबल संस्कारके वशीभूत होकर आज भी कहीं भटक रहे हैं।

श्रीरामजीने पूछा—मुनिवर ! यह तो आपने हमारे लिये महान् आश्चर्यजनक वृत्तान्त सुनाया है। मेरे ऊपर आपकी विशेष अनुकम्पा है। अच्छा, अब यह बतलानेकी कृपा कीजिये कि वे विपश्चित् जिन लोकोंमें उत्पन्न हुए थे, वे यहाँसे कितनी दूर हैं और वे कितनी दूरीपर कैसे लोकोंमें भ्रमण कर रहे हैं ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! वे दोनों विपश्चित् जिन लोकोंमें स्थित हैं, वे लोक प्रयत्नपूर्वक विचार करनेपर भी मेरी बुद्धिके विषय नहीं हुए। हाँ, मृगयोनिको प्राप्त हुआ तीसरा विपश्चित् जिस लोकमें स्थित है, वह संसार सम्भवतः हमारी बुद्धिमें है। वह विपश्चित्,

जिसकी बुद्धि तबतकके संसार-भ्रमणसे खिन्न नहीं हुई थी, भ्रान्तिवश बहुत-से लोकोंमें भ्रमण करके उस ब्रह्माण्डमें किसी पर्वतकी कन्दरामें मृगयोनिमें उत्पन्न हुआ।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! यदि ऐसी बात है तो यह बतलाइये कि वह किस दिशामें, किस मण्डलमें, किस पर्वतपर, किस वनमें मृगरूपसे स्थित है? वहाँ वह क्या करता है? शस्यश्यामला भूमिमें निवास करता हुआ कैसे दूब चरता है? बुढ़ापेके समान शिथिल ज्ञानवाला वह अपने उस उत्कृष्ट विपश्चित्-जन्मका कब स्मरण करेगा?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! त्रिगर्तराजने जिस क्रीडामृगको तुम्हें भेंटरूपमें प्रदान किया है और जो तुम्हारे क्रीडामृगागार (अजायबघर)में विद्यमान है, उसीको तुम वह विपश्चित् समझो। तब श्रीरघुनाथजीकी आज्ञासे बाल्कोद्वारा लाया गया वह मनोहर मृग उस विशाल राजसभामें प्रविष्ट हुआ। फिर तो सभी सभासद् टकटकी लगाकर उसकी ओर देखने लगे। वह शरीरसे तगडा था और उसका चेहरा भी प्रसन्न था। वह अपने शरीरकी चित्तियोंसे तारारूपी बिन्दुओंसे युक्त आकाशकी विडम्बना कर रहा था, नील कमलरूपी नेत्रोंको बारंबार गिरानेसे सुन्दरी नायिकाओंके चञ्चल कटाक्षोंका तिरस्कार कर रहा था। उसके दर्शनके लिये लालायित हुई सभाका अनादर करनेवाले अपने मनोऽभिराम चकित कटाक्षोंसे खम्भोंमें जड़ी हुई मरकतमणिकी नीली कान्तिको तृण समझकर उसे खानेकी इच्छासे वह चञ्चलतापूर्वक इधर-उधर दौड़ लगा रहा था, क्षणभरमें अपने कान, नेत्र और गर्दनको ऊपर उठा लेता और फिर तुरंत ही नीचे कर लेता—यों अपनी चपलतासे सभासदोंको कौतूहलमें डाल रहा था। इस प्रकार राजा, मुनि और मन्त्रियोंसहित सभी लोग उस मृगको देखकर 'भगवान्‌की माया अनन्त है' यों कहते हुए बहुत देरतक आश्चर्यमें डूबे रहे। (सर्ग १२९)

श्रीवसिष्ठजीके ध्यानसे उत्पन्न हुई अग्निमें मृगके प्रवेशका तथा उसके विपश्चित्-देहकी प्राप्तिका वर्णन

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! तदनन्तर श्रीरामने वसिष्ठजीसे पूछा—'मुने! किस उपायद्वारा प्राक्तन विपश्चित्-देहकी प्राप्ति होकर इस विपश्चित्के दुःखका अन्त होगा?'

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रामभद्र! जैसे आगमें डाल देनेसे सुवर्ण अपने निर्मल रूपको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार इस विपश्चित्के लिये भी अग्नि ही शरण है। उसमें प्रवेश करनेसे यह मृग अपने पूर्व विपश्चित्-देहको प्राप्त हो जायगा। यह सब मैं अभी करता हूँ और तुमलोगोंको कौतुक दिखलाता हूँ। यह मृग अभी तुमलोगोंके सामने आगमें प्रवेश करेगा।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! उत्तम विचारवाले मुनिवर श्रीवसिष्ठने वहाँ यों कहकर अपने कमण्डलुके जलसे विधिपूर्वक आचमन करके इन्धनरहित ज्वालापुञ्जस्वरूप अग्निका ध्यान किया। उनके ध्यान करते ही सभाके मध्यभागसे अग्निकी लपटें लपलपाने लगीं। उन ज्वालाओंका आकार अङ्गारसे रहित था, उनमें इन्धनका भी सम्पर्क नहीं था; धूम और कज्जलका तो नाम-निशान नहीं था। वे निर्मल ज्वालाएँ धक्-धक् करके धधक रही थीं। उनकी परम मनोहर कान्ति फैल रही थी और वे स्वर्ण-मन्दिर-सी सुन्दर लग रही थीं। खिले हुए पलाशका-सा तो उनका आकार था और वे संध्याकालीन मेघकी-सी रंगवाली प्रकट हुई थीं। उस ज्वालासमूहको देखकर सभासद्गण तो दूर हट गये थे, परंतु पूर्वजन्मके भक्तिभावसे आदरसहित देखते हुए उस मृगको उनके दर्शनसे परम हर्ष हुआ। उस अग्निका अवलोकन करनेसे उस मृगका पाप क्षीण हो गया और उस अग्निमें

प्रवेश करनेके लिये उसकी इच्छा जाग्रत् हो उठी। फिर तो वह तुरंत ही सिंहकी तरह उछलकर दूरतक पीछे हट गया। इसी बीचमें मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी ध्यानमग्न होकर विचार करने लगे और अपने दृष्टिपातोंसे मृगका पाप नष्ट करते हुए अग्निदेवसे यों बोले—

'ऐश्वर्यशाली हव्यवाहन! इस मनोहर मृगकी पूर्वजन्मकी भक्तिका स्मरण करके इसपर कृपा कीजिये और इसे विपश्चित् बना दीजिये।' राजसभामें वसिष्ठ-मुनिके यों कहनेपर वह मृग दूरसे दौड़कर उसी प्रकार अग्निमें प्रवेश कर गया, जैसे वेगपूर्वक छोड़ा गया बाण अपने लक्ष्यमें प्रविष्ट हो जाता है। उस ज्वालासमूहमें प्रविष्ट हुए उस मृगका शरीर दर्पणमें प्रतिबिम्बकी भाँति संध्याकालीन मेघमें विश्रान्त हुआ-सा स्पष्ट दीख रहा था। तदनन्तर सभासदोंके देखते-देखते ही वह मृग ज्वालाओंके बीचमें मनुष्यके रूपको प्राप्त हो गया। ज्वालाओं-के अंदर वह पुण्याकृति पुरुष दिखायी पड़ा। वह स्वर्ण-सा कान्तिमान् था। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग कमनीय थे, जिनसे वह बड़ा ही सुन्दर लग रहा था।

तदुपरान्त वह ज्वाला-पुञ्ज वायुके झोंकेसे बुझे हुए दीपकके समान उस सभाके मध्यसे ऐसे अदृश्य हुआ, जैसे आकाशसे सायंकालके मेघ विलीन हो जाते हैं। फिर तो वहाँ देवालयकी दीवालोंके टूट जानेपर उसके मध्य स्थित देव-प्रतिमाके समान तथा परदेके अंदरसे बाहर निकले हुए नटकी तरह केवल वह पुरुष ही खड़ा रह गया। वह परम शान्त था। उसके गलेमें रुद्राक्षकी माला शोभा पा रही थी, कंधेपर स्वर्णमय यज्ञोपवीत लटक रहा था और शरीर अग्नितापसे निर्मल हुए वस्त्रोंसे आच्छादित था। इस प्रकार वह तुरंत ही उदित हुए चन्द्रमाके समान भला लग रहा था। सूर्यकी प्रभा-सरीखा वह परमोत्कृष्ट आभासे युक्त था। उसके शरीरकी कान्ति देखकर सभासदोंके मुखसे बरबस निकल पड़ा—'अहो! कैसी अद्भुत भा (शोभा) है!' इसलिये वह 'भास' नामसे विख्यात हुआ। तत्पश्चात् वह भास वहीं ध्यानमग्न होकर बैठ गया और मन-ही-मन अपने पूर्वजन्मोंके सम्पूर्ण वृत्तान्तोंका स्मरण करने लगा। उस समय सारे सभासद् आश्चर्यचकित होकर चुपचाप बैठे थे। तबतक भास दो ही घडीमें अपने सम्पूर्ण वृत्तान्तोंका स्मरण करके उन पूर्वजन्मोंकी स्मृतिसे लौट आया और उसका ध्यान भङ्ग हो गया। उसने उठकर क्रमशः सारी सभापर दृष्टिपात किया। फिर हर्षपूर्वक वसिष्ठजीके निकट जाकर उन्हें प्रणाम किया और यों कहने लगा—'ब्रह्मन्! आप ज्ञान-सूर्यरूपी प्राण प्रदान करनेवाले हैं, आपको मेरा प्रणाम है।' तब वसिष्ठजी भी उसके सिरपर हाथ फेरते हुए यो बोले—'राजन्! चिरकालके बाद आज तुम्हारी अविद्याका सर्वथा विनाश हो जाय।' तदनन्तर जब वह 'श्रीरामजीकी जय हो' यो कहता हुआ उनके चरणोंमें प्रणाम कर रहा था, उसी समय राजा दशरथ अपने आसनसे कुछ उठकर उससे हँसते हुए-से बोले।

श्रीदशरथजीने कहा—भो राजन्! आपका स्वागत है। आप अनेक जन्मरूपी संसारमें भ्रमण करनेसे थक गये हैं। अतः आइये, यहाँ इस आसनपर विराजिये और विश्राम कीजिये।

श्रीवाल्मीकिजी कहते है—भरद्वाज! महाराज दशरथके यो कहनेपर वह भास नामक विपश्चित् विश्वामित्र आदि सभी मुनियोंको प्रणाम करके आसनपर बैठ गया।

तब श्रीदशरथजी बोले—अहो! खेद है, जैसे जंगली हाथी आलानमें बँधे रहनेके कारण दुःख भोगता है, उसी तरह इस विपश्चित्ने भी चिरकालतक अविद्याके वशीभूत होकर दुःखका अनुभव किया है। अहो! अज्ञानसे उत्पन्न हुई दुर्दृष्टिकी कैसी विषम गति है! यह आकाशमें ही अनेक सृष्टियोंके आडम्बर-भ्रमका

दर्शन कराती है। यह कम आश्चर्यका विषय नहीं है, जो सर्वव्यापक आत्मामें ये कितने ससार फैले हुए हैं, जिनमें यह विपश्चित् चिरकालतक भ्रमण करता रहा। अहो! अपने स्वभावरूप विभवसे सम्पन्न इस चेतन आत्माके संकल्पकी, जो वस्तुतः शून्य है, कैसी अद्भुत महिमा है। यह शून्य होते हुए भी परमात्मघनरूपी आकाशके अंदर इस प्रकारके अनेकों जगत्के रूपमें प्रतीत होता है।

तदनन्तर श्रीविश्वामित्रजीके द्वारा पूछे जानेपर विपश्चित भासने अपने देखे हुए विभिन्न दृश्यों, स्थानों, लोकों तथा प्राणियोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया।

(सर्ग १३०–१३५)

प्राणियोंकी उत्पत्तिके दो भेद, मच्छरके मृगयोनिसे छूटकर व्याधरूपसे उत्पन्न होनेपर उसे एक मुनिका ज्ञानोपदेश

उपर्युक्त प्रसङ्गमें ही विपश्चित् भासने आकाशसे एक विशाल शवके गिरनेकी कथा सुनायी। तदनन्तर अग्निदेवके साथ हुए अपने संवादकी चर्चा करते हुए भासने कहा कि मेरे पूछनेपर अग्निदेवताने शवका आदिसे अन्ततक पूरा वृत्तान्त मुझे सुनाया और यह कहा कि 'वह शव मच्छरकी योनिको प्राप्त हुआ था। उस अतिक्षुद्र शरीर-वाले स्वेदज मच्छरकी आयु केवल दो ही दिनोंकी हुई। उसका शरीर इतना हल्का था कि वह फूँक मारनेसे ही उड़ जाता था।' इस बातको सुनकर श्रीरामचन्द्रजीके मनमें जिज्ञासा उत्पन्न हुई, तब उन्होंने श्रीवसिष्ठजीसे पूछा।

श्रीरामजीने पूछा—प्रभावशाली गुरुदेव! इस जगत्में क्या समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति योनिसे ही होती है अथवा अन्य किसी प्रकारसे भी सम्भव है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति दो प्रकारसे होती है—एक ब्रह्ममय और दूसरी भ्रान्तिज। उन दोनोंका वर्णन करता हूँ, सुनो। पूर्वजन्मके अनुभवसे बद्धमूल हुए शरीरतादात्म्यके भ्रमवश प्राणियोंकी जो उत्पत्ति होती है, वह भ्रान्तिज कही जाती है; क्योंकि वह दृश्यके सङ्गसे होती है। नित्यमुक्त ब्रह्माको कभी भी जगद्-भ्रान्ति तो होती नहीं, फिर भी वह सृष्टिके आदिमें चतुर्विध जीवरूपसे जो स्वयं अपने संकल्पसे उत्पन्न होता है, उसका वह जन्म ब्रह्ममय कहा जाता है। व योनिज नहीं होता। श्रीराम! उस मच्छरने जगद्भ्रान्ति वश जन्म धारण किया था। वह ब्रह्म-विवर्तसे न उत्पन्न हुआ था। अब (अग्निके द्वारा कहा गया उसका अगला वृत्तान्त विपश्चित्से सुनो।

(अग्निने आगे कहा—) उसने पृथ्वीपर ईखके छुरमुटों हरी-हरी घासोंपर तथा मूँज-कास आदिके अंबारोंमें गूँ हुए दूसरे मच्छरोंके साथ स्वयं भी गूँजते एवं क्रीडा क हुए अपनी आयुका आधा दिन पूरा-का-पूरा भोग-विला में व्यतीत कर दिया। फिर वह बाल-लीलावश अपनी मच्छरीके साथ हरी-हरी घासोंके मध्यभागरूपी हिंडो बहुत देरतक झूला झूलता रहा। झूलेके परिश्रमसे थक जब वह वहीं कहीं विश्राम कर रहा था, तबतक हरि खुराग्ररूपी पर्वतके गिरनेसे चकनाचूर हो गया। प्राणत करते समय उसकी दृष्टि हरिणके मुखपर लगी थी, इस पूर्व भावनाके अनुसार बाह्य और आभ्यन्तर इन्द्रिय ग्रहण करके वह मृगयोनिमें पैदा हुआ। वह हरिण घूम रहा था कि एक व्याधने उसे अपने धनुषद्वारा डाला। मरते समय उसकी दृष्टि व्याधके मुखपर थी, इसलिये अगले जन्ममें वह व्याध होकर पैदा हु वह व्याध अनेक वनोंमें घूमता-घामता किसी मु तपोवनमें जा पहुँचा। वहाँ वह विश्राम कर रहा था उसकी मुनिसे भेंट हो गयी। तब मुनि उसे ज्ञानो करने लगे—

रे व्याध ! तू क्यों भ्रममें पड़ा है ? इस क्षणभङ्गुर संसारमें अपने दीर्घकालव्यापी दुःखके लिये धनुषसे इन मृगोंको क्यों मारता है ? अहिंसा-अभयदान आदि शास्त्रमर्यादाका पालन क्यों नहीं करता ? अरे पुत्र ! वायुसे टकराये हुए मेघमण्डलमें लटकते हुए जलकी बूँदकी भाँति आयु विनाशी है। भोग बादलोंकी घटाके मध्य कौंधनेवाली बिजलीकी तरह चञ्चल हैं। जवानीके भोग-विलास जलके वेगके समान चपल हैं। शरीर क्षण-विध्वंसी है; अतः इस संसारसे भयभीत होकर तू निर्वाणकी ही खोज कर।'*

तब व्याधने पूछा—मुनिराज ! यदि ऐसी बात है तो बताइये कि दुःखका पूर्णतया विनाश करनेके लिये जो न कठोर हो और न कोमल हो—ऐसा कौन-सा व्यवहारक्रम हो सकता है ?

मुनिने कहा—व्याध ! तू इसी समय बाणोंसहित इस धनुषको सदाके लिये त्याग दे और मुनिके-से आचरणका आश्रय लेकर दुःखरहित हो यहीं निवास कर।

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रामभद्र ! उक्त मुनिके यों उपदेश देनेपर उसने धनुष और बाणोंका परित्याग करके मुनियोंका-सा आचरण अपना लिया। फिर बिना माँगे जो कुछ मिल जाता था, उसीपर जीवन-निर्वाह करते हुए वह वहीं रहने लगा। कुछ ही दिनोंमें सारासारकी विवेक-शीलताने उस मौनीके मनमें उसी प्रकार प्रवेश किया, जैसे पुष्प गन्धद्वारा मनुष्योंके हृदयमें अपना स्थान बना लेता है।

तदनन्तर व्याधद्वारा किये गये प्रश्नके उत्तरमें मुनिने धारणाके अभ्याससे परकाय-प्रवेशद्वारा देखे गये स्वप्नका, दो जीवोंके सम्मेलनसे दुगुने विश्वदर्शनका, एकता होनेपर एक विश्वके दीखनेका, विस्तारपूर्वक प्रलयदर्शनका, प्रलय-सागरके हटने, गाँवमें ब्राह्मणरूपमें स्थिति, दूसरेके शरीरसे बाहर निकलने आदिका वर्णन करनेके पश्चात् कहा।

मुनि बोले—व्याध ! सृष्टिकी उत्पत्तिका वस्तुतः कोई कारण नहीं है। अतः उसकी उत्पत्तिका अभाव स्पष्ट है। इसलिये सृष्टि शब्द और उसका अर्थ दोनों ही सर्वथा नहीं हैं। ऐसी स्थितिमें कहाँ शरीर है, कहाँ हृदय है, कहाँ स्वप्न है, कहाँ जल आदि है, कहाँ ज्ञान है, कहाँ अज्ञान है और कहाँ जन्म-मरण आदि है ? वास्तवमें तो वह निर्मल चिन्मात्र ही है, जिसकी अपेक्षा आकाश अत्यन्त सूक्ष्म होते हुए भी उसी प्रकार स्थूल लगता है जैसे परमाणुओंके निकट पर्वत। वह चिदाकाश अपने आकाशरूप शरीरके विषयमें स्वभावतः जो कुछ संकल्प करता है, उससे वह अपनेको जगद्रूपसे जानता है। जैसे स्वप्नमें केवल चेतन जीव ही नगररूपसे प्रतीत होता है, वास्तवमें वहाँ नगर आदि कुछ भी नहीं है, वैसे ही आत्माकाशमें शान्त, अखण्ड, अप्रत्यक्ष चिन्मात्र ही जगद्रूपसे भासित होता है। जैसे नेत्रोंमें तिमिर रोग हो जानेसे प्रकाशमय आकाशमें धुआँसा-सा दीख पड़ता है, उसी तरह चिद्रूपी दृष्टिमें अज्ञानरूपी तिमिर रोगके कारण जगत्का भान होता है। परंतु वस्तुतः न भान है न अभान, न प्रातिभासिक जगत् है न व्यावहारिक तथा भूताकाश भी नहीं है; बल्कि केवल निराकार, अनादि, अनन्त, अद्वितीय चिदाकाश ही है। जिस हेतुसे कारणके बिना स्वप्नमें केवल शुद्ध द्रष्टा ही भासित होता है, उसी हेतुसे जाग्रत्में भी कारणका अभाव है और उसमें न द्रष्टा है न दर्शन। जैसे एक काल सृष्टि और प्रलय—दोनों रूपोंमें व्याप्त है अथवा बीज अङ्कुरसे लेकर पुष्प-फलपर्यन्त सभी अवस्थाओंमें वर्तमान है, उसी प्रकार ब्रह्म सर्वव्यापी है। जो एककी दृष्टिमें महान् दीवालरूप है, वही दूसरेकी

---

* आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलम्बाम्बुबिन्दूपमं
भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामनीचञ्चलाः।
लोला यौवनलालना जलरयः कायः क्षणापायवान्
पुत्र त्रासमुपेत्य संसृतिवशान्निर्वाणमन्विष्यताम्॥
(नि० प्र० उ० १३६। ३३)

दृष्टिमें निर्मल आकाश-सा दीखता है। यह बात स्थिर-स्वप्न, संकल्प और भ्रम आदि अवस्थाओंमें देखी गयी है। जैसे आत्मा एक निर्मल चिदाकाशस्वरूप होकर स्वप्नमें जाग्रत्‌की तरह प्रतीत होता है, उसी तरह जाग्रन्मय स्वप्नमें भी भासित होता है। दोनों अवस्थाओंमें उसकी जरा-सी भी अन्यथाप्रतीति नहीं होती। अतः व्याध! समस्त मनोव्यापारका त्याग कर देनेपर तुम जैसा रहते हो, वही तुम्हारा निरामय स्वरूप है, तुम वस्तुतः बाहर-भीतर सर्वत्र अनन्त आत्मारूपसे निरन्तर स्थित हो।

ब्रह्मा आदि जो स्वयंभू अपने-आप उत्पन्न होनेवाले हैं, वे सृष्टिके आदिमें स्वयं ही प्रकट होते हैं; क्योंकि उनके शरीर ज्ञानमात्रस्वरूप होते हैं। अतः उनके जन्म और कर्म नहीं होते। उनकी दृष्टिमें न संसार है, न द्वैत है और न कल्पनाएँ हैं। विशुद्ध ज्ञानस्वरूप शरीरवाले वे सदा सर्वात्मारूपसे स्थित रहते हैं। सृष्टिके आरम्भकालमें जैसे परब्रह्मस्वरूप ब्रह्मा आदि प्रकट होते हैं, उसी तरह सैकड़ों-हजारों दूसरे जीव भी प्रकट होते हैं; किंतु जो अज्ञानी हैं, वे अपनेको ब्रह्मसे भिन्न मानते हैं। वे असात्त्विक जीव इस जड दृश्यमय द्वैत प्रपञ्चको सत्य समझकर ही पहले मृत्युको प्राप्त हुए थे। अतः अब उनका कर्मसहित पुनः जन्म दिखायी देता है; क्योंकि उन्होंने स्वयं ही अचेतन देहात्मरूप होकर अवस्तुका आश्रय ग्रहण किया है। सर्वात्मरूप चेतनकी निर्मलता स्वाभाविक है। नित्य ब्रह्म स्व-स्वभावमें ही स्थित है। जिसे वह परमात्म-स्वरूप ज्ञात हो गया है, उसका वह कर्म नष्ट हो जाता है। तब जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उसके विनाशमें कठिनाई ही कौन-सी है। जबतक पाण्डित्यकी—परमात्मस्वरूपके ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो जाती, तभीतक माया संसारभयको उत्पन्न करनेमें समर्थ होती है। पाण्डित्य वही है, जिससे पुनः इस संसारचक्रमें पतन नहीं होता। इसलिये विशुद्ध ज्ञानसे भरपूर उस पाण्डित्यकी प्राप्तिके लिये अविराम प्रयत्न करना चाहिये। इसके सिवा अन्य किसी उपायसे तुम्हारा यह संसार-भय नष्ट नहीं हो सकता।

(सर्ग १३६–१४२)

पाण्डित्यकी प्रशंसा, चित् ही जगत् है—इसका युक्तिपूर्वक समर्थन

मुनि बोले—व्याध! जो परमधामरूपी गन्तव्य स्थानके मार्गके ज्ञाता हैं तथा जिन्हें आत्मज्ञानका पूर्णबोध है, ऐसे पण्डित जिस गतिको प्राप्त होते हैं, उसके सामने इन्द्रका ऐश्वर्य जीर्ण-शीर्ण तृणके समान तुच्छ है। मुझे तो पाताल, भूतल और स्वर्गलोकमें कहीं भी ऐसा सुख अथवा ऐश्वर्य नहीं दीख रहा है; जो पाण्डित्यसे बढ़कर हो। जैसे ज्ञान हो जानेसे मालामें सर्पकी भ्रान्ति तुरंत मिट जाती है, वैसे ही ज्ञानीकी दृष्टिमें यह अविद्यात्मक दृश्य-प्रपञ्च क्षणमात्रमें ब्रह्मरूपमें परिणत हो जाता है। ब्रह्मका जो प्रतिभास है, वही यह जगत् कहा जाता है। इसी कारण ये पृथ्वी आदि पञ्चभूत कहाँ हैं और इनका कारण कहाँ है अर्थात् जगत्‌की उत्पत्तिमें इन कारणोंकी अपेक्षा नहीं है। जैसे स्वप्नद्रष्टाको स्वप्नमें दीखनेवाले मनुष्योंकी स्थिति काल्पनिक है, वास्तविक नहीं है, उसी तरह जाग्रत्‌स्वरूप स्वप्नमें दीखनेवाले मनुष्योंकी स्थिति भी पूर्वकामनाके अनुसार कल्पित है, यथार्थ नहीं है।

व्याध! जैसे स्वप्नावस्थामें तुम्हारे अन्तःकरणके संकल्पमें नगर दीखता है, वैसे ही ब्रह्मके संकल्पमें यह सृष्टि वर्तमान है और जैसी कार्यकारणता तुम्हारे स्वप्नकालमें कही गयी है, वैसी ही कार्यकारणता यहाँ भी है।

यद्यपि यह सम्पूर्ण जगत् असत् है, तथापि स्वप्नकी तरह इसका अनुभव होता है। यदि 'जगत् नहीं है' यों कहा जाय तो पूर्ण चेतन ही इस रूपमें

विकसित होता है। जैसे हमलोगोंका यह जगत् है, वैसे ही आकाशमें अन्य प्राणियोंके लाखों जगत् हैं; परंतु उनकी परस्पर अनुभूति नहीं होती। सरोवर, सागर और कूपमें पृथक्-पृथक् निवास करनेवाले मेढकोंको अपने-अपने निवासस्थानका ही अनुभव रहता है, उन्हें परस्पर एक-दूसरेके दृश्यादिका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। जैसे एक ही घरमें सैकड़ों मनुष्योंके सैकड़ों स्वप्न-नगर होते हैं, उसी प्रकार आकाशमें बहुत-से जगत् भासित होते हैं; परंतु अज्ञानियोंके अनुभवमें आनेसे ही उन आकाशीय जगतोंकी सत्ता है और ज्ञानियोंके अनुभवका विषय न होनेसे वे असत् हैं। जैसे एक घरमें सैकड़ों मनुष्योंके सैकड़ों स्वप्न-नगर विकसित होते हैं और नहीं भी होते, उसी तरह आकाशमें जगत् है और नहीं भी है।

यह भुवन चिन्मात्रमें स्थित है। 'त्वम्', 'अहम्' आदि रूप जगत् भी चिन्मय है। इस न्यायसे उत्पन्न न होता हुआ भी जगत् परमाणुके अंदरतक चला जाता है अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है। मै परमाणुरूप हूँ, अतः समस्त जगत्के आकारमें स्थित हूँ। इसी कारण मैं सर्वत्र यहाँतक कि परमाणुके अंदर भी विद्यमान हूँ। यह चिदाकाशरूप मैं चिन्मात्र परमाणु होकर जगद्रूपसे जहाँ स्थित रहता हूँ, वहीं तीनों लोकोंको देखता हूँ। मेरे अन्तरात्मामें तीनों लोकोंका जैसा रूप विकसित होता है, वैसा बाहर नहीं होता; क्योंकि कहीं भी किसीने उसे देखा नहीं है। स्वप्न अथवा जाग्रत्में जब-जब अथवा जहाँ-जहाँ जगत्का जो भान होता है, वह बाह्य एवं आभ्यन्तर-सहित समस्त दृश्य चेतन आत्माका भान ही है। जब स्वप्नमें प्राणीका विस्तृत जगत् भासित होता है, तब वह चिदणुस्वरूप आत्माका ही भान होता है और वह स्वप्न-स्थानरूपसे होता है।

(सर्ग १४३-१४४)

मुनिका व्याधके प्रति बहुत-से प्राणियोंको एक साथ सुख-दुःखकी प्राप्तिके निमित्तका निरूपण करना

इस प्रकार स्वप्न, सुषुप्ति आदिके भेदोंका वर्णन करके मुनिने पुनः कहा—'व्याध! यद्यपि जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय स्वरूपवाला आत्मा आकाररहित होकर भी सर्वाकार है, कल्पनाओंसे शून्य होते हुए भी सृष्टिरूपी शरीर धारण करनेवाला है और शून्यरूप दृश्यात्मक चित्-शरीरसे शून्याकाशको व्याप्त करके स्थित है, तथापि यह आकाशात्मक चिन्मात्र अपने शुद्ध चिदाकाशस्वरूपसे कभी भी तनिक भी भिन्न नहीं है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, लोकान्तर और मेघ आदि भूत-भौतिक पदार्थों-सहित यह दृश्यजगत् सृष्टिके आदिमें भी कारणका अनुभव न होनेसे केवल चिदात्मक ही है। वास्तवमें यह नाम-रूपसे रहित और बोधस्वरूप ही है; क्योंकि अन्ततो-गत्वा मनोलय हो जानेपर यह सारा-का-सारा शुद्ध ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही रह जाता है, कोई अन्य वस्तु नहीं।'

व्याधने पूछा—मुने! प्रलय आदि सैकड़ों महावृत्तान्तों-से जिसकी अनेकों सृष्टियाँ समाप्त हो चुकी हैं, ऐसे आपका उन-उन लोकोंमें कैसा वृत्तान्त घटित हुआ था, उसका रहस्य बतलाइये।

मुनिने कहा—सदाचारकी स्पृहा रखनेवाले साधुस्वभाव व्याध! स्वप्नगत किसी प्राणीके ओजमें स्थित होनेपर उस प्राणीके हृदयस्थित ओजमें जो अपूर्व वृत्तान्त घटित हुआ, उसे सुनो। उस समय वहाँ मेरा आत्मज्ञान-सम्बन्धी सारा चमत्कार विस्मृत हो गया और वर्ष-ऋतुरूप काल धीरे-धीरे व्यतीत होने लगा। मेरा आत्म-चिन्तन छूट गया और बुद्धि पुत्र-कलत्र आदिमें अनुरक्त हो गयी। इस प्रकार उस गृहस्थाश्रममें रहते मेरे सोलह वर्ष बीत गये। तदनन्तर किसी समय एक सम्मान्य विद्वान् मुनि अतिथिरूपसे मेरे घर पधारे।

वे मननशील तथा अगाध ज्ञानसम्पन्न थे। उनकी तपस्या बड़ी उग्र थी। मैंने उनका भलीभाँति आदर-सत्कार किया। तात! जब वे भोजन करके संतुष्ट हो आसनपर शयन करने लगे, तब मैंने जनताके सुख-दुःखके क्रमका विचार करके उनसे यों प्रश्न किया—'भगवन्! चूँकि आप महाज्ञानी है। जगत्की सारी गतिविधियाँ आपको विदित हैं। आपमें क्रोध तो लेशमात्र भी नहीं दीखता तथा सुखमें आपकी तनिक भी आसक्ति नहीं है; अतः यह बतानेकी कृपा कीजिये कि जैसे शरत्कालमें फलार्थी पुरुषोंको धान आदिकी प्राप्ति होती है, वैसे ही कर्मशील जीवोंके अपने शुभाशुभ कर्मोंके फलस्वरूप सुख-दुःख प्राप्त होते हैं। तो क्या ये सारी प्रजाएँ एक साथ ही अशुभ कर्म करती हैं, जिनके फलस्वरूप दुर्भिक्षादि सभी दोष इन्हें एक साथ ही प्राप्त होते हैं? यदि दुर्भिक्ष एवं अनावृष्टि आदि उपद्रव सबके लिये एक-से ही होते हैं तो इसका क्या रहस्य है तथा किस-किसके दुष्कर्म समान होते हैं?' मेरा यह प्रश्न सुनकर वे मुनि मेरी ओर देखकर मुसकराये और अमृत-प्रवाहकी तरह सुन्दर एवं प्रशंसनीय वचन बोले।

समागत मुनिने कहा—साधो! यह तो बतलाओ, अन्तःकरणके पूर्णतया विवेकसम्पन्न होनेपर इस दृश्यका जो सत् या असत्रूप कारण है, उसे किससे जानते हो। तुम कौन हो और इस जगत्में कहाँ स्थित हो—यों अपने आत्माका पूर्णरूपसे स्मरण करो। मैं कहाँ हूँ? यह दृश्य क्या है? क्या सार है? क्या असार है? यह सब स्वप्नमात्र ही प्रतीत होता है। इसे तुम क्यों नहीं समझते हो? मैं तुम्हारे लिये स्वप्न-पुरुष हूँ और तुम मेरे लिये स्वप्न-पुरुषके तुल्य हो। यह जगत् निराकार अनिर्वचनीय अनादि और कल्पनारहित है। यह चिन्मात्ररूपी काँचकी चमकके समान स्थित है। इस सर्वव्यापक चिन्मात्रका स्वाभाविक रूप ही ऐसा है कि यह जहाँ जैसा समझता है, वहाँ वैसा ही हो जाता है। जब 'यह वस्तुओंके सकारणत्वकी कल्पना करता है, तब सब कुछ सकारण है और जब अकारणत्वकी कल्पना करता है, तब सभी कुछ अकारण है। साधुपुरुष! जैसे बहुत-से वृक्षोंपर एक साथ बिजली गिरती है, वैसे ही कुछ प्राणियोंके कतिपय दुष्कर्म रहनेपर एक साथ ही दुःख आदिके पहाड़ टूट पड़ते हैं। कर्मोंकी कल्पनासे जीवात्माको अपने कर्मोंका फल भोगना पड़ता है, परंतु जब वह कर्मोंकी कल्पनासे उन्मुक्त हो जाता है, तब उसे कर्मफलका भोग नहीं प्राप्त होता। स्वप्नमय नगरकी भाँति इस जगत्में सहकारी कारण आदि कोई भी कारण नहीं है। इसलिये वह अनादि, चेतन, अजर, मङ्गलमय परब्रह्म ही है। यह स्वप्नवत् जगद्भ्रम कोई बिना कारणके प्रतीत होता है और कोई कारणके साथ। वास्तवमें तो यह मिथ्या ही है।

महामते! ये सारी सृष्टियाँ पहलेसे इसी तरह अकारण ही प्रवृत्त होती आ रही हैं। जैसे आकाशमें देरतक देखते रहनेसे नेत्रोंके सामने चक्राकार गोले दीखने लगते है, वैसे ही जगत्में ये ढेर-की-ढेर सृष्टियाँ चक्कर काटती रहती हैं। चित्-शक्तिने ही अपनेमें 'मैं ही अमुक हूँ' यों जिस-जिस भानात्मक रूपकी स्वतः कल्पना की, वह आज भी वैसा ही स्थित है। पुनः वही चित् उससे भी उत्कृष्ट दूसरे महान् यत्नसे उसे अन्यथा करनेमें भी समर्थ है। विद्वान्-द्वारा जहाँ कारणकी कल्पना की जाती है, वहाँ तो कारणकी सारता रहती है और जहाँ उसकी कल्पना नहीं की जाती, वहाँ कारणहीनता ही है। यह विस्तृत जगत् पहले बवंडरकी तरह असत् ही आभासित हुआ और उस समय जैसा भान हुआ वैसा ही आज भी स्थित है। कुछ लोग अपना शुभ-अशुभ पुण्य-पापरूप कर्म मिला-जुलाकर करते हैं, अतः उन्हें उनका फल भी उसी तरह सम्मिश्रित रूपमें मिलता है।

(सर्ग १४५—१४९)

मुनिके उपदेशसे आत्मज्ञानकी प्राप्ति, पूर्वदेहमें गमनकी असमर्थताके विषयमें प्रश्न करनेपर देह आदिके भस्म होनेके प्रसंगमें मुनिके आश्रम और दोनों शरीरोंके जलने तथा वायुद्वारा उस अग्निके शान्त होनेका वर्णन

मुनिने कहा—व्याध ! उस समय उन मुनिने इस प्रकारकी युक्तिसे मुझे ऐसा ज्ञानोपदेश किया, जिससे तत्काल ही ज्ञेय-तत्त्व मेरी बुद्धिमें बैठ गया। जिन मुनिने यह चन्द्रोदयके समान मनोहर वचन कहा था, वे ही ये मुनिवर तुम्हारे बगलमें बैठे हैं। (उक्त मुनिको दिखाकर कहा—) उनकी ओर दृष्टिपात करो। ये मूर्तिमान् यज्ञके सन्तान हैं। इन्हें दृश्यके पूर्वापरका पूर्ण ज्ञान है। ये ही मेरे अज्ञानका विनाश करनेवाले हैं। यद्यपि मैंने इनसे कहनेके लिये प्रार्थना नहीं की थी, तथापि इन्होंने ही मुझसे यह बात कही थी।

अग्नि बोले—विपश्चित् ! उन मुनिकी वह बात सुनकर वह व्याध उस समय विचारने लगा कि यह स्वप्नसृष्टि प्रत्यक्ष कैसे हो गयी। यों सोचकर उसे महान् विस्मय हुआ।

तब व्याधने कहा—मुने ! भव-तापका अपहरण करनेवाले आपने अभी-अभी जो बात मुझसे कही है, वह तो महान् आश्चर्यजनक है और मेरे मनमें नहीं बैठ रही है। मुनिवर ! स्वप्नमें जिनका आपने अपने उपदेशकरूपसे वर्णन किया था, उन्हींकी जाग्रत्में प्रत्यक्षता बतला रहे हैं और मैं भी उन्हें प्रत्यक्ष देख रहा हूँ। इसीलिये मैं इसे परम विस्मयकी बात मानता हूँ।

मुनि बोले—महाभाग व्याध ! तदनन्तर यहाँ मेरी कौन-सी विस्मयजनक घटना घटी, उसका मैं संक्षेपमें वर्णन करता हूँ; सुनो। सहसा उतावली मत करो। तुम्हारे समीप बैठे हुए इन मुनिवरने उस समय वहाँ मुझे ज्ञानोपदेश करनेके लिये वैसा वर्णन किया था और मैं उन महात्माकी उस वाणीसे तुरंत ज्ञानसम्पन्न हो गया। तत्पश्चात् उनकी वाणीके प्रभावसे मुझे अपने पहलेके अनादिसिद्ध सन्मात्ररूप निर्मल स्वभावका स्मरण हो आया, फिर तो मेरे हृदयमें यह भावना जाग उठी कि मैं ही वह मुनि था। ऐसा ध्यान आते ही प्रचुर आश्चर्यवश स्नान किये हुएकी तरह मेरा हृदय आर्द्र हो गया। मैं विषय-भोगकी आसक्तिसे इस-अवस्थाको प्राप्त हो गया हूँ—ठीक उसी तरह जैसे अज्ञानी पथिक मार्गके परिश्रमसे पीड़ित होकर जलके लिये मिथ्याभूत मृगतृष्णाके पीछे दौड़ता है। अहो ! आश्चर्य है, बढ़ते हुए इस मिथ्याज्ञानने, जो सर्वार्थशून्य है, मुझे यह किस दशाको पहुँचा दिया। वास्तवमें तो न मैं हूँ, न यह स्त्री है, न यह घर है और न यह भ्रम ही है—यह सब कुछ मिथ्या है, फिर भी सत्-सा प्रतीत होता है। यह महान् आश्चर्य है। अच्छा, अब इस विषयमें मुझे क्या करना चाहिये। मेरे अंदर बन्धनको तोड़ डालनेमें समर्थ जो ब्रह्माकार वृत्तिरूप अङ्कुर है, वह भी काट डालने योग्य है, अतः तबतक मैं उसीका परित्याग करता हूँ। यों सोच-विचारकर मैंने वहाँ उन मुनिसे इस प्रकार कहा—'मुनीश्वर ! मैं अपने आश्रमस्थित मुनि-शरीरका तथा जिस शरीरको देखनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ, उसका भी निरीक्षण करनेके लिये जाता हूँ।'

यह सुनकर वे मुनिवर उस समय ठठाकर हँस पड़े और मुझसे कहने लगे—'वे दोनों शरीर अब हैं कहाँ। वे तो अब बहुत दूर चले गये। अथवा वृत्तान्तज्ञ ! तुम स्वयं ही जाओ और उस वृत्तान्तको देखो। वहाँ घटित हुई घटनाको जब तुम यथार्थरूपसे देख लोगे, तब स्वयं ही जान जाओगे।' मुनिके यों कहनेपर मैंने अपने उस प्राक्तन मुनि-शरीरका स्मरण करके वहाँ जानेकी इच्छासे इस स्वप्नकल्पित रूपका परित्याग कर दिया और चिदात्मारूप अपने जीवको प्राणके द्वारभूत पवनसे संयुक्त

कर दिया। चलते समय मैंने उन मुनिसे कहा—'मुने! अपने प्राक्तन शरीरका अवलोकन करके जबतक मैं लौटता हूँ, तबतक आपको यहीं बैठे रहना चाहिये।' यों कहकर मैं वायुमे प्रविष्ट हुआ। तदनन्तर मैं बडी उतावलीके साथ उस वायुरूपी रथपर आरूढ़ होकर पुष्पकी सुगन्धकी तरह उस अनन्त आकाशमें जाकर चिरकालतक भ्रमण करता रहा। परंतु बहुत देरतक भटकते रहनेपर भी मुझे वहांसे निकलनेके लिये उस प्राणीके गलेका छिद्र आदि कोई मार्ग प्राप्त नहीं हुआ। तब मैंने मुनिके पास जाकर उनसे पूछा—'मुनिराज! यद्यपि मैं स्थावर-पर्यन्त अपने विस्तृत संसारमण्डलमें चिरकालतक भ्रमण करता रहा, तथापि मुझे वह गलेका छिद्र नहीं प्राप्त हुआ—इसका क्या कारण है?' मेरे यों प्रश्न करनेपर वे महाशय मुनि बोले—'कमलनयन! तुम उस शरीर-वृत्तान्तको (उपदेश किये गये बिना ही) स्वय अपनी बुद्धिसे कैसे जान गये। यदि योगसे एकाग्र हुई बुद्धिके द्वारा तुम स्वय ही इसका अवलोकन करते हो तब तो हाथपर रखे हुए कमलकी तरह तुम्हें उसका पूर्णतया ज्ञान है ही। तथापि यदि तुम्हें मेरे मुखसे सुननेकी इच्छा है तो मैं उस यथावटित वृत्तान्तका पूर्णरूपसे वर्णन करता हूँ, सुनो—

'तुम अपनेको जैसा समझते हो, वैसे व्यष्टि जीवरूप नहीं हो। तुम तो समस्त प्राणियोंके तपरूपी कमलके लिये सूर्यरूप, कल्याणरूपी कमलोंकी खान और भगवान् श्रीहरिके नाभिकमलकी कर्णिका अर्थात् हिरण्यगर्भ हो। वही तुम किसी समय व्यष्टिभावरूप स्वप्न देखनेकी इच्छासे तपस्यामें स्थित होकर उस पुष्ट हुई बुद्धिद्वारा किसी प्राणीके हृदयमें प्रविष्ट हुए। जिस हृदयमें तुमने प्रवेश किया था, वहाँ पृथ्वी और स्वर्गलोक जिसका उदर है, उस विस्तृत त्रिलोकीको देखा था। इस प्रकार यद्यपि तुम वहाँ बडी देरतक स्वप्न देखनेमें व्यग्र थे, तथापि तुम्हारे शरीरमे तथा महावनमें सोये हुए उस जीवके शरीरमें, जिसमें तुम स्थित थे, आग लग गयी। फिर तो धुएँसे धूमिल हुए मेघरूपी वस्त्रोसे आच्छादित आकाश चँदोवा-सा मालूम पडने लगा। अग्रातचक्र-सी उड़ती हुई बड़ी-बड़ी चिनगारियाँ सूर्यमण्डल एव चन्द्रमण्डल-सी जान पडने लगीं। उस अग्निने जले हुए मेघोंपर भस्मपूर्ण धुएँके मेघ-रूपी कम्बलोंद्वारा आकाशको ऐसा आच्छादित कर दिया था मानो वे नीले आकाशदलकी रक्षा कर रहे हों। दूर देशमें स्थित लोगोने उसे एक जगह स्थिर हुई बिजली-सा देखा। उसकी प्रभासे आकाश पिघले हुए स्वर्ण रससे अनुलिप्त फर्श-सा लग रहा था। उसकी दीप्तिमती चिनगारियाँ उड-उडकर आकाशमें पहुँच रही थीं, जो ताराओंकी संख्याको दुगुनी बना रही थीं। वह वक्षःस्थलमें स्थित ज्वालारूपी बालवनिताओंके कटाक्षोंसे आनन्द प्रदान कर रही थी। उस दावाग्निने, जो प्रलयाग्निके समान भीषण थी तथा वेगपूर्वक रेंगते हुए सर्पकी तरह चारों ओर फैल रही थी, तुम्हारे आश्रमके साथ-साथ तुम्हारे तथा उस प्राणीके शरीरको भी जलाकर भस्म कर दिया।'

व्याधने पूछा—मुने! वहाँ उस अग्निदाहकी उत्पत्ति-का प्रधान कारण क्या है तथा वह वन और आपके वे शिष्य—सब-के-सब एक साथ ही कैसे नष्ट हो गये?

मुनिने कहा—व्याध! जैसे संकल्प आदिके विनाश और उदयमें सकल्पकर्ताके मनका स्पन्दन ही कारण है, वैसे ही त्रिजगत्का सकल्प करनेवाले विधाताका मनः-स्पन्द ही त्रिजगत् है और वही तुरत उसके विनाश और उदयका कारण है। चूँकि ब्रह्माका सकल्पनगर ही जगत् है, इसलिये उनके मनका स्पन्दन ही इस संसारमें प्रजाओंकी उन्नति, क्षय, क्षोभ, वृष्टि और अवृष्टि आदिका कारण है। ब्रह्माका मानसिक संकल्प इस त्रिलोकीका कारण है, अतः यह त्रिलोकी कल्पित है। विद्वानोंकी निर्मल दृष्टिमें चिदाकाशमें चिदाकाशकी ही शोभा विकसित होती है, किंतु जो मूर्ख हैं, उनकी दृष्टिमें

वह जैसी अथवा जिस प्रकारकी भासती है, तन्मयी ही है। वास्तवमें तो वह सत् नहीं है।

समागत मुनिने कहा—मुने! वहाँ उस अग्निने दोनो शरीर, आश्रम, नगर, वे घर और वे वृक्ष आदि सबको सूखे तिनकेके समान शीघ्र ही जलाकर राखका ढेर बना दिया तथा अत्यन्त दाहके कारण जिसकी बड़ी-बड़ी शिलाएँ फट गयी थीं, ऐसे तुम्हारे उस आश्रममें सोये पड़े हुए वे दोनो शरीर भस्म हो गये। इस प्रकार सम्पूर्ण वनको पूर्णरूपसे जलाकर वह आग धीरे-धीरे उसी प्रकार शान्त हो गयी, जैसे समुद्रके जलको पीकर अगस्त्यजी शान्त हो गये थे। तत्पश्चात् वह अग्नि अदृश्य हो गयी। उस अग्निके अदृश्य हो जानेपर वायु उस सम्पूर्ण भस्मराशिको, जो पहले हवाके लगनेसे उद्दीप्त होकर फिर अत्यन्त शीतल हो गयी थी, पुष्पराशिकी भाँति कण-कण करके उडा ले गयी। इससे अब पता ही नहीं चलता कि वह आश्रम कहाँ था और वे दोनों शरीर कहाँ चले गये तथा जो पेटीकी तरह बहुत-से लोगोंका निवास-स्थान था, वह नगर जाग्रत्पुरुषके स्वप्ननगरकी तरह कहीं विलीन हो गया। इस प्रकार जब तुम्हारे तथा उस प्राणीके शरीरका अभाव हो गया, उस समय तुम स्वप्नके भ्रमसे ग्रस्त थे, परंतु इस समय तुम्हारी संवित् ही स्फुरित हो रही है। इसलिये कहाँ बाहर निकलनेका द्वारभूत उस प्राणीके गलेका छिद्र और कहाँ तुम्हारा वह विराट् आत्मा अर्थात् दोनोंमें महान् अन्तर है; क्योंकि ओजसहित जले हुए उस प्राणीका ओजसहित शरीर भी तो जल गया था। मुने! इसी कारण तुम्हें वे दोनों शरीर प्राप्त नहीं हुए हैं; क्योंकि इस समय तुम, जिसका अन्त नहीं है, ऐसे स्वप्न-संसाररूपी जाग्रत्-अवस्थामें स्थित हो। सुव्रत! इस प्रकार तुम्हारा यह स्वप्न ही जाग्रद्भावको प्राप्त हो गया है और हम सब लोग तुम्हारे स्वप्नपुरुष हो गये है। यों तुम हमारे स्वप्नपुरुष हो और हमलोग तुम्हारे स्वप्नपुरुष हैं, किंतु यह चिदाकाशरूप आत्मा सर्वदा अपने स्वभावमें ही स्थित है। स्वप्नपुरुष होते हुए जबसे तुम्हें 'मैं जाग्रत्-पुरुष हूँ' ऐसी प्रतीति हुई, तबसे तुम जाग्रत्-पुरुष बनकर पूर्णरूपसे गृहस्थाश्रममें स्थित हो। तात! इस प्रकार वहाँ जैसी घटना घटी थी, वह सारा प्रसंग मैंने तुम्हें पूर्णरूपसे सुना दिया। अब यदि तुम्हें मेरे कथनमें संदेह हो तो तुम स्वयं ही ध्यानद्वारा इस अनुभूत दृश्यको देख सकते हो। इस प्रकार जो आदि और मध्यसे रहित है, जिसका रूप अनन्त है तथा शरीर अपनी विकसन-शक्तिके उत्कर्षसे चञ्चल हो रहा है, ऐसा यह संविद्घन (ज्ञानस्वरूप) चिन्मयात्मा ही स्वयं अपने आपमें अनेक शुभाशुभ सृष्टियोंके रूपमें आकाशमें फैले हुए सूर्यके सुनहले घामकी तरह विकसित होता है।

(सर्ग १५०-१५१)

व्याध और उस मुनिके वार्तालापके प्रसंगमें जीवन्मुक्त ज्ञानीके स्वरूपका वर्णन तथा अभ्यासकी प्रशंसा

समागत मुनिने कहा—मुने! उस प्राणीके शरीर तथा मेरे शरीर आदिका वास्तवमें अस्तित्व न होनेके कारण यह सब आदि-अन्तरहित चिदाकाश ही है। इसका रूप कर्ता, कर्म और करणसे हीन, क्रमशून्य चिद्घन है। ये घट, पट और अवट आदि चिदाकाशके विकास हैं, अतः ये स्पष्ट आकारवाले कहाँसे हो गये। वस्तुतः यह चिन्मात्रका भी विकास नहीं है, बल्कि केवल चिन्मात्राकाश ही है; फिर उसका कैसा और क्या विकास। क्या कहीं आकाशका विकास होता है? भला, शून्य वस्तु कैसे विकसित होगी। चिन्मात्रका विकास महान् चिद्घनरूप शुद्ध ब्रह्म है। वही जगत्की तरह अवभासित हो रहा है। ऐसी दशामें दृश्य कहाँ और द्रष्टापन तो फिर आ ही कहाँसे सकता है? अतः जो कालतः आदि-अन्तशून्य, देशतः आदि-मध्यहीन, वस्तुतः अद्वितीय, कारण, कार्य

और तदधीन प्राणियोंसे परे, सत्तामय, भुवन, शैल और दिगन्तोंके कारण नाना-अनानारूप, अप्रमेय, सर्वव्यापक चेतन है, वही सब कुछ है।

मुनि बोले—व्याध! ऐसा निर्णय करके मैं इस दृश्यमें स्थित हूँ। मेरा सताप और राग नष्ट हो गया है। मैं आशङ्का और अहकारसे शून्य होकर निर्वाणस्वरूप हो गया हूँ। न मेरा कोई आधार है और न मैं ही किसीका आधार हूँ। मैं मान और आश्रयसे रहित होकर अपने चित्-स्वभावमें स्थित हूँ तथा सर्वथा शान्त होकर सृष्टि-रूपसे प्रकट हूँ। मैं शान्ति-लाभ कर रहा हूँ, चारों ओरसे निर्वाण-सुखमें निमग्न हूँ और केवल आत्मसुखमें स्थित हूँ। मैं विधि-निषेधसे परे हो गया हूँ। अब मेरे लिये न कुछ बाह्य है न आन्तर। इस प्रकार मैं यहाँ यथाप्राप्त स्थितिके अनुसार निवास करता हूँ। तुम तो आज सहसा मेरे सामने आ गये हो।

व्याधने कहा—मुनिवर! यदि ऐसी बात है तो मैं, आप और ये समस्त देवता आदि सब-के-सब परस्पर एक-दूसरेके सत्-असत्-स्वरूप स्वप्नपुरुष हो जायँगे।

मुनि बोले—व्याध! तुम्हारा कथन ठीक है; क्योंकि यह सब-का-सब परस्पर स्वप्नके समान स्थित है तथा अपनेमें एक-दूसरेका सत्-असत्-सा अनुभव होता है। जिसने दृश्यको जैसा समझा है, उसे तदनुकूल ही उसका अनुभव होता है। वह दृश्य वस्तु अनेक है और एक भी है। (अज्ञानियोंके लिये अनेक है, किंतु जो तत्त्वज्ञानी हैं, उनके लिये) जाग्रत्-कालमें वह स्वप्न-नगरके समान तथा पहले न देखे हुए दूर देशमें स्थित दृश्यमान नगरके सदृश प्रतीतिमात्र ही है; अतः वह न एक है, न सत् है, न असत् है और न सत्-असत् ही है। लुब्धक! इस प्रकार मैंने तुमसे सब कुछ वर्णन कर दिया। मेरे निरन्तर ज्ञानोपदेश करते रहनेसे तुम ज्ञानसम्पन्न हो गये हो। यों तो तुम स्वयं ही ज्ञानवान् हो और सब कुछ जानते हो; अतः तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा करो। प्राज्ञ! यह ज्ञान अभ्यासद्वारा परिपक्व हुए बिना मनके अंदर वैसे ही नहीं प्रवेश करता, जैसे कमण्डलु आदिके आकारमें परिणत हुए बिना काष्ठमें जल नहीं टिक सकता। एकमात्र गुरु और शास्त्रके सेवनरूपी अभ्याससे बोधमें विश्राम प्राप्त होनेपर जब द्वैत और अद्वैतकी दृष्टि शान्त हो जाती है, तब चित्त निर्वाण कहलाता है। जो अभिमान और मोहसे रहित हैं, जिन्होंने सङ्गदोष—आसक्तिपर विजय प्राप्त कर ली है, जो नित्य अध्यात्म-ज्ञानमें लीन रहते हैं, जिनकी कामनाएँ पूर्णरूपसे निवृत्त हो गयी हैं तथा जो सुख-दुःखसंज्ञक द्वन्द्वोंसे विमुक्त हैं, ऐसे ज्ञानी पुरुष ही परमात्माके उस अविनाशी परमपदको प्राप्त होते हैं।*

यह सुनकर वह अपने व्याध-कर्मका परित्याग करके मुनियोंके साथ रहकर तपस्या करनेको उद्यत हो गया। फिर तो उसने उन्हीं मुनियोंके साथ उन-उन भावनाओंसे भावित होकर सदा उसी लोकमें निवास करते हुए अनेकों-सहस्र वर्षोंतक अत्यन्त घोर तपस्या की। अपने तप-कालमें ही उसने उन मुनिसे पुनः पूछा—'मुनिवर! मुझे आत्मविश्रान्ति कब प्राप्त होगी?' तब मुनिने कहा।

मुनि बोले—व्याध! मैंने तुम्हें जिस ज्ञानका उपदेश दिया था, वह तुम्हारे हृदयके अंदर मौजूद तो है, किंतु वह पुरानी लकड़ीके अंदर स्थित थोड़ी-सी अग्निके समान बलहीन है, इसलिये जिसे जला डालना उचित है, उस दृश्यपर वह आक्रमण करनेमें असमर्थ

---

* निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्यय तत्॥
(नि० प्र० उ० १५४। १८)
यही श्लोक श्रीमद्भगवद्गीता (१५।५) में ज्यों-का-त्यों है।

है। अभ्यासकी कमीके कारण अभी तुम्हें कल्याणप्रद ज्ञानमें विश्रामकी प्राप्ति नहीं हुई है। कुछ कालके पश्चात् अभ्यासके सुदृढ़ हो जानेपर तुम्हें पूर्ण विश्राम प्राप्त हो जायगा। (सर्ग १५२—१५५)

मुनिको परमपदकी प्राप्ति, व्याधके महाशवका वर्णन, अग्निका स्वर्गलोक-गमन, भासद्वारा आत्म-कथाका वर्णन तथा बहुत-से आश्चर्योंका वर्णन करके आत्मतत्त्वका निरूपण

तदनन्तर मुनिने भविष्यमें व्याधके तप करके ब्रह्माजीसे वरदान प्राप्त करने, उसकी कायाकी वृद्धि होने, मृत्युको प्राप्त होने, फिर राजा सिंधु बनकर मन्त्रीके मुखसे तत्त्व सुननेकी बातका सविस्तर वर्णन करके कहा—'व्याध! मैंने भविष्यमें होनेवाली सारी घटनाओंका अतीतकी तरह तुमसे वर्णन कर दिया। अब इस समय तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वैसा भलीभाँति सोच-समझकर करो।'

अग्निने कहा—विपश्चित्! मुनिका पूर्वोक्त वचन सुनकर व्याधका चित्त विस्मयसे पूर्ण हो गया। वह क्षणभरतक ठगा-सा खड़ा रहा। फिर तुरंत वह तथा वे मुनि स्नान करनेके लिये चले गये। इस प्रकार अकारण ही सुहृद् बने हुए वे दोनों व्याध और महामुनि शास्त्र-चिन्तन करते हुए वहाँ तपस्या करने लगे। तदनन्तर थोड़े ही समयमें मुनिको निर्वाणकी प्राप्ति हो गयी। वे आयुके अवसानमें अपने पाञ्चभौतिक शरीरका त्याग करके परमपदमें लीन हो गये। उधर व्याध चिरकालतक तपस्या करता रहा। जब सैकड़ों युग बीत गये, तब उसकी कामना पूर्ण करनेके लिये पद्मयोनि भगवान् ब्रह्मा वहाँ आये। बेचारा व्याध अपनी वासनाके आवेशको निवारण करनेमें समर्थ न हो सका; अतः मुनिद्वारा पहले ही बनायी हुई अपने वरकी व्यर्थताको जानते हुए भी उसने ब्रह्माजीसे वही वर माँगा। तब ब्रह्माजी 'एवमस्तु—ऐसा ही हो' यों कहकर अपनी अभीष्ट दिशाकी ओर चले गये और वह व्याध अपनी तपस्याका फल भोगनेके लिये पक्षीकी तरह आकाशकी ओर उड़ चला। वहाँ वह गरुडके सदृश महान् वेगसे ऊपर-नीचे टेढ़ी-मेढ़ी अनेक उड़ानें भरता हुआ आकाशको पूर्ण-सा करने लगा। यों करते-करते उसका बहुत-सा समय बीत गया। इतने लंबे समयके बीतनेके पश्चात् भी जब उसके अविद्या-भ्रमका अन्त नहीं आया, तब उस विषयसे उसे वैराग्य हो गया। तदनन्तर वैराग्य हो जानेके कारण उसने आकाशमें ही प्राणोंका विरेचन करनेवाली योगधारणा बाँधकर अपने प्राणोंका परित्याग कर दिया और उसका शरीर मुर्दा-सा होकर नीचेकी ओर लटक गया। उसका प्राणवायुसमन्वित चित्त तो उस अव्यक्ताकाशमें ही राजा विदूरथकी शत्रुरूपा पूर्वोक्त सिन्धुताको प्राप्त हो गया। (अर्थात् पूर्वोक्त राजा विदूरथके शत्रु राजा सिन्धुका रूप धारण कर लिया) जो सारे भूमण्डलका पालन करनेवाली थी तथा वह शरीर सैकड़ों मेरुका-सा विशालकाय होकर महाशवके रूपमें परिणत हो गया। फिर तो दूसरी पृथ्वीके सदृश वह विशाल शव अशनि एवं वज्रके गिरनेका-सा शब्द करता हुआ आकाशसे भूतलपर गिर पड़ा।

विपश्चितोंमें श्रेष्ठ पुरुष! इस प्रकार मैंने तुमसे उस महाशवका वर्णन कर दिया। जिस भूमण्डलरूप जगत्में वह शव गिरा था, वही यह जगत् है, जो हमलोगोंके स्वप्ननगरके सदृश स्फुरित हुआ है।

भो श्रेष्ठ विपश्चित्! साधुशिरोमणे! तुम पुनः प्रकृत व्यवहारके समान स्थिर भूमण्डलमें अपनी अभीष्ट दिशाको चले जाओ। गतिकोविद! प्रजावर्गके स्वामी इन्द्र स्वर्गलोकमें अपने सौवें यज्ञका अनुष्ठान करना चाहते

हैं। उन्होंने मन्त्रद्वारा मुझे आमन्त्रित किया है, अतः मैं तो वहाँ जाता हूँ।

भास बोले—राजन्! यह कहकर भगवान् अग्नि अपने स्वरूपसे तो वहीं अन्तर्धान हो गये, परंतु अग्नि-रूपसे वे निर्मल आकाशमें बिजलीकी अग्निकी तरह जाते हुए दीख पड़े। तथा मैं भी चित्तद्वारा अपनी प्राक्तन अविद्याके संस्कारोंको वहन करता हुआ पुनः स्वयं अपने दिगन्तगमनरूप कर्मका निर्णय करनेके लिये आकाशमें भ्रमण करता हुआ स्थित रहा। उस समय आकाशमें मुझे फिर अगणित जगत् दृष्टिगोचर हुए। उनकी रूपरेखाएँ भिन्न-भिन्न थीं तथा उनके आचार-विचार भी अनेक तरहके थे। भूपाल! उन लोकोंमें कहीं बहुत-से प्राणी एकीभूत हो गये थे, जिससे उनके अङ्ग छत्ते-सरीखे भासित होते थे। उनमें चेतना थी। वे मन्दगतिसे चलते थे और दर्शकोंके हृदयोंको हर लेते थे। ऐसे बहुत-से प्राणी मुझे आकाशमें दृष्टिगोचर हुए। इस प्रकार मैं चिरकालतक देखता रहा, किंतु स्वप्नकालिक मनोमात्र देह होनेके कारण उनका विनाश होते हुए तो देखा; परंतु मुझे अविद्याका अन्त नहीं दीख पड़ा। तब मैं उस दृश्यवर्गसे उद्विग्न हो गया और किसी एकान्त स्थानमें जाकर मोक्षसिद्धिके लिये तपस्या करनेको उद्यत हुआ।

उसी समय इन्द्रने मुझसे कहा—'विपश्चित्! चित्ताकाशमें तुम्हारे लिये दूसरी मृगयोनि उपस्थित है; क्योंकि तुम्हारी यह चित्-शक्ति चिरकालतक मृगयोनिमें ही संसरण करना चाहती है। इस प्रकार मैंने तुम्हारे अवश्यम्भावी वृत्तान्तको देख लिया है। तुम मृगयोनिमें उत्पन्न होकर राजा दशरथकी उस महापुण्यस्वरूपा सभामें पहुँचोगे। वहाँ मेरे द्वारा कहा हुआ सारा-का-सारा ज्ञान तुम्हारी समझमें आ जायगा। इसलिये अब तुम संसारसे खिन्न होकर भूतलपर मृगयोनिमें जन्म धारण करो। वहाँ तुम्हें इस सम्पूर्ण कल्पित आत्मवृत्तान्तका पूर्णरूपसे स्मरण होगा। पुनः जब मृगयोनिसे मुक्त हो जाओगे, तब तुम्हें पुरुषरूपकी प्राप्ति होगी। उस समय जब ज्ञानाग्निद्वारा तुम्हारा शरीर दग्ध हो जायगा, तब तुम्हारा हृदयस्थ आत्मज्ञान स्फुरित होगा। उस आत्मज्ञानके स्फुरणसे तुम उस अविद्या नामक भ्रान्तिको, जो चिरकालसे तुम्हारे हृदयमें स्थित है, त्यागकर स्पन्दरहित वायुके समान उत्तम निर्वाणको प्राप्त हो जाओगे।'

देवराज इन्द्रके यों कहनेपर उसी समय 'इस वनमें मैं यह मृग हूँ' ऐसी मेरी निश्चित प्रतिभा उद्भूत हुई। तभीसे मैं उसी श्रेष्ठ पर्वतवर मन्दार-वनके भीतरी कोनेमें तृण और दूर्वाङ्कुरोंका आहार करनेवाला मृग हो गया। रघूद्वह! तदनन्तर एक समय सीमावर्ती एक सामन्त शिकार खेलनेके लिये वहाँ आया। उसे देखकर मैं भयभीत हो गया और छलाँग मारकर भागा; परंतु उसने आक्रमण करके मुझे पकड़ लिया और घर ले जाकर तीन दिनतक वहाँ रखा। तत्पश्चात् वह तुम्हारे मनोविनोदके लिये मुझको यहाँ ले आया। निष्पाप राम! यों मैंने अपनी सारी आत्मकथाका, जो संसारकी मायाके समान तथा नाना प्रकारके आश्चर्यरूपी रससे पगी है, तुमसे वर्णन कर दिया। इस प्रकार नाना प्रकारकी शाखा-प्रशाखाओंके विस्तारसे युक्त यह अविद्या अनन्त है। यह आत्मज्ञानके अतिरिक्त और किसी भी उपायसे शान्त नहीं हो सकती।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! जब वह विपश्चित् वहाँ इतना कहकर चुप हो गया, तब उसी क्षण प्रशंसनीय बुद्धिवाले श्रीराम उससे यों बोले।

श्रीरामजीने पूछा—प्रभो! यदि दूसरेका सङ्कल्पभूत मृग अपने आत्मामें दृष्टिगोचर हुआ है तो इससे सिद्ध हुआ कि इसी प्रकार असंकल्प पुरुष दूसरेके सङ्कल्परूप सृष्टिमें वस्तुएँ देख सकता है। परंतु यह कैसे सम्भव होगा—इसे बतलानेकी कृपा कीजिये।

विपश्चित्‌ने कहा—राघव ! पहले जिस जगत्‌के भूतलपर वह महाशव गिरा था, उसी भूमिपर इन्द्र यज्ञके गर्वसे गर्वीले होकर विचरण कर रहे थे। वहीं आकाशमें महर्षि दुर्वासा ध्यानमग्न होकर बैठे थे। इन्द्रको यह पता नहीं था कि ये मुनि हैं। उन्होंने अज्ञानवश मुर्दा समझकर उन्हें पैरसे ठोकर मार दी। इससे महर्षि दुर्वासा कुपित हो गये और इन्द्रको शाप देते हुए बोले—'देवराज ! तुम जिस भूतलपर जाना चाहते हो, तुम्हारे उस अवनितलको ब्रह्माण्डके समान विशाल एवं महाभयकर शव शीघ्र ही चूर-चूर कर देगा। मुर्दा समझकर जो तुमने मेरा अतिक्रमण किया है, इस कारण मेरे शापसे तुम शीघ्र ही उस पृथ्वीको प्राप्त होओगे।' वस्तुतः तो एक (व्यावहारिक) जगत् न सत् है और न दूसरा (कल्पित) जगत् असत् ही है, क्योंकि ये दोनों, जैसी प्रतिभा उदित होती है, तदनुकूल प्रतीत होते हैं। इसलिये इनमें किसे सत् कहा जाय अथवा किसे असत् कहा जाय। अथवा राघव ! इस प्रसगमें मैं तुम्हें एक दूसरी युक्ति बतलाता हूँ, जिससे बात स्पष्टरूपसे समझमें आ जायगी, उसे सुनो। महाभाग ! जिसमें सब कुछ है, जिससे सबकी उत्पत्ति हुई है, जो स्वयं सर्वात्मक एवं सर्वव्यापक है, उस ब्रह्ममें सभी कुछ सम्भव है। इसीलिये सर्वात्मामें सकल्पजनित पदार्थ परस्पर मिलते हैं—यह बात अवगत होती है, क्योंकि लोकमें भी देखा जाता है कि जहाँ छाया रहती है, वहीं धूप भी रहता है। ऐसा सम्भव न हो तो उसे सर्वात्मताकी प्राप्ति ही कैसे होगी ? इसलिये सर्वात्मामें संकल्पनगर परस्पर नहीं मिलते हैं—यह भी सत् है और परस्पर मिलते हैं—यह भी सत् है। इस प्रकार जो सत्य नहीं है, उसका अस्तित्व नहीं है और जो मिथ्या नहीं है, वह भी नहीं है; क्योंकि सर्वात्मामें सब कुछ सर्वत्र सर्वथा एवं सर्वदा वर्तमान है।

रघुनन्दन ! यह ब्रह्मसत्ता ऐसी है, जो स्वयं ही अपनेसे अपना सृजन करती है तथा उसीके प्रभावसे अविद्या सादि एवं अनादिरूपसे अनुभूत होती है। इस ज्ञानदृष्टिसे सभी कुछ क्षणभरमें ही प्रमाणभूत हो जाता है और अन्य दृष्टिसे ऐसा नहीं होता, इसीलिये विद्वान्‌-लोग ज्ञानदृष्टिसिद्ध वस्तुको ही सारभूत मानते हैं। पूर्ण दृष्टि होनेपर ज्ञानता तथा अज्ञानता एवं सत् और असत्‌की स्थितिका कुछ भी भेद नहीं है; क्योंकि सत्य ब्रह्ममें सत् और असत्—दोनों एक-से हैं, इसलिये सब कुछ काष्ठवत् मौन अर्थात् चिद्रूप ही है। जो दृश्य है, वह अनन्त है, वही ब्रह्मता है और वही परमपद है, इसलिये यह सब कुछ चिदाकाशमयी सर्गश्री भी सृष्टिके आदिमें स्वप्न-तुल्य शान्त ब्रह्मस्वरूप ही है—यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। (सर्ग १५६-१५९)

राजा दशरथका विपश्चित्‌को पुरस्कार देनेकी आज्ञा देते हुए सभाको विसर्जित करना, दूसरे दिन सभामें वसिष्ठजीद्वारा कथाका आरम्भ, ब्रह्मके वर्णनद्वारा अविद्याके निराकरणके उपाय, जितेन्द्रियकी प्रशंसा और इन्द्रियोंपर विजय पानेकी युक्तियाँ

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! विपश्चित् यह कह ही रहा था कि सूर्यदेव मानो उस वृत्तान्तका अवेक्षण करनेके लिये अपने दूरतक फैले हुए किरणरूपी पादोंसे दूसरे लोकको चले गये। तब दिनका अन्त सूचित करनेवाला नगाड़ा अपने शब्दसे दसों दिशाओंको पूर्ण करता हुआ-सा उसी प्रकार बज उठा मानो संतुष्ट हुई दिशाओंसे जय-जयकारकी ध्वनि आ रही हो। इधर महाराज दशरथ विपश्चित्‌को अपने राज्यके अनुरूप क्रमशः गृह, स्त्री और धन आदि विभव प्रदान करनेके लिये आदेश देते हुए सिंहासनसे उठ पड़े। फिर तो राजा दशरथ

श्रीराम और वसिष्ठ आदि सभी सभासदोंने परस्पर क्रमानुसार एक-दूसरेका प्रणाम आदिके द्वारा सत्कार किया और फिर सभा विसर्जित करके वे अपने-अपने निवास-स्थानको चले गये। वहाँ उन्होंने स्नान-संध्या आदि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर भोजन किया और रात बिताकर प्रातःकाल वे पुनः सभामें आ गये। फिर तो वह सभा पहलेके ही तरह पूर्णरूपसे स्थित हो गयी। तदनन्तर जैसे चन्द्रमा अपनी किरणोंसे अमृतकी वर्षा करता है, वैसे ही मुनिवरने अपने मुखरूपी किरणोंसे आह्लाद उगलते हुए उस यथाप्रस्तुत कथाका क्रमशः वर्णन करना आरम्भ किया।

राजन्! यह अविद्या नहीं है। यह असत् होती हुई सत्-सी स्थित है। उपर्युक्त प्रकारका महान् प्रयत्न करनेपर भी विपश्चित् उसका निर्णय नहीं कर सका। इस प्रकार जबतक इस अविद्याका पूर्णतया ज्ञान नहीं हो जाता तभीतक यह अनन्त प्रतीत होती है; किंतु पूर्णरूपसे जान लिये जानेपर तो मृगतृष्णा-नदीके समान इसका अस्तित्व ही मिट जाता है।

श्रीरामजीने पूछा—गुरुदेव! भासद्वारा वर्णित मुनि और व्याधका जो सुख-दुःखादि नाना दशाओंसे युक्त वृत्तान्त है, यह क्या किसी कारणान्तरसे घटित हुआ था या स्वभावज है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! यह अपना आत्मा परमात्मारूप महासागर है। इसमें इसी प्रकारके शून्यात्मक प्रतिमारूप आवर्त निरन्तर अपने-आप स्वाभाविक ही उठते रहते हैं।

श्रीराम! सत्य वस्तुमें 'यह जाग्रत् है, यह स्वप्न है' इस प्रकारकी जो भिन्नता प्रतीत होती है, उसका उन दोनोंकी समानरूपताका पूर्णरूपसे अनुभव हो जानेपर विनाश हो जाता है। जो जाग्रत् है, वही स्वप्न है और जो स्वप्न है, वही जाग्रत् है; क्योंकि कालान्तरमें 'निश्चय ही यह ऐसा नहीं है' ऐसी बाध-बुद्धि दोनोंमें समान होती है। जैसे जीवनपर्यन्त नियमरहित सैकड़ों स्वप्न होते हैं, उसी तरह निर्वाणरहित महान् अज्ञानमें सैकड़ों जाग्रत् भी होते हैं। जैसे लोग उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाले बहुत-से स्वप्नोंका स्मरण करते हैं वैसे ही पूर्वजन्मकी स्मृति करानेवाले योगसे सम्पन्न प्रबुद्ध पुरुषोंको सैकड़ों जन्मोंका भी स्मरण होता है। जैसे दृश्य और जगत्—दोनों नित्य ही एकार्थक हैं, वैसे ही जाग्रत् और स्वप्न—ये दोनों शब्द भी एकार्थक कहे जाते हैं।

रघुकुलभूषण राम! जैसे तरङ्गें नदीके जलमें द्रवरूपसे स्थित हैं, उसी तरह सृष्टिरूपी लहरें चित्स्वभाव (चेतनका सकल्प) होनेके कारण चेतनमें ही स्थित हैं। यह चित्की छाया ही 'जगत्' नामसे प्रस्फुरित होती है। यह आकाररहित होते हुए भी मूर्तिमती-सी होकर द्रव्यकी छायाके समान व्याप्त है। आत्मा ही अपना बन्धु है और आत्मा ही अपना शत्रु है। यदि आत्माद्वारा आत्माकी रक्षा न की गयी तो फिर उसकी रक्षाका दूसरा कोई उपाय नहीं है। जीवकी बाल्यावस्थाको ज्ञानहीन होनेके कारण पशुता-सी और वृद्धावस्थाको मृत्यु-तुल्य ही समझना चाहिये। यदि विवेकसम्पन्न हो तो युवावस्था ही उसका जीवन है। इस संसारको, जो बिजलीके कौंधनेके समान चञ्चल है, प्राप्त होकर सत्-शास्त्र-चिन्तन एवं सत्पुरुषोंके सङ्गद्वारा अज्ञानरूपी कीचड़से आत्माका उद्धार करना चाहिये। अहो! खेद है। ये मनुष्य कैसे क्रूर हैं, जो कीचड़में फँसे हुए अपने आत्माका भी उद्धार नहीं कर रहे हैं। भला, इनकी क्या गति होगी।* जैसे मिट्टीकी

* आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।
आत्माऽऽत्मना न चेत् त्रातस्तदुपायोऽस्ति नेतरः॥
शैशवं वार्धकं ज्ञेयं तिर्यक्त्वं मृतिरेव च।
तारुण्यमेव जीवस्य जीवितं तद्विवेकि चेत्॥
संसारमिममासाद्य विद्युत्सम्पातचञ्चलम्।
सच्छास्त्रसाधुसम्पर्कैः कर्दमात् सारमुद्धरेत्॥

बनी हुई बेताल-सभा उसके रहस्यसे अनभिज्ञ ग्रामीण पुरुषको भय आदि दुःख प्रदान करनेवाली होती है, किंतु जिसे उसके यथार्थ रहस्यका यों ज्ञान हो गया है कि यह मृन्मयी ही है, उसके लिये वह दुःखदायिनी नहीं होती, वैसे ही यह ब्रह्ममयी दृश्यलक्ष्मी अज्ञानीको भयादि क्लेश पहुँचाती है; किंतु 'यह दृश्य ब्रह्म ही है' यों यथार्थ ज्ञान हो जानेपर वह कष्टदायिनी नहीं होती। इस दृश्यके तत्त्वका परिज्ञान हो जानेसे यह अशान्त होता हुआ भी शान्त तथा स्थित होता हुआ भी विलीन हो जाता है और दृश्यमान होता हुआ भी दिखायी नहीं पड़ता। जैसे अपने स्वप्नकालमें स्पष्टरूपसे अनुभवमें आया हुआ भी स्वाप्न-जगत् उसका पूर्ण ज्ञान हो जानेसे अथवा जाग जानेसे असत्य ही हो जाता है, वैसे ही चिदाकाशमें अनुभूयमान अतएव सत्य-सी स्थित हुई भी यह सृष्टि तत्त्वका पूर्ण ज्ञान हो जानेसे केवल शून्यरूप ही अवशिष्ट रह जाती है।

श्रीरामजीने पूछा—मुनिवर! जब इन्द्रियोंपर विजय पाये बिना इस अज्ञानका उपशमन नहीं होता, तब मुझे यह बतानेकी कृपा कीजिये कि इन इन्द्रियोंको कैसे जीता जा सकता है?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघवेन्द्र! जैसे मन्द दृष्टिवाले पुरुषके लिये सूक्ष्म पदार्थके निरीक्षणमें दीपक उपयोगी नहीं होता, उसी तरह प्रचुर भोगोंमें आसक्त, भौतिक पुरुषार्थ-सम्पादनमें संलग्न, जीविकोपार्जनमें दत्तचित्त तथा इन्द्रियजयविहीन पुरुषके लिये केवल शास्त्रादि साधन उपयोगी नहीं होते। इसलिये तुम इन्द्रियजयमें निमित्तभूत इस युक्तिको अविकल रूपसे श्रवण करो। इस युक्तिके आश्रयसे अपने प्रयत्नद्वारा सम्पादित थोड़ी-सी भी साधन-सम्पत्ति सुखपूर्वक सिद्धिको प्राप्त हो जाती है। इस इन्द्रियरूपी सेनाका चित्त ही सेनापति है, अतः उसपर विजय पा लेनेसे इन्द्रियोंपर स्वतः विजय प्राप्त हो जाती है—ठीक उसी तरह, जैसे जूतेसे सुरक्षित पैरवाले पुरुषके लिये सारी पृथ्वी ही चर्माच्छादित-सी हो जाती है। जो चित्तावच्छिन्न चेतन जीवको संविदाकाशरूप (ज्ञान-स्वरूप) ब्रह्ममें एकीभूत करके अपने स्वरूपमें स्थित है, उस पुरुषका मन शारदीय कुहरेकी तरह स्वयं ही शान्त हो जाता है। जिसने निरन्तर अपने संवेदन (ज्ञान) रूपी प्रयत्नके द्वारा चित्तवृत्तिको विषयरूपी मांससे हटा लिया है, उसे तत्त्वज्ञानियोंका स्वाराज्य पद प्राप्त हुआ ही समझिये। जो स्वधर्मविरुद्ध कार्योंमें आत्मप्रवृत्तिका त्याग करके शम और संतोषका उपार्जन करता हुआ स्थित है, वही जितेन्द्रिय है। जिसका मन अपने अंदर आत्मरसिकता और बाहर नीरसताका अभ्यास करनेमें उद्विग्न नहीं होता, उसका मन शान्त हो जाता है। प्रयत्नपूर्वक भलीभाँति निरोध कर देनेसे मन अपने आश्रय-स्थान (विषयानुधावनरूप दुर्व्यसन) का त्याग कर देता है और जब वह चञ्चलतासे निर्मुक्त हो जाता है तब विवेककी ओर मुड़ता है। विवेकसम्पन्न मन उदारात्मा और विजितेन्द्रिय कहा जाता है। फिर वह भवसागरमें वासनारूपी तरङ्गोंके वेगसे विमोहित नहीं होता। इस प्रकार जितेन्द्रिय होकर वह साधु-समागम और सत्-शास्त्रोंके अनुशीलनसे जगत्को यथार्थरूपसे सत्यब्रह्म-स्वरूप देखने लगता है। उस सत्यब्रह्मके अवलोकनसे संसारभ्रम उसी प्रकार शान्त हो जाता है, जैसे जलका ज्ञान हो जानेपर मरुस्थलमें प्रतीत होनेवाली जलकी भ्रान्ति मिट जाती है। चेत्यभिन्न चिन्मात्र ही यह जगद्रूपसे स्थित है—ऐसा सत्य बोध जिसे प्राप्त हो गया है, उसे बन्ध-मोक्षकी दृष्टि कहाँसे प्राप्त हो सकती है? 'अहं' 'त्वं' आदिरूप यह जगत् अविद्यामात्र ही है। यह मिथ्या होनेके कारण शान्त अतएव केवल शून्य-स्वरूपवाला है और चिदाकाशमें ही स्थित है।

अहो बत नराः क्रूरा गतिः कैषा भविष्यति।
कुर्वन्ति कर्दमोन्मग्ने नात्मन्यपि निजोदयम्॥
(नि० प्र० उ० १६२। १८, २१ से २३)

रघुनन्दन ! जिनका चित्त उस ब्रह्ममें रम गया है और प्राण उसीमें लीन हो गये हैं, वे परस्पर ज्ञानोपदेश करते तथा ब्रह्मविषयक चर्चा करते हुए संतुष्ट होते हैं और आनन्द मनाते हैं । इस प्रकार निरन्तर परमात्मामें युक्तचित्तवाले तथा प्रेमपूर्वक भजन करनेवाले योगियोंको उस बुद्धियोगकी प्राप्ति होती है, जिससे वे उस परमपदको प्राप्त हो जाते हैं ।* जब तृणमात्रके सरक्षणमें भी यत्नपूर्वक किया गया साधन ही उपकारी होता है, तब भला, त्रिलोकसमूहका संरक्षण यत्नके बिना कैसे सिद्ध हो सकता है । मनका अङ्कुररूप जो राज्यादि सुख है, वह क्या कोई सुख है ? अर्थात् वह तो अत्यन्त ही तुच्छ है; क्योंकि तत्त्वज्ञानमें पूर्णतया विश्राम प्राप्त हो जानेपर देवराजका पद भी तृणवत् लगने लगता है । जैसे दृश्य-प्रपञ्चमें रत पुरुष सुप्तावस्था अथवा जाग्रदवस्थामें दृश्यको ही देखते हैं, वैसे ही दृश्यसे विरक्त हुए शान्त ज्ञानी महात्मा उस परमपदरूप परमात्माको ही देखते हैं । श्रीराम ! इस परमपदको तुम महान् अभ्यासरूपी वृक्षका फल समझो । यह बिना घोर प्रयत्न किये कभी सिद्ध नहीं हो सकता । यदि अज्ञानी भी मेरे द्वारा कहे गये इस शास्त्रका बारंबार आवृत्तिद्वारा आस्वादन करे, श्रवण करे अथवा वर्णन करे तो वह तत्त्वज्ञानी हो सकता है । विचारपूर्वक मनन किये गये इस उत्तम शास्त्रसे जो ज्ञान उत्पन्न होते हैं, उन ज्ञानोंसे अन्य शास्त्र भी उसी प्रकार रुचिकर लगने लगते हैं, जैसे नमकसे व्यञ्जन । तत्त्वज्ञोंका विषयभूत जो परम ब्रह्म है, वह सभी अवस्थाओंमें भेदादि मलसे रहित सदा एकरस ही रहता है । उसमें कभी किंचिन्मात्र भी द्वैतादि मलका अस्तित्व नहीं रहता । चिदाकाशमें जो यह जगत् स्फुरित होता है, वह चिदाकाशका स्वभाव है, जो सूर्यकी प्रभाके समान इस चिदाकाशमें ही विकसित होता है ।

(सर्ग १६०–१६५)

दृश्यजगत्‌की चैतन्यरूपता, अनिर्वचनीयता, असत्ता तथा ब्रह्मसे अभिन्नताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! चिन्मय परमात्मा ही इस दृश्यप्रपञ्चके रूपमें फैला हुआ है । इसलिये ये घट, गड्ढे और पट आदि सब पदार्थ वस्तुतः शुद्ध चैतन्यरूप ही हैं । जैसे स्वप्नमें शुद्ध चेतना ही घट-पटादि पदार्थोंके रूपमें भासित होती है और जैसे जल ही तरङ्गरूपमें प्रतीत होता है, वैसे ही विशुद्ध चेतन-तत्त्व ही इस दृश्यरूपमें प्रकाशित हो रहा है । तत्त्वज्ञ पुरुष घट-पट आदि समस्त भौतिक पदार्थोंको ब्रह्मघन, चैतन्यघन, परमार्थघन और शान्तस्वरूप एकरस आनन्दघनका ही प्रसार मानते हैं ।

श्रीराम ! आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति और अन्यथाख्याति—ये जो शब्दार्थ-दृष्टियाँ हैं, तत्त्वज्ञानी पुरुषके लिये खरगोशके सींगकी भाँति असत् हैं । इनमेंसे कोई कभी भी सम्भव नहीं है । केवल चेष्टाशून्य, शान्तस्वरूप, व्यावहारिक नाम आदिसे रहित, ज्ञाता (साक्षी) परमात्मा ही सर्वत्र विराजमान हैं । वह जो चिन्मय प्रकाशके स्फुरणसे आकाशस्वरूप शरीर (मूर्त जगत्), जो कि बिना दीवालके चित्र-सा पदार्थोंकी सत्तामात्र है, प्रतीत होता है; वास्तवमें अविनाशी ही है । जैसे जलमें तरङ्गें होती हैं, उसी प्रकार शान्तस्वरूप परमात्मामें सदा और सर्वत्र वह जगत्

---

* तच्चित्तास्तद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् । कथयन्तश्च तन्नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगोऽसौ येन ते यान्ति तत्पदम् ॥
(नि० प्र० उ० १६३ । ४०-४१)

कुछ अन्तरसे यही दोनों श्लोक गीता (१० । ९-१०) में आये हैं ।

चिन्मयरूपसे ही विद्यमान है। जगत् जिस रूपमें प्रतीत हो रहा है, वैसा ही प्रतीत होता हुआ भी चेतनाकाशरूप होनेके कारण न सर्वथा असत् है और न सत् ही है। सारा दृश्य कुछ है और नहीं भी है। सर्वथा अनिर्वचनीय है। जिस रूपमें इस जगत्की स्थिति है, ऐसा ही इसका रूप है, या ऐसा नहीं है, यह सत् है या असत् है—संसारचक्रके विषयमें उठनेवाले इन प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर—जगत्का यथार्थ स्वरूप तत्त्वज्ञानी महात्मा ही जानता है, दूसरा नहीं।

रघुनन्दन! चिन्मय आकाशमें ही जो चिन्मय आकाशका स्फुरण हो रहा है, उसीने उसीको जगत् समझा है। तत्त्वज्ञान होनेके पश्चात् वह जगत् कहाँ टिक पाता है? पूर्णपरब्रह्म परमात्मासे ही यह पूर्ण ब्रह्ममय जगत् उसके प्रकट न करनेपर भी प्रकट हुआ-सा प्रतीत होता है। यह प्रतीति भी ज्ञानस्वरूप परमात्मा ही है। जो स्वयं मेरे अनुभवमें आ रहा है, उस आत्मतत्त्वको इस प्रकार अत्यन्त विशद रूपसे बारंबार उच्चस्वरसे प्रकट कर रहा हूँ, तो भी कुछ मन्दाधिकारी लोगोंके भीतर जो मूढ़ता घर किये बैठी है, वह स्वप्न-तुल्य जगत्में 'यह जाग्रत् सत्य ही है' ऐसे विश्वासका आज भी त्याग नहीं कर रही है। यह महान् खेदका विषय है। जो समझदार होनेके कारण तत्त्वज्ञानका अधिकारी है, वह भी उस भ्रान्त धारणाको शीघ्र नहीं छोड़ रहा है। यह कैसा मोह है!

(सर्ग १६६—१६८)

जीवन्मुक्त तथा परमात्मामें विश्रान्त पुरुषके लक्षण तथा आत्मज्ञानीके सुखपूर्वक शयनका कथन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! जिसकी बुद्धि अन्तर्मुखी है—आत्मस्वरूप परमात्मामें लगी हुई है तथा जिसे सुखके साधन सुख और दुःखके साधन दुःख नहीं दे पाते हैं, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जैसे अज्ञानियोंकी चित्तवृत्ति सब ओर फैले हुए विषयभोगोंमें आसक्त हो उनसे दूर नहीं हटती है, वैसे ही सच्चिदानन्दघन परमात्मामें अविचल निष्ठा रखनेवाले जिस तत्त्वज्ञानी पुरुषकी विवेकशालिनी बुद्धि वहाँसे विचलित नहीं होती, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसका चित्त अपनी चपलता छोड़कर चिन्मात्रस्वरूप परमात्मामें विश्राम लेकर वहीं रम गया है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसका मन परमात्मामें विश्राम लेनेके पश्चात् फिर वहाँसे हटकर इस दृश्यजगत्में नहीं रमता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

जो विशुद्ध बोधस्वरूप ज्ञानी महात्मा एकमात्र चेतनाकाशमय परमात्माके चिन्तनमें अनायास ही दृढतापूर्वक संलग्न होनेके कारण किसी लौकिक सुखका अनुभव नहीं करता है, वह परमात्मामें विश्रान्त कहलाता है। जिसके सभी पदार्थोंके विषयमें सारे संदेह विवेकद्वारा वास्तवमें नष्ट हो गये हैं, वह परमपद-स्वरूप परमात्मामें विश्रान्त कहलाता है। व्यवहारमें लगे होनेपर भी जिसके मनमें कहीं किसी भी पदार्थके प्रति अनुराग या आसक्ति नहीं है, वह परमात्मामें विश्रान्त कहलाता है। जो प्रारब्धके अनुसार जो कुछ मिल जाय, उसीसे निर्वाह करता है तथा जिसके सभी कार्य कामना और संकल्पसे शून्य होते हैं, वह परमात्मामें विश्रान्त कहा गया है। जिस महापुरुषने विश्रामशून्य, आधाररहित तथा लंबे संसारमार्गमें उसकी चिन्मात्ररूपताका साक्षात्कार करके आत्मामें विश्राम पा लिया है, उसकी सर्वत्र विजय है। जन्म-जरा आदि सांसारिक दुःखसे ऊपर उठकर भवसागरके पार पहुँचा हुआ श्रेष्ठ ज्ञानी महात्मा परम विश्रान्ति-सुखका अनुभव करता हुआ आत्मामें प्रतिष्ठित होता है।

सारे जगत्का अभाव करके परम पूर्णताको प्राप्त हुआ आत्मज्ञानी पुरुष खूब छककर ब्रह्मानन्दमय अमृतका पान करता और सुखसे सोता है; कैसी अद्भुत बात है! आत्मज्ञानी

पुरुष विषयानन्दके अभावमें भी निरतिशय ब्रह्मानन्द पाकर महान् आनन्दमें निमग्न हो जाता है, अविनाशी अद्वैत सुखका अनुभव करता है तथा दूसरे प्रकाशोंसे प्रकाशित न होनेवाले परमात्माके महान् प्रकाशसे सम्पन्न हो सुखसे सोता है; यह कैसी विलक्षण स्थिति है ! जिसके काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि रूप अन्धकारका नाश हो गया है, जो परमात्माके महान् प्रकाशका रसिक बन गया है तथा केवल अमूर्त आनन्दरसमें ही आस्वादका अनुभव करता है, वह आत्मज्ञानी पुरुष ही सुखसे सोता है; यह कितनी अद्भुत बात है ! आत्मज्ञानी पुरुषका जो सुखपूर्वक शयन है, उसमें अनन्त दुःखोंके अनुभवके विषयमें वह विरत होता है और वर्णाश्रमोचित व्यवहारमें लोकसंग्रहके लिये वह लगा रहता है—उससे विरत नहीं होता। बाह्य पदार्थोंमें उसकी आसक्ति नहीं होती है तथा वह आन्तरिक सुखका निरन्तर अनुभव करता रहता है। जो सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म तथा स्थूलसे भी स्थूल है, उस आत्माको चिदाकाशरूपी शय्यापर सुलाकर आत्मज्ञानी पुरुष अपूर्व सुखसे सोता है। इस हमारे जगत्‌को अपने आत्मस्वरूप चेतनाकाशके एक कोनेमें स्वप्नके समान देखता हुआ वह विशद चिदाकाशस्वरूप आत्मज्ञानी पुरुष सुखसे सोता है। लोकपरम्पराके अनुसार प्राप्त व्यवहाररूप मनोरम तृणराशिसे निर्मित चटाईपर विश्रामको प्राप्त हुआ आत्मज्ञानी पुरुष सुखपूर्वक सोता है। (सर्ग १६९)

जीवन्मुक्तके स्वकर्म नामक मित्रके स्त्री, पुत्र आदि परिवारका परिचय तथा उस मित्रके साथ रहनेवाले उस महात्माके स्वभावसिद्ध गुणोंका उल्लेख, तत्त्वज्ञानीकी स्थिति, जगत्‌की ब्रह्मरूपता तथा समस्त वादियोंके द्वारा ब्रह्मके ही प्रतिपादनका कथन

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! जीवन्मुक्त पुरुषका मित्र कौन है जिसके साथ वह क्रीडा करता है ? उसकी क्रीडाका क्या स्वभाव है ? अपने आत्मस्वरूपमें अवस्थिति ही उसकी क्रीडा है अथवा रमणीय भोग-स्थानोंमें विहार करनेसे जो प्रसन्नता प्राप्त होती है, उसीको वह अपनी क्रीडा समझता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जो अपना परम्परा-प्राप्त सहज कर्म है, जो लोकसंग्रहके लिये किया जानेवाला अपना शास्त्रीय कर्म है तथा जो प्रयत्नसे अभ्यासमें लाया गया सत्-शास्त्रोंका अभ्यास, विचार, सत्संग, शम, दम, तितिक्षा, उपरति, शौच, संतोष, ईश्वर-ध्यान और संयम आदि अपना कर्म है—ये तीनों प्रकारके कर्म, जो निन्द्य या निषिद्ध नहीं हैं, वास्तवमें एक ही हैं। केवल उपाधिभेदसे तीन नामोंद्वारा कहे गये हैं। वह एकमात्र त्रिविध कर्म ही जीवन्मुक्त पुरुषका स्वाभाविक मित्र है। वह मित्र पिताके समान आश्वासन देनेवाला, स्त्रीके समान लज्जाद्वारा अकर्तव्यसे रोकनेवाला तथा जिनका निवारण करना कठिन है, ऐसे संकटोंमें भी सदा साथ देनेवाला है। उसके सेवनमें किसी प्रकारकी शङ्काके लिये स्थान नहीं है। वह परमानन्दकी सिद्धिमें पूर्ण सहायक है तथा क्रोधके अवसरोंपर भी कोपरहित होनेके कारण सान्त्वनारूप अमृत प्रदान करनेवाला है। ऐसे स्वकर्म नामक अपने सखीक मित्रके साथ वह जीवन्मुक्त पुरुष स्वभावसे ही रमता है, किसी दूसरेसे प्रेरित होकर नहीं।

श्रीरामजीने पूछा—मुनीश्वर ! उसके इस मित्रकी स्त्री और पुत्र आदि कौन है तथा उनका स्वरूप क्या है ?—उनमें कौन-कौन-से गुण हैं ? यह संक्षेपसे ही मुझे बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—महामते ! इस स्वकर्म नामक मित्रके 'स्नान,' 'दान,' 'तप' और 'ध्यान' नामवाले चार महात्मा पुत्र हैं। उनके सद्गुणोंसे सारी प्रजा उनमें

भलीभाँति अनुरक्त रहती है। इसकी पत्नीका नाम 'समता' है, जो इसे बहुत ही प्रिय है। वह सदा अपने प्रियतमकी हृदयवल्लभा होकर रहती है। चन्द्रलेखाके समान दर्शन-मात्रसे ही लोगोंको आह्लाद प्रदान करती है। सदा संतुष्ट रहती और प्रियतममें अनुराग रखती है। करुणाके कारण सब ओर अपना वैभव बाँटती रहती है। चित्तको चुरा लेनेवाली और आनन्दकी जननी है। सदा पतिके साथ रहती और कभी अलग नहीं होती है। साधो! जो सदा धैर्य और धर्ममें लगायी जाती है, वह 'बुद्धि' ही इस समता रानीकी प्रतीहारी (द्वारपालिका) है। वह सदा उसके सामने विनम्र रहकर उसे सुख देनेमें तत्पर रहती है। वह उस धर्म-धुरन्धर धन्यभागी वीर पुरुषके आगे-आगे दौड़ती है। इस महातेजस्वी राजाके मित्रकी दूसरी स्त्री 'मैत्री' है, जो राज्यपर बढ़े हुए शत्रुओंको पराजित करनेके लिये राजाको उचित मन्त्रणा प्रदान करती है। वह सदा 'समता'के साथ राजाके कंधे-से-कंधा भिड़ाकर चलती है। इसके सिवा इन माननीय नरेशको आर्य-मर्यादारूपी समस्त कार्योंके विषयमें बड़ी चतुराईके साथ उपदेश देनेवाली आचार्यस्वरूपा 'सत्यता' इसका स्वार्थ सिद्ध करनेवाली धनाध्यक्षा है। इस तरहके उत्तम परिवारवाले मित्र एवं मन्त्रीरूप अपने कर्मके साथ सर्वत्र व्यवहार निर्वाह करता हुआ जीवन्मुक्त पुरुष न तो लौकिक लाभमें हर्ष मानता है और न हानि होनेपर कुपित ही होता है। निर्वाण मोक्षमें मन लगाये रहने-वाला वह मननशील मुनि युद्धादि व्यवहारमें तत्पर होनेपर भी चित्रलिखित योद्धाकी भाँति ज्यों-का-त्यों ही निर्लेप स्थित रहता है। निरर्थक वादविवादोंमें वह पत्थरकी प्रतिमाकी भाँति मूक बना रहता है। बेमतलबकी बातोंको सुननेमें वह परले सिरेका बहरा बना रहता है। लोकाचारके विरुद्ध सभी कर्मोंमें मुर्देके समान निश्चेष्ट होता है और सदाचारका विवेचन करते समय वह सहस्र जिह्वावाले वासुकि एवं देवगुरु बृहस्पतिके समान वक्ता बन जाता है। उसकी वाणीसे सदा पवित्र चर्चा ही प्रकट होती है। अपने या दूसरोंके कुटिलतापूर्ण दोषोंको वह शीघ्र ही ताड़ लेता है। वस्तुविषयक अत्यन्त दुरूह संदेहका भी पलक मारते-मारते निर्णय करके शीघ्र ही उसके स्वरूपका विवेचन कर देता है। उसकी दृष्टिमें समता और हृदयमें उदारता होती है। वह दानवीर होनेके कारण सबको यथायोग्य धन वितरण करता है। उसका स्वभाव कोमल, स्नेहमय और मधुर होता है। वह सुन्दर एवं पुण्यकीर्ति होता है। जिनकी बुद्धि प्रबुद्ध—तत्त्वज्ञानके प्रकाशसे आलोकित है। वे प्रयत्नसे ऐसे नहीं बनते है। जैसे चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि आदि कभी दूसरेकी प्रेरणासे प्रकाशित नहीं होते, वह प्रकाश उनका स्वाभाविक गुण होता है, वैसे ही जीवन्मुक्त पुरुषोंका यह स्वभावसिद्ध गुण बताया गया है।

शान्त तत्त्वज्ञानी पुरुष चलते-फिरते, खड़े होते, जागते और सोते समय भी सदा एकमात्र सच्चिदानन्द परमात्मामें ही समाहित रहता है। जो भेदमें भी अभेदनिष्ठ है, दुःखमें भी सुखमयी स्थितिवाला है और बाह्य संसारमें रहकर भी अन्तर्मुख होनेके कारण संसारमें नहीं है। ऐसे ज्ञानी महात्माके लिये दूसरा कौन-सा कर्तव्य या प्राप्तव्य शेष रह जाता है? बाहरके कार्य—व्यवहार करता हुआ भी तत्त्वज्ञ पुरुष हृदयसे न तो कुछ त्याग करता है और न ग्रहण ही करता है। वह सदा अकार्य नित्य परब्रह्म परमात्मामें ही स्थित रहता है। ज्ञानीपुरुष अज्ञानके आवरणसे मुक्त होता है। उसका अन्तःकरण सदा शान्ति और आनन्दका ही अनुभव करता है। उसके शत्रु-मित्रादि-विषयक विकल्प नष्ट हो जाते हैं। उसमें आत्मसुखस्वरूप सार वस्तुकी ही प्रचुरता होती है तथा वह सदा परम शान्तिरूप अमृतसे तृप्त रहता है।

चारों ओर सुन्दर जगत्‌के रूपमें यह परब्रह्म ही स्फुरित हो रहा है। वह स्फुरण और अस्फुरण (सृष्टि

और प्रलयकाल) में भी अपने निर्विकार स्वरूपमें ही अकेला स्थित रहता है। दृश्य-प्रपञ्चके रूपमें भासित होकर भी निर्मल, प्रशान्त चेतनाकाशरूप ही है। परंतु अज्ञानियोंकी दृष्टिमें अनादिकालसे प्रलय और सृष्टिके उदयरूपसे ही उदित है।

अज्ञ जनताके निश्चयको छोड़कर तत्त्वज्ञानी पुरुषकी दृष्टिमें ज्यों-का-त्यो स्थित हुआ यह जगत् सदा निर्विकार ब्रह्मरूप ही है। यदि तरङ्ग चेतन हो और वह युक्तिसे यह समझ ले कि मैं तरङ्ग नहीं, जल ही हूँ तो उसकी तरङ्गता कैसे रह सकती है ? वेदान्तियों, जैनियों, सांख्यवादियों, बौद्धों, व्यास आदि आचार्यों, पाशुपतों तथा वैष्णव आदि आगमोंने भलीभाँतिसे प्रतिपादन करके जो-जो दृष्टिकोण उपस्थित किये हैं, उन सबके रूपमें भी हमारा प्रतिपाद्य ब्रह्म ही स्फुरित हो रहा है। उन्होंने अपनी-अपनी दृष्टिसे विभिन्न नामोद्वारा उस ब्रह्मका ही प्रतिपादन किया है। उन वादियोंके अपने-अपने निश्चयके अनुसार पारलौकिक ऐहलौकिक सुख-रूप सारे फलोंके रूपमें वह ब्रह्म ही उपलब्ध होता है। ब्रह्मकी ऐसी ही महिमा है; क्योंकि उसका स्वरूप सर्वात्मक है। (सर्ग १७०—१७३)

निर्वाण अथवा परमपदका स्वरूप, ब्रह्ममें जगत्‌की सत्ताका खण्डन, चिदाकाशके ही जगद्रूपसे स्फुरित होनेका कथन, ब्रह्मके उन्मेष और निमेष ही सृष्टि और प्रलय हैं, मन जिसमें रस लेता है वैसा ही बनता है, चिदाकाश अपनेको ही दृश्य-रूपसे देखता है तथा अज्ञानसे ही परमात्मामें जगत्‌की स्थिति प्रतीत होती है—इसका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! सृष्टियाँ ब्रह्मरूपी समुद्रकी तरङ्ग हैं। उनमें चैतन्य ही जल है। जीवन्मुक्तोंके अनुभवमें आनेवाला वह चिन्मय जगत् अज्ञानियोंके दुःखमय जगत्‌से भिन्न है। वह सच्चिदानन्दमयी दूसरी ही सृष्टि है। उसमें द्वैत और एकत्व आदिके दुःखमय भेद किस निमित्तसे रह सकते हैं ? दृश्यका अत्यन्ताभावरूप जो बोध है, उसीको परमपद कहा गया है। वही ब्रह्म है और 'वह ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकारका ज्ञान मोक्ष है। ब्रह्म ही सब कुछ है। (क्योंकि 'तत्सर्वमभवत्' इस श्रुतिसे यही बात सिद्ध होती है) तथा वह कुछ भी नहीं है। (क्योंकि 'नेति-नेति' कहकर श्रुतिने इसीका समर्थन किया है)। रघुनन्दन ! ज्ञानी पुरुष ब्रह्मको इसी रूपमें जानता है। सम्यक् ज्ञानसे परम निर्वाणरूप मोक्षकी प्राप्ति बतायी गयी है। उसमें ज्यों-का-त्यों स्थित हुआ यह सारा विश्व अत्यन्त प्रलयको प्राप्त हो जाता है। वहाँ न अनेकत्व है, न एकत्व; न कुछ है, न कोई है। वह समस्त सदसद्भावोंकी सीमाका अन्त कहा गया है। जहाँ दृश्यकी सत्ता अत्यन्त असम्भव है, जो शुद्ध बोधका उदय रूप है, जहाँ समस्त विक्षेपोंका अभाव हो जाता है तथा जो निरतिशयानन्दरूपसे स्थित और परम शान्त है, उस चिन्मय परमात्माको ही परमपद समझना चाहिये।

यह परमात्मा जबतक अज्ञात रहता है, तभीतक अविद्या-रूप मलकी स्थिति है। उसका यथार्थ ज्ञान हो जानेपर सब कुछ विशुद्ध परब्रह्म ही है, यह अचल निश्चय हो जाता है। जो अनादि, अनन्त, चिन्मय परमाकाशरूप है, उस परमात्मामें मल कहाँसे हो सकता है (क्योंकि ज्ञान होते ही अविद्यारूपी मल धुल जाता है)। प्रिय श्रीराम ! विचारदृष्टिसे देखा जाय तो कुछ भी स्फुरित नहीं होता है; क्योंकि यह परम चेतन तो अत्यन्त विशुद्ध कहा गया है। जो एकमात्र सच्चिदानन्दमय है, उसका अपने आपमें कल्पित संकल्प ही इस दृश्य-प्रपञ्चके रूपमें फैला हुआ है। वास्तवमें तो परब्रह्ममें न पृथ्वी आदि भूत हैं, न शरीर है और न चैतन्यसे भिन्न दूसरा ही कोई दृश्यभाव है; किंतु एकमात्र चिन्मय परमात्मा ही अपने संकल्पद्वारा

समष्टि मनोरूप होकर जगत्‌के आकारमें बारंबार स्फुरित हो रहा है । विचारदृष्टिसे देखनेपर यह जगत्‌का स्फुरण भी कुछ नहीं है । केवल सच्चिदानन्दघन ही स्वयं अपने स्वरूपमें भासित हो रहा है । जहाँसे वाणी लौट आती है, उस निरतिशयानन्दमय परमपदकी प्राप्तिसे तूष्णीम्भाव—स्वरूपभूत निश्चलता ही शेष रहती है (वह निश्चलता व्यवहारकालमे भी नहीं हटती है) । जीवन्मुक्त पुरुष संसारके व्यवहारमे तत्पर रहता हुआ भी शुद्ध चिदाकाशरूप ही होता है और उसी रूपमें वह मूकवत् स्थित रहता है । ज्ञानवानोंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन ! चिदाकाश, ब्रह्म, चिन्मात्र, आत्मा, चिति, महान् और परमात्मा—इन सब शब्दोंको पर्यायवाची (समानार्थक) ही समझना चाहिये । ब्रह्म नेत्रकी भाँति उन्मेष और निमेषरूप है अथवा वायुके समान स्पन्द और अस्पन्दरूप है । उसका जैसा प्रलयरूप निमेष है, वैसा ही सृष्टिरूप उन्मेष भी है । इन्हींका नाम जगत् है । उसने आँखें खोलीं तो संसारकी सृष्टि हो गयी और आँखें बंद कीं तो जगत्‌का प्रलय हो गया । परंतु वह परब्रह्म परमात्मा निमेष और उन्मेष—दोनों अवस्थाओंमें एकरूप ही रहता है । सौम्य रघुनन्दन ! इस कारण यह सम्पूर्ण जगत् जिस रूपमें स्थित है, इसी रूपमें इसे शान्त, अजन्मा, अजर, सभी अवस्थाओंमें स और चिदाकाशरूप ही समझना चाहिये ।

जिसका चित्त जिस वस्तुमें रस लेता है, उसका व चित्त वैसा ही हो जाता है । अतः एकमात्र परब्र परमात्माका रसिक हुआ जो ज्ञानीका मन है, वह ब्रह्मभा को ही प्राप्त हो जाता है और जिसका मन जिसमें र पाता है, उसने उसीको सत् समझा है । जिसकी ज्ञानदृष्टि दृश्य-अदृश्य, सत्-असत् तथा मूर्त-अमूर्त सब कुछ ब्रह्म है, उसकी दृष्टिमें यहाँ अथवा और कहीं भी न तो कर्त भोक्ता जीवकी सत्ता है और न उसका अभाव ही (क्योंकि एकमात्र वही ब्रह्मरूपसे शेष रह जाता है)

सहस्रों वादी मिलकर भी सत्‌से अतिरिक्त वस्तु सत्ताका उपपादन नहीं कर सकते तथा उससे भि जगत्‌का कोई यथार्थ कारण नहीं उपलब्ध होता इसलिये स्वतः यह बात सिद्ध हो गयी कि आदिकालसे चिदाकाश अपने आपको ही दृश्यरूपसे देखता है ।

जैसे स्वप्नमें 'स्वयं चिन्मय जीवात्मा ही स्वप्न-जग के रूपसे भासित होता है, वैसे ही यहाँ सृष्टिके आरम्भ में चिदाकाशके सिवा इस दृश्यका अन्य कोई कारण न पाया जाता । (सर्ग १७४—१७६

सृष्टिकी ब्रह्मरूपताका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें कोई अज्ञानी है ही नहीं (वह एकमात्र ब्रह्मके सिवा दूसरी किसी वस्तुको देखता ही नहीं है) । अतः जिसका अस्तित्व ही नहीं है, ऐसे आकाश-वृक्षके सदृश अज्ञानीके विषयमें विचार करना कैसा होगा ? अज्ञानका बोधस्वरूप आत्माके ही भीतर भान होता है; अतः वही उसका अधिष्ठान है । जगत् अज्ञानका अङ्ग है, अतः अज्ञानरूप ही है । जैसे स्वप्न और सुषुप्ति—दोनों निद्राके अन्तर्गत होनेसे निद्राके ही अङ्ग हैं; इसलिये उन्हें केवल निद्रारूप ही कहा जा सकता है, वै ही जगत्‌का स्वरूप भी अपने अधिष्ठानभूत चिन्म परमात्मासे भिन्न नहीं है । जैसे शुद्ध जलराशिमें लह भँवर और द्रवता आदिके रूपमें जल ही प्रतीत हो है, वैसे ही ब्रह्ममें सर्ग नामक ब्रह्म ही भासि होता है । जैसे निर्मल वायुमें स्पन्दन, आवर्त व विवर्त आदिकी प्रतीति होती है, वैसे ही ब्रह्मरू वायुमें सृष्टिरूपी स्पन्दन भासित होता है । जै महाकाशमें अनन्तता, छिद्रता और शून्यता आदि

आकाशरूप ही हैं, उससे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार सृष्टि भी परात्पर ब्रह्मरूप ही है। जैसे निद्रा आदिमे स्पष्टरूपसे उपलब्ध होनेपर भी ये सारे स्वप्नगत पदार्थ असन्मय ही है, उसी प्रकार ये सृष्टिके पदार्थ भी हैं, स्वतः इनकी सत्ता नहीं है। परतु सत्स्वरूप परमात्मामें उपलब्ध होनेके कारण उससे अभिन्न ही हैं। जैसे निद्राकालमें मनुष्य एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें स्थित होता है, वैसे ही अजन्मा परमात्मा अपनी सत्तामें ही एक सर्गसे दूसरे सर्गके रूपमें स्थित होते हैं। जैसे साम्प्रतिक सर्वदर्शनरूप परमात्मामें वर्तमान घट, पट आदि शब्द और उनके अर्थ स्थित हैं, उसी प्रकार अद्वितीय महाचैतन्यरूप परमात्मामें भूत और भविष्य कालकी सारी सृष्टियाँ स्थित हैं। जैसे परमात्मामें ही सृष्टिरूप परमात्माका भान होता है, वैसे ही चितिमें ही चिन्मय शब्द और उनके अर्थभूत सर्गोंका चितिके द्वारा ही भान होता है।

इस जगत्‌में न कोई आकृति है, न संसार है, न संसारका अभावरूप मोक्ष है, न जन्म है, न नाश है, न सत्ता (भावविकार) है और न असत्ता ही है। केवल परम शान्त ब्रह्मका ही अपने आपमें स्फुरण होता है अथवा यहाँ ब्रह्मसे भिन्न किसी प्रकारका स्फुरण भी नहीं है। यद्यपि ब्रह्म अनेकानेक सृष्टिरूपी पुतलियोंके समुदायसे भरा हुआ है, तथापि वस्तुतः उसमें जगत्‌रूपी लताएँ, उनकी चोटियाँ, जड़ें, उनकी रचनाएँ और उनकी जड़ोंका भूमिमें प्रवेश—ये सब अलभ्य हैं। वह आदि-अन्तसे रहित है, कालके द्वारा भी उसके जन्म और नाश नहीं होते तथा वह पूर्णरूपसे विशुद्ध एवं सच्चिदानन्दघन है।

चिन्मय प्रकाशरूप परमार्थाकाश ही, जो सब पदार्थोंसे रहित है, स्वप्नकी भाँति द्रष्टा, दृश्य और दर्शन रूपसे प्रतीत हो रहा है। इसलिये यह जगत् एकमात्र चेतनाकाश ही है। आकाशमें भ्रमवश होनेवाली वृक्षसमूहोंकी स्फुरणाके समान ब्रह्मरूपी समुद्रमें जो नाम-रूपात्मक जलकणोंका स्फुरण हो रहा है, वही यह सृष्टि है। आकाशमें जो वृक्षसमूहकी प्रतीति होती है, वह तो आकाशसे भिन्न-सी लगती है; क्योंकि उसमें आकाशकी शून्यता नहीं दिखायी देती। परतु परब्रह्मरूपी महासागरमें जो सृष्टिरूपी जलबिन्दु विद्यमान हैं, वे उससे किंचिन्मात्र भी भिन्न नहीं हैं।

(सर्ग १७७—१७९)

श्रीरामका कुन्ददन्त नामक ब्राह्मणके आगमनका प्रसंग उपस्थित करना और वसिष्ठजीके पूछनेपर कुन्ददन्तका अपने संशयकी निवृत्ति तथा तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिको स्वीकार करते हुए अपना अनुभव बताना

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्! मेरे मनमें एक संदेह है, आप उसका निवारण कीजिये। एक दिनकी बात है, मै विद्यामन्दिरके भीतर विद्वानोंकी सभामें बैठा था। उसी समय विदेह जनपदसे वहाँ एक श्रेष्ठ तपस्वी श्रीसम्पन्न विद्वान् ब्राह्मण आया। आकर उसने उस ब्राह्मणसभाको प्रणाम किया। फिर जब वह एक आसनपर बैठा, तब मैने भी उठकर उसे प्रणाम किया और पूछा—'ब्रह्मन्! आप लंबा रास्ता तै करके आये हैं; इसलिये थक गये होगे। किसी विशेष उद्देश्यकी सिद्धिके लिये यत्नशील-से दिखायी देते हैं। बताइये, आज कहाँसे आपका शुभागमन हुआ है?"

ब्राह्मणने कहा—महाभाग! आपका कहना ठीक है। मै अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिये विशेष प्रयत्नशील हूँ। यहाँ जिस प्रयोजनसे आया हूँ, उसे भी सुन लीजिये। मै विदेह देशका ब्राह्मण हूँ और विद्याध्ययन कर चुका हूँ। मेरे दाँत कुन्दके फूलकी भाँति उज्ज्वल

हैं; इसलिये मुझे लोग 'कुन्ददन्त' कहते हैं। एक दिन मेरे मनमें संसारसे वैराग्य हुआ और मैं भ्रमजनित क्लेशकी शान्तिके लिये देवताओं, ब्राह्मणों तथा मुनीश्वरोंके स्थानोंमें भ्रमण करने लगा। तब श्रीपर्वतपर एक तपस्वीसे भेंट होनेपर वे मुझे गौरी-आश्रममें स्थित वृद्ध तपस्वीके पास ले गये। वृद्ध तपस्वीने श्रीपर्वतवासी तपस्वीकी, उनके सात भाइयोंकी, उन सबके तपकी, वरदान और शापकी एवं घरके अंदर ही उन सातोंके सप्तद्वीपाधिपति होकर अन्तमें प्रलय-कालमें विलीन होनेकी बातें बतायीं। तदनन्तर उन आठवें अपने मित्र तपस्वीकी मृत्युसे दुखी हुआ मैं उन कदम्ब वृक्षके नीचे रहनेवाले तपस्वीके पास गया। वे तीन मास प्रतीक्षा करनेके बाद समाधिसे विरत हुए। तब मैंने नम्रतापूर्वक उनके सामने अपना प्रश्न उपस्थित किया। इसपर वे इस प्रकार बोले।

कदम्ब वृक्षके नीचे रहनेवाले तपस्वीने कहा—निष्पाप ब्राह्मण! मैं समाधिसे विरत होकर एक क्षण भी नहीं रह सकता; अतः शीघ्र ही बड़ी उतावलीके साथ मैं फिर समाधिमें ही प्रवेश करूँगा। इस समय मेरा वास्तविक उपदेश भी अभ्यासके बिना तुम्हें नहीं लगेगा। इसलिये दूसरी युक्ति सुनो और वैसा ही करो। अयोध्या नामसे प्रसिद्ध जो पुरी है, वहाँ दशरथ नामक राजा राज्य करते हैं। उनके पुत्र श्रीराम नामसे विख्यात हैं। तुम उन्हींके पास चले जाओ। उनके कुलगुरु मुनिवर वसिष्ठ सभामें मोक्षके उपायकी दिव्य कथा कहेंगे। ब्रह्मन्! चिरकालतक उस कथाको सुनकर तुम भी मेरी ही भाँति पावन परमपदमें विश्राम प्राप्त करोगे।

ऐसा कहकर वे तापस मुनि समाधिरूपी अमृतके महासागरमें निमग्न हो गये और मैं इस देशमें आपके पास आया हूँ।

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—गुरुदेव! वही यह कुन्ददन्त नामक द्विज है, जिसने मेरे पास बैठकर यहाँ मोक्षोपाय नामक इस सम्पूर्ण संहिताको सुना है। आप इससे पूछिये। इसका संशय निवृत्त हुआ या नहीं।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! श्रीरघुनाथजीके ऐसा कहनेपर वक्ताओंमें श्रेष्ठ मुनिवर वसिष्ठने कुन्ददन्तकी ओर देखकर पूछा—'निष्पाप विप्रवर कुन्ददन्त! कहो, क्या तुमने मेरे इस उत्तम मोक्षदायक उपदेशको सुनकर ज्ञेय तत्त्वको जाना?'

कुन्ददन्त बोला—भगवन्! समस्त संशयोंका विनाश करनेवाला मेरा चित्त ही इस समय मेरी विजयका सूचक है। मेरे सारे संदेहोंकी निवृत्ति हो गयी और मैंने अवश्य जाननेके योग्य अखण्ड ब्रह्मतत्त्वको जान लिया। विशुद्ध ज्ञेय तत्त्वका मुझे ज्ञान हो गया। मैंने क्षयरहित द्रष्टव्य वस्तुका दर्शन कर लिया और पाने योग्य सब कुछ मैं पा गया। इस समय ब्रह्मरूप परमपदमें विश्राम कर रहा हूँ। मैंने आपके मुखसे सुनकर चिन्मय परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लिया। यह जो कुछ दिखायी देता है, सब परमार्थ सच्चिदानन्दघनरूपी मेघ है, जो चिन्मय आकाशमें अपनेसे अभिन्न जगत्‌के रूपमें छाया है। सर्वात्मक होनेके कारण सर्वरूपी सर्वव्यापी परमात्माका सर्वत्र, सदा सबके द्वारा और सब कुछ होना पूर्णरूपसे सम्भव है। सरसोंके एक दानेके छिद्रके भीतर असंख्य ब्रह्माण्डोंका किस प्रकार होना सम्भव है और किस प्रकार उनका होना कदापि सम्भव नहीं है, यह सब मैंने पूर्णरूपसे समझ लिया। जो-जो वस्तु जब जिस रूपमें यहाँ भासित होती है और सम्पूर्ण प्राणियोंके अनुभवमें आती है, वह-वह उस समय उस रूपमें केवल सर्वघन परमात्मा ही है। इस तरह विचार करनेसे सिद्ध हो जाता है कि सब कुछ आदि-अन्तसे रहित एक नित्य विज्ञानानन्दघन परब्रह्म परमात्मा ही है। (सर्ग १८०—१८५)

सब कुछ ब्रह्म है, जगत् वस्तुतः असत् है, वह ब्रह्मका संकल्प होनेसे उससे भिन्न नहीं है; जीवात्माको अज्ञानके कारण ही जगत्की प्रतीति होती है—इसका प्रतिपादन

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! कुन्ददन्तके इस प्रकार कहनेपर प्रशंसनीय महात्मा भगवान् वसिष्ठ मुनिने यह परमार्थोचित वचन कहा ।

श्रीवसिष्ठजी बोले—हर्षकी बात है कि महात्मा कुन्ददन्तको शास्त्रश्रवणसे विज्ञानानन्दघन परमात्मामें विश्राम प्राप्त हो चुका है । सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म ही है—इस तत्त्वको ये हाथपर रखे हुए आँवलेकी तरह देख रहे हैं । निश्चय ही भ्रममात्र जिसका स्वरूप है, ऐसा यह विश्व इन्हें अजन्मा ब्रह्म ज्ञात होने लगा है । भ्रान्ति इनके लिये ब्रह्मरूप ही हो गयी है । वही ब्रह्म जो शान्त, एक और निर्विकार है । जो जैसे, जिसके द्वारा, जहाँ, जिस प्रकारका, जितना, जब और जिस हेतुसे है, वह वैसे, उसके द्वारा, वहाँ, उस प्रकारका, उतना, उस कालमें और उसी हेतुसे कल्याणमय, शान्त, जन्मादिरहित, मौन, अमौन, अजर, सर्वव्यापी, सुशून्य, अशून्य, आदि-अन्तसे रहित एवं अक्षय ब्रह्म ही है । व्यवहारमें ब्रह्म स्वयं दृश्य, स्वयं द्रष्टा, स्वयं चेतन, स्वयं जड, स्वयं सब कुछ और स्वयं कुछ भी नहीं है । वास्तवमें वह सच्चिदानन्द परमात्मा अपने आपमें ही स्थित है । दृश्यजगत् ही परब्रह्म है और परब्रह्म ही दृश्यजगत् है । यह न तो शान्त है, न अशान्त है; न निराकार है और न साकार ही है ।

जैसे जागनेपर स्वप्न आदि निराकार भासित होते हैं, वैसे ही ब्रह्म-साक्षात्कार हो जानेपर यह शरीर भी निराकार ही प्रतीत होता है । चैतन्यमात्र ही इसका स्वरूप है । यह स्वप्नकी भाँति अनुभवमें आनेपर भी असत् ही है । ये भ्रमवश दिखायी देनेवाले सृष्टि, स्थिति और प्रलय आदि भाव वास्तवमें नहीं हैं । जैसे चित्रलिखित चित्रवधू चित्रसे अतिरिक्त नहीं है, वैसे ही यह दृश्यमान जगत् परमात्मासे भिन्न नहीं है । जैसे चित्रकारद्वारा बनायी जानेवाली चित्रगत सेना बुद्धिस्थ चित्रसे भिन्न नहीं है, वैसे ही स्रष्टाकी चित्तता-दशामें मूर्त सृष्टि नाना रूपोंमें प्रतीत होती हुई भी उससे भिन्न न होनेके कारण नानात्वसे रहित है ।

रघुनन्दन ! जैसे समुद्रमें जलराशिका स्फुरण होनेपर ही उसमें भँवर उठते हैं, उसी प्रकार विशुद्ध चिदाकाशका अपने सत्यसंकल्पके अनुसार जो स्फुरण है, उसीको जगत् कहते हैं । परमात्मचैतन्यमें समुद्रमें जलराशिकी भाँति वस्तुतः चिदात्मक जगत्-भावोंका जो अकस्मात् भान होता है, उसे मनीषी पुरुष संकल्प आदि नाम देते हैं । कालसे, अभ्यासयोगसे, विचारसे, समभावसे, जातिकी सात्त्विकतासे और अन्तःकरणके सात्त्विक एवं निर्मल होनेसे सम्यग्ज्ञान-सम्पन्न यथार्थदर्शी तत्त्वज्ञ पुरुषकी बुद्धि द्वैत और अद्वैतसे रहित चिन्मात्रस्वरूप हो जाती है । चिदाकाशरूप परमात्मा चिदाकाशमें ही स्फुरित होनेवाले अपने इस रूपको—द्रष्टा-दृश्यरूप जगत्को देखता हुआ सदा साक्षीरूपसे प्रकाशित होता है । वह उससे भिन्न नहीं है । एक चेतनसत्ताके उपजीवी होनेसे द्रष्टा और दृश्य दोनो एक हैं; क्योंकि चिदाकाश सर्वव्यापी है । जैसे शून्यत्व और आकाशमें कोई भेद नहीं है, उसी तरह जगत् और ब्रह्ममें भी भेद नहीं है ।

श्रीराम ! सृष्टिके आरम्भकालमें परमात्माके मनमें अपने प्रकृतिसहित विलीन हुए प्राणियोंके पूर्वकृत कर्म-वासनानुसार जो कुछ नियत रूपसे भान हुआ, वह जैसा था और जिस प्रकारके कार्य-कारणभावसे स्थित था, वह आज भी उसी रूपमें स्थित है और वही जगत् कहलाता है । सर्वशक्तिमान् परमात्माको जिस-जिसका जैसे संकल्प होता है, वह-वह उसी रूपमें हो जाता

है । सत्यसंकल्प परमात्माकी संवित् (अनुभूति) साररूप है । अतः उसे जिस वस्तुका भान हुआ, वह असाररूप कैसे हो सकता है ?

रघुनन्दन ! चेतन जीवकी जो उत्पत्ति बतायी गयी है, उसका अभिप्राय इतना ही है कि जीव ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, यह बात समझमें आ जाय । जीवकी उत्पत्ति वास्तविक है, यह बताना अभीष्ट नहीं है । वस्तुतः चेतनस्वरूप जीव चिन्मय परब्रह्म परमात्माका अंश है; इसलिये कृत्रिम नहीं है । किंतु अज्ञानसे चेत्य अर्थात् दृश्य जगत्की ओर उन्मुख हो जानेके कारण ही वह जीव शब्दसे कहा जाता है । जीवनसे अर्थात् प्राण और कर्मेन्द्रियोंको धारण करनेसे तथा चेतनसे अर्थात् ज्ञानेन्द्रियोंको धारण करनेसे वह जीव कहलाता है । 'मैं ब्रह्म हूँ' इस यथार्थ आत्मस्वरूपको भूलकर चिन्मय जीवात्मा जब यह देखने लगता है कि मैं यह मनुष्य आदि शरीर हूँ और यह पृथ्वी आदि मेरा आधार है, तब वह उसीमें दृढ़ आस्था बाँध लेता है । असत्यमें सत्यबुद्धि करके ही जीव भावनावश बँध जाता है और अपने भीतर बारंबार भावना एवं नानात्वका अनुसरण करने लगता है । जो जिसमें अत्यन्त आसक्त होगा, वह उसे क्यों न देखेगा ? जगत्की जो भ्रान्ति हो रही है, वह असत्य ही है, तो भी भावनाके कारण इस प्रकार प्रौढ़ताको प्राप्त हो गयी है । सबके कारणभूत सनातन ब्रह्मसे भिन्न दूसरा कोई जगत्का कारण नहीं है । वह कारण भी कार्यताके बिना सम्भव नहीं है और निर्विकार कूटस्थ सच्चिदानन्दघन अद्वितीय ब्रह्ममें कार्यता और कारणता आदिका होना कदापि सम्भव नहीं है । इसलिये इस जगत्की प्रतीति अज्ञानके कारण ही हो रही है ।

(सर्ग १८६–१८९)

श्रीरामजीके विविध प्रश्न और श्रीवसिष्ठजीके द्वारा उनके उत्तर

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन ! ज्ञानकी ज्ञेयतापत्ति अर्थात् जो ज्ञानस्वरूप है, उसे ज्ञेय—जड दृश्य समझ लेना ही बन्धन है और उस ज्ञेयता—जड दृश्यबुद्धिका सर्वथा निवारण ही मोक्ष कहलाता है ।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! ज्ञानकी ज्ञेयता-बुद्धिका निवारण कैसे होता है ? उस ज्ञेयता-बुद्धिका सर्वथा निवारण हो जानेपर यहाँ बन्धताबुद्धि कैसे निवृत्त होती है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—शम, दम आदि साधनोंसे युक्त सच्चिदानन्द परमात्माका सम्यग्ज्ञानरूप प्रबोध प्राप्त होनेसे भ्रान्ति-बुद्धि दूर हो जाती है । उस भ्रान्ति-बुद्धिके दूर हो जानेपर इस प्रकार ज्ञेयता—जड दृश्यबुद्धिकी अत्यन्ताभावरूपा परम शान्तिमयी स्वरूपभूता निराकार मुक्ति प्राप्त होती है ।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! कैवल्य बोधरूप सम्यग्ज्ञान क्या कहलाता है, जिसकी पूर्णरूपसे प्राप्ति हो जानेपर यह जीव बन्धनसे छुटकारा पा जाता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! सबका अधिष्ठानभूत जो चिन्मात्र ज्ञान है, वह त्रिकालमें भी ज्ञेयरूप नहीं हो सकता । वह केवल अव्यय ज्ञान अवर्णनीय है । इस प्रकार जो आन्तरिक बोध है, उसे सम्यग्ज्ञान कहा गया है ।

श्रीरामजीने पूछा—ज्ञानस्वरूप चिन्मय परमात्माके अंदर उससे भिन्न ज्ञेयता क्या है ? यह बताइये, साथ ही इस बातपर भी प्रकाश डालिये कि 'ज्ञान' शब्दकी व्युत्पत्ति कैसे करनी चाहिये । अवबोधनार्थक 'ज्ञा' धातुसे भावमें ल्युट् प्रत्यय होनेपर ज्ञान शब्द बनता है या करणमें प्रत्यय होनेपर ?*

---

* 'ल्युट् च' (पा० सू० ३ । ३ । ११५) इस सूत्रसे भावमें ल्युट् प्रत्यय होता है तथा 'करणाधिकरणयोश्च' (पा० सू० ३ । ३ । ११७) इस सूत्रसे करण और अधिकरण अर्थमें ल्युट् प्रत्यय होता है । 'भावमें' प्रत्यय होनेपर ज्ञान शब्दका अर्थ होगा—जानना, समझना, बोध होना । करणमें प्रत्यय होनेपर ज्ञानका अर्थ होगा—जानका साधन, जिससे जाना जाय वह करण ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा— रघुनन्दन ! बोधमात्र ही ज्ञान है। अतः यहाँ भावसाधनमात्र ज्ञानको ही ग्रहण किया गया है अर्थात् भावमें प्रत्यय करनेसे जो ज्ञान शब्द बनता है, वही यहाँ अभीष्ट है। ज्ञान और ज्ञेयमें कोई भेद नहीं है, जैसे पवन और स्पन्दनमें (वायु और उसकी गतिशीलतामें) भेद नहीं होता है ।

श्रीरामजीने पूछा—यदि ऐसी बात है तो यह ज्ञान, ज्ञेय आदिका भ्रम, जो खरगोशके सींगकी भाँति मिथ्या ही है, तीनों कालोंमें व्यवहारके योग्य कैसे सिद्ध होता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—बाह्य पदार्थोंके भ्रमसे ही यहाँ भ्रमबुद्धि उत्पन्न हुई है, ऐसा जानना चाहिये। वास्तवमें किसी ही बाह्य अथवा आभ्यन्तरिक पदार्थका अस्तित्व सम्भव नहीं है। इसलिये ज्ञान और ज्ञेय आदिका भेद-भ्रम मिथ्या ही है। (स्वप्नकालमें अथवा भ्रान्तिज्ञानमें सहस्रों असत् पदार्थ व्यवहारमें आते हैं। अतः वह ज्ञान और ज्ञेय आदिका भ्रम असत्य होनेपर भी इसका अज्ञानियोंके व्यवहारमें आना असम्भव नहीं है।)

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! तुम, मैं आदि जो यह प्रत्यक्ष दृश्यपदार्थ हैं, जो भूत आदिरूपसे अनुभवमें आता है, वह है ही नहीं, यह कैसे समझा जाय ? कृपया मुझे बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—निष्पाप रघुनन्दन ! सृष्टिके आरम्भकालमें विराट् पुरुष ब्रह्मा आदिके रूपमें कोई भी पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुआ। इसलिये किसी ज्ञेय अथवा दृश्य वस्तुकी सत्ता सम्भव ही नहीं है।

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! भूत, भविष्य और वर्तमान कालमें होनेवाला जो यह जगत्का दर्शन है, जिसका प्रतिदिन सबको अनुभव हो रहा है, इसके होते हुए आप यह कैसे कह रहे हैं कि यह जगत् कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ; इसलिये कभी किसीको इसका दर्शन भी नहीं हुआ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! स्वप्नके पदार्थ, मृगतृष्णाका जल तथा संकल्पित पदार्थ—ये सब न तो कभी उत्पन्न हुए और न वास्तवमें कभी देखे गये। फिर भी, भ्रमवश इनकी प्रतीति हो जाती है। इसी तरह मैं, तुम आदि रूप जो जगत् है, यह न कभी उत्पन्न हुआ और न तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर कभी उपलब्ध ही हुआ। इसलिये सर्वथा मिथ्या है, तथापि भ्रमवश इसकी प्रतीति होती है।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् ! मैं, तुम, यह इत्यादि रूपसे पूर्णतः अनुभवमें आनेवाला यह जगत् सृष्टिके आदिमें उत्पन्न ही नहीं हुआ, यह कैसे समझा जाय ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! कारणसे ही कार्य उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं। यह एक निश्चित सिद्धान्त है। प्रलयकालमें तीनों लोकोंका जो पूर्णतः लय हो गया, तब पुनः इसकी उत्पत्तिके लिये कोई कारण ही नहीं रह गया था (कारण न होनेसे सृष्टि हुई ही नहीं, इसलिये जो कुछ दीखता है, सब मिथ्या प्रतीति मात्र है)।

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! महाप्रलय हो जानेपर जो अजन्मा, अविनाशी परब्रह्म अवशिष्ट रह गया, वही नूतन सृष्टिकी उत्पत्तिका कारण कैसे नहीं हो सकता ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! कारणमें जो कार्य सत्रूपसे विद्यमान है, वही उससे प्रकट होता है, जो उसमें है ही नहीं, वह कैसे प्रकट हो सकता है। क्या कभी घटसे पटकी उत्पत्ति होती है ? कभी नहीं।

श्रीरामजीने कहा—महाप्रलय आनेपर जगत् सूक्ष्म-रूपसे ब्रह्ममें रहता है। वही सृष्टिके समय पुनः उससे प्रकट हो जाता है।

श्रीवसिष्ठजी बोले—परम बुद्धिमान् निष्पाप रघुनन्दन ! महाप्रलयके अन्ततक उस ब्रह्ममें जगत्की सत्ताका

किसने अनुभव किया है तथा उसकी वह सत्ता वहाँ किस रूपमें रहती है ?

श्रीरामजीने कहा—ब्रह्ममें जगत्की सत्ता उस समय ज्ञानस्वरूपा ही होती है और ज्ञानियोंके अनुभवमें भी आती है। अतः वह प्राकृत आकाशके समान शून्य-रूप तो नहीं होती। इसलिये उस सत्ताको असत् नहीं कहा जा सकता।

श्रीवसिष्ठजी बोले—महाबाहो! यदि ऐसी बात है तो वह ज्ञान ही तीनों लोकोंका स्वरूप है। किंतु जो विशुद्ध ज्ञानस्वरूप है, उसके जन्म और मरण कैसे हो सकते हैं ?

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! यदि इस प्रकार सृष्टि उस ब्रह्ममें स्थित नहीं है तो यह भ्रान्ति कहाँसे और कैसे आ गयी ? यह मुझे बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! कार्य-कारणताका अभाव होनेसे ही ब्रह्ममें न सृष्टि है न प्रलय। यह जो जगत् भासित होता है, वह जिसको और जिस रूपमें भास रहा है। वह सब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूपी त्रिपुटी केवल आत्मा ही है।

श्रीरामजीने पूछा—यह बात तो असंगत-सी लगती है। जो यन्त्रका चालक चेतन है, वह जड यन्त्र-रूप कैसे हो सकता है ? द्रष्टा ईश्वर स्वयं ही दृश्य कैसे बन सकता है ? काठ दाहक बनकर अग्निको जला दे, क्या यह कभी सम्भव है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! द्रष्टा दृश्यभावको नहीं प्राप्त होता; क्योंकि दृश्यकी सत्ता सम्भव ही नहीं है। केवल द्रष्टा ही प्रकाशित होता है, जो एकमात्र सच्चिदानन्दघनस्वरूप एवं सर्वात्मा है।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन्! तब सृष्टिके आदिमें अनादि, अनन्त, शुद्ध चिन्मय ब्रह्म ही जगत्का संकल्प करता है। इसीसे इस जगत्का भान होता है। यदि ऐसा न होता तो चेत्य जगत्का प्राकट्य कैसे हो सकता था ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—किसी भी चेत्यकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है; क्योंकि उसका कोई कारण ही नहीं है। चेत्यके अत्यन्त अभावके ही कारण चेतनकी नित्यमुक्तता और अवर्णनीयता सिद्ध होती है।

श्रीरामजीने पूछा—यदि ऐसी बात है तो ये अहंता आदि चेत्य कैसे और कहाँसे उत्पन्न हुए हैं, जगत्का भान कैसे होता है और स्पन्दन आदिका अनुभव क्यों होता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! मैं पहले ही बता चुका हूँ कि कारणकी सत्ता न होनेसे आदिकालमें ही किसी वस्तुकी उत्पत्ति नहीं हुई थी। ऐसी दशामें चेत्य कहाँसे होगा ? इसलिये सब कुछ शान्तस्वरूप परब्रह्म ही है। सृष्टिकी प्रतीति केवल भ्रममात्र है।

श्रीरामजीने पूछा—मुने! जो वाणीकी पहुँचसे बाहर है, चेत्य और चलन आदिसे रहित है, सदा स्वप्रकाश और निर्मल है, उस नित्यमुक्त परब्रह्ममें किसको किस निमित्तसे और कैसा भ्रम हो सकता है (जब ब्रह्मके सिवा दूसरा कोई है ही नहीं और वह नित्यमुक्त ज्ञानस्वरूप है तो उसमें किसको और कैसे भ्रम हो सकता है ? फिर यह जगत् नामक भ्रम क्या बला है ?) इसका उत्तर मुझे दीजिये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम! सृष्टिरूप भ्रमका कोई कारण नहीं है; इसलिये यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है कि उसकी सत्ता त्रिकालमें भी नहीं है। तुम, मैं आदि सब कुछ एकमात्र शान्तस्वरूप निर्विकार ब्रह्म ही है।

श्रीरामजीने पूछा—मुने! फिर तो देश, काल, क्रिया, द्रव्य, भेद, संकल्प और चित्त सभी वस्तुओंकी उत्पत्ति

असम्भव ही है, फिर इन सबकी सत्ता कैसे उपस्थित हो गयी ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! देश, काल, क्रिया, द्रव्य, भेद, संकल्प और चित्त इन सबकी सत्ता अज्ञानमात्र ही है। अज्ञानसे भिन्न इनकी सत्ता न है, न पहले कभी थी।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! तत्त्वदृष्टिसे कारणके अभावमें द्वैत और एकत्वकी सम्भावना ही नहीं रह जाती। फिर न कोई बोध्य रह जाता है न बोधक। बोध्य-बोधकके अभावमें बोधका होना भी कैसे सम्भव होगा ? (जिसका बोध होता है वह कर्म कारक तो होना ही चाहिये। कर्म माननेपर द्वैतकी आपत्ति होती है और कर्म न माननेपर बोध किस वस्तुका हो, यह प्रश्न खड़ा हो जाता है।)

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! अज्ञानी जीव ही बोधके द्वारा अपने अज्ञानविनाशरूप फलका आश्रय होकर आत्मबोधता (बोधकर्मता) को प्राप्त होता है। इसीसे बोध शब्द भी बोध्यता (बोधरूप फलवाली सकर्मकता) को प्राप्त होता है। ये सब बातें अज्ञानियोंको समझानेके लिये ही कहने योग्य हैं। हम-जैसे जीवन्मुक्तोंके लिये नहीं (जीवन्मुक्त पुरुष तो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूपी त्रिपुटीसे रहित हो शुद्ध ज्ञानस्वरूप हो जाता है। उसके लिये बोधकी सकर्मताका निरूपण अनावश्यक हो जाता है)।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! 'मैं जीवन्मुक्त हूँ' ऐसा अनुभव होनेसे यह सिद्ध है कि बोध ही अहंतारूप परिणामको प्राप्त होता है। यह बोध अहंभावको प्राप्त हुआ तो यथार्थ बोध नहीं रह गया। उसमें भिन्नता आ गयी। अनन्त, जलसे भी बढ़कर निर्मल, चिन्मय, परमात्मस्वरूप आप-जैसे जीवन्मुक्त पुरुषोंमें यह बोधभिन्न अहंता कैसे सम्भव होती है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! बोधस्वरूप जीवन्मुक्तकी स्वरूपभूता जो बोधता है, वही उसमें विशुद्ध अहंता कहलाती है। तत्त्वज्ञानीका मैं और तुम भी उसके स्वरूपभूत ज्ञानसे भिन्न नहीं है। उसमें जो द्वैतरूप व्यवहार देखा जाता है, वह वायु और उसके स्पन्दनकी भाँति अद्वैतरूप ही है।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् ! संसारको स्वप्नकी भाँति मिथ्या समझ लेनेमात्रसे कौन-सा अभीष्ट फल सिद्ध होता है ? स्वप्न आदिमें पदार्थोंकी साकारता कैसे शान्त होती है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! अध्यात्मशास्त्रके पूर्वापरके विवेकपूर्वक विचारसे ज्ञानोदय होनेपर पदार्थोंमें साकारता या स्थूलताकी भावना शान्त हो जाती है। वे सब-के-सब चिन्मय ब्रह्मरूप ही हैं, ऐसा अटल निश्चय हो जाता है। इसी तरह स्वप्नके पदार्थोंमें भी (जागनेपर) स्थूलताकी भावना निवृत्त हो जाती है।

श्रीरामजीने पूछा—जिसकी भावना स्थूलताको छोड़कर अत्यन्त सूक्ष्मताको प्राप्त हो गयी है, वह जगत्‌को कैसा देखता है ? उसका यह संसारभ्रम कैसे शान्त होता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वासनाके क्षीण हो जानेपर पुरुष जगत्‌को उजडा हुआ, असत्‌के सदृश, आकाशमें दीखनेवाले गन्धर्वनगरके समान और वर्षाद्वारा मिटाये गये चित्रके तुल्य देखता है।

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! वासनाके क्षीण हो जानेपर जिसके लिये जगत्‌की स्थिति स्वप्नके तुल्य हो जाती है, उस पुरुषकी जागतिक पदार्थोंके विषयमें जब स्थूलताकी भावना मिट जाती है, तब फिर क्या होता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जिसकी दृष्टिमें जगत् केवल संकल्परूप है, उस पुरुषकी वह अति सूक्ष्म वासना भी उत्तरोत्तर क्रमसे विलीन हो जाती है।

इस तरह सर्वथा वासनाशून्य होकर वह शीघ्र ही निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त हो जाता है ।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! जो अनेक जन्मोंसे बद्धमूल अनेक शाखा-प्रशाखाओंसे सुशोभित तथा जन्म-मरणरूपी बन्धनमें डालनेवाली है, वह घोर वासना किस उपायसे पूर्णतः शान्त हो जाती है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! यथार्थ तत्त्वज्ञानसे जब यह भ्रममात्र दृश्यचक्र स्थूलरूपतासे रहित अनुभूत हो जाता है, तब क्रमशः उसकी वासनाका क्षय होने लगता है ।

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! जब दृश्यचक्र स्थूलाकारतासे रहित अनुभूत हो जाता है, तब और क्या होता है ? पूर्ण शान्ति कैसे होती है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! स्थूलाकारताका भ्रम मिट जानेपर जब जगत्की केवल चित्तमात्ररूपता अवगत हो जाती है और चित्तवृत्तियोंके निरोधसे जगत्में गौरवबुद्धि नहीं रहती है, तब जगत्के प्रति होनेवाली आस्था शान्त हो जाती है ।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् ! चित्त कैसा है ? उसका विचार कैसे किया जाता है ? और उसके स्वरूपका भलीभाँति विचार कर लेनेपर क्या होता है ? यह बताइये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! चेतनका चेतनीय विषयोंकी ओर उन्मुख होना ही चित्त कहलाता है। इस समय जो चर्चा चल रही है । यही इसका विचार है । इससे इसकी वासना शान्त हो जाती है ।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! चित्तके रहते हुए चेतनका अचेत्य परमात्माकी ओर उन्मुख होना कितनी देरके लिये सम्भव हो सकेगा ? (क्योंकि चित्तवृत्तियोंका निरोध होनेपर ही परमात्मामें अटल स्थिति हो पाती है) अतः यह बताइये कि निर्वाण-पद प्रदान करनेवाली जो चित्तकी अचित्तता है, उसका उदय कैसे हो सकता है ? (दूसरे शब्दोंमें चित्तके नाशका ही उपाय बतानेकी कृपा करें ।)

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जब चेत्य जगत्की उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है, तब चितिशक्ति जीवात्मा कैसे और कहाँसे उसका चिन्तन या अनुभव करेगा ? चेत्यकी सत्ता न होनेसे चित्तकी सत्ता भी चिरकालसे ही नहीं है । फिर किसके नाशका उपाय बताया जाय ?

श्रीरामजीने पूछा—जिस चेत्यका सबको अनुभव होता है, उसका होना कैसे सम्भव नहीं है ? जिसका अनुभव हो रहा है, उसका इस तरह अपलाप, उसकी सत्ताको अस्वीकार कैसे किया जा रहा है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—अज्ञानीकी दृष्टिमें जो जगत्का स्वरूप है, वह सत्य नहीं है और ज्ञानीकी दृष्टिमें उसका जैसा स्वरूप है, वह अद्वितीय ब्रह्ममय होनेके कारण वाणीका विषय नहीं है । (अतः यहाँ अज्ञानियोंके ही जगत्की सत्ताका निराकरण किया गया है ।)

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! अज्ञानियोंका त्रैलोक्य कैसा है और वह सत्य कैसे नहीं है तथा तत्त्वज्ञानियोंका जगत् जैसा है, वह वाणीका विषय कैसे नहीं हो सकता ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—अज्ञानियोंका जो जगत् है, वह आदि-अन्तसे युक्त तथा द्वैतरूप है । परंतु तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें वह नहीं है । उनकी दृष्टिमें जगत्की सत्ता सम्भव ही नहीं है; क्योंकि आदिकालसे ही कभी उसकी उत्पत्ति नहीं हुई ।

श्रीरामजीने पूछा—मुने ! जो आदिकालसे ही उत्पन्न नहीं हुआ, उसकी सत्ता कभी सम्भव नहीं है । वह असद्रूप और आभासशून्य है । यदि जगत्का भी यही स्वरूप है तो उसका अनुभव कैसे हो रहा है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जाग्रत्-जगत् स्वप्न जगत्के समान असत् होता हुआ ही सत्के तुल्य प्रतीत हो रहा है। इसकी कभी उत्पत्ति नहीं हुई; क्योंकि उत्पत्तिका कोई कारण नहीं है। यह स्वप्नके तुल्य प्रकट होकर अर्थ-क्रियाकारी भी प्रतीत होता है।

श्रीरामजीने पूछा—भगवन् ! स्वप्न आदिमें और संकल्प एवं मनोरथ आदिमें जो दृश्यका अनुभव होता है, वह जाग्रत् व्यवहारके अनुभवसे उत्पन्न जाग्रत्-रूप संस्कारसे होता है। किंतु यह जाग्रत् किससे अनुभवमें आता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीराम ! यदि जाग्रत्के संस्कारसे ही स्वप्नका भान होता है तो सपनेमें गिरा हुआ अपना घर कैसे प्रातःकाल जागनेपर सुरक्षितरूपसे उपलब्ध होता है।

श्रीरामजी बोले—भगवन् ! जाग्रत्-पदार्थका स्वप्नमें भान नहीं होता; किंतु अन्य पदार्थ ही स्वप्नमें भासित होता है। वह अन्य पदार्थ ब्रह्म ही है, यह बात मेरी समझमें आ गयी। अब इतना ही पूछना शेष है कि वह अन्य पदार्थरूप ब्रह्म अपूर्व जगत्के रूपमें कैसे भासित होता है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! सब कुछ अपूर्व-सा ही भासित होता हो, ऐसा नियम नहीं है। कोई पदार्थ जिसका पहले अनुभव नहीं हुआ है, चित्तमें अपूर्व प्रतीत होता है और कोई जिसका पहले अनुभव हो चुका है, अपूर्व नहीं प्रतीत होता। वह अनुभव सृष्टिके आदि, अन्त और मध्यमें किये हुए अभ्यासके अनुसार ही भासित होता है।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन् ! इस तरह आपके उपदेशसे यह बात तो समझमें आ गयी कि जाग्रत्-जगत् भी स्वप्नके समान ही है। किंतु यह स्वप्न-तुल्य प्रतीत होनेवाला जगत्रूपी यक्ष भी क्रूर ग्रहकी भाँति कष्ट देता है। अतः किस प्रकार इस रोगकी चिकित्सा की जाय ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! यह जो संसार-रूपी स्वप्न है, इसका क्या कारण हो सकता है ? कार्यसे कारण भिन्न नहीं है, यह बात सर्वत्र देखी गयी है। इस प्रकार इस विषयमें विचार करो।

श्रीरामजी बोले—स्वप्नकी उपलब्धिका कारण है चित्त। इसलिये स्वप्न-जगत् चित्तरूप ही है। इसी प्रकार आपके विचारसे यह जाग्रत्-जगत् भी जो आदि-अन्तसे रहित और असार है, चित्तरूप ही है। इस निश्चयसे जगत्-रूपी रोगकी चिकित्सा स्वतः सिद्ध है।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—महामते ! मैं कह चुका हूँ कि चेतनका चेत्यकी ओर उन्मुख होना ही चित्त है। इस दृष्टिसे चित्त महान् चैतन्यघन ही है। वही जगत्के आकारमें स्थित है। अतः सिद्ध हुआ कि स्वप्न, जाग्रत् आदि कुछ भी चिन्मय ब्रह्मसे भिन्न नहीं है; क्योंकि आदिकालसे ही यह जगत् कभी उत्पन्न ही नहीं हुआ है। इसलिये यह सारा दृश्यमान प्रपञ्च अजर-अमर, शान्त, अजन्मा एवं अखण्ड सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है।

श्रीरामचन्द्रजी बोले—भगवन् ! आपके सदुपदेशसे मैं यह मानता हूँ कि जीवात्माको भ्रान्तिके कारण द्रष्टापन और भोक्तापनके साथ सृष्टिके जन्म नाश आदि सारे भ्रम परमपद-स्वरूप परब्रह्ममें प्रतीत हो रहे हैं।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघवेन्द्र ! जो रससे भी रस-तत्त्वके ज्ञाता हैं—सारसे भी सार वस्तुको मथकर निकालने और जाननेमें समर्थ हैं, ऐसे विद्वानोंकी विचार-व्यापारसे युक्त जो कोई नवीन दृष्टि है, वह पहली है तथा समस्त विचारों और शास्त्रके श्रवण, मनन, निदिध्यासनके परिपाकसे परिनिष्ठित जो परम तत्त्वरूप अर्थ है, उसका अपरोक्ष अनुभव करानेवाली जो तत्त्वज्ञानी जीवन्मुक्त महात्माओंकी दृष्टि है, वह दूसरी है। उन्हीं दो दृष्टियोंका अवलम्बन करके मैंने सम्पूर्ण विश्वके स्वरूपपर तबतकके लिये इस प्रकार विचार किया और विचार करना आवश्यक समझा है, जबतक कि यह बोध न हो जाय

कि जितनी भी दृष्टियाँ और उनके द्रष्टाके द्रष्टापन हैं, वे सब त्रिकालमें भी नहीं हैं। सारा जगत्-असत् है—शून्य है। उसकी प्रतीति भ्रममात्र है। वस्तुतः तो न कोई शून्यता है और न भ्रम ही है। नित्य-निरन्तर, सर्वत्र एकमात्र अपरोक्ष परमानन्दस्वरूप परब्रह्म ही विराजमान है। (सर्ग १९०)

अज्ञानसे ब्रह्मका ही जगत्‌रूपसे भान होता है। वास्तवमें जगत्‌का अत्यन्ताभाव है और एकमात्र ब्रह्म ही विराजमान है, इस तत्त्वका प्रतिपादन

श्रीरामजी बोले—मुनिश्रेष्ठ! यदि ऐसी बात है तब तो यह सारा जगत् सदा सर्वपदार्थरूप परमार्थमय ब्रह्म ही है, जो न कभी उत्पन्न होता है और न कभी नष्ट ही होता है। जगत्‌की प्रतीतिके रूपमें यह भ्रान्ति ही भासित हो रही है। तात्त्विक दृष्टिसे तो वह भ्रान्ति भी नहीं है, केवल परब्रह्मकी ही सत्ता है।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! दृश्यकी उत्पत्ति सम्भव न होनेके कारण न द्रष्टा है और न दृश्य ही है। द्रष्टा, दृश्य और दर्शन आदिकी त्रिपुटी कुछ नहीं है। केवल निर्विकार चिदाकाश ही है। जैसे स्वप्न आदिमें एक ही पुरुष द्रष्टा, दृश्य और दर्शनकी त्रिपुटीरूप होता है, वैसे ही जाग्रत्‌में भी एकमात्र वह जीवात्मा ही स्वयं द्रष्टा, दृश्य और दर्शनकी त्रिपुटीको धारण करके विराजमान होता है। अतः भासने योग्य पदार्थ, भान तथा भासक स्वयंप्रकाश चेतन ही है, सर्ग आदिमें सृष्टिके तुल्य स्फुरित होता हुआ वह स्वयं ही प्रकाशित होता है। अज्ञानी लोगोंको यह सृष्टि भले ही आश्चर्यके तुल्य प्रतीत हो। परंतु ज्ञानी महात्माओंकी दृष्टिमें तो यह स्वभावभूत ब्रह्मरूप ही है। सृष्टिके आदिमें जब कि एक विशुद्ध चेतन ही विद्यमान है, तब उसमें संसारकी उत्पत्तिका क्या कारण हो सकता है? दृश्यकी सत्ता किसी तरह भी सम्भव न हो सकनेके कारण केवल ब्रह्म ही जगत्‌रूपसे भासित हो रहा है। इस तरह चिदाकाशस्वरूप परमात्मा ही सृष्टिके आरम्भमें सृष्टिरूपसे स्फुरित होता है। अतः यह जो जगत् है, परमात्मा ही है। शून्यता और आकाशके भेदकी कल्पनाके समान जगत् और ब्रह्मके भेदकी कल्पना भी अज्ञानमात्र ही है। श्रीराम! इस तत्त्वको समझ लेनेपर भी जबतक यह सुन्दर अनुभवसे युक्त एवं दृढ़ न हो जाय, तबतक साधकको पाषाणकी भाँति मौन एवं निर्विकल्प होकर एकमात्र परमात्मामें ही स्थित रहना चाहिये। जिन विषयभोगोंको बार-बार भोगकर परम वैराग्यके कारण त्याग दिया गया है, उन्हें अज्ञानी पुरुषोंके कहनेपर भी ग्रहण नहीं करना चाहिये। (सर्ग १९१)

श्रीरामचन्द्रजीके मुखसे ज्ञानी महात्माकी स्थितिका एवं अपने परब्रह्मस्वरूपका वर्णन

श्रीरामचन्द्रजी बोले—मुने! यहाँ सब कुछ शान्त, आलम्बनरहित, विज्ञानस्वरूप, अनन्त, रागशून्य, कल्पना-रहित एवं विशुद्ध अद्वितीय सच्चिदानन्दघन परब्रह्म ही है। उसके अतिरिक्त न यह दृश्य है न द्रष्टा है न सृष्टि है, न जगत् है, और न जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति आदि ही है। यह जो कुछ दीखता है वह सब असत् ही है। मुने! इस भ्रान्तिकी उत्पत्ति कहाँसे होती है? इस बातका विचार करना भी उचित नहीं है; क्योंकि भ्रान्तिके अभावका अनुभव हो जानेपर भ्रान्ति रहती ही नहीं, तब उसके कारणका विचार करना कहाँतक संगत हो सकता है? निर्विकार एवं ज्ञानस्वरूप परब्रह्ममें भ्रान्ति हो ही नहीं सकती। यह जो भ्रान्तिरूपताका ज्ञान है वह

भी ब्रह्मरूप ही है। ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। जैसे मृगतृष्णामें जलका, गन्धर्वनगरका और नेत्रदोषके कारण उत्पन्न दो चन्द्रमाका भ्रम विचारसे उपलब्ध नहीं होता, उसी प्रकार अविद्या नामक भ्रमकी भी विचारसे उपलब्धि नहीं होती। मुने! वह भ्रान्ति कहाँसे आयी और क्यों आयी, यह प्रश्न भी यहाँ शोभा नहीं पाता है; क्योंकि जो वस्तु है, उसीपर विचार करनेसे लाभ होता है। जो है ही नहीं, उसपर विचार करनेसे क्या लाभ होगा? इसलिये कभी कोई भ्रान्ति सम्भव नहीं है। यह आवरणरहित नित्य विज्ञानानन्दघन ब्रह्म ही सब ओर व्याप्त है। आज यहाँ जो कुछ भी जगत् भासित होता है, यह परब्रह्म ही है। निरतिशय आनन्दसे परिपूर्ण परब्रह्ममें यह पूर्ण परब्रह्म ही विराज रहा है। जन्मरहित, अमर, इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण करनेके अयोग्य, श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा सेवित, निर्विकार तथा सब ओरसे निर्दोष परमपदरूप परमात्मा ही सब ओर परिपूर्ण हो रहा है। वही 'अहम्' (मैं) पदसे कहा गया है। फिर भी वह अहंकारसे सर्वथा रहित है। अनेक रूपसे प्रतीत होनेपर भी वह एक है तथा विशुद्ध एवं सदा प्रकाशमान है।

आदि, मध्य और अन्तसे रहित जिस परमपदको देवता तथा ऋषि भी नहीं जानते हैं, वही यह सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है। कहाँ है जगत् और कहाँ उसकी दृश्यता! द्वैत और अद्वैतकी भावनाको उभाड़नेवाले जो वाक्य संदेह और भ्रम हैं, उनसे हमारा क्या प्रयोजन है! वास्तवमें सबका आदि, अनामयस्वरूप एक परम शान्त ब्रह्म ही परिपूर्ण है। अपरिच्छिन्न उदयवाले—सर्वव्यापी इस परब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेपर अज्ञानीकी दृष्टिमें स्फुरित होनेवाला संसाररूपी पिशाच तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें नष्ट हो जाता है। वह जडकी भाँति व्यवहारमें लगा हो तो भी उस ज्ञानीकी पूर्वकी भेदबुद्धि उसी तरह गल जाती है, जैसे जलके भीतर लहर नष्ट हो जाती है। यहाँ वास्तवमें न तो अज्ञान है, न भ्रम है, न दुःख है और न सुखका उदय ही है। विद्या-अविद्या, सुख-दुःख—सब कुछ निर्मल ब्रह्म ही है। जितना और जो भी यहाँ है, वह सब विशुद्ध सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही है। ब्रह्मन्! वह ब्रह्म मैं ही हूँ। सदा ही सब कुछ एकमात्र मैं ही हूँ। मेरा कहीं अन्त नहीं है। मैं परम शान्त हूँ, सब कुछ हूँ, अथवा कुछ नहीं हूँ। एकमात्र सत्-स्वरूप ही हूँ अथवा वह भी नहीं हूँ, मैं ही परम आश्चर्यरूप निर्वाण नामक परमशान्ति-स्वरूप हूँ। (सर्ग १९२-१९३)

श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा बोधके पश्चात् होनेवाली शान्त एवं संकल्पशून्य स्थितिका वर्णन

श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं—मुने! जिसको बोध प्राप्त हो गया है, वह ध्यानस्थ महात्मा केवल अपने चित्तभावमें स्थित रहता है। वह न कुछ ग्रहण करता है और न कुछ त्याग ही करता है। समाधि या ध्यानसे उठनेपर भी वह सदा जैसे-का-तैसा अपने स्वरूपमें ही स्थित रहता है, जैसे दीपक प्रकाश फैलाता हुआ भी कुछ करता नहीं है, वैसे ही ज्ञानी सब कुछ देखता हुआ भी निष्क्रिय बना रहता है। वह मनके मननसे युक्त होनेपर भी कहीं आसक्त न होनेके कारण वास्तवमें मन, अभिमान और मननसे रहित ही है। उस योगीको समाधिसे उठनेपर विश्वरूप नामक और समाधिकालमें ब्रह्म नामक चिन्मात्रस्वरूप परमार्थ सत्यका ही सर्वत्र दर्शन होता है। उसे सृष्टि और संहार सब चिन्मात्र ही प्रतीत होते हैं। संसार त्रिविध तापोंसे अत्यन्त संतप्त है और निर्वाण अत्यन्त शीतल है (क्योंकि उसमें समस्त तापोंकी शान्ति हो जाती है)। वास्तवमें अत्यन्त शीतल निर्वाण ही शाश्वत है। यह तप्त संसार तो तीनों कालोंमें है ही नहीं। जैसे स्वप्नमें अपने भाई-बन्धुके मरने या जीनेपर भी स्वप्नसे जगे हुए पुरुषकी उस स्वप्नगत

वृत्तान्तमें सत्यता-बुद्धि नहीं होती (अतएव उसे वहाँकी घटनासे हर्ष और शोक नहीं होते हैं)। वैसे ही तत्त्वज्ञानी पुरुषको दृश्य पदार्थोंमें सत्यता-बुद्धि नहीं होती (इसलिये अनुकूल-प्रतिकूल घटनाओंसे उसे हर्ष-शोकका अनुभव नहीं होता।) भगवन्! सम्यक् ज्ञान होनेपर देहसे सम्बन्ध रखनेवाले भोगपदार्थों और उनकी प्राप्तिके उपायोंसे ज्ञानीको उसी तरह सर्वथा विरक्ति रहती है, जैसे स्वप्नसे जगे हुए पुरुषकी स्वप्नगत पदार्थोंमें ममता और आसक्ति नहीं रहती। वैराग्यसे बोधकी और बोधसे वैराग्यकी वृद्धि होती है। वे दीवाल और प्रकाशके समान एक-दूसरेसे अभिव्यक्त होते हैं। अन्धकारमें दीपक जलानेसे दीवाल अभिव्यक्त होती है और दीवालपर पड़नेसे प्रकाशकी विशेष अभिव्यक्ति होती है। जिस बोधसे वैराग्य सम्पन्न होता है, वस्तुतः उसीका नाम बोध है। जिससे धन, स्त्री, पुत्र आदिकी सुख-सुविधा-बुद्धि पहलेसे भी बढ़ जाती हो, वह बोध या बुद्धिमानीके रूपमें जडता ही स्थित है। बोधका बोधत्व इतना ही है कि उससे वैराग्यकी वृद्धि हुई अर्थात् वैराग्य होनेसे ही बोध सार्थक समझा जाता है। जिस पुरुषमें वैराग्य नहीं है, उसकी विद्वत्ता भी मूर्खता ही है। बोध और वैराग्यरूपी उत्कृष्ट सम्पत्ति ही मोक्ष कहलाती है। उस मोक्षरूप अनन्त शान्तपदमें स्थित हुए पुरुषको कभी शोक नहीं करना पड़ता। जो सदा अपने आत्मामें ही रम रहा है, शान्त, विरक्त एवं अहंकाररहित हो गया है, उस ज्ञानी पुरुषकी आकाशके समान सकल्प-रहित एवं निर्मल स्थिति हो जाती है। सहस्र-सहस्र प्रयत्न-शील पुरुषोंमेंसे कोई विरला ही ऐसा बलवान् और उत्साही होता है, जो उठकर वासनाजालको उसी तरह छिन्न-भिन्न कर देता है, जैसे कोई-कोई सिंह पिंजड़ेको तोड़ डालता है। जिसका अन्तःकरण शुद्ध है, उस पुरुषके भीतर वासनाशून्य भाव प्रकट होनेपर उसे यह सुदृढ़ बोध प्राप्त हो जाता है कि सारा दृश्य ब्रह्म ही है। इससे उसकी बुद्धि एकमात्र निर्वाणरूप परब्रह्ममें ही सुस्थिर हो जाती है। तत्पश्चात् उसमें मोक्ष नामक अनन्त शान्तिका उदय होता है। (सर्ग १९४)

श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा जगत्की असत्ता एवं 'सर्वं ब्रह्म' के सिद्धान्तका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! ज्ञानवान् पुरुषकी समाधि-अवस्थामें अथवा व्यवहारकालमें जो शिलाके समान घनीभूत निश्चल स्थिति है, वह निर्मल मुक्ति कहलाती है। राघव! पाप और दुःखका निवारण करनेवाले उस मोक्षपदमें स्थित होकर हमलोग समाधि और व्यवहारमें भी इसी तरह समभावसे रहते हैं।

श्रीराम बोले—ब्रह्मन्! जैसे मृगतृष्णामें जल, समुद्र आदिके जलमें तरङ्ग और भँवर, सुवर्णमें कटक-कुण्डल आदि आभूषण तथा स्वप्न और संकल्पमें पर्वत—ये सब बिना हुए ही प्रतीत होते हैं, वैसे ब्रह्ममें यह जगत् कभी उत्पन्न नहीं हुआ, कभी प्रकाशमें नहीं आया। उसका आरम्भ भी नहीं हुआ और उसमें कोई आकार भी नहीं है। इस प्रकार सर्वथा असत् होकर भी वह अज्ञानियोंको भासित होता है। पहले ही यह कुछ भी कभी उत्पन्न नहीं हुआ; क्योंकि इसकी उत्पत्तिका कोई कारण नहीं है। इसलिये वन्ध्यापुत्रके समान इस जगत्की सत्ता केवल काल्पनिक है। कल्पनाके सिवा और किसी रूपमें इसकी सत्ता नहीं है। इस जगत्-भ्रान्तिका कारण ही क्या है, जिससे यह प्रकट होती? कारणके बिना किसी भी कार्यका होना कहीं भी सम्भव नहीं है। वस्तुतः निर्विकार, अजर, अमर ब्रह्म भी इसका कारण नहीं हो सकता; क्योंकि पूर्वावस्थाका क्षय हुए बिना कोई भी वस्तु यहाँ कहीं भी सविकार नहीं हो सकती। यदि वाणीका अविषय ब्रह्म ही कारणरूपसे विद्यमान है तो कहाँ, किसको और किस प्रकार जगत् शब्दके अर्थकी प्रतीतियाँ होंगी। वास्तवमें यह जगत् आकाशके समान निर्मल, शिलाके समान घनीभूत

और पाषाणके समान मौन, शान्त, अक्षय ब्रह्म ही है । यह परम समस्वरूप, एक, अनादि, अनन्त, शान्त ब्रह्म, महाकाश ही है । इसमें जगत्की बात ही कहाँ है ? जैसे जलमें लहरोंके उठने और शान्त होनेसे जलमें भिन्नता नहीं आती, उसी प्रकार ब्रह्ममें सृष्टि और प्रलयसे भी कोई भिन्नता नहीं आती । सारासार-तत्त्वके ज्ञाता कोई महात्मा पुरुष इस विशुद्ध परमपदमें उसी तरह एकताको प्राप्त हो जाते हैं, जैसे जलकी बूँद जलराशिमें मिलकर एक हो जाती है । परब्रह्म परमात्मामें परब्रह्मस्वरूप ही जो अपर जगत्—भासित होता है, वह विचार करनेसे परब्रह्म ही सिद्ध होता है; क्योंकि निर्मल, शान्त, परब्रह्ममें जगत् और उनके व्यवहारोंका होना सम्भव नहीं है ।

श्रीवसिष्ठजीने पूछा—रघुनन्दन ! यदि ऐसा मान ले कि यह दृश्य जगत् कारणभूत ब्रह्ममें उसी प्रकार स्थित है, जैसे बीजमें अङ्कुर तो यहाँ सृष्टि आदिकी सत्ता कैसे नहीं सिद्ध हो सकती ?

श्रीरामने कहा—मुने ! बीजमें अङ्कुर यदि अङ्कुररूपसे ही रहता तो उसमें ढूँढ़नेपर मिलता । किन्तु बीजको फोड़कर देखनेपर वह दिखायी नहीं देता है । यदि कहीं बीजके भीतर अवयवोंकी सूक्ष्म सत्ता है तो वह तो बीज ही है, अङ्कुर नहीं है । ब्रह्मके भीतर भी जगत्की सत्ता इसी तरह सिद्ध नहीं होती है । जो जगत्-सत्ता उपलब्ध होती है, वह यदि सूक्ष्मरूपसे ब्रह्ममें हो तो वह तो नित्य ब्रह्म ही है; क्योंकि ब्रह्म अविकारी है । अतः ब्रह्मसे भिन्न जगत्का सत्ता कदापि सिद्ध नहीं होती है । यह जो कोई अनिर्वचनीय जगत् दीखता है, तत्त्वज्ञान हो जानेपर अनुभवमें ही नहीं आता है । अज्ञानावस्थामें भी प्रतीत होनेके कारण सत्ता और वस्तुतः असत्तासे परिपुष्ट यह जगत् स्वानुभवैकगम्य होनेसे अनिर्वचनीय ही है । सारा प्रपञ्च परम शान्त, निष्क्रिय, अखण्ड, आभासशून्य, अनादि, अनन्त एवं स्वयंप्रकाश ब्रह्म ही है । मुझे अपने उस परमात्मस्वरूपका यथार्थ अनुभव है, जो जन्म और मृत्युसे रहित, शान्त, अनादि, अनन्त, महान् उपाधिशून्य और निराकार है । जो संवित् (चित्तवृत्ति) भीतर स्फुरित होती है, वही वाक्यरूपमें बाहर प्रकट होती है । जैसे जो बीज भूमिमें बोया गया है, वही अङ्कुररूपसे प्रकट होता है । यह जगत् अज्ञानीकी दृष्टिमें सत्य है और ज्ञानवान्की दृष्टिमें मिथ्या । जो इसे ब्रह्मरूपमें देखता है, उसके लिये ब्रह्म है तथा जो शान्त महात्मा पुरुष हैं, उनके लिये यह शान्त होकर अन्तमें शून्यरूप ही रह जाता है । ब्रह्मन् ! मैं चिदाकाश हूँ । आप चिदाकाश हैं । चित् चिदाकाश है । जगत् चिदाकाश है और चिदाकाश स्वयं चिदाकाश है । आप एकमात्र चिदाकाशभावको प्राप्त हो एकाकाशरूपतामें ही स्थित हैं । गुरुदेव ! आप मनुष्योंमें श्रेष्ठ हैं और ब्रह्माकाशभावमें ही स्थित हैं । मैं अपने आकाशतुल्य विशुद्ध स्वरूपानुभवके द्वारा सर्वात्मक चिदाकाश-सदृश आपको ज्ञेय, पूर्णानन्द ब्रह्मसे अभिन्न जानकर प्रणाम करता हूँ । वास्तवमें चित् स्वरूप होनेके कारण ही यह जगत् बिना किसी कारणके ही उसमें उत्पन्न और विलीन होता-सा भासित होता है । अतः यह निर्मल परमाकाशरूप ही है । सम्पूर्ण शास्त्रीय युक्तियों तथा समस्त पदोंसे अतीत जो निर्द्वन्द्व ब्रह्मपद है, उसीको पाकर आप ब्रह्माकाशस्वरूप हो गये हैं । समस्त शास्त्रोंके अर्थोंसे परे, चिह्न अथवा आकारसे रहित, नामरूपसे हीन, अनुभवस्वरूप, शुद्ध, चिन्मय, एक, अजन्मा एवं सबका आदि निर्मल चिदाकाश ही यहाँ विराजमान है । उसमें किसी प्रकारके नामकी कल्पनाके लिये स्थान नहीं है । उस ब्रह्ममें मलकी आशङ्का ही व्यर्थ है—वह नित्य निर्मल सच्चिदानन्दघन है । (सर्ग १९५)

श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नके अनुसार उत्तम बोधकी प्राप्तिमें शास्त्र आदि कैसे कारण बनते हैं, यह बतानेके लिये श्रीवसिष्ठजीका उन्हें कीरकोपाख्यान सुनाना—लकड़ीके लिये किये गये उद्योगसे कीरकोंका सुखी होना

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—दूसरोंको मान देनेवाले गुरुदेव ! जो यह सत्स्वरूप ब्रह्म केवल अपने अनुभवसे ही जानने योग्य है, बड़े-बड़े महापुरुषोंकी वाणी भी इसका यथार्थ निरूपण नहीं कर सकती। ऐसी अवस्थामें समस्त संकल्प-विकल्पोंसे रहित जो परम ज्ञेय ब्रह्म स्वयं प्रकाशरूप है तथा जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओंसे अतीत तुरीयरूपसे उपलब्ध होता है, वह अत्यन्त दुर्गम (दुर्बोध) हो गया है (क्योंकि गुरु और शास्त्र आदि जाग्रत् अवस्थाके ही अन्तर्गत हैं। उनसे) उस तुरीय पदका ज्ञान होना कठिन है। विकल्परूपी सारवाले शब्द-अर्थरूप शास्त्रोंसे ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती। फिर भ्रान्तिरूप अनर्थपरम्पराकी प्राप्तिके लिये गुरु, शास्त्र आदिकी कल्पना क्यों की गयी है ?

श्रीवसिष्ठजीने कहा—राघवेन्द्र ! गुरु और शास्त्र आदि जिस प्रकार उत्तम बोधके प्रति कारण होते हैं, वह संक्षेपसे बताता हूँ, सुनो—कभीकी बात है, कीरक देशमें कुछ ऐसे लोग थे, जो बहँगी ढोकर जीवन-निर्वाह करते थे। वे चिरकालसे दरिद्रता एवं दुर्भाग्यका सामना करते थे। दुःखसे वे इस तरह सूख गये थे, जैसे ग्रीष्मकी प्रचण्ड धूपसे पुराने पेड़ सूख जाते हैं। वे चिथड़ोंकी गुदड़ी सीकर उसे ओढ़ते थे। दुरन्त दरिद्रताके कारण उनका मुँह उदास और हृदय दुखी रहता था। जैसे तालाबका पानी निकल जानेसे कमल सूखने लगते हैं, उसी तरह वे भी क्षीण हो रहे थे। अपनी दुर्गतिसे संतप्त होकर उन लोगोंने आजीविकाके लिये विचार किया कि हम लोग किस युक्तिसे अपना पेट भर सकते हैं। इस विषयपर विधिपूर्वक सोच-विचारकर वे इस निश्चयपर पहुँचे कि हमलोग दिनभर सुबहसे शामतक लकड़ीका बोझ ढोयेंगे और उसीको बेंचकर जीविका चलायेंगे। ऐसा निश्चय करके वे लकड़ी लानेके लिये वनके भीतर गये। वे जिस किसी युक्तिसे जीविका चलाते थे, वही आपत्तिमें पड़ जाती थी। वे जिस दिन जो कमाते, उसी दिन वह खा जाते थे। इस तरह प्रतिदिन जंगलमें जाकर वहाँसे लकड़ी लाने और उसे बेचकर किसी तरह जीवन-निर्वाह करने लगे। जिस वनके भीतर वे जाते थे, उसमें गुप्त और प्रकटरूपसे सब प्रकारके रत्न, उत्तमोत्तम काष्ठ और सुवर्ण भी थे। उन बोझ ढोनेवाले लकड़हारोंमेंसे कुछ लोग कुछ ही दिनोंमें उन सुवर्णों और रत्नोंको भी पा गये। मानद ! कुछ कीरकनिवासी चन्दनकी लकड़ियाँ, कुछ अच्छे-अच्छे फूल और फल ला-लाकर बेचते और चिरकालतक उनसे जीविका चलाते रहे। कुछ खोटी बुद्धिवाले भाग्यहीन लोग, जो वनकी गलियोंमें घूम-घूमकर जीविका चलानेवाले थे, कभी अच्छी चीजोंको न पाकर खराब लकड़ियाँ ही लाते और उन्हें बेचकर जीवन-निर्वाह करते थे। लकड़ी लानेके लिये उद्यत रहनेवाले वे सब लोग एक बार एक महान् जंगलमें पहुँच गये। वहाँ कुछ लोग उत्तमोत्तम रत्न आदि पाकर दरिद्रतारूपी ज्वरसे शीघ्र ही मुक्त हो गये। एक दिन उस वनके एक प्रदेशसे एक लकड़हारेको चिन्तामणि नामक मणि प्राप्त हो गयी। उस चिन्तामणिसे उन्हें सारे धन-वैभव मिल गये। और वे सभी वहाँ परम सुखी हो बड़े आनन्दसे रहने लगे। लकड़ी लानेके लिये उद्यत होकर वे वनमें जाते थे किन्तु सौभाग्यवश उन्हें सम्पूर्ण मनोवाञ्छित पदार्थोंको देनेवाली मणि मिल गयी और वे स्वर्गके देवताओंकी भाँति निर्द्वन्द्व हो सुखसे रहने लगे। लकड़ीके लिये किये गये उद्योगसे ही बहुमूल्य चिन्तामणि पाकर वे उसके द्वारा समस्त धन-वैभवके सार-सर्वस्वसे सम्पन्न हो महान्

बन गये। उनके दरिद्रताजनित भय, मोह, विषाद और दुःख सदाके लिये मिट गये और वे मन-ही-मन आनन्दमें मग्न रहकर दूसरी लाभ-हानिके विषयमें समताको प्राप्त हो गये।

(सर्ग १९६)

कीरकोपाख्यानके स्पष्टीकरणपूर्वक आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें शास्त्र एवं गुरूपदेश आदिको कारण बताना

श्रीरामचन्द्रजी बोले—दूसरोंको मान देनेवाले मुनिश्रेष्ठ! ऐसी कृपा कीजिये जिससे बहँगी ढोनेवाले उन कीरकोंके इस प्रसंगका तात्पर्य भलीभाँति समझमें आ जाय और कोई संदेह न रह जाय।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—महातपस्वी श्रीराम! ये जो भूमण्डलके मनुष्य हैं, ये ही वे बहँगी ढोनेवाले कीरक हैं और उनका जो दारिद्र्यजनित दुःख था, वह इन मनुष्योंका महान् अज्ञान है। जो महान् वन बताया गया है, वह सद्गुरु, सत्-शास्त्र आदिका क्रम है। वे जो आहार जुटानेके लिये उद्योगशील थे, उसके द्वारा इन भोगार्थी मनुष्योंकी ओर संकेत किया गया है। अत्यन्त कृपण मनुष्य अन्य सब कार्योंकी उपेक्षा करके मुझे भोगराशियाँ प्राप्त हों, इस उद्देश्यसे शास्त्र आदिमें—उनके बताये हुए उपायोंमें प्रवृत्त होता है। भोगपरवश होकर भोग-सामग्रीके लिये ही शास्त्रोंमें प्रवृत्त होनेपर भी जीव क्रमशः अभ्यास करके अपने लिये परम अभीष्ट आदिपद (परब्रह्म परमात्मा) को प्राप्त कर लेता है। जैसे लकड़ीके लिये उद्यत हुए भारवाहकको मणि प्राप्त हो गयी, वैसे ही भोग-संग्रहके लिये शास्त्रमें प्रवृत्त हुए मनुष्य भी निष्काम भावसे शास्त्रोक्त साधनोंका अनुष्ठान करके परमपदको प्राप्त कर लेते हैं। कोई-कोई यह सोचकर कि 'देखूँ तो शास्त्र और विवेक-विचारसे क्या लाभ होता है' यों सन्देहयुक्त कौतूहलवश शास्त्रोंमें प्रवृत्त होता है। फिर तदनुकूल साधन करके उत्तम पदको प्राप्त कर लेता है। जिसे परब्रह्मरूप उत्तम तत्त्वका साक्षात्कार नहीं हुआ, वह पुरुष धन और भोगके लिये सन्देहपूर्वक शास्त्र आदिमें प्रवृत्त होता है (जब उसे अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति होनेसे शास्त्र आदिपर पूरा विश्वास हो जाता है, तब तदनुकूल पारमार्थिक साधनोंका आश्रय लेकर) वह उस परमपदको प्राप्त कर लेता है। लोग अपनी वासनाके अनुसार किसी और ही प्रकारके फलकी आशासे शास्त्रोक्त साधनोंमें प्रवृत्त होते हैं, परन्तु बहँगी ढोनेवाले कीरकोंको जैसे मणि मिल गयी, वैसे ही उन्हें भी और ही उत्कृष्ट-फल (मोक्ष) की प्राप्ति हो जाती है।

जो स्वभावसे ही निरन्तर परोपकारमें लगा होता है, वह साधु कहा गया है। उसकी चेष्टा, उसका आचार-व्यवहार सबके लिये प्रमाण होता है। साधु पुरुषोंके सदाचारसे प्रेरित होकर ही अज्ञानी लोग शास्त्रोक्त फलमें सन्देह रहते हुए भी भोगप्राप्तिकी आशासे शास्त्र आदिमें प्रवृत्त होते हैं। भोगके लिये शास्त्रोक्त कर्ममें प्रवृत्त हुआ पुरुष उससे भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त कर लेता है, जैसे लकड़ीकी इच्छा रखनेवाले कीरकको वनसे चिन्तामणि प्राप्त हो गयी थी। जिस प्रकार वनसे किसीको चन्दन काष्ठ, किसीको साधारण रत्न और किसीको चिन्तामणि मिल जाती है, उसी प्रकार शास्त्रसे कोई काम, कोई अर्थ, कोई धर्म, कोई धर्म-अर्थ-काम तीनों और कोई सम्पूर्ण मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। रघुनन्दन! शास्त्र आदिमें त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का ही मुख्यरूपसे उपदेश है। ब्रह्मकी प्राप्ति तो वाणीका विषय ही नहीं है। इसलिये ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंमें भी पद और वाक्योंकी मुख्य वृत्तिसे उसका निरूपण सम्भव नहीं हो सका है। जैसे वसन्त आदि ऋतुओंकी शोभा उनके लाये हुए फूल, फल और पल्लव आदिकी उत्पत्तिसे सूचित होती हुई स्वयं अपने अनुभवसे ही प्रतीत होती है, उसी प्रकार ब्रह्मकी प्राप्ति

शास्त्रके सम्पूर्ण वाक्यार्थोंसे व्यञ्जनावृत्तिद्वारा ध्वनित होती हुई केवल अपने अनुभवसे ही जानी जाती है। जैसे सुन्दरी युवतीमें मणि, दर्पण और चन्द्रमा आदि सबसे बढ़कर स्वच्छ लावण्य उपलब्ध होता है, वैसे ही यद्यपि शास्त्रमें धर्म आदि तीनों वर्गोंसे उत्कृष्ट ब्रह्मज्ञान विद्यमान है, तथापि समस्त पदोंसे परे जो परम बोध है, यह अश्रद्धालु मनुष्यको न तो शास्त्रसे, न गुरुके उपदेश-वाक्यसे, न दानसे और न ईश्वरके पूजनसे ही प्राप्त होता है। रघुनन्दन! ये शास्त्र आदि यद्यपि अश्रद्धालुको ब्रह्म-प्राप्ति करानेमें कारण नहीं हैं, तथापि श्रद्धालुको एकमात्र परमात्मामें विश्राम प्राप्त करानेके पूर्णतः कारण बन जाते हैं; कैसे? सो बताया जाता है, सुनो। शास्त्रका बारबार अभ्यास करनेसे श्रद्धालुका चित्त विशुद्ध हो जाता है, तब वह अनायास शीघ्र ही उस पावन परमपदका साक्षात्कार कर लेता है। सत्-शास्त्रसे अविद्याका सात्त्विक भाग उन्नत बनाया जाता है और उस सात्त्विक भागसे इसका तामसिक भाग क्षीण हो जाता है। सत्-शास्त्ररूपी उत्कृष्ट जलसे अविद्याजनित मलको धोनेवाला पुरुष अचिन्त्य वस्तु-शक्तिके प्रभावसे परम शुद्धिको प्राप्त कर लेता है। जैसे ईखके रससे अपने ही अनुभवसे स्वादिष्ट माधुर्यकी उपलब्धि होती है, उसी प्रकार सत्-शास्त्र और सद्गुरुके उपदेशरूप उपायसे 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यार्थका साररूप आत्मज्ञान प्राप्त होता है। जैसे आकाशमें आलोकके सब ओर फैले रहनेपर भी प्रभा और दीपकके संगसे ही वह सुस्पष्टरूपसे अनुभवमें आता है, उसी प्रकार महावाक्यके श्रवण और उसके अधिकारी पुरुषके योगसे ही आत्मज्ञानका अपरोक्ष अनुभव होता है। वही शास्त्रश्रवण सफल है, जिससे ज्ञान प्राप्त होता है, वही ज्ञान सफल है, जिससे समता प्राप्त होती है और वही समता सफल है, जिसके जाग्रत् होनेपर जाग्रत्में भी सुषुप्तिकी भाँति परमात्माके स्वरूपमें निर्विकल्प स्थिति हो जाती है। इस प्रकार यह सब कुछ सत्-शास्त्र एवं सद्गुरुके उपदेश आदिसे प्राप्त हो जाता है। इसलिये पूरा प्रयत्न करके सत्-शास्त्र आदिका अभ्यास करना चाहिये। श्रीराम! शास्त्रों-के अर्थका विचार करनेसे, गुरुजनोंके उपदेश-वाक्यसे, सत्संगसे, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-शरण—इन नियमोंके पालनसे और मन एवं इन्द्रियोंको वशमें करनेसे वह सम्पूर्ण विश्वपदसे अतीत, सर्वेश्वर, सबका आदि, अनादि एवं सच्चिदानन्दमय परमपद प्राप्त होता है।*

(सर्ग १९७)

श्रीवसिष्ठजीके द्वारा समता एवं समदर्शिताकी भूरि-भूरि प्रशंसा

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुकुलतिलक राम! बोधकी दृढ़ताके लिये मैं पुनः कुछ बातें बता रहा हूँ, सुनो। जो बात बार-बार कही जाती है, वह अज्ञानीके हृदयमें निश्चय ही बैठ जाती है। रघुनन्दन! पहले मैंने स्थिति-प्रकरणका वर्णन किया था, जिससे यह बात भलीभाँति समझमें आ जाती है कि इस प्रकार उत्पन्न हुआ जगत् केवल भ्रममात्र है। तत्पश्चात् उपशमकी युक्तियोंद्वारा यह बात बतायी गयी थी कि इस जगत्में उत्पन्न हुए प्रत्येक पुरुषको उत्कृष्ट उपशमके गुणसे गौरवशाली होना चाहिये। उपशम प्रकरणमें कहे गये उपशमके क्रमिक साधनोंद्वारा मनुष्यका अत्यन्त उपशान्त होकर यहाँ संतापरहित हो जाना चाहिये। जिसने प्राप्तव्य वस्तुको प्राप्त कर लिया है, उस तत्त्वज्ञानी-को सांसारिक व्यवहारोंमें कैसे रहना चाहिये, यह थोड़ी-सी बात मेरे मुँहसे तुम्हें और सुननी है। जगत्में जन्म पाकर

* शास्त्रार्थभावनवशेन गिरा गुरूणां तत्सङ्गमेन नियमेन शमेन राम।
तत्प्राप्यते सकलविश्वपदादतीतं सर्वेश्वरं परममाद्यमनादिशर्म॥
(नि० उ० १९७। ३४)

मनुष्यको बाल्यावस्थामें ही जगत्‌की इस वास्तविक स्थिति-का ज्ञान प्राप्त करके यहाँ चिन्तारहित होकर रहना चाहिये। निष्पाप श्रीराम! जो सबके साथ सौहार्द (मैत्री) को जन्म देनेवाली है और सबको आश्वासन प्रदान करती है, उस समताका पूर्णरूपसे आश्रय लेकर संसारमें विचरण करना चाहिये। समतारूपिणी सुन्दर लताका फल परम पवित्र होता है, जो सम्पूर्ण साधन-सम्पत्तियोंसे युक्त होनेके कारण सुन्दर तथा समग्र सौभाग्यकी वृद्धि करने-वाला है। रघुनन्दन! जिनकी समग्र चेष्टाएँ समताके कारण सुन्दर होती हैं तथा जो न्यायसे प्राप्त वर्णाश्रम व्यवहारमें लगे रहते हैं, उन महापुरुषोंकी सेवामें यह सारी सांसारिक विभूति सेविकाकी भाँति उपस्थित हो जाती है। समतासे जो सारभूत अक्षय सुख प्राप्त होता है, वह न तो राज्यसे मिल सकता है और न प्रेयसी जनोंके समागमसे ही सुलभ हो सकता है। राघवेन्द्र! तुम समताको सम्पूर्ण द्वन्द्वोंकी शान्तिकी चरम सीमा, रोषावेश तथा संशयरूपी रोगका नाश करनेवाली और सम्पूर्ण दुःखरूपी आतप (धूप) के तापसे बचानेके लिये मेघ समझो। जो समतारूपी अमृतसे ओतप्रोत है, उसके लिये सारे शत्रु मित्र बन जाते हैं। वह यथार्थदर्शी होता है ऐसा मनुष्य तीनों लोकोंमें दुर्लभ है। प्रबुद्ध हुए अपने चित्तरूपी चन्द्रमाके सारभूत अमृतसे भी बढ़े-चढ़े साम्यका अनुभव करते हुए ही जनक आदि समस्त तत्त्वज्ञ जीवन निर्वाह करते हैं। समताका अभ्यास करनेवाले जीवका क्रोध, लोभ आदि अपना दोष भी शान्ति एवं उदारताके रूपमें परिणत होकर गुण बन जाता है, दुःख भी नित्य-सुख हो जाता है और मृत्यु जीवन बन जाती है।

समतारूपी सौन्दर्यसे सुन्दर लगनेवाले महात्मा-पुरुषको योगशास्त्रवर्णित सुखी, दुखी, पुण्यात्मा और पापात्माके प्रति क्रमसे मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षारूपिणी महिलाएँ सदा गले लगाती हैं। उसके प्रति वे आसक्त-सी रहती हैं। समतासे युक्त पुरुष सदा अभ्युदयशील होता है। समतायुक्त पुरुषके चित्तमें कभी चिन्ताका उदय नहीं होता तथा इस जगत्‌में ऐसी कोई सम्पत्तियाँ नहीं हैं, जो समतासम्पन्न पुरुषको प्राप्त न हुई हों। जो अपने और पराये सभीके कार्योंमें समभाव रखने-वाला है, साधुस्वभाव (अपराधियोंको भी क्षमा करनेवाला) है, जिसका सबके प्रति उत्तम व्यवहार है तथा जो चिन्तामणिके समान उदार है, ऐसे पुरुषको मनुष्य और देवता सभी चाहते हैं। श्रीराम! जो सदाचारसम्पन्न और सबका हित करनेवाला है, अत्यन्त प्रसन्न रहता है तथा जिसका चित्त सबके प्रति समान है, ऐसे मनुष्यको न तो आग जलाती है और न जल ही डुबाता या गलाता है। जो पुरुष आनन्द और उद्वेगसे रहित होकर जो कार्य जैसे होना चाहिये, उसे उसी तरह करता है तथा सबको समान दृष्टिसे देखता है, उसकी तुलना करनेमें कौन समर्थ हो सकता है? सदाचारसम्पन्न और सबका हित करनेवाले तत्त्वज्ञ पुरुषपर मित्र, बन्धु, शत्रु, राजा, व्यवहारपरायण मनुष्य तथा बड़े-बड़े बुद्धिमान् लोग भी विश्वास करते हैं। तत्त्वज्ञानसम्पन्न समदर्शी पुरुष अपने न्यायप्राप्त स्वाभाविक कर्मकी परम्पराओंमें लगे हुए न तो अनिष्टकी प्राप्तिसे भागते हैं और न इष्टकी प्राप्तिसे सन्तुष्ट होते हैं। समतासे प्रसन्नचित्तवाले महात्मा पुरुष समस्त देवताओं-द्वारा पूजे जाते हैं। समदर्शी पुरुष जो कुछ करता है, जो भोजन करता है, न्यायप्राप्त होनेसे जिसपर आक्रमण करता है और अनुचित जानकर जिसकी निन्दा करता है, उसके उन सब कार्योंकी सारी जनता सदा प्रशंसा करती है। समदर्शी पुरुषद्वारा किया गया कार्य शुभ दिखायी दे या अशुभ, देरसे पूरा हुआ हो या आज ही तत्काल हो गया हो, उसे सब लोग उत्तम मानकर उसका अभिनन्दन करते हैं।

लगातार बड़े भयानक सुख-दुःख उपस्थित हों तो भी समदर्शी पुरुष उनसे थोड़ा-सा भी उद्विग्न नहीं होते हैं। राजा शिबिने अपनी इस समदर्शिताके ही कारण शरणमें

आये हुए कबूतरकी रक्षाके लिये प्रसन्नचित्तसे अपना शरीर काटकर निकाला हुआ मांस दे दिया था। प्रिय रघुनन्दन! समतायुक्त हृदयवाले एक भूपाल (शिखिध्वज) प्राणोंसे भी बढ़कर प्रियतमा भार्याको अपने सामने ही परपुरुषके द्वारा आक्रान्त हुई देख क्षुब्ध नहीं हुए थे। त्रिगर्त देशके राजाने सैकड़ों मनोरथोंसे प्राप्त हुए इकलौते पुत्रको, जो दावमें हारा गया था, अपनी समबुद्धिके ही कारण बिना किसी घबराहटके राक्षसके हाथमें सौंप दिया। राजाओंमें श्रेष्ठ भूपाल जनक उत्सवके लिये सजायी गयी अपनी मिथिलानगरीमें आग लग जानेपर सममावसे ही उसे देखते रहे (उनके मनमें विषाद नहीं हुआ)। समदर्शी शाल्वराजने न्यायतः बेचे गये अपने ही मस्तकको कमलदलकी भाँति तत्काल काट डाला था। सौवीरनरेशने कुन्दपुष्पोंकी राशिके समान कान्तिमान् तथा श्वेतपर्वतके समान सुशोभित ऐरावत हाथीको, जो उन्होंने इन्द्रसे जीता था, यज्ञमें ऋत्विजोंके कहनेसे सूखे तिनकेकी भाँति त्याग दिया—इन्द्रको वापस लौटा दिया। ऐसा उन्होंने अपनी समतायुक्त बुद्धिसे ही प्रेरित होकर किया था। समबुद्धिसे ही अपनी जीविकाके लिये काम-धंधा करनेवाले कुण्डप नामक एक चाण्डालने एक गौको मजदूरीमें लेनेकी शर्त ठहराकर एक ब्राह्मणकी पाँच गौओंको, जो कीचड़में फँस गयी थीं, निकाला और मजदूरीमें मिली हुई उस एक गायको पुष्करतीर्थमें उसी ब्राह्मणके हाथोंमें दान कर दिया था। इससे तत्काल आये हुए विमानपर चढ़कर वह देवलोकको चला गया। समताका भरपूर अभ्यास करनेवाले कदम्बवनवासी एक राक्षसने समस्त प्राणियोंका विनाश करनेवाली अपनी राक्षसी वृत्तिका त्याग कर दिया। बालचन्द्रमाके समान सुन्दर जडभरतने अपनी समबुद्धिताके कारण ही भिक्षामें मिले हुए आगके अङ्गारेको गुड़के लड्डूकी भाँति खा लिया था। ऋषि-मुनि और सिद्ध, जो देवताओंद्वारा सम्मानित हुए हैं, वे व्रत एवं तपस्याकी समृद्धिका संचय करते समय समदर्शिताके ही कारण उद्विग्न नहीं हुए थे। रन्तिदेव आदि राजा तथा धर्मव्याध आदि दूसरे साधारण मनुष्य भी समदर्शिताका दृढ़ अभ्यास करनेसे महापुरुषोंके भी पूजनीय हो गये थे। इहलोक और परलोकमें सुखकी सिद्धिके लिये और मोक्षरूप पुरुषार्थमें प्रवृत्तिके लिये भी उत्तम बुद्धिवाले पुरुष सदा समदर्शितासे ही व्यवहार करते हैं। किसीको भी किसी तरहकी पीड़ा न देता हुआ पुरुष न मरणकी इच्छा करे न जीवनकी। न्यायसे जो कर्तव्य प्राप्त हो जाय, उसका समतापूर्वक आचरण करता हुआ विचरे। जो समतावश गुण और दोषोंको एक-सा जानता है, जिसकी दृष्टिमें सुख-दुःख और छोटे-बड़े समान हैं, जो मान और अपमानको एक-सा समझता है और प्राप्त व्यवहारोंका भी सुचारुरूपसे सम्पादन करके पवित्र हो गया है। समतासे सुशोभित होनेवाला वह पुरुष सर्वत्र निर्द्वन्द्वभ वसे विचरण करता है। (सर्ग १९८)

कर्मोंके त्याग और ग्रहणसे कोई प्रयोजन न रखते हुए भी जीवन्मुक्त पुरुषोंकी स्वभावतः सत्कर्मोंमें ही प्रवृत्तिका प्रतिपादन

श्रीरामने पूछा—मुने! जीवन्मुक्त पुरुष सदा एकमात्र ज्ञानमें ही स्थित रहते और आत्मामें ही रमते हैं। ऐसी दशामें वे कर्मोंका परित्याग क्यों नहीं कर देते हैं? क्योंकि उन्हें कर्मसे कोई प्रयोजन नहीं है।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! जिसकी हेय दृष्टि और उपादेय दृष्टि अर्थात् अमुक कर्म त्याज्य है और अमुक ग्राह्य है—ये दोनों दृष्टियाँ क्षीण हो गयी हैं, उसे कर्मका त्याग करनेसे क्या प्रयोजन है? अथवा कर्मका आश्रय लेनेकी भी क्या आवश्यकता है? ज्ञानीके लिये इस जगत्‌में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो उद्वेगकारक होनेके कारण त्याज्य हो अथवा ऐसा कर्म भी नहीं है, जो तत्त्वज्ञके लिये अवश्य करने योग्य होनेसे उपादेय हो। तस्मात्

पुरुषको न तो कर्मोंके त्यागसे कोई प्रयोजन है और न कर्मोंका आश्रय लेनेसे। इसलिये वर्ण और आश्रमके अनुसार जो कर्म जैसे होता आ रहा है, उसे वह उसी प्रकार करता रहता है। श्रीराम! जबतक आयु है, तबतक यह शरीर निश्चितरूपसे चेष्टा करता रहता है, अतः वह शान्तभावसे यथाप्राप्त चेष्टा करे। उसका त्याग करनेकी क्या आवश्यकता है? श्रीराम! सदा निर्विकार रहनेवाली समतायुक्त निर्मल बुद्धिसे जो कर्म जैसे किया जाता है, वह सदा निर्दोष ही होता है।

इस भूतलपर कितने ही गृहस्थ जीवन्मुक्त हैं, जो असंग बुद्धिसे यथाप्राप्त वर्णाश्रम-धर्मका अनुसरण करते हैं। उनके सिवा दूसरे राजा जनक-जैसे तत्त्वज्ञ राजर्षि तथा अन्य वीतराग पुरुष भी हैं, जो अनासक्तचित्त एवं चिन्तारहित होकर तुम्हारे सदृश राज्य करते हैं। कुछ लोग वर्ण और आश्रमके अनुसार प्राप्त वेदोक्त व्यवहारका अनुसरण करते हुए सदा अग्निहोत्रमें लगे रहते हैं और पञ्च-महायज्ञोंसे अवशिष्ट अमृतमय अन्नका भोजन करते हैं। चारों वर्णोंमेंसे कुछ लोग सदा ध्यान और देव-पूजन आदि स्वकर्मका अनुष्ठान करते हुए नाना प्रकारकी चेष्टाओं एवं प्रयत्नोंमें लगे रहते हैं। कुछ महान् आशयवाले महापुरुष अपने अन्तःकरणमें सम्पूर्ण फलोंकी आसक्तियोंका त्यागकर सब प्रकारके नित्य-नैमित्तिक कर्म करते हुए तत्त्वज्ञानी होकर भी अज्ञानीकी भाँति स्थित रहते हैं। कुछ लोग उन सूनी वनस्थलियोंमें ध्यान लगाते हैं, जहाँ सपनेमें भी मनुष्योंके दर्शन नहीं होते और भोले-भाले मृगछौने भरे रहते हैं। कुछ लोग उन पुण्यतीर्थों, आश्रमों या देवालयोंमें रहते हैं, जो पुण्यकी वृद्धि करनेवाले हैं, जहाँ सदा पुण्यात्मा पुरुष निवास करते हैं तथा जहाँका सदाचार मन और इन्द्रियोंके निग्रहसे सुशोभित होता है। कुछ समतापूर्ण हृदयवाले पुरुष राग-द्वेषका परित्याग करनेके लिये शत्रु-मित्रोंसे भरे हुए अपने देशको छोड़कर अन्य देशमें चले जाते और वहाँ आश्रम बनाकर रहने लगते हैं। कितने ही विद्वान् संसार-बन्धनका उच्छेद करनेके लिये एक वनसे दूसरे वनमें, एक गाँवसे दूसरे गाँवमें, एक स्थानसे दूसरे स्थानमें तथा एक पर्वतसे दूसरे पर्वतपर घूमते फिरते हैं। महापुरी वाराणसीमें, परम पावन तीर्थराज प्रयागमें, श्रीपर्वतपर, सिद्धपुरमें, बदरिकाश्रममें, परम-पुण्यमय शालग्राम तीर्थमें, कलापग्रामकी गुफामें, पुण्यमयी मथुरापुरीमें, कालञ्जर पर्वतपर, महेन्द्र वनकी झाड़ियोंमें, गन्धमादन पर्वतके शिखरोंपर, दर्दुर पर्वतकी चोटियोंपर, सह्य गिरिके भूभागोंमें, विन्ध्यगिरिके कछारोंमें, मलय पर्वतके मध्यभागमें, कैलासके वनसमूहोंमें तथा ऋक्षवान् पर्वतकी गुफाओंमें—इन सबमें, अन्य पर्वतोंपर एवं अन्यान्य वनों और आश्रमोंमें अनेक बहुदर्शी तपस्वी रहते हैं। इनमेंसे कुछ लोगोंने विधिपूर्वक संन्यास लेकर अपने पूर्व-आश्रमके कर्मोंका त्याग कर दिया है। कोई क्रमशः ब्रह्मचर्य आदि आश्रमोंमें स्थित हैं। किन्हींकी बुद्धि तत्त्व-ज्ञानसे प्रबुद्ध है और कितने ही नित्य उन्मत्तों-सी चेष्टा करते हैं। कोई स्वदेशसे दूर चले गये हैं। कितने ही अपना घर-द्वार छोड़ चुके हैं। कुछ लोग एक ही स्थानपर प्रसन्नतापूर्वक रहते हैं और कुछ लोग रमते राम होकर भ्रमण करते हैं। महामते! आकाश और पातालमें निवास करनेवाले इन देवता, दैत्य आदि महापुरुषोंमेंसे किन्हींकी बुद्धि प्रबुद्ध होती है, वे लोक-रहस्यके ज्ञाता, सम्यग् ज्ञानसे निर्मल तथा निर्गुण-सगुण तत्त्वका साक्षात्कार किये होते हैं। कुछ लोगोंकी बुद्धि सर्वथा प्रबुद्ध नहीं होती है, इसलिये उनका चित्त संशयके झूलेमें झूलता रहता है। वे पापाचारसे निवृत्त होकर सत्पुरुषोंका अनुसरण करते हैं। कुछ लोगोंकी बुद्धि आधी प्रबुद्ध होती है, वे ज्ञानके अभिमानमें आकर शास्त्रोक्त कर्म और आचारको त्याग देते हैं और लोक-परलोक दोनोंसे भ्रष्ट हो जाते हैं।

श्रीराम! इस प्रकार इस जनसमुदायमें जन्म-मरणरूप संसारसे छुटकारा पानेकी इच्छावाले बहुत-से लोग नाना

प्रकारसे व्यवहार करते हुए स्थित हैं। उनकी दृष्टियाँ बहुविध प्रारब्ध-भोगके अनुकूल होती हैं । संसार-सागरसे पार होनेमें न तो वनवास कारण है, न अपने देशमें ही रहना कारण है और न कष्टसाध्य तपस्या ही कारण है। कर्मका परित्याग करना अथवा कर्मोंका आश्रय लेना भी संसारकी निवृत्तिमें कारण नहीं है। सत्कर्मोंके आचरणोंसे जो ख्याति-लाभ और ऐश्वर्य आदि विचित्र फलसमूह प्राप्त होते हैं, वे भी संसार-बन्धनसे छुटकारा दिलानेमें कारण नहीं हैं। संसार-सागरसे उद्धार पानेके लिये तो एकमात्र अपने वास्तविक स्वरूपमें स्थिति ही कारण है । जिसका मन कहीं भी आसक्त नहीं है, वह भवसागरसे पार हो जाता है । जिसका मन आसक्तिसे रहित है, वह मुनि नित्य शुभ कर्मोंका अनुष्ठान और अशुभ कर्मोंका त्याग करता हुआ फिर संसार-बन्धनमें नहीं आता। जिसकी बुद्धि खोटी—विषयोंमें आसक्त है, जिसने अपने मनको विषयोंमें खुला छोड रखा है, वह शठ ससार-समुद्रमें डूबता ही है। जिसकी बुद्धिने विषयोंमें रसानुभव किया है, उसकी वह बुद्धि दुःखपर दुःख देनेवाली है। शहदके घड़ेमे घुसी हुई मक्खीकी तरह उसे न तो वहाँसे हटाया जा सकता है और न मारा ही जा सकता है । काकतालीय संयोगसे कदाचित् मोक्षकी सिद्धिके लिये अपने चित्तकी स्वयं ही परमात्मसाक्षात्कारकी ओर प्रवृत्ति हो जाती है। परमात्माका साक्षात्कार होनेपर तत्त्वकी उपलब्धि करके निर्मलताको प्राप्त हुआ चित्त निर्द्वन्द्व, अनासक्त एवं निर्विकार ब्रह्म ही हो जाता है।

महात्मन् ! रघुनन्दन ! तुम स्वभावसे ही परमार्थ-स्वरूप और राग आदि दोषसे रहित हो । तुम्हारी बुद्धि सम है। तुम्हारा स्वरूपानुभव नित्य उदित है। तुम महात्मा हो। अतः शोक और शङ्कासे रहित एकाकी रहो । जन्म और मरणसे मुक्त जो पावन परमपद है, वह तुम्हीं हो । विशुद्ध चिन्मय ब्रह्मरूप जगत्में प्रकृति, मल, विकार, उपाधि, उपाधिका बोध आदि कहीं किञ्चिन्मात्र भी नहीं हैं। सुस्पष्टरूपसे नित्य चैतन्यघन ब्रह्म ही विराज रहा है। 'वह ब्रह्म मैं ही हूँ' ऐसा समझकर निःशङ्कभावसे एकाकी रहो।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! जब मुनीश्वर वसिष्ठजी ऐसा उपदेश दे चुके, तब उस सभाके सभी सदस्य समस्त एषणाओंसे रहित और ध्यानमें एकाग्र हो अपनी निर्मल बुद्धिके द्वारा ब्रह्मपदको प्राप्त हो गये। साथ ही वे मुनि भी मौन हो ब्रह्मानन्दके सहज अपरोक्ष अनुभूतिमें प्रवृत्त हो गये। ठीक उसी तरह, जैसे कमलोंकी राशिमें गुनगुनाता हुआ भ्रमर चुप होकर मकरन्दका पान करने लगा हो। (सर्ग १९९)

सिद्धों और सभासदोंद्वारा श्रीवसिष्ठजीको साधुवाद, देव-दुन्दुभियोंका नाद, दिव्य पुष्पोंकी वर्षा, गुरुपूजनमहोत्सव, श्रीदशरथजी और श्रीरामजीके द्वारा गुरुदेवका सत्कार, सभ्यों और सिद्धोंद्वारा पुनः श्रीवसिष्ठजीकी स्तुति

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! निर्वाणसम्बन्धी वाक्यसंदर्भ (उपदेश) की समाप्ति होनेपर मुनीश्वर वसिष्ठजीने जब क्रमशः प्राप्त हुए अन्तिम वाक्यका विराम कर दिया, जब समस्त सभासद् तथा आकाशचारी देवता भी मुनिके वचनोंके श्रवणसे शान्त एवं विशुद्ध मनोवृत्तिसे युक्त होकर निर्विकल्प समाधिके समान ब्रह्मैकरसताको प्राप्त हो गये तथा जब शास्त्रज्ञानसे सुशोभित होनेवाले उन सब लोगोंका अन्तरात्मा सत्त्वकी पराकाष्ठाको पहुँचकर परम पावन हो गया, तब गगनगुफामें वास करनेवाले सिद्धोंके मुखसे शीघ्र ही ऐसा साधुवाद निकला, जो आकाशमें गूँज उठा । इसी तरह सभामें बैठे हुए भावितात्मा मुनि विश्वामित्र आदिके द्वारा

गन्धर्वों और विद्याधरियोके द्वारा भोगोका प्रलोभन देनेपर भी उद्दालकका उनकी ओर ध्यान न देना
(उपशम-प्रकरण सर्ग ५४)

उच्चस्वरसे दिये गये साधुवादकी ध्वनि भी वहाँ गूँजने लगी। इन सबसे ऐसा महान् कोलाहल प्रकट हुआ, जिसने सम्पूर्ण दिशाओंको भर दिया। वह कोलाहल वायुपूरित छिद्रवाले कीचकोंकी मुरली-जैसी ध्वनिके समान मधुर था। सिद्धोंके साधुवादके साथ ही देवताओंकी दुन्दुभियाँ भी बजने लगीं, जिनकी प्रतिध्वनिसे समस्त पर्वत व्याप्त हो गये। देवताओंकी दुन्दुभियोंके बजनेके साथ ही दिशाओंकी ओरसे फूलोंकी वर्षा होने लगी, जो हिमकी धाराबाहिक वृष्टिके समान मनोहर जान पड़ती थी। उसने सम्पूर्ण दिङ्मण्डलको आच्छादित कर दिया। साधुवादके शब्दोंके साथ देवताओंकी ध्वनि तथा पुष्पवृष्टिके घोषका वह मिलित शब्द-समुदाय वहाँ बड़ी शोभा पाने लगा। सारा भुवन भारी कोलाहलसे भरकर अद्भुत शोभा पाने लगा। उत्सवसे मतवाला हो उठा। देवताओं और चारणोंसे भर गया तथा भाँति-भाँतिके फूलोंसे अलकृत होकर राजभवनके समान ही शोभा पाने लगा। धीरे-धीरे दुन्दुभियोंकी तुमुल ध्वनि, सिद्धसमूहोंके साधुवादजनित कोलाहल और पुष्पराशियाँ एक साथ ही द्युलोक और भूलोकके अन्तरालमें उसी तरह फैलने लगीं, जैसे सागरमें उठी हुई उत्ताल तरङ्गें तटवर्ती पर्वतके पास पहुँच जाती हैं। देवताओंका वह कोलाहलपूर्ण समारम्भ जब क्षणभरमें शान्त हो गया, तब सिद्धोंके ये वचन कानोंमें सुनायी देने लगे।

सिद्ध बोले—कल्पपर्यन्त सिद्धपुरुषोंकी अनेकानेक सभाओंमें मोक्षके उपायोंकी सहस्रों बार व्याख्याएँ हुईं और सुनी गयीं, परंतु उनमें जो मोक्षके उपाय बताये गये, वे कोई भी ऐसे नहीं थे। मुनिके इस वाक्य विलाससे—इस महारामायणके श्रद्धाप्रेमपूर्वक श्रवणसे तिर्यग्योनिके जीव, स्त्रियाँ, बालक और सर्प भी परमानन्दको प्राप्त हुए है, इसमें संशय नहीं है। श्रीवसिष्ठजीने नाना प्रकारके दृष्टान्तों, हेतुओं और युक्तियोंद्वारा जैसे श्रीरामचन्द्रजीके प्रति परमात्म-तत्त्वके ज्ञानका वर्णन किया है, वैसे ये साक्षात् अपनी धर्मपत्नी अरुन्धतीजीके प्रति भी करते हैं या नहीं, इसमें संशय है। मुनिवर्णित मोक्ष-उपायके अनुष्ठानसे तिर्यग्योनिके जीव भी दुःख-शोकसे मुक्त हो गये हैं। फिर इस भूतलपर कौन-से ऐसे मनुष्य हैं, जो इसके अनुष्ठानसे मुक्त न होंगे। हम लोग अपने कानोंकी अञ्जलिसे इस ज्ञानामृतका पान करके परम उत्कृष्ट बोध-श्रीको प्राप्त हुए हैं। हमारी सिद्धियाँ पूर्ण तथा नवीन हो गयी हैं।

सिद्धोंकी इस बातको सुनते हुए वहाँके लोगोंने आश्चर्यसे चकितनेत्र होकर देखा कि सभाकी भूमि कमल, पारिभद्र, पारिजात, संतानक और हरिचन्दन आदि फूलोंकी धाराबाहिक वर्षासे भर गयी है। फूलोंके भारसे वहाँका विशाल चँदोवा इस तरह लटक रहा था, मानो जलसे भरा हुआ बादल नीचे झुक आया हो। इस प्रकार उस सभाकी अपूर्व शोभाका दर्शन करते हुए सभासदोंने उस समयके अनुरूप भूरि-भूरि प्रशंसापूर्ण साधुवाद देकर सर्वथा उद्यत हो सम्पूर्ण इन्द्रियोंके द्वारा साष्टाङ्ग प्रणाम करके नमस्कारयुक्त कुसुमाञ्जलिसे वसिष्ठजीका पूजन किया। सभामें आये हुए राजाओंकी प्रणामपरम्परा जब कुछ शान्त हुई, तब हाथमें अर्घ्यपात्र लेकर राजा दशरथने मुनिकी पूजा करते हुए कहा—

राजा दशरथ बोले—अरुन्धतीनाथ! गुरुदेव! आपके सदुपदेशसे प्राप्त हुए बोधस्वरूप, क्षय-वृद्धिरहित, सर्वोत्कृष्ट निरतिशयानन्दमय आत्मवस्तुसे मेरे भीतर परम पूर्णता प्रकट हो गयी है। ब्रह्मन्! इस भूतलपर तथा स्वर्गमें देवताओंके यहाँ भी ऐसी कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं है, जो आप पूज्य महापुरुषको कभी पूजनके रूपमें प्राप्त न हुई हो, तथापि मैं अपने लिये अवश्यकर्तव्य इस गुरुपूजनकी विधिको सफल बनानेके लिये अवसरके अनुरूप कुछ प्रार्थना करता हूँ। आप क्षमा करेंगे। मैं पत्नियोंसहित अपने इस शरीरसे, लौकिक और पारलौकिक सुखके लिये संचित किये गये शुभ कर्मसे

तथा समस्त भृत्यों और सामन्तोंसहित इस विशाल राज्यसे आपकी पूजा करता हूँ । प्रभो ! ये सारी वस्तुएँ निजी आश्रमकी भाँति ही आपके अधीन हैं । आप अपनी अभीष्ट इच्छाके अनुसार मुझे अपनी आज्ञाके पालनमें नियुक्त करें ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—भूपाल ! हम ब्राह्मणलोग प्रणाममात्रसे ही सतुष्ट हैं । केवल प्रणामसे ही हम प्रसन्न हो जाते हैं । वह प्रणाम आपने किया ही है । राज्यका पालन करना आप ही जानते है, यह आपको ही शोभा देता है । अतः यह सब राज्य यहाँ आपके ही अधिकारमें रहे । ब्राह्मण कहाँ भूमण्डलके पालनका भार उठाते हैं ?

राजा दशरथ बोले—मुने ! आपके इस गौरवपूर्ण उपदेशके सामने यह राज्य है ही कितना ! इस तुच्छ वस्तुको अर्पित करते हुए हम विशेष लज्जित हो रहे हैं । अतः भगवन् ! आप जैसा उचित समझे वही करें ।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! जब महाराज दशरथ इस प्रकार कह चुके, तब श्रीराम उन महागुरुके चरणारविन्दोंमें पुष्पाञ्जलि अर्पित करनेके लिये उनके सामने खड़े हुए और नतमस्तक होकर बोले—'ब्रह्मन् ! आपने महाराजको निरुत्तर कर दिया है । प्रभो ! मेरे पास तो प्रणामके सिवा दूसरी कोई सार वस्तु है ही नहीं । अतः मैं यही लेकर आपके इन दोनों चरणोंकी वन्दना करता हूँ' यों कहकर श्रीरामने गुरुके चरणोंमें मस्तक रखकर वन्दना की और अपनी अञ्जलिके फूल उसी प्रकार चढ़ाये, जैसे वन पर्वतके चरणप्रान्तमें अपने पल्लवोंसे ओसके कण समर्पित करता है । उस समय उनके दोनों नेत्र आनन्दके आँसुओंसे भरे हुए थे । व्यवहारनीतिके ज्ञाता रघुवीरने बड़ी भक्तिके साथ गुरुदेवको बारंबार प्रणाम किया । शत्रुघ्न, लक्ष्मण तथा उन्हींकी तुलनामें आनेवाले जो श्रीरामके दूसरे-दूसरे सखा निकट खड़े थे, उन सबने भी उन्हींकी भाँति शीघ्रतापूर्वक उन मुनीश्वरको प्रणाम किया । दूर खड़े हुए राजाओं, राजकुमारों और मुनियोंने दूरसे ही पुष्पाञ्जलि समर्पण एवं प्रणाम करते हुए वसिष्ठजीकी वन्दना की । उस अवसरपर वहाँ की गयी पुष्पाञ्जलियोंकी वर्षासे आच्छादित मुनिवर वसिष्ठजी उसी तरह दिखायी नहीं देते थे, जैसे हिमकी वृष्टिसे आच्छन्न हो गिरिराज हिमालय दिखायी नहीं देता है ।

जब सिद्धोंकी बातें बंद हुईं, नगाड़ोंकी गड़गड़ाहट शान्त हुई, आकाशसे फूलोंकी वर्षा थम गयी और सभाका कोलाहल कम हो गया तथा प्रणाम करनेके अनन्तर श्रीराम आदिके साथ पूजा करनेवाले सभासद् जब शान्त वायुवाले मेघकी भाँति सौम्यभावको प्राप्त हो गये, तब सबका साधुवाद सुनते हुए अनिन्द्यात्मा मुनिनायक वसिष्ठ विश्वामित्र आदिको सम्बोधित करके मधुर वाणीमें बोले—'गाधिकुलकमल मुनिवर विश्वामित्र, वामदेव, निमि, क्रतु, भरद्वाज, पुलस्त्य, अत्रि, धृष्टि, नारद, शाण्डिलि, भास, भृगु, भारुण्ड, वत्स और वात्स्यायन आदि मुनियो ! आपलोगोंने जो मेरा यह तुच्छ भाषण सुना है, इसमें जो कोई बात स्पष्ट नहीं कही गयी हो, दूषित अर्थसे युक्त हो अथवा निरर्थक हो, उसे इस समय कृपा करके आप मुझे बतावें ।'

सभासद् बोले—ब्रह्मन् ! एकमात्र परमार्थ-तत्त्वसे सुशोभित होनेवाले आपके वचनमें कोई दूषित या अनुचित अर्थ होगा, यह आज नयी ही बात हमारे सुननेमें आयी है । अनन्त जन्मदोषसे हमारा जो पाप या मल संचित था, उसे आपने आज यहाँ उसी तरह धो डाला है, जैसे आग सुवर्णके दोषको दग्ध कर देती है । प्रभो ! जैसे आकाशमें फैली हुई शीतल चन्द्रमाकी दीप्तिसे कुमुद विकसित होते है, उसी तरह परब्रह्मकी व्याख्या करनेवाली और परमानन्दमयी शीतल आपकी वाणीद्वारा हम सब लोग विकासको प्राप्त हुए हैं । समस्त प्राणियोंको महान् बोध प्रदान करनेवाले, एकमात्र गुरु आप मुनिनायकको ये हम सब लोग प्रणाम करते हैं ।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—तदनन्तर उन सबने पुनः मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर तथा ऊँची आवाजमें एक साथ 'आप मुनिनाथको नमस्कार है' यह कहकर आकाशसे सिद्धोंद्वारा छोडे गये नवीन पुष्पाञ्जलि-समूहोंसे वसिष्ठजीको उसी तरह आच्छादित कर दिया, जैसे बादल हिमकी वर्षासे पर्वतको ढक देते हैं। इसी प्रकार रघुनाथजीके अवतारका वृत्तान्त जाननेवाले उन सिद्धोंने राजा दशरथकी तथा चार स्वरूपोंमें प्रकट हुए लक्ष्मीपति नारायणके अवतार श्रीरामकी भी प्रशंसा की।

सिद्ध बोले—हमलोग चार स्वरूपोंमें प्रकट हुए भाइयोंसहित नित्यमुक्त राजकुमार श्रीरामको, जो दूसरे नारायणके समान विराज रहे हैं, नमस्कार करते हैं। चारों समुद्र जिसके लिये खाईंके समान हैं, उस सम्पूर्ण भूमण्डलके पालक तथा भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालमें भी कभी नष्ट न होनेवाले राजचिह्नोंसे सुशोभित महाराज दशरथको भी हम सिर झुकाते हैं। मुनिसेनाके स्वामी, भूमण्डलके पालक, भगवान् भास्करके समान भूरि तेजस्वी एवं उत्तम यशसे सम्पन्न मुनिवर वसिष्ठको तथा तपोनिधि विश्वामित्रको भी हम प्रणाम करते हैं; क्योंकि इन्हींके प्रभावसे हम सबने भ्रान्तिके विस्तारको भगानेवाली इस परम उत्तम ज्ञानयुक्तिको सुना है।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—ऐसा कहकर आकाशसे सिद्धोंने पुनः फूलोंकी वर्षा की और प्रसन्नचित्त होकर पुनः चुपचाप सभामें बैठ गये। इसी प्रकार आकाशगामी सिद्धोंने वहाँ उपस्थित हुए जनसमुदायकी पुनः प्रशंसा की तथा सभासदोंने भी प्रचुर स्तुति करते हुए वहाँ उन सब सिद्धोंका पूजन किया। आकाशमें विचरनेवाले मुनीश्वरों, महर्षियों एवं देवताओंने और पृथ्वीपर विचरनेवाले ब्राह्मणों तथा राजाओंने भी पुष्पयुक्त अर्घ्यदानके साथ उच्चवाणीद्वारा वेगपूर्वक वहाँ उपस्थित जनसमुदायकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। (सर्ग २००)

गुरुके पूछनेपर श्रीरामचन्द्रजीका पुनः अपनी परमानन्दमयी स्थितिको बताना तथा वसिष्ठजीका उन्हें कृतकृत्य बताकर विश्वामित्रजीकी आज्ञा एवं भूमण्डलके पालनके लिये कहना, श्रीरामद्वारा अपनी कृतार्थताका प्रकाशन

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—तदनन्तर सभामें धीरे-धीरे साधुवादकी ध्वनि शान्त हो गयी, ज्ञानोपदेश पाकर राजालोग अत्यन्त उल्लसित-से दिखायी देने लगे। सब लोगोंका संसारभ्रम दूर हो गया और सभी लोग सत्यका अनुसरण करनेवाले चित्तके द्वारा अपने पूर्व चरित्रका, जो अज्ञानसे कलुषित था, स्वयं ही उपहास करने लगे। सभामें बैठे हुए विवेकी पुरुष चित्तवृत्तिको अन्तर्मुखी करके ज्ञानस्वरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके अनुभवमें तत्पर हो ध्यानमग्नकी भाँति परम शान्त हो गये। भाइयोंसहित श्रीरामचन्द्रजी गुरुके आगे उन्हींके दीप्तिमान् मुखपर दृष्टि लगाये हाथ जोडे पद्मासन बाँधे बैठ गये तथा महाराज दशरथ ध्यानस्थ-से होकर अपने भीतर आदि, मध्य और अन्तमें पवित्रता बढानेवाली जीवन्मुक्तकी अलौकिक स्थितिका अनुभव करने लगे। उस समय लोगोंके मनोरथका आदर करते हुए मुनिवर वसिष्ठजी अपने भक्त राजा आदिके द्वारा की जानेवाली पूजा ग्रहण करनेके लिये क्षणभर चुपचाप बैठे रहकर फिर शान्त वाणीमें बोले—'कमलनयन श्रीराम! तुम रघुकुलके आकाशमें चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रहे हो। बताओ, अब अपनी इच्छाके अनुसार और क्या सुनना चाहते हो? आज कैसी स्थितिका तुम स्वयं अनुभव करते हो? यह स्पष्टरूपसे कहो। मुनिवर वसिष्ठके इस प्रकार आदेश देनेपर राजकुमार श्रीराम गुरुदेवके मुखकी ओर देखते हुए शान्त, मधुर एवं सुस्पष्ट वाणीमें बोले—

श्रीरामने कहा—प्रभो ! मै आपके कृपाप्रसादसे परम निर्मल हूँ। मुने ! मैं अपने-आपमें ही विश्राम-सुखका अनुभव करता हूँ । बाह्य इन्द्रियोकी दृष्टिसे परे हूँ । मनकी भी मुझतक पहुँच होनी कठिन है । मैं सर्वथा निर्विकार हूँ । जैसे आकाशको मुट्ठियोंसे नहीं बाँधा जा सकता, उसी प्रकार आशाएँ मुझे बाँध नहीं सकती हैं । जैसे सुगन्ध वृक्षगत पुष्पसे ऊपर उठकर आकाशमें पहुँचकर उस पुष्पसे परे हो जाती है, उसी प्रकार मैं देहातीत और सर्वत्र समभावसे स्थित हूँ । जैसे अप्रबुद्ध और प्रबुद्ध सभी राजा बहुत काम-धन्धेवाले राज्योंमें सुखपूर्वक विचरते हैं, उसी प्रकार मैं हर्ष, विषाद और आशासे रहित, स्थिर, एक तथा समतापूर्ण दृष्टिसे सम्पन्न एवं आत्मनिष्ठ होनेके कारण सर्वत्र निःशङ्क होकर विचरता हूँ । प्रभो ! मैं सर्वोपरि सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ । मुझमें विषयसुखकी बिल्कुल इच्छा नहीं है । मुझे अपनी इच्छाके अनुसार आज्ञा-पालनके कार्यमें नियुक्त कीजिये ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन ! जैसे आकाश शान्त आकाशमें विश्राम प्राप्त करता है, उसी प्रकार तुम्हें अत्यन्त सम एवं शीतल आत्मामें पूर्ण विश्राम प्राप्त है । वत्स ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि ज्ञानस्वरूप तुमने अपने बोधके द्वारा रघुकुलकी भूत, भविष्य और वर्तमान परम्पराको पवित्र कर दिया है । रघवेन्द्र ! अब तुम मुनीश्वर विश्वामित्रजीकी याचना पूर्ण करके पिताके साथ इस पृथ्वीका पालन करते हुए सुखसे रहो । सौभाग्यशाली राजकुमार ! तुम-जैसे महापुरुषके साथ रहकर पुत्र, भृत्य, बन्धु-बान्धव, पैदल, रथ, हाथी और अश्वमण्डलसहित समस्त रघुवंशी शरीरसे नीरोग, मनसे निर्भय तथा घरोंमें सुस्थिर लक्ष्मीसे सम्पन्न हो सदा अभ्युदयशाली बने रहें ।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—सभामें वसिष्ठजीकी यह बात सुनकर सब राजा तथा अन्य लोग अमृतकी धारासे सींचे हुएकी भाँति मनमें अत्यन्त शीतलता एवं शान्तिका अनुभव करने लगे । कमलनयन श्रीराम अपने मनोहर मुखचन्द्रसे उसी प्रकार सुशोभित हो रहे थे, जैसे सुधा-भरे चारु चन्द्रमाके उदयसे सम्पूर्ण क्षीरसागर उल्लसित हो उठता है । तत्त्वज्ञानविशारद वामदेव आदि मुनि बड़े आदरसे बोले—'अहो ! भगवान् वसिष्ठने अद्भुत ज्ञानका वर्णन किया' । शान्त अन्तःकरणवाले राजा दशरथ भी प्रसन्नतासे प्रकाशित हो रहे थे । उनके सारे अङ्ग संतोषसे ही हृष्ट-पुष्ट हो गये थे । उनपर ज्ञानकी नयी दीप्ति छा रही थी ।

तत्पश्चात् श्रीराम बोले—मुने ! मैं ऐसे परमानन्दमें सदा निमग्न हूँ, जिसके प्राप्त होनेपर फिर किसीको कभी खेद नहीं हो सकता । मैं चिरसुखी हूँ । सदा उदित हूँ एवं सनातन पुरुषार्थस्वरूप हूँ ।

(सर्ग २०१-२०२)

मध्याह्नकालमें राजासे सम्मानित हो सबका आवश्यक कृत्यके लिये उठ जाना और दूसरे दिन प्रातःकाल सबके सभामें आनेपर श्रीरामका गुरुके समक्ष अपनी कृतकृत्यता प्रकट करना

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! जब इस प्रकार मुनिवर वसिष्ठ तथा श्रीरामचन्द्रजी परस्पर विचार कर रहे थे, उस समय मानो उन दोनोंका संवाद सुननेके लिये भगवान् भास्कर आकाशके मध्यभागमें आ पहुँचे । तुरत ही सम्पूर्ण दिशाओंमें पदार्थसमूहोंको प्रकाशित करनेके लिये श्रीरामकी महामतिके समान धूप तेज हो गयी । कमलोंसे भरे हुए सरोवर उस सभामें बैठे हुए हृदयकमलके खिल जानेसे विकसित आकारसे सुशोभित राजाओंके समान बड़ी शोभा पाने लगे । इतनेहीमें मध्याह्नकालकी सूचना देनेवाले शङ्ख, मुखोंकी स्निग्ध

उद्दाम वायुसे पूरित हो प्रलयकालकी प्रचण्ड वायुसे व्याप्त हुए महासागरोंके समान गम्भीर घोष करते हुए बज उठे। उस समय निदाघकी ज्वालाको शान्त करनेके लिये सौभाग्यवती स्त्रियोंद्वारा छिड़के गये कर्पूरमिश्रित जलसे वहाँ नूतन जलदमाला-सी छा गयी। फिर महाराज दशरथ समस्त सामन्तों, भूपालों, परिजनों एवं अङ्गरक्षक सेवकों आदिके साथ सभासे उठे। मुनिवर वसिष्ठ, श्रीराम तथा संसद्के अन्य सदस्य भी उठ गये। राजा, राजकुमार, मन्त्री और मुनि परस्पर एक-दूसरेसे सम्मानित हो बड़ी प्रसन्नताके साथ अपने-अपने निवासस्थानको गये। तत्पश्चात् जब मध्याह्नकालके वाद्योंकी ध्वनि दीवालोंसे टकराकर प्रतिध्वनित हुई, तब वाक्यप्रयोगमें निपुण मुनिवर वसिष्ठने यह बात कही—'रघुनन्दन! तुमने सुननेयोग्य सब बातें सुन लीं, ज्ञेय तत्त्वोपदेशको पूर्णरूपसे जान लिया। अब तुम्हारे लिये दूसरी कोई जाननेयोग्य उत्तम बात शेष नहीं है। जैसा मैंने तुम्हें उपदेश दिया है, जैसा तुम शास्त्रोंसे देखते हो और जैसा स्वयं अनुभव करते हो, उन सबकी एकवाक्यता कर लो। महामते! अब समयोचित कार्य करनेके लिये उठो। हमलोग भी स्नान करनेके लिये जा रहे हैं। यह हमारे मध्याह्नकालिक उपासनाका समय व्यतीत हो रहा है। भद्र! यदि तुम्हें कोई और शुभ प्रश्न पूछना हो तो उसे कल प्रातःकाल पुनः पूछ लेना।'

मुनिनाथ वसिष्ठके ऐसा कहनेपर धर्मात्मा राजा दशरथने उस सभामें आये हुए समस्त साधुपुरुषों, मुनियों, ब्राह्मणों, राजाओं तथा आकाशचारी देवताओंका भी वसिष्ठ आदिकी बतायी हुई विधिसे श्रीरामके साथ पूजन किया। मणियों और मुक्ताओंकी राशियाँ भेंट कीं, दिव्य पुष्प अर्पण किये, नाना प्रकारके रत्न प्रदान किये, मोतियोंके हार समर्पित किये, प्रेमपूर्वक प्रणाम किया, धन दिया, वस्त्र, आसन, अन्नपान, सुवर्ण, भूमि, धूप, गन्ध और पुष्पमालाएँ प्रदान कीं। इस प्रकार उन प्रशसनीय भूपालने शास्त्रोक्त रीतिसे उन सभीका पूजन किया। तदनन्तर दूसरोंको मान देनेवाले वे नरेश वसिष्ठ आदि देवर्षियों तथा सभासदोंके साथ उस सभासे उसी प्रकार उठे, जैसे सायंकाल चन्द्रमा आकाशसे उदित होते हैं। मधुर वाणी बोलनेवाले वे दशरथ आदि सब राजा और साधु-मुनि एक दूसरेसे सम्मानित हो परस्पर विदा ले स्नेहयुक्त संतुष्ट हृदयसे अपने-अपने आश्रमोंको गये, मानो सातो लोकोंके निवासी देवता इन्द्रपुरीसे अपने-अपने धाममें जा रहे हों। एक दूसरेका क्रमशः प्रेमपूर्वक समादर करके सब विदा ले अपने-अपने घरमें आये और दिनके आवश्यक कार्यमें लग गये। वसिष्ठ आदि समस्त मुनियों तथा दशरथ आदि राजाओंने दिनके आवश्यक कार्य पूर्ण किये। जब वे सब लोग न्यायसे प्राप्त दैनिक कार्य सम्पन्न कर चुके, तब आकाशपथिक सूर्यदेव क्रमशः आगे बढ़ते हुए अस्ताचलको जा पहुँचे। महामति श्रीराम तथा अन्य लोग रातमें भी वैसी ही ज्ञान-चर्चा करते रहे; इसलिये उनकी वह रात शीघ्र ही व्यतीत हो गयी। फिर अन्धकाररूपी धूल और तारारूपी पुष्पराशियोंके कूड़े-करकटको हटाकर जगत्-रूपी भवनको घरकी तरह साफ-सुथरा बनाते हुए सूर्यदेवका शुभागमन हुआ। तत्पश्चात् राजा, राजकुमार, मन्त्री और वसिष्ठ आदि मुनि फिर राजा दशरथकी सभामें आये, उस समय जब दशरथ आदि नरेश और सुमन्त्र आदि सचिव आसनपर विराजमान मुनिवर वसिष्ठकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे, कमलनयन बुद्धिमान् श्रीराम गुरु और पिताके सामने उपस्थित हो कोमल वाणीमें इस प्रकार बोले—

श्रीरामने कहा—ब्रह्मन्! आप जैसा कहते हैं, वैसा ही मैं भी मानता हूँ कि मेरी बुद्धि कृतकृत्य हो रही है। मैं परम निर्वाणस्वरूप एवं शान्त हूँ। मुझे किसी बातकी आकाङ्क्षा नहीं है। जो कुछ

कहने योग्य बात थी, आपने कह दी और मैंने ज्ञेय तत्त्वको भलीभाँति जान लिया। अब कृतकृत्यताको प्राप्त हुई आपकी यह वाणी विश्राम करे।

(सर्ग-२०३)

श्रीवसिष्ठ और श्रीरामका संवाद, दृश्यका परिमार्जन, सबकी चिदाकाशरूपताका प्रतिपादन, श्रीरामका प्रश्न और उसके उत्तरमें श्रीवसिष्ठद्वारा प्रज्ञप्तिके उपाख्यानका आरम्भ

श्रीवसिष्ठजी बोले—महाबाहो ! तुम फिर मेरी उत्तम बात सुनो; क्योंकि जैसे दर्पण बारंबार पोंछने या परिमार्जित करनेपर अधिक स्वच्छ एवं शोभित होता है, उसी प्रकार बारंबार चर्चा होनेसे भ्रमका निवारण होता है। जिससे बोध शुद्ध होकर निखर उठता है। रूप और नाम—दो ही प्रकारके दृश्य हैं। इनमें पहला अर्थ है और दूसरा शब्द—दोनों ही भ्रम हैं और इनका मार्जन आवश्यक है। अर्थ क्या है ? भ्रमको समझनेका एक संकेत। अर्थकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। एक वस्तुको समझनेके लिये अनेक शब्द प्रयुक्त होते हैं, उन सबके अर्थ पृथक्-पृथक् होनेपर भी उनसे अनेक वस्तुओंकी उपलब्धि नहीं होती। इस तरह अर्थ-भ्रमका परिमार्जन हुआ। अर्थके बिना शब्द जलके कलकल नादकी भाँति निरर्थक है, अतः वह शब्दताको छोड़कर अर्थरूपताको प्राप्त होता है; इस तरह अर्थभ्रमके मार्जनके साथ उस शब्द-भ्रमका मार्जन भी हो जाता है। वास्तवमें यह दृश्य स्वप्नकी भाँति चेतनका संकल्पमात्र है। जगत्की उत्पत्ति कब और कहाँ हुई है ? जब जाग्रत् ही मिथ्या है, तब स्वप्नकी क्या बात है ! क्योंकि जाग्रत् ही संस्कारद्वारा स्वप्नदृष्ट पदार्थ बनकर स्मरणके समान अपने अर्थभूत वस्तुसे शून्य होकर सामने आता है। इसलिये वह चेतनका संकल्पमात्र होकर दूसरे आकारमें विस्तारको प्राप्त हुआ है। जैसे मुझमें स्वप्न-जगत्रूप निर्मल चिदाकाश रूपवान् होता हुआ भी रूपरहित है, उसी प्रकार यह त्रिभुवन भी साकार दीखता हुआ भी निराकार ही है।

श्रीरामने कहा—ब्रह्मन् ! इस प्रकार विचार करनेसे न तो कुछ उत्पन्न हुआ है और न कुछ नष्ट ही हुआ है। यह जगत् जैसेका तैसा चिन्मय ब्रह्म है और अपने आपमें ही स्थित है। जैसे द्रव ही जल है, उसी तरह चेतनमें स्फुरण नामक जो स्वरूपका विस्तार है, वही यह जगत् कहा गया है। सम्यग्दर्शनसे जिसकी बुद्धि प्रबुद्ध हो गयी है, उसकी दृष्टिमें यह जो जगत्का भान है, वह अभानरूप ही है। वास्तवमें सब कुछ शून्य चिदाकाश ही है और वही परमार्थ है। अज्ञानीकी बुद्धिमें यह जगत् जैसा भी प्रतीत होता हो, होता रहे, उसपर हमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है।

श्रीवसिष्ठजी बोले— रघुनन्दन ! तुमने इस विषयको जैसा समझा है और आगमोंने भी जैसा इसका वर्णन किया है, वह सब ज्यों-का-त्यों ठीक है। अब बताओ, हम यहाँ और क्या वर्णन करें ?

श्रीरामने पूछा—ब्रह्मन् ! बताइये, यह चिन्मय महाकाश ब्रह्माण्डके रूपमें कैसे परिणत हो गया ? इस ब्रह्माण्डकी विशालता कितनी है और यह कबतक रहेगा ?

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—निष्पाप रघुनन्दन ! जिसका बिना किसी कारणके भान होता है, उसका वह भान कुछ भी नहीं है। वास्तवमें परमार्थस्वरूप ब्रह्म ही उस रूपमें दीखता हुआ अपने परमार्थस्वरूपसे ही स्थित है। महामते ! इस विषयमें कभी किसीने अपने उत्तम बोधकी पुष्टिके लिये मुझसे एक महान् प्रश्न किया था। तुम उस उत्कृष्ट एवं महान् प्रश्नको सुनो। त्रिलोकीमें जिसकी बड़ी ख्याति है और जो दोनों ओरसे दो समुद्रोंद्वारा

घिरा हुआ है, वह कुशद्वीप इसी भूतलपर स्थित सात महाद्वीपोंमेंसे एक है। वह भूमण्डलको कंगनके आकारमें घेरकर बसा हुआ है। वहाँ पूर्वोत्तर दिशामें इलावती नामसे प्रसिद्ध एक सुवर्णमयी-सी नगरी है। उस नगरीके पूर्वभागमें एक राजा थे, जिनका नाम प्रज्ञप्ति था। जगत्के सारे प्राणी उनमें अनुरक्त थे। वे इस सृष्टिमें दूसरे इन्द्रके समान प्रतिष्ठित थे। एक समय किसी कारणवश मैं प्रलयकालमें आकाशसे गिरे हुए सूर्यकी भाँति उस राजाके समीप जा पहुँचा। उसने पुष्प, अर्घ्य और आचमनीय आदिके द्वारा मेरी पूजा की और पास बैठकर मुझसे बहुत से प्रश्न किये।

(सर्ग २०४-२०६)

यह जगत् ब्रह्मका संकल्प होनेसे ब्रह्म ही है, इसका विवेचन

राजाके प्रश्नोंके उत्तरमें मैंने कहा—राजन्! मैं तुमसे स्पष्ट शब्दोंमें तत्त्वज्ञानकी बात बता रहा हूँ, जिससे तुम्हारे सारे संदेह पूर्णतः निर्मूल हो जायँगे। पहले यह समझ लो कि जगत्के सारे पदार्थ सदा ही असत् हैं और सदा ही ये सत् भी हैं; क्योंकि इनकी स्थिति कल्पनाके अनुसार है। जहाँ अमुक वस्तु इस रूपमें ही है, ऐसी निश्चित बुद्धि होती है, वहाँ वह पदार्थ वैसा ही होता है, फिर वह सत् हो या असत्। इस विषयमें आग्रह नहीं है। जैसे स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा चिदात्मा ही स्वप्नगत जगत्के आकारमें भासित होता है, उसी प्रकार सृष्टिके आरम्भमें समस्त कारणोंका अभाव होनेसे चिदाकाश ही इस जाग्रत् जगत्के आकारमें भासित होता है। इसलिये इस जाग्रत्कालिक जगत्में स्वप्नजगत्से भिन्नता क्या है? इस प्रकार विशुद्ध ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही इस जगत्के रूपमें भासित होता है, इसलिये इस जगत्में ब्रह्मसे भिन्नता क्या रही? इस प्रकार निर्विकार परब्रह्म परमात्माकी ही जगत्के रूपमें स्थिति होनेके कारण जगत् विशुद्ध ब्रह्म ही है। लोक, वेद और महान् शास्त्रोंद्वारा पूर्वापर विचार करके मैंने यही अनुभव किया है और इस अनुभूति—ज्ञानको ही यहाँ प्रकट किया है। समस्त भूतोंमें नित्य चिदात्मा ही सत्तारूपसे सर्वत्र परिपूर्ण है—इस बातको महात्मा पुरुषोंने भी बारबार कहा है, तथापि जगत्की नित्य चैतन्यरूपताका अपलाप (निराकरण) करके जो मूढ मनुष्य अन्धकारपूर्ण कूपमें रहनेवाले मेढकोंके समान व्यर्थ ही टर्र-टर्र करते हैं; आपाततः वर्तमान नाम-रूपके अनुभवको ही प्रमाण मानकर यह कहते हैं कि सवित् या चेतनता कोई नित्यवस्तु नहीं है। वह शरीरसे ही प्रकट होती है; इसलिये शरीर ही उसका कारण है। दूसरे शब्दोंमें उनका कहना है कि जडसे ही चैतन्यकी अभिव्यक्ति हुई है। ऐसी भ्रान्त धारणासे जो लोग मोहमें पडे हुए हैं, वे उन्मत्त हैं—पागल हैं और मूर्ख हैं। ऐसे लोग हमलोगोंकी ज्ञानचर्चामें भाग लेने योग्य नहीं हैं। जिनका मस्तिष्क ठीक है, उनमें और पागलोंमें क्या बातचीत हो सकती है? वैसे ही मूर्खों और तत्त्वज्ञानियोंमें सलाप होना कैसे सम्भव है? जिस विद्वत्कथासे सारे संदेहोंका निवारण न हो जाय, वह तीनों लोकोंमें कहीं भी क्यों न हुई हो, उसे मूर्ख-कथा ही समझना चाहिये।

राजन्! प्रजाजनोंको अपने घरमें रहते हुए भी सम्बन्धशून्य, आकाररहित और दूर देशमें घटित वृत्तान्तोंद्वारा जिस प्रकार शुभाशुभ फलकी प्राप्ति होती है, उसे बताता हूँ, सुनो—ब्रह्म ही अज्ञानवश दृश्य समझ लिया गया है, इसलिये दृश्यके रूपमें प्रतीत होता है और जब उसकी ब्रह्मस्वरूपताका बोध हो जाता है, तब यह सम्पूर्ण दृश्य ब्रह्म ही है, ऐसा अनुभव होने लगता है। इसलिये यह जगत् ब्रह्मसंकल्पनगरके रूपमें स्थित है। संकल्पनगरमें जब जिस-जिस वस्तुके विषयमें जैसा सकल्प किया जाता है, वह-वह वस्तु उस समय वैसी ही आकृति धारणकरके अनुभवमें आने लगती है। जैसे तुम्हारे इस संकल्पगृहमें जो

यह प्रजा है, वह तुम्हारे संकल्पके अनुसार बनी है, उसी तरह ब्रह्मके संकल्पसे सम्पन्न हुए जगत्‌में यह प्रजा ब्रह्म-संकल्पके अनुसार ही होती है। अपने इस संकल्पनगरमें जैसा तुमने चाहा है, वैसा सब कुछ यहाँ स्थित है और आगे जैसा संकल्प करोगे, वैसा ही सब कुछ देखोगे।

राजन्! चिदाकाशके संकल्प-नगरके भीतर स्थित हुए इस दृश्यजगत्‌का ऐसा स्वभाव ही है कि यह कभी प्रकट होता है कभी लुप्त हो जाता है और फिर क्षण-भरमें ही प्रकट हो जाता है। बच्चोंके संकल्प-नगरके समान तथा आकाशमें स्थित केशोंके वर्तुलाकार गोले आदिकी भाँति ये सत्-असत्-रूप असंख्य सर्ग चेतना-काशमय परमात्मामें भासित होते हैं। तुम एक संकल्प-नगरका निर्माण करके दूसरे संकल्पके वशीभूत हो स्वयं ही उसी क्षण उसका विनाश कर डालते हो। यह जैसे तुम्हारा अपना स्वभाव है, वैसे ही चिदाकाशके संकल्प-नगरमें जो उन्मज्जन निमज्जन—उन्मेष-निमेष होते हैं, वह ब्रह्मके स्वभावका निर्मल विकास ही है, ऐसा समझो। इसलिये चैतन्यघन, अनादि-अनन्त ब्रह्माकाश ही त्रिलोकाकाश बना हुआ है। इस कारण वह आज जो कुछ भी करता और सोचता है वह सब उस आवरण-रहित ब्रह्म परमात्माके सत्यसंकल्पसे सैकड़ों योजन दूर और अनेक युगोंके व्यवधानके बाद भी समीप और वर्तमान कालमें किये गये कर्मकी भाँति अपना फल प्रकट करने-वाला होता है। देशान्तर और कालान्तरमें भी जो आवरणशून्य एकमात्र आत्मा है, उसमें देश और काल दोनोंका सदा सांनिध्य रहता है; इसलिये कौन-सा ऐसा कर्म और फल है, जिसे वह न जानता हो। जैसे चमकती हुई मणिमें अपनी कान्तिमें ही दीप्तिविशेषके आविर्भाव-तिरोभावका अनुभव होता है, उसी प्रकार चिदाकाशरूपी मणिमें जगतोंके सृष्टि, प्रलय और विविध फलभोगरूप परिवर्तन अनुभूत होते हैं। शास्त्रके विधि और निषेधसम्बन्धी वचनोंका प्रयोजन है लोकमर्यादाकी रक्षा। वह सर्वव्यापी ब्रह्मके सकल्पमें स्थित है, इसलिये परलोकमें भी जीवको फलकी प्राप्ति करानेवाली होती है। ब्रह्म न कभी उदित होता है, न अस्त। जैसे द्रष्टा, दृश्य आदिकी कल्पनासे युक्त जो तुम्हारा कल्पना-नगर है, वह स्वयं तुम हो, उसी प्रकार ब्रह्मके संकल्पसे प्रकट हुआ जगत् स्वयं ब्रह्म ही है। जब वह जगत्‌के रूपमें भासित होता है, उस समय 'जगत्‌की सृष्टि हुई,' ऐसा कहा जाता है; परन्तु यह केवल कहनेके लिये है, वास्तवमें ऐसी बात नहीं है।

चिद्-घन-परमात्माका यह सुस्पष्ट स्वभाव ही है कि वह जिस-जिसका संकल्प करता है, तत्काल ही वे पदार्थ वहाँ अवयवोंसहित प्रकट हो जाते हैं। संकल्प-कल्पित पदार्थ स्वभाववश नानारूपसे स्थित होनेपर भी परब्रह्ममें चिन्मय-रूपसे भासित होते हैं तथा स्वभावतः अनेक आकारवाले होनेपर भी उनका सार-तत्त्व एक ही होता है अर्थात् वे सद्रूपसे एक ही होते हैं। इस प्रकार आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अनन्त शक्तिशाली ब्रह्म किंचित्-अकिंचित् तथा सत्-असत् दोनों रूपोंसे स्थित है। वह सर्वात्मक है, इसलिये प्राणियोंमें और तृण-गुल्म तथा पेड़-पौधे आदिमें, जहाँपर जो वस्तु जैसे और जिस स्वभावसे स्थित है वहाँपर वैसे स्वभावसे युक्त होकर वह स्वयं ही विराजमान है।

राजन्! संकल्प-नगररूप इस जगत्‌में जो असम्भव हो ऐसी कोई बात नहीं है। वह जगत् अपने सकल्प-कर्ता इस चिदात्मा परब्रह्मसे भिन्न नहीं है। इसलिये तुम सम्पूर्ण जगत्‌को ब्रह्म ही समझो।

(सर्ग २०७—२०९)

राजा प्रह्लादिके प्रश्नोंपर श्रीवसिष्ठजीका विचार एवं निर्णय

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—राजन्! यदि ध्यान करनेवाला उपासक आत्मज्ञानके सुखकी अनुभूतिसे वञ्चित होनेके कारण यही चिन्तन करे कि 'मैं इस चन्द्रमामें ही प्रवेश करूँ' तो वह इसीमें प्रवेश करता है। 'मैं चन्द्रमण्डलके सुखसे सम्पन्न होकर चन्द्रमामें प्रवेश करूँ' ऐसा चिन्तन करनेवाला उपासक वैसे ही सुखका भागी होता है, यह निश्चय है। यह उपासक दृढ़ निश्चयके साथ जैसे स्वभावका ध्यान करता है, उसकी अक्षय चेतना वैसे ही स्वभावका अनुभव करती है। जैसे सभी ध्यानकर्ताओंको अपने-अपने संकल्पके अनुसार पृथक्-पृथक् चन्द्रत्वका अनुभव होता है, वैसे ही स्त्रीचिन्तन करनेवाले पुरुषोंको अपनी-अपनी कल्पनाके अनुसार अलग अलग काल्पनिक स्त्रीलाभकी प्रतीति होती है। जो घरसे बाहर न निकलकर भी सातों द्वीपोंका राजा बना बैठा है, उसका वह कल्पनासिद्ध साम्राज्य उसके घरमें ही चिदाकाशके भीतर भासित होता है।

राजन्! दान, श्राद्ध, तप और जप आदि अमूर्त कर्मोंका परलोकमें जो मूर्तिमान् फल प्रकट होता है वह कैसे सम्भव है, यह बताया जाता है, सुनो। उनकी बुद्धि उन दान आदि सत्कर्मोंके संस्कारसे भावित होती है। अतः वे परलोकमें अमूर्त रहकर ही मूर्तिमान् फलको देखते और अनुभव करते हैं। वह फल चिन्मय स्वरूपसे ही अनुभवमें आता है। मन और ज्ञानेन्द्रियोंसे वेदना और अवेदनाकार भ्रान्ति होती है। इस भ्रान्तिके द्वारा विषयप्राप्तिके लिये ब्रह्म चिन्मय जीव मनसहित कर्मेन्द्रियोंसे प्रेरित हो सचेष्ट एवं निश्चेष्ट होता है। फिर उस भ्रान्तिकी निवृत्ति होनेपर वह निर्मल, शान्त, चिन्मय आत्मा ही शेष रहता है। इस लोकमें किये गये दानसे परलोकमें चिन्मय संकल्परूप भिन्न-भिन्न फलकी प्राप्ति होती है। उसे संकल्पस्वरूप जीव प्राप्त करता है। ऐसा विद्वानोंका कहना है। फिर वह फल परलोकमें क्यों न मिले। इस कल्पनामय संसारमें अकृत्रिम संकल्प ही चिन्मय फलरूप होकर चारों ओर उपलब्ध होता है। भले ही वह दान न करनेके कारण दारिद्र्यजनित दुःखके रूपमें प्राप्त हुआ हो अथवा दान करनेसे ऐश्वर्य-भोगके रूपमें उपलब्ध हुआ हो। वह सब का-सब होता है चिन्मय ही। राजन्! तुमने जैसा पूछा था, उसके अनुसार यह सब मैंने बता दिया। यह सारा जगत् आकारशून्य तथा चिन्मय ब्रह्मका संकल्पमात्र है।

राजाने पूछा—भगवन्! सृष्टिके आदिमें जब एक निराकार चिदाकाश ही था, तब उसके द्वारा देहकी कल्पना कैसे सम्भव हुई (क्योंकि शरीरमें ही चैतन्यकी अभिव्यक्ति देखी जाती है, अव्यक्त चैतन्यमें भ्रान्ति आदि नहीं देखी जाती। ऐसी दशामें पहले भ्रान्तिकी सिद्धि हो, तब देहकी सिद्धि हो सकती है और देहकी सिद्धि हो तभी भ्रान्तिकी सिद्धि हो सकती है, यह अन्योन्याश्रय दोष आता है)। तथा शरीरके बिना चैतन्यकी अभिव्यक्ति कैसे सम्भव है?

श्रीवसिष्ठजी बोले—महामते! तुमने देह शब्दका जो अर्थ समझा है, वह तत्त्वज्ञानीके प्रति उसी तरह असम्भव है, जैसे आकाशमें पत्थरोंका नाचना। तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें जो ब्रह्म शब्दका अर्थ है, वही देह शब्दका भी अर्थ है। इन दोनोंके अर्थमें वैसे ही भेद नहीं है, जैसे अम्बु और अम्भस् शब्दोंके अर्थमें (अम्बु और अम्भस् दोनों जलके ही वाचक हैं, उसी तरह ब्रह्म और देह एक ही अर्थके बोधक हैं)। स्वप्नदेहके समान यह शरीर भी ब्रह्म ही है, उससे भिन्न नहीं है। यदि कहो कि स्वप्नदेह भी ब्रह्म ही है तो उसे भिन्न-सा मानकर उसका दृष्टान्त क्यों दिया जाता है? तो इसके उत्तरमें निवेदन है कि यह तुम्हारे समझनेके लिये युक्तिमात्र दी गयी है। वास्तवमें स्वप्नदेहको उससे भिन्न बताना

अभीष्ट नहीं है; क्योंकि स्वप्न भी ब्रह्म ही है। स्वप्नका तुम्हें अनुभव है, इसलिये उसके द्वारा तुम्हें समझाया जाता है। 'स्वप्नमें यह शरीर कौन है, ये स्वप्नगत पदार्थ किसके हैं अथवा किसमें स्वप्नबुद्धि है' इत्यादि रूपसे विचार करके ज्ञानीके द्वारा समझे गये भ्रमरूपी स्वप्नसे अज्ञानीको बोध कराया जाता है। ब्रह्ममें न जाग्रत् है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है और न और ही कुछ है। किंतु मन-वाणीसे अगोचर, तुरीय ओङ्कारस्वरूप परम पुरुषार्थमय, स्वयप्रकाश चिदाकाश ही इस जगत्‌के रूपमें भासित होता है। आज जो यह विश्व इस तरह भासित-सा होता है, इसे अभासित ही समझो। पहले जिस तरह सच्चिदानन्दघनरूपसे भासित था, उसी तरह वह अब भी अत्यन्त निर्मल है। जाग्रत्, स्वप्न आदि अवस्थाएँ इसमें कदापि नहीं हैं। यह द्वैत-अद्वैत सब कुछ ब्रह्ममय ही है। पूर्ण परब्रह्म परमात्मासे पूर्ण-का ही प्रसार होता है। अतः पूर्ण परमात्मरूपसे ही यह जगत् स्थित है। न तो कभी इसका भान हुआ है और न अभान। स्फटिक शिलाके घनीभूत मध्यभागकी भाँति यह सदा सच्चिदानन्दघन ही है। लोक, शास्त्र, वेद आदिमें जो वस्तु युक्ति, प्रमाण और अनुभवसे सिद्ध है, वह सिद्ध ही है। वही वस्तु स्वानुभवसे जानी जाती है। अतः परम पुरुषार्थ-रूपसे फल देती है। अन्य सब वस्तुओंका निराकरण करके जिस एक वस्तुका चिरकालतक चिन्तन किया जाता है, उसीकी अवश्य प्राप्ति होती है। लोकमें सब जगह देखा जाता है कि दूसरी-दूसरी वस्तुएँ भी चिरकालतक चिन्तित या भावित होनेपर अवश्य प्राप्त हो जाती हैं। महात्मन्! मतिमान् नरेश! इस प्रकार मैंने तुम्हारे महान् प्रश्नोंपर विचार करके यह अपना निर्णय बताया है। तुम शीघ्रतापूर्वक इसी मार्गके पथिक बन जाओ तथा मनसे निश्चिन्त, शरीरसे नीरोग और इन्द्रियोंसे वासनाशून्य होकर सर्वश्रेष्ठ हो जाओ। (सर्ग २१०)

सिद्ध आदिके लोकोंकी संकल्परूपता बताते हुए इस जगत्‌को भी वैसा ही बताना और ब्रह्ममें अहम्भावका स्फुरण ही हिरण्यगर्भ है, उसका संकल्प होनेके कारण त्रिलोकी भी ब्रह्म ही है—इसका प्रतिपादन

श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन! इलावती नगरीमें बैठकर राजा प्रज्ञप्तिपर अनुग्रह करनेका जो मेरा प्रयोजन था, उसे पूरा करके उस राजाद्वारा सम्मानित मैंने स्वर्ग-लोकमें जानेके लिये आकाशमार्गका आश्रय लिया।

श्रीरामजीने पूछा—ब्रह्मन्! सिद्ध, साध्य, यम, ब्रह्मा, विद्याधर और देवताओंके लोक तथा वहाँके निवासी कैसे दिखायी देते हैं? यह मुझे बताइये।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! सिद्ध, साध्य, यम, ब्रह्मा, विद्याधर, देवताओं तथा अन्य अपूर्व महात्मा प्राणियोंके लोकोंको यदि तुम विशेष धारणाओंद्वारा देखनेका प्रयत्न करो तो प्रतिरात, प्रतिदिन, आगे, पीछे, ऊपर और नीचे देख सकते हो और न देखना चाहो तो नहीं देख सकते हो। जैसे सिद्धोंके ये कल्पनालोक हैं, उसी तरह हमारा यह लोक भी काल्पनिक ही है।

सिद्धोंने लोकोंकी रचना करके अपने संकल्पसे उन सबको स्थिर कर लिया है। सारा जगत् सदा निराकार निर्विकार शान्तस्वरूप चिदाकाश ही है। जिसने जैसा दृढ़ निश्चय किया, उसकी दृष्टिमें यह वैसा ही प्रतीत होता है। उससे भिन्न प्रकारका नहीं। जो वस्तु दृढ़ निश्चयसे प्रकाशित होती है, वह चिन्मय स्वभावसे युक्त होनेके कारण प्रकाशरूपसे ही भासित दिखायी देती है। किंतु यह विश्व किसीको दृढ़ निश्चयपूर्वक विदित नहीं है; इसलिये इसमें स्वभावतः चित्सत्ता और स्फूर्तिकी व्याप्ति नहीं है। इसलिये यह सब शून्य और निराकार

है। ब्रह्म जैसा पहले था, ठीक वैसा ही अब भी है। उसमें किसी प्रकारका विकार नहीं आता। जैसे स्वप्नमें चिदाकाश अपने स्वरूपसे च्युत हुए बिना ही स्वप्नगत पदार्थोंके रूपमें भासित होता है, उसी प्रकार चिदाकाश अपने स्वरूपसे विकृत हुए बिना ही इस विश्वके रूपमें प्रतीत होता है। वह इस विश्व-विवर्तका अधिष्ठान ही है। न तो कारण है और न विकारी है। संकल्पमें चित्त जैसे आकारकी कल्पना करके पर्वत आदिकी लीलासे उदित होता है, वास्तवमें न वह पर्वत है और न वह आकाश है, उसी तरह ब्रह्ममें जगत्‌की स्थिति है। ब्रह्म ही जगत्‌के रूपमें प्रतीत होता है, ब्रह्मसे भिन्न जगत्‌की कोई सत्ता नहीं है। परम बुद्धिमान् जीवन्मुक्त महात्मा सब प्रकारकी चेष्टाओंसे विरत होते हुए भी कठपुतलियोंके समान व्यवहार करते हुए-से प्रतीत होते हैं। जैसे संकल्प-नगर निराकार होता हुआ भी चित्तके समक्ष साकार-सा स्थित होता है, उसी प्रकार ब्रह्ममें स्थित यह जगत् निराकार होनेपर भी साकार-सा दीखता है; परंतु वास्तवमें निराकार ही है। ये तीनों लोक चिरकालसे अनुभूत और अर्थक्रियाकारी होनेपर भी स्वप्न-नगरके समान निराकार तथा शून्य ही है। चिरकालसे पुरुषके नित्य अनुभवमें आनेपर भी यह जगत्‌रूपी पदार्थ उसी तरह कुछ भी नहीं है, जैसे स्वप्नमें ही अपना मरण। स्वप्नमें मरे हुए पुरुषको अपना दाह-संस्कार भी होता दिखायी देता है। वह असत् होकर भी सत्-सा भासित है, उसी तरह परब्रह्म परमात्मामें दीखनेवाला जगत् भी असत् ही है; किंतु भ्रमसे सत्-सा प्रतीत होता है।

रघुनन्दन! ब्रह्माकाश चिन्मय होनेके कारण स्वयं ही अपनेको 'मैं अहंकारात्मक समष्टिरूप हिरण्यगर्भ हूँ' ऐसा अनुभव-सा करता है। उसका यह सवेदन ही परमेष्ठी हिरण्यगर्भका स्वरूप है और यह त्रिलोकी उस हिरण्यगर्भका ही संकल्प है। ऐसी स्थितिमें न तो ब्रह्मा कभी उत्पन्न हुआ और न इस दृश्य जगत्‌की ही उत्पत्ति हुई। अजन्मा परब्रह्म परमात्मा ही पूर्ववत् जैसे-का-तैसा विराजमान है। चिदाकाशमें जो जगत्‌का रूप भासित होता है, वह उसकी प्रातिभासिक सत्ता ही है, पारमार्थिक सत्ता नहीं है। वह मृगतृष्णाके समान मिथ्या ही है। दिखायी देनेपर भी असत् ही है। जगत्‌के रूपमें यह सूनी ही भ्रान्ति प्रकट हुई है अथवा वह भी प्रकट नहीं हुई है। भ्रान्ति क्या है और कहाँसे आयी है, सर्वत्र सदा सब कुछ निराकार ब्रह्म ही तो है। जगत् ब्रह्मरूपी जलका भँवर है। इसमें द्वैत और एकत्व कैसा? भँवर और जलमें कहाँ द्वैत है, और जब द्वैत ही नहीं है तब एकता भी कहाँ क्या हुई? जैसे वायु अपने स्पन्दनको, आग अपनी उष्णताको और पूर्ण चन्द्रमा अपनी शीतलताको जानता है, उसी प्रकार ब्रह्म अपनी सत्ताको स्वयं ही अर्थरूप होकर जानता है। इस प्रकार यह ब्रह्म सदा ही अपने इस स्वरूप-स्फुरणको तथा 'अहम्' आदि अहंकारात्मक समष्टिको जानता है। सृष्टि, उसका अभाव तथा आकाशरूप ब्रह्म सर्वत्र तथा सर्वदा है। अविद्यादृष्टिसे कभी इसका यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ और विद्यादृष्टिसे देखनेपर यह जगत् कभी कुछ रहा ही नहीं। श्रीराम! बद्ध-पुरुषकी दृष्टिसे ब्रह्म सदा त्रिभुवन-सा भासित होता है। किंतु मुक्तकी दृष्टिसे यह सब शान्त एवं सम ब्रह्म ही है। यहाँ नाना पदार्थोंकी कोई सत्ता नहीं है। आकाशसे कभी वृक्ष और पर्वत नहीं उत्पन्न होते हैं, उसी तरह ब्रह्मसे जगत्‌की उत्पत्ति नहीं होती है। ऐसा निश्चय करके परम शान्त हो जाना चाहिये।

श्रीरामजी बोले—ब्रह्मन्! उस परमपदमें अहंभावका भान होनेपर आगे क्या होता है, आप यह जान चुके हैं। अतः आपसे इस विषयको मैं सुनना चाहता हूँ। मुझे सुननेसे तृप्ति नहीं हो रही है।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—रघुनन्दन! परमपदमें अहंभावकी

स्फूर्ति होनेपर उसमें सबसे पहले आकाशसत्ताका अध्यास होता है; फिर दिक्-सत्ता, कालसत्ता और भेद सत्ताका उदय (अध्यास) होता है। जब आत्माको देह आदिमें अहंका भान होता है, तब देहसे भिन्न स्थलमें 'यहाँ मैं नहीं हूँ' इसका भी अवश्य भान होता है। यह देशकृत परिच्छेद कहलाता है। इस रीतिसे आत्मा ही नाना प्रकारका कालकृत और वस्तुकृत परिच्छेद स्वीकार करके बिना क्रमके ही द्वैतरूप होकर आकाशमें उदित होता है। फिर इन पूर्वोक्त आकाशात्मक पदार्थभेद-सत्ताओंके नामकरणकी बुद्धि उत्पन्न होती है, जिससे जाति, गुण और क्रिया आदिकी दृष्टिसे इनमें परस्पर भेद किया जा सके। परंतु वास्तवमें वह सब चिदाकाश ही है। इस प्रकार निराकार परमपदमें अहंभावसे देश, काल आदिकी कल्पनाओंके सिद्ध होनेपर अर्थात् उस परब्रह्म परमात्माके देश-कालादि-रूपसे स्थित होनेपर जो यह दृश्य नामक आभासरूप वस्तुकी प्रतीति होती है, वह सब निर्बाध ब्रह्म ही है, जो ब्रह्मसे भिन्न-सा प्रतीत होता है।

रघुनन्दन! तुम तो समस्त दृश्य पदार्थोंसे मुक्त, सब ओर प्रकाशमान, सर्वस्वरूप, निर्मलस्वभाव, आत्मनिष्ठ, निरतिशय आनन्दमय, परमशान्तचित्त, आकाशके समान मनोहर एवं तृष्णारहित हो। अब तुम धर्मके अनुसार राज्यका पालन करो।

(सर्ग २११-२१३)

सभासदोंका कृतार्थता-प्रकाशन तथा वसिष्ठजीकी आज्ञासे महाराज दशरथका ब्राह्मणोंको भोजन कराना और सात दिनोंतक दान-मानसे सम्पन्न उत्सव मनाना

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज! महामुनि वसिष्ठजी जब इतना कह चुके, तब तत्काल ही आकाशसे वर्षा करनेके लिये जलसे भरे हुए मेघके समान गम्भीर घोषके साथ देवताओंकी दुन्दुभियाँ बज उठीं। भूतलपर हिमकी वर्षाके समान दिव्य पुष्पोंकी वृष्टि होने लगी, जिसने समस्त दिग्वधुओंके मुख उज्ज्वल कान्तिसे सुशोभित कर दिये। उस सभामें यथास्थान नीचे बैठे हुए समस्त सभासदोंने वे दिव्य पुष्प लेकर वसिष्ठजीके चरणोंमें पुष्पाञ्जलि अर्पित की और सबने सब प्रकारसे दुःख-शोकको त्याग दिया।

तत्पश्चात् राजा दशरथ बोले—भगवन्! आपके उपदेशसे हमारी आत्मा परमपदमें सुखपूर्वक प्रवेश पानेके योग्य हो गयी है। हम संसाररूपी अत्यन्त विस्तृत एवं दुर्गम मार्गपर चिरकालसे चलते रहनेके कारण थक गये थे। परंतु आज आपकी उपदेश-वाणीसे शुद्ध हो उस परमपदमें उसी तरह विश्रामका सुख उठा रहे हैं, जैसे शरत्कालके उज्ज्वल मेघ हिमालय आदि पर्वतपर विश्राम करते हैं। पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये अवश्य करने योग्य कर्मोंकी अवधि आज पूरी हो गयी—हमलोग कृतकृत्य हो गये। हमने आपत्तियोंकी चरम सीमा देख ली—अब इनसे पिण्ड छूट गया; क्योंकि हमें ज्ञेय-तत्त्वका सम्पूर्ण रूपसे ज्ञान हो गया और हम परमपदमें विश्राम पा रहे हैं।

श्रीरामजी बोले—मुनीश्वर! आपकी वाणी सुनकर इतना सुख मिल रहा था, मानो अमृतका अभिषेक प्राप्त हो रहा हो। उसे बारंबार याद करके मैं परम पूजित और शान्त होनेपर भी रह-रहकर हर्षित-सा हो उठता हूँ। अब मुझे न तो कोई कर्मसे प्रयोजन है और न उसे न करने (छोड़ने) से ही। मैं जैसे हूँ, उसी तरह निश्चिन्त हूँ। आपके उस उपदेश-वचनसे विश्राम-सुखका जैसा उपाय प्राप्त हुआ है, वैसा दूसरा कौन होगा, दूसरी दृष्टि भी कैसी होगी! अहो! हमें विश्रामसुखकी असीम विस्तार-वाली भूमि प्राप्त हो गयी है। आपकी कृपाके बिना मनुष्य इस

ज्ञान-दृष्टिको कैसे जान सकता है ? भला, पुल या जहाजके बिना बालक समुद्रको कैसे पार कर सकता है ?

लक्ष्मणजी बोले—आज मुनिवर वसिष्ठजीकी वाणीसे जो बोध प्राप्त हुआ है, वह अनन्त जन्म-जन्मान्तरोंसे बढ़ी हुई दुर्वासनाओंके कारण उत्पन्न होनेवाले संशयोंका नाशक है तथा जन्म-जन्मान्तरोंसे संचित किये गये सैकड़ों पुण्योंके उत्तम फलको प्रकट करनेवाला है। इस बोधसे विचारके लिये उद्यत हुए मेरे मनमें आज पूर्ण चन्द्रमाके समान आह्लाद प्रदान करनेवाला परमात्मप्रकाश उदित हो गया है। ऐसी निरतिशयानन्द प्रकाशरूप आत्मदृष्टिके प्रत्यक्ष दिखायी देनेपर भी लोग अपने दुर्भाग्यके कारण सैकड़ों दोषपूर्ण दशाओंद्वारा दुःखकी आगसे सूखे काठकी भाँति जलाये जा रहे हैं। यह महान् आश्चर्य है।

श्रीविश्वामित्रजीने कहा—अहो ! हमारे लिये बड़े हर्षकी बात है कि वसिष्ठ मुनिके मुखसे हमें यह परम पवित्र महान् ज्ञान सुननेको मिला, जिससे हमलोग महस्रों बार गङ्गामें स्नान किये हुएके समान अत्यन्त पवित्र होकर बैठे हैं।

नारदजीने कहा—मैंने ब्रह्मलोकमें, स्वर्गमें और भूतलपर भी आजसे पहले जिसे नहीं सुना था, उस परम तत्त्वज्ञानको सुनकर मेरे दोनों कान पवित्र हो गये।

शत्रुघ्नने कहा—भगवन् ! आपके उपदेशसे मैं परमानन्दमें निमग्न हूँ। शान्त हूँ। परमपदको प्राप्त हो गया हूँ और सदाके लिये परिपूर्ण हूँ। केवल सुखस्वरूपसे स्थित हो गया हूँ।

राजा दशरथ बोले—हमारे अनेक जन्मोंके संचित पुण्यसे ही इन धीर मुनीश्वरने हमको उस परम उत्तम ज्ञानका उपदेश दिया, जिससे हम सभी परम पवित्र हो गये।

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—भरद्वाज ! जब राजाके साथ समस्त सभासद् वहाँ इस तरहकी बातें कह रहे थे, उस समय महर्षि वसिष्ठ ज्ञानसे पवित्र हुई वाणीद्वारा यों बोले—'राजन् ! रघुकुलचन्द्र ! अब मैं जो कहता हूँ, उसे करो। इतिहास-कथा सुननेके पश्चात् ब्राह्मणोंकी पूजा करनी चाहिये। इसलिये आज इन ब्राह्मणसमूहोंको सब प्रकारकी मनोवाञ्छित वस्तुएँ देकर इनकी अभिलाषा पूर्ण करो। इससे तुम्हें वेदार्थतुल्य इस महारामायणके श्रवणका पूरा-पूरा तथा अक्षय फल प्राप्त होगा। मोक्षकी उपायभूत कथा-वस्तुकी समाप्ति होनेपर एक तुच्छ एवं दरिद्र मनुष्यको भी अपनी शक्तिके अनुसार ब्राह्मणका पूजन करना चाहिये। फिर आप-जैसे महाराजके लिये तो कहना ही क्या है ?

मुनिका यह वचन सुनकर राजा दशरथने सहस्रों वेद-वादी ब्राह्मणोंको दूत भेजकर बुलवाया। मथुरामें, सुराष्ट्र देशमें तथा गौड़ देशमें जो ब्राह्मण निवास करते थे, उनके कुलोंसे ब्राह्मणोंको बुलवाकर उन सबका पूजन किया। अधिक-से-अधिक ज्ञान-विज्ञानवाले ब्राह्मणोंको प्रधानता देते हुए भूपालने दस हजार ब्राह्मणोंको भोजन कराया और उन्हें उनकी रुचिके अनुसार भोजन करानेके पश्चात् दान-दक्षिणा भी दी। इस तरह ब्राह्मणोंका पूजन करके देवताओं, पितरों, राजाओं, पुरवासियों, मन्त्रियों, सेवकों, दीन-दुखियों तथा अन्धोंको भी भोजन एवं दान-मानसे संतुष्ट किया। इस प्रकार संसारकी सीमाके अन्तमें पहुँचे हुए राजा दशरथने उस दिन बड़ा भारी उत्सव किया। महाराज दशरथ अविनाशी परमपदको प्राप्त हो चुके थे। बोधरूपी सूर्यके उदयसे संसाररूपी रात्रिका अन्त हो गया था। इसलिये वे बड़े हर्षसे लगातार सात दिनोंतक महान् उत्सव मनाते रहे। जिसमें दान, भोजन तथा धन-वितरणका कार्यक्रम निरन्तर चलता रहा।

(सर्ग २१४)

श्रीवाल्मीकि-भरद्वाज-संवादका उपसंहार, इस ग्रन्थकी महिमा तथा श्रोताके लिये दान, मान आदिका उपदेश

श्रीवाल्मीकिजी कहते हैं—मेरे शिष्यशिरोमणि परम-बुद्धिमान् भरद्वाज ! इसी प्रकार तुम भी इसी कमनीय तथा निर्मल ब्रह्मात्मदृष्टिका दृढ़तापूर्वक अवलम्बन करके वीतराग संदेहशून्य शान्तचित्त जीवन्मुक्त होकर सुखसे रहो। निष्पाप भरद्वाज ! इस ज्ञानका आश्रय ले तुम्हारी बुद्धि यदि आसक्तिशून्य रही तो घने मोहान्धकारमें पड़ने और मूढ़ होनेपर भी नष्ट नहीं होगी। बेटा भरद्वाज ! तुम्हारी बुद्धि तो स्वाभाविक ही आसक्तिके बन्धनसे मुक्त है । परंतु आज इस मोक्षसंहिताको सुनकर तुम वास्तवमें मुक्ततर हो गये—सर्वश्रेष्ठ जीवन्मुक्त हो गये। इन पवित्र तथा ब्रह्मका प्रत्यक्ष अनुभव प्रदान करनेवाले मोक्षोपायोंका यदि कोई बालक भी श्रवण कर ले तो वह तत्त्वज्ञानी हो सकता है। फिर तुम-जैसे महात्मा पुरुषके लिये तो कहना ही क्या है ? सत्पुरुषोंकी नीति (शिक्षा)से, उनकी उत्तम सेवासे, उनके सामने प्रश्न करनेसे तथा उनकी उदारतापूर्ण ज्ञानचर्चामें भाग लेनेसे प्रमादशून्य श्रेष्ठ-बुद्धिवाले अधिकारी पुरुष उसी प्रकार ज्ञेय आत्मतत्त्वको जान लेते हैं, जैसे श्रीवसिष्ठजीके सङ्गसे श्रीराम आदिने जाना था। तृष्णारूपी चर्ममयी रस्सीसे दृढ़तापूर्वक बँधी हुई अज्ञानीके हृदयमें जो देह और इन्द्रिय आदिके प्रति तादात्म्याध्यासरूप तथा पुत्र-कलत्रादिके प्रति ममतारूप ग्रन्थियाँ बद्धमूल हो गयी हैं, वे सब इस मोक्षशास्त्रकी कथाओंपर विचार करते रहनेसे सर्वथा खुलकर एकरसताको प्राप्त हो जाती हैं। बेटा ! दूसरी बहुत-सी बातें कहनेसे क्या लाभ ? इतना ही जान लो कि जो लोग इन महामहिमाशाली मोक्षोपायोंका ज्ञान प्राप्त करेंगे, वे तत्त्ववेत्ताओंमें श्रेष्ठतम होकर फिर कभी संसारबन्धनमें नहीं पड़ेंगे। जो सत्पुरुष इस ग्रन्थको बहुश्रुत विद्वान्के सामने स्वयं भलीभाँति विचारकर इसे पूर्णतः समझ लेनेके पश्चात् स्वयं भी सुननेकी इच्छावाले लोगोंको उपदेश देंगे, वे पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होंगे। उन्हें दूसरे वचनोंका आश्रय लेनेकी क्या आवश्यकता है ? जो अर्थानुसंधानकी अपेक्षा न रखकर केवल इसका पारायण करेंगे अथवा जो इस पुस्तकको लिखेंगे तथा जो उत्तम तीर्थक्षेत्रमें व्याख्यानकुशल श्रेष्ठ वक्ताको इसकी कथा कहनेके लिये नियुक्त करेंगे, वे यदि सकामभाववाले होंगे तो राजसूययज्ञके फलसे युक्त हो बारंबार स्वर्गलोकमें जायँगे और यदि निष्काम होकर उक्त कार्य करेंगे तो उत्तम कुलमें जन्म तथा सद्गुरुके मुखारविन्दसे सत्-शास्त्रके श्रवणका सुयोग पाकर तीसरे जन्ममें उसी तरह मोक्ष प्राप्त कर लेंगे, जैसे पुण्यवान् पुरुष धन-सम्पत्तिको पा लेते हैं। पूर्वकालमें अचिन्त्यरूपवाले ब्रह्माजीने मेरेद्वारा रचित इस ग्रन्थपर पूर्ण विचार करके यह बात कही थी कि 'इसमें सत्यस्वरूप ब्रह्मका निर्वचन होनेके कारण यह मोक्षमयी उत्तम संहिता है ।' उन महर्षिकी यह वाणी असत्य नहीं हो सकती। मोक्षोपाय नामक कथात्मक प्रबन्धरूप इस महारामायणकी कथा समाप्त होनेपर उत्तम बुद्धिवाले श्रोताको चाहिये कि वह वक्ताको प्रयत्नपूर्वक सुन्दर भवन देकर अभीष्ट अन्न-पानके दानसे ब्राह्मणोंका पूजन करे। इतना ही नहीं, उन सबको यथाशक्ति मनोवाञ्छित धनकी दक्षिणा आदि भी देनी चाहिये। भरद्वाज ! तुम्हें बोध प्रदान करनेके लिये मैंने सैकड़ों कथा-क्रमोंसे विशाल कलेवर हुए इस निर्मल दृष्टान्तों और युक्तियोंसे सम्पन्न तथा ब्रह्मतत्त्वकी विस्तृत व्याख्यासे युक्त महारामायण शास्त्रको श्रवण कराया है। इसे सुनकर जीते-जी ही समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर ज्ञान, तपस्या और कर्मके फलसे युक्त अक्षय सम्पत्ति प्राप्त करके सदाके लिये पूर्ण परमानन्दमें निमग्न हो जाओ। (सर्ग २१५)

अरिष्टनेमि, सुरुचि, कारुण्य तथा सुतीक्ष्णकी कृतकृत्यताका प्रकाशन, शिष्योंका गुरुजनोंके प्रति आत्मनिवेदन तथा ब्रह्मको एवं ब्रह्मभूत वसिष्ठजीको नमस्कार

श्रीवाल्मीकिजी कहते है—राजन् ! वसिष्ठजीका श्रीराम आदिके प्रति दिया हुआ यह सदुपदेश मैंने तुमसे कहा—इस ग्रन्थमें बताये हुए तत्त्वमार्गसे चलकर तुम निश्चय ही उस परम पदको प्राप्त कर लोगे ।

राजा अरिष्टनेमिने कहा—भगवन् ! आपकी यह दृष्टि संसार-बन्धनका विनाश करनेवाली है, जिसके पडते ही मै ससार-सागरसे पार हो गया ।

देवदूत बोला—देवाङ्गने ! ऐसा कहकर आश्चर्यसे चकित नेत्रवाले राजा अरिष्टनेमि मुझसे स्नेहयुक्त मधुर वाणीमें बोले—

'देवदूत ! आपको नमस्कार है । प्रभो ! आपका भला हो । सत्पुरुषोकी मैत्री सात पग साथ चलनेसे ही हो जाती है, ऐसा कहा गया है । उसे आपने सत्य कर दिखाया । अब आप देवराजके भवनको लौट जाइये । आपका कल्याण हो । मै इस मोक्षशास्त्रकी कथाके श्रवणसे परम संतुष्ट एवं आनन्दमग्न हो गया हूँ । मैंने जो कुछ सुना है उसका चिन्तन करता हुआ अब यहीं रहूँगा । मेरी सारी चिन्ता दूर हो चुकी है ।'

भद्रे ! राजा अरिष्टनेमिके ऐसा कहनेपर मुझे बडा आश्चर्य हुआ । जिसे मैंने पहले कभी नहीं सुना था, वह ज्ञानका सारभूत तत्त्व मुझे सुननेको मिला है । उसीसे मेरा अन्तःकरण इस समय अत्यन्त आनन्दमग्न हो गया है । अमृत पीकर छके हुए पुरुषकी भाँति मै पूर्णतः तृप्तिका अनुभव कर रहा हूँ । तदनन्तर वाल्मीकिजीसे विदा ले मै यहाँ तुम्हारे निकट मानो तुम्हें उपदेश देनेके लिये ही चला आया था । निष्पाप देवाङ्गने ! तुमने जो कुछ पूछा था, वह सब मैंने तुम्हें कह सुनाया । अब मै यहाँसे इन्द्रभवनको जाऊँगा ।

अप्सरा बोली—महाभाग देवदूत ! आपको नमस्कार है । आपने मुझे जो तत्त्वज्ञान सुनाया है, उससे मुझे बडा संतोष प्राप्त हुआ । मै कृतार्थ हो गयी । मेरा सारा शोक जाता रहा । अब मैं सदा निश्चिन्त रहूँगी । आपका कल्याण हो । आप अपनी इच्छाके अनुसार देवराज इन्द्रके समीप जाइये ।

अग्निवेश्यने कहा—वत्स कारुण्य ! तदनन्तर वह सुरुचि नामवाली श्रेष्ठ अप्सरा गन्धमादनके समीपवर्ती हिमालयके शिखरपर बैठकर देवदूतके मुखसे सुने हुए उसी तत्त्वज्ञानका चिन्तन करने लगी । बेटा ! क्या तुमने वसिष्ठजीका उपदेशरूप यह महारामायण शास्त्र सुना ? (मोक्षका साधन कर्म है या कर्मत्याग, ऐसा जो तुम्हारा सदेह था, क्या वह दूर हो गया ?) उस समस्त उपदेशपर पूर्णतः विचार और निश्चय करके तुम जैसा चाहो, वैसा करो ।

कारुण्य बोला—भगवन् ! इस समय तत्त्वज्ञान होनेसे मेरी स्मृति, वाणी और दृष्टि-सत्ता सभी निर्विषय हो गये हैं । तात्पर्य यह कि अब मेरे लिये इस लोकमें न तो कुछ स्मरणीय रहा, न वर्णनीय रहा और न दर्शनीय ही रह गया । ठीक वैसे ही, जैसे स्वप्न और वन्ध्यापुत्रके विषयमें स्मृति, वाणी और दृष्टिके लिये कोई आधार नहीं रह जाता है । मेरे लिये सारी सासारिक स्थिति वैसी ही हो गयी है, जैसी निर्जल मरुप्रदेशमें मरीचिकाकी । अर्थात् जैसे मृगतृष्णाका जल मिथ्या है, उसी तरह यह दृश्यप्रपञ्च भी मेरे लिये असत् हो गया है । अब मुझे न कर्म करनेसे कोई प्रयोजन है और न कर्म न करनेसे ही कोई प्रयोजन है; क्योंकि मैं कृतार्थ हो गया, तथापि लोक-संग्रहके लिये न्यायतः प्राप्त कर्म करता रहूँगा । हठात् कर्म छोड देनेके लिये भी क्या आग्रह है ।

अगस्ति बोले—सुतीक्ष्ण ! ऐसा कहकर अग्निवेश्यका विद्वान् पुत्र कारुण्य, जो कृतकृत्य हो चुका था, वर्ण और आश्रमके अनुसार प्राप्त हुए कर्मका समय-समयपर यथोचित रीतिसे अनुष्ठान करने लगा। अतः सुतीक्ष्ण ! मोक्षका साधन ज्ञान है या कर्म—ऐसा संशय नहीं करना चाहिये। संशय करनेसे जीव परम पुरुषार्थरूपी स्वार्थसे भ्रष्ट हो जाता है। संशयात्माका विनाश हो जाता है।

अगस्तिमुनिका यह वचन अनेक अर्थोंमें एकताका बोध करानेवाला था। इसे सुनकर सुतीक्ष्णने गुरुदेवको प्रणाम किया और उनके निकट विनयपूर्वक कहा।

सुतीक्ष्ण बोले—भगवन्! आपकी कृपासे मेरा अज्ञान और उसका कार्यरूप जगत् नष्ट हो गया। मुझे सर्वोत्तम ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो गयी। जैसे दीपक रहनेपर उसके प्रकाशके सहारे नट, नर्तक आदि रङ्गमञ्चपर नृत्य-अभिनय आदि क्रियाएँ करते हैं, उसी तरह जिस साक्षी स्वयं-ज्योति नित्य प्रकाश परमात्माके निष्क्रियरूपसे स्थित होनेपर ही सब सचेष्ट मूर्तियाँ अपनी-अपनी चेष्टाओंमें प्रवृत्त होती है तथा जैसे सुवर्ण ही कंगन, बाजूबंद, केयूर और नूपुरोंके रूपमें स्फुरित होता है एवं जैसे जलमें तरङ्ग-मालाएँ प्रकट होती हैं, उसी तरह जिससे यह सम्पूर्ण दृश्य स्फुरित होता है, वह परब्रह्म परमात्मा ही यह सम्पूर्ण जगत् है। उस पूर्ण ब्रह्ममें ही यह पूर्ण ब्रह्मरूप जगत् स्थित है। ऐसा विचारकर मेरे समक्ष वर्ण और आश्रमके अनुसार जैसा व्यवहार प्राप्त होता है, उस व्यवहारका अनुसरण करता हूँ। संत-महात्माओंके वचनका कौन उल्लङ्घन कर सकता है। भगवन्! मैं आपके प्रसादसे ज्ञेय-तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करके कृतार्थ हो गया हूँ। गुरुदेव! आपको नमस्कार है। मै आपके चरणोंमें भूमिपर दण्डवत् पड़ा हूँ। गुरुका कौन-सा प्रत्युपकार करके शिष्य उनके ऋणसे उऋण हो सकते हैं ? इसलिये शिष्योंको चाहिये कि वे अपने आपको मन, वाणी और शरीरद्वारा गुरुकी सेवामें समर्पित कर दें। यही उनका गुरुके ऋणसे उद्धार है, दूसरे किसी कर्मसे वे उद्धार नहीं पा सकते। स्वामिन्! मै आपके कृपाप्रसादसे भवसागरसे पार हो गया हूँ और अपने पूर्ण परमानन्दसे सम्पूर्ण जगज्जालको मैंने पूरित कर दिया है। अब मै संशयरहित हो गया हूँ। 'यह सारा जगत् ब्रह्म ही है, क्योंकि यह ब्रह्मसे ही उत्पन्न होता, ब्रह्ममें ही लीन होता और ब्रह्मसे ही जीवन-धारण करता है'—इस प्रकार सामवेदमें श्रुतिके द्वारा जिसका सुस्पष्ट वर्णन किया गया है, उस सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको नमस्कार है। जो ब्रह्मानन्दस्वरूप अथवा ज्ञानोपदेशद्वारा ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति करानेवाले, परम सुखद, अद्वितीय ज्ञानमूर्ति, द्वन्द्वोंसे रहित, आकाशसदृश निर्मल, 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त महावाक्योंके लक्ष्यार्थरूप, एक, नित्य, निर्मल, निश्चल, सम्पूर्ण बुद्धि-वृत्तियोंके साक्षी, समस्त भावोंसे परे तथा तीनों गुणोसे रहित हैं, उन पर-ब्रह्मस्वरूप श्रीवसिष्ठजीको हम नमस्कार करते हैं।

(सर्ग २१६)

निर्वाण-प्रकरण उत्तरार्ध सम्पूर्ण

संक्षिप्त योगवासिष्ठ सम्पूर्ण

क्षमा-प्रार्थना और नम्र निवेदन

योगवासिष्ठ महारामायण ग्रन्थका अद्वैत ब्रह्म-प्रतिपादक शास्त्रोंमें बड़े महत्त्वका स्थान है। इसमें बड़ी ही सुन्दर सुबोध युक्तियों, आख्यानों तथा इतिहास-कथाओंके द्वारा जगत्‌की असत्ता एवं एकमात्र सच्चिदानन्दघन परमात्मसत्ताका प्रतिपादन किया गया है। एक ही तत्त्वका प्रतिपादक होनेसे ग्रन्थमें पुनरुक्ति बहुत अधिक है। इस महान् ग्रन्थका सार 'कल्याण' के विशेषाङ्कके रूपमें प्रकाशित करनेके लिये 'कल्याण' के बहुसंख्यक ग्राहकोंका बहुत पुराना आग्रह था। भगवान्‌की कृपासे वह आज पूरा हो रहा है। इसमें तत्त्व-निरूपण तो है ही, साथ-ही-साथ शास्त्रोक्त सदाचार, सत्पुरुष-सङ्ग, त्याग-वैराग्ययुक्त सत्कर्म, वस्तु-विवेक, सद्गुण, आदर्श व्यवहार आदिपर भी बड़ा जोर दिया गया है। 'कल्याण' के सम्मान्य पाठक-पाठिकाओंसे सविनय निवेदन है कि वे अपने जीवनको पवित्र तथा परमात्म-प्राप्तिके योग्य बनानेके लिये इन समस्त सदाचार-सद्गुणोंको विशेषरूपसे ग्रहण करें।

इस महान् ग्रन्थमेंसे सार निकालकर प्रसंग चुननेका सारा कार्य श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाने किया है। सुन्दर अनुवादका कार्य करनेवालोंमें प्रधान हैं—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम' महोदय और दूसरे हैं पं० श्रीरामाधारजी शुक्ल शास्त्री। इन्होंने बड़ी ही लगन तथा बुद्धिमानीसे कार्य किया है। यह विशेषाङ्क इन्हीं महानुभावोंके सत्-प्रयासका फल है। हमलोगोंका तो केवल नाममात्र है।

इसमें जो भूलें रही हैं, उनकी सारी जिम्मेवारी हमारी है और उसके लिये हम क्षमाप्रार्थी हैं। सारग्राही महानुभावोंको इसमें जो कुछ श्रेष्ठ, सुन्दर, भूलसे रहित दिखायी दे, कृपया उसीको ग्रहण करें।

कई प्रकारकी अड़चनें आ जानेके कारण सब प्रकरणोंके चित्र नहीं बन पाये, इसलिये विशेषाङ्कमें चित्र प्रसङ्गानुकूल नहीं लग सके हैं। चित्रोंपर प्रकरण तथा सर्ग छपे हैं, उसीसे देख लेनेकी कृपा करें। इन सब त्रुटियोंके लिये भी क्षमा-प्रार्थना है।

'कल्याण' के सभी ग्राहक-ग्राहिका, पाठक-पाठिका, प्रेमी-प्रचारक, 'कल्याण' से प्रीति तथा सहानुभूति रखनेवाले एवं खास करके 'कल्याण' में प्रकाशित साधन, सद्भाव, सदाचार, नियम आदिको सानन्द स्वयं ग्रहण करने तथा जनतामें उसकी उपादेयता बतलाकर उनका प्रसार करनेवाले सभी श्रेणियोंके महानुभाव एवं महिलाएँ हमारे लिये परम आदरणीय है। हम उनका हृदयसे अभिवादन करते हैं, और उन्हें 'कल्याण' परिवारके ही माननीय तथा अभिन्न-हृदय सदस्य मानकर उनसे प्रार्थना करते हैं कि 'कल्याण' के प्रति वे अपना अहैतुक प्रेम, अनुग्रह, सद्भाव सदा बढाते रहें। हमारी स्वभाव-सुलभ तथा प्रमादजनित त्रुटियोंको बताते रहें और अपने निर्मल प्रेमसे ही उन्हें दूर भी करें। वे हमें अपनी सद्भावनासे बल देते रहें जिससे हमारे जीवनकी गति भगवान्‌की ओर लगी रहे और हमें उत्तरोत्तर आगे बढ़नेमें सहायता मिले।

हम अपने उन सभी पूज्यचरण पवित्रहृदय, कृपालु, संतो, महात्माओं, आचार्यों, विद्वानों और लेखक तथा कवि महानुभावों तथा पवित्रहृदया माताओंके श्रीचरणोंमें भक्ति-श्रद्धासहित प्रणाम करते हुए, जानते तथा न जानते हुए बने तथा बननेवाले अपराधोंके लिये क्षमा-प्रार्थना करते हुए उनसे शुभाशीर्वाद चाहते हैं। 'कल्याण' के प्रचार-प्रसारमें हम उन्हींको प्रधान कारण मानते हैं; क्योंकि उन्हींके सद्भावों तथा विचारपूर्ण लेखोंसे 'कल्याण' को सदा शक्ति मिलती रहती है।

इस अङ्कके सम्पादन, चित्रनिर्माण, प्रूफ-संशोधन आदि कार्योंमें जिन-जिनसे हमें सहायता मिली है, उन सभीके प्रति हम अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

इस विशेषाङ्कमें बहुत-से कृपालु लेखक महानुभावोंके लेख स्थानाभावसे नहीं जा सके हैं, उनसे हम सविनय क्षमा चाहते हैं।

प्रार्थी

हनुमानप्रसाद पोद्दार
चिम्मनलाल गोस्वामी } सम्पादक

जीवन्मुक्तका स्वरूप और आचार

रह न गया जिसमें किंचित् भी, कहीं, कभी ममताका लेश ।
प्राणि-पदार्थ-परिस्थिति देने लगे सभी समता-संदेश ॥
रहा न जिसमें किसी वस्तु-स्थितिका किंचित्-सा भी अभिमान ।
अहंकारके पूर्ण विलयसे हुआ जिसे पर-तत्त्व-ज्ञान ॥

रहता सदा जगत्में, करता काम सभी विधिके अनुसार ।
पर कुछ भी करता न कभी वह, रहता निर्मल निरहंकार ॥
अभिनय करता यथायोग्य वह सुन्दर नाम-रूप अनुहार ।
पर रहता निर्लेप नित्य वह राग-काम-विरहित अविकार ॥

द्वेष, क्रोध, शोक, भय, चिन्ता, ईर्ष्या, मत्सर, हर्षामर्ष ।
छू सकते न कभी उसको सब, हो अपकर्ष, भले उत्कर्ष ॥
सत्य अहिंसा अपरिग्रह अस्तेय अतुल सब विधि संतोष ।
करुण-हृदय संतत सेवा-रत, शुभ गुणमय जीवन निर्दोष ॥

पर-दुखमें दुखिया-सा होकर यथासाध्य सेवा करता ।
पर-सुखमें कर हर्ष प्रकट, अति अमित मोद मनमें भरता ॥
सुखकी नहीं स्पृहा करता, होता न कभी दुखमें उद्विग्न ।
द्वन्द्वरहित वह रहता निज निर्मल स्व-रूप चिन्मयमें मग्न ॥

कभी न होता किसी जीवका उससे किंचित् भी अपकार ।
सदा सभीके हितमें रहती उसकी बुद्धि-विभूति उदार ॥
पर होते आदर्श सभी उसके विशुद्ध सुन्दर व्यवहार ।
जीवन्मुक्त वही अति पावन परम ज्ञान-विग्रह साकार ॥

शम-दम, परहितरति ईश्वर-गुरु-सेवन उसके सहज सुभाव ।
पर-वैराग्य सहज शुचि रहता, नहीं भोगका किंचित् चाव ॥
नहीं त्यागमें भी होता वह आग्रहवश कदापि अनुरक्त ।
पूर्ण परात्पर सच्चिन्मय आनन्द रूप रहता अविभक्त ॥

करता सहज रूपसे सारे सदाचार संयुत शुभ कर्म ।
नहीं छोड़ता किसी प्रलोभन-भयसे वह अपना सद्धर्म ॥
पर रहता स्वरूपतः वह नित धर्माधर्म-रहित तत्त्वज्ञ ।
नहीं समझ पाते, उसकी अन्तःस्थितिको बाहरसे अज्ञ ॥

परम पूज्यपाद योगिराज
श्रीस्वामी सियारामजी महाराज

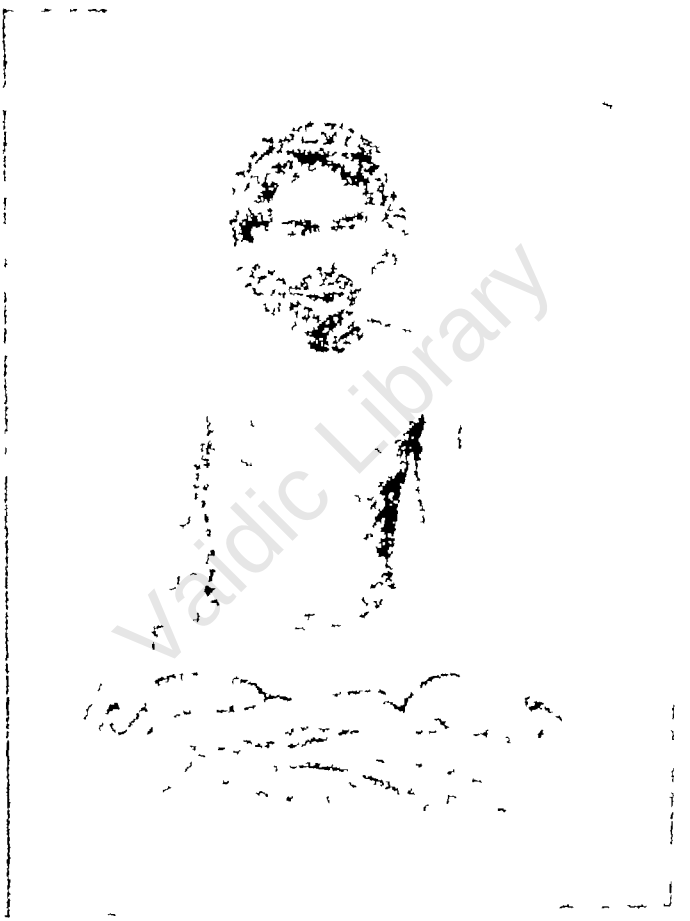

'मेरा यह लक्ष्य था कि मैं पुरुषों तथा स्त्रियोंमें इस बातकी जागृति करा दूँ कि यदि वे व्यवहारको शुद्ध और आहारको सात्त्विक बनाकर शरीरको ठीक रखें और विषयोंसे मनको हटाकर अन्तर्मुख करें तो उनको अपने भीतरके खजानेका पता लग सकता है।'

—सियाराम

Vaidic Library

विषयानुक्रमणिका

चित्र—परम पूज्यपाद योगिराज श्रीस्वामी सियारामजी महाराज ... ३
द्वितीय संस्करणके प्रकाशकका वक्तव्य ४
गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित तृतीय तथा चतुर्थ संस्करणोंके सम्बन्धमें निवेदन ... ५
-प्राक् वक्तव्य ... ... ६—९
(१) श्रीमान् डा० मङ्गलदेवजी शास्त्री ६
(२) स्वामी श्रीदिव्यानन्दजी महाराज ७
(३) बाबू श्रीगंगाप्रसादजी ८
(४) म० म० डा० गोपीनाथजी कविराज ९
-ग्रन्थकारका वक्तव्य .. .. १०—१४
आशीर्वाद—पूज्यपाद स्वामी श्रीसोमतीर्थजी महाराज १५
चित्र—पूज्यपाद योगिराज श्री १०८ श्रीयुत स्वामी सोमतीर्थजी महाराज .. १५
-भूमिका-रूप षड्दर्शन-समन्वय ... ... १—१३९

पहला प्रकरण

वेद और दर्शन १

दूसरा प्रकरण

पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा अर्थात् मीमांसा और वेदान्तदर्शन . ४
"द्वा सुपर्णा सयुजा" मन्त्रके अर्थका द्योतक चित्र .. ३३

तीसरा प्रकरण

न्याय और वैशेषिक दर्शन ४६

चौथा प्रकरण

सांख्य और योगदर्शन ६७
रूपकद्वारा योगका चित्रण १२७
षड्दर्शन-सदुपयोग-समन्वय-सूत्र १३९
-पातञ्जलयोगप्रदीप ... ... १४०—५९५
समाधिपाद १४०
कोशसम्बन्धी चित्र १७७
ओंकारका भावनामय चित्र २१३
साधनपाद २७२
उड्डियान तथा नौली-सम्बन्धी चित्र ३८६
आसनोंके चित्र . . ४२२—४२९
सूर्यभेदी व्यायामसे सम्बन्धित आसनोंके चित्र ४३२-४३३
षट्चक्रद्योतक चित्र (चतुर्थ प्राणायाम—पाँचवीं विधि) . ४४८
सूत्र ३२ के विशेष वक्तव्यका परिशिष्ट (ओषधिद्वारा शरीर-शोधन) .. ४५२
विभूतिपाद ४७३
कैवल्यपाद ५५०
-परिशिष्ट ... ... ५९६—६३६
परिशिष्ट १ मूलसूत्र ५९६
परिशिष्ट २ वर्णानुक्रमसूत्रसूची ६०१
परिशिष्ट ३ शब्दानुक्रमणी ६०६
परिशिष्ट ४ विषय-सूची ६१८

Vaidic Library

ॐ

द्वितीय संस्करणके प्रकाशकका वक्तव्य

पूज्य श्रीस्वामीजी महाराजने योगके यथार्थ रहस्य तथा स्वरूपको मनुष्यमात्रके हृदयङ्गम करानेके लिये 'पातञ्जलयोगप्रदीप' नामक पुस्तक लिखी थी। उसका प्रथम संस्करण अनेक वर्षोंसे अप्राप्य हो रहा था। अब उसकी द्वितीयावृत्ति 'आर्य-साहित्य-मण्डल' द्वारा छपकर पाठकोंके सम्मुख प्रस्तुत है। इस बार श्रीस्वामीजी महाराजने इसमें अनेक विषय बढ़ा दिये हैं और योग-सम्बन्धी अनेक चित्रोंका समावेश किया है। इससे ग्रन्थ प्रथम संस्करणकी अपेक्षा लगभग दुगुना हो गया है। इस ग्रन्थमें योगदर्शन, व्यासभाष्य, भोज-वृत्ति और कहीं कहीं योगवार्त्तिकका भी भाषानुवाद दिया है। योगके अनेक रहस्य—योग-सम्बन्धी विविध ग्रन्थों और स्वानुभवके आधारपर भली प्रकार खोले हैं, जिससे योगमें नये प्रवेश करनेवाले अनेक भूलोंसे बच जाते हैं। श्रीस्वामीजीने इसकी 'षड्दर्शन-समन्वय' नाम्नी भूमिकामें मीमांसा आदि छहों दर्शनोंका समन्वय बड़े सुन्दररूपसे किया है। महर्षि दयानन्द सरस्वतीको छोड़कर अर्वाचीन आचार्य तथा विद्वान् छहों दर्शनोंमें परस्पर विरोध मानते हैं, किंतु श्रीस्वामीजी महाराजने प्रबल प्रमाणों तथा युक्तियोंसे यह सिद्ध करनेका प्रयास किया है कि दर्शनोंमें परस्पर विरोध नहीं है। श्रीस्वामीजी महाराज इस प्रयासमें पूर्ण सफल हुए हैं तथा कपिल और कणाद ऋषिका अनीश्वरवादी न होना, मीमांसामें पशु-बलिका निषेध, द्वैत-अद्वैतका भेद, सृष्टि-उत्पत्ति, बन्ध और मोक्ष, वेदान्त-दर्शन अन्य दर्शनोंका खण्डन नहीं करता, सांख्य और योगकी एकता आदि कई विवादास्पद विषयोंका विवेचन स्वामीजी महाराजने बड़े सुन्दर ढंगसे किया है, इसके लिये स्वामीजी महाराज अत्यन्त धन्यवादके पात्र हैं। दर्शनों और उपनिषद् आदिमें समन्वय दिखलाने और योगसम्बन्धी तथा अन्य कई आध्यात्मिक रहस्यपूर्ण विषयोंको साम्प्रदायिक पक्षपातसे रहित होकर अनुभूति, युक्ति, श्रुति तथा आर्षग्रन्थोंके आधारपर खोलते हुए स्वामीजीने अपने स्वतन्त्र विचारोंको प्रकट किया है। अतः इन विचारोंका उत्तरदायित्व श्रीस्वामीजी महाराजपर ही समझना चाहिये न कि आर्यसाहित्य-मण्डलपर।

पुस्तकको अधिक उपयोगी बनानेके उद्देश्यसे स्वामीजीके आदेशानुसार यथोचित स्थानोंमें चित्र भी दिये गये हैं। कुछ आसनोंके चित्र पं० भद्रसेनजीके यौगिक व्यायाम-संघके ब्लाकोंसे लिये गये हैं। जिनके लिये पं० भद्रसेनजी मण्डलकी ओरसे धन्यवादके पात्र हैं।

—प्रकाशक

श्रीहरिः

गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित तृतीय संस्करणके सम्बन्धमें

निवेदन

इस ग्रन्थके दो संस्करण अन्य स्थानोंसे प्रकाशित हो चुके थे। हमारे सम्मान्य श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दकाने जब योगदर्शनकी टीका लिखी, तब उनको इस ग्रन्थसे पर्याप्त सहायता मिली और उन्होंने अपनी टीकाकी भूमिकामें इसका उल्लेख भी किया। इससे 'योगदर्शन' के बहुत-से पाठकोंने इस ग्रन्थके लिये माँग की। पता बतलाये जानेपर अनेक पाठकोंने ग्रन्थकार महोदयसे ग्रन्थ प्राप्त करनेका भी प्रयत्न किया, किंतु ग्रन्थका दूसरा संस्करण भी समाप्तप्राय होने तथा मूल्य अधिक होनेके कारण वह सबको सुलभ न हो सका। इसपर ग्रन्थकार महोदयने उसे गीताप्रेसके द्वारा प्रकाशित किये जानेके लिये अनुरोध किया, अतः गीताप्रेसके द्वारा उसका प्रकाशन स्वीकार कर लिया गया। एवं ग्रन्थकार श्रीस्वामी ओमानन्दजी महाराजने इस ग्रन्थके प्रकाशनका सर्वाधिकार गीताप्रेसको दे दिया। यद्यपि यह ग्रन्थ प्रेसमें मुद्रणार्थ बहुत दिनोंसे दिया हुआ था, किंतु कार्य बहुत अधिक होनेके कारण शीघ्र प्रकाशित न हो सका। भगवत्कृपासे अब यह छपकर तैयार हो चुका है। मुद्रणकी अनेक कठिनाइयों और महँगाईके होते हुए भी पाठकोंकी सुविधाके लिये इसका मूल्य दूसरे संस्करणसे आधा ही रखा गया है। इस ग्रन्थमें श्रीस्वामीजी महाराजने अपने दृष्टिकोणके अनुसार जो विचार प्रकट किये हैं, उनका उत्तरदायित्व उन्हींपर समझना चाहिये, प्रकाशकपर नहीं। आशा है इस ग्रन्थसे पाठक लाभ उठावेंगे।

चतुर्थ संस्करण

अबकी बार श्रीस्वामीजी महाराजने सूर्यभेदी व्यायाम (सूर्य-नमस्कार) का सविस्तर विवरण और जोड़ दिया है, अतः उसकी प्रक्रियाको प्रदर्शित करनेवाले ९ इकरंगे चित्र भी आर्टपेपरपर छापकर लगाये गये हैं। साथ ही कुछ अन्य आसनोंके भी ६ चित्र और बढ़ाये गये हैं। इनके अतिरिक्त स्थान-स्थानपर अन्यान्य उपयोगी विषयोंका भी समावेश किया गया है, जिससे इसकी उपयोगिता और भी बढ़ गयी है। इन्हीं कारणोंसे इस संस्करणमें २४ पृष्ठकी और वृद्धि हो गयी है, तथापि इसका मूल्य वही रक्खा गया है। आशा है कि इन सब उपयोगी सामग्रियोंसे पाठकगण अब और अधिक लाभ उठा सकेंगे।

—प्रकाशक

प्राक् वक्तव्य

[१]

श्रीमान् डा० मङ्गलदेवजी शास्त्री, एम् ए०, डी० फिल्० (ऑक्सन) प्रिंसिपल संस्कृत-कालेज बनारस, सुपरिंटेंडेंट आफ संस्कृत स्टडीज यू० पी० तथा रजिस्ट्रार संस्कृत-कालेज-परीक्षा युक्तप्रान्त, वाराणसी

'योग' शब्दका मौलिक अर्थ क्या है ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। तो भी इसमें कोई संदेह नहीं कि 'योग' का अर्थ वास्तवमें निषेधपरक* न होकर विधिपरक ही है। परंतु योगसूत्रमें 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इस प्रकार योगका जो प्रारम्भिक वर्णन किया है, वह निषेधपरक ही है। इसका कारण प्राथमिक अभ्यासीकी, योगके तात्त्विक स्वरूपको, जो 'स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते' के अनुसार स्वयंसंवेद्य ही है, समझनेकी क्षमताका न होना ही है।

योगके विषयमें ध्यान रखनेकी दूसरी बात यह है कि वह वास्तवमें एक दर्शन नहीं है। वह तो वृत्तियोंके रूपमें फुलझरी-सदृश प्रतिक्षण उपक्षीयमाण जीवनी-शक्तिको स्वरूपमें स्थिर करके अनर्घभास्वर मणिकी तरह स्वयंप्रकाश आत्माके स्वरूपको 'अनुभव' करनेकी एक विशिष्ट कला है। इसी कलाका विभिन्न दृष्टियोंसे भगवद्गीतामें 'समत्वं योग उच्यते', 'योगः कर्मसु कौशलम्' इस प्रकार वर्णन किया है। पर इस कलाका भी दार्शनिक आधार होना चाहिये। इसी दृष्टिसे जैसे न्याय (तर्क) का कला होनेपर भी, दर्शनोंमें समावेश किया जाता है, उसी प्रकार योगकी गणना दर्शनोंमें की गयी है।

उपर्युक्त कारणोंसे योगकी ठीक ठीक व्याख्या केवल शुष्क पाण्डित्यके सहारे नहीं हो सकती। अतएव योगसूत्रोंपर अनेकानेक पाण्डित्यपूर्ण टीकाओंके होनेपर भी वास्तविक दृष्ट्या उनका कोई महत्त्व नहीं है। इसके विपरीत 'पातञ्जलयोगप्रदीप' का महत्त्व इसीमें है कि इसकी रचना एक ऐसे विशिष्ट व्यक्तिने की है, जिन्होंने जीवनकी प्रयोगशालामे इस कलाका अभ्यास किया है। ऐसी व्याख्याके एक-एक शब्दका महत्त्व होना चाहिये। ग्रन्थकर्त्ता-ने अपने अनुभवके आधारपर न केवल सूत्रोंकी विशद व्याख्या ही लिखी है, किंतु योग-मार्गके यात्रीको जिस जिस बातके जाननेकी आवश्यकता हो सकती है, उस-उसको बतलानेका प्रयत्न किया है। दार्शनिक जिज्ञासुओंके लिये दार्शनिक समन्वयकी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या भी इस ग्रन्थका एक विशेष महत्त्व है।

भारतवर्षमें अत्यन्त प्राचीन कालसे ही योगशास्त्रका विकास हुआ है। इसलिये विभिन्न शास्त्रीय परम्पराओंमें योगविषयक अनेकानेक बहुमूल्य अनुभव और उपयोगी विचार बिखरे पड़े हैं। बिखरे हुए मोती-सदृश इन विचारों और अनुभवोंको भी इस व्याख्यामें विवेचनापुरःसर यथास्थान एकत्रित करके ग्रन्थकर्त्ता महोदयने जिज्ञासुओं और साधकोंका बड़ा उपकार किया है। इस संस्करणमे व्याख्याकर्त्ताने इस व्याख्याको सर्वथा सर्वाङ्गपूर्ण बनानेकी चेष्टा की है। इसके लिये हम सबको उनका आभारी होना चाहिये। आशा है, जिज्ञासुजन इस संस्करणका पूर्ण सदुपयोग करेंगे।

---

* अर्थात् शून्यवादके सदृश योग निषेधपरक नहीं है, वरं अन्वयव्यतिरेकके साथ नेति नेतिद्वारा परब्रह्म परमात्मस्वरूपको प्राप्त कराता है।

श्रीस्वामी दिव्यानन्दजी महाराज (पूर्व बा० देवकीनन्दन गुप्त वानप्रस्थी)
(संयोजक पातञ्जलयोगप्रदीप-प्रकाशन-प्रबन्ध-परिषद्)

सन् १९३९ के अप्रैल मासमें स्वर्गीय लाला रघुवरदयालजी मैजिस्ट्रेटकी प्रेरणासे श्रीस्वामी ओमानन्दजी महाराज, स्वर्गीय लाला प्यारेलालजी रिटायर्ड डिस्ट्रिक्ट एंड सेशन जज, ब्रह्मचारी शिवचरणजी नगीनानिवासी और मैं रामगढ़ जिला नैनीताल गये। वहाँ हम 'श्रीनारायण स्वामी आश्रममें' ठहरे। वहाँके शान्त वातावरणमें श्रीस्वामी ओमानन्दजी महाराजने दो बजे अपना मौन-व्रत खोलनेके पश्चात् एक घंटा प्रतिदिन योगदर्शनका प्रवचन करना स्वीकार किया।

प्रवचन समाप्त होनेपर लाला रघुवरदयालजीकी इच्छा हुई कि जनताकी जानकारीके लिये योग-दर्शनके सिद्धान्त बहुत संक्षिप्तरूपमें जनताके समक्ष रखे जायँ। अतः उन्होंने एक छोटी-सी पुस्तक लिखी और उस पुस्तकको श्रीस्वामीजी महाराजकी ओरसे छपवानेका विचार प्रकट किया। स्वामी-जीने कहा कि इससे कुछ लाभ न होगा; अच्छा तो यह होगा कि पुस्तक पर्याप्त विस्तृत हो। लालाजीके इच्छानुसार स्वामीजीने एक घंटा प्रतिदिन मौन खोलनेके पश्चात् लिखवाना शुरू कर दिया। परंतु ऐसा करनेसे पूर्व पूज्यपाद गुरुदेवजी श्री १०८ स्वामी सोमतीर्थजी महाराजकी स्वीकृति आवश्यक समझी गयी। गुरुदेवजी महाराजका उत्तर आया कि भाषाटीकाएँ बहुत हैं, अतः इससे कुछ लाभ न होगा। यदि टीका विशेष महत्त्वकी हो तो कोई आपत्ति नहीं है।

स्वामीजी गुरुदेवजीके आदेशके अनुसार अपने अनुभवके आधारपर प्रतिदिन एक घंटा लिखाते रहे। ब्रह्मचारी शिवचरणजी और लाला रघुवरदयालजी लिखते थे। लिखनेके पश्चात् दोनों मिलाकर भूलोंको ठीक कर लेते थे। कुछ दिनोंके पश्चात् बाबू गंगाप्रसादजी चीफ जस्टिस भी रियासत टिहरीसे रिटायर्ड होकर वहाँ आ गये।

पहाड़से नीचे उतरनेपर यह उचित समझा गया कि छपवानेसे पूर्व गुरुजी महाराज पुस्तकको एक बार सुन लें। स्वास्थ्य अत्यन्त खराब होनेपर भी गुरुजी महाराज दिनमें अवकाश न मिलनेके कारण रातके समय सुनते रहे और अनुभवके आधारपर यथा-तथा संशोधन कराते रहे।

यह भी उचित समझा गया कि सूत्रोंकी व्याख्या व्यासभाष्यके आधारपर की जाय और जनताके लाभके लिये जहाँ आवश्यक हो भोजवृत्ति, विज्ञानभिक्षुके योगवार्त्तिक तथा वाचस्पति मिश्रकी टीका भी दी जाय।

कुछ मित्रोंके अनुरोध करनेपर हिप्नोटिज्म। (Hypnotism) मेसमेरिज्म, (Mesmerism) आदि एवं उत्तरायण, दक्षिणायन आदिकी यथास्थान व्याख्या भी कर दी गयी और हठयोगकी षट् क्रियाएँ तथा प्राणायाम, आसन, मुद्रा आदिका विस्तारसे वर्णन कर दिया गया, जिससे पाठकों-को दूसरी पुस्तकोंका सहारा ढूँढ़ना न पड़े। प्रत्येक पादके अन्तमें उपसंहारके रूपमें यह बतला दिया गया कि उसमें क्या-क्या विषय है।

स्वामीजी महाराजको बहुत-सी अनुभूत ओषधियाँ साधुओं, महात्माओंसे प्राप्त हुई थीं तथा उन्होंने स्वयं अनुभव किया था और कराया था। साधकोंके हितार्थ कुछ मित्रोंके आग्रहसे उनको भी यथास्थान प्रकाशित करा देना आवश्यक समझा गया। पुस्तकके प्रकाशनका कार्य एक प्रकाशन-प्रबन्ध-परिषद्के अधीन कर दिया गया, जिसके निम्नलिखित सभासद् थे—

१–श्री १०८ स्वामी सोमतीर्थजी महाराज

२–श्रीस्वामी ओमानन्दजी तीर्थ

३–रायबहादुर श्रीगंगाप्रसादजी एम्. ए. रिटायर्ड चीफ जस्टिस टिहरी गढ़वाल

४–श्री बा० प्यारेलालजी रिटायर्ड डिस्ट्रिक्ट ऐंड सेशन जज (स्वर्गीय)

५–श्री ला० रघुवरदयालजी रिटायर्ड मैजिस्ट्रेट (स्वर्गीय)

६–श्री ला० हरप्रसादजी एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, दिल्ली

७–श्री मास्टर बाबूप्रसादजी कोपाध्यक्ष, सेंट्रल को-ऑपरेटिव बैंक, अजमेर

८–श्री बा० जगदीशप्रसादजी एम्० ए०, सम्पादक प्रदीपप्रेस, मुरादाबाद

९–श्री बा० देवकीनन्दनजी गुप्त वानप्रस्थी (वर्तमान स्वामी श्रीदिव्यानन्दजी)

श्री ला० प्यारेलालजी तथा ला० रघुवरदयालजीने पुस्तकके प्रकाशनार्थ सौ-सौ रुपये प्रदान किये। पुस्तकको अङ्कोंके रूपमें छपवाना आरम्भ किया गया। किंतु कुछ अङ्कोंके निकल जानेके पश्चात् बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ा। कुछ मित्रोंने सलाह दी कि कार्यको बंद कर दिया जाय, परंतु स्वामीजीको यह असह्य था कि कुछ ग्राहकोंसे पूरी पुस्तकके दाम लेकर उन्हें थोड़े-से अङ्क दिये जायँ। कुछ मित्रोंकी सहायतासे ऋण लेकर कार्य पूरा हो पाया। परंतु प्रेसके ऋणसे सर्वथा मुक्त करवानेका श्रेय श्री ला० व्रजलालजी Inspector of schools D. A. V. College विभागको है।

पुराने पुस्तक-विक्रेताओंका अनुमान था कि पहला संस्करण निकलनेमें ८-१० वर्ष लग जायँगे, परतु जनताने इसे इतना पसंद किया कि लगभग एक वर्षमें ही सब प्रतियाँ समाप्त हो गयीं और माँगको देखते हुए दूसरे संस्करणका निकालना अनिवार्य हो गया। किंतु युद्धके कारण कागजके न मिलनेसे यह कार्य स्थगित करना पड़ा। स्वामीजी महाराजने इस अवसरका लाभ उठाते हुए पुस्तकमें कई स्थानोंपर अधिक विस्तारसे व्याख्या कर दी है और कुछ चित्र भी दे दिये हैं। विशेष वक्तव्य और विशेष विचार उनके अपने अनुभवके आधारपर हैं, जिनसे पाठकोंको विशेषरूपसे लाभ उठाना चाहिये।

हम उन सब महानुभावोंके अत्यन्त आभारी हैं, जिन्होंने इस पुस्तकके प्रकाशनमें हमारी सहायता की है।

[२]

श्री बा० गंगाप्रसादजी एम्० ए०, एम्० आर्० ए० एस्० (रायबहादुर), रिटायर्ड चीफ जस्टिस, टिहरी गढ़वालराज्य, भूतपूर्व प्रधान सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि-सभा।

श्रीस्वामी ओमानन्द तीर्थकृत पातञ्जलयोग-प्रदीप भाष्यके पहले संस्करणका जनताने अच्छा मान किया। पहला संस्करण भी एक प्रकारसे सर्वाङ्गपूर्ण था। श्रीस्वामीजीने दूसरे संस्करणमें कई विषय बढ़ा दिये हैं। योगसम्बन्धी शायद ही कोई विषय हो, जो ग्रन्थके भीतर न आ गया हो। षड्दर्शन-समन्वयका विषय परिवर्द्धित करके बहुत स्पष्ट कर दिया है। आशा है कि योग-साधनके इच्छुक और साधक ग्रन्थसे बहुत लाभ उठायेंगे।

[४]

(महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०, डी० लिट्०, वाराणसी)

श्रद्धेय श्रीओमानन्द स्वामीजीकृत पातञ्जलयोगप्रदीप नामक (द्वितीय संस्करण) ग्रन्थ देखकर प्रसन्नता हुई। इस ग्रन्थमें पातञ्जलयोगसूत्रोंका भावार्थ, व्यास-भाष्य, तत्त्व-वैशारदी, भोजवृत्ति तथा योग-वार्तिकके अनुसार विस्तृत रूपसे हिंदीमें संकलित किया गया है। योग-मार्गके साधकोंके लिये उपयोगी बहुत-से विषय चित्रादिकोंके साथ इसमें संनिविष्ट हुए हैं। इसमे उपनिषद् और भारतीय दर्शनोंके विभिन्न तत्त्वोंका आलोचन भी प्रासंगिक रूपमें निपुणताके साथ किया गया है। इसकी भाषा सरल तथा सुगम है और व्याख्याकारकी तत्त्वविश्लेषण-प्रणाली भी अत्यन्त चित्ताकर्षक है। ग्रन्थारम्भसे पहले ग्रन्थकारका लिखा हुआ षड्दर्शन-समन्वय भी इसमें विस्तृत भूमिकारूपमें दिया गया है। इससे ग्रन्थकी उपयोगिता और भी बढ़ गयी है। इस पुस्तकमें कुछ अनुभूत ओषधियोंका विवरण भी दे दिया गया है। आशा है, योग-तत्त्व-जिज्ञासु, ज्ञानि-समाज तथा विद्वद्गोष्ठीमें इस ग्रन्थका समुचित आदर तथा बहुल प्रचार होगा।

ॐ

ग्रन्थकारका वक्तव्य

पातञ्जलयोगप्रदीपका यह चौथा संस्करण पाठकोंके समक्ष आ रहा है। प्रथम संस्करणकी छपाईका कार्य सन् १९४१ में बिना किसी साधन और सामग्रीके अङ्कोंके रूपमें निकालना आरम्भ किया गया था। बीच-बीचमें कई प्रकारकी कठिनाइयाँ उपस्थित होती रहीं। वे सब जिस परम गुरु परमेश्वरकी प्रेरणासे और जिसके समर्पणरूपमें यह कार्य किया गया था, उसीकी अपार और अद्भुत शक्तिद्वारा दूर होती रहीं और अन्तमें मार्च १९४२ को यह पुस्तकरूपमें तैयार हो ही गयी। इसके प्रकाशन-प्रबन्ध-परिषद्के सदस्योंको प्रेस तथा अन्य सज्जनोंके ऋण चुकानेके सम्बन्धमें अत्यन्त चिन्ता थी, पर एक वर्षके अंदर ही पुस्तककी इतनी माँग बढ़ी कि न केवल उस ऋणका ही निबटारा हो गया प्रत्युत लगभग सारी पुस्तकें समाप्त हो गयीं और सन् १९४३ में ही दूसरी आवृत्ति निकालनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। उस भयंकर युद्धके समयमें इतने बड़े धार्मिक ग्रन्थका बिना किसी बाह्य सहायताके निकालना असम्भव था। सन् १९४६ में युद्धकी समाप्तिपर ऐसा प्रयत्न किया गया कि धार्मिक ग्रन्थ छपवानेके लिये जो दानियोंके कई ट्रस्ट हैं, उनमेंसे कोई इसको छपवाकर कम-से-कम मूल्यपर जनतातक पहुँचा दे, अथवा किसी ऐसे दानी महानुभावकी सहायतासे जो अपने रुपयोंको इस प्रकारके आध्यात्मिक कार्योंमें लगाना चाहते हैं थोड़े दामोंमें पाठकोंतक पहुँच सके। इसमें सफलता प्राप्त न होनेपर दूसरे संस्करणको "आर्यसाहित्य-मण्डल, अजमेर"को जो इस प्रकारके धार्मिक ग्रन्थ छापनेमें सराहनीय कार्य कर रहा है, इस विश्वासपर सौंप दिया गया कि वह इसको अधिक-से-अधिक उपयोगी और सुन्दर बनाते हुए कम से-कम दामोंमें सर्वसाधारणके हाथोंमें पहुँचाने-का यत्न करेगा। तीसरा संस्करण गीताप्रेस, गोरखपुरद्वारा उत्तम-से-उत्तम रूपमें और कम-से-कम दामोंमें गत अगस्त १९५९ ई० में ५००० की संख्यामें प्रकाशित हुआ था। किंतु पुस्तककी माँग इतनी अधिक हुई कि प्रकाशकको जनवरी १९६० ई० के आरम्भमें ही चौथा संस्करण निकालनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। नये संस्करणके मुद्रणका कार्य प्रारम्भ कर दिया गया परन्तु अनेक कठिनाइयोंके कारण छपाई शीघ्र न हो सकी। इस संस्करणमें कई स्थलोंपर विषयको अधिक स्पष्ट करनेके उद्देश्यसे परिवर्द्धन किया गया है। आशा है पाठकगण इससे अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त कर सकेंगे।

षड्दर्शनसमन्वय—योगके दार्शनिक स्वरूपको समझनेके लिये तो दर्शनोंका ज्ञान आवश्यक है ही, किंतु दर्शनोंका यथार्थ ज्ञान भी योगद्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, इसके बिना उसको बोध करानेवाले बाह्य स्थूल शब्द आदि बुद्धिके केवल व्यायामरूप साधन ही रहते हैं। प्राचीन विशाल हृदय व्यापक-दृष्टिवाले ऋषि समत्व (समन्वय) बुद्धिसे युक्त होते थे। यथा—वेदोंके कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्डमें जो विरोध प्रतीत होने लगा था, उसीके अविरोधकी स्थापना और समन्वय-साधनके उद्देश्यसे श्रीजैमिनिजीने पूर्वमीमांसा और श्रीव्यासजीने उत्तरमीमांसाकी रचना की थी, किंतु कई नवीन संकीर्ण विचारवाले व्यक्ति नाना प्रकारके भेद-भाव उत्पन्न करके हिंदुओंके व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय अवनति और पतनका कारण हुए हैं, वे ही प्राचीन ऋषियोंके भाष्योंमें भी परस्पर भेद और विरोधका विष फैला गये हैं।

आधुनिक कालमें महर्षि दयानन्दने सबसे प्रथम इस त्रुटिका अनुभव किया और दर्शनोंके अविरोध तथा समन्वय-साधनपर पूरा जोर दिया, किंतु उनके पश्चात् इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया। न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग—इन चारों दर्शनोंका मुख्य उद्देश्य प्रकृतिके सर्वथा परित्यागपूर्वक शुद्ध अर्थात् परब्रह्मको प्राप्त करना है, न कि अपर ब्रह्म अर्थात् ईश्वरके खण्डनमें जैसा कि सामान्यतया उनपर दोष आरोपित किया गया है। सांख्य और योग ही दो प्राचीन निष्ठाएँ हैं और वास्तवमें यही प्राचीन वेदान्त (फिलासफी) है, जिसका श्रुतियों (उपनिषदों) और स्मृतियोंमें स्थान-स्थानपर वर्णन पाया जाता

है। गीता तो सांख्ययोगका ही मुख्य ग्रन्थ है । सांख्य और योगके आभ्यन्तर रूपके अतिरिक्त कार्यक्षेत्रमें उनका बाह्य व्यावहारिक रूप कैसा होना चाहिये, इस बातको गीतामें विशेषताके साथ स्पष्ट शब्दोंमें दर्शाया है । उदाहरणार्थ, जहाँ ईश्वर-समर्पणद्वारा निष्काम कर्मयोग बतलाया गया है, वहाँ योगकी निष्ठा है और जहाँ 'गुण ही गुणोंमें वर्त रहे हैं, आत्मा अकर्त्ता है' इस भावनाद्वारा ज्ञानयोग बतलाया गया है, वह सांख्यनिष्ठा है । इसी प्रकार जहाँ-जहाँ 'अन्यादेश' अर्थात् प्रथम पुरुष और मध्यम पुरुषद्वारा परमात्माकी उपासना बतलायी गयी है, वह योगकी निष्ठा है और जहाँ 'अहंकारादेश' और 'आत्मादेश' अर्थात् उत्तम पुरुष और आत्माद्वारा परमात्माका बोध कराया गया है वह सांख्य-निष्ठा है, इत्यादि ।

जैन और बौद्ध भारतवर्षके दो प्रसिद्ध धर्मोंके प्रवर्तक आचार्य उच्चकोटिके अनुभवी योगी हुए हैं । सांख्ययोगके सदृश इनका ध्येय भी असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् शुद्ध पर-ब्रह्म परमात्माकी ही प्राप्ति है । बाह्य स्थूल शब्दोंके भ्रमजालमें फँसकर इनके वास्तविक स्वरूपको समझनेमें भी बहुत धोखा खाया गया है । ये भी एक प्रकारसे हमारे दर्शन-समन्वयके अन्तर्गत हो सकते हैं । अर्थात् जैसे जलके सर्वत्र पृथ्वीमें व्यापक होते हुए भी पृथ्वीसे पृथक् उसके शुद्ध स्वरूपसे ही पिपासाकी तृप्ति हो सकती है, इसी प्रकार चेतन तत्त्वके सर्वत्र व्यापक होते हुए भी उनका लक्ष्य उसके शुद्ध स्वरूप परमात्मा—परब्रह्मको प्राप्त करना है । इससे उसके शबल-स्वरूप अपर ब्रह्म—ईश्वरका निराकरण न समझना चाहिये, प्रत्युत उन्होंने भी किसी रूपमें इस लक्ष्यकी प्राप्तिमें उसके अपर स्वरूपका ही सहारा लिया है। योग, किसी स्थान-विशेषपर जिसको देश कहा गया है (देशबन्धश्चित्तस्य धारणा), अपर ब्रह्म ईश्वरका सहारा लेकर (ईश्वरप्रणिधानाद्वा) त्रिगुणात्मक स्थूलभूत, तन्मात्रोंतक सूक्ष्मभूत, अहंकार और चित्तके आवरणोंको क्रमशः वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मितानुगत समाधिद्वारा हटाता हुआ विवेकख्यातिद्वारा गुणोंको सर्वथा पृथक् करके असम्प्रज्ञात समाधिमें शुद्ध पर-ब्रह्म परमात्म-स्वरूपमें अवस्थिति कराता है । इस सूक्ष्मदृष्टिसे उनके मन्तव्य और साधनोंमें भी अधिक अन्तर नहीं प्रतीत होगा ।

योगमार्गमें प्रवेशसे पूर्व संकीर्ण विचारोंके कूपमण्डूक न रहकर अभ्यासीगण हृदयकी विशालताकी दृष्टिसे यह देख सकें कि किस प्रकार वैदिक दर्शनरूपी नदियाँ विश्वरचयिता पिताके अनन्त ज्ञानके अथाह सागरमें समावेश करती हैं, इस उद्देश्यसे षड्दर्शन-समन्वयको 'पातञ्जलयोगप्रदीप'का भूमिका-रूप बनाया गया है ।

अखिल भारतवर्षीय आर्यकुमार परीक्षा परिषद्ने 'षड्दर्शन-समन्वय'को अपनी सिद्धान्त-शास्त्रकी परीक्षामें रख लिया अतः उनके आग्रहसे षड्दर्शनसमन्वयको पृथक् पुस्तकरूपमें शाहपुरा-दर्बार (स्वर्गीय) श्रीराजा उम्मेदसिंहजीने छपवा दिया है ।

प्रथम संस्करणकी अपेक्षा दूसरे संस्करणमें षड्दर्शन-समन्वय द्विगुणित हो गया है; क्योंकि दर्शनोंके वास्तविक स्वरूपको विस्तारके साथ दिखलाने तथा नाना प्रकारकी प्रचलित शङ्काओंके संतोषजनक समाधान करनेका इसमें पूरा यत्न किया गया है ।

पातञ्जलयोगप्रदीप—कई योगके प्रेमी सज्जनोंका विशेषकर प्रोफेसर विश्वनाथजी विद्यालंकार भूतपूर्व उप-आचार्य गुरुकुल काँगड़ीका आग्रह था कि सूत्रोंके भावों तथा कहीं-कहीं व्यासभाष्यको भी अधिक से-अधिक खोलनेका यत्न किया जाय । सूत्रोंकी व्याख्यामें विशेषरूपसे व्यासभाष्य और भोजवृत्तिको जिनका उचित स्थानोंमें टिप्पणीके रूपमें भावार्थ भी उद्धृत किया गया है तथा सामान्यरूपसे विज्ञानभिक्षुके योगवार्त्तिक (जिसके बहुत-से सूत्रोंका जहाँ आवश्यकता प्रतीत हुई है टिप्पणीमें भी भावार्थ दे दिया गया है), वाचस्पति मिश्रके तत्त्ववैशारदी तथा और बहुत-से प्राचीन और नवीन भाष्योंको दृष्टिगोचर रक्खा गया है । विशेष विचार और विशेष वक्तव्यमें अपने स्वतन्त्र विचारोंको लेते हुए प्रसङ्गप्राप्त बहुत-से दार्शनिक और योग सम्बन्धी विषयों तथा उपनिषदोंके रहस्योंको खोलनेका यत्न किया गया है ।

योगदर्शनके दो उच्च कोटिके भाष्यकार विज्ञानभिक्षु और वाचस्पति मिश्रके भाष्योंमें जहाँ कहीं परस्पर विरोध और अर्थोंमें अयुक्ति प्रतीत हुई है, उसका भी युक्ति और प्रमाण-सहित स्पष्टीकरण आवश्यक समझा गया है। यथा, स० पा० सूत्र ७ सूत्र १९ और सूत्र ४६ का वि० व०, सा० पा० सूत्र ४ का वि० व०।

साधारण मनुष्य स्थूल शरीरद्वारा कोई विचित्र क्रिया तथा भौतिक जगत्‌से सम्बन्ध रखनेवाले आश्चर्यजनक चमत्कार अथवा बाह्य व्यवहारसे सम्बन्धित सिद्धि और विभूति आदिको ही योगका गौरव समझते हैं, उनका यह बाह्य-दृष्टि हटाकर यह निर्देश करानेके उद्देश्यसे कि योगका वास्तविक स्वरूप अन्तर्मुख होना है, समाधिपाद सूत्र १८ के वि० व० में योगकी चार भूमियों—वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता तथा विवेक-ख्याति, पर-वैराग्य, असम्प्रज्ञात-समाधि और कैवल्य तथा उनके अन्तर्गत चन्द्रलोक (सूक्ष्मलोक), आदित्य-लोक (कारणजगत्) क्रममुक्ति, सद्योमुक्ति और अवतार आदिका भी वर्णन आवश्यक समझा गया है।

समाधिपाद सूत्र ३४ के वि० व० मे सूक्ष्म प्राणोंके वर्णनके साथ-साथ सूक्ष्म नाड़ियों, स्वरों, तत्त्वों, चक्रों और कुण्डलिनी शक्तिका भी दिग्दर्शन करा देना आवश्यक था। चक्रोंके सम्बन्धमें बहुत-सी ऐसी बातें, जिनका राजयोगसे कोई सम्बन्ध नहीं है और काल्पनिक हैं, केवल तान्त्रिक विचारोंकी जानकारीके उद्देश्यसे लिखी गयी हैं। तान्त्रिक ग्रन्थ और तान्त्रिक सम्प्रदायोंके सम्बन्धमें हम किसी प्रकारकी विवेचना करना उचित नहीं समझते। निःसंदेह इनमेंसे कई एककी तो पञ्चमकारके सम्बन्धमें बड़ी उच्च आध्यात्मिक धारणा है; यथा—"पुण्यापुण्य पशुको ज्ञानखड्गसे मारकर पर-तत्त्वमें चित्त लयका नाम 'मांस' भक्षण है, इन्द्रियोंका मनसे निरोध कर आत्मामे संयोजन करना 'मत्स्य' भोजन है। कुण्डलिनी शक्तिको जाग्रत् कर सहस्रदलस्थित शिवके साथ सोमरसके उत्पादनका नाम 'मैथुन' है इत्यादि"।

हिंदुओंमे वैष्णव, शैव और शाक्त—तीन प्रकारके तान्त्रिक ग्रन्थ तथा वैष्णव, शैव और शाक्त—तीन प्रकारके तान्त्रिक सम्प्रदाय हैं तथा उनके अन्तर्गत और बहुत-से अवान्तर भेद हैं। जैन और बौद्धोंमें भी बहुत-से तान्त्रिक ग्रन्थ और तान्त्रिक सम्प्रदाय हैं। इनके अतिरिक्त और बहुत-से स्वतन्त्र तान्त्रिक सम्प्रदाय और पद्धतियाँ प्रचलित हैं। लगभग सभी तान्त्रिक सम्प्रदाय शुद्ध परब्रह्म परमात्मस्वरूपमें अवस्थितिकी अपेक्षा प्राकृतिक शक्तियोंकी प्राप्तिमें विशेष प्रवृत्ति रखते हैं। राजयोगके अध्यात्म-उन्नति चाहनेवाले साधकोंके लिये उनकी केवल उन्हीं बातोंको ग्रहण करना चाहिये, जो उनके अपने मुख्य उद्देश्यमे सहायक हो सकें।

साधनपाद सूत्र ३० की व्याख्यामें जहाँ हमने योगियों तथा साधारण मनुष्योंके लिये व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धसे अहिंसा, सत्य आदि यमोंका आदर्श बतलाया है, वहाँ सूत्र ३१ के विशेष वक्तव्यमें राष्ट्रपतियोंके लिये जिनके ऊपर सारे राष्ट्र अथवा मनुष्यसमाजका उत्तरदायित्व होता है, उनके लिये इसका क्या स्वरूप होना चाहिये, इसको महाभारत आदिके कई उदाहरणोंके साथ दर्शाया है तथा श्रीकृष्णजी महाराजने राष्ट्रके रक्षणार्थ कर्णपर्वमें जो सूक्ष्मदृष्टिका उपदेश दिया है, उसको भी उद्धृत कर दिया है।

साधनपाद सूत्र १७, २६, २९ की टिप्पणियोंमें वैदिक दर्शनोंके चार प्रतिपाद्य विषयों-का बौद्ध-दर्शनके चार आर्य सत्योंके साथ, योगदर्शनके अष्टाङ्गयोगका बौद्ध-दर्शनके अष्टाङ्गिक मार्गके साथ तथा योगके पाँच यमोंका बौद्धदर्शनके पञ्चशीलके साथ समन्वय दिखलाते हुए बौद्धधर्मके इन विषयोंपर यथोचित प्रकाश डाला गया है। तथा जैनधर्ममें जो पाँच यमोंको पाँच महाव्रतोंके नामसे जैन धर्मका आधारशिलारूप माना है उनको भी उन्हींकी प्राकृत भाषामें अर्थसहित दिखला दिया गया है।

आध्यात्मिक विषयसे भौतिक शरीरका क्या सम्बन्ध ऐसे विचार योगमार्गमें कोई स्थान नहीं रख सकते। आध्यात्मिक उन्नतिमें शरीर ही सबसे प्रथम और मुख्य साधन है। बिना स्वस्थ, स्वच्छ और निर्मल शरीरके योगमार्गकी प्रथम सीढ़ीपर भी पग धरना दुर्गम है। अतः शरीरके स्वच्छ, शुद्ध, निर्मल और नीरोग रखनेके चार उपाय सा० पा० सूत्र ३२ के वि० व० में विस्तारपूर्वक बतलाये हैं—(१) हठयोगकी षट् क्रियाएँ, (२) प्राकृतिक चिकित्सा, (३) सम्मोहन और संकल्प-शक्ति। उपर्युक्त तीनों साधन तभीतक काम दे सकते हैं जबतक कि शरीर और मन इनके करनेके योग्य स्वस्थ अवस्थामें हों। किंतु किसी ऐसी व्याधि आदि पीड़ाकी उपस्थितिमें, जब शारीरिक अथवा मानसिक शक्तियाँ इन क्रियाओंके करनेमें सर्वथा असमर्थ हो जायँ, तब ओषधियोंका ही सहारा लेना पड़ता है। इस मार्गमें प्रवेश करनेवाले लगभग ९० प्रतिशत किसी न-किसी प्रकारकी व्याधि लिये हुए शरीरसे अस्वस्थ अवस्थामें ही देखे जाते हैं। उनके लिये सबसे प्रथम कार्य उन व्याधियोंको निवृत्त अथवा शिथिल करना होता है। प्राचीन समयमें जंगलों और पहाड़ोंमें रहनेवाले योगीजनोंके लिये वहींसे प्राप्त होनेवाली जड़ी-बूटी आदिका ज्ञान रखना आवश्यक होता था, जिससे आवश्यकतानुसार उनको काममें लाया जाता था। किंतु इस समय न तो ऐसे स्थान आसानीसे उपयुक्त हो सकते हैं और न वहाँकी कठिनाइयोंको सहन करनेके योग्य शरीर रहे हैं। आधुनिक कालमें ओषधियोंमें भी नाना प्रकारके अन्वेषण किये गये हैं और उत्तम-से-उत्तम ओषधियाँ हर स्थानपर उपलब्ध हो सकती हैं, इसलिये हमने ऐसी ओषधियोंको, जिनको हमने अनुभवी सन्यासियों, महात्माओं, डाक्टरों और वैद्योंसे प्राप्त किया है तथा जिनको हमने स्वयं अनुभव किया है अथवा कराया है उपायरूप (४) में लेखबद्ध कर दिया है। जिससे साधक अथवा पथदर्शक किसी योग्य वैद्य तथा डाक्टरकी अनुपस्थितिमें आवश्यकतानुसार काममें ला सके। रोग तथा व्याधि एक प्रकारसे पापरूप है और ओषधि प्रायश्चित्तरूप; पूर्ण सावधानीपूर्वक यत्न होना चाहिये कि यह पाप निकट न आ सके, किंतु उसकी उपस्थितिमें प्रायश्चित्तरूप ओषधिसे बचनेके लिये नाना प्रकारकी युक्तियोंको ढूँढ़ना बुद्धिमत्ता नहीं है। इन चार उपायोंमेंसे ओषधियोंको साधनपादके अन्तमें परिशिष्ट भागमें दे दिया गया है।

सा० पा० सूत्र ४० की व्याख्यामें जहाँ हमने ध्यानपर बैठनेके लिये कई उपयोगी आसनों और नियमोंका वर्णन किया है, वहाँ विशेष वक्तव्यमें ध्यानके उपयोगी स्थान आदिको बतलाकर सब प्रकारके बन्धों, मुद्राओं और आसनों तथा गुफामें लंबे समयतक बैठनेके नियमों आदिका वर्णन कर देना भी उचित समझा है; क्योंकि इनकी न केवल शरीरको स्वस्थ और नीरोग रखनेमें उपयोगिता है वरं वे नाड़ीशोधन और प्राणके उत्थानमें भी अत्यन्त सहायक होते हैं।

सा० पा० सूत्र ४९ की व्याख्यामें प्राणायामका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके पश्चात् उसके विशेष वक्तव्यमें हठयोगकी पुस्तकोंके आठों प्रकारके प्राणायाम तथा उनके अन्तर्गत और बहुत-सी प्राणायामकी विधियोंको भी दिखलाया गया है।

सिद्धियों, विभूतियों और चमत्कारों आदिके सम्बन्धमें प्रचलित अन्धविश्वास और भ्रान्त ज्ञान हटानेके उद्देश्यसे वि० पा० सूत्र ६ के विशेष वक्तव्यमें संयमके वास्तविक स्वरूप तथा उसके सदुपयोग और दुरुपयोगपर पूरी विवेचना की गयी है।

विभूतिपाद सूत्र २६ के पिछले संस्करणमें टिप्पणीमें व्यासभाष्यका केवल शब्दार्थ ही दिया गया था, उसके सम्बन्धमें अपने विचारोंको सुरक्षित रक्खा गया था। कई महानुभावोंके आग्रहसे नये संस्करणमें उसका स्पष्टीकरण कर दिया गया है।

विभूतिपाद सूत्र ३९ में उत्क्रान्ति शब्दको लेते हुए विशेष वक्तव्यमें देवयान, पितृयान, क्रममुक्ति, सद्योमुक्ति, अवतार आदि गूढ़ विषयोंके स्पष्टीकरणकी आवश्यकता समझी गयी है।

कैवल्य पाद सूत्र ३४ के भोजवृत्तिमें योगके साथ सब दर्शनोंका समन्वय दिखलाया गया है। किसीको उसके द्वारा अन्य दर्शनोंके खण्डनकी शङ्का न होने पावे, इस हेतु उसका स्पष्टीकरण भी उचित समझा गया है।

सूत्रोंके विशेष विचार और विशेष वक्तव्य अवश्य पढ़ने चाहिये, उनमे पाठकगण बहुत-सी उपयोगी और जानने योग्य बातोंको पायेंगे। सूत्रोंकी व्याख्यामें व्यासभाष्य, भोजवृत्ति और योगवार्त्तिक आदिकी सभी मुख्य बातें आ गयी है। टिप्पणियोंमे उनका भावानुवाद केवल विशेष जानकारीके उद्देश्यसे किया गया है। योगवार्त्तिक जो किंचित् बड़ा और गूढ़विषयक है केवल उच्च श्रेणियोंके पाठकोंके लिये है। इन टिप्पणियोंको यदि चाहें तो स्वेच्छानुसार छोड़ सकते हैं।

बहुत-सी उपयोगी आवश्यक और जाननेयोग्य बातोंके बढ़ा देनेसे वर्तमान ग्रन्थ प्रथम संस्करणकी अपेक्षा लगभग दुगुना हो गया है।

इस प्रकार जहाँ इस पातञ्जलयोगप्रदीपमें लगभग सभी आवश्यक विषयोंका संकलन किया गया है और केवल इस एक पुस्तकको रखते हुए अन्य बहुत-सी पुस्तकोंकी आवश्यकता नहीं रहती है, वहाँ बहुत-से सत्संगियों तथा अन्य कई प्रेमी सज्जनोंके विचारोंको दृष्टिमें रखते हुए दैनिक पाठके लिये "सांख्य-तत्त्व-समास" तथा योगदर्शनके अर्थसहित सूत्र गुटकारूपमें "सांख्ययोगसार" नामसे अलग छपवा दिये गये हैं।

सारा ही मनुष्य-जीवन योगके अन्तर्गत है। इसलिये मनुष्य-जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले सारे विषयोंको यथोचित स्थानमें दर्शाया गया है। मनुष्योंकी प्रकृतियाँ और रुचियाँ भिन्न-भिन्न हैं। यह असम्भव है कि सारी बातें सब मनुष्योंको संतुष्ट कर सकें। अतः पाठक महानुभावोंसे निवेदन है कि नाना प्रकारके विचाररूपी पुष्पोंकी इस ग्रन्थरूपी वाटिकामेंसे अपने रुचिकर पुष्पोंकी सुगन्धको ग्रहण कर लें। जो उनके दृष्टिकोणसे अनावश्यक अथवा दोषयुक्त प्रतीत हों, उनके प्रति उपेक्षावृत्तिद्वारा अपने उदार भावोंका परिचय दें।

सारे ही विषयोंको स्वतन्त्र विचारोंके साथ युक्ति, अनुभूति और श्रुतिके आधारपर निष्पक्षभावसे उनके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रूपमें दर्शानेका यत्न किया गया है। आशा है पाठकगण साम्प्रदायिक पक्षपात तथा मत-मतान्तरोंकी संकीर्णताकी क्षुद्रतासे परे होकर हृदयकी विशालतामें प्रत्येक विषयपर अपनी स्वच्छ, निर्मल और सात्त्विक बुद्धिसे विवेकपूर्ण विचार करके वास्तविक लाभ उठायेंगे।

कुछ बातोंको कई प्रकरणोंमें उद्धृत किया गया है। इसको पुनरुक्ति दोष नहीं समझना चाहिये। महत्त्वपूर्ण और गहन विषयोंको पाठकोंको हृदयंगम करानेके लिये ऐसा किया गया है जैसी कि धार्मिक ग्रन्थोंकी शैली चली आ रही है।

जो महानुभाव इस ग्रन्थमें किसी प्रकारकी त्रुटियों और भूलोंके बतलाने, किसी स्थानपर न्यूनाधिक वा परिवर्तन करने अथवा अपने विशेष विचारोंके प्रकट करनेकी कृपा करेंगे, उनका बड़े आदर, सम्मान और धन्यवादके साथ स्वागत किया जायगा तथा इसके अगले संस्करणमें उनके सम्बन्धमे पूरा विचार किया जायगा।

पाठकोंके सुभीतेके लिये ग्रन्थके अन्तमे चार परिशिष्ट दिये गये है। परिशिष्ट (१) में सांख्य और योगदर्शनके मूल सूत्र, (२) में वर्णानुक्रमसूत्रसूची, (३) में शब्दानुक्रमणी और (४) में विषयसूची है। आशा की गयी थी कि दूसरे सस्करणमें अशुद्धियाँ न होने पायेंगी, किंतु प्रेसवालोंके प्रयत्न करनेपर भी बहुत-सी अशुद्धियाँ रह गयी थीं और एक लंबा शुद्धयशुद्धिपत्र लगाना पड़ा था। इस संस्करणमें उन भूलोंको यथासाध्य सुधार दिया गया है।

अन्तमें जिन महानुभावोंने इस ग्रन्थके तैयार कराने और प्रकाशन करानेमें किसी प्रकारकी भी सहायता दी है उनका धन्यवाद तथा जिन प्राचीन ऋषियों और वर्तमान समयके महापुरुषों और विद्वानोंके उच्च, पवित्र और रहस्यपूर्ण विचारोंसे इस ग्रन्थको सुशोभित किया गया है और उपयोगी बनाया गया है उनके प्रति कृतज्ञताका प्रकट कर देना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है।

ओम् तीर्थ

पातञ्जलयोगाश्रम, पुष्कर

Vaidic Library

पातञ्जलयोगप्रदीप

पूज्यपाद योगिराज श्री १०८ श्रीयुत स्वामी
सोमतीर्थजी महाराज

Vaidic Library

पूज्यपाद योगिराज श्री १०८

श्रीयुत स्वामी सोमतीर्थजी महाराज

का

आशीर्वाद

क्लेशान्धकारनाशाय मुमुक्षूणां विमुक्तये ।
तत्त्वज्ञानप्रदानाय क्षमो योगप्रदीपकः ॥
(भूयात्)

क्लेशरूपी अन्धकारको नाश करनेके लिये तथा मुमुक्षुजनोंकी मुक्तिके लिये और तत्त्वोका ज्ञान प्रदान करनेके लिये पातञ्जलयोगप्रदीप समर्थ हो ।

Vaidic Library

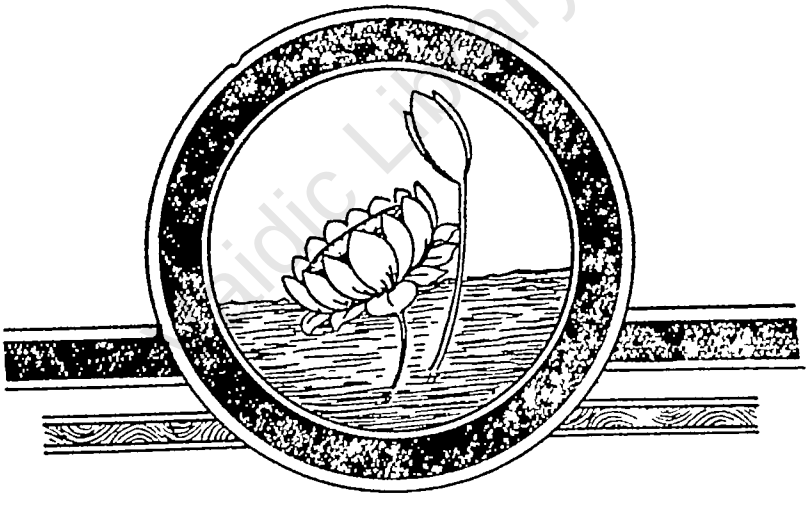

ॐ

पातञ्जलयोग-प्रदीप

षड्दर्शनसमन्वय

भूमिका

पहिला प्रकरण

वेद

वेद ईश्वरीय ज्ञान है, जिसका प्रादुर्भाव ऋषियोंपर सृष्टिके आरम्भमें समाधिद्वारा होता है।

१. मूल वेदमन्त्र—इन मन्त्रोंकी चार संहिताएँ हैं, जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद कहलाती हैं। इनकी भी पाठादि भेदसे ११३१ शाखाएँ कहलाती हैं।

२. ब्राह्मणग्रन्थ—इनमें अधिकतर मूल वेदोंमें बतलाये हुए धर्म अर्थात् यज्ञादि कर्मों तथा विधि-निषेधकी विस्तृत व्याख्या और व्यवस्था है। 'ब्राह्मण' नामकरणका कारण यह है कि इनका प्रधान विषय ब्रह्मन् (बृह् वर्धने, बढ़नेवाला अर्थात् वितान यज्ञ) है। इनमेंसे चार प्रसिद्ध हैं—ऐतरेय ऋग्वेदका, शतपथ यजुर्वेदका, ताण्ड्यब्राह्मण सामवेदका और गोपथ अथर्ववेदका। ब्राह्मणग्रन्थोंमें कुछ अंश ऐसा भी सम्मिश्रित हो गया है, जो मूल वेदमन्त्रोंके आशयके विपरीत जाता है।

३. उपनिषद्—उपनिषद्का मुख्य अर्थ ब्रह्मविद्या है और यहाँ उपनिषद् ब्रह्मविद्या-प्रतिपादक ग्रन्थ-विशेषके हैं। इनमें अधिकतर वेदोंमें बताये हुए आध्यात्मिक विचारोंको समझाया गया है। इन्हींको वेदान्त कहते हैं। इनमें मुख्य ग्यारह हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्वेताश्वतर, छान्दोग्य और बृहदारण्यक।

दर्शन

वेदोंमें बतलाये हुए ज्ञानकी मीमांसा दर्शनशास्त्रोंमें मुनियोंद्वारा सूत्ररूपसे की गयी है। दर्शन शब्दका अर्थ है 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' जिसके द्वारा देखा जाय अर्थात् वस्तुका तात्त्विक स्वरूप जाना जावे।

"प्राणिमात्रकी दुःखनिवृत्तिकी ओर प्रवृत्ति"

छोटे-से-छोटे कीटसे लेकर बड़े-से-बड़े सम्राट्तक प्रतिक्षण तीनों प्रकारके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक दुःखोंमेंसे किसी न-किसी दुःखकी निवृत्तिका ही यत्न करते रहते हैं; फिर भी दुःखोंसे छुटकारा नहीं मिलता। मृगतृष्णाके सदृश जिन विषयोंके पीछे मनुष्य सुख समझकर दौड़ता है, प्राप्त होनेपर वे दुःख ही सिद्ध होते हैं। इसलिये तत्त्वदर्शीके लिये निम्न चार प्रश्न उपस्थित होते हैं—

---

१. चार उपवेद माने गये हैं—

ऋग्वेदका उपवेद अर्थवेद, यजुर्वेदका उपवेद धनुर्वेद, सामवेदका उपवेद गान्धर्ववेद, अथर्ववेदका उपवेद आयुर्वेद।

दर्शनोंके चार प्रतिपाद्य विषय

१. *हेय*—दु.खका वास्तविक स्वरूप क्या है, जो 'हेय' अर्थात् त्याज्य है ?

२. *हेयहेतु*—दु:ख कहाँसे उत्पन्न होता है, इसका वास्तविक कारण क्या है, जो 'हेय' अर्थात् त्याज्य दु:खका वास्तविक 'हेतु' है ?

३. *हान*—दु खका नितान्त अभाव क्या है, अर्थात् 'हान' किस अवस्थाका नाम है ?

४. *हानोपाय*—हानोपाय अर्थात् नितान्त दु.खनिवृत्तिका साधन क्या है ?

तीन मुख्य तत्त्व

इन प्रश्नोंपर विचार करते हुए तीन बातें और उपस्थित होती हैं—

१. *चेतनतत्त्वः आत्मा, पुरुष (जीव)*—दु:ख किसको होता है ? जिसको दु:ख होता है, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? यदि उसका दु:ख स्वाभाविक धर्म होता तो वह उससे बचनेका प्रयत्न ही न करता। इससे प्रतीत होता है कि वह कोई ऐसा तत्त्व है, जिसका दु.ख और जडता स्वाभाविक धर्म नहीं है। वह चेतनतत्त्व है। इस चेतन—आत्मा (पुरुष) के पूर्ण ज्ञानसे तीसरा प्रश्न 'हान' सुलझ जाता है। अर्थात् आत्माके यथार्थरूपके साक्षात्कार—'स्वरूपस्थिति' से दु:खका नितान्त अभाव हो जाता है।

२. *जडतत्त्वः प्रकृति*—इस चेतनतत्त्वसे भिन्न, इसके विपरीत, किसी और तत्त्वके माननेकी भी आवश्यकता होती है, जिसका धर्म दु:ख है, जहाँसे दु:खकी उत्पत्ति होती है और जो इस चेतनतत्त्वसे विपरीत धर्मवाला है। वह जडतत्त्व है, जिसको प्रकृति, माया आदि कहते है। इसके यथार्थरूपको समझ लेनेसे पहला और दूसरा दोनों प्रश्न सुलझ जाते हैं। अर्थात् दु.ख इसी जडतत्त्वका स्वाभाविक गुण है, न कि आत्माका। जड और चेतनतत्त्वमें आसक्ति तथा अविवेकपूर्ण सयोग ही 'हेय' अर्थात् त्याज्य दु.खका वास्तविक स्वरूप है और चेतन तथा जडतत्त्वका अविवेक अर्थात् मिथ्या ज्ञान या अविद्या 'हेयहेतु' अर्थात् त्याज्य दु:खका कारण है। चेतन और जडतत्त्वका विवेकपूर्ण ज्ञान 'हानोपाय'—दु.ख-निवृत्तिका मुख्य साधन है।

३. *चेतनतत्त्वः परमात्मा, पुरुषविशेष (ईश्वर, ब्रह्म)*—इन दोनो चेतन और जडतत्त्वोके माननेके साथ एक तीसरे तत्त्वको भी मानना आवश्यक हो जाता है, जो पहले चेतनतत्त्वके सर्वांश अनुकूल हो और दूसरे जडतत्त्वके विपरीत हो, अर्थात् जिसमें पूर्ण ज्ञान हो, जो सर्वज्ञ हो, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् हो, जिसमें दु:ख, जडता और अज्ञानका नितान्त अभाव हो, जहाँतक आत्माका पहुँचना आत्माका अन्तिम ध्येय है, जो ज्ञानका पूर्ण भण्डार हो, जहाँसे ज्ञान पाकर आत्मा जड-चेतनका विवेक प्राप्त कर सके और अविद्याके बन्धनोंको तोड़कर 'हेय' दु:खसे सर्वथा मुक्ति पा सके। इस तर्कके द्वारा हमें तीसरे और चौथे दोनों प्रश्नोका उत्तर मिल जाता है, अर्थात् यही 'हान' है और 'हानोपाय' भी हो सकता है।

षड्दर्शन

इन चारो रहस्यपूर्ण प्रश्नोंको समझानेके लिये 'दर्शनशास्त्रों' में इन तीनों तत्त्वोंका छोटे-छोटे और सरल सूत्रोंमें युक्तियुक्त वर्णन किया गया है। इन दर्शनशास्त्रोंमें 'षड्दर्शन'—छः दर्शन—मुख्य हैं। १. मीमांसा, २. वेदान्त, ३. न्याय, ४. वैशेषिक, ५ सांख्य, ६. योग। ये षड्दर्शन वेदोंके उपाङ्ग कहलाते है।

वेदोंके अङ्ग

१. *शिक्षा*—जिसका उपयोग वैदिक वर्णों, स्वरों और मात्राओंके बोध करानेमें होता है।

२. *कल्प*—जो आश्वलायन, आपस्तम्ब, बौधायन और कात्यायन आदि ऋषियोंके बनाये श्रौत-सूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र है, जिनमें यागके प्रयोग, मन्त्रोंके विनियोगकी विधि है।

३. *व्याकरण*—जो प्रकृति और प्रत्यय आदिके उपदेशसे पदके स्वरूप और उसके अर्थका निश्चय करनेके लिये उपयोगी हैं।

४. *निरुक्त*—जो पदविभाग, मन्त्रका अर्थ और देवताके निरूपणद्वारा एक-एक पदके सम्भावित और अवयवार्थका निश्चय करता है।

५. *छन्द*—जो लौकिक और वैदिक पादोंकी अक्षर-संख्याको नियमित करने, पाद, यति और विराम आदिकी व्यवस्था करनेमें उपयोगी है।

६. *ज्योतिष*—जो यज्ञादि-अनुष्ठानके कालविशेषकी व्यवस्था करता है।

ये वेदोंके अङ्ग कहलाते हैं। अर्थात् इनके द्वारा वेदमन्त्रोंके अर्थोंका यथार्थ बोध प्राप्त होता है।

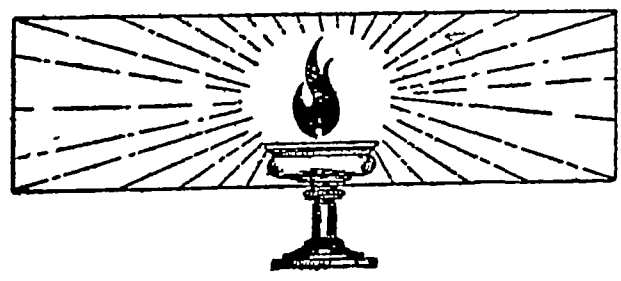

Vaidic Library

दर्शनोंके चार प्रतिपाद्य विषय

१. *हेय*—दु.खका वास्तविक स्वरूप क्या है, जो 'हेय' अर्थात् त्याज्य है ?

२. *हेयहेतु*—दु:ख कहाँसे उत्पन्न होता है, इसका वास्तविक कारण क्या है, जो 'हेय' अर्थात् त्याज्य दु खका वास्तविक 'हेतु' है ?

३. *हान*—दु खका नितान्त अभाव क्या है, अर्थात् 'हान' किस अवस्थाका नाम है ?

४. *हानोपाय*—हानोपाय अर्थात् नितान्त दु.खनिवृत्तिका साधन क्या है ?

तीन मुख्य तत्त्व

इन प्रश्नोंपर विचार करते हुए तीन बातें और उपस्थित होती हैं—

१. *चेतनतत्त्वः आत्मा, पुरुष (जीव)*—दु:ख किसको होता है ? जिसको दु:ख होता है, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? यदि उसका दु:ख स्वाभाविक धर्म होता तो वह उससे बचनेका प्रयत्न ही न करता। इससे प्रतीत होता है कि वह कोई ऐसा तत्त्व है, जिसका दु:ख और जडता स्वाभाविक धर्म नहीं है। वह चेतनतत्त्व है। इस चेतन—आत्मा (पुरुष) के पूर्ण ज्ञानसे तीसरा प्रश्न 'हान' सुलझ जाता है। अर्थात् आत्माके यथार्थरूपके साक्षात्कार—'स्वरूपस्थिति' से दु.खका नितान्त अभाव हो जाता है।

२. *जडतत्त्वः प्रकृति*—इस चेतनतत्त्वसे भिन्न, इसके विपरीत, किसी और तत्त्वके माननेकी भी आवश्यकता होती है, जिसका धर्म दु:ख है, जहाँसे दु:खकी उत्पत्ति होती है और जो इस चेतनतत्त्वसे विपरीत धर्मवाला है। वह जडतत्त्व है, जिसको प्रकृति, माया आदि कहते हैं। इसके यथार्थरूपको समझ लेनेसे पहला और दूसरा दोनों प्रश्न सुलझ जाते हैं। अर्थात् दु ख इसी जडतत्त्वका स्वाभाविक गुण है, न कि आत्माका। जड और चेतनतत्त्वमें आसक्ति तथा अविवेकपूर्ण सयोग ही 'हेय' अर्थात् त्याज्य दु खका वास्तविक स्वरूप है और चेतन तथा जडतत्त्वका अविवेक अर्थात् मिथ्या ज्ञान या अविद्या 'हेयहेतु' अर्थात् त्याज्य दु.खका कारण है। चेतन और जडतत्त्वका विवेकपूर्ण ज्ञान 'हानोपाय'—दु.ख-निवृत्ति-का मुख्य साधन है।

३. *चेतनतत्त्वः परमात्मा, पुरुषविशेष (ईश्वर, ब्रह्म)*—इन दोनो चेतन और जडतत्त्वोंके माननेके साथ एक तीसरे तत्त्वको भी मानना आवश्यक हो जाता है, जो पहले चेतनतत्त्वके सर्वांश अनुकूल हो और दूसरे जडतत्त्वके विपरीत हो, अर्थात् जिसमें पूर्ण ज्ञान हो, जो सर्वज्ञ हो, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् हो, जिसमें दु:ख, जडता और अज्ञानका नितान्त अभाव हो, जहाँतक आत्माका पहुँचना आत्माका अन्तिम ध्येय है, जो ज्ञानका पूर्ण भण्डार हो, जहाँसे ज्ञान पाकर आत्मा जड-चेतनका विवेक प्राप्त कर सके और अविद्याके बन्धनोंको तोड़कर 'हेय' दु:खसे सर्वथा मुक्ति पा सके। इस तर्कके द्वारा हमें तीसरे और चौथे दोनों प्रश्नोका उत्तर मिल जाता है, अर्थात् यही 'हान' है और 'हानोपाय' भी हो सकता है।

षड्दर्शन

इन चारों रहस्यपूर्ण प्रश्नोंको समझानेके लिये 'दर्शनशास्त्रों' में इन तीनों तत्त्वोंका छोटे-छोटे और सरल सूत्रोंमें युक्तियुक्त वर्णन किया गया है। इन दर्शनशास्त्रोंमें 'षड्दर्शन'—छः दर्शन—मुख्य है। १. मीमांसा, २. वेदान्त, ३. न्याय, ४. वैशेषिक, ५. सांख्य, ६. योग। ये षड्दर्शन वेदोंके उपाङ्ग कहलाते है।

वेदोंके अङ्ग

१. *शिक्षा*—जिसका उपयोग वैदिक वर्णों, स्वरों और मात्राओंके बोध करानेमे होता है।

२. *कल्प*—जो आश्वलायन, आपस्तम्ब, बौधायन और कात्यायन आदि ऋषियोंके बनाये श्रौत-सूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र हैं, जिनमें यागके प्रयोग, मन्त्रोंके विनियोगकी विधि है।

३. *व्याकरण*—जो प्रकृति और प्रत्यय आदिके उपदेशसे पदके स्वरूप और उसके अर्थका निश्चय करनेके लिये उपयोगी हैं।

४. *निरुक्त*—जो पदविभाग, मन्त्रका अर्थ और देवताके निरूपणद्वारा एक-एक पदके सम्भावित और अवयवार्थका निश्चय करता है।

५. *छन्द*—जो लौकिक और वैदिक पादोंकी अक्षर-संख्याको नियमित करने, पाद, यति और विराम आदिकी व्यवस्था करनेमें उपयोगी है।

६. *ज्योतिष*—जो यज्ञादि-अनुष्ठानके कालविशेषकी व्यवस्था करता है।

ये वेदोंके अङ्ग कहलाते हैं। अर्थात् इनके द्वारा वेदमन्त्रोंके अर्थोंका यथार्थ बोध प्राप्त होता है।

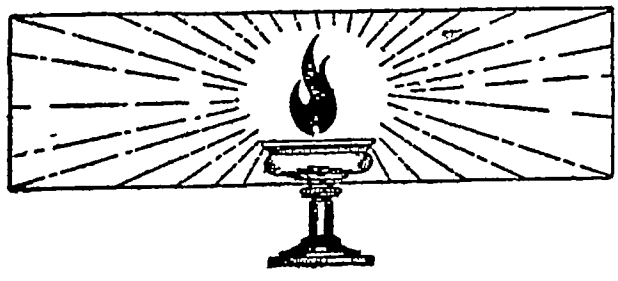

Vedic Library

दूसरा प्रकरण

पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा अर्थात् मीमांसा और वेदान्तदर्शन

कर्मकाण्ड—वेदमन्त्रोमें बतलायी हुई—कर्तव्य कर्मो अर्थात् इष्ट और पूर्त्त कर्मोकी—शिक्षाका नाम कर्मकाण्ड है। इष्ट वे कर्म हैं, जिनकी विधि मन्त्रोमे दी गयी हो, जैसे यज्ञादि, और पूर्त्त वे सामाजिक कर्म हैं, जिनकी आज्ञा वेदमें हो, किंतु विधि लौकिक हो, जैसे पाठशाला, कूप, विद्यालय, अनाथालय आदि बनवाना इत्यादि। इन दोनो कर्मोके तीन अवान्तर भेद हैं—नित्यकर्म, नैमित्तिक कर्म और काम्य कर्म।

१. *नित्यकर्म*—जो नित्य करने योग्य है, जैसे पञ्चमहायज्ञ आदि।

२. *नैमित्तिक*—वे कर्म है, जो किसी निमित्तके होनेपर किये जायँ, जैसे पुत्रका जन्म होनेपर जातकर्म-संस्कार।

३. *काम्यकर्म*—जो किसी लौकिक अथवा पारलौकिक कामनासे किये जायँ। इनके अतिरिक्त कर्मोके दो और भेद हैं, निषिद्धकर्म और प्रायश्चित्तकर्म।

(क) *निषिद्धकर्म*—जिनके करनेका शास्त्रोंमें निषेध हो।

(ख) *प्रायश्चित्तकर्म*—जो विहितकर्मके न करने अथवा विधिविरुद्धके करने, या वर्जित कर्म करनेसे अन्तःकरणपर मलिन सस्कार पड जाते है, उनके धोनेके लिये किये जायँ।

किसी कामनाकी सिद्धिके लिये किये गये कर्मोका फल भोगना ही पड़ेगा, तथा प्रतिषिद्धकर्मोका आचरण अशुभ फल करेगा ही। अतः इनसे निवृत्ति वाञ्छनीय है, परंतु नित्य और नैमित्तिकका अनुष्ठान नितान्त आवश्यक है। अतः काम्य और निषिद्ध कर्मोसे निवृत्ति परंतु प्रायश्चित्त तथा नित्य और नैमित्तिक कर्मोमें प्रवृत्ति मोक्षकी साधिका है।

उपासनाकाण्ड—वेदमन्त्रोमें बतलायी हुई लवलीनता अर्थात् मनकी वृत्तियोको सब ओरसे हटाकर केवल एक लक्ष्यपर ठहरानेकी शिक्षाका नाम उपासना है।

ज्ञानकाण्ड—इसी प्रकार वेदमन्त्रोमें जहाँ-जहाँ आत्मा तथा परमात्माके स्वरूपका वर्णन है, उसको ज्ञानकाण्ड कहते हैं। मन्त्रोंके कर्मकाण्डका विस्तारपूर्वक वर्णन मुख्यतया ब्राह्मणग्रन्थोंमें, ज्ञानकाण्डका आरण्यको तथा उपनिषदोमें और उपासनाकाण्डका दोनोंमें किया गया है।

मीमासा—इन तीनों काण्डोके वेदार्थविषयक विचारको मीमांसा कहते हैं। मीमासा शब्द 'मान ज्ञाने' से जिज्ञासा अर्थमें 'माने जिज्ञासायाम्' वार्त्तिककी सहायतासे निष्पन्न होता है। मीमासाके दो भेद हैं—पूर्वमीमासा और उत्तरमीमासा।

पूर्वमीमासामें कर्मकाण्ड और उत्तरमीमासामें ज्ञानकाण्डपर विचार किया गया है।

उपासना दोनोंमें सम्मिलित है। इस प्रकार ये दोनों दर्शन वास्तवमें एक ही ग्रन्थके दो भाग कहे जा सकते हैं। पूर्वमीमासा श्रीव्यासदेवजीके शिष्य जैमिनि मुनिने प्रवृत्तिमार्गी गृहस्थियो तथा कर्मकाण्डियोके लिये बनायी है। उसका प्रसिद्ध नाम मीमासादर्शन है। इसको जैमिनिदर्शन भी कहते हैं। इसके बारह अध्याय हैं, जो मुख्यतया कर्मकाण्डसे सम्बन्ध रखते हैं। उत्तरमीमासा निवृत्तिमार्गवाले ज्ञानियों तथा संन्यासियोके लिये श्रीव्यास महाराजने स्वय रचा है। वेदोंके कर्मकाण्ड-प्रतिपादक वाक्योमे जो विरोध प्रतीत होता है, केवल उसके वास्तविक अविरोधको दिखलानेके लिये पूर्वमीमासाकी और वेदके

ज्ञानकाण्डमें मतभेदोंका समाधान और अविरोधकी स्थापनाके लिये उत्तरमीमांसाकी रचना की गयी है। इस कारण इन दोनों दर्शनोंमें शब्दप्रमाणको ही प्रधानता दी गयी है। दोनों दर्शनकार लगभग समकालीन हुए हैं। इसलिये श्रीवैष्णवोंको भी यही समझ लेना चाहिये जो उत्तरमीमांसाके प्रकरणमें श्रीव्यासदेवजी महाराजका बतलाया जायगा।

पूर्वमीमांसा

मीमांसाका प्रथम सूत्र है 'अथातो धर्मजिज्ञासा' अर्थात् अब धर्मकी जिज्ञासा करते हैं।

मीमांसाके अनुसार धर्मकी व्याख्या वेदविहित, शिष्टोंसे आचरण किये हुए कर्मोंमें अपना जीवन डालना है। इसमें सब कर्मोंको यज्ञों तथा महायज्ञोंके अन्तर्गत कर दिया गया है। भगवान् मनुने भी ऐसा ही कहा है—'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' महायज्ञों तथा यज्ञोंद्वारा ब्राह्मण-शरीर बनता है। पूर्णिमा तथा अमावास्यामें जो छोटी छोटी इष्टियाँ की जाती हैं, इनका नाम यज्ञ और अश्वमेधादि यज्ञोंका नाम महायज्ञ है। (१) ब्रह्मयज्ञ—प्रातः और सायंकालकी संध्या तथा स्वाध्याय। (२) देवयज्ञ—प्रातः तथा सायंकालका हवन। (३) पितृयज्ञ—देव और पितरोंकी पूजा अर्थात् माता, पिता, गुरु आदिकी सेवा तथा उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति। (४) बलिवैश्वदेवयज्ञ—पकाये हुए अन्नमेंसे अन्य प्राणियोंके लिये भाग निकालना। (५) अतिथियज्ञ—घरपर आये हुए अतिथियोंका सत्कार—ये यज्ञके अवान्तर भेद हैं।

ये यज्ञ और महायज्ञ वेदोंमें बतलायी हुई विधिके अनुसार होने चाहिये। इसलिये जैमिनि मुनिने इनकी सिद्धिके लिये 'शब्द' अर्थात् 'आगम' प्रमाण ही माना है, जो वेद है।

वेदके पाँच प्रकारके विषय हैं—(१) विधि, (२) मन्त्र, (३) नामधेय, (४) निषेध और (५) अर्थवाद। 'स्वर्गकामो यजेत' 'स्वर्गकी कामनावाला यज्ञ करे' इस प्रकारके वाक्योंको 'विधि' कहते हैं। अनुष्ठानके अर्थ-स्मारक वचनोंको 'मन्त्र' के नामसे पुकारते हैं। यज्ञोंके नामकी 'नामधेय' संज्ञा है। अनुचित कार्यसे विरत होनेको 'निषेध' कहते हैं तथा किसी पदार्थके सच्चे गुणोंके कथनको 'अर्थवाद' कहते हैं। इन पाँच विषयोंके होनेपर भी वेदका तात्पर्य विधिवाक्योंमें ही है। अन्य चारों विषय उनके केवल अङ्गभूत हैं तथा पुरुषोंको अनुष्ठानके लिये उत्सुक बनाकर विधिवाक्योंको ही सम्पन्न किया करते हैं। विधि चार प्रकारकी होती है—कर्मके स्वरूपमात्रको बतलानेवाली विधि 'उत्पत्ति-विधि' है। अङ्ग तथा प्रधान अनुष्ठानोंके सम्बन्धबोधक विधिको 'विनियोग-विधि', कर्मसे उत्पन्न फलके स्वामित्वको कहनेवाली विधिको 'अधिकार-विधि' तथा प्रयोगके प्राशुभाव (शीघ्रता) के बोधक विधिको 'प्रयोग-विधि' कहते हैं। विषयके निर्णय करनेमें सहायक श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या नामक षट् प्रमाण होते हैं।

जैमिनि मुनिके मतानुसार यज्ञोंसे ही स्वर्ग अर्थात् ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। 'स्वर्गकामो यजेत' स्वर्गकी कामनावाला यज्ञ करे। यज्ञके विषयमें श्रीमद्भगवद्गीतामें ऐसा वर्णन किया गया है—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ (३।९)

यज्ञके लिये जो कर्म किये जाते है, उनके अतिरिक्त अन्य कर्मोंसे यह लोक बँधा हुआ है। तदर्थ अर्थात् यज्ञार्थ किये जानेवाले कर्म (भी) तू आसक्ति अथवा फलाशा छोड़कर करता जा।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ (३ । १०)

प्रारम्भमें यज्ञके साथ-साथ प्रजाको उत्पन्न करके ब्रह्माने (प्रजासे) कहा—'इस (यज्ञ) के द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो, यह (यज्ञ) तुम्हारी कामधेनु हो अर्थात् यह तुम्हारे इष्ट फलोंको देनेवाला हो ।'

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ (३ । ११)

(प्रजापति ब्रह्मा यह भी बोले कि) तुम इस यज्ञसे देवताओंको संतुष्ट करते रहो (और) वे देवता (वर्षा आदिसे) तुम्हें संतुष्ट करते रहें । (इस प्रकार) परस्पर एक दूसरेको सतुष्ट करते हुए (दोनों) परम श्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्त कर लो ।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ (३ । १२)

क्योंकि यज्ञसे सतुष्ट होकर देवता लोग तुम्हारे इच्छित (सब) भोग तुम्हें देंगे । उन्हींका दिया हुआ उन्हें (वापिस) न देकर जो (केवल स्वय) उपभोग करता है, अर्थात् देवताओंसे दिये गये अन्न आदिसे पञ्चमहायज्ञ आदिद्वारा उन देवताओंका पूजन किये बिना जो व्यक्ति खाता-पीता है, वह सचमुच चोर है ।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ (३ । १३)

यज्ञ (पञ्चमहायज्ञ आदि) करके शेष बचे हुए भागको ग्रहण करनेवाले सज्जन सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं, परंतु (यज्ञ न करके केवल) अपने लिये ही जो (अन्न) पकाते हैं, वे पापीलोग पाप भक्षण करते हैं ।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ (३ । १४)

अन्नसे प्राणिमात्रकी उत्पत्ति होती है, अन्न पर्जन्यसे उत्पन्न होता है, पर्जन्य यज्ञसे उत्पन्न होता है और यज्ञकी उत्पत्ति (वैदिक) कर्मसे होती है ।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ (३ । १५)

उस कर्मको तू वेदसे उत्पन्न जान और वेद अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ है । इससे सर्व-व्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है ।

यहाँ तीसरे चेतनतत्त्व अर्थात् ईश्वरको व्यष्टिरूपसे प्रत्येक यज्ञका अधिष्ठातृदेव माना गया है, जिसकी उस विशेष यज्ञद्वारा उपासना की जाती है ।

यथा—

"तद् यदिदमाहुः अमुं यजामुं यज' इत्येकैकं देवम्,
एतस्यैव सा विसृष्टिः, एष उ ह्येव सर्वे देवाः ।" (बृ० १ । ४ । ६)

जो यह कहते हैं कि उसका याग करो, उसका याग करो, इस प्रकार एक-एक देवताका याग बतलाते हैं, वह इसीकी 'विसृष्टिः' बिखरा हुआ अर्थात् व्यष्टिरूप है, नि.संदेह यह ही सारे देवता हैं।

अर्थात् अग्नि उस ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ, उसीका प्रकाशक है। इसी प्रकार दूसरे देवता भी उसीके प्रकाशक हैं। इसलिये यज्ञोंमें जो अग्नि, इन्द्र आदि भिन्न-भिन्न देवताओंकी उपासना पायी जाती है, वह वास्तवमें उसी एक ब्रह्मकी उपासना है।

पुनश्च—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ (यजु० अ० ३२ म० १)

वह ही अग्नि है, वह सूर्य है, वह वायु है, वह चन्द्रमा है, वह शुक्र अर्थात् चमकता हुआ नक्षत्र है, वह ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) है, वह जल (इन्द्र) है, वह प्रजापति (विराट्) है।

स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम्। (अ० वेद १३। ४। ३)
सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः। (अ० वेद १३। ४। ४)
सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः। (अ० वेद १३। ४। ५)

वह (ईश्वर) धाता है, वह विधाता है, वही वायु, वही आकाशमें उठा मेघ है। वही अर्यमा, वही वरुण, रुद्र और महादेव है। वही अग्नि, सूर्य और महायम है।

स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्।
स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्॥
(अथर्ववेद १३। ३। १३)

वह सायंकाल अग्नि और वरुण होता है और प्रातःकाल उदय होता हुआ वह मित्र होता है, वह सविता होकर अन्तरिक्षसे चलता है, वह इन्द्र होकर मध्यसे द्युलोकको तपाता है।

यास्कने निरुक्तके दैवतकाण्ड (सप्तम अध्याय) में स्पष्ट शब्दोंमें विवेचना की है कि इस जगत्के मूलमें एक महत्त्वशालिनी शक्ति विद्यमान है, जो निरतिशय ऐश्वर्यशालिनी होनेसे ईश्वर कहलाती है। वह एक अद्वितीय है, उसी एक देवताकी बहुत रूपोंसे स्तुति की जाती है।

यथा—

महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। (७। ४। ८-९)

हानोपाय—इसी प्रकार जहाँ उत्तरमीमांसामें 'हानोपाय' अर्थात् मुक्तिका साधन, ज्ञानियों तथा सन्यासियोंके लिये, ज्ञानद्वारा तीसरे तत्त्व अर्थात् परमात्माकी उपासना बतलायी गयी है, वहाँ पूर्वमीमांसामें कर्मकाण्डी गृहस्थियोंके लिये यज्ञोंद्वारा व्यष्टिरूपसे उसी ब्रह्मकी उपासना बतलायी गयी है।

हान—किंतु 'हान' अर्थात् मुक्तिके सम्बन्धमें जैमिनि और व्यास भगवान्में कोई विशेष मत-भेद नहीं है तथा अन्य दर्शनकारोंसे भी अविरोध है।

यथा—

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः। (वेदान्त-दर्शन ४। ४। ५)

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ (३ । १०)

प्रारम्भमें यज्ञके साथ-साथ प्रजाको उत्पन्न करके ब्रह्माने (प्रजासे) कहा—'इस (यज्ञ) के द्वारा तुम्हारी वृद्धि हो, यह (यज्ञ) तुम्हारी कामधेनु हो अर्थात् यह तुम्हारे इष्ट फलोंको देनेवाला हो ।'

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ (३ । ११)

(प्रजापति ब्रह्मा यह भी बोले कि) तुम इस यज्ञसे देवताओंको संतुष्ट करते रहो (और) वे देवता (वर्षा आदिसे) तुम्हें सतुष्ट करते रहें । (इस प्रकार) परस्पर एक दूसरेको सतुष्ट करते हुए (दोनों) परम श्रेय अर्थात् कल्याण प्राप्त कर लो ।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ (३ । १२)

क्योंकि यज्ञसे सतुष्ट होकर देवता लोग तुम्हारे इच्छित (सब) भोग तुम्हे देंगे । उन्हींका दिया हुआ उन्हें (वापिस) न देकर जो (केवल स्वय) उपभोग करता है, अर्थात् देवताओंसे दिये गये अन्न आदिसे पञ्चमहायज्ञ आदिद्वारा उन देवताओंका पूजन किये बिना जो व्यक्ति खाता-पीता है, वह सचमुच चोर है ।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ (३ । १३)

यज्ञ (पञ्चमहायज्ञ आदि) करके शेष बचे हुए भागको ग्रहण करनेवाले सज्जन सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं, परंतु (यज्ञ न करके केवल) अपने लिये ही जो (अन्न) पकाते हैं, वे पापीलोग पाप भक्षण करते हैं ।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ (३ । १४)

अन्नसे प्राणिमात्रकी उत्पत्ति होती है, अन्न पर्जन्यसे उत्पन्न होता है, पर्जन्य यज्ञसे उत्पन्न होता है और यज्ञकी उत्पत्ति (वैदिक) कर्मसे होती है ।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ (३ । १५)

उस कर्मको तू वेदसे उत्पन्न जान और वेद अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ है । इससे सर्व-व्यापी परम अक्षर परमात्मा सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है ।

यहाँ तीसरे चेतनतत्त्व अर्थात् ईश्वरको व्यष्टिरूपसे प्रत्येक यज्ञका अधिष्ठातृदेव माना गया है, जिसकी उस विशेष यज्ञद्वारा उपासना की जाती है ।

यथा—

"तद् यदिदमाहुः अमुं यजामुं यज' इत्येकैकं देवम्,
एतस्यैव सा विसृष्टिः, एष उ ह्येव सर्वे देवाः ।" (बृ० १ । ४ । ६)

जो यह कहते हैं कि उसका याग करो, उसका याग करो, इस प्रकार एक-एक देवताका याग बतलाते हैं, वह उसीकी 'विसृष्टि' बिखरा हुआ अर्थात् व्यष्टिरूप है, निःसंदेह यह ही सारे देवता हैं।

अर्थात् अग्नि उस ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ, उसीका प्रकाशक है। इसी प्रकार दूसरे देवता भी उसीके प्रकाशक हैं। इसलिये यज्ञोंमें जो अग्नि, इन्द्र आदि भिन्न-भिन्न देवताओंकी उपासना पायी जाती है, वह वास्तवमें उसी एक ब्रह्मकी उपासना है।

तथा—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ (यजु० अ० ३२ म० १)

वह ही अग्नि है, वह सूर्य है, वह वायु है, वह चन्द्रमा है, वह शुक्र अर्थात् चमकता हुआ नक्षत्र है, वह ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) है, वह जल (इन्द्र) है, वह प्रजापति (विराट्) है।

स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम्। (अ० वेद १३। ४। ३)
सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः। (अ० वेद १३। ४। ४)
सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः। (अ० वेद १३। ४। ५)

वह (ईश्वर) धाता है, वह विधाता है, वही वायु, वही आकाशमें उठा मेघ है। वही अर्यमा, वही वरुण, रुद्र और महादेव है। वही अग्नि, सूर्य और महायम है।

स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्।
स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्॥
(अथर्ववेद १३। ३। १३)

वह सायंकाल अग्नि और वरुण होता है और प्रातःकाल उदय होता हुआ वह मित्र होता है, वह सविता होकर अन्तरिक्षसे चलता है, वह इन्द्र होकर मध्यसे द्युलोकको तपाता है।

यास्कने निरुक्तके दैवतकाण्ड (सप्तम अध्याय) में स्पष्ट शब्दोंमें विवेचना की है कि इस जगत्के मूलमें एक महत्त्वशालिनी शक्ति विद्यमान है, जो निरतिशय ऐश्वर्यशालिनी होनेसे ईश्वर कहलाती है। वह एक अद्वितीय है, उसी एक देवताकी बहुत रूपोंसे स्तुति की जाती है।

यथा—

महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। (७। ४। ८-९)

हानोपाय—इसी प्रकार जहाँ उत्तरमीमांसामें 'हानोपाय' अर्थात् मुक्तिका साधन, ज्ञानियों तथा सन्यासियोंके लिये, ज्ञानद्वारा तीसरे तत्त्व अर्थात् परमात्माकी उपासना बतलायी गयी है, वहाँ पूर्वमीमांसामें कर्मकाण्डी गृहस्थियोंके लिये यज्ञोंद्वारा व्यष्टिरूपसे उसी ब्रह्मकी उपासना बतलायी गयी है।

हान—किंतु 'हान' अर्थात् मुक्तिके सम्बन्धमें जैमिनि और व्यास भगवान्में कोई विशेष मत-भेद नहीं है तथा अन्य दर्शनकारोंसे भी अविरोध है।

यथा—

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः। (वेदान्त-दर्शन ४। ४। ५)

जैमिनि आचार्यका मत है कि मुक्त पुरुष (अपर) ब्रह्मरूपसे स्थित होता है, क्योंकि श्रुतिमें उसी रूपका उपन्यास (उद्देश्य) है ।

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥ (वेदान्तदर्शन ४ । ४ । ६)

औडुलोमि आचार्य मानते है कि मुक्त पुरुष चितिमात्र स्वरूपमे स्थित होता है, क्योकि यही उसका अपना स्वरूप है ।

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ (वे० द० ४ । ४ । ७)

इस प्रकार भी उपन्यास (उद्देश्य) हैं और पूर्व कहे हुए धर्म भी उसमें पाये जाते हैं, इसलिये उन दोनोंमें कोई विरोध नही है । यह बादरायण (सूत्रकार व्यासदेवजी) मानते हैं ।

अर्थात् प्रवृत्तिमार्गवाले सगुण ब्रह्मके उपासक शबल (सगुण) स्वरूपसे मुक्तिमें शबल ब्रह्म (अपर ब्रह्म) के ऐश्वर्यको भोगते हैं, जो जैमिनिजीको अभिमत है और निवृत्तिमार्गवाले निर्गुण शुद्ध ब्रह्मके उपासक शुद्ध निर्गुण स्वरूपसे शुद्ध निर्गुण ब्रह्म (परब्रह्म) को प्राप्त होते हैं जैसा कि औडुलोमि आचार्यको अभिमत है । व्यासजी दोनो विचारोको यथार्थ मानते हैं, क्योंकि श्रुतिमें दोनों प्रकारकी मुक्तिका वर्णन है ।

मीमांसकोके मोक्षकी परिभाषा इन शब्दोंमें है—'प्रपञ्चसम्बन्धविलयो मोक्षः । त्रेधा हि प्रपञ्चः । पुरुष बध्नाति तदस्य त्रिविधस्यापि बन्धस्य आत्यन्तिको विलयो मोक्ष.' । (शास्त्रदीपिका) इस जगत्के साथ आत्माके शरीर, इन्द्रिय और विषय—इन तीन प्रकारके सम्बन्धके विनाशका नाम मोक्ष है; क्योंकि इन तीन बन्धनोने ही पुरुषको जकड रक्खा है । इस त्रिविध बन्धके आत्यन्तिक नाशकी सज्ञा मोक्ष है । सांख्य और योगके अनुसार यह सम्प्रज्ञात समाधिका अन्तिम ध्येय है ।

जैमिनि ईश्वरवादी थे

पूर्वमीमांसाका मुख्य विषय यज्ञ और महायज्ञ है । इसलिये जैमिनि मुनिने प्रसङ्गप्राप्त उसमें कर्मकाण्डका ही निरूपण किया है । ईश्वरके विस्तारपूर्वक वर्णनकी, जो उत्तरमीमासाका विषय है, अपने दर्शनमें आवश्यकता नहीं देखी । इसलिये कहीं-कहीं (वैशेषिक और सांख्यके सदृश) इस दर्शनके सम्बन्धमें भी अनीश्वरवादी होनेकी शङ्का उठायी गयी है । इसके समाधानके लिये उपर्युक्त स्पष्टीकरण पर्याप्त है । अनेक व्यास-सूत्रोंसे जैमिनिजीका ईश्वरवादी होना सिद्ध होता है । यथा—

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ (वेदान्त द० १ । २ । २८)

जैमिनि आचार्य साक्षात् ही वैश्वानर पदके ईश्वरार्थक होनेमें अविरोध कथन करते हैं । तथा अध्याय १ पाद २ सूत्र ३१, अध्याय १ पाद ४ सूत्र १८, अध्याय ४ पाद ३ सूत्र ११ से १४ तक, अध्याय ४ पाद ४ सूत्र ५ जैमिनिके ईश्वरवादी होनेमे प्रमाण हैं ।

पूर्वमीमांसामें पशु-मांसकी बलिका निषेध

पूर्वमीमांसामे जो कहीं कहीं पशुओंके मासकी आहुति देनेका विधान पाया जाता है । वह पीछेकी मिलावट मालूम होती है (अथवा उसको हिंसक मासाहारी मनुष्योंके लिये यज्ञके अतिरिक्त मास-भक्षणमें प्रतिबन्धरूप समझना चाहिये) मूल सूत्रोंमें यज्ञमे मांसमात्रका निषेध है । यथा **"मांसपाकप्रतिषेधः"** (१२ । २ । २) मीमांसा । मास पकाना श्रुतिसे निषिद्ध है और सब आर्षग्रन्थोमें हिंसा वर्जित है । यथा—

सुरा मत्स्याः पशोर्मांसं द्विजातीनां बलिस्तथा।
धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे नैतद् वेदेषु कथ्यते॥

(महाभारत, शान्तिपर्व)

'सुरा, मछली और पशुओंका मास तथा यज्ञमें द्विजाति आदि मनुष्योंका बलिदान धूर्तोद्वारा यज्ञमें प्रवर्तित हुआ है—अर्थात् दुष्ट राक्षस मासाहारियोंने यज्ञमें चलाया है। वेदोंमें मासका विधान नहीं है।'

अन्य सब दर्शनोंके सदृश हम पूर्वमीमासाके भी विशेष रूपको दिखलाना चाहते थे, किंतु यह विचार करके कि उसके यज्ञादिसम्बन्धी गूढ विषय और पारिभाषिक शब्द योगमार्गवालोंके लिये अधिक रुचिकर न हो सकेंगे, हमने उसका केवल वह सामान्य रूप ही, जिसका हमारे षड्दर्शनसमन्वयसे सम्बन्ध है और जो इस ग्रन्थके पाठकोंको लाभदायक हो सकता है, दे दिया है।

मीमांसाग्रन्थ सब दर्शनोंमें सबसे बडा है। इसके सूत्रोंकी संख्या २६४४ तथा अधिकरणोंकी ९०९ हैं। ये सूत्र अन्य सब दर्शनोंके सूत्रोंकी सम्मिलित सख्याके बराबर है। द्वादश अध्यायोंमें धर्मके विषयमें ही विस्तृत विचार किया गया है। पहले अध्यायका विषय है—धर्मविषयक प्रमाण, दूसरेका भेद (एक धर्मसे दूसरे धर्मका पार्थक्य), तीसरेका अङ्गत्व, चौथेका प्रयोज्य-प्रयोजकभाव, पाँचवेंका क्रम अर्थात्—कर्मोंमें आगे-पीछे होनेका निर्देश, छठेका अधिकार (यज्ञ करनेवाले पुरुषकी योग्यता), सातवें तथा आठवेंका अतिदेश (एक कर्मकी समानतापर अन्य कर्मका विनियोग), नवेंका ऊह, दसवेंका बाध, ग्यारहवेंका तन्त्र तथा बारहवेंका विषय प्रसङ्ग है। पूर्वमीमासापर सबसे प्राचीन वृत्ति आचार्य उपवर्षकी है।

उत्तरमीमांसा

उत्तरमीमासाको ब्रह्मसूत्र, शारीरिक सूत्र, ब्रह्ममीमांसा तथा वेदका अन्तिम तात्पर्य बतलानेसे वेदान्तदर्शन और वेदान्तमीमासा भी कहते है। इस दर्शनके चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय चार पादोंमें विभक्त है।

(१) पहले अध्यायका नाम समन्वय अध्याय है; क्योंकि इसमें सारे वेदान्तवाक्योंका एक मुख्य तात्पर्य ब्रह्ममें दिखाया गया है। इसके पहले पादमें उन वाक्योपर विचार है, जिनमें ब्रह्मका चिह्न सर्वज्ञतादि स्पष्ट है। दूसरेमें उनपर विचार है, जिनमे ब्रह्मका चिह्न स्पष्ट है और तात्पर्य उपासनामें है। तीसरेमें उनपर विचार है, जिनमें ब्रह्मका चिह्न स्पष्ट है और तात्पर्य ज्ञानमें है। चौथेमें संदिग्ध पदोपर विचार है।

(२) दूसरे अध्यायका नाम अविरोध अध्याय है; क्योंकि इसमें इस दर्शनके विषयका तर्कसे श्रुतियोंका परस्पर अविरोध दिखाया गया है। इसके पहले पादमें इस दर्शनके विषयका स्मृति और तर्कसे अविरोध; दूसरेमे विरोधी तर्कोंके दोष; तीसरेमे पञ्चमहाभूतके वाक्योंका परस्पर अविरोध, और चौथेमें लिङ्ग-शरीर-विषयक वाक्योंका परस्पर अविरोध दिखाया गया है।

(३) तीसरे अध्यायका नाम साधन अध्याय है; क्योंकि इसमें विद्याके साधनोंका निर्णय किया गया है। इसके पहले पादमें मुक्तिसे नीचेके फलोंमें त्रुटि दिखलाकर उनसे वैराग्य, दूसरेमें जीव और

ईश्वरमें भेद दिखलाकर ईश्वरको जीवके लिये फलदाता होना; तीसरेमें उपासनाका स्वरूप और चौथे पादमें ब्रह्मदर्शनके बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग साधनोंका वर्णन है ।

(४) चौथे अध्यायमें विद्याके फलका निर्णय दिखलाया है, इसलिये इसका नाम फलाध्याय है । इसके पहले पादमें जीवन्मुक्ति; दूसरेमें जीवन्मुक्तकी मृत्यु; तीसरेमें उत्तरगति और चौथेमें ब्रह्मप्राप्ति और ब्रह्मलोकका वर्णन है ।

अधिकरण——पादोंमें जिन-जिन अवान्तर विषयपर विचार किया गया है, उनका नाम अधिकरण है ।

अधिकरणोंके विषय——अधिकरणोंमे निम्नलिखित विषयोंपर विचार किया गया है——

१. ईश्वर, २. प्रकृति, ३. जीवात्मा, ४. पुनर्जन्म, ५. मरनेके पीछेकी अवस्थाएँ, ६. कर्म, ७ उपासना, ८ ज्ञान, ९. बन्ध, १०. मोक्ष ।

ब्रह्मसूत्रमें व्यासदेवजीने जहाँ दूसरे आचार्योंके मत दिखलाकर अपना सिद्धान्त बतलाया है, वहाँ अपनेको बादरायण नामसे बोधन किया है । इस दर्शनके अनुसार——

१ *'हेय'*——त्याज्य जो दुःख है उसका मूल जडतत्त्व है अर्थात् दुःख जडतत्त्वका धर्म है ।

२. *'हेयहेतु'*——त्याज्य जो दुःख है उसका कारण अज्ञान अर्थात् जडतत्त्वमे आत्मतत्त्वका अध्यास अर्थात् जडतत्त्वको भूलसे चेतनतत्त्व मान लेना है । चारों अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और इन्द्रियों तथा शरीरमें अहभाव और उनके विषयमें ममत्व पैदा कर लेना ही दुःखोमें फँसना है ।

३. *'हान'*——दुःखके नितान्त अभावकी अवस्था 'स्वरूपस्थिति' अर्थात् जडतत्त्वसे अपनेको सर्वथा भिन्न करके निर्विकार निर्लेप शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थित होना है ।

४. *'हानोपाय'*——स्वरूप-स्थितिका उपाय 'परमात्मतत्त्वका ज्ञान' है, जहाँ दुःख, अज्ञान, भ्रम आदि लेशमात्र भी नहीं हैं और जो पूर्णज्ञान और शक्तिका भण्डार है ।

द्वैत-अद्वैत सिद्धान्तके भेद

आत्मतत्त्वके सम्बन्धमें द्वैत-अद्वैत आदि मतावलम्बियोंने शब्दोंके अर्थ निकालनेमें खासी खींचातानी की है । अद्वैतवादी 'हान' अर्थात् स्वरूपस्थिति, मोक्षकी अवस्थामें आत्मतत्त्व और परमात्मतत्त्वकी भिन्नता नहीं मानते । उनके मतानुसार व्यवहार-दशामें आत्मतत्त्वके रूपमें परमात्मतत्त्वका ही व्यवहार होता है । मुक्तिकी अवस्थामें आत्मतत्त्व परमात्मतत्त्वमें, जो इसका ही अपना वास्तविक स्वरूप है, अवस्थित रहता है । द्वैतवादी आत्मतत्त्व और परमात्मतत्त्वमें जडतत्त्वसे विजातीय भेद मानते हैं; और आत्मतत्त्व-परमात्मतत्त्वमें परस्पर सजातीय भेद मानते हैं——अर्थात् आत्मा तथा परमात्मा परस्पर जडतत्त्वके सदृश भिन्न नहीं हैं; किंतु एकजातीय होते हुए भी अपनी-अपनी अलग सत्ता रखते हैं । मुक्तिकी अवस्थामें आत्मा परमात्माको प्राप्त होकर उसके सदृश, दुःखोको त्यागकर, ज्ञान और आनन्दको प्राप्त होता है ।

इसी प्रकार जडतत्त्वके सम्बन्धमें भी उनका मतभेद है । अद्वैतवादी जडतत्त्वकी सत्ता परमात्मतत्त्वसे भिन्न नहीं मानते, उसीमे आरोपित मानते हैं, जैसे रस्सीमें साँप और सीपमे चाँदीकी सत्ता आरोपित है, वास्तविक नहीं । इस प्रकार अद्वैतवादी जडतत्त्वको 'अनिर्वचनीय माया' अथवा 'अविद्या' मानते हैं, जो न सत् है न असत् । सत् इस कारण नहीं कि मुक्ति अर्थात् स्वरूपस्थितिकी अवस्थामें

उसका नितान्त अभाव हो जाता है और असत् इसलिये नहीं कि सारा व्यवहार इसीमें चल रहा है, किंतु जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण ब्रह्म या चेतनतत्त्व ही है; क्योंकि माया ब्रह्मसे अलग कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखती, वह ब्रह्महीकी विशेष शक्ति अथवा सत्ता है । ब्रह्ममें कोई परिणाम नहीं होता, वह सदा एकरस है । जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय मायाका परिणाम है; यह केवल चेतन सत्तामें भ्रमसे भासता है । यह सिद्धान्त विवर्त्तवाद कहलाता है, जिसमें ब्रह्मको जगत्का विवर्ती उपादान कारण माना गया है, अर्थात् ब्रह्म अपने स्वरूपको किंचिन्मात्र भी नहीं बदलता है; परंतु भ्रमसे बदला-सा प्रतीत होता है ।

नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका ।
सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी ॥

'माया न असद्रूप है न सद्रूप और न उभयात्मिका ही । वह सत्-असत् दोनोंसे अनिर्वचनीय मिथ्यारूपा और सनातन (नित्य) है ।'

यहाँ केवल शब्दोंका उलट-फेर है । वास्तवमें तो इससे जगत्का उपादान कारण माया ही सिद्ध होती है । मायाको चाहे सत् कहो, चाहे असत्, चाहे सत् और असत् दोनोसे विलक्षण ! यथा—

मायामेघो जगन्नीरं वर्षत्येष यतस्ततः ।
चिदाकाशस्य नो हानिर्न च लाभ इति स्थितिः ॥

'मायारूपी मेघसे जगत्रूपी नीर बरस रहा है और आकाशके समान निर्लेप चेतनकी कुछ हानि नहीं, न वह आकाशरूपी ब्रह्म भीगता या गीला ही होता है ।'

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥

(श्वेता० ४ । ९-१०)

'छन्द, यज्ञ (हविर्यज्ञ), क्रतु (ज्योतिष्टोमादि), व्रत, भूत, भविष्यत् और जो कुछ और वेद बतलाते हैं, इस सबको मायाका स्वामी (मायी) इससे रचता है और उसमें दूसरा (पुरुष) मायासे रुका (बँधा) है । प्रकृतिको माया जानो और महेश्वरको मायी, सारा विश्व उस (मायी—मायाशबल) के अङ्गोंसे व्याप्त है ।'

नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन् संतिष्ठते जगत् ।
तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामन्ये परे त्वणून् ॥ (बृहद्वासिष्ठ)

'नाम और रूपसे रहित यह जगत् जिसमे ठहरता है, उसको कोई (जगत्का उपादान होनेसे) प्रकृति कहते हैं, दूसरे (जगत्की मोहक होनेसे) माया बोलते है और कुछ लोग परमाणु नाम लेते हैं ।'

द्वैतवादमें इस जड प्रकृतिको एक स्वतन्त्र तत्त्व 'प्रकृति' नामसे मानते हैं । मुक्तिकी अवस्थामें इसका नाश केवल मुक्तिवालोंके लिये होता है । इसका अपने स्वरूपसे अभाव नहीं होता, क्योंकि जो मुक्ति-अवस्थाको प्राप्त नहीं हुए हैं, उनके लिये यह बनी रहती है ।

यथा—

'कृतार्थं प्रतिनष्टमप्यनष्टं सदन्यसाधारणत्वात् । (योगदर्शन २ । २२)

'जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया है, उसके लिये नष्ट हुआ भी (वह अपने स्वरूपसे) नष्ट नहीं होता, क्योंकि वह दूसरोंके साझेकी वस्तु है ।' यही प्रकृति जगत्का उपादान कारण है, जगत् इसका कार्य है । जिस प्रकार घट (घड़ा) कार्य है, मिट्टी उसका उपादान कारण है, कुम्हार निमित्त कारण है और इसका प्रयोजन पाकादि कार्योंमें लाना है, इसी प्रकार प्रकृति जगत्का उपादान कारण, ब्रह्म निमित्त कारण और पुरुषोंका भोग अपवर्ग इसका प्रयोजन है ।

द्वैत-अद्वैत सिद्धान्तके भेदमें अविरोध

जड तथा चेतनतत्त्वके सम्बन्धमें द्वैत-अद्वैतवादियोंके सिद्धान्तमें जो भेद दिखलाया गया है वास्तवमें वह कोई भेद नहीं है । किसी साधारण दृश्यका यदि कई लेखक वर्णन करें तो वे सब एक-जैसे नहीं हो सकते । लेखकोंके विचार, उनकी रुचि, दृष्टिकोण और लेखनशैलीके अनुसार भिन्नताका होना आवश्यक है । ये तीनो तत्त्व केवल अनुभवगम्य हैं, बुद्धिसे अधिक सूक्ष्म होनेके कारण वर्णनमें ठीक-ठीक नहीं आ सकते । इस कारण तत्त्ववेत्ताओंकी वर्णनशैलीमें भिन्नताका होना स्वाभाविक है । बाह्यदृष्टिवालोंको भले ही यह भिन्नता वास्तविक प्रतीत हो, किंतु सूक्ष्मदृष्टिसे देखनेवालोंके लिये इसमें कोई भिन्नता नहीं ।

इस प्रकार—

'हान'—दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति अर्थात् स्वरूपस्थिति वेदान्तके द्वैत-अद्वैत दोनों ही सिद्धान्तोंका अन्तिम लक्ष्य है । वह स्वरूपस्थिति 'ब्रह्मसदृश' होना हो अथवा 'ब्रह्मस्वरूप' होना हो, यह केवल शब्दोंका उलट-फेर ही है । इसी प्रकार 'हेयहेतु' दुःखका कारण जडतत्त्व है, इसका आत्मतत्त्वसे सयोग हटाना दोनो सिद्धान्तवालोंका ध्येय है । अद्वैतवादियोंने इसको रज्जुमें सर्पके सदृश, परमात्मतत्त्वमें आरोपित एक कल्पित वस्तु बतलाकर आत्मतत्त्वसे इसका संयोग छुड़ाया है । द्वैतवादियोंने इसको आत्मतत्त्वसे सर्वथा भिन्न एक अलग तत्त्व दिखलाकर उसमेंसे आत्मतत्त्वका अध्यास हटाया है ।

'हानोपाय'—दुःखकी निवृत्तिका साधन परमात्मतत्त्वका ज्ञान दोनो सिद्धान्तवालोंके लिये समानरूपसे माननीय है । यही वेदान्तका मुख्य विषय है ।

हमने केवल द्वैत और अद्वैत सिद्धान्तोंका वर्णन किया है । अन्य सम्प्रदायोंके 'विशिष्टाद्वैत', 'शुद्धाद्वैत', 'द्वैताद्वैत' इत्यादि सब सिद्धान्त जिनका इसी प्रकरणके अन्तमें वर्णन किया जायगा, इन्हीं दो मुख्य सिद्धान्तोंके अन्तर्गत हैं ।

यहाँ इतना बतला देना आवश्यक है कि परिणामवाद सांख्य और योगका सिद्धान्त, जिसका वर्णन चौथे प्रकरणमें किया जायगा, एक अंशमें अद्वैतवादसे मिलता है अर्थात् 'स्वरूपावस्थिति' 'परममुक्ति' की अवस्थामें आत्मतत्त्व और परमात्मतत्त्वकी अभिन्नता होती है । व्यवहार दशामें आत्मतत्त्वके रूपमें परमात्मतत्त्वका ही व्यवहार होता है और दूसरे अंशमें द्वैतवादियोंसे मिलता है । अर्थात् जडतत्त्व एक स्वतन्त्रतत्त्व त्रिगुणात्मक प्रकृतिनामसे है । परम मुक्तिकी अवस्थामें इसका नाश केवल मुक्तिवालोंके लिये हो जाता है । दूसरोंके लिये स्वरूपसे इसका अभाव नहीं होता ।

वेदान्तदर्शनका प्रथम सूत्र है—

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'

'अब ब्रह्मके विषयमें विचार आरम्भ होता है ।'

दूसरा सूत्र है—

'जन्माद्यस्य यतः'

'इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय जिससे होती है अर्थात् जो जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका निमित्त कारण है, वह ब्रह्म है ।' जैसा कि श्रुति बतलाती है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद् विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्म ॥ (तै० ३ । १)

'जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जीते है और मरते हुए जिसमें लीन होते हैं, उसकी जिज्ञासा कर, वह सत्य ब्रह्म है ।'

वेदान्तदर्शनका तीसरा सूत्र है—

'शास्त्रयोनित्वात्' (१ । १ । ३)

ब्रह्म 'शास्त्रप्रमाणक है ।' ब्रह्म इन्द्रियोंकी पहुँचसे परे है, इसलिये वह प्रत्यक्षका विषय नही, अनुमान भी उसकी झलकमात्र देता है । पर शास्त्र उसका दिव्य स्वरूप दर्शाता है, जिससे अनुमान इधर ही रह जाता है । अतएव कहा है—

'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः । नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम् (तै० ब्रा० ३ । १२)

'जिस तेजसे प्रदीप्त होकर सूर्य तपता है, उस महान् (प्रभु) को वह नही जानता जो वेदको नहीं जानता है ।'

वेदान्तदर्शनका चौथा सूत्र है—

'तत्तु समन्वयात्' (१ । १ । ४)

'वह ब्रह्मका शास्त्रप्रमाणक होना एक तात्पर्यसे है ।' सारे शास्त्रका एक तात्पर्य ब्रह्मके प्रतिपादनमें है, अतएव कहा है—

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (कठ० १ । २ । १५)

'सारे वेद जिस पदका अभ्यास करते है ।' इसलिये श्रुतिका तात्पर्य एक ब्रह्मके प्रतिपादनमें है, कहीं शुद्धस्वरूपसे, कही शबलस्वरूप अथवा उपलक्षणसे ।

वेदान्तदर्शनके आदिके ये चारों सूत्र वेदान्तकी चतुःसूत्री कहलाते हैं । इनमें सामान्यरूपसे वेदान्तका विचार कर दिया है, विशेषरूपसे आगे किया है ।

वेदान्तमें परमात्मतत्त्व (ब्रह्म) का दो प्रकारसे वर्णन है—एक उसके शुद्ध स्वरूपका, जो प्रकृतिसे पृथक् अपना निजी निर्गुण केवल शुद्ध स्वरूप है । यह 'सर्वतत्त्वैर्विशुद्धम्' सारे तत्त्वोंसे निखरा हुआ (श्वे० २ । १५) है । स्वरूपमात्र होनेसे उसे शुद्ध कहते हैं । दूसरा, प्रकृतिके सम्बन्धसे जो उसका शबल अपर अथवा सगुणरूप है, वह है ।

इस शबल स्वरूपका भी समष्टि-व्यष्टि भेदसे दो प्रकारका वर्णन किया गया है अर्थात् सारे विश्वमे उसकी महिमाका एक साथ देखना उसके समष्टि रूपका दर्शन है और उसके साथ उसका वर्णन समष्टि रूपका वर्णन है। इसके तीनो भेद—

१. विराट् (चेतनतत्त्व+स्थूल जगत्),

२. हिरण्यगर्भ (चेतन तत्त्व+सूक्ष्म जगत्) और

३. ईश्वर (चेतन-तत्त्व+कारण जगत्)

योगदर्शन समाधिपाद सूत्र २८ पर 'विशेष विचार'में विस्तारपूर्वक दिखलाये गये हैं। शबल स्वरूपको भिन्न-भिन्न शक्तियोमे देखना उसके व्यष्टि रूपका दर्शन है और उनके द्वारा वर्णन उसके व्यष्टि रूपका वर्णन है।

वेदान्त (उपनिषदो) में शबल ब्रह्मकी उपासना समष्टि और व्यष्टि दोनों प्रकारसे बतलायी गयी है। वेदान्तदर्शनमें इसी बातको स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वेदो और उपनिषदोमें जहाँ-जहाँ इन्द्र, सविता, वैश्वानर, अग्नि, आकाश तथा प्राणादिकी उपासना बतलायी गयी है, वह उन दिव्य शक्तियोकी नहीं है, किंतु व्यष्टिरूपसे ब्रह्मकी ही उपासना है।

पूर्वमीमासामें व्यष्टिरूपसे सगुण ब्रह्मकी यज्ञोंद्वारा उपासना बतायी गयी है, इसलिये कई एक तार्किकोंको इसके बहु ईश्वर तथा अनीश्वरवादी होनेकी शङ्का हुई है। इसके अनुसार उपासक मुक्तिमें अपने सगुण स्वरूप अर्थात् जीवरूपसे अपने सगुणोपास्य ईश्वर अर्थात् अपर ब्रह्मके साथ उसके ऐश्वर्य और आनन्दको भोगता है। अन्य चार दर्शनकारो (न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग) को परब्रह्म अर्थात् शुद्धरूपेण परमात्माकी उपासना अभिमत है, इसलिये कई एक तार्किकोको उनके अनीश्वरवादी होनेकी शङ्का हुई है। इनके अनुसार उपासक कैवल्यमें अपने शुद्ध आत्मस्वरूपसे परब्रह्म निर्गुण ब्रह्म, अर्थात् शुद्ध परमात्मतत्त्वमें एकीभावसे लीन हो जाता है।

वेदान्तमें ब्रह्मका वर्णन कहीं-कहीं अन्य आदेशसे जैसे 'तत्त्वमसि', कहीं 'अहङ्कारादेश' से जैसे 'अहं ब्रह्मास्मि' और कहीं 'आत्मादेश'से जैसे 'अयमात्मा ब्रह्म' से किया गया है। अद्वैतवादी इन वाक्योको अद्वैतपरक समझकर महावाक्य कहते हैं।

प्राचीन वेदान्त सांख्य और योगके अनुसार इन महावाक्योका अभिप्राय शरीरमें भासनेवाले आत्माके शुद्ध स्वरूपकी परब्रह्म परमात्माके शुद्ध स्वरूपके साथ अभिन्नताकी प्रतीति कराना है। इनमें 'त्वं', 'अहम्', 'अयमात्मा' आत्माके शुद्ध स्वरूपके सूचक है और 'तत्', 'ब्रह्म', 'परब्रह्म' परमात्माके शुद्ध स्वरूपका निर्देश करते हैं।

उपलक्षणसे ब्रह्मका वर्णन

जहाँ बाह्य पदार्थके द्वारा उसके अन्तरात्मापर दृष्टि ले जाना अभिप्रेत होता है, वहाँ वह बाह्य पदार्थ उसके अंदर स्थित परमात्माके जाननेका उपलक्षण होता है, जैसे—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम् यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः। (बृह० ३। ७। ३)

जो पृथिवीमें रहता हुआ पृथिवीसे अलग है; जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है, जो पृथिवीके भीतर रहकर नियमन करता है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है, (वेदान्तदर्शन १ । २ । १८ से २० तक अन्तर्यामिप्रकरण) ।

ब्रह्म सगुण और सविशेष भी है और निर्गुण और निर्विशेष भी; इन दोनोंमें यह भेद है कि सगुण रूपमें बाह्यशक्तिसे विशिष्ट रूप कहा हुआ होता है और निर्गुण में उसके परे उसमें शक्ति रहता हुआ केवल स्वरूप होता है ।

चेतनतत्त्वका शुद्ध स्वरूप

तदव्यक्तमाह हि । (वेदान्त० ३ । २ । २३)

'उसे उपनिषदोंने भी अव्यक्त शुद्ध स्वरूप है ।' जैसा कि श्रुति कहती है—

शुद्धमपापविद्धम् । (ईश० ८)

'वह शुद्ध है, पापसे न बींधा हुआ है ।'

शुद्ध चैतन्यरूप ज्ञानवान नहीं है, किंतु ज्ञान-स्वरूप है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । (तै० २ । १ । १)

'(शुद्ध) ब्रह्म, सत्य, ज्ञान और अनन्त है ।'

तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः । (मुण्डक०)

'वह शुभ्र ज्योतियोंका ज्योति है ।'

इसका शुद्ध स्वरूप प्रायः नेति-नेति निषेधमुख शब्दोंसे वर्णन किया गया है; क्योंकि उसका स्वरूप क्या है, यह बात तो आत्मानुभवसे ही जानी जा सकती है; उपदेश केवल यही हो सकता है कि उस वस्तुओंसे उसका परे होना जँचा दिया जाय, जैसा कि महर्षि याज्ञवल्क्यने देवी गार्गीको उपदेश किया है—

एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छाय-मतमोऽवाय्वनाकाशमसंगमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तर-मबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन । (बृह० ३ । ८ । ८)

'हे गार्गि ! इसको ब्राह्मण अक्षर कहते हैं, वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न लम्बा है, न लाल है (उसमें कोई रंग नहीं है), बिना स्नेहके है, बिना छायाके है, बिना अँधेरेके है, वह वायु नहीं है, आकाश नहीं है, वह असङ्ग है, रससे रहित है, गन्धसे रहित है, उसके नेत्र नहीं, श्रोत्र नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, उसके तेज (जीवनकी गर्मी) नहीं, प्राण नहीं, मुख नहीं, परिमाण नहीं, उसके कुछ अंदर नहीं, उसके कुछ बाहर नहीं, न वह कुछ भोगता है, न कोई उसको उपभोग करता है ।'

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ (मुण्डक० १ । १ । ६)

'जो आँखोंसे दिखलायी देनेवाला नहीं है, जो हाथोंसे ग्रहण नहीं किया जा सकता, जिसका कोई गोत्र नहीं है, जिसका कोई वर्ग (रंग अथवा आकृति) नहीं है; जिसकी न (भौतिक) चक्षु है, न

श्रोत्र है, जिसके न हाथ हैं, न पैर हैं, जो नित्य है, विभु है, सर्वव्यापक है, सूक्ष्मसे सूक्ष्म है, जो नाशरहित है, जो सब भूतोंका योनि है, उसको धीर लोग देखते हैं।'

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्, अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधि, इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे। (केन० १ । ३)

'न वहाँ नेत्र पहुँचता है, न वाणी पहुँचती है, न ही मन (पहुँचता है), न समझते है, न जानते हैं, जैसे उसका उपदेश करे, वह जाने हुएसे निराला है (और) न जाने हुएसे अलग, यह सुना है पूर्वजोंसे, जिन्होंने हमारे लिये उसकी व्याख्या की है।'

यदातमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः। (श्वे० ४ । १८)

'जब ब्रह्मज्ञानका प्रकाश उदय होता है, तब वहाँ न दिन है न रात है, न सत् है न असत् (न व्यक्त है न अव्यक्त है), वहाँ केवल शिव है।'

हमारा सारा व्यवहार जडतत्त्व अथवा शबल चेतनतत्त्वमें चल रहा है। शुद्ध चेतनतत्त्व जडतत्त्वसे विलक्षण है। वह वैशेषिक दर्शनमें बतलाये हुए द्रव्योंके सदृश किसी गुण, कर्म अथवा समवायकी अपेक्षा नहीं रखता। उपनिषदोंमें महत्त्वसे उसकी विचित्र व्यापकता और अणुत्वसे विचित्र सूक्ष्मताका, न कि परिच्छिन्नताका निर्देश किया है। जैसे—

अणोरणीयान् महतो महीयान्। (श्वे० ३ । २०, कठ० २ । २०, तै० आ० १० । १२ । १)

'अणु-से-अणु (सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर) और महान्से महत्तर।'

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ (कठ० १ । २ । २२)

'उस महान् विभु आत्माको जानकर धीर पुरुष शोकसे परे हो जाता है।' शुद्ध चेतनतत्त्व अपरिणामी, निर्विकार, निष्क्रिय (केवल ज्ञान-स्वरूप) कूटस्थ नित्य है, जडतत्त्व विकारी, सक्रिय और परिणामी नित्य है; जड़तत्त्वमें ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रिया चेतनतत्त्वकी संनिधिमात्रसे है। यह सिद्धान्त सांख्य और योगके समान वेदान्तको भी अभिमत है। जैसे—

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। (श्वे० ६ । १९)

'वह निरवयव है, निश्चल है, शान्त, निर्दोष और निर्लेप है।'

अनेजदेकं मनसो जवीयः। (ईश० ४)

'अडोल, एक, मनसे बढ़कर वेगवाला (सर्वत्र व्यापक होनेके कारण) है।' गीतामें इसका विस्तारके साथ वर्णन है। जैसे—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ (२ । २४)

'यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है तथा यह आत्मा निःसंदेह नित्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है।'

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ (३ । २७)

Vaidic Library

ब्रह्मसूत्रमें योग-साधनकी शिक्षा

आसीनः सम्भवात् ॥ (ब्रह्मसूत्र ४ । १ । ७)

शङ्का—उपासनाके मानसिक होनेसे शरीर-स्थितिका अनियम है । इसपर बतलाते हैं—

उत्तर—उपासना किसी आसनसे बैठकर करनी चाहिये, क्योंकि एक प्रत्ययका प्रवाह करना उपासना है और उसका चलते या दौड़ते हुए पुरुषमें सम्भव नहीं है; क्योंकि गति आदि चित्तमें विक्षेप करनेवाले है । खडे रहनेवालेका भी मन देहके धारण करनेमें व्यग्र रहता है, इसलिये वह सूक्ष्म वस्तुके निरीक्षण करनेमें समर्थ नहीं होता । लेटे हुएका मन भी सम्भव है कि अकस्मात् ही निद्रासे विवश हो जाय, किंतु बैठा हुआ पुरुष इस प्रकारके बहुत-से दोषोंका परिहार भलीभाँति कर सकता है । इस-लिये उस उपासनाका होना सम्भव है । (शाङ्करभाष्यार्थ)

ध्यानाच्च ॥ (ब्रह्मसूत्र ४ । १ । ८)

और एक प्रत्ययका प्रवाह करना ही 'ध्यायति' (ध्यै धातु) का अर्थ है और 'ध्यायति' शब्द, जिनकी अङ्ग-चेष्टाएँ शिथिल हों, दृष्टि शिथिल हो और चित्त एक ही विषयमें आसक्त हो, उनमें उपचारसे योजित होना दिखायी देता है । जैसे कि बगुला ध्यान करता है, जिसका प्रिय विदेशमें गया है, वह स्त्री ध्यान करती है । बैठा हुआ पुरुष आयासरहित होता है, इससे भी उपासना बैठे हुएका कर्म है । (शाङ्करभाष्यार्थ)

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ (ब्रह्मसूत्र ४ । १ । ९)

और 'ध्यायतीव पृथिवी' (पृथिवी मानो ध्यान करती है) इस श्रुतिमें पृथिवी आदिमें अचलत्वकी अपेक्षासे ही 'ध्यायति' शब्दका प्रयोग होता है और वह उपासना बैठे हुएका काम है, इसमें लिङ्ग है । (शाङ्करभाष्यार्थ)

स्मरन्ति च ॥ (ब्रह्मसूत्र ४ । १ । १०)

'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः' (पवित्र देशमें अपना स्थिर आसन स्थापित करके) इत्यादि स्मृति-वचनसे शिष्टलोग उपासनाके अङ्गरूपसे आसनका विधान करते हैं । इसीसे योगशास्त्रमें पद्मक आदि आसनोका उपदेश है । (शाङ्करभाष्यार्थ)

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ (ब्रह्मसूत्र ४ । १ । ११)

विशेषता न पाये जानेसे जहाँ चित्त एकाग्र हो सके, उसी देशमें बैठकर समाधि लगावे अथवा उपासना करे अर्थात् समाधि अथवा उपासनाका सम्बन्ध चित्तवृत्ति-निरोधसे है । किसी दिशा, काल और देश-विशेषसे नहीं ।

जिस दिशा, देश या कालमें उपासकका मन सहजमें ही एकाग्र हो, उसी दिशा आदिमें उपासना (ध्यान) करनी चाहिये, क्योंकि पूर्व दिशा, पूर्वाङ्ग, पूर्व देशकी ओर निम्न स्थान आदिके समान यहाँ विशेषका श्रवण नहीं है, क्योंकि अभीष्ट एकाग्रता सर्वत्र तुल्य है । परंतु कितने ही विशेष भी कहते हैं । यथा—

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥ (श्वे० २ । १०)

'सम और पवित्र, सूक्ष्म पाषाण, वह्नि और रेतीसे वर्जित, शब्द और जलाशय आदिसे वर्जित, मनके अनुकूल और नेत्रोंको पीडा न देनेवाले निर्वात या एकान्त प्रदेशमें बैठकर योग साधन करे।'

इसपर कहते हैं--ठीक है, इस प्रकारका नियम है, परतु ऐसे नियमके रहनेपर भी विशेषमे नियम नहीं है, ऐसा सुहृद् होकर आचार्य कहते हैं। 'मनोऽनुकूले' 'मनके अनुकूल' यह श्रुति जहाँ एकाग्रता है, वहीं, ऐसा इतना ही दिखलाती है। (शाङ्करभाष्यार्थ)

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ (ब्र० सू० ३ । २ । २४)

उक्त परमात्माको कोई धीर पुरुष समाधि-दशामें जान सकता है। यह—

'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।' (कठ० २ । १ । १)

'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलंध्यायमानः ।' (मु० ३ । १ । ८)

यं विनिद्रा जितश्वासाः संतुष्टाः संयतेन्द्रियाः ।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥

इत्यादि श्रुति और स्मृतिसे जाना जाता है।

अर्थात् समस्त प्रपञ्चसे शून्य और अव्यक्त इस आत्माको योगीलोग सराधन समयमे देखते है। संराधन समयमें योगीलोग परमात्माको देखते हैं, यह कैसे समझा जाता है ? प्रत्यक्ष और अनुमानसे, श्रुति और स्मृतिसे जाना जाता है, क्योंकि 'कश्चिद्धीर.०' (जिसकी नेत्रादि इन्द्रियाँ विषयोमे व्यावृत हो गयी हैं ऐसा अमृतको चाहनेवाला कोई विवेकी पुरुष प्रत्यगात्माको देखता है) 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व०' (ज्ञानकी निर्मलतासे जिसका अन्त करण विशुद्ध हुआ है, वह ध्यान करता हुआ सब अवयवभेदसे वर्जित आत्माको देखता है।) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। उसी प्रकार—

'य विनिद्रा जितश्वासा.०' (निद्रारहित श्वासको जीते हुए मनुष्य, जिसकी इन्द्रियाँ वशमें हैं ध्यान करते हुए जिस ज्योतिको देखते हैं, उस योगलभ्य आत्माको नमस्कार है, उस सनातन भगवान्को योगी सम्यक्रूपसे देखते हैं। इस प्रकारकी स्मृतियाँ भी हैं। (शाङ्करभाष्यार्थ)

दोनों मीमांसाओंके ग्रन्थकार आचार्योंका समय और उनसे पूर्व आचार्योंके नाम

उत्तरमीमासा अर्थात् ब्रह्मसूत्रोंके कर्ता महर्षि बादरायण हैं। इनके सम्बन्धमें ऐसा निश्चय प्रसिद्ध और प्रचलित है कि यही पराशर ऋषिके पुत्र कृष्णद्वैपायन वेदव्यास हैं, जो महाभारतके समयमें हुए हैं। जिन्होंने कुरुक्षेत्रमें होनेवाले युद्धकी सारी घटनाओंसे धृतराष्ट्रको जानकारी कराते रहनेके लिये सजयको दिव्यदृष्टि दी थी और जो स्वय महाभारत और गीताके रचयिता बतलाये जाते हैं। कपिलमुनि, आसुरि, पञ्चशिख, जैगीषव्य, वार्षगण्य, जनक और पराशर--इन सब प्राचीन आचार्योंने क्रमशः सांख्यज्ञानमें निष्ठा प्राप्त करके जगत्में उसका प्रचार किया था। वास्तवमें साख्य ही अपने व्यापकरूपमें उपनिषदोकी प्राचीन वेदान्त फिलासफी है और जिसको पिछले कालके साम्प्रदायिक आचार्योंने, जिनका हम आगे वर्णन करेंगे, अपने सम्प्रदायकी संकीर्णतामें संकुचित करके दर्शाया है, वह सब नवीन वेदान्तविचार हैं। बादरायणका अर्थ बादरिके पुत्र है। इससे सिद्ध होता है कि पराशर ऋषिका दूसरा नाम बादरि था। बादरि आचार्यका

नाम ब्रह्मसूत्रोमे चार वार (१ । २ । ३०, ३ । १ । ११, ४ । ३ । ७, ४ । ४ । १०) आया है और जैमिनिके मीमांसा सूत्रोमें भी चार स्थानों (३ । १ । ३, ६ । १ । २७, ८ । ३ । ६, ९ । २ । ३०) में आया है । इससे सिद्ध होता है कि वादरि ऋषिने कर्म-मीमासा और ज्ञान-मीमासा दोनोंपर सूत्रग्रन्थ बनाये थे । इनके मतमें वैदिक कर्ममें सबका अधिकार है । उसमें जन्मसे जातिभेदको कोई स्थान नहीं दिया गया है ।

बादरायणके ब्रह्मसूत्रमें जैमिनिका नाम (१ । २ । २८, १ । २ । ३१, १ । ३ । ३१, १ । ४ । १८, ३ । २ । ४०, ३ । ४ । २-७, ३ । ४ । १८, ३ । ४ । ४०, ४ । ३ । १३, ४ । ४ । ५, ४ । ४ । ११) ग्यारह वार आया है । औडुलोमि आचार्यका नाम (ब्र० सू० १ । ४ । २१, ३ । ४ । ४५, ४ । ४ । ६ में) तीन वार आया है और काशकृत्स्न आचार्यका नाम (ब्रह्म० सू० १ । ४ । २२ में) एक वार आया है । आत्रेय आचार्यका नाम (ब्रह्म० सू० ३ । ४ । ४४ में) और जैमिनिदर्शनमें (४ । ३ । १८, ६ । १ । २६) दो वार आया है । आचार्य आश्मरथ्यका नाम (ब्रह्म० सू० १ । २ । २९, १ । ४ । २०) और जैमिनिसूत्र (३ । ५ । १६) में आया है । आचार्य कार्ष्णाजिनिका नाम (ब्रह्म० सू० ३ । १ । ९) और मीमासासूत्र (४ । ३ । १७, ६ । ७ । ३५) में आया है । इससे सिद्ध होता है कि जैमिनिसूत्र और बादरायणसूत्रोंसे पूर्व दोनों पूर्वमीमासा और उत्तरमीमासापर बहुतसे प्राचीन आचार्योंके सूत्र विद्यमान थे और परस्पर विचारोमें मत-भेद भी था, क्योकि ऐसे गूढ विषयोमें विचारोकी भिन्नताका होना स्वाभाविक ही है । किंतु उन सूत्रोके भाष्यकार नवीन साम्प्रदायिक आचार्योकी कटाक्ष (Controversy) की शैलीके विरुद्ध वे अपने विचारोंसे भिन्नता रखनेवाले आचार्योंके मतको आदर और सम्मानसे दिखलाते थे ।

वेदान्तपर भाष्यकार आचार्योंके नवीन सम्प्रदाय

प्राचीन समयमें उपनिषद् वेदान्त कहलाते थे, किंतु वे भिन्न-भिन्न समयमे भिन्न-भिन्न ऋषियोंद्वारा प्रचार किये गये तथा बनाये गये थे । इसलिये उनकी विचार-भिन्नताको जिसका हो जाना स्वाभाविक था जब बादरायण आचार्यने अपने ब्रह्मसूत्रोंमें सब उपनिषदोंकी विचारैकता सिद्ध कर दी, तब यह ब्रह्मसूत्र भी उपनिषदोके समान ही प्रामाणिक माना जाने लगा । इन्हीं बादरायण आचार्यद्वारा व्यास नामसे भगवद्गीतामें सारे उप-निषदोका सार अति निपुणतासे समझाया गया है । इसलिये अन्तमें उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता ये तीनों प्रस्थानत्रयी नामसे वेदान्तके मुख्य प्रामाणिक ग्रन्थ माने जाने लगे । बौद्ध धर्मके पतनके पश्चात् प्रत्येक नवीन सम्प्रदायके प्रवर्तक आचार्यको वेदान्तके प्रस्थानत्रयीके इन तीनों भागोंपर अपने सम्प्रदायके सिद्धान्तके आधारपर भाष्य लिखकर यह सिद्ध करनेकी आवश्यकता हुई कि उसका सम्प्रदाय वेदान्तके अनुसार है और अन्य सम्प्रदाय इसके विरुद्ध हैं । साम्प्रदायिक दृष्टिसे प्रस्थानत्रयीपर भाष्य लिखनेकी रीति चल पड़नेपर भिन्न-भिन्न पण्डित अपने-अपने सम्प्रदायोके भाष्योंके आधारपर टीकाएँ लिखने लगे । इसके परिणामस्वरूप नवीन वेदान्तके पाँच सम्प्रदाय अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैतके सिद्धान्तोके आधारपर लगभग पाँच दृष्टिकोणसे ब्रह्मसूत्रोपर भाष्य किये गये हैं ।

पाँचों अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशोंका विस्तारपूर्वक वर्णन योगदर्शन समा० पा० सू० १७ वि० व० में, तीनो स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरोंका समाधिपाद सूत्र २८ के विशेष वक्तव्यमें, पुनर्जन्मका साधनपाद सूत्र १३ के विशेष वक्तव्यमें और देवयान, पितृयान आदिका वि० पा० सू० ३९ वि० व० में देखें ।

१—ब्रह्मसूत्रपर भाष्यकार श्रीस्वामी शङ्कराचार्यका अद्वैतसिद्धान्त

अद्वैत सिद्धान्त—१. ऑखोंसे दिखलायी देनेवाले सारे जगत् अर्थात् सृष्टिके पदार्थोंकी अनेकता सत्य नहीं है। वास्तवमें यह सब एक ही शुद्ध चैतन्य सत्ता (तत्त्व) है, जो निर्गुण, निर्विशेष, शुद्ध-ज्ञान-स्वरूप है, जिसको परब्रह्म या परमात्मा कहते हैं। २. परमात्माके साथ अनादिसे एक विशेष शक्ति है जिसको माया अथवा अविद्या कहते हैं, जो न सत् है और न असत् अर्थात् अनिर्वचनीय है। ब्रह्म इस सारे अनेकविध जड़-चेतन सृष्टिके प्रपञ्चको इसी अविद्या अथवा मायाद्वारा रचता है। जिस प्रकार मायावी मदारी अपनी माया शक्तिसे नाना प्रकारके जड़-चेतन पदार्थोंको प्रकट करके दिखलाता है, जो अपनी वास्तविक सत्ता नहीं रखते हैं, केवल भ्रान्तिमात्र होते हैं। ३. इसलिये मायासम्बद्ध ब्रह्म ही इस जगत्का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है। मायाके सम्बन्धसे ब्रह्मको ईश्वर कहते हैं और अविद्याके सम्बन्धसे जीव। ४. जीव अविद्याके कारण अपने ब्रह्मस्वरूप अर्थात् शुद्ध ज्ञानस्वरूपको भूलकर बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रियों और शरीर आदिकी उपाधियोंको अपना वास्तविक स्वरूप समझकर उनकी अवस्थाओंको अपनी अवस्था मान लेता है। इस अज्ञानके कारण अल्पज्ञता, अल्पशक्तिमत्ता और परिच्छिन्नताकी सीमामें आकर कर्ता और भोक्ता बन जाता है और सकाम कर्मोंद्वारा पुण्य और पापका सञ्चय करता हुआ आवागमनके चक्रमें फँसकर उनके फलोंको भोगता है। ५. आत्मा और परमात्मा अथवा जीव और ब्रह्मकी एकताके अनुभवसिद्ध पूर्ण ज्ञानसे अविद्याका नाश हो जानेपर शरीर, इन्द्रियों, मन, अहंकार और बुद्धि आदि उपाधियोंमेंसे आत्मभाव मिट जाता है, जिसके उपरान्त कर्ता-भोक्ताका अभिमान निवृत्त हो जानेपर कर्म, उनके फलों और आवागमनसे मुक्ति पाकर परिच्छिन्नता और अल्पज्ञताकी सीमाको तोड़कर अपने अनन्त शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें अवस्थित हो जाता है। यह अद्वैत सिद्धान्त कहलाता है। इसको निर्विशेषाद्वैत तथा विवर्तवाद भी कहते हैं। इस सम्प्रदायके आचार्य श्रीस्वामी शङ्कराचार्य हुए हैं, जिनके सम्बन्धमें कई इतिहासलेखकोंद्वारा यह निश्चित किया गया है कि इन्होंने विक्रमी संवत् ८४५ तदनुसार ७८८ ई० सनमें जन्म ग्रहण किया था और ३२ वें वर्षमें वि० सं० ८७८, ई० सन् ८२० में शरीर त्याग किया था; किंतु श्रीस्वामी दयानन्दजी महाराजने स्वामी शङ्कराचार्यका समय आजसे २२०० वर्ष पूर्व माना है।

श्रीस्वामी शङ्कराचार्यजी अपने समयके अद्वितीय विद्वान् थे। इनका ब्रह्मसूत्रपर भाष्यशारीरकभाष्य कहलाता है। ब्रह्मसूत्रोंके संस्कृतमें जितने भाष्य हुए हैं, उनमें सबसे अधिक प्रचलित और प्रसिद्ध श्रीस्वामी शङ्कराचार्यका है और शङ्करप्रतिपादित मत ही सामान्यरूपसे वेदान्त समझा जाने लगा है। किंतु बहुत-से विद्वानोंका विचार है कि स्वामी शङ्कराचार्यजीने अपनी अलौकिक बुद्धि और विद्याको बादरायणसूत्रोंके आशयको स्पष्ट करनेकी अपेक्षा अपने प्रवर्तित सम्प्रदायके मण्डन और अपनेसे विभिन्नता रखनेवाले मतोंके खण्डनमें अधिक प्रयोग किया है।

डाक्टर घाटेने 'वेदान्त' नामक अंग्रेजी पुस्तकमें शङ्कर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व तथा वल्लभके व्याख्यानोंका तारतम्य अनुशीलनकर मूल सूत्रोंके प्रतिपाद्य सिद्धान्तोंको खोज निकालनेका यत्न किया है। उनकी सम्मतिमें शङ्कराचार्यके अनेक सिद्धान्तोंकी पुष्टि सूत्रोंसे नहीं की जा सकती। कार्य-कारणके सम्बन्धमें सूत्रकार 'परिणामवाद'के पक्षपाती प्रतीत होते हैं न कि 'विवर्तवाद'के। 'आत्मकृतेः परिणामात्' (ब्र० सू० १ । ४ । २६) में सूत्रकारने परिणाम शब्दका स्पष्ट निर्देश किया है।

अनुसार कर्माशय, कर्माशयके अनुसार जन्म, आयु और भोग तथा उनमें सुख और दुःख उत्पन्न होते हैं। सम्प्रज्ञात समाधिकी चारों भूमियों वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता अनुगतमें ये सब क्लेश तनु अर्थात् शिथिल हो जाते हैं और उसकी उच्चतम अवस्था विवेकख्यातिमे सत्त्वकी विशुद्धतासे सारे क्लेश अपनी जननी अविद्यासहित दग्ध बीजतुल्य हो जाते हैं। अब वही तम अपने अविद्यारूप धर्मको छोडकर इस सबसे उच्चतम सात्त्विक वृत्तिको स्थिर रखनेमें सहायक होता है। सर्ववृत्तिनिरोधरूप असम्प्रज्ञात समाधिमें चित्तमे कोई वृत्ति न रहनेके कारण द्रष्टाकी शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति होती है। उस समय चित्तमें निरोधके सस्कारोंका परिणाम होता है। कैवल्यमें व्युत्थानके सारे सस्कारोंको नष्ट करनेके पश्चात् निरोधके सस्कार स्वय भी नष्ट हो जाते हैं। तब अपने धर्मी (उपादान-कारण) चित्तके अपने कारणमें लीन होनेके साथ दग्ध बीजरूप अविद्या क्लेशका भी लय हो जाता है।

शंकरके निर्विशेष अद्वैतसिद्धान्त और सांख्य-योगके द्वैतसिद्धान्तमें तुलना

वैदिक दर्शनकारोंने जहाँ चेतन तत्त्वको निमित्त कारण और जड तत्त्वको इस जगत्का उपादान कारण बतलाया है, वहाँ शकरने चेतन तत्त्वको ही जगत्का अभिन्न निमित्त-उपादान कारण माना है। शङ्करने ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें एक स्थानपर सांख्यके इस आक्षेपको कि चेतन तत्त्वसे जड तत्त्व कैसे उत्पन्न हो सकता है (अर्थात् चेतन तत्त्व जड तत्त्वका उपादान कारण नहीं हो सकता) इस प्रकार निवारण किया है कि जैसे तुम्हारे अव्यक्त मूल प्रकृतिसे व्यक्त महत्तत्त्व अहकारादि उत्पन्न होते हैं, वैसे ही चेतन-तत्त्वसे जड तत्त्व उत्पन्न हो सकता है, किंतु सांख्य-योगका जड तत्त्व मूल प्रकृति त्रिगुणात्मक है। सत्त्वमें रज और तम जितना बढ़ता जाता है उतनी ही स्थूलता और जितना रज और तम कम होता है उतनी ही सूक्ष्मता बढ़ती जाती है। स्थूलताके क्रमको व्यक्त होना और सूक्ष्मताके क्रमको अव्यक्त होना कहते हैं। इसलिये सारा सूक्ष्म और स्थूल अर्थात् अव्यक्त और व्यक्त संसार तीनों गुणोका ही परिणाम है। किंतु एक अपरिणामी निर्विकार कूटस्थ नित्य ब्रह्ममें इन नाना प्रकारके विकारों और परिणामोंका होना कैसे सम्भव हो सकता है। इसलिये शकरको भी जगत्के उपादान कारण त्रिगुणात्मक प्रकृतिके स्थानमें ब्रह्मके साथ एक अनादि तत्त्व माया अर्थात् अविद्याका मानना अनिवार्य हो गया, जिसके द्वारा ब्रह्म स्वय अपरिणामी और निर्विकार रहता हुआ भी इस सारे ससारकी रचना कर सकता है। जैसा कि शांकरभाष्य उपसहारदर्शन अधिकरणसूत्र २४ में बतलाया है—

अद्वैतं तत्त्वतो ब्रह्म तच्चाविद्यासहायवत्।
नानाकार्यकरं कार्यक्रमोऽविद्यास्थशक्तिभिः॥

(ब्र० सू० अ० २ पा० १ अधि० ८ शाकरभाष्य)

'यद्यपि परमार्थतः ब्रह्म एक ही है, तथापि वह अविद्याकी सहायतासे अनेक विचित्र कार्योंको उत्पन्न कर सकता है और अविद्याकी शक्तियोंसे कार्य-क्रमकी व्यवस्था हो सकती है।' इस माया अर्थात् अविद्याकी अलग सत्ता माननेमें अद्वैतसिद्धान्त खण्डित होता था और असत् माननेमें इसके अन्तर्गतसारा ससार श्रुति, स्मृति और स्वय अपना अद्वैतसिद्धान्त असत् और मिथ्या सिद्ध होता था, इसलिये इसको अनिर्वचनीय नाम दिया गया, जिसको न सत् कह कहते हैं और न असत्। इस प्रकार शङ्करकी त्रिगुणात्मक माया अर्थात् अविद्या सांख्यकी त्रिगुणात्मक प्रकृति है। अनिर्व-चनीय अथवा सत् और असत् दोनोंसे विलक्षण कह देना केवल शब्दोका ही रूपान्तर है। दोनों सिद्धान्तोंका इससे परे होकर अपने शुद्ध चेतन स्वरूपमें अवस्थित होना अन्तिम ध्येय है। एक और मुख्य भेद इन दोनो सिद्धान्तों-

में यह है कि जहां साख्य चेतन-तत्त्वकी सन्निधिसे त्रिगुणात्मक जड-तत्त्वमें स्वाभाविक ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रियाका होना इस ससारकी रचनाका कारण बतलाता है, वहाँ शकरको ब्रह्मकी स्वतन्त्रता, स्वेच्छाचारिता और महिमा दिखलानेके लिये यह मानना पडा कि ब्रह्म अपनी इच्छासे अपनी महिमा दिखलानेके लिये शोबदेबाज मदारीके सदृश अपनी अनादि माया अर्थात् अविद्यासे इस जगत्की रचना करता है। इसमें नाना प्रकारके दोष आते है, जिनका युक्तिद्वारा सतोषजनक उत्तर नहीं मिल सकता अर्थात्—(१) ब्रह्मको क्यों ऐसे जगत्के रचनेकी इच्छा होती है, जिसमें दु.ख-ही-दु:ख है और फिर स्वयं ही उससे मुक्ति पानेके लिये श्रुति-स्मृतिद्वारा उपदेश दिलवाता है। (२) यदि यह कहा जाय कि जगत् और उसके अन्तर्गत सुख-दु:ख सब मिथ्या और भ्रमरूप ही है, केवल एक ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ही सत्य है तो ब्रह्मने इस भ्रमको क्यों फैलाया और निर्भ्रान्त ब्रह्ममें भ्रम कैसा ? (३) अविद्यासे ब्रह्म जगत्की रचना करता है और अविद्या ब्रह्मसे अभिन्न है फिर अविद्या और जगत्से छुटकारा कैसे सम्भव हो सकता है ? (४) ब्रह्मकी शक्तिरूप अविद्यासे जगत्की उत्पत्ति है, इसलिये विद्या अर्थात् ज्ञानद्वारा ही इससे मुक्ति हो सकती है; किंतु अविद्याके अन्तर्गत होनेके कारण सारे साधन श्रुति और स्मृति भी अविद्या रूप ही होने। विद्या और ज्ञान ब्रह्मसे बाहर कहाँसे लाया जा सकता है। (५) सर्वज्ञ ज्ञानस्वरूप ब्रह्मकी शक्ति माया अर्थात् अविद्या नहीं होनी चाहिये। प्रत्युत निर्भ्रान्त विद्या और सत्य ज्ञान होना चाहिये। (६) और यदि उसमे संसारके रचनेकी इच्छा भी हो तो वह निर्भ्रान्त विद्या और सत्य ज्ञानके साथ हो न कि माया और अविद्याके साथ। (७) मदारी पैसा कमाने अथवा अपनेसे बडे आदमियोको खुश करनेके प्रयोजनसे शोबदे और तमाशे दिखलाता है। आप्तकाम ब्रह्मको इस मायाजालके फैलानेमें प्रयोजन क्या है ? (८) यदि अपनी महिमा और प्रभुता दिखलानेके लिये, तो यह किसको दिखलाना ? जब कि एक ब्रह्मके सिवा दूसरा कोई है ही नहीं। (९) यदि अपनी प्रभुता और महिमा दिखलानेके लिये जीवोको उत्पन्न करता है तो इस प्रकारकी महिमा और प्रभुता दिखलानेकी अभिलाषा होना ही महिमा और प्रभुताके अभावको सिद्ध करता है। (१०) यदि बिना किसी अपने विशेष प्रयोजनके ब्रह्मद्वारा ससारकी रचना केवल जीवोंके कल्याण अर्थात् भोग और अपवर्गके लिये स्वाभाविक मानी जाय तो यह साख्य और योगका ही सिद्धान्त आ गया।

इस प्रकार जहाँ द्वैतवादी साख्ययोग सारे दोषों, विकारो और परिणामो आदिको, त्रिगुणात्मक प्रकृतिमें डालकर ब्रह्मका अद्वैत, निर्दोष, निर्विकार, अपरिणामी, निष्काम, निष्क्रिय, कूटस्थ, नित्य शुद्ध ज्ञानस्वरूप सिद्ध करता है और उस शुद्ध ज्ञानस्वरूपमे अवस्थिति अपना अन्तिम ध्येय ठहराता है, वहाँ यह निर्विशेष अद्वैतवाद इन सारे दोषोका ब्रह्ममे आरोप करके ब्रह्मको सदोष, विकारी, परिणामी, सक्रिय, सकाम और अपनी महिमा दिखलाने और प्रतिष्ठा पानेका अभिलाषी, प्रसवधर्मी, अज्ञान, अविद्या और भ्रम-युक्त सिद्ध करता है, किंतु यद्यपि यह निर्विशेष अद्वैत सिद्धान्त व्यवहार-दशामे इस प्रकार दोषयुक्त और युक्तिहीन है, तथापि यह भावना कि यह सारा द्रष्टव्य संसार मिथ्या, अविद्या और भ्रमरूप है, केवल एक ब्रह्म ही सत्य है, साधकोको साधनरूपसे शुद्ध-चेतन-स्वरूपमें अवस्थिति प्राप्त करानेमें रोचक और सहायक प्रतीत होता है। इसीलिये बहुत-से महात्माओने इस सिद्धान्तको अपनाया है और अपना रहे है। इसलिये साख्ययोगके द्वैतवाद अर्थात् परिणामवाद और शकरके निर्विशेष अद्वैतवाद अर्थात् विवर्तवादमें अन्तिम लक्ष्यकी प्राप्तिमें कोई वास्तविक अन्तर नही है।

२—ब्रह्मसूत्रके भाष्यकार श्रीरामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त

शकरसे लगभग २५० वर्ष पश्चात् (जन्म विक्रम सं० १०७३ तदनुसार ई० सन्० १०१६ श्रीरामानुजाचार्यने विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदाय चलाया । इनका ब्रह्मसूत्रपर भाष्य 'श्रीभाष्य' कहलाता है । प्रसिद्ध है कि ब्रह्मसूत्रपर एक अति प्राचीन व्याख्या 'वृत्ति' अथवा 'कृतकोटि', नामसे बौधायन ऋषिकी बनायी हुई थी; किंतु वह लुप्त हो चुकी थी; उसको टकङ्कमिर्ड, गुहदेव आदि पूर्व-आचार्योंने संक्षेप किया था । उसके आधारपर श्रीरामानुजाचार्य अपने श्रीभाष्यका लिखा जाना अपने वेदार्थ-सग्रहमें बतलाते हैं "भगवान् बौधायनकी विस्तीर्ण वृत्तिका जो पूर्व-आचार्योंने सक्षेप किया है, उनके मत-अनुसार सूत्रोका व्याख्यान किया जाता है ।"

श्रीस्वामी रामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त—इस सम्प्रदायका मत है कि शकराचार्यका माया-मिथ्यात्ववाद और अद्वैत-सिद्धान्त दोनों झूठे हैं । चित् अर्थात् जीव और अचित् अर्थात् विषय, शरीर, इन्द्रियॉ आदि पॉचो स्थूल भूतोसे बना हुआ भौतिक जगत् और ब्रह्म ये तीनों यद्यपि भिन्न हैं तथापि चित् अर्थात् जीव और अचित् अर्थात् जड जगत् ये दोनों एक ही ब्रह्मके शरीर है, जैसा कि अन्तर्यामी ब्राह्मण (बृह० उप० ३ । ७) में कहा है कि यह सारा बाह्य जगत् शरीर इत्यादि और जीवात्मा ब्रह्मका शरीर है और वह इनका अन्तर्यामी आत्मा है । इसलिये चित्-अचित्-विशिष्ट ब्रह्म एक ही है । इस प्रकारसे विशिष्ट रूपसे ब्रह्मको अद्वैत माननेसे यह सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत कहलाता है । इस सिद्धान्तके अनुसार मोक्षमें जीवात्मा ब्रह्मको प्राप्त होकर ब्रह्मके सदृश हो जाता है न कि ब्रह्मरूप । पुरुषोत्तम, नारायण, वासुदेव और परमेश्वर ब्रह्मके पर्यायवाचक हैं । उपर्युक्त सारी बातोसे सिद्ध होता है कि इस सम्प्रदायमें सगुण ब्रह्म अर्थात् अपर ब्रह्म=शबल ब्रह्मकी प्राप्ति ही अपना लक्ष्य माना है, जो योगकी सम्प्रज्ञात-समाधिका अन्तिम ध्येय हो सकता है ।

३—ब्रह्मसूत्रके भाष्यकार श्रीमध्वाचार्यका द्वैत-सिद्धान्त

श्रीरामानुजाचार्यके १८२ वर्ष पश्चात् विक्रमी स० १२५४, तदनुसार ई० सन् ११९७ में श्रमदानन्द तीर्थका, जो मध्वाचार्यके नामसे प्रसिद्ध है, जन्म हुआ । ८६ वर्षकी अवस्थामें विक्रमी स० १३४०, तदनुसार ई० सन् १२८३ में इनका शरीर-त्याग हुआ । इनका ब्रह्मसूत्रपर भाष्य 'पूर्णप्रज्ञ-भाष्य' के नामसे प्रसिद्ध है । यह द्वैत-सम्प्रदायके प्रवर्तक हुए हैं । इनका मत है कि ब्रह्म और जीवको कुछ अंशोंमें एक और कुछ अंशोंमें भिन्न मानना परस्पर विरुद्ध और असम्बद्ध बात है । इसलिये दोनोको सदा भिन्न ही मानना चाहिये, क्योंकि इन दोनोमें पूर्ण अथवा अपूर्ण रीतिसे भी एकता नहीं हो सकती । लक्ष्मी ब्रह्मकी शक्ति ब्रह्मके ही अधीन रहती है; किंतु उससे भिन्न है ।

आर्यसमाजके प्रवर्तक श्रीस्वामी दयानन्दजी महाराजका सिद्धान्त भी द्वैतवाद कहलाता है, किंतु इन दोनोमें अन्तर यह है कि जहॉ श्रीमध्वाचार्यजीने अधिकतर पुराणोका आश्रय लिया है वहाँ श्री-स्वामी दयानन्दजीने वेदो, उपनिषदों, वैदिक दर्शनों और प्रामाणिक स्मृतियोंका उसके साथ समन्वय दिखलाया है । श्रीस्वामी दयानन्दका द्वैतवाद सब वैदिक दर्शनोंके समन्वयके साथ साख्ययोगका ही सर्वांशमें द्वैतवाद है; किंतु लेखकका यह व्यक्तिगत स्वतन्त्र विचार है कि उन्होंने चैतन्य-तत्त्वका शुद्ध

स्वरूप अर्थात् परब्रह्मको न दिखलाकर केवल ईश्वर-जीव और प्रकृतिका ही वर्णन किया है; जो इस सृष्टिकी सारी बाह्य रचनामें पाये जा रहे हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार पुनरावर्तनीयरूप अपर ब्रह्मकी प्राप्ति ही मुक्तिकी सीमा हो सकती है, जो योगकी सम्प्रज्ञात-समाधिका अन्तिम ध्येय हो सकता है, किंतु स्वामीजीका योगसाधनपर पूरा जोर देने और उसको ही परमात्माकी प्राप्तिका साधन बतलाने तथा पातञ्जल-योगको योगका मुख्य प्रामाणिक ग्रन्थ माननेसे योगकी अन्तिम सीमा असम्प्रज्ञात-समाधि और उसका अन्तिम ध्येय शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थितिरूप कैवल्य भी आ जाता है। स्वामी दयानन्दजीने ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनोंका जो विशेषरूपसे वर्णन किया है, इससे सामान्यतया इनका सिद्धान्त त्रैतवाद समझा जाता है; किंतु चेतन तत्त्वका समष्टि ब्रह्माण्डके सम्बन्धसे ईश्वर नाम है और व्यष्टि-पिण्डोंके सम्बन्धसे जीव। ये दोनों चेतन-तत्त्वके शबल अर्थात् मिश्रितरूप हैं। इसलिये लेखकके व्यक्तिगत विचारके अनुसार स्वामी दयानन्दका सिद्धान्त द्वैतवाद ही है। स्वामी दयानन्दजीने शुद्ध चेतन-तत्त्व अर्थात् परब्रह्म-का वर्णन विशेषरूपसे इस कारण नहीं किया कि उस समयका जनसमूह उसके समझनेमें अयोग्य था और उनका मुख्य उद्देश्य समाज-सुधार और धर्मरक्षा था। स्वामी दयानन्दजीके समयमें हिंदू-समाज और वैदिक-धर्म जैसी विकट परिस्थितिमें मृत्युकी ओर जा रहा था, उसका उदाहरण किसी भी पूर्वाचार्यके समयमें न मिल सकेगा। स्वामी दयानन्दजीका हिंदू-धर्म और समाजकी निम्न प्रकारकी दुर्दशाको हटाना मुख्य उद्देश्य था—

१. वैदिक धर्मका नाना प्रकारके मत-मतान्तर और सम्प्रदायोंमें विभक्त होकर परस्पर एक-दूसरेका विरोध करना।

२. एक ईश्वर-उपासनाके स्थानमें न केवल अनेक देवी-देवताओं किंतु भूत, प्रेत, पीर, पैगम्बर, कब्र, मजार आदिकी सांसारिक कामनाओंके लिये पूजना।

३. मूर्तिपूजाका दुरुपयोग और मन्दिर-तीर्थ आदि पवित्र स्थानोंमें नाना प्रकारके दुर्व्यवहार।

४. गुण, कर्म, स्वभावको छोड़कर जन्मसे जात-पातकी व्यवस्था माननेके कारण ऊँची कहलानेवाली जातियोंकी प्रमादके कारण अवनति और नीची कहलानेवाली जातियोंकी उन्नतिके मार्गमें रुकावट इसका परिणामरूप सारे हिंदू-समाजकी अधोगति।

५. स्वयं अपने गुण, कर्म और स्वभावको ऊँचा बनानेकी अपेक्षा एक दूसरेको नीचा, छोटा, झूठा और अपूर्ण बतलाकर अपनेको ऊँचा, बड़ा सच्चा और पूर्ण सिद्ध करनेकी आसुरी चेष्टा। इस प्रकार हिंदुओंमें परस्पर भ्रातृभाव, समानता, आदर और सत्कारका अभाव।

६. ऊँचे सवर्ण कहलानेवाले संकीर्ण-हृदय मनुष्योंका नीची कहलानेवाली निर्धन जातियोंका न केवल धार्मिक-सामाजिक और नागरिक अधिकारोंका हरण करना किंतु उनके प्रति पिशाचवत् अत्याचार करके उनको दूसरे मजहबोंके जालमें फँसनेके लिये मजबूर करना।

७ बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह आदि नाना प्रकारकी कुरीतियाँ। स्त्रियोंको शूद्रा बतलाकर उनको जन्म-सिद्ध धार्मिक अधिकारोंसे वञ्चित रखना, विधवाओंके साथ अन्यायपूर्वक दुर्व्यवहार।

८. हिंदुओंके सामाजिक, धार्मिक, राष्ट्रिय, नागरिक और वैयक्तिक आदि सारे अङ्गोंमें स्वार्थमय जीवन।

९ सार्वभौम वैदिक-धर्मको मूर्खता और अज्ञानतासे संकीर्ण करके न केवल अन्य मतावलम्बियोके लिये उसमें प्रवेशका द्वार बद कर देना किंतु अपनी झूठी स्वार्थ-सिद्धिके लिये अपने वैदिकधर्मी भाइयोको छोटी-छोटी बातोंमें अपनेसे पृथक् करके विधर्मियोके जालमे फँसनेमें सहायक होना ।

१०. उपर्युक्त सारे दोषोंसे अनुचित लाभ उठाकर दो विदेशीय मजहबोंका न केवल विद्याहीन छोटी जातिवाले गाँवो, पहाडो और जगलोमें रहनेवाले अनपढ़ हिंदुओको किंतु नीलकण्ठ-जैसे बडे-बड़े अंग्रेजी पढे हुए विद्वानोंको पौराणिक कथाओंमें अयुक्ति और दोष दिखलाकर अपने मजहबके जालमें फँसाना।

११. राष्ट्रका परतन्त्र होना, विदेशी राजके कारण देशभक्ति, प्राचीन सभ्यता और धर्म-भाषाके प्रति प्रेमका अभाव, दासताके विचार, विदेशी भाषा, संस्कृति और सभ्यताकी ओर प्रवृत्ति इत्यादि-इत्यादि ।

४—ब्रह्मसूत्रके भाष्यकार श्रीवल्लभाचार्यका शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त

श्रीवल्लभाचार्यका जन्म विक्रमी सवत् १५३६ तदनुसार १४७९ ई० सन् में हुआ । इनका ब्रह्मसूत्रपर भाष्य "अणुभाष्य" कहलाता है । उनका मत निर्विशेष-अद्वैत, विशिष्ट-अद्वैत और द्वैत तीनों सिद्धान्तोंसे भिन्न है । यह शंकराचार्यके समान इस बातको नहीं मानते कि जीव और ब्रह्म एक हैं और न मायात्मक जगत्को मिथ्या मानते हैं; बल्कि मायाको ईश्वरकी इच्छासे विभक्त हुई एक शक्ति बतलाते हैं । माया-अधीन जीवको बिना ईश्वरकी कृपाके मोक्षज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये मोक्षका मुख्य साधन ईश्वरभक्ति है । मायारहित शुद्ध जीव और परब्रह्म (शुद्ध ब्रह्म) एक वस्तु ही है दो नहीं हैं । इसलिये इसको शुद्ध-अद्वैत-सम्प्रदाय कहते हैं । इस अशमें यह सिद्धान्त सांख्ययोगके सदृश है; किंतु पौराणिक रगमें इसकी दार्शनिकता छिप गयी है ।

५—ब्रह्मसूत्रके भाष्यकार श्रीनिम्बार्काचार्यका द्वैत-अद्वैत सिद्धान्त

श्रीनिम्बार्काचार्य लगभग विक्रम स० १२१९ तदनुसार ११६२ ई० सन् में हुए हैं । इन्होंने 'वेदान्त-पारिजात" नामसे ब्रह्मसूत्रपर भाष्य लिखा है । जीव, जगत् और ईश्वरके सम्बन्धमें इनका मत है कि यद्यपि ये तीनो परस्पर भिन्न हैं तथापि जीव और जगत्का व्यवहार तथा अस्तित्व ईश्वरकी इच्छापर अवलम्बित है, स्वतन्त्र नही है और ईश्वरमें ही जीव और जगत्के सूक्ष्म तंत्त्व रहते हैं । विशिष्ट-अद्वैतसे अलग करनेके लिये इसका नाम द्वैत-अद्वैत-सम्प्रदाय रखा गया है ।

उपर्युक्त सम्प्रदाय शंकरके मायावादको स्वीकृत न करके ही उत्पन्न हुए हैं और ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिप्रधान हैं । वैष्णवसम्प्रदायसे सम्बन्ध रखते हैं । इसलिये जहाँ स्वामी शंकराचार्यका भाष्य उपनिषदोंपर निर्भर है, वहाँ इन सम्प्रदायोके भाष्यमें पुराणों और विशेषकर विष्णुपुराणको अधिक उद्धृत किया गया है ।

प्राय· ये सब सम्प्रदाय चार प्रकारकी मुक्ति मानते है—

(१) सालोक्य मुक्ति—विष्णु अर्थात् ईश्वरके लोकमें निवास करना । (२) सामीप्य मुक्ति—ईश्वरके लोकमें ईश्वरके समीप रहना । (३) सारूप्य मुक्ति—विष्णु अर्थात् ईश्वरके समान रूपवाला बन जाना । (४) सायुज्य मुक्ति—विष्णु-लोकमें विष्णुके समान विभूतिको प्राप्त होना । ये मुक्तिकी

अन्तर्गत एक प्रकारसे यों लोक अर्थात् सूक्ष्म जगत्के स्व., महः, जन , तप. और सत्यम्के अन्तर्गत हो सकती है ।

ब्रह्मसूत्र विज्ञानभिक्षुका भाष्य नये ढंगका 'विज्ञानामृत' नामसे है; जिसमें श्रुति, स्मृति और दर्शनोंकी एक वाक्यमें सगति दिखलायी गयी है, किंतु वह किसी भी साम्प्रदायिकरूपमें नही है ।

ब्रह्मसूत्रोंमें अन्य वैदिक दर्शनोंका खण्डन नहीं है

ब्रह्मसूत्रोंमें किसी वैदिक दर्शनका खण्डन नहीं है; बल्कि श्रीव्यासजीने तो जिन सिद्धान्तोंमे अन्य विद्वानोंका उनमें मत-भेद था, उनको भी आदरपूर्वक दिखलाया है; किंतु साम्प्रदायिक आचार्योंने जहाँ सूत्रोंके शब्दोंसे अपने सम्प्रदायके पक्षमें और अपनेसे भिन्न सम्प्रदायोके विपक्षमें अर्थ निकालनेमें खींचातानी की है, वहाँ प्राचीन तत्त्ववेत्ता ऋषियोंके दर्शनोंको भी जो वेदोके उपाङ्गरूप है, दूषित ठहरानेमें पूरा जोर लगाया है । इसी कारण कणादमुनिप्रणीत वैशेषिक और कपिल मुनिके साख्यका ब्रह्मसूत्रोंमें खण्डन होनेका भ्रम हुआ है ।

जन्माद्यस्य यत (ब्र० सू० १।१।२) के अर्थ जो तैत्तिरीय उपनिषद्के "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म" के प्रतीकमें है, तीन प्रकारसे हो सकते हैं । १. जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका अभिन्न उपादान-निमित्तकारण जड-तत्त्व (सांख्यकी प्रकृति, वैशेषिकके परमाणु अथवा चार्वाकके चार भूत) है । २.जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका अभिन्न-निमित्त-उपादान-कारण चेतन-तत्त्व है । ३. जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका निमित्त-कारण चेतन-तत्त्व अर्थात् आत्मसत्ता और उपादान-कारण जड-तत्त्व (प्रकृति अथवा परमाणु) अनात्मसत्ता है । इस प्रकार मुख्य तीन वाद अथवा सिद्धान्त हो सकते हैं ।

१. जड-अद्वैत-वाद (चार्वाकवालोंका जडवाद)

२. चेतन अद्वैतवाद (नवीन वेदान्तियोंका अद्वैतवाद)

३. चेतन जड अर्थात् आत्म-अनात्म द्वैत-वाद (वैदिक दर्शनोका द्वैत-वाद) । सिद्धान्तरूपमें तो यह द्वैतवाद है; किंतु व्यवहारदशामें त्रैतवाद हो जाता है अर्थात् (१) ईश्वर (सगुण ब्रह्म=शबल ब्रह्म=अपर ब्रह्म) जो ब्रह्माण्ड अर्थात् समष्टिरूपेण जड-तत्त्वके सम्बन्धसे चेतन-तत्त्व अर्थात् परमात्मसत्ताका नाम है । (२) जीव, जो पिण्ड अर्थात् व्यष्टिरूपेण जड-तत्त्वके सम्बन्धसे चेतन-तत्त्व अर्थात् आत्मसत्ताका नाम है और (३) प्रकृति (जड-तत्त्व) जो अनात्मसत्ता है और केवल कैवल्य-अवस्थामें ही जब द्रष्टाकी शुद्ध चैतन्य (परमात्मा=परब्रह्म=निर्गुण ब्रह्म=शुद्ध ब्रह्म) स्वरूपमें अवस्थिति होती है, तब उस कैवल्य प्राप्त किये हुए जीवकी अपेक्षासे अद्वैत कहा जा सकता है न कि मासारिक जीवोकी अपेक्षासे । यह द्वैतवाद सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक चारो दर्शनोका सिद्धान्त है । दु खनिवृत्तिके उद्देश्यसे इन प्राचीन दर्शनकारोने खोज की है । दु ख-प्रतीति और उसकी निवृत्तिका प्रयत्न चेतन तत्त्व (आत्मसत्ता) के अस्तित्वको सिद्ध करता है । इसलिये पहला जड अद्वैतवाद दूषित ठहरता है । यदि दुःख चेतन तत्त्व (आत्मसत्ता) का ही धर्म होता तो उसकी प्रतीति न होती और यदि दुःखकी प्रतीति भी आत्माका धर्म माना जाय तो दुःख और उसकी

प्रतीति दोनो चेतन-तत्त्व (आत्मसत्ता) का स्वाभाविक गुण होनेसे उसकी त्रिकालमें भी निवृत्ति असम्भव होती । इसलिये दूसरा सिद्धान्त चेतन-अद्वैत-वाद भी इनको सतुष्ट न कर सका । इसलिये ये तत्त्व-वेत्ता ऋषि इसी परिणामपर पहुँचे हैं कि एक तो चेतन-तत्त्व (आत्मसत्ता) है, जो हमारा वास्तविक स्वरूप है और इससे भिन्न एक कोई दूसरा जडतत्त्व (अनात्मसत्ता) है, जिसके स्वाभाविक धर्म दु खादि है, जिनके हटानेका प्रयत्न किया जाता है । इसके अतिरिक्त सिद्धान्त स० १ तथा स० २ के पक्षमें न तो कोई श्रुति मिलती है न युक्ति और न संसारमें कोई उदाहरण; परंतु सिद्धान्त स० ३ को सारी श्रुतियॉ, स्मृतियॉ, युक्ति और उदाहरण सिद्ध करते हैं ।

शङ्का—जैसे सुवर्णके आभूषण नाना प्रकारकी आकृति रखते हुए भी सुवर्णरूप ही हैं, जैसे तरगें, बुलबुले, नदी, तालाब आदि सब जलरूप ही हैं, वैसे ही सारा जगत् केवल एक अद्वितीय ब्रह्मरूप ही है ।

समाधान—ये उदाहरण तो द्वैत-सिद्धान्तकी ही पुष्टि करते हैं; क्योंकि सुवर्णके आभूषणोंके आकारोंमें एक दूसरा तत्त्व आकाश, जलके तरङ्ग-बुलबुले आदिमें वायु और नदी-तालाब आदिमें पृथिवी-भेदक है ।

शङ्का—**"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥**

(मु० १ । १ । ७)

'जिस प्रकार चेतन मकड़ी जड-जन्तुओंकी अभिन्न निमित्त-उपादान-कारण है, इसी प्रकार चेतन ब्रह्म इस जड जगत्का अभिन्न निमित्त-उपादान-कारण है ।' इससे चेतन-अद्वैतवाद सिद्ध होता है ।

समाधान—यह श्रुति द्वैत सिद्धान्तको ही सिद्ध करती है । अर्थात् जिस प्रकार जड तन्तुकी उत्पत्तिका चेतन मकड़ी निमित्त-कारण है और उसके मुँहका जड लेप उपादान-कारण है, इसी प्रकार जड जगत्का उपादान-कारण त्रिगुणात्मक जड प्रकृति है और निमित्त-कारण चेतन ब्रह्म है ।

शङ्का—"सर्वं खल्विद ब्रह्म" इस श्रुतिसे केवल एक ब्रह्म (चेतन-तत्त्व) ही सिद्ध होता है ।

समाधान—इससे यह अभिप्राय है कि ब्रह्म (चेतन-सत्ता) ही सारे त्रिगुणात्मक जगत्में व्यापक हो रहा है; जड-सत्ताका अभाव सिद्ध नहीं होता ।

यह श्रुति ब्रह्मके शबल, अपर, साकार, सगुण अर्थात् त्रिगुणात्मक प्रकृतिसे मिले हुए स्वरूपका बोध करा रही है न कि शुद्ध, पर, निराकार, निर्गुण, प्रकृतिसे सर्वथा निखरे हुए केवली स्वरूपका । अन्य श्रुतियॉ भी ऐसा ही बताती हैं । यथा—

तदनन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यता ॥ (ईश० उ० मन्त्र ५)

वह ब्रह्म इस सब (त्रिगुणात्मक जगत) के अदर है वह निश्चय ही इस सब (त्रिगुणात्मक जगत्) के बाहर है । तथा—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनु शिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदिता दधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥

(केन उ० १ । ४)

वहाँ (उस ब्रह्मतक) नेत्रेन्द्रिय नहीं जाती, वाणी नहीं जाती, मन नहीं जाता। अतः जिस प्रकार शिष्यको इस ब्रह्मका उपदेश करना चाहिये, वह हम नहीं जानते—वह हमारी समझमें नहीं आता। वह विदितसे अन्य ही है तथा अविदितसे भी परे है—ऐसा हमने पूर्व पुरुषोसे सुना है जिन्होंने हमारे प्रति उसका व्याख्यान किया था।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

(केन उ० १ । ४)

जो वाणीसे प्रकाशित नहीं है, किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है, उसीको तू ब्रह्म जान । जिस इस (इन्द्रियगोचर त्रिगुणात्मक जगत्) की लोग उपासना करते हैं वह ब्रह्म नहीं है।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

(केन उ० १ । ५)

जो मनसे मनन नहीं किया जा सकता बल्कि जिससे मन मनन किया हुआ कहा जाता है, उसीको तू ब्रह्म जान। जिस इस (इन्द्रियगोचर, त्रिगुणात्मक जगत्) की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

(केन उ० १ । ६)

जिसे कोई नेत्रद्वारा नहीं देख सकता वरन् जिसकी सहायतासे नेत्र देखते हैं, उसीको तू ब्रह्म जान। जिस इस (इन्द्रियगोचर, त्रिगुणात्मक जगत्) की लोक उपासना करते है वह ब्रह्म नहीं है।

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

(केन उ० १ । ७)

जो कानसे नही सुना जा सकता वरन् जिससे श्रोत्रोमे सुननेकी शक्ति आती है, उसी को तू ब्रह्म जान। जिस इस (इन्द्रियगोचर त्रिगुणात्मक जगत्) की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है।

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

(केन उ० १ । ८)

जो प्राणके द्वारा विषय नहीं किया जा सकता वरन् जिससे प्राण अपने विषयोंकी ओर जाता है उसीको तू ब्रह्म जान। जिस इस (इन्द्रियगोचर त्रिगुणात्मक जगत्) की लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है।

स्मृति भी ऐसा ही बताती है। यथा—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ (गीता १३ । ३३)

हे भारत ! जैसे सूर्य अकेला इस सारे लोकको प्रकाशित करता है वैसे क्षेत्रका मालिक (ब्रह्म) इस सारे लोक (इन्द्रियगोचर, त्रिगुणात्मक जगत्) को प्रकाशित करता है।

श्रीस्वामी शङ्कराचार्यने भी अपने निर्माण षट्कमें इसी बातको सिद्ध किया है। यथा—

मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानि नाहं न च श्रोत्रजिह्वे न च घ्राणनेत्रे।
न च व्योमभूमिर्न तेजो न वायुश्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥ १॥
न च प्राणसंज्ञो न वै पञ्च वायुर्न वा सप्त धातुर्न वा पञ्च कोशः।
न वाक् पाणिपादं न चोपस्थपायु श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्॥ २॥

मैं अर्थात् आत्मतत्त्व, मन, बुद्धि, अहकार और चित्त नहीं है; कान और जिह्वा भी नहीं, नासिका और नेत्र नहीं है, आकाश और पृथ्वी नहीं, तेज नहीं है, वायु नहीं है। मैं अर्थात् आत्मतत्त्व चिदानन्दरूप है शिव है शिव है॥ १॥

मैं अर्थात् आत्मतत्त्व प्राणवर्ग नहीं है, पञ्चवायु नहीं है, सप्त धातु नहीं है, पाँच कोश नहीं है, वाणी, हाथ, पैर नही है, जननेन्द्रिय और गुदा नहीं है। मै अर्थात् आत्मतत्त्व चिदानन्दरूप है शिव है शिव है॥ २॥

इसलिये सब दर्शनकारोका सिद्धान्त जड-चेतन द्वैतवाद है। जड-तत्त्व (अनात्मसत्ता) को चेतन-तत्त्व (आत्मसत्ता) से भिन्न करनेके उद्देश्यसे जड-तत्त्वके अवान्तरभेद करण, माप और वर्णन-शैलीमें भेद होनेके कारण बाह्यदृष्टि रखनेवालोको इनमें परस्पर भेद होनेका भ्रम होता है।

दार्शनिक दृष्टिकोणसे जानना अपनेसे भिन्न वस्तु जड-तत्त्व (अनात्मसत्ता) का ही हो सकता है। अपनेको अर्थात् चेतन-तत्त्व (परमात्मसत्ता) अर्थात् परब्रह्मको जाननेका शब्द प्रयोग करना अयुक्त है। यथा "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" सबके जाननेवाले विज्ञाताको किससे जाना जा सकता है। अर्थात् किसीसे भी नहीं जाना जा सकता है। 'येनेदं सर्वं द्विजानाति तं केन विजानीयात्'॥ (बृ० ६। ४) जिससे यह सब जाना जाता है, उसको किससे जानें ? सम्प्रज्ञात-समाधिकी सारी भूमियाँ वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता और विवेकख्यातिमें त्रिगुणात्मक प्रकृतिके ही सारे कार्योंको साक्षात् करते हुए इनसे आसक्ति हटाकर विरक्त होना होता है। असम्प्रज्ञात-समाधिमें कुछ जानना शेष न रहनेपर केवल शुद्ध चैतन्यस्वरूप (परमात्म=परब्रह्म) में स्वरूप-अवस्थिति होती है। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ परमात्मा अथवा परब्रह्मके जाननेका वर्णन आया है जैसे "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य।" वहाँ अनात्म ज्ञेय पदार्थोंको (चाहे उन्हें प्रकृति कहो, चाहे माया, चाहे अविद्या और चाहे भ्रम) जानकर "नेति-नेति" द्वारा पृथक् करते हुए अन्तमें सारे ज्ञेय पदार्थोंकी समाप्तिपर शेष जाननेयोग्य न कुछ रहनेपर शुद्ध परमात्मस्वरूपमें ही अवस्थिति होती है। यथा—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥ (कण्ठ० ६। १०)

जब पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ मनके साथ रुक जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टारहित हो जाती है, उसको परमगति अर्थात् परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति कहते हैं।

इसलिये इन तत्त्ववेत्ता प्राचीन दर्शनकारोंका ऋतम्भरा-प्रज्ञाद्वारा साक्षात्कार परप्रत्यक्ष है, जो शब्द और अनुमानका बीज है अर्थात् जिसके आश्रय शब्द और अनुमान होते हैं।

'श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयाविशेषार्थत्वात् ।' (यो० द० १ । ४९)

शब्द और अनुमानकी प्रज्ञासे ऋतम्भराप्रज्ञाका विषय अलग है, विशेषरूपसे अर्थका साक्षात्कार करानेसे । केवल शब्द और अनुमानका आश्रय लेनेवाले आचार्यों और उनके आधारपर पाश्चात्त्य विद्वानोंने उनके वास्तविक सारको न समझकर इन प्राचीन दर्शनकारोंके कहीं अनीश्वरवादी और कहीं बहु ईश्वरवादी होनेका धोखा खाया है ।

अब उत्तर-मीमांसाके जिन सूत्रोंमें अन्य दर्शनोंके खण्डन होनेका भ्रम हुआ है, उनका स्पष्टीकरण किया जाता है ।

ईक्षतेर्नाशब्दम् । (ब्रह्म० १ । १ । ५)

(ईक्षतेः) ईक्षणसे (अशब्दम्) शब्द-प्रमाणरहित (न) नहीं है । अर्थात् ब्रह्मको जगत्की उत्पत्ति आदिमें निमित्त-कारण मानना शब्दप्रमाणरहित नहीं है; क्योंकि उसमें यह शब्द प्रमाण है । 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति' । उसने ईक्षण किया, मैं बहुत होऊँ, प्रजावाला होऊँ ।

वि० व०—कुछ साम्प्रदायिक भाष्यकारोंने 'अशब्दम्'के अर्थ प्रमाणरहित प्रकृति लगाकर सांख्यदर्शनका खण्डन किया है, जो सर्वथा अनुचित और अन्यायपूर्ण है; क्योंकि सांख्यकी त्रिगुणात्मक प्रकृति अनेक श्रुतियों और स्मृतियोंसे प्रमाणित है । यथा—

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।' (श्वेता० ४ । १०)

प्रकृतिको माया जानो और महेश्वरको मायावाला ।'

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।' (श्वेता० ४ । ५)

'एक अजा (अनादि प्रकृति) है जो लाल, श्वेत और काली (रजस्, सत्त्व और तमस्—इन तीन गुणोंवाली) है । वह अपने समान रूपवाली (तीन गुणोंवाली) बहुत-सी प्रजाओंको उत्पन्न कर रही है ।'

'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।' (कठ० १ । ३ । ११)

'महत्तत्त्वसे परे अव्यक्त (मूलप्रकृति) और अव्यक्तसे परे पुरुष (ब्रह्म) है । निम्न वेद-मन्त्रोंमें कितनी उत्तम रीतिसे प्रकृतिका वर्णन किया गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥
(श्वेता० ४ । ६ ७, अ० का ९ सूक्त ९ मंत्र २०)

'(पुरुष और पुरुषविशेष अर्थात् जीव और ईश्वररूप) जो पक्षी जो साथ रहनेवाले और मित्र हैं, वे दोनो एक ही त्रिगुणात्मक प्रकृतिरूप वृक्षको आलिङ्गन किये हुए हैं । उन दोनोंमेंसे एक जीवरूपी पक्षी (जन्म, आयु और भोगरूपी सुख-दुःख) स्वादवाले फलको खाता है और दूसरा ईश्वर-

रूपी पक्षी फल न खाता हुआ केवल साक्षीरूपसे रहता है । उसी प्रकृतिरूप वृक्षपर जीवरूपी पक्षी आसक्त होकर असमर्थतासे धोखा खाता हुआ शोक करता है (किंतु) जब योगयुक्त होकर अपने दूसरे साथी ईश और उसकी महिमाको देखता है, तब शोकसे पार हो जाता है ।'

इस प्रकृति रूप वृक्षकी जड ऊपरकी ओर है और शाखाएँ नीचेकी ओर । पृथ्वीमें छिपी हुई उसकी जड़ अव्यक्त मूल प्रकृति गुणोंकी साम्यावस्था है जो अलिङ्ग कहलाती है और प्रत्यक्ष न होनेके कारण केवल आगम और अनुमानगम्य है । जिसके सम्बन्धमें कहा गया है—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम् ॥

(वार्षगण्याचार्य षष्टितन्त्र)

अर्थ—गुणोंका असली रूप अर्थात् साम्य परिणाम दृष्टिगोचर नहीं होता । जो (विषम परिणाम) दृष्टिगोचर होता है वह माया-जैसा है और अविनाशी है ।

दिखलायी देनेवाला वृक्षका आधार तना गुणोंका प्रथम विषम परिणाम व्यक्त महत्तत्त्व लिङ्गमात्र है जो सत्त्व ही सत्त्व है । उसमें क्रिया मात्र रज और उस क्रियाको रोकने मात्र तम है, जो कारण जगत्, देवयानवाला आदित्यलोक और ओ३म्के तीसरे पाद साधारण मनुष्योंके लिये सुषुप्ति अवस्थावाली और योगियोंके लिये अस्मिता अनुगत सम्प्रज्ञात समाधि और विवेक ख्यातिकी अवस्थावाली तीसरी मात्रा मकार है । जो आनन्दमय कोश कहलाता है । यही महत्तत्त्व सत्त्वकी विशुद्धताको लिये हुए विशुद्ध सत्त्वमय चित्त, समष्टि चित्त और ईश्वरका चित्त कहलाता है । जिसमें ईश्वरका जीवोंके प्रति कल्याण करनेका नित्य संकल्प, वेदोंका ज्ञान, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता और सारी शक्तियाँ निरतिशयताको प्राप्त किये हुए विद्यमान हैं । और सत्त्वकी विशुद्धताको छोडे हुए, सत्त्व चित्त=जीवोंका चित्त=कारण शरीर कहलाता है, जो संख्यामें अनन्त हैं और सत्त्वचित्तकी अपेक्षा परिच्छिन्न, अल्पज्ञ और अल्पशक्तिवाले हैं । और इनमें जो लेशमात्र तम है उसमें अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशादि क्लेशोंकी जन्मभूमि अविद्या वर्तमान है । यह तम विवेक-ख्यातिकी अवस्थामें अविद्या क्लेशोंके दबनेपर उस वृत्तिको रोकने मात्रका कार्य करता है । चेतनतत्त्व=पुरुषका शुद्ध स्वरूप, शुद्ध आत्मतत्त्व=परब्रह्म=शुद्धब्रह्म=परमात्मा जिसकी सन्निधिसे यह विषम परिणाम हो रहा है, उसीके ज्ञानका प्रकाश महत्तत्त्वके दोनों समष्टि और व्यष्टिरूपोंमें पड़ रहा है । महत्तत्त्वके ज्ञान-स्वरूप चेतनतत्त्वसे प्रकाशित होनेको गीतामें अतिसुन्दर शब्दोंमें वर्णन किया गया है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ (९ । १०)
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ (१४ । ३)
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ (१४ । ४)

'द्वा सुपर्णा सयुजा' मन्त्रके अर्थका द्योतक चित्र

Vaidic Library

अर्थ— हे अर्जुन ! मेरा आश्रय करके प्रकृति चराचरसहित सब जगत्को रचती है इसी कारण जगत् परिवर्त्तित हो रहा है। हे अर्जुन ! मेरी योनि (गर्भ रखनेका स्थान) महत्तत्त्व है। उसीमें मैं गर्भ रखता हूं (अपने ज्ञानका प्रकाश डालता हूँ) और उसी (जडचेतनके संयोग) से सब भूतोकी उत्पत्ति होती है। हे अर्जुन ! सब योनियोंमें जो शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी योनि महत्तत्त्व है और उनमें बीजको डालनेवाला मैं (चेतन तत्त्व) पिता हूँ।

चेतनतत्त्वसे प्रकाशित अथवा प्रतिबिम्बित समष्टिचित्त, समष्टि अस्मिता और व्यष्टि चित्त, व्यष्टि अस्मिता कहलाते हैं। समष्टिचित्तके सम्बन्धसे चेतनतत्त्व ईश्वर=पुरुष विशेष=शबलब्रह्म=साकार ब्रह्म और व्यष्टिचित्तके सम्बन्धसे जीव कहलाता है। ईश्वर उपास्य और जीव यहाँपर प्राज्ञ रूपसे उपासक है (देखो पातञ्जलयोग-प्रदीप समाधि पाद सूत्र २८ का विशेष विचार)। यहाँ यह बात भी ध्यानमे रखनेकी है कि पुरुष शब्द तीन अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। पहिला चेतनतत्त्वका शुद्ध स्वरूप अर्थात् परब्रह्म=शुद्धब्रह्म=परमात्मा। दूसरा समष्टि जगत्के सम्बन्धसे चेतनतत्त्वका शबल स्वरूप अर्थात् ईश्वर= अपरब्रह्म=शबलब्रह्म। और तीसरा व्यष्टि शरीरोंके सम्बन्धसे चेतन तत्त्वका शबल स्वरूप अर्थात् जीवात्मा।

इस वृक्षके तनेमें गुणोंका दूसरा विषम परिणाम अविशेषरूप अहकार है जो विज्ञानमय कोश कहलाता है और योगियोके लिये आनन्द अनुगत सम्प्रज्ञात समाधिका स्थान है।

अहंकारसे उत्पन्न हुई शाखाएँ गुणोका तीसरा विषम परिणाम (पाँच तन्मात्राएँ) पाँच सूक्ष्मभूत और मनसहित शक्तिरूप पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। ये प्राणमय कोश और मनोमय कोश हैं। तथा दूसरे विषम परिणाम अहकार अर्थात् विज्ञानमय कोशको साथ लेकर व्यष्टिरूपसे जीवोंके सूक्ष्म शरीर तथा समष्टिरूपसे सूक्ष्म जगत्=द्यौ लोक=ब्रह्मलोक और पितृयाणवाला चन्द्रलोक=सोमलोक कहलाता है। स्थूलभूतोसे लेकर तन्मात्राओंतक सूक्ष्मताका जो तारतम्य चला गया है इसीको लेकर इसको पाँच सूक्ष्म लोको स्व. महः, जनः, तपः और सत्यमूमें विभक्त करके दिखलाया गया है तथा उपनिषदोंमे गन्धर्वलोक, देवलोक, पितरलोक, अजानजदेवलोक, इन्द्रलोक, बृहस्पतिलोक, प्रजापतिलोक और ब्रह्मलोक आदि कई भागोमें विभक्त करके दिखलाया है। जो वास्तवमें सूक्ष्मताकी अवस्थाएँ हैं और जिनका अनुभव योगियोको विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधिमें होता है। इन सूक्ष्म शरीरोके सम्बन्धसे जीवकी संज्ञा तैजस, उपासक और समष्टिरूपमें इन सूक्ष्म लोकोके सम्बन्धसे ईश्वरकी सज्ञा हिरण्यगर्भ उपास्य है। यह ओ३म्के दूसरे पादको उकार मात्रा है जो साधारण मनुष्योके लिये स्वप्न और योगियोके लिये सम्प्रज्ञात समाधिकी अवस्था है।

अन्तकी पतली शाखाएँ पत्तोसहित गुणोका चौथा विषम परिणाम १६ विकृतियाँ अर्थात् पाँच स्थूलभूत और ग्यारह इन्द्रियोके स्थूलरूप अर्थात् समष्टिरूपमें इसकी शाखाएँ स्थूल जगत्—नक्षत्रलोक, भूर्लोक और भुव लोक और व्यष्टिरूपमें इसके पत्ते जीवोके स्थूल शरीर है जिनको अन्नमय कोश कहते हैं। यह ओ३म्के पहले पाद जाग्रत् अवस्थावाली अकार मात्रा है (देखो पातञ्जलयोग प्रदीप समाधिपाद सूत्र २८ का विशेष विचार) स्थूल जगत्के सम्बन्धसे ईश्वरकी सज्ञा उपास्य विराट् और जीवकी संज्ञा

उपासक विश्व है। यहाँ यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि भूः और भुवः दोनो स्थूल जगत् अर्थात् नक्षत्रलोकमे हैं। हमको अपनी पृथ्वीका विशेषरूपसे वर्णन करना होता है इसलिये इसको अलग भूः नामसे पुकारते हैं। दूसरे नक्षत्रवाले हमारी पृथ्वीको भुवः में शामिल करके अपने लोकको भूः कहेंगे। व्यष्टिरूपसे स्थूल शरीरके अंदर सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म शरीरके अंदर कारण शरीर व्यापक हो रहा है और समष्टिरूपमें स्थूल जगत्के अंदर सूक्ष्म जगत् और सूक्ष्म जगत्के अन्दर कारण जगत् व्यापक हो रहा है।

इस वृक्षका फल जन्म, आयु और भोग है। उसका स्वाद सुख और दु ख है, जिसको जीवरूपी पक्षी चखता रहता है।

जीवरूपी पक्षीकी असमर्थतासे धोखा खाना क्रमश. अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, क्लेश, उनसे पाप-पुण्यरूपी सकाम कर्म, सकामकर्मसे कर्माशय, कर्माशयसे जन्म, आयु और भोगके लिये स्थूल शरीररूपी अनन्त, अस्थिर पत्तोंमें घूमना है।

योगयुक्त होकर जीवरूपी पक्षीका ईश्वररूपी पक्षी और उसकी महिमाको देखना योगके अङ्गोंका अनुष्ठान तथा ईश्वरप्रणिधान है, जिसका वर्णन योगदर्शन साधनपाद सूत्र १ व ३२ में तथा समाधि-पादके सूत्र २३ से २८ तक किया गया है।

"आत्मा ज्ञातव्यः प्रकृतितः विवेकतव्यः न पुनः आवर्तते"

'आत्माको जानना चाहिये, प्रकृतिसे भिन्न उसका विवेक करना चाहिये, वह पुनः नहीं लौटता है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। (गीता ३। २७)

'सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये हुए हैं।'

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। (गीता ९। १०)

'हे कौन्तेय! मेरी (ईश्वरकी) अध्यक्षताके रहते हुए प्रकृति चराचर जगत्को उत्पन्न करती है।'

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ (गीता १३। २९)

'जो पुरुष समस्त कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिसे ही किये हुए देखता है तथा आत्माको अकर्ता देखता है, वही तत्त्वज्ञानी है।'

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ (गीता १४। ५)

'हे महाबाहो! सत्त्व, रज और तम—ये प्रकृतिसे उत्पन्न हुए तीनों गुण अविनाशी आत्माको (अविवेकमे) शरीरमें बाँधते हैं।'

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्॥ (गीता १३। १९)

'प्रकृति और पुरुष—इन दोनोको ही तू अनादि जान और विकारोंको तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थोंको भी प्रकृतिसे उत्पन्न हुए जान।'

जब स्वयं व्यासजी महाराज अपने स्वरचित गीतामें इस प्रकार प्रकृतिका स्पष्टरूपसे वर्णन कर रहे हैं तो इन्हींके सूत्रोंमें 'अशब्दम्' के अर्थ 'प्रमाणरहित' प्रकृति निकालना कितना घोर पक्षपात और अत्याचार है। यह पाठक स्वय समझ सकते हैं।

श्रुति और स्मृतिद्वारा तो सांख्य और योग ही प्राचीन वेदान्त और ब्रह्मप्राप्तिका साधन सिद्ध होता है। यथा—

'तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥'

(श्वेता० ६ । १३)

'उस देवको—जो जगत्की उत्पत्ति आदिका निमित्त कारण है और जो साख्ययोगद्वारा ही जाना जा सकता है—जानकर मनुष्य सारे फाँसोंसे छूट जाता है।'

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

(गीता ३ । ३)

'हे निष्पाप अर्जुन ! इस मनुष्य-लोकमें मैंने पुरातन कालमें (कपिल मुनि और हिरण्यगर्भ रूपसे) दो निष्ठाएँ बतलायी हैं। (कपिलमुनिद्वारा बतलायी हुई) सांख्ययोगकी निष्ठा ज्ञानयोगसे होती है और (हिरण्यगर्भ रूपसे बतलायी हुई) योगियोंकी निष्ठा निष्काम कर्मयोगसे।'

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः ॥

(म० भा०)

'सांख्यके वक्ता परमर्षि कपिल हैं और योगके वक्ता हिरण्यगर्भ हैं। इनसे पुरातन इनका वक्ता और कोई नहीं है।'

ज्ञानं महद् यद्धि महत्सु राजन् वेदेषु सांख्येषु तथैव योगे।
यच्चापि दृष्टं विविधं पुराणं सांख्यागतं तन्निखिलं नरेन्द्र ॥

(महाभारत, शान्तिपर्व)

'हे नरेन्द्र ! जो महत् ज्ञान महान् व्यक्तियोंमें वेदोंके भीतर तथा योगशास्त्रोंमें देखा जाता है और पुराणमें भी विविध रूपोंमें पाया जाता है, वह सभी सांख्यसे आया है।'

इस प्रकार श्रीव्यासजी महाराजने स्वरचित गीता और महाभारतमें कपिल ऋषिके साख्यकी महिमा बतलायी है। न केवल कपिल मुनिका सांख्य और उसकी प्रकृति ही श्रुतियो और स्मृतियोंसे प्रमाणित है, किंतु कपिल मुनिको ऋषियोंमें सर्वोच्च और श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। यथा—

'ऋषिप्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति'। (श्वेता०)

'जो पहिले उत्पन्न हुए कपिल मुनिको ज्ञानसे भर देता है।'

'सिद्धानां कपिलो मुनिः' (गीता १० । २६)

'सिद्धोंमें मैं कपिल मुनि हूँ।'

श्रीगौड़पादाचार्यजीने भी सांख्यके २५ तत्त्वोंके ज्ञानद्वारा मुक्तिका होना बतलाया है। यथा—

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसेत् ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥

'जिसको (साख्यमें बतलाये हुए) २५ तत्त्वोंका ज्ञान हो गया है, वह चाहे किसी आश्रममें स्थित हो, चाहे वह गृहस्थ हो, चाहे सन्यासी हो, वह अवश्य मुक्त हो जाता है, इसमें सशय नहीं है ।'

उपर्युक्त प्रमाणोंसे पूर्णतया सिद्ध होता है कि श्रीव्यासजीका 'अशब्दम्' से प्रकृतिको प्रमाण-रहित सिद्ध करना अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता ।

'अशब्दम्' को 'अव्यक्त' मूलप्रकृति अथवा मायावादियोंकी 'अनिर्वचनीय' मायाका पर्याय-वाचक मान लेनेपर भी (यद्यपि श्रीव्यासजीको मायावादका सिद्धान्त किसी सूत्रमें भी अभिमत नहीं है) सांख्यके साथ समन्वयमें ही सूत्रके अर्थ होते हैं न कि निराकरण (खण्डन) में । अर्थात् सांख्यकी अव्यक्त मूलप्रकृति अथवा मायावादियोंकी अनिर्वचनीय माया जगत्की उत्पत्ति आदिका निमित्तकारण नहीं हो सकती । वह केवल उपादानकारण हो सकती है; क्योंकि **'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति'** द्वारा चेतन ब्रह्म ही जगत्की उत्पत्ति आदिका निमित्त कारण हो सकता है ।

इसी अध्यायके चौथे पादके सूत्रोंके अर्थ भी इन आचार्योंने प्रकृतिके अप्रामाणिक सिद्ध करने और सांख्यके निराकरणमें निकालनेका यत्न किया है । इसलिये इनका भी संक्षेपसे स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक प्रतीत होता है ।

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ।

(ब्रह्मसूत्र १ । ४ । १)

(एकेषाम्) कई शाखावालोंकी शाखाओंमें (आनुमानिकम्) आगम और अनुमानगम्य स्वतन्त्र प्रकृतिका भी वर्णन पाया जाता है ।

यथा—**'महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।'**

महत्तत्त्वसे परे अव्यक्त (मूल प्रकृति) है और उससे परे पुरुष है । (इति चेत्) यदि ऐसा कहो तो (न) यह ठीक नहीं है, क्योंकि (शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः) शरीरके तौरपर रूपकसे बतलायी हुईका ग्रहण होनेसे अर्थात् जिस प्रकार शरीर आत्माके अधीन है इसी प्रकार प्रकृतिको ब्रह्मके अधीन बतलाया गया है । (दर्शयति च) और श्रुतिवाक्यसे भी ऐसा ही पाया जाता है ।

यथा—**'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।'**

'आत्माको रथका स्वामी जाने और शरीरको रथ ।'

वि० व०—योगियोंको केवल तीनो गुणोके प्रथम विषम परिणाम महत्तत्त्वतक ही समाधिद्वारा साक्षात्कार हो सकता है । उससे उसके कारण आगमगम्य गुणोंकी साम्य अवस्था 'मूल प्रकृति' का अनुमान किया जाता है । इसलिये गुणोंकी साम्य अवस्था मूल प्रकृतिको आगम और अनुमानगम्य कहा जाता है ।

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् । (ब्रह्मसू० १ । ४ । २)

पदार्थः-(तु) किंतु (तत्) वह प्रकृति इसी स्थूल जगत्का (सूक्ष्म) सूक्ष्मतत्त्व है (अर्हत्वात्) योग्य होनेसे अर्थात् सृष्टिका सूक्ष्म तत्त्व ही अव्यक्त शब्दके योग्य है। जिस प्रकार वृक्ष अपने बीजमें अव्यक्तरूपसे स्थित रहता है, इसी प्रकार यह सृष्टि अपने बीज सूक्ष्मतत्त्वमें अव्यक्तरूपसे स्थित रहती है।

तदधीनत्वादर्थवत्। (ब्रह्मसू० १।४।३)

(तदधीनत्वात) उपर्युक्त प्रकृतिका ईश्वरके अधीन होनेसे और जगत्की उत्पत्ति आदिमें ईश्वरके सहायक होनेसे (अर्थवत्) सार्थक अर्थात् प्रयोजनवाला होना सिद्ध होता है। प्रकृतिका मुख्य प्रयोजन पुरुषका भोग और अपवर्ग है। यथा—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।

(यो० द० २।१८)

'प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है, भूत और इन्द्रिय जिसका स्वरूप है, भोग और अपवर्ग जिनका प्रयोजन है, वह दृश्य है।'

ज्ञेयत्ववचनाच्च। (ब्रह्मसू० १।४।४)

(ज्ञेयत्ववचनात्) ज्ञेयताके न कहे जानेसे भी प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है, ब्रह्माधीन ही है। अर्थात् पुरुषका अन्तिम ज्ञेय प्रकृतिकी प्राप्ति नहीं, बल्कि ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

(च) इसलिये भी प्रकृति ईश्वरके आधीन ही सिद्ध होती है, न कि उससे स्वतन्त्र।

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात्। (ब्रह्मसू० १।४।५)

(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (वदति) श्रुति अव्यक्त मूल प्रकृतिको भी ज्ञेय बतलाती है। यथा—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥

(कठ० १।३।१५)

'यह जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धसे शून्य अव्यय है, नित्य है, अनादि-अनन्त है, महत्तत्त्वसे परे है, अटल है, उसको जानकर पुरुष मृत्युके मुखसे छूट जाता है।' (न) तो यह ठीक नहीं है (हि) क्योंकि (प्रकरणात) प्रकरणसे यहाँ (प्राज्ञ) चेतन है अर्थात् यहाँ चेतन ब्रह्मका प्रकरण ऊपरसे चला आ रहा है न कि जड प्रकृतिका।

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च। (ब्रह्मसू० १।४।६)

(च) और (एवं) इस प्रकार (त्रयाणाम्) तीन पदार्थोंका (एव) ही (उपन्यासः) वर्णन=उत्तर (च) और (प्रश्न) प्रश्न भी है। इसलिये यहाँ अव्यक्त मूल प्रकृतिका प्रसङ्गसे वर्णन है न कि मुख्यतया ज्ञेय होनेसे।

अर्थात् मृत्यु और नचिकेताके संवादमें नचिकेताके तीन ही प्रश्न हैं। अग्नि, जीवात्मा और परमात्मा उनके तीन ही उत्तर हैं। तीसरे परमात्मविषयक प्रश्नका यह उत्तर है, जो 'अशब्दमस्पर्शम्' इत्यादि

वचनमें दिया गया है। प्रधान अथवा प्रकृतिविषयक न तो प्रश्न है और न उत्तर ही। इसलिये इस वचनमें प्रधान या प्रकृतिके कारणवादकी शङ्का नहीं हो सकती।

महद्वच्च। (ब्रह्मसू० १।४।७)

(महद्वत्) महत् शब्दके समान (च) भी। अर्थात् जैसे महत् शब्द महत्तत्त्वका वाचक है, परंतु 'महान्तं विभुमात्मानम्'। (कठ० २। २२) में आया हुआ महत् शब्द महत्तत्त्वका वाचक नहीं है, इसी प्रकार अव्यक्त आदि पद भी अपने प्रकरणमें प्रकृतिवाचक हैं। परमात्माके प्रकरणमें उनको प्रकृतिवाचक मानकर अर्थ करना ठीक नहीं है।

चमसवदविशेषात् (ब्रह्मसू० १।४।८)

(अविशेषात्) विशेषके न कहनेसे (चमसवत्) चमसके समान।

जैसे चमस नाम चमसेका है और बृह० २। २। ३ में चमसका लक्षण इस प्रकार किया है। **'अर्वाग्विलश् चमस ऊर्ध्वबुध्नः'** अर्थात् जिसमें नीचे बिल हो और ऊपर बुध्न पेंदा हो, वह चमस कहलाता है। चमसके इस लक्षणसे जहाँ पर्वतकी गुहामें अथवा अन्यत्र कहीं नीचे बिल और ऊपर बुध्न अर्थात् पेंदा हो तो उसको चमस नहीं कह सकते। इसी प्रकार अव्यक्तका अर्थ इन्द्रियातीत होनेसे मूल प्रकृतिको अव्यक्त कहते हैं, किंतु परमात्मप्रकरणमें आये हुए ऐसे शब्दोसे मूल प्रकृतिका ग्रहण नहीं किया जा सकता। प्रकरणानुसार परमात्माके ही अर्थ हो सकते है।

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके। (ब्रह्मसू० १।४।९)

(ज्योतिरुपक्रमा) आरम्भ जिसका ज्योति है (तु) निश्चय करके (एके) कई आचार्य (तथा हि) वैसा ही (अधीयते) पाठ करते हैं।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥ (श्वेता० ४। ५)

यहाँ जीवात्मा, ईश्वर और प्रकृति तीनोंको अज=अजन्मा अर्थात् अनादि कहा है। तो क्या कहीं अज विशेषणसे जीवात्माके प्रकरणमें ईश्वरका तथा ईश्वरके प्रकरणमें प्रकृतिका ग्रहण कोई कर सकता है? नहीं, क्योकि कई आचार्योंने अपने पाठमें ज्योतिसे उपक्रम अर्थात् आरम्भ करके स्पष्ट पढा है। जैसे कि छान्दोग्य० ६। ४। १ मे तेज, अप् और अन्नका स्वरूप स्पष्ट करनेको कहा है कि—

'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद् रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य'।

अग्निकी लपटमें लाल रग तेजस् तत्त्वका, श्वेत अप्तत्त्वका और काला अन्नका रूप है। इसीको सत्त्व, रज, तमका शुक्ल, रक्त, कृष्णरूप मानकर त्रिगुणात्मक-प्रकृतिका वर्णन 'अजामेका लोहित०' इत्यादि वाक्यमें हो जाता है। अजा शब्दके प्रयोग मात्रसे प्रकृतिको स्वतन्त्र जगत्का कारण नहीं माना जा सकता।

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः। (ब्रह्मसू० १।४।१०)

(कल्पनोपदेशात्) कल्पनापूर्वक उपदेश होनेसे (च) भी (मध्वादिवत्) मधु आदि कल्पित उपदेशके समान (अविरोधः) विरोध नहीं है। अर्थात् इन तीनोंके विषयमें 'अजा' शब्द न आकृति-निमित्तक है, न यौगिक है; किंतु कल्पनासे यह उपदेश है। अर्थात् तेज, जल, अन्न (रज, सत्त्व, तम) रूप प्रकृतिको अजा कल्पना किया गया है। जैसे कोई बकरी लोहितशुक्लकृष्णा हो और अपने-जैसी बहुत-सी संतानवाली हो, कोई अज (बकरा) इसके भोगमें आसक्त न हो, कोई भोग रहा हो। इस प्रकारकी बात है। यह ऐसी कल्पना है जैसे छान्दोग्य ३ । १ मे आदित्यको जो मिठाई नहीं है मधु (शहद) कल्पना किया है तथा बृह० ५ । ८ में वाणीको जो गौ नहीं है धेनुरूपकमे कहा है।

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥ (ब्रह्मसू० १ । ४ । ११

(नानाभावात्) अनेक होनेसे (च) और (अतिरेकात्) बच रहनेके कारण (संख्योपसंग्रहात्) संख्याके साथ कथन करनेसे (अपि) भी (न) नहीं कह सकते [कि प्रकृति स्वतन्त्र कर्ता है।]

जिस परमात्मारूप आधारमें प्रकृति रहती है, उसी आधारमें कहीं एक प्रकृतिके बदले अन्य पाँच संख्यावाले पदार्थोंकी भी स्थिति कही गयी है। इससे एक प्रकृतिके बदले पाँच संख्याके उपसंग्रहसे विरोध आयेगा। इसका उत्तर यह है कि यह विरोध नहीं है; क्योंकि (नानाभावात्) एक प्रकृतिके अनेक हो जानेमे अनेक कथन करना विरुद्ध नहीं है तथा पाँच संख्या भी अटल नहीं है।

यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥

(बृह० ४ । ४ । १७)

'जिसमें पाच पञ्चजन और आकाश ठहरा हुआ है, उसीको मैं आत्मा, ब्रह्म, अमृत मानता हूँ, उसको जानकर मैं अमृत हुआ हूँ।'

इसमें पञ्चजन शब्दसे पांच मनुष्य नहीं लेना है; किंतु अगले सूत्रमें बतलायेंगे कि प्राण, चक्षु, श्रोत्र, अन्न और मन—इन पाँचको यहाँ पञ्चजन कहा है। परतु पञ्च पञ्चजन कहनेसे भी आधेयरूपसे पाँच ही पदार्थोंको नहीं कहा; किंतु [अतिरेकात्] आत्मा और आकाश भी पाँचके अतिरिक्त पड़े है तथा एक प्रकृतिके नानारूप होनेसे एकके पाँच कहना भी विरुद्ध नहीं है।

संगति— तो फिर 'पञ्चजनाः' से क्या अभिप्रेत है ? उत्तर—

प्राणादयो वाक्यशेषात् । (ब्रह्मसू० १ । ४ । १२

(प्राणादयः) पाँच पञ्चजन यहाँ प्राणादि पाँच हैं। (वाक्यशेषात्) क्योंकि वाक्यशेषमें उनका ग्रहण है। 'यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः' से उत्तरवाक्यमें ब्रह्मका स्वरूप निरूपण करनेके लिये प्राणादि पाँच कहे हैं।

'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुः'

(बृह० ४ । ४ । १८)

'जो प्राणके प्राण, नेत्रके नेत्र, श्रोत्रके श्रोत्र, अन्नके अन्न और मनके मनको जानते हैं' इस वाक्यशेषसे १. प्राण, २. चक्षु, ३. श्रोत्र, ४. अन्न, ५. मन—इन पाँचका नाम पूर्वोक्त वाक्यमें पञ्चजन है।

सगति—यदि यह कहो कि जिनके पाठमें अन्नकी गणना नहीं है, उनके पाठमें पञ्चजन किससे पूरे होंगे ? तो इसका उत्तर अगले सूत्रमें देते हैं ।

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने । (ब्रह्मसू० १ । ४ । १३)

(एकेषाम्) कई शाखाओंके (अन्ने) अन्न पद (असति) न होनेपर (ज्योतिषा) ज्योति पदसे पाँचकी सख्या पूरी की जाती है ।

अर्थात् 'प्राणस्य प्राणम्' इत्यादि पूर्वोक्त माध्यन्दिन पाठमें तो प्राणादि पाँच पढे हैं । पर—

'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः ।'

(बृह० ४ । ४ । १८)

इस काण्व पाठमें अन्न नहीं पढा है । इनकी पाँच संख्या ('ज्योतिषा ज्योति·' ४ । ४ । १६) इस पूर्वश्लोकमें पठित ज्योतिसे पूरी करनी चाहिये ।

इन साम्प्रदायिक भाष्योंमें दूसरे अध्यायके प्रथम दो पादोंके लगभग सभी सूत्रोके अर्थ साख्य, योग और वैशेषिकके खण्डनमें लगाये गये हैं । जो वास्तवमें उनके साथ समन्वयमें हैं । इस बातको दर्शानेके उद्देश्यसे यहाँ दूसरे पादके प्रथम दस सूत्रोंको उनके पदार्थसहित उद्धृत कर देना षड्दर्शन-समन्वयके इस छोटेसे प्रकरणके लिये स्थालीपुलाकन्यायसे पर्याप्त होगा ।

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् । (ब्रह्मसू० २ । २ । १)

पदच्छेदः—**रचनानुपपत्तेः, च, न, अनुमानम् ।**

(च) पहले पादमें शब्दप्रमाणसे सिद्ध कर आये है कि जड प्रकृति जगत्का निमित्तकारण नहीं हो सकती, वह केवल उपादानकारण है, निमित्तकारण चेतन ब्रह्म है और अब उसी बातको यहाँ युक्तिसे सिद्ध करते हैं । (रचनानुपपत्तेः) वर्तमान सृष्टिकी सयुक्तिक रचनाके असिद्ध होनेसे (अनुमानम्) आगम और अनुमानसिद्ध प्रकृति (न) अचेतन होनेसे जगत्का निमित्तकारण नहीं हो सकती । वह केवल उपादानकारण है । जगत्का निमित्तकारण चेतन होनेसे केवल ब्रह्म ही हो सकता है ।

प्रवृत्तेश्च । (ब्रह्मसू० २ । २ । २)

पदच्छेदः—**प्रवृत्तेः, च ।**

(च) और (प्रवृत्तेः) अप्रवृत्त जड प्रकृति बिना किसी चेतन निमित्तकारणके स्वय प्रवृत्त भी नहीं हो सकती ।

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि । (ब्रह्मसू० २ । २ । ३)

पदच्छेदः—**पयोऽम्बुवत्, चेत्, तत्र, अपि ।**

पदार्थ—(चेत्) यदि यह कहा जाय कि (पयोऽम्बुवत्) दूध और जलके सदृश जड प्रकृतिकी स्वतः प्रवृत्ति होती है तो (तत्र, अपि) वहाँ भी जड प्रवृत्ति गाय और बछड़े आदि चेतनके अधीन ही होती हैं ।

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् । (ब्रह्मसू० २।२।४)

पदच्छेदः—**व्यतिरेकानवस्थितेः, च, अनपेक्षत्वात् ।**

(व्यतिरेकानवस्थितेः) प्रकृतिके पृथग्भावसे अवस्थित न होनेसे (च) और (अनपेक्षत्वात्) अपेक्षारहित होनेसे भी प्रकृति नहीं; किंतु ब्रह्म ही जगत्का निमित्तकारण हो सकता है।

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् । (ब्रह्मसू० २।२।५)

पदच्छेदः—**अन्यत्राभावात्, च, न, तृणादिवत् ।**

(तृणादिवत्) जिस प्रकार गौके पेटमें जाकर जड तृणादि स्वभावसे ही दूध बन जाते हैं इसी प्रकार जड प्रकृतिकी स्वतः प्रवृत्ति हो सकती है ? उत्तर—(न) नहीं हो सकती; क्योंकि (अन्यत्र अभावात्) गौसे अतिरिक्त बैल आदिके पेटमें तृणादि दूध नहीं बनते हैं। इसलिये इस प्रवृत्तिका निमित्त-कारण चेतन गौ है।

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् । (ब्र० सू० २।२।६)

पदच्छेदः—**अभ्युपगमे, अपि, अर्थाभावात् ।**

(अभ्युपगमे, अपि) यदि प्रकृतिमे बिना किसी चेतनके स्वतः प्रवृत्ति मान भी ली जाय तो भी (अर्थाभावात्) सृष्टि बनानेमें जड प्रकृतिका कोई प्रयोजन नही हो सकता।

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि । (ब्र० सू० २।२।७)

पदच्छेदः—**पुरुषाश्मवत्, इति, चेत्, तथापि ।**

(पुरुषाश्मवत्) जिस प्रकार अन्धा किसीसे पूछकर मार्ग चल सकता है या लोहेमें चुम्बककी समीपतासे गति आ जाती है, उसी प्रकार अचेतन प्रकृति स्वतः जगत्को रच सकती है (इति चेत्) यदि ऐसा मानो (तथापि) तो भी ठीक नहीं है; क्योकि जैसे अन्धोंको मार्ग दिखलानेवाले और लोहेको चुम्बककी अपेक्षा होती है, इसी प्रकार जड प्रकृतिको प्रवृत्त करानेमें किसी चेतनकी अपेक्षा होगी।

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च । (ब्र० सू० २।२।८)

पदच्छेदः—**अङ्गित्वानुपपत्तेः, च ।**

(च) और (अङ्गित्वानुपपत्तेः) प्रकृतिके तीन गुण सत्त्व, रजस् और तमस् जड होनेके कारण बिना किसी चेतनके स्वयं अङ्ग और अङ्गीभावसे प्रवृत्त नहीं हो सकते, इसलिये उनमे इस क्षोभका निमित्तकारण चेतन ब्रह्म ही हो सकता है।

अन्यथानुमितौ च, ज्ञशक्तिवियोगात् । (ब्र० सू० २।२।९)

पदच्छेदः—**अन्यथा, अनुमितौ, च, ज्ञशक्तिवियोगात् ।**

(अन्यथा) अन्य प्रकारसे (अनुमितौ) अनुमान करनेमें (च) भी (ज्ञशक्तिवियोगात्) चेतनशक्तिके वियोग होनेसे। यदि प्रकृतिके तीनो गुणोका स्वभाव अन्यथा अर्थात् कभी सयोग और कभी वियोग भी अनुमान कर लिया जाय तो भी उनके ज्ञानरहित होनेके कारण बिना किसी चेतनके उनमें ज्ञानपूर्वक क्रिया न हो सकेगी, इसलि ये चेतन ब्रह्म ही जगत्की उत्पत्ति आदिमें निमित्तकारण है।

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् । (ब्र० सू० २।२।१०)

पदच्छेदः—**विप्रतिषेधात्, च, असमञ्जसम् ।**

(विप्रतिषेधात्) परस्पर विरोधसे (च) भी (असमञ्जसम्) अनियमिकता होती है ।

बिना चेतन ब्रह्मके अस्तित्वको माने हुए तीनों गुणोंके परस्पर विरुद्ध उत्पादन और नाशन धर्म मान लेनेसे भी अनियमिकता होती है ।

इसी प्रकार ग्यारहसे सत्रहतक सात सूत्र वैशेषिकके साथ समन्वयमें हैं; न कि श्रीकणाद मुनिको नास्तिक सिद्ध करके उनके दर्शनके निराकरणमें । इस पादके अन्तके चार सूत्रोंमें सांख्य और वैशेषिकको सेश्वर मानकर भी इन भाष्यकारोंद्वारा इन दर्शनोंको दूषित ठहरानेका प्रयत्न किया गया है । जिसका मूल सूत्रोंमें नाम-निशान भी नहीं है । ब्रह्मसूत्र २ । १ । ३ में 'योग' शब्द देखकर कई साम्प्रदायिक आचार्योंने इस सूत्रका अर्थ योगके निराकरणमें लगानेका यत्न किया है । इस भ्रान्तिको मिटानेके लिये दूसरे अध्यायके पहले पादके प्रथम तीन सूत्रोंको उनके सरल और स्पष्ट अर्थसहित उद्धृत कर देना आवश्यक है ।

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ।

(ब्र० सू० २ । १ । १)

(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जाय कि (स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गः) स्मृतिके अनवकाशरूप दोष अर्थात् असंगतिका प्रसङ्ग होगा तो (न) नहीं; क्योंकि (अन्यस्मृत्यनवकाशदोष-प्रसङ्गात्) अन्य स्मृतियोंके अनवकाशरूप दोषका प्रसङ्ग होगा । यहाँ सूत्रके पूर्वार्धमें यह शङ्का उठायी गयी है कि यदि ब्रह्मको निमित्तकारण माना जाय और प्रकृतिको उसके अधीन उपादानकारण, तो किसी-किसी स्मृतिमें जो केवल प्रकृतिको स्वतन्त्र उपादानकारण माना है, उन स्मृतियोंका अनवकाशरूप दोष होगा । यथा—

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥ (साख्यकारिका ५६)

'इस प्रकार यह प्रकृतिसे किया हुआ महत्तत्त्वसे लेकर विशेष अर्थात् स्थूल भूतोतकका आरम्भ प्रत्येक पुरुषके मोक्षके लिये स्वार्थकी तरह परार्थ है ।'

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ (गीता ८ । १८)

'सम्पूर्ण विश्वमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्त (मूल प्रकृति) से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक मूल प्रकृतिमें ही लय होते हैं ।'

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः । (गीता ३ । २७)

'(वास्तवमें) सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोद्वारा किये हुए हैं ।'

सूत्रके उत्तरार्धमें इस शङ्काका यह समाधान किया गया है कि यदि इन स्मृतियोंके अनवकाश-दोषका डर है तो अन्य स्मृतियोंमें जहाँ ब्रह्मको निमित्तकारण और प्रकृतिको तदधीन उपादानकारण बतलाया गया है उनको भी तो अनवकाशदोषकी प्राप्ति होगी ।

यथा—

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्तते ।
सत्तामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः ॥ (सा० प्रवचन-भाष्य ९६)

'जैसे बिना इच्छावाले चुम्बकके स्थित रहनेमात्रमें लोहा गतिशील होता है, वैसे ही सत्तामात्र ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति आदि होती है ।'

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ (गीता ९ । १०)

'हे अर्जुन ! मेरी (ब्रह्मकी) अध्यक्षतामें प्रकृति चराचरसहित सब जगत्को रचती है । इस हेतुसे ही यह संसाररूप चक्र घूमता है ।'

इतरेषाञ्चानुपलब्धेः । (ब्रह्मसू० २ । १ । २)

(च) और (इतरेषाम्) अन्योंके (अनुपलब्धेः) न पाये जानेसे । अर्थात् कई वेद-विरुद्ध चार्वाक आदि स्मृतिको छोड़कर अन्य स्मृतियोके अनवकाशका दोष पाया भी नहीं जाता, जैसा कि पहले सूत्रमें सांख्य और गीता दोनों स्मृतियोंमें स्पष्टरूपसे दिखला दिया गया है । इसलिये प्रकृति उपादान-कारण और ब्रह्म निमित्तकारण इन दोनोंकी ही व्यवस्था ठीक है ।

एतेन योगः प्रत्युक्तः । (ब्रह्मसू० २ । १ । ३)

(एतेन) इस कथनसे (योगः) संयोगके (प्रत्युक्तः) प्रतिवादका खण्डन हो गया; अर्थात् जैसे बिना ब्रह्मके स्वतन्त्ररूपेण केवल प्रकृति जगत्का कारण नहीं बन सकती, इसी प्रकार बिना ब्रह्मके केवल संयोग स्वतन्त्ररूपेण जगत्का कारण नहीं बन सकता । इसी बातको श्वेताश्वतर उपनिषद्मे दर्शाया है ।

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या ।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥ (श्वेता० १ । २)

'क्या काल या स्वभाव या नियति (होनी) या यदृच्छा (इतिफाक) या स्थूलभूत कारण है अथवा जीवात्मा कारण है, यह विचारणीय है । इनका संयोग भी कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वे अनात्म (जड) पदार्थ हैं और जीवात्मा भी समर्थ नहीं; क्योंकि वह स्वयं सुख-दुःखमें पडा है ।'

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥ (श्वेता० १ । ३)

'उन्होंने ध्यानयोगमें लगकर उस परमात्माकी निजशक्तिको जो कार्योंके अंदर छिपी हुई है, प्रत्यक्ष देखा—जो देव अकेला काल और जीवात्मासमेत इन सारे कारणोंका अधिष्ठाता है ।'

जिस योगको ब्रह्मके साक्षात्कारका श्रुति स्पष्टरूपमें प्रशंसाके साथ मुख्य साधन बतलाती है, उसी योगकी ब्रह्मसूत्रद्वारा निराकरण किये जानेकी सम्भावना कितनी आश्चर्यजनक है ।

योगशिखोपनिषद्, अध्याय एकमें बतलाया है—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः ।
विना देहेऽपि योगेन न मोक्षं लभते विधे ॥ २४ ॥

'हे विधे ! साधक चाहे ज्ञाननिष्ठ, विरक्त, धर्मज्ञ और जितेन्द्रिय क्यों न हो, तो भी योग बिना इस देहसे मुक्ति-लाभ न कर सकेगा ।'

तीसरा प्रकरण

न्याय और वैशेषिक दर्शन

कणाद मुनिप्रवर्तित वैशेषिकदर्शन और गौतम मुनिप्रवर्तित न्यायदर्शनके सिद्धान्त एक-जैसे हैं। न्यायदर्शन एक प्रकारसे वैशेषिक सिद्धान्तकी ही विस्तृत व्याख्या है या यों कहिये कि इन दोनों दर्शनोंमें एक ही फिलासफी है जिसका पूर्वाङ्ग वैशेषिक है और उत्तराङ्ग न्याय।

इन दोनो दर्शनकारोका ठीक-ठीक समय निश्चय करना अति कठिन है; किंतु यह सिद्ध है कि ये दोनों भगवान् कपिल और पतञ्जलि मुनिके पीछे हुए हैं; क्योंकि इन्होंने अतीन्द्रिय पदार्थोंके वास्तविक स्वरूप जाननेके लिये योगका ही सहारा लिया है और व्यास तथा जैमिनिसे पूर्वकालमें हुए हैं; क्योंकि ब्रह्मसूत्रमें उनके सिद्धान्तोंका वर्णन आया है। इन दोनोमे कणाद गौतमसे पहले हुए हैं; क्योकि वैशेषिक दर्शन न्यायदर्शनकी अपेक्षा अधिक प्राचीन समयका है।

वैशेषिक दर्शन

नामकरण—इस दर्शनका नाम वैशेषिक, काणाद तथा औलूक्य है। विशेष नामक पदार्थकी विशिष्ट कल्पना करनेके कारण इसको वैशेषिक संज्ञा प्राप्त हुई है और कणाद तथा उनके पिता उलूक ऋषिके नामपर इसे काणाद और औलूक्य कहते हैं। कणादका कहीं-कहीं काश्यप अर्थात् कश्यप मुनिका पुत्र अथवा कश्यप गोत्रवाला नाम भी मिलता है।

वैशेषिक सूत्रोंकी सख्या तीन सौ सत्तर है, जो दस अध्यायोमें विभक्त है। प्रत्येक अध्यायमें दो आह्निक हैं। प्रथम अध्यायके प्रथम आह्निकमें द्रव्य, गुण तथा कर्मके लक्षण तथा विभागका और दूसरे में 'सामान्य' का, दूसरे तथा तीसरे अध्यायमें नौ द्रव्योंका, चौथे अध्यायके प्रथम आह्निकमें परमाणु-वादका तथा द्वितीयमे अनित्य द्रव्य विभागका, पाँचवें अध्यायमें कर्मका, छठे अध्यायमें वेद-प्रामाण्यके विचारके बाद धर्म-अधर्मका, सातवें तथा आठवें अध्यायमें कतिपय गुणोका, नवें अध्यायमें अभाव तथा ज्ञानका और दसवेंमें सुख-दुःख-विभेद तथा विविध कारणोका वर्णन किया गया है।

वैशेषिकका अर्थ है पदार्थोंके भेदोका बोधक।

पदार्थ जो प्रतीतिसे सिद्ध हो उसे कहते हैं।

वैशेषिक दर्शनमें हेय, हेय-हेतु, हान और हानोपाय—इन चारों प्रतिपाद्य विषयोके समझनेके लिये छः पदार्थ—१-द्रव्य, २-गुण, ३-कर्म, ४-सामान्य, ५-विशेष और ६-समवायका निरूपण किया है तथा उनके सामान्य धर्म और विशेष धर्मके तत्त्वज्ञानसे नि.श्रेयस अर्थात् मोक्ष बतलाया है।

यथा—

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्। (वै० १।१।४)

'धर्मविशेषसे उत्पन्न हुआ जो द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय (इतने) पदार्थोंका साधर्म्य और वैधर्म्यसे तत्त्वज्ञान, उससे मोक्ष होता है ।'

इन पदार्थोंमें केवल धर्मी तो द्रव्य है, अन्य पाँच पदार्थ धर्म है । अर्थात् गुण और कर्म द्रव्यके धर्म है; सामान्य और विशेष द्रव्य, गुण ओर कर्म-तीनोके धर्म हैं; और समवाय पाँचोका धर्म है । इन छःमेंसे पहले तीन द्रव्य, गुण और कर्म मुख्य पदार्थ है, क्योंकि इन्हींसे अर्थ-क्रिया (प्रयोजन) सिद्ध होती है और यही धर्म अधर्मके निमित्त होते है । शेष तीन उपपदार्थ है; क्योकि उनसे कोई अर्थ-क्रिया सिद्ध नहीं होती; वे केवल शब्दव्यवहारके ही उपयोगी है ।

नौ द्रव्य

द्रव्य नौ है—

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ।

(वै० १ । १ । ५)

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन—ये नौ द्रव्य हैं ।

१—पृथिवीके कारणरूप निरवयव सूक्ष्म परमाणु नित्य है और उनका कार्यरूप स्थूल भूमि अनित्य है । पृथिवीमें गन्ध, रस, रूप, स्पर्श चार गुण है । उनमेसे मुख्य गन्ध है ।

२—जलकी पहचान शीत स्पर्श है । उष्ण जलमे जो उष्णता प्रतीत होती है वह अग्निकी है । कारणरूप निरवयव जलके सूक्ष्म परमाणु नित्य है और कार्यरूप साधारण जल अनित्य है । जलमें रस, रूप और स्पर्श तीन गुण है; उनमेंसे मुख्य रस है ।

३—अग्निकी पहचान उष्ण स्पर्श है । जहाँ उष्ण स्पर्श है वहाँ अवश्य किसी-न-किसी रूपमें अग्नि है । कारणरूप निरवयव अग्निके सूक्ष्म परमाणु नित्य है और कार्यरूप साधारण अग्नि अनित्य है । अग्निमें रूप और स्पर्श दो गुण है, उनमेंसे रूप मुख्य है ।

४—वायुकी पहचान एक विलक्षण स्पर्श है । कारणरूप निरवयव वायुके परमाणु नित्य हैं और कार्यरूप साधारण वायु अनित्य है ।

इन चारों द्रव्योसे तीन प्रकारकी वस्तुएँ बनी हैं—शरीर, इन्द्रिय और विषय । मनुष्य, पशु-पक्षी आदिके शरीर तथा वृक्ष आदि पृथिवीके है, घ्राणेन्द्रिय पृथिवीकी है, शरीर और इन्द्रियके सिवा जितनी मिट्टी, पत्थर आदि रूप पृथिवी है, वह सब पार्थिव विषय है । इसी प्रकार जल-मण्डलस्थ जीवोके शरीर जलीय है, रसना (रस अनुभव करनेवाली इन्द्रिय) जलीय है; नदी, समुद्र, बर्फ, ओले आदि जलीय विषय हैं । तेजोमण्डलस्थ जीवोंका शरीर तैजस है । नेत्रेन्द्रिय तैजस हैं, अग्नि, सूर्य और जठराग्नि आदि तैजस विषय है । वायु-मण्डलस्थ जोवोका शरीर वायवीय है, त्वचा इन्द्रिय वायवीय है और बाहर जो वृक्ष आदिको कँपानेवाला वायु है तथा अंदर जो प्राणरूप वायु है, यह वायवीय विषय है ।

५—आकाशकी पहचान शब्द है । जहाँ शब्द है वहाँ आकाश है । शब्द सर्वत्र है, अतएव आकाश विभु (व्यापक) है । विभु निरवयव होनेसे नित्य होता है, अतएव आकाश नित्य और एक है । आकाशका शरीर कोई नहीं, पर उसका इन्द्रिय श्रोत्र है; कर्ण-छिद्रके अंदरका आकाश श्रोत्र है ।

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँचों द्रव्य पञ्चभूत कहलाते हैं। इनके क्रमसे गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द—ये पाँच गुण हैं। घ्राण, रसना, नेत्र, त्वचा और श्रोत्र—ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। जिनके क्रमसे गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द—ये पाँच विषय है। घ्राण नासिकाके अग्रवर्ती है और पार्थिव होनेसे पृथिवीके गुण गन्धकी ही ग्राहक है। रसना जिह्वाग्रवर्ती है और जलीय होनेसे जलके गुण रसकी ही ग्राहक है। नेत्र काली पुतलीके अग्रवर्ती है और तैजस होनेसे रूपका ही ग्राहक है। त्वचा सर्वशरीरगत है और वायवीय होनेसे स्पर्शकी ही ग्राहक है।

६ काल—'यह उससे आयुमें छोटा है, वह इससे आयुमें बड़ा है। यह जल्दी हो गया है और वह देरसे हुआ है।' इत्यादि जो विलक्षण प्रतीतियाँ होती हैं, उनका निमित्त काल है। काल सारे कार्यों (अनित्यों) की उत्पत्ति, स्थिति और विनाशमें निमित्त होता है। काल नित्य, विभु और एक है; किंतु व्यवहारके लिये पल, घड़ी, दिन, रात, महीना, वर्ष और युग तथा भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान आदि उसके अनेक भेद कल्पनासे कर लिये जाते हैं। अनित्य पदार्थोंकी अपेक्षासे कल्पित हैं।

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति। (वै० २। २। ९)

'नित्योंमें न होनेसे और अनित्योंमें होनेसे कारणमें काल संज्ञा है।' यहाँ कारणमें कालको भी गिना है।

७ दिशा—'यह इससे पूर्व है, दक्षिण है, पश्चिम है, उत्तर है, पूर्वदक्षिण है, दक्षिणपश्चिम है, उत्तरपश्चिम है। उत्तरपूर्व है; नीचे है, ऊपर है'—आदि ये दस प्रतीतियाँ जिससे होती हैं वह दिशा है।

इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिङ्गम्। (वै० २। २। १०)

'यहाँसे यह पर है या अपर' यह प्रतीति जिससे होती है वह दिशाका लिङ्ग है। सारे कार्योंकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाशमें कालवत् दिशा भी निमित्त होती है। कालवत् दिशा भी विभु है और एक है; किंतु व्यवहारके लिये उसके भी पूर्वादि भेद कर लिये जाते हैं। परिच्छिन्न पदार्थोंकी अपेक्षासे कल्पित हैं।

८ आत्मा—आत्माकी पहचान चैतन्य (ज्ञान) है। ज्ञान, शरीरका धर्म नहीं हो सकता; क्योंकि शरीरके कारण जो पृथिवी आदि भूत हैं उनमें ज्ञान नहीं। यदि उनमें ज्ञान होता तो उनसे बने हुए घटादिमें भी ज्ञान होता। ज्ञान इन्द्रियोंका भी गुण नहीं है; क्योंकि किसी इन्द्रियके नष्ट हो जानेपर भी उसके पहले अनुभव किये हुए विषयकी स्मृति रहती है और स्मृति उसीको होती है जिसने अनुभव किया हो; इसलिये यह अनुभव करनेवाला इन्द्रियोंसे भिन्न है। ज्ञान, मनका गुण भी नहीं; क्योंकि मन जाननेका साधन है, ज्ञाता नहीं। इसलिये परिशेषसे ज्ञान आत्माका गुण सिद्ध होता है। इससे आत्माका अनुमान होता है। इसी प्रकार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख भी शरीरसे भिन्न आत्माका अनुमान कराते हैं। हितकी प्राप्ति और अहितके परिहारके लिये शरीरकी चेष्टा भी इस बातको प्रकट करती है कि रथमें रथके सारथिके सदृश अपने हित-अहितको जानकर शरीरको चलानेवाला शरीरसे पृथक् उसका अधिष्ठाता आत्मा है।

आकाशवत् आत्मा भी विभु (व्यापक) और नित्य है—

विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा। (वै० ७। १। २२)

विभु धर्मवान् महान् है आकाश, वैसे (ज्ञानस्वरूप) आत्मा है ।

९ मन—जिस प्रकार बाह्यरूपादि ज्ञानके साधन नेत्रादि इन्द्रियाँ हैं, उसी प्रकार सुख-दुःखादिके ज्ञानका साधन जो इन्द्रिय है, वह मन है, मन अणु है—

तदभावादणु मनः । (वै० ७ । १ । २३)

उसके अर्थात् विभुत्वके अभावसे मन अणु है ।

इस प्रकार द्रव्य नौ ही हैं । यद्यपि तम (अन्धकार, अँधेरा) काले रंगका और चलता हुआ प्रतीत होता है तथापि वस्तुत. वह कोई द्रव्य नहीं । प्रकाशका अभाव ही तम है, प्रकाशके न होनेसे न दीखना ही उसमें कालापन है । यदि वास्तवमें उसका कोई अपना रंग होता तो प्रकाशके साथ दीखता । जो चलता हुआ प्रतीत होता है, वास्तवमें वह अँधेरा नहीं चलता; किंतु प्रकाशके आगे-आगे चलनेसे अँधेरा चलता हुआ प्रतीत होता है, जैसे पुरुषके चलनेसे छाया चलती हुई प्रतीत होती है ।

चौबीस गुण

गुण चौबीस है—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार ।

१ *रूप*—रूप श्वेत, नीला, पीला आदि कई प्रकारका है । यह नेत्रसे ग्राह्य है; पृथिवी, जल और अग्निमें द्रव्यादिका प्रत्यक्ष करानेवाला है ।

२ *रस*—रस मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय-भेदसे छः प्रकारका है, यह रसनेन्द्रियसे ग्राह्य है ।

३ *गन्ध*—गन्ध सुगन्ध और दुर्गन्ध भेदसे दो प्रकारका है और घ्राणेन्द्रियसे ग्राह्य है । यह केवल पृथिवीमें रहती है ।

४ *स्पर्श*—स्पर्श तीन प्रकारका है, शीत, उष्ण, अनुष्णाशीत (न ठंडा न गर्म), यह त्वगिन्द्रियसे ग्राह्य है और पृथिवी, जल, तेज और वायुमें रहता है ।

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—पृथिवीमें ये चारों गुण हैं; जलमें गन्ध नहीं, शेष तीनो हैं, अग्निमें गन्ध और रस नहीं शेष दो है और वायुमे रूप भी नहीं केवल स्पर्श है ।

५ *सख्या*—'यह एक है, दो हैं' इत्यादि व्यवहारका हेतु सख्या है । सख्या एक द्रव्यके आश्रय भी है, जैसे 'यह एक वृक्ष है', और अनेक द्रव्योके भी, जैसे 'ये दो वृक्ष हैं' । एकत्व सख्या नित्य द्रव्योंमें नित्य है, क्योकि नित्य द्रव्योके सदा बने रहनेसे एकत्व सख्या भी सदा बनी रहती है । अनित्य द्रव्योंमें एकत्व संख्या अनित्य है, क्योंकि उनके उत्पन्न होनेके साथ उत्पन्न होती है और उनके नाश होनेके साथ नष्ट हो जाती है ।

एकमें एकत्व सख्या तो सदा ही होती है; किंतु द्वित्व, त्रित्वादि संख्या सदा नहीं होती । वह तब उत्पन्न होती है जब हम अलग-अलग दो अथवा दोसे अधिक वस्तुओंको इकट्ठा मिलाकर कहना चाहते हैं कि ये दो हैं अथवा तीन हैं इत्यादि । द्वित्व-त्रित्वादि संख्या अपेक्षाबुद्धिसे उत्पन्न होती है और अपेक्षा-बुद्धिके नाश होनेपर नाश हो जाती है, इसलिये यह अनित्य होती है । यह द्वित्वादि सख्या व्यासज्यवृत्ति

कहलाती हैं, क्योंकि वह अपने आश्रयभूत वस्तुओंमे सबमें एक ही हैं, अलग-अलग नहीं। सख्या नित्य, अनित्य, मूर्त, अमूर्त सारे द्रव्योमें रहती है।

६ *परिमाण*—'यह इतना है' इस व्यवहारका हेतु परिमाण है। परिमाण चार प्रकारका होता है; अणुत्व, महत्त्व, दीर्घत्व और ह्रस्वत्व। ये परिमाण एक दूसरेकी अपेक्षासे कहे जाते हैं। एक वस्तुको उससे बडी वस्तुकी अपेक्षासे अणु या ह्रस्व कहा जाता है और छोटीकी अपेक्षासे महत् या दीर्घ। परमाणुओंमें अणुत्व और ह्रस्वत्व तथा आकाश आदि विभु द्रव्योमें महत्त्व और दीर्घत्व मुख्य हैं। परिमाण भी नित्य, अनित्य, मूर्त, अमूर्त सब द्रव्योका धर्म है।

७ *पृथक्त्व*—'यह इससे पृथक् है' इस व्यवहारका हेतु पृथक्त्व है। यह भी सब द्रव्योका धर्म है। संख्यावत् एक पृथक्त्व नित्य द्रव्योंमे नित्य होता है और अनित्योंमें अनित्य; क्योंकि आश्रयके नाशसे उसका नाश आवश्यक है।

८ *सयोग*—'यह संयुक्त है' इस प्रतीतिका निमित्त सयोग है। यह तीन प्रकारका होता है—(क) अन्यतर कर्मज अर्थात् सयुक्त होनेवाले दो पदार्थोंमेंसे एकके कर्मसे उत्पन्न होनेवाला, जैसे श्येन पक्षी और पर्वतका सयोग, (ख) उभयकर्मज अर्थात् दोनोंके कर्मसे उत्पन्न होनेवाला, जैसे दो मेढ़ोंका सयोग; (ग) सयोगज अर्थात् सयोगसे उत्पन्न होनेवाला, जैसे हाथ और पुस्तकके संयोगसे शरीर और पुस्तकका सयोग।

इनमें अन्यतर कर्मज और उभयकर्मज संयोग भी दो प्रकारका होता है।

(अ) 'अभिघात' शब्दका हेतु-सयोग और (ब) 'नोदन' अहेतु-संयोग।

सयोग सब द्रव्योंमे रहता है और अनित्य होता है, क्योंकि परमाणु आदि नित्य द्रव्योंमें भी नया ही उत्पन्न होता है। हर एक सयोग अव्याप्यवृत्ति होता है, अर्थात् जो संयुक्त हैं उनके सारे स्वरूपमें संयोग नहीं होता, किंतु किसी एक या किन्हीं एक प्रदेशोंके साथ होता है।

९ *विभाग*—सयोगका नाशक गुणविभाग है। सयोगवत् यह भी तीन प्रकारका है—(क) अन्यतर कर्मज जैसे श्येन पक्षीके उड जानेसे श्येन और पर्वतका विभाग, (ख) उभय कर्मज, जैसे दो मेढोके परस्पर पीछे हटनेसे मेढोका विभाग और (ग) विभागज, जैसे हाथ और पुस्तकके अलग हो जानेसे शरीर और पुस्तकका विभाग।

१०, ११ *परत्व, अपरत्व*—'यह परे है, यह वरे है' इस व्यवहारके निमित्त गुण परत्व और अपरत्व हैं। ये दो प्रकारके हैं—दैशिक और कालिक। दैशिक, दिशासे किये हुए अर्थात् दूर-निकटकी अपेक्षासे, जैसे वह वस्तु इससे परे है (दूर है), यह वरे है (निकट है), और कालिक, कालसे किये हुए अर्थात् आयुकी अपेक्षासे, जैसे वह पर है, वडा है और यह अपर है, छोटा है। दैशिक और कालिक, सारे परत्व और अपरत्व अपेक्षा-बुद्धिसे उत्पन्न होते हैं और अपेक्षा-बुद्धिके नाशसे नष्ट होते हैं। कालिक परत्व और अपरत्व अनित्योके धर्म है, नित्योंके नहीं, दैशिक परत्व और अपरत्व पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मनके धर्म हैं, विभुके नहीं होते।

१२ *गुरुत्व*—गिरनेका निमित्त गुरुत्व (भार) है। यह जल और पृथिवीमे रहता है। वायुमें

गुरुत्वकी प्रतीति पार्थिव और जलीय परमाणुओके सयोगसे होती है। गुरुत्व नित्योंमें नित्य और अनित्योमें अनित्य है।

१३ द्रवत्व—यह बहनेमें निमित्त (बहनेका धर्म) है। वह दो प्रकारका है; (क) स्वाभाविक जैसे जलमे और (ख) नैमित्तिक जैसे घृत आदि पार्थिव वस्तुओंमें अग्निके संयोगसे उत्पन्न होता है। द्रवत्व भी नित्योमे नित्य और अनित्योंमें अनित्य होता है।

१४ स्नेह—स्नेह जलका विशेष गुण है, बिखरे हुए कणोको मिलानेका हेतु है। यह नित्योंमें नित्य और अनित्योमें अनित्य होता है।

१५ शब्द—यह आकाशका गुण है, श्रोत्र-ग्राह्य है और दो प्रकारका है—(क) ध्वनि-स्वरूप जैसा मृदग आदिमे होता है और (ख) वर्ण-स्वरूप जैसा मनुष्योंकी भाषामे।

१६ बुद्धि—बुद्धि ज्ञानका नाम है, यह केवल जीवात्माका गुण है, इसके दो भेद है—(क) अनुभव, नया ज्ञान और (ख) स्मृति, पिछले जाने हुएका स्मरण।

अनुभव दो प्रकारका होता है—(अ) यथार्थ, सच्चा, जिसको प्रमा एवं विद्या कहते है। इसके तीन भेद प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणके प्रसंगमें बतलाये जायँगे। (ब) अयथार्थ, मिथ्या, जिसको अप्रमा या अविद्या कहते हैं। इसके दो भेद सशय और विपर्ययको भी अलग बतलाया जायगा।

साख्य और योगने आत्माको ज्ञानस्वरूप तथा बुद्धिको तीनो गुणोंका प्रथम विषम परिणाम माना है, जो सत्त्वमें रज केवल क्रियामात्र और तम उस क्रियाको केवल रोकने मात्र है। सत्त्वके प्रकाश और आत्माके ज्ञानके प्रकाशमें अत्यन्त विलक्षणता है, फिर भी बुद्धिमें सत्त्वकी स्वच्छता एव निर्मलताके कारण आत्माके ज्ञानके प्रकाशको ग्रहण करनेकी अनादि योग्यता है। यह आत्माके ज्ञानसे प्रकाशित हुई बुद्धि किसी-न-किसी ज्ञानेन्द्रिय-द्वारा बहिर्मुख होकर नाना प्रकारके यथार्थ और अयथार्थ आकारोमें परिणत होती रहती है। यह ज्ञान तथा अज्ञानका परिणाम बुद्धिमें ही होता है। इसलिये ज्ञान और अज्ञान दोनों बुद्धिहीके धर्म माने गये हैं; किंतु बुद्धि जड़ है। इसलिये उसको इस ज्ञान और अज्ञानका बोध नहीं होता। इसका बोध आत्माको होता है; क्योंकि बुद्धिमे वृत्तिरूपसे यह नाना प्रकारका ज्ञान और अज्ञानका परिणाम उसीके ज्ञानके प्रकाशमे हो रहा है। इसलिये आत्माको बुद्धिकी वृत्तियोका द्रष्टा होता हुआ भी कूटस्थ नित्य ही माना जाता है। बुद्धिको आत्माके साथ सम्मिलित करनेसे शबल अर्थात् मिश्रित आत्माकी संज्ञा जीव होती है। इसलिये बुद्धिके धर्मज्ञान आदिक वैशेषिकमें जीवात्माके गुण बतलाये गये हैं। कई समालोचकोको बुद्धि और आत्मामें विवेकपूर्ण ज्ञान न होनेके कारण यह भ्रम हुआ है कि बुद्धिके अलग हो जानेसे वैशेषिकका आत्मा एक जड द्रव्य रह जाता है। उनको जानना चाहिये कि बुद्धिकी वृत्तियोका द्रष्टा न रहते हुए भी आत्मा अपने शुद्ध ज्ञान स्वरूपसे च्युत नहीं होता है, किंतु बुद्धिके जो विकारादि उसमें आरोपित किये जाते हैं, उनका भी बाध हो जाता है।

१७ सुख—सुख इष्ट विषयकी प्राप्तिसे उत्पन्न होता है और सदा अनुकूल स्वभाव होता है। अतीत विषयोंमें उनकी स्मृतिसे और अनागत विषयोंमें उनके संकल्पसे होता है। सुखमें मुख और नेत्र खिल जाते हैं। विज्ञानियोंको जो विषय और उसकी स्मृति तथा संकल्पके बिना सुख होता है वह विद्या, शान्ति, संतोष और धर्म-विशेषसे होता है।

१८ दुःख—यह इष्टके वियोग या अनिष्टकी प्राप्तिसे उत्पन्न होता है और सदा प्रतिकूल-स्वभाव होता है। अतीत विषयोंमें स्मृति-जन्य और अनागत विषयोंमें सकल्प-जन्य होता है। दुःखमें मुख मुरझा जाता है और दीनता आ जाती है।

१९ इच्छा—अपने लिये या दूसरोंके लिये किसी अप्राप्त वस्तुकी प्रार्थना (चाहना) इच्छा है। किसी वस्तुको इष्ट-साधक या अनिष्ट-निवारक जानकर उसमें इच्छा होती है। इच्छा दो प्रकारकी होती है, फलकी इच्छा और उपायकी इच्छा। फल, सुखकी प्राप्ति और दु.खकी निवृत्ति है, और सब उसके साक्षात् और परम्परासे उपाय हैं।

२० द्वेष—प्रज्वलन स्वरूप द्वेष है, यह प्रयत्न, स्मृति, धर्म और अधर्मका हेतु है अर्थात् द्वेषसे मारने या जीतनेका प्रयत्न होता है। जिससे द्वेष होता है उसकी बार-बार स्मृति होती है। दुष्टोसे द्वेषमें धर्म और श्रेष्ठोमें द्वेषसे अधर्म होता है। क्रोध, द्रोह, मन्यु, अक्षमा और अमर्ष—ये द्वेषके भेद हैं।

२१ प्रयत्न—उद्योग, उत्साह प्रयत्न है। यह दो प्रकारका होता है—(क) जीवन-पूर्वक जो सोये हुएके प्राण, अपानादिको चलाता है और जाग्रत्-कालमें अन्त करणका इन्द्रियोके साथ सयोग कराता है, (ख) इच्छा-द्वेषपूर्वक हितके साधनोके ग्रहणमें इच्छापूर्वक प्रयत्न होता है और दु खके साधनोंके परित्यागमें द्वेषपूर्वक।

२२, २३ धर्म, अधर्म—वेद-विहित कर्मोंसे धर्म उत्पन्न होता है, यह पुरुषका गुण है, कर्ताके प्रिय, हित और मोक्षका हेतु होता है। इसके विपरीत प्रतिषिद्ध कर्मोसे अधर्म उत्पन्न होता है, यह कर्त्ताके अहित और दुःखका हेतु होता है। धर्म और अधर्मको अदृष्ट कहते हैं।

२४ संस्कार—यह तीन प्रकारका होता है—(क) वेग—यह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन—इन पाँच द्रव्योमें कर्मसे उत्पन्न होता है और अगले कर्मका हेतु होता है। (ख) भावना—यह अनुभवसे उत्पन्न होता है, स्मृति और पहचानका हेतु है। विद्या, शिल्प, व्यायाम आदिमें बार-बारके अभ्याससे इस सस्कारका अतिशय होता है। उसके बलसे उस-उस विषयमें निपुणता आती है। (ग) स्थितिस्थापक—अन्यथा किये हुएको फिर उसी अवस्थामें लानेवाला सस्कार स्थितिस्थापक कहलाता है। जिससे टेढ़ी की हुई शाखा छोडनेसे फिर सीधी हो जाती है। सस्कार स्पर्शवाले द्रव्योमें रहता है।

इन चौबीस गुणोमेंसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सासिद्धिक द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दु.ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, सस्कार और शब्द—ये विशेष गुण हैं, क्योकि ये एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यसे निखेरते है और सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, सयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, नैमित्तिक द्रवत्व और वेग सस्कार, ये सामान्य गुण हैं; क्योकि ये एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यसे नहीं निखेरते।

३ कर्म—चलना (हरकत) रूप कर्म है, यह पाँच प्रकारका है—

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि। (वै० १।१।७)

१ उत्क्षेपण—ऊपर फेंकना
२ अवक्षेपण—नीचे गिराना
३ आकुञ्चन—सिकोडना
४ प्रसारण—फैलाना और
५ गमन—अन्य सब प्रकारकी क्रिया। ये पाँच कर्म है।

मनुष्यके कर्म पुण्य-पाप-रूप होते हैं, महाभूतोंके नहीं। ये कर्म भी नौ द्रव्योंमेंसे किसी-न-किसी द्रव्यके धर्म हैं।

२ सामान्य—किसी अर्थकी जो जाति (किस्म) है वह सामान्य है, जैसे वृक्षकी वृक्षत्व और मनुष्यकी मनुष्यत्व जाति है। जाति बहुतोंमें एक होती है, जैसे सारे वृक्षोंमें वृक्षत्व जाति एक है। जो एक ही हो अथवा जो विभु हो उसमें जाति नहीं रहती, जैसे दिशा, काल, आकाश और आत्मामें।

सामान्यके दो भेद हैं—पर और अपर। एक व्यापक जाति; जिसकी अवान्तर जातियाँ और भी हों, जैसे वृक्षत्व, पर-सामान्य कहलाती है; उसकी अवान्तर जाति, जैसे आम्रत्व, अपर-सामान्य कहलाती है। अपर-सामान्यको सामान्य-विशेष भी कहते हैं; क्योंकि वह सामान्य भी है और विशेष भी। जैसे आम्रत्व सारे आमोंमें सामान्य है, किंतु दूसरे वृक्षोंसे आमोंको विशेष (अलग) करती है, इसलिये विशेष भी है।

सामान्य विशेष (पर, अपर) सापेक्ष हैं। आम्रत्वादिकी अपेक्षासे वृक्षत्व पर (सामान्य) है और वृक्षत्वकी अपेक्षासे आम्रत्व अपर (विशेष) है, किंतु वृक्षत्व भी पृथिवीत्वकी अपेक्षासे अपर है और आम्रत्व भी अपनी अवान्तर जातियोंकी अपेक्षासे पर है। जिसकी आगे कोई अवान्तर जाति न हो, वह केवल अपर होता है, जैसे घटत्वादि और जिसकी व्यापक जाति न हो वह केवल पर ही होता है। ऐसी जाति केवल सत्ता है, जो सारे द्रव्यों, सारे गुणों और सारे कर्मोंमें होती है। सत्ता वह है जिससे सत्-सत् इस प्रकारकी प्रतीति होती है, अर्थात् द्रव्य सत् है, गुण सत् है, कर्म सत् है। और सारी (द्रव्यत्वादि) जातियाँ सामान्य-विशेष हैं, किंतु इन द्रव्यत्वादि जातियोंमेंसे हर एक जाति अनेक व्यक्तियोंमें रहती है, इसलिये प्रधानतया वे सामान्य ही हैं, किंतु अपने आश्रय (द्रव्यादि) को दूसरे पदार्थोंसे अलग भी करती हैं, इसलिये गौणतया विशेष शब्दसे कही जाती हैं, किंतु जो विशेष पदार्थ है वह इनसे अलग ही है।

३ विशेष—जैसे घोड़ेसे गौमें विलक्षण प्रतीति जाति-निमित्तक होती है और एक गौसे दूसरी गौमें विलक्षण प्रतीतिका निमित्त रूपादि या अवयवोंकी बनावट आदिका भेद है। इसी प्रकार योगियोंको एक ही जाति, गुण और कर्मवाले परमाणुओंमें जो एक दूसरेसे विलक्षण प्रतीति होती है उसका भी कोई निमित्त होना चाहिये, परमाणुओंमें और कोई भेद (बनावट आदिका भेद) असम्भव होनेसे, जो वहाँ भेदक धर्म है वही विशेष पदार्थ है। यह विशेष सारे नित्य द्रव्योंमें रहता है, क्योंकि अनित्य द्रव्योंमें और गुण-कर्मादिमें तो आश्रयके भेदसे भेद कहा जा सकता है, किंतु नित्य द्रव्योंमें नहीं। इसलिये हर एक नित्य द्रव्यमें एक-एक विशेष होता है, जिससे वे एक दूसरेसे विलक्षण प्रतीत होते हैं और देश-कालके भेदमें भी यह वही परमाणु है, यह पहचान जो योगियोंकी होती है इसका निमित्त भी विशेष पदार्थ है। अर्थात् पहचान और विलक्षण प्रतीति किसी निमित्तसे होती है, जैसे गौमें गोत्व जातिसे और शुक्लमें शुक्लत्व गुणसे; और वह निमित्त परमाणुओंमें कोई और न होनेसे उनमें भी अवश्य कोई अलग ऐसा पदार्थ है जो पहचान और विलक्षण प्रतीतिका निमित्त है, वही विशेष पदार्थ है। इस विशेष पदार्थका पता इसी दर्शनने लगाया है, इसीलिये इसको वैशेषिक कहते हैं।

६ *समवाय*—सम्बन्ध सदा दोमें होता है, जैसे कुंडे और दहीका सम्बन्ध है। इनमेंसे दही कुंडेसे और कुंडा दहीसे अलग भी रहता है। ऐसे सम्बन्धको संयोग कहते है। किंतु जो ऐसा घना सम्बन्ध है कि सम्बन्धी न अलग-अलग थे और न हो सकते हैं जैसे गुण-गुणीका सम्बन्ध, वहाँ सम्बन्धको समवाय कहते है। अर्थात् गुणीमें गुण समवाय-सम्बन्धसे रहता है। इसी प्रकार अवयवोंमें अवयवी क्रियावालोंमें क्रिया, व्यक्तिमें जाति और नित्य द्रव्योंमें विशेष समवाय सम्बन्धसे रहता है।

अभाव पदार्थ—पिछले वैशेषिक आचार्योंने उपर्युक्त छः भाव पदार्थोंके अतिरिक्त 'अभाव' भी एक अलग पदार्थ निरूपण किया है। अभाव चार प्रकारका है। प्रागभाव,, प्रध्वसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव। किसी वस्तुकी उत्पत्तिसे पहले उसका अभाव प्रागभाव और नाशके पीछे उसका अभाव प्रध्वंसाभाव है। किसी वस्तुका नितान्त अभाव अत्यन्ताभाव है और एक वस्तुमें दूसरी वस्तुका अभाव अन्योन्याभाव है।

न्याय-दर्शन

न्यायसूत्रके रचयिताका गोत्र-नाम गौतम या गोतम है और व्यक्तिगत नाम अक्षपाद है।

प्रमाणोसे अर्थका परीक्षण अर्थात् विभिन्न प्रमाणोंकी सहायतासे वस्तुतत्त्वकी परीक्षा न्याय है।

प्रत्यक्ष और आगमके आश्रित अनुमान (न्याय) है। अनुमानमें परीक्षा करके अर्थकी सिद्धि की जाती है। परीक्षा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे होती है, जैसे अग्निकी सिद्धिमें जब यह प्रतिज्ञा की कि 'पर्वतमें अग्नि है' तो यह शब्दप्रमाण हुआ; जब रसोईका उदाहरण दिया तो वह प्रत्यक्षप्रमाण हुआ, जब 'जैसे रसोई धूमवाली है, वैसे यह पर्वत धूमवाला है' ऐसा उपनय कहा, तो यह उपमान हुआ। इस प्रकार प्रत्यक्ष, उपमान और शब्द, इन सब प्रमाणोसे परीक्षा करके अग्निकी सिद्धि की गयी। इस प्रकार समस्त प्रमाणोके व्यापारसे परीक्षा करके अग्निकी सिद्धि की गयी। इस प्रकार समस्त प्रमाणोके व्यापारसे अर्थका निश्चय करना न्याय है।

न्यायसूत्र पाँच अध्यायोमें विभक्त हैं और प्रत्येक अध्याय दो आह्निकोंमें। इनमें षोडश पदार्थोंके उद्देश्य (नाम-कथन) तथा लक्षण (परिभाषा) परीक्षण किये गये हैं।

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्ताऽवयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासछल-जातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ।

(न्याय १ । १)

'प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान, इनके तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।' इनमेंसे प्रमेयके तत्त्वज्ञानसे मोक्ष मिलता है और प्रमाण आदि पदार्थ उस तत्त्वज्ञानके साधन हैं।

यथार्थ ज्ञानका साधन प्रमाण है, जाननेवाला प्रमाता, ज्ञान प्रमिति और जिस वस्तुको जानना है वह प्रमेय कहलाती है।

न्याय-दर्शनके अनुसार चार मुख्य प्रमाण हैं—१ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ उपमान, ४ आगम।

१ प्रत्यक्ष प्रमाण—इन्द्रियों और अर्थके सम्बन्धसे उत्पन्न हुआ जो अशब्द (नाममात्रसे न कहा हुआ), अव्यभिचारी (न बदलनेवाला) और निश्चयात्मक हो, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

प्रत्यक्षके दो भेद हैं—निर्विकल्पक और सविकल्पक। वस्तुका आलोचनमात्र ज्ञान, जिसमें सम्बन्धकी प्रतीति नहीं होती है, निर्विकल्पक है; और जिसमें सम्बन्धकी प्रतीति होती है, वह सविकल्पक है। निर्विकल्पक पहले होता है और सविकल्पक पीछे। जैसे गोको देखकर 'गौ' यह ज्ञान पहले-पहल नहीं होता; क्योंकि 'गौ' इस ज्ञानमें केवल व्यक्तिका ज्ञान नहीं, किंतु एक विशेष व्यक्ति, एक विशेष जाति (गोत्व) से सम्बन्ध रखने-वाली प्रतीत भी होती है। यह सम्बन्धका ज्ञान सम्बन्धियोंको पहले-पहल अलग जाने बिना नहीं हो सकता। इससे अनुमान होता है कि पहले दोनों सम्बन्धियों (जाति, व्यक्ति) का सम्बन्धरहित ज्ञान अलग-अलग हुआ है, पीछे यह भी है' यह ज्ञान हुआ है। इनमेंसे पहला निर्विकल्पक है; पीछे जो सम्बन्धको प्रकट करनेवाला ज्ञान हुआ है, वह सविकल्पक है। निर्विकल्पक कहनेमें नहीं आता। वह ऐसा ही प्रत्यक्ष है जैसे बालक या गूँगेको होता है। इसके विपरीत सविकल्पक कहने-सुननेमें आता है।

२. अनुमान प्रमाण—साधन-साध्य, लिङ्ग लिङ्गी अथवा कार्य-कारणके सम्बन्धसे जो ज्ञान उत्पन्न हो, उसे अनुमान कहते हैं।

जहाँ व्याप्ति अर्थात् साहचर्य (साथ रहने) का नियम पाया जाता है, वहीं अनुमान होता है। धूम अग्निके बिना नहीं होता, इसलिये धूमसे अग्निका अनुमान होता है; पर अग्नि बिना धूम भी होता है, इसलिये अग्निसे धूमका अनुमान नहीं होता। जिसके द्वारा अनुमान करते हैं उसको लिङ्ग (चिह्न) कहते हैं और जिसका अनुमान होता है, उसको लिङ्गी। इस प्रकार धूम लिङ्ग है और अग्नि लिङ्गी। लिङ्गी वह होता है, जो व्यापक हो। जहाँ धूम है वहाँ अग्नि अवश्य है, धूममें अग्निकी व्यापकता है, ऐसा होनेसे ही अनुमान हो सकता है। यदि बिना अग्निके भी धूम होता तो उससे अग्निका अनुमान न होता। जैसे अग्नि बिना धूमके भी होती है, अतएव अग्निसे धूमका अनुमान नहीं हो सकता। इसलिये जहाँ व्याप्ति है वहीं अनुमान होता है। चाहे वह सम-व्याप्ति हो चाहे विषम-व्याप्ति हो। सम-व्याप्ति, जैसे गन्ध और पृथिवीत्वकी है। जहाँ गन्ध है वहीं पृथिवीत्व है और जहाँ पृथिवीत्व है वहीं गन्ध है। और विषम-व्याप्ति, जैसे अग्नि और धूमकी है; क्योंकि जहाँ धूम है वहीं अग्नि है, यह तो नियम है, पर जहाँ अग्नि है वहाँ धूम भी हो, यह नियम नहीं है।

अनुमान तीन प्रकारका है—पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।

पूर्ववत्—जहाँ प्रत्यक्षभूत लिङ्ग लिङ्गीमेंसे एकके देखनेसे दूसरेका अनुमान हो। जैसे धूमसे अग्निका। यहाँ दोनों प्रत्यक्षके विषय हैं। अर्थात् यहाँ अनुमेय (लिङ्गी) जो अग्नि है, वह भी रसोई आदिमें विशेषरूपसे प्रत्यक्ष हो चुका है।

शेषवत्—जहाँ-जहाँ प्रसङ्ग जा सकता है, वहाँ-वहाँसे हटाकर शेष बचे हुएका अनुमान शेषवत् है, जैसे 'शब्द किसका गुण है' इस विचारमें सारे द्रव्योंका प्रसङ्ग आता है। उनमेंसे किसीका भी गुण न होनेसे परिशेषसे यह आकाशका लिङ्ग (गुण) है (वै० २। १। २७)। यही परिशेषानुमान शेषवत् कहलाता है।

सामान्यतोदृष्ट—जो सामान्यरूपसे देखा गया हो पर विशेषरूपसे न देखा गया हो। वह वहाँ होता है जहाँ लिङ्गीको पहले प्रत्यक्ष देखा हुआ न हो—जैसे देखने-सुनने आदि क्रियाओंसे इन्द्रियोंका

अनुमान । क्रियाका कोई साधन (करण) अवश्य होता है, जैसे छेदनेका कुल्हाडा । इसी प्रकार देखना, सुनना आदि क्रिया हैं, उनका भी कोई करण अवश्य होना चाहिये । यहाँ जो करण हैं वही इन्द्रिय है । यद्यपि सामान्यरूपसे यह देखा गया है कि जो क्रिया होती है, उसका कोई करण अवश्य होता है, जैसे छेदने आदिमें कुल्हाडा, पर जैसे करणका यहाँ अनुमान करना है, अर्थात् इन्द्रियरूप, वैसा करण कभी भी देखा नहीं गया, इसलिये यह अनुमान सामान्यतोदृष्ट है । इसी प्रकार जगत्की रचनासे इसको रचनेवालेका ज्ञान सामान्यतोदृष्ट है । पूर्ववत् वहाँ होता है, जहाँ पहले अनुमेयको भी देखा हुआ है और सामान्यतोदृष्ट वहाँ होता है, जहाँ अनुमेयको कभी देखा नहीं है । इसी अनुमानसे जो अतीन्द्रिय पदार्थ है, उनका ज्ञान होता है ।

३—उपमान-प्रमाण——प्रसिद्ध-सादृश्यसे सज्ञा-सज्ञीके सम्बन्धका ज्ञान उपमान है, यथा——जो गवय (नीलगाय) को नहीं जानता वह यह सुनकर कि 'जैसी गौ वैसी गवय' वनमे जाय और गौ-सदृश व्यक्तिको देखे तो उसको यह ज्ञान होगा कि यह गवय है । यहाँ गवय व्यक्ति प्रत्यक्ष है, पर यह ज्ञान कि 'इसका नाम गवय है' प्रत्यक्ष नहीं । यदि यह भी प्रत्यक्ष होता तो सभीको प्रतीत हो जाता । यह ज्ञान अनुमानसे भी नहीं हुआ; क्योंकि सज्ञाका कोई लिङ्ग नहीं होता । शब्दसे भी नहीं हुआ, क्योकि यह किसीने बतलाया नहीं । इसलिये जिससे यह ज्ञान हुआ है वह एक अलग ही उपमान-प्रमाण है ।

४—आगम-प्रमाण——आप्तके उपदेशको शब्द-प्रमाण कहते हैं । अर्थके साक्षात् करनेवाले और यथा-दृष्टका उपदेश करनेवालेका नाम आप्त है । शब्दप्रमाण दो प्रकारका है——दृष्ट-अर्थ और अदृष्ट-अर्थ । जिस आप्त उपदेशका अर्थ यहाँ देखा जाता है, वह दृष्ट-अर्थ है; जिसका अर्थ यहाँ नहीं देखा जाता, जैसे स्वर्गादि, वह अदृष्ट-अर्थ है । लौकिक वाक्य दृष्टार्थ हैं, वैदिक वाक्य प्राय. अदृष्टार्थ ।

न्यायदर्शनमें ऐसे पदार्थोंको जिनके न्यायद्वारा तत्त्व-ज्ञानसे निःश्रेयस् हो सकता है, सोलहकी सख्यामें विभक्त किया गया है——

१—प्रमाण——चार हैं, इनका वर्णन ऊपर कर दिया गया है ।

२—प्रमेय——बारह हैं, इनका वर्णन आगे किया जायगा ।

३—संशय——समान धर्मकी प्रतीतिसे, अनेकोके धर्मकी प्रतीतिसे, विप्रतिपत्ति [परस्पर विरोधी पदार्थोंके सहभाव] से, उपलब्धिकी अव्यवस्थासे और अनुपलब्धिकी अव्यवस्थासे विशेषकी आकाङ्क्षावाला विचारसशय है । सशयका साधारण लक्षण एक धर्मीमें विरुद्ध नानाधर्मोंका ज्ञान समझना चाहिये ।

४—प्रयोजन——जिस अर्थको लक्ष्यमें रखकर किसी विषयमें प्रवृत्त होना है, वह प्रयोजन है ।

५—दृष्टान्त——लौकिक और परीक्षकोंकी बुद्धिकी जिस अर्थमें समता हो, वह दृष्टान्त है । जैसे अग्निके अनुमानमें रसोई । दृष्टान्तके विरोधसे ही परपक्ष खण्डनीय होता है और दृष्टान्तके समाधानसे ही स्व-पक्ष स्थापनीय होता है ।

६—सिद्धान्त——शास्त्रके आधारपर अर्थोंके माननेकी व्यवस्था सिद्धान्त है । सिद्धान्त चार प्रकारका है——

(क) *सर्वतन्त्र-सिद्धान्त*——जो सारे शास्त्रोंका सिद्धान्त हो, अर्थात् जिसमे किसी शास्त्रका विरोध न हो ।

(घ) *प्रतितन्त्रसिद्धान्त*—जो अपने-अपने शास्त्रका अलग-अलग सिद्धान्त हो।

(ङ) *अधिकरणसिद्धान्त*—जिसकी सिद्धि दूसरे अर्थोंकी सिद्धिपर निर्भर हो।

(च) *अभ्युपगमसिद्धान्त*—वादीकी मानी हुई बातको ही मानकर उसपर विचार करना।

७ *अवयव*—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन—ये पाँच अवयव है। जैसे 'घट अनित्य है' यह प्रतिज्ञा है; 'उत्पत्तिवाला होनेसे' यह हेतु है; 'उत्पत्ति-धर्मवाले पट आदि द्रव्य अनित्य देखनेमें आते हैं' यह उदाहरण है; 'ऐसा ही घट भी उत्पत्ति-धर्मवाला है' इसको उपनय कहते है; 'इसलिये उत्पत्ति-धर्मवाला होनेसे घट अनित्य सिद्ध हुआ' इसका नाम निगमन (उपसंहार) है। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि पूर्व प्रमाणोंमें जो अनुमान कहा है, वह दो प्रकारका होता है—स्वार्थानुमान अर्थात् अपने लिये अनुमान; और परार्थानुमान अर्थात् दूसरेके लिये अनुमान। स्वार्थानुमान-कर्ता जब उस ज्ञानको दूसरेको निश्चय कराना चाहता है, तब उसकी सिद्धिके लिये अपने मुखसे उसे जो वाक्य कहना पड़ता है, उसके ये पाँच अवयव होते है और वही अनुमान परार्थानुमान कहलाता है।

८ *तर्क*—जिसका सम्यक् ज्ञान न हो उसको जानना चाहते हुए उसमें कारणके सम्भवसे तत्त्वज्ञानके लिये जो युक्ति है, वह तर्क है।

९ *निर्णय*—संशय उठाकर पक्ष-प्रतिपक्षद्वारा अर्थका अवधारण (निश्चय) निर्णय है।

१० *वाद*—पक्ष और प्रतिपक्षका वह अङ्गीकार जिसमें प्रमाणोंसे और तर्कसे साधन और प्रतिषेध हो, जो सिद्धान्तसे विरुद्ध न हो और पाँचों अवयवोंसे युक्त हो, वाद कहलाता है।

११ *जल्प*—जो वादके विशेषणोंसे युक्त हो, किंतु जिसमें छल, जाति और निग्रहस्थानोंसे भी साधन और प्रतिषेध हो, वह जल्प है।

१२ *वितण्डा*—जल्प जब प्रतिपक्षस्थापनासे हो तो वितण्डा होता है।

इस प्रकार किसी अर्थके निर्णयके लिये वादी-प्रतिवादीकी जो बातचीत होती है, उसका नाम कथा है और वह तीन प्रकारकी होती है, तत्त्व-निर्णयके लिये वाद होता है, दूसरोंको परास्त करनेके लिये वा सिद्धान्तकी रक्षाके लिये जल्प होता है और जहाँ विजिगीषु (जीतनेकी इच्छावाला) छल-जाति आदिका भी प्रयोग करता है और अपने पक्ष-स्थापनसे हीन केवल दूसरेके पक्षपर प्रमाण, तर्क, छल, जाति आदिसे सब प्रकार आक्षेप करता है वह वितण्डा है।

१३ *हेत्वाभास*—हेत्वाभास वे हैं जो हेतु लक्षणके न होनेसे हैं तो अहेतु, किंतु हेतुके समान हेतुवत् भासते हैं। ये पाँच प्रकारके होते हैं—

(क) *सव्यभिचार हेत्वाभास*—जो एकमें अर्थात् केवल साध्यमें ही नियत न हो अर्थात् अन्यवस्थामें हो। जैसे किसीने कहा 'शब्द' नित्य है स्पर्शवान् न होनेसे, स्पर्शवाला 'घट' अनित्य देखा जाता है, 'शब्द' वैसा स्पर्शवाला नहीं, इसलिये शब्द नित्य है। यहाँ दृष्टान्तमें स्पर्शत्व और अनित्यत्वरूप धर्म साध्य-साधन-भूत नहीं है; क्योंकि परमाणु स्पर्शवान् है, किंतु अनित्य नहीं, नित्य है। ऐसे ही यदि कहे कि जो स्पर्शवान् नहीं वह नित्य है, जैसे 'आत्मा' तो यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि बुद्धि स्पर्शवाली नहीं किंतु नित्य नहीं, अनित्य है। इस कारण दोनो दृष्टान्तोंमें व्यभिचार आनेसे स्पर्शत्व न होना हेतु-सव्यभिचार हुआ।

(ख) *विरुद्ध हेत्वाभास*—सिद्धान्तको अङ्गीकार करके उसीका विरोधी जो हेतु है, वह विरुद्ध हेतु है। जैसे शब्द नित्य है; क्योंकि कार्य है। यह कार्य होना नित्यताका विरोधी है, न कि साधक।

(ग) *प्रकरणसम हेत्वाभास*—विचारके आश्रय अनिश्चित पक्ष और प्रतिपक्षको प्रकरण कहते हैं। उसकी चिन्ता सशयसे लेकर निर्णयतक जिस कारण की गयी है वही निर्णयके लिये काममें लाया जाय तो दोनो पक्षोकी समतासे प्रकरणसे आगे नहीं बढ़ता, इसलिये प्रकरणसम हुआ। जैसे किसीने कहा कि 'शब्द' अनित्य है, तो नित्य धर्मका ज्ञान न होनेसे यह हेतु प्रकरणसम है। इससे दो पक्षोंमें किसी एक पक्षका निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि यदि शब्दमें नित्यत्वधर्मका ग्रहण होता तो प्रकरण ही नहीं बनता, अथवा अनित्यत्व धर्मका ज्ञान शब्दमें होता तो भी प्रकरण सिद्ध न होता। अर्थात् यदि दो धर्मोमेंसे एकका भी ज्ञान होता तो 'शब्द अनित्य है कि नित्य'--यह विचार ही क्यों प्रवृत्त होता।

(घ) *साध्यसम हेत्वाभास*--स्वयं साधनीय होनेके कारण जो साध्यसे कोई विशेषता नहीं रखता वह साध्यसम है। जैसे 'छाया द्रव्य है' यह साध्य है, 'गतिवाला' होनेसे यह हेतु है, क्योंकि छायाका गतिमान् होना स्वय साध्यकोटिमें है, इसलिये यह हेतु साध्यसे विशेष नहीं, इसलिये 'साध्य' के 'सम' हुआ; क्योकि छायामें जैसे द्रव्यत्व साध्य है वैसे ही गति भी साध्य है।

(ङ) *कालातीत हेत्वाभास*—जिस अर्थका वर्णन समय चूककर किया गया हो उसे कालातीत कहते हैं। हेतुका काल वह है जब अर्थ सदिग्ध हो; किंतु जब अर्थ किसी प्रबल प्रमाणसे निश्चित हो, तो वहाँ हेतु उसे उलटकर कुछ सिद्ध नहीं कर सकता। जैसे कोई कहे कि 'अग्नि उष्ण नहीं है, क्योंकि द्रव्य है' तो यह हेतु कालातीत है; क्योंकि जब अग्निका उष्ण होना प्रत्यक्षसे निश्चित है तो यहाँ उष्ण न होना सिद्ध करनेके लिये हेतुका काल ही नहीं; क्योंकि अग्निका उष्ण न होना प्रत्यक्षसे बाधित है। अतएव नवीन नैयायिक कालातीतको बाधित भी कहते हैं।

१४ छल—अर्थको बदल देनेसे वादीके वचनका विघात करना छल है। अर्थात् वादीके कहनेका जो अभिप्राय है उससे विरुद्ध अभिप्राय लेकर उसपर आक्षेप करना छल है। यह छल तीन प्रकारका है—

(क) *वाक्छल*—साधारणरूपसे कहे हुए अर्थमे वक्ताके अभिप्रायसे विरुद्ध अन्य अर्थकी कल्पनाको वाक्छल कहते हैं। जैसे किसीने कहा कि 'यह बालक नवकम्बलवान् है' कहनेवालेका यहाँ आशय यह है कि 'इस बालकका कम्बल नया है', पर छलवादी वक्ताके अभिप्रायसे विरुद्ध कहता है कि 'इस लडकेके पास तो केवल एक कम्बल है नौ कहाँ है'—नव शब्दके नवीन और नौ--ये दो अर्थ हैं। इस छलवादीकी रोक यह है कि नवकम्बल शब्द जो दो विशेष अर्थोंका एक सामान्य शब्द है, उसमें जो तुमने एक अर्थकी कल्पना कर ली है, इसका क्या हेतु है, क्योंकि बिना निश्चय किये अर्थ-विशेषका निश्चय नहीं हो सकता है कि यह अर्थ इसको अभिप्रेत है और वह विशेष तुम्हारे अर्थमें नहीं है, इसलिये यह तुम्हारा दूषण नहीं सिद्ध होता।

(ख) *सामान्य छल*--जो बात बन सकती है उसके स्थानमें अति समानताको लेकर एक बनती बातकी कल्पना सामान्य छल है। जैसे किसीने कहा 'यह ब्रह्मचारी विद्याविनयसम्पन्न है,' इस वचनका

खण्डन अर्थ-विकल्पसे ग्रहण तथा असम्भव अर्थकी कल्पनासे करना कि जैसे ब्रह्मचारीमे विद्याविनय-सम्पत्ति सम्भव है वैसा व्रात्य (यज्ञोपवीतके सस्कारसे हीन) मे भी है तो व्रात्य भी ब्रह्मचारी है; क्योकि वह भी विद्याविनयसम्पन्न है। इसका खण्डन यह है कि यह वाक्य प्रशसार्थक है, इसलिये इससे असम्भव अर्थकी कल्पना नहीं हो सकती; ब्रह्मचारी सम्पत्तिका विषय है, उसका हेतु नहीं है।

(ग) उपचार छल—धर्मके अमुख्य प्रयोगमें मुख्य अर्थसे प्रतिषेध उपचार छल है। यहाँ 'धर्म' से अभिप्राय 'वृत्ति' का है। शब्दकी वृत्ति दो प्रकारकी है—मुख्य और अमुख्य। मुख्य अर्थमे मुख्य वृत्ति होती है; जैसे 'गङ्गाया स्नाति'—यहाँ गङ्गा शब्द मुख्य वृत्तिसे प्रवाहका बोधक है। मुख्य वृत्तिको 'शक्ति' कहते हैं। और 'गङ्गाया घोष.' यहाँ गङ्गा शब्द अमुख्य वृत्तिसे गङ्गातीरका बोधक है। अमुख्य वृत्तिको 'लक्षण' कहते हैं। जब लक्षण वृत्तिसे प्रयोग किया गया हो और मुख्य वृत्तिको लेकर कोई निषेध करे, जैसे कहा है गङ्गामें घोष, घोष तो उसके किनारेपर है तो यह उपचार छल है। अथवा जैसे किसीने कहा 'मचान चिल्ला रहे हैं।' इसका दूसरा खण्डन करता है कि मचानोपर बैठे हुए पुरुष चिल्ला रहे हैं न कि मचान। मचान शब्दके मुख्य अर्थ लकड़ियोसे बनी ऊँची बैठकके हैं, जो किसान खेतीकी रखवालीके लिये बना लेते हैं और उसमे शब्दकारिता असम्भव है; इसलिये अमुख्य वृत्ति (लक्षणा) से मञ्चपर बैठे पुरुष बोलते हैं यह वक्ताका अभिप्राय है। वादी इसके अभिप्रायको न लेकर शका करता है कि मञ्चपर बैठे पुरुष बोलते हैं न कि मञ्च। यह उपचार छल है। इसका खण्डन यह है कि यहाँ मचान शब्द मुख्य नहीं, गौण है, मञ्चस्थ पुरुषोके अर्थमे ही प्रयुक्त हुआ है! प्रधान और गौण शब्दका प्रयोग वक्ताकी इच्छापर होता है और अर्थ उसीके अभिप्रायसे लिया जाता है।

१५ जाति—साधर्म्य और वैधर्म्यसे प्रतिषेध (खण्डन) करनेको जाति कहते हैं। असत् उत्तर जाति है, जब कोई सच्चा उत्तर न सूझे तो साधर्म्य-वैधर्म्यको लेकर ही जो समय टाला जाता है वह जात्युत्तर होता है। जातिके चोवीस भेद हैं जो स्थानाभावसे यहाँ नहीं दिये जाते हैं।

१६ निग्रहस्थान (हारकी जगह)—विप्रतिपत्ति अर्थात् उलटा समझना या अप्रतिपत्ति अर्थात् प्रकरण-के अज्ञानको निग्रहस्थान कहते हैं, अर्थात् विप्रतिपत्ति या अप्रतिपत्ति करनेसे पराजय होती है। प्रतिपत्तिका अर्थ प्रवृत्ति है; विपरीत अथवा निन्दित प्रवृत्तिको विप्रतिपत्ति कहते हैं और दूसरेसे सिद्ध किये पक्षका खण्डन न करना अथवा अपने पक्षपर दिये हुए दोषका समाधान न करना अप्रतिपत्ति है। निग्रहस्थान बाईस प्रकारका है। स्थानाभावसे उन भेदोका यहाँ वर्णन नहीं किया जा सकता। निग्रहस्थानका साधारण लक्षण उत्तरका स्फुरण या उलटा स्फुरण समझ लेना चाहिये।

वैशेषिकदर्शनके नौ द्रव्योके सदृश न्यायदर्शनके इन सोलह पदार्थोमेसे वास्तवमे मुख्य बारह प्रमेय ही हैं, जो प्रमाणद्वारा जानने योग्य हैं। अन्य सब पदार्थ प्रमेयका प्रमाणद्वारा ज्ञान करानेमे सहायक है।

प्रमेय

१—आत्मा—जिसके पहचानके लिये इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, ज्ञान और प्रयत्न लिङ्ग हैं। यही भोगता है।

२—शरीर—जो चेष्टा, इन्द्रियो और अर्थोका आश्रय और भोगका स्थान है।

३–*इन्द्रियाँ*—घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा, श्रोत्र,—जिनके उपादान कारण क्रमसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश हैं। ये भोगके साधन (करण) हैं।

४–*अर्थ*—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द—जो पाँचों इन्द्रियोके यथाक्रम भोगने योग्य विषय और पाँचों भूतोके यथायोग्य गुण हैं।

५–*बुद्धि, ज्ञान, उपलब्धि*—ये तीनों पर्याय शब्द हैं। अर्थोका भोगना अर्थात् अनुभव करना बुद्धि है।

६–*मन*—जिसका लिङ्ग एकसे अधिक ज्ञानेन्द्रियोंसे एक समयमें ज्ञान न होना है, जो सारी इन्द्रियोंका सहायक और सुख-दुःखादिका अनुभव करानेवाला है।

७–*प्रवृत्ति*—मन, वाणी और शरीरसे कार्यका आरम्भ होना प्रवृत्ति है।

८–*दोष*—प्रवृत्त करना जिनका लक्षण है वे राग, द्वेष और मोह तीन दोष हैं।

९–*प्रेतभाव*—पुनर्जन्म अर्थात् सूक्ष्म शरीरका एक स्थूल शरीर छोड़कर दूसरा धारण करना प्रेतभाव है।

१०–*फल*—प्रवृत्ति और दोषसे जो अर्थ उत्पन्न हो उसे फल कहते हैं। फल दो प्रकारका होता है, मुख्य और गौण। मुख्य फल सुख-दुःखका अनुभव है और सुख-दुःखके साधन शरीर, इन्द्रियाँ, विषय आदि गौण फल हैं। यहाँ दोनो फलोके ग्रहण करनेके लिये अर्थ कहा है। राग, द्वेष और मोह जो दोष हैं, उनमेसे मोह राग-द्वेषका कारण है और प्रवृत्ति फलकी उत्पादक है।

११–*दुःख*—जिसका लक्षण पीड़ा है। सुख भी दुःखके अन्तर्गत है, क्योंकि सुख बिना दुःखके नहीं रह सकता।

१२–*अपवर्ग*—दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति अपवर्ग है।

इन दोनों दर्शनोके अनुसार आत्मा, आकाश, काल, दिशा, मन और (वायु, अग्नि, जल और पृथिवीके) परमाणु नित्य हैं, और शरीर, इन्द्रियाँ, चारों स्थूलभूत अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और इनसे बनी हुई सारी सृष्टि अनित्य है।

नित्य द्रव्य निरवयव होना चाहिये। आत्मा, आकाश, काल और दिशा विभु अर्थात् व्यापक होनेके कारण और मन तथा चारो भूतोंके परमाणु जो अणु हैं, अति सूक्ष्म होनेके कारण निरवयव होनेसे नित्य है। इस अशमें विभु और अणु द्रव्य समान हैं किंतु अणु परिच्छिन्न, एकदेशीय होनेसे सक्रिय होते हैं और विभु व्यापक होनेसे निष्क्रिय। इस अशमें अणु और विभु एक दूसरेसे विरोधी धर्मवाले हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, शरीर, इन्द्रियाँ तथा भूमण्डल आदि समस्त मूर्तिमान् पदार्थ अवयववाले, सक्रिय और अनित्य हैं। इन दोनो दर्शनोंने साख्यके सदृश परमात्मतत्त्वको आत्मतत्त्वमें सम्मिलित कर दिया है अर्थात् उसका अलग वर्णन नहीं किया है। इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि इन्होने उसके अस्तित्वको अस्वीकार किया है। ईश्वरीयज्ञान वेदको दोनो दर्शनोने आगम (शब्द) प्रमाण माना है।

इस प्रकार परमात्मतत्त्वका अलग वर्णन न करनेका कारण यह है कि इन दोनो दर्शनोंने वेदान्तके समान 'हेयहेतु' अर्थात् दुःखका कारण अविद्या, मिथ्या-ज्ञान या अविवेक माना है। 'हान' अर्थात् दुःखका

अत्यन्त अभाव स्वरूप-अवस्थिति, अपवर्ग, निःश्रेय या ब्रह्म-प्राप्ति बतलाया है, किंतु 'हानोपाय' अर्थात् दुःख-निवृत्तिका साधन जहाँ वेदान्तने ब्रह्मज्ञान बतलाया है वहाँ इन दोनों दर्शनोने जड और चेतनतत्त्वका विवेक अर्थात् तत्त्वज्ञान माना है।

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्गः ।

(न्याय १ । १ । २)

सोलह पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे मिथ्या-ज्ञान अर्थात् अविद्याका नाश होता है । मिथ्या-ज्ञानके नाशसे दोषो (राग, द्वेष, मोह) का नाश होता है । दोषोंके नाशसे प्रवृत्तिका नाश होता है । प्रवृत्तिके नाशसे जन्मका न मिलना और जन्मके न मिलनेसे सब दु खोका अभाव होता है । सब दु खोका अभाव ही अपवर्ग है ।

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे । (वैशेषिक ५ । २ । १५)

आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थके सम्बन्धसे सुख-दुःख होते है।*

तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः स योगः । (वैशे० ५ । २ । १६)

मनका आत्मामें स्थित होनेपर उसका (मनके कार्यका) जो अनारम्भ (कार्यका बद कर देना) है, वह योग है, जो शरीरके दुःखके अभावका हेतु है ।

अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगाः कार्यान्तरसंयोगाश्चेत्यदृष्टकारितानि ।

(वैशे० ५ । २ । १७)

(यह जो मरनेके समय मनका पूर्वदेहसे) निकलना और (दूसरे देहमें) प्रवेश करना है तथा (जन्मसे ही) जो खाने-पीनेकी वस्तुओके सयोग हैं तथा दूसरे शरीरका जो सयोग है, ये (सब मनुष्य के) अदृष्टसे कराये जाते हैं ।

यहाँ अदृष्ट (धर्म-अधर्म) मीमासकोंके अपूर्व और साख्ययोगके कर्माशयके अर्थमें प्रयोग हुआ है ।

तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः । (वैशे० ५ । २ । १८)

(तत्त्वज्ञानसे) उस (अदृष्ट) का अभाव हो जानेपर (पूर्व शरीरसे) संयोगका अभाव और नयेका प्रकट न होना मोक्ष है ।

न्यायमञ्जरीमें मुक्तिके स्वरूपका इस प्रकारका वर्णन किया गया है—

स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः ।
ऊर्मिषट्कातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः ॥
संसारबन्धनाधीनं दुःखक्लेशाद्यदूषितम् ।

मुक्त दशामें आत्मा अपने विशुद्ध (ज्ञान) स्वरूपमें प्रतिष्ठित और अखिल गुणोसे विरहित रहता है । ऊर्मिका अर्थ क्लेशविशेष है । भूख-प्यास प्राणके, लोभ-मोह चित्तके, शीत और तप

---

* ऐसा ही उपनिषदोंमें बतलाया गया है—
आत्मेन्द्रियमनोयुक्त भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः । (कठोप०)
इन्द्रिय और मनसे युक्त आत्माको बुद्धिमान् भोक्ता कहते हैं ।

शरीरके क्लेशदायक होनेसे ऊर्मि कहे जाते हैं। मुक्त आत्मा इन छः ऊर्मियोंके प्रभावको पार कर लेता है और दु.ख-क्लेशादि सासारिक बन्धनोंसे विमुक्त होता है। मुक्त अवस्थामें बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा सस्कारका मूलोच्छेद हो जाता है। आत्माके इस शुद्ध स्वरूपको वेदान्तमें बतलाया गया है **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तै० २।१।१) परब्रह्म सत्य ज्ञानस्वरूप और अनन्त है। यही साख्य और योगका कैवल्य है। और वेदान्तकी शुद्ध, निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्मके स्वरूपमें अवस्थिति है। सुख, दुःख, ज्ञान, प्रयत्न, धर्म, अधर्म आदि साख्यमें बुद्धिके धर्म बतलाये गये हैं। किंतु न्याय (सूत्र १।१०) और वैशेषिक (सूत्र ३।२८) में बुद्धिको आत्मामें सम्मिलित करके आत्माके शबल स्वरूपको जडपदार्थोंसे भिन्न पहचान करनेके लिये उसके लिङ्ग (चिह्न) के रूपमें वर्णन किये गये हैं। यह भ्रममूलक शका नहीं होनी चाहिये कि मुक्त अवस्थामें ज्ञानके न रहनेसे आत्मा एक जड पदार्थ रह जायगा; क्योंकि बुद्धिका धर्मरूप ज्ञान तो त्रिगुणात्मक जडप्रकृतिके तीनो गुणोमें सत्त्वगुणका सात्त्विक प्रकाशरूप है; और आत्माका ज्ञान उससे अति विलक्षण चेतनरूप है, क्योकि आत्मा स्वयं चैतन्यस्वरूप है। उससे प्रकाशित होनेके कारण बुद्धिमें चेतनताकी प्रतीति होती है। मुक्त अवस्थामें दु.ख-सुख दोनोका अभाव होता है, क्योंकि वास्तवमें तो दुःख-निवृत्तिका ही नाम सुख है। सुखके साथ राग लगा रहता है और वह बन्धनका कारण है। तथा—

'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (यो० सा० पा० १५)

क्योंकि (विषयसुखके भोगकालमें भी) परिणामदु ख, तापदु:ख और सस्कारदुःख बना रहता है और गुणोंके स्वभावमें भी विरोध है, इसलिये विवेकी पुरुषके लिये सब कुछ (सुख भी जो विषयजन्य है) दुःख ही है। त्रिगुणात्मक प्रकृतिके रजसमें दु.ख है और सत्त्वमें सुख है। इसलिये सुखके बने रहनेमें गुणातीत अवस्था नहीं रह सकती। सुख विषय और विषयभोक्ता दोनोकी अपेक्षा रखता है। इस कारण मुक्त अवस्थामें सुखके माननेसे निर्विशेष, निर्गुण, शुद्ध अद्वैतकी सिद्धि न हो सकेगी।

उपनिषदोंमें जहाँ ब्रह्मके साथ आनन्दका शब्द आया है वह ज्ञानके अर्थमें है। अथवा वे श्रुतियाँ शबल ब्रह्म अर्थात् अपर ब्रह्मकी सूचक हैं। और वह मुक्तिकी अवस्था शबल ब्रह्मकी प्राप्ति है जो पुनरावर्तिनी है और ब्रह्मलोकतक सूक्ष्म लोकोके आनन्दको भोगना है। और जो साख्य और योगके अनुसार सम्प्रज्ञातसमाधिका अन्तिम ध्येय है। इसलिये कैवल्यरूप और पुनरावर्तिनी रूप दो प्रकारकी मुक्ति है। जो जिसको अभिमत हो वह उसकी इच्छा करे और उसकी प्राप्तिके लिये यत्न करे।

कार्यकारण

प्रत्येक संहत्यकारी अर्थात् किसी प्रयोजनके लिये बनी हुई वस्तु, जैसे वस्त्र कार्य कहलाता है। बिना कारणके कोई कार्य नहीं हो सकता। यह कारण तीन प्रकारका होता है—

(१) *उपादान कारण*—जिससे वह वस्तु बनी हो, जैसे तन्तु जिससे वह वस्त्र बना है। यहाँ तन्तुवस्त्रका उपादान कारण है।

(२) *निमित्त कारण*—तन्तुओंका सयोग-विशेष करनेवाला जुलाहा निमित्त कारण है।

(३) *साधारण कारण*—तन्तुओका ओतप्रोतरूपमें सयोग-विशेष तथा कर्घा आदि साधारण कारण हैं।

न्याय और वैशेषिकका सिद्धान्त

इन दोनो दर्शनोका सिद्धान्त आरम्भिक उपादान कारण अर्थात् परमाणु-वाद है। इनके सिद्धान्तानुसार सारे स्थूल पदार्थोंके मूल उपादान कारण निरवयव सूक्ष्म परमाणु हैं। ऐसे दो परमाणुओंके आपसमें संयुक्त हो जानेसे द्वयणुककी उत्पत्ति होती है, जो अणु परमाणुविशिष्ट होनेसे स्वयं अतीन्द्रिय होते हैं। ऐसे तीन द्वयणुकोंके सयोगसे त्र्यणुक (त्रसरेणु या त्रुटि) की उत्पत्ति होती है, जो महत्परमाणुसे संयुक्त होनेसे जन्य पदार्थोंका उत्पादक तथा इन्द्रियगोचर होता है। घरके छतके छेदसे जब सूर्य-किरणें प्रवेश करती हैं, तब उनमें नाचते हुए जो छोटे-छोटे कण नेत्र-गोचर होते हैं, वे ही त्रसरेणु हैं। यथा—

जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः। तस्य षष्टतमो भागः परमाणुः स उच्यते॥

त्र्यणुकका महत्त्व द्वयणुकोंकी संख्याके कारण उत्पन्न हुआ माना जाता है, न कि उनके अणु-परिमाणसे चार त्रसरेणुओके योगसे चतुरणुककी उत्पत्ति होती है। फिर स्थूल पदार्थोंकी इत्यादि। इस प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और उनके सारे स्थूल पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है। ये परमाणु उपादान कारण हैं और इनका विशेष रूपसे सयोग होना साधारण कारण है; और ईश्वर, जिसके ज्ञान और प्रेरणासे यह परमाणु विशेष रूपसे सयुक्त हो रहे है, वह और अदृष्ट (पुरुषका भोग और अपवर्ग अथवा कर्माशय) इनका निमित्त कारण है। इस प्रकार न्याय और वैशेषिकने सांख्यकी प्रकृति और महत्तत्त्वको जडतत्त्वके वर्णन करनेकी आवश्यकता न देखी। जिस प्रकार सांख्यने पाँच तन्मात्राओं और अहंकारको स्थूलभूतों और इन्द्रियो आदिका प्रकृति (उपादान कारण) माना है, इसी प्रकार न्याय और वैशेषिकने परमाणुओंको स्थूलभूत, शरीर और इन्द्रियोंका उपादान कारण माना है। किंतु जहाँ साख्यने अहकार और तन्मात्राओंको महत्तत्त्वकी विकृति (कार्य) माना है, वहाँ न्याय और वैशेषिकने मन और परमाणुओंको निरवयव होनेके कारण इनके अतिरिक्त इनके अन्य किसी कारण (प्रकृति) की खोज करनेकी आवश्यकता न समझी।

जिस प्रकार साख्य और योगने स्थूलभूत और इन्द्रियोंको केवल विकृति (विकार) माना है, वैसे ही इन दोनो दर्शनकारोने स्थूलभूत और इन्द्रियोंको मध्यम परिमाणवाला और अनित्य माना है।

साख्यके तीनो गुणोंके परिणामके स्थानपर इन्होंने परमाणुओका विशेष रूपसे संयोग ही साधारण (असमवायी) कारण माना है। तीसरा निमित्त कारण ईश्वर, चारों दर्शनकारो (न्याय, वैशेषिक, साख्य और योग) को समान-रूपसे अभिमत है। यद्यपि उसको विशेष रूपसे वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं समझी है—जिस प्रकार सुवर्णसे बने हुए आभूषणकी परीक्षाके समय सुवर्णकारकी परीक्षा करनी बुद्धिमत्ता नहीं है। किंतु ईश्वरके अस्तित्वको तो सभी दर्शनकारोंने माना है। *यथा*—

'क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्'

जिस प्रकार कुम्हार घटका बनानेवाला है उसी प्रकार ईश्वर जगत्का बनानेवाला है।

'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्' (न्याय० ४। १। १९)

मनुष्योके कर्मोंके फल जिसके हाथमें है वही ईश्वर है।

'संज्ञा कर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् । प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञा कर्मणः' ।

(वैशेषिक २ । १ । १८)

इन सूत्रोंकी शंकरमिश्रने इस प्रकार व्याख्या की है—

संज्ञा नाम कर्म कार्यक्षित्यादि तदुभयम्, अस्मद्विशिष्टानामीश्वरमहर्षीणाम् सत्त्वेऽपि लिङ्गम् । घटपटादिसंज्ञानिवेशनमपि ईश्वरसंकेताधीनमेव । यः शब्दो यत्र ईश्वरेण संकेतितः स तत्र साधुः । तथा च सिद्धं संज्ञाया ईश्वरलिङ्गत्वम् । एवं कर्मापि ईश्वरे लिङ्गम् । तथा हि क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत् इति ।

सज्ञा अर्थात् नाम और कर्म अर्थात् पृथ्वी आदि कार्य ये दो चीजे हमसे बढकर एक विशिष्ट ईश्वर और महर्षि आदिके अस्तित्वको प्रमाणित करती हैं । घट, पट आदिनामसे वे ही पदार्थ किस प्रकार समझे जाते हैं । ईश्वरके संकेतसे । पृथ्वी, जल जब कार्य हैं, तब इनका कर्ता भी अवश्य होना चाहिये, वही ईश्वर है ।

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् । (वै० १ । १ । ३) में तद् शब्द ईश्वरका बोधक है ।

इन सूक्ष्म परमाणुओंको अवकाश देनेवाला एक व्यापक जडतत्त्व चाहिये था । उसके लिये न्याय और वैशेषिकने आकाश महान् परिमाणवाला मूल प्रकृति (प्रधान) के स्थानपर माना है । आकाशसे अतिरिक्त इन दोनों दर्शनकारोने परमाणुओंके संयोगक्रम तथा परत्व-अपरत्व दिखलानेके लिये दिशा और कालको भी महत्परिमाणवाला माना है, जिनको साख्य और योगने बुद्धिका निर्माण किया हुआ मानकर चौबीस तत्त्वोमें सम्मिलित नहीं किया है ।

साख्य तथा योगके सदृश ये दोनो दर्शन भी आत्माको विभु और शरीर, इन्द्रिय तथा मनसे पृथक् चेतन तत्त्व मानते हैं । आत्माको जड-तत्त्वसे भिन्न दिखलानेवाले चिह्न निम्न प्रकार बतलाये है—

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि । (वैशे० ३ । २ । ४)

प्राण, अपान, पलक मीचना-खोलना, जीवन, मनकी गति, एक इन्द्रियके प्रत्यक्षसे दूसरे इन्द्रियमें विकार उत्पन्न होना, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न आत्माके लिङ्ग (चिह्न) हैं ।

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् । (न्याय १ । १०)

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु ख और ज्ञान आत्माके लिङ्ग (चिह्न, साधक) हैं ।

आत्मा शरीरसे भिन्न एक चेतन तत्त्व है, क्योकि श्वासको बाहर निकालना, अंदर ले जाना, पलक झपकाना आदि क्रियाएँ उसी समयतक रहती हैं, जबतक उसका आत्मासे सयोग रहता है । आत्मासे संयोग छूटनेपर मृतक शरीरमे क्रियाएँ नहीं होतीं । इसलिये जहाँ ये क्रियाएँ हों, वहाँ आत्माका होना सिद्ध होता है ।

योग और साख्यने बुद्धि अर्थात् चित्तको पृथक् तत्त्व माना है, किंतु न्याय और वैशेषिकने इसको आत्मामे ही सम्मिलित करके आत्माके शबल स्वरूपके धर्म, ज्ञान, प्रयत्न आदि बतलाये हैं । इसलिये जहाँ साख्य और योगने आत्माको ज्ञान अथवा चेतनस्वरूप माना है वहाँ न्याय और वैशेषिकने ज्ञान और प्रयत्न आदि धर्मवाला माना है; क्योकि ज्ञान और प्रयत्न आदिको आत्माका धर्म माने बिना वैशेषिकके

लक्षणानुसार (शुद्ध) आत्माका अस्तित्व इनके प्रमाण और लक्षणसे सिद्ध नहीं हो सकता था; क्योंकि उनके लक्षणानुसार द्रव्य या तो समवायीकारण हो, जैसे परमाणु स्थूल भूतोंके; या क्रियावाला हो जैसे मन तथा परमाणु; या गुणवाला हो जैसे आकाश शब्द-गुणवाला है ।

चेतन स्वरूप आत्मामें ये तीनो धर्म न होनेसे वैशेषिक और न्यायके लक्षणानुसार जो केवल भौतिक पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपको बतलाते है, आत्माका वास्तविक स्वरूप नही सिद्ध हो सकता था । इसलिये इन्होने बुद्धि (चित्त) को आत्मामें सम्मिलित करके उसके (बुद्धिके) धर्म, ज्ञान, प्रयत्न आदिसे आत्माके शबल स्वरूपका अस्तित्व बुद्धिके साथ सिद्ध किया है ।

वैशेषिक सूत्र (३ । २ । ४) और न्याय सूत्र (१ । १०) में बतलाये हुए लिङ्ग आत्माके धर्म नहीं हैं और न इनका आत्माके साथ समवाय सम्बन्ध है । यह आत्माका शरीरके साथ अस्तित्व बतलानेके लिये केवल चिह्न मात्र हैं । जैसे रामके मकानको निर्देश करनेके लिये यह कहा जाय 'जिस मकानमें आमका वृक्ष है वही रामका मकान है' इन दोनो सूत्रोंमें आत्माके सगुण अर्थात् शबल स्वरूपको बतलाया है । जिसकी सज्ञा जीव है । क्योंकि प्राण, अपान, पलक मींचना, पलक खोलना, जीवन, यह सब प्राणके धर्म है । मनकी गति मनका धर्म है । इन्द्रियोका विकार इन्द्रियोका धर्म है । इच्छा, द्वेष, दुःख, सुख, प्रयत्न और ज्ञान बुद्धिके धर्म हैं । ये सब तीनों गुणोके कार्योंके धर्म गुणरूप ही हैं । इसी बातको गीता अध्याय ५ के ८ वें तथा ९ वें श्लोकोंमे बताया गया है ।

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् । पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥८॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

तत्त्वको जाननेवाला साख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आँखोको खोलता हुआ और मीचता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बर्त रही हैं इस प्रकार समझता हुआ निःसंदेह ऐसे माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ।

आत्माका शुद्ध स्वरूप वैशेषिकके सूत्र (७ । १ । २२) मे बताया गया है ।

विभवान्महानाकाशस्तथा चात्मा । (वै० ७ । १ । २२)

विभु धर्मवान् महान् है आकाश वैसे (ज्ञानस्वरूप) आत्मा है । वैशेषिकके इस सूत्रके अनुसार ही श्रुति-स्मृतियोमें आत्माके शुद्ध ज्ञानस्वरूपको व्यापक और निष्क्रिय ही माना है । यथा—

आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः । (छान्दोग्य० ३ । १४ । ३)

आकाशके समान आत्मा व्यापक और नित्य है ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः । (गीता २ । २४)

यह आत्मा नित्य व्यापक स्थाणु तथा निष्क्रिय और सनातन है ।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः । क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते । सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ।।

(गीता १३ । ३२-३३)

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ आकाश (भी) सूक्ष्म होनेसे लिपायमान नहीं होता है, वैसे ही सर्वत्र देहमें स्थित हुआ (भी) आत्मा गुणातीत होनेके कारण देहके गुणोसे लिपायमान नहीं होता है ।

हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है ।

आत्माके शबल स्वरूपकी पिण्डरूप व्यष्टि शरीरोंमे सिद्धिसे सामान्यतोदृष्ट प्रमाणद्वारा परमात्माके शबल स्वरूपकी ब्रह्माण्डरूप समष्टि जगत्मे सिद्धि होती है ।

वैशेषिक और न्यायमें योग साधनकी शिक्षा

आत्मा तथा परमात्माका अस्तित्व प्रमाण और लक्षणसे सिद्ध करनेके पश्चात् इन दोनो दर्शनकारोंने न केवल आत्मा और परमात्माका, किंतु अतीन्द्रिय जड पदार्थोंका भी वास्तविक स्वरूप जाननेके लिये योग-साधनका ही सहारा बतलाया है । यथा—

आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम् । (वैशेषिक ९ । १ । ११)

आत्मामें आत्मा और मनके संयोगविशेषसे आत्माका प्रत्यक्ष होता है । अर्थात् आत्मा और मनका योग-समाधिद्वारा जब सयोग प्रत्यक्ष होता है, तब उस सयोगविशेषसे आत्माका प्रत्यक्ष होता है ।

तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम् । (वैशे० ९ । १ । १२)

इसी प्रकार अन्य (सूक्ष्म अतीन्द्रिय) द्रव्योंका प्रत्यक्ष होता है ।

असमाहितान्तःकरणा उपसंहृतसमाधयस्तेषां च । (वैशे० ९ । १ । १३)

युक्त योगी जो समाधिको समाप्त कर चुके है उनके लिये (अतीन्द्रिय द्रव्योंका) बिना समाधिके भी प्रत्यक्ष होता है ।

तत्समवायात् कर्मगुणेषु । (वैशे० ९ । १ । १४)

उन (द्रव्यो) में समवेत होनेसे कर्म गुणोंमें (युक्त और युञ्जान दोनो प्रकारके योगियोंको प्रत्यक्ष होता है) ।

आत्मसमवायात्मगुणेषु । (वैशे० ९ । १ । १५)

आत्मामें समवेत होनेसे आत्माके गुणोंका प्रत्यक्ष होता है ।

समाधिविशेषाभ्यासात् । (न्याय० ४ । २ । ३८)

समाधिविशेषके अभ्याससे (तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है) ।

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः । (न्याय० ४ । २ । ४२)

वन, गुफा और नदी-तीर आदि स्थानोंमें योगाभ्यासका उपदेश (किया जाता है) ।

तदभावश्चापवर्गे । (न्याय० ४ । २ । ४५)

और मोक्षमें उसका (इन्द्रिय और अर्थके आश्रयभूत शरीरका) अभाव होता है ।

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः । (न्याय० ४ । २ । ४६)

उस मोक्षके लिये यम और नियमोसे तथा अभ्यासविधिके उपायोंद्वारा योगसे आत्माका संस्कार करना चाहिये अर्थात् योगके प्रतिबन्धक मल-विक्षेप और आवरणको हटाना चाहिये ।

चौथा प्रकरण

सांख्य और योगदर्शन

साख्य और योग भारतवर्षकी प्राचीन प्रसिद्ध वैदिक तथा वेदान्त फिलासफी है, जिसने सारे भूमण्डलके विद्वानोंको विस्मित कर दिया है।

परमात्मा (चेतनतत्त्व) के निर्गुण शुद्ध स्वरूपका वर्णन उपनिषदोंमे विस्तारपूर्वक किया गया है, इसलिये उपनिषदोंको वेदान्त कहते हैं। ज्ञानका अन्त अर्थात् जिसके जाननेके पश्चात् कुछ जानना शेष न रहे। योग और सांख्यमें उसके जाननेके साधन विशेषरूपसे बतलाये गये है, इसलिये सांख्य और योग ही प्राचीन वेदान्त फिलासफी है। यथा—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

(श्वेता० ६। १६)

नित्योंका नित्य, चेतनोंका चेतन जो अकेला ही बहुतोंकी कामनाओंको पूरा करता है, उस देवको जो (सृष्टि आदिका निमित्त) कारण है और जो सांख्य और योगद्वारा ही जाना जा सकता है जानकर (मनुष्य) सारी फाँसोंसे छूट जाता है।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥

(मु० ३ ख० २ मं० ६)

वेदान्तके विज्ञानका उद्देश्य जिन्होंने ठीक-ठीक निश्चय कर लिया है और जो यतिजन संन्यास (सांख्य) और योगसे शुद्ध अन्तःकरणवाले हैं, वे लोग सबसे उत्तम अमृतको भोगते हुए मरनेके समय ब्रह्मलोकोंमें स्वतन्त्र हो जाते हैं। तथा—

नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योगसमं बलम्।

सांख्यके समान और कोई दूसरा ज्ञान नहीं है और योगके समान और कोई दूसरा बल नहीं है।

द्वौ क्रमौ चित्तनाशाय योगो ज्ञानं च राघव। योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥
असाध्यः कस्यचिद्योगो ज्ञानं कस्यचिदेव च। प्रकारौ द्वौ ततः साक्षाज्जगाद परमः शिवः॥

(योगवासिष्ठ)

हे राम! चित्तका नाश करनेके लिये केवल दो निष्ठाएँ बतलायी गयी हैं—योग और सांख्य। योग चित्तवृत्तिनिरोधसे प्राप्त किया जाता है और सांख्य सम्यग् ज्ञानसे। किसी-किसीके लिये योग कठिन होता है और किसी-किसीको साख्य। इस कारण परम शिवने योग और सांख्य दोनों ही मार्गोंको बतलाया है।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ । ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥
(गीता ३ । ३)

हे निष्पाप अर्जुन ! इस मनुष्यलोकमें मैंने पुरातन कालमें (कपिल मुनि और हिरण्यगर्भरूपसे) दो निष्ठाएँ बतलायी हैं । (कपिल मुनिद्वारा बतलायी हुई) सांख्ययोगियोंकी निष्ठा ज्ञानयोगसे होती है और (हिरण्यगर्भरूपसे बतलायी हुई) योगियोंकी निष्ठा निष्काम कर्मयोगसे (और भक्ति योगसे) होती है । यथा—

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते । हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यो पुरातनः ॥
(महाभारत)

सांख्यके वक्ता परम ऋषि कपिल हैं और योगके वक्ता हिरण्यगर्भ हैं । इनसे पुरातन इनका वक्ता और कोई नहीं । यद्यपि ये दोनों फिलासफी अलग-अलग नामसे वर्णन की गयी हैं, किंतु वास्तवमें दोनों एक ही हैं । यथा—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः । एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते । एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥
(गीता ५ । ४-५)

सांख्य और योगको पृथक्-पृथक् अविवेकी लोग ही जानते हैं न कि पण्डित लोग । इन दोनोंमेंसे एकका भी ठीक अनुष्ठान कर लेनेपर दोनोंका फल मिल जाता है । सांख्ययोगी जिस शुद्ध परमात्मस्वरूपका लाभ करते हैं योगी भी उसीको पाते हैं । जो सांख्य और योगको एक जानता है, वही तत्त्ववेत्ता है । किंतु इन दोनोंमें सांख्य किंचित् कठिन है । यथा—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः । योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥
(गीता ५ । ६)

किंतु हे अर्जुन ! बिना योगके सांख्य साधनरूपमें कठिन है । योगसे युक्त होकर मुनि शीघ्र ही ब्रह्मको प्राप्त कर लेते हैं ।

जिस प्रकार सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीनोंमेंसे प्रत्येक गुण बिना अन्य दो की सहायताके अपना कोई भी कार्य स्वतन्त्ररूपसे प्रारम्भ नहीं कर सकते उसी प्रकार ज्ञान, कर्म और उपासना भी अपने-अपने कार्यमें परस्पर एक दूसरेके सहयोगकी अपेक्षा रखते हैं । सांख्यनिष्ठामें ज्ञान प्रधान है तथा कर्म और उपासना गौण एवं योगनिष्ठामें कर्म और उपासनाकी प्रधानता है ।

सांख्य और योग दोनों आरम्भमें एक ही स्थानसे चलते हैं और अन्तमें एक ही स्थानपर मिल जाते हैं, किंतु योग बीचमें थोडेसे मार्गसे घुमाववाली पक्की सडकसे चलता है और सांख्य सीधा कठिन रास्तेसे जाता है ।

सांख्य और योगमें बहिर्मुख होकर संसारचक्रमें घूमनेके कारण अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश तथा सकाम कर्म बतलाये गये हैं और इसी क्रमानुसार अन्तर्मुख होनेके साधन अष्टाङ्ग योग अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि है ।

योगद्वारा अन्तर्मुख होना—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार—ये पाँच बहिरङ्ग साधन हैं और धारणा, ध्यान, समाधि अन्तरङ्ग साधन हैं। ये तीनों धारणा, ध्यान, समाधि भी असम्प्रज्ञात समाधि (स्वरूपावस्थिति) के बहिरङ्ग साधन हैं। उसका अन्तरङ्ग साधन नेति-नेतिरूप पर-वैराग्य है, जिसके द्वारा चित्तसे अलग आत्माको साक्षात्कार करानेवाली विवेकख्यातिरूप सात्त्विक वृत्तिका भी निरोध होकर (शुद्ध चैतन्य) स्वरूपावस्थितिका लाभ होता है।

सांख्यद्वारा अन्तर्मुख होना—अष्टाङ्ग योगके पहले पाँच बहिरङ्ग साधन सांख्य और योगमें समान है, किंतु जहाँ योगमें सालम्बन अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधिद्वारा किसी विषयको ध्येय बनाकर अन्तर्मुख होते है, वहाँ सांख्यमें निरालम्ब अर्थात् बिना किसी विषयको ध्येय बनाकर अन्तर्मुख होते है। उसमें धारणा, ध्यान और समाधिके स्थानमें चित्त और उसकी वृत्तियाँ दोनों ही त्रिगुणात्मक हैं, इसलिये 'गुण ही गुणोमें बरत रहे है' इस भावनासे आत्माको चित्तसे पृथक् अकर्त्ता केवल शुद्ध स्वरूपमें देखना होता है। 'यह आत्मसाक्षात्कार करानेवाली विवेकख्यातिरूप एक गुणोंकी ही सात्त्विक वृत्ति है।' इस प्रकार पर वैराग्यद्वारा इस वृत्तिके निरोध होनेपर (शुद्ध चैतन्य) स्वरूपावस्थितिको प्राप्त होते हैं।

योगमें उत्तम अधिकारियोंके लिये असम्प्रज्ञात समाधि-लाभका विशेष उपाय ईश्वर-प्रणिधान—यह ओ३म्की मात्राओंद्वारा उपासना है अर्थात् ओ३म्के अर्थोंकी भावना करते हुए वाणीसे जाप करना एक मात्रावाले अकार ओम्की उपासना है। इसमें स्थूल शरीरका अभिमान रहता है, इसलिये स्थूल शरीरके सम्बन्धसे जो आत्माकी संज्ञा विश्व है, वह उपासक होता है और स्थूल जगत्के सम्बन्धसे जो परमात्माकी संज्ञा विराट् है, वह उपास्य होता है।

ओ३म्के मानसिक जापमें अकार, उकार दो मात्रावाले ओ३म्की उपासना होती है। इसमें सूक्ष्म शरीरका अभिमान रहता है, इसीलिये सूक्ष्म शरीरके सम्बन्धसे जो आत्माकी संज्ञा तैजस है, वह उपासक होता है और सूक्ष्म जगत्के सम्बन्धसे जो परमात्माकी संज्ञा हिरण्यगर्भ है, वह उपास्य होता है। जब मानसिक जाप भी सूक्ष्म होकर केवल ओ३म्का ध्यान (ध्वनि) ही रह जाय तो यह अकार, उकार, मकार तीनों मात्रावाले पूरे ओ३म्की उपासना है। इसमें कारण-शरीरका अभिमान रहता है। इसलिये कारणशरीरके सम्बन्धसे आत्माकी जो संज्ञा प्राज्ञ है, वह उपासक होता है और कारण-जगत्के सम्बन्धसे जो परमात्माकी संज्ञा ईश्वर है, वह उपास्य होता है। जब यह तीन मात्रावाली ध्यानरूप वृत्ति भी सूक्ष्म होते-होते निरुद्ध हो जाय तो अमात्र विराम रह जाता है। यह कारण-शरीर और कारण-जगत् दोनोसे परे शुद्ध परमात्मप्राप्तिरूप स्वरूपावस्थिति है, जो प्राणिमात्रका अन्तिम ध्येय है।

सांख्यमें उत्तम अधिकारियोंके लिये असम्प्रज्ञात-समाधि-लाभका विशेष उपाय **'ध्यानं निर्विषयं मनः'**,—इसके द्वारा जो वृत्ति आये उसको हटाना होता है। अन्तमे सब वृत्तियाँ रुक जानेपर निरोध करनेवाली वृत्तिका भी निरोध करके स्वरूपावस्थितिको प्राप्त करना होता है। योगका, भक्तिका लंबा मार्ग सुगम है। यह सांख्यके ज्ञानका छोटा मार्ग उससे कठिन है।

कार्यक्षेत्रमें सांख्य और योगका व्यवहार—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। (योगद० ४। ७)

योगियोंका कर्म न पापमय होता है न पुण्यमय, क्योंकि योगीके लिये तो पापकर्म सर्वथा त्याज्य ही है और कर्त्तव्यरूप पुण्यकर्म वह आसक्ति, लगाव, ममता और अहताको छोड़कर निष्कामभावसे करता है। इसलिये बन्धनरूप न होनेसे अकर्मरूप ही है। साधारण अयोगी लोगोंके कर्म पाप, पुण्य और पापपुण्यसे मिश्रित तीन प्रकारके होते हैं। यह सूत्र साख्य और योग दोनोंके लिये समान है; किंतु योगी कर्म और उसके फलको ईश्वरके समर्पण करके आसक्तिको त्यागते हैं और साख्ययोगी गुण गुणोंमें बरत रहे हैं, आत्मा अकर्त्ता है, इस प्रकार इसके लगावसे मुक्त रहते है। योगकी उपासना अर्थात् भक्तिका मार्ग लंबा किंतु सुगम है। सांख्यके ज्ञानका मार्ग छोटा किंतु कठिन है।

योगियोंका कार्यक्षेत्रमें व्यवहार—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि। योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्। अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

(गीता ५। १०—१२)

कर्मोंको ईश्वरके समर्पण करके और आसक्तिको छोड़कर जो कर्म करता है, वह पानीमें पद्मके पत्तेके सदृश पापसे लिप्त नहीं होता॥ १०॥ योगी फलकी कामना और कर्त्तापनके अभिमानको छोड़कर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियोंसे कर्म करते हैं॥ ११॥ योगी कर्मके फलको त्यागकर परमात्मप्राप्तिरूप शान्तिको लाभ करते हैं। अयोगी कामनाके अधीन होकर फलमें आसक्त हुआ बँधता है॥ १२॥

सांख्ययोगियोंका कार्यक्षेत्रमें व्यवहार—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः। गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

(गीता ३। २८)

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

(गीता ५। ८-९)

'हे महाबाहो! गुणविभाग (अर्थात् सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंके जो बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियादि ग्रहण और पाँचो विषयादि ग्राह्यरूप हैं) और कर्मविभाग (अर्थात् उनकी परस्परकी चेष्टाएँ) को तत्त्वसे जाननेवाला गुण गुणोंमें बरत रहे हैं (अर्थात् ग्रहण और ग्राह्यरूप तीनों गुणोंके परिणामोंमें ही व्यवहार हो रहा है, आत्मा अकर्त्ता है) ऐसा जानकर कर्म और उनके फलोंमें आसक्त नहीं होता'॥२८॥ तत्त्ववेत्ता सांख्ययोगी देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता हुआ, सूँघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, साँस लेता हुआ, बोलता हुआ, छोड़ता हुआ, पकड़ता हुआ, आँख खोलता हुआ और मीचता हुआ भी

ऐसा ही समझता है कि मैं कुछ भी नहीं करता। सब चेष्टाओंमें केवल इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयोंमें प्रवृत्त हो रही है। (आत्मा इनका द्रष्टा, इनसे पृथक् निर्लेप हैं) ॥ ८, ९ ॥

सांख्य और योगकी उपासना—परमात्माका शुद्ध स्वरूप तीनो पुरुषों और तीनों लिङ्गोंसे परे है, किंतु व्यवहार-दशामें उसका संकेत किसी-न-किसी लिङ्ग और पुरुषद्वारा ही हो सकता है।

योगद्वारा उपासना—योगद्वारा उसकी उपासना अन्य आदेश अर्थात् प्रथम और मध्यम पुरुष-द्वारा की जाती है। यथा—

प्रथम पुरुषद्वारा—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

(ईशोप० १। १, यजु० ४०। १)

यह जो कुछ स्थावर और जङ्गम जगत् है, वह ईश्वरसे आच्छादनीय है अर्थात् सबमें ईश्वरको व्यापक समझना चाहिये। उसका त्यागभावसे भोग करना चाहिये। अर्थात् ईश्वरसमर्पण करके व्यवहार करे। लालच न करे, अर्थात् आसक्ति न होने दे। धन किसका है ? अर्थात् किसीका नहीं।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥

(ईशा० ५)

वह हिलता है, वह नहीं हिलता है। वह दूर है, वह निश्चयसे समीप है। वह इस सबके अंदर है, वह निश्चय ही इस सबके बाहर है।

मध्यम पुरुषद्वारा—

उत वात पिताऽसि न उत भ्रातोत नः सखा सनो जीवात वे कृधि।

(ऋग्वेद १०। १८६)

हे परमात्मन्! तू हमारा पिता है, तू भ्राता है, तू ही सखा है। हे प्रभो! हमारा आयुष्य बढ़ाओ।

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

आप ही माता हैं, आप ही पिता है, आप ही बन्धु है और आप ही सखा हैं। आप ही विद्या हैं, आप ही द्रव्य हैं, हे देवोंके देव! आप ही मेरे सब कुछ हैं।

तत्त्वमसि।

"वह तू है" यहाँ "त्वम्" मध्यम पुरुष उस शुद्ध परमात्मतत्त्वका निर्देश करता है, जो सबके अंदर व्यापक हो रहा है और जहाँ तक पहुँचना प्राणीमात्रका अन्तिम ध्येय है।

सांख्यद्वारा उपासना—सांख्यद्वारा उसकी उपासना अहकारादेश अर्थात् उत्तम पुरुषद्वारा और आत्मादेश अर्थात् आत्माद्वारा की जाती है।

यथा—

उत्तम पुरुषद्वारा—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः। अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥

(गीता १० । २०)

हे अर्जुन ! मैं सब भूतोके हृदयमें स्थित आत्मा हूँ। मैं ही सब भूतोकी उत्पत्ति, स्थिति और संहाररूप हूँ।

अहं ब्रह्मास्मि।

"मैं ब्रह्म हूँ" यहाँ "अहम्" उत्तम पुरुष उस त्रिगुणात्मक अहंकारको नहीं बतला रहा है, जो त्रिगुणात्मक महत्तत्त्वकी विकृति है और न उसके साथ चेतन तत्त्वके सम्मिश्रणको जिसकी संज्ञा जीव है; किंतु शुद्ध परमात्मतत्त्वका निर्देश कर रहा है, जो हमारे सबके अदर व्यापक हो रहा है, जो असम्प्रज्ञात समाधि तथा कैवल्यकी अवस्थामें शेष रह जाता है, जो हमारा अन्तिम लक्ष्य है। अर्थात् जहाँतक हमको पहुँचना है, वही हमारा वास्तविक स्वरूप हो सकता है। किंतु हमारा सारा व्यवहार त्रिगुणात्मक अहंकार-द्वारा ही किया जा सकता है। रज और तम बन्धनमें डालनेवाले होते हैं और केवल सत्त्व बधनसे छुड़ानेवाला है। इसलिये यहाँ सात्त्विक अहंकारके राजसी, तामसी अंशको हटाया जा रहा है। राजसी, तामसी अहंकार नष्ट होनेके पश्चात् केवल सात्त्विक अहंकार शेष रह जाता है। यह एक प्रकारसे विवेक ख्यातिकी अवस्था है। जिस प्रकार विवेक ख्याति अन्य सब वृत्तियोंके निरोधपूर्वक स्वय भी निरुद्ध हो जाती है, इसी प्रकार यहाँ भी सात्त्विक अहंकार राजसी, तामसी अहंकारको नष्ट करनेके पश्चात् स्वयं भी निवृत्त हो जाता है। इस अहंकारके सर्वथा अभावरूप असम्प्रज्ञात समाधि अथवा कैवल्यकी अवस्थामें जो शुद्ध परमात्मतत्त्व शेष रह जाता है उसीको निर्देश करानेके लिये यह अहंकारादेश है।

आत्माद्वारा—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥

(कठ० २ । ५ । ६, १०-११)

जिस प्रकार एक ही अग्नि नाना भुवनोंमें प्रविष्ट होकर उनके प्रतिरूप (उन-जैसा रूपवाला) हो रही है, इसी प्रकार एक ही सब भूतोंका अन्तरात्मा नाना प्रकारके रूपोंमें उन-जैसा रूपवाला हो रहा

है और उनसे बाहर भी है। जिस प्रकार एक ही वायु नाना भुवनोंमें प्रविष्ट होकर उनके प्रतिरूप अर्थात् उन-जैसा रूपवाला हो रहा है, उसी प्रकार एक ही सब भूतोंका अन्तरात्मा नाना प्रकारके रूपोंमें प्रतिरूप (उन-जैसा रूपवाला) हो रहा है और उनसे बाहर भी है। जिस प्रकार सूर्य सब लोकोंका चक्षु होकर भी आँखोंके बाह्य दोषसे लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार एक ही सब भूतोंका अन्तरात्मा लोकके बाह्य दुःखोंसे लिप्त नहीं होता; क्योंकि वह उनसे बाहर है।

अयमात्मा ब्रह्म।

"यह आत्मा ब्रह्म है" यहाँ "आत्मा" शब्द जीवात्माके लिये नहीं है बल्कि त्रिगुणात्मक तीनों शरीरोंके परित्यागपूर्वक, शुद्ध आत्मातत्त्वका निर्देश करता है।

प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष, उत्तम पुरुष और आत्मा क्रमशः एक दूसरोंसे अधिक समीपताके सूचक हैं; किंतु कर्म और भक्तिप्रधान योग साधारण मनुष्योंको ज्ञानप्रधान साख्यसे अधिक आकर्षक और सुगम प्रतीत होता है। पर भक्ति और कर्म भी अपनी अन्तिम सीमापर पहुँचकर ज्ञानका रूप ही धारण कर लेते हैं।

यथा—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वाघास्या अहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥

(ऋ० ६। ३ अ०। ४० वर्ग २३)

हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! यदि मैं तू हो जाऊँ और तू मै हो जाय अर्थात् द्वैतभाव मिटकर एकत्वभाव उत्पन्न हो जाये तो तेरा आशीर्वाद ससारमें सत् हो जाय।

यथा—

जब मैं था तब तू न था तू पायो मैं नाय।
प्रेम गली अति सांकरी, तामें द्वै न समाय॥

इस प्रकार साख्य और योगमें बीचके मार्गमें थोड़ा-सा ही अन्तर है।

सांख्यदर्शन

गीतामें साख्यको ज्ञानयोग तथा संन्यासयोगके नामसे भी वर्णन किया गया है। सांख्य नाम रखनेका यह भी कारण हो सकता है कि इसमें गिने हुए पच्चीस तत्त्व माने गये हैं।

सांख्य नामकरणका रहस्य इसके एक विशिष्ट सिद्धान्त 'प्रकृतिपुरुषान्यताख्याति'में भी छिपा हुआ है; क्योंकि 'प्रकृतिपुरुषान्यताख्याति' या 'प्रकृतिपुरुषविवेक' का ही दूसरा नाम 'संख्या=सम्यक्

ख्याति=सम्यक् ज्ञान=विवेकज्ञान' है। किसी वस्तुके विषयमें तद्गत दोषों तथा गुणोंकी छानबीन करना भी 'संख्या' कहलाता है।

यथा—

दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।
कश्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्युपधार्यताम्॥ (महाभारत)

संख्याका अर्थ आत्माके विशुद्ध रूपका ज्ञान भी किया गया है।

यथा—

शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं सांख्यमित्यभिधीयते।

(शङ्करविष्णुसहस्रनाम-भाष्य)

सांख्य-प्रवर्तक—कपिलमुनि

साख्यके प्रवर्तक श्रीकपिलमुनि हुए हैं और योगदर्शनके निर्माता श्रीपतञ्जलिमुनि। कपिलमुनि आदि विद्वान् और प्रथम दर्शनकार है।

यथा—

सिद्धानां कपिलो मुनिः। (गीता १०। २६)

सिद्धोंमें कपिल मुनि हूँ।

ऋषिप्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति। (श्वेता० उप०)

जो पहले उत्पन्न हुए कपिल मुनिको ज्ञानसे भर देता है तथा—

आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच। (पञ्चशिखाचार्य)

आदिविद्वान् (पहले दर्शनकार) भगवान् परम ऋषि (कपिल) ने निर्माणचित्त (सासारिक संस्कारोसे शून्य) के अधिष्ठाता होकर जिज्ञासा करते हुए आसुरिको दयाभावसे (सांख्य) शास्त्रका उपदेश दिया।

सर्गादावादिविद्वानत्रभगवान् कपिलो महामुनिर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यसम्पन्नः प्रादुर्बभूव।

(वाचस्पति मिश्र)

सृष्टिके आदिमें आदि-विद्वान् पूजनीय महामुनि कपिल धर्म-ज्ञान-वैराग्य और ऐश्वर्यसे सम्पन्न प्रकट हुए।

सांख्यके प्रसिद्ध प्राचीन आचार्य

आदिविद्वान् भगवान् कपिल मुनिके पश्चात् विज्ञानभिक्षुके समयतक साख्यके निम्नलिखित प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं—

आसुरिमुनि, पञ्चशिखाचार्य, पतञ्जलि, जैगीषव्याचार्य, वार्षगण्याचार्य, विन्ध्यवासी (रुद्रिल) जनक, पराशर (बादरी), व्यास, ईश्वरकृष्ण आर्य। कई लेखकोंने निम्नलिखित नामोंको भी साख्य आचार्योंमें सम्मिलित किया है--

भार्गव, उल्लक, वाल्मीकि, हारीत, देवल (माठर वृत्तिका० ७१), बाद्धलि, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर, पञ्चाधिकरण, कौण्डिन्य, मरुक (युक्तिदीपिका का० ७१) गर्ग, गौतम, (जयमङ्गला)

सांख्यके मुख्य ग्रन्थ

सांख्यके बहुत-से प्राचीन ग्रन्थ इस समय लुप्त हैं। कई एकके केवल नाम ही मिलते हैं।

(१) *परम ऋषि कपिल मुनिप्रणीत 'तत्त्वसमास'*--इसके वर्त्तमान समयमें केवल बाईस सूत्र मिलते हैं। वास्तवमें इसीको साख्यदर्शन कहना चाहिये। इसका उपदेश भगवान् कपिलने आसुरि जिज्ञासुको किया था और भगवान् कपिल-जैसे आदिविद्वान्द्वारा आसुरि-जैसे जिज्ञासुके लिये साक्षात्कारपर्यन्त इन्हीं सूत्रोंका उपदेश परमार्थक हो सकता है। आसुरिके बनाये हुए किसी विशेष ग्रन्थका तो पता नहीं चलता, किंतु उनके सिद्धान्तका वर्णन प्राचीन ग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है। स्याद्वादमञ्जरीमें आसुरिका एक श्लोक (पंद्रहवाँ श्लोक) उद्धृत किया गया है।

तत्त्वसमासपर विज्ञानभिक्षुके शिष्य भावागणेशकृत 'सांख्यतत्त्वयाथार्थ्यदीपन' टीका प्रसिद्ध है। तथा शिवानन्दकृत 'साख्यतत्त्वविवेचन', 'सर्वोपकारिणी टीका', 'साख्यसूत्रविवरण' आदि टीकाएँ भी हैं।

(२) *पञ्चशिखाचार्यके सूत्र*--आसुरिने कपिल मुनिसे प्राप्त की हुई सांख्यकी शिक्षाका पञ्चशिखाचार्यको उपदेश किया, जिसने इस शास्त्रका विस्तार किया। इस प्रकारका वर्णन सांख्यकारिकामें आता है। इन सूत्रोंका ग्रन्थ लुप्त है। व्यासजीने अपने योगदर्शनके भाष्यमें लगभग इक्कीस पञ्चशिखाचार्यके सूत्रोंको कई स्थानोंमें उद्धृत किया है।

(३) *वार्षगण्याचार्यप्रणीत षष्टि-तन्त्र*--यह ग्रन्थ भी नहीं मिलता है। साठ प्रधान विषयोंकी व्याख्या होनेके कारण अथवा साठ परिच्छेद होनेके कारण इसका नाम षष्टितन्त्र रखा गया था। ईश्वरकृष्ण आर्यने अपनी सांख्यसप्ततिको षष्टितन्त्रके आधारपर ही बनाया है। वे बहत्तरवीं कारिकामें लिखते हैं कि षष्टितन्त्रके सविस्तर विषयको सांख्यसप्ततिमें सक्षिप्त किया गया है और उसकी आख्यायिकाएँ आदि छोड दी गयी हैं। श्रीव्यासजी महाराजने योगदर्शनके भाष्यमें वार्षगण्याचार्यके वचनोंको कई स्थानोंमें लिखा है*।

(४) *साख्यसप्तति*--सांख्यसप्तति अथवा सांख्यकारिका 'षष्टितन्त्र' के आधारपर आर्य मुनि ईश्वरकृष्णद्वारा लिखा गया है। इसमें मुख्य सत्तर कारिकाएँ हैं, इस कारण इसका नाम सांख्यसप्तति रखा गया है। इसपर वाचस्पति मिश्रद्वारा की हुई टीका (१) 'सांख्यतत्त्वकौमुदी' कहलाती है, (२) 'गौडपादभाष्य' भी प्राचीन और प्रामाणिक है, किंतु (३) 'माठरवृत्ति' सबसे प्राचीन मानी जाती है। (४) 'युक्ति दीपिका', (५) 'जयमङ्गला', (६) 'चन्द्रिका' भी प्रसिद्ध टीकाएँ हैं।

* कई विद्वानोंका ऐसा विचार है कि षष्टितन्त्रके रचयिता पञ्चशिखाचार्य हैं। किंतु पञ्चशिखाचार्यके सूत्र व्यासभाष्यमें विशेषरूपसे उद्धृत हैं तथा षष्टितन्त्रका एक श्लोक वार्षगण्याचार्यके नामसे भी मिलता है।

(५) *साख्यसूत्र*—ये पाँच सौ सत्ताईस सांख्यसूत्र छः अध्यायोमें विभक्त हैं । पहले अध्यायमें विषयका प्रतिपादन, दूसरेमें प्रधानके कार्योका निरूपण, तीसरेमें वैराग्य, चौथेमें सांख्यतत्त्वोंके सुगम बोधके लिये रोचक आख्यायिकाएँ, पाँचवेंमें परपक्षका निरास और छठेमें सिद्धान्तोंका सक्षिप्त परिचय है । इसपर विज्ञानभिक्षुने 'सांख्यप्रवचनभाष्य' लिखा है । सामान्यतया ये कपिल मुनिके बनाये हुए सूत्र माने जाते हैं और षडध्यायी सांख्यदर्शनके नामसे प्रसिद्ध हैं । इनके सम्बन्धमें कई आधुनिक विद्वानोंका विचार है कि 'यह सांख्यसप्तति'के आधारपर लिखा हुआ उसके पिछले समयका ग्रन्थ है; क्योंकि इसमें बहुत-से सूत्र साख्यकारिकासे लिये हुए प्रतीत होते हैं । शंकराचार्यने सांख्यकारिकाके अतिरिक्त इसके सूत्रोको कहीं भी प्रमाणमें उद्धृत नहीं किया है । वाचस्पति मिश्रने, जिन्होंने अन्य सब दर्शनों और सांख्यकारिकाकी भी टीका की है, इस ग्रन्थमेंसे एक भी सूत्रको प्रमाणरूपमें नहीं दिया है । इससे सिद्ध होता है कि इन सूत्रोंके संग्रहकर्त्ता विज्ञानभिक्षु हैं और सम्भव है उनमेंसे बहुतसे सूत्र स्वयं उनके बनाये हुए हों, जैसा कि 'सांख्यप्रवचनभाष्य'की भूमिकासे प्रतीत होता है ।

कालार्कभक्षितं सांख्यशास्त्रं ज्ञानसुधाकरम् । कलावशिष्टं भूयोऽपि पूरयिष्ये वचोऽमृतैः ॥

(सा० प्र० भा० भू० ५)

सांख्यज्ञान-चन्द्रमाको कालरूपी राहुने निगल लिया है । उसकी एक कला शेष रह गयी , उसको फिर मैं अमृतरूपी वचनसे पूरा करूँगा । स्वयं विज्ञानभिक्षुने भी तत्त्वसमासको ही अपने सांख्यप्रवचनभाष्यका आधार माना है । जैसा कि उन्होंने अपनी भूमिकामें लिखा है—

तत्त्वसमासाख्यं हि यत् संक्षिप्तं सांख्यदर्शनम् ।
तस्यैव प्रकर्षेणास्यां निर्वचनम् ॥

'तत्त्वसमास नामी जो संक्षिप्त सांख्यदर्शन है, उसीको इस (षडध्यायी दर्शन) में खोलकर बतलाया गया है ।'

इसके विपरीत कई विद्वानोंने इसको प्रामाणिक और प्राचीन साख्यदर्शन माना है । उनके विचारानुसार साख्यसप्ततिसे इसमें सूत्र लिये गये हो, इस सम्बन्धमें कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता । हो सकता है कि इसी साख्यसप्ततिसे वे सूत्र लिये गये हो—अथवा किसी अन्य साख्य ग्रन्थसे इन दोनोंमें लिये गये हो । सांख्यसप्ततिको इनकी अपेक्षा अधिक प्रसिद्धि और लोक-प्रियता प्राप्त होनेका कारण इसके सरल और आर्या छन्दोंमें श्लोकबद्ध होना हो सकता है । इन सूत्रोंपर 'अनिरुद्धवृत्ति' विज्ञानभिक्षुसे पूर्व समयकी मानी जाती है । सां० प्र० भा० भू० ५ से अभिप्राय इन सूत्रोंपर 'प्रवचन-भाष्य' लिखना ही हो सकता है, जिनका सकेत उनके शिष्य भावागणेशने अपने 'तत्त्वयाथार्थ्यदीपन' में स्थान-स्थानपर किया है । वैसे भी विज्ञानभिक्षुको सांख्ययोगको पुनः प्रतिष्ठित करनेका सुयश प्राप्त है । इनके योगदर्शन व्यास-भाष्यपर 'योग-वार्तिक' और सांख्ययोगके आधारपर ब्रह्मसूत्रपर 'विज्ञानामृत' भाष्य अति उत्तम और प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं । इनके अतिरिक्त इन्होंने 'सांख्य-सार' तथा 'योग-सार' में इन दर्शनोंके सिद्धान्तोंको संक्षिप्त और सरल ढंगसे प्रतिपादन किया है ।

किंतु इन सूत्रोंको कपिलमुनिप्रणीत कहना अत्यन्त भूल है; क्योंकि आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखि (अ० ५ सूत्र ३२) से इनका पञ्चशिखाचार्यके पश्चात् तथा अ० ५ सूत्र ७९ में बौद्धोंका शून्यवाद, अ० ५ सूत्र ८५ में वैशेषिकोंके ६ पदार्थ और अ० ५ सूत्र ८६ में न्यायके १६ पदार्थोंका वर्णन होनेसे इनका वैशेषिक, न्याय और बौद्ध धर्मके पीछे बनाया जाना सिद्ध होता है ।

(६) श्वेताश्वतर उपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीता भी सांख्य और योगके ही ग्रन्थ है । श्वेताश्वतरमें उसके आभ्यन्तररूप और गीतामें उसके आभ्यन्तररूप और सिद्धान्तोके अतिरिक्त कार्यक्षेत्रमें व्यावहारिक रूपको विशेषताके साथ दर्शाया है । गीतामें योग और सांख्य इन ही दो निष्ठाओंका विशेष रूपसे वर्णन है । योगकी निष्ठामें गुणोंका किसी-न-किसी अशमें सम्बन्ध रहता है । सांख्यकी निष्ठा तीनों गुणोके सर्वथा परित्यागपूर्वक होती है । यथा निष्काम कर्मयोगमें, योगनिष्ठामें सारे कर्मों और उनके फलोंको ईश्वर (जो त्रिगुणात्मक ब्रह्माण्डके सम्बन्धसे ब्रह्मकी संज्ञा है) के समर्पण करके फलोंकी वासनाओसे मुक्त कराया जाता है और सांख्यनिष्ठामें 'तीनो गुण ही ग्रहण और ग्राह्यरूपसे बर्त रहे हैं, आत्मा अकर्त्ता है' इस भावनासे कर्तापनका अभिमान हटाया जाता है तथा योगनिष्ठामें अन्यादेशसे और सांख्यनिष्ठामें अहंकारादेश तथा आत्मादेशसे ब्रह्मका निर्देश किया जाता है इत्यादि ।

श्रीमद्भागवतके तीसरे स्कन्धमें जो भगवान् कपिलने अपनी माताको उपदेश दिया है, वह भी सांख्यकी उच्चकोटिकी शिक्षा है ।

कपिलमुनिप्रणीत तत्त्वसमास (प्राचीन सांख्य-दर्शन) की व्याख्या ।

अथातस्तत्त्वसमासः ॥ १ ॥

अब (दुःखोंकी निवृत्तिका साधन तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान है) इसलिये तत्त्वोंको संक्षेपसे वर्णन करते हैं ।

व्याख्या—ससारमें प्रत्येक प्राणीकी यह प्रबल इच्छा पायी जाती है कि 'मै सुखी होऊँ, दुखी कभी न होऊँ' । किंतु सुखकी प्राप्ति बिना दुःखकी निवृत्ति असम्भव है; क्योंकि दुःखकी निवृत्तिका नाम ही सुख है । इसलिये सुखके अभिलाषियोको दुःखकी जड़ काट देनी चाहिये । दुःखकी जड अज्ञान है । जितना अधिक अज्ञान होगा, उतना ही अधिक दुःख होगा । जितना कम अज्ञान होगा, उतना ही कम दुःख होगा । ज्ञान और अज्ञान तत्त्वोंके सम्बन्धसे हैं । जिस तत्त्वका अज्ञान होगा, उसीसे दुःख होगा । जिस तत्त्वका जितना यथार्थज्ञान होता जायगा, उससे उतनी ही दुःखनिवृत्तिरूप सुखकी प्राप्ति होती जायगी । जब सारे तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान हो जायगा तो सारे तत्त्वोंसे अभयरूप सुखका लाभ होगा । इसलिये सारे तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान ही सारे दुःखोंकी जडका काटना है अतः सारे तत्त्वोंका सक्षेपसे विचार आरम्भ किया जाता है ।

जडतत्त्व

संगति—दुःख-निवृत्तिकी इच्छा और प्रयत्न करनेवालेका दुःख स्वाभाविक धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो वह उसकी निवृत्तिका यत्न ही नहीं करता । इससे सिद्ध होता है कि

दुःख-निवृत्तिकी इच्छा करनेवालेसे भिन्न उससे विपरीत धर्मवाला कोई दूसरा तत्त्व है, जिसका स्वाभाविक धर्म दुःख और जडता है । यदि यह कहा जाय कि दुःखनिवृत्तिकी इच्छा और प्रयत्न करनेवाला ही एक अकेला चेतनतत्त्व है । उससे भिन्न कोई दूसरा तत्त्व नहीं है । दुःखकी प्रतीति अविद्या, अज्ञान, भ्रम अथवा मायासे होती है तो ये अविद्या, अज्ञान, भ्रम और माया भी स्वय किसी भिन्न तत्त्वके अस्तित्वको सिद्ध करते हैं जिसके ये स्वाभाविक धर्म है ।

यदि यह कहा जाय कि यह चेतन तत्त्वसे अतिरिक्त और कुछ नहीं है, तो यह स्वाभाविक धर्म होनेसे दुःखकी कभी भी निवृत्ति नहीं हो सकेगी और उसके लिये किसी भी प्रकारका यत्न करना व्यर्थ होगा । यदि ऐसा माना जाय कि उस चेतनतत्त्वको ठीक-ठीक न जाननेसे यह भ्रम इत्यादि हो रहा है । यथार्थरूप जाननेसे सब भ्रम और दुःखोंकी निवृत्ति हो जाती है, तो इससे भी किसी भिन्न तत्त्वकी सिद्धि होती है; क्योंकि जानना किसी दूसरी वस्तुका होता है । सबके जाननेवालेको किससे जाना जा सकता है ।

यथा 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ।'

इससे सिद्ध होता है कि चेतनतत्त्वसे भिन्न एक जडतत्त्व है । उसका यथार्थरूप समझानेके लिये अगले दो सूत्रोंमें उसको चौबीस अवान्तर भेदोंमें विभक्त करके दिखलाते हैं ।

अष्टौ प्रकृतयः ॥ २ ॥

षोडश विकाराः ॥ ३ ॥

(जडतत्त्वके प्रथम दो भेद प्रकृति और विकृति हैं, उनमेंसे) आठ प्रकृतियाँ हैं—प्रधान अर्थात् मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहकार और पाँच तन्मात्राएँ अर्थात् शब्द-तन्मात्रा, स्पर्श-तन्मात्रा, रूप-तन्मात्रा, रस-तन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा; और सोलह विकृतियाँ हैं—पाँच स्थूल भूत आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी, और ग्यारह इन्द्रियाँ अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण, और पाँच कर्मेन्द्रियाँ—वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा और ग्यारहवाँ मन ।

व्याख्या—जिसके आगे कोई नया तत्त्व उत्पन्न हो उसको प्रकृति कहते हैं, अर्थात् जो किसी नये तत्त्वका उपादान कारण हो और जिसके आगे जो कोई नया तत्त्व उत्पन्न हो उसको विकृति—विकार अर्थात् कार्य कहते हैं । जड-तत्त्वके चौबीस विभागोंमेंसे जो आठ प्रकृतियाँ बतलायी हैं उनमेंसे प्रधान अर्थात् मूल प्रकृति ही एक केवल प्रकृति है, अन्य सात तो प्रकृति और विकृति दोनो हैं । अर्थात् महत्तत्त्व (चित्त) प्रधान (मूल प्रकृति) की विकृति और अहकारकी प्रकृति है । अहंकार महत्तत्त्व-की विकृति और पाँच तन्मात्राओ और ग्यारह इन्द्रियोंकी प्रकृति है । पाँच तन्मात्राएँ अहकारकी विकृति और पाँच स्थूलभूतोकी प्रकृति हैं । ग्यारह इन्द्रियाँ अहंकारकी विकृतियाँ हैं । इनके आगे नया कोई तत्त्व उत्पन्न नहीं होता । इसलिये ये स्वयं किसीकी प्रकृति नहीं । अतः ये केवल विकृतियाँ हैं । इसी प्रकार पाँच स्थूलभूत पाँच तन्मात्राओंकी विकृतियाँ हैं । इनके आगे कोई नया तत्त्व उत्पन्न नहीं होना । इसलिये ये स्वय किसीकी प्रकृतियाँ नहीं हैं । अतः ये केवल विकृतियाँ हैं । ये चौबीसों भेद वास्तवमें एक जडतत्त्व 'प्रधान' अर्थात् मूल प्रकृतिहीके हैं जो सक्रिय और चेतनारहित है ।

जड-तत्त्वके इन चौबीस भेदोंको साक्षात् करानेके पश्चात् ही भगवान् कपिलने इन दोनो सूत्रो-का जिज्ञासु आसुरिको उपदेश किया है । जिससे कोई नया तत्त्व उत्पन्न हो उसे प्रकृति और जिससे आगे

कोई नया तत्त्व उत्पन्न न हो उसे विकृति कहते हैं। विकृतिस्वरूपसे अव्यापि और व्यक्त अर्थात् प्रकट होती है। उससे उसकी प्रकृति अनुमानगम्य होती है, जो उसमें व्यापि होनेसे उसकी अपेक्षा विभु होती है और उसमे अव्यक्त होनेके कारण उसकी अपेक्षा सूक्ष्म होती है।

ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच स्थूल भूत अव्यापी और व्यक्त (प्रकट-प्रत्यक्ष) हैं। इनसे आगे कोई नया तत्त्व उत्पन्न नहीं होता, इसलिये ये केवल विकृति है। इनकी प्रकृति अनुमानगम्य है जो इनमें व्यापि और अव्यक्त (अप्रकट) है। स्थूल शरीरसे अन्तर्मुख होनेपर ध्यानकी पहली परिपक्व अवस्थामें दिव्य निर्मल शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धका साक्षात्कार होता है। यही पाँचों तन्मात्राएँ पाँचो स्थूल भूतोंकी प्रकृति है। किंतु व्यक्त (प्रकट) हो जानेसे ये प्रकृति नहीं रहीं, विकृति हो गयीं। इसलिये इनकी अव्यक्त प्रकृति अनुमानगम्य माननी पड़ेगी। इन तन्मात्राओसे भी अन्तर्मुख होनेपर ध्यानकी परिपक्व अवस्थामें केवल 'अहमस्मि' वृत्ति रह जाती है। ये ग्यारह इन्द्रियों और पाँचो तन्मात्राओंकी प्रकृति 'अहकार'का साक्षात्कार है; किंतु व्यक्त (प्रकट) हो जानेसे यह विकृतिरूप हो गयी, इसलिये इसकी अव्यक्त प्रकृति भी अनुमानगम्य माननी पडेगी। इस अहंवृत्तिसे भी अन्तर्मुख होनेपर अहंकारसे रहित केवल 'अस्मितावृत्ति' रह जाती है। यह 'महत्तत्त्व' अहंकारकी प्रकृति है, किंतु अब वह महत्तत्त्व भी व्यक्त होनेसे प्रकृति न रहा, विकृति हो गया; इसलिये इसकी भी कोई प्रकृति अनुमानगम्य माननी पडती है। इससे आगे किसी नये जडतत्त्वका साक्षात्कार नहीं होता, केवल चेतनतत्त्व रह जाता है। इसलिये यह अनुमानगम्य प्रकृति ही अव्यक्त प्रधान अथवा मूलप्रकृति है। इस प्रकार कपिलमुनिके बतलाये हुए जडतत्त्वके ये चौबीसों अवान्तर भेद केवल बुद्धि अथवा तर्ककी उपज नहीं हैं, किंतु अनुभवसिद्ध हैं।

सगति—उपर्युक्त रीतिसे जडतत्त्वके अवान्तर भेदोंका अनुभव करनेके पश्चात् जो चेतन-तत्त्व शेष रह जाता है, उसका वर्णन अगले चौथे सूत्रमें करते हैं। उसके दो भेद हैं। एक जडतत्त्वसे मिला हुआ अर्थात् मिश्रित=शबल=अपर=सगुणस्वरूप, दूसरा शुद्ध=पर=निर्गुणस्वरूप। मिश्रितके भी दो भेद है।

एक व्यष्टिरूपसे अनन्त शरीरो (पिण्डो)के सम्बन्धसे, दूसरा समष्टिरूपसे सारे ब्रह्माण्ड (विश्व) के सम्बन्धसे। इन तीनो भेदोका वर्णन एक पुरुषशब्दसे अगले सूत्रमें करते हैं।

चेतनतत्त्व (पुरुष)

पुरुषः ॥ ४ ॥

पुरुषके अर्थोका स्पष्टीकरण—पचीसवाँ चेतनतत्त्व पुरुष है, जो तीन अर्थोका बोधक है।*

---

* कई एक टीकाकारोंने पुरुष शब्दके अर्थ (१) जीव, (२) हिरण्यगर्भ अर्थात् ईश्वर, अपरब्रह्म और (३) परमात्मा अर्थात् परब्रह्म तो किये हैं, किंतु पहले अर्थ जीवके अतिरिक्त अन्य दोनों अर्थोको विशेषरूपसे नहीं खोला है। अर्थात्—

जन्ममरणकरणाना प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्व सिद्ध त्रैगुण्यविपर्ययाश्चैव ॥ (सा० का० १८)

तथा—

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्। (सा० द० १। १४९)

—के अनुसार व्यष्टि अन्तःकरणोके धर्मों अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरोकी क्रियाओंके भेदसे इन व्यष्टि अन्तःकरणों अथवा व्यष्टि शरीरोंकी अपेक्षासे जीव अर्थ पुरुषमे बहुत्व दिखलाया है और (२) समष्टि

(१) चेतनतत्त्व व्यष्टि (पिण्ड) शरीरोंसे मिश्रित यथा—

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः । तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः । अमृतो हिरण्मयः ॥

यह जो हृदयके अंदर आकाश है, उसमें यह पुरुष है, जो मनका मालिक, अमृत और ज्योतिर्मय है । अन्तःकरणोंके अनन्त और परिच्छिन्न होनेसे ये पुरुष अनन्त और परिच्छिन्न कहलाते हैं तथा परिच्छिन्नताके कारण अल्पज्ञ हैं । इनकी सज्ञा जीव भी है । इनकी अपेक्षासे चेतनतत्त्व आत्मा कहलाता है ।

(२) चेतनतत्त्व (ब्रह्माण्ड) समष्टि जगत्से मिश्रित यथा—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ (श्वेता० ३ । १४)

वह पुरुष हजारो सिर, हजारों नेत्र और हजारो पाँवोंवाला है । वह इस ब्रह्माण्डको चारों ओरसे घेरकर भी दस अंगुल परे खडा है अर्थात् दसो दिशाओमें व्याप्त हो रहा है । समष्टि अन्तःकरणके एक और विभु होनेसे वह एक और सर्वव्यापक है और सर्वव्यापकताके कारण सर्वज्ञ है । इसकी संज्ञा ईश्वर=पुरुष विशेष=सगुण ब्रह्म=अपरब्रह्म और शबल ब्रह्म है । इसकी अपेक्षासे चेतन-तत्त्व परमात्मा कहलाता है ।

अन्तःकरणकी अपेक्षासे समष्टिरूपेण ईश्वर अर्थ पुरुषमें एकत्व इस प्रकार दिखलाया है—जैसे वृक्षोंके समूहकी वनरूप एक संज्ञा होती है और (३) परब्रह्मके शुद्ध निर्विशेष स्वरूप पुरुष अर्थमें आत्माओंके अन्तःकरणों अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरसे परे केवली अवस्थामें एक जातिके सदृश एकत्व दिखलाया है ।

यथा—

एकमेव यथा सूत्र सुवर्णं वर्त्तते पुनः ।
मुक्तामणिप्रवाहेषु मृण्मये रजते तथा ॥
तद्वत् पशुमनुष्येषु तद्वद्धस्तिमृगादिषु ।
एकोऽयमात्मा विज्ञेयः सर्वत्रैव व्यवस्थितः ॥
एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥
यथा ह्यय ज्योतिरात्मा विवस्वान् ।
अपोभिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् ॥
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽप्यात्मा ॥
वायुर्यथैको भुवन प्रविष्टो रूपं रूप प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूप रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

वास्तवमें ईश्वरके अर्थमें पुरुषका स्वरूप इस प्रकार है कि व्यष्टिसत्त्व चित्तोंमें सत्त्वकी विशुद्धता, सर्वज्ञताका बीज तथा ज्ञान, धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्यादि सातिशय हैं । जहाँपर ये पराकाष्ठाको पहुँचकर निरतिशयताको प्राप्त होते हैं, वह विशुद्ध सत्त्वमय चित्त समष्टिचित्त है । उसकी अपेक्षासे चेतनतत्त्वकी संज्ञा ईश्वर, शबल ब्रह्म और अपर ब्रह्म है । उसमें एकत्व है और व्यष्टिपिण्डों अथवा चित्तों और समष्टि ब्रह्माण्ड अथवा विशुद्ध सत्त्वमय चित्तसे परे जो चेतन तत्त्वका अपना शुद्ध केवली स्वरूप है ऐसे अर्थवाले पुरुषकी संज्ञा परमात्मा, निर्गुण ब्रह्म, शुद्धब्रह्म तथा परब्रह्म है ।

(३) शुद्ध चेतनतत्त्व जडतत्त्वसे निखरा हुआ केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूप है । यथा—

एतावानस्य महिमातोज्यायाँश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ (ऋ० १० । ९० । ३)

यह इतनी बडी तो उसकी महिमा है । पुरुष (परमात्मा=शुद्धचेतन-तत्त्व) इससे कहीं बड़ा है । सारे भूत इसका एकपाद हैं । उसके तीन पाद अमृतस्वरूप अपने प्रकाशमें है । इसकी संज्ञा शुद्धब्रह्म=निर्गुणब्रह्म=परब्रह्म और परमात्मा है । यह जडतत्त्वकी सारी उपाधियों समष्टि, व्यष्टि, एकत्व, बहुत्व इत्यादिसे परे केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूप है, जिसका वर्णन दूसरे प्रकरणमें किया गया है ।

व्यष्टि अन्तःकरणोंके समष्टि अन्तःकरणके साथ सम्बन्धित होनेसे जीव ईश्वरका ही अंशरूप भिन्न-भिन्न स्थानोंमें बतलाया गया है । यथा—

यश्चिन्मात्ररसोऽपि नित्यविमलोपाधेर्गुणैरीश्वरो हेयैः क्लेशमुखैर्गुणैर्विरहितो मुक्तः सदा निर्गुणः ।

सोऽस्मान् बुद्धिगुणैः स्वयं निगडितान् स्वांशान् कृपासागरो दीनान्मोचयतु प्रभुगुणमयं पाशं दहन् लीलया ॥ (योगवार्त्तिक पा० १ स १)

जो चिन्मात्र रस होकर भी नित्य विमल उपाधिके गुणोंसे ईश्वर है, जो क्लेशप्रमुख हुए गुणोंसे रहित, सदा मुक्त और निर्गुण है वह कृपासागर प्रभु, स्वयं बुद्धि-गुणोंसे बँधे हुए अपने अंश हम दीनोंको लीलाके तौरपर गुणमय फंदोंको जलाते हुए मुक्त करे । तथा—**"ईश्वर अंश जीव अविनाशी"** । इसलिये यद्यपि पूर्ण अंशमें जीव ईश्वर नहीं हो सकता, किंतु उसकी उपासनाद्वारा (जिन गुणोंद्वारा उसकी उपासना की जाय) उसके तद्रूप होकर उसके अनन्त ज्ञान, धर्म, ऐश्वर्य, वैराग्य इत्यादि गुणोंको ब्रह्मलोकमें उपभोग करता है । इस अवस्थाके लिये भी वैकृतिक बन्ध अर्थात् मनुष्यलोकके बन्धनोंकी अपेक्षासे मुक्तिका शब्द प्रयोग किया गया है । इस मुक्तिकी अवस्थामें जीव संकल्पमय होता है । यथा—

शृण्वन् श्रोत्रं भवति ....ऽहङ्कारो भवति । (शतपथ का० १४ । ४ । २ । १७)

साख्यने आत्माके शुद्ध स्वरूपको सर्वव्यापक, निर्गुण, गुणातीत, निष्क्रिय, निर्विकार, अपरिणामी, कूटस्थ नित्य माना है । जो साख्य ग्रन्थोंके इन टीकाकारोंको भी अभिमत है । इसके अनुसार आत्मामें जाति नहीं रह सकती· क्योंकि जो विभु है उसमे जाति नहीं रहती—जैसे आकाश । इसके अतिरिक्त एक जातिमें जो व्यक्तियाँ होती हैं, उन व्यक्तियोंमें परस्पर भेद अथवा विलक्षणताके निमित्त कारणरूप, अवयवोंकी बनावट, गुण, कर्म, देश, काल, दिशा आदि होते हैं । उपर्युक्त बतलाये हुए आत्माके लक्षणमें इनमेसे किसी भी निमित्तकी सम्भावना नहीं हो सकती । इसके अतिरिक्त जब त्रिगुणात्मक जड़, अग्नि, वायु आदिके शुद्ध स्वरूपमे एकत्व है तो गुणातीत आत्माके शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें बहुत्व कैसे सम्भव हो सकता है ? कपिल-जैसे आदिविद्वान् और साख्य-जैसी विशाल प्राचीन फिलासफीके साथ पुरुष अर्थ परब्रह्मके इस प्रकारके लक्षणका कोई मेल नहीं बैठ सकता । बहुत सम्भव है कि नवीन वेदान्तियोंके कटाक्षके विरोधमें नवीन साख्यवादियोंने भी अद्वैतके खण्डन और द्वैतके समर्थनमें इस प्रकारकी युक्तियोंको प्रयोग करनेमें कोई दोष न समझा हो । फिर भी प्राचीन साख्य और इन नवीन साख्य-वादियोंमें आत्माका शुद्ध केवली स्वरूप एक ही प्रकारका है । ध्येय वस्तुके स्वरूप अथवा लक्षणमें कोई भेद नहीं है, केवल कहनेमात्रके लिये एकत्व और बहुत्वमें भेद है । जातिसे अभिप्राय सत्तामात्र ज्ञानस्वरूप माननेमें कोई दोष नहीं आता है । तत्त्व-समासकी व्याख्याके पश्चात् इसी प्रकरणमे इस विषयपर अधिक प्रकाश डाला जायगा ।

स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति ..... तेन सम्पन्नो महीयते ॥ (छान्दोग्य० ८ । २ । १ से १० तक)

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ अतएव चानन्याधिपतिः ॥ (ब्रह्मसूत्र ४ । ४ । ८-९)

इसका अनुभव विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधिकी ऊँची अवस्थामें होता है । आत्मा और परमात्मामें अभिन्नता है । दोनो शुद्धज्ञानस्वरूप चेतनतत्त्वके सूचक हैं । आत्मा पिण्डकी अपेक्षासे और परमात्मा ब्रह्माण्डकी । असम्प्रज्ञात समाधिमें सर्ववृत्तियोंका निरोध इस दूसरे प्रकारकी मुक्तिका अनुभव है । असम्प्रज्ञातसमाधिमें सर्ववृत्तियोंके निरोध होनेसे शुद्धचेतन स्वरूपमें अवस्थिति होती है; किंतु चित्तमें सस्कार शेष रहनेके कारण पुनः व्युत्थान अवस्थामें आना होता है । चित्तमें संस्कारशेषकी निवृत्तिपर चित्तके अपने कारणमें लीन हो जानेपर जो पुनः व्युत्थानमें न आनेवाली शुद्धचेतनस्वरूपमें अवस्थिति है, वही दूसरी सर्वोत्तम मुक्ति है । यथा—

गताः कलाः पञ्चदशप्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥
यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ (मुण्डक० ३ । २ । ७-८)

उनकी पंद्रह कलाएँ अपने-अपने कारणोंमें चली जाती है, और उनकी सारी इन्द्रियाँ अपने सदृश देवताओंमें चली जाती हैं । उनके कर्म और विज्ञानमय आत्मा सब उस परले अव्यय ब्रह्ममें एक हो जाते हैं । जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ समुद्रमें अस्त हो जाती हैं और अपना नाम और रूप खो देती हैं, इसी प्रकार शुद्ध निर्गुण ब्रह्मका जाननेवाला नामरूपसे अलग होकर परे-से-परे जो दिव्य पुरुष है उसको प्राप्त होता है ।

योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ॥ (बृह० ४ । ४ । ६)

जो कामनाओसे रहित है, जो कामनाओंसे बाहर निकल गया है, जिसकी कामनाएँ पूरी हो गयी हैं, या जिसको केवल आत्माकी कामना है उसके प्राण नहीं निकलते हैं । वह ब्रह्म ही हुआ ब्रह्मको पहुँचता है । इस प्रकारकी मुक्ति ही सांख्य और योगका कैवल्य है । ब्रह्मके शबल स्वरूपकी उपासना और उसका साक्षात्कार कारणशरीर (चित्त) से होता है । शुद्धचेतनतत्त्वमें कारणशरीर तथा कारण जगत् परे रह जाता है । यहाँ न द्वैत रह जाता है न अद्वैत । यथा—

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे । मम तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥

कोई-कोई अद्वैतकी इच्छा करते हैं और कोई द्वैतकी । ये दोनो मेरे शुद्ध परमात्मतत्त्वको नहीं जानते । वह द्वैत-अद्वैत दोनोंसे परे है । उसमें न द्वैत है न अद्वैत । भेदाभेदविवर्जितपन्थः ॥ (तत्त्ववेत्ता ज्ञानीका) मार्ग भेद-अभेदसे अलग है ।

एक कहूँ तो अनेक सो दीखत । एक अनेक जहाँ कछु नाईं ॥ (सुन्दरदास)

यहाँपर यह भी बता देना आवश्यक है कि स्वरूप-अवस्थितिमें पहुँचकर चित्तसे सारे संस्कारोंके नाश कर लेनेपर भी जो योगी सब प्राणियोंके कल्याणका संकल्प अपने चित्तमें बनाये रखते है, इनके चित्तोंके बनानेवाले गुण अपने कारणमें लीन नहीं होते, किंतु ये चित्त अपने विशाल सात्त्विक शुद्ध स्वरूपसे ईश्वरके विशुद्ध सत्त्वमय चित्तमें जिसमें वेदोंका ज्ञान और सारे प्राणियोंके कल्याणका सकल्प विद्यमान है (समान सकल्प होनेसे) लीन रहते हैं और वे असम्प्रज्ञातसमाधिकी अवस्थाके सदृश शुद्धचैतन्य परमात्मस्वरूपमें अवस्थित रहते है। ईश्वरीय नियमानुसार ससारके कल्याणमें जब-जब उनकी आवश्यकता होती है, तब-तब वे अपने शुद्ध स्वरूपसे इस भौतिक जगत्में अवतीर्ण होते है। दूसरे शब्दोंमें अवतार लेते है। यथा—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब तब मैं अपने-आपको प्रकट करता हू। (अपने शुद्ध स्वरूपसे शबल स्वरूपमें अवतरण करता हूँ अर्थात् भौतिक जगत्में अवतार लेता हू।) सज्जनोंकी रक्षाके लिये और दूषित कार्य करनेवाले मनुष्योका सहार करनेके लिये तथा धर्म-स्थापन करनेके लिये युग-युगमें प्रकट होता हूँ।'

साख्य और योगको कैवल्य, जिसमें संसारका बीजमात्र भी न रहे, अभिमत है। इसलिये उन्होंने पुरुष सं० १ अर्थात जीवात्मा जो अनन्त अन्तःकरणोंके सम्बन्धसे अनन्त है, जडतत्त्व अर्थात् ज्ञानरहित सक्रिय त्रिगुणात्मक प्रकृति और पुरुष संख्या ३ अर्थात् परमात्मतत्त्व जो शुद्ध चेतन निष्क्रिय ज्ञानस्वरूप है, इन तीनोंका ही विशेषरूपसे वर्णन किया है। सांख्य, पुरुष (स० १) अर्थात् जीवोंकी जो संख्यामें अनन्त है, ज्ञान और संन्यास (त्याग) द्वारा जडतत्त्व अर्थात् त्रिगुणात्मक प्रकृतिसे पूर्णतया भिन्न करके पुरुष स० ३ अर्थात् परमात्मतत्त्वतक ले जाता है। इसलिये उसमें पुरुष स० १ अर्थात् जीवोंको बहुत्व (अनन्त सख्यावाला) और पुरुष सख्या ३ अर्थात् परमात्मतत्त्वको क्रियारहित शुद्ध ज्ञानस्वरूपके विशेषणके साथ वर्णन किया गया है।

योग पुरुष स० १ अर्थात् जीवोको पुरुष स० २ अर्थात् पुरुषविशेष=ईश्वर-प्रणिधानद्वारा पुरुष स० ३ अर्थात् परमात्मतत्त्वतक पहुँचता है। इसलिये उसमें पुरुष स० २ अर्थात् ईश्वरत्वकी जडतत्त्वके साथ महिमाको विशेषरूपसे दर्शाया है।

व्याख्या—इस चेतनतत्त्वका शुद्धस्वरूप जडतत्त्वसे सर्वथा विलक्षण है, अर्थात् ज्ञानस्वरूप और निष्क्रिय है। चुम्बक और लोहेके सदृश इस चेतनतत्त्वकी सन्निधिसे ही जडतत्त्वमें ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रिया हो रही है। इस चेतनतत्त्वकी सन्निधिके कारण पूर्वोक्त जडतत्त्वमें एक प्रकारका क्षोभ हो रहा है जिससे प्रधानमे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वमें अहकार, अहकारमें तन्मात्राओं और इन्द्रियोंका और तन्मात्राओमें सूक्ष्म भूतोंसे लेकर पाँचों स्थूलभूतोंतकका परिणाम हो रहा है।

इसी आशयको उपनिषद्में दूसरे शब्दोंमें बतलाया है—

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत् स नो दधात् ब्रह्माप्ययम्॥ (श्वेता० ६। १०)

वह एक अखण्ड परमेश्वर जो मकडीके सदृश प्रधान (मूल प्रकृति) से उत्पन्न होनेवाले तन्तुओं (कार्यों) से अपने आपको स्वभावतः आच्छादित कर लेता है, वह हमें ब्रह्ममें लय (समाधि=स्वरूपमें) स्थिति देवे ।

चेतन-तत्त्वमें जड-तत्त्व-जैसा कोई परिणाम तथा अवान्तर भेद नहीं है । अतः शुद्ध चेतनतत्त्व देश, काल, जाति तथा संख्याकी सीमासे भी परे है । जड-तत्त्वकी उपाधिसे उसमें संख्याका आरोप कर लिया जाता है । इसलिये विकल्पसे पुरुषमें बहुत्व कहा जाता है । अर्थात् व्यष्टि चित्तोंमें प्रतिबिम्बित चेतनमें, चित्तके अन्य धर्मोंके समान बहुत्व (संख्या) को भी आरोप कर लिया जाता है और स्वरूप-अवस्थिति अथवा कैवल्यकी अवस्थामें चित्तके अन्य सब धर्मोंके अभावके साथ बहुत्व (संख्या) की भी निवृत्ति हो जाती है । चेतनसे प्रतिबिम्बित महत्तत्त्वमें जब समष्टि अहकार बीजरूपसे छिपा हुआ हो तो उसको समष्टि अस्मिता कहते हैं । उसमें समष्टि महत्तत्त्वकी वृत्ति (मैं हूँ) समष्टि अहकार है । इस समष्टि-अहकारका क्षोभरूप परिणाम पाँच तन्मात्राएँ अर्थात् किसी दूसरे तत्त्वसे न मिला हुआ शब्द-द्रव्य, स्पर्श-द्रव्य, रूप-द्रव्य, रस-द्रव्य और गन्ध-द्रव्य हैं ।

इसी प्रकार अहंकारसे ही ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं अर्थात् जब 'मैं हूँ' की वृत्तिका उत्पादक सामान्य द्रव्य उत्पन्न हुआ तो 'वही मैं देखता हूँ' 'वही मै सुनता हूँ' इत्यादि विशेष वृत्तिके उत्पादक विशेष द्रव्यमें परिणत हुआ । उपर्युक्त महत्तत्त्व (समष्टिचित्त) में प्रतिबिम्बित चेतन, हिरण्यगर्भ पुरुषका वर्णन हुआ । इसी प्रकार व्यष्टि चित्तोमें प्रतिबिम्बित चेतन, अन्य पुरुषों (जीवों) को समझ लेना चाहिये ।

अहकारमें विशुद्ध सत्त्वको समष्टि अहकार और रजस् तथा तमस्से मिश्रित सत्त्वको व्यष्टि अहंकार समझना चाहिये । अतः समष्टिचित्त, विशुद्ध सत्त्वमय चित्त और व्यष्टिचित्त केवल सत्त्वचित्त कहलाते है । चित्तोंमें समष्टि, व्यष्टि और अनेकत्व अहंकारकी अपेक्षासे समझना चाहिये । (विशुद्ध सत्त्वमय चित्तका विस्तारपूर्वक वर्णन समाधिपादके चौबीसवे सूत्रकी व्याख्यामें दिया है ।)

तन्मात्राओंके मेलसे स्थूलभूत (महाभूत) उत्पन्न होते हैं । शब्द-तन्मात्राके साथ किञ्चित् दूसरे तन्मात्राओंके मेलसे शब्द-गुणवाला आकाश उत्पन्न होता है । इसी प्रकार स्पर्श-तन्मात्राकी अधिकतासे स्पर्श-गुणवाला वायु, रूपतन्मात्राकी अधिकतासे रूप-गुणवाला अग्नि, रसतन्मात्राकी अधिकतासे रसगुणवाला जल और गन्ध-तन्मात्राकी अधिकतासे गन्ध-गुणवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है ।

तन्मात्राओ और स्थूलभूतोंके बीचमें एक अवस्था सूक्ष्मभूतोकी है, जिनकी सूक्ष्मताका तारतम्य स्थूल-भूतोंसे लेकर तन्मात्राओंतक चला गया है ।

इन पाँचों स्थूलभूतोंसे आगे कोई नया तत्त्व उत्पन्न नही होता । मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, धातु, दूध, दही आदि सब इन्हींके रूपान्तर हैं । इसलिये ये निरे विकार अर्थात् विकृति है ।

जडतत्त्वमें सब प्रकारके परिणामोका निमित्तकारण पुरुष है और इन सारे परिणामोका प्रयोजन भी पुरुषका भोग और अपवर्ग ही है । चेतनतत्त्व, जडतत्त्व, जडतत्त्वकी चेतनतत्त्वसे सन्निधि, उस सन्निधिसे क्षोभको प्राप्त हुए जडतत्त्वका चौबीस तत्त्वोमें विभक्त होना तथा पुरुषका प्रयोजन, भोग और अपवर्ग—ये सब अनादि अर्थात् कालकी सीमासे परे हैं

शङ्का—जैसे अव्यक्त-प्रधान, व्यक्त महत्तत्त्वादिका उपादान कारण हो सकता है, वैसे ही ज्ञानस्वरूप चेतन-तत्त्व जडतत्त्वका उपादान कारण हो सकता है। इसलिये जड-तत्त्वको चेतनतत्त्वसे पृथक् मानना ठीक नहीं।

समाधान—जडतत्त्व प्रधान अव्यक्त अर्थात् मूलप्रकृति त्रिगुणात्मक है। सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीन गुणोंकी न्यूनाधिकतासे विषमताको प्राप्त होती हुई वह चौबीस अवान्तर भेदोंमें विभक्त हो रही है, किंतु चेतन-तत्त्व निर्गुण शुद्ध ज्ञानस्वरूप है, जिसमें न कोई विषमता हो सकती है न परिणाम।

शङ्का—उसकी त्रिगुणात्मक मायासे जगत्की उत्पत्ति हो सकती है।

समाधान—यह केवल शब्दोंका अदल-बदल है अर्थात् ऐसा माननेमें प्रकृतिके स्थानमें माया शुद्धचेतन तत्त्वसे भिन्न जगत्का उपादान कारण ठहरेगी। यदि मायाको शुद्ध चेतनतत्त्व (निर्गुण-निराकार शुद्धब्रह्म) से अभिन्न उसकी ही एक अनिर्वचनीय शक्ति मान ली जाय तो परब्रह्ममें द्वैतकी सिद्धि होगी और यह द्वैत उसका स्वाभाविक गुण होनेसे किसी प्रकार भी पृथक् नहीं हो सकेगा और अद्वैतपरक महावाक्य तथा वेद-शास्त्र सब व्यर्थ हो जायँगे। इसलिये तीन गुणोंका, जिनकी विषमताके कारण प्रधान मूल प्रकृति चौबीस अवान्तर भेदोंमें विभक्त हो रही है, अगले सूत्रमें वर्णन करते हैं।

प्रकृतिके तीन गुण

त्रैगुण्यम् ॥ ५ ॥

(चौबीसों जडतत्त्व सत्त्व, रजस् और तमस्) तीन गुणवाले है।

व्याख्या—सत्त्वका स्वभाव प्रकाश, रजस्का क्रिया और तमस्का स्थिति है। ये तीनों स्वभाव प्रत्येक वस्तुमें पाये जाते हैं। जो वस्तु स्थिर है उसमें क्रिया उत्पन्न हो जाती है और वेगवाली क्रियाके पीछे उसमें प्रकाश प्रकट हो जाता है। जो प्रकाशवाली है वह समयान्तरमें प्रकाशहीन हो जाती है और अन्तमें क्रियाहीन भी हो जाती है। जब एक वस्तु स्थिर होती है तो उसमें तमस् प्रधान होता है, रजस् और सत्त्व गौणरूपसे रहते हैं और अपने समयपर उसमें प्रकट हो जाते हैं। जब वह वस्तु क्रियावाली होती है तो उसमें रजस् प्रधान होता है, सत्त्व और तमस् गौण होते हैं। फिर वही वस्तु जब प्रकाशवाली हो जाती है तो उसमें सत्त्व प्रधान हो जाता है, रजस् और तमस् गौण। इस प्रकार सब वस्तुओंमें तीनों गुण प्रधान या गौणरूपसे विद्यमान रहते हैं। पुरुषसे अतिरिक्त जो कुछ भी है यह सब त्रिगुणात्मक ही है।

किंतु ये सब तीनो गुणोंके विकृतरूप ही है।

यथा—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम् ॥ (वार्षगण्याचार्य-षष्टीतन्त्र)

गुणोंका असली रूप अर्थात् साम्य परिणाम दृष्टिगोचर नहीं होता, जो (विषम परिणाम) दृष्टिगोचर होता है, वह माया-जैसा है और विनाशी है।

गुणोंका परिणाम—गुण परिणामशील है। परिणाम सांख्यका पारिभाषिक शब्द है। परिणामके अर्थ हैं तबदीली अर्थात् पहले धर्मको छोड़कर किसी दूसरे धर्मको ग्रहण करना। परिणाम दो प्रकारका होता है, एक साम्य अर्थात् सरूप परिणाम—जैसे दूधमें दूधके निर्विकार बने रहनेकी अवस्थामें होता है। दूसरा विषम अर्थात् विरूप परिणाम, जैसे दूधमें एक निश्चित समयके पश्चात् खटास आदि विकारके आनेसे होता है। विषम अर्थात् विरूप परिणामका ही प्रत्यक्ष होता है। उस प्रत्यक्षसे साम्य परिणामका अनुमान किया जाता है। तीनों गुणोंका साम्य परिणाम ही अनुमानगम्य अव्यक्त अर्थात् प्रधान मूल प्रकृति अथवा केवल प्रकृति है।

गुणोंका प्रथम विषम परिणाम महत्तत्त्व—चेतनतत्त्वसे इस मूल प्रकृतिमें एक प्रकारका क्षोभ होकर सत्त्वमें क्रियामात्र रजका और उस क्रियाको रोकनेमात्र तमका प्रथम विषम परिणाम हो रहा है, जो महत्तत्त्व (समष्टिरूपमें एक विशुद्ध सत्त्वमय चित्त और व्यष्टिरूपमें अनन्त सत्त्व-चित्त) है। जिसमें कर्तापनका अहंकार बीजरूपसे छिपा हुआ है। महत्तत्त्वमें चेतनतत्त्वके ज्ञानके प्रकाशको ग्रहण करनेकी अनादि योग्यता है और चेतन-तत्त्वमें महत्तत्त्वमें अपने ज्ञानके प्रकाशको डालनेकी अनादि योग्यता है। महत्तत्त्वके ज्ञानस्वरूप चेतनतत्त्वसे प्रकाशित होनेको गीतामें अति सुन्दर शब्दोंमें वर्णन किया गया है—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते॥ (९।१०)
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ (१४।३)
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥ (१४।४)

हे अर्जुन! मेरा आश्रय करके प्रकृति चराचरसहित सब जगत्को रचती है, इसी कारण जगत् परिवर्तित हो रहा है।

हे अर्जुन! मेरी योनि (गर्भ रखनेका स्थान) महत्तत्त्व है, उसीमें मैं गर्भ रखता हूँ (अपने ज्ञानका प्रकाश डालता हूँ) और उसी (जड-चेतनके संयोग) से सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है।

हे अर्जुन! सब योनियोंमें जो शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी योनि महत्तत्त्व है और उनमें बीजको डालनेवाला मैं चेतनतत्त्व पिता हूँ।

इसीलिये हिरण्यगर्भके लिये जो चेतनतत्त्वकी महत्तत्त्वके सम्बन्धसे संज्ञा है, वेदोंमें इस प्रकार कहा गया है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

हिरण्यगर्भ ही पहले उत्पन्न हुए जो समस्त भूतोंके एक पति थे। जिस प्रकार महत्तत्त्व ज्ञानस्वरूप चेतनतत्त्वके ज्ञानके प्रकाशको ग्रहण कर रहा है उसको यथार्थ रूपसे समझानेके लिये इस स्थूल जगत्में न तो कोई शब्द मिल सकता है और न कोई सर्वांशमें ठीक ठीक घटनेवाला उदाहरण, फिर भी इसको तीन प्रकारसे बतलाया गया है—(१) जैसे वायु भुवनोंमें व्यापक है इसी प्रकार चेतन तत्त्व महत्तत्त्वमें व्यापक हो रहा है।

यथा—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

(कठ० २ । ५ । १०)

जिस प्रकार एक वायु-तत्त्व सारे भुवनोंमें प्रविष्ट होकर रूप-रूपमें प्रतिरूप (उन-जैसा रूपवाला) हो रहा है, उसी प्रकार एक आत्मा, जो सबका अन्तरात्मा है, रूप-रूपमें प्रतिरूप हो रहा है और अपने कुछ चेतनखण्डसे बाहर भी है ।

(२) जैसे सूर्य जलाशयोंमें प्रतिबिम्बित हो रहा है, इसी प्रकार ज्ञानस्वरूप चेतन-तत्त्व महत्तत्त्व (विशुद्ध सत्त्वमय समष्टि चित्त तथा अनन्त व्यष्टि सत्त्वचित्तों) में प्रतिबिम्बित हो रहा है ।

यथा—

एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

(ब्रह्मबिन्दु उप० २२)

एक ही भूतात्मा भूत-भूतमें विराजमान है । जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा जलमें अनेक होकर दीखता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा अनेक रूपमें (समष्टि विशुद्ध सत्त्वमय चित्तमें एकत्व-भावसे और व्यष्टि सत्त्व चित्तोंमें बहुत्व-भावसे) प्रतिरूप हो रहा है ।

जैसे चुम्बक पत्थरकी सन्निधिसे लोहेमें क्रिया उत्पन्न होती है, इसी प्रकार चेतनतत्त्वके ज्ञानसे प्रकाशित होनेके कारण महत्तत्त्वमें ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रिया हो रही है ।

यथा—

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्तते ।
सत्तामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः ॥

(साख्यप्रवचनभाष्य १ । ९७)

जैसे बिना इच्छावाले चुम्बकके स्थित रहनेमात्रसे लोहा प्रवृत्त होता है, वैसे ही सत्तामात्र देव (परमात्मा) से जगत्की उत्पत्ति आदि होती है । आभ्यन्तर दृष्टि रखनेवाले तत्त्ववेत्ताओंके लिये ये तीनों उदाहरण समानार्थक हैं । चेतनतत्त्वके महत्तत्त्वमें प्रतिबिम्बित होने और बीजरूपसे छिपे हुए विशुद्ध सत्त्वमय चित्तमें समष्टि अहंकारके और सत्त्वचित्तोंमें व्यष्टि अहंकारके क्षोभ पाकर अहंभावसे प्रकट होनेको उपनिषदोंमें अनेक प्रकारसे वर्णन किया है ।

यथा—

सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा इदꣳसर्वमसृजत यदिदं किञ्च । तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।

(तैत्तिरीय २ । ६ । १)

उसने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊँ । मैं प्रजावाला होऊँ । उसने तप तपा । तप तपनेसे पीछे उसने इस सबको रचा जो कुछ यह है । इसको रचकर वह इसमें प्रविष्ट हुआ । यह स्पष्ट है कि अपने-

को अपने आप रचना और अपनेमें अपने आपको प्रवेश करना—ये दोनों बातें असम्भव हैं; क्योंकि ये दोनों क्रियाएँ कर्तासे भिन्न किसी दूसरी वस्तुकी अपेक्षा रखती हैं और यह त्रिगुणात्मक प्रकृति ही है।

(२)*महत्तत्त्वका विषम परिणाम अहंकार*—पुरुष (चेतनतत्त्व) से प्रतिबिम्बित महत्तत्त्व ही सत्त्वमें रजस् और तमस्की अधिकतासे विकृत होकर अहंकाररूपसे व्यक्तभावमें बहिर्मुख हो रहा है। इस अहंकारसे ही कर्तापनका भाव आरम्भ होता है।

यथा—

अहंकारः कर्त्ता न पुरुषः ॥ (साख्य ६। ५४)

'कर्तापन अहंकारमें है न कि पुरुषमें।' महत्तत्त्वका विषम परिणाम अहंकार ही अहंभावसे एकत्व, बहुत्व, व्यष्टि, समष्टिरूप सर्वप्रकारकी भिन्नता उत्पन्न करनेवाला है। विभाजक अहंकारहीसे ग्रहण और ग्राह्यरूप दो प्रकारके विषम परिणाम हो रहे हैं।

(३)*अहंकारका विषम परिणाम ग्रहणरूप ग्यारह इन्द्रियाँ*—महत्तत्त्वसे व्याप्य विभाजक अहंकार ही सत्त्वमें रज और तमकी अधिकतासे विकृत होकर परस्पर भेदवाली ग्रहणरूप पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियो और ग्यारहवें इनके नियन्ता मनके रूपमें व्यक्त होकर बहिर्मुख हो रहा है।

(४) *अहंकारके विषम परिणाम ग्राह्यरूप पाँच तन्मात्राएँ*—महत्तत्त्वसे व्याप्य विभाजक अहकार ही सत्त्वमें रज और तमकी अधिकतासे विकृत होकर परस्पर भेदवाली ग्राह्य पाँच तन्मात्राओंके रूपमें व्यक्त-भावसे बहिर्मुख हो रहा है।

(५) *तन्मात्राओंके विषम परिणाम ग्राह्यरूप पाँच स्थूल भूत*—विभाजक अहंकारसे व्याप्य पाँचों तन्मात्राएँ ही सत्त्वमे रज और तमकी अधिकतासे विकृत होकर परस्पर भेदवाले पाँच स्थूल भूतोमें व्यक्तभावसे वहिर्मुख हो रही हैं।

स्थूल भूत और तन्मात्राओंके बीचमें एक अवस्था सूक्ष्म भूतोंकी है, जिनकी सूक्ष्मताका तारतम्य स्थूल भूतोंसे लेकर तन्मात्राओंतक चला गया है।

इस प्रकार महत्तत्त्वकी अपेक्षा अहंकारमें, अहकारकी अपेक्षा पाँचो तन्मात्राओंमें और ग्यारह इन्द्रियोमें, और तन्मात्राओंकी अपेक्षा स्थूलभूतोमें क्रमशः रज तथा तमकी मात्रा बढ़ती जाती है और सत्त्वकी मात्रा कम होती जाती है। यहाँतक कि स्थूल जगत् और स्थूल शरीरमें रज तथा तमका ही व्यवहार चल रहा है। सत्त्व केवल प्रकाशमात्र ही रह रहा है। यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि महत्तत्त्वमें प्रतिबिम्बित चेतनतत्त्व (आत्मा-परमात्मा) भी इन राजसी, तामसी आवरणोसे ढका हुआ भौतिक शरीर तथा भौतिक जगत्में केवल झलकमात्र ही दिखायी देता है। इसलिये उपनिषदोमें पुरुषका 'निवासस्थान चित्तमें जिसका विशेष स्थान आनुमानिक अङ्गुष्ठमात्र हृदय है, बतलाया गया है और साख्य तथा योगद्वारा उसकी प्राप्तिका उपाय स्थूलभूत, तन्मात्राएँ, अहकार और महत्तत्त्वसे क्रमशः अन्तर्मुख होते हुए स्वरूपावस्थित होना बतलाया है।

जिस प्रकार उत्तरमीमांसाके प्रथम चार सूत्र वेदान्तकी चतुःसूत्री कहलाती है, इसी प्रकार तत्त्व-समासके 'अष्टौ प्रकृतयः,' 'षोडश विकाराः,' 'पुरुषः,' त्रैगुण्यम्'—ये चार सूत्र साख्यकी चतुःसूत्री है, जिनका कपिलमुनिने सारे ज्ञेय पदार्थोंका जिज्ञासु आसुरिको समाधि-अवस्थामें अनुभव कराके उपदेश किया है।

सगति—तीनों गुणोंका कार्य अगले सूत्रमें बतलाते हैं ।

सृष्टि और प्रलय

संचरः प्रतिसंचरः ॥ ६ ॥

सृष्टि और प्रलय (इन तीनो गुणोकी अवस्थाविशेष हैं) ।

व्याख्या—ग्यारह इन्द्रियां और पांच स्थूल भूत, इन सोलहों केवल विकृतियोका, जो तीनो गुणोंके केवल विकार हैं, रजपर उनके अधिक-प्रभावसे वर्तमान स्थूल रूपको छोडकर अपने कारण, अहकार और पांचों तन्मात्राओंमें क्रमसे लीन हो जानेका नाम प्रलय है और अपने प्रकृतियोसे, इनका तमपर रजके अधिक प्रभावके कारण फिर विकृतिरूपमें प्रकट होनेका नाम सृष्टि है । सृष्टिके पीछे प्रलय, प्रलयके पीछे सृष्टि—यह क्रम-प्रवाह अनादिसे चला आ रहा है । जिस प्रकार ठीक रातके बारह बजेसे दिन आरम्भ होकर रातके बारह बजे समाप्त होता है, यद्यपि सूर्योदयसे सूर्यास्ततक दिन और सूर्यास्तसे सूर्योदयतक रात्रि कहनेमें आती है, इसी प्रकार सृष्टि-उन्मुख और प्रलय-उन्मुख अवस्था-परिणाम निरतर चलता रहता है, यद्यपि स्थूलभूतोंमें जबसे व्यवहार चलानेकी योग्यताका अभिभव होता है, तबसे प्रलय और जब इसका प्रादुर्भाव होता है, तबसे सृष्टिका आरम्भ होना कहा जाता है ।

प्रलयमें सातों प्रकृतियोका, सुषुप्तिमें अन्तर्मुख होनेके सदृश, केवल वृत्तिरूपसे ही लय होना बन सकता है, न कि स्वरूपसे, क्योंकि अविद्यादि क्लेश, कर्मोंके विपाक और वासनाओंके संस्कारोकी निवृत्ति होनेपर चित्तका स्वरूपसे (अर्थात् चित्तको बनानेवाले सत्त्व, रजस् और तमस्का) अपने कारणमें लीन होना तो केवल कैवल्यरूप मुक्तिमें ही हो सकता है ।

(ब्रह्मसूत्रमें भी अध्याय ४ पाद २ सूत्र १ से ५ तक इस बातको दर्शाया है । देखो शांकरभाष्य ।)

यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि स्थूलभूतोकी सूक्ष्मताके तारतम्यको लिये हुए तन्मात्राओ-तक)एक सूक्ष्मावस्था होती है, जिसके अन्तर्गत सारे सूक्ष्म लोकलोकान्तर हैं । प्रलयमें केवल पृथिवी, जल और अग्निका स्वरूपसे लय और सृष्टिमें स्वरूपसे उत्पन्न होना होता है ।

यथा—

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत । तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत । तस्माद् यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते॥३॥ ता आप ऐक्षन्त बहव्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त तस्माद् यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते ॥ ४ ॥ (छान्दोग्य० ६ । २)

उसने ईक्षण किया—मैं बहुत हो जाऊँ, प्रजावाला होऊँ । उसने तेजको रचा । उस तेजने ईक्षण किया—मैं बहुत होऊँ, प्रजावाला होऊँ । उसने जलको रचा । इसलिये जहाँ कहीं पुरुष गर्म होता है और उसे पसीना आता है, वहाँ तेजसे ही जल उत्पन्न होते है ॥ ३ ॥

उस जलने ईक्षण किया—मैं बहुत होऊँ, मै प्रजावाला होऊँ । उसने पृथिवीको रचा । इसलिये जहाँ-कहीं वर्षा होती है, वहीं बहुत अन्न अर्थात् पार्थिव पदार्थ उत्पन्न होते हैं ॥ ४ ॥

न्याय और वैशेषिक भी यहींसे सृष्टिको आरम्भ करते हैं। श्रीकृष्णमहाराजने गीता अध्याय ८ में सृष्टिकी उत्पत्ति और प्रलयका क्रम इसी प्रकार बतलाया है।

यथा—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥
सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥
अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
राज्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

हे अर्जुन! ब्रह्मलोकसे लेकर सब लोक पुनरावर्ती स्वभाववाले हैं, परंतु हे कुन्तीपुत्र! मुझको (परब्रह्मको) प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता है ॥ १६ ॥

ब्रह्माका जो एक दिन है उसको हजार चौकड़ी युगतक अवधिवाला और रात्रिको भी हजार चौकड़ी युगतक अवधिवाली जो पुरुष तत्त्वसे जानते हैं अर्थात् जो अनित्य जानते हैं, वे योगीजन कालके तत्त्वको जाननेवाले है ॥ १७ ॥

सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्त मूलप्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त मूलप्रकृतिमें ही लय होते है ॥ १८ ॥

हे अर्जुन! वही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृतिके वशमें हुआ रात्रिके प्रवेशकालमें लय होता है और दिनके प्रवेशकालमें फिर उत्पन्न होता है ॥ १९ ॥

संगति—अब सृष्टिके अवान्तर भेद बतलाते हैं ॥

सृष्टिके तीन भेद

अध्यात्ममधिभूतमधिदैवं च ॥ ७ ॥

(सृष्टिके तीन अवान्तर भेद हैं) अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव।

(१) *अध्यात्म*—जो सीधे अपने साथ सम्बन्ध रखनेवाले है, जैसे बुद्धि, अहकार, मन, इन्द्रियाँ और शरीर।

(२) *अधिभूत*—जो अन्य प्राणियोंकी भिन्न-भिन्न सृष्टिसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं, जैसे गौ, अश्व, पशु-पक्षी आदि।

(३) *अधिदैव*—जो दिव्य शक्तियोकी सृष्टिसे सम्बन्ध रखनेवाले है, जैसे पृथिवी, सूर्य आदि।

व्याख्या—अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव सृष्टिके सम्बन्धसे तीन ही प्रकारका सुख-दुःख होता है—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। आध्यात्मिक सुख-दुःख दो प्रकारका है—शारीरिक और मानसिक।

शरीरका बलवान्, फुर्तीला और स्वस्थ होना शारीरिक सुख है, शरीरका दुर्बल, अस्वस्थ और रोगी होना शारीरिक दुःख है। इसी प्रकार शुभ संकल्प, शान्ति, वैराग्य आदि मानसिक सुख है, ईर्ष्या, तृष्णा, शोक, राग, द्वेष आदि मानसिक दुःख हैं।

आधिभौतिक सुख वह है जो दूसरे प्राणियोंसे मिलता है, जैसे गौ आदिसे दूध-घृतका, घोड़े आदिसे सवारीका और आधिभौतिक दुःख जैसे सर्प, बिच्छू आदिके काटनेसे होता है। आधिदैविक सुख प्रकाश, वृष्टि आदिसे होता है, आधिदैविक दुःख अतिवृष्टि और बिजली आदिके गिरनेसे होता है।

सङ्गति—मोक्षकी उपयोगिनी अध्यात्मसृष्टिका अगले सूत्रोंमें सविस्तर वर्णन करते हैं।

पाँच वृत्तियाँ

पञ्चाभिबुद्धयः[1] ॥ ८ ॥

बुद्धिकी वृत्तियाँ पाँच हैं।

व्याख्या—वृत्तियाँ पाँच प्रकारकी हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।

प्रमाण यथार्थ ज्ञानको कहते हैं। यह तीन प्रकारका है—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। विपर्यय मिथ्या ज्ञानको कहते हैं, जो वस्तुके असली रूपमें प्रतिष्ठित न हो; जैसे रस्सीमें सर्प और सीपमें चाँदीकी भ्रान्ति। विकल्प भेदमें अभेद और अभेदमें भेदवाले ज्ञानको कहते हैं; जैसे 'पानीसे हाथ जल गया'—यहाँ अग्नि और पानीके भेदमें अभेदका ज्ञान है; और 'काठकी पुतली'—यहाँ काठ और पुतलीके अभेदमें भेदका ज्ञान है। निद्रा अभावकी प्रतीतिका आलम्बन करनेवाली वृत्तिका नाम है और स्मृति उन पाँचों वृत्तियोंद्वारा अनुभूत ज्ञानका स्मरण होना है। (इनका विस्तारपूर्वक वर्णन आगे योगदर्शन सा० पा० सू० ५ से ११ तक देखें।)

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ

पञ्च दृग्योनयः[2] ॥ ९ ॥

पाँच ज्ञानके स्रोत (ज्ञानेन्द्रिय—नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा) है।

व्याख्या—नेत्र, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा—ये पाँच ज्ञानके स्रोत है। ये ज्ञानके प्रवाह बुद्धिके लिये अहर्निश बहते रहते हैं। नेत्र रूप-ज्ञानका, श्रोत्र शब्द-ज्ञानका, घ्राण गन्ध-ज्ञानका, त्वचा स्पर्श-ज्ञानका प्रवाह अहर्निश बहाती है।

---

१. भावागणेश आदिने आठवें सूत्रके अर्थ इस प्रकार किये हैं—

अभिबुद्धि, अभिमान, इच्छा, कर्तव्यता, क्रिया—ये पाँच अभिबुद्धि हैं। इनमें अभिबुद्धि अभिमुखी बुद्धि है अर्थात् यह अवश्य करना है, इस रूपवाली बुद्धिका नाम अभिबुद्धि है। मैं करता हूँ—यह वृत्ति अभिमान है। इच्छा चाहको कहते हैं। यह सकल्प मानसीवृत्ति है। कर्तव्यता, ज्ञानेन्द्रियोंकी शब्दादि विषयोंमें वृत्तिका नाम है। क्रिया वचन आदि लक्षणवाली कर्मेन्द्रियोंकी वृत्ति है।

२. 'साख्य तत्त्व-विवेचन' और 'तत्त्वयाथार्थ-दीपन' आदिमें नवें सूत्रका पाठ "पञ्चकर्म योनयः" दिया है, जिसके अर्थ इस प्रकार किये हैं,—कर्मजन्य और कर्मजनक होनेसे धृति, श्रद्धा, सुखा, अविविदिषा और विविदिषा—ये पाँच कर्मयोनि कहलाती हैं। इनके क्रमसे लक्षण इस प्रकार हैं—वाणी, कर्म और सकल्पमें जो प्रतिष्ठित हो, वह धृति

पाँच प्राण

पञ्च वायवः ॥ १० ॥

पाँच वायु (प्राण) हैं ।

व्याख्या—वायु पाँच हैं—प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान; इन पाँचोंको प्राण भी कहते हैं ।

प्राण-वायुका निवास-स्थान हृदय है । यह शरीरके ऊपरी भागमें रहता हुआ ऊपरकी इन्द्रियोंका काम संचालन करता है । अपान-वायुका निवास-स्थान गुदाके निकट है और शरीरके निचले भागमें सचालन करता है, निचली इन्द्रियोंद्वारा मल-मूत्रके त्यागादिका काम उसके आश्रित है । समान-वायु शरीरके मध्यभाग नाभिमें रहता हुआ हृदयसे गुदातक संचार करता है । खाये पिये अन्न, जल आदिके रसको सब अङ्गोंमें बराबर बाँटना उसका काम है । व्यान-वायु सारी स्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म नाड़ियोंमें घूमता हुआ शरीरके प्रत्येक भाग-में रुधिरका संचार करता है । उदान-वायु सूक्ष्म शरीरको शरीरान्तर वा लोकान्तरमें ले जाता है ।

प्राणका विस्तारपूर्वक वर्णन योगदर्शन समाधि पा० सू० ३४ के वि० वि० में देखें ।

पाँच कर्मेन्द्रियाँ

पञ्च कर्मात्मानः ॥ ११ ॥

पाँच कर्मकी शक्तियाँ (कर्मेन्द्रियाँ) हैं ।

व्याख्या—बोलना, पकड़ना, चलना, मूत्र-त्याग और मल-त्याग—ये पाँच शारीरिक कर्म हैं । इन पाँचो कर्मोंके करनेवाली वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा—ये पाँच शक्तियाँ कर्मेन्द्रिय कहलाती हैं ।

पाँच गाँठवाली अविद्या

पञ्चपर्वा अविद्या ॥ १२ ॥

पाँच गाँठोंवाली अविद्या है ।

व्याख्या—अविद्या पाँच प्रकारकी है—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ।

अनित्यमें नित्य, अपवित्रमे पवित्र, दुःखमें सुख और अनात्मामें आत्माका ज्ञान अविद्या है । बुद्धिमें आत्मबुद्धि अस्मिता है । सुखकी इच्छा अर्थात् लोभकी वृत्तिका नाम राग है । सुख-साधनमें विघ्न डालने-वालोके प्रति घृणा अथवा द्वेष-वृत्ति द्वेष है और मृत्युसे भयकी वृत्तिका नाम अभिनिवेश है । इनको क्रमसे तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र कहते हैं ।

है । अनसूया, ब्रह्मचर्य, यजन, याजन, तप, दान, प्रतिग्रह और होम—यह श्रद्धाका लक्षण है । जो अर्थार्थीका विद्या, कर्म और तपका आचरण करना, नित्य प्रायश्चित्तपरायण होना (भूलोंका शोधन करना) है, इसको सुखा कहते हैं । वेद-ज्ञानकी इच्छामें प्रतिबन्धक क्रिया अविविदिषा है । यह अचेतन एकत्व है, पृथक्त्व है, नित्य है, सूक्ष्म है, सत्कार्य है, अक्षोभ्य है—यह जाननेकी इच्छा विविदिषा है । इनमें चार धृति, श्रद्धा, सुखा, अविविदिषा बन्धके कारण हैं । केवल आत्माके विषयमें एकत्व और पृथक्त्व आदि विषयवाली विविदिषा मोक्षका हेतु है, क्योंकि यह ज्ञान और मोक्षके प्रतिबन्धको नाश करनेवाले कर्मोंसे उत्पन्न होती है और उन कर्मोंकी जनक भी है ।

१. ग्यारहवें सूत्रमें भावागणेश आदिने 'पञ्चकर्मात्मानः'में कर्मात्माके अर्थ वैकारिक, तैजस, भूतादि, सानु-मान और निरनुमान किये हैं ।

इनकी विस्तारपूर्वक व्याख्या योगदर्शन सा० पा० प्रथम नौ सूत्रोंमें देखें ।

अट्ठाईस अशक्तियाँ

अष्टाविंशतिधाऽशक्तिः ॥ १३ ॥

अट्ठाईस प्रकारकी अशक्ति है ।

एकादशेन्द्रियवधाः सहबुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा ।
सप्तदशवधा बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिः सिद्धानाम् ॥ (सा० का० ४९)

इन्द्रियोंके जो ग्यारह वध हैं, वे बुद्धिके वधोंके साथ मिलकर (ग्यारह) अशक्ति बतलायी गयी है । (नौ) तुष्टि और (आठ) सिद्धिसे उलटी (नौ अतुष्टियाँ और आठ असिद्धि) ये सतरह बुद्धिके वध (सत्तरह अशक्ति) हैं । (इस भाँति अट्ठाईस प्रकारकी अशक्ति है) ।

व्याख्या—मनुष्यके पास बुद्धि ही ऐसी शक्ति है, जिसके द्वारा वह भोग-अपवर्गका प्रयोजन सिद्ध कर सकता है, यदि उसमें पूर्ण शक्ति हो अर्थात् यदि उसकी शक्तिका किसी प्रकार भी ह्रास न हुआ हो । जितनी भी त्रुटि होती है, वह सब बुद्धिकी अशक्तिसे ही होती है । बुद्धिकी अशक्ति अट्ठाईस प्रकारकी है । ग्यारह अशक्तियाँ ग्यारह इन्द्रियोंके मारे जानेसे होती हैं; जैसे नेत्रसे अंधा होना, कानसे बहिरा होना, घ्राणसे गन्ध न ज्ञात होना, रसनासे रसका स्वाद न आना, त्वचासे कुष्ठ होना, वाणीसे गूँगा होना, हाथोंसे ठूँठा तथा पाँवोंसे पंगु होना, उपस्थसे नपुंसक और गुदासे गुदावर्त (मलबन्ध) होना, मनसे उन्माद होना— ये ग्यारह इन्द्रियोंकी अशक्तिसे बुद्धिकी अशक्ति ग्यारह प्रकारकी है । बुद्धिकी साक्षात् अशक्ति सत्तरह प्रकारकी है । नौ तुष्टियों एवं आठ सिद्धियों जो अगले दो सूत्रोंमें बतलायी जायँगी उनसे उलटी नौ अतुष्टियाँ और आठ असिद्धियाँ मिलकर बुद्धिकी सतरह अशक्तियाँ हैं । ये तुष्टियाँ स्वयं अपने रूपसे तो आत्मोन्नतिमें सहायक और उपादेय हैं । इसलिये शक्तिरूप हैं । केवल इनमें आसक्ति अर्थात् इनमें संतुष्ट होकर आत्मोन्नतिके लिये यत्न करना छोड़ देना हेय कोटिमें है । इस कारण इनसे उलटी नौ अतुष्टियाँ नौ अशक्तिरूप है ।

नौ तुष्टियाँ

नवधा तुष्टिः ॥ १४ ॥

तुष्टियाँ नौ प्रकारकी हैं ।

आध्यात्मिकाश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च नव तुष्टयोऽभिमताः ॥ (सा० का० ५०)

तुष्टियाँ नौ मानी गयी हैं । उनमेंसे चार आध्यात्मिक हैं, जिनके नाम प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य हैं । और पाँच बाह्य हैं, जो (आत्मसाक्षात्कारसे पूर्व ही उसके साधनरूप) विषयोंमें वैराग्यसे होती हैं ।

व्याख्या—तुष्टि, उपरति अथवा उपरामता हटे रहनेको कहते हैं, अर्थात् मोक्ष-प्राप्तिसे पहले ही उसके साधनोंको छोड़कर संतुष्ट हो जानेका नाम तुष्टि है । यह दो प्रकारकी होती है—बाह्यतुष्टि और आध्यात्मिकतुष्टि ।

बाह्य तुष्टि अन्तरात्माको समझे बिना केवल बाहरके विषयोंसे उपरतिको कहते हैं। वह पाँच प्रकारकी है—शब्द-तुष्टि, स्पर्श-तुष्टि, रूप-तुष्टि, रस-तुष्टि और गन्ध तुष्टि। इन शब्द-स्पर्शादि पाँचों विषयोंसे पाँच प्रकारके दुःख होते हैं। अर्थात् (१) इनके प्राप्त करनेमें दुःख, (२) रक्षामें दुःख, (३) नाशमें दुःख, (४) भोगमें दुःख; क्योंकि भोगके अभ्याससे कामना बढ़ती है और कामनाकी अपूर्तिमें दुःख होता है—और (५) दूसरोंकी हिंसाका दुःख, क्योंकि बिना किसीकी हिंसाके भोगकी प्राप्ति नहीं हो सकती। उपर्युक्त तुष्टियाँ हेयकोटिमें हैं, किंतु जब साधनरूप कर्तव्यको बिना किसी प्रकारके आलस्य और प्रमादके इन विषयोसे सर्वथा आसक्ति और लगावको त्यागकर किया जाता है तब इस प्रकारकी तुष्टिसे संतुष्ट हुआ मन निश्चल और कामनारहित होकर परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है। अतः इस प्रकार ही तुष्टि शक्तिरूप है।

आध्यात्मिक तुष्टियाँ चार प्रकारकी हैं—प्रकृति-तुष्टि, उपादान-तुष्टि, काल-तुष्टि और भाग्य-तुष्टि। ये तुष्टियाँ उनको होती हैं जो यह जानते हुए भी कि जड-तत्त्व और चेतन-तत्त्व सर्वथा भिन्न हैं, किसी झूठे भरोसेपर स्वरूपावस्थितिके लिये यत्न नही करते। इन तुष्टियोके क्रमसे (१) पार, (२) सुपार, (३) पारापार, (४) अनुत्तमाम्भ और (५) उत्तमाम्भ नाम हैं।

१—प्रकृति-तुष्टि—यह जानकर भी कि आत्मा प्रकृतिसे अलग है आत्माके साक्षात्कारके लिये इस भरोसेपर धारणा-ध्यान-समाधिका अभ्यास न करना कि प्रकृति पुरुषके भोग-अपवर्गके लिये स्वय प्रवृत्त हो रही है इसलिये भोगके सदृश अपवर्ग भी आप ही प्राप्त हो जायगा—यह प्रकृतिके भरोसेपर प्रकृति-तुष्टि है यह भरोसा इसलिये झूठा है कि प्रकृति पुरुषकी इच्छाके अधीन चल रही है, जब वह स्वयं सतुष्ट होकर मोक्षके साधनसे उपराम हो रहा है तो प्रकृति उसके लिये क्या कर सकती है।

२—उपादान-तुष्टि—इस भरोसेपर कि सन्यास ग्रहण करनेसे अपवर्ग स्वयं मिल जायगा, उसके लिये उपाय न करना उपादान-तुष्टि है। यह भरोसा इसलिये झूठा है कि संन्यास एक चिह्नमात्र है। उसमें भी धारणा, ध्यान और समाधि ही आत्मसाक्षात्कारका हेतु है।

३—काल-तुष्टि—इस विश्वासपर कि समय पाकर स्वयं मुक्ति प्राप्त हो जायगी, उसके लिये कोई यत्न न करना काल-तुष्टि है। यह कालका भरोसा इसलिये झूठा है कि काल सब कार्योंका समान हेतु है—उन्नतिके सदृश वह अवनतिका भी हेतु है। इसलिये उन्नतिके लिये यत्न ही अपेक्षित है।

४—भाग्य-तुष्टि—इस भरोसेपर कि यदि भाग्यमें होगा तो स्वयं तत्त्वज्ञान प्राप्त होकर मुक्ति हो जायगी, उसके लिये कोई यत्न न करना भाग्य-तुष्टि कहलाती है। यह भरोसा इसलिये झूठा है कि भाग्य भी अपने पुरुषार्थका ही बनाया हुआ होता है।

उपर्युक्त तुष्टियाँ हेय कोटिमें हैं, किंतु जब साधनरूप कर्तव्यको बिना किसी प्रकारके आलस्य और प्रमादके किया जाता है, तब इन तुष्टियोसे धैर्य और शान्ति प्राप्त होती है। अतः इस प्रकारकी तुष्टि शक्तिरूप हैं।

आठ सिद्धियाँ

अष्टधा सिद्धिः ॥ १५ ॥

सिद्धि आठ प्रकारकी है।

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रय सुहृत्प्राप्तिः ।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धे. पूर्वोऽङ्कुशस्त्रिविध. ॥ (सा० का० ५९)

ऊह, शब्द, अध्ययन, तीन दुःखविघात, सुहृत्प्राप्ति और दान—ये सिद्धियाँ हैं। सिद्धिसे पूर्व तीन प्रकारका अङ्कुश है ।

व्याख्या—सिद्धियाँ आठ है—ऊह, शब्द, अध्ययन, सुहृत्प्राप्ति, दान, आध्यात्मिक दुःखहान, आधिभौतिक दुःखहान और आधिदैविक दु.खहान ।

ऊह-सिद्धि—पूर्व-जन्मके संस्कारोसे स्वय इस सृष्टिको देख भालकर नित्य-अनित्य, चित्-अचित्के निर्णयसे चौवीस तत्त्वोका यथार्थ ज्ञान होना ।

शब्द-सिद्धि—विवेकी गुरुके उपदेशसे ज्ञान होना ।

अध्ययन-सिद्धि—वेद आदि शास्त्रोके अध्ययनसे ज्ञान होना ।

सुहृत्प्राप्ति-सिद्धि—वे सिद्ध पुरुष जो स्वयं मनुष्योका अज्ञान मिटानेके लिये घूम रहे हैं, उनमेंसे किसी दयालुके मिल जानेसे ज्ञानका प्राप्त होना ।

दान-सिद्धि —वे योगी जो अपने खाने-पीनेकी आवश्यकताओंसे निरपेक्ष होकर आत्मसाक्षात्कारमें लगे हुए है उनकी भोजन आदि सब प्रकारकी आवश्यकताओको श्रद्धा-भक्तिके साथ पूरा करनेसे उनके प्रसादसे ज्ञान लाभ करना ।

गीता अध्याय १७ मे सात्त्विक, राजस और तामस मनोवृत्तिके भेदसे तीन प्रकारका दान वतलाया गया है ।

यथा—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे । देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः । दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते । असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

दान देना ही कर्तव्य है—ऐसे भावसे जो दान देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर प्रत्युपकार न करनेवालेके लिये दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है ॥ २० ॥ और जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युपकारके प्रयोजनसे अथवा फलको उद्देश्य रखकर फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है ॥ २१ ॥ और जो दान विना सत्कार किये अथवा तिरस्कार पूर्वक अयोग्य देश, कालमें कुपात्रों (मद्य-मांसादि अभक्ष्य वस्तुओका सेवन करनेवाले, हिंसक, दुराचारी, पाप कर्म करनेवाले) के लिये दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है ॥ २२ ॥ दान देनेवाले तथा दान लेनेवाले दोनोंके लिये सात्त्विक दान ही इष्ट है । राजस तथा तामस दान देनेवाले तथा लेनेवाले दोनोके लिये राजसी तथा तामसी वृत्तियोका उत्पन्न करनेवाला होता है ।

उपर्युक्त पाँच सिद्धियाँ तत्त्वज्ञानके उपाय हैं और निम्न तीन सिद्धियाँ उनके फल हैं।

आध्यात्मिक दुःख-हान——सब आध्यात्मिक दुःखोंका मिट जाना।

आधिभौतिक दुःख-हान——सब आधिभौतिक दुःखोंका मिट जाना।

आधिदैविक दुःख-हान——सब आधिदैविक दुःखोंका मिट जाना।

इनसे उलटी आठ प्रकारकी असिद्धियाँ बुद्धिकी आठ प्रकारकी अशक्तियाँ हैं।

संगति——आध्यात्मिक विपर्योका वर्णन करके अब अगले सूत्रमें मूल तत्त्वोंका धर्म बतलाते हैं।

दस मूल धर्म

दश मौलिकार्थाः ॥ १६ ॥

दश मूलभूत धर्म हैं (अस्तित्व, संयोग, वियोग, शेषवृत्तित्व, एकत्व, अर्थवत्त्व, परार्थ्य, अन्यता, अकर्तृत्व और बहुत्व)।

व्याख्या – अव्यक्त और पुरुषके संयोगसे सृष्टिरचना हुई है। पुरुष तो सदा ही अपने वास्तविक शुद्ध ज्ञानस्वरूपसे असग, निर्लेप और निर्विकार ही रहता है, यह जड अव्यक्तका धर्म-संयोग उसमें विकल्पसे कहा जाता है। सृष्टिमें जो धर्म पाये जाते हैं, वे कार्य-जगत्के धर्म हैं। उससे पहले मूल-भूत अव्यक्त और पुरुषमें जो धर्म पाये जाते हैं, वे मौलिक धर्म है।

अस्तित्व, सयोग, वियोग और शेषवृत्तित्व——ये चार धर्म पुरुष और अव्यक्त दोनोके है। सयोग और वियोग परिणामी अव्यक्तके स्वाभाविक और वास्तविक धर्म हैं, किंतु कूटस्थ नित्य पुरुषमें विकल्पसे कहे गये हैं। अव्यक्त और पुरुष दोनोमें अस्तित्व है। दोनो परस्पर संयुक्त होते हैं, जिससे सृष्टि-रचना होती है। दोनों वियुक्त होते हैं, जब मोक्ष होता है। दोनों विद्यमान रहते हैं, जब प्रलय होती है। (भावागणेशादिने जीवन्मुक्तके सस्कारमात्रसे 'चक्रभूमिवत्' शरीरकी जो स्थिति है, उसको शेष-वृत्ति मानकर केवल पुरुषका धर्म बतलाया है।)

एकत्व, अर्थवत्त्व और परार्थ्य——ये तीन धर्म अव्यक्तमें हैं। अव्यक्त एक है, प्रयोजनवाला है, पुरुष (जीव) को भोग और अपवर्ग देना इसका प्रयोजन है और परार्थ है; क्योंकि पुरुषके लिये काम करता है अपने लिये नहीं। (भावागणेशादिने 'अर्थवत्त्व'को पुरुषार्थवत्त्व मानकर पुरुषका धर्म कहा है।)

एकत्व——यह धर्म पुरुष अर्थात् शुद्ध चेतन-तत्त्वका तथा समष्टि अन्त करण (विशुद्ध-सत्त्वमय चित्त) की अपेक्षासे उसके शबलस्वरूप ईश्वरका भी है।

अन्यता और बहुत्व——जडवर्गसे भिन्न होनेसे अन्यत्व धर्म पुरुषका है और व्यष्टि अन्त.करणोंके सम्बन्धसे जीव अर्थ पुरुषका बहुत्व धर्म है, जो व्यष्टि अन्तःकरणों (सत्त्वचित्तो) की अपेक्षासे परस्पर भिन्न और संख्यामें बहुत (अनन्त) हैं।

अकर्तृत्व——यह धर्म पुरुष (शुद्ध-चेतन-तत्त्व) का है। पुरुष अपने शुद्ध चेतन-स्वरूपसे कर्ता नहीं है, किंतु द्रष्टा है। कर्तृत्व——यह धर्म गुणोमें है।

सङ्गति——अगले सूत्रमें सृष्टि रचनाका प्रयोजन बताते हैं।

सृष्टिका रूप

अनुग्रहः सर्गः ॥ १७ ॥

अनुग्रह सृष्टि है ।

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः ।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥ (सा० का० ५६)

इस प्रकार यह प्रकृतिसे किया हुआ महत्तत्त्वसे लेकर विशेष अर्थात् पाँचो स्थूल भूतो और इन्द्रियों-तकका आरम्भ प्रत्येक पुरुषके मोक्षके लिये स्वार्थके सदृश परार्थ है । जिस प्रकार एक मित्र अपने मित्रके कार्यमे प्रवृत्त हुआ उसे अपने स्वार्थके सदृश साधता है, इसी प्रकार यह प्रकृति पुरुषके प्रयोजनको स्वार्थ-की भाँति साधती है; जबतक वह मोक्ष नहीं पा लेता । मोक्ष पा लेनेपर फिर उसके लिये रचना नहीं रचती, यद्यपि दूसरोंके लिये रचती है (क्योकि मुक्तको अब उसकी रचनासे कोई प्रयोजन नहीं है) ।

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः ।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ (सा० का० ५८)

उत्कण्ठाके मिटानेके लिये जैसे लोक (दुनिया) कामोंमें प्रवृत्त होता है (भूख मिटानेके लिये भोजनमे प्रवृत्त होते है), इसी प्रकार पुरुषके मोक्षके लिये प्रधान अर्थात् प्रकृति प्रवृत्त हो रही है ।

व्याख्या—अव्यक्तकी पुरुषके अनुकूल प्रवृत्ति सृष्टि है, क्योंकि अव्यक्त सृष्टि-रचनामें पुरुषके लिये बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियाँ, शरीर और विषय आदि रचता है । उसकी सारी रचना पुरुषके भोग और अपवर्ग-के लिये ही है; क्योंकि पुरुषकी संनिधिमें पुरुषके ही ज्ञानसे पुरुषके लिये ही उसमें सारी क्रियाएँ ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक हो रही हैं ।

सङ्गति—अगले सूत्रमे प्राणियोंकी सृष्टि बतलाते हैं ।

चौदह प्रकारकी प्राणि-सृष्टि

चतुर्दशविधो भूतसर्गः ॥ १८ ॥

चौदह प्रकारकी प्राणियोंकी सृष्टि है ।

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति ।
मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥
ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः ।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥ (सा० का० ५३-५४)

आठ प्रकारकी दैवी सृष्टि है । पाँच प्रकारकी तिर्यक् योनियोकी है । मनुष्यकी एक प्रकारकी है । ये संक्षेपसे प्राणियोंकी सृष्टि है । ऊपरकी सृष्टि सत्त्वप्रधान है, निचली तमःप्रधान है और मध्यकी रजःप्रधान है । ये ब्रह्मासे लेकर शैवालतक सृष्टि है ।

व्याख्या—चौदह प्रकारकी प्राणियोकी सृष्टि इस प्रकार है—ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, दैव, गान्धर्व, पित्र्य, विदेह और प्रकृतिलय—यह आठ प्रकारका दैव-सर्ग है, जो भिन्न-भिन्न कर्मोपासनाका फल है ।

इसके बाद नवाँ मानुष-सर्ग अर्थात् मानुषी-सृष्टि है और अन्तमें, मनुष्यसे नीचे, पशु, पक्षी, सरीसृप अर्थात् रेंगनेवाले जन्तु, कीट और स्थावर—इन पाँचका तिर्यक्-सर्ग है।

उपर्युक्त १४ प्रकारकी सृष्टिमेंसे मनुष्यसे नीचे ५ प्रकारके तिर्यक् सर्गका तो प्रत्यक्ष होता है, किंतु मनुष्यसे ऊँचे ८ प्रकारके दैव-सर्गका मनुष्योंसे सूक्ष्म होनेके कारण प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। वितर्कानुगतसे ऊँची प्रकाशमय विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधिमें सूक्ष्मताके तारतम्यसे जो आनन्दमें अन्तर है, इसी प्रकार इनमेंसे पहले ६ सर्गोंमें परस्पर अन्तर है। इन छहोंमें भी सूक्ष्मताके तारतम्यसे आनन्दमें परस्पर और कई अवान्तर भेद हो सकते हैं। इसी कारण बृहदारण्यक उपनिषद्, शतपथ ब्राह्मण और तैत्तिरीय उपनिषदादिमें इनके नामोंमें कुछ अन्तर प्रतीत होता है; किंतु जिस प्रकार प्रकाशमय विचारानुगत संकल्पमयी अवस्था समानरूपसे होती है, यद्यपि इसमें समाधि-अवस्थाकी सूक्ष्मताके अनुसार अन्तर होता है। इसी प्रकार इन सब सर्गोंमें जीव संकल्पमय होता है, यद्यपि संकल्पोंमें परस्पर सूक्ष्मता और आनन्दके तारतम्यसे अन्तर होता है। ये सब स्व., मह., जन., तप. और सत्यम्के अन्तर्गत हैं। विदेह और प्रकृतिलयोंका आनन्द और सूक्ष्मता पहले ६ सर्गोंकी अपेक्षा अधिक है और उनकी अवधि भी इनसे अधिक है, क्योंकि विदेह विचारानुगतसे ऊँची आनन्दानुगत सम्प्रज्ञातसमाधिकी भूमितक पहुँचे हुए है और शरीरसे अभिमान छोडे हुए हैं तथा प्रकृतिलय इससे भी ऊँची अस्मितानुगत भूमिमें अहङ्कारका भी अभिमान छोडे हुए हैं। ये दोनो अवस्थाएँ केवल योगियोंको ही प्राप्त होती हैं। इसलिये तैत्तिरीय उपनिषद्, बृहदारण्यक उपनिषद् और शतपथ ब्राह्मणमें इनका वर्णन नहीं है। श्रीव्यासजी महाराज विभूतिपाद सूत्र २६ के भाष्यमें इनके सम्बन्धमें लिखते हैं—"विदेह और प्रकृतिलय नामक योगी कैवल्यके तुल्य स्थितिमें हैं, इसलिये वे किसी (दिव्य) लोकमें निवास करनेवालोंके साथ नहीं उपन्यास किये गये"। अवान्तर भेदोंको लेकर ही उपर्युक्त प्रथम छः सर्गोंका कई प्रकारसे वर्णन किया गया है। यथा—

तैत्तिरीय उपनिषद् शीक्षावल्ली अनुवाक ८।

१. मनुष्यके आनन्दकी काष्ठाका सौगुना आनन्द मनुष्य-गन्धर्वलोकवालोंको।
२. मनुष्य गन्धर्वका सौगुना आनन्द दैव-गन्धर्वलोकवालोंको।
३. दैव गन्धर्वका सौगुना आनन्द पितरलोकवालोंको।
४. पितरका सौगुना आनन्द आजानजदैवलोकवालोंको।
५. आजानज देवताओंका सौगुना आनन्द कर्मदेवलोकवालोंको।
६. कर्मदेवका सौगुना आनन्द दैवलोकवालोंको।
७. दैवका सौगुना आनन्द इन्द्रलोकवालोंको।
८. इन्द्रका सौगुना आनन्द बृहस्पतिलोकवालोंको।
९. बृहस्पतिका सौगुना आनन्द प्रजापतिलोकवालोंको।
१०. प्रजापतिका सौगुना आनन्द ब्रह्माके लोकवालोंको।

बृहदारण्यक उपनिषद् ४।३।२।

१. मनुष्यके आनन्दकी पराकाष्ठाका सौगुना आनन्द पितरलोकवालोंको।
२. पितरका सौगुना आनन्द गन्धर्वलोकवालोंको।

३. गन्धर्वका सौगुना आनन्द आजानजदेवलोकवालोंको ।

४. आजानजदेवका सौगुना आनन्द प्रजापतिलोकवालोंको ।

५. प्रजापतिलोकवालोंका सौगुना आनन्द ब्रह्माके लोकवालोंको ।

शतपथ १४ । ७ । १ । ३१ ।

१. मनुष्यका सौगुना आनन्द पितरलोकवालोंको ।

२. पितरका सौगुना आनन्द कर्मदेवलोकवालोंको ।

३. कर्मदेवका सौगुना आनन्द आजानजदेवलोकवालोंको ।

४. आजानजदेवका सौगुना आनन्द देवलोकवालोंको ।

५. देवका सौगुना आनन्द गन्धर्वलोकवालोंको ।

६. गन्धर्वका सौगुना आनन्द प्रजापतिलोकवालोंको ।

७. प्रजापतिका सौगुना आनन्द ब्रह्माके लोकवालोंको ।

उन्हीं सूक्ष्म लोकोंको ही चन्द्रलोक, सोमलोक और स्वः, महः, जन , तपः, सत्यम् कहते हैं।

जिस प्रकार व्युत्थानकी अपेक्षा सम्प्रज्ञात समाधि योग है, किंतु असम्प्रज्ञात समाधिकी अपेक्षा सम्प्रज्ञातसमाधि व्युत्थान है, इसी प्रकार मनुष्यके मृत्युलोककी अपेक्षा यह सब अमरलोक और मनुष्यके बन्धनकी अपेक्षासे यह पुनरावृत्ति मुक्तिकी अवस्थाएँ हैं, किंतु अपुनरावृत्ति मुक्ति (कैवल्य) की अपेक्षासे यह सब बन्धन है । यथा—

आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन । मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥

(गीता ८ । १६)

ब्रह्मलोकसे लेकर सब लोक पुनरावर्ती स्वभाववाले हैं, किंतु हे अर्जुन ! मुझ (शुद्ध चेतन-तत्त्व' परब्रह्म, परमात्मा) को प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता । इस पुनर्जन्म न होनेवाली मुक्तिके भी दो भेद हो सकते हैं—(१) वे योगी जो असम्प्रज्ञात समाधिद्वारा चित्तके सर्व संस्कार और अविद्यादि क्लेश नाश कर चुके हैं, किंतु उनके चित्तमें केवल संसारके प्राणियोंके कल्याणका सकल्प शेष रह गया है, इसलिये यह संकल्प ईश्वरके प्राणियोंके कल्याणके नित्य संकल्पके तदाकार होनेके कारण, इनके चित्त ईश्वरके विशुद्ध सत्त्वमय चित्तमें लीन होकर पुनः न आनेवाली मुक्तिका लाभ करते हैं और समय-समय-पर उसके नियमानुसार प्राणीमात्रके कल्याणके लिये संसारमें अवतरण करते हैं अर्थात् अवतार लेते हैं । यथा—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

(गीता ४ । ७ ८)

हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने-आपको प्रकट करता हूँ । सज्जनोंकी रक्षा करनेके लिये और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करनेके लिये तथा धर्मस्थापन करनेके लिये युग-युगमें प्रकट होता हूँ ।

(२) जो योगी असम्प्रज्ञात समाधिद्वारा सारे सस्कार और अविद्यादि क्लेश नाश कर चुके हैं तथा उपर्युक्त संकल्पशेष भी निवृत्त कर चुके है, उनके चित्त बनानेवाले गुण अपने कारणमें लीन हो जाते हैं और आत्मा (चेतनतत्त्व) अपने शुद्ध कैवल्य स्वरूपमे अवस्थित हो जाता है। पहली अवस्थावाले योगी इस संकल्पको हटाकर चित्तके बनानेवाले गुणोको अपने कारणमें लीन करनेका हर समय अधिकार रखते हैं तथा कहीं-कहीं कलाओंकी न्यूनाधिकता दिखलाकर अवतारोके कई अवान्तर भेद बतलाये हैं।

इसी प्रकार कहीं-कहीं इन चित्तोंको सिद्ध चित्त तथा निर्माण चित्तके नामसे वर्णन किया गया है।

संगति—अगले सूत्रमे उनका बन्ध और मोक्ष बतलाते हैं।

बन्ध और मोक्षके तीन प्रकार

त्रिविधो बन्धः ॥ १९ ॥

त्रिविधो मोक्षः ॥ २० ॥

तीन प्रकारका बन्ध (वैकृतिक, दाक्षिणिक और प्राकृतिक) होता है ॥ १९ ॥ तीन प्रकारका मोक्ष (वैकृतिक, दाक्षिणिक और प्राकृतिक) होता है ॥ २० ॥

व्याख्या—बन्ध तीन प्रकारका है—वैकृतिक (वा वैकारिक), दाक्षिणिक और प्राकृतिक। जो योगी वितर्कानुगतवाली प्रथमभूमिमें आत्मसाक्षात्कारसे शून्य केवल भूत, इन्द्रिय, मन आदि १६ विकारोंमें ही आसक्त हो रहे हैं अथवा राजसी प्रवृत्तिवाले मनुष्य जिनके कर्म सत्त्वगुण, तमोगुण दोनोसे मिश्रित हैं, वे इन वैकृतिक वासनाओंके अधीन उसी भूमिमें मनुष्यलोकमें जन्म लेते हैं। इनका यह बन्ध वैकृतिक वा वैकारिक कहलाता है।

जो विचारानुगतवाली दूसरी भूमिमें आत्मसाक्षात्कारसे शून्य रहकर केवल सूक्ष्म विषयोमें ही आसक्त हो रहे हैं तथा जो आत्मसाक्षात्कारसे शून्य रहकर फल-कामनाके अधीन होकर केवल सकाम इष्ट-पूर्त आदि परोपकार और अहिंसात्मक सात्त्विक कर्मोंमे लगे हुए है, वे इन सात्त्विक वासनाओंके अधीन होकर दक्षिणमार्गसे चन्द्रलोक अर्थात् सात्त्विकताके तारतम्यानुसार सूत्र १८ में बतलायी हुई ६ दैव सर्गोंमें सात्त्विक वासनाओंका फल भोगकर आत्मसाक्षात्कारके लिये अपनी पिछली भूमिकी योग्यताको लिये हुए मनुष्यलोकमें फिर जन्म लेते हैं। इनका यह बन्ध दाक्षिणिक कहलाता है। (देखो विभूतिपाद सूत्र ३९ का विशेष वक्तव्य) सम्प्रज्ञात समाधिकी उच्चतर और उच्चतम भूमि आनन्दानुगत और अस्मितानुगतको प्राप्त किये हुए योगी जो आत्मसाक्षात्कारसे शून्य रहकर केवल इन भूमियोके आनन्दमें आसक्त रहते हैं और विवेकख्यातिद्वारा स्वरूपावस्थितिका यत्न नहीं करते हैं, वे शरीर त्यागनेके पश्चात् इन वासनाओंके अधीन लवे समयतक विदेह और (अस्मिता) प्रकृतिलय अवस्थामें कैवल्यपद-जैसी स्थितिमें रहकर आत्मसाक्षात्कारके लिये पानीमें डुबकी लगानेवाले पुरुषके सदृश फिर उठते हैं अर्थात् उच्च कुलवाले योगियोके घरमें अपनी पिछली भूमिकी योग्यताको प्राप्त किये हुए फिर जन्म लेते हैं (देखो समाधिपाद० १८, १९)। इनका यह बन्ध प्राकृतिक बन्ध है। अर्थात् आत्मसाक्षात्कारसे शून्य रहकर वितर्कानुगत भूमिमे आसक्त हुए योगियोका बन्ध वैकृतिक,

विचारानुगतमे आसक्त हुए योगियोका बन्ध दाक्षिणिक और आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत भूमियोमें आसक्त हुए योगियोका बन्ध प्राकृतिक कहलाता है ।

इन तीनो बन्धोसे छूटना तीन प्रकारका मोक्ष है । स्थूल विषयोंसे आसक्ति हटाना तथा राजसी, तामसी वासनाओका छोड़ना वैकारिक बन्धसे मोक्ष है । सूक्ष्म विषयोसे आसक्ति हटाना तथा सात्विक कार्योमे निष्काम भाव होना दाक्षिणिक बन्धसे मोक्ष है । आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत भूमिके आनन्दमें आसक्तिसे परवैराग्यद्वारा चित्तको हटाकर स्वरूपावस्थितिका लाभ प्राप्त करना प्राकृतिक बन्धसे मोक्ष है ।

ऊपर तीन प्रकारका बन्ध और मोक्ष दिखलाकर यह बतला देना आवश्यक हो जाता है कि बन्ध और मोक्ष किसको होता है ? उसका क्या स्वरूप है ? और किस कारणसे होता है ? तथा नास्तिकोंकी इस शङ्काका समाधान कर देना उचित प्रतीत होता है कि यदि संसारकी उत्पत्ति करनेवाला कोई ईश्वर माना जाता है तो जीवोके बन्ध और दु खोंका उत्तरदायित्व भी उसीपर आ जाता है ।

दो अनादि तत्त्व

साख्य और योगमे चेतन और जड दो अनादि तत्त्व माने गये है । पुरुष अर्थात् चेतन-तत्त्व ज्ञानस्वरूप, निष्क्रिय, असङ्ग, निर्लेप और कूटस्थ नित्य है और जड तत्त्व (सत्त्व, रजस्, तमस्) त्रिगुणात्मक, सक्रिय और परिणामी नित्य है । सत्त्व प्रकाश, हल्का, सुख, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म स्वभाववाला है । तमस् भारी अन्धकार, मोह, अज्ञान, अवैराग्य और अधर्म स्वभाववाला है । रजस् क्रिया, गति, चञ्चलता और दु:ख स्वभाववाला है । इन तीनो गुणोके सरूप अर्थात् साम्य परिणाम-की अवस्थाका नाम मूल प्रकृति है जो केवल अनुमान और आगमगम्य है । चेतन तत्त्व पुरुषकी सनिधिसे इस जड-तत्त्वमें एक प्रकारका विरूप अर्थात् विषम परिणाम हो रहा है ।

अवरोहण क्रम (Descent)

(१) महत्तत्त्व—पहिला विषम परिणाम महत्तत्त्व है जो सत्त्वमें रजस् क्रियामात्र और तमस् उस क्रियाको रोकनेमात्र है । यह महत्तत्त्व सत्त्वकी विशुद्धतासे समष्टि रूपमें विशुद्ध सत्त्वमय चित्त कहलाता है जिसमे समष्टि अहकार बीजरूपसे रहता है जो ईश्वरका चित्त है । और सत्त्वकी विशुद्धताको छोडे हुए अपने व्यष्टि रूपमे सत्त्व चित्त कहलाता है जो अनन्त हैं । इन अनन्त सत्त्व चित्तोंमें व्यष्टि अहंकार बीजरूपसे रहते हैं । ये जीवोंके चित्त कहलाते हैं । चेतन-तत्त्वमें अपने ज्ञानके प्रकाश डालनेकी और महत्तत्त्वमें इस ज्ञानके प्रकाशको लेनेकी अनादि योग्यता चली आ रही है । उदाहरण थोडे ही अशोंमें घटा करता है । किन्तु चेतन-तत्त्व और महत्तत्त्व जैसी कोई भी वस्तु भौतिक ससारमें उदाहरण देनेके लिये नहीं मिल सकती । इसलिये पारिभाषिक उदाहरणोंसे इन दोनों तत्त्वोंकी सनिधि बतलानेके विषयको समझ लेना चाहिये । इनके लौकिक अर्थोपर नहीं जाना चाहिये ।

योगका उदाहरण

जिस प्रकार सूर्यका प्रतिबिम्ब अनन्त जलाशयोमें पड रहा है, इसी प्रकार चेतन-तत्त्वके ज्ञानका प्रकाश समष्टि विशुद्ध सत्त्वमय चित्तमें तथा व्यष्टि सत्त्व चित्तोंमें पड़ रहा है । यथा—

एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ १ ॥
यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान् अपोभिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् ।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽप्ययमात्मा ॥ २ ॥

अर्थ—एक ही भूतात्मा भूत-भूतमें विराज रहा है । जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा जलमें अनेक होकर दीखता है उसी प्रकार वह आत्मा (चेतन-तत्त्व) भी अनेक रूपसे प्रतीत हो रहा है ॥ १ ॥ जिस प्रकार ज्योतिःस्वरूप सूर्य एक होता हुआ भी भिन्न-भिन्न जलाशयोंमें अनेक होकर दीखता है । यह भेद उसका केवल उपाधिके कारण है । उसी प्रकार अनादि परमात्मदेव (चेतन-तत्त्व) क्षेत्रभेदसे अनेक रूपमें दिखायी दे रहा है ॥ २ ॥

सांख्यका उदाहरण

जिस प्रकार चुम्बककी संनिधिसे लोहेमें क्रिया होती है इसी प्रकार चेतनतत्त्वकी सनिधिसे समष्टि तथा व्यष्टि चित्तोंमें ज्ञान-नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रिया हो रही है । यथा—

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्तते ।
सत्तामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः ॥
अत आत्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम् ।
निरिच्छत्वादकर्त्ताऽसौ कर्त्ता संनिधिमात्रतः ॥

(साख्य प्रवचनभाष्य १ । ९७)

अर्थ—जैसे बिना इच्छावाले चुम्बकके स्थित रहनेमात्रमें लोहा (आप-से-आप) गतिशील होता है, वैसे सत्तामात्र देव (चेतन-तत्त्व) से जगत्की उत्पत्ति आदि होती है । इस कारण परमात्मा (चेतन-तत्त्व) में कर्तृत्व और अकर्तृत्व भी अच्छे प्रकार सिद्ध है । वह निरिच्छ होनेसे अकर्त्ता और सामीप्यमात्रसे कर्ता है ।

उपनिषदोंका उदाहरण

जिस प्रकार वायु सारे भुवनोंमें व्यापक हो रहा है, वैसे ही चेतन-तत्त्व समष्टि तथा व्यष्टि चित्तोंमें व्याप्त हो रहा है । यथा—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ (कठोप० २ । २ । १०)

जैसे एक ही अग्नि सारे भुवनोंमे प्रविष्ट होकर प्रतिरूप हो रहा है इसी प्रकार एक ही आत्मा (चेतन-तत्त्व) जो सब भूतोंके भीतर है—रूप-रूपमें प्रतिरूप हो रहा है और बाहर भी है । जैसे एक ही वायु सारे भुवनोंमे प्रविष्ट होकर रूप-रूपमे प्रतिरूप हो रहा है इसी प्रकार एक ही आत्मा जो सब भूतोंके अंदर है । रूप-रूपमें प्रतिरूप हो रहा है और बाहर भी है ।

महत्तत्त्वके ज्ञानस्वरूप चेतन-तत्त्वसे प्रकाशित होनेको गीतामे अति सुन्दर शब्दोंमें वर्णन किया गया है । यथा—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ (अ० ९ श्लो० १०)
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ (अ० १४ श्लो० ३-४)

हे अर्जुन ! मेरा आश्रय करके प्रकृति चराचरसहित सब जगत्को रचती है । इसी कारण सारा जगत् परिवर्तित हो रहा है । हे अर्जुन ! मेरी योनि (गर्भ रखनेका स्थान) महत्तत्त्व है । उसीमें मैं गर्भ रखता हूँ (अर्थात् अपने ज्ञानका प्रकाश डालता हूँ) और उसी (जड-चेतनके सयोग) से सब भूतोकी उत्पत्ति होती है । हे अर्जुन ! सब योनियोमे जो शरीर उत्पन्न होते हैं उन सबकी योनि महत्तत्त्व है और उनमें बीजको डालनेवाला मै (चेतन-तत्त्व) पिता हूँ ।

पुरुषसे प्रतिबिम्बित समष्टि चित्त, समष्टि अस्मिता और व्यष्टि चित्त, व्यष्टि अस्मिता कहलाते हैं । पुरुष निष्क्रिय होते हुए भी अपने चित्तका द्रष्टा है अर्थात् चित्तमे उसके ज्ञानके प्रकाशमे जो कुछ भी हो रहा है वह उसे स्वय ज्ञात रहता है । व्यष्टि चित्तोके सम्बन्धसे चेतन-तत्त्वका नाम जीव है । जो संख्यामें अनन्त हैं और अल्पज्ञ है । समष्टि चित्तके सम्बन्धसे चेतन-तत्त्वका नाम ईश्वर, अपरब्रह्म, सगुण ब्रह्म और शबल ब्रह्म है जो एक, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है । अपने शुद्धस्वरूपसे चेतन-तत्त्वका नाम परमात्मा, निर्गुण ब्रह्म, परब्रह्म और शुद्धब्रह्म है । पुरुष शब्दका प्रयोग जीव, ईश्वर और परमात्मा तीनों अर्थोमें होता है । किस प्रकरणमें पुरुष शब्दका प्रयोग किया गया है इसका ठीक-ठीक विवेक न रहनेके कारण बहुधा विद्वान् साख्य और योगके वास्तविक सिद्धान्तको समझनेमे धोखा खाते हैं ।

(२) महत्तत्त्वका विषम परिणाम अहकार—पुरुष (चेतन-तत्त्व) से प्रतिबिम्बित महत्तत्त्व ही सत्त्वमें रज और तमकी अधिकतासे विकृत होकर अहंकार रूपसे व्यक्त भावमें बहिर्मुख हो रहा है । यह अहंकार ही अहभावसे एकत्व, बहुत्व, व्यष्टि, समष्टि रूप सर्व प्रकारकी भिन्नता उत्पन्न करनेवाला है । विभाजक अहकारहीसे ग्राह्य और ग्रहण रूप दो प्रकारके विषम परिणाम हो रहे हैं ।

(३) अहकारका विषम परिणाम ग्राह्यरूप पञ्च-तन्मात्राएँ—विभाजक अहकार ही सत्त्वमें रज और तमकी अधिकतासे विकृत होकर परस्पर भेदवाली ग्राह्यरूप शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तन्मात्राओके रूपमें व्यक्तभावसे बहिर्मुख हो रहा है ।

(४) अहकारका विषम परिणाम ग्रहण रूप एकादश इन्द्रिये—वही अहकार सत्त्वमें रज और तमकी कुछ विशेषताके साथ अधिकतासे विकृत होकर परस्पर भेदवाली शक्तिमात्र पॉच ज्ञानेन्द्रियों, पॉच कर्मेन्द्रियो और ग्यारहवॉ इनके नियन्ता मन रूपमें व्यक्त होकर बहिर्मुख हो रहा है ।

(५) तन्मात्राकोंके विषम परिणाम ग्राह्य रूप पॉच स्थूल भूत—अहंकारसे व्याप्य पाँचों तन्मात्राएँ ही सत्त्वमे रज और तमकी अधिकतासे विकृत होकर परस्पर भेदवाले आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी रूप पाँचों स्थूल भूतोमें व्यक्तभावसे बहिर्मुख हो रही हैं ।

इस प्रकार वहिर्मुखता (अवरोहण) में महत्तत्त्वकी अपेक्षा अहकारमें, अहकारकी अपेक्षा पाँचों तन्मात्राओ और ग्यारह इन्द्रियोंमें और तन्मात्राओंकी अपेक्षा पाँचों स्थूल भूतोंमें क्रमशः रज और तमकी मात्रा वढ़ती जाती है और सत्त्वकी मात्रा कम होती जाती है। यहाँतक कि स्थूल जगत् और स्थूल शरीरमें रज और तमका ही व्यवहार चल रहा है। सत्त्व केवल प्रकाश मात्र ही रह रहा है। महत्तत्त्वमे प्रतिविम्बित चेतन-तत्त्व भी उपरोक्त राजसी और तामसी आवरणोमें आच्छादित होकर स्थूल शरीर और भौतिक जगत्में केवल झलक मात्र ही दिखायी दे रहा है।

ऊपरके विवरणसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पुरुष अर्थात् चेतन-तत्त्वके शुद्ध स्वरूपमें तथा जड अर्थात् गुणोके साम्य परिणाममें न कोई कार्य हो रहा है और न हो सकता है। जड-तत्त्व क्योकि त्रिगुणात्मक है। इसलिये चेतन-तत्त्वकी संनिधिमात्रसे होनेवाले विषय परिणाममें ग्राह्य और ग्रहण रूपमें तीनों गुणोंकी न्यूनाधिकताके कारण सारे भेदभाव और कार्य तथा बन्ध और मोक्ष भी हो रहा है। कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल जगत्के सम्बन्धसे चेतन-तत्त्व ईश्वर और कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरके सम्बन्धसे चेतन-तत्त्व जीव कहलाता है। इसलिये सारा कार्य जीव, ईश्वर और प्रकृति—इन तीनो तत्त्वोंमे हो रहा है और हो सकता है। ईश्वरको समष्टिरूपमें और जीवको व्यष्टिरूपमे जड और चेतनका सम्मिश्रण समझना चाहिये। कारण जगत् अर्थात् समष्टि विशुद्ध सत्त्वमय चित्त एक है। इसलिये ईश्वर एक है। चूँकि इसमें जीवोके प्रति कल्याण करनेका सकल्प, वेदोंका ज्ञान, सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमत्ता आदि सारी शक्तियाँ निरतिशयताको प्राप्त किये हुए हैं इसलिये ईश्वर इन लक्षणोसे युक्त है। सत्त्व-चित्त अर्थात् कारण शरीर संख्यामें अनन्त हैं इसलिये जीव सख्यामें अनन्त हैं। ये विशुद्ध सत्त्वमय चित्तकी अपेक्षा परिच्छिन्न, अल्पज्ञ और अल्प शक्तिवाले हैं इसलिये जीव भी इन लक्षणोसे युक्त है। ये सत्त्व चित्त चूँकि सत्त्वकी विशुद्धताको छोडे हुए हैं इसलिये इनमें लेश मात्र तम है जिसमे अविद्या वर्तमान है। अविद्यासे आत्मा और चित्तमें अभिन्नताकी प्रतीति करानेवाला अस्मिता क्लेश उत्पन्न हो रहा है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता। (यो० द० सा० पाद सूत्र ६)

दृक्-शक्ति आत्मा और दर्शन-शक्ति चित्तका एक स्वरूप-जैसा भान होना अस्मिता क्लेश है।

अस्मिता क्लेशसे राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश, उनसे सकाम कर्म, सकाम कर्मसे ज-म, आयु और भोग—उनमे सुख और दुःख होते हैं। इस प्रकार वन्धकी शृङ्खला वढ़ती जाती है।

द्रष्टृदृश्योः संयोगो हेयहेतुः। (यो० द० सा० पाद सूत्र १७)

अर्थ—द्रष्टा और दृश्यका सयोग "हेयहेतु" (दुःखका कारण) है।

तस्य हेतुरविद्या। (यो० द० सा० पाद सूत्र २४)

अर्थ—इस सयोगका कारण अविद्या है।

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्। (यो० द० सा० पाद सूत्र २५)

उसके (अविद्याके) अभावसे संयोगका अभाव 'हान' है। वह चिति शक्तिका कैवल्य है।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः (यो० द० सा० पाद सूत्र २६)

अविप्लव विवेक-ख्याति हानका उपाय है ।

इस विवेक-ख्यातिकी अवस्थामें सत्त्व चित्तमें सत्त्वकी विशुद्धता इतनी बढ जाती है कि उसके लेशमात्र तममें जो अविद्या वर्तमान थी वह अपने अस्मिता क्लेश आदि परिवारसहित दग्धबीज भावको प्राप्त होने लगती है और तम उस केवल सात्विक वृत्तिको रोकनेका काम करता रहता है । उस विवेकख्यातिमें जो आत्मसाक्षात्कार होता है उससे सत्त्व चित्तकी विशुद्धता इतनी बढ़ जाती है कि उस वृत्तिको स्थिर रखनेवाले तमको भी दबा दे । तब उस अन्तिम सात्विक वृत्तिके भी निरुद्ध हो जानेपर आत्माकी असम्प्रज्ञात समाधिरूप परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति हो जाती है । यही वास्तवमें प्राकृतिक मोक्षका नमूना है ।

किन्तु विवेक-ख्यातिकी प्राप्तिका उपाय अष्टाङ्ग योग बतलाया है । यथा—

योगाङ्गानुष्ठानाद् शुद्धिक्षयेज्ञानदीप्तिरविवेकख्यातेः । (यो० द० सा० पाद सूत्र २८)

योगके अङ्गके अनुष्ठानसे अशुद्धिके नाश होनेपर ज्ञानका प्रकाश विवेक-ख्याति पर्यन्त हो जाता है ।

योगके आठ अङ्ग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि बतलाये गये हैं । इनमें सबसे अन्तिम अङ्ग (सम्प्रज्ञात) समाधि है । इस सम्प्रज्ञात समाधिकी चार भूमियाँ, वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत है ।

ऊपर हमने अवरोह क्रम बतला दिया है । इससे उलटे आरोह क्रम (Ascent) में जितनी अन्तर्मुखता बढती जायगी, उतना ही रज और तमका विक्षेप तथा मल हटकर सत्त्वका प्रकाश बढ़ता जायेगा । और इस सत्त्वके प्रकाशमें चेतन (आत्म-स्पर्श) की अधिक स्पष्टतासे प्रतीति बढ़ती जायेगी । यही क्रम बन्धको हटाने और मोक्षकी प्राप्तिका है ।

(१) इस आरोह क्रममें सबसे पहली अवस्था वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है जिसमें रज और तमके दबनेपर सत्त्वके प्रकाशमे स्थूल भूतों और उनके व्यवहारके वास्तविक स्वरूपका साक्षात्कार होता है । इस भूमिका सम्बन्ध चूँकि पाँचो स्थूल भूतों और उनसे बने हुए स्थूल पदार्थ, स्थूल शरीर और स्थूल जगत् (भूः भुवः अर्थात् पृथ्वी और नक्षत्र लोक) से है । इसलिये इस भूमितक वैकारिक बन्ध बतलाया गया है ।

(२) दूसरी अवस्था विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है । इसमे रज और तमके अधिक दबनेपर सत्त्वके अधिक प्रकाशमें पाँचों स्थूल भूतोंके कारण पाँचो सूक्ष्म भूतोका उनकी सूक्ष्मताके तारतम्यसे पाँचो तन्मात्राओतकका साक्षात्कार होता है और उसका सम्बन्ध पाँचो सूक्ष्म भूत, सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म जगत् (चन्द्रलोक, सोमलोक अथवा स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम् जो एक प्रकारसे सूक्ष्मताकी अवस्थाएँ हैं) से है और इनमें आसक्त योगी इस पुनरावर्त्तिनी मुक्तिको प्राप्त होता है । इसलिये इस वैकारिक बन्ध अर्थात् जन्म, मृत्यु, जरा और रोगसे तो मोक्ष हो जाता है किन्तु इसमें दाक्षिणिक बन्ध अर्थात् सूक्ष्म शरीर और उससे सम्बन्ध रखनेवाले राग-द्वेष आदि मानसिक विकार बने रहते हैं इसलिये इसे दाक्षिणिक बन्ध बतलाया गया है ।

न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य । (साख्य ५ । ७६)

विशेष गतिका प्राप्त हो जाना वास्तविक मुक्ति नहीं है; क्योंकि आत्मा अपने शुद्ध ज्ञान-स्वरूपसे निष्क्रिय है ।

संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलाभोऽपि । (साख्य ५ । ८४)

संयोग वियोगान्त है । इसलिये किसी देश विशेष (चन्द्रलोकके अन्तर्गत किसी सूक्ष्म लोक) का लाभ भी वास्तविक मुक्ति नहीं है ।

(३) तीसरी अवस्था आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है । जिसमें तन्मात्राओंके रज और तम दब जानेपर, सत्त्वके प्रकाश बढनेपर उनके कारण अहंकारका "अहम् अस्मि" वृत्तिसे साक्षात्कार होता है । इस सत्त्वके आनन्द और प्रकाशमें चेतन-तत्त्वकी इतनी स्पष्टतासे प्रतीति होती है कि कुछ योगी इसी अवस्थाको आत्मस्थिति समझकर इसीमें आसक्त हो जाते हैं और शरीर त्यागनेपर इस अवस्थामें दिव्य लोकोंसे परे होकर उनके कालकी अवधिसे अधिक समयतक कैवल्य-जैसे आनन्दको भोगते रहते हैं । ये विदेह कहलाते है ।

(४) चौथी अवस्था अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधिकी है । इसमें अहकारके रज और तमके दब जानेपर सत्त्वके प्रकाशमें उसके कारण चित्तका साक्षात्कार 'अस्मि' वृत्तसे होता है । इस सत्त्वके प्रकाशमें चित्तमें प्रतिबिम्बित चैतन्य (आत्म-स्पर्श) की इतनी स्पष्टतासे प्रतीति होती है कि कई योगी इसी अवस्थाको आत्म-स्थिति समझकर इसीमें आसक्त हो जाते हैं और शरीर त्यागनेपर इस अवस्थामें दिव्य लोकोसे भी अधिक अवधितक कैवल्य-जैसे आनन्दको भोगते रहते हैं । ये प्रकृतिलय कहलाते हैं ।

उपर्युक्त दोनों अवस्थाओमें दाक्षिणिक बन्ध अर्थात् सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म जगत्के बन्धसे तो मोक्ष हो जाता है किन्तु इसमें भी प्राकृतिक बन्ध बना रहता है । विदेहोंको अहंकारका और प्रकृतिलयोंको अस्मिताका । यथा—

नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात् । (साख्य ५ । ७४)

आनन्दका प्रकट हो जाना मुक्ति नहीं है, (क्योंकि वह आत्माका) धर्म नहीं है (किन्तु अन्त.करणका धर्म है) ।

न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् । (साख्य १ । ५४)

कारण (अस्मिता प्रकृति) में लय होनेसे पुरुषको कृतकृत्यता (स्वरूप-अवस्थिति) नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें डुबकी लगानेवालेके समान (पानीसे ऊपर) आत्म स्थिति प्राप्त करनेके लिये उठना (मनुष्य-लोकमें आना) होता है ।

असम्प्रज्ञात समाधि और कैवल्यकी अवस्थामें केवल इतना भेद है कि असम्प्रज्ञात समाधिमें सब वृत्तियोंका निरोध होता है । चित्तमे निरोधके संस्कारसे अन्य सब व्युत्थानके संस्कार दबे रहते हैं और वह आत्माकार होता है और आत्माकी शुद्ध परमात्म-स्वरूपमें अवस्थिति

होती है किन्तु कैवल्यमें चित्तके बनानेवाले गुण अपने कारणमें लीन हो जाते हैं। यथा—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।

(योग कैवल्य पाद सूत्र ३४)

पुरुषार्थसे शून्य हुए चित्तके बनानेवाले गुणोंका अपने कारणमें लीन हो जाना कैवल्य है अथवा चितिशक्तिका अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाना कैवल्य है।

तीन प्रमाण

त्रिविधं प्रमाणम् ॥ २१ ॥

प्रमाण तीन प्रकारका है (प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम अर्थात् आप्तवचन)।

व्याख्या—प्रत्यक्ष प्रमाण—जो किसी इन्द्रियसे जाना जाय; अनुमान—जो किसी चिह्नसे समझा जाय और आप्त-वचन—किसी आप्तका उपदेश—आप्त उसे कहते हैं जिसने पदार्थको साक्षात् किया हो और सत्यवक्ता हो। इसकी विस्तारपूर्वक व्याख्या यो० समा० पा० सू० ७ में की गयी है। विशेष वहाँ देखें।

संगति—तत्त्वज्ञानका फल कहते हुए अगले सूत्रमें ग्रन्थको समाप्त करते हैं।

एतत् सम्यग् ज्ञात्वा कृतकृत्यः स्यात्।
न पुनस्त्रिविधेन दुःखेनाभिभूयते ॥ २२ ॥

यह ठीक-ठीक जानकर पुरुष कृतकृत्य हो जाता है और फिर तीन प्रकारके दुःखोंसे नहीं दबाया जाता।

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ॥ ६७ ॥
प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ ६८ ॥

यथार्थ ज्ञान (विवेकज्ञान) की प्राप्तिसे जब कि धर्मादि अकारण बन गये तो पुरुष संस्कारके वशसे चक्रके घूमनेके सदृश शरीरको धारण किये हुए ठहरा रहता है। अर्थात् जिस प्रकार कुम्हारके चक्रको चलाना बंद करनेपर भी कुछ देरतक चाक पहलेके वेगसे चलता रहता है। इसी प्रकार यथार्थ ज्ञान (विवेकज्ञान) की प्राप्तिपर भी पहले संस्कारोंके अधीन कुछ समयतक शरीर चलता रहता है। यह अवस्था जीवन्मुक्ति कहलाती है ॥ ६७ ॥ शरीरके छूट जानेपर और चरितार्थ होनेसे प्रधानकी निवृत्ति होनेपर ऐकान्तिक (अवश्य होनेवाले) और आत्यन्तिक (सदा रहनेवाले) कैवल्यको प्राप्त होता है अर्थात् परमात्मस्वरूपमें पूर्णतया अवस्थित हो जाता है ॥ ६८ ॥

पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसेत्।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥ (गौडपादाचार्य)

जिसको (साख्यमे बतलाये हुए) २५ तत्त्वोंका (सम्यक्) ज्ञान हो गया है, वह चाहे किसी आश्रममें स्थित हो, चाहे गृहस्थमें ही हो, चाहे सन्यासमें—वह अवश्य मुक्त हो जाता है। इसमें कोई भी सशय नहीं है।

दर्शनोंके चार प्रतिपाद्य विषयोंपर सांख्यके मुख्य सिद्धान्त

हेय – त्याज्य जो दु.ख है, वह तीन प्रकारकी चोट पहुँचाता रहता है—१ आध्यात्मिक अर्थात् अपने अदरसे शारीरिक चोट, जैसे ज्वर आदि, या मानसिक चोट, जैसे राग-द्वेष आदिकी वेदना। २ आधिभौतिक अर्थात् किसी अन्य प्राणीद्वारा पीड़ा पहुँचना और ३ आधिदैविक अर्थात् किसी दिव्य शक्ति जैसे विजली आदिसे पीड़ा पहुँचना।

इनके दूर करनेके साधन यद्यपि वर्तमान हैं और श्रौतकर्मोंसे इनका प्रतीकार हो जाता है, किंतु इनका नितान्त अभाव नहीं होता; क्योंकि इनका बीज बना ही रहता है।

हेय-हेतु – इस दु:खकी जड अज्ञान, अविद्या, अविवेक है। जितना अज्ञान दूर होता जाता है, उतना ही दु:खका अभाव होता जाता है। इसलिये—

हान—दु:खका नितान्त अभाव अज्ञान अर्थात अविद्याका सर्वथा नाश हो जाना है। उपनिषदोंका भी यही सिद्धान्त है, यथा—अविद्याया अपाय एव हि परप्राप्तिर्नार्थान्तरम्॥ अर्थात् अविद्याकी निवृत्ति ही परमात्माकी प्राप्ति है, इससे भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं। (मुण्डक १। १। ५ शाकरभाष्य)

हानोपाय—सारे तत्त्वोंका विवेकपूर्ण यथार्थ ज्ञान है। जिस-जिस तत्त्वका यथार्थ ज्ञान होता जायगा, उस-उस तत्त्वके दु:खकी निवृत्ति होती जायगी। सारे तत्त्वोंका विवेकपूर्ण ज्ञान होनेसे सारे दु:खोकी निवृत्ति हो जाती है। (तत्त्वोंका यथार्थ ज्ञान समाधिद्वारा ही अपनी-अपनी भूमियोंमें हो सकता है न कि व्युत्थान दशामें।)

मुख्य तत्त्व

मुख्य तत्त्व दो हैं—जड और चेतन

जड-तत्त्वके चौवीस मुख्य विभाग हो सकते हैं; और चेतनतत्त्व पुरुष जडतत्त्वके सम्बन्धसे जीव तथा ईश्वर और अपने शुद्ध स्वरूपसे परमात्मतत्त्व कहलाता है। परमात्मतत्त्व अन्तिम ध्येय अथवा 'हान' है। सारे तत्त्वोंके विवेकपूर्ण यथार्थ ज्ञानके पश्चात् वहीं पहुँचना है। इसलिये साख्यने उसकी परीक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं समझी। अन्य पचीस तत्त्वोंको इस प्रकार बतलाया है—

अष्टौ प्रकृतयः, षोडश विकाराः, पुरुषः।

आठ प्रकृतियाँ, सोलह विकार और पुरुष। ये इस प्रकार हैं—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ (सा० का० ३)

(आठ प्रकृतियोंमेंसे) मूल प्रकृति विकृति नहीं है अर्थात् कारण-द्रव्य स्वय किसीका विकार—विकृत परिणाम—कार्य नहीं है। शेष सात महत्तत्त्व आदि (महत्तत्त्व, अहंकार और पाँच तन्मात्राएँ)

प्रकृति-विकृत दोनों हैं । अर्थात् महत्तत्त्व मूल प्रकृतिकी विकृति और अहंकारकी प्रकृति, अहंकार महत्तत्त्वकी विकृति और पाँच तन्मात्राओं तथा ग्यारह इन्द्रियोंकी प्रकृति है और पाँच तन्मात्राएँ अहंकारकी विकृति और पाँच स्थूल भूतोंकी प्रकृति हैं ।

अन्य सोलह विकृतियाँ (पाँच स्थूल-भूत और ग्यारह इन्द्रियाँ) केवल विकृति हैं, किसीकी प्रकृति नहीं हैं । यद्यपि सारी स्थूल वस्तुएँ इन्हीं पाँचों स्थूल-भूतोंके कार्य हैं, किंतु वे अपने विकृत परिणामसे आगे कोई नया तत्त्व कारणरूप होकर नहीं बनाते ।

पुरुष न प्रकृति है न विकृति, अर्थात् न वह किसीका स्वयं विकृत परिणाम है, न उससे कोई विकृत परिणाम उत्पन्न होता है ।

सृष्टि-क्रम

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥ (सा० का० २२)

मूल प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंकार, अहंकारसे सोलहका समूह अर्थात् पाँच तन्मात्राएँ और ग्यारह इन्द्रियाँ, इन सोलहमेंसे जो पाँच तन्मात्राएँ हैं, उनसे पाँच स्थूल-भूत उत्पन्न होते हैं ।

न्याय-वैशेषिक तथा सांख्य और योगके सिद्धान्तोंमें तुलना

इस प्रकार जहाँ न्याय और वैशेषिकने जड द्रव्योंमें पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुके परमाणु तथा मनको अणु (अति सूक्ष्म) और आकाश, दिशा तथा कालको विभु—व्यापकरूपसे निरवयव और नित्य माना है; सांख्य और योगने उनमेंसे काल और दिशाको जड तत्त्वमें सम्मिलित नहीं किया है; क्योंकि ये वास्तविक तत्त्व नहीं हैं—न प्रकृति हैं, न विकृति और न पुरुषके सदृश प्रकृति और विकृति दोनोंसे भिन्न कोई चेतन पदार्थ ही । सांख्य और योगके मतमें ये दोनों एक क्रमसे दूसरे क्रममें और एक स्थानसे दूसरे स्थानमें परत्व, अपरत्व (आगे-पीछे, निकटता और दूरी) बतलानेके लिये केवल बुद्धिकी निर्माण की हुई वस्तुएँ हैं; स्वयं अपना कोई अस्तित्व नहीं रखते ।

मनके स्थानपर अहंकार और पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायुके परमाणुओंके स्थानपर तन्मात्राएँ और उनको अवकाश देनेवाले आकाशके स्थानपर महत्तत्त्व हो सकता है । ऐसी अवस्थामें मूल प्रकृतिको माननेकी आवश्यकता नहीं रहती; क्योंकि तन्मात्राएँ अणु होनेसे और महत्तत्त्व विभु होनेसे अन्य किसी समवायी अर्थात् उपादान कारणकी अपेक्षा नहीं रखते; किंतु जहाँसे न्याय-वैशेषिकने स्थूल सृष्टिका क्रम दिखलाया है, वहींसे सांख्य मूल जड तत्त्वकी खोजमें सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम सृष्टिके क्रमकी ओर गया है । जिस जड-तत्त्वके अन्तर्गत विभु और अणु दोनों प्रकारके जड पदार्थ हैं, वह सबसे प्रथम जड-तत्त्व तीन गुण है, सत्त्व, रजस् और तमस् । इसलिये कपिल मुनि बतलाते हैं—

त्रैगुण्यम् ॥ ५ ॥

आठों प्रकृतियाँ और सोलह विकृतियाँ सत्त्व-रजस्-तमस् गुणरूप ही हैं । न्याय और वैशेषिकमें जिस प्रकार द्रव्योंके चौबीस गुण (धर्म) बतलाये हैं, उस प्रकार ये तीनों गुण किसी द्रव्यके गुण

(धर्म) नहीं हैं, किंतु स्वय द्रव्य (धर्मी) है; जिनके संयोग-वियोगसे सारी सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है। इनको गुण इसलिये कहा गया है कि चेतन और जड-तत्त्वमें पुरुष चेतन-तत्त्व तो मुख्य है और ये जड-तत्त्व गौण हैं; अथवा जिस प्रकार तीन लपेटकी ऐठसे रस्सी वटी हुई होती है, उसी प्रकार जड-तत्त्व तीन गुण अर्थात् तीन लपेटवाला है, जिससे सारी सृष्टि वनी हुई है।

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः॥ (सा० का० १२)

गुण सुख-दुःख और मोह-स्वरूप हैं; प्रकाश, प्रवृत्ति और रोकनेकी सामर्थ्यवाले हैं; एक दूसरेको दवाने, सहारा देने, प्रकट करने और साथ रहनेके कर्मवाले हैं।

गुणोंका स्वरूप

- सत्त्वगुण सुख-स्वरूप है, रजोगुण दुःख-स्वरूप है और तमोगुण मोह-स्वरूप है।

गुणोंकी सामर्थ्य

- सत्त्व प्रकाश करनेमें समर्थ है, रजस् प्रवृत्त करनेमें और तमस् रोकनेमें।

गुणोंका काम

गुण एक दूसरेको दवाते हैं। जव सत्त्वगुण प्रधान होता है तव रजस् और तमस्को दवाकर सुख-प्रकाशादि अपने धर्मोंसे शान्त वृत्ति उत्पन्न करता है। जव रजस् प्रधान होता है तव सत्त्व और तमस्को दवाकर दुःख-प्रवृत्ति आदिसे घोर वृत्तिको उत्पन्न करता है। इसी प्रकार तमस् प्रधान होकर सत्त्व और रजस्को दवाकर आलस्य—सुस्ती आदिसे मोहवृत्तिको उत्पन्न करता है।

ये तीनों गुण एक दूसरेके आश्रय हैं। सत्त्व रजस् और तमस्के सहारेपर प्रकाशको प्रकट करता है और प्रकाशद्वारा रजस्-तमस्का उपकार भी करता है। इसी प्रकार रजस्-तमस् भी अन्य दोका सहारा लेते है और उपकार भी करते हैं।

तीनों गुण एक-दूसरेको प्रकट करते हैं। स्थितवस्तु क्रियावाली और क्रियावाली प्रकाशवाली हो जाती है। इस प्रकार तमस् रजस्को और रजस् तमस्को प्रकट करता है।

एक गुण अन्य दोके साथ रहता है; कभी अलग नहीं होता; सव एक-दूसरेके जोड़े हैं। सव सर्वत्र हैं, विभु हैं। रजस्का जोडा सत्त्व है, सत्त्वका रजस्; इसी प्रकार तमस्के सत्त्व-रजस् जोड़े हैं; और दोनो सत्त्व और रजस्का तमस् जोडा (साथी) है। इनका स्वरूपसे कोई पहला सयोग उपलब्ध नहीं होता है और न कभी वियोग उपलब्ध होता है।

सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥ (सा० का० १३)

सत्त्व हल्का और प्रकाशक माना गया है; रजस् उत्तेजक और चल; और तमस् भारी और रोकनेवाला है। दीपकके सदृश (एक) उद्देश्यसे इनका काम है।

गुणोंके धर्म

सत्त्व हल्का और प्रकाशक है, इसलिये सत्त्व-प्रधान पदार्थ हल्के होते हैं। जैसे हल्की होनेके कारण आग ऊपरको जला करती है, वायु तिरछी चलती है, इन्द्रियाँ शीघ्रतासे काम करती हैं। सत्त्वकी प्रधानतासे अग्निमें प्रकाश है, इसी प्रकार इन्द्रिय और मन प्रकाशशील हैं। सत्त्व और तमस् स्वयं अक्रिय हैं, इसलिये अपना-अपना काम करनेमें असमर्थ है। रजस् क्रियावाला होनेसे उनको उत्तेजना देता है और अपने-अपने काममें प्रवृत्त कराता है। जब शरीरमें रजस् प्रधान होता है, तब उत्तेजना और चञ्चलता बढ़ जाती है। रजस् चलस्वभाव होनेसे हल्के सत्त्वको प्रवृत्त करता है, किंतु तमस् भारी होनेसे रजस्-को रोकता है। जब शरीरमें तमस् प्रधान होता है, तब शरीर भारी होता है और काममें प्रवृत्ति नहीं होती।

गुणोंके परस्पर विरोधी होनेपर भी सबका एक ही उद्देश्य है। सत्त्व हल्का है, तमस् भारी है। तमस् स्थिर करता है, रजस् उत्तेजित करता है। इस प्रकार तीनो गुण परस्पर विरोधी हैं, किंतु दीपकके सदृश इनकी प्रवृत्ति एक ही प्रयोजनसे है। जिस प्रकार बत्ती और तेल अग्निसे विरोधी होते हुए भी अग्निके साथ मिले हुए प्रकाशका प्रयोजन सिद्ध करते हैं, इसी प्रकार सत्त्व, रजस् और तमस् परस्पर विरोधी होते हुए भी एक-दूसरेके अनुकूल कार्य करते हैं।

प्रत्येक पदार्थमें तीनो गुण पाये जाते हैं। हरएक पदार्थ सुख, दुःख और मोहका उत्पादक है। इससे सिद्ध होता है कि उसमें सुख, दुःख और मोहको उत्पन्न करनेवाला तीन प्रकारका द्रव्य विद्यमान है। वही सत्त्व, रजस् और तमस् है। हल्कापन, प्रीति, तितिक्षा, सतोष, प्रकाश आदि सुखके साथ उदय होते हैं; इसलिये सत्त्वगुणके परिणाम हैं। इसी प्रकार दुःखके साथ चञ्चलता, उत्तेजकता आदि, और मोहके साथ निद्रा, भारीपन आदि रहते हैं। इसलिये ये क्रमशः रजस् और तमस्के परिणाम हैं।

गुणोंका परिणाम

चेतन-तत्त्व कूटस्थ नित्य है और जडतत्त्व 'गुण' परिणामी नित्य है; एक क्षण भी बिना परिणाम-के नहीं रहता। परिणाम सांख्य और योगका पारिभाषिक शब्द है, जो परिवर्तन अर्थात् तबदीलीके अर्थमें प्रयुक्त होता है। परिणामका लक्षण एक धर्मको छोड़कर दूसरा धर्म धारण करना है। यह परिणाम दो प्रकारका होता है। एक सरूप अर्थात् सदृश परिणाम; दूसरा विरूप अर्थात् विसदृश परिणाम। जैसे जब दूध दूधहीकी अवस्थामें बना रहता है तब भी उसके परमाणु स्थिर नहीं रहते, चलते ही रहते है; इस अवस्थामें दूधमें दूध ही बने रहनेका परिणाम हो रहा है। यह सदृश अर्थात् सरूप परिणाम है। दूधमें जामन पड़नेके पश्चात् जब दही बननेका परिणाम होता है, अथवा एक निश्चित समयके पश्चात् जब दूधमें दूधके बिगड़ने अर्थात् खट्टा होनेका परिणाम होता है, तब वह विरूप अर्थात् विसदृश परिणाम है। विरूप अर्थात् विसदृश परिणामका तो प्रत्यक्ष होता है, किंतु उस प्रत्यक्षसे सरूप अर्थात् सदृश परिणाम अनुमानसे जाना जाता है। इसी प्रकार तीनों गुणोंका पृथक्-पृथक् अपने सरूपमें अर्थात् सत्त्वका सत्त्व-रूपसे, रजस्का रजस्रूपसे, तमस्का तमस्रूपसे प्रवृत्त होना, अर्थात् सत्त्वका सत्त्वमें, रजस्का रजस्में और तमस्का तमस्में जो परिणाम है वह सदृश परिणाम है। यह गुणोंकी साम्य अवस्था है। इसीको मूल

प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त कहते हैं—जो सारे जड-तत्त्वोंका मूल कारण है। जब तीनों इकट्ठे होकर एक दूसरेको दबाकर परिणाममें प्रवृत्त होते हैं तो वह विरूप परिणाम है। इसको गुणोका विषम परिणाम कहते हैं। महत्तत्त्वसे लेकर पाँचों स्थूल-भूतपर्यन्त तेईसों तत्त्व तीनो गुणोके विषम परिणाम ही हैं; जो सब प्रकृतिके कार्य हैं। उसकी अपेक्षा ये सब विकृति और व्यक्त हैं।

यद्यपि अपनी-अपनी विकृतियोंकी अपेक्षा महत्तत्त्व, अहकार एव पाँचो तन्मात्राएँ अव्यक्त और प्रकृतियाँ हैं, किंतु मूल प्रकृतिकी अपेक्षासे सब व्यक्त और विकृतियाँ हैं। यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि जिस-जिस विकृतिका प्रत्यक्ष होता जाता है उस-उस प्रत्यक्षसे उसकी प्रकृतिका अनुमान किया जाता है। समाधिद्वारा सबसे अन्तमें गुणोंका सबसे प्रथम विषम परिणाम महत्तत्त्वका विवेक-ख्याति-द्वारा साक्षात्कार होता है। उस साक्षात्कारसे गुणोंकी सबसे प्रथम साम्य परिणामवाली अवस्थाका अनुमानसे ज्ञान होता है। गुणोंका साम्य तथा विषम परिणाम, दोनों अनादि हैं। साख्यका यह सिद्धान्त परिणामवाद कहलाता है, अर्थात् यह सारी सृष्टि गुणोका ही परिणाम है।

न्याय और वैशेषिकसे विपरीत सांख्य और योगमें सुख-दु ख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान, प्रयत्न, बुद्धि [चित्त अर्थात् अन्तःकरण] के धर्म माने गये हैं और यह बुद्धि पुरुषसे पृथक् एक जड-तत्त्व है। पुरुष केवल चेतनस्वरूप है। बुद्धि (चित्त अथवा अन्त.करण) उसका गुण नहीं है, किंतु उससे पृथक् उसका दृश्य अथवा 'स्व' है। वह उसका द्रष्टा अथवा स्वामी है, उसका पुरुषके साथ आसक्ति तथा अविवेकपूर्ण सयोग होनेके कारण उसके गुण पुरुषमें अविवेकसे आरोप कर लिये जाते हैं।

सृष्टि-उत्पत्ति

गुण सारी सृष्टिकी उत्पत्तिके समवायी अर्थात् उपादान कारण है।

गुणका विशेष परिणाम, जिससे तत्त्वमें पृथक्ता होती है, साधारण असमवायी कारण है।

चेतनस्वरूप पुरुष व्यष्टिरूपसे और पुरुष-विशेष समष्टिरूपसे अपनी सन्निधिसे चुम्बकके सदृश ज्ञान, व्यवस्था तथा नियमपूर्वक जड गुणोंके विषम परिणाममें निमित्त कारण हैं।

इस विषम परिणामका प्रयोजन पुरुषका भोग और अपवर्ग है; क्योकि यह पुरुषकी ही सन्निधिसे पुरुषके ही ज्ञानमें परार्थ अर्थात् पुरुषके ही अर्थ, ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक हो रहा है।

त्रिगुणात्मक जड-तत्त्व और पुरुष दोनो अनादि हैं, इसलिये इनका पुरुषके साथ सन्निधिमात्र सयोग, साम्य परिणाम, विषम परिणाम तथा पुरुषका भोग और अपवर्गका प्रयोजन भी अनादि हैं। अनादिका अभिप्राय कालकी सीमासे परे होना है और काल कोई वास्तविक वस्तु नहीं है, विषम परिणामके पीछे क्रमोंके परत्व और अपरत्व बतलानेके लिये केवल बुद्धिका निर्माण किया हुआ पदार्थ है।

पुरुषका बहुत्व

साख्यने जहाँ पुरुषको अनेक माना है वहाँ केवल व्यष्टि अस्मिताकी अपेक्षासे है। चेतन-तत्त्वसे प्रतिबिम्बित व्यष्टि चित्त (महत्तत्त्व) जिनमें अहंकार बीजरूपसे छिपा रहता है, उसकी संज्ञा व्यष्टि अस्मिता है। वास्तवमें अव्यक्त प्रधान प्रकृतिके सदृश पुरुष भी सख्यारहित है। जिस प्रकार बुद्धि (चित्त अर्थात् अन्त करण) के धर्म सुख-दु ख, प्रेतभाव, क्रिया आदि पुरुषमें आरोपित कर लिये गये हैं, इसी

प्रकार अस्मिताका बहुत्व पुरुषमें केवल आरोपमात्र है; क्योंकि बुद्धि (चित्त अर्थात् अन्त करण) चेतनसे प्रतिबिम्बित होकर ही चेतन-जैसी प्रतीत होती है। जैसे एक ही सूर्य अनेक जलाशयोंमे प्रतिबिम्बित होकर उन जलाशयोंके प्रतिबिम्बकी अपेक्षासे अनेक कहा जाता है, इसी प्रकार एक ही चेतन-तत्त्व अनेक चित्तरूपी जलाशयोंमें उनकी सख्याकी अपेक्षासे अनेक कहा जाता है। जब त्रिगुणात्मक, परिणामी, सक्रिय जड-तत्त्व अपने अव्यक्तरूपमें सख्यारहित है, तब गुणातीत, अपरिणामी, निष्क्रिय चेतन-तत्त्वके शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें जो अव्यक्तसे भी सूक्ष्मतर है, सख्याकी सम्भावना कैसे हो सकती है। पुरुषमें अनेकत्वका आरोप अस्मिता क्लेशकी अहंवृत्तिके साथ आरम्भ होता है और विवेक-ख्यातिद्वारा इस अहंवृत्तिके अभावसे निवृत्त हो जाता है; क्योंकि अहंकार ही अहम्-भावसे भिन्नताका सूचक है। भाव यह है कि स्वरूप-स्थिति अथवा कैवल्यकी अवस्थामें बुद्धि (चित्त अर्थात् अन्तःकरण) का संयोग न रहनेपर उसके धर्म, सुख-दुःख, क्रिया आदिके सदृश बहुत्व (संख्या) का भी अभाव हो जाता है।

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ (सा० का० १८)

जन्म, मरण और करणों (अन्तःकरण, इन्द्रियो) के अलग-अलग नियमोसे, एक साथ प्रवृत्त न होनेसे और तीनो गुणोके भेदसे पुरुषका अनेक होना सिद्ध है।

अर्थात् सब पुरुष न एक साथ जन्म लेते है, न एक साथ मरते हैं, उनका अलग-अलग जन्म-मरण होता है। इसी प्रकार करणोमें भी भेद है—कोई अन्धा है, कोई बहिरा है, कोई लूला है, सब एक-जैसे नहीं हैं, सबमें एक जैसी प्रवृत्ति भी नहीं है अर्थात् एक समयमें सब एक ही कर्म नहीं करते। जब एक सोता है, तब दूसरा जागता है, तीसरा चलता है, इत्यादि। सबके गुण भी एक-जैसे नही होते, कोई सत्त्वगुणवाला है, तो कोई रजोगुणी और कोई तमोगुणी।

किंतु यह अनेकत्व (संख्या) बद्ध पुरुषोंकी अपेक्षासे होता है, न कि मुक्त पुरुषोंकी अपेक्षासे, क्योंकि जन्म-मरण, इन्द्रिय-लोप और सत्त्वगुणी रजोगुणी और तमोगुणी, होना इत्यादि जो पुरुषके अनेकत्वके साधन हैं, अन्त.करणादिके धर्म हैं, न कि शुद्ध चेतन-तत्त्वके।

यथा—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥(कठ० २।२।१०)

जिस प्रकार एक ही वायु नाना भुवनोंमें प्रविष्ट होकर उनके प्रतिरूप (उनके रूपवाला) हो रहा है इसी प्रकार एक ही सब भूतोका अन्तरात्मा (चेतन-तत्त्व) नाना प्रकारके रूपोंमें प्रतिरूप (उनके रूप-जैसा) हो रहा है और उनसे बाहर भी है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ (गीता १३।२२)

पुरुष (चेतन-तत्त्व) इस देहमें स्थित हुआ भी पर अर्थात् त्रिगुणात्मक प्रकृतिसे सर्वथा अतीत ही है। (केवल) यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता (एवं) सबको धारण करनेवाला होनेसे भर्ता,

जीवरूपसे भोक्ता, (तथा) ब्रह्मादिकोंका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और अपने शुद्ध चेतन ज्ञानस्वरूपसे परमात्मा है—ऐसा कहा गया है ।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ (गीता १३ । २३)

इस प्रकार पुरुषको और गुणोंके सहित प्रकृतिको जो मनुष्य तत्त्वसे (समाधिद्वारा अन्तर्मुख होकर अर्थात् विवेक-ख्यातिद्वारा) जान लेता है, वह सब प्रकारसे बर्तता हुआ भी पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता है ।

अन्तःकरण अनेक हैं, इसलिये अन्तःकरणोंकी अपेक्षासे पुरुषमें भी अनेकता विकल्पसे मानी गयी है । पुरुष और अन्तःकरण आदिमें विवेक भेदज्ञान न होनेके कारण जैसे उनके अन्य सब धर्म पुरुषमें अज्ञानसे आरोपित होते हैं वैसे ही उनका धर्म अनेकत्व (सख्या) भी अज्ञानसे पुरुषमें आरोपित होता है।

विवेक-ज्ञानके पश्चात् स्वरूप-स्थितिकी अवस्थामें जहाँ चित्तके निरोध होनेके साथ उसके सारे धर्म—क्रिया आदिका अभाव हो जाता है, वैसे ही अनेकत्व (सख्या) का भी अभाव हो जाता है ।

पुरुष—बन्ध और मोक्ष

यह बन्ध और मोक्ष भी वास्तवमे प्रकृतिके कार्य चित्तमें ही होते हैं । पुरुष स्वय स्वरूपसे सदा असङ्ग है; वह न बद्ध होता है न मुक्त ।

जैसे—

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ (सा० का० ६२)

इसलिये साक्षात् न कोई बद्ध होता है, न कोई छूटता है, न कोई जन्मान्तरमे घूमता है । प्रकृति ही नाना (देव, मनुष्य, पशु आदि शरीरोमें) आश्रयवाली घूमती, बँधती और छूटती है ।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ (गीता ३ । २७–२८)

सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोद्वारा किये हुए हैं (तो भी) अहकारसे मोहित हुए अन्तःकरणवाला पुरुष 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मान लेता है । परतु हे महाबाहो ! गुणविभाग (५ स्थूल भूत, ५ तन्मात्राएँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ शब्दादि विषय, मन, अहकार, बुद्धि, चित्त) और कर्मविभाग (इनकी परस्परकी चेष्टाएँ) के तत्त्वको जाननेवाला ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण गुण गुणोंमें बर्त रहे हैं ऐसा जानकर आसक्त नहीं होता ।

अज्ञान जो बन्धका कारण और ज्ञान जो मोक्षका कारण है तथा धर्म-अधर्म जो ससारके कारण हैं—ये सब बुद्धिके धर्म हैं । इनका साक्षात् सम्बन्ध बुद्धिसे है, क्योंकि परिणाम बुद्धिमे होता है, न कि अपरिणामी पुरुषमें । इसलिये इनका फल बन्ध, मोक्ष और संसारका भी साक्षात् सम्बन्ध बुद्धिसे है । पुरुष सदा बन्ध, मोक्ष और संसारमें भी एकरस रहता है । बुद्धिमें भेद होता है । अज्ञानमें जो अवस्था

बुद्धिकी होती है, ज्ञानमें उससे भिन्न हो जाती है। पुरुष बुद्धिका द्रष्टा होनेसे बुद्धिके आकारसे अपनेको भिन्न न समझनेके कारण उन अवस्थाओंको अपनी अवस्थाएँ समझ लेता है; किंतु वास्तवमें वे अवस्थाएँ उसकी नहीं, बुद्धिकी हैं। इसलिये बन्ध, मोक्ष और संसारका सम्बन्ध बुद्धिसे है, जो प्रकृतिका रूपान्तर है। ऊपर बतलाये हुए प्रकारके अनुसार बुद्धिका पुरुषके साथ परम्परा सम्बन्ध है। इसलिये ये बुद्धिके धर्म पुरुषमें आरोपित कर लिये गये हैं। जैसे योद्धाओंकी जीत-हार राजाकी जीत-हार समझी जाती है।

प्रकृति जिस प्रकार अपनेको बाँधती और छुड़ाती है, कारिकाकार उसको निम्न प्रकारसे बतलाते हैं—

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण॥ (सां० का० ६३)

प्रकृति स्वयं अपने आपको सात रूपों (धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य) से बाँधती है और वही फिर पुरुषार्थके लिये (पुरुषका परम प्रयोजन मोक्ष सम्पादन करनेके लिये) एक रूप (ज्ञानरूप) से (अपने-आपको) छुड़ाती है।

सांख्य-दर्शनमें पुरुषका बहुत्व

सांख्य-दर्शनमें जहाँ इस विषयका वर्णन किया गया है, अब उसपर प्रकाश डालते हैं।

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम्। (सां० द० १। १४९)

जन्म आदि व्यवस्थासे पुरुष बहुत हैं—अर्थात् जन्म, मरण, सुख, दुःख सब अन्तःकरण (सत्त्वचित्त) के धर्म हैं और अन्तःकरण अनन्त हैं; इसलिये अन्तःकरणोंकी अपेक्षासे पुरुषमें बहुत्व माना जाता है यह उपाधि-भेद है, जैसा कि अगले सूत्रमें बतलाते हैं।

उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः।
(सां० १। १५०)

उपाधिभेदमें भी एकका नाना प्रकारका प्रतीत होना होता है आकाशके सदृश घटादिकोंके साथ। अर्थात् एक ही आकाश नाना प्रकारके घटादिकोंके साथ उपाधि-भेदसे उन घटादिकों-जैसा भिन्न-भिन्न प्रकारका प्रतीत होता है। इसी प्रकार एक चेतन-तत्त्व अन्तःकरणोंकी उपाधिसे बहुत धर्मवाला प्रतीत होता है।

उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान्। (सां० १। १५१)

उपाधिका भेद होता है; परंतु उपाधिवालेका भेद नहीं होता है। अर्थात् बहुत्व केवल उपाधिरूप अन्तःकरणोंमें है, न कि पुरुषके वास्तविक शुद्ध चेतन-स्वरूपमें। (विज्ञानभिक्षुने सूत्र १५० को पूर्वपक्षमें और सूत्र १५१ को उत्तरपक्षमें रखकर अन्तःकरणोंके उपाधि-भेदसे पुरुषमें बहुत्व सिद्ध किया है, जो हमारी तत्त्व-समासके चौथे सूत्र "पुरुषः" की व्याख्यासे अविरुद्ध है, जिसमें व्यष्टि अन्तःकरणोंके सम्बन्धसे जो पुरुषकी संज्ञा जीव है इसमें बहुत्व बतलाया गया है।)

एवमेकत्वेन परिवर्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः। (सां० १। १५२)

इस प्रकार एक आत्मा (चेतन-तत्त्व) माननेसे उपाधिवालेका विरुद्ध धर्मवाला भान न होगा।

नाना प्रकारके धर्मों अर्थात् सुख-दु.ख आदिका भान होना केवल अन्तःकरणोंकी उपाधिमें घट सकता है न कि निर्विकार शुद्ध चेतन-स्वरूपमें।

अन्यधर्मत्वेऽपि नारोपात् तत्सिद्धिरेकत्वात्। (सा० १। १५३)

अन्यके धर्म होनेपर भी एक होनेके कारण आरोप करनेसे उसकी सिद्धि नहीं है। जन्म-मरण, सुख-दुःखादि आत्माके धर्म नहीं हैं। अन्तःकरणोंके धर्म उसमें आरोप किये गये है। इससे आत्माके वास्तविक शुद्ध स्वरूपमें बहुत्व नहीं सिद्ध होता है।

यदि कहो कि पुरुषोंको बहुत माननेमें अद्वैत श्रुतियोंसे विरोध आयेगा तो उसका समाधान इस प्रकार है—

नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात्। (सा० द० १। १५४)

ये श्रुतियाँ जातिपरक है (अर्थात् शुद्ध चेतन-तत्त्व अर्थ पुरुषके सत्तामात्र आत्मस्वरूपका निर्देश करती हैं), इसलिये (जीव अर्थ) पुरुषको (अन्तःकरणोंकी अपेक्षासे) जन्मादि व्यवस्थासे बहुत माननेमें उनसे विरोध नहीं हो सकता।

यहाँ जातिसे मनुष्य, पशु आदि जैसी जाति, जिसके अन्तर्गत बहुत से व्यक्ति होते हैं, अभिप्राय नहीं है, किंतु सत्तामात्र शुद्ध चेतनतत्त्वसे, जो सदा एकरस और समानरूप है, अभिप्राय है, जो व्यक्तियोंके भेदक दिशा, काल, नाम, रूप, आकार और गुणोंके परिणामसे परे है। जिस प्रकार वेदान्त (उपनिषदो) में चेतन-तत्त्व दो प्रकार शुद्ध (पर, निर्गुण) और शबल (अपर, सगुण) रूपसे वर्णन किया गया है—शबल स्वरूपकी व्यष्टिरूपसे विश्व, तैजस और प्राज्ञ, और समष्टिरूपसे विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर संज्ञा की है; इसी प्रकार सांख्य और योगमें प्रतिबिम्बित चेतनतत्त्वकी व्यष्टिरूपसे पुरुष सज्ञा है और समष्टिरूपसे हिरण्यगर्भ, पुरुषविशेष और ईश्वर संज्ञा है। इस व्यष्टिरूपेण प्रतिबिम्बित पुरुषसंज्ञक चेतनमें बहुत्व (संज्ञा) है, न कि शुद्ध चेतनतत्त्वमें, जो कि तदाकार (एक समान रूप) है। इसीको अगले सूत्रमें और स्पष्ट करते हैं।

विदितबन्धकारणस्य दृष्ट्या तद्रूपम्। (सा० द० १। १५५)

जिसने बन्धका कारण (अविवेक) जान लिया, उसकी दृष्टिमें (सब पुरुषोंकी) तद्रूपता (समानरूपता) है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(गीता ६। २९, ३२)

सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एक ही भावसे स्थितिरूप योगसे युक्त हुए आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें देखता है। हे अर्जुन! जो योगी अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वही योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।

यदि यह कहा जाय कि समानरूपता है तो सबको क्यों नहीं प्रतीत होती, तो उसका समाधान इस प्रकार है—

नान्धाऽदृष्टया चक्षुष्मतामनुपलम्भः । (सा० द० १।.१५६)

अन्धोके न देखनेसे समाखोंको अनुपलब्धि नहीं होती ऐसा नही अर्थात् यदि विवेक-चक्षुहीन अविवेकियोको पुरुषोकी समानरूपता नहीं दीखती तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि विवेककी ऑखोंवाले समाखोको भी समानरूपताकी उपलब्धि न हो ।

गीता अध्याय १८ मे इस ज्ञानके सात्त्विक, राजसी और तामसी तीन भेद दिखलाये हैं । यथा—

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥
सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

ज्ञान और कर्म तथा कर्ता भी गुणोंके भेदसे सांख्य-शास्त्रमें तीन-तीन प्रकारसे कहे गये हैं । उनको भी तू भली प्रकारसे सुन ॥ १९ ॥ जिस ज्ञानसे मनुष्य पृथक् पृथक् सब भूतोंमें एक अविनाशी परमात्म-भावको विभागरहित समभावसे स्थित देखता है, उस भावको तू सात्त्विक जान ॥ २० ॥ और जो ज्ञान अर्थात् जिस ज्ञानके द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतोमे भिन्न-भिन्न प्रकारके अनेक भावोंको न्यारा-न्यारा करके जानता है, उस ज्ञानको तू राजस ज्ञान समझ ॥ २१ ॥ और जो ज्ञान सब कार्यरूप शरीरमें ही सम्पूर्णताके सदृश आसक्त है तथा जो बिना युक्तिवाला तत्त्व-अर्थसे रहित और तुच्छ है, वह ज्ञान तामस कहा गया है ॥ २२ ॥

सांख्य और ईश्वरवाद

सांख्यने पुरुषकी सन्निधिको विषम-परिणाममें निमित्त कारण माना है, पुरुष-विशेषका वर्णन नहीं किया; किंतु सामान्यतोदृष्ट प्रमाणसे उसकी सिद्धि होती है, क्योंकि जिस प्रकार व्यष्टिरूपसे पुरुषकी सन्निधि गुणोके व्यष्टि परिणाममें निमित्त कारण है, इसी प्रकार समष्टिरूपसे पुरुष-विशेषकी सन्निधि गुणोके अव्यक्त साम्य परिणाम तथा समष्टि व्यक्त गुणोंके विषम परिणाममें निमित्त कारण है ।

नोट—यहाँ यह भी बता देना आवश्यक है कि जिस प्रकार कुछ पक्षपाती अविद्या अथवा मायावादी नवीन वेदान्तियोने साख्यके जड-तत्त्व-प्रधान अर्थात् त्रिगुणात्मक मूल प्रकृतिके अस्तित्वके खण्डन करने और केवल अद्वैत चेतनवाद सिद्ध करनेमें श्रुति और स्मृतियोंके अर्थ निकालनेमें अर्थोंकी खींचा-तानी की है । इसी प्रकार कई एक नवीन साख्यवादियोंने भी उनके विरोधमें श्रुति और स्मृतियोंद्वारा शुद्ध चेतन-तत्त्वमें बहुत्व सिद्ध करनेका यत्न किया है । किंतु यह उनका अविद्यावादी नवीन वेदान्तियोंके सदृश केवल पक्षपात है, जो श्रुति-स्मृति और युक्तिके विरुद्ध है और साख्य-वेदान्तको उसके उच्चतम सिद्धान्तसे गिराता है ।

कई साम्प्रदायिक पक्षपातियोंने कपिल मुनिपर नास्तिकता और उनके दर्शनपर अनीश्वरवादका दोषारोपण किया है। इसके कई कारण हो सकते हैं—

उनके विचारमें (१) सांख्यने प्रधान (मूल प्रकृति) को जगत्का स्वतन्त्र कारण माना है, ईश्वरका वर्णन नहीं किया है। वास्तवमें मूल प्रकृतिको साख्यने जगत्का उपादान कारण माना है, उसको उसके उपादान कार्योंकी अपेक्षासे स्वतन्त्र बतलाया है, क्योंकि वह गुणोंकी साम्य-अवस्था है, जो पुरुषके लिये निष्प्रयोजन है। इस साम्य परिणाम तथा विषम परिणाममें निमित्त कारण ईश्वर ही है, जिसकी सन्निधिसे परिणाम हो रहा है। (२) सांख्यने ईश्वरको २५ तत्त्वोंमें अलग वर्णन नहीं किया है। इसके सम्बन्धमें ऊपर बतला आये हैं कि पुरुषमें पुरुष विशेष ईश्वरको सम्मिलित कर दिया गया है।

केवल वेदान्त (उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र) ने ब्रह्मको 'हान' और ब्रह्मज्ञानको 'हानोपाय' अर्थात् साध्य और साधन दोनो माना है। इसलिये उनमें ब्रह्मका ही विशेषरूपसे विस्तारपूर्वक वर्णन है; अन्य चारों दर्शन—न्याय, वैशेषिक, साख्य और योगने परमात्मतत्त्वको केवल 'हान' अर्थात् साध्य माना है। 'हानोपाय' अर्थात् साधन जड और चेतनतत्त्वका विवेकपूर्ण ज्ञान बतलाया है, इसलिये इन्हे उसको विशेष-रूपसे अलग वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई; क्योंकि जानना तो केवल अपनेसे भिन्न वस्तुका होता है, जो दृश्य कहलाता है और वह त्रिगुणात्मक जड-तत्त्व है। जिसके वास्तविक स्वरूपको विवेकपूर्ण जानकर आत्मासे भिन्न करनेके लिये दर्शनकारोंने अपने-अपने माप और वर्णन-शैलीके अनुसार अवान्तर भेदोंमें विभक्त करके दिखलाया है। अपने शुद्ध परमात्मस्वरूपका जानना नहीं होता, उसमें तो स्वरूपावस्थिति होती है।

'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्'। (बृह० ६ । ४)

जिससे यह सब जाना जाता है उसको किससे जाने ?

तथा—**विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।**

विज्ञानभिक्षुने जो उपर्युक्त सूत्रों तथा 'वामदेवादिमुक्तो नाऽद्वैतम्' (१५७) 'वामदेवादि मुक्त हुए उससे अद्वैत नहीं रहा' से जो अन्तःकरणोंके धर्मोंको साथ लेकर पुरुषमें बहुत्व बतलाया है, इससे हमारा कोई विरोध नहीं है।

हमने तत्त्व-समासके चौथे सूत्रकी व्याख्यामें तथा अन्य कई स्थानोंमें पुरुषके केवल शुद्ध चेतन-स्वरूपमें एकत्व किंतु उसके व्यष्टि अन्तःकरणोंके साथ मिश्रित स्वरूपमे जिसकी सज्ञा जीव है बहुत्व दिखलाया है। साख्यने बन्ध और मोक्ष प्रकृतिमें ही माने हैं। यथा—

रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।
सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण॥ (सा० का० ६३१)

(धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य) इन सात रूपोंमें प्रकृति अपने-आपको बाँधती है। वही फिर पुरुषार्थके लिये एक रूप (ज्ञान) से अपने आपको छुड़ाती है। इसलिये प्रकृतिके कार्योंको साथ लेकर जीवसज्ञक पुरुषमें बन्ध, मोक्ष, सख्या आदि सब कुछ सिद्ध होते हैं। साख्यके वास्तविक स्वरूप-को समझनेके लिये इस बातका विवेक होना अति आवश्यक है, कि कहाँ पुरुषका शब्द जीव-अर्थमें प्रयोग हुआ है, कहाँ ईश्वर-अर्थमें और कहाँ शुद्ध चेतन परमात्मस्वरूपके अर्थमें।

सबके जाननेवाले विज्ञानको किससे जाना जा सकता है अर्थात् किसीसे भी नहीं जाना जा सकता है। योगदर्शनने ईश्वरप्रणिधानको भी एक 'हानोपाय' अर्थात् साधनरूपमें वर्णन किया है। साख्य तीनों गुणोंके साम्य परित्यागपूर्वक सीधा एक साथ परब्रह्मकी ओर जाता है जैसा कि हमने इसी प्रकरणमें दो स्थानोंमें साख्यकी निष्ठामें बतलाया है।

'ईश्वरासिद्धेः' का समाधान

ईश्वरासिद्धेः। (सा० द० १। ९२)

उपर्युक्त सूत्रसे साख्यपर अनीश्वरवादी होनेका दोष लगाया जाता है।

यह सूत्र पहले अध्यायके प्रत्यक्ष प्रमाणके प्रसङ्गमें आया है। अब उसे स्पष्ट किये देते हैं।

यत् सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्। (सा० द० १। ८९)

इस सूत्रमें प्रत्यक्षका लक्षण बतलाया है। अर्थात् इन्द्रियोंके सनिकर्षरूप सम्बन्धको प्राप्त हुआ जो उस विषयके आकारका चित्र खींचनेवाला विज्ञान (चित्तकी वृत्ति) है, वह प्रत्यक्ष कहलाता है। इसपर यह शङ्का होती है कि योगियोंको बिना इन्द्रियोंके सनिकर्षके चित्तवृत्तिका वस्तुके तदाकार होकर प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, इसलिये उपर्युक्त लक्षणमें अव्याप्ति दोष आ जाता है। इसका समाधान अगले सूत्रमें करते है—

योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः। (सा० द० १। ९०)

योगियोंका बाह्य प्रत्यक्ष न होनेसे उपर्युक्त लक्षणमें अव्याप्ति दोष नहीं आता, अर्थात् उपर्युक्त लक्षण केवल बाह्य प्रत्यक्ष ज्ञानका है, योगियोंका इस प्रकारका ज्ञान बाह्य प्रत्यक्ष नहीं है, वह आभ्यन्तर प्रत्यक्ष है। इसलिये सूत्रमें बतलाये हुए लक्षणमें अव्याप्ति दोष नहीं आता।

अथवा—

लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वादोषः। (सा० द० १। ९१)

योगियोंको लीन वस्तुओं (सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट) में अतिशय सम्बन्ध होनेसे अव्याप्ति दोष नहीं आता।

दूसरी शङ्का इस प्रकार उत्पन्न होती है कि योगियोंको ईश्वरका प्रत्यक्ष होता है इसलिये सूत्रमें बतलाये हुए लक्षणमें अव्याप्ति दोष आता है। इसका उत्तर सूत्रकार निम्न सूत्रमें देते हैं—

ईश्वरासिद्धेः। (सा० द० १। ९२)

ईश्वरकी असिद्धिमें (अव्याप्ति दोष नहीं आता है)।

यह सूत्र ईश्वरके अस्तित्वके अभावको नहीं बतलाता है, किंतु इससे ईश्वरके शुद्ध स्वरूपका प्रत्यक्ष अन्तःकरणद्वारा नहीं होता अर्थात् चित्तवृत्ति ईश्वरके शुद्ध स्वरूपके तदाकार होकर उसका ज्ञान नहीं प्राप्त करा सकती है। इसलिये इस सूत्रसे ईश्वरके अस्तित्वकी असिद्धि नहीं बतलायी गयी है, किंतु जिस प्रकार भौतिक पदार्थोंका साधारण मनुष्योंको बाह्य प्रत्यक्षसे और योगियोंको सूक्ष्म पदार्थोंका आभ्यन्तर प्रत्यक्षसे ज्ञान होता है, इस प्रकार ईश्वरका प्रत्यक्षद्वारा ज्ञान नहीं होता।

साख्यने ईश्वरको ऐसा स्वेच्छाचारी सम्राट् नहीं माना है, जो अपने मनोरञ्जनके लिये सृष्टिकी रचना करता है और स्वार्थ-सिद्धिके लिये सर्वहितकारी नियमोंका भी उल्लङ्घन कर सकता है; किंतु सर्वज्ञ,

सर्वशक्तिमान् और ज्ञानस्वरूप माना है, जिसकी ज्ञान-शक्तिसे जड-प्रकृतिमें सारे पुरुषोंके कल्याणार्थ सृष्टि, उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रिया हो रही है । जैसा स्वयं विज्ञानभिक्षुने सूत्र सत्तानवेके प्रवचन-भाष्यमें लिखा है ।

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्तते ।
सत्तामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः ॥
अत आत्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम् ।
निरिच्छत्वादकर्तासौ कर्ता सांनिधिमात्रतः ॥

(साख्य प्रवचन भाष्य १ । ९७)

जैसे विना इच्छावाले रत्न (मणि चुम्बक) के स्थित रहनेमात्रमें लोहा (आप-से-आप) प्रवृत्त होता है, वैसे ही सत्तामात्र देव (ईश्वर) से जगत्की उत्पत्ति आदि होती है । इस कारण ईश्वरमें कर्तृत्व और अकर्तृत्व भी अच्छी प्रकार सिद्ध है । वह निरिच्छ होनेसे अकर्ता और सामीप्यमात्रसे कर्ता है ।

इसी बातको गीताके पाँचवें अध्यायमें निम्नलिखित श्लोकोंमें दर्शाया है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥
ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥

ईश्वर भूत-प्राणियोंके न कर्तापनको और न कर्मो तथा कर्मोके फलके सयोगको (वास्तवमें) रचता है, किंतु परमात्माके सानिध्यसे प्रकृति ही वर्तती है । अर्थात् गुण ही गुणोमे वर्त रहे है ॥ १४ ॥

सर्वव्यापी ईश्वर न किसीके पापको और न किसीके शुभ कर्मको भी ग्रहण करता है (किंतु) अविद्यासे ज्ञान (विवेक-ज्ञान) ढका हुआ है, इससे सब जीव मोहित हो रहे हैं ॥ १५ ॥

परंतु जिनका अन्त.करणका अज्ञान विवेकज्ञानद्वारा नाश हो गया है, उनका वह ज्ञान सूर्यके सदृश उस परब्रह्म परमात्माके स्वरूपको हृदयमें प्रकाशित करता है अर्थात् साक्षात् कराता है ॥ १६ ॥

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा । (सा० द० ३ । ५७)

उपर्युक्त सूत्रसे ईश्वरकी सिद्धि स्पष्ट शब्दोंमें बतलायी गयी है ।

विज्ञानभिक्षुने यहाँ अपने साख्य-प्रवचनभाष्यमे ईश्वरको प्रकृतिलयका वाचक बतलाया है । इसलिये पाठकोंके स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करनेके लिये प्रकृतिलयके प्रसङ्गके साथ इस सूत्रको बतलाये देते हैं—

न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् । (सा० द० ३ । ५४)

कारणमें लीन होनेसे पुरुषको कृतकृत्यता नहीं हो सकती, क्योंकि डुबकी लगानेवालेके समान फिर ऊपर उठना होता है । इस विषयमें योगदर्शन १ । १९ की व्याख्या देखिये ।

कृतिलय होना भी मुक्ति नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार डुबकी लगानेवालेको श्वास लेनेके
लिये ` है, इसी प्रकार प्रकृतिलयोंको भी एक नियत समयके पश्चात् विवेक-ज्ञानद्वारा
स्वरूपावस्थि के लिये प्रकृतिलीनतासे निकलकर फिर जन्म लेना होता है।

अ **तद्योगः पारवश्यात्** । (सा० द० ३ । ५५)

यद्यपि ार्य नहीं है, तो भी परतन्त्रतासे उसका योग होता है। अर्थात् यद्यपि प्रकृति कार्य
पदार्थ नहीं फिर भी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वरके नियमोंके अधीन पुरुषके अपवर्ग
(स्वरू के लिये प्रवृत्त हो रही है। प्रकृतिलय पुरुष स्वरूपावस्थितिको प्राप्त किये हुए
नहीं प प्रकृति ईश्वरीय नियमोंसे परतन्त्र हुई, उनको अपवर्ग दिलानेके लिये प्रकृतिलीनतासे
फि गियोंके कुलमें जन्म दिलाती है।

हे सर्ववित् सर्वकर्ता । (सा० द० ३ । ५६)

ही सर्वज्ञ और सबका कर्ता है।

अर्थात् वह चेतन-तत्त्व ईश्वर, प्रकृति जिसके अधीन ज्ञान, व्यवस्था और नियमपूर्वक पुरुषके र्गके लिये प्रवृत्त हो रही है, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है।

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा । (सा० द० ३ । ५७)

इस प्रकारकी ईश्वरकी सिद्धि सिद्ध है।

अर्थात् प्रथम अध्यायके बानबे सूत्रमें ईश्वरके बद्ध तथा मुक्त दोनों प्रकारका न होनेसे असिद्धि बतलायी थी, पर इस प्रकार सर्वसृष्टिका नियन्ता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी सिद्धि सिद्ध है।

यहाँ प्रसङ्ग तथा युक्तिसे प्रकृतिलय पुरुष जिनमें न पूरा विवेकज्ञान है और जो न स्वरूपावस्थितिको प्राप्त किये हुए हैं, वे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर नहीं हो सकते। यदि प्रकृतिलयसे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वरके ही अर्थ लिये जायँ तो समष्टि प्रकृतिके अधिष्ठाता समष्टिरूपेण चेतन-तत्त्व ईश्वरके ही हो सकते हैं, जिसका योगदर्शन १ । २८ की व्याख्या तथा वि० वि० में विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है, जो उसका शुद्ध स्वरूप नहीं है, किंतु शबल अर्थात् प्रकृतिके संयोगसे है।

सम्भव है विज्ञानभिक्षुने प्रकृतिलयसे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वरके अर्थ इस अभिप्रायसे किये हों कि योगियोंको समाधिद्वारा केवल महत्तत्त्वतक ही साक्षात्कार होता है, इससे अव्यक्त मूल प्रकृति अनुमानगम्य होती है। इसलिये अनुमानगम्य अव्यक्त कारण प्रकृतिके अधिष्ठाता ईश्वर भी महत्तत्त्वके अधिष्ठाता हिरण्यगर्भरूपसे ही व्यक्त (प्रकट प्रत्यक्ष) हो सकते है। अतः डुबकी लगानेवालेके सदृश प्रकृतिसे बाहर निकलनेसे अभिप्राय महत्तत्त्व अर्थात् समष्टि सूक्ष्म जगत्के अधिष्ठाता हिरण्यगर्भरूपसे पुरुषको अपवर्ग दिलानेके लिये सृष्टि-उत्पत्तिके समय प्रकट होना है।

सांनिध्यमात्रेणेश्वरस्य सिद्धिस्तु श्रुतिस्मृतिषु सर्वसम्मतेत्यर्थः।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते एतद्वैतद् ॥
सृजते च गुणान् सर्वान् क्षेत्रज्ञस्त्वनुपश्यति।
गुणान् विक्रियते सर्वानुदासीनवदीश्वरः ॥

(सांख्य-प्रवचन भाष्य ३ । ५७)

अङ्गुष्ठपरिमाण हृदय-देश है, उस हृदयाकाशमें वर्तमान पुरुषको हृदयकी उपाधिके कारण अङ्गुष्ठमात्र कहा है। वह अङ्गुष्ठमात्र पुरुष शरीरके भीतर रहता है (व्यापक होनेपर भी चूँकि हृदय-देशमें उपलब्धि होती है अतः हृदयोपहित निर्देश किया है)। जो उस भूत और भविष्यत्‌के स्वामी आत्माको जानकर फिर कुछ भी छिपाना नहीं चाहता, वही यह आत्मतत्त्व है और (वह) सब गुणोंको उत्पन्न करता है, पीछे क्षेत्रज्ञ तो देखता है (गुणोंका द्रष्टा रहता है), ईश्वर उदासीनके सदृश सब गुणोंको कार्यरूपमें परिणत करता है।

गीताके अध्याय १३ के निम्नलिखित श्लोकोंका भी यही आशय है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

हे अर्जुन ! अनादि होनेसे और गुणातीत होनेसे वह अविनाशी परमात्मा शरीरमें स्थित हुआ भी (वास्तवमें) न कर्ता है और न लिपायमान होता है ॥ ३१ ॥

जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ भी आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं रहता है, वैसे ही सर्वत्र देहमें स्थित हुआ भी आत्मा (गुणातीत होनेके कारण देहके गुणोसे) लिप्त नहीं रहता है ॥३२॥

हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण क्षेत्रको प्रकाशित करता है ॥ ३३ ॥

कपिलमुनि आस्तिक थे अन्य युक्तियाँ

यदि कपिल मुनि नास्तिक होते तो श्वेताश्वतरादि उपनिषद् तथा गीतामें उनकी इतनी प्रशसा नहीं की जाती जैसा कि इस प्रकरणके आरम्भमें दिखलाया गया है। साख्य तथा योग सबसे प्राचीन वैदिक दर्शन है। योग कर्मयोग और साख्य ज्ञानयोगके नामसे प्रसिद्ध हैं, जिनका गीतामें बार-बार वर्णन आता है।

श्रीमद्भागवतके तीसरे स्कन्धमें जहाँ भगवान् कपिलने अपनी माताको आध्यात्मिक उपदेश दिया है, वहाँ उनको स्वयं ईश्वरका अवतार माना गया है।

श्रीव्यासजी महाराजने योगदर्शनके भाष्यमें पञ्चशिखाचार्यके साख्यसूत्रोंको अनेक स्थानोंपर उद्धृत किया है।

साख्यने वेदोंको अपौरुषेय, ईश्वरीय ज्ञान और आप्त प्रमाण माना है।

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्। (सा० द० ५। ४६)

उन (वेदो) का बनानेवाला कोई पुरुष नहीं (दिखलायी देता है), इसलिये उनका पौरुषेयत्व नहीं बन सकता।

न मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात् । (सा० द० ५ । ४७)

मुक्त और अमुक्त (बद्ध) के अयोग्य होनेसे (वेदोंकी) पौरुषेयता नहीं बन सकती ।

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम् । (सा० द० ५ । ५१)

अपनी स्वाभाविक निज शक्तिद्वारा उत्पन्न होनेसे वेदोंको स्वतःप्रमाणता है ।

सांख्यने अपने सारे सिद्धान्तोंको वेदके आधारपर माना है और उनका श्रुतियोंसे अविरोध सिद्ध किया है । जैसे—

निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति । (सा० द० १ । ५४)

निर्गुणादि श्रुतियोंसे भी विरोध है ।

पारम्पर्येण तत्सिद्धौ विमुक्तिश्रुतिः । (सा० द० ६ । ५८)

परम्परासे उस मोक्षकी सिद्धिमें मुक्ति-प्रतिपादक श्रुति है ।

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता । (सां० द० ५ । ११६)

समाधि, सुषुप्ति तथा मोक्षमें ब्रह्मरूपता हो जाती है ।

द्वयोः सबीजमन्यत्र तद्बृतिः । (सा० द० ५ । ११७)

दोमें सबीज और अन्यत्र (तीसरेमें) उस (बीज) का नाश हो जाता है ।

अर्थात् सुषुप्तिमें बन्धनके बीज पाँचो क्लेश संस्काररूपसे बने रहते हैं और (असम्प्रज्ञात) समाधिमें व्युत्थानके संस्कार चित्त-भूमिमें बीजरूपसे दबे रहते हैं, किंतु (तीसरे) मोक्षमें चित्तके नाशके साथ उस बीजका नाश हो जाता है ।

द्वयोरिव त्रयस्यापि दृष्टत्वान्न तु द्वौ । (सा० द० ५ । ११८)

दोके समान तीनोंके दृष्ट होनेसे केवल दो ही नहीं मान सकते ।

अर्थात् सुषुप्तिको सबने अनुभव किया है और समाधिको कुछ लोगोंने; इसलिये इन दोनोंसे मोक्षकी अवस्था भी सिद्ध होती है ।

वासनयानर्थख्यापनं दोषयोगेऽपि न निमित्तस्य प्रधानबाधकत्वम् । (सा० द० ५ । ११९)

दोषके योग्य होते हुए भी वासनासे अनर्थकी ख्याति नहीं हो सकती और निमित्तको मुख्य बाधकता है ।

अर्थात् यद्यपि सुषुप्तिमें तमोगुण दोषका योग है तो भी वासनासे कोई अनर्थ (क्लेशादि) प्रकट नहीं हो सकता और सुषुप्तिका निमित्त तमोगुण मुख्यतया दुःख आदिको रोके रहता है; इसलिये सुषुप्तिमें भी ब्रह्मरूपता अवश्य है ।

इससे बढ़कर सांख्यमें ईश्वर-सिद्धिको और किस प्रमाणकी आवश्यकता रह जाती है ।

योग-दर्शन

योगका महत्त्व

योग साख्यका ही क्रियात्मक रूप है । योग सारे सम्प्रदायों और मत-मतान्तरोंके पक्षपात और वाद-विवादसे रहित सार्वभौम धर्म है, जो तत्त्वका ज्ञान स्वयं अनुभवद्वारा प्राप्त करना सिखलाता है और मनुष्यको उसके अन्तिम ध्येयतक पहुँचाता है । सारी श्रुति-स्मृतियाँ योगकी महिमाका गान कर रही हैं ।

योगका वास्तविक स्वरूप

योगके सम्बन्धमें नाना प्रकारकी फैली हुई भ्रान्तियोके निवारणार्थ उसके वास्तविक स्वरूपको समझा देना अत्यावश्यक है। मोटे शब्दोंमें योग स्थूलतासे सूक्ष्मताकी ओर जाना अर्थात् बाहरसे अन्तर्मुख होना है। चित्तकी वृत्तियोंद्वारा हम स्थूलताकी ओर जाते है अर्थात् बहिर्मुख होते हैं। (आत्मतत्त्वसे प्रकाशित चित्त अहंकाररूप वृत्तिद्वारा, अहंकार इन्द्रियो और तन्मात्राओंरूप वृत्तियोद्वारा, तन्मात्राएँ सूक्ष्म और स्थूलभूत और इन्द्रियाँ विषयोंकी वृत्तियोंद्वारा बहिर्मुख हो रही है)। जितनी वृत्तियाँ बहिर्मुख होती जायँगी उतनी ही उनमें रज और तमकी मात्रा बढ़ती जायगी और उससे उलटा जितनी वृत्तियाँ अन्तर्मुख होती जायेंगी उतना ही रज और तमके तिरोभावपूर्वक सत्त्वका प्रकाश बढ़ता जायगा। जब कोई भी वृत्ति न रहे तब शुद्ध परमात्मस्वरूप शेष रह जाता है।

योगके तीन अन्तर्विभाग—योगके मुख्य तीन अन्तर्विभाग किये जा सकते हैं—ज्ञानयोग, उपासनायोग और कर्मयोग।

ज्ञानयोग—भौतिक पदार्थोका जान लेना अर्थात् सांसारिक ज्ञान और विज्ञान ज्ञानयोग नहीं है। बल्कि तीनो गुणों और उनसे बने हुए सारे पदार्थोंसे परे अर्थात् स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण जगत् अथवा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोष अथवा शरीर, इन्द्रियो, मन, अहंकार और चित्तसे परे गुणातीत शुद्ध परमात्मतत्त्वको जिसके द्वारा इन सबमें ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रिया हो रही है, संशय, विपर्ययरहित पूर्णरूपसे जान लेना ज्ञानयोग है। यह ज्ञान केवल पुस्तकोके पढ लेनेसे या शब्दोंद्वारा सुन लेनेमात्रसे ही नहीं प्राप्त हो सकता। उसके लिये उपासनायोगकी आवश्यकता होती है।

उपासनायोग—एक प्रत्ययका प्रवाह करना अर्थात् चित्तकी वृत्तियोंको सब ओरसे हटाकर केवल एक लक्ष्यपर ठहरानेका नाम उपासना है। किसी सासारिक विषयकी प्राप्तिके लिये इस प्रकार एक प्रत्ययका प्रवाह करना उपासना कहा जा सकता है उपासनायोग नहीं। यह उपासनायोग तभी कहलायगा जब इसका मुख्य लक्ष्य केवल शुद्ध परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो। इसको स्पष्ट शब्दोमें यो समझना चाहिये कि जिस प्रकार जलके सर्वत्र भूमिमें व्यापक रहते हुए भी उसकी शुद्ध धाराको किसी स्थानविशेषसे खोदनेपर निकाला जा सकता है। उसी प्रकार परमात्म-तत्त्वके सर्वत्र व्याप्त रहते हुए भी उसके शुद्ध स्वरूपको किसी स्थान विशेषद्वारा अन्तर्मुख होकर प्राप्त किया जा सकता है। यह जो चित्तको किसी विशेष ध्येय (विषय-लक्ष्य) पर ठहराकर शुद्ध परमात्मस्वरूपको प्राप्त करनेका यत्न किया जाता है यही उपासनायोग है। इस एकाग्रतारूप उपासनाको सम्प्रज्ञात समाधि तथा सम्प्रज्ञात योग कहते है। इसके पश्चात् जो सर्व-वृत्तियोंके निरोध होनेपर शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति है, वह ज्ञानयोग है। इसीको असम्प्रज्ञात समाधि तथा असम्प्रज्ञातयोग कहते हैं। इसके लिये किसी एकान्त निर्विघ्न शुद्ध स्थानमें सिर, गर्दन और कमरको सीधा एक रेखामें रखते हुए किसी स्थिर सुख आसनसे बैठना, प्राणोकी गतिको धीमा करना और इन्द्रियोंको बाहरके विषयोंसे हटाकर चित्तके साथ अन्तर्मुख करना आवश्यक है। फिर यह देखना होगा कि अन्तर्मुख होनेके लिये किस स्थानको लक्ष्य बनाया जाय। वैसे तो परमात्मा सर्वत्र

व्यापक हैं; किंतु उनके शुद्ध स्वरूपतक पहुँचनेके लिये अपने ही शरीरमें किसी स्थानको लक्ष्य बनानेमें सुगमता रहती है। इसमे पाँच विषयवती प्रवृत्तिके स्थान हैं। अर्थात् नासिकाका अग्रभाग गन्धका, जिह्वाका अग्रभाग रसका, तालु रूपका, जिह्वाका मध्यभाग स्पर्शका और जिह्वाका मूल भाग शब्दका स्थान है।

इनसे भी अधिक प्रभावशाली 'विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति' के सुषुम्ना नाडीमें विद्यमान मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रारचक्र हैं। सुषुम्ना, जो गुदाके निकटसे मेरुदण्डके भीतर होती हुई मस्तिष्कके ऊपरतक चली गयी है, सर्वश्रेष्ठ नाड़ी है। यह सत्त्व-प्रधान, प्रकाशमय और अद्भुत शक्तिवाली है। यही सूक्ष्मशरीर, सूक्ष्म प्राणों तथा अन्य सब शक्तियोंका स्थान है। इसमें बहुतसे सूक्ष्म शक्तियोंके केन्द्र हैं जिनमें अन्य सूक्ष्म नाडियाँ मिलती हैं। इन शक्तियोंके केन्द्रोको पद्म, कमल तथा चक्र कहते हैं। उनमें उपर्युक्त सात मुख्य है। उनमें भी मणिपूरक, अनाहत, आज्ञा और सहस्रार विशेष महत्त्वके हैं। किसके लिये ध्यानके वास्ते कौन-सा स्थान अधिक उपयोगी हो सकता है यह इस मार्गके अनुभवी ही बतला सकते हैं।

जिस प्रकार तली तोड कुएँके खोदते समय कई प्रकारकी मिट्टीकी तहें तथा अन्य अद्भुत वस्तुएँ निकलती हैं ऐसा ही ध्यान अवस्थामें होता है। यहाँ भी स्थूल भूत, सूक्ष्म भूत, अहंकार और अस्मिता (आत्मासे प्रकाशित चित्त)—ये चार प्रकारकी तीनो गुणोकी तहें आती हैं। जब स्थूल भूत अथवा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले विषय सामने आवें उसको वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि*, जब सूक्ष्मभूत अथवा उनसे सम्बन्धित विषय उपस्थित हो उसको विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि,* जब इन दोनो विषयोसे परे केवल 'अहमस्मि' वृत्ति रह जाय उसको आनन्दानुगत और जब उससे भी परे केवल 'अस्मि' वृत्ति रह जाये उसको अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है।

जिस प्रकार सारी मिट्टीकी तहोंके समाप्त होनेपर जलको रेतसे अलग किया जाता है इसी प्रकार गुणोकी इन चारो तहोंके पश्चात् जब आत्माको चित्तसे अलग साक्षात् किया जाता है तब उसको विवेक-ख्याति कहते है। उसके पश्चात् शुद्ध परमात्मस्वरूप शेष रह जाता है जो असम्प्रज्ञात समाधि, असम्प्रज्ञात योग या ज्ञानयोग कहलाता है। अतः उपासनायोगद्वारा ही ज्ञानयोगकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु यह उपासनायोग भी बिना कर्मयोगके नहीं साधा जा सकता।

कर्मयोग—कोल्हूके बैलके सदृश कामोंमें लगे रहनेका नाम कर्मयोग नहीं है। शरीर, इन्द्रियों, धन, सम्पत्ति आदि सारे साधनो उनसे होनेवाले कर्तव्यरूप सारे कर्मोंको तथा उनके फलोंको भी ईश्वरको समर्पण करते हुए अनासक्त निष्काम भावसे व्यवहार करनेका नाम कर्मयोग है। जिस प्रकार मञ्च (Stage) पर आया हुआ एक्टर (Actor) अपने पार्टको भलीभाँति करता हुआ अंदर इसका कोई

---

* पहली दो भूमियों वितर्क अनुग। और विचारानुगतमें गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द इन—पाँचों विषयोंमें प्रायः रूप और शब्द ही समक्ष आते हैं, क्योंकि रूपको ग्रहण करनेवाली नेत्र इन्द्रिय और शब्दको ग्रहण करनेवाली श्रोत्र इन्द्रिय हर समय काम करती रहती है। इसलिये सुगमताके कारण कई आचार्य रूप या शब्दको ही ध्येय बनाकर ध्यान आरम्भ करना बतलाते हैं।

भी प्रभाव अपने हृदयपर नहीं होने देता है इसी प्रकार कर्मयोगी ईश्वरकी ओरसे आये हुए सारे कर्तव्योंको भलीभाँति करता हुआ भी अदरसे अलिप्त रहता है ।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

(गीता ५ । १०–१२)

अर्थात् कर्मोंको ईश्वरके समर्पण करके और आसक्तिको छोड़कर जो कर्म करता है वह पानीमें पद्मपत्रके सदृश पापसे लिप्त नहीं होता ॥ १० ॥ योगी फलकी कामना और कर्तापनके अभिमानको छोड़कर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये केवल शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धिसे काम करते हैं ॥ ११ ॥ योगी कर्मके फलको त्यागकर परमात्मप्राप्तिरूप शान्तिको लाभ करते हैं । अयोगी कामनाके आधीन होकर फलमें आसक्त हुआ बँधता है ॥ १२ ॥

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् । (योगद० ४ । ७)

अर्थात् योगीके कर्म न पुण्यरूप होते हैं न पापरूप, क्योंकि वह कर्तव्यरूप कर्मोंको ईश्वर-समर्पण करके फलोंका त्याग कर निष्काम भावसे करता है । पाप कर्म तो वह कभी करता ही नहीं, क्योंकि वे उसके लिये सर्वदा त्याज्य हैं । दूसरे साधारण मनुष्योंका कर्म पाप, पुण्य और पुण्य-पाप-मिश्रित तीन प्रकारका होता है ।

उपासनामें जब चित्तकी वृत्तियोंको एक लक्ष्यविशेषपर ठहरानेका यत्न किया जाता है, तब मन अन्य विषयोंमें राग होनेके कारण उनकी ओर दौडता है । विषयोंमें राग सकाम कर्मोंसे होता है । इसलिये विषयोंसे वैराग्य प्राप्त करनेके लिये कर्मोंमें निष्कामताका होना आवश्यक है । अर्थात् पापरूप अधर्म कर्म तो त्याज्य होते ही हैं पुण्यरूप धर्म अर्थात् कर्तव्यकर्मोंको भी उनकी फलोंकी इच्छाको छोडकर निष्कामभावसे करना चाहिये । इसलिये उपासनायोग बिना कर्मयोगकी सहायताके नहीं सिद्ध हो सकता । किंतु ये निष्कामताके भाव भी ध्यानद्वारा ही परिपक्व हो सकते हैं । अर्थात् कर्मयोगकी सिद्धि भी उपासना योगकी सहायतासे ही हो सकती है । इसलिये जिस प्रकार संसारकी कोई भी वस्तु सत्त्व, रजस् और तमस्के सम्मिश्रणके बिना अपना अस्तित्व नहीं रख सकती, केवल इतना भेद होता है कि कहीं सत्त्वकी प्रधानता होती है कहीं रजकी और कहीं तमकी, इसी प्रकार इन तीनो योगोंमें भी तमरूप उपासनायोग चित्तको एक लक्ष्यपर ठहरानेवाला, रजरूप निष्काम कर्मयोग और सत्त्वरूप ज्ञानयोग—ये तीनों किसी-न-किसी अंशमें बने ही रहते हैं । यह अवश्य होता है कि कहीं उपासनाकी प्रधानता होती है कहीं कर्मकी और कहीं ज्ञानकी ।

Vaidic Library

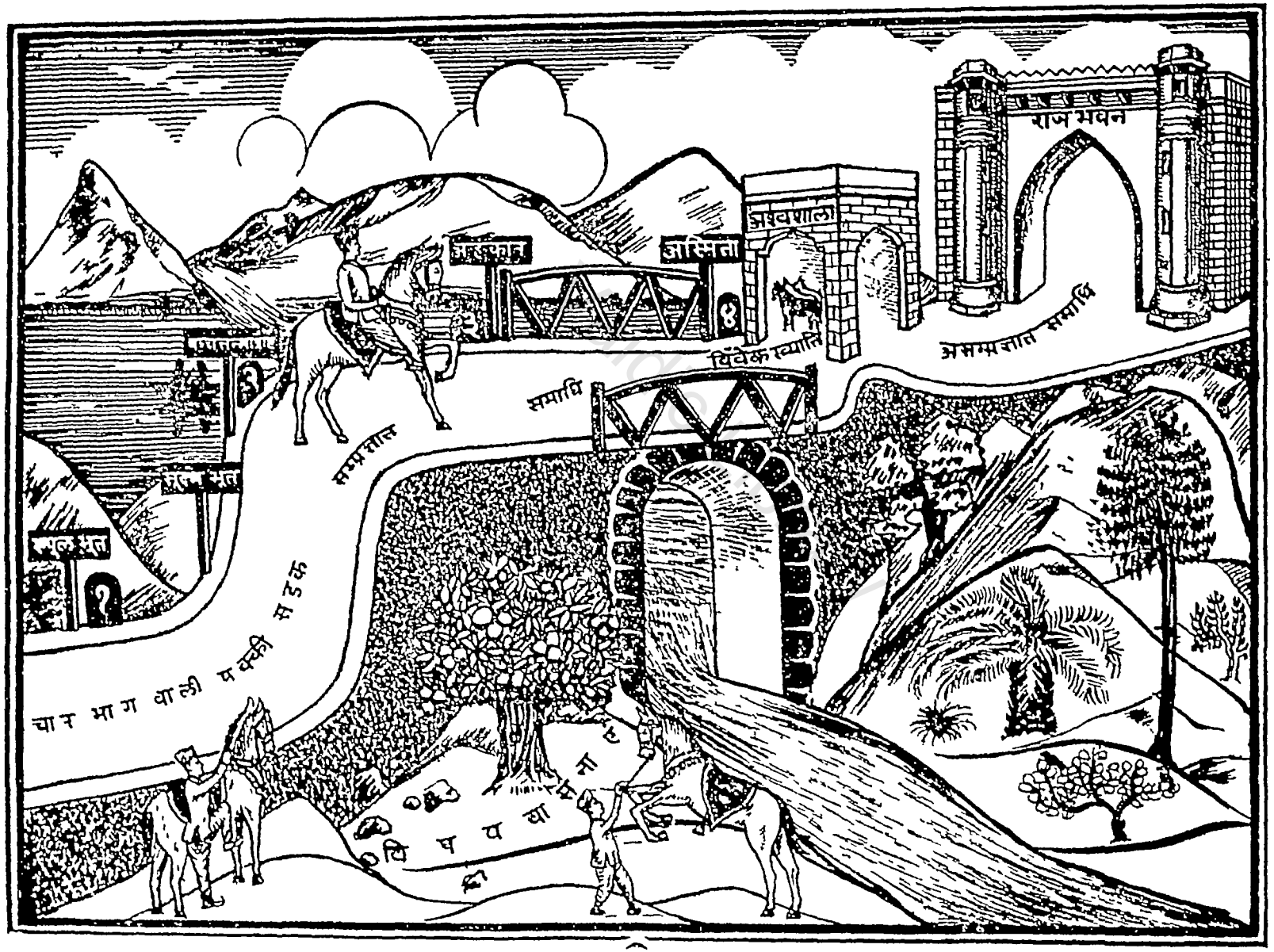
राजभवन
अश्वशाला
अस्मिता
विवेकख्याति
असम्प्रज्ञात समाधि
समाधि
सम्प्रज्ञात
चार भाग वाली पक्की सड़क
विषय

तीनों योगोंके दो मुख्य भेद—सांख्य और योग

इन तीनों योगोके दो मुख्य भेद सांख्य और योग नामसे किये गये हैं। जहाँ भक्तियोग और कर्मयोगपर अधिक जोर दिया गया हो, वह योगनिष्ठा कहलाती है और जहाँ ज्ञानको प्रधानता दी जाती है, वह सांख्यनिष्ठा। इन दोनो निष्ठाओका वर्णन साख्य-प्रकरणके आरम्भमें विस्तारपूर्वक कर दिया गया है।

रूपकद्वारा योगका स्वरूप

योगका दार्शनिक महत्त्व बतलाकर अब एक रोचक रूपकद्वारा उसके अष्टाङ्ग स्वरूपको दिखलानेका यत्न किया जाता है—चित्त और पुरुषका जो अनादि स्व-स्वामी-भाव-सम्बन्ध चला आ रहा है उसके अनुसार 'स्व'रूप चित्तको अश्व और स्वामीरूप पुरुषको सवार समझना चाहिये। इस अश्वका मुख्य प्रयोजन अपने स्वामीको भोग (इष्ट) रूप मार्गको पूरा करकर अपवर्गरूप लक्ष्यतक पहुँचा देना है। यह मार्ग एक पक्की सड़कवाला चार भागोमे विभक्त है—पहला स्थूलभूत, दूसरा सूक्ष्म भूतोंसे तन्मात्राओंतक, तीसरा अहंकार और चौथा अस्मिता। अन्तिम किनारेपर भेदज्ञानरूपी एक अश्वशाला है। यहाँ इस घोडेको छोड़ देना पड़ता है और अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग परमात्मस्वरूप एक विशाल सुन्दर राजभवन है, जहाँ इस सवारको पहुँचा देना घोडेका मुख्य उद्देश्य है। सकाम कर्मरूप असावधानीसे पुरुष घोडेकी पीठपरसे नीचे गिरकर बाग पकडे हुए घोडेके इच्छानुसार असमर्थतासे उसके पीछे घूम रहा है। इस अश्वकी असंख्य चालें हैं, जो वृत्तियाँ कहलाती हैं। ये दो प्रकारकी हैं—एक क्लिष्ट, जो पुरुषके लिये अहितकारी है। दूसरी अक्लिष्ट, जो पुरुषके लिये हितकर है। वह पाँच अवस्थाओंमें रहती है—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनमें पहली तीन अवस्थाएँ पुरुषके प्रतिकूल है; केवल अन्तिम दो अनुकूल है। यह घोड़ा पहली तीन अवस्थाओमें अपनी अनन्त क्लिष्ट चालोसे संसाररूपी घोर भयङ्कर वनमें विषय-वासनारूप हरियालीकी ओर भाग रहा है और सवार जन्म, आयु और भोग (अनिष्ट) रूपी नदी-नालों, खाई-खंदक, काँटे और पत्थरोंमें असमर्थतासे घसिटता हुआ उसके पीछे चला जा रहा है और सुख-दुःख-रूपी चोटोसे पीड़ित हो रहा है। एक अपरिमित समयसे उस अवस्थामें रहते हुए पुरुष अपने वास्तविक स्वरूपको सर्वथा भूल गया है और घोडेके साथ एकात्मभाव करके उसके ही विषयोको अपना मानने लगा है। ईश्वर-अनुग्रहसे जब अध्यात्मविषयक सत्-शास्त्रो और नि.स्वार्थ आप्तकाम योगी गुरुओंके उपदेशसे उसको अपने और इस घोडेके वास्तविक स्वरूपका तथा अपने अन्तिम लक्ष्यका पता लगता है, तब वह यम-नियमके साधनोंसे घोड़ेकी क्लिष्ट चालोको अक्लिष्ट बनाता है। आसनका सहारा लेकर घोड़ेकी रकाबपर पैर रखनेका यत्न करता है। प्राणायामकी सहायतासे रकाबपर पैर जमानेमें समर्थ होता है। प्रत्याहारद्वारा वशीकार करके उसकी पीठपर सवार होनेमें सफलता प्राप्त करता है। भोग (इष्ट) रूपी पक्की सडककी ओर घोडेका मुख फेरना धारणा है। घोडेको उस ओर चलाना आरम्भ कर देना ध्यान है और सड़कके निकट पहुँच जाना समाधि है। वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता अनुगतरूप एकाग्रताकी अवस्थाओसे क्रमानुसार भोगरूपी मार्गके स्थूल, सूक्ष्म, अहकार और अस्मितारूपी भागोंको समाप्त करता है, विवेकख्यातिद्वारा घोडेको अश्वशालामें छोड़कर सर्ववृत्तिनिरोध अपवर्ग नामक शुद्ध परमात्मस्वरूपरूपी विशाल राजभवनमे पहुँचता है।

दूसरे मनोरञ्जक उदाहरणद्वारा योगका स्वरूप—सिनेमाके साधारण श्वेत रंगकी चादर (पर्दा) के समान सत्त्वचित्त (जिसमें सत्त्व-ही-सत्त्व है, रज क्रियामात्र और तम उस क्रियाको रोकनेमात्र है) का स्वरूप समझना चाहिये। यह विद्युत्के सदृश आत्मा (चेतन-तत्त्व) के ज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशित हो रहा है। भेद केवल इतना है कि विद्युत् जड होनेके कारण स्वय सिनेमाके पर्देका देखनेवाला नहीं है। उसको दूसरे चेतन-पुरुष देखते हैं। आत्मा ज्ञानस्वरूप होनेसे अपने ज्ञानके प्रकाशमें जो कुछ चित्तमें हो रहा है, उसका द्रष्टा है।

यही चित्तरूपी पर्दा कुछ रज और तमकी अधिकताका मैल लिये हुए एक दूसरे अहकाररूप पर्देके स्वरूपमे प्रकट हो रहा है। यह अहकाररूपी पर्दा रज और तमकी अधिकताका मैल लिये हुए तन्मात्राओंसे लेकर सूक्ष्म भूतोंरूपी पर्देके स्वरूपमें प्रकट हो रहा है। सूक्ष्म भूतोरूपी पर्दा कुछ रज और तमकी अधिकताको लिये हुए पॉच स्थूल भूतोंरूपी पर्देके स्वरूपमें प्रकट हो रहा है। इस पर्देपर विषय-वासनाओंसे युक्त अनन्त वृत्तियॉ सिनेमाके चित्रोंके सदृश घूम रही है। चित्तरूपी पर्देमें आत्माके ज्ञानका प्रकाश पड़ रहा है। इसलिये अपने ज्ञानके प्रकाशमें जो-जो रूप यह पर्दा धारण करता है उसका स्वयमेव ही आत्माको ज्ञान रहता है और अपने ज्ञानस्वरूपमें सर्वथा अवस्थित रहते हुए भी चित्तरूपी पर्देका द्रष्टा होनेके कारण जैसा आकार यह पर्दा धारण करता है वैसा ही वह प्रतीत होता है।

अष्टाङ्गयोग—बहिरङ्ग साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहारकी सहायतासे अन्तरङ्ग साधन धारणा, ध्यान और समाधिद्वारा चित्तकी वृत्तिरूपी चित्रोंका वास्तविक स्वरूप साक्षात्कार होता है। वितर्कानुगत समाधिद्वारा चित्रोंका स्थूलस्वरूप तथा पॉच स्थूल भूतोवाली चित्तकी अवस्थाका वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। विचारानुगत समाधिद्वारा वृत्तिरूप चित्रोके सूक्ष्मस्वरूप तथा चित्तरूपी पर्देकी सूक्ष्म भूतोंसे तन्मात्रातककी अवस्थाका ज्ञान प्राप्त होता है। इससे ऊपर आनन्दानुगत समाधिद्वारा चित्तकी अहकाररूप अवस्थाका साक्षात्कार होता है। अस्मितानुगत समाधिद्वारा अस्मिता (आत्मासे प्रकाशित चित्त) के स्वरूपका ज्ञान प्राप्त होता है। विवेकख्यातिद्वारा आत्मारूपी विद्युत् और चित्तरूपी पर्देमें भेद-ज्ञान प्राप्त होता है। पर वैराग्यद्वारा इससे भी परे होकर आत्मारूपी विद्युत्की अपने वास्तविक परमात्मस्वरूपमे अवस्थिति होती है।

योगके आदि आचार्य

योगके आदि आचार्य हिरण्यगर्भ है। हिरण्यगर्भ-सूत्रोके आधारपर (जो इस समय लुप्त हैं) पतञ्जलिमुनिने योगदर्शनका निर्माण किया है। इसको विस्तारपूर्वक समाधिपादके प्रथम सूत्रमे दर्शाया जायगा। पतञ्जलि मुनिकी जीवनी तथा योगदर्शनके भाष्यकारोका वर्णन इस प्रकरणके अन्तमें किया जायगा।

योगदर्शनके चार पाद

योगदर्शनके चार पाद हैं और १९५ सूत्र हैं। समाधिपादमे ५१, साधनपादमें ५५, विभूतिपादमें ५५ और कैवल्यपादमें ३४।

१ *समाधिपाद*—जिस प्रकार एक निपुण क्षेत्रज्ञ सबसे प्रथम सबसे अधिक उपजाऊ भूमिको

तैयार करके उसमें श्रेष्ठतम बीज बोता है, इसी प्रकार श्रीपतञ्जलि महाराजने समाहित चित्तवाले सबसे उत्तम अधिकारियोके लिये सबसे प्रथम समाधिपादको आरम्भ करके उसमे विस्तारपूर्वक योगके स्वरूपको वर्णन किया है।

सारा समाधिपाद एक प्रकारसे निम्न तीन सूत्रोंकी विस्तृत व्याख्या है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

योग चित्तकी वृत्तियोंका रोकना है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

तब (वृत्तियोंके निरोध होनेपर) द्रष्टाकी स्वरूपमे अवस्थिति होती है।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

दूसरी (स्वरूपावस्थितिसे अतिरिक्त) अवस्थामे द्रष्टा वृत्तिके समान रूपवाला प्रतीत होता है।

चित्त, बुद्धि, मन, अन्तःकरण लगभग पर्यायवाचक समानार्थक शब्द है, जिनका भिन्न-भिन्न दर्शनकारोने अपनी-अपनी परिभाषामें प्रयोग किया है। मनकी चञ्चलता प्रसिद्ध है। सृष्टिके सारे कार्योंमें मनकी स्थिरता ही सफलताका कारण होती है। सृष्टिके सारे महान् पुरुषोंकी अद्भुत शक्तियोमे उनके मनकी एकाग्रताका रहस्य छिपा हुआ होता है। नैपोलियनके सम्बन्धमें कहा जाता है कि वह इतना एकाग्रचित्त था कि रणभूमिमें भी शान्तिपूर्वक शयन कर सकता था, किंतु ये सब एकाग्रताके बाह्य रूप हैं।

योगके अन्तर्गत मनको दो प्रकारसे रोकना होता है—एक तो केवल एक विषयमें लगातार इस प्रकार लगाये रखना कि दूसरा विचार न आने पावे, इसको एकाग्रता अथवा सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इसके चार भेद हैं।

(१) *वितर्क*—किसी स्थूल विषयमें चित्तवृत्तिकी एकाग्रता।

(२) *विचार*—किसी सूक्ष्म विषयमें चित्तवृत्तिकी एकाग्रता।

(३) *आनन्द*—अहकार विषयमें चित्तवृत्तिकी एकाग्रता।

(४) *अस्मिता*—अहंकाररहित अस्मिता विषयमे चित्तवृत्तिकी एकाग्रता।

इसकी सबसे ऊँची अवस्था विवेकख्याति है, जिसमे चित्तका आत्माध्यास छूट जाता है और उसके द्वारा आत्मस्वरूपका उससे पृथक्‌रूपमें साक्षात्कार होता है, किंतु योगदर्शन इसको वास्तविक आत्म-स्थिति नहीं बतलाता है। यह भी चित्तहीकी एक वृत्ति अथवा मनका ही एक विषय है, किंतु इसका निरन्तर अभ्यास वास्तविक स्वरूपावस्थितिमें सहायक होता है।

उपर्युक्त विवेक ख्याति भी चित्तहीकी एक उच्चतम सात्त्विक वृत्ति है। इसको 'नेति-नेति' (यह वास्तविक स्वरूपावस्थिति नहीं है, यह आत्मस्थिति नहीं है इत्यादि) रूप परवैराग्यद्वारा हटाना मनका दूसरी प्रकारसे रोकना है—इसके भी हट जानेपर चित्तमें कोई भी वृत्ति न रहना अथवा मनका किसी विषयकी ओर न जाना, सर्ववृत्ति-निरोध असम्प्रज्ञात समाधि है। इसकी विस्तारपूर्वक व्याख्या योगदर्शनमें यथास्थान की जायगी।

निरोध अपने स्वरूपका सर्वथा नाश हो जाना नहीं है, किंतु जड-तत्त्वके अविवेकपूर्ण सयोगका चेतन तत्त्वसे सर्वथा नाश हो जाना है। इस संयोगके न रहनेपर द्रष्टाकी (शुद्ध परमात्म-) स्वरूपमें अवस्थिति होती है। इसको तीसरे सूत्रमें बतलाया गया है। 'स्वरूपावस्थिति' इतना व्यापक शब्द है कि सारे सम्प्रदाय और मत-मतान्तरवाले इसके अपने अभिमत अर्थ ले सकते है, किंतु योग क्रियात्मकरूपसे अन्तिम लक्ष्यपर पहुँचाकर यथार्थ स्वरूप अनुभव कराकर शब्दोके वाद-विवादमें नहीं पड़ा है। स्वरूपावस्थितिसे अतिरिक्त भिन्न अवस्थाओमें यद्यपि द्रष्टाके स्वरूपमें किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं होता है, तथापि जैसी चित्तकी वृत्ति सुख-दुःख और मोहरूप होती है, वैसा ही द्रष्टा भी प्रतीत होता है। जैसे जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमा जलके हिलनेसे चलायमान और स्थिर होनेसे शान्त प्रतीत होता है।

ब्रह्मसूत्र तथा साख्यसूत्रके सदृश योगदर्शनके भी प्रथम चार सूत्र योगदर्शनकी चतु सूत्री हैं, जिनमें सारा योगदर्शन सामान्यरूपसे बतला दिया है। शेष सब सूत्र इन्हींकी विशेष व्याख्यारूप हैं।

२ *साधनपाद*——दूसरे पादमें विक्षिप्त चित्तवाले मध्यम अधिकारियोके लिये योगका साधन बतलाया गया है——

सर्वबन्धनो और दु खोके मूल कारण पॉच क्लेश हैं——अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेप और अभिनिवेश।

अविद्या——अनित्यमे नित्य, अशुद्धमें शुद्ध, दुःखमें सुख, अनात्मामे आत्मा समझना अविद्या है। इस अविद्यारूपी क्षेत्रमें ही अन्य चारों क्लेश उत्पन्न होते है।

अस्मिता——इस अविद्याके कारण जड चित्त और चेतन पुरुप चितिमें भेद ज्ञान नहीं रहता। यह अविद्यासे उत्पन्न हुआ चित्त और चितिमें अविवेक अस्मिता क्लेश कहलाता है।

राग——चित्त और चितिमें विवेक न रहनेसे जडतत्त्वमें सुखकी वासना उत्पन्न होती है। अस्मिता क्लेशसे उत्पन्न हुई चित्तमें सुखकी इस वासनाका नाम राग है।

द्वेष——इस रागसे सुखमें विघ्न पडनेपर दु:खके सस्कार उत्पन्न होते हैं। रागसे उत्पन्न हुए दु:खके सस्कारोंका नाम द्वेष है।

अभिनिवेश——दु:ख पानेके भयसे भौतिक शरीरको बचाये रखनेकी वासना उत्पन्न होती है, इसका नाम अभिनिवेश क्लेश है।

क्लेशोंसे कर्मकी वासनाएँ उत्पन्न होती हैं। कर्म वासनाओंसे जन्मरूपी वृक्ष उत्पन्न होता है। उस वृक्षमें जाति, आयु और भोगरूपी तीन प्रकारके फल लगते हैं। इन तीनो फलोंमे सुख-दु खरूपी दो प्रकारका स्वाद होता है।

जो पुण्य-कर्म अर्थात् हिंसारहित दूसरेके कल्याणार्थ कर्म किये जाते हैं, उनसे जाति, आयु और भोगमें सुख मिलता है और जो पाप-कर्म अर्थात् हिंसात्मक दूसरोको दु.ख पहुँचानेके लिये कर्म किये जाते हैं, उनसे जाति, आयु और भोगमें दु.ख पहुँचता है।

किंतु यह सुख भी तत्त्ववेत्ताकी दृष्टिमें दु:खरूप ही है, क्योकि विषयोंमे परिणाम-दु ख, ताप-दु.ख और सस्कारदु ख मिला हुआ होता है, और तीनो गुणोके सदा अस्थिर रहनेके कारण उनकी सुख-दु ख और मोहरूपी वृत्तियाँ भी बदलती रहती है। इसलिये सुखके पीछे दु खका होना आवश्यक है।

१ हेय—त्याज्य दुःख क्या है ?

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

आनेवाला दुःख हेय—त्यागने योग्य है ।

२ हेयहेतु—त्याज्य दुःखका कारण क्या है ?

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

द्रष्टा और दृश्यका संयोग हेयहेतु—दुःखका कारण है ।

दृश्यका स्वरूप

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

सारा दृश्य त्रिगुणात्मक है; सत्त्वका स्वभाव प्रकाश है, रजस्का क्रिया और तमस्का स्थिति है । इनका स्वरूप पाँच स्थूलभूत—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश और पाँच तन्मात्राएँ—गन्धतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा और शब्दतन्मात्रा तथा तेरह इन्द्रियाँ—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, अहंकार और चित्त हैं—इनका प्रयोजन पुरुषको भोग और अपवर्ग दिलाना है ।

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

गुणोंकी चार अवस्थाएँ हैं— १ विशेष—पाँचों स्थूलभूत और ग्यारहो इन्द्रियो, २ अविशेष—पाँच तन्मात्राएँ और अहंकार, ३ लिङ्गमात्र—महत्तत्त्व और ४ अलिङ्ग-प्रधान अर्थात् अव्यक्त मूलप्रकृति ।

द्रष्टाका स्वरूप

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

द्रष्टा यद्यपि देखनेकी शक्तिमात्र निर्मल और निर्विकार है, फिर भी उसे चित्तकी वृत्तियोंका ज्ञान रहता है ।

दृश्यका प्रयोजन

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

यह सारा दृश्य द्रष्टा पुरुषके अपवर्ग (स्वरूपावस्थिति) करानेके लिये है ।

यह दृश्य मुक्त पुरुषोंका प्रयोजन सिद्ध करके अन्य पुरुषोंके लिये इसी प्रयोजनके सिद्ध करानेमें लगा रहता है ।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

जिनका प्रयोजन सिद्ध हो गया है, उनके लिये यह दृश्य नष्ट हुआ भी अपने स्वरूपसे नष्ट नहीं होता; क्योंकि वह दूसरोंकी साँझा वस्तु है अर्थात् दूसरोंके भोग-अपवर्गके साधनमें लगा रहता है ।

द्रष्टा और दृश्यके संयोगके वियोगका कारण अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

स्वशक्ति और स्वामिशक्तिके स्वरूपकी उपलब्धिका कारण संयोग है । अर्थात् संयोग हटानेके लिये स्वशक्ति और स्वामिशक्तिके स्वरूपकी उपलब्धि की जाती है । स्वशक्ति अर्थात् दृश्यके स्वरूपकी उपलब्धि,

जो भोगरूप है, सम्प्रज्ञात समाधिद्वारा और स्वामिशक्ति अर्थात् पुरुषके स्वरूपकी उपलब्धि, जो अपवर्गरूप है, असम्प्रज्ञात समाधिद्वारा की जाती है। दृश्य और द्रष्टा अर्थात् चित्त और पुरुषका जो आसक्तिपूर्वक स्व-स्वामि अर्थात् भोग्यत्व और भोक्तृत्व-भाव सम्बन्ध है, वह सयोग है।

संयोगकी उत्पत्तिका कारण अगले सूत्रमें बतलाते है—

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

द्रष्टा और दृश्यके अविवेकपूर्ण सयोगका कारण अविद्या है।

३ हान–दु खका निन्तान्त अभाव क्या है?

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

अविद्याके अभावसे सयोगका अभाव होता है—यही 'हान' है। यह चेतनस्वरूप पुरुषका कैवल्य है।

४ हानोपाय–दु खके निन्तान्त अभावका साधन क्या है?

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

निर्मल अडोल विवेक ख्याति हानका उपाय है।

विवेकख्यातिकी सबसे ऊँची अवस्थावाली प्रज्ञा अगले सूत्रमें बतलायी गयी है—

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

उस विवेक-ख्यातिकी सात प्रकारकी सबसे ऊँची अवस्थावाली प्रज्ञा होती है।

१ जो कुछ जानना था जान लिया, अर्थात् जितना गुणमय दृश्य है वह सब परिणाम, ताप और संस्कारदु खो तथा गुणवृत्तिविरोधसे दु:खरूप ही है। इसलिये 'हेय' है। अब कुछ जानने योग्य नहीं रहा।

२ जो कुछ दूर करना था दूर कर दिया, अर्थात् द्रष्टा और दृश्यका सयोग जो 'हेय-हेतु' है वह दूर कर दिया। अब कुछ दूर करने योग्य नहीं रहा।

३ जो कुछ साक्षात् करना था साक्षात् कर लिया, अर्थात् निरोध-समाधिद्वारा 'हान' को साक्षात् कर लिया। अब कुछ साक्षात् करने योग्य नहीं रहा।

४ जो कुछ करना था कर लिया, अर्थात् 'हान' का उपाय 'अविप्लव विवेक-ख्याति' सम्पादन कर लिया। अब कुछ करने योग्य नहीं रहा।

५ चित्तने अपने भोग अपवर्ग दिलानेका अधिकार पूरा कर दिया, अब कोई अधिकार शेष नहीं रहा।

६ चित्तके गुण अपने भोग अपवर्गका प्रयोजन सिद्ध करके अपने कारणमें लीन हो रहे हैं।

७ गुणोसे परे होकर शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति हो रही है।

निर्मल विवेक-ख्याति, जिसे हानका उपाय बतलाया है, अब उसकी उत्पत्तिका साधन बतलाते है।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

योगके अङ्गोंके अनुष्ठानसे अशुद्धिके क्षय होनेपर ज्ञानकी दीप्ति (प्रकाश) विवेक-ख्यातिपर्यन्त बढ जाती है।

योगके आठ अङ्ग

योगके आठ अङ्ग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि हैं। इनका विस्तारपूर्वक वर्णन योगदर्शनमें यथास्थान किया जायगा।

३ विभूतिपाद

धारणा, ध्यान और समाधि—तीनों मिलकर संयम कहलाते हैं। ये तीनो अन्य पाँच अङ्गोंकी अपेक्षा सबीज समाधिके अन्तरङ्ग साधन है, किंतु निर्बीज समाधिके ये भी बहिरङ्ग साधन हैं, क्योंकि उसका अन्तरङ्ग साधन पर-वैराग्य है। इस संयमके विनियोगसे नाना प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, जिनका तीसरे पादमें वर्णन है। ये सिद्धियाँ यद्यपि अश्रद्धालुओंकी योगमें श्रद्धा बढाने और असमाहित (विक्षिप्त) चित्तवालोंके चित्तको एकाग्र करनेमें सहायक होती हैं, किंतु इनमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये। इसकी कई सूत्रोंसे चेतावनी दी गयी है; जैसे—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

ऊपर बतलायी हुई प्रातिभ आदि सिद्धियाँ व्युत्थानमें सिद्धियाँ हैं, किंतु समाधिमें विघ्न है।

योगमार्गपर चलनेवालेके लिये नाना प्रकारके प्रलोभन आते हैं। अभ्यासीको उनसे सावधान रहना चाहिये, उनमें फँसनेसे और घमण्डसे बचे रहना चाहिये। इस सम्बन्धमें निम्न सूत्र है—

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात् ॥ ५१ ॥

स्थानवालोंके आदरभाव करनेपर लगाव और अभिमान नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करनेसे फिर अनिष्टके प्रसगका भय है।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

चित्त और पुरुषके भेद जाननेवाला सारे भावोंके अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्वको प्राप्त होता है।

किंतु योगीको उससे भी अनासक्त रहकर अपने असली ध्येयकी ओर बढना चाहिये, जैसा कि अगले सूत्रमें बतलाया है—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

उससे भी वैराग्य होनेपर, दोषोंका बीज क्षय होनेपर कैवल्य होता है।

४ कैवल्यपाद

इसमें कैवल्यके उपयोगी चित्त तथा चित्तके सम्बन्धमें जो-जो शङ्काएँ हो सकती हैं, उनका युक्तिपूर्वक निवारण किया है।

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

पुरुषको, जो क्रिया अथवा परिणामरहित है, स्वप्रतिबिम्बित चित्तके आकारकी तरह आकारकी प्राप्ति होनेपर अपने विषयभूत चित्तका ज्ञान होता है।

अर्थात् निर्विकार पुरुषमें दर्शन-कर्तृत्व, ज्ञातृत्व स्वाभाविक नहीं है, किंतु जैसे निर्मल जलमें प्रतिबिम्बित हुए चन्द्रमामें अपनी चञ्चलताके बिना ही जलरूपी उपाधिकी चञ्चलतासे चञ्चलता भासती है

वैसे ही चित्तमें प्रतिविम्बित जो चेतन है, वह भी स्वाभाविक ज्ञातृत्व और भोक्तृत्वके विना ही केवल प्रतिविम्बाधार चित्तके विषयाकार होनेसे तदाकार भासता है।

वह सदा अपरिणामी, क्रियारहित और ज्ञानस्वरूप रहता हुआ इसका साक्षी बना रहता है। अगला सूत्र चित्तके सम्बन्धमें है—

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

द्रष्टा और दृश्यसे रँगा हुआ चित्त सारे आकारवाला होता है।

अर्थात् एक तो चित्तका अपना स्वरूप है, दूसरा पुरुषसे प्रतिविम्बित होकर चेतन अर्थात् ज्ञानवाला प्रतीत होता है। यह उसका द्रष्टासे उपरक्त हुआ गृहीता स्वरूप है। तीसरा बाह्य विषयोंसे प्रतिविम्बित होकर उन-जैसा भासता हुआ स्वरूप है। यह उसका दृश्य उपरक्त बाह्य स्वरूप है।

इस प्रकार चित्तको एक ऐसा दर्पण समझना चाहिये, जिसमें सूर्यका प्रकाश पड़ रहा हो और अन्य विषयोंका प्रतिविम्ब आ रहा हो। इस शङ्काके निवारणार्थ कि जब चित्तसे ही सब व्यवहार चल रहे है और उसीमें सब वासनाएँ रहती हैं तो द्रष्टा प्रमाणशून्य होकर चित्त ही भोक्ता सिद्ध हो जायगा। अगला सूत्र है—

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

यद्यपि चित्त अनगिनती वासनाओंसे चित्रित है तथापि वह पुरुषके लिये है, क्योंकि वह संहत्यकारी है।

यहाँतक चित्त और पुरुषका भेद युक्तिद्वारा बतलाकर अब अगले सूत्रमें यह बतलाते हैं कि इसका वास्तविक ज्ञान तो अनुभवगम्य है।

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

समाधिद्वारा जब योगीको पुरुष और चित्तके भेदका साक्षात्कार हो जाता है, तब उसकी आत्मभाव-भावना कि 'मैं कौन हूँ, क्या हूँ, कैसा हूँ'—इत्यादि निवृत्त हो जाती है।

अब इस पादके अन्तिम सूत्रमें कैवल्यका स्वरूप बतलाते हैं।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चिति शक्तेरिति ॥ २४ ॥

पुरुषार्थसे शून्य हुए गुणोंका अपने कारणमे लीन हो जाना कैवल्य है; अथवा चिति-शक्तिका अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाना कैवल्य है।

गुणोंकी प्रवृत्ति पुरुषके भोग और अपवर्गके लिये है। जब यह प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, तब उस पुरुषके प्रति उनका कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। इसलिये वे अपने कारणमें लीन हो जाते हैं। इस प्रकार पुरुषका अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग सम्पादन करनेके पश्चात् गुणोंका अपने कारणमे लीन हो जानेका नाम कैवल्य है। अथवा यों समझना चाहिये कि धर्मी चित्तके परिणामक्रम बनानेवाले गुणोंका अपने कारणमें लीन हो जानेपर चिति-शक्ति (पुरुष) का चित्तसे किसी प्रकारका सम्बन्ध न रहनेपर (शुद्ध परमात्म-) स्वरूपमें अवस्थित हो जानेका नाम कैवल्य है।

चित्तकी नौ अवस्थाओंका संक्षिप्त वर्णन

सांख्य और योग फिलासफीमें चित्तका विषय महत्त्वपूर्ण है। उसके वास्तविक स्वरूपको समझानेकी दृष्टिसे चित्तकी नौ विशेष अवस्थाओंको यहाँ समन्वयके अन्तमें संक्षेपसे वर्णन कर देना आवश्यक समझते हैं। इसको चित्तकी क्षिप्त-विक्षिप्त आदि पाँच भूमियोंके विषयसे, जिसका समाधि-पादमें वर्णन हुआ है, पृथक् समझना चाहिये।

१ *जाग्रत् अवस्था*—'सत्त्व चित्त' में सत्त्वगुण गौणरूपसे दबा रहता है, तम सत्त्वको वृत्तिके यथार्थरूपके दिखलानेसे रोके रखता है, परंतु रज प्रधान होकर चित्तको इन्द्रियोंद्वारा बाह्य विषयोंमें उपरक्त करनेमें समर्थ होता है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और स्मृति-वृत्तियोंका उदय होता है। इन्द्रियाँ बहिर्मुख होकर स्थूल शरीरद्वारा कार्य करती हैं। चित्तमें व्युत्थानके सस्कार तथा व्युत्थानका परिणाम होता है। पुरुष वृत्ति-सारूप्य प्रतीत होता है।

२ *स्वप्नावस्था* - सत्त्वगुण गौणतर रूपसे दबा रहता है। तम रजको इतना दबा लेता है कि वह चित्तको इन्द्रियोंद्वारा बाह्य विषयोंमे उपरक्त नहीं कर सकता है किंतु रजकी क्रिया सूक्ष्मरूपसे होती रहती है, जिसमे वह चित्तको मनद्वारा स्मृतिके सस्कारोंमें उपरक्त करनेमें समर्थ रहता है। इसमें भावित स्मर्तव्य स्मृति वृत्ति रहती है। मन इन्द्रियोंके अन्तर्मुख होनेसे सूक्ष्मशरीरमें स्वप्नका कार्य करता है। चित्तमें व्युत्थानके संस्कार तथा व्युत्थानका परिणाम होता है। पुरुष वृत्तिसारूप्य प्रतीत होता है।

३ *सुषुप्ति अवस्था*—सत्त्वगुण गौणतम रूपसे दब जाता है। तमोगुण रजोगुणकी स्वप्नावस्थावाली क्रियाओंको भी रोककर प्रधानरूपसे चित्तपर फैल जाता है। इसलिये किसी विषयका किसी प्रकारका भी ज्ञान नहीं रहता है; किंतु रजका नितान्त अभाव नहीं होता, वह कुछ अशमें बना ही रहता है। जिसके कारण किसी विषयके ज्ञान न होनेकी अर्थात् अभावकी प्रतीति होती रहती है। सूक्ष्मशरीरमें कार्य बद होकर कारण-शरीरमें निद्रावृत्ति बनी रहती है। पुरुष वृत्ति-सारूप्य प्रतीत होता है।

४ *प्रलयावस्था*—प्रलयमें चित्तकी अवस्था सुषुप्ति-जैसी होती है, केवल इतना भेद है कि यह व्यष्टि-चित्तकी सुषुप्ति है और प्रलय समष्टि-चित्तकी, जिससे सर्वबद्ध जीव गाढ़ निद्रा-जैसी अवस्थामें रहते हैं।

५ *समाधि प्रारम्भ अवस्था*—तमोगुण गौणरूपसे रहता है। रजोगुणकी चित्तको चलायमान करनेकी क्रिया निर्बल होती जाती है। सत्त्वगुण प्रधान होकर चित्तको एकाग्र करने और उसमें वस्तुके यथार्थरूपको दिखलानेमे समर्थ होता जाता है। इसमें सर्वार्थताका दबना और एकाग्रवृत्तिका उदय होना प्रारम्भ होता है। पुरुष वृत्ति-सारूप्य प्रतीत होता है।

६ *सम्प्रज्ञात समाधि (एकाग्रता)*—तमोगुण गौणतर रूपसे दबा रहता है। सत्त्वगुण रजोगुणको दबाकर प्रधानरूपसे अपना प्रकाश करता है, जिससे चित्त वस्तुके तदाकार होकर उसका यथार्थरूप दिखलानेमें समर्थ होता है। स्थूलशरीरमें कार्य बद होकर सूक्ष्मशरीरमें एकाग्रवृत्ति रहती है। स्वप्नावस्थासे इसमें यह विलक्षणता है कि तमके स्थानपर इसमें सत्त्वकी प्रधानता हो जाती है, चित्तमे समाधि परिणाम होता है। पुरुष एकाग्रतावृत्ति-सारूप्य प्रतीत होता है।

७ सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधिके बीचकी अवस्था (विवेकख्याति)—तमोगुण गौणतम रूपसे नाममात्र रहता है । चित्तसे रजोगुण-तमोगुणका आवरण हटकर सत्त्वगुणका पूर्णतया प्रकाश फैल जाता है । रजोगुण केवल इतनी मात्रामें रहता है कि जिससे पुरुषको चित्तसे भिन्न दिखलाने-की क्रिया हो सके और तम इस वृत्तिको रोकनेमात्र रह जाता है । सुषुप्तिसे इसमें यह विलक्षणता है कि तमके स्थानपर इसमें सत्त्व प्रधानरूपसे रहता है । सुषुप्तिमें कारण-शरीरमें अभावकी प्रतीतिके स्थानपर इसमें कारण-शरीरमें चित्तद्वारा पुरुषका चित्तसे भेदज्ञान (विवेकख्याति) होता है ।

८ असम्प्रज्ञात समाधि (स्वरूपावस्थिति)—'सत्त्व चित्त' में बाहरसे तीनो गुणोका (वृत्तिरूप) परिणाम होना बद हो जाता है । तीनो गुणोका नितान्त अभाव होनेसे विवेक-ख्याति अर्थात् पुरुषको चित्तसे भिन्न प्रतीत करानेवाली वृत्ति भी रुक जाती है । सर्ववृत्तियोके निरुद्ध हो जानेपर चित्त अपने वास्तविक सत्त्व स्वरूपसे पुरुषमें अवस्थित रहता है और पुरुषकी शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति होती है । चित्तमे केवल निरोध-परिणाम अर्थात् सस्कार शेष रहते हैं, जिनके दुर्बल होनेपर उसे फिर व्युत्थान-दशामे आना होता है ।

९ प्रतिप्रसव अर्थात् चित्तको बनानेवाले गुणोंकी अपने कारणमे लीन होनेकी अवस्था—चित्त में निरोध-परिणाम अर्थात् संस्कार-शेष भी निवृत्त हो जाते हैं । चित्तको बनानेवाले गुण पुरुषका भोग-अपवर्गका प्रयोजन पूरा करके अपने कारणमे लीन हो जाते हैं और पुरुष शुद्ध कैवल्य परमात्मस्वरूपमें अवस्थित हो जाता है ।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति ।।(३ । ३४)

पुरुषार्थसे शून्य हुए गुणोंका अपने कारणमें लीन हो जाना कैवल्य है, अथवा चिति शक्तिकी स्वरूपावस्थिति कैवल्य है ।

पतञ्जलिमुनिका परिचय

योगदर्शनके सूत्रकार श्रीपतञ्जलिमुनिकी जीवनीका ठीक-ठीक पता नहीं चलता, किंतु यह बात नि.सदेह सिद्ध है कि श्रीपतञ्जलिमुनि भगवान् कपिलके पश्चात् और अन्य चारो दर्शनकारोसे बहुत पूर्व हुए हैं । किसी-किसीका मत है कि पाणिनि व्याकरणका महाभाष्य तथा वैद्यककी चरक-सहिता—ये दोनो जो अपने-अपने विषयके अद्वितीय ग्रन्थ हैं, इन्हींके रचे हुए है । जैसे कि कहा गया है—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ।।

मै उस मुनियोमें श्रेष्ठ पतञ्जलिको बद्धाञ्जलि (हाथ जोडकर) नमस्कार करता हूँ, जिसने कि योगसे अन्त करणके, पद (व्याकरण-महाभाष्य) से वाणीके और वैद्यक (चरक-ग्रन्थके द्वारा) से शरीरके मलको दूर किया है (धोया है) ।

योगदर्शनके प्रथम सूत्र 'अथ योगानुशासनम्' के सदृश महाभाष्यको भी प्रथम सूत्र 'अथ शब्दानुशासनम्' से आरम्भ किया गया है तथा चरकमें भी सांख्ययोग फिलासफीको ही वैद्यकका आधार-शिला बनाया गया है । यथा—

सत्त्वमात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिदण्डवत् । लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
स पुमॉश्चेतनं तच्च तच्चाधिकरणं स्मृतम् । वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्प्रकाशतः ॥
(२ । ४५-४६)

चित्त, आत्मा और शरीर इन तीनोंका तीन दण्डोंके समान परस्पर सम्बन्ध है । इन तीनोंके सम्बन्धमे ससार ठहरा हुआ है । उसीमे सब कुछ प्रतिष्ठित है ॥ ४५ ॥

इन तीनोंके सम्बन्धको ही पुमान् (पुरुष), चेतन और (आयुर्वेदका) अधिकरण माना गया है। इस पुरुषके लिये ही इस आयुर्वेदका प्रकाश किया गया है ॥ ४६ ॥

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः ।
चेतने कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः॥५५॥

आत्मा निर्विकार है, पर है, चित्त, भूतगण (शरीर) और इन्द्रियोके चैतन्यमे कारण है । नित्य है, द्रष्टा है, (क्रियारहित होता हुआ भी) सर्व चित्तकी क्रियाओको देखनेवाला है ॥ ५५ ॥

किंतु इन दोनों ग्रन्थोके साथ पतञ्जलिमुनिका नाम केवल इन ग्रन्थोकी प्रतिष्ठा बढानेके लिये लगाया गया है । अन्यथा दोनों ग्रन्थ योगदर्शनकी अपेक्षा बहुत पिछले समयके बने हुए है । वैद्यक अनुभवसिद्ध विषय है । इसलिये सांख्ययोग फिलासफीके साथ इसका समन्वय होना स्वाभाविक ही है । पाणिनि मुनिप्रणीत अष्टाध्यायीपर यह महाभाष्य लिखा गया है, इस कारण अनुशासनका शब्द प्रयोग किया गया है । प्राचीन कालके पतञ्जलिमुनिका महाभाष्यका रचयिता होना भी एक विचित्र रूपमे दिखलाया गया है । जिसके अनुसार पतञ्जलिमुनिको शेषनागका अवतार मानकर काशीमे एक बावड़ीपर पाणिनिमुनिके समक्ष सर्परूपमें प्रकट होना बतलाया गया है । पाणिनिमुनि घबराकर 'को भवान्' के स्थानपर 'कोऽभवान्' बोलते हैं। सर्प उत्तर देता है । 'सर्पोऽहम्' । पाणिनिमुनि पूछते हैं—'रेफः कुतो गतः'। सर्प उत्तर देता है—'तव मुखे' । इसके पश्चात् सर्पके आदेशानुसार एक चादरकी आड लगा दी गयी । उसके अदरसे शेषनाग पतञ्जलिमुनि अपने हजारो मुखोंसे एक साथ सब प्रश्नकर्ताओको उत्तर देने लगे । इस प्रकार सारा महाभाष्य तैयार हो गया । किंतु सर्पकी इस आज्ञाके कि कोई पुरुष चादर उठाकर अदर न देखे एक व्यक्तिद्वारा उल्लङ्घन किये जानेपर शेषनागकी फुंकारसे ब्राह्मणोके सारे कागज जल गये । ब्राह्मणोंकी दुखी अवस्थाको देखकर एक यक्षने, जो वृक्षपर बैठा पत्तोपर भाष्यको लिखता जाता था, वे पत्ते उनके पास फेंक दिये । उन पत्तोंमेंसे कुछको बकरी खा गयी । इसीलिये कुछ स्थानोमें महाभाष्यमें असङ्गति-सी पायी जाती है ।

पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः । (४ । ३ । ११०)

अष्टाध्यायीके उपर्युक्त सूत्रसे व्यासजीका पाणिनिमुनिसे पूर्व होना सिद्ध होता है । फिर पाणिनिमुनिप्रणीत अष्टाध्यायीपर महाभाष्यकर्ता पतञ्जलि योगदर्शनके सूत्रकार पतञ्जलि किस प्रकार हो सकते हैं ।

यह सम्भव है कि पतञ्जलि नामके कोई अन्य व्यक्ति इन दोनों उच्च कोटिके ग्रन्थोंके रचयिता हुए हों ।

योगदर्शनपर भाष्य तथा वृत्ति आदि

योगदर्शनके ऊपर अनेक भाष्य, वृत्तियाँ और टीकाएँ रची गयी हैं। उनमें सबसे अधिक प्रामाणिक, प्रसिद्ध और प्राचीन व्यासभाष्य है। व्यासभाष्य स्वयं बहुत ही गूढार्थ है। उसके अर्थको समझानेके लिये वाचस्पति मिश्रने तत्त्ववैशारदी और विज्ञानभिक्षुने योगवार्तिककी रचना की है। विज्ञानभिक्षुने एक अलग पुस्तक योगसारमें योगके सिद्धान्तोका सारांश उपस्थित किया है। वृत्तियोमें "राजमार्तण्ड" जिसका प्रसिद्ध नाम "भोजवृत्ति" है, अत्यन्त लोकप्रिय और प्रामाणिक है। गणेश भट्टकी एक बडी वृत्ति योगवार्तिकके आधारपर निर्मित हुई है। योगदर्शनके भाष्यकार व्यासका ठीक-ठीक समय निश्चय करना कठिन है। कई एक विद्वानोका मत है कि ब्रह्मसूत्रकार व्यास ही योगदर्शनके भाष्यकार व्यास हैं। योग-दर्शनके प्रथम वार्तिकमें विज्ञानभिक्षुने भी ब्रह्मसूत्रकार बादरायणको ही योगदर्शनका भाष्यकार व्यास बतलाया है। अन्य कई विद्वान् ऐसा मानते है कि योगदर्शनके भाष्यकार व्यास ब्रह्मसूत्रकार व्याससे भिन्न हैं और बहुत पूर्व समयमें हुए हैं। व्यास-भाष्यमे भिन्न-भिन्न स्थानोंमे लगभग इक्कीस सूत्र पञ्च-शिखाचार्यके, कुछ वचन जैगीषव्य और वार्षगण्याचार्यके तथा एक-दो घटनाएँ रामायणकी भी उद्धृत की गयी हैं। इससे सिद्ध होता है कि साख्यके प्राचीन ग्रन्थ पञ्चशिखाचार्यके सूत्र और वार्षगण्याचार्य-प्रणीत षष्ठी-तन्त्र जो इस समय लुप्त हैं तथा वाल्मीकीय रामायण व्यासभाष्यके समय विद्यमान थे।

श्रीमद्भगवद्गीता और महाभारत आदि ग्रन्थ तथा ब्रह्मसूत्र उसके पश्चात् बनाये गये है।

पूज्यपाद १०८ श्रीस्वामी सोमतीर्थजी महाराज

प्रणीत

षड्दर्शन-सदुपयोग-समन्वय-सूत्र

१–अथ षड्दर्शनसदुपयोगसमन्वयसूत्रम् ।

अब पूर्वमीमांसा आदि छहों दर्शनोंके सदुपयोगका समन्वय करनेवाले सूत्रोंको प्रारम्भ करते हैं ।

२–गर्भाधानसंस्कारादिवेदारम्भपर्यन्तसंस्कारैः संस्कृतो वेदं पठेत् ।

गर्भाधानसे लेकर वेदारम्भपर्यन्त दस सस्कारोंसे अपने शरीर, मन और अन्तःकरणको पवित्र बना ब्रह्मचारी वेदको पढे ।

३–अथ धर्मजिज्ञासा ।

वेदाध्ययनके पश्चात् धर्मकी जिज्ञासा अर्थात् उसके जाननेका प्रयत्न करें ।

४–तत्र अथातो धर्मजिज्ञासा इत्यस्योपयोगः ।

धर्मके ज्ञान प्राप्त करनेमें पूर्वमीमासाका उपयोग है ।

५–कृतधर्मानुष्ठानशुद्धान्तःकरणः साधनचतुष्टयं सम्पादयेत् ।

यथार्थ स्वरूपसे जाने हुए धर्मके अनुष्ठानद्वारा अपने अन्तःकरणको निर्मल बनाकर विवेक, वैराग्य, शम-दमादिसम्पत् और मुमुक्षा— इन चार साधनोका सम्पादन करें ।

६–संजातमुमुक्षः ब्रह्मजिज्ञासुः स्यात् ।

जब मुमुक्षा अर्थात् जन्म-मरणके बन्धनसे छूटनेकी प्रबल अभिलाषा मनमे उत्पन्न हो जाय, तब ब्रह्मको जाननेकी इच्छा करे ।

७–अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इत्यस्यात्रोपयोगः ।

ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिमें उत्तरमीमासा (वेदान्तदर्शन) उपयोगी है ।

८–अस्त्यत्रांशत्रयम् ।—ब्रह्मप्राप्तिके उपायके तीन भाग है ।

९–श्रवणं मननं निदिध्यासनं च ।—श्रवण, मनन और निदिध्यासन ।

१०–श्रवणे सर्वे वेदान्ता उपयुक्ताः ।—श्रवणके लिये सभी वेदान्त ग्रन्थ उपयोगी हैं ।

११–मनने न्यायवैशेषिकयोः सहकारिता ।—मननके लिये न्याय और वैशेषिक सहायक हैं ।

१२–क्वचित् पूर्वपक्षत्वेन । १३–क्वचित् सिद्धान्तसमर्थनात् ।

ये दोनो दर्शन कहीं तो पूर्व पक्ष उपस्थित करके विचारका द्वार खोलते हैं और कहीं सिद्धान्तका समर्थन करते है । इस प्रकार सहकारी हैं ।

१४–निदिध्यासने सांख्ययोगयोरुपयोगः ।

निदिध्यासनमें साख्य और योगका उपयोग करना उचित है । इनकी रीतिसे साधन करके आत्म-निष्ठा प्राप्त करनी चाहिये ।

१५–तत्र तस्य सम्यग्विधानात् ।—क्योकि निदिध्यासनका इनमें भलीभाँति विधान है ।

१६–इति षड्दर्शनसदुपयोगसमन्वयसूत्रम् ।

अब षड्दर्शनके सदुपयोगके समन्वयका प्रतिपादन करनेवाले सूत्र समाप्त हुए ।

ॐ

पातञ्जलयोगप्रदीप

समाधिपाद

निपुण क्षेत्रज्ञ जिस प्रकार सबसे प्रथम अधिक उपजाऊ भूमिको तैयार करके उसमें श्रेष्ठतम बीज बोता है, इसी प्रकार महर्षि पतञ्जलि समाहित चित्तवाले उत्तम अधिकारियोंके लिये सबसे प्रथम समाधिपाद आरम्भ करते हैं।

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ—अथ=अब आरम्भ करते हैं। योग+अनुशासनम्=योगकी शिक्षा देनेवाले ग्रन्थको।

अन्वयार्थ—अब योगकी शिक्षा देनेवाले ग्रन्थको आरम्भ करते हैं।

व्याख्या—'अथ' यह शब्द अधिकार अर्थात् आरम्भवाचक और मङ्गलार्थक है। जिसके द्वारा लक्षण, भेद, उपाय और फलोंसहित शिक्षा दी जाय अर्थात व्याख्या की जाय उसको अनुशासन कहते हैं। इसलिये 'अथ योगानुशासनम्' के अर्थ हुए 'अब लक्षण, भेद, उपाय और फलोंसहित योगकी शिक्षा देनेवाले शास्त्रको आरम्भ करते है। योग समाधिको कहते हैं. और समाधि सारी भूमियो (अवस्थाओं) मे चित्तका धर्म है। जो तीन भूमियों (अवस्थाओं) में दबा रहता है और केवल दो भूमियोंमें प्रकट होता है। चित्तकी पाँच भूमियाँ हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनका विस्तारपूर्वक वर्णन दूसरे सूत्रमें किया जायगा। इनमेंसे अत्यन्त चञ्चल चित्तको क्षिप्त और निद्रा, तन्द्रा, आलस्यादिवाले चित्तको मूढ़ कहते हैं। क्षिप्तसे जो श्रेष्ठ चित्त है अर्थात् जिसमें कभी-कभी स्थिरता होती रहती है, उसे विक्षिप्त कहते हैं। क्षिप्त और मूढ़ चित्तमें तो योगका गन्ध भी नहीं होना और विक्षिप्त चित्तमें जो कभी-कभी क्षणिक स्थिरता होती है उसकी भी योग-पक्षमें गिनती नहीं है; क्योंकि यह स्थिरता दीर्घ कालतक स्थिर नहीं रहने पाती, शीघ्र ही प्रबल चञ्चलतासे नष्ट हो जाती है। इसलिये विक्षिप्त भूमि भी योगरूप नहीं है। जिसका एक ही अग्र विषय हो अर्थात् एक ही विषयमे विलक्षणवृत्तिके व्यवधानसे (बीच-बीचमें आ जानेसे) रहित सदृश वृत्तियोंके प्रवाहवाले चित्तको एकाग्र कहते हैं। यह पदार्थके सत्-स्वरूपको प्रकाश, क्लेशको नाश, बन्धनको ढीला और निरोधके अभिमुख करता है। यह सम्प्रज्ञात समाधि और सम्प्रज्ञात योग कहलाता है। इसके चार भेद—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत सत्रहवें सूत्रमें बतलाये जायँगे। पुनः सर्ववृत्तियोंके निरोधवाले चित्तको निरुद्ध कहते हैं। उस निरुद्ध चित्तमें असम्प्रज्ञात समाधि होती है, उसीको असम्प्रज्ञात योग कहते है।

उसके लक्षणको प्रकाशित करनेकी इच्छासे अगला सूत्र बना है।

विशेष विचार

अनुबन्ध-चतुष्टय—शास्त्रकार अपने शास्त्रके आरम्भमें निम्न चार बातोका वर्णन कर दिया करते हैं—

१ विषय—इस शास्त्रका विषय क्या है ?

२ प्रयोजन—इसका प्रयोजन क्या है ?

३ अधिकारी—इसका अधिकारी कौन है ?

४ सम्बन्ध—इनके साथ शास्त्रका सम्बन्ध क्या है ?

इनको अनुबन्ध-चतुष्टय कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने 'अथ=अब आरम्भ करते हैं' इससे इन चारों बातोंको बतला दिया है कि—

१ इस पातञ्जल्योगदर्शनका विषय योग है, जिसमे योगके अवान्तर भेद, साधन और फलका प्रतिपादन किया गया है।

२ योगद्वारा स्वरूप-स्थिति (अपवर्ग=निःश्रेय=मोक्ष=कैवल्य=आत्मस्थिति=परमात्मप्राप्ति) कराना इस शास्त्रका प्रयोजन है।

३ स्वरूप-स्थिति एवं परमात्मप्राप्तिका जिज्ञासु एव मुमुक्षु साधक इसका अधिकारी है।

४ यह दर्शन योगका प्रतिपादक है, इसलिये इसका योगसे प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव-सम्बन्ध है। योग साधन है, स्वरूप-स्थिति साध्य है। अतः स्वरूपस्थिति और योगका साध्य-साधनभाव सम्बन्ध है। स्वरूप-स्थितिका जिज्ञासु योगका अधिकारी है। इसलिये स्वरूपस्थिति और अधिकारीमें प्राप्य-प्रापकभाव सम्बन्ध है। अधिकारी और योगका कर्तृ-कर्त्तव्यभाव सम्बन्ध है।

धात्वर्थ—योग शब्द युक्ति अर्थात् मेल तथा 'युज् समाधौ' इस (धातु) से समाधिके अर्थमें प्रयुक्त होता है। श्रीव्यासजी महाराजने इस दर्शनमें योगका सर्वत्र ही समाधिके अर्थहीमे प्रयोग किया है।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।

(२ । २९)

में समाधि और योगमें अङ्गाङ्गि-भाव सम्बन्ध बतलाया गया है, परतु समाधि जिसके दो भेद—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात बतलायेंगे, योगका मुख्य अङ्ग तथा साधन होनेके कारण योगके अर्थमें इस दर्शनमें प्रयुक्त हुआ है।

योगकी प्राचीन परम्परा—'शासन' उपदेश अथवा शिक्षाको कहते हैं। अनु+शासन=जिस विषयका शासन पहिलेसे विद्यमान हो। इसलिये अनुशासन शब्दसे श्रीपतञ्जलि महाराजने योगशिक्षाका प्राचीन परम्परासे चला आना बतलाया है, जिसका वर्णन श्रुति और स्मृतिमें पाया जाता है।

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः। (याज्ञवल्क्य)

हिरण्यगर्भ ही योगके वक्ता हैं, इनसे पुरातन और कोई वक्ता नहीं है। इत्यादि वचनोसे श्रीयाज्ञवल्क्यने हिरण्यगर्भको योगका आदि-वक्ता अर्थात् गुरु माना है। इसी प्रकार—

सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते ।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः ॥

(महाभा० १२ । ३४९ । ६५)

साख्यके वक्ता कपिलाचार्य परमर्षि कहलाते हैं और योगके वक्ता हिरण्यगर्भ हैं, जिनसे पुराना और कोई वक्ता इनका नहीं है। इसी प्रकार—

इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत् ।

(श्रीमद्भा० ५ । १९ । १३)

हे योगेश्वर ! यह योगकौशल वही है, जिसे भगवान् हिरण्यगर्भने कहा था। हिरण्यगर्भ किसी भौतिक मनुष्यका नाम नहीं है, बल्कि महत्तत्त्वके सम्बन्धसे शबल ब्रह्मका वाचक है (वि० वि० सूत्र २)। जैसा कि

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(ऋ० १० । १२१ । १; यजु० अ० १३ मन्त्र ४)

हिरण्यगर्भ ही पहले उत्पन्न हुए, जो समस्त भूतोंके एक पति थे । उन्हींने इस पृथिवी और स्वर्गलोकको धारण किया । उस सुखस्वरूप देवकी हम पूजा करते हैं ।

अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः । (छान्दो० १ । ६ । ६)

अब यह सुनहरा पुरुष जो सूर्यके अंदर दीखता है, जिसकी सुनहरी दाढी मूँछें और सुनहरे बाल हैं । नखोंसे अग्रतक जो सारा ही सुवर्णमय है ।

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एषच्छन्दसि स्तुतः ।
योगैः सम्पूज्यते नित्यं स च लोके विभुः स्मृतः ॥

(महाभा० १२ । ३४२ । ९६)

यह द्युतिमान् हिरण्यगर्भ वही हैं, जिनकी वेदमें स्तुति की गयी है । इनकी योगीलोग नित्य पूजा किया करते हैं और संसारमें इन्हें विभु कहते है ।

हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः ।
महानिति च योगेषु विरञ्चीति तथाप्यजः ॥

इन हिरण्यगर्भ भगवान्को (समष्टि) बुद्धि कहते हैं । इन्हींको योगीलोग महान् (महत्तत्त्व=समष्टि चित्त=समष्टि बुद्धि) तथा विरञ्चि और अज (अजन्मा) भी कहते हैं ।

हिरण्यगर्भो जगदन्तरात्मा । (अद्भुतरामा० १५ । ६)

हिरण्यगर्भ जगत्के अन्तरात्मा हैं ।

इसके अतिरिक्त श्रुति और स्मृतियोंमें जहाँ योगका वर्णन किया गया है, उसके कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

श्वेताश्वतर उपनिषद् अध्याय २—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ ८ ॥

शरीरके तीन अङ्गों (छाती, गर्दन और सिर) को सीधा रखकर इन्द्रियोंको मनके साथ हृदयमें प्रवेश करके, ओंकारकी नौकापर सवार होकर भयके लानेवाले सारे प्रवाहोंसे पार उतर जाय ।

प्राणान् प्रपीडयेह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः ॥ ९ ॥

(शरीरकी) सारी चेष्टाओंको वशमें करके प्राणोंको रोके और प्राणके क्षीण होनेपर नासिकासे श्वास ले । सचेत सारथि जैसे घोडोंकी चञ्चलताको रोकता है, इस प्रकार अप्रमत्त होकर मनको रोके ।

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥ १० ॥

ऐसे स्थानपर योगका अभ्यास करे जो सम है, शुद्ध है, ककड, बालू और अग्निसे रहित है, जो शब्द, जलाशय और लता आदिसे मनके अनुकूल है, आँखोको पीडा देनेवाला नहीं है, एकान्त है और वायुके झोंकोंसे रहित है ।

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥११॥

जब अभ्यासका प्रभाव होने लगता है, तब पहले यह रूप दीखते हैं—कुहरा, धुआँ, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, विद्युत्, बिल्लौर और चन्द्र; यह सब रूप दीखकर जब शान्त हो जाते हैं, तब ब्रह्मका प्रकाश होता है ।

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥१२॥

जब पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश प्रकट होते है, अर्थात् पाँचों तत्त्वोका जय हो जाता है, तब फिर योगीके लिये न रोग है, न जरा है, न दु ख है; क्योकि उसने वह शरीर पा लिया है जो योगकी अग्निसे बना है ।

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च ।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥१३॥

योगका पहला फल यह कहते हैं—शरीर हल्का हो जाता है, आरोग्य रहता है, विषयोकी लालसा मिट जाती है, कान्ति बढ जाती है, स्वर मधुर हो जाता है, गन्ध शुद्ध होता है और मल-मूत्र थोडा होता है ।

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम् ।
तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥१४॥

इसके पीछे उसे आत्माके शुद्धस्वरूपका साक्षात् होता है । जैसे वह रत्न जो मिट्टीसे लिथड़ा हुआ होता है, जब धोया जाता है तो फिर तेजोमय होकर चमकता है, इस प्रकार देही (पुरुष) फिर आत्मतत्त्व (आत्माके असली स्वरूप) को देखकर शोकसे पार हुआ कृतार्थ हो जाता है ।

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१५॥

फिर जब योगयुक्त होकर दीपकके तुल्य आत्मतत्त्वसे ब्रह्मतत्त्वको देखता है, जो अजन्मा, अटल (कूटस्थ) और सब तत्त्वोंसे विशुद्ध है, तब उस देव (शुद्ध परमात्मतत्त्व) को जानकर सब फाँसोसे छूट जाता है ।

कठोपनिषद् अ० २ वल्ली ३—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥१०॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥११॥

जब पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ मनके साथ स्थिर हो जाती हैं (प्रत्याहारद्वारा अन्तर्मुख हो जाती हैं) और बुद्धि भी चेष्टारहित हो जाती है (चित्तकी सब वृत्तियोंका निरोध हो जाता है) उसको परमगति

(सबसे ऊँची अवस्था) कहते है । उसीको योग मानते है, जो इन्द्रियोकी निश्चल धारणा है । उस समय वह (योगी) प्रमादसे (अपने स्वरूपको भूला हुआ जो वृत्तिसारूप्य प्रतीत हो रहा था उससे) रहित होता है अर्थात् शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थित होता है, क्योंकि योग प्रभव और अप्यय (निरोधके सस्कारोके प्रादुर्भाव, अर्थात् प्रकट होने और व्युत्थानके संस्कारोंके अभिभव, अर्थात् दबनेका स्थान) है ।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१२॥
अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥१३॥

वह (आत्मा) न वाणीसे, न मनसे, न आँखसे पाया जा सकता है । 'वह है' ऐसा कहनेके सिवा उसे कैसे उपलब्ध करे । 'वह है' इस रूपसे और तत्त्वस्वरूपसे उसको जानना चाहिये । जब 'वह है' इस प्रकार अनुभव कर लिया है, तब उसका तत्त्व स्वरूप स्पष्ट हो जाता है ।

विशिष्ट रूपसे उसका 'वह है' करके और शुद्ध स्वरूपमें उसका तत्त्वभाव अनुभव करते हैं ।

गीता अध्याय ६—

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

योगी अकेला एकान्त स्थानमे बैठकर, एकाग्रचित्त होकर, आशा और संग्रहको त्यागकर निरन्तर आत्माको परमात्माके साथ जोडे ।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

वह योगी पवित्र स्थानमें, जो न अति ऊँचा हो और न अति नीचा, कुश, ऊनका आसन और वस्त्रको बिछाकर उस आसनपर एकाग्र मनसे बैठकर, इन्द्रियों और चित्तको वश करके आत्मशुद्धिके लिये योगाभ्यास करे ।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥

सिर, गर्दन और धड एक सीधमे अचल रखकर, स्थिर रहकर, इधर-उधर न देखता हुआ, नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि रखे ।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥१४॥

और शान्तचित्त, निर्भय, ब्रह्मचर्य-व्रतमें स्थित, मनका सयम कर मुझ (परमात्मा) मे परायण हुआ योगयुक्त होवे ।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

इस प्रकार निरन्तर अपने-आपको योगमें लगाये हुए तथा मनको निग्रह किये योगी मुझमें (परमात्मामें) स्थित रहनेवाली तथा परम निर्वाणको देनेवाली शान्तिको प्राप्त होता है ।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

योगी तपस्वियोंमें श्रेष्ठ है और (शास्त्रके जाननेवाले) ज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है तथा कर्मकाण्डियोसे भी श्रेष्ठ है । इसलिये हे अर्जुन ! तू योगी बन ।

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

(गीता ८ । १०)

वह भक्तियुक्त पुरुष अन्तकालमें भी योगबलसे भृकुटीके मध्यमें प्राणको अच्छी प्रकार स्थापन करके फिर निश्चल मनसे स्मरण करता हुआ उस दिव्य स्वरूप परम पुरुष परमात्माको ही प्राप्त होता है ।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥

(गीता ८ । १२)

हे अर्जुन ! सब इन्द्रियोके द्वारोंको रोककर अर्थात् इन्द्रियोको विषयोसे हटाकर तथा मनको हृदेशमे स्थिर करके और अपने प्राणको ब्रह्मरन्ध्रमें स्थापन करके योग-धारणामे स्थित हुआ ।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

(गीता ८ । १३)

जो पुरुष ॐ ऐसे इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप मेरेको (परमात्माको) चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है ।

उपर्युक्त दो श्लोकोंके अर्थका स्पष्टीकरण——हृदय बहुत-सी नाडियोका केन्द्र स्थान है । वहाँसे एक नाडी ब्रह्मरन्ध्रको जाती है जैसा कि श्रुति बतलाती है——

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमापन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युक्रमणे भवन्ति ॥

(छान्दोग्य० ८ । ६ । ६; कठ० ६ । १६)

एक सौ एक हृदयकी नाडियाँ हैं । उनमेंसे एक (सुषुम्ना नाडी) मूर्धाकी ओर निकलती है । उस नाडीसे ऊपर चढ़ता हुआ (योगी) अमृतत्व (ब्रह्मलोक) को प्राप्त होता है । दूसरी (नाड़ियाँ) निकलनेमें भिन्न-भिन्न गति (देने) वाली होती है । हाँ, निकलनेमें भिन्न-भिन्न गति देनेवाली होती हैं ।

जो योगी प्रत्याहारद्वारा मनको हृदयमें स्थिर करके पूरे मनोबलसे सारे प्राणको उस मुख्य नाड़ीसे ब्रह्मरन्ध्रमें ले जाता है । वहाँ योग धारणाका आश्रय किये हुए ॐ का जाप करता हुआ और उसके अर्थभूत ईश्वरका चिन्तन करता हुआ शरीर त्यागता है वह परम गतिको प्राप्त होता है । किन्तु इस प्रक्रियाको अन्त समय वही कर सकता है जिसने जीवनकालमें इसका अच्छी प्रकार अभ्यास कर लिया है ।

योगदर्शनकी विशेषता——योगदर्शनका प्रयोजन जो स्वरूप-स्थिति, अनुबन्ध-चतुष्टयमें बतलाया है,

जिसके पर्यायवाचक भिन्न-भिन्न दर्शनोंकी परिभाषामें कैवल्य, अपवर्ग, मोक्ष, निःश्रेयस इत्यादि हैं, इसीको लक्ष्यमें रखकर सर्वदर्शन——न्याय, वैशेषिक, मीमासा, ब्रह्मसूत्र आदिकी रचना हुई है। पर योगदर्शनने इसको अति सुगमता, सरलता, नियम तथा ज्ञानपूर्वक और क्रियात्मक रूपसे बतलाया है।

योगके भेद——साधनोंके भेदसे योगको १ राजयोग अर्थात् ध्यान-योग, २ ज्ञानयोग अर्थात् साख्ययोग; ३ कर्मयोग अर्थात् निष्काम-कर्म अनासक्ति-योग; ४ भक्तियोग; ५ हठयोग आदि श्रेणियोंमें विभक्त किया गया है।

१ इस दर्शनका मुख्य विषय राजयोग अर्थात् ध्यानयोग है। पर उपर्युक्त सब प्रकारके योग इसके अन्तर्गत है।

२ ज्ञानयोग अर्थात् साख्ययोग——सारे ज्ञेयतत्त्वका ज्ञान इस योगदर्शनमें अति उत्तमतासे कराया गया है। सिद्धान्तरूपमें इसकी साख्ययोगसे अभिन्नता है।

३ कर्मयोग अर्थात् अनासक्ति निष्कामकर्मयोग।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः। (१।२४)

उपासनामें उपासक अपने अंदर उपास्यके गुण धारण करता है। इसलिये इससे निष्काम कर्म अनासक्ति योगकी शिक्षा मिलती है।

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। (४।७)

यह भी निष्काम-कर्मकी शिक्षापरक है।

४ भक्तियोग——

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्। (१।२०)

यह श्रद्धा, भक्तिका मुख्याङ्ग है; इसलिये इस सूत्रसे तथा 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' (१।२३) से भक्तिकी शिक्षा योगदर्शनके अन्तर्गत है। इसी प्रकार 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (१।२८), 'स्वाध्यायादिष्ट-देवतासम्प्रयोग' (२।४४) से जप और मन्त्रयोग भी इसमें सम्मिलित है। 'यथाभिमतध्यानाद्वा' (१।३६) यह योगदर्शनकी व्यापकताका सूचक है।

५ हठयोगका सम्बन्ध शरीर और प्राणसे है, जो योगके आठ अङ्गो—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिमेंसे आसन और प्राणायामके अदर आ जाते हैं। हठयोग राजयोगका साधनमात्र ही है। जैसा कि हठयोगप्रदीपिकाके श्लोक २ से विदित है——

'केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते।'

केवल राजयोगके लिये हठयोगकी विद्याका उपदेश किया जाता है।

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा। राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते॥

(हठयोगप्रदीपिका ३।२६)

राजयोगके विना पृथ्वी (आसन) नहीं शोभित होती है। राजयोगके विना निशा (कुम्भक प्राणायाम) नहीं शोभित होती है और राजयोगके विना विचित्र मुद्रा शोभित नहीं होती है।

'ह' का अर्थ सूर्य (पिङ्गला नाडी) 'ठ' का अर्थ चन्द्रमा (इडा नाड़ी) है, इनके योगको हठयोग कहते हैं।

यथा—

हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते ।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते ॥ (सिद्धसिद्धान्तपद्धति)

सूर्य (पिङ्गला नाडी अथवा प्राणवायु) को हकार और चन्द्र (इडानाडी अथवा अपानवायु) को ठकार कहते हैं । इन सूर्य और चन्द्र (अर्थात् पिङ्गला और इडा नाड़ियोंमें बहनेवाले प्राण-प्रवाहो अथवा प्राण और अपान वायुओ) के मिलनेको हठयोग कहते है ।

६ लययोग और कुण्डलिनीयोग तो राजयोग ही है, जो सूत्र ३६ समा० पा० के अन्तर्गत है ।

७ पाश्चात्यदेशोमें दृष्टिबन्ध (Sightism),अन्तरावेश (Spiritualism) ,सम्मोहन(Mesmerism) और वशीकरण (Hipnotism), जो मनोयोगके नामसे पुकारे जाते है, वे भी प्रत्याहार और धारणाके अन्तर्गत हैं । ये सब भारतवर्षमें प्राचीन समयसे चले आ रहे है ।

८ यम और नियम न केवल व्यक्तिगत रूपसे विशेषतया योगियोंके लिये बल्कि सामान्यरूपसे सब वर्णो, आश्रमो, मत-मतान्तरों, जातियो, देशो और समस्त मनुष्य-समाजके लिये माननीय मुख्य कर्त्तव्य तथा परम धर्म हैं ।

इस प्रकार इस पातञ्जलदर्शनमें सब प्रकारके योगोका समावेश हो गया है ।

संगति—योग किसको कहते हैं ?

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

शब्दार्थ—योगः=योग । चित्तवृत्तिनिरोधः=चित्तकी वृत्तियोका रोकना (है) ।

अन्वयार्थ—चित्तकी वृत्तियोंका रोकना योग है ।

व्याख्या—योगका स्वरूप बतलाते हैं । निर्मल सत्त्वप्रधान चित्तकी जो अङ्गाङ्गिभावसे परिणत वृत्तियाँ है उनका निरोध अर्थात् जो बाहरको चित्तकी वृत्तियाँ जाती है उन बहिर्मुख वृत्तियोको सासारिक विषयोंसे हटाकर उससे उल्टा अर्थात् अन्तर्मुख करके अपने कारण चित्तमें लीन कर देना योग है । ऐसा निरोध (चित्तकी वृत्तियोंका रोकना) सब चित्तकी भूमियोमें सब प्राणियोका धर्म है, जो कभी किसी चित्तमें प्रकट हो जाता है, प्रायः चित्तोमें छिपा हुआ ही रहता है ।

सूत्रमे केवल 'चित्तवृत्तिनिरोध' शब्द है, 'सर्वचित्तवृत्ति निरोध' नहीं है । इससे सूत्रकारने सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात दोनो प्रकारकी समाधियोंको योग बतलाया है । अर्थात् असम्प्रज्ञात-समाधि जिसमें सब वृत्तियोका निरोध हो जाता है, वह निरुद्ध अवस्था तो योग है ही, किंतु सम्प्रज्ञात-समाधि भी जिसमें सात्त्विक एकाग्रवृत्ति बनी रहती है, वह एकाग्र अवस्था भी योगके लक्षणके अन्तर्गत है । अर्थात् चित्तसे तमका मल-रूप आवरण और रजस्‌की विक्षेपरूप चञ्चलता निवृत्त होकर सत्त्वके प्रकाशमें जो एकाग्र वृत्ति रहे, उसको भी योग समझना चाहिये ।

सारी सृष्टि सत्त्व, रजस् और तमस्, इन तीन गुणोंका ही परिणामरूप है । एक धर्म आकार अथवा रूपको छोडकर धर्मान्तरके ग्रहण अर्थात् दूसरे धर्म, आकार अथवा रूपके धारण करनेको परिणाम

कहते है । चित्त इन गुणोका सबसे प्रथम सत्त्वप्रधान परिणाम है । इसीलिये इसको चित्तसत्त्व भी कहते है । यह इसका अपना व्यापक स्वरूप है । यह सारा स्थूल जगत् जिसमें हमारा व्यवहार चल रहा है, रज तथा तमप्रधान गुणोंका परिणाम है ।

इसके बाह्य अथवा आभ्यन्तर संसर्गसे जो चित्तसत्त्वमें क्षण-क्षण गुणोका परिणाम हो रहा है, उसको चित्तवृत्ति कहते हैं ।

विषयको और स्पष्टरूपसे समझना चाहिये । मानो चित्त अगाध परिपूर्ण सागरका जल है । जिस प्रकार वह पृथिवीके सम्बन्धसे खाड़ी, झील आदिके आन्तरिक तदाकार परिणामको प्राप्त होता है, इसी प्रकार चित्त आन्तर राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, भयादि रूप आकारसे परिणत होता रहता है तथा जिस प्रकार वायु आदिके वेगसे जलरूपी तरङ्गें उठती हैं, इसी प्रकार चित्त इन्द्रियोंद्वारा बाह्य विषयोंसे आकर्षित होकर उन-जैसे आकारोंमें परिणत होता रहता है । यह सब चित्तकी वृत्तियाँ कहलाती हैं, जो अनन्त हैं और प्रतिक्षण उदय होती रहती हैं । इनका विस्तारपूर्वक वर्णन अगले सूत्रोंमें किया जायगा । जैसे जल, वायु आदिके अभावमें तरङ्ग आकारादि परिणामोको त्यागकर स्वभावमें अवस्थित हो जाता है वैसे ही जब चित्त बाह्य तथा आभ्यन्तर विषयाकार परिणामको त्यागकर अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाता है, तब उसको चित्तवृत्तिनिरोध कहते हैं । उपर्युक्त परिणाम-रूप वृत्तियाँ चित्तमें इन्हीं तीनोंके प्रभावसे उदय होती रहती हैं । चित्तसत्त्व ज्ञानस्वभाववाला है । जब उसमें रजोगुण, तमोगुण—दोनोंका मेल होता है, तब ऐश्वर्य विषय प्रिय होते हैं; जब यह तमोगुणसे युक्त होता है, तब अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्यको प्राप्त होता है । वही चित्त जब तमोगुणके नष्ट होनेपर रजोगुणके अंशसे युक्त होता है, तब धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यको प्राप्त होता है । वही चित्त जब रजोगुणके लेश-मात्र मलसे भी रहित होता है, तब स्वरूपप्रतिष्ठ कहलाता है; तब चित्तसत्त्व और पुरुषकी भिन्नताका ज्ञान होता है, जिसको विवेक-ख्याति अर्थात् भेदज्ञान कहते हैं (२ । २६; ३ । ४९) । विवेक-ख्यातिके परिपक्व होनेपर धर्ममेघ समाधिकी अवस्था प्राप्त होती है (४ । २९) । जिसको परम परसंख्यान भी कहते हैं । चिति-शक्ति (पुरुष) अपरिणामी और अप्रतिसंक्रमा अर्थात् परिणाम-क्रिया और सयोग आदिसे रहित तथा चित्तके सारे विषयोकी द्रष्टा, शुद्ध और अनन्त है । सत्त्वगुणात्मक चित्त इस पुरुषसे विपरीत है अर्थात् परिणामी और क्रियादिवाला विषयोंका स्वयं द्रष्टा नहीं, किंतु पुरुषको दर्शानेवाला और जड होनेके कारण पुरुषकी अपेक्षा अशुद्ध तथा अन्तवाला है । इस प्रकार चित्तसे पुरुषका भिन्न देखना विवेक-ख्याति कहलाती है । जब इस विवेक-ख्यातिसे भी वैराग्य प्राप्त हो जाता है (१ । १६), तब उस विवेक-ख्यातिका भी निरोध हो जाता है (१ । ७); यह निर्बीज-समाधि है । इसको असम्प्रज्ञात इसलिये कहते है—क्योंकि इसमें कोई सासारिक (प्राकृतिक) विषय नहीं जाना जाता है । इस प्रकार सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात भेदसे चित्त-वृत्ति-निरोधरूप योग दो प्रकारका है ।

यह सार्वभौम सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात-समाधि चित्तका धर्म है जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, तथापि केवल अन्तकी दो ऊँची अवस्थाओंमें उसका प्रादुर्भाव होता है । प्रथम तीन निचली अवस्थाओंमें रज तथा तमकी प्रधानतासे विक्षेप तथा मलके आवरणसे दबा रहता है ।

चित्तकी पाँच अवस्थाएँ निम्न प्रकार हैं—

चित्तकी पाँच अवस्थाएँ

नाम अवस्था	गुणका परिणाम	गुणवृत्ति	दशा	वृत्ति	वृत्तिका स्वरूप	स्थिति-गति	निमित्त धर्म	प्रवृत्ति
१ मूढ अवस्था	तम प्रधान; रज, सत्त्व गौण	निद्रा,तन्द्रा, मोह, भय, आलस्य, दीनता, भ्रम आदि	व्युत्थान	सर्वार्थता	अस्वाभाविक	नीच मनुष्योंकी	काम, क्रोध, लोभ, मोह	अज्ञान, अधर्म, राग, अनैश्वर्य
२ क्षिप्त अवस्था	रज प्रधान; तम, सत्त्व गौण	दुःख, चञ्चलता, चिन्ता, शोक, संसारके कामोंमें प्रवृत्ति	व्युत्थान	सर्वार्थता	अस्वाभाविक	साधारण ससारी मनुष्योंकी	राग, द्वेष	अज्ञान, अधर्म, राग, अनैश्वर्य, ज्ञान, धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य
३ विक्षिप्त अवस्था	सत्त्व प्रधान; रज, तम गौण	सुख,प्रसन्नता, क्षमा,श्रद्धा, धैर्य, चैतन्यता, उत्साह, वीर्य, दान, दया आदि	व्युत्थान;समाधि आरम्भ	सर्वार्थता; एकाग्रता आरम्भ	अस्वाभाविक	ऊँचे मनुष्यों, जिज्ञासुओंकी	अनासक्ति, निष्काम कर्म	ज्ञान, धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य
४ एकाग्र अवस्था	सत्त्व प्रधान; रज, तम वृत्तिमात्र	तटस्थता	योग; सम्प्रज्ञात समाधि	एकाग्रता	स्वाभाविक	योगियोंकी	अपर वैराग्य	वस्तुका यथार्थ ज्ञान
५ निरुद्ध अवस्था	गुणोका बाहरसे परिणाम बद; 'चित्त-सत्त्व'में निरोध परिणाम, संस्कार शेष	स्वरूपस्थिति	योग; असम्प्रज्ञात समाधि	सर्ववृत्तिनिरोध	चित्तकी स्वरूप-प्रतिष्ठिति; अस्वाभाविक और स्वाभाविक वृत्तियो-का अभाव	ऊँचे योगियोंकी	पर वैराग्य	द्रष्टाकी स्वरूप-स्थिति

Vaidic Library

१ *मूढावस्था*—इस अवस्थामें तम प्रधान होता है, रज तथा सत्त्व दबे हुए गौणरूपसे रहते हैं। यह अवस्था काम, क्रोध, लोभ और मोहके कारण होती है। जब चित्तकी ऐसी अवस्था होती है, तब मनुष्यकी प्रवृत्ति अज्ञान, अधर्म, राग और अनैश्वर्यमें होती है। यह अवस्था नीच मनुष्योंकी है।

२ *क्षिप्तावस्था*—इसमें रजोगुणकी प्रधानता होती है, तम और सत्त्व दबे हुए गौणरूपसे रहते हैं, इसका कारण रागद्वेषादि होते हैं। इस अवस्थामें धर्म-अधर्म, राग-विराग, ज्ञान-अज्ञान, ऐश्वर्य और अनैश्वर्यमें प्रवृत्ति होती है। अर्थात् जब तमोगुण सत्त्वगुणको दबा लेता है, तब अधर्म, अज्ञानादिमें और जब सत्त्व तमको दबा लेता है, तब धर्म, ज्ञानादिमें प्रवृत्ति होती है। यह अवस्था साधारण सांसारिक मनुष्योंकी है।

३ *विक्षिप्तावस्था*—इस अवस्थामें सत्त्वगुण प्रधान होता है, रज तथा तम दबे हुए गौणरूपसे रहते हैं। यह निष्काम कर्म करने तथा राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ और मोहादिके छोडनेसे उत्पन्न होती है। इस अवस्थामें क्योंकि सत्त्वगुण किसी मात्रामें बना रहता है, इस कारण मनुष्यकी प्रवृत्ति धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यमें होती है। परंतु रजोगुण चित्तको विक्षिप्त करता रहता है। यह अवस्था ऊँचे मनुष्यों तथा जिज्ञासुओंकी है। यह तीनों अवस्थाएँ चित्तकी अपनी स्वाभाविक नहीं हैं और न योगकी हैं, क्योंकि बाहरके विषयोंके गुणोंसे चित्तपर उनका प्रभाव पड़ता रहता है।

४ *एकाग्रावस्था*—जब एक ही विषयमें सदृश वृत्तियोंका प्रवाह चित्तमें निरन्तर बहता रहे, तब उसको एकाग्रता कहते हैं। यह चित्तकी स्वाभाविक अवस्था है, अर्थात् जब चित्तमें बाह्य विषयोंके रज तथा तमका प्रभाव न रहे, तब वह निर्मल चमकते हुए स्फटिकके सदृश स्वच्छ होता है। उस समय उसमें परमाणुओंसे लेकर महत्तत्त्वपर्यन्त ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीतृ विषयोंका यथार्थ साक्षात् हो सकता है। इसीकी अन्तिम स्थिति विवेक-ख्याति है, जिसकी ऊपर व्याख्या कर आये हैं। एकाग्रताको सम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं। इसमें प्रकृतिके सर्व कार्यों (गुणोंके परिणामों) का पूर्णतया साक्षात् हो जाता है।

५ *निरुद्धावस्था*—जब विवेक-ख्यातिद्वारा चित्त और पुरुषका भेद साक्षात्कार हो जाता है, तब उस ख्यातिसे भी वैराग्य (पर-वैराग्य) उदय होता है, क्योंकि विवेक-ख्याति भी चित्तकी ही एक वृत्ति है। इस वृत्तिके भी निरुद्ध होनेपर सर्ववृत्तियोंके निरोध होनेसे चित्तकी निरोधावस्था होती है। इस निरोधावस्थामें अन्य सब संस्कारोंके तिरोभावपूर्वक पर-वैराग्यके संस्कारमात्र शेष रहते है। निरोधावस्थामें किसी प्रकारकी भी वृत्ति न रहनेके कारण कोई पदार्थ भी जाननेमें नहीं आता, तथा अविद्यादि पाँचों क्लेशसहित कर्माशय-रूप जन्मादिकोंके बीज नहीं रहते। इसलिये इसको असम्प्रज्ञात तथा निर्बीज-समाधि भी कहते हैं। इस शङ्काके निवारणार्थ कि सर्ववृत्तियोंके निरोध होनेपर क्या पुरुषका भी निरोध हो जाता है ? अथवा क्या वह शून्य अवस्था है ? अगले सूत्रमें बतलाया है कि सर्ववृत्तियोंके निरुद्ध होनेपर पुरुष (शुद्ध परमात्म) स्वरूपमें अवस्थित होता है।

विशेष विचार सूत्र २—योगके विषयको समझनेके लिये चित्तके स्वरूप तथा सृष्टिक्रमका ज्ञान अति आवश्यक है इसलिये इसका कुछ विस्तारपूर्वक वर्णन कर देना उचित समझते है।

मूल प्रकृति जड, अलिङ्ग, परिणामिनी तथा त्रिगुणमयी अर्थात् प्रकाश क्रिया (प्रवृत्ति) और स्थितिशील है। प्रकाश सत्त्वका, क्रिया रजका और स्थिति (रोकना, दबाना) तमका धर्म है। गुण अपने स्वरूपसे ही परिणाम-स्वभाववाले हैं। इसलिये इनका सत्तामात्र साम्य-परिणाम अर्थात् सत्त्वसे सत्त्वमें, रजसे रजमें और तमसे तममें परिणाम, इनके विषम परिणामोंके प्रत्यक्ष होनेसे अनुमानगम्य और आगमगम्य है। गुणोंकी साम्य-परिणामवाली अवस्थाका नाम ही प्रधान अथवा मूल-प्रकृति है। यह परोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष न

होनेयोग्य अव्यक्त गुणोका परिणाम पुरुषके लिये निष्प्रयोजन है । पुरुषका प्रयोजन भोग और अपवर्ग है । भोग गुणोके परिणामोका यथार्थरूपसे साक्षात्कार और अपवर्ग पुरुषकी स्वरूपावस्थिति है । बिना गुणोंके साक्षात्कार किये हुए स्वरूपावस्थिति दुर्लभ है । चेतन तत्त्वका शुद्धस्वरूप जड-तत्त्वसे सर्वथा विलक्षण है । जड-तत्त्वके सम्बन्धसे उसकी ईश्वर तथा 'जीव' सज्ञा है । जड-तत्त्व परिणामी नित्य और चेतन-तत्त्व कूटस्थ नित्य है । जडतत्त्व विकारी और चेतन-तत्त्व निर्विकार है । जड-तत्त्व सक्रिय और चेतन तत्त्व निष्क्रिय, केवल ज्ञानस्वरूप है । जड-तत्त्वमे ज्ञान, नियम तथा व्यवस्थापूर्वक क्रिया चेतन-तत्त्वकी सन्निधि-मात्रसे है । अर्थात् चेतन-तत्त्व क्रियाका निमित्त-कारण और जड-तत्त्व समवायी अथवा उपादान-कारण है । समष्टि जड-तत्त्वके सम्बन्धसे चेतन-तत्त्वकी संज्ञा पुरुष-विशेष अथवा ईश्वर है । वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् है । उसके स्वाभाविक ज्ञानद्वारा पुरुषोके कल्याणार्थ गुणोमें विषम परिणाम हो रहा है, जिससे सारी सृष्टिकी रचना हो रही है, जो इस प्रकार है--

१ *प्रथम विषम-परिणाम महत्तत्त्व*—सत्त्वगुणमें रजोगुणका क्रियामात्र तथा तमोगुणका स्थितिमात्र विषम परिणाम अर्थात् सत्त्वगुण-प्रधान रजोगुण और तमोगुणका लिङ्गमात्र प्रथम विषम-परिणाम महत्तत्त्व है। यही लिङ्ग है और सृष्टिके नियमोका बीजरूप है । इसीसे सारी सृष्टिकी उत्पत्ति होती है । वह योगदर्शनके अनुसार समष्टि तथा व्यष्टि चित्त और साख्यके अनुसार समष्टि तथा व्यष्टि बुद्धि है । वेदान्तमे चेतन-तत्त्व-की महत्तत्त्व (समष्टि चित्त) के सम्बन्धसे 'हिरण्यगर्भ' और व्यष्टि-चित्तके सम्बन्धसे 'तैजस' संज्ञा है । यह चित्त व्यष्टिरूपसे पुरुषके लिये गुणोंका साक्षात्कार करानेका (साधन) है । कहीं-कहीं मन, बुद्धि, अहंकार और चित्तको एकार्थक और कहीं-कहीं चार प्रकारकी वृत्तिभेदसे इनको अन्त करण-चतुष्टय कहा गया है । अर्थात् संकल्प-विकल्प करनेसे मन, अहभाव प्रकट करनेसे अहकार, निर्णय तथा निश्चय करनेसे बुद्धि और स्मृति तथा संस्कारोसे चित्रित होनेसे चित्त ।

साख्यमें महत्तत्त्वके लिये 'बुद्धि' और योगमें 'चित्त' शब्द प्रयोग हुए है । साख्यमे बुद्धिमें चित्तको और योगमें चित्तमें बुद्धिको सम्मिलित कर लिया गया है । सिद्धान्तात्मक होनेसे साख्यमें बुद्धिद्वारा सब पदार्थोंका विवेकपूर्ण निर्णय करना और क्रियात्मक होनेसे योगमें चित्तद्वारा अनुभव अर्थात् साक्षात्कार करना बताया गया है । फोटो लेनेके प्लेटके सदृश ग्राह्य तथा ग्रहण सब प्रकारके विषयोको पुरुषको प्रत्यक्ष करानेके लिये चित्त दर्पणरूप है । चित्तहीमें सुख-दुःख, मोहादिरूप सत्त्व, रजस् तथा तमस्के परिणाम होते हैं । चित्तहीका वृत्तिमात्रसे सूक्ष्म शरीरके साथ, एक स्थूल शरीरको छोडकर दूसरे शरीरमें जाना (आवागमन)होता है । असङ्ग, निर्लेप पुरुष केवल इसका द्रष्टा है। इस चित्तमे ही अहंकार बीजरूपसे रहता है ।

२ *द्वितीय विषम-परिणाम अहंकार*--अहम्भावसे एकत्व-बहुत्व, व्यष्टि-समष्टि आदि सर्व प्रकारकी भिन्नता उत्पन्न करनेवाला, महत्तत्त्वका विषम-परिणाम अहंकार है । अहकारहीके ग्राह्य और ग्रहण भेदवाले दो प्रकारके विषम-परिणाम उत्पन्न होते हैं ।

३ *ग्यारह इन्द्रियॉ ग्रहण विषम-परिणाम*—परस्पर भेदवाली पॉच ज्ञानेन्द्रियॉ शक्तिरूप—श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, घ्राण, इसी प्रकार परस्पर भेदवाली पॉच कर्मेन्द्रियॉ शक्तिरूप—हस्त, पाद, वाक्,पायु (गुदा), उपस्थ (मूत्रत्यागकी इन्द्रिय) और ग्यारहवॉ मन । ये विभाजक अहंकारके ग्रहण विषम-परिणाम है ।

४ *ग्राह्य सूक्ष्म विषम-परिणाम पञ्च-तन्मात्राएँ*—परस्पर भेदवाली शब्द-तन्मात्रा, स्पर्श-तन्मात्रा, रूप-तन्मात्रा, रस-तन्मात्रा,गन्ध-तन्मात्रा—ये भेदभाव उत्पन्न करनेवाले विभाजक अहंकारके ग्राह्य विषम-परिणाम हैं ।

५ *ग्राह्य स्थूल विषम-परिणाम*--अर्थात् पॉच स्थूलभूत--पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—पाँच तन्मात्राओंके ग्राह्य स्थूल विषम-परिणाम है ।

इन विषम-परिणामोंमें सत्त्वमें रजस् तथा तमस्का प्रभाव क्रमसे बढता जाता है। अर्थात् महत्तत्त्वकी अपेक्षा अहंकारमें, अहकारकी अपेक्षा पञ्च-तन्मात्राओं और ग्यारह इन्द्रियोंमें और पाँच तन्मात्राओंकी अपेक्षा पाँचो स्थूल-भूतोमें रजस् तथा तमस्की मात्रा क्रमशः बढ़ती जाती है! यहाँतक कि पाँचों स्थूल-भूतोंमें रजस् तथा तमस्की मात्रा इतनी (प्रधानरूपसे) बढ जाती है कि वे उसके कारण स्थूलरूपमें हमारे दृष्टिगोचर हो रहे है।

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥२२॥ (सा० का०)

प्रकृतिसे महत्, उससे अहकार, उससे सोलह (पाँच तन्मात्राएँ, ग्यारह इन्द्रियाँ) का समूह, उस सोलहमें जो पाँच (तन्मात्राएँ) हैं, उनसे पाँच (स्थूल) भूत उत्पन्न होते हैं।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ ३ ॥ (सा० का०)

मूल प्रकृति विकृति नहीं है (केवल प्रकृति है), महत् आदि सात (महत्तत्त्व, अहकार, पाँच तन्मात्राएँ) प्रकृति-विकृतियाँ है, सोलह (पाँच स्थूलभूत, ग्यारह इन्द्रियाँ) केवल विकृतियाँ ही हैं (प्रकृतियाँ नहीं हैं)। पुरुष न प्रकृति है न विकृति। पुरुष उसका प्रयोजन—भोग और अपवर्ग, गुणोंका साम्य-परिणाम—मूल प्रकृति तथा उनके (गुणोंके) विषम-परिणाम—सात प्रकृतियाँ-विकृतियाँ अर्थात् महत्तत्त्व, अहकार एव पञ्च-तन्मात्राएँ, अनादि अर्थात् आरम्भरहित हैं। सोलह केवल विकृतियाँ अर्थात् ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच स्थूलभूत (और उनसे रचा हुआ यह सारा विश्व) सादि माने गये हैं, पर यह भी स्वरूपसे ही सादि है; क्योकि सृष्टिके आरम्भमें अपने कारणसे कार्यरूपमें प्रकट होते हैं। प्रवाहसे तो ये भी अनादि हैं; क्योंकि प्रलयमें अपने कार्यस्वरूपको कारणमें लीन करके, दूसरी सृष्टिमें फिर पहलेकी तरह उत्पन्न होते हैं। यह प्रवाह प्रत्येक सृष्टिके आरम्भमें क्रमसे होता चला आ रहा है। इसलिये ये प्रवाहसे अनादि हैं।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्। (ऋग्० १० । १३० । ३)

उस ईश्वरने इस सूर्य और चन्द्रको पहले कल्पोके अनुसार बनाया।

अब एक शङ्का यह उत्पन्न होती है कि चित्त जड है, उसमें वस्तुका ज्ञान किस प्रकार हो सकता है और पुरुष असङ्ग, निर्लेप और क्रियारहित है, उसमे जाननेकी क्रिया किस प्रकार हो सकती है?

इसका समाधान इस प्रकार है कि चित्त-सत्त्व जड होते हुए भी ज्ञानस्वरूप पुरुषसे प्रतिबिम्बित अर्थात् प्रकाशित है। इसलिये इसमें (चित्तमें) ज्ञान दिलानेकी योग्यता है और पुरुषको चित्तमें अपने प्रतिबिम्बित अर्थात् प्रकाश-जैसी चेतनासे उसका (चित्तका) तथा उसके सारे विषयोका स्वतः ज्ञान रहता है। इसीलिये इस दर्शनमें चित्तको दृश्य और पुरुषको द्रष्टा कहा गया है।

ग्राह्य-ग्रहणरूप, स्थूलभूतोंसे लेकर महत्तत्त्वपर्यन्त गुणोके सारे परिणामोंको पुरुषको साक्षात्कार करानेका चित्त ही एक करण (साधन) है।

इस प्रकार गुणोंके परिणामोका यथार्थरूपसे साक्षात्कार करना भोग है। यही सम्प्रज्ञात समाधि है अथवा सम्प्रज्ञातयोग है और गुण-परिणामके साक्षात्कारके पश्चात् स्वरूपावस्थिति अपवर्ग है अर्थात् असम्प्रज्ञात-समाधि अथवा असम्प्रज्ञात-योग है। यह समाधि सब अवस्थाओंमें चित्तका धर्म है। इस धर्मके छिपे रहने और प्रकट न होनेका कारण यह है कि हमारा सारा व्यवहार स्थूल-जगत् अर्थात् सोलह (केवल) विकृतियोमें ग्राह्य-ग्रहणरूपसे चल रहा है। इनमें तम तथा रजकी प्रधानता है और सत्त्व गौणरूपसे है।

इसलिये इस व्यवहारमें आसक्ति हो जानेके कारण तमस् तथा रजस्के परिणाम—राग, द्वेष और अभिनिवेशके संस्काररूप आवरण और अहंकारमें जो रजस् तथा तमस्की मात्रा है, उससे अस्मिता-क्लेशके संस्काररूपी आवरण और चित्तसत्त्वमें जो सत्तामात्र तमस् तथा रजस्का परिणाम है; उससे अविद्या क्लेश अर्थात् जड चित्त और चेतन पुरुषमें अविवेकके संस्कारोंका आवरण, चित्तसत्त्वपर चढ जाता है। इस प्रकार इन आवरणोंसे मलिन और विक्षिप्त हुए चित्त-सत्त्वपर प्रतिक्षण इन संस्कारोंसे नाना रूपके आन्तरिक तथा बाह्य परिणाम होते रहते हैं, जो वृत्ति कहलाते हैं।

मूढावस्थामें जब तम प्रधान होता है, तब निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदि तामसी वृत्तियाँ उदय होती हैं। क्षिप्तावस्थामें जब रज प्रधान होता है, तब चञ्चल, अस्थिर करनेवाली राजसी वृत्तियाँ उदय होती हैं और विक्षिप्तावस्थामें वस्तुके यथार्थस्वरूपकी प्रकाशक सात्त्विक वृत्तियाँ उदय होती हैं, किंतु यह सात्त्विक वृत्तियाँ राजसी वृत्तियोंसे अस्थिर और चलायमान होती रहती हैं।

इस प्रकार इस सर्वार्थता (मनके सब विषयोंकी ओर जानेकी प्रवृत्ति) में यथार्थ तत्त्वका प्रकाशक, चित्तका एकाग्रता—धर्म दबा रहता है। अभ्यास और वैराग्यद्वारा जब सर्वार्थताका निरोध होता है, तब तमस् तथा रजस्के दबनेसे सत्त्वके प्रकाशमें वस्तुका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करानेवाली एकाग्रता (सम्प्रज्ञात-समाधि) का उदय होता है जिसकी पराकाष्ठा गुण-परिणाम साक्षात्कारपर्यन्त पुरुष और चित्तमें विवेक-ज्ञान है। इस वृत्तिसे भी परवैराग्यद्वारा आसक्ति निवृत्त होनेपर सब वृत्तियोंका निरोधरूप असम्प्रज्ञात-समाधि अर्थात द्रष्टाकी स्वरूपावस्थिति होती है। उस समय चित्तमें केवल निरोधके संस्कार शेष रहते हैं, ये निरोधके संस्कार अपनी दुर्बल अवस्थामें निरोधसे पुनः व्युत्थानमें ले जानेके कारण होते हैं। निरन्तर अभ्यास एवं वैराग्यसे निरोध-संस्कारोंकी दृढ़भूमि होनेपर अन्य

Vaidic Library

रूप परिणाम होना भी रुक जाता है, तब आत्माका (शुद्ध परमात्म) स्वरूपमें अवस्थान होता है।

चितिशक्ति कूटस्थ नित्य होनेसे स्वरूपसे कभी प्रच्युत नहीं होती है। जैसा निरोधकालमें पुरुषका स्वभाव है वैसा ही व्युत्थानकालमें है, किंतु अविवेकसे वैसा प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार जब भ्रमसे शुक्ति (सीप) में रजत (चाँदी) का भान होता है, तब उस भ्रमकालमें उस भ्रमसे न सीपका अभाव और न चाँदीकी ही उत्पत्ति होती है, फिर भ्रम दूर होनेपर जब यह ज्ञान होता है कि यह चाँदी नहीं किंतु सीप है, तब इस ज्ञानसे सीपकी उत्पत्ति और चाँदीका अभाव नहीं होता—केवल अस्ति-नास्ति आदिका (भाव-अभावका) व्यवहार होता है। वैसे ही चिति-शक्ति सर्वदा एकरस ही है, किंतु व्युत्थान-कालमें अविवेकके कारण अन्यरूपसे भान होती है और निरोधकालमें कैवल्यके सदृश निज शान्तरूपसे भान होती है। यह निरोध और व्युत्थानमें भेद है।

विवेक-ख्याति सबसे अन्तिम सात्त्विक वृत्ति है जिसमें चित्तद्वारा आत्माका साक्षात्कार होता है। यहींतक पुरुषार्थका विषय है। इसमें जो आत्मसाक्षात्कार होता है उससे चित्तकी इतनी सात्त्विकता बढ़ जाती है कि इस वृत्तिसे भी आसक्ति हट जाती है। इस आसक्तिके हट जानेका नाम ही पर वैराग्य है। तब चित्तमें किसी प्रकारकी कोई भी वृत्ति न रहनेपर द्रष्टाकी शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति होती है।

द्रष्टा, पुरुष, चिति-शक्ति, दृक्शक्ति, चेतन, आत्मा एकार्थक शब्द है तथा अध्यास, उपाधि, आरोप, भ्रम एकार्थक है।

सगति—निरोधसे भिन्न व्युत्थान अवस्थामें पुरुषका क्या स्वरूप होता है ?

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—वृत्तिसारूप्यम्=वृत्तिकी समानरूपता, इतरत्र=दूसरी अर्थात् निरोधसे भिन्न व्युत्थान अवस्थामें (पुरुषकी होती है) ।

अन्वयार्थ—दूसरी अर्थात् निरोधसे भिन्न व्युत्थान अवस्थामें द्रष्टाकी वृत्तियोंके समानरूपता होती है अर्थात् द्रष्टा वृत्तियोंके समान रूपवाला प्रतीत होता है ।

व्याख्या—दूसरी अर्थात् निरोधसे उठनेपर व्युत्थानकालमें द्रष्टा वृत्तियोंके, जो आगे लक्षणसहित कही जायगी, समान रूपवाला प्रतीत होता है । जैसा पञ्चशिखाचार्यने कहा है—

एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम् ।

एक ही दर्शन है, ख्याति (वृत्ति) ही दर्शन है अर्थात् पुरुष वैसा ही दीखता है जैसी वृत्ति होती है, इसलिये सुख-दुःख, मोहरूप सत्त्वगुणवाली, रजोगुणी अथवा तमोगुणी जैसी चित्तकी वृत्तियाँ होती है, वैसा ही व्यवहार-दशामें पुरुषका स्वरूप जाना जाता है । अर्थात् यह सुखी है, यह दुखी है, यह मोहमें है, ऐसा लोग समझते हैं । जब चित्त एकाग्रतासे परिणत होता है, तब चितिशक्ति भी उस रूपमें प्रतिष्ठित होती है । जब चित्त इन्द्रिय-वृत्तिके साथ विषयाकारसे परिणत होता है, तब पुरुष भी उस वृत्तिके रूपाकार ही जान पडता है ।

अर्थात् यद्यपि परमार्थतः पुरुष असङ्ग और निर्लेप है तथापि अयस्कान्तमणि (चुम्बक पत्थर) के समान असयुक्त रहते हुए भी केवल संनिधिमात्रसे उपकारकरणशील चित्तरूप दृश्यका दृश्यत्वरूपसे पुरुषके साथ भोग-अपवर्ग सम्पादनार्थ अनादि स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है । इसलिये शान्त, घोर, मूढाकार वृत्तिविशिष्ट चित्तकी सनिधिसे पुरुष अपनेको चित्तसे भिन्न न जानकर 'मै शान्त (सुखी) हूँ', 'मै दुखी हूँ' 'मे मूढ हूँ' इत्यादि—इस प्रकार अपनेमे चित्तके धर्मोका आरोप कर लेता है । इसी बातको बृहदारण्यक उपनिषद्में निम्न शब्दोमें दर्शाया है—

'स समानः सन् ध्यायतीव लेलायतीव' वह आत्मा बुद्धिके समान होकर अर्थात् बुद्धिके साथ तादात्म्याध्यासको प्राप्त होकर मानो ध्यान करता है मानो चलता है ।

अथवा मलिन दर्पणमें प्रतिबिम्बित मुखमें मलिनताका आरोप करके अविवेकी-जन 'मेरा मुख मलिन है', इस प्रकार शोक करता है, वैसे ही पुरुष भी चित्तके उपाधि-धर्मोका अपनेमें आरोप करके 'मै सुखी हूँ, मै दुखी हूँ' इत्यादि, इस प्रकार भ्रमजालमें फँसकर शोकग्रस्त हो जाता है । यह वृत्तिसारूप्य पदका अर्थ है ।

यद्यपि पुरुष असङ्ग है तथापि उसकी चित्तके साथ योग्यता-लक्षण-सनिधि है अर्थात् पुरुषमें भोक्तृत्व-शक्ति और द्रष्टृत्व-शक्ति है और चित्तमें दृश्यत्व-शक्ति और भोग्यत्व-शक्ति है । यही इन दोनोकी परस्पर योग्यता है । इस योग्यता-लक्षण-सनिधिसे ही चित्त सुख-दु.ख, मोहाकाररूप परिणामसे भोग्य और दृश्य हुआ स्व कहा जाता है और पुरुष भोक्ता और द्रष्टा हुआ स्वामी कहा जाता है । यह जो पुरुषके भोगका हेतु स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध है, यह भी चित्तसे ही अपने निजरूपके अविवेकप्रयुक्त है और अविवेक तथा वासनाका प्रवाह बीज और अंकुरके सदृश अनादि है । इस प्रकार चित्तवृत्तिविषयक उपभोगमें जो चेतनका अनादि स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध है, वह वृत्ति-सारूप्यमें कारण है ।

जैसे जलाशय (नदी अथवा तालाब) में जब नाना प्रकारकी तरंगे उछलती होती है, तब गगनस्थ चन्द्रमण्डलका प्रतिबिम्ब उस जलाशयमें स्थिर निज यथार्थरूपसे नहीं भान होता है और जब तरंगे

उठना बंद हो जाती है, तब स्वच्छ निश्चलरूपसे प्रकाशमान होकर चन्द्र-प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है। वैसे ही जब चित्तकी वृत्तियाँ विषयाकार होनेसे चञ्चल रहती हैं, तब चेतन भी चन्द्रमण्डलकी भाँति चित्तमे प्रतिबिम्बित हुआ तदाकार होनेसे निजरूपमे नहीं भासता है। जब चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती है, तब चन्द्रमण्डलके सदृश चेतन निज स्थिररूपमे स्थित हो जाता है। यह तीसरे और चौथे सूत्रका फलितार्थ है।

संगति—चित्तकी वृत्तियाँ बहुत होनेपर भी निरोध करनेयोग्य है। उनको अगले सूत्रमे पाँच श्रेणियोंमे विभक्त करके बतलाते हैं।

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—वृत्तय.=वृत्तियां, पञ्चतय.=पांच प्रकार (की होती है); क्लिष्टा:=क्लिष्ट (राग द्वेषादि क्लेशोकी हेतु और); अक्लिष्टा:=अक्लिष्ट(राग-द्वेष आदि क्लेशोकी नाश करनेवाली)।

अन्वयार्थ—वृत्तियां पांच प्रकारकी होती है। क्लिष्ट अर्थात् राग-द्वेषादि क्लेशोकी हेतु और अक्लिष्ट अर्थात राग-द्वेषादि क्लेशोकी नाश करनेवाली।

व्याख्या—बाह्य-पदार्थ असख्य होनेके कारण उनसे उत्पन्न होनेवाली वृत्तियाँ भी असख्य है। इन सबका सुगमतासे ज्ञान हो सके इसलिये उन सब निरोद्धव्य वृत्तियोको पाँच श्रेणियोमे विभक्त किया गया है, जिनके नाम अगले सूत्रमें दिये जायँगे। इन पाँच प्रकारकी वृत्तियोंमेंसे कोई क्लिष्टरूप होती है और कोई अक्लिष्टरूप। सत्त्व-प्रधान वृत्तियां अक्लिष्टरूप और तमस् प्रधान वृत्तियाँ क्लिष्टरूप हैं अर्थात् जिन वृत्तियोंके हेतु अविद्या आदि पांच क्लेश (२ । ३) है, जो कर्माशय (२ । १२) के समूहकी उत्पत्तिकी भूमिया हैं, वे क्लिष्ट कहलाती हैं। अर्थात् अविद्या आदि मूलक जो कर्माशयके समूहका क्षेत्ररूप वृत्तियाँ होती है, वे क्लिष्ट वृत्तियाँ कहलाती है और जो अविद्या आदि पाँचो क्लेशोकी नाशक और गुणाधिकारकी विरोधी विवेकख्यातिरूप वृत्ति होती है, वह अक्लिष्ट कहलाती है। पहले अक्लिष्ट वृत्तियोको ग्रहण करके क्लिष्ट वृत्तियोका निरोध करना चाहिये। फिर परवैराग्यसे उस अक्लिष्ट वृत्तिका भी निरोध हो जाता है।

यद्यपि क्लिष्ट वृत्तियोके संस्कार बहुत गहरे जमे हुए होते है तथापि उनके छिद्रोमें सत्-शास्त्र और गुरुजनोके उपदेशसे अभ्यास और वैराग्यरूप अक्लिष्ट वृत्तियाँ वर्तमान रहती है। अर्थात् उनके द्वारा अक्लिष्ट वृत्तियाँ उत्पन्न हो सकती है। वृत्तियोका यह स्वभाव है कि वे अपने सदृश सस्कारोंको उत्पन्न करती हैं—क्लिष्ट वृत्तियाँ क्लिष्ट संस्कारोको और अक्लिष्ट वृत्तियाँ अक्लिष्ट संस्कारोको। इस प्रकार छिपी हुई अक्लिष्ट वृत्तियाँ उत्पन्न होकर अक्लिष्ट सस्कारोको और अक्लिष्ट सस्कार अक्लिष्ट वृत्तियोको उत्पन्न करते है। यह चक्र यदि निरन्तर चलता रहे तो क्लिष्ट वृत्तियोका निरोध हो जाता है। पर इनके संस्कार सूक्ष्मरूपसे अक्लिष्ट वृत्तियोके छिद्रो (बीच) में बने रहते है (४ । २७)। उनका नाश निर्बीज समाधिके अभ्याससे होता है (२ । १०)। उपर्युक्त विधिके अनुसार जब क्लिष्ट वृत्तियाँ सर्वथा दब जाती हैं, तब अक्लिष्ट वृत्तियोका भी निरोध परवैराग्यसे हो जाता है। इन सब वृत्तियोंका निरोध असम्प्रज्ञात योग है।

संगति—पाँचो वृत्तियोके नाम बतलाते है—

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति; ये पाँच प्रकारकी वृत्तियाँ है जिनका लक्षण अगले सूत्रमें बतलायेंगे।

संगति—प्रमाण-वृत्तिके तीन भेद दिखलाते है—

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—प्रत्यक्ष-अनुमान-आगमा.=प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम; प्रमाणानि=प्रमाण हैं ।

अन्वयार्थ—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम भेदसे तीन प्रकारकी प्रमाण-वृत्ति है ।

व्याख्या—प्रमा (यथार्थज्ञान) करण (साधन) को प्रमाण कहते हैं । मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैं यह अनुमानसे जानता हूँ, मैं यह वेद-शास्त्रसे जानता हूँ, इस प्रकारके ज्ञानका नाम बोध है । यह बोध यदि यथार्थ हो तो प्रमा कहलाता है, अयथार्थ हो तो अप्रमा । जिस वृत्तिसे प्रमा (यथार्थ बोध) उत्पन्न होता है, उसका नाम प्रमाण है ।

प्रमाका लक्षण—अनधिगत (स्मृति-भिन्न) अबाधित (रस्सीमें सर्पकी तरह जो नाशवान् न हो) अर्थको विषय करनेवाले पौरुषेय ज्ञान (पुरुषनिष्ठ ज्ञान) को प्रमा कहते हैं । इसीको यथार्थ अनुभव वा सत्य-ज्ञान भी कहते हैं । यह प्रमा चक्षु आदि इन्द्रियोंद्वारा वा लिङ्ग-ज्ञानद्वारा अथवा आप्त वाक्य-श्रवणद्वारा चित्तवृत्तिसे उत्पन्न होती है । इसलिये उस चित्तवृत्तिको प्रमाका करण होनेसे प्रमाण कहा जाता है । वह प्रमाण चित्तवृत्ति तीन प्रकारकी है—

१ जो चक्षु आदि इन्द्रियोंद्वारा विषयाकार चित्तकी वृत्ति उदय होती है, वह प्रत्यक्ष-प्रमाण कहलाती है ।

२ जो लिङ्गद्वारा उत्पन्न होती है, वह अनुमान-प्रमाण कहलाती है ।

३ और जो आप्त-वाक्य-श्रवणद्वारा उत्पन्न होती है, वह शब्द-प्रमाण या आगम-प्रमाण कहलाती है ।

इन प्रमाणोंसे जो पुरुषको ज्ञान होता है, वह फलप्रमा कहलाता है । वह फलप्रमा भी चित्तवृत्ति-रूप प्रमाणोंके तीन प्रकारके होनेसे प्रत्यक्ष-प्रमा, अनुमिति-प्रमा और शाब्दी-प्रमा भेदसे तीन प्रकारका है ।

प्रत्यक्ष-प्रमाण एवं प्रत्यक्ष-प्रमा—ग्रहण-रूप प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय (नासिका, रसना, चक्षु, त्वचा और श्रोत्र) और ग्राह्यरूप उनके विषय (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द) क्रमसे एक ही कारणसे उत्पन्न होते है, इसलिये इन दोनोंमें एक-दूसरेको आकर्षण करनेकी शक्ति होती है । उदाहरणार्थ जब किसी रूपवाले घटादिक विषयका आँखसे सन्निकर्ष होता है, तब आँखकी रश्मि उसपर पड़ती है । चित्तका उस विषयमें राग होनेसे वह इस नेत्र-प्रणालीद्वारा विषय-देशपर पहुँचकर उस विशेष घटादिके आकारवाला हो जाता है । चित्तके ऐसे घटादिक आकार-विशिष्ट परिणामको प्रत्यक्ष प्रमाण-वृत्ति कहते हैं और उसमें जो 'अहं घटं जानामि' 'मैं घट विषयक ज्ञानवाला हूँ', इस आकारवाला जो विषयसहित चित्तवृत्ति-विषयक पुरुषनिष्ठ ज्ञान है अर्थात् जो चिदात्मा (चितिशक्ति) का प्रतिबिम्ब उस प्रत्यक्ष-प्रमाण-वृत्ति-द्वारा उस वृत्ति-जैसा विषयाकार होता है, वह प्रत्यक्ष-प्रमा कहलाता है । प्रमाण वृत्तिका फल होनेसे उसको फलप्रमा भी कहते हैं । वही पौरुषेय-बोध अथवा पौरुषेय-ज्ञान है । इस प्रकार व्यक्तिरूप विशेष अर्थको विषय करनेवाली वृत्ति प्रत्यक्ष-प्रमाण है और उस वृत्तिके अनुसार जो प्रतिबिम्ब-रूप पौरुषेय ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष-प्रमा है तथा चित्तमें प्रतिबिम्बित जो चेतनात्मा (चितिशक्ति) है, वह प्रमाता है ।

अनुमान-प्रमाण एवं अनुमान-प्रमा अर्थात् अनुमिति—लिङ्गसे लिङ्गीका सम्बन्ध सामान्य-रूपसे निश्चय करके जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो उसको अनुमान कहते हैं । उदाहरण—जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है । जैसे रसोईघरमें, और जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ-वहाँ धूम नहीं होता, जैसे तालाबमें । इस प्रकार धूमसे अग्निका सम्बन्ध सामान्य-रूपसे निश्चित करके पर्वतमें धूमको देखकर अग्निके होनेका जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो, उसको अनुमान-प्रमाण कहते हैं । इस अनुमान-प्रमाणसे जो चित्तमें परिणाम होता है, उसको अनुमानवृत्ति कहते हैं । उस अनुमान-वृत्तिद्वारा जो चिदात्मा (चिति-शक्ति) का प्रतिबिम्ब-रूप पौरुषेय ज्ञान (पौरुषेय बोध) है, वह अनुमिति-प्रमा कहलाता है ।

आगम-प्रमाण एवं आगम-प्रमा—वेद, सत्-शास्त्र तथा आप्त-पुरुष, जो भ्रम, विप्रलिप्सा आदि दोषोंसे रहित यथार्थवक्ता हों, उनके वचनोंको आगम-प्रमाण कहते हैं। वेदों एवं सत्-शास्त्रोंको पढ़कर या सुनकर तथा आप्त-पुरुषोंके वचनोंको सुनकर श्रोताके चित्तमें जो परिणाम होता है, उसे आगम अथवा शब्दप्रमाण-वृत्ति कहते है। उस वृत्तिद्वारा जो चिदात्मा (चितिशक्ति) का प्रतिबिम्ब-रूप पौरुषेय-ज्ञान (पौरुषेय बोध) होता है, वह फल प्रमा, शब्द-प्रमा कहलाता है।

विशेष वक्तव्य सूत्र ७—इस सूत्रकी व्याख्यामें विज्ञानभिक्षु अपने योगवार्तिकमें प्रत्यक्ष-प्रमाणके सम्बन्धमें लिखते है—

प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव च।
प्रमार्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम्॥
प्रतिबिम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते।
वृत्तयः साक्षिभास्याः स्युः करणस्यानपेक्षणात्॥
साक्षाद् दर्शनरूपं च साक्षित्वं सांख्यसूत्रितम्।
अविकारेण द्रष्टृत्वं साक्षित्वं चापरे जगुः॥

शुद्ध चेतनको प्रमाता, वृत्तिको प्रमाण और चेतनमें अर्थाकार वृत्तियोंका प्रतिबिम्ब प्रमा कहा जाता है। प्रतिबिम्बित वृत्तियोंके विषयको मेय अर्थात् प्रमेय कहते है। करण अर्थात् इन्द्रियोंकी अपेक्षासे रहित वृत्तियाँ साक्षिभास्य होती है। साख्यसूत्रमें साक्षात् दर्शन रूपको साक्षी कहा गया है, किंतु कोई अविकारी द्रष्टाको ही साक्षी रूप मानते हैं।

समीक्षा—शुद्ध चेतनको प्रमाता मानना अयुक्त और श्रुतिविरुद्ध है; क्योंकि शुद्ध नाम सर्वधर्मरहितका है और प्रमाता नाम प्रमारूप धर्मविशिष्टका है। इसलिये चित्तमे प्रतिबिम्बित चेतन (जीवात्मा) ही प्रमाका आधार होनेसे प्रमाता है। प्रमारूप बोध शुद्ध चेतनका मुख्य धर्म नही है।

यथा—ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथंचन।
ज्ञानस्वरूप एवाऽऽत्मा नित्यः सर्वगतः शिवः॥

ज्ञान आत्मा (शुद्ध चेतन) का धर्म या गुण नही है, किंतु यह नित्य सर्वव्यापक शिव आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है। 'असङ्गो ह्यय पुरुषः' यह (सबका आत्मभूत) पुरुष असङ्ग है। 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च' चेतन पुरुष निर्गुण होनेसे केवल साक्षी ही है। एवं साख्य-प्रवचनभाष्यमें विज्ञान-भिक्षुने भी ऐसा ही लिखा है 'पुरुषस्तु प्रमासाक्ष्येव न प्रमाता'। (सांख्यसू० ८७) पुरुष प्रमाका साक्षी ही है प्रमाता नहीं।

तथा—'कल्पितं दर्शनकर्तृत्वं वस्तुतस्तु बुद्धेः साक्ष्येव पुरुषः' (सा० २। २०)

पुरुषमें दर्शनकर्तृत्व कल्पित है और साक्षित्व वास्तविक है।

इसलिये इसकी व्यवस्था निम्नरूपसे समझनी चाहिये।

प्रत्यक्ष-प्रमाण—प्रत्यक्ष-प्रमाणके सम्बन्धमें प्रमाण, प्रमेय, प्रमा, प्रमाता और साक्षी भेदसे पाँच पदार्थ माने जाते है—

१ जिस प्रकार तालाब आदिका जल प्रणालीद्वारा क्षेत्रमे जाकर क्षेत्राकार हो जाता है, उसी प्रकार चित्तका नेत्रादि इन्द्रियोंद्वारा बाह्य विषय घटादिसे सम्बद्ध होकर उस घट आदि आकाररूप परिणामको प्राप्त होनेपर जो 'अय घट.' 'यह घट है' इस घटादि आकारवाली चित्तवृत्ति होती है, वह बौद्धप्रमा कही जाती है। इस प्रमाका विषय-सम्बन्ध नेत्रादि इन्द्रियोद्वारा उत्पन्न होता है, इसलिये इसको 'प्रमाण' कहते है।

२ उपर्युक्त घटादि आकारवाली चित्तवृत्तिका विषय घटादि 'प्रमेय' कहलाता है।

३ पुरुषनिष्ठ बोध फल होनेसे किसीका करण नहीं है, इसलिये वह केवल 'प्रमा' कहलाता है।

४ बुद्धि-प्रतिबिम्बित चेतन जो इस प्रमाका आश्रय है, वह प्रमाता कहा जाता है।

५ और बुद्धि-वृत्ति-उपहित जो शुद्ध चेतन है, वह साक्षी है।

अनुमान-प्रमाण—लिङ्ग-लिङ्गी, साधन-साध्य अथवा कार्य-कारणके सम्बन्धसे जो यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो, उसे अनुमान कहते हैं। अनुमान तीन प्रकारका होता है। पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।

१ पूर्ववत्—जहाँ कारणको देखकर कार्यका अनुमान हो, जैसे बादलोंको देखकर होनेवाली वर्षाका अनुमान।

२ शेषवत्—कार्यसे कारणका अनुमान, जैसे नदीके मटीले पानीको देखकर प्रथम हुई वर्षाका अनुमान।

३ सामान्यतोदृष्ट—जो सामान्य रूपसे देखा गया हो, परतु विशेष रूपसे न देखा गया हो, जैसे घट (मिट्टीके बने हुए घडे) को देखकर उसके बनानेवाले कुम्हारका अनुमान; क्योकि प्रत्येक बनी हुई वस्तुका कोई चेतन निमित्त-कारण सामान्यरूपसे देखा जाता है।

अनुमानके सम्बन्धमे इतना जान लेना आवश्यक है कि लिङ्ग-लिङ्गी अर्थात् साधन-साध्यका जिस धर्म-विशेषके साथ सम्बन्ध होता है, वह व्याप्ति कहलाता है और ऐसे सम्बन्ध होनेके ज्ञानको व्याप्तिज्ञान कहते हैं। लिङ्गके प्रत्यक्ष होनेपर अप्रत्यक्ष लिङ्गीका इस व्याप्ति-ज्ञानसे अनुमान किया जाता है। जैसे धूम एव अग्निके सम्बन्ध होनेके ज्ञानसे विशेषरूपसे धूमको देखकर यह निश्चय करना कि जहाँ ऐसा धूम होता है वह बिना अग्निके नहीं होता, इस व्याप्ति-ज्ञानसे धूमके प्रत्यक्ष होनेसे अप्रत्यक्ष अग्निका जानना अनुमान है।

अनुमानका मूल प्रत्यक्ष ही है, क्योकि पूर्वप्रत्यक्षद्वारा अनुमान होता है। यदि प्रत्यक्ष विकार दोष-संयुक्त हो तो अनुमान भी मिथ्या हो जाता है। इन्द्रिय एवं अर्थके संनिकर्षसे उत्पन्न भ्रान्ति-दोषसे रहित ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। भ्रान्ति-दोषके निम्न कारण होते हैं—

१ विषयदोष—पदार्थ इतनी दूर हो जिससे यथार्थ ज्ञानमें भ्रम उत्पन्न हो; पदार्थ ऐसी अवस्थामें रक्खा हो जिससे यथार्थ ज्ञानमें भ्रान्ति उत्पन्न हो। द्रष्टा और दृश्यके मध्यमें शीशा आदि कोई ऐसी वस्तु आ जाय जिससे दृश्य अपने वास्तविक रूपमें न दिखलायी दे सके।

२ इन्द्रिय-दोष—जैसे काम्ल (पीलिया) रोगवालेको सब वस्तुएँ पीली दीखती है।

३ मनोदोष—मनके असावधान तथा अस्थिर होनेसे पदार्थका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता है।

शब्द-प्रमाण—अलौकिक विषयमें वेद ही प्रमाण हो सकते हैं, इसीलिये इस प्रमाणका नाम आगम-प्रमाण है। वेदके आश्रित जो ऋषि, मुनि और आचार्योंके वचन है, वे भी इसी प्रमाणके अन्तर्गत है। लौकिक विषयमें भी आप्तपुरुष ही प्रमाण हो सकते हैं। आप्तपुरुष तत्त्ववेत्ता होते हैं, जिनके जानने और कहनेमें (ज्ञान और क्रियामें) कोई दोष नही होता, अर्थात् जिनका ज्ञान भ्रान्ति-दोष (जिसका अनुमान-प्रमाणके सम्बन्धमें वर्णन कर दिया है) से युक्त न हो तथा जिनमें विप्रलिप्सा (धोखेमें डालनेका) दोष न हो।

कई आचार्योंने उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव, ऐतिह्य और संकेतको अलग प्रमाण माना है, जैसे मीमासाने प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अनुपलब्धि (अभाव) और अर्थापत्ति—ये छ. प्रमाण माने हैं, न्यायने प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान—ये चार प्रमाण माने है, किंतु दर्शनकारोमें प्रमाणके सम्बन्धमें यह कोई विशेष मतभेद नहीं है, केवल स्थूल बुद्धिवालोको वर्णनशैलीकी बाह्य प्रणालीको देखकर अविवेकके कारण परस्पर विरोध होनेका भ्रम होता है, क्योकि यह सब तीनो प्रमाणोके अदर ही

आ जाते हैं। जैसे प्रसिद्ध पदार्थके सादृश्यसे साध्यके साधनेको 'उपमान' कहते है, वह अनुमानके अंदर आ जाता है। जो बात अर्थसे निकल आवे उसे 'अर्थापत्ति' कहते है; जैसे रामके घरपर यदि उसे पुकारें और उत्तर मिले कि 'वह घर नहीं है', तो यहाँ 'अर्थात् बाहर है', यह अपने-आप ज्ञात हो जाता है। यह भी अनुमानके अंदर आ जाता है। एक बातसे दूसरी बातका जहाँ सिद्ध होना सम्भव हो उसे 'सम्भव' कहते है। जैसे 'रामकरोड़पति' है इससे लखपति होना सिद्ध है। यह भी अनुमान-के अन्तर्गत है। 'मकानमें पुस्तक नहीं है' यह ज्ञान अभाव-प्रमाणसे होता है। पर वस्तुतः यह प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि जिस वस्तुका ज्ञान जिस इन्द्रियसे प्रत्यक्ष होता है उसका अभाव भी उसीसे प्रत्यक्ष हो जाता है। इसलिये 'अभाव' प्रत्यक्ष-प्रमाणके अन्तर्गत है 'ऐतिह्य',—जो परम्परासे कहते चले आते हो। इनमें कहनेवाले-का निश्चय न होनेसे यह ज्ञान संशयवाला होता है, इसलिये यह प्रमाण नहीं और यदि कहनेवालेका आप्तपुरुष होना निश्चय हो जाय तो शब्द-प्रमाणके अंदर आ जाता है। नियत इशारोंसे अपने अभिप्रायोको एक-दूसरेपर प्रकट करनेको 'संकेत' कहते हैं। यह भी अनुमानके अंदर आ जाता है, क्योकि संकेत नियत किया हुआ चिह्न है। इस प्रकार तीन ही प्रमाण सिद्ध होते हैं, जो साख्य तथा योगाचार्योंने माने है। अन्य सब इन्हींके अन्तर्गत हो जाते हैं।

संगति—विपर्यय-वृत्तिका वर्णन करते हैं—

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—विपर्ययः=विपर्यय; मिथ्याज्ञानम्=मिथ्या ज्ञान है; अ-तद्-रूप-प्रतिष्ठम्=जो उसके (पदार्थके) रूपमें प्रतिष्ठित नहीं है अर्थात् जो उस पदार्थके वास्तविक रूपको प्रकाशित नहीं करता है।

अन्वयार्थ—विपर्यय मिथ्या-ज्ञान है, जो उस पदार्थके रूपमें प्रतिष्ठित नहीं है।

व्याख्या—सूत्रमें 'विपर्यय' लक्ष्य है, 'मिथ्या-ज्ञान' लक्षण है और 'अतद्रूपप्रतिष्ठम्' हेतु है। 'अतद्रूपप्रतिष्ठम्' विकल्पमें भी हेतु (कारण) है। इसलिये विकल्प-वृत्तिमे अतिव्याप्ति दोषके निवारणार्थ अर्थात् विकल्पसे विपर्ययमे भिन्नता दिखलानेके लिये, विपर्यय-वृत्तिके लक्षणमें 'मिथ्या-ज्ञानम्' पद दिया गया है।

विषयके समान आकारसे परिणत चित्तवृत्तिको प्रमाण; और विषयसे विलक्षण आकारसे परिणत चित्तवृत्तिको विपर्यय समझना चाहिये।

मिथ्याज्ञान अर्थात् जैसा अर्थ न हो वैसा उत्पन्न हुआ ज्ञान विपर्यय कहलाता है। जैसे सीपमें चाँदी-का ज्ञान, रज्जु (रस्सी) में सर्पका अथवा एक चन्द्रमें द्विचन्द्रका ज्ञान; क्योकि वह उसके रूपमें प्रतिष्ठित (स्थित) नहीं होता अर्थात् उसके असली रूपको प्रकाशित नहीं करता। जो ज्ञान वस्तुके यथार्थरूपसे कभी भी न हटकर वस्तुके यथार्थरूपको ही प्रकाशित करता है, वह 'तद्रूपप्रतिष्ठित' वस्तुके रूपमें प्रतिष्ठित (स्थित) होनेके कारण सत्य-ज्ञान, यथार्थज्ञान अर्थात् प्रमाण कहलाता है। जहाँ वस्तु अन्य हो और चित्तवृत्ति अन्य प्रकारकी हो, वहाँ चित्तकी वृत्ति उस वस्तुके यथार्थ रूपमें प्रतिष्ठित (स्थित) नहीं होती है। इसलिये वह अतद्रूपप्रतिष्ठित होनेके कारण विपर्यय-ज्ञान कहलाता है। भाव यह है कि जिस प्रकार पिघली धातु, किसी साँचेमें ढाल देनेसे वैसे ही आकारकी हो जाती है और वैसे ही आकारको धारण कर लेती है, तैसे ही चित्त भी बाह्य वस्तुसे सम्बद्ध हुआ संयुक्त वस्तुके समान आकारसे परिणत हो तदाकार हो जाता है। यह चित्तका विषयाकार परिणाम ही प्रमाण-ज्ञान या प्रमाण-वृत्ति कहलाता है। यदि ढाली हुई धातुकी वस्तु किसी दोषके कारण साँचेके आकारसे विलक्षण अथवा विपरीत हो जाय तो वह वस्तुका आकार दोषविशिष्ट होनेसे स्वरूपमें अप्रतिष्ठित हुआ दूषित कहलाता है। इसी प्रकार यदि वस्तुके आकारसे चित्तकी वृत्ति किसी दोषके कारण विलक्षण अथवा विपरीत अथवा भिन्न प्रकारकी हो जाय तो वह वृत्तिका आकार भी वस्तुके समानाकार न

होनेसे स्वरूपमें प्रतिष्ठित न होनेके कारण दूषित, मिथ्या या भ्रान्त ज्ञान कहा जाता है, जैसा कि सीपमें चाँदी-का ज्ञान, रस्सीमें सर्पका ज्ञान अथवा एक चन्द्रमें द्विचन्द्रका ज्ञान। किसी वस्तुसे विलक्षण अथवा विपरीत चित्तके आकारको ही विपर्यय ज्ञान कहते हैं अर्थात् विषयके समानाकारसे परिणत चित्तवृत्तिको प्रमाण और विषयसे विलक्षण अथवा विपरीत अथवा भिन्न आकारमे परिणत चित्तवृत्तिको विपर्यय कहते हैं।

अथवा जो ज्ञान निज-रूपमें प्रतिष्ठित नहीं है, वह अतद्-रूप-प्रतिष्ठित कहा जाता है। अर्थात् सीपमें जो सीपका ज्ञान, रज्जुमें जो रज्जुका ज्ञान और चन्द्रमे जो एकचन्द्रज्ञान है, वह निज-रूपमें प्रतिष्ठित होने-से प्रमाण-ज्ञान है, और जो सीपमें चाँदीका ज्ञान, रज्जुमें सर्पका ज्ञान या एकचन्द्रमे द्विचन्द्रका ज्ञान है, वह उत्तर (अगले) कालमे होनेवाले यथार्थ ज्ञानसे बाधित होनेके कारण निज-रूपमें अप्रतिष्ठित है, क्योंकि उत्तर-कालिक (आगे होनेवाला) ज्ञानस्वरूपसे प्रच्युतकर उसकी प्रतिष्ठाको भङ्ग करनेवाला है। इसलिये रज्जु-विषयक रज्जु-ज्ञान किसी ज्ञानसे बाधित न होनेसे स्वरूप-प्रतिष्ठित होनेके कारण प्रमाण है और रज्जु-विषयक सर्प-ज्ञान उत्तरकालिक यथार्थ ज्ञानसे बाधित होनेसे स्वरूपमे अप्रतिष्ठित होनेके कारण विपर्यय ज्ञान है।

जिस प्रकार विपर्यय-ज्ञान रूपाप्रतिष्ठित है, वैसे ही संशय भी उत्तरकालिक ज्ञानसे बाधित होनेसे रूपाप्रतिष्ठित है। इसलिये संशय भी विपर्ययके अन्तर्गत है।

यह विपर्यय-संज्ञक (नामवाली) चित्तकी वृत्ति ही अविद्या कही जाती है। इसलिये अविद्या-संज्ञक विपर्यय ज्ञान अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश-भेदसे पाँच प्रकारका है, जिनका पञ्चक्लेशके नामसे (२-३) में वर्णन किया जायगा। भेद केवल इतना है कि यह विपर्यय चित्तकी एक वृत्तिरूप है और क्लेश वृत्तियोंके संस्काररूप होते हैं।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेशोंके ही साख्यपरिभाषामें क्रमसे तमस, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र नामान्तर है। इनका विस्तारपूर्वक वर्णन साधनपादके तीसरे सूत्रकी टिप्पणीमें किया जायगा।

विशेष वक्तव्य सूत्र ८—विपर्यय-वृत्ति किस प्रकार अक्लिष्टरूप हो सकती है ? इस शंकाको बहुधा जिज्ञासुओंसे सुना गया है। इसलिये उसके कुछ उदाहरणोंको यहाँ दे देना आवश्यक प्रतीत होता है। यह सारा त्रिगुणात्मक जगत् 'अविद्या है', 'माया है', 'स्वप्न है', 'शून्य है', 'विज्ञान है', इत्यादि कल्पनाएँ 'अविद्यावादी', 'मायावादी', 'स्वप्नवादी', 'शून्यवादी', 'विज्ञानवादी' इत्यादिकी भ्रममूलक, अयथार्थ और विपर्ययरूप है; क्योंकि त्रिगुणात्मक जडतत्त्वको 'अविद्या', 'माया' अथवा 'शून्य'' माननेमें उसीके अन्तर्गत होनेके कारण सारे वेद-शास्त्र, साधन-सम्पत्ति, पुरुषार्थ, योग-अभ्यास और स्वयं ये सिद्धान्त और युक्तियाँ भी 'अविद्या', 'माया', 'स्वप्न' अथवा 'शून्य'रूप होकर विपर्यय सिद्ध होगी और सारे सांसारिक तथा पारमार्थिक व्यवहार दूषित हो जायँगे। इसलिये त्रिगुणात्मक जडतत्त्वको 'अविद्या' 'माया' 'स्वप्न' अथवा 'शून्य' मानना विपर्ययवृत्ति है। वास्तवमें इस त्रिगुणात्मक जडतत्त्वको आत्मासे भिन्न अनात्मतत्त्व मानना ही प्रमाणवृत्ति है। इस अनात्मतत्त्वमें आत्माका भान होना अर्थात् उसमे आत्माध्यासरूप विपर्यय-वृत्ति सारे बन्धनोंका कारण होनेसे अत्यन्त क्लिष्टरूप है। इस अनात्मतत्त्वसे आत्माध्यासको हटाना ही मनुष्यका मुख्य प्रयोजन और परम पुरुषार्थ है। इसलिये उपर्युक्त 'अविद्यावादी', 'मायावादी' और 'शून्यवादियों'की विपर्यय वृत्ति बाह्य वाद-विवादको छोडकर अन्तर्मुख होते समय जड तत्त्वसे आत्माध्यास हटानेमें साधनरूपसे जब सहायक हो तो अक्लिष्टरूप धारण कर लेती है। इसी प्रकार विज्ञान अर्थात् चित्त आत्माको बाह्य जगत् दिखलानेके लिये त्रिगुणात्मक करण अर्थात् साधनरूप ही है। इसलिये इससे अतिरिक्त बाह्य जगत्को न मानना भी विपर्यय है, किंतु अन्तर्मुख होते समय जब साधनरूपसे जड तत्त्वसे आत्माध्यास हटानेमें सहायक हो, तब यह विपर्यय-वृत्ति भी अक्लिष्टरूप धारण कर लेती है।

संगति—विकल्प-वृत्तिका लक्षण बतलाते है—

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—शब्द-ज्ञान-अनुपाती=शब्दसे उत्पन्न जो ज्ञान, उसका अनुगामी अर्थात् उसके पीछे चलनेका जिसका स्वभाव है (और जो); वस्तुशून्यः=वस्तुसे शून्य है, वस्तुकी सत्ताकी अपेक्षा नहीं रखता है (इस प्रकारका ज्ञान); विकल्पः=विकल्प कहलाता है ।

अन्वयार्थ—शब्दसे उत्पन्न जो ज्ञान, उसके पीछे चलनेका जिसका स्वभाव हो और जो वस्तुकी सत्ताकी अपेक्षा न रखता हो इस प्रकारका ज्ञान विकल्प कहलाता है ।

व्याख्या—शब्दके ज्ञानके अनन्तर उदय होनेवाला जो निर्विषयक चित्तका तदाकार परिणाम है, वह विकल्प वृत्ति कहलाता है । यह वृत्तिनिर्विषयक होनेके कारण प्रमाणवृत्तिसे भिन्न है और यह विपर्यय वृत्ति भी नहीं है; क्योंकि बोध होनेपर भी इसका व्यवहार चलता रहता है । जैसे 'पुरुषका चैतन्यरूप है' ऐसे शब्द-ज्ञानके अनन्तर जो 'पुरुषका चैतन्यरूप है,' ऐसा चित्तका तदाकार परिणाम विकल्पवृत्ति है; क्योंकि इस वृत्तिमें पुरुष विशेषण-रूप और चैतन्य विशेष्यरूप भासता है । परंतु जैसे 'अश्वका घोडा' कहनेसे एक ही पदार्थमें विशेषण-विशेष्य-भाव सम्भव नहीं है, वैसे ही पुरुषमें जो कि चैतन्य ही है विशेषण-विशेष्य-भाव नहीं है । इसलिये 'पुरुषका चैतन्यरूप है' यह ज्ञान निर्विषय होनेसे विकल्पवृत्तिरूप है । 'चैतन्य ही पुरुष है' ऐसा बोध होनेपर भी 'पुरुषका चैतन्यरूप है' ऐसा व्यवहार होता है । इससे यह विपर्ययवृत्तिरूप नहीं है । इसी प्रकार 'अनुत्पत्तिधर्मा पुरुषः' इस शब्दज्ञानके अनन्तर 'उत्पत्तिरूप धर्मके अभाववाला पुरुष है' ऐसा जो ज्ञान उदय होता है, वह भी विकल्प-वृत्ति है, क्योंकि भाव-पदार्थसे अन्य कोई अभाव-पदार्थ नहीं है । इसलिये पुरुषमें उत्पत्तिरूप धर्मके अभावका ज्ञान निर्विषयक है । ऐसा बोध होनेपर भी कि 'भाव-पदार्थसे अतिरिक्त कोई अभाव-पदार्थ नहीं है, उक्त शब्द-ज्ञानके बलसे 'अनुत्पत्तिधर्मा पुरुषः' ऐसा व्यवहार होता ही रहता है । इसलिये 'अनुत्पत्तिधर्मा पुरुष.' 'उत्पत्ति-धर्मके अभाववाला पुरुष है' यह विपर्ययरूप नहीं है, किंतु विकल्पवृत्तिरूप है ।

इसी प्रकार 'राहुका सिर' 'काठकी पुतली' यह ज्ञान भी विकल्पवृत्ति है, क्योंकि 'राहु और सिर' 'काठ और पुतली' का भेद नहीं है । यह ज्ञान भी निर्विषयक होनेसे विकल्प है । प्रमाण, विपर्यय और विकल्प-वृत्तिके भेदको सरल शब्दोमें यो समझना चाहिये कि प्रमाण वस्तुके यथार्थ ज्ञानको कहते है, जैसे सीपमें सीपका ज्ञान । यह यथार्थ ज्ञान वस्तुके रूपमें प्रतिष्ठित होता है । जैसे सीपमें सीपका ज्ञान प्रतिष्ठित है अर्थात् स्थिर है, ठहरा हुआ है, बाध अर्थात् अस्थिर, हटनेवाला नहीं । चित्तमें ऐसे तदाकार परिणामको प्रमाणवृत्ति कहते है । विपर्यय वस्तुके मिथ्या-ज्ञानको कहते है । जैसे सीपमे चाँदीका ज्ञान प्रतिष्ठित नहीं है, अस्थिर है । सीपके यथार्थ ज्ञान हो जानेपर इसका बाध हो जाता है अर्थात् सीपमें चाँदीका मिथ्या-ज्ञान हट जाता है । चित्तमें ऐसे तदाकार परिणामको विपर्ययवृत्ति कहते है । विकल्प इन दोनोंसे विलक्षण है । यह वस्तुका यथार्थ ज्ञान नहीं है, क्योंकि निर्विषय होता है, अर्थात् कोई वस्तु इस ज्ञानका विषय नहीं होती, किंतु यह केवल शब्दज्ञानके अनन्तर उदय होता है । यह इसमें प्रमाणसे भिन्नता है । यह मिथ्या-ज्ञान भी नहीं है, क्योंकि जो लोग जानते है कि पुरुष और चैतन्य भिन्न-भिन्न नही है, वे भी ऐसा ही व्यवहार करते है । यह इसमें विपर्ययसे भेद है ।

साधारण लोगोको जिसमें बाधबुद्धि उदय हो, वह विपर्यय और निपुण विद्वानोको विचारद्वारा जिसमें बाध-ज्ञान हो, वह विकल्प समझना चाहिये । यह विकल्पवृत्ति वहाँ होती है, जहाँ अभेदमें भेद या भेदमें

अभेद आरोप किया जाता है। जैसे पुरुष और चैतन्य, राहु और सिर, काठ और पुतली; दो-दो वस्तु नहीं है तथापि इस अभेदमें भेद आरोप किया जाता है। लोह और आग, अथवा पानी और आग दो-दो वस्तु हैं, तथापि 'लोहेका गोला जलानेवाला है,' अथवा 'पानीसे हाथ जल गया' इस कथनसे भेदमें अभेद आरोप किया जाता है।

'अहं वृत्ति' भी एक विकल्प-वृत्ति ही है, क्योंकि इसमें चेतन और अहंकारके भेदमें अभेद आरोप किया जाता है। पल, घडी, दिन, मास आदिकी ज्ञानरूप वृत्तियाँ भी विकल्प वृत्तियाँ हैं; क्योंकि क्षणोंके भेदमें अभेदका आरोप किया जाता है (३ । ५२)।

गौ आदि शब्दोंमें शब्द, अर्थ और ज्ञानके भेदमें अभेदसे भासनेवाली वृत्ति भी विकल्प-वृत्ति ही है, जिसकी (१ । ४२) मे 'सवितर्क समापत्ति' सज्ञा की है।

टिप्पणी—विज्ञानभिक्षुने इस सूत्रका अर्थ निम्न प्रकार किया है—

शब्द-ज्ञान-अनुपाती=शब्द और ज्ञान जिसके पीछे आते है; वस्तुशून्य:=और वस्तुसे जो शून्य है; विकल्प:=वह विकल्प है। अर्थात् यह ज्ञान वस्तुसे शून्य है, ऐसा जाननेवाले विवेकी भी ऐसा ही कहते और समझते है।

सगति—निद्रा-वृत्तिका स्वरूप बतलाते हैं—

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

शब्दार्थ—अभाव-प्रत्यय-आलम्बना=(जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थाकी वृत्तियोके) अभावकी प्रतीतिको आश्रय करनेवाली, वृत्ति:=वृत्ति; निद्रा=निद्रा है।

अन्वयार्थ—(जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थाकी वृत्तियोके) अभावकी प्रतीतिको आश्रय करनेवाली वृत्ति निद्रा है।

व्याख्या—निद्रा 'वृत्ति' ही है; इसको सूचित करनेके लिये सूत्रमें वृत्ति ग्रहण है। कई आचार्य निद्राको वृत्ति नहीं मानते है, किंतु योगके आचार्य आत्मस्थितिसे अतिरिक्त चित्तकी प्रत्येक अवस्थाको वृत्ति ही मानते हैं।

'अभाव' शब्दसे जाग्रत् और स्वप्नावस्थाकी वृत्तियोका अभाव, अथवा जाग्रत् और स्वप्नकी वृत्तियोके अभावका हेतु तमोगुणको जानना चाहिये।

रजोगुणका धर्म क्रिया और प्रवृत्ति है। जाग्रत्-अवस्थामे चित्तमें रजोगुण प्रधान होता है। इसलिये वह सत्त्वगुणको गौणरूपसे अपना सहकारी बनाकर अस्थिर रूपसे क्रियामें अर्थात् विषयोमें प्रवृत्त करनेमें लगा रहता है। तमोगुणका धर्म स्थिति, दबाना, रोकना अर्थात् प्रकाश और क्रियाको रोकना है। सुषुप्ति-अवस्थामें तमोगुण रजस् तथा सत्त्वको प्रधानरूपसे दबा देता है। इसलिये चित्तमें तमोगुणका ही परिणाम प्रधानरूपसे होता रहता है। उस समय चित्तमें अभावकी ही प्रतीति होती है। जिस प्रकार एक अँधेरे कमरेमें सब वस्तुएँ छिप जाती है, किंतु सब वस्तुओको छिपानेवाला अन्धकार दिखलायी देता है, जो वस्तुओके अभावकी प्रतीति कराता है, इसी प्रकार तमोगुण सुषुप्ति-अवस्थामें चित्तकी सब वृत्तियोको दबाकर स्वयं स्थिररूपसे प्रधान रहता है, किंतु रजोगुणका नितान्त अभाव नहीं होता है, तनिक मात्रामे रहता हुआ वह इस अभावकी भी प्रतीति कराता रहता है। चित्तके ऐसे परिणामको निद्रा-वृत्ति कहते हैं।

तब चित्तमें तमोगुणवाली, 'मै सोता हूँ' इस प्रकारकी वृत्ति होती है। इस वृत्तिके संस्कार चित्तमें उत्पन्न होते है, फिर उससे स्मृति होती है कि 'मै सोया और मैंने कुछ नहीं जाना'। यहाँपर इतना विशेष यह भी जान लेना कि जिस निद्रामें सत्त्वगुणके लेशसहित तमोगुणका प्रचार होता है, उस निद्रासे उठकर पुरुषको 'मै सुखसे सोया, मेरा मन प्रसन्न है और मेरी प्रज्ञा स्वच्छ है' इस प्रकारकी स्मृति होती है;

और जिस निद्रामें रजोगुणके लेशसहित तमोगुणका संचार होता है उससे उठनेपर इस प्रकारकी स्मृति होती है—'मैं दुःखपूर्वक सोया, मेरा मन अस्थिर और घूमता-सा है' और जिस निद्रामें केवल तमोगुणका प्राबल्य होता है तो उससे उठनेपर 'मैं बेसुध सोया, मेरे शरीरके अङ्ग भारी हो रहे हैं, मेरा चित्त व्याकुल है' इस प्रकारकी स्मृति होती है। यदि उस वृत्तिका प्रत्यक्ष न हो तो उसके संस्कार भी न हों; और संस्कारोंके न होनेसे स्मृति भी नहीं हो सकती। इसलिये निद्रा एक वृत्ति है, वृत्तिमात्रका अभाव नहीं है। श्रुति और स्मृतियोंने भी निद्राको वृत्ति ही माना है।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः।

जाग्रत्, स्वप्न और निद्रा—ये गुणोंसे बुद्धिकी वृत्तियाँ हैं। एकाग्रताके तुल्य होते हुए भी निद्रा तमोमयी होनेसे सबीज तथा निर्बीज-समाधिकी विरोधिनी है, इसलिये रोकने योग्य है।

नशा तथा क्लोरोफार्म आदिसे उत्पन्न हुई मूर्च्छित-अवस्था भी निद्रा-वृत्तिके ही अन्तर्गत है।

विशेष विचार सूत्र १०—सुषुप्ति तथा प्रलय-कालमें तमोगुणप्रधान अन्धकारमें चित्तका लय होता है; और असम्प्रज्ञात समाधिकी अवस्थामें अविद्या आदि क्लेशोंसे रहित पुरुषके निज-रूपमें चित्त अवस्थित रहता है और पुरुष स्वरूपमें अवस्थित होता है।

सुषुप्ति व्यष्टि चित्तोंकी अवस्था है और प्रलय समष्टि-चित्त अर्थात् महत्तत्त्वकी सुषुप्ति है।

असम्प्रज्ञात-समाधिमें चित्तमें संस्कार-शेष अर्थात् निरोधके संस्कार रहते हैं जिनके दुर्बल होनेपर व्युत्थान-अवस्थामें लौटना होता है। कैवल्य (मुक्ति) में संस्कारशेष भी निवृत्त हो जाते हैं, इसलिये पुनः आवृत्ति नहीं होती।

टिप्पणी—'प्रत्यय' पदका अर्थ ज्ञान, प्रतीति, वृत्ति तथा कारण भी है। वाचस्पतिमिश्रने प्रत्यय पदका 'कारण' रूप अर्थ मानकर सूत्रका निम्न प्रकार अर्थ किया है—जाग्रत् तथा स्वप्नकी वृत्तियोंके अभावका प्रत्यय (कारण) जो बुद्धिनिष्ठ सत्त्वगुणका आच्छादक तमोगुण या अज्ञान है आलम्बन (विषय) जिस चित्तवृत्तिका, वह निद्रा कहलाती है।

संगति—क्रमसे प्राप्त स्मृतिका वर्णन करते है—

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—अनुभूत=अनुभव किये हुए, जाने हुए; विषय=(किसी) विषयका; असम्प्रमोषः=जो चुराया हुआ न हो (फिर चित्तमें) उससे अधिकका नहीं, किंतु आरोहपूर्वक तन्मात्रविषयक ज्ञान होना; स्मृतिः=स्मृति है।

अन्वयार्थ—अनुभव किये हुए विषयका फिर चित्तमें आरोहपूर्वक उससे अधिक नहीं, किंतु तन्मात्र-विषयक ज्ञान होना स्मृति है*।

व्याख्या—स्मृतिसे भिन्न ज्ञानका नाम अनुभव है। अनुभवसे ज्ञात (जानी हुई) वस्तुको अनुभूत कहते हैं। जब किसी दृष्ट अथवा श्रुत (देखी या सुनी हुई) आदि वस्तुका ज्ञान होता है, तब एक प्रकारका उस अनुभूत वस्तुका तदाकार संस्कार चित्तमें पड़ जाता है। फिर जब किसी समयमें उद्बोधक सामग्रीके उपस्थित होनेपर वह संस्कार-प्रफुल्लित हो जाता है, तब चित्त इस संस्कारविषयक परिणामको प्राप्त हो

* यदि 'असम्प्रमोष.' के अर्थ 'न खोया जाना' लगाये तब सूत्रके यह अर्थ होंगे "अनुभव किये हुए विषयका न खोया जाना अर्थात् किसी अभिव्यञ्जकको पाकर संस्कारप्रफुल्लित हो जाना स्मृति है।"

जाता है। यह अनुभूत पदार्थविषयक चित्तका तदाकार परिणाम स्मृति-वृत्ति कहलाता है। प्रमाण, विपर्यय और विकल्पद्वारा जाग्रत् अवस्थामें जिस किसी वस्तुको अनुभव करते है तो उस अनुभवसे चित्तपर संस्कार पडते हैं। उन संस्कारोंसे स्मृति होती है। अनुभव-सदृश सस्कार होते है और संस्कार-सदृश स्मृति होती है। निद्रामें अभावका अनुभव होता है। उसके सस्कारसे भी उसके सदृश स्मृति पैदा होती है। इसी प्रकार स्मृतिके भी संस्कार पडते हैं और उनसे भी उसके सदृश स्मृति होती है। स्मृतिका विषय अनुभूतिसे कम अथवा उसके बराबर हो सकता है, उससे अधिक नहीं हो सकता है। स्वप्न भी जाग्रत्-अवस्थाके अनुभूत पदार्थोंकी स्मृति है। इसमें जाग्रत्के स्मर्तव्य विषय भी दिखलायी देते हैं, किंतु वे सब कल्पित होते हैं। यह स्मृतिकी स्मृति है। इसमें यह यथार्थ ज्ञान नहीं होता कि हम स्मरण कर रहे हैं। इसको भावित-स्मर्तव्य-स्मृति कहते हैं। जाग्रत् अवस्थामें जो स्मृति होती है, उसमें स्मर्तव्य विषय नहीं दिखलायी देता, किंतु हमको ज्ञान होता है कि हम स्मरण कर रहे हैं, यह वास्तविक स्मृति है। इसको अभावित-स्मर्तव्य-स्मृति कहते हैं। स्मृतिको सबसे अन्तमें लिखनेका कारण यह है कि यह वृत्ति प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृतिके अनुभव-जन्य सस्कारोसे उत्पन्न होती है।

सम्प्रमोष नाम "मुष स्तेये" धातुसे तस्करता स्तेय अर्थात् चोरीका है। इसलिये असम्प्रमोषका अर्थ तस्करताका अभाव है। जिस प्रकार लोकमें पुत्रके लिये पितासे छोडी हुई वस्तुका ग्रहण करना असम्प्रमोष, अस्तेय अर्थात् चोरी नहीं है, किंतु दूसरोकी छोडी हुई वस्तु ग्रहण करना (चोरी) है, इसी प्रकार अनुभव, स्मरण-ज्ञानका पिता है; क्योकि स्मरण-ज्ञान अनुभवसे ही उत्पन्न होता है। अनुभूत विषय अनुभवद्वारा छोड़ी हुई सम्पत्तिके तुल्य है। इसलिये स्मरण-ज्ञानका अनुभूत विषयसे अधिक प्रकाश करना सम्प्रमोष (चोरी) अर्थात् स्मृति नहीं है। केवल अनुभूत विषयको ही उसके बराबर अथवा उससे न्यून (कम) प्रकाश करना (अधिक नहीं) असम्प्रमोष है अर्थात् स्मृति है। इसलिये स्मृतिका विषय अनुभूत विषयसे कम हो सकता है, अधिक नहीं हो सकता।

यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि चित्त जो स्मरण करता है वह प्रत्यय-मात्र (ज्ञानमात्र ग्रहण-मात्र) का स्मरण करता है या ग्राह्यमात्र (विषयमात्र) या ग्राह्य-ग्रहण (विषय और ज्ञान)—इन दोनोंका स्मरण करता है? इसका समाधान यह है कि यद्यपि ज्ञानविषयक अनुभवके अभावसे विषयका ही स्मरण होना सम्भव है तथापि पूर्व अनुभवको ग्राह्य-ग्रहण उभयाकारविशिष्ट होनेसे उनसे उत्पन्न हुआ संस्कार भी उन दोनों आकारोसे संयुक्त होकर ग्राह्य-ग्रहण दोनो स्वरूपवाली स्मृतिको उत्पन्न करता है, एक-विषयक-को नहीं। इसलिये ज्ञान-सम्बद्ध विषयका ही स्मरण होता है; न केवल ज्ञानका और न केवल विषयका अर्थात् अनुभव, आकार, स्मरण—ये तीनो समान ही आकारसे भान होते है, विभिन्न आकारसे नहीं। 'अहं घटं जानामि' मै घट-विषयक ज्ञानवाला हूँ, इस अनुभवमें घट और ज्ञान दोनोका ही भान होता है। इससे अनुभव-जन्य संस्कार भी दोनों विषयोवाला मानना पडेगा। इसी प्रकार इस सस्कारसे उत्पन्न होनेवाली स्मृति भी दोनो विषयवाली होगी, एक विषयवाली नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि ग्राह्य और ग्रहण—इन दोनोंका ही स्मृति प्रकाश करती है, एकका नहीं।

यह स्मृति दो प्रकारकी है। एक भावित-स्मर्तव्य अर्थात् मिथ्या-पदार्थ-विषयक जो कि स्वप्नमें होती है, और एक अभावित-स्मर्तव्य अर्थात् यथार्थ पदार्थको विषय करनेवाली जो कि जाग्रत्-कालमें होती है, जैसा ऊपर व्याख्यामें बतला आये हैं।

यह प्रमाणादि पाँच भेदोंवाली उपर्युक्त सूत्रोमें बतलायी हुई वृत्तियाँ सात्त्विक, राजस और तामस होनेसे सुख, दुःख और मोहस्वरूप है; और सुख, दुःख और मोह क्लेशस्वरूप हैं। इसलिये ये सब वृत्तियाँ ही निरोध करने योग्य हैं। मोह स्वयं अविद्यारूप होनेसे सर्वदुःखोंका मूल है। दुःखकी वृत्तियाँ स्वयं दुःखरूप ही है। सुखकी वृत्तियाँ सुखके विषयो और उनके साधनोमें राग उत्पन्न कराती है। 'सुखानुशयी रागः' (२ । ७) 'सुख-भोगके पश्चात् जो उसकी वासना रहती है, वह राग है'। उन सुखके विषयो और उनके साधनोंमें विघ्न होनेपर द्वेष उत्पन्न होता है 'दुःखानुशयी द्वेषः' (२ । ८)। इसलिये क्लेशजनक सुख, दुःख, मोहस्वरूप होनेसे सब प्रकारकी वृत्तियाँ त्याज्य है। इनके निरोध होनेपर सम्प्रज्ञातयोग सिद्ध होता है। तदनन्तर पर वैराग्यके उदय होनेसे असम्प्रज्ञात-योग सिद्ध होता है।

विशेष विचार सूत्र ११—स्वप्न जागने और सोनेके बीचकी अवस्था है। सूत्रकी व्याख्यामें स्वप्नमें हमने भावित-स्मर्तव्य अर्थात् मिथ्या पदार्थविषयक स्मृतिका होना बतलाया है। स्वप्न भी अन्तःकरणके गुण-भेदसे तीन प्रकारके होते हैं। तामसिक स्वप्न, राजसिक स्वप्न और सात्त्विक स्वप्न। जब स्वप्नमें तमोगुणकी प्रधानता होती है, तब कुछ-से-कुछ विचित्र स्वप्न दिखलायी देते हैं। अर्थात् सारी वस्तुएँ अस्थिर रूपसे दिखलायी देती है और जागनेपर उनकी कुछ भी ठीक-ठीक स्मृति नहीं रहती। यह स्वप्नकी अधम अवस्था तामसिक है। जिस समय स्वप्न-अवस्थामें रजोगुण अधिक होता है, उस समय जाग्रत्-दशामें देखे हुए पदार्थ ही कुछ रूपान्तरसे दृष्टिगोचर होते है और उनकी स्मृति जागनेपर रहती है। यह स्वप्नकी मध्यम अवस्था राजसिक है। ये दोनो प्रकारके स्वप्न भावित-स्मर्तव्य स्मृतिवाले होते है। जो स्वप्न सच्चे होते हैं अर्थात् जिनका फल सच्चा होता है, वे सात्त्विक कहलाते हैं और यह स्वप्नकी उत्तम अवस्था है। यह अधिकतर योगियोंको होती है और कभी-कभी साधारण लोगोंको भी सत्त्वके उदय होनेपर। तमके दबने और सत्त्वके प्रधान रूपसे उदय होनेके कारण यह स्वप्नकी अवस्था अकस्मात् ही एक प्रकारसे वितर्कानुगतकी भूमि बन जाती है और उस-जैसा ही अनुभव होने लगता है। इसलिये इसको भावित-स्मर्तव्य स्मृतिकी कोटिमें नही रखना चाहिये।

संगति—उपर्युक्त सात सूत्रोमें पाँचों प्रकारकी वृत्तियोंका निरूपण करके अब अगले सूत्रमें उनके निरोधका उपाय बतलाते है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—अभ्यास-वैराग्याभ्यां=अभ्यास और वैराग्यसे; तत्-निरोधः=उनका (वृत्तियोंका) निरोध होता है।

अन्वयार्थ—अभ्यास और वैराग्यसे उन वृत्तियोंका निरोध होता है।

व्याख्या—चित्तवृत्ति निरुद्ध करनेके दो उपाय है—अभ्यास और वैराग्य। चित्तका स्वाभाविक बहिर्मुख प्रवाह वैराग्यद्वारा निवृत्त होता है। अभ्यासद्वारा आत्मोन्मुख आन्तरिक प्रवाह स्थिर हो जाता है।

भगवान् व्यासदेवजीने अभ्यास और वैराग्यको बडे सुन्दर रूपकसे वर्णन किया है, जो इस प्रकार है—

चित्त एक नदी है, जिसमें वृत्तियोका प्रवाह बहता है। इसकी दो धाराएँ है। एक संसार-सागर-की ओर, दूसरी कल्याण-सागरकी ओर बहती है। जिसने पूर्व जन्ममें सांसारिक विषयोंके भोगार्थ कार्य

किये है, उसकी वृत्तियोकी धारा उन संस्कारोके कारण विषय-मार्गसे वहती हुई संसार-सागरमें जा मिलती है और जिसने पूर्व-जन्ममें कैवल्यार्थ काम किये हैं, उसकी वृत्तियोंकी धारा उन संस्कारोके कारण विवेक-मार्गमें वहती हुई कल्याण-सागरमें जा मिलती है। ससारी लोगोकी प्राय. पहली धारा तो जन्मसे ही खुली होती है; किंतु दूसरी धाराको शास्त्र, गुरु, आचार्य तथा ईश्वरचिन्तन खोलते हैं। पहली धाराको वद करनेके लिये विषयोके स्रोतपर वैराग्यका वन्ध लगाया जाता है और अभ्यासके वेलचेसे दूसरी धारा-का मार्ग गहरा खोदकर वृत्तियोके समस्त प्रवाहको विवेक-स्रोतमें डाल दिया जाता है। तव प्रवल वेगसे वह सारा प्रवाह कल्याणरूपी सागरमें जाकर लीन हो जाता है। इस कारण अभ्यास तथा वैराग्य दोनों ही इकट्ठे मिलकर चित्तकी वृत्तियोंके निरोधके साधन है।

जिस प्रकार पक्षीका आकाशमें उडना दोनो ही पक्षोके अधीन है, न केवल एक पक्षके। इसी प्रकार समस्त वृत्तियोंका निरोध न केवल अभ्याससे ही और न केवल वैराग्यसे ही हो सकता है, किंतु उसके लिये अभ्यास और वैराग्य दोनोंका ही समुच्चय होना आवश्यक है।

तमोगुणकी अधिकतासे चित्तमें लय-रूप निद्रा, आलस्य, निरुत्साह आदि मूढावस्थाका दोष उत्पन्न होता है और रजोगुणकी अधिकतासे चित्तमें चञ्चलतारूप विक्षेप दोष उत्पन्न होता है। अभ्याससे तमोगुणकी निवृत्ति होती है और वैराग्यसे रजोगुणकी।

सूत्र—२। २८ में वतलाये हुए योगके आठ अङ्गोंमेंसे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार; जो पाँच वहिरङ्ग हैं उनकी सिद्धिमें अभ्यास अधिक सहायक होता है और तीन अन्तरङ्ग धारणा, ध्यान और समाधिमें वैराग्य।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने भी अर्जुनको, मनको रोकनेके अभ्यास, वैराग्य दोनों ही समुच्चयरूपसे साधन वतलाये हैं।

असंशयं महावाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(गीता ६। ३५)

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः। वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(गीता ६। ३६)

हे महावाहो! निस्सदेह मन चञ्चल और कठिनतासे वशमें होनेवाला है; परंतु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! अभ्यास और वैराग्यके द्वारा वशमें हो जाता है।

मनको वशमें न करनेवाले पुरुषद्वारा योग प्राप्त होना कठिन है, यह मै जानता हूँ; किंतु स्वाधीन मनवाले प्रयत्नशील पुरुषद्वारा साधन करनेसे प्राप्त हो सकता है।

संगति—वृत्तियोंको रोकनेके उपाय अभ्यास और वैराग्यमेंसे प्रथम अभ्यासका स्वरूप और प्रयोजन अगले सूत्रमें वतलाते हैं—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः॥१३॥

शब्दार्थ—तत्र=उन दोनो अभ्यास और वैराग्यमेंसे; स्थितौ=चित्तकी स्थितिमें; यत्नः=यत्न करना; अभ्यासः=अभ्यास है।

अन्वयार्थ—उनमेंसे चित्तकी स्थितिके विषयमें यत्न करना अभ्यास है।

व्याख्या—चित्तके वृत्तिरहित होकर शान्त प्रवाहमे वहनेको स्थिति कहते हैं । उस स्थितिके प्राप्त करनेके लिये वीर्य (पूर्ण सामर्थ्य) और उत्साहपूर्वक यत्न करना अभ्यास कहलाता है ।

यम, नियम आदि योगके आठ अङ्गोंका बार-बार अनुष्ठानरूप प्रयत्न अभ्यासका स्वरूप है; और चित्तवृत्तियोंका निरोध होना अभ्यासका प्रयोजन है ।

पठन-पाठन, लेखन, पाक, क्रय-विक्रय, सीवन, नृत्य-गायन आदि सर्व कार्य अभ्याससे ही सिद्ध होते हैं । अभ्यासके वलसे रस्सीपर चढे हुए नट तथा सरकस आदिमें न केवल मनुष्य किंतु सिंह, अश्व आदि पशु अपनी प्रकृतिके विरुद्ध आश्चर्यजनक कार्य करते हुए देखे जाते हैं । अभ्यासके प्रभावसे अति दुःसाध्य कार्य भी सिद्ध हो सकते हैं । इसलिये जब मुमुक्षु चित्तकी स्थिरताके लिये अभ्यासनिष्ठ होगा, तब वह स्थिरता भी उसको अवश्य प्राप्त होकर चित्त वशीभूत हो जायगा; क्योंकि अभ्यासके आगे कोई कार्य दुष्कर नहीं है ।

संगति—राजस-तामस वृत्तियोके अनादि प्रबल संस्कार चित्तकी एकाग्रताके विरोधी हैं । उनसे प्रतिबद्ध (घिरा हुआ) अभ्यास एकाग्रतारूप स्थिति सम्पादन करानेमें कैसे समर्थ होगा ? इस शङ्काकी निवृत्ति अगले सूत्रमें अभ्यासके दृढ़-भूमि होनेसे बतलाते हैं—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—सः=वह (पूर्वोक्त अभ्यास); तु=किंतु; दीर्घकाल=बहुत कालपर्यन्त; नैरन्तर्य=निरन्तर अर्थात् लगातार व्यवधानरहित; सत्कार-आसेवितः=सत्कारसे ठीक-ठीक सेवन किया हुआ अर्थात् श्रद्धा, वीर्य, भक्तिपूर्वक अनुष्ठान किया हुआ; दृढभूमिः=दृढ़ अवस्थावाला हो जाता है ।

अन्वयार्थ—किंतु वह पूर्वोक्त अभ्यास दीर्घ कालपर्यन्त निरन्तर व्यवधानरहित ठीक-ठीक श्रद्धा, वीर्य, भक्तिपूर्वक अनुष्ठान किया हुआ दृढ अवस्थावाला हो जाता है ।

व्याख्या—विषयभोग वासनाजन्य व्युत्थानके संस्कार मनुष्यके चित्तमें अनादि जन्म-जन्मान्तरोंसे पड़े चले आ रहे हैं । उनको थोड़े-से ही समयमें बीजसहित नष्ट कर देना अत्यन्त कठिन है । वे निरोधके संस्कारोको तनिक-सी भी असावधानी होनेपर दबा सकते हैं । इस कारण अभ्यासको दृढ़भूमि बनानेके हेतु धैर्यके साथ दीर्घ कालपर्यन्त लगातार श्रद्धा और उत्साहपूर्वक प्रयत्न करते रहना चाहिये ।

सूत्रमें तीन विशेषणसे किया हुआ अभ्यास दृढभूमि अर्थात् दृढ अवस्थावाला बतलाया है । (१) पहिला विशेषण दीर्घ काल है । वहाँ दीर्घ कालसे दस-बीस आदि वर्षोंका नियम नही है, क्योंकि योगके अधिकारी भिन्न-भिन्न प्रकारके होते है । जिन्होने पूर्व जन्मोंमें अभ्यासके संस्कारोंको दृढ़ कर लिया है और जिनका वैराग्य भी तीव्र है, उनको शीघ्र या अति शीघ्र समाधि-लाभ होता है । इतर जनोको शीघ्र समाधि-लाभ नहीं होता । उन्हें निराश न होना चाहिये, किंतु धैर्यके साथ चिरकालतक एकाग्रता-निमित्त दृढ़ अवस्थाके लिये अभ्यासका सेवन करते रहना चाहिये । (२) दूसरा विशेषण 'नैरन्तर्य' है अर्थात् अभ्यासको लगातार निरन्तर व्यवधानरहित करते रहना चाहिये । ऐसा न हो कि एक मास अभ्यास किया, फिर दस दिनके लिये छोड़ दिया; फिर तीन मास किया, पुनः एक मास बंद कर दिया; इस प्रकार व्यवधानके साथ किया हुआ अभ्यास बहुत समयमें भी दृढ़भूमि नहीं होता । इसलिये बिना व्यवधानके अभ्यासको निरन्तर करते रहना चाहिये । (३) तीसरा विशेषण 'सत्कारासेवितः'

है अर्थात् वह अभ्यास ठीक-ठीक सत्कारपूर्वक श्रद्धा, भक्ति, वीर्य, ब्रह्मचर्य और उत्साहपूर्वक अनुष्ठान किया जाना चाहिये। दीर्घकालतक निरन्तर सेवन किया हुआ अभ्यास भी बिना इस विशेषणके दृढ़ अवस्थावाला न हो सकेगा। इन तीनो विशेषणोसे युक्त अभ्यास न केवल व्युत्थानरूप राजस-तामस वृत्तियोंके सस्कारोसे प्रतिबद्ध न हो सकेगा, किंतु इन संस्कारोको तिरोभूत करके चित्तकी स्थिरतारूप प्रयोजनके सिद्ध करनेमे समर्थ होगा।

अतः अभ्यासी जनोंको थोडे कालमें ही अभ्याससे घबरा न जाना चाहिये, किंतु दृढभूमि-प्राप्ति-के लिये दीर्घकाल निरन्तर सत्कारसे अभ्यास करते रहना चाहिये।

विशेष विचार—श्रद्धा तीन प्रकारकी बतलायी गयी है।

यथा—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिप्रकृतिभेदतः।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसीति बुभुत्सवः॥
तासां तु लक्षणं विप्राः शृणुध्वं भक्तिभावतः।
श्रद्धा सा सात्त्विकी ज्ञेया विशुद्धज्ञानमूलिका॥
प्रवृत्तिमूलिका चैव जिज्ञासामूलिकापरा।
विचारहीनसंस्कारमूलिका त्वन्तिमा मता॥

अर्थात् देहधारियोकी प्रकृतिके भेदानुसार सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकारकी श्रद्धा होती है। विशुद्ध ज्ञानमूलक श्रद्धा सात्त्विक है, प्रवृत्ति और जिज्ञासामूलक श्रद्धा राजसिक है और विचारहीन संस्कारमूलक श्रद्धा तामसिक है। इनमेंसे सात्त्विक श्रद्धा ही श्रेष्ठ है। सूत्रमें इसी श्रद्धाका 'सत्कार' शब्दसे अनुष्ठान करना बतलाया गया है।

संगति—वैराग्य दो प्रकारका है—अपर-वैराग्य और पर-वैराग्य। अगले सूत्रमें प्रथम अपर-वैराग्यका स्वरूप बतलाते हैं—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥ १५॥

शब्दार्थ—दृष्ट-आनुश्रविक-विषय-वितृष्णस्य=दृष्ट और आनुश्रविक विषयोमे जिसको कोई तृष्णा नहीं है उसका; वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्=वशीकार नामवाला वैराग्य है।

अन्वयार्थ—दृष्ट और आनुश्रविक विषयोंमें जिसको तृष्णा नहीं रही है, उसका वैराग्य वशीकार नाम-वाला अर्थात् अपर-वैराग्य है।

व्याख्या—विषय दो प्रकारके हैं—दृष्ट और आनुश्रविक। दृष्ट वे हैं जो इस लोकमे दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, धन, सम्पत्ति, अन्न, खानपान, स्त्री, राज्य, ऐश्वर्य इत्यादि। आनुश्रविक वे हैं जो वेद और शास्त्रोंद्वारा सुने गये हैं, ये भी दो प्रकारके होते हैं—

(क) शरीरान्तर-वेद्य, जैसे देवलोक, स्वर्ग, विदेह और प्रकृतिलयका आनन्द (१।१९) इत्यादि।

(ख) अवस्थान्तर-वेद्य, जैसे दिव्य-गन्ध-रस आदि (१।३५), अथवा तीसरे पादमें वर्णन की हुई सिद्धियाँ आदि।

इन दोनों प्रकारके दिव्य और अदिव्य विषयोकी उपस्थितिमें भी जब चित्त प्रसंख्यान ज्ञानके बलसे

इनके दोषों (२ । १५) को देखता हुआ इनके सङ्ग-दोषसे सर्वथा रहित हो जाता है; न इनको ग्रहण करता है, न परे ही हटाता है अर्थात् जब इनमें उसका ग्रहण करानेवाला राग और परे हटानेवाला द्वेष—दोनो निवृत्त हो जाते हैं । जैसा कि कहा गया है—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ।

'विकारका कारण उपस्थित होनेपर भी जिनके चित्तोमें विकार उत्पन्न नहीं होता, वे ही धीर हैं ।'

इस प्रकार चित्त एकरस बना रहना है । चित्तकी ऐसी अवस्थाका नाम वशीकारसज्ञा वैराग्य है ।' इसीको अपर-वैराग्य कहते है, जिसकी अपेक्षासे दूसरे सूत्रमे परवैराग्य बतलाया है ।

किसी विषयके केवल त्यागनेका नाम वैराग्य नहीं है; क्योकि रोग आदिके कारण भी विषयोसे अरुचि हो जाती है, जिससे उनका त्यागना होता है । किसी विषयके अप्राप्त होनेपर भी उसका भोग नहीं किया जा सकता है । दिखावेके लिये तथा भय, लोभ और मोहके वशीभूत होकर, अथवा दूसरोके आग्रहसे भी किसी विषयको त्यागा जा सकता है, परंतु उसकी तृष्णा सूक्ष्मरूपसे मनमें बनी रहती है ।

विवेकद्वारा विषयोंको अनन्त दुःखरूप और बन्धनका कारण समझकर उनमें पूर्णतया अरुचिका हो जाना तथा उनमें सर्वथा सङ्ग-दोषसे निवृत्त हो जाना ही वैराग्य कहा जा सकता है ।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

विषयोकी कामना विषयोके भोगसे कभी शान्त नहीं होती है, किंतु हवि डालनेसे अग्निकी ज्वालाके सदृश और अधिक बढती है ।

इसी प्रकार भर्तृहरिजीने कहा है—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥

अर्थात् भोग नहीं भोगे गये (भोगोंको हमने नहीं भोगा), किंतु हमी भोगे गये, तप नही तपे, हमीं तप गये; समय नहीं बीता, किंतु हमीं बीत गये, तृष्णा जीर्ण नहीं हुई, किंतु हमीं जीर्ण हो गये ।

वैराग्यकी चार सज्ञाएँ (नाम) है—यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार ।

यतमान—चित्तमें स्थित चित्तके मूलरूप राग-द्वेष आदि दोष ही इन्द्रियोके अपने-अपने विषयोंमें प्रवर्तक हैं । उन राग-द्वेष आदि दोषोका बार-बार चिन्तनरूप प्रयत्न जिससे इन्द्रियोंको उन विषयोमें प्रवृत्त न कर सके, यतमान-संज्ञक वैराग्य है ।

व्यतिरेक—फिर विषयोमे दोषोके चिन्तन करते-करते निवृत्त और विद्यमान चित्त मलरूप दोषोका व्यतिरेक निश्चय अर्थात् इतने मल निवृत्त हो गये है, इतने निवृत्त हो रहे है, इतने निवृत्त होनेवाले है, इस प्रकार जो निवृत्त और विद्यमान चित्तमलोका पृथक्-पृथक् रूपसे ज्ञान है, वह व्यतिरेक-संज्ञक वैराग्य ।

एकेन्द्रिय—जब यह चित्तमलरूपी रागादि दोष बाह्य इन्द्रियोको तो विषयोमे प्रवृत्त करनेमें असमर्थ हो गये हो किंतु सूक्ष्मरूपसे मनमें बने रहें, जिससे विषयोकी संनिधिसे चित्तमें फिर क्षोभ उत्पन्न कर सके तब यह वैराग्यकी अवस्था एकेन्द्रियसंज्ञक है ।

वशीकार—सूक्ष्मरूपसे भी जब चित्तके मल-रागादि दोषोंकी निवृत्ति हो जाय और दिव्य-अदिव्य विषयोंके उपस्थित होनेपर भी उपेक्षा-बुद्धि रहे, तब यह तीनों संज्ञाओंसे परे वशीकार-संज्ञक वैराग्य है अर्थात् यह ज्ञान कि 'ममैते वश्या नाहमेतेषां वश्य इति' मेरे ये वशीभूत हैं, मैं इनके वशीभूत नहीं हूँ।

ये पहिली तीन भूमिवाले वैराग्य-निरोधके साक्षात् हेतु नहीं हैं। निरोधका साक्षात् हेतु चौथी भूमिवाला वशीकार-संज्ञक वैराग्य ही है। इसलिये सूत्रकारने इसीका वर्णन किया है। किंतु यह भूमि पहिली तीन भूमियोंको क्रमसे लाँघकर ही प्राप्त होती है। इसका दूसरा नाम अपर-वैराग्य है। इसका फल सम्प्रज्ञात-समाधि है, जिसकी सबसे ऊँची भूमि पुरुष और चित्तकी भिन्नता प्रतीत करानेवाली विवेक-ख्याति है। किंतु यह भी त्रिगुणात्मक चित्तकी ही एक वृत्ति है। इससे विरक्त हो जाना पर वैराग्य है, जिसका फल असम्प्रज्ञात-समाधि है।

संगति—सम्प्रज्ञात-समाधिके साधन अपर-वैराग्यको बतलाकर अब अगले सूत्रमें असम्प्रज्ञात-समाधिका साधन पर-वैराग्यका वर्णन करते हैं—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—तत्=वह=वैराग्य, परम्=पर (सबसे ऊँचा) है जो; पुरुषख्यातेः=प्रकृति-पुरुष-विषयक विवेकज्ञान—सत्त्व-पुरुषान्यता-ख्याति—विवेकख्यातिके उदय होनेसे, गुण-वैतृष्ण्यम्=गुणोंमें तृष्णा-रहित हो जाना है।

अन्वयार्थ—विवेकख्यातिद्वारा गुणोंसे तृष्णारहित हो जाना पर-वैराग्य है।

व्याख्या—अपर-वैराग्य दिव्य-अदिव्य आदि विषयोंमें तृष्णारहित हो जाना है। पर-वैराग्य जहाँतक गुणोंका अधिकार है, उन सबमें तृष्णारहित हो जाना है। अपर-वैराग्यद्वारा योगी दृष्ट-आनुश्रविक विषयोंमें दोष देखकर उनसे विरक्त होता है। जब चित्तसे उनकी तृष्णा निवृत्त हो जाती है, तब चित्त एकाग्र हो जाता है। यही सम्प्रज्ञात-समाधि है। इसकी उच्चतम अवस्थामें चित्त और पुरुषके भेदका साक्षात्कार होता है। इसका नाम पुरुषख्याति, सत्त्वपुरुषान्यता-ख्याति तथा विवेकख्याति है। इस ख्यातिमें ज्यो-ज्यो अभ्यास बढ़ता जाता है त्यो-त्यो चित्त निर्मल होता जाता है और आत्मशुद्धि उत्तमोत्तम प्रतीत होती है। चित्तकी अत्यन्त निर्मलतामें यह पुरुषख्याति भी चित्तकी ही एक सात्त्विक वृत्ति और गुणोंका ही परिणाम प्रतीत होने लगती है। तब इस विवेकख्यातिसे भी वैराग्य उत्पन्न होने लगता है। इस प्रकार गुणोंसे भी तृष्णा-रहित अर्थात् विरक्त होना पर-वैराग्य है। इस पर-वैराग्यको ही ज्ञानप्रसाद-मात्र कहते हैं, क्योंकि इसमें रजस्-तमस् गुणका गन्धमात्र भी नहीं रहता।

इस वैराग्यके उदय होनेसे योगी धर्ममेघ-समाधिनिष्ठ हुआ अपने मनमें भाष्यकारके शब्दानुसार यह मानता है कि जो प्राप्त करने योग्य था वह प्राप्त हो गया, जो नाश करने योग्य पाँच क्लेश थे वे नष्ट हो गये, अब संसारका वह संक्रम (चक्र, सिलसिला) टूट गया है, जिसके टूटे बिना मनुष्य उत्पन्न होकर मरता है और मरकर उत्पन्न होता है। यह पर-वैराग्य ही ज्ञानकी पराकाष्ठा (परम सीमा) है। इसीके निरन्तर अभ्याससे कैवल्य होता है।

विशेष विचार सूत्र १६—गुणवैतृष्ण्यम्=जो त्रिगुणात्मक बुद्धि अथवा चित्तका कार्य है, वह सब योगीके लिये हेय-कोटिमें है। विवेक-ख्याति भी सत्त्वगुणात्मक और बुद्धिका कार्य है, इसलिये वह भी त्याज्य है।

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज । उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत् त्यज ॥

अधर्म, धर्म और असत्य, सत्य (तामसी और सात्त्विकवृत्ति) दोनोंको त्याग दे । दोनों तामसी और सात्त्विक वृत्तियोंको त्यागकर जिस वृत्तिसे इन दोनोंको त्यागा है उसे भी त्याग दे। इसमें भी तृष्णाका अभाव होना पर-वैराग्य है अर्थात् मनको विषयोंमें प्रवृत्त करानेवाला उन विषयोंमें राग ही है । जब मनको एक ध्येय विषयमें लगाया जाता है, तब वह अन्य विषयोंमें राग होनेके कारण उनकी ओर भागता है और ध्येय विषयमें स्थिर नहीं रहता । इन अन्य सब विषयोंसे राग निवृत्त होनेपर केवल एक ध्येय विषयमें रागका बना रहना अपर-वैराग्य है, जिसका फल एकाग्रता अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि है । इस सम्प्रज्ञात-समाधिकी पराकाष्ठा विवेकख्याति है, जिसमें पुरुष और चित्तकी भिन्नताका विवेक-ज्ञान उत्पन्न होना है अर्थात् चित्तद्वारा आत्माका साक्षात्कार होता है । किंतु यह भी सत्त्वगुणात्मक एक वृत्ति ही है और चित्तका ही कार्य है । इसमें भी रागका न रहना पर-वैराग्य है, जिसका फल असम्प्रज्ञात समाधि है । आरम्भमें असम्प्रज्ञात-समाधिमें चित्तकी वृत्तियोंका सर्वथा निरोध अर्थात् असम्प्रज्ञात-समाधि क्षणिक होती है, किंतु धीरे-धीरे इसके संस्कार बढ़ने और व्युत्थानके संस्कार दबने लगते है । विवेकख्याति (प्रसंख्यान) की स्थायी अवस्थाका नाम धर्ममेघ-समाधि (४ । २९) है । धर्ममेघ-समाधिकी पराकाष्ठा ज्ञान-प्रसाद नामी पर-वैराग्य है, जिसका फल असम्प्रज्ञात-समाधि है और असम्प्रज्ञात-समाधिकी अन्तिम सीमा कैवल्य- (४ । ३४) है । साधनपाद सूत्र २६ में हानका उपाय अविप्लव विवेकख्याति बतलाया है, अतः अविप्लव विवेक-ख्यातिके लिये ही मनुष्यका प्रयत्न हो सकता है । इस विवेकख्यातिमें जो आत्मसाक्षात्कार होता है, उसे आत्म-साक्षात्कारसे यह विवेकख्याति भी स्वयं ही चित्तकी एक सात्त्विक वृत्ति प्रतीत होने लगती है और उसमें भी लगाव जाना रहता है । इस विवेकख्यातिसे आसक्तिका हट जाना ही पर-वैराग्य है । इसी बातको इस सूत्रमें बतलाया गया है । 'तत्पर पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' इस आसक्तिके हटते ही चित्त सर्ववृत्ति-शून्य हो जाता है और पुरुष स्वरूपप्रतिष्ठित, जिसका नाम असम्प्रज्ञात समाधि है ।

सगति—इस प्रकार निरोधके उपायभूत अभ्यास-वैराग्यका लक्षण प्रतिपादन करके अब इन दोनो उपायोंसे सिद्ध होनेवाली सम्प्रज्ञात-समाधिका उसके चार अवान्तर-भेदसहित स्वरूप निरूपण करते है—

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—वितर्क-विचार-आनन्द-अस्मितारूप-अनुगमात्=वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता नामक स्वरूपोंके सम्बन्धसे (जो चित्तकी वृत्तियोंका निरोध है) वह; सम्प्रज्ञातः=सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है ।

अन्वयार्थ—वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता नामक स्वरूपोंके सम्बन्धसे जो चित्तकी वृत्तियोंका निरोध है, वह सम्प्रज्ञात-समाधि कहलाता है अर्थात् वितर्कके सम्बन्धसे जो समाधि होती है, उसका नाम वितर्कानु-गत; विचारके सम्बन्धसे विचारानुगत; आनन्दके सम्बन्धसे आनन्दानुगत और अस्मिताके सम्बन्धसे होने-वाली समाधिका नाम अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि है ।

व्याख्या—सूत्रके अन्तमें समाधि शब्द शेष रहा है, उसे लगाना चाहिये ।

जिससे ध्येय (जिसका ध्यान किया जाय) वस्तुका स्वरूप अच्छी प्रकार अर्थात् संशय और

विपर्यय (अविद्या) से रहित यथार्थ रूपसे जाना जाता है, उस भावना-विशेषका नाम सम्प्रज्ञात है। वह चार प्रकारका है। वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत।

इस भावनाविशेषको ही सम्प्रज्ञात-समाधि कहते है। अन्य विषयोंको छोडकर केवल एक ध्येय वस्तुको बार-बार चित्तमे रखनेका नाम भावना है। इस भावनाका विषयभूत जो भाव्य है (जिसकी भावना की जाय, ध्येय) वह ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीतृभेदसे तीन प्रकारका है। इन तीनोमें ग्राह्य स्थूल-सूक्ष्मके भेदसे दो प्रकारके है। पाँच स्थूलभूत और स्थूल इन्द्रियाँ स्थूल विषय हैं; पाँच सूक्ष्मभूत अर्थात् तन्मात्राएँ और सूक्ष्म इन्द्रियाँ (केवल शक्तिरूप) सूक्ष्म विषय है।

जिस प्रकार निशाना लगानेवाला पहले स्थूल लक्ष्यको वेधन करता है, फिर सूक्ष्मको, इसी प्रकार योगी भी पहले स्थूल वस्तुका साक्षात् करके फिर सूक्ष्म ध्येयकी भावनामें प्रवृत्त होता है। अर्थात् सूक्ष्म वस्तुको साक्षात् करता है।

(१) पाँचो स्थूलभूत-विषयक तथा स्थूल इन्द्रिय-विषयक ग्राह्य भावनाका नाम वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात है।

(२) सूक्ष्मभूत-विषयक तथा सूक्ष्म इन्द्रिय-विषयक ग्राह्य-भावनाका नाम विचारानुगत सम्प्रज्ञात है।

(३) तन्मात्राओ तथा इन्द्रियोके कारण सत्त्व-प्रधान अहङ्कार-विषयक केवल ग्रहण-भावनाका नाम आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात है।

(४) अस्मिता अर्थात् चेतनसे प्रतिबिम्बित चित्तसत्त्व बीजरूप अहङ्कारसहित-विषयक ग्रहीतृ-भावनाका नाम अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात है।

वितर्कानुगत ग्राह्य समाधि—जिस भावनाद्वारा ग्राह्य-रूप किसी स्थूल विषय विराट्, महाभूत, सूर्य, चन्द्र, शरीर, स्थूल इन्द्रिय आदि किसी स्थूल, वस्तुपर चित्तको ठहराकर सशय-विपर्यय-रहित उसके यथार्थ स्वरूपको सारे विषयोसहित जो पहले कभी न देखे, न सुने और न अनुमान किये थे, साक्षात् किया जाय, वह वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि है।

इसके दो भेद सवितर्क—शब्द, अर्थ और ज्ञानकी भावनासहित और निर्वितर्क—शब्द, अर्थ और ज्ञानकी भावनासे रहित केवल अर्थ-मात्र, इसी पादके बयालीस और तैंतालीस सूत्रमे बतलाये हैं, जिनकी व्याख्या वहीं की जायगी।

विचारानुगत ग्राह्य समाधि—वितर्क-अनुगतद्वारा जब चित्त वस्तुके स्थूल आकारको साक्षात् कर लेता है, तब उसकी दृष्टि आगे बढती है। तब जिस भावनाद्वारा ग्राह्य-रूप स्थूल भूतोके कारण पाँचो सूक्ष्मभूतोका पाँचो तन्मात्राओंतक तथा शक्तिमात्र इन्द्रियोका यथार्थ रूप, संशय-विपर्यय-रहित सारे विषयोंसहित साक्षात् किया जाय, वह विचारानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि कहलायगी।

इसके भी दो भेद सविचार—देश-काल और धर्मकी भावनासहित और निर्विचार—देश-काल और धर्मकी भावनासे रहित केवल अर्थमात्र धर्मी, इस पादके चौवालीसवे सूत्रमें बतलाये है, जिनकी व्याख्या वहीं की जायगी।

यहाँ यह बात स्मरण रखनेकी है कि वितर्क सम्प्रज्ञातद्वारा जहाँ स्थूल विषयोको साक्षात् किया

जाता है। यदि योगी उस स्थूल विषयपर न रुककर आगे बढना चाहे तो एकाग्रताकी दृढतामें उसका सूक्ष्म स्वरूप स्वय साक्षात् होने लगता है, क्योंकि एकाग्रताकी दृढतामे चित्तके सत्त्वगुणका प्रकाश बढकर सूक्ष्म विषयोको साक्षात् करानेमें समर्थ हो जाता है और यह भावना वितर्कसे विचार हो जाती है।

आनन्दानुगत (केवल) ग्रहणरूप समाधि—विचारानुगतके निरन्तर अभ्याससे जब चित्तकी एकाग्रता इतनी बढ जाय कि शक्तिमात्र इन्द्रियो तथा तन्मात्राओके कारण अहङ्कारको उसमे धारण करके साक्षात् किया जाय तो उसको आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि कहेंगे।

विचारानुगत-समाधिमे जिस सूक्ष्म विषयका साक्षात् किया जाता है, यदि योगी वहीं न रुककर आगे बढना चाहे तो चित्तकी एकाग्रताद्वारा सत्त्वगुणकी अधिकतामें अहङ्कारका स्वय साक्षात् होने लगता है।

'आनन्द' नाम रखनेका कारण यह है कि सत्त्वगुण-प्रधान अहङ्कार आनन्द-रूप है तथा सूक्ष्मताके तारतम्यको साक्षात् करते हुए योगीका चित्त सत्त्वगुणके बढनेसे आनन्दसे भर जाता है। उस समय कोई भी विचार अथवा ग्राह्य विषय, उसका विषय नही रहता, किंतु आनन्द-ही-आनन्द उसका विषय बन जाता है और 'मै सुखी हूँ, मै सुखी हूँ' ऐसा अनुभव होता है। जो योगी इसीको अन्तिम ध्येय समझकर इसीमें संतुष्ट हो जाते है और आगे नही बढ़ते हैं, उनका देहसे तो अध्यास छूट जाता है परतु स्वरूपावस्थिति नहीं होती। शरीर त्यागनेके पश्चात् वे लबे समयतक कैवल्यपद-जैसे आनन्दको भोगते रहते है। वे विदेह कहलाते हैं, जिनका इसी पादके उन्नीसवें सूत्रमें वर्णन किया जायगा।

अस्मितानुगत गृहीतृ-रूप समाधि—चेतनसे प्रतिबिम्बित चित्त जिसमें बीजरूपसे अहङ्कार रहता है अर्थात् चित्त, बीजरूप अहङ्कार और अहङ्कारोपाधित पुरुष, जहाँसे पुरुष और चित्तमें अभिन्नता आरोप होती है उसका नाम अस्मिता है। अस्मिता अहङ्कारका कारण है, इसलिये उससे सूक्ष्मतर है। जब चित्तकी एकाग्रता इतनी बढ जाय कि अस्मितामें धारणा करनेसे उसका यथार्थ रूप साक्षात् होने लगे, तब उसको अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

यदि आनन्दानुगत सम्प्रज्ञातवाला योगी वहाँ न रुककर आगे बढना चाहे तो इस अवस्थामें पहुँच जाता है। इसमे आनन्दानुगतवाली वृत्ति 'अहमस्मि०' मै सुखी हूँ, मै सुखी हूँ' अधिक निर्मल होकर केवल 'अस्मि-अस्मि' यही ज्ञान शेष रह जाता है। इस वृत्तिवाली अवस्था बड़ी मनोरञ्जक होती है। बहुधा योगी इसीको आत्मस्थिति समझकर इसीमें संतुष्ट हो जाते है और आगे बढ़नेका यत्न नही करते, उनका आत्माध्यास अहङ्कारसे तो छूट जाता है, किंतु अस्मितामें बना रहता है। शरीरान्त होनेपर विदेहोसे अधिक लबे समयतक ये योगी कैवल्य पद-जैसा आनन्द भोगते रहते हैं। उन्हे प्रकृतिलय कहते है, जिनका वर्णन उन्नीसवें सूत्रमें किया जायगा। आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमियोमें पाँचो सूक्ष्म विषयो-जैसा साक्षात्कार नही होता है। यह केवल अनुभवगम्य है (अतः इनका वर्णन शब्द-मात्र समझना चाहिये)।

इन चारो समाधियोमें वितर्क समाधि चतुष्टयानुगत अर्थात् वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता—इन चारोसे युक्त है, क्योकि कार्यमें कारण अनुगत रहता है। इस कारण स्थूलभूतोंके तन्मात्राओका कार्य होनेसे स्थूलभूतोंमें तन्मात्राएँ अनुगत हैं और तन्मात्राओके अहङ्कारका कार्य होनेसे तन्मात्राद्वारा अहङ्कार

अनुगत है। अहङ्कार अस्मिताका कार्य होनेसे अहङ्कारद्वारा अस्मिता अनुगत है। इस प्रकार स्थूलभूतोंकी भावना करनेसे फलतः सबकी भावना प्राप्त होती है, इसलिये स्थूलभूतविषयक भावना चतुष्टयानुगत है।

इसी प्रकार विचारानुगतसम्प्रज्ञात त्रितयानुगत है। इस भावनामें स्थूलभूतोंका भान न होनेसे यह वितर्कसे रहित है। कार्यमें कारण अनुगत रहता है न कि कारणमें कार्य। इसलिये तन्मात्राओंकी भावनामें स्थूलभूतोंका भान नहीं होता है। इसी प्रकार आनन्दानुगतसम्प्रज्ञात द्वयानुगत है, क्योंकि इस भावनामें स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकारके भूतोंका भान न होनेसे यह वितर्क तथा विचार दोनोंसे रहित है।

अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात एकानुगत है, क्योंकि इसमें अस्मितामात्रके अतिरिक्त किसी अन्यका भान नहीं होता।

ये चारों प्रकारकी समाधियाँ सालम्बन और सबीज भी कहलाती हैं। सालम्बन इसलिये कि ये किसी ध्येयका आलम्बन (सहारा) बनाकर की जाती हैं, और यह आलम्बन ही बीज है, इसलिये इनका नाम सबीज-समाधि भी है।

जब योगी किसी स्थूल ध्येयको आलम्बन बनाकर उसमें चित्त ठहराता है, तब पहिले स्थूल वस्तुको देखता है। ज्यों-ज्यों एकाग्रता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उसके सूक्ष्म अवयव भासते जाते हैं, यहाँतक कि स्थूलभूतोंके कारण सूक्ष्मभूतोंका भी साक्षात् होने लगता है। एकाग्रताके और अधिक बढ़नेपर यह सूक्ष्मभूत-विषयक ग्राह्य वृत्ति भी बंद हो जाती है और तन्मात्राओंके कारण ग्रहण-रूप सत्त्व-प्रधान अहङ्कारका उसकी आनन्द-रूप प्रिय, मोद, प्रमोद आदि वृत्तियोंसे साक्षात् होता है। एकाग्रताकी सूक्ष्मता और सत्त्वगुणकी वृद्धिके साथ-साथ यह आनन्द रूपवाली अहङ्कारकी वृत्ति भी सूक्ष्म होती जाती है, यहाँतक कि अहङ्कारके कारण अस्मिताका अहङ्कारसे रहित उसकी वृत्ति 'अस्मि-अस्मि' से साक्षात् होने लगता है अर्थात् 'मैं हूँ' केवल यही ज्ञान शेष रह जाता है। इस वृत्तिकी सूक्ष्मतामें पुरुष और चित्तमें भिन्नता उत्पन्न करनेवाली विवेकख्यातिरूपी वृत्तिका उदय होता है। इस विवेकख्यातिमें भी आत्मस्थिति-का अभाव प्रतीत करानेवाली पर-वैराग्यकी वृत्ति 'नेति-नेति' 'यह स्वरूपावस्थिति नहीं है, यह आत्मस्थिति नहीं है' के अभ्यासपूर्वक असम्प्रज्ञात-समाधिकी सिद्धि होती है। जिसका लक्षण अगले सूत्रमें बतलाया जायगा।

विशेष वक्तव्य—सूत्र १७—कोशोद्वारा अभ्यासकी प्रणाली:—

एक अभ्यासकी प्रणाली कोशोद्वारा अन्तर्मुख होते हुए स्वरूप-स्थिति-प्राप्तिकी है, जिसका वर्णन उपनिषदोंमें इस प्रकार है—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥ (कठ० १।३।१३)

बुद्धिमान् वाणीको (ज्ञानेन्द्रियको) मनमें लय करे; उसको (मनको) ज्ञानात्मा (बुद्धि) में लय करे, बुद्धिको महानात्मा (महत्तत्त्व) में लय करे और उस महत्तत्त्वको शान्तात्मामें लय करे। (यदि 'ज्ञान आत्मनि' के अर्थ 'अहंकारमें' और 'महति' के अर्थ 'बुद्धिमें' लिये जायँ तो ये सूत्रगत चारों भावनाएँ हो जाती हैं।)

यह इस प्रकार है.—

सम्प्रज्ञात समाधिके चार भेद

नाम	रूप	विषय	सम्बन्ध	अनुगत	रहित	वृत्ति
१ वितर्कानुगत	ग्राह्य	५ स्थूल-भूत तथा स्थूल विषय शरीर, सूर्य, चन्द्र आदि और स्थूल इन्द्रियाँ	वितर्क	चतुष्टयानुगत— वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मितासे अनुगत		स्थूल विषयाकार वृत्ति
२ विचारानुगत	ग्राह्य	५ सूक्ष्मभूत, तन्मात्राओंतक सूक्ष्म इन्द्रियाँ (शक्तिरूप)	विचार	त्रितयानुगत— विचार-आनन्द और अस्मितासे अनुगत	वितर्करहित	सूक्ष्म विषयाकार वृत्ति
३ आनन्दानुगत	ग्रहण	अहंकार	आनन्द	द्वयानुगत— आनन्द और अस्मितासे अनुगत	वितर्क तथा विचारसे रहित	आनन्द विषयाकार 'अहं' वृत्ति
४ अस्मितानुगत	गृहीतृ	अस्मिता	अस्मिता	एकानुगत— अस्मितासे अनुगत	वितर्क, विचार और आनन्दसे रहित	अस्मिता विषयाकार 'अस्मि' वृत्ति

Vaidic Library

(१) किसी भी सुखासनपूर्वक स्थिर बैठकर अन्नमय कोशमें आत्माध्यास छोड़कर प्राणमय कोशमें घुसना ।

(२) प्राणोंकी गतिको रोककर अथवा धीमा करके इन्द्रियोंको अन्तर्मुख करके प्राणमय कोशसे आत्माध्यास हटाकर मनोमय कोशमें प्रवेश करना।

(३) मनोमय कोशसे आत्माध्यास हटाकर विज्ञानमय कोशमें जाना ।

(४) विज्ञानमय कोशसे आत्माध्यासको छुड़ाकर आनन्दमय कोशमें स्थित होना ।

ये चारो सम्प्रज्ञात-समाधिके ही भेद हैं, क्योंकि जब आनन्दमय कोशको भी विजय कर लिया जाय, तब स्वरूपावस्थिति होती है ।

अन्नमय कोशसे आत्माध्यास हटाना अथवा उसकी विजय आसन और प्राणायामकी सिद्धिसे (२ । ४६-४९), प्राणमय कोशकी प्रत्याहार और धारणाकी सिद्धिसे (२ । ५४; ३ । १), मनोमय कोशकी वितर्क-भावनाद्वारा, विज्ञानमय कोशकी विचार और उसकी ऊँची अवस्था आनन्दानुगत समापत्तिसे और आनन्दमय कोशकी विजय निर्विचारकी सबसे ऊँची अवस्था अस्मितानुगत और ऋतम्भरा प्रज्ञा अर्थात् सम्प्रज्ञातसमाधिकी सबसे ऊँची अवस्था विवेक-ख्यातिसे होती है । तत्पश्चात् स्वरूपावस्थितिका लाभ होता है ।

सूत्रमें चारो भावनाओंद्वारा किसी विषयको आलम्बन करके (ध्येय बनाकर) निरालम्ब (निर्बीज अर्थात् असम्प्रज्ञात) समाधितक पहुँचनेकी प्रक्रिया बतलायी है । यहाँ कोशोंद्वारा आरम्भसे आलम्बनका अभाव करते-करते अन्तमें अभाव करनेवाली वृत्तिका भी अभाव करके निरालम्ब-समाधिकी सिद्धि करना बतलाया गया है । यही इन दोनोंमें भेद है । प्रथम प्रक्रिया योगनिष्ठाकी है और दूसरी सांख्यनिष्ठाकी ।

आत्माध्यास हटानेसे अभिप्राय आत्माको कोशोंसे परे अर्थात् पृथक् देखना है । इसको क्रियात्मक-रूपसे इस प्रकार करना चाहिये । किसी सुखासनसे बैठकर शरीरको ढीला छोड़कर क्रमशः पाँचो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशोंमें ऐसी भावना करे कि आत्मा इनसे परे इनका द्रष्टा केवल चेतन ज्ञानस्वरूप है । इसी प्रकार क्रमशः तीनो स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरोंमें भी यह भावना की जा सकती है कि आत्मा इनका द्रष्टा इनसे परे अर्थात् पृथक् केवल शुद्ध चैतन्य ज्ञानस्वरूप है, इनके विकार और परिणामोंसे उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ रहा है । इसको शरीरसे आत्माध्यास हटानेकी साधना अथवा विदेह-भावना कह सकते हैं ।

कोश—कोश खोल अथवा म्यानको कहते हैं । वे पाँच हैं—आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय ।

इन पाँचो कोशोंको पाँच रङ्गवाली चिमनियाँ समझनी चाहिये और शुद्ध चेतनतत्त्व (आत्मतत्त्व) को एक प्रकाशकी ज्योति; जिसका प्रकाश इन भिन्न-भिन्न रङ्गवाली चिमनियोंमेंसे होकर बाहर आता हुआ उनके रङ्गों-जैसा प्रतीत होता है ।

आनन्दमय कोश—शुद्ध आत्मतत्त्वपर चित्त (महत्तत्त्व) की पहिली चिमनी है । इसको आनन्द-मय कोश कहते हैं । आनन्दका विकाररूपी यह कोश आत्मस्वरूपको आच्छादित करके (ढँककर) प्रिय, मोद, प्रमोद-रहित आत्माको प्रिय, मोद, प्रमोदवान् तथा अपरिच्छिन्न सुख-रहित आत्माको परिच्छिन्न

Vaidic Library

कोशसम्बन्धी चित्र

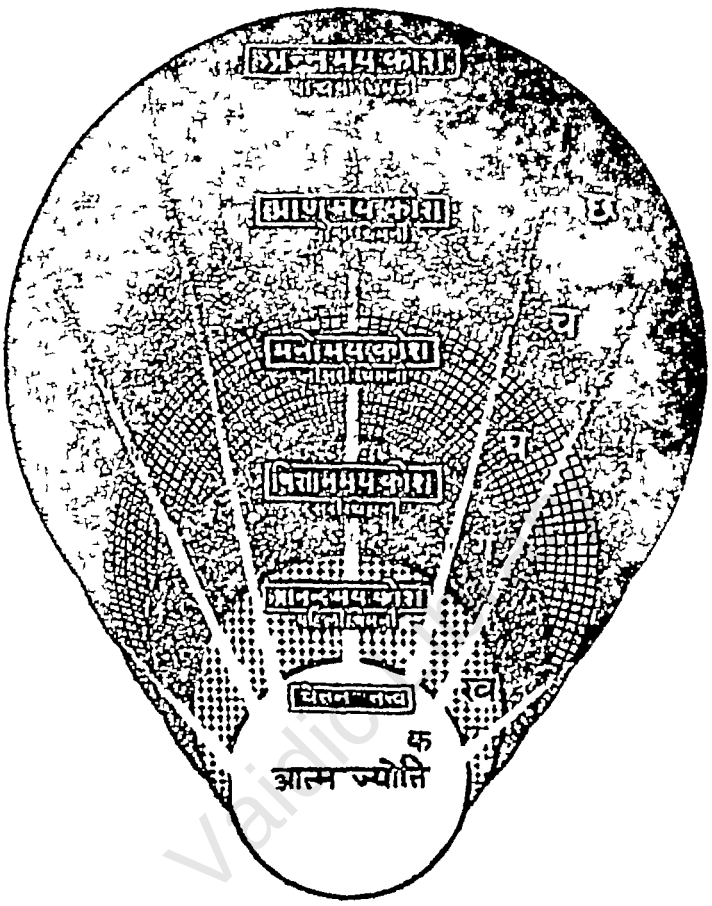

(१) शुद्ध आत्मतत्त्व = ज्ञान-प्रकाश, आत्मज्योति।

(२) आनन्दमय कोश—चित्त, (महत्तत्त्व) = प्रथम चिमनी = कारण-शरीर; कारण शरीरके सम्बन्धसे शबल स्वरूप आत्माकी संज्ञा—प्राज्ञ।

(३) विज्ञानमय कोश = बुद्धि, अहंकार = दूसरी चिमनी।

(४) मनोमय कोश = मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (शक्तिरूप)= तीसरी चिमनी।

(५) प्राणमय कोश = पाँच कर्मेन्द्रियाँ (शक्तिरूप), पाँच प्राण = चौथी चिमनी।

सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म शरीरके सम्बन्धसे शबल स्वरूप आत्माकी संज्ञा—तैजस।

(६) अन्नमय कोश = पाँचों भूतोंसे बना हुआ स्थूल शरीर, स्थूल इन्द्रियाँ—पाँचवीं चिमनी = स्थूल शरीर, स्थूल शरीरके सम्बन्धसे शबल-स्वरूप आत्माकी संज्ञा—विश्व।

[पृष्ठ १७७

सुखविशिष्ट रूपमें प्रकट करता है। यह आनन्दमय कोशरूप अज्ञानका आवरण ही जीवका कारण-शरीर कहलाता है। इस कारण-शरीरसहित आत्माको प्राज्ञ कहते हैं।

विज्ञानमय कोश—इस आनन्दमय कोशरूपी चिमनीके ऊपर दूसरी चिमनी अहंकार और बुद्धिकी है, इसको विज्ञानमय कोश कहते हैं। यह विज्ञानमय कोश आत्मस्वरूपको आच्छादित करके अकर्त्ता आत्माको कर्त्ता, अविज्ञाता आत्माको विज्ञाता, निश्चयरहित आत्माको निश्चययुक्त और जाति-अभिमान-रहित आत्माको जाति-अभिमानयुक्त-जैसा प्रकट करता है। इस विज्ञानमय कोशमें अभिमान वर्तमान है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुखित्व आदि अभिमान ही इस विज्ञानमय कोशका गुण है।

मनोमय कोश—इस विज्ञानमय कोशरूपी चिमनीपर तीसरी मन और ज्ञानेन्द्रियोंकी रङ्गवाली चिमनी चढ़ी हुई है, जिसको मनोमय कोश कहते हैं। मन और ज्ञानेन्द्रियोका विकाररूपी यह कोश आत्मस्वरूपको आच्छादित करके संशयरहित आत्माको संशययुक्त, शोक-मोहरहित आत्माको शोक-मोहादियुक्त और दर्शनरहित आत्माको दर्शन आदिका कर्त्तारूप प्रकट करता है। इस मनोमय कोशमें इच्छाशक्ति वर्तमान है।

प्राणमय कोश—मनोमय कोशरूपी चिमनीपर चौथी चिमनी पाँच कर्मेन्द्रियों और पाँच प्राणोकी चढ़ी हुई है, जिसको प्राणमय कोश कहते हैं। प्राण और इन्द्रियोका विकाररूपी यह प्राणमय कोश आत्माको आच्छादित करके वक्तृत्वरहित आत्माको वक्ता, दातृत्वरहित आत्माको दाता, गतिरहित आत्माको गतिशील, क्षुधा-पिपासारहित आत्माको क्षुधा-पिपासायुक्त आदि नाना प्रकारके विकारोसे युक्त-जैसा प्रकट करता है। इस प्राणमय कोशमे क्रियाशक्ति वर्त्तमान होनेसे यह कार्यरूप होता है।

ये तीनों विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय कोश मिलकर सूक्ष्म-शरीर कहलाते हैं। इस सूक्ष्म-शरीरसहित आत्माका नाम तैजस है।

अन्नमय कोश—चौथी प्राणमय कोशरूपी चिमनीपर पाँचवीं स्थूल शरीरकी चिमनी है, जो अन्नमय कोश कहलाता है। यह अन्नसे बने हुए रज-वीर्यसे उत्पन्न होता है और अन्नसे ही बढ़ता है। इसलिये इसको अन्नमय कहते हैं। इस अन्नमय कोशके कारण अपरिच्छिन्न, अविभक्त आत्मा परिच्छिन्न तथा विभक्त, और तापरहित आत्मा तापयुक्त, अजर, अमर, अजन्मा आत्मा जरा, मृत्यु और जन्मसे युक्त प्रतीत होता है। इस अन्नमय कोशको ही स्थूल-शरीर कहते है और स्थूल-शरीरसहित आत्माको विश्व।

कोश-सम्बन्धी चित्र

(१) शुद्ध आत्मतत्त्व = ज्ञान प्रकाश आत्मज्योति।

(२) आनन्दमय कोश = चित्त (महत्तत्त्व) = प्रथम चिमनी = कारण-शरीर; कारण-शरीरके सम्बन्धसे शबल-स्वरूप आत्माकी संज्ञा—प्राज्ञ।

(३) विज्ञानमय कोश = बुद्धि-अहंकार = दूसरी चिमनी

(४) मनोमय कोश = मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय (शक्तिरूप)= तीसरी चिमनी।

(५) प्राणमय कोश = पाँच कर्मेन्द्रियाँ (शक्तिरूप), पाँच प्राण = चौथी चिमनी।

} सूक्ष्म-शरीर, सूक्ष्म शरीरके सम्बन्धसे शबल-स्वरूप आत्माकी संज्ञा—तैजस।

(६) अन्नमय कोश = पाँचों भूतोंसे बना हुआ स्थूल शरीर, स्थूल इन्द्रियाँ = पाँचवी चिमनी = स्थूल-शरीर, स्थूल शरीरके सम्बन्धसे शबल-स्वरूप आत्माकी संज्ञा—विश्व।

संगति—अपर-वैराग्यजन्य सम्प्रज्ञात-समाधिका निरूपण करके अब पर-वैराग्यजन्य असम्प्रज्ञात-समाधिका लक्षण कहते हैं—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—विराम = (सब) वृत्तियोके निरोधका; प्रत्यय = कारण (जो परवैराग्य है उसके); अभ्यास-पूर्वः = पुनः-पुनः अनुष्ठानरूप अभ्याससे; संस्कार-शेषः = जो (उसके) संस्कार शेष रह जाते हैं वह; अन्यः = दूसरी अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि है ।

अन्वयार्थ—सर्ववृत्तियोंके निरोधका कारण जो पर-वैराग्य है, उसके पुनः-पुनः अनुष्ठानरूप अभ्याससे जो उसके संस्कार शेष रह जाते हैं, वह असम्प्रज्ञात-समाधि है ।

व्याख्या—सूत्रमें 'विराम-प्रत्यय०' 'संस्कारशेषः' और 'अन्यः'—ये तीन पद हैं, इनमेंसे पहिले विशेषण 'विराम-प्रत्यय' से असम्प्रज्ञात-समाधिका उपाय, दूसरे विशेषण 'संस्कारशेषः' से उसका लक्षण और तीसरे 'अन्यः' से लक्ष्य (असम्प्रज्ञात-समाधि) का निर्देश किया है ।

इससे पूर्व सूत्रमें बतला आये हैं कि सम्प्रज्ञात-समाधिकी पराकाष्ठा विवेकख्याति है, जिसमें चित्त-द्वारा पुरुषका साक्षात्कार होता है, अथवा चित्त और पुरुषमें भिन्नताका विवेकज्ञान उत्पन्न होता है । किंतु यह भी एक चित्तहीकी वृत्ति है और गुणोंका ही परिणाम है । इस वृत्तिसे भी तृष्णारहित हो जाना पर-वैराग्य है (सूत्र १६) पर-वैराग्यसे विवेकख्यातिरूपी अन्तिम वृत्तिका भी निरोध हो जाता है । इसलिये उसको सूत्रमें 'विराम-प्रत्यय' 'सब वृत्तियोके निरोधका कारण' बतलाया गया है ।

इस 'विराम-प्रत्यय' अर्थात् पर-वैराग्यका अभ्यास यह है कि इस वृत्तिको भी 'नेति-नेति' 'यह आत्मस्थिति नहीं है, यह स्वरूपावस्थिति नहीं है' इस प्रकार हटाता रहे । इस प्रकार पुनः-पुनः अनुष्ठान-रूप अभ्याससे जब इस एकाग्र-वृत्तिका भी निरोध हो जाता है, तब असम्प्रज्ञात-समाधि होती है, अर्थात् उसमें कोई ज्ञेय सांसारिक वस्तु जानने योग्य नहीं रहती । इसको निर्बीज-समाधि भी कहते हैं; क्योकि इसमें अविद्या आदि क्लेशरूप संसारका बीज नहीं रहता । असम्प्रज्ञात-समाधिमें कोई वृत्ति नहीं रहती; केवल विरामप्रत्ययरूप पर-वैराग्यके निरोधके संस्कार शेष रहते हैं । किंतु यह कोई वृत्ति नहीं है । यह निरोधका परिणाम (३ । ९-१०) है । इस अवस्थामे पुरुषकी (शुद्ध चेतन) स्वरूपमें अवस्थिति होती है । निरोधके सस्कारोसे अतिरिक्त एकाग्रता, समाधि-प्रारम्भ और व्युत्थानके सस्कारोमें वृत्तियाँ बनी रहती हैं; इसलिये निरोधके सस्कारोंके दुर्बल होते ही व्युत्थानके संस्कार प्रबल होने लगते हैं और असम्प्रज्ञात-समाधि भङ्ग होने लगती है ।

चित्तका परिणाम (अवस्था-विशेष) चार प्रकारका होता है; व्युत्थान, समाधि-प्रारम्भ, एकाग्रता और निरोध ।

(१) मूढ़ तथा क्षिप्त चित्तकी भूमियोमें जब तम तथा रज प्रधानरूपसे होते हैं, तब व्युत्थानके संस्कारोका परिणाम होता है ।

(२) विक्षिप्त-भूमिमें सत्त्वकी प्रबलतासे समाधि-प्रारम्भके संस्कारोंका परिणाम होता है ।

(३) उसके पश्चात् सत्त्वगुणकी वृद्धिसे एकाग्रता-भूमिमें एकाग्रताके संस्कारोका परिणाम होता है।

(४) निरोध-भूमिमें निरोधके संस्कारोका परिणाम होता है।

व्युत्थानसे उत्पन्न हुए संस्कार समाधि-प्रारम्भसे उत्पन्न होनेवाले सस्कारोसे नष्ट हो जाते हैं। समाधि-प्रारम्भसे उत्पन्न हुए संस्कार एकाग्रतासे उत्पन्न होनेवाले संस्कारोंसे और एकाग्रतासे उत्पन्न होनेवाले संस्कार निरोधसे उत्पन्न होनेवाले संस्कारोसे नष्ट होते हैं। ये निरोधके संस्कार ही संस्कार-शेष है। असम्प्रज्ञात-समाधिमें निरोधके संस्कार ही शेष रहते हैं। जैसे अग्निसे सुवर्णको तपाते हुए उसमें डाला हुआ सीसा सुवर्णके मैलको जलानेके पश्चात् अपनेको भी जला देता है, वैसे ही जब निरोधसे उत्पन्न हुए संस्कार एकाग्रतासे उत्पन्न होनेवाले संस्कारोंको नष्ट करके स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं, तब इस संस्कार-शेषकी निवृत्तिका नाम ही कैवल्य है। असम्प्रज्ञात-समाधि और कैवल्यमें इतना ही अन्तर है।

यहाँ इतना और जान लेना आवश्यक है कि सूत्रकारने असम्प्रज्ञात-समाधिका साधन विराम-प्रत्यय अर्थात् परवैराग्यका अभ्यास विशेषताके साथ बतलाया है; क्योंकि सम्प्रज्ञात-समाधि सालम्ब्य होती है अर्थात् किसी ग्राह्य-रूप वा ग्रहण-रूप वा गृहीतृ-रूप ध्येयका आलम्बन बनाकर की जाती है और यह आलम्बन ही बीजरूपसे उसमें रहता है, जिससे उसको सबीज भी कहते हैं। इसलिये उसका साधन अपर-वैराग्य भी उसकी अपेक्षासे सालम्ब्य और सबीज होता है अर्थात् अपर-वैराग्य उस बीजरूप ध्येय विषयको आलम्बन करके होता है। किंतु असम्प्रज्ञात-समाधि निरालम्ब्य और निर्बीज है, क्योंकि यह किसी ध्येयको बीजरूप आलम्बन बनाकर नहीं की जाती है; और कार्यके समान रूपवाला ही कारण होना चाहिये, इसलिये निरालम्ब्य निर्बीज पर-वैराग्य असम्प्रज्ञात-समाधिका साधन है। अतः सर्ववृत्ति-निरोध-रूप असम्प्रज्ञात-समाधिके निमित्त सर्ववृत्तियोके निरोधके कारण पर-वैराग्यका ही पुनः-पुनः अनुष्ठान-रूप अभ्यास करना चाहिये।*

विशेष वक्तव्य—सूत्र १८—सूत्र १७ की व्याख्यामें हमने सम्प्रज्ञात समाधिकी चारो भूमियोंका सामान्यरूपसे वर्णन कर दिया है। यहाँ इस सम्बन्धमें कुछ विशेष बातोका जिज्ञासुओंके हितार्थ बतला देना उचित प्रतीत होता है। ध्यानकी परिपक्व अवस्थामें जब कुण्डलिनी जाग्रत् होती है अर्थात् सारे स्थूलप्राण सुषुम्णा नाडीमें प्रवेश कर जाते हैं और स्थूल शरीर तथा स्थूल जगत्से परे होकर अन्तर्मुखता होती है—तब उस प्रकाशमय अवस्थामें इन भूमियोका वास्तविक अनुभव हो सकता है।

वितर्कानुगत समाधि—वितर्कानुगतभूमिकी प्रकाशमयी अवस्थामें जिस स्थूल विषयकी ओर वृत्ति जाती है उसीका यथार्थरूप साक्षात्कार हो जाता है। सात्त्विकता और सूक्ष्मताके तारतम्यसे इस भूमिके अन्तर्गत बहुत-सी श्रेणियाँ हो सकती है। इसमें दो प्रकारका अनुभव होता है। एक तो पिछले तामस तथा सात्त्विक संस्कारोका वृत्तिरूपसे उदय होना, दूसरा वस्तुके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान। जब पिछले तामस संस्कार उदय होते हैं, तब चित्त किसी कल्पित भयङ्कर डरावनी आकारवाली वृत्तिमें अथवा अन्य तामसी-राजसी वस्तुओंके आकारमें परिणत हो जाता है। यह तमस्के कारण प्रकाशमय नहीं होती, अथवा

* सूत्रके अर्थ वाचस्पति मिश्रकी व्याख्याके आधारपर किये गये हैं। 'प्रत्यय' पदको 'प्रतीति' अर्थमें लेकर सूत्रका अर्थ इस प्रकार होता है:—विराम-प्रत्यय-अभ्यास-पूर्व=विराम प्रतीतिका अभ्यास है पूर्व जिसके। संस्कार-शेषः=सस्कार जिसमें शेष हैं। अन्यः=दूसरा अर्थात् असम्प्रज्ञात है।

इसमें धुँधला-सा प्रकाश होता है। जब सात्त्विक संस्कार उदय होते हैं, चित्त किसी धार्मिक कल्पित आकारवाली मूर्ति अथवा किसी धर्मात्माके रूपवाली वृत्ति तथा अन्य सात्त्विक वस्तुओंके आकारमें परिणत होने लगता है। वास्तविक अनुभवमें व्यवहित (व्यवधानवाली), विप्रकृष्ट (दूरवाली) वस्तुओं, स्थानों, मनुष्यों तथा महात्माओंका साक्षात्कार होता है। इस वितर्क भूमिमें जो कभी-कभी स्थूल शरीरसहित उडनेकी प्रतीति होती है, वह प्राणोंके उत्थानकी अवस्था है और जो कभी-कभी ऐसे भयकी प्रतीति होती है कि मानो कोई हाथ-पैर आदि अङ्गोंको बाँध रहा है अथवा पकड रहा है, वह उन स्थानोंमेंसे प्राणोंके अन्तर्मुख होनेकी अवस्था है। इन सारे अनुभवोंको द्रष्टा बनकर देखता रहे। इस भूमिमें आसक्तिका होना बन्धनका कारण है। कपिल मुनिने तत्त्वसमासके उन्नीसवें सूत्रमें इसको वैकारिक बन्ध बतलाया है, जो पाँचों स्थूल भूत (और उनसे बनी हुई वस्तुएँ) और ग्यारह इन्द्रियों अर्थात् इन सोलह विकृतियोंमें आसक्तिके कारण होता है। यदि इस भूमिमें आसक्ति बनी रहे और आगे बढनेका यत्न न किया जाय तो इस भूमिकी परिपक्व अवस्थाको प्राप्त किये हुए योगी इन सात्त्विक संस्कारोंको लिये हुए मनुष्यसे ऊँची योनि अथवा मनुष्य-लोकमें ऊँची श्रेणीमें जन्म लेते हैं। कई बालक और बालिकाएँ ऐसे देखनेमें आये हैं, जो पिछले जन्मके संस्कारोंसे प्राप्त की हुई योगबुद्धि लेकर आये हैं। जो अनुभव साधारण मनुष्योंको लंबे समयमें भी होना कठिन था, वह उनको बहुत थोडे कालमें प्राप्त हो गया।

विचार अनुगत समाधि—स्थूल भूतोंसे परे तन्मात्राओंतक सूक्ष्म भूतोंकी सूक्ष्मताका तारतम्य चला गया है। इसीके अन्तर्गत सारे सूक्ष्मलोक हैं, जो वास्तवमें सूक्ष्म अवस्थाओंके ही नाम हैं। सत्त्वकी स्वच्छताके कारण वे अवस्थाएँ संकल्पमयी और आनन्दमयी होती हैं, किंतु सात्त्विकता और सूक्ष्मताके अनुसार ही इस संकल्प और आनन्दमें भी भेद होता है। इसमें दो प्रकारका अनुभव होता है। एक वह जो भौतिक विज्ञानसे सर्वथा विलक्षण होता है। इसको अपरोक्ष ज्ञान कहना चाहिये। दूसरा वह जिसमें चित्त-भूमिमें समय-समयपर संचित हुए धार्मिक तथा सात्त्विक संस्कार वृत्तिरूपसे उदय हो जाते हैं। इनको सात्त्विक दृश्य कहते हैं। ये साधकोंके अपने-अपने काल्पनिकरूपमें प्रकाशमय आकृतिमें प्रकाश आभा-जैसे प्रकट होते हैं। वास्तवमें तो चित्त ही इन सात्त्विक संस्कारोंसे प्रेरित हुआ इन प्रकाशमय आकारवाली वृत्तियोंमें परिणत होता है। यथा:—

"क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः"

(समाधि पा० सू० ४१)

राजस तामस वृत्तिरहित स्वच्छ चित्तकी उत्तम जातीय (अतिनिर्मल) मणिके समान ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य विषयोंमें स्थिर होकर उनके तन्मय हो जाना (उनके स्वरूपको प्राप्त हो जाना) समापत्ति है। किंतु साधकको इस बातका तनिक भी भान नहीं होता है। वह उनको यथार्थ ही समझता है और उनके साथ भौतिक दशासे कहीं अधिक स्पष्टरूपसे व्यवहार (बातचीत इत्यादि) कर सकता है। सत्त्वकी स्वच्छताके कारण चित्तका इस समयका सारा व्यवहार सत्य और निर्मल होता है। इन अनुभवोंको अत्यन्त गुप्त रखना चाहिये। किसीपर तनिक भी प्रकट न होने देना चाहिये। इन दृश्योंको द्रष्टारूपसे देखता रहे, आसक्ति न होनी चाहिये। कोई-कोई साधक इसकी आरम्भिक अवस्थाको पाकर इतने विस्मित हो जाते हैं कि अपनेको कृतकृत्य समझने लगते हैं और अपने इष्ट-मित्रोंपर प्रकट करने लगते हैं कि हमको अमुक देवता अथवा

देवीके दर्शन हो गये हैं। इससे सर्वसाधारणमें तो वे सिद्ध प्रसिद्ध हो जाते हैं, किंतु अंदरसे उनकी उन्नति रुक जाती है और आगेका मार्ग बंद हो जाता है। इस प्राप्त की हुई प्रतिष्ठा और अभिमानके खोये जानेके भयसे किसी अनुभवी पथ-दर्शकसे आगेका मार्ग पूछनेमें भी संकोच होने लगता है। इस दूसरी भूमिवालोके लिये ही विशेषकर योगदर्शनमें इस प्रकार चेतावनी दी गयी है—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्। (विभूतिपा० सू० ५१)

स्थानवालोंके आदर-भाव करनेपर आसक्ति (लगाव) और अभिमान (घमण्ड=अहंकार) नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसा करनेसे फिर अनिष्टके प्रसङ्गका भय है।

ऊँची कोटिके साकार उपासक भक्तोंका निर्मल स्वच्छ चित्त उनके अभिमत एक निश्चित प्रकाशमय आकारवाली वृत्तिके रूपमें स्वेच्छानुसार परिणत होनेका अभ्यस्त हो जाता है। यह एकाग्रताकी परिपक्व अवस्था परिपक्व वैराग्य और दृढ निष्ठासे होती है। जो योगी इसी विचारानुगत समाधिके आनन्दमें आसक्त हो जाते हैं और आगे बढनेका यत्न नहीं करते, वे शरीरान्त होनेपर अपनी भूमिकी परिपक्व अवस्थाके अनुसार ही किसी दिव्यलोकके आनन्दको एक लंबे समयतक भोगते रहते हैं। यह लोक एक प्रकारसे सूक्ष्मताकी सात्त्विक अवस्था ही है। इनकी मिश्रित संज्ञा स्वर्गलोक, चन्द्रलोक तथा सोमलोक है और उनका मार्ग पितृयाण अथवा दक्षिणायनके नामसे उपनिषदोंमें बतलाया गया है। किंतु इसको हमारी पृथ्वीसे बाहर दिखलायी देनेवाले इस भौतिक चन्द्रमाको न समझना चाहिये। यह इस स्थूल जगत्के अंदर सूक्ष्म जगत् है। वहाँके आनन्दकी अपेक्षा इसको स्वर्ग, सोम अथवा चन्द्र नाम दिया गया है और वहाँका मार्ग भी बहिर्मुख गतिवाला नहीं है, किंतु अंदरको जानेवाला है; क्योंकि ध्यानकी अवस्थामें अन्तर्मुख होते हैं न कि बहिर्मुख। सूक्ष्म जगत् सूक्ष्म शरीरके सदृश इस स्थूल जगत्के अदर होना चाहिये न कि बाहर (देखो विभूतिपाद सूत्र ३६ के विशेष वक्तव्य संख्या २ में)।

सूक्ष्मता और आनन्दके तारतम्यसे इस चन्द्रलोक, सोमलोक अथवा स्वर्गलोकको भी कई अवान्तर भेदोंमें विभक्त किया गया है, जैसा कि हमने षड्दर्शनसमन्वय प्रकरण ४ में तत्त्वसमासकी सूत्र ४ एव १८ की व्याख्यामें विस्तारपूर्वक बतलाया है, किंतु इन सूक्ष्मलोकोंमें पहुँच जाना कैवल्य अर्थात् वास्तविक मुक्ति नहीं है, यथा—

न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य। (सा० अ० ५ सूत्र ७६)

विशेष गतिका प्राप्त हो जाना वास्तविक मुक्ति नहीं है, क्योंकि आत्मा अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें निष्क्रिय है।

संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलाभोऽपि। (सा० अ० ५ सूत्र ८०)

संयोग वियोगान्त है। इसलिये किसी देशविशेष (चन्द्रलोकके अन्तर्गत किसी सूक्ष्मलोक) का लाभ भी वास्तविक मुक्ति नहीं है।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ (गीता ८। १६)

हे अर्जुन! ब्रह्मलोकसे लेकर सब लोक पुनरावर्ती स्वभाववाले हैं, किंतु हे कुन्तीपुत्र! मुझको (शुद्ध परमात्मतत्त्वको) प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता है।

इसलिये वास्तवमें ये भी बन्धनरूप ही है। कपिल मुनिने तत्त्वसमासके सूत्र १९ में इन लोकोंकी प्राप्तिको दाक्षिणिक बन्ध कहा है, जो सूक्ष्म शरीर और तन्मात्राओंतक सूक्ष्म विषयोंमें आसक्तिके कारण होता है। मनुष्यके मर्त्यलोककी अपेक्षा तो ये लोक अमर कहलाते हैं और मनुष्यके बन्धनोंकी अपेक्षा इनकी प्राप्ति मुक्ति कही जा सकती है। किंतु यह मुक्ति पुनरावर्तिनीरूप ही है, जो निवृत्ति-मार्गवालोंके लिये हेय है। एक लंबे समयतक इन लोकोंके सूक्ष्म आनन्दको भोगकर पिछली भूमिमें प्राप्त की हुई योग्यताको लिये हुए ये योगी मनुष्यलोकमें ऊँची श्रेणीके योगियोंमें जन्म लेते हैं। जिससे आत्मस्थिति-प्राप्तिके लिये यत्न कर सकें।

आनन्दानुगत—समाधि—इसमें अहंकारका साक्षात्कार होता है। यह अहङ्कारका साक्षात्कार अन्य सूक्ष्म विषयों-जैसा नहीं होता है, क्योंकि अहंकार तन्मात्राओंतक सारे सूक्ष्म विषयों और उनको विषय करनेवाली ज्ञानेन्द्रियोंका स्वयं उपादान कारण है, अहङ्कार दूसरा विषम परिणाम है, जिसमें सत्त्वकी बाहुल्यता है और सत्त्वगुणमें ही आनन्द (सुख) है। इसलिये इस भूमिमें सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म विषयोंसे परे 'अहमस्मि' वृत्तिद्वारा केवल अहङ्कारके आनन्दका ही अनुभव होता है। जैसा कि गीतामें बतलाया गया है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥ (६। २१, २२)

जिस अवस्थामें योगी उस परम सुखको जानता है, जो बुद्धिसे ही ग्रहण किया जाता है न कि इन्द्रियोंसे और न उसमें स्थित हुआ तत्त्वसे फिसलता है। जिस आनन्दको प्राप्तकर योगी उससे बढ़कर अधिक और कोई लाभ नहीं समझता है और जिस अवस्थामें स्थित योगी महान् दुःखसे भी कभी विचलित नहीं होता, उस दुःखोंके मेलसे अलग अवस्थाको योग नामवाला जाने।

किंतु इस आनन्दानुगत भूमिमें भी आसक्त न होना चाहिये। जो योगी इस आनन्दानुगत भूमिको ही स्वरूप-अवस्थिति समझकर इसीमें आसक्त रहते हैं और आगे आत्मसाक्षात्कार करनेका यत्न नहीं करते, वे शरीरान्त होनेपर विदेह (शरीररहित) अवस्थामें कैवल्य-पद-जैसी स्थितिको प्राप्त किये हुए इसी आनन्दको भोगते रहते हैं। यह विदेहावस्था विचारानुगत भूमिमें बतलाये हुए ब्रह्मलोकपर्यन्त सूक्ष्म लोकों-से अधिक सूक्ष्म, अधिक आनन्द और अधिक अवधिवाली है, किंतु यह भी बन्धनरूप ही है। कैवल्य अर्थात् वास्तविक मुक्ति नहीं, यथा—

नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात्। (साख्य० ५। ७४)

आनन्दका प्रकट हो जाना मुक्ति नहीं है, (क्योंकि वह आत्माका) धर्म नहीं है (किंतु अन्तः-करणका धर्म है)।

अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि—इसमें अस्मिताका साक्षात्कार होता है। अस्मिताका साक्षात्कार भी अहंकारके साक्षात्कारके सदृश सूक्ष्म विषयों-जैसा नहीं होता है, क्योंकि अस्मिता पुरुषसे प्रतिबिम्बित अथवा प्रकाशित चित्तकी संज्ञा है, जो अहंकारका उपादान कारण और गुणोंका प्रथम विषम परिणाम है,

जिसमें सत्त्व ही सत्त्व है। रजस् क्रियामात्र और तमस् उस क्रियाको रोकनेमात्रके लिये है। इसलिये इसमें अहङ्काररहित केवल 'अस्मि' वृत्तिसे अपरिच्छिन्न, असीम और व्यापक आनन्दका अनुभव होता है। जो योगी इस असीम आनन्दमे आसक्त रहते हैं, वे शरीर छोड़नेपर अस्मिता-अवस्थामें कैवल्यपद-जैसी स्थितिको प्राप्त किये हुए लंबे समयतक इस आनन्दको भोगते रहते हैं। यह अवस्था विदेह अवस्थासे अधिक सूक्ष्म, अधिक आनन्द और अधिक अवधिवाली होती है। गुणोकी साम्य अवस्थावाली मूल प्रकृति तो केवल अनुमान और आगमगम्य है और पुरुषके लिये निष्प्रयोजन होती है। वास्तविक प्रकृति तो गुणोंका प्रथम विषम परिणाम महत्तत्त्व (चित्त=बुद्धि) ही है। इसलिये इस अस्मिता प्रकृतिको प्राप्त किये हुए योगियोकी संज्ञा प्रकृतिलय बतलायी गयी है। यह सबसे ऊँची भूमि असीम आनन्दवाली और कैवल्य पदके तुल्य है। किंतु बन्धनरूप ही है। वास्तविक कैवल्य नहीं है। यथा—

न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात्। (सा० १। ५४)

कारण (अस्मिता प्रकृति) में लय होनेसे पुरुषको कृतकृत्यता (स्वरूप-अवस्थिति) नहीं हो सकती, क्योंकि उसमें डुबकी लगानेवालोंके समान (पानीसे ऊपर) आत्मस्थिति प्राप्त करनेके लिये उठना (मनुष्यलोकमें आना) होता है। कपिल मुनिप्रणीत तत्त्वसमासमें इन दोनों उच्चतर और उच्चतम भूमियोको प्राकृतिक बन्ध कहा गया है, क्योंकि यद्यपि इनमें सोलह विकृतियो और पाँच तन्मात्राओंसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है, किंतु विदेहोको अहंकार और प्रकृतिलयोको अस्मितामें आसक्ति होनेके कारण प्रकृतिका बन्ध बना ही रहता है।

विवेकख्याति—ऊपर बतला आये हैं कि पुरुषसे प्रतिबिम्बित अथवा प्रकाशित चित्तका नाम अस्मिता है। गुणातीत चैतन्यस्वरूप पुरुष और त्रिगुणात्मक जड चित्तमें भिन्नताका विवेकज्ञान न रहकर अस्मिताकी प्रतीति अस्मिता-क्लेश है। जिससे असङ्ग पुरुषमें सङ्गका दोष आरोप होना आरम्भ होता है। इस प्रकार अस्मिता क्लेश ही राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश तथा सकाम कर्म, उनके फलोकी वासनाएँ, उनके अनुसार जन्म-आयु भोग तथा उसमें सुख-दुःखका कारण है। इसकी जननी अविद्या-क्लेश है, जो सत्त्व चित्तमें लेशमात्र तमस्में बीजरूपसे वर्तमान रहती है। विवेकख्यातिमें त्रिगुणात्मक चित्त और गुणातीत चेतन आत्मामे भेदज्ञान उत्पन्न होता है। इससे अस्मिता-क्लेश निवृत्त हो जाता है और अविद्या-क्लेश अपने अन्य सब क्लेशरूपी परिवारसहित दग्धबीज-तुल्य हो जाती है। अब वही लेशमात्र तमस् जिसमें अविद्या वर्त्तमान थी, इस सात्त्विक वृत्ति (विवेकख्याति) को स्थिर रखनेमें सत्त्वका सहायक हो जाता है। आत्मसाक्षात् करानेवाली यह विवेकख्याति भी चित्तहीकी सबसे उच्चतम सात्त्विक वृत्ति है। जिस प्रकार दर्पण (शीशा) में दिखलायी देनेवाला स्वरूप वास्तविक स्वरूप नहीं होता है, इसी प्रकार चित्तमे आत्माका साक्षात्कार वास्तविक स्वरूप-अवस्थिति नहीं है। इस प्रकार विवेकख्यातिसे भी आसक्तिका हट जाना परवैराग्यद्वारा होता है।

असम्प्रज्ञात अथवा निर्बीजसमाधि—परवैराग्यद्वारा विवेकख्यातिरूप सात्त्विक वृत्तिके निरुद्ध हो जानेपर द्रष्टाकी शुद्ध चेतन परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति होती है। यही असम्प्रज्ञात अथवा निर्बीज समाधि कहलाती है। इस समय चित्तमें कोई वृत्ति नहीं रहती है, किंतु वृत्तियोको हटानेवाला निरोधका परिणाम रहता है। आरम्भमें असम्प्रज्ञात समाधि क्षणिक (बहुत कम समयवाली) होती है, किंतु

ज्यो-ज्यो धीरे-धीरे निरोधके संस्कार व्युत्थानके संस्कारोंको नष्ट करते जाते हैं, त्यो-त्यो अधिक समयतक रहनेवाली होती जाती है और इसकी अवस्था परिपक्व होती जाती है। अन्तमें जब निरोधके संस्कार व्युत्थानके सारे संस्कारोंको नष्ट कर देते है, तब वे स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार सीसा सुवर्णके मलको जलाकर स्वयं भी जल जाता है। तब शरीर छोडनेपर चित्तको बनानेवाले गुण अपने-अपने कारणमें लीन हो जाते हैं और द्रष्टा शुद्ध चेतन परमात्मस्वरूपमें अवस्थित हो जाता है। इस कैवल्यको सद्योमुक्ति कहते हैं। इस देहान्त अवस्थाका उपनिषदोंमें निम्न प्रकार वर्णन आया है—

यो अकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।

(बृह० ४। ४। ६)

जो कामनाओसे रहित है, जो कामनाओसे बाहर निकल गया है, जिसकी कामनाएँ पूरी हो गयी हैं अथवा जिसको केवल आत्माकी कामना है, उसके प्राण (प्राण और इन्द्रियाँ) नहीं निकलते हैं, वह ब्रह्म ही हुआ ब्रह्मको पहुँचता है।

आदित्यलोक देवयान—

जिन योगियोंने असम्प्रज्ञात समाधिका लाभ प्राप्त कर लिया है, किंतु उनके चित्तसे व्युत्थानके सारे सस्कार अभी नष्ट नहीं हो पाये हैं, कुछ शेष रह गये हैं, इस अवस्थामें शरीरान्त होनेपर वे आदित्यलोकको प्राप्त होते हैं और उनका मार्ग उत्तरायण कहलाता है, किंतु आदित्यलोक विचार-अनुगत सम्प्रज्ञात समाधिमें बतलाये हुए-जैसा कोई सूक्ष्म लोक नहीं है और न यह दिखलायी देनेवाला भौतिक स्थूल सूर्य है प्रत्युत वह विशुद्ध सत्त्वमय चित्त है, जिसको हमने ईश्वरके चित्तके नामसे कई स्थानोंमें वर्णन किया है और देवयान अथवा उत्तरायणको भौतिक-जैसी गतिका अनुमान न करना चाहिये, क्योंकि मार्ग और गति बाहरकी वस्तुओंमें होती है। यहाँ इन शब्दोंसे अभिप्राय इन योगियोंके चित्तोंका विशुद्ध सत्त्वमय चित्तमें अन्तर्मुख होना है। वहाँ 'अमानव' ईश्वरके अनुग्रहद्वारा इन शेष व्युत्थानके सस्कारोंके निवृत्त होनेपर चित्तके गुणोंके अपने कारणमें लीन होनेपर ये योगी शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति प्राप्त करते हैं। यथा—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्। (वेदा० द० ४। ३। १०

ब्रह्मलोक (आदित्यलोक=विशुद्ध सत्त्वमय चित्त) मे पहुँचकर वह कार्य (शबल ब्रह्म) को लाँघकर उस कार्यसे परे जो उसका अध्यक्ष परब्रह्म है, उसके साथ ऐश्वर्यको भोगता है। इसको क्रम-मुक्ति कहते हैं।

अवतार—स्वरूप-अवस्थितिको प्राप्त किये हुए जिन योगियोने अपने चित्तसे असम्प्रज्ञात समाधि-द्वारा व्युत्थानके सारे सस्कारोंको नष्ट कर दिया है, किंतु उनके चित्तमें प्राणियोंके कल्याणका संकल्प बना हुआ है तो उनके चित्तोंको बनानेवाले गुण अपने कारणमे लीन नहीं होते। ये चित्त अपने विशाल सात्त्विक स्वरूपसे ईश्वरके विशुद्ध सत्त्वमय चित्तमें, जिसमें सारे प्राणियोंके कल्याणका सकल्प विद्यमान है, (समान सकल्प होनेसे) लीन रहते हैं और वे कैवल्यपदके सदृश-शुद्ध चेतन परमात्मस्वरूपमें अवस्थित रहते हैं। ईश्वरीय नियमानुसार संसारके कल्याणमें जब उनकी आवश्यकता होती है तो वे इस भौतिक जगत्मे अवतीर्ण होते हैं। दूसरे शब्दोंमें अवतार लेते हैं। यथा—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥
(गीता ४। ७-८)

हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मै अपनेको प्रकट करता हूँ (अपने शुद्ध स्वरूपसे शबल स्वरूपमें अवतरण करता हूँ अर्थात् भौतिक जगत्में अवतार लेता हूँ)। सज्जनोंकी रक्षा करनेके लिये और दूषित कार्य करनेवालोंका नाश करनेके लिये मै युग-युगमें प्रकट होता हूँ। तथा—

आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच।

आदिविद्वान् भगवान् परम ऋषि (कपिल मुनि) ने निर्माणचित्त (सासारिक वासनाओके सस्कारोंसे शून्य) के अधिष्ठाता होकर जिज्ञासा करते हुए आसुरि मुनिको दयाभावसे सांख्य-तत्त्व-समासका उपदेश दिया। तथा—

ऋषिप्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति। (श्वेताश्व०)

पहिले उत्पन्न हुए कपिल मुनिको ज्ञानसे भर देना है।

सङ्गति—सूत्र १८ में असम्प्रज्ञात समाधिका स्वरूप दिखलाकर अब अगले सूत्रमें यह बतलाते हैं कि जिन योगियोने पिछले जन्ममें विचारानुगतसे ऊँची आनन्दानुगत अथवा अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधिकी भूमिको प्राप्त कर लिया है, उनको असम्प्रज्ञात समाधिकी प्राप्तिके लिये अन्य साधारण मनुष्यों-जैसी पुरुषार्थकी अपेक्षा नहीं होती। वे जन्महीसे पिछले योगबलके कारण इसके प्राप्त करनेकी योग्यता रखते हैं—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—भवप्रत्ययः = जन्मसे ही प्रतीति; विदेह-प्रकृति-लयानाम् = विदेह और प्रकृतिलयोको होती है।

अन्वयार्थ—विदेह और प्रकृतिलयोको जन्मसे ही असम्प्रज्ञात-समाधिकी प्रतीति होती है।

व्याख्या—सत्रहवे सूत्रमें बतला आये है कि विदेह वे योगी हैं, जो वितर्कानुगत तथा विचारानुगत समाधिको सिद्ध करके शरीरसे आत्माध्यास छोड चुके है और आनन्दानुगत भूमिमें प्रविष्ट होकर उसका अभ्यास कर रहे है। उनका देहमें आत्माभिमान निवृत्त हो गया है। इसलिये विदेह कहलाते है। प्रकृतिलय वे योगी है, जिन्होने आनन्दानुगतको सिद्ध कर लिया है और सातो प्रकृतियोका साक्षात् करते हुए अस्मितानुगत समाधिका अभ्यास कर रहे है।

कोई-कोई योगी इन दोनो समाधियोकी मनोरञ्जक, आनन्दमय और शान्त अवस्थाओंको ही आत्मावस्थिति समझकर इन्हींमें मग्न रह जाते हैं और उनमें संतुष्ट होकर आगे बढ़नेका यत्न नहीं करते। शरीरान्त होनेपर ये विदेह योगी अपने संस्कार-मात्रके उपयोगवाले चित्तसे कैवल्य-पदके समान एक लंबे समयतक आनन्द और ऐश्वर्यको भोगते है। इसी प्रकार प्रकृतिलय अपने अधिकारके सहित चित्तके साथ शरीर-त्यागके पश्चात् विदेहोसे भी अधिक लंबे समयतक अस्मिता-प्रकृतिमें कैवल्य-पदके समान आनन्द अनुभव करते हैं। किंतु यह वास्तविक स्वरूपावस्थिति (मुक्ति) नहीं है, जैसा कि सांख्यदर्शनमें बतलाया गया है—

नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात् । (सांख्य ५ । ७४)

आनन्दका प्रकट हो जाना मुक्ति नहीं है, (क्योंकि यह आत्माका) धर्म नहीं है (किंतु अन्तःकरणका धर्म है) ।

न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् । (सांख्य ३ । ५४)

कारण (अस्मिता-प्रकृति) में लय होनेसे (पुरुषको) कृतकृत्यता (स्वरूपावस्थिति) नहीं हो सकती है, क्योंकि उसमें डुबकी लगानेवालेके समान (पानीसे ऊपर) उठना होता है अर्थात् जिस प्रकार डुबकी लगानेवालोंको एक निश्चित समयतक पानीमें रहनेके पश्चात् श्वास लेनेके लिये पानीसे ऊपर उठना होता है, इसी प्रकार विदेह और प्रकृतिलयोको भी परम तत्त्वज्ञान अथवा आत्मस्थिति प्राप्त करनेके लिये फिर जन्म लेना पड़ता है । उनकी समाधि भवप्रत्यय कहलाती है ।

प्रत्यय नाम प्रतीति, प्रकट होने, ज्ञान होनेके हैं अर्थात् जन्मसे ही जिसकी प्रतीति होती है अथवा जो जन्मसे ही प्रकट होता है अर्थात् जन्मसे ही जिस असम्प्रज्ञात समाधिके प्राप्त करनेकी योग्यता होती है, उसे 'भवप्रत्यय' कहेंगे; अथवा 'भवात् प्रत्ययः भवप्रत्ययः' 'भवात्' नाम जन्मसे, 'प्रत्ययः' नाम ज्ञान; जन्मसे ही है ज्ञान जिस असम्प्रज्ञात योगकी प्राप्तिका, उसका नाम 'भवप्रत्यय' है ।

अथवा 'भव' नाम जन्मका है और 'प्रत्यय' कारणको कहते हैं । 'भव-प्रत्यय' से यह अभिप्राय है कि इनका चित्त पूर्वजन्मकी योग-सिद्धिके प्रभावसे जन्मसे ही असम्प्रज्ञात योगमें प्रवृत्त होता है ।

इन विदेह और प्रकृतिलय योगियोंको असम्प्रज्ञात योगकी प्राप्तिविषयक ज्ञानका अधिकार प्राप्त होता है । वे श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा आदि साधनोका पूर्व जन्ममें अभ्यास कर चुके है इसलिये उनको इन साधनोंकी आवश्यकता 'उपाय प्रत्यय' वाले योगियोकी भाँति इस जन्ममें नहीं होती । पिछले जन्मके अभ्यासके संस्कारके बलसे उनको पर-वैराग्य उदय होकर 'विराम-प्रत्यय' के अभ्यासपूर्वक असम्प्रज्ञात-समाधि सिद्ध हो जाती है । भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय छः में ऐसे विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमियोंके योगियोंकी सज्ञा जिन्होंने स्वरूपावस्थितिको शरीर-त्यागसे पूर्व लाभ नहीं कर पाया है, योगभ्रष्ट कह करके उनकी गति इस प्रकार बतलायी है—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते । न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

हे अर्जुन ! उसका न इस लोकमे, न परलोकमें कोई विनाश होता है । हे तात ! कोई भी कल्याण करनेवाला दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता ।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः । शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

योगभ्रष्ट पुण्यात्माओके लोकोको प्राप्त होकर वहाँ बहुत कालतक निवास करके फिर उनके घरमें जन्म लेता है, जो शुचि और श्रीमान् है ।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् । एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥

अथवा बुद्धिमान् योगियोके कुलमें ही जन्म लेता है । लोकमें इस प्रकारका जो जन्म है, वह बडा दुर्लभ है ।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् । यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

वहाँ उसे पूर्व जन्मकी (योगवाली) बुद्धि मिल जाती है और हे कुरुनन्दन (अर्जुन) ! वह फिर सिद्धिके लिये यत्न करता है ।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः । जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

वह उसी पहले अभ्याससे अवश होकर (सिद्धिमें) खींच लिया जाता है । योगका जिज्ञासु भी शब्द ब्रह्मसे आगे निकल जाता है ।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः । अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥

योगी लगातार प्रयत्न करता हुआ धीरे-धीरे सारे पापोंको धोकर अनेक जन्मोंकी सिद्धिके अनन्तर परम गतिको पा जाता है ।

विशेष वक्तव्य (सूत्र १९)—कई भाष्यकारोने इस सूत्रके भ्रान्तिजनक अर्थ किये हैं । इसका मूल कारण वाचस्पति मिश्रके 'भवप्रत्यय' के सम्बन्धमें अयुक्त और 'विदेह तथा प्रकृतिलय' के प्रति संकीर्ण विचार हैं, जिनका उन्होने न केवल अनुकरण ही किया है, किंतु उनको और अधिक विकृतरूपमें दिखलानेका यत्न किया है । विज्ञानभिक्षुने इन सब बातोंका समाधान तो कर दिया है, किंतु 'विदेह और प्रकृतिलय' का जो स्वरूप उन्होंने यहाँ तथा सांख्य-प्रवचन-भाष्यमें दिखलाया है, वह स्वयं आपत्तिजनक है । इसलिये अपनी व्याख्याके समर्थनार्थ व्यासभाष्यका भाषानुवाद तथा अन्य सब संदेहो और भ्रान्तियोके निवारणार्थ वाचस्पति मिश्रके 'तत्त्ववैशारदी' और विज्ञानभिक्षुके 'योगवार्तिक' का भाषानुवाद कर देना आवश्यक प्रतीत होता है ।

व्या० भा० का भाषानुवाद (सूत्र १९)—विदेह देवोंकी असम्प्रज्ञात समाधिका नाम 'भवप्रत्यय' है । वे विदेह अपने संस्कारमात्रके उपयोगवाले चित्तसे कैवल्यपदके समान अनुभव करते हैं । वे अपने संस्कारके समान फल भोगकर लौटते हैं (अर्थात् आनन्दानुगत भूमिमें आसक्त योगी शरीर त्यागनेके पश्चात् एक लंबे समयतक विदेह-अवस्थामें कैवल्यपदके समान अनुभव करते हैं । फिर अपनी पिछली योगभूमिकी बुद्धि-को लिये हुए इस लोकमें ऊँचे योगियोंके कुलमें जन्म लेते हैं । उनको जन्मसे ही असम्प्रज्ञातसमाधिकी योग्यता होती है । इसलिये उनकी समाधि भवप्रत्यय कहलाती है) इसी प्रकार 'प्रकृतिलय' भी अपने साधिकार चित्तके (अस्मिता) प्रकृतिमें लीन होनेपर कैवल्यपदके समान अनुभव करते हैं । जबतक कि चित्तके अधिकार-वशसे पुनः इस लोकमें नहीं लौटते (अर्थात् इसी प्रकार अस्मितानुगत भूमिमें आसक्त योगी शरीर छोड़नेके पश्चात् एक लबे समयतक अस्मिता प्रकृतिलय-अवस्थामें कैवल्यपद-जैसी स्थितिको अनुभव करते है, फिर इस लोकमें ऊँचे योगियोके कुलमें अपनी पिछली भूमिके योगकी बुद्धिको लिये हुए जन्म लेते है । इनको भी असम्प्रज्ञातसमाधिकी जन्मसे ही योग्यता होती है । इसलिये इनकी समाधि भी 'भव-प्रत्यय' कहलाती है) ।

वाचस्पति मिश्रके तत्त्ववैशारदी (सूत्र १९) का भाषानुवाद—निरोध-समाधिके अवान्तर भेदको—जो कि हान (त्याग) और उपादान (ग्रहण) में अङ्ग है, उसे दिखलाते है कि 'यह निरोध समाधि दो प्रकारकी है—उपायप्रत्यय और भवप्रत्यय ।' उपायका अर्थ है, आगे कहे जानेवाले श्रद्धा आदि । वह श्रद्धा आदि है प्रत्यय अर्थात् कारण जिस निरोध-समाधिका, उस निरोध-समाधिको उपायप्रत्यय कहते हैं । होते है अर्थात् उत्पन्न होते हैं जन्तु इसमें, इस अर्थमें भवका अर्थ है अविद्या । भूत और इन्द्रियरूपी विकारो,

अथवा अव्यक्त, महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रारूपी प्रकृतियोमें—जो कि अनात्म हैं, आत्मख्याति होती है तौष्टिकोको, जो कि वैराग्यसम्पन्न है। भव है प्रत्यय अर्थात् कारण जिस निरोध-समाधिका, उसे भवप्रत्यय कहते हैं। उन दोनोमे उपायप्रत्यय (समाधि) योगियोको होती है, जिनका कि वर्णन करेंगे। इस विशेष विधानद्वारा यह दर्शाया है कि शेषका मुमुक्षुके साथ सम्बन्ध नहीं है तो किनकी भवप्रत्यय (समाधि) होती है—इस सम्बन्धमे सूत्रद्वारा उत्तर कहा है। 'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्' का अर्थ है विदेहोंकी और प्रकृतिलयोकी। इसकी व्याख्या करते है—विदेहानाम्=देवानाम् भवप्रत्ययः' भूत और इन्द्रिय इनमेंसे किसीको जो आत्मा मानते है और उसकी उपासनाद्वारा उसकी वासनासे जिनका अन्तःकरण वासित है, वे देहपातके बाद इन्द्रियों या भूतोमें लीन हो जाते हैं, और उनके मनोंमें केवल संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं और वे छः कोशोंवाले शरीरसे रहित हो जाते हैं, इन्हे विदेह कहते हैं। वे 'अपने संस्कारमात्रके उपयोगवाले चित्तद्वारा कैवल्यपदकी सदृश अवस्थाका अनुभव करते हुए अर्थात् प्राप्त करते हुए विदेह हैं। कैवल्यके साथ इनका सादृश्य है, 'वृत्तिशून्य' होना, इनके चित्तमें अधिकारसहित—संस्कारका शेष रहना (कैवल्यसे) वैरूप्य है। कहीं मूल पाठ है 'संस्कारमात्रोपभोगेन', इसका अर्थ यह है कि संस्कारमात्र ही जिसका उपभोग है, जिसमें कि चित्तवृत्ति नहीं है—ऐसे चित्तद्वारा। अवधिको प्राप्त हो जानेपर उस जातिवाले अपने संस्कार-विपाकको वे अतिक्रमण करते हैं और फिर भी संस्कारमें प्रवेश करते हैं। वायु-पुराणमें कहा भी है—

दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः। भौतिकास्तु शतं पूर्णम् इति ॥

'दस मन्वन्तरोतक इस अवस्थामें इन्द्रियचिन्तक रहते है और भूतचिन्तक तो पूरे सौ मन्वन्तरोतक।'

तथा प्रकृतिलय जो कि अव्यक्त, महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्राओमेंसे किसीको आत्मा मानते हैं, वे उसकी उपासनाद्वारा उसकी वासनासे वासित अन्तःकरणवाले, देहपातके पश्चात्, अव्यक्त आदिमेंसे किसीमें लीन हो जाते है।

साधिकार चित्तका अर्थ है अचरितार्थ चित्त, इस प्रकार ही चित्त चरितार्थ होता यदि विवेकख्याति-को भी वह पैदा करता, नही पैदा हुई सत्त्व और पुरुषमें भेद-ख्याति जिसकी ऐसे चित्तकी—जो कि अचरितार्थ है (अर्थात् जिसने अभीतक प्रयोजन पूरा नहीं किया) साधिकारता तो बनी हुई है। प्रकृतिसाम्यको प्राप्त करके भी चित्त अवधि प्राप्तकर फिर भी प्रादुर्भूत होता है और उसके बाद विवेक-को प्राप्त करता है, जैसे कि वर्षाकी समाप्तिपर मृद्भावको प्राप्त हुआ मण्डूकदेह फिर मेघ-जल-धाराके सिञ्चन-से मण्डूकदेह-सत्ताका अनुभव करता है। वायुपुराणमें कहा है—

सहस्रं त्वाभिमानिकाः ॥
बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।
पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ॥
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते।

हजार मन्वन्तरोतक आभिमानिक (अहकारचिन्तक), दस हजार मन्वन्तरोतक बौद्ध स्थित रहते है, बिना दुःख अनुभव किये अव्यक्तचिन्तक एक लाख मन्वन्तरोतक स्थित रहते हैं और निर्गुण पुरुषको प्राप्तकर कालकी कोई संख्या नहीं रहती।

चूँकि यह अर्थात् भवप्रत्यय पुनर्भव अर्थात् पुनर्जन्मकी प्राप्तिका हेतु है; अतः हेय है ।

समीक्षा—वाचस्पति मिश्रने उपासना शब्द चिन्तन, भावनाविशेष, समापत्ति अर्थात् समाधिके अर्थमें प्रयोग किया है ।

(१) पाँचो स्थूलभूतो तथा उनके अन्तर्गत स्थूल शरीर और इन्द्रियोंकी भावनासे युक्त वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है । पाँचो तन्मात्राओतक सूक्ष्म भूतो तथा उनके अन्तर्गत सारे सूक्ष्म विषयोकी भावनाओसे युक्त विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है । इन दोनोसे परे 'अहमिति' वृत्तिवाली अहकारकी भावनासे युक्त आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि कहलाती है और 'अहमिति' अहंकारसे परे अस्मितावृत्तिवाली अस्मिता-भावनासे युक्त अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि कहलाती है । इसलिये आनन्दानुगत भूमिमें आसक्तिवाले योगी ही देहपातके पश्चात् विदेह देवपदको प्राप्त हो सकते है न कि स्थूल भूतों और इन्द्रियोंकी भावनासे युक्त वितर्कानुगत भूमिवाले अस्मितानुगत भूमिमें आसक्तिवाले योगी ही (अस्मिता) प्रकृतिलय देव-पदको प्राप्त हो सकते हैं न कि तन्मात्राओ और अहकारकी भावनासे युक्त विचारानुगत और आनन्दानुगत भूमिवाले योगी, जैसा कि हमने १८ वे सूत्रकी व्याख्या तथा उसके विशेष वक्तव्यमें दिखलाया है ।

(२) भोज महाराजने भी अपनी १७ वें सूत्रकी वृत्तिमें ऐसा ही बतलाया है ।

यथा—

यदा तु रजस्तमोलेशानुविद्धमन्तःकरणसत्त्वं भाव्यते, तदा गुणभावाच्चितिशक्तेः सुख-प्रकाशमयस्य सत्त्वस्य भाव्यमानस्योद्रेकात्सानन्दः समाधिर्भवति अस्मिन्नेव समाधौ ये बद्धधृत-यस्तत्त्वान्तरं प्रधानपुरुषरूपं न पश्यन्ति ते विगतदेहाहङ्कारत्वाद् विदेहशब्दवाच्याः ।

जब रज और तमके किंचित् लेशसे युक्त हुआ अन्तःकरण सत्त्वकी भावना करता है, तब चिति-शक्तिके गुणरूप होनेसे सत्त्व (चित्त) ध्येयकी प्रबलताके कारण सत्त्व (चित्त) के सुखप्रकाशमय हो जानेके कारण सत्त्वचित्तमें आनन्द प्रतीत होता है । इसी समाधिमें जो आसक्त हो गये हैं और प्रधान पुरुष-भेदरूप विवेकख्यातिको नहीं प्राप्त करते हैं, वे योगी देहके अहङ्कार निवृत्त हो जानेसे (देहमें आत्माध्यास हट जानेके कारण) विदेह कहलाते है । यह ग्रहण अर्थात् अहङ्कारवृत्तिविशिष्ट अन्तःकरण-विषयक समाधि है ।

ततः परं रजस्तमोलेशानभिभूतं शुद्धसत्त्वमालम्बनीकृत्य या प्रवर्तते भावना तस्यां ग्राह्यस्य सत्त्वस्य न्यग्भावात्, चितिशक्तेरुद्रेकात् सत्तामात्रावशेषत्वेन समाधिः सास्मिता इत्युच्यते । न चाहङ्कारास्मितयोरभेदः शङ्कनीयः । यतो यत्रान्तःकरणमहमित्युल्लेखेन विषयान् वेदयते सोऽहङ्कारः । यत्रान्तर्मुखतया प्रतिलोमपरिणामे प्रकृतिलीने चेतसी सत्तामात्रमवभाति सास्मिता । अस्मिन्नेव समाधौ ये कृतपरितोषाः परमात्मानं पुरुषं न पश्यन्ति तेषां चेतसि स्वकारणे लयमुपागते प्रकृतिलया इत्युच्यन्ते ।

उस अहंकारसे आगे अन्तर्मुख होनेपर रजस्तमके लेशसे शून्य सत्त्वचित्तको विषय बनाकर जो भावना की जाती है तो उसमें ग्राह्यचित्तका अन्य रूप हो जाता है । वह चितिशक्तिकी प्रबलताके साथ सत्तामात्रसे शेष रह जाता है । इसलिये अस्मिता नामवाली समाधि कहलाती है । अहकार और अस्मिता—इन दोनोमें अभेदकी शंका न करनी चाहिये; क्योंकि जिस कालमें अन्तःकरणद्वारा 'अहमिति' 'मै हूँ'

इस भावसे चित्रित हुआ चित्त विषयको जानता है, वह अहंकार कहलाता है; और जहाँ 'अहमिति' इस प्रकारकी वृत्तिको छोडकर चित्त उलटे परिणामसे प्रकृति (अस्मिता) में अन्तर्मुख होता है और केवल सत्तामात्रसे रहता है तो वह अस्मिता कहलाता है । इसी समाधिमें जिन्होने सतोष कर लिया है ऐसे योगी परमात्मा पुरुषको नहीं देखते है । उनका चित्त अपने कारण अस्मिता (प्रकृति) में लयको प्राप्त होनेके कारण उनको "प्रकृतिलय" कहते है ।

(३) विदेह और प्रकृतिलय देवोंकी अवस्था अन्य सब दिव्य लोक-लोकान्तरोंके देवोकी अपेक्षा तो सबसे अधिक दिव्य, सूक्ष्म, सात्त्विक और उच्चतम है; किंतु साधिकारचित्त होनेके कारण कैवल्य नहीं है । इसीलिये व्यासभाष्यमें उनकी अवस्थाके लिये 'कैवल्यपद इव' कैवल्यपद-जैसी लिखा गया है । तथा विभूतिपाद सूत्र २६ के व्यासभाष्यमें ऐसा ही बतलाया गया है ।

त एते सप्त लोकाः सर्व एव ब्रह्मलोकाः ।
विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्तन्ते ।
न लोकमध्ये न्यस्ता इति ।

इन पूर्वोक्त सातों लोकोंको ही ब्रह्मलोक जानना चाहिये (जिनमें वितर्कानुगत भूमिकी परिपक्व अवस्थामें विचारानुगत भूमि तथा आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमिकी आरम्भिक अवस्थामें आसक्त योगी शरीर त्यागनेके पश्चात् अपनी-अपनी भूमियोके क्रमानुसार सूक्ष्म शरीरके साथ निवास करते हैं) । विदेह और प्रकृतिलय योगी कैवल्यपदके तुल्य स्थितिमें हैं, इसलिये वे किसी लोकमें निवास करनेवालोंके साथ नहीं उपन्यास किये गये ।

(४) विदेह और प्रकृतिलय देवोंकी कैवल्यपद-जैसी स्थितिको असम्प्रज्ञात समाधि कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि असम्प्रज्ञात समाधि तो मनुष्यलोकमें स्थूल देहसे सर्ववृत्तिनिरोधद्वारा लाभ की जाती है । इस बातकी भी उपेक्षा की जाय तो भी इस स्थितिको असम्प्रज्ञात समाधि नहीं कह सकते, क्योकि असम्प्रज्ञात समाधिमें तो सर्ववृत्तिनिरोध होता है । यह तो सम्प्रज्ञात समाधिकी ही उच्चतर और उच्चतम भूमि है, जिनमें चित्त इन दोनो एकाग्रतारूप सात्त्विक वृत्तियोमें परिणत हो रहा है । इसलिये श्रीव्यासजी महाराजने इस १९ वे सूत्रके भाष्यमे 'अतिवाहयन्ति' से यह दर्शाया है कि विदेह और प्रकृतिलय देव जब कैवल्यपद-तुल्य स्थितिसे इस लोकमें उच्च योगियोंके कुलमें जन्म लेते है, तब उनको अपने पिछले जन्मके योगाभ्यासके बलसे जन्मसे ही असम्प्रज्ञात समाधि लाभ करनेकी योग्यता होती है । इनको योगाभ्यास-के सस्कारोंसे शून्य चित्तवालोके सदृश श्रद्धा, वीर्य, स्मृति आदिकी अपेक्षा नहीं होती । इसलिये इस प्रकार जो इन योगियोको असम्प्रज्ञात समाधिका लाभ होता है, उस असम्प्रज्ञात समाधिको अपने निमित्तकारणकी अपेक्षासे भवप्रत्यय कहते हैं अर्थात् जन्म ही है कारण जिसका । भवके अर्थ यहाँ जन्म है ।

(५) भवके अर्थ यहाँ अविद्या लेना ठीक नहीं है, क्योंकि अविद्या अथवा मिथ्याज्ञानसे कैवल्य-पद-तुल्य स्थिति अथवा असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त नहीं हो सकती । असम्प्रज्ञात समाधि तो विवेकख्यातिद्वारा प्राप्त होती है, जिसमें अविद्या आदि सारे क्लेश दग्धबीज-तुल्य हो जाते हैं ।

(६) विदेह और प्रकृतिलयोंकी कैवल्यपद-तुल्य स्थितिको उसकी निकृष्टता दिखलानेके लिये वर्षाके पश्चात् मृद्भावको प्राप्त किये हुए मण्डूक-जैसी बतलाकर उसका उपहास करना भी अनुचित है,

क्योंकि यद्यपि ये दोनों चित्तकी स्थितियाँ विवेकख्यातिको प्राप्त किये हुए नहीं हैं, तथापि रज-तमसे शून्य हुआ चित्त इनमें अपने शुद्ध स्वच्छ सात्त्विक रूपमें चिति-शक्तिके प्रकाशसे भासता है। यदि इस अवस्थाको मण्डूकके मृद्भावको प्राप्त होनेके सदृश और पुनर्जन्मको जीवित भाव प्राप्त होनेके समान कहा जाय तो विवेकख्यातिके पश्चात् अनुपरावर्तिनी कैवल्य मण्डूकके ऐसे मृद्भाव प्राप्त होनेके सदृश मानी जायगी। जिसके कभी जीवित भावको प्राप्त होनेकी आशा नहीं रही हो। ऐसी कैवल्य तो बुद्धिमानोंके लिये हेयकोटिमे होगी न कि उपादेय। इसलिये ये दोनो उच्चतर और उच्चतम योगकी भूमियाँ स्वयं अपने स्वरूपसे हेय नहीं हैं। इनमें आसक्ति अर्थात् इनके आनन्दमे संतुष्ट होकर स्वरूप-अवस्थितिके लिये यत्न न करना ही अहितकर है और उनका फलस्वरूप विदेह और प्रकृतिलय अवस्था यद्यपि कैवल्य नहीं है, किंतु शरीरसे आत्माभिमान निवृत्त हो जानेके कारण कैवल्य-जैसी है और ब्रह्मलोकतक सारी सूक्ष्म और आनन्दमय अवस्थाओंसे उच्चकोटि की है।

(७) 'उपायप्रत्ययो योगिना भवति' इस बीसवें सूत्रके व्यासभाष्यसे उपायप्रत्यय—असम्प्रज्ञात-समाधि योगियोंकी बनाकर 'भव प्रत्यय' असम्प्रज्ञात-समाधि अयोगियोकी अथवा अज्ञानियोंकी सिद्ध करना भी ठीक नहीं है; क्योंकि १९ वें सूत्रके 'विदेहानां देवानां भवप्रत्ययः' इस व्यासभाष्यमें भवप्रत्ययवाले विदेहोंके लिये देवका शब्द प्रयोग किया गया है। उपायप्रत्ययवालोको तो श्रद्धा-वीर्य आदिका अनुष्ठान करके योग-श्रेणीमें प्रवेश करना होता है, किंतु भवप्रत्ययवाले श्रद्धा-वीर्य आदिका अनुष्ठान पूर्व जन्ममें कर चुके हैं, क्योंकि बिना इसके आनन्दानुगत और अस्मितानुगतकी भूमियों और कैवल्यपद-तुल्य स्थितिका प्राप्त होना असम्भव है।

(८) वायुपुराणमें चिन्तनका शब्द भावना, समापत्ति अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधिके अर्थमें ले सकते हैं। इसमें क्रमसे स्थूलभूतोंसे लेकर मूलप्रकृतिपर्यन्त सम्प्रज्ञात समाधिकी भूमियोमें आसक्त योगियोंके शरीर त्यागनेके पश्चात् उनकी अवस्थाओंके सूक्ष्मता, सात्त्विकता और आनन्दके तारतम्यसे समयमें वृद्धि दिखलाते हुए इस बातको दर्शाया है कि एक लाख मन्वन्तरवाली स्थिति भी पुनरावर्तिनी ही है, केवल परमात्मप्राप्तिरूप कैवल्य अपुनरावर्तिनी है, जो असम्प्रज्ञात समाधिका अन्तिम ध्येय है।

यह एक प्रकारसे गीताके इस श्लोककी व्याख्या है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ (८। १६)

विज्ञानभिक्षुके योगवार्तिकका भाषानुवाद सूत्र १९—असम्प्रज्ञात योगके भी निमित्तभेदसे दो प्रकार अगले दो सूत्रोद्वारा सूत्रकार कहेंगे। उन्हीं दो भेदोंको युक्तिसिद्ध पूर्वाचार्योंके कहे क्रमके अनुसार दोनो सूत्रोके अवतरणके लिये भाष्यकार दिखलाते हैं—'स खल्वयं द्विविध इति' वह असम्प्रज्ञातयोग दो प्रकारका है।

वह असम्प्रज्ञातयोग अगले सूत्रमें प्रज्ञापूर्वक बतलाया है। अतः आगे कहे श्रद्धा आदि हैं कारण जिसके ऐसा उपायप्रत्य असम्प्रज्ञातयोग योगियोको इस लोकमें होता है तथा योगभ्रष्टोको इस लोकमें और देवताविशेषोको देवलोकमें 'भवप्रत्यय' जन्म है कारण जिसका वह असम्प्रज्ञातयोग होता है—यह क्रम है। सूत्रकारको उपायप्रत्यय सविस्तर कहना है, अतः सूचीकटाहन्यायसे पहले भवप्रत्ययको कहेंगे। इस कारण सूत्र और भाष्यमें क्रमभेदको दोष नहीं मानना चाहिये। उत्पत्ति-क्रमके अनुसार सूत्रके क्रमका

उल्लङ्घन करके और सम्बन्धको पूरा करके सूत्रको उठाते हैं।--तत्रेति--भवका अर्थ है जन्म, वह भव ही है प्रत्यय अर्थात् कारण जिसका ऐसा विग्रह (भवप्रत्यय शब्दका) है । 'विदेहप्रकृतिलयानाम्' इसकी व्याख्या विभाग करके करते हैं कि 'विदेहानाम्' इत्यादि । शरीरकी अपेक्षाके बिना जो बुद्धिवृत्तिवाले हैं उन्हे विदेह कहते है--यह विभूतिपादमें स्पष्ट हो जायगा । वे विदेह महदादिदेव हैं, साधना-अनुष्ठानके बिना ही इन्हें असम्प्रज्ञातयोग केवल जन्मके ही निमित्तसे होता है (अर्थात् इस देहपातके अनन्तर उस-उस तत्त्वमें प्रादुर्भावरूप जन्मके कारणसे ही होता है । योनि अर्थात् उस-उस स्थानके अपने-अपने गुण या प्रभावद्वारा स्वाभाविक ज्ञानसे ही उन्हें असम्प्रज्ञात होता है । वे नित्यप्रति प्रलयमे और कभी-कभी सर्गकालमें भी स्वसस्कारमात्रोपगतचित्तद्वारा अर्थात् संस्कार जिसमे शेष हैं ऐसे निरोधावस्थित चित्तद्वारा कैवल्यपदकी-सी अवस्थाको प्राप्त हुए-हुए और व्युत्थानकालमें स्वसस्कारविपाक अर्थात् स्वभाव प्राप्त करानेवाले सस्कारके विपाक अर्थात् फलको अर्थात् ऐश्वर्यभोगको प्रारब्ध कर्मसे यन्त्रित हुए-हुए भोगते हैं । उसके पश्चात् मुक्त हो जाते हैं ।

इसी प्रकार प्रकृतिलय भी ईश्वर-उपासनाद्वारा या प्रकृतिदेवताकी उपासनाद्वारा जो आवरणसमेत ब्रह्माण्डको त्यागकर लिङ्गशरीरके साथ प्रकृतिके आवरणमें गये है, वे यहाँ प्रकृतिलीन कहे गये हैं और वे भी चित्तके कार्य समाप्त न होनेसे अपनी इच्छासे ही प्रकृतिमें लीन होनेपर, सस्कारके शेष रह जानेपर असम्प्रज्ञातयोगमें कैवल्यपदके सदृश अवस्थाको प्राप्त होते हैं, जबतक कि शेष अधिकारके वशसे चित्त फिर व्युत्थित नहीं होता । इस (प्रकृतिलय) का भी (असम्प्रज्ञात) भवप्रत्यय ही है । अधिकारकी समाप्तिपर वे भी मुक्त हो जाते हैं, यह आशा है । कोई 'भव' का अर्थ करते हैं अविद्या । उनका कहना है कि 'यह सूत्र' इन्द्रियोसे लेकर प्रकृतितकके चिन्तकोंको अविद्यारूपी कारणद्वारा असम्प्रज्ञात होता है, यह कह रहा है । परंतु यह नहीं है, क्योकि असम्प्रज्ञातका हेतु है परवैराग्य और वह परवैराग्य अविद्यामें सम्भव नहीं तथा जो वायुपुराणमे है कि 'दस मन्वन्तरोतक इस अवस्थामें इन्द्रियचिन्तक रहते हैं और भौतिक पूरे एक सौ मन्वन्तरोतक, आभिमानिक एक हजार मन्वन्तरोतक,, बौद्ध दस हजार मन्वन्तरोतक बिना दु खके रहते हैं और अव्यक्तचिन्तक पूरे एक लाख मन्वन्तरोतक रहते हैं, निर्गुण पुरुषको प्राप्त करके कालकी कोई सख्या नहीं रहती' यह वाक्य है । वह कर्मदेवोके, जिन्हें कि ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ और जो कि इन्द्रियादिके उपासक है--उस-उस पदमें अवस्थितिके कालको ही नियत करता है । उनके न तो असम्प्रज्ञात समाधिके कालोको और न देहादिके अभावसे वृत्तिके अभावके कालोको वह वाक्य निश्चित करता है, क्योकि इन्द्रिय आदिके चिन्तनमात्रद्वारा असम्प्रज्ञात उत्पन्न नहीं हो सकती तथा कभी-कभी होनेवाला जो वृत्तिका अभाव वह प्रलय और मरणादि (में उत्पन्न होनेवाले वृत्त्यभाव) के तुल्य होनेसे अपुरुषार्थ भी है एव इन्द्रियादिके उपासकोंको इन्द्रियादिके अभिमानी सूर्य आदि पदकी प्राप्ति होती है, यह फल अन्यत्र सुनायी भी देता है ।

समीक्षा--यहाँ विदेह और प्रकृतिलयोका जो स्वरूप दिखलाया है, उसके सम्बन्धमें हम भूमिकारूप षड्दर्शनसमन्वयके चौथे प्रकरणमें 'साख्य और ईश्वरवाद' मे लिख चुके हैं । यहाँ पुनः विचार करनेकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती । 'भव' के जो अर्थ जन्म लिये गये हैं, वे तो सूत्रकार और भाष्यकारके अभिप्रायके अनुसार ठीक ही हैं, किंतु जो देवविशेषकी देवलोकमें असम्प्रज्ञात-समाधिको भव-

प्रत्यय बतलाया गया है, सो देवलोककी समाधिकी मनुष्यलोककी समाधिके साथ कोई संगति नहीं दीखती। हाँ, इस श्लोकमें योगभ्रष्टकी असम्प्रज्ञात समाधि ही भवप्रत्यय हो सकती है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें भी ऐसा ही कहा है, जैसा कि इस सूत्रकी व्याख्यामें बतलाया गया है। अन्य सब बातें वाचस्पति मिश्रकी समीक्षामें आ गयी हैं।

सङ्गति—पिछले सूत्रमें विदेह और प्रकृतिलयोंकी असम्प्रज्ञात-समाधिकी जन्मसिद्ध योग्यता बतलाकर अब अगले सूत्रमें साधारण योगियोंके लिये उसका उपायसे प्राप्त करना बतलाते हैं—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ—श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञापूर्वकः=श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक(वह असम्प्रज्ञात-समाधि); इतरेषाम्=दूसरोंकी अर्थात् जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं हैं, उन साधारण योगियोंकी होती है।

अन्वयार्थ—दूसरे योगी जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं हैं, उनको श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक असम्प्रज्ञात-समाधि सिद्ध होती है।

व्याख्या—विदेह और प्रकृतिलयोंसे भिन्न योगियोंकी असम्प्रज्ञात-समाधि श्रद्धा आदिपूर्वक होती है। श्रद्धा आदि क्रमसे उपाय हैं और असम्प्रज्ञात-समाधि उपेय। इसलिये इनका उपायोपेय सम्बन्ध है। योगके विषयमें चित्तकी प्रसन्नता श्रद्धा है; उत्साह वीर्य है; जाने हुए विषयका न भूलना स्मृति है; चित्तकी एकाग्रता समाधि है; ज्ञेयका ज्ञान प्रज्ञा है।

श्रद्धा—जो विदेह और प्रकृतिलयोंसे भिन्न हैं, उन्हें जन्म-जन्मान्तरोंसे योगमें नैसर्गिक रुचि नहीं होती है; किंतु उनको पहले शास्त्र और आचार्यके उपदेश सुनकर योगके विषयमें विश्वास उत्पन्न होता है। योगकी प्राप्तिके लिये अभिरुचि अथवा उत्कट इच्छाको उत्पन्न करनेवाले इस विश्वासका नाम ही श्रद्धा है। यह कल्याणकारिणी श्रद्धा योगीकी रुचि योगमें बढाती है, उसके मनको प्रसन्न रखती है और माताके समान कुमार्गसे बचाती हुई उसकी रक्षा करती है।

वीर्य—श्रद्धासे वीर्य उत्पन्न होता है। योग-साधनकी तत्परता उत्पन्न करनेवाले उत्साहका नाम वीर्य है। श्रद्धाके अनुसार उत्साह और उत्साहके अनुसार साधनमें तत्परता होती है।

स्मृति—उत्साहवालेको पिछली अनुभव की हुई भूमियोंमें स्मृति उत्पन्न होती है। पिछले जन्मोंके अक्लिष्ट कर्मों और ज्ञानके संस्कारोंका जाग्रत् होना स्मृति है।

समाधि—पूर्वके अक्लिष्ट कर्म और ज्ञानके संस्कारोंके जाग्रत् होनेसे चित्त एकाग्र और स्थिर होने लगता है।

प्रज्ञा—समाधिस्थ एकाग्र चित्तमें ऋतम्भरा प्रज्ञा (विवेक-ज्ञान) उत्पन्न होती है, जिससे वस्तुका यथार्थ स्वरूप ज्ञात होता है। इसके अभ्याससे परवैराग्य और परवैराग्यसे असम्प्रज्ञात-समाधि होती है।

विशेष विचार (सूत्र२०)—कर्माशय चित्त-भूमिमें दो प्रकारसे रहते हैं। एक प्रधानरूपसे, जिन्होंने जन्म, आयु और भोगका कार्य आरम्भ कर दिया है, जिन्हें नियत विपाक तथा प्रारब्ध भी कहते है। दूसरे उपसर्जनरूपसे रहते हैं, जो प्रधान कर्माशयोंके सम्मुख अपने कार्यको आरम्भ करनेकी सामर्थ्य न पाकर चित्तकी निचली भूमियोंमें छिपे हुए पडे रहते हैं, जिनको अनियत विपाक तथा संचित कर्म भी कहते है। क्रियमाण कर्मोंसे जो कर्माशय बनते हैं, उनमेंसे कुछ तो प्रधान रूप धारण करके प्रारब्धके साथ मिल जाते

हैं और कुछ उपसर्जनरूपसे चित्तकी निचली भूमियोमें सचित कर्माशयोके साथ मिल जाते है। यह सचित कर्माशय भी समय-समयपर अपने किसी अभिव्यञ्जकको पाकर निचली भूमियोसे ऊपर आकर प्रधान रूप धारण करके प्रारब्ध बनते जाते हैं।

जन्म-जन्मान्तरोमें सचित किये हुए योगके संस्कार व्युत्थानके प्रधान सस्कारोंसे दबे हुए चित्तकी निचली भूमिमें सुप्तरूपसे पडे हुए श्रद्धा-वीर्यद्वारा व्युत्थानके संस्कारोंके दबनेपर योगके संस्कारोंको अभिव्यञ्जक (जगानेवाले) पाकर वेगके साथ जाग्रत् होकर निचली भूमियोसे ऊपर आकर प्रधान रूप धारण कर लेते है। यहाँ श्रद्धा-वीर्य तो केवल निमित्त कारण है। उपादान कारण तो निचली भूमियोमें संचित योगके संस्कार ही प्रकृतिरूप हैं—जैसा कि कैवल्यपाद सूत्र २ में बतलाया है—

'जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्।'

एक जातिसे दूसरी जातिमें बदल जाना प्रकृतियो (उपादान कारणों) के भरनेसे होता है। श्रद्धा-वीर्य केवल व्युत्थानके संस्कारोंकी रुकावटको हटानेमे निमित्त होते है। कहीं बाहरसे योगके सस्कारोको नहीं भरते। जैसे किसान पानीको रोकनेवाली मेडको केवल काट देता है तो मेडसे बाहर रुका हुआ पानी स्वयं कियारीमें आ जाता है।

यथा—निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्। (कै० पा० सू० ३)

धर्मादि निमित्त प्रकृतियोका प्रेरक नहीं होता है, किंतु उससे रुकावट दूर हो जाती है, जिस प्रकार जब किसान किसी खेतमें पानी भरना चाहता है तो केवल पानीको रोकनेवाली मेड़के कुछ अंशको काट देता है। पानी स्वय उसमें होकर खेतमें भर जाता है।

संगति—पूर्वोक्त श्रद्धा आदि उपाय पूर्वजन्मोंके संस्कारोंके बलसे मृदु, मध्य और अधिमात्र भेदसे तीन प्रकारके होते हैं अर्थात् किसीके मृदु (मन्द) उपाय होते हैं, किसीके मध्य (सामान्य) और किसीके अधिमात्र (तीव्र) उपाय होते हैं। इससे मृदु उपाय, मध्य उपाय और अधिमात्र उपाय, उपायभेदसे तीन प्रकारके योगी होते है।

इन तीनो उपायभेदवाले योगियोमे भी प्रत्येक सवेग अथवा वैराग्यके मृदु, मध्य, अधिमात्र (तीव्र) तीन प्रकारके भेद होनेसे तीन-तीन प्रकारका होता है अर्थात् मृदु उपायवाला योगी, कोई मृदु सवेगवाला, कोई मध्य संवेगवाला और कोई अधिमात्र (तीव्र) संवेगवाला होता है। ऐसे ही अधिमात्र उपायवाला, कोई मृदु संवेगवाला, कोई मध्य सवेगवाला और कोई अधिमात्र (तीव्र) सवेगवाला होता है।

इस प्रकार श्रद्धा आदि उपायोके तीन भेद तथा सवेगके तीन भेद होनेसे उपाय-प्रत्यय योगियोके नौ भेद उत्पन्न होते हैं—

(१) मृदु-उपाय मृदु संवेगवान्, (२) मृदु-उपाय मध्य संवेगवान्, (३) मृदु-उपाय तीव्र संवेगवान्, (४) मध्य-उपाय मृदु संवेगवान्, (५) मध्य-उपाय मध्य संवेगवान्, (६) मध्य-उपाय तीव्र सवेगवान्, (७) अधिमात्र-उपाय मृदु सवेगवान्, (८) अधिमात्र-उपाय मध्य-संवेगवान्, (९) अधिमात्र-उपाय तीव्र सवेगवान्।

इन नौ प्रकारके उपाय-प्रत्यय योगियोंमेंसे उपायकी न्यूनाधिकता और वैराग्यकी न्यूनाधिकताकी अपेक्षासे किसीको विलम्बतम (अत्यन्त विलम्बसे), किसीको शीघ्रतम समाधिका लाभ प्राप्त होता है ।

उपर्युक्त सबमें अन्तिम योगियोंको सर्वापेक्षया शीघ्रतम समाधि-लाभ प्राप्त होता है, उन्हींका अगले सूत्रमें वर्णन करते है—

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—तीव्रसंवेगानाम्=तीव्र सवेगवान् (अधिमात्र उपायवाले योगियोंको) समाधि-लाभ; आसन्नः=शीघ्रतम=निकटतम होता है ।

अन्वयार्थ—तीव्र संवेग[1] और अधिमात्र उपायवाले योगियोंको समाधि-लाभ शीघ्रतम होता है ।

व्याख्या—इस सूत्रके आदिमें भाष्यकारोंने 'अधिमात्रोपायानाम्' 'अधिमात्र उपायवालोंको' इतना पाठ और सम्बद्ध किया है तथा 'समाधिलाभः समाधिफलं च भवति इति ।' 'समाधिका लाभ और उसके फल-का लाभ होता है' यह शब्द सूत्रके शेष है । वे सूत्रके अन्तमें लगाने चाहिये ।

इसलिये यह अर्थ हुआ कि जिनका उपाय अधिमात्र है और जिनका संवेग तीव्र है, उन उपाय-प्रत्यय योगियोंको समाधिका लाभ तथा उसके फलका लाभ शीघ्रतम प्राप्त होता है । अर्थात् उपायके अधिमात्र और संवेगके तीव्र होनेके कारण उपर्युक्त नौ प्रकारके उपाय-प्रत्यय योगियोंमेंसे उनको शीघ्रतम अर्थात् सबसे अधिक शीघ्रतासे समाधि तथा उसका फल कैवल्यका लाभ प्राप्त होता है ।

इनकी अपेक्षा अधिमात्र-उपाय मध्य सवेगवालोंको कुछ विलम्बसे; और इनकी अपेक्षा अधिमात्र-उपाय मृदु संवेगवालोंको उनसे अधिक विलम्बसे होगा ।

इसी प्रकार जितनी-जितनी उपायोंकी और संवेगकी न्यूनता होती है उतना-उतना विलम्बसे समाधि-लाभ होता है और जितनी-जितनी उपायोंकी और संवेगकी अधिकता होती है उतना-उतना शीघ्र समाधि-लाभ होता है ।

सङ्गति—तीव्र संवेग भी मृदु, मध्य, अधिमात्र—विशेषान्तर भेदसे तीन प्रकारका होता है। उनमें-से अधिमात्र तीव्र वैराग्यवाले योगियोंको शीघ्र समाधिका लाभ होता है । यह अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—मृदु-मध्य-अधिमात्रत्वात्=(तीव्र संवेगके भी) मृदु, मध्य, अधिमात्र—ये तीन भेद होनेसे, ततः=उस (मृदु तीव्र सवेगवालोंके और मध्य तीव्र संवेगवालोंके समाधि-लाभ) से; अपि=भी, विशेषः= (अधिमात्र तीव्र संवेगवालोंको समाधि-लाभमें) विशेषता होती है ।

अन्वयार्थ—मृदु, मध्य, अधिमात्र—ये तीन भेद होनेसे मृदु तीव्र संवेगवालों और मध्य तीव्र संवेगवालोंके समाधि-लाभसे भी अधिमात्र तीव्र सवेगवालोंको समाधिलाभमें विशेषता है ।

व्याख्या—पूर्वसूत्रमें जो तीव्र संवेग बतलाया है, उस तीव्र सवेगके भी मृदु, मध्य, अधिमात्र—ये तीन भेद है अर्थात् मृदु तीव्र संवेग, मध्य तीव्र संवेग और अधिमात्र तीव्र संवेग ।

---

१. वाचस्पतिमिश्रने सवेगके अर्थ वैराग्य किये हैं, किंतु विज्ञानभिक्षुके योगवार्तिक तथा भोजवृत्तिमें क्रम-अनुसार इस प्रकार अर्थ हैं—'सवेगः उपायानुष्ठाने शैघ्र्यम्' सवेग उपायके अनुष्ठानमें शीघ्रताको कहते हैं । 'सवेगः क्रियाहेतुर्दृढतरः सस्कारः' क्रियाके करनेमें जो कारणरूप दृढतर सस्कार है, वह सवेग कहलाता है ।

इस प्रकार यह तीव्र सवेग तीन प्रकारका हुआ। इससे अधिमात्र-उपाय मध्य संवेगवाले आठवें श्रेणीके योगियोंकी अपेक्षासे अधिमात्र-उपाय मृदु-तीव्र सवेगवाले योगियोको शीघ्र समाधि-लाभ होता है और अधिमात्र-उपाय मध्य-तीव्र सवेगवाले योगियोको शीघ्रतर और अधिमात्र-उपाय अधिमात्र-तीव्र संवेग-वाले योगियोंको शीघ्रतम समाधिलाभ प्राप्त होता है। इन अधिमात्रोपाय अधिमात्र-तीव्र संवेगवाले योगियोंमें पूर्वके दोनो योगियोसे यह अत्यन्त शीघ्रतारूप समाधि-लाभमें विशेषता है।

सङ्गति—पूर्वोक्त अधिमात्र-उपाय अधिमात्र-तीव्र सवेगसे ही शीघ्रतम-समाधिका लाभ होता है, अथवा कोई और सुगम उपाय भी है—इस आशङ्काके निवारणार्थ सूत्रकार शीघ्रतम-समाधिका उपायान्तर बतलाते हैं—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—ईश्वर-प्रणिधानात्=ईश्वर-प्रणिधानसे; वा=अथवा (शीघ्रतम समाधि-लाभ होता है)।

अन्वयार्थ—अथवा ईश्वर-प्रणिधानसे शीघ्रतम समाधि-लाभ होता है।

व्याख्या—इस सूत्रमें 'विशेष' इस पदका पूर्वसूत्रसे अनुवर्तन करनेसे आसन्नतम (शीघ्रतम) समाधि-लाभ होता है, यह अर्थ निकलते हैं।

पूर्वोक्त अधिमात्र-उपाय अधिमात्र तीव्र सवेगसे शीघ्रतम समाधि-लाभ होता है, अथवा सत्य-संकल्प ईश्वरमें भक्तिविशेष अर्थात् कायिक, वाचिक, मानसिक क्रियाओको उसके अधीन तथा कर्मों और उनके फलोको उसके समर्पण करने और उसके गुणो तथा स्वरूपका चिन्तन करनेसे, उसके अनुग्रहसे शीघ्रतम समाधि-लाभ होता है।

साधनपाद सूत्र १ एवं ३२ मे ईश्वर-प्रणिधानका सामान्य अर्थ ईश्वरकी भक्तिविशेष और शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, अन्तःकरण आदि सब करणो, उनसे होनेवाले सारे कर्मों और उनके फलो अर्थात् सारे वाह्य और आभ्यन्तर जीवनको ईश्वरको समर्पण कर देना है, किंतु विशेषरूपसे यहाँ ईश्वर-प्रणिधानसे जो सूत्रकारका अभिप्राय है, वह अट्ठाईसवें सूत्रमें कहेंगे।

सङ्गति—जिसके प्रणिधानसे शीघ्रतम समाधि-लाभ होता है, उस ईश्वरका स्वरूप निरूपण करते है—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—क्लेश-कर्म-विपाक-आशयैः=क्लेश, कर्म, उनके फल और वासनाओसे, अपरामृष्टः=न स्पर्श किया हुआ=सम्बन्ध-रहित=असम्बद्ध; पुरुषविशेषः=अन्य पुरुषोंसे विशेष (विभिन्न, उत्कृष्ट) चेतन; ईश्वरः=ईश्वर है।

अन्वयार्थ—क्लेश, कर्म, कर्मोंके फल और वासनाओसे असम्बद्ध, अन्य पुरुषोसे विशेष (विभिन्न उत्कृष्ट) चेतन ईश्वर है।

व्याख्या—क्लेश—'क्लिश्नन्तीति क्लेशाः' जो दुःख देते हैं, वे क्लेश कहलाते हैं। वे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश-संज्ञक पाँच प्रकारके हैं, जिनका स्वरूप सूत्र (२ । ३) में बतलाया जायगा।

कर्म—इन क्लेशोसे धर्म-अधर्म अर्थात् शुभ-अशुभ और इनसे मिश्रित—ये तीन प्रकारके कर्म (४ । ७) उत्पन्न होते हैं। वेदोमें विधान किये हुए सब प्राणियोके कल्याणकी भावनासे किये हुए (सकाम) कर्म धर्म और वेदोमे निषेध किये हुए हिंसात्मक कर्म अधर्म हैं।

विपाकः—'विपच्यन्त इति विपाकाः' जो परिपक्व हो जाते हैं, वे विपाक कहलाते हैं अर्थात् उन सकाम कर्मोंके फल सुख-दुःखरूप जाति, आयु और भोग जिनका सूत्र (२ । १३) में वर्णन किया जायगा, विपाक कहलाते हैं ।

आशयः—'आ फलविपाकाच्चित्तभूमौ शेरत इत्याशयाः' फल पकनेतक जो चित्तभूमिमें पड़ी हुई सोती हैं, वे वासना 'आशय' कहलाती है, अर्थात् जो कर्म अभीतक पककर जाति, आयु और भोगरूप फल नहीं दे पाये है, उन कर्मफलोंके वासनारूप जो संस्कार चित्तभूमिमें पडे हुए है, वे आशय कहलाते हैं । (४।८)

उपर्युक्त क्लेश-कर्म आदि चारोंसे जो तीन कालमें लेशमात्र भी सम्बद्ध नही है, वह अन्य पुरुषोसे विशेष (विभिन्न उत्कृष्ट) चेतन ईश्वर कहलाता है ।

ईश्वरके अर्थ है—'ईशनशील इच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरणक्षमः' ईशनशील अर्थात् इच्छामात्रसे सम्पूर्ण जगत्के उद्धार करनेमें समर्थ ।

शङ्का—'जन्माद् यस्य यतः' इस ब्रह्मसूत्रमे ईश्वरको जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका करनेवाला बतलाया हैं । इस प्रकारके लक्षण नहीं किये है ।

समाधान—यहाँ प्रकरणानुसार ईश्वरका सामान्य लक्षण बतलाया है । उपासनामें उपास्यके जिस स्वरूपको लेकर उपासना की जाती है, उसके उसी स्वरूपमें अवस्थिति होती है । असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् ब्रह्मके शुद्धस्वरूपमें अवस्थितिके इच्छुक उपासकको संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयसे कोई प्रयोजन नहीं है । उसको क्लेश, सकामकर्म, कर्मोंके फल और वासनाओसे, जो बन्धनके कारण हैं, छुटकारा पाना है । इसलिये ईश्वरके ऐसे विशेष स्वरूपमें उपासना करना उसको बतलाया गया है ।

शङ्का—क्लेश, कर्म, विपाकादि तो चित्तके धर्म है, पुरुष तो ईश्वरके समान सदा असङ्ग और निर्लेप है, इसलिये ईश्वरमें अन्य पुरुषोसे क्लेशादि धर्मसे रहित होनेकी विशेषता अयुक्त है ।

समाधान—यद्यपि सभी पुरुषोमें वास्तविक क्लेशादि नहीं हैं तथापि चित्तमें रहनेवाले क्लेशादिका पुरुषके साथ औपाधिक सम्बन्ध है अर्थात् चित्तमें रहनेवाले क्लेशादि पुरुषमें अविवेकसे आरोपित कर लिये जाते हैं । जैसे योद्धाओमें (लडनेवालोमें) जीत-हार होती है, पर वह स्वामीकी कही जाती है अर्थात् जैसे राजा और सेनाका परस्पर स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध होनेसे सेनाकर्तृक (सेनासे की हुई) जय-पराजयका स्वामिभूत राजामें व्यवहार होता है, क्योंकि वह उसके फलका भोक्ता है । इसी प्रकार चित्त और पुरुषका भी परस्पर स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध होनेसे चित्तमें वर्तमान क्लेशादिका ही पुरुषमें व्यवहार होता है, क्योकि वह उसके फलका भोक्ता है । जैसा कठोपनिषद् (२ । ३) में कहा है—

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।

ज्ञानीलोग इन्द्रिय, मनसे युक्त आत्माको भोक्ता कहते हैं (इन्द्रियादिसे जो युक्त नहीं है वह भोक्ता नहीं है) ।

किंतु यह अविवेक-प्रयुक्त औपाधिक क्लेशोंका सम्बन्ध विवेकशील ईश्वरमें सम्भावित नहीं है । यह औपाधिक भोगके सम्बन्धका न होना ही ईश्वरमें अन्य पुरुषोंसे विशेषता है अर्थात् पुरुषके चित्तके साथ एकरूपतापन सम्बन्धसे जो चित्तके पुरुषमें औपाधिक धर्म आरोपित किये जाते हैं, उन धर्मोंसे असम्बद्ध जो विशुद्ध सत्त्वगुण-प्रधान चित्तोपाधिक नित्य ज्ञान ऐश्वर्यादि धर्मविशिष्ट सत्यकाम, सत्य-सकल्प चेतन है वह ईश्वर-पदका वाच्य है । वह अन्य पुरुषोसे विशेष है ।

शङ्का—यदि क्लेशादिसे असम्बद्ध होना ही ईश्वरमें विशेषता है तो मुक्त पुरुष तथा प्रकृतिलय आदि भी ईश्वर-पदका वाच्य हो सकते है, क्योंकि क्लेशसे तो उनका भी सम्पर्क नहीं होता है ।

समाधान—प्रकृतिलय और विदेह योगियोंको प्राकृत-बन्ध होता है तथा अपनी अवधिके अनन्तर संसारमें आनेसे भावी क्लेशोंसे सम्बन्ध होता है। विदेह और प्रकृतिलयोंसे भिन्न दिव्य-अदिव्य विषयोंके भोक्ता देव, मनुष्यादिकोंको क्रमशः दाक्षिणिक और वैकारिक बन्ध होता है। यद्यपि इन तीनों बन्धोंको काटकर कैवल्यको प्राप्त हुए पुरुष भी मुक्त ही कहलाते (वास्तवमें तो मुक्ति और बन्धन दोनों अन्तःकरणके ही धर्म हैं, पुरुष उसका द्रष्टा है इसलिये उसमें आरोपित कर लिये जाते) हैं तथापि वे सदा मुक्त नहीं हैं; क्योंकि क्लेशयुक्त होकर ही योग-साधनके अनुष्ठानद्वारा ही क्लेशोंके बन्धनसे मुक्त हुए है, किंतु ईश्वर सर्वदा क्लेशोंसे अपरामृष्ट होनेसे सदा ही मुक्त है। यह सदा मुक्तस्वरूपता ईश्वरमें मुक्त पुरुषों तथा प्रकृतिलयोंसे विशेषता है।

शङ्का—ज्ञानस्वरूप ऐश्वर्य तथा पुरुषोंके उद्धारके सत्यसंकल्परूप ऐश्वर्यका परिणाम अपरिणामी पुरुषमें होना असम्भव है और यदि यह धर्म चित्तका माना जाय तो सदा मुक्त ईश्वरका चित्तके साथ स्व-स्वामिभाव-सम्बन्ध सम्भव नहीं हो सकता; क्योंकि स्व-स्वामिभाव-सम्बन्ध अविद्यासे होता है। इस प्रकार सदा मुक्त पुरुषविशेषमें स्वाभाविक ऐश्वर्यके अभावसे और चित्तमें स्व-स्वामिभाव सम्बन्धके असम्भव होनेसे ईश्वरको सदा मुक्त पुरुषविशेष नहीं कहा जा सकता।

समाधान—यद्यपि अपरिणामी चेतनभूत ईश्वरमें इन ऐश्वर्योंका परिणाम होना असम्भव है; क्योंकि वह रजस्-तमस्रहित विशुद्ध चित्तका धर्म है और चित्तके साथ नित्यमुक्त ईश्वरका स्व-स्वामिभाव-सम्बन्ध असम्भव है तथापि जैसे अन्य पुरुषोंका अविद्याप्रयुक्त चित्तके साथ स्व-स्वामिभाव-सम्बन्ध है वैसे ईश्वरके साथ अविद्या-प्रयुक्त नहीं है। किंतु वह चित्तके स्वभावको जानता हुआ तीनो तापोंसे दुःखित संसार-सागरमें पड़े हुए जीवोंका ज्ञान एवं धर्मके उपदेशद्वारा उद्धार करनेके लिये विशुद्ध सत्त्वरूप, न कि अज्ञान-प्रयुक्त, चित्तको धारण किये हुए है। इसी प्रकार अज्ञानपूर्वक सगवाले चित्तमें परिणाम होता है। नित्य विशुद्ध सत्त्वरूप चित्तमें नित्य-ज्ञान वा प्रेरणाका होना परिणामरूप नहीं है। अविद्याके सम्बन्धसे रहित ईश्वर चित्तके स्वरूपको जानता हुआ पुरुषके भोग, अपवर्ग और धर्म-ज्ञानके उपदेशके लिये विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्तके धारण करनेसे भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। ईश्वर विशुद्ध सत्त्वरूप चित्तद्वारा जीवोंके कल्याणार्थ संसारकी रचना करनेमें भ्रान्त नहीं किंतु ज्ञानमय ही है।

ईश्वरकी इच्छामात्रसे सब जगत्का उद्धार-रूप ऐश्वर्य अनादि विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्तके योगसे है और विशुद्ध सत्त्वगुणमय, चित्तका योग उत्कृष्ट ज्ञानसे है। विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्त हो तो उत्कृष्ट ज्ञान हो और उत्कृष्ट ज्ञान हो तो विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्त हो। ऐसे अन्योन्याश्रय (एक-दूसरेका सहारा लेना) रूप दोष यहाँ नहीं है; क्योंकि ये दोनो ही ईश्वरमें अनादि हैं। इन दोनोंमें कोई किसीकी अपेक्षा नहीं रखता है। जहाँ अपेक्षा होती है वहीं यह दोष होता है। ईश्वरका उस विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्तके साथ अनादि सम्बन्ध है; क्योंकि प्रकृति और पुरुषका संयोग-विभाग अर्थात् पुरुषके भोग-अपवर्गार्थ-सृष्टि, उत्पत्ति और प्रलय बिना ईश्वर-इच्छा (सत्य-संकल्प) के नहीं हो सकती।

भाव यह है कि यद्यपि धर्म एवं ज्ञानके उपदेशद्वारा पुरुषोंके उद्धार करनेकी इच्छा होनेसे ईश्वर विशुद्ध सत्त्वस्वरूप चित्तरूप उपाधिको धारण किये हुए हैं और इस उपाधिके धारणसे पूर्वोक्त इच्छा (सत्य-संकल्प) होती है। अर्थात् उद्धारकी इच्छा होनेसे ईश्वरको चित्तका ग्रहण करना और चित्तके ग्रहण होनेसे इच्छाका होना, इस प्रकार परस्परकी अपेक्षा होनेसे अन्योन्याश्रित दोष आता है तथापि बीज-अङ्कुरके समान संसार-के अनादि होनेसे इस दोषकी निवृत्ति हो जाती है।

जिस प्रकार अन्य पुरुषोंका चित्त पुरुषसे प्रतिबिम्बित हुआ सुख, दुःख, मोह (अविद्या) रूपसे परिणत होता है और योगियोंका चित्त पुरुषसे प्रतिबिम्बित हुआ निर्मल सात्त्विक ज्ञानसे परिणामको प्राप्त होता है; और उनकी ही उपाधिसे पुरुषमें सुख, दुःख और मोहग्रस्त होना तथा निर्मल सात्त्विक ज्ञानसे युक्त होना आरोप किया जाता है वैसा ईश्वरका विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्त नहीं है। वह केवल सात्त्विक परिणाम, उत्कर्ष (ऐश्वर्यविधि) वाला है—यह उसमें अन्य पुरुषोंसे विलक्षणता है।

उस विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्तमें निरतिशय ऐश्वर्यरूप उत्कृष्टता और वेद विद्यमान रहते हैं। उस विद्यमान उत्कृष्टता और वेदोंका वाच्य-वाचकभाव अनादि सम्बन्ध है। अर्थात् ईश्वरके चित्तमें अनादि उत्कृष्टता विद्यमान है और उसी चित्तमें उत्कृष्टताके वाचक वेद भी रहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर सदा ही ऐश्वर्यशाली और सदा ही मुक्त है।

शङ्का—यहाँ तो ईश्वरमें विशुद्ध सत्त्वमय चित्तके ग्रहणद्वारा सर्वोत्कृष्टता बतलायी है, क्या वह उत्कृष्टता सनिमित्त (किसी शास्त्रके प्रमाणसे सिद्ध) है या निष्प्रमाणक है? यदि श्रुति-स्मृतिको उसमें प्रमाण माना जाय तो श्रुति-स्मृतिमें क्या प्रमाण है?

समाधान—सर्वज्ञ ईश्वरके स्वाभाविक ज्ञानरूप वेद ईश्वरकी सर्वोत्कृष्टतामें प्रमाण हैं; और अन्य प्रमाणज्ञान ईश्वरके निर्वान्त और सर्वत्र सिद्ध होनेसे ईश्वरीय ज्ञान वेदकी प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध है।

यह सर्वज्ञतादिरूप धर्म तथा वेदरूप शास्त्र ईश्वरके विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्तमें विद्यमान है और इन दोनोंका परस्पर अनादि निमित्त-नैमित्तिकभावसम्बन्ध है अर्थात् ईश्वरके चित्तमें वर्तमान विशुद्ध सत्त्वका प्रकर्ष निमित्तकारण है और वेद उसका आविर्भूत है। इस उत्कृष्टतासे ही ईश्वर नित्य-मुक्त और नित्य-ऐश्वर्यशाली कहा जाता है।

शङ्का—यदि ईश्वरको न मानकर केवल प्रधान (मूल-प्रकृति) को ही पुरुषके भोग-अपवर्ग-प्रयोजनके सम्पादनार्थ संसार-रचनामें प्रवृत्त मान लें तो क्या दोष होगा?

समाधान—ईश्वररूप प्रेरक न मानकर केवल जड-प्रधानको संसारकी रचनामें प्रवृत्त माननेमें यह दोष होगा कि जड-पदार्थ बिना चेतनकी प्रेरणाके अपने कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता है, जैसे कि सारथिके बिना रथ नहीं चल सकता। इसलिये विशुद्ध सत्त्वोपाधिक नित्य-ज्ञान-क्रियैश्वर्यशाली चेतनभूत ईश्वरको मानना ही पड़ेगा। ऐसा ही उपनिषदोंमें बतलाया है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। (श्वेताश्वतर-उपनिषद्)

माया प्रपञ्च (संसार) का उपादानकारण है और मायाका स्वामी प्रेरक परमेश्वर निमित्त-कारण है।

अन्य कल्पनाओंका निम्न प्रकार समाधान समझ लेना चाहिये—

ईश्वर अनेक नहीं हो सकते। यदि एक-जैसे अनेक हों और उनके अभिप्राय भिन्न-भिन्न हों तो कोई कार्य नहीं चल सकेगा अर्थात् एक चाहे सृष्टि हो और दूसरा चाहे सृष्टि न हो, ऐसी दशामें कुछ भी न हो सकेगा।

यदि ईश्वरोंको अनेक मानकर छोटा-बड़ा माने तो जो बड़ा है वही ईश्वर है, क्योंकि वही ऐश्वर्यकी पराकाष्ठा (अवधि) को प्राप्त हो जाता है।

इसलिये जिसमें ज्ञान और ऐश्वर्यकी पराकाष्ठा है और जो क्लेश, कर्म आदिसे सदा रहित है, वह सदा मुक्त, नित्य, निरतिशय, अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ पुरुष-विशेष ईश्वर है।

विशेष विचार (सूत्र २४)—सूत्र चौबीसका सारांश—ईश्वरमें अन्य पुरुषोंसे यह विशेषता है कि वह तीनों कालमें क्लेशादिके सम्बन्धसे रहित है ।

यद्यपि क्लेशादि चित्तके धर्म हैं न कि असङ्ग, निर्लेप पुरुषके, तथापि चित्तमें रहनेवाले इन क्लेशोंका पुरुषमें औपाधिक सम्बन्ध है अर्थात् पुरुषमें अविवेकसे आरोपित कर लिये जाते हैं; क्योंकि पुरुष ही इनका भोक्ता है, किंतु ईश्वरमें इन औपाधिक क्लेशोंका भी सम्बन्ध नहीं है । ईश्वरमें मुक्त पुरुषोंसे यह विशेषता है कि वे क्लेश-युक्त होकर साधनके अनुष्ठानद्वारा मुक्त हुए हैं; ईश्वर तीनों कालमें मुक्त है । ईश्वरके अर्थ है—ईशनशील अर्थात् इच्छामात्र (सकल्पमात्र) से सम्पूर्ण जगत्के उद्धार करनेमें समर्थ ।

यह जगत्के उद्धारका ऐश्वर्य अनादि है और अनादि विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्तके अनादि योगसे है; और अनादि विशुद्ध सत्त्वगुणमय चित्तका अनादि उत्कृष्ट ज्ञानसे अनादि योग है ।

इस प्रकार विशुद्ध सत्त्वचित्तके साथ जगत्के उद्धारका ऐश्वर्य तथा उत्कृष्ट ज्ञानके ऐश्वर्यका अनादि योग होनेसे ये दोनों ऐश्वर्य इसमें परिणामरूप नहीं है । अन्य चित्तोंसे इस विशुद्ध सत्त्वचित्तमें यह विलक्षणता है कि यह चित्त अन्य चित्तो-जैसा न तो गुणोंका विषम परिणाम है और न इसमें कोई विसदृश परिणाम होता है । यह चित्त विशुद्ध अर्थात् रजस्-तमस्-शून्य सत्त्व है । इसी सत्त्वके सम्बन्धसे ईश्वरमें नित्य ज्ञान, नित्य इच्छा, नित्य क्रिया रहती है । 'तीनों तापोंसे दुःखित ससार-सागरमें पडे हुए जीवोंका उद्धार ज्ञान और धर्मके उपदेशसे करूँ' इस प्रकारकी इच्छा (सत्यसंकल्प) ईश्वरमें सर्वदा रहती है । उपनिषदोंमें भी ऐसा ही कहा गया है—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

न उसका (मनुष्य-जैसा) कोई देह है, न इन्द्रियाँ हैं, न उसके कोई बराबर है, न उससे कोई बडा है । उसकी उत्कृष्ट शक्ति अनेक प्रकारकी अनादिसे सुनी जाती है; और उसके ज्ञान, बल और क्रिया—ये तीनों स्वाभाविक और नित्य हैं ।

सङ्गति—अब अगले सूत्रमें ईश्वरकी सर्वज्ञता अनुमान-प्रमाणद्वारा सिद्ध करते हैं—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—तत्र=उस पूर्वोक्त ईश्वरमें; निरतिशयम्=अतिशयरहित, सर्वज्ञबीजम्=सर्वज्ञताका बीज है ।

अन्वयार्थ—उस पूर्वोक्त ईश्वरमे सर्वज्ञताका बीज अतिशय (बढ़ती) रहित है ।

व्याख्या—अतीत, अनागत और वर्तमान जो अतीन्द्रिय पदार्थ हैं, उनमें किसी एक या बहुत-से पदार्थोंका जो सयमजयसे (सत्त्वगुणके न्यूनाधिक होनेसे) अल्प या अधिक प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । वह प्रत्यक्ष ज्ञान सर्वज्ञताका बीज है । सयमजय अर्थात् सत्त्वगुणकी न्यूनाधिकताकी अपेक्षासे कोई योगी किंचित् ही अतीन्द्रिय वस्तुको प्रत्यक्ष कर सकता है । कोई बहुत अतीन्द्रिय वस्तुको प्रत्यक्ष कर सकता है । इस प्रकार ज्ञेय वस्तुओंकी अपेक्षासे प्रत्यक्ष ज्ञान अल्प या बहुत कहा जाता है । प्रथम संयमके जयसे योगीका जो एक या बहुत अतीन्द्रिय पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान

होना है, वह सातिशय ज्ञान है । यह सर्वज्ञताका बीजरूप सातिशय ज्ञान वृद्धिको प्राप्त होते-होते जहाँ निरतिशय हो जाय वह सर्वज्ञ है ।

जो वस्तु किसीकी अपेक्षासे न्यून या अधिक हो, वह सातिशय कही जाती है, और जो काष्ठा (सीमा) को प्राप्त हुई कहीं विश्रान्त हो जाय, वह निरतिशय कही जाती है ।

जिस ज्ञानके बराबर अथवा अधिक ज्ञान हो, उसको सातिशय ज्ञान, और जिसके बराबर अथवा अधिक ज्ञान न हो अर्थात् जो काष्ठाको प्राप्त हो जाय, उसको निरतिशय ज्ञान कहते हैं ।

यह प्रथम संयमजसे उत्पन्न हुआ जो योगियोंमें सर्वज्ञताका बीजरूप सातिशय ज्ञान है, यह सातिशय होनेसे वृद्धिको प्राप्त होते-होते काष्ठाको प्राप्त होकर एक सीमापर पहुँचकर निरतिशय हो जायगा; क्योंकि जो पदार्थ न्यूनाधिक-रूप (कम-ज्यादापन) धर्मविशिष्ट होनेसे सातिशय होता है, वह अवश्य ही कहीं काष्ठाको प्राप्त होकर निरतिशय हो जाता है । जैसा कि अणु (छोटा) परिमाण परमाणुओंमें और महत् (बृहत् अर्थात् बडा) परिमाण आकाशमें काष्ठा (अन्तिम सीमा) को प्राप्त हो जाता है अर्थात् अणु परिमाणकी विश्रान्ति परमाणुमें और महत् परिमाणकी विश्रान्ति आकाशमें है; क्योंकि परमाणुसे अधिक कोई छोटा नहीं है और आकाशसे अधिक कोई बृहत् (बडा) नहीं है । ऐसे ही सर्वज्ञताका बीजरूप अतीन्द्रिय वस्तुविषयक योगीका ज्ञान सातिशय है, क्योंकि उस योगीके ज्ञानसे किसी दूसरे योगीका ज्ञान अधिक होता है । इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते जहाँ परम काष्ठाको प्राप्त होकर यह निरतिशय ज्ञान हो जाय, वही सर्वज्ञ, सदा मुक्त ईश्वर है ।

जिस प्रकार ज्ञानकी काष्ठाका आधार ईश्वर बतलाया है, इसी प्रकार धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, यश, श्री, प्रभुत्व और सम्पत्तिकी काष्ठाका भी आधार ईश्वरको जानना चाहिये ।

भाष्यकार लिखते हैं कि यह सामान्य दृष्टिसे अनुमानद्वारा ईश्वरके सर्वज्ञ होनेका समाधान है । यह विशेष-प्राप्तिमें समर्थ नहीं है । उसके नाम, महिमा, प्रभाव आदिकी विशेष प्राप्ति वेदोंमें खोजनी चाहिये । संसारकी रचनामें ईश्वरका कोई अपना अनुग्रह नहीं है । इसमें जीवोंका भोग-अपवर्गरूप अनुग्रह करना ही प्रयोजन है । इस दयालुताके कारण 'ज्ञान और धर्मोपदेशद्वारा सांसारिक पुरुषोंका मैं उद्धार करूँगा' इस भावसे कल्प-प्रलय और महाप्रलयके पीछे सृष्टिके आरम्भमें वेदोंका उपदेश करता है ।

जैसे कपिल मुनिने योगबलसे निर्माण किये हुए चित्तको (अपने संकल्पसे रचे हुए न कि कर्मोंसे विवश मिले हुएको) आश्रयण कर बिना किसी अपने प्रयोजनके केवल सृष्टिके अनुग्रहके लिये उनके कल्याणार्थ करुणा करके जिज्ञासु आसुरी ब्राह्मणको समाधिद्वारा अनुभव कराके पचीस तत्त्ववाले तत्त्व-समासरूपी साख्य-दर्शनका उपदेश दिया ।*

---

* भोजवृत्तिका भाषानुवाद (सूत्र २५)—उस ईश्वरमें सर्वज्ञताका बीज (सर्वज्ञताका कारण होनेसे बीजके सदृश बीज अर्थात् कारण) भूत, भविष्यत्, वर्तमान पदार्थोंके ज्ञानका अल्पत्व-महत्त्व निरतिशय है अर्थात् अवधिको प्राप्त हो गया है । जो सातिशय अल्पत्व, महत्त्व आदि धर्म हैं, उनकी अवधि देखी गयी है, जैसे परमाणुओंमें अल्पत्वकी और आकाशमें महत्त्वकी, ऐसे ही उच्च, नीच भावमें देखे हुए ज्ञान आदि चित्तके धर्म कहीं निरतिशय होते हैं । जिसमें वे निरतिशय हैं, वह ईश्वर है । यद्यपि इससे यह बोध नहीं होता

सङ्गति—पूर्वसूत्रोक्त अनुमानद्वारा ब्रह्मा आदि ही निरतिशय ज्ञानका आधार क्यों नहीं होते ? इस आशङ्काके निवारणार्थ अगले सूत्रमें ब्रह्मादिकोसे भी ईश्वरमें विशेषता बतलाते हैं—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—पूर्वेषाम्=पूर्व उत्पन्न ब्रह्मादिकोंका; अपि=भी; गुरुः=(वह ईश्वर) उपदेष्टा है; कालेन-अनवच्छेदात्=क्योंकि वह कालसे अवच्छिन्न (परिमित) नहीं है ।

अन्वयार्थ—वह ईश्वर पूर्व उत्पन्न हुए ब्रह्मादिकोंका भी गुरु है; क्योंकि वह कालसे परिच्छिन्न (परिमित) नहीं है ।

व्याख्या—गुरु उपदेष्टाका और पूज्यका नाम है ।

कालेन अवच्छिन्न=कालसे परिच्छिन्न अर्थात् जो किसी कालमें हो और किसी कालमें न हो ।

अतः कालेन अनवच्छिन्नं (कालसे अपरिच्छिन्न) के अर्थ सर्वकालमें विद्यमानके हैं ।

जैसे ब्रह्मादि सृष्टिसे पूर्व और महाप्रलयके अनन्तर उत्पत्ति-विनाशशील होनेसे काल-परिच्छिन्न हैं, वैसे ईश्वर नहीं है; क्योंकि वह सर्वदा विद्यमान होनेसे कालकी परिच्छिन्नतासे रहित है । इसलिये ब्रह्मादिकोको ज्ञान प्रदान करनेसे ईश्वर उन सबका गुरु और उपदेष्टा है ।

जैसा वर्तमान सर्गके आदिमें ईश्वर ज्ञान-ऐश्वर्य-युक्त सिद्ध है, वैसे ही पूर्व सर्गोंके आदिमें भी इस प्रकार विद्यमान होनेसे ईश्वर ही अनादि, सर्वज्ञ, निरतिशय, ज्ञानका आधार है, ब्रह्मादि नहीं हैं । जैसा यजुर्वेदीय श्वेताश्वतरोपनिषद्में बतलाया गया है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ (६ । १८)

जिस ईश्वरने सृष्टिके आदिमें ब्रह्माको उत्पन्न किया और जिसने ब्रह्माके हृदयमें स्वर, पाठ, रहस्य और अर्थसहित वेद-ज्ञानका प्रकाश किया, उस आत्मदेवकी मैं मुमुक्षु शरण लेता हूँ ।

विशेष वक्तव्य—इस सूत्रमें ईश्वरको कालकी सीमासे परे गुरुओका गुरु बतलाया गया है । राजा, प्रजा, स्वामी, सेवक आदि भावनाओमें भेदभाव तथा स्वार्थसिद्धिकी सम्भावना रहती है । माता-पिताका भी पुत्रके प्रति मोह हो सकता है; किंतु गुरु-शिष्यका सम्बन्ध केवल आध्यात्मिक है, जिसमें केवल ज्ञान-प्राप्ति और आत्मोन्नति ही उद्देश्य होता है; इसलिये सूत्रमें ईश्वरको गुरुओंके गुरुकी भावनासे उपासना बतलायी गयी है ।

योग-मार्गमें गुरुओंको शिष्योसे अपनी शक्ल या अपनी मूर्तिका ध्यान करवाना श्रेष्ठ नहीं है । वास्तविक गुरु होनेका अधिकारी वही हो सकता है, जो गुरुओके गुरु ईश्वरतक पहुँचावे और उसका ही प्रणिधान अर्थात् उसके ही सब कुछ समर्पण करना सिखलावे ।

कि जिसमें वे निरतिशय हैं वह ईश्वर ही क्यों है, कोई अन्य क्यों नहीं, तथापि 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्' इत्यादि उपनिषद्-वाक्य आदिके प्रमाणसे ईश्वरके ही सर्वज्ञत्वादि धर्म जानने चाहिये । ईश्वरका कोई प्रयोजन नहीं, तो वह जीव और प्रकृतिका क्यों संयोग-वियोग करता है ? यह शङ्का नहीं करनी चाहिये, क्योंकि दयालु होनेसे प्राणियोंके ऊपर दया करना ही उसका प्रयोजन है । यह ईश्वरका अध्यवसाय (इच्छा-विशेष) है कि 'कल्पोंके प्रलय और महाप्रलयोंमें सब प्राणियोंका उद्धार करूँ ।' जो जिसको इष्ट है वही उसका प्रयोजन है ।

साधकोंको अपने इस आध्यात्मिक मार्गमें सच्चे पथदर्शककी खोज करनेमें पूरा सचेत रहना चाहिये। योग-मार्गमें पथदर्शकका अनुभवी होना तो आवश्यक है ही, किंतु निम्न विशेषताओं-पर भी पूरा ध्यान रखना चाहिये। पथदर्शक किसी विशेष शक्ति अथवा किसी विशेष देवी-देवताके संकीर्ण उपासनाभावसे परे होकर केवल एक सर्वज्ञ सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् परमगुरु परमेश्वरका उपासक हो। जन्मसे जात-पात, मत-मतान्तरोंकी संकीर्णता तथा साम्प्रदायिक पक्षपातसे परे होकर प्राणिमात्रमें एक ही शुद्ध चेतन परमात्मतत्त्वको देखता हुआ सभीका शुभचिन्तक हो। जो साधकोंके केवल गुण, कर्म, स्वभाव और सात्त्विक संस्कारोंपर दृष्टि डालता हुआ उनको उनके अन्तिम लक्ष्यपर पहुँचानेमें प्रयत्नशील हो। साधकोंसे धन, सम्पत्ति, मान, प्रतिष्ठा आदिका इच्छुक न हो अथवा जो केवल अपने सम्प्रदायके फैलाने तथा शिष्य-मण्डलीके बढानेका इच्छुक न हो, अपितु निःस्वार्थ-भावसे बिना किसी वैयक्तिक लगावके समदृष्टिसे सभीको आत्मोन्नतिमें सहायता देनेमें तत्पर हो। जो दुनियाके राग-द्वेष आदि सारे प्रपञ्चों तथा पाखण्डों और बनावटसे परे होकर निरभिमान—निरहंकारताके साथ आत्मचिन्तनमें रत हो। पथप्रदर्शकपर इस प्रकार दृष्टि डालनेसे पूर्व साधकोंको स्वयं अपने अंदर देखना चाहिये। क्या हमारी जिज्ञासा सच्ची और वैराग्य तीव्र है? क्या हम सांसारिक कामनाओं, धन-सम्पत्ति, मान-प्रतिष्ठा अथवा अन्य किसी प्रकारकी स्वार्थ-दृष्टिसे इस मार्गमें प्रवेश नहीं कर रहे हैं? क्या हमारा प्राणिमात्रके प्रति स्वात्मा-जैसा प्रेम-भाव है? क्या हम जन्मसे जात-पात, मत-मतान्तर और साम्प्रदायिक संकीर्णताके कूप-मण्डूक तो नहीं हैं? क्या हम अपने पथदर्शकको धोका तो नहीं दे रहे हैं? क्या हम तपस्वी जीवन बिताने और पथदर्शककी सच्ची एवं हितकारी शिक्षाको ग्रहण करने और पालन करनेके लिये तैयार हैं? इत्यादि।

(श्रीगुरु-महिमा)

गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूँ पाय।
बलिहारी गुरुदेव की जिन गोविन्द दियो बताय॥
गुरु बिन भव निधि तरै न कोई। जो विरंचि संकर सम होई॥

(तुलसीकृत रामायण)

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

अर्थ—गुरु ब्रह्माके समान है, गुरु विष्णुके समान है एवं गुरु भगवान् शङ्करके समान है। गुरु तो साक्षात् ब्रह्म है, इसलिये उस गुरुको नमस्कार है।

हौं शिव शाक्त बनूँ न भजूँ चतुरानन विष्णु न इन्द्र मनाऊँ।
तीर्थ बसूँ नहिं ताप तपूँ गिरि कन्दर अन्तर ध्यान लगाऊँ॥
फेरूँ नहीं मठ मन्दिर में करमाल मणी, निज जोति जगाऊँ।
पूज्य सिरी गुरु के चरणों पर "ब्रह्म" सदैव ही सीस नवाऊँ॥
हों सब कष्ट विषाद विनष्ट वितान समुन्नति के तन जावें।
वाञ्छित हो फल प्राप्त सदा दिन सौख्य सुधारस में सन जावें॥
जीव सहाय अजा अनुकूल रहे मल अन्तर के हन जावें।
जो गुरु "ब्रह्म" दया कर दें तब देव दयालु सभी बन जावें॥

(बाबूराम "ब्रह्म" कवि)

सङ्गति—इस प्रकार ईश्वरका निरूपण करके अब उसका प्रणिधान किस प्रकार करना चाहिये; यह बतलानेके लिये उसका वाचक (नाम) अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—तस्य=उस ईश्वरका; वाचकः=बोधक शब्द (नाम); प्रणवः=ओ३म् है ।

अन्वयार्थ—उस ईश्वरका बोधक शब्द ओ३म् है ।

व्याख्या—जिस अर्थका बोधक जो शब्द होता है, वह शब्द उस अर्थका वाचक कहलाता है और जिस वाचक शब्दसे जो बोध्य अर्थ होता है, वह अर्थ उस शब्दका वाच्य कहलाता है । जैसे गौ (गाय) शब्द वाचक है और सास्ना (गौओंके गलेमें कम्बल-सा लटका हुआ मास)-पुच्छ आदि-वाला पशुविशेष वाच्य है । वाचक, बोधक, अभिधायक, संज्ञा, नाम एकार्थक हैं । इसी प्रकार वाच्य, बोध्य, अभिधेय, संज्ञी, नामी भी समानार्थक हैं ।

प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेनेति नौति, स्तौतीति वा प्रणव ओंकारः । (भोजवृत्ति)

नम्रतासे स्तुति की जाय जिसके द्वारा अथवा भक्त जिसकी उत्तमतासे स्तुति करता है, वह 'प्रणव' कहलाता है । वह 'ओ३म्' ही है ।

इस ओ३म्का और ईश्वरका वाच्य वाचक-भाव सम्बन्ध है अर्थात् निरतिशय ज्ञान-क्रियाकी शक्तिरूप ऐश्वर्यवाला व्यापक ईश्वर वाच्य है, अभिधेय है और ओ३म् वाचक, बोधक और अभिधायक है ।

भाष्यकार इस सम्बन्धको प्रश्नोत्तरद्वारा नित्य सिद्ध करते हैं । यथा—

प्रश्न—क्या वह ईश्वर और प्रणवका वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध संकेत-कृत (संकेत-जन्य) है ? या दीपक-प्रकाशवत् संकेतद्योत्य अर्थात् दीपकके प्रकाशके सदृश विद्यमान ही संकेतसे ज्ञात कराया हुआ है ?

यदि सकेतसे वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्धकी उत्पत्ति मानी जायगी तो जन्य (उत्पत्तिवाला) होनेसे सम्बन्ध अनित्य कहा जायगा; और यदि सकेतसे उत्पन्न नहीं होता, किंतु ज्ञात कराया जाता है, इस प्रकार सकेतको द्योतक (ज्ञान करानेवाला) माना जाय तो सम्बन्ध नित्य कहा जायगा । इन दोनोंमेंसे कौन-सा सम्मत है ? प्रष्टाका यह भाव है ।

उत्तर—यह ईश्वर और ओ३म्का वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध नित्य है । केवल वर्णोंके संकेतसे प्रकाशितमात्र होता है, नया उत्पन्न नहीं होता है । जैसे पिता और पुत्रका सम्बन्ध विद्यमान ही होता है, उसे कोई नया कल्पित नहीं करता, किंतु केवल बतलाया जाता है कि 'यह इसका पिता है, यह इसका पुत्र है ।'

भाव यह है कि जैसे पिता-पुत्रका परस्पर जन्य-जनक-भाव सम्बन्ध विद्यमान हुआ ही 'यह इसका पिता है और यह इसका पुत्र है' इस प्रकार संकेतसे प्रकाश किया जाता है—ऐसा नहीं है कि उस संकेतसे ही वह पिता और वह पुत्र हुआ हो—वैसे ही ईश्वरकृत संकेत भी विद्यमान शब्द-अर्थ-सम्बन्धको प्रकाश करता है, उत्पन्न नहीं करता ।

इसी प्रकार सर्वत्र ही सकेत विद्यमान सम्बन्धका प्रकाशक है, जनक नहीं है । यह संकेत जैसे इस सर्गमें है वैसे ही अन्य सर्गोंमें भी वाच्य-वाचक शक्तिकी अपेक्षासे विद्यमान ही रहता है । अतः पूर्व-पूर्व सम्बन्धके अनुसार उत्तर-उत्तर सर्गमें ईश्वर संकेत करता है ।

विशेष वक्तव्य—सूत्र २७—सूत्रकी व्याख्यामें वाच्य ईश्वर और वाचक प्रणवमें अनादि सम्बन्ध दिखलाया गया है। शास्त्रोंमें कहीं-कहीं ऐसा वर्णन आया है कि प्रणव-ध्वनि केवल ध्यानद्वारा अनुभव करने योग्य है। उसका यथार्थमें मुखसे उच्चारण होना असम्भव है, तथापि गौणरूपेण जो प्रणव-मन्त्र उच्चारण किया जाता है, वह त्र्यक्षरमय है अर्थात् अ, उ और म् ओंकाररूपी प्रणव होता है। जिसके तीनों अक्षरोंमें त्रिगुणमयी प्रकृति क्रमशः अपने तीनो गुणों तमस्, रजस् और सत्त्व, अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों जगत्सहित तथा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर उनके अधिष्ठाता विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वररूपसे अथवा सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी अपेक्षासे ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपसे विद्यमान हैं। और प्रणव ही ईश्वररूप है। वैज्ञानिक दृष्टिसे प्रणवका स्वरूप यह है कि जहाँ कोई कार्य है वहाँ अवश्य कम्पन होगा और जहाँ कम्पन होगा वहाँ अवश्य कोई शब्द होगा। सृष्टिके आदि कारणरूप कार्यकी ध्वनि ही ओंकार है। प्रणव-ध्वनि ही ओंकार है। प्रणव-ध्वनिरूप ध्वन्यात्मक शब्दका रूप वर्णात्मक प्रतिशब्द होनेके कारण शाब्दिक ओंकार अथवा शब्दातीत प्रणव दोनों ही पूर्वापर-सम्बन्धसे ईश्वरवाचक होकर प्रणव कहलाते है। प्रणव ध्वन्यात्मक होनेके कारण उसका कोई भी अङ्ग मुखसे उच्चारण करने योग्य नहीं है। किंतु मानसिक जापसे परे केवल ध्यानकी अवस्थामें अन्तःकरणमें ही प्रणव-ध्वनि सुनायी दे सकती है। उसी ध्वन्यात्मक प्रकृतिके आदि शब्द ईश्वरवाचक प्रणवका वर्णात्मक प्रतिशब्द उपासना-काण्डकी सिद्धिके लिये बताया गया है। उसी वर्णात्मक प्रणव प्रतिशब्दको ओंकार कहते हैं। यह ओंकार अर्थात् वर्णात्मक प्रणव अ, उ, म् के सम्बन्धसे कहा गया है। इस वाचक प्रणव और वाच्य ईश्वरोंमें अनादि और अविमिश्र (नित्य) सम्बन्ध है। इस वाचक अर्थात् वर्णात्मक प्रणवके मानसिक जापकी परिपक्व अवस्थाके पश्चात् योगी केवल ध्यानरूप ध्वन्यात्मक प्रणवकी भूमिमें पहुँच जाता है। उसपर पूर्ण अधिकारकी प्राप्ति असम्प्रज्ञात समाधिके प्राप्त करनेमें सहायक होती है। यह २८ वें सूत्रके वि० व० में बतलाया जायगा। योगमार्गपर चलनेवालोंको उचित है कि 'ओम्' नामसे ही ईश्वरकी उपासना करें; क्योंकि यही उसका मुख्य अनादि और नित्य नाम व्यापक अर्थवाला है, अन्य सब गौण और संकीर्ण अर्थ-वाले हैं। सारी श्रुतियाँ और स्मृतियाँ उसी 'ओ३म्' का मुख्य रूपसे वर्णन कर रही हैं। यथा—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

(मु० २। ४)

प्रणव ('ओ३म्') धनुष है। आत्मा बाण है। ब्रह्म लक्ष्य कहा गया है। सावधानीसे उसे बींधना चाहिये। बाणके सदृश (अभ्यासी अपने लक्ष्य ब्रह्ममें) तन्मय हो जाय।

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे॥ १३॥
स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥१४॥

(श्वे० उप० १। १३-१४)

जैसा कि अरणिमें स्थित भी अग्निकी मूर्ति नहीं दीखती है और न उसके सूक्ष्म रूप (जो अरणिके अंदर उस समय भी है) का नाश है, वह (अरणिगत अग्नि) फिर-फिर अधरारणि-उत्तरारणियोंमें और (मन्थन-दण्डके रगड़नेसे) ग्रहण की जाती है। इन दोनों बातोंके सदृश आत्मा ओंकारके देहमें (ध्यानसे पहले छिपा हुआ ध्यानाभ्याससे ग्रहण किया जाता है) ॥ १३ ॥ अपने देहको अधरारणि और ओ३म्को उत्तरारणि बनाकर ध्यानरूपी मन्थन-दण्डकी रगड़ बार-बार करनेसे छिपी हुई आगके सदृश उस परम ज्योतिको देखे ॥ १४ ॥

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरत्येव ५ सामैवं यजुरेष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन् । (छान्दो० १ । ४ । ४)

जब उपासक ऋग्वेदको पढता है, ऊँचे स्वरसे ओम् बोलता है । इसी प्रकार साम और इसी प्रकार यजुको । यही ओम् शब्द स्वर है । यह अक्षर, यह अमृत और अभय है । जो उपासक ऐसा जानकर ओम्की स्तुति करता है, वह उस स्वरमें प्रवेश करता है जो अक्षर, अमृत और अभय है और जैसे देव उसमें प्रवेश होकर अमर हो गये वैसे ही अमर हो जाता है ।

ओमिति ब्रह्म । ओमितीदꣳ सर्वम् । ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति । ओमिति सामानि गायन्ति । ओꣳशोमिति शस्त्राणि शꣳसन्ति । ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति । ओमिति ब्रह्मा प्रसौति । ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति । ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति । ब्रह्मैवोपाप्नोति । (तै० शी० ८)

ओम् यह ब्रह्म है । ओम् यह सब कुछ है । ओम् यह आज्ञा मानना है । ओम् अङ्गीकारका वाचक है । ओम् कहनेपर (ऋत्विज) मन्त्र सुनाते है । ओम् शोम् कहकर शस्त्रों (ऋग्वेदके प्रार्थना-मन्त्रविशेष) को पढ़ते है । ओम् कहकर (सोमयज्ञमें) अध्वर्यु यजुर्वेदी प्रतिगर (प्रोत्साहक मन्त्र-विशेष) पढता है । ओम् कहकर ब्रह्मा अनुज्ञा देता है । ओम् कहकर अग्निहोत्रकी अनुज्ञा देता है । वेद अध्ययन करनेवाला ब्राह्मण ओ३म् उच्चारण करता हुआ कहता है । मै ब्रह्म (वेद) को प्राप्त होऊँ और इस प्रकार वह ब्रह्मको अवश्य पा लेता है ।

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव । (मा० १)

यह सब कुछ ओम् अक्षर है; यह जो कुछ भूत, वर्तमान और भविष्यत् है सब उसकी व्याख्या है और जो कुछ तीनों कालोंसे ऊपर है, वह भी ओंकार ही है ।

सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति । (मा० ८)

वह यह आत्मा अक्षर दृष्टिसे मात्राओंवाला ओंकार है । पाद ही मात्रा है, मात्रा ही पाद है । वे मात्राएँ अकार, उकार और मकार हैं ।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद । (मा० १२)

चौथा पाद मात्रारहित है । उसमें कोई व्यवहार नही है, न कोई प्रपञ्च है, वह शिव और अद्वैत है । इस प्रकार ओकार आत्मा ही है । जो उसे इस प्रकार जानता है, वह आत्मासे आत्मामें प्रवेश कर जाता है । (माण्डूक्य मन्त्रोंकी व्याख्या सूत्र २८ के वि० व० में देखें)

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ (गीता ८ । १३)

जो पुरुष ॐ ऐसे इस एक अक्षररूप ब्रह्मको उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थस्वरूप परमात्माको चिन्तन करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह पुरुष परम गतिको प्राप्त होता है । ओंकारको सारे मन्त्रोंका सेतु बतलाया गया है तथा मनोवाञ्छित फलकी प्राप्तिके लिये प्रत्येक मन्त्रको ओ३म्के साथ उच्चारण किया जाता है । यथा—

'मन्त्राणां प्रणवः सेतुः'

माङ्गल्यं पावनं धर्म्यं सर्वकामप्रसाधनम् ।
ओंकारः परमं ब्रह्म सर्वमन्त्रेषु नायकम् ॥

सङ्गति—ईश्वर अर्थ और उसका शब्द ओ३म् तथा इन दोनोंका वाच्य-वाचक नित्य सम्बन्ध बतलाकर अब तेईसवें सूत्रमें बतलाये हुए 'ईश्वर-प्रणिधान' का लक्षण कहते हैं—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—तत् जपः=उस प्रणव (ओ३म्) का जप; तदर्थ=उस प्रणवके अर्थभूत ईश्वर-का; भावनम्=पुनः पुनः चिन्तन करना (ईश्वर-प्रणिधान है) ।

अन्वयार्थ—उस ओ३म् शब्दका जप और उसके अर्थभूत ईश्वरका ध्यान करना (पुनः-पुनः चिन्तन करना) ईश्वर-प्रणिधान है ।

व्याख्या—ओ३मका मानसिक जप करना और उसका वाच्य अर्थ जो ईश्वर है उसके सूत्र चौबीस, पचीस और छब्बीसमें बतलाये हुए गुणोंकी भावना अर्थात् पुन-पुनः ध्यान करना ईश्वर-प्रणिधान है । चित्तको सब ओरसे निवृत्त करके केवल ईश्वरमें स्थिर कर देनेका नाम भावना है । इस भावनासे अविद्या आदि क्लेश, सकाम कर्म, कर्मफल और वासनाओंके संस्कार जो बन्धन अर्थात् जन्म और मृत्युके कारण हैं; चित्तसे धुल जाते हैं और सात्विक शुद्ध ज्ञानके संस्कार उदय होते हैं और केवल ईश्वर ही एक ध्येय रह जाता है ? यह भावना बार-बारके अभ्याससे इतनी दृढ़ हो जानी चाहिये कि ओ३म् शब्दके साथ ही उसका अर्थ (ईश्वरका स्वरूप भी) स्मरण हो जाय । जैसे निरन्तर अभ्याससे गौ शब्दके साथ उसका सारा स्वरूप स्मरण हो जाता है ।

यद्यपि जप और ईश्वर-भावनारूप ध्यान दोनोका एक कालमें होना नहीं हो सकता है, तथापि भावनारूप ध्यानसे पूर्व और पश्चात् जप करनेका क्रम जानना चाहिये । जैसे श्रीव्यासजी महाराजने अपने भाष्यमें बतलाया है—

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत् ।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥

स्वाध्याय नाम प्रणव-जप और अध्यात्मशास्त्रके विचारका है । प्रणव-जपके पीछे योगाभ्यास करे और योगाभ्यासके पीछे प्रणवका जप करे । स्वाध्याय और योग—इन दोनो सम्पत्तियोंसे परमात्मा प्रकाशित होते हैं ।

इस प्रकार ईश्वर-प्रणिधानसे शीघ्रतम असम्प्रज्ञात समाधि-लाभ होता है ।

अभिप्राय यह है कि ओ३मका जाप उसके अर्थोंकी भावनाके साथ होना चाहिये । उसका क्रम इस प्रकार होगा कि पहले सूत्र २४, २५ और २६ मे बतलाये हुए ईश्वरके गुणोंकी भावना की जावे फिर ओ३मका मानसिक जाप एकाग्रवृत्तिके साथ किया जावे । यही सूत्र २३ मे बतलाया हुआ ईश्वर-प्रणिधान है । इससे असम्प्रज्ञात समाधिका शीघ्रतम लाभ किस प्रकार प्राप्त हो सकता है यह इस सूत्रके विशेष विचारमें भली प्रकार दर्शाया जावेगा ।

विशेष विचार—सूत्र २८—

(१) जाग्रत् अवस्थामें स्थूल-जगत्में जो स्थूल शरीरका व्यवहार चलता है, वह आत्माके संनिधि-मात्रसे है, इस स्थूल-शरीरके साथ आत्माके शबल-स्वरूपकी संज्ञा 'विश्व' होती है ।

(२) स्वप्नावस्था अथवा सम्प्रज्ञात-समाधिमें सूक्ष्म जगत्में जो सूक्ष्म-शरीरका व्यवहार चलता है, वह भी आत्माकी सनिधिसे है । सूक्ष्म-शरीरके सम्बन्धसे आत्माके शबल-स्वरूपकी सज्ञा 'तैजस' होती है ।

(३) सुषुप्ति अवस्थामें जो कारण-शरीरमें अभावकी प्रतीति होती है अथवा अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधिमें जो अस्मिताका अनुभव होता है तथा विवेकख्यातिमें जब गुणोके प्रथम विकृत परिणामरूप चित्तकी आत्मासे भिन्नता प्रतीत होती है, वह भी आत्माके संनिधिमात्रसे है । इस कारण-शरीरके सम्बन्धसे आत्माके शबल-स्वरूपकी संज्ञा 'प्राज्ञ' है ।

ये तीनो आत्माके अपने शुद्ध स्वरूप नहीं हैं, प्रकृतिके गुणोसे मिश्रित है । इस कारण ये शबल, सगुण अथवा अपर-स्वरूप हैं । इनसे परे जो आत्माका अपना निखरा हुआ निज केवल शुद्ध स्वरूप है, वह पर अथवा निर्गुण शुद्ध है । वही स्वरूप-अवस्थिति अथवा आत्मस्थिति है ।

जिस प्रकार शरीरके सम्बन्धसे आत्माको समझा है, इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत्के सम्बन्धसे परमात्माको समझ लेना चाहिये । समस्त संसारमें ज्ञान, नियम तथा व्यवस्थापूर्वक सम्पूर्ण कार्य परमात्माकी संनिधिमात्रसे होते हैं ।

स्थूल जगत्के साथ परमात्माके शबल-स्वरूपकी संज्ञा 'विराट्' है । इसी प्रकार सूक्ष्म-जगत्के सम्बन्धसे उसके शबल-स्वरूपकी संज्ञा 'हिरण्यगर्भ' है तथा कारण-जगत्के सम्बन्धसे उसके शबल-स्वरूपकी संज्ञा 'ईश्वर' है ।

ये तीनो परमात्माके शबल, सगुण अर्थात् अपर स्वरूप हैं; क्योकि ये प्रकृतिके गुणोसे मिश्रित हैं । यह सब महिमा उसके शबल-स्वरूपको ही दिखला रही है । प्रकृतिसे परे परमात्माका शुद्ध निर्गुण अर्थात् पर स्वरूप है । जैसे कि ऋग्वेदमें बतलाया गया है—

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि । (ऋक्० १ । ९० । ३)

यह इतनी बड़ी तो उसकी महिमा है; परमात्मा इससे कहीं बड़ा है । सारे भूत इसका एक पाद हैं । उसके तीन पाद अमृत-स्वरूप अपने प्रकाशमें हैं ।

ओ३म्की व्याख्या—ओ३म्की पहली मात्रा 'अकार' परमात्माके विराट्रूपकी बोधक है, जो विश्वका उपास्य है । दूसरी मात्रा 'उकार' हिरण्यगर्भकी बोधक है, जो तैजसका उपास्य है । तीसरी मात्रा 'मकार' ईश्वरकी बोधक है, जो प्राज्ञका उपास्य है, जिसका प्रणिधान तेईसवें सूत्रमें बतलाया गया है । चौथे 'इति विराम'में सब मात्राएँ समाप्त हो जाती हैं । वह गुणोकी सर्वउपाधियोसे रहित केवल शुद्ध निर्गुण परमात्मस्वरूप है, जहाँ उपास्य-उपासकके भेद-भाव समाप्त हो जाते हैं, जिसका निषेधात्मक वर्णन निम्न प्रकार किया गया है—

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ।

वह अदृष्ट है, उसको व्यवहारमें नहीं ला सकते, उसको पकड़ नहीं सकते, उसका कोई चिह्न नहीं, वह विचारमें नहीं आ सकता, उसको बतला नहीं सकते। वह आत्मा है; केवल यही प्रतीति उसमें सार है, वहाँ प्रपञ्चका झगड़ा नहीं, वह शान्त है, शिव है और अद्वैत (संख्याकी सीमासे परे) है, उसको चौथा पाद मानते हैं। वह आत्मा है, उसीको जानना चाहिये।

ओम्के पाद और मात्राएँ—माण्डूक्योपनिषद्में ओ३म् के चार पाद बतलाये गये हैं। पहले पादमें पहली मात्रा अकार, दूसरे पादमें दूसरी मात्रा उकार, तीसरे पादमें तीसरी मात्रा मकार और चौथे पादमें मात्रारहित विराम है।

१—पहले पादवाली अकार मात्रामें विराट् (स्थूल जगत्के सम्बन्धसे परमात्माका शबल स्वरूप) विश्व (स्थूल शरीरके सम्बन्धसे आत्माका शबल स्वरूप) और अग्नि (स्थूल शरीर और स्थूल जगत्की मुख्य प्रकृति अग्नि ही है, क्योंकि अग्निसे ही स्थूल शरीर और स्थूल लोक जीवित रहते हैं)।

२—दूसरे पादवाली उकार मात्रामें हिरण्यगर्भ (सूक्ष्म जगत्के सम्बन्धसे परमात्माका शबलस्वरूप), तैजस (सूक्ष्म शरीरके सम्बन्धसे आत्माका शबलस्वरूप) और वायु (सूक्ष्म शरीर तथा सूक्ष्म जगत्की मुख्य प्रकृति वायु ही है; क्योंकि सूक्ष्म शरीर तथा सूक्ष्म जगत्को वायु ही सूत्रात्मारूपसे जीवित रख रहा है)।

३—तीसरे पादवाली मकार मात्रामें ईश्वर (कारण जगत्के सम्बन्धसे परमात्माका शबल स्वरूप), प्राज्ञ (कारण शरीरके सम्बन्धसे आत्माका शबलस्वरूप) और आदित्य (कारणजगत् और कारणशरीरकी मुख्य प्रकृति—अव्यक्त मूल प्रकृति गुणोंकी साम्य अवस्था तो केवल अनुमान और आगमगम्य है, इसलिये वास्तवमें कारण जगत् विशुद्ध सत्त्वमय चित्त ही है और कारण शरीर सत्त्वचित्त है। आदित्य महत्तत्त्व अर्थात् विशुद्ध सत्त्वमय चित्तका ही दूसरा नाम है, इसलिये वही कारण जगत् और कारणशरीरकी मुख्य प्रकृति है)।

४—चौथे पाद मात्रारहित विराममें कारण जगत् और कारण शरीरसे परे केवल शुद्ध परमात्मतत्त्व है।

मात्राओंसे ओम्की उपासना

१—पहिले पाद एक मात्रावाले ओम्की उपासना—ओम्का वाचक जाप—अर्थोंकी भावनासहित ओम्का वाणीसे जाप करना पहिले पाद एक मात्रावाले अकार ओम्की उपासना है। इसमें स्थूल शरीरका अभिमान रहता है, इसलिये स्थूलशरीरके सम्बन्धसे जो आत्माकी संज्ञा विश्व है, वह उपासक होता है और स्थूल जगत्के सम्बन्धसे जो परमात्माकी संज्ञा विराट् है, वह उपास्य होता है। बाहरसे बिल्कुल बेसुध होकर पूरे तन्मय हो जानेकी अवस्थामें इसको वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधिकी भूमि समझना चाहिये, जिसमें ध्यानकी सूक्ष्मताके तारतम्यसे विश्वकी विराट्के स्वरूपमें अवस्थिति होती है, जिसके फलस्वरूप पाँचो स्थूल भूत आत्मोन्नतिमें प्रतिबन्धक न रहकर सहायक बन जाते हैं। (शेष सूत्र १७ की व्याख्या तथा सूत्र १८ के विशेष वक्तव्यमें देखें)

२—दूसरे पाद दो मात्रावाले अकार-उकार ओम्की उपासना—ओम्का मानसिक जाप—अर्थोंकी भावनासहित ओम्का मनसे जप करना दूसरे पाद दो मात्रावाले अकार-उकार ओम्की उपासना है। इसमें सूक्ष्म शरीरका अभिमान रहता है, इसलिये सूक्ष्म शरीरके सम्बन्धसे जो आत्माकी संज्ञा तैजस है, वह उपासक होता है और सूक्ष्म जगत्के सम्बन्धसे जो परमात्माकी संज्ञा हिरण्यगर्भ है, वह उपास्य होता है।

स्थूल शरीरसे बिल्कुल बेसुध होकर पूर्णतया तन्मय हो जानेकी अवस्थामें इसको विचारानुगत और आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधिकी भूमि समझना चाहिये, जिसमें ध्यानकी सूक्ष्मताके तारतम्यसे तैजस-की हिरण्यगर्भके स्वरूपमे अवस्थिति होती है । जिसके फलस्वरूप सूक्ष्मभूत आत्मोन्नतिमें प्रतिबन्धक न रहकर सहायक बन जाते हैं (शेष सू० १७ की व्याख्या तथा सूत्र १८ के वि० व० में देखे) । साधकको इसी दो मात्रावाले ओम् अर्थात् ओम्के मानसिक जापसे ही साधना आरम्भ करनी चाहिये ।

३—तीसरे पाद अकार, उकार और मकार तीन मात्रावाले पूरे ओम्की उपासना—ओम्का केवल ध्यान (ध्वनि)—जब मानसिक जाप अपनी परिपक्व अवस्थामे सूक्ष्म होते-होते केवल ध्यान (ध्वनि) रह जाय तब यह तीसरे पाद तीन मात्रावाले पूरे ओम्की उपासना है । इसमें कारण शरीरका अभिमान रहता है, इसलिये कारण शरीरके सम्बन्धसे जो आत्माकी संज्ञा प्राज्ञ है, वह उपासक होता है और कारण जगत्के सम्बन्धसे जो परमात्माकी संज्ञा ईश्वर है, वह उपास्य होता है । ध्यान (ध्वनि) की सूक्ष्मताके तारतम्यसे इसको अस्मितानुगत और विवेकख्यातिकी भूमि समझना चाहिये । जिसमें इस ध्यानकी सूक्ष्मताके तारतम्यसे प्राज्ञकी ईश्वरके स्वरूपमें अवस्थिति होती है ।

वास्तवमें यही ईश्वरप्रणिधान है जो सूत्र २३ मे असम्प्रज्ञात समाधिका साधन बताया गया है । अस्मिता अर्थात् आत्मासे प्रकाशित चित्त कोई इन्द्रियगम्य सांसारिक पदार्थ-जैसी वस्तु नहीं है । न उसका इन-जैसा साक्षात्कार होता है । वह एक विलक्षण अवस्था है, जिसका शब्दोके द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता और विवेकख्याति जिसमे आत्मा और चित्तका भेद ज्ञान होना बतलाया गया है । वह चित्त, आत्मा और उनका भेद ज्ञान भी सासारिक पदार्थो-जैसा नहीं है । वह अति विलक्षण चित्तकी सबसे ऊँची अत्यन्त सात्विक अवस्था है, जो शब्दोद्वारा नहीं बतलायी जा सकती । उसको चित्तद्वारा स्वरूप अवस्थितिका अनुभव कह सकते है । किन्तु इस अवस्थाकी प्राप्ति साधारण बात नहीं है । यह अत्यन्त कठिन और दुर्गम्य है । ओ३म् के मानसिक जापके निरन्तर अभ्याससे जब पूर्ण वैराग्य उदय हो जाय और अन्तःकरण पूर्ण रूपसे शुद्ध हो जाय तब सत्त्व अत्यन्त वृद्धिको प्राप्त होकर सूक्ष्म शरीरमें रजकी मानसिक जापकी क्रियाको करनेमे असमर्थ कर देता है । तब रज सत्त्वसे दबा हुआ कारणशरीरमें इस विवेक-ख्यातिकी वृत्तिरूप क्रियाको करना आरम्भ कर देता है । इस सत्त्वकी विशुद्धतामें तम, जिसमें अविद्या क्लेश वर्तमान है, इतना निर्मल हो जाता है कि अविद्या तथा अन्य सब क्लेश दग्धबीज-तुल्य हो जाते हैं । इस अवस्थामें तमका काम केवल इस अत्यन्त सात्विक वृत्तिको रोकने मात्र रह जाता है । यह विवेकख्यातिकी अवस्था जब निरन्तर बनी रहे तब उसको धर्ममेघ समाधि तथा अविप्लव विवेकख्याति कहते है । वही जीवनमुक्तिकी अवस्था है ।

४—चौथा पाद ओम्का मात्रारहित विराम शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति—जब उपर्युक्त ओम्का ध्यान (ध्वनि) भी अपनी अन्तिम परिपक्व अवस्थामें सूक्ष्म होता हुआ समाप्त हो जाय, तब कारण शरीरसे परे शुद्ध आत्माकी कारण जगत्से परे शुद्ध परमात्माके स्वरूपमें अवस्थिति होती है । यह असम्प्रज्ञात समाधि है, जिसकी प्राप्तिका साधन सूत्र २३ मे ईश्वरप्रणिधान बतलाया था । यहाँ पहुँचकर समस्त व्यवधान उपाधियाँ तथा उपास्य-उपासकभाव समाप्त हो जाता है । यही स्वरूपावस्थिति, आत्मस्थिति, परमात्मप्राप्ति अर्थात् प्राणिमात्रका अन्तिम ध्येय है ।

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव स विशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद । (माण्डूक्योपनिषद्१२)

अमात्र (जिसकी कोई मात्रा नहीं वह ओंकार) चौथे पादवाला है, जो व्यवहारमें नहीं आता,

जहाँ प्रपञ्चका झगड़ा नहीं, जो शिव अद्वैत है, इस प्रकार ओ३म् आत्मा ही है। वह जो इसको जानता है, वह आत्मासे आत्मामें प्रवेश करता है।

भलो भयो हर बीसरो, सर से टली बलाय।
जैसे थे तैसे भये, अब कुछ कहो न जाय॥

कबीर

जब मैं था तब तू न था, तू पायो मैं नाय।
प्रेम-गली अति साँकरी, ता में द्वै न समाय॥

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वाघास्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥ (ऋग्वेद मण्डल ८ सूक्त ४४ मन्त्र २३)

हे प्रकाशमय परमात्मन्! यदि मै तू हो जाऊँ और तू मै हो जाय तो तेरा आशीर्वाद (सब प्राणियों-के कल्याणका संकल्प) संसारमें सत् हो जाय।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ (ईशोप० मन्त्र १५)

सुनहरी पात्र (अत्यन्त लुभानेवाले और आकर्षक त्रिगुणात्मक तीनो शरीर और त्रिगुणात्मक तीनों जगत्) से सत्यका मुख (शुद्ध परमात्म-तत्त्व) ढका हुआ है। उसे हे पूषन् (आदित्य अर्थात् कारण जगत्के अधिष्ठाता ईश्वर) हटा दे, सत्य धर्म (शुद्ध परमात्मतत्त्व) को देखनेके लिये।

स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरका वर्णन

ओ३मकी व्याख्यामें तीनो शरीरोका संकेतमात्र ही वर्णन किया गया था। यहाँ उनका स्पष्टीकरण किये देते है—

स्थूल शरीर—रज-वीर्यसे उत्पन्न होनेवाला, अन्नसे बढ़नेवाला, पाँचों भूतो—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाशसे बना हुआ स्थूल शरीर है।

जाग्रत्—जब तमोगुण रजोगुणसे दबा हुआ होता है, तब जाग्रत्-अवस्थामें सारे कार्य स्थूल जगत्में इसी स्थूल शरीरद्वारा किये जाते हैं। इसी शरीरका जन्म-मरण और इसीमें जरा (बुढापा), रोगादि व्याधियाँ होती है।

सूक्ष्म शरीर—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, शक्तिमात्र नासिका, रसना, चक्षु, श्रोत्र और त्वचा, और पाँच कर्मेन्द्रियाँ, शक्तिमात्र हस्त, पाद, वाणी, गुदा, उपस्थ; ग्यारहवाँ मन जिसके द्वारा ये शक्तियाँ काम करती हैं तथा जिसमें संकल्प-विकल्प होते हैं। पाँच सूक्ष्मभूत अथवा प्राण और अहंकार, अहंता पैदा करनेवाली शक्ति, बुद्धि चित्तसहित निर्णय करनेवाली तथा भावो और सस्कारोंको रखनेवाली शक्ति। यह अठारह शक्तियोंका समूह सूक्ष्म शरीर कहलाता है।

स्वप्न—जब बाहरके कार्योंसे स्थूल शरीर थक जाता है, तब तमोगुण रजोगुणको दबाकर स्थूल शरीरको स्थूल जगत्में कार्य करनेमें असमर्थ कर देता है; किंतु तमोगुणसे दबा हुआ सूक्ष्म शरीर जाग्रत्-अवस्थाकी स्मृतिके कल्पित विषयोमें कार्य करना आरम्भ करता है, वह स्वप्न कहलाता है।

सम्प्रज्ञात-समाधि—इसी प्रकार जब समाधि-अवस्थामें सत्त्वगुण रजोगुणको दबा लेता है, तब स्थूल शरीर स्थूल दशामें व्युत्थानके कार्य बंद कर देता है, किंतु सूक्ष्म शरीर सत्त्वगुणका प्रकाश पाकर सूक्ष्म जगत्में कार्य करता रहता है।

जहाँ स्वप्नमें तमोगुणके अन्धकारमें सब दृश्य कल्पित होते हैं, वहाँ समाधि-अवस्थामें सत्त्वगुणकी प्रधानतासे उसके प्रकाशमें ध्येय वस्तुके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होता है। सूक्ष्म शरीरको एक पैरमें डोरी बँधे हुए पक्षी अथवा एक पतंगके सदृश समझना चाहिये, जिसमें डोरी बँधी हुई है और वह डोरी चर्खीपर चढी हुई है।

यह डोरी प्राणकी है और चर्खी हृदय-स्थानकी है, जहाँ प्राणोकी ग्रन्थि (केन्द्र) है। उदान इस सूक्ष्म-शरीरको बाहरके समष्टि-प्राणसे जोडे हुए है।

स यथा शकुनिः सूत्रे प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयते, एवमेव खलु सोम्यैतन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते, प्राणबन्धन हि सोम्य मन इति। (छान्दो० ६। ८। २)

जिस प्रकार पक्षी डोरीसे बँधा हुआ अनेक दिशाओमें घूमकर दूसरे स्थानपर आश्रय न पाकर अपने बन्धनके स्थानपर ही आ जाता है इसी प्रकार निश्चयसे, हे सोम्य! यह मन अनेक दिशाओमें घूम-घामकर किसी दूसरे स्थानपर आश्रय न मिलनेके कारण प्राणका ही सहारा लेता है; क्योकि हे सोम्य! मन प्राणके साथ बँधा हुआ है।

ऊँची अवस्थावाले योगीजन समाधि-अवस्थामें इस प्रकार सूक्ष्म जगत्में इस सूक्ष्म शरीरसे भ्रमण करते है, जिस प्रकार चर्खीपर चढी हुई डोरी ढीली करनेसे पतंग आकाशमें उड़ा चला जाता है और जिस प्रकार डोरी चर्खीपर लपेटनेसे पतंग फिर अपने स्थानपर आ जाता है, इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर फिर अपने स्थानपर लौट आता है।

'महाविदेहा-बहिरकल्पिता' वृत्तिवाले (३ । ४३) सिद्ध योगी समाधिसे भिन्न अवस्थामें भी स्वेच्छानुसार सूक्ष्म जगत्में सूक्ष्म शरीरसे भ्रमण कर सकते हैं।

इस सूक्ष्म शरीरद्वारा ही चित्तमें जन्म, आयु और भोग देनेवाले वासनाओके सस्कार (कर्म-आशय) एकत्रित रहते हैं। जिस प्रकार चर्खीका डोरा टूटनेपर पतग जब दूसरी चर्खीके डोरेमें जोड़ दी जाती है तो उसका सम्बन्ध फिर उसी चर्खीसे हो जाता है, इसी प्रकार मृत्युके समय हृदयरूपी चर्खीसे प्राणरूपी डोरी टूटनेपर सूक्ष्म शरीररूपी पतंग उड़ता हुआ ऐसे गर्भके पास पहुँच जाता है जहाँ उसकी वासनाओं (प्रधान-कर्म-विपाक) की पूर्ति करनेवाले उसके समान संस्कार होते हैं, (व्याख्या २ । १२-१३)। वहाँ उसके हृदयग्रन्थिरूपी चर्खीमें इसके प्राणोंकी गाँठ लग जाती है और इस शरीरके साथ पूर्ववत् कार्य होने लगते हैं।

कई योगाचार्योंका मत है कि सूक्ष्म शरीरका सूक्ष्म-जगत्में भ्रमण नहीं होता है। सूक्ष्म जगत्में काल और दिशाका ऐसा भेद नहीं रहता जैसा स्थूल जगत् और स्थूल शरीरके व्यवहारमें होता है; केवल वृत्तियाँ जाती हैं अर्थात् चित्तमें इन्हीं वृत्तियोंद्वारा ऐसा परिणाम होता है और सूक्ष्म शरीर जाता हुआ प्रतीत होता है।

अनन्तं वै मनः (बृहदारण्यकोपनिषद्)

Vaidic Library

ॐकारका भावनामय चित्र

(१) विराम=शुद्ध निर्गुण, उपाधिरहित चेतन अर्थात् परमात्म-तत्त्व (चेतन तत्त्वका शुद्ध स्वरूप)।

(२) मकार=चेतन तत्त्व+समष्टि कारण-जगत तथा व्यष्टि कारण-शरीर। समष्टि कारण-जगत्का अधिष्ठाता 'ईश्वर', उपास्य, व्यष्टि कारण शरीरका अभिमानी 'प्राज्ञ' उपासक (चेतन तत्त्वका शबल स्वरूप)।

(३) उकार=चेतन तत्त्व+समष्टि सूक्ष्म जगत् तथा व्यष्टि सूक्ष्मशरीर। समष्टि सूक्ष्म जगत्का अधिष्ठाता 'हिरण्यगर्भ' तथा व्यष्टि सूक्ष्म शरीरका अभिमानी 'तैजस' उपासक (चेतन तत्त्वका शबल स्वरूप)।

(४) अकार=चेतन तत्त्व+समष्टि स्थूल जगत् तथा व्यष्टि स्थूल शरीर। समष्टि स्थूल जगत्का अधिष्ठाता 'विराट्' उपास्य, तथा व्यष्टि स्थूल शरीरका अभिमानी 'विश्व' उपासक (चेतन तत्त्वका शबल स्वरूप)।

चित्त अनन्त अर्थात् विभु है ।

वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य संकोचविकासिनीत्याचार्यः ।

(योगदर्शन ४ । १० व्यासभाष्य)

इस विभु चित्तकी वृत्ति ही संकोच-विकास धर्मवाली है; ऐसा आचार्य (पतञ्जलि मुनि) मानते हैं ।

कई सज्जनोका ऐसा विचार है कि समाधि-अवस्थामें जो सूक्ष्म जगत्का अनुभव होता है, वह स्वप्न जगत्के समान कल्पित ही होता है । उस समय जैसी वृत्ति उदय होती है वैसे ही दृश्य सामने आकर दिखलायी देने लगते हैं । इस सम्बन्धमें इतना कह देना पर्याप्त है कि स्वप्न रजोगुणपर तमोगुणकी अधिकता (प्रभाव) से होता है और समाधि रजोगुणपर सत्त्वगुणकी अधिकता (प्रभाव) से होती है जैसा ऊपर बतला आये हैं । समाधिमें जितनी मात्रामें सत्त्व तम और रजसे दबकर प्रधानरूपसे रहता है उतने ही अंशमें ये दृश्य कल्पित होते हैं । एकाग्रताके बढनेके साथ-साथ जितना-जितना सत्त्वका प्रकाश बढ़ता जाता है, उतनी-उतनी इन दृश्योंकी वास्तविकता बढती जाती है ।

कारण-शरीर—चेतनसे प्रतिबिम्बित सत्त्व-चित्त जिसमें अहंकार बीजरूपसे छिपा हुआ अपने कार्यको बंद किये हुए रहता है, जिसकी संज्ञा अस्मिता है उसको कारण-शरीर समझना चाहिये । जब तमोगुण रजोगुणको इतना दबा लेता है कि सूक्ष्म शरीर स्वप्नमें भी कार्य करनेमें असमर्थ हो जाता है तब सुषुप्ति-अवस्था आती है; इस अवस्थामे केवल कारण-शरीरमें ही कार्य होता है । कारण-शरीरके तमसे आच्छादित हो जानेके कारण केवल अभावकी प्रतीति होती है । इसके अतिरिक्त तमोगुणके अन्धकारमें न कुछ बाहरका ज्ञान होता है और न भीतरका ।

इसी प्रकार जब समाधिकी एकाग्रता बढनेपर सत्त्व रजस्को इतना दबा देता है कि सूक्ष्म शरीर एकाग्रतावाली वृत्ति दिखानेमें भी असमर्थ हो जाता है, तब सत्त्वके अत्यन्त प्रकाशमें विवेकख्याति उत्पन्न होती है; विवेकख्यातिका कार्य कारण-शरीरमें होता है । इसमें आत्माकी चित्तसे भिन्नता प्रतीत होती है अर्थात् चित्तद्वारा आत्माका साक्षात् होता है, किंतु यह आत्माका शुद्ध स्वरूप नहीं है, इसलिये यह स्वरूपावस्थिति नहीं है । विवेकख्याति भी एक वृत्ति ही है; क्योंकि इसमें भी रजोगुण कुछ अंशमें बना रहता है, जो इस वृत्तिके उदय होनेका कारण है । जब इसका भी निरोध हो जाता है, तब इस कारण-शरीरसे भी भिन्न जो आत्माका अपना निजी शुद्ध परमात्मस्वरूप है, उसमें अवस्थिति होती है ।

ओंकारका भावनामय चित्र

(१) विराम=शुद्ध, निर्गुण, उपाधिरहित, चेतन अर्थात् परमात्मतत्त्व (चेतन तत्त्वका शुद्ध स्वरूप) ।

(२) मकार=चेतनतत्त्व+समष्टि कारण-जगत् तथा व्यष्टि कारण-शरीर । समष्टि कारण जगत्का अधिष्ठाता 'ईश्वर' उपास्य; व्यष्टि कारण-शरीरका अभिमानी 'प्राज्ञ' उपासक (चेतन-तत्त्वका शबल स्वरूप) ।

(३) उकार=चेतनतत्त्व=समष्टि सूक्ष्म जगत् तथा व्यष्टि सूक्ष्म शरीर । समष्टि सूक्ष्म-जगत्का अभिमानी 'हिरण्यगर्भ' उपास्य तथा व्यष्टि सूक्ष्म शरीरका अभिमानी 'तैजस' उपासक (चेतन-तत्त्वका शबल-स्वरूप) ।

(४) अकार=चेतनतत्त्व+समष्टि स्थूलजगत् तथा व्यष्टि स्थूलशरीर । समष्टि स्थूल जगत्का अभिमानी 'विराट्' उपास्य तथा व्यष्टि स्थूल शरीरका अभिमानी 'विश्व' उपासक (चेतन तत्त्वका शबल-स्वरूप) ।

सङ्गति—सूत्र २३ मे असम्प्रज्ञात समाधिका साधन ईश्वर-प्रणिधान और सूत्र २८ में ईश्वर-प्रणिधानका स्वरूप तथा उससे प्राप्त असम्प्रज्ञात समाधिको बतलाकर उस विषयको समाप्त कर दिया। अब यहाँ अगले सूत्रमें असम्प्रज्ञात समाधिसे पूर्व ईश्वरप्रणिधानका विशेष फल दिखाते हैं—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—ततः=उस ईश्वर-प्रणिधानसे; प्रत्यक्चेतना=प्रत्यक्चेतना (जीवात्मा) का; अधिगमः=प्राप्ति (साक्षात्कार); अपि=भी होता है; अन्तरायाभावः च=और अन्तरायोंका अभाव होता है।

अन्वयार्थ—उस ईश्वर-प्रणिधानसे प्रत्यक्चेतनाका ज्ञान भी होता है और अन्तरायों (विघ्नों) का अभाव होता है।

व्याख्या—प्रत्यक्चेतना=प्राञ्च।

विषयप्रातिकूल्येन स्वान्तःकरणाभिमुखमञ्चति या चेतना दृक्शक्तिः सा प्रत्यक्चेतना।

(भोजवृत्ति)

जो दृक्शक्ति विषयोंको छोड़कर अपने अन्तःकरणमें सम्मुख प्रवृत्त होती है, वह प्रत्यक्चेतना है।

ईश्वर-प्रणिधानसे केवल शीघ्रतम समाधिका ही लाभ नहीं होता है, किंतु अन्तराय (विघ्न) जिनका वर्णन अगले सूत्रमें किया जायगा, उनकी निवृत्तिपूर्वक प्रत्यक्चेतनाके स्वरूपका भी साथ-ही-साथ साक्षात्कार हो जाता है। इसीके बोधनार्थ सूत्रमें 'अपि' पद दिया है। भाव यह है कि उपास्यके जिन गुणोंकी भावना करके उपासक ध्यान करता है, उन्हीं गुणोंका उपासकमें समावेश होता है। जैसे ईश्वर चेतन, कूटस्थ नित्य है और क्लेशादिकोंसे रहित है, वैसे ही वास्तवमें जीवात्मा भी चेतन, कूटस्थ नित्य और क्लेशादिकोंसे रहित है। इस सादृश्यतासे ईश्वरके ध्यानरूप प्रणिधानसे प्रणिधान-कर्त्ताको अपने शुद्ध निर्विकार स्वरूपका भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। तात्पर्य यह है कि अत्यन्त विरुद्ध धर्मवाले पदार्थोंमें एकके ध्यानसे दूसरे विरुद्ध धर्मवाले पदार्थका साक्षात्कार नहीं हो सकता, किंतु सदृश पदार्थोंमें एकके ध्यानसे दूसरे सदृश पदार्थका भी साक्षात्कार हो सकता है। जैसे एक शास्त्रके अभ्याससे सदृश अर्थवाले दूसरे शास्त्रका भी ज्ञान हो जाता है। इससे यह अभिप्राय है कि व्यवधानका अभाव होनेसे ईश्वर-प्रणिधानसे प्रथम ईश्वरका साक्षात्कार न होकर प्रणिधान-कर्त्ताको अपने कूटस्थ नित्य शुद्ध स्वरूपका ही साक्षात्कार हो जाता है और योग-विघ्नोंका अभाव हो जाता है।

वाचस्पति मिश्र लिखते हैं कि—

प्रतीपं विपरीतम् अञ्चति, विजानातीति प्रत्यक् स चासौ चेतनश्च।

जो विपरीत जानता और चेतन है, उसको प्रत्यक्चेतन कहते हैं, अर्थात् अविद्याविशिष्ट जीव।

ईश्वर-चिन्तनसे जीवका यथार्थ स्वरूप जाना जाता है। यद्यपि अन्यके चिन्तनसे अन्यका ज्ञान नहीं होता, किंतु जीव ईश्वरसे चेतनता धर्ममें सदृश है, इससे सदृश वस्तुका ज्ञान हो सकता है। वस्तुतः 'प्रति-प्रतिवस्तु अञ्चति गच्छति सर्वानुगतो भवति' प्रत्येक वस्तुके प्रति जाता है अथवा सबमें अनुगत (व्याप्त) होता है (वह प्रत्यक् है)—इस व्युत्पत्तिसे 'प्रत्यक्' शब्दसे ईश्वरको भी ले सकते हैं, तब ईश्वरोपासनासे जीव-ईश्वर दोनोंका ज्ञान होता है।

विशेष वक्तव्य सूत्र २९––प्रत्यक्-चेतना प्राज्ञका बोधक है और प्राज्ञ पुरुषसे प्रतिबिम्बित (प्रकाशित) चित्त, अर्थात् कारण शरीरके सम्बन्धसे आत्माका नाम है। इसलिये तीन मात्रावाले पूरे ओम्की उपासनाकी अस्मिता-भूमिमें प्रत्यक्चेतनाका साक्षात्कार होता है। चित्तके उच्चतम एकाग्रताकी अवस्थामें रजस्-तमस्का आवरण हट जानेसे सत्त्वकी स्वच्छता और निर्मलतामें योगके अन्तरायोंका भी अभाव हो जाता है। असम्प्रज्ञात-समाधिसे पूर्व ईश्वर-प्रणिधानका यह विशेष फल है।

सङ्गति––ईश्वर-प्रणिधानसे जिन अन्तरायोंका अभाव बतलाया है, उन चित्तको विक्षिप्त करके एकाग्रताको हटानेवाले योगके विघ्नोंका स्वरूप अगले सूत्रमें निर्देश करते हैं––

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ–व्याधि····· त्वानि=व्याधि, स्त्यान, सशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्ध-भूमिकत्व और अनवस्थितत्व: चित्तविक्षेपा:=चित्तके विक्षेप; ते=वे; अन्तराया:=विघ्न हैं।

अन्वयार्थ––व्याधि, स्त्यान, सशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्ध-भूमिकत्व, अनवस्थितत्व––ये चित्तके नौ विक्षेप (योगके) विघ्न हैं।

व्याख्या––व्याधि–धातु, रस और करणकी विषमतासे उत्पन्न हुए ज्वरादिक व्याधि कहलाते हैं। वात, पित्त, कफ–इन तीनोंका नाम दोष है। रस, रक्त, मास, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र–ये सात धातु हैं। इनकी इयत्ता (अंदाज) को त्यागकर न्यूनाधिक हो जाना धातुकी विषमता अथवा दोष-प्रकोप कहा जाता है। भुक्त-पीत (खाये-पीये) अन्न-जलके परिपाक दशाको प्राप्त हुए सारका नाम रस है। खाये-पीये अन्न-जलका सम्यक्-रूपसे (ठीक-ठीक) न पचना रसकी विषमता है। करण नेत्रादि इन्द्रियोंका नाम है। कम देखना, कम सुनना आदि करणकी विषमता है।

स्त्यान–चित्तकी अकर्मण्यता अर्थात् इच्छा होनेपर भी किसी कार्यको करनेकी (योगसाधनके अनुष्ठानकी) सामर्थ्य न होना।

संशय–'मै योगसाधन कर सकूँगा कि नहीं कर सकूँगा, करनेपर भी योग सिद्ध होगा या नहीं' इन दो कोटियोंका विषय करनेवाला ज्ञान संशय है।

प्रमाद–समाधिके साधनोंका अनुष्ठान न करना।

आलस्य–चित्त अथवा शरीरके भारी होनेके कारण ध्यान न लगना। शरीरका भारीपन कफ आदिके प्रकोपसे और चित्तका भारीपन तमोगुणकी अधिकतासे होता है।

अविरति–विषयोंमे तृष्णा बनी रहना अर्थात् विषयेन्द्रिय-संयोगसे चित्तकी विषयोंमें तृष्णा होनेसे वैराग्यका अभाव।

भ्रान्तिदर्शन–मिथ्या-ज्ञान (योगके साधनों तथा उनके फलको मिथ्या जानना)।

अलब्ध-भूमिकत्व–किसी प्रतिबन्धक-वश समाधि-भूमिको न पाना अर्थात् समाधिमें न पहुँचना।

अनवस्थितत्व–समाधि-भूमिको पाकर भी उसमें चित्तका न ठहरना अर्थात् ध्येयका साक्षात् करनेसे पूर्व ही समाधिका छूट जाना।

उपर्युक्त नौ विघ्न एकाग्रतासे हटानेवाले हैं और चित्तकी वृत्तियोंके साथ होते हैं, उनके अभावमें नहीं होते। इस कारण चित्तके विक्षेप योगके मल, योगके अन्तराय और योगके प्रतिपक्षी कहलाते हैं।

सङ्गति—केवल पूर्वोक्त नौ ही योगके प्रतिबन्धक नहीं हैं, किंतु उनके वर्त्तमान होनेपर अन्य प्रतिबन्धक भी उपस्थित हो जाते हैं, जिनके स्वरूपका अगले सूत्रमें निर्देश करते हैं—

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—दुःख=दुःख; दौर्मनस्य=दौर्मनस्य; अङ्गमेजयत्व=अङ्गमेजयत्व; श्वासप्रश्वासाः=श्वास और प्रश्वास; विक्षेपसहभुवः=विक्षेपोंके साथ होनेवाले हैं अर्थात् पूर्वोक्त अन्तरायोंके होनेसे यह पाँच अन्य प्रतिबन्धक भी उपस्थित हो जाते हैं।

अन्वयार्थ—दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वासप्रश्वास—ये विक्षेपोके साथ होनेवाले हैं अर्थात् उनके होनेसे ये पाँच प्रतिबन्धक भी उपस्थित हो जाते हैं।

व्याख्या—दुःख—पीडा जिसकी चोट खाकर उसके नाश करनेका यत्न करते हैं, वह आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेदसे तीन प्रकारका है। उनमेंसे (क) काम, क्रोध आदिजन्य मानस परिताप और व्याधि आदिजन्य शारीरिक परिताप आध्यात्मिक दुःख कहलाते हैं। आत्मा यहाँ मन तथा शरीरके अर्थमे प्रयोग हुआ है। (ख) सिंह, सर्प आदि भूतोसे जन्य दुःख आधिभौतिक हैं। भूत यहाँ प्राणियोके अर्थमें प्रयोग हुआ है। (ग) विद्युत्पात, अति-वर्षण, अग्नि, अति-वायु आदि दैविक शक्तियोंसे जन्य दुःख आधिदैविक है।

दौर्मनस्य—इच्छाकी पूर्ति न होनेपर मनमें क्षोभ होना।

अङ्गमेजयत्व—शरीरके अङ्गोका काँपना।

श्वास—विना इच्छाके बाहरके वायुका नासिकाद्वारा अंदर आना।

प्रश्वास—विना इच्छाके भीतरके वायुका नासिका-छिद्रोद्वारा बाहर निकलना। ये विक्षेपोंके साथ होनेवाले उपविक्षेप अथवा उपविघ्न हैं।

सङ्गति—उपर्युक्त विक्षेप और उपविक्षेप विक्षिप्त चित्तवालोको ही होते है, एकाग्र चित्त-वालोंको नहीं होते। इन समाधिके शत्रुओको अभ्यास-वैराग्यद्वारा निरोध करना चाहिये। उन दोनोमेसे अभ्यासके विषयको उपसंहार करनेके लिये अगला सूत्र है—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—तत्=उन पूर्वोक्त विक्षेप तथा उपविक्षेपोके; प्रतिषेधार्थम्=दूर करनेके लिये; एकतत्त्व-अभ्यासः=एकतत्त्वका अभ्यास करना चाहिये अर्थात् किसी अभिमत एक तत्त्वद्वारा चित्तकी स्थितिके लिये यत्न करना चाहिये।

अन्वयार्थ—उन पूर्वोक्त विक्षेप तथा उपविक्षेपोको दूर करनेके लिये एकतत्त्वका अभ्यास करना चाहिये अर्थात् किसी अभिमत एक तत्त्वद्वारा चित्तकी स्थितिके लिये यत्न करना चाहिये।

व्याख्या—विक्षेप तथा उपविक्षेपोको दूर करनेके लिये किसी एक अभिमत (इष्ट) तत्त्वमें चित्तको बार-बार लगाना चाहिये अर्थात् किसी अभिमत एक तत्त्वद्वारा चित्तकी स्थितिके लिये यत्न करना चाहिये।

इस प्रकार एकाग्रताके उदय होनेपर सब विक्षेपोंका नाश हो जाता है। यह एक साधारण उपाय है। सबसे उत्तम उपाय तो ईश्वर-प्रणिधान है, जिसको सूत्र २९ में बतला दिया गया है।

योगवार्त्तिककार विज्ञानभिक्षु तथा भोजवृत्तिकारने इस सूत्रमें एकतत्त्वाभ्याससे किसी इष्ट अभिमत एकतत्त्वके अभ्यासका अर्थ ग्रहण किया है और वाचस्पति मिश्रने एकतत्त्वका अर्थ प्रधान तत्त्व और प्रधान तत्त्वको ईश्वर मानकर ईश्वर-प्रणिधानका अर्थ ग्रहण किया है। असम्प्रज्ञात-समाधिसे पूर्व ईश्वर-प्रणिधानका फल विक्षेपोंकी निवृत्ति सूत्र २९ में बतला दिया है, पुनः उसी बातका निर्देश करनेके लिये एक नये सूत्रकी रचना अनावश्यक है। इसलिये एकतत्त्वसे किसी इष्ट अभिमत तत्त्वका अर्थ लेना ही ठीक हो सकता है और सूत्र ३४ से ३९ तक जो चित्तकी स्थितिके उपाय बतलाये है, इनका इसी सूत्रसे सम्बन्ध है।

टिप्पणी ॥३२॥—इस सूत्रमें व्यास-भाष्यके आधारपर वाचस्पति मिश्र आदि बौद्धधर्मके पश्चात्के कई भाष्यकारोंने क्षणिकवाद मतको हटाकर 'सोऽहम्' 'मै वही हूँ' इत्यादि प्रत्यभिज्ञासे चित्तकी स्थिरता सिद्ध की है, अर्थात् एक ही चित्त अनेक विषयोंका ग्रहण करनेवाला है, नहीं तो 'जिसको मैने देखा था उसीको स्पर्श करता हूँ' यह ज्ञान न हो, इत्यादि निरूपण किया है। सूत्रकी व्याख्यामें इसका प्रसङ्ग न देखकर तथा विस्तारके भयसे वहाँ न देकर पाठकोंकी जानकारीके लिये उसको यहाँ लिख देते हैं—

बुद्ध भगवान्के शिष्य क्षणिक-विज्ञानवादी योगाचारके मतानुयायी जो वैनाशिक लोग है, उनके मतमें सब पदार्थ क्षणिक हैं। जो वस्तु एक क्षणमें होकर दूसरे क्षणमें नष्ट हो जाय, उसे क्षणिक कहते हैं। उन वैनाशिकोंके मतमें चित्त भी क्षणिक है, प्रत्ययमात्र है अर्थात् निराधार विज्ञानमात्र है और प्रत्यर्थनियत है अर्थात् क्षणिक होनेसे एक विषयको ग्रहण करके चित्त नष्ट हो जाता है और अन्य विषयमें गमन नहीं कर सकता। फिर दूसरा चित्त दूसरेको ग्रहण करके नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार एक-एक विषयका विज्ञानरूप क्षणिक चित्त भिन्न-भिन्न होता है। इस प्रकार एक ही विषयको ग्रहण करनेवाले चित्तको प्रत्यर्थनियत कहते है। ऐसा क्षणिक प्रत्यय-मात्र प्रत्यर्थ-नियत जो चित्त है, वही आत्मा है। उनके मतमें उस क्षणिकचित्तसे भिन्न और कोई आत्मा नही है और सब पदार्थ एक क्षणमें उत्पन्न होकर दूसरे क्षणमें नष्ट हो जाते है। इस प्रकार सब पदार्थोंका नाश माननेसे उनको वैनाशिक कहते हैं।

बाह्य सर्व पदार्थोंको स्वप्नके पदार्थोंके सदृश मिथ्या मानकर क्षणिक विज्ञान-मात्रको ही ये 'तत्त्व' 'अमिथ्या' कहते हैं। इससे इनको क्षणिक-विज्ञानवादी कहते है। इनके मतमें प्रत्यय-मात्र क्षणिक-चित्त प्रत्यर्थ-नियत है। इससे चित्तमें अनेक पदार्थविषयक गमन-रूप चञ्चलता होती ही नहीं। इस प्रकार चित्तको क्षणिक माननेसे चित्तका एकाग्र होना भी सम्भव नही हो सकेगा। इस कारण एकाग्रताके लिये उपदेश करना तथा एकाग्रताके लिये प्रयत्न करना भी व्यर्थ होगा।

इन वैनाशिकोंसे यह प्रश्न किया जाय कि तुम्हारे गुरु भगवान् बुद्धदेवजीने जो चञ्चलतानिवृत्ति-द्वारा चित्तकी एकाग्रताके लिये योगके साधनका उपदेश दिया है, वह व्यर्थ ही है?

यदि वैनाशिक लोग इसका उत्तर यह दें कि 'यद्यपि एक विषयको ग्रहण करके दूसरेमें गमन

करना, दूसरेको त्यागकर तीसरेमें गमन करना, उसको त्यागकर अन्यमें गमन करना इत्यादि इस प्रकारकी चञ्चलता और चित्तकी एक ही विषयमें निरन्तर स्थितिरूप एकाग्रताका होना हमारे मतमे सम्भव नहीं है, क्योंकि चित्त क्षणिक है और उसका विषय भी क्षणिक है तथापि हमारे मतमें चित्तका प्रवाह क्षणिक नहीं है किंतु अनादि है। उस अनादि 'प्रत्यय-प्रवाह' मे अर्थात् चित्तके प्रवाहमें विलक्षण-विलक्षण विषयाकारतारूप चञ्चलताका अभाव करके सदृश-सदृश विषयाकारतारूप एकाग्रताका होना सम्भव है। अर्थात् प्रथम क्षणमें चित्त जैसा विषयाकार होकर नष्ट हुआ, फिर दूसरे क्षणमें दूसरा चित्त वैसा ही अन्य विषयाकार उत्पन्न होकर समाप्त होना, पुनः तीसरे चित्तका भी वैसा ही अन्य विषयाकार उत्पन्न होकर नष्ट हो जाना; इस प्रकार चित्त-प्रवाहमें सदृश-सदृश विषयाकाररूप एकाग्रता हो सकती है।

ऐसा उत्तर देनेपर उनसे फिर पूछा जाय कि यह एकाग्रता-प्रवाह चित्तका धर्म है अथवा प्रवाहके अंश चित्तका धर्म है ?

यदि वे कहें कि एकाग्रता-प्रवाह चित्तका धर्म है तो यह सम्भव न हो सकेगा, क्योंकि क्षणिक-क्षणिक चित्तोंसे भिन्न प्रवाह तो कोई पदार्थ हो नहीं है अर्थात् सदृश प्रत्यय-प्रवाहका आश्रय कोई एक चित्त तुम्हारे मतमें है ही नहीं, जिसका धर्म एकाग्रता माना जाय। इससे प्रथम पक्ष ठीक नहीं है। और यदि वे कहें कि प्रवाहके अंश चित्तका धर्म है तो यह दूसरा पक्ष भी अयुक्त है; क्योंकि चाहे प्रवाहका अंश चित्त सदृश प्रत्यय-प्रवाहमें हो अथवा विलक्षण प्रत्यय-प्रवाहमें हो, तुम्हारे मतमे क्षणिक होनेसे प्रत्यर्थ नियत है अर्थात् एक ही पदार्थको विषय करनेवाला होता है। इससे क्षणिक-चित्तमें अनेकाकारतारूप चञ्चलता और एकाग्रता सम्भव नहीं है। इससे चित्तमे चञ्चलताके और एकाग्रताके असम्भव होनेसे चञ्चलताके निवृत्तिपूर्वक एकाग्रताके लिये तुम्हारे गुरु भगवान् बुद्धदेवजीका उपदेश फिर भी व्यर्थ ही सिद्ध होता है। इसलिये प्रत्यय-प्रवाहका आश्रय एक स्थायी चित्त मानना ही योग्य है, जिस स्थायी चित्तका धर्म एकाग्रता सम्भव हो सके।

और यदि प्रत्यय-प्रवाहका आश्रय एकचित्त न मानकर भिन्न-भिन्न क्षणिक-प्रत्ययरूप ही चित्त उत्पन्न होना मानें तो पहिले अन्य चित्तके किये हुए कर्मका पिछले अन्य चित्तको फल किस प्रकार हो सकेगा ? जैसे भङ्ग पीनेवाला चित्त तो पहिले ही नष्ट हो गया और जिसने भङ्ग नहीं पिया उस दूसरे चित्तको नशा कैसे होगा ? और यदि यह कहें कि जैसे पुत्रके किये श्राद्धका माता-पिताको फल होता है और जैसे पुत्रमे तेजस्विता, वीरता आदि गुणोके लिये पुत्रके जन्मादिमे पिताके किये वैश्वानरयज्ञका फल पुत्रको होता है, वैसे ही पहिले अन्य चित्तके किये हुए कर्मका, पश्चात् अन्य चित्तको फल प्राप्त होगा तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योकि पुत्र-पिता आदिका परस्पर जैसा जन्य-जनक-भाव सम्बन्ध है, वैसा पूर्व-उत्तर चित्तोंका जन्य-जनकभाव सम्बन्ध होता तो ऐसा कह सकते थे। परंतु तुम्हारे मतमें तो पूर्व-उत्तर चित्तोका जन्य-जनक-भाव सम्बन्ध नहीं है, क्योकि पूर्व चित्तके नष्ट होनेपर उत्तरवाला चित्त उत्पन्न होता है और क्षणिक चित्तसे अपनी उत्पत्ति-विनाशके अतिरिक्त और कोई व्यापार हो भी नहीं सकता।

जैसे पिताके निमित्त पुत्र श्राद्ध करता है तो पुत्रके किये श्राद्धका फल पिताको प्राप्त होता है

वैसे 'मै भङ्ग पीता हूँ, मेरे नशा होनेके पश्चात् इसका नशा उत्तरवाले चित्तको हो' इस प्रकार पूर्व-चित्त उत्तर-चित्तके निमित्त कर्म नहीं करता है तो उत्तरवाले चित्तको फल कैसे प्राप्त होगा ? इसलिये ये आपकी युक्तियां 'गोमयपायसीयन्याय' से भी अधिक अयुक्त है; क्योंकि गोबर और पायसकी तुल्यतामें तो गौसे उत्पन्न होना हेतु है, परंतु अन्य चित्तके किये कर्मका अन्य चित्त फल भोगता है, इसमें तो कोई हेतु नहीं है।

'गोमयपायसीय-न्याय' यह है कि जैसे कोई कहे 'गोमय' (गोबर) और 'पायस' (रबडी), ये दोनो तुल्य ही है, क्योकि ये दोनों गौसे पैदा होते हैं।

यदि क्षणिक-प्रत्ययोके प्रवाहका आश्रय एकचित्त न माने, किंतु क्षणिक-प्रत्यय मात्र ही चित्त मानें तो पहिले एक चितसे देखे पदार्थका अन्य दूसरा चित्त स्मर्ता कैसे होगा ? क्योकि जो जिस पदार्थका द्रष्टा होता है, कालान्तरमें वही उस पदार्थका स्मर्ता होता है। तुम्हारे मतमें द्रष्टा चित्त तो पहिले ही नष्ट हो गया, पश्चात् अन्य चित्त कैसे स्मरण करेगा ? अर्थात् आपके मतमें कोई स्मृति नहीं होनी चाहिये। और यदि प्रत्यय-प्रवाहका आश्रय एक स्थायी चित्त न मानकर क्षणिक-प्रत्यय-मात्र चित्तको ही आत्मा मानोगे तो स्वात्माके अनुभवका भी खण्डन प्राप्त होगा। यह स्वात्माके अनुभव अर्थात् प्रतीतिका खण्डन अत्यन्त अयुक्त है, क्योंकि 'जो मै दूरसे गङ्गाको देखता था वह मै अब गङ्गाजलको स्पर्श करता हूँ'; 'जो मै स्पर्श करता था वह में अब स्नान करके गङ्गाको नमस्कार करता हूँ', 'जो मै बाल-अवस्थामें नाना प्रकारकी क्रीडा करता था, यौवनावस्थामें मदसे मत्त हुआ काल व्यतीत करके अब जरारूप राक्षससे गृहीत हुआ काँप रहा हूँ' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा ज्ञानोमें अनेक क्रियाओका एक ही कर्ता और उन सब प्रत्ययोका एक ही आश्रय अहम् पदका अर्थ जीवात्मा प्रतीत होता है। वह सब प्रत्ययका आश्रय अहम् पदके अर्थ स्वात्माकी प्रतीति क्षणिक-प्रत्यय-रूप आत्मा माननेसे सम्भव नहीं हो सकती, क्योकि क्षणिक-प्रत्यय-रूप आत्मा बाल्य, यौवनादि अवस्थाओमें अनेक क्रियाओका कर्त्ता नहीं हो सकता और उन सर्वप्रत्ययोका एक आश्रय अहम् पदके अर्थको विषय करनेवाले 'अहम्-अहम्' इस प्रत्यय-ज्ञानके सामर्थ्यको कोई प्रमाणान्तर तिरोभूत नहीं कर सकता, क्योकि प्रत्यक्ष-प्रमाणके ही बलसे अन्य प्रमाण प्रवृत्त होते हैं। इस प्रत्यक्ष-प्रमाणका अन्य कोई प्रमाण तिरस्कार नहीं कर सकता।

इस प्रकार क्षणिक-प्रत्यय-मात्र प्रत्यय नियत चित्त नहीं, किंतु अनेक पदार्थोंको विषय करनेवाला सर्वप्रत्ययोका आश्रय एक स्थायी चित्त है। यह बात ध्यानमे रखना आवश्यक है कि भगवान् व्यासजीने तो केवल चित्तका प्रत्ययमात्र और क्षणिक होना अयुक्त बतलाकर उसकी स्थिरता सिद्ध की है, किंतु बौद्ध धर्मके पश्चात्के भाष्यकारोने इसको भगवान् बुद्धके वैनाशिक शिष्योंके क्षणिकवादके साथ मिलाकर विस्तार दे दिया है।

विशेष वक्तव्य सूत्र ३२—बुद्ध भगवान् उच्चतम कोटिके अनुभवी योगी हुए हैं। उन्होने जो असम्प्रज्ञात समाधिका स्वरूप दिखलाया है, वह साख्ययोगके ही सदृश है, किंतु शब्दोंके यथार्थ अभिप्रायको समझनेमें बहुत धोका खाया गया है। सारे सृष्टिके व्यवहारमें सत्त्व, रजस् और तमस्—ये तीन गुण ही ग्राह्य-ग्रहणरूपसे वर्त रहे है। व्यष्टिरूपमें सत्त्व चित्त ही इनके कार्यक्षेत्र हैं। असम्प्रज्ञात समाधिमें चित्तके निरुद्ध हो जानेपर गुणोंका सारा व्यवहार उसके प्रति शून्य हो जाता है, किंतु उस शून्य अवस्थामें आत्म-तत्त्व शेष रहकर अपने स्वरूपमें अवस्थित होता है। इसलिये इस शून्यवादमें भी आत्मसत्ताका अस्तित्व

वास्तविक रूपमें सिद्ध होता है। शब्दोके बाह्य अर्थोंमें ही खींचातानी की गयी है। ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीतृ सारे विषयोंमें चित्त ही वृत्तिरूपसे परिणत होकर उनका बोध करा रहा है अर्थात् प्रत्येक व्यक्तिका सारा संसार विज्ञानरूप चित्तहीमें चल रहा है। आत्मा केवल उसका द्रष्टा है। इस अंशमें भगवान् बुद्धका बतलाया हुआ विज्ञानवाद सार्थक ही है, किंतु इसको दार्शनिक रूप देनेमें उनके विज्ञानवादी शिष्य इस आशयसे बहुत दूर चले गये है। इसी प्रकार गुण परिणामशील हैं। "चलं हि गुणवृत्ति', गुण परिणाम-स्वभाववाले है। क्षण-क्षणमें परिणाम हो रहा है। गुणोंसे बनी हुई सारी वस्तुएँ तथा चित्तमें भी प्रतिक्षण परिणाम हो रहा है, इसलिये सारी वस्तुएँ तथा विज्ञानरूप चित्त भी क्षणिक ही है। इसको श्रीव्यासजी महाराजने भी ३। ५२ सूत्रकी व्याख्यामे भली प्रकार दर्शाया है। भगवान् बुद्धके इस क्षणिक परिणामको लेकर उनके क्षणिकवादी वैनाशिक शिष्योने महात्मा बुद्धके अभिप्रायके विरुद्ध उसको अपने ढंगपर दार्शनिक रूप दे दिया है।

सङ्गति—जब चित्तमे असूया आदि कलुष (मल) होते है, तब वह स्थितिको नहीं लाभ कर सकता। उनके दूर करनेका अगले सूत्रमें उपाय बतलाते है—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ३३

शब्दार्थ—मैत्री-करुणा-मुदितोपेक्षाणाम्=मित्रता, दया, हर्ष और उदासीनता—इन धर्मोंकी सुख-दुःख-पुण्यापुण्य-विषयाणाम्=सुखी, दुखी, पुण्यात्मा और पापियोके विषयमें (यथाक्रम), भावनातः= भावनाके अनुष्ठानसे, चित्तप्रसादनम्=चित्तकी निर्मलता और प्रसन्नता होती है।

अन्वयार्थ—सुखी, दुखी, पुण्यात्मा और पापियोके विषयमे यथाक्रम मित्रता, दया, हर्ष और उपेक्षाकी भावनाके अनुष्ठानसे चित्त प्रसन्न और निर्मल होता है।

व्याख्या—राग, ईर्ष्या, परापकार-चिकीर्षा, असूया, द्वेष और अमर्ष-संज्ञक राजस-तामसरूप—ये छः धर्म चित्तको विक्षिप्त करके कलुषित (मलिन) कर देते हैं। अतः ये छः चित्तके मल कहे जाते है।

इन छः प्रकारके मलोंके होनेसे चित्तमें छ प्रकारका कालुष्य (मल) उत्पन्न होता है। जो क्रमसे राग-कालुष्य, ईर्ष्या-कालुष्य, परापकारचिकीर्षा-कालुष्य, असूया-कालुष्य, द्वेष-कालुष्य और अमर्ष-कालुष्य कहलाते हैं।

राग-कालुष्य—स्नेहपूर्वक अनुभव किये हुए सुखके अनन्तर जो 'यह सुख मुझको सर्वदा ही प्राप्त हो' इत्याकारक (ऐसा आकारवाली) जो राजस वृत्ति-विशेष है, वह राग-कालुष्य है; क्योंकि यह राग सर्व-सुख-साधन विषयोकी प्राप्तिके न होनेसे चित्तको विक्षिप्त करके कलुषित (मलिन) कर देता है

ईर्ष्या-कालुष्य—दूसरोकी गुणादि या सम्पत्ति आदिकी अधिकता देखकर जो चित्तमें क्षोभ (एक प्रकारकी जलन अर्थात् दाह) उत्पन्न होना है, वह ईर्ष्या-कालुष्य कहलाता है; क्योंकि यह भी चित्तको विक्षिप्त करके कलुषित कर देता है।

परापकारचिकीर्षा-कालुष्य—किसीके अपकार (बुराई करने, दुःख पहुँचाने) करनेकी इच्छा चित्तको विह्वल करके कलुषित कर देती है।

असूया-कालुष्य—दूसरोके गुणोंमें दोष आरोप करना असूया पदका अर्थ है। जैसे किसी व्रतशीलको दम्भी जानना और आचारवालेको पाखण्डी जानना अर्थात् सदाचारीपर झूठे कलङ्क लगाना असूया-कालुष्य है।

द्वेष-कालुष्य—क्षमाका विरोधी कोप-कालुष्य (द्वेष-कालुष्य) भी चित्तको विक्षिप्त करके कलुषित कर देता है ।

अमर्ष-कालुष्य—किसीसे कठोर वचन सुनकर या अन्य किसी प्रकारसे अपमानित होकर जो उसको न सहन करके बदला लेनेकी चेष्टा है, वह अमर्ष-कालुष्य कहलाता है ।

इन उपर्युक्त कालुष्यो (मलो) से चित्त मलिन होकर विक्षिप्त हो जाता है और स्थितिके साधनमे प्रवृत्त होनेपर भी एकाग्र नहीं हो सकता । अतः इन मलोको निवृत्त करके चित्तको प्रसन्न और एकाग्र करनेका सूत्रमे निम्न प्रकार उपाय बतलाया गया है—

(१) सुखी मनुष्योको देखकर उनपर मित्रताकी भावना करनेसे राग तथा ईर्ष्या-कालुष्य (मल) की निवृत्ति होती है अर्थात् ऐसा समझनेसे कि 'यह सब सुख मेरे मित्रको है तो मुझे भी है', तब जैसे अपने राज्यके न होनेपर भी अपने पुत्रके राज्यलाभको अपना जानकर उस राज्यमें ईर्ष्या तथा रागकी निवृत्ति हो जाती है । वैसे ही मित्रके सुखको भी अपना सुख मानकर उसमे राग-निवृत्ति हो जायगी । एवं जब उसके सुखको अपना ही सुख समझेगा तो उसके ऐश्वर्यको देखकर चित्तमे जलन न होनेसे ईर्ष्या भी निवृत्त हो जायगी ।

(२) दुखी जनोपर करुणा अर्थात् दयाकी भावना करनेसे घृणा अर्थात् परापकारचिकीर्षारूप (दूसरेका अपकार अर्थात् बुराई करनेकी इच्छा) मलका अभाव होता है ।

अर्थात् जब किसी दुखी पुरुषको देखें तो इस वाक्यके अनुसार—

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा । आत्मौपम्येन सर्वत्र दयां कुर्वन्ति साधवः ॥

जैसे हमें अपने प्राण परम प्रिय हैं, वैसे ही अन्य प्राणियोको भी अपने प्राण प्रिय है; इस विचारसे साधुजन अपने प्राणोके समान सबके ऊपर दया करते है ।

अपने मनमें यह विचार करे कि 'इस दुखियाको बड़ा कष्ट होता होगा; क्योंकि जब हमारे ऊपर कोई संकट आ जाता है, तब हमको कितना दुःख भोगना पड़ता है' उसके दुःख दूर करनेकी चेष्टा करे । ऐसा न समझे कि हमे सुख-दुःखसे कोई प्रयोजन नहीं है । जब इस प्रकार करुणामयी भावना चित्तमें उत्पन्न हो जायगी, तब अपने समान सबके सुखकी चाहसे घृणा और परापकारचिकीर्षा (बुराई करनेकी इच्छा) की निवृत्ति हो जायगी ।

(३) पुण्यात्मा अर्थात् धर्म-मार्गमे जो पुरुष प्रवृत्त है, उन पुण्यशील पुरुषोंके प्रति हर्षकी भावना करनेसे असूया मलकी निवृत्ति होती है । अर्थात् जब पुण्यजनोंको देखे तो चित्तमें 'अहोभाग्य इसके माता-पिताके; जिन्होने ऐसा पुण्यात्मा पुत्र उत्पन्न किया और धन्य है इसको जो तन-मन-धन से धर्म-मार्गमें प्रवृत्त हो रहा है' इस प्रकार आनन्दको प्राप्त हो । जब इस प्रकार मुदिता-भावना चित्तमें उत्पन्न होगी, तब असूया-रूप चित्तका मल निवृत्त हो जायगा ।

(४) पाप-मार्गमें प्रवृत्त जो पापशील मनुष्य हैं, उनमें उपेक्षा (उदासीनता) की भावना करनेसे द्वेष तथा आमर्षक (बदला लेनेकी चेष्टा) या घृणारूप मलकी निवृत्ति होती है । अर्थात् जब पापी पुरुष कठोर वचन बोले अथवा किसी अन्य प्रकारसे अपमान करे तो चित्तमें ऐसा विचारे कि 'यह पुरुष स्वयं अपनी हानि कर रहा है, इसके ऐसे व्यवहारसे कोई प्रयोजन नहीं, मै इसके प्रति द्वेष या घृणा करके

अपनेको क्यों दूषित करूँ, इसको तो स्वयं अपने पापोंका दुःख भोगना है इत्यादि'; इस प्रकार उनपर उपेक्षाकी भावना करे । इस उपेक्षाकी भावनासे द्वेष तथा अमर्षरूप चित्त-मलकी निवृत्ति हो जाती है ।

इस प्रकार जब इन चारों भावनाओंके अनुष्ठानसे चित्तके मल धुल जाते हैं, तब निर्मल चित्त प्रसन्नताको प्राप्त होता है और प्रसन्न होता हुआ चित्त एकाग्रताका लाभ करता है ।*

भोज महाराजने इस सूत्रकी व्याख्या निम्न प्रकार की है—

मैत्री=मित्रता (प्रेम); करुणा=दया (पराये दुःखोंको निवृत्त करनेकी इच्छा); मुदिता=हर्ष; उपेक्षा=उदासीनता, इन चारोंको क्रमसे सुखियोंमें, दुखियोंमें, पुण्यवालोंमें और पापियोंमें व्यवहार करना चाहिये । जैसे सुखी जनोंमें 'ये सुखी हैं' ऐसा समझकर उनके साथ प्रेम करे, न कि ईर्ष्या अर्थात् उनकी बड़ाईका सहन न करना । दुखियोंको देखकर 'इनके दुःखकी कैसे निवृत्ति हो', इस प्रकार दया ही करे, न कि घृणा और तिरस्कार । पुण्यात्माओंमें उनके पुण्यकी बडाई करके अपनी प्रसन्नता ही प्रकट करे, न कि 'यह पुण्यात्मा क्यो है ?' ऐसा विरोध करना । पापियोंमें उदासीनताको धारण करे अर्थात् न उनके पापमें सम्मति प्रकट करे न उनसे द्वेष करे ।

सूत्रमें सुखादि शब्दोंसे सुख-दुःखवालेका प्रतिपादन किया है । जब इस प्रकार मैत्री आदि करनेसे चित्त प्रसन्न होता है, तब सुखसे समाधि प्रकट होती है । यह परिकर्म ऊपरका कर्म है, जैसे निश्रकादि व्यवहार, गणित-सिद्धिके लिये, और संकलित आदि (जोड़ आदि) कर्म उपकारकरूपसे प्रधान क्रियाकी सिद्धिके लिये होता है । ऐसे ही राग, द्वेष आदिके विरोधी मैत्री आदि करनेसे प्रसन्नताको प्राप्त हुआ चित्त, सम्प्रज्ञात-समाधिके योग्य हो जाता है । प्रधानतासे राग (विषयोंमें इच्छा), द्वेष (वैर, अनिष्टोंमें रोष)—ये दो ही चित्तके विक्षेपक है । यदि ये दोनों ही जड़से उखाड़ दिये जायँ तो चित्तकी प्रसन्नता होनेसे एकाग्रता होती है ।

सङ्गति—मैत्री आदि भावनाओंसे निर्मल और प्रसन्न हुआ चित्त जिन उपायोंद्वारा स्थितिको प्राप्त होता है, उनका वर्णन अगले सूत्रमें करते है । यहाँ यह बात स्मरण रहे कि अगले सब उपाय केवल समाहित चित्तवाले उत्तम अधिकारियोंके लिये है । विक्षिप्त चित्तवाले मध्यम अधिकारियोंको तो साधन-पादमें बताये अष्टाङ्गयोगका ही आश्रय लेना होगा—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—प्रच्छर्दनविधारणाभ्याम्=नासिकाद्वारा बाहर फेंकने और रोकने—दोनोंसे; वा=अथवा; प्राणस्य=कोष्ठस्थित (कोठामें रहनेवाली) वायुके (मनकी स्थितिको सम्पादन करे) ।

अन्वयार्थ—अथवा कोष्ठस्थित (कोठामें रहनेवाली) वायुको नासिकापुटद्वारा (प्रयत्नविशेषसे) बाहर फेंकने और बाहर रोकने—दोनोंसे मनकी स्थितिको सम्पादन करे ।

व्याख्या—**कौष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनम्, विधारणं प्राणायामस्ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत् ॥** (व्यासभाष्य)

---

* मैत्रीसे द्वेषाभावका ही ग्रहण करना चाहिये; स्नेहका नहीं; क्योंकि स्नेहका भी एक प्रकारका राग होनेके कारण बन्धन ही है ।

मुदितासे भी शोककी निवृत्ति ही समझना चाहिये, हर्ष नहीं, क्योंकि हर्ष भी एक प्रकारसे रागका हेतु होनेसे त्याज्य ही है ।—(मनु भाष्यकार मेधातिथि भट्ट)

कोष्ठस्थित (कोठेमें रहनेवाली) वायुको विशेष प्रयत्नसे बाहर वमन करने (एकदम नासिकाके दोनों छिद्रोंद्वारा बाहर फेंकने) को प्रच्छर्दन कहते हैं । उस बाहर वमन की हुई वायुको वहीं रोक देनेको विधारण कहते हैं । प्रच्छर्दन और विधारण दोनों प्राणायामोंसे मनकी स्थितिको सम्पादन करे ।

प्राणायामके तीन भेद—रेचक, श्वासको नासिका-छिद्रोंद्वारा बाहर निकालना; पूरक, नासिका-छिद्रोंद्वारा श्वासको अंदर ले जाना और कुम्भक, श्वासको बाहर अथवा अंदर रोक देना (२ । ५०) में विस्तारपूर्वक बतलाये जायँगे । इस सूत्रमें केवल दो भेद रेचक और कुम्भक बतलाये हैं । रेचकके लिये यहाँ प्रच्छर्दन शब्द प्रयोग हुआ है और उसकी विधि कोष्ठस्थित वायुको प्रयत्न विशेषसे एकदम नासिका-पुटद्वारा बाहर फेंकना बतलायी है । यहाँ केवल बाह्य-कुम्भक बतलाया गया है और उसके लिये विधारण शब्द प्रयोग हुआ है । यह प्राणायाम कपाल-भातिसे मिलता-जुलता है, जिसकी सारी विधियाँ २ । ३२ के वि० व० में षट्कर्मके अन्तर्गत बतलायी जायँगी । यहाँ भी प्रसंगसे उसकी दो प्रक्रियाएँ दिखायी जाती हैं ।

प्रक्रिया न० १—केवल प्रच्छर्दन—किसी सुखासनसे बैठकर मूलबन्ध और किंचित् उड्डीयान बन्ध लगाकर नाभिको उठाकर कोष्ठस्थित वायुको दोनों नासिका-पुटद्वारा वमनकी भाँति एकदम बाहर फेंक देना चाहिये । बाहर बिना रोके हुए इसी प्रकार लोहारकी धौंकनीके सदृश इस प्राणवायुको बाहर फेंकते रहना चाहिये । इसमें केवल रेचक किया जाता है । पूरक स्वयं होता रहता है । यह क्रिया बिना कुम्भकके की जाती है । आरम्भमें इस प्राणायामको इक्कीस बार अथवा यथासामर्थ्य करना चाहिये । शनैः शनैः अभ्यास बढ़ावे ।

प्रक्रिया न० २—प्रच्छर्दन-विधारण—ऊपर बतलायी हुई प्रक्रियामें पाँचवें प्राणायामपर अथवा इससे अधिक जितनी सामर्थ्य हो उसके पश्चात् पूरे उड्डीयानके साथ श्वासको बाहर निकालकर बाहर ही रोक दे और किसी विशेष मन्त्रकी मात्रासे अथवा बिना मन्त्रके जितनी देर सुगमतासे रोक सके बाहर ही रोक दे । यह एक प्राणायाम हुआ । इस प्रकार तीन प्राणायाम करे ।

भाष्यकारने केवल बाह्य कुम्भक बतलाया है, इसलिये भाष्यके अनुसार युक्त विधिसे प्रच्छर्दन अर्थात् रेचक करते-करते जब थक जायँ, तब विधारण अर्थात् उड्डीयानके साथ बाह्य कुम्भक यथाशक्ति करें । इस प्रकार कई बार करे अथवा प्रत्येक रेचकके पश्चात् यथाशक्ति बाह्य कुम्भक करें ।

कई टीकाकारोंने कुम्भक-वाचक 'विधारण' पदसे पूरकका भी ग्रहण करके रेचक-पूरक-कुम्भक प्राणायामके अर्थ किये हैं, जिनका विस्तारपूर्वक वर्णन साधनपादके ५० वें सूत्रमें किया गया है । इसके अनुसार उपर्युक्त प्रक्रिया न० २ में बतलाये हुए तीन प्राणायामोंमें बाह्य कुम्भकके पश्चात् पूरक करके आभ्यन्तर कुम्भक करे ।

इस प्राणायामको अभ्यासीगण ध्यानसे पूर्व निम्न प्रकारसे करे ।

गुदा और नाभीसे प्राणको एक साथ दोनों नथनोंसे बाहर पचीस, पचास अथवा सौ बार फेंके । अंदर लेनेकी आवश्यकता नहीं, केवल बाहर ही फेंकते रहें । अंदर स्वयं श्वास आता रहेगा । इस मात्रामें बाहर फेंकनेके पश्चात् एक साथ बाहर रोक दे । सामर्थ्य अनुसार बाह्य कुम्भक करे, उसके पश्चात् अंदर लेकर आभ्यन्तर कुम्भक करे । इसका समय बाह्य कुम्भकके बराबर या आधा रख सकते हैं । आभ्यन्तर कुम्भकमें नाभीपर ध्यान रखे ।

साधनपाद सूत्र ३२ के विशेष वक्तव्यमें षट् कर्ममें बतलायी हुई कपाल-भाँतिकी प्रक्रिया इससे कुछ भिन्न है। उसका नाम हमने नाडीशोधन रखा है।

प्राणायाम चित्तकी एकाग्र स्थिति उत्पन्न करता है।

द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दनवासने। एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः॥

(वशिष्ठ-वाक्य)

चित्तरूपी वृक्षके दो बीज हैं—प्राणस्पन्दन अर्थात् प्राणोंकी निरन्तर क्रिया, और दूसरी वासना। इन दोनोंमेंसे एकके क्षीण (सूक्ष्म) होनेसे दूसरा भी शीघ्र ही क्षीण (सूक्ष्म) हो जाता है।

सब इन्द्रियोंका काम प्राणके व्यापारसे चलता है और मन तथा प्राणका अपने-अपने व्यापारमें परस्पर एक-सा ही योग-क्षेम (अप्राप्तकी प्राप्ति—योग और प्राप्तकी रक्षा—क्षेम) है। अर्थात् दोनोंका कार्य करनेमें अधिक सम्बन्ध है। इसलिये प्राण सब इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको रोककर मनकी एकाग्रता करनेमें समर्थ होता है। प्राणायाम सब दोषोंका नाशक है।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥ (मनु०)

जैसे अग्नि-संयोगसे धातुओंके मल नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही इन्द्रियोंके दोष भी प्राणके रोकनेसे नष्ट हो जाते है।

दोषोंसे ही चित्तकी वृत्तियाँ विक्षिप्त होती हैं। प्राणायाम दोषोंको दूर करके चित्तकी एकाग्रता करनेमें समर्थ होता है।

विशेष वक्तव्य (सूत्र ३४)—'प्राण'—चित्तके सदृश प्राणका ज्ञान भी योगमार्गके पथिकके लिये आवश्यक है। प्राण श्वास नहीं है जैसा कि कुछ व्यक्ति समझते हैं और न आत्मतत्त्व है जैसा कि कई पाश्चात्य विद्वान् मानते है, किंतु प्राण वह जडतत्त्व है, जिससे श्वास-प्रश्वास आदि समस्त क्रियाएँ एक जीवित शरीरमें होती हैं।

सृष्टिके आरम्भमें पाँचों स्थूलभूत, लोक-लोकान्तर और सारे जङ्गम तथा स्थावर पदार्थ अपने उपादान कारण आकाशसे प्राणशक्तिद्वारा उत्पन्न होते है; इसी प्राणशक्तिसे सहारा पाकर जीवित रहते है और प्रलयके समय इसीका आश्रय न पाकर कार्यरूपसे नष्ट होकर अपने कारणरूप आकाशमें मिल जाते हैं।

सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति।
(छा० १। ९। १)

ये सारे भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते है और आकाशमें ही लीन हो जाते हैं।

सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति, प्राणमभ्युज्जिहते।
(छा० १। ११। ५)

ये सब भूत प्राणमें लीन होते हैं और प्राणसे प्रादुर्भूत होते है।

भौतिक पदार्थोंमें सबसे अधिक व्यापकताका सूचक आकाश और सबसे अधिक शक्तिका प्रकाशक (ज्ञापक) प्राण माना गया है, इसीलिये परमात्माकी व्यापकताको आकाशसे और ज्ञानमय सर्वशक्तिमत्ताको प्राणसे निर्दिष्ट किया गया है।

प्राणं देवा अनुप्राणन्ति । मनुष्याः पशवश्च ये । प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यते । (तै० उ० ब्रह्म व० अनु० ३)

देवता प्राणके सहारे सोस लेते है और जो मनुष्य तथा पशु है वे भी (प्राणके सहारे साँस लेते है) । प्राण सब जन्तुओका आयु है, इसलिये सर्वायुष (सबका आयु) कहलाता है ।

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् । प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । प्राणेन जातानि जीवन्ति प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥ (तै० उ० भृगुवल्ली अनु० ३)

उसने प्राणको ब्रह्म जाना । प्राणसे ही सब भूत-उत्पन्न होकर प्राणसे ही जीते है और मरते हुए प्राणमें प्रवेश करते है ।

सृष्टि-उत्पत्तिके सम्बन्धमें प्रश्नोपनिषद्मे बडे सौन्दर्यके साथ प्राणका वर्णन किया गया है ।

स मैथुनमुत्पादयते—रयिं च प्राणं च । (प्र० १ । ४)

प्रजापति (हिरण्यगर्भ) ने एक जोडा उत्पन्न किया—रयि और प्राण ।

आकाशसे उत्पन्न हुए वायु, अग्नि, जल, पृथिवी और इनके परमाणुसे लेकर बडे-बडे तारागण और सूर्यमण्डल सब रयि है; और वह शक्ति जिससे इनमें कम्पन हो रहा है, जिससे यह स्थिर रहकर अपना कार्य कर रहे हैं प्राण है । अथवा यो समझो कि सारा ब्रह्माण्ड एक बड़ा वाष्प-यन्त्र है, प्राण वाष्प है जिससे इस मशीनके सारे पुर्जे चल रहे है, और हिरण्यगर्भ इजीनियरके सदृश है, जो नियम और व्यवस्थाके साथ ज्ञानपूर्वक प्राणरूपी वाष्पसे ब्रह्माण्डरूपी मशीनको चला रहा है ।

प्राण जीवन-शक्ति है और रयि मूर्त्त तथा अमूर्त्त सारे पदार्थ है, जो प्राण-शक्तिसे अपने व्यक्तित्वको रखते हुए कार्य कर रहे हैं । प्राण धन-विद्युत् है और रयि ऋण-विद्युत् है ।

समष्टि प्राणको उपनिषदोमें मातरिश्वा और सूत्रात्मा कहा गया है ।

यह प्राण समष्टिरूपसे सारे ब्रह्माण्डको चला रहा है, इसी प्रकार व्यष्टिरूपसे न केवल मनुष्यके पिण्ड-शरीरको ही किंतु सारे जड़ पदार्थ—वृक्ष, लता आदि तथा चेतन—कीट, पतङ्ग, जलचर, पशु-पक्षी आदि सारे शरीर इससे जीवन पा रहे है, इसलिये ये सब 'प्राणी' एवं 'प्राणधारी' कहलाते हैं ।

सब इन्द्रियोका कार्य प्राणशक्तिसे ही चल रहा है, इसलिये उपनिषदोमे कहीं-कहीं प्राणका शब्द इन्द्रियोके लिये भी प्रयुक्त हुआ है ।

मनुष्य-शरीरमे वृत्तिके कार्य-भेदसे इस प्राणको मुख्यतया दस भिन्न-भिन्न नामोंमे विभक्त किया गया है—

प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनंजयः ॥—गोरक्षसंहिता

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय—ये दस प्रकारके वायु अर्थात् प्राण-वायु हैं ।

निःश्वासोच्छ्वासकासाश्च प्राणकर्मेति कीर्त्तिताः ।
अपानवायोः कर्मैतत् विण्मूत्रादिविसर्जनम् ॥
हानोपादानचेष्टादि व्यानकर्मेति चेष्यते ।
उदानकर्म तत् प्रोक्तं देहस्योन्नयनादि यत् ॥

पोषणादि समानस्य शरीरे कर्म कीर्त्तितम् ।
उद्गारादि गुणो यस्तु नागकर्मेति चोच्यते ॥
निमीलनादि कूर्मस्य क्षुतं वै कृकरस्य च ।
देवदत्तस्य विप्रेन्द्र तन्द्री कर्मेति कीर्त्तितम् ॥
धनंजयस्य शोफादि सर्वकर्मप्रकीर्तितम् ।

(योगी याज्ञवल्क्य ४ अध्याय ६६ से ६९ तक)

श्वासका अंदर ले जाना और बाहर निकालना, मुख और नासिकाद्वारा गति करना, भुक्त अन्न-जलको पचाना और अलग करना, अन्नको पुरीष, पानीको पसीना और मूत्र तथा रसादिको वीर्य बनाना प्राण-वायुका काम है । हृदयसे लेकर नासिकापर्यन्त शरीरके ऊपरी भागमें वर्तमान है । ऊपरकी इन्द्रियोंका काम उसके आश्रित है ।

अपान-वायुका काम गुदासे मल, उपस्थसे मूत्र और अण्डकोशसे वीर्य निकालना तथा गर्भ आदिको नीचे ले जाना, कमर, घुटने और जाँघका काम करना है । नीचेकी ओर गति करता हुआ, नाभिसे लेकर पादतलतक अवस्थित है, निचली इन्द्रियोका काम इसके अधीन है ।

समान—देहके मध्यभागमें नाभिसे हृदयतक वर्तमान है । पचे हुए रस आदिको सब अङ्गो और नाड़ियोंमें बराबर बाँटना इसका काम है ।

व्यान—इसका मुख्य स्थान उपस्थ-मूलसे ऊपर है, सारी स्थूल और सूक्ष्म नाडियोंमें गति करता हुआ शरीरके सब अङ्गोंमें रुधिरका संचार करता है ।

उदान—कण्ठमें रहता हुआ सिरपर्यन्त गति करनेवाला है, शरीरको उठाये रखना इसका काम है । उसके द्वारा शरीरके व्यष्टि प्राणका समष्टि प्राणसे सम्बन्ध है । उदानद्वारा ही मृत्युके समय सूक्ष्म शरीरका स्थूलशरीरसे बाहर निकलना तथा सूक्ष्मशरीरके कर्म, गुण, वासनाओ और संस्कारोके अनुसार गर्भमें प्रवेश होना होता है । योगीजन इसीके द्वारा स्थूलशरीरसे निकलकर लोकलोकान्तरमें घूम सकते है ।

नागवायु उद्गारादि (छींकना आदि); कूर्मवायु संकोचनीय; कृकरवायु क्षुधा, तृष्णादि; देवदत्त-वायु निद्रा-तन्द्रा आदि और धनञ्जय-वायु पोषणादिका कार्य करता है ।

इनमेंसे अगले पाँच मुख्य हैं, पिछले पाँच उन्हींके अन्तर्गत है ।

हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुह्यमण्डले । समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः ॥
व्यानो व्यापी शरीरे तु प्रधानाः पञ्च वायवः ॥ (गोरक्षसहिता ३०)

हृदयमें प्राण-वायु, गुह्यदेशमें अपान, नाभि-मण्डलमें समान, कण्ठमे उदान और सारे शरीरमें व्यान व्याप्त है ।

प्राणोंको अपने अधिकारमे चलानेवाले मनुष्यका अधिकार उसके शरीर, इन्द्रियो तथा मनपर हो जाता है । प्राणोंको वशमें करनेका नाम प्राणायाम है ।

प्राणवायुका स्थान हृदय है, यहाँ व्याप्त होकर नासिकाद्वारा बाहरकी ओर चलता है । अपान गुदामें व्याप्त होकर नीचेकी ओर गति करता है । समान नाभिमें व्याप्त होकर भुक्त अन्न आदिके रसको अङ्गों और नाड़ियोंमें पहुँचाता है ।

पूरकमें प्राणवायुको गुदास्थानतक ले जाकर अपान-वायुसे मिलाया जाता है, रेचकमें अपानको प्राणद्वारा ऊपरकी ओर खींचा जाता है, कुम्भकमें प्राण और अपान दोनोकी गतिको समानके स्थान नाभिमें रोक दिया जाता है। इससे रज और तमका मल दग्ध होकर सत्त्वका प्रकाश बढता है और मन शीघ्र एकाग्र हो जाता है।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे। प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥

(गीता ४। २९)

कोई योगी अपानवायुमें प्राणवायुको होमते हैं (पूरक करते है), वैसे ही कुछ योगीजन प्राणमे अपानका हवन करते हैं (रेचक करते हैं) तथा कई योगीजन प्राण और अपानकी गतिको रोककर (कुम्भक करके) प्राणायामके परायण होते हैं।

प्राणायामसे मनुष्य स्वस्थ एव नीरोग रहकर दीर्घायु तथा मन और इन्द्रियोपर विजय प्राप्त कर सकता है। मनका प्राणसे घनिष्ठ सम्बन्ध है, मनको रोकना अति कठिन है, पर प्राणके निरोध तथा वशीकारसे मनका निरोध एवं वशीकार करना सुगम हो जाता है, इसलिये प्राणायाम योगका आवश्यक साधन है।

सूक्ष्म प्राणका वर्णन—मनुष्य-शरीरमे प्राण-प्रवाहिनी नाडियां असंख्य हैं, इसमेंसे पंद्रह मुख्य हैं। (१) सुषुम्णा, (२) इडा, (३) पिंगला, (४) गांधारी, (५) हस्तजिह्वा। ये दोनो क्रमशः वाम और दक्षिण नेत्रोंसे वाम और दक्षिण पैरके अँगूठेपर्यन्त चली गयी हैं। (६) पूषा, (७) यशस्विनी क्रमशः दक्षिण और वाम कर्णमें श्रवण साधनार्थ और (८) शूरा गन्ध-ग्रहणार्थ नासिका देशमें भ्रूमध्यपर्यन्त जाती है, (९) कुहू मुखमें जाती है, (१०) सरस्वती जिह्वाके अग्रभागपर्यन्त जाकर इसके ज्ञान और वाक्यो-को प्रकट करती है, (११) वारुणी, (१२) अलम्बुषा, (१३) विश्वोदरी, (१४) शङ्खिनी, (१५) चित्रा। इन पंद्रहमेंसे भी सुषुम्णा, इडा, पिङ्गला—ये तीन प्रधान हैं (जिनका योगसे घनिष्ठ सम्बन्ध है)। इन तीनोंमें सुषुम्णा सर्वश्रेष्ठ है। यह नाडी अति सूक्ष्म नलीके सदृश है, जो गुदाके निकटसे मेरु-दण्डके भीतर होती हुई मस्तिष्कके ऊपर चली गयी है। इसी स्थान (गुदा-स्थानके निकट) से इसके वाम भागसे इडा और दक्षिण भागसे पिङ्गला नासिका-मूलपर्यन्त चली गयी है।

वहां भ्रूमध्यमे ये तीनो नाडियाँ परस्पर मिल जाती है। सुषुम्णाको सरस्वती, इडाको गङ्गा और पिङ्गलाको यमुना भी कहते हैं। गुदाके समीप जहाँसे ये तीनो नाडियाँ पृथक् होती है, उसको 'मुक्त-त्रिवेणी' और भ्रूमध्यमें जहा ये तीनों पुन मिल गयी है, उसको 'युक्त-त्रिवेणी' कहते हैं।

साधारणतया प्राण-शक्ति निरन्तर इडा और पिङ्गला नाडियोसे श्वास-प्रश्वासरूपसे प्रवाहित होती रहती है। इडाको चन्द्र-नाडी और पिङ्गलाको सूर्य-नाडी कहते हैं। इडा तम.प्रधान और पिङ्गला रजःप्रधान है। श्वास कभी दायें नथुनेसे अधिक वेगसे चलता है, कभी बायेंसे और कभी दोनोसे समान गतिसे प्रवाहित होता है। जब बाये नथुनेसे श्वास अधिक वेगसे चलता रहे तो उसे इडा या चन्द्र-स्वर कहते है और जब दायेंसे अधिक वेगसे बहे तो उसे पिङ्गला व सूर्यस्वर कहते हैं एव जब दोनो नथुनोसे समान गतिसे अथवा एक क्षण एक नथुनेसे, दूसरे क्षण दूसरे नथुनेसे प्रवाहित हो तो उसे सुषुम्णा स्वर कहते है।

स्वस्थ मनुष्यका स्वर प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्योदयके समयसे ढाई-ढाई घडीके हिसाबसे क्रमशः एक-एक नथुनेसे चला करता है। इस प्रकार अहोरात्र (एक दिन-रात) से बारह बार [बारह वक्त] बाये और बारह बार ही दायें नथुनेसे क्रमानुसार श्वास चलता है। किस दिन किस नथुनेसे श्वास चलता है, इसका निश्चित नियम है—

आदौ चन्द्रः सिते पक्षे भास्करस्तु सितेतरे ।
प्रतिपदा दिनान्याहुस्त्रीणि त्रीणि क्रमोदये ॥ (पवनविजय स्वरोदय)

शुक्लपक्षकी प्रतिपदा तिथिसे तीन दिनकी बारीसे चन्द्रसे (बायें नथुनेसे) तथा कृष्णपक्षकी प्रतिपदासे तीन-तीन दिनकी बारीसे सूर्य-नाडी (दायें नथुने) से सूर्योदयके समय श्वास (टाई घडी-तक) प्रथम प्रवाहित होता है ।

पाठकोंके सुभीतेके लिये इस सम्बन्धमें पृथक् चित्र दिया गया है, विस्तारके लिये उसमें देखे ।

शारीरिक विकार एवं रोगकी अवस्थामें स्वर अनियमितरूपसे चलने लगते है । प्रतिश्याय (जुकाम) की अवस्थामें सम्भवतः पाठकोंको स्वय इसका अनुभव हुआ होगा । उस अवस्थामें अपने प्रयत्न-द्वारा स्वरको बदलनेसे रोग-निवृत्तिमें बडी सहायता मिलती है । स्वर-साधनसे स्वेच्छानुसार स्वरका बदलना अति सुगम हो जाता है ।

जब इडा (चन्द्र—वाम स्वर) चल रहा हो, तब स्थायी काम करना चाहिये, जिनमें अल्प श्रम और प्रबन्धकी आवश्यकता हो तथा दूध, जल आदि तरल पदार्थोंके पीने, पेशाब करने, यात्रा और भजन, साधन आदि शान्तिके कार्य करने चाहिये ।

पिङ्गला (सूर्य—दायें स्वर) चलनेके समय इनसे अधिक कठिन कार्य करने चाहिये, जिनमें अधिक परिश्रम अपेक्षित हो तथा कठिन यात्रा, मेहनतके कार्य (व्यायाम आदि), भोजन, शौच, स्नान और शयन आदि करने चाहिये ।

सुषुम्णा (जब दोनो स्वर सम अथवा एक-एक क्षणमें बदलते हुए चल रहे हो) में योग-साधन तथा सात्त्विक धर्मार्थ कार्य करने चाहिये ।

दिवा न पूजयेल्लिङ्गं रात्रावपि न पूजयेत् ।
सर्वदा पूजयेल्लिङ्गं दिवारात्रनिरोधतः ॥ (पवनविजय स्वरोदय)

दिनमें अर्थात् जब रजोगुण-प्रधान सूर्य-स्वर चल रहा हो, तब योगसाधन न करे और रात्रिमें भी अर्थात् जब तमः-प्रधान चन्द्र-स्वर चल रहा हो, तब भी योगाभ्यास न करे । दिन-रात दोनो अर्थात् सूर्य और चन्द्र दोनो स्वरोंका निरोध करके सुषुम्णाके समय जो पिङ्गला और इडारूपी दिन और रात दोनोका सन्धि समय है उसमें सदा योगाभ्यास करे ।

इस सूत्रकी व्याख्यामें बताये हुए कपाल-भाति प्राणायाम अथवा अन्य प्राणायाम करनेसे सुषुम्णा स्वर चलने लगता है । अतः अभ्यासके आरम्भमें (ध्यानादिसे पूर्व) प्राणायाम कर लेना चाहिये ।

स्वर-साधन—स्वर बदलनेकी क्रियाएँ

(१) जो स्वर चलाना हो उस नथुनेपर कुछ समयतक ध्यान करनेसे वह स्वर चलने लगता है । (२) जो स्वर चलाना हो उससे विपरीत करवटसे लेटकर पसलीके निकट तकिया दबानेसे कुछ कालमें वह स्वर चलने लगता है । (३) जो स्वर चलाना हो उससे विपरीत स्वरमें रूई अथवा वस्त्रकी गोली रखनेसे वह चलने लगता है । (४) बंद स्वरको अंगूठे या अगुलीसे दबाकर चालू स्वरसे श्वास लेकर पुनः उसे दबाकर बंद स्वरसे श्वास निकालें । इस प्रकार कई बार करनेसे बंद स्वर चलने लगता है । (५) दौड़ने, परिश्रम करने और प्राणायाम आदि करनेसे स्वर बदल जाता है ।

ज्वर और जुकाम आदि रोगोंकी अवस्थामें स्वर-परिवर्तनसे रोगकी शीघ्र निवृत्ति होती है ।

स्वर-साधनकी सिद्धिसे इच्छानुसार सुगमतासे स्वर बदला जा सकता है । उसके अभ्यासकी एक विधि यह है कि दिनके समय सूर्योदयसे चन्द्रस्वरके निश्चित समयसे चन्द्रस्वर चलाये । अपने बायें नथुनेकी ओर ओ३म्का जप करते हुए ध्यान रखनेसे बायाँ (चन्द्र) स्वर चलता रहेगा, भोजन और शौचादिके समय इससे विपरीत स्वर (सूर्य-स्वर) ध्यानद्वारा चलाये । रात्रिके समय सूर्यास्तपर सूर्य-स्वरके निश्चित समयसे सूर्य-स्वर चलाये । दायें नथुनेकी ओर ओ३म्का जप करते हुए ध्यान रखनेसे सूर्यस्वर चलता रहेगा । जल और दूध आदि पीने तथा मद्य-त्यागादिके समय विपरीत नथुनेपर ध्यान रखकर चन्द्रस्वर चलायें ।

दूसरी विधि—प्रातःकाल सूर्योदयके समयसे ढाई-ढाई घडीके हिसाबसे क्रमशः एक-एक नथुनेसे स्वाभाविक स्वर चलावे ।

इसी प्रकार योगाभ्यास, भजन-ध्यानादिके आरम्भ करनेसे पूर्व नासिकाके अग्रभागके मध्यभागमें नोक-पर ध्यान करनेसे सुषुम्णा-स्वर चलाया जा सकता है ।

तत्त्व—स्वरोंका तत्त्वोंसे घनिष्ट सम्बन्ध है, उनका चक्रोंमें भी वर्णन आयेगा । इसलिये उनका संक्षिप्त वर्णन चित्रद्वारा कर देना आवश्यक प्रतीत होता है ।

तत्त्व पाँच हैं—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी । ये प्रत्येक स्वरके साथ चलते रहते है ।

प्रथमं वहते वायुर्द्वितीयं च तथानलः ।
तृतीयं वहते भूमिश्चतुर्थं वारुणो वहेत् ॥ (७१ शिवस्वरोदय)

प्रथम वायुतत्त्व बहता है, द्वितीय बार अग्नितत्त्व, तृतीय बार भूमितत्त्व, चतुर्थ बार वारुण (जल) तत्त्व और पाँचवीं बार आकाश-तत्त्व बहता है ।

तत्त्व-सम्बन्धी सामान्य बातें तथा किस समय कौन तत्त्व चल रहा है, इनको दी हुई तालिकाद्वारा पाठक जान सकेंगे ।

तत्त्व पहचाननेकी रीति

(१) हाथके दोनों अँगूठोंसे कानके दोनों छिद्र, बीचकी दोनों अँगुलियोंसे नथुनों, दोनों अनामिका और दोनों कनिष्ठिका अँगुलियोंसे मुँह तथा दोनों तर्जनियोंसे दोनों आँखें बंद करनेपर जिस तत्त्वका रंग दिखलायी दे उसीका उदय समझना चाहिये ।

(२) दर्पण (आइना) पर जोरसे श्वास मारनेपर उसकी भापसे दर्पणपर जिस तत्त्वके चिह्न बनें उसीका उदय समझना चाहिये ।

(३) जैसा मुँहका स्वाद हो उससे उसी तत्त्वका उदय समझना चाहिये ।

(४) शान्तिसे बैठकर श्वास ले, फिर देखें जिस तत्त्वके अनुसार श्वासकी गति हो और जिस तत्त्वके अनुसार श्वासका परिमाण हो, उसी तत्त्वका उदय समझना चाहिये ।

तत्त्व-साधन विधि—(१) पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश—इस क्रमसे एक-एक तत्त्वका साधन करना चाहिये । (२) जो तत्त्व साधना है उस तत्त्वके आकार एवं रंगका यन्त्र बनवाकर उस तत्त्वकी बाह्य गतिके परिमाण-अनुसार दूर रखकर ओ३म्के मानसिक जापके साथ त्राटक करना चाहिये । (३) ऐसी भावना करनी चाहिये कि जापके साथ श्वास-प्रश्वासकी गति यन्त्रतक हो रही है ।

नाम नाडी तथा स्वर	नाम प्रधान प्रकृति	पक्ष तथा तिथि जिसमें स्वर चलता है	शुभ कार्य जो जिस तिथिमें किये जायँ	नाम तत्त्व शुभकार्य के लिये	नाम दिन जो शुभ कार्यके लिये स्वरसे सम्बन्ध रखते है	दिशाएँ यात्राके लिये	स्वर-साधन-के लिये स्वर चलानेका समय
नाडी— इडा, गङ्गा, चन्द्र स्वर— चन्द्र, वाम	तम-प्रधान, शीतल प्रकृति, रात्रिके समान, शुक्ल पक्ष १५ दिनतक प्रधानता	शुक्ल पक्ष, १, २, ३, ७, ८, ९, १३, १४, १५ कृष्ण पक्ष ४, ५, ६, १०, ११, १२ सूर्योदयसे ढाई घडी अर्थात् एक घटातक चन्द्र-स्वर चलता है फिर सूर्य-स्वर एक घंटेतक	स्थिर तथा शुभ कार्य तीर्थ-यात्रा, मकान, तालाब, कुआँ आदि बनवाना, नये मकानमें प्रवेश, औषध आदि सेवन, दूध-जलादि पीना मूत्र-त्याग—सब प्रकार के शुभ कार्य	जल-तत्त्व पृथ्वी-तत्त्व	बुधवार बृहस्पतिवार शुक्रवार सोमवार	पश्चिम दक्षिण	सूर्योदयसे दिनमें चलना चाहिये भोजन, सोने, मलत्याग, स्नान-में सूर्यस्वर कर लेना चाहिये

Vedic Library

नाडी— पिङ्गला, यमुना, सूर्य स्वर— सूर्य दाहिना	रजःप्रधान, गरम प्रकृति, कृष्ण पक्षमें १५ दिनतक इसकी प्रधानता दिनके समान	कृष्ण प १, २, ३, ७, १३, १४, १५ शुक्ल पक्ष ४,५,६,१०,११,१२ सूर्योदयसे ढाई घड़ी अर्थात् एक घंटातक सूर्य-स्वर चलता है, उसके पश्चात् चन्द्र-स्वर; यह क्रम बराबर चलता रहता है	व्यायाम आदि परिश्रमके काम, कठोर यात्रा, विद्याध्ययन, अध्यापन, दान, भोजन, मल-त्याग, मैथुनादिगति, मन्त्रजाप, स्नान करना, सोना।	आकाश- तत्त्व		भूख, प्यास	भूखसे थोड़ी कम खाना चाहिये जल, दूध आदि पीनेके समय, मल-त्यागमें चन्द्र-स्वर कर लेना चाहिये
नाडी— सुषुम्णा, सरस्वती स्वर— दोनों स्वर बराबर चलना	सत्त्व-प्रधान, दिन-रात- की संधि, प्रातःकाल तथा सायंकाल- के समान	सूर्य-स्वरसे चन्द्र-स्वर और चन्द्र-स्वरसे सूर्य- स्वर बदलनेके समय चलता है। असाधारण अवस्थामें एक क्षण सूर्य और एक क्षण चन्द्र-स्वर चलता है।	शुभाशुभ, स्थिर, चर, कोई कार्य न करना चाहिये। योग-साधन, अभ्यास, ईश्वर-भक्ति, ध्यानादि करना चाहिये।				प्रातःकाल तथा सायंकाल योगाभ्यासके समय

Vaidic Library

तत्त्व-सम्बन्धी तालिका

नं०	नाम तत्त्व	तत्त्वका रंग	तत्त्वका चिह्न	तत्त्वका स्वाद	तत्त्वकी गति	तत्त्वका परिमाण	तत्त्वका स्वभाव	तत्त्वमें करने योग्यकार्य
१	पृथ्वी	पीला	चौकोण	मीठा	सामनेको	१२ अङ्गुल	भारी	स्थिर कार्य
२	जल	सफेद	अर्धचन्द्राकार	कसैला	नीचेको	१६ अङ्गुल	शीतल	चर कार्य
३	अग्नि	लाल	त्रिकोण	चर्परा	ऊपरको	४ अङ्गुल	गरम	क्रूर कार्य
४	वायु	धूम्र मेघ-जैसा	षट्कोण-सदृश गोल	खट्टा	तिरछा	८ अङ्गुल	चञ्चल	शारीरिक व्यायामादि
५	आकाश	मिश्रित रंग	बूँद-बूँद-जैसा	कड़ुआ	कई तत्त्वोंकी मिश्रित गति	दोनों नासिका-ओंके भीतर	कई तत्त्वोंसे मिला हुआ	योगाभ्यास आदि

Vaidic Library

(४) प्रायः २ घंटे २४ मिनटतक त्राटक करना चाहिये । (५) प्रायः छः मास अथवा परिस्थिति-अनुसार एक ही तत्त्वका साधन करते रहना चाहिये । (६) जब बराबर तत्त्वके परिमाण-तक श्वास-प्रश्वासकी गति लगातार होने लगे, तब उस तत्त्वकी सिद्धि समझना चाहिये ।

पृथ्वीतत्त्वका साधन—एक इंच चौड़ा और एक इंच लंबा स्वर्ण, पीतल अथवा पीले कागजका चतुष्कोण यन्त्र बनवाकर चन्द्र-स्वरके पृथ्वी-तत्त्वके उदयकालमें नासिकाके अग्रभागसे १२ अङ्गुल दूर रखकर ओम्‌के मानसिक जापके साथ त्राटक करना चाहिये।

जलतत्त्वका साधन—चाँदी या कासेका अर्धवृत्ताकार यन्त्र इतना लंबा एव चौडा कि पृथ्वी-तत्त्वके चतुष्कोण यन्त्रके मध्यमें आ सके । चन्द्रस्वरके जलतत्त्वके उदयके समय नासाग्रभागसे १६ अङ्गुल दूर रखकर उपर्युक्त विधि-अनुसार त्राटक करना चाहिये ।

अग्नितत्त्व-साधन—तांबे अथवा मूँगाका त्रिकोणाकार यन्त्र इतना लंबा-चौडा कि जलतत्त्वके अर्धवृत्ताकार यन्त्रके मध्यमें आ सके । चन्द्रस्वरके अग्नितत्त्वके उदयकालमें ४ अङ्गुल नासाग्रभागसे दूर रखकर उपर्युक्त विधि-अनुसार त्राटक करना चाहिये ।

वायुतत्त्व-साधन—स्वच्छ नीलाथोथाका ऐसा गोलाकार यन्त्र या कागजपर नीले रंगका ऐसा गोलाकार निशान बनवाये कि अग्नितत्त्वके त्रिकोणाकार यन्त्रके मध्यमे आ सके । यन्त्रको नासाग्रभागसे आठ अङ्गुल दूर रखकर उपर्युक्त विधि-अनुसार त्राटक करना चाहिये ।

आकाशतत्त्वका साधन—चन्द्रस्वरमे आकाशतत्त्वके उदयकालमें नासाग्रभागपर ओम्‌के मानसिक जापके साथ त्राटक करना चाहिये ।

सुषुम्णा नाडी—ऊपर वर्णन कर चुके है कि सुषुम्णा नाडी सर्वश्रेष्ठ है, जो मेरुदण्डके भीतर सूक्ष्म नलीके सदृश चली गयी है ।

सुषुम्णाके अन्तर्गत सूक्ष्म नाडियाँ—सुषुम्णाके भीतर एक वज्र-नाडी है, वज्रके अदर चित्रणी है और चित्रणीके मध्यमें ब्रह्म-नाडी है । ये सब नाड़ियाँ मकडीके जाले-जैसी अतिसूक्ष्म हैं, जिनका ज्ञान केवल योगियोको ही हो सकता है । ये नाडियाँ सत्त्व-प्रधान, प्रकाशमय और अद्भुत शक्तिवाली हैं । ये ही सूक्ष्म-शरीर तथा सूक्ष्म प्राणके स्थान हैं । इनमें बहुत से सूक्ष्म शक्तियोंके केन्द्र हैं, जिनमें बहुत-सी अन्य सूक्ष्म नाड़ियाँ मिलती है । इन शक्तियोके केन्द्रोको पद्म तथा कमल कहते है । इनमेंसे मुख्य सात है—

मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार ।

ये चक्र पाँचों तत्त्वो, पाँचो तन्मात्राओ, पाँचो ज्ञानेन्द्रियो, पाँचो कर्मेन्द्रियो, पाँचो प्राणो, अन्तःकरण, समस्त वर्णों-स्वरों तथा सातों लोकोके मण्डल हैं और नाना प्रकारके प्रकाश तथा विद्युत्‌से युक्त है । साधारण अवस्थामें ये चक्र बिना खिले कमलके सदृश अधोमुख हुए अविकसित रहते हैं । ध्यानद्वारा तथा अन्य प्रकारसे उत्तेजना पाकर जब ये ऊर्ध्वमुख होकर विकसित होते है, तब उनकी अलौकिक शक्तियोका विकास होता है ।

प्रत्येक चक्रमें नाना प्रकारकी अद्भुत शक्तियाँ हैं । तान्त्रिक तथा हठयोगके ग्रन्थोंमे प्रायः इनका वर्णन है । हम जिज्ञासुओकी जानकारीके लिये उनका उतना वर्णन कर देना आवश्यक समझते हैं, जितने-

का राजयोगसे सम्बन्ध है तथा तान्त्रिक ग्रन्थोकी उन बातोंका भी जिनकी पाठकोंके जाननेकी जिज्ञासा हो सकती है । तथा—तत्त्व-बीजका वाहन, अधिपति देवता, देवताकी शक्ति, यन्त्र, फल इत्यादि । (आत्मोन्नति चाहनेवालोको इनकी ओर विशेष ध्यान न देना चाहिये ।)

चित्रद्वारा दिखलायी हुई चक्रोकी स्थूलाकृति उनके सूक्ष्म-स्वरूपका बोध करानेके लिये केवल आनुमानिक है । इसी प्रकार Pelvic Plexus आदि अंग्रेजी नाम उनके वास्तविक स्थानको नहीं बतलाते हैं, केवल संकेतमात्र हैं ।

चक्रोंका वर्णन

मूलाधार चक्र—Pelvic Plexus के स्थूल स्वरूपसे इसके सूक्ष्म स्वरूपका संकेत किया जा सकता है ।

(१) चक्रस्थान—गुदामूलसे दो अंगुल ऊपर और उपस्थ मूलसे दो अगुल नीचे है ।

(२) आकृति—रक्त-रंगके प्रकाशसे उज्ज्वलित चार पंखडी (दलों) वाले कमलके सदृश है ।

(३) दलोंके अक्षर (वर्ण)—चारो पंखडियो (दलो) पर वं, श, ष और सं—ये चार अक्षर हैं ।

(४) तत्त्व-स्थान—चौकोण सुवर्ण रगवाले पृथ्वी-तत्त्वका मुख्य स्थान है ।

(५) तत्त्व-बीज 'लं' है ।

(६) तत्त्व-बीजकी गति—ऐरावत हाथीके समान सामनेकी ओर गति है ।

(७) गुण—गध गुण है ।

(८) वायु-स्थान—नीचेकी ओर चलनेवाले अपानवायुका मुख्य स्थान है ।

(९) ज्ञानेन्द्रिय—गधतन्मात्रासे उत्पन्न होनेवाली सूँघनेकी शक्ति नासिकाका स्थान है ।

(१०) कर्मेन्द्रिय—पृथ्वी-तत्त्वसे उत्पन्न होनेवाली मलत्याग-शक्ति गुदाका स्थान है ।

(११) लोक—भूलोक है (भू) ।

(१२) तत्त्व-बीजका वाहन—ऐरावत हस्ती जिसके ऊपर इन्द्र विराजमान हैं ।

(१३) अधिपति देवता—चतुर्भुज ब्रह्मा अपनी शक्ति चतुर्भुज डाकिनीके साथ ।

(१४) यन्त्र—चतुष्कोण, सुवर्णरंग ।

(१५) चक्रपर ध्यानका फल—आरोग्यता, आनन्दचित्त, वाक्य, काव्य, प्रबन्ध-दक्षता । इस चक्रके नीचे त्रिकोण यन्त्र-जैसा एक सूक्ष्म योनिमण्डल है, जिसके मध्यके कोणसे सुषुम्णा (सरस्वती) नाड़ी, दक्षिण कोणसे पिंगला (यमुना) नाड़ी और वाम कोणसे इडा (गङ्गा) नाडी निकलती है । इसलिये इसको मुक्तत्रिवेणी भी कहते हैं ।

तान्त्रिक ग्रन्थोमें बतलाया गया है कि इस योनि-मण्डलके मध्यमें तेजोमय रक्तवर्ण क्लीं बीजरूप कन्दर्प नामका स्थिर वायु विद्यमान है, जिसके मध्यमें ब्रह्मनाडीके मुखमें स्वयभू लिङ्ग है । इसमें कुण्डलिनी शक्ति साढे तीन कुण्डलमे लिपटी हुई शङ्खके आवर्तनके समान है । कुण्डलिनी शक्तिका वर्णन आगे किया जायगा । मूलशक्ति' अर्थात् कुण्डलिनी शक्तिका आधार होनेसे इस चक्रको मूलाधार कहते हैं ।

स्वाधिष्ठान चक्र—Hypogastric Plexus के स्थूल स्वरूपसे इसके सूक्ष्म स्वरूपका संकेत किया जा सकता है ।

(१) स्थान—मूलाधार चक्रसे दो अगुल ऊपर पेडूके पास इस चक्रका स्थान है ।

(२) आकृति—सिंदूरी रगके प्रकाशसे प्रकाशित छः पंखड़ी (दलो) वाले कमलके समान है ।

(३) दलोंके अक्षर (वर्ण)—छहो पखड़ियो (दलो) पर ब, भं, मं, य, र, लं—ये छः अक्षर (वर्ण) है ।

(४) तत्त्व-स्थान—श्वेत रग, अर्द्धचन्द्राकारवाले जल-तत्त्वका मुख्य स्थान है ।

(५) तत्त्व-बीज—'ब' है ।

(६) तत्त्व-बीज-गति—जिस प्रकार मकर लबी डुबकी लगाता है, इसी प्रकार इस तत्त्वकी नीचेकी ओर लबी गति है ।

(७) गुण—रस है ।

(८) वायु-स्थान—सर्वशरीरमें व्यापक होकर गति करनेवाले व्यानवायुका मुख्य स्थान है ।

(९) ज्ञानेन्द्रिय—रसतन्मात्रासे उत्पन्न स्वाद लेनेकी शक्ति रसनाका स्थान है ।

(१०) कर्म-इन्द्रिय—जलतत्त्वसे उत्पन्न मूत्र-त्याग-शक्ति उपस्थका स्थान है ।

(११) लोक—भुवः है ।

(१२) तत्त्व-बीजका वाहन—मकर जिसके ऊपर वरुण विराजमान हैं ।

(१३) अधिपति देवता—विष्णु अपनी चतुर्भुजा राकिनी शक्तिके साथ ।

(१४) यन्त्र—अर्धचन्द्राकार श्वेत रंग ।

(१५) चक्रपर ध्यानका फल—तान्त्रिक ग्रन्थोमें इस चक्रमें ध्यानका फल सृजन, पालन और निधनमें समर्थता तथा जिह्वापर सरस्वती देवीका होना बतलाया गया है ।

मणिपूरक चक्र—Epigastric Plexus अथवा Solar Plexus के स्थूल स्वरूपद्वारा इसके सूक्ष्म स्वरूपका संकेत किया जा सकता है ।

(१) स्थान—नाभिमूल है ।

(२) आकृति—नीले रगके प्रकाशसे आलोकित (प्रकाशित) दस पंखडी (दलो) वाले कमलके तुल्य है ।

(३) दलोंके अक्षर (वर्ण)—दसों पंखड़ियो (दलों) पर डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, फं—ये दस अक्षर (वर्ण) हैं । इन दस वर्णोंकी ध्वनियॉ निकलती है ।

(४) तत्त्वस्थान—रक्त रग त्रिकोणाकारवाले अग्नि-तत्त्वका मुख्य स्थान है ।

(५) तत्त्व-बीज—'रं' है ।

(६) तत्त्व-बीज-गति—जिस प्रकार मेप (मेंढ़ा) ऊपरको उछलकर चलता है, इसी प्रकार इस तत्त्वकी ऊपरको गति है ।

(७) गुण—रूप है ।

(८) वायु-स्थान—खान-पानके रसको सम्पूर्ण शरीरमें स्व-स्व-स्थानपर समानरूपसे पहुँचाने-वाले समानवायुका मुख्य स्थान है ।

(९) ज्ञानेन्द्रिय—रूप-तन्मात्रासे उत्पन्न देखनेकी शक्ति चक्षुका स्थान है ।

(१०) कर्मेन्द्रिय—अग्नि-तत्त्वसे उत्पन्न चलनेकी शक्ति पाद (पैर) का स्थान है ।

(११) लोक—स्वः है ।

(१२) तत्त्व-बीजका वाहन—मेष (मेढा) जिसके ऊपर अग्निदेवता विराजमान हैं ।

(१३) अधिपति देवता—रुद्र अपनी चतुर्भुजा-शक्ति लाकिनीके साथ ।

(१४) यन्त्र—त्रिकोण रक्त रग ।

(१५) फल—विभूतिपादमें इस चक्रपर ध्यानका फल शरीरव्यूहका ज्ञान बतलाया है । इसमें ध्यान करनेसे अजीर्ण आदि रोग दूर होते है ।

अनाहत चक्र—इसके सूक्ष्म स्वरूपका संकेतक Cardiac Plexus का स्थूल स्वरूप है ।

(१) स्थान—हृदयके पास ।

(२) आकृति—सिंदूरी रगके प्रकाशसे भासित (उज्ज्वलित) बारह पंखड़ी (दलों) वाले कमलके सदृश है ।

(३) दलोके अक्षर (वर्ण)—बारह पंखड़ियोपर कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं—ये बारह अक्षर (वर्ण) हैं ।

(४) तत्त्व-स्थान—धूम्र रग, षट्कोणाकार वायुतत्त्वका मुख्य स्थान है ।

(५) तत्त्व-बीज—यं है ।

(६) तत्त्व-बीज-गति—जिस प्रकार मृग तिरछा चलता है, इसी प्रकार इस तत्त्वकी तिरछी गति है ।

(७) गुण-स्पर्श है ।

(८) वायुस्थान—मुख और नासिकासे गति करनेवाले प्राणवायुका मुख्य स्थान है ।

(९) ज्ञानेन्द्रिय—स्पर्श-तन्मात्रासे उत्पन्न स्पर्शकी शक्ति त्वचाका केन्द्र है ।

(१०) कर्मेन्द्रिय—वायुतत्त्वसे उत्पन्न पकडनेकी शक्ति कर (हाथ) का स्थान है ।

(११) लोक—महर्लोक है । अन्तःकरणका मुख्य स्थान है ।

(१२) तत्त्व-बीजका वाहन—मृग ।

(१३) अधिपति देवता—ईशान-रुद्र अपनी त्रिनेत्र चतुर्भुजा शक्ति काकिनीके साथ ।

(१४) यन्त्र-षट्कोणाकार धूम्र रग ।

(१५) फल—वाक्पतित्व, कवित्वशक्तिका लाभ, जितेन्द्रिय होना इत्यादि तान्त्रिक ग्रन्थोमें बतलाया है । शिवसारतन्त्रमें कहा है कि इस स्थानमें उत्पन्न होनेवाली अनाहत ध्वनि ही सदा शिव है और त्रिगुणमय ओंकार इसी स्थानमें व्यक्त होता है । यथा—

शब्दं ब्रह्मेति तं प्राह साक्षाद्देवः सदाशिवः ।
अनाहतेषु चक्रेषु स शब्दः परिकीर्त्यते ॥ (परापरिमलोल्लासः)

जिसको शब्दब्रह्म कहते हैं, वही साक्षात् सदाशिव है । वही शब्द अनाहत चक्रमें है । कहीं-कहीं इस चक्रके समीप आठ दलोंका एक 'निम्न मनश्चक्र' (Lower mind Plexus) बतलाया गया है । स्त्रियों तथा भक्तिभाववालोंको ध्यान करनेके लिये अनाहतचक्र अच्छा उपयुक्त स्थान है ।

विशुद्ध चक्र—इसका संकेतक स्थूल स्वरूप Carotid Plexus है ।

(१) स्थान—कण्ठदेश है ।

(२) आकृति—धूम्र अथवा धुँधले रंगके प्रकाशसे उज्ज्वलित १६ पंखड़ी (दलो) वाले कमल-जैसी है ।

(३) दलोके अक्षर—सोलहों पङ्खड़ियोपर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः—ये सोलह अक्षर है ।

(४) तत्त्व-स्थान—चित्र-विचित्र आकार तथा नाना रगवाले अथवा पूर्णचन्द्रके सदृश गोलाकार आकाश-तत्त्वका मुख्य स्थान है ।

(५) तत्त्व-बीज—हं है ।

(६) तत्त्व-बीजकी गति—जैसे हाथी घूम-घूमकर चलता है, उसी प्रकार इस तत्त्वकी घुमावके साथ गति है ।

(७) गुण—शब्द है ।

(८) वायु-स्थान—ऊपरकी गतिका हेतु शरीरपर्यन्त बर्तनेवाले उदानवायुका मुख्य स्थान है ।

(९) ज्ञानेन्द्रिय—शब्द-तन्मात्रासे उत्पन्न श्रवण-शक्ति श्रोत्रका स्थान है ।

(१०) कर्मेन्द्रिय—आकाश-तत्त्वसे उत्पन्न वाकशक्ति वाणीका स्थान है ।

(११) लोक—जनः है ।

(१२) तत्त्व-बीजका वाहन—हस्ती जिसके ऊपर प्रकाश देवता आरूढ़ हैं ।

(१३) अधिपति देवता - पञ्चमुखवाले सदाशिव अपनी शक्ति चतुर्भुजा शाकिनीके साथ ।

(१४) यन्त्र—पूर्णचन्द्रके सदृश गोलाकार आकाशमण्डल ।

(१५) चक्रपर ध्यानका फल—कवि, महाज्ञानी, शान्तचित्त, नीरोग, शोकहीन और दीर्घजीवी होना बतलाया गया है । इसके 'विशुद्ध' नाम रखनेका यह कारण बतलाया गया है कि इस स्थानपर मनकी स्थिति होनेसे मन आकाशके समान विशुद्ध हो जाता है ।

आज्ञाचक्र—इसका संकेतक Medula Plexus का स्थूल रूप है ।

(१) स्थान—दोनों भ्रुवोके मध्यमें भृकुटीके भीतर है ।

(२) आकृति—श्वेत प्रकाशके दो पखड़ियो (दलो) वाले कमलके सदृश है ।

(३) दलोके अक्षर (वर्ण)-दोनों पंखड़ियोंपर हं, क्षं है ।

इन दोनो पखड़ियोंके संकेतक पाश्चात्यविज्ञानके Pineal Gland और Pituitary Body समझना चाहिये; जिनको मनुष्यके मस्तिष्कके भीतर दो निरर्थक बालूसे ढके हुए मांस-पिण्ड कहा गया है । ये दोनों मांस-पिण्ड अपने स्थानपर रहते हुए आज्ञाचक्रके ऊर्ध्वमुख होकर विकसित होनेपर उससे दिव्य शक्तिको प्राप्त होते है ।

(४) तत्त्व—लिङ्ग अर्थात् लिङ्ग-आकार महत्तत्त्व है ।

(५) तत्त्व-बीज—ओ३म् है ।

(६) तत्त्व-बीज गति—नाद है ।

(७) लोक—तपः है ।

(८) तत्त्वबीजका वाहन—नाद जिसपर लिङ्गदेवता है ।

(९) अधिपति देवता—ज्ञानदाता शिव अपनी चतुर्हस्ता षडानना (छः मुख) हाकिनी शक्तिके साथ ।

(१०) यन्त्र—लिङ्गाकार ।

(११) फल—भिन्न-भिन्न चक्रोंके ध्यानद्वारा जो फल प्राप्त होते हैं, वे सब एकमात्र इस चक्रपर ध्यान करनेसे प्राप्त हो जाते है ।

इस स्थानपर प्राण तथा मनके स्थिर हो जानेपर सम्प्रज्ञात-समाधिकी योग्यता होती है ।

मूलाधारसे इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा पृथक्-पृथक् प्रवाहित होकर इस स्थानपर मिलती हैं; इसलिये इसको युक्त-त्रिवेणी भी कहते हैं ।

इडा भागीरथी गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ।
तयोर्मध्यगता नाडी सुषुम्णाख्या सरस्वती ॥
त्रिवेणीसंगमो यत्र तीर्थराजः स उच्यते ।
तत्र स्नानं प्रकुर्वीत सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

(ज्ञानसंकलिनी-तन्त्र)

इडाको गङ्गा और पिङ्गलाको यमुना तथा इन दोनोके मध्यमें जानेवाली नाडी सुषुम्णाको सरस्वती कहते हैं । इस त्रिवेणीका जहाँ संगम है, उसे तीर्थराज कहते हैं । इसमें स्नान करके सारे पापोसे मुक्त हो जाते हैं ।

तदेव हृदयं नाम सर्वशास्त्रादिसम्मतम् ।
अन्यथा हृदि किंचास्ति प्रोक्तं यत् स्थूलबुद्धिभिः ॥ (योगस्वरोदय)

यही अर्थात् आज्ञाचक्र ही सर्वशास्त्र-सम्मत हृदय है । स्थूल-बुद्धिवाले ही अन्य स्थूल स्थानको हृदय कहते हैं ।

यह आज्ञाचक्र शिवनेत्र, (Organ of Clairvoyance) दिव्यदृष्टिका यन्त्र है ।

प्राणतोषिणी तन्त्रमें एक चौंसठ दलवाले ललना-संज्ञक चक्रकी तालुमें और एक शतदलवाले गुरु चक्रकी अवस्थिति ब्रह्मरन्ध्रमें बतलायी है तथा किसी-किसीने सोमचक्र (गुरु-चक्र), मानस-चक्र, ललाट-चक्र आदिका भी वर्णन किया है, किंतु ये सब सातों चक्रोके ही अन्तर्गत है । क्रियात्मकरूपसे इनकी अधिक उपयोगिता नहीं है ।

सहस्रार वा शून्य-चक्र—इसका संकेतक स्थूलरूप Cerebral Plexus है ।

(१) स्थान—तालुके ऊपर मस्तिष्कमें, ब्रह्मरन्ध्रसे ऊपर सब शक्तियोका केन्द्र है ।

(२) आकृति—नाना रंगके प्रकाशसे युक्त सहस्र पङ्खडियों (दलों) वाले कमल-जैसी है ।

(३) दलोके अक्षर—पङ्खोपर 'अ' से लेकर 'क्ष' तक सब स्वर और वर्ण हैं ।

(४) तत्त्व—तत्त्वातीत है ।

(५) तत्त्व-बीज—विसर्ग है ।

(६) तत्त्व-बीज गति—बिन्दु है ।

(७) लोक—सत्यम् है ।

(८) तत्त्व-बीजका वाहन—बिन्दु है ।

(९) अधिपति देवता—परब्रह्म अपनी महाशक्तिके साथ ।

(१०) यन्त्र—पूर्ण चन्द्र शुभ्र वर्ण ।

(११) फल—अमर होना, मुक्ति ।

इस स्थानपर प्राण तथा मनके स्थिर हो जानेपर सर्ववृत्तियोके निरोधरूप असम्प्रज्ञात-समाधिकी योग्यता प्राप्त होती है ।

कुछ विद्वानो तथा अभ्यासियोका विचार है कि उपनिषदोमें जो अङ्गुष्ठमात्र हृदय पुरुषका स्थान बतलाया गया है, वह ब्रह्मरन्ध्र ही है, जिसके ऊपर सहस्रारचक्र है, क्योकि यही अङ्गुष्ठमात्र आकाश-वाला है । यहीं चितका स्थान है, जिसमें आत्माके ज्ञानका प्रकाश अथवा प्रतिबिम्ब पड़ रहा है और इसी स्थानपर प्राण तथा मनके स्थिर हो जानेपर असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् सर्ववृत्तिनिरोध होता है ।

शरीरमें जीवात्माका कौन-सा स्थान है ? इस सम्बन्धमें कई बार प्रश्न किये गये है । वास्तवमें आत्माके ज्ञानका प्रकाश चित्तपर पड़ रहा है । चित्त ही कारणशरीर है । इस कारणशरीरके सम्बन्धसे आत्माकी सज्ञा जीवात्मा होती है । कारणशरीर सूक्ष्मशरीरमे व्यापक हो रहा है और सूक्ष्मशरीर स्थूल-शरीरमें । इस प्रकार जीवात्मा सारे ही शरीरमें व्यापक हो रहा है । फिर भी कार्य-भेदसे उसके कई स्थान बतलाये जा सकते हैं ।

सामान्यतः तथा सुषुप्ति अवस्थामें जीवात्माका स्थान हृदयदेश बतलाया गया है; क्योकि हृदय शरीरका मुख्य स्थान है । यहींसे सारे शरीरमें नाडियाँ जा रही है । सारे शरीरका आन्तरिक कार्य यहींसे हो रहा है । हृदयकी गति रुकनेसे सारे शरीरके कार्य बद हो जाते है, इसलिये सुषुप्तिकी अवस्थामें जीवात्माका स्थान हृदय कहा जा सकता है । जैसा कि उपनिषदोंमें बतलाया गया है—

यत्रैष एतत् सुप्तोऽभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते ।

(बृह० २ । १ । १७)

जब कि यह पुरुष जो यह विज्ञानस्वभाव है गहरा सोया हुआ होता है, तब वह इन इन्द्रियोके विज्ञानके द्वारा विज्ञानको लेकर जो यह हृदयके अदर आकाश है वहाँ आराम करता है ।

स्वप्नावस्थामें जीवका स्थान कण्ठ बतलाया है, क्योकि जाग्रत्-अवस्थामें जो पदार्थ देखे, सुने या भोगे जाते हैं, उनका संस्कार बालके हजारवें भाग-जैसी बारीक कण्ठमें स्थित एक हिता नामकी नाड़ीमें रहना बतलाया गया है । इसलिये अनुभूत पदार्थ और उनका ज्ञान स्वप्न-अवस्थामें कण्ठमें होता है ।

जाग्रत्-अवस्थामें जीवात्मा बाह्य इन्द्रियोके द्वारा बाहरके विषयोको देखता है । बाह्य इन्द्रियोमें नेत्र प्रधान है, इसलिये जाग्रत्में जीवात्माकी स्थिति उपनिषद्में नेत्रमें बतलायी गयी है । यथा—

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति ।

(छान्दो० ८ । ७ । ४)

यह जो आँखमें पुरुष दीखता है, यह आत्मा है ।

सम्प्रज्ञात समाधिमें जीवात्माका स्थान आज्ञाचक्र कहा जा सकता है, क्योंकि यही दिव्यदृष्टिका स्थान है । इसीको दिव्यनेत्र तथा शिवनेत्र भी कहते हैं ।

इसी प्रकार असम्प्रज्ञात समाधिमें जीवात्माका स्थान ब्रह्मरन्ध्र है, क्योंकि इसी स्थानपर प्राण तथा मनके स्थिर हो जानेपर असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् सर्ववृत्तिनिरोध होता है ।

कुण्डलिनी शक्ति—पाठकोंको सुषुम्णा नाडीकी महत्ता उसके भीतर तीन शक्तिशाली नाड़ियोंके केन्द्रोंके वर्णन कर देनेसे प्रकट हो गयी होगी । वास्तवमें ब्रह्माण्डमें जितनी शक्तियाँ वर्तमान हैं, उन सबको ईश्वरने शरीररूपी पिण्डके इस भागमें एकत्रित कर दी है, किंतु सुषुम्णा नाडीका मुख त्रिकोण योनि-मण्डल-के मध्य स्थानपर जहाँसे यह मेरुदण्डके भीतर होती हुई ऊपरकी ओर चलती है, साधारण अवस्थामें बंद रहता है । इसी कारण इसकी शक्ति अविकसित रहती है और प्राणशक्ति केवल इडा और पिङ्गलाद्वारा जो इस त्रिकोण मण्डलके वाम और दक्षिण भागसे ऊपरकी ओर चक्रोंको छूती हुई चलती हैं; सारे शरीरमें निरन्तर प्रवाहित होती रहती है । इसी त्रिकोण योनिमण्डलमें एक अतिसूक्ष्म विद्युत्-समान अद्भुत दिव्य-शक्तिवाली नाडी लिपटी हुई पड़ी है । इसका दृष्टान्त एक ऐसी सर्पिणीसे दे सकते हैं, जो साढे तीन लपेट खाये हुए अपनी पूँछको मुखमें दबाये शंखाकार होकर सो रही हो । इसीको कुण्डलिनी-शक्ति कहते हैं । यह नाडी बिना प्रयोगके सुप्त-जैसी पडी रहती है । इसका शरीर-सम्बन्धी कोई कार्य बाह्य दृष्टिसे प्रतीत नहीं होता । इस कारण पाश्चात्य शरीर-शास्त्रके विद्वान् (Physiologist) अभीतक इसका कुछ पता नहीं लगा सके, किंतु प्राचीन यूनान, रोम आदि देशोंके तत्त्ववेत्ता जहाँ भारतवर्षसे सारी विद्याओंका प्रकाश फैला था; इससे परिचित थे । अफलात् (Plato) तथा पिथागोरस (Pythogorus)-जैसे आत्मदर्शी विद्वानोंके लेखोंमें इसका इस प्रकार संकेत पाया जाता है कि नाभिके पास एक ऐसी अद्भुत शक्ति विद्यमान है, जो मस्तिष्ककी प्रभुता अर्थात् बुद्धिके प्रकाशको उज्ज्वल कर देती है और जिससे मनुष्यके अंदर दिव्य शक्तियाँ प्रकट होने लगती हैं ।

कुण्डलिनी शक्तिका जाग्रत् होना—यह नाडी यदि किसी प्रकारसे अपने लपेटोंको खोलकर सीधी हो जाय और इसका मुख सुषुम्णा नाड़ीके भीतर चला जाय तो इसको कुण्डलिनीका जाग्रत् होना कहेंगे ।

जिस प्रकार सुसज्जित कमरेमें बिजलीके तार, नाना वर्णके ग्लोब, झाड़-फानूस तथा बिजलीके यन्त्र, पखे आदि लगे हों तो बिजलीके बटन (Switch) दबानेसे ये सब क्रमशः प्रकाश देने तथा अपना-अपना कार्य करना आरम्भ कर देते हैं, इसी प्रकार जब इस कुण्डलिनीरूपी बटन (Switch) के दबानेसे विद्युत्का प्रवाह (Electric Current) सुषुम्णारूपी तारमें पहुँचता है, तब क्रमशः सारे चक्रों और नाड़ियोंको प्रकाशित कर देता है । जिस-जिस चक्रपर यह कुण्डलिनी शक्ति पहुँच जाती है, वह अधोमुखसे ऊर्ध्वमुख होकर विकसित होता जाता है । जब यह आज्ञाचक्रपर पहुँच जाती है, तब सम्प्रज्ञात और जब सहस्रारतक पहुँच जाती है, तब सारी वृत्तियोंका निरोध होकर असम्प्रज्ञात समाधिकी वास्तविक रूपमें योग्यता प्राप्त होती है । इस अवस्थामें मनुष्यको सारे संसारका ज्ञान बहुत शीघ्र प्राप्त हो सकता है । कुण्डलिनी शक्तिके सुषुम्णाके मुखमें प्रवेश होनेपर नाना प्रकारके अनुभव होते हैं, उनका प्रकट करना

वर्जित है। किंतु हम कुण्डलिनी जाग्रत् करनेके कुछ उपाय तथा साधकोंके लाभार्थ कुछ चेतावनियाँ दे देना आवश्यक समझते हैं।

कुण्डलिनी जाग्रत् करनेके उपाय—विशेषतया कुण्डलिनी शक्ति तो शरीरके शुद्ध और सूक्ष्म होनेपर सात्त्विक विचार, शुद्ध अन्त.करण, ईश्वरकी सच्ची भक्ति और परिपक्व वैराग्यकी अवस्थामें एकाग्रता अर्थात् निश्चल ध्यानसे जाग्रत् होती है। जहाँ कहीं अकस्मात् किसी मनुष्यमें अलौकिक शक्ति, अद्भुत चमत्कार तथा असाधारण ज्ञानका विकास देखनेमें आवे तो समझना चाहिये कि पूर्व जन्मके किन्हीं सात्त्विक संस्कारोंके उदय होने अथवा हृदयपर सात्त्विक प्रभाव डालनेवाली अन्य किसी घटनासे कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् होकर सुषुम्णाके मुखमें चली गयी है।

जिस प्रकार पृथ्वीमें लगे हुए नलद्वारा पानी ऊपर जानेके लिये केवल नलके ऊपर लगी हुई मशीन (Handle) को चलानेसे (Pumping से) नलीमेंसे पानी स्वयं ऊपर आना आरम्भ हो जाता है, इसी प्रकार साधनपादमें चतुर्थ प्राणायामकी पाँचवीं विधिद्वारा कुण्डलिनी शक्तिको चेतन करके सुषुम्णा-में लानेका यत्न किया जाता है।

निम्नलिखित प्राणायाम तथा मुद्राएँ कुण्डलिनी शक्तिको चेतन करनेमें सहायक हो सकती है।

(१) भस्त्रिका, कपाल-भाति, सूर्यभेदी प्राणायाम इत्यादि चतुर्थ प्राणायाम (वि० व० २। ३२, ४९, ५०, ५१)।

(२) महाबन्ध, महाबेध, महामुद्रा, खेचरी-मुद्रा, विपरीतकरणी-मुद्रा, अश्विनी-मुद्रा, योनि-मुद्रा, शक्तिचालिनी-मुद्रा इत्यादि (वि० व० २। ४६)

किंतु ये सब बाह्य साधन है, जो कुण्डलिनीको चेतन करनेमें सहायक होते हैं। उसके मुखका सुषुम्णामें प्रवेश केवल ध्यानकी परिपक्व अवस्थामें हो सकता है। बिना ध्यानके केवल बाह्य साधनोंसे कुण्डलिनी शक्तिको क्षोभ पहुँचानेसे अधिक-से-अधिक मूर्छा-जैसी अवस्था प्राप्त हो सकती है; जो सुषुप्ति तथा बेहोशीसे तो ऊँची है, किंतु वास्तविक स्वरूपावस्थिति नहीं है और न उसमें सूक्ष्म जगत्‌हीका कुछ अनुभव हो सकता है। कुण्डलिनी जाग्रत् करनेका सबसे उत्तम उपाय तो मूलाधारसे लेकर सहस्रारतक सब चक्रोंका भेदन करना है। विशेष विधि क्रियात्मक होनेके कारण लेखबद्ध नहीं की जा सकती। किसी अनुभवी निःस्वार्थ पथ-दर्शकसे ही सीखनी चाहिये। उसकी सामान्य विधि निम्न प्रकार है—

चक्रभेदन अर्थात् कुण्डलिनीयोग—(१) बद्धपद्म, (दोनों जंघाओंको दोनों पैरोंसे दबाकर), पद्म, सिद्ध, वज्र, स्वस्तिक आदि किसी आसन (२। ४६, ४७) से मेरुदण्डको सीधा किये हुए सिर, गर्दन और पीठको सम सूत्रमें करके मूलबन्ध लगाकर खेचरी-मुद्राके साथ बैठें।

(२) स्थान एकान्त, बंद और शुद्ध हो। प्रातःकाल कम-से-कम तीन घंटे और सायंकाल दो घंटे ध्यान करना चाहिये।

(३) कपालभाति, भस्त्रिका आदि प्राणायामके पश्चात् योनि-मुद्रा करके खेचरी-मुद्रा करे अर्थात् जिह्वाको ऊपरकी ओर घुमाकर तालूके पास कण्ठके छिद्रमें लगायें और दाँतोंको दबाये रखें।

(४) प्राण मूलाधार चक्रमें योनिमण्डलतक ले जाकर ऐसी भावना करें कि वहीं श्वास-प्रश्वास चल रहा है।

(५) वहीं मानसिक ध्वनिके साथ ॐका मानसिक जाप करें । (चौथा प्राणायाम विधि ५) ।

(६) ध्यान करते समय ऐसी भावना करे कि कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्णामें प्रवेश करके मूलाधार-को ऊर्ध्वमुख करती हुई विकसित कर रही है ।

इस प्रकार जब छः मास, एक वर्ष अथवा दो वर्षमें इस चक्रमें ध्यान पक्का हो जाय और प्राणोत्थान भली प्रकार होने लगे तो इसी भाँति अगले-अगले चक्रोको भेदन करना चाहिये । आज्ञाचक्र और सहस्रारमें अधिक समय देना चाहिये । प्रथम चक्रोंके ठीक-ठीक स्थान निश्चय करनेमें कठिनाई होगी किंतु कुछ दिनोंके अभ्यासके पश्चात् स्वयं यथास्थानपर मन स्थिर होने लगेगा ।

यह चक्रभेदनका क्रम दीर्घकालतक धैर्यके साथ करते रहना चाहिये । सुगमता और शीघ्र सिद्धि प्राप्त करनेके विचारसे आज्ञाचक्र और सहस्रार-चक्र ध्यानके लिये पर्याप्त है । यहींपर विधिपूर्वक ध्यान करनेसे कुण्डलिनी जाग्रत् हो सकती है । यद्यपि निचले चक्रोका विशेष ज्ञान और उनकी विशेष शक्तियाँ उनके अपने-अपने विशेष स्थानपर ध्यान करनेके सदृश नहीं प्राप्त होती । डाकगाड़ी (Mail Train) से लंबी यात्रापर जानेवाले यात्रियोको मार्गमें आनेवाले स्टेशनोकी भाँति इनका सामान्य ही ज्ञान होता है, किंतु दोनो चक्रोंपर ध्यानके परिपक्व होनेके पश्चात् निचले चक्रोका भेदन अति सुगमता और शीघ्रताके साथ हो सकता है ।

आत्मस्थितिके जिज्ञासुके लिये तो इन चक्रोंके चक्रमें अधिक न पडकर अपने अन्तिम ध्येयको लक्ष्यमें रखना ही श्रेयस्कर है ।

इन चक्रोंपर दो प्रकारसे ध्यान किया जाता है—

(१) सिद्धियों तथा शक्तियोंके प्राप्त करनेके उद्देश्यसे चक्रोंमें दी हुई विशेष-विशेष बातोकी विशेष-विशेष चक्रपर भावनाके साथ ध्यान किया जाता है । यह मार्ग तान्त्रिकोंका है तथा लंबा है ।

(२) आध्यात्मिक उन्नति तथा परमात्मप्राप्तिके उद्देश्यसे इन सब बातोंपर ध्यान न देकर केवल इन स्थानोको ध्येय बनाकर अंदर घुसना होता है । ऐसे अभ्यासियोके जो कुछ भी समक्ष आवे, उसको द्रष्टारूपसे देखना होता है; क्योकि उनका लक्ष्य केवल परमात्मतत्त्व है ।

कुण्डलिनी जाग्रत् करनेका एक अनुभूत साधन—

सबसे प्रथम साधनपाद सूत्र ५१ के विशेष वक्तव्यमें दी हुई चतुर्थ प्राणायामकी पाँचवीं विधि-अनुसार प्राणको ब्रह्मरन्ध्रमें चार-पाँच घंटेतक स्थिर करनेका अभ्यास परिपक्व कर लें । उपर्युक्त योग्यताकी प्राप्तिके पश्चात् शरीरके पूर्णरूपसे स्वस्थ अवस्थामें कार्तिकसे फाल्गुन अर्थात् नवम्बर मासमे मार्चतकके समयमें सारे बाह्य व्यवहारसे निवृत्त होकर शान्त एकान्त निर्विघ्न स्थानमें साधन आरम्भ करें । वस्ती अथवा एनिमाद्वारा उदर-शोधन करते रहे । यदि आवश्यकता हो तो धौती और नेती भी करते रहे । भोजन प्रातःकाल बादामका छौंका (बादामकी गिरी छिलके निकाली हुई), सौंफ कासनी, काली मिर्च पीसकर छानकर पिसे हुए बादामके साथ घीमें छौंक लिये जायँ । उसमें मुनक्के, अञ्जीर आदि डाले जा सकते हैं । रातको दूध ।

चतुर्थ प्राणायामद्वारा ब्रह्मरन्ध्रमें प्राणोंको अच्छी प्रकार स्थिर करनेके पश्चात् भ्रुकुटिपर ध्यान अर्थात् अन्तर्दृष्टिसे देखना आरम्भ कर दे । यदि इस प्रकार प्राणोंका उत्थान न हो सके तो शवासनसे

लेटकर यह प्रक्रिया करे। प्राणोंके उत्थानके समय किसी प्रकारके भयकी वृत्ति न आने दे। किसी अनुभवी निःस्वार्थ पथप्रदर्शककी संरक्षकतामें साधन करे। इस प्रक्रियामें भी मुख्य वस्तु ईश्वर-प्रणिधान और तीव्र वैराग्य है।

ब्रह्मरन्ध्र और भ्रुकुटिपर ध्यान करनेवाले जिन साधकोंको गर्मीके दिनोंमें इन स्थानोंपर ध्यान करनेसे अधिक गर्मी और खुश्की प्रतीत हो, वे एक-एक मासका समय निचले चक्रभेदनमें लगा सकते है। अर्थात्—

प्रथम एक मास मूलाधार चक्रभेदन—सामर्थ्यानुसार एक निश्चित संख्यामें अनुलोम-विलोम भस्त्रिका। एक निश्चित संख्यामें मूलाधारतक मध्यम भस्त्रिका। एक निश्चित संख्यामें मूलाधार चक्रपर अश्विनि मुद्रासदृश क्रिया। इसके पश्चात् चतुर्थ प्राणायामकी पाँचवीं विधि अनुसार ओम्‌का मानसिक जाप। मूलाधारपर जब प्राण स्थिर हो जायँ तब वहाँ केवल ध्यान अर्थात् अन्तर्दृष्टिसे टकटकी लगाकर देखते रहना अथवा वहाँ अनहद शब्दोंको सुनते रहना। दूसरे मासमें विशुद्ध चक्रभेदन इसी प्रकार करे तथा अन्य सब चक्रोंमें स्वाधिष्ठान चक्रतक इसी प्रक्रियाको रखें।

साधकोंके लिये चेतावनी

महात्मा मूसा, जो यहूदी धर्मके प्रवर्तक हुए हैं, उनके सम्बन्धमें कहा गया है कि होरब (Mount Horeb) पर योग-साधनके समय जब उनको प्रथम बार ईश्वरके प्रकाशके दर्शन हुए तो वे उस तेजको सहन न कर सके। इस रहस्यको उनके शिष्य योगमार्गसे अनभिज्ञ होनेके कारण नहीं समझ सके हैं।

(१) कुण्डलिनी शक्ति जब सुषुम्णा नाड़ीके अंदर प्रवेश होती है, तब उसकी पहिली टक्कर मूलाधार चक्रपर लगती है, इससे उपस्थ इन्द्रियपर दबाव पड़ता है; इसलिये मूलबन्ध सावधानीसे लगाये रहें।

(२) *उस समय स्थूल-जगत्‌से सूक्ष्म-जगत्‌में प्रवेश तथा स्थूल-शरीरसे सारे प्राणोंका प्रवाह* सुषुम्णा नाड़ीमें जाना आरम्भ होने लगता है, सारे बाह्य प्राण हाथ-पैर आदिसे खिंचावके साथ अंदर जाने लगते हैं; उस समय भयभीत न होना चाहिये; अन्यथा भयकी वृत्ति आनेके साथ ही प्राण फिर उतर जायँगे और पछतावा रह जायगा।

(३) विद्युन्मय सूक्ष्म नाड़ियों, चक्रों, तन्मात्राओं तथा तत्त्वों आदिके प्रकाश इतने अलौकिक होते हैं कि साधकको प्रथम अवस्थामें उनका सहन करना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार सूक्ष्म-जगत्‌के शब्द भी अपरिचित होनेके कारण अति भयानक प्रतीत होते है। इसलिये द्रष्टा बनकर देखता रहे; अन्यथा भयकी वृत्ति आनेके साथ ही कुण्डलिनी शक्ति जहाँ पहुँची है, वहींसे फिर लौट जायगी।

(४) सूक्ष्म-जगत् स्थूल-जगत्‌से अति विलक्षण है, वहाँकी सूक्ष्मता और विलक्षणता भी प्रथम अवस्थामें भयका कारण बन सकती है, उससे भयभीत न हों।

(५) कभी-कभी अप्रिय और भयंकर दृश्य भी सम्मुख आते हैं, वह कुछ हानि नहीं पहुँचा सकते; स्वयं हट जाते हैं, उनसे भय उत्पन्न न हो।

(६) भ्रुकुटि अथवा ब्रह्मरन्ध्रमें प्राण रुक जानेके पश्चात् शवासनसे लेटकर ध्यान करनेसे शरीरके सीधे रहनेके कारण प्राणोंका प्रवाह कुण्डलिनीमें खिंच आने और फिर उससे सुषुम्णा नाड़ीमें प्रवेश

होनेमें आसनसे बैठनेकी अपेक्षा सुगमतासे होता है, परंतु इस तरह लेटकर क्रिया करना स्वास्थ्यके लिये लाभदायक नहीं है ।

चित लेटनेकी अवस्थामें जब मूलाधार चक्रपर सारे प्राणोके वेगकी टक्कर लगती है और इसलिये उपस्थ-इन्द्रियपर अधिक खिचाव पडता है, उस समय मूलबन्ध पूरी दृढ़ताके साथ बँधा रहना चाहिये; अन्यथा कमजोर क्षीण शुक्रवालोके लिये वीर्य अथवा मूत्र निकलनेकी सम्भावना हो सकती है ।

(७) ये सब प्रकारके भय उसी समयतक रहते हैं, जबतक कुण्डलिनी भ्रुकुटितक न पहुँच जाय । आज्ञाचक्रपर स्थिर होनेके पश्चात् कोई भय नही रहता । उस समय सारे सूक्ष्म-जगत्का ज्ञान प्राप्त हो सकता है, जिस ओर वृत्ति जाती है उसीका यथार्थ स्वरूप समक्ष आने लगता है । यही वास्तविक समाधि है । जब सहस्रारमें पहुँचती है तो सारी वृत्तियोका निरोध होकर असम्प्रज्ञात-समाधि सिद्ध होती है ।

(८) एक बार कुण्डलिनी जाग्रत् हो जानेपर यह न समझना चाहिये कि सर्वदा ऐसा ही होता रहेगा । मन तथा शरीरकी स्वस्थ अवस्था, निर्मलता, सूक्ष्मता, विचारोकी पवित्रता और वैराग्यका बना रहना अत्यावश्यक है, इनके अभावमें यह कार्य बंद हो सकता है ।

(९) भ्रुकुटि, ब्रह्मरन्ध्र आदि स्थानोंपर प्राणोंके ठहर जानेको कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाना न समझना चाहिये, किंतु सारे प्राणोका प्रवाह जब स्थूलशरीरसे सुषुम्णा नाड़ीमें आ जाय और स्थूल-शरीर तथा स्थूल-जगत्से बेसुध होकर सूक्ष्म-शरीर तथा सूक्ष्म-जगत्में प्रवेश हो जाय तो कुण्डलिनी शक्ति-का जाग्रत् होना समझना चाहिये ।

(१०) मासभक्षण करनेवाले तो योगमार्गके अधिकारी ही नहीं हो सकते, इसलिये मास तो सदा अभक्ष्य ही है । मादक पदार्थ, शराब, भङ्ग, सुलफा, सिगरेट, बीडी आदि; लाल मिर्च, खटाई, तेल, गरिष्ट, वादी, कोष्ठबद्धता करनेवाले और कफवर्द्धक तथा तीक्ष्ण पदार्थोंका सेवन न करे । ध्यान तथा प्राणके उत्थानसे उत्पन्न होनेवाली खुश्की और गर्मीको दूर करनेके लिये दही, छाँछ और मट्ठेका सेवन कदापि न करे, इससे वायु आदिके कई रोग उत्पन्न हो जाते है । ऐसी अवस्थामें घृत, बादामका छौंका तथा मीठे बादामका रोगन और दूध लाभदायक होता है ।

(११) मैथुन, कुसङ्ग, क्रोध, शोक, भय आदि उत्पन्न करनेवाली बातो तथा अधिक शारीरिक परिश्रमवाले कार्योंसे इन दिनो बचा रहे ।

(१२) आहार—सूक्ष्म, सात्त्विक, स्निग्ध पदार्थ, दाल मूँग, सब्जी, लौकी, पपीता आदि; दूध, घी (घृत और बादाम, कासनी, सौंफ, काली मिर्चका छौंका जिसकी विधि सा० पा० सू० ३२ के वि० व० में बतलायी जायगी) एवं मीठे स्वास्थ्य-वर्द्धक फल, मेवेका रहना चाहिये ।

(१३) शरीरका शोधन बस्ती (एनिमा) से होता रहे, आँतोमें मल न रहने पावे, न कब्जी रहे, धौती, नेती भी होती रहे तो अच्छा है; किसी रेचक ओषधि—इतरीफल, त्रिफला, त्रिकुटा आदिका सेवन अच्छा है । (वि० व० सूत्र २ । ३२)

(१४) कुपथ्य करनेसे प्रमेह, वायु-विकार, शरीर-कम्पन आदि रोगोमे ग्रस्त हो जानेका भय है ।

(१५) शारीरिक ब्रह्मचर्यके समान मानसिक तथा आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य अति आवश्यक है, अर्थात् आध्यात्मिक शक्तियोंका शारीरिक कामोंमें प्रयोग तथा अपने अनुभवोंको दूसरेपर प्रकट न करना चाहिये; अन्यथा शक्तियोंके खोये जानेकी सम्भावना है।

(१६) इस मार्गमें आडम्बर, बनावट (Fashion) से बचते हुए अपनी शक्तियों तथा अनुभवों-को छिपाये हुए साधारणावस्थामें रहना कल्याणकारी है। इसी सम्बन्धमें बतलाया गया है—

यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः॥
गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत्।
अन्धवच्च जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत्॥

जिसको कोई सत या असत, अश्रुत या बहुश्रुत, सुवृत्त या दुर्वृत्त नहीं जानता, वह ब्रह्मनिष्ठ योगी है। गूढ़ धर्मका पालन करता हुआ विद्वान् योगी दूसरोंसे अज्ञातचरित रहे। अन्धेके समान, जडके समान और मूकके समान पृथ्वीपर विचरण करे।

(१७) विशेष दूसरे पादके सूत्र ३०, ३१, ३२, ४६, ४७, ४९, ५०, ५१ के वि० वि० तथा वि० व० मे देखे।

(१८) सं० ५ में बतलाये हुए दृश्य ध्यानकी निचली प्रकाशरहित अवस्थामें ही सामने आते हैं और अधिकतर अपना कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं रखते हैं। मनकी एकाग्रतामें अपने ही पिछले सस्कार वृत्तिरूपसे उदय हो जाते है। निर्भय होकर उनको द्रष्टा बनकर देखता रहे और यदि कोई अभ्यासी अपने पिछले सस्कारवश इनको वास्तविक रूपसे ही अनुभव करे और उनसे अपना अनिष्ट समझकर उनको हटाना चाहे तो सकल्पमात्रसे ही अथवा ॐ या गायत्रीके जापसे तुरंत ही अदृश्य हो जायँगे।

(१९) और वे जो ज्योतिर्मय अद्भुत दिव्य प्रकाशके साथ सामने आते हैं, उनमें भी आसक्त न हो। केवल द्रष्टारूपसे देखता रहे। वे भी अधिकतर अपने ही सात्त्विक संस्कार होते हैं, जो चित्तकी प्रकाशमय अवस्थामें वृत्तिरूपसे उदय होते है तथा ब्रह्मलोकतक जो सात्त्विक संसार है, वह भी चित्तकी वृत्तिरूपसे ही द्रष्टाके सामने आता है। सम्प्रज्ञात समाधिकी यह प्रकाशमय अवस्था उस सबीजमुक्तिका अनुभव कराती है, जिसका वर्णन १८ सूत्रके विशेष वक्तव्यमें किया गया है।

(२०) स० १६ में बतला आये हैं कि योगकी शक्तियोंको सांसारिक व्यवहारकी बातोंमें प्रयोग करना अहितकर है। इस सम्बन्धमें एक साधकने जो अपनी प्रारम्भिक अवस्थाका अनुभव बतलाया है, उसको अन्य साधकोंके हितार्थ लिखते है। उस अभ्यासीने बतलाया कि बडे तप और साधनके पश्चात् जब उसको किसी एक आसनसे छः-सात घंटे बैठनेका अभ्यास हो गया और प्राण भी किसी विशेष स्थानपर उतनी देरतक स्थिर होने लगे, तब गुरुकृपा और ईश्वर-अनुग्रहसे एक रात दो बजेके समय कुण्डलिनी जाग्रत् हुई। उस दिनसे लगभग दो बजे रातके चाहे वह जागता हो, सोता हो, बैठा हो या भजन कर रहा हो स्वयमेव विचित्र सनसनाहटके शब्दोंके साथ उसके शरीरके सारे स्थूलप्राण सुषुम्णा नाडीमें प्रवेश कर जाते और इस स्थूलशरीरसे परे होकर सूक्ष्म जगत्के नाना प्रकारके अनुभवोंको वह ग्रहण करने लगता। कुछ दिनोंतक इसी प्रकारसे कार्यक्रम चलता रहा। उसने पाश्चात्य (Spiritualism)

स्पिरिच्युलिज्मकी बातोंमें सुन रखा था कि सब मृतक आत्माओंसे बातचीत हो सकती है (वास्तवमें यह बात ठीक नहीं है; इसको साधनपाद सूत्र ३२ के विशेष वक्तव्यमें सम्मोहन शक्तिके प्रकरणमें समझाया जायगा)। उसका एक सम्बन्धी जिसके प्रति उसका मोह था कुछ समय पूर्व मर चुका था। एक दिन उसने संकल्प किया कि आज रात अपने निश्चित समयपर उसको देखेंगे कि वह कहाँ है। ठीक रातके दो बजेके पश्चात् जब सूक्ष्म जगत्के अनुभवका कार्य आरम्भ हुआ तो उसके समक्ष एक गर्भ आया। पूछनेपर अपमान और घृणाके साथ बतलाया गया कि यह वह व्यक्ति है जिसको तुम देखना चाहते हो। इस गर्भरूपमें अमुक घर और अमुक स्थानमें है। यह सब बातें कई मासके पश्चात् ठीक निकलीं; किंतु उसी दिनसे उस साधकका वह कार्य बंद हो गया और दो वर्षतक कई घृणित रोगोंमें ग्रस्त रहा, जिनके कारण अभ्यासपर बैठना असम्भव हो गया। अन्तमें रानपर गाँठवाले फोड़े निकलने आरम्भ हुए। जब पाँचवाँ फोड़ा निकल रहा था तब एक दिन उसको अपनी इस अधोगतिकी अवस्थापर अत्यन्त शोक और दुःख हुआ। उस रात दोनो हाथोंको नीचेकी ओर सीधा करके दीवारका सहारा लेकर यह निश्चय कर लिया कि पिछली अवस्थाको प्राप्त किये बिना न उठेगा। अधिक समय बीतनेके पश्चात् उस अवस्थामें प्रकाशके साथ एक आवाज आयी 'कल आयेगे'। उसने उत्तर दिया नहीं आज ही आना पडेगा। थोड़ी देरके पश्चात् उस प्रकाशमें एक और अत्यन्त दिव्य प्रकाशके साथ एक विशाल दिव्य प्रकाशमय आकृति उसके समक्ष आयी। उस समयकी सारी बाते वह साधक बतलाना नहीं चाहता, किंतु उस सारी रात तथा उसके पश्चात् कई दिनतक सुरीले मनोरञ्जक वेदोंके मन्त्र सुनायी देते रहे। उस दिनसे उसका कार्य फिर पूर्ववत् आरम्भ हो गया; किंतु यह उससे कुछ विचित्र रूपका था। इसमें पिछली-जैसी मनोरञ्जकता और आकर्षण तो न था, किंतु उससे अधिक आध्यात्मिकताकी ओर ले जानेवाला था। सम्भव है कि पिछले अनुभवोंकी सूक्ष्मताको अधिक समयतक सहन करनेयोग्य उसका स्थूलशरीर न हो और उसको कुछ विशेष भोगोंका भोगना और विशेष कार्योंका करना हो।

ईश्वरकी ओरसे जो कुछ भी होता है, वह मनुष्यके कल्याणार्थ ही होता है; किंतु हमारा उद्देश्य केवल इतना बता देना है कि इन शक्तियोंका सांसारिक कार्योंमें प्रयोग न करना चाहिये।

अपने अनुभवोंको दूसरोंपर प्रकट करनेमें जहाँ अपनी इन शक्तियोंका ह्रास होना तथा अभिमान और अहंकारका होना है, वहाँ दूसरोंके लिये भी अहितकर है। योगकी रहस्यपूर्ण बातोंको साधारण लोग समझनेमें असमर्थ होते हैं। परिणामरूप कुछ अन्धविश्वासी बनकर धोका खाते हैं और कुछ पाखण्ड रचकर सीधे-सच्चे लोगोंको धोका देते हैं। परस्पर भी एक दूसरेको अनुभव बतानेमें राग-द्वेष, असन्तोष और अभिमानकी वृत्तियाँ उदय होकर साधनामें विघ्नकारी होती हैं।

सङ्गति—अब चित्त-स्थितिका दूसरा उपाय बतलाते हैं—

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—विषयवती=(गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द) विषयोवाली; वा=अथवा; प्रवृत्तिः=प्रवृत्ति; उत्पन्ना=उत्पन्न हुई; मनसः=मनकी; स्थितिनिबन्धिनी=स्थितिको बाँधनेवाली होती है।

अन्वयार्थ—अथवा (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द) विषयोवाली प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मनकी स्थितिको बाँधनेवाली होती है।

व्याख्या—नासिकाके अग्रभागमें सयमकी दृढ़तासे जो दिव्य गन्धका साक्षात्कार होता है, उसको गन्धप्रवृत्ति तथा गन्ध-संवित् कहते हैं ।

जिह्वाके अग्रभागमें संयमकी स्थिरतासे जो दिव्य रसका साक्षात्कार होता है, उसे रसप्रवृत्ति तथा रससंवित् कहते हैं ।

तालुमें संयमकी स्थितिमें जो दिव्य रूपका साक्षात्कार होता है, उसको रूपप्रवृत्ति और रूप-सवित् कहते हैं ।

जिह्वाके मध्यभागमे संयम करनेसे जो दिव्य स्पर्शका साक्षात्कार होता है, उसका नाम स्पर्श-प्रवृत्ति और स्पर्श-संवित् है ।

जिह्वाके मूलमे संयमकी दृढ़तासे जो दिव्य शब्दका साक्षात्कार होता है, उसको शब्दप्रवृत्ति और शब्दसंवित् कहते हैं ।

इस प्रकार ये प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुई चित्तकी स्थितिको बाँधती हैं, संशयको नाश करती है, समाधि-प्रज्ञाकी उत्पत्तिमें द्वाररूप होती हैं । चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र, मणि, प्रदीप, रत्न, प्रभादिमें चित्तके संयमसे जो इनका साक्षात्कार होता है, वह भी विषयवती प्रवृत्ति ही जाननी चाहिये ।

भाष्यकार लिखते है कि यद्यपि शास्त्र, अनुमान और आचार्यके उपदेशसे सम्यक् जाना हुआ अर्थ यथार्थ ही होता है; क्योकि शास्त्र और आचार्य यथार्थ अर्थके प्रतिपादनमें समर्थ होते हैं तथापि शास्त्रो और आचार्योंसे उपदेश किये हुए पदार्थोंमें जबतक किसी एक सूक्ष्मपदार्थका साक्षात्कार नहीं होता, तबतक कैवल्यपर्यन्त सूक्ष्म और सूक्ष्मतम पदार्थोंमें दृढ विश्वास नहीं होता । इसलिये शास्त्र, अनुमान और आचार्यके उपदेशमें दृढ विश्वास उत्पन्न करनेके लिये किसी एक सूक्ष्म, व्यवहित अथवा विप्रकृष्ट पदार्थका साक्षात्कार संयमकी दृढ़ताके लिये अवश्य करना चाहिये ।

जब शास्त्रादि-उपदिष्ट अर्थका एक देशमें जिज्ञासुको प्रत्यक्ष हो जाता है, तब कैवल्यपर्यन्त जितने सूक्ष्म विषय हैं, उन सबमें उसका श्रद्धापूर्वक दृढ विश्वास हो जाता है । इसीलिये इन विषयवती प्रवृत्तियोंका निरूपण किया गया है, जिनका शीघ्र साक्षात्कार हो जाता है ।

इन प्रवृत्तियोमेंसे किसी एक प्रवृत्तिके लाभसे उस शास्त्रोक्त अर्थमें वशीकारिता (स्वाधीनता) के होनेसे उस शास्त्रोक्त अर्थके प्रत्यक्ष करनेमें पुरुषकी सहज ही शक्ति हो जाती है और शास्त्रोक्त अर्थमें श्रद्धाकी अधिकतासे श्रद्धा, वीर्य, स्मृति और समाधिका लाभ भी योगीको निर्विघ्न हो जाता है ।

अतः विश्वास और श्रद्धाके लिये तथा चित्तकी स्थितिके लिये पहिले इन विषयवती प्रवृत्तियोंमेंसे किसी एकका सम्पादन करना चाहिये ।

विशेष विचार—सूत्र ३५—सूत्रकी व्याख्यामें गन्ध-विषयका स्थान नासिकाका अग्रभाग, रसना-विषयका जिह्वाका अग्र-भाग, रूप-विषयका तालु, स्पर्श-विषयका जिह्वाका मध्यभाग और शब्द-विषयका जिह्वाका मूल स्थान बतलाया है ।

वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात—इन स्थानोंपर यदि स्थूल ग्राह्य विषयोंका अर्थात् किसी विशेष गन्ध, रस, रूप, स्पर्श अथवा शब्दका ध्यान किया जाय तो जब पूरी एकाग्रता होनेपर उसका साक्षात्कार होने लगे तब वह वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि होगी ।

विचारानुगत सम्प्रज्ञात—यदि वहाँ न रुककर एकाग्रताको और अधिक बढाया जाय अथवा इनके सूक्ष्म विषय तन्मात्राओं तकका साक्षात्कार होने लगे तो वह विचारानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि कहलायगी ।

आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात—यदि उसमें भी रागको छोड्कर ध्यानको अन्तर्मुख किया जाय तो अहंकारका साक्षात्कार होने लगेगा । यह अहंकार गन्ध आदि विषय-जैसी कोई ग्राह्य वस्तु नहीं है, न इसका इस प्रकार-जैसा साक्षात्कार होता है । इसमें एक विचित्र आनन्दके साथ बाहरके सारे व्यवहारोंसे भूली-जैसी अवस्था होती है, किंतु यह भूलापन स्वप्न अथवा सुषुप्ति-जैसा नहीं होता । इसमें अहं-वृत्तिसे अहंकारका साक्षात्कार होता है । यही अहंकार है और इस समाधिका नाम आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि होगा ।

अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात—यदि आनन्दानुगतमें आसक्ति और लगावको छोड़कर ध्यानको और अदरकी ओर बढ़ाया जाय तो अस्मिता (पुरुषसे प्रतिबिम्बित चित्त सत्त्व) का साक्षात्कार होने लगता है, इसमें भी चित्तका किसी ग्राह्य विषय-जैसा साक्षात्कार नहीं होता । इसकी प्रथम अवस्थाका ही कुछ वर्णन हो सकता है । अन्तिम अवस्थाका यथार्थ रूप शब्दोंमें नहीं आ सकता । इसमें अहंकारद्वारा आत्म-तत्त्वको अहं-भावसे प्रतीति करानेवाली 'अहंवृत्ति' नहीं रहती । कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ममता, देश, दिशा, काल आदिसे भिन्न आत्म-तत्त्वकी प्रतीति होती है । बीच-बीचमें ध्यानके शिथिल होनेपर जब कोई अहंकारवाली वृत्ति आकर अपने कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ममताकी सीमासे परिच्छिन्न अवस्थाकी स्मृति कराती है तो उस दशामें बड़ा आश्चर्य होता है । इसकी उच्चतम अवस्था विवेकख्याति है, जिसमें चित्तसे भिन्न आत्माका साक्षात्कार होता है, किंतु यह चित्तद्वारा आत्मसाक्षात्कार वास्तविक नहीं है ।

इसमें भी राग और आसक्तिके छूटनेपर और अदरकी ओर घुसनेपर (परवैराग्यद्वारा) जब यह वृत्ति भी न रहे, तब सब वृत्तियोंके निरोध होनेपर स्वरूपावस्थिति होती है; किंतु ये सब बातें एक साथ अथवा सुगमता और शीघ्रतासे आनेवाली नहीं है । दीर्घकालतक निरन्तर सत्कारसे अभ्यास करते हुए और क्रम-क्रमसे भूमियोंको विजय करते हुए धैर्यके साथ उन्नति करते रहना चाहिये ।

अधिकारी पाठकोंकी जानकारीके लिये यह भी बता देना आवश्यक है कि सम्प्रज्ञातकी सिद्धिके लिये भ्रुकुटि (आज्ञा-चक्र) और असम्प्रज्ञात-समाधिकी सिद्धिके लिये ब्रह्मरन्ध्र (सहस्रार) ध्यानके लिये सबसे उत्तम स्थान हैं, किंतु अभ्यासके लिये आरम्भमें अंदरसे इन स्थानोंका अनुमान-द्वारा पता लगाना कठिन होता है । यदि रूपविषयका स्थान जो तालु है, उसके समक्ष अंदरसे ध्यान किया जाय तो ध्यान स्वयं भ्रुकुटि (आज्ञाचक्र) तक पहुँच जाता है । इसी प्रकार जिह्वामूल (ऊपरका स्थान अथवा छोटी जिह्वा) जो शब्द-विषयका स्थान है, वहाँसे तालुकी ओर ऊपरको ध्यान किया जाय तो ध्यान ब्रह्मरन्ध्रतक स्वयं पहुँच जाता है । ध्यानके लिये तालुको भ्रुकुटिका द्वार और जिह्वामूल अथवा छोटी जिह्वाको ब्रह्मरन्ध्रका द्वार समझना चाहिये । कहीं-कहीं जिह्वामूलसे ऊपर तालुमूल-को एक ललनाचक्रका स्थान बतलाया है ।

सगति—चित्त-स्थितिका विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति तीसरा उपाय अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—विशोका=शोकरहिता वा=अथवा, ज्योतिष्मती=प्रकाशवाली (प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मनकी स्थितिको बाँधनेवाली होती है)।

अन्वयार्थ—अथवा शोकरहित प्रकाशवाली प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मनकी स्थितिको बाँधनेवाली होती है।

भाष्य में—सूत्रमें 'उत्पन्न मनसः स्थितिनिबन्धिनी'—'उत्पन्न हुई मनकी स्थितिको बाँधनेवाली होती है'—इस पदका सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिये। विशोका=सुखमय (सात्त्विक) अभ्याससे जिसका शोक (दुःख) अर्थात् रजोगुणका परिणाम दूर हो गया है। ज्योतिः=सात्त्विक प्रकाश। ज्योतिष्मती प्रवृत्ति=सात्त्विक प्रकाश जिसमें अधिक या श्रेष्ठ हो, वह प्रवृत्ति ज्योतिष्मती कहलाती है।

जिस प्रकार पूर्वोक्त विषयवती प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मनको स्थिर कर देती है, वैसे ही 'विशोका ज्योतिष्मती' सात्त्विक प्रवृत्ति भी उत्पन्न होकर चित्तको स्थिर कर देती है।

जैसे विषयवती प्रवृत्तिके नासिका-अग्रभाग, जिह्वा-अग्रभागादि पाँच विशेष स्थान हैं, जहाँ मनको स्थिर किया जाता है; वैसे ही 'विशोका ज्योतिष्मती' प्रवृत्तिके भी सुषुम्णा नाडीमें विद्यमान मणिपूरक, अनाहत, आज्ञा आदि सात पद्म अर्थात् चक्र (जिनका सूत्र चौंतीसके वि० व०में वर्णन कर दिया गया है) विशेष स्थान हैं, जहाँ चित्तको स्थिर करना होता है।

भाष्यकारने इन चक्रोंमेंसे हृदयकमल अर्थात् अनाहत-चक्रमें मनको स्थिर करनेका वर्णन इस प्रकार किया है—

हृदय-कमलमें धारणा करनेसे (योगीको) जो बुद्धि-संवित् होती है (बुद्धि-सत्त्व भास्वर आकाश-सदृश है), उसमें स्थितिकी दृढ़तासे प्रवृत्ति सूर्य, चन्द्र, मणि और प्रभा रूपाकारसे विकल्पित होती है। इसी भाँति अस्मितामें समापन्न चित्त निस्तरङ्ग समुद्रके सदृश शान्त, अनन्त और अस्मिता मात्र होता है, जिसमें कि यह कहा है 'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येव तावत् सम्प्रजानीते' उस अणुमात्र आत्माको जानकर अस्मि (हूँ) इतना ही जानता है। यह दो प्रकारकी विशोका विषयवती और अस्मितामात्र प्रवृत्ति ज्योतिष्मती कहलाती है, जिससे योगीका चित्त स्थिर होता है।

भाव यह है कि नाभिके ऊपर हृदय-देशमें जो हृदय-पद्म है, यद्यपि वह मुख नीचेकी ओर, नालिकाके ऊपरकी ओर होनेसे अधोमुख है तथापि प्रथम रेचक (जैसे प्रच्छर्दन सूत्र ३४) प्राणायामके अभ्यासद्वारा वह ऊर्ध्वमुख और प्रफुल्लित किया जाता है। उस ऊर्ध्वमुख प्रफुल्लित पद्मके मध्यमें 'ॐ' है, उसका 'अकार' सूर्यमण्डल और जाग्रत् स्थान है। उसके ऊपर 'उकार' चन्द्रमण्डल और स्वप्न-स्थान है। उसके ऊपर 'मकार' वह्निमण्डल और सुषुप्ति-स्थान है। उसके ऊपर आकाश-स्वरूप ब्रह्मनाद तथा अर्द्धमात्र तुरीय स्थान है। उस कमलकी कर्णिकाओंमें स्थित जो ऊर्ध्वमुखी सुषुम्णा नाडी है, उसको ब्रह्मनाडी भी कहते हैं (अथवा उसके बीचमें उससे भी सूक्ष्म एक और नाडी है जो ब्रह्मनाडी कहलाती है)। यह नाडी आन्तरिक सूर्यादि मण्डलोंके बीचसे होकर मूर्द्धापर्यन्त चली गयी है। इसलिये यह नाडी बाह्य सूर्यादि मण्डलोंसे भी सम्बद्ध है। यही चित्तका निवास-स्थान है। जब योगी उसमें बुद्धिविषयक संयम करता है, तब वह सात्त्विक ज्योतिःस्वरूप आकाश-तुल्य भासता हुआ चित्त

कभी सूर्य, कभी चन्द्र, कभी नक्षत्र, कभी मणि-प्रभा आदि रूपकी आकृतिवाला भान होता है। फिर उस बुद्धिसत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है। यह ज्योति:स्वरूप बुद्धि-सत्त्वका साक्षात्कार ज्योतिष्मती प्रवृत्तिपदका वाच्य है। इसमें पूर्वोक्त सूर्यादि अनेक विषय रहते हैं, इसलिये यह भी विषयवती है और सत्त्वगुण-प्रधान होनेसे यह वृत्ति रजोगुण, तमोगुणसे रहित है, इसलिये विशोका कहलाती है।

इसी प्रकार अस्मितामें धारणा किया हुआ चित्त जब निस्तरङ्ग समुद्रके तुल्य शान्त और अनन्त होकर सत्त्व-प्रधान हो जाता है, तब उस चित्तकी दशाको अस्मिता-मात्र ज्योतिष्मती कहते हैं। इसी अस्मिताके विषयमें पञ्चशिखाचार्यका निम्नलिखित सूत्र है—

तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्सम्प्रजानीते।

उस अणुमात्र अस्मिताका धारणापूर्वक अनुभव 'हूँ' इस प्रकार जानता है।

इन सबमेंसे प्रथम निरूपित जो बुद्धि—सवित् (बुद्धि-साक्षात्कार-रूप प्रवृत्ति) है, उसका नाम विषयवती ज्योतिष्मती प्रवृत्ति है और दूसरी जो अस्मिता-स्वरूप चित्तकी प्रवृत्ति है, वह अस्मिता-मात्र ज्योतिष्मती कहलाती है। विशोका इन दोनोंका विशेषण है, क्योंकि शोकके कारण रजोगुणसे ये दोनों शून्य हैं।

इन दोनों प्रवृत्तियोंके उत्पन्न होनेसे भी योगीका चित्त स्थितिपदकी योग्यता प्राप्त कर लेता है।

सङ्गति—मनके स्थिर करनेका अन्य चौथा उपाय बतलाते हैं—

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ—वीतराग-विषयम्=रागरहित योगियोंके चित्त-विषयक संयम करनेवाला; वा=अथवा; चित्तम्=चित्त (मनकी स्थितिको बाँधनेवाला होता है)।

अन्वयार्थ—अथवा रागरहित योगी-गणके चित्तविषयक संयम करनेवाला (आलम्बनवाला) चित्त मनकी स्थितिको बाँधनेवाला होता है।

व्याख्या—'मनसः स्थितिनिबन्धिनी'—मनकी स्थितिको बाँधनेवाला होता है—इतना मिलानेसे सूत्रका अर्थ पूरा होता है।

जिन महान् योगियोंने विषयोंकी अभिलाषा पूर्णतया छोड़ दी है, जिसके कारण उनके चित्तसे अविद्यादि क्लेशोंके संस्कार मिट गये हैं, उनके चित्तका ध्यान करनेवाले चित्तमें भी वैसे ही सात्त्विक संस्कार उत्पन्न होते हैं और वह सुगमतासे एकाग्र हो जाता है।

सूत्रका यह भी अर्थ निकल सकता है कि साधक यदि क्रमशः विषयरागरहित अवस्थाको प्राप्त करके पूर्ण वैराग्यकी भूमिपर पहुँच जाय तो भी मनकी स्थितिको बाँधनेमें समर्थ हो जाता है।

संगति—चित्तकी एकाग्रताका अन्य पाँचवाँ उपाय अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—स्वप्न-निद्रा-ज्ञान-आलम्बनम्=स्वप्नज्ञान और निद्राज्ञानको आलम्बन करनेवाला; वा=अथवा (चित्त मनकी स्थितिको बाँधनेवाला होता है)।

अन्वयार्थ—अथवा स्वप्नज्ञान और निद्राज्ञानको आश्रय करनेवाला चित्त मनकी स्थितिको बाँधनेवाला होता है।

व्याख्या—'चित्तं मनसः स्थितिनिबन्धनम्'—'चित्त मनकी स्थितिको बाँधनेवाला होता है'—इतना मिलानेसे सूत्रका अर्थ पूरा होता है।

जाग्रत्-अवस्थामें चित्तमें रजोगुण प्रधान होता है, इस कारण वृत्तियाँ बहिर्मुख होती हैं। स्वप्नमें रजोगुण बना रहता है; परतु तमोगुणसे आच्छादित होता है, इस कारण वृत्तियाँ अन्तर्मुख हो जाती हैं। निद्रामें तमोगुण रजोगुणको प्रधान-रूपसे पूर्णतया दबा लेता है, इस कारण उस समय केवल अभावकी प्रतीति करानेवाली वृत्ति रहती है।

स्वप्न और निद्रा-ज्ञान-आलम्बनसे यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार स्वप्नमें तमोगुणके कारण वृत्तियाँ अन्तर्मुख होती हैं, इसी प्रकार ध्यानकी अवस्थामे तमके स्थानपर सत्त्वगुणसे वृत्तियोको अन्तर्मुख करना चाहिये और जिस प्रकार निद्रामे तमोगुणकी अधिकतासे अभावकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार सत्त्वगुणकी प्रधानतासे एकाग्रता उत्पन्न करनी चाहिये, जिससे वस्तुका यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो। इस प्रकार स्वप्न और निद्राके ज्ञानका आलम्बन करने (सहारा लेने) से मन स्थिर हो जाता है।

इस सूत्रके ये अर्थ भी निकल सकते है कि जिस प्रकार कभी-कभी मनुष्य अच्छे सात्त्विक और मनोरञ्जक स्वप्नके तथा गहरी सात्त्विक निद्राके पश्चात् जागनेपर भी कुछ समयतक यत्नपूर्वक उसी अवस्थाको बनाये रखता है, इसी प्रकार जाग्रत्-अवस्थासे भूले-जैसे होकर वृत्तियोको अन्तर्मुख करते रहनेसे चित्त एकाग्र हो जाता है।

टिप्पणी सूत्र ३८—विज्ञानभिक्षुने सूत्रकी व्याख्या निम्न प्रकार की है। स्वप्नरूप जो ज्ञान उस आलम्बनवाला चित्त अर्थात् प्रपञ्च-ज्ञानमें स्वप्नदृष्टिवाला चित्त जैसा कि कहा है 'दीर्घ-स्वप्नमिमं विद्धि दीर्घं वा चित्तविभ्रमम्' 'इस प्रपञ्चको लबा स्वप्न जानो या लबा चित्तका भ्रम समझो' यह दृष्टि कामदुघत्वादि गुणोसे वाणीमें धेनु-दृष्टिके समान है। क्षणभंगुर आदि गुणोसे जाग्रत् ज्ञानमें दृष्टिरूप है। यह भी वैराग्यद्वारा चित्तकी स्थिरताकी कारण है—यह आशय है। निद्यारूप ज्ञान ही है आलम्बन जिसका वह निद्रा-ज्ञान-आलम्बन चित्त स्थिर हो जाता है। विस्मृतरूप सब जीवोंमें सुषुप्ति दृष्टिवाला चित्त स्थिर हो जाता है। जैसा कि कहा है—

ब्रह्माद्यं स्थावरान्तं च प्रसुप्तं यस्य मायया।
तस्य विष्णोः प्रसादेन यदि कश्चित् प्रमुच्यते॥
चराचरं लय इव प्रसुप्तमिह पश्यताम्।
किं मृषा व्यवहारेषु न विरक्तं भवेन्मनः॥

ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त जिसकी मायासे प्रसुप्त है, उस विष्णुकी कृपासे ही कोई मुक्त होता है। यहाँ इस चराचरको लयकी भाँति प्रसुप्त देखनेवाले पुरुषका मन मिथ्या व्यवहारमें विरक्त क्यों न हो अर्थात् अवश्य हो जाता है।

सङ्गति—मनुष्योकी रुचियाँ भिन्न-भिन्न होनेसे जिस वस्तुमें जिसकी अधिक रुचि हो, उसीका वह ध्यान करे—अगले सूत्रमे यह बतलाकर प्रवृत्तिके प्रकरणको समाप्त करते हैं—

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—यथा-अभिमत-ध्यानात्=जिसको जो अभिमत हो उसके ध्यानसे (मनकी स्थिति बँध जाती है); वा=अथवा ।

अन्वयार्थ—अथवा जो जिसको अभिमत (इष्ट) हो, उसके ध्यानसे मनकी स्थिति बँधं जाती है ।

व्याख्या—मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न रुचियाँ होती हैं, इस कारण जिसकी जिसमें शास्त्रीय मर्यादानुसार सात्त्विक श्रद्धा हो, उसमें ध्यान लगानेसे चित्त एकाग्र हो जाता है ।

इस प्रकार जब चित्तमें एकाग्रताकी योग्यता प्राप्त हो जाय तो उसको जहाँ चाहें लगा सकते हैं ।

सङ्गति—चित्तके एकाग्र करनेके उपाय बतलाकर अगले सूत्रमें उनका फल बतलाते है—

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—परमाणु-परम-महत्त्व-अन्तः=परमाणु (सबसे बढकर सूक्ष्म) और परम-महत्त्व (सबसे बढकर महान्) पदार्थों पर्यन्त; अस्य=पूर्वोक्त उपायोसे स्थित हुए चित्तका; वशीकारः=वशीकार हो जाता है ।

अन्वयार्थ—पूर्वोक्त उपायोसे स्थित हुए चित्तका सूक्ष्म पदार्थोंमें परमाणुपर्यन्त और महान् पदार्थोंमें परम-महान् (आकाश) पर्यन्त वशीकार हो जाता है ।

व्याख्या—जब ऊपर बतलाये हुए उपायोंसे चित्तमें एकाग्र होनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है, तब वह पूर्णतया वशमें हो जाता है और छोटे-से-छोटे तथा बडे-से-बडे विषयमें बिना रुकावटके लगाया जा सकता है । फिर अन्य किसी उपायकी आवश्यकता नहीं रहती । सूक्ष्म विषयोंकी अवधि परमाणु है और वृहत् विषयोंकी अवधि आकाश है । जब इन दोनोंमें चित्त स्थित हो जाता है, तब स्थिरता चित्तके वशीभूत हो जाती है अर्थात् इच्छानुसार चित्तको स्थिर किया जा सकता है । इस प्रकार दोनो कोटियोंमें जाते हुए चित्तका जो रुकावटका न होना है, वह चित्तका परम वशीकार कहलाता है । इस वशीकारसे परिपूर्ण हुआ योगीका चित्त पुनः किसी अन्य अभ्यास-साध्य-स्थिति-उपायकी अपेक्षा नहीं रखता ।

सङ्गति—इस प्रकार इन उपायोद्वारा संस्कृत हुए चित्तकी किस स्वरूपवाली, किस विषयवाली और कैसी समापत्ति होती है ?—यह बतलाते है—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—क्षीण-वृत्तेः=जिसकी राजस-तामस वृत्तियाँ क्षीण हो गयी है (ऐसे स्वच्छ चित्तकी); अभिजातस्य-मणे. इव=उत्तम जाति (अति-निर्मल) स्फटिक मणिके समान, ग्रहीतृ=अस्मिता, ग्रहण=इन्द्रिय; ग्राह्येषु=स्थूल भूतादि पदार्थ तथा तन्मात्रातक सूक्ष्म विषयोंमें; तत्स्थ=एकाग्र स्थित होकर तदञ्जनता=उन्हींके स्वरूपको प्राप्त हो जाना; समापत्तिः=समापत्ति (तदाकार होना) है ।

अन्वयार्थ—राजस-तामस वृत्तिरहित स्वच्छ चित्तकी उत्तम जातीय (अति-निर्मल) मणिके समान ग्रहीता (अस्मिता), ग्रहण (इन्द्रियाँ), ग्राह्य (स्थूल तथा सूक्ष्म विषयो) में स्थित होकर उनके तन्मय हो जाना (उनके स्वरूपको प्राप्त हो जाना) समापत्ति (तद्रूप होना) है ।

व्याख्या—यहाँ ऊपर बतलाये हुए उपायोसे स्वच्छ हुए चित्तकी उपमा अति-निर्मल स्फटिक अर्थात्

विल्लोरसे दी गयी है। जिस प्रकार अति-निर्मल स्फटिकके सामने जैसी वस्तु नीली, पीली अथवा लाल वर्णकी रखी जाय तो वह वैसा ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार चित्तकी जब सब प्रकारकी राजस-तामस वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं, तब वह सत्त्वके प्रकाश और सात्त्विकताके बढ़नेसे इतना स्वच्छ हो जाता है कि उसको जिस वस्तुमें लगावें उसके तदाकार होकर उसको साक्षात् करा देता है, चाहे वह ग्राह्य अर्थात् स्थूल अथवा सूक्ष्म विषय हो, चाहे ग्रहण अर्थात् इन्द्रियाँ और अहकार और चाहे ग्रहीतृ अर्थात् अस्मिता हो।

यह वस्तुका साक्षात् कराना इस प्रकार होता है कि वह उस वस्तुके स्वरूपको धारण कर लेता है। चित्तके इस प्रकार तदाकार (वस्तु-आकार) हो जानेका नाम समापत्ति अर्थात् सम्प्रज्ञात-समाधि है।

यद्यपि अनुष्ठानके क्रमसे ग्राह्य, ग्रहण, ग्रहीतृ होना चाहिये था तथापि ध्येयकी और समाधिकी उत्कृष्टता-अपकृष्टता बतलानेके अभिप्रायसे ग्रहीतृ, ग्रहण, ग्राह्य इस क्रमसे सूत्रमे इसको बतलाया गया है।

सङ्गति—अब इस समापत्तिके चार भेद दिखलाते है—

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—तत्र=उन समापत्तियोमेंसे, शब्द-अर्थ-ज्ञान-विकल्पैः=शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पोसे (भेदोंसे): संकीर्णा=मिली हुई, सवितर्का-समापत्तिः=सवितर्क समापत्ति है। तर्क शब्दका प्राचीन अर्थ शब्दमय चिन्ता है। वितर्क=विशेष तर्क। जिस समाधि प्रज्ञामें वितर्क रहता है, वह सवितर्का समापत्ति है।

अन्वयार्थ—उन समापत्तियोमेंसे शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पो (भेदो) से मिली हुई (अर्थात् इन तीनो भिन्न-भिन्न पदार्थोका अभेदरूपसे जिसमें भान होता है) सवितर्क समापत्ति होती है।

व्याख्या—शब्द—जो कर्णेन्द्रियसे ग्रहण किया जा सके, अथवा अर्थोके विशेष योजना-रूप हो; जैसे 'गौ'।

अर्थ—जाति आदि, जैसे 'गौ'—चार पाद, दो सींग, सास्ना और पुच्छवाला पशु-विशेष।

ज्ञान—इन शब्द और अर्थ दोनोका प्रकाश करनेवाली सत्त्वप्रधान बुद्धिवृत्ति जो शब्द 'गौ' और उसके अर्थ 'गौ' को मिलाकर बतलाती है कि जो 'गौ' शब्द है उसीका यह 'गौ' पशु-विशेष-अर्थ है।

ये तीनो भिन्न हैं, परतु निरन्तर अभ्यासके कारण मिले हुए प्रतीत होते हैं। जब 'गौ' में चित्तको एकाग्र किया जाय, तब समाधिस्थ चित्तमे 'गौ' अर्थ, 'गौ' शब्द और 'गौ' ज्ञानके भेदोंसे वह मिला हुआ भासे अर्थात् जब इन तीनोमें तदाकार रहे, तब उस समापत्तिको सवितर्क समापत्ति कहेंगे। इसीको सविकल्प भी कहते है, क्योकि इसमे शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनोंका विकल्प बना रहता है। जब शब्द और ज्ञानका विकल्प (भेद) जाता रहे और केवल 'गौ' अर्थ ही चित्तमें भासता रहे, तब वह निर्वितर्क (वितर्करहित) समापत्ति कहलाती है।

इसको विस्तार-रूपसे यो समझना चाहिये कि 'गौ' ऐसा कहनेसे 'गौ अर्थ', 'गौ-शब्द' और 'गौ-ज्ञान' तीनों अभिन्न भान होते है। इनमें यद्यपि उदात्त, अनुदात्त आदि धर्मवाला 'गौ' शब्द भिन्न है, 'गौ' शब्दका अर्थ सास्ना, शृङ्ग, पुच्छ आदि धर्मवाला पशु-विशेष भिन्न है और 'गौ' शब्दसे जो ज्ञान होता है वह प्रकाश आदि धर्मवाला ज्ञान भी भिन्न है। इसी प्रकार घट-पट आदि शब्द, अर्थ और ज्ञान

भिन्न-भिन्न ही होते हैं तथापि शब्द, अर्थ और ज्ञानका अभेद-सा भान होता है। इसलिये असत्य, अभेद-विषयक होनेसे यह भान विकल्प-रूप ही है (१ । ९)।

जैसे कि 'गौ' यह शब्द है, यह एक विकल्प है। यह विकल्प 'गौ' इस अंशसे गृहीत हुए अर्थका और ज्ञानका शब्दसे अभेद-विषयक है। इसी प्रकार 'गौ' यह अर्थ है, यह दूसरा विकल्प है। ऐसे ही 'गौ' यह ज्ञान है; यह तीसरा विकल्प है। यह विकल्प 'गौ' इस अंशसे गृहीत हुए शब्दका और अर्थका ज्ञानसे अभेद-विषयक है।

भाव यह है कि शब्द, अर्थ और ज्ञान—ये तीनो परस्पर भिन्न-भिन्न है, परंतु शब्द-सकेतकी स्मृतिसे एकका ज्ञान होनेसे दूसरे दोनोका भी साथ ही भान होता है। इससे शब्द-ज्ञानपूर्वक—इस शब्द, अर्थ, ज्ञानके असत्य अभेद-विषयक होनेसे यह ज्ञान विकल्परूप है।

इसलिये संकेत-स्मृतिपूर्वक स्थूलभूत अर्थ या भौतिक पदार्थमें समाहित योगीके जो शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पसे मिश्रित समाधि होती है, वह सवितर्क समापत्ति है।

और जब शब्द-संकेतकी स्मृतिके परित्यागपूर्वक कार्यरूप आगम और अनुमानरूप विकल्पसे रहित, जिस समाधि-अवस्थामे स्थूलभूत या भौतिक-रूप अर्थमात्रका ही भान होता है, वह निर्वितर्क समापत्ति कहलाती है।

संकेत-स्मृतिपूर्वक सवितर्क-समाधि अवस्थामें जो शब्दसे और ज्ञानसे मिश्रित स्थूलभूत अथवा भौतिक पदार्थका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसको विकल्प होनेसे अप्रत्यक्ष ही कहना चाहिये; क्योंकि शब्द-सकेतकी स्मृतिपूर्वक जो ज्ञान होता है; वह विकल्परूप ही होता है।

संकेत-स्मृतिके परित्यागपूर्वक निर्वितर्क समापत्ति अवस्थामें शब्दसे और ज्ञानसे रहित जो अर्थमात्रका प्रत्यक्ष होता है, उसको पर-प्रत्यक्ष कहते हैं। वह पर-प्रत्यक्ष आगम-ज्ञानका और अनुमान-ज्ञानका बीज है, क्योकि इस पर-प्रत्यक्षके बलसे ही योगीजन उपदेश करते हैं और उपदिष्ट अर्थका अनुमानद्वारा निश्चय कराते हैं। जैसे महर्षि कपिल, भगवान् पतञ्जलि, याज्ञवल्क्य आदि योगीश्वरोने उसी पर-प्रत्यक्षके बलसे शब्दसकेतके बोधनद्वारा शास्त्र-स्मृति आदि रूप प्रथम उपदेश किया था। इसलिये महर्षि कपिल आदि योगीजनोंका वह पर-प्रत्यक्ष संकेत-बोधनद्वारा आगमज्ञानका और अनुमान-ज्ञानका कारण है।

अर्थात् उस पर-प्रत्यक्षसे आगम और अनुमानज्ञान उत्पन्न होते है। आगम और अनुमान-ज्ञानके पश्चात् पर-प्रत्यक्ष नहीं होता, किंतु उसके आश्रित आगम और अनुमान होता है। इसलिये योगीको निर्वितर्क-समाधिसे उत्पन्न हुआ पर-प्रत्यक्ष ज्ञान दूसरे प्रमाणोसे असम्बद्ध होता है।

सगति—इस निर्वितर्क समापत्तिका लक्षण अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—स्मृति-परिशुद्धौ=स्मृतिके शुद्ध हो जानेपर (अर्थात् आगम, अनुमान, ज्ञानके कारणीभूत शब्दसंकेत स्मरणके निवृत्त होनेसे), स्वरूपशून्या इव=स्वरूपसे शून्य-जैसी (अर्थात् अपने ग्रहण आकार ज्ञानात्मकरूपसे रहित चित्तवृत्ति); अर्थमात्रनिर्भासा=अर्थमात्र-सी भासनेवाली (अर्थात् केवल ग्राह्य-रूप अर्थमात्रको ही प्रकाश करनेवाली), निर्वितर्का=निर्वितर्क समापत्ति है।

अन्वयार्थ—स्मृतिके शुद्ध हो जानेपर (अर्थात् आगम-अनुमानके कारणीभूत शब्द-संकेत स्मरणके निवृत्त होनेसे) अर्थमात्र-सी भासनेवाली अपने (ग्रहणाकार ज्ञानात्मक) रूपसे रहित (चित्तवृत्ति)

निर्वितर्क समापत्ति है ।

व्याख्या—'स्वरूपशून्या इव' में 'इव' शब्दसे यह बतलाया है कि चित्त अपने ग्रहणात्मक स्वरूपसे नितान्त शून्य नहीं हो जाता है, क्योंकि ऐसा होनेपर अपने ग्राह्य अर्थके स्वरूपकी धारणा नहीं कर सकता । वह अर्थके ग्राह्यमात्र स्वरूपमें इतना तदाकार हो जाता है कि अपने ग्रहणात्मक स्वरूपसे शून्य-जैसा प्रतीत होता है ।

सवितर्क समाधिमें जितने शब्द, अर्थ और ज्ञान—तीनों भासते रहते हैं, अर्थात् चित्त इन तीनोंमें तदाकार रहता है । जितनी एकाग्रता बढ़ती जाती है उतनी ही बाह्यवृत्ति अन्तर्मुख होती जाती है । जब एकाग्रता इतनी सीमातक पहुँच जाय कि शब्द और उस शब्दके अर्थके सम्बन्धसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है, इन दोनोंकी स्मृति भी न रहे और चित्त अपने ग्रहणात्मक स्वरूपसे शून्य-जैसा होकर उस बाह्य वस्तुके, जिसमें वह लगाया गया है, शब्द और ज्ञानसे निखरे हुए केवल अपने निजी अर्थमात्र स्वरूपको साक्षात् करने अर्थात् शब्द और ज्ञानको छोड़कर केवल ध्येय-वस्तुके तदाकार हो जाय तो उस समापत्तिको निर्वितर्क समापत्ति कहते हैं । इसीका निर्विकल्प भी नाम है; क्योंकि इसमें शब्द और ज्ञान-का विकल्प नहीं रहता ।

सूत्र ४२ में बतला आये हैं कि तर्क शब्दका प्राचीन अर्थ शब्दमय चिन्ता है । वितर्क=विशेष तर्क । और सूत्र ९ में विकल्पको भेदमें अभेद और अभेदमें भेद ज्ञान करानेवाली वृत्ति बतलाया गया है । जब चित्त अर्थ गौके साथ शब्द गौ और ज्ञान गौमें भी तदाकार हो रहा हो तब चित्त तीन आकारवाला होगा और अर्थ गौको पूर्णरूपसे न दर्शा सकेगा । अतः ये तीन आकारवाली वृत्ति सवितर्क अथवा सविकल्प समापत्ति कहलावेगी । किंतु जब सत्त्वका प्रकाश इतना बढ़ जावे कि वह रज और तमको दबाकर जितने अंशमें चित्त शब्द गौ और ज्ञान गौमें तदाकार हो रहा हो उससे शून्य-जैसा करके उसमें भी गौ अर्थमें तदाकार करने लगे तब यह पूर्णतया गौ अर्थसे भासनेवाली चित्तकी एकाकारवाली वृत्ति निर्वितर्क या निर्विकल्प समापत्ति कहलावेगी । इसी प्रकार सूत्र ४४ में सविचार और निर्विचार समापत्तिको सूक्ष्म विषयमें समझ लेना चाहिये ।

विशेष विचार—(सूत्र ४३)—सवितर्क-समापत्तिसे निर्वितर्क-समापत्तिमें भेदबोधक जो 'अर्थमात्र-निर्भासा' पद है, उसके अर्थको यों समझना चाहिये कि जैसे सवितर्क समापत्तिमें ग्राह्य ध्येय पदार्थ तथा ग्राह्य ध्येय पदार्थका वाचक शब्द और ग्राह्य ध्येय पदार्थका ज्ञान—ये तीनों विषय चित्तमें वर्तमान रहते हैं, वैसे निर्वितर्क समापत्तिमें ये तीनों विषय चित्तमें नहीं रहते हैं, क्योंकि इस दशामें केवल ग्राह्य (ध्येय) वस्तु-विषयक ही चित्त स्थिर रहता है, शब्द और ज्ञानविषयक नहीं रहता । इसलिये इसको 'अर्थमात्रनिर्भासा' कहते हैं; क्योंकि इस समापत्तिमें शब्द, अर्थ, ज्ञान-रूप (त्रिपुटीरूप) विकल्पका भान न होकर केवल अर्थाकारसे ही चित्त विद्यमान रहता है ।

यद्यपि इस अवस्थामें ग्रहणाकार ज्ञानात्मक चित्तवृत्ति भी रहती है, परंतु वह अपने रूपसे भान नहीं होती है, किंतु ध्येयरूप ही हो जाती है, इसलिये 'स्वरूपशून्या इव' में यह 'इव' पद दिया है ।

शब्द और ज्ञान भान न होकर केवल अर्थका ही भान क्यों होता है ? इसमें हेतु दिखलानेके लिये 'स्मृतिपरिशुद्धौ' यह पद प्रयोग किया है, अर्थात् यदि विकल्पात्मक आगम-अनुमान ज्ञानके कारणीभूत शब्द-संकेतका स्मरण इसमें रहता तो शब्द और ज्ञानका भी भान होता । परंतु वह स्मरण इस दशामें नहीं रहता; क्योंकि उसकी इस दशामें परिशुद्धि (निवृत्ति) हो गयी है । इसलिये शब्द और ज्ञानका भान न होकर केवल स्थूल 'गौ' 'घटादि' पदार्थोंके स्वरूपका ही भान होता है, अन्यका नहीं ।

तन्मात्रा, आकाश-परमाणु तथा इसका कारणीभूत शब्दतन्मात्रा एवं पञ्चतन्मात्राओंका कारणीभूत अहंकार, अहङ्कारका कारणीभूत लिङ्ग-संज्ञक महत्तत्त्व और महत्तत्त्वका कारण* अलिङ्ग-संज्ञक प्रकृति—ये सब सूक्ष्म विषयोंके अन्तर्गत हैं।

इन सबमेंसे पूर्व-पूर्व कार्यकी अपेक्षासे उत्तर-उत्तर कारणीभूत सूक्ष्म हैं। प्रकृतिसे परे अन्य किसी सूक्ष्म पदार्थके न होनेसे प्रकृतिमें ही सूक्ष्मताकी पराकाष्ठा है।

यद्यपि 'अव्यक्तात्पुरुषः परः' इस श्रुतिसे प्रकृतिकी अपेक्षा पुरुष सूक्ष्म है तथापि पुरुषके अग्राह्य और चेतन होनेसे उसकी सूक्ष्मता जडतत्त्वकी सूक्ष्मतासे विलक्षण है।

अर्थात् जैसे महत्तत्त्वकी अपेक्षासे प्रकृतिमें सूक्ष्मता है वैसी पुरुषमें नहीं; क्योंकि जिस प्रकार महत्तत्त्वका प्रकृति उपादान कारण है वैसा पुरुष उपादान कारण नहीं है, किंतु निमित्त-कारण है। इसलिये यद्यपि वस्तुतः पुरुष ही सूक्ष्मतम है तथापि जड-ग्राह्य, परिणामी उपादानकारणसहित सूक्ष्मताकी विश्रान्ति यहाँ प्रकृतिमें बतलायी गयी है।

सूक्ष्मभूतोंसे लेकर प्रकृतिपर्यन्त जितने सूक्ष्म पदार्थ हैं, वे सब विचार समापत्तिके विषय हैं। इसलिये आनन्दानुगत और अस्मितानुगत निर्विचार समापत्तिकी ग्रहण और ग्रहीता-रूप उच्चतर तथा उच्चतम अवस्थाएँ हैं।

सूक्ष्मता किसी नये तत्त्वके उपादान-कारण होनेकी अपेक्षासे बतलायी गयी है, इसलिये पाँच स्थूल भूत और ग्यारह इन्द्रियाँ किसी नये तत्त्वके उपादानकारण न होनेसे स्थूल विषय माने गये हैं।

विशेष वक्तव्य सूत्र ४५—इस सूत्रमें केवल सूक्ष्म विषयोंकी सूक्ष्मताकी पराकाष्ठा बतलायी गयी है। इससे यह न समझना चाहिये कि अलिङ्ग मूल-प्रकृति भी योगीके संयमका विषय बन सकती है; क्योंकि—(१) वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधिमें केवल विकृति अर्थात् स्थूलभूतों और उनसे बनी हुई चीजोंका साक्षात्कार होता है। विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधिमें स्थूलभूतोंकी प्रकृति सूक्ष्मभूतोंसे लेकर तन्मात्राओं-तकका जो अहङ्कारकी विकृति हैं साक्षात्कार होता है। विचारानुगतकी उच्चतर भूमि आनन्दानुगत सम्प्रज्ञातसमाधिमें उनकी प्रकृति अहङ्कारका जो महत्तत्त्व अर्थात् चित्तकी विकृति हैं साक्षात्कार होता है। और विचारानुगतकी उच्चतम भूमि अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधिमें उसकी प्रकृति अस्मिता अर्थात् आत्मासे प्रकाशित चित्तका जो अलिङ्ग मूल-प्रकृतिकी विकृति है साक्षात्कार होता है। उसके पश्चात् मूल प्रकृतिका साक्षात्कार नहीं होता है, प्रत्युत विवेकख्यातिद्वारा चित्त और आत्माके भेदका ज्ञान होता है।

(२) विकृति व्यक्त होती है, उससे उसकी सूक्ष्मतर अव्यक्त प्रकृति अनुमानगम्य होती है। वितर्कानुगत सम्प्रज्ञातसमाधिमें केवल विकृति अर्थात् व्यक्त स्थूल भूतोंका साक्षात्कार होता है। उससे उनकी अव्यक्त प्रकृति—सूक्ष्म भूतोंका अनुमान किया जाता है। विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधिमें जब उनकी प्रकृति—सूक्ष्म भूतोंका साक्षात्कार होता है, तब वे व्यक्त हो जानेसे किसी अव्यक्त प्रकृतिकी विकृति सिद्ध

---

* जो तत्त्व कारणमें लीन हो जाता है अथवा कारणका बोधन करता है, वह लिङ्ग कहलाता है। अर्थात् स्थूल-भूत और इन्द्रियाँ विशिष्टलिङ्ग हैं, सूक्ष्मभूत तन्मात्राएँ और अहंकार अविशिष्ट-लिङ्ग हैं और महत्तत्त्व केवल लिङ्गमात्र है। ये महत्तत्त्व आदि अपने-अपने कारणमें लीन होनेसे और अपने कारण प्रधानको बोधन करनेसे लिङ्ग हैं। प्रधान-प्रकृति किसीमें लीन न होनेसे और किसी कारणको बोधन न करनेसे अलिङ्ग है।

होते हैं। अतः उनकी अव्यक्त प्रकृति अहङ्कार अनुमानगम्य होती है। आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधिमें जब अहङ्कारका साक्षात्कार होता है, तब वह व्यक्त हो जानेसे विकृतिरूप सिद्ध होता है और उसकी अव्यक्त प्रकृति अस्मिता अर्थात् आत्मासे प्रकाशित चित्त अनुमानगम्य होता है। अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधिमें जब अस्मिताका साक्षात्कार होता है, तब व्यक्त हो जानेसे वह विकृतिरूप सिद्ध हो जाता है और किसी अव्यक्त प्रकृतिकी अपेक्षा रखता है, जो अनुमानगम्य होती है। यह अलिङ्ग मूलप्रकृति अर्थात् गुणोकी साम्यावस्था है। इसका साक्षात्कार नहीं होता। विवेकख्यातिद्वारा आत्मा और चित्तमें भेदज्ञान होता है। यदि इसके पश्चात् और किसी प्रकृतिका समाधिद्वारा साक्षात्कार माना जाय तो व्यक्त हो जानेसे वह विकृति-रूप सिद्ध हो जायगी और उसकी कोई और अव्यक्त मूल प्रकृति अनुमानगम्य माननी पडेगी। इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा (विशेष कैवल्यपाद सूत्र १० के विशेष वक्तव्यमें देखे)।

(३) अलिङ्ग-मूल-प्रकृति गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम है, जिसमें साम्य परिणाम अर्थात् सत्त्वका सत्त्वमें, रजका रजमें और तमका तममें सरूप परिणाम हो रहा है। चित्त तीनो गुणोका प्रथम विरूप परिणाम है, जो सत्त्वप्रधान है और जिसमें सत्त्वमें रज क्रियामात्र और तम उस क्रियाको रोकनेमात्र काम कर रहा है। चूँकि चित्त त्रिगुणात्मक विषम परिणाम है, अतः उसके द्वारा गुणोके साम्य परिणामका साक्षात्कार नही हो सकता।

(४) सम्प्रज्ञात समाधिकी चार भूमियो—वितर्कानुगतमें स्थूल भूतोका, विचारानुगतमें सूक्ष्म भूतोंका तन्मात्राओतक, आनन्दानुगतमें अहङ्कारका और अस्मितानुगतमें अस्मिताका साक्षात्कार बतलाया गया है। कोई ऐसी भूमि नहीं बतलायी गयी है, जिसमें मूलप्रकृतिका साक्षात्कार होता हो। तथा सूत्र ४१ में ग्राह्यरूप स्थूल एवं सूक्ष्म भूतोका ग्रहणरूप अहङ्कारका और ग्रहीतृरूप अस्मिताकी ही समापत्ति बतलायी गयी है। यदि सूत्रकारको मूलप्रकृतिका भी बतलाना अभिमत होता तो उसका भी वर्णन किया जाता। अतः सूत्र ४६ "ता एव सबीजः समाधि" से अभिप्राय इन्हीं बतलायी हुई समापत्तियोसे है जिनमें मूल-प्रकृति सम्मिलित नहीं है।

(५) मूल-प्रकृति अर्थात् गुणोंकी साम्यावस्थाका पुरुषके साथ कोई सम्बन्ध नही है। फिर इसके साक्षात्कार करनेमें पुरुषका क्या प्रयोजन हो सकता है।

(६) कई अभ्यासियोंके सम्बन्धमें यह कहा जाता है कि उन्होने मूल-प्रकृतिका भी साक्षात्कार किया है। इस सम्बन्धमें हम केवल इतना बतला देना उचित समझते हैं कि यह धोखा विचारानुगत सम्प्रज्ञातसमाधिकी ही प्रकाशमय अवस्थामें होने लगता है। इससे ऊपरकी भूमियों आनन्दानुगतमें केवल अहङ्कारका और अस्मितानुगतमें अस्मिताका ही भान होता है। अन्य सब विषय नीचे ही रह जाते है। मूल-प्रकृतिका यदि किसी विषयके रूपमें साक्षात्कार हो तो वह अस्मिता और अहङ्कारसे नीचे केवल तन्मात्रा या कोई सूक्ष्म विषय ही सिद्ध होगी। हॉ, जिस प्रकार विवेक-ख्यातिमें पुरुष (आत्मा) का साक्षात्कार चित्तद्वारा कहा जाता है, यद्यपि वह स्वरूपप्रतिष्ठित अवस्था नहीं है। इसी प्रकार विवेक-ख्यातिमें चित्तके साक्षात्कारसे साथ ही-साथ गुणोकी साम्यावस्थाका भी साक्षात्कार कहा जा सकता है। यद्यपि चित्तके बनानेवाले गुणोका साम्य परिणाम तो पुरुषका भोग और अपवर्ग सम्पादन करनेके पश्चात् उनके प्रतिप्रसव अवस्थामें ही होता है।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति ।
(४ । ३४)

सङ्गति—ये चारो समापत्तियाँ सवीज-समाधि हैं, यह बतलाते हैं—

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—ता एव=ये पूर्वोक्त चारो समापत्तियाँ ही; सबीज. समाधि.=सबीज समधि कहलाती हैं ।

अन्वयार्थ—ये पूर्वोक्त चारों समापत्तियाँ ही सबीज समाधि कहलाती है ।

व्याख्या—ग्राह्य अनात्मवस्तु अर्थात् कार्यसहित प्रकृति जो ग्राह्य-ग्रहण और ग्रहीतृरूप दृश्य-वर्ग है, इसीका नाम बीज तथा आलम्बन (आश्रय) है । इसलिये इसको लेकर होनेवाली समाधिका नाम सबीज, सालम्बन तथा सम्प्रज्ञात है ।

उपर्युक्त चारों समापत्तियाँ सबीज-समाधि कहलाती है, क्योंकि सवितर्क और निर्वितर्क समापत्ति तो स्थूल ग्राह्य वस्तुके बीजसहित (आलम्बनसहित=आश्रयसहित) होती हैं और सविचार तथा निर्विचार सूक्ष्म ग्राह्य वस्तुके बीजसहित (आलम्बनसहित) होती है ।

सत्रहवें सूत्रमें बतलायी हुई आनन्दानुगत ग्रहणरूप और अस्मितानुगत ग्रहीतृरूप दोनो समाधियाँ निर्विचार समापत्तिके क्रमसे उच्चतर और उच्चतम अवस्थाओंके रूपसे निर्विचार समापत्तिके ही अन्तर्गत इस सूत्रमें कर दी गयी हैं । निर्विचारकी इन दोनो उच्चतर और उच्चतम अवस्थाओंको पृथक्-पृथक् रूपसे सम्मिलित करनेसे सबीज-समाधिके छ. भेद होते हैं—

(१) सवितर्क समापत्ति—स्थूल पदार्थोंमें शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पोंसे युक्त भासनेवाली चित्तवृत्ति ।

(२) निर्वितर्क—स्थूल पदार्थोंमें शब्द (नाम), अर्थ (रूप) और ज्ञानके विकल्पोसे रहित स्वरूपसे शून्य-जैसी केवल अर्थमात्रसे भासनेवाली चित्तवृत्ति ।

(३) सविचार—सूक्ष्म विषयोंमें देश-काल और निमित्त (धर्म) के विकल्पोंसे युक्त भासनेवाली चित्तवृत्ति।

(४) निर्विचार—सूक्ष्म विषयोमें देश-काल और निमित्त (धर्म) के विकल्पोसे रहित केवल धर्मीमात्रसे भासनेवाली चित्तवृत्ति ।

(५) निर्विचारकी उच्चतर अवस्था आनन्दानुगत—सत्त्व-प्रधान अहकारकी 'अहमस्मि' से भासनेवाली चित्तवृत्ति ।

(६) निर्विचारकी उच्चतम अवस्था अस्मितानुगत—बीजरूप अहंकारसहित चेतनसे प्रतिबिम्बित चित्त, 'अस्मिता'की, अहकाररहित 'अस्मि' से भासनेवाली चित्तवृत्ति ।

विशेष वक्तव्य (सूत्र ४६)—वाचस्पति मिश्रने आनन्दानुगत और अस्मितानुगतके भी दो-दो अवान्तर भेद करके सबीज-समाधिके आठ भेद बतलाये है । उनका कथन है कि 'ता एव सबीजः' इस पाठसे यह अर्थ न लेना चाहिये कि यही चार सबीज-समाधि हैं, अन्य नहीं; क्योंकि ऐसा माननेसे ग्रहण और ग्रहीतृ समापत्तिको सबीजत्वका लाभ नहीं हो सकेगा, किंतु 'ताः सबीज एव' इस प्रकार भिन्न क्रमसे 'एव' शब्दका सबीज शब्दके साथ अन्वय करके यह अर्थ करना चाहिये कि चारो सबीज ही हैं, निर्बीज नहीं हैं ।

इस प्रकार इन चारोंके निर्बीजत्वका निषेध हुआ है। ग्रहण और ग्रहीतृ समापत्तिके सबीजत्वका निषेध नहीं हुआ है। इसलिये इन दोनोंमें भी सबीजत्वकी विद्यमानतासे ग्रहण-ग्रहीतृ समापत्तियोंको भी सबीज जानना चाहिये।

जैसे ग्राह्य समापत्तिके विकल्प और विकल्पके अभावसे दो-दो भेद निरूपण किये गये है, वैसे ही ग्रहण और ग्रहीतृ समापत्तिमें भी दो-दो भेद जान लेना चाहिये। अर्थात् ग्रहण नाम श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका है। शब्द श्रोत्रका विषय है और अहंकार इसका कारण है। इस प्रकार विचारपूर्वक भावना करनेसे सविचार ग्रहण समापत्ति और केवल इन्द्रियमात्रकी भावना करनेसे निर्विचार ग्रहण समापत्ति, एवं महत्तत्त्वका कार्य अहंकार त्रिगुणात्मक है, इस प्रकार भावना करनेसे सविचार ग्रहीतृ समापत्ति और केवल अहंकारमात्रकी भावना करनेसे निर्विचार ग्रहीतृ समापत्ति जानना चाहिये।

अतः चार प्रकारकी ग्राह्य समापत्ति, दो प्रकारकी ग्रहण समापत्ति और दो प्रकारकी ग्रहीतृ समापत्ति—ये सब मिलकर सबीज-समाधिके आठ भेद हुए।

विज्ञानभिक्षुने सबीज-समाधिके छः भेद दिखलाये है—

सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार और निर्विचारके अन्तर्गत उसकी दो ऊँची अवस्थाएँ—आनन्दानुगत और अस्मितानुगत।

यही मूलसूत्र व्यासभाष्य तथा अनुभवके आधारपर ठीक प्रतीत होता है; क्योंकि केवल सवितर्क और सविचार समापत्ति शब्द, अर्थ और ज्ञान अथवा देश-काल और निमित्तसे युक्त होती हैं, न कि निर्वितर्क और निर्विचार। फिर निर्विचारकी उत्कृष्ट भूमियो आनन्दानुगत और अस्मितानुगत सम्प्रज्ञातमें उपर्युक्त विकल्पोंकी सम्भावना कैसे हो सकती है? आनन्दानुगत तन्मात्राओके कारण अहंकारकी केवल 'अहमस्मि' वृत्ति रहती है और अस्मितानुगतमें अहंकारके कारण अस्मिताकी अहकारसे रहित केवल 'अस्मि' वृत्ति रहती है। इसलिये वितर्क और विचार-जैसे आनन्द और अस्मिता समापत्तिके दो-दो भेद नहीं किये जा सकते।

सङ्गति—निर्विचार समापत्ति इन चारोंमें सबसे बढकर है; उसका फल अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ—निर्विचार-वैशारद्ये=निर्विचारकी वैशारद्य=प्रवीणता=निर्मल होनेपर; अध्यात्मप्रसादः=अध्यात्म (प्रज्ञा) की निर्मलता होती है।

अन्वयार्थ—निर्विचार समाधिकी वैशारद्य (प्रवीणता) होनेपर अध्यात्म (प्रज्ञा) की निर्मलता होती है।

व्याख्या—वैशारद्य—"स्वच्छः स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम्"=शुद्ध स्थितिका प्रवाह वैशारद्य कहलाता है।

अध्यात्म—"आत्मनि बुद्धौ वर्तत इत्यध्यात्म" जो आत्मा अर्थात् बुद्धिमें स्थित रहता है वह अध्यात्म है।

प्रसाद—प्रसन्नता, निर्मलता।

अध्यात्म-प्रसाद—बुद्धिमें जो प्रसन्नता अर्थात् निर्मलता रहती है, वह अध्यात्म-प्रसाद है। निर्विचार समाधिकी उच्चतम अवस्थामें रज-तम-रूप मल और आवरणका क्षय होनेपर प्रकाशस्वरूप बुद्धिका सत्त्व-गुणकी प्रधानतासे रजस-तमस्से अनभिभूत (अतिरस्कृत) स्वच्छ स्थिरता-रूप एकाग्र-प्रवाह निरन्तर बहता रहता है। इसीका नाम वैशारद्य है। इससे योगीको प्रकृति-पर्यन्त सब पदार्थोंका एक ही कालमें साक्षात्कार हो जाता है। इस साक्षात्कारका नाम अध्यात्म-प्रसाद है। इसीको स्फुट-प्रज्ञा-लोक तथा प्रज्ञाप्रसाद भी कहते हैं। श्रीव्यासजी महाराज इस अवस्थाका वर्णन इस प्रकार करते है—

प्रज्ञाप्रासादमारुह्याशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति॥

प्रज्ञारूपी प्रासाद (महल-अटारी) पर चढ़कर शोकरहित प्राज्ञ (योगी) शोकमें पडे जनोंको ऐसे देखता है, जैसे पहाडकी चोटीपर खड़ा मनुष्य नीचे पृथ्वीपर खडे मनुष्योंको देखता है। (यहाँ निर्विचारके अन्तर्गत ही आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमियाँ आ गयी हैं।)

सङ्गति—अध्यात्म-प्रसादसे जिस प्रज्ञा (बुद्धि) का योगीको लाभ होता है, उसका सार्थक नाम अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा॥ ४८॥

शब्दार्थ—ऋतम्भरा=सचाईको धारण करनेवाली, अविद्यादिसे रहित; तत्र=उस अध्यात्म-प्रसादके लाभ होनेपर, प्रज्ञा=बुद्धि अर्थात् ज्ञान (उत्पन्न) होता है।

अन्वयार्थ—अध्यात्म-प्रसादके लाभ होनेपर जो प्रज्ञा (समाधिजन्य बुद्धि) उत्पन्न होती है, उसका नाम ऋतम्भरा प्रज्ञा (सचाईको धारण करनेवाली अविद्यादिसे रहित बुद्धि) है।

व्याख्या—निर्विचार समाधिकी विशारदतासे जन्य अध्यात्म-प्रसादके होनेपर जो समाहित-चित्त योगीकी प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसका नाम ऋतम्भरा-प्रज्ञा है। यह उसका यथार्थ नाम है; क्योंकि 'ऋत' नाम सत्यका है, और 'भरा' के अर्थ धारण करनेवालीके है। अर्थात् यह प्रज्ञा सत्यहीको धारण करनेवाली होती है, इसमें भ्रान्ति, विपर्यय-ज्ञान अर्थात् अविद्यादिका गन्ध भी नहीं होता।

इस प्रज्ञाके होनेसे ही उत्तम योगका लाभ होता है, जैसा कि श्रीव्यासजीने कहा है—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥

वेदविहित श्रवणसे, अनुमान (मनन) से और ध्यानाभ्यासमें आदर (निदिध्यासन) से—तीन प्रकारसे प्रज्ञाका सम्पादन करता हुआ योगी उत्तम योगको प्राप्त करता है।

सत्य और ऋतमें इस प्रकारका भेद समझ लेना चाहिये कि आगम और अनुमानद्वारा जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् Conceptual fact वह सत्य है। और साक्षात् करनेके पश्चात् जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् Perceptual fact वह ऋत है। अर्थात् ऋतका अर्थ साक्षात् अनुभूत सत्य है।

सङ्गति—अगले सूत्रमें आगम अनुमान-जन्य ज्ञानसे ऋतम्भरा-प्रज्ञाजन्य प्रत्यक्षज्ञानकी श्रेष्ठता बतलाते है—

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ——श्रुत-अनुमान-प्रज्ञाभ्याम्=आगम और अनुमानकी प्रज्ञासे; अन्य-विषया=इस ऋतम्भरा प्रज्ञाका विषय अलग है; विशेष-अर्थत्वात्=विशेषरूपसे अर्थका साक्षात्कार करनेसे ।

अन्वयार्थ——आगम और अनुमानकी प्रज्ञासे ऋतम्भरा प्रज्ञाका विषय अलग है, विशेषरूपसे अर्थका साक्षात्कार करनेसे ।

व्याख्या——पदार्थके दो रूप होते हैं——एक सामान्य दूसरा विशेष । सामान्य वह है, जो उस प्रकार-के सब पदार्थोंमें पाया जाता है और विशेष वह है, जो प्रत्येक व्यक्तिका अपना-अपना रूप है, जिससे एक ही प्रकारके पदार्थोंमें भी एक-दूसरेसे भेद हो सकता है । आगम-जन्य ज्ञान वस्तुके सामान्य रूपको ही विषय करता है, विशेष रूपको नहीं, क्योंकि विशेषके साथ शब्दका वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध नहीं होता है । शास्त्रने जिस वस्तुके साथ शब्दका सकेत किया है, उस वस्तुको वह शब्द सामान्यरूपसे ही बोधन करता है, न कि विशेषरूपसे । गो, वृक्षादि शब्दोके सुननेसे गो, वृक्षादिका सामान्य ज्ञान होता है, व्यक्तिविशेष गो, वृक्षादिका विशेष ज्ञान नहीं होता ।

इसी प्रकार अनुमान भी सामान्यरूपसे वस्तुका ज्ञान उत्पन्न कराता है, विशेषरूपसे नहीं, क्योकि अनुमानमें लिङ्गसे लिङ्गीका ज्ञान होता है, जहाँ लिङ्गकी प्राप्ति नहीं वहाँ अनुमान नहीं हो सकता, जैसे 'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है, जहाँ प्राप्ति है वहाँ गति है, जहाँ गतिका अभाव है, वहाँ प्राप्तिका अभाव है ।'

केवल प्रत्यक्ष-प्रमाण ही वस्तुके विशेष रूपको दिखलानेमें समर्थ होता है; किंतु इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष-ज्ञान भी स्थूल वस्तुओके ही प्रत्यक्ष रूपको दिखला सकता है, न कि सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट अतीन्द्रिय पदार्थोंको । पञ्चतन्मात्राएँ, अहकार, महत्तत्त्व, प्रकृति, पुरुष आदि सूक्ष्म पदार्थोंमें प्रत्यक्षकी भी पहुँच नहीं है । आगम और अनुमानसे इनके सामान्य रूपका ही पता लग सकता है, इनके विशेष रूपको नहीं बतला सकते ।

निर्विचार समाधिकी विशारदतामें होनेवाली ऋतम्भरा प्रज्ञासे ही इन सूक्ष्म पदार्थोंके विशेष रूपका साक्षात्कार हो सकता है, अन्य किसी प्रमाणसे नहीं । अतएव यह प्रज्ञा विशेषविषयक होनेसे श्रुत-अनुमान प्रज्ञासे अन्य और उत्कृष्ट है । यही परम प्रत्यक्ष है । यह श्रुत और अनुमानका बीज है, अर्थात् श्रुत और अनुमान इसके आश्रय हैं, न कि यह उनके । वस्तुके इस यथार्थ स्वरूपको ही आगम बतलाता है और इसीका अनुमान किया जाता है । यहाँ ऋतम्भरा प्रज्ञाको प्रसंख्यान अर्थात् विवेक-ख्यातिके तुल्य समझना चाहिये ।

संगति——इस प्रज्ञाका फल अगले सूत्रमें बतलाते है——

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

शब्दार्थ——तत्-जः=उस ऋतम्भरा प्रज्ञासे उत्पन्न होनेवाला; संस्कारः=सस्कार, अन्य-सस्कार-प्रतिबन्धी=दूसरे (सब व्युत्थानके) संस्कारोका प्रतिबन्धक (रोकनेवाला) होता है ।

अन्वयार्थ——उस ऋतम्भरा प्रज्ञासे उत्पन्न होनेवाला संस्कार अन्य सब व्युत्थानके सस्कारोंका बाधक (रोकनेवाला) होता है ।

व्याख्या—समाधिसे पूर्व चित्त केवल व्युत्थानके संस्कारोसे ही संस्कृत होता है। फिर जब समाधि-की अवस्थामें जो उसको अनुभव होता है उसके भी सस्कार पडते हैं। ये संस्कार व्युत्थानके सस्कारोंसे बलवान् होते हैं; क्योकि समाधि-प्रज्ञा व्युत्थानकी प्रज्ञासे अधिक निर्मल होती है। उसकी निर्मलतामें पदार्थ-का तत्त्व अनुभव होता है। जितना तत्त्वका अनुभव होता है उतने ही उसके संस्कार प्रबल होते हैं। इन संस्कारोंकी प्रबलतासे फिर समाधि-प्रज्ञा होती है। इस समाधिप्रज्ञासे उत्पन्न हुए संस्कार व्युत्थानके सस्कारो और वासनाओको हटाते है। व्युत्थानके सस्कारोंके दबनेसे उनसे उत्पन्न होनेवाली वृत्तियाँ भी दब जाती हैं। उन वृत्तियोंके निरोध होनेपर समाधि उत्पन्न होती है। इससे समाधि-प्रज्ञा, समाधि-प्रज्ञासे फिर समाधिके सस्कार—इस प्रकार यह चक्र लगातार चलता रहता है। यहाँतक कि निर्विचार-समाधि उपस्थित हो जाती है। फिर निर्विचार समाधिसे ऋतम्भरा प्रज्ञाका लाभ होता है। उस प्रज्ञासे निरोध-सस्कार होता है, निरोध-सस्कारसे फिर ऋतम्भरा-प्रज्ञाका प्रकर्ष, उस प्रज्ञासे फिर निरोध-संस्कारका प्रकर्ष—इस प्रकार लगातार चक्रसे निरोधके संस्कार पुष्ट हो-होकर व्युत्थानके संस्कारोंको सर्वथा रोक देते है।

शङ्का—जब समाधि-प्रज्ञा-जन्य सस्कार विद्यमान ही रहते हैं, तब वे संस्कार चित्तको अधिकार-विशिष्ट क्यो नहीं करते, क्योकि जो चित्त वासना-जनित सस्कारोसे युक्त होता है, वह जन्मादि दुःख देनेकी योग्यतावाला होनेसे अधिकार-विशिष्ट कहा जाता है।

समाधान—यद्यपि सस्कार विद्यमान रहते हैं तथापि वे संस्कार क्लेशक्षयके हेतु होनेसे चित्तको अधिकार-विशिष्ट नहीं करते; प्रत्युत चित्तको अधिकारसे रहित करते है; क्योकि जो संस्कार क्लेशादि वासनासे उत्पन्न होते है, वे ही संस्कार चित्तको अधिकार-विशिष्ट करते हैं, न कि ऋतम्भरा-प्रज्ञा-जन्य।

भाव यह है कि चित्तका दो कार्योंमें अधिकार है; एक शब्द-रूप-रसादि विषयोका पुरुषको भोग देना, दूसरा विवेक-ख्याति उत्पन्न करना। उनमें भोग-हेतु क्लेशादि वासना-जनित संस्कार-विशिष्ट चित्त भोगादि अधिकारवाला होता है और समाधि-जन्य सस्कारसे क्लेश-संस्काररहित हुआ चित्त विवेक-ख्याति अधिकारवाला कहा जाता है। इन दोनोमेंसे पहिला ही अधिकार योगका हेतु है, न कि दूसरा।

विवेक-ख्यातिके उदय होनेसे भोगाधिकारकी समाप्ति हो जाती है, क्योकि विवेक-ख्यातिके उत्पादन-पर्यन्त ही चित्तकी चेष्टा रहती है, इसके पश्चात् नहीं रहती।

सङ्गति—सबीज-समाधिका सबसे ऊँची चोटीतक वर्णन करके अब निर्बीज-समाधिको बतलाते हैं—

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ—तस्य=(पर-वैराग्यद्वारा) उस ऋतम्भरा-प्रज्ञा-जन्य सस्कारके; अपि=भी; निरोधे=निरोध हो जानेपर, सर्वनिरोधात्=(पुरातन-नूतन) सब सस्कारोके निरोध होनेसे; निर्बीजः समाधिः=निर्बीज-समाधि होती है।

अन्वयार्थ—पर-वैराग्यद्वारा उस ऋतम्भरा-प्रज्ञा-जन्य सस्कारके भी निरोध हो जानेपर पुरातन-नूतन सब सस्कारोके निरोध हो जानेसे निर्बीज-समाधि होती है।

व्याख्या—पर-वैराग्यद्वारा जो निखिल-वृत्ति प्रवाह तथा संस्कार-प्रवाहका निरोध है, वह निर्बीज-समाधि है।

सम्प्रज्ञात-समाधि किसी ध्येयको आलम्बन (आश्रय) बनाकर की जाती है। यह आलम्बन ही बीज है। इसलिये उसको सबीज, सालम्ब्य तथा सम्प्रज्ञात कहते है; किंतु असम्प्रज्ञात-समाधिमें आलम्बनका अभाव होता है। आलम्बनका अभाव करते-करते अभाव करनेवाली वृत्तियोका भी अभाव होनेपर जो समाधि होती है, वह असम्प्रज्ञात है। आलम्बन न रहनेसे इसको निर्बीज, निरालम्ब्य तथा असम्प्रज्ञात-समाधि कहते हैं।

यह निरोध केवल समाधि-जन्य ऋतम्भरा-प्रज्ञाका ही विरोधी नहीं है; किंतु प्रज्ञाजन्य संस्कारोका भी विरोधी है। इसीके बोधनार्थ सूत्रमें (तस्यापि) यह 'अपि' शब्द दिया गया है। अर्थात् इस निरोधसे जो संस्कार उत्पन्न होता है, वह सब सम्प्रज्ञात-समाधि-जन्य संस्कारोंको रोककर ही उदय होता है।

यद्यपि इस सर्ववृत्ति-निरोधमे तथा पर-वैराग्य-जन्य सस्कारोमे प्रत्यक्ष-प्रमाणकी योग्यता नही है, क्योकि सर्ववृत्ति-निरोधका योगीको प्रत्यक्ष होना असम्भव है। इसी प्रकार स्मृतिरूप कार्यसे भी निरोध-संस्कारका अनुमान नहीं हो सकता; क्योकि वृत्तिमात्रका निरोध होनेके कारण ये सस्कार स्मृति उत्पन्न नही कर सकते हैं, तथापि चित्तकी निरुद्धावस्थाका जो मुहूर्त, प्रहर, दिन-रात्रिरूपादि काल-क्रम है, उससे निरोध-संस्कारोका अनुमान होता है। अर्थात् योगीकी जो वृत्तियोंका निरोध होता है, वह एक क्षणमें नहीं होता है; किंतु पहिले एक घटी, फिर दो घटी, फिर एक प्रहर इत्यादि क्रमसे होता है। इसीसे निरोध-वृद्धिका सद्भाव सिद्ध होता है।

भाव यह है, जैसे-जैसे स्वरूपस्थितिके अभ्याससे व्युत्थान तथा समाधिके संस्कारोकी न्यूनता होती है, वैसे-वैसे निरोधके संस्कारोकी सत्ताका अनुमान कर लेना चाहिये; क्योकि बिना निरोध-संस्कारकी सत्ताके समाधि-प्रज्ञा-जन्य संस्कारोकी न्यूनता होनी असम्भव है।

इस निरोधावस्थामें क्लेश-जनक व्युत्थान-संस्कार तथा कैवल्योपयोगी सम्प्रज्ञात-समाधि-जन्य संस्कारोंके सहित ही चित्त अपनी प्रकृतिमें प्रविलय होकर अवस्थित हो जाता है।

यद्यपि निरोध-संस्कारोके सद्भावसे यह चित्त किंचित् अधिकार-विशिष्ट ही प्रतीत होता है तथापि ये सस्कार अधिकारके विरोधी ही हैं, न कि भोगके हेतु; क्योकि उस दशामें शब्द-रूप-रसाद्युपभोग तथा विवेकख्याति—ये दोनो ही अधिकार निवृत्त हो जाते है।

इसलिये यह चित्त निरोधावस्थामें समाप्त अधिकारवाला होकर सस्कारोके सहित निवृत्त हो जाता है।

इस समाप्त अधिकारवाले चित्तके निवृत्त होनेसे पुरुष शुद्ध परमात्मस्वरूपमे प्रतिष्ठित हुआ केवल शुद्ध तथा मुक्त कहा जाता है। इस असम्प्रज्ञात-समाधिके लाभसे ही योगी जीवन्मुक्त-पदको प्राप्त होता है। यह असम्प्रज्ञात-योग ही सब कर्तव्योकी सीमा है।

विशेष विचार (सूत्र ५१)—गुण एक क्षण भी बिना परिणामके नहीं रहते। चित्तमें दो प्रकारका परिणाम होता है। एक आन्तरिक परिणाम—जो स्वाभाविक, वास्तविक स्वरूप "सत्त्वचित्त" में होता है; दूसरा बाह्य—जो नाना प्रकारकी वृत्तियोसे होता है।

असम्प्रज्ञात अर्थात् निर्बीज-समाधिकी अवस्थामे चित्तमें कोई वृत्ति नही रहती। वृत्तियोको रोकनेवाले संस्कार रहते हैं, जिनको (१ । १८) में संस्कार-शेषके नामसे वर्णन किया गया है। इन

संस्कारोंके कारण चित्तमें बाहरसे निरोध अर्थात् वृत्तियोंके रोकनेका परिणाम होता रहता है (३ । ९) । चित्तमें इस निरोध-परिणामके कारण पुरुष किसी बाह्य दृश्यका द्रष्टा नहीं रहता; किंतु शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थित रहता है और चित्त पुरुषको दृश्य दिखलानेके कार्यको बंद करके अपने स्वरूपमें अवस्थित होता है । ये चित्तको बनानेवाले गुण कैवल्यकी अवस्थामें तो अपने कारणमें लीन हो जाते हैं; परतु इस निरोध-परिणामकी अवस्थामें अपने "सत्त्वचित्त" स्वरूपमें अवस्थित रहते हैं । इनमें अब केवल आन्तरिक परिणाम होता रहता है, जो शान्त प्रवाहवाला और स्वाभाविक है, जिसका वर्णन (३ । १०) में किया जायगा । निरोधसे भिन्न व्युत्थान-अवस्थामें पुरुष वृत्ति-सारूप्य प्रतीत होता है और असम्प्रज्ञात-समाधिमें चित्त पुरुष-सारूप्य वृत्तिरहित चेतन प्रतीत होता है । असम्प्रज्ञात-समाधि भङ्ग होनेपर निरोध-सस्कार दबते जाते हैं और व्युत्थानके संस्कार प्रबल होते जाते हैं । यहाँपर व्याख्याताके गुरु-भाई श्रीमान् हरिभजनजीने (अपने काष्ठ-मौन-व्रत धारण करनेसे कुछ पूर्व मौनावस्थामें) इस सम्बन्धमें जो अपने अनुभवद्वारा प्राप्त किये हुए विचारोंको लिखकर दिया था, उनको उन्हींके शब्दोंमें लिख देना जिज्ञासुओंके लिये उपयोगी होगा ।

श्रीमान् हरिभजनजीका संक्षिप्त परिचय

ये महात्मा पूर्व-जन्मके वैराग्यके संस्कारोंके उदय होनेपर अपने बाल्यकालहीमें पूज्यपाद श्रीस्वामी सोमतीर्थजी महाराजकी सेवामें रहकर कई वर्षतक योग-साधन करते रहे । तत्पश्चात् कई वर्षतक पुराने गुरुकुल काँगडीके एक स्थानमें मौन साधकर अपनी अवस्थाको परिपक्व करते रहे । गत हरिद्वार कुम्भके पश्चात् मास मई सन् १९३८ ई० में काष्ठमौन धारण कर लिया । मास जून १९३९ ई० से उनके कोई समाचार किसी प्रकारके नहीं मिले । उनके पिता, भाई, कुटुम्बियो तथा भक्त और प्रेमी मित्रोने उनके खोजनेमें पूर्ण प्रयत्न किया, परंतु अबतक कुछ पता नहीं लगा है ।

उनके अनुभव

"अब स्वरूप-स्थितिको समझें । प्रयत्नसे जब विक्षिप्त चित्तको एकाग्र किया जाता है और फिर उसे निरुद्ध किया जाता है, तब सर्ववृत्ति निरोध हो जानेपर जो पुरुषका अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाना है, उसका नाम स्वरूपस्थिति नहीं है, उसका नाम पुरुषका अपने स्वरूपमें अवस्थित होना है । स्वरूप-स्थिति उससे बहुत ऊँची स्थिति है । जैसे विक्षिप्त-भूमि चित्तको यदि हम किसी साधन-विशेषसे एकाग्र कर दे तो थोडी देर एकाग्र रह जानेपर भी हम उसको एकाग्र-स्थिति नहीं कह सकते, यह उसकी एकाग्र-अवस्था ही है । अथवा एकाग्र-भूमि चित्तको यदि हम प्रयत्नसे वृत्ति-निरोधद्वारा निरुद्ध कर दें तो हम उसे निरुद्ध-भूमि-चित्त नहीं कह सकते, यह उसकी निरुद्धावस्था है, निरुद्ध-स्थिति नहीं है । इसी तरह जबतक हम चित्तको विक्षिप्त और एकाग्रस्थितिसे किसी साधनद्वारा निरुद्ध करते हैं, तबतक हम स्वरूप-स्थिति नहीं कह सकते; यह पुरुषका अपने स्वरूपमें केवल अवस्थित होनामात्र है । जब चित्तकी विक्षिप्त और एकाग्र-भूमि सर्वथा निरुद्ध-भूमिमें बदल दी जाय, जब यह बिना किसी साधनके निरुद्ध रहने लगे, तब ऐसी अवस्थामें जो पुरुषका अपने स्वरूपमें स्थित हो जाना है वही स्वरूप-स्थिति है । स्वरूप-स्थितिवालेकी पुनः इतर (व्युत्थान) स्थिति कहना पूरी-पूरी भूल है, क्योंकि स्वरूप-स्थिति स्वाभाविक स्थिति है, वह बदल नहीं सकती, और जबतक वह स्वाभाविक नहीं तबतक स्वरूप-स्थिति नहीं कहला सकती ।

अतः स्वरूप-स्थिति वह स्थिति है जब कि चित्तकी विक्षिप्त और एकाग्र-भूमि पूर्णरूपसे निरुद्ध-भूमिमें बदल चुकी हो और ऐसी स्थितिमें चित्त-वृत्ति-निरुद्ध सहज ही, स्वाभाविक ही, अनायास ही रहने लगी हो; और इसीलिये उसे किसी प्रकारके भी प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं रहती है। ऐसी स्थिति आनेपर जो पुरुषका सहज ही, स्वाभाविक ही, अनायास ही अपने स्वरूपमें स्थित हो जाना है; वही स्वरूप-स्थिति है। स्वरूप-स्थिति तो उस स्थितिका नाम है जहाँ चित्त अनायास ही, सहज ही, स्वाभाविक ही निरुद्ध-स्थितिमें रहता हो। पुरुषकी 'स्वरूपमे अवस्थिति' और 'स्वरूपस्थिति' में बडा भारी अन्तर है। पहली प्रयत्नकी अवस्था है, दूसरी सहज-स्थिति है। इतना और याद रहे कि ऐसी स्थिति आनेपर, जिस जिज्ञासुकी स्वरूप-स्थिति हो गयी हो, उसको भोगवश कोशमयी अवस्थामें भी प्रारब्धानुसार यद्यपि आना पड़ता है, परतु उस समयसे पहिले, क्योंकि वह स्वरूपमें स्थित था और भोग-समयके समाप्त हो जानेके बाद वह स्वरूप-स्थितिमे ही रहता है, इसलिये भोगकालकी स्थिति भी उसकी स्वरूपस्थिति ही कही जायगी। भोगसे पहिले तथा भोगके पीछे जिसकी स्वरूपमें स्थिति है, वह भोग-कालमें भी स्वरूपमें ही स्थित कहा जायगा। यद्यपि यह भोग भोगते समय कोशमयी हालतमें है; परंतु वह उसकी कोशमयी अवस्था है, कोशमयी स्थिति नहीं।

जैसे एकाग्रभूमि चित्तको जब हम प्रयत्नसे निरुद्ध कर देते हैं, तब वह उसकी निरुद्ध-स्थिति नहीं, वरं निरुद्धावस्था है। इसी तरह स्वरूपस्थितिवालेको जब-जब भी भोगवश कोशमयी हालतमें आना पडता है, तब-तब वह उसकी कोशमयी-अवस्था ही कही जायगी, न कि कोशमयी-स्थिति। स्थिति तो उसकी स्वरूपस्थिति ही है और उस कोशमयी अवस्थामें भी वह तभीतक आता है जबतक भोग समाप्त हो जानेपर वह सदाके लिये अपने स्वरूपमें सुप्रतिष्ठित नही हो जाता है।"

अर्थात् जबतक व्युत्थान-चित्तकी दशामें वृत्तियोका निरोध क्रिया-जन्य हो, प्रयत्नसे हो और स्थायी, दृढ़भूमि, स्वाभाविक, सहज और स्वयं होनेवाला न हो गया हो, तबतक वह 'निरोधकी अवस्था' अथवा 'स्वरूपावस्था' है, 'निरोधकी स्थिति' अथवा 'स्वरूपस्थिति' नहीं है, बल्कि उस समय-तक व्युत्थानकी ही स्थिति है जो कि स्वाभाविक और दृढभूमि बनी हुई है। जब चित्तकी वृत्तियोंका निरोध स्थायी और दृढभूमि हो जाय और बिना किसी क्रिया और प्रयत्नके स्वाभाविक, सहज ही प्रतिक्षण (हर समय) बना रहे, तब वह 'निरोधकी स्थिति' अथवा 'स्वरूपस्थिति' कहलायेगी।

प्रश्न—क्या स्वरूपस्थिति हो जानेपर योगीके सब कार्य बंद हो जाते हैं? क्योकि कोई भी काम बिना व्युत्थानकी अवस्थाके नहीं हो सकता।

उत्तर—नहीं; बिना कर्मके कोई शरीरधारी नहीं रह सकता।

(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ३। ४—९)

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥ ४॥

मनुष्य न (तो) कर्मोंके न करनेसे 'निष्कर्मता' को प्राप्त होता है (क्योंकि कर्मोंका न करना भी एक प्रकारका सकाम कर्म है) और न कर्मोंको त्यागनेमात्रसे 'स्वरूप-स्थिति' रूप सिद्धिको प्राप्त होता है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ ५॥

क्योंकि कोई भी (पुरुष) किसी काल क्षणमात्र भी विना कर्म किये नहीं रहता, निःसदेह सभी पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोद्वारा परवश हुए कर्म करते हैं ।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

जो मूढबुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको (हठसे) रोककर इन्द्रियोके भोगोका मनसे चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी, असंयमी कहा जाता है (क्योकि उसकी इन्द्रियाँ वास्तवमें संयमित नहीं होती) ।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

और हे अर्जुन ! जो (पुरुष) मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त हुआ, कर्मेन्द्रियोसे कर्म-योगका आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है ।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ॥ ८ ॥

तू शास्त्रविधिसे नियत किये हुए स्वधर्मरूप (कर्तव्यरूप) कर्मको कर; क्योकि कर्म न करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करनेसे तेरी शरीर-यात्रा भी सिद्ध नहीं होगी (कर्म करते रहना ही जीवित शरीरका स्वभाव है, हठसे कर्म छोड़ देना शरीरका दुरुपयोग और अज्ञान है) ।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

यज्ञ अर्थात् आसक्तिरहित निष्कामभावसे सब प्राणियोंके कल्याणार्थ अथवा अपनी भोग-निवृत्तिके लिये ईश्वर-निमित्त किये हुए कर्मके सिवा अन्य कर्ममें (लगा हुआ ही) यह मनुष्य कर्मोंद्वारा बँधता है, इसलिये हे अर्जुन ! आसक्तिसे रहित हुआ उस परमेश्वरके निमित्त कर्मका भली प्रकार आचरण कर ।

'निरोध-स्थिति' अथवा 'स्वरूप-स्थिति' वाले योगीके कर्म भोग-निवृत्ति अथवा परमात्माकी आज्ञा पालन करते हुए प्राणिमात्रके कल्याणार्थ ईश्वर-निमित्त होते हैं । इन निष्काम और आसक्तिरहित कर्मोंके करनेमें उसकी 'व्युत्थान' की स्थिति नहीं होती, स्थिति तो 'निरोध' की ही रहती है । यह उसकी 'व्युत्थानकी अवस्था' है, जो अस्वाभाविक, अस्थायी और अदृढ तथा क्रिया-जन्य है । ये कर्म निष्काम-भावसे और आसक्ति तथा वासना-रहित होते हैं, इसलिये आगेके लिये भोग और बन्धनके संस्कारोंके उत्पादक नहीं होते । इस 'स्वरूप-स्थिति' को गीतामें 'समाधि-स्थिति' और ऐसे योगीको 'स्थितप्रज्ञ' के नामसे वर्णन किया है ।

(गीता अध्याय २ श्लोक ५४ से ६१)—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

हे केशव ! 'समाधिस्थस्थितप्रज्ञ' का क्या लक्षण है ? (और) 'स्थितप्रज्ञ' कैसे बोलता है ? कैसे बैठता है ? कैसे चलता है ?

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

हे अर्जुन ! जिस समय (यह पुरुष) मनमें इच्छित सब इच्छाओंको त्याग देता है, उस समय आत्मासे ही आत्मामें संतुष्ट हुआ, 'स्वरूपस्थिति' को प्राप्त हुआ, 'स्थितप्रज्ञ' कहा जाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

दुःखोंकी प्राप्तिमें उद्वेग-रहित है मन जिसका, (और) सुखोंकी प्राप्तिमें दूर हो गयी है स्पृहा जिसकी (तथा) नष्ट हो गये हैं राग, भय और क्रोध जिसके, ऐसे मुनिको 'स्थितप्रज्ञ' कहा जाता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ, उस-उस शुभ तथा अशुभ (वस्तुओं) को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है (और) न द्वेष करता है, उसकी प्रज्ञा स्थिर है।

यथा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

और कछुवा (अपने) अङ्गोंको जैसे (समेट लेता) है (वैसे ही) यह पुरुष जब सब ओरसे (अपनी) इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके विषयोंसे समेट लेता है (तब) उसकी 'प्रज्ञा' स्थिर होती है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

(इन्द्रियोंके द्वारा) विषयोंको न ग्रहण करनेवाले पुरुषके (भी केवल) विषय (तो) निवृत्त हो जाते हैं (परंतु) राग नहीं (निवृत्त होता); और इस (स्थितप्रज्ञ समाधिस्थ) पुरुषका (तो) राग भी 'परम-तत्त्व' को साक्षात् करके निवृत्त हो जाता है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

हे अर्जुन ! जिससे (कि) यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके भी मनको यह प्रमथन करनेवाली इन्द्रियाँ बलात्कारसे हर लेती हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

उससे उन सब इन्द्रियोंको वशमें करके समाहित-चित्त हुआ, मेरे (परमात्म-तत्त्वके) परायण (स्थित) होवे; क्योंकि जिस पुरुषके इन्द्रियाँ वशमें होती है, उसकी ही 'प्रज्ञा' स्थिर होती है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ (गीता २ । ६९)

सर्व प्राणियोंकी जो रात है, उसमें संयमीसमाधिस्थ (स्थितप्रज्ञ योगी) जागता है। जिसमें अन्य प्राणी जागते हैं, वह तत्त्वको जाननेवाले (स्थितप्रज्ञ) मुनिके लिये रात है। अर्थात् सुषुप्ति-अवस्थामें सब प्राणी तमोगुणके प्रभावसे अन्तर्मुखवृत्ति होकर हृदयाकाशमें आनन्दमय कोश (कारण-शरीर) में रहते है। तमोगुणके अन्धकारके कारण ब्रह्मानन्दमें रहते हुए भी वे उससे वञ्चित रहते है, जैसा कि उपनिषदोंमें कहा गया है—

इमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति । (छा० ६ । ९ । २)

सुषुप्तिमें ये सारी प्रजाएँ (प्राणी) सत्-ब्रह्ममें रहते हुए भी नहीं जानते कि हम ब्रह्ममें स्थित है।

स्थितप्रज्ञ योगी सत्त्वगुणके प्रभावसे आनन्दमय कोश अर्थात् कारण-शरीरमें अन्तर्मुख होता है, इसलिये ज्ञानके प्रकाशसे ब्रह्मानन्दको प्राप्त करता है, यह उसका जागना है। जाग्रत्-अवस्थामें सब प्राणी व्युत्थान दशामें रहते हुए सासारिक कार्य करते हैं, किंतु स्थितप्रज्ञ योगी सब कार्योंको अपने भोग-निवृत्ति अथवा ईश्वरकी ओरसे कर्तव्यमात्र समझता हुआ ममता और अहंतासे रहित, अनासक्ति और निष्काम-भावसे करता है। इससे उत्पन्न होनेवाली वासनाओं तथा ममता और अहताके भावोसे न स्पर्श किया हुआ अन्तर्मुख (ही) बना रहता है। इसलिये उसका जाग्रत्-दशामें कार्य-क्षेत्रमें रहना भी रात्रिकी सुषुप्ति-अवस्थाके सदृश है, क्योकि उससे भोग दिलानेवाली वासनाएँ तथा संस्कार चित्तमें नहीं पड़ते।

ये योगी जो स्वरूपस्थितिको प्राप्त कर चुके है, दो प्रकारके होते है, पहिले—जिनके कर्म केवल भोग-निवृत्तिके लिये ही होते हैं; दूसरे वे योगी जिनके कर्म भोग-निवृत्ति तथा निष्काम आसक्तिरहित, परमात्माकी आज्ञा पालन करते हुए समस्त प्राणियोंके कल्याणार्थ ईश्वरार्पण होते हैं।

दो प्रकारकी मुक्ति—इसीके अनुसार इन दोनो प्रकारके स्वरूप-स्थितिवाले योगियोंकी मुक्ति भी दो प्रकारकी होती है—

प्रथम प्रकारके योगियोंकी मुक्तिमें चित्तको बनानेवाले गुण अपने कारणमें लीन हो जाते हैं, जो सांख्य और योगका कैवल्य है। दूसरे प्रकारवालोंकी मुक्तिमें 'चित्त-सत्त्व' अपने स्वरूपसहित ईश्वरके विशुद्ध सत्त्वमय चित्तमें (जिसका दूसरा नाम आदित्यलोक है) लीन (अवस्थित) रहता है।

ईश्वरीय नियमानुसार जब-जब उनकी आवश्यकता होती है, तब-तब वे सम्पूर्ण प्राणियोके कल्याणार्थ तथा ससारमें धर्म-मर्यादा स्थापन करनेके लिये शुद्ध चैतन्य स्वरूपसे शबल स्वरूपमे भौतिक जगत्में अवतरण करते हैं; जिस प्रकार स्वरूपस्थिति प्राप्त किया हुआ योगी असम्प्रज्ञात-समाधिसे व्यवहार दशामें आता है। यथा—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४। ७-८)

'हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मै अपने-आपको प्रकट करता हूँ, अर्थात् शुद्ध-स्वरूपसे शबल-स्वरूपमें आता हूँ। सज्जनोंकी रक्षाके लिये और दूषित कर्म करनेवालोका नाश करनेके लिये (तथा) धर्म-स्थापन करनेके लिये युग-युगमें प्रकट होता हूँ।'

यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि आना-जाना, बन्धन और मुक्ति आदि सब क्रियाएँ अन्तःकरणमें होती हैं, चेतन तत्त्व (पुरुष अर्थात् आत्मा) उनका केवल साक्षी, अप्रसवधर्मी, अपरिणामी, निष्क्रिय, नित्य, सदा एकरस रहता है।

उसमें बन्धन तथा मुक्तिका होना विकल्पसे आरोप किया जाता है जैसा कि साख्यसूत्रमें बतलाया गया है। "वाङ् मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थिति" 'पुरुषमें बन्ध आदि कथनमात्र हैं, क्योकि चित्तमें ही बन्ध आदिकी स्थिति है', इन निर्मल, विशाल, ज्ञानवान्, शक्तिशाली, ऐश्वर्यवान्, वैराग्ययुक्त चित्तोमें

यद्यपि अविद्या आदि क्लेशोंका बीज सर्वथा दग्ध हो गया है, किंतु संसारके कल्याणके संस्कार शेष रहते हैं, जिनके कारण ईश्वरीय नियमानुसार समय-समयपर उनका प्रादुर्भाव होता है। इन्हें इस संकल्पको हटाकर चित्त बनानेवाले गुणोंको अपने कारणमें लीन करके कैवल्यप्राप्तिका सर्वदा अधिकार रहता है।

जिस प्रकार विदेहमुक्त और जीवन्मुक्त इन दो प्रकारके भेदोंमें उन जीवन्मुक्त योगियोंको भी मुक्त माना जाता है, जिनके चित्तके बनानेवाले गुण अपने कारणमे लीन नहीं हुए हैं; किंतु उनमें अविद्या आदि क्लेश सर्वथा दग्धबीज होकर पुनः बन्धनरूप अंकुरके उत्पन्न करनेमें सर्वथा असमर्थ हो गये हैं। इसी प्रकार यहाँ भी मुक्तिके इन दोनो भेदोंको समझ लेना चाहिये।

उपसंहार

पूर्व अधिकार किये हुए योगका लक्षण चित्तवृत्ति-निरोध इन पदोंका व्याख्यान, अभ्यास और वैराग्यरूप दोनो उपायोंका स्वरूप और भेद कहकर, सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात भेदसे योगके मुख्य और गौणभेदको कहकर, योगाभ्यासको दिखलाते हुए, विस्तारसे उसके उपायोंको बतलाकर; और सुगम उपाय होनेसे ईश्वरका स्वरूप, प्रमाण, प्रभाव और उसका वाचक नाम तथा उपासनाओंको बतलाकर और उनके फलोंका निर्णय कर, फिर चित्तके विक्षेप (व्याधिस्त्यानादि तीसवे सूत्रोक्त) और चित्त-विक्षेपके सहकारी दुःख आदि (इकतीसवे सूत्रोक्त) को कहकर और विस्तारसे चित्त-विक्षेपादिको हटानेवाले, एकतत्त्वके अभ्यास, मैत्री, करुणा आदि और प्राणायाम आदिको कहकर तथा सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात दोनो अङ्गरूप 'विषयवती वा प्रवृत्तिः' (पैंतीसवे सूत्रसे लेकर) इत्यादि विषयोंको कहकर, और उपसंहारद्वारा अपने-अपने विषयसहित अपने स्वरूप और फलसहित समापत्तिको कहकर, सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञातकी समाप्ति कर, सबीज-समाधिपूर्वक निर्बीज-समाधि कही गयी है। यह उपसंहार केवल सूत्रोंका है, इसमें व्याख्याताके अपने वि० वि०, वि० व०, टिप्पणी इत्यादि अर्थात् (सूत्र एकमे) अनुबन्ध-चतुष्टय जिसमें योगकी प्राचीन परम्परा, योग-दर्शनकी विशेषता, योगके भेद आदि विस्तारपूर्वक वर्णन हैं, (सूत्र दोमें) चित्त तथा सृष्टिक्रमका विस्तारके साथ वर्णन, (सूत्र सत्रहमे) कोशोंद्वारा अभ्यासकी प्रणाली तथा कोशोंकी विस्तृत व्याख्या, (सूत्र १८ में) सम्प्रज्ञात-समाधिकी भूमियो, असम्प्रज्ञात-समाधि और कैवल्यका विशेष वर्णन, (सूत्र १९ में) 'भव-प्रत्यय' के सम्बन्धमें अयुक्त और 'विदेह' तथा 'प्रकृतिलय' के प्रति सकीर्ण विचारोंके निराकरणार्थ तथा युक्त और यथार्थ अर्थके समर्थनार्थ 'व्यासभाष्य' 'तत्त्व वैशारदी' तथा 'योगवार्त्तिक' का भाषानुवाद, (सूत्र २६ में) गुरुका यथार्थ स्वरूप, (सूत्र २७ में) प्रणवका वर्णात्मक तथा ध्वन्यात्मक स्वरूप, (सूत्र २८ में) ओम्, स्थूल-सूक्ष्म तथा कारण-शरीरकी व्याख्या; जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा समाधि-अवस्थाओंमें भेद, (सूत्र ३४ मे) सूक्ष्म प्राण, स्वर, स्वर-साधन, तत्त्व, तत्त्व-साधन, चक्र, चक्र-भेदन, कुण्डलिनी-शक्ति, कुण्डलिनी जाग्रत् करनेके उपाय, साधकोंको आवश्यक चेतावनी, और (सूत्र ५१ मे) स्थितप्रज्ञके लक्षण इत्यादिको भी उपसंहृत कर लेना चाहिये। इस प्रकार पातञ्जलयोगप्रदीपमे समाधि नामवाले पहले पादकी व्याख्या समाप्त हुई।

इति पातञ्जलयोगप्रदीपे प्रथमः समाधिपादः समाप्तः ॥

साधनपाद

प्रथम पादमें समाहित चित्तवाले योगके उत्तम अधिकारियोके लिये योगका स्वरूप, उसके भेद और उसका फल सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधिको विस्तारके साथ वर्णन किया गया है और योगके मुख्य उपाय अभ्यास तथा वैराग्य-साधनकी कई विधियाँ बतलायी हैं। पर विक्षिप्त चित्तवाले मध्यमाधिकारी जिनका चित्त सासारिक वासनाओं तथा राग-द्वेष आदिसे कलुषित (मलिन) हैं, उनके लिये अभ्यास और वैराग्यका होना कठिन है उनका चित्त भी शुद्ध होकर अभ्यास और वैराग्यको सम्पादन कर सके इस अभिप्रायसे चित्तकी एकाग्रताके असदिग्ध उपाय क्रियायोगपूर्वक यम-नियमादि योगके आठ अङ्गोको बतलानेके लिये दूसरे साधनपादको आरम्भ करते हैं।

योगके अङ्गोंमें प्रवृत्त करानेसे पूर्व सबसे प्रथम चित्तकी शुद्धिका एक सरल और उपयोगी उपाय क्रियायोग बतलाते हैं—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

शब्दार्थ—तपःस्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि=तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान, क्रियायोगः= क्रियायोग है।

अन्वयार्थ—तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग है।

व्याख्या—तपः—जिस प्रकार अश्व-विद्यामे कुशल सारथि चञ्चल घोडोको साधता है इसी प्रकार शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ और मनको उचित रीति और अभ्याससे वशीकार करनेको तप कहते हैं, जिससे सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुख-दुःख, हर्ष-शोक और मान-अपमान आदि सम्पूर्ण द्वन्द्वोंकी अवस्थामें बिना विक्षेपके स्वस्थ शरीर और निर्मल अन्त.करणके साथ योगमार्गमें प्रवृत्त रह सके। शरीरमे व्याधि तथा पीड़ा, इन्द्रियोमें विकार और चित्तमें अप्रसन्नता उत्पन्न करनेवाला तामसी तप योगमार्गमें निन्दित तथा वर्जित है। श्रीव्यासजी महाराज लिखते हैं "अनादि कर्म क्लेश वासनासे चित्रित हुआ जो विषयोंमें प्रवृत्ति करानेवाला अशुद्धिमलरूप रजस्-तमसका प्रसार है, वह बिना तपके अनुष्ठानके नाशको प्राप्त होना असम्भव है। अत' सबसे पहले तपरूप साधनका उपदेश किया है। तच्च चित्तप्रसादनं-बाधमानमनेनाऽऽसेव्यमिति मन्यते 'जो तप चित्तकी प्रसन्नताका हेतु हो तथा शरीर-इन्द्रियादिका बाधाकारक (पीडाकारक) न हो। वही सेवनीय है अन्य नहीं' वही सूत्रकारादि महर्षियोको अभिमत है, क्योकि व्याधि, शरीरकी पीड़ा

आदि और चित्तकी अप्रसन्नता योगके विघ्न हैं। ऐसा ही उपनिषदोंमें बतलाया है 'तपसाऽनाशकेन' 'जो शरीरका नाशक न हो'। तपकी विशेष व्याख्या इस सूत्रके विशेष वक्तव्यमें देखें।

स्वाध्याय—वेद-उपनिषद् आदि तथा योग और सांख्यके अध्यात्मसम्बन्धी विवेक-ज्ञान उत्पन्न करनेवाले सत्-शास्त्रोंका नियमपूर्वक अध्ययन और ओंकारसहित गायत्री आदि मन्त्रोंका जाप।

ईश्वर-प्रणिधानके सामान्य अर्थ (१) ईश्वरकी भक्ति-विशेष और शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण, अन्तःकरण आदि सब बाह्य और आभ्यन्तर करणों, उनसे होनेवाले सारे कर्मों और उनके फलोंको अर्थात् सारे बाह्य और आभ्यन्तर जीवनको ईश्वरके समर्पण कर देना है। और उसके विशेष अर्थ (२) ओ३म्का उसके अर्थोंकी भावनासहित मानसिक जाप है। जैसा कि समाधिपाद सू० २८ की व्याख्या तथा विशेष वक्तव्यमें बतलाया गया है। दूसरे अर्थका सम्बन्ध आभ्यन्तर क्रियासे है। यह असम्प्रज्ञात समाधिके लाभ तथा क्लेशोंकी निवृत्तिमें साधनरूप है। समाधिपाद सू० २३में समाहित चित्तवाले उत्तम अधिकारियोंके लिये यह अर्थ प्रधानरूपसे लिया गया है। पहले अर्थका सम्बन्ध अधिकतर हमारे व्यावहारिक जीवनसे है। यह सम्प्रज्ञात समाधि तथा क्लेशोंको तनु (शिथिल) करनेमें साधनरूप है। इस सूत्रमें तथा इस पादके सूत्र ३२ में विक्षिप्त चित्तवाले मध्यमाधिकारियोंके लिये ये ही अर्थ प्रधानरूपसे लिये गये हैं।

कामतोऽकामतो वापि यत् करोमि शुभाशुभम्।
तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्॥

फलेच्छासे या निष्कामतासे जो शुभाशुभ कर्मका मैं अनुष्ठान करता हूँ, वह सब आप परमेश्वरके ही में समर्पण करता हूं; क्योंकि आप अन्तर्यामीसे ही प्रेरित होकर मैं सब कर्म करता हूँ।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (गीता ९। २७)

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! जो तुम कार्य करो, भक्षण करो, यज्ञ करो अथवा दान करो और जो तप करो, वह सब मेरे (परमेश्वरके) ही अर्पण करो। यहाँ यह ध्यान रखनेकी बात है कि जिस योगीने अपने समस्त कार्य ईश्वरके समर्पण कर दिये हैं, उसका कोई काम अशुभ न होगा। सब शुभ ही होंगे तथा फलोंको ईश्वर-समर्पण कर देनेके कारण उसके कर्म फलेच्छा-परित्यागपूर्वक ही होंगे। कर्मों और उनके फलोंको ईश्वर-समर्पण कर देनेके अर्थ कर्महीन बन जाना नहीं है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ (गीता २। ४७)

हे अर्जुन! कर्मोंके अनुष्ठानहीमें तुम्हें अधिकार है, कर्मोंके फलमें कदापि नहीं; अतः फलके अर्थ कर्मोंका अनुष्ठान मत करो और कर्महीनतामें भी तेरी आसक्ति न होनी चाहिये अर्थात् ईश्वर-समर्पण करके सदा निष्कामभावसे अपने कर्तव्यरूप शुभ कर्म करते रहना चाहिये।

शङ्का—समाधिपादमें उत्तम अधिकारियोंके लिये वैराग्य-अभ्यासादि साधन बतलाये गये हैं और इस साधनपादमें मध्यमाधिकारियोंके लिये अष्टाङ्गयोग। फिर यहाँ उस अष्टाङ्गयोगके केवल तीन नियमोंको ही क्यों साधनरूप बतलाया गया है?

समाधान—इस पादमें मध्यमाधिकारियोके लिये वास्तवमें तो अष्टाङ्गयोग ही साधनरूप बतलाया गया है। और तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान पाँचो नियमोके अन्तिम तीन भाग हैं। किंतु ये व्यावहारिक जीवनको शुद्ध और सात्त्विक बनानेमें अधिक सहायक होते हैं। जिससे चित्त शुद्ध और निर्मल होकर अष्टाङ्गयोगपर सुगमतासे आरूढ हो सकता है।

गीतामें ऐसे योगेच्छुको आरुरुक्षु नामसे पुकारा गया है और इस क्रियायोगका नाम कर्मयोग दिया गया है। यथा—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।

आरुरुक्षु अर्थात् योगारूढ़ होनेकी इच्छा रखनेवाले मननशील पुरुषोंके लिये कर्मयोगको कारण अर्थात् साधन कहा है। तपसे शरीर, वाणी, मन और अन्तःकरणकी अशुद्धि दूर होती है। स्वाध्यायसे तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्ति तथा मनकी एकाग्रता और ईश्वर-प्रणिधानसे कर्मोंमें कामना और फलोंमें आसक्तिका त्याग तथा ईश्वरका अनुग्रह प्राप्त होता है। इसलिये इनको क्रियायोग नामसे अष्टाङ्गयोगके पूर्व अनुष्ठान करना बतलाया है और यदि इन तीनोके व्यापक अर्थ लिये जायँ तो सारे योगके आठो अङ्ग इन्हींके अन्तर्गत हो जाते हैं।

विशेष वक्तव्य—सूत्र १

तपकी व्याख्या—जिस प्रकार अग्निमें तपानेसे धातुका मल भस्म हो जानेपर उसमें स्वच्छता और चमक आ जाती है, इसी प्रकार तपकी अग्निमें शरीर, इन्द्रियों आदिका तमोगुणी आवरणके नाश हो जानेपर उनका सत्त्वरूपी प्रकाश बढ जाता है। योगमार्गमें आसन-प्राणायाम जिनका सूत्र ४६ एवं ४९ में क्रमसे वर्णन किया जायगा और सात्त्विक आहार-विहारादि शरीरके तप माने गये हैं तथा प्रत्याहार जिसका वर्णन सूत्र ५४ में किया जायगा और शम-दम आदि इन्द्रियो तथा मनके तप हैं।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥ (गीता ६। १६)

यह योग न तो बहुत अधिक खानेवालेको और न कोरे उपवासीको, वैसे ही न बहुत सोनेवालेको और न बहुत जागनेवालेको प्राप्त होता है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥ (गीता ६। १७)

जो मनुष्य आहार-विहारमें, दूसरे कर्मोंमें, सोने-जागनेमे नियमित रहता है, उसका योग दु.ख-नाशक होता है।

युक्ताहार (मिताहार) यथा—

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः।
भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते॥

स्निग्ध, मीठा, प्रिय आहार, क्षुधा-परिमाणसे चतुर्थ भागसे न्यून, शिव (ईश्वर) की सम्यक् प्रीतिके लिये जो किया जाता है, वह मिताहार कहा जाता है। तामसी, राजसी, हिंसासे प्राप्त किये हुए तथा गरिष्ठ, वात-कफकारक, अति उष्ण, खट्टे, चरपरे, बासी, अतिरूक्ष, सूखे हुए, रूखे, सडे हुए,

जूठे, नशा करनेवाले, उत्तेजक, स्वास्थ्यको हानि पहुँचानेवाले पदार्थोंको त्यागकर केवल शुद्ध, सात्त्विक, हलके, मधुर, रसदार, स्निग्ध, ताजा, स्वास्थ्य वर्धक, चित्तको प्रसन्न करनेवाले पदार्थ जैसे दूध, घृत, ताजे रसदार मीठे सात्त्विक फल—जैसे मीठा संतरा, मीठा अनार, मुसम्मी (मालटा), अंगूर, सेब, केला, मीठा आडू, खूबानी आदि तथा सुश्क फल जैसे बादाम, अंजीर, मुनक्का इत्यादि, सात्त्विक सब्जी—जैसे लौकी, परवल, तुरई आदि; सात्त्विक अनाज—जैसे गेहूँ, मूँग, चावल आदिका नियमितरूपसे भूखसे न्यून मात्रामें सेवन करना अर्थात् उदरको दो भाग अन्नसे भरना, एक भाग जलसे और एक भाग वायुके संचारार्थ खाली रखना। रात्रिमें सोनेसे पूर्व दूध, फल आदि खल्पमात्रामें लेना चाहिये।

योगीजन स्वादको वशीकार किये हुए शरीरसे आसक्ति और ममता त्यागे हुए शरीरको केवल भजनके कार्यमें उपयोगी बनानेके निमित्त खान-पान आदिका विशेष ध्यान रखते हैं। साधारण मनुष्य स्वादके वशीभूत होकर, शरीरमें आसक्ति और ममताके साथ खान-पान आदिके व्यवहारमें लिप्त रहता है। यह योगी और भोगीमें भेद है। योगाभ्यासीके लिये मास, मादक पदार्थ तथा लाल मिर्च आदि सर्वथा त्याज्य है। उनके सेवनकी अपेक्षा भूखा रहना हितकर है। उनके सेवनमे आपत्ति तथा धर्मकी आड़ किसी अवस्थामें नहीं ली जा सकती।

अभ्यासियोंको अन्नके सम्बन्धमें पूरी सावधानी रखनी चाहिये। क्योंकि अन्नका शरीर तथा मनपर बड़ा प्रभाव पड़ता है। अन्न सात्त्विक तथा पवित्र कमाईका होना चाहिये। इस सम्बन्धमें हमारे एक प्रेमी सत्संगी पं० बाबूराम ब्रह्म कविकी एक कविता लिखी जाती है।

अन्न ही बनावे मन, मन जैसी इन्द्रियाँ हों
इन्द्रियोंसे कर्म, कर्म भोग भुगवाते हैं।
अन्नहीसे वीर क्लीव, क्लीव वीर होते देखे
अन्नके प्रताप योगी भोगी बन जाते हैं॥
अन्नहीके दूषणसे तामसी ले जन्म जीव
अन्नकी पवित्रतासे देव खिंच आते हैं।
मृत्युलोकसे हे 'ब्रह्म' मोक्ष और बन्धनका
वेद आदि मूल तत्व अन्न ही बताते हैं॥

युक्त विहार—ऐसी लंबी कठिन यात्राका न करना जिससे भजनमें विघ्न पडे। चलना-फिरना बिल्कुल बंद न कर दिया जाय जिससे तमोगुणरूपी आलस्य तथा प्रमाद उत्पन्न होकर भजनमें बाधक हो; बल्कि इतना चलता-फिरता और घूमता रहे जिससे शरीर स्वस्थ और चित्त प्रसन्न रहे और भजनका कार्य सफलतापूर्वक होता रहे।

युक्त कर्मचेष्टा—नियमितरूपसे कर्तव्य तथा नियत सत्कर्मोंको नित्य करते रहना अर्थात् न इतना अधिक शारीरिक परिश्रम करना जिससे थकान उत्पन्न होकर भजनमें विघ्न पडे और न सर्वथा कर्तव्यहीन होकर आलसी बन जाना।

युक्तस्वप्नावबोध—रात्रिमें सात घंटेसे अधिक न सोना जिससे तमोगुण न बढ़े, न चार घंटेसे कम सोना जिससे भजन करते समय नींद न सतावे।

योगमार्गमें चान्द्रायण आदि व्रत तथा लंबे उपवास वर्जित है। सप्ताहमें एक दिन उपवास रखना प्रशस्त है, जिससे सप्ताहमें सचित हुए शारीरिक तथा मानसिक विकार निवृत्त होते रहें। उपवास-वाले दिन अन्न सर्वथा त्याग दे, दूध-फलादि हलका आहार लेना चाहिये। सर्वथा निराहार रहनेसे प्राणोंके निरोधके साथ भजन करनेकी अवस्थामें मस्तिष्कमें खुश्की पहुँचने और कई दिनोंतक भजनके कार्यमें विघ्न पड़नेकी सम्भावना हो सकती है। विशेष अवस्थामें किसी-किसी ऐसे साधकसे जो शरीरके स्थूल तथा विकारी होने अथवा रजोगुणी मनकी चञ्चलताके कारण योगमार्गपर सुगमतासे नहीं चल सकते, चान्द्रायण आदि व्रत तथा लंबे उपवास भी कराये जाते हैं। ये किसी अनुभवीकी अध्यक्षता और पूरी देखभालमें होने चाहिये। प्रत्येक दिन नमक और साबुनमिश्रित गुन-गुने जलसे एनिमा करते रहना आवश्यक है। ऐसा न करनेसे पिछला बचा हुआ मल आँतोंमें सूख जाता है। उससे आँतोंमें खराश तथा अन्य विकार उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है। लंबे उपवासमें पित्त बढ़ जाता है। इसलिये उपवासकी समाप्तिपर कागजी नीबूका शरबत अथवा शिकञ्जवी पिलावे। दूध तथा रसीले फल, कागजी नीबू, मीठा अनार, सेब, मीठा सतरा, मुसम्मी, अंगूर आदि शनैः-शनैः बढ़ाते जायँ। खट्टे फलोंको दूधके साथ न दें। कई दिनोंके पश्चात् अन्नको प्रथम मूँगकी दालके पानीसे आरम्भ करें और शनैः-शनैः मात्रा बढ़ाते जायँ। ऐसा करनेसे शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य सुधर जायगा। लंबे उपवासके पश्चात् आँतोंमें पाचन-शक्ति कम हो जाती है और भूख बढ़ जाती है। थोड़ी-सी भूलमें नाना प्रकारके रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

वाणीका तप—वाणीका तप वाणीको संयममें रखना है अर्थात् केवल सत्य, प्रिय, आवश्यकता-नुसार दूसरोंका यथायोग्य सम्मान करते हुए वाणीसे वचन निकालना। वाणीको संयममें रखनेका यत्न करते हुए सप्ताहमें एक दिन मौनव्रत रखना प्रशस्त है। वाणीको संयममें रखनेका यत्न किये बिना केवल देखा-देखी मौन रखना मिथ्याचार है।

मनका तप—मनका तप मनको संयममें रखना है अर्थात् हिंसात्मक, क्लिष्ट भावनाओं तथा अपवित्र विचारोंको मनसे हटाते हुए हिंसात्मक अक्लिष्ट भावनाओं और शुद्ध विचारोंको मनमें धारण करना है। इस प्रकार क्लिष्ट विचारोंपर विजय प्राप्त करनेके पश्चात् सब प्रकारके विचार भविष्यके संकल्प-विकल्प और भूतकालकी स्मृतिसे मनको शून्य करनेका अभ्यास करना चाहिये।

गीताके अध्याय १७के अनुसार सात्त्विक, राजसी और तामसी तप—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ १७॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥ १८॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥ १९॥

फलको न चाहनेवाले निष्कामी योगी पुरुषोंद्वारा परम श्रद्धासे किये हुए उस तीन प्रकारके (शारीरिक, वाचिक और मानसिक) तपको सात्त्विक कहते हैं और जो तप सत्कार, मान और पूजा-के लिये अथवा केवल पाखण्डसे किया जाता है वह अनिश्चित और क्षणिक फलवाला तप यहाँ

राजस कहा गया है । जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे मन-वाणी और शरीरको पीड़ा देकर अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है ।

स्वाध्याय—स्वाध्यायकी व्याख्यामें हमने जो ओंकारसहित गायत्री आदिका जाप बतलाया है, उस गायत्री-मन्त्रके अर्थोंको विशेषरूपसे खोल देना उचित प्रतीत होता है । गायत्री-मन्त्रके सम्बन्धमें मनु महाराज लिखते हैं—

ओंकारपूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः ।
त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ॥ (२ । ८)

तीन मात्रावाले ओंकारपूर्वक तीन महाव्याहृति और त्रिपदा सावित्रीको ब्रह्मका मुख (द्वार) जानना चाहिये ।

गायत्री-मन्त्र

ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥
(य० अ० ३६ मन्त्र ३) (ऋ० म० ३ सू० ६२ म० १०) (साम १४६२)

(१) ओंकारकी तीन मात्राएँ—अकार, उकार, मकार और चौथा अमात्र विराम ।

अकार—एक मात्रावाले विराट् जो स्थूल जगत्के सम्बन्धसे परमात्माका नाम है ।

फल—पाँचो स्थूल भूतों और उनसे बने हुए पदार्थोंको आत्मोन्नतिमें बाधक होनेसे हटाकर साधक बनानेवाला अपने विराट् रूपके साथ स्थूल जगत्के ऐश्वर्यका उपभोग करानेवाला ।

उकार—दो मात्रावाले हिरण्यगर्भ जो सूक्ष्म जगत्के सम्बन्धसे परमात्माका नाम है ।

फल—पाँचों स्थूल-सूक्ष्म भूतो और अहंकार आदिको आत्मोन्नतिमें बाधक होनेसे हटाकर साधक बनानेवाला, अपने हिरण्यगर्भरूपके साथ सूक्ष्म जगत्में ऐश्वर्यका उपभोग करानेवाला ।

मकार—तीनों मात्रावाले ईश्वर जो कारण जगत्के सम्बन्धसे परमात्माका नाम है ।

फल—कारण जगत्को आत्मोन्नतिमें बाधक बननेसे हटाकर साधक बनानेवाला, अपने अपर स्वरूपके साथ कारण जगत्के ऐश्वर्यका उपभोग करानेवाला ।

अमात्र विराम—परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति अर्थात् स्वरूपावस्थिति जो प्राणिमात्रका अन्तिम ध्येय है ।

(२) तीन महाव्याहृतियाँ—भूः, भुवः, स्वः ।

भूः—सारे ब्रह्माण्डका प्राणरूप (जीवन देनेवाला) ईश्वर, सब प्राणधारियोका प्राण-सदृश आधार और प्यारा पृथ्वीलोकका नियन्ता ।

भुवः—सारे ब्रह्माण्डका अपानरूप (पालन-पोषण करनेवाला) ईश्वर, सब प्राणियोको तीनों प्रकारके दुःखोंसे छुड़ानेवाला, अन्तरिक्षलोकका नियन्ता ।

स्वः—सारे ब्रह्माण्डका व्यानरूप (व्यापक) ईश्वर, सब प्राणधारियोंको सुख और ज्ञानका देनेवाला द्यौलोकका नियन्ता ।

(३) गायत्रीके तीन पाद—**तत्सवितुर्वरेण्यम् । भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥**

सवितुः—सब जगत्को उत्पन्न करनेवाले अर्थात् सब प्राणधारियोके परम माता-पिता ।

देवस्य—ज्ञानरूप प्रकाशके देनेवाले देवके ।

तत्—उस ।

वरेण्यम्—ग्रहण करने योग्य अर्थात् उपासना करने योग्य ।

भर्गः—शुद्ध स्वरूपका ।

धीमहि—हम ध्यान करते हैं ।

यः—जो (पूर्वोक्त सविता देव) ।

नः—हमारी ।

धियः—बुद्धियोंको ।

प्रचोदयात्—ठीक मार्गमें प्रवृत्त करे ।

सब प्राणियोके परम पिता-माता, ज्ञानरूप प्रकाशके देनेवाले देवके उस उपासना करनेयोग्य शुद्ध-स्वरूपका हम ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धियोको ठीक मार्गमे प्रवृत्त करें ।

तीनो गुणोंका प्रथम विषम परिणाम महत्तत्त्व है । इसको व्यष्टिरूपमें बुद्धि तथा चित्त कहते हैं । इसीसे सत्-असत्, कर्तव्याकर्तव्य, धर्म-अधर्म आदिका निर्णय किया जाता है । इसीमें जन्म, आयु और भोग देनेवाले सारे संस्कार रहते हैं । इसके पवित्र होनेसे सन्मार्गकी प्राप्ति, संस्कारोंकी निवृत्ति और जन्म-आयु और भोगसे मुक्ति हो सकती है । इस गायत्री-मन्त्रमें विशेषरूपसे बुद्धि अथवा चित्तकी पवित्रताके लिये प्रार्थना की गयी है ।

वानप्रस्थ-आश्रम और संन्यास-आश्रमके प्रवेश तथा अभ्यासके आरम्भसे कई दिन पूर्व और प्रायश्चित्तार्थ आत्मोन्नति तथा शुभ-कामनाकी पूर्तिके लिये एक निश्चित संख्यामें गायत्री-मन्त्रका जप अत्यन्त श्रेयस्कर है ।

गायत्र्यास्तु परं नास्ति शोधनं पापकर्मणाम् ।
महाव्याहृतिसंयुक्तां प्रणवेन च स जपेत् ॥ (सवर्तस्मृति श्लोक २१८)

गायत्रीसे बढ़कर पापकर्मोका शोधक (प्रायश्चित्त) दूसरा कुछ भी नहीं है । प्रणव (ओंकार) सहित तीन महाव्याहृतियोंसे युक्त गायत्री मन्त्रका जाप करना चाहिये ।

इस गायत्री-मन्त्रके ऋषि विश्वामित्र हैं, देवता सविता और छन्द गायत्री है ।

सङ्गति—वह क्रियायोग किसलिये है ? यह बतलाते हैं—

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

शब्दार्थ—(क्रियायोग) समाधि-भावनार्थः=समाधिकी भावना (समाधिका चित्तमें पुनः-पुनः निवेश) के लिये, क्लेश-तनू-करण-अर्थः=और क्लेशोके तनूकरण (दुबले करने) के लिये है ।

(स हि क्रियायोगः) 'सो वह उपर्युक्त क्रियायोग' इतना पाठ भाष्यकारोंने सूत्रके आदिमें अध्याहार किया है ।

अन्वयार्थ—समाधिकी भावनाके लिये और क्लेशोंके तनू करनेके लिये क्रियायोग है ।

व्याख्या—समाधि-भावना='समाधिरुक्तलक्षणस्तस्य भावना चेतसि पुनः पुनर्निवेशनम्'= समाधि जिसका लक्षण १ । २ में कहा है, उसकी भावना अर्थात् समाधिका चित्तमें बार-बार निवेश (लाना) है ।—(भोजवृत्ति)

क्लेशतनूकरणार्थः=क्लेशा वक्ष्यमाणास्तेषा तनूकरणं स्वकार्यकारणप्रतिबन्धः=क्लेश अविद्यादि अगले सूत्रमें कहे हैं, उनका तनूकरण 'उनके स्वकार्यके कारण होनेमे प्रतिबन्धकता' ।—(भोजवृत्ति)

अविद्या आदि क्लेश जिनका आगे वर्णन किया जायगा, जिनके संस्कार बीजरूपसे चित्त-भूमिमें अनादि-कालसे पड़े हुए हैं, उनको शिथिल करने और चित्तको समाधिकी प्राप्तिके योग्य बनानेके लिये क्रियायोग किया जाता है। तपसे शरीर, प्राण, इन्द्रिय और मनकी अशुद्धि दूर होनेपर वे शुद्ध होकर क्लेशोंके दूर करने और समाधि-प्राप्तिमें सहायता देते हैं। स्वाध्यायसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और चित्त विक्षेपोंके आवरणसे मुक्त होकर समाहित होनेकी योग्यता प्राप्त कर लेता है। ईश्वर-प्रणिधानसे समाधि सिद्ध होती है और क्लेशोंकी निवृत्ति होती है।

यहाँ यह है कि क्रियायोगद्वारा क्लेशोंको तनू करना चाहिये। क्लेशोंके शिथिल होनेपर अभ्यास-वैराग्यका सुगमतासे सम्पादन हो सकेगा। अभ्यास-वैराग्यसे क्रमप्राप्त सम्प्रज्ञात-समाधिकी सबसे ऊँची अवस्था विवेक-ख्यातिरूप अग्निसे सूक्ष्म किये हुए क्लेशोंके संस्काररूप बीज दग्ध हो जाते हैं और चित्तका भोग-अधिकार समाप्त हो जाता है। क्लेशरूप बीजोंके दग्ध होनेपर पुनर्जन्म रुक जाता है। पुनर्जन्मके संस्कारोंकी वृद्धिसे चित्तका विवेकख्याति-अधिकार भी समाप्त हो जाता है और असम्प्रज्ञात-समाधिका लाभ प्राप्त होता है।

शङ्का—जिन क्लेशोंके दूर करनेके लिये क्रियायोग बतलाया गया है, वे क्लेश कौनसे हैं? यह अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशाः क्लेशाः=अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश हैं।

व्याख्या—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश हैं। ये पाँचों बाधनारूप पीड़ाको उत्पन्न करते हैं और चित्तमें वर्तमान रहते हुए संस्काररूप गुणोंके परिणामको दृढ़ करते हैं; इसलिये क्लेश नामसे कहे गये हैं। ये पाँचों विपर्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान ही हैं, क्योंकि उन सबका कारण अविद्या ही है।

टिप्पणी—सूत्र ॥ ३ ॥ अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेशोंके ही सांख्य-परिभाषामें क्रमसे तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र नामान्तर हैं।

तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञकः।
अविद्या पञ्चपर्वैषा सांख्ययोगेषु कीर्तिता॥

तमस् (अविद्या), मोह (अस्मिता), महामोह (राग), तामिस्र (द्वेष) और अन्धतामिस्र (अभिनिवेश)—यह सांख्य और योगमें पञ्चपर्वा अविद्या कही गयी है। ये तमस आदि अवान्तरभेदसे साठ प्रकारके हैं, जैसा कि सांख्यकारिकामें बतलाया है—

भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः॥ (सां० का० ४८)

तमस् और मोहका आठ-आठ प्रकारका भेद है। महामोह दस प्रकारका है। तामिस्र और अन्धतामिस्र अठारह-अठारह प्रकारके हैं।

तमस् (अविद्या)—प्रधान, महत्तत्त्व, अहङ्कार और पाँच तन्मात्राएँ—इन आठ अनात्मप्रकृतियोंमें आत्मभ्रान्तिरूप अविद्या-संज्ञक तम आठ विषयवाला होनेसे आठ प्रकारका है।

मोह (अस्मिता)—गौण फलरूप अणिमा-महिमा आदि आठ ऐश्वर्योंमें जो परम पुरुषार्थ भ्रान्ति-रूप ज्ञान है, वह अस्मिता-सज्ञक मोह कहलाता है। यह भी अणिमा आदि (३-४५) आठ भेदसे आठ प्रकारका है।

महामोह (राग)—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धसज्ञक लौकिक और दिव्य विषयोंमें जो अनुराग है, वह रागसंज्ञक महामोह कहा जाता है। यह भी दस विषयवाला होनेसे दस प्रकारका है।

तामिस्र (द्वेष)—उपर्युक्त आठ ऐश्वर्यों और दस विषयोंके भोगार्थ प्रवृत्त होनेपर किसी प्रतिबन्धकसे इन विषयोंके भोगलाभमें विघ्न पडनेसे जो प्रतिबन्धकविषयक द्वेष होता है, वह तामिस्र कहलाता है। वह तामिस्र आठ ऐश्वर्यों और दिव्य-अदिव्य दस विषयोंके प्रतिबन्धक होनेसे अठारह प्रकारका है।

अन्धतामिस्र (अभिनिवेश)—आठ प्रकारके ऐश्वर्य और दस प्रकारके विषय-भोगोंके उपस्थित होनेपर भी जो चित्तमें भय रहता है कि यह सब प्रलयकालमें नष्ट हो जायँगे, यह अभिनिवेश अन्धतामिस्र कहलाता है। अभिनिवेशरूप अन्धतामिस्र भी उपर्युक्त अठारहके नाशका भयरूप होनेसे अठारह प्रकारका है।

ये सब अज्ञानमूलक और दुःखजनक होनेसे अज्ञान, अविद्या, विपर्यय-ज्ञान, मिथ्याज्ञान, भ्रान्तिज्ञान और क्लेश आदि नामोंसे कहे जाते हैं।

सङ्गति—अविद्या सब क्लेशोंका मूल कारण है, यह अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—अविद्या-क्षेत्रम्=अविद्या क्षेत्र अर्थात् उत्पत्तिकी भूमि है; उत्तरेषाम्=अगलोंकी (अस्मिता-आदिकी), प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्न-उदाराणाम्=जो प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार अवस्थामें रहते हैं।

अन्वयार्थ—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार अवस्थावाले अस्मिता आदि क्लेशोंका अविद्या क्षेत्र है।

व्याख्या—जिस प्रकार भूमिमें रहकर ही बीज उत्पन्न होते हैं, इसी प्रकार अविद्याके क्षेत्रमें रहकर सब क्लेश बन्धनरूपी फल देते हैं। अविद्या ही इन सबोंका मूल कारण है। ये क्लेश चार अवस्थाओंमें रहते हैं—

प्रसुप्त—जो क्लेश चित्त-भूमिमें अवस्थित हैं, पर अभी जागे नहीं; क्योंकि अपने विषय आदि-के अभाव-कालमें अपने कार्योंको आरम्भ नहीं कर सकते हैं, वे प्रसुप्त कहलाते है। जिस प्रकार बाल्यावस्थामें विषय-भोगकी वासनाएँ बीजरूपसे दबी रहती हैं, जवान होनेपर जाग्रत् होकर अपना फल दिखलाती हैं।

तनु—तनु वे क्लेश है, जो प्रतिपक्षभावनाद्वारा अथवा क्रियायोग आदिसे शिथिल कर दिये गये हैं। इस कारण वे विषयके होते हुए भी अपने कार्यके आरम्भ करनेमें समर्थ नहीं होते, शान्त रहते हैं। परंतु इनकी वासनाएँ सूक्ष्मरूपसे चित्तमें बनी रहती है।

निम्न प्रकारसे इनको शिथिल (तनु) किया जाता है—

यथार्थ ज्ञानके अभ्याससे अविद्याको, भेद-दर्शनके अभ्याससे अस्मिताको, मध्यस्थ रहनेके विचार-से राग-द्वेषको, ममताके त्यागसे अभिनिवेश क्लेशको तनु (शिथिल) किया जाता है तथा धारणा, ध्यान और समाधिद्वारा अविद्या, अस्मिता आदि सारे क्लेश तनु किये जाते हैं।

विच्छिन्न—विच्छिन्न क्लेशोंकी वह अवस्था है, जिसमें क्लेश किसी दूसरे बलवान् क्लेशसे दबे हुए शक्तिरूपसे रहते हैं और उसके अभावमें वर्त्तमान हो जाते है। जैसे द्वेष-अवस्थामें राग छिपा रहता है और राग-अवस्थामें द्वेष।

उदार—उदार क्लेशोंकी वह अवस्था है, जो अपने सहायक विषयोंको पाकर अपने कार्यमें प्रवृत्त

हो रहे हैं। जैसे व्युत्थान अवस्थामें साधारण मनुष्योंमें होते हैं।

इन सबका मूलकारण अविद्या है। उसीके नाश होनेसे सर्वक्लेश समूल नाश हो जाते हैं।

दग्ध बीज—क्रियायोग अथवा सम्प्रज्ञात समाधिद्वारा तनु किये हुए क्लेश प्रसंख्यान अर्थात् विवेकख्यातिरूप अग्निमें दग्धबीज भावको प्राप्त हो जाते है। तत्पश्चात् पुनः अकुर उत्पन्न करने और फल देनेमें असमर्थ हो जाते हैं। यथा—

बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मना सम्पद्यते पुनः॥

जिस प्रकार अग्निसे जले हुए बीज फिर नहीं उगते हैं, इसी प्रकार विवेकज्ञानरूप अग्निसे जले हुए क्लेश फिर उत्पन्न नहीं हो सकते।

शङ्का—सूत्रकारने क्लेशोंकी इस पाँचवीं दग्धबीज-अवस्थाका वर्णन इस सूत्रमें क्यो नहीं किया?

समाधान—सूत्रकारने इस सूत्रमें 'अविद्याक्षेत्र' इस पदसे क्लेशोकी अविद्यामूलक चारो हेय (त्यागनेयोग्य) अवस्थाओका ही निरूपण किया है। क्लेशोकी पाँचवी दग्धबीज अवस्था अविद्याकी विरोधी होनेसे उपादेय (ग्रहण करनेयोग्य) है। अतः उसका इनके साथ कथन करना ठीक न था। इन पाँचवीं दग्धबीज अवस्थावाले क्लेशोंकी निवृत्ति किसी प्रयत्नविशेषकी अपेक्षा नहीं रखती। असम्प्रज्ञात समाधिद्वारा उनके धर्मी चित्तके अपने कारणमें लीन होनेके साथ उनकी स्वयं ही निवृत्ति हो जाती है और कैवल्य अवस्थामें चित्तके अपने स्वरूपसे नाश होनेके साथ इनका भी नाश हो जाता है जैसा कि इसी पादके दसवें सूत्रमें बतलाया गया है 'ते प्रतिप्रसवहेयाःसूक्ष्माः।'

विशेष वक्तव्य—सूत्र ४—समाधिपाद सूत्र १९ के सदृश इस सूत्रकी व्याख्यामें भी कई भाष्यकारोंने क्लेशोकी प्रसुप्त अवस्थाके समझानेमें प्रसुप्त क्लेशोका उदाहरण विदेह और प्रकृतिलयोंके क्लेशोंसे देकर विदेह और प्रकृतिलयोके सम्बन्धमें भ्रान्तिजनक अर्थ किये हैं। इसका आधार भी वाचस्पति मिश्रकी ही व्याख्या है, जिसका इन सबने अनुकरण किया है। वाचस्पति मिश्रने सूत्रकी व्याख्याके अन्तमें यह श्लोक दिया है—

प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम्।
विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसङ्गिनाम्॥

'तत्त्वलीनोके क्लेश प्रसुप्त, योगियोंके तनु और विषयी पुरुषोके क्लेश विच्छिन्न और उदार (अवस्थावाले) होते हैं।' तत्त्वलीनोसे अभिप्राय विदेह और प्रकृतिलय लिया है। उन्हे अज्ञानी और अयोगी मानकर प्रसुप्तक्लेशयुक्त सिद्ध करनेका यत्न किया गया है।

(१) समाधिपाद सूत्र १९ की व्याख्या तथा विशेष वक्तव्यमें बतला दिया गया है कि सम्प्रज्ञात समाधिकी चारो भूमियोंमें उच्चतर और उच्चतम भूमि आनन्दानुगत और अस्मितानुगतको विदेह और प्रकृतिलय क्रमानुसार प्राप्त किये हुए होते हैं। इन योगियोको अज्ञानी और अयोगी कहना अनुचित है। (२) सम्प्रज्ञातसमाधिमें क्लेश तनु और विवेकख्यातिमें दग्धबीज भावको प्राप्त होते हैं। इसलिये इनके क्लेश यद्यपि दग्धबीज-भावको प्राप्त नहीं हुए हैं तथापि उनके तनु होनेमें तो कोई सदेह नहीं हो सकता। (३) समाधिपाद सूत्र ३२ में एक तत्त्वके अभ्यासको चित्तकी स्थितिका साधन बतलाया है। सम्प्रज्ञात-समाधिमें किसी-न-किसी विषयको ही आलम्बन (ध्येय) बनाकर धारणा, ध्यान और समाधि

लगायी जाती है। फिर इस बतलायी हुई प्रणालीपर चलनेवाले साधकोंको योगदर्शनके सूत्रोंकी ही व्याख्यामें अयोगी और अज्ञानी कहना कब ठीक हो सकता है। (४) फिर भी यदि किसी स्थूल अथवा सूक्ष्म-विषयको ध्येय बनाकर समाधि लगानेवालोंको तत्त्वलीन कहा जाय तो भी यह सीमा वितर्कानुगत और विचारानुगत तक ही रह जाती है अर्थात् उन्हीं दोनों भूमियोंमें किसी अन्य ग्राह्यविषयको आलम्बन बनाना होता है। आनन्दानुगत और अस्मितानुगतमें तो सारे अन्य विषयोंसे परे होकर केवल ग्रहण और ग्रहीतृ, अहंकार और अस्मिता क्रमानुसार रह जाते हैं। उस उच्चतर और उच्चतम सत्त्वके प्रकाशमें क्लेश विना तनु हुए प्रसुप्त कैसे रह सकते हैं। (५) यदि इस अवस्थाको भी अविद्या और अज्ञानमय समझा जाय तब भी क्लेशोंकी इस अवस्थाको उदार कहना होगा न कि प्रसुप्त। विदेह और प्रकृतिलयोंकी इस प्रकार अधोगतिकी अवस्था दिखलाना सूत्रकारके आशयके विरुद्ध है। (६) तथा व्यास-भाष्य और भोजवृत्तिमें विदेह और प्रकृतिलयोंका नाम-निशान भी नहीं है। इसके स्पष्टीकरणके लिये इस सूत्रके व्यासभाष्य तथा भोजवृत्तिका भाषानुवाद कर देना उचित प्रतीत होता है।

व्यासभाष्यका अर्थ सूत्र ४—इनमें अविद्या उत्तर-क्लेश, अस्मिता आदि प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न, उदार—चार अवस्थावालोंकी क्षेत्र अर्थात् उत्पत्तिकी भूमि है। उनमें प्रसुप्त क्लेश कौन-से हैं? इसका उत्तर यह है कि जो चित्तमें बीजभावको प्राप्त हुए शक्तिमात्रसे रहते हैं। आलम्बन अर्थात् विषयके सम्मुख होनेपर उनकी जागृति होती है। प्रसंख्यान (विवेकख्याति) ज्ञानवाले योगीको, जिसके क्लेश दग्धबीज भावको प्राप्त हो गये हैं, विषयरूप आश्रयके सम्मुख होनेपर भी इन क्लेशोंकी फिर जागृति नहीं होती; क्योंकि जले हुए बीजकी कहींसे उत्पत्ति हो सकती है। इसलिये जिस योगीके क्लेश क्षीण हो गये है, वह 'कुशल चरमदेह' (जिसकी मुक्तिमें देह पड़नेतककी देर है) कहलाता है। उसी योगीमें यह पाँचवीं दग्ध-बीज-भाववाली क्लेशोंकी अवस्था है, दूसरेमें नहीं। क्लेशोंके रहते हुए भी उस पाँचवीं अवस्थामें बीजकी सामर्थ्य जल जाती है। इस कारण विषयोंके सम्मुखरूपसे रहते हुए भी उनकी जागृति नहीं होती। सोते हुए क्लेशोंका स्वरूप और दग्धबीज क्लेशोंकी अनुत्पत्ति यहाँतक कही गयी है।

अब तनुक्लेशोंकी निर्बलताका स्वरूप कहा जाता है। प्रतिपक्षभावनाद्वारा नष्ट किये हुए क्लेश तनु होते हैं। उसी प्रकार नष्ट हो-होकर उस-उस रूपसे फिर-फिर जो वर्तने लगते हैं, वे विच्छिन्न कहलाते हैं। किस प्रकार? उत्तर देते है, रागकालमें क्रोधके न देखे जानेसे निश्चय रागकालमे क्रोध नहीं वर्तता। राग भी किसी एक पदार्थमें देखे जाते हुए अन्य विषयमें नहीं है—यह नहीं देखा जाता है। ऐसा नहीं है कि एक स्त्रीमें चैत्र नामी पुरुष प्रीतिमान् हो और अन्य स्त्रियोंमें न हो, किंतु उसमें राग वर्तमान है और अन्यमें आगे होनेवाला है। यह लब्धवृत्ति ही तब प्रसुप्त तनु और विच्छिन्न होती है।

विषयमें जो वर्तमान वृत्ति है, वह उदार कहलाती है। ये सब क्लेश विषयत्वको नहीं छोड़ते। तब वे कौन-से क्लेश नहीं छोड़ते हैं? उत्तर—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न, उदार चारो नहीं छोड़ते। यह सत्य ही है। तो पुन इन विशेषरूप हुओंका विच्छिन्नादित्व क्या है? जैसे प्रतिपक्षभावना करते हुए इनकी निवृत्ति होती है, वैसे ही अपने प्रकाशक संस्कार और विषयके द्वारा प्रकाशित होकर प्रकटता होती है। ये सब क्लेश अविद्याके भेद हैं, क्योंकि सबमें अविद्या ही प्रकाशित होती है। जब अविद्यासे वस्तुके स्वरूपको धारण किया जाता है, तब क्लेश चित्तमें सोये हुए अविद्या-वृत्तिकालमें उपलब्ध हो जाते हैं और

अविद्याके नाश होनेपर नाश हो जाते हैं ।

भोजवृत्तिका अर्थ सूत्र ४—क्लेशत्व धर्मका पाँचोंके ऊपर तुल्य होनेपर भी सबका कारण अविद्या है । अतः अविद्याकी प्रधानताका प्रतिपादन करते हैं—

अस्मिता, रागादि, जो प्रसुप्तादि भेदसे चार प्रकारके हैं, उन सबको उत्पन्न करनेवाली भूमि अविद्या है । अनात्मा अर्थात् अनात्मपदार्थ देहादिमें आत्माभिमानको अविद्या कहते हैं । जहाँ यह अविद्या शिथिल पड़ जाती है, वहाँ अस्मितादि क्लेशकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती (और अविद्याके होनेपर देखी जाती है), इससे यह सिद्ध हुआ कि सबका मूल अविद्या है । जो क्लेश चित्तरूपी भूमिमें रहते हुए भी प्रयोजक-उद्बोधक (उकसानेवाले) के न मिलनेपर अपने कामका आरम्भ नहीं करते, वे प्रसुप्त कहलाते हैं । जैसे बाल अवस्थामें बालकके चित्तमें संस्काररूपसे बैठे हुए भी क्लेश किसी सहकारी प्रबोधकके न मिलनेसे प्रकट नहीं होते । जो अपने-अपने प्रतिपक्षभावनासे कार्य करनेकी शक्तिको शिथिल करनेवाले केवल वासनायुक्त चित्तमें रहते हुए बिना अधिक सामग्रीके अपने काम आरम्भ करनेमें असमर्थ हैं, वे तनु अर्थात् सूक्ष्म कहलाते हैं, जैसे अभ्यास करनेवाले योगीके । जो किसी बलवान् क्लेशसे दबाव पाकर ठहरे रहते हैं, वे विच्छिन्न कहलाते हैं,—जैसे द्वेष होनेपर राग और राग होनेपर द्वेष, क्योंकि ये राग और द्वेष दोनों परस्पर विरुद्ध हैं । कभी एक चित्तमें नहीं हो सकते । किसी सहकारीका मेल पाकर जो अपने-अपने कामको सिद्ध करते हैं, वे उदार कहलाते हैं, जैसे योग विरोधी पुरुषके सर्वदा ही व्युत्थान अवस्थामें हुआ करते हैं । अस्मिता आदि जो प्रत्येक चार प्रकारके हैं, इनका सम्बन्ध कारणीभूत अविद्याके साथ है । अविद्याके सम्बन्धसे शून्य क्लेशोंका स्वरूप कभी भी उपलब्ध नहीं होता तो मिथ्याज्ञानरूप अविद्याकी निवृत्ति यथार्थ ज्ञानके होनेपर भूने हुए बीजके समान अस्मितादि अंकुरित नहीं होते । इससे इनका कारण भी अविद्या और इन सबमें अविद्याका सम्बन्ध भी निश्चित है । इसीसे यह सब अविद्या शब्दसे व्यवहृत होते हैं । सभी क्लेश चित्तको विक्षिप्त करनेवाले हैं, इससे इनके उच्छेदमें योगीको पहिले यत्न करना चाहिये ।

सङ्गति—अविद्याको सर्वक्लेशोंका मूलकारण बताकर अब उसका यथार्थ स्वरूप दिखलाते हैं—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—अनित्य-अशुचि-दुःख-अनात्मसु=अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मा (जड़) में (क्रमसे); नित्य-शुचि-सुख-आत्मख्यातिः=नित्य, पवित्र, सुख और आत्मभाव अर्थात् चेतनताका ज्ञान, अविद्या=अविद्या है ।

अन्वयार्थ—अनित्यमें नित्य, अपवित्रमें पवित्र, दुःखमें सुख और अनात्मामें आत्माका ज्ञान अविद्या है ।

व्याख्या—जिसमें जो धर्म नहीं है, उसमें उसका भान होना अविद्याका सामान्य लक्षण है । पशुके तुल्य अविद्याके भी चार पाद हैं, जो निम्न प्रकार हैं—

(१) अनित्यमें नित्यका ज्ञान—यह सम्पूर्ण जगत् और उसकी सम्पत्ति अनित्य है, क्योंकि उत्पत्तिवाला और विनाशी है । इसको नित्य समझना ।

(२) अपवित्रमें पवित्रताका ज्ञान—शरीर कफ, रुधिर, मल-मूत्र आदिका स्थान अपवित्र है । इसको पवित्र मानना । अन्याय, चोरी, हिंसा आदिसे कमाया हुआ धन अपवित्र है, उसको पवित्र मानना । अधर्म, पाप, हिंसा आदिसे रँगा हुआ अन्तःकरण अपवित्र है, उसको पवित्र समझना ।

(३) दुःखमें सुखका ज्ञान—संसारके सब विषय दुःखरूप हैं (२ । १५), उनमें सुख समझना ।

(४) अनात्म (जड) में आत्मज्ञान—शरीर, इन्द्रिय और चित्त—ये सब अनात्म (जड) हैं, इनको ही आत्मा समझना । ये चार प्रकारके भेदवाली अविद्या है, यही बन्धनका मूल कारण है ।

विशेष विचार सूत्र ५—अविद्याका उत्पत्ति-स्थान—तीनों गुणोका प्रथम विषम परिणाम महत्तत्त्व है । जो सत्त्वमें रज क्रियामात्र और तम उस क्रियाको रोकने मात्र है । यह महत्तत्त्व सत्त्वकी विशुद्धतासे समष्टिरूपमें विशुद्ध सत्त्वमय चित्त कहलाता है, जिसमें समष्टि अहंकार बीजरूपसे रहता है, जो ईश्वरका चित्त है और सत्त्वकी इस विशुद्धताको छोड़कर व्यष्टिरूपमें सत्त्व चित्त कहलाता है, जो संख्यामें अनन्त हैं, जिनमें व्यष्टि अहंकार बीजरूपसे रहते हैं, जो जीवोंके चित्त कहलाते हैं । इन व्यष्टि चित्तोंमें जो लेश मात्र तम है, उस तममें ही अविद्या वर्तमान है । उस अविद्यासे अस्मिता क्लेश उत्पन्न होता है अर्थात् चेतन तत्त्वसे प्रतिबिम्बित अथवा प्रकाशित व्यष्टि सत्त्वचित्त व्यष्टि अस्मिता कहलाते हैं । त्रिगुणात्मक जड चित्त और गुणातीत चेतन पुरुष जिसके ज्ञानका प्रकाश चित्तमें पड़ रहा है, दोनों भिन्न-भिन्न हैं । उपर्युक्त अविद्याके कारण इन दोनोमें अभिन्नताकी प्रतीति होना अस्मिता क्लेश है । उस अस्मिता क्लेशसे राग-द्वेष आदि क्लेश उत्पन्न होते हैं, जैसा कि आगे बतलाया जायगा । अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधिमें अस्मिताका साक्षात्कार होता है । विवेकख्यातिमें सत्त्वकी विशुद्धतामें जड चित्त और चेतन पुरुषमें भेदज्ञान उत्पन्न होनेसे अस्मिता क्लेश निवृत्त हो जाता है और अविद्या अन्य सब क्लेशोंके सहित दग्धबीजतुल्य हो जाती है । अब वही लेशमात्र तमस्, जिसमें अविद्या वर्तमान थी, विवेकख्यातिरूप सात्त्विक वृत्तिको स्थिर रखनेमें सहायक हो जाता है ।

समाधिपाद सूत्र ८ में विपर्यय (अविद्या) वृत्तिरूपसे और यहाँ अविद्या आदि क्लेश संस्काररूपसे बतलाये गये हैं ।

सङ्गति—इस अविद्याके कारण सबसे प्रथम जब चित्त और आत्मामें विवेक जाता रहता है, तब जड चित्तमें आत्माका भाव आरोप हो जानेसे उसमें और आत्मामें अभिन्नता प्रकट होने लगती है; इससे अस्मिता क्लेश उत्पन्न होता है, जिसका लक्षण अगले सूत्रमें बतलाया गया है—

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—दृग्-दर्शन-शक्त्योः=दृक्शक्ति और दर्शनशक्तिका; एकात्मता-इव=एक रूप-जैसा (भान) होना; अस्मिता=अस्मिता (क्लेश है) ।

अन्वयार्थ—दृक्शक्ति और दर्शनशक्तिका एक स्वरूप-जैसा भान होना अस्मिता (क्लेश) है ।

व्याख्या—पुरुष द्रष्टा है, चित्त दिखानेवाला उसका एक करण है । पुरुष चैतन्य है, चित्त जड है । पुरुष क्रियारहित है, चित्त प्रसवधर्मी अर्थात् क्रियावाला है । पुरुष केवल है, चित्त त्रिगुणमय है । पुरुष अपरिणामी है, चित्त परिणामशील है । पुरुष स्वामी और चित्त उसकी 'स्व'—मिलकियत है । इस प्रकार ये दोनों अत्यन्त भिन्न हैं । पर अविद्याके कारण दोनोंमें भेदकी प्रतीति जाती रहती है । जैसा कि पञ्चशिखाचार्यने कहा है—

बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात् तत्रात्मबुद्धिं मोहेन ॥

(पुरुष) बुद्धिसे परे पुरुषको स्वरूपशील और अविद्या आदि क्लेशसे अलग न देखता हुआ मोह (अविद्या) से बुद्धि (चित्त) में आत्मबुद्धि कर लेता है ।

इस प्रकार पुरुष और चित्तमें अविद्याके कारण एक-जैसा भान होना अस्मिता क्लेश है। इसीको हृदय-ग्रन्थि भी कहते हैं। यही असङ्ग पुरुष और चित्तका परस्पर अध्यारोप है। इस अध्यारोपसे आत्मामें बन्धनका आरोप होता है।

मुण्डक उपनिषद्में इस ग्रन्थिके भेदनका उपाय विवेकख्याति बतलाया है। यथा—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ (२।२।८)

उस पर और अवर अर्थात् चेतनरूप पुरुष और जडरूप चित्तके भेदका विवेकपूर्ण साक्षात् हो जानेसे हृदय-ग्रन्थिका भेदन हो जाता है। सारे संशय निवृत्त हो जाते हैं और सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं।

वि० त०—पुरुषमें प्रतिबिम्बित अथवा प्रकाशित चित्तकी संज्ञा अस्मिता है और पुरुष एवं चित्तमें अभिन्नता की प्रतीति अस्मिताक्लेश है। पुरुष और चित्तमें भेद-ज्ञान विवेकख्याति है।

सङ्गति—इस अस्मिता क्लेशके कारण मन, इन्द्रियों और शरीरमें आत्मभाव अर्थात् ममत्व और अहम्त्व पैदा हो जाता है और उनके सुख पहुँचानेवाले विषयोंमें और वस्तुओंमें राग उत्पन्न हो जाता है, जिसका लक्षण अगले सूत्रमें करते हैं—

सुखानुशयी रागः॥ ७॥

शब्दार्थ—सुख-अनुशयी=सुख भोगनेके पीछे जो चित्तमें उसके भोगकी इच्छा रहती है; रागः= उसका नाम राग है।

अन्वयार्थ—सुख-भोगके पीछे जो चित्तमें उसके भोगकी इच्छा रहती है, वह राग है।

व्याख्या—शरीर, इन्द्रियों और मनमें आत्माध्यास हो जानेपर जिन वस्तुओं और विषयोंसे सुख प्रतीत होता है, उनमें और उनके प्राप्त करनेके साधनोंमें जो इच्छा-रूप तृष्णा और लोभ पैदा हो जाता है, उसके जो संस्कार चित्तमें पड़ जाते हैं, उसीका नाम राग-क्लेश है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥ (गीता ३।३४)

इन्द्रिय-इन्द्रियके अर्थमें अर्थात् सभी इन्द्रियोंके भोगोंमें स्थित जो राग और द्वेष है, उन दोनोंके वशमें नहीं होवे; क्योंकि वे दोनों ही कल्याणमार्गमें विघ्न करनेवाले महान् शत्रु हैं।

सङ्गति—यह राग ही द्वेषका कारण है, क्योंकि चित्तमें रागके संस्कार जम जानेपर जिन वस्तुओंसे शरीर, इन्द्रियों और मनको दुःख प्रतीत हो अथवा जिनसे सुखके साधनोंमें विघ्न पड़े, उनसे द्वेष होने लगता है। अब द्वेषका लक्षण कहते हैं—

दुःखानुशयी द्वेषः॥ ८॥

शब्दार्थ—दुःख-अनुशयी=दुःखके अनुभवके पीछे जो घृणाकी वासना चित्तमें रहती है उसको; द्वेषः=द्वेष कहते हैं।

अन्वयार्थ—दुःखके अनुभवके पीछे जो घृणाकी वासना चित्तमें रहती है, उसको द्वेष कहते हैं।

व्याख्या—जिन वस्तुओं अथवा जिन साधनोंसे दुःख प्रतीत हो, उनसे जो घृणा और क्रोध हो, उसके जो संस्कार चित्तमें पड़े, उसको द्वेष-क्लेश कहते हैं।

सङ्गति—द्वेष-क्लेश ही अर्थात् शरीर, इन्द्रियों आदिको दुःखोंसे बचानेके संस्कार ही अभिनिवेशके कारण हैं, जैसा अगले सूत्रसे स्पष्ट है—

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—स्वरसवाही=स्वभावसे बहनेवाला (जो कुदरती तौरपर बह रहा है); विदुषः-अपि= विद्वान्के लिये भी; तथारूढः=ऐसा ही प्रसिद्ध है (जैसा कि मूर्खोंके लिये वह); अभिनिवेशः= अभिनिवेश क्लेश है ।

अन्वयार्थ—(जो मरनेका भय हर एक प्राणीमें) स्वभावतः बह रहा है और विद्वानोंके लिये भी ऐसा ही प्रसिद्ध है (जैसा कि मूर्खोंके लिये), वह अभिनिवेश क्लेश है ।

व्याख्या—स्वरसवाही—स्वरस नाम वासनाद्वारा; वाही नाम प्रवृत्त है अर्थात् मरणभयके संस्कार जो जन्म-जन्मान्तरोंसे प्राणीमात्रके चित्तमें स्वभावसे ही चले आ रहे हैं ।

विदुषः—यह शब्द यहाँ केवल शब्दोंके जाननेवाले विद्वान्के लिये प्रयुक्त हुआ है । अर्थात् वह पुरुष जिसने कोरे शास्त्रोंको पढ़ा है और क्रियात्मकरूपसे योगद्वारा अनुभव तथा यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं किया है । अभिनिवेशके अर्थ हैं 'मा न भूयं भूयासमिति'=ऐसा न हो कि मैं न होऊँ, किंतु मै बना रहूँ । 'शरीरविषयादिभिः मम वियोगो मा भूदिति'=शरीर और विषयादि (रूप-रसादि) से मेरा वियोग न हो । आत्मा अजर-अमर है, जैसा गीता अध्याय २ में बतलाया है—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मरा (मरनेवाला) समझता है, वे दोनों ही (तत्त्वको) नहीं जानते हैं । यह आत्मा न मारता है, न मारा जाता है ।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥

यह आत्मा किसी कालमें भी न जन्मता है, न मरता है, अथवा न यह होकर फिर न होनेवाला है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है । शरीरके नाश होनेपर भी इसका नाश नहीं होता है ।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष इस आत्माको नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, वैसे ही आत्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर नये शरीरोंको धारण करता है ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥

इस आत्माको शस्त्रादि नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता है।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ २४॥

यह आत्मा शस्त्रोंसे छेदन नहीं किया जा सकता, यह आत्मा जलाया नहीं जा सकता, गलाया नहीं जा सकता और सुखाया नहीं जा सकता है तथा यह आत्मा निस्सदेह नित्य, सर्वव्यापक, अचल, कूटस्थ और सनातन है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २५॥

यह आत्मा अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियोंका अविषय और यह आत्मा अचिन्त्य अर्थात् मनका अविषय और यह आत्मा अविकारी कहा जाता है। इससे इस आत्माको ऐसा जानकर तुझे शोक करना उचित नहीं है।

फिर भी राग-द्वेषके कारण शरीरमें आत्माध्यास हो जाता है और मूर्खसे लेकर विद्वान्तक अपने वास्तविक आत्मस्वरूपको भूलकर भौतिक शरीरकी रक्षामें लगे रहते हैं और उसके नाशसे घबराते हैं। इस मृत्युके भयके जो संस्कार चित्तमें पड़ जाते है, इन्होंको अभिनिवेश क्लेश कहते है। यह अभिनिवेश क्लेश ही सकाम कर्मोंका कारण है, जिनकी वासनाएँ चित्तभूमिमें बैठकर वर्तमान और अगले जन्मो (आवागमन) को देनेवाली होती हैं, जो सूत्र बारहमें बतलाया जायगा।

सङ्गति—सब क्लेशोके बीजरूप होनेसे जो पाँचो क्लेश त्यागने योग्य हैं, उन पाँचो क्लेशो और उन क्लेशोकी प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार-रूप चार अवस्थाओंका पूर्व सूत्रोंमें निरूपण किया गया है। परंतु प्रसंख्यान-रूप (विवेक-ख्यातिरूप) अग्निद्वारा दग्ध-बीज-भावको प्राप्त हुए क्लेशोकी पाँचवीं अवस्थाका क्यो नहीं वर्णन किया गया ? इस शङ्काके निवारणार्थ अगला सूत्र है—

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः॥ १०॥

शब्दार्थ—ते=वे (पूर्वोक्त पाँच क्लेश); प्रतिप्रसवहेया.= (असम्प्रज्ञात-समाधिद्वारा) चित्तके अपने कारणमे लीन होनेसे त्यागने अर्थात् निवृत्ति करने योग्य हैं, सूक्ष्माः=क्रिया-योगसे सूक्ष्म और प्रसंख्यान (विवेकख्यातिरूप) अग्निसे दग्ध-बीज हुए।

अन्वयार्थ—वे पूर्वोक्त पाँच क्लेश, जो क्रिया-योगसे सूक्ष्म और प्रसंख्यान अग्निसे दग्धबीज-रूप हो गये हैं, असम्प्रज्ञात-समाधिद्वारा चित्तके अपने कारणमें लीन होनेसे निवृत्त करने योग्य हैं।

व्याख्या—ते पञ्चक्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्तं गच्छन्ति। (व्यासभाष्य)

वे पाँच क्लेश, जो दग्धबीजके सदृश हैं, योगीके चरिताधिकार चित्तके अपने कारणमें लीन होते समय उसी चित्तके साथ लीन हो जाते हैं।

क्रिया-योग (अथवा सम्प्रज्ञात-समाधि) से सूक्ष्म किये हुए क्लेश जब प्रसंख्यान (विवेक-ख्याति) रूप अग्निसे दग्ध-बीजके समान हो जाते है, तब असम्प्रज्ञात-समाधिद्वारा समाप्त अधिकार-

वाले चित्तके अपनी प्रकृतिमें लीन होनेसे वे क्लेश भी उसके साथ लीन होकर निवृत्त हो जाते हैं। प्रतिप्रसवके अतिरिक्त उन क्लेशोंके निरोधके लिये अन्य किसी यत्नकी आवश्यकता नहीं है।

अर्थात् पुरुषके प्रयत्नका जो विषय होता है, वही उपदेश करनेमें आता है। जो सूक्ष्म क्लेश प्रसंख्यान-रूप अग्निमें दग्ध बीज-भावको प्राप्त हो गये हैं, उन पाँचवीं अवस्थावाले क्लेशोंकी निवृत्ति प्रयत्नका विषय नहीं है। जबतक चित्त विद्यमान रहता है, तबतक इन दग्ध-बीज-रूप क्लेशोंकी निवृत्ति किसी भी प्रयत्नसे नहीं हो सकती, किंतु जब पर-वैराग्यकी दृढ़तासे असम्प्रज्ञात-समाधिमें निरधिकार प्राप्त हुए चित्तका प्रलय होता है, तब चित्तके साथ-साथ ही वे दग्ध-बीज-भावको प्राप्त हुए क्लेश भी प्रलीन हो जाते हैं और कैवल्य अवस्थामें चित्तके अपने स्वरूपसे नाश हो जानेके साथ इनका भी नाश हो जाता है, क्योंकि धर्मीके नाश बिना संस्कार-रूप सूक्ष्म धर्मोंका नाश नहीं होता। धर्मीके नाशसे ही संस्कार-रूप सूक्ष्म धर्मोंका नाश होता है। इसलिये वे दग्ध-बीज-रूप पाँचवीं अवस्थावाले क्लेश प्रतिप्रसव-हेय अर्थात् चित्तके प्रलय होनेसे (अपने कारणमें लीन होनेसे) त्यागने योग्य हैं।

चित्तके प्रलय अर्थात् अपने कारणमें लीन होनेका नाम 'प्रतिप्रसव' और त्यागने योग्यका नाम 'हेय' है। ('प्रसव'का अर्थ उत्पत्ति है, उससे विरुद्ध 'प्रतिप्रसव'के अर्थ प्रलय अर्थात् अपने कारणमें लीन होनेके हैं)

शङ्का—तनूकरण, दग्धबीज-भाव और प्रतिप्रसव अर्थात् प्रलय यह क्रम है। अतः दग्ध-बीज-भावके प्रतिपादक 'ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥' इस सूत्रको पहिले रखना उचित था।

समाधान—नहीं, मुख्य फल होनेसे प्रतिप्रसव अर्थात् प्रलयका ही पहिले उसमें निर्वचन किया है, उसमें द्वारकी साकाङ्क्षा होनेपर दग्ध-बीजभावको पीछे कहना उचित है।

सङ्गति—क्रिया-योग (अथवा सम्प्रज्ञात-समाधि) से तनु किये हुए अङ्कुर उत्पन्न करनेकी शक्तिरूप बीजभावके सहित जो तनु क्लेश हैं, वे तनुरूप क्लेश किस विषयक प्रयत्नसे दूर होते हैं? इसको अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—ध्यानहेया.=(प्रसंख्यान-संज्ञक) ध्यानसे त्यागने योग्य हैं; तद्वृत्तय.=(क्लेशोंकी स्थूल वृत्तियाँ) जो क्रिया-योगद्वारा तनू कर दी गयी हैं।

अन्वयार्थ—क्लेशोंकी स्थूल वृत्तियाँ, जो क्रिया-योगसे तनू कर दी गयी हैं, प्रसंख्यान (विवेक-ख्याति) संज्ञक ध्यानसे त्यागने योग्य हैं। (जबतक कि वे सूक्ष्म होकर दग्ध-बीजके सदृश न हो जायँ।)

व्याख्या—अङ्कुर उत्पन्न करनेकी शक्तिरूप बीजभावके सहित जो चित्तमें क्लेश स्थित हैं, वे क्रिया-योग (अथवा सम्प्रज्ञात-समाधि) से तनु करते हुए प्रसंख्यान (विवेक-ख्याति) रूप ध्यानसे त्यागने योग्य हैं, जबतक कि वे सूक्ष्म होते-होते दग्धबीजके सदृश न हो जायँ।

भाव यह है कि प्रसंख्यानविषयक प्रयत्नसे उदय हुई जो प्रसंख्यान (विवेक-ख्याति) रूप अग्नि है, उस अग्निमें क्रिया-योगद्वारा तनु किये हुए क्लेश-रूप बीज दग्ध होते हैं। इसलिये जबतक क्रिया-योगसे तनु किये हुए क्लेश दग्ध-बीजके सदृश न हो जायँ, तबतक प्रसंख्यानविषयक प्रयत्न करते रहना चाहिये।

जैसे वस्त्रका स्थूल मल प्रक्षालन आदिसे सुगमतासे दूर किया जा सकता है, परंतु सूक्ष्म-मल विशेष

Vaidic Library

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—सति मूले=अविद्या आदि क्लेशोंकी जडके होते हुए; तद्विपाकः=उसका (कर्माशय-का) फल, जाति-आयुः-भोगाः=जाति, आयु और भोग होते हैं ।

अन्वयार्थ—अविद्या आदि क्लेशोकी जड़के होते हुए उस (कर्माशय) का फल जाति, आयु और भोग होता है ।

व्याख्या—मनुष्य, पशु, देव आदि 'जाति' कहलाती हैं । बहुत कालतक जीवात्माका एक शरीरके साथ सम्बन्ध रहना 'आयु' पदका अर्थ है । इन्द्रियोके विषय रूप-रसादि 'भोग' शब्दार्थ है । यहाँ सूत्र बारह एवं तेरहमें क्लेशो, कर्माशयो, जाति, आयु और भोगको अलंकार-रूपसे वर्णन किया है । क्लेश जड है, उन जड़ोसे कर्माशयका वृक्ष बढता है । उस वृक्षमें जाति, आयु, और भोग तीन प्रकारके फल लगते हैं । कर्माशयका वृक्ष उसी समयतक फलता है जबतक अविद्या आदि क्लेश-रूपी उसकी जड विद्यमान रहती है । प्रसंख्यान (विवेकख्याति) द्वारा इस जड़के कट जानेपर कर्माशय-रूपी वृक्ष, जाति, आयु और भोगरूपी उसके फल तथा सुख-दुःख-रूपी उन फलोके स्वादकी निवृत्ति स्वयं ही हो जाती है । कर्माशयकी उत्पत्ति तथा फलमें भी अविद्या आदि क्लेश ही मूल है । पिछले सूत्रमें बतला आये है कि मनकी वृत्ति-रूपी कर्म अनन्त है, जो समस्त जीवनमें होते रहते हैं । इनसे उत्पन्न हुए सस्कार भी अनन्त हैं, जिनसे चित्त चित्रित रहता है । ये संस्कार चित्तमें जन्म-जन्मान्तरोसे संचित चले आ रहे हैं । जब जिन कर्माशयोके सस्कार चित्तमें प्रबलरूपसे उत्पन्न होते हैं, तब उन्हें प्रधान कहते हैं । जो शिथिलरूपसे रहते है, उन्हें उपसर्जन कहते हैं । मृत्युके समय प्रधान कर्माशय पूरे वेगसे जाग उठते हैं और अपने-जैसे पूर्व सब जन्मोके कर्माशयके सचित संस्कारोंके अभि-व्यञ्जक होकर उनको जगा देते हैं (४ । ९) । इन सब प्रधान सस्कारोके अनुसार ही अगला जन्म, ऐसी जाति, देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदिमे होता है, जिनमें उनमें कर्माशयोका फल भोगा जा सके, और उतनी आयु देनेवाले होते है, जिसमे निश्चित भोग समाप्त हो सके । उन्हीं कर्माशयोके अनुकूल उनका भोग नियत होता है । इस प्रधान कर्माशयसे जो अगला जन्म, आयु तथा भोग नियत हो गया है, उसको 'नियत-विपाक' कहते है, जो सूत्र बारहमे 'दृष्टजन्मवेदनीय' से बतलाया गया है ।

उपसर्जन कर्माशय जो अगले जन्मोंमे भोग्य है, पर अभी उनका फल नियत नहीं हुआ है, उन्हे 'अनियत-विपाक' कहते है । इन्हीको सूत्र बारहमे 'अदृष्टजन्मवेदनीय' कहा है । इन उपसर्जन कर्माशयोकी, जो दबे पडे हुए हैं, जिनका फल अभी निश्चित नही हुआ है अर्थात् जो अनियत-विपाकवाले हैं, तीन प्रकारकी गति होती है—

(१) या तो वे बिना पके ही नियत-विपाकको किञ्चित् न्यून (दुर्बल) करके स्वयं नष्ट हो जाते हैं । इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वे बिना फल दिये ही नष्ट हो गये, किंतु नियत-विपाकको कम (दुर्बल) करनेमे अपना फल दे चुके और नियतविपाक उनके नष्ट करनेमें उस अंशतक अपना फल दे चुका ।

(२) या वे नियत-विपाकके साथ हो जाते हैं और समय-समयपर अवसर पाकर अपना फल देते रहते हैं ।

(२) या वे चित्तभूमिमें वैसे ही दबे पड रहते है जबतक कि किसी जन्ममें उनके फल देनेका अवसर नही मिल जाता । जब कभी उनके जगानेवाले कर्माशय प्रधान होते है तो वे उस अभिव्यञ्जकको पाकर अपना फल देनेके लिये जाग उठते हैं ।

विशेष वक्तव्य—सूत्र १३—यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि अवस्था भेदसे कर्मोंको तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है । सचित, प्रारब्ध और क्रियमाण ।

जो कर्म अनन्त जन्मोंमें किये गये हैं और अभीतक उनके भोग भोगनेकी बारी नहीं आयी है, किंतु केवल संस्काररूपेण कर्माशयमें हैं, उन्हे संचित कर्म कहते है ।

कर्माशयमें भरे हुए अनन्त कर्मोंमेंसे जिन थोडेसे कर्मोंने शरीररूपी फलकी उत्पत्ति कर दी है अर्थात् जिनका फल इस जन्ममें हो रहा है, उनको प्रारब्ध कर्म कहते हैं ।

जिन नवीन कर्मोंको संग्रह किया जाता है अर्थात् नवीन इच्छासे जो नवीन कर्म नवीन संस्कार उत्पन्न करते जाते हैं, वे क्रियमाण कहलाते हैं ।

सूत्रकी व्याख्यामें संचितकर्मोंके संस्कारोंको उपसर्जन कर्माशय अनियत-विपाक अदृष्टजन्मवेदनीय कहा गया है और प्रारब्धकर्मोंके संस्कारोंको प्रधान कर्माशय नियतविपाक दृष्टजन्मवेदनीय बतलाया गया है । क्रियमाण कर्मोंके सस्कारोंका वर्णन इसलिये नही किया गया कि कुछ तो इनमेंसे प्रारब्ध कर्मोंके प्रधान कर्माशयके साथ मिलकर अपना फल देना आरम्भ कर देते है और कुछ सचितकर्मोंके उपसर्जन कर्माशयके साथ मिल जाते हैं ।

शङ्का—संसारकी उत्पत्ति पुरुषको आत्मस्थिति करानेके लिये होती है, पशुओं आदि नीच योनियों-से मनुष्ययोनिमें आना और मनुष्यसे मनुष्य अथवा देवयोनियोंमें जाना तो सम्भव है, परंतु मनुष्यसे नीच पशु आदि योनियोमें जाना विकासवाद (Evolution theory) के विरुद्ध है और इसके माननेमें ईश्वरके सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, दया, न्याय और कल्याणकारिता आदि गुणोंमें भी दोष आता है ।

समाधान—सामान्यतः तो मनुष्योंका जन्म मनुष्योमें ही अथवा उससे ऊँची योनियोंमें ही होता है, पशु-पक्षी आदि नीच योनियोमें विशेष अवस्थामें उनको अपने कल्याणार्थ ही जाना होता है ।

ऊपर व्याख्यामें बतलाया गया है कि मनोवृत्तियाँ अनन्त हैं । ये मनोवृत्तियाँ जब हिंसा, विषय-भोग, मक्कारी, झूठ, अपवित्रता, देश तथा धर्मद्रोह आदि दोषोसे मिलकर होती हैं, तब वे मनुष्यत्वसे नीची हैं । ये वृत्तियाँ नाना प्रकारके दोषो—काम, क्रोध, लोभ मोह, भय आदिके न्यूनाधिक्य और तीनों गुणोंके परिणामके भेदसे इतने प्रकारकी हैं, जितने प्रकारके पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग, जलचर आदि । पशु आदिकोकी स्वाभाविक वृत्तियो और मनुष्यकी इस प्रकारकी मनोवृत्तियोमें कुछ अन्तर नहीं रहता । जिस अवस्थामें मनुष्यमें इस प्रकारकी मनोवृत्तियाँ उदय होती है तो (मानो) वह सूक्ष्म-शरीरसे उन्ही योनियोमें होता है, यद्यपि स्थूल-शरीर मनुष्य-जैसा रहता है । उदाहरणार्थ हिंसक-योनिमे जाना बतलाते हैं, उसीसे अन्य प्रकारकी योनिमें जाना समझ लेना चाहिये ।

हिंसा और मांस-भक्षण आदि क्रूरताका स्वभाव मनुष्यत्वके विपरीत धर्म है । हिंसकोके संसर्गसे जब किसीमे यह दोष उत्पन्न हो जाय और किसी कारणसे दूर या कम न हो, बल्कि इसमें प्रवृत्ति बराबर बढती जाय तो उसका स्वभाव क्रूर और हिंसक हो जायगा; क्योकि कर्मोंसे संस्कार और सस्कारोसे कर्म

बनते रहते हैं। यदि यह क्रम बिना किसी रुकावटके चलता रहे तो एक सीमापर पहुँचकर उसका सूक्ष्मशरीर उसकी अन्य मनोवृत्तियोंकी विशेषताओंको सम्मिलित करके उस हिंसक पशुविशेष-जैसा हो जाता है, जिसमें इस प्रकारकी हिंसाके अन्तर्गत सर्वगुण होते है। ऐसे क्रूर और हिंसक मनुष्यके मुखपर क्रूरता और खूँखारी टपकने लगती है। इससे यह प्रतीत होने लगता है कि उसका स्थूल-शरीर सूक्ष्म-शरीरके आकारमे परिणत होना आरम्भ हो गया है। स्वभावतः जहाँ कहीं भी वह मनुष्य जायगा शिकार हिंसा, मास-भक्षण आदिके साधन और सामग्रीको चाहेगा। जब शरीरको छोड़नेका समय आयगा तो यही हिंसासे सम्बन्ध रखनेवाले कर्माशय प्रधान-रूपसे जागेंगे और उसकी सारी मनोवृत्तियोंके अनुसार वैसी ही किसी हिंसक योनिमें उसका अगला जन्म होगा और वैसी ही आयु तथा भोग होगा। जैसी कि कहावत है 'अन्त समय जो मति सो गति' तथा गीता और उपनिषद्में भी ऐसा ही बतलाया गया है। यथा—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८। ६)

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकालमें जिस-जिस भी भावको स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागता है उस-उस भावको ही प्राप्त होता है, सदा उस ही भावको चिन्तन करता हुआ।

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥

(मुण्डक ३। २। २)

जो इच्छाओंको मनमें रखता हुआ उनकी पूर्ति चाहता है, वह मनुष्य उन वासनाओंके अनुसार उत्पन्न होता है; परतु जिसने आत्माका साक्षात् कर लिया है उस पूर्ण हुई इच्छावाले मनुष्यकी समस्त कामनाएँ इस शरीरमें ही विलीन हो जाती हैं। जहाँ किसी हिंसक-योनिमें ऐसा गर्भ तैयार होगा, जिसमें इसकी सारी वासनाओंकी पूर्तिके सब साधन हो, वहीं यह अपना स्थान बना लेगा; क्योंकि प्राकृतिक नियम यही है कि स्वभाव अपने-जैसे स्वभावकी ओर खिंचता है। चुम्बक-पत्थर जिस प्रकार लोहेको अपनी ओर आकर्षित करता है, उसी प्रकार ऐसे गर्भ अपने स्वभाववाले सूक्ष्म-शरीरोंको अपनी ओर खींचते हैं। यह ईश्वरके पूर्ण ज्ञान, नियम और व्यवस्थामें प्रमाण है कि हरेक प्राणीके लिये शरीर छोड़नेसे पूर्व उसके अनुसार गर्भ तैयार रहता है। अब इसमें ईश्वरकी दया, सर्वशक्तिमत्ता तथा कल्याणकारी स्वभाव और विकासवादको देखिये।

(१) ईश्वरीय नियमोंसे तो सदैव ऐसे बुरे कर्मोंसे बचनेकी प्रेरणा होती रहती है, मास, रुधिर आदिको देखकर मनुष्यको स्वाभाविक ग्लानि होती है, दूसरोंकी पीडा देखकर दिल काँपता तथा पीड़ित होता है, किन्तु हिंसारूपी मलका आवरण हृदयपर आ जानेसे ईश्वरकी यह आवाज सुनायी नहीं देती।

(२) मनुष्य कर्म तथा भोग दोनो प्रकारकी योनि है, इसमें संस्कार बनते भी हैं और घुलते भी हैं। दूसरी जो भोग-योनियाँ है, उनमें सस्कार बनते नहीं बल्कि उनकी निवृत्ति होती है। यदि वह हिंसक फिर मनुष्य-योनिमें ही आये तो पिछले कर्माशयसे दबा हुआ हिंसाके कार्य करता रहेगा और उनसे उसी प्रकारके सस्कार बनते रहेंगे। यह क्रम सदाके लिये जारी रहेगा और वह अपने वास्तविक कल्याणसे वञ्चित रहेगा। यदि किसीको अपनी रक्षाके लिये कोई शस्त्र दिया जाय और वह नशेकी अवस्थामें उससे अपने ही शरीरको घायल करने लगे तो उसका हित इसीमें होगा कि नशा रहनेतक

उससे वह शक्ति छीन लिया जाय। ईश्वरीय नियमसे मनुष्य-शरीर इसलिये दिया गया है कि आत्मोन्नति करे और परमात्मातक पहुंचे। यथा—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

(कठ० उप० १। ३। ३-४)

आत्माको रथका स्वामी जानो, शरीरको रथ तथा बुद्धिको सारथि और मनको लगाम समझो। इन्द्रियोंको घोडे कहते हैं और उनके चलनेके मार्ग विषय हैं। इन्द्रिय-मनसे युक्त आत्माको बुद्धिमान् भोक्ता कहते हैं। इस कारण ईश्वरकी दयासे इस नशेके दूर होनेतक अथवा इस मलको दूर करनेके लिये नीची योनियोंमें जाना होता है, इस योनिमें आगेके लिये संस्कार नहीं बनते बल्कि पिछले हिंसा आदिके संस्कार धुल जाते हैं और वह फिर मनुष्य-योनिमें पवित्र होकर आत्मोन्नतिके लिये आता है। ये योनियाँ तो अन्तःकरणके मल धोनेके स्थान हैं।

जिस प्रकार अनजान बालक अपने शरीरको विष्ठामें सान लेता है तो माता नालीके पास ले जाकर पानीसे धोती है, इसी प्रकार कल्याणकारिणी प्रकृति माता अपने पुत्रोंके इन मलोंको इन योनियोंमें अपने हितकारी नियमोंके जलोंसे धोती है।

(३) इसमें ईश्वरकी दया है न कि क्रूरता; क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छाकी पूर्तिमें ही सुख समझता है; और इस प्रकार ईश्वरके पूर्ण ज्ञानवाले नियम उनकी इच्छाओंके अनुसार योनियोंमें भेजकर उनकी इच्छा-पूर्ति करते हैं।

(४) इसी तरह ईश्वरकी कल्याणकारिता यह है कि इस प्रकार मनुष्यके सब मल धुल जाते हैं और उसे फिर उन्नति करनेका अवसर मिल जाता है।

(५) इसमें ईश्वरका न्यायकारी नियम भी आ जाता है, जिससे हर प्राणीको उसके कर्मोंके अनुकूल फल मिल जाता है और इसमें उसकी सर्वज्ञता भी पायी जाती है कि जिससे समस्त संसारका कार्य व्यवस्थापूर्वक चल रहा है; क्योंकि जिस प्रकार घडीके चलानेमें सब यन्त्र काम करते हैं, इसी प्रकार संसाररूपी घड़ीके चलानेमें सब शरीरधारी अपने-अपने स्थानपर कुछ-न-कुछ काम कर रहे हैं।

सङ्गति—जाति, आयु और भोगमें पाप और पुण्यके अनुसार सुख-दुःख मिलता है, यह अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्॥ १४॥

शब्दार्थ—ते=वे (जाति, आयु, भोग); ह्लाद-परिताप-फलाः=सुख-दुःख फलके देनेवाले होते हैं; पुण्य-अपुण्य-हेतुत्वात्=पुण्य तथा पाप कारण होनेसे।

अन्वयार्थ—वे (जाति, आयु और भोग) सुख-दुःखरूपी फलके देनेवाले होते हैं, क्योंकि उनके कारण पुण्य और पाप हैं।

व्याख्या—पिछले सूत्रमें बतलाये हुए कर्माशयोंके फल जाति, आयु और भोग भी दो प्रकारके (स्वादवाले) होते हैं। एक सुखके देनेवाले (मीठे स्वादवाले), दूसरे दुःखके देनेवाले (कड़वे स्वादवाले)।

पुण्य अर्थात् अहिंसात्मक—दूसरोंको सुख पहुँचानेवाले कर्मोंसे जाति, आयु और भोगमें सुख

मिलता है । पाप अर्थात् हिंसात्मक—दूसरोंको दुःख पहुँचानेवाले कर्मोंसे दुःख मिलता है । पिछले सूत्रमें बतलाये हुए कर्मोंको जब स्वार्थ छोड़कर दूसरे प्राणियोंके कल्याणार्थ उनकी यथार्थ भलाई और सुख पहुँचानेकी मनोवृत्तिसे किया जाता है, तब वे कर्त्ताको सुख पहुँचानेका कारण होते हैं; और जब वे स्वार्थ-वश दूसरे प्राणियोंको काम, क्रोध, लोभ, मोहादिसे दुःख देनेकी मनोवृत्तिसे किये जाते है, तब वे करने-वालेको दुःखका कारण होते हैं । यही कारण है कि सर्वयोनियोंमें सुख-दुःख दोनों देखे जाते हैं । जिस प्रकार भौंरेको फूलकी सुगन्धमें आनन्द प्रतीत होता है, इसी प्रकार विष्ठाके कीडेको विष्ठामें सुख प्रतीत होता है । जिस प्रकार इसको सुगन्धित फूलके न मिलनेमें दुःख होता है, इसी प्रकार उसको विष्ठाके न मिलनेमें दुःख होता है । कुछ मनुष्योंको ऐश्वर्य, सुख, राज, धन-सम्पत्ति, सब प्रकारके साधन प्राप्त हैं और कुछ लूले, लँगडे, अन्धे, कोढी रोटीसे तङ्ग, सर्दीमें ठिठुरते हैं । इससे नीची योनियोंमें पशु-पक्षी भी इनसे अधिक सुख पाते हैं । कुछ कुत्ते गलियोंमें मारे-मारे फिरते हैं, कुछ मोटरोंमें बैठते हैं, नाना प्रकारके स्वादिष्ट पदार्थ खाते और तीन-तीन नौकर उनकी सेवामें रहते हैं । जो सुख अथवा दुःख दूसरोंको दिये हैं, उनका फल सुख-दुःख अवश्य मिलता है, चाहे इस योनिमें अथवा दूसरी योनियों (जन्मों) में । सुख-दुःख पहुँचानेवाले कर्मोंमें भी मनोवृत्तियाँ ही कारण होती हैं । डाक्टर एक पके फोडेको नश्तरद्वारा चीरकर उसके मवादको निकालता है, इससे डाक्टरके चित्तमें सुख पानेके कर्माशय बनते हैं, यदि कोई मनुष्य द्वेषसे उसी फोडेमें चाकू मारता है तो उसके चित्तमें दुःख पानेके कर्माशय बनते हैं । अकर्ममें भी कर्म होता है और कर्ममें भी अकर्म होता है । जैसा कि भगवान् श्रीकृष्णने गीता, अध्याय चारमें बतलाया है—

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः । अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥

कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये और अकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये तथा निषिद्ध कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये; क्योंकि कर्मकी गति गहन है ।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः । स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥
(४ । १८)

जो पुरुष कर्ममें अर्थात् अहङ्काररहित अनासक्त भावसे की हुई सम्पूर्ण चेष्टाओंमें अकर्म अर्थात् वास्तवमें उनका न होनापना देखे और जो पुरुष अकर्ममें भी कर्मके अर्थात् अज्ञानी पुरुषद्वारा किये हुए सम्पूर्ण क्रियाओंके त्यागमें भी त्यागरूप क्रियाको देखे, वह पुरुष मनुष्योंमे बुद्धिमान् है और वह योगी सम्पूर्ण कर्मोंका करनेवाला है ।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः । ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥
(४ । १९)

जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और संकल्पसे रहित हैं, ऐसे उस ज्ञानरूप अग्निद्वारा भस्म हुए कर्मोंवाले पुरुषको ज्ञानी जन पण्डित कहते हैं ।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः । कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥
(४ । २०)

जो पुरुष सांसारिक आश्रयसे रहित सदा परमानन्द परमात्मामें तृप्त है, वह कर्मोंके फल और सङ्ग अर्थात् कर्तृत्व-अभिमानको त्यागकर कर्ममें अच्छी प्रकार बर्तता हुआ भी कुछ भी नहीं करता है ।

यदि किसीके समक्ष कोई हिंसक जन्तु किसी सोते हुए मनुष्यको काटनेके लिये जाय और वह मनुष्य उसको दुःख देनेके विचारसे न बचावे अथवा कोई अपने किसी नियत कर्तव्य कर्मको न करे तो वह अकर्ममें कर्म होगा। इससे भी दुःख पानेके कर्माशय बनेंगे।

कर्म-सिद्धान्त बहुत गहन है, स्थूल-बुद्धिसे समझमें नहीं आ सकता, एकाग्रबुद्धिसे ही समझा जा सकता है। इस कर्म-सिद्धान्तका सार यही है कि कोई कर्म भी किसीको दुःख देनेकी नीयतसे न किया जाय—"मा हिंस्यात्सर्वभूतानि"। वास्तवमें न कोई किसीको सुख दे सकता है न दुःख। जो मिलना है वह उसे अवश्य मिलेगा। मनुष्य दूसरोको सुख-दुःखको पहुँचानेकी नीयतसे कर्म करके अपने अंदर सुख-दुःख पानेके कर्माशय एकत्र कर लेता है।

सङ्गति—योगीके लिये सुख-दुःख दोनो दुःखरूप ही है, अब यह बतलाते है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—परिणाम-ताप-संस्कारदुःखैः = परिणाम, ताप, संस्कारके दुःखोसे; गुण-वृत्ति-विरोधात् च = और गुणोकी वृत्तियोके विरोधसे; दुःखमेव सर्वं विवेकिनः = दुःख ही है सब कुछ अर्थात् सुख भी दुःख ही है विवेकीको।

अन्वयार्थ—क्योकि (विषय-सुखके भोगकालमें भी) परिणाम-दुःख, ताप-दुःख और संस्कार-दुःख बना रहता है और गुणोके स्वभावमें भी विरोध है, इसलिये विवेकी पुरुषके लिये सब कुछ (सुख भी जो विषय-जन्य है) दुःख ही है।

व्याख्या—जिस प्रकार विष मिला हुआ स्वादिष्ट पदार्थ भी बुद्धिमान्‌के लिये त्याज्य है, इसी प्रकार जिन योगी-जनोको सम्पूर्ण क्लेश तथा उनके विभाग आदिका विवेकपूर्ण ज्ञान हो गया है, उनको ससारके सब विषय-सुखोमें दुःख-ही-दुःख प्रतीत होता है; क्योकि इन सुखोमें भी चार प्रकारका दुःख सम्मिलित है, जो नीचे व्याख्यासहित वर्णन किया जाता है—

परिणाम-दुःख—विषय-सुखके भोगसे इन्द्रियोकी तृप्ति नहीं होती है, बल्कि राग-क्लेश (२ । ७) उत्पन्न होता है। ज्यो-ज्यो भोगका अभ्यास बढ़ता है, त्यो-त्यो तृष्णा बलवती होती है। यथा—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥
(मनु० २ । ९४)

विषय-कामना विषयोके उपभोगसे कभी शान्त नही होती, किंतु हवन-सामग्रीके डालनेसे अग्निके सदृश और अधिक भडकती है। अर्थात् हविः (सामग्री) डालनेसे अग्नि बुझती नहीं, किंतु और बढती है, इसी प्रकार विषय-सुखके भोगसे विषय-सुखकी कामना शान्त नहीं होती, किंतु और बढ़ती है।

विषयोके भोगसे इन्द्रियाँ दुर्बल हो जाती है, अन्तमे इन्द्रियोमें विषय-भोगकी शक्ति बिल्कुल नही रहती और तृष्णा सताती है। यह सुख परिणाममें दुःख ही है।

ताप-दुःख—विषय-सुखकी प्राप्तिमें और उसके साधनमें राग-क्लेश (२ । ७) उत्पन्न होता है और उनमे जो रुकावटें होती हैं, उनसे द्वेष-क्लेश (२ । ८) उत्पन्न होता है। यह सुखके नाश होनेका दुःख सुखके भोग-कालमें भी सताता रहता है। इसी कारण यह सुख परिणाममें ताप-दुःख है।

संस्कार-दुःख—सुखके भोगके जो संस्कार चित्तपर पड़ते है, उनसे राग (२ । ७) उत्पन्न होता

है, मनुष्य उनके प्राप्त करनेमें यत्न करता है। उनमें रुकावटोंसे द्वेष (२ । ८) होता है। इस प्रकार राग-द्वेषके भी संस्कार पड़ते रहते हैं और उनके वशीभूत होकर जो शुभाशुभ कर्म करता है, उनके भी संस्कार पड़ते हैं। ये संस्कार आवागमनके चक्रमें डालनेवाले होते है, इसलिये यह सुख परिणाममें संस्कार-दुःख है।

गुण-वृत्ति-विरोध-दुःख—सत्त्व, रजस्, तमस्—ये क्रमसे प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थिति स्वभाववाले हैं। इनकी क्रमसे सुख, दुःख और मोहरूपी वृत्तियाँ हैं। ये तीनो गुण परिणामी है। कभी एक गुण दूसरेको दबाकर प्रधान हो जाता है, कभी दूसरा उसको। जब सत्त्व रजस् तथा तमस्को दबा लेता है, तब सुख-वृत्तिका उदय होता है। जब रजस् सत्त्व और तमस्को दबा लेता है, तब दुःख और जब तमस् सत्त्व तथा रजस्को दबा लेता है, तब मोह पैदा हो जाता है। इन तीनो गुणोमे परिणाम रहता है। इस कारण इनकी वृत्तियोमें भी परिणामका होना आवश्यक है और सुखके पश्चात् दुःख और मोहका होना स्वाभाविक है। यह गुण-वृत्तियोके विरोधसे सुखमें दुःखकी प्रतीति है। जिस प्रकार मकड़ीका जाला भी आँखमे पड़कर अत्यन्त दुःखदायी होता है, इसी प्रकार विवेकी योगियोका चित्त अत्यन्त शुद्ध होता है, उनको लेशमात्र भी दुःख और क्लेश खटकता है। इस कारण वे संसारके सुखोको भी सदैव त्याज्य और दुःख-रूप समझते है; इसी प्रकार सांख्य-दर्शन अध्याय ६ में बतलाया गया है—

कुत्रापि कोऽपि सुखीति ॥ ७ ॥

तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः ॥ ८ ॥

क्या कहीं कोई सुखी है, अर्थात् कहीं कोई भी सुखी नही है। (जिसको सुख समझा जाता है) वह सुख भी दुःखसे मिला हुआ है, इसलिये उस सुखको भी दुःखके पक्षमें विवेकी पुरुष संयुक्त करते हैं।

नानक दुखिया सब संसार। सुखी वे ही जिन्ह नाम अधार॥

सङ्गति—जिस प्रकार चिकित्सा-शास्त्रमे रोग, रोगका कारण, आरोग्य, आरोग्यका साधन (ओषधि) चार विषय होते हैं, इसी प्रकार यहाँ इस शास्त्रमें (१) दुःख जो "हेय" त्याज्य है सूत्र १६ मे, (२) दुःखका कारण द्रष्टृ-दृश्यका संयोग जो "हेय-हेतु" है सूत्र १७ में, (३) दुःखका नाश, इस संयोगका अभाव जो "हान" अर्थात् कैवल्य है सूत्र २५ में, और (४) विवेकख्याति कैवल्यका साधन जो "हानोपाय" है सूत्र २६ में वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह शास्त्र चतुर्व्यूह कहलाता है। "हेय" अर्थात् त्याज्य क्या है, यह अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—हेयम्=त्याज्य; दुःखम्=दुःख; अनागतम्=आनेवाला है।

अन्वयार्थ—आनेवाले दुःख हेय (त्यागने योग्य) हैं।

व्याख्या—भूतकालका दुःख भोग देकर व्यतीत हो गया, इसलिये त्यागनेयोग्य नहीं। वर्तमान दुःख इस क्षणमे भोगा जा रहा है, दूसरे क्षणमे स्वयं समाप्त हो जायगा, इस कारण त्याज्य नहीं। इसलिये आनेवाला दुःख ही त्यागनेयोग्य है। विवेकीजन उसीको हटानेका यत्न करते हैं।

टिप्पणी सूत्र १६—बौद्धदर्शन—वैदिक दर्शनोंके चार प्रतिपाद्य विषयोंको बौद्धधर्ममें 'चार आर्य-सत्य' के नामसे वर्णन किया गया है—

पहिला आर्य-सत्य—दुःखम्—इस ससारका जीवन दुःखसे परिपूर्ण है। दूसरा आर्य-सत्य—दुःख-

समुदय.--इस दुःखका कारण विद्यमान है। तीसरा आर्य-सत्य--दु.ख-निरोधः--इस दुःखसे वास्तविक मुक्ति मिल सकती है। चौथा आर्य-सत्य--निरोधगामिनी प्रतिपद्--दु.खोके नाशके लिये वास्तविक मार्ग है।

(१) दु खको व्याख्या करते समय तथागतने बतलाया है--'हे भिक्षुगण ! दु ख प्रथम आर्य-सत्य है। जन्म दु.ख है। वृद्धावस्था भी दु ख है। मरण भी दु ख है। शोक, परिदेवना, दौर्मनस्य, उपायास सब दु.ख है। अप्रिय वस्तुके साथ समागम दुःख है। प्रियके साथ वियोग भी दुःख है। इप्सित वस्तुका न मिलना भी दुःख है। सक्षेपसे कह सकते है कि रागके द्वारा उत्पन्न पाँचो स्कन्ध (रूप, वेदना, सज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान) भी दु ख है।' धम्मपद गाथा १४६ में बतलाया है--

को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति।
(को नु हासः क आनन्दो नित्यं प्रज्वलिते सति)

जब यह संसार नित्य जलते हुए घरके समान है, तब यहाँ हँसी क्या हो सकती है और आनन्द क्या मनाया जा सकता है।

(२) दुःख-समुदय--योगदर्शनके हेय हेतुके स्थानमे यह दूसरा आर्य सत्य है। समुदयका अर्थ हेतु है। यहाँ दु.खका हेतु तृष्णा बतलायी गयी है। मज्झिम निकायमें भगवान् बुद्धके शब्दोमे बतलाया गया है--

हे भिक्षुगण ! दुःख-समुदय दूसरा आर्य-सत्य है। दुःखका वास्तविक हेतु तृष्णा है, जो बारबार प्राणियोको उत्पन्न करती है, विषयोके रागसे युक्त है तथा उन विषयोका अभिनन्दन करनेवाली है। यहाँ और वहाँ सर्वत्र अपनी तृप्ति खोजती रहती है। यह तृष्णा तीन प्रकारकी है--(१) कामतृष्णा, जो नाना प्रकारके विषयोंकी कामना करती है। (२) भवतृष्णा, जो ससारकी सत्ताको बनाये रखती है। (३) विभवतृष्णा, जो संसारके वैभवकी इच्छा करती है। संक्षेपमें दु ख-समुदयका यही स्वरूप है।

सरितः स्निग्धाश्च सौमनस्या भवन्ति जन्तोः।
ते स्रोतः सृताः सुखैषिणस्ते वै जातिजरोपगा नराः॥

(धम्मपद गाथा ३४१)

तृष्णाकी धाराएँ प्राणियोको बड़ी प्रिय और मनोहर लगती है। सुखके फेरमें पडे उसकी धारामें पडते हैं और बार-बार जन्म-जराके चक्रमें जाते है।

न तद् दृढं बन्धनमाहुर्धीरा यद् आयसं दारुजं बर्बजं च।
संरक्तरक्ता मणिकुण्डलेषु पुत्रेषु दारेषु च याऽपेथा॥

(धम्मपद गाथा ३४५)

धीर विद्वान् पुरुष लोहे, लकड़ी तथा रस्सीके बन्धनको दृढ नहीं मानते। वस्तुतः दृढ बन्धन है--सारवान् पदार्थोंमें रक्त होना या मणि, कुण्डल, पुत्र तथा स्त्रीमें इच्छाका होना।

ये रागरक्ता अनुपतन्ति स्रोतः स्वयं कृतं मर्कटक इव जालम्।

(धम्मपद गाथा ३४७)

जो रागमें रक्त है, वे जैसे मकडी अपने बनाये जालमें पडती है, वैसे ही अपने बनाये स्रोतमें पडते हैं। मज्झिम निकायमें बतलाया गया है--"यही तृष्णा जगत्के समस्त विद्रोह तथा विरोधकी जननी है।

उसीके कारण राजा राजासे लडता है, क्षत्रिय क्षत्रियसे लडता है, ब्राह्मण ब्राह्मणसे लडता है, माता पुत्रसे लडती है और लडका मातासे लड़ता है। समस्त पापकर्मोंका निदान यही तृष्णा है। चोर उसीके लिये चोरी करता है, कामुक इसीके लिये परस्त्रीगमन करता है। धनी इसीके लिये गरीबोंको चूसता है। तृष्णामूलक यह संसार है। तृष्णा ही दुःखका कारण है, इसीका समुच्छेद प्रत्येक प्राणीका कर्त्तव्य है"।

सङ्गति—इस हेय दुःखका कारण "हेयहेतु" क्या है, यह अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—द्रष्टृदृश्ययोः सयोगः = द्रष्टा और दृश्यका संयोग; हेयहेतु = हेय (त्याज्य दुःख) का कारण है।

अन्वयार्थ—द्रष्टा और दृश्यका संयोग "हेयहेतु" (दुःखका कारण) है।

व्याख्या—द्रष्टा चेतन पुरुष है, जो चित्तका स्वामी होकर उसको देखनेवाला है। दृश्य चित्त है जो स्व (मिलकियत) बनकर पुरुषको गुणोंके परिणाम-स्वरूप संसारको दिखाता है। चित्तद्वारा देखे जानेके कारण यह सारा गुणोंका परिणाम विषय, शरीर और इन्द्रिय आदि भी सब दृश्य ही हैं।

संयोग—इस पुरुष और चित्तका जो आसक्तिसहित अविवेकपूर्ण भोग्य-भोक्ताभावका सम्बन्ध है, उसके लिये यहाँ संयोग शब्द आया है। यही इस दुःखका (जो पिछले सूत्रमें हेय अर्थात् त्याज्य बतलाया था) "हेतु" अर्थात् कारण है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्। कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥
(गीता १३। २१)

प्रकृतिमें स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थोंको भोगता है और इन गुणोंका संग ही इस जीवात्माके अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेमें कारण है (सत्त्वगुणके संगसे देवयोनियोंमें, रजोगुणके संगसे मनुष्ययोनिमें और तमोगुणके संगसे पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंमें जन्म होता है)।

टिप्पणी—इस सूत्रकी व्याख्या शीघ्रता तथा सरलताके कारण हमने प्रथम संस्करणमें भोजवृत्ति-अनुसार कर दी थी। इसके व्यासभाष्यके समझनेमें कई एकोंको कुछ शङ्काएँ उत्पन्न हुई हैं, इसलिये उनके स्पष्टीकरणके साथ व्यासभाष्यके भाषार्थको लिखा जाता है।

व्या० भा० भाषार्थ (सूत्र १७)—द्रष्टा नाम बुद्धि-प्रतिसंवेदी पुरुषका है अर्थात् बुद्धिमें प्रतिबिम्बित होकर तदाकारताको धारण करनेवाले अथवा अपने प्रतिबिम्बद्वारा बुद्धिको चेतन तुल्य करनेवाले पुरुषके लिये द्रष्टा शब्दका प्रयोग हुआ है।

दृश्य नाम बुद्धि सत्त्वोपारूढ सब धर्मों (सत्त्वमें स्थिर हुई सब धर्मोंवाली) का है। अर्थात् बुद्धि तथा इन्द्रियोंद्वारा जिन पदार्थोंको बुद्धिसे ग्रहण किया जाता है अथवा अहंकार आदिद्वारा जितने तत्त्व बुद्धिसे उत्पन्न होते हैं, उन सब प्रकृतिके कार्योंको दृश्य पदसे ग्रहण करना चाहिये। यह बुद्धि आदि दृश्य ही अयस्कान्तमणिके तुल्य संनिधिमात्रसे द्रष्टृरूप स्वामीका उपकार करता हुआ दृश्यरूपसे स्व हो जाता है (और भोक्ता भूत पुरुषका भोग्य)। यद्यपि यह दृश्य अपने जडरूपसे लब्धसत्तावाला होनेसे स्वतन्त्र है, तथापि पुरुषके अर्थ होनेसे इसको परतन्त्र ही जानना चाहिये।

वह पुरुषार्थप्रयुक्त जो स्व-स्वामिभाव या दृग्दृश्यभाव या भोक्तृ-भोग्यभावरूप अनादि प्रकृतिपुरुषका संयोग है, वह दुःखका कारण है। पञ्चशिखाचार्यने भी ऐसा ही कहा है—

"तत्संयोगहेतुविवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः"

अर्थात् दुःखके कारण बुद्धि-संयोगके विवर्जनसे (हट जानेसे) दुःखका अत्यन्त प्रतीकार (नाश) हो जाता है।

(यहाँ यह भी जान लेना चाहिये कि यह संयोग ही अस्मिता-क्लेश है, जिसका कारण अविद्या है और अविद्या सत्त्वचित्तमें जो लेशमात्र तम है, उसमें वर्तमान है।)

जिस प्रकार लोकमें परिहार करनेयोग्य दुःखहेतु पदार्थ-प्रतीकार (निवृत्तिका उपाय) है। इसी प्रकार यहाँ भी दुःख-हेतु संयोगका प्रतीकार जान लेना चाहिये। अर्थात् जिस प्रकार लोकमें पादतल (पैरका तलवा) भेद्य (दुःख पानेवाला) है और कण्टक (काँटा) भेदक (दुःख देनेवाला) है तथा कण्टकार पैर न रखना या जूते पहिनकर पैर रखना, यह इस पैरके तलवेमें काँटे लगनेके दुःखका प्रतीकार (उपाय) है, इसी प्रकार यहाँ कोमल पादतलके तुल्य मृदुल सत्त्वगुण (सत्त्वप्रधान बुद्धि अथवा सत्त्वचित्त) तप्य (दुःख पानेवाला) और रजोगुण उसका तापक (दुःख देनेवाला) है तथा प्रकृति-पुरुषके संयोगकी हानि या विवेकख्याति इस तापका प्रतीकार है। जैसे लोकमें भेद्य, भेदक और परिहार—इन तीनोंको जाननेवाला भेदक—कण्टकादिकी निवृत्तिके उपायरूप अनुष्ठान करके भेद-जन्य दुःखको प्राप्त नहीं होता, वैसे यहाँ भी जो तप्य, तापक और परिहार—इन तीनों पदार्थोंको जानता है, वह भी विवेकख्यातिरूप अनुष्ठान करके संयोगजन्य दुःखको प्राप्त नहीं होता।

यद्यपि तापरूप जो क्रिया है, वह कर्मभूत सत्त्व (चित्त) में ही है न कि पुरुषमें अर्थात् बुद्धि (चित्त) ताप्य है न कि पुरुष, क्योंकि पुरुष अपरिणामी तथा निष्क्रिय है, तथापि दर्शित विषयत्वरूप उपाधिसे या अविवेकसे बुद्धिके तदाकार होनेसे पुरुष भी तदाकारधारी अनुतापको प्राप्त हो जाता है। इसलिये पुरुषमें औपाधिक तापका संयोग है अर्थात् बुद्धि उपाधिके सम्बन्धसे पुरुष ताप्य है। प्रकृति-पुरुषका सम्बन्ध तापक है और विवेकख्याति इसका परिहार है॥ १७॥

विशेष जानकारीके लिये—विज्ञानभिक्षुके योगवार्तिकका भाषानुवाद॥ सूत्र १७॥

हेयके सूत्रकी व्याख्या करके क्रमसे प्राप्त हेयके हेतुके प्रतिपादक सूत्रका अवतरण करते हैं—तस्मात्—जो हेय कहा जाता है, उसके ही कारणका निर्देश किया जाता है—*द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः*—द्रष्टृ शब्दके पदार्थको कहते हैं—

द्रष्टा बुद्धि-प्रतिसंवेदी पुरुष है।

प्रतिसंवेदन—संवेदन बुद्धिकी वृत्तिके प्रतिबिम्बका नाम है। प्रतिध्वनिके समान इस (प्रतिसंवेदन) शब्दका प्रयोग किया गया है। वह प्रतिसंवेदन जिसको हो, वह बुद्धिकी वृत्तिका प्रतिसंवेदी—बुद्धिका साक्षी पुरुष है—यह फलितार्थ है।

दृश्य शब्दके पदार्थको कहते हैं—दृश्यबुद्धि-सत्त्वमें उपारूढ सब धर्म हैं। बुद्धि-सत्त्वको भी दृश्य होनेसे यहाँ विशेषण विवक्षित है, धर्म उसको भी बुद्ध्यारूढ होनेसे बुद्धिधर्मत्व विवक्षित है, इस अभिप्रायसे दृश्य-बुद्ध्यारूढ सब धर्म है, यह कहा गया है—ये धर्म बुद्धिके कार्य है, इस अभिप्रायसे

नहीं कहा है; क्योंकि प्रधान आदिका भी दृश्य होनेसे त्याग उचित नहीं है। उत्तर सूत्रमें मुख्यतया प्रधानको ही दृश्य कहा है। यद्यपि बुद्ध्यारूढ (बुद्धिमें प्रतिबिम्बित) पुरुष भी दृश्य है, तो भी वह दुःखसे रहित है, अतः उसका दर्शन हेय दुःखका हेतु नहीं है, इस आशयसे यहाँ दृश्यके अंदर पुरुषकी गिनती नहीं करेंगे। तथा सुख-दुःख-मोहात्मक दृश्यवाली बुद्धिके साथ द्रष्टा-साक्षी पुरुषका जो काष्ठमें अग्निके समान सम्बन्ध है—जिसको बन्ध भी कहते हैं, वह दुःखका हेतु है, यह सूत्रका अर्थ है। बुद्ध्यारूढ दृश्योंके साथ द्रष्टाका ज्ञानरूप संयोग हेयका हेतु यहाँ विवक्षित नहीं है।

'स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः'

इस आगामी सूत्रसे इस ज्ञानरूप सयोगको ज्ञानका हेतु ही कहा है, ज्ञानरूप नहीं कहा है। इस सूत्रसे बुद्धि और आत्माके संयोगकी भाँति घटादि वस्तुओंके साथ आत्माका सयोग भी भोगका हेतु है, यह जानना चाहिये, क्योंकि लाघवसे भोक्ता और भोग्य वस्तुका संयोग ही सामान्य भोगका हेतु कहना उचित है। विषयके भोगमें बुद्धिके अवच्छेदसे विषयका संयोग हेतु है, अतः अतिव्याप्ति नहीं है। यह सयोग पुरुषार्थका हेतु है और इस संयोगका हेतु पुरुषार्थ है, इस बातको कहनेके लिये—सकल पुरुषार्थस्वरूप जो पुरुषका स्वत्व है—सम्पत्ति है—उसका बुद्धिमें प्रतिपादन करते हैं—

तदेतदिति—वह यह दृश्य—अयस्कान्त मणिके सदृश संनिधिमात्रसे उपकारी दृश्यत्वसे स्वामी पुरुषका स्व-सम्पत्ति होता है।

शङ्का—'तस्य हेतुरविद्या' इस आगामी सूत्रसे ही सयोगका कारण कहेंगे, यहाँ सयोगके कारणकी अपेक्षा नहीं है ?

समाधान—यह नहीं कहना चाहिये, क्योंकि अविद्याको भी पुरुषार्थकी असमाप्तिके द्वारा बन्धकी हेतुता आगे कहेंगे। तदेतद् इत्यादिका अर्थ यह है कि तद् बुद्धि स्वत्व है। यह दृश्यजगत् जिसमें रहता है, वह दृश्य है, अतः अयस्कान्तमणिके समान सनिधिमात्रसे उपकारी होनेसे और स्वयं दृश्य होनेसे ज्ञान-मात्र स्वरूप—स्वामी पुरुषका वह स्व-(आत्मीय) सम्पत्ति होता है।

शङ्का—बुद्धिका अन्य स्वामी क्यो मानते हो ? वह बुद्धि ही अपरतन्त्रा, स्वय ही द्रष्ट्री स्वार्थ ही हो सकती है।

समाधान—तत्राह—अनुभवकर्मेति—क्योंकि कर्म-कर्तृ-विरोध होनेसे आप अपना दृश्य तो हो नहीं सकता; (अत) अनुभव नामक जो पुरुषका कर्म है, उस कर्मका विषय होता हुआ ही अन्यरूपसे पुरुष चैतन्यसे प्रतिष्ठात्मक-सिद्ध सत्तावाला अथवा अन्यरूपसे अन्यके प्रयोजनके कारण प्राप्त स्थिति, (अत.) स्वतन्त्र होनेपर भी पुरुषके अनाश्रित भी परार्थ होनेसे परतन्त्र हैं, परपुरुषका स्व-सम्पत्ति है। इस प्रकार दृश्य नामक भोग्यात्मक अखिल पुरुषार्थके बुद्धिनिष्ठ सिद्ध हो जानेपर वही पुरुषार्थ अनागत अवस्थामें स्थित-बुद्धि और पुरुषके सयोगमें कारण है—यह कहते हुए सूत्रके वाक्यार्थको कहते हैं—तयोरिति—उन स्व और स्वामीका—*दृश्यतेऽनयेति दर्शन बुद्धिः*—देखा जाय जिससे वह दर्शन नाम बुद्धिका है—पुरुषार्थकृतत्व वचन कथनके कारण यहाँ अनादिका अर्थ प्रवाहसे अनादि है।

शङ्का—पुरुषार्थका पुरुषसे संयोग माननेमें पुरुषकी अपरिणामिताका भंग हो जायगा (कोई भी सयुक्त पदार्थ अपरिणामी नहीं होता) ?

समाधान—सामान्य गुणोंके अतिरिक्त धर्मोंकी उत्पत्तिको ही व्यवहारके अनुसार परिणाम निश्चय किया है। घट आदिके संयोग आदिसे आकाश परिणामी नहीं होता और द्वित्व आदि संख्याके संयोगसे पुरुष परिणामी नहीं कहा जाता, पद्म-पत्रपर रक्खी जलकी बूँदसे पद्म-पत्रकी अपरिणामिता और असंयोग भी सुना जाता है। संयोग, विभाग, संख्या आदि द्रव्योंके सामान्य गुण है (अतः सामान्यगुण संयोगसे अपरिणामितांका भंग नहीं होता है)। श्रुति और स्मृतियोंमें सुखादिरूप परिणाम ही पुरुषमें नहीं माने है, मनके साथ सुखादिका अन्वय और व्यतिरेक है, अत. मनमें ही लाघवसे सुखादि माने है, सुखादिको मनका अवच्छेदक मानकर अन्यत्र—पुरुषमें उसको (सुखादिको) माननेमें गौरव है। संयोगादिके प्रति तो द्रव्यत्वरूपसे ही हेतुता होनेसे वह पुरुषकी भी हो सकती है और पुरुषका द्रव्यत्व तो अनाश्रित होनेसे तथा परिमाणसे सिद्ध है (अर्थात् जो अनाश्रित और परिमाणवाला होता है, वह द्रव्य हुआ करता है। पुरुष किसीके आश्रित नहीं और महत् परिमाणवाला है, अतः द्रव्य है)।

यद्यपि कारणावस्थामें बुद्धि और पुरुष दोनों विभु हैं, तथापि उनका संयोग परिच्छिन्न गुणान्तरके अवच्छेदसे सम्भव है ही, क्योंकि महदादि अविशिष्ट परिणाम त्रिगुणके संयोगके बिना उत्पन्न नहीं होते और वह संयोगज संयोग है, कर्मजन्य संयोग नहीं है। जैसे अवयवके संयोगसे अवयवीका संयोग होता है, वैसे अवच्छेदकीभूत गुणके संयोगसे ही दो विभुओंका (बुद्धि और पुरुषका) संयोग है। साक्षात् संयोगका पुरुषमें निषेध है, संयोगज संयोगका निषेध नहीं है। यदि आत्माका संयोग ही नहीं है, यह माना जाय तो प्रकृति-पुरुषके संयोगसे सृष्टि और उनके वियोगसे प्रलय यह जो श्रुति, स्मृति और सूत्रोंने माना है, वह न बन सकेगा।

भोक्तृ-भोग्य योग्यता ही यहाँ औपचारिक संयोग वक्तव्य है, यह नहीं कहना चाहिये; क्योंकि वह स्व-स्वामी-भाव होनेसे अनादि है, अनादि होनेसे कार्य हो नहीं सकता और उसके अविनाशी होनेपर ज्ञानसे नाशकताका विरोध होगा, नाशवान् माननेमें पुरुषको परिणामता होगी (जो कि अनिष्ट है)।

शङ्का—पुरुषका संयोग माननेमें पुरुषकी असंगताकी क्षति होगी ?

समाधान—नहीं, कमलपत्रमें जो कि पुरुषका दृष्टान्त है—संयोग होनेपर भी असंगता मानी जाती है। स्व-आश्रय विकारका हेतु जो संयोग है, उस संयोगको ही संगता है। पुरुषमें ऐसा संयोग नहीं है, जो पुरुषके अंदर विकारका हेतु हो; अतः पुरुषार्थका कारण बुद्धि और पुरुषका संयोग है, वही जन्मरूपसे दुःखका हेतु है—यह बात सिद्ध होती है। वह संयोग विशेष परमेश्वरकी योगमाया—योगीन्द्रोंसे भी अचिन्त्य—श्रुति और स्मृतियोंसे गम्य है—विशेष तर्कका विषय नहीं है, जिस मायाके द्वारा ईश्वर, नित्य-मुक्त-असङ्ग, अविद्या आदिसे रहित विभु और चेतनमात्र आत्मा जीव-समूहको बन्धनमें डालता है (जिसके कारण जीवसमूह बन्धनमें फँसे हुए है) ऐसा ही कहा है—

'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।'

निश्चय ही जो भाव अचिन्त्य हैं, उनको तर्कसे युक्त न करे—उनके विषयमें तर्कना न करे।

सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते। ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम्॥

वह ही यह भगवान्‌की माया है जो कि नीतिका भी विरोध करती है। इसी मायाके कारण विमुक्त ईश्वरको भी दीनता और बन्धन होता है।*

* टिप्पणी—यह सिद्धान्त नवीन वेदान्तका समझना चाहिये। (प्रकाशक)

संयोगको दु.खकी हेतुता दिखलानेके लिये पञ्चशिखाचार्यके संवादको कहते हैं—तथा चोक्तं—यहाँसे—प्रतीकार—यहाँतक। बुद्धि और पुरुषका सयोग हेय दु:खका हेतु है, उसके परिवर्जनसे—उच्छेदसे दु खका आत्यन्तिक प्रतीकार होता है—उच्छेद होता है।

शङ्का—अनादि कालसे प्रवृत्त जो दु:खका हेतु सयोग, उसका उच्छेद नहीं हो सकता, इस आशयसे पूछते हैं प्रसङ्गसे उसकी शक्यताका निश्चय करनेके लिये—कस्मादिति।

समाधान—दु:खके हेतुके परिहारसे दु:खका प्रतीकार देखा जाता है। परिहार्य इस कथनसे प्रकृति आदि नित्य पदार्थोंकी व्यावृत्ति सिद्ध है। दु:खहेतुत्व नित्यत्वरूप लिङ्गसे दु:ख-हेतुके अनित्यत्व-दर्शनसे संयोगरूप दु:खके हेतुका अनित्य होना सिद्ध है। प्रकृति आदिकी नित्य व्यावृत्ति तथा च दु.खके हेतुत्व नित्यत्व लिङ्गसे संयोगका उच्छेद हो सकता है। इसका अनुमान होता है। दु:खके हेतुका प्रतीकार हो सकता है, इसमे लौकिक उदाहरण कहते हैं—तद्यथेति।

भेद्यत्व—भेदज दु:ख—भागित्व हैं, और भेतृत्व—भेदके द्वारा दु:खका हेतु है, पादानधिष्ठान—पैरसे अनारोहण—न चढना है। पादत्राण जूतेको कहते हैं अथवा जूता पहने पैरोसे काँटोंपर चढना।

ये तीन दु खका आश्रय, दु.खका हेतु और दु:खके परिहारके उपाय है, जो इनको जानता है—इस वचनसे भाष्यकारने इन तीनोके ज्ञानको दु:खके प्रतीकारकी हेतुता कहते हुए—यह तीनो मुमुक्षुको जानना चाहिये यह भी सूचित किया है।

शङ्का—ताप और दु:ख पर्यायवाची शब्द हैं तत्र दृष्टान्तमें यथा भेद्य-भेत्तृ-प्रतीकाररूप त्रिक है, ऐसा दार्ष्टान्तिकमें नहीं है; क्योकि उसमें एक बुद्धिको ही तप्य (तपनेवाली) और तापक (तपानेवाली) उभयरूप माना है और पुरुषको निर्दु ख माना है। अत: आक्षेप करते हैं—कस्मादिति—

समाधान—सिद्धान्त कहते है—त्रित्वोपलब्धीति। बाह्य दु:खके स्थलमें उक्त तीनोकी उपलब्धिके बलसे आन्तर दु:खके स्थानमें भी तीनोकी सिद्धि होती है, यह भाव है; उसका प्रकार कहते हैं—अत्रापीति—यहाँ दार्ष्टान्तिकमें भी, भाव यह है कि बुद्धिके एक होनेपर भी त्रिगुणात्मक होनेसे तीन अंश होते है, उनमेंसे रज अंश तापक है, सत्त्व-अंश तप्य—तपनेवाला है, बुद्धि और पुरुषका वियोग, दु खका प्रतीकार है, इस भाँति तीन बन सकते है। पुरुष ही तप्य—तपनेवाला क्यों नहीं है ? इस आशयसे पूछते हैं—कस्मादिति—सिद्धान्त कहते हैं—अत्रापि इत्यादिना—इससे क्षेत्रज्ञ—इस तर्कसे कर्मस्थत्वका अर्थ है कर्मतया अर्थात् सकर्मक होनेसे। कर्मत्वका अर्थ क्रिया व्यापक है; क्योकि दु:खव्याप्तत्व अपरिणामीमें सम्भव नहीं। वृत्तिव्याप्यत्व तो विषयतारूप अपरिणामीमें भी सम्भव है। अत: ज्ञानक्रियाकी कर्मता पुरुषमें बन सकती है, यह वाक्यशेष है और जो पुरुषकी स्वज्ञेयता है, वह भी स्वप्रतिबिम्बित बुद्धिकी वृत्तिसे व्याप्यत्व ही है, उसमें परिणामकी अपेक्षा नहीं है।

शङ्का—दु.खनिवृत्ति पुरुषार्थ कैसे हो सकती है ? क्योंकि दु:ख तो पुरुषमें होता नहीं, यह भी नही कह सकते कि पुरुषनिष्ठ दु:खका भ्रम है, इससे दु ख हेय है; क्योंकि विद्वानोको भी दु:ख हानके लिये असम्प्रज्ञात समाधिकी अर्थिता स्वीकार है ?

समाधान—दर्शितविषयत्वादित्यादि—पुरुष क्योंकि दर्शित विषय है, बुद्धि सत्त्वसे निवेदित विषय है; अत: सत्त्वके तप्यमान होनेपर प्रतिबिम्बरूपसे पुरुष बुद्धि सत्त्वके समान आकारवाला होता है, तपता नहीं,

मूढ बुद्धियोंको अनुतप्त-जैसा दिखलायी देता है, स्व-आकारके प्रतिविम्बनके सिवा विषयका निवेदन अपरिणामी पुरुषमें सम्भव नहीं है, इस बातका प्रतिपादन 'वृत्तिसारूप्य' इस सूत्रमें कर दिया है । तथा च—प्रतिविम्बरूपसे भोग नामक सम्बन्धके द्वारा विद्वानोंको भी दुःखकी हेयता है, पुरुषार्थके असम्भवका दोष नहीं है, यह भाव है—जो पुरुषमें भोक्तृत्व नहीं मानते, उन नवीन वेदान्तियोंको ही यह दोष है ॥ १७ ॥

अवतरणिका—अब दृश्यका स्वरूप, उसका कार्य तथा प्रयोजन बतलाते हैं—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—प्रकाश-क्रिया-स्थिति-शीलम्=प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है; भूतेन्द्रियआत्मकम्=भूत-इन्द्रिय जिसका स्वरूप है; भोग-अपवर्ग-अर्थम्=और भोग-अपवर्ग जिसका प्रयोजन है; दृश्यम्=वह दृश्य है ।

अन्वयार्थ—प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है, भूत और इन्द्रिय जिसका स्वरूप है, भोग और अपवर्ग जिसका प्रयोजन है, वह दृश्य है ।

व्याख्या—सत्त्व, रजस् और तमस्—ये तीनो गुण और जो कुछ इनसे बना है वह दृश्य है ।

गुणोंका धर्म—प्रकाश सत्त्व-गुणका; प्रवृत्ति (क्रिया=चलना) रजोगुणका और स्थिति=रोकना तमोगुणका स्वभाव है । ये तीनो प्रकाश, क्रिया, स्थितिशील-गुण-परिणामी और परस्पर संयोग-विभागवाले है, तथा विवेक-ख्यातिरहित पुरुषके संग सयुक्त रहते है अर्थात् स्व-स्वामी-भाव (भोग्य-भोक्तृभाव) सम्बन्ध रखते हैं और विवेकख्यातिवाले पुरुषसे विभक्त हो जाते है ।

ये तीनो गुण साम्यावस्थाको प्राप्त हुए प्रधान (प्रकृति=अव्यक्त=कारण) रूपसे रहते हैं और विषमावस्थामें परस्पर अङ्ग-अङ्गीभावसे मिले हुए व्यक्त कार्योंको उत्पन्न करते है, अर्थात् जब सात्त्विक प्रकाशरूप कार्य उत्पन्न होता है, तब सत्त्वगुण अङ्गी (मुख्य) होता है, अन्य दोनो रजोगुण और तमोगुण अङ्ग (गौण) होते हैं । इसी प्रकार जब राजस तथा तामस कार्य उत्पन्न होते है, तब रजोगुण तथा तमोगुण अङ्गी और अन्य दोनो गुण अङ्ग होते है । अङ्ग-अङ्गीभावसे मिले हुए रहनेपर भी इनकी शक्तियाँ भिन्न-भिन्न ही रहती हैं, अतः सब कार्य विलक्षण होते हैं ।

मिलकर कार्य करनेसे ही ये तीनो गुण तुल्यजातीय अतुल्यजातीय कार्यको आरम्भ करते है । अर्थात् प्रकाशरूप सात्त्विक कार्यके आरम्भकालमें सत्त्वगुण तुल्यजातीय और अन्य दोनों रजोगुण और तमोगुण अतुल्यजातीय होते हैं । इसी प्रकार सत्त्वगुणकी अपेक्षासे प्रकाश तुल्यजातीय और अन्य दोनो गुणोकी अपेक्षासे अतुल्यजातीय है । इसीसे रजोगुण और तमोगुणके सम्बन्धमें जान लेना चाहिये । जहाँ जो तुल्य-जातीय है, वह उपादान कारण है और जो अतुल्यजातीय है, वह सहकारी कारण है ।

दिव्य शरीर उत्पन्न करनेके समय सत्त्वगुण प्रधान (मुख्य) होता है और रजोगुण-तमोगुण गौण (सहकारी) होते हैं; मनुष्य-शरीर उत्पन्न करनेके समय रजोगुण प्रधान होता है और अन्य दोनो गुण गौण होते है; और तिर्यक्-कीट-पशु आदिक शरीर उत्पन्न करते समय तमोगुण प्रधान होता है और अन्य दोनों गुण गौण होते हैं । इस प्रकार जिस गुणका कार्य उत्पन्न होता है, वह गुण प्रधान हुआ उदार होता है और अन्य दो गुण सहकारी कारण होनेसे प्रधान गुणके अन्तर्गत सूक्ष्म रूपसे रहते हैं और व्यापारमात्रमें अनुमानसे जाने जाते हैं । इस प्रकार ये तीनो गुण गौण-प्रधान (अङ्गाङ्गी) भावसे मिले हुए केवल पुरुषार्थ अर्थात् पुरुषके भोग-अपवर्गके प्रयोजन साधनेके लिये अयस्कान्तमणिके तुल्य पुरुषकी

मात्रसे कार्योंका उत्पादन करते हैं। ऐसे धर्मशील गुणोंकी साम्यावस्था ही प्रधान है और यही दृश्य कहा जाता है।

गुणोंका कार्य—यह दृश्य भूतेन्द्रियात्मक है, अर्थात् दस भूत, पाँच स्थूलभूत, पृथ्वी-जल आदि और पाँच सूक्ष्मभूत गन्ध, रस, तन्मात्रा आदि, और तेरह इन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, तीन सूक्ष्म इन्द्रियाँ मन, अहङ्कार, बुद्धि+चित्त, (महत्तत्त्व) आदि सब ग्राह्य-ग्रहण रूपसे इन्हीं तीनो गुणोके कार्य हैं अर्थात इन्हींके विभिन्न रूप हैं।

गुणोंका प्रयोजन—यह त्रिगुणात्मक दृश्य अर्थात् भूतेन्द्रिय आदि रूपसे प्रकृतिका परिणाम निष्प्रयोजन नहीं है; किंतु पुरुषके भोग-अपवर्ग रूप प्रयोजनवाला है।

भोग—उसमें द्रष्टा-दृश्यके स्वरूप-विभागसे रहित इष्ट-अनिष्ट, गुण-स्वरूपका अवधारण (अनुभव) भोग कहलाता है।

अपवर्ग—द्रष्टा और दृश्यके स्वरूपसे विभक्त भोक्ताके स्वरूपका अवधारण (साक्षात्कार) अपवर्ग है। उपर्युक्त दोनों प्रकारके भोग भी पुरुषके कल्याणार्थ है, अर्थात् अपवर्ग दिलानेमें सहायक हैं, इसको स्पष्ट किये देते हैं।

१ (क) *भोग*—अनिष्ट गुण स्वरूपका अनुभव—कर्माशयका आवरण, क्लेशो और सस्कारोका मल जो अविद्या, अविवेक, आसक्ति और सकाम कर्मोंके परिणाम रूप चित्तपर चढ़ा लिया गया है, इसके निवारणार्थ मन, इन्द्रियो और शरीर आदिका भोग है, जो साधारणरूपसे सब प्राणी भोग रहे हैं। भाव यह है कि गुणोंके विषम परिणामका प्रयोजन तो पुरुषको उनका (गुणोंका) यथार्थ ज्ञान कराकर स्वरूपमें अवस्थित करानेका है। पर पुरुष अविद्या, अविवेक, आसक्ति और सकाम कर्मोंसे चित्तपर कर्माशय आदिका मल चढ़ा लेता है। इस मलके निवारणार्थ जो पुरुषका भोग है यद्यपि वह अनिष्ट है तथापि वह भी पुरुषके कल्याणार्थ है, क्योकि गुणोका यथार्थ ज्ञान दिलाकर स्वरूपमें अवस्थित करानेके लिये चित्तसे उन मलोका धोना आवश्यक है, जो अनिष्ट-भोगोद्वारा होता है।

(ख) *भोग*—इष्ट गुण स्वरूपका अनुभव—इस सम्पूर्ण दृश्यका गुणोंके परिणामका सम्प्रज्ञात-समाधिद्वारा विवेक-पूर्ण तत्त्वज्ञान जो इस दृश्यके भोगका वास्तविक प्रयोजन है, जिसको विवेकीजन भोगते हैं, जिसके पश्चात् स्वरूपावस्थिति प्राप्त होती है।

२ *अपवर्ग*—भोक्ताके स्वरूपका अवधारण स्वरूपावस्थिति है, जो विवेकख्यातिके पश्चात् प्राप्त होती है, जो पुरुषका परम प्रयोजन है।

इन दोनों दर्शनो अर्थात् पुरुषको गुणोका यथार्थ ज्ञान कराने (गुणोंके परिणामका दर्शन) और स्वरूप-अवस्थित कराने (पुरुष-दर्शन कराने) के अतिरिक्त प्रधान प्रवृत्तिका अन्य कोई तीसरा प्रयोजन नहीं है, जैसा कि व्यासजी महाराजने पञ्चशिखाचार्यके सूत्रसे अपने भाष्यमें दर्शाया है—

अयं तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृष्वकर्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिण्युपनीयमानान् सर्वभावानुपपन्नाननुपश्यन्नदर्शनमन्यच्छङ्कत इति।

निश्चय इन तीनो गुणोंके कर्ता होते हुए चौथे उनकी क्रियाओंके साक्षी तुल्य-अतुल्य स्वभाववाले अकर्ता पुरुषमें (बुद्धिसे) प्राप्त कराये सारे भावोंको स्वाभाविक देखता हुआ अन्य दर्शनकी सम्भावना नहीं करता।

यद्यपि यह भोग-अपवर्गरूप दोनो पुरुषार्थ बुद्धिकृत होने और बुद्धिमें ही वर्तनेसे बुद्धिके ही धर्म हैं तथापि जैसे जय और पराजय योद्धाकृत और योद्धामें वर्तमान होनेपर भी उनके स्वामी राजामे कही जाती है; क्योकि वह उसका स्वामी और उसके फलका भोक्ता है, इसी प्रकार बन्ध या मोक्ष चित्तमें वर्तमान होते हुए भी पुरुषमे व्यवहारसे कहे जाते हैं; क्योकि वह बुद्धिका स्वामी और उसके फलका भोक्ता है ।

वास्तवमें पुरुषके भोग-अपवर्गरूप प्रयोजनकी समाप्ति न होनेतक चित्तमें ही बन्धन है और विवेकख्यातिकी उत्पत्तिसे पुरुषके उस प्रयोजनकी समाप्तिमें चित्तका ही मोक्ष है ।

जिस प्रकार बन्ध-मोक्ष-रूप चित्तके धर्मोका पुरुषमें आरोप किया जाता है, इसी प्रकार ग्रहण (स्वरूप-मात्रसे पदार्थका ज्ञान), धारण (ज्ञात हुए पदार्थकी स्मृति), ऊह (पदार्थके विशेष धर्मोका युक्तिसे निर्णय करना), अपोह (युक्तिसे आरोपित धर्मोको दूर करना), तत्त्वज्ञान (ऊहापोहसे पदार्थका ज्ञान प्राप्त करना), अभिनिवेश (तत्त्वज्ञानपूर्वक त्याग और ग्रहणका निश्चय) आदि धर्म भी चित्तमे वर्तमान रहते हुए पुरुषमे अविवेकसे आरोप किये जाते हैं, क्योकि वही उसका स्वामी और उसके फलका भोक्ता है ।

टिप्पणी——व्यासभाष्यका भाषानुवाद ॥ सूत्र १८ ॥

दृश्यका स्वरूप कहते है——

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

प्रकाशशील सत्त्व है, क्रियाशील रज है और स्थितिशील तम है, ये गुण परस्पर उपरक्त-प्रविभाग हैं, सयोग-विभाग धर्मवाले है, एकने दूसरेके सहारेपर अपना मूर्तरूप भूतादि और इन्द्रियादि उपार्जित किया है, परस्पर अङ्ग और अङ्गी होनेपर भी असम्भिन्न शक्ति प्रविभाग हैं, तुल्यजातीय और अतुल्य-जातीय शक्तिके भेदसे अनुपाती हैं, प्रधान अवस्थाके समयमें उपदर्शित संनिधान है, गुण होनेपर भी व्या-पारमात्रसे प्रधानान्तर्णीत इनकी सत्ता अनुमित है, पुरुषार्थ कर्तव्य होनेसे अपने सामर्थ्यका प्रयोग करते हैं, सन्निधिमात्रसे उपकारी है, अयस्कान्त मणिके समान प्रत्ययके विना एक ही वृत्तिके अनुकूल बर्तते हुए प्रधान शब्दके वाच्य होते हैं (प्रधान शब्दसे उनको बोला जाता है), यह दृश्य कहलाता है । यह दृश्य भूतेन्द्रियात्मक है——भूतभावसे——पृथ्वी आदि सूक्ष्म और स्थूलरूपसे परिणत होता है तथा इन्द्रियभावसे ——श्रोत्रादि——सूक्ष्म और स्थूल भावसे परिणत होता है; और वह निष्प्रयोजन नहीं, किंतु प्रयोजनको लेकर प्रवृत्त होता है, अत· वह दृश्यपुरुषके भोगार्थ ही है, उनमेंसे इष्ट और अनिष्ट गुणके अविभागापन्न स्वरूप-अवधारण भोग है और भोक्ता पुरुषके स्वरूपका अवधारण अपवर्ग है, मुक्ति है; इन दोके अतिरिक्त दर्शन नहीं है ।

तथा चोक्तम्——**"अयं तु खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृषु अकर्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासाक्षिणि उपनीयमानान् सर्वभावान् उपपन्नान् अनुपश्यन् न दर्शनमन्यच्छङ्कते इति।"**

श्रीपञ्चशिखाचार्य कहते हैं——लोकमें तीनो गुणोके कर्ता होनेपर भी अकर्ता चतुर्थ पुरुषमें, जो कि गुणोकी क्रियाओका साक्षी है, बुद्धिसे लाये गये सब भावोंको मूढ युक्ति सिद्धवत् देखता हुआ अन्य दर्शनकी शंका भी नही करता है——सम्भावना भी नहीं समझता ।

शंका——ये बुद्धिकृत भोग और अपवर्ग, जो कि बुद्धिमें ही वर्तमान है, पुरुषमें किस प्रकार कहे जाते है ?

समाधान—जैसे कि विजय और पराजय योद्धाओंमें होती है और स्वामी राजामें व्यपदेशसे कही जाती है, क्योंकि राजा ही जय-पराजयके फलका भोक्ता होता है, ऐसे ही बन्ध और मोक्ष भी बुद्धिमें ही होते हैं और स्वामी-पुरुषमें व्यपदेशसे कहे जाते हैं, क्योंकि वह पुरुष ही उन बन्ध और मोक्षरूप फलोंका भोक्ता है, बुद्धिको ही पुरुषार्थकी समाप्तितक बन्ध है और उस पुरुषार्थकी समाप्ति अपवर्ग है, इससे ग्रहण, धारण, ऊहापोह, तत्त्वज्ञान और अभिनिवेश बुद्धिमें होते हुए पुरुषमें अध्यारोपित सद्भाववाले हैं; क्योंकि वह पुरुष ही उनके फलका भोक्ता है ॥ १८ ॥

विज्ञानभिक्षुके योगवार्त्तिकका भाषानुवाद ॥ सूत्र १८ ॥

अब द्रष्टा, दृश्य और सयोग—इन तीनोंके ही स्वरूपको सूत्रकार कहेंगे। उनमेंसे दृश्यके रूपके प्रतिपादक सूत्रका अवतरण करते हैं—'दृश्यस्वरूपमुच्यत' इति दृश्यके स्वरूपको कहते हैं—यहाँ पाठक्रमके विपरीत आदिमें दृश्यके कथनका कारण यह है कि दृशिमात्र इस आगामी सूत्रमें जो मात्र शब्द आया है, उससे अखिल दृश्यके भेदसे द्रष्टाका प्रतिपादन करना है, उसके लिये प्रतियोगी दृश्योंका ज्ञान अपेक्षित होगा, इसी कारण पूर्व सूत्रमें प्रथम प्रधानतया दृश्यका उपन्यास है यह जानना चाहिये।

प्रकाशक्रियास्थितिशील भूतेन्द्रियात्मक भोगापवर्गार्थं दृश्यम्। प्रलयकालमें प्रकाश आदि कार्यका अभाव होता है अतः यहाँ शीलपद दिया है। प्रकाश—बुद्धि आदिकी वृत्तिरूप आलोक और भौतिक आलोक है। क्रिया—प्रयत्न या चलनको कहते हैं। स्थिति—प्रकाश और क्रियासे शून्य या प्रकाश-क्रियाके प्रतिबन्धका नाम है। तत् शील गुणत्रय यह विशेष्यपद यहाँ उत्तर सूत्रमें गुणपर्वणि इस विभाग-वचनसे उपलब्ध होता है। अतएव भाष्यकार 'एते गुणाः' ऐसी व्याख्या करेंगे। इस प्रकार गुणोंके होनेमें प्रमाण कहते हैं, भूतेति—भूतेन्द्रियात्मक—स्थूल और सूक्ष्मरूप भूतों और स्थूल तथा सूक्ष्मरूप इन्द्रियोंका कारण है, इससे महदादि अखिल कार्योंका कारणत्व ही लब्ध होता है और वह कारणत्व गुणोंमें है (अर्थात् महदादि अखिल प्रपञ्चके कारण गुण हैं) और उनके प्रकाशादि रूपतामें प्रमाण है (अनुमान प्रमाण है), क्योंकि त्रिगुणात्मक जड कार्योंकी सिद्धि त्रिगुणात्मक जड कारणके बिना नहीं होती। गुणोंके कार्यको कहकर उनके स्वरूपकी सत्ताके प्रयोजक प्रयोजनको कहते है। भोगापवर्गार्थ—भोग और अपवर्ग प्रयोजनवाला है, यह सूत्रार्थ है।

शङ्का—तब तो तीन गुण ही दृश्य है, उनके विकार दृश्य नहीं हैं ?

समाधान—यह नहीं, क्योंकि गुणके पर्वरूपसे उत्तरसूत्रसे उनके विकारोंका भी सग्रह होता है, अतः वे भी दृश्य है। इस सूत्रकी व्याख्या करते है प्रकाशशीलमिति—वह दृश्य प्रकाश-क्रियास्थितिशील है।

शङ्का—सत्त्व आदि गुण ही यदि प्रकाशादिशील दृश्यरूपसे यहाँ कहे हैं और प्रकृतिको कहा नहीं, तो सूत्रकारकी न्यूनता है और सत्त्व आदि गुणोंको ही भूतेन्द्रियात्मक माननेसे प्रकृति माननेके सिद्धान्तकी क्षति होगी, क्योंकि प्रकृति व्यर्थ होगी।

समाधान—गुण ही प्रकृति शब्दके वाच्य है, उनसे अतिरिक्त प्रकृति नहीं है—यह निश्चय करते हैं—एते गुणाः—सत्त्व आदि ये गुण प्रकृतिशब्दके वाच्य होते हैं। प्रवीयतेऽस्मिन्कार्यजातमित्यादि व्युत्पत्त्या प्रधानप्रकृत्यादिशब्दैरुच्यन्त इत्यन्वय। जिसमें कार्यसमूह रहता है, इस व्युत्पत्तिसे प्रधान और प्रकृति आदि शब्दोंसे गुण ही कहे जाते हैं। तथा च साङ्ख्यसूत्रम्—

सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात् ।

पुरुषके उपकरण होने और बन्धनके कारणसे सत्त्व आदि गुण कहलाते हैं, प्रकाश और क्रिया आदि-की भाँति द्रव्यमें समवेत होनेसे सत्त्व आदि गुण नहीं कहलाते, यह भाव है। सत्त्व आदि ही प्रधान शब्दके वाच्य हैं। इसको सिद्ध करनेके लिये गुणोंके ही जगत्कारणत्व-अनित्यत्व आदिक जो हेतु-गर्भ विशेषण हैं, उनका उपपादन करते हैं। परस्परेति-सत्त्वका प्रविभाग—अधिक भाग रज और तमके स्वल्प भागोंसे उप-रक्त—संसृष्ट होता है, ऐसे ही रजस् और तमस्का भी जानना चाहिये। इस भाँति परस्परोपरक्तविभाग तथा संयोग विभाग धर्मवाले है, परस्पर संयोगविभाग स्वभाववाले हैं। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि सत्त्व आदि गुण द्रव्य हैं (द्रव्याश्रित गुण नहीं हैं) तथा एक दूसरेकी सहायतासे अवयवीको उत्पन्न करते है, क्योंकि कार्य कारणके अभेदसे ही आरम्भ होता है।

शङ्का—यदि इतरेतर सहायतासे सब गुण सब कार्योंके कारण हो तो सत्त्व आदिको भी क्रिया आदिके होनेसे सक्रियत्व आदिकी आपत्तिसे प्रकाश आदि शक्तिका सांकर्य होगा ?

समाधान—तत्राह—परस्पर अङ्गाङ्गित्व होनेपर भी एक दूसरेके अङ्गाङ्गिभावसे उत्पन्न किये द्रव्यमें प्रकाश सत्त्वका ही गुण है, क्रिया रजस्का ही गुण है और स्थिति तमस्का ही गुण है, अतः प्रकाशादिकी शक्ति विभागका सम्भेद सम्मिश्रण नहीं है। तथा तुल्यजातीय और अतुल्यजातीय शक्तिभेदके गुण अनुपाती हैं। सत्त्व आदि जातिसे सजातीय हैं और जो सहकारी शक्तिविशेष हैं, वे विजातीय हैं, तदनुपाती हैं, उनके अविशेषसे उपस्तम्भक स्वभाववाले है। इससे (यह भी सिद्ध है कि) सत्त्व आदि गुण व्यक्तिस्वरूपसे अनन्त हैं (व्यापक हैं)। और त्रिगुणत्व आदि व्यवहार तो सत्त्व आदि जातिमात्रसे होता है—जैसे कि वैशेषिक मतमें नौ द्रव्योंमें द्रव्यत्व जाति मानकर द्रव्य व्यवहार होता है, यह सिद्ध हो गया। अतएव लघुत्व आदि धर्मोंसे एक दूसरेके साथ साधर्म्य और वैधर्म्य भी है, इस बातको साङ्ख्यसूत्रने सत्त्व आदिके लघुत्व आदिरूप साधर्म्य और वैधर्म्य दर्शाकर स्पष्ट किया है। तथा प्रधान वेलामें (प्रधानावस्थामें) स्व-स्व प्रधानकालमें विकारोंमें (कार्योंमें) अपने सान्निध्यको प्रकट करनेवाले होते है। तथा गुण होनेपर भी इतरके उपसर्जन होनेकी दशामें भी व्यापारमात्रसे (अपने सान्निध्यको प्रकट करनेवाले होते है) तथा विषय-विधिसे अयस्कान्तमणिके समान चित्तके आकर्षक होते है। वक्ष्यति हि—अयस्कान्तमणिके सदृश विषय हैं और अयस्-धर्मक चित्त है तथा प्रत्ययके बिना—अभिव्यक्तिके बिना अपने अनभिव्यक्ति कालमें—उस समय एकतम जिस किसी गुणान्तरकी वृत्तिसे पीछे सूक्ष्म वृत्तिवाले होते हैं, क्योंकि वृत्ति-अतिशयोंका ही विरोध कहा है—यह विशेषण समूहका अर्थ है। यह दृश्य कहलाता है। यह गुणत्रय ही कार्यकारण-भावयुक्त दृश्य कहे जाते है—इनके सिवा अन्य दृश्य नहीं है, यह अर्थ है। ये ही गुण न्याय और वैशे-षिकके द्वारा द्रव्याष्टक नामसे विभाग किये गये हैं और वेदान्तियोंने इनको माया कहा है। 'माया तु प्रकृतिं विद्यादिति श्रुते' मायाको तो प्रकृति जान, यह श्रुति कहती है। यह बात बृहद्वासिष्ठमें भी कही है—

नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन्संतिष्ठते जगत् ।
तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामन्ये परे त्वणून् ॥

नाम और रूपसे विनिर्मुक्त यह जगत् जिसमें ठहरता है—लीन हो जाता है, उसको कोई प्रकृति कहते हैं, दूसरे माया बोलते है और कुछ लोग अणु नाम लेते हैं।

शङ्का—यदि त्रिगुणसे पृथक् प्रकृति नहीं है तो 'अजामेका लोहितशुक्लकृष्णाम्' इत्यादि श्रुतिके कहे प्रकृतिके एकत्व आदिसे विरोध होगा, तथा—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥

यह व्यक्त हेतुवाला, अनित्य, अव्यापी, सक्रिय, अनेक, आश्रितलिङ्ग, सावयव और परतन्त्र है । इसके विपरीत अव्यक्त अहेतु, नित्य, व्यापी, अक्रिय, एक, अनाश्रित, अलिङ्ग, निरवयव और स्वतन्त्र है । इत्यादिसे कहा हुआ व्यापकत्व अक्रियत्व निरवयवत्व आदिरूप जो साख्यका सिद्धान्त है, उसका विरोध होगा ।

एते प्रधानस्य गुणाः स्युरनपायिनः—

ये तीन प्रधानके अनपायी गुण हैं, इत्यादि स्मृतिपरम्परामें प्रधानके गुणोका आधाराधेय भाव सम्बन्ध और हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्धको कहनेवाले वचन भी उपपन्न न होंगे । तथा—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः—

सत्त्व, रजस् और तमस्—ये प्रकृतिसे उत्पन्न गुण हैं, यह गीतादि वाक्योमें सत्त्व आदिको जो प्रकृतिका कार्य कहा है, वह न बनेगा तथा २८ तत्त्वका पक्ष भी न बनेगा ।

समाधान—पुरुषभेद और सर्गभेदसे भेदका अभाव ही प्रकृतिका एकत्व अजादिवाक्योसे कहा है और अजादिवाक्यमूलक ही साख्यादिने भी प्रतिपादन किया है । अजावाक्यसे ऐसे ही तात्पर्यका निश्चय किया गया है । भोग्य और भोक्तृके मध्यमें भोग्य गुण हैं, वे भोग्यत्व और अभोग्यत्वके द्वारा सर्गभेदसे भिन्न-भिन्न (भेदवाले) होते है । ये भोग्यके योग्य हैं, और यह भोग्यके योग्य नहीं है, यह बात मुक्त पुरुषके उपकरणोमे भी हो सकती है; क्योंकि वे भी अन्य पुरुषके भोग्य होते हैं । भोक्ता पुरुष भी भोक्तृत्व और अभोक्तृत्वके भेदसे, सर्गके भेदसे भिन्न-भिन्न हो सकते हैं । पूर्व सर्गमें जो मुक्त हो चुके हैं, उत्तर सर्गमें भोक्ता नहीं हैं, किंतु दूसरे भोक्ता हैं । अत. प्रकृति एक है और पुरुष अनेक हैं, यह कहा जाता है । तथा वे ही गुण सब सर्गोमें स्रष्टा होते हैं, और महत् आदि विकारोका तो सर्गभेदसे भिन्न होना स्पष्ट ही है, क्योकि अतीत व्यक्तिका पुन: उदय न होना आगे कहेंगे । यदि प्रकृति एक ही व्यक्ति हो तो 'निमित्तमप्रयोजक प्रकृतीनाम्' इसमें प्रकृतिके लिये जो बहुवचन दिया है, इससे विरोध होगा और (इन्द्रो मायाभि पुरुरूप ईयते)—इत्यादि श्रुतिगत बहुवचनसे भी विरोध होगा । प्रकृतिका व्यापकत्व तो कारणत्व सामान्यसे ही जानना चाहिये (अर्थात् सब कार्योंमें अनुस्यूत है, अतः व्यापक है) कारणशून्य प्रदेशका अभाव होनेसे, जैसे कि गन्धादि पृथिवी आदिमें व्यापक होते है । महद् आदि तो सामान्यसे भी व्यापक नहीं है । अतएव अंशभेदसे प्रकृतिकी व्यापकता और परिच्छिन्नता मानी है, अतः "जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्" यह आगामी सूत्रोक्त प्रकृत्यापूर भी घट जाता है ।

प्रकृतिका जो अक्रियत्व माना है, वह अध्यवसायाभिमान आदिरूप प्रतिनियत कार्यसे शून्य है—चलनादि क्रियाशून्य नहीं है ।

प्रधानात् क्षोभ्यमाणाच्च तथा पुंसः पुरातनात् ।
प्रादुरासीन्महद् बीजं प्रधानपुरुषात्मकम् ॥

क्षोभ्यमाण प्रधानसे (गुणोकी विषमावस्थासे) तथा पुरातन पुरुषसे प्रधान-पुरुषात्मक महद्बीजका प्रादुर्भाव हुआ । इत्यादि स्मृतियोमे प्रकृतिको भी क्षोभ नामक चलन माना है ।

प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि ।
चेष्टा यतः स भगवान् काल इत्यभिधीयते ॥

हे मानवि ! निर्विशेष-गुणसाम्य प्रकृतिकी जिससे चेष्टा होती है, वह भगवान् काल कहलाते है ।

यहाँ स्पष्ट ही प्रकृतिकी क्रिया कही गयी है और जहाँ कहीं पुरुषका भी क्षोभ श्रुतिमें आया है, वह संयोगके उन्मुख होनारूप गौण क्षोभ है, क्योकि संयोगकी उत्पत्ति तो प्रकृतिके कर्मसे ही होती है । प्रकृतिके लिये जो निरवयव कथनवाले वाक्य है, वे आरम्भ अवयवका निषेध करते हैं, वनाश वृक्षके तुल्य अंशोका निषेध नहीं करते, इससे 'एते प्रधानस्य गुणा.' ये प्रधानके गुण है इत्यादि वाक्य भी उपपादित हो गये, वनके सदृश प्रधान अंशीके पनस, आम, अनार आदिके तुल्य गुण द्रव्यको अंश माना है । जो सत्त्व आदि गुणोको प्रकृतिका कार्य कथन करनेवाला वचन है, वह वचन व्यवहारके अभिप्रायसे कहा गया है, क्योकि प्रकाशादि-रूप फलसे उपहितमें ही सत्त्वादि शब्दका प्रयोग होता है । फलानुपधान दशामें वे प्रकृतिरूप ही होते है । फलोपहिततया ही सत्त्व आदिका व्यवहार दिखलायी देता है । यदि गुणोको प्रकृतिका कार्य माने तो गुणोकी नित्यताके सिद्धान्तका विरोध होगा, अखण्ड प्रकृतिका विचित्र परिणाम असम्भव है, कदाचित् सम्भव मान भी ले तो महत् आदि दूसरे कार्य भी केवल प्रकृतिसे ही उत्पन्न हो जायँगे; गुणोकी कल्पना व्यर्थ होगी ।

शङ्का—गुणरूप अवच्छेदके भेदसे ही महत् आदि कार्योकी उत्पति होती है, यदि यह कहे ?

समाधान—यह नहीं कह सकते—ऐसा माननेमें गुणोसे ही सब कार्योंकी सिद्धि हो जायगी, उनसे भिन्न प्रकृतिकी कल्पना व्यर्थ होगी । यदि गुणत्रयसे अतिरिक्त प्रकृति हो—तब

गुणसाम्यमनुद्रिक्तमन्यूनं च महामते ।
उच्यते प्रकृतिर्हेतुः प्रधानं कारणं परम् ॥

हे महामते ! गुणोकी साम्यावस्था, जो कि गुणोसे न्यून या अधिक नहीं है, पर-कारण-प्रधान-हेतु या प्रकृति कहलाती है । इत्यादि स्मृतियोमें और 'सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृतिः'-सत्त्व, रजस् और तमस्की साम्यावस्था प्रकृति है, इस सांख्यसूत्रमें जो साम्यावस्थावाले गुणोको प्रकृति कहा है, वह आसानीसे संगत न होगा । 'विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि, ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः, परिणामक्रमसमाप्तिगुणानाम्' इत्यादि सूत्रोमे और भाष्यमें गुणोको ही मूल कारण कहनेवाले वचन भी उपपन्न न होगे, इत्यादि दूषण होगे और साम्यावस्था प्रकृतिके लक्षणमें विशेषण नहीं है, किंतु यदा कदाचित् सम्बन्धसे प्रकृतिका उपलक्षण है, जैसे कि कागवाले देवदत्तके घर हैं (यहाँ काकवत्त्व घरका विशेषण नहीं उपलक्षण है) और वह न्यूनाधिक भावसे असंहनन अवस्था—अकार्य अवस्था—है, उस अवस्थासे उपलक्षित गुणत्व प्रकृतिका लक्षण है—महदादिसे व्यावृत्त है—(महदादिमें अव्याप्त है) उससे सर्गकालमें भी गुणोको प्रकृतित्वकी सिद्धि होनेसे प्रकृतिकी नित्यताकी हानि नहीं होती । ईश्वर सदा एकरूप है, साम्यावस्थाशून्य है, उसमें भी प्रकृतिका लक्षण अतिव्याप्त नहीं है । गुणोंके सम्बन्धमें प्रमाणके उपदर्शक भूतेन्द्रियात्मक विशेषणकी व्याख्या करते है—तदेतद्भूतेति—वह दृश्य भूत और इन्द्रियात्मक है—'भूतभावेन'का विवरण है—पृथिव्यादिना

—उनमें भी अवान्तर विशेषको कहते है—सूक्ष्मस्थूलेन—तन्मात्रा सूक्ष्म हैं और पृथिवी आदि महाभूत स्थूल है। इन्द्रियभावेन, इसका विवरण है श्रोत्रादिना, श्रोत्रादिमें भी अवान्तर विशेषोंको कहते है—सूक्ष्मस्थूलेन। महद् और अहंकार सूक्ष्म इन्द्रियाँ हैं। एकादश इन्द्रियाँ स्थूल हैं। इन्द्रियोके संघातमें ईश्वर कारण है।

भोगापवर्गार्थमिति—यह गुणका ही दूसरा विशेषण है। मोक्षके उपपादककी व्याख्या करते हैं—"तत्तु नाप्रयोजनमिति" वह गुणत्रय प्रयोजनशून्य भूत और इन्द्रियरूपसे प्रवृत्त नहीं होता-किंतु प्रयोजनको लेकर ही प्रवृत्त होता है। अतः इस प्रकारका गुणत्रय पुरुषके भोग और अपवर्गके लिये ही प्रवृत्त होना है। भोग और अपवर्गकी व्याख्या करते हैं—तत्रेष्टानिष्टेति—इष्ट और अनिष्ट गुण सुखदु.खात्मक शब्द आदि विषय हैं। उनके स्वरूपका अवधारण तदाकार बुद्धिकी वृत्ति है—पुरुषनिष्ठ साक्षात्कार नहीं, क्योकि बुद्धिनिष्ठता आगे कहेगे। "स हि तत्फलस्य भोक्ता"—इससे पुरुषनिष्ठ भोगान्तरको भी आगे कहेंगे, पुरुषनिष्ठ भोगके चित् स्वरूप होनेसे तथा नित्य होनेसे वह पुरुषनिष्ठ भोग सुतरा फल नहीं है—यह भाव है। शब्द आदिकी वृत्तिके काल्में, विवेकख्याति होनेपर आगे कहा अपवर्ग ही है, अत इस प्रकारके शब्द आदिकी व्यावृत्तिके लिये 'अविभागापन्न' यह विशेषण पुरुषके साथ अविविक्त है (अमिश्रित है) अर्थात् अहकारसे मम (मेरा) यह आत्मनिष्ठतया अभिमान होना (भोग है), जीवन्मुक्तको भोग नहीं भोगाभास ही होता है; क्योकि मै सुनता हूँ इत्यादि अभिमान है अंदर जिनके उन शब्द आदि वृत्तिके गुणोमें ही भोग व्यवहार होना है। भोक्तुरिति—भोक्ता पुरुषका जो स्वरूप-उपाधिरहित चैतन्य है तदाकार बुद्धि अपवर्ग है।

आदौ तु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात्।
कृच्छ्रत्रयात् तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्षलक्षणम्॥

प्रथम मोक्ष ज्ञानसे होता है, दूसरा मोक्ष रागके क्षयसे होता है और तीसरा मोक्ष दु:खत्रयके छूट जानेसे होता है—यह मोक्षलक्षणकी व्याख्या हो गयी। इसमें यह पञ्चशिखाचार्यका वाक्य प्रमाण है। अथवा अपवृज्यतेऽनेनेति—हट जाता है—छूट जाता है—जिसके द्वारा दु:खसे वह अपवर्ग है। इस व्युत्पत्तिसे भी दु खत्रयसे छूटना ही अपवर्ग है।

शङ्का—क्यों जी ? भोग और अपवर्गके सिवाय अन्य प्रयोजनार्थ दृश्य क्यो नहीं होता ?

समाधान—द्वयोरिति—इन दो भोग और अपवर्गके अतिरिक्त दर्शन नहीं हैं, बुद्धिकी वृत्ति नहीं है। अविभागापन्नतामे पञ्चशिखाचार्यके संवादको प्रमाण देते हैं—तथा चोक्तमिति—लोकमें सबके कर्त्ता गुणोंके विद्यमान होनेपर भी तीन गुणोकी अपेक्षासे जो चौथा पुरुष है, जो कि गुणोंके व्यापारका साक्षीमात्र है, उसीमे कर्त्ता बुद्धिसे समर्प्यमाण गुणोके परिणामोको युक्तिसिद्धके समान देखता हुआ मूढ गुणोसे अन्य चैतन्य दर्शनकी सम्भावनातक नहीं करता है। इस विवेकके अग्रहणमें और भिन्नत्वमें हेतु है, तुल्यातुल्यजातीय यह पुरुषका विशेषण। बुद्धि और पुरुष दोनों ही स्वच्छ है और सूक्ष्म हैं, इस समानतासे गुण और पुरुष दोनो तुल्य जातीय हैं। पुरुष चेतन अपरिणामी है और गुण जड हैं, परिणामी है—इस भिन्नतासे गुण और पुरुष विजातीय हैं, यह आशय है।

यहां भाष्यमें तीन गुणोकी अपेक्षासे पुरुषको चतुर्थ कहा है—इस वचनसे अन्य भी जो तुरीय वाक्य हैं, वे जाग्रत् आदि अवस्थामें जो तीन गुण है, उनकी अपेक्षासे जो पुरुषका साक्षित्व है, उसको ही पुरुषकी तुरीया (चतुर्थ) अवस्था कहा है, यह बात सिद्ध है, ऐसा ही स्मृति भी कहती है—

सत्त्वाज्जागरणं विद्याद् रजसा स्वप्नमादिशेत् ।
प्रस्वापन तु तमसा तुरीयं त्रिषु संततम् ॥

सत्त्वगुणसे जागरण जानो और रजोगुणसे स्वप्न तथा तमोगुणसे सुषुप्ति समझो और तुरीय (समाधि) इन तीनों जागरत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें सतत ओतप्रोत है, ऐसा समझना चाहिये ।

शङ्का—क्योंकि भोग और अपवर्ग गुणोंका कार्य होनेसे गुणनिष्ठ है, फिर पुरुषके भोग और अपवर्गके लिये दृश्य है यह कैसे कहते हैं ?

समाधान—तावेताविति—यद्यपि भोग और अपवर्ग बुद्धिकृत हैं, यह अन्वय और व्यतिरेकसे सिद्ध है कि ये बुद्धिके कार्य हैं, अतः उनको बुद्धिमें माननेमें ही लाघव है, पुरुषनिष्ठ माननेमें लाघव नहीं है । दृष्टान्त दिखलाकर परिहार करते हैं—यथेत्यादिना—पुरुषमें स्वामी होनेसे जयकी भाँति भोग और अपवर्ग व्यपदेशसे (अमुख्यमें मुख्य व्यवहारसे) कहे जाते हैं, यह वाक्यार्थ है । बन्ध और मोक्ष यथोक्त भोग और अपवर्ग है । वह पुरुष ही उनके फलका भोक्ता है । बुद्धिगत विषयावधारण और पुरुषावधारणके फल सुख-दुःख आदिरूप फलका भोक्ता है, अपनेमें प्रतिबिम्बित सुख-दुःखका साक्षी है । अतः उन सुख-दुःखका स्वामी है । यहाँ पुरुषका भी स्वतन्त्र भोग कहा है और "स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्ति" शास्त्रके इस अन्तिम सूत्रमें पुरुषका स्वत ही मोक्ष भी कहेंगे, अत पुरुषके भोग और अपवर्गका निषेध नहीं है, क्योंकि बुद्धिगत भोग और अपवर्गको स्वतः पुरुषार्थता नहीं है और करणके व्यापारकी पुरुषार्थता सिद्ध है । अपितु—परिणामरूप भोग और अपवर्गका ही पुरुषमें निषेध किया गया है । इसीलिये तौ-एतौ इस विशेषणसे भाष्यकारने भोग और अपवर्गको विशेषित किया है अर्थात् (तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ) ऐसा विशेषण दिया है ।

संसारी पुरुषोंको ही मुख्य भोग-बुद्धिकी वृत्तिसे अभिन्न सुखादिका साक्षात्कार होता है और जीवन्मुक्त तथा ईश्वरको तो गौण भोग होता है, जो सुखादिके साक्षात्कार मात्र रूप होता है । यह बात ईश्वरके लक्षणवाले सूत्रमें हमने प्रतिपादन की है । यदि पुरुषमें पृथक् भोग और मोक्ष न माने तब—

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥
"मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः"

कार्य, करणके कर्तृत्वमें प्रकृति हेतु कहलाती है और सुख-दुःखके भोगमें पुरुषको हेतु कहते हैं । अन्यथा रूपको त्यागकर स्वरूपसे व्यवस्थिति मुक्ति है । इत्यादि वाक्य उपपन्न न हो सकेंगे । बुद्धिके ही परमबन्ध और मोक्ष भी दर्शाते हैं "बुद्धेरेवेति" बुद्धिरूपसे परिणत गुणोंको ही पुरुषार्थकी असमाप्ति बन्धन है और विवेकख्यातिद्वारा तदर्थावसाय—पुरुषार्थकी समाप्ति अपवर्ग है तथा च यथोक्त भोग और अपवर्गरूप पुरुषार्थोंके साथ सम्बन्ध बुद्धिका बन्ध है और पुरुषार्थोंसे बुद्धिका वियोग मुक्ति है, यह भाव है—ये दोनों बुद्धिके परम बन्ध और परम मुक्ति हैं । और पूर्वोक्त भोग और अपवर्ग अपर बन्धन और जीवन्मुक्ति हैं, इसलिये कोई विरोध नहीं ।

एतेनेति—इससे शब्द आदि विषय-भोग और विवेकख्याति पुरुषमें औपचारिक होनेसे ग्रहण-धारणादि भी पुरुषमें औपचारिक सत्तावाले है, यह जानना चाहिये । स्वरूपमात्रसे अर्थोंका ज्ञान-ग्रहण है । चिन्तनको धारणा कहा है, अर्थगत विशेषकी तर्कणाको ऊहा कहते हैं, वितर्कके अंदरसे विचारद्वारा कितनोंहीके निराकरणको अपोह माना है, वितर्कके मध्यमेंसे विचारद्वारा कुछका अवधारण तत्त्वज्ञान है ।

तदाकारतापत्ति अभिनिवेश है। प्रकृतयोगकी भूमिका मात्रसे ही यहाँ चित्तके परिणामोंको गिना है। इनसे दूसरे भी इच्छा, कृति आदि उपलक्षित जानने चाहिये ॥ १८ ॥

सङ्गति—दृश्यका स्वभाव, स्वरूप और प्रयोजन कहकर अगले सूत्रमें उनकी अवस्थाओंका वर्णन करते हैं—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—विशेष-अविशेष-लिङ्गमात्र-अलिङ्गानि = विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग; गुण-पर्वाणि = गुणोंकी अवस्थाएँ (परिणाम) है।

अन्वयार्थ—गुणोंकी चार अवस्थाएँ (परिणाम) हैं। विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग।

व्याख्या—सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीनों गुणोंकी चार अवस्थाएँ है। विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग।

(१) विशेष सोलह है। पाँच महाभूत—आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमि जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध-तन्मात्राओंके क्रमसे कार्य है, पाँच ज्ञानेन्द्रिय—श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और नासिका, पाँच कर्मेन्द्रिय—वाणी, हस्त, पाद, पायु और उपस्थ, ग्यारहवाँ मन जो अहंकारके कार्य है (१, ४५)। ये सोलह, तीनों गुणोंके विशेष परिणाम है। इनको विशेष इस कारणसे कहते हैं कि तीनों गुणोंके सुख, दुःख, मोहादि जो विशेष धर्म है, वे सब शान्त, घोर, मूढ-रूपसे इनमें रहते है।

(२) अविशेष छः है। पाँच तन्मात्राएँ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध जो पाँचों महाभूतोंके क्रमसे कारण हैं, और एक अहंकार जो एकादश इन्द्रियोंका कारण है (१। ४५)। ये छ क्रमसे अहंकार और महत्तत्त्वके कार्य गुणोंके अविशेष परिणाम हैं। इनमें शान्त, घोर, मूढरूप विशेष धर्म नहीं रहते, इसलिये अविशेष कहलाते है।

तन्मात्राण्यविशेषाणि अविशेषास्ततो हि ते। न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषिणः ॥

तन्मात्राएँ अविशेष है। वे इसलिये अविशेष हैं क्योंकि वे शान्त, घोर और मूढ नहीं होते।

(३) लिङ्गमात्र—सत्तामात्र महत्तत्त्व (समष्टि तथा व्यष्टि चित्त) यह विशेष-अविशेषसे रहित केवल चिह्नमात्र तीनों गुणोंका प्रथम परिणाम है। लिङ्ग इसलिये कहलाता है, क्योंकि चिह्नमात्र व्यक्त है।

(४) अलिङ्ग—अव्यक्त—मूल प्रकृति अर्थात् गुणोंकी साम्यावस्था। यह अलिङ्ग-अवस्था पुरुषके निष्प्रयोजन है। अलिङ्ग-अवस्थाके आदिमें पुरुषार्थता कारण नहीं है और उस अवस्थाकी भी पुरुषार्थता कारण नहीं होती। यह पुरुषार्थकृत भी नहीं है, इस कारण नित्य कही जाती है। अलिङ्ग इसलिये कहलाती है कि इसका कोई चिह्न नहीं अर्थात् व्यक्त नहीं है, अव्यक्त है। ये चारों, तीनों गुणोंके परिणामकी अवस्थाविशेष हैं। इनमेंसे पहिली तीन अवस्थाएँ गुणोंके विषम परिणामसे होती हैं, यही पुरुषके प्रयोजनको साधती है। चौथी अलिङ्ग-अवस्थामें गुणोंमें साम्य परिणाम होता है, इसकी पुरुषके भोग तथा अपवर्ग किसी प्रयोजनमें प्रवृत्ति नहीं होती, परंतु इसी अवस्थाकी ओर गुणोंके जानेकी प्रवृत्ति होती है, क्योंकि यह मूल अवस्था है; इसीको प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त तथा माया भी कहते है। स्थूलसे सूक्ष्म और सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम ज्ञान दिलानेके लिये यह क्रम दिखलाया है। उत्पत्तिका क्रम इससे उल्टा होगा। अर्थात् अलिङ्गसे लिङ्ग, लिङ्गसे ८ अविशेष और अविशेषसे सोलह विशेष उत्पन्न होते हैं (१। ४५)।

इन विशेषोंका कोई तत्त्वान्तर परिणाम नहीं होता, उनके केवल धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम होते रहते हैं, जो तीसरे पादमें बतलाये जायँगे ।

शङ्का—गीतामें तीनों गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न हुआ बतलाया गया है । यथा—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।

सत्त्व, रजस् और तमस्—ये प्रकृतिसे उत्पन्न गुण हैं ।

और यहाँ इस सूत्रमें गुणोंकी साम्य अवस्थाको प्रकृति बतलाया है ।

समाधान—वास्तवमें गुणोंकी साम्यावस्था ही अव्यक्त मूल प्रकृति है । गुणोंकी अव्यक्त साम्य अवस्थासे व्यक्त विषम अवस्थामें आनेको ही गीतामें प्रकृतिसे गुणोंका उत्पन्न होना बतलाया गया है । जैसा कि गर्गगण्याचार्यने कहा है—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टि पथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम् ॥

गुणोंका असली रूप अर्थात् साम्य परिणाम मूल प्रकृति (अव्यक्त होनेके कारण) दृष्टिगोचर नहीं होता, जो विषम परिणाम दृष्टिगोचर होता है वह माया जैसा है और विनाशी है ।

अन्य स्मृतियाँ भी ऐसा ही बतलाती हैं । यथा—

प्रकृतिर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि ।
चेष्टायतः स भगवान् काल इत्यभिधीयते ॥

हे मानवि ! निर्विशेष-गुण साम्य प्रकृतिकी जिससे चेष्टा होती है वह भगवान् काल कहलाते हैं ।

गुण साम्यमनुद्रिक्तमन्यूनं च महामते
उच्यते प्रकृतिर्हेतुः प्रधानं कारणं परम् ॥

हे महामते ! गुणोंकी साम्यावस्था जो कि गुणोंसे न्यून या अधिक नहीं है, प्रकृति हेतु, प्रधान, कारण और पर कहलाती है ।

सांख्यसूत्रमें भी ऐसा बतलाया गया है । यथा—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ।

अर्थात सत्त्व, रजस् और तमस्की साम्य अवस्था प्रकृति है ।

विशेष वक्तव्य—गुणपर्वाणि—जैसे बाँसके दण्डमें पोरी होती है, सबसे ऊपरकी पतली—सूक्ष्म होती है और क्रमसे नीचेकी मोटी—स्थूल होती जाती है, ऐसे ही प्रकृति अलिङ्ग सूक्ष्म है, लिङ्गमात्र (महत्तत्त्व) उससे स्थूल है, और लिङ्गमात्रकी अपेक्षा अविशेष (अहङ्कार-तन्मात्रा) स्थूल हैं, और अविशेषकी अपेक्षा विशेष स्थूल हैं । इसलिये गुणपर्वाणिका अर्थ यह हुआ कि इन चारो विभागोंमें गुण विभक्त हैं । अर्थात् ये चार गुणोंकी अवस्थाएँ हैं ।

सांख्य तथा योगमें जड तत्त्वको तीन विभागोंमें विभक्त किया है—प्रकृति-अविकृति, प्रकृति-विकृति और विकृति-अप्रकृति ।

(१) प्रकृति नाम तत्त्वके कारणका और विकृति नाम कार्यका है, तीनों गुणोंकी साम्यावस्थारूप जो अव्यक्त प्रधान है वह केवल प्रकृति है, विकृति नहीं । इसीकी इस सूत्रमें अलिङ्ग सज्ञा दी है, क्योंकि इसका कोई व्यक्त चिह्न नहीं है ।

(२) महत्, अहंकार, पञ्चतन्मात्राएँ—ये सात प्रकृति-विकृति है, क्योंकि ये सातो कार्य-कारण-स्वरूप हैं। अर्थात् महत्तत्त्व प्रकृतिका कार्य और अहंकारका कारण है। अहंकार महत्तत्त्वका कार्य और पाँचो तन्मात्राओंका कारण है और पाँचों तन्मात्राएँ अहङ्कारका कार्य और पाँचो स्थूलभूतोंके कारण हैं। इनमेंसे महत्तत्त्वकी संज्ञा लिङ्ग है; क्योंकि वह गुणोंका प्रथम कार्य=परिणाम, चिह्नमात्र=सत्तामात्र, व्यक्त है। और अहङ्कार तथा पाँच तन्मात्राएँ, इन छःकी सज्ञा अविशेष है; क्योंकि इनमें शान्त, घोर और मूढरूप विशेष धर्म नहीं रहते है।

(३) पाँच स्थूलभूत पाँच तन्मात्राओंके कार्य और ग्यारह इन्द्रियाँ अहंकारके कार्य—ये सोलह विकृति-अप्रकृति है, क्योंकि ये स्वयकार्य है और किसीका कारण नहीं हैं। इन सोलहकी विशेष संज्ञा है क्योंकि इनमें शान्त, घोर और मूढ विशेष धर्म रहते हैं। चेतन पुरुष अप्रकृति-अविकृति है अर्थात् वह न किसीका कार्य है, न कारण है। अपरिणामी, कूटस्थ नित्य है (विशेष व्याख्या १ । १ में देखो)।

यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि तीनो गुण सब धर्मोंमें परिणामको प्राप्त होनेवाले न नष्ट होते हैं, न उत्पन्न होते हैं, किंतु अतीत, अनागत, वर्तमानरूपसे विषम अवस्थामें उत्पत्ति-विनाशशील प्रतीत होते हैं। जैसे कि लोकमें देवदत्त दरिद्र हो गया; क्योंकि उसका धन हरण हो गया और गाय आदि पशु मर गये। यहाँ दरिद्रताका व्यवहार गाय आदिके मरनेसे उसमे आरोप किया जाता है, न कि उसके स्वरूपसे हानि होनेसे। इसी प्रकार गुणोंका समाधान है अर्थात् कार्यके उत्पत्ति-विनाशरूप परिणामसे गुणोंके स्वरूपमे परिणाम नहीं होता। गुणत्व धर्म सर्वदा एक-सा बना रहता है।

यहाँपर सत्कार्यवादका सिद्धान्त समझ लेना चाहिये अर्थात् प्रथम कार्य जो लिङ्गमात्र महत्तत्त्व है, वह उत्पत्तिसे पूर्व प्रधानमें सूक्ष्मरूपसे स्थित हुआ ही प्रधानसे विभक्त हुआ है। पहिले असत् नहीं था, इसी प्रकार छ. अविशेष लिङ्गमात्र महत्तत्त्वमें पहिले सूक्ष्मरूपसे स्थित ही अभिव्यक्त हुए हैं। इसी प्रकार सोलह विशेष भी अविशेषोंमें स्थित हुए ही विभक्त होते है। सोलह विशेषोंसे आगे कोई नया तत्त्व नहीं बनता है। अर्थात् इनका कोई नया तत्त्वरूप कार्य नहीं, इसलिये न उनमें कोई सूक्ष्मरूपसे स्थित है, न कोई तत्त्वान्तर उत्पन्न होकर विभक्त होता है, अतः उनका नाम विकृति है।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद सूत्र ॥ १९ ॥ दृश्य गुणोंके भेदोका निश्चय करानेके लिये यह सूत्र आरम्भ होता है—विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग—ये गुणोंके पर्व है।

उनमें आकाश, वायु, अग्नि, उदक और भूमि ये पाँच भूत है और—ये पाँच भूत शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तन्मात्राओं अविशेषोंके विशेष हैं। तथा श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं। वाक्, हाथ, पैर, पायु (गुदा) और उपस्थ (जननेन्द्रिय)—ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं, मन सर्वार्थ ग्यारहवाँ इन्द्रिय है। ये सब अहंकाररूप अविशेषके विशेष हैं, गुणोंके ये सोलह विशेष परिणाम हैं। छः अविशेष है—शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा ये—एक, दो, तीन, चार और पाँच लक्षणवाले शब्दादि पाँच अविशेष हैं और छठा अहंकारमात्र अविशेष है। ये सत्तामात्रस्वरूप महत्तत्त्वके छः अविशेष परिणाम हैं और जो कि अविशेषोंसे पर है—लिङ्गमात्र है, वह महत्तत्त्व है। ये (छः अविशेष) उस सत्तामात्र महत्तत्त्वमें अवस्थित रहकर विवृद्धिकी पराकाष्ठाका अनुभव करते है और प्रतिसंसृज्यमान

(प्रलयको प्राप्त होते हुए) उसी सत्तामात्र महत्-आत्मामें अवस्थित होकर निःसत्तासत्त-निःसदसद्-निरसद् अव्यक्त अलिङ्ग; प्रधानमें लीन होते है यह उनका लिङ्गमात्र परिणाम है, निःसत्तासत्त-अलिङ्ग परिणाम है; अतः अलिङ्गावस्थामें पुरुषार्थ हेतु नही है । आदिमे—अलिङ्गावस्थामें पुरुषार्थकता कारण नही होती है । यतः उसका पुरुषार्थकता कारण नहीं होती, अतः वह पुरुषार्थकृत न होनेसे नित्य कहलाता है ।

तीन—विशेष, अविशेष और लिङ्गमात्र—जो अवस्थाविशेष है, इनके आदिमें पुरुषार्थता कारण होती है । वह अर्थ हेतु, निमित्त कारण होता है, अतः अनित्य कहा जाता है । गुण तो सर्वधर्मानुपाती हैं—न लीन होते है, न उत्पन्न होते है । गुणान्वयिनी, अतीत, अनागत व्यय आगमवाली व्यक्तियोसे ही उपजन, अपाय धर्मवाले जैसे भासते है । जैसे कहते है कि देवदत्त कंगाल हो गया, क्योंकि इसकी गौ मर गयी है । गौके मौतसे उसकी कंगाली है, उसके स्वरूपकी हानिसे उसकी कंगाली नहीं है, इसके समान ही यह समाधान है, लिङ्गमात्र अलिङ्गके प्रत्यासन्न है, क्रमका उल्लङ्घन न करके उस प्रधानसे संसृष्ट विभक्त होता है । तथा छः अविशेष परिणामके क्रमसे लिङ्गमात्रमें संसृष्ट विभक्त होते है, तथा उन अविशेषोमें भूत और इन्द्रियाँ संसृष्ट विभक्त होते है, तथा च यह पूर्व कहा है कि विशेषोसे परे तत्त्वान्तर नहीं होता, अतः विशेषोंका तत्त्वान्तर परिणाम नही होता है । उन विशेषोके धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम कहलाते है, व्याख्या किये जाते है ॥ १९ ॥

विज्ञानभिक्षुके योगवार्तिकका भाषानुवाद ॥ १९ ॥ इस सूत्रने गुणोको ही दृश्य कहा है, गुणोंके विकारोको दृश्य नहीं कहा है, अत इस न्यूनताके निरासार्थ अगले सूत्रका अवतरण करते हैं—दृश्याना तु —दृश्योके स्वरूप-भेदके निश्चयार्थ—अवान्तर भेदोके प्रतिपादनार्थ इस सूत्रका आरम्भ होता है—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ।

गुणरूप बाँस है, उस गुणरूप बाँसके अलिङ्ग आदि चार पर्व है—चार पोरी है । बीज और अङ्कुरकी भांति अवस्थाभेद हैं, अत्यन्त भिन्न नही है—अतः गुणोमें ही सब दृश्योंका अन्तर्भाव है, यह सूत्रकारका आशय है ।

कार्योंसे कारणोका अनुमान हुआ करता है, इस आशयसे विशेषादिके क्रमसे पर्वोंकी गिनती है । उनमेंसे जिस-जिस अविशेषका जो-जो विशेष है, उसको कहते है—तत्राकाशेति—आकाश आदि भूत शब्द आदि तन्मात्राओंके जो कि शान्त आदि धर्मोंसे शून्य शब्द आदि द्रव्यवाले सूक्ष्म द्रव्य है, इसीलिये जिनका नाम अविशेष है, उनके विशेष हैं । अभिव्यक्त शान्त आदि विशेषवाले यथाक्रम परिणाम है ।

तथा इति विशेषा—इसके साथ अन्वय है । अर्थात् श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण—ये ज्ञानेन्द्रिय और वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये कर्मेन्द्रिय और सर्वार्थ मन—ये सब एकादश अस्मितारूप अविशेषके विशेष हैं । मनको इन्द्रियोमें प्रवेशके लिये हेतुगर्भ विशेषण दिया है, सर्वार्थ-सर्वेषा दशेन्द्रियाणा अर्था एवार्था यस्य इति मध्यमपदलोपीसमासः । सब दस इन्द्रियोंके अर्थ (विषय) ही है विषय जिसके वह मन सर्वार्थ है । यह मध्यमपदलोपी समास है, क्योकि मनकी सहायतासे ही श्रोत्रादि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयको ग्रहण करती है, अतः मन सर्वार्थ है । अहंकारके अविशेषत्वमें हेतुगर्भ विशेषण है । अस्मितालक्षणस्येति—अस्मितारूप—अभिमानमात्र धर्मवाले श्रवण, स्पर्शन दर्शन आदि विशेषरहित अहंकारके ये श्रोत्रादि विशेष है । इकट्ठा करके विशेष पर्वका उपसंहार करते हैं । गुणानामिति—गुणोके

ये सोलह विशेष परिणाम है। इस भाँति पाँच भूत, एकादश इन्द्रियगण यह षोडश सख्यावाला गुणोंका विशेष नामवाला परिणाम है।

शङ्का—इन्द्रियोंके समान तन्मात्राओंको अहंकारका विशेष क्यो नहीं कहा ? क्योकि तन्मात्रा भी शब्द, स्पर्श आदि विशेषवाले है ?

समाधान—यह नहीं कह सकते; क्योकि विशेषमात्रको ही यहाँ विशेष कहा है, तन्मात्रा विशेषमात्र नहीं है; क्योकि वे भूताकी अविशेष भी है। अविशेष पर्वकी व्याख्या करते है। षड् अविशेषा इति—छःको गिनते हैं—शब्दतन्मात्रमित्यादिसे अस्मितामात्र इसतक, एक द्वि त्रीति। लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम्—जिससे लखाया जाय उसको लक्षण कहते हैं, वह धर्म होता है,—यहाँ तन्मात्राओंको द्रव्यत्व प्रतिपादन करनेके लिये लक्षण पद दिया है। तथा उत्तरोत्तर तन्मात्राओंमें पूर्व-पूर्व तन्मात्राओके हेतु होनेसे शब्द तन्मात्र शब्द धर्मवाली है, तत्कार्यतयास्पर्शतन्मात्र शब्द-स्पर्श उभय धर्मवाली है, इस प्रकार क्रमसे एक-एक लक्षण धर्मकी वृद्धि होती है, इनमे मात्र शब्दोके साथ शान्त आदि विशेषकी ही व्यावृत्ति है गुणान्तरके सम्पर्ककी व्यावृत्ति नहीं है; क्योंकि एकद्वित्र्यादि लक्षणत्वको कहा गया है।

तन्मात्राण्यविशेषाणि अविशेषास्ततो हि ते। न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषिणः॥

इतिविष्णुपुराणाच्च—तन्मात्रा अविशेष हैं इसलिये वे अविशेष है; क्योकि वे शान्त, घोर और मूढ नहीं होते, अतः अविशेष है, यह बात इस विष्णुपुराणसे प्रमाणित होती है।

शङ्का—तन्मात्राओंमें परस्पर कार्यकारणभाव सिद्ध हो जानेपर ही कारण गुणके क्रमसे उत्तरोत्तर गुण-वृद्धि हो जायगी, उसीमें क्या प्रमाण है ? क्योकि श्रुति और स्मृतियोंको तो स्थूल भूतोके विषयमें ही आकाशादिके क्रमसे कारणता है ?

समाधान—आकाशादि स्थूल भूतोंसे वायु आदिकी उत्पत्ति दिखलानेसे सूक्ष्मभूतोमें भी उसी प्रकारके कार्य-कारणभावकी कल्पना उचित है, ये तन्मात्रा तामस अहंकारसे शब्द आदिके क्रमसे उत्पन्न होते हैं, यह जानना चाहिये। अस्मिता मात्रा-अभिमान वृत्तिवाला है, उससे इन्द्रियभावापन्न अहंकारकी व्यावृत्ति होती है। "एते सत्तामात्रस्येति" ये सत्तामात्र महत्तत्त्वके षड् अविशेष परिणाम हैं। सत्ता—विद्यमानता या व्यक्तताका नाम है। आदि कार्य होनेसे महत्तत्त्व व्यक्ततामात्र है। प्रलयमें ही सब विकार (कार्य) द्रव्य अतीत और अनागतरूपसे रहते हैं—विद्यमानरूपसे नही रहते, अतः आदि विकार अङ्कुरवत् जो महान् है, वह सर्गके आदिमें सत्ताको लाभ करता (विद्यमान अवस्थामें आता) है, वह सत्तामात्र कहलाता है और वह सत्सामान्यसे सत्तामात्र कहा जाता है, क्योकि सद् विशेष अहकार आदि उस समय अविद्यमान होते हैं। इसीलिये यास्क मुनिने षड्भावविकारोंमेंसे जन्मके उत्तर अस्तिता (सत्ता) ही विकार कहा है। इस प्रकार ससारस्वरूपी वृक्षका अस्तितामात्र परिणाम महत्तत्त्व है और वही अहकारसे बुद्धि परिणाम है। इस प्रकार सब विकारोंके आत्मारूप बुद्धि नामक महत्तत्त्वके छः परिणाम अविशेष-सज्ञक हैं। सामान्य-सज्ञा अविशेषत्व कहा है। यद्यपि षोडशविशेषोका सामान्यत्व महत्तत्त्व और प्रकृति इन दोनोंमें है, तो भी विशेष शब्द पङ्कज आदि शब्दोकी भाँति षड् (छः) में ही योगरूढ है।

यहाँ छः के मध्यमेंसे तन्मात्राओंको बुद्धिकी परिणामता अहकारके द्वारा ही माननी चाहिये (अर्थात प्रकृतिसे महत्तत्त्व और महत्तत्त्वसे अहकार और उससे तन्मात्रा उत्पन्न होते हैं); क्योंकि "सूक्ष्मविषयत्वं चाविशेषपर्यवसानम्" इस सूत्रपर भाष्यने ऐसी ही व्याख्या की है।

लिङ्गमात्र पर्वकी व्याख्या करते हैं—यत्तत्परं—अविशेषोंसे जो पर है—पूर्व उत्पन्न है, बाँसके प्रथम पर्वकी भाँति जगत्का अङ्कुर महत्तत्त्व है उसीको लिङ्गमात्र कहते हैं। लिङ्ग अखिल वस्तुओंका व्यञ्जक है और वह महत्तत्त्व है। महत्तत्त्व ही स्वयम्भू—आदि पुरुष—कार्य ब्रह्मका उपाधिरूप है, जो सर्गके आदिमें सब जगत्को प्रकट करता हुआ उदय होता है जैसा कि सोकर चित्त उठता है। ज्ञानके अतिरिक्त तो व्यापार पीछे अहंकारसे उत्पन्न होता है, अतः महत्तत्त्व लिङ्गमात्र कहलाता है, ऐसा स्मृति भी कहती है—

ततोऽभवन्महत्तत्त्वमव्यक्तात् कालचोदितात्। विज्ञानात्मात्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जंस्तमोनुदः॥

कालसे प्रेरित उस अव्यक्त प्रकृतिसे आत्मदेहस्थ इस विश्वको व्यक्त करता हुआ तमका नाशक विज्ञानात्मा उत्पन्न हुआ। कोई सज्जन "लयं गच्छतीति लिङ्गम्" जो लयको प्राप्त होता है, वह लिङ्ग है—ऐसा लिङ्गपदका अर्थ करते है। वह प्रमाणके प्रभावसे उपेक्षित (त्याज्य) है, क्योंकि अहकार आदि भी लयको प्राप्त होनेसे लिङ्गमात्र कहे जा सकते हैं, जो उचित नहीं है। तथा लिङ्गमात्रमें जो मात्रशब्दका प्रयोग है, वह उपपन्न न होगा। उस सूक्ष्मरूपमें वे पूर्वोक्त अविशेष विशेष पदार्थ अवस्थासे अनागत अवस्थासे स्थित होकर उत्तरोत्तर बाँसकी पोरीकी भाँति स्थावर और जंगमोंकी विवृद्धिकी पराकाष्ठाको प्राप्त होते है। 'महान् प्रादुर्भूतब्रह्मा कूटस्थो जगदङ्कुरः' कूटस्थ जगत्का अङ्कुर महान् ब्रह्मा प्रादुर्भूत हुआ—इसमें यह स्मृति प्रमाण है।

तथा प्रतिसंसृज्यमान प्रलीयमान वे उसमें ही अतीत अवस्थासे अनुगत होकर उसीके साथ जो प्रसिद्ध तीन गुणोंकी साम्यावस्थारूप अलिङ्ग है—प्रधान नामका मूलकारण है उस प्रकृतिमें लीन होते हैं। इससे यह भी व्याख्या हो गयी कि जगत्की सृष्टि, स्थिति और लयका हेतु महत्तत्त्व उपाधियुक्त कार्य ब्रह्म भी है। प्रधानके अलिङ्गत्वको उपपादन करनेके लिये अव्यक्त यह विशेषण दिया है। स्वयं अव्यक्त होनेसे परस्पर व्यञ्जक नहीं है, अतः अलिङ्ग है—यह आशय है। पुरुषसे पर अभिमत शशशृङ्गादिसे व्यावर्त्तनके लिये "निःसत्तासत्ते" विशेषण दिया है। निर्गते पारमार्थिके सत्तासत्ते यस्मात्=निर्गत हैं पारमार्थिक सत् और असत् जिससे—यह विग्रह है। कूटस्थ और नित्यत्व आदि पारमार्थिक सत् है।

सतोऽस्तित्वे च नासत्ता नास्तित्वे सत्यता कुतः।

सत्के अस्तित्वमें असत्ता नहीं होती, नास्तित्वमें सत्यता कहाँ (अर्थात् नास्तित्वमें सत्यता रह ही नहीं सकती)।

तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किंचित् क्वचित्कदाचिद् द्विज वस्तुजातम्।
यच्चान्यथात्वं द्विज याति भूयो न तत्तथा तत्र कुतो हि सत्त्वम्॥

हे द्विजसत्तम! इस हेतुसे विज्ञानके सिवा कुछ भी, कहीं भी और कभी भी वस्तुसमूह नहीं है। हे द्विज! जो वस्तु फिर अन्यथा हो जाती है वह वैसी नहीं होती, उसमें सत्ता कहाँ? (अर्थात् उसमें सत्ता भी नहीं होती) इन गरुडपुराण और विष्णुपुराणके वचनोंसे असत्ता सामान्यके अभावकी ही पारमार्थिक असत्ता सिद्ध है और वह प्रधानमें नहीं है; क्योंकि महद् आदि अखिल विकाररूपोंके साथ प्रलयकालमें नहीं होते हैं। सूक्ष्म दृष्टिसे तो परिणामी होनेसे प्रतिक्षण तत् धर्मरूपसे अपाय होता ही रहता है। यथा श्रुति और स्मृति भी चैतन्य-चिन्मात्रको सत् होते हुए यह जीव लोकक्षय और उदयसे परिवर्तन होता हुआ एक क्षण भी नहीं ठहरता इत्यादि कहती हैं। जैसे यह प्रधान सत्तासे वर्जित है

वैसे ही पारमार्थिकी असत्तासे भी वर्जित है; क्योंकि सत्ता सामान्यका अभाव ही पारमार्थिक असत्त्व है और वह प्रधानमें नहीं है, क्योंकि वह नित्य है, अर्थ क्रियाकारी है और श्रुति, स्मृति तथा अनुमानसे सिद्ध है। इसी भाँति सत् और असत्से अनिर्वचनीय—त्रिगुणात्मक—माया नामक प्रधान है, यह वेदान्त-सिद्धान्त भी अवधारणीय है।

नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका। सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी॥

माया न असद्रूपा है, न सद्रूपा है, न उभयरूपा ही है—वह सत् या असत्से अनिर्वाच्या है, मिथ्यारूपा और सनातनी है (नित्या है)। इस आदित्यपुराणादिमें माया नामक प्रकृतिको पारमार्थिक सत्त्व आदिरूपसे अनिरूप्या कहा है।

प्रपञ्चकी अत्यन्त तुच्छता या अत्यन्त विनाशिता वेदान्तका सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि 'नाभाव उपलब्धेः" २। २। २८, "भावे चोपलब्धेः" २। १४। १५ इन वेदान्तके सूत्रोंने अत्यन्त तुच्छताका निराकरण किया है। "सत्त्वाच्चावरस्य" २। १। १६, "असद्व्यपदेशादिति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्" २।१। १७; "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" इत्यादि यथाश्रुत वेदान्तसूत्रोंसे प्रपञ्चकी सत्-असत् रूपताकी ही सिद्धि होती है। "धर्मान्तरेण" का अर्थ है अतीत और अनागत धर्मसे और शास्त्रोंमें स्वप्न आदि दृष्टान्त क्षणभङ्गुरत्व और पारमार्थिक असत्त्व अंशसे ही जानने चाहिये। स्वप्न और गन्धर्वनगर आदि भी अत्यन्त असत् नहीं हैं; क्योंकि स्वप्न आदिमें भी साक्षि-भास्य मानस पदार्थ माने हैं। यदि ऐसा न मानें तो "सन्ध्ये सृष्टिराह हीनि" वेदान्तसूत्रसे ही स्वप्नमें जो सृष्टिका अवधारण किया उससे विरोध होगा। 'न स्वप्नादिवत्' इस वेदान्तसूत्रमें जाग्रत्-प्रपञ्चका केवल मानसत्व होना ही निषेध किया है। इससे जो स्वप्नादिके दृष्टान्तोंके द्वारा प्रपञ्चको मनोमात्र माना है, वह नवीन वेदान्तियोंका अपसिद्धान्त ही है; क्योंकि वेदान्तसूत्रने भी स्वप्न-तुल्यत्वके अभावका निर्णय किया है, इसलिये यथोक्त ही प्रपञ्चका "असत्त्व" ब्रह्ममीमांसाका भी सिद्धान्त-समान-तन्त्र सिद्ध है। कोई यहाँ उत्तर विशेषणमें अर्थ क्रियाकारित्व ही सत्त्व विवक्षित है और वह प्रलयकालमें प्रकृति और प्रकृतिके कार्यमें होता नहीं, अतः प्रकृति सत् नहीं—ऐसी शङ्का करते हैं? वह ठीक नहीं है; क्योंकि इस युक्तिसे ईश्वरसे अन्य पुरुष भी प्रलयकालमें अर्थ क्रियाकारी न होनेसे असत् हो जायेंगे। जीवोंमें भी विषयके प्रकाशनरूप व्यापारका उपरम ही असत्ता-लय-स्वाप-प्रलय-में है, यह ईश्वर प्रकरणमें श्रुति और स्मृतियोंमें प्रसिद्ध है। अतः प्रधानके पारमार्थिक सत्-असत्के अभावकी सिद्धिके लिये उसके विकारोंके भी पारमार्थिक सत्-असत् नहीं है—यह प्रतिपादन करनेके लिये प्रधानका विशेषणान्तर है 'निःसदसद् इति'—निर्गत हैं सत्-असत् जिससे—ऐसा विग्रह है। 'निःसन्निर-सद्' ऐसा पाठ होनेपर भी अर्थ वह ही है। प्रधान वृत्ति जितना विकार-समूह है। वह पारमार्थिक सत् नहीं है, क्योंकि परिणामी होनेसे अपने धर्मोद्वारा प्रतिक्षण उसका विनाश होता रहता है। आदि अन्तकी व्यक्ति अवस्थासे भी असत् ही है। 'वाचारम्भण विकारो नामधेयं मृत्तिका इत्येव सत्यम्।' विकार नामधेय (घट, शराव आदि) वाचारम्भण है (वाणीका विलास है)। मृत्तिका है, इतना ही सत्य है।

'अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥' हे भारत! ये भूत आदिमें अव्यक्त थे, अब मध्य (वर्तमान) में व्यक्त हैं, मृत्यु होनेपर फिर अव्यक्त हो जायँगे। इनके विषयमें परिदेवना क्या? (दुःख नहीं मानना चाहिये, चिन्ता नहीं करनी चाहिये)। इत्यादि श्रुति और

स्मृति विकारोके नित्यतारूप सत्त्वका निराकरण करती हैं । यहाँ श्रुतिमें विकारोंके आदि और अन्तमें नाममात्र अवशेष होनेसे स्थिर न होनेके कारण अस्थिरकी अपेक्षासे कारणकी स्थिरत्वरूप सत्यता विवक्षित है; क्योकि 'नित्यो नित्याना सत्यस्य सत्यम्' वह नित्योंका नित्य है, सत्यका भी सत्य है । इन दूसरी श्रुतियोंमें भी इसी प्रकारका अर्थ सिद्ध है । विकार अत्यन्त तुच्छ हैं—इस कारणसे उनके नित्यतारूप सत्त्वका निराकरण नहीं है । यदि तुच्छतया निराकरण माने तो मृदुविकार जो ब्रह्मविकारमे दृष्टान्त दिया है वह उपपन्न न होगा; क्योकि लोकमे मृद्विकारको अत्यन्त तुच्छता सिद्ध नहीं है, जिससे कि ब्रह्मके कार्य प्रपञ्चके तुच्छ होनेपर उसकी दृष्टान्तता बन सके ? जिस प्रकार प्रधान वृत्ति कार्यसमूह अत्यन्त सत् नहीं है, उसी प्रकार अत्यन्त असत् भी नहीं है; क्योकि अतीत और अनागतरूपोंसे सदा ही सत् है । 'तद्वेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्' वह ही तो यह अव्याकृत था ।

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥

यह दृश्य जगत् प्रलयावस्थामें तमोभूत, अप्रज्ञात, अलक्षण, अप्रतर्क्य, अविज्ञेय, सर्वतः प्रसुप्तवत् था—इत्यादि श्रुति और स्मृतियोसे कार्य-जगत्की कारणरूप सत्ता सिद्ध है ।

शङ्का—इस प्रकार विकारसहित प्रधानके सत् और असत्का प्रतिषेध हो जानेपर, प्रकृतिकी सत् और असत् आत्मताका प्रतिपादन करनेवाली सैकड़ों श्रुति और स्मृतियोका विरोध होगा ? और 'सदसद् बाधाबाधाभ्याम्' इस साख्यसूत्रसे भी विरोध होगा ।

समाधान—ऐसा नहीं है; क्योकि इस प्रकारके जितने वाक्य है, वे सब व्यक्त और अव्यक्तरूप व्यावहारिक सत् और असत्परक है । सांख्यसूत्रमें बाध और अबाधरूप भेदसे सार्वकालिक है । कहा है—

जगन्मयी भ्रान्तिरियं कदापि न विद्यते । विद्यते न कदाचिच्च जलबुद्बुदवत् स्थितम् ॥

यह जगत्मयी भ्रान्ति कभी भी नहीं है, यह बात नहीं है, कभी-कभी नहीं होती । इसकी स्थिति जलके बुद्बुदके समान है ।

भ्रान्ति—यह पारमार्थिक भ्रमको लेकर ज्ञान और ज्ञेयके अभेदरूपकी विवक्षासे कही गयी है । अतएव गौतम सूत्र है—

'तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिरिति' तात्त्विक मिथ्य बुद्धि—अनित्य पदार्थका ज्ञान है, वह प्रधान मिथ्याज्ञान है, प्रसिद्ध मिथ्याज्ञान है; जैसे शुक्तिमें रजत-ज्ञान । पारमार्थिक भ्रमका लक्षण है—तद्भाववति तत्प्रकारक अथवा असद्विषयकता, यह दोनो ही परिणामी नित्य पदार्थ बुद्धियोमें हैं । व्यावहारिक और पारमार्थिक भेदसे सत्ता आदिकी द्विप्रकारता विष्णुपुराण आदिमें प्रसिद्ध है ।

सद्भाव एषो भवते मयोक्तो ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत् ।
एतच्च यत्संव्यवहारभूतं तथापि चोक्तं भुवनाश्रितं तत् ॥

जैसे यह ज्ञान सत्य है और अन्य सब असत्य है, यह सद्भाव मैने आपके लिये कह दिया है । और यह जो संव्यवहाररूप है, जो लोकके आश्रित है वह भी कह दिया है । तीसरी लोकसिद्ध परमात्म-चैतन्य सत्ता भी है, जो मनोमात्र परिणाम, शुक्तिमें रजत और स्वप्नके पदार्थोंकी सत्ता है । जो परमात्म-चैतन्य सत्य है, जीव-चैतन्य सत्य नही है, यह वेदान्तरहस्य है—

नान्योऽनोऽस्ति द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा इत्यादि श्रुतिसिद्ध है। वह तो लय-शून्यत्वरूपा अति पारमार्थिक सत्ताके अभिप्रायसे समझनी चाहिये। प्रलयकालमें ही परमात्मामें प्रकृति और पुरुषोंके व्यापारके उपरमरूप लय होता है। 'प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ लीयेते परमात्मनि' प्रकृति और पुरुष—ये दोनो परमात्मामें लीन होते हैं। इत्यादि वाक्योसे यह सिद्ध है। परमात्मा सदा जाग्रत्रूपसे लयशून्य है। वही परमार्थ सत् है। प्रकृति और पुरुष परमार्थ सत् नहीं है—यह नवीन वेदान्त वाक्योकी मर्यादा है। इससे सत् और असत्के विरोधसे एकत्र असम्भवका भी वारण हो गया; क्योकि व्यवहार और परमार्थके भेदसे, कालके भेदसे, अवच्छेदके भेदसे, स्वरूपके भेदसे और प्रकारके भेदसे इनका अविरोध है। इस प्रकार श्रुति और न्यायसे सिद्ध सत्यत्व और मिथ्यात्वके विभागको न जानते हुए आधुनिक वेदान्तियोके प्रपञ्चका अत्यन्त असत्यत्व आदिरूप नास्तिकोके सिद्धान्तके अनुसार अप-सिद्धान्त है—अतः मुमुक्षुओको दूरसे ही त्यागने चाहिये, क्योकि सामान्यन्यायसे अन्यत्र सिद्धान्तोको ही ब्रह्ममीमासाके सिद्धान्त कहा गया है। इस प्रकार सब ठीक है।

लिङ्गमात्र परिणामका उपसंहार करते हैं—एष तेषाम्—यह गुणोंका लिङ्गमात्र परिणाम है। अलिङ्ग पर्वकी व्याख्या करते है—निःसत्तासत्तं चेति—निःसत्तासत्त अलिङ्ग परिणाम है, निःसत्तासत्त इस कथनमें जो पदार्थ है वह अलिङ्ग नामक गुणोंका परिणाम है और वह साम्यावस्थानात्मक गुणोंसे अतिरिक्त है, इससे उस प्रधानकी गुणात्मता सिद्ध होती है। उसी साम्यावस्थाके लिये प्रधानवाची शब्द, धर्म-धर्मीके अभेदसे महदादिकी व्यावृत्तिके लिये ही यहाँ श्रुति-स्मृतियोमें प्रयोग किया है। परमार्थसे तो गुण ही तद्रूप लक्षित प्रधान हैं, भाष्यमें गुणोको ही प्रधान शब्दसे कहा है। अब पर्व और गुणोके परस्पर वैधर्म्यसे भेद प्रतिपादन करते हैं—उनमेंसे पहिले अलिङ्ग अवस्थारूप पर्वका तीनो पर्वसे और गुणोसे वैधर्म्यका प्रतिपादन करते हैं—अलिङ्गावस्थायामिति—पुरुषार्थ विषयभोग और विवेकख्याति तथा उनके कार्य-सुख और दुःखाभाव लिङ्ग अवस्थाके प्रति हेतु नहीं है; क्योंकि अलिङ्ग-अवस्थामें आदिमें सृष्टिके पहिले पुरुषार्थता—पुरुषार्थसमूह कारणरूपसे अभिमत नहीं हो सकते। दुःख-निवृत्तिकी व्यावृत्तिके लिये कारण यह शब्द कहा है। प्रलयकालमें दुःखनिवृत्तिकी कर्मके क्षयसे ही उपपत्ति होनेसे प्रलयमें प्रयोजन न रहनेसे दुःखकी निवृत्ति प्रलयका कारण नहीं होती—यह आशय है। उपसंहार करते हैं—न तस्या इति—यों कहा जा सकता है—व्यक्त अवस्थामें गुणोसे शब्द आदिके उपभोग आदिरूप पुरुषार्थ होता है अतः वह उसमें अनागतावस्था कारण हो, साम्यावस्थामें तो तज्जन्य कोई भी पुरुषार्थ नहीं होता अत. इस अव्यक्त अवस्थामें पुरुषार्थ कारण नहीं है। इससे क्या प्रयोजन है। यह कहते हैं—वह साम्यावस्था पुरुषार्थकृत नहीं है, अतः शास्त्रोमें नित्य कहलाती है। नित्यास्वाभाविकी है अनैमित्तिकत्वसे तीनो पर्वोंकी अपेक्षासे स्थित, स्वाभाविकत्व होनेपर भी धर्मादिकोसे प्रतिबन्ध यहाँ गुणोका साम्यरूप परिणाम है यह भाव है। अव्यक्त अवस्थाकी स्वाभाविकता व्यक्त अवस्थाकी अपेक्षासे नहीं होती, बहुत कालतक अवस्थायित्व ही नित्यत्व-सत्यत्व आदि दूसरे नामोके व्यवहारसे सिद्ध है। धर्म नित्य है, सुख-दुःख अनित्य है इत्यादि—महाभारत आदिमें व्यवहार होता है, इस प्रकारका नित्यत्व गीतादिमें कहा है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

हे भक्त ! ये भूत आदिमें अव्यक्त थे और मध्य (वर्तमान) मे व्यक्त हैं, निधन—मृत्यु (अन्त) में फिर अव्यक्त हो जाते हैं; इसमे परिदेवन क्या ? इत्यादिसे यही बात कही है ।

अथवा सर्वदा सत्स्वरूप ही नित्यत्व यहाँके लिये भी सही, सृष्टिकालमे भी गुणोके साम्यका अत्यन्त उच्छेद नहीं होता है, अशसे ही वैषम्य है । आवरणरूप गुण-साम्य सदा ही रहता है । अन्यथा साम्यावस्थाका अत्यन्त उच्छेद होनेपर पर्वता ही न बन सकेगी । इस सूत्रने 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमित्यादि' गीताके अव्यक्त, मूल, प्रभव इत्यादि मोक्ष धर्मादिकका अनुसरण करके ससाररूप गुणवृक्षका ही चतुर्पर्वता निरूपण किया है । उस वश (बाँस) तुल्य गुणवृक्षके पूर्व-पूर्व तत्त्व आवरणोके अशसे ही उत्तर तत्त्वरूपसे परिणत होते है, जैसे कि समुद्रके अशसे फेन आदिरूप परिणाम हुआ करता है । जैसे दूध सर्वांशसे दही बन जाता है । पूर्व-पूर्व तत्त्वका सर्वांशसे परिणाम होता है वैसा नहीं है । उत्पन्न कार्यके कारणसे पुनः पूर्वोक्त तो कारणोको स्वकार्यके आवरक होनेसे अवस्थान सिद्ध है । इसलिये सर्गकालमें भी अविशिष्टावस्थाके अवस्थानसे उसकी नित्यता है ।

शङ्का—प्रकृतिको लेकर आठ आवरण ब्रह्माण्डके सुने जाते हैं, तन्मात्रा नहीं सुनी जाती है ।

समाधान—यह बात नहीं है, सूक्ष्म और स्थूलके एकत्वकी विवक्षासे (एक मानकर) आठ प्रकारका आवरण कहा है, अतएव भागवतके द्वितीय स्कन्धमें परब्रह्मकी गतिमें पाँच भूतोकी बहि.तन्मात्रा आवरणमे गति कही है, इन्द्रियो कारण न होनेसे आवरण नहीं कही, उनकी उत्पत्ति तो तन्मात्राओके समान देशमें होती है, जैसे कि तिलोंके समान देशमें सूक्ष्म तेलकी उत्पत्ति होती है । इधर तीन-तीन अवस्थाओंमें अनित्यत्वरूप वैधर्म्यको कहते हैं—त्रयाणामिति—तीन अवस्था विशेषोकी आदि उत्पत्तिमें पुरुषार्थता कारण होती है । आदि उत्पत्तिमें उपादान कारणके व्यवच्छेदके लिये कहते है—सर्वार्थ इति । और वह अर्थ-हेतु-निमित्त कारण होता है, अतः तीनो अवस्थाएँ अनित्य कही जाती है । शेष सुगम है ।

पर्वोंमें नित्य और अनित्यत्व वैधर्म्यको कहकर पर्वी गुणोका पर्वोंसे वैधर्म्य कहते है—गुणास्त्विति—सत्त्व आदि गुण तो सर्वविकारोमें अनुगत हैं, अतः उत्पत्ति और विनाशसे शून्य है—अनुपचरित नित्य हैं यह अभिप्राय है । अलिङ्ग अवस्था भी गुणोके सदृश नित्य नहीं है ।

शङ्का—त्रिगुणात्मक प्रकृतिके नित्य होनेपर—

प्रकृतिं पुरुषं चैव प्रविश्यात्मेच्छया हरिः ।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ ॥
तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम ।

हे द्विज ! सर्गकाल प्राप्त होनेपर हरिने आत्मेच्छासे व्यय और अव्यय प्रकृति और पुरुषमें प्रविष्ट होकर इनमें क्षोभ उत्पन्न किया, उससे त्रिगुणात्मक अव्यक्त उत्पन्न हुआ । इत्यादि स्मृतियोमे प्रकृतिके लिये व्यय और उत्पत्ति वचन आये है, वे सङ्गत कैसे होगे ?

समाधान—व्यक्तिभिरेवेति—गुणान्वयिनीभिः—गुण-धर्म कार्य व्यक्ति अतीतसे उपचर्यान्त परिणाम-वालियोसे गुण-जन्म और विनाशवाले जैसे प्रतीत होते हैं कार्य-कारणका विभाग होनेसे, उन सत्त्वादि गुणोमें स्वतः जन्म और विनाश नहीं है । इसी कारणसे स्वानुगत व्यय आदिसे ही गुणात्मक प्रकृतिके व्यय आदिका व्यवहार होता है, यह आशय है । परिणाम तो प्रकृतिका पारमार्थिक होनेपर व्याप्योके

उत्पत्ति और विनाशका व्यापकोंमें व्यवहार होता है; उसमें दृष्टान्त कहते है—यथा देवदत्तो दरिद्राति, दरिद्रातिका अर्थ है क्षीण होना है। समः समाधिः—यह समाधान दार्ष्टान्तिकमें भी समान है।

शङ्का—तो भी प्रकृतिकी नित्यता नहीं बनती। "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" फिर अन्तमें विश्वमाया निवृत्त होती है।

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ लीयेते परमात्मनि।

प्रकृति और पुरुष—दोनो परमात्मामें लीन हो जाते हैं, इत्यादि वाक्योसे प्रकृतिकी नित्यता नहीं बनती।

समाधान—इसका उत्तर दे दिया है कि कार्यके विनाशसे कारणमें विनाश-व्यवहार उपचारसे होता है। व्यापारके उपरमरूप लयको ही पुरुषके साहचर्यसे प्रकृतिमें व्यय विनाश निश्चय किया है।

वियोजयत्यथान्योन्यं प्रधानपुरुषावुभौ। प्रधानपुंसोरनयोरेष संहार ईरितः॥

प्रधान और पुरुष—दोनों एक दूसरेको अपनेसे वियुक्त करते हैं, यही प्रधान और पुरुषका संहार कहलाता है, इत्यादि कूर्मपुराणके वचनोसे भी यही सिद्ध होता है, प्रकृति और पुरुषका कार्य उपरम ही उपचारसे विनाश कहलाता है, यदि ऐसा न मानें, तो न्यायके अनुग्रहसे बलवती श्रुतियोंका विरोध होगा। ऐसे ही प्रकृति और पुरुषका पुराणोमें श्रूयमाण उत्पत्ति भी अन्योऽन्यके संयोगसे अभिव्यक्ति ही जाननी चाहिये।

संयोगलक्षणोत्पत्तिः कथ्यते कर्मजातयोरिति स्मृतेः।

स्मृतिका भी यही तात्पर्य है प्रकृति और पुरुषकी संयोगरूप कर्मज उत्पत्ति कही जाती है। तथा चोक्तम्—

न घटत उद्भवः प्रकृतिपुरुषयोरजयोरुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत्।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषाः॥

अज प्रकृति और पुरुषका उद्भव—उत्पत्ति नहीं बनती, प्राणधारी जलमें बुद्बुदके समान दोनोंसे संयुक्त होते हैं। आपके परमरूपके अंदर ही ये सब नाम और गुणोंके सहित लीन होते हैं जैसे कि समुद्रमें नदियाँ लीन होती हैं और मधुर रसमें सब रस लीन हो जाते हैं।

अब प्रकृति आदिका उन-उनके कार्योंसे अनुमान करानेके लिये पर्व शब्दसे सूचित अलिङ्गादिके अविरल क्रमको दर्शाते हैं—लिङ्गमात्रमिति—लिङ्गमात्रके अलिङ्ग प्रत्यासन्न है—अव्यवहित कार्य है। वही लिङ्गमात्र उस अलिङ्गमें—अलिङ्गावस्था प्रधानमें अव्यक्तरूपसे अविभक्त है अतः उससे विभक्त होता है। उसमें हेतु है—क्रमेति—क्रमका—पौर्वापर्यका कभी भी अतिक्रम नहीं करता, यदि कारणमें अनागत अवस्थासे असत्की भी उत्पत्ति मानें तो अविशेषतया सबकी सर्वत्र उत्पत्ति होनी चाहिये, और अतीतकी भी उत्पत्ति होनी चाहिये जो कि असम्भव है। और प्रागभाव कारण है नहीं; क्योंकि अभाव असिद्ध है। यदि अभावको निमित्तकारण मानें तो उसको ही उपादान कारण भी मान लें, तब तो शून्यवादियोंकी विजय हो गयी। अभावको उपादान देखा भी नहीं है। यदि यह कहा जाय तो निमित्तमें भी यह बात तुल्य ही है अतः—जैसे अभाव उपादान नहीं हो सकता वैसे निमित्त भी नहीं हो सकता। इसलिये कार्यजनन-शक्ति ही अनागत अवस्थारूपिणी कार्यरूपसे परिणत होती है, वह सत्कार्यवाद इस भाष्यने सिद्ध किया है। तथा इत्यादिकी भी यों ही व्याख्या करनी चाहिये। महद् आदिसे प्रकृति आदिके अनुमानका प्रकार

सांख्यसूत्रोंने कहा है, हमने भी उनके भाष्यमें उसको प्रपञ्चित किया है, (विस्तारूपसे लिखा है) विस्तारभयसे यहाँ प्रस्तुत नहीं करते। यह बात पहिले कह दी है। जैसे विशेषोंसे अवान्तरभेद भिन्न विशेष उत्पन्न होते हैं वैसे पहले इसी सूत्रके आदिमें कह दिया है।

शङ्का—सूत्रकारने गुणपर्वोंका चतुर्धा (चार प्रकारका) विभाग कैसे किया है ? ब्रह्माण्ड, स्थावर, जंगमरूपसे पर्व अनन्त हो सकते हैं ?

समाधान—ब्रह्माण्ड आदि सब विशेष कार्योंका विशेषोंमें ही अन्तर्भाव है, यह कहते हैं—न विशेषेभ्य इति—विशेषोंसे पर-उत्तर भावि, तत्त्वान्तर-तत्त्वभेद नहीं है, अतः विशेषोंका तत्त्वान्तर परिणाम नहीं है। अतः ब्रह्माण्ड आदिक सब विशेष पर्वसे ही गृहीत हैं यह भाव है। तत्त्वत्व—द्रव्यत्व है, तत्त्वान्तरत्व—स्ववृत्तिद्रव्यत्व उससे साक्षात् व्याप्य जातीयत्व है—पचीस तत्त्वोंमें पचीस जातिके अङ्गीकार न करनेमें तत्त्वान्तरत्व—स्ववृत्तिद्रव्य विभाजक उपाधिमत्त्व—तत्त्वान्तरत्व है।

शङ्का—यों तो तत्त्वका भेद होनेसे अन्तःकरणका जो कहीं-कहीं एकत्व कहा है, वह कैसे हो सकेगा ?

समाधान—जैसे विशेष नामक पञ्च तत्त्वात्मिका एक ही पृथिवी प्रथम उत्पन्न होती है, उसके पीछे उस पृथिवीके खोदने और मथन करनेसे पार्थिव जल और पार्थिव तेज अभिव्यक्त मात्र होते हैं, इसी प्रकार तत्त्व-त्रयात्मक ही आदिमें महान् उत्पन्न होता है, पीछे उस महत्तत्त्वमें स्थित अहंकार आदि वृत्तिभेदसे प्रकट होते हैं।

प्रश्न—तो क्या विशेषोंके परिणाम ही नहीं होते ?

उत्तर—नहीं, विशेषोंके परिणाम नहीं होते। उनके तो धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम—सूत्रकार उत्तरपादमें व्याख्या करेंगे, वे होते हैं।

शङ्का—ऐसा ही सही, महत् आदिके क्रमसे कहा सृष्टिका प्रकार आकाश आदि क्रम-बोधक श्रुतिके विरुद्ध होनेसे हेय है। श्रुतिमें तन्मात्रकी चर्चा न होनेसे ये पदार्थ कल्पित हैं। मनु आदि स्मृतियाँ सांख्यकी इस कल्पनाका अनुवाद करनेसे धर्मविषयक ही हैं, प्रकृति आदिपरक नहीं है; अतः स्मृतियों-से भी प्रकृतिकी सिद्धि नहीं होती ?

समाधान—गुणत्रयात्मिका प्रकृति मूलकारणरूपसे मैत्रेयोपनिषद्में सुनी गयी है।

यथा—

' तमो वा इदमेकमास तत्परं स्यात् तत्परेणेरितं विषमत्वं प्रयाति एतद्वै रजसो रूपं तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयाति एतद्वै सत्त्वस्य रूपं तत्सत्त्वमेवेरितं तमसः सम्प्रास्रवत् तत्सांशोऽयं यश्चेतितामात्रः प्रतिपुरुषं क्षेत्रज्ञः संकल्पाध्यवसायलिङ्गः प्रजापतिस्तस्य प्रोक्ता अस्यास्तनवो ब्रह्मा रुद्रो विष्णुरित्यादि ।'

यह प्रपञ्च एक तम ही था, वह पर था, वह परसे प्रेरित विषम बन गया, यह ही रजका रूप है वह रज परसे प्रेरित होकर विषम हो गया, यह ही सत्त्वका रूप है, वह सत्त्व प्रेरित हुआ तमसे बहा—जुदा हुआ—वह सांश यह है—जो कि पुरुषका चेतितामात्र है—क्षेत्रज्ञ है। सत्त्व प्रेरित हुआ तम संकल्प और अध्यवसाय लिङ्ग है—प्रजापति है, उसका प्रोक्ता ब्रह्मा, रुद्र, विष्णु इत्यादि उसके तनु शरीर कहे गये हैं। तथा गर्भोपनिषद्में चौबीस तत्त्व इसी क्रमसे कहे हैं, यथा—

"अष्टौ प्रकृतयः, षोडश विकाराः शरीरम्" इति।

आठ प्रकृति हैं (मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पाँच तन्मात्रा) पोडश विकार हैं और शरीर । तथा प्रश्नोपनिषद्में—

'एवं ह वै तत्सर्वं परे आत्मनि सम्प्रतिष्ठते पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च इत्यादि ।'

इस भाँति वह सब पर-आत्मामें सम्प्रतिष्ठित है—पृथिवी, पृथिवीमात्रा, जल व जलमात्रा, तेज, तेजोमात्रा, वायु वायुमात्रा, आकाश और आकाशमात्रा इत्यादिसे परमात्मामे तेईस तत्त्व प्रतिष्ठित हैं; समुद्रमें नदी नदकी भाँति यह कहा है । अत. चौबीस तत्त्व प्रत्यक्ष श्रुतिसे और स्मृतिसे अनुमेय श्रुतिसे सिद्ध हैं । व्यवहार और परमार्थ विषयका भेद होनेसे अद्वैत-श्रुति इन श्रुतियोंकी बाधक नहीं है । व्यावहारिक अद्वैतश्रुतियाँ अविभाग लक्षणके अभेद-परक ही है—यह बात नदी-समुद्र-दृष्टान्तसे सिद्ध है । उन महदादिकी सृष्टिका क्रम भी श्रुतिमें पाठ-क्रमसे निश्चय होता है ।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥

इससे प्राण उत्पन्न होता है, मन और इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, आकाश, वायु, ज्योति, जल और सबको धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है ।

और जो तैत्तिरीय उपनिषद्में वियदादिकी सृष्टि कही है वहाँ वियत् (आकाश) से पहले स्मृतिसे उन्नेय श्रुतिके साथ एकवाक्यतादारा बुद्धि आदिकी सृष्टि पूरण कर लेनी चाहिये । छान्दोग्यमें जैसे वियद्वायु-की पूर्ति की है । किंच साख्योक्त सृष्टिके क्रममें स्पष्ट ही श्रुति प्रमाण है, जैसा कि गोपालतापनीयमें—

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मासीत् तस्मादव्यक्तमेवाक्षरं तस्मादक्षरान्महत् महतो वै अहङ्कारस्त-स्मादेवाहङ्कारात् पञ्च तन्मात्राणि तेभ्यो भूतादीनीति ।'

एक अद्वितीय ब्रह्म ही था, उससे अव्यक्त अक्षर उत्पन्न हुआ, उस अक्षरसे महत्तत्त्व और महत्तत्त्वसे अहकार और अहकारसे पञ्चतन्मात्रा तथा तन्मात्राओंसे पाँच महाभूत आदि उत्पन्न हुए हैं । वेदान्तसूत्रोंने भी बुद्धि आदिके क्रमसे ही सृष्टि कही है, उनपर नवीनोंकी व्याख्याका हमने अपने भाष्यमें खण्डन किया है । इस प्रकार सांख्यशास्त्रमें प्रपञ्चित (विस्तारसे वर्णित) चौबीस तत्त्व ही यहाँ योगदर्शनके दो सूत्रोंने सक्षेपसे कहे हैं । इनके स्वरूप आदि भी वहीं दर्शाये हैं । सक्षेपसे यहाँ भी कहते हैं—

पाँच भूत और ग्यारह इन्द्रियाँ तो प्रसिद्ध ही है, तन्मात्रा इन पाँच भूतोंके साक्षात् कारण हैं, ये तन्मात्रा शब्द आदिवाले सूक्ष्म द्रव्य हैं, अत. इनको सूक्ष्म भूत भी कहीं कहते हैं । महत् और अहंकारका लक्षण मोक्षधर्ममे कहा है—

हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः । महानिति च योगेषु विरञ्चिरिति चाप्युत ॥
भूतं चैकात्मकं येन कृत्स्नं त्रैलोक्यमात्मना । तथैव विश्वरूपत्वाद्विश्वरूप इति श्रुतः ॥
एष वै विक्रियापन्नः सृजत्यात्मानमात्मना । अहंकारं महातेजाः प्रजापतिमहंकृतम् ॥

यह भगवान् हिरण्यगर्भ हैं जिनको बुद्धि कहा है । योगमें इनको महान् और विरञ्चि कहा है, जिनने अपने आत्मरूपसे एकात्मक समस्त त्रैलोक्यको धारण किया है । इसी कारण विश्वरूप होनेसे उनको विश्वरूप कहा है । ये ही विक्रियापन्न अपने आत्मासे आत्माको उत्पन्न करते हैं । ये महातेजा प्रजापति अहंकृतरूप अहंकारको उत्पन्न करते हैं । यहाँ उपासनाके लिये शक्ति और शक्तिमान्के अभेदसे उपाधियोंके

नाम और रूपादि उपाधिमान्‌रूप कहे हैं। जैसे कि मनुष्य, पशु आदि शरीरोंके नामसे उन शरीरके अभिमानी आत्माओंको भी मनुष्य और पशु आदि नामसे बोलते हैं। दूसरी स्मृतियोंमें सांख्य और योगके अविवेकसे जड वस्तुरूपसे ही उनका व्यवहार है, ज्ञान और ऐश्वर्यादिरूप महत्तत्त्व और अभिमानरूप अहंकारका अन्तःकरणधर्मत्व होनेसे। प्रकृतिके तो तेईस तत्त्वोंके कारण सत्त्व आदि नामवाले सूक्ष्म द्रव्य असख्य हैं, उनको गुण इसलिये कहा है कि वे पुरुषके उपकरण है और पुरुषको बाँधनेवाले है। वे तीन गुण सुख-दुःख-मोहवाले होनेसे सुख-दुःख-मोहात्मक कहलाते हैं। पुरुषोंके सब अर्थोंके साधक होनेसे राजा और मन्त्रीके समान प्रधान कहे जाते हैं। जगत्‌का उपादान होनेसे प्रकृति और जगत्‌का मोहक होनेसे माया कहलाते है। वैशेषिक आदिने अपनी-अपनी परिभाषासे परमाणु और अज्ञान आदि शब्दोंसे कहा है। तदुक्तं वासिष्ठे—

नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन् संतिष्ठते जगत्। तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामेके परे त्वणून्॥

नाम और रूपसे रहित यह जगत् जिसमें ठहरा हुआ है, उसको कोई माया कहते हैं, कोई प्रकृति और कुछ लोग अणु कहते हैं। इनमें तेईस तत्त्व सर्गके आदिमें स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीर—दो रूपसे परिणत होते हैं। उनमेसे स्थूल तो पाँच भूतोसे बनता है और सूक्ष्म शेष १७ तत्त्वोसे बनता है। उन दोनो शरीरोंमेंसे सूक्ष्मशरीर काष्ठवत् चैतन्यका अभिव्यञ्जक होनेसे पुरुषका लिङ्ग शरीर कहलाता है। और वह अहंकारके बुद्धिमें प्रवेशसे सत्रह तत्त्ववाला (अवयववाला) सांख्यशास्त्रमे कहा गया है—'सप्तदशैकं लिङ्गमिति', इस सूत्रमें एकत्व समष्टिके अभिप्रायसे कहा है। "व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात्" इस अगले सूत्रसे व्यक्तिरूपसे एक ही लिङ्ग-शरीरको अनेक कहा है। यह व्यष्टि और समष्टिभाव वन-वृक्षवत् नहीं है, किंतु पिता-पुत्रवत् ही है।

"तच्छरीरसमुत्पन्नैः कार्यैस्तैः करणैः सह। क्षेत्रज्ञाः समजायन्त गात्रेभ्यस्तस्य धीमतः॥

उस धीमान् हिरण्यगर्भके स्थूल और सूक्ष्म—दोनो शरीरोंसे समुत्पन्न कार्यों और करणोके सहित क्षेत्रज्ञ उत्पन्न होते है। इन मनु आदिके वाक्योसे हिरण्यगर्भके दो शरीरोके अंशसे ही अखिल पुरुषोके दोनो शरीरोंकी उत्पत्ति सिद्ध होती है। वन और वृक्षोमें इस प्रकारका कार्य-कारण-भाव नहीं होता है॥१९॥

सङ्गति—द्रष्टाका स्वरूप दिखाते हैं—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः॥ २०॥

शब्दार्थ—द्रष्टा=द्रष्टा; दृशिमात्रः=देखनेकी शक्तिमात्र है, शुद्धः-अपि=निर्मल अर्थात् निर्विकार होनेपर भी, प्रत्यय-अनुपश्यः=चित्तकी वृत्तियोके अनुसार देखनेवाला है।

अन्वयार्थ—द्रष्टा जो देखनेकी शक्तिमात्र है, निर्विकार होता हुआ भी चित्तकी वृत्तियोके अनुसार देखनेवाला है।

व्याख्या—दृशिमात्र, इस शब्दसे यह अभिप्राय है कि देखनेवाली शक्ति विशेषणरहित केवल ज्ञानमात्र है अर्थात् यह देखना या वह देखना उसका धर्म नहीं है, बल्कि यह देखनेकी शक्तिमात्र धर्मी है, उसमें कोई परिणाम नहीं होता। यथा—

यथा दीपः प्रकाशात्मा स्वल्पो वा यदि वा महान्। ज्ञानात्मानं तथा विद्यादात्मानं सर्वजन्तुषु॥

अर्थ—जैसे दीपक चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, प्रकाशरूप ही होता है, वैसे ही सब प्राणियोके अंदर आत्माको भी ज्ञानरूप जानो।

ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथंचन । ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः सर्वगतः शिवः ॥

अर्थ—ज्ञान न तो आत्माका धर्म है और न किसी भाँति गुण ही है । आत्मा तो नित्य, विभु और शिव (कल्याणकारी) ज्ञानस्वरूप ही है ।

प्रत्ययानुपश्य=चित्तकी वृत्तियोंके अनुसार देखनेवाला । चित्तवृत्ति गुणमयी होनेसे परिणामिनी है । विषयमें उपराग होनेसे वह विषय उसको ज्ञात होता है, पर पुरुष तो चित्तका सदैव साक्षी बना रहता है, वह चित्त पुरुषके ज्ञानरूपी प्रकाशसे (प्रतिबिम्बित होकर) चेतन-जैसा भासता है । इस कारण वह (चित्त) जिन-जिन वृत्तियोंके तदाकार होता है वह पुरुषसे छिपी नहीं रहती । पुरुषमें चित्त-जैसा कोई परिणाम नहीं होता ।

द्रष्टा स्वरूपसे शुद्ध परिणाम आदिसे रहित सर्वदा एकरस रहता हुआ भी चित्तकी वृत्तियोंका ज्ञान रखनेवाला है, क्योंकि चित्तमें उसके ही ज्ञानका प्रकाश है अर्थात् वह उसीके ज्ञानसे प्रतिबिम्बित है । चित्त सुख, दुःख, मोहादि वृत्तियोंके रूपमें परिणत होता रहता है । यह परिणाम आत्मामें नहीं होता है; क्योंकि वह अपरिणामी ज्ञानस्वरूप है । चित्तका साक्षी होनेके कारण उसमें ये वृत्तियाँ अज्ञानसे अपनी प्रतीत होती हैं ।

नोट—यह बात अच्छी प्रकार जान लेनी चाहिये कि आत्माका वास्तविक दर्शन विवेकख्याति-द्वारा चित्तको अपनेसे भिन्न देखना और असम्प्रज्ञात-समाधिद्वारा स्वरूपस्थिति प्राप्त करना है । इसके अतिरिक्त चित्तकी अन्य वृत्तियोंको आसक्तिके साथ देखना अदर्शन है; क्योंकि यह अविद्यासे होता है और इससे यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं होता । आगे सूत्र तेईसकी व्याख्यामें इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये ।

टिप्पणी—इस सूत्रकी व्याख्या खोलकर स्पष्ट शब्दोंमें कर दी गयी है, फिर भी पाठकोंकी अधिक जानकारी तथा अपनी व्याख्याकी पुष्टिके निमित्त व्यासभाष्य तथा भोजवृत्तिका भावार्थ भी नीचे दिया जाता है—

भावार्थ व्यासभाष्यः—सूत्र २० ॥ (दृशिमात्रः) सब धर्मोंसे रहित जो केवल चेतनमात्र अर्थात् ज्ञानस्वरूप पुरुष है, वह द्रष्टा कहा जाता है । यदि ज्ञानस्वरूप है तो ज्ञानका आश्रय कैसे हो सकता है अर्थात् ज्ञानस्वरूप धर्मका आधार होनेसे दृशिमात्र कैसे हो सकता है ? इस शङ्काका उत्तर देते हैं "शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः" यद्यपि वह स्वभावसे ज्ञानका आधार न होनेसे शुद्ध ही है तथापि प्रत्ययसंज्ञक बुद्धि-धर्म ज्ञानको अनुसरण करनेसे ज्ञानका आधार कहा जाता है ।

अर्थात् यद्यपि पुरुष ज्ञानस्वरूप ही है तथापि बुद्धिरूपी दर्पणमें प्रतिबिम्बित होनेसे उस बुद्धिके धर्मभूत ज्ञानका आधार प्रतीत होता है । इसलिये बुद्धिवृत्तिका अनुकारी अर्थात् तदाकारधारी होनेसे पुरुष 'प्रत्ययानुपश्य' कहा गया है ।

सो यह दृशिमात्र चेतनभूत पुरुष न तो बुद्धिके समान रूपवाला है और न अत्यन्त विरुद्ध रूपवाला है । अर्थात यह पुरुष बुद्धिसे विलक्षण है; क्योंकि ज्ञात-अज्ञात विषय होनेसे बुद्धि परिणामिनी है और सदा ज्ञानविषय होनेसे पुरुष अपरिणामी है । अर्थात् बुद्धिका विषयभूत जो गवादि, घटादि पदार्थ हैं वे कभी ज्ञात होते हैं और कभी अज्ञात, किंतु पुरुषका विषयभूत जो बुद्धितत्त्व है वह सदा पुरुषको ज्ञात ही रहता है । इसलिये बुद्धि सदा एक रस न होनेसे अर्थात् विषयसन्निधिसे विषयाकार होकर ज्ञात-विषय होनेसे और अन्य समयमें अज्ञात-विषय होनेसे परिणामिनी है और पुरुष सदा एक रस होनेसे अपरिणामी

है; क्योंकि पुरुषका विषयभूत बुद्धितत्त्व सदा ज्ञात ही रहता है। अतः यह दोनों परस्पर विलक्षण हैं। एवं संहत्यकारी होनेसे अर्थात् तीन गुणोंसे मिलकर पुरुषके भोग-अपवर्गरूप अर्थका सम्पादन करनेसे बुद्धि परार्थ है और पुरुष असंहत अर्थात् केवल होनेसे अन्य किसीका अर्थ न होनेके कारण स्वार्थ है। इस कारणसे भी दोनों परस्पर विलक्षण हैं। तथा शान्त, घोर, मूढाकारसे परिणत हुई बुद्धि शान्त, घोर, मूढ पदार्थविषयक अध्यवसायशील होनेसे त्रिगुण तथा अचेतन है और पुरुष गुणोंका उपद्रष्टामात्र होनेसे अर्थात् बुद्धिमें केवल प्रतिबिम्बितमात्र प्रकाश डालनेसे न कि तदाकार परिणत होनेसे गुणातीत और चेतन है, इस कारण बुद्धिके समान रूप नहीं है।

तो फिर क्या अत्यन्त विरुद्धरूप है? इसका उत्तर देते हैं कि अत्यन्त विरुद्धरूप भी नहीं है। क्योंकि (शुद्धोऽपि) यह पुरुष शुद्धरूप अर्थात् सब विकारों और परिणामोंसे रहित होनेपर भी (प्रत्ययानुपश्यः) बुद्धि-वृत्तिरूप ज्ञानको प्रकाशता हुआ बुद्धि-वृत्तिस्वरूप न होनेपर भी बुद्धिवृत्ति स्वरूपसे भान होता है। ऐसा ही पञ्चशिखाचार्यने भी कहा है—

"अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंक्रमा
च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति,
तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धि-
वृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्यविशिष्टा हि
ज्ञानवृत्तिरित्याख्यायते।"

अर्थात् अपरिणामी जो भोक्तृ-शक्तिसंज्ञक पुरुष है वह यद्यपि अप्रतिसंक्रम है अर्थात् किसी विषय से सम्बन्ध न होनेसे निर्लेप है तथापि परिणामिनी बुद्धिमें प्रतिबिम्बित हुआ तदाकार होनेसे उस बुद्धिकी वृत्तिका अनुपाती (अनुसारी) हो जाता है और उस चैतन्य-प्रतिबिम्ब-ग्राहिणी बुद्धि वृत्तिके अनुकारमात्र होनेसे बुद्धिवृत्तिसे अभिन्न हुआ वह चेतन ही ज्ञानवृत्ति कहा जाता है।

भोजवृत्तिभावार्थ—सूत्र २०। पूर्वोक्त प्रकारसे दृश्यके स्वरूपको जो हेय अर्थात् त्यागने योग्य होनेके कारण प्रथम जाननेके योग्य है, अवस्थासहित वर्णन करके अब उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य द्रष्टा पुरुषके स्वरूपको बतलाते हैं। द्रष्टा पुरुष ज्ञानस्वरूप है। पुरुषका ज्ञान धर्म नहीं है, इसलिये सूत्रमें 'मात्र' शब्द है। कोई एक मानते है कि चेतना (ज्ञान) आत्माका धर्म है। वह स्वरूपसे शुद्ध होता हुआ परिणाम आदिसे रहित होनेपर भी, (सुप्रतिष्ठोऽपि) अपने स्वरूपसे प्रतिष्ठित रहता हुआ भी (प्रत्ययानुपश्यः) चित्तकी वृत्तियोंके अनुसार देखनेवाला है। बुद्धिकी समीपता अर्थात् उसमें प्रतिबिम्बित होनेके कारण उसकी विषयोंसे उपरक्त हुई वृत्ति ज्ञानके अनुसार (प्रतिसंक्रमाद्यभावेन) प्रतिसंक्रमके बिना भी अर्थात् बिना किसी विषयसे सम्बन्ध रखते हुए निर्लेप होनेपर भी देखता है। सारांश यह है कि बुद्धिमें विषयोंके उपरागकी उत्पत्ति होनेपर संनिधिमात्रसे पुरुषमें द्रष्टापन है।

विज्ञानभिक्षुके वार्त्तिकका भाषानुवाद सूत्र ॥ २० ॥

सूत्रका अवतरण करते हैं—व्याख्यातमिति—द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः—दृशि यहाँ गुण नहीं है, किंतु प्रकाशस्वरूप द्रव्य है।

ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथंचन। ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः सर्वगतः शिवः॥

ज्ञान आत्माका धर्म नहीं है और न किसी भाँति गुण ही है। आत्मा तो ज्ञानस्वरूप ही है, नित्य है, सर्वगत है और शिव (कल्याणकारी) है ॥ इत्यादि स्मृतिसे भी आत्मा ज्ञानस्वरूप द्रव्य ही सिद्ध होता है। अग्नि और उष्णता आदिमें भेद और अभेद होता है; क्योंकि उष्णताके ग्रहण न होनेपर भी चक्षुसे अग्निका ग्रहण होता है, परंतु पुरुषका ग्रहण ज्ञानके ग्रहणके बिना नहीं होता। अतः ज्ञान पुरुषका धर्म या गुण नहीं—पुरुषका स्वरूप ही है। मात्रशब्दसे पूर्व सूत्रमें कहे इन प्रकाश, क्रिया आदि गुणोंकी व्यावृत्ति हो गयी। इन प्रकाश, क्रिया आदिमें सब शेष गुणोंका अन्तर्भाव है अर्थात् कोई भी गुण पुरुषमें नहीं है। शुद्ध शब्दसे भूत और इन्द्रियात्मकत्वकी व्यावृत्ति होती है (अर्थात् आत्मा पञ्चभूतात्मक और एकादश-इन्द्रियात्मक भी नहीं है)। शुद्धोऽपि—बुद्धिसे अभेदके उपपादनार्थ शेष विशेषण हैं (शुद्ध और प्रत्ययानुपश्य विशेषण हैं)। यहाँ परिणामित्व, पारार्थ्य, अचेतनत्व आदि बुद्धिकी अशुद्धि हैं, वे अशुद्धि पुरुषमें नहीं है। यही पुरुषकी शुद्धि भाष्यमें व्यक्त होगी। प्रत्ययानुपश्य—प्रत्ययके समान 'आकारता-पन्न इव' होते हुआ बुद्धिकी वृत्तिका साक्षी है, यह अर्थ है। इस विशेषणसे द्रष्टामें प्रमाण कहा है। 'शुद्धोऽपीत्यादि' भाष्यके फलान्तरकी (दूसरे फलकी) भाष्यकार व्याख्या करेंगे। दृशिमात्रके शब्दार्थको कहते हैं—दृक्-शक्ति ही है। प्रलय और मोक्ष आदिमें जीवोंके दर्शन नामक चैतन्य फलका उपधान नहीं है (प्रतीति या व्यवहार नहीं है), इस प्रयोजनसे भाष्यकारने शक्ति-शब्दका प्रयोग किया है। एव शब्दका अर्थ कहते हैं—विशेषणोंसे अपरामृष्ट है (अछूता है), इन विशेषणोंसे विशेषितका अर्थ है, व्यावर्तन, द्रव्यान्तरसे भिन्न है यह तात्पर्य है। विशेषण वे विशेष गुण हैं जो वैशेषिक शास्त्रमें कहे हैं। उनसे दृक-शक्ति तीनों कालोंमें असम्बद्ध है, यह अर्थ है। इससे (सामान्य-गुण) संयोग, संख्या, परिमाण आदि होनेपर भी क्षति नहीं है। द्रष्टा यह लक्ष्य (वाचक) पद है। बुद्धिसे व्यावृत्त-भिन्न रूपसे इसकी व्याख्या करते हैं—स पुरुष इति। संवेदिनी बुद्धिका प्रतिसंवेदी पुरुष है, संवेदन अर्थाकार वृत्तिका नाम है—उस वृत्तिका संवेदन प्रतिध्वनिवत् प्रतिबिम्ब है जिसमें वह पुरुष है, यह अर्थ है। बुद्धिका साक्षी है, यह तात्पर्यार्थ है। इससे प्रतिबिम्बरूप आरोपित क्रियासे कल्पित दर्शन-कर्तृत्व द्रष्टृत्व है, यह बात भी सूचित कर दी है। आत्माकी ज्ञानस्वरूपता तो—

यथा दीपः प्रकाशात्मा स्वल्पो वा यदि वा महान्।
ज्ञानात्मानं तथा विद्यादात्मानं सर्वजन्तुषु ॥

जैसे दीपक छोटा है या बड़ा, वह प्रकाशरूप ही होता है, वैसे सब प्राणियोंके अंदर आत्माको भी ज्ञानरूप जानें। इत्यादि सैकड़ों वाक्योंके अनुग्रहसे और लाघव तर्ककी सहायतासे आत्मत्वादिरूप व्यतिरेकी आदि लिङ्गोंसे अनुमेय ज्ञानके आश्रयत्वकी कल्पनामें धर्मधर्मिभावापन्न दो वस्तुकी कल्पनाका गौरव होनेसे (आत्माकी) ज्ञानरूपता सिद्ध है। मैं जानता हूँ इत्यादि प्रत्यय तो, मैं गोरा हूँ ऐसे सैकड़ों भ्रमोंके अन्तः-पाती होनेसे (जैसा यह भ्रम है ऐसा ही भ्रम होनेसे), अप्रमाणताकी शङ्कासे युक्त होनेके कारण यथोक्त-अनुमानकी अपेक्षासे दुर्बल है। बुद्धि और पुरुषके विवेकका प्रतिपादन करनेके लिये और उनके अभेद भ्रमका उत्पादन करनेके लिये, उनके वैरूप्य और सारूप्यके प्रतिपादकतया—क्रमसे दो विशेषणोंकी व्याख्या करते हैं—वह आत्मा न बुद्धिके सरूप है और न अत्यन्त विरूप है—पारमार्थिक सारूप्यका अभाव है—यह 'शुद्धोऽपि' इत्यादि अंशका अर्थ है। प्रतिबिम्बरूप अपारमार्थिक सारूप्य है, यह शेष अंशका अर्थ है। तथा परिणामित्वादिरूप बुद्धिके सारूप्यका अभाव ही शुद्धि है और बुद्धिकी वृत्तिके सारूप्य ही प्रत्ययानुपश्यत्व है, यह बात आ जाती है। सारूप्यके अभाव और सारूप्यका क्रमसे प्रतिपादन

करते हैं—'न तावत्' इत्यादिसे—प्रथम तो वह आत्मा बुद्धिके सरूप—समान नहीं है। क्यों नहीं है। इसका उत्तर है—बुद्धि परिणामिनी है, बुद्धिके परिणामिनी होनेमें हेतु है कि वह बुद्धि ज्ञात और अज्ञात विषयवाली है। 'ज्ञातेति' इस वाक्यका विवरण करते हैं—तस्याश्चेति—उस बुद्धिके विषय गवादि और घटादि ज्ञात और अज्ञात होते हैं, अतः वे बुद्धिकी परिणामताको दर्शाते है—(व्याख्या) गवादिरिति—गोशब्द शब्दवाची है, अतः गवादि व घटादिपदोंसे धर्मीके सामान्य रूपसे—धर्म-धर्मीरूप सब ही बुद्धि-विशेषोंका ग्रहण है। वृत्तिसे व्याप्यको ज्ञान कहते हैं और वृत्तिसे अव्याप्यको अज्ञात कहते हैं। "दर्शयति" का अर्थ है अनुमान कराता है। भाव यह है—बुद्धि परिणामिनी हो तब भी कभी शब्द आदिके आकारवाली होती है, कभी नहीं होती—यह हो सकता है। क्यों जी! पुरुषके समान बुद्धिमें अपरिणामी होनेपर भी विषयका प्रतिबिम्बन ही विषयाकार हो सकता है। उस प्रतिबिम्बके कदाचित्—कभी-कभी होनेसे बुद्धिकी ज्ञाताज्ञातविषयता बन सकती है? यह नहीं कह सकते; क्योंकि स्वप्नावस्थामें और ध्यानावस्थामें विषयके समीप न होनेसे प्रतिबिम्बका पड़ना असम्भव है। शास्त्रोंमें बुद्धिमें विषयके प्रतिबिम्बको कहनेवाले वचन तो उस विषयके समान आकार जो परिणाम होता है उस परिणाम-मात्रके कारण कहे गये हैं। अतः बुद्धिके अर्थ-ग्रहणकी अनित्यतासे बुद्धिके अर्थाकार परिणामका अनुमान होता है। बुद्धिके परिणामित्व-को दिखलाकर उस परिणामित्वके अभावको पुरुषमें दिखलाते हैं—सदा ज्ञातेति—सदा ज्ञात है—बुद्धिको वृत्तिरूप जिससे उसका भाव सदा-ज्ञातविषयत्व है, वह सदा-ज्ञातविषयत्व पुरुषके अपरिणामित्वको अनुमान कराती है। यदि पुरुष परिणामी ही हो तो जडतारूप परिणामसे कभी उस पुरुषका विषय-बुद्धिकी वृत्ति अज्ञात भी रहनी चाहिये, ऐसा माननेमें वर्तमान भी घटादिकी वृत्तिका अज्ञान सम्भव हो जायगा। मै घटादिको निश्चय जानता हूँ या नहीं इत्यादि (प्रत्यक्ष घटादि-विषयमें) संशय भी हो सकता है। ऐसे ही योग्यकी अनुपलब्धिसे घटादिके ज्ञानका अभाव नियम न हो सकेगा; क्योंकि अज्ञात वृत्तिकी सत्ताका सम्भव है, यह भाव है।

शङ्का—इतनेसे भोक्ताका ज्ञान-परिणाम न सही, परंतु सुखादि-परिणामोंका भोक्तामें अभाव इसमें कैसे अनुमान हो सकेगा?

समाधान—शब्द आदि निश्चयरूप परिणामके बुद्धिमें सिद्ध हो जानेसे ही—उन शब्दादिके परिणामके कार्य इच्छा, कृति, सुख, दुःख, अदृष्ट, संस्कार आदि भी बुद्धिके धर्म है—यह बात सिद्ध हो जाती है; क्योंकि कारण अपने कार्यको समान अधिकरणमें ही उत्पन्न किया करता है (अतः बुद्धिरूप अधिकरणमें जिन शब्दादि विषयोंका निश्चय हुआ है, वह निश्चयात्मक ज्ञान अपने कार्य, इच्छा, कृति, सुखादिको भी उसी अधिकरण-बुद्धिमें उत्पन्न करेगा; अतः वे भी बुद्धिके ही धर्म या परिणाम हैं पुरुषके नहीं) इसीमें लाघव है।

शङ्का—पुरुष भी सदा ज्ञातविषय नहीं है; क्योंकि प्रलय आदिमें अपने विषय बुद्धिकी वृत्तिको नहीं जानता है? यह आक्षेप करते हैं—कस्मादिति—

समाधान—नहीति—पुरुषविषयक बुद्धिकी वृत्ति भी शब्द आदिके समान नहीं है, अथवा वह वृत्ति अगृहीत और गृहीत कालभेदसे होती है। ऐसा स्मृति भी कहती है—

"न चिदप्रतिबिम्बाऽस्ति दृश्याभावादृते किल। क्वचिन्नाप्रतिबिम्बेन किलादर्शोऽवतिष्ठते।"

चितिशक्ति—दृश्यके अभावके सिवा कहीं भी अप्रतिविम्बा नहीं होती है, जैसे कि दर्पण दृश्यके अभावके सिवा कभी भी प्रतिविम्बरहित नहीं होता है। तथा च—प्रलय आदिमें वृत्ति नामक दृश्यके अभावसे ही, उस बुद्धिवृत्तिको नहीं देखना, यह भाव है। उपसंहार करते हैं—सिद्धमिति—परिणामित्वकी भाँति ही बुद्धि और पुरुषके परार्थत्व और अपरार्थत्वको दिखलाते हैं—किं चेति—बुद्धि सहत्यकारी होनेसे परार्थ है, अपनेसे भिन्नके भोगादिके साधनार्थ है, सहत्यकारीकी अपेक्षासे व्यापारवाले शय्या-आसन और शरीर आदिकी भाँति। पुरुष स्वार्थ है—अपने भोग आदिका साधन है, उसमें उक्त हेतुओं—संहत्यकारी आदिका अभाव है। जो सहकारी-सापेक्ष व्यापारवाला नहीं होता, वह परार्थ नहीं हुआ करता—जैसे पुरुष। बुद्धिका ही व्यापारविषय ग्रहणादि इन्द्रियादि-सापेक्ष है, शय्या आदि भी जो शयन आदिके लिये है, भूमि आदिकी अपेक्षा रखते हैं। पुरुषका सुखादिके प्रकाशनका व्यापार ही नहीं होता, क्योंकि वह उसका स्वरूपसे नित्य है, सुखादिकी सत्तामें सुखादिके प्रकाशनार्थ पुरुष सहकारी कारणकी अपेक्षा नहीं रखता—यह भाव है। बुद्धिके परार्थ होनेमें श्रुति प्रमाण है—"न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रिय भवतीत्यादि"—सबकी कामनाके लिये सब प्यारे नहीं होते, अपनी कामनाके लिये सब प्यारे होते हैं। यहाँ कोई स्वार्थ इसका यह अर्थ करते है कि साध्य परार्थ नहीं होता है। यह नहीं हो सकता; क्योंकि भृत्य चेतनको भी स्वामी चेतनके अर्थ देखा जाता है। परार्थत्व परमात्रार्थ है, यदि यह कहो तो नहीं कह सकते। अचेतनत्वरूप अन्य वैधर्म्यको कहते हैं—तथा सर्वार्थेति—सुख-दुःख-मोहात्मक सर्वार्थ तीन गुणोंको ग्रहण करती हुई बुद्धि भी तदाकारतया त्रिगुणा—सत्त्व आदि गुणत्रयमयी अनुमानसे ज्ञात होती है—त्रिगुण होनेसे पृथिवी आदिकी भाँति अचेतन है—यह सिद्ध है। गुणोंका उपद्रष्टा पुरुष तो दृश्या बुद्धिके सानिध्यसे बुद्धिकी वृत्तिके प्रतिविम्बमात्रसे गुणद्रष्टा होता है—गुणाकार परिणामसे गुणोंका उपद्रष्टा नहीं होता, जैसे कि बुद्धि, अतः पुरुष त्रिगुण नहीं है, इसीसे चेतन है—यह शेष है। उपसंहार करते हैं—अत इति—अतः वैधर्म्यत्रयसे पुरुष बुद्धि-सरूप नहीं है। इतनेसे ही शुद्ध है, इसकी व्याख्या हो गयी।

शङ्का—सर्व अभिमानकी निवृत्तिके लिये सामान्यसे ही दृक् और दृश्यके विवेकका प्रतिपादन करना चाहिये, तो वह क्या बुद्धि और पुरुषके वैराग्यका प्रतिपादन किया जाता है?

समाधान—नहीं, बुद्धि ही पुरुषकी साक्षात् दृश्या है; क्योंकि अन्योंको बुद्ध्यारूढ होनेसे ही दृश्यता है। उसीमें (बुद्धिहीमें) साक्षात् अभिमान होता है और उस बुद्धिके सम्बन्धसे दूसरे विषयोंमें अभिमान होता है। मृत शरीरमें—सुषुप्त्यवस्थ-प्राणमें चैतन्यका अभाव स्पष्ट देखनेमें आता है। एक इन्द्रियका व्याघात हो जानेपर भी, चेतनताकी उपलब्धि होती है, अतः इन्द्रिय भी चेतन नहीं है—यह बात स्पष्ट ही है। अतः बुद्धिके विवेकसे ही सब अभिमानकी निवृत्ति होती है—इस अभिप्रायसे पुरुषमें बुद्धिका वैधर्म्य ही प्रायः प्रतिपादन करते हैं। एक बात यह भी है कि बुद्धिसे व्यतिरिक्तोंसे तो पुरुषका विवेक (पृथक्त्व) न्याय और वैशेषिकने सिद्ध कर ही दिया है, बुद्धिसे विवेक ही सांख्य और योगका असाधारण कृत्य है। अत्यन्त वैरूप्यका निराकरण करनेके लिये सदेह उठाते हैं—अस्तु तर्हि—अच्छा तो विरूप ही सही। समाधान—ना अत्यन्त विरूप—क्योंकि पुरुष प्रत्ययानुपश्य है। इसीकी व्याख्या करते हैं—क्योंकि वह बौद्ध प्रत्ययों (बुद्धिमें उत्पन्न हुए ज्ञानों) को बुद्धिके पीछेसे देखता है (बुद्धिकी वृत्तिको देखता है, यह अर्थ है)।

शङ्का—बुद्धिका द्रष्टा होनेपर भी अत्यन्त वैरूप्य क्यो नहीं है ?

समाधान—तमनुपश्यतीति—क्योकि उस बुद्धिके वृत्ति-प्रत्ययको देखता हुआ पुरुष बुद्ध्यात्मक न होता हुआ भी—परमार्थसे बुद्धिके असमानरूप भी बुद्धि-सरूप-जैसा प्रतीत होता है; जैसे जपापुष्पसे स्फटिक जपापुष्प-जैसा प्रतीत होता है, वैसे ही पुरुष बुद्धिका अनुकारी हो जाता है । अर्थ—ग्रहण रूपसे बुद्धिस्थमें पुरुषकी अर्थाकारता ही सिद्ध होती है । प्रतिबिम्बरूपसे और मिथ्या सारूप्यसे पारमार्थिक असारूप्यका विरोध नहीं है । यथोक्त सारूप्य और वैरूप्यके विषयमें पञ्चशिखाचार्यके वाक्यको प्रमाणमें उपस्थित करते हैं—तथा चोक्तमिति—

भोक्तृशक्ति बुद्धिके समान परिणामिनी नहीं है, तथा बुद्धिवत् स्वविषयमें सक्रान्त उपरक्त भी नहीं होती है; क्योंकि विकारके हेतुके साथ सयोग ही उपराग है । अतः बुद्धिके विकार प्रतिबिम्बसे ही इसकी सिद्धि हो जाती है—पुरुषके विकारकी कल्पना करना व्यर्थ है । इन दो विशेषणो (शुद्ध वा प्रत्ययानुपश्य) से पुरुषका बुद्धिसे वैरूप्य दर्शाया है । अब बुद्धिसे पुरुषका सारूप्य दिखलानेके लिये पहले बुद्धिकी चिद्रूपताका उपपादन करते हैं—

परिणामीत्यर्थ इति—परिणामी अपना स्वार्थ विषय जो बुद्धि है उसमें प्रतिबिम्बरूपसे संक्रान्तकी भाँति उपरक्त-जैसी होती हुई चिति-शक्ति—तद्वृत्तिबुद्धिकी विषयाकार वृत्तिकी अनुयायी है—बुद्धिको चेतन-जैसी बना देती है—जैसे कि सूर्य जलमें पडकर जलको सूर्यवत् कर देता है । इससे बुद्धिके रूपको दिखलाकर पुरुषके बुद्धि-सारूप्यको दर्शाते हैं—

तन्मात्रेति—हि शब्द अवधारण-वाचक है—उस भोक्तृशक्तिकी भी ज्ञानवृत्ति—ज्ञानरूपा वृत्ति बुद्धि-वृत्तिसे अविशिष्ट ही—अभिन्न ही कही जाती है, इसमें हेतु है—प्राप्तेति—उपग्रह-उपराग है । उक्त रीतिसे प्राप्त चैतन्य उपरागके सदृश बुद्धिकी वृत्तिके अनुकरण करनेवाली—प्रतिबिम्बोद्ग्राहिणी—तन्मात्र-तया यह ज्ञान वृत्तिका विशेषण है तथा च परस्परके प्रतिबिम्बसे दोनोका ही चेतनत्व सुखादिपरिणामकत्व रूप सारूप्य कहा जाता है ।

इस सूत्रने जीव और ईश्वरको साधारणतासे ही चिन्मात्र कहा है । तथा च श्रुति और स्मृति हैं—

"चेतामात्रः प्रतिपुरुषं क्षेत्रज्ञः"

ज्ञानमेव परं ब्रह्म ज्ञानं बन्धाय चेष्यते । ज्ञानात्मकमिदं विश्वं न ज्ञानाद् विद्यते परम् ॥

चेतामात्र—प्रतिपुरुष—क्षेत्रज्ञ ।

ज्ञान ही परं ब्रह्म है, ज्ञान ही बन्धके लिये है, यह सब ज्ञानात्मक है, ज्ञानसे परे कुछ नहीं है । जो वैशेषिक आदि आत्माको ज्ञानका आश्रय मानते है, वे श्रुति और स्मृतिका विरोध होनेसे उपेक्षणीय है (मानने योग्य नहीं हैं) किं च लाघवसे प्रत्येक पुरुष एक-एक व्यक्ति ज्ञानमात्र नित्य है, यह सिद्ध हो जानेपर उस ज्ञानका आश्रय माननारूप गौरवकी कल्पना नहीं करनी चाहिये । "जानामि" इस प्रतीतिकी सयोग सम्बन्धसे ही उपपत्ति हो जाती है । जैसे कि इन्धन तेजस्वी है—यह प्रत्यय संयोग सम्बन्धसे प्रमा-ज्ञान है, ऐसे ही बुद्धिमे ज्ञान नामक द्रव्यके सयोग सम्बन्धसे ज्ञानवत्त्व प्रत्यय प्रमा ही है । लोगोके अहं (मै) प्रत्ययमें बुद्धि भी भासती है । अनादि मिथ्या ज्ञानकी वासनानामक दोषके प्रतिबन्धकतामें कोई प्रमाण नहीं है, अतः 'अह जानामि' यह अविद्वानोका प्रत्यय अहं अंशमें भ्रम है और

ज्ञानत्व अंशमें प्रमा है—यह बात हम दोनोंको समान ही है। विद्वानोंको तो 'जानामि' यह प्रत्यय प्रसिद्ध ही है। परमेश्वरकी सर्वज्ञताका व्यवहार लोकव्यवहारकी दृष्टिसे होता है, अधिक तो सांख्यके भाष्य आदिमें कहा है—इति दिक् ॥ २० ॥

सङ्गति—इस दृश्यका प्रयोजन पुरुषके लिये है, यह अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—तद्-अर्थ एव=उस= (द्रष्टा पुरुष) के लिये ही; दृश्यस्य-आत्मा=दृश्यका स्वरूप है।

अन्वयार्थ—उस पुरुषके लिये ही (यह सारा) दृश्यका स्वरूप है।

व्याख्या—ऊपर कहे हुए लक्षणानुसार दृश्यका जो स्वरूप है वह पुरुषके प्रयोजनके हेतु है; क्योंकि प्रकृति अपने किसी भी प्रयोजनकी अपेक्षा न करके केवल पुरुषके भोग और अपवर्गके लिये प्रवृत्त होती है। इसीको निम्न कारिका स्पष्ट करती है—

इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेषभूतपर्यन्तः।
प्रतिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥

इस प्रकार प्रकृतिसे किया हुआ महत्‌से लेकर विशेषभूतोतकका आरम्भ प्रत्येक पुरुषके मोक्षके लिये स्वार्थकी नाईं परार्थ है।

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ ५७ ॥

बछडेकी वृद्धिके निमित्त जिस प्रकार अचेतन दूधकी प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार पुरुषके मोक्षके लिये प्रधानकी प्रवृत्ति होती है।

नानाविधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः।
गुणवत्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥ ६० ॥

नाना प्रकारके उपायोसे यह उपकारिणी गुणवती (सत्त्व, रजस्, तमस् गुणवाली) प्रकृति उन अनुपकारी गुणरहित (गुणातीत) पुरुषके अर्थ नि.स्वार्थ काम करती है (जिस प्रकार परोपकारी सज्जन सबका भला करता है और अपना कोई प्रत्युपकार नहीं चाहता)।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद ॥ सूत्र २१ ॥ दृशिरूप पुरुषके कर्म और फलके भोगार्थ दृश्य है। उसकी प्रयोजन-सिद्धिके लिये ही दृश्यका आत्मा होता है अर्थात् स्वरूप होता है, यह अर्थ है। जड होनेके कारण दृश्यका स्वरूप (पर) चेतनरूपसे ही लब्ध होता है। इसलिये जिन पुरुषोंका भोग और अपवर्ग प्रयोजन सिद्ध हो गया है उनसे नहीं देखी जाती। अब प्रश्न होता है क्या स्वरूपके हानसे इस दृश्यका नाश हो जाता है ?

उत्तर—नाश नहीं होता ॥ २१ ॥

भोजवृत्तिभाषार्थ ॥ सूत्र २१ ॥

पूर्वोक्त लक्षणानुसार जो दृश्यका स्वरूप है वह उस पुरुषके भोक्तृत्व-प्रयोजन-सम्पादनार्थ है; क्योंकि प्रकृति अपने किसी भी प्रयोजनकी अपेक्षासे प्रवृत्त नहीं होती, किंतु पुरुषके भोक्तृत्व-सम्पादनके लिये प्रवृत्त होती है ॥ २१ ॥

विज्ञानभिक्षुके वार्त्तिकका भाषानुवाद ॥ सूत्र २१ ॥

बुद्धिसे अतिरिक्त द्रष्टाके विषयमे सूत्रकार प्रमाण कहते है—

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥

उस पुरुषके अर्थ है, प्रयोजन है भोग और अपवर्ग। भोग और अपवर्ग ही हैं प्रयोजन जिसके वह पुरुष है। यह मध्यमपदलोपी समास है—भोग और अपवर्ग-प्रयोजनवाला ही दृश्यका स्वरूप है—कार्य और कारणरूप तीनो गुण स्वार्थ नहीं है। इसमे अनुमानका यह प्रयोग है—

गुण परार्थ हैं—संहत्यकारी होनेसे, शय्यादिकी भाँति। इस अनुमानसे—बुद्धिसे अतिरिक्त पुरुष-नामक परकी सिद्धि होती है। इस अनुमानकी व्याख्या पूर्व सूत्रमें कर चुके हैं। तदर्थ ही दृश्य है इतना कहनेसे ही निर्वाह हो जाता। धातुका अर्थ जो दर्शन है उसमें अन्वयका भ्रम न हो इसके लिये आत्म-पदका प्रयोग किया है। तदर्थत्वमे युक्ति कहते हुए सूत्रकी व्याख्या करते है—

दृशिरूपस्येति—क्योकि दृशिरूप पुरुषका जो कर्मके सदृश कर्म-दर्शन, उस दर्शनकी विषयताको प्राप्त हुई वस्तु दृश्य होती है और दर्शन सब वस्तुओका प्रयोजन है यह बात सर्वसम्मत है, उसीके लिये गुणोका स्वरूप है। जो वस्तु पर-प्रयोजनके लिये हुआ करती है, वह पर-प्रयोजनके बिना एक क्षण भी नहीं ठहर सकती, नित्य या अनित्य प्रयोजनके बिना किसी भी परार्थ वस्तुकी स्थिति न दीखनेसे वह पुरुषार्थकी सिद्धिका कारण है, यह बात सिद्ध होती है। इस सूत्रसे यह सिद्ध है कि दृश्यकी सत्ता पर-चैतन्यके अधीन है ॥ २१ ॥

सङ्गति—क्या एक पुरुषके प्रयोजनको साधकर यह दृश्य नष्ट हो जाता है ? नही; क्योकि—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—कृतार्थं-प्रति-नष्टम्-अपि=जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया है उसके लिये नष्ट हुआ भी; अनष्टम्=(वह दृश्य) नष्ट नहीं होता; तद्-अन्य-साधारणत्वात्=क्योकि वह (दृश्य) दूसरोकी साझे-की वस्तु है।

अन्वयार्थ—जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया है उसके लिये यह दृश्य नष्ट हुआ भी नष्ट नहीं होता है; क्योंकि वह दूसरे पुरुषोके साथ साझेकी वस्तु है।

व्याख्या—इस सारे दृश्यकी रचना समस्त पुरुषोके भोग-अपवर्गके लिये है, न कि किसी विशेषके लिये। इसीलिये जिसका यह प्रयोजन सिद्ध हो गया है उसके लिये यद्यपि इस दृश्यका कार्य समाप्त और नाशके तुल्य हो जाता है, तथापि इसका सर्वथा नाश नही हो जाता; क्योकि एक पुरुषके मुक्त हो जानेसे सब मुक्त नहीं हो जाते। यह दूसरोके इसी प्रयोजनको साधनेमें लगा रहता है।

पुरुष शब्दके अर्थ यहाँ चित्त-प्रतिबिम्बित चिति-शक्ति (चेतन तत्त्व) अर्थात् जीवात्माके है। चित्तको बनानेवाले गुणोका जीवात्माके प्रयोजन भोग और अपवर्गको सम्पादन करनेके पश्चात् अपने कारणमें लीन हो जाना ही जीवात्माकी मुक्ति (कैवल्य) कही जाती है। चित्त, पुरुषका दृश्यरूप है। वही वृत्ति रूपसे अन्य सब दृश्योको पुरुषको बोध करानेका साधन है। एक चित्तके नष्ट होनेसे उससे दृश्यमान सारा जगत् भी उसके प्रति नष्ट होनेके तुल्य है, किंतु अनन्त जीवोके चित्त जिन्होंने (जीवोके) उनके प्रति भोग और अपवर्गका प्रयोजन सिद्ध नहीं किया है अपने विषय सारे दृश्यमान जगत्सहित वर्तमान रहते हैं।

जिस प्रकार आज दृश्य अनष्ट है उसी प्रकार सदा ही अनष्ट था और अनष्ट रहेगा। सांख्य सूत्र १।१५९ में भी ऐसा ही बतलाया गया है—'इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः।'

शङ्का—सब चित्तोंके बनानेवाले गुणोंके पुरुषके प्रति भोग और अपवर्गका प्रयोजन सिद्ध करनेके पश्चात् अपने कारणमें लीन हो जानेपर तो यह दृश्य सर्वथा विनष्ट हो जावेगा।

समाधान—ऐसी सम्भावना न करनी चाहिये; क्योंकि पुरुष (जीवात्मा) संख्या अनन्त है। असंख्यका कभी शेष नहीं होता।

असंख्य–असंख्य=असंख्य। श्रुति भी ऐसा बतलाती है। यथा "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते" अर्थात् "पूर्ण-पूर्ण=पूर्ण"। इसलिये यह दृश्य अपने स्वरूपसे सदासे था और सदा रहेगा। केवल कृतार्थ पुरुषके प्रति नष्ट होता है।

असंख्य पदार्थोंका गणित तत्त्व यह है—असंख्य+असंख्य=असंख्य, असंख्य–असंख्य=असंख्य, असंख्य×असंख्य=असंख्य, असंख्य–असंख्य=असंख्य; क्योंकि असंख्यका अधिक या कम नहीं है।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद ॥ सूत्र २२ ॥ कृतार्थ हुए एक पुरुषके प्रति यह दृश्य नष्ट अर्थात् नाशको प्राप्त हुआ भी अन्य पुरुषोंके साझेकी वस्तु होनेसे नाशको प्राप्त नहीं होता। कुशल पुरुषके प्रति नाशको प्राप्त हुआ भी यह दृश्य अन्य अकुशल पुरुषोंके प्रति कृतप्रयोजन नहीं हुआ है। इसलिये उन पुरुषोंकी रूप-विषयताको प्राप्त हुआ यह दृश्य चेतनरूप आत्माके द्वारा निजरूपसे लब्ध सत्तामात्र ही होता है। अभावको प्राप्त नहीं होता है। इस कारण (द्रष्टा) पुरुष और (दर्शनशक्ति) प्रकृतिके नित्य विद्यमान होनेसे इन दोनोंका संयोग अनादि कहा गया है। ऐसा ही पञ्चशिखाचार्यने कहा है।

धर्मिणामनादिसंयोगाद्धर्ममात्राणामप्यनादिसंयोगः।

अर्थात् (धर्मी) गुणोंके संयोगके अनादि होनेसे धर्मभूत महत्तत्त्वादिका संयोग भी अनादि है।

भोजवृत्ति भाषार्थ सूत्र २२—यद्यपि विवेकख्यातिपर्यन्त भोग सम्पादन करना धर्म होनेसे भी यह दृश्य कृतार्थ पुरुषके प्रति नष्ट हो जाता है अर्थात् व्यापार त्याग देता है। तथापि सब पुरुषोंके साधारण अर्थात् साझेकी वस्तु होनेसे अन्यके प्रति अनष्ट व्यापाररूपसे रहता है अतः सम्पूर्ण भोक्ताओंके साधारण होनेसे प्रकृतिकी कृतप्रयोजनता नहीं होती, न कभी उसका नाश होता है। एकके मुक्त होनेसे सब मुक्त नहीं हो जाते, ऐसा शास्त्रका भी सिद्धान्त है।

सगति—दृश्यका रूप दिखलाकर अब हेयका हेतु जो दृश्य और द्रष्टाका संयोग है, उसका वर्णन करते हैं।

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—स्वस्वामिशक्त्यो॰=स्व-शक्ति और स्वामी-शक्तिसंज्ञक (बुद्धि पुरुषके); स्वरूप-उपलब्धि हेतु=स्वरूपकी उपलब्धिका जो कारण है, संयोगः=वह (दृश्य-द्रष्टृका स्व-स्वामिभाव) संयोग है अर्थात् स्व-शक्ति और स्वामिशक्तिके स्वरूपकी उपलब्धि (दृश्य-द्रष्टृके स्व-स्वामिभाव) संयोगका कारण है।

अन्वयार्थ—स्व-शक्ति और स्वामी-शक्तिसंज्ञक स्वरूपकी उपलब्धिका जो कारण है वह (दृश्य-द्रष्टृका स्वस्वामिभाव) संयोग है। अर्थात् स्व-शक्ति और स्वामी-शक्तिके स्वरूपकी उपलब्धि

(दृश्य-द्रष्टृके स्व स्वामिभाव) संयोगके वियोगका कारण है ।

व्याख्या—चित्त और यह सारा जड दृश्य स्व (मिल्कियत) है । चेतन पुरुष इसका स्वामी है । शक्ति शब्दका अर्थ स्वभाव या स्वरूप है, दृश्य ज्ञेय है और द्रष्टा ज्ञाता है । दृश्य और द्रष्टा दोनों नित्य और व्यापक हैं, उनका स्वरूपसे भिन्न कोई संयोग नहीं हो सकता । जो दृश्यमें भोग्यत्व और द्रष्टामें भोक्तृत्व है वह अनादि कालसे है । इस दृश्यके भोग्यत्व और द्रष्टाके भोक्तृत्व-भावको ही सयोग नाम दिया गया है । यह संयोग अनादि कालसे चला आ रहा है । इसीके हटानेके हेतु स्वशक्ति और स्वामि-शक्तिके स्वरूपकी उपलब्धि की जाती है । अर्थात् स्वशक्ति और स्वामिशक्तिके स्वरूपकी उपलब्धि दृश्य-द्रष्टाके स्व-स्वामिभाव संयोगके वियोगका कारण है । यह दृश्यके स्वरूपकी उपलब्धि अर्थात् दृश्य स्वरूपका विवेकपूर्ण साक्षात् करना भोग है और द्रष्टाके स्वरूपकी उपलब्धि अर्थात् पुरुष-दर्शन या स्वरूप-स्थिति अपवर्ग है ।

गीतामें द्रष्टाको क्षेत्रज्ञ और दृश्यको क्षेत्र तथा साख्यकारिकामें दृश्यरूप जड प्रकृतिको अन्धे और द्रष्टारूप निष्क्रिय पुरुषको लँगडेकी उपमा देकर इनके परस्परके संयोगको दिखलाया है ।

यथा—

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ (गीता १३ । २६)

हे अर्जुन ! यावन्मात्र जो कुछ भी स्थावर-जङ्गम वस्तु उत्पन्न होती है उस सम्पूर्णको तू क्षेत्र (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (पुरुष) के संयोगसे ही उत्पन्न हुई जान अर्थात् प्रकृति और पुरुषके परस्परके सम्बन्धसे ही सम्पूर्ण जगत्की स्थिति है ।

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ २१ ॥ (साख्यकारिता)

पुरुषका दर्शनके लिये और प्रधानका मोक्षके लिये दोनोंका ही लँगडे और अन्धेकी तरह सयोग है । उससे की हुई (बनी हुई) सृष्टि है ।

यह द्रष्टा-दृश्यका संयोग जैसे अनादि है वैसे अनन्त नहीं है । पुरुष दर्शनपर्यन्त रहता है । पुरुष-दर्शनसे इसका अभाव हो जाता है । इसलिये पुरुष-दर्शन सयोगके वियोगका कारण है । दर्शन, अदर्शन (स्वरूप स्थितिका प्राप्त न होना अर्थात् अविवेक और आसक्तिके साथ चित्तवृत्तियोंका देखना) का विरोधी है । अतः जैसे दर्शन वियोगका निमित्तकारण है वैसे ही अदर्शन संयोगका निमित्तकारण है । अदर्शनका अभाव ही संयोगरूपी बन्धनका अभाव है, वही अपवर्ग अर्थात् मोक्ष है । दर्शनके होनेपर बन्धनके कारण अदर्शनका नाश हो जाता है ।

सक्षेपमें स्पष्ट शब्दोंमें सूत्रका अर्थ इस प्रकार समझना चाहिये ।

स्वशक्ति और स्वामिशक्तिके स्वरूपकी उपलब्धिका कारण संयोग है अर्थात् सयोग हटानेके लिये स्वशक्ति और स्वामिशक्तिके स्वरूपकी उपलब्धि की जाती है । स्वशक्ति अर्थात् दृश्यके स्वरूपकी उपलब्धि जो भोगरूप है सम्प्रज्ञात समाधिद्वारा और स्वामिशक्ति अर्थात् पुरुषके स्वरूपकी उपलब्धि जो अपवर्गरूप है, असम्प्रज्ञात समाधिद्वारा की जाती है । दृश्य और द्रष्टा अर्थात् चित्त और पुरुषका जो आसक्तिपूर्वक

स्वस्वामि अर्थात् भोग्यत्व और भोक्तृत्व-भाव सम्बन्ध है वह संयोग है। सूत्र १७ में सयोगको हेय-हेतु बतलाया है। यह सयोग ही वास्तवमें अस्मिता क्लेश २—६ है। जिसने चित्तरूप-स्व और पुरुषरूप स्वामीको जड-चेतनके संमिश्रणसे एक नये जीव भावको उत्पन्न किया है। इस सयोगके रहते हुए ही इसी सयोगको हटानेके लिये स्व और स्वामीके स्वरूपकी उपलब्धि की जाती है।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद सूत्र २३। संयोगके स्वरूपको प्रकाशित करनेकी इच्छासे इस सूत्रकी प्रवृत्ति होती है। पुरुष जो स्वामी है वह अपने दृश्यके साथ दर्शनार्थ संयुक्त है। इस सयोग-द्वारा दृश्यके स्वरूपकी जो उपलब्धि है वह भोग और जो द्रष्टाके स्वरूपकी उपलब्धि है वह अपवर्ग है। दर्शन कार्य (विवेकख्याति) पर्यन्त सयोग है। इसलिये दर्शनको वियोगका निमित्तकारण कहा है। दर्शन अदर्शनका विरोधी है। इसलिये अदर्शन सयोगका निमित्तकारण कहा गया है। अर्थात् जैसे दर्शन (विवेकख्याति) वियोगका कारण है वैसे ही अदर्शन (अविवेक) संयोगका कारण है। यहाँ दर्शन मोक्षका कारण नहीं है, (किंतु) अदर्शनके अभावसे ही जो बन्धका अभाव होता है वह मोक्ष है। दर्शनके होनेपर बन्धके कारण अदर्शनका नाश हो जाता है। इसलिये दर्शन अर्थात् (विवेकख्याति) ज्ञानको कैवल्यका कारण कहा गया है।

(उपर्युक्त कथनका अभिप्राय यह है कि दर्शन अर्थात् ज्ञान = विवेकख्याति अदर्शन अर्थात् अज्ञान=अविवेकका विरोधी होनेसे दर्शन अदर्शनका ही नाश करता है बन्धका नहीं, इसलिये दर्शन साक्षात् मोक्षका कारण नहीं है, किंतु अदर्शननिवृत्तिपूर्वक बन्धनिवृत्तिद्वारा परम्परासे मोक्षका कारण है अर्थात् अदर्शनके अभावसे बन्धका अभाव होता है यहाँ उसीको मोक्ष कहा है और दर्शनके होनेसे ही बन्धके कारण अदर्शनका अभाव होता है, इसलिये इस अभिप्रायसे ही दर्शन कैवल्यका कारण कहा जाता है। कैवल्य साक्षात् ज्ञानजन्य नहीं है।)

अब यहाँपर प्रसङ्गसे यह विचार किया जाता है कि जिस अदर्शन अविद्या, अज्ञानका दर्शन विवेकख्याति =ज्ञानसे अभाव होता है, वह अदर्शन किस स्वरूपवाला है अर्थात् अदर्शन किसका नाम है ?

१—क्या गुणोंमें जो कार्योंके आरम्भका सामर्थ्य है उसका नाम अदर्शन है ?

२—वा दृशिरूप स्वामीके भोग-अपवर्गरूप अर्थ जिस चित्तने सम्पादन कर दिया है ऐसे चित्तका अनुत्पाद (फिर उदय न होना) अर्थात आत्मदर्शनका अभाव अदर्शन है ?

३—वा गुणोंकी अर्थवत्ता (चित्तमें भोग-अपवर्गरूप अर्थकी सूक्ष्म अवस्थासे विद्यमानता) अदर्शन है ?

४—अथवा चित्तकी उत्पत्तिका बीजभूत और प्रलयकालमें चित्तके सहित ही प्रकृतिमें लीन जो विपर्यय ज्ञान वासना है वह अदर्शन है ? (यही पक्ष सिद्धान्त होगा)

५—अथवा प्रधानसम्बन्धी स्थिति-सस्कारके क्षय होनेपर गति-संस्कारकी अभिव्यक्ति अदर्शन है ? अर्थात् प्रधानमें दो प्रकारका संस्कार रहता है। एक स्थिति-संस्कार जो प्रलयकालीन साम्य अवस्थाका कारण है और एक गति-सस्कार जो महत्तत्त्वादि विकारोंका आरम्भ है। ऐसा ही पञ्चशिखाचार्यने कहा है—

प्रधानं स्थित्यैव वर्तमानं विकाराकरणादप्रधानं स्यात्।
तथा गत्यैव वर्तमानं विकारानित्यत्वादप्रधानं स्यात॥
उभयथा चास्य प्रवृत्तिः प्रधानव्यवहारं लभते।
नान्यथा कारणान्तरेष्वपि कल्पितेष्वेष समानश्चर्चः॥

अर्थात् "प्रधान यदि स्थिति (गुणोकी साम्य अवस्था=कारण अव्यक्तरूप) से वर्ते तो विकारके न करनेसे अप्रधान है और यदि गति (गुणोकी विषम अवस्था=कार्य=व्यक्तरूप) से ही वर्ते तो विकारके नित्य होनेसे अप्रधान है। दोनों तरह इसकी प्रवृत्ति प्रधान नाम पाती है, अन्यथा नही, जो और (आदि) कारण (माया, अविद्या, परमाणु) कल्पना किये गये है उनके विषयमें भी यही समान विचार है" एव गति संस्कारके होनेसे जो महदादिकार्यका आरम्भ है क्या उसका नाम अदर्शन है ?

६—और कोई यह कहते हैं कि "प्रधानस्यात्मख्यापनार्था प्रवृत्तिः" अर्थात् प्रधानकी प्रवृत्ति अपने स्वरूप ख्यापन (बोधन) के अर्थ है ? इस श्रुतिसे दर्शनशक्ति ही अदर्शन पदका वाच्य है। अर्थात् यद्यपि पुरुष सारे पदार्थोंके ज्ञानमें समर्थ है। तथापि प्रधानकी प्रवृत्तिसे पूर्व पुरुष उनको देख नहीं सकता, सारे कार्य करनेमे समर्थ दृश्य भी उस समय उसे दिखलायी नहीं देता अर्थात् अनुभवका विषय नहीं होता है। अत प्रधानकी प्रवृत्तिसे जो पुरुषका दर्शन-सामर्थ्य है अर्थात् प्रधानमें जो अनुभव करानेकी शक्ति है क्या उसका नाम अदर्शन है ?

७—कोई यह कहते है कि प्रकृति तथा पुरुष—इन दोनोमें जो परस्पर दर्शन-शक्ति है, वह अदर्शन है। यद्यपि दृश्य जड है और पुरुष असङ्ग निर्धर्मक है, इसलिये दोनोका ही धर्म दर्शन नहीं हो सकता तथापि चेतनके प्रतिबिम्बसे दृश्यको चेतन-तुल्य होनेसे उस चेतनके प्रतिबिम्बकी अपेक्षासे दृश्यका धर्म दर्शन और बुद्धिरूप दृश्यकी अपेक्षासे पुरुषका धर्म दर्शन जानना। अर्थात् बुद्धि और चेतनका परस्पर अविवेक होनेसे दोनोका ही जो दर्शन धर्म है वह अदर्शन है।

८—और कोई यह कहते हैं कि शब्दादि विषयोका जो ज्ञान है वही अदर्शन है।

इस प्रकार अदर्शन (अविद्या) के स्वरूप-निरूपणमें आठ प्रकारके सांख्यशास्त्रने विकल्प किये है; परतु यह सब विकल्प सब पुरुषोके सङ्ग प्रकृति सयोग कारण होनेसे साधारण हैं। अर्थात् यह सब पूर्वोक्त अदर्शन (अविद्या) का लक्षण उसीमे रह सकता है जो कि प्रकृति-पुरुषके सयोगद्वारा सारे प्रपञ्चका हेतु है। और जो अविद्या प्रत्येक पुरुषके सङ्गबुद्धि सयोगद्वारा सुख-दुःख-भोगके वैचित्र्य (विचित्रता) में हेतु है (संख्या ४) इसका यह लक्षण नही अतः यह लक्षण असाधारण है। अर्थात् संयोग दो प्रकारका है, एक सारे संसारका कारण और एक प्रत्येक पुरुषके सुख-दुःख, बन्ध-मोक्षका कारण। यहाँ प्रथम साधारण संयोगका हेतु जो अदर्शन है उसीके यह सब पूर्वोक्त लक्षण है। द्वितीय असाधारण संयोग (सख्या ४) के (हेतुभूत अदर्शनके) नहीं। प्रत्येक पुरुषके सङ्ग असाधारण बुद्धि-सयोगका कारण जो अविद्या है उसको अगले सूत्रमे बतलाते हैं।

भोजवृत्ति भाषार्थ सूत्र २३—कार्य (स्वरूपज्ञान) के द्वारा इस संयोगका लक्षण करते है। स्वशक्ति दृश्यका स्वरूप (स्वभाव) है, स्वामिशक्ति द्रष्टाका स्वभाव (स्वरूप) है। इन दोनो (हेय ज्ञातृरूप जानने योग्य और जाननेवालारूप) से वर्तमानकी जो स्वरूप-उपलब्धि है उसका जो कारण है वह सयोग कहलाता है। वह भोग्य-भोक्तृभाव-स्वरूपसे भिन्न और कुछ नहीं है। इन दोनों नित्य व्यापकोके स्वरूपसे भिन्न सयोग और कोई वस्तु नही है। जो कि भोग्य (दृश्य) में भोग्यत्व और भोक्तृ (द्रष्टा) में भोक्तृत्व है वह अनादि कालसे है और वही संयोग है।

इस संयोगका कारण बतलाते है—

व्यासभाष्यपर विज्ञानभिक्षुके वार्तिकका भाषानुवाद सूत्र २३

द्रष्टा और दृश्यका स्वरूप कह दिया अब उनके सयोगके स्वरूपप्रदर्शक सूत्रको उठाते है—सयोगस्वरूपेति—द्रष्टा और दृश्यका सामान्य संयोग हेय (संसार) का हेतु नहीं है; क्योकि सामान्य सयोग तो प्रलय और मोक्ष दोनो दशामे समान ही हैं, अतः संयोगगत विशेषका अवधारण करनेके लिये यह सूत्र प्रवृत्त होता है—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः सयोग —भोग्यताके योग्य होनेसे स्वशक्ति दृश्य है और भोक्तृ योग्य होनेसे स्वामिशक्ति द्रष्टा है; इन दोनोके स्वरूपकी उपलब्धिका हेतु जो संयोगविशेष है वह ही द्रष्टा-दृश्यका सयोग, यहाँ हेयका हेतु कहा है। विभुके साथ द्रष्टा और दृश्यका सामान्य संयोग सदा ही रहता है, अतः वह हेयका हेतु नहीं है, यह भाव है। वह संयोगविशेष—बुद्धिद्वारक-दृश्य बुद्धि-सत्त्व उपाधिरूप है, जिसको कि सर्ववर्मा इस भाष्यने कहा है, अत. दृश्यवाली बुद्धिके साथ संयोग ही यहाँ संयोग-विशेष है। आत्मेन्द्रियमनोयुक्त भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः । इन्द्रियो और मनसे युक्त आत्माको विचारशील भोक्ता कहते है। इस प्रकारकी श्रुति आदिसे लिङ्ग देह और आत्माके संयोगसे ही विषयका दर्शन जान पडता है, इससे भोक्ता और भोग्यकी योग्यता ही द्रष्टा और दृश्यका अनादिसम्बन्ध संयोग है। ऐसा माननेपर पुरुषमें परिणामिता आ जायगी। ऐसा जो किसीका कथन है, वह (कथन) सूत्रके स्वरस (अभिप्राय) से ही त्याज्य है। क्योकि ऐसा होनेपर "स्वस्वामिभावः सयोगः" इस प्रकारका सूत्र होना ही उचित है। सामान्य संयोग एक व्यक्ति अनादि होनेपर तो आगामी दो सूत्रोंसे उत्पत्ति और विनाशवचन संगत न हो सकेंगे ? चेतन और अचेतनके अतिरिक्त, प्रतिनियत योग्य-ज्ञानके अवच्छेदकका निरूपण नही किया है। वे दोनों (चेतन-अचेतन) मोक्षकालमें सामान्य होनेसे हेयके हेतु नही है। यदि स्वभुक्त वृत्तियोंकी वासनावाली प्रवाहरूपसे वासनाओकी जो अनादिता है, वही संयोग है—ऐसा कहे; तो भी इस प्रकारके सयोगको जो वक्ष्यमाण भाष्यमें अविद्याकी वासनासे जन्य कहा है, वह न घट सकेगा ? ऐसे संयोगके त्यागका अनौचित्य भी न बनेगा और जो यह कहा है कि सयोगसे पुरुष परिणामी हो जायगा, वह कथन परिणाम लक्षणके अज्ञानसे किया गया है; क्योंकि संयोग और विभागमात्रसे आकाश आदिमें परिणामका व्यवहार नहीं होता, अतः सामान्य गुणके अतिरिक्त धर्मकी उत्पत्ति ही परिणाम है—यह बात कही है। अन्यथा प्रतिसर्गमें प्रकृति और पुरुषका संयोग और विभाग जो श्रुति और स्मृतियोमें कहे हैं उनसे विरोध होगा, प्रतिसर्गमें योग्यताके उत्पादन और विनाश भी न घटेंगे; क्योंकि इससे पुरुषमें परिणामित्व दोष होगा, श्रुतिप्रतिपादित सयोग और विभागका ही उत्पादनादि क्रम उचित है। सूत्रार्थका विवरण करते हैं—पुरुष इत्यादिसे लेकर सोपवर्ग इसतक (पुरुष स्वामी अपने दृश्यके साथ दर्शनके लिये संयुक्त होता है, उस सयुक्त दृश्यकी उपलब्धि भोग है और द्रष्टाके स्वरूपकी उपलब्धि अपवर्ग है,) सूत्रमें स्वरूप पदका प्रयोग, विवेकख्यातिपर्यन्त दर्शन सामान्यकी संयोगजन्यताके प्रतिपादनके लिये है, अब "विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय" 'तस्य हेतुरविद्या', इन आगामी दोनो सूत्रोका अर्थ इसी सूत्रने उपपादित कर दिया है, अत. इस क्रमसे प्रतिपादन करते हैं—दर्शनाकार्येत्यादिसे कृतकृत्यका प्रयोजन नहीं रहता, अत उसकी अवस्थिति असम्भव है—अत दर्शन कार्यका अवसान—अन्त होनेतक ही सयोग है। अत दर्शन-द्रष्टाके स्वरूपकी उपलब्धि वियोगका कारण अर्थात् इस सूत्रसे कहनेके लिये

उपपादित है । तथा दर्शन अदर्शनका प्रतिद्वन्द्वी है—विरोधी है अतः अदर्शन संयोगका हेतु है, यह भी कह दिया अर्थात् सिद्ध कर दिया । दर्शन और अदर्शनके विरोधसे विरुद्ध ही वियोग और संयोगके दोनो कार्य भोग और अपवर्ग उचित ही है ।

शङ्का—अदर्शन संयोगका कारण है, तो अदर्शनके अभावसे ही संयोगकी निवृत्तिरूप मोक्ष हो जायगा, तब दर्शनको मोक्षका हेतु किस प्रकार कहा है ?

समाधान—यहाँ दर्शन मोक्षका कारण है—हमारे शास्त्रमें दर्शन-तत्त्वज्ञान मोक्षका कारण नहीं है; क्योंकि इसमें गौरव है, निरोध आदिका व्यवधान होनेसे मोक्षके अव्यवहित पूर्व कालमें नियमसे ज्ञानकी विद्यमानता असम्भव है, किंतु वक्ष्यमाणरूप अदर्शनके अभावसे ही द्रष्टा और दृश्यके संयोगका अभाव होता है और वही मोक्ष है । इससे अनिमित्ततया मोक्ष स्वाभाविकरूपसे नित्य है । यह बात सिद्ध हो जाती है ।

शङ्का—'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपाय.'—इस अग्रिम सूत्रसे विरोध है—दर्शन वियोगका कारण है, इस अपने कथनसे भी विरोध है ?

समाधान—दर्शनस्य भाव इति (दर्शनके होनेपर बन्धके कारण अदर्शनका नाश होता है, अतः दर्शन-ज्ञान कैवल्यका कारण कहा है), तथा च तत्त्वज्ञान मोक्षमें प्रयोजनमात्र है, उत्तर सूत्रसे असाधारण सयोगके हेतु अदर्शनका निश्चय करनेके लिये उक्त अदर्शनमें विकल्प करके पूछते हैं—किं चेदमिति—सयोगका कारण जो अदर्शन कहा है वह क्या है ? नाम पद वाक्यकी शोभार्थक है, यद्यपि संयोग दर्शनका कारण है, ऐसा सूत्र होनेसे—दर्शनका अनुत्पाद ही संयोगका हेतु है ? यह बात उपस्थित होती है, अन्य संयोगका हेतु नहीं है ? तो भी उस दर्शनके अनुत्पादके साथ समनियत होनेसे अन्योंको भी सशयकोटिमें समझना चाहिये ।

१. उनमेंसे प्रथम विकल्प है—क्या सत्त्वादि गुणोंका अधिकार कार्य आरम्भका सामर्थ्य—अदर्शन है ? ज्ञानरूप अग्निसे अदग्ध कार्यविशेषकी जननशक्ति जिसका कि अर्थ उससे भी ससारका हेतु सयोगविशेष उत्पन्न होता है । द्वितीय विकल्पको छोडकर सब विकल्पोमे बन्धके कारण सत्त्वादि गुणोका योग होनेसे अदर्शन शब्द गौण है ।

२. द्वितीय विकल्पको कहते है—आहोस्विदिति—(दृशिरूप स्वामीके दर्शित विषयप्रधान चित्तका अनुत्पाद अदर्शन है) अदर्शन—इसमें दर्शन शब्दका कारण साधनत्व (दृश्यते अनेन) प्रतिपादन करनेके लिये "दृशिरूपस्य स्वामिनः दर्शितविषयस्य" यह चित्तका विशेषण है, दृशिरूपाय—स्वामिने दर्शितो विषयो येन-तस्य-चित्तस्य—दृशिरूपस्वामिके लिये दर्शित विषय चित्तका (अनुत्पाद) (तात्पर्य) दृशिरूप स्वामीके लिये दर्शित है विषय जिस चित्तसे उस चित्तका अनुत्पादन अदर्शन है ? इस कहे हुएका (भाष्यकार) विवरण करते हैं—स्वस्मिन्निति—अपने चित्तमे पुरुषार्थरूपसे जो दृश्य है, शब्दादि वृत्तिरूप है । उसमे सत्त्व पुरुषकी अन्यता-वृत्तिके हो जानेपर—जो दर्शनका अभाव चित्तवृत्तिका अभाव है (क्या वह अदर्शन है) मोक्षकालीन दर्शनके अभावकी व्यावृत्तिके लिये—सतितकके शब्दोका प्रयोग है । सयोगका अहेतु होनेसे इस प्रकारका अदर्शन तो विचारणीय नहीं है, चित्तमें पुरुषार्थकी सत्ता होनेपर ही अदर्शन संयोगका हेतु होता है । यह भाव है ।

३. व्यर्थ होनेसे द्वितीय विकल्पके विशेष्य भागके परित्यागमात्रसे तृतीय विकल्पको कहते है—

किमर्थवत्तेति-सत्कार्यकी सिद्धिसे भावि भोग और अपवर्ग नामक जो अव्यपदेश्य हैं उनका अपने कारण गुणोंमें अवस्थान अदर्शन है।

४ चतुर्थ विकल्पको कहते हैं—अत्राविद्येति-पाँच पर्ववाली अविद्या प्रलयकालमें अपने चित्तके साथ गुणोंमें लीन हुई वासनारूपसे (रहती है) उनके आश्रय चित्तकी उत्पत्तिका बीज (अदर्शन है) तथा च—अविद्याकी वासना ही अदर्शन है। यह ही पक्ष सिद्धान्त होगा।

५. पञ्चम विकल्पको कहते है—किं स्थिति इति–प्रधाननिष्ठ असाम्य परिणामके हेतु स्थितिसंस्कार-के क्षय हो जानेपर, गतिसंस्कार जो कि महदादिरूप विसदृश परिणामका हेतु है उसकी अभिव्यक्ति अदर्शन है। उस गतिसंस्कारकी अभिव्यक्तिसे ही प्रकृतिमें क्षोभके द्वारा पुरुष और प्रकृति संयोग उत्पन्न होता है। उन दोनों संस्कारोंके सद्भावमें मतान्तरका प्रमाण देते है—यत्रेदमुक्तम् स्थित्यै और गत्यै—यह तादर्थ्यमें चतुर्थी विभक्ति है एवकारका दोनोंके पीछे अध्याहार करना चाहिये। स्थित्यैव—ऐसा पाठ हो तो विशेषणमें तृतीया विभक्ति समझनी चाहिये। तथा च प्रधान यदि स्थितिमात्रसे ही वर्ते तो विकारका जनक न होनेसे प्रधान ही न रहेगा, क्योंकि मूलकारणत्व ही प्रधानत्व है, और यदि गतिमात्रसे ही वर्ते तब महद् आदि भी प्रकृतिके समान नित्य हो जायँगे, तब कौन किसका मूल है—यह व्यवहार ही असम्भव हो जायगा, अतः दोनों प्रकारसे ही स्थिति और गति दोनों रूपसे ही प्रधानका अवस्थान प्रधान व्यवहारके योग्य है। कार्य होनेसे महदादिमें प्रधान व्यवहार नहीं होता। केवल मूल कारणमें ही स्थिति और गतिका कालभेदसे निर्णायक विचार नहीं है, किंतु कल्पित विकाररूप कारणके भेदोंमें भी महदादिमें चर्चा—विचार समान हैं—इस बातको प्रसङ्गसे भी निर्धारण करते हैं—नास्तिकोंके अकुर्वद्रूपतावादका निराकरण करनेके लिये—कारणान्तरेष्वपीति–वह चर्चा—यथा मृत्तिका आदि यदि स्थितिसे ही या निवृत्तिसे ही वर्ते तो—कभी भी घटके उत्पन्न न करनेसे उसके कारणत्वकी हानि होगी यदि गतिसे ही (प्रवृत्तिसे ही) वर्ते तब भी मिट्टी और घट एक कालमें होनेसे कार्यकारणकी व्यवस्था न हो सकेगी। अतः विकाररूप कारण भी स्थिति और गति दोनोंवाला—कारण नहीं होता।

६. षष्ठ विकल्पको कहते हैं—दर्शनशक्तिरेवेति—पुरुषके लिये अपनेको दिखलानेकी जो क्षमता है, वह दर्शनशक्ति है, वही अदर्शन है और यह शक्ति विवेकख्यातिके अनुत्पादरूपी संयोगका हेतु है—तथा सांख्यकारिकामें कहा है—दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या इति पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः—मैं देखी गयी हूँ इस कारण प्रकृति उपरत हो जाती है, पुरुषके दर्शनार्थ और प्रधानके कैवल्यार्थ—लँगड़े और अन्धेके समान दोनोंका ही संयोग होता है और उस संयोगसे किया हुआ—बनाया हुआ यह सर्ग-सृष्टि है। तृतीय विकल्पमें स्थित शब्द आदि वृत्तिके अनुत्पादके त्यागसे इस छठे विकल्पका भेद है। प्रधानकी दर्शन शक्ति होनेमें श्रुतिको प्रमाण देते है—प्रधानस्येति—काण्वशाखासे लुप्त शाखाकी यह श्रुति है।

७. सप्तम विकल्पको कहते हैं—सर्ववोध्य इससे लेकर अवभाससे इसतकसे, सर्ववोध समर्थ भी पुरुष प्रधानकी प्रवृत्तिसे पहिले नहीं देखता, इससे एक अदर्शन पुरुषनिष्ठ है—और दूसरा सब कार्योंके उत्पादनमें समर्थ स्वरूप योग्य भी द्रव्य—प्रधानत्व प्रधानकी प्रवृत्तिसे पूर्व पुरुषको दिखलायी नहीं देता, यह द्रव्यनिष्ठ अदर्शन है—इस प्रकार दोनों प्रकृति और पुरुषका अदर्शन धर्म है। यह कोई कहते है—यह भी 'अदर्शन है' यह वाक्य-शेष है।

शङ्का—जड अदर्शनात्मक है उसका धर्म अदर्शन कैसे हो सकता है; क्योंकि अभाव अधिकरणरूप होता है—अव्यभिचार होनेसे लाघवतया एकत्व सिद्ध है—और दृशिरूप पुरुषका भी अदर्शनरूप कैसे घटता है; क्योकि प्रकाशरूपका अप्रकाशरूप होना असम्भव है ।

समाधान—उन दोनो अदर्शनोमेसे यह एक अदर्शन दृश्य स्वरूपभूत भी दृश्यधर्मत्वसे विशिष्ट होता है, इसमें हेतु है पुरुषप्रत्ययापेक्ष, दृश्य प्रत्ययकी अपेक्षा करके—दृश्यगोचर प्रत्ययके अभावसे—यह अर्थ है ।

८. अष्टम विकल्पको कहते है—दर्शनज्ञानमिति—ज्ञान—वासनारूप है वह भी दृश्यके संयोगका हेतु है—भोगापवर्गरूप—अनागतावस्था दर्शन यहाँ नहीं कहा है; क्योकि अर्थवत्तासे पुनरुक्ति दोष हो जाता ।

उपसहार करते है—इत्यत इति—शास्त्रोमें ये अज्ञानके भेद तान्त्रिको—दर्शनकारोने कहे हैं । संयोगके भेदसे सब ही अदर्शनोकी हेतुताको सिद्धान्त बनाते हुए ही सयोगविशेषके हेतु अदर्शन विषय-परक उत्तर सूत्रको उतारते हैं । तत्र विकल्पेति—उस अदर्शनमें विकल्प बहुत है—भेद बहुत है, ये पुरुष सामान्य और गुण सामान्यके पुरुषार्थके हेतुके सयोग सामान्यके प्रति कारणतामें हैं, यह जानना चाहिये । जो प्रत्येक चेतनका तत्-तत् चेतनका अपनी बुद्धिके साथ सयोग है वह हेयका हेतु है—यह बात स्वस्वामि इत्यादि प्रकृत सूत्रने कही है । तस्य हेतुरविद्या—चतुर्थ विकल्परूप अदर्शन ही—इस सूत्रके साथ अन्वय (मेल खाता) है । प्रत्यक् चेतनस्य—इस पाठमे स्व-स्व बुद्धिके अनुगमशील चेतनका—यह अर्थ है । भाव यह है—अविद्याक्षयके बाद भी जीवन्मुक्तके भोगार्थ विषयरूपसे परिणत गुणोंके साथ संयोग उत्पन्न होता है—अत. अविद्या गुण और पुरुषके सामान्य सयोगका हेतु नहीं किंतु यथोक्त गुणोका अधिकार ही संयोगका हेतु है । स्वबुद्धिके साथ सयोग तो जन्म जिसका दूसरा नाम है उस अविद्याके विना नही होता है, अतः बुद्धि और गुणोके सयोगका असाधारण कारण अविद्या ही है—वही बुद्धि (अविद्या) संयोगके द्वारा द्रष्टा और दृश्यके संयोगकी हेतु विद्यासे उच्छेद्य—काटने योग्य है, इस आशयसे वह ही उत्तर सूत्रने सूचित किया है—गुणोके अधिकार आदि नहीं कहे; क्योकि उनका ज्ञानसे उच्छेद नही होता । एक पुरुषके मुक्त हो जानेपर भी दूसरे पुरुषोके लिये गुणोका अधिकार ज्यूँ-का-त्यूँ बना रहता है, जो पुरुषसे काटा जा सकता है वही हेयका निदान—हेतु इस शास्त्रका प्रतिपादनीय विषय है, अन्यथा—काल, कर्म, ईश्वर आदि (जो कि सब कार्योंके प्रति सामान्य कारण है) वे भी यहाँ प्रतिपादनका विषय बन जायेंगे ॥ २३ ॥

सङ्गति—अगले सूत्रमें अदर्शनरूपी सयोगका कारण बताते है—

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—तस्य हेतु = इस अदर्शनरूपी सयोगका कारण; अविद्या = अविद्या है ।

अन्वयार्थ—इस अदर्शनरूपी सयोगका कारण अविद्या है ।

व्याख्या—अदर्शनरूपी संयोगका कारण अविद्या अर्थात् मिथ्या-ज्ञान है; जिससे आत्मा और चित्तमें विवेक न होनेसे अभिन्नता प्रतीत होती है; और चित्तकी सुख, दुःख, मोहरूपी वृत्तियोंका पुरुषमें अध्यारोप होता है ।

तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम् ।
गुणकर्तृत्वे च तथाकर्तेव भवत्युदासीनः ॥२०॥ (साख्यकारिका)

इस कारण उनके संयोगसे (पुरुष और बुद्धिके अविद्याके कारण आसक्ति वा अविवेकपूर्ण संयोगसे)

अचेतन बुद्धि चेतन-सी और वैसे ही गुणोंके कर्त्ता न होनेपर भी उदासीन (पुरुष) कर्त्ता-जैसा प्रतीत होता है।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥ (गीता अ० ३)

वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोद्वारा किये हुए हैं तो भी अहंकारसे मोहित हुए अन्तःकरण-वाला पुरुष 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा मान लेता है अर्थात् अहभाव पैदा कर लेता है ।

सूत्र २३ में बतला आये है कि सयोग ही अस्मिता क्लेश २—६ है । इस सयोगका कारण अथवा अस्मिता क्लेशका क्षेत्र अविद्या है । वह सत्त्व चित्तमें जो लेशमात्र तम है उसमें वर्तमान है । विवेक-ख्याति-की अवस्थामें सत्त्वकी विशुद्धताके कारण यह अविद्यारूप तम दग्ध बीजभावको प्राप्त होकर इस अत्यन्त सात्त्विक अक्लिष्ट वृत्तिको केवल रोकनेमात्र कार्य करता है ।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद सूत्र २४ । जो प्रत्यक चेतन (अन्तरात्मा) का स्वबुद्धिके साथ सयोग है उस असाधारण संयोगका हेतु अविद्या अर्थात् विपर्यय ज्ञान वासना है । अविद्याका अर्थ है अनादिविपर्ययज्ञानजन्य वासना (वही असाधारण सयोगका हेतु है) ।

विपर्ययज्ञानकी वासनासे वासित जो बुद्धि है वह न तो कार्यमें निष्ठाको प्राप्त होती है (अधिकार-को समाप्त करती है) और न पुरुषख्यातिको प्राप्त होती है । साधिकार होनेसे पुनरावृत्तिशील हो जाती है । किंतु पुरुषख्याति पर्यवसान हुई बुद्धि अपने अन्तिम कार्यनिष्ठाको प्राप्त हो जाती है । वह समाप्त अधिकार हुई अज्ञानसे रहित होकर बन्धके कारणके अभाव हो जानेसे पुनरावृत्तिरहित हो जाती है । यहाँ-पर किसी नास्तिकने एक नपुसकके दृष्टान्तसे उपर्युक्त कथनका खण्डन उपहासके साथ किया है । एक अबोध स्त्री अपने नपुसक पतिसे कहती है "आर्यपुत्र मेरी बहिन तो पुत्रवती है मै क्यों नहीं हूँ" ? वह उसको उत्तर देता है 'मै मरकर तेरे लिये पुत्र उत्पन्न कर दूँगा" इसी प्रकार यह विद्यमान ज्ञान चित्तनिवृत्ति नहीं करता है तो फिर नष्ट होकर करेगा—इसकी क्या आशा करनी चाहिये (अर्थात् जब विद्यमान विवेकख्याति चित्तनिवृत्तिरूप मोक्ष नहीं उत्पन्न कर सकती तो परवैराग्यद्वारा विनष्ट होकर मोक्ष उत्पन्न करेगी इसकी कम आशा हो सकती है) इसका उत्तर एक आचार्यदेशीय अर्थात् एक साधारण बुद्धिवाले आचार्यने इस प्रकार दिया है कि चित्तके भोग-अपवर्गरूप परिणामोकी निवृत्तिका नाम मोक्ष है । और चित्तके भोग-अपवर्गरूप परिणाम निवृत्ति अदर्शनके अभावसे होती है । वह अदर्शन बन्धका कारण है । उसकी निवृत्ति विवेक-दर्शनसे होती है । विवेक-दर्शनकी निवृत्ति परवैराग्यसे होती है । चित्तके ऐसे स्वरूप होते ही मोक्ष होता है । फिर उस नास्तिकका उपहास व्यर्थ ही है ।

नोट—यहाँ व्यासजीने यह दिखलाया है कि एकदेशीय अर्थात् साधारण बुद्धिवाला आचार्य भी नास्तिककी इस आशङ्काका परिहार कर सकता है तो इसके उत्तर देनेसे कोई प्रयोजन नहीं है । साख्य-योगके विद्वान् आचार्यका तो यह मत है कि चित्तकी निवृत्ति ही मोक्ष है । चित्तकी निवृत्तिका साक्षात् कारण विवेकदर्शन नहीं है; किंतु स्थिर विवेकख्यातिमें परवैराग्य उदय होता है । परवैराग्यसे असम्प्रज्ञात समाधि । असम्प्रज्ञात समाधिके अधिकत्वके क्रमसे निरधिकार चित्तकी निरिन्धन अग्निके सदृश अपने कारणमें स्वरूप निवृत्ति होती है । इसलिये परवैराग्यद्वारा चित्तनिवृत्तिका कारण विवेकदर्शन है । इसलिये नास्तिकका उपहास निरर्थक है ।

भोजवृत्ति-भावार्थ सूत्र २४ । पूर्व जो विपर्यय मोहरूप अविद्या कहा है वह अविवेकख्यातिरूप संयोगका कारण है ।

व्यासभाष्यपर विज्ञानभिक्षुके वार्त्तिकका भाषानुवाद सूत्र २४

तस्य हेतुरविद्या—उस द्रष्टा और दृश्यके संयोगका बुद्धि और पुरुषके संयोगद्वारा अविद्या हेतु है । भाष्यकारने सूत्रकारके तात्पर्यके अभिप्रायसे ही 'तस्य' इस पदका अर्थ 'बुद्धि-संयोगस्य' किया है, साक्षात् ही नहीं; क्योंकि द्रष्टाका दृश्यके साथ सामान्य संयोग ही पूर्वसूत्रमें प्रकृत है । (प्रकरणमे आया हुआ है) । बुद्धिसंयोगस्येति; अविद्या यहां अनात्ममें आत्मबुद्धिमात्र है; क्योंकि वह ही यहाँ बुद्धिके साथ संयोगका कारण है और अनित्यादिमें नित्यादि बुद्धिरूप अविद्या जो आगे कहेंगे उसकी विवेकख्यातिसे निवृत्ति भी नहीं होती है । और वह अविद्या बुद्धिके संयोगसे जन्य है, अतः बुद्धिसंयोगके अव्यवहितपूर्व कालमें होनी चाहिये । (अनात्ममें आत्मबुद्धि तो सम्भव है, अनित्यादिमें नित्य बुद्धि-रूप सम्भव नहीं है) अतः भाष्यकार कहते हैं—'विपर्ययेति'—सर्गान्तरीय अविद्या स्वचित्तके साथ निरुद्ध हो जाती है—उसकी वासना प्रधानमें स्थित रहती है । उससे वासित प्रधान उसी पुरुषकी संयोगिनी उस प्रकारकी बुद्धिको उत्पन्न करता है, अतः अनादि होनेसे दोष नहीं है । अविद्याकी वासनामें बुद्धि और पुरुषका संयोग हेतु है—इसमें युक्ति कहते हैं—विपर्ययेति—विपर्यय ज्ञानकी वासनाओंके बलसे पुरुषख्यातिरूप-कार्यनिष्ठारूप स्व-कर्तव्यकी शक्तिसे अवधिको बुद्धि प्राप्त नहीं होती अतः साधिकार होनेसे पुनः लौट आती है—पुरुषके साथ संयुक्त हो जाती है । वही बुद्धि पुरुषान्यताख्यातिपर्यन्त हुई परवैराग्यके उत्पन्न कर देनेसे समाप्तिको प्राप्त होती है । तत'—चरिताधिकारो (जिसका अधिकार समाप्त हो चुका है) निष्पादितकार्या (जिसने अपना कार्य भोग और विवेकख्याति सम्पन्न कर दिया है) निवृत्ताविद्या (जिसने अविद्याको निवृत्त कर दिया है) हुई बुद्धि संयोग नामक बन्धके कारणके अभाव होनेसे फिर पुरुषसे संयुक्त नहीं होती । तथा च अन्वय और व्यतिरेकसे विपर्यय वासनाबुद्धि पुरुषके संयोगका हेतु है, यह भाव है । पुरुषख्यातिसे चित्तकी निवृत्ति होती है, जो यह कहा है इस विषयमे नास्तिकके आक्षेपके निराकरण करनेका इच्छुक—उसको दिखलाते हैं । 'अत्र क्वचित् पण्डक'के उपाख्यान—दृष्टान्तसे उद्घाटन करते है—आक्षेप करते हैं—नपुसकके आख्यानको ही कहते हैं—'मुग्धया' इत्यादिसे लेकर 'उत्पादयिष्यति'—इस तकसे । वह पण्डक उस अपनी भार्याको विनष्टमिति—विनष्ट—परवैराग्यसे निरुद्ध—ज्ञान—जो कि चित्तकी निवृत्तिरूप है—मोक्षको करेगा—मुक्ति देगा, यह नास्तिककी प्रत्याशा है—यह अर्थ है । उपेक्षाको सूचित करनेके लिये—पूर्वाचार्यके वचनोसे इस विषयमें सिद्धान्तको कहते हैं—ईषद् असमाप्त आचार्य आचार्यदेशीय होता है (अर्थात् जो आचार्य तो नहीं है परतु लगभग आचार्य-जैसा है) । जिस बातके उत्तरकी आचार्यलोग उपेक्षा कर देते हैं, उसका भी उन्होने उत्तर दिया है, वही उनकी आचार्य-देशीयता है । आचार्य वह है जिसका स्वरूप वायुपुराणमें कहा है—

आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि । स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते ॥ इति

शास्त्रके अर्थोंका (उद्देशो—प्रयोजनोंका) जो संचय करता है, जनताको सदाचारमें नियुक्त करता है और स्वयं भी सदाचारी है, वह आचार्य कहा जाता है । ननु-शब्द यहाँ सम्बोधनवाचक है, यो कह सकते हैं—ज्ञान साक्षात् मोक्षका हेतु नहीं है, किंतु अविद्या नामक अदर्शनकी निवृत्ति तत्कार्य-निरोध-

योगद्वारा मोक्षका हेतु है। तथा च विनष्ट भी ज्ञानबुद्धि पुरुष वियोगरूप मोक्षका व्यापारद्वारा कारण सम्भव है।

शङ्का—यदि यह आचार्यदेशीय ही है तो क्या बुद्धि-चित्त आदि नामक अन्त.करणकी निवृत्ति ही मोक्ष नहीं है ?

समाधान—तत्र चित्तेति—चित्तनिवृत्ति मोक्ष होता ही है; किंतु उस विषयमें वेमौके ही इस नास्तिकको बुद्धिका मोह व्यर्थ है, इसलिये यहाँ उपेक्षणीय विषयमें समाधान करनेवालेकी आचार्यदेशीयता है, यह बात कही है ॥ २४ ॥

सङ्गति—सूत्र १६ में हेय जो दु.ख है, १७ में हेय-हेतु द्रष्टा और दृश्यका सयोग जो दु:खका कारण है, २३ मे स्वशक्ति और स्वामिशक्तिके स्वरूपकी उपलब्धि जो संयोगके वियोगका कारण है और २४ में सयोगका कारण अविद्या बतलाकर अब अगले सूत्रमें हान अर्थात् अविद्याके कारण सयोगके नाश-को जो कैवल्य है उसको बतलाते है—

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—तदभावात्=उसके (अविद्याके) अभावसे; सयोगाभाव:=सयोगका अभाव, हानम्=हान है, तत्-दृशे:=वह चिति शक्ति (द्रष्टा) का; कैवल्यम्=कैवल्य है।

अन्वयार्थ—उसके (अविद्याके) अभावसे (अदर्शनरूपी) सयोगका अभाव 'हान' है। वह चिति-शक्तिका कैवल्य है।

व्याख्या—अविद्याके विरोधी यथार्थ ज्ञानसे अविद्याका विच्छेद हो जाता है। अविद्याके अभाव होनेपर अविद्याके कार्य 'सयोग' के अभावको 'हान' कहते हैं। निराकार वस्तु 'सयोग' का मूर्त-द्रव्यके तुल्य छोडना नहीं होता है; किंतु अज्ञानसे जन्य संयोग अपने-आप ही निवृत्त हो जाता है। अर्थात् पुरुष-का अपने स्वरूपको भूल-जैसा होकर चित्तको अपने-से भिन्न न समझते हुए केवल उसकी बाह्य वृत्तियोंको ही देखते रहना जो संयोग है उसका कारण अदर्शन सूत्र तेईसमें बतलाया था, और इसका कारण पिछले सूत्रमें अविद्या बतला दी गयी है। इस अविद्याके नाशसे अदर्शनका और अदर्शनके नाशसे संयोगका स्वयं नाश हो जाता है। इस संयोगका नाश होना ही 'हान' है, अर्थात् दु:खका अपने कारणसहित नाश हो जाना। यह हान ही चिति-शक्ति (पुरुष) का कैवल्य अर्थात् केवल हो जाना, निखर जाना, स्वरूप-स्थिति, मोक्ष अर्थात् शुद्ध परमात्म-स्वरूपमें अवस्थिति है।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद सूत्र २५। इस अदर्शनके अभावसे बुद्धि और पुरुषके सङ्गका अभाव ही अत्यन्त दु खकी निवृत्ति है, यह अर्थ है; यही "हान" कहलाता है। यह द्रष्टाका कैवल्य है। यह पुरुषका अमिश्रीभाव है अर्थात् इसके पश्चात् फिर कदापि गुणोसे सयोग नहीं होता। दु:खके कारण-की निवृत्ति होनेपर दु.खकी निवृत्ति ही परम हान है। तब पुरुष स्वरूप-प्रतिष्ठित हो जाता है अर्थात् शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थित हो जाता है।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद सू० २५। अविद्याके विरोधी यथार्थ ज्ञानसे अविद्याका उच्छेद हो जाता है। अविद्याके अभाव होनेपर उसके कार्य संयोगका भी जो अभाव होता है वही 'हान' कहलाता है। सूर्त द्रव्यके समान इसका परित्याग नहीं होता है, किंतु विवेकख्यातिके उदय होनेपर अविवेक निमित्त संयोग स्वयं ही निवृत्त हो जाता है। यही इस संयोगका 'हान' है। यह जो संयोगका नाश है वही स्वरूपसे

नित्य केवली (शुद्ध-स्वरूप) पुरुषका कैवल्य कहलाता है ।

सङ्गति—इस 'हान' की प्राप्तिका उपाय बतलाते हैं—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—विवेक-ख्याति=विवेकज्ञान; अविप्लवा=शुद्ध, निर्मल, अडोल अर्थात् संशय विपर्ययरहित; हानोपायः=हानका उपाय है ।

अन्वयार्थ—शुद्ध विवेकख्याति हानका उपाय है ।

व्याख्या—विवेक दृश्य-द्रष्टाके भेद; और ख्याति नाम ज्ञानका है । इसलिये चित्त और पुरुष इन दोनोंकी भिन्नताका ज्ञान; अथवा यह ज्ञान कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और चित्त मुझसे भिन्न हैं, विवेकख्याति है । यह विवेकज्ञान आगम अर्थात् आचार्यके उपदेश और शास्त्रोंके पढ़ने तथा अनुमानसे भी उदय होता है, पर यह परोक्ष ज्ञान है; और अनादि अविद्याके निवृत्त करनेमें असमर्थ होता है । मिथ्या-ज्ञानजन्य व्युत्थानके संस्कार चित्तमें बने रहते है और तामस-राजस वृत्तियाँ उदय होती रहती है । यह विवेकख्याति विप्लवसहित है । विप्लवके अर्थ विच्छेद हैं अर्थात् जिसमें बीच-बीचमें राजसी-तामसी वृत्तियोंका उदय होना बना रहे । इसलिये ऐसा विवेक-ज्ञान हानका उपाय नहीं है । यह ज्ञान जब दीर्घकाल निरन्तर सत्कारपूर्वक प्रतिपक्षभावनाके बलसे अर्थात् क्लेशके विरोधी क्रिया-योगके अनुष्ठान-बलसे अविद्याके विरोधी तत्त्वज्ञान, अस्मिताके विरोधी भेदज्ञान, राग-द्वेषके विरोधी मध्यस्थता, अभिनिवेशके विरोधी सम्बन्ध-ज्ञान निवृत्तिके अनुष्ठानसे जब परिपक्व हो जानेपर समाधिद्वारा साक्षात् कर लिया जाता है तो वह अपरोक्ष ज्ञान होता है । इससे अविद्याके नाश हो जानेपर कर्तृत्व-भोक्तृत्व अभिमानसे रहित और राजस-तामस मलोंसे शून्य चित्त हो जाता है । तब सत्त्वगुणके प्रकाशमें चित्तमें चेतनका जो प्रतिबिम्ब अर्थात् प्रकाश पड़ रहा है और जिसके कारण चित्तमें चेतनता प्रतीत हो रही है, चित्तसे भिन्न उसका साक्षात्कार होता है । यद्यपि यह साक्षात्कार भी चित्तके द्वारा होता है इसलिये चित्तहीकी एक सात्त्विक वृत्ति है तथापि इसके निरन्तर अभ्याससे विवेक-ज्ञानका प्रवाह निर्मल और शुद्ध हो जाता है, क्लेशोंका सर्वथा नाश होता है और मिथ्या-ज्ञान दग्धबीजके तुल्य बन्धनकी उत्पत्ति करनेमें असमर्थ हो जाता है । यही अविप्लव अर्थात् अडोल, अविच्छेद निर्मल हानका उपाय है ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ (गीता १३ । १४)

इस प्रकार क्षेत्र (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (पुरुष) के भेदको तथा विकारसहित प्रकृतिसे छूटनेके उपायको जो पुरुष ज्ञाननेत्रोंद्वारा (विवेकख्यातिद्वारा) तत्त्वसे जान लेते हैं, वे महात्माजन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त होते हैं ।

विवेकख्यातिकी स्थितिको अर्थात् जब विवेक ख्याति निरन्तर बनी रहे तब उसको अविप्लव विवेक ख्याति कहेंगे । इसीका नाम धर्ममेघ समाधि है । यही जीवन्मुक्तिकी अवस्था है । हानका उपाय अविप्लव विवेकख्याति बतलाया है । विवेकख्यातिमें जो आत्मसाक्षात्कार होता है उससे चित्त इतना विशुद्ध हो जाता है कि यह विवेकख्याति भी चित्तकी ही एक वृत्ति प्रतीत होने लगती है । इस प्रकार इस विवेकख्यातिसे भी जो आसक्तिका हट जाना है उसीका नाम पर वैराग्य है ।

"तत्परं पुरुष ख्यातिर्गुणवैतृष्ण्यम्"

विवेकख्यातिमें जो आत्मसाक्षात्कार होता है उस आत्मसाक्षात्कारसे जो इस विवेकख्यातिकी वृत्तिसे भी आसक्तिका हट जाना है वह पर वैराग्य है।

इससे विवेकख्यातिमें इस वृत्तिको चलानेवाला रज और इस वृत्तिको स्थिर करनेवाला तमको सर्वथा दबाकर सत्त्व भी रज और तमके बिना इस वृत्तिको चलानेमें असमर्थ हो जाता है। तब चित्तमें किसी भी वृत्तिके न रहनेपर केवल आत्मप्रकाश रह जाता है और आत्मा शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थित हो जाता है। इसीको असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। विवेकख्यातितक आत्मा चित्ताकार प्रतीत होता है और असम्प्रज्ञात समाधिमें चित्त आत्माकार होता है। अविप्लव विवेकख्यातिमें किस प्रकारकी प्रज्ञा होती है यह अगले सूत्रमें बतलायेंगे।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भावार्थ ॥ सूत्र २६ ॥

अब हानका उपाय क्या है ? यह बतलाते हैं।

बुद्धि और पुरुषकी भिन्नताका ज्ञान विवेकख्याति है और वह मिथ्याज्ञान जिससे निवृत्त हो गया है, ऐसी विवेकख्याति अविप्लव अर्थात् शुद्ध और निर्मल कहलाती है। जब मिथ्याज्ञान दग्धबीजके समान बन्धनकी अनुत्पत्तिके योग्य होता है तब रजोगुणनिमित्तक क्लेशके दूर हो जानेपर सत्त्वके परम प्रकाशमें परमवशीकारसंज्ञक वैराग्यमें वर्तमान हुए योगीके विवेकज्ञानका प्रवाह शुद्ध होता है। वह निर्मल विवेकख्याति हानका उपाय है। उससे मिथ्याज्ञान दग्धबीज-भावको प्राप्त हो जाता है। पुनः उत्पत्तिके योग्य नहीं होता। यह मोक्षका मार्ग है। यही हानका उपाय है।

व्यासभाष्यपर विज्ञानभिक्षुके वार्तिकका भावानुवाद सूत्र २६

इससे परे हानोपाय व्यूहके चतुर्थ पादका भी वाच्य कहाँतक है—इस विषयमें चतुर्थ व्यूहके प्रतिपादक सूत्रको उतारते हैं—अथेति—बुद्धिके संयोगकी निवृत्ति ही साक्षात् दुःखके हानमें कारण है। विवेकख्याति तो बुद्धिके संयोगके हेतु अविद्याकी निवर्त्तक होनेसे परम्परा सम्बन्धसे दुःखके हानका हेतु है। इस बातको भाष्यकारने प्राप्ति-शब्दसे सूचित किया है।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः—

विवेकख्यातिकी साक्षात्काररूप निष्ठाको सूचित करनेके लिये—उसका 'अविप्लवा' विशेषण दिया है (आरम्भमें अभ्यासीको क्षणिक विवेकख्याति होती है। उसीको पर्याप्त समझकर योगी प्रयत्नको ढीला न कर दे, इसलिये अविप्लवा—कभी भी न हटनेवाली विवेकख्याति मोक्षका उपाय है, यह सूचित किया है) उसमें अविप्लव शब्दसे यह अर्थ कैसे निकलता है, इस आकाङ्क्षाके लिये कहते हैं—मिथ्याज्ञानके संस्कारोंके कारणसे विवेकख्याति प्लवित हो जाती—मिथ्याज्ञानके संस्कारोंसे बीचमें वह अभिभूत हो जाती है। यदेति—जब साक्षात्कारकी दशामें सूक्ष्म मिथ्या ज्ञान—अनागत-अवस्थामें हो, दग्ध-बीजके समान हो, उसका विवरण है—वन्ध्य-प्रसव, यह मिथ्या ज्ञानका प्रसव-सामर्थ्य वन्ध्या हो जाता है (उत्पादनकार्यके योग्य नहीं रहता), तब जिसकी क्लेशधूलि धुल गयी है, उस बुद्धि-सत्त्वके परवैशारद्य—वैलक्षण्य होनेपर—इसीका विवरण है—परस्या वशीकारसंज्ञायाम्—परवशीकारसंज्ञक वैराग्यमें वर्तनेवाले बुद्धि-सत्त्वके—परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः—इस सूत्रोक्त जो

इच्छाका अप्रतिघातरूप है, उसमें वर्तमान बुद्धि सत्त्वका विवेकख्याति प्रवाह निर्मल—मिथ्या ज्ञानसे अकलुषित होता है, अतः वह विवेकख्याति अविप्लवा कहलाती है । वह साक्षात्काररूपिणी विवेकख्याति हानका उपाय है । किसके द्वारा हानका उपाय है, इस आकाङ्क्षाके विषयमें कहते हैं—उस विवेकख्यातिसे सूक्ष्मरूप मिथ्याज्ञान दग्धबीज हो जाता है । फिर वह नहीं जमता, इस प्रकारसे यह विवेकख्याति-रूप—चित्तकी निवृत्ति आदिरूप—मोक्षका मार्ग है—इसीका विवरण है हानोपाय—

शंका—इस प्रकार ज्ञानसे ही दुःखहान नामक मोक्षकी प्राप्तिके वचनसे असम्प्रज्ञात योगका प्रयोजन क्या रहा ?

समाधान—परवैराग्यजन्य असम्प्रज्ञात योगको भी यहाँ ज्ञानके द्वारा ही मोक्षकी हेतुता है—यह आशय है ॥ २६ ॥

टिप्पणी—सूत्र २६ । बौद्ध दर्शन—बौद्धधर्ममें 'हान' के स्थानमें 'तृतीय आर्य सत्य' 'दुःखनिरोध' (निर्वाण) बतलाया गया है ।

दुःखनिरोध (निर्वाण)—तीसरे आर्य सत्यका नाम 'दुःखनिरोध' है । निरोध शब्दका अर्थ नाश या त्याग है । यह सत्य बतलाता है कि दुःखका नाश होता है । बुद्धने भिक्षुओके सामने इस सत्यकी इस प्रकार व्याख्या की है—

"इदं खोपन भिक्खवे दुक्खनिरोधं अरियसच्चं । सो तस्सायेव तण्हाय असेस विराग निरोधो चागो पटिनिस्सागो मुत्ति अनालयो ।"

अर्थात् दुःखनिरोध आर्यसत्य उस तृष्णासे अशेष—सम्पूर्ण वैराग्यका नाम है; इस तृष्णाका त्याग, प्रतिसर्ग, मुक्ति तथा अनालय (स्थान न देना) यही है ।

दुःखके कारणका दूसरे आर्यसत्यमें विवरण दिया गया है । उस कारणको यदि नष्ट कर दिया जाय, तो कार्य आप-से-आप स्वतः नष्ट हो जायगा । अतः कार्य-कारणका सम्बन्ध ही इस सत्यकी सत्ताका पर्याप्त प्रमाण है ।

दुःखनिरोधकी ही लोकप्रिय सज्ञा 'निर्वाण' है । तृष्णाके नाश कर देनेसे इसी जीवनमें पुरुष उस अवस्थापर पहुँच जाता है—जिसे निर्वाणके नामसे पुकारते है । 'अंगुत्तर निकाय' में निर्वाणप्राप्त पुरुषकी उपमा शैलसे दी गयी है—

सैलो यथा एकघनो वातेन न समीरति । एवं रूपा, रसा, सद्दा, गन्धा, फस्साच केवला ॥
इट्ठा धम्मा अनिट्ठा च, न पवेधन्ति तादिनो । ठितं चित्तं विप्प मुत्तं वसं यस्सानु पस्सति ॥

(अंगुत्तर निकाय ३ । ५२)

अर्थात् प्रचण्ड झंझावात पर्वतको स्थानसे च्युत नहीं कर सकता, भयंकर आँधीके चलनेपर भी पर्वत एक रस, अडिग, अच्युत बना रहता है । ठीक यही दशा निर्वाण-प्राप्त व्यक्तिकी है । रूप, रस, गन्धादि विषयोके थपेडे उसके ऊपर लगातार पडते रहते हैं, परतु उसके शान्त चित्तको किसी प्रकार भी क्षुब्ध नहीं करते । आश्रयोसे विरहित होकर वह पुरुष अखण्ड शान्तिका अनुभव करता है ।

नागार्जुनने माध्यमिक कारिकाके २५ वे परिच्छेदमें निर्वाणकी व्याख्या इस प्रकार की है ।

अप्रहीणमसम्प्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम् । अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते ॥

निर्वाण न छोड़ा जा सकता है, न प्राप्त किया जा सकता है। यह न तो उच्छिन्न होनेवाला पदार्थ है और न शाश्वत पदार्थ है। यह न निरुद्ध है और न उत्पन्न।

हीनयान तथा महायान दोनोंके ग्रन्थोंमें निर्वाणका सामान्य स्वरूप इस प्रकार है—

(१) यह शब्दोंके द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। निष्प्रपञ्च यह असंस्कृत धर्म है। अतः न तो इसकी उत्पत्ति है, न विनाश है और न परिवर्तन।

(२) इसकी अनुभूति अपने ही अंदर स्वतः की जा सकती है। इसीको योगाचारी लोग 'प्रत्यात्मवेद्य' कहते हैं और हीनयानी लोग 'पच्चत्तं वेदितब्बं' शब्दके द्वारा कहते है।

(३) यह भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंके बौद्धोंके लिये एक है और सम है।

(४) मार्गके द्वारा निर्वाणकी प्राप्ति होती है।

(५) निर्वाणमें व्यक्तित्वका सर्वथा निरोध हो जाता है।

योगदर्शनमें चौथा प्रतिपाद्य विषय 'हानोपाय' को 'विवेकख्याति' बतलाया गया है और विवेकख्यातिकी प्राप्ति अष्टाङ्गयोगद्वारा सूत्र २८ में बतलायी गयी है; किंतु बौद्धदर्शनमें हानोपायके स्थानमें चतुर्थ आर्यसत्य 'दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपत्' को सीधा अष्टाङ्गयोग बतलाया है। अष्टाङ्गयोगका नाम बौद्धदर्शनमें अष्टाङ्गिक मार्ग दिया गया है। इसका वर्णन २९ वें सूत्रकी टिप्पणीमें किया जायगा।

सङ्गति—निर्मल विवेकख्यातिमें योगीकी जैसी प्रज्ञा उत्पन्न होती है उसका स्वरूप बतलाते हैं—

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—तस्य = उसकी (निर्मल विवेकख्यातिवाले योगीकी); सप्तधा = सात प्रकारकी; प्रान्तभूमि. = सबसे ऊँची अवस्थावाली, प्रज्ञा = बुद्धि होती है।

अन्वयार्थ—उस निर्मल विवेकख्यातिवाले योगीकी सात प्रकारकी सबसे ऊँची अवस्थावाली प्रज्ञा होती है।

व्याख्या—निर्मल विवेकख्यातिद्वारा योगीके चित्तके अशुद्धि रूप आवरण-मल नष्ट हो जानेसे दूसरे सांसारिक ज्ञानोंके उत्पन्न न होनेपर सात प्रकारकी उत्कर्ष अवस्थावाली प्रज्ञा उत्पन्न होती है। उनमेंसे प्रथम चार प्रकारकी प्रज्ञा कार्यसे विमुक्त करनेवाली है। विमुक्ति चित्तके अधिकारकी समाप्तिको कहते हैं। यह चार प्रकारकी प्रज्ञासम्बन्धी विमुक्ति कार्य अर्थात् प्रयत्नसाध्य है, इस कारण वह कार्य-विमुक्ति प्रज्ञा कहलाती है और अन्तकी तीन चित्तसे विमुक्त करनेवाली हैं, इस कारण वे चित्त-विमुक्त प्रज्ञा कहलाती हैं। उपर्युक्त चारों प्रज्ञाओंके लाभसे ये तीन प्रज्ञा स्वतः ही लब्ध हो जाती हैं।

कार्य-विमुक्ति प्रज्ञा—

१—*हेयशून्य अवस्था*—*"परिज्ञातं हेयं नास्य पुनः परिज्ञेयमस्ति।"* जो कुछ हेय था जान लिया, अब कुछ जानना शेष नहीं रहा अर्थात् जितना गुणमय दृश्य है वह सब परिणाम, ताप और संस्कार-दुःखों तथा गुणवृत्ति विरोधसे दुःखरूप ही है इसलिये 'हेय' है—यह मैंने जान लिया (२। १५, १८, १९)।

२—*हेयहेतु क्षीण अवस्था*—*"क्षीणाहेयहेतवो न पुनरेतेषा हातव्यमस्ति।"* जो दूर करना था अर्थात् द्रष्टा और दृश्यका संयोग जो 'हेय-हेतु' है वह दूर कर दिया, अब कुछ दूर करने योग्य शेष नहीं रहा (२। १६, १७)।

३—*प्राप्यप्राप्त अवस्था*—"साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानम् ।" जो साक्षात् करना था वह साक्षात् कर लिया है, (अर्थात् निरोध-समाधिद्वारा हानको साक्षात् कर लिया) अब कुछ साक्षात् करनेयोग्य शेष नहीं रहा (२ । २५) ।

४—*चिकीर्षाशून्य अवस्था*—"भावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपायः ।" जो सम्पादन करना था वह कर लिया है अर्थात् हानका उपाय निर्मल विवेकख्याति सम्पादन कर लिया, अब कुछ सम्पादन करने-योग्य शेष नहीं रहा (२।२६) । यह प्रज्ञा पर-वैराग्यकी परकाष्ठा है अर्थात् बुद्धि व्यापारकी प्रान्त रेखा है ।

चित्तविमुक्तिप्रज्ञा—

५—*चित्तसत्त्व-कृतार्थता*—"चरिताधिकारा बुद्धिः ।" चित्तने अपना अधिकार भोग अपवर्ग देनेका पूरा कर दिया है, अब उसका कोई अधिकार शेष नहीं रहा है ।

६—*गुणलीनता*—"गुणा गिरिशिखरकूटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्तं गच्छन्ति । न चैषा प्रविलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावादिति ।" जिस प्रकार पर्वतकी चोटीके किनारेसे गिरे हुए पत्थर बिना रुके हुए पृथिवीपर आकर चूर-चूर हो जाते हैं इसी प्रकार चित्तके बनानेवाले गुण अपने कारणमें लय होनेके अभिमुख जा रहे हैं; क्योंकि अब इनका कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा ।

७—*आत्मस्थिति*—"एतस्यामवस्थाया गुणसम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुषः इति" गुणोंके सम्बन्धसे परे होकर पुरुषकी परमात्मस्वरूपमें स्थिति हो रही है । अब कुछ शेष नहीं रहा ।

इस सात प्रकारकी प्रान्तभूमि प्रज्ञाको अनुभव करता हुआ योगी कुशल (जीवन्मुक्त) कहा जाता है; और चित्तके अपने कारणमें लीन होनेपर भी कुशल (विदेहमुक्त) कहलाता है । ये दोनो ही गुणातीत अर्थात् गुणोंके सम्बन्धसे रहित केवल शुद्ध आत्मस्वरूपसे स्थित होते हैं । इसलिये यह योगी विदेहमुक्त अवस्थाको जीवन्मुक्त दशामें ही प्रत्यक्ष कर लेता है ।

सङ्गति—हानका उपाय निर्मल विवेकख्यातिकी प्रज्ञाओंका स्वरूप दिखाकर अब उसकी प्राप्तिके साधन योग-अङ्गोंको बतलाते हैं—

योगाङ्गाऽनुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—योग-अङ्ग-अनुष्ठानात्=योगके अङ्गोंके अनुष्ठानसे, अशुद्धिक्षये=अशुद्धिके नाश होनेपर, ज्ञानदीप्तिः=ज्ञानका प्रकाश; आविवेक-ख्यातेः=विवेकख्याति-पर्यन्त हो जाता है ।

अन्वयार्थ—योगके अङ्गोंके अनुष्ठानसे अशुद्धिके नाश होनेपर ज्ञानका प्रकाश विवेकख्याति-पर्यन्त हो जाता है ।

व्याख्या—योगके आठ अङ्गोंके अनुष्ठानसे क्लेश (२ । ३) रूपी अशुद्धि दूर होती है और सम्यक् ज्ञानका प्रकाश बढता है । इन अङ्गोंका अनुष्ठान जितना-जितना बढ़ता जाता है उतनी ही क्लेश-की निवृत्ति और ज्ञानके प्रकाशकी अधिकता होती जाती है । यहाँतक कि यह ज्ञानके प्रकाशकी वृद्धि विवेकख्यातिपर्यन्त पहुँच जाती है, जिसका सूत्र सत्ताईसमें वर्णन किया है । योगके अङ्गोंका अनुष्ठान अशुद्धिके वियोगका कारण है और विवेकख्यातिकी प्राप्तिका कारण है ।

टिप्पणी—(सूत्र २८) कारण नौ प्रकारके हैं—

उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः । वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम् ॥

कारण नौ प्रकारका माना गया है । उत्पत्ति-कारण, स्थिति-कारण, अभिव्यक्ति-कारण, विकार-कारण,

प्रत्यय-कारण, प्राप्ति-कारण, वियोग-कारण, अन्यत्व-कारण, धृति-कारण ।

(१) उत्पत्ति-कारण—जैसे बीज वृक्षका या मन विज्ञानका या अविद्या संयोगकी उत्पत्तिका कारण है । (सूत्र २ । २४)

(२) स्थिति-कारण—जैसे आहार शरीरकी स्थितिका या पुरुषार्थ मनकी स्थितिका; क्योंकि मन तबतक बना रहता है जबतक भोग और अपवर्गको सिद्ध नहीं कर देता ।

(३) अभिव्यक्ति-कारण—जैसे प्रकाश रूपकी अभिव्यक्ति (प्रकटता) का कारण है या रूप-ज्ञान पौरुषेय बोधकी अभिव्यक्तिका कारण है ।

(४) विकार-कारण—जैसे अग्निसे पककर चावल बदल (गल) जाते है, सो अग्नि उनका विकार-कारण है, या मनका दूसरे विषयमें लग जाना मनके विकारका कारण है ।

(५) प्रत्यय-कारण—जैसे धुएँका देखना अग्निके ज्ञानका कारण है ।

(६) प्राप्ति-कारण—जैसे धर्म सुखकी प्राप्तिका कारण है, या योगके अङ्गोका अनुष्ठान विवेक-ख्यातिकी प्राप्तिका कारण है ।

(७) वियोग-कारण—जैसे कुल्हाड़ा लकडीके टुकडोंके वियोगका कारण है या स्वशक्ति और स्वामिशक्तिके स्वरूपकी उपलब्धि संयोगके वियोगका कारण है । (सूत्र २ । २३) या योगके अङ्गोका अनुष्ठान अशुद्धिके वियोगका कारण है । (सूत्र २ । २८)

(८) अन्यत्व-कारण—जैसे सुनार सोनेके कुण्डलको दूसरी वस्तु अर्थात् कडा बना देनेका कारण है या जैसे रूपवती स्त्रीका देखना एक ही है, पर वह देखना पतिके सुख, सपत्नियोके दुःख, बेगाने पुरुषोंके मोह और तत्त्वज्ञानीकी उदासीनताका कारण होता है ।

(९) धृति-कारण—जैसे शरीर इन्द्रियो (प्राणो) के धारनेका कारण है; और इन्द्रिय (प्राण) शरीरके धारनेके कारण हैं या मनुष्य, पशु, पक्षी, ओषधि, वनस्पति एक-दूसरेके धारनेके कारण है ।—(व्यासभाष्य)

सङ्गति—वे योगके अङ्ग ये है—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—यमनियमा ·· ··· समाधय:=यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—(ये); अष्टौ अङ्गानि=आठ योगके अङ्ग है ।

अन्वयार्थ—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—(ये) आठ योगके अङ्ग हैं ।

व्याख्या—ये आठ योगके अङ्ग विवेकख्यातिके साधन हैं । उनमेंसे धारणा, ध्यान, समाधि—साक्षात् सहायक होनेसे योगके अन्तरङ्ग साधन कहलाते हैं । यम-नियम योगके रुकावट हिंसादि वितर्कोंको निर्मूल करके समाधिको सिद्ध करते हैं । अन्य तीन अगले-अगले अङ्गमें उपकारक है अर्थात् आसनके जीतनेपर प्राणायामकी स्थिरता होती है और प्राणायामकी स्थिरतासे प्रत्याहार सिद्ध होता है ।

समाधिपादमें बतलाये हुए अभ्यास, वैराग्य, श्रद्धा, वीर्य आदि और इस पादमें बतलाया हुआ क्रियायोग इन्हीं आठों अङ्गोंके अन्तर्गत हो जाते हैं । अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि, बिना अभ्यास-वैराग्यके नहीं हो सकते, क्योंकि अभ्यास तो इन आठों अङ्गोंका पुन -पुन. अनुष्ठान-रूप ही है और

विना वैराग्यके समाधि सिद्ध हो ही नहीं सकती; क्योंकि सम्प्रज्ञात-समाधिमें एकाग्रता अर्थात् एकवृत्ति रहती है, जिसमें राग बना रहता है, पर उस वृत्तिमें राग स्थिर नहीं रह सकता। जबतक उससे इतर अन्य सब प्रकारकी वृत्तियोमें वैराग्य न हो। सम्प्रज्ञात-समाधिकी पराकाष्ठा विवेकख्याति है। उसमें भी जो वैराग्य है वह पर-वैराग्य कहलाता है; और निर्बीज-समाधिका साक्षात् सहायक होनेसे उसका अन्तरङ्ग साधन है। श्रद्धा, वीर्यके विना किसी साधनका अनुष्ठान हो ही नहीं सकता। क्रियायोगके तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान नियममें आ जाते है। महाभारतमें भी योगके आठ अङ्ग बतलाये है—"वेदेषु चाष्टगुणिनं योगमाहुर्मनीषिणः।" मनीषिगण वेदोमें योगको अष्टाङ्ग कहते हैं।

विशेष वक्तव्य—(सूत्र २९) इस पादमें सूत्र ३ से १३ तक बतला आये है कि पुरुष क्रमशः क्लेशों और सकाम कर्मोंद्वारा (अविद्यासे अस्मिता, अस्मितासे राग, रागसे द्वेष, इन दोनोसे अभिनिवेश क्लेश उससे सकाम कर्म, सकाम कर्मोंकी वासनाओसे जन्म, आयु, भोग और उनमें सकाम कर्मोंके पाप-पुण्यके अनुसार दुःख-सुख) बहिर्मुख होकर नाना प्रकारके दुःखोंको प्राप्त होता है। इन दुःखोंकी निवृत्तिके लिये इसी क्रमानुसार अन्तर्मुख होनेका सरल उपाय अष्टाङ्गयोग है।

१. *यम*—बहिर्मुखताकी सबसे अन्तिम अवस्था मनुष्यका अन्य सब प्राणियोके साथ व्यवहार है। इसलिये सबसे प्रथम इस व्यावहारिक जीवनको यमोद्वारा सात्त्विक और दिव्य बनाना होता है। सकाम कर्म, जो जन्म आयु और भोगके कारण है, निवृत्त हो जाते हैं। बाह्य व्यवहारसे सम्बन्ध रखनेवाले राग-द्वेष और अभिनिवेश क्लेश तनु हो जाते है।

२. *नियम*—नियमोका सम्बन्ध केवल अपने व्यक्तिगत शरीर, इन्द्रियों तथा अन्तःकरणके साथ होता है, इसलिये इनके यथार्थ पालनसे अपनी व्यक्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला सारा बाह्य व्यावहारिक जीवन राजसी, तामसी, विक्षेप और आवरणरूप मलोसे धुलकर सात्त्विक, पवित्र और दिव्य बन जाता है।

३. *आसन*—आसनका सम्बन्ध शारीरिक क्रियासे है। इसके द्वारा शरीरकी रजरूप चञ्चलता और अस्थिरता और तमरूप आलस्य और प्रमाद हटकर शरीरमें सात्त्विक प्रकाश और दिव्यता उत्पन्न होती है।

४. *प्राणायाम*—प्राणायामद्वारा प्राणकी गतिको रोककर अथवा धीमा करके शरीरकी आन्तरिक गति (प्राण) को सात्त्विक (दिव्य) बनाया जाता है।

५. *प्रत्याहार*—प्रत्याहारद्वारा इन्द्रियोको आलस्य और प्रमादरूप तमस् और बहिर्मुखतारूप रजस्से शून्य करके इनको सात्त्विकरूपमे चित्तके साथ अन्तर्मुख करके दिव्य बनाना होता है।

६. *धारणा*—धारणाद्वारा चित्तके मूढ़ और क्षिप्तरूप तमस् और रजस्को हटाकर उसको सात्त्विक-रूपमें वृत्तिमात्रसे किसी एक विषयमें ठहराकर दिव्य बनाना होता है।

७. *ध्यान*—जिस विषयमें चित्तको वृत्तिमात्रसे ठहराया है, उस वृत्तिको अस्थिर करनेवाले रजस् और प्रमाद उत्पन्न करनेवाले तमस्को हटाकर चित्तको उस सात्त्विक (दिव्य) रूपसे लगातार उस एक वृत्तिमें ही ठहराना होता है।

८. *समाधि*—जिस विषयमें चित्तको वृत्तिमात्रसे ध्यानमें अविच्छिन्नताके साथ लगाया है, उस ध्येयाकार वृत्तिको जो रजस् ध्यान और ध्यातृरूप आकारतामें ले जा रहा है और तमस् जो उस ध्यान और ध्यातृरूप आकारताको रोके हुए है, उस लेशमात्र रजस् और तमस्को भी हटाकर समाधिमें चित्तका उस

सात्त्विक (दिव्य) रूपमें ध्यातृ और ध्यानसे शून्य जैसा होकर केवल ध्येयाकाररूपसे भासना होता है ।

इन आठो अङ्गोंमेंसे पहले पाँच योगके वहिरङ्ग साधन कहलाते हैं । उसमें उनका सीधा सम्बन्ध नहीं होता और अन्तिम तीन इसलिये अन्तरङ्ग साधन कहलाते हैं; क्योंकि जिस विषयमें समाधि लगायी जाती है, वे उसीको लेकर चलते हैं, किंतु ये तीनो भी असम्प्रज्ञात समाधिके वहिरङ्ग साधन हैं । उसका अन्तरङ्ग साधन परवैराग्य है, जिसके द्वारा आत्माको चित्तसे भिन्न साक्षात् करानेवाली विवेकख्यातिरूप सात्त्विक वृत्ति जो अष्टाङ्गयोगकी सीमा है उसका भी निरोध होकर शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति होती है ।

अविद्या और अस्मितादि क्लेश, धारणा, ध्यान और समाधिमें तनु होकर विवेकख्यातिरूप अग्निमें दग्धबीजतुल्य हो जाते हैं और असम्प्रज्ञात समाधिद्वारा धर्मी चित्तके अपने कारणमें लीन होनेसे उनका भी लय हो जाता है ।

अष्टाङ्गयोगमे निचली भूमियोंको सात्त्विक बनाते हुए ऊँची भूमियोंमें आरोह (Ascent) होता है । उन ऊँची भूमियोंकी सात्त्विकताकी अधिकताके अनुसार ही दिव्यताकी वृद्धि होती है । उन ऊँची भूमियोंकी सात्त्विकता और दिव्यताको लेकर अवरोह (Descent) में नीची भूमियोंको सात्त्विक और दिव्य बनाया जाता है और फिर उन नीची भूमियोंकी उस सात्त्विकता और दिव्यताको लेकर ऊँची भूमियोंको आरोहद्वारा सात्त्विक और दिव्य बनाया जाता है । इस प्रकार नीची और ऊँची सारी ही भूमियाँ, सारे अङ्ग और उनकी क्रियाएँ अर्थात् बाह्य-आभ्यन्तर सारा ही जीवन सात्त्विक और दिव्य बन जाता है ।

इन अङ्गोंका पृथक्-पृथक् साधनेका विधान न समझना चाहिये वरं आरम्भसे ही एक साथ सब अङ्गोंको साधना चाहिये; क्योंकि जिस प्रकार निचले अङ्ग ऊपरवाले अङ्गोंकी सहायता करते हैं, इसी प्रकार ऊपरवाले अङ्ग निचले अङ्गोंकी दृढ भूमि करनेमें सहायक होते हैं । ध्यान और समाधि-धारणाकी ही ऊँची अवस्थाएँ हैं । अत. आरम्भमें केवल धारणाका ही यत्न हो सकता है ।

टिप्पणी—(सूत्र २९) बौद्धदर्शन—बौद्धधर्ममें 'हानोपाय' के स्थानमें चतुर्थ आर्यसत्य 'दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद्',-'अष्टाङ्गयोग' के स्थानमें 'अष्टाङ्गिक मार्ग' और 'पाँच यमो' के स्थानमें 'पञ्चशील' बतलाये गये हैं । यमोंमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तो समान है, केवल योगदर्शनके अपरिग्रह यमके स्थानमें बौद्धधर्ममें मद्यका निषेध बतलाया गया है । पाठकोंकी अधिक जानकारीके लिये बौद्ध-धर्मके उन सिद्धान्तोंको कुछ विस्तारके साथ बतला देना उचित प्रतीत होता है ।

दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद्— 'प्रतिपद्' का अर्थ मार्ग है । यह चतुर्थ आर्य-सत्य दुःख-निरोधतक पहुँचानेवाला मार्ग है । निर्वाण प्रत्येक प्राणीका गन्तव्य स्थान है । उसतक पहुँचानेवाले मार्गका नाम 'अष्टाङ्गिक मार्ग' है । आठ अङ्ग ये हैं—

(१) सम्यक् दृष्टि (२) सम्यक् सङ्कल्प	प्रज्ञा
(३) सम्यक् वाचन (४) सम्यक् कर्मान्त (५) सम्यक् आजीविका	शील

(६) सम्यक् व्यायाम	
(७) सम्यक् स्मृति	समाधि
(८) सम्यक् समाधि	

अष्टाङ्गिक मार्ग—यह मार्ग बौद्धधर्मकी आचार-मीमांसाका चरम साधन है। इस मार्गपर चलनेसे प्रत्येक व्यक्ति अपने दुःखोंका हठात् नाश कर देता है तथा निर्वाण प्राप्त कर लेता है। इसलिये (अष्टाङ्ग-योगके सदृश) यह समस्त मार्गोंमें श्रेष्ठ माना गया है। जेतवनके पाँच सहस्र भिक्षुओंको उपदेश देते समय भगवान् बुद्धने अपने श्रीमुखसे इसी मार्गको ज्ञानकी विशुद्धिके लिये तथा मारको मूर्छित करनेके लिये आश्रयणीय बतलाया है—

मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो सच्चानं चतुरो पदा। विरागो सेट्ठो धम्मानं द्विपदानाञ्च चक्खुमा॥
एसो व मग्गो नत्थञ्ञोदस्सनस्स विसुद्धिया। एतंहि तुम्हे पटिपज्जथ मारस्सेतं पमोहनं॥

(मार्गाणामष्टाङ्गिकः श्रेष्ठः सत्यानां चत्वारि पदानि।
विरागः श्रेष्ठो धर्माणां द्विपदानां च चक्षुष्मान्॥
एष एव मार्गो नास्त्यन्यो दर्शनस्य विशुद्धये।
एतं हि यूयं प्रतिपद्यध्वं मारस्यैष प्रमोहनः॥)

(धम्मपद २० । १-२)

अर्थात् निर्वाणगामी मार्गोंमें अष्टाङ्गिक मार्ग श्रेष्ठ है। श्लोकमें जितने सत्य हैं, उनमें आर्यसत्य श्रेष्ठ है। सब धर्मोंमें वैराग्य श्रेष्ठ है और मनुष्योंमें चक्षुष्मान् ज्ञानी बुद्ध श्रेष्ठ है। ज्ञानकी विशुद्धिके लिये तथा मारको मूर्छित करनेके लिये यही मार्ग (अष्टाङ्गिक मार्ग) आश्रयणीय है।

अष्टाङ्गिक मार्गका विशिष्ट रूप

(१) सम्यक् दृष्टि—'दृष्टि'का अर्थ ज्ञान है। सत्कार्यके लिये ज्ञानकी भित्ति आवश्यक होती है। आचार और विचारका परस्पर सम्बन्ध नितान्त घनिष्ठ होता है। विचारकी भित्तिपर आचार खडा होता है। इसलिये इस आचार-मार्गमें सम्यक् दृष्टि पहला अङ्ग मानी गयी है। जो व्यक्ति अकुशलको तथा अकुशलमूलको जानता है, कुशलको और कुशलमूलको जानता है, वही सम्यक् दृष्टिसे सम्पन्न माना जाता है। कायिक, वाचिक तथा मानसिक कर्म दो प्रकारके होते हैं—कुशल (भले) और अकुशल (बुरे)—इन दोनोंको भली प्रकार जानना 'सम्यक् दृष्टि' कहलाती है। 'मज्झिमनिकाय' में इन दोनोंका वर्णन निम्न प्रकार है—

	अकुशल	कुशल
काय कर्म	(१) प्राणातिपात (हिंसा)	(१) अ-हिंसा
	(२) अदत्तादान (चोरी)	(२) अ-चौर्य
	(३) मिथ्याचार (व्यभिचार)	(३) अ-व्यभिचार
वाचिक कर्म	(४) मृषा वचन (झूठ)	(४) अ-मृषा वचन
	(५) पिशुन वचन (चुगली)	(५) अपिशुन वचन
	(६) परुष वचन (कटुवचन)	(६) अ-कटुवचन
	(७) सम्प्रलाप (बकवाद)	(७) अ-सम्प्रलाप

मानस कर्म	(८) अभिध्या (लोभ)	(८) अ-लोभ
	(९) व्यापाद (प्रतिहिंसा)	(९) अ-प्रतिहिंसा
	(१०) मिथ्या दृष्टि (झूठी धारणा)	(१०) अ-मिथ्या दृष्टि

अकुशलका मूल है लोभ, दोष तथा मोह। इनसे विपरीत कुशलका मूल है अलोभ, अदोष तथा अमोह। इन कर्मोंका सम्यक् ज्ञान रखना आवश्यक है। साथ-ही-साथ आर्यसत्यो—दुःख, दुःखसमुदाय, दुःखनिरोध तथा दुःखनिरोधमार्गका भलीभाँति जानना भी सम्यक् दृष्टि है।

(२) *सम्यक् संकल्प*—सम्यक् निश्चय। सम्यक् ज्ञान होनेपर ही सम्यक् निश्चय होता है। निश्चय निष्कामताका, अद्रोहका तथा अहिंसाका होना चाहिये। कामना ही समग्र दुःखोंकी उत्पादिका है। अतः प्रत्येक पुरुषको इन बातोंका दृढ़ संकल्प करना चाहिये कि वह विषयकी कामना न करेगा, प्राणियोंसे द्रोह न करेगा और किसी भी जीवकी हिंसा न करेगा।

(३) *सम्यक् वचन*—ठीक भाषण। असत्य, पिशुनवचन, कटुवचन तथा बकवाद—इन सबको छोड देना नितान्त आवश्यक है। सत्यसे बढकर अन्य कोई धर्म नहीं है। जिन वचनोंसे दूसरेके हृदयको चोट पहुँचे, जो वचन कटु हो, दूसरेकी निन्दा हो, व्यर्थका बकवाद हो, उन्हें कभी नहीं कहना चाहिये। वैरकी शान्ति कटुवचनोंसे नहीं होती, प्रत्युत 'अवैर' से ही होती है—

नहि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं। अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो॥
(न हि वैरेण वैराणि शाम्यन्तीह कदाचन। अवैरेण च शाम्यन्ति एष धर्मः सनातनः॥)
(धम्मपद १। ५)

व्यर्थके पदोंसे युक्त सहस्रों काम भी निष्फल होते हैं। एक सार्थक पद ही श्रेष्ठ होता है, जिसे सुनकर शान्ति उत्पन्न होती है। शान्तिका उत्पन्न करना ही वाक्यप्रयोगका प्रधान लक्ष्य है। जिस पदसे इस उद्देश्यकी सिद्धि नहीं होती, उसका प्रयोग नितान्त अयुक्त है—

सहस्समपि चे वाचा अनत्थपदसंहिता। एकं अत्थपदं सेय्यो यं सुत्वा उपसम्मति॥
(सहस्रमपि चेद् वाचो अनर्थपदसंहिताः। एकमर्थपदं श्रेयो यच्छ्रुत्वोपशाम्यति॥)
(धम्मपद ८। १)

(४) *सम्यक् कर्मान्त*—मनुष्यकी सद्गति या दुर्गतिका कारण उसका कर्म ही होता है। कर्मके ही कारण जीव इस लोकमें सुख या दुःख भोगता है तथा परलोकमें भी स्वर्ग या नरकका गामी बनता है। हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि निन्दनीय कर्मोंका सर्वदा तथा सर्वथा परित्याग अपेक्षित है। इन्हींकी संज्ञा पञ्चशील है। पञ्चशील ये है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सुरा-मैरेय आदिक मादक पदार्थोंका असेवन। इन कर्मोंका अनुष्ठान सबके लिये विहित है। इनका सम्पादन तो करना चाहिये, परंतु इनका परित्याग करनेवाला व्यक्ति धम्मपदके शब्दोंमें 'मूलं खनति अत्तनो' अपनी ही जड़ खोदता है—

यो पाणमतिपातेति मुसावादञ्च भासति। लोके अदिन्नं आदियति परदारञ्च गच्छति॥
सुरामेरयपानं च यो नरो अनुयुञ्जति। इधेवमेसो लोकस्मि मूलं खनति अत्तनो॥
(यः प्राणमतिपातयति मृषावादं च भाषते। लोकेऽदत्तमादत्ते परदारांश्च गच्छति॥

सुरामैरेयपानं च यो नरोऽनुयुनक्ति । इहैवमेष लोके मूलं खनत्यात्मनः ॥)

(धम्मपद १८ । १२-१३)

आत्मविजय—अपने ऊपर विजय पाना ही मानवकी अनन्तशान्तिका चरम साधन है । आत्मदमन इन कर्मोंका विधान चाहता है । 'आत्मा ही अपना नाथ—स्वामी है । अपनेको छोड़कर अपना स्वामी दूसरा नहीं । अपनेको दमन कर लेनेपर ही दुर्लभ नाथ—(निर्वाण) को जीव पाता है'—

'अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया । अत्तनो व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं ॥'*

आत्मा हि आत्मनो नाथः को हि नाथः परः स्यात् ।
आत्मनैव सुदान्तेन नाथं लभते दुर्लभम् ॥

(धम्मपद १२ । ४)

भिक्षुओके लिये तो आत्मदमनके नियमोमें बहुत कडाई है । इन सार्वजनीन कर्मोंके अतिरिक्त उन्हें पाँच कर्म—अपराह्न-भोजन, माला-धारण, संगीत, सुवर्ण तथा अमूल्य शय्याका त्याग और भी कर्तव्य है । इन्हें ही 'दशशील' कहते है । भिक्षुओके निवृत्तिप्रधान जीवनको आदर्श बनानेके लिये भगवान् बुद्धने अन्य कर्मोंको भी आवश्यक बतलाया है, जिनका उल्लेख 'विनयपिटक' में किया गया है ।

(५) *सम्यक् आजीव (जीविका)*—झूठी जीविकाको छोडकर सच्ची जीविकाके द्वारा शरीरका पोषण करना । विना जीविकाके जीवन धारण करना असम्भव है । मानवमात्रको शरीर-रक्षणके लिये कोई-न-कोई जीविका ग्रहण करनी ही पड़ती है, परंतु यह जीविका सच्ची होनी चाहिये जिससे दूसरे प्राणियोको न तो किसी प्रकारका क्लेश पहुँचे और न उनकी हिंसाका अवसर आये । समाज व्यक्तियोके समुदायसे बना है । यदि व्यक्ति पारस्परिक कल्याणकी भावनासे प्रेरित होकर अपनी जीविका अर्जन करनेमे लगे तो समाजका वास्तविक मङ्गल होता है । उस समयके व्यापारोंमें बुद्धने निम्न पाँच जीविकाओंको हिंसाप्रवण होनेके कारणसे अयोग्य ठहराया है—(१) सत्थवणिज्जा (शस्त्र—हथियारका व्यापार), (२) सत्तवणिज्जा (प्राणीका व्यापार), (३) मंसवणिज्जा (मांसका व्यापार), (४) मज्जवणिज्जा (मद्य=शराबका व्यापार), (५) विसवणिज्जा (विषका व्यापार) । 'लक्खण सुत्त' ३ में बुद्धने निम्न जीविकाओको गर्हणीय बतलाया है—तराजूकी ठगी, कंस (बटखरे) की ठगी, मानकी (नापकी) ठगी, रिश्वत, वञ्चना, कृतघ्नता, साचियोग (कुटिलता), छेदना, वध, बन्धन, डाका—लूट-पाटकी जीविका ।

(६) *सम्यक् व्यायाम*—ठीक प्रयत्न, शोभन उद्योग, सत्कर्मोंके करनेकी भावना करनेके लिये प्रयत्न करते रहना चाहिये । इन्द्रियोपर संयम, बुरी भावनाओको रोकने और अच्छी भावनाओंके उत्पादन करनेका प्रयत्न, उत्पन्न हुई अच्छी भावनाओंको कायम रखनेका प्रयत्न—ये सम्यक् व्यायाम है । बिना प्रयत्न किये, चञ्चल चित्तसे शोभन भावनाएँ दूर भागती है और बुरी भावनाएँ घर जमाया करती हैं । अतः यह उद्योग आवश्यक है ।

(७) *सम्यक् स्मृति*—इस अङ्गका विस्तृत वर्णन 'दीघ निकाय' के 'महासति पट्ठान' सुत्त (२ । ९) में किया गया है । स्मृतिप्रस्थान चार हैं—(१) कायानुपश्यना, (२) वेदनानुपश्यना,

* यह आत्मविजयका सिद्धान्त वैदिक धर्मका मूल मन्त्र है—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् । आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः । अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ (गीता)

(३) चित्तानुपश्यना तथा (४) धर्मानुपश्यना । काय, वेदना, चित्त तथा धर्मके वास्तविक स्वरूपको जानना तथा उसकी स्मृति सदा बनाये रखना नितान्त आवश्यक होता है । काय मलमूत्र, केश तथा नख आदि पदार्थोंका समुच्चयमात्र है । शरीरको इन रूपोंमें देखनेवाला पुरुष 'काये कायानुपश्यी' कहलाता है । वेदना तीन प्रकारकी होती है—सुख, दुःख, न सुख न दुःख । वेदनाके इस स्वरूपको जाननेवाला व्यक्ति 'वेदनामें वेदनानुपश्यी' कहलाता है । चित्तकी नाना अवस्थाएँ होती हैं—कभी वह सराग होता है, कभी विराग, कभी सद्वेष और कभी वीतद्वेष; कभी समोह तथा कभी वीतमोह । चित्तकी इन विभिन्न अवस्थाओंमें उसकी जैसी गति होती है, उसे जाननेवाला पुरुष 'चित्तमें चित्तानुपश्यी' होता है । धर्म भी नाना प्रकारके हैं—(१) नीवरण—कामच्छन्द (कामुकता), व्यापाद (द्रोह), स्त्यानमृद्ध (शरीर-मनकी आलसता), औद्धत्य—कौकृत्य (उद्वेग खेद) तथा चिकित्सा (सशय), (२) स्कन्ध, (३) आयतन, (४) बोध्यग, (५) आर्य चतुःसत्य । इनके स्वरूपको ठीक-ठीक जानकर उनको उसी रूपमें जाननेवाला पुरुष 'धर्ममें धर्मानुपश्यी' कहलाता है । सम्यक् समाधिके निमित्त इस सम्यक् स्मृतिकी विशेष आवश्यकता है । काय तथा वेदनाका जैसा स्वरूप है, उसका स्मरण सदा बनाये रखनेसे आसक्ति नहीं उत्पन्न होती । चित्त अनासक्त होकर वैराग्यकी ओर बढ़ता है तथा एकाग्रताकी योग्यता सम्पादन करता है । (विशेष विवरणके लिये देखो 'दीर्घनिकाय' हिंदी अनुवाद पृष्ठ १९०—१९८)

(८) *सम्यक् समाधि*—योगदर्शन 'विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः' तथा उपनिषद् 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' (ज्ञानके बिना मुक्ति नही मिलती) के सदृश बौद्धधर्ममें ज्ञानको निर्वाण—कैवल्य-मुक्तिका मुख्य साधन माना है । ज्ञानकी उत्पत्ति तबतक नहीं हो सकती, जबतक उसे धारण करनेकी योग्यता शरीरमें पैदा नहीं होती । ज्ञानके उदयके लिये शरीरकी शुद्धि नितान्त आवश्यक है । इसलिये अष्टाङ्गयोगके अनुसार ही बुद्ध भगवान्ने शील और समाधिके द्वारा क्रमशः कायशुद्धि और चित्तशुद्धिपर विशेष जोर दिया है ।

बुद्ध-धर्मके तीन महनीय तत्त्व हैं—शील, समाधि और प्रज्ञा । अष्टाङ्गिक मार्गके प्रतीक ये तीनों ही हैं । शीलसे तात्पर्य सात्त्विक कार्योंसे है । बुद्धके दोनों प्रकारके शिष्य थे—गृहत्यागी प्रव्रजित भिक्षु तथा गृहसेवी गृहस्थ । कतिपय कर्म इन दोनो प्रकारके बुद्धानुयायियोंके लिये समभावेन मान्य है । जैसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा मद्यका निषेध—ये 'पञ्चशील' कहलाते है और इनका अनुष्ठान प्रत्येक बौद्धके लिये विहित है । भिक्षुओंके लिये अन्य पाँच शीलकी भी व्यवस्था है—जैसे अपराह्ण-भोजन, मालाधारण, सगीत, सुवर्ण-रजत तथा महार्घ शय्या—इन पाँचो वस्तुओंका परित्याग । पूर्व शीलोंसे मिलाकर इन्हें 'दशशील' (दश सत्कर्म) कहते है । गृहस्थके लिये अपने पिता-माता, आचार्य, पत्नी, मित्र, सेवक तथा श्रमण-ब्राह्मणोंका सत्कार प्रतिदिन करना चाहिये ।

बुरे कर्मोंके अनुष्ठानसे सम्पत्तिका नाश अवश्यम्भावी है । नशाका सेवन, चौरस्तेकी सैर, समाज (नाच-गान) का सेवन, जूआ खेलना, दुष्ट मित्रोंकी संगति तथा आलस्यमें फँसना—ये छहों सम्पत्तिके नाशके कारण हैं । (दीर्घनिकाय, सिगालोवाद सुत्त ३१ पृष्ठ २७१—२७६)

शील तथा समाधिका फल है प्रज्ञाका उदय । भवचक्रके मूलमें 'अविद्या' विद्यमान है । जबतक

प्रज्ञाका उदय नहीं होता, तबतक अविद्याका नाश नहीं हो सकता। साधकका प्रधान लक्ष्य इसी प्रज्ञाकी उपलब्धिमें होता है। प्रज्ञा तीन प्रकारकी होती है—(१) श्रुतमयी—आप्त प्रमाणोंसे उत्पन्न निश्चय, (२) चिन्तामयी—युक्तिसे उत्पन्न निश्चय तथा (३) भावनामयी—समाधिजन्य निश्चय। श्रुत-चिन्ता-प्रज्ञासे सम्पन्न शीलवान् पुरुष भावना (ध्यान) का अधिकारी होता है। प्रज्ञावान् व्यक्ति नाना प्रकारकी ऋद्धियाँ ही नहीं पाता, प्रत्युत प्राणियोंके पूर्वजन्मका ज्ञान, परचित्त-ज्ञान, दिव्यश्रोत्र, दिव्यचक्षु तथा दुःक्षयज्ञानसे सम्पन्न हो जाता है। उसका चित्त कामास्रव (भोगकी इच्छा), भवास्रव (जन्मनेकी इच्छा) तथा अविद्यास्रव (अज्ञानमल) से सदाके लिये विमुक्त हो जाता है। साधक निर्वाण प्राप्तकर अर्हत्की महनीय उच्च पदवीको पा लेता है। धम्मपदने बुद्धशासनके रहस्यको तीन शब्दोंमें समझाया है—(१) सब पापोंका न करना, (२) पुण्यका संचय तथा (३) अपने चित्तकी परिशुद्धि—

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
स-चित्त परियोदपनं एत बुद्धान सासनं॥

(धम्मपद १४। ५)

सर्वपापस्याकरणं कुशलस्योपसम्पदा।
स्वचित्तपर्यवदापनं एतद् बुद्धानां शासनम्॥

जैन धर्म—जैन धर्ममें पाँचों यमोंको पाँच महाव्रतका नाम दिया गया है और उनको उस धर्मका अत्यन्तिक माना गया है। उनकी जानकारी पाठकोंके लिये विशेष लाभदायक होगी। अतः उनको उनकी प्राकृत भाषामें अभिलिखित नीचे लिखा जाता है।

१—अहिंसा—

अहिंसा सुत्तं

तत्थिमं पढमं ठाणं महावीरेण देसियं। अहिंसा निउणा दिट्ठा सव्व भूएसु संजमो॥ १॥
जावन्ति लोए पाणा, तसा अदुवा थावरा। ते जाणमजाणं वा न हणे नो वि घायए॥ २॥

(दश० अ० ६ गा० ९-१०)

सयं तिवायए पाणे, अदुवऽन्नेहिं घायए। हणन्तं वाऽणु जाणाइ, वेरं वड्ढइ अप्पणो॥३॥

(सूत्र० श्रु० १ अ० १ उ० १ गा० ३)

जगनिस्सिएहिं भूएहिं, तसनामेहिं थावरेहिं च। नो तेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव॥

(उत्तरा० अ० ८ गा० १०)

सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं। तम्हा पाणि वहं घोरं निग्गंथा वज्जयंतिणं॥५॥

(दश० अ० ६ गा० ११)

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स, पाणे पियायए न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उचरए॥६॥

(उत्तरा० अ० ६ गा० ७)

सव्वाहिं अणु जुत्तीहिं, मईमं पडिलेहिया। सव्वे अक्कन्त दुक्खाय, अओ सव्वे न हिंसया॥७॥

(सूत्र० श्रु० १ अ० ११ गा० ९)

एवं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसई किंचण। अहिंसा समयं चेव एयावन्तं वियाणिया॥ ८॥

(सूत्र० श्रु० १ अ० ११ गा० १०)

संवुज्झमाणे उ नरे मईमं, पावाउ अप्पाणं निवट्टएज्जा ।
हिंसप्प सूयाइं दुहाइं मत्ता, वेरा णुबन्धीणि महब्भयाणि ॥ ९ ॥
(सूत्र० श्रु० अ० १० गा० २१)

समया सव्व भूएसु, सत्तु-मित्तेसु वा जगे, पाणा इवाय विरई, जावज्जीवाए दुक्करं ॥ १० ॥
(उत्तरा० अ० १९ गा० २५)

अर्थ—भगवान् महावीरने अठारह धर्म-स्थानोंमें सबसे पहला स्थान अहिंसाका बतलाया है । सब जीवोंके साथ संयमसे व्यवहार रखना अहिंसा है, वह सब सुखोंकी देनेवाली मानी गयी है ॥ १ ॥ संसारमें जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं उन सबको जान और अनजानमें न स्वयं मारना चाहिये और न दूसरोंसे मरवाना चाहिये ॥ २ ॥ जो मनुष्य प्राणियोंकी स्वयं हिंसा करता है, दूसरोंसे हिंसा करवाता है और हिंसा करनेवालोंका अनुमोदन करता है, वह संसारमें अपने लिये वैरको बढ़ाता है ॥ ३ ॥ संसारमें रहनेवाले त्रस और स्थावर जीवोंपर मनसे वचनसे और शरीरसे—किसी भी तरह दण्डका प्रयोग नहीं करना चाहिये ॥ ४ ॥ सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता । इसीलिये निर्ग्रन्थ (जैन मुनि) घोर प्राणि-वधका सर्वथा परित्याग करते हैं ॥ ५ ॥ भय और वैरनिवृत्त साधकको, जीवनके प्रति मोह-ममता रखनेवाले सब प्राणियोंको सर्वत्र अपनी ही आत्माके समान जानकर उनकी कभी भी हिंसा न करनी चाहिये ॥ ६ ॥ बुद्धिमान् मनुष्य छहों जीव-निकायोंका सब प्रकारकी युक्तियोंसे सम्यक् ज्ञान प्राप्त करे और 'सभी जीव दुःख-से बचते हैं'—ऐसा जानकर उन्हें दुःख न पहुँचावे ॥ ७ ॥ ज्ञानी होनेका सार ही यह है कि वह किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे । इतना ही अहिंसाके सिद्धान्तका ज्ञान यथेष्ट है । यही अहिंसाका विज्ञान है ॥ ८ ॥ सम्यक् बोधको जिसने प्राप्त कर लिया वह बुद्धिमान् मनुष्य हिंसासे उत्पन्न होनेवाले वैर-वर्द्धक एवं महाभयंकर दुःखोंको जानकर अपनेको पाप कर्मोंसे बचाये ॥ ९ ॥ संसारमें प्रत्येक प्राणीके प्रति—फिर वह शत्रु हो या मित्र—समभाव रखना तथा जीवनपर्यन्त छोटी-मोटी सभी प्रकारकी हिंसाका त्याग करना—वास्तवमें बहुत दुष्कर है ॥ १० ॥

२—सत्य

सच्च सुत्तं

निच्चकालऽप्पमत्तेणं, मुसावाय विवज्जणं । भासियव्वं हियं सच्चं निच्चाऽऽउत्तेण दुक्करं ॥ १ ॥
(उत्तरा० अ० १९ गा० २६)

अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वाभया । हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए ॥२॥
मुसावाओ या लोगम्मि, सव्व साहूहिं गरहिओ । अविस्सा सो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥
(दश० अ० ६ गा० १२-१३)

नलवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं । अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्संतरेण वा ॥ ४ ॥
(उत्तरा० अ० १ गा० २५)

तहेव सावज्जऽणुमोयणी गिरा, ओहारिणी जाय परोवघायणी ।
से कोह लोह भय हास माणवो, न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥ ५ ॥
(दश० अ० ७ गा० ५४)

दिट्ठं, मियं असंदिद्धं, पडिपुराणं वियं जियं । अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं ॥ ६ ॥

(दश० अ० ८ गा० ४९)

भासाए दोसे य गुणे य जाणिया, तीसे य दुट्ठे परिवज्जये सया ।
छसु संजए सामणिए सया जए, वएज्ज बुद्धे हियमाणु लोमियं ॥ ७ ॥

(दश० अ० ७ गा० ५६)

सयं समेच्च अदुवा वि सोच्चा, भासेज्ज धम्मं हियं पयाणं ।
जे गरहिया सणियाणप्पओगा, न ताणि सेवन्ति सुधीर धम्मा ॥ ८ ॥

(सूत्र श्रु० १ अ० १३ गा० १९)

सया सुद्धिं समुपेहिया मुणी, गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया ।
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए, सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥ ९ ॥

(दश० अ०७ गा० ५५)

तहेव काणं काणेत्ति, पंडगंपंडगेत्ति वा । वाहियं वा वि रोगित्ति तेणं चोरेत्ति नो वए ॥१०॥

(दश० अ० ७ गा० १२)

वितहं पि तहामुत्तिं, जं गिरं भासए नरो । तम्हा सो पुट्ठो पावेणं किं पुण जो मुसं वए ॥११॥

(दश० अ० ७ गा० ५)

तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओ वघाइणी । सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥१२॥

(दश० अ० ७ गा० ११)

अर्थ—सदा प्रसन्नता और सावधान रहकर, असत्यको त्यागकर, हितकारी सत्य वचन ही बोलना चाहिये । इस तरह सत्य बोलना बड़ा कठिन होता है ॥ १ ॥ अपने स्वार्थके लिये अथवा दूसरोंके लिये क्रोधसे अथवा भयसे—किसी भी प्रसङ्गपर दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेवाला असत्य वचन न तो स्वयं बोलना, न दूसरोंसे बुलवाना चाहिये ॥ २ ॥ मृषावाद (असत्य) संसारमें सभी सत्पुरुषों द्वारा निन्दित ठहराया गया है और सभी प्राणियों को अविश्वसनीय है । इसलिये मृषावाद सर्वथा छोड़ देना चाहिये ॥ ३ ॥ अपने स्वार्थके लिये, अथवा दूसरोंके लिये, दोनोंमेंसे किसीके भी लिये, पूछनेपर पाप-युक्त, निरर्थक एवं मर्म-भेदक वचन नहीं बोलना चाहिये ॥ ४ ॥ श्रेष्ठ साधु पापकारी, निश्चयकारी और दूसरोंको दुःख पहुँचानेवाली वाणी न बोले । श्रेष्ठ मानव इसी तरह क्रोध, लोभ, भय और हास्यसे भी पापकारी वाणी न बोले । हँसते हुए भी पाप वचन नहीं बोलना चाहिये ॥ ५ ॥ आत्मार्थी साधकको दृष्ट (सत्य) परिमित, असंदिग्ध, परिपूर्ण, स्पष्ट अनुभूत, वाचालतारहित और किसीको भी उद्विग्न न करनेवाली वाणी बोलना चाहिये ॥६॥ भाषाके गुण तथा दोषोंको भलीभांति जानकर दूषित भाषाको सदाके लिये छोड़ देनेवाला, षट्काय जीवोंपर संयत रहनेवाला तथा साधुत्व-पालनमें सदा तत्पर बुद्धिमान् साधक केवल हितकारी मधुर-भाषा बोले ॥७॥ श्रेष्ठ धीर पुरुष स्वयं जानकर अथवा गुरुजनोंसे सुनकर प्रजाका हित करनेवाले धर्मका उपदेश करे । जो आचरण निन्द्य हो, निदानवाले हों उनका कभी सेवन न करे ॥ ८ ॥ विचारवान् मुनिको वचन-शुद्धिका भलीभांति ज्ञान प्राप्त करके दूषित वाणी सदाके लिये छोड़ देनी चाहिये और खूब सोच-विचारकर बहुत परिमित और निर्दोष वचन बोलना चाहिये । इस तरह बोलनेसे सत्पुरुषोंमें महान् प्रशंसा प्राप्त होती है ॥ ९ ॥ काने को काना, नपुंसकको नपुंसक, रोगीको रोगी और चोरको चोर कहना यद्यपि सत्य है तथापि ऐसा नहीं

कहना चाहिये (क्योंकि इससे उन व्यक्तियोंको दुःख पहुँचता है) ॥ १० ॥ जो मनुष्य भूलसे मूलतः असत्य, किन्तु ऊपरसे सत्य मालूम होनेवाली भाषा बोल उठता है वह भी पापसे अछूता नहीं रहता, तब भला जो जान-बूझकर असत्य बोलता है उसके पापका तो कहना ही क्या ! ॥ ११ ॥ जो भाषा कठोर हो, दूसरोंको भारी दुःख पहुँचानेवाली हो—वह सत्य ही क्यों न हो—नहीं बोलनी चाहिये । क्योंकि उससे पापका आस्रव होता है ॥ १२ ॥

३—अस्तेय—

अतेणग सुत्तं

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं । दंतसोहणमित्तंपि, उग्गहं से अजाइया ॥ १ ॥
तं अप्पणा न गिण्हन्ति, नो वि गिण्हावए परं । अन्नं वा गिण्हमाणंपि नाणुजाणन्ति संजया ॥२॥

(दश० अ० ६ गा० १४-१५)

उड्ढं अहेय तिरियं दिसासु, तसाय जे थावर जे य पाणा ।
हत्थेहिं पाएहिं य संजमित्ता, अदिन्नमन्नेसु य नो गहेज्जा ॥ ३ ॥

(सूत्र० श्रु० १ अ० १० गा० २)

तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य, जे हिंसति आयसुहं पडुच्च ।
जेलूसए होइ अदत्तहारी, ण सिक्खई सेय वियस्स किंचि ॥ ४ ॥

(सूत्र० श्रु० अ० ५ उ० १ गा० ४)

दन्त सोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं । अणवज्जेसणिज्जस्स गिण्हणा अविदुक्करं ॥ ५ ॥

(उत्तरा० अ० १९ गा० २७)

अर्थ—पदार्थ सचेतन हो या अचेतन, अल्प हो या बहुत, दाँत कुरेदनेकी सींक भी जिस गृहस्थके अधिकारमें हो उसकी आज्ञा लिये बिना पूर्ण संयमी साधक न तो स्वयं ग्रहण करते हैं, न दूसरोंको ग्रहण करनेके लिये प्रेरित करते है और न ग्रहण करनेवालोंका अनुमोदन करते हैं ॥ १-२ ॥ ऊँची-नीची और तिरछी दिशामें जहाँ कहीं भी जो त्रस और स्थावर प्राणी हों उन्हें संयमसे रहकर अपने हाथोंसे, पैरोंसे किसी भी अंगसे पीडा नहीं पहुँचानी चाहिये । दूसरोंकी बिना दी हुई वस्तु भी चोरीसे ग्रहण नहीं करनी चाहिये ॥ ३ ॥ जो मनुष्य अपने सुखके लिये त्रस तथा स्थावर प्राणियोंकी क्रूरतापूर्वक हिंसा करता है—उन्हें अनेक तरहसे कष्ट पहुँचाता है, जो दूसरोंकी चोरी करता है, जो आदरणीय व्रतोंका कुछ भी पालन नहीं करता, (वह भयङ्कर क्लेश उठाता है) ॥ ४ ॥ दाँत कुरेदनेकी सींक आदि तुच्छ वस्तुएँ भी बिना दिये चोरीसे न लेना, निर्दोष एवं एषणीय भोजन-पान भी दाताके यहाँसे दिया हुआ लेना, यह बड़ी दुष्कर बात है ॥ ५ ॥

४-ब्रह्मचर्य—

बंभचरिय सुत्तं

विरई अबंभचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा । उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं ॥ १ ॥

(उत्तरा० अ० १९ गा० २८)

अबंभचरियं घोरं, पमायं दुरहिट्ठियं । नाऽऽयरन्ति मुणी लोए, भेयायतणवज्जिणो ॥ २ ॥

(दश० अ० ६ गा० १६)

मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं । तम्हा मेहुण संसग्गं, निग्गंथा वज्जयन्ति णं ॥ ३ ॥
(दश० अ० ६ गा० ११)

विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीयं रसभोयणं । नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा ॥ ४ ॥
(दश० अ० ८ गा० ५७)

न रूव लावण्ण विलास हासं, नजंपियं इंगिय पेहियं वा ।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता, दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥ ५ ॥
(उत्तरा० अ० ३२ गा० १४)

अदंसणं चेव अपत्थणं च, अचिंतणं चेव अकित्तणं च ।
इत्थीजणस्साऽऽरियज्झाण जुग्गं, हियं सया बंभवए रयाणं ॥ ६ ॥
(उत्तरा० अ० ३२ गा० १५)

मण पल्हायजणणी काम राग विवड्ढणी । बंभचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए ॥ ७ ॥
समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं । बंभचेर ओ भिक्खू निच्चसो परिवज्जए ॥ ८ ॥
अंग पच्चंग संठाणं, चारुल्लवियं पेहियम् । बंभचेररओ थीणं, चक्खुगिज्झं विवज्जए ॥ ९ ॥
कुइयं रुइयं गीयं, हसियं थणिय-कन्दियं । बंभचेर ओ थीणं, सोयगिज्झ विवज्जए ॥ १० ॥
हासं किड्डं रइं दप्पं, सहम्माऽवत्तासियाणि य । बभचेर ओ थीणं, नाणुचिन्ते कयाइवि ॥ ११ ॥
पणीयं भत्तपाणं तु खिप्पं मयविवड्ढणं । बंभचेरर ओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए ॥ १२ ॥
धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पाणिहावणं । नाइमत्तं तु भुंजेज्जा, बंभचेररओ सया ॥ १३ ॥
(उत्तरा० अ० १६ गा० २—८)

जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे, समारुओ नोवसमं उवेइ ।
एविन्दियग्गी वि पगाम भोइणो, न बंभयारिस्स हियाय कस्सई ॥ १४ ॥
(उत्तरा० अ० ३२ गा० ११)

विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीर परिमंडणं । बंभचेररओ भिक्खू, सिंगारत्थं न धारए ॥१५॥
सद्दे रुवे य गन्धेय, रसे फासे तहेव य । पंचविहे काम गुणे निच्चसो परिवज्जए ॥१६॥
(उत्तरा० अ० १६ गा० ९-१०)

दुज्जये काम भोगे य, निच्चसो परिवज्जए । संकट्ठाणाणि सव्वाणि वज्जेज्जा पाणिहाणवं ॥१७॥
(उत्तरा० अ० १६ गा० १४)

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्सऽन्तगं गच्छई वीयरागो ॥ १८ ॥
(उत्तरा० अ० ३२ गा० १९)

देव दाणव गन्धव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा । बंभयारि नमं सन्ति दुक्करं जे करेन्तितं ॥१९॥
एस धम्मे धुवे निच्चे, सासये जिणदेसिए । सिद्धा सिज्झन्ति चाणेणं सिज्झिस्सन्ति तहा परे ॥२०॥
(उत्तरा० अ० १६ गा० १६-१७)

अर्थ——काम-भोगोंका रस जान लेनेवालेके लिये अब्रह्मचर्यसे विरक्त होना और उग्र ब्रह्मचर्य महाव्रतका धारण करना बड़ा कठिन कार्य है ॥ १ ॥ जो मुनि सयम-घातक दोषोंसे दूर रहते हैं, वे लोकमें रहते हुए भी दुःसेव्य, प्रमादस्वरूप और भयंकर अब्रह्मचर्यका कभी सेवन नहीं

करते ॥ २ ॥ यह अब्रह्मचर्य अधर्मका मूल है, महा दोषोंका स्थान है इसलिये निर्ग्रन्थ मुनि मैथुन-संसर्गका सर्वथा परित्याग करते हैं ॥ ३ ॥ आत्मशोधक मनुष्यके लिये शरीरका शृङ्गार, स्त्रियोंका संसर्ग और पौष्टिक स्वादिष्ट भोजन—सब तालपुट विषके समान महान् भयंकर है ॥ ४ ॥ श्रमण तपस्वी स्त्रियोंके रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मधुर वचन, संकेत-चेष्टा, हाव-भाव और कटाक्ष आदि मनमें तनिक भी विचार न लाये और न इन्हें देखनेका कभी प्रयत्न करे ॥ ५ ॥ स्त्रियोंको रागपूर्वक देखना, उनकी अभिलाषा करना, उनका चिन्तन करना, उनका कीर्तन करना आदि कार्य ब्रह्मचारी पुरुषको कदापि नहीं करने चाहिये । ब्रह्मचर्य-व्रतमें सदा रत रहनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंके लिये यह नियम अत्यन्त हितकर है और उत्तम ध्यान प्राप्त करनेमें सहायक है ॥ ६ ॥ ब्रह्मचर्यमें अनुरक्त भिक्षुको मनमें वैषयिक आनन्द पैदा करनेवाली तथा काम-भोगकी आसक्ति बढ़ानेवाली स्त्री-कथाको छोड देना चाहिये ॥ ७ ॥ ब्रह्मचर्यरत भिक्षुको स्त्रियोंके साथ बातचीत करना और उनसे बार-बार परिचय प्राप्त करना सदाके लिये छोड़ देना चाहिये ॥ ८ ॥ ब्रह्मचर्य रत भिक्षुको न तो स्त्रियोंके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी सुन्दर आकृतिकी ओर देखना चाहिये और न आँखोंमें विकार पैदा करनेवाले हाव-भावों और स्नेहभरे मीठे वचनोंकी ही ओर ॥ ९ ॥ ब्रह्मचर्यरत भिक्षुको स्त्रियोंका कूजन, रोदन, गीत, हास्य, सीत्कार और करुण-क्रन्दन—जिनके सुननेपर विकार पैदा होते हैं—सुनना छोड देना चाहिये ॥ १० ॥ ब्रह्मचर्यरत भिक्षु स्त्रियोंके पूर्वानुभूत हास्य, क्रीड़ा, रति, दर्प, सहसा—वित्रासन आदि कार्योंको कभी भी स्मरण न करे ॥ ११ ॥ ब्रह्मचर्यरत भिक्षुको शीघ्र ही वासनावर्धक पुष्टिकारक भोजन-पानका सदाके लिये परित्याग कर देना चाहिये ॥ १२ ॥ ब्रह्मचर्यरत स्थिरचित्त भिक्षुको संयमयात्राके निर्वाहके लिये हमेशा धर्मानुकूल विधिसे प्राप्त परिमित भोजन ही करना चाहिये । कैसी ही भूख क्यों न लगी हो, लालचवश अधिक मात्रामें कभी भोजन नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥ जैसे बहुत अधिक ईंधनवाले जंगलमें पवनसे उत्तेजित दावाग्नि शान्त नहीं होती उसी तरह मर्यादासे अधिक भोजन करनेवाले ब्रह्मचारीकी इन्द्रियाग्नि भी शान्त नहीं होती । अधिक भोजन किसीको भी हितकर नहीं होता ॥ १४ ॥ ब्रह्मचर्यरत भिक्षुको शृंगारके लिये शरीरकी शोभा और सजावटका कोई भी शृंगारी काम नहीं करना चाहिये ॥ १५ ॥ ब्रह्मचारी भिक्षुको शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पाँच प्रकारके काम-गुणोंको सदाके लिये छोड़ देना चाहिये ॥ १६ ॥ स्थिरचित्त भिक्षु, दुर्जय काम-भोगोंको हमेशाके लिये छोड दे । इतना ही नहीं जिनसे ब्रह्मचर्यमें तनिक भी क्षति पहुँचनेकी सम्भावना हो, उन सब शंका-स्थानोंका भी उसे परित्याग कर देना चाहिये ॥ १७ ॥ देवलोक-सहित समस्त संसारके शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकारके दुःखका मूल एकमात्र कामभोगोंकी वासना ही है । जो साधक इस सम्बन्धमें वीतराग हो जाता है, वह शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकारके दुःखोंसे छूट जाता है ॥ १८ ॥ जो मनुष्य इस प्रकार दुष्कर ब्रह्मचर्यका पालन करता है उसे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सभी नमस्कार करते हैं ॥ १९ ॥ यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिनोपदिष्ट है । इसके द्वारा पूर्वकालमें कितने ही जीव सिद्ध हो गये हैं, वर्तमानमें हो रहे हैं और भविष्यमें होंगे ॥ २० ॥

५—अपरिग्रह,

अपरिग्गहसुत्तं

न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा । मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणा ॥ १ ॥
(दश० अ० ६ गा० २१)

धण-धन्न-पेसवग्गेसु, परिग्गह विवज्जणं । सव्वारंभ परिच्चाओ निम्ममत्तं सुदुक्करं ॥ २ ॥
(उत्तर० अ० १९ गा० २९)

विड्डुब्भेइमं लोणं, तेल्लं, सप्पिं च फाणियं । न ते सन्निहिमिच्छन्ति नायपुत्त-वओरया ॥३॥
(दश० अ० ६ गा० १८)

जं पिन्दं च पायं वा कंबलं पायपुंछणं । तंपि संजमलज्जट्ठा धारेन्ति परिहरन्ति य ॥ ४ ॥
(दश० अ० ६-२०)

सव्वपुव्वरिणा बुद्धा, संरक्खण परिग्गहे । अवि अप्पणो विदेहम्मि, नाऽऽयरन्ति ममाइयं ॥ ५ ॥
(दश० अ० ६ गा० २२)

लोहस्सेस अणुप्फासो, मन्ने अन्नयरा सवि । जे सिया सन्निहीकामे गिही, पव्वइए न से ॥६॥
(दश० अ० ६-गा० १९)

अर्थ—प्राणिमात्रके संरक्षक ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) ने कुछ वस्त्र आदि स्थूल पदार्थोंको परिग्रह नहीं बतलाया है । वास्तविक परिग्रह तो उन्होंने किसी भी पदार्थपर मूर्च्छाका—आसक्तिका भाव बतलाया है ॥ १ ॥ पूर्ण संयमीको धन-धान्य और नौकर-चाकर आदि सभी प्रकारके परिग्रहोंका त्याग करना होता है । समस्त पापकर्मोंका परित्याग करके सर्वथा निर्ममत्व होना तो और भी कठिन बात है ॥ २ ॥ जो संयमी ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) के प्रवचनोंमें रत हैं वे विड और उद्भेद आदि नमक तथा तेल, घी, गुड आदि किसी वस्तुके संग्रह करनेका मनमें संकल्पतक नहीं करते ॥ ३ ॥ परिग्रह-विरक्त मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि वस्तुएँ रखते हैं वे सब एकमात्र संयमकी रक्षाके लिये ही रखते हैं—जाँचे जाते हैं (इनके रखनेमें किसी प्रकारकी आसक्तिका भाव नहीं है) ॥ ४ ॥ ज्ञानी पुरुष, संयम साधक उपकरणोंके लेने और रखनेमें कहीं भी किसी भी प्रकारका ममत्व नहीं करते और तो क्या, अपने शरीरतकपर भी ममता नहीं रखते ॥ ५ ॥ संग्रह करना, यह अंदर रहनेवाले लोभकी झलक है । अतएव मैं मानता हूँ कि जो साधु मर्यादाविरुद्ध कुछ भी संग्रह करना चाहता है,वह गृहस्थ है—साधु नहीं है ॥६॥

संगति—यम-नियमके बिना कोई अभ्यासी योगका अधिकारी नहीं हो सकता । यह न केवल अभ्यासियोंके लिये ही बल्कि सब आश्रमवालोंके लिये अत्यावश्यक है । इनमें यमोंका सारे समाजसे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, इस कारण इनके पालनमें सब मनुष्य परतन्त्र हैं अर्थात् यह सब मनुष्योंका परम कर्त्तव्य है, जैसा कि मनु महाराज लिखते हैं—

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः ।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥—(मनु०)

बुद्धिमान्को चाहिये कि यमोंका लगातार सेवन करे, केवल नियमोंका ही नहीं; क्योंकि केवल नियमोंका सेवन करनेवाला यमोंका पालन न करता हुआ गिर जाता है ।

यहाँ इस सूत्रमें व्याख्या केवल उतनी ही की जायगी, जो योगियों तथा योगके जिज्ञासुओंके अभिमत है । सूत्र ३१ के वि० वि०में उनका सामान्य और व्यापक रूप दिखलाया जायगा—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहाः=अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह; यमाः=यम हैं ।

अन्वयार्थ—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यम हैं ।

व्याख्या—अहिंसा=शरीर, वाणी अथवा मनसे काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदिकी मनोवृत्तियोंके साथ किसी प्राणीको शारीरिक, मानसिक पीडा अथवा हानि पहुँचाना या पहुँचवाना या उसकी अनुमति देना या स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूपसे उसका कारण बनना हिंसा है, इससे बचना अहिंसा है । गौ, अश्व आदि पशुओंका उचित रीतिसे पालन-पोषण करके प्राण-हरण न करते हुए उनसे नियमित रूपसे दूध आदि सामग्री प्राप्त करना तथा सेवा लेना हिंसा नहीं है, पर यही जब उनकी रक्षाका ध्यान न रखते हुए सेवा आदि क्रूरताके साथ ली जाय तो हिंसा हो जाती है ।

शिक्षार्थ ताड़ना देना, रोग-निवारणार्थ ओषधि देना अथवा ऑपरेशन करना, सुधारार्थ या प्रायश्चित्तके लिये दण्ड देना हिंसा नहीं है, यदि ये बिना द्वेष आदिके केवल प्रेमसे उनके कल्याणार्थ किये जायँ । पर यही जब द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह और भय आदिकी मनोवृत्तियोसे मिश्रित हों तो हिंसा हो जाते हैं । प्राणोका शरीरसे वियोग करना सबसे बडी हिंसा है । श्रीव्यासजी महाराजने अहिंसाकी व्याख्या इस प्रकार की है कि सर्वकालमें सर्वप्रकारसे सब प्राणियोंका चित्तमें भी द्रोह न करना अहिंसा है । अहिंसा ही सब यम-नियमोंका मूल है, उसीके साधन तथा सिद्धिके लिये अन्य यम और नियम हैं और उसी अहिंसाको निर्मल रूप बनानेके लिये ग्रहण किये जाते हैं ।

पञ्चशिखाचार्यजी कहते हैं—

स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसा-निदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति ।

निश्चय यह ब्राह्मण (वेदवेत्ता योगी) ज्यो-ज्यों बहुत-से व्रतों—यम-नियमोंको धारण करनेकी इच्छा करता है अर्थात् अनुष्ठान करता है त्यो-त्यों प्रमादसे किये हुए हिंसा आदिके कारणरूप पापोंसे निवृत्त हुआ उसी अहिंसाको निर्मल करता है ।

अहिंसा तथा अन्य सब यमोके विपरीत आचरण करनेमें मुख्य कारण अपनेको छोटेसे भौतिक शरीरमें संकुचित रूपमें देखना है, इसलिये योगियोंके लिये तो अहिंसाका उच्चतम स्वरूप प्राणिमात्रमें अपनी आत्माको व्यापकरूपमें देखना है । यथा—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ (ईश० ६)

जो (साधक) सम्पूर्ण भूतोंको (अपनी) आत्मामें ही देखता है और समस्त भूतोंमें भी अपनी आत्माको ही देखता है, वह इस (सर्वात्मदर्शन) के कारण ही किसीसे घृणा नहीं करता ।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

जिस समय ज्ञानी पुरुषके लिये सब भूत (अपनी) आत्मा ही हो गये, उस समय एकत्व देखनेवाले उस विद्वान्को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है ।

इस विशाल व्यापक दृष्टिके सम्बन्धमें यह शङ्का न करनी चाहिये कि इस समत्वबुद्धिसे तामसी-

राजसी प्रकृतिवाले प्राणियोके प्रति व्यवहारमें कठिनाई आयेगी, क्योंकि प्रत्येक मनुष्यके स्वयं अपने अन्तः-करणमें तामसी, राजसी और सात्त्विक तीनों प्रकारकी वृत्तियोंका उदय और क्षय होता रहता है। जिस महान् योगीने इन संकीर्ण भावोको हटा दिया है, वह सारे अन्तःकरणों तथा उनकी वृत्तियोंको अपने ही अन्तःकरण और वृत्ति-जैसे रूपमें देखता है। जिस प्रकार अपनी तामसी, राजसी वृत्तियोंके निरोधपूर्वक सात्त्विक वृत्तियोके उदय करनेका यत्न करता है, इसी प्रकार सारे अन्तःकरणोंकी तामसी, राजसी वृत्तियोंके हटाने (क्षय करने) और सात्त्विक वृत्तियोके उठाने (उदय करने) की चेष्टा करता है।

अहिंसाका सामान्य रूप सूत्र ३१ के विशेष विचारमें देखें।

२. *सत्य*—वस्तुका यथार्थ ज्ञान ही सत्य है। उसको शरीरसे काममें लाना शरीरका सत्य है, वाणी-से कहना वाणीका सत्य है और विचारमें लाना मनका सत्य है। जो जिस समय जिसके लिये जैसा यथार्थरूपसे करना चाहिये वही सत्य है अर्थात् कर्तव्य ही सत्य है। अहिंसा तीनो कालमें सत्य है। इस कारण यथार्थरूपसे यथार्थज्ञानसे अहिंसाके लिये जो कुछ किया जाय, वह सत्य है। यदि कोई पुरुष द्वेषसे दिल दुखानेके लिये अन्धेको तिरस्कारके साथ अन्धा कहता है तो यह असत्य है, क्योंकि यह हिंसा है और हिंसा सदा असत्य है। श्रीव्यासजी महाराज सत्यकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

अर्थानुकूल वाणी और मनका व्यवहार होना अर्थात् जैसा देखा हो, जैसा अनुमान किया हो और जैसा सुना हो वैसा ही वाणीसे कथन करना और मनमें धारण करना। दूसरे पुरुषमें अपने बोधके अनुसार ज्ञान करानेमे कही हुई वाणी यदि धोखा देनेवाली, भ्रान्ति करानेवाली अथवा ज्ञान करानेमें असमर्थ न हो और सब प्राणियोके उपकारके लिये प्रवृत्त हुई हो; और जिससे किसी प्राणीका नाश, पीड़ा अथवा हानि न हो, वह सत्य है। यदि इस प्रकार भी कही हुई वाणी प्राणियोंका नाश करनेवाली हो तो वह सत्य नहीं है बल्कि इस पुण्याभास पुण्यके प्रतिरूप पापसे महान् दुःखको प्राप्त होगा। इसलिये अच्छी प्रकार परीक्षा करके सब प्राणियोके हितार्थ सत्य बोले। मनु भगवान्‌ने भी ऐसा ही कहा है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।

सत्य बोले, प्रिय बोले, वह सत्य न बोले जो अप्रिय हो अर्थात् सत्यको मीठा करके बोले, कटु करके न बोले।

योगियोके लिये तो उच्चतम सत्यका स्वरूप आत्म-अनात्म, चेतन-जड़, पवित्र-अपवित्र, नित्य-अनित्यमें विवेकज्ञान अर्थात् आत्माको त्रिगुणात्मक अन्तःकरण, इन्द्रियो, शरीर, विषयों तथा भौतिक जगत्‌से सर्वथा भिन्न, निर्विकार, निर्लेप, निष्क्रिय, असङ्ग, अपरिणामी, कूटस्थ, नित्य, ज्ञानस्वरूप विवेकपूर्वक देखना है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति॥ (गीता १३। २९)

जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिसे ही किये हुए देखता है तथा आत्माको अकर्ता देखता है, वही देखता है अर्थात् तत्त्वज्ञानी है।

सत्यका सामान्यरूप सूत्र ३१ के विशेष विचारमें देखें।

३. *अस्तेय*—अन्यायपूर्वक किसीके धन, द्रव्य अथवा अधिकार दिका हरण करना स्तेय है। राजाका प्रजाके नागरिक अधिकार दबाना, ऊँचे वर्णवालों या धनपतियो नीचे वर्णवालों और निर्धनोंके

सामाजिक तथा धार्मिक अधिकारोंका छीनना स्तेय है। अधिकारिगणोंका रिश्वत लेना, दूकानदारोंका निश्चित या उचित मूल्यसे ज्यादा दाम लेना अथवा तौलमें कम देना तथा चीजोंमें मिलावट करना इत्यादि स्तेय है। पर इस प्रकार किसी वस्तुको प्राप्त करनेका मूल कारण लोभ और राग है। इस हेतु योगीका किसी वस्तुमें राग होना ही स्तेय समझना चाहिये। इसका त्यागना अस्तेय है।

अस्तेयकी अधिक व्याख्याके लिये सूत्र ३१ का विशेष विचार देखें।

४. ब्रह्मचर्य—मैथुन तथा अन्य किसी प्रकारसे भी वीर्यका नाश न करते हुए जितेन्द्रिय रहना अर्थात् अन्य सब इन्द्रियोंके निरोधपूर्वक 'उपस्थेन्द्रिय' के संयमका नाम ब्रह्मचर्य है। पूर्णतया ब्रह्मचर्यका पालन वही कर सकता है जो ब्रह्मचर्यके नाश करनेवाले पदार्थोंके भक्षण तथा कामोद्दीपक दृश्योंके देखने और इस प्रकारकी वार्ताओंके सुनने तथा ऐसे विचारोंको मनमें लानेसे भी बचता रहे।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत॥

(अथर्ववेद अध्याय ३ सू० ५ म० १९)

अर्थात् ब्रह्मचर्यरूप तपसे देवताओंने कालको भी जीत लिया है। इन्द्र निश्चयसे ब्रह्मचर्यद्वारा देवताओंमें श्रेष्ठ बना है।

न तपस्तप इत्याहुर्ब्रह्मचर्यं तपोत्तमम्।
ऊर्ध्वरेता भवेद् यस्तु स देवो न तु मानुषः॥

अर्थात् ब्रह्मचर्य ही उत्कृष्ट तप है। इससे बढकर तपश्चर्या दूसरी नहीं हो सकती ऊर्ध्वरेता पुरुष इस लोकमें मनुष्यरूपमें प्रत्यक्ष देवता ही है।

ब्रह्मचर्यकी महिमा महान् है। सम्पूर्ण विश्वके प्राणियोंमें जो जीवनकला दिखायी देती है वह सब ब्रह्मचर्यका ही प्रताप है। जीवन-कलामें सौन्दर्य, तेज, आनन्द, उत्साह, सामर्थ्य, आकर्षकत्व और सजीवत्व आदि अनेकानेक उत्तम गुणोंका समावेश ब्रह्मचर्यसे ही होता है। ब्रह्मचारी पुरुषके लिये संसारमें कोई बात असम्भव और अप्राप्त नहीं है।

सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले।
यस्य प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशो भवेत्॥

अर्थात् परिश्रमपूर्वक बिन्दु (वीर्य) को साधनेवाले अखण्ड ब्रह्मचारीके लिये इस लोकमें कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो असम्भव और असाध्य हो। इस ब्रह्मचर्यके प्रतापसे ही मेरी (भगवान् शंकरकी) ऐसी महान् महिमा हुई है।

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जायाः शुक्रसम्भवः॥ (सुश्रुत)

अर्थात् मनुष्य जो कुछ भोजन करता है वह पहिले पेटमें जाकर पचने लगता है फिर उसका रस बनता है, उस रसका पाँच दिनतक पाचन होकर उससे रक्त पैदा होता है। रक्तका भी पाँच दिन पाचन होकर उससे मांस बनता है। इस प्रकार पाँच पाँच दिनके पश्चात् मांससे मेद, मेदसे हड्डी, हड्डीसे मज्जा और अन्तमें मज्जासे सप्तम सार पदार्थ वीर्य बनता है। यही वीर्य फिर 'ओजस्' रूपमें सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त

होकर चमकता रहता है। स्त्रीके इस सतम शुद्ध अति शुद्ध सार पदार्थका रज कहते हैं। वीर्य कॉचकी तरह चिकना और सफेद होता है और रज लाखकी तरह लाल होता है। इस प्रकार रससे लेकर वीर्य और रजतक छः धातुओंके पाचन करनेमें पांच दिनके हिसाबसे पूरे तीस दिन लगभग चार घंटे लगते हैं।

वैज्ञानिकोंने ऐसा निश्चय किया है कि चालीस सेर भोजनसे एक सेर रक्त बनता है और एक सेर रक्तसे दो तोला वीर्य बनता है। इस प्रकार एक तोला वीर्यके बराबर चालीस तोला अर्थात् आधा सेर रक्त होता है।

यदि नीरोग मनुष्य सेरभर भोजन करे तो चालीस सेर भोजन चालिस दिनमें होगा। अर्थात् चालीस दिनकी कमाई दो तोला वीर्य हुई। इस हिसाबसे तीस दिन अर्थात् एक महीनेकी कमाई डेढ़ तोला हुई। एक बारमें मनुष्यका वीर्य कम-से-कम डेढ़ तोला तो निकलता ही होगा। इतने कठोर परिश्रमसे तीस दिनमें प्राप्त होनेवाली डेढ़ तोला अमूल्य अतुल कौवत एक समयमें ही फूँक डालना कितनी बडी मूर्खता है।

'मरणं बिन्दु पातेन। जीवनं बिन्दु धारणम्॥ अर्थात् वीर्यका नाश ही मृत्यु है और ब्रह्मचर्य अर्थात् वीर्यकी रक्षा ही जीवन है।

योगियोंके लिये ब्रह्मचर्यका वास्तविक स्वरूप—रयि अर्थात् अन्नके खींचनेके लिये जो प्राणोंकी आभ्यन्तर क्रिया होती है उसीका नाम भूख है, वह वृक्षों, पशु, पक्षी आदि और मनुष्योंमें समान है। वृक्ष प्राणोंके अनुकूल ही अन्नको खींचते हैं। यही कारण है कि विशेष-विशेष वृक्ष उन विशेष स्थानोंमें जहाँ उनके अनुकूल पृथ्वी-जलादिमें परमाणु नहीं होते हैं नहीं उगते हैं। पशु आदि भी प्राणोंके अनुकूल ही अन्नको खींचते हैं, यदि मनुष्यके कुसङ्गसे इस स्वाभाविक बुद्धिको न खो बैठे हो किंतु मनुष्य नाना प्रकारकी वासनाओंसे भ्रमित होकर इस विवेक बुद्धिको खो देता है कि किस समय प्राणोंको किस-किस विशेष रयि अर्थात् अन्नकी आवश्यकता है। कभी-कभी प्राणोंमें भी कई विशेष कारणोंके अधीन होकर बाहर रयि अर्थात् अन्नकी ओर आकर्षित होनेकी आभ्यन्तर क्रिया होती है। यही काम-विषयवासनाके पीछे जाना है। इसके वशीभूत हो जानेसे ब्रह्मचर्यका खण्डन होता है। इसलिये योगीके लिये ब्रह्मचर्यका वास्तविक स्वरूप प्राणोंपर पूरा अधिकार प्राप्त कर लेना है और प्राण आदि पञ्च वायु अन्तःकरणका सम्मिलित कार्य है। अतः अन्तःकरणपर पूरा अधिकार कर लेना आवश्यक है। यह अधिकार ब्रह्मनिष्ठासे प्राप्त होता है अर्थात् उस क्रमसे ब्रह्मनिष्ठ होना ही पूर्ण ब्रह्मचर्यका वास्तविक स्वरूप है।

अधिक जानकारीके लिये सूत्र ३१ का विशेष विचार देखें।

५. *अपरिग्रह*—धन, सम्पत्ति, भोग-सामग्री अथवा अन्य वस्तुओंको अपनी (शरीर-रक्षा आदि) आवश्यकताओंसे अधिक केवल अपने ही भोगके लिये स्वार्थ-दृष्टिसे सचय या इकट्ठा करना परिग्रह है। (आवश्यक वह वस्तु है जिसके बिना अभ्यास अथवा धार्मिक कार्य निर्विघ्नतापूर्वक न चल सकें अर्थात् जो अध्यात्मोन्नति अथवा धार्मिक कार्योंमें साधनरूपसे आवश्यक हो; किन्तु ऐसी वस्तुओंका सग्रह भी बिना किसी प्रकारकी आसक्ति या लगावके होना चाहिये अन्यथा वह भी परिग्रह ही समझा जावेगा।) इससे बचना अपरिग्रह है। पर योगीके लिये तो सबसे बड़ा परिग्रह अविद्या आदि क्लेश, शरीर और चित्त आदिमें ममत्व और अहङ्कार है, जो सब परिग्रहके मूल कारण हैं। इसके लिये इन सब क्लेशों आदिका न रखना ही अपरिग्रहका लक्षण अभिमत है।

शेष सूत्र ३१ के विशेष विचारमें देखें।

सङ्गति—इस प्रकार सामान्यरूपसे यमोका निरूपण करके अगले सूत्रमें उनकी सबसे ऊँची अवस्था बतलाते हैं—

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—जाति-देश-काल-समय-अनवच्छिन्नाः=जाति, देश, काल और समय (सकेत 'नियमविशेष') की सीमासे रहित; सार्वभौमाः=सब अवस्थाओमें पालन करने योग्य; महाव्रतम्=महाव्रत है ।

अन्वयार्थ—जाति, देश, काल और समयकी हदसे रहित सर्वभूमियोमे पालन करने योग्य यम महाव्रत कहलाते हैं ।

व्याख्या—जाति, देश, काल और समय (संकेत, नियमविशेष) की हदसे रहित होनेका यह अभिप्राय है कि इनके द्वारा हिंसा आदि यम संकुचित न किये जायँ ।

जातिद्वारा संकुचित—गौ आदि पशु अथवा ब्राह्मणकी हिंसा न करूँगा ।

देशद्वारा सकुचित—हरिद्वार, मथुरा आदि तीर्थोंमें हिंसा नहीं करूँगा ।

कालसे संकुचित—चतुर्दशी, एकादशी आदि तिथियोमें हिंसा नहीं करूँगा ।

समयद्वारा संकुचित—समयका अर्थ यहाँ काल नहीं है बल्कि विशेष नियम या विशेष संकेत है । जैसे देव अथवा ब्राह्मणकी प्रयोजन-सिद्धिके लिये हिंसा करूँगा अन्य प्रयोजनसे नहीं । इसी प्रकार अन्य यमोंको समझ लेना चाहिये । अर्थात् समयावच्छिन्न सत्य—प्राणहरण आदिके संकटसे अतिरिक्त मिथ्याभाषण न करूँगा । समयावच्छिन्न अस्तेय—दुर्भिक्षके अतिरिक्त चोरी न करूँगा । समयावच्छिन्न ब्रह्मचर्य—ऋतुकालसे अन्य समयमें स्त्रीगमन न करूँगा । समयावच्छिन्न अपरिग्रह—परिवारके परिपालनके लिये ही परिग्रह ग्रहण करूँगा ।

जब ये यम इस प्रकारकी संकीर्णतासे रहित सब जातियोके लिये सर्वत्र सर्वदा सर्वथा पालन किये जाते हैं, तब महाव्रत कहलाते हैं ।

विशेष विचार—(सूत्र ३१) इस सूत्रका यह भी भाव है कि यमोका पालन किसी जाति-विशेष, देश-विशेष, काल विशेष या अवस्था-विशेषके मनुष्योके लिये नहीं है; किंतु यह भूमण्डलपर रहनेवाली सभी जाति, देश, काल और अवस्थावालोके लिये पालने योग्य है, इसीलिये ये सार्वभौम महाव्रत कहलाते हैं । इससे पूर्वके सूत्रमें हमने यमोका वह लक्षण किया है, जो योगियोको अभिमत है । अब इस सूत्रके वि० वि० में हम उनका वह विशाल व्यापक और सामान्य स्वरूप दिखलानेका यत्न करेंगे, जिसका सम्बन्ध सम्पूर्ण मनुष्य-समाज और सारे राष्ट्रोसे है ।

तीसवें सूत्रकी सङ्गतिमें बतला आये है कि यमोका सम्बन्ध केवल व्यक्तियोसे नहीं है परतु सारे मनुष्य-समाजसे है, इसलिये सारे मनुष्य इनके पालन करनेमें समष्टिरूपसे परतन्त्र हैं । कोई मनुष्य चाहे वह किसी जाति, देश, काल, अवस्था, वर्णाश्रम, मत-मतान्तरका क्यों न हो, यदि उसे मनुष्य-समाजमें रहना है तो उसके लिये ये यम सर्वदा माननीय और पालनीय है ।

संसारमें फैली हुई भयंकर अशान्तिके नाशका केवलमात्र उपाय यमोका यथार्थरूपसे पालन करना है । यमके अर्थ ही शासन और व्यवस्था रखनेवालेके हैं । इनके पालनसे संसारकी अवस्था ठीक रह सकती है । यह शङ्का कि क्षत्रिय शासकादि अहिंसा और गृहस्थी ब्रह्मचर्यका पालन नहीं कर सकते, यमोको

यथार्थरूपसे न समझनेके कारण उत्पन्न होती है। उसके निवारणार्थ यमोंके स्वरूपको और स्पष्टरूपसे दिखलानेका यत्न करते हैं—

अहिंसा—जिस प्रकार सारे क्लेशोंका मूल अविद्या है, उसी प्रकार सारे यमोंका मूल अहिंसा है। हिंसा तीन प्रकारकी है—(१) शारीरिक—किसी प्राणीका प्राण-हरण करना अथवा अन्य प्रकारसे शारीरिक पीड़ा पहुँचाना; (२) मानसिक—मनको क्लेश देना; (३) आध्यात्मिक—अन्तःकरणको मलिन करना। यह राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भयादि तमोगुण वृत्तिसे मिश्रित होती है, जैसा कि सूत्र तीसकी व्याख्यामें बतला आये हैं। किसी प्राणीकी किसी प्रकारकी हिंसा करनेके साथ-साथ हिंसक अपनी आत्मिक हिंसा करता है, अर्थात् अपने अन्तःकरणको हिंसाके क्लिष्ट संस्कारोंके मलसे दूषित करता है। इन तीनों प्रकारकी हिंसाओंमें सबसे बड़ी हिंसा आध्यात्मिक हिंसा है, जैसा कि ईशोपनिषद्-में बतलाया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

(ईश उ० मं० ३)

जो कोई आत्मघाती लोग हैं (अर्थात् अन्तःकरणको मलिन करनेवाले हैं); वे मरकर उन लोकों-में (योनियोंमें) जाते हैं जो असुरोंके लोक कहलाते हैं और घने अँधेरेसे ढके हुए हैं अर्थात् ज्ञानरहित मूढ़ नीच योनियोंमें जाते हैं।

शरीर तथा मनकी अपेक्षा आत्मा श्रेष्ठतम है, क्योंकि शरीर और मन तो आत्माके करण (साधन) हैं, जो मनुष्यको उसके कल्याणार्थ दिये गये हैं। इसलिये हिंसक अधिक दयाका पात्र है, उसके प्रति भी द्वेष अथवा बदला लेनेकी भावना रखना हिंसा है। इसलिये जिसपर हिंसा की जाती है उसके तथा हिंसक दोनोंके कल्याणार्थ हिंसा-पापको हटाना चाहिये। योगीमें अहिंसाव्रतकी सिद्धिसे आत्मिक तेज इतना बढ़ जाता है कि उसकी संनिधिसे ही हिंसक हिंसाकी भावनाको त्याग देता है। मानसिक शक्तिवाले मानसिक बलसे हिंसाको हटा दें, वाचिक तथा शारीरिक शक्तिवाले जहाँतक उनका अधिकार है उस सीमातक इन शक्तियोंको हिंसाके रोकनेमें प्रयोग करें। शासकों तथा न्यायाधीशोंका परम कर्तव्य ससारमें अहिंसाव्रतको स्थापन करना है। जिस प्रकार कोई मनुष्य मदोन्मत्त अथवा पागल होकर किसी घातक शस्त्रसे जो उसके पास शरीर-रक्षाके लिये है, अपने ही शरीरपर आघात पहुँचाने लगे तो उसके शुभचिन्तकोंका यह कर्तव्य होता है कि उसके हितार्थ उसके हाथोंसे वह शस्त्र हरण कर ले। इसी प्रकार यदि कोई हिंसक शरीर-रूपी शस्त्रसे जो उसको उसकी आत्माके कल्याणार्थ दिया गया है, दूसरोंको तथा अपनी ही आत्माको हिंसारूपी आघात पहुँचा रहा है और अन्य किसी प्रकारसे उसका सुधार असम्भव हो गया है तो अहिंसा तथा उसके सहायक अन्य सब यमोंकी सुव्यवस्था रखनेवाले शासकोंका परम कर्तव्य होता है कि उसके शरीरका उससे वियोग कर दे। यह कार्य अहिंसाव्रतमें बाधक नहीं है वरं अहिंसाव्रतका रक्षक और पोषक है।

पर यदि यह कार्य द्वेषादि तमोगुणी वृत्तियों अथवा बदला लेनेकी भावनासे मिश्रित है तो हिंसाकी सीमामें आ जाता है। अहिंसाके स्वरूपको इस प्रकार विवेकपूर्वक समझना चाहिये कि सत्त्वरूपी धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य (श्रेष्ठ भावनाओं) के प्रकाशमें अहिंसा तथा उसके अन्य सब सहायक यमोंमें; और तमरूपी अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य (नीच भावनाओं) के अन्धकारमें हिंसा तथा उसके

सहायक अन्य चारो वितर्कोंमें प्रवृत्ति होती है। धर्म-स्थापनके लिये युद्ध करना क्षत्रियोंका कर्तव्य है, उससे बचना हिंसारूपी अधर्ममें सहायक होना है।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥ (गीता २। ३१)

स्वधर्मको समझकर भी तुझे हिचकिचाना उचित नहीं है; क्योंकि धर्मयुद्धकी अपेक्षा क्षत्रियके लिये और कुछ अधिक श्रेयस्कर नहीं हो सकता।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥ (गीता २। ३२)

हे पार्थ! यो अपने-आप प्राप्त हुआ और मानो स्वर्गका द्वार ही खुल गया हो, ऐसा युद्ध तो भाग्यशाली क्षत्रियोंको ही मिलता है। वेदमें भी ऐसा बतलाया गया है। यथा:—

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥
(अथर्व० १८। २। १७, ऋग्वेद १। १५४। ३)

जो संग्रामोंमें लड़नेवाले हैं, जो शूरवीरतासे शरीरको त्यागनेवाले हैं और वे जिन्होने सहस्रो दक्षिणाएँ दी हैं तू उनको (अर्थात् उनकी गतिको) भी प्राप्त हो।

अपनी दुर्बलताके कारण भयभीत होकर अत्याचारियोके अत्याचार सहन करना, अपनी धन-सम्पत्तिको चोर-डाकुओंसे हरण करवाना, अपने समक्ष अपने परिवार, देश, समाज अथवा धर्मको दुर्जनो-द्वारा अपमानित देखना अहिंसा नहीं है, बल्कि हिंसाका पोषक कायरतारूपी महापाप है। इतना बतला देना और आवश्यक है कि क्षात्रधर्मानुसार तेजस्वी वीर ही अहिंसा-व्रतका यथार्थरूपसे पालन कर सकता है। दुर्बल, डरपोक, कायर, नपुसक हिंसकोंकी हिंसा बढ़ानेमें भागी होता है।

उदाहरणार्थ डाकू सगठन और मृत्युसे निर्भयता—इन दो शक्तियोको लेकर निकलते हैं। जो पुरुष मृत्युके भयसे अपना धन और सम्पत्ति बिना मुकाबिला किये हुए आसानीसे दे देते है, वे उनके दूसरे स्थानोमें डाका डालने और लूटनेके उत्साह और हिम्मतको बढ़ाकर उनके इस प्रकारकी हिंसामें पापके भागी बनते है। जो वीर पुरुष उनसे अधिक मृत्युसे अभयरूप आत्मबल और संगठनरूप दिव्य शक्ति रखते हैं और सगठित होकर निर्भयताके साथ उन डाकुओंका मुकाबिला करते है, वे अपने प्राणोंको खोकर भी उन अत्याचारियोके दूसरे स्थानोंमे डाका डालनेके उत्साह और हिम्मतको कम करते हैं, वे उनकी हिंसाको घटाकर अहिंसारूपी पुण्यके भागी बनते है। यदि वे इस संग्राममें सफल होते हैं तो अपने धन और सम्पत्तिके ऐश्वर्यको भोगते हैं और यदि बलिदान होते है तो स्वर्गको प्राप्त होते है। भारतवर्षके क्षत्रियोंमें यह प्रथा थी कि जब वे अत्याचारी विधर्मी यवनोंके मुकाबिलेमें अपने धर्म और देशको बचानेकी कोई आशा न देखते थे तो उनके छोटे बच्चे और स्त्रियाँ आगकी चितामें भस्म हो जाती थीं और वे वीर क्षत्रिय हाथोंमें तलवारें लेकर एक-एक सैकड़ो अत्याचारियोको तलवारके घाट उतारकर बलि हो जाते थे। इस प्रकार धर्म और देशरक्षाके परम कर्तव्यको अपने अन्त समयतक पूरा कर जाते थे। पर इस वीरताके साथ-साथ उनमें एक सकीर्णता और स्वार्थका दुर्गुण भी था, जो उन्होंने असंख्य गरीब और नीची

जाति कहलानेवाले अपने भाइयोंको उनके धार्मिक, सामाजिक, नागरिक, राष्ट्रिय और आर्थिक अधिकारोंसे वंचित करके उनके अंदरसे मनुष्यत्वके अभिमानके संस्कारतकको निकाल दिया था। यह स्तेयरूप पाप ही उनकी असफलताका कारण हुआ। यदि वे इस स्वार्थमय संकीर्ण दृष्टिका परित्याग करके इन सब असंख्य भाइयोंमें अपनी-जैसी शूरवीरता तथा धर्मप्रेम और देशभक्ति उत्पन्न करनेका यत्न करते तो बहुत संभव है कि भारतवर्षका इतिहास आजके इतिहाससे कुछ और ही विचित्र रूपमें लिखने योग्य होता। संसारमें सारे राष्ट्रोंकी स्वतन्त्रताका भी मूल उपाय यही हो सकता है कि पराधीन राष्ट्रके सारे व्यक्ति संगठितरूपमें निर्भय होकर यह दृढ संकल्प कर लें कि यदि जीना है तो स्वतन्त्र राष्ट्रके वायुमण्डलमें ही श्वास लेंगे अन्यथा स्वतन्त्रताकी वेदीपर बलि हो जायँगे।

अहिंसा और सत्यके अवतार महात्मा गांधीजीने जब एक गायके बछड़ेकी अत्यन्त रुग्णावस्थामें सारे शरीरमें कीड़े पड़ जाने और उसका कष्ट असहनीय हो जानेपर उसके बचनेकी कोई सम्भावना न देखी, तब उनकी सत्त्वप्रधान बुद्धिने इसीको विवेकपूर्ण अहिंसा निश्चय किया कि उसको उस असहनीय कष्टसे बचानेके लिये किसी ओषधिद्वारा शीघ्र उसके रुग्ण शरीरको पृथक् करानेमें सहायता की जाय। पर यही कार्य यदि कोई चिकित्सक रोगीके चिकित्सासे तंग आकर अथवा उसका कोई सम्बन्धी उसकी सेवा-शुश्रूषासे बचनेके लिये तमरूपी प्रमादसे करे तो वह घोर हिंसामें प्रवृत्त हो जायगा। एक राष्ट्रद्वारा अहिंसा महाव्रतके पालनका सबसे बड़ा उदाहरण सम्राट् अशोकके समयमें मिलता है।

सर्वसाधारणके लिये अहिंसारूप व्रतके पालन करनेमें सबसे सरल कसौटी यह है "Do to others as you want others do to you" अर्थात् दूसरोंके साथ व्यवहार करनेमें पहले यह भली प्रकार जाँच लो कि यदि तुम इनके स्थानपर होते और वे तुम्हारे स्थानपर तो तुम उनसे किस प्रकार-का व्यवहार कराना चाहते। बस, वैसा ही तुम उनके साथ व्यवहार करो। यही सिद्धान्त सत्य और अस्तेय आदि यमोंमें भी घट सकता है।

हर समय इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि हमारा जीवन प्राणिमात्रके लिये सुखदायी और कल्याणकारी हो। कोई कार्य ऐसा न होने पाये, जिससे किसीको किसी प्रकारका दुःख पहुँचे।

हिंसाके सम्बन्धमें इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि किसका जीवन कितना मनुष्य-समाजके लिये उपयोगी अथवा हानिकारक है; क्योंकि मनुष्य-जीवनमें ही आत्मोन्नति की जा सकती है। अर्थात् खटमल, जूँ, मच्छर, पिस्सू आदि हिंसक जन्तुओंकी अपेक्षा साधारण कीट, पतंग आदिकी हिंसा अधिक बड़ी है। उनकी अपेक्षा साधारण जानवरोंकी। साधारण जानवरोंकी अपेक्षा उपयोगी पशुओंकी। उपयोगी पशुओंकी अपेक्षा मनुष्योंकी। साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा उन उच्च कोटिके मनुष्योंकी जिनका जीवन पवित्र और उत्कृष्ट है, जिनसे देश, समाज और प्राणिमात्रको अत्यन्त लाभ पहुँच रहा हो।

सत्य—यह अहिंसाका ही रूपान्तर है। सत्यका व्यवहार केवल वाणीसे ही नहीं होता है जैसा कि साधारण मनुष्य समझते हैं। सूत्र २०वें की व्याख्यामें सत्यका वास्तविक स्वरूप दिखलाते हुए हमने बतलाया है कि कर्तव्य ही सत्य है। इसलिये जो मनुष्य प्रत्येक प्राणीके प्रति जिस अवस्था और जिस क्षेत्रमें वह हो उसके प्रति अपना कर्त्तव्य यथार्थरूपसे समझता है और उसका यथार्थरूपसे पालन करता है, वही सत्यव्रती है। राजा हरिश्चन्द्रने अपने पुत्र रोहिताश्वकी मृत्युका शोक और अपनी स्त्रीको घोर

विपदामें अपने समक्ष खडी हुई देखकर उसका मोह छोड़कर अपने स्वामी चाण्डालके प्रति कर्तव्यको समझा और उसका पालन किया। यह उनके सत्यकी अन्तिम परीक्षा थी, जिसने उनका नाम सदाके लिये अमर कर दिया। यदि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्यरूपी सत्य-व्रतको पालन करने लगे तो संसार-की अशान्ति स्वतः ही दूर हो सकती है।

कई अविवेकी पुरुष दूसरोके हृदयको पीड़ा पहुँचानेवाले वचन कहनेमे अपने सत्यवादी होनेका घमण्ड करते है। इस सम्बन्धमें हम केवल एक ऐतिहासिक घटनाका वर्णन कर देना पर्याप्त समझते हैं।

युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञ-समाप्तिपर मयदानव चित्रकारद्वारा स्फटिककी बनायी हुई युधिष्ठिरकी आश्चर्यजनक सभामें जलको थल, थलको जल, दीवारको दरवाजा, दरवाजेको दीवार इत्यादि समझते हुए दुर्योधनको स्थान-स्थानपर ठोकर खाते हुए देखकर पाण्डवो और द्रौपदीका उसका उपहास करना तथा परिहाससे यह शब्द कहना कि 'हे महाराज धृतराष्ट्र (अन्धे) के पुत्र ! देखो द्वार इधर है।' जिनमे इन छिपे हुए अर्थोसे उसके दिलको चोट पहुँचानेकी भावना थी कि 'अन्धोके अन्धे ही पुत्र होते हैं' (महाभारत, सभापर्व अ० ३० श्लोक ३४) हिंसारूपी असत्य था, जिसका फल महाभारतका युद्ध और उससे भारतका सर्वथा पतन हुआ।

इसी प्रकार महाभारतमे कर्णपर्वकी एक घटना है। एक समय कर्णसे परास्त होनेके पश्चात् युधिष्ठिरने अर्जुनको कर्ण-वधके निमित्त उसके गाण्डीव धनुषको धिक्कारकर उत्तेजित किया कि 'हे अर्जुन ! तेरे गाण्डीव धनुष, बाहु-वीर्य, केसरी-सुत हनुमान्‌से अङ्कित ध्वजा और अग्निदत्त रथको बार-बार धिक्कार है। तुम अपने गाण्डीव धनुषको जो तुमसे बलवान् होनेका दावा करे, उस मित्र राजाको सौप दो।' अर्जुनने यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि जो उसको धिक्कारकर यह कहेगा कि तुम अपने गाण्डीव धनुषको किसी दूसरेको दे दो, क्योकि वह तुमसे बलवान् है, उसको वह मार डालेगा। इसलिये उसने अपनी प्रतिज्ञाका पालन करते हुए युधिष्ठिरका वध करनेके लिये अपनी तलवार खींच ली। उस समय श्रीकृष्णने अर्जुनको सत्यका स्वरूप इस प्रकार बतलाया कि 'हे अर्जुन ! अज्ञानी केवल शब्दके स्थूलरूपको देखते है पर ज्ञानी उसके सूक्ष्म स्वरूप अर्थको देखते हैं और उसके ही अनुसार व्यवहार करते हैं। तेरी प्रतिज्ञा केवल गाण्डीव धनुषको धिक्कारनेवालेका वध करनेकी थी और धिक्कारना अपमानके लिये द्वेषभावसे होता है। पर युधिष्ठिरने गाण्डीव धनुषकी प्रशंसा और मान बढानेके लिये प्रेमभावसे तुझे उत्तेजित करके कर्णका वध करनेके लिये ये शब्द कहे है। इसलिये युधिष्ठिरके शब्दोके यह अर्थ नही लिये जा सकते; और उसका मारना असत्य है। फिर भी यदि तू अज्ञानियोके सदृश रूढ़िवादमें ही पडना चाहता है तो मारना केवल शस्त्रसे और स्थूल शरीरका ही नहीं होता। युधिष्ठिर ज्ञानी है, शरीर उसके लिये कपडेके तुल्य है, उसके शरीरका पृथक् होना उसके लिये मृत्यु नहीं है। वाणीकी चोट शस्त्रसे अधिक तीक्ष्ण होती है, वही उसके लिये मृत्युके सदृश है, उसीसे उसको मार।'

राष्ट्रकी सब परिस्थितियोंको ध्यानमे रखते हुए योगीश्वर कृष्ण भगवान् सत्यभाषणकी व्यवस्थाका उपदेश अर्जुनको महाभारत, कर्णपर्व अध्याय ६९ मे इस प्रकार करते हैं—

नहि धर्मविभागज्ञः कुर्यादेवं धनंजय। यथा त्वं पाण्डवाद्येह धर्मभीरुरपण्डितः॥ १७॥

हे पाण्डुपुत्र धनंजय ! धर्मके विभागको जाननेवाला ऐसा नहीं किया करता जैसा कि तुम

आज यहाँ धर्मभीरु और अज्ञानी हो रहे हो ।

अकार्याणां क्रियाणां च संयोगं यः करोति वै । कार्याणामक्रियाणां च स पार्थ पुरुषाधमः ॥ १८ ॥

जो अकार्यों (न करने योग्य कामो) का क्रियाके साथ संयोग करता है (अमलमें लाता है) और कार्यों (करने योग्य कामो) का अक्रियासे संयोग करता है (अनुष्ठान नहीं करता), हे पार्थ ! वह अधम पुरुष है ।

अनुसृत्य तु ये धर्मं कथयेयुरुपस्थिताः । समासविस्तरविदां न तेषां वेत्सि निश्चयम् ॥१९॥

जो धर्मानुष्ठान करनेवाले (आमिल लोग) दृढतासे (निश्चयपूर्वक) धर्मका निरूपण करते है, उन सक्षेप और विस्तारसे जाननेवालोके निश्चयको तुम नहीं जानते ।

अनिश्चयज्ञो हि नरः कार्याकार्यविनिश्चये । अवशो मुह्यते पार्थ यथा त्वं मूढ एव तु ॥२०॥

कर्तव्याकर्तव्यके निश्चयसे हीन मूढ़ मनुष्य, हे पार्थ ! तुम्हारी तरह अवश्य ही भूल करता है ।

नहि कार्यमकार्यं वा सुखं ज्ञातुं कथंचन । श्रुतेन ज्ञायते सर्वं तच्च त्वं नावबुध्यसे ॥ २१ ॥

कर्तव्य और अकर्तव्य किसी प्रकार भी सुखपूर्वक (आसानीसे) नहीं जाना जाता, यह सब कुछ तो वेद और शास्त्रोंके श्रवणसे जाना जाता है, तुम इस बातको नहीं जानते ।

अविज्ञानाद् भवान्यच्च धर्मं रक्षति धर्मवित् । प्राणिनां त्वं वधं पार्थ ! धार्मिको नावबुध्यसे ॥२२॥

हे धर्मवित् कौन्तेय ! तुम धर्मके तत्त्वको बिना जाने धर्मकी रक्षा करना चाहते हो । धार्मिक वृत्ति-वाले भी तुम, प्राणियोका वध कब करना चाहिये, यह नही जानते ।

प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान् मतो मम । अनृतां वा वदेद्वाचं न तु हिंस्यात् कथंचन ॥२३॥

हे तात ! प्राणियोका न मारना ही सबसे श्रेष्ठ है, मेरा यह मत है (निश्चय है) । चाहे झूठ बोल दे परंतु हिंसा कभी न करे ।

स कथं भ्रातरं ज्येष्ठं राजानं धर्मकोविदम् । हन्याद् भवान्नरश्रेष्ठ प्राकृतोऽन्यः पुमानिव ॥२४॥

नरश्रेष्ठ ! सो तुम दूसरे अज्ञानी मनुष्यकी तरह, धर्म तत्त्वके ज्ञाता राजा और बडे भाईको किस प्रकार मारते हो ।

अयुध्यमानस्य वधस्तथाशत्रोश्च मानद । पराङ्मुखस्य द्रवतः शरणं चापि गच्छतः ॥२५॥
कृताञ्जलेः प्रपन्नस्य प्रमत्तस्य तथैव च । न वधः पूज्यते सद्भिस्तच्च सर्वं गुरौ तव ॥२६॥

जो युद्ध नहीं कर रहा है, जो शत्रु नहीं है, हे मानद ! जो पीठ दे चुका है—जो युद्धसे भाग रहा है, जो शरणमें आ रहा है, जो हाथ जोडे सामने आया है (आपद्ग्रस्त है) और जिसकी बुद्धि ठिकाने नहीं है, भले आदमी इनके वधको अच्छा नहीं कहते; और यह सब कुछ तुम्हारे पूज्य (युधिष्ठिर) में विद्यमान है ।

त्वया चैवं व्रतं पार्थ बालेनेव कृतं पुरा । तस्मादधर्मसंयुक्तं मौर्ख्यात्कर्म व्यवस्यसि ॥२७॥

हे पार्थ ! तुमने पहले जो यह प्रतिज्ञा की है, वह तो बच्चोकी-सी है । उसीसे अपनी मूर्खताके कारण अधर्मयुक्त कार्य करनेका निश्चय कर रहे हो ।

स गुरुं पार्थ कस्मात्त्वं हन्तुकामोऽभिधावसि । असम्प्रधार्य धर्माणां गतिं सूक्ष्मां दुरत्ययाम् ॥२८॥

धर्मोंकी सूक्ष्म और दुरत्यय गतिका निर्णय न करके, हे पार्थ ! तुम अपने बड़े भाईको क्यों मारने दौडते हो ?

सत्यस्य वदिता साधुर्न सत्याद्विद्यते परम् । तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं पश्य सत्यमनुष्ठितम् ॥३१॥
भवेत्सत्यमवक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत् । यत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यं चाप्यनृतं भवेत् ॥३२॥

सत्यका वक्ता साधु है, सत्यसे उत्तम कुछ नही है । (तुम) देखो, व्यावहारिक सत्य तत्त्वसे ही दुर्विज्ञेय है । जहाँ झूठ सत्य हो जाय और सत्य झूठ हो जाय, वहाँ सत्य बोलना अकर्तव्य हो जाता है और अनृत कर्तव्य हो जाता है ।

सर्वस्वस्यापहारे तु वक्तव्यमनृतं भवेत् । तत्रानृतं भवेत्सत्यं सत्यं चाप्यनृतं भवेत् ॥
तादृशं पश्यते बालो यस्य सत्यमनुष्ठितम् ॥ ३४ ॥
भवेत्सत्यमवक्तव्यं न वक्तव्यमनुष्ठितम् । सत्यानृते विनिश्चित्य ततो भवति धर्मवित् ॥३५॥

(दुराचारी हिंसकद्वारा) सर्वस्व-हरण उपस्थित होनेपर झूठ ही बोलना योग्य होता है (झूठ बोलना कर्तव्य बन जाता है) । वहाँपर झूठ सत्य और सत्य झूठ हो जाता है । जो सत्यका अनुष्ठान करना चाहता है, ऐसे बालकको सत्यका यही तत्त्व समझना चाहिये । यदि कहींपर सत्य बातका न कहना ही ठीक हो तो वहाँपर किये हुए सत्यको नहीं ही कहना चाहिये । इस प्रकार झूठ और सत्यके तत्त्वको निश्चय करके मनुष्य धर्मवित् होता है । यथा चाल्पश्रुतो मूढो धर्माणामविभागवित् ।

वृद्धानपृष्ट्वा संदेहं महच्छ्वभ्रमिवार्हति ।
तत्र ते लक्षणोद्देशः कश्चिदेवं भविष्यति ॥ ५४ ॥
दुष्करं परमं ज्ञानं तर्केणानुव्यवस्यति ।

जो मनुष्य ज्ञानवृद्ध पुरुषोसे पूछकर संदेहका निराकरण नहीं कर लेता है, वह अज्ञानके बड़े भारी गड्ढेमें ही पड़ा रहता है । इसलिये यहाँ कुछ धर्मके लक्षण और उद्देश्यको मैं तुझे कहता हूँ । धर्मका ज्ञान बडा दुष्कर है, तर्कसे ही उसका निश्चय हो सकता है ।

श्रुतेर्धर्म इति ह्येके वदन्ति बहवो जनाः । तत्ते न प्रत्यसूयामि न च सर्वं विधीयते ॥ ५५ ॥

बहुत-से लोग ऐसा कहते हैं कि श्रुतिसे धर्मका ज्ञान होता है । तेरे सामने मैं इसका खण्डन नहीं करता । किंतु श्रुतिसे सभी कुछ नहीं निश्चय हो सकता । (देश, काल और परिस्थितिके अनुसार कहीं तर्कका भी आश्रय लेना पड़ता है ।)

प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यत्स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥
अहिंसार्थाय हिंस्राणां धर्मप्रवचनं कृतम् ॥ ५७ ॥

प्राणियोंकी रक्षाके लिये धर्मका प्रवचन किया गया है । जो अहिंसासे युक्त है वही धर्म है, यह तू निश्चय समझ । धर्मका प्रवचन तो हिंसकोंकी भी अहिंसाके लिये किया गया है ।

धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः । यत्स्याद् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥५८॥

धर्म प्रजाको धारण करता है (व्यवस्थामें रखता है), धारण करनेसे ही उसे धर्म कहते हैं । जो धारण (कर्म) संयुक्त है (प्रजाको व्यवस्थित रखता है), वह धर्म है, यह (शास्त्रोंका) निश्चय है ।

ये न्यायेन जिहीर्षन्तो धर्ममिच्छन्ति कर्हिचित् । अकूजनेन मोक्षं वा नानुकूजेत् कथंचन ॥५९॥
अवश्यं कूजितव्ये वा शक्तैरन्यैरकूजितः । श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत्सत्यमविचारितम् ॥६०॥

जो न्यायसे जीतकर धर्मको ही धर्मका लक्षण मानते हैं, उनका मत है कि यदि कहीं न बोलनेसे धर्म रहेगा [illegible] तो कहीं कभी न बोले (चुप रहे) । यदि बोलना आवश्यक ही हो तथा सब न बोलनेसे अकूजित होना हो तो वहाँ झूठ बोलनेमें ही श्रेय है, वह बिना विचारे (निःसन्देह) सत्य ही समझना है ।

यः कार्येभ्यो व्रतं कृत्वा तस्य नानुपपादयेत् । न तत्फलमवाप्नोति एवमाहुर्मनीषिणः ॥६१॥

जो किसी कामकी प्रतिज्ञा करके उसको अनेक प्रकारसे (विधिमें हेर-फेर करके) करता है, मनीषी कहते हैं कि वह उसके फलको नहीं पाता ।

प्राणान्तये विवाहे वा सर्वजानिविधात्यये । नर्मण्यभिप्रवृत्ते वा न च प्रोक्तं मृषा भवेत् ॥६२॥

प्राणोंका संकट आनेपर, विवाह-कालमें, सर्वजातिका अत्यन्त वध उपस्थित होनेपर या हँसी-मजाकके समय कहा हुआ झूठ झूठ नहीं माना जाता ।

अधर्मं नात्र पश्यन्ति धर्मतत्त्वार्थदर्शिनः । यत्स्तेनैः सह सम्बधान्मुच्यते शपथैरपि ॥६३॥

यदि चोरोंके साथ किया हुआ शपथ (झूठ) खाकर भी अपनेको उनके हाथसे छुडा ले तो धर्मतत्त्वको जाननेवाले इसको अधर्म नहीं कहते ।

श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत्सत्यमविचारितम् । न च तेभ्यो धनं देयं शक्ये सति कथंचन ॥६४॥

चोर आदिसे सम्बन्ध पानेपर झूठ बोलना अच्छा है, वह बिना विचारे सत्य ही है । सामर्थ्य होते उनको किसी प्रकार भी धन नहीं देना चाहिये ।

पापेभ्यो हि धनं दत्तं दातारमपि पीडयेत् । तस्माद् धर्मार्थमनृतमुक्त्वा नानृतभाग् भवेत् ॥६५॥

पापियोंको दिया हुआ धन दाताको भी दुःख देता है । इस कारण धर्मके लिये झूठ बोलकर भी असत्य दोषका भागी होता ।

एष ते लक्षणोद्देशो मयोद्दिष्टो यथाविधि ।
यथाधर्मं यथाबुद्धिर्मयाद्य वै हितार्थिना ॥ ६६ ॥
एतच्छ्रुत्वा ब्रूहि पार्थ यदि वध्यो युधिष्ठिरः ॥

पार्थ ! मैं तुम्हारा हितैषी हूँ, आज मैंने यह धर्मका लक्षण और उद्देश्य बुद्धिपूर्वक विधिसहित धर्मानुसार कह दिया । इसको सुनकर यदि युधिष्ठिर वधके योग्य है तो तुम ही कह दो (अर्थात् वधके योग्य नहीं है) ।

राजा श्रान्तो विक्षतो दुःखितश्च कर्णेन संख्ये निशितैर्बाणसंघैः ।
यश्चानिशं सूतपुत्रेण वीर शरैर्भृशं ताडितो युध्यमानः ॥ ७६ ॥
अतस्त्वमेतेन सरोषमुक्तो दुःखान्वितेनेदमयुक्तरूपम् ।
अकोपितो ह्येष यदि स्म संख्ये कर्णं न हन्यादिति चाब्रवीत् सः ॥ ७७ ॥

राजा युधिष्ठिर युद्धमें कर्णके तेज बाणसमूहसे घायल हुआ, दुखी और थक गया था, और हे वीर ! युद्ध करते हुए उसपर सूतपुत्र निरन्तर खूब बाण चला रहा था, अतः दुःखसे युक्त उस युधिष्ठिर-

ने रोषमें आकर यह अयुक्तरूप वचन तुमको कहा है। उसने इसलिये ऐसा कहा है कि यदि अर्जुन कुपित न होगा तो युद्धमें कर्णको नहीं मार सकेगा। (युधिष्ठिरके कथनका अभिप्राय तुम्हारा या गाण्डीवका अपमान करना नहीं है, अपितु तुमको जोश दिलाकर कर्णका वध कराना है।)

जानाति तं पाण्डव एष चापि पापं लोके कर्णमसह्यमन्यैः।
ततस्त्वमुक्तो भृशरोषितेन राज्ञा समक्षं परुषाणि पार्थ ॥ ७८ ॥

हे पाण्डव ! राजा युधिष्ठिर यह भी समझते हैं कि यह पापी कर्ण लोकमें अन्य वीरोंसे असह्य है। हे पार्थ ! इसीलिये क्रोधातुर धर्मराजने तुम्हारे सम्मुख ही तुमको यह कठोर वचन कहे है।

नित्योद्युक्ते सततं चाप्रसह्य कर्णे द्यूतं ह्यद्य रणे निबद्धम्।
तस्मिन् हते कुरवो निर्जिताः स्युरेवं बुद्धिः पार्थिवे धर्मपुत्रे ॥ ७९ ॥

नित्य उद्यत और अत्यन्त असह्य कर्णके भरोसेपर ही आज युद्धमें बाजी लगी है। इसके मरनेपर कौरव हार जायँगे, महाराज धर्मपुत्रका यह अभिप्राय है।

ततो वधं नार्हति धर्मपुत्रस्त्वया प्रतिज्ञार्जुन पालनीया।
जीवन्नयं येन मृतो भवेद्धि तन्मे निबोधेह तवानुरूपम् ॥८०॥

अत धर्मपुत्र वधके योग्य नहीं है। हे अर्जुन ! तुमको प्रतिज्ञा पालन करनी चाहिये। जिस बातसे यह जीते ही मृतवत् हो जाय, वह (उपाय) तुम्हारे अनुरूप है, यहाँ मुझसे समझ लो।

यदा मानं लभते माननार्हस्तदा स वै जीवति जीवलोके।
यदावमानं लभते महान्तं तदा जीवन्मृत इत्युच्यते सः ॥ ८१ ॥

जबतक माननीय पुरुष मान पाता रहता है, तबतक ही वह संसारमें जीता है और जब वह महान् अपमानको प्राप्त होता है, तब वह जीते-जी मरा कहा जाता है।

सम्मानितः पार्थिवोऽयं सदैव त्वया च भीमेन तथा यमाभ्याम्।
वृद्धैश्च लोके पुरुषैश्च शूरैस्तस्यापमानं कलया प्रयुङ्क्ष्व ॥ ८२ ॥

यह राजा युधिष्ठिर सदा ही तुमसे, भीम, सहदेव और नकुलसे तथा अन्य वृद्ध और शूरवीर पुरुषोंने लोकमें सम्मानित रहा है। तुम इसका कुछ थोडा-सा अपमान कर दो।

त्वमित्यत्र भवन्तं हि ब्रूहि पार्थ युधिष्ठिरम्। त्वमित्युक्तो हि निहतो गुरुर्भवति भारत ॥ ८३ ॥

हे पार्थ ! तुम युधिष्ठिरको 'आप'के स्थानमें 'तू' कहकर बुला लो। जो पूज्य होता है वह 'तू' कहकर बुलानेसे ही मृतके तुल्य हो जाता है।

एवमाचर कौन्तेय धर्मराजे युधिष्ठिरे। अधर्मयुक्तं संयोगं कुरुष्वैनं कुरूद्वह ॥ ८४ ॥

हे कौन्तेय ! तुम यही व्यवहार धर्मराज युधिष्ठिरके साथ करो। हे कुरूद्वह ! इनके साथ यह अधर्मसंयुक्त व्यवहार ही करो (इनके अपमानके लिये तुम्हारा इतना व्यवहार ही पर्याप्त है)।

अथर्वाङ्गिरसी ह्येषा श्रुतीनामुत्तमा श्रुतिः। अविचार्यैव कार्यैषा श्रेयस्कामैर्नरैः सदा ॥ ८५ ॥

यह अथर्वाङ्गिरसी श्रुति सारी श्रुतियोंमें उत्तम है। आत्म-कल्याणके इच्छुक मनुष्योंको यह बिना विचारे ही करनी चाहिये।

अयथेन वधः प्रोक्तो यद् गुरुं त्वमिनि प्रभुः। तद् ब्रूहि त्वं यन्मयोक्तं धर्मराजस्य धर्मवित् ॥८६॥

प्रभुको जो कि 'तू' कहना है, यह उसका बिना वधके ही वध है। हे धर्मज्ञ ! जो मैने कहा है, वही तू धर्मराजको कह दे।

वधं ह्ययं पाण्डव धर्मराजस्त्वत्तोऽयुक्तं वेत्स्यते चैवमेव।
ततोऽस्य पादावभिवाद्य पश्चात् समं ब्रूयाः सान्त्वयित्वा च पार्थम् ॥८७॥

हे पाण्डव ! यह धर्मराज इस प्रकार 'तू' कहे हुएको अनुचित समझ ले तब तुम सब इनके चरणोमें अभिवादन करके पृथापुत्र युधिष्ठिरको सान्त्वनाके वचन कहना (सान्त्वना देना)।

भ्राता प्राज्ञस्तव कोपं न जातु कुर्याद् राजा धर्ममवेक्ष्य चापि।
मुक्तोऽनृताद् भ्रातृवधाच्च पार्थ हृष्टः कर्णं त्वं जहि सूतपुत्रम् ॥ ८८ ॥

बुद्धिमान् भाई धर्मको देखते हुए तुम्हारे ऊपर कोप कभी नहीं करेंगे। हे पार्थ ! तुम झूठ और भ्रातृवधसे रहित होकर प्रसन्नतापूर्वक सूतपुत्र कर्णको मार लेना।

शास्त्रके अनुसार निरपराधी जीवोकी हिंसाको रोकना सबसे बड़ा सत्य है। कल्पना करो कि कुछ लोग डाकुओसे पीछा किये जानेपर तुम्हारे समक्ष किसी गुप्त स्थानमें छिप जायँ और उनके पश्चात् डाकू आकर तुमसे पूछे कि वे आदमी कहाँ गये हैं ? इस अवसरपर तुम्हारा क्या कर्तव्य होगा। ऐसी अवस्थामें प्रत्येक मनुष्यका अपने-अपने सामर्थ्यानुसार हिंसकोंकी हिंसा हटाना और निरपराधीकी सहायता करना परम कर्तव्य होगा अर्थात् अहिंसाप्रतिष्ठित योगी अपने आत्मबलसे हिंसकोकी हिंसावृत्तिका दमन करे। यथा 'अहिंसाप्रतिष्ठाया तत्सनिधौ वैरत्यागः।'

सम्मोहन और संकल्पशक्तिसे युक्त मनोविज्ञानी मानसिक प्रेरणासे हिंसकोंकी हिंसा-वृत्तिको हटाये। वाक्-शक्तिमें निपुण वक्तागण हिंसकोको इस पापसे बचनेका उपदेश दे। शस्त्रविद्यामें कुशल योद्धागण अपने शारीरिक बलसे हिंसकोकी हिंसा हटानेका यत्न करें।

यदि तुममें उपर्युक्त कोई भी सामर्थ्य नहीं है और अपनी मृत्युसे भी डरते हो तो ऐसी परिस्थितिमें मनु महाराज, योगीश्वर भगवान् कृष्ण और नीतिशास्त्र इस प्रकार व्यवस्था देते है:—

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥ (मनु० २। १२०)

जबतक (हिंसक) कोई प्रश्न न करे, तबतक कुछ नहीं बोलना चाहिये और यदि हिंसक अन्यायसे पूछे तो भी उत्तर नहीं देना चाहिये या जानते हुए भी पागलके समान कुछ हाँ, हूँ कर देना चाहिये।

अवश्यं कूजितव्ये वा शङ्केरन्नप्यकूजितः।
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत्सत्यमविचारितम् ॥ (महाभारत, कर्णपर्व)

और यदि बोलना आवश्यक ही हो जाय या न बोलनेसे शक उत्पन्न हो तो वहाँ झूठ बोलनेमे ही श्रेय है। वह बिना विचारे (निःसंदेह) सत्य ही है। तथा—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम ॥ (महाभारत, शान्तिपर्व)

सत्य बोलना अच्छा है, परंतु सत्यसे भी ऐसा बोलना अच्छा है, जिससे सब प्राणियोका (वास्तविक) हित हो, क्योंकि जिससे सब प्राणियोका अत्यन्त (वास्तविक) हित होता है, वह हमारे मतमें सत्य है।

यहाँ इस बातको भली प्रकार समझना चाहिये कि अहिंसा (अपने वास्तविक स्वरूपमें) तीनों कालमें सत्य है। अत. अहिंसाके लिये नियमित सीमातक जो कुछ भी किया जाय और कहा जाय वह करना और कहना सत्यरूप ही है; क्योंकि जिस समय जिसके लिये जैसा करना चाहिये या कहना चाहिये वही—कर्तव्य ही सत्य है। इसी बातको यहाँ शास्त्रकारोंने दर्शाया है, किंतु इसको सांसारिक लाभ तथा सकट और आपत्तिके अवसरपर असत्यभाषणमें समर्थक समझनेकी भूल कदापि न होनी चाहिये, क्योंकि ऐसे ही अवसरोपर सत्यकी परीक्षा होती है। सत्यकी महिमा इस प्रकार बतलायी गयी है:—

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥

हजार अश्वमेध और सत्यकी तुलना की जाय तो सत्य ही अधिक रहेगा। तथा च:—

आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात्तथा।
ये मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो लोग इस जगत्में स्वार्थके लिये, परार्थके लिये या हँसीमें भी कभी झूठ नहीं बोलते, उन्हींको स्वर्गकी प्राप्ति होती है। इसीके स्पष्टीकरणके लिये महाभारतमें बतलाया गया है कि धर्मावतार युधिष्ठिर महाराजने सकटके समयमें एक ही बार 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा' 'अश्वत्थामा मारा गया मनुष्य अथवा हाथी' कहा था, जिसके फलस्वरूप उनका पृथ्वीसे चार अगुल ऊपर चलनेवाला रथ साधारण रथोके समान भूमिपर चलने लगा। और अन्तमें उनको कुछ समयके लिये नरकमें भी रहना पडा। अर्जुनको शिखण्डीको सामने खडा करके भीष्मपितामहका तीरोंद्वारा वध करनेके फलस्वरूप अपने पुत्र बभ्रुवाहनसे पराजित होना पडा।

सत्यके सम्बन्धमें हर समय इन बातोका ध्यान रखना चाहिये—आवश्यकतानुसार बोले, अनावश्यक बातें न करे। असत्य, कटु अथवा दूसरेको जिससे दुःख पहुँचे ऐसे शब्द न बोले। परस्पर द्वेष बढे ऐसी बातें न करे। चुगली न करे। किसीको ऐसा वचन न दे जिसको पूरा न कर सकता हो। जिसको जो वचन दिया हो उसको पूरा करना चाहिये। समयका पूरा ध्यान रखना चाहिये। दूसरोसे सम्बन्धित सारे कार्य ठीक समयपर हो।

अस्तेय—अस्तेय सत्यका ही रूपान्तर है। केवल छिपकर किसीकी वस्तु अथवा धनका हरण करना ही स्तेय नहीं है जैसा कि साधारण मनुष्य समझते हैं। भूखसे तंग आकर उदर-पूर्तिके लिये चोरी करनेवाला निर्धन स्तेय पापका इतना अधिक अपराधी नहीं है जितने कि निम्नश्रेणीवाले सम्पत्तिशील।

(१) सकीर्ण हृदय, सवर्ण, ऊँची जाति कहलानेवाले, समृद्धिशाली, अपनेको धर्मका ठेकेदार समझनेवाले, जो नीची जाति कहलानेवाले निर्धनोके धार्मिक, सामाजिक, नागरिक अधिकारोका हरण करते है (धार्मिक अधिकारोका हरण करना सबसे बडा स्तेय और महापाप है; क्योंकि ईश्वरीय ज्ञानकी प्राप्ति और आत्मोन्नति करना मनुष्यमात्रका न केवल जन्मसिद्ध अधिकार ही है, प्रत्युत मनुष्य-देहका यही एक मुख्य उद्देश्य भी है।)

(२) अत्याचारी राजा, जो प्रजाके राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा नागरिक अधिकार हरण करता है।

(३) लोभी जमींदार, जो गरीब किसानोंसे अत्याचारद्वारा धन प्राप्त करते हैं।

(४) फैक्ट्रियोके लोभी मालिक, जो मजदूरोको पेटभर अन्न न देकर सब नफा अपने पास रखते है ।

(५) लोभी साहूकार, जो दूना सूद लेते हैं और गरीबोकी जायदादको अपने अधिकारमें लानेकी चिन्तामें रहते हैं ।

(६) धोखेबाज व्यापारी, जो वस्तुओमें मिलावट करके धोखा देकर अधिक लाभ कमाना चाहते है।

(७) रिश्वतखोर न्यायाधीश तथा अन्य अधिकारीगण, जो वेतन पाते हुए भी कर्तव्यपालनमें प्रमाद करते और रिश्वत लेते है ।

(८) लोभी वकील, जो केवल फीसके लोभसे झूठे मुकद्दमे लड़वाते हैं ।

(९) लोभी वैद्य, जो रोगीका ध्यान न रखकर केवल फीसका लोभ रखते हैं ।

(१०) वे सारे मनुष्य, जो अन्यायपूर्वक किसी भी अनुचित रीतिसे धन, वस्तु अथवा किसी भी अन्य लाभको प्राप्त करना चाहते हैं ।

इस समय सारे राष्ट्रोमें जो बडे आन्दोलन चल रहे हैं, वे अस्तेय-व्रतके यथार्थरूपसे पालन करनेसे शान्त हो सकते हैं ।

ब्रह्मचर्य—शारीरिक, मानसिक, सामाजिक आदि सारी शक्तियाँ ब्रह्मचर्यपर निर्भर हैं । एक स्वस्थ शरीरके सदृश ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ सारा मनुष्यसमाज सुख और शान्तिको प्राप्त होता है । २५ वर्षतक अखण्ड ब्रह्मचारी रहनेके पश्चात् गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके शास्त्रानुसार केवल सतानोत्पत्ति-के लिये ऋतुसमयपर स्त्रीसंयोग करनेसे ब्रह्मचर्यव्रत नहीं टूटता है, अर्थात् गृहस्थाश्रममे रहते हुए भी ब्रह्मचर्यव्रतका पालन हो सकता है ।

ऋतुकाले स्वदारेषु संगतिर्या विधानतः ।
ब्रह्मचर्यं तदेवोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम् ॥ (श्रीयाज्ञवल्क्य)

अर्थात् ऋतुकालमें अपनी धर्मपत्नीसे विधियुक्त अर्थात् शास्त्रानुसार केवल सन्तान-उत्पत्तिके लिये समागम करनेवाला पुरुष गृहस्थ-आश्रममें रहते हुए भी ब्रह्मचारी ही है ।

प्राचीन पाश्चात्त्य देशोमें ब्रह्मचर्यव्रतका पूर्ण राष्ट्रद्वारा पालन किये जानेका उदाहरण यूनानके स्पार्टा देशमें मिलता है, जिसके फलस्वरूप थर्मापलिके युद्धमें ईरानी आक्रमणकारी सम्राट् ज़ैरक्सीज़ Xerxes (ईरानी नाम कैखुसरो) के तीन लाख सैनिकोंको केवल तीन सौ स्पार्टाके वीर ब्रह्मचारियोंने अपना बलिदान देकर आगे बढ़नेसे रोककर सारे यूनानकी स्वतन्त्रताको स्थिर रखा था ।

अपरिग्रह—इस व्रतका यथार्थरूपसे पालन न होनेके कारण ही धन-सम्पत्ति आदिका ठीक-ठीक विभाग नहीं है । किसीके पास सैकड़ो मकान खाली पडे हुए है, किसीके पास रातमें सोनेके लिये एक छोटी-सी झोंपडी भी नहीं है । किसीके पास खत्तियो अनाज भरा हुआ है, कोई भूखा मर रहा है । इत्यादि-इत्यादि ।

थोडे-से व्यक्तियोका अपनी आवश्यकताओसे अधिक सम्पत्ति तथा सामग्री रखकर उसको अपने तथा दूसरोके निमित्त यमोका पूरा ध्यान रखते हुए अनावश्यक रूपसे व्यय करनेमें भी समाजकी इतनी हानि नहीं है जितनी कि hoarding and locking up कंजूसीसे संग्रह करने और उसको विना काममें लाये बंद रखनेसे होती है, क्योकि धन-सम्पत्ति आदि सामग्री जब व्यय अर्थात् काममें लायी जाती है, तब उसका अंश किसी-न-किसी रूपसे सारे समाजमें बँट जाता है ।

यहाँ इस बातको भली प्रकार समझना चाहिये कि अहिंसा (अपने वास्तविक स्वरूपमें) तीनों कालमें सत्य है। अतः अहिंसाके लिये नियमित सीमातक जो कुछ भी किया जाय और कहा जाय वह करना और कहना सत्यरूप ही है, क्योंकि जिस समय जिसके लिये जैसा करना चाहिये या कहना चाहिये वही—कर्तव्य ही सत्य है। इसी बातको यहाँ शास्त्रकारोंने दर्शाया है, किंतु इसको सासारिक लाभ तथा सकट और आपत्तिके अवसरपर असत्यभाषणमें समर्थक समझनेकी भूल कदापि न होनी चाहिये, क्योंकि ऐसे ही अवसरोपर सत्यकी परीक्षा होती है। सत्यकी महिमा इस प्रकार बतलायी गयी है:—

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥

हजार अश्वमेध और सत्यकी तुलना की जाय तो सत्य ही अधिक रहेगा। तथा च.—

आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात्तथा।
ये मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो लोग इस जगत्में स्वार्थके लिये, परार्थके लिये या हँसीमें भी कभी झूठ नहीं बोलते, उन्हींको स्वर्गकी प्राप्ति होती है। इसीके स्पष्टीकरणके लिये महाभारतमें बतलाया गया है कि धर्मावतार युधिष्ठिर महाराजने संकटके समयमें एक ही बार 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा' 'अश्वत्थामा मारा गया मनुष्य अथवा हाथी' कहा था, जिसके फलस्वरूप उनका पृथ्वीसे चार अगुल ऊपर चलनेवाला रथ साधारण रथोके समान भूमिपर चलने लगा। और अन्तमें उनको कुछ समयके लिये नरकमें भी रहना पडा। अर्जुनको शिखण्डीको सामने खडा करके भीष्मपितामहका तीरोद्वारा वध करनेके फलस्वरूप अपने पुत्र बभ्रुवाहनसे पराजित होना पड़ा।

सत्यके सम्बन्धमें हर समय इन बातोका ध्यान रखना चाहिये—आवश्यकतानुसार बोले, अनावश्यक बाते न करे। असत्य, कटु अथवा दूसरेको जिससे दुःख पहुँचे ऐसे शब्द न बोले। परस्पर द्वेष बढे ऐसी बाते न करे। चुगली न करे। किसीको ऐसा वचन न दे जिसको पूरा न कर सकता हो। जिसको जो वचन दिया हो उसको पूरा करना चाहिये। समयका पूरा ध्यान रखना चाहिये। दूसरोसे सम्बन्धित सारे कार्य ठीक समयपर हो।

अस्तेय—अस्तेय सत्यका ही रूपान्तर है। केवल छिपकर किसीकी वस्तु अथवा धनका हरण करना ही स्तेय नहीं है जैसा कि साधारण मनुष्य समझते हैं। भूखसे तग आकर उदर-पूर्तिके लिये चोरी करनेवाला निर्धन स्तेय पापका इतना अधिक अपराधी नहीं है जितने कि निम्नश्रेणीवाले सम्पत्तिशील।

(१) संकीर्ण हृदय, सवर्ण, ऊँची जाति कहलानेवाले, समृद्धिशाली, अपनेको धर्मका ठेकेदार समझनेवाले, जो नीची जाति कहलानेवाले निर्धनोके धार्मिक, सामाजिक, नागरिक अधिकारोका हरण करते हैं (धार्मिक अधिकारोका हरण करना सबसे बड़ा स्तेय और महापाप है; क्योंकि ईश्वरीय ज्ञानकी प्राप्ति और आत्मोन्नति करना मनुष्यमात्रका न केवल जन्मसिद्ध अधिकार ही है, प्रत्युत मनुष्य-देहका यही एक मुख्य उद्देश्य भी है।)

(२) अत्याचारी राजा, जो प्रजाके राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा नागरिक अधिकार हरण करता है।

(३) लोभी जमींदार, जो गरीब किसानोसे अत्याचारद्वारा धन प्राप्त करते हैं।

(४) फैक्ट्रियोके लोभी मालिक, जो मजदूरोको पेटभर अन्न न देकर सब नफा अपने पास रखते हैं।

(५) लोभी साहूकार, जो दूना सूद लेते हैं और गरीबोकी जायदादको अपने अधिकारमें लानेकी चिन्तामें रहते हैं ।

(६) धोखेबाज व्यापारी, जो वस्तुओमें मिलावट करके धोखा देकर अधिक लाभ कमाना चाहते है।

(७) रिश्वतखोर न्यायाधीश तथा अन्य अधिकारीगण, जो वेतन पाते हुए भी कर्तव्यपालनमें प्रमाद करते और रिश्वत लेते हैं ।

(८) लोभी वकील, जो केवल फीसके लोभसे झूठे मुकद्मे लडवाते हैं ।

(९) लोभी वैद्य, जो रोगीका ध्यान न रखकर केवल फीसका लोभ रखते है ।

(१०) वे सारे मनुष्य, जो अन्यायपूर्वक किसी भी अनुचित रीतिसे धन, वस्तु अथवा किसी भी अन्य लाभको प्राप्त करना चाहते हैं ।

इस समय सारे राष्ट्रोमें जो बड आन्दोलन चल रहे हैं, वे अस्तेय-व्रतके यथार्थरूपसे पालन करनेसे शान्त हो सकते हैं ।

ब्रह्मचर्य—शारीरिक, मानसिक, सामाजिक आदि सारी शक्तियाँ ब्रह्मचर्यपर निर्भर हैं । एक स्वस्थ शरीरके सदृश ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ सारा मनुष्यसमाज सुख और शान्तिको प्राप्त होता है । २५ वर्षतक अखण्ड ब्रह्मचारी रहनेके पश्चात् गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके शास्त्रानुसार केवल संतानोत्पत्ति-के लिये ऋतुसमयपर स्त्रीसंयोग करनेसे ब्रह्मचर्यव्रत नहीं टूटता है, अर्थात् गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी ब्रह्मचर्यव्रतका पालन हो सकता है ।

ऋतुकाले स्वदारेषु संगतिर्या विधानतः ।
ब्रह्मचर्यं तदेवोक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम् ॥ (श्रीयाज्ञवल्क्य)

अर्थात् ऋतुकालमें अपनी धर्मपत्नीसे विधियुक्त अर्थात् शास्त्रानुसार केवल सन्तान-उत्पत्तिके लिये समागम करनेवाला पुरुष गृहस्थ-आश्रममें रहते हुए भी ब्रह्मचारी ही है ।

प्राचीन पाश्चात्त्य देशोमें ब्रह्मचर्यव्रतका पूर्ण राष्ट्रद्वारा पालन किये जानेका उदाहरण यूनानके स्पार्टा देशमें मिलता है, जिसके फलस्वरूप थर्मापलिके युद्धमें ईरानी आक्रमणकारी सम्राट् जैरक्सीज Xerxes (ईरानी नाम कैखुसरो) के तीन लाख सैनिकोंको केवल तीन सौ स्पार्टाके वीर ब्रह्मचारियोंने अपना बलिदान देकर आगे बढनेसे रोककर सारे यूनानकी स्वतन्त्रताको स्थिर रखा था ।

अपरिग्रह—इस व्रतका यथार्थरूपसे पालन न होनेके कारण ही धन-सम्पत्ति आदिका ठीक-ठीक विभाग नहीं है । किसीके पास सैकड़ो मकान खाली पडे हुए है, किसीके पास रातमें सोनेके लिये एक छोटी-सी झोपड़ी भी नहीं है । किसीके पास खत्तियो अनाज भरा हुआ है, कोई भूखा मर रहा है । इत्यादि-इत्यादि ।

थोडे-से व्यक्तियोका अपनी आवश्यकताओसे अधिक सम्पत्ति तथा सामग्री रखकर उसको अपने तथा दूसरोंके निमित्त यमोका पूरा ध्यान रखते हुए अनावश्यक रूपसे व्यय करनेमें भी समाजकी इतनी हानि नहीं है जितनी कि hoarding and locking up कंजूसीसे संग्रह करने और उसको विना काममें लाये बंद रखनेसे होती है, क्योकि धन-सम्पत्ति आदि सामग्री जब व्यय अर्थात् काममें लायी जाती है, तब उसका अंश किसी-न-किसी रूपसे सारे समाजमें बँट जाता है ।

यदि हर एक मनुष्यके पास केवल उसीकी आवश्यकताओंके अनुसार ही सारी वस्तुएँ रहें तो कोई मनुष्य निर्धन, भूखा और बेघर न रहेगा। इस समय अपरिग्रहव्रतके कुछ अंशमें पालन करनेवाले रूस देश U S. S R. का उदाहरण हमारे समक्ष है। यद्यपि वह भी अपरिग्रहका यथार्थ स्वरूप नहीं है और अनेक दोषों, त्रुटियों तथा नास्तिकतासे युक्त है।

सङ्गति—सर्वसमाजसे सम्बन्ध रखनेवाले धर्मरूप यमोंका वर्णन करके अब वैयक्तिक धर्मरूपी नियमोंको बतलाते हैं—

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय (और) ईश्वरप्रणिधान नियम हैं।

व्याख्या—शौच दो प्रकारका है—बाह्य और आभ्यन्तर।

बाह्य—मृत्तिका, जल आदिसे पात्र, वस्त्र, स्थान आदिको पवित्र रखना तथा मृत्तिका, जल आदिसे शरीरके अङ्गोंको शुद्ध रखना, शुद्ध सात्त्विक नियमित आहारसे शरीरको सात्त्विक, नीरोग और स्वस्थ रखना। वस्ती, धौती, नेती आदि तथा ओषधिसे शरीरशोधन करना—ये बाह्य शौच है।

आभ्यन्तर—ईर्ष्या, अभिमान, घृणा, असूया आदि मलोंको मैत्री (१।३३) आदिसे दूर करना, बुरे विचारोंको शुद्ध विचारोंसे हटाना, दुर्व्यवहारको शुद्ध व्यवहारसे हटाना मानसिक शौच है। अविद्या आदि क्लेशोंके मलोंको विवेक-ज्ञानद्वारा दूर करना चित्तका शौच है।

संतोष—सामर्थ्यानुसार उचित प्रयत्नके पश्चात् जो फल मिले अथवा जिस अवस्थामें रहना हो, उसमें प्रसन्नचित्त बने रहना और सब प्रकारकी तृष्णाका छोड़ देना संतोष है।

संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्। संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥

(मनु० ४।१२)

सुखका अर्थी परम संतोषका सहारा लेकर अपने-आपको संयममें रक्खे, क्योंकि संतोष सुखकी जड है और इसका उल्टा (असंतोष) दुःखकी जड है।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि सत्त्वके प्रकाशमें चित्तकी प्रसन्नताका नाम संतोष है न कि तमके अन्धकारमें चित्तका आलस्य तथा प्रमादरूपी आवरण, जिसको सांख्यमें तुष्टि कहा है।

आध्यात्मिकाश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः।
बाह्या विषयोपरमात् पञ्च नव तुष्टयो अभिमताः ॥ (सांख्यकारिका ५०)

तुष्टियाँ (मोक्षप्राप्तिसे पहिले ही संतुष्ट हो जाना) नौ मानी गयी हैं, चार आध्यात्मिक हैं जिनके नाम प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य है; और पाँच बाह्य हैं, जो विषयोंमें उपरामतासे होती हैं।

चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ—१. इस भरोसेपर कि प्रकृति स्वयं पुरुषके भोग-अपवर्गके लिये काम कर रही है। आत्मसाक्षात्के लिये धारणा, ध्यान और समाधिका अभ्यास न करना प्रकृति-तुष्टि है।

२. इस भरोसेपर कि संन्यासके ग्रहणसे स्वयं अपवर्ग प्राप्त हो जायगा, यत्न करनेकी आवश्यकता नहीं, उपादान-तुष्टि है।

३. इस विचारसे कि सब काम काल-अधीन हैं, समय आनेपर अपवर्ग स्वयं प्राप्त हो जायगा, यत्न न करना काल-तुष्टि है।

४. जब भाग्यमें होगा स्वयं मुक्ति प्राप्त हो जायगी, इस भरोसेपर यत्न न करना भाग्य-तुष्टि है।

बाह्य तुष्टि—मोक्षके बाह्य साधनोंमें इस भयसे प्रमाद और आलस्य करना कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पाँचों विषयोंमें पाँच प्रकारके दुःख होते हैं अर्थात् इनके प्राप्त करनेमें दुःख, रक्षामें दुःख, भोगमें दुःख और दूसरेकी हिंसाका दुःख। यहाँ तुष्टियोंका वर्णन इस उद्देश्यसे दिया है कि कोई अभ्यासी-जन अविवेकके कारण कहीं तुष्टिहीको संतोष न समझ बैठें।

तप—जिस प्रकार अश्वविद्याका कुशल सारथि चञ्चल घोड़ोंको साधता है, इसी प्रकार शरीर, प्राण, इन्द्रियों और मनको उचित रीति और अभ्याससे वशीकार करनेको तप कहते हैं, जिससे सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुख-दुःख, हर्ष-शोक, मान-अपमान आदि सर्व द्वन्द्व-अवस्थामें बिना विक्षेपके योगमार्गमें प्रवृत्त रहे। शरीरमें व्याधि तथा पीडा, इन्द्रियोंमें विकार और चित्तमें अप्रसन्नता उत्पन्न करनेवाला तामसी तप योग-मार्गमें निन्दित तथा वर्जित है। तपकी विशेष व्याख्या इस पादके सूत्र एकके वि० व०में देखें।

स्वाध्याय—वेद, उपनिषद् आदि और अध्यात्मसम्बन्धी विवेक-ज्ञान उत्पन्न करनेवाले योग और सांख्यके सत्-शास्त्रोंका नियमपूर्वक अध्ययन और ओंकारसहित गायत्री आदि मन्त्रोंका जप स्वाध्याय है। इसकी विशेष व्याख्या इस पादके सूत्र एकके वि० व० में देखें।

ईश्वरप्रणिधान—ईश्वरकी भक्ति-विशेष अर्थात् फलसहित सर्व कर्मोंको उसके समर्पण करना ईश्वरप्रणिधान है।

ईश्वरप्रणिधानका फल श्रीवेदव्यासजीने अपने भाष्यमें इस प्रकार बतलाया है—

शव्यासनस्थोऽथ पथि प्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी॥

जो योगी शय्या तथा आसनपर बैठा हुआ या मार्गमें चलता हुआ या एकान्तमें स्थित हुआ हिंसादि वितर्क-रूप जालको नष्ट किये हुए ईश्वरप्रणिधान करता है, वह संसारके बीज अविद्या आदि क्लेशोंके क्षयका अनुभव करता हुआ नित्य परमात्मामें युक्त हुआ अमृतके भोगका भागी होता है अर्थात् जीवन्मुक्तके सुखको प्राप्त होता है। सब नियमोंमें ईश्वरप्रणिधान मुख्य है तथा सब नियमोंको ईश्वर-समर्पणरूपसे करना श्रेयस्कर है।

यथा—

ब्रह्मचर्यमहिंसा च सत्यास्तेयापरिग्रहान्।
सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां मनसो नयन्॥
स्वाध्यायशौचसंतोषतपांसि नियतात्मवान्।
कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन् प्रवणं मनः॥

ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रहका सेवन करे। जितेन्द्रिय शुद्धमन योगी स्वाध्याय, शौच, संतोष, तप इनका परब्रह्ममें अर्पण करे।

विशेष व्याख्या इस पादके सूत्र एकके विशेष वक्तव्यमें देखे।

विशेष वक्तव्य सूत्र ३२—

शुद्ध, निर्विकार, नीरोग और स्वस्थ शरीरके बिना योग साधना कठिन है। इसलिये शरीरशोधन तथा शरीरके विकार और रोग-निवृत्तिके चार साधन बतला देना उचित प्रतीत होता है। इन चार साधनोंमेंसे (१) हठयोगकी छः क्रियाएँ, (२) प्राकृतिक चिकित्सा, (३) सम्मोहन और संकल्पशक्तिको इस

उल्टी न आवे। जब अंदर ले जानेमें रुकावट मालूम हो, तब एक-दो घूँट गुनगुना पानी पीते जायँ। अन्तमें एक ग्लास अथवा न्यूनाधिक लवण-मिश्रित गुनगुना पानी पीकर धौतिको निकाले।

घेरण्ड-संहितामें धौतिकर्मके चार निम्न भेद बतलाये हैं—

(१) अन्तर्धौति, (२) दन्त-धौति, (३) हृद्धौति और (४) मूलशोधन।

(१) अन्तर्धौति—इसके भी चार भेद बतलाये हैं— (क) वातसार, (ख) वारिसार, (ग) वह्निसार और (घ) बहिष्कृत।

(क) वातसार अन्तर्धौति—मुखको कौएकी चोचके सदृश करके अर्थात् दोनो होठोको सिकोड़कर धीरे-धीरे वायुका पान करे। यहाँतक कि पेटमें वायु पूर्णतया भर जाय फिर वायुको पेटके अंदर चारो ओर संचालित करके धीरे-धीरे नासिकापुटद्वारा निकाल दे। इसे काकी-मुद्रा और काकी-प्राणायाम भी कहते हैं।

फल—हृदय, कण्ठ और पेटकी व्याधियोंका दूर होना, शरीरका शुद्ध तथा निर्मल होना, क्षुधाकी वृद्धि, मन्दाग्निका नाश, फेफड़ोका विकास, कण्ठमें सुरीलापन होना। वीर्यके लिये भी लाभदायक बतलाया गया है।

(ख) वारिसार अन्तर्धौति—इसमें मुखद्वारा धीरे-धीरे जल पीकर कण्ठतक भर लिया जाता है। फिर उदरमें चारों ओर संचालित करके गुदामार्गद्वारा बाहर निकाल दिया जाता है।

फल—देहका निर्मल होना, कोष्ठबद्धता तथा पेटके आमादि सब रोगोंका दूर होना, शरीरका शुद्ध होकर कान्तिमान् होना बतलाया गया है।

इस क्रियाको शंख-प्रक्षालन भी कहते हैं। क्योंकि शंखके चक्राकार मार्गमें पानी डालनेसे घूमता हुआ जल जिस प्रकार बाहर आ जाता है उसी प्रकार मुखसे जल पीनेपर कुछ समय पश्चात् मलको साथ लेकर अँतड़ियोंको शुद्ध करता हुआ गुदाद्वारसे बाहर आ जाता है।

यह क्रिया चूँकि बहुतसे रोगोके हटाने और स्वास्थ्यके लिये बहुत लाभदायक है और अनुभूत है इसलिये इसकी विधि नीचे लिखी जाती है।

एक बाल्टीमें नमक मिला हुआ गर्म जल रखना चाहिये। काग आसनमें बैठकर अर्थात् दोनो पाँवोके बीचमें एक बालिस्तका अन्तर रखकर दोनो हाथोको घुटनेपर रखकर दो गिलास जल पी लेवे। पानी पीनेके पश्चात् तुरन्त ही क्रमशः दाये-बायेंसे चार बार सर्पासन करें अर्थात् दोनों पजोको आपसमें मिलाकर दोनो हथेलियोंके बल कमरसे ऊपरी विभागको बायें-दाये बारी-बारीसे मोड़ते हुए सर्पासन करें। इसके पश्चात् शीघ्र ही ऊर्ध्व हस्तोत्तानासन लगभग चार बार दायेंसे और चार बार बायेंसे करे। अर्थात् कमरसे ऊपरी विभागको उत्तान देते हुए दोनो हाथोको सीधा ऊपर किये हुए ऊपरसे दोनो हाथोंकी अंगुलियोको साँटे हुए क्रमशः दायें-बायें मोडें। इसके बाद शीघ्र कटिचक्रासन करें अर्थात् सीधे खडे होकर दोनों हाथोको सीधा फैलाकर कमरसे ऊपरी भागको क्रमशः दायें-बायें मोड़े। इसके बाद शीघ्र ही उदराकर्षासन क्रमशः चार बार दाये व बायेंसे करे। अर्थात् कागासनमें बैठकर बायें पैरके घुटनेको मोड़कर दाये पाँवकी पिंडलीके पास लाते हुए पृथ्वीसे कुछ ऊपर ही रक्खे। साथ ही कमरसे ऊपरी भागको क्रमशः दायें-बायेंकी ओर मोडें। फिर एक गिलास पानी पीयें और पहिलेकी भाँति क्रमशः चारो आसन करें। चारसे आठ ग्लास पानी पीनेके पश्चात् शौचकी हाजत मालूम होने लगेगी। शौचके लिये शीघ्र चले जावे। और शौचपर

बैठनेके समय भी उदराकर्षासन करे। इस प्रकार करनेसे पहिले मल निकलेगा फिर पतला मल निकलेगा और उसके पश्चात् पीला पानी निकलेगा। शौचसे आकर फिर उसी प्रकार जल पीवें और चारो आसन वारी-वारीसे करें। फिर शौचकी हाजत होगी यहाँतक कि केवल पानी ही निकलने लगेगा। फिर पहिलेकी भाँति पानी पीकर आसन करनेके पश्चात् सफेद पानी निकलेगा। अर्थात् जैसा पानी मुखसे पी चुके हैं वैसा ही गुदाद्वारसे निकलेगा। जबतक सफेद पानी न आने लगे तबतक बार-बार पानी पीकर वारी-वारीसे चारो आसन करते रहें।

सफेद पानी निकलनेके पश्चात् बिना नमकका सादा गरम पानी दो-तीन गिलास पीकर गजकरणी क्रियाद्वारा निकाल दें। इस क्रियाको करनेके बाद ठंडे पानीसे स्नान नहीं करें। गरम पानीसे बद कमरेमें हवासे बचाव रखकर स्नान करे और स्नानके पश्चात् कपडे पहनकर स्नान-घरसे बाहर निकले। अथवा स्नान न करे।

शंख-प्रक्षालनके पश्चात् एक घटेके भीतर ही भोजन कर लेना चाहिये। बिना लाल मिर्च और खटाईकी चावल तथा मूँगकी खिचड़ी अथवा गेहूँका दलिया खावे। खाते समय अधिक-से-अधिक एक छटाँक और कम-से-कम आध छटाँक शुद्ध गायका घी डालें। खिचडी अथवा दलिया बनाते समय अधिक घी न डाले। भोजन करते समय पानी न पीवे। एक घटेके बाद पी सकते हैं। खिचड़ी खानेके चार घटे बाद मुलायम मीठे फल आदि खा सकते हैं।

शख-प्रक्षालनके बाद अधिक देरतक भूखा नहीं रहना चाहिये। जिस दिन शंख-प्रक्षालन करे उसके बाद २४ घटेतक दही-दूध न खाये। इस क्रियाके करनेके एक दिन पूर्व कोई रेचक ओषधिद्वारा पेटकी सफाई कर लेवे और उस दिन हल्का भोजन लेवे अर्थात् खिचड़ी या दलिया लेवे तो अच्छा हो। इस क्रियाको रोज न करें आवश्यकता पडनेपर ही करे।

(ग) वह्निसार अन्तर्धौति—नाभिकी गाँठको मेरुपृष्ठमें सौ बार लगाये, अर्थात् उदरको इस प्रकार बार-बार फुलावे-सिकोडे कि नाभि-ग्रन्थि पीठमें लग जाया करे। इससे उदरके समस्त रोग नष्ट होते है और जठराग्नि प्रदीप्त होती है। (अनुभूत)

(घ) वहिष्कृत अन्तर्धौति—कौएकी चोचके सदृश मुख बनाकर इतनी मात्रामें वायुको पान करे कि पेट भर जाय; फिर उस वायुको डेढ़ घटेतक (अथवा यथाशक्ति) पेटमें धारण किये रहे। तत्पश्चात् गुदामार्गद्वारा बाहर निकाल देना बतलाया गया है। जबतक आधे पहरतक वायुको रोकनेका अभ्यास न हो जाय, तबतक इस क्रियाको करनेका यत्न न करे, अन्यथा वायुके कुपित होनेका भय है।

फल—इससे सब नाडियाँ शुद्ध होती हैं। जैसी यह क्रिया कठिन है वैसे ही इसका लाभ अकथ्य तथा अगम्य बतलाया गया है।

(२) दन्त-धौति—यह भी चार प्रकारकी होती है—(क) दन्तमूल, (ख) जिह्वामूल, (ग) कर्णरन्ध्र और (घ) कपालरन्ध्र।

(क) दन्तमूल धौति—खैरका रस, मूखी मिट्टी अथवा अन्य किसी ओषधि-विशेषसे दाँतोकी जड़को अच्छी प्रकार साफ करे।

(ख) जिह्वामूल-धौति—तर्जनी, मध्यमा और अनामिका अंगुलियोको गलेके भीतर डालकर जीभको जडतक बार-बार घिसे। इस प्रकार धीरे-धीरे कफके दोषको बाहर निकाल दे।

(ग) कर्णरन्ध्र-धौति—तर्जनी और अनामिका अँगुलियोंके योगसे दोनो कानोके छिद्रोको साफ करे, इससे एक प्रकारका नाद प्रकट होना बतलाया गया है।

(घ) कपालरन्ध्र-धौति—निद्रासे उठनेपर, भोजनके अन्तमें और सूर्यके अस्त होनेपर सिरके गढ़ेको दाहिने हाथके अँगूठेद्वारा प्रतिदिन जलसे साफ करे। इससे नाडियाँ स्वच्छ हो जाती है और दृष्टि दिव्य होती है।

(२) हृद्धौति—इसके तीन भेद हैं—(क) दण्ड-धौति, (ख) वमन-धौति और (ग) वास-धौति।

(क) दण्ड-धौति—केलेके दण्ड, हल्दीके दण्ड, चिकने वेतके दण्ड अथवा वटवृक्षकी जटा-डाढ़ीको धीरे-धीरे हृदयस्थलमें प्रविष्ट कर दे; फिर हृदयके चारो ओर घुमाकर युक्तिपूर्वक बाहर निकाल दे। इससे पित्त, कफ, अकुशाहट आदि विकारी मल बाहर निकल जाते हैं और हृदयके सारे रोग नष्ट हो जाते हैं। इसको भोजनके पूर्व करना चाहिये।

नोट—इसको उपर्युक्त ब्रह्मदातौन समझना चाहिये और उसी विधिके अनुसार करना चाहिये।

(ख) वमन-धौति—भोजन करनेके पश्चात् कण्ठतक पानी पीकर भर ले और थोड़ी देरतक ऊपरकी ओर लेकर उस पानीको मुखद्वारा बाहर निकाल दे। पानी कण्ठके अंदर न जाने पावे। इससे कफ-दोष और पित्त-दोष दूर होते हैं।

(ग) वास-धौति (वस्त्र-धौति)—लगभग छ. अंगुल चौड़ा और लगभग अठारह हाथका बारीक वस्त्र किंचित् उष्ण (गर्म) जलसे भिगोकर गुरुके बताये हुए क्रमसे अर्थात् पहिले दिन एक हाथ, दूसरे दिन दो हाथ, तीसरे दिन तीन हाथ अथवा इससे न्यूनाधिक युक्तिपूर्वक अंदर ले जाय, फिर धीरे-धीरे ही बाहर निकाल दे। इसको भोजनके पहिले करना चाहिये। इससे गुल्म, ज्वर, प्लीहा, कुष्ठ एवं कफ-पित्त आदि अन्य विकार नष्ट होते हैं। इसका वर्णन ऊपर आ चुका है। (ज्वरकी अवस्थामें न करे)

(४) मूलशोधन (गणेश-क्रिया)—कच्ची मूलीकी जड़से अथवा तर्जनी अँगुलीसे यत्नपूर्वक सावधानीसे बार-बार जलद्वारा गुदामार्गको साफ करे। इसके पश्चात् घृत या मक्खन उस स्थानपर लगाना अधिक लाभदायक है। इससे उदररोगका काठिन्य दूर होता है। आमजनित एवं अजीर्णजनित रोग उत्पन्न नहीं होते और शरीरकी पुष्टि और कान्तिकी वृद्धि होती है। यह जठराग्निको प्रदीप्त करती है। इससे सब प्रकारके अर्श-रोग तथा वीर्यदोष भी दूर होते हैं।

अँगुलीको गुदाके अंदर बराबर कुछ देरतक घुमाते रहनेसे अंदरका मल बाहर आता रहता है और आँते साफ होती रहती हैं। इसका अभ्यास हो जानेपर वस्ति लेनेकी आवश्यकता कम हो जाती है। अभ्यासीगण इस क्रियासे अवश्य लाभ उठावें।

२ वस्ति—वस्ति मूलाधारके समीप है। इसके साफ करनेके कर्मको वस्तिकर्म कहते हैं। एक चिकनी नलीको गुदामें ले जाकर नौलि-कर्मकी सहायतासे गुदामार्गद्वारा वस्तिमें जल चढ़ाया और निकाला जाता है। साधारणतया इस क्रियाका करना कठिन है। इसके स्थानपर एनिमासे काम लिया जा सकता है। इससे आँतोंका मल जलके साथ मिलकर पतला हो जाता है और शीघ्रतापूर्वक बाहर निकल जाता है।

जल चढानेके पूर्व सिरिञ्ज (एक शीशेकी पिचकारी जो अंग्रेजी दवाकी दूकानोपर मिल सकती है) द्वारा गुदामें तेल चढ़ाना प्रशस्त है। एनिमाके अभावमें सिरिञ्जद्वारा ग्लिसरीन चढ़ानेसे भी मल तथा आँवके निकालनेमें वही लाभ हो सकता है। वस्तिमें रोगानुसार भिन्न-भिन्न क्वाथादि चढ़ाये जाते हैं,

पर साधारण रीति गुनगुने जलमें साबुन और लवण अथवा पोटैशियम परमेंगनेट (कुँएमें डालनेकी दवा) मिलानेकी है ।

घेरण्डसहितामें वस्तिका निरूपण इस प्रकार है—

वस्तिके दो भेद हैं—एक जल-वस्ति और दूसरी पवन-वस्ति (स्थल-वस्ति अथवा शुष्क-वस्ति) ।

जल-वस्ति (क्षालन-कर्म)—किसी बडे पात्रमें नाभिपर्यन्त जल भरवाकर, अथवा नदी, तालाब आदिमें, जिनका जल शुद्ध हो, उत्कुटासन लगाकर बैठ जाय, गुदामार्गका आकुञ्चन और प्रसारण करे अर्थात् उसी जलके अंदर उत्कुटासनसे बैठा हुआ गुदाको इस प्रकार सिकोडे और फैलावे जैसे अश्वादि मल-त्यागके पश्चात् किया करते हैं । इससे प्रमेह, कोष्ठकी क्रूरता आदि रोग दूर होते हैं ।

पवन-वस्ति (स्थल-वस्ति, शुष्क-वस्ति)—भूमिपर पश्चिमोत्तान होकर लेट जाय; फिर अश्विनिमुद्रा-द्वारा धीरे-धीरे वस्तिका चालन करे अथवा गुदामार्गका आकुञ्चन और प्रसारण करे । इसके अभ्याससे जठराग्नि प्रदीप्त होकर उदरगत आमवात आदि रोगोको नष्ट कर देती है ।

३ नेति—(क) नेति-कर्मके लिये महीन सूतके दस-पंद्रह तारसे वटी हुई एक डोरीकी आवश्यकता होती है, जिसका एक किनारा नोकदार होता है । नेतिको पानीमें भिगोकर उसके नोकदार सिरेको एक हाथसे नासिकाद्वारा गलेमें ले जाकर दूसरे हाथसे पकड़ा जाता है । तत्पश्चात् एक-दो वार अंदर-बाहर चलाकर मुखसे निकाल दिया जाता है । इसी प्रकार दूसरे नासिका-छिद्रसे । इस क्रियासे मस्तिष्क तथा गलेकी सफाई, नाक, कान, ऑख, दाँतके दर्द दूर होते हैं और नेत्रकी ज्योति बढती है । बारीक मलमलके कपडेकी भी नेती बनायी जा सकती है ।

(ख) जलनेति—क्रमसे दोनो नासिका-छिद्रोसे जलको पीते हुए मुँहसे अथवा दूसरे नासिकापुटसे निकालनेसे होती है ।

(ग) कपालनेति—मुँहमें पानी भरकर नासिका-छिद्रोंसे निकालनेसे होती है ।

नोट—नासिका-छिद्रोद्वारा पानी पीनेसे भी यही लाभ होता है ।

४ नौली—आरम्भमें इस क्रियाको एक साथ करना कठिन है । इसलिये तीन भागोंमें विभक्त करके इसका प्रयास करनेमें सुगमता होती है ।

पहिला भाग—सीधा खड़ा होकर उदरका वायु बाहर निकालना । दोनो हाथोसे दोनो घुटनोको दबाकर पूरा उड्डीयान करके अर्थात् पेटको बिल्कुल पीठसे मिलाकर दोनों नलोको उभारा जाता है । प्रथम पूरे उड्डीयानका अभ्यास पक्का करना होता है । उसके पश्चात् नल स्वयं बाहर उठने लगते हैं ।

दूसरा भाग—एक-एक नलको वारी-बारीसे निकाला और घुमाया जाता है । पहिले नल निकालनेका अभ्यास किया जाता है, उसके पश्चात् घुमानेका । घुटनोको दबानेसे इस ओरका नल निकलने लगता है ।

तीसरा भाग—दोनों नलोको बाहर निकालकर पहिले एक ओरसे, फिर दूसरी ओरसे घुमाया जाता है ।

इस क्रियाको शौचसे निवृत्त होकर खाली-पेट करना चाहिये ।

फल—यह क्रिया हठयोगकी छः क्रियाओंमें सबसे उत्तम मानी गयी है । इससे गोला, तिल्ली, मन्दाग्नि, आम, वात, पेटका कड़ापन, पेचिश, संग्रहणी आदि पेटके सब रोग दूर होते है तथा वात, पित्त, कफ—त्रिदोष एक साथ दूर होते हैं ।

उड्डियान

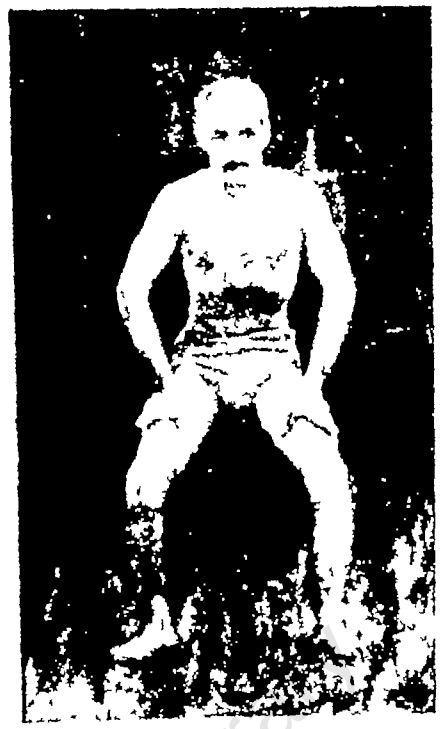

विधि—दोनों हाथोंको घुटनोंपर रखकर तथा कुछ झुककर खड़े हो जाओ। श्वासको नासिकाद्वारा जोरसे बाहर निकालकर पेटको अंदर ले जाओ, यहाँतक कि अभ्यास करते-करते पेट बिल्कुल पीठके साथ जाकर लग जाय।

नौली क्रिया

विधि—उड्डियानके ठीक हो जानेपर उसी अवस्थामें ही पेटके मध्यके दोनों नलोंको बाहर निकालनेका प्रयत्न करो। जब दोनों नल निकालते-निकालते बारीक हो जायँ तो एकको अंदर दबाकर बारीबारीसे एक-एक निकालनेका प्रयत्न करो। जब एक-एक अच्छी तरह निकलने लगे तो फिर घुमानेका प्रयत्न करो। यह क्रिया पेटके लिये जितनी लाभप्रद है, उतनी ही कठिन भी है। अतः इसे किसी अनुभवी गुरुसे ही सीखना चाहिये।

Vaidic Library

Vaidic Library

५ त्राटक—किसी सुखासनसे बैठकर धातु या पत्थरकी बनी हुई किसी छोटी चीज अथवा कागजपर काला बिन्दु बनाकर अथवा अगरबत्ती जलाकर बिना पलक झपकाये देखते रहना त्राटक है। स्फटिक (क्रिस्टोर) के यन्त्रपर त्राटक करनेसे किसी प्रकारकी हानि नहीं हो सकती। नेत्रकी ज्योति बढती है, स्वास्थ्य सुधरता है, मन स्थिर होता है, चित्त शान्त और प्रसन्न होता है। यदि किसी इष्टमन्त्रके साथ किया जाय तो उसमें शीघ्र सफलता होती है। रात्रिके समय मोमबत्ती अथवा तिलके तेलकी बत्तीका प्रकाश स्फटिक-पर डालते हुए त्राटक करना अधिक लाभदायक है। यन्त्रपर श्वास-प्रश्वासकी गतिकी भावना करते रहनेसे पहिले बहिःकल्पना, तत्पश्चात् निरन्तर अभ्याससे बहिःअकल्पिता वृत्तिकी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। (३-४३) त्राटकके अभ्याससे नेत्र और मस्तिष्कमें उष्णता बढ़ जाती है, इसलिये इस क्रियाके करनेवालेको नेति, जलनेति तथा नेत्रोंको त्रिफला, हड़ अथवा गुलाबके पानीसे धोना चाहिये; और नेत्रका व्यायाम अर्थात् शान्तिपूर्वक दृष्टिको दाँये-बाँये, ऊपर-नीचे शनैः-शनैः चलानेकी क्रिया करनी चाहिये।

कई आचार्योंने त्राटकके तीन भेद बतलाये हैं—

(क) आन्तरत्राटक—नेत्र बंद करके भ्रूमध्य, हृदय, नाभि आदि आन्तरिक स्थानोंमें चक्षुवृत्तिकी भावना करके देखते रहना आन्तरत्राटक है।

(ख) मध्य-त्राटक—किसी धातु अथवा पत्थरकी बनी हुई वस्तुपर अथवा काली स्याहीसे कागजपर लिखे हुए ओ३म् अथवा बिन्दुपर अथवा नासिकाग्र-भाग अथवा भ्रूमध्य अथवा अन्य किसी समीपवर्ती लक्ष्य-पर खुले नेत्रोंसे टकटकी लगाकर देखते रहना मध्य-त्राटक है।

(ग) बाह्यत्राटक—चन्द्र, प्रकाशित नक्षत्र, प्रातःकाल उदय होते हुए सूर्य अथवा अन्य किसी दूरवर्ती लक्ष्यपर दृष्टि स्थिर करनेकी क्रियाको बाह्य त्राटक कहते हैं।

कपालभाति—घेरण्डसंहितामें कपालभातिके तीन भेद दिखलाये हैं—

(क) वातकर्म कपालभाति, (ख) व्युत्क्रम कपालभाति, (ग) शीतकर्म कपालभाति।

(क)वातकर्म कपालभाति—सुखासनसे बैठकर दाहिने हाथके अँगूठेसे दाहिने नथुनेको किञ्चित् दबाकर बायें नथुनेसे बलपूर्वक वायुको अंदर खींचे और बिना रोके हुए तुरंत ही अनामिका और कनिष्ठिका अँगुलियोंसे बायें नथुनेको बंद करके दाहिने नथुनेसे पूरी वायुको निकाल दे; इसी प्रकार दाहिने नथुनेसे वायु खींचकर बायेसे निकाले। इस प्रकार अत्यन्त शीघ्रतासे क्रमशः रेचक, पूरक प्राणायामको कपालभाति कहते हैं। आरम्भमें दस बार करे, फिर शनैः-शनैः बढाता जाय। इससे नाडीशोधन सिद्ध होता है। मस्तिष्क और आमाशयकी शुद्धि होकर पाचनशक्ति प्रदीप्त होती है तथा कफजनित रोग दूर होते हैं। इससे नाक, श्वास, नाड़ी तथा फेफडे शुद्ध होते हैं। श्वासरोग तथा क्षयरोगके लिये लाभदायक है। कुण्डलिनी जाग्रत् और मनके स्थिर करनेके निमित्त अभ्यास आरम्भ करते समय इस क्रियाका करना प्रशस्त है। कपालभातिको निम्न दो विधियोसे भी किया जाता है—

दूसरी विधि—दोनों नासिकापुटोंसे एक साथ उपर्युक्त रीतिसे वायुको अंदर खींचना और बाहर निकालना।

तीसरी विधि—दक्षिण नासिकापुट बंद करके वाम नासिकापुटसे उपर्युक्त रीतिसे पूरक-रेचक करना; इसी प्रकार वाम नासिकापुट बंद करके दक्षिण नासिकापुटसे उसी संख्यामें पूरक-रेचक करना।

समाधिपाद सूत्र ३४ में बतलायी हुई कपालभातिसे इस प्रक्रियामें भेद है। इसका नाम हमने नाड़ी-शोधन रक्खा है। ध्यानसे पूर्व इस क्रियाको कर लेना चाहिये जिससे मस्तिष्क साफ हो जावे। नाक पोंछनेके

लिये एक रुमाल पास रखना चाहिये।

(ख) व्युत्क्रम कपालभाति—नासारन्ध्रोसे जल पीकर मुखसे निकाल दे। इसे भी अनुलोम और विलोम रीतिसे किया जाता है।

(ग) शीतक्रम कपालभाति—मुँहमें पानी भरकर नासिकाछिद्रोसे निकालना।

नोट—इन तीनोको हम नेतिक्रममें जलनेति और कपालनेति नामसे बतला आये हैं।

(२) प्राकृतिक नियमोंद्वारा शरीर-शोधन अर्थात् विना औषध रोग दूर करनेके उपाय—

(१) प्राकृतिक जीवन, सादा प्राकृतिक खान-पान, शरीरकी सफाई, ठंडे पानीसे प्रातःकाल स्नान, सर्दी-गर्मी सहन करनेका अभ्यास। सब कार्योंके लिये निश्चित समय-विभाग, प्रातः और सायंकाल दो-तीन मील खुली हवामें भ्रमण, भूखसे कम और चबा-चबाकर खाना, सप्ताहमें एक बार उपवास आदि साधारण स्वास्थ्यके नियमोंका पालन करना।

(२) प्रातः और सायंकाल निश्चित समयपर सन्ध्या, व्यायाम—शीर्षासन, ऊर्ध्व-सर्वाङ्गासन, मयूरासन, सर्पासन आदि (साधनपाद सूत्र ४६ वि० व०) और प्राणायाम, भस्त्रिका आदि (साधनपाद सूत्र ५० वि० व०)।

स्वास्थ्य सुधारने, फेफड़े, पसली, छाती आदिके रोगोंको हटानेके लिये—

पेटका फुलाना—गर्दन, कमर, सिरको एक लाइनमें रखकर सीधे खड़े हो, दोनो नथुनोंसे पूरे श्वासको बाहर निकालकर पेटको दोनो हाथोंसे दबायें। इस प्रकार दोनो हाथोसे पेटको दबाते हुए धीमे-धीमे श्वासको दोनो नथुनोसे भरते हुए पेटको फुलावें। इस बातका ध्यान रक्खें कि इस प्रकार श्वास भरनेसे केवल पेट ही फूले, पसलियाँ और छाती बिल्कुल न फूलने पायें। भरसक श्वास भरनेके पश्चात् थोडी देर उसे वहीं रोके रहें, तत्पश्चात् धीमे-धीमे श्वासको दोनो नथुनोंसे बाहर निकालें और पेटको भरसक दोनो हाथोंसे दबाकर अंदरकी ओर सिकोड़ें। इस क्रियाको पाँच-छः बार करें।

पसलियोंका फुलाना—इसके बाद इसी प्रकार दोनो हाथोंकी हथेलियोसे दोनो ओरकी पसलियोको दबायें, दोनों नथुनोंसे श्वासको धीमे-धीमे खींचते हुए भरसक पसलियोंको फुलायें, पेट और छाती बिल्कुल न फूलने पायें। कुछ देर श्वासको पसलियोंमे रोककर धीमे-धीमे दोनो नथुनोंसे निकालें, पसलियोंको हाथोंसे दबाते हुए यथाशक्ति सिकोड़ें। इस क्रियाको भी पाँच-छः बार करें।

छातीका फुलाना—इसके बाद दोनो हाथोंकी हथेलियोंसे छातीको हँसलीकी हड्डीके नीचे दबाकर धीमे-धीमे श्वासको खींचते हुए भरसक छातीको फुलाये। इस बातका ध्यान रखें कि पसलियाँ और पेट बिल्कुल न फूलने पायें। कुछ देर श्वासको रोकनेके पश्चात् धीमे-धीमे श्वासको बाहर निकालें, छातीको खूब सिकोड़ें। इस क्रियाको भी पाँच-छः बार करें।

पूरी गहरी श्वास—उपर्युक्त तीनो क्रियाओंके अभ्यासके पश्चात् इस प्रकार दोनो नथुनोसे पूरा गहरा श्वास लें कि पहिले पेट, फिर पसलियाँ और अन्तमें छाती फूले। कुछ देर रोकनेके पश्चात् इस प्रकार धीमे-धीमे दोनो नथुनोसे श्वास निकालें कि पहले छाती सिकुडे, फिर पसलियाँ और अन्तमें पेट सिकुड़कर पीठसे लग जाय। इस क्रियाको भी पाँच-छः बार करें। इन क्रियाओंके करनेसे सब प्रकारके रोग और निर्बलता दूर होकर शरीर स्वस्थ और नीरोग हो जायगा।

(३) जल-चिकित्सा—

हिप बाथ (Hip bath)—शौचसे निवृत्त होकर खाली पेट छाती और पैरोंको बचाकर केवल नाभिके पासके पेटको ठंडे पानीमें रखकर नाभिके नीचेके भागको चारो ओर कपडा फिराकर ठंड पहुँचाये। इस क्रियाको करनेके बाद कुछ देर बाद भोजन किया जाता है। इसके पश्चात् व्यायाम करना अथवा घूमना चाहिये।

सन बाथ (Sun bath)—सुबहको कुछ हल्का कपडा ओढकर धूपमें कुछ समय बैठना।

स्टीम बाथ (Steam bath)—कभी-कभी अथवा ज्वर आदि रोगसे ग्रसित होनेपर कुर्सी या चारपाईके चारो ओर कम्बल या कपडा डालकर एक चादर ओढकर बन्द कमरेमें बैठे। एक अंगीठीपर एक देगचीमें पानी भरकर उसके मुँहको बर्तनसे ढककर चारपाई या कुर्सीके नीचे रख दे। जब खूब भाप आने लगे, तब बर्तन हटाकर भाप ले। पसीना बिल्कुल सूख जानेपर और शरीर ठंडा होनेपर बाहर निकले अथवा वहीं उसी समय लिपट जाय ले।

सिट्ज बाथ (इन्द्रिय-स्नान)—एक तसले अथवा मिट्टीके बडे कुंडेमें ठंडा पानी भरकर, इन्द्रियके मुँहके ऊपरकी खालको ऊपर करे। फिर इन्द्रियको पानीमें रखकर नीचेसे उस खालको बायें हाथके अंगूठे और उसके पासवाली अँगुलीसे इस प्रकार पकडे कि जिस प्रकार पकडी हुई झिल्लीका कुछ भाग इन दोनों अँगुलियोंसे बाहर रहे। इस झिल्लीको कपडेसे छुआ-छुआकर ठंड पहुँचानी चाहिये। यदि खाल इन्द्रियके ऊपर चढी हो और दोनों अँगुलियोंसे न पकडी जा सके तो उस स्थानको जहाँपर यह खाल ऊपरसे जुडी हुई है, उनको कपडेसे छुआ-छुआकर ठंड पहुँचायें। पानी जितना ठंडा होगा उतना ही लाभदायक होगा। प्रातःकाल शौचके पश्चात् अथवा भोजनके पूर्व या सायंकाल सोने या ध्यानसे पहिले पाँच मिनटसे आध घंटेतक इस क्रियाको करें। यह क्रिया चित्तको शान्त एवं प्रसन्न, वीर्य-वाहिनी नाडियों, मस्तिष्क तथा सब मर्म-स्थानोंको शक्ति पहुँचाने, ब्रह्मचर्यकी रक्षा और प्रमेह आदि सब प्रकारके वीर्यरोगोंको दूर करनेके लिये उत्तम है। इस क्रियाको करके अभ्यासपर बैठनेसे मन शीघ्र शान्त हो जाता है। पेशाब और शौचके पश्चात् इन्द्रियके मुखपर ठंडा पानी धारके साथ डालनेसे भी लाभ प्राप्त होता है।

शौच साफ लाने और आँवके निकालनेके लिये

एक रूमालको लपेटकर पानीमें भिगोकर अथवा गीली मिट्टीको एक कपडेमें रखकर नाभिके नीचे रात्रिको सोते समय बाँधे, जब कपडा या मिट्टी सूख जाय तो उसे गीला कर दें। घाव, फोडे-फुन्सीमें गीली चिकनी मिट्टी लगाये। छलना आदिमें गोबर दहीके पानीमें घोलकर लेप करे।

सूर्यविज्ञान

स्वर्गीय श्रीपरमहंस विशुद्धानन्दजी महाराज (प्रसिद्ध गन्धबाबा) सूर्य-रश्मियोंको स्फटिक यन्त्रों-द्वारा आकर्षित करके उनके संयोग-वियोग-विशेषसे अद्भुत चमत्कार दिखलाकर पाश्चात्य देशोंके बडे-बडे वैज्ञानिकोंको विस्मित कर देते थे। उन्होंने सूर्यविज्ञानद्वारा असाध्य रोगोंके चिकित्सार्थ बनारसमें एक सूर्यविज्ञान-मन्दिरकी भी स्थापना की थी। देशके दुर्भाग्यसे इस कार्यके पूर्व ही उनका देहान्त हो गया।

सूर्यचिकित्सा

सूर्यकी किरणोंको विशेष-विशेष रंगके शीशेद्वारा मनुष्यके पीडित अङ्गपर डालना तथा उनको जल आदि पदार्थोंपर आकर्षण करके उनका स्वास्थ्य-सुधार और रोगनिवारणमें प्रयोग करना बड़ा प्रभाव-

शाली सिद्ध हुआ है । उसको सामान्य रूपसे यहाँ उल्लेख किया जाता है ।

तत्त्वसम्बन्धी तालिका समाधिपाद सूत्र ३४के विशेष वक्तव्यमें पाँचों तत्त्वोंका रङ्ग, चिह्न, स्वाद, गति, परिमाण आदि बतला आये हैं । इन्हीं तत्त्वोंसे शरीर बना हुआ है, इसलिये इन तत्त्वोंकी स्वाभाविक परिमाणसे न्यूनता या अधिकता ही रुग्ण अथवा अस्वस्थ होनेका कारण है । कौन-सा तत्त्व बढ़ा हुआ है और कौन-से तत्त्वकी कमी है, इसकी जाँच नाखून, पेशाब, पाखाने आदिके रङ्गसे की जाती है । जैसे लाल रङ्गकी कमीमें आँख और नाखून नीले रङ्गके, पाखाना और पेशाब सफेद अथवा कुछ-कुछ नीले रङ्गका होता है । नीले रङ्गकी कमीमें आँख गुलाबी, नाखून लाल, पाखाना और पेशाब कुछ लाल या पीला होता है । इसी प्रकार मनुष्यके स्वाद, स्वभाव, श्वासकी गति और नाड़ियोंकी चालसे भी तत्त्वोंकी जाँच की जाती है । यदि किसी तत्त्वकी उसके स्वाभाविक अवस्थामें कमीको, उसके रङ्गको सूर्यकी किरणोंद्वारा रुग्ण शरीरमें प्रवेश करके पूरा कर दिया जाय तो रोग-निवृत्ति हो सकती है । विशेष-विशेष रङ्गोंको सूर्यकी किरणों-द्वारा रुग्ण शरीरमें पहुँचानेके बहुत उपाय ढूँढ़े गये हैं । उनमेंसे सबसे सरल चार हैं--

(१) विशेष रङ्गके शीशेद्वारा सूर्यकी किरणोंको रुग्ण शरीरमें पहुँचाना अथवा उस रङ्गकी शीशेकी लालटेनद्वारा उस रङ्गका प्रकाश डालना ।

(२) विशेष रङ्गकी साफ बोतलोंमें ताजा या वर्षाका जल अथवा गङ्गाजल भरकर काग लगाकर कम-से-कम चार घंटे और अधिक-से-अधिक तीन दिन धूपमें रखकर पानीको औषधरूपमें पिलाना तथा रुग्ण-स्थानमें लगाना ।

(३) विशेष रङ्गकी बोतलोंमें मिश्री आदि पदार्थ अथवा औषध रखकर, काग लगाकर पंद्रह दिनसे एक माहतक धूपमें रखकर ओषधिरूपमें प्रयोग करना ।

(४) विशेष रङ्गकी बोतलोंमें सरसों, तिल, अलसी आदिका तेल रखकर, काग लगाकर कम-से-कम ४० दिनतक धूपमें रखकर पीड़ित स्थानमें मलना ।

रङ्गोंका प्रयोग

(१) आसमान-जैसा हल्का नीला रङ्ग जिसमें लाली बिल्कुल न हो--यह रङ्ग ठंडा और कब्ज करनेवाला होता है; और लाल रंगका, जो गर्म और कब्ज दूर करनेवाला है, विरोधी है । इसलिये गर्मीसे आये हुए बुखार, पेचिश, आँव, दस्तोंमें, फोड़े-फुन्सी और जहरीले जानवरोंकी काटनेकी पीड़ा आदि जो लाल रङ्गकी अधिकतासे होती है, वह इस हल्के नीले रङ्गके पहुँचनेसे शान्त हो जाती है ।

(२) लाल रङ्ग--यह रङ्ग गरम और कब्ज दूर करनेवाला तथा मादेको निकालनेवाला होता है । इसलिये ठंडकी अधिकतासे जो रोग होते हैं, जैसे फालिज, लकवा, गठिया; सर्दीसे सूजन आदि, इस रङ्गको तीनो तरहसे पहुँचानेसे दूर होते हैं ।

(३) गहरा नीला रङ्ग अर्थात् वह नीला रङ्ग जो लाली लिये हुए हो, जैसे वे लम्बी बोतलें जिनमें विलायतसे अरंडीका तेल आता है । जहाँ नीले रङ्गके साथ किञ्चित् गर्मी पहुँचाकर गदे मादेको निकालनेकी आवश्यकता होती है वहाँ इस रङ्गको काममें लाया जाता है, जैसे काली खाँसी इत्यादि ।

(४) पीला अथवा हल्का नारङ्गी रङ्ग--यह रङ्ग गहरे नीले रङ्गकी अपेक्षा अधिक कब्ज खोलने-वाला और गदे मादेको निकालनेवाला है । इसलिये खुजली, कोढ़, रक्तविकार, वलगमी बुखार आदिमें

काममें लाया जाता है ।

लगभग सब प्रकारके बुखार और सिरके दर्द जो गर्मीसे उत्पन्न हों, उनमें हल्की नीले रंगवाली बोतलोंका पानी पिलावें, बुखारकी तेजीमें हल्के नीले शीशेका प्रकाश डालें और हल्की नीले रंगकी शीशीका तेल मलें ।

बलगमी बुखारमें नारंगी रंगकी बोतलका पानी पिलावें ।

दिलकी धड़कन, दिमागकी गर्मी, विषैले जानवरोंके काटनेमें, पेचिश एवं आँवके दस्तोंमें हल्के नीले रंगकी बोतलका पानी पिलावें और हल्के नीले रंगकी बोतलोका सरसोंका तेल दिमाग, दिल एवं पीड़ित स्थानोंमें मलें, इसी रंगका प्रकाश डालें ।

निमोनियोंमें गहरे नीले रंगकी बोतलका पानी पिये तथा लाल बोतलवाले अलसीके तेलकी छाती एवं पसलियोपर मालिश करें ।

तिल्लीके रोगके लिये नीले रंगकी बोतलका पानी पिलाना और तेलकी मालिश करना लाभदायक है ।

मृगीमें गहरे नीले या हल्के नीले रंगकी बोतलका पानी पिलायें, इसी रगके तेलकी मालिश करे, इसी रंगके शीशेका प्रकाश डालें ।

नजला या जुकामके लिये हल्के नीले रंगकी बोतलका पानी अथवा नारंगी या हल्के नीले रंगकी बोतलका मिश्रित पानी पिलाना । गहरे नीले रंगवाली बोतलका तेल सिर और कनपटियोंमें मलना, हल्के नीले शीशेका प्रकाश डालना ।

सूखी खाँसीके लिये गहरे नीले रंगकी बोतलका पानी पिलाना और लाल रंगकी बोतलका तेल छातीपर मलना ।

तर खाँसीमें नारंगी रंगकी बोतलका अथवा नारंगी बोतल एवं गहरी नीली बोतल—दोनों रंगोंका मिश्रित पानी पिलाना, लाल बोतलका तेल छातीपर मलना ।

दमामें नारंगी बोतलका पानी पिलाना और लाल बोतलके तेलको छातीपर मलना ।

जिन रंगो (तत्त्वों) की कमीसे जो रोग पैदा हुआ है, उस रंग (तत्त्व) का ध्यान करनेसे भी रोगकी निवृत्ति होती है ।

५. अन्य प्राकृतिक चिकित्साएँ:—

(१) ज्वर, आधे सिरका दर्द अथवा इसी प्रकारका और कोई विकार उत्पन्न होनेसे पूर्व अथवा उसी समय, जिस नथुनेसे स्वास चलता हो उसे बंद रखें ।

(२) सिरके चक्कर होनेपर दोनो हाथोकी कुहनीपर जोरसे कपडेकी पट्टी बाँधें, आधे सिरके दर्दमें जिस ओर दर्द हो उस ओर कपडेकी पट्टी बाँधें ।

(३) नाकसे पानी पीनेसे सिरदर्द दूर होता है । (शीतकालमें अथवा जब शरीर कुछ ठंडसे सताया हुआ हो, तब ठंडा पानी नाकसे न पीयें गुनगुना पीये) ।

(४) बारीका बुखार आनेवाले दिन प्रातःकाल ही सफेद अपामार्ग या मौलसिरीके पत्ते हाथोंसे रगड़कर हल्के कपड़ेमें बाँधकर सूँघते रहना चाहिये, कागजी नीबूके पत्ते मलकर सूँघनेसे भी बुखारको आराम होता है ।

(५) दाहिने खरमें भोजन आदि करनेसे और खानेके पश्चात् कुछ समयतक बायें करवट

लेटनेसे भी अजीर्ण रोग दूर होता है। प्रथम दाहिने करवटसे लेटकर १६ गहरी साँसे ले और छोड़े, फिर चित लेटकर ३२ । इसके बाद बायें करवट लेटकर ६४ साँसें ले और छोडे। प्रतिदिन प्रातःकाल भोजनसे आध घटे पूर्व जल पीये। नाभिके दाये ओरसे बाये ओर बडी अँतडियोकी मालिश करने और उठनेसे पूर्व आध घटे पेटके बल लेटनेसे भी अजीर्ण रोग दूर होता है।

(६) कोष्ठबद्ध दूर करना—सौ बार पेटको खूब सिकोडे और फैलावे । पहले एक-एक पैरको घुटनेके ऊपरके हिस्सेसे मिलाकर पूरा उड्डीयान कर पेटकी ओर खूब दबाये, फिर इसी प्रकार दोनों पैरोंको दोनों हाथोसे दबाये। प्रातःकाल बिस्तरसे उठते समय सीधे तथा दोनो करवटसे घूमकर हाथ-पैरोंको सिकोडे और फैलावे।

शौचसे पहले नासिका अथवा मुँहसे ताजा पानी पीये।

खानेके पश्चात् शुद्ध किया हुआ रेत एक फंकी बिना दाँतोसे लगाये हुए फाँककर ऊपरसे पानी पीना। रेतको मिट्टी आदि निकालकर और बड़ी कंकडियोको छानकर-धोकर साफ किया जाता है।

(७) दन्तरोग—पाखाना जाते या पेशाव करते समय नीचे-ऊपर दोनो दाँत मिलाकर जोरसे दबाये रखें।

(८) चक्षुरोग—प्रातःकाल बिस्तरसे उठते ही मुँहमें पानी भरकर आँखोंमें २०, ३० छींटे पानीके डालकर धो डाले, स्नानके समय दोनो पैरोंके अँगूठेमें तेल लगाये। नेती क्रिया करे।

(९) रक्तविकार—शीतली प्राणायाम (साधनपाद सूत्र ५० वि० व०) से रक्त-विकार दूर होता है और रक्त शुद्ध होता है।

(१०) लूमें चलते समय कानोंको कपडेसे बंद रखनेसे शरीरको लू नहीं सताती तथा सरपर प्याज रखनेसे लू नहीं लगती।

(११) दिमागी काममें थकावट होनेपर कुर्सी आदिका सहारा लेकर आँखें बंद करके शरीरको बिल्कुल ढीला छोड देना चाहिये, थकावट दूर होनेपर स्मरण-शक्ति ठीक काम करने लगेगी। शिथिलीकरण अर्थात् शरीरके सारे अङ्गोको ढीला करके चित शवासनसे लेटनेसे थकावट दूर होती है।

(१२) हाथी-दाँतके कंघेको सरमें रगडके साथ फेरनेसे सरदर्द दूर और मस्तिष्क बलवान् होता है।

(१३) नींद न आनेपर पैरके नाखूनोमें तेल लगावे । नाभिसे नीचे भागमें गीला कपड़ा या मिट्टी बाँधे या भंग पीसकर पैरोंके तलवे तथा नाभिके नीचे भागमें लेप करे।

(१४) मनुष्य अपने ही विचारोका बना हुआ है। यथा—'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः,' मनुष्य विचारविशेषका ही पुद्गल है, जिसके जैसे विचार हैं वह वैसा ही है। इसलिये आरोग्यताकी भावना करने और 'ओ३म् आनन्दम् ओ३म् आरोग्यम्'के जपसे सब रोग दूर होते हैं।

(३) सम्मोहन-शक्ति और संकल्प-शक्तिद्वारा शरीर-शोधन (आरोग्यता)—सम्मोहन-शक्ति

सम्मोहन—इस शक्तिको Personal अथवा Animal Magnetism (—प्राणीकी विद्युत्) और फारसीमें शख्सी मिक्नातीस या कशिशरूहानी कहते है। यह शक्ति मनुष्यमें जितनी अधिक मात्रामें होती है उतना ही वह प्रभावशाली, तेजस्वी, उत्साही, आत्मविश्वासी, आशावादी और कार्यकुशल होता है। इसकी न्यूनता ही मनुष्यको निराशावादी, निरुत्साही, उसके जीवनको अशान्तिमय और उसके कार्योंको असफल बनाती है।

सम्मोहन-शक्तिका मुख्य स्थान—इस शक्तिका केन्द्र मनुष्यका सिर है, जो मस्तिष्क और ज्ञाने-

इन्द्रियोंका स्थान है, इसलिये इसकी किरणे मनुष्यके चेहरे, आँख, मुँह, नाक और मस्तिष्कद्वारा निकलती रहती हैं। चेहरेके अतिरिक्त हाथों और अँगुलियोंसे भी इसकी किरणे निकलती रहती है, इसलिये हमारे जीवनका बहुत-सा कार्य हाथोद्वारा किया जाता है। यह शक्ति जो किरणोंकी शक्लमें हाथोकी अँगुलियों और मुखड़े आदिसे निकलती है, उसकी संज्ञा हिंदीमें ओजस्, तेजस्, अंग्रेजीमें Aurora फारसीमें जलाल और नूर है। इसको प्राणतत्त्व और विद्युत्-प्रवाह भी कहते हैं।

सम्मोहनशक्तिका प्रयोग—इस शक्तिको बढाकर आँखोंसे त्राटकद्वारा (निगाह जमाकर), नाकसे श्वासद्वारा, मुँहसे फूँकद्वारा और हाथोसे मार्जन (Passes) द्वारा और मस्तिष्कसे शुभ भावनाओं और दृढ़तापूर्वक आदेश अर्थात् (Suggestions) सूचनाओद्वारा शारीरिक तथा मानसिक रोगोकी निवृत्ति की जाती है। भारतवर्षमें यह विद्या प्राचीन कालसे चली आ रही है। पाश्चात्त्य देशोमें इसका आधुनिक आविष्कार मैस्मेरिज्म (Mesmerism) और हिपनोटिज्म (Hypnotism) के नामसे प्रसिद्ध है।

योरपमें सबसे प्रथम आस्ट्रियाके वीयना (Vienna) नगरके एक व्यक्ति मैस्मरने लगभग १७७० में यह सिद्धान्त ढूँढ़ा था कि मनुष्यके हाथकी अंगुलियोंके अग्रभागसे विद्युत्-प्रवाह अर्थात् अदृश्य शक्ति निकलती है जो रोगीके शरीरमे प्रविष्ट होकर रोग निवारण करती है। इसका नाम उसने Animal अथवा Personal Magnetism (प्राणीका विद्युत्-प्रवाह) रखा। उसी मैस्मरके नामपर इस विद्याका नाम मैस्मेरिज्म (Mesmerism) और इसके प्रयोगकर्ताका नाम मैस्मेराइजर (Mesmeriser) प्रचलित हुआ। मैनचेस्टरके एक डाक्टर ब्रेडने सन् १८४१ में यह अनुभव किया कि कृत्रिम निद्राको उत्पन्न करके रोगीके रोगकी सूचना, आदेश (Suggestions) द्वारा निवृत्ति की जा सकती है। कृत्रिम निद्राको Hypnosis कहते हैं, इसलिये इसी नामके आधारपर इस विद्याका नाम हिपनोटिज्म (Hypnotism) और इस विद्याके प्रयोगकर्ताका नाम हिपनोटिस्ट (Hypnosist) प्रचलित हुआ।

सम्मोहन-शक्तिके विकास करनेके नियम—स्वस्थ और नीरोग रहना, ब्रह्मचर्यके नियमोंका आचरण करना, शारीरिक, मानसिक आदि किसी प्रकारकी शक्तिको बिना आवश्यकता व्यय न करना, कर्तव्यपर दृढ़ रहना, दृढ़ आत्मविश्वास और संकल्पबल, श्रद्धा और उत्साह, सदाचार, जीवनकी प्रत्येक अङ्गमें पवित्रता, निर्भयता वीरता, धैर्य, शुभविचार, सर्वदा चित्तकी प्रसन्नता परमार्थ-बुद्धि, प्राणिमात्रके लिये शुभकामना, शुद्ध चिन्तन, यम-नियमका पालन, आसन और प्राणायाम आदिका अभ्यास, मनकी एकाग्रता और ईश्वर-भक्ति—ये सब इस शक्तिके विकासके नियम हैं।

सम्मोहन-शक्तिके ह्रासके कारण—शरीर तथा मनका अस्वस्थ और रोगी होना, ब्रह्मचर्यके नियमोका उल्लङ्घन, शारीरिक और मानसिक शक्तियोंका बिना आवश्यकता व्यर्थ व्यय करना, संशयात्मकता (ढिलमिल यकीनी), कायरता, निरुत्साह, दुराचार, भय, काम, क्रोध, मोह, लोभ, राग-द्वेष, ईर्ष्या, घमण्ड, घृणा, निर्दयता, दूसरोंका अहित-चिन्तन, चित्तकी चञ्चलता, अशान्ति, यम-नियमोंका उल्लङ्घन और नास्तिकता—ये सब इस शक्तिके ह्रासके कारण हैं।

आकर्षणशक्तिको बढ़ानेके साधन—

१.मनको एकाग्र करनेका अभ्यास—समाधिपाद ३४ से ३९ वें तकके सूत्रोंमें बतलाये हुए किसी साधनद्वारा मनको एकाग्र करना।

२. शरीरकी आन्तरिक क्रियाओंका तथा रक्तप्रवाहिनी नाडियोंके वशीकार करनेका अभ्यास—

(क) एकान्त स्थानमें सुखासनसे बैठकर मनको एकाग्र करके एक हाथको बिल्कुल खोलकर सीधा रखें। एकसे दसतक गिनते हुए एक अगुलीको बद कर अन्य चारोको खुली रखे। फिर एकसे दसतक गिनती करते हुए दूसरी अगुलीको भी बद करे अन्य तीनो बिल्कुल खुली रहें। इस प्रकार पाँचो अगुलियोको बद कर ले। इसी प्रकार दूसरे हाथकी अगुलियोंको भी बद करे। फिर एकसे दसतक गिनती गिनकर पहले हाथकी पहली अगुली खोलें, अन्य सब बद रहे। इस प्रकार उस हाथकी सब अगुलियो और दूसरे हाथकी सब अगुलियोको बंद करने और खोलनेकी क्रियाका अभ्यास करे।

(ख) किसी चौकी आदिपर दाहिना हाथ कलाईसहित रखकर हाथको बिल्कुल ढीला छोड़ दो, मनको सब ओरसे एकाग्र करके दृढ सकल्पसे ऐसी भावना करो कि रक्तका प्रवाह बडी तेजीसे हाथकी ओर आ रहा है, जिससे हाथ और अगुलियोंकी रगें फूल रही हैं और लाल हो रही हैं। जब यह होने लगे, तब इसी प्रकार यह भावना करो कि हाथ और अगुलियोसे खून अपने-अपने स्थानपर आ रहा है। हाथ तथा अगुलियाँ अपनी साधारण अवस्थापर आ रही है। जब हाथोमें इच्छानुसार खूनका प्रवाह लाने और उतारनेमे अभ्यास हो जाय, तब मार्जन (पासों) से इस विद्युत्को हाथोंकी अंगुलियोंद्वारा रोगीके रुग्ण स्थानमें भरकर उसकी रोग-निवृत्ति कर सकते है। 'पासो' का अभ्यास इस प्रकार है—हाथोकी दोनो हथेलियोको जोरसे रगडें, जबतक कि गर्म न हो जायँ। फिर हाथोको आगे-पीछे खूब हिलाये और हाथोकी अगुलियोको खूब जोरसे खोले और बद करें। फिर एक कपडे अथवा रूईके तकियेपर मनुष्यकी कल्पना करके उसके सिरसे पैरतक धीरे-धीरे अपने हाथोको ले जाय, अन्तमें झटकायें। कुछ समयके पश्चात इस अभ्याससे अगुलियोमे सनसनाहट होने लगेगी और ऐसा प्रतीत होने लगेगा कि अगुलियोंसे विद्युत्का सूक्ष्म प्रवाह बह रहा है।

(३) त्राटकका अभ्यास—हठयोगके षट्कर्मोंमें बतलाये हुए स्फटिक अथवा काले बिन्दुपर इस भावनासे त्राटक करे कि नेत्रोके ज्ञानतन्तु बलवान् हो रहे हैं, नेत्र प्रभावशाली और आकर्षक हो रहे हैं।

(४) प्राणायामका अभ्यास—दीर्घ श्वास-प्रश्वास (Deep Breathing) का अभ्यास 'प्राकृतिक नियमोद्वारा शरीर-शोधन' में बतलायी हुई चारो क्रियाओंके अनुसार। ताल्युक्त या भस्त्रिका आदि प्राणायाम सूत्र ५० के वि० व० में बतलायी हुई रीत्यनुसार। प्राणायाम ऐसी भावनासे करे कि 'मै प्राणशक्तिको शरीरमे खींच रहा हूँ, प्राणशक्ति रोम-रोममें प्रविष्ट होकर मुझे उत्साह, जीवन-शक्ति और आरोग्यता प्रदान कर रही है, मै सूर्यके सदृश तेजस्वी बन रहा हूँ।'

(५) आरोग्यता और स्वास्थ्यकी दृढ भावना—'प्राकृतिक नियमोद्वारा आरोग्यतामें' बतलाये हुए 'ओ३म् आरोग्यम्', 'ओ३म् आनन्दम्' के जापके साथ यह विचार किया करें कि 'मै स्वस्थ हूँ', 'मुझमें आलस्य और प्रमाद नहीं है', 'मै बुढापेके पाशसे मुक्त हूँ', 'मै पूर्णतया नीरोग और बलिष्ठ हूँ', 'मुझमें अपने कर्तव्य कार्योंके करनेकी पूरी शक्ति है', मै उनको दत्तचित्त होकर करूँगा', 'अपने कर्तव्यमें कदाचित् प्रमाद न करूँगा', जैसे—

एतद्धस्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किं एतदुपतपसि सोऽहमनेन न प्रेष्यामीति स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्स ह षोडश वर्षशत जीवति य एवं वेद।

(छा० उप०)

इतराका पुत्र महिदास जो इस रहस्यका जाननेवाला था, उसने रोगको लक्ष्य करके कहा कि 'तू मुझे यह क्या बताता है, मै इससे न मरूँगा', वह ११६ वर्ष जीवित रहा तथा जो कोई भी ऐसा जानता है, वह भी ११६ वर्षपर्यन्त जीवित रहता है।

(६) *इष्ट (अच्छी) प्रकृतियोंका ग्रहण और अनिष्ट (बुरी) प्रकृतियोंका परित्याग*—इस शक्तिके प्रयोगकर्ताको सबसे प्रथम अपने आपको नियन्त्रण (Self-Control) में रखना अति आवश्यक है, क्योंकि जो स्वयं अपनेको अपने वशमें नहीं रख सकता है, वह दूसरोंपर किञ्चित् भी प्रभाव नहीं डाल सकता है। इसलिये जो दुष्ट प्रकृतियाँ अपनेमें हों, उनका परित्याग और अच्छी प्रकृतियोंका ग्रहण निश्चयात्मक-रूपसे पूरे आत्मविश्वास (Self-confidence) और दृढ संकल्प (Firm determination) के साथ करना चाहिये।

अच्छे अथवा बुरे विचार मनुष्यके मनमें जिस प्रगतिसे बराबर उठते रहते हैं, उसके अनुसार उनका बल बढ़ता है। अन्तमें एक समय वे इतने प्रबल हो जाते है कि मनुष्य उनके अनुसार कार्य करनेपर बाध्य हो जाता है। जैसे कार्य मनुष्य करता रहता है वैसी ही उसकी प्रकृति बनती जाती है। इससे सिद्ध होता है कि विचार ही मनुष्यकी प्रकृतिके कारण हैं। इसलिये जिस अनिष्ट प्रकृतिको त्यागना है उसको बिना टालमटोलके (जैसे १, २ सप्ताहमें छोड़ दूँगा, अथवा २, ४ बार करनेके पश्चात् छोड दूँगा इत्यादि) तुरन्त उसके परित्यागका पूरे आत्मविश्वाससे दृढ सकल्प करके उसके विचारोंको पूर्णतया मनसे हटा दे। अथवा जिस समय अन्दरसे अनिष्ट कर्मोंको करनेका विचार उत्पन्न हो उसी समय उसको हटा दे। इस प्रकार बराबर हटाये जानेसे वे विचार दुर्बल होते-होते नष्ट हो जायँगे। विचारोंके न रहनेपर उस प्रकारके कर्म होने स्वयं बंद हो जायँगे, बुरे कर्मोंके छूटनेसे वह अनिष्ट प्रकृति भी छूट जायगी।

इसी प्रकार जिस प्रकृतिको ग्रहण करना हो उसके विचारोंको मनमें प्रबल करते-करते दृढ प्रकृतिके रूपमें लाया जा सकता है।

अनिष्ट प्रकृतियोंके परित्याग और इष्ट प्रकृतियोंके ग्रहणकी प्रक्रिया—आपने अनुभव किया होगा कि जितने बजे उठनेका संकल्प करते हुए आप सोते हैं, आपकी आँख अवश्य उस समय खुल जाती है। इससे सिद्ध होता है कि जो बात मन अथवा सूक्ष्म शरीरको भलीभाँति सुझा दी जाय, उसके अनुसार कार्य करनेके लिये स्थूल शरीर बाध्य हो जाता है। विशेषतः उस समय जब निद्रा छा रही हो और समस्त अङ्ग ढीले हो, तब मनके अंदर विशेष प्रभाव शरीरपर प्रकट होता है। इसलिये आरामकुर्सी या चारपाई-पर लेटकर अङ्गोंको ढीलाकर चित्तवृत्तिमें एकाग्र करे। एकाग्रताके साथ-साथ हल्की नींदकी कल्पना करे। जब नेत्र भारी होने लगे और हल्की-सी निद्रा आने लगे, तब जिस अनिष्ट प्रकृतिको छोडना हो उसके सम्बन्धमें प्रभावशाली शब्दोंमें इस प्रकार आदेश (Auto-suggestions) दे 'हे मन ! तू इस दुष्ट प्रकृति-का परित्याग कर दे, तुझमें यह दुष्ट प्रकृति नहीं रहनी चाहिये, कदाचित् नहीं रहनी चाहिये, मै इसको निकालकर बाहर फेंक रहा हूँ। मैने इसको बाहर फेंक दिया है। अब तुझमें इस प्रकारकी कोई प्रकृति नहीं रही है।' यह आवश्यक नहीं है कि इन्हीं शब्दोंको दुहराया जाय, इस आशयको लेते हुए आप अपने ही प्रभावशाली शब्दोंमें इस प्रकारका आदेश (Auto-suggestions) दे सकते है। इसी प्रकार जब कोई इष्ट प्रकृति ग्रहण करनी हो तो यह प्रबल विचार उत्पन्न करना चाहिये 'हे मन ! मै इस शुभ

प्रकृतिको तुम्हारे अंदर स्थापित करता हूँ। तुम अब इसी प्रकृतिके अनुसार काम करोगे, तुममे यह प्रकृति दृढ हो गयी है, मैने इसको पूर्णतया दृढ़ कर लिया है।' इसी रीतिसे किसी बच्चे, श्रद्धालु शिष्य, भक्त अथवा मित्रकी दुष्ट प्रकृतिको छुडाया जा सकता है। अर्थात् उसको आरामसे लिटाकर सम्मोहन निद्रा (कृत्रिमनिद्रामें जिसका आगे वर्णन होगा) लाओ। जब कृत्रिम निद्रा आ जाय, तब उसका नाम लेकर उपर्युक्त प्रकारकी आज्ञाओ (Suggestions) द्वारा अर्थात् 'हे अमुक ! मै तुम्हारी इस अनिष्ट प्रकृतिको तुम्हारे अंदरसे बाहर निकालता हूँ, इस अनिष्ट प्रकृतिको छोड़ दो, सर्वदा त्याग दो, मेने इसे तुम्हारे अदरसे बिल्कुल निकाल दिया है।' ऐसा ही इष्ट प्रकृतिके स्थापनमें 'हे अमुक ! मै तुम्हारे अंदर इस इष्ट प्रकृतिको स्थापित करता हूँ। इस प्रकृतिको मैने तुम्हारे अंदर दृढ कर दिया है, अब तुम इसके अनुसार ही सारे कार्य करोगे, इत्यादि।' इस प्रकारके वाक्योंको दस-पद्रह मिनटतक निरन्तर दुहराते रहना चाहिये। यदि सरमें भारीपन अनुभव करे तो उसके सरपर दाहिना हाथ रखकर, उसके नेत्रोमें कुछ अन्तरसे फूँक मारकर यह सूचना देनी चाहिये कि 'मैने तुमको नीरोग कर दिया है, तुम अब अच्छे हो, अब तुममें भारीपन नहीं है।' इस प्रकारका आदेश प्रातःसायंकाल दो बार अथवा रात्रिमें एकान्तमें दें। रात्रिमें स्वाभाविक निद्रामें सोते हुए भी इस प्रकारके आदेश दे सकते हैं।

आकर्षणशक्तिका प्रयोग—जिस प्रकार प्रयोगकर्त्ता (Hypnotist) के लिये दृढ संकल्प, आत्म-विश्वास और पात्रके प्रति शुभ भावनाओंकी आवश्यकता है, इसी प्रकार पात्रकी प्रयोगकर्त्ताके प्रति पूरी श्रद्धा, विश्वास और उसके आदेशोंको ग्रहण करनेकी इच्छाकी भी अति आवश्यकता है। पात्रकी इच्छा अथवा उसकी उसके प्रति पूरी श्रद्धा न होनेपर प्रयोगका पूरा प्रभाव न पडेगा।

सूचनाएँ अर्थात् आदेश—(Suggestions)—इस शक्तिके प्रयोगमें मुख्य चीज सूचनाएँ हैं। सूचनाएँ चाहे त्राटक, मार्जन, फूँक आदिके साथ हों, चाहे इनके बिना हों, दृढ-संकल्प, पूरे आत्मविश्वास और प्रभावशाली शब्दोमें अवश्य होनी चाहिये। प्रयोगकर्त्ताको यह अवश्य देखना चाहिये कि जिसके ऊपर वह प्रयोग कर रहा है, उसका उसके साथ क्या सम्बन्ध है। यदि किसी अपने बडे पूज्य, जैसे पिता, गुरु आदिपर प्रयोग किया जाय तो उसके प्रति ये सूचनाएँ प्रार्थनारूपमें होनी चाहिये। जैसे 'आप महान् आत्माके शरीरमें कोई विकार नहीं होना चाहिये, आप अपने शरीरसे इन सब विकारोको निकाल दीजिये, आप यह प्रार्थना अवश्य स्वीकार कर लीजिये, आपने यह प्रार्थना स्वीकार कर ली, अपने शरीरसे सब विकारोको निकाल दिया, आप बिल्कुल स्वस्थ हैं, आपका शरीर बिल्कुल नीरोग हो गया है' इत्यादि।

इस प्रकारकी मानसिक प्रार्थना केवल त्राटकके साथ बिना मार्जन अथवा फूँकके भी प्रभावशाली होती है। गायत्री आदि वैदिक मन्त्र अथवा ॐके जापके साथ सूचनाएँ अधिक प्रभावशाली हो जाती है।

मार्जनक्रियाके प्रयोग करनेकी विधि—(Passes)—मनुष्यके शरीरपर हाथ फेरकर अपनी शक्ति-को हाथ और अँगुलियोद्वारा प्रवेश करनेकी क्रियाको मर्जन-क्रिया अथवा 'पास' करना कहते हैं। मार्जन दो प्रकारके होते हैं, लंबे और छोटे।

लंबे मार्जन—सिरसे पैरकी अंगुलियोंतक सारे शरीरमें जो मार्जन किये जाते हैं, उनको लंबे अथवा पूरे मार्जन कहते है।

छोटे मार्जन—जो गर्दन, कमर, जघा आदिसे पैरोंकी अंगुलियोतक अथवा किसी बाजू, दण्ड,

कलाई आदिसे उस हाथकी अंगुलियोंतक किये जाते हैं, उनको छोटे मार्जन कहते हैं।

मार्जन करनेकी विधि—मार्जन स्त्रीके बायीं ओर पुरुषके दाहिनी ओर देना चाहिये। मार्जन करते समय पात्रके शरीरसे हाथ चार इंच दूर रहना चाहिये, दोनों हाथोंकी हथेलियों और अंगुलियोंको मिलाकर तथा अंगूठेको दूर रखकर पीड़ित स्थानपर अंगुलियोंको कुछ देर रखकर धीरे-धीरे पैरो अथवा हाथकी अंगुलियोंतक ले जाकर हाथकी अंगुलियोंको झटक देना चाहिये। चित्त एकाग्र, हृदय शुद्ध और पूरे दृढ-संकल्पके साथ ऐसी भावना करनी चाहिये कि अंगुलियोंद्वारा आपका तेज (विद्युत्-प्रवाह) रोगीके पीड़ित स्थानमें प्रवाहित होकर पीड़ाको हटाता हुआ स्वस्थ जीवन प्रदान कर रहा है। रोगीके पैरों अथवा हाथोंकी अंगुलियोंतक ले जाकर अपने हाथकी अंगुलियोंको इस प्रकार झटक दे जैसे कि रोगीकी पीड़ा और रोगको निकालकर बाहर फेंक दिया है। इसी प्रकार कई बार करें। 'कोई-कोई प्रयोगकर्त्ता हाथमें छुरी अथवा लोहेकी छोटी छड़ी (Iron rod) लेकर मार्जन करते हैं और पीड़ित स्थानपर उसको छुआकर रोगको खींच लेते हैं। यदि आवश्यकता समझें तो रोगीके संतोषार्थ और विश्वासार्थ ऐसे शब्दों-(Suggestions) का भी कभी-कभी उच्चारण होता रहे जैसे, 'तुम्हारी पीड़ा दूर हो रही है, तुम स्वस्थ हो रहे हो, अब देखो तुम्हारी पीड़ा कम हो गयी, अब तुम बिल्कुल नीरोग और स्वस्थ हो गये' इत्यादि। किसी वैदिक मन्त्र अथवा ॐके मानसिक जापसे संकल्पशक्ति अधिक प्रभावशाली हो जाती है। रोगीको कुर्सी, चारपाई अथवा किसी बलपर आरामसे बैठा अथवा लिटा देना चाहिये। फिर यदि उसके सिर अथवा सारे शरीरमें दर्द हो जैसे ज्वर आदि, तो पहले 'पास' सिरके पास कुछ देर हाथोंको रोककर पैरकी अँगुलियोंतक पास करें। यदि एक पाँव, जंघा, पिंडली अथवा पंजेमें पीड़ा हो तो उसी स्थान-विशेषसे लेकर पाँवकी अँगुलियोंके सिरेतक पास करे। यदि एक हाथमें बाजूसे पहुँचेतक कष्ट हो तो उसी हाथकी अँगुलियोंके सिरेतक पास करे। यदि पीठकी ओर पीड़ा हो तो इसी प्रकार पीछेकी ओर पास करके पीड़ाको निकालना चाहिये।

त्राटक और फूँक—उपर्युक्त भावना, आत्मविश्वास और दृढ़ संकल्पके सहित नीरोगताकी सूचनाएँ और वैदिक-मन्त्र अथवा ॐके मानसिक जापके साथ त्राटकद्वारा रोगीके रुग्ण अथवा पीड़ित स्थानपर टकटकी बाँधकर लगातार देखने तथा पीड़ित स्थानपर मुँहसे फूँक मारनेसे भी रोग-निवृत्ति की जाती है। इनका स्वतन्त्ररूपसे तथा 'पासों' के साथ, दोनों प्रकारसे प्रयोग हो सकता है।

जल, दूध, घृत, तेल आदि पदार्थों अथवा किसी ओषधिपर उपर्युक्त सारी भावनाओंके साथ 'पास,' त्राटक और फूँकद्वारा इस शक्तिका संचार किया जाता है और उनके यथायोग्य प्रयोगसे रोग-निवृत्ति की जाती है। 'सूर्यचिकित्सा' में बतलाये हुए जल, तेल, मिश्री आदिपर प्रयोग इस कार्यके लिये विशेष हितकर होगा। इसी प्रकार कपड़ोंको तह करके उनमें इन सब प्रक्रियाओंसे इस शक्तिको पहुँचाया जाता है। इसे रोगीके पीड़ित स्थानोंमें बाँधने अथवा ओढ़नेसे रोग-निवृत्ति हो जाती है।

केवल त्राटकका प्रयोग—संकल्पशक्तिके प्रबल हो जानेपर बिना 'पास' या फूँकके दृढ-संकल्पद्वारा स्वास्थ्यकी शुभ भावनाओंके साथ ॐका मानसिक जाप करते हुए केवल दूरसे त्राटक करनेसे भी सारे रोग दूर किये जा सकते हैं; परंतु यह फल पात्रकी श्रद्धा और पूरे सहयोगसे ही प्राप्त हो सकता है।

दूर बैठे रोगीका इलाज—Post Hypnotism—

ध्यानकी अवस्था परिपक्व हो जानेपर ही इसका प्रयोग हो सकता है। इसलिये प्रथम अपने अभ्यासके कमरेमें विधिपूर्वक नियत आसनसे बैठकर किसी ऐसे पवित्रात्मा महान् पुरुषके चित्रको जिसपर आपकी पूरी श्रद्धा हो, ध्यानमें लानेका प्रयत्न करे। प्रथम वह चित्र बडी कठिनाईसे एक क्षणके लिये सामने आयेगा। निरन्तर अभ्याससे जब वह चित्र बीस अथवा तीस मिनटके लिये ध्यानके आगे बना रहे, तब दूर स्थानपर बैठे हुए रोगीके चित्रको ध्यानमें लाकर उपर्युक्त प्रयोगोंसे उसके रोगोंकी निवृत्ति की जा सकती है, किंतु यह प्रयोग एक निश्चित समयपर होना चाहिये और उस समय रोगी अपने कमरेमें एकान्त शान्तिपूर्वक आरामसे सहारा लगाकर बैठ जाय या लेट जाय और इस प्रयोगको ग्रहण करनेकी भावना करे।

अपने रोगका स्वयं इलाज करना—

अपनी दृढ सङ्कल्पशक्ति और आरोग्यताकी दृढ भावनाके साथ उपर्युक्त विधियोंसे अपना रोग भी निवारण किया जा सकता है। अथवा एक बडे दर्पण (आइने) में अपने प्रतिबिम्बपर उपर्युक्त विधि-अनुसार त्राटक, पास आदि द्वारा आरोग्यताकी सूचनाएँ (Auto-suggestions) देकर रोग-निवृत्ति की जाती है, परंतु जब पीड़ाके कारण अपनी इस शक्तिका स्वयं प्रयोग करनेमें असमर्थता हो, तब किसी दूसरे अपने शिष्य अथवा अन्य किसी अनुभवी प्रयोगकर्तासे इस शक्तिका प्रयोग करावे और उसमें अपनी शक्ति लगा दे।

दूसरेकी पीडाओंको बरामें खींचना—कोई-कोई प्रयोगकर्ता एक चादर ओढकर बैठते हैं और रोगीको अपने सामने बैठाकर उसकी आँखोंसे आँख मिलाकर पूरे सङ्कल्पके साथ उसके रोगको चादरमें खींच लेते हैं। तत्पश्चात् उस चादरको जला देते है।

पूज्यपाद स्वर्गीय परमहंस स्वामी विशुद्धानन्दजी महाराज (प्रसिद्ध गधबाबा) के सम्बन्धमें यह प्रसिद्ध है कि वे अपने श्रद्धालु शिष्योंके रोग और पीडाको अपने शरीरमें खींच लेते थे, परतु यह कार्य अधिकतर शिष्योंकी गहरी श्रद्धा और विश्वासपर निर्भर था।

कृत्रिम निद्रा (Hypnosis)—त्राटक, मार्जन आदि क्रियाओं तथा सूचना (Suggestions) शक्तिसे अथवा किसी चमकीली वस्तुपर नजर जमाकर नेत्रोंके मज्जातन्तुओंको थकाकर जो स्वाभाविक निद्राके समान तन्द्रा उत्पन्न की जाती है, उसको कृत्रिम निद्रा Hypnosis अथवा Hypnotic Sleep अथवा Mesmeric Sleep कहते हैं।

कृत्रिम निद्रा उत्पन्न करानेकी कई सरल विधियाँ—

(१) प्रयोगकर्ता पात्रको अपने सम्मुख आरामसे बैठाकर उसकी आँखोंपर त्राटक करे और उससे कहे कि वह भी बिना पलक झपकाये टकटकी बाँधकर उसकी ओर देखे। कुछ देर ऐसा करनेके पश्चात् पात्रसे कहे कि अब तुम इतने समयतक अथवा जबतक मैं तुमको आज्ञा न दूँ, आँख नहीं खोल सकते, तुम कृत्रिम निद्रामें आ गये हो। जो तुमको आज्ञा दूँगा वैसा ही करोगे।

(२) एक कागजपर सौ बार कृत्रिम निद्रा (Hypnosis) लिखो और पात्रसे यह कहकर पढ़वाओ कि जब तुम अन्तिम शब्द पढ़ोगे, तब गहरी कृत्रिम निद्राको प्राप्त हो जाओगे, उस समय सारे कार्य मेरी आज्ञाके अनुसार करोगे, मेरी आज्ञासे बाहर किसी भी प्रकार न जा सकोगे।

(३) रुईके फोयेको बर्फ या बर्फ जैसे ठंडे पानीमें भिगोकर पात्रके मत्थेसे नीचेकी ओर रखे, फिर उसको यह कहकर सूचना दे कि उसको उठाते ही वह गहरी कृत्रिम निद्राको प्राप्त होगा।

(४) पात्रके सम्मुख किसी धातुके कटोरेको रखकर लोहेकी छुरीसे धीमे धीमे कई बार पात्रको यह सूचना देकर बजावे कि ज्यों ही वह बजाना बन्द करेगा त्यों ही वह (पात्र) गहरी कृत्रिम निद्राको प्राप्त हो जायगा।

(५) पात्रके सामने एक प्याज्ञ दूधका अथवा मिश्री आदिके टुकड़े खानेके लिये रखकर यह सूचना दे कि उसके समाप्त करनेके कुछ देर बाद वह गहरी कृत्रिम निद्राको प्राप्त होगा। तत्पश्चात् कई विधान मार्जन दे।

(६) भ्रुकुटिपर त्राटक करते हुए कृत्रिम निद्राकी सूचना दे।

(७) पात्रको प्रभावशाली शब्दोंमें यह सूचना देकर कि पन्द्रह मिनट अथवा आध घंटेमें तुम कृत्रिम निद्राको प्राप्त हो जाओगे उसको घड़ीमें समय देखते रहनेको कहो।

(८) चुंबक छड़ी (Mesmeric wand) हाथमें लेकर प्रभावशाली शब्दोंमें यह सूचना दो कि इस छड़ीमें ऐसी शक्ति है कि जिसके सामने फिरायी जाय वही कृत्रिम निद्राको प्राप्त होगा, फिर जिस-जिसके सामने घुमाने जाओ वही सोता जायगा।

इस प्रकार कृत्रिम निद्रामें लानेके कई उपाय हैं। प्रयोगकर्ताको समय और आवश्यकतानुसार अपनी प्रयोग-बुद्धिसे काम लेना होता है। ऊँची अवस्थावाले तो केवल मानसिक शक्तिसे ही सारे कार्य कर सकते हैं। आरम्भमें प्रयोगकर्ताको किसी बारह वर्षसे सोलह वर्षतककी आयुवाले लड़केपर अभ्यास करनेसे सुगमता होती है। अपनी शक्तिकी जाँच इस प्रकार कर सकते हो कि यदि किसी जाते हुए पुरुषके प्रति आन्तरिक ऐसा संकल्प करो कि वह तुम्हारी ओर देखे। जब ऐसा होने लगे तो समझो कि तुम्हारी शक्ति प्रयोग करनेके योग्य हो गयी है।

कृत्रिम निद्राद्वारा रोग-निवारण—

कोई-कोई प्रयोगकर्ता रोगीको कृत्रिम निद्रामें लाकर पूर्वोक्त रीतिसे स्वास्थ्य और नीरोगताकी सूचनाएँ देकर रोग और पीड़ाको निकालते हैं। इसमें दो प्रकारके मार्जन 'पास' दिये जाते है—विधान मार्जन (Downward Passes) और विसर्जन मार्जन (Upward Passes)। विधान मार्जन ऊपरसे नीचेकी ओर अर्थात् सिरसे छाती अथवा पैरतक, कृत्रिम निद्रा लानेके लिये; और विसर्जन मार्जन नीचेसे ऊपरकी ओर अर्थात् छाती अथवा पैरसे सिरतक, कृत्रिम निद्रा उतारनेके लिये दिये जाते हैं।

कृत्रिम निद्रा लानेकी साधारण रीति यह है कि पात्रको पहले यह समझा दिया जाय कि एक निश्चित समयतक कृत्रिम निद्रामें लाकर तुम्हारे रोग निकाल दिये जायँगे। फिर उसको कह दे कि शरीर-को शिथिल करके लेट जाय और अङ्ग-प्रत्यङ्गको ढीला छोड़कर नाकसे गहरे श्वास-प्रश्वास करे। भ्रुकुटिपर त्राटक करते हुए दृढ़ संकल्पके साथ कृत्रिम निद्रामें लानेकी सूचनाओंके साथ विधान मार्जन दे। दस-बारह विधान मार्जन देनेसे जब कृत्रिम निद्रा आ जाय तब पूर्वोक्त विधिसे स्वास्थ्यकी सूचना (Sugges-tions) के साथ लंबे अथवा छोटे मार्जन यथावश्यकता दे। यह सूचना, प्रभावशाली शब्दोंमें होनी चाहिये कि तुम्हारा अमुक रोग निकल रहा है, अब तुम बिल्कुल नीरोग हो रहे हो। जाग्रत् होनेपर

रोग अथवा पीडा सब जाती रहेगी इत्यादि ।

दूसरी विधि यह है कि प्रयोगकर्त्ता पात्रको अपने सम्मुख एक फुट दूर कुर्सीपर बैठाकर उसके दाहिने हाथकी अंगुलियोंको अपने बाँयें हाथसे पकडकर निगाहसे निगाह मिलाकर ऐसा दृढ सकल्प करे कि पात्रको निद्रा आ रही है और पात्रको बिना पलक झपकाये अपनी आँखोंकी ओर टकटकी बाँधकर देखनेके लिये कहे । जब आँखें भारी होकर बद होने लगे, तब उनको बद करनेकी आज्ञा दे । कृत्रिम निद्रा आ जानेपर उपर्युक्त विधिसे स्वास्थ्यदायक सूचनाएँ दे ।

बालको अथवा शिष्योंको इसी प्रकार कृत्रिम निद्रामें लाकर सूचनाओद्वारा उनके दुर्गुणोंको निकालकर सदाचारी बनाया जा सकता है ।

ध्यानकी परिपक्व अवस्थामें दूर स्थानमें रहनेवाले शिष्य अथवा किसी प्रेमीके चित्रको ध्यानमें लाकर इस प्रकारके Suggestions देनेसे वे दुर्गुण दूर हो सकते हैं और उसका जीवन पवित्र बनाया जा सकता है । यदि कोई अपनेसे द्वेष रखे या अपकार करे तो उसको ऐसे आदेश (Suggestions) देनेसे कि तुम मेरे प्रति द्वेष नहीं रखते हो; जैसा मेरा हृदय तुम्हारे प्रति पवित्र है, वैसे ही तुम भी मेरे प्रति शुद्धहृदय हो इत्यादिसे उसका हृदय पवित्र और दोषरहित हो जाता है ।

कृत्रिम निद्राकी अवस्थाएँ—

कृत्रिम निद्रा अथवा सम्मोहन निद्राको छः अवस्थाओंमें विभक्त किया जा सकता है । तन्द्रा, निद्रा, प्रगाढ सुषुप्ति, अनुवृत्ति, दिव्य-दृष्टि और प्रत्यग्-दृष्टि ।

साधारण पात्र प्रथम तीन अवस्थाओंमें ही रहते हैं उत्तम अधिकारी ही चौथी और पाँचवीं अवस्थामें पहुँच पाते हैं । छठी अवस्था किसी विरलेहीको प्राप्त होती है ।

इस सम्मोहन-शक्ति और सकल्प-शक्तिके ही अन्तर्गत पाश्चात्य देशोंकी clairvoyance दिव्य-दृष्टि Spiritualism और Telepathy हैं । जब इस शक्तिको रोगनिवारणार्थ प्रयोग किया जाता है, तब उसको क्यूरेटिव मैस्मेरिज्म (Curative Mesmerism) कहते हैं । जब दिव्य दृष्टि आदिके लिये प्रयोग किया जाता है, तब फिनामिनल मैस्मेरिज्म (Phenominal Mesmerism) कहते हैं ।

Clairvoyance—उपर्युक्त विधिसे पात्रको सम्मोहन-निद्रामें लाकर ऐसे आदेश दिये जाते हैं कि तुम दिव्य-दृष्टिको प्राप्त हो गये हो, तुम प्रत्येक वस्तुको देख सकते हो, तुम सब छिपी बातोंको बता सकते हो इत्यादि । फिर जो छिपी हुई बात पूछी जाती है तो वह उसका उत्तर देता है । आरम्भमें दिव्य-दृष्टिको क्रमानुसार बढ़ाया जाता है । अर्थात् पहले उस कमरेकी चीजोके बारेमें पूछा जाता है फिर अन्य स्थानोंमें भेजकर वहाँके समाचारोको और फिर दूर देशो और गुप्त बातोंको मालूम किया जाता है । आरम्भमें इसका प्रयोग छोटे बालकपर किया जाता है, तत्पश्चात् प्रत्येक बडे मनुष्यपर भी कर सकते हैं ।

Spiritualism—एक प्लानचेट (एक पानके आकारका लकड़ीका पतला तख्ता जिसके दो ओर धातुके दो पहिये और किनारेपर पेन्सिल लगी होती है) पर अँगुली रखनेसे उनकी मैगनेट पावरसे वह घूमने लगती है। मनकी एकाग्रता और हृदयकी शुद्धताकी अपेक्षासे उसमें पुरुष-प्रश्नके उत्तर ठीक-ठीक निकल आते हैं । इसी प्रकार पेन्सिलको हाथकी अंगुलियोसे पकडकर कागजपर रखकर अंगुलियोंके

मैगनेट पावरसे चलनेवाले प्रश्नोंका उत्तर दिया जाता है। इसी प्रकार एक छोटी टेबिल (Table) पर कई प्रयोगकर्ता एकाग्रतापूर्वक विशेष भावनाओंके साथ अपने हाथकी अंगुलियोंको रखते हैं। अंगुलियोंकी विद्युत्-शक्ति (Personal magnetism) से उस टेबिलका एक-एक पाँव उठता है और प्रयोगकर्त्ताओंकी एकाग्रता और हृदयकी शुद्धताके कारण बहुधा उत्तर ठीक-ठीक ही मिलते हैं।

यहाँ इस बातको स्मरण रखना चाहिये कि जो इस प्रकार Planchet द्वारा अथवा किसी Medium द्वारा आत्माओं (Spirits) को बुलाकर उनकी मृत्युके पश्चात्के जो समाचार मालूम किये जाते हैं, उनमेंसे अधिक प्रयोगकर्ताके अपने ही विचार होते हैं। Planchet विद्युत् (Magnet) शक्तिसे उन्हींके विचारोंको भाषामें भूलती है तथा Medium (पात्र) अपने ही विचारोंको प्रकट करता है।

कभी-कभी Medium (पात्र) प्रयोगकर्ताके विचारोंसे प्रभावित होकर उसीके विचारोंको प्रकट करने लगता है। यदि Medium (पात्र) ऊँची दिव्य-दृष्टिवाला हो तो वह उस पुरुषके विचारोंको ही ग्रहण करने लगता है जिसकी आत्मा (Spirit) को उस पात्र द्वारा बुलानेका यत्न किया जाता है; क्योंकि आकाशमें सारे ही विचार विद्यमान हैं। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि कोई पुरुष अपनी मृत्युके समय अपनी विशेष बातोंको किसी अपने दूर स्थानमें रहनेवाले किसी कुटुम्बी या मित्रसे कहनेकी तीव्र इच्छा रखता है तो वे विचार अपनी प्रबल शक्तिके कारण स्वयं उसतक किसी न-किसी रूपमें पहुँच जाते हैं।

Telepathy—इसी प्रकार दो प्रयोगकर्त्ता अलग-अलग बैठकर एक निश्चित समयपर तालयुक्त प्राणायाम इत्यादि करके एक खबर (Message) भेजता है और दूसरा इसको ग्रहण करता है। (उपर्युक्त बातें केवल जानकारीके लिये लिखी गयी हैं। आत्मोन्नति चाहनेवाले अभ्यासियोंको इनमें अधिक प्रवृत्त न होना चाहिये।)

संकल्प-शक्ति (Will-power)

उपर्युक्त जितने प्रयोगोंका सम्मोहन-शक्तिद्वारा होना बतलाया गया है, उन सबमें मुख्य भाग संकल्पशक्तिका ही है। बिना संकल्पशक्तिके उनमेंसे किसीमें भी सफलताका होना असम्भव है; किंतु केवल दृढ़ संकल्पशक्ति मात्रसे वे सब तथा उनसे कहीं अधिक बढ़कर चमत्कार दिखलाये जाते हैं। संकल्पशक्ति ही मनुष्यके जीवनमें उन्नति और अवनतिका कारण होती है। उपनिषदोंमें बतलाया गया है 'संकल्पमयोऽयं पुरुषः' अर्थात् मनुष्य संकल्पका ही बना हुआ है। मनु महाराजका कथन है—

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञः संकल्पसम्भवः। व्रतनियमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥

सब प्रकारकी कामनाओंका मूल यह संकल्प है। यज्ञ संकल्पसे उत्पन्न होता है। व्रत (प्रतिज्ञा), नियम, धर्म—सब इसी संकल्पसे उत्पन्न होनेवाले माने गये हैं।

आज हमें जितने महापुरुष दीख पड़ते हैं, जिनके नामपर संसार फूल चढ़ाता है और जिन्हें अत्यन्त आदरसे स्मरण करता है, उनके जीवनको पवित्र और उच्च बनानेका कारण संकल्पशक्ति ही है।

आर्योंकी ईश्वरीय और जगत्की प्राचीनतम पुस्तक 'वेद' में अनेकों सूक्त इसी विषयके आते हैं, जिनमें बारंबार यही प्रार्थना की गयी है—'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु' अर्थात् मेरा यह मन पवित्र संकल्पवाला हो। यथा—

ॐ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

जो दिव्य मन जाग्रत् अवस्थामें दूर निकल जाता है और इसी प्रकार सोनेकी दशामें भी बहुत दूर चला जाता है; वह दूर जानेवाला ज्योतियोंका ज्योति अर्थात् इन्द्रियोंका प्रकाशक मेरा मन शुभ संकल्पोंवाला हो ।

ॐ येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

कर्मशील, मनीषी, धीर पुरुष जिसके द्वारा परोपकार क्षेत्रमें तथा जीवन-सघर्षमें बडे-बडे कार्य कर दिखाते हैं, जो समस्त प्रजाओ (इन्द्रियो) के अदर एक अपूर्व पूज्य सत्ता है, वह मेरा मन शुभ संकल्पोवाला हो ।

ॐ यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

जो नये-नये अनुभव कराता है, पिछले जाने हुएका अनुभव कराता है, संकटमें धैर्य धारण कराता है, जो समस्त प्रजाओं (इन्द्रियो) के अदर एक अमरज्योति है, जिसके बिना कोई कर्म नही किया जाता, वह मेरा मन शुभ सकल्पवाला हो ।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

जिस अमृत मनके द्वारा यह भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान जाना जाता है, जिससे सात होताओ-वाला यज्ञ फैलाया जाता है, वह मेरा मन शुभ सकल्पोवाला हो ।

ॐ यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

जिसमें ऋचाएँ, साम, यजु इस प्रकार टिके हुए है जैसे रथकी नाभिमें अरे, जिसमें इन्द्रियोंकी सारी प्रवृत्ति पिरोयी रहती है, वह मेरा मन शुभ सकल्पोंवाला हो ।

ॐ सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान् नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

अच्छा सारथी जिस प्रकार वेगवान् घोड़ोंको बागोसे पकड़कर चलाये जाता है, उसी प्रकार जो मनुष्योको लगातार चलाता रहता है, जो हृदयमें रहनेवाला है, वह मेरा मन शुभ संकल्पोवाला हो ।

क्योकि प्रारब्धकर्म सकल्पद्वारा ही क्रियमाण होते हैं, जैसा कि कहा है—'विनाशकाले विपरीतबुद्धि.' इसलिये मनुष्य यदि अपने सकल्पको विशुद्ध रखे और जब वह मलिन और अपवित्र होने लगे तो यह जानकर कि मुझपर कोई भारी विपत्ति आनेवाली है, शीघ्र ही अपने संकल्प और विचारोको शुद्ध और पवित्र बना ले तो कभी भी दुर्भाग्य उसको भयभीत नहीं कर सकता । शुद्ध विचारवाले मनुष्यपर यदि अकस्मात् कोई विपत्ति आ भी जाय तो उसका बोझ तुरत ही दूसरे लोग बॉट लेते हैं । अर्थात् अपनी सहायता और सहानुभूतिसे उसकी विपत्तिको तत्काल ही दूर कर देनेका यत्न करते हैं; परंतु

इसके विरुद्ध दुर्जनको तत्काल दुःखमें डालनेके लिये सब-के-सब तैयार हो जाते हैं । सुतरां जो मनुष्य दुःखोंको अपने जीवनमें कम करनेकी इच्छा करता है, उसको चाहिये कि वह सकल्प-विद्या-प्रवीण बने और उसका सुप्रयोग करना सीखे ।

जैसे उगते हुए पौधेको उखाड़कर फेकना अति सुगम है, परंतु जब वह वृक्ष बन जाय, तब फिर उसको जड़से उखाड़ना मनुष्यकी शक्तिके बाहर हो जाता है । ठीक ऐसे ही उत्पन्न होते दुष्ट संकल्पोंका उच्छेदन और उनके स्थानमें पवित्र तथा शुद्ध संकल्पोंका सयोजन करना अतीव सुगम होता है, परंतु वही जब एक वृद्धाकार धारण कर लेता है, तब फिर उसका नष्ट करना कठिन हो जाता है । सुतरां जो उठते हुए दुष्ट संकल्पको उसी समय मिटा देते हैं, वे उसके परिणामस्वरूप कर्म और कर्मके फल दुःखसे भी बचे रहते हैं । इसी कारण 'वेदमें' बारंबार यह प्रार्थना आयी है—'यह मेरा मन पवित्र संकल्पोका स्रोत बने ।' 'संकल्पविद्याकी' शक्तिका पूरा-पूरा अनुभव करना अत्यन्त कठिन है; क्योंकि ससारके प्रत्येक पदार्थमें यह विद्या विराजमान है । आजतक जितनी मानसिक शक्ति (Mental Senses) जैसे मैस्मेरिज्म, हिप्नोटिज्म, टेलीपैथी, स्प्रिचुआलिज्म आदि मनुष्यको विदित हुई हैं, उन सबमें यही अलौकिक शक्ति काम करती है ।

मार्कानीके बिना तारके तारवाले यन्त्र (Wireless Telegraph) ने संकल्पशक्तिको अत्युत्तमतासे सिद्ध किया है । उससे इसके प्रबल अस्तित्वका प्रत्येक बुद्धिमान्‌को निश्चय हो जाता है । मार्कोनी महाशय कहते है—

"एक शब्द अथवा वैसा ही कोई स्वर—वायुमण्डलमें उसी प्रकारकी गति उत्पन्न करता है जिस प्रकार झीलमें एक कंकरीके डाल देनेसे तरंगें उठने लगती है । शब्दकी ये तरंगें दूर-दूरतक पहुँचती हैं, चाहे कितनी दूरका अन्तर क्यो न हो, वे टेलीग्राफके प्रत्येक यन्त्रको अपना अस्तित्व अनुभव कराती हैं । आकाशके सूक्ष्म मण्डलो (ईथर) पर संकल्पकी तरंगें दौड़ती, काम करती और दूर-दूरतक पहुँचती रहती हैं ।" यदि मार्कोनी साहब अपने इस अलौकिक यन्त्रका आविष्कार न करते तो युक्ति तथा तर्कपर ही भरोसा रखनेवाले बहुत-से मनुष्योको विश्वास ही न होता ।

ईथरकी शक्ति जो आकाशमें विद्यमान है, जिसपर संकल्पकी तरंगें दूरतक दौड़ती हैं, हमारे मस्तिष्कमें भी विद्यमान है । निरन्तर विचारसे उसके अंदरकी गति उत्पन्न होती है और मस्तिष्कसे उसी प्रकार निकलती है, जिस प्रकार विद्युत्‌की धाराएँ निकला करती हैं । विचारकी वे धाराएँ, जो अनिच्छित और संकल्पशक्तिकी संरक्षाके बिना बाहरको निकलती हैं, शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं । परंतु विचार-शक्तिकी वे तरंगे जिनके साथ संकल्पशक्तिका प्रबल बल विद्यमान होता है, मनुष्यके मस्तिष्कसे निकलकर रुकावट और विरोधके होते हुए भी उस समयतक निरन्तर दौड़ती रहती हैं, जबतक उनको ऐसा कोई मन न मिल जाय जो उस विचारके साथ सहानुभूति और अनुकूलता रखता हो ।

यदि आप घृणा, धिक्कार, फटकार या शत्रुताके विचार इसी सकल्पशक्तिकी सहायतासे किसीके लिये भेजेंगे तो वे विचार जीवित शक्ति बन जायँगे और वे तबतक निरन्तर दौड़ते रहेंगे जबतक कि उसके मनतक न पहुँच जायँ जिसके लिये वे भेजे गये थे । वे इसके अतिरिक्त और बहुतसे मनोंके अदर भी अपना प्रतिबिम्ब छोड जाते हैं । प्रेमका जो प्रत्येक विचार बाहर जाता है, अपने परिणाममें प्रेमकी पूरी शक्ति लेकर उसीके पास वापस आ जाता है, इसीलिये यह कहावत प्रसिद्ध है कि—'मनका मन साक्षी है' और फारसीमें कहा है कि 'दिल रा बदिल रहे अस्त' ।

ॐ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

जो दिव्य मन जाग्रत् अवस्थामें दूर निकल जाता है और इसी प्रकार सोनेकी दशामें भी बहुत दूर चला जाता है; वह दूर जानेवाला ज्योतियोंका ज्योति अर्थात् इन्द्रियोंका प्रकाशक मेरा मन शुभ सकल्पोवाला हो ।

ॐ येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

कर्मशील, मनीषी, धीर पुरुष जिसके द्वारा परोपकार क्षेत्रमें तथा जीवन-सघर्षमें बडे-बडे कार्य कर दिखाते है, जो समस्त प्रजाओ (इन्द्रियों) के अंदर एक अपूर्व पूज्य सत्ता है, वह मेरा मन शुभ सकल्पोवाला हो ।

ॐ यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

जो नये-नये अनुभव कराता है, पिछले जाने हुएका अनुभव कराता है, संकटमें धैर्य धारण कराता है, जो समस्त प्रजाओं (इन्द्रियो) के अदर एक अमरज्योति है, जिसके विना कोई कर्म नहीं किया जाता, वह मेरा मन शुभ सकल्पवाला हो ।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

जिस अमृत मनके द्वारा यह भूत, भविष्यत् तथा वर्त्तमान जाना जाता है, जिससे सात होताओं-वाला यज्ञ फैलाया जाता है, वह मेरा मन शुभ सकल्पोंवाला हो ।

ॐ यस्मिन्नृचः साम यजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

जिसमें ऋचाएँ, साम, यजु इस प्रकार टिके हुए हैं जैसे रथकी नाभिमें अरे, जिसमें इन्द्रियोंकी सारी प्रवृत्ति पिरोयी रहती है, वह मेरा मन शुभ संकल्पोवाला हो ।

ॐ सुपारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान् नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

अच्छा सारथी जिस प्रकार वेगवान् घोड़ोको बागोसे पकड़कर चलाये जाता है, उसी प्रकार जो मनुष्योको लगातार चलाता रहता है, जो हृदयमें रहनेवाला है, वह मेरा मन शुभ संकल्पोवाला हो ।

क्योंकि प्रारब्धकर्म संकल्पद्वारा ही क्रियमाण होते हैं, जैसा कि कहा है—'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः' इसलिये मनुष्य यदि अपने सकल्पको विशुद्ध रखे और जब वह मलिन और अपवित्र होने लगे तो यह जानकर कि मुझपर कोई भारी विपत्ति आनेवाली है, शीघ्र ही अपने संकल्प और विचारोको शुद्ध और पवित्र बना ले तो कभी भी दुर्भाग्य उसको भयभीत नहीं कर सकता । शुद्ध विचारवाले मनुष्यपर यदि अकस्मात् कोई विपत्ति आ भी जाय तो उसका बोझ तुरत ही दूसरे लोग बॉट लेते हैं । अर्थात् अपनी सहायता और सहानुभूतिसे उसकी विपत्तिको तत्काल ही दूर कर देनेका यत्न करते हैं, परंतु

इसके विरुद्ध दुर्जनको तत्काल दुःखमें डालनेके लिये सब-के-सब तैयार हो जाते हैं । सुतरां जो मनुष्य दुःखोंको अपने जीवनमें कम करनेकी इच्छा करता है, उसको चाहिये कि वह संकल्प-विद्या-प्रवीण बने और उसका सुप्रयोग करना सीखे ।

जैसे उगते हुए पौधेको उखाड़कर फेंकना अति सुगम है, परतु जब वह वृक्ष बन जाय, तब फिर उसको जड़से उखाड़ना मनुष्यकी शक्तिके बाहर हो जाता है । ठीक ऐसे ही उत्पन्न होते दुष्ट सकल्पोका उच्छेदन और उनके स्थानमें पवित्र तथा शुद्ध संकल्पोंका सयोजन करना अतीव सुगम होता है, परतु वही जब एक वृद्धाकार धारण कर लेता है, तब फिर उसका नष्ट करना कठिन हो जाता है । सुतरां जो उठते हुए दुष्ट संकल्पको उसी समय मिटा देते हैं, वे उसके परिणामस्वरूप कर्म और कर्मके फल दुःखसे भी बचे रहते है । इसी कारण 'वेदमें' बारंबार यह प्रार्थना आयी है—'यह मेरा मन पवित्र संकल्पोका स्रोत बने ।' 'संकल्पविद्याकी' शक्तिका पूरा-पूरा अनुभव करना अत्यन्त कठिन है; क्योकि संसारके प्रत्येक पदार्थमें यह विद्या विराजमान है । आजतक जितनी मानसिक शक्ति (Mental Senses) जैसे मैस्मेरिज्म, हिप्नोटिज्म, टेलीपैथी, स्प्रिचुआलिज्म आदि मनुष्यको विदित हुई हैं, उन सबमें यही अलौकिक शक्ति काम करती है ।

मार्कानीके बिना तारके तारवाले यन्त्र (Wireless Telegraph) ने संकल्पशक्तिको अत्युत्तमतासे सिद्ध किया है । उससे इसके प्रबल अस्तित्वका प्रत्येक बुद्धिमान्‌को निश्चय हो जाता है । मार्कोनी महाशय कहते है—

"एक शब्द अथवा वैसा ही कोई स्वर—वायुमण्डलमें उसी प्रकारकी गति उत्पन्न करता है जिस प्रकार झीलमें एक कंकरीके डाल देनेसे तरंगें उठने लगती है । शब्दकी ये तरंगें दूर-दूरतक पहुँचती हैं, चाहे कितनी दूरका अन्तर क्यो न हो, वे टेलीग्राफके प्रत्येक यन्त्रको अपना अस्तित्व अनुभव कराती हैं । आकाशके सूक्ष्म मण्डलो (ईथर) पर संकल्पकी तरंगें दौड़ती, काम करती और दूर-दूरतक पहुँचती रहती हैं ।" यदि मार्कोनी साहब अपने इस अलौकिक यन्त्रका आविष्कार न करते तो युक्ति तथा तर्कपर ही भरोसा रखनेवाले बहुत-से मनुष्योको विश्वास ही न होता ।

ईथरकी शक्ति जो आकाशमें विद्यमान है, जिसपर संकल्पकी तरंगें दूरतक दौड़ती हैं, हमारे मस्तिष्कमें भी विद्यमान है । निरन्तर विचारसे उसके अंदरकी गति उत्पन्न होती है और मस्तिष्कसे उसी प्रकार निकलती है, जिस प्रकार विद्युत्‌की धाराएँ निकला करती हैं । विचारकी वे धाराएँ, जो अनिच्छित और संकल्पशक्तिकी सरक्षाके बिना बाहरको निकलती हैं, शीघ्र ही नष्ट हो जाती हैं । परंतु विचार-शक्तिकी वे तरंगें जिनके साथ संकल्पशक्तिका प्रबल बल विद्यमान होता है, मनुष्यके मस्तिष्कसे निकलकर रुकावट और विरोधके होते हुए भी उस समयतक निरन्तर दौड़ती रहती हैं, जबतक उनको ऐसा कोई मन न मिल जाय जो उस विचारके साथ सहानुभूति और अनुकूलता रखता हो ।

यदि आप घृणा, धिक्कार, फटकार या शत्रुताके विचार इसी सकल्पशक्तिकी सहायतासे किसीके लिये भेजेगे तो वे विचार जीवित शक्ति बन जायँगे और वे तबतक निरन्तर दौड़ते रहेगे जबतक कि उसके मनतक न पहुँच जायँ जिसके लिये वे भेजे गये थे । वे इसके अतिरिक्त और बहुतसे मनोंके अदर भी अपना प्रतिबिम्ब छोड जाते हैं । प्रेमका जो प्रत्येक विचार बाहर जाता है, अपने परिणाममें प्रेमकी पूरी शक्ति लेकर उसीके पास वापस आ जाता है, इसीलिये यह कहावत प्रसिद्ध है कि—'मनका मन साक्षी है' और फारसीमें कहा है कि 'दिल रा बदिल रहे अस्त' ।

क्योंकि आसमानमें अनेक भाँतिके विचार चक्कर लगाते रहते है, इसलिये जिस प्रकारके विचारोकी मनुष्यमें ग्रहण करनेकी प्रकृति होती है, उसी प्रकारके विचारोको आकाशसे वह अपनी ओर खीच लेता है। यही कारण है, यदि कोई बुरा विचार मनमें उत्पन्न हो जाय तो फिर उसी प्रकारके विचारोकी लडी मनमें बन जाती है और वह तबतक बद नहीं होती जबतक कि मनुष्य स्वय अपनी प्रबल सकल्पशक्तिसे अपने मनको उस ओरसे नहीं रोक देता।

आकाशमे उत्तम-से-उत्तम और निकृष्ट-से-निकृष्ट विचार विद्यमान हैं, इसलिये केवल उन विचारोंको ग्रहण करनेके लिये मनुष्यको एकाग्रचित्तसे उद्यत होना और उस ओर चित्तवृत्तिका लगाना ही पर्याप्त है। जब तत्त्वदर्शी किसी पदार्थपर विचार करता है, तब उसी सम्बन्धमे नवीन बाते उसके मनमें उठने लग जाती हैं और यह ऐसी बाते होती है जो स्वय सोचनेवालोके लिये भी सर्वथा नयी और विस्मित कर देनेवाली होती हैं। इसी प्रकार आविष्कार करनेवाला जब अपने आविष्कारके सम्बन्धमें विचार करनेके लिये अपने चित्तको एकाग्र करके एकान्तमें बैठ जाता है, तब वह आकाशमेंसे अपने उपर्युक्त विचारोंको उसी प्रकार संग्रह कर लेता है जिस प्रकार एक ताड़का वृक्ष भूमिसे मधुर रसको अपने अदर खींच लेता है। ठीक इसी प्रकारसे एक आविष्कार करनेवाला अपने मनको अन्य विचारोसे शून्य और एकाग्र करके अपने उपयोगी विचारोको अपने अदर आनेका अवसर देता है, एव निरन्तर अभ्यासके अन्तमें एक विख्यात आविष्कारक बन जाता है।

अध्यात्म-विद्याके गुरु जब अपने किसी शिष्यसे कोई काम करवाना चाहते हैं, तब उसको पत्र आदि नहीं लिखा करते प्रत्युत अपने विचारोको ही उसके मनमें रख देते हैं। ये विचार उसके अदर पहुँचकर उसको वही काम करनेके लिये प्रेरणा करते है जिसका कराना उसके गुरुको अभिप्रेत होता है। यही मानसिक प्रेरणा है, यही गुप्त आध्यात्मिक सम्बन्ध और आत्मिक सहायता है, जो पिछले महात्मा अपने शिष्योके साथ रखते थे। यदि तुम किसीके प्रति बुरे विचारोकी भावना करोगे तो वे वहाँ दु.ख और व्याकुलता देनेके पश्चात् अपने सजातीय अन्य विचारोको तुम्हारे लिये उत्पन्न करेंगे अर्थात् जितने घृणाके विचार तुम दूसरोके निमित्त उत्पन्न करोगे उससे कहीं अधिक मात्रामें लौटकर तुमको मिलेंगे और यदि प्रेमके विचार भेजोगे तो वे भी प्रभावरहित न रहेंगे, बल्कि वे उस मनतक अवश्य पहुँचेंगे और अपने परिणाममें अधिक प्रेमको तुम्हारे निमित्त उत्पन्न करेंगे। यही कारण है कि जिससे तुम्हारा मन घृणा करता है, वह भी उसी प्रकार तुमसे घृणा करता है। हाँ, यदि तुम उसकी घृणाको दूर करना चाहते हो तो उसके लिये अपनेसे प्रेमभरे विचारोको भेजो। ये विचार उसके मनका सुधार करेंगे और फिर अपने परिणाममें तुम्हारे लिये प्रेमको उत्पन्न करेंगे। इसी कारण हमारे प्राचीन शास्त्रोने उपदेश किया है कि प्रत्येक मनुष्यको जीवमात्रकी भलाईके लिये प्रबल शक्तिके साथ यह प्रार्थना करनी चाहिये—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥

सम्पूर्ण जीवोंको सुख प्राप्त हो, सब प्राणी नीरोग हो, सबका कल्याण हो, किसीको भी दु.ख न हो।

जब एक मनुष्य अपने अदरसे समस्त शत्रुताके विचार निकालकर सारे संसारके लिये भलाई और सुखकी प्रार्थना करता है, तब उसको उसके बदलेमें (Universal Love) विश्वमात्रका प्रेम प्राप्त होता और तब ससारका कोई पदार्थ उसके लिये त्रासोत्पादक नहीं रहता।

ॐ अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नोऽस्तु॥

अन्तरिक्षमें हमारे लिये अभय हो, इन दोनो द्यौ और पृथिवीमें अभय हो, अभय पीछेसे हो, आगे-से हो, ऊपर-नीचेसे हमारे लिये अभय हो ।

ॐ अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥

हम मित्रोंसे अभय हो, शत्रुओसे अभय हो, जाने हुए परिचितोंसे अभय हों और जो आगे आने-वाले हैं, अपरिचित हैं उनसे भी अभय हों । रात्रि और दिनमें हम निर्भय रहे, समस्त दिशाएँ हमारे मित्ररूपमें हो । (अथर्व० १९ १५-५-६)

वह वनोमें भी उसी आनन्द और सुखसे रहता है जैसे कि अपने घरमें । स्वामी विवेकानन्दजी महाराज इसी शक्तिका वर्णन करते हुए अपने राजयोगमें इस प्रकार लिखते हैं—

योगीको चाहिये कि वह रात्रिको सोते समय और प्रातःकाल जागनेपर चारों दिशाओंमें मुँह करके प्रबल संकल्पशक्तिसे सारे संसारकी भलाई और शान्तिके अर्थ अपने विचारोंको छोडे । यथा—

ॐ द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवा शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

द्युलोक शान्ति दे, अन्तरिक्ष शान्ति दे, पृथ्वीलोक शान्ति दे, जल प्राण-शान्ति दे, रोगनाशक ओषधियाँ शान्ति दें, भोज्य वनस्पतियाँ शान्ति दे । सब-के-सब देव शान्तिदायक हों, ज्ञान शान्ति दे, सब कुछ शान्ति ही दे, शान्ति भी सचमुच शान्ति ही हो, वह ऐसी शान्ति मुझे प्राप्त हो ।

क्योंकि Every bit of hatred that goes out of the heart of man comes back to him in full force, nothing can stop it and every impulse of life comes back to him अर्थात् घृणाका प्रत्येक विचार जो मनुष्यके अंदरसे बाहर आता है, वह वापस अपने पूरे बलके साथ उसीके पास आ जाता है; और ऐसा करनेमें उसको कोई वस्तु रोक नहीं सकती । इसी प्रकार कोई मनुष्य अनुमान नहीं कर सकता कि अज्ञानतासे विचारे हुए घृणा, प्रतीकार और कामी तथा अन्य घातक विचारोंके भेजनेसे कितने जीवन नष्ट होंगे और कितनोकी हानि होगी । इसलिये विचारशक्तिके महत्त्वको समझो और उसको सर्वदा पवित्र तथा निर्मल रखनेका प्रयत्न करो और प्रतिदिन समस्त जीवमात्रके कल्याणके लिये प्रार्थना किया करो, इससे तुम्हारा और सबका भला होगा ।

विचारोद्वारा मनुष्यके शरीरमें 'स्वास्थ्य' और 'रोग' दोनोहीका संचार किया जा सकता है । 'विचार' भूखको उत्पन्न और नाश कर सकता है । वह मुखमण्डलको सहसा पीला कर देता है, मुँह और होठोंको सुखा देता है; और यही विचार मुख-मण्डलको प्रफुल्लित, रक्तकी गतिको तीव्र और शरीरपर कान्ति प्रदान करता है । यही देहको कँपाते हुए, नेत्रोसे आँसुओंका प्रवाह जारी कर देता है, मनकी गति इसीके द्वारा शिथिल और तीक्ष्ण हो जाती है । यही मनुष्यको आनन्दमय बना देता है और यही मनुष्यको निराशाकी चिरकाल खोहमें ढकेल देता है, इसीके अकस्मात् प्राप्त आनन्दको न पचाकर मनुष्य फूलकर मर जाता है; और कभी भयके कारण लहू सूख जाने अथवा मनकी गति रुक जाने तथा भय, शोक और असह्य दुःखके कारण तुरंत और अकस्मात् मृत्यु

हो जाती है, अर्थात् जहाँ यह मनुष्यको मृत्युके मुखमें तुरंत ढकेल सकता है वहाँ वही उसे स्वास्थ्य, आनन्द और सुख प्रदान कर सकता है ।

वस्तुत. हमारी दुनिया वह नहीं है जिसको हम मानते हैं, प्रत्युत वह है जिसका हम विचार करते है । मनुष्य विचारोका एक पुतला है । जैसे इसके विचार होते हैं वैसा ही यह बन जाता है । इसलिये यदि हम रोगके विचारको एक समयतक निरन्तर बनाये रखेंगे तो निराश होना पडेगा, रोग अपना स्वरूप अवश्य दिखलायेगा, अर्थात् जैसा विचार करेगे वैसा ही हो जायगा ।

अतः प्रतिदिन प्रतिक्षण मनुष्यको चाहिये कि वह निराश न हो, वरं सदैव आशाजनक प्रसन्नता, स्वास्थ्य और सफलताके विचारोको मनमें धारण करे । सुख और आशाकी तरगे रक्तकी गतिपर ही उत्तम प्रभाव डालेगी और उसको शुद्ध तथा लाल करके स्वास्थ्यके सुप्रभावको सम्पूर्ण देहमें बाँट देगी, जिससे तुम अपने स्वास्थ्यको अच्छा और शरीरको व्याधियोसे सुरक्षित रख सकोगे ।

प्रत्येक मनुष्य सुन्दरता, स्वास्थ्य और सुखमय जीवनकी इच्छा करता है । प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि वह सौ वर्षतक जीवित रहे । वह सौ वर्षतक उस प्रकारका जीवन नहीं चाहता जो रोते, झींकते हुए और खाटपर पडे हुए ओषधियोका सेवन करते हुए कटे । वह ऐसा जीवन चाहता है जो काम करते हँसते-खेलते हुए बीते । वह उसीके लिये ईश्वरके सम्मुख सिर झुकाकर प्रार्थना करता है—

पश्येम शरदश्शतं जीवेम शरदश्शतं शृणुयाम शरदश्शतम् ।
प्रब्रवाम शरदश्शतमदीनाः स्याम शरदश्शतम् ॥ (यजु० २६ । २४)

मै सौ वर्षतक देखूँ, सौ वर्ष जीवित रहूँ, सौ वर्षतक सुनूँ, सौ वर्षपर्यन्त बोलूँ, सौ वर्षतक सुखी और स्वतन्त्र जीवन भोगूँ ।

धार्मिक और लौकिक दोनो विषयोंमें मनुष्य उतना ही सफल होता है जितना उसका सकल्प दृढ़ होता है । यदि कोई किसी कार्यमें असफल है, इसका कारण उसका दुर्भाग्य नहीं बल्कि उसके संकल्पकी निर्बलता है । मनुष्यके अंदर यह बहुमूल्य शक्ति ऐसी गुप्त है कि जो कोई इससे काम लेना शुरू कर देता है उसको ही यह महान् और उच्च बना देती है । अटल सकल्पमें एक बलवान् शक्ति होती है, जो अपनी अनुकूल अवस्थाको स्वयमेव अपनी ओर खींच लेती है । इस कारण यदि आप जीवन-यात्रामें सफल होना चाहते है तो इस शक्तिको अपने अंदर उत्पन्न करें; क्योकि जीवनकी कठिनाइयोंको दूर करनेवाली यही एक शक्ति है । जिनमें यह शक्ति है, वे अपने विचारोको बलवान् बनाकर दूरतक भेज सकते है । परतु जिनमें यह नहीं है, वे ऐसा नही कर सकते; और यही कारण है कि कुछ मनुष्य निर्बल विचारवाले मनुष्योकी अपेक्षा अधिक सफल, यशस्वी और ऐश्वर्यवान् हो जाते हैं । संकल्पशक्ति ही मनको एकाग्र करके मस्तिष्ककी ओर विचारोंके आकर्षणमें सहायक होती है । आकर्षणका यह नियम है कि उसका झुकाव अपने सहधर्मी पदार्थकी ओर अधिकतर होता है, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ अपने सह-धर्मी पदार्थको अपनी ओर खींचता है । इसलिये जो मनुष्य जैसा बनना चाहता है, उसको दृढ़ संकल्पके साथ अपने अदर वैसे ही विचार उत्पन्न करने चाहिये और ये विचार अपने सहधर्मीको अवश्य अपनी ओर खींच लायेगे, जिसका परिणाम यह होगा कि वह अपने उद्देश्यमें अवश्य सफल होगा । इसलिये यदि

तुम कोई काम करना चाहते हो तो तुम कामकी छोटाई-बड़ाईकी ओर न देखा करो, प्रत्युत अपने विचारोंके न्यूनाधिक्यपर ध्यान रखा करो; क्योंकि काममें उसकी छोटाई या सुगमताके कारण सफलता नहीं होती, प्रत्युत उस कामके करनेमें तुम्हारी संकल्पशक्तिकी न्यूनाधिकताके अनुसार सफलता होगी। जो बात तुम्हें करनी हो, उसके लिये यो ही विचार न किया करो और जब किसी कामको करनेका विचार करो तो फिर उसको दूसरे निर्बल विचारोंकी तरगोंके नीचे दबने न दो और किसी ऐसे मनुष्यकी सम्मतिकी परवा न करो जो तुमको अपने विचारकी कठिनाइयोंके कारण छोड देनेका उपदेश कर रहा हो। ऐसे मनुष्य स्वयं निर्बल-हृदय और निर्बल विचारोंके होते है, इसलिये वे साधारण बातोंको असम्भव बातोंमें गिन लेते हैं। और सच तो यह है कि ऐसे मनुष्योंने विचारोंकी शक्तिको कभी अनुभव नहीं किया; यदि किया होता तो वे कभी भी किसीके साहस और विचारको (यदि वह विचार किसी बुराईके करने अथवा ऐसे कर्म करनेका न हो जिसके करनेसे उसकी जान जोखिममें हो और मनुष्य-समाजमें अशान्ति उत्पन्न होनेका भय हो) न गिराते वरन् उसका साहस तोडनेके स्थानमें अपने प्रबल विचारोंको साथ मिलाकर और भी अधिक पुष्ट करते और सफलताके आदर्शतक पहुँचानेमें सहायता देते। जब मनुष्य एक बार दृढ विचार करके खड़ा हो जाता है, तब चाहे उसके मार्गमें कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों न हों, वह सबको पार कर जाता है। कोई वस्तु उसको अपने उद्देश्यसे नहीं रोक सकती, वरन् ऐसे पुरुषार्थी मनुष्यकी सहायताके लिये प्रकृति आप काम करती है। कोई पुरुष पहलेसे ही महान् नहीं होता, प्रत्युत जो अपनी आभ्यन्तरिक शक्तियोंसे काम लेने लग जाता है, वही महान् पुरुष बन जाता है; और जो इनकी ओर ध्यान नहीं देते, वही अपनी जीवनयात्रामें पीछे रह जाते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वतीको साधारण साधुसे वर्त्तमान कालका ऋषि बनानेवाली यदि कोई वस्तु थी, तो वह केवल उनकी संकल्पशक्ति थी। समस्त भारतवर्ष उनके विचारोंसे विरोध रखता था, परंतु जब वह मनस्वी एक बार अपने क्षेत्रपर आरूढ हो गया तो कोई भी मनुष्य उनके सम्मुख खड़ा न हो सका। इसका कारण उनकी अगाध विद्या ही न थी, प्रत्युत दृढ़ संकल्पशक्ति और उस शक्तिमें पूर्ण विश्वासका होना था। इसी शक्तिके भरोसे पंजाबकेसरी महाराजा रणजीत सिंहने अटक नदीकी छातीको घोड़ोंके खुरपुटोंसे यह कहकर रौंद डाला और अपनी सेनाको पार कर दिया कि 'जाके मनमें अटक है, सोई अटक रहा। जाके मनमें अटक नहिं, उसको अटक कहाँ ॥" सचमुच यदि मनके अंदर रुकावट नहीं तो फिर कोई ऐसी शक्ति नहीं जो हमको अपने उद्देश्यकी पूर्तिसे तथा अपने जीवनको सुखी और सार्थक बनानेसे रोक सके।

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणꣳ सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् ॥ (तै० उप० १। १०)

मै (संसाररूप) वृक्षको हिलानेवाला हूँ। मेरी कीर्ति पर्वतके सदृश है। मै वह हूँ जिसके ज्ञानका पवित्र (प्रकाश) ऊँचा उदय हुआ है, मानो सूर्यमें है। मै वह हूँ जो असली अमृत है। मै चमकता हुआ धन (खजाना) हूँ। मै सुमेधा हूँ, अमृत हूँ क्षीण न होनेवाला। यह वेदकी शिक्षा त्रिशंकुसे दी गयी है।

दृढ और बलवान् संकल्पशक्तिके कारण मनुष्यमें ऐसी योग्यता आ जाती है कि वह अपने विचारको बहुत बड़ी शक्ति दे सकता है। अपने लक्ष्यपर फिर वह अपने विचारको उस समयतक स्थिर रखता

है, जबतक उसका अभीष्ट प्राप्त नहीं होता। यदि किसी मनुष्यमें आनाकानीकी प्रकृति है तो यह समझ लेना चाहिये कि उसकी संकल्पशक्ति निर्बल है और उससे कोई काम न हो सकेगा। जो अपना दृढ विचार बनाकर फिर दूसरोंकी दृढ सम्मतिके कारण उसको बदल देता है तो उससे भी उसकी संकल्प-शक्तिका पता मिलता है और वह दूसरोंकी सम्मतिका दास है, क्योंकि उसने अपनी विवेचना-शक्तिको खो दिया है। वह अपने नहीं, प्रत्युत दूसरोंके विचारोंके अनुसार कार्य कर रहा है। ऐसा करता हुआ वह दिन-पर-दिन अपनी विचारशक्तिको क्षीण कर रहा है, जिसके कारण प्रायः उसे अपने कामोंमें कठिनाई और असफलताका मुँह देखना पडेगा। इस कारण इस शक्तिके महत्त्वको समझो, किंतु हठ, दुराग्रह और उच्छृङ्खलताको ही विचारशक्ति न समझ लेना। विचारशक्ति और हठ आदिमें महान् अन्तर है। पहिली आचारकी दृढता और श्रेष्ठताका परिणाम है तथा दूसरी उसकी निर्बलताका फल है।

सकल्पशक्तिको पूरा विकास देनेके लिये दृढ आत्मविश्वासकी आवश्यकता है और आत्मविश्वास-की दृढता आस्तिकता अर्थात् ईश्वरभक्तिसे होती है। जब मनुष्य सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ ईश्वरका सहारा लेकर सारे कार्योंको उसके समर्पण करके अनासक्ति और निष्कामभावसे उसके लिये ही और अपनेको केवल उसका एक करण (साधन) समझकर कर्त्तव्यरूपसे करता है तो उसकी स्वयं अपनी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियाँ भी अगाध और असीम हो जाती हैं। यही कारण है कि ईश्वरभक्तोद्वारा जो महान् कार्य और अद्भुत चमत्कार अनायास साधारणतया प्रकट हो जाते हैं, उनके अनुकरण करने-में ससारकी सारी भौतिक शक्तियाँ अपना पूरा बल लगानेपर भी असमर्थ रहती हैं।

उसके सारे सकल्प ईश्वरके समर्पण और उसीकी प्रेरणासे होते है; इसलिये वह जो संकल्प करता है, वही होता है।

उसकी कोई इच्छा अनुचित अथवा स्वार्थमय नहीं होती; किंतु सारे प्राणियोके कल्याणार्थ ईश्वरार्पण होती है, इसलिये वह जो इच्छा करता है वही होता है।

वह कोई शब्द अनुचित, अनावश्यक और असत्य नहीं बोलता, उसकी वाणी ईश्वर-समर्पण होती है, इसलिये उसकी वाणीसे जो शब्द निकलते हैं वैसा ही होता है।

उसके कार्य अनावश्यक और स्वार्थसिद्धिके लिये नहीं होते; किंतु सब प्राणियोके हितार्थ निष्कामभावसे ईश्वरके आज्ञानुसार कर्त्तव्यरूपसे होते हैं, इसलिये वह उनको पूरी लगन और दृढ़तासे करता है। ससारकी कोई शक्ति उसको अपने कर्त्तव्यसे नहीं हटा सकती।

सङ्गति—जब यम तथा नियमोके पालनमें विघ्न उपस्थित हों तो उनको निम्न प्रकारसे दूर करना चाहिये—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—वितर्कबाधने=वितर्कोंद्वारा (यम और नियमोका) बाध होनेपर; प्रतिपक्षभावनम्= प्रतिपक्षका चिन्तन करना चाहिये।

अन्वयार्थ—वितर्कोंद्वारा यम और नियमोंका बाध होनेपर प्रतिपक्षका चिन्तन करना चाहिये।

व्याख्या—वितर्क-विरोधी तर्क अर्थात् यम, नियम आदिके विरोधी अधर्म—१ हिंसा, २ असत्य, ३ स्तेय, ४ ब्रह्मचर्यका पालन न करना, ५ परिग्रह, ६ अशौच, ७ असंतोष, ८ तपका अभाव, ९ स्वाध्यायका त्याग और १० ईश्वरसे विमुखता। जब किसी दुर्घटनावश ये वितर्क उत्पन्न हों और मनमें इन योगके विधर्मी अधर्मोंके करनेका विचार आये, तब उनके प्रतिपक्षी अर्थात् उन वितर्कोंके विरोधी विचारोंका चिन्तन करके उन वितर्करूप अधर्मोंको मनसे हटाना चाहिये। प्रतिपक्ष विचारोंके चिन्तनसे यह अभिप्राय है कि जैसे क्रोध आनेपर शान्तिका चिन्तन करना, हिंसाका विचार उत्पन्न होनेपर दयाके भावका चिन्तन करना इत्यादि।

व्यासभाष्य-अनुसार प्रतिपक्षभावना—

जब इस ब्रह्मज्ञानेच्छुक योगीके चित्तमें अहिंसा आदिके विरोधी हिंसादि वितर्क उत्पन्न हों कि मैं इस वैरीका हनन करूँगा, इसको दुःख पहुँचानेके लिये असत्य भी बोलूँगा, इसका धन भी हरण करूँगा इत्यादि; इस प्रकार दुर्मार्गवाली अतिबाधक वितर्क-ज्वरसे जलती हुई अग्निके समान यम-नियमोंका बाध होने लगे, तब इनमें प्रवृत्त न होवे। किंतु इन वितर्कोंके विरोधी पक्षोंका इस प्रकार बार-बार चिन्तन करे कि संसारकी घोर अग्निमें संतप्त होकर उससे बचनेके लिये सब भूतोंको अभयदान देकर मैंने योगमार्गकी शरण ली है। अब उन छोडे हुए हिंसा आदि अधर्मोंका पुनः ग्रहण करना कुत्तेके सदृश अपनी ही त्यागी हुई वमनका चाटना है। धिक्कार है मुझे, यदि मैं योगमार्ग छोड़कर अज्ञानरूपी गढ़ेमें गिरूँ। इस प्रकार प्रथम सूत्र यमादि और द्वितीय नियमादि दोनोंमें वितर्कोंकी प्रतिपक्षभावना जान लेनी चाहिये।

सङ्गति—वितर्कोंके स्वरूप, उनके भेद और उनके फलसहित प्रतिपक्षभावनाको बतलाते है—

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्॥ ३४॥

शब्दार्थ—वितर्काः-हिंसा-आदयः= (यम-नियमोंके विरोधी) हिंसा आदि वितर्क है; कृत-कारित-अनुमोदिताः=वे स्वयं किये हुए, दूसरोंसे कराये हुए और समर्थन किये हुए होते हैं*; लोभ-क्रोध-मोह-पूर्वकाः=उनका कारण लोभ, क्रोध और मोह होता है †; मृदु-मध्य-अधिमात्राः=वे मृदु, मध्य और तीव्र भेदवाले होते है; दुःख-अज्ञान-अनन्तफलाः=उनका फल दुःख ‡ और अज्ञानका§ अनन्त (अपरिमित) होना है; इति प्रतिपक्षभावनम्=यह प्रतिपक्षकी भावना करना है।

---

* ये तीन प्रकार इसलिये बतलाये गये हैं कि इन तीनोंमेंसे किसी एकको यह भ्रम न रह जाय कि 'मैंने हिंसा नहीं की' किंतु इस प्रकारके तीनों ही हिंसक हैं। छोटी बुद्धिके मनुष्य ऐसा समझते हैं कि यह हिंसा मैंने स्वय तो नहीं की। इसलिये मुझे दोष नहीं। —'भोजवृत्ति'

† यद्यपि सूत्रमें पहले लोभका ग्रहण किया है तथापि आत्मभिन्न (शरीरादि) में आत्माभिमानरूपी मोह सब अस्मितादि क्लेशोंका कारण है। उसीके होनेपर मनुष्यको अपना दूसरा सूझता है। इसलिये लोभ, क्रोध, हिंसा, असत्यभाषणादिका वहीं मूल जानना चाहिये; तात्पर्य यह है कि दोषसमुदाय मोहसे होते हैं। तृष्णाका नाम लोभ है। कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विचारका नाशक अग्निरूप चित्तकी एक अवस्थाका नाम क्रोध है।—

‡ दुःख—विरुद्ध प्रतीत होनेवाली रजोगुणसे उत्पन्न हुई चित्तकी एक वृत्तिका नाम दुःख है।

§ अज्ञान—मिथ्याज्ञान अर्थात् संशयात्मक और विपरीत ज्ञानको कहते हैं। —'भोजवृत्ति'

अन्वयार्थ—यम-नियमोके विरोधी हिंसा आदि वितर्क कहलाते हैं। (वे तीन प्रकारके होते हैं) स्वय किये हुए, दूसरोसे कराये हुए और अनुमोदन किये हुए। उनके कारण लोभ, मोह और क्रोध होते है। वे मृदु, मध्य और अधिमात्रावाले होते है। ये सब दु.ख और अज्ञानरूपी अपरिमित फलोको देनेवाले है। इस प्रकार प्रतिपक्षकी भावना करे।

व्याख्या—यहाँ हिंसा वितर्कको उदाहरण देकर बतलाते है, इसी प्रकार अन्य सब वितर्कोको समझ लेना चाहिये।

हिंसा तीन प्रकारकी है—स्वय की हुई, दूसरोसे करायी हुई और दूसरोंके किये जानेपर अनुमोदन या समर्थन की हुई। कारणोके अनुसार इसके तीन भेद हैं। लोभसे की हुई, जैसे मास, चमडे आदि-के लिये। क्रोधसे की हुई अर्थात् किसी प्रकारकी हानि पहुँचनेपर द्वेषवश की हुई। मोहवश की हुई, जैसे स्वर्ग आदिकी प्राप्तिके लिये पशुओकी बलि करना। इस प्रकार ३×३=९ प्रकारकी हिंसा हुई। यह नौ प्रकारकी हिंसा मृदु, मध्य ओर अधिमात्राके भेदसे ९×३=२७ प्रकारकी हुई। इसी प्रकार मृदु, मध्य और अधिमात्राके प्रत्येकका मृदु, मध्य, अधिमात्राका भेद होनेसे तीन-तीन भेदवाली २७×३=८१ प्रकारकी हुई। इसी प्रकार असत्य, स्तेय आदि वितर्कोंके बहुत भेद होकर अनन्त, अपरिमित अज्ञान और दुःख इनका फल होता है।

जब इस प्रकार वितर्क उपस्थित हो तब उनको इनके प्रतिपक्षी अर्थात् विरोधी विचारोसे हटाना चाहिये कि ये हिंसा आदि वितर्क महापाप है, रजोगुण और तमोगुणको उत्पन्न करके मोह तथा दुःखमें डालनेवाले है। यदि इनमें फँसा तो दुःख और अज्ञानका अन्त न होगा अर्थात् ये सब अपरिमित दुःख और अज्ञानरूपी फलोको देनेवाले हैं। इस कारण इनसे सर्वदा बचना चाहिये। यह प्रतिपक्ष-भावना है। इस प्रकार यम-नियमोके विघ्नोको हटाता हुआ योगमार्गपर चल सकता है।

श्रीव्यासजी महाराज हिंसा-वितर्कके प्रतिपक्षकी भावना इस प्रकार बतलाते हैं—

हिंसक पहिले वध्य पशुके वीर्य अर्थात् बलका नाश करता है, फिर शस्त्रादिसे मारकर दुःख देता है, फिर उसे जीवनसे भी छुड़ा देता है। वध्य पशुके बलको नष्ट करनेके कारण हत्यारेके स्वयं शरीर, इन्द्रिय आदिका बल तथा पुत्र, पौत्र, धनादिक उपकरण नष्ट हो जाते हैं। शस्त्रद्वारा पशुको दुःखका देनेके बदले नरक, तिर्यक्, पशु आदि योनियोंमे वैसा ही दुःख भोगता है। वध्य पशुके जीवत्वका नाश करनेके फलस्वरूप दुःसाध्य रोगसे पीड़ित होकर प्राणान्त-सन्निहित-अवस्थाको प्राप्त होकर मरने-की इच्छा करता हुआ भी दु.ख-फल अवश्य भोग्य होनेसे बडे कष्टसे ऊँचे-ऊँचे साँस लेकर जीता है। यदि किसी कारणसे पुण्य मिली हुई हिंसा हो तो भी उस जन्ममें उस पुण्यका फल सुख-प्राप्ति अल्पायु ही होगी। इसी प्रकार यथासम्भव असत्यादि अन्य यमो तथा नियमोंमें भी जान लेना चाहिये। इस प्रकार वितर्कोंमें अनिष्ट-फलका चिन्तन करता हुआ उनसे मनको हटावे।

सङ्गति—इन वितर्कोंके प्रतिपक्षोसे निर्मल हो जानेके पश्चात् योगीको यम तथा नियमोमे जो सिद्धि प्राप्त होती है, उसका वर्णन करते है:—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—अहिंसा-प्रतिष्ठायाम्=अहिंसाकी दृढ स्थिति हो जानेपर; तत् सन्निधौ=उस (अहिंसक योगी) के निकट; वैर-त्यागः (सर्वप्राणिनाम् भवति)—सब प्राणियोंका वैर छूट जाता है।

अन्वयार्थ—अहिंसाकी दृढ़ स्थिति हो जानेपर उस (अहिंसक योगी) के निकट सब प्राणियोका वैर छूट जाता है ।

व्याख्या—'सर्वप्राणिनां भवति' सूत्रके अन्तमें यह वाक्यशेष है । जब योगीकी अहिंसा-पालनमें दृढ़ स्थिति हो जाती है, तब उसके अहिंसक-प्रभावसे उसके निकटवर्ती सब हिंसक प्राणियोंकी भी अहिंसक वृत्ति हो जाती है ।

अहिंसानिष्ठ योगीके निरन्तर ऐसी भावना और यत्न करनेसे कि उसके निकट किसी प्रकारकी हिंसा न होने पावे, उसके अन्तःकरणसे अहिंसाकी सात्त्विक धारा इतने तीव्र और प्रबल वेगसे बहने लगती है कि उसके निकटवर्ती तामसी हिंसक अन्तःकरण भी उससे प्रभावित होकर तामसी हिंसक-वृत्तिको त्याग देते है ।

किसी-किसी हिंसकमें भी हिंसाकी भावना इतनी उग्र हो जाती है कि अपने निकटवर्ती अहिंसक-में भी हिंसा-वृत्ति उत्पन्न कर देती है । जब कभी दो ऐसे मनुष्योंका सम्पर्क हो जाता है जिनमें परस्पर दो विरोधी भाव, अहिंसा अर्थात् अच्छाई और हिंसा अर्थात् बुराई, अपनी पराकाष्ठाको पहुँचे हुए होते हैं तब उन दोनोमें बड़ा भारी संघर्ष चलता है । अन्तमें जो अधिक शक्तिशाली होता है वह दूसरेको परास्त कर देता है अर्थात् उसपर अपना प्रभाव डाल देता है ।

उदाहरणार्थ अहिंसा और हिंसाके स्वभाववाले दो ऐसे व्यक्तियोंका जो अपने गुण व अवगुणमें परि-पक्वता प्राप्त किये हुए हैं, दैवयोगसे सम्पर्क हो जावे तो एक लम्बे समयतक उन दोनोमें संघर्ष चलेगा। अहिंसक हिंसकके प्रति भलाई करता रहेगा और हिंसक अहिंसकके प्रति बुराई । यदि हिंसक अपने इस बुरे स्वभावमें अधिक प्रबल है तो अहिंसकको भी हिंसक बना देगा । अर्थात् हिंसकको बराबर बुराई करते हुए देखकर उसमें भी द्वेषके भाव उत्पन्न हो जायेंगे। वह विचारेगा कि इस दुष्टके साथ हम बराबर भलाई करते चले आये हैं किंतु यह बुराई करता ही रहता है। इसको इसकी बुराईकी सजा देनी चाहिये। उसके प्रति द्वेषकी भावना उत्पन्न हो जाती है और वह उसके साथ बुराई करने लगता है । यह अहिंसककी हार और हिंसककी जीत समझनी चाहिये । और यदि अहिंसकका भलाईका स्वभाव अधिक बलवान् है तो वह अपना प्रभाव हिंसकपर डाल सकेगा अर्थात् हिंसक विचार करेगा कि मै इस मनुष्यके साथ बुराई ही करता रहा हूँ और यह उसका उत्तर भलाईसे ही देता रहा है । द्वेषभाव दूर होकर उसके मनमें सद्भावना उत्पन्न हो जायगी और वह अहिंसकके प्रति भलाई करने लगेगा । इस प्रकार अहिंसाकी हिंसापर विजय प्राप्त हो जाती है ।

देशके विभाजनके पश्चात् पाकिस्तान और भारतवर्ष दोनो स्थानोंमें साम्प्रदायिक हिंसाकी भावना इतने उग्ररूपसे फैल रही थी कि सत्य और अहिंसानिष्ठ महात्मा-गांधीका सारा प्रयत्न उसके रोकनेमें विफल हो रहा था । अन्तमें अपने प्राणोकी बलि देकर दोनों स्थानोमें इतने व्यापक रूपसे फैली हुई हिंसाको पूर्ण-तया रोकनेमें सफल हुए ।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—सत्य-प्रतिष्ठायाम्=सत्यमें दृढ़ स्थिति हो जानेपर; क्रियाफल-आश्रयत्वम्=क्रिया फलका आश्रय बनती है ।

अन्वयार्थ—सत्यमें दृढ स्थिति हो जानेपर क्रिया फलका आश्रय बनती है ।

व्याख्या—जिस योगीकी सत्यमें दृढ़ स्थिति हो गयी है, उसकी वाणीसे कभी असत्य नहीं निकलेगा; क्योंकि वह यथार्थ ज्ञानका रखनेवाला हो जाता है। उसकी वाणी अमोघ हो जाती है। उसकी वाणीद्वारा जो क्रिया होती है, उसमें फलका आश्रय होता है अर्थात् जैसे किसीको यज्ञादिक क्रियाके करनेमें उसका फल होता है, इसी प्रकार योगीके केवल वचनसे ही वह फल मिल जाता है। यदि वह किसीसे कहे कि तू धर्मात्मा अथवा सुखी हो जा तो वह ऐसा ही हो जाता है।

सत्यनिष्ठ योगीके निरन्तर ऐसी भावना और धारणा रखनेसे कि उसके मुखसे न केवल भूत और वर्तमानके सम्बन्धमें किंतु भविष्यमें होनेवाली घटनाओंके सम्बन्धमें भी कोई असत्य वचन न निकलने पावे, सत्यकी प्रबलतासे उसका अन्तःकरण इतना स्वच्छ और निर्मल हो जाता है कि उसकी वाणीसे वही बात निकलती है जो क्रियारूपमें होनेवाली होती है।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ—अस्तेय-प्रतिष्ठायाम्=अस्तेयकी दृढ स्थिति होनेपर; सर्व-रत्न-उप-स्थानम्=सब रत्नोंकी प्राप्ति होती है।

अन्वयार्थ—अस्तेयकी दृढ़ स्थिति होनेपर सब रत्नोंकी प्राप्ति होती है।

व्याख्या—जिसने रागको पूर्णतया त्याग दिया है, वह सब प्रकारकी सम्पत्तिका स्वामी है। उसको किसी चीजकी कमी नहीं रहती। इसमें एक आख्यायिका है—

किसी निर्धन पुरुषने बड़ी आराधनाके पश्चात् धन-सम्पत्तिकी देवीके दर्शन किये। उसके पैरोंकी एड़ी और मस्तिष्क घिसा हुआ देखकर उसको आश्चर्य हुआ। अपने भक्तकी आग्रहपूर्वक विनयपर उसको बतलाना पड़ा कि जो मुझसे राग रखते हैं और धर्म-अधर्मका विवेक त्यागकर मेरे पीछे मारे-मारे फिरते हैं, उनको ठुकराते हुए पैरकी एड़ी घिस गयी है और जिन्होंने ईश्वर-प्रणिधानका आसरा लेकर मुझमें राग छोड़ दिया है तथा मुझसे दूर भागते हैं, उनको रिझाने और अपनी ओर प्रवृत्त करनेके लिये उनकी चौखटपर रगड़ते-रगडते मस्तिष्क घिस गया है।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायाम्=ब्रह्मचर्यकी दृढ़ स्थिति होनेपर; वीर्यलाभः=वीर्यका लाभ होता है।

अन्वयार्थ—ब्रह्मचर्यकी दृढ स्थिति होनेपर वीर्यका लाभ होता है।

व्याख्या—वीर्य ही सब शक्तियोंका मूल कारण है। उसके पूर्णतया रोकनेसे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियाँ बढ जाती है। तथा योगमार्गमें बिना रुकावट पूरी उन्नति हो सकती है। वह विनय करनेवाले जिज्ञासुओंको ज्ञान प्रदान करनेमें समर्थ हो जाता है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—अपरिग्रह-स्थैर्ये-जन्मकथन्ता-सम्बोधः=अपरिग्रहकी स्थिरतामें जन्मके कैसेपनका साक्षात् होता है।

अन्वयार्थ—अपरिग्रहकी स्थिरतामे जन्मके कैसेपनका साक्षात् होता है।

व्याख्या—सूत्रके अन्तमें 'अस्य भवति' शेष है। अपरिग्रहकी व्याख्यामें बतला आये हैं कि योगीके लिये

सबसे बड़ा परिग्रह अविद्या, रागादि क्लेश और शरीरमें अहत्व और ममत्व है। इनके त्यागनेसे उसका चित्त शुद्ध, निर्मल होकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है। इससे उसको भूत और भविष्य जन्मका ज्ञान हो जाता है कि इससे पूर्व जन्म क्या था, कैसा था, कहाँ था? यह जन्म किस प्रकार हुआ, आगे कैसा होगा। इस प्रकार इसकी तीनों कालमें आत्मस्वरूपकी जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है।

सङ्गति--अब नियमोंकी सिद्धियाँ कहते है—

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—शौचात्=शौचसे; स्वाङ्ग-जुगुप्सा=अपने अङ्गोसे घृणा होती है; परैः-असंसर्गः=दूसरोंसे संसर्गका अभाव होता है।

अन्वयार्थ—शौचसे अपने अङ्गोंसे घृणा और दूसरोसे ससर्गका अभाव होता है।

व्याख्या—शौचके निरन्तर अभ्याससे योगीका हृदय शुद्ध हो जाता है, उसको मल मूत्रादि अपवित्र वस्तुओके भण्डार इस शरीरकी अशुद्धियाँ दीखने लगती हैं। इसमें राग और ममत्व छूट जाता है। इसी हेतुसे उसका ससर्ग दूसरोसे भी नहीं रहता। वह इस शरीरसे परे सबसे अलग रहते हुए केवली होनेका यत्न करता है। यह शरीरशुद्धिका फल है।

सङ्गति—अब आभ्यन्तर शौचका फल कहते है—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—सत्त्वशुद्धि=चित्तकी शुद्धि; सौमनस्य=मनकी स्वच्छता; ऐकाग्र्य=एकाग्रता; इन्द्रियजय=इन्द्रियोंका जीतना; आत्मदर्शन-योग्यत्वानि च=और आत्मदर्शनकी योग्यता।

अन्वयार्थ—चित्तकी शुद्धि, मनकी स्वच्छता, एकाग्रता, इन्द्रियोंका जीतना और आत्मदर्शनकी योग्यता आभ्यन्तर शौचकी सिद्धिसे प्राप्त होती है।

व्याख्या—सूत्रके अन्तमें 'भवन्ति' यह वाक्यशेष है। आभ्यन्तर शौचकी दृढ स्थिति होनेपर तमस् तथा रजस्के आवरण धुल जानेसे चित्त निर्मल हो जाता है। मनके स्वच्छ होनेसे उसकी एकाग्रता बढती है। मनकी एकाग्रतासे इन्द्रियोका वशीकार होता है। अर्थात् बहिर्मुखसे अन्तर्मुख हो जाती हैं।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

(कठोपनिषद्, वल्ली ४, मन्त्र १)

स्वयम्भूने (इन्द्रियोके) छेदोंको बाहरकी ओर छेदा है—बहिर्मुख किया है। इस कारण मनुष्य बाहर देखता है अपने अंदर नही देखता। कोई ही धीर पुरुष अमृतको चाहता हुआ अपनी ऑखो (इन्द्रियों) को बंद करके अन्तर्मुख होकर उस आत्माको जो अंदर है देखता है। इस प्रकार इन्द्रियोके वशीभूत हो जानेसे चित्तमें विवेकख्यातिरूपी आत्मदर्शनकी योग्यता प्राप्त हो जाती है।

संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—संतोषात्=संतोषसे; अनुत्तम-सुख-लाभः=अनुत्तम सुख प्राप्त होता है।

अन्वयार्थ—संतोषसे अनुत्तम सुख प्राप्त होता है।

व्याख्या—अनुत्तम सुख—उत्तम-से-उत्तम सुख अर्थात् जिससे बढकर कोई और सुख न हो। सतोषमे जब पूरी स्थिरता हो जाती है, तब तृष्णाका नितान्त नाश हो जाता है। तृष्णारहित होनेपर जो प्रसन्नता तथा सुख प्राप्त होता है, उसके एक अंशके समान भी बाह्य सुख नहीं हो सकता। व्यासजीका कथन है—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

ससारमें जो कामसुख है और जो महान् दिव्य सुख है, वह तृष्णाके क्षयके सुखके सोलहवें अंशके समान भी नहीं है।

बिन संतोष नहीं कोई राजे। सकल मनोरथ वृथे सब काजे॥ (गुरुनानक)

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः॥ ४३॥

शब्दार्थ—काय-इन्द्रिय-सिद्धि = शरीर और इन्द्रियोकी सिद्धि; अशुद्धि-क्षयात = अशुद्धिके दूर होनेसे; तपसः = तपसे होती है।

अन्वयार्थ—तपसे अशुद्धिके क्षयके होनेसे शरीर और इन्द्रियोकी शुद्धि होती है।

व्याख्या—जिस प्रकार लोहेको बार-बार आगपर तपाने और अहिरनपर कूटनेसे उसके मल दूर हो जाते हैं और उसको इच्छानुसार काममें ला सकते है, इसी प्रकार तपके निरन्तर अनुष्ठानसे अशुद्धियोके मलोके दूर होनेपर शरीर स्वस्थ, स्वच्छ और लघु हो जाता है, उसमें अणिमा आदि सिद्धियाँ (३। ४४, ४५) आ जाती हैं और इन्द्रियाँ दिव्य-दर्शन, दिव्य-श्रवण, दूर-श्रवण (३। ४८) आदि सिद्धियोंको प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाती हैं।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः॥ ४४॥

शब्दार्थ—स्वाध्यायात् = स्वाध्यायसे, इष्ट-देवता-सम्प्रयोगः = इष्ट-देवताका साक्षात् होता है।

अन्वयार्थ—स्वाध्यायसे इष्टदेवताका साक्षात् होता है।

व्याख्या—स्वाध्यायशीलको देवता, ऋषियो और सिद्धोके दर्शन होते हैं और वे इसके योग-कार्योंमें सहायक होते है। (व्यासभाष्य)

इष्ट मन्त्रके जपरूप स्वाध्यायके सिद्ध होनेपर योगीको इष्टदेवताका योग होता है अर्थात् वह देवता प्रत्यक्ष होता है। (भोजवृत्ति)

उपासनामें उपास्यके गुणोको धारण करना, उसमे अवस्थित होना अर्थात् उसके तदाकार होना होता है। उपास्यके जिन इष्ट गुणो अथवा आकारविशेषकी भावनाके साथ किसी विशेष मन्त्र अथवा बिना मन्त्रके धारणा की जाती है तब ध्यानकी परिपक्व-अवस्थामे रजस् और तमस्से शून्य हुआ चित्त सात्त्विक प्रकाशमें उस विशेष इष्ट आकारमे परिणत हो जाता है। जैसा कि समाधिपाद सूत्र १८ के विशेष वक्तव्यमें साकार-उपासक भक्तोके सम्बन्धमें बतलाया गया है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्॥ ४५॥

शब्दार्थ—समाधि-सिद्धिः = समाधिकी सिद्धि; ईश्वर-प्रणिधानात्=ईश्वरप्रणिधानसे होती है।

अन्वयार्थ—समाधिकी सिद्धि ईश्वर-प्रणिधानसे होती है ।

व्याख्या—ईश्वरकी भक्तिविशेष और सम्पूर्ण कर्मों तथा उनके फलोंको उसके समर्पण कर देनेसे विघ्न दूर हो जाते है और समाधि शीघ्र सिद्ध हो जाती है । इस समाधिप्रज्ञासे योगी देशान्तर, देहान्तर और कालान्तरमें होनेवाले अभिमत पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है ।

यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि "जब ईश्वर-प्रणिधानसे ही समाधिका लाभ हो जाता है, तब योगके अन्य सात अङ्गोंके अनुष्ठानसे क्या प्रयोजन है" क्योंकि इन सातो योगाङ्गोंके बिना ईश्वर-प्रणिधानका लाभ कठिन है । इसलिये यह ईश्वर-प्रणिधानके भी उपयोगी साधन हैं । ईश्वर-प्रणिधानरहित सातो अङ्गोंके अनुष्ठानसे नाना प्रकारके विघ्न उपस्थित होनेसे दीर्घकालमें समाधिका लाभ प्राप्त होता है । ईश्वर-प्रणिधानसहित योगाङ्गोंके अनुष्ठानसे निर्विघ्नताके साथ शीघ्र ही समाधिसिद्धि प्राप्त हो जाती है । इसलिये योगाभिलाषीजनोंको ईश्वर-प्रणिधानसहित योगके अङ्गोंका अनुष्ठान करना चाहिये ।

सङ्गति—यम-नियमकी सिद्धियोंसहित बतलाकर अब क्रमशः आसनका लक्षण कहते हैं—

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—स्थिरसुखम्=जो स्थिर और सुखदायी हो; आसनम्=वह आसन है ।

अन्वयार्थ—जो स्थिर और सुखदायी हो, वह आसन है ।

व्याख्या—जिस रीतिसे स्थिरतापूर्वक बिना हिले-डुले और सुखके साथ बिना किसी प्रकारके कष्टके दीर्घकालतक बैठ सके, वह आसन है । हठयोगमें नाना प्रकारके आसन है । जो शरीरके स्वस्थ, हल्का और योग-साधनके योग्य बनानेमें सहायक होते है; पर यहाँ उन आसनोंसे अभिप्राय है, जिनमें सुखपूर्वक निश्चलताके साथ अधिक-से-अधिक समयतक ध्यान लगाकर बैठा जा सके । उनमेंसे ज्यादा उपयोगी निम्न है । जो अभ्यासी जिसमें सुगमतया अधिक देरतक बैठ सके, वह उसको ग्रहण करे ।

स्वस्तिकासन, सिद्धासन, समासन, पद्मासन, बद्धपद्मासन, वीरासन, गोमुखासन, वज्रासन, सरल आसन

(१) स्वस्तिकासनकी विधि—दाये पाँवके अँगूठे और अन्य चार अङ्गुलियोंको कैंचीके सदृश फैलाकर उसके अंदर बाये पाँव और जङ्घाके जोड़वाले नीचे भागको दबाये और दाये पाँवकी तली बायीं जङ्घाके साथ लगाये । इसी प्रकार बाये पैरको दाये पैरके नीचे ले जाकर अँगूठे और अङ्गुलियोंकी कैंचीमें दायाँ पाँव और जङ्घाके जोडवाले नीचे भागको दबायें और बाये पाँवकी तली दायीं जाँघके साथ लगाये । दाये पाँवके स्थानपर बाये पाँवका तथा बायेके स्थानपर दायें पाँवका भी उपयोग किया जा सकता है ।

२ सिद्धासन—बाये पैरकी एड़ीको सीवनी अर्थात् गुदा और उपस्थेन्द्रियके बीचमें इस प्रकार दृढ़तासे लगावे कि उसका तला दाये पैरकी जङ्घाको स्पर्श करे । इसी प्रकार दाहिने पैरकी एड़ीको उपस्थेन्द्रियकी जड़के ऊपर भागमें इस प्रकार दृढ लगावे कि उसका तला बाये पैरकी जङ्घाको स्पर्श करे । इसके पश्चात् बाये पैरके अंगूठे और तर्जनीको दायीं जाँघ और पिण्डलीके बीचमें ले ले । इसी प्रकार दाये पैरके अंगूठे और तर्जनीको बायीं जङ्घा और पिण्डलीके बीचमें ले ले । सारे शरीरका भार एड़ी और सीवनीके बीचकी ही नसपर तुला रहना चाहिये ।

इससे नाड़ीसमूहमें आग-सी जलन होने लगती है । इसलिये नितम्बोंके नीचे आठ इंच मोटी गद्दी अथवा कपड़ा लगा देना चाहिये । यह आसन वीर्य-रक्षाके लिये अति उपयोगी है । इस आसनके सम्बन्धमें कुछ लोगोंका ऐसा कहना है कि इससे गृहस्थियोंको हानि पहुँचती है । यह भ्रममूलक है ।

३ *समासन*—सिद्धासनसे इसमें केवल इतना भेद है कि इसमें पहले उपस्थेन्द्रियकी जडके ऊपरके भागमें बाये पैरकी एड़ीको फिर उसके ऊपर दाये पैरकी एड़ीको सिद्धासनकी विधिसे रखते हैं। इससे कमर सीधी तनी रहती है।

४ *पद्मासन*—चौकडी लगानेमें दाहिने पैरको बायें रानकी मूलमें और बाये पैरको दाहिने रानकी मूलमें जमाकर रखनेसे पद्मासन बनता है, इस आसनसे शरीर नीरोग रहता है और प्राणायामकी क्रियाओंमें सहायता मिलती है।

५ *बद्ध-पद्मासन*—यह पद्मासन सिद्ध होनेके पश्चात् किया जा सकता है। इसमें दोनों जङ्घाओंको दोनों पैरोसे दबाकर रखना होता है और पैरोंके अंगूठे भूमितलसे लगे रहते है।

६ *वीरासन*—दाहिना पैर बायीं जङ्घापर और बायें पैरको दाहिनी जङ्घापर रखकर दोनों हाथोंको घुटनेपर रखें।

७ *गोमुखासन*—दाहिने पृष्ठपार्श्व (चूतड़) के नीचे बाये पैरके गुल्फ (गाँठ) को और बायें पृष्ठपार्श्वके नीचे दाहिने पैरके गुल्फको रखकर दाहिने हाथको सिरकी ओरसे और बायें हाथको नीचेकी ओरसे पीठपर ले जाकर दाहिनी तर्जनी (अंगूठेके बगलवाली अँगुली) से बायी तर्जनीको दृढतापूर्वक पकड़ लें।

८ *वज्रासन*—दोनों जङ्घाओंको वज्रके समान करके दोनो पाँवोंके तलवोको गुदाके दोनों ओर पार्श्वभागमें लगाकर घुटनेके बल बैठ जाय। जिससे कि घुटनेसे निचले भागसे पाँवकी अङ्गुलियोका भाग भूमिको स्पर्श करे।

९ *सरल आसन*—मूलबन्ध लगाकर बायें पैरको इस प्रकार भूमिपर फैलाकर रक्खे कि एडी इन्द्रियसे मिली रहें। और दाहिना पैरको बायें पैरसे मिला हुआ इस प्रकार फैलावें कि बाये पैरकी अंगुलियाँ दाहिने पैरकी पिण्डलीसे मिली रहें। इससे सुगमतासे लम्बे समयतक बैठा जा सकता है और पैरोंमें किसी प्रकारका दर्द नहीं होता है।

आसनके समय गर्दन, सिर और कमरको सीधे एक रेखामें रखना चाहिये और मूलबन्धके साथ अर्थात् गुदा और उपस्थको अंदरकी ओर खींचकर बैठना चाहिये।

खेचरी मुद्राके साथ अर्थात् जिह्वाको ऊपरकी ओर ले जाकर—तालुसे लगाकर बैठनेसे ध्यान अच्छा लगता है और आसनमें दृढता आती है। एक ही आसनसे शनैः-शनैः अधिक समय बैठनेका अभ्यास बढ़ाते रहना चाहिये। पैर आदि किसी अङ्गमें एक आसनसे बैठे रहनेमें यदि दर्द मालूम हो तो उस अङ्गपर नरम कपडा रखकर बैठना चाहिये। यदि अधिक पीडा हो तो रतन-जोतके तेलकी मालिश कर सकते हैं। एक आसनसे जब ३ घंटे ३६ मिनिटतक बिना हिले-डुले सुखपूर्वक बैठा जा सके, तब उस आसनकी सिद्धि समझनी चाहिये। आरम्भमें बीचमें दो-एक बार आसनको बदल सकते हैं। आसनको दृढ़ करनेका सरल उपाय यह है कि जब बैठनेका अवसर मिले उसी एक आसनसे बैठनेका यत्न करे। जो अभ्यासी स्थूल अथवा विकारी शरीर होनेके कारण उपर्युक्त आसनोंसे न बैठ सके, वे अर्द्धपद्म, अर्द्धसिद्ध अथवा किसी सुखासनसे तथा दीवारका सहारा लेकर बैठ सकते है, पर मेरुदण्डको सीधा तथा कमर, गर्दन और सिरको समरेखामें रखना अति आवश्यक है। प्रथम तीन—अर्थात् स्वस्तिक, सिद्ध और सम आसनोंमें हाथोंको उल्टा करके घुटनोंपर रखना अथवा ज्ञानमुद्रासे बैठना लाभदायक है। दोनों

हाथोंकी कलाईको घुटनोंपर रखकर तर्जनी अर्थात् अँगूठेके पासकी अँगुली तथा अँगूठेको एक दूसरेकी ओर फेरकर दोनोंके सिरे आपसमें मिलाने और शेष अङ्गुलियोंको सीधा फैलाकर रखनेको ज्ञानमुद्रा कहते हैं। अन्य तीन अर्थात् पद्म, बद्धपद्म तथा वीरासनमें दोनों हाथोंको उठाकर सीनेसे लगाये रखना हितकर है। सब आसनोंमें बायाँ हाथ एड़ियोंके ऊपर सीधा रखकर उसी प्रकार दायाँ हाथ उसके ऊपर रखकर अथवा जिसमें सुगमता प्रतीत हो उस विधिसे हाथोंको रखकर बैठ सकते है। मुखको पूर्व अथवा उत्तर दिशाकी ओर करके बैठना चाहिये।

अभ्यासपर बैठनेसे तीन घंटे पूर्व कुछ न खाय। बैठनेके लिये एक चौकी होनी चाहिये, जो न अधिक ऊँची हो और न अधिक नीची हो। चौकीके ऊपर कुशासन, उसके ऊपर ऊनका आसन, उसके ऊपर रेशम या (उसके अभावमें) सूतका वस्त्र होना चाहिये। अहिंसामें निष्ठा रखनेवाले अभ्यासियोंको किसी प्रकारके चर्मको आसनके रूपमें प्रयोग न करना चाहिये। देश-काल और परिस्थितिको दृष्टिमें रखते हुए किसी-किसी स्मृतिमें मृगचर्मकी व्यवस्था दी गयी है; किंतु वर्तमान समयमें उत्तम-से-उत्तम ऊनी आसन सुगमतासे प्राप्त हो सकते हैं और निरपराधी पशुओंकी हिंसा अधिकतर चर्मप्राप्तिके उद्देश्यसे ही की जाती है।

विशेष वक्तव्य—॥ सूत्र ४६ ॥ अभ्यास ऐसी कोठरी या कमरेमें करना चाहिये, जो शुद्ध, शान्त, एकान्त और निर्विघ्न हो। हर प्रकारके शोरगुल, मच्छर, पिस्सू और पील आदिसे रहित हो। अभ्याससे पहले अथवा पीछे हवन अथवा घृतके साथ धूप-दीप आदि सुगन्धित वस्तुओंके जलानेसे उसको सुगन्धित रखना चाहिये। नदीतट अथवा पाँच हजार फीटसे अधिक ऊँचाई-वाले पहाडी स्थानोंका वायुमण्डल शुद्ध और भजनके लिये अधिक उपयोगी होता है। गरम मैदानवाले स्थानोंमें शरद् और वसन्त ऋतुमें भजन अच्छा हो सकता है। पहाड़ोंमें अथवा जमीनमें खुदी हुई गुफा समाधि लगानेके लिये अति उत्तम है, किंतु उसमें सील किंचिन्मात्र भी न होने पावे और शुद्ध हो। योगाभ्यासमें खान-पानमें संयम रखना अति आवश्यक है और शरीर तथा नाड़ीशोधनसे शीघ्र सफलता प्राप्त होती है, जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन इस पादके प्रथम तथा ३२ वें सूत्रके विशेष विचारमें कर दिया गया है। यहाँ शरीरके सूक्ष्म, सात्त्विक, शुद्ध, स्वस्थ, नीरोग, आसनको दृढ़ और ध्यानको स्थिर करने तथा कुण्डलिनीको जाग्रत् करनेवाले कुछ उपयोगी बन्ध-मुद्राएँ और आसन बतलाये देते है—

१ मूल-बन्ध—मूल गुदा एवं लिङ्ग-स्थानके रन्ध्रको बंद करनेका नाम मूल-बन्ध है। वाम पादकी एड़ीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें दृढ़ लगाकर गुदाको सिकोड़कर योनिस्थान अर्थात् गुदा और लिङ्ग एवं कन्दके बीचके भागको दृढ़तापूर्वक संकोचनद्वारा अधोगत अपानवायुको बलके साथ धीरे-धीरे ऊपरकी ओर खींचनेको मूल-बन्ध कहते हैं। सिद्धासनके साथ यह बन्ध अच्छा लगता है। अन्य आसनोंके साथ एड़ीको सीविनीपर बिना लगाये हुए भी मूल-बन्ध लगाया जा सकता है।

फल—इससे अपानवायुका ऊर्ध्व-गमन होकर प्राणके साथ एकता होती है। कुण्डलिनी शक्ति सीधी होकर ऊपरकी ओर चढ़ती है। कोष्ठबद्ध दूर करने, जठराग्निको प्रदीप्त करने और वीर्यको ऊर्ध्व-रेतस् बनानेमें यह बन्ध अति उत्तम है। साधकोंको न केवल भजनके अवसरपर किंतु हर समय मूल-बन्धको लगाये रखनेका अभ्यास करना चाहिये।

२ *उड्डीयान-बन्ध*—दोनों जानुओंको मोड़कर पैरोंके तलुओंको परस्पर भिडाकर पेटके नाभिसे नीचे और ऊपरके आठ अंगुल हिस्सेको बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड (रीढ़की हड्डीसे) ऐसा लगा दे जिससे कि पेटके स्थानपर गड्ढा-सा दीखने लगे । जितना पेटको अंदरकी ओर अधिक खींचा जायगा उतना ही अच्छा होगा । इसमें प्राण पक्षीके सदृश सुषुम्णाकी ओर उड़ने लगता है, इसलिये इस बन्धका नाम उड्डीयान रक्खा गया है । यह बन्ध पैरोंके तलुओंको बिना भिड़ाये हुए भी किया जा सकता है।

फल—प्राण और वीर्यका ऊपरकी ओर दौड़ना, मन्दाग्निका नाश, क्षुधाकी वृद्धि, जठराग्निका प्रदीप्त और फेफड़ेका शक्तिशाली होना ।

३ *जालन्धर-बन्ध*—कण्ठको सिकोड़कर ठोडीको दृढ़तापूर्वक कण्ठकूपमें इस प्रकार स्थापित करे कि हृदयसे ठोडीका अन्तर केवल चार अंगुलका रहे, सीना आगेकी ओर तना रहे । यह बन्ध कण्ठस्थानके नाड़ी-जालके समूहको बाँधे रखता है, इसलिये इसका नाम जालन्धर-बन्ध रक्खा गया है ।

फल—कण्ठका सुरीला, मधुर और आकर्षक होना, कण्ठके सङ्कोचद्वारा इडा, पिङ्गला नाड़ियोंके बंद होनेपर प्राणका सुषुम्णामें प्रवेश करना ।

लगभग सभी आसन, मुद्राएँ और प्राणायाम मूलबन्ध और उड्डीयान-बन्धके साथ किये जाते हैं । राजयोगमें ध्यानावस्थामें जालन्धर-बन्ध लगानेकी बहुत कम आवश्यकता होती है ।

४ *महाबन्ध*—पहली विधि—बायें पैरकी एड़ीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें जमाकर बायीं जङ्घाके ऊपर दाहिने पैरको रख, समसूत्रमें हो, वाम अथवा जिस नासारन्ध्रसे वायु चल रहा हो उससे ही पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगावे । फिर मूलद्वारसे वायुका ऊपरकी ओर आकर्षण करके मूलबन्ध लगावे । मनको मध्य नाडीमें लगाये हुए यथाशक्ति कुम्भक करे । तत्पश्चात् पूरकके विपरीतवाली नासिकासे धीरे-धीरे रेचन करे । इस प्रकार दोनों नासिकासे अनुलोम-विलोम-रीतिसे समान प्राणायाम करे ।

दूसरी विधि—पद्म अथवा सिद्धासनसे बैठ, योनि और गुह्यप्रदेश सिकोड़, अपानवायुको ऊर्ध्वगामी कर, नाभिस्थ समान-वायुके साथ मिलाकर और हृदयस्थ प्राणवायुको अधोमुख करके प्राण और अपान-वायुओंके साथ नाभिस्थलपर दृढ़रूपसे कुम्भक करे ।

फल—प्राणका ऊर्ध्वगामी होना, वीर्यकी शुद्धि, इडा, पिङ्गला और सुषुम्णाका सङ्गम प्राप्त होना, बलकी वृद्धि इत्यादि ।

५ *महावेध*—पहली विधि महाबन्धकी प्रथम विधिके अनुसार मूलबन्धपूर्वक कुम्भक करके, दोनों हाथोंकी हथेली भूमिमें दृढ स्थिर करके, हाथोंके बल ऊपर उठकर दोनों नितम्बों (चूतड़) को शनैः-शनैः ताडना देवे और ऐसा ध्यान करे कि प्राण इडा, पिङ्गलाको छोडकर कुण्डलिनी शक्तिको जगाता हुआ सुषुम्णामें प्रवेश कर रहा है । तत्पश्चात् वायुको शनैः-शनैः महाबन्धकी विधिके अनुसार रेचन करे ।

दूसरी विधि—मूलबन्धके साथ पद्मासनसे बैठे, अपान और प्राणवायुको नाभिस्थानपर एक करके (मिलाकर) दोनों हाथोंको तानकर नितम्बों (चूतडो) से मिलते हुए भूमिपर जमाकर नितम्ब (चूतड़) को आसनसहित उठा-उठाकर भूमिपर ताडित करते रहें ।

फल—कुण्डलिनी शक्तिका जाग्रत् होना, प्राणका सुषुम्णामें प्रवेश करना । महाबन्ध, महावेध और महामुद्रा—तीनोंको मिलाकर करना अधिक फलदायक है ।

मुद्रा

१ खेचरी मुद्रा—जीभको ऊपरकी ओर उल्टी ले जाकर तालु-कुहर (जीभके ऊपर तालुके बीचका गढ़ा) में लगाये रखनेका नाम खेचरी मुद्रा है। इसके निमित्त जिह्वाको बढ़ानेके तीन साधन किये जाते हैं—छेदन, चालन और दोहन।

पहिला साधन—छेदन—जीभके नीचेके भागमें सूताकारवाली एक नाड़ी नीचेवाले दाँतोंकी जड़के साथ जीभको खींचे रखती है। इसलिये जीभको ऊपर चढ़ाना कठिन होता है। प्रथम इस नाड़ीके दाँतोंके निकटवाले एक ही स्थानपर स्फटिक (बिल्लौर) का धारवाला टुकड़ा प्रतिदिन प्रातःकाल चार-पाँच बार फेरते रहे। कुछ दिनोंतक ऐसा करनेके पश्चात् वह नाड़ी उस स्थानमें पूर्ण कट जायगी। इसी प्रकार क्रमशः उससे ऊपर-ऊपर एक-एक स्थानको जिह्वामूलतक काटते चले जायँ। स्फटिक फेरनेके पश्चात् माजूफलका कपड़छान चूर्ण (Tarinacid टेरिन ऐसिड) जीभके ऊपर-नीचे तथा दाँतोंपर मले और उन सब स्थानोंसे दूषित पानी निकलने दें। माजूफल-चूर्णके अभावमें अकरकरा, नून, हरीतकी और कत्थेका चूर्ण छेदन किये हुए स्थानपर लगावे। यह छेदन-विधि सबसे सुगम है और इससे किसी प्रकारकी हानि पहुँचनेकी सम्भावना नहीं है, यद्यपि इसमें समय अधिक लगेगा। साधारणतया छेदनका कार्य किसी धातुके तीक्ष्ण यन्त्रसे प्रति आठवें दिन उस शिराको बालके बराबर छेदकर घावपर कत्था और हरड़का चूर्ण लगाकर करते है। इसके छेदनके लिये नाखून काटनेवाला-जैसा एक तीक्ष्ण यन्त्र और खाल छीलनेके लिये एक दूसरे यन्त्रकी आवश्यकता होती है, जिससे कटा हुआ भाग फिर न जुड़ने पावे। इसमें नाड़ीके सम्पूर्ण अंशके एक साथ कट जानेसे वाक् तथा आखादन-शक्तिके नष्ट हो जानेका भय रहता है। इसलिये इसे किसी अभिज्ञ पुरुषकी सहायतासे करना चाहिये। छेदनकी आवश्यकता केवल उनको होती है, जिनकी जीभ और यह नाड़ी मोटी होती है। जिनकी जीभ लंबी और यह नाड़ी पतली होती है, उन्हे छेदनकी अधिक आवश्यकता नहीं है।

दूसरा एवं तीसरा साधन—चालन व दोहन—अँगूठे और तर्जनी अँगुलीसे अथवा बारीक वस्त्रसे जीभको पकड़कर चारों तरफ उलट-फेरकर हिलाने और खींचनेको चालन कहते हैं। मक्खन अथवा घी लगाकर दोनों हाथोंकी अँगुलियोंसे जीभका गायके स्तनदोहन-जैसे पुनः-पुनः धीरे-धीरे आकर्षण करनेकी क्रियाका नाम दोहन है।

निरन्तर अभ्यास करते रहनेसे अन्तिम अवस्थामें जीभ इतनी लबी हो सकती है कि नासिकाके ऊपर भ्रूमध्यतक पहुँच जाय। इस मुद्राका बड़ा महत्त्व बतलाया गया है, इससे ध्यानकी अवस्था परिपक्व करनेमें बड़ी सहायता मिलती है। जिह्वाओंके भी नाना प्रकारके भेद देखनेमे आये है। किसी जिह्वामें सूताकार नाड़ीके स्थानमें मोटा मांस होता है, जिसके काटनेमें अधिक कठिनाई होती है। किसी-किसी जिह्वामें न यह नाड़ी होती है, न मांस। उसमें छेदनकी आवश्यकता नहीं है। केवल चालन एवं दोहन होना चाहिये।

२ महामुद्रा—मूलबन्ध लगाकर बाये पैरकी एड़ीसे सीवन (गुदा और अण्डकोषके मध्यका चार अंगुल स्थान) दबाये और दाहिने पैरको फैलाकर उसकी अँगुलियोको दोनों हाथोंसे पकडे। पाँच घर्षण करके बायीं नासिकासे पूरक करे और जालन्धर बन्ध लगाये। फिर जालन्धर बन्ध खोलकर दाहिनी

नासिकासे रेचक करे। यह वामाङ्गकी मुद्रा समाप्त हुई। इसी प्रकार दक्षिणाङ्गमें इस मुद्राको करना चाहिये।

दूसरी विधि—बायें पैरकी एडीको सीवन (गुदा और उपस्थके मध्यके चार अगुल भाग) में बलपूर्वक जमाकर दायें पैरको लंबा फैलावे। फिर शनैः-शनैः पूरकके साथ मूल तथा जालन्धर-बन्ध लगाते हुए दायें पैरका अँगूठा पकड़कर मस्तकको दायें पैरके घुटनेपर जमाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। कुम्भकके समय पूरक की हुई वायुको कोष्ठमें शनैः-शनैः फुलावे और ऐसी भावना करे कि प्राण कुण्डलिनीको जाग्रत् करके सुषुम्णामें प्रवेश कर रहा है, तत्पश्चात् मस्तकको घुटनेसे शनैः-शनैः रेचक करते हुए उठाकर यथास्थितिमें बैठ जाय। इसी प्रकार दूसरे अङ्गसे करना चाहिये। प्राणायामकी सख्या एव समय बढाता रहे।

फल—मन्दाग्नि, अजीर्ण आदि उदरके रोगो तथा प्रमेहका नाश, क्षुधाकी वृद्धि और कुण्डलिनीका जाग्रत् होना।

३ *अश्विनी मुद्रा*—सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर योनिमण्डलको अश्वके सदृश पुनः-पुनः सिकोड़ना अश्विनी मुद्रा कहलाती है।

फल—यह मुद्रा प्राणके उत्थान और कुण्डलिनी शक्तिके जाग्रत् करनेमें सहायक होती है। अपान-वायुको शुद्ध और वीर्यवाही स्नायुओंको मजबूत करती है।

४ *शक्तिचालिनी मुद्रा*—सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर हाथोकी हथेलियाँ पृथ्वीपर जमा दे। बीस-पचीस बार शनैः-शनैः दोनो नितम्बोंको पृथ्वीसे उठा-उठाकर ताडन करे। तत्पश्चात् मूलबन्ध लगाकर दोनों नासिकाओंसे अथवा वामसे अथवा जो स्वर चल रहा उस नासिकासे पूरक करके प्राणवायुको अपानवायुसे सयुक्त करके जालन्धर-बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। कुम्भकके समय अश्विनीमुद्रा करे अर्थात् गुह्यप्रदेशका आकर्षण-विकर्षण करता रहे। तत्पश्चात् जालन्धर-बन्ध खोलकर यदि दोनों नासिकापुटसे पूरक किया हो तो दोनोंसे अथवा पूरकसे विपरीत नासिकापुटसे रेचक करे और निर्विकार होकर एकाग्रतापूर्वक बैठ जाय।

घेरण्डसहितामें इस मुद्राको करते समय बालिश्त-भर चौडा, चार अंगुल लबा, कोमल, श्वेत और सूक्ष्म वस्त्र नाभिपर कटिसूत्रसे बाँधकर सारे शरीरपर भस्म मलकर करना बतलाया है।

फल—सर्वरोग-नाशक और स्वास्थ्यवर्द्धक होनेके अतिरिक्त कुण्डलिनी-शक्तिको जाग्रत् करनेमें अत्यन्त सहायक है। इससे साधक अवश्य लाभ प्राप्त करें।

५ *योनिमुद्रा*—सिद्धासनसे बैठ सम-सूत्र हो षण्मुखी मुद्रा लगाकर अर्थात् दोनों अँगूठोसे दोनों कानोंको, दोनों तर्जनियासे दोनों नेत्रोको, दोनो मध्यमाओंसे नाकके छिद्रोंको बद करके और दोनों अनामिका एव कनिष्ठिकाओको दोनों ओठोके पास रखकर काकीमुद्राद्वारा अर्थात् जिह्वाको कौएकी चोचके सदृश बनाकर उसके द्वारा प्राणवायुको खींचकर अधोगत अपानवायुके साथ मिलावे। तत्पश्चात् ओ३म्का जाप करता हुआ ऐसी भावना करे कि उसकी ध्वनिके साथ परस्पर मिली हुई वायु कुण्डलिनीको जाग्रत् करके षट्चक्रोका भेदन करते हुए सहस्रदल-कमलमें जा रही है। इससे अन्तर्ज्योतिका साक्षात्कार होता है।

६ *योगमुद्रा*—मूलबन्धके साथ पद्मासनसे बैठकर प्रथम दोनों नासिकापुटोंसे पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगावे, तत्पश्चात् दोनों हाथोंको पीठके पीछे ले जाकर बायें हाथसे दायें हाथकी और दायें हाथसे बायें हाथकी कलाईको पकडे, शरीरको आगे झुकाकर पेटके अंदर एड़ियोंको दबाते हुए सिरको जमीनपर लगा दे। इस प्रकार यथाशक्ति कुम्भक करनेके पश्चात् सिरको जमीनसे उठाकर जालन्धर-बन्ध खोलकर दोनों नासिकाओसे रेचन करे।

फल—पेटके रोगोंको दूर करने और कुण्डलिनी-शक्तिको जाग्रत् करनेमें सहायक होती है।

७ *शाम्भवी मुद्रा*—मूल और उड्डीयान बन्धके साथ सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर नासिकाके अग्रभाग अथवा भ्रूमध्यमें दृष्टिको स्थिर करके ध्यान जमाना शाम्भवी मुद्रा कहलाती है।

८ *तडागी मुद्रा*—तड़ाग (तालाब) के सदृश कोष्ठको वायुसे भरनेको तड़ागी मुद्रा कहते हैं। शवासनसे चित लेटकर जिस नासिकाका स्वर चल रहा हो उससे पूरक करके तालाबके समान पेटको फैलाकर वायुसे भर ले। तत्पश्चात् कुम्भक करते हुए वायुको पेटमें इस प्रकार हिलावे जिस प्रकार तालाबका जल हिलता है। कुम्भकके पश्चात् सावधानीसे वायुको शनैः-शनैः रेचन कर दे, इससे पेटके सर्वरोग समूल नाश होते हैं।

९ *विपरीतकरणी मुद्रा*=शीर्षासन=कपालासन—पहिले जमीनपर मुलायम गोल लपेटा हुआ वस्त्र रखकर उसपर अपने मस्तकको रक्खे। फिर दोनो हाथोंके तलोंको मस्तकके पीछे लगाकर शरीरको उल्टा ऊपर उठाकर सीधा खड़ा कर दे। थोडे ही प्रयत्नसे मूल और उड्डीयान स्वयं लग जाता है। यह मुद्रा पद्मासनके साथ भी की जा सकती है। इसको ऊर्ध्व-पद्मासन कहते हैं। आरम्भमें इसको दीवारके सहारे करनेमें आसानी होगी।

फल—वीर्यरक्षा, मस्तिष्क, नेत्र, हृदय तथा जठराग्निका बलवान् होना, प्राणकी गति स्थिर और शान्त होना, कब्ज, जुकाम, सिरदर्द आदिका दूर होना, रक्तका शुद्ध होना और कफके विकारका दूर होना।

१० *वज्रोली मुद्रा*—मूत्रत्यागके समय कई बार मूत्रको बलपूर्वक ऊपरकी ओर आकर्षित करे। ऐसा करते समय इस बातको ध्यानसे देखे कि मूत्रधारा कितने नीचेसे आकर्षित होकर लौटती है और पुनः उतरते समय कितना समय लगता है। निरन्तर अभ्याससे जब मूत्रधार दस-बारह अंगुल नीचेसे आकर्षित होकर खींची जा सके और उतारनेमें कुछ शक्ति लगाना पडे तो समझना चाहिये कि वज्रोली क्रिया सिद्ध हो गयी है। तत्पश्चात् क्रमशः जल, दूध, तेल अथवा घी, शहद और अन्तमें पारा खींचनेका अभ्यास करे।

दूसरी विधि—एक चौदह अंगुल रबरका कैथीटर (जो कि अंग्रेजी दवाखानोंमें मिल सकता है) पानीमें उबालकर लिङ्ग-छिद्रमें प्रवेश करनेका अभ्यास करे। यह अभ्यास एक अंगुलसे प्रारम्भ करके क्रमशः एक-एक अंगुल बढ़ाता जाय। जब बारह अंगुल प्रविष्ट होने लगे तो चौदह अंगुल लंबी और लिङ्गके छिद्र अनुसार चौड़ी जस्तकी सलाई जो दो अंगुल मुड़ी हुई ऊपरको मुँहवाली हो जिससे कि लिङ्गेन्द्रियमें प्रविष्ट कर सके उपर्युक्त रबरके कैथीटरकी रीतिसे लिङ्ग-छिद्रमें प्रवेश करनेका अभ्यास करे। जब बारह अंगुलतक प्रविष्ट होने लगे, तब चौदह अंगुल लंबी लिङ्गके छिद्र-अनुसार चौड़ी अंदरसे

पोली एक चाँदीकी सलाई बनवावे, जो दो अगुल टेढी और ऊर्ध्वमुखी हो। इस टेढ़े भागको लिङ्ग-छिद्रमें प्रविष्ट करके दो अगुल बाहर रहने दे, फिर सुनारकी धमनीके सदृश धमनीसे उस सलाईमें लगातार फूत्कार करे। इस प्रकार लिङ्गमार्गकी अच्छी प्रकार शुद्धि हो जानेपर वायुको खींचने और छोड़नेका अभ्यास करे, इस अभ्यासके सिद्ध हो जानेपर लिङ्ग-छिद्रसे उपर्युक्त रीतिसे जल, तेल, दूध, शहद और पारेके खींचनेका क्रमशः अभ्यास करे। कैथीटर और यन्त्र इन्द्रीके छिद्र और उसके आकारके अनुसार होने चाहिये

फल—लिङ्गेन्द्रियके छिद्रकी शुद्धि और अपानवायुपर पूर्णतया अधिकार प्राप्त हो जाता है, पथरीको तोडकर निकालनेमें सहायता मिलती है।

इस मुद्राका फल हठयोगके शास्त्रमें अलौकिक सिद्धियाँ बतलायी गयी हैं; परतु जरा-सी असावधानी होनेपर इन्द्रिय-छिद्रमे विकार होनेसे भयङ्कर शारीरिक रोग उत्पन्न होने तथा स्त्रीके रज खींचनेकी चेष्टामें ऊँचे-से-ऊँचे अभ्यासीके लिये भी आध्यात्मिक पतन होनेकी अधिक सम्भावना है। इस प्रकारके बहुत-से उदाहरण दृष्टिगोचर हुए है। इन मुद्राओ आदिको किसी अनुभवीकी सहायतासे करना चाहिये अन्यथा लाभके स्थानमें हानि पहुँचनेकी अधिक सम्भावना है।

११ उन्मुनि मुद्रा—किसी सुख आसनसे बैठकर आधी खुली हुई और आधी बंद आँखोसे नासिकाके अग्रभागपर टिकटिकी लगाकर देखते रहना यह उन्मुनि मुद्रा कहलाती है। इससे मन एकाग्र होता है।

काकी और भुजङ्गी मुद्राका वर्णन पचासवें सूत्रके विशेष वक्तव्यमें किया जायगा।

चित लेटकर करनेके आसन

१ पादाङ्गुष्ठ-नासाग्र-स्पर्शासन——पृथिवीपर समसूत्रमे पीठके बल सीधा लेट जाय। दृष्टिको नासाग्रमे जमाकर दायें पैरके अंगूठेको पकड़कर नासिकाके अग्रभागको स्पर्श करे, इसी प्रकार पुनः-पुनः करे, मस्तक, बायाँ पैर और नितम्ब पृथिवीपर जमे रहे। इसी प्रकार दायें पैरको फैलाकर बायें पैरके अँगूठेको नासिकाके अग्रभागसे स्पर्श करे। फिर दोनो पैरोके अगूठोको दोनो हाथोंसे पकड़कर नासिकाके अग्रभागको स्पर्श करे। कई दिनके अभ्यासके पश्चात् अँगूठा नासिकाके अग्रभागको स्पर्श करने लगेगा।

फल—कमरका दर्द, घुटनेकी पीड़ा, कंद-स्थानकी शुद्धि एवं उदर-सम्बन्धी सर्वरोगोंका नाश करता है। यह आसन स्त्रियोंके लिये भी लाभदायक है।

२ पश्चिमोत्तानासन——दोनो पाँवोको उड्डीयान और मूलबन्धके साथ लंबा सीधा फैलावे। दोनो हाथोंकी अँगुलियोंसे दोनो पैरोकी अँगुलियोको खींचकर, शरीरको झुकाकर, माथेको घुटनेपर टिका दे, यथाशक्ति वहींपर टिकाये रहे। प्रारम्भमे दस-बीस बार शनैः-शनैः रेचक करते हुए मस्तकको घुटनेपर ले जाय और इसी प्रकार पूरक करते हुए ऊपर उठाता चला जाय।

फल—पाचनशक्तिका बढ़ाना, कोष्ठबद्धता दूर करना, सब स्नायु और कमर तथा पेटकी नस-नाडियोको शुद्ध एव निर्मल करना, बढ़ते हुए पेटको पतला करना इत्यादि।

इस आसनको कम-से-कम दस मिनटतक करते रहनेके पश्चात् उचित लाभ प्रतीत होगा।

३ सम्प्रसारण भू-नमनासन——(विस्तृत पाद भू-नमनासन) पैरोको लंबा करके यथाशक्ति चौड़ा फैलावे। तत्पश्चात् दोनों पैरोके अँगूठोको पकडकर सिरको भूमिमें टिका दे।

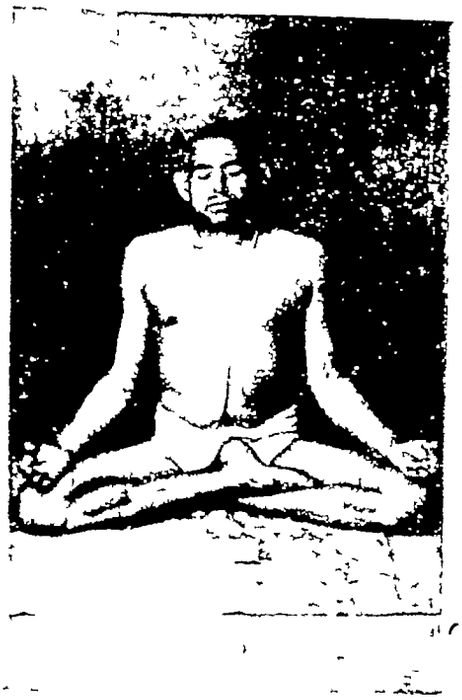

२. सिद्धासन (ध्यानपर बैठनेका आसन)

७. गोमुखासन (ध्यानपर बैठनेका आसन)

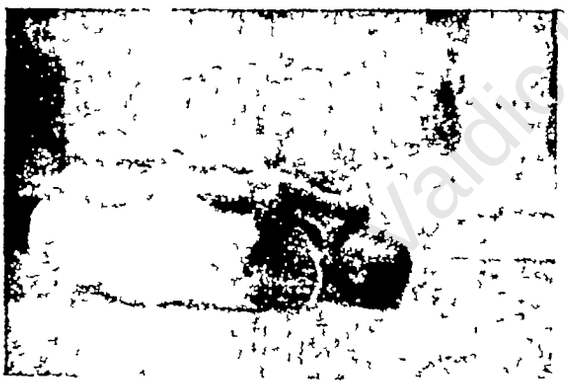

१. पादाङ्गुष्ठ-नासाग्र-स्पर्शासन, प्रथम प्रकार

१. पादाङ्गुष्ठ-नासाग्र-स्पर्शासन २ रा प्रकार

२. पश्चिमोत्तानासन

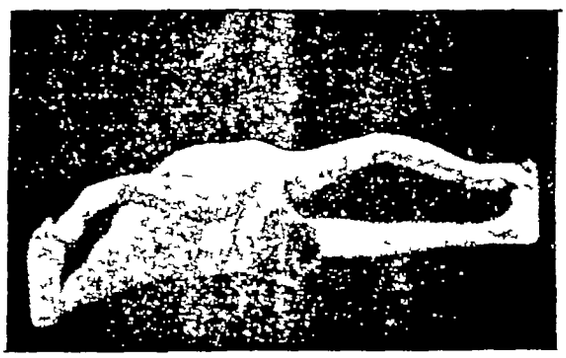

३. सम्प्रसारण भू नमनासन

[पृष्ठ ४२२

Vaidic Library

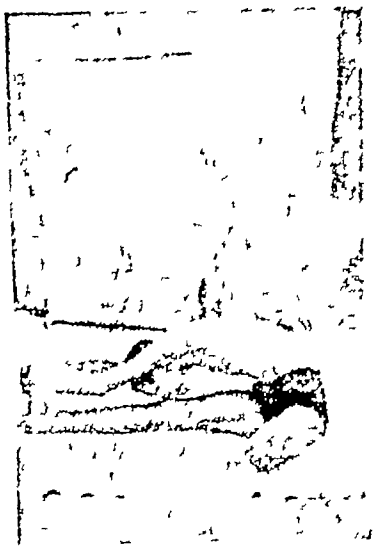

४. जानुशिरासन

५. आकर्ण-धनुरासन

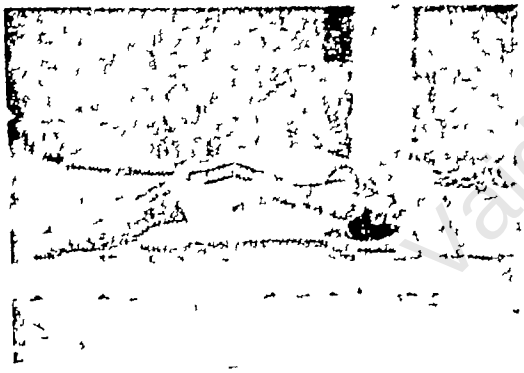

६. शीर्षपादासन

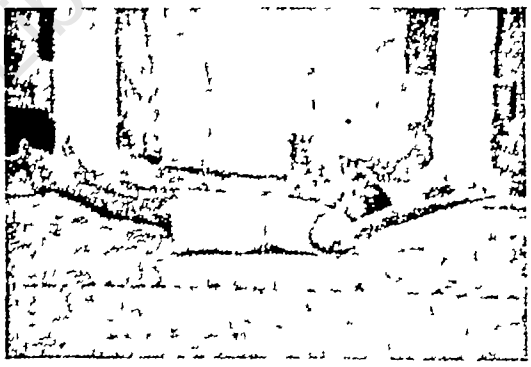

७. हृदयस्तम्भासन

८. (क) द्विपाद-चक्रासन

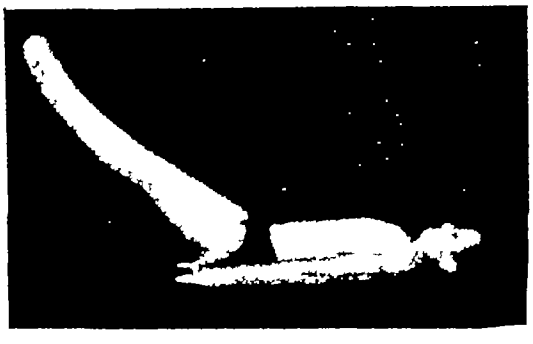

८. (ख) उत्थित-द्विपादासन

Vaidic Library

फल–इससे ऊरु और जङ्घाप्रदेश तन जाते हैं। टाँग, कमर, पीठ और पेट निर्दोष होकर वीर्य स्थिर होता है।

४ *जानुशिरासन*—एक पाँवको सीधा फैलाकर दूसरे पाँवकी एड़ी गुदा और अण्डकोषके बीचमें लगाकर उसके पाद-तलसे फैले हुए पाँवकी रानको दबावे। मूल और उड्डीयान बन्धके साथ फैले हुए पैरकी अँगुलियोंको दोनों हाथोंसे खींचकर धीरे-धीरे आगेको झुकाकर माथेको पसारे हुए घुटनेपर लगा दे, इसी प्रकार दूसरे पाँवको फैलाकर माथेको घुटनेपर लगावे।

फल–इस आसनके सब लाभ पश्चिमोत्तान आसनके समान है। वीर्य-रक्षा तथा कुण्डलिनी जाग्रत् करनेमें सहायक होना, यह इसमें विशेषता है। इसको भी वास्तविक लाभ-प्राप्तिके लिये कम-से कम दस मिनट करना चाहिये।

५ *आकर्ण धनुषासन*—दोनो पाँव एक-दूसरेके साथ जमीनपर फैलाकर दोनो हाथोंकी अँगुलियोंसे दोनों पाँवके अँगूठे पकड ले। एक पाँव सीधा रखकर दूसरे पाँवको उठाकर उसी ओरके कानको लगावे, हाथो और पैरोके हेर-फेरसे यह आसन चार प्रकारसे किया जा सकता है—

(क) दाहिने हाथसे दाहिने पाँवका अँगूठा पकड़कर बाये पाँवका अँगूठा बायें हाथसे खींचकर बायें कानको लगावे।

(ख) बायें हाथसे बाये पाँवका अँगूठा पकडकर दाहिने पाँवका अँगूठा दाहिने हाथसे खींचकर दाहिने कानको लगावे।

(ग) दाहिने हाथसे बाये पाँवका अँगूठा पकड़कर उसके नीचे दाहिने पाँवका अँगूठा बाये हाथसे खींचकर बायें कानको लगावे।

(घ) बाये हाथसे दाहिने पाँवका अँगूठा पकडकर उसके नीचे बाये पाँवका अँगूठा दाहिने हाथसे खींचकर दाहिने कानको लगावे।

फल–बाहु, घुटने, जङ्घा आदि अवयवोंको लाभ पहुँचता है।

६ *शीर्ष-पादासन*—चित लेटकर सिरके पृष्ठ-भाग और पैरोकी दोनो एड़ियोपर शरीरको कमानके सदृश कर दे। इस आसनको पूरक करके करे और ठहरे हुए समयमें कुम्भक बना रहे, तत्पश्चात् धीरेसे रेचक करना चाहिये।

फल–मेरुदण्डका सीधा और मृदु होना, सम्पूर्ण शरीरकी नाड़ियों, गर्दन और पैरोका मजबूत होना।

७ *हृदयस्तम्भासन*—चित लेटकर दोनो हाथोको सिरकी ओर और दोनो पैरोंको आगेकी ओर फैलावे, फिर पूरक करके जालन्धर बन्धके साथ दोनो हाथों और दोनो पैरोंको छः-सात इंचकी ऊँचाईतक धीरे-धीरे उठावे और वहींपर यथाशक्ति ठहरावे, जब श्वास निकालना चाहे तब पैरो और हाथोंको जमीनपर रखकर धीरे-धीरे रेचक करे।

फल–छाती, हृदय, फेफड़ेका मजबूत और शक्तिशाली होना और पेटके सब प्रकारके रोगो-का दूर होना।

८ *उत्तानपादासन*—चित लेटकर शरीरके सम्पूर्ण स्नायु ढीले कर दे, पूरक करके धीरे-धीरे दोनों पैरोको (अँगुलियोंको ऊपरकी ओर खूब ताने हुए) ऊपर उठावे, जितनी देर आरामसे रख सके

रखकर पुनः धीरे-धीरे भूमिपर ले जाय और श्वासको धीरे-धीरे रेचक कर दे। प्रथम बार तीस डिग्रीतक, दूसरी बार पैंतालीस डिग्रीतक, तीसरी बार साठ डिग्रीतक पैरोंको उठावे। इस आसनके आधुनिक अनुभवियोने नौ भेद किये है—

(क) द्विपाद-चक्रासन—हाथोंके पजे नितम्बके नीचे रख, चित लेट, एक पैर घुटनेमें मोड़कर घुटनेको पेटके पास लाकर तथा दूसरा पैर किंचित् ऊपर उठाकर बिल्कुल सीधा रक्खे; और इस प्रकार पैर चलावे जैसे साइकिलपर बैठकर चलाते हैं।

फल—इससे नितम्ब, कमर, पेट और टाँगे निर्दोष होकर वीर्य शुद्ध, पुष्ट और स्थिर रहता है।

(ख) उत्थित द्विपादासन—चित लेटकर दोनो पैर पैंतालीस डिग्रीतक ऊपर उठाकर जमीनसे बिना लगाये धीरे-धीरे ऊपर-नीचे करे।

इससे पेटके स्नायु मजबूत होते हैं और मलत्याग-क्रिया ठीक होती है।

(ग) उत्थित एकैक-पादासन—चित लेटकर, दोनों पैर (एक पैर बीस डिग्रीमें और दूसरा पैर ४५ डिग्रीमें) अधरमें रखकर जमीनसे बिना लगाये हुए ऊपर-नीचे करे।

इससे कमरके स्नायु मजबूत होते हैं, मलोत्सर्ग-क्रिया ठीक होती है, वीर्य शुद्ध और स्थिर होता है।

(घ) उत्थितहस्त-मेरुदण्डासन—हाथ-पैर एक रेखामें सीधे फैलाकर चित लेटे। दोनो हाथ उठाकर पैरोंकी ओर ले जाय, इस प्रकार पुनः-पुनः पीठके बल लेटकर पुनः-पुनः उठे।

इससे कमर, छाती, रीढ और पेट निर्दोष होते हैं।

(ङ) शीर्षबद्धहस्त-मेरुदण्डासन—पूर्ववत् पीठके बल लेटकर, सिरके पीछे हाथ बाँधे, बिना पैर उठाये कमरसे शरीर ऊपर उठावे।

इससे पेट, छाती, गर्दन, पीठ और रीढ़के दोष दूर होते हैं।

(च) जानुस्पृष्टभाल-मेरुदण्डासन—उपर्युक्त आसन करके घुटना मोडकर बारी-बारी धीरे-धीरे माथेमें लगावे, नीचेका पैर भूमिपर टिका हुआ सीधा रहे।

इससे यकृत् (जिगर), प्लीहा (तिल्ली), फेफडे आदि नीरोग होकर पेट, गर्दन, कमर, रीढ़, ऊरु बलवान् और निर्विकार होते हैं।

(छ) उत्थित हस्तपाद मेरुदण्डासन—पूर्ववत् पीठके बल लेटकर हाथ-पैर दोनों एक साथ ऊपर उठावे और पुनः पूर्ववत् एक रेखामें ले जाय, चार-पाँच बार ऐसा करे।

इससे पेट, छाती, कमर और ऊरु निर्दोष होते हैं।

(ज) उत्थितपाद-मेरुदण्डासन—पैर सामनेको फैलाकर हाथोंकी कोहनियोके बल धड़को उठावे, अनन्तर पैर पैंतालीस डिग्रीतक ऊपर उठाकर ऊपर-नीचे करे।

इससे कमर, रीढ़ और पेट निर्दोष होते हैं।

(झ) भालस्पृष्ट द्विजानु-मेरुदण्डासन—ऊपर कहे अनुसार ही करे, किंतु इसके अतिरिक्त सिर दोनों घुटनोमें लगा दे।

इससे पीठ, छाती, रीढ़, गर्दन और कमरके सब विकार दूर होते हैं।

९ *हस्त-पादाङ्गुष्ठासन*—चित लेटकर दोनो नासिकासे पूरक करके बायें हाथको कमरके निकट

८. (ग) उत्थित-एकैक-पादासन

८. (घ) उत्थित-हस्त मेरुदण्डासन

८ (ङ) शीर्षबद्ध-हस्त मेरुदण्डासन

८. (च) जानु-स्पृष्ट-भाल मेरुदण्डासन

८. (छ) उत्थित-हस्तपाद मेरुदण्डासन

८. (ज) उत्थितपाद मेरुदण्डासन

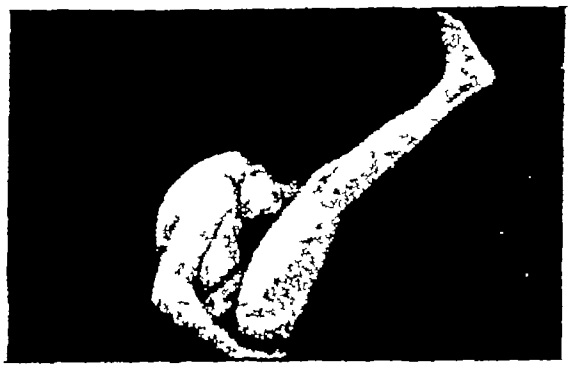

८. (झ) भालस्पृष्ट-द्विजानु मेरुदण्डासन

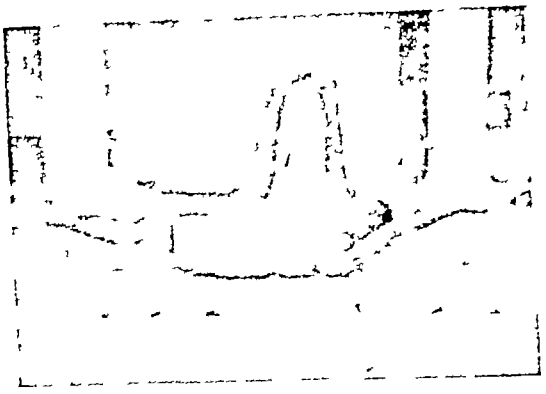

९. हस्तपादाङ्गुष्ठासन (पहिला प्रकार)

११. पवनमुक्तासन

१२. ऊर्ध्व-सर्वाङ्गासन

१२. ऊर्ध्व-सर्वाङ्गासन

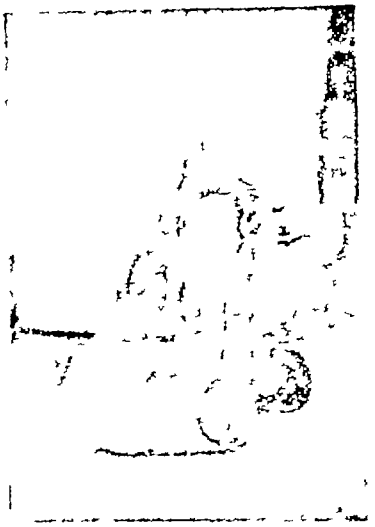

९. हस्तपादाङ्गुष्ठासन
(दूसरा प्रकार)

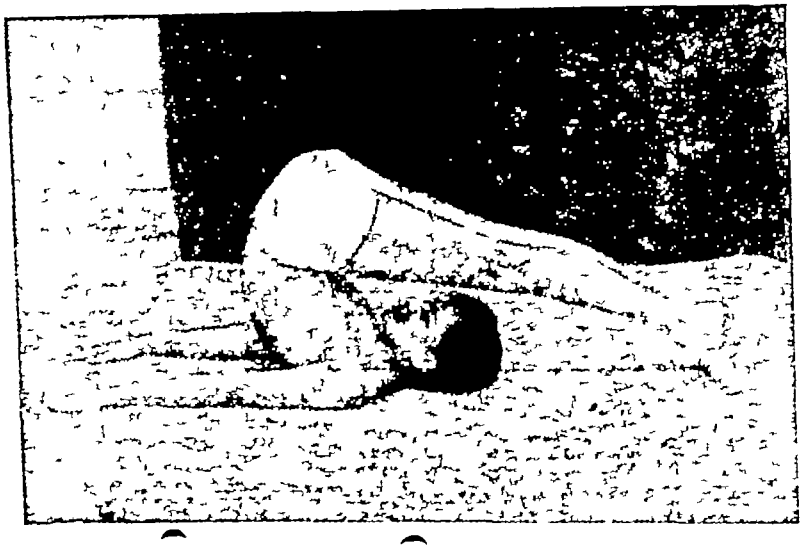

१३. सर्वाङ्गासन (हलासन)

लगाये रक्खे, दूसरे दाहिने हाथसे दाहिने पैरके अँगूठेको पकडे और समूचे शरीरको जमीनपर सटाये रक्खे, दाहिना हाथ और पैर ऊपरकी ओर उठाकर तना हुआ रक्खे। इसी प्रकार दाहिने हाथको दाहिनी ओर कमरसे लगाकर बायें हाथसे बायें पैरके अँगूठेको पकड़कर पूर्ववत् करना चाहिये। फिर दोनो हाथोंसे दोनों पैरोंके अँगूठे पकड़कर उपर्युक्त विधिसे करना चाहिये।

फल—सब प्रकारके पेटके रोगोंका दूर होना, हाथ-पैरोका रक्तसंचार और बलवृद्धि।

१० स्नायु-संचालनासन—चित लेटकर दोनों पैरोंको पृथिवीसे एक इंच उठाकर पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगा ले और हाथोंको सिरकी ओर ले जाकर एक इंच ऊपर उठावे, बाये पैर तथा बायें हाथको मोड़े और फैलावे, फिर दाहिने हाथ तथा दाहिने पैरको मोड़े और फैलावे, जबतक कुम्भक रह सके इसी प्रकार उलट-फेरसे हाथो और पैरोंको मोड़ता और फैलाता रहे, तत्पश्चात् जालन्धर-बन्ध खोलकर हाथ और पैरोंको जमीनपर रखकर धीरे-धीरे रेचक करे।

फल—शरीरके सब स्नायुओंमें प्रगति उत्पन्न होना, पेटकी शिराएँ, घुटने एवं मेरुदण्डका पुष्ट होना।

११ पवन-मुक्तासन—चित लेटकर पहले एक पाँवको सीधा फैलाकर दूसरे पाँवको घुटनेसे मोड़कर पेटपर लगाकर दोनों हाथोंसे अच्छी प्रकार दबाये, फिर इस पाँवको सीधा करके दूसरे पाँवसे भी पेटको खूब इसी प्रकार दबावे। तत्पश्चात् दोनों पाँवोंको इसी प्रकार दोनों हाथोंसे पेटपर दबावे। पूरक करके कुम्भकके साथ करनेमें अधिक लाभ होता है।

फल—उत्तानपाद आसनके समान इसके सब लाभ है। वायुको बाहर निकालनेमें तथा शौचशुद्धिमें विशेषरूपसे सहायक होता है, बिस्तरपर लेटकर भी किया जा सकता है, देरतक कई मिनटतक करते रहनेसे वास्तविक लाभकी प्रतीति होगी।

१२ ऊर्ध्व-सर्वाङ्गासन—भूमिपर चित लेटकर दोनों पैरोको तानकर धीरे-धीरे कंधो और सिरके सहारेसे पूर्ण शरीरको ऊपर खड़ा कर दे। आरम्भमें हाथोके सहारेसे उठावे, कमर और पैर सीधे रहें, दोनों पैरोंके अँगूठे दोनों आँखोंके सामने रहें। मस्तक कमजोर होनेके कारण जो शीर्षासन नहीं कर सकते हैं, उनको इस आसनसे लगभग वही लाभ प्राप्त हो सकते हैं। एक पाँवको आगे और दूसरेको पीछे इत्यादि करनेसे इसके कई प्रकार हो जाते हैं। इसमें ऊर्ध्व-पद्मासन भी लगा सकते हैं।

फल—रक्तशुद्धि, भूखकी वृद्धि और पेटके सब विकार दूर होते हैं। सब लाभ शीर्षासन-समान जानना चाहिये।

१३ सर्वाङ्गासन (हलासन)—चित लेटकर दोनो पाँवोंको उठाकर सिरके पीछे जमीनपर इस प्रकार लगावे कि पाँवके अँगूठे और अंगुलियाँ ही जमीनको स्पर्श करें, घुटनोंसहित पाँव सीधे समसूत्रमें रहें, हाथ पीछे भूमिपर रहे।

दूसरा प्रकार—दोनों हाथोंको सिरकी ओर ले जाकर पैरके अँगूठोंको पकड़कर ताने।

फल—कोष्ठबद्धका दूर होना, जठराग्निका बढ़ना, आँतोंका बलवान् होना, अजीर्ण, प्लीहा, यकृत् तथा अन्य सब प्रकारके रोगोंकी निवृत्ति और क्षुधाकी वृद्धि।

१४ कर्णपीडासन—हलासन करके घुटने कानोंपर लगानेसे कर्णपीडासन बनता है, इसमें दोनों हाथोंको पीठकी ओर जमीनमें लगाना चाहिये।

फल—सर्वाङ्गासनके समान, पेटके रोगोंके लिये इसमें कुछ अधिक विशेषता है। नादानुसंधानमें भी सहायक है। देरतक करनेसे वास्तविक लाभकी प्रतीति होगी।

१५ चक्रासन—चित लेटकर हाथो और पैरोंके पजे भूमिपर लगाकर कमरका भाग ऊपर उठावे। हाथ पैरोके पजे जितने पास-पास आ सके उतने लानेका यत्न करे। यह आसन खड़ा होकर पीछेसे हाथोंको जमीनपर रखनेसे भी होता है।

फल—कमर और पेटके स्थानको इससे अधिक लाभ पहुँचता है, पृष्ठवंश सदा आगेकी ओर झुकता है, उसका दोष इस आसनद्वारा विशुद्ध झुकाव होनेसे दूर हो जाता है।

१६ गर्भासन—चित लेटकर दोनो पैरोको ऊपर उठाकर सिरकी ओर जमीनमें लगावे, फिर दोनो पैरोंको गर्दनमें एकपर दूसरे पैरको देकर फँसावे, तत्पश्चात् दोनों हाथोंको पैरोके अदरकी ओरसे ले जाकर कमरको एक-दूसरे हाथसे पकड़कर बाँधे। इससे पेटके सब प्रकारके रोग, कोष्ठबद्ध, यकृत्, प्लीहा (तिल्ली) आदि दूर होते है।

१७ शवासन(विश्रामासन)——शरीरके सब अङ्गोको ढीला करके मुर्देके समान लेट जाय। सब आसनोंके पश्चात् थकान दूर करने और चित्तको विश्राम देनेके लिये इस आसनको करे।

पेटके बल लेटकर करनेके आसन

१८ मस्तक-पादाङ्गुष्ठासन—पेटके बल लेटकर सारे शरीरको मस्तक और पैरोके अंगूठेके बलपर उठाकर कमानके सदृश शरीरको बना दे। शरीरको उठाते हुए पूरक, ठहराते हुए कुम्भक और उतारते हुए रेचक करे।

फल—मस्तक, छाती, पैर, पेटकी आँते तथा सम्पूर्ण शरीरकी नाड़ियाँ शुद्ध और बलवान् होती हैं। पृष्ठवंश एवं मेरुदण्डके लिये विशेष लाभ पहुँचता है।

१९ नाभ्यासन —पेटके बल समसूत्रमें लेटकर दोनों हाथोंको सिरकी ओर आगे दो हाथकी दूरीपर एक-दूसरे हाथसे अच्छी तरह फैलावे, दोनो पैरोंको भी दो हाथकी दूरीपर ले जाकर फैलावे। फिर पूरक करके केवल नाभिपर समूचे शरीरको उठावे, पैरो और हाथोंको एक या डेढ हाथकी ऊँचाईपर ले जाय, सिर और छातीको आगेकी ओर उठाये रहे, जब श्वास बाहर निकलना चाहे तब हाथो और पैरोको जमीनपर रखकर रेचक करे।

फल—नाभिकी शक्तिका विकास होना, मन्दाग्नि, अजीर्णता, वायु-गोला तथा अन्य पेटके रोगोंका तथा वीर्यदोषका दूर होना।

२० मयूरासन—दोनो हाथोंको मेज अथवा भूमिपर जमाकर दोनो हाथोकी कोहनियाँ नाभिस्थानके दोनो पार्श्वसे लगाकर मूल तथा उड्डीयान बन्धके साथ सारे शरीरको उठाये रहे। पाँव जमीनपर लगे रहनेसे हंसासन बनता है।

फल—जठराग्निका प्रदीप्त होना, भूख लगना, वात-पित्तादि दोषोंको तथा पेटके रोगो गुल्म-कब्जादिका दूर करना और शरीरको नीरोग रखना। बस्ती तथा एनिमाके पश्चात् इसके करनेसे पानी तथा ऑव जो पेटमे रह जाती है, वह निकल जाती है, मेरुदण्ड सीधा होता है।

२१ भुजंगासन (सर्पासन)—आधुनिक आसन-व्यायामके अनुभवियोने भुजङ्गासनके निम्न तीन भेद किये हैं

१३. दूसरा प्रकार सर्वाङ्गासन (हलासन)

१५. चक्रासन

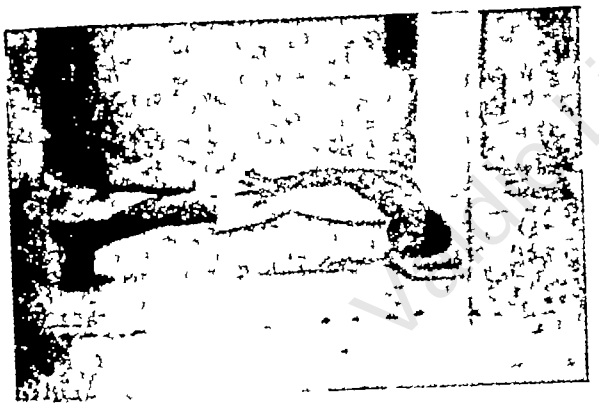

१८. मस्तक-पादाङ्गुष्ठासन

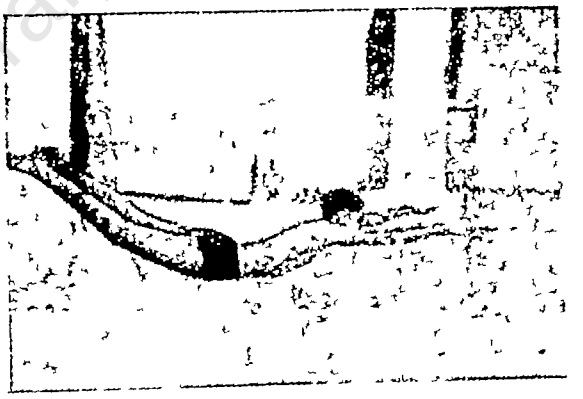

१९. नाभ्यासन

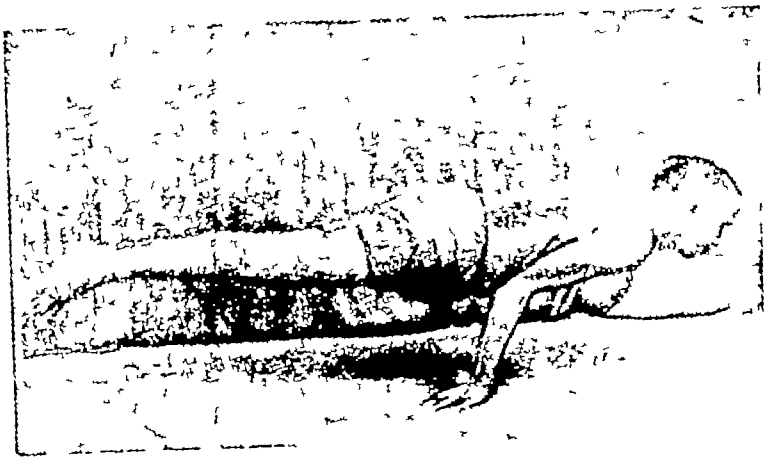

२०. मयूरासन

vedic Library

२१. (ग) भुजंगासन

२२. शलभासन

२१. (ख) भुजंगासन

२१. (क) उत्थितैकपाद-भुजंगासन

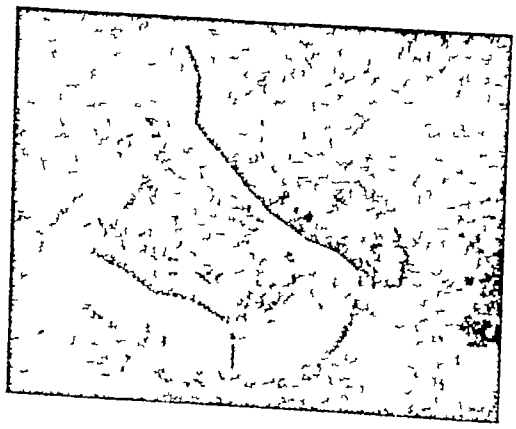

२३. धनुरासन

Vaidic Library

(क) उत्थितैकपाद-भुजङ्गासन—पेटके बल लेटकर हाथ छातीके दोनों ओरसे कोहनियोंमेंसे घुमाकर भूमिपर टिकावे, भुजङ्गके सदृश छाती ऊपरको उठाकर दृष्टि सामने रक्खे, एक पैर भूमिपर टिका रहे, दूसरा पैर घुटनेको बिना मोड़े जितना जा सके ऊपर उठावे; इसी प्रकार बारी-बारीसे पैरोंको नीचे-ऊपर करे। इससे कटि-दोष, यकृत्, प्लीहादिके विकार दूर होते हैं।

(ख) भुजङ्गासन—पैरोंके पंजे उल्टी ओरसे भूमिपर टिकाकर हाथोंको भी भूमिपर किञ्चित् टेढे रखकर धड़को कमरसे उठाकर भुजङ्गाकार होवे। इससे पेट, छाती, कमर, ऊरु, मेरुदण्ड आदिके सब दोष नाश होते हैं।

(ग) सरलहस्त-भुजङ्गासन—हाथोंको भूमिपर सीधा रखकर पैरोंको पीछेकी ओर ले जाकर दोनो हाथोंके बीच कमर आ जाय इस रीतिसे कमर झुकाकर छाती और गर्दन भरसक ऊपर उठाकर सीधे आकाशकी ओर देखे। इससे पेटकी चरबी निकल जाती है, पेट, कमर और गर्दनके सब विकार दूर होते हैं।

२२ *शलभासन*—शलभ टिड्डीको कहते हैं। पेटके बल लेटकर दोनों हाथोंकी अँगुलियोंको मुट्ठी बाँधकर कमरके पास लगावे, तत्पश्चात् धीरे-धीरे पूरक करके छाती तथा सिरको जमीनमें लगाये हुए हाथोंके बल एक पैरको यथाशक्ति एक-डेढ़ हाथकी ऊँचाईपर ले जाकर ठहराये रहे, जब श्वास निकलना चाहे तब धीरे-धीरे पैरको जमीनपर रखकर शनैः-शनैः रेचक करे। इसी प्रकार दूसरे पैरको उठावे, फिर दोनों पैरोंको उठावे।

फल—जंघा, पेट, बाहु आदि भागोंको लाभ पहुँचता है, पेटकी आँतें मजबूत होती हैं और सब प्रकारके उदर-विकार दूर होते हैं।

२३ *धनुरासन* पेटके बल लेटकर दोनों हाथोंको पीठकी ओर करके दोनों पैरोंको पकड़ लेवे और शरीरको वक्र-भावसे रक्खे। कहीं-कहीं इस आसनको वज्रासनकी भाँति एड़ियोंपर बैठकर पीछेकी ओर झुककर करना बतलाया है।

फल—कोष्ठबद्धादि उदरके सब विकारोंका दूर होना, भूख तथा जठराग्निका प्रदीप्त होना।

बैठकर करनेके आसन

२४ *मत्स्येन्द्रासन* इसको पाँच भागोंमें विभक्त करनेमें सुगमता होगी—

(क) बाये पाँवका पंजा दाहिने पाँवके मूलमें इस प्रकार रखे कि उसकी एड़ी टूँडीमें लगे और अङ्गुलिएँ पाल्थीके बाहर न हों।

(ख) दायाँ पाँव बाये घुटनेके पास पञ्जा भूमिपर लगाकर रक्खे।

(ग) बायाँ हाथ दाहिने घुटनेके बाहरसे चित डालकर उसकी चुटकीमें दाहिने पाँवका अँगूठा पकडे, उस दाहिने पाँवके पंजेको बाहर सटाकर रक्खे।

(घ) दाहिना हाथ पीठकी ओरसे फिराकर उससे बायें पैरकी जंघा पकड़ ले।

(ङ) मुख तथा छाती पीछेकी ओर फिराकर ताने तथा नासाग्रमें दृष्टि रक्खे। इसी प्रकार दूसरी ओरसे करे।

फल—पीठ, पेटके नल, पाँव, गला, बाहु, कमर, नाभिके निचले भाग तथा छातीके स्नायुओंका

अच्छा खिंचाव होता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है और पेटके सब रोग आमवात परिणाम-शूल तथा आँतोंके सब रोग नष्ट होते है ।

२५ *वृश्चिकासन*—कोहनीसे पजे तकका भाग भूमिपर रखकर उसके सहारे सब शरीरको सँभालकर दीवारके सहारे पाँवको ऊपर ले जाय, तत्पश्चात् पाँवको घुटनोंमें मोड़कर सिरके ऊपर रख दे ।

दूसरे प्रकारसे केवल पञ्जोके ऊपर ही सब शरीरको सँभालकर रखनेसे भी यह आसन किया जाता है ।

यह आसन कठिन है । मोड़चालसे चलनेवाले लड़के इस आसनको शीघ्र कर सकते है ।

फल—हाथों और बाहोमें बलवृद्धि, पेट तथा आँतोंका निर्दोष होना, शरीरका फुर्तीला और हल्का होना, मेरुदण्डका शुद्ध और शक्तिशाली होना, तिल्ली, यकृत् एवं पाण्डु रोग आदिका दूर होना ।

२६ *उष्ट्रासन*—वज्रासनके समान हाथोसे एड़ियोको पकड़कर बैठे । पश्चात् हाथोसे पाँवोंको पकडे हुए चूतड़ोको उठाये, सिर पीछे पीठकी ओर झुकावे और पेट भरसक आगेकी ओर निकाले ।

फल-यकृत्, प्लीहा, आमवात आदि पेटके सब रोग दूर होते हैं और कण्ठ नीरोग होता है ।

२७ *सुप्त वज्रासन*—वज्रासन करके चित लेटे, सिरको जमीनसे लगा हुआ रक्खे, पीठके भागको भरसक जमीनसे ऊपर उठाये रक्खे और दोनों हाथोंको बाँधकर छातीके ऊपर रक्खे अथवा सिरके नीचे रक्खे ।

फल—पेट, छाती, गर्दन और जंघाओंके रोगोंको दूर करता है ।

२८ *कन्द-पीड़ासन*—पृथ्वीपर बैठकर दोनों हाथोसे दोनो पैरोको पकड़कर ठीक पेटके ऊपर नाभिके पास ले जाकर इस प्रकार मिलाये कि पैरोकी पीठ मिली रहे और तलुए कुक्षियोकी ओर हो जायँ, दोनों पैरोंके अंगूठे और कनिष्ठिकाएँ मिली रहें हाथ इस प्रकार जोड़कर बैठ जाय कि हाथकी हथेली पैरोके अंगूठेपर और अँगुलियाँ छातीके ऊपर आ जायँ ।

फल—पैर, घुटने तथा पेटके रोग दूर होते हैं । क्षुधाकी वृद्धि, तिल्ली और वायुगोलेका नाश होता है । स्कन्ध-स्थानके पवित्र होनेसे शरीरकी सब नाडियोका शोधन होता है ।

२९ *पार्वती आसन*—दोनों पैरोके तलुए इस प्रकार मिलावे कि अँगुलियोंसे अँगुलियाँ और तलुएसे तलुआ मिल जायँ; और मिले हुए भागोंको इस प्रकार घुमावे कि अँगुलियाँ नितम्बोंके नीचे आ जायँ और एडियाँ अण्डकोषके नीचे मिलकर सामने दिखायी देने लगें ।

फल—घुटने, पैरोकी अँगुलियो, मणिबन्धो, अण्डकोप और सीवनीके सब रोगोका नाश होना, वीर्यवाही नसोका पवित्र होना । ब्रह्मचारिणी स्त्रियोके लिये भी यह आसन लाभदायक है ।

३० *गोरक्षासन*—दोनो पैरोके तलुओंको पूर्ववत् मिलाकर दोनों एड़ियोको सीवनीपर जमाकर पैरोको इस प्रकार चौडा करे कि बायें पैरकी अंगुलियाँ बायीं पिंडलीकी ओर आ जायँ और दायें पैरकी अंगुलियाँ दायें पैरमें जा मिलें फिर दोनों हाथोंको पीठकी ओर जंघाके नीचेसे लाकर घुटनेके पाससे पैरोकी अगुलियोंको पकड़कर जालन्धर-बन्ध लगाकर चित्तको स्थिर करके बैठे ।

फल—कण्ठ, स्कन्ध, बाहु और हृदयादि ऊपरके अङ्गो तथा जघा, पिंडली, पैर, सीवनी, अण्डकोष और कटिप्रदेशकी व्याधियोका दूर करना ।

३१ *सिंहासन*—दोनो पैरोको नितम्बोके नीचे इस प्रकार जमावे कि बायाँ पैर दायें नितम्बके

२४. मत्स्येन्द्रासन

२४. मत्स्येन्द्रासन

२५. वृश्चिकासन

२७. सुप्त वज्रासन

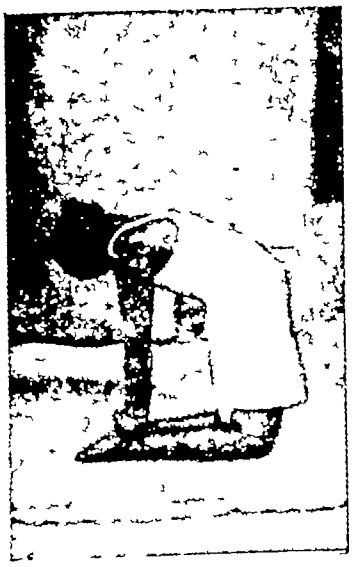

२६. उष्ट्रासन

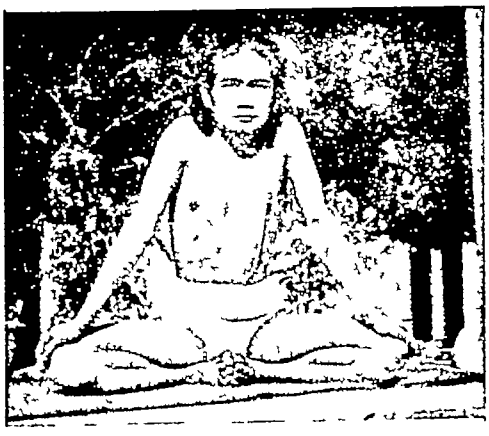

२९. पार्वती-आसन

३१. सिंहासन [पृष्ठ

३२. वकासन

३५. ऊर्ध्वे पद्मासन

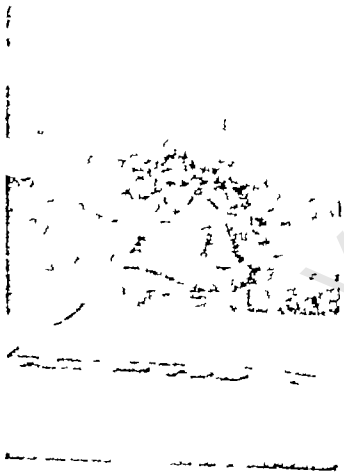

३६. उत्थित पद्मासन

३७. कुक्कुटासन

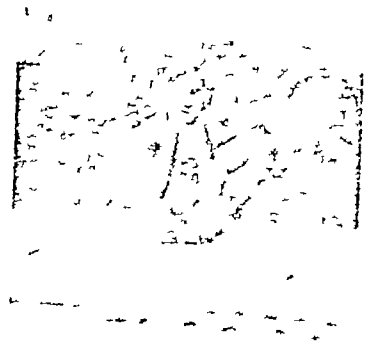

३८. गर्भासन

४०. मत्स्यासन

४४. गरुडासन

Vaidic Library

नीचे और दायाँ पैर बाये नितम्बके नीचे आ जाय, फिर दोनो हाथोको पेटकी ओर अंगुलियाँ करके जंघापर जमावे । पेटको अंदर खींचते हुए, छातीको बाहर निकाले हुए, मुँहको खोलकर जिह्वाको बल-पूर्वक बाहरकी ओर निकाल ठोढ़ीपर जमा दे ।

फल—बाहु और पैरोका शक्तिशाली होना, गर्दनका नीरोग होना, कटि और सीवनी आदिकी शुद्धि, हकलाना बंद होना ।

३२ *वकासन*—दोनो हाथोंके पंजे जमीनपर रखकर दोनो घुटनोंको बाहुओंके सहारे ऊपर उठाकर पाँवसहित सारे शरीरको ऊपर उठावे, केवल हाथोके पंजे भूमिपर रहे, शेष शरीर ऊपर उठाये रहे । घुटनोंको अंदर रखकर भी यह आसन किया जा सकता है ।

फल—भुजदण्डोमें बलवृद्धि, सीनेका विकास, रक्तकी शुद्धि और क्षुधाकी वृद्धि ।

३३ *लोलासन*—वकासनके अनुसार दोनो पजोको भूमिपर रखकर केवल उनपर ही सारे शरीरको उठावे । वकासनमें पाँव पीछेकी ओर झुकते है और इसमें आगेकी ओर ।

फल—वकासनके समान ।

३४ *एक पादाङ्गुष्ठासन*—एक पैरकी एड़ीको गुदा और अण्डकोषके बीचमें लगाकर उसीके अंगूठेको अगुलियोंसहित पृथ्वीपर जमाकर दूसरे पैरको ठीक उसके घुटनेपर रखकर उसपर सारे शरीरका भार सँभालकर बैठे । नासाग्रभागपर दृष्टि जमाकर छातीको किञ्चित् उभारे रहे, दाये-बायें दोनो अङ्गसे बारी-बारीसे करें ।

फल—वीर्यदोषका दूर होना और वीर्यवाही नाड़ियोका शुद्ध और पुष्ट होना ।

पद्मासन लगाकर करनेके आसन

३५ *ऊर्ध्व पद्मासन*—शीर्षासन और ऊर्ध्व सर्वाङ्गासनके साथ ।

३६ *उत्थित पद्मासन*—पद्मासन लगाकर दोनों हाथ दोनों ओर जमीनपर रखकर उनके ऊपर सारे शरीरको पेट अंदर खींचे हुए और छातीको बाहर निकाले हुए भरसक पृथिवीसे ऊपर उठावे । जितना पृथिवीसे ऊपर उठा रहेगा उतना ही अधिक लाभ होगा ।

फल—बाहुबलकी वृद्धि, छातीका विकास, पेटके रोगोका नाश और क्षुधाकी वृद्धि ।

३७ *कुक्कुटासन*—पद्मासनसे बैठकर दोनों पाँवोंके पजे भीतर रहें, इस प्रकार दोनो जाँघो और पिंडलियोके बीचमेंसे दोनों हाथ कोहनीतक नीचे निकालकर पजे भूमिपर टिकाकर सारे शरीरको तोलकर रक्खे ।

फल—उत्थित पद्मासनके समान लाभ । जठराग्निका प्रदीप्त होना, आलस्यका दूर होना आदि ।

३८ *गर्भासन*—कुक्कुटासन करके हाथोकी अंगुलियोंसे दोनो कान पकड़े ।

३९ *कूर्मासन*—कानोंको न पकड़कर हाथोंकी अंगुलियाँ एक-दूसरेके साथ मिलाकर गला पीछेसे पकडे ।

फल—आँतोंके विकारका दूर होना, शौच-शुद्धि, क्षुधा-वृद्धि ।

४० *मत्स्यासन*—पद्मासन लगाकर चित लेटे, दोनो हाथोंसे दोनो पाँवोके अँगूठे पकडे और

दोनों हाथोंकी कोहनियाँ जमीनपर टिका दे। सिरको पीछे मोड़कर छाती तथा कमरको भरसक जमीनसे ऊपर उठाये रक्खे।

फल—शौच-शुद्धि, अपानवायुकी निम्न गति, आँतोंके सब रोगोंका नाश इत्यादि। दस-पंद्रह मिनटतक करनेसे विशेष लाभकी प्रतीति होती है। इस आसनसे देरतक जलमें तैरा जा सकता है।

४१ *तोलाङ्गुलासन*—पद्मासन लगाकर नितम्बोंके नीचे हाथोंकी मुट्ठियाँ रखकर उनपर तराजूके सदृश सारे शरीरको तोल रक्खे।

फल—मत्स्यासनके समान है।

४२ *त्रिबन्धासन*—मूलबन्ध, उड्डीयान-बन्ध और जालन्धरबन्ध लगाकर पद्मासनसे बैठे। फिर निम्न क्रियाएँ करे—दोनों हाथोंको मिलाकर भरसक ऊपर उठावे। दोनो हाथोंको गोमुख करके रक्खे। दोनों हाथ पीछे फेरकर दाहिने हाथसे बायें पाँवके अँगूठेको और बायें हाथसे दाहिने पाँवके अँगूठेको पकडे। दोनों हाथोंको भूमिपर जमाकर उनपर सारा शरीर अर्थात् पूरे आसनको उठावे और नितम्बोंको पुनः भूमिपर ताड़न करे।

फल—तीनों बन्धोंके फलके अतिरिक्त इससे कुण्डलिनीकी जागृति और प्राणोके उत्थानमें विशेष सहायता मिलती है; किंतु सावधानीके साथ करे।

खड़े होकर करनेके आसन

४३ *ताड़ासन*—गला, कमर, पाँवकी एड़ी आदि सबको समरेखामें करके सीधा खड़ा हो एक हाथको भरसक सीधा ऊपर ताने और दूसरेको जंघासे मिलाये रक्खे। ऊपरवाले हाथको धीरे-धीरे तानता हुआ नीचे ले जाय और नीचेवालेको ऊपर। इसी प्रकार कई बार करे।

फल—सारे शरीरको नीरोग रखना, मेरुदण्डका सीधा करना, शौच-शुद्धि, अर्श रोगका नाश करना इत्यादि।

४४ *गरुडासन*—सीधे खडे होकर एक पैरको दूसरे पैरसे लपेटे, तत्पश्चात् दोनो हाथोंको भी उसी प्रकार लपेटकर हथेलीमें हथेली मिलाकर दोनों हाथोंको नाकके पास ले जाय।

फल—पैरोंके स्नायुकी शुद्धि, अण्डकोषकी वृद्धिका रोकना, घुटने और कोहनियों आदिके दर्दका नाश करना।

४५ *द्विपाद मध्यशीर्षासन*—दोनों पैरोंको भरसक फैलावे, मस्तकको आगेकी ओर झुकाकर दोनों पैरोंके बीचमें ले जाकर पृथिवीपर लगावे।

फल—पेटके स्नायु, कमर, मेरुदण्ड और वीर्यवाही नसोका पुष्ट होना।

४६ *पादहस्तासन*—सीधे खडे होकर धीरे-धीरे आगेकी ओर झुककर दोनों हाथोसे दोनो पैरोंके अँगूठे पकडे, उड्डीयान और मूलबन्धके साथ बिना घुटने तथा पाँव झुकाये घुटनेपर सिरको लगा दे।

फल—तिल्ली, यकृत्, कोष्ठबद्धता आदिका दूर होना। देरतक करनेसे विशेष लाभकी प्रतीति होगी।

४७ *हस्तपादाङ्गुष्ठासन*—सीधा समसूत्रमें दोनों पैरोंको मिलाकर खड़ा हो एक पैरको सीधा उठाकर कटिप्रदेशकी जगहतक ले जाय, दूसरे हाथसे इस पैरके अँगूठेको पकड़कर सीधा ताने, दूसरा

हाथ कमरपर रहे। इसी प्रकार दूसरी ओर करे। जब यह आसन लगभग एक मिनटतक टिकने लगे तो मस्तकको फैलाये हुए घुटनेपर लगावे।

फल—पेट, पीठ, जंघा, कमर, कण्ठ आदि अवयवोंका बलवान् होना।

४८ कोणासन—टाँगोंको फैलाकर समसूत्रमें खडा हो, तत्पश्चात् एक हाथको सीधा रखकर दूसरे हाथसे बायीं ओर झुककर बाये पैरके घुटनेको पकडे। इसी प्रकार दूसरी ओर करे।

फल—पीठ, कमरका नीरोग होना, स्नायुओमें रक्त और खूनका संचार इत्यादि।

यहाँ लगभग सभी मुख्यासन उनके फलसहित बतला दिये गये हैं; किंतु बहुत-से आसनोंको करनेकी अपेक्षा अपनी आवश्यकतानुसार थोडे-से विशेष-विशेष आसनोंको निम्नलिखित सूची-अनुसार विधिपूर्वक देरतक करना अधिक लाभदायक होगा। आसनोको ओ३म्के मानसिक जप तथा स्थान-विशेषपर ध्यानके साथ करना अच्छा रहेगा। लबे समयतक शीर्षासन करनेके पश्चात् ऊर्ध्वसर्वाङ्गासन अथवा ताड़ासन अवश्य करना चाहिये।

१	शीर्षासन (विपरीतकरणी मुद्रा) (९)	२० मिनट कम-से-कम
२	मयूरासन (२०)	२ ,, ,,
३	ऊर्ध्वसर्वाङ्गासन (१२)	१० ,, ,,
४	पश्चिमोत्तानासन (२)	१० ,, ,,
५	जानुशिरासन (४)	१० ,, ,,
६	उत्तानपादासन (८)	५ ,, ,,
७	पवन-मुक्तासन (११)	५ ,, ,,
८	भुजङ्गासन (२१)	५ ,, ,,
९	शलभासन (२२)	५ ,, ,,
१०	त्रिबन्धासन (४१)	५ ,, ,,
११	ताड़ासन (४३)	५ ,, ,,
१२	पादहस्तासन (४६)	५ ,, ,,
१३	सम्प्रसारण भू-नमनासन (३)	५ ,, ,,
१४	हृदयस्तम्भासन (७)	५ ,, ,,
१५	शीर्षपादासन (६)	५ ,, ,,
१६	सर्वाङ्गासन (हलासन) (१३)	५ ,, ,,
१७	कर्णपीड़ासन (१४)	५ ,, ,,
१८	मस्तक-पादाङ्गुष्ठासन (१८)	५ ,, ,,
१९	नाभ्यासन (१९)	५ ,, ,,
२०	धनुरासन (२३)	५ ,, ,,
२१	उष्ट्रासन (२६)	५ ,, ,,
२२	सुप्तवज्रासन (२७)	५ ,, ,,

Vaidic Library

२३ मत्स्यासन (३९)

२४ द्विपाद मध्यशीर्षासन (४५)

सूर्यभेदी व्यायाम

इन आसनोके करनेसे शरीरके सब अङ्गोका संचालन हो जाता है और स /लाभ-दायक है । तथा ड्रिलमें किये जा सकते है ।

१ नमस्कार आसन—सीधे खडे होकर पाँव, चूतड़, पीठ, गला और सिर सम सूत्रमें रखकर दोनों हाथ जोडकर नमस्कार करना ।

२ ऊर्ध्व नमस्कार आसन—दोनों हाथोंको सीधे ऊपर ले जाकर ऊर्ध्व दिशामें हाथ जोड़कर नमस्कार करना । इसमें पेटको किसी कदर आगे बढ़ाकर हाथोंको जितना हो सके उतना पीछे हटाना होता है ।

३ हस्त पादासन—हाथोंको ऊपरसे नीचे लाकर दोनों पाँवोंके दोनों ओर भूमिके ऊपर रख दें । घुटने सीधे रहें और पेट अंदर आकर्षित रहे ।

४ एकपाद प्रसरणासन—एक पाँव जितना जा सके पीछे ले जाकर सीधा फैलाना । हाथ जहाँ थे वहीं रहें ।

५ द्विपाद प्रसरणासन—दूसरे पाँवको भी पीछे ले जाकर सीधे फैलाना । इसमें भूमिमें पाँवके साथ पाँव और हाथके साथ हाथ रखना होता है ।

६ भूधरासन—पाँव जितने पीछे ले जा सकें ले जायें, परंतु घुटने सीधे रहने चाहिये और पाँवके तलवे जमीनको पूरे लगने चाहिये । कोहनीके साथ हाथ सीधे होने चाहिये । ठोढ़ी कण्ठकूपमें लगनी चाहिये और पेट अंदर आकर्षित होना चाहिये ।

७ अष्टाङ्ग पर्णिपातासन—दोनों पाँव, दोनों घुटने, दोनों हाथ, छाती और मस्तक भूमिपर स्पर्श करने चाहिये । पेट भूमिको न लगना चाहिये । पेटको बलके साथ अदर खींचना चाहिये ।

८ सर्पासन—फणी साँपके समान इस आसनमें सिर जितना पीछे जाय ले जाय और छाती जितनी आगे बढ़ सके बढाएँ । हाथ और पाँव ही भूमिको स्पर्श करें, शेष शरीर भूमिसे कुछ अन्तरपर रहे ।

९ भूधरासन—संख्या ६ में देखें ।

१० द्विपाद प्रसरणासन—संख्या ५ में देखें ।

११ एकपाद प्रसरणासन—संख्या ४ में देखें ।

१२ हस्त पादासन—संख्या ३ में देखें ।

१३ उपवेशासन—हस्त पादासनमें हाथ और पैरको अपने स्थानमें रखते हुए, सरल रीतिसे बैठ जावे ।

१४ नमस्कारासन—संख्या १ में देखें ।

१५ ऊर्ध्व नमस्कारासन—संख्या २ में देखें ।

आसनका उठना—ध्यानकी अवस्थामें प्राणके दबावसे सूक्ष्म और शुद्ध शरीरवाले साधकोंका कभी-कभी आसन स्वयं उठने लगता है । बहुधा साधकोंको प्राणके उत्थानमें आसनके उठनेका भ्रम हो जाता है ।

सूर्यभेदी व्यायाम

नमस्कार आसन १, १४

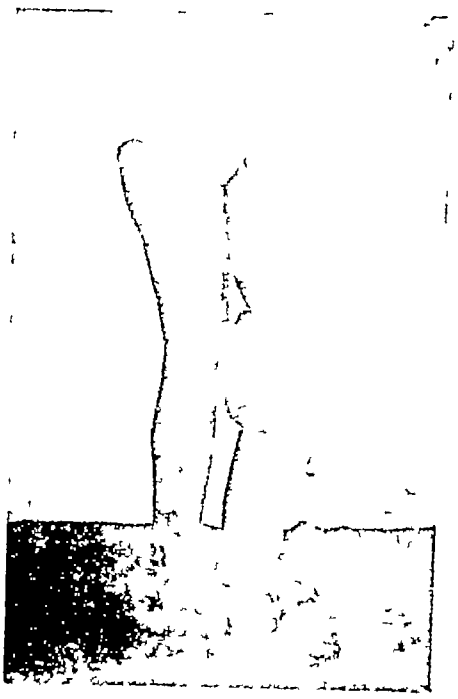

हस्त-पादासन ३, १२

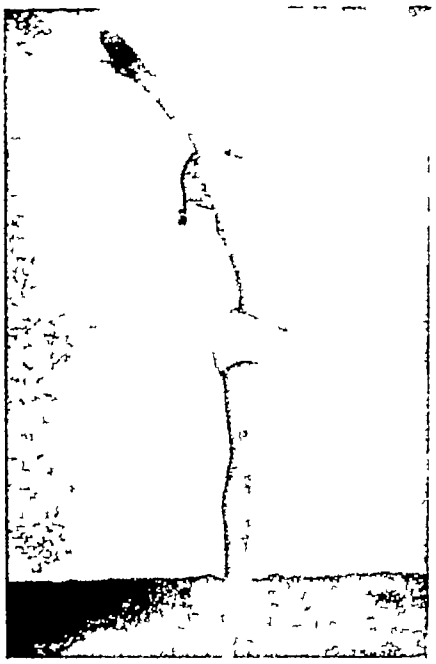

ऊर्ध्व नमस्कार-आसन २, १५

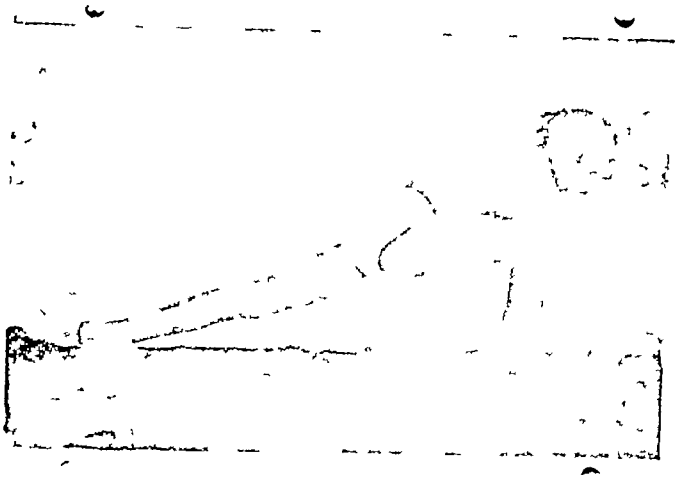

एकपादप्रसरणासन ४, ११

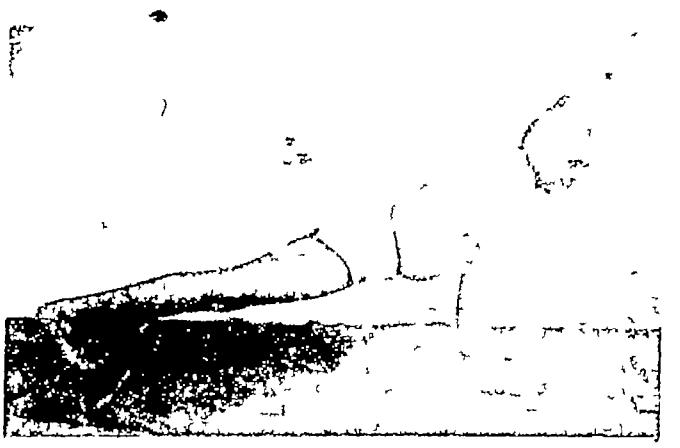

द्विपादप्रसरणासन ५, १०

Vaidic Library

सूर्यभेदी व्यायाम

भूधरासन ६, ९

सर्पासन ८

अर्धाङ्ग पर्णिपातासन ७

उपवेशासन १३

Vaidic Library

आसन उठानेकी विधि—वस्ती अथवा एनिमा आदिसे पेटकी सफाई करके मूल और उड्डीयान बन्ध लगाकर पद्मासनसे बैठे, फिर नीचेसे पेटमें वायुको भरना चाहिये । कुछ दिनोंके अभ्यासके पश्चात् एक विशेष अकथनीय स्वयमेव होनेवाली आन्तरिक क्रियाद्वारा सूक्ष्म और शुद्ध शरीरवालोंका आसन उठने लगता है; किंतु आसनका उठना केवल शारीरिक क्रिया है । इसमें आध्यात्मिकताका लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है । इसके प्रदर्शनमें आध्यात्मिक हानि ही है ।

गुफामें बैठना—साधारण मनुष्य अधिक समयतक गुफामें बैठनेको ही समाधि समझते हैं ।

गुफामें बैठनेकी पहली विधि—इसमें एक लंबे समयतक खान-पान तथा अन्य सब शारीरिक क्रियाओंको छोड़ देनेका अभ्यास होता है । गुफामें जानेसे कई दिन पूर्व वस्ती-धौती आदि यौगिक क्रियाओं-द्वारा शरीर-शोधन और दूध तथा बादामका छोंका आदि सूक्ष्म और अल्प आहार लेना होता है । गुफामें जानेवाले दिन वस्ती, धौती, नेती आदि क्रियाओं तथा Cathetar (कैथेटर) से शरीर-शोधन करना चाहिये । गुफामें नमी (सील) लेशमात्र भी न हो । पक्की होनी चाहिये । कई दिन पूर्व तैयार करा ली जाय, जिससे उसकी सील सब निकल जाय । वायु-प्रवेशके लिये एक जालीदार खिड़की होनी चाहिये । दो-एक अनुभवी देख-भाल करते रहें, जिससे किसी दुर्घटनाकी उपस्थितिमें उसका प्रतीकार किया जा सके । युवक और पुष्ट शरीरवाले ही अपनी शक्तिसे कम समयके लिये ही बैठनेकी चेष्टा करें । इसके लिये शीतकाल उपयोगी समय है ।

गुफामें बैठनेकी दूसरी विधि—इसमें पहली विधिमें बतलायी हुई सब बातोंके अतिरिक्त किसी विशेष क्रियासे प्राणकी बाह्य गतिको रोककर एक ही आसनसे निश्चित समयतक बैठना होता है । इसमें खेचरी मुद्रा अधिक उपयोगी होती है । बाह्य प्राणकी गतिके अभावमें प्राणोंकी केवल आन्तरिक क्रिया होती रहती है । इसलिये बाहरकी हवाकी आवश्यकता नहीं रहती । इसमें गुफाको बिलकुल बंद कर दिया जाता है । इसमें बेहोशी-जैसी अवस्था रहती है । इसलिये श्रोत्र और नासिकादिके छिद्रोंको विशेष रीतिसे बंद कर दिया जाता है, जिससे कोई जीव-जन्तु अंदर प्रवेश न कर सके । शरीरमें दीमक न लगने पावे, इसलिये गुफामें राख डाल दी जाय अथवा अन्य किसी प्रकारसे इसका उपचार करना चाहिये । इस क्रियामें पहली विधिकी अपेक्षा अधिक शारीरिक बल और देख-भालकी आवश्यकता है । कुछ अनुभवियोंको पहलेहीसे सब बातें समझाकर नियुक्त कर देना चाहिये । अपनी सामर्थ्यसे कम समयके लिये बैठना चाहिये तथा गुफामें कोई ऐसी बिजलीकी घण्टी आदि होनी चाहिये कि जिससे दुर्घटनाकी उपस्थितिमें सूचना की जा सके ।

वास्तविक समाधि तो तीव्र वैराग्य होनेपर ध्यानद्वारा वृत्तियोंके निरोधपूर्वक होती है जैसा कि योगदर्शनमें बतलाया गया है । उपर्युक्त दोनों प्रकारसे गुफामें बैठना न तो वास्तविक समाधि ही है और न इसका आध्यात्मिकतासे कोई विशेष सम्बन्ध ही है । पहली विधिमें अति कठिन शारीरिक तप है और दूसरी विधिमें उससे भी भयंकर प्राणसम्बन्धी तप और उसकी विशेष क्रियाओंका अभ्यास है । यदि इन दोनों प्रकारकी क्रियाओंमें कार्य-कुशल साधक जनसमूहमें प्रतिष्ठा मान और धन-प्राप्तिकी अभिलाषाकी उपेक्षा करके वैराग्य और ध्यानद्वारा वृत्तिनिरोधकी ओर प्रवृत्त हों तो बहुत शीघ्र आत्मोन्नतिके शिखर-पर आरूढ़ हो सकते हैं । इस प्रकारकी समाधिका सबसे कठिन और आश्चर्यजनक प्रदर्शन महाराजा

रणजीतसिंहजीके समयमें एक प्रमुख हठयोगी हरिदासने किया था। वह प्राणोंकी बाह्य गतिको किसी विशेष क्रियाद्वारा अन्तर्मुख करके खेचरी मुद्रा लगाकर एक विशेष आसनसे बैठ गया। उसके नाक और कानोंके छिद्रोंको मोम तथा अन्य कई ओषधियोंद्वारा बंद कर दिया गया। एक लोहेके बक्समें रखकर ताला लगाकर उसको जमीन खुदवाकर गड़वा दिया गया। तदुपरान्त उस भूमिपर चने बुवा दिये गये। छः मास पश्चात् जमीनको खोदकर बक्समेंसे उसे निकाला गया और उसकी बतलायी हुई विधिके अनुसार होशमें लाया गया। इतना सब कुछ होते हुए भी कहते हैं कि उसमें वैराग्य तथा ध्यानद्वारा वृत्ति-निरोधके अभ्यासकी कमी थी, जिसके फलस्वरूप (बहुत सम्भव है बज्रोली क्रियाकी सिद्धिकी चेष्टामें) एक क्वाँरी लडकीको भगाकर ले जानेके प्रयत्नने उसकी सारी प्रतिष्ठा और मानपर पानी फेर दिया। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रकारके योगके नामपर प्रदर्शन आरम्भमें जनसमूहमें योगशब्दके प्रति अगाध श्रद्धा और अन्धविश्वास उत्पन्न कर देते है, किंतु उनके प्रदर्शकोंकी सांसारिक और स्वार्थमय चेष्टाएँ अन्तमें उससे कहीं अधिक योगके सम्बन्धमें अश्रद्धाकी उत्पादक हो जाती हैं।

आसन, मुद्राएँ आदि सभी यौगिक क्रियाओंका हमने वर्णन कर दिया है। इनमेंसे जो जिसके अभ्यासमें सहायक हो, उनको ग्रहण करना चाहिये। (किंतु मुख्य ध्येय आत्मोन्नतिको छोड़कर केवल इन शारीरिक क्रियाओं और खान-पानके चिन्तनमें ही लगा रहना अहितकर है।)

संगति—आसनकी सिद्धिका उपाय बताते है—

प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ—प्रयत्न-शैथिल्य=प्रयत्नकी शिथिलता, आनन्त्य समापत्तिभ्याम्=और आनन्त्यमें समापत्ति-द्वारा (आसन सिद्ध होता है)।

अन्वयार्थ—(आसन) प्रयत्नकी शिथिलता और आनन्त्यमें समापत्तिद्वारा सिद्ध होता है।

व्याख्या—सूत्रके अन्तमें 'भवति' वाक्य शेष है। प्रयत्न-शैथिल्य=स्वाभाविक शरीरकी चेष्टाका नाम प्रयत्न है उस स्वाभाविक चेष्टासे अङ्गमेजयत्व (शरीर-कम्पन) के रोकनेके निमित्त उपरत होना प्रयत्नकी शिथिलता है। इस प्रयत्नकी शिथिलतासे आसन सिद्ध होता है। अथवा आनन्त्यसमापत्ति=आकाशादिमें रहनेवाली अनन्ततामें चित्तकी व्यवधानरहित समापत्ति अर्थात् तद्रूपताको प्राप्त हो जानेसे आसनसिद्धि होती है अर्थात् शरीरको प्रयत्नशून्य और मनको व्यापकविषयी वृत्तिवाला करके आसनपर बैठना चाहिये। इस प्रकार शरीर और मनको क्रियारहित करनेसे शरीरका अध्यास छूट जाता है और उससे भूला-जैसा होकर बहुत समयतक स्थिरताके साथ सुखपूर्वक बैठ सकता है। आनन्त्यसमापत्तिसे यह अभिप्राय है कि चित्त वृत्तिरूपसे प्रतिक्षण अनेक परिच्छिन्न पदार्थोंकी ओर घूमता रहता है। उनकी परिच्छिन्नतामें वह अस्थिर रहता है। अपरिच्छिन्न आकाशादिमें जो अनन्तता है, उसमें चित्तको तदाकार करनेसे चित्त निर्विषय होकर स्थिर हो जाता है।

टिप्पणी—॥ सूत्र ४७ ॥ इस सूत्रमें अनन्त पाठ मानकर अनन्त-समापत्तिका अर्थ भिन्न-भिन्न टीकाकारोंने भिन्न-भिन्न अपने-अपने विचारोंके अनुसार किया है इसका कारण यह है कि व्यासभाष्यसे इसका पूरा स्पष्टीकरण नहीं होता है। व्यासभाष्यमें केवल इतना बतलाया है—

अनन्ते वा समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्तयतीति ।

'अनन्तमें समापन्न किया हुआ चित्त आसनको सिद्ध करता है ।'

इसीलिये किसीने अनन्तके अर्थ अनन्त पदार्थ, किसीने ईश्वर किये है और वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञानभिक्षुने अनन्त शेषनागका नाम बताया है, जो अपने सहस्र फणोपर पृथ्वीमण्डलको धारण किये हुए हैं । इन सबका यह तात्पर्य हो सकता है कि समाधिसिद्धिसे आसनसिद्धि हो जाती है । पर समाधिसे पूर्व प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान—इन चारो अङ्गोकी पूर्ति शेष रहती है । आसन साधन है और समाधि साध्य है । समाधिसिद्धिसे आसनसिद्धि बतलाना साध्यसे साधनको सिद्ध करना है, इसलिये इसके अर्थ हमने 'भोजवृत्ति' के अनुसार किये हैं, जो इस प्रकार है—

यदा चाकाशादिगत आनन्त्ये चेतसः समापत्तिः क्रियतेऽव्यवधानेन तादात्म्यमापद्यते तदा देहाहंकाराभावान्नासनं दुःखजनकं भवति ।

'जब आकाश आदिमें रहनेवाली अनन्ततामें चित्तको व्यवधानरहित तदाकार किया जाता है, तब उसकी तद्रूपता प्राप्त हो जानेपर शरीराभिमानका अभाव हो जानेसे देहकी सुध न रहनेसे आसन दुःखका उत्पादक नहीं होता ।

संगति—उसका फल बतलाते हैं—

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ—ततः=उससे; द्वन्द्व-अनभिघातः=द्वन्द्वकी चोट नहीं लगती ।

अन्वयार्थ—आसनकी सिद्धिसे द्वन्द्वोकी चोट नहीं लगती ।

व्याख्या—आसन सिद्ध होनेपर योगीको गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास आदि द्वन्द्व नहीं सताते ।

संगति—आसनसिद्धिके अनन्तर प्राणायामको बताते हैं—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ—तस्मिन् सति=उस आसनके स्थिर हो जानेपर; श्वास-प्रश्वासयोः=श्वास और प्रश्वासकी, गतिविच्छेदः=गतिको रोकना; प्राणायामः=प्राणायाम है ।

अन्वयार्थ—आसनके स्थिर होनेपर श्वास-प्रश्वासकी गतिका रोकना प्राणायाम है ।

व्याख्या—श्वास—बाहरकी वायुका नासिकाद्वारा अदर प्रवेश करना श्वास कहलाता है ।

प्रश्वास—कोष्ठ-स्थित वायुका नासिकाद्वारा बाहर निकलना प्रश्वास कहलाता है । श्वास-प्रश्वासकी गतियोका प्रवाह रेचक, पूरक और कुम्भकद्वारा बाह्याभ्यन्तर दोनो स्थानोमें रोकना प्राणायाम कहलाता है । रेचक प्राणायामकी बहिर्गति होनेके कारण उसमें श्वासकी स्वाभाविक गतिका तो अभाव होता ही है पर कोष्ठकी वायुका बहिर्विरेचन करके बाहर ही धारण करनेसे प्रश्वासकी स्वाभाविक गतिका भी अभाव हो जाता है । इसी प्रकार पूरक प्राणायाममें प्रश्वासकी गतिका तो अभाव होता ही है, पर बाह्य वायुको पान करके शरीरके अंदर धारण करनेसे श्वासकी स्वाभाविक गतिका भी अभाव हो जाता है और कुम्भक प्राणायाममें रेचन-पूरण प्रयत्नके बिना केवल विधारक प्रयत्नसे प्राणवायुको एकदम जहाँ-के-तहाँ रोक देनेसे श्वास-प्रश्वास दोनोकी गतिका अभाव हो जाता है ।

जब ठीक आसनसे बैठ जाय, तब ऊपर बतलायी हुई रीतिसे प्राणायाम करना चाहिये। प्राणायामके इन तीनो भेदोका विस्तारपूर्वक वर्णन अगले सूत्रमें है। आसन यम-नियमकी भाँति योगका स्वतन्त्र अङ्ग नहीं है, वह प्राणायामकी सिद्धिका उपाय है। इसलिये 'तस्मिन् सति' उसके अर्थात् आसनके हो जानेपर यह शब्द लाया गया है।

संगति—सुखपूर्वक प्राणायामकी प्राप्तिके लिये उसका भेद करके स्वरूप बताते हैं—

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—बाह्य-आभ्यन्तर-स्तम्भ वृत्ति =बाह्य-वृत्ति, आभ्यन्तर-वृत्ति और स्तम्भ-वृत्ति (तीनो प्रकारका प्राणायाम), देशकालसख्याभि परिदृष्ट.=देश, काल और संख्यासे देखा हुआ; दीर्घसूक्ष्म =लंबा और हल्का होता है।

अन्वयार्थ—(यह प्राणायाम) बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तर-वृत्ति और स्तम्भ-वृत्ति (तीन प्रकारका होता है) देश, काल और संख्यासे देखा हुआ (नापा हुआ) लंबा और हल्का होता है।

व्याख्या—बाह्य-वृत्ति (प्रश्वास)—श्वासको बाहर निकालकर उसकी स्वाभाविक गतिका अभाव करना रेचक प्राणायाम है।

आभ्यन्तर-वृत्ति (श्वास)—श्वास अदर खींचकर उसकी स्वाभाविक गतिका अभाव पूरक प्राणायाम है।

स्तम्भवृत्ति—श्वास-प्रश्वास दोनो गतियोंके अभावसे प्राणको एकदम जहाँ-का-तहाँ रोक देना कुम्भक प्राणायाम है। जिस प्रकार तप्त-लोहादिपर डाला हुआ जल एक साथ संकुचित होकर सूख जाता है, इसी प्रकार कुम्भक प्राणायाममें श्वास-प्रश्वास दोनोकी गतिका एक साथ अभाव हो जाता है।

इन तीनोमें प्रत्येक प्राणायाम तीन-तीन प्रकारका होता है—

१ देश-परिदृष्ट—देशसे देखा हुआ अर्थात् देशसे नापा हुआ। जैसे (१) रेचकमें नासिकातक प्राणका निकालना, (२) पूरकमें मूलाधारतक श्वासका ले जाना, (३) कुम्भकमें नाभिचक्र आदिमें एकदम रोक देना।

२ कालपरिदृष्ट—समयसे देखा हुआ अर्थात् समयोपलक्षित=समयकी विशेष मात्राओंमें श्वासका निकालना, अंदर ले जाना और रोकना। जैसे दो सेकण्डमें रेचक, एक सेकण्डमें पूरक और चार सेकण्डमें कुम्भक।

३ संख्यापरिदृष्ट—सख्यासे उपलक्षित। जैसे इतनी संख्यामें पहला, इतनी सख्यामें दूसरा और इतनी सख्यामें तीसरा प्राणायाम। इस प्रकार अभ्यास किया हुआ प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म अर्थात् लंबा और हल्का होता है।

भाव यह है कि ज्यों-ज्यो योगीका अभ्यास बढता जाता है त्यो-त्यो रेचक, पूरक, कुम्भक—यह तीनो प्रकारका प्राणायाम देश, काल और सख्याके परिमाणसे दीर्घ (लंबा), सूक्ष्म (पतला, हल्का) होता चला जाता है। अर्थात् पहले-पहल रेचक प्राणायाममें बाहर फेंकते समय जितनी दूरतक प्राण जाता है, धीरे-धीरे अभ्याससे उसका परिमाण बढता चला जाता है। इसकी जाँच इस प्रकार की जाती है कि रेचक प्राणायामके समय पहले-पहल नासिकाके सामने पतली-सी रूई रखनेसे जितनी दूर वह

श्वासके स्पर्शसे हिलती है, कुछ दिनोंके अभ्यासके पश्चात् उससे अधिक दूरीपर हिलने लगती है। इस प्रकार जब बारह अंगुलपर्यन्त रेचक स्थिर हो जाय, तब उसको दीर्घ-सूक्ष्म समझना चाहिये।

जिस प्रकार रेचक प्राणायाममें श्वासकी लम्बाई बाहर बढ़ती जाती है उसी प्रकार पूरक प्राणायाममें अंदर बढ़ती जाती है। अंदर श्वास खींचनेमें श्वासका स्पर्श चींटी-जैसा प्रतीत होता है। यह स्पर्श अभ्यासके क्रमसे नीचेकी ओर नाभि तथा पादतल और ऊपरकी ओर मस्तिष्कतक पहुँच जाता है। नाभिपर्यन्त पूरक स्थिर हो जानेपर उसको भी दीर्घ-सूक्ष्म समझना चाहिये। इस तरह केवल रेचक, पूरककी परीक्षा की जाती है, कुम्भकमें न बाहर कुछ हिलता है, न अंदर स्पर्श होता है। यह देश-द्वारा परीक्षा हुई।

कालद्वारा परीक्षा

इसी प्रकार तीनों प्रकारका प्राणायाम अभ्यासद्वारा कालके परिमाणमें भी बढ़ता जाता है। आरम्भमें जितने कालतक प्राणायाम होता है, धीरे-धीरे उससे अधिक कालतक बढ़ता जाता है। हाथको जानुके ऊपरसे चारों ओर फिराकर एक चुटकी बजा देनेमें जितना काल लगता है, उसका नाम मात्रा है। दिनोंदिन वृद्धिको प्राप्त किया हुआ प्राणायाम जब छत्तीस मात्राओंपर्यन्त श्वास-प्रश्वासकी गतिके अभावमें होने लगे, तब उसको दीर्घसूक्ष्म जानना चाहिये।

संख्याद्वारा परीक्षा

इसी प्रकार संख्याके परिमाणसे प्राणायाम बढ़ता जाता है। प्राणायामके बलसे कई स्वाभाविक श्वास-प्रश्वासका एक एक श्वास बनता जाता है। जब बारह श्वास-प्रश्वासका एक श्वास बनने लगे, तब जानना चाहिये कि दीर्घ-सूक्ष्म हुआ। यह प्रथम उद्घात मृदु दीर्घ-सूक्ष्म, चौबीस श्वास-प्रश्वासका एक श्वास, द्वितीय उद्घात मध्य दीर्घ-सूक्ष्म और छत्तीस श्वास-प्रश्वासका एक श्वास, तृतीय उद्घात तीव्र-दीर्घ सूक्ष्म कहलाता है। उद्घातका अर्थ नाभिमूलसे प्रेरणा की हुई वायुका सिरमें टक्कर खाना है। यह प्राणायाममें देश, काल और संख्याका परिमाण है। इस प्रकार प्राणायाम अभ्याससे लंबा (घडी, पहर, दिन, पक्ष आदिपर्यन्त) और सूक्ष्म बडी निपुणतासे जानने योग्य होता चला जाता है।

विशेष वक्तव्य—॥ सूत्र ५० ॥ प्राणका विस्तारपूर्वक वर्णन पहले पादके चौंतीसवें सूत्रके वि० व० में कर आये है। यहाँ प्राणायामका क्रियात्मक रूप बतला देना आवश्यक है। एक स्वस्थ मनुष्य स्वाभाविक रीतिसे एक मिनटमें पंद्रह बार श्वास लेता है। साधारण स्थितिमें श्वासकी गति इस क्रमसे होती है। (१) श्वासका भीतर जाना, (२) भीतर रुकना, (३) बाहर निकलना, (४) बाहर रुकना। श्वासके भीतर जानेको श्वास, बाहर निकलनेको प्रश्वास और अंदर तथा बाहर रुकनेको विराम कहते हैं। इस स्वाभाविक श्वास-प्रश्वासकी गतिके वशीकरणसे शरीरके भीतर प्राणकी समस्त सूक्ष्म गतियों-का वशीकार हो सकता है और नाना प्रकारकी अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त हो सकती हैं। इन दोनों गतियोंके नियमपूर्वक रोक देनेके अभ्याससे आयु बढ़ती है, शरीर स्वस्थ रहता है—कुण्डलिनी जाग्रत् होती है और मन जो अति चञ्चल तथा दुर्निग्रह है, प्राणसे सम्बन्ध रखनेके कारण उसके रुकनेसे शीघ्र स्थिर हो जाता है। योगका अन्तिम लक्ष्य चित्तकी वृत्तियोंका रोकना है, इसलिये सूत्रकारने प्राणायामको योगका

चौथा अङ्ग मानकर उसका लक्षण (नियमपूर्वक) श्वास-प्रश्वासकी गतिका रोकना किया है । तीन नियमित क्रियाओंसे इस गतिका निरोध किया जाता है । इसलिये प्राणायामके तीन भेद पूरक = आभ्यन्तर-वृत्ति, रेचक = बाह्य-वृत्ति और कुम्भक = स्तम्भ-वृत्ति किये हैं ।

(१) पूरक (आभ्यन्तर-वृत्ति) द्वारा श्वासको देश (नाभि, मूलाधार आदि आभ्यन्तर प्रदेश-तक ले जाकर), काल (श्वासकी मात्राएँ बढ़ाकर) और संख्या (कई श्वासोंका एक श्वास बनाकर) के परिमाणसे दीर्घ और सूक्ष्म करके उसकी गतिका अभाव किया जाता है । इस प्रकार पूरकद्वारा श्वासकी गतिको रोक देनेको पूरकसहित कुम्भक अथवा आभ्यन्तर कुम्भक कहते हैं ।

(२) इसी प्रकार रेचकद्वारा प्रश्वासको देश, काल और संख्याके परिमाणसे दीर्घ और सूक्ष्म करके उसकी गतिको रोक दिया जाता है । इस प्रकार प्रश्वासकी गतिको रोक देनेको रेचकसहित कुम्भक अथवा बाह्य कुम्भक कहते हैं । जहाँ पूरक, रेचक दोनोंसे श्वास-प्रश्वासकी गतिको रोक दिया जाता है, वह सहित-कुम्भक कहलाता है ।

(३) बिना पूरक, रेचक किये हुए श्वास-प्रश्वास दोनोंकी गतियोंको कुम्भकद्वारा एकदम जहाँका तहाँ रोक दिया जाता है । यह भी देश (हृदयकी धड़कन, हाथकी नाड़ी आदिकी चालको देखकर), काल (कितनी मात्राओंमें गतिका अभाव रहा) और संख्या (कितनी विरामकी संख्यामें गतिका अभाव रहा) के परिमाणसे दीर्घ और सूक्ष्म होता है । इसको केवल कुम्भक कहते हैं ।

(४) इन तीनों प्रकारके प्राणायामोंसे भिन्न एक चौथी विलक्षण क्रिया श्वास-प्रश्वासकी गतिको रोकनेकी है । इसकी संज्ञा योगदर्शनमें "चतुर्थ प्राणायाम" की है । इसमें श्वास-प्रश्वासकी गतिको रोके बिना केवल रेचक, पूरा किया जाता है । इसके निरन्तर अभ्याससे श्वास-प्रश्वासकी गति देश, काल और संख्याके परिमाणसे दीर्घ और सूक्ष्म होती हुई स्वयं निरुद्ध हो जाती है ।

समाधिपादके चौंतीसवें सूत्रके वि० व० में मुख्य प्राणके पाँच भेद—प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान तथा प्राणका निवासस्थान हृदय, अपानका मूलाधार और समानका नाभि बतला आये हैं । पूरकमें प्राण समानसे नीचे जाकर अपानके साथ मिलता है और रेचकमें अपान समानसे ऊपर जाकर प्राणसे मिलता है । इसलिये कई योगाचार्योंने प्राणायामका लक्षण 'प्राण और अपानका मिलाना' किया है । यथा—

प्राणापानसमायोगः प्राणायाम इतीरितः ।
प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचकपूरककुम्भकैः ॥

(योगियाज्ञवल्क्य ६ । २)

'प्राण और अपान वायुके मिलानेको प्राणायाम कहते हैं । प्राणायाम कहनेसे रेचक, पूरक और कुम्भककी क्रिया समझी जाती है ।'

वर्णत्रयात्मका ह्येते रेचकपूरककुम्भकाः ।
स एव प्रणवः प्रोक्तः प्राणायामश्च तन्मयः ॥

(योगियाज्ञवल्क्य ६ । ३)

'रेचक, पूरक और कुम्भक—यह तीनों तीन वर्णरूप हैं अर्थात् इन तीनोंमें तीन-तीन वर्ण होते हैं । वही यह प्रणव कहा गया है । प्राणायाम प्रणव-रूप ही है । अर्थात् जिस प्रकार ओम्में अ, उ, म—ये

तीन वर्ग है, इसी प्रकार पूरक, कुम्भक, रेचक तीनोमे तीन-तीन वर्ग हैं, इसलिये यह तीनो प्रणव ही है। ऐसा जानकर इन तीनोके अलग-अलग अभ्यासमें प्रणव-उपासनाकी भावना करनी चाहिये। प्राणायामकी क्रियाओकी भिन्नतासे कुम्भकके आठ अवान्तर भेद बतलाये गये हैं। यथा—

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाष्टकुम्भकाः॥

(गोरक्षसंहिता १९५, घेरण्डसंहिता)

'सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा और केवली भेदसे कुम्भक आठ प्रकारका है।'

हठयोगप्रदीपिकामें कुम्भकका आठवाँ भेद प्लाविनी माना है। इन सब प्रकारके उपर्युक्त कुम्भकोंके वर्णन करनेसे पूर्व इनके सम्बन्धमें कई विशेष सूचनाएँ दे देना उचित प्रतीत होता है।

बन्धोंका प्रयोग—स्थिरासनमें खेचरी मुद्राके साथ नेत्रोंको बंद करके प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये। सिर, गर्दन और मेरुदण्ड सीधे रहें; झुके न रहें। शरीरको तानकर नहीं रखना चाहिये, बल्कि ढीला छोड देना चाहिये। मूलबन्ध आरम्भसे अन्ततक तीनो प्राणायामोंमें लगा रहना चाहिये। उड्डीयानको भी लगाये रखनेका प्रयत्न करें। रेचकमें पूरा उड्डीयान करके पेटको पीठसे मिला देना चाहिये। पूरक और कुम्भकके समय पेटकी नाड़ियोंको फुलाकर आगेकी ओर नहीं बढ़ाना चाहिये, वरं सिकोडकर ही रखना चाहिये। पूरक करके कुम्भकके समय जालन्धर-बन्ध लगाकर वायुको अंदर रोकना होता है। कुम्भककी समाप्तिपर जालन्धर-बन्ध खोलकर रेचक किया जाता है। जालन्धर-बन्ध यद्यपि बहुत लाभदायक है तथापि तनिक-सी असावधानी होनेपर इसमे हानि पहुँचनेकी भी सम्भावना रहती है तथा इसके द्वारा गर्दन झुकानेकी आदत भी कई अभ्यासियोंको पड़ जाती है, इसलिये राजयोगके अभ्यासियोके लिये अधिक हितकर नहीं है। बिना जालन्धर-बन्ध लगाये दोनो नासिकापुटको अंगुलियोसे बंद करके अथवा इसके बिना भी कुम्भक किया जाता है।

२ अंगुलियोंका प्रयोग—बाम नासिकापुटसे पूरक करते समय दाहिने नासिकापुटको दाहिने हाथके अंगूठेसे दबाना होता है। कुम्भकके समय बाम नासिकापुटको भी दाहिने हाथकी अनामिका तथा कनिष्ठिकासे दबाकर वायुको अंदर रोकना होता है। अर्थात् यदि जालन्धर-बन्ध न लगाना हो तो कुम्भकमें दोनो नासिकापुट (नथुने) सीधे हाथकी नियुक्त अंगुलियोसे बंद किये जाते है। दक्षिण नासिकापुटसे रेचक करते समय केवल बाम नासिकापुटको बंद रखना होता है, दाहिनेपरसे अंगुलियाँ हटा ली जाती हैं, इसी अवस्थामें दाहिने नथुनेसे पूरक किया जाता है और कुम्भकके समय इसको भी पूर्ववत् बंद कर दिया जाता है। बाये नथुनेसे रेचकके समय उस नथुनेपरसे अंगुलियाँ हटा ली जाती है। दोनो नथुनोसे रेचक तथा पूरक करते समय दोनो नथुनेपरसे अंगुलियाँ हटा ली जाती है। आरम्भमें ही अंगुलियोके प्रयोगकी आवश्यकता होती है। अभ्यास परिपक्व हो जानेपर नथुनोको अंगुलियोसे दबाये बिना भी रेचक, पूरक, कुम्भक किया जा सकता है। यदि कुम्भकमें जालन्धर-बन्ध लगाया हो तो अंगुलियोद्वारा नथुनोको बंद करनेकी आवश्यकता नहीं होती।

आगे बतलाये जानेवाले रेचक, पूरक, कुम्भकमें अगुलियोद्वारा नासिकापुटका खोलना, बंद करना पाठकगण स्वयं समझ ले, हमें अब उनके बतलानेकी आवश्यकता नहीं रही ।

३ प्राणायामके आरम्भमें जिस नासिकापुटसे पूरक करना हो उससे प्रथम पूरा श्वास बाहर निकाल देना चाहिये ।

सगर्भ (सबीज) सहित कुम्भक—

सहितो द्विविधः प्रोक्तः प्राणायामं समाचरेत् ।
सगर्भो बीजमुच्चार्य निर्गर्भो बीजवर्जितः ॥

'सहित-कुम्भक सगर्भ और निर्गर्भ भेदसे दो प्रकारका कहा गया है । उसका आचरण करे । सगर्भ बीजमन्त्रके उच्चारणके साथ किया जाता है और निर्गर्भ बीजमन्त्रको छोड़कर किया जाता है ।'

सगर्भ अर्थात् सबीज प्राणायामकी विधि—पूरकका बीजमन्त्र 'अं' है कुम्भकका 'उं' और रेचकका 'म' है । इस प्रकार सहित-प्राणायामको प्रणवात्मक समझकर उसमें 'प्रणव' की उपासनाकी भावना करते हुए पूरकमें 'अ' का, कुम्भकमें 'उं' का और रेचकमें 'म' का जाप करते हुए अथवा पूरक, कुम्भक और रेचक तीनोंको अलग-अलग प्रणवात्मक जानकर उनमें 'प्रणव' की उपासनाकी भावना करते हुए तीनोंमें 'ओम्' की निश्चित मात्रासे जाप करना सबीज अथवा सगर्भ प्राणायाम है ।

१ साधारण सहित अथवा अनुलोम विलोम कुम्भक—बीजमन्त्र 'अ' अथवा ओ३म्का छः बार मानसिक जाप करते हुए बायें नासिकापुटसे धीमे-धीमे बिना आवाज किये हुए वायुको मूलाधारतक पूरक करे । चौबीस बार बीजमन्त्र 'उं' अथवा ओ३म्का मानसिक जाप करते हुए कुम्भक करे । बीजमन्त्र 'मं' अथवा ओ३म्का बारह बार मानसिक जाप करते हुए धीरे-धीरे बिना आवाज किये वायुको दायें नासिका पुटसे रेचक करे । थोड़ी देर (एक सेकण्ड) वायुको बाहर रोककर पूर्ववत् छः मात्रामें 'अं' अथवा ओ३म्का जाप करते हुए इसी नासिकापुटसे पूरक करे । पूरकके पश्चात् पूर्ववत् कुम्भक, तत्पश्चात् बायें नासिकापुटसे रेचक करे, ये दो प्राणायाम हुए । इसी प्रकार दोनों नासिकापुटोंसे एक साथ पूरक, कुम्भक और रेचक करके प्राणायाम किया जा सकता है । प्राणायामकी संख्या यही रहे । मात्राएँ पूरक, कुम्भक और रेचक १-४-२ के हिसाबसे यथाशक्ति बढ़ाते रहें ।

निम्नलिखित क्रमानुसार मात्राओंको शनैः-शनैः बढ़ाया जा सकता है—

६ मात्रासे पूरक		८ मात्रासे कुम्भक		६ मात्रासे रेचक		१५ दिनतक	
८	,, ,,	१२	,, ,,	९	,, ,,	,,	,,
६	,, ,,	१८	,, ,,	१०	,, ,,	,,	,,
६	,, ,,	२४	,, ,,	१२	,, ,,	,,	,,
७	,, ,,	२८	,, ,,	१४	,, ,,	,,	,,
८	,, ,,	३२	,, ,,	१६	,, ,,	,,	,,
९	,, ,,	३६	,, ,,	१८	,, ,,	,,	,,
१०	,, ,,	४०	,, ,,	२०	,, ,,	,,	,,
११	,, ,,	४४	,, ,,	२२	,, ,,	,,	,,

Vedic Library

१२	मात्रासे	पूरक	४८	मात्रासे	कुम्भक	२४ मात्रासे रेचक	१५ दिनतक
१३	"	"	५२	"	"	२६ " "	" "
१४	"	"	५६	"	"	२८ " "	" "
१५	"	"	६०	"	"	३० " "	" "
१६	"	"	६४	"	"	३२ " "	" "
१७	"	"	६८	"	"	३४ " "	" "
१८	"	"	७२	"	"	३६ " "	" "
१९	"	"	७६	"	"	३८ " "	" "
२०	"	"	८०	"	"	४० " "	" "

इसके पश्चात् यदि चाहें तो केवल कुम्भक कर सकते हैं। मात्राओंको बढानेमें शीघ्रता न करें, यथाशक्ति शनैः-शनैः बढावें।

साधारण सहित-कुम्भकके अन्तर्गत कई अन्य उपयोगी प्राणायाम—

(क) ताल्युक्त प्राणायाम—हाथकी कलाईपर अगूठेकी ओर नवजवाली नाडीपर अङ्गुलियोको रखकर उसकी धडकन (गति) की चालको अच्छी प्रकार पहचाननेका अभ्यास करनेके पश्चात् इस प्राणायामको निम्न प्रकार करे—

किसी सुखासनसे विधिके अनुसार बैठकर उस नाड़ीकी धड़कनको १ से ६ तक गिनते हुए पूरक, १ से ३ तक गिनते हुए आभ्यन्तर कुम्भक, १ से ६ तक गिनते हुए रेचक और १ से ३ तक गिनते हुए बाह्य कुम्भक करे। यह १ प्राणायाम हुआ, इस प्रकार सात प्राणायाम करे। मात्राएँ इसी क्रमानुसार यथाशक्ति बढाते जायँ। इसी प्रकार अनुलोम-विलोम रीतिसे यह प्राणायाम किया जा सकता है।

फल—मनकी एकाग्रता तथा बिना तारके तारवाले यन्त्र (Wireless Telegram) अथवा रेडियो (Radio) के सदृश दूर-दूर स्थानोमें बैठे हुए दो मनुष्य एक निश्चित समयपर इस प्राणायाम-द्वारा ताल्युक्त होकर अपने विचारकी तरंगे (धारे) एक-दूसरेतक पहुँचा सकते हैं (सूत्र ३२ वि० व० सम्मोहनशक्ति)।

दूसरी विधि—उपर्युक्त विधिके परिपक्व होनेपर सातो चक्रोपर क्रमानुसार ध्यान करते हुए इस प्राणायामको करे—

मूलाधार चक्र—पूरकमें ऐसी भावना करे कि श्वास उस स्थानमें अंदर आ रहा है। आभ्यन्तर कुम्भकके पश्चात् रेचकमें ऐसी भावना करे कि श्वास वहाँसे बाहर निकल रहा है। फिर बाह्य कुम्भक करे। इस प्रकार सात प्राणायाम करे। इसी प्रकार क्रमानुसार स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूरक चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्ध चक्र, आज्ञाचक्र तथा ब्रह्मरन्ध्रमें ध्यान करते हुए प्राणायाम करे।

फल—चक्रभेदनमें सहायता, शरीरके किसी विशेष अङ्गके विकारी होनेपर उस स्थानपर इस प्राणा-यामद्वारा प्राणको भरकर विकारका हटाना।

२ *सूर्यभेदी कुम्भक*—बलपूर्वक सूर्यनाड़ी अर्थात् दाहिने नासिकापुटसे धीरे-धीरे आवाजके साथ

आगे बतलाये जानेवाले रेचक, पूरक, कुम्भकमें अंगुलियोंद्वारा नासिकापुटका खोलना, बंद करना पाठकगण स्वयं समझ लें, हमें अब उनके बतलानेकी आवश्यकता नहीं रही।

३ प्राणायामके आरम्भमें जिस नासिकापुटसे पूरक करना हो उससे प्रथम पूरा श्वास बाहर निकाल देना चाहिये।

सगर्भ (सबीज) सहित कुम्भक—

सहितो द्विविधः प्रोक्तः प्राणायामं समाचरेत्।
सगर्भो बीजमुच्चार्य निर्गर्भो बीजवर्जितः॥

'सहित-कुम्भक सगर्भ और निर्गर्भ भेदसे दो प्रकारका कहा गया है। उसका आचरण करे। सगर्भ बीजमन्त्रके उच्चारणके साथ किया जाता है और निर्गर्भ बीजमन्त्रको छोड़कर किया जाता है।'

सगर्भ अर्थात् सबीज प्राणायामकी विधि—पूरकका बीजमन्त्र 'अ' है कुम्भकका 'उ' और रेचकका 'म' है। इस प्रकार सहित-प्राणायामको प्रणवात्मक समझकर उसमें 'प्रणव' की उपासनाकी भावना करते हुए पूरकमें 'अ' का, कुम्भकमें 'उ' का और रेचकमें 'म' का जाप करते हुए अथवा पूरक, कुम्भक और रेचक तीनोंको अलग-अलग प्रणवात्मक जानकर उनमें 'प्रणव' की उपासनाकी भावना करते हुए तीनोंमें 'ओम्' की निश्चित मात्रासे जाप करना सबीज अथवा सगर्भ प्राणायाम है।

१ साधारण सहित अथवा अनुलोम विलोम कुम्भक—बीजमन्त्र 'अ' अथवा ओ३म्का छः बार मानसिक जाप करते हुए बायें नासिकापुटसे धीमे-धीमे बिना आवाज किये हुए वायुको मूलाधारतक पूरक करे। चौबीस बार बीजमन्त्र 'उ' अथवा ओ३म्का मानसिक जाप करते हुए कुम्भक करे। बीजमन्त्र 'म' अथवा ओ३म्का बारह बार मानसिक जाप करते हुए धीरे-धीरे बिना आवाज किये वायुको दायें नासिका पुटसे रेचक करे। थोड़ी देर (एक सेकण्ड) वायुको बाहर रोककर पूर्ववत् छः मात्रामें 'अं' अथवा ओ३म्का जाप करते हुए इसी नासिकापुटसे पूरक करे। पूरकके पश्चात् पूर्ववत् कुम्भक, तत्पश्चात् बायें नासिकापुटसे रेचक करे, ये दो प्राणायाम हुए। इसी प्रकार दोनों नासिकापुटोंसे एक साथ पूरक, कुम्भक और रेचक करके प्राणायाम किया जा सकता है। प्राणायामकी संख्या यही रहे। मात्राएँ पूरक, कुम्भक और रेचक १-४-२ के हिसाबसे यथाशक्ति बढ़ाते रहें।

निम्नलिखित क्रमानुसार मात्राओंको शनैः-शनैः बढ़ाया जा सकता है—

६ मात्रासे पूरक	८ मात्रासे कुम्भक	६ मात्रासे रेचक	१५ दिनतक
६ ,, ,,	१२ ,, ,,	९ ,, ,,	,, ,,
६ ,, ,,	१८ ,, ,,	१० ,, ,,	,, ,,
६ ,, ,,	२४ ,, ,,	१२ ,, ,,	,, ,,
७ ,, ,,	२८ ,, ,,	१४ ,, ,,	,, ,,
८ ,, ,,	३२ ,, ,,	१६ ,, ,,	,, ,,
९ ,, ,,	३६ ,, ,,	१८ ,, ,,	,, ,,
१० ,, ,,	४० ,, ,,	२० ,, ,,	,, ,,
११ ,, ,,	४४ ,, ,,	२२ ,, ,,	,, ,,

१२	मात्रासे	पूरक	४८	मात्रासे	कुम्भक	२४ मात्रासे रेचक	१५ दिनतक
१३	"	"	५२	"	"	२६ " "	" "
१४	"	"	५६	"	"	२८ " "	" "
१५	"	"	६०	"	"	३० " "	" "
१६	"	"	६४	"	"	३२ " "	" "
१७	"	"	६८	"	"	३४ " "	" "
१८	"	"	७२	"	"	३६ " "	" "
१९	"	"	७६	"	"	३८ " "	" "
२०	"	"	८०	"	"	४० " "	" "

इसके पश्चात् यदि चाहें तो केवल कुम्भक कर सकते हैं। मात्राओंको बढ़ानेमें शीघ्रता न करे, यथाशक्ति शनैः-शनैः बढ़ावें।

साधारण सहित-कुम्भकके अन्तर्गत कई अन्य उपयोगी प्राणायाम—

(क) ताल्युक्त प्राणायाम—हाथकी कलाईपर अंगूठेकी ओर नवजवाली नाडीपर अङ्गुलियोंको रखकर उसकी धड़कन (गति) की चालको अच्छी प्रकार पहचाननेका अभ्यास करनेके पश्चात् इस प्राणायामको निम्न प्रकार करे—

किसी सुखासनसे विधिके अनुसार बैठकर उस नाड़ीकी धड़कनको १ से ६ तक गिनते हुए पूरक, १ से ३ तक गिनते हुए आभ्यन्तर कुम्भक, १ से ६ तक गिनते हुए रेचक और १ से ३ तक गिनते हुए बाह्य कुम्भक करे। यह १ प्राणायाम हुआ, इस प्रकार सात प्राणायाम करे। मात्राएँ इसी क्रमानुसार यथाशक्ति बढ़ाते जायँ। इसी प्रकार अनुलोम-विलोम रीतिसे यह प्राणायाम किया जा सकता है।

फल—मनकी एकाग्रता तथा बिना तारके तारवाले यन्त्र (Wireless Telegram) अथवा रेडियो (Radio) के सदृश दूर-दूर स्थानोंमें बैठे हुए दो मनुष्य एक निश्चित समयपर इस प्राणायाम-द्वारा ताल्युक्त होकर अपने विचारकी तरंगे (धारें) एक-दूसरेतक पहुँचा सकते है (सूत्र ३२ वि० व० सम्मोहनशक्ति)।

दूसरी विधि—उपर्युक्त विधिके परिपक्व होनेपर सातो चक्रोंपर क्रमानुसार ध्यान करते हुए इस प्राणायामको करे—

मूलाधार चक्र—पूरकमें ऐसी भावना करे कि श्वास उस स्थानमें अंदर आ रहा है। आभ्यन्तर कुम्भकके पश्चात् रेचकमें ऐसी भावना करे कि श्वास वहाँसे बाहर निकल रहा है। फिर बाह्य कुम्भक करे। इस प्रकार सात प्राणायाम करे। इसी प्रकार क्रमानुसार स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूरक चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्ध चक्र, आज्ञाचक्र तथा ब्रह्मरन्ध्रमें ध्यान करते हुए प्राणायाम करे।

फल—चक्रभेदनमें सहायता, शरीरके किसी विशेष अङ्गके विकारी होनेपर उस स्थानपर इस प्राणा-यामद्वारा प्राणको भरकर विकारका हटाना।

२ *सूर्यभेदी कुम्भक*—बलपूर्वक सूर्यनाड़ी अर्थात् दाहिने नासिकापुटसे धीरे-धीरे आवाजके साथ

पूरक करें, (प्राणवायुको पूर्णतया कोष्ठमें भरकर नखसे शिखापर्यन्त फैलाकर) बलपूर्वक जबतक वायुको रोक सके कुम्भक करें । इसके पश्चात् चन्द्र-नाडी अर्थात् वाम नासिकापुटसे धैर्यके साथ आवाज करते हुए वेग-पूर्वक रेचक करे । यह एक प्राणायाम हुआ । आरम्भमें इस प्रकार पाँच प्राणायाम करें, शनैः-शनैः शक्तिके अनुसार संख्या बढाते जायँ । इस प्राणायाममें पुन.-पुनःकेवल सूर्यनाडीसे ही पूरक और वाम नाडीसे ही रेचक किया जाय ।

सूर्यभेदी प्राणायामसे शरीरमें उष्णता तथा पित्तकी वृद्धि होती है । वात और कफसे उत्पन्न होने-वाले रोग, रक्त-दोष, त्वचा-दोष, उदर-कृमि आदि नष्ट होते हैं । जठराग्नि बढती है और कुण्डलिनी-शक्तिके जागरण करनेमें सहायता मिलती है । इस प्राणायामका अभ्यास गर्मीके दिनोंमें तथा पित्त-प्रधान प्रकृतिवाले पुरुषोंके लिये हितकर नहीं है ।

चन्द्रभेदी प्राणायाम सूर्यभेदी प्राणायामसे बिल्कुल उल्टा अर्थात् चन्द्रस्वर (बायें नासिकापुट) से पूरक और सूर्यस्वर (दाहिने नासिकापुट) से रेचक करनेसे चन्द्रभेदी प्राणायाम होता है । इससे थकावट और शरीरकी उष्णता दूर होती है ।

३ *उज्जाई कुम्भक*—मुखको किसी कदर झुकाकर कण्ठसे हृदयपर्यन्त शब्द करते हुए दोनों नासिकापुटसे (अथवा दाहिने नासिकापुटसे) शनै.-शनैः पूरक करे । कुछ देरतक कुम्भक करनेके पश्चात् बायें नासिकापुटसे इसी प्रकार रेचक करे । यह एक प्राणायाम हुआ । इस प्राणायाममें कुम्भक, पूरक, रेचक स्वल्प परिमाणमें किये जाते हैं । कुम्भकमें वायु हृदयसे नीचे नहीं जाना चाहिये । रेचकमें जितना हो सके शनै.-शनैः वायुको विरेचन करना चाहिये । इसमें पूरकमें नासिका-छिद्रद्वारा वायुको बाहरसे खींच-कर मुखमें, मुखसे कण्ठमें और कण्ठसे ले जाकर हृदयमें धारण किया जाता है । फिर यथाक्रम रेचकमें हृदयसे कण्ठमें, कण्ठसे मुखमें और मुखसे वायुको बाहर निकाला जाता है । पाँचसे आरम्भ करके शनैः-शनैः यथाशक्ति संख्या बढाते जायँ ।

फल—कफ-प्रकोप, उदर-रोग, आमवात, मन्दाग्नि, प्लीहा आदिका दूर होना, अग्निका प्रदीप्त होना एवं कण्ठ, मुख और फेफड़ोंकी स्वच्छता ।

दीर्घसूत्री उज्जाई—इसमें कण्ठकी सहायतासे लंबी, दीर्घ और हल्की आवाज उत्पन्न करते हुए मनकी एकाग्रताके लिये केवल पूरक रेचक किया जाता है ।

४ *शीतली कुम्भक*—काकके चोंचकी आकृतिमें जिह्वाको ओष्ठसे बाहर निकालकर वायुको शनै.-शनै. पूरक करे । धीरे-धीरे पेटको वायुसे पूर्ण करके सूर्यभेदी प्राणायामके सदृश कुछ देर कुम्भक करनेके पश्चात् दोनों नासिकापुटसे रेचक करे । पुनः-पुनः इसी प्रकार करे ।

फल—अजीर्ण, पित्तसे उत्पन्न होनेवाले रोग, रक्तपित्त, रक्तविकार, पेचिश, अम्लपित्त, प्लीहा, तृषा आदि रोग इससे दूर होते हैं, बल और सौन्दर्यकी वृद्धि होती है । कफ प्रकृतिवाले मनुष्योंके लिये तथा शीतकालमें इस प्राणायामका अभ्यास हितकर नहीं है ।

निम्नलिखित प्राणायामोंको शीतलीके अन्तर्गत समझना चाहिये । इनकी विधि तथा फल भी लगभग उसीके समान है । शरीरमें ठंड पहुँचाने तथा क्षय (थाइसिस Phthisis) राजयक्ष्मा आदि रोगोंके नाश करनेमें अति उपयोगी होते हैं ।

(क) शीतकारी—जिह्वाको ओष्ठोंसे बाहर निकालकर और उसका बिल्कुल अगला भाग दोनो दाँतो-की पंक्ति एव ओष्ठोसे साधारण हल्का दबाकर छिद्रोसे वायुको शीत्कारपूर्वक अर्थात् शीत्कारकी आवाज उत्पन्न करते हुए पूरक करे; अन्य सब विधि शीतलीके समान ।

(ख) काकी प्राणायाम—इसमे ओष्ठोको सिकोड़कर काककी चोंचके समान बनाकर वायुको शनैः-शनैः पूरक किया जाता है, अन्य सब विधि शीतलीके समान ।

(ग) कवि प्राणायाम—दोनो दाँतोकी पक्तियोको दबाकर उनके छिद्रोंद्वारा वायुको शनैः-शनैः पूरक करे, अन्य सब विधि पूर्ववत् । वाणीका मीठा और कण्ठका सुरीला होना यह इसमें विशेषता है ।

(घ) भुजङ्गी प्राणायाम—भुजङ्गके सदृश मुखको खोलकर वायुको पूरक करें । अन्य सब विधि पूर्ववत् । इन प्राणायामोंमें कहीं-कहीं पाँच बार केवल पूरक-रेचक करनेके पश्चात् छठी बार कुम्भक करना बतलाया है ।

५ *भस्त्रिका-कुम्भक*—भस्त्रिका प्राणायाम कई प्रकारसे किया जाता है । इसके मुख्य चार भेद है—मध्यमभस्त्रिका, वामभस्त्रिका, दक्षिणभस्त्रिका और अनुलोम विलोमभस्त्रिका ।

(क) *मध्यम भस्त्रिका*—जैसे लुहारकी धौंकनीसे वायु भरी जाती है, इसी प्रकार दोनों नासिका-पुटसे वायुको आवाजके साथ धीमे-धीमे लंबा, दीर्घ और वेगपूर्वक मूलाधारतक पूरक करे । बिना कुम्भक किये इसी प्रकार दोनो नासिकापुटसे रेचक करे । इस प्रकार बिना आभ्यन्तर और बाह्य कुम्भकके आठ बार पूरक-रेचक करके नवीं बार पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करके दसवीं बार उसी प्रकार धीमे-धीमे दोनो नासिकापुटसे रेचक करे । यह एक प्राणायाम हुआ । इस प्रकार तीन प्राणायाम करे ।

(ख) *वामभस्त्रिका*—दक्षिण नासिकापुटको बंद करके उपर्युक्त रीतिसे वाम नासिकापुटसे मूलाधारतक आठ बार पूरक, रेचक करके नवीं बार पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करे । तत्पश्चात् उपर्युक्त विधि अनुसार दक्षिण नासिकापुटसे धीमे-धीमे रेचक कर दे । यह एक प्राणायाम हुआ ।

(ग) *दक्षिणभस्त्रिका*—वाम नासिकापुट बंद करके दक्षिण नासिकापुटसे आठ बार बिना आभ्यन्तर और बाह्य कुम्भकके उपर्युक्त विधि-अनुसार पूरक-रेचक करनेके पश्चात् नवीं बार पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करे । तत्पश्चात् वाम नासिकापुटसे रेचक करे । यह एक प्राणायाम हुआ ।

वामभस्त्रिका और दक्षिणभस्त्रिकाको मिलाकर करनेकी विधि—पहिले वामभस्त्रिकाका एक प्राणा-याम करे, फिर दक्षिणभस्त्रिकाका एक प्राणायाम, तत्पश्चात् वामभस्त्रिकाका एक प्राणायाम । इस प्रकार इन तीन प्राणायामोमें दो बार वामभस्त्रिका और एक बार दक्षिणभस्त्रिका होगा ।

(घ) *अनुलोम-विलोमभस्त्रिका*—जैसे लोहारकी धौंकनीसे वायु भरी जाती है इसी प्रकार बायें नासिकापुटसे वायुको आवाजके साथ धीमे-धीमे लंबा, दीर्घ और वेगपूर्वक मूलाधारतक पूरक करे । बिना कुम्भक किये इसी प्रकार दक्षिण नासिकापुटसे रेचक करे । बिना बाह्य कुम्भकके उसी नासिका-पुटसे पूरक करके फिर बाये नासिकापुटसे विधि-अनुसार रेचक करे । ये चार प्राणायाम हुए । इस प्रकार आठ बार बिना कुम्भक किये केवल पूरक, रेचक करते हुए नवीं बार वाम नासिकापुटसे पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करे । तत्पश्चात् दसवीं वार दक्षिण नासिकापुटसे रेचक करे । यह दस प्राणायाम-का पहला प्राणायाम हुआ । अब दक्षिण नासिकापुटसे आरम्भ करके नवीं बार कुम्भकके पश्चात् दसवीं

वार वाम नासिकापुटसे रेचक करें । यह दूसरा प्राणायाम हुआ । अब पहले प्राणायामकी भाँति तीसरा प्राणायाम करें ।

इन विधियोंमें पूरककी समाप्तिपर मूलाधार चक्रपर एक सेकंड (कुछ देर) ध्यानके पश्चात् रेचक करे । इसी प्रकार रेचककी समाप्तिपर नासिकाके अग्रभागपर कुछ देर (एक सेकंड) ध्यानके पश्चात् पूरक करें । कुम्भकके समय नाभि-स्थान मणिपुर-चक्रपर ध्यान लगावे । यह प्राणायाम तीन बार ही करे । अर्थात् तीनसे अधिक बार कुम्भक बढानेका यत्न न करें । किंतु तीनो प्राणायामोंकी संख्या दससे ऊपर शनैः-शनैः यथाशक्ति चार-चार बढ़ाते हुए १४, १८, २२ इत्यादि करते हुए चले जायँ । पूरक, रेचक और कुम्भकका समय भी यथाशक्ति बढाते जायँ । अभ्यासीगण यदि चाहें और उनके पास समय अधिक हो तो तीन प्राणायामको बढाकर सात ग्यारह इत्यादि कर सकते हैं अर्थात् चार-चार बढ़ा सकते हैं ।

इस प्राणायामसे त्रिधातु-विकृतिसे उत्पन्न हुए सब रोग नष्ट हो जाते हैं, आरोग्यता बढ़ती है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है । गर्मी, सर्दी सब ऋतुओंमें किया जा सकता है । कुम्भक बढाने, मनके स्थिर करने और कुण्डलिनी जाग्रत् करनेमें अति उपयोगी है । अभ्यासीगण ध्यान करनेसे पूर्व इसे अवश्य करे ।

भस्त्रिकामें रेचक, पूरक अधिक लाभदायक होते है, इसलिये इनकी सख्या अधिक और कुम्भककी कम बतलायी गयी है । अभ्यासीगण यदि चाहें तो आभ्यन्तर कुम्भकके पश्चात् रेचक करनेके बाद बाह्य कुम्भक भी कर सकते हैं । बाह्य कुम्भकका समय आभ्यन्तर कुम्भकके समयसे आधा अथवा बराबर रख सकते हैं ।

(१) बलहीन अशक्त साधकोंको साधारण वेगपूर्वक, (२) स्वस्थ, शक्तिशाली साधकोंको लबा, दीर्घ वेगपूर्वक और (३) अभ्यस्त साधकोको अतिवेगपूर्वक पूरक-रेचक करना चाहिये ।

रेचकमें पूरकसे अधिक समय देना चाहिये । इसलिये पूरक और कुम्भकमें उतना ही समय देना चाहिये जिससे रेचक करनेके लिये काफी दम बना रहे ।

निम्नलिखित दो प्राणायामोको भस्त्रिकाके अन्तर्गत समझना चाहिये—

(क) अन्तर्गमन प्राणायाम—सिद्धासनसे बैठकर वाम नासिकापुटसे रेचक करते हुए पूरे उड्डीयानके साथ वाम घुटनेपर सिरको टेक देना तत्पश्चात् पूरक करते हुए सीधा हो जाना । इस प्रकार रेचक, पूरक करते हुए दसवीं बार पूरक करके जालन्धरबन्धके साथ सिरको घुटनेपर रखकर यथाशक्ति कुम्भक करना, तत्पश्चात् जालन्धर-बन्ध खोलकर सीधे हो जाना । फिर रेचक करके तीनों बन्धोंके साथ सिरको घुटनेपर रखकर यथाशक्ति बाह्य कुम्भक करना । इसी प्रकार दक्षिणकी ओर करे ।

(ख) सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर वाम नासिकापुटसे पूरक करें, फिर जालन्धर-बन्ध लगाकर दोनों हाथोंकी अङ्गुलियोंको आपसमें सॉठकर उनको उल्टा करके सिरको दबाते हुए यथाशक्ति कुम्भक करे और ऐसी भावना करें कि प्राण ब्रह्मरन्ध्रमें चढ रहा है । तत्पश्चात् दोनों हाथोंको सिरपरसे हटाकर और जालन्धर-बन्ध खोलकर दक्षिण नासिकापुटसे रेचक करे । इसी प्रकार कई बार करे ।

६ *भ्रामरी कुम्भक*—इस प्राणायाममें पूरक और रेचककी विशेषता है । पूरक वेगसे और भौंरेके शब्दके सदृश शब्दयुक्त होता है और रेचक भृङ्गी (भँवरी) के सदृश मन्द-मन्द शब्दसे युक्त होता है । रेचकका महत्त्व अधिक है, इसलिये इसका नाम भ्रामरी रखा गया है ।

नेत्र बंद करके भ्रूमध्यमें ध्यान करते हुए दोनों नासिकापुटसे भृङ्ग अर्थात् भौरेके सदृश ध्वनि करते हुए लंबे स्वरमें पूरक करें । यथाशक्ति कुम्भक करके भृङ्गी अर्थात् भौरीके मन्द-मन्द शब्दके सदृश ध्वनि करते हुए कण्ठसे रेचक करे । आवाज मीठी, सुरीली और एक तानकी होनी चाहिये । इसके साथ-साथ मूल और उड्डीयान बन्ध लगाते जाना चाहिये । कहीं-कहीं साधारण रीतिसे वेगपूर्वक पूरक करके दृढतापूर्वक जालन्धर-बन्ध लगाकर कण्ठसे उपर्युक्त रीतिसे शब्द करते हुए रेचक करना बतलाया है ।

घेरण्डसंहितामें दोनो कानोंको अंगुलियोसे बंद करके शब्द सुननेका अभ्यास करना बतलाया गया है । इस प्रकार पहिले झींगुर, भौरे और पक्षियोंके चहचहाने-जैसे शब्द सुनायी देते हैं फिर क्रमशः घुँघरू, शङ्ख, घण्टा, ताल, भेरी, मृदङ्ग, नफीरी और नगाडेके सदृश शब्द सुनायी देते है । इस प्रकार उन शब्दोको सुनते हुए 'ॐ' शब्दका श्रवण होने लगता है ।

अनुलोम-विलोम भ्रामरी प्राणायाम—उपर्युक्त विधि-अनुसार वाम नासिकापुटसे पूरक करके कुछ देर कुम्भकके पश्चात् दक्षिण नासिकापुटसे उसी प्रकार रेचक, फिर दक्षिण नासिकापुटसे पूरक, वामसे रेचक, वामसे पूरक, दक्षिणसे रेचक । यह एक प्राणायाम हुआ ।

फल—इस प्राणायामसे वीर्यका शुद्ध होकर ऊर्ध्वगामी होना, रक्त एवं मज्जातन्तुओंका शुद्ध होना और मनका एकाग्र होना हैं ।

ध्वन्यात्मक प्राणायाम—इस प्राणायामको भी भ्रामरीके अन्तर्गत समझना चाहिये । विधि यह है कि दोनो नासिकापुटसे पूरक करके किंचित् मुँहको खोलकर जिह्वा और कण्ठके सहारे 'ओम्' का मीठी सुरीली लगातार एक ध्वनिके साथ उच्चारण करो । आवाजके साथ-साथ मूल और उड्डीयान बन्ध लगाते जाना चाहिये और रेचक करते जाना चाहिये । इसे प्रणवानुसंधान भी कहते है ।

फल—भ्रामरी प्राणायामके सदृश ।

७ मूर्च्छा कुम्भक (षण्मुखी सर्वद्वार बंद मुद्रा)—इस प्राणायाममें पूरक, रेचक भ्रामरी प्राणायामके सदृश किया जाता है । उससे इसमें केवल इतनी विशेषता है कि यह दोनों कान, नेत्र, नासिका और मुँहपर क्रमश दोनो हाथोके अंगुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा और अनामिका तथा कनिष्ठिकाको रखकर किया जाता है । पूरकके समय नासिकापुटपरसे मध्यमाको किंचित् ऊपर उठाकर पूरक किया जाता है । इसके पश्चात् नासिकापुटको मध्यमासे दबाकर कुम्भक किया जाता है । कुम्भककी समाप्तिपर फिर नासिकापुटसे मध्यमाको शिथिल करके रेचक किया जाता है । यह प्राणायाम अनुलोम-विलोम रीतिसे भी उपर्युक्त विधि-अनुसार किया जा सकता है ।

फल—इससे मन मूर्छित और शान्त होता है, अतः इसका नाम मूर्छा है ।

८ प्लावनी कुम्भक—यथाविधि आसनसे बैठकर दोनो नासिकापुटसे पूरक करे । नाभिपर मनको एकाग्र कर सब शरीर-मात्रकी वायुको उदरमें भरकर पेटको चारो ओरसे मसक या रबड़के गोले-सदृश फुलाकर ऐसी भावना करे कि सारे शरीरका वायु पेटमें एकत्र हो गया है; और शरीरके किसी अङ्ग-प्रत्यङ्गमें वायु नहीं रहा है । यथाशक्ति इस स्थितिमें कुम्भक करके दोनों नासिकासे शनैः-शनैः रेचक कर दें ।

फल—प्राणवायुपर पूर्णतया अधिकार, पेटके सब प्रकारके रोग कोष्ठबद्धता आदिका नाश, अपान-वायुकी शुद्धि, जठराग्निकी शुद्धि, वीर्य तथा रक्तकी शुद्धि, जलमें सुखपूर्वक तैरना इत्यादि ।

केवल कुम्भक—केवल कुम्भक बिना पूरक-रेचक किये हुए एकदम श्वास-प्रश्वासकी गतिको जहाँका तहाँ रोक देनेसे होता है ।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ (गीता ४ । २९)

कोई अपानवायुमें प्राणको हवन करते हैं (पूरकसहित अथवा आभ्यन्तर कुम्भक करते हैं) । कोई प्राणमें अपानवायुको होमते हैं (रेचकसहित अथवा कुम्भक करते हैं) । कोई प्राण-अपान (दोनो) की गतिको रोककर (केवल कुम्भक) प्राणायाम करते हैं ।

सहित कुम्भकके निरन्तर अभ्याससे केवल कुम्भक होने लगता है ।

केवल कुम्भककी विधि हठयोगद्वारा—तीनो बन्धोके साथ प्राणको हृदयसे नीचे ले जाकर और अपानको मूलाधारसे ऊपर उठाकर समान वायुके स्थान नाभिपर दोनोंको टक्कर देकर मिलानेसे हठयोग-विधिसे केवल कुम्भक किया जाता है । पर इसमें हानि पहुँचनेकी सम्भावना है और राजयोगियोके लिये अधिक हितकर नहीं है, उनके लिये सबसे उत्तम प्रकार निम्नलिखित है—

साधारण स्वस्थ अवस्थामें मनुष्यके श्वासकी गति एक दिन-रातमें २१६०० बार बतलायी जाती है । इस स्वाभाविक श्वासकी गतिकी सख्या गायन, भोजन करने, चलने, निद्रा, मैथुन, व्यायाम आदिमें क्रमशः बढ़ जाती है । जिस प्रकार साधारण घटनाओको छोड़कर एक घड़ी अथवा अन्य यन्त्रोंकी आयु उसके काम करनेकी शक्तिपर निश्चित की जाती है, इसी प्रकार मनुष्यकी आयु उनके श्वास-प्रश्वासकी गतिपर निर्भर बतलायी जाती है । श्वास-प्रश्वासकी गतिकी संख्या जिस परिमाणसे बढती जायगी उसी परिमाणसे आयुका क्षय और जिस परिमाणसे घटती जायगी उसी परिमाणसे आयुकी वृद्धि होती जायगी[2]। केवल कुम्भकमें श्वास-प्रश्वासकी गतिका निरोध होता है । प्राण और मनका घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिये प्राणके रुकनेसे मनका भी निरोध हो जाता है । जो योगका अन्तिम ध्येय है ।

केवल कुम्भककी विधि राजयोगद्वारा—श्वास-प्रश्वासकी गतिमें प्रणव-उपासनाकी भावना करे, अर्थात् हर समय यह भावना रहे कि श्वासमें 'ओ' और प्रश्वासमें 'अम्' रूपसे प्रत्येक श्वास-प्रश्वासमें ओम्का जाप हो रहा है, इस ओम्के अजपाजापको केवल कुम्भकमें परिणत करनेकी विधि यह है कि 'ओ' से श्वास लेकर जितनी देरतक शान्तिपूर्वक रोक सके रोके, उसके पश्चात् 'अम्से छोड़ दे । क्रमशः कुम्भकका अभ्यास बढता रहे । इसका अभ्यास नासिका-अग्रभाग, भृकुटि, ब्रह्मरन्ध्र आदि स्थानोपर गुरु-आज्ञानुसार करना चाहिये । 'ओ' और 'अम्' के उच्चारणकी आवश्यकता नहीं है । केवल अपने नियत स्थानपर श्वास-प्रश्वासकी गतिपर इस भावनासे ध्यान देना होता है । इसको ५१ वे सूत्रमें बतलाये हुए चौथे प्राणायामके अन्तर्गत ही समझना चाहिये ।

विशेष सूचना—॥ सूत्र ५० ॥ प्राणायामोको किसी अनुभवीसे सीखकर उनका अभ्यास करना चाहिये, अन्यथा लाभके स्थानपर हानि पहुँचनेकी सम्भावना है । नियमित आहार आदि (१।३४) तथा (२।३२) में बतलाये हुए नियमोका पालन करना भी अति आवश्यक है ।

यद्यपि सभी प्राणायाम स्वास्थ्य, नीरोगता, जठराग्नि, दीर्घ आयु, नाडी तथा रक्तशोधन और मनकी स्थिरताके लिये अति उपयोगी हैं और सबकी जानकारी आवश्यक है, पर सबके अभ्यासके लिये पर्याप्त समय मिलना कठिन है, इसलिये राजयोगके साधकोंके लिये चतुर्थ प्राणायामका अभ्यास ही अधिक हितकर

हो सकता है। निम्न तीन प्राणायामोंको चौथे प्राणायाम और ध्यान तथा अन्य सब प्रकारके प्राणायामोंका पूर्व अङ्ग बनानेमे शीघ्र सफलता प्राप्त हो सकती है।

नाड़ीशोधन-प्राणायाम—वाम नासिकापुटसे एकदम बाहर साँस फेके, फिर उसी नासिका-पुटसे बाहरसे वायुको खींचकर बिना रोके हुए एकदम दूसरे दाहिने नथुनेसे बाहर फेक दे। पुनः दाहिनेसे वायुको खींचकर बायेसे फेके। इस प्रकार कई बार करे। रेचक-पूरकमें नासिकापुटको बतलाये हुए नियमानुसार निश्चित अँगुलियोसे खोलते और बंद करते रहे।

२ *कपालभाति*—जिसकी विधि (१ । ३४) के वि० व० में बतलायी है।

३ *अनुलोम-विलोम भस्त्रिका प्राणायाम*—इसकी विधि आठ कुम्भकोमें पाँचवे प्राणायाममें बतलायी है।

संगति—चौथे प्राणायामका लक्षण बताते हैं—

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ—बाह्य-आभ्यन्तर-विषय-आक्षेपी=बाहर अंदरके विषयको फेकनेवाला अर्थात् आलोचना करनेवाला; चतुर्थः=चौथा प्राणायाम है।

अन्वयार्थ—बाहर-अंदरके विषयको फेकनेवाला अर्थात् आलोचना करनेवाला चौथा प्राणायाम है।

व्याख्या—व्यासभाष्य—

देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयपरिदृष्ट आक्षिप्तः। तथाऽऽभ्यन्तरविषयपरिदृष्ट आक्षिप्तः। उभयथा दीर्घसूक्ष्मः। तत्पूर्वको भूमिजयात्क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः। तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणात्क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेष इति ॥ ५१ ॥

देश-काल और संख्यासे परिदृष्ट जो बाह्य-विषय (नासा द्वादशान्तादि बाह्य-प्रदेश) है उसके आक्षेपपूर्वक (आलोचनपूर्वक=ज्ञानपूर्वक=विषयपूर्वक=विचारपूर्वक), ऐसे ही देश-काल और संख्यासे परिदृष्ट जो आभ्यन्तर विषय (हृदय, नाभि-चक्रादि आभ्यन्तर प्रदेश) है उसके आक्षेपपूर्वक दीर्घ और सूक्ष्म दोनो प्रकारसे उत्तरोत्तर क्रमसे भूमियोंके जयके पश्चात् जो श्वास और प्रश्वास इन दोनोंकी गतिका अभाव है, वह चौथा प्राणायाम है। तीसरा प्राणायाम तो (बाह्य और आभ्यन्तर) विषयके आलोचन बिना ही (श्वास-प्रश्वासकी) गतिके अभावसे होता है। वह एकदम ही आरम्भ होकर देश-काल और संख्यासे परिदृष्ट दीर्घ और सूक्ष्म हो जाता है। चौथे प्राणायाममें यह विशेषता है कि यह श्वास-प्रश्वासके (आभ्यन्तर और बाह्य) विषयको अवधारण करके उन दोनों (विषयों) के आक्षेप-पूर्वक क्रमानुसार भूमियोके जयसे (श्वास-प्रश्वासकी) गतिके अभावसे होता है।

व्यास-भाष्यका भावार्थ—पिछले सूत्रमें प्राणायामके तीन भेद रेचक, पूरक और कुम्भक बतलाते हैं।

१ रेचक प्राणायामसे जब श्वासको बाहर निकालकर उसकी गतिका अभाव किया जाय अर्थात् उसको बाहर ही रोक दिया जाय, तब वह रेचकसहित कुम्भक अथवा बाह्य कुम्भक कहलाता है।

२ पूरक प्राणायामसे जब श्वासको अंदर खींचकर उसकी गतिका अभाव किया जाय अर्थात् उसको अंदर ही रोक दिया जाय, तब वह पूरकसहित कुम्भक अथवा आभ्यन्तर कुम्भक कहलाता है।

३ जब प्राणवायुको जहाँ-का-तहाँ एकदम बिना रेचक-पूरकके केवल विधारण प्रयत्नसे रोककर श्वास-प्रश्वासकी गतिका अभाव किया जाय, तब वह केवल कुम्भक कहलाता है।

४ चौथा प्राणायाम बाह्य तथा आभ्यन्तर कुम्भकके बिना केवल रेचक, पूरकद्वारा बाह्य तथा आभ्यन्तर विषय (प्रदेश) के केवल आलोचनपूर्वक स्वयं ही श्वास-पश्वासकी गतिके निरोधसे होता है। इसमें तीसरे प्राणायामसे यह विशेषता है कि जहाँ तीसरा प्राणायाम रेचक, पूरकके बिना एकदम दोनो श्वास-प्रश्वासकी गतिके विषय अभावसे होता है, वहाँ चौथा प्राणायाम रेचक, पूरकद्वारा बाह्य तथा आभ्यन्तर (प्रदेश) के आलोचनपूर्वक उत्तरोत्तर भूमियोंके जयके क्रमसे स्वयं ही श्वास-प्रश्वासकी गतिके अभावसे होता है। उदाहरणार्थ उसकी चार विधियाँ बतलाये देते हैं—

पहली विधि—केवल रेचकद्वारा जहाँतक जा सके श्वासको बाहर ले जायँ। बिना रोके हुए वहाँसे पूरकद्वारा जहाँतक जा सके अदर ले जायँ। यह एक प्राणायाम हुआ। इस प्रकार ११, १५, २० इत्यादिकी सख्यामें बिना कुम्भक किये हुए केवल रेचक, पूरक देरतक करते रहनेसे स्वयं दीर्घ और सूक्ष्म होकर दोनो श्वास-प्रश्वासकी गतियोका स्वयं ही अभाव हो जाता है।

दूसरी विधि—ओ३म्के मानसिक जापके साथ यह भावना करें कि 'ओ' से श्वास अंदर आ रहा है और 'अम्' से बाहर निकल रहा है। इस क्रमसे श्वास-प्रश्वासद्वारा ओम्का मानसिक जाप करते रहें अर्थात् बाह्यप्रदेश तथा आभ्यन्तरप्रदेश हृदय, नाभि आदितक जहाँतक श्वास जाय वहाँतक उसकी गतिको आलोचनपूर्वक दीर्घकालतक ओम्का इस विधिसे जाप करें तो स्वय श्वास-प्रश्वास दीर्घ और सूक्ष्म होते-होते निरुद्ध हो जायगा।

तीसरी विधि—नासिका-अग्रभाग, भृकुटी, ब्रह्मरन्ध्र अथवा अन्य किसी चक्रपर इस भावनासे ओ३म्का मानसिक जाप करें कि 'ओ' से उसी प्रदेशमें श्वास अदर आ रहा है और 'अम्' से बाहर निकल रहा है। इस प्रकार उस विशेष स्थानको श्वास-प्रश्वासका केन्द्र बनाये हुए जापके निरन्तर अभ्याससे श्वास-प्रश्वासकी गति दीर्घ और सूक्ष्म होते हुए स्वयं निरुद्ध हो जाती है।

चौथी विधि— ब्रह्मरन्ध्रमें ध्यान करते हुए श्वास-प्रश्वासकी गतिमें ऐसी भावना करना कि 'ओ' से श्वास मेरुदण्डके भीतर सुषुम्णा नाड़ीमें होता हुआ मूलाधारतक जा रहा है और 'अम्' के साथ वहाँसे ब्रह्मरन्ध्रतक लौट रहा है।

चक्रभेदनमें इस प्राणायामका अभ्यास—इसी प्रकार निचले चक्रो—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक इत्यादिमें ध्यान करते हुए 'ओ' से श्वास और 'अम्' प्रश्वासकी गतिकी भावना करते हुए उसको ऊपरके चक्रोमें आलोचन करनेसे किया जाता है।

विशेष वक्तव्य—॥ सूत्र ५१ ॥—इस सूत्रके अर्थ भिन्न-भिन्न टीकाकारोंने भिन्न-भिन्न किये हैं। 'आक्षेप' के अर्थ फेंकनेके हैं। इससे किसीने उलाँघने=त्यागने=हटानेसे अभिप्राय लिया है और किसीने विषय करने=जानने=आलोचनसे अभिप्राय लिया है। यहाँ सूत्रके दूसरे 'आलोचन' अर्थ किये गये है। सूत्रके आशयको अधिक स्पष्ट करनेके उद्देश्यसे मूल व्यासभाष्य, उसके शब्दार्थ, भावार्थ तथा चतुर्थ प्राणायामके चार उदाहरण भी दे दिये है। चौथे प्राणायामकी विधियाँ राजयोगके उत्तम अधिकारीके लिये है तथा गोपनीय और गुरु-गम्य हैं।

आक्षेपीके अर्थ उलाँघने अर्थात् त्यागने करनेसे सूत्रका अर्थ इस प्रकार होगा—

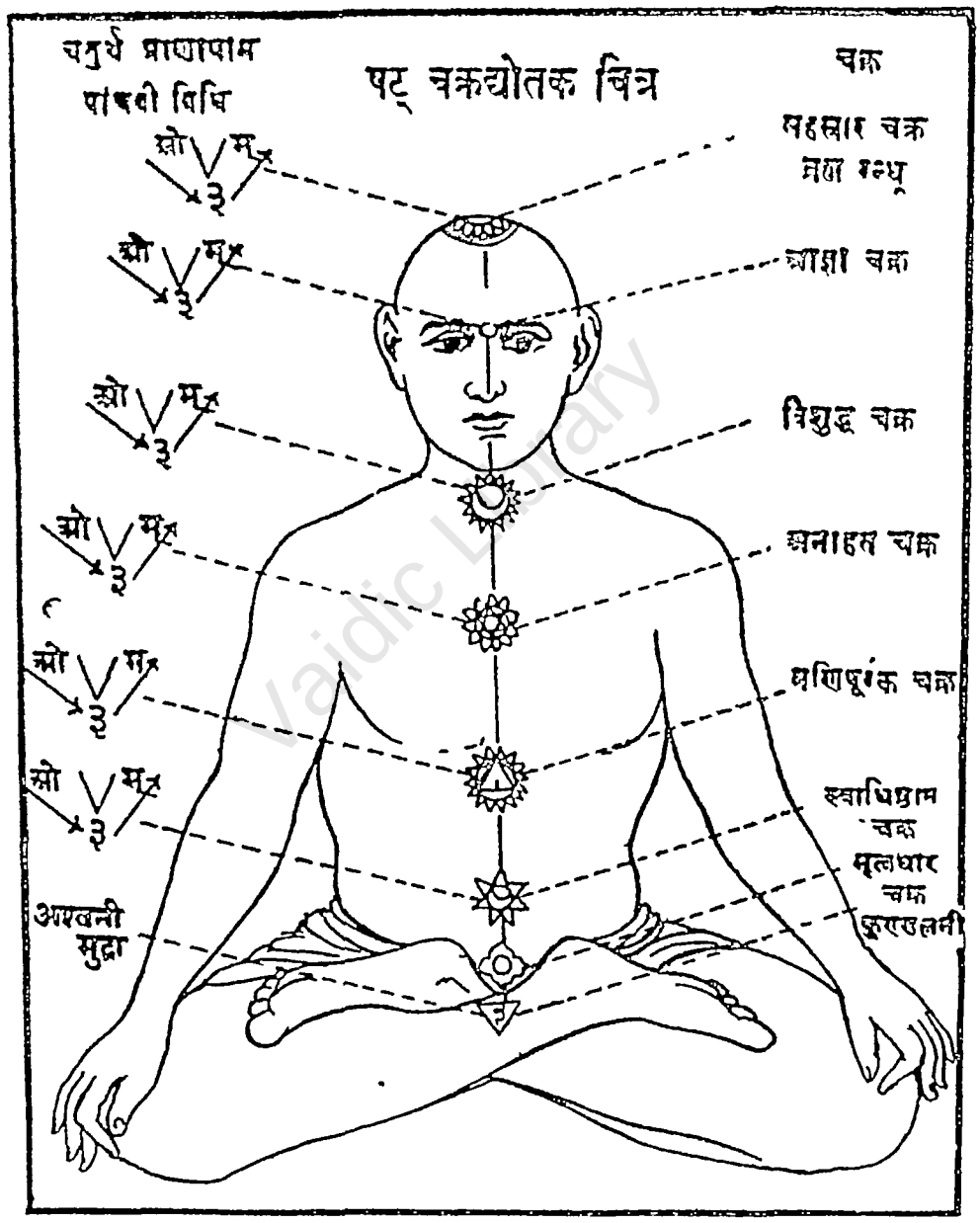
चतुर्थ प्राणायाम
पाश्चात्य विधि
षट् चक्रद्योतक चित्र
चक्र
सहस्रार चक्र
ब्रह्म रन्ध्र
आज्ञा चक्र
विशुद्ध चक्र
अनाहत चक्र
मणिपूरक चक्र
स्वाधिष्ठान चक्र
मूलाधार चक्र
कुण्डलिनी
अश्विनी मुद्रा
ओ
म
३

Vaidic Library

बाहर और अंदरके विषयके अर्थात् रेचक और पूरकको त्यागनेवाला चौथा प्राणायाम है। उसकी विधि निम्न प्रकार होगी—

पाँचवीं विधि—मूलाधार, आज्ञा, ब्रह्मरन्ध्र आदि किसी चक्र अथवा नासिका-अग्रभाग आदि किसी स्थानको बिना रेचक-पूरकके श्वास-प्रश्वासकी गति बनाते हुए अर्थात् ऐसी भावना करते हुए कि 'ओ' से उसी विशेष स्थानपर श्वास आ रहा है और 'अम्' से छूट रहा है, ओम्का मानसिक जाप करे। उसके निरन्तर अभ्याससे श्वास-प्रश्वासकी गतिका निरोध हो जाता है। इस विधिको सबसे प्रथम स्थान देना चाहिये। चक्रभेदनमें इस विधिसे शीघ्र सफलता प्राप्त हो सकती है (समाधिपाद वि० व० सूत्र ३४)।

यदि उपर्युक्त रीतिसे जाप करनेमें कठिनाई प्रतीत हो तो उस विशेष स्थानपर केवल मानसिक ओम्का जाप करे, अथवा ऐसी भावना करे कि वहाँ ओम्का जाप हो रहा है या ओम् शब्दको सुन रहे हैं। मुख्य बात यह है कि उस विशेष ध्येय स्थानपर मन ठहरा रहे।

सङ्गति—प्राणायामका फल बताते है—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ—ततः=उस प्राणायामके अभ्याससे; क्षीयते=नाश हो जाता है, प्रकाशावरणम्=प्रकाशका आवरण (विवेक-ज्ञानका पर्दा)।

अन्वयार्थ—उससे प्रकाशका आवरण (विवेक-ज्ञानका पर्दा) क्षीण हो जाता है।

व्याख्या—विवेक-ज्ञानरूपी प्रकाश तम तथा रजोगुणके कारण अविद्यादि क्लेशोके मलोसे ढका हुआ है। प्राणायामके अभ्याससे जब यह आवरण क्षीण हो जाता है, तब वह प्रकाश प्रकट होने लगता है। जैसे पञ्चशिखाचार्यने कहा है—

तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य ॥

'प्राणायामसे बढकर कोई तप नहीं है, उससे मल धुल जाते है और ज्ञानका प्रकाश होता है।'

इसी प्रकार मनु भगवान्का श्लोक है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥

'जैसे अग्निसे धौके हुए स्वर्ण आदि धातुओके मल नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार प्राणायामके करनेसे इन्द्रियोके मल नष्ट हो जाते हैं।'

सङ्गति—प्राणायामका दूसरा फल बतलाते हैं—

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ—धारणासु=धारणाओमें; च=और; योग्यता-मनसः=मनकी योग्यता होती है।

अन्वयार्थ—और धारणाओंमें मनकी योग्यता होती है।

व्याख्या—प्राणायामसे मन स्थिर होता है। जैसे कि 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' पाद १ सूत्र ३४ में बतलाया है और उसमें धारणाकी (जिसका वर्णन अगले पादमें किया जायगा) योग्यता प्राप्त हो जाती है।

सङ्गति—प्रत्याहारका लक्षण बताते है—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ—स्वविषय=अपने विषयोके साथ; असम्प्रयोगे=सम्बन्ध न होनेपर; चित्तस्य-स्वरूप-

अनुकार. इव=चित्तके स्वरूपका अनुकरण अर्थात् नकल-जैसा करना, इन्द्रियाणाम्=इन्द्रियोंका; प्रत्याहारः=प्रत्याहार कहलाता है ।

अन्वयार्थ—इन्द्रियोका अपने विषयोके साथ सम्बन्ध न होनेपर चित्तके स्वरूपका अनुकरण (नकल) जैसा करना प्रत्याहार है ।

व्याख्या—प्रत्याहारका अर्थ है पीछे हटना, उल्टा होना, विषयोसे विमुख होना । इसमें इन्द्रियाँ अपने बहिर्मुख विषयसे पीछे हटकर अन्तर्मुख होती हैं । इस कारण इसको प्रत्याहार कहा गया है । जिस प्रकार मधु बनानेवाली मक्खियाँ रानी मक्खीके उडनेपर उडने लगती हैं और बैठनेपर बैठ जाती हैं, इसी प्रकार इन्द्रियाँ चित्तके अधीन होकर काम करती हैं । जब चित्तका बाहरके विषयोंसे उपराग होता है, तभी उनको ग्रहण करती हैं । यम, नियम, प्राणायामादिके प्रभावसे चित्त जब बाहरके विषयोंसे विरक्त होकर समाहित होने लगता है, तब इन्द्रियाँ भी अन्तर्मुख होकर उस-जैसा अनुकरण करने लगती हैं और चित्तके निरुद्ध होनेपर स्वयं भी निरुद्ध हो जाती हैं । यही उनका प्रत्याहार है । इस अवस्थामें चित्त तो बाह्य विषयोसे विमुख होकर आत्मतत्त्वके अभिमुख होता है, पर इन्द्रियाँ केवल बाह्य-विषयोसे विमुख होती है । चित्तके सदृश आत्मतत्त्वके अभिमुख नहीं होतीं । इसलिये 'अनुकार इव' अर्थात् नकल-जैसा कहा गया है । इस प्रकार चित्तके निरुद्ध होनेपर इन्द्रियोंके जीतनेके लिये अन्य किसी उपायकी अपेक्षा नहीं रहती ।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

(कठोपनिषद् २ । ४ । १)

'स्वयम्भूने (इन्द्रियोके) छेदोको बाहरकी ओर छेदा है अर्थात् इन्द्रियोको बहिर्मुख बनाया है । इस कारण मनुष्य बाहर देखता है । अपने अदर नहीं देखता । कोई विरला धीर पुरुष अमृतको चाहता हुआ आँखो अर्थात् इन्द्रियोको बद करके (अन्तर्मुख होकर प्रत्याहारद्वारा) अन्तर आत्माको देखता है ।'

सङ्गति—प्रत्याहारका फल बतलाते हैं—

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ—ततः=उससे (प्रत्याहारसे); परमा=सबसे उत्तम—उत्कृष्ट; वश्यता=वशीकरण होता है; इन्द्रियाणाम्=इन्द्रियोका ।

अन्वयार्थ—उस प्रत्याहारसे इन्द्रियोका उत्कृष्ट वशीकार होता है ।

व्याख्या—सूत्रमें प्रत्याहारसे इन्द्रियोंकी परमवश्यता बतलायी है । यह परमवश्यता किस अपरमवश्यता-की अपेक्षासे है, इसको व्यासभाष्यमें इस प्रकार बतलाया है—

१ कोई कहते हैं कि शब्द आदि विषयोमें आसक्त न होना अर्थात् विषयोंके अधीन न होकर उनको अपने अधीन रखना इन्द्रियवश्यता अर्थात् इन्द्रियजय है ।

२ दूसरे कहते हैं कि वेद-शास्त्रसे अविरुद्ध विषयोका सेवन और उनसे विरुद्ध विषयोंका परित्याग इन्द्रियजय है ।

३ तीसरे कहते हैं कि विषयोंमें न फँसकर अपनी इच्छासे विषयोके साथ इन्द्रियोंका सम्प्रयोग होना इन्द्रियजय है ।

४ चौथे कहते है कि राग-द्वेषके अभावपूर्वक सुख-दुःखसे शून्य शब्दादि विषयका ज्ञान होना इन्द्रियजय है ।

इन सब उपर्युक्त इन्द्रियजयके लक्षणोंमें विषयोंका सम्बन्ध बना ही रहता है। जिससे गिरनेकी आशङ्का दूर नहीं हो सकती। इसलिये यह इन्द्रियोंकी परमवश्यता नहीं वरं अपरमवश्यता है।

भगवान् जैगीषव्यका मत है कि चित्तकी एकाग्रताके कारण इन्द्रियोंकी विषयोंमें प्रवृत्ति न होना इन्द्रियजय है। उस एकाग्रतासे चित्तके निरुद्ध होनेपर इन्द्रियोंका सर्वथा निरोध हो जाता है और अन्य किसी इन्द्रिय-जयके उपायमें प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। इसलिये यही इन्द्रियोंकी परमवश्यता है, जो सूत्रकारको अभिमत है।

साधनपादका उपसंहार

पूर्वोक्त प्रकारसे पूर्वपादमें कहे हुए योगके अङ्गभूत क्लेशोंको सूक्ष्म बनानेवाले क्रियायोगको कहकर और क्लेशोंके नाम, स्वरूप, कारण, फलोंको कहकर कर्मोंके भी भेद, कारण, स्वरूप और फलको कहकर विपाकके कारण और स्वरूपको कहा। फिर क्लेशोंके त्याज्य होनेसे, क्लेशोंको बिना जाने त्याग न कर सकनेसे, क्लेश-ज्ञानको शास्त्राधीन होनेसे, शास्त्रको हेय, हेय-हेतु, हान, हान-उपायके बोधनद्वारा चतुर्व्यूहको अपने-अपने कारणसहित कहकर मुक्तिके साधन विवेकज्ञानके कारण जो अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग भावसे स्थित यम-नियमादि है उनके फलसहित स्वरूपको कहकर आसनसे लेकर प्रत्याहारतक जो परस्पर उपकार्योपकारक-भावसे स्थित हैं, उनका नाम लेकर प्रत्येकका लक्षण और कारणपूर्वक फल कहा है।

इस उपसंहारमें व्याख्याताके अपने विशेषवक्तव्य, विशेष-विचार, टिप्पणी इत्यादि अर्थात् (प्रथम सूत्रमें) तपका वास्तविक स्वरूप, युक्ताहार, युक्त-विहार, युक्त-स्वप्न, युक्त-बोध, उपवास आदिके नियम गायत्री-मन्त्रकी विशेष व्याख्या, (सूत्र ४ में) 'विदेह' तथा 'प्रकृतिलयो'के सम्बन्धमें संकीर्ण और अयुक्त विचारोंका युक्तियों, व्यासभाष्य और भोजवृत्तिद्वारा निराकरण, (सूत्र ५ में) अविद्याके उत्पत्तिस्थानका निर्देश सत्त्वचित्तोंमें लेशमात्रतम, (सूत्र १३ में) प्रधान कर्माशय, नियत विपाक, अनियत विपाक, अनियत विपाककी तीन गतियाँ, आवागमनके सम्बन्धमें विकासवादियोंकी शङ्काओंका समाधान, आवागमनद्वारा ईश्वरकी दया तथा न्याय, सर्वशक्तिमत्ता, कल्याणकारिता और आवागमनका मनुष्यके विकासके लिये अनिवार्य होना, (सूत्र १७ में) व्यासभाष्यका तथा योगवार्तिकका भाषार्थ, (सूत्र २०, २१, २२ २३, २४, २५ में) व्यासभाष्य योगवार्त्तिक तथा भोजवृत्तिका भाषार्थ, (सूत्र ३० में) यमोंका योगियोंके अभिमत-स्वरूप, (सूत्र ३१ में) यमोंका सार्वभौम-स्वरूप तथा संसारमें फैली हुई अशान्तिको मिटानेका एकमात्र उपाय, केवल उनका यथार्थरूपसे पालन, महाभारत कर्णपर्व अध्याय ६९ के श्लोक जिनमें श्रीकृष्णजी महाराजने राष्ट्रकी सारी परिस्थितियोंको दृष्टिकोणमें रखते हुए सत्यका स्वरूप बताया है, (सूत्र ३२ में) नियमोंका विस्तारपूर्वक वर्णन, हठयोगकी छहों क्रियाओंद्वारा शरीर-शोधन, ओषधियों, प्राकृतिक नियमों, सम्मोहन-शक्ति, संकल्प शक्तिद्वारा नीरोगता, पाश्चात्य देशकी आधुनिक विद्याएँ हिप्नोटिज्म, मैस्मेरिज्म, क्लेयरवायन्स, टेलीपैथी, स्प्रीच्युलिज्मका विधिपूर्वक वर्णन, (सूत्र ४६ में) ध्यानपर बैठनेके सब प्रकारके आसन, योगसाधनके नियम, सब प्रकारकी मुख्य-मुख्य मुद्राएँ, बन्ध और आसन, उनके फलसहित; (सूत्र५० में) आठ प्रकारके प्राणायाम, उनके अवान्तरभेदसहित, (सूत्र ५१ में) चौथे प्राणायामकी पाँच विधियाँ इत्यादि भी उपसंहृत कर लेना चाहिये। इस प्रकार यह योग यम-नियमोंके बीजभावको प्राप्त हुआ, आसन, प्राणायाम आदिसे अङ्कुरित हुआ और प्रत्याहारसे पुष्पवाला होकर धारणा, ध्यान और समाधिसे फलित होगा। इस प्रकार पातञ्जलयोगप्रदीपमें साधनपादवाले दूसरे पादकी व्याख्या समाप्त हुई।

इति पातञ्जलयोगप्रदीपे साधनपादो द्वितीयः।

परिशिष्ट

साधनपाद सूत्र ३२ के विशेष वक्तव्यमें बतलाये हुए शरीरशोधनके चार साधनोंमेंसे चौथा साधन ओषधि यहाँ परिशिष्टरूपसे दिया जाता है।

ओषधिद्वारा शरीर-शोधन (आरोग्यता)

शरीरका शोधन ओषधिद्वारा भी होता है। आजकल लगभग निन्यानवे प्रतिशत मनुष्योंको कोष्ठ-बद्ध अर्थात् पूर्णतया मलत्याग न होनेका विकार रहता है। जिससे भजन अर्थात् मनकी एकाग्रतामें नाना प्रकारके विघ्न उपस्थित होते है, उनके निवारणार्थ चिकित्सकके अभावमें कब्ज तथा अन्य साधारण रोगोंके शान्त करनेके लिये अभ्यासियोंके उपयोगी कुछ अनुभूत तथा अनुभवी संन्यासियो, वैद्यों, डाक्टरो और हकीमोसे प्राप्त की हुई ओषधियाँ लिख देते हैं।

कोष्ठबद्ध दूर करनेकी कुछ रेचक ओषधियाँ—

(१) त्रिफला (हड़, बहेडा, आँवला सम-भाग) दो माशेसे छः माशेतक अथवा केवल बडी हड़का चूर्ण दो माशेसे छः माशेतक अथवा इतरी फल जमानी एक तोलेसे दो तोलेतक रातको सोते समय दूध अथवा पानीके साथ।

बड़ी हडका प्रयोग पूरे वर्षके लिये—

चैत और वैशाख	हड़का चूर्ण तीन माशे	शहद एक तोलासे दो तोलाके साथ
ज्येष्ठ और आषाढ	,, ,,	गुड़ ,, ,,
श्रावण और भादो	,, ,,	सेंधा नमक एक माशेसे तीन माशेके साथ
आश्विन और कार्तिक	,, ,,	मिश्री एक तोलासे दो तोलाके साथ
मार्गशीर्ष और पौष	,, ,,	पीपल एक माशेसे तीन माशेके साथ
माघ और फाल्गुन	,, ,,	सोठ ,, ,,

(२) गुलाबके फूल एक तोला, सेंधा नमक एक तोला, बड़ी हड़का बक्कल एक तोला, सौंफ एक तोला, सोठ एक तोला, सनायकी पत्ती चार तोला, इनका चूर्ण दो माशेसे छः माशेतक रातको सोते समय पानीके साथ अथवा दिनमें आवश्यकतानुसार। (अनुभूत)

(३) सनायकी फली छः चार घटेतक थोडेसे (आधी छटाक) पानीमें भिगोकर फली निकालकर पानीको पीना। (अनुभूत)

(४) रूबूस्मूस एक तोला, बंसलोचन एक तोला, एलुआ दो तोला, रेवनचीनी दो तोला, रूमी मस्तगी एक तोला, सबका चूर्ण खरल करके थोडा-सा पानी डालकर चनेके बराबर गोली बनावें। एक गोली सोते समय दूध या पानीके साथ लें। (अनुभूत)

(५) रूमीमस्तगी, असार रेवेन्द, एलुवा, सुरञ्जान शीरीं बराबर-बराबर लेकर चूर्ण करके चनेके बराबर गोलियाँ बनावें। एक गोली सोते समय पानी या दूधके साथ लें। (अनुभूत)

(६) खील सुहागा छ. माशे, एलुआ छः माशे, निसौत तीन माशे, बडी हड़का बक्कल दो तोला, सनायकी पत्ती दो तोला, सकमोनिया विलायती एक माशा, सबको घीकुमारके रसमें खरल करके चनेके बराबर गोलियाँ बनावें। सोते समय एक गोली दूध या पानीके साथ लें। (अनुभूत)

(७) सकमोनिया विलायती एक तोला, जुन्नफा हड़ एक तोला, एलुआ एक तोला, रेवन्द असार

एक तोला, रूमी मस्तगी एक तोला, सोठ छः माशे, भरमुकी छः माशे, सबको पानीमें खरल करके चनेके बराबर गोली बनावे, सोते समय एक गोली दूध या पानीके साथ। (अनुभूत)

वातविकारनाशक तथा रेचक—

(१) रेवन्दचीनी (रेवनचीनी), सोडा खानेका, सोठ बराबर-बराबर लेकर चूर्ण कर ले, सोते समय एक माशेसे चार माशेतक दूध या पानीके साथ ले।

(२) त्रिकुटा अर्थात् पीपल, काली मिर्च, सोंठ बराबर-बराबर लेकर चूर्ण कर ले, सोते समय तीन माशेसे छः माशेतक दूधके साथ ले। कफ तथा वातनाशक।

(३) एलुआ, तिर्वी सफेद (निसौत), सुरञ्जान मीठा, सब सम भाग—उनके चूर्णको घीकुमारके गूदेमें खरल करके चने-बराबर गोली बनावे, एक या दो गोली रातको सोते समय दूध या ताजे पानीके साथ खाय। रेचक, पाचक, वातविकार (दर्द आदि), कब्ज और आमको दूर करता है। (अनुभूत)

कफनाशक पाचक एवं रेचक—

बडी इरड़की बकुली तीन तोला, काली मिर्च चार तोला, पीपल छोटी दो तोला, चव्वह एक तोला, तालीसपत्र एक तोला, नागकेशर छः माशे, पीपलामूल दो तोला, पत्रज डेढ माशे, छोटी इलायची तीन माशे, दारचीनी तीन माशे, नीलोफरके फूल तीन माशे, इन सबका चूर्ण बनावे। इन सबकी चारगुणी मिश्रीकी चासनी बनाकर उसमें उस चूर्णको मिलावे, तीन मासेसे एक तोलातक सोते समय दूधके साथ या दोपहरको खानेके बाद ले। (अनुभूत)

(१) बिगडे हुए जुकाम, खाँसी, सिरका भारी रहना, सिर तथा आधे सिरका दर्द या हर प्रकारके मस्तिष्क तथा पेटके विकारोके लिये अत्युत्तम रेचक अनुभूत ओषधि—

अयारुज फिकरा (यूनानी दवा, कई ओषधियोंका चूर्ण) एक माशेसे तीन माशेतक इतरीफल कशनीज़ी एक तोलेसे दो तोलेतकमें मिलाकर प्रातः-सायं दूधके साथ खा सकते है।

अयारुज फिकराका नुसखा—वालछड, सलीफा, दारचीनी, असार्बन, जाफरान, ऊदबलसान, हुब्बबलसान, रूमी मस्तगी एक-एक तोला, एलुआ एक पाव—इन सबका चूर्ण।

अयारुज फिकराका दूसरा नुसखा—जो खय बनवाना होगा अत्तारोके पास न मिल सकेगा।

पोस्त इन्द्रायन (हिंजल) पाँच तोला, गाजीकोन पाँच तोला, सकमोनिया विलायती पाँच तोला, अफतीमून तीन तोला, गूगल शुद्ध तीन तोला अनीसून तीन तोला, तज तीन तोला, काली मिर्च तीन तोला, सोठ तीन तोला, उस्तखद्दस तीन तोला, गुलाबके फूल तीन तोला, बादरजबोया तीन तोला, पोदीना दो तोला, पोस्त तुरंज दो तोला, बर्ग गावज़बाँ दो तोला—इन सबके चूर्णसे दुगुना शहद मिलाकर चालीस दिनके पश्चात् तीन माशेसे एक तोलेतक खुराक।

(२) हर प्रकारके बिगड़े हुए जुकाम, दिमागी खराबी या हाज़मेके लिये निहायत अनुभूत (मुजर्रब) नुसखा—

लौग एक तोला, पत्रज दो तोला, बड़ी इलायचीका दाना तीन तोला, अकरकरा चार तोला, दारचीनी पाँच तोला, पीपलामूल छः तोला, पीपल छोटी सात तोला, काली मिर्च आठ तोला, सोठ नौ तोला, लाल चन्दनका चूर्ण दस तोला, इस मात्रामें इनका चूर्ण होना चाहिये। इसलिये इन सबके चूर्णका अलग-अलग नाप ले। सबको एक करके सुबह और शाम चार रत्तीसे एक माशातक शहदके साथ खायँ।

(३) जुकामका बद होना, सरका दर्द तथा खाँसी एव दमामें बहुत लाभदायक (अनुभूत)।

नौसादर उडाया हुआ अथवा शुद्ध किया हुआ दो रत्ती, भस्म फटकरी एक रत्ती, खील सुहागा एक रत्ती।

साधारण जुकामके लिये—

(४) गुलबनफशा छः माशे, तुख्म खतमी (खतमीके बीज) अथवा खतमीका गूदा चार माशे, उस्तखुद्दूस चार माशे, मुलहठी चार माशे, गावज़बाँ चार माशे, बडी हड़ छः माशे, उन्नाब विलायती सात दाने, लहसौडा ग्यारह दाने, इनका जोशादा मिश्री या चीनी डालकर सुबह या सोते समय पीये। इन चीजोंको आवश्यकतानुसार न्यून-अधिक कर सकते हैं। (अनुभूत)

भजन (प्राणायाम, ध्यानादि क्रिया) से उत्पन्न होनेवाली खुश्कीके लिये—

(१) मीठे बादामकी गिरी ग्यारहसे पंद्रहतक, काली मिर्च ग्यारह दाने, सौंफ चार माशे, गुलाबके फूल चार माशे, कासनी चार माशे, गुलबनफशा (फूल) चार माशे, बडी इलायचीके दाने दो माशे, इन सबको पीस-छानकर मिश्री या बूरा एक छटाँक डालकर पिये। सर्द मौसममें इनको घीमें छौंककर पिये। इन चीजोको आवश्यकतानुसार न्यून-अधिक कर सकते है। (अनुभूत)

(२) इलायचीके दाने, जीरा, बादामकी गिरी, मुनक्का, गुलबनफशा, मिश्रीको आवश्यकतानुसार मात्रामें पीसकर चाटे। (अनुभूत)

(३) रूमी मस्तगी, इलायचीके दाने, बंशलोचन सम-मात्रा, इससे दुगुनी मिश्री, सबका चूर्ण एक माशे घी या मक्खनमें खूब खरल करके सोते समय दूध या बिना दूधके खायँ। (अनुभूत)

आँवका रोग मरोड़ एवं पेचिशके लिये—

(१) सौंफ आधी भुनी हुई और आधी कच्ची पीसकर उसमें मिश्री या चीनी मिलाकर दिनमें कई बार दो-तीन चुटकी ले। (अनुभूत)

(२) सौंफ, सोठ, बडी हड़के बक्कल, सब बराबर-बराबर लेकर सोठ एवं हडको किसी कदर घीमें भूनकर सबको कूटकर चीनी मिलाकर सोते समय चार माशेसे छः माशे तक पानी या दूधके साथ खायँ। यह रेचक भी है। (अनुभूत)

(३) इसबगोलका सत अर्थात् उसकी भूसी छः माशे दूधमें घोलकर पीना। (अनुभूत)

(४) गर्मीसे आँव, पेचिश एवं दस्तके लिये गोंद कतीरा एक तोला, बिलगिरी दो तोला, ईसबगोल चार माशे, बिहीदाना तीन माशे, अर्क बेद मुश्क छः छटाँकमें सबका चूर्ण मिलाकर खिलावे। (अनुभूत)

(५) बालगूके बीज तीन माशे, गुलाबका अर्क एक पाव, रोगन बादाम एक माशा, शर्बत शहतूत दो तोला सबको पकाकर रातको खिलावें और उस रात खानेको कुछ न दे। (अनुभूत)

साधारण ज्वरके पश्चात् निर्बलता दूर करनेके लिये—

दारचीनी तीन माशे, छोटी इलायचीके दाने छः माशे, पीपल छोटी एक तोला, बंशलोचन दो तोला, गिलोयका सत दो तोला, मिश्री आठ तोला, इनका चूर्ण एक माशा कुछ घीमें चिकना करके शहद मिलाकर खाना। (अनुभूत)

खाँसी खुश्क या तर—

(१) गोद बबूल छः माशे, कतीरा छः माशे, बहेड़ा छः माशे, मुलहठी एक तोला, काकरासिंगी तीन माशे, रब्बुसूस (मुलहठीका सत) छः माशे, नमक काला एक तोला, भुने हुए लाल इलायचीके दाने एक तोला, कूट-छानकर चनेके बराबर गोलियाँ बनावे, एक गोली मुँहमें डालकर रस चूसे। (अनुभूत)

(२) रब्बुस्सूस एक तोला, मुलहठी चार तोला, काकरासिंगी दो तोला, सोठ एक तोला, काली मिर्च एक तोला, पीपल एक तोला, बिहीदाना एक तोला, मगज बादाम (बादामकी गिरी) एक तोला पीसकर शहदमें चनेके बराबर गोलियाँ बनावे, एक या दो गोली सोते समय मुँहमें डाले रहे। खाँसीके वक्त भी मुँहमें रखकर चूसते रहें। (अनुभूत)

(३) अनारका छिक्कल जला हुआ चार रत्ती पानके साथ।

साँस, दमा, खाँसी आदिके लिये—

पारा शुद्ध, गन्धक शुद्ध, मीठा तेलिया शुद्ध, त्रिकुटा (सोठ, पीपल, काली मिर्च), सुहागाकी खील, काली मिर्च सम-भाग लेकर सबका चूर्ण बनाकर अदरकके रसमें खरल करें, एक रत्ती अदरकके रसके साथ ले। (अनुभूत)

दमाके अनुभूत नुसखे—

(१) स्थायी रूपसे रोगको जड़से हटानेके लिये निम्नलिखित ओषधियाँ अनुभूत सिद्ध हुई हैं—

प्रातःकाल एक छटाँक अद्रकका रस शहदके साथ। रात्रिमें किसी समय १ तोला सोंठ, भारंगी और बडी हरडका चूर्ण सम-भाग पानीके साथ। यदि फिर भी कुछ कफ, नजले आदिकी शिकायत रहे तो एक या आधा शुद्ध किया हुआ मिलावा गायके दूधमें औंटाकर पीवे; अथवा आधी या एक रत्ती शुद्ध कुचलाके चूर्णको चार रत्ती त्रिकुटाके चूर्णमें मिलाकर सोते समय गायके दूधके साथ सेवन करे।

(२) दमेमें स्थायीरूपसे ताकतके लिये श्वासकुठार, अभ्रक-भस्म, लोह-भस्म प्रातः एवं सायकाल शहदके साथ ले (अनुभूत)। किंतु दौरेकी अवस्थामें इसको न ले। कफके सूख जानेसे हानि पहुँचनेकी सम्भावना हो सकती है। जरित हिंगुल, चान्द्रोदय, सोमनाथी ताम्र-भस्म, मल्ल चान्द्रोदय और मल्ल सिंदूर भी लाभदायक सिद्ध हुए हैं, किंतु दौरे तथा गर्म ऋतुमें इनका सेवन न किया जाय।

अन्य साधारण ओषधियाँ—

(३) नौसादर धतूरेके रसमें उडाया हुआ दो रत्ती पानी या दूधके साथ लें। इसके अभावमें शुद्ध अथवा साधारण नौसादर भी लाभदायक है। (अनुभूत)

उडाये हुए नौसादरके साथ भस्म फिटकरी एवं खील सुहागा मिलाना अधिक लाभदायक रहेगा।

(४) चनेके छिलकोंका पाताल-यन्त्रसे निकाला हुआ तेल एक बूँद बताशेके साथ।

(५) पीली कौड़ी तीन दिन पानीमें नमक मिलाकर रखें, फिर गरम पानीसे धोकर एक उपले-पर कौड़ियोंको रखकर दस उपले ऊपरसे रखकर जलावे। जब कौडियाँ जल जायँ, तब आकके दूधमें खरल-कर टिक्की बनाकर एक मिट्टीके बरतनमें रखकर भीगी मिट्टी लगे हुए कपडेसे लपेटकर जलायें, उसको पीसकर आकके दूधमें फिर पकावे, तीन बार ऐसा ही करे फिर इसको पीसकर एक रत्ती शहदके साथ प्रातः-सायं खायँ, ऊपरसे गायका दूध पीये।

(६) लोहेकी कडाहीमें चार तोले कलमी शोरा रखकर उसके ऊपर और चारों ओर एक छटाक भलावा फैलाकर किसी बर्तनसे ढक दे। एक अगीठीमें कोयले जलाकर उसको ऐसी जगहपर रख दें जहाँ किसीको धुआँ न लगे। जब जलकर जम जाय तो खुरचकर शीशीमें रख ले। खुराक—दो रत्ती बताशेमें। परहेज—खटाई, लाल मिर्च इत्यादि। (अनुभूत)

(७) सं० ३ एवं ६ को वसूटीके खारके साथ दोसे चार रत्तीतक गलेमें डालकर ऊपरसे दूध या पानी पी ले।

(८) मदार, धतूरा, वसूटीका खार, उडाये हुए नौसादरके साथ अथवा अलग-अलग चार रत्ती-तक उपर्युक्त विधि-अनुसार।

(९) कडवे तम्बाकूके पत्ते एक पाव मिट्टीके बर्तनमे डालकर मदारके दूधसे खूब भिगो दें। सूख जानेपर बरतनको सम्पुट करके उपलोमें भस्म कर ले। एक रत्ती भस्म प्रातःकाल उबाले हुए चनोके पानीके साथ। घी-दूधका सेवन रहे। दवाकी मात्रा धीमे-धीमे बढाते जायँ।

(१०) निम्नलिखित ओषधि दमाके लिये अत्यन्त उपयोगी और अनुभूत बतलायी गयी है, यह अत्यन्त गोपनीय थी, हमने प्राप्त तो कर लिया है; किंतु कभी उसको बनवाने तथा प्रयोग करवानेका अवसर नहीं मिला है। पाठकोंके हितार्थ लिखी जाती है—

नौसादर १ तोला, सुहागा भुना हुआ १ तोला, कलमी शोरा १ तोला, खील फटकरी १ तोला, लोटन सज्जी १ तोला। सबको पीसकर आकके १ सेर दूधमें भिगोकर कोरे बरतनमें रखकर उसे सम्पुट करके २४ घंटे तक आँच दे, २-३ बार इसी प्रकार आकके दूधमें भिगोकर आँच दे, यदि जलते हुए कोयलेपर रखनेसे धुआँ दे तो कच्ची समझना चाहिये। प्रयोगविधि—३ रत्ती निहार मुँह २½ तोले शुद्ध मक्खनमें मिलाकर खायँ। दोपहरको मूँगकी दाल, फुलका खायँ, दालमें पकते समय दो तोला शुद्ध घी डाले। ओषधि-सेवनके पाँच घटे अदरतक ठडा जल न पीवें, गर्म पीवे। रातको १ तोला बनफशा उबालकर दूध-खाँड डालकर पीयें। रात्रिका भोजन बद रखें। सब प्रकारके नशे तम्बाकू, सिगरेट, खटाई, तेल आदिका परहेज। यदि कब्ज हो तो २½ तोले गुलकन्द रातको दूधके साथ खायँ।

(११) भाँगके पत्ते डेढ़ तोला, धतूरेके पत्ते डेढ तोला, इन दोनोको कूटकर दो तोले कलमी शोरा पानीमें भिगोकर उसमें मिलाकर धूपमें सुखा लें। एक माशा (Eucalıptusoil) यूकेलिप्टस-आयल मिश्रकर रख लें। इनका सिगरेट बनाकर पिलावें। धुआँ कुछ देर रोककर छोड़ दे। तुरन्त दमाका दौरा रुक जायेगा (अनुभूत)

(१२) लाल फिटकरीकी भस्म एक छटाँक संख्या २ आने भरको कागजी नीबूके रसमें खरल करके बाजरेके दानेके बराबर गोली बनावें। गोली मुँहमें रखकर चूसे (अनुभूत)

एक छटाँक चना एक पाव पानीमें उबालना चाहिये, जब आधा पाव पानी रह जावे तब उस पानी-के साथ एक रत्ती भस्म लेना चाहिये।

परहेज—गुड, तेल, खटाई, चाय, लाल मिर्च। (अनुभूत)

बदहजमी, दस्त एवं कैके लिये—

(१) अमृतधाराकी दो-चार बूँदें पानी या बताशेके साथ ले ।

अमृतधाराका नुसखा—पींपरमेण्ट एक तोला, काफूर एक तोला, अजवाइनका सत एक तोला, दारचीनीका सत छः माशे, लौंगका सत छः माशे, छोटी इलायचीका सत छः माशे—सबको मिलाकर एक शीशीमें रख लें । दो बूँद पानी अथवा बताशेमें ले । (अनुभूत)

(२) सञ्जीवनी वटी, जो वैद्योंके पास बनी हुई मिलती है, अदरक या सोंठके रसके साथ ले । (अनुभूत)

सञ्जीवनी वटीका नुसखा—बायविडङ्ग, सोठ, पीपल, काली मिर्च, बडी हड़, ऑवला, बहेड़ा, बछ, गिलोय, भलावा शुद्ध, मीठा तेलिया शुद्ध सब समभाग, इनका चूर्ण सात दिनतक गोमूत्रमें खरल कर गोलियाँ बनावे ।

भलावेकी शोधन-विधि—बिना ब्यायी गाय (बछेरी) के गोबरके साथ पकावे और कच्ची ईंटके चूर्णमें डालकर उसके नोक काटे और गरम पानीमें धोवें । इसके शोधनमें सावधान रहे, धुएँसे बचे । मीठा तेलिया दूधमें पकावे, जब सींक उसमें गड़ने लगे तब समझना चाहिये कि वह पक गया है । संजीवनी बटीको अजीर्ण रोगमें अदरकके रसके साथ एक गोली, हैजेमें दो, सॉपके काटेमें तीन, सन्निपात अर्थात् सरसाममें चार और खॉसीमें सोठके साथ लेना बतलाया गया है ।

अजीर्ण (बदहज़मी) के लिये—

(१) अष्टक गोली—सोठ, काली मिर्च, पीपल, जीरा काला एवं सफेद, अजमोद, प्रत्येक एक-एक तोला, हींग घीमें भुनी हुई छः माशे, नमक काला डेढ़ तोला, गन्धक शुद्ध दो तोला, सबको पीसकर कागजी नीबूके रसमें खरल करके चनेके बराबर गोली बनावे, खानेके बाद एक या दो गोली ले । (अनुभूत)

(२) भुना हुआ सुहागा, पीपल बड़ी, हड़का बक्कल, हिंगुल अर्थात् शिंगरफ शुद्ध, एक-एक तोला, सबको कागजी नीबूके रसमें खरल करके मटरके बराबर गोली बनावें । (अनुभूत)

(३) हींग घीमें भुनी हुई छः माशे, जीरा सफेद और काला, मिर्च सफेद (दक्षिणी), सैंधा नमक, पीपल, प्रत्येक ढाई तोला, नीबूका सत छः तोला, मिश्री छः तोला, सबका चूर्ण । खुराक चार माशे ।

(४) अजीर्ण, पेटका फूलना, वायुविकार, खॉसी-श्वासादि सब विकारोंको हटाकर जठराग्नि बढ़ाने-वाली अनुभूत दवा आनन्द भैरव रस—हिंगुल अर्थात् शिंगरफ शुद्ध दो तोला, गन्धक आवलेसार (शुद्ध) एक तोला, मीठा तेलिया शुद्ध एक तोला, खील सुहागा एक तोला, सोंठ एक तोला, पीपल एक तोला, काली मिर्च एक तोला, धतूरेके बीज एक तोला, अदरकके रसमें खरल करके काली मिर्चके बराबर गोली बनावे । एक या दो गोली प्रातः और सायंकाल दूध या पानीके साथ । (अनुभूत)

(५) सोंठ १ तोला, काली मिर्च १ तोला, पीपल छोटी १ तोला, काला जीरा १ तोला, सफेद जीरा १ तोला, अजवायन १ तोला, सैंधा नमक १ तोला, हींग १ तोला, टाटरी ३ माशा, राई १ तोला, आक (मन्दार) के फूल सूखे १ तोला—सबको कूट-छानकर लगभग छः नीबू कागजीके रसमें खरल करके चनेके बराबर गोली बनावे । एक गोली भोजनके पश्चात् पानीके साथ । (अनुभूत)

नोट—दमेमें निहार मुँह गुनगुना पानी नोनमिश्रित पीकर उलटी करे । धोती, नेती और न्योली अधिक लाभदायक हैं ।

संग्रहणी—

(१) वडीहड़, मोचरस, पठानी लोद, धावेके फूल, वेलगिरी, इन्द्रजौ, अफीम, पारा शुद्ध, गन्धक, आँवलेसार, सब समभाग, गन्धक और पारेकी कजली करके अन्य सब दवाओका चूर्ण मिलाकर खरल करें। तीन रत्ती प्रातःकाल गौके छाछके साथ, तीन रत्ती सायंकाल वकरीके दूध अथवा खसखसके दूधके साथ। भोजन चावल मूँगकी खिचड़ी दहीके साथ।

(२) एक तोला शुद्ध गन्धक आँवलेसारको एक माशे त्रिकुटेके साथ खूब वारीक पीसकर तीन भाग बनावें। तीन मलमलके टुकडोपर एक-एक भाग रखकर तीन बत्तियाँ बनावें। एक वत्तीको तिलके तेलमें भिगोकर जलावें। तीन बूँद एक पानमें टपकाकर उसमें दो रत्ती शुद्ध पारा डालकर खिलावें। तीन दिनतक ऐसा करें। खुराक दूध-चावल।

हैजा—

मदारका गूदा तीन तोले वारीक पीसकर दो तोले अदरकके रसमें खरल करके चनेके बराबर गोली बनावें। गुलाबके अर्क या ताजा पानीके साथ एक गोली खिलावें।

अम्लपित्तसे हाजमा ठीक न रहना—

अविपत्तिकरचूर्ण, सोठ, काली मिर्च, पीपल, हड़, बहेड़ा, आँवला, वायविडङ्ग, नागरमोथा, पत्रज, छोटी इलायचीके दाने, त्रिड़ नमक, एक-एक तोला, लौंग ग्यारह तोला, निसौत चौवालीस तोला, मिश्री छाछठ तोला—इन सबका कपड़छन चूर्ण घीमें चिकनाकर शहद मिलाकर रख ले। तीन माशेसे एक तोलातक रातको सोते समय दूधके साथ या दिनमें भोजनके बाद ताजे पानीके साथ लें। यह रेचक भी है। (अनुभूत)

वात-विकारके लिये रेचक—

(१) वातारि गूगल—गूगल शुद्ध, गन्धक शुद्ध, हड़, बहेड़ा, आँवलाका चूर्ण सब बराबर वजनमें लेकर कैस्टर आइल (अरण्डीका तेल) में छः-छः माशेकी गोली बनावें। सोते समय एक गोली दूधके साथ ले। यह रेचक भी है। वायुके दर्द दूर करता है। (अनुभूत)

(२) वातव्याधिके लिये अरण्डीपाक—यह रेचक है, शीतकालमें अधिक लाभदायक है। त्रिकुटा डेढ़ तोला, लौंग तीन माशे, वडी इलायचीके दाने छः माशे, दारचीनी छ माशे, पत्रज छः माशे, नागकेसर छः माशे, असगन्ध एक तोला, सौंफ एक तोला, सनाय एक तोला, पीपलामूल छ. माशे, मालेके बीज (निर्गुण्डी) छः माशे, सतावर छ. माशे, त्रिसखपरा (पुनर्नवा सफेद) की जडका वक्कल छ. माशे, खस छः माशे, जायफल चार माशे, जावित्री चार माशे—इन सबका चूर्ण करे। दस तोले अरण्डीके बीजकी गिरी वारीक पीसकर एक सेर गायके दूधमें मावा बनावें, उसको दो छटाँक गायके घीमें भुने। फिर दवाओ-का चूर्ण और एक सेर बूरा मिलाकर छः-छः तोलाके लड्डू बनावें। खुराक—एक लड्डू गायके दूधके साथ अथवा विना दूधके प्रातःकाल एवं सायंकाल खाय। यह रेचक भी है। (अनुभूत)

(३) गठिया और प्रत्येक वातविकारके लिये—एक छटाँक अरण्डीके बीज रेतमें या भाड़में भुनाकर चवायें और उसके ऊपर आधसेर या जितना पिया जा सके गायका दूध पिलावें। इससे दस्त आयेंगे। सात दिनतक ऐसा करें। खुराक—दाल मूँग और चावलकी पतली खिचड़ी। हवासे बचाये रक्खें।

(४) वातविकारके लिये असगन्ध, चोबचीनी, आँवला समभाग चूर्ण ६ माशे सोते समय दूध या पानीके साथ ।

(५) वातके रोगकी अत्यन्त पीड़ामें चरस (सुल्फा) आधी रत्ती खिलाकर गायका दूध गायके घीके साथ पिलावें । (अनुभूत)

आधे सिरका दर्द, नथनोंका बंद रहना, सिरका भारी रहना—

(१) बनफशेके फूल, उस्तखद्दूस, वर्ग सिब्बत, बराबर वजनमें लेकर कपडछन चूर्ण बनावे, अँगुलीसे नथनोंके अंदर लगावें । (अनुभूत)

(२) नौसादर एक तोला, काफ़र तीन माशे पीसकर माथेपर लेप करें और सुँघाये ।

(३) जमालगोटा शुद्ध, यदि शुद्ध न मिल सके तो अशुद्ध पानीमें पीस लिया जाय, एक सींकसे भवोंके ऊपर मस्तिष्कपर बिंदी लगावे । फौरन दर्द दूर हो जायगा । उसी वक्त कपडेसे पोंछकर घी या मक्खन लगावें ।

(४) नारंगीके छिल्केका रस दर्दसे दूसरी ओरवाले नथनेमें डालना ।

(५) रीठेका छिलका पानीमें भिगोकर जिस कनपटीमें दर्द हो उसके दूसरी ओरवाले नथुनेमें डालना । कपडछन रीठेका चूर्ण भी नाकमें लगानेसे सिरका दर्द दूर होता है ।

(६) नौसादर उड़ाया हुआ या शुद्ध किया हुआ, फिटकरीकी भस्म गर्म दूध या पानीके साथ सेवन । ये सब ओषधियाँ अनुभूत हैं ।

प्रमेह, पेशाबमें शक्कर आना, स्वप्नदोषादि वीर्यके हर प्रकारके विकारके लिये—

(१) चन्द्रप्रभा । चन्द्रप्रभाका नुस्खा—वच, नागरमोथा, चिरायता, गिलोय, देवदारु, दारुहल्दी, अतीस, चव्य, गजपीपल, सोनामक्खी भस्म, सज्जीखार, काला नमक, कचूर, दारुहल्दी, पीपलामूल, चीता-की छाल, धनियाँ, हड़, बहेड़ा, आँवला, बायविड़ंग, त्रिकुटा, जवाखार, सेंधा नमक, बिड़ नमक प्रत्येक चार-चार माशे, निसौत, तेजपात, छोटी इलायचीके दाने, गौदन्ती, दारचीनी, वंशलोचन, प्रत्येक एक तोला चार माशे; लोह-भस्म दो तोला आठ माशे, मिश्री पाँच तोला चार माशे, शिलाजीत शुद्ध दस तोला आठ माशे, गूगल शुद्ध दस तोला आठ माशे; सबका चूर्ण कपडछन करके चनेके बराबर गोली बनावें । वैद्योके पास बनी हुई मिलती हैं । सोते समय रातको अथवा प्रातःकाल दूधके साथ एक गोली ।

(२) सूर्यप्रभावटी । सूर्यप्रभावटीका नुस्खा—चित्रक, हड़, बहेडा, आँवला, नीमके अंदरकी छाल, पटोलपत्र, मुलहठी, दालचीनी, नागकेशर, अजवायन, अमलवेत, चिरायता, दारुहल्दी, इलायचीके दाने, नागरमोथा, पित्तपापडा, नीला थोथाकी भस्म, कुटकी, भारगी, चव्य, पद्माक, खुरासानी अजवायन, पीपल, काली मिर्च, निसोत, जमालगोटा शुद्ध, कचूर, सोंठ, पोकरमूल, जीरा सफेद, देवदारु, तमालपत्र, कूड़ाकी छाल, रासना, दमासा, गिलोय, निसौत-तालीसपत्र, तीनों नमक (सेधा, काला और कचिया), धनिया, अजमोद, सौंफ, सुवर्णमाक्षिक (सोनामक्खी) भस्म, जायफल, वंशलोचन, असगन्ध, अनारकी छाल, कनकोल, नेत्रबाला, दोनो क्षार यानी सज्जी और जवाखार, काली मिर्च, प्रत्येक चार-चार तोला, शुद्ध शिलाजीत बत्तीस तोला, गूगल शुद्ध बत्तीस तोला, लोहभस्म बत्तीस तोला, रूपामाक्षिक (चाँदी-मक्खी) भस्म आठ तोला, सबका चूर्ण बनाकर मिश्री चौंसठ तोला, गायका घी सोलह तोला, शहद बत्तीस तोला मिलाकर चीनीके बर्त्तनमें रखें अथवा गोलियाँ बनावें; खुराक एक माशासे चार माशेतक, प्रातः

अथवा साथ दूधके साथ। सूर्यप्रभावटी Diabetes पेशावमें शक्कर आना इस रोगके लिये अति लाभदायक सिद्ध हुई है। (अनुभूत)

चन्द्रप्रभा और सूर्यप्रभा सब मौसम और सब अवस्थामें सब प्रकारके रोगोमें अनुभूत ओषधि हैं। इनसे सब प्रकारके प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, पेशावमें शक्कर आना इत्यादि, सब प्रकारकी वातव्याधि, उदर रोग, गोला, पाण्डु, संग्रहणी, हृदयरोग, शूल, खाँसी, भगन्दर, पथरी, रक्तपित्त, विषम-ज्वर तथा वातजन्य, पित्तजन्य रोग दूर होकर शरीर स्वस्थ और जठराग्नि प्रदीप्त होती है। अभ्यासियोके लिये अनुकूल है।

(३) वंगभस्म चार रत्ती पान अथवा शहदके साथ प्रमेहके लिये। (अनुभूत)

(४) हरी गिलोयका रस चार तोला, शहद छः माशेके साथ सुबहको प्रमेहके लिये पियें। (अनुभूत)

(५) सत वड़ चार रत्ती गायके दूधके साथ सिर्फ एक सप्ताहतक लें। (अनुभूत)

वड़का सत बनानेकी विधि—वड़की कोपलें दस सेर बारीक काटकर चालीस सेर पानीमें पकावें। जब पत्ते गल जायँ, तब मल-छानकर लोहेकी कढाईमें पकाकर खोआ बना लें। फिर दस तोला बहूफलीका चूर्ण मिलाकर चार-चार रत्तीकी गोली बनावें। एक गोलीको पानीमें घोलकर उस पानीको दूधमें मिलाकर दूधको जोश दें। केवल सात दिनतक ईसबगोलकी भूसी छः माशे और चीनी डालकर दूधको पीवें। वड़ सत तैयार न हो तो वड़की कोपल दो तोलाको छोटे २ टुकड़ेकर एक पाव पानीमें पकावें। जब पानी एक छटाँक रह जाय तो उसको छानकर आध सेर गायके दूधमें मिलाकर पकावें। फिर ईसबगोलकी भूसी और बूरा मिलाकर सिर्फ सात दिनतक पियें। बिना ईसबगोलकी भूसीके भी ले सकते हैं। यह वीर्यको गाढ़ा करके स्वप्नदोष इत्यादि सब प्रकारके वीर्यपातको रोकता है। अनुभूत, साधुओकी गुप्त ओषधि है। यह ओषधि पौष्टिक है इसलिये कब्ज न होने दें।

(६) ब्राह्मी घृत—ब्राह्मीके पञ्चाङ्गका रस दो सेर निकालें।

ब्राह्मीके पञ्चाङ्गका रस निकालनेकी विधि—

यदि ब्राह्मी हरी हो तो दो सेर रस कूटकर निकालें, सूखी हो तो दो सेरको आठ सेर पानीमें पकावें। जब दो सेर रह जाय तो छान लें। आँवलेका छिलका, हल्दी, कठमटी (कुश्त शीरीं), निसौत (तिर्वी), बड़ी हड़का छिक्कल, पीपल छोटी, मिश्री, प्रत्येक दो-दो तोला, वच, सेंधा नमक छः-छः माशे, सबको दो सेर पानीमें पकावें, जब आध सेर रह जाय, तब मल-छानकर ब्राह्मीका रस मिलाकर लोहेकी कढ़ाई या कलईके बर्त्तनमें रखकर आगपर चढ़ावें और आध सेर शुद्ध गौका घृत उसमें डालकर हल्की आँचसे पकावें। जब घृत बाकी रह जाय, तब उतारकर छान लें और साफ बर्त्तनमें रख लें। खुराक छः माशेसे तीन तोलेतक गौके दूधमें प्रातः एवं सोते समय।

लाभ—वीर्यके सब प्रकारके रोगोकी निवृत्ति, वीर्यशुद्धि, स्मृति एवं मस्तिष्ककी शक्तिको बढ़ानेके लिये, बुद्धिको तीक्ष्ण करने, कण्ठको साफ करने, बवासीर, प्रमेह, खाँसी आदि रोगोंके लिये अति लाभदायक है। वीर्यदोषसे जिन पुरुषो अथवा स्त्रियोके संतान उत्पन्न न हो उन दोनोके लिये अति लाभदायक है।

ब्राह्मीघृतकी दूसरी विधि—हरी ब्राह्मी हो तो पाँच सेर, सूखी हो तो दो सेर, शंखपुष्पी एक पाव, आँवला एक पाव, त्रिफला एक पाव, घुडबच एक छटाँक, बायविडङ्ग, पीपल, धनियाँ, निसौतकी जड़, लौंग, छोटी इलायची, तज, सम्भालूके बीज और हल्दी एक-एक तोला, गिलोय दो तोला सबको मोटा

कूटकर दस सेर पानीमें भिगोकर अग्निमें खूब पकावे। जब छः सेर रसके लायक पानी रह जाय तो मलकर छान लेवें। इस रसको लोहेकी कड़ाही या कलईके बरतनमें चढ़ाकर ढाई सेर शुद्ध गौका घृत डालकर पकावे, अग्नि धीमी-धीमी आठ-दस घंटेतक देते रहें। जब पानीका भाग जल जाय और रसका सब भाग इकट्ठा हो जाय तब उतारकर कपडेमें छान लें। खुराक—डेढ तोलेसे ढाई तोलेतक, आवश्यकतानुसार गायके दूधके साथ प्रातः-सायंकाल।

(७) प्रमेहके लिये—बबूलकी कोपलें सुखाकर उसका चूर्ण कर लें। सात दिनतक बड़के दूधमें भिगोकर फिर सुखाकर चूर्ण कर लें। यह चूर्ण २ तोला, मूसली सफेद १ तोला, बड़ी इलायचीके दाने २ तोले, अम्बा हल्दी २ तोला, वंग भस्म २ तोला, शतावर ४ तोले, असगन्ध ४ तोले, कच्ची खॉड ५ तोले, इन सबको मिलाकर रक्खें। सवा माशा दवाई गायके दूधके साथ देवें। (अनुभूत)

(८) मूसली काली ५ तोला, खेरका गोंद (कत्था) ५ तोले, छोटी इलायचीके दाने ६ माशे, छुआरे ७, बादाम गिरी ७, मिश्री २ तोले, गूलरका दूध २ तोले, सबको मिलाकर खूब कूटकर रक्खें। खुराक १ तोला गायके दूधके साथ २१ दिनतक।

सोते समय पेशाब निकल जाना—

आँवलेका गूदा, काला जीरा सम-भाग शहद मिलाकर।

पेशाबके साथ शक्कर आना—

(१) गुड़मार दो तोले, जामुनकी गुठली दो तोले, वंशलोचन छः माशे, इलायची छः माशे, गिलोयका सत एक तोला, पीपलकी छाल तीन माशे, मण्डूर-भस्म एक माशा, चाँदी-भस्म चार रत्ती, शिलाजीत शुद्ध तीन माशे सबका चूर्ण करके चार माशे प्रातः एवं सायंकाल गाय अथवा बकरीके दूधके साथ। (अनुभूत)

(२) गुड़मार, बबूल या गूलरकी जड़की अंतरछाल, जामुनकी गुठली, सोंठ सम-भाग कूट-छानकर छः माशेसे नौ माशेतक गरम पानीके साथ।

(३) गिलोय सब्जका रस निकालकर उसमें पाशानभेद और शहद मिलाकर पिलावें।

(४) सूर्यप्रभावटी इस रोगमें आश्चर्यजनक लाभदायक सिद्ध हुई है। (अनुभूत)

बहुमूत्र—

(१) चत्रककी लकड़ी एक तोले कूटकर पावभर पानीमें मिट्टीके बर्त्तनमें रातको भिगो दें, सुबह-को पकावें, जब दो तोले रह जाय, तब मल-छानकर पीवे। पंद्रह दिनतक पीना चाहिये।

(२) फरीद बूटी सायेमें सुखायी हुई एक तोला, मूसली सफेद एक तोला घोटकर सात दिन-तक पिलावे।

(३) अजवायन देशी छः माशे, नागरमोथा छः माशे, कन्दर छः माशे, काले तिल एक तोला—सबको बारीक पीसकर दो तोले गुड़में मिलावे। खुराक छः माशे प्रातः एवं सायंकाल।

(४) पीली हरडका छिलका और अनारका छिलका समभाग कूट-छानकर चार माशे प्रातः एवं सायंकाल पानीके साथ।

(५) बढ़िया किस्मके बडे अच्छे गूदेदार छुवारे दिनमें खानेके पश्चात्, रातको दूधसे पहिले। (अनुभूत)

हर प्रकारके बुखारके लिये—

तुख्मकासनी दो तोला, गुल नीलोफर छः माशे, बर्गगावजवाँ छः माशे, तुख्म खरबूजा छः माशे, तुख्म खीरा

छः माशे, गुलबनफसा छः माशे, नागरमोथा छः माशे, सब्ज गिलोय छः माशे (सब्ज न मिल सके तो सूखा हुआ काममें लावे), छोटी इलायची छः अदद, मुनक्का पाँच अदद, गुलकन्द पाँच तोला—सब दवाओंको एक सेर पानीमें जोश दे। फिर गुलकन्द मिलावें। ठंडा होनेपर कई बार पियें।

बलगमी बुखारके लिये—

गुलबनफसा छः माशे, नीलोफर छः माशे, गावजबाँ छः माशे, कासनी छः माशे, मुनक्का पाँच अदद, छोटी इलायची पाँच अदद, नागरमोथा छः माशे, अञ्जीर पाँच अदद, गिलोय एक तोला—इन सबको पानीमें भिगो दे, सुबहको जोश देकर मिश्रीके साथ मिलाकर रख ले। ठंडा होनेपर थोड़ा-थोडा पिलावें।

बुखारके लिये, हर प्रकारके अम्लपित्त, गुरदज आदि रोगमें—

गिलोय, धनियाँ, लाल चन्दन, पद्माक, नीमकी छाल—इन सबको बराबर वजनमें लेकर चूर्ण बनावें। शामको आध सेर पानीमें ढाई तोला भिगो दें, सुबहको जोश दे। जब छटाक-भर रह जाय तब पिलावे।

पित्तज्वरपर 'सफाई' खूनके लिये—

मुनक्का, अमलतास, कुटकी, पित्तपापडा, बड़ी हरड़का बक्कल, नागरमोथा—सब बराबर वजनमें लेकर ऊपरवाले नुस्खेकी तरह ढाई तोला लेकर तैयार करके पियें।

बुखारके लिये कुछ और अनुभूत नुस्खे—

(१) मगज करञ्जवा (करंजुएकी गिरी) दो तोला, सेंधा नमक दो तोला—इनका चूर्ण बना लें। चार रत्ती सुबह और शाम ताजे पानीके साथ। चढे बुखारमें भी दिया जा सकता है।

(२) करंजुएके पत्ते तवेपर किञ्चित् आँच देकर चूर्ण बनाया जाय। चार रत्ती दिनमें तीन दफा ताजे पानीके साथ खिलावें। (अनुभूत)

(३) फिटकरी लाल एक पाव पीसकर आकके दूधमें भिगोवें, जब आकका दूध सूख जाय, तब मिट्टीके बर्त्तनमें रखकर सम्पुट कर पाँचसे दस उपलोकी आँचमें जलावें, ठंडा हो जानेपर इसे दवाको निकालकर पीस लें। खुराक—एक रत्ती गायके दूधके साथ। खाँसी, दमा, बुखार, तपेदिक आदिके लिये लाभदायक है।

(४) गेरू दो तोला, फिटकरी भुनी हुई दो तोला, शक्कर सुर्ख पाँच तोला मिलाकर दिनमें दो-तीन बार छः-छः माशे ताजे पानीके साथ।

(५) मृत्युजय रस—शिंगरफ दो तोला, गन्धक, ऑवलेसार, मीठा तेलिया शुद्ध, खील सुहागा, सोंठ, पीपल, काली मिर्च एक-एक तोला, कागजी नीबूके रसमें खरल करके काली मिर्चके बराबर गोली बनावे। एक गोली ताजा पानीके साथ। (अनुभूत)

(६) *तीसरे दिनका बुखार*—प्रातःकाल और बुखार आनेसे एक घंटा पहले लाल फिटकरीकी भस्म चार रत्तीसे एक माशातक अर्क गुलाबके साथ। (अनुभूत)

(७) *चौथिया बुखारके लिये*—सखिया और शंगर्फ बराबर करेलेके रसमें घोटकर काली मिर्चके बराबर गोली बनावें। पारीवाले दिन बुखारसे एक घंटा पहिले या प्रातःकाल एक गोली पानके साथ देवे। खुराक—दूध, चावल, घी बुखारके समय बीतनेके पश्चात्। तीसरे एव चौथे दिनके दोनों बुखारोंके लिये अनुभूत बतलायी गयी है।

तपेदिकके लिये—

(१) गिलोयका सत, वंशलोचन, छोटी इलायचीके दाने, काली मिर्च, भलावा शुद्ध, समभाग पीसकर काली मिर्चके बराबर गोली बनावे। पहिले दिन एक गोली एक पाव गायके दूधके साथ लें, प्रत्येक दिन दूध दो तोला बढ़ाते जायँ, एक सेरतक। भलावेकी शोधनविधि सञ्जीवनी बटीके नुस्खेमें देखे।

(२) बर्ग करेला (करेलेके पत्ते) चार तोला, मुश्क काफ़र एक तोला—इनको बारीक घोटकर एक माशेकी गोली बनावे, बुखार आनेके चार घटे पहिले पानीके साथ खिलावें। (अनुभूत)

(३) एक पोईका लहसन यदि न मिले तो साधारण लहसनको ही कूटकर दुगने पानीमें उबालें। फिर मल छानकर उस पानीको पकावें। जब गाढ़ा हो जावे तो चनेके बराबर गोली बनावें। प्रातः व सायंकाल एक या दो गोली ठंडे पानीके साथ खिलावें।

पायोरियाके लिये दाँतोंका मंजन—

(१) लाहौरी नमक, तेजबल, फिटकरी भुनी हुई, तबाकूके पत्ते भुने हुए, गेरू, काली मिर्च, सोंठ, सब एक-एक तोला लेकर चूर्ण बनावे, दाँतोंमें मलकर पानी निकलने दे। (अनुभूत)

(२) नमक एवं सरसोंका तेल मिलाकर दाँतोंपर मलें। दातौनसे दाँत साफ करे। लाहौरी नमक और सरसोंका तेल पकाकर रख लें, दाँतोंपर लगाकर सोवें।

(३) मिट्टीके तेलके गरारे करनेसे भी पायोरिया दूर होता है।

दाढ़का दर्द—

(१) छः-सात माशे कुचला दरदरा करके पानीमें औंटाकर गरारे करना।

(२) मदार (आकका पेड़) की लकड़ी जलाकर, दुखती दाढ़से दबाकर राल निकालते रहना। (अनुभूत)

(३) पेटकी सफाई तथा उपर्युक्त किसी रेचक वातनाशक ओषधिका सेवन लाभदायक है।

दाँतोंके सब रोग-नाशक—

(४) कुचला एक तोला, देशी नीलाथोथा तीन तोला—इनको सम्पुट करके जलावे। जब राख हो जाय, तब माजूफलका चूर्ण एक तोला, फिटकरी सफेद छः माशे, सबको बारीक पीसकर बड़की डाढ़ीकी दातौनसे लगावें।

फल—मसूड़ोंका साफ होना, दाँतोंका जमना, पायोरिया तथा मुँहकी बदबूका दूर होना।

दाँत अथवा दाढ़के दर्दके लिये—

(५) तुख्म खासन चार माशे, नरकचूर चार माशे, फिटकरी चार माशे, अफीम चार रत्ती—इनकी दो पोटली बनाना, एक पोटली दुखते दाँत अथवा दाढ़में दबाये रखना, दो घंटेमें आराम हो जायगा। (अनुभूत)

(६) गोस्तखुरदा और पीव आनेवाले दाँतोंकी दवा—मुश्कताफ़र तीन भाग, बोरिक एसिड (Boric Acid) एक भाग मिलाकर शीशीमें रख लो। रूईकी फुरेरीसे लगावें। (अनुभूत)

दाँतोंको साफ और चमकीला बनानेके लिये—

(७) समन्दरझाग एक तोला, फिटकरी भुनी हुई छः माशे, माजूफल छः माशे, चूना बुझा हुआ छः माशे, बारीक कपड़छान करके दाँतोंपर मलें। (अनुभूत)

(८) मौलसिरीकी छालका चूर्ण दाँतोंपर मलना और लकड़ीसे दातौन करना अति लाभदायक है।

(९) दाँतों एवं मसूड़ोंके सब प्रकारके रोग दूर करनेके लिये सेंधे नमकको पानीमें खूब औटाकर रख लें। उसके कई बार एवं सोते समय गरारे करे।

फोड़े फुंसी आदि रक्तकी शुद्धिके लिये—

(१) शुद्ध गन्धक त्रिफलाके साथ।

(२) सफेदा कासगरी छः माशे, मुरदारसंग आधा माशा, सिन्दूर तीन रत्ती, हल्दी चार रत्ती, फिटकरी भुनी हुई एक माशा, तूतिया भुना हुआ तीन रत्ती, सरसोंका तेल नौ माशे, मोम एक माशा, मोमको तेलमें पिघलाकर, सब दवाइयोको छानकर, मिलाकर मरहम तैयार करें। यह मरहम फोडे-फुंसी एवं घाव आदिके लिये अति लाभदायक है।

(३) खुजलीके लिये हल्दीकी लुगदी और आकके पत्तोका पानी सरसोंके तेलमें पकावें, जब लुगदी रह जाय, तब लगावे।

(४) फिटकरी दो मात्रा, बोरिक एसिड (Boric Acid) तीन मात्रा, गन्धक चार मात्रा इनका चूर्ण सात माशे आध छटाँक मक्खन मिलाकर खुजली तथा दादवाले स्थानपर मलें।

सफाई खूनके लिये—

(१) सत्यानाशी अर्थात् कटैयाकी जड़ नौ माशे, काली मिर्च नौ दाने पीस-घोटकर पिलावे, खानेके लिये मूँगकी दाल अथवा खिचड़ी दे, सब प्रकारके रक्तविकार, कोढ़, खुजली आदिके लिये सत्यानाशीका खिंचा हुआ अर्क पीना और इसके बीजोका तेल लगाना अति लाभदायक है। घृत अधिक खावें। (अनुभूत)

(२) चिरायता, गिलोय, पित्तपापडा, नीमके अंदरकी छाल, ब्रह्मदण्डी, मुण्डी, इन्द्रायणकी जड़ समभाग, इनका कपडछन चूर्ण प्रातः एवं सायंकाल पानी अथवा गौके दूधके साथ आवश्यकतानुसार लें।

सफेद कोढ़की दवा—

(१) चीतेकी छाल दो भाग, सफेद घुँघची एक भाग, बावची तीन भाग, अञ्जीर जंगली एक भाग सब मिलाकर गोमूत्रमें खरल करके कोढपर लगावे, छाला फूटकर जब मवाद निकल जाय, तब नीमके तेलका मरहम लगावे।

छाजन, लाहौरी फोड़े, बगदादी फोड़े तथा अन्य घाववाले दादोंके लिये अनुभूत ओषधि—

(१) एग्रेवेसलीन (Yellowvaslin) जिंकओक्साण्ड (Zincoxade) को मिलाकर रख ले। दाद अथवा जखमको नीमके पानीसे धोकर मरहमका कोया लगाकर पट्टी बाँध ले, उससे जखमका मवाद निकलता रहेगा और जखम भरता रहेगा। आँखो तथा पलकोंके जखमोंके लिये भी प्रयोग करे। (अनुभूत)

सूखे दादके लिये—

(२) बादामके छिलकों, शीशमकी लकडी, नारियलके जटाके अन्दरके सख्त भागके टुकडे अथवा गेहूँका तेल दादपर लगावे। यह भी अति उत्तम अनुभूत ओषधि है।

गेहूँके तेल निकालनेकी विधि—एक मिट्टीकी हाँडीमें एक कटोरा रखे, उस हाँडीपर तलीमें सूराख की हुई एक दूसरी हाँडी रखें। सूराखमें कुछ सीकें इस प्रकार रखें कि कटोरेमें गिरे। उस हाँडीको मोटे गेहूँसे भरकर उसपर ढक्कन रख दें। कपडेको चिकनी मिट्टीमें सानकर दोनों हाँडियोपर लपेट दें। फिर एक गढा खोदकर दोनो हाँडियोको इस प्रकार रखें कि नीचेवाली हाँडी मिट्टीमें दबी रहे। ऊपरवाली हाँडी-

के चारो तरफ अन्ने उपले रखकर ऑच दे, इस तरह उसका तेल कटोरेमें आवेगा। ठंडा होनेपर निकाल लें।

बादामके छिलकोंका तेल निकालनेकी सबसे आसान तरकीब यह है कि एक चौडे मुँहवाली हाँडीमें बादामके छिलके भरकर उसमें एक कटोरा रख दे। हाँडीके मुँहपर एक तसला रखकर आँटे और मिट्टी-से मुँह बंद करके उसको चूल्हेपर रख दे। तसलेमें पानी भर दे। पानी बदलते रहे, अधिक गर्म न होने पावे। कटोरेमे टिंचरकी शक्लका पानी भर जायगा। यह न केवल दाद एवं इग्जमाके लिये अकसीर है अपितु जहरीले जानवरोके काटेपर भी लाभदायक है। इसके अतिरिक्त सारी बातोमें टिंचरका काम देता है। (अनुभूत)

(३) जगली गोभीके पत्तोंको सरसोके तेलमें जलावे और इसको पीसकर रख ले। दादपर इसे लगावे। इस मरहमके अभावमें जंगली गोभीके पत्तोंको दादपर खुजलानेसे भी बडा लाभ होता है।

(४) कलमी शोरा एक भाग, नौसादर दो भाग, सुहागा चार भाग, सबको मिलाकर खरल करके फुरैरीसे लगावे।

(५) ऐसिटिकऐसिड (Ascetic acid) टैरिनऐसिड (Tarin acid)को मिलाकर शीशीमें रख ले। फुरैरीसे लगावे। यदि पानी निकले तो वैसलीन लगावे।

भैंसिया दाद अर्थात् काले दादके लिये—

मूँग अथवा मूँगकी दाल छिलकेसहित बारीक पीसकर लगावे।

छाजनका नुस्खा—

(१) सीसा एक छटाक लोहेके चम्मचमे पिघलाकर उसमें तीन तोला पारा डालकर किसी बर्तनमें डाल दे, जब ठंडा हो जाय, तब एक छटाक गन्धकके साथ बारीक पीस ले। इसके चूर्णको सरसोके तेलमें मिलाकर लगावे।

(२) जहरीला पानी देनेवाले छाजन आदिपर गूलरको दहीके पानीमें बारीक पीसकर उसका लेप करे, जब सूखकर छुट जाय, तब फिर लेप करे, कष्टको सहन कर ले घबरायें नहीं।

चम्बलकी दवा—

पुनर्नवा अर्थात् साठे (Itsit) की जड आध पाव सरसोके तेलमें मिलाकर, पीसकर एक छटाक सिन्दूर मिलाकर मरहम तैयार करे।

नासूर, भगंदर आदिके लिये—

(१) पारा और रसकपूर दोनोंको खरल करें, फिर मूर्दासङ्ग, प्रबालकी जड, सुपारीका फूल, कत्था, राल, सिन्दूर, सब एक-एक तोला, वंशलोचन, छोटी इलायची डेढ़ माशा खरल करे। फिर १०१ बार धुले हुए पद्रह तोला मक्खनमें मिलावे। पतले कपडेकी बत्ती बनाकर मरहममें भिगोकर घावमें लगावें।

(२) नौजवान आदमीकी खोपड़ीकी भस्म नासूर और भगंदरमें लगावें।

कमरके अंदरका फोड़ा—

अरण्डकी गिरीको पीसकर मोटा प्लास्टर लगावें, कपड़ेके किनारोको सेजनेके गोदसे बंद कर दें जब यह पीबसे भर जाय तो इसी तरह दूसरा प्लास्टर लगावें।

गाँठवाले फोड़ेकी दवा—

नीमके पत्तोको इतना पीसा जाय कि लेस आ जाय, फिर उसे किसी कपडेमें लपेटकर गारा

या मिट्टी लपेटकर भूवलके पकावें, मिट्टी सूख जानेपर निकालें । लगभग एक अंगुल मोटी टिकिया बनाकर लगावे ।

भगंदर तथा गुदाके सब प्रकारके रोगोंके लिये अनुभूत ओषधि—

(१) बोरिक एसिड (Boric Acid) एक ड्राम अथवा चार माशा जिंक आक साइड(Zinc Oxide) दो माशा, आइडोफोर्म (Ido Form) पाँच रत्ति एसिड कार्बोलिक (Acid Corbolic) एक माशा या पंद्रह बूँद, सरसो अथवा तिलका तेल ढाई तोला, पानी ढाई तोला इन सबको मिलाकर रुई या कपडेका धोया गुदामें लगाया जाय । (अनुभूत)

(२) एक सेर गायके दूधमें एक छटाक भंग डालकर उसकी भाप गुदामें पहुँचाना, फिर ऊपर-वाले मरहमकी बत्ती गुदामें रखकर इस भंगको गुदामें लंगोट-जैसे पट्टीसे बाँध देना अधिक लाभदायक होगा । (अनुभूत)

(३) भगदर, नासूर और पुराने फोडेके लिये अनुभूत—फिटकरी पाँच तोला, संगजराहत पाँच तोला, सिन्दूर एक तोला । पीसी हुई फिटकरी तवेपर जलावे । पिसा हुआ संगजराहत एक-एक चुटकी उसमें डालते जायँ और हिलाते जायँ । फिर सिन्दूरको तवेपर भस्म करके उसमें मिला दे । ठडे किये हुए गायके दूधमें थोडी-थोड़ी डालते जायँ और पिलाते जायँ । एक-एक सप्ताहके पश्चात् एक-एक दिन नागा करते जायँ । २१ दिनतक ।

अर्श (बवासीर)—

(१) एक तोला सखियाको दस रीठेके तीन पाव पानीमें खरल करे । जब सब पानी उसीमें खप जाय, तब एक चावल इस संखियाको पानीमें घोलकर मस्सेमें लगावें, सात-आठ दिनमें मस्सा गिर जायेगा । फिर सफेदा काश्तकारी घिसकर लगायें । (एक अनुभवी संन्यासीसे प्राप्त किया हुआ नुसखा, किंतु अपना अनुभूत नहीं है ।)

बवासीरके मस्सोंका जड़से उखाड़ना—

(२) इर्कशा, सिन्दूर, नीलाथोथा, समभाग मिलाकर चूर्ण करे, मस्सेको फिटकरीसे खुजलाकर तुरंत उसपर इस चूर्णको पानीमें घोलकर सींकसे लेप करें, ऊपरसे पके हुए चावल-दही मिलाकर बाँध दे, मस्से जडसे निकल जायेंगे । फिर रालका मरहम लगावें । यह ओषधि एक अनुभवी फकीरसे प्राप्त हुई है, परतु अपनी अनुभूत नहीं है ।

(३) रीठेकी गिरी निकालकर उसके छिलकेका चूर्ण आध पाव, रसौत एक छटाकके साथ खूब खरल करें । फिर दो छटाक पुरानेसे पुराना गुड उसमे डालकर खरल करें । मटरके बराबर गोली बनावें । प्रातः एवं सायंकाल एक-एक गोली दूधके साथ निगल ले । खटाई, लाल मिर्च, तेल और कब्ज करनेवाली चीजोसे परहेज ।

(४) कुचला मिट्टीके तेलमें घिसकर मस्सोपर लेप करें सोते समय । मस्से सूख जायेंगे ।

(५) छः माशे बोतलपर लगानेका काग, दो तोले सरसोके तेलमें जलावें फिर उसमें पीली भिड़के छत्तेको मिलाकर खरल करें, मरहमको मस्सेपर लगावे ।

(६) सौंफ, किशमिश, भंग, दक्षिणी मिर्च, इलायची सफेद समभाग—इन सबके बराबर मिश्री मिलाकर चार रत्तीसे अपनी आवश्यकतानुसार सेवन करें ।

(७) खूनी मस्सेपर मक्खी एक तोला, सफेद इलायचीके दाने छः माशे मिलाकर दहीके साथ खानेसे खूनी बवासीर बंद होती है ।

(८) भड़वेरीके पत्ते एक तोला, तीन काली मिर्चके साथ घोटकर पियें ।

(९) रीठेका छिलका आठ तोला, तूत अथवा अरण्डके पत्ते एक तोला—दोनोंको मिलाकर इतना कूटें कि मोम-जैसे हो जायँ, यदि चिमिटने लगें तो घी लगा ले, आठ टिकिया बना ले । एक गढा खोदकर उसमें कोयले जलाकर चिल्म रख दें, उसके मूराखद्वारा गुदाको धुआँ दें । आठ दिनतक इसी प्रकार करे ।

(१०) करेल अर्थात् करेट जो एक प्रसिद्ध झाड़दार वृक्ष है, उसकी ताजी जडका पातालयन्त्रसे तेल निकाले, दिनमें दो-तीन बार रुईकी फुरेरी भिगोकर मस्सोंपर लगावे, खूनी एवं बादी दोनों प्रकारकी बवासीर बंद हो जायगी ।

(११) चिरचिटेकी छार एक रत्ती लें, इसके ऊपर छः माशे चिरचिटेके बीज, ग्यारह कालीमिर्च एक सप्ताहतक घोंटकर पियें । गेहूँकी रोटी या दलिया घीके साथ खायँ ।

(१२) जंगली गोभीके तीन पत्ते और तीन काली मिर्च घोटकर पियें ।

(१३) भंगको पीसकर घीमें पकाकर टिकी बाँधें ।

(१४) खूनी बवासीरके लिये मूसाकरनी बूटी २ रत्ती प्रातःकाल, २ छटाक दहीके साथ । लाल मिर्च, बादी और गर्म चीजोंसे परहेज (अनुभूत) ।

(१५) खूनी बवासीरके लिये रसौत, एलुआ, नीमकी निबौली, मग्ज बक्कायन बराबर—सबको पीसकर चनेके बराबर गोली बनावे । प्रातः एवं सायंकाल एक गोली पानीके साथ ।

(१६) खूनी बवासीरके लिये पुराने टाटकी राख ६ माशे पानीके साथ ।

(१७) लंगूरकी सूखी हुई बीटको जलाकर उसके ऊपर सुराख की हुई हाँड़ी रखकर गुदाको धुआँ दे ।

(१८) जंगली कबूतर और मोरकी बीट बराबर लेकर गोली बनावें । गोलीको घिसकर मस्सोंपर लगावें ।

तिल्ली—

(१) अजवाइन देशीको आकके दूधमें भिगोकर छायामें सुखावे, फिर कागजी नीबूके रसमें खरल करके आधी रत्तीकी गोली बनायें, एक एक गोली प्रातः-सायंकाल बासी पानीके साथ खायँ ।

(२) नौसादर, कल्मी शोरा, सुहागा सफेद, लौंग, रेवन्द चीनी, सब एक एक तोला, जवाखार, सज्जीखार, सूचल नमक नौ-नौ माशा, घीग्वारके रसमें खरल करके गोली बनाये, प्रातः-सायंकाल एक-एक गोली खायें, बादी और खट्टी चीजोंसे परहेज ।

दर्द गुर्दा—

(१) संगबूद (पत्थरका बेर) को दूधमें उबालकर साफकर कूटकर सात दिन मूलीके रसमें खरलकर टिकी बनाकर मिट्टीके बर्तनमें रखकर उसको सम्पुट करके आगमें रखकर भस्म बनाये । चार रत्ती शरबत नीलोफरके साथ खिलावे ।

(२) खरबूजेके बीज नौ माशे, हिजरुलयहूद (पत्थरका बेर) साढे तीन माशे, खार खुश्क सात माशे, तुख्म खयारैन नौ माशे, राई छः माशे, पानीमें घोट-छानकर पिलावें ।

(३) पोदीना सूखा हुआ धतूरेके पत्ते सूखे हुए दस-दस माशे, पीपलके पेडका दूध १६ बूँदमें मिलाकर तम्बाकूकी तरह चिलममें रखकर पिलावे । उसी वक्त आराम होगा ।

जोड़ोंका दर्द—

बडी हरडका गूदा, काली हरड, बादियान, पीपल, दार-फिलफिल, काला जीरा, करजुआका गूदा, एक एक तोला बारीक करके पाँच तोला मुनक्केमें पीसकर चने बराबर गोली बनावे । एक माशासे तीन माशेतक पानीके साथ ।

बंद पेशाबका खोलना—

(१) गोखुरू, इन्द्रजौ, सोयेके बीज एक-एक तोला, पाषानभेद दो तोला सबको कूटकर एक सेर पानीमें औटा लो । दिनमें दो-तीन बार दो रत्ती पत्थर बेरकी भस्म दो रत्ती जवाखारके साथ पीवें । (अनुभूत)

(२) कलमी शोरा एक तोला, तुख्म खियारैन चार माशे, छोटी इलायचीके दाने दो माशे, दक्षिणी मिर्च दो माशे, सीतल चीनी चार माशे, सबको पीसकर एक सेर पानीमें छानकर दो छटाँक सफेद खाँड डालकर कई बार पिलावे, पेशाब जोरके साथ आयेगा ।

टेसूके फूल उबालकर पेडूपर लेप करे ।

(३) राई, कलमी शोरा, मिसरी, सम भाग पीसकर पानीके साथ दिनमें दो बार दे । पेडूपर कलमी शोरेका लेप करे ।

रुक-रुककर पेशाब आना—

बड़ी हडका गूदा, गोखुरू, अमलतासका गूदा, पाषानभेद, दमासा—धनिया, इनका काढा पिलावे ।

वायुगोला—

एलुआ, खीलसुहागा, काली मिर्च, हींग, काला नमक, सबको धीगुवारके गूदेमें खरल करके चना बराबर गोली बनावे । एक गोली पानीके साथ । (अनुभूत)

पेटके कीड़े--

(१) अरंड ककड़ीके बीज पाँच या सात ताजा पानीके साथ खिलानेसे सब कीडे मर जाते हैं । पाँच दिनमे आराम हो जाता है ।

(२) आडू, अनार और नीमके पत्तोंको पीसकर अथवा अकेले आडूके पत्तोको पीसकर खिलानेसे पेटके कीडे मर जाते है । (अनुभूत)

(३) विडंगचूर्ण आधा तोला शहदके साथ ।

दिमागके कीड़े—

इस रोगका कष्ट देखनेवालेको भी असह्य हो जाता है । उसका एक अनुभूत नुसखा—

खरगोशेकी मैंगनीको गुडमें लपेटकर निगलावे, ऊपरसे चादर मुँहतक ओढकर धूपमें बैठावे । कीडे खय थोडी देरमें निकलना आरम्भ हो जायँगे, जब इनका निकलना बद हो जाय तब उठ जाय । एक दिन छोडकर फिर तीसरे दिन इसी तरह खिलावे, जब कीडे निकलना बंद हो जाय, तब इसे खिलाना बंद कर दें

फीलपा, गजपा, Elephantine

पुरी आदि स्थानोमे अधिक होता है ।

१ सदासुहागन २ रामगट्टो ३ अमरवेल ४ दहीको मट्ठो ५ जमीको ढाकन ६ घरको राख गजचर्म-को यही उपाय । १ हल्दी, २ ओवरा, ३ आकाशवेल, ४ छाछ (मट्ठा) ५ चिरचिरा, ६ चूल्हे आदिके ऊपरकी छतमें जमा हुआ धुँआ । सब समभाग लेकर चूर्णकर मट्ठेमे मिश्रकर नीम गर्म करके लेप करे । गजचर्मके लिये अनुभूत दवा ।

गठियाका नुसखा—

(१) सोठ एक तोला, पीपल छोटी एक तोला, मदारके पेड़का गूदा एक तोला, कुचला शुद्ध दो तोले—इन सबको सेजनेके पत्तोके रसमे खरल करके मटर बराबर गोली बनाये, प्रातः-सायकाल एक-एक गोली गौके दूधके साथ खाय ।

(२) धतूरेका फल तीन तोला, अजवायन, सोठ, छोटी पीपल, कायफल, कडवी तम्बाकू, बचनाक, अफीम, जायफल, सब एक-एक तोला, केसर खालिस छः माशे सबको कूटकर दो सेर पानीमें पकावे । जब आध सेर रह जाय, तब मल-छानकर एक सेर सरसोके तेलमें मिलाकर फिर पकावे, जब सिर्फ तेल रह जाय, तब छानकर बोतलमें रखकर एक तोला सुश्रकाफूर मिलावे, दिनमें दो बार मालिश करे ।

(३) शिंगरफ रूमी एक तोला, भंगकी लुब्धीमें रखकर ऊपरसे धागा बाँधकर कढाईमें अलसीके तेलमें पकावे जब भंग जलकर राख हो जावे तब निकालकर भंगको पृथक् कर दे । इस प्रकार चालीस बार करें । फिर शिंगरफकी डलीको पीसकर रख ले । आधी रत्ती मलाईके साथ खिलावे ।

(४) ईसबगोल एक तोला, खशखशके डोडे एक तोला, दोनोंको पीसकर एक तोला रोगनगुल खालिस और कुछ पानी डालकर पकावे । दर्दवाले स्थानपर बाँध दे । (अनुभूत)

आँखके रोग—

(१) कलमी शोरा दो तोला, नमक शीशा दो तोले, पहिले शोरेको बारीककर कटोरेमें बिछाये । उसके ऊपर नमक शीशा बारीक किया हुआ बिछाये । हल्की आँचपर कटोरेको रख दे । जब नमक काला हो जाय, तब उतारकर खरल करके शीशीमें रख ले, सलाईसे लगाये । आँखकी धुन्ध, खुजली, रतौंध, पानी आना, सुर्खी, दुखने आदिके लिये लाभदायक है ।

(२) भलावा भुना हुआ दो तोले, फिटकरी भुनी हुई एक तोला, खरल करके रख ले । आँखके जाले एवं फूलके लिये लगावे ।

(३) काले गधेकी दाड गुलाबके अर्कमें घिसकर फूले और जाले हटानेके लिये लगावे । (अनुभूत)

(४) आँखके फूलेके लिये—आकके दूधके साथ जलाई हुई नीलेथोथेकी भस्म शहदके साथ सलाईसे लगावें ।

(५) आँखकी ज्योति बढानेके लिये—सीसा, राँगाका बुरादा और पारा सम भाग एक खोखले बेलमें बंद करके खूब अच्छी प्रकार डाट लगाकर बद कर दे उसको खूब हिलाते रहे । चालीस दिनके पश्चात् इसको निकालकर खूब खरल करके सोने या चाँदीकी सलाईसे आँखोमें लगावे ।

(६) रतौंध—पीपल गोमूत्रमें घिसकर आँखोंमें लगावे ।

(७) मोतियाबिन्द—तम्बाकू और नीलके बीज समभाग पीसकर लगावे ।

(८) आँखके पलकके अंदरका बाल—पुराना गुड और सिन्दूर सम भाग मिलाये। बाल उखाड़कर तीन-चार बार लगावे। (अनुभूत)

(९) नीमकी कोंपलको गायके घीमें भूनकर मरहम बनाकर लगावे।

(१०) आँख दुखने और लालीके लिये—अफीम, फिटकरी, रसौत और गोदका पलास्टर दुखती आँखकी कनपटीपर लगावे। खट्टे अनारका रस एक तोला, मिश्री तीन माशे मिलाकर दो-दो बूँद दोनों समय आँखमें डाले। सरसके बीज एक तोला, मिश्री एक तोला पीसकर तीन माशे शहद मिलाकर चाटें। रसौत और छोटी हड विसकर लगावें।

(११) आँखोके रोहे—चाकसूको उबालकर अंदरका बीज निकालकर बारीक पीसकर आँखमें लगावे।

(१२) आँख और दिमागकी कमजोरी दूर करनेके लिये त्रिफलापाक और आँवलापाक।

त्रिफलापाक—त्रिफला आधा सेर, शुद्ध शिलाजीत छः माशे, केशर छः माशे, सौंठ, काली मिर्च, पीपल, गोखरू, छोटी इलायची, मोथा, तज, पत्रज, पोखरमूल, चित्रक—एक-एक तोला, धनिया छिला हुआ ढाई तोला।

विधि—त्रिफलेको कूट कपडछान करके आधा सेर पानीमें भिगो देना चाहिये। जब त्रिफला पानीमें भीगकर भली प्रकार फूल जाय तब पावभर गायके घीमें मन्दी-मन्दी आँचपर कढ़ाईमें भून लिया जाय। कढ़ाईको नीचे उतारकर रख लिया जाय, एक सेर मिसरीकी चाशनी बनाकर शुद्ध शिलाजीतसे लेकर धनियातककी चीजें जो पहिले कूट कपडछान करके रक्खी थीं, चाशनीमें त्रिफला मिलानेके पश्चात् डालकर भली प्रकार मिला ली जायँ। जब अच्छी तरह मिल जायँ, तब पावभर शहद मिला दिया जाय, बस त्रिफला पाक तैयार हो जायगा। एक-एक तोला सुबह और शाम या अपनी-अपनी शक्ति-अनुसार केवल एक ही समय एक तोला गर्म किये हुए दूधके साथ सेवन करें। यह त्रिफला-पाक नेत्रकी ज्योति और दिमागकी कमजोरी और प्रमेहके लिये लाभप्रद है।

आँवलापाक—आँवलाचूर्ण चालिस तोला, मिश्री ४ सेर, सौठ ४ तोला, पीपल ४ तोला, सफेद जीरा ४ तोला, धनिया २ तोला, छोटी इलायची २ तोला, तेजपात २ तोला, काली मिर्च २ तोला, दालचीनी २ तोला, चाँदीके वर्क २५ नग।

विधि—आधा सेर आँवलेका चूर्ण कपड़छान करके पाँच सेर गायके शुद्ध दूधमें भिगो दो। फिर भली प्रकार फूल जानेपर उस आँवले मिले हुए दूधका कलईदार बर्तन या कढ़ाईमें मावा बना लिया जाय। फिर कढ़ाई नीचे उतारकर उसमें ४ सेर मिश्रीकी कुछ ढीली बनी हुई चाशनी मिला दो। इसके पश्चात् सौंठसे दालचीनीतककी चीजें कूट-छानकर कढाईमें मिला दो। फिर चाँदीके वर्क मिला दो। ज्यादा गर्म चाशनीमें नहीं मिलाना चाहिये। बस आँवलापाक तैयार हो गया। एक तोला सुबह और एक तोला शामको सेवन करें।

(१३) आँखोंकी ज्योति बढानेके लिये तामेश्वरी सुरमा—शुद्ध ताँबा २ तोला लेकर उसकी बारीक पत्ती करके बहुत छोटे-छोटे टुकडे (जैसे सुनार टाँकेके करते हैं) करके, एक छटाँक फिटकिरीको पीसकर, कागजी नीबूका रस एक पाव, सबको एक बोतलमें डाल दें। बोतलको आधा खाली रखें और ४० दिनतक होशियारीसे ऊँची ताख आदिपर रखें। प्रतिदिन प्रातःकाल केवल एक बार उलटी फिर सीधी करके बोतलको सावधानीसे रख दें। चालीस दिनके बाद इन सब चीजोंको बोतलसे निकालकर

खरलमें घुटाई करे । जब सुरमे बारीक हो जायँ तो उस लुगदीको लोहेकी कढाईमें बहुत हलकी आँचपर रखकर घुटाई करें । जब बिल्कुल सुरमेकी तरह हो जाय तो बारीक कपडेमें छान ले । जो कुछ छाननेसे बचे उसे फेंक दे । रातको सोते समय चाँदी या जस्तेकी सलाईमे थोडा-सा लेकर आँखमें लगाकर सो जायँ । (अनुभूत)

(१४) आँखकी ज्योति बढाने तथा सब प्रकारके विकारोंको दूर करनेके लिये साधुओका एक (गुप्त) अति उत्तम अनुभूत सुरमा—

भीमसेनी कपूर २ तोला, रसकपूर २ तोला, बीकानेरी मिश्री आठ तोला । दो छोटे अंदरसे कलई किये हुए भगोने अथवा ऐसे ही कोई अन्य दो बर्तन कलईके ले । उनमेंसे एकमें मिश्रीको दरदरी कर उसके अंदर रसकपूर और भीमसेनी सुरमा दरदरा पीसकर रख दे । उसके अंदर दूसरा भगोना रखकर दोनोके जाड़ोको खूब अच्छी तरहसे कपडे और मुल्तानी मिट्टीसे सम्पुट कर दे । एक छोटा-सा चूल्हा बनाकर उसके अंदर एक बडे मिट्टीके दीपकमें सरसोंका तेल डालकर खूब मोटी बत्ती जलावे । चूल्हेके ऊपर सम्पुट किये हुए भगोनोंको इस प्रकार रखे कि नीचेके भगोनेके तलेमें उस दीपककी आँच अच्छी तरह लगती रहे । हर पंद्रह मिनटके बाद बत्तीका गुल काटते रहे और भगोनेके तलेमें जमते हुए कालिखको हटाते रहे, जिससे दीपककी आँच भली प्रकार अपना कार्य कर सके । इस प्रकार सत्रह घंटे आँच देते रहें । उसके पश्चात् उतारकर ठंढे होनेपर ऊपरके भगोनेमें जो रसकपूर और भीमसेनी कपूर उड़कर जम गया हो उसको खुरचकर एक साफ शीशीमें रख लें । उसमेंसे बहुत थोडा सलाईकी नोकमें लेकर आँखमें लगावें । सूजाक और दमेके रोगमें भी इसके दो चावल मलाई या मक्खनके साथ खाना बहुत लाभ-दायक है (अनुभूत)।

कानका दर्द—

लहसनका रस ढाई तोला, अफीम दो रत्ती, दस तोले सरसो या तिलके तेलमे पकाकर छानकर कानमें डाले । गेंदेके फूलका रस कानमें डाले अथवा गोमूत्र कानमें डाले ।

मुँहके छाले—

तरबूजके छिलके जलाकर लगावें ।

दिलकी धड़कनके लिये—

(१) भस्म मूँगा सेवतीके गुलकन्द या मुरब्बा सेबके साथ ।

पागलपन या उन्मादकी अनुभूत दवा—

धवलबरुआ जिसको श्वेत बरुआ तथा सर्पगन्धा भी कहते है, जो बड़ी वैदिक फारमेसीसे मिल सकती है, उसका चूर्ण चार माशे; खालिस गुलाबके अर्क एक छटाकमें १२ घंटे भिगोकर सात काली मिर्चके साथ पीसकर प्रातः एवं सायंकाल दोनो समय बिना छाने पिलावे । खटाई, लाल मिर्च, गुड, तेल और गर्म खुश्क चीजोका सख्त परहेज । घी, दूध, मक्खन-मलाई अधिक-से-अधिक मात्रामें । (अनुभूत)

कई बड़ी फार्मेसियोंमें इसकी गोलियाँ सर्पना पिल्स (Serpna pills)नामसे बनायी जाने लगी है ।

नींदका न आना (१) धवलवरुआ एक माशे बादामके शीरे या दूधके साथ सोते समय । अथवा सर्पना पिल ले ।

(२) पीपलामूल एक माशा पुराना गुड एक माशेमें मिलाकर सोते समय दूध या शीरा बादामके साथ ।

बुद्धिवर्धक एवं उन्माद दूर करनेके लिये—सरस्वती चूर्ण, वच, ब्राह्मी, गिलोय, सोंठ, सतावर, शखपुष्पी, बायविडग, अपामार्गकी जड समभागका कपडछान किया हुआ चूर्ण दो तीन माशे शहद या घीके साथ ।

नहरुवा—

प्रतिदिन दो आना भर कपूर आध पाव दहीमें घोलकर तीन दिनतक लें ।

कायाकल्प तथा पारा आदि रसायनका यौगिक रूपसे प्रयोग करानेवाले अनुभवी इस समय दुर्लभ है । इसलिये क्रियात्मिकरूपसे अनुपयोगी और अनावश्यक समझकर उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया ।

यहाँ साधकों तथा पाठकोके हितार्थ केवल पारा बाँधनेकी एक अनुभूत सरल और गोपनीय विधि लिखी जाती है ।

पारा बाँधना—पारा एक तोला, नीलाथोथा अर्थात् तूतिया एक तोला; नीला थोथाको पीसकर आधा कढाईमें रख दे, उसके ऊपर पारा रखकर बाकी आधा तुतिया रख दे । दो छटाक पानी उसमें डालकर कढाईको तेज आँचपर रख दें, नीमकी लकडीसे उसको इस प्रकार घोटें जिस प्रकार हलुआको कडछीसे घोटते हैं । पानी जल जानेपर कढाईको तुरंत नीचे उतार ले और दूसरे शुद्ध पानीसे धो डालें । तत्पश्चात् अङ्गुलियोसे पारेको इकट्ठा करके गोलियाँ बना ले । चार-पाँच घटे पश्चात् पारा धातु-जैसा सख्त हो जायगा । शीशेके गिलास और कटोरोके अदर इस मुलायम पारेको लपेटनेसे पारेके गिलास और कटोरे भी बन सकते हैं । जिनको दूध आदि पीनेके कार्यमें प्रयोग किया जा सकता है । किंतु ये बर्तन बहुत भारी होगे ।

पारेको पहिले नीबूके रस या सेंधा नमकमें खरल करके तह किये हुए कपडेमें छान लेना चाहिये । इसीसे वह शुद्ध हो जायेगा ।

(यह प्रकरण हमने आवश्यकतानुसार काम निकालने और जानकारीके उद्देश्यसे दिया है । साधकोकी केवल ओषधि आदि शारीरिक बातोमें ही अधिक प्रवृत्ति न होनी चाहिये ।)

इति पातञ्जलयोगप्रदीपे द्वितीयः साधनपादः समाप्तः ॥

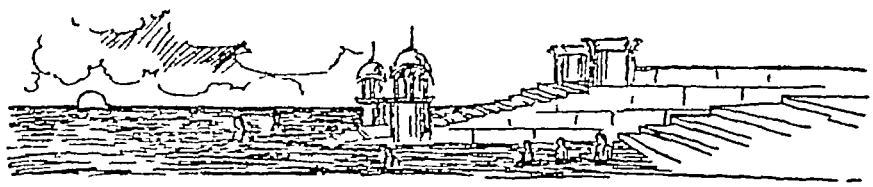

विभूतिपाद

पहले पादमें योगका स्वरूप उत्तमाधिकारीके लिये, दूसरेमें उसके साधन मध्यमाधिकारीके लिये वर्णन करके अब तीसरेमें उसका फल विभूतियाँ, अश्रद्धालुको श्रद्धापूर्वक उसमें प्रवृत्त करनेके लिये दिखाते हैं। साधनपादमें योगके पाँच बहिरङ्ग साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार बतलाये थे। इस पादमें उसके अन्तरङ्ग धारणा, ध्यान, समाधिका निरूपण करते हैं। इन तीनोंको मिलाकर 'संयम' कहा जाता है। इनका विनियोग इस पादमे बतायी हुई विभूतियोके साथ है, इसी कारण इसको इस पादमें वर्णन किया है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

शब्दार्थ—देश=देशविशेषमें; बन्धः=बाँधना; चित्तस्य=चित्तका (वृत्तिमात्रसे), धारणा=धारणा कहलाता है।

अन्वयार्थ—चित्तका वृत्तिमात्रसे किसी स्थानविशेषमे बाँधना 'धारणा' कहलाता है।

व्याख्या—चित्त बाहरके विषयोंको इन्द्रियोद्वारा वृत्तिमात्रसे ग्रहण करता है। ध्यानावस्थामें जब प्रत्याहारद्वारा इन्द्रियाँ अन्तर्मुख हो जाती हैं, तब भी वह अपने ध्येय-विषयको वृत्तिमात्रसे ही ग्रहण करता है। वह वृत्ति ध्येयके विषयके तदाकार होकर स्थिर रूपसे भासने लगती है। अर्थात् स्थिररूपसे उसके स्वरूपको प्रकाशितकरने लगती है।

देश—जिस स्थानपर वृत्तिको ठहराया जाय, वह नाभि, हृदय कमल, नासिकाका अग्रभाग, भ्रुकुटी, ब्रह्मरन्ध्र आदि आध्यात्मिक देशरूप विषय हो अथवा चन्द्र, ध्रुव आदि कोई बाह्य देशरूप विषय हो, इसीको ध्येय कहते है अर्थात् जिसमें ध्यान लगाया जाय।

बन्ध—अन्य विषयोसे हटाकर चित्तको एक ही ध्येय विषयपर वृत्तिमात्रसे ठहराना।

इस प्रकार आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदिद्वारा जब चित्त स्थिर हो जाय, तब उसको अन्य विषयोंसे हटाते हुए एक ध्येय विषयमें वृत्तिमात्रसे बाँधना अर्थात् ठहराना धारणा कहलाता है।

तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ—तत्र=उसमे; प्रत्यय=वृत्तिका, एकतानता=एक-सा बना रहना; ध्यानम्=ध्यान है।

अन्वयार्थ—उसमे वृत्तिका एक-सा (घटोऽयं घटोऽयम् आदि) बना रहना ध्यान है।

व्याख्या—तत्र=उस प्रदेश अर्थात् ध्येय-विषयमें जिसमें चित्तको वृत्तिमात्रसे ठहराया है।

प्रत्यय=ध्येयकी आलोचना करनेवाली वृत्ति अर्थात् वह वृत्ति जो धारणामें ध्येयके तदाकार होकर उसके स्वरूपसे भासती है।

एकतानता=एक-सा बना रहना अर्थात् उस ध्येय आलम्बनवाली वृत्तिका समान प्रवाहसे लगातार उदय होते रहना और किसी अन्य वृत्तिका बीचमें न आना।

धारणामें चित्त जिस वृत्तिमात्रसे ध्येयमें लगता है, जब वह वृत्ति इस प्रकार समान प्रवाहसे लगातार उदय होती रहे कि दूसरी कोई और वृत्ति बीचमें न आये, तब उसको ध्यान कहते हैं।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—तदेव=वही ध्यान; अर्थमात्रनिर्भासम्=अर्थमात्रसे भासनेवाला; स्वरूपशून्यम् इव=स्वरूपसे शून्य-जैसा; समाधिः=समाधि कहलाता है ।

अन्वयार्थ—वह ध्यान ही समाधि कहलाता है, जब उसमें केवल ध्येय अर्थमात्रसे भासता है और उसका (ध्यानका) स्वरूप शून्य-जैसा हो जाता है ।

व्याख्या—पूर्वोक्त ध्येयविषयक ध्यान ही अभ्यासके बलसे जब अपने ध्यानाकार रूपसे रहित-जैसा होकर केवल ध्येय स्वरूप-मात्रसे अवस्थित होकर प्रकाशित होने लगे तब वह समाधि कहलाता है । ध्यानावस्थामें जो ध्येय आलम्बनवाली वृत्ति, समान प्रवाहसे उदय होती रहती है, वह ध्यातृ, ध्यान और ध्येय तीनोंसे मिश्रित रहती है अर्थात् वह तीनोंमें तदाकार होती हुई ध्येयके स्वरूपसे भासनेवाली होती है । इसी कारण उसमें ध्यातृ और ध्यान दोनों बने रहते हैं । इन दोनोंके बने रहनेसे ध्येयाकार वृत्ति अपने ध्येय विषयको सम्पूर्णतासे नहीं प्रकाशित करती । जितना ध्यान बढ़ता जाता है उतनी ही उस वृत्तिमें ध्येय-स्वरूपाकारता बढती जाती है और ध्यातृ तथा ध्यान उसके प्रकाशन करनेमें अपने स्वरूपसे शून्य-जैसे होते जाते हैं । जब ध्यान इतना प्रबल हो जाय कि ध्यातृ और ध्यान अपने स्वरूपसे सर्वथा शून्य-जैसे होकर ध्येय-स्वरूपमात्रसे भासने लगें और ध्येयका स्वरूप ध्यातृ और ध्यानसे अभिन्न होकर ध्येयाकारवृत्तिमें सम्पूर्णतासे भासने लगे तो ध्यानकी इस अवस्थाको समाधि कहते हैं ।

'अर्थमात्रनिर्भासं' में 'मात्र' पदसे यह बात बतलायी है कि ध्यानमें ध्येयका भान होता है, ध्येय-मात्रका नहीं । किंतु समाधिमें ध्यान ध्येयमात्रसे भासता है और इस शङ्काके मिटानेके लिये कि ध्यानके अधीन ही ध्येयका भान होता है, समाधिमें यदि ध्यान स्वरूपसे शून्य हो जाता है तो ध्येयका भान किस प्रकार हो सकता है, (स्वरूपशून्यम् इव) 'इव' पद दिया है अर्थात् समाधिकी अवस्थामें ध्यानका सर्वथा अभाव नहीं होता, किंतु ध्येयसे अभिन्नरूप होकर भासनेके कारण स्वरूपसे शून्य-जैसा हो जाता है, न कि वास्तवमें स्वरूपशून्य हो जाता है ।

श्रीभोज महाराज समाधिका अर्थ इस प्रकार करते है—

'सम्यगाधीयत एकाग्री क्रियते विक्षेपान्परिहृत्य मनो यत्र स समाधि.'

'जिसमें मन विक्षेपोंको हटाकर यथार्थतासे धारण किया जाता है अर्थात् एकाग्र किया जाता है, वह समाधि है ।'

विशेष वक्तव्य ॥ सूत्र ३ ॥—योगके अन्तिम तीन अङ्गो—धारणा, ध्यान और समाधिमें समाधि अङ्गी है और धारणा, ध्यान उसके अङ्ग हैं । जब किसी विषयमें चित्तको ठहराया जाता है, तब चित्तकी वह विषयाकारवृत्ति त्रिपुटीसहित होती है । तीन आकारोंके समाहार अर्थात् इकट्ठे होनेका नाम त्रिपुटी है । वह त्रिपुटी ध्यातृ, ध्यान और ध्येयरूप है । ध्यातृ-ध्यान करनेवाला आत्मासे प्रकाशित चित्त है । चित्तकी वह वृत्ति जिसके द्वारा विषयका ध्यान होता है, ध्यान है और ध्यानका विषय ध्येय है । किसी विषयमें चित्तको ठहराते समय उस विषयाकार वृत्तिमें त्रिपुटीका इस प्रकार अलग-अलग भान होता है कि मैं ध्यान कर रहा हूँ । यह ध्यान है, इस विषयका ध्यान हो रहा है ।

धारणा—जबतक त्रिपुटीसे भान होनेवाली इस विषयाकारवृत्तिका समान प्रवाहसे बहना आरम्भ

न हो; किंतु व्यवधानसहित विच्छिन्न हो अर्थात् इस वृत्तिके बीच-बीच अन्य वृत्तियाँ भी आती रहे तबतक वह धारणा कहलायेगी ।

ध्यान—जब यह त्रिपुटीसे भान होनेवाली विषयाकारवृत्ति व्यवधानरहित हो जाय अर्थात् अन्य विजातीय वृत्तियाँ बीच-बीचमें न आवे, किंतु सदृश वृत्तियोंका प्रवाह बना रहे तबतक वह ध्यान कहलाता है ।

समाधि—जब इस ध्यान अर्थात् व्यवधानरहित त्रिपुटीसे भासनेवाली विषयाकारवृत्तिमें त्रिपुटीका भान जाता रहे और ध्यातृ तथा ध्यान भी विषयाकार होकर अपने स्वरूपसे शून्य-जैसे भासने लगे अर्थात् जब यह भान न रहे कि मै ध्यान कर रहा हूँ, यह ध्यानकी अवस्था है, किंतु केवल ध्येय विषयके स्वरूप-का ही भान होता रहे तब यह समाधि कहलाती है ।

पहले पादमें इसी त्रिपुटीको सवितर्क और निर्वितर्क समापत्तिमें ध्येयविषयक शब्द, अर्थ और ज्ञानसे बतलाया गया है ।

शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः ।

(१ । ४२)

शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पोंसे संयुक्त सवितर्क समापत्ति कहलाती है ।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ।

(१ । ४३)

स्मृतिके परिशुद्ध होनेपर स्वरूपसे शून्य-जैसे केवल अर्थमात्र (ध्येयमात्र) से भासनेवाली निर्वितर्क समापत्ति कहलाती है ।

इसलिये सवितर्क समापत्तिको ध्यानकी ही एक अवस्था और निर्वितर्क समापत्तिको समाधिकी अवस्था समझनी चाहिये ।

यह सम्प्रज्ञात योग अथवा सबीज समाधि है, क्योंकि यद्यपि इसमें त्रिपुटीका अभाव हो जाता है तथापि संसारका बीज विषयके ध्येयाकार वृत्तिरूपसे विद्यमान रहता है । जब इस ध्येयाकार वृत्तिका भी अभाव हो जाय, तब सब वृत्तियोंके निरोध हो जानेपर असम्प्रज्ञात योग अथवा निर्बीज समाधि होती है ।

संगति—पूर्वोक्त धारणादि तीनों योगाङ्गोंका एक शब्दसे व्यवहार करनेके लिये अपने शास्त्रमें पारिभाषिकी संज्ञा करनेको यह सूत्र है—

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—त्रयम्=तीनों (धारणा, ध्यान, समाधि) का, एकत्र=एक विषयमें होना; संयमः=संयम कहलाता है ।

अन्वयार्थ—तीनों (धारणा, ध्यान और समाधि) का एक विषयमें होना संयम कहलाता है ।

व्याख्या—समाधि अङ्गी है और धारणा, ध्यान उसके अङ्ग है । धारणा और ध्यान समाधिकी ही प्रथम अवस्था है । विभूति आदिमें इन तीनोंकी ही आवश्यकता होती है । इसीलिये योग-शास्त्रकी परिभाषामें इन तीनोंके समुदायको संयम कहा जाता है । जब धारणा, ध्यान और समाधि एक ही विषयमें करनी हो तब उसकी संयम संज्ञा होती है अर्थात् उसको संयम शब्दसे कहते हैं ।

संगति—संयमके अभ्यासका फल बतलाते हैं ।

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—तज्जयात्=उस संयमके सिद्ध होनेसे; प्रज्ञा=समाधि-प्रज्ञाका, आलोकः=प्रकाश होता है।

अन्वयार्थ—उस (संयम) के जयसे समाधि-प्रज्ञाका प्रकाश होता है।

व्याख्या—तज्जय=सयमजय=अभ्यासके बलसे संयमका दृढ़=परिपक्व हो जाना सयम-जय है। *प्रज्ञालोक*=अन्य विजातीय प्रत्ययोंके अभावपूर्वक केवल ध्येय-विषयक शुद्ध, सात्त्विक प्रवाहरूपसे बुद्धिका स्थिर होना प्रज्ञालोक है।

जब संयम अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधिको एक विषयपर ऊपर बतलाये हुए प्रकारसे लगानेका अभ्यास परिपक्व हो जाय, तब समाधि-प्रज्ञा उत्पन्न होती है, जिससे ध्येयका ज्ञान यथार्थरूपसे होने लगता है और नाना प्रकारकी विभूतियाँ सिद्ध होने लगती है। अन्तमे विवेकख्यातिका साक्षात् होने लगता है।

सगति—संयमका उपयोग—

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—तस्य=उस संयमका, भूमिषु=भूमियोंमें, विनियोगः=विनियोग करना चाहिये।

अन्वयार्थ—उस संयमका भूमियोंमे विनियोग करना चाहिये।

व्याख्या—भूमिसे अभिप्राय चित्तभूमिसे है और विनियोगके अर्थ लगानेके है अर्थात् उस संयमका स्थूल-सूक्ष्म आलम्बन भेदसे रहती हुई चित्तकी वृत्तियोमें विनियोग करना चाहिये। चित्तकी स्थूल वृत्ति-वाली भूमि जो नीची भूमि है प्रथम उसको विजय करना चाहिये, फिर उससे ऊँची सूक्ष्म वृत्तिवाली भूमि-में संयम करना चाहिये। नीची भूमियोंके जीते विना ऊपरकी भूमियोमें संयम करनेवाला विवेक ज्ञानरूपी फलको नहीं प्राप्त होता। जैसे धनुर्धारी लोग पहले स्थूल लक्ष्यका वेधन करके फिर सूक्ष्मका वेधन करते है, वैसे ही योगीको चाहिये कि क्रमसे पहले वितर्क अनुगत, फिर विचार अनुगत, फिर आनन्द अनुगत और फिर अस्मिता अनुगत अथवा पहले ग्राह्य फिर ग्रहण फिर ग्रहीतृ इत्यादि प्रकारसे पहली-पहली भूमिको जीतकर ऊँची भूमियोमें संयम करे, इस प्रकार विवेकज्ञानरूपी फल प्राप्त होता है। यदि ईश्वरके अनुग्रह-से योगीका चित्त पूर्व ही उत्तर भूमियोमें लगने योग्य हो गया हो तो पूर्व भूमियोमें लगानेकी आवश्यकता नहीं। 'चित्त किस योग्यताका है' इसका ज्ञान योगीको स्वय योगद्वारा हो जाता है। जैसा कि कहा है—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम् ॥

पहिले-योगसे उत्तर-योग जाननेमे आता है और पहिले-योगसे उत्तर-योग प्रवृत्त होता है। इसलिये प्रमादसे रहित जो यत्नशील अभ्यासी है, वह पहिले-योगसे उत्तर-योगमे चिरपर्यन्त रमण करता है।

विशेष वक्तव्य— ॥ सूत्र ६ ॥—वास्तवमें धारणा, ध्यान और समाधि तीनो एक ही संयमरूप क्रियाके भाग हैं अर्थात् किसी विषयमें चित्तको ठहरानेका नाम 'धारणा' है। जब देरतक लगातार चित्त इसमें ठहरा रहे, तब वही 'ध्यान' कहलायेगा, और जब वही ध्यान इतना सूक्ष्म और तल्लीनताके साथ हो जाय कि ध्यान करनेवालेको ध्येय विषयके अतिरिक्त और कुछ भी सुध-बुध न रहे, तब वही ध्यानकी अवस्था 'समाधि' कहलायेगी। यह सयमकी क्रिया चित्तके वशीकरण और आत्मोन्नति अर्थात् सारी आध्यात्मिक भूमियोंके विजयपर्यन्त विवेकख्यातिद्वारा असम्प्रज्ञात-समाधि अर्थात् स्वरूपावस्थितिके लाभार्थ

है। किंतु इसके दुरुपयोगद्वारा अधोगति तथा आत्म-अवनतिकी सम्भावना भी हो सकती है; क्योंकि सारी बातें प्रयोगपर ही निर्भर होती हैं। एक उत्तम-से-उत्तम वस्तु भी हानिकारक हो सकती है यदि उसका प्रयोग उचितरूपसे न किया जाय। साधारण मनुष्योंद्वारा बहुत-सी आश्चर्यजनक बातें, जिनके समझनेमें बुद्धि चकरा जाती है, इसी संयमकी सहायतासे की जाती हैं। यद्यपि करनेवाले और देखनेवाले दोनों इस बातसे अनभिज्ञ होते हैं। प्रत्येक वस्तु अपने सूक्ष्म रूपमें अधिक शक्तिकी उत्पादक होती है। जितनी सूक्ष्मता बढ़ती जाती है उतनी ही उसकी शक्तिमें भी वृद्धि होती जाती है। उदाहरणार्थ ओषधियोंके स्थूल रूपकी अपेक्षा उनके सत्त्वोंमें कई गुना बल बढ़ जाता है। धातुएँ अग्निद्वारा भस्म होकर अपने सूक्ष्म परमाणुरूपमें कितनी प्रभावशाली बन जाती हैं। स्थूल भूतोंके सूक्ष्म परमाणुओंमें जिस अद्भुत शक्तिका प्राचीन भारतीय दर्शनकारोंने वर्णन किया है उसका ज्ञान अब पाश्चात्य देशवालोंको भी होता जा रहा है। इनके सदुपयोगसे संसारकी अधिक-से-अधिक उन्नति और प्राणीमात्रका कल्याण हो सकता है, किंतु इनके दुरुपयोगका रोमाञ्चक उदाहरण भी हमारे समक्ष है। केवल गंधक, पारा, फ़ौलाद तथा रेडियम (Radium) आदिके सूक्ष्म परमाणुओंसे बने हुए परमाणुबमद्वारा सारे अन्तर्राष्ट्रिय नियमोंको उल्लङ्घन करते हुए हेरोशेमा और नागासाकी नामक जापानके नगरोंपर अमरीकाने जो उत्पात उत्पन्न किया है और युद्धसे सर्वथा असम्बन्धित लाखों स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध निरपराधी नागरिकों तथा करोड़ों प्राणधारियोंका जो प्राणहरण किया है और जो अकथनीय पीड़ा पहुँचायी है, उसका उदाहरण सारे भूमण्डलके इतिहासमें ढूँढ़े न मिल सकेगा। इन अमानुष राक्षसीय कार्योंद्वारा देशभक्त स्वतन्त्रता-प्रेमी मृत्युसे सर्वथा निर्भय वीर जापानियोंको अपनी अद्वितीय निर्भयता, वीरता और युद्ध-कला-कौशलको दिखलाये बिना दास डाल देनेपर विवश कर देनेसे अमरीका अपनेको सफल और कृतकृत्य भले ही समझ ले, किंतु भविष्यमें भूमण्डलके निष्पक्ष और तटस्थ इतिहास-लेखकोंके लिये यह चरित्र अमरीकाके सम्बन्धमें एक लाञ्छनका विषय बना रहेगा।

संयमको भी इसी प्रकार एक परमाणुबम समझ लेना चाहिये, जिसमें सब प्रकारकी अद्भुत शक्तियाँ हैं। कई स्थानोंमें इस बातको बतला आये हैं कि स्थूल भूतोंकी अपेक्षा सूक्ष्म भूत सूक्ष्मतर हैं। उनकी अपेक्षा तन्मात्राएँ और इन्द्रियाँ हैं और उनकी अपेक्षा अहंकार सूक्ष्मतर है और अहंकारकी अपेक्षा चित्त। चित्त—जो गुणोंका प्रथम विषम परिणाम है, संसारके सारे पदार्थोंकी प्रकृति होनेके कारण सबके तदाकार हो सकता है तथा सबसे सूक्ष्म होनेके कारण सबमें प्रविष्ट होकर उनमें यथोचित परिणाम कर सकता है। संयममें चित्तका ही सारा खेल होता है। इसलिये विभूतिपादमें बतलायी हुई सारी सिद्धियाँ तथा अन्य सब प्रकारके अद्भुत चमत्कार संयमद्वारा किये जा सकते हैं। हिप्नोटिज्म, मैसमेरिज्म आदिमें एक प्रकारसे संयमहीका प्रयोग होता है। कई साधुओंके सम्बन्धमें कहा जाता है कि वे बिना टिकट रेलमें सफर करते हैं। माँगनेपर बहुत-से टिकट दिखा देते हैं और कोई-कोई ट्रेनको भी रोक देता है तथा कई, अघोरी मनुष्योंका मांस खाते हुए दृष्टिगोचर होनेपर मांसको कद्दूकन्दके रूपमें दिखला देते हैं। इनमें भी दृष्टिबन्ध (Sightism) सम्बन्धी तथा इंजिनकी गतिमें एक प्रकारसे संयम ही काम करता है, यद्यपि वे इस बातसे सर्वथा अनभिज्ञ होते हैं। संयममें सबसे पहला और सबसे कठिन काम धारणा है। साधारण परिमित-ज्ञान और अल्प-बुद्धिवाले मनुष्योंको बेसिर-पैर और बेतुके मन्त्रों—यथा

'कांगरू देश कमक्षादेवी जहाँ बसे अजयपाल जोगी। अजयपाल जोगीने कुत्ते पाले चार, हरा, पीला, काला, लाल। इन कुत्तोका डसा न मरे। जोगी अजयपालकी आन'। तथा अपरिचित भयानक शब्द यथा—'ह्रीं, क्लीं', इत्यादि अधिक प्रभावित कर देते हैं। इस अन्धविश्वासद्वारा वे उस विशेष विषय-सम्बन्धी धारणामें योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार असभ्य जगली जातियोंके कई परिवारोमें विशेष मन्त्रोके द्वारा विशेष धारणाएँ परम्परासे गुप्त चली आती हैं और वे उस कार्यको उस मन्त्रका ही परिणाम समझते चले आते है। उदाहरणार्थ एक बाजीगर तमाशा करनेवाला कहता है 'आकाशमें राक्षसो और देवताओंमें युद्ध हो रहा है। मै देवताओकी सहायताके लिये जाता हूँ। इस बीचमें आप मेरे परिवार और सामानकी रक्षा करनेकी कृपा करें।' वह एक रस्सी ऊपर आकाशमें फेंककर उसके द्वारा ऊपर चढता हुआ दृष्टिसे ओझल हो जाता है। थोडी देरमें क्रमसे उसके हाथ, पैर, धड़ और सिर ऊपरसे पृथिवीपर गिरते हैं। उसकी स्त्री उनको लेकर सती हो जाती है। उसके कुछ ही समय पश्चात् वह बाजीगर नीचे उतरता है। राक्षसोपर विजयके शुभ समाचार सुनाकर स्त्रीको तलाश करता है और दर्शकोमें-से मुख्य व्यक्तिकी कुर्सीके नीचेसे निकाल लाता है। इस सारे खेलकी जब फोटू ली गयी, तब वह बाजीगर आसन लगाये हुए अपने परम्परासे प्राप्त किये हुए एक विशेष मन्त्रका जप करता हुआ पाया गया, जिसमें इस सारे दृष्टिबन्ध-सम्बन्धी विषयके सयमकी धारणा थी।

एक समय एक जगह मुझे योगसम्बन्धी सात-आठ व्याख्यान (लैक्चर) देने थे। एक संन्यासी महात्मा उनसे प्रभावित होकर यह समझने लगे कि मैने कभी पिशाच-सिद्धि की होगी अथवा मुझे पिशाच-सिद्धिकी किसी विशेष क्रियाका ज्ञान है। वे बडी श्रद्धा और नम्रतापूर्वक उसकी दीक्षाके लिये एकान्तमें मुझसे प्रार्थना करने लगे। बार-बार मना करनेपर भी मेरी इस प्रकारकी बातोसे उपेक्षावृत्ति-का उन्हें विश्वास नहीं होता था। उन्हींके हितार्थ उस दिन यह संयमकी विवेचना की गयी थी।

पिशाच-सिद्धि और भूत-सिद्धिके अभिलाषी कई प्रकारकी हिंसा करते हैं। मरघटादि भयभीत तामसी स्थानोंमें तामसी भावनावाले वेतुके मन्त्रोंसे भूत-पिशाचकी भावनामें धारणा करते है। ये सारी बातें अपने तामसी प्रभावसे चित्तको शीघ्रतम भूत-पिशाचाकारमें परिणत करनेके उद्देश्यसे की जाती हैं। इस तामसी भूत-पिशाचादिके आकारमें दृढ़ स्थिति होनेके पश्चात् इस प्रकारके संयमकी धारणाद्वारा कभी-कभी उनसे भूत-पिशाच-जैसे कार्य भी प्रकट होने लगते हैं।

उपर्युक्त सारी बातोको परमाणु बमके सदृश सयमका दुरुपयोग समझना चाहिये। इस प्रकारकी बातोको योग, सिद्धि अथवा चमत्कार और उनके करनेवालोको योगी, सिद्ध और चमत्कारी पुरुष समझना भी अत्यन्त भूल है, प्रत्युत इन प्रयोगोको घृणा और तिरस्कारकी दृष्टिसे और उनके प्रयोगकर्ताओ-को उपेक्षा-वृत्तिसे देखना चाहिये, क्योकि रेलमें बिना टिकट जाना एक प्रकारका स्तेय (चोरी) है और मासभक्षण स्वयं हिंसारूपी पाप है। चोरीकी पुष्टि करनेवाली और हिंसाको छिपानेवाली कोई भी क्रिया योग, सिद्धि अथवा चमत्कार नहीं हो सकती और न उनका करनेवाला योगी, सिद्ध अथवा चमत्कारी पुरुष। इसी प्रकार चित्तको भूत अथवा पिशाचाकार और सूक्ष्म शरीरको पिशाच-वृत्तिमें परिणत करना मनुष्यत्वसे नीचे गिरकर अधोगतिको प्राप्त होना है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इस विषयको कितने सुन्दर शब्दोंमें वर्णन किया गया है—

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥
(१७ । ४—६)

सात्त्विक पुरुष देवताओंको पूजते है, राजस पुरुष यक्ष और राक्षसोंको और तामस पुरुष भूत और प्रेतोंको पूजते हैं । जो लोग दम्भ और अहंकारसे युक्त होकर कामना, आसक्ति और बलके अभिमानपर शास्त्रविरुद्ध घोर तप तपते हैं तथा जो मूर्ख शरीररूपसे स्थित भूतसमुदायको अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और मन आदिके रूपोंमें परिणत हुए पाँचो पृथ्वी, जल आदि स्थूल भूतोंको और अन्तःकरणमें स्थित मुझ अन्तरात्माको भी व्यर्थ कष्ट देते हैं, उन अज्ञानियोंको आसुरी स्वभाववाला जान ॥ ४—६ ॥

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः ।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥*
(गीता ९ । २५)

देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते है, अर्थात् उनका चित्त देवताओंके स्वरूपको धारण करता है । पितरों (तथा यक्ष-राक्षस) को पूजनेवाले पितरों (तथा यक्ष-राक्षसो) को प्राप्त होते हैं, अर्थात् उनका चित्त पितर और यक्ष-राक्षसोंके तदाकार हो जाता है । भूतोंको पूजनेवाले भूतो (और प्रेतो) को प्राप्त होते हैं, अर्थात् उनका चित्त भूतो-प्रेतो- जैसे तामसी स्वभावमें परिणत हो जाता है और शुद्ध परब्रह्म परमात्माके उपासक उसको प्राप्त होते हैं अर्थात् वे शुद्ध परब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें अवस्थित होते है ।

सङ्गति—शङ्का—योगके आठ अङ्गोंमेंसे केवल पहले पाँच अङ्गोका साधनपादमें वर्णन किया गया । धारणा, ध्यान और समाधिका क्यो नहीं किया ?

उत्तर—पहले पाँच अङ्ग समाधिके साक्षात् साधन नहीं बहिरङ्ग साधन है । धारणा, ध्यान, समाधि अन्तरङ्ग साधन हैं । इसलिये इनका विभूतिपादमें लक्षण किया । इसीको अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—त्रयम् अन्तरङ्गम्=ये तीनो अन्तरङ्ग है; पूर्वेभ्यः=पहलोसे ।

अन्वयार्थ—पहलोकी अपेक्षासे तीनो (धारणा, ध्यान और समाधि) अन्तरङ्ग हैं ।

व्याख्या—पहले पादमें बताये हुए यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहारकी अपेक्षासे ये तीनो धारणा, ध्यान और समाधि सम्प्रज्ञात-समाधिके अन्तरङ्ग है अर्थात् साधनीय सम्प्रज्ञात-समाधिका जो विषय है वही धारणादिका विषय है, इसलिये समान विषय होनेसे ये धारणादि तीनो सम्प्रज्ञात-समाधिके अन्तरङ्ग है और यम-नियमादि पाँचो यद्यपि चित्तको निर्मल बनाकर योगके उपयोगी बनाते हैं

* यहाँ साख्यकी निष्ठावाले अहङ्कारादेश 'माम् और मद्' शुद्ध परब्रह्म परमात्माके बोधक हैं । (विशेष षडदर्शन-समन्वयके तीसरे और चौथे प्रकरणमें देखे) ।

तथापि समान विषय न होनेसे बहिरङ्ग हैं, इसलिये इन पाँचोंको साधनपादमें और धारणादि तीनोंको विभूतिपादमें वर्णन किया ।

सङ्गति—ये धारणादि तीनो भी निर्बीज-समाधिकी अपेक्षासे बहिरङ्ग हैं, यह अगले सूत्रमे बतलाते हैं—

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—तत् अपि=वह (धारणा, ध्यान, समाधि) भी; बहिरङ्गम्=बाहरका अङ्ग है; निर्बीजस्य=असम्प्रज्ञात-समाधिका ।

अन्वयार्थ—वह धारणा, ध्यान, समाधि भी असम्प्रज्ञात-समाधिका बाहरका अङ्ग है ।

व्याख्या—ये धारणा, ध्यान, समाधि सम्प्रज्ञात-समाधिके अर्थात् सबीज-समाधिके अन्तरङ्ग है, पर असम्प्रज्ञात (निर्बीज समाधि) के ये भी बहिरङ्ग साधन हैं । अर्थात् जिस प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार परम्परासे उपकारक होते हुए भी समान विषय न होनेसे सम्प्रज्ञात-समाधिके बहिरङ्ग साधन हैं, उसी प्रकार धारणा, ध्यान, समाधि परम्परासे उपकारक होते हुए भी समान विषय न होनेसे असम्प्रज्ञात-समाधिके बहिरङ्ग साधन हैं । उसका साक्षात् साधन पर-वैराग्य है । अर्थात् जो साधन साध्यके समान विषयवाला होता है अथवा जिस साधनके दृढ़ होनेके अनन्तर साध्यकी सिद्धि अवश्य ही हो, वह अन्तरङ्ग होता है । धारणा, ध्यानादि सालम्बन (किसीको आलम्बन=सहारा=ध्येय बनाकर) ध्येयरूप समान विषयवाले होते हैं और उनके दृढ होनेपर सम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है, इसलिये वे सम्प्रज्ञात-समाधिके अन्तरङ्ग हैं । किंतु असम्प्रज्ञात समाधि निरालम्बन (बिना आलम्बन=सहारा=ध्येयके) निर्विषय होती है और धारणादि संयमके दृढ होनेपर असम्प्रज्ञात योग अवश्य ही सिद्ध हो जाय, ऐसा भी कोई निश्चित नियम नहीं है । इसलिये निर्बीज समाधिके प्रति धारणादि तीनो बहिरङ्ग हैं । इसका अन्तरङ्ग पर-वैराग्य है जो निर्बीज समाधिके सदृश निरालम्ब और निर्विषय है और जिसके दृढ होनेपर असम्प्रज्ञात समाधि अवश्य ही सिद्ध होती है ।

सङ्गति—अब यह शङ्का होती है कि गुणकी वृत्ति चलायमान है अर्थात् वह एक क्षण भी बिना परिणाम नही रहती । चित्त त्रिगुणात्मक है, निर्बीज समाधिमें जब चित्त निरुद्ध हो जाता है, तब उसका परिणाम कैसा होता है ? इसी शङ्काकी निवृत्तिमें अगले चार सूत्र हैं । परिणामोका वर्णन तेरहवें सूत्रमें है । पर जबतक परिणामोंको ठीक-ठीक न जाँच लिया जाय उसके समझनेमें कठिनाई आयेगी । इस कारण उसका सक्षेपसे वर्णन करते है—

परिणाम तीन प्रकारके हैं—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम, अवस्थापरिणाम । ये तीन परिणाम तीनो गुणोंसे उत्पन्न हुए सब द्रव्योंमें पाये जाते हैं । जिसमें ये परिणाम होते हैं उसको धर्मी कहते हैं और वे परिणाम धर्म कहलाते हैं । निरपेक्ष धर्मी केवल कारणरूप प्रकृति है । अन्य उसके सब विकार महत्तत्त्वसे लेकर पाँचों स्थूलभूतपर्यन्त सापेक्ष धर्मी हैं । इन धर्मियोंमें जिस प्रकार ये तीनो परिणाम होते हैं उनको उदाहरण देकर समझाते हैं—

१ *धर्मपरिणाम*—जैसे मिट्टीके गोले बनाकर कुम्भकार नाना प्रकारके बर्तन बनाता है, यहाँ मिट्टी द्रव्य धर्मी है, उसमें नाना प्रकारके बर्तनके आकार जो क्रमके बदलनेसे हो गये हैं, धर्म हैं । मिट्टी धर्मी ज्यों-

की त्यों बनी रहती है, उनमें कोई परिणाम नहीं होता। यह बर्तनके आकार जो भिन्न प्रकारके क्रमके बदलनेसे बने हैं, उसके धर्म हैं। इनमेंसे एक धर्मका दबना, दूसरे धर्मका प्रकट होना मिट्टी धर्मीका धर्म-परिणाम कहलाता है।

२ *लक्षणपरिणाम*—ऊपर बतलाये हुए धर्मपरिणाममें बर्तन मिट्टीका एक नया आकार है। यह आकार उसमें छिपा हुआ था, अब प्रकट हो गया। ये बर्तनके आकार मिट्टीहीके धर्म है, जो उसमें छिपे रहते हैं। उस छिपे हुए धर्म (आकार) का प्रकट होना अर्थात् भविष्यसे वर्तमानमें आना लक्षण-परिणाम है। लक्षण-परिणाम कालभेदसे होता है। बर्तनका आकार प्रकट होनेसे पहिले धर्मी मिट्टीमें छिपा हुआ था। जबतक प्रकट नहीं हुआ था, तबतक वह अनागत (भविष्य) लक्षणवाला था; जब प्रकट हो गया, तब वर्तमान लक्षणवाला हो गया और जब टूटकर मिट्टीमें मिल गया, तब भूत लक्षणवाला हो गया। बर्तन तीनों कालमें मिट्टीमें वर्तमान है। भूत, भविष्यमें छिपे रूपसे, वर्तमानमें प्रकट रूपसे। इस प्रकार कालभेदसे धर्मीमें तीन लक्षण-परिणाम होते हैं—अनागत (भविष्य) लक्षण-परिणाम, वर्तमान लक्षण-परिणाम, अतीत (भूत) लक्षण-परिणाम।

३ *अवस्थापरिणाम*—ऊपर बतला आये हैं कि बर्तनका प्रकट होना उसका वर्तमान लक्षण-परिणाम है। यह बर्तन ज्यों-ज्यों पुराना होता जाता है त्यों-त्यों जीर्ण होता चला जाता है, यहाँतक कि एक समय इतना जीर्ण हो जाता है कि हाथ लगानेसे टूटने लगता है। यह जीर्ण होनेकी अवस्था प्रतिक्षण होती रहती है। इस कारण उसको अवस्था-परिणाम कहते हैं।

इन परिणामोंमें धर्म और लक्षण-परिणाम वस्तुके उत्पत्ति-समयमें होता है और अवस्था-परिणाम उसके अन्त होनेतक होता रहता है। अन्य कई दर्शनोंमें गुण और गुणीको धर्म और धर्मी कहा गया है, परंतु योगदर्शनमें धर्म, धर्मी शब्द कार्य-कारण अर्थमें लाये गये हैं।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोध-परिणामः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—व्युत्थान-निरोध-सस्कारयो.=व्युत्थानके और निरोधके सस्कारोका; अभिभव-प्रादुर्भावौ=दबना और प्रकट होना; निरोधक्षण-चित्त=यह जो निरोधकालमें होनेवाले चित्तका (दोनों सस्कारोमें), अन्वयः=अनुगत अर्थात् सम्बन्ध होना है; निरोधपरिणामः=वह निरोध परिणाम कहा जाता है।

अन्वयार्थ—व्युत्थानके सस्कारका दबना और निरोधके संस्कारका प्रकट होना, यह जो निरोधकालमें होनेवाले चित्तका दोनो संस्कारोमें अनुगत होना है, यह निरोध-परिणाम कहा जाता है।

व्याख्या—व्युत्थान—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त—इन तीन पूर्वोक्त भूमियोको व्युत्थान कहते हैं। यह एकाग्रता (सम्प्रज्ञात-समाधि) की अपेक्षासे व्युत्थान है। निरोध (असम्प्रज्ञात-समाधि) की अपेक्षासे एकाग्रता (सम्प्रज्ञात-समाधि) भी व्युत्थानरूप ही है। इसलिये व्युत्थान पदका अर्थ यहाँ एकाग्रता (सम्प्रज्ञात-समाधि) जानना चाहिये।

निरोध—व्याकरणकी रीतिसे यदि नि-पूर्वक रुध् धातुके आगे करणमें 'घञ्' 'प्रत्यय' मानें तो निरोध शब्दका अर्थ पर-वैराग्य होता है तथा पर-वैराग्यका संस्कार निरोध शब्दका अर्थ होता है;

और यदि भावमें प्रत्यय माने तो निरोध शब्दका अर्थ रुकना है। इसलिये सूत्रमें 'पहिले निरोध शब्दका अर्थ पर-वैराग्य है,' 'दूसरे निरोध शब्दका अर्थ किसी वृत्तिका उदय न होना अर्थात् सब वृत्तियोंका रुक जाना' और 'तीसरे निरोध पदका अर्थ पर-वैराग्यका संस्कार' जानना चाहिये।

अभिभव=छिपना=कार्य करनेकी सामर्थ्यसे रहित निर्बल रूपसे रहना। वर्तमानावस्थासे भूतावस्थामें जाना।

प्रादुर्भाव—अनागतावस्थासे वर्तमान कालमें प्रकटरूपसे आना।

निरोधक्षणचित्तान्वय—निरोधकालमें होनेवाले धर्मी चित्तका अपने धर्म व्युत्थान (एकाग्रता अर्थात् सम्प्रज्ञात-समाधि) और निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कारोंमें अनुगत होना।

योगकी सिद्धियोंकी व्याख्या करनेकी इच्छासे सूत्रकार संयमका विषय शोधनेके लिये क्रमसे तीन परिणामोंको कहते हैं। इस सूत्रमें निरोध-परिणामका वर्णन है।

निरोध-परिणाम=चित्त त्रिगुणात्मक होनेसे परिणामी है। उसमें प्रतिक्षण वृत्तिरूप परिणाम हो रहा है। निर्बीज समाधिमें व्युत्थानकी सारी वृत्तियाँ रुक जाती हैं और एकाग्रता-वृत्ति भी नहीं रहती। तब उस निरोधक्षणवाले चित्तमें कैसा परिणाम उस समय होता है ? इसको इस प्रकार समझाते है—

चित्त धर्मी है, व्युत्थान तथा एकाग्रताके संस्कार उसके धर्म हैं। ये संस्कार वृत्तिरूप नहीं है। जैसा कि व्यासभाष्यकारने कहा है—

व्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्मा न ते प्रत्ययात्मकाः। इति प्रत्ययनिरोधे न निरुद्धाः।

व्युत्थानके संस्कार चित्तके धर्म हैं, प्रत्ययात्मक अर्थात् वृत्तिरूप नहीं है। इसलिये वृत्तियोके निरोध होनेपर भी इनका निरोध नहीं हो सकता।

इसलिये वृत्तियोके रुकनेपर ये संस्कार नहीं रुकते, धर्मी-चित्तमें बने रहते हैं। इसी प्रकार निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कार भी चित्तके धर्म हैं। इन दोनो संस्काररूपी धर्मोंमेंसे एक धर्मका दबना, दूसरेका प्रकट होना चित्तरूपी धर्मीका धर्म-परिणाम है। निरोधक्षण (निर्बीज-समाधिकालवाले) चित्तके अंदर उस समय यह परिणाम होता है कि व्युत्थान (एकाग्रता) के संस्कार अभिभूत होते है (दबते है) और निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कार प्रादुर्भूत होते है (प्रकट होते हैं)।

व्युत्थानके संस्कार जो पहिले वर्तमानरूपमें थे, अब भूतरूपमें हो गये। यह उनका भूत लक्षण-परिणाम है और निरोधके संस्कार जो पहिले अनागतरूपमें थे, अब वर्तमानरूपमें हो गये। यह उनका वर्तमान लक्षण-परिणाम है। निरोध समयका धर्मी चित्त अपने धर्म इन दोनो व्युत्थान (एकाग्रता) और निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कारोके बदलनेमें (आविर्भाव-प्रादुर्भाव होनेमें) अनुगत रहता है। इस प्रकार एक चित्तके एकाग्रता और पर-वैराग्यके संस्कारोंका बदलना निरोध-परिणाम है। उस समय संस्कार शेष-वाला चित्त होता है, जैसा कि (१। १८) में बतलाया गया है कि असम्प्रज्ञात-समाधिमें चित्तके संस्कार शेष रहते हैं।

शङ्का—वृत्तियोंसे संस्कार उत्पन्न होते हैं। जैसे व्युत्थानकी वृत्तियोसे व्युत्थानके संस्कार, समाधि (आरम्भ) की वृत्तियोसे समाधि (आरम्भ) के संस्कार, एकाग्रताकी वृत्तियोंसे एकाग्रताके संस्कार; और सब वृत्तियोंके निरोधका कारण जो पर-वैराग्य है उसकी वृत्तियोसे पर-वैराग्य (निरोध) के संस्कार उत्पन्न

होते हैं। इसलिये वृत्तियाँ ही संस्कारोंके कारण हैं। निरोध अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधिमें जब पर-वैराग्यकी वृत्तिका भी निरोध हो जाता है, तब उसके कार्य निरोधके संस्कार कैसे शेष रह सकते है।

समाधान—कारण दो प्रकारके होते हैं—एक निमित्तकारण, जैसे कुम्हार घटका निमित्तकारण है, दूसरा उपादान, जैसे मिट्टी घटका उपादान कारण है। निमित्त कारणके अभावसे कार्यका अभाव नहीं होता, केवल उसके आगेकी उत्पत्ति बंद हो जाती है, किंतु उपादान कारणके अभावमें कार्यका अभाव होता है।

वृत्तियाँ सस्कारोंकी निमित्त कारण हैं, उपादान कारण नहीं हैं। संस्कारोंका उपादान कारण चित्त है। इस उपादान कारणको ही सांख्य तथा योगकी परिभाषामें धर्मी कहते हैं और उसके कार्योंको धर्म। इसलिये निरोधक्षण (असम्प्रज्ञात-समाधि) में सब वृत्तियोके निरोधके निमित्त कारण पर-वैराग्यकी वृत्ति भी निवृत्त हो जाती है, पर उनके कार्य निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कार वर्तमानरूपसे शेष रहते हैं; क्योंकि उनका उपादान कारण धर्मी चित्त विद्यमान रहता है। कैवल्यमे जब चित्त अपने उपादान कारण धर्मीमें लय हो जाता है, तब उसके साथ उसके कार्य निरोधके संस्कार (संस्कारशेष) भी निवृत्त हो जाते है।

सङ्गति—उस निरोध-सस्कारका फल कहते हैं—

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

शब्दार्थ—तस्य=उस (चित्त) का; प्रशान्तवाहिता=प्रशान्त बहना; संस्कारात्=निरोध-संस्कार-से (होता है)।

अन्वयार्थ—निरोध-संस्कारसे चित्तकी शान्त-प्रवाहवाली गति होती है।

व्याख्या—प्रशान्तवाहिता=निरोध-संस्कारके अभ्याससे जब निरोध-संस्कार प्रबल होता है, तब व्युत्थानके संस्कार सर्वथा दब जाते हैं और व्युत्थान-संस्काररूप मलसे रहित जो निर्मल निरोध-संस्कारोकी परम्परा-प्रवृत्ति होती है, यही चित्तका प्रशान्त या एकरस बहना, चित्तकी प्रशान्तवाहिता स्थिति है।

भाष्यकार इस सूत्रका आशय यह बतलाते हैं कि निरोध-संस्कारोंके अभ्यासको दृढ करनेकी आवश्यकता है, जिससे चित्तकी प्रशान्तवाहिता स्थिति हो जाय; क्योकि निरोधके संस्कार मन्द होते ही व्युत्थानके संस्कार उनको फिर दबा लेते हैं। यहाँ यह बात भी समझ लेनी चाहिये कि निरोध-समाधिके भङ्ग-तक, जो चित्तमें उन्हीं संस्कारोंके दृढ और दुर्बल होते हुए प्रशान्त प्रवाहका बहना है, वह उसका अवस्था-परिणाम है।

संगति—निरोध-परिणाम बताकर अब चित्तमें समाधि (सम्प्रज्ञात) परिणाम बताते है—

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—सर्वार्थता एकाग्रतयोः=सर्वार्थता और एकाग्रताका, क्षय उदयौ=क्षय और उदय होना; चित्तस्य समाधिपरिणामः=चित्तका समाधि-अवस्थामें परिणाम है।

अन्वयार्थ—चित्त (धर्मी) के सर्वार्थता और एकाग्रतारूप धर्मोंका (क्रमसे) नाश होना और प्रकट होना चित्तका समाधि-अवस्थामें परिणाम है।

व्याख्या—सर्वार्थता=सब विषयोकी ओर जाना। यह शब्द चित्तकी विक्षेप अवस्थाके लिये यहाँ आया है। विक्षेप अवस्थामें सत्त्वगुण प्रधान होता है पर रजोगुण बना रहता है और अपने कार्य करता

रहता है। इस कारण चित्त सारे विषयोंकी ओर जाता है। यह अवस्था समाधिके आरम्भ-कालमें होती है।

एकाग्रता—समाधिकी अवस्था जिसमें चित्त सब विषयोंको त्याग कर एक विषयपर टिकता है अर्थात् एक ही आलम्बन (सहारा) होनेपर सजातीय प्रवाहमें परिणत होना चित्तकी एकाग्रता कहलाती है। विक्षिप्तता और एकाग्रता दोनों चित्तके धर्म हैं, चित्त धर्मी दोनोंमें अनुगत है। जब विक्षिप्तताका धर्म दबता है और एकाग्रताका धर्म प्रकट होता है, तब इस प्रकार दोनों धर्मोंमें अनुगत धर्मी-चित्तमें समाधि-परिणाम अर्थात् सम्प्रज्ञात-समाधि कालमें होनेवाला चित्तका परिणाम है। चित्तका यह एकाग्रताका आकार धारण करना चित्तमें धर्म-परिणाम है। एकाग्रता जो चित्तकी सर्वार्थता (विक्षिप्तता) में अनागत रूपसे छिपी हुई थी अब वर्तमान रूपमें आ गयी। यह एकाग्रतारूप चित्त-धर्मीका वर्तमान लक्षण-परिणाम है।

समाधि-परिणाम और निरोध-परिणाममें भेद

निरोध-परिणामसे समाधि-परिणाममें यह भेद है कि निरोध-परिणाममें व्युत्थान-(एकाग्रता) के संस्कारोंका अभिभव और निरोध-संस्कारोंका प्रादुर्भाव होता है और समाधि-परिणाममें संस्कारजनक जो व्युत्थान अर्थात् सर्वार्थतारूप चित्तका विक्षेप है उसका क्षय और एकाग्रतारूप धर्मका उदय होता है अर्थात् प्रथम सम्प्रज्ञातमें व्युत्थानका क्षय और एकाग्रताका उदय किया जाता है फिर असम्प्रज्ञातमें निरोध-संस्कारोंके प्रादुर्भावसे व्युत्थान (एकाग्रता) के संस्कारोंका भी तिरोभाव (दबना) होता है।

संगति—समाधि-अवस्थामें जब विक्षिप्तता बिल्कुल दब जाती है, तब चित्तकी समाहित अवस्थामें एकाग्रता-परिणाम बताते हैं—

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः॥ १२ ॥

शब्दार्थ—ततः पुनः=तब फिर; शान्त-उदितौ=शान्त और उदय हुई; तुल्यप्रत्ययौ=समान वृत्तियाँ, चित्तस्य एकाग्रतापरिणामः=चित्तका एकाग्र परिणाम है।

अन्वयार्थ—तब फिर समान वृत्तियोंका शान्त और उदय होना चित्तका एकाग्रता परिणाम है।

व्याख्या—समाहित चित्तकी वृत्तिविशेष ही एक प्रत्यय कहलाती है। यह अतीत (भूत) मार्गमें प्रविष्ट हुई शान्त और वर्तमान मार्गमें वर्तती हुई उदित कहलाती है।

यह दोनो ही चित्तके समाहित होनेके कारण, तुल्य अर्थात् एक विषयको ही आलम्बन करनेसे सदृश-प्रत्यय हैं। इन दोनोंमें समाहित चित्तका अन्वयी (अनुगत) भावसे रहना एकाग्रता-परिणाम कहलाता है। अर्थात् समाधि-परिणामके अभ्यासबलसे जब चित्तका विक्षेप बिल्कुल दब जाता है, तब वह समाहित हो जाता है। इस अवस्थामें भी चित्त बराबर बदलता रहता है; किंतु जिस प्रकार विक्षेपमें एक वस्तुको छोडकर दूसरीको पकड़ता था, इस प्रकार समाहित अवस्थामें नहीं होता। इसमें जिस वस्तुको पकडता है उसीमें लगा रहता है। चित्तके बदलनेके कारण वृत्तियाँ बदलती तो है पर जैसी वृत्ति दबती है वैसी ही उदय होती रहती है, जबतक समाधि भङ्ग न हो जाय। यह धर्मी चित्तका एकाग्रता-परिणाम है।

समाधिके भङ्ग होनेतक एकाग्रता प्रबल होती रहती है, उसके पश्चात् दुर्बल होती जाती है। यह उसकी अवस्थाका बदलना अवस्था-परिणाम है।

सावधानी—सम्प्रज्ञात-समाधिकी प्राप्तिसे ही योगी अपने-आपको कृतकृत्य न मान बैठे; किंतु व्युत्थानके विक्षेपकी निवृत्तिके लिये असम्प्रज्ञात-समाधिका अनुष्ठान करना चाहिये ।

संगति—अब प्रसङ्गसे चित्तके सदृश ही भूत और इन्द्रियोंके परिणाम बताते हैं—

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—एतेन=इससे ही (चित्तके परिणामसे ही); भूत-इन्द्रियेषु=भूत और इन्द्रियोंमें; धर्मलक्षण-अवस्था-परिणामाः-व्याख्याताः=धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम व्याख्यान किये हुए जानने चाहिये ।

अन्वयार्थ—चित्तके परिणामसे ही भूतों और इन्द्रियोंमें धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम व्याख्या किये गये जानने चाहिये ।

व्याख्या—जिस प्रकार चित्तके धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम होते हैं, इसी प्रकार पाँचों भूतों और इन्द्रियोंमें समझना चाहिये । यद्यपि पूर्व चार सूत्रोंमें धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणामका नाम नहीं लिया गया है, तथापि उनमें चित्तके ये परिणाम दिखलाये गये हैं । पाठकोंके सुभीतेके लिये नवें सूत्रकी संगतिमें वे उदाहरणसहित समझा दिये गये हैं; और पिछले चार सूत्रोंमें चित्तके निरोध आदि परिणामोंमें भी इनको यथास्थान बतलाते चले आये हैं । यहाँ उनको संक्षेपसे फिर बतलाये देते हैं—

धर्म-परिणाम—धर्मीके अवस्थित रहते हुए पूर्वधर्मकी निवृत्ति होनेपर उसके अन्य धर्मकी प्राप्ति होना धर्म-परिणाम है ।—(भोजवृत्ति)

चित्तमें धर्म-परिणाम—नवें सूत्रमें निरोध-परिणाममें धर्म-परिणाम बतला आये हैं । धर्मी-चित्तके दो धर्म व्युत्थान-संस्कार और निरोध-संस्कारमेंसे व्युत्थान-संस्कारका दबना और निरोध-संस्कारका प्रकट होना धर्मी-चित्तका धर्म-परिणाम है, इसी प्रकार सूत्र ग्यारहमें समाधि-परिणाममें धर्मी-चित्तके सर्वार्थता धर्मके दबने और एकाग्रता धर्मके प्रकट होनेमें धर्मी-चित्तका धर्म-परिणाम है ।

भूतोंमें धर्म-परिणाम—पृथ्वीका उदाहरण—मृत्तिकारूप धर्मीका पिण्डरूप धर्मको छोड़कर घटरूप धर्मको स्वीकार करना उसका धर्म-परिणाम है ।

इन्द्रियोंमें धर्म-परिणाम—नेत्रेन्द्रियका उदाहरण—धर्मी नेत्रका अपने धर्म नील, पीत, रूपादि विषयोंमेंसे एक रूपको छोड़कर दूसरे रूपका आलोचन-ज्ञान धर्म-परिणाम है ।

लक्षण-परिणाम—काल-परिणामको लक्षण-परिणाम कहते हैं । वह तीन भेदवाला है, अनागत (भविष्य), उदित (वर्तमान), अतीत (भूत) । प्रत्येक धर्म इन तीन लक्षणोंसे युक्त होता है ।

किसी धर्मका वर्तमान कालमें प्रकट होनेसे पहले भविष्यत् कालमें छिपा रहना उसका अनागत लक्षण-परिणाम है । उस धर्मका भविष्यकालको छोड़कर वर्तमानकालमें प्रकट होना वर्तमान लक्षण-परिणाम है और वर्तमान कालको छोडकर भूतकालमें छिप जाना अतीत लक्षण-परिणाम है ।

सूत्र ९ में धर्मी-चित्तके निरोध-परिणाममें उसके दोनों धर्म, व्युत्थान-संस्कार तथा निरोध-संस्कार इन तीनो लक्षणोंसे युक्त हैं । उनमेंसे व्युत्थान-संस्कारका, वर्तमान लक्षणको छोड़कर, धर्मभावको न त्यागते हुए, अतीतकालमें छिप जाना उसका अतीत (भूत) लक्षण-परिणाम है । इसी प्रकार निरोध-

संस्कारका अनागत मार्गको छोड़कर, धर्मभावको न छोडते हुए वर्तमानकालमें प्रकट होना, उसका वर्तमान लक्षण-परिणाम है । ऐसे ही सूत्र ग्यारहमें चित्तके समाधि-परिणाममें उसके धर्म सर्वार्थता और एकाग्रता दोनो लक्षणवाले हैं । उनमेंसे सर्वार्थताका वर्तमान लक्षणको त्यागकर धर्मभावको न छोडते हुए अतीत लक्षणको प्राप्त होना उसका अतीत लक्षण-परिणाम है और एकाग्रता धर्मका अनागत लक्षणको त्यागकर धर्मभावको न छोडते हुए वर्तमान लक्षणमें प्रकट होना उसका वर्तमान लक्षण-परिणाम है ।

मृत्तिकाके घटरूप धर्मका प्रकट होनेसे पहले, अनागत कालमे छिपा रहना उसका अनागत लक्षण-परिणाम है । अनागत लक्षणसे वर्तमानकालमें प्रकट होना वर्तमान लक्षण और घटरूप धर्मका वर्तमान लक्षणसे अतीत कालमें छिप जाना उसका अतीत लक्षण-परिणाम है ।

इसी प्रकार धर्मी नेत्रके, धर्मों अर्थात् नील, पीत रूपादि विषयोके आलोचनमें इन तीनो लक्षण-परिणामोको समझ लेना चाहिये । अर्थात् धर्मी नेत्रके धर्म नीलादि ज्ञानके प्रकट होनेसे पूर्व अनागत कालमें छिपा रहना उसका अनागत लक्षण-परिणाम है । अनागत कालसे वर्तमानकालमें प्रकट होना वर्तमान लक्षण-परिणाम है और वर्तमान कालसे अतीत मार्गमें छिप जाना अतीत लक्षण-परिणाम है ।

अवस्था-परिणाम—एक धर्मके अनागत लक्षणसे वर्तमान लक्षणमें प्रकट होनेतक उसकी अवस्था-को दृढ करनेमें और इसी प्रकार वर्तमान लक्षणसे अतीत लक्षणमें जानेतक उसकी अवस्थाको दुर्बल करनेमें जो प्रतिक्षण परिणाम हो रहा है, वह अवस्था-परिणाम है । सूत्र १० में निरोध-समाधिके भङ्गतक जो निरोध-सस्कारके प्रतिक्षण दृढ और उसके पश्चात् उनका दुर्बल होते हुए प्रशान्त प्रवाहका वहना है, वह उनका अवस्था-परिणाम है । इसी प्रकार मृत्तिकाके घटधर्मके अनागत लक्षणसे वर्तमान लक्षणमें आनेतक और वर्तमान लक्षणसे अतीत लक्षणमें जानेतक उसकी अवस्थाको क्रमसे दृढ और दुर्बल करनेमें जो प्रतिक्षण परिणाम हो रहा है, वह घटधर्मका अवस्था-परिणाम है । ऐसे ही धर्मी नेत्रके धर्म नील, पीत, रूपादिक विषयके आलोचनमें अवस्था-परिणामको जानना चाहिये । अर्थात् वर्तमान लक्षणवाले नीलादि विषयके आलोचन (ज्ञान) रूप धर्मका स्फुटता-अस्फुटतारूप अवस्था-परिणाम है ।

धर्मीका धर्मोंसे, धर्मका लक्षणो (अनागत, वर्तमान, अतीत) से और लक्षणोका अवस्थासे परिणाम होता है । इस प्रकार गुणवृत्ति एक क्षण भी धर्म-लक्षण और अवस्था-परिणामसे शून्य नहीं रहती । गुणोका स्वभाव ही प्रवृत्तिका कारण है ।

यथार्थमें यह सब एक ही परिणाम है । धर्मीका स्वरूपमात्र ही धर्म है, कोई भिन्न वस्तु नहीं; क्योकि धर्मीका विकार ही धर्म नामसे कहा जाता है । धर्मीके विकाररूप धर्मका ही धर्मीमें वर्तमान रहते हुए, अतीत, अनागत, वर्तमान मार्गमे अन्यथा भाव होता है, न कि धर्मी द्रव्यका अन्यथापन होता है । जैसे सुवर्णका कोई आभूषण तोडकर अन्य प्रकारका आभूषण वनानेसे भूषण-आकार अन्यथा होता है, सुवर्णका स्वरूप नहीं वदलता, ज्यो-का-त्यो रहता है । इसी प्रकार चित्त आदि धर्मियोंका स्वरूप नहीं वदलता, उनके निरोध आदि धर्मोके भाव वदलते रहते है ।

भाष्यकारने प्रतिपक्षियोकी शङ्काओका युक्तिपूर्वक समाधान करते हुए स्वपक्षका विस्तारके साथ वर्णन किया है । हमने सूत्र ९ की संगति और इस सूत्रकी व्याख्या पर्याप्त समझकर विस्तारके भयसे उसे छोड दिया है । इतना और वतला देना आवश्यक है कि साख्य तथा योगमें धर्मी उपादान-

कारणके अर्थमें है और धर्म उसका विकार कार्य है, वैशेषिकवालोंके गुणके अर्थमें नहीं है।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद ॥ सूत्र १३ ॥

इस पूर्वोक्त धर्म लक्षण और अवस्थारूप चित्तके परिणामसे भूत और इन्द्रियोंमें धर्मपरिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्थापरिणाम भी व्याख्यात समझने चाहिये। उनमें धर्मीमें व्युत्थान और निरोध धर्मोंका अभिभाव और प्रादुर्भाव धर्मपरिणाम है।

लक्षणपरिणाम—निरोध त्रिलक्षण होता है। तीन अध्व (मार्ग) से युक्त होता है, वह अनागत लक्षण प्रथम अध्व (मार्ग) को छोड़कर धर्मत्वको न छोड़ता हुआ वर्तमान लक्षणको प्राप्त होता है, जहाँ कि इसकी स्वरूपसे अभिव्यक्ति होती है, यह इसका द्वितीय अध्व (मार्ग) है, वह अतीत और अनागत लक्षणसे वियुक्त नहीं है। तथा व्युत्थान त्रिलक्षण तीन अध्वसे युक्त होता है। वर्तमान लक्षणको छोड़कर धर्मत्वका परित्याग न करके अतीत लक्षणको प्राप्त होता है, यह इसका तृतीय अध्व है और वह वर्तमान और अनागत लक्षणसे जुदा नहीं है। इसी भाँति पुनः व्युत्थान उपसम्पाद्यमान अनागत लक्षणको छोड़कर धर्मत्वका उल्लङ्घन न करता हुआ वर्तमान लक्षणको प्राप्त हो जाता है, जहाँ कि इसके स्वरूपकी अभिव्यक्ति होनेपर व्यापार होता है। यह इसका द्वितीय अध्व है। वह अतीत और अनागत लक्षणसे वियुक्त नहीं है। इसी भाँति पुनः निरोध और पुनः व्युत्थान होता रहता है।

तथा अवस्थापरिणाम होता है। उसमें निरोधके क्षणोंमें निरोधके संस्कार बलवान् होते हैं और व्युत्थानके संस्कार दुर्बल होते हैं, यह धर्मोंका अवस्थापरिणाम है। उसमें धर्मीका धर्मोंसे परिणाम होता है, धर्मोंका लक्षणोंसे परिणाम होता है और लक्षणोंका अवस्थाओंसे परिणाम होता है। इस भाँति धर्म, लक्षण और अवस्था परिणामोंसे शून्य एक क्षण भी गुणोंकी वृत्ति नहीं रहती है; क्योंकि गुणोंकी वृत्ति चञ्चल स्वभाव-वाली है, गुणोंका गुणस्वभाव प्रवृत्तिका कारण कहा है, इससे भूत और इन्द्रियोंमें धर्म-धर्मी भेदसे त्रिविध परिणाम जानना चाहिये और परमार्थसे तो एक ही परिणाम है, धर्मीका स्वरूपमात्र ही धर्म है, धर्मीकी विक्रिया ही यह धर्मद्वारा विस्तारसे कही है। उस धर्मीमें वर्तमान धर्मके ही अतीत, अनागत और वर्तमान अध्वोंमें भावका अन्यथात्व होता रहता है, द्रव्यका अन्यथात्व नहीं होता। जैसे सुवर्णपात्रको तोड़ अन्यथात्व करने-पर भावका अन्यथात्व होता है, सुवर्णका अन्यथात्व नहीं होता।

दूसरे कहते हैं—धर्मसे धर्मी अन्यूनाधिक होता है, क्योंकि वह पूर्व तत्त्वका अतिक्रम नहीं करता। पूर्व, अपर अवस्था-भेदसे अनुपतित प्राप्त हुआ कौटस्थ्यसे परिवर्तित होगा, यदि वह अन्वयी है ?

समाधान—यह दोष नहीं है, क्योंकि यह बात एकान्ततः नहीं मानी है, यह त्रैलोक्य व्यक्तिसे च्युत होता है, क्योंकि इसके नित्यत्वका निषेध किया है, च्युत हुआ भी है; क्योंकि इसके विनाशका प्रतिषेध किया है, संसर्गसे इसकी सूक्ष्मता है और सूक्ष्म होनेसे उपलब्धि नहीं होती।

लक्षणपरिणाम—धर्म अध्वोंमें वर्तमान अतीत होता है, अतीत लक्षणसे युक्त होता है, अनागत और वर्तमान लक्षणसे वियुक्त नहीं होता है तथा अनागत-अनागत लक्षणयुक्त होता है, वर्तमान और अतीतसे वियुक्त नहीं होता तथा वर्तमान-वर्तमान लक्षणसे युक्त होता है, अतीत और अनागत लक्षणसे वियुक्त नहीं होता, जैसे पुरुष एक स्त्रीमें रक्त है, वह शेषोंसे विरक्त नहीं है। यहाँ लक्षणपरिणाममें सर्वथा सर्व लक्षणोंके साथ योग होनेसे अध्वसंकर प्राप्त होता है। यह दूसरे दोष देते हैं ?

उसका यह परिहार है—धर्मोंका धर्मत्व अप्रसाध्य है, धर्मत्वके होनेपर ही लक्षण-भेद भी कहना होगा ? उसको धर्मत्व वर्तमान समयमें ही नहीं है, इस भाँति ही चित्त रागधर्मवाला नहीं होगा; क्योंकि क्रोधके समय राग समुदाचार नहीं है। और भी ? तीनो लक्षणोंका एक साथ एक व्यक्तिमें सम्भव नहीं ? क्रमसे तो उसके व्यञ्जककी सहायतासे भाव हो सकता है। उक्तं च—रूपातिशय और वृत्ति-अतिशय परस्पर विरोधी हैं। सामान्य तो अतिशयके साथ रहा करते हैं, इस कारणसे संकर दोष नहीं हैं। जैसे रागका ही कहीं समुदाचार है, इसलिये उस समय अन्यत्र अभाव नहीं है; किंतु केवल सामान्यसे समन्वागत है। अतः उस समय उसका वहाँ भाव है तथा लक्षणका भी भाव है।

धर्मी-त्रि-अध्व (तीन मार्गवाला) नहीं होता। धर्म-त्रि-अध्व हुआ करते है। वे धर्म लक्षित और अलक्षित उस-उस अवस्थाको प्राप्त हुए अवस्थान्तरके कारण अन्यत्व निर्देश किये जाते हैं, द्रव्यान्तरसे नहीं। जैसे एक रेखा शत स्थानमें शत, दस स्थानमें दस और एक स्थानमें एक होती है, जैसे एकत्व होनेपर भी एक स्त्री माता कहलाती है, पुत्री कहलाती है, बहन कहलाती है। अवस्थापरिणाममें कौटस्थ्यप्रसङ्गदोष कुछ लोगोंने कहा है, किस प्रकार कि अध्वोके व्यापारसे व्यवहित होनेसे जब धर्म अपने व्यापारको नहीं करता, तब अनागत है; जब करता है, तब वर्तमान है; जब करके निवृत्त हो जाता है, तब अतीत है। इस प्रकार धर्म और धर्मी, लक्षण और अवस्था इन सबको कूटस्थ मानना पड़ेगा—यह दूसरे सज्जन दोष देते हैं। वह दोष नहीं है, क्योंकि गुणोके नित्य होनेपर भी गुणोके विमर्द-विनाशकी विचित्रता है। जैसे विनाशी और अविनाशी शब्द आदिकोका आदिमत् संस्थान धर्ममात्र होता है, वैसे ही विनाशी और अविनाशी सत्त्व आदि गुणोका आदिमान् लिंग धर्ममात्र है, उसमें विकार संज्ञा है (उसीको विकार कहते हैं)। उसमें यह उदाहरण है— मिट्टी धर्मी अपने पिण्डाकार धर्मसे धर्मान्तरको प्राप्त होता हुआ धर्मसे परिणत घटाकार होता है यह घटाकर अनागत लक्षण (काल) को छोड़कर वर्तमान लक्षण (काल) में आ गया है। यह लक्षणसे परिणाम होता है—घट नवीनता और पुराणताका प्रतिक्षण अनुभव करता हुआ अवस्थापरिणामको प्राप्त होता है—यह धर्मीकी भी धर्मान्तर अवस्था है और धर्मकी लक्षणान्तर अवस्था। यह एक ही द्रव्यको परिणामभेदसे दिखलाया है। इसी भाँति पदार्थान्तरमें भी योजित कर लेना चाहिये। धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणाम धर्मीके स्वरूपका उल्लङ्घन न करते हुए है, इससे एक ही परिणाम उन सब विशेषोको व्याप्त कर रहा है।

अब यह परिणाम क्या है ? इसका उत्तर देते हैं—

अवस्थित द्रव्यके पूर्व धर्मकी निवृत्ति होनेपर धर्मान्तरकी उत्पत्ति (प्रादुर्भाव) परिणाम है॥ १३॥

'वार्त्तिक' का भाषानुवाद ॥ सूत्र १३ ॥

इस प्रकार योग और योगके अङ्गोंके परिणामरूपकी विलक्षणता उनके विवेकके लिये दिखला दी है। इसी रीतिसे व्युत्थानकालीन चित्तके परिणाम भी व्याख्यातप्राय ही है। यहाँसे 'परिणामत्रयसंयमात्' इस आगामी सूत्रकी उपोद्घात संगतिसे सर्वत्र वैराग्यरूपी अग्निको प्रज्वलित करनेके लिये चित्तवत् ही अन्योमें भी अतिदेशसे ही परिणामोंकी व्याख्या सूत्रकार करते हैं।

'एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः' धर्मोंसे, लक्षणोंसे और अवस्थाओसे जो परिणाम हैं, वे धर्मलक्षणावस्था परिणाम है। उनकी भाष्यमें व्याख्या करनी है। यही परिणाम भूत और

इन्द्रियोंमे होते हैं, कोई तत्त्वान्तर परिणाम नही होते। इस असाधारण आशयसे ही यहाँ प्रकृति आदिमें परिणाम नहीं कहे। इससे तत्त्वान्तर-परिणामवत् ये परिणाम भी सब ही यथायोग्य प्रकृति आदिमें भी जानने चाहिये, ऐसा ही भाष्यकार कहेंगे। इस प्रकार धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणामोंमें शून्य क्षणभर भी गुण वृत्त नही ठहरता (नही रहता)—इससे सर्व वस्तुओंमें तीन परिणाम है। सूत्रकी व्याख्या करते है—एतेनेति (इस पूर्वोक्त धर्मलक्षण और अवस्थारूप चित्तके परिणामसे भूत और इन्द्रियोमे धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणामकी व्याख्या समझ लेनी चाहिये) भाष्य।

शङ्का—पूर्व सूत्रमें चित्तका परिणाममात्र कहा है—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम नहीं कहे ? इस शंकाको परिणामोंके विभाग दिखलाकर दूर करनेके लिये उपक्रम करते है। तत्र व्युत्थानेति—उनमेंसे व्युत्थान और निरोधके अभिभव और प्रादुर्भाव ही धर्मी चित्तमें धर्मपरिणाम प्रथम सूत्रने ही कहा है, 'अवस्थित' धर्मीके पूर्व धर्मका तिरोभाव होनेपर धर्मान्तरके प्रादुर्भावको ही धर्मपरिणामत्व है, यह भाव है। यद्यपि प्रथम सूत्रमें व्युत्थान और निरोधके संस्कारोंका ही अभिभव और प्रादुर्भाव कहा है, तथापि व्युत्थान और निरोधका अपाय और उपजन भी अर्थात् लब्ध है, धर्म द्रव्य है या गुण—यह बात दूसरी है तथा उसी सूत्रने अभिभव और प्रादुर्भाव शब्दोंसे धर्मका लक्षणपरिणाम भी कहा है। अतः भाष्यकार कहते हैं, लक्षणपरिणामश्चेति—लक्षणपरिणाम अवस्थित धर्मका अनागत आदि लक्षणके त्यागने-पर वर्तमान आदि लक्षणके लाभका नाम है, और वह अभिभव और प्रादुर्भाव वचनसे ही लब्ध है, क्योकि अतीतता और वर्तमानताका ही अभिभव और प्रादुर्भाव हुआ करता है, यह भाव है। उनमेंसे पहले निरोधरूप धर्मके प्रादुर्भाव शब्दसे कहे लक्षणपरिणामका उदाहरण देते हैं। निरोधस्त्रिलक्षण इति—इसीका विवरण है, तीन अध्व (मार्गसे) युक्त है, क्रमके सम्बन्धसे अध्वके तुल्य होनेसे अनागत आदि भाव अध्व कहलाते हैं; तथा धर्मी और धर्मोंके अन्योन्यके व्यावर्तनसे और लक्षण शब्दसे तन्त्रमें कहा है, इससे क्या आया ? इसको कहते हैं—खल्विति—वह निरोध प्रादुर्भाव कालमें अनागतलक्षण रूप अध्व नामको छोड़कर इत्यादि अर्थ है। यहाँ सत्कार्यकी सिद्धिके लिये और धर्म-परिणामके उपपादनार्थ 'धर्मत्वमनतिक्रान्तः' कहा है। स्वरूपसे अवस्थित ही धर्मके रूपान्तरके हटनेपर रूपान्तरकी उत्पत्तिमें धर्मपरिणाम शब्दका व्यवहार होता है। वर्तमान अवस्थाको इतर दो अवस्थाओसे विवेचन करके दिखलाते है। यत्रेति—स्वरूपसे, अर्थक्रियाकारित्वसे अभिव्यक्ति उपलब्धि है। वह अनागतकी अपेक्षासे द्वितीय अध्व है। यह शिष्यके व्युत्पादनके लिये प्रसंगसे कहते हैं—एषोऽस्येति। असत्की उत्पत्ति और सत्के विनाशके प्रतिषेधके लिये कहते हैं—न चेति। निरोधक्षणमें ही निरोधके लक्षणपरिणामको दिखलाकर व्युत्थानको भी दिखलाते है तथा व्युत्थान-मिति—सब पूर्ववत् है। विशेष है—वर्तमानताको छोडकर अतीतताको प्राप्त होता है, यह तृतीय अध्व है। इस भाँति व्युत्थान कालमें भी व्युत्थान और निरोधके लक्षणपरिणामोको क्रमसे दर्शाते हैं, 'एवं पुनर्व्युत्थानमुपसम्पद्यमानमिति' उपसम्पद्यमान जायमानका नाम है, और वह व्यक्ति अन्तर है, क्योकि अतीत व्यक्तिका अनुत्पाद आगे कहेंगे। अन्य सब पूर्ववत् है। एवं पुनर्निरोध इति—यहाँ एवं पदसे तथा व्युत्थानम्—इत्यादि वाक्यसे कहे निरोधके तृतीय अध्वकी प्रक्रिया निर्देश की है। अतः निरोधके तृतीय अवस्थाके कथनके अभावकी शून्यता नहीं है, (अर्थात् तृतीय अध्वकी प्रक्रियाके निर्देशसे निरोधकी तृतीय अवस्थाके कथनका अभाव है) यह व्युत्थान निरोध परिणामका चक्र अपवर्गपर्यन्त ही है—यह सक्षेपसे कहते

हैं। एव पुनर्व्युत्थानमिति--पुनर्व्युत्थान आदि अर्थ है। चित्तके धर्मोके लक्षण—परिणामको दर्शाकर उस लक्षणके अवस्थापरिणामकी 'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' इस सूत्रपर व्याख्या हो चुकी है यह दिखलाते हैं--नया अवस्था-परिणाम---इति--अवस्था-परिणामको कहते हैं—संस्कारोका बलवत्त्व और दुर्बलत्व घटके नये और पुरानेपनकी भाँति है, वृद्धि और ह्रास--उत्पत्ति और विनाशरूप है, लक्षण परिणामसे भेदकी अनुपपत्ति है, लक्षणके ही नवपुराणत्व आदि अवस्था परिणाम आगे कहेंगे—

शङ्का—द्रव्यके ही वृद्धि और क्षय देखे जाते हैं, गुणके नहीं ?

समाधान—यह बात नहीं है, रूप आदि गुणोके भी वृद्धि और ह्रासका अनुभव होता है। वृद्धि ह्रासको रूपका अन्य भेद मानें तो गौरव होगा, वही रूप अब बढ़ गया है ऐसी जो प्रत्यभिज्ञा होती है वह भी न बनेगी। अतः सस्कार और अदृष्ट आदिका अवस्थापरिणाम होता है। ज्ञान और इच्छा आदिके उत्पत्ति और विनाशका अनुभव होता है। दो क्षणमात्र स्थायी होनेपर भी द्वितीय क्षणमें वर्तमान लक्षणका अवस्थापरिणाम होता है। वह क्षणत्वसे ही उस परिणामका हेतु है, यदि ऐसा न माने तो सब वस्तुओके प्रतिक्षण परिणामकी—जो कि आगे कहेगे—उपपत्ति ही न होगी, इस कथनसे उसका भी खण्डन हो गया, जो किसीने कहा है कि उत्तर वृत्ति विभु-विशेष गुणकी ही ज्ञानादिके नाशक होनेसे एकाग्रता दशामे भी ज्ञानके बहुत क्षण-स्थायी होनेसे अवस्थापरिणाम सम्भव नहीं है। तब इस प्रकार तीनों परिणामोकी व्याख्या करके उनके आधारकी व्यवस्थाको कहते है, तत्र धर्मिण इत्यादिसे लक्षणोका भी अवस्थाओसे परिणाम होता है, यद्यपि बाल्य आदि अवस्थाओका भी लक्षणपरिणाम होता है, तथापि यथोक्त क्रम माननेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है।

शङ्का--वर्तमान लक्षणका नव पुराण (नया, पुराना) आदि अवस्थापरिणाम हो सकता है, अनागत और अतीत लक्षणका अवस्थाभेद किस प्रकार होगा ?

समाधान---शीघ्र भविष्यता, विलम्ब भविष्यता आदिरूप विशेष उन लक्षणोका भी अनुमान हो सकता है, क्योकि सत्त्व आदिकी भाँति ही गुणत्वसे, प्रतिक्षण परिणामित्व सिद्ध है, यथोक्त चित्तके परिणामोसे सर्व वस्तुओके परिणामोका अतिदेश करते हुए वैराग्याग्निको प्रज्वलित करनेके लिये उनकी प्रतिक्षण परिणामिता दिखलाते है, एव धर्मलक्षणेति—वह मनु आदिने भी कहा है—

घोरेऽस्मिन् हतसंसारे नित्यं सततघातिनाम्। कदलीस्तम्भनिःसारे संसारे सारमार्गणम्॥
यः करोति स सम्मूढो जलबुद्बुदसन्निभे।

नित्य सतत घातियोके इस घोर ससारमें जो कि केलेके स्तम्भके समान निःसार है, जलके बुल्बुलेके सदृश पोला और क्षणभङ्गुर है, जो प्राणी सार ढूँढता है वह सम्मूढ है।

गुणवृत्त—सत्त्व आदि गुणोका व्यापार है, वह अपने कार्य धर्मादि परिणामोसे क्षणभर भी शून्य नहीं रहता, प्रतिक्षण परिणत होता रहता है।

शङ्का—अव्यापार दशामें तो अपरिणामी होगा ?

समाधान---चलं हि गुणवृत्तिमिति—चलं यह भावप्रधान निर्देश है---गुणोका चाञ्चल्य स्वभाव है—यह तात्पर्यार्थ है।

प्रश्न—प्रतिक्षण चाञ्चल्यमे प्रमाण क्या है ?

उत्तर—गुणस्वभाव्यं त्विति—गुणोका स्वभाव है, राजाके गुणो—उपकरणों नौकर आदिका स्वामीके लिये प्रतिक्षण ही व्यापार दिखायी देता है। अतः गुणस्वभावता ही सत्त्वादि गुणोंकी भी प्रवृत्तिमें पुरुष पूर्व आचार्यने प्रमाण कहा है। परके ही भोग और अपवर्गका हेतुत्व गुणत्व है। चित्तके दृष्टान्तमें तीनों परिणामोकी व्याख्या करके दार्ष्टान्तिकमें भी उसकी व्याख्याका आरम्भ करते हैं। एतेनेति—इससे भूत और इन्द्रियोमें धर्म-धर्मी भेदसे धर्म-धर्मीका आश्रय लेकर तीन प्रकारका परिणाम जानना चाहिये। उन पृथिवी आदि धर्मियोंमें घट आदि धर्मका परिणाम धर्मपरिणाम है, घट आदि धर्मोंकी वर्तमान अतीतता लक्षणपरिणाम है, वर्तमान आदि तीनों लक्षणोंका भी बाल्य-यौवन आदि अवस्थापरिणाम हैं।

शङ्का—तीनो परिणाम भूत और इन्द्रियोंमें किस प्रकार कहे है; क्योकि वे धर्मी है। उनमें धर्म-मात्र परिणाम होगा ?

समाधान—तीनो धर्म-धर्मी-परिणाम ही परमार्थसे तो एक ही परिणाम हैं, क्योकि धर्मीस्वरूप ही धर्म होता है। अतः धर्मपरिणाम ही यह लक्षणादि परिणाम है—जो धर्मादिके अवान्तर विभाग ही हैं।

अब प्रतिक्षण परिणाममें क्षणिकता आदिके प्रसङ्ग (अतिव्याप्ति) को हटानेके लिये तीनो परिणामोकी क्रमसे परीक्षा करनी है। प्रथम धर्मपरिणामकी परीक्षा करते हैं, तत्र धर्मस्येत्यादिना—उन परिणामोंके मध्यमे धर्मीके सत्य होनेपर ही धर्मकी अतीत आदि अवस्थाओमें धर्मीका भावान्यथात्व, धर्मान्यथात्व ही होता है, द्रव्यान्यथात्व नहीं होता। स्वरूपान्यथात्व होनेपर ही प्रतिक्षण परिणामसे क्षणिकताकी आपत्ति, प्रत्यभिज्ञा आदिकी अनुपपत्ति होती है, यह भाव है।

सुवर्णका वर्तन आदि रूप हटनेपर कटकादि धर्मकी अभिव्यक्ति भावान्यथात्व है, प्रत्यभिज्ञाके बलसे सर्वविकारानुगत सुवर्ण सामान्य सिद्ध है। यह सामान्य ही अवयवी रूप धर्मी है। वैशेषिकके अनुयायी तो कहते है कि सुवर्णके अन्यथात्व होनेपर भी अवयवोंके संयोगके नाशसे पूर्व सुवर्ण व्यक्ति नष्ट हो ही जाती है। उसमें जो प्रत्यभिज्ञा होती है (यह वही सुवर्ण है) वह जातिविषयक होती है—

वह ठीक नही है। ऐसा माननेसे प्रतिक्षण अवयवोके उपचय और अपचयके लिये अवयवोका संयोग और विभाग अवश्य ही मानना होगा और उससे शरीर आदि अखिल वस्तुओंकी क्षणिकत्वकी आपत्तिको ब्रह्मा भी न हटा सकेगा और जातिसे ही सर्वत्र प्रत्यभिज्ञाकी उपपत्ति होनेमें प्रत्यभिज्ञासे घटादिके स्थैर्यका जो स्व-सिद्धान्त है उससे विरोध आवेगा। इसलिये अवयवके संयोगका नाश द्रव्यके नाशका हेतु नहीं है, किंतु वह्नि, आदिमें तृण, अरणि और मणि आदिकी भाँति अव्यवस्थित ही फलके बलसे कारणकी कल्पना करनी चाहिये। अथवा विजातीय अवयवविभाग विशेष है, यह स्वरूपान्यथात्ववादी बौद्धोके धर्म परिणाममें कहे दोषोको निराकरण करनेके लिये उठाते हैं—

अपर आह—धर्मोसे धर्मी अतिरिक्त नही होता, अत्यन्त अभिन्न होता है, इसमें हेतु हैं, पूर्व तत्त्वका अतिक्रम न होनेसे, पूर्वतत्त्व धर्मीके अनतिक्रमकी आपत्तिसे, कौटस्थ्यकी आपत्तिसे, यह प्रयोजन है। इसीका विवरण करते है—'पूर्वापरेति' पूर्व और अपर अवस्था-भेदमें अनुपतित अनुगत कौटस्थ्यसे च्युत हो जायगा, यदि अन्वयी होगा। यदि धर्मी धर्मोमें अन्वयी होगा, तब पूर्व, अपर, सकल, अवस्थाभेदोमे अनुगत होनेसे अतीत आदि अवस्थामें भी सत्त्व मानना होगा और वह चित् शक्तिके समान कूटस्थ

रूपसे रहेगा; क्योंकि नित्यत्व और कूटस्थका एक ही अर्थ है और वह तुमको भी अनिष्ट है।

इसका परिहार करते हैं—'अयमदोषः'—यह दोष नहीं है—एकान्तेति—क्योंकि हम एकान्त नित्यत्व नहीं मानते हैं। 'एकान्तेन'का अर्थ है, सर्वथा स्वरूपसे और धर्मसे नित्यत्व ही कौटस्थ्य हम मानते हैं, और वह चिति शक्तिका ही है, धर्मरूपसे, अनित्य धर्मीकी कूटस्थता नहीं है।

विकारव्यावृतत्व प्रकृतेर्नित्यत्वम्—विकारसे व्यावृत्ति ही प्रकृतिकी नित्यता है, सत्यकी अतीत और अनागत्त अवस्थासे शून्यत्व नित्यत्व है। स्वरूपसे और धर्मसे नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों रूपता इस प्रपञ्च-का प्रतिपादन करते हैं। तदेतदिति—यह कार्य, कारणात्मक त्रिलोकी, चौबीस तत्त्व अपने कार्योंके सहित यथायोग्य धर्मरूपसे और स्वतः व्यक्तिसे वर्तमान अवस्थासे च्युत होते है; क्योंकि इनके नित्यत्वका श्रुति निषेध करती है 'नैवेह किंचनाग्र आसीत्' यहाँ आगे कुछ भी नहीं था, 'असद्वा इदमग्र आसीत्' यह प्रपञ्च पहले असत् था इत्यादि श्रुतियोने नित्यत्वका प्रतिषेध किया है।

व्यक्ताव्यक्तात्मिका तस्मिन् प्रकृतिः सम्प्रतीयत इत्यादि। उसमें व्यक्त और अव्यक्त रूप प्रकृति भलीभाँति प्रतीत होती है इत्यादि स्मृतियोंसे जो सावयव होता है वह अनित्य होता है जैसे कि घट आदि इस अनुमानसे भी नित्यत्वका प्रतिषेध है।

शङ्का—तब तो अत्यन्त उच्छेद ही हो जायगा ?

समाधान—अपेत—अतीत भी प्रकृति आदि धर्मीरूपसे और अतीतरूपसे है, क्योंकि विनाशका प्रतिषेध किया है, अत्यन्त उच्छेदका श्रुतिने निषेध किया है 'तद्वैक आहुरसदेवैकमग्र आसीत्' उसको एक कहते हैं। असद् ही एक आगे था इत्यादि श्रुतिसे अत्यन्त उच्छेदकी आशङ्का करके जब 'कथमसतः सज्जायेत्' 'सत्यमेव सौम्येदमग्र आसीत्' इति असत्से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है ? हे सौम्य ! सत् तो यह आगे था, इस प्रकार श्रुतिने उस असत्का प्रतिषेध किया है।

विनाशित्व होनेपर अनादित्व भावकी अनुपपत्ति होती है। यद्यपि सत्यमेव इस श्रुतिमें सत् शब्दका अर्थ परमात्मा ही है, क्योंकि उत्तरवाक्यमे तदैक्षत आया है, तो भी सत्के एकीभावसे इदमासीत् यह था, इस वचनसे प्रपञ्चकी भी प्रलयकालमें सत्ता सिद्ध होती ही है। इसी प्रकार 'तद्वेदं तर्ह्यव्याकृत-मासीत्तमसैवेदमासीत्' यह अव्याकृत था, तमस ही यह था—

'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्'—यह प्रपञ्च तमरूप अलक्षण और अज्ञात था इत्यादि श्रुति और स्मृति भी अत्यन्त उच्छेदका निषेध करनेवाली प्रमाण हैं।

युक्ति भी—असत्से सत्की उत्पत्तिमें शशशृङ्ग आदिकी उत्पत्ति माननी पडेगी और बन्ध, मोक्ष भी अकारण ही होगे जो कि नहीं हो सकते यह युक्ति भी प्रमाण हैं। यदि अतीत होनेपर भी है तो उपलब्ध क्यो नहीं होते ? इसपर कहते है—ससर्गसे उपलब्ध नहीं होते। इस कार्य जगत्का अपने कारण प्रकृति-में ससर्ग होने, विभक्त न रहने, लय हो जानेसे उपलब्धि नहीं होती है; क्योंकि उसके लौकिक साक्षात्कारमें उनकी सूक्ष्मता प्रतिबन्धक है। इस प्रकार कार्य-कारणके अभेदसे सभी परिणामी प्रकृति आदिकोंके प्रकारभेदसे नित्य और अनित्य उभय रूपकी व्यवस्था हो जानेसे उनके सत् और असत् रूपताका सिद्धान्त सिद्ध हो गया। 'सदसत्ख्यातिर्बाधावाधाभ्याम्' बाध और अबाधसे सत्, असत् ख्याति है। यह साख्यदर्शनका सूत्र भी प्रमाण हो जाता है। यही जडोंकी व्यावहारिकी सत्ता पुराण आदिमें कही गयी

है जो 'निःसत्तासत्तं प्रधानम्' भाष्यकारने पूर्व कहा है वह पारमार्थिक सत् और असत्के अभिप्रायसे कहा है। हमने उसकी वहीं व्याख्या कर दी है। इससे आत्मा ही सत् है, अन्य सब असत् है। यह श्रुति और स्मृतिके वादके भी विरुद्ध नहीं है। एकान्त नित्यकी ही पारमार्थिक सत्ता है और वह कूटस्थ नित्यकी ही है, क्योंकि वह असत्ताके संपर्कसे रहित है। प्रकृतियोंकी व्यवहारसत्ता नित्य नहीं है, इसी प्रकार—

नासद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका।
सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्या भूता सनातनी॥

माया न सद्रूपा है, न असद्रूपा है, न उभयरूपा ही है। सत् और असत्से अनिर्वचनीया मिथ्यारूपा सनातनी है इत्यादि वाक्य भी संगत हो जाते हैं। आधुनिक वेदान्तियोंके अनिर्वचनीयवादमें संगत नहीं होते; क्योंकि उन्होंने माया नामक जगत्के कारणका भी विनाश या अत्यन्त तुच्छत्व ही परमार्थसे माना है उनके मतमें सनातन शब्दका विरोध है।

धर्मपरिणामकी परीक्षा करके अब लक्षणपरिणामकी परीक्षा करते है। 'लक्षणपरिणाम' इति 'अध्वसु वर्तमान' इति—धर्मोंका नित्यत्व कहा है। बिना नित्यत्व अतीत अनागत लक्षणके संयोग असम्भव है। यहाँ एक-एक लक्षणके अभिव्यक्तिके कालमें भी धर्म सूक्ष्म लक्षणान्तरके बिना नहीं होता। यह समुदायका अर्थ है तथा धर्मोंकी भाँति लक्षण भी नित्य ही है। अतः न असत्की उत्पत्ति होती है और न सत्का अत्यन्त उच्छेद होता है। यह प्रसङ्ग दोष नहीं है।

शङ्का—एक लक्षणकी व्यक्तिके कालमें लक्षणान्तरकी अनुपलब्धिसे उनका अभाव ही युक्त है।

समाधान—उनकी उपलब्धि अनुमानसे होती है। उसको दर्शाते है—यथेति न शेषासु विरक्त इति—शेषोंमें विरक्त नहीं है। रागके भावी होनेमें विरक्त व्यवहार नहीं देखा जाता, तथा च एक विषयक रागादिके कालमें अन्योंकी सत्ता अनुमानसे सिद्ध होती है। लक्षणपरिणाममें भी दूसरोंके दूषणकी उद्भावना करते हैं। अत्रेति—सब अनागतादिको वर्तमानादि सब लक्षणोंसे योग होनेसे अनागत आदि भी वर्तमान ही हो जायँगे। तब अध्वोंका संकर हो जायगा, यदि उनमें क्रम माने तो असत्की उत्पत्ति माननी पड़ेगी, अतः वर्तमान लक्षण ही सब वस्तु होंगी। पूर्व और उत्तरकालमें उनका अभावमात्र होगा और अभावके प्रतियोगी होनेसे उनमें अतीतादि व्यवहार हो जायगा। इसमें पहले धर्मोंमें लक्षणत्रयके सम्बन्धकी व्यवस्था करते है। धर्माणामिति—धर्मोंका धर्मत्व पूर्व सिद्ध कर चुके है, यहाँ सिद्ध नहीं करना है, धर्मत्वके सिद्ध हो जानेपर धर्मोंका लक्षण, भेद और लक्षणबहुत्व भी कहना चाहिये, अर्द्ध—वैनाशिकके कहे वर्तमान मात्र एक लक्षण नहीं है; क्योंकि वर्तमान समयमात्रमें ही इस धर्मका धर्मत्व नहीं है, किंतु अतीतादि समयमें भी धर्मका धर्मत्व है। यहाँ हेतु कहते है एवं हीति—क्योंकि इस प्रकार वर्तमान कालमें ही धर्मत्व होनेपर सब ही चित्त रागधर्मक नहीं होंगे, अर्थात् विरक्त होंगे, विरक्त व्यवहारके योग्य होंगे, क्योंकि क्रोधके कालमें रागका आविर्भाव नहीं होता।

भाव यह है—जैसे कि जब कभी चिद्रागकी सत्तासे आपका चित्त रक्त है यह व्यवहार होता है, तथा जब कभी चिद्रागके अभावसे चित्त विरक्त है यह व्यवहार होना चाहिये, अतः अतीतादि कालमें भी राग आदि चित्त आदिके धर्म है, धर्मोंका त्रिलक्षणत्व सिद्ध है। जो उन्होंने कहा है कि अभावकी प्रतियोगितामात्रसे अतीत आदि व्यवहार होता है, वह भी हेय है; क्योंकि घटके न होनेपर ध्वंसके प्रतियोगिता

आदि रूप अतीतत्वकी वृत्ति ही नहीं बन सकती, संयोगित्व आदिकी भाँति प्रतियोगित्व आदिकी दो सम्बन्धियोके बिना अनुपपत्ति है, क्योकि सत् और असत् सम्बन्ध देखा नही जाता, अतः ध्वंस और प्रागभाव असिद्ध है, घट वर्तमान है। इसकी भाँति, घटोऽनीत, घट अतीत हो गया, घट होगा इन प्रतीतियोंसे घटकी अतीत और होनेवाली अवस्थाविशेष ही सिद्ध है। यदि ऐसा न मानें तो भावका अभाव भी अतिरिक्त सिद्ध होने लगेगा, इत्यादि दोषोकी स्वय ऊहा कर लेनी चाहिये। इस प्रकार धर्मोकी तीन लक्षण (काल) की स्थापना करके अब उसके साकर्यका परिहार करते हैं--किं चेति--तीनो अनागतादि कालोका एक वस्तुमें सम्भव नही है, किंतु अपने व्यञ्जक, दण्ड, चाक आदि वस्तुके व्यञ्जनके समान जिसके उस प्रकारके लक्षणका क्रमसे भाव होना है उस वस्तुकी अभिव्यक्ति होती है। अतः अभिव्यक्तिमें साकर्य नही है, स्वरूपसे तो साकर्य इष्ट ही है। अव्यक्त लक्षणोका व्यक्त लक्षणोके साथ विरोध नहीं है, इस विषयमें पञ्चशिखाचार्यके वाक्यको प्रमाण देते है। उक्त चेति--'रूपातिशया वृत्त्यतिशया च परस्परेण विरुद्ध्यन्ते सामान्यानि तु अतिशयैः सह वर्तन्ते।' रूप अतिशय और वृत्ति अतिशय आपसमें विरोधी हैं। सामान्य तो अतिशयोंके साथ रहा करते है। धर्मसे लेकर अनैश्वर्यतक आठ चित्तके रूप हैं। ज्ञान आदि आश्रय शान्त घोर मूढ चित्त परिणाम वृत्ति हैं, इनका अतिशय-अभिव्यक्ति रूप उत्कटता है। इस वाक्यकी व्याख्या 'गुणवृत्तिविरोधाच्च' (२। १५) 'इस सूत्रपर कर दी है।'

उपसहार करते हैं--तस्मात् इति--असकरमें दृष्टान्त कहते हैं। यथैति रागस्यैवेति--धर्मोके तीन लक्षणोके सम्बन्धमें रागका ही यह अर्थ है। क्वचित् विषयमें अन्यत्र विषयान्तरमें अभाव है--सामान्याभाव है यह अर्थ है, दार्ष्टान्तिकको कहते है 'तथा लक्षणस्येति' कहीं समुदाचार है इत्यादि अर्थ है, यह लक्षण परिणाम धर्मीका नहीं होता; किंतु धर्मोका ही होता है, इस प्रकार धर्म परिणामसे विशेष कहते हैं--न धर्म इति।

शङ्का--लक्षण परिणाम लक्षणमें है या नही ? यदि है तो अनवस्था दोष है। यदि नहीं है अर्थात् लक्षणमें लक्षण परिणाम नहीं है तो लक्षण परिणाममें परिणाम लक्षण असम्भव है, क्योकि पूर्व लक्षणके अतीत होनेपर लक्षणान्तरकी अभिव्यक्तिको ही लक्षण परिणामत्व है।

समाधान--ऐसा नहीं है क्योकि बीज और अङ्कुरकी भाँति प्रामाणिक होनेसे यह अनवस्था दोष नहीं है। यदि इसको भी दोष माने तो धर्मका धर्म उस धर्मका भी धर्म इत्यादि अनवस्थाको भी दोषकी आपत्तिसे धर्म धर्मीभाव आदि भी सिद्ध न होंगे। अधिक तो निर्वितर्क सूत्र (१। ४३) पर कह दिया है। इस प्रकार सब धर्मोका सदा ही तीन लक्षणोसे सम्बन्ध है और अभिव्यक्ति तीनोंकी क्रमसे होती है। यह बात सिद्ध हो गयी।

शङ्का--यही हो--लक्षणकी अभिव्यक्तिके भी नित्य होनेसे क्रमिकत्व किस प्रकार होगा ? यदि उसमें क्रमिकत्व सम्भव है तो लक्षण क्रमिकत्वने क्या अपराध किया है जो उसमे क्रमिकत्व नहीं माना ?

समाधान--इस विषयमें कहते है नित्य और अनित्य उभयरूपके कहनेसे नित्य होनेपर भी सब कार्योंमें अनित्य रूपसे क्रम सम्भव है। लक्षणोका भी क्रम इष्ट ही है। लक्षणाभिव्यक्तिका क्रम तो लक्षण सांकर्यके लिये प्रकृतमें प्रदर्शित है। अधिक तो निर्वितर्क समापत्ति सूत्रमे हमने कहा है। लक्षण परिणामकी परीक्षा करके अवस्था-परिणामकी परीक्षा करनेके लिये धर्मगत विभागको कहते है।

ते लक्षिता इति--लक्षिता-व्यक्ता वर्तमान अलक्षित, अव्यक्त, अतीत और अनागत उस-उस काल,

यौवन और वार्धक्य आदि अवस्थाओंको प्राप्त होते हुए अन्योन्य-अन्यत्वसे—भेदसे बोले जाते हैं । यह बालक है युवा नहीं है इत्यादि रूपसे बोले जाते हैं । वह निर्देश अवस्थान्तरसे, अवस्था-भेदसे ही होता है, द्रव्यके भेदसे नहीं होता है । तब पूर्व अवस्थाके हटनेपर अवस्थान्तरकी प्राप्ति सिद्ध है । वही अवस्था परिणाम है । यह भाव है । यद्यपि इस प्रकारका अवस्थान्तर परिणाम अनागत और अतीत लक्षणोंमें भी पूर्व कहा है, तथापि वर्तमान लक्षणके ही अवस्थापरिणाम स्फुटतया उपलब्ध होते है । इस आशयसे वर्तमान लक्षणको आलम्ब करके ही वह उदाहरण दिया है । धर्मीके एक होनेपर भी निमित्तभेदसे अन्यत्व व्यवहारमें दृष्टान्त देते हैं । यथैकेति—जैसे एकत्वकी व्यञ्जक रेखा—अङ्कविशेष जब दो बिन्दुओंके ऊपर (प्रथम बायीं ओर) रहता है तब सौ है—एक नहीं, ऐसा व्यवहार होता है । इनमेंसे एक बिन्दुके लोप होनेपर यह दश है, सौ नहीं है यह व्यवहार होता है और अवशिष्ट बिन्दुके स्थानमें आनेपर एकत्वकी व्यञ्जक रेखा देनेपर ग्यारह है—दश नहीं, यह व्यवहार होता है । दृष्टान्तान्तर कहते है । यथा चेति-उच्यते चेति—पुत्र-पिता-भ्राताओंसे जनकत्व आदि निमित्तभेदसे व्यवहार होता है ।

अवस्था परिणाममें भी बौद्धोके कहे दूषणको कहते हैं । अवस्थेति-अवस्था परिणामके माननेमें धर्म-धर्मी-लक्षण-अवस्था—इन चारोको कूटस्थकी आपत्ति है । इसमें हेतु पूछते है कथमिति—किस प्रकार-से ? उत्तर—अध्वके व्यापारसे व्यवहित होनेसे । क्योकि व्यापारके निमित्तसे ही सब वस्तुओमें अनागत आदि अध्वोके अन्योन्य व्यवधानको माना है, और विभाग माना है, भागरूपसे नहीं माना, क्योंकि धर्म और लक्षणको सदा सत्य स्वीकार किया है । अब विभागके व्यापार-निमित्तक होनेका विवरण करते है । 'यदा धर्म' इससे लेकर 'तदा अतीत' इसतक । धर्म शब्द यहाँ आश्रित-वाचक है । न करता है न करेगा आदि और अन्तके अध्वोको व्यापारकी निमित्तता, व्यापारके अभावके निमित्तसे परम्परासे है । ऐसा होने-पर पूर्वधर्मकी अतीततामे धर्मान्तरकी अभिव्यक्ति होती है, इस प्रकार परिणामलक्षणकी अनित्यता अवस्थाओं-की भी आपको कहनी होगी विनाश नहीं कह सकते । अवस्थाओंके नित्य होनेपर तो कुछ भी अनित्य नहीं होगा । इस भाँति तो सभी धर्म-धर्मी जगत् कूटस्थ होगा । यह दूसरोने दोष कहा है ।

उपसहार—नित्यत्वमात्र कौटस्थ्य नहीं है, किंतु एकान्त नित्यत्व कौटस्थ्य है । इस आशासे पूर्ववत् उक्त दोषका परिहार करते हैं । *नासौ दोषा इति कौटस्थ्य दोष नहीं है* । गुण नित्यत्वेऽपेति—धर्मी-के नित्य होनेपर भी धर्मोके विमर्द—विनाशकी कूटस्थसे विचित्रता है, विलक्षणता है, अपरिणाम नित्यता ही कौटस्थ्य है और वह पुरुषके अतिरिक्त दूसरेमें नहीं है, यह भाव है । गुणोके नित्य होनेपर भी गुणोके विमर्दका उदाहरण देते है । यथेति—दृष्टान्तमें नही, किंतु उदाहरणमें है । संस्थापनमिति—अर्थके विनाश-से अविनाशी शब्द तन्मात्रा आदिके पञ्चभूतरूप सत्स्थानधर्ममात्र आदिवाले है, अतः वे विनाशी है । यह अर्थ है एव इत्यादिकी इसी भाँति व्याख्या करनी चाहिये । लिङ्ग महत्तत्त्वका नाम है । इसी भाँति अहंकार आदि और घट आदि भी अपने विनाशसे अविनाशी कारणोके धर्ममात्र और विनाशी है, यह बात जाननी चाहिये । वह ही यह श्रुतिने कहा है—'वाचारम्भण विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यमिति' वाचारम्भण—प्रथममात्र विकार नाममात्र है, मृत्तिका है इतना ही सत्य है । सत्य यहाँ विकारकी अपेक्षा स्थिरका नाम है । उस धर्ममें ही विकारसंज्ञा या परिणामसंज्ञा है । अतः धर्मियोमें परिणामी होनेसे कौटस्थ्य नहीं है और भलीभाँति तो धर्म, लक्षण और अवस्थाओंको कौटस्थ्य नहीं है । तीनो परिणामोकी

विस्तारसे परीक्षा कर दी । अब भूत और इन्द्रियोमें तीनो परिणामोको क्रमसे दिखलाते है—उसमें यह उदाहरण है धर्मन इति—धर्मसे परिणामित होते हैं । धर्म परिणामके स्वरूपको दर्शाते हैं, घटाकार इति—परिणाम घटाकार है । नवपुराणतामिति—नवीनताके अनन्तर पुराणताको प्राप्त होता हुआ सब ही धर्म आदिकोंके अवस्थात्वसे अविशेष होनेपर भी गोबलीवर्द न्यायसे ही इनका तान्त्रिक भेदनिर्देश है यह कहते हैं—धर्मियोके भी—लक्षणकी पुराणत्व आदि अवस्था प्राप्त होनेसे ही नहीं कही है । एक एवेति—एक अवस्थामात्र ही परिणाम है यह अर्थ है । इस भाँति अवस्था और लक्षणके भी धर्म होनेसे धर्म-परिणाम भी गोबलीवर्द-न्यायसे ही जानने चाहिये । इसी भाँति पदार्थान्तरमें भी जानना चाहिये—भूतान्तरमें, इन्द्रियोमें, प्रत्यय आदिमें—यह अर्थ है । जिसकी विशेषताको जो पूर्वोक्त ही परिणामोमें स्मरण कराते हैं । त एते इति—तीनों ही परिणाम धर्मीके स्वरूपका अतिक्रमण न करते हुए धर्मीमें ही अनुगत हैं, अतः धर्म-धर्मीके अभेदसे एक धर्म परिणाममात्र ही है । सामान्यसे धर्मी होता है । वही सब परिणामोंको प्राप्त करता है । सूत्रस्थ परिणाम शब्दकी प्रश्नपूर्वक व्याख्या करते हैं, अथ कोऽयं परिणाम इति—यह परिणाम कौन है, क्या है ? उत्तर—अवस्थितस्येति—संस्कारोंमें भी परिणाम कहा है । अतः द्रव्यस्येति—धर्मीका यह अर्थ है । धर्म शब्द आश्रितमात्रका वाचक है । निवृत्ति अतीतता है और उत्पत्ति वर्तमानता है ।

शंका—धर्मसे अतिरिक्त धर्मीका अनुभव नहीं होता जिसमें कि धर्म आदि परिणाम है । इस शंका-पर धर्मसे विवेचन करके धर्मीका प्रतिपादन सूत्रकार करेंगे ॥ १३ ॥

संगति—ऊपर बतलाये हुए तीनो परिणाम जिसके धर्म है, उस धर्मीका स्वरूप निरूपण करते है—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—(तत्र=उन परिणामोके) । शान्त=अतीत । उदित=वर्तमान । अव्यपदेश्य=भविष्यत् । धर्मानुपाती=धर्ममें रहनेवाला । धर्मी=धर्मी है ।

अन्वयार्थ—(उन परिणामोके) अतीत, वर्तमान और भविष्यत् धर्मोमें अनुगत धर्मी ।

व्याख्या—सूत्रको तत्र शब्दसे पूरा करके पढ़े । (व्यासभाष्य) ऊपर उदाहरण देकर समझा आये है कि मिट्टी-द्रव्य धर्मी है और मिट्टीके गोले वर्तन और वर्तनके टुकडे आदि भिन्न-भिन्न आकार जो हो चुके हैं और जो होगे, उसके धर्म है । अर्थात् धर्म धर्मीके विशेष रूप आकार है, और धर्मी सामान्यरूप द्रव्य है जो सारे आकारोमें अनुगत है । द्रव्यके दो रूप हैं सामान्य और विशेष । विशेष धर्म है और सामान्य धर्मी है । विशेष भी अपने अगले विशेषके प्रति धर्मी बन जाता है ।

शान्त—इसमे शान्त वे धर्म हैं जो अपना-अपना व्यापार करके अतीत (भूत) मार्ग (काल) में चले गये । जैसे वर्तन (घट) टूटकर मिट्टीमें मिलनेपर वर्तमान धर्मसे अतीत धर्ममें चला गया ।

उदित—उदित वे धर्म है जो अनागत मार्ग (काल) को त्यागकर वर्तमान मार्ग (काल) में अपना व्यापार कर रहे हैं । जैसे घट (वर्तन) के आकार, मिट्टीके धर्म, जो उसमें छिपे हुए थे, अब उसको छोड़कर वर्तमान धर्ममें आ गये ।

अव्यपदेश्य—जो अनागत या भविष्यत्में शक्तिरूपसे रह रहे है और जिनका निर्देश नहीं किया जा सकता है अर्थात् जो शक्तिरूपसे स्थित हुए व्यवहारमें न लाये जा सकें और बतलानेमें न आ सकें ।

जैसे घट (बर्तन) के आकार मिट्टी धर्मीमे प्रकट होनेसे पहले छिपे रहते हैं जो वर्णनमें नही आ सकते। इस प्रकार नियमसे कार्य-कारणरूप योग्यतासे युक्त शक्ति ही धर्म पदार्थ है, उस शक्तिरूप धर्मके उक्त तीन भेद हैं। उन तीनोमें जो अन्वयीरूपसे रहनेवाली मिट्टी है वह धर्मी है अर्थात् जो मिट्टीके विशेष रूप, आकार आदि हैं वे उसके धर्म है, और सामान्यरूपसे मिट्टी द्रव्य जो उन सबमें अनुगत है वह धर्मी है। यहाँ यह समझ लेना भी आवश्यक है कि धर्मीका धर्मों तथा धर्मका धर्मसे परस्पर भेद प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः इनमे अभेद है। धर्मोंकी वर्तमान अवस्थाका प्रत्यक्ष और भूतावस्थाका स्मरण होता है; पर उनकी अनागतावस्था अनुमेय होती है। यदि धर्मी मृत्तिकादिमें अनागत धर्म घटादि न हो तो मृत्तिकामें ही घट होता है, तन्तुओमें ही पट होता है, यह नियम नहीं बन सकता। इससे सिद्ध है कि मृत्तिका आदि धर्मीमें घटादि अनागत धर्म रहते है। अनागतावस्था नैयायिकका प्रागभाव और अतीतावस्था उनका प्रध्वंसाभाव है। वर्तमानावस्थाकी कारण अनागतावस्था है। अनागत धर्म तो वर्तमान मार्गमें आते हैं और वर्तमान धर्म अतीत मार्गमें चले जाते हैं; परंतु अतीत धर्म वर्तमानमें नहीं आते, क्योंकि वर्तमानके कारण अतीत धर्म नहीं हैं बल्कि अनागत धर्म हैं। इसलिये जो घट चूर्ण होकर मिट्टीमें मिलकर अतीत मार्गमें चला गया वह फिर वर्तमान मार्गमें नहीं आयेगा। क्योंकि स्वकारण मिट्टीमें लीन हो जानेसे सूक्ष्मताको प्राप्त होकर वह दर्शनके अयोग्य हो गया है। इसलिये उपलब्धि अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञानका विषय नहीं बन सकता (किंतु पूर्व अनुभूत अतीत लोको आदिको स्वदेहमें देखा था इत्यादि सिद्ध योगियोके वाक्य हैं। क्योकि योगियोंके इस प्रत्यक्षमें विषय और उस अतीत विषयका सन्निकर्ष कारण है।) उसके सदृश अन्य घट अवश्य आ सकते है। यहाँ यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि न्याय, वैशेषिकादि दर्शनोमे गुण-गुणीको प्राय धर्म और धर्मी कहा गया है। परंतु योगदर्शनमे धर्म और धर्मी शब्द कार्य और उपादान कारणके लिये प्रयुक्त हुए हैं।

इस उपादान कारणरूप धर्मीमें उसके कार्य अव्यपदेश्य (अनागत) धर्म शक्तिमात्र अव्यक्त रूपसे छिपे रहते हैं। उनको अव्यपदेश्य (अनागत) से उदित (वर्तमान) धर्ममें व्यक्तरूपसे प्रकट करने और फिर उदित धर्मसे शान्त (अतीत) धर्ममे अव्यक्तरूपसे छिपानेमें चेतन पुरुष (ईश्वर तथा जीव) देश, काल और संयोग विशेषादि निमित्त कारण होते हैं। अपने-अपने निमित्तोके मिलनेसे धर्मीके धर्म प्रकट होते है।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद ॥ सूत्र १४ ॥

योग्यतावच्छिन्न धर्मीकी शक्ति ही धर्म है। उस शक्ति (धर्म) की सत्ता फलकी उत्पत्तिके भेदसे अनुमान की जाती है और वह शक्ति (धर्म) एककी अन्योन्य देखी जाती है।

उनमें वर्तमान स्वव्यापारका अनुभव करता हुआ धर्म-धर्मान्तर जो शान्त और अव्यपदेश्य हैं उनसे भेदित होता है। जब सामान्यसे समन्वागत होता है, तब धर्मी स्वरूपमात्र होनेसे कौन किससे भेदित होवे। उस धर्ममें तीन धर्म हैं—शान्त, उदित और अव्यपदेश्य। उनमेंसे वे शान्त है जो अपना व्यापार करके उपरत हो गये है, सव्यापार उदित है, और वे अनागत लक्षणके समनन्तर होते है, वर्तमानके अनन्तर अतीत होते हैं, अतीतके अनन्तर वर्तमान नहीं हुआ करते; क्योंकि उन अतीत और वर्तमानमें पूर्व पश्चिमताका अभाव है, जैसी अनागत और वर्तमानकी पूर्व पश्चिमता है वैसी अतीत और वर्तमानकी पूर्व

पश्चिमता नहीं है, इसलिये अतीतकी समनन्तरता नहीं है, वह अनागत ही वर्तमानके समनन्तर है।

अब अव्यपदेश कौन हैं ? 'सर्व सर्वात्मकम्' अव्यपदेश्य हैं जिसके विषयमें कहा है कि जल और भूमिका पारिणामिक रसादिका वैश्वरूप्य स्थावरो (वृक्षादि) में देखा है, तथा स्थावरोका वैश्वरूप्य जंगमोमें देखा जाता है और जंगमोंका स्थावरोंमें देखा जाता है। इस प्रकार जातिके अनुच्छेदसे सर्व सर्वात्मक हैं। देश, काल, आकार, निमित्तका सम्बन्ध न होनेसे, समानकालमें आत्माओ (स्वरूपों) की अभिव्यक्ति नहीं होती, जो इन अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त धर्मोंमें अनुपाती सामान्य विशेष आत्मा (स्वरूप) है वह अन्वयी धर्मी है। जिसके मतमें यह प्रपञ्च धर्ममात्र निरन्वय है, उसके मतमें भोगका अभाव है, क्योंकि अन्य विज्ञानसे किये कर्मका अन्य भोक्ता कैसे होगा ? और अन्यके अनुभवकी स्मृतिका अभाव होगा, क्योंकि लोकमें अन्यके देखेका अन्यको स्मरण नहीं होता है। वस्तुके प्रत्यभिज्ञानसे (यह वही है जो पूर्व देखा था इससे) अन्वयी धर्मी स्थित है जो धर्मके अन्यथात्वको प्राप्त होकर भी वही प्रतीत होता है। इसलिये यह प्रपञ्च धर्ममात्र निरन्वय नहीं है (इसमें अन्वयी धर्मी अवयवी विद्यमान है) ॥ १४ ॥

विज्ञानभिक्षुके योगवार्त्तिकका भाषानुवाद ॥ सूत्र १४ ॥

उस सूत्रको तत्र शब्दसे पूरा करके पढते हैं, उन परिणामोके शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी—अतीत, वर्तमान, अनागत धर्मोंमें अनुपाती वर्तमान रूपसे अनुगत धर्मी होता है, यहाँ अव्यपदेश्य विशेषण धर्म और धर्मीके विवेक प्रदर्शनके लिये है। तथा च वर्तमानत्व और अवर्तमानत्व वैधर्म्यसे धर्मी और धर्मका विवेक है, यह भाव है।

धर्मशब्दार्थकी व्याख्या करते हैं। योग्यतासे अवच्छिन्न धर्मीकी शक्ति ही धर्म है, योग्यतावच्छिन्ना—यह विशेषण दग्धशक्तिके संग्रहार्थ दिया है। वर्तमानताका अर्थ स्वरूपकी योग्यता है। उससे अतीतादि साधारण्यका भी लाभ होता है, वर्तमान आदि विशेष व्यवच्छेदार्थ एवकारका प्रयोग है।

शक्तित्व यहाँ अनागन्तुकत्व है (स्वाभाविकी) है तथा च अग्निके दाहशक्तिवद्धर्मक भी धर्मीमें यावद्द्रव्य भावी है। शक्तिमान्से शक्तिका वियोग नहीं हुआ करता, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान्का अभेद सम्बन्ध है। धर्म शब्दके अर्थको कहकर उसके शान्त उदितके उपपादनके लिये अनभिव्यक्ति दशामें भी उनकी सत्ताको सिद्ध करते हैं, स चेति—और वह धर्म शक्तिरूप फलकी उत्पत्तिसे उस समय अनुमित है, अव्यक्त अवस्थामें विद्यमान है। आकस्मिक माननेमें मिट्टीसे ही घटकी उत्पत्ति और तन्तुसे ही पटकी उत्पत्ति इत्यादि भेद फलकी उत्पत्तिमें न होने चाहिये। अतः अनादि कहना होगा, जब अनादि कहेंगे तो अनन्तता भी माननी पडेगी (क्योंकि भाव वस्तु अनादि होनेपर अनन्त होती है यह नियम देखा जाता है)।

एकत्व और अनेकत्वके वैधर्म्यसे भी धर्म-धर्मीके विवेकके लिये कहते हैं—एकस्येति—वे धर्म एक धर्मीके अनेक भी देखे गये है। सूत्रके तात्पर्यके विपयधर्मसे धर्मीके विवेकका प्रतिपादन करके पहिले धर्मोंके ही अन्योन्यका प्रतिपादन करते हैं। तत्रेति—उन धर्मोंके मध्यमें वर्तमान धर्म वर्तमानातिरिक्त धर्मान्तरोसे, शान्त और अव्यपदेश्योंसे भेदित है, विवेचित है, भिन्न है, क्योंकि उनसे इसका वर्तमानत्व और अवर्तमानत्व वैधर्म्य है। वर्तमानका विवरण है—स्वव्यापारमनुभवन्—अपने व्यापारका अनुभव करता हुआ।

शंका—तो क्या इस प्रकार धर्मोंके एकका दूसरेसे अत्यन्त भेद है ? भेद अभेद नहीं है ?

समाधान—'न इत्याह' नहीं—जब तो शान्त और अव्यपदेश्य अवस्थामें धर्म सामान्यतासे अभिव्यक्ति विशेषके विना धर्मीमें अनुगत होता है, विलीन होता है, तब धर्मिस्वरूपमात्रतया अवस्थित होनेसे धर्मीसे विभागरहित होनेसे कौन वह धर्म किस व्यापारसे भेदित हो, भिन्न हो । अयोगी उसका विवेचन कैसे करे, क्योंकि धर्म वा धर्मका लक्षण उपलब्ध नहीं है, अतः उस समय अविभागरूप अभेद भी होता है । इससे भाष्यकारने वेदान्तोक्त ब्रह्माद्वैत भी प्रायः व्याख्यात कर दिया है । प्रलयमे सब वस्तुओके परमात्मामे ही अविभाग होनेसे जैसा कि आकाशमें बादलोका लय होता है, तथा च श्रुतिः—'स यथा सर्वासामपा समुद्र एकायनमित्यादिना' वह जैसे कि सब जलोका समुद्र एक स्थान है इत्यादिसे समष्टि जीवके प्रलयको दिखाकर आत्माद्वैतको कहता है—'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन क पश्येदिति' जब द्वैतवत् होता है तब एक दूसरेको देखता है । जब तो इसका सर्व आत्मा ही हो गया है तब कौन किसको देखे । अब शान्त, उदित और अव्यपदेश्य शब्दोंके अर्थकी व्याख्या करते हैं—तत्र त्रय इति—वहाँ धर्मीके तीन धर्महोते है शान्त, उदित और अव्यपदेश्य । वे शान्त हैं जो व्यापारोंको करके उपरत हो गये है । जो व्यापार कर रहे है वे उदित हैं । उसकी व्याख्या करके उसके पाठके क्रमसे भ्रमको दूर करनेके लिये कहते हैं—ते चेति—वे उदित अनागत लक्षणके समनन्तर होते हैं । इस प्रकार वक्ष्यमाण अव्यपदेश्यमें भी पाठक्रमका आदर नहीं करना चाहिये । यह कहते है कि वर्तमानके अनन्तर अतीत यह पाठक्रम क्यो त्याग दिया, इस आशयसे पूछते है—अतीतके अनन्तर वर्तमान क्यों नहीं होते ? उत्तर देते हैं—पूर्वपश्चिमताके अभावसे पूर्व-पश्चिमके द्वारा, उसीका विवरण करते है—जैसी अनागत और वर्त्तमानकी पूर्व-पश्चिमता है, वैसी अतीतकी वर्तमानके साथ नही है, तथा च अनागत अवस्थाको जो कि प्रागभाव स्थानीय है, वर्तमान अवस्थामें हेतुता है । अतः अतीत अवस्थाके अनन्तर वर्तमान अवस्था नही होती है । उदित और अव्यपदेश्यके पाठक्रमके त्यागमें भी यही बीज है, (यह ही कारण है) उपसंहार करते हैं—'तस्मादिति—अतीतका समनन्तर नहीं है—पश्चिम लक्षण भेद नहीं है, सत्त्वतः अनागत ही वर्तमानके समनन्तर है, पूर्व है । इससे सत्कार्यवादमें भी पूर्व अभिव्यक्त घटादि फिर उत्पन्न नही होते, यह सिद्धान्त याद रखना चाहिये ।

शंका—क्यो जी ? अनागत और वर्तमानके कार्य-कारण-भाव-सम्बन्धमें ही क्या प्रमाण हैं ?

समाधान—यदि अतीतकी पुनः वर्तमानता हो तो अनिर्मोक्ष होगा । विनष्टान्तःकरणाविद्याकर्मादिका पुनः उद्भव होनेमें मुक्तको भी फिर संसारी होना सम्भव हो जायेगा ? किंच यदि अतीत घट भी पुनः वर्तमान हो जाय तब वह ही यह घट है, इस प्रकारकी प्रत्यभिज्ञा कभी होनी चाहिये ? (परंतु होती नहीं) अतः योग्यकी अनुपलब्धिसे अतीत वस्तुका अनुन्मज्जन निर्णय होता है । यहाँ अनागत और अतीत अवस्थाओके प्रागभाव और प्रध्वसरूपोके कार्यके उत्पादक और अनुत्पादक वैधर्म्यवचनमें अव्यक्त अवस्थाके ही अवान्तर भेद अनागत और अतीत है और ये परस्पर विलक्षण हैं यह मानना चाहिये ।

शंका—यदि यह बात है तो अतीतके पुनः अनुत्पादसे अतीतकी कल्पना ही व्यर्थ है ?

समाधान—नहीं कह सकते, अतीत लोकोको स्वदेहमें देखा था इत्यादि सिद्ध योगियोके सैकड़ो शास्त्रोकी अनुपपत्तिसे उस अतीतकी सिद्धि होती है, क्योकि योगियोके इस प्रत्यक्षमें विषय और उस

अतीत विषयका सन्निकर्ष कारण है । यह भी नहीं कह सकते कि अतीत अर्थका वह स्मरणमात्र है, क्योंकि योगीको पूर्व अनुभूतका भी दर्शन होता है । जो योगज धर्मका भी सन्निकर्ष चाहते हैं उनके मतमें भी असत् पदार्थके सन्निकर्षकी अनुपपत्ति होगी । प्रत्यक्षके प्रति अनेक सन्निकर्षके अनुगमसे हेतुताके ग्रहकी अनुपपत्ति होगी । ज्ञान आदिकोके विषयता आदि रूप सम्बन्ध भी असत्में सम्भव नहीं है, क्योंकि सत् पदार्थोंका ही सम्बन्ध देखा जाता है, प्रत्यक्ष आदिमें सयोग आदि ही प्रत्यासत्ति होती है, योगज धर्मसे तो अधर्म—तम आदि प्रतिबन्धमात्रकी निवृत्ति होती है ।

शान्त और उदितकी व्याख्या करके अब अव्यपदेश्यकी व्याख्या करनेके लिये पूछते है अथाव्यपदेश्याः क इति—अव्यपदेश्य कौन हैं ? जो व्यापार करेंगे वे अव्यपदेश्य हैं यह तो कह नहीं सकते, क्योंकि अकरिष्यमाण व्यापार (जो व्यापार नहीं करेंगी) भी केवल अनागत लक्षण वस्तुओंको (योग सिद्धान्तमें) स्वीकार किया है, अतः प्रकारान्तरसे अव्यपदेश्यका लक्षण करते है, सर्व सर्वात्मकमिति । सर्व सर्वात्मक हैं, सर्वात्मक, सर्वशक्तिक, सब शक्ति धर्मवाले हैं, तथा च सर्वत्र परिणामीमें अवस्थित सर्वविकार-जनन-शक्ति ही अव्यपदेश्य है ।

शंका—वर्तमान और अतीत अवस्थाओमें तो अनुभव और स्मरण प्रमाण है । शक्ति नामकी अनागत अवस्थामें क्या प्रमाण है ? और सर्वत्र सर्वशक्तिमत्वमें क्या प्रमाण है ?

समाधान—यत्रोक्तमिति—अभिव्यक्तिरित्यन्तेन अन्वय है, जिस सर्वत्र सर्व शक्तिमत्वमें पूर्वाचार्योंने यह वक्ष्यमाण प्रमाण कहा है, पहले प्रत्यक्षस्थलमें शक्तिका अनुमान कराते है—जलभूम्योरिति—जल और भूमिका पारिणामिक रसादि वैश्वरूप्य रस आदिसे स्थावर आदिमें देखा जाता है । मधुर-अम्ल-सुरभि-मृदु कठिन आदिसे जो अनन्तरूपत्व है वह जल और पृथिवीके परिणामके निमित्तसे है । इस अन्वय और व्यतिरेकसे प्रत्यक्ष देखा जाता है । अतः जल और भूमि स्थावरात्मक हैं, स्थावर शक्तिवाले हैं । शक्तिके विना भी कार्य करना माननेमें अतिप्रसंग होगा, तथा जगमोंमें जो वैश्वरूप्य है वह स्थावरोंके परिणामके निमित्तसे देखा जाता है । मनुष्य आदिके विषयमें धान्य आदि स्थावरके कार्योंका धान्य आदि विशेषोके सेवनसे रूपादि विशेष देखा जाता है तथा स्थवरोंका जो वैश्वरूप्य है वह जङ्गमोके परिणामके निमित्तसे देखा जाता है । गोबर-दुग्धादिसे धान्य चम्पक आदि स्थावरोके विचित्र रूप-रस आदि देखे जाते हैं, इत्यादि दृष्टातोंसे सब वस्तुओमें सब विकारोंके जननकी शक्ति सिद्ध होती है, यह कहते हैं । इत्येवमिति—जैसे जलादि स्थावरात्मक हैं ऐसे ही अन्य भी सर्वविकारात्मक, सब शक्तिवाले हैं ।

शका—अतीत कार्यमें भावी वस्तु-उत्पादनकी शक्ति नहीं है ?

समाधान—जातिके अनुच्छेदसे—यद्यपि अतीत कार्य व्यक्ति उच्छिन्न हो चुकी है तथापि उसकी जातिकी अन्य व्यक्ति उच्छिन्न नहीं है—उनमें शक्ति है, तथा च सर्वात्मकत्व सर्वजातीय शक्तिमत्व यहाँ विवक्षित है । यह भाव है, इससे अन्य द्रव्यकी परिणाम व्यक्तियोके अन्यत्र अभाव होनेपर भी नियमका भङ्ग नहीं होता है, क्योंकि उसकी जातिवाली अन्य व्यक्तियोमें जननशक्तिका होना सम्भव है । यह बात विष्णुपुराणमें कही है ।

यथा च पादपो मूलस्कन्धशाखादिसंयुतः । आदिबीजात् प्रभवति बीजान्यन्यानि वै ततः ॥
सम्भवन्ति ततस्तेभ्यो भवन्त्यन्ये परे द्रुमाः । तेऽपि तल्लक्षणद्रव्यकारणानुगता मुने ॥

एवमव्याकृतात्पूर्वं जायन्ते महदादयः । सम्भवन्ति सुरास्तेभ्यस्तेभ्यश्चाखिलजन्तवः ॥

जैसे वृक्ष सूक्ष्मस्कन्ध और शाखादिसे युक्त आदि बीजसे उत्पन्न होता है और उससे दूसरे बीज उत्पन्न होते हैं, फिर उन बीजोंसे दूसरे वृक्ष उत्पन्न होते हैं। हे मुने ! वे वृक्ष भी तल्लक्षणद्रव्यकारणके अनुगत ही होते हैं। इसी भाँति पहले अव्यक्तसे महत् आदि उत्पन्न होते हैं, उस महत्से सुर तथा सुरोंसे अखिल प्राणी उत्पन्न होते हैं।

यदि सर्वत्र सर्वजातीय वस्तुओंके जननकी शक्ति न मानी जाय तब एक ही ब्रह्मासे अखिल देव-दानव, नर, पशु आदि कैसे उत्पन्न हो सकते हैं—अगस्तके जठर (जाठराग्नि) से समुद्रका शोषण कैसे हो सकता है ? ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, पार्वतीके शरीर आदिमें विश्वका दर्शन कैसे हो सकता है ? योगियोंके अपने शरीर और मनसे अनन्त विभूति कैसे उत्पन्न हो सकती है ? बहुत कहनेसे क्या लाभ—

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः । येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि । ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

तत्त्वदर्शी ज्ञानी तुमको ज्ञानका उपदेश देंगे जिस ज्ञानसे अशेषतया इन भूतोंको मेरे अंदर देखोगे। सर्वत्र समदर्शी योगयुक्तात्मा सर्वभूतस्थ आत्माको और सर्वभूतोंको आत्मामें देखता है। इत्यादि वाक्योंसे सर्व प्राणियोंके शरीरोंमें सर्वजातीय वस्तुकी सत्ताका वचन शक्तिरूपताके बिना आसानीसे ठीक-ठीक उपपन्न नहीं हो सकता। अर्जुन आदिने शक्तिरूपसे अवस्थित भावी भीष्मवध आदिको ही कालात्मक कृष्णके शरीरमें दिव्य चक्षुसे देखा था, जैसे कि योगी अतीत और अनागतको देखता है। इससे 'स इदं सर्वं भवति, तस्मात् सर्वमभवत्' वह यह सब हो जाता है, इससे वह सब हो गया था, इत्यादि श्रुतिसे ब्रह्मवित्की सर्वभावरूपा श्रुत्युक्त सिद्धि भी उपपन्न हो जाती है।

तथा—जीवोपाधिमें भी जो महैश्वर्य शक्तिमान् होनेसे जीवोंके ईश्वरत्वकी प्रतिपादक श्रुति और स्मृति हैं वे भी उपपन्न हो जाती हैं। 'त एते सत्या अनृताभिधाना इति' वैसे ही 'वे ये सत्य हैं, अनृतसे ढके हैं' यह श्रुति भी माननी चाहिये।

शंका—इस प्रकार सर्वत्र शक्ति माननेमें नाना विकारोंकी एक साथ उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? और पत्थरके टुकड़ेसे भी अङ्कुर उत्पन्न क्यों नहीं होता ? हम लोगोंके शरीरोंसे ब्रह्माकी भाँति सकल्पमात्रसे अखिल प्राणियोंकी उत्पत्ति क्यों नहीं होती ?

समाधान—देशकालेति—देश भूलोक आदि, काल-कलियुग आदि, संस्थान—अवयवोंका संयोग विशेष, निमित्त अधर्मादिके प्रतिबन्धक होनेसे (हमारे शरीरोंसे सर्व प्राणियोंकी उत्पत्ति) नहीं होती। एक कालमें विरुद्ध आत्मशक्ति रूपोंकी अभिव्यक्ति वर्तमान लक्षण परिणाम भी नहीं होता है। इस प्रतिबन्ध वचनसे अन्य शंकाओंका भी परिहार हो गया। सहकारीके अभावसे ये सब नहीं होते हैं ऐसा भी कोई परिहार करते हैं। उसका भी प्रतिबन्धनिमित्तक विलम्बमें ही तात्पर्य है, 'निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्' इस आगामी सूत्रमें सब निमित्त कारणोंकी स्वतन्त्रता प्रकृतिके परिणामोंमें प्रतिबन्धके निवर्त्तकतामात्र ही मानी है, अतः पत्थरके टुकडेसे अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि अवयव संयोगविशेष अङ्कुरकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धक हैं। हमारे शरीरसे विश्वकी उत्पत्ति नहीं होती; क्योंकि उसमें अधर्म प्रतिबन्धक है। ब्रह्माण्डादिकी शक्तिवाले घट आदि ब्रह्माण्ड आदिके उत्पादनके बिना ही नष्ट होते देखे गये हैं

वह शक्ति उत्पन्न होकर घटादिके साथ ही नष्ट हो जाती है, क्योंकि उसके आधार घटका नाश हो चुका है। कभी नहुष शरीर आदिके सर्पादिभावकी भाँति परमेश्वर आदिके सङ्कल्पसे घट आदिके भी प्रकृत्या-पूरवशसे अवयवोंमें स्थित अखिल परिणाम होते ही हैं। जैसा कि लौकिक लोगोंने भी कहा है—

विषमप्यमृतं क्वचिद् भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छयेति ॥

विष भी कहीं अमृत हो जाता है और ईश्वरकी इच्छासे कहीं अमृत भी विष बन जाता है। इससे तथा ज्ञानके द्वारा पुरुषार्थकी समाप्तिसे चित्तके अत्यन्त विलयके कालमें अनागत शक्तिरूप दुःख भी चित्तके साथ ही नष्ट हो जाता है। अतः 'हेय दुःखमनागतम्' इस सूत्रोक्त अनागत दुःखकी हेयता भी उपपन्न हो जाती है, ऐसा होनेपर विकारोंका कहीं लक्षणमात्र भी होता है वह अनागत अतीततारूप कहना चाहिये। अन्यथा अनागत दुःखकी हेयता नहीं बन सकेगी; दूसरोंके मतमें अनागत दुःखका हान सिद्ध होनेसे पुरुषार्थ ही नहीं है, और इसमें अनागत दुःख अभावितया नहीं घटेगा। पदार्थोंकी व्याख्या करके समग्र सूत्रार्थको कहते हैं—

य एतेषु—जो इनमें अन्वयी-सर्वधर्मोंमें अन्वयी स्थिर हैं (वह अन्वयी धर्मी है) तथा च अभिव्यक्त अनभिव्यक्तत्व वैधर्म्यसे धर्म और धर्मीका विवेक-भेद ज्ञान होता है यह सूत्रका तात्पर्यार्थ है। इस भाँति अन्योऽन्य वैधर्म्यसे धर्मोंसे अतिरिक्त होनेसे धर्मीको सिद्ध किया है। अब उसके न माननेमें भाष्यकार बाधक भी कहते हैं। *यस्य तु*—जिनके मतमें धर्ममात्र ही यह सब है और निरन्वय हैं उनके मतमें भोग नहीं बन सकता। धर्ममात्र कहनेसे क्षणिकत्व भी आ जाता है। अनेक क्षण स्थायी होनेपर ही क्षण सम्बन्धरूप धर्मवत्व ही पदार्थमात्र होगा ? धर्ममात्रका विवरण है—निरन्वय-निर्धार्मिक (धर्मीरहित धर्म)। धर्मीके निराकरणसे आत्मा क्षणिक विज्ञान है यह भी आ जाता है, तब तो प्रथम पादमें कहे ही दूषण हैं—*तस्य भोगाभावः*—(भोगका सिद्ध न होना)। शेष सुगम है ॥ १४ ॥

संगति—एक धर्मीके अनेक परिणाम (धर्म) किस प्रकार हो सकते हैं। इस शंकाके निवारणार्थ अगला सूत्र है—

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—क्रम-अन्यत्वम्=क्रमका भेद; परिणाम-अन्यत्वे=परिणामके भेदमें; हेतुः=हेतु है।

अन्वयार्थ—क्रमोंका भेद परिणामके भेदमें हेतु है।

व्याख्या—एक क्रमसे एक परिणाम होता है। एक धर्ममें अनेक प्रकारके क्रम होते हैं। जितने प्रकारके क्रम होते हैं उतने ही उनके परिणाम होते हैं। पिछले उदाहरणके अनुसार मिट्टीके चूर्णसे पिण्ड, पिण्डसे बर्तन बनना, बर्तन टूटकर कपाल होना, कपालसे ठीकरे होना, ठीकरेसे चूर्ण। यह सब क्रम हैं। इन्हीं क्रमोंके भेदसे इनके परिणाम-भेद होते हैं। जो जिस धर्मके पीछे होता है वह उसका क्रम है। जैसे पिण्ड नष्ट होकर बर्तनका उत्पन्न होना। इस प्रकारके क्रमसे धर्म-परिणाम होता है। इसी प्रकार लक्षण-परिणाम भी क्रमसे होता है, जैसे बर्तनके अनागत भावका वर्तमान मार्ग (भाव) में आना एक क्रम है। इससे वर्तमान लक्षण-परिणाम होता है। पिण्डके वर्तमान भावसे अतीत भावमें जाना भी एक क्रम है। इससे अतीत लक्षण-परिणाम होता है। अतीतका वर्तमानमें कोई क्रम नहीं होता। जैसे पूर्व सूत्रमें बतला चुके हैं, इसी प्रकार बर्तनके पकनेसे लेकर चूर्ण होनेतक भी जो क्रम प्रतिक्षण होता

रहता है उससे अवस्था-परिणाम होता रहता है। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि धर्म और लक्षण-परिणाम तो कभी-कभी होते है पर अवस्था-परिणाम प्रतिक्षण सूक्ष्मरूपसे होता रहता है और स्थूल भावको प्राप्त होकर प्रकट होता है। इसी परिणामके कारण जो चावल आदि सुरक्षित बुखारियोंमें रखे गये हैं, बहुत वर्षोंके पश्चात् ऐसी दशामें हो जाते है कि हाथ लगानेसे चूर्ण हो जाते है। ऐसी दशा उनकी अकस्मात् नहीं हुई, किंतु क्षण-क्षणमें क्रम-क्रमसे होती रही है। इसलिये अवस्था-परिणामोंके क्रम यद्यपि प्रत्यक्ष देखनेमें नहीं आते तथापि अनुमानसे जाने जाते है। इस प्रकार क्रमोके भेदरूप हेतु-से एक धर्मीके अनेक धर्म-परिणामोंका; और धर्मोके तीन प्रकारके लक्षण-परिणामोंका; और वर्तमान धर्मोके क्षण-क्षणमें होनेवाले असंख्यात अवस्था-परिणामोंका निश्चय होता है।

यद्यपि वास्तवमें धर्म, धर्मी-स्वरूप ही होता है, तथापि धर्म-धर्मीके किञ्चित् भेदकी अपेक्षासे यह तीन प्रकारके क्रमोका भेद कहा है अर्थात् पृथ्वी आदि विकारोसे लेकर महत्तत्त्वपर्यन्त ये सब धर्म-धर्मी भाव अपेक्षित हैं। वास्तवमें यह नियम नहीं है कि यह धर्म है और यह धर्मी है, क्योकि घटादिकोंकी अपेक्षासे जो मृत्तिका धर्मी है वह मृत्तिका भी गन्ध-तन्मात्राका धर्म है। गन्ध-तन्मात्रा जो मृत्तिकाकी अपेक्षा-से धर्मी है, अहङ्कारका धर्म है। अहङ्कार भी जो गन्ध-तन्मात्राकी अपेक्षासे धर्मी है, महत्तत्त्वका धर्म है; और महत्तत्त्व भी जो अहङ्कारकी अपेक्षासे धर्मी है प्रधान (मूल प्रकृति) का धर्म है। इस प्रकार महत्तत्त्वपर्यन्त धर्म-धर्मी भाव सापेक्ष है, नियत नहीं है। वास्तवमें निरपेक्ष तो मुख्य धर्मी प्रधान ही है जो किसीका धर्म नहीं है। उस धर्मीके ही ये सब परिणाम हैं। ये किंचित् भेदको लेकर तीन प्रकारके कहे गये हैं। वास्तवमें यह एक धर्मीके ही धर्म-परिणामका विस्तार है। यह प्रधान धर्मी ही परिणामी नित्य है।

जिस प्रकार बाह्य पदार्थोंके अनेक धर्म-परिणाम हैं, इसी प्रकार चित्तमें भी अनेक प्रकारके धर्म-परिणाम हैं। चित्तके धर्म दो प्रकारके हैं—एक परिदृष्ट अर्थात् अपरोक्ष (प्रत्यक्षरूप), दूसरा अपरिदृष्ट अर्थात् परोक्ष (अप्रत्यक्षरूप)। प्रमाणादि (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, राग, द्वेषादि) चित्तकी वृत्तियाँ प्रत्यक्षरूप हैं; और निरोधादि चित्तके धर्म परोक्ष (अप्रत्यक्ष) रूप है, क्योंकि वे प्रत्यक्षसे नहीं जाने जाते, शास्त्र अथवा अनुमानद्वारा ही उनका ज्ञान होता है। वे अपरिदृष्ट सात है, जैसा श्री= भगवान् व्यासजीने निम्नश्लोकमें बतलाया है—

निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम्।
चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः॥

निरोध, धर्म, सस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा, शक्ति चित्तके दर्शन वर्जित (परोक्ष) धर्म है अर्थात् अप्रत्यक्षरूप हैं।

(१) असम्प्रज्ञात-समाधिकी अवस्थामें सब वृत्तियोका निरोध, 'संस्कारशेष' आगमगम्य है अर्थात् केवल योगशास्त्रसे जाना जाता है, और अनुमानगम्य है; क्योकि सर्व वृत्तियोंके अभावसे अनुमान किया जाता है।

(२) चित्तके धर्म पुण्य-पाप केवल सुखदर्शन और दुःखदर्शन आदिसे अनुमेय और आगमगम्य है।

(३) चित्तका संस्काररूप धर्म स्मृतिद्वारा अनुमान किये जानेके कारण अनुमेय है।

(४) चित्तका क्षण-क्षणमें होनेवाला परिणाम अतिसूक्ष्म होनेके कारण अनुमेय है ।

(५) चित्तका जीवनरूप धर्म श्वास-प्रश्वासद्वारा अनुमेय है ।

(६) चित्तकी चेष्टा (क्रिया) इन्द्रियो तथा शरीरके अङ्गोंकी चेष्टासे अनुमेय है । क्योंकि इनकी चेष्टा, विना चित्तके सयोगके नहीं हो सकती और संयोग विना चित्तकी चेष्टाके नहीं हो सकता ।

(७) चित्तमें जो कार्योंकी सूक्ष्मावस्थारूप शक्ति है वह भी स्थूलकार्यके ज्ञानसे अनुमेय है अर्थात् स्थूल राग-द्वेषादिको देखकर सूक्ष्म रागद्वेषादि अनुमान किया जाता है । इस प्रकार उपर्युक्त सातो चित्तके धर्म अप्रत्यक्षरूप हैं ।

संगति—अब यहाँसे पादकी समाप्तितक सयमका विषय और संयमकी विभूतियाँ दिखलायेगे । उनमेंसे पहले तीनो परिणामोमें संयम और उसकी सिद्धि बतलाते है—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—परिणाम-त्रय-सयमात्=तीनो परिणामोंमें सयम करनेसे; अतीत-अनागत-ज्ञानम्=भूत और भविष्यत्का ज्ञान होता है ।

अन्वयार्थ—तीनो परिणामोमें संयम करनेसे भूत और भविष्यत्का ज्ञान होता है ।

व्याख्या—पिछले सूत्रमें बतलाया गया है कि क्रमोंसे परिणाम होते हैं इसलिये तीनो कालोमें होनेवाले संसारके समस्त पदार्थ धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणामके अन्तर्गत रहते है । इसलिये जब योगी किसी वस्तुके इन तीनो परिणामोंको लक्ष्यमें रखकर सयम करता है तो उसका इन तीनों परिणामोके साक्षात् होनेसे उस वस्तुके सब क्रमोंका अर्थात् जिस-जिस अवस्थामें होकर वह वस्तु इस रूपमें पहुँची है और आगे जिस-जिस अवस्थामें पहुँचेगी और जितने-जितने कालमे पहुँचेगी, सब ज्ञान हो जाता है ।

संगति—संयम-साध्य दूसरी विभूति बतलाते हैं—

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—शब्द-अर्थ-प्रत्ययानाम्=शब्द, अर्थ और ज्ञानके, इतर-इतर-अध्यासात्=परस्परके अध्याससे; संकरः=अभेद भासना होता है, तत्-प्रविभाग-संयमात्=उनके विभागमें सयम करनेसे; सर्वभूत=सब प्राणियोंके; रुत-ज्ञानम्=शब्दका ज्ञान होता है ।

अन्वयार्थ—शब्द, अर्थ और ज्ञानके परस्परके अध्याससे अभेद भासना होता है । उनके विभागमें संयम करनेसे सब प्राणियोंके शब्दका ज्ञान होता है ।

व्याख्या—शब्द-वाचक, जिसको जिह्वासे उच्चारण करते हैं और कानोसे सुनते हैं जैसे 'गौ' शब्द । जो वक्ताके वागिन्द्रियमें रहता है ।

अर्थ—वाच्य, जो शब्दसे जाना जाता है, जैसे दूध देनेवाला, घास खानेवाला पशुविशेष 'गौ' । जो गोशाला या गोचर आदिमें रहता है ।

प्रत्यय ज्ञान अर्थात् विषयाकार चित्तकी वृत्ति जो शब्द—गौ और अर्थ—गौ दोनोको मिलाकर इनका ज्ञान करानेवाली है । जो श्रोताके मनमें रहता है ।

यह तीनों अलग-अलग अपनी-अपनी सत्ता रखते हैं और परस्पर भिन्न हैं । अर्थात् गौ शब्द वक्ताके वागिन्द्रियमें रहता है, गौ अर्थ गोशालामें या गोचरमें रहता है और गौ-ज्ञान श्रोताके मनमें

रहता है । पर निरन्तर अभ्यासके कारण तीनो मिले हुए प्रतीत होते है । इस कारण जब किसीसे कहा जाता है कि गौको घास-चारा दे आओ, तब वह उस पशुविशेषके पास घास-चारा ले जाता है । वह इन तीनोंमे कोई भेद प्रतीत नहीं करता । पर यदि किसी विदेशी पुरुषसे जिसने अभीतक गौका शब्द नहीं सुना है, कहा जाय कि गौको घास-चारा दे आओ तब वह इन तीनोके भेदोको विचारेगा । वह अनुमान करेगा कि पुरुष घास नही खाते है । इस कारण वह अनुमानसे ही शब्द-गौसे ही अर्थ-गौ और उसके ज्ञानको समझनेका यत्न करेगा । इसी प्रकार सब प्राणी जो शब्द बोलते है उसमे शब्द, अर्थ और ज्ञान—तीनो होते हैं । योगीको सयम-अभ्याससे समाधि-प्रज्ञा (३-५) प्राप्त होती है । इसलिये वह शब्द, अर्थ और ज्ञानके विभागमें संयम करनेसे इस शब्दका अर्थ, और शब्द-अर्थ दोनोंके सम्बन्धी ज्ञानको जान लेता है और सब प्राणियोकी बोलीको समझ लेता है ।

टिप्पणी—इस सूत्रके प्रसङ्गमें भाष्यकारोने स्फोटवादका बहुत विस्तारके साथ विचार किया है । यह विषय योग-जिज्ञासुओके लिये उपयुक्त नहीं है इसलिये उसको व्याख्यामें छोड दिया गया है, फिर भी इस विषयमे प्रेम रखनेवाले पाठकोके लिये भोजवृत्ति, व्यासभाष्य तथा वार्तिकका भाषानुवाद और अन्तमें इस सूत्रका सक्षेप विशेष वर्णन रूपमें यहां दिये देते हैं—

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ १७ ॥

क्रमेन्द्रियसे ग्रहणके योग्य और नियमसे स्थित है क्रम (पूर्वापर भाव) जिनका ऐसे जो कि नियमसे किसी एक अर्थके बोधक हो वे वर्ण 'शब्द' कहलाते है वा क्रमशून्य स्फोटरूप ध्वनिसे सस्कृत जो बुद्धि, उससे ग्रहण करने योग्य 'शब्द' कहलाते है । दोनो ही प्रकारसे यह रूप (सुबन्त, तिङन्त) पदरूप और वाक्यरूप (सुप्तिङन्तसमुदाय) शब्द होता है । क्योंकि उन दोनोकी ही एक किसी अर्थके बोधन करानेमे शक्ति है । गोत्वादि जाति, रूपादि गुण, पचनादि क्रिया, देवदत्तादि सज्ञा, शब्दोके अर्थ हैं । ज्ञान अर्थात् विषयाकारसे परिणत बुद्धि वृत्तिका नाम प्रत्यय है । व्यवहार (कथनादि) में शब्द, अर्थ, प्रत्यय—इन तीनोंके परस्पर अध्याससे (आरोपसे) वस्तुतः भिन्न-भिन्नका भी बुद्धिके साथ एकाकारता होनेसे संकर (भेद) हो जाता है । देखिये, 'गौको ले आ' ऐसा कहनेपर गोत्व जाति युक्तसे सास्ना (गलेका कम्बल) वाले पिण्डरूप अर्थको, उसके कहनेवाले शब्दको और उसके ज्ञानको बिना भेदके ही पुरुष निश्चित करता है । यह भेद नहीं होता कि इस अर्थका 'गो' शब्द वाचक है, 'गो' शब्दका अर्थ है, और यह शब्द-अर्थ दोनोका ग्राहक ज्ञान है । जैसे—यह कौन 'अर्थ' है ? कौन यह 'शब्द' है ? कौन यह 'ज्ञान' है ? ऐसे पूछनेपर एकरूपसे ही पुरुष उत्तर देता है कि गौ है, यदि 'शब्द' 'अर्थ' 'ज्ञान' इन तीनोका अभेदाध्यवसाय न हो तो एकाकार उत्तर नहीं बन सकता ऐसी स्थिति है । तथापि शब्दमें वाचकत्वरूप, अर्थमें वाच्यत्वरूप, ज्ञानमें शब्दार्थ-प्रकाशत्वरूप विभाग है ।

इस विभेदको करके इसमे जो योगी सयम करता है उसको सब प्राणियोके अर्थात् पशु, पक्षी, सर्पादिकोके शब्दसे ज्ञान हो जाता है कि इस अभिप्रायसे उस प्राणीने यह शब्द उच्चारण किया है । ऐसा ज्ञान होनेसे सबको जान लेता है ॥ १७ ॥

व्यासभाष्यका भाषानुवाद ॥ सूत्र १७ ॥

इस विषयमें वाक्—इन्द्रिय वर्णोमें ही अर्थवती है (वर्णका उच्चारणमात्र ही उसका काम है) ।

ध्वनिके परिणाममात्रको विषय करनेवाला श्रोत्रेन्द्रिय है (श्रोत्रका काम ध्वनिके परिणामको ग्रहण करना मात्र है) उसके अर्थको जतलाना नहीं है, पद वर्णात्मक है । जिससे अर्थका कथन होता है—जैसे घटादि—वह नादानुसहार बुद्धिसे निर्ग्राह्य है (नाद—वर्णोंका नाम है, उसके अनुसहारकी बुद्धि—एकत्वके आपादनकी बुद्धिसे निर्ग्राह्य है, क्योंकि वर्णोंको बुद्धिसे इकट्ठे करके पदका ग्रहण होता है) ।

सब वर्णोंका एक कालमें उच्चारण असम्भव है । अतः परस्पर निरनुग्रहात्मक हैं, परस्पर असकीर्ण है । वे वर्ण समाहाररूप पदको बिना छुए—बिना उपस्थित किये—बिना बनाये ही आविर्भूत—प्रकट और तिरोभूत—लीन होते रहते है—अतः प्रत्येक अपदस्वरूप कहे जाते है ।

फिर एक-एक वर्ण पदात्मा है । पदके निर्माणमें उपादान रूप है, सर्वाभिधान शक्तिसे प्रचित है (सर्व अभिधानोंकी शक्ति सचित है जिसमे), सहकारी वर्णान्तरका प्रतियोगी—सम्बन्धी होनेसे वैश्वरूप्यकी भाँति आपन्न है (असख्य पद रूप जैसा बना हुआ है) । पूर्व वर्ण उत्तर वर्णके साथ और उत्तर वर्ण पूर्व वर्णके साथ विशेषमें अवस्थापित है, इस प्रकार बहुत वर्ण-क्रमके अनुरोधी, अर्थ सकेतसे अवच्छिन्न (सकेतीकृत अर्थमात्रके वाचक) हैं, इतने ये वर्ण सर्वाभिधान शक्तिसे परिवृत्त है, गकार, औकार और विसर्जनीय सास्नादिमान् अर्थ (गौ पशु) को द्योतित करते है । जो अर्थ सकेतसे अवच्छिन्न हैं, जिनका ध्वनिक्रम उपसहृत है—उन वर्णोंका जो एक बुद्धि निर्भास है वह पदवाचक है । वाच्यका सकेतित है, वह एक पद, एक बुद्धि विषय—एक प्रयत्नसे आक्षिप्त—अभाग—अक्रम—अवर्ण—बौद्ध—अन्त्य वर्णके प्रत्ययके व्यापारसे उपस्थापित, दूसरेपर प्रतिपादनकी इच्छासे अभिधान कर्त्ताओंसे अभिधीयमान और श्रोताओंसे श्रूयमाण वर्णोंसे ही अनादि वाग् व्यवहारकी वासनाओसे अनुविद्ध लोकबुद्धिसे सिद्धवत्—सप्रतिपत्तिसे प्रतीत होता है । उसका सकेत बुद्धिसे प्रविभाग है कि इतने वर्णोंका इस प्रकारका अनुसहार एक अर्थका वाचक है ।

सकेत तो पद और पदार्थके इतरेतराध्यासरूप स्मृत्यात्मक होता है, जो यह शब्द है वही यह अर्थ है और जो यह अर्थ है वही यह शब्द है, इस प्रकार इतरेतराध्यासरूप सकेत होता है । इस प्रकार ये शब्द, अर्थ और प्रत्यय इतरेतर अध्याससे सकीर्ण रहते हैं—गौ अर्थ है, गौ शब्द है, गौ ज्ञान है; जो इनके विभागोंका ज्ञाता है, वह सर्ववित् है । सब पदोमे वाक्यकी शक्ति होती है । वृक्ष इतना कहनेपर—अस्ति (है) क्रिया स्वय भासने लगती है, क्योंकि पदार्थ सत्तारहित नहीं रहा करता । तथा क्रिया भी असाधन (कारकरहित) नहीं हुआ करती, तथा—पचति (पकाता है) यह कहनेपर सब कारकोका अध्याहार होता है—चैत्र कर्ता, अग्नि कर्म, तण्डुल करणका कथन तो अनुवादमात्र होता है । वाक्यार्थमें पदोकी रचना देखी जाती है—श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते (श्रोत्रिय अर्थात् जो छन्द पढ़ता है), जीवति—प्राणान्धारयति (जीता है अर्थात् प्राण धारण करता है), उस वाक्यमें पदार्थकी अभिव्यक्ति होती है, उससे पदका विभाग करके क्रियावाचक है या कारकवाचक है यह व्याख्या करनी चाहिये । अन्यथा (यदि वाक्यमें पदार्थकी अभिव्यक्ति न हो तो भवति (है), अश्व, अज, पय (घोड़ा, बकरी, दूध) इत्यादिमें नाम और आख्यातके समान रूप होनेसे क्रिया और कारकमें अनिर्ज्ञातकी व्याख्या कैसे की जा सकती है । उन शब्द, अर्थ और प्रत्ययोंका विभाग है, जैसे कि 'श्वेतते प्रासादः' (महल सफेद होता है) यह क्रियाका अर्थ है । 'श्वेतः प्रासाद.' (महल सफेद है) यह कारकका अर्थ है । शब्द क्रिया और कारक रूप है, उस शब्दका अर्थ प्रत्यय (ज्ञान) है—क्योंकि

सोऽयम्—वह यह इस एकाकार ही प्रत्यय सकेत है । जो श्वेत अर्थ है—वह श्वेत शब्द—और श्वेत प्रत्यय (ज्ञान) का आलम्बनीभूत है (विषय है), वही श्वेत अर्थ अपनी अवस्थाओंसे विकृत होता हुआ न तो शब्दके साथ रहता है और न प्रत्यय (ज्ञान) के साथ रहता है । ऐसे ही शब्द और प्रत्यय भी विकृत होते हुए एक दूसरेके साथ नहीं रहते, शब्द अन्य प्रकारका है, अर्थ अन्य भाँतिका और प्रत्यय इनसे भी विलक्षण है । इस प्रकारसे इनका विभाग है, इस भाँति उनके विभागमें सयम करनेसे योगीको सब प्राणियोके शब्दका ज्ञान होता है ॥ १७ ॥

विज्ञानभिक्षुके योगवार्त्तिकका भाषानुवाद ॥ सूत्र १७ ॥

संयमान्तरकी सिद्धिको कहते है—शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् सकरस्तत् प्रविभागसयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्—गौ—इत्यादि शब्द हैं, गौ इत्यादि अर्थ है, गौ इत्यादि प्रत्यय (ज्ञान) है—इनके वक्ष्यमाण सकेतरूप अध्याससे संकर—विवेकका अग्रहण होता है, वास्तवमें इनका भेद है । अतः उनके प्रविभागमें—भेदमें सयमद्वारा साक्षात् करनेपर सर्वभूतोंके शब्दोंका ज्ञान होता है—यह काग इस अर्थको समझकर इन शब्दोसे कहता है ।

यद्यपि 'साक्षात्कृते सति' यह पाठ सूत्रमें नहीं है तो भी सस्कारसाक्षात्करणात्—इस उत्तर सूत्रसे—साक्षात्कारपर्यन्त ही सयमकी सिद्धि कही है, अतः सर्वत्र सूत्रोमें संयमकी साक्षात्कारद्वारा ही व्याख्या करनी चाहिये । इसीलिये भाष्यकार भी अनेक सूत्रोमें दृग्दर्शनार्थ साक्षात्कारपर्यन्त ही सयमकी व्याख्या करेंगे, तीन प्रकारके ही शब्दोके साथ अर्थ और प्रत्ययोंका, और उन शब्दोके अन्योऽन्य सकरको दर्शानेके लिये पहले शब्दोके ही तीन प्रकार भाष्यकार दिखलाते है—तत्र वागिति—तत्र शब्दके मध्यमें वागिन्द्रिय वर्णोंमें ही प्रयोजनवाली है, वागिन्द्रियजन्य शब्द वर्ण ही है—शृङ्ग आदि शब्द और वाचक पद वागिन्द्रियजन्य नहीं हैं । उरः (छाती) आदि स्थानोमें उत्पद्यमान शब्द—वर्ण है ।

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥

उर, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ और तालु—वर्णोंके उच्चारणके ये आठ स्थान हैं । इस स्मरणसे वागिन्द्रियकी शरीरसे बाहर वृत्ति (व्यापार) नहीं है, अतः श्रोत्र ग्राह्य वक्ष्यमाण शब्द, तदनन्तर श्रोतृबुद्धिग्राह्य वाचक शब्द वागिन्द्रियके कार्य नहीं हैं । क्योकि श्रोताके श्रोत्रदेशमें वक्ताकी वागिन्द्रियका सम्बन्ध न होनेसे शब्दकी उत्पादकता असम्भव है । वागिन्द्रियजन्य शब्दसे शब्दान्तरको कहते है—'श्रोत्र चेति'—वागिन्द्रियद्वारा शख आदिमें अभिहत उदानवायुका परिणाम भेद ध्वनि है जिस परिणामसे उदान वायु वक्ताकी देहसे उठकर शब्दधाराको उत्पन्न करता हुआ श्रोताके श्रोत्रको प्राप्त होता है, उस ध्वनिका परिणामभूत वर्णावर्ण साधारण नाद नामक शब्दसामान्य ही श्रोत्र-इन्द्रियका विषय होता है । ध्वनिका अपरिणामभूत वाचक पद श्रोत्रेन्द्रियका विषय नहीं होता । वह शब्द वर्ण-जातिवाला होनेसे वर्ण कहलाता है । तृतीय शब्दको कहते हैं—पदे पुनर्नादानुसंहारबुद्धिनिर्ग्राह्यमिति—यथा प्रतीति सिद्ध नाद नामक गकारादि वर्णोंका प्रत्येक पद—है—ऐसा प्रत्येकको ग्रहण करके अनु—पीछे जो बुद्धि सहार करती है—एकत्वका सम्पादन करती है—गौः यह एक पद है । इस भाँति—उस बुद्धिसे निर्ग्राह्य वर्णोंसे अतिरिक्त अखण्ड—एक कालमें उत्पद्यमान वक्ष्यमाण स्फोट नामक पद है । इस प्रकार यह तृतीय शब्द अन्तःकरणसे ही ग्राह्य है (अन्तःकरणका ही विषय है) ।

उस पदको ही यदि श्रोत्र इन्द्रियसे ग्राह्य माने, तो अन्तःकरणनिष्ठ अनुसंहार बुद्धिको भिन्न अधिकरणमें होते हुए हेतु मानना होगा, और वह अयुक्त है—क्योंकि प्रत्यासत्तिमें समानाधिकरणको ही लाघव है। अनुसंहार बुद्धि भी श्रोत्रादिकी ही है। यह नहीं कह सकते, क्योंकि यह असम्भव है। आनुपूर्वीकी एकतासे वर्णोंकी एकताका आपादन होता है और वह आनुपूर्वी गकारके उत्तर औकारादि रूपिणी है, वह अनेक वर्णपदोंमें श्रोत्रेन्द्रियसे ग्रहण नहीं हो सकती। आशुविनाशी होनेसे वर्णोंका मेल नहीं हो सकता, पूर्व-पूर्व वर्णोंके सस्कार और उन सस्कारोंसे स्मृतियाँ जो कि अन्तःकरणनिष्ठ हैं, उनको अन्तःकरणकी सहकारिता ही उचित है। अत. स्मृत वर्णोंकी आनुपूर्वीका मनसे ही ग्रहण हो सकता है—यह भाव है।

शंका—क्यों जी ? स्फोट नामक शब्द किस प्रकारका है ? और उसका कारण क्या है तथा उसमें प्रमाण क्या है ?

समाधान—अत्रोच्यते—जैसे बीज, अङ्कुर आदि अनेक अवस्थाओमे स्थित वृक्ष धर्मी उन क्रमिक अवस्थाओसे अतिरिक्त पल्लव आदि रूप अशेष अवस्थासे व्यक्त होता है कि यह आम्र-वृक्ष है। दूसरा वृक्ष नहीं है। वह वृक्ष बीजादिसे भिन्न-अभिन्न है, क्योंकि उसमें भेद और अभेद दोनोका अनुभव होता है। ऐसे ही गकार, औकारादि अनेक अवस्थावाला गौ इत्यादि अखण्ड स्फोट शब्द क्रमिक गकारादि अवस्थाओसे अतिरिक्त आनुपूर्वी विशेष विशिष्ट विसर्जनीय आदि रूप चरम अवस्थासे व्यक्त होता है कि यह 'गौ' है यह पद, गौः इति इत्यादि रूपसे व्यक्त नहीं होता, वह स्फोट पद गकार आदि वर्णोंसे भिन्न और अभिन्न है, क्योंकि उसमें भेद और अभेद दोनोका अनुभव होता है, और वह पद नामक शब्द अर्थ-के स्फुट (साफ प्रकट) करनेसे स्फोट कहलाता है। स्फोट शब्दका कारण एक प्रयत्नजन्य ध्वनि विशेष है, प्रयत्न भेदसे उच्चारणमे व्यवधान होनेपर एक पद व्यवहार नहीं हो सकता। गौ. यह एक पद है, यह व्यवहार स्फोटमें प्रमाण है। वर्णोंके अनेक होनेसे, उनसे एकत्व व्यवहार सरलतया नहीं बन सकता, तथा प्रत्येक वर्णसे उत्पद्यमान अर्थ प्रत्ययका हेतुत्व स्फोटमें प्रमाण है। यदि आनुपूर्वी विशिष्ट समूहके एक होनेसे एकत्व व्यवहार होता है और उसी रूपसे अर्थ प्रत्यय (ज्ञान) के प्रति हेतुता माने, तो संयोग-विशेषसे अवच्छिन्न (युक्त) अवयवसमूहसे ही एकत्व व्यवहार और (घटसे) जलादिके लानेकी सिद्धि हो जायगी, जिससे कि घटादि अवयवी मात्रका उच्छेद हो जायेगा, क्योंकि दोनो दशामें युक्ति समान है।

शका—तब तो युक्तिसाम्यसे एक-एक वाक्य भी स्फोट रूप हो जायगा ?

समाधान—यदि वाक्यस्फोटमें कोई बाधक न हो तो वाक्यस्फोट मानना हमको इष्ट ही है। भाष्यकारने तो वर्णोंके पद होनेका सक्षेपसे निराकरण किया है। वर्णा एकेति—अनेक वर्ण एक कालमें स्थितिके योग्य न होनेसे परस्पर निरनुग्रहात्मा असम्बद्धस्वभाव हैं, अतः वे पदको न छूकर—पदत्वको प्राप्त न होकर—(पद न बनकर) इसीलिये अर्थको उपस्थित न करके (अर्थको बिना प्रकट किये ही) आविर्भूत होकर ही क्षणभरमें तिरोभूत हो जाते हैं। इसलिये प्रत्येकको अविवेकी अपदस्वरूप कहते है। यहाँ स्वरूपपदके ग्रहणसे अवस्था और अवस्थावालेके अभेदसे वर्णोंके पदत्वका निराकरण नहीं किया है।

शका—यदि वर्ण पदस्वरूप नहीं है तो लोग इतने वर्ण क्रमविशेषसे युक्त इस अर्थके वाचक है ऐसा सङ्केत किस प्रकार कर लेते है ?

समाधान—'वर्णाःपुनरित्यादि' यहाँसे लेकर सकेत्यते इस पर्यन्त वाक्यसे समाधान किया है। उसका अर्थ यह है, यद्यपि वर्ण पदसे भिन्न है, तथापि अवस्था और अवस्थावालेके अभेदकी भी सत्ता है। (अभेद भी है) अतः एक-एक भी वर्ण पदरूप है—पदसे अभिन्न है। जैसे कि बीज और अङ्कुर वृक्षसे अभिन्न होते है। इसीलिये पदरूपसे सर्व पदार्थोंके अभिधानकी योग्यतासे सम्पन्न होते है। इसमें हेतु कहते है—सहकारीति पदभावमें सहकारी जो वर्णान्तर उनका प्रतियोगी-सम्बन्धी होनेसे अनन्त पद रूपता-को प्राप्तकी भाँति आपन्न होता है (बन जाता है)—यहाँ इव शब्दका प्रयोग भाष्यकारने वैश्वरूप्यकी योग्यतामात्रके प्रतिपादनके लिये किया है।

वैश्वरूप्यका प्रकार कहते हैं—पूर्व गकार उत्तर और इस वर्णद्वयके साथ गण इत्यादि पदसे व्यावृत्त होता है (पृथक् होता है) उत्तर विसर्जनीय, पूर्व गौ इन वर्णद्वयसे गौः इत्यादि पदोसे व्यावृत्त होकर (पृथक् होकर) विशेष गौः इस अखण्ड स्फोट पदमें तादात्म्यसे (अभेद रूपसे) अवस्थापित होता है। इस हेतुसे इस प्रकारके क्रमानुरोधी बहुत-से वर्ण, आनुपूर्वी विशेषकी अपेक्षा रखनेवाले, पदके अभेदसे अर्थ-सकेतसे अवच्छिन्न (युक्त) नियमित होकर सर्व अभिधानमें समर्थ भी इतने इतनी सख्यावाले ये गकारादि गौको ही अवस्थापित करते हैं (गौका कथन करते हैं) अतः उस प्रकारसे वर्ण मुखसे, वह पद ही अविवेकसे संकेत किया जाता है—यह भाष्यका अन्वय है। उसमें हेतु है वाच्यस्य वाचकमिति—पद ही वाच्यका वाचक है—उपस्थापक है (वाच्यको कहनेवाला है)। अन्यका अन्य रूपसे सकेतमें हेतु है। 'एतेषाम्' से लेकर 'निभासः' तक। जो पद नामक बुद्धिमात्रग्राह्य अर्थसकेतसे अवच्छिन्न (युक्त) इन वर्णोंका स्फोट है, तथा समाप्त ध्वनिजन्य क्रम आनुपूर्वी विशेष जिन उस प्रकारके वर्णोंकी है, वह एक है, अभिन्न है, यह पदके स्वरूपका कथन किया है। वाक्यार्थ समाप्त हुआ।

भाव यह है, जैसे मिले हुए दो कपाल जल लानेके हेतु होते है—यह अविवेकसे बालकोके लिये कहा जाय, क्योंकि पटसे घटको पृथक् करनेवाला अन्य असम्भव है, उससे बालक कपालके अविवेकसे घटको ही जल लानेका हेतु समझता है ऐसे ही स्फोटान्तरके व्यावर्त्तनके लिये वर्णोंके अविवेकसे ही स्फोटमें संकेतका उपदेश और सकेतका ग्रहण होता है, अतः वर्णोंमें संकेततताकी अनुपपत्ति असिद्ध नहीं है।

त्रिविध शब्दको दर्शाकर अब उनमेंसे संकेतके कारणका प्रतिपादन करते है, तदेकमिति—प्रतीयते, इसके साथ अन्वय है। अर्थ यह है, यद्यपि वह पद स्फोट नामक एक ही है, वर्णोंके समान अनेक नहीं है, और एकत्वमें प्रमाण है एक बुद्धिविषयत्व, तथा वक्ताके एक ही प्रयत्नसे ध्वनि आदिद्वारा उत्पादित है, (उत्पन्न होता है), वर्ण तो प्रयत्नभेदसे भी उत्पन्न होते हैं, तथा यह पद अभाग है, निरंश है। वर्णसमूह तो वनके सदृश साश है, तथा यह पद (स्फोट) अक्रम है, एक कालमे ही उत्पद्यमान है। वर्णोंके समान क्रमसे उत्पन्न नहीं होता, अतः इन हेतुओसे पद स्फोट वर्णोंसे भिन्न है। किं च—स्फोट बौद्ध है, बुद्धिमात्रसे ग्राह्य है तथा अन्त्य वर्णके प्रत्ययरूप व्यापारसे व्यक्त होता है, वर्ण ऐसे नहीं है तो भी दूसरोके प्रति प्रतिपादनकी इच्छासे वक्ताके बोले और श्रोताके सुने इस प्रकारके वर्णोंके द्वारा ही सिद्धवत्, परमार्थवत् एक दूसरेकी सम्प्रतिपत्तिके संवादसे प्रतीत होते है, व्यवहारमें आते हैं, वर्णोंसे भिन्न-रूपसे व्यवहारमे नही आते, उसमें हेतु है—अनादि वाग् व्यवहारकी वासनाओसे वशीकृत लौकिक बुद्धि। यहाँ 'अभिधीयमानैः' इससे पदके वाग् इन्द्रियविषयक वर्णोंका अविवेक समझना चाहिये और 'श्रूयमाणैः' इससे पदके श्रोत्रविषयक शब्दका अविवेक जानना चाहिये।

इस प्रकार तीन प्रकारके शब्दोके अन्योन्याध्याससे सकरको दर्शाया है । अत्र त्रिविध शब्दसे अर्थ और प्रत्ययके अध्यासका प्रतिपादन करनेके लिये शब्द व्यवहारके सकेत ग्रहमूलक होनेको कहते हैं तस्येति—उस पदका प्रविभाग विषयकी व्यवस्थाके सकेतके ग्रहणसे ही होता है । प्रविभागको ही कहते है एतावतामिति—इतने वर्णोंका, इस प्रकारका, ऐसा आनुपूर्वीवाला अनुसहार-मिलन, इस अर्थका वाचक है, उपस्थापक है, इस भॉतिका विभाग होता है एकस्यार्थस्य—इस प्रकारका पाठ मानें तो उसका अर्थ होता है—अर्थविशेषका ।

सकेतका शब्दार्थ कहते है—'संकेतस्त्विति' अध्यास सकेतकर्ताका आहार्य आरोप है जिसका अर्थ है आरोपितका अभेद, उसहीका ज्ञान पदार्थका उपस्थापक होता है, उसमें आधुनिकोकी कल्पनाकी व्यावृत्तिके लिये स्मृत्यात्मक पदका प्रयोग है, अतः विषय और विषयीके अभेदसे पाणिनि आदिकी स्मृति है । यह भी नहीं कह सकते कि कल्पित अभेद असत्से वह असत् संकेत कैसे हो सकता है ? क्योकि असत्-ख्याति तो स्वीकार ही नहीं है, अन्यत्र सत्-अभेदकी अन्यत्र कल्पना होती है, (अन्यत्र सत् रजतकी अन्यत्र सीपमे कल्पना होती है) अध्यासके संकेतत्वमें प्रमाण कहते हैं—'योऽयं शब्द.' इससे लेकर 'भवति' तक । ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म इत्यादि शास्त्रोमें, कम्बुग्रीवादिमान् घटः इत्यादि लोकमें पद और पदार्थ-का अभेद आरोप ही सकेत दिखलायी देता है, क्योकि ओमित्यादिके शब्द वाच्यत्वकी लक्षणामे कोई प्रमाण नहीं है, अतएव कोशोमें 'अमरा निर्जरा देवाः' इत्यादि शब्द और अर्थका आरोप्यमाण अभेद ही संकेत दिखायी देता है, अतएव इस अनादि अभेदके आरोपसे आगमी लोग मन्त्र और अर्थके अभेद उपासनाका उपदेश करते है, और मीमांसक मन्त्रमयी देवता कहते है । जो तो—इस शब्दसे यह अर्थ जानना चाहिये इस प्रकारकी ईश्वरकी इच्छाका विषयशक्ति दूसरे तन्त्रोमें लक्षित है वह अप्रामाणिकी है और लक्षणाशक्ति-जैसी ही है । दूसरी बात यह है कि ईश्वरको न जाननेवालेको भी शब्दार्थ प्रत्यय देखा जाता है तथा पद और पदार्थके अभेदसे संकेत भी युक्त न हो सकेगा, इत्यादि दोष जान लेने चाहिये ।

अत्र संकेत बुद्धिनिमित्तक तीनोका सकेत है । इसको कहते हैं एवमेव इति—इस प्रकार सकेत बुद्धिके कारणसे वे तीन प्रकारके शब्द, अर्थ और प्रत्यय संकीर्ण—अविविक्त हैं, उनमें सकेतका ग्रह ही शब्द और अर्थका इतरेतर अध्यास है, क्योकि शब्द और अर्थका तो प्रत्ययके साथ एकाकार होनेसे अन्यो-न्याध्यास प्रसिद्ध ही है । यह भाव है ।

सकरके आकारको कहते हैं—गौरिति य इति—वह ही शब्द आदिका तत्त्वज्ञ है अन्य नहीं । वर्ण, ध्वनि पदोके अन्योन्य सकरकी भॉति अत्र पद-वाक्य और उनके अर्थोके संकरसे भी शब्द-अर्थ और प्रत्ययोका सकर दिखलाते हैं सर्वपदेष्विति—वाक्यकी शक्तिपदार्थान्तरके सहकारसे वाक्यभवन शक्ति है (वाक्य बननेकी शक्ति है) तथा वृक्ष इत्यादि पदोंकी वृक्षोऽस्ति (वृक्ष है) वृक्षश्चलति (वृक्ष चलता है) वृक्षच्छिद्यते (वृक्ष कटता है) इत्यादि वाक्योंसे सकर—अविवेक होता है यह भाव है । पदोमें वाक्यशक्तिका उदाहरण देते हैं—वृक्ष-इत्युक्त-इति-वृक्ष ऐसा कहनेपर आकाक्षाको पूर्ण करनेके लिये योग्यता आदिके वशसे अस्ति (है) इस क्रियाका अध्याहार होता है । तथा पदमें वाक्यका संकर है यह भाव है ।

शका—शब्दका अध्याहार सम्भव नहीं है क्योकि एक ही अर्थमे अनन्त शब्दोका प्रयोग होता है और किसी विशेष शब्दका अनुमापक लिङ्ग उपस्थित नहीं है ?

जिसमें ग्रह (बुध, शुक्र आदि जो कि सूर्यके चारो ओर घूमते हैं), नक्षत्र (अश्विनी आदि जिसमे कि चन्द्रमा गति करता है), तारका (ग्रहो और नक्षत्रोंसे भिन्न अन्य तारे तथा तारामण्डल) भ्रमण करते हैं। यह सब ग्रह, नक्षत्र आदि, ध्रुव नामक ज्योति (Pole star पोल स्टार) के साथ, वायुरूप रज्जुसे बाँधे हुए (वायु-मण्डलमें स्थित) वायुके नियत संचारसे लब्ध सचारवाले होकर, ध्रुवके चारो ओर भ्रमण करते हैं। ध्रुवसज्ञक ज्योति मेढिकाष्ट (एक काठका स्तम्भ जो कि खलिहानके मध्यमें खड़ा होता है जिसके चारों ओर बैल घूमते है) के सदृश निश्चल है। इसके ऊपर स्वर्गलोक है। जिसको माहेन्द्र-लोक कहते हैं। माहेन्द्र-लोकमें त्रिदश, अग्निष्वात्त, याम्य, तुषित, अपरिनिर्मित-वशवर्ती, परिनिर्मित-वशवर्ती—ये छः देव-योनि-विशेष निवास करते है। ये सब देवता संकल्पसिद्ध अणिमादि ऐश्वर्य-सम्पन्न और कल्पायुपवाले तथा वृन्दारक (पूजने योग्य) कामभोगी और औपपादिक देहवाले (बिना माता-पिताके दिव्य शरीरवाले) है; और उत्तम अनुकूल अप्सराएँ इनकी स्त्रियाँ हैं।

इस स्वर्गलोकसे आगे महान् नामक स्वर्ग-विशेष है, जिसको महालोक तथा प्राजापत्यलोक कहते हैं। इसमें कुमुद, ऋभु, अञ्जनाभ, प्रचिताभ—ये पाँच प्रकारके देवयोनि-विशेष काम करते हैं। ये सब देवविशेष महाभूतवशी (जिनकी इच्छामात्रसे महाभूत कार्यरूपमें परिणत होते है) और ध्यानाहार (बिना अन्नादिके सेवन किये ध्यानमात्रसे तृप्त और पुष्ट होनेवाले) तथा सहस्र कल्प आयुवाले हैं। महर्लोकसे आगे जनःलोक है जिसको प्रथम ब्रह्मलोक कहते है। जनःलोकमें ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक और अमर—ये चार प्रकारके देवयोनि-विशेष निवास करते है। ये भूत तथा इन्द्रियोंको स्वाधीन करणशील हैं। जनःलोकसे आगे तपःलोक है जिसको द्वितीय ब्रह्मलोक कहते हैं। तपोलोकमे अभास्वर, महाभास्वर, सत्य-महाभास्वर—ये तीन प्रकारके देवयोनि-विशेष निवास करते हैं, जो भूत, इन्द्रिय, प्रकृति (अन्तःकरण) इन तीनोको स्वाधीन करणशील हैं और पूर्वसे उत्तर-उत्तर दुगुने-दुगुने आयुवाले हैं। ये सभी ध्यानाहार ऊर्द्ध्वरेतस् (जिनका वीर्यपात कभी नहीं होता) है। ये ऊर्द्ध्व—सत्यादि लोकमें अप्रतिहत ज्ञानवाले और अवर, अवीचि आदि लोकमें अनावृत ज्ञानवाले अर्थात् सब लोकोको यथार्थरूपसे जाननेवाले हैं। तपोलोकसे आगे सत्यलोक है जिसको तृतीय ब्रह्मलोक कहते हैं। इस मुख्य ब्रह्मलोकमें अच्युत, शुद्ध-निवास, सत्याभ, संज्ञासज्ञी—ये चार प्रकारके देवता-विशेष निवास करते हैं। ये अकृत-भवनन्यास (किसी एक नियत ग्रहके अभाव होनेसे अपने शरीररूप ग्रहमें ही स्थित) होनेसे स्वप्रतिष्ठित है और यथाक्रमसे ऊँची-ऊँची स्थितिवाले हैं। ये प्रधान (अन्तःकरण) को स्वाधीन करणशील और पूरी सर्ग आयुवाले हैं। अच्युत नामक देव-विशेष सवितर्क ध्यानजन्य सुख भोगनेवाले है, शुद्धनिवास सविचार ध्यानसे तृप्त हैं। इस प्रकार ये सभी सम्प्रज्ञात (समाधिपाद सूत्र १७) निष्ठ है। ये सब मुक्त नहीं है, किंतु त्रिलोकीके मध्यमे ही प्रतिष्ठित हैं। इन पूर्वोक्त सातो लोकोको ही परमार्थसे ब्रह्मलोक जानना चाहिये। (क्योकि हिरण्यगर्भके लिङ्ग-देहसे यह सब लोक व्याप्त है)।

विदेह और प्रकृतिलय नामक योगी (समाधिपाद सूत्र १९) मोक्षपद (कैवल्यपद) के तुल्य स्थितिमें है इसलिये वे किसी लोकमें निवास करनेवालोके साथ नहीं उपन्यास किये गये।

सूर्यद्वार (सुषुम्ना नाडी) मे संयम करके योगी इस भुवन-विन्यासके ज्ञानको सम्पादन करे। किंतु यह नियम नहीं है कि सूर्यद्वारमे सयम करनेसे ही भुवन-ज्ञान होता हो, अन्य स्थानमें संयम करनेसे

शब्दका भेद होनेपर भी अर्थ और प्रत्ययके अभेदसे शब्द और अर्थके भेदको दिखलाते हैं—'श्वेतते' इससे लेकर 'प्रत्ययश्च' इस तकसे (श्वेतते प्रासादः) यह क्रियाका अर्थ है, (श्वेतः प्रासादः) यह कारकका अर्थ है—शब्द क्रिया कारक रूप है, उस शब्दका अर्थ और प्रत्यय (ज्ञान होता है—यह भाष्य है) क्रियासे साध्यरूप है अर्थ जिसका वह क्रियाका अर्थ है । 'श्वेतते' यह उसका शब्द है, तथा 'कारकः' सिद्धरूप है अर्थ जिसका वह कारकार्थ है—श्वेतः-यह उसका शब्द है । ये शब्द भिन्न है, इनका अर्थ क्रिया कारकरूप श्वेतगुणमात्र एक ही है, इसी प्रकार प्रत्यय भी जानना चाहिये । क्रिया कारकात्मक गुणाकार हैं । इसमें प्रमाण पूछते हैं, कस्मात् इति—किस प्रकार ?

उत्तर देते हैं, सोऽयमित्यभिसम्बन्धात्—यह वही है इस सम्बन्धसे क्रिया कारकात्मक गुणाकार है, श्वेतन जो क्रिया है वही यह श्वेतरूपकारक गुण है, और जो 'श्वेतते' इससे श्वेताकार प्रत्यय है वही प्रत्यय 'श्वेतः' इस शब्दसे भी श्वेताकार प्रत्यय ही अभेदकी प्रत्यभिज्ञासे होता है ।

शब्द और अर्थके अभेदसे संकेत कैसे होता है ? इस विषयमें कहते हैं—एकाकार इति—एकाकार—आरोपरूप प्रत्यय ही संकेतसे आरोपितके अभेदमें ही संकेत है, पारमार्थिक अभेदरूपमें संकेत नहीं है ।

शंका—शब्द और अर्थके अभेद प्रत्ययसे प्रत्यभिज्ञाका ही बाध क्यों नहीं हो जाता ?

समाधान—तत्राह—यस्त्विति—जो श्वेत अर्थ है वह शब्द और प्रत्यय (ज्ञान) का विषय होनेसे, अपनी शब्द आदिसे भिन्न नयी-पुरानी अवस्थाओसे विक्रियमाण होनेसे शब्द और प्रत्ययके सहगत (साथ) नहीं रहता, कालसे—कालरूप अधिकरणके भिन्न होनेसे सहचार नहीं रहता । ऐसे ही देशसे भी सहचार नहीं रहता, क्योकि शब्दका अधिकरण आकाश है और प्रत्यय (ज्ञान) का अधिकरण बुद्धि है और अर्थ श्वेत गुणादि प्रासाद आदिमें रहते हैं । यह भाव है । एवमिति—इस प्रकार शब्द भी अपनी अवस्थाओसे विक्रियमाण अर्थ और बुद्धिका भी सहचारी नहीं है, इस प्रकार प्रत्यय (ज्ञान) भी शब्द और अर्थका सहचारी नहीं रहता । उपसहार करते हैं—इत्यन्यथेति—अन्यथा शब्द है, अन्यथा अर्थ है और अन्यथा प्रत्यय है—यह विभाग है । सूत्रके अर्थका उपसहार करते है—एव—तत्प्रविभागेति (इस प्रकार उनके विभागमे संयम करनेसे योगीको सब भूतोके शब्दका ज्ञान होता है । इस प्रकार मनुष्यके विषयमें शब्द, अर्थ और प्रत्ययोमें (जो प्रविभाग है) उसमें सयम करनेसे—साक्षात्-पर्यन्त सयम करनेसे सब भूतोंके शब्द, उसके अर्थ और प्रत्यय (ज्ञान) को योगी जान लेता है, क्योकि योगज धर्म अचिन्त्य शक्तिवाला है, सदृश फल देना धर्मोंका स्वाभाविक है । हमारे सदृशोको शब्द, अर्थ और प्रत्ययके भेदका साक्षात्कार होनेपर भी उस साक्षात्कारके सयमजन्य न होनेके कारण सब भूतोके शब्दका ज्ञान नहीं होता, सयमकी ही यह सिद्धि है—ऐसे ही अगले सूत्रोमें भी यथास्थल यही समाधान है ॥ १७ ॥

विशेष वर्णन—॥ सूत्र १७ ॥ शब्द तीन प्रकारका है—

१—वर्णात्मक (क, ग आदि) जो वाणीरूप इन्द्रियसे उत्पन्न होता है ।

२—ध्वन्यात्मक वा नादात्मक (शङ्ख आदिका शब्द) यह प्रयत्न प्रेरित उदान वायुका परिणाम विशेष है । यही शब्दोंकी धाराको उत्पन्न करता हुआ श्रोताके श्रोत्र इन्द्रियतक जाता है ।

३—स्फोट नामक शब्द (स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः) यह अर्थका बोधक और केवल बुद्धिसे गृहीत होता है । निरवयव, नित्य और निष्क्रम है । वर्ण शीघ्र उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते है । इनका

मेद नहीं हो सकता; क्योंकि 'गौ' यहाँपर गकारोच्चारणके समयमें औकार नहीं और औकारके उच्चारणके समयमें गकार नहीं इत्यादि । मेल न होनेपर भी, वर्णोंके संस्कार और उन संस्कारोंसे स्मृति होती है अन्तिम वर्ण (जैसे 'पचति' में इकार) स्फोटका व्यञ्जक है । यदि इसे न माना जाय तो 'गौः' यह एक पद है; ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता; क्योंकि एकताको ग्रहण करनेवाली बुद्धि न वर्णोंमें (जो विनाशी हैं) हो सकती है और न स्फोटबोधक ध्वनिमें; यह स्फोट-नामक शब्द दो प्रकारका है— पद-स्फोट और वाक्य-स्फोट (स्फोटका विषय नागेशकृतमञ्जूषा और वैयाकरणभूषणमें विस्तृतरूपसे लिखा है, व्याकरणाचार्य और योगाचार्य—इनका स्फोट-विषयमें एक मत है । नैयायिक शब्दमात्रको अनित्य मानते हैं । मीमांसक शब्दोंको नित्य मानते हैं, उत्तर मीमांसक 'वेदान्ती' शब्दोंको आपेक्षिक नित्य मानते हैं, ये सब स्फोटवादी नहीं हैं) ।

स्फोटका बड़ा शास्त्रार्थ है । इन तीनों अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञानका परस्पर अध्यास (भिन्नोंमें अभिन्न बुद्धि) होता है । आरोपको अर्थात् अन्यमें अन्य बुद्धि करनेको 'अध्यास' कहते हैं । इन शब्दोंका अर्थ और ज्ञानके साथ सकेतरूप (इस पदका यह अर्थ है एतद्रूप) अध्यास है । पर वस्तुतः शब्द, अर्थ, प्रत्यय तीनों भिन्न हैं । जब उनके भेदमें योगी चित्तकी एकाग्रता करता है, तब उनका प्रत्यक्ष कर वानर, कौवे आदिकी बोलीको जान लेता है कि इस अर्थको लेकर ये बोल रहे हैं । योगियोंमें विचित्र शक्ति होती है । धारणा, ध्यान और समाधिकी बड़ी महिमा है । साधारण लोगोंको जो शब्द, अर्थ और ज्ञानका भेद प्रतीत होता है वह समाधिजन्य नहीं है, इससे वे नहीं जान सकते ।

सङ्गति—दूसरी सिद्धि कहते हैं—

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—संस्कार-साक्षात्-करणात् = संस्कारके साक्षात् करनेसे, पूर्वजातिज्ञानम् = पूर्वजन्मका ज्ञान होता है ।

अन्वयार्थ—संस्कारके साक्षात् करनेसे पूर्वजन्मका ज्ञान होता है ।

व्याख्या—संस्कार दो प्रकारके होते हैं, एक स्मृतिके बीजरूपसे रहते हैं जो स्मृति और क्लेशोंके कारण हैं । दूसरे विपाकके कारण वासनारूपसे रहते हैं जो जन्म, आयु, भोग और उनमें सुख-दुःखके कारण होते हैं । वे धर्म और अधर्मरूप हैं । ये सब संस्कार इस जन्म तथा पिछले जन्ममें किये हुए कर्मोंसे बनते हैं और ग्रामोफोनके प्लेटके रेकार्ड (Records) के सदृश चित्तमें चित्रित रहते हैं । वे परिणाम, चेष्टा, निरोध, शक्ति, जीवन और धर्मकी भाँति अपरिदृष्ट चित्तके धर्म हैं । उनमें संयम करनेसे योगीको उनका साक्षात् हो जाता है । इससे उसको जिस देश, काल और जिन निमित्तोंसे वे संस्कार बने हैं, सब स्मरण हो जाते हैं । यही पूर्वजन्मज्ञान है । (योगियोंके अतिरिक्त बहुत-से शुद्ध संस्कारवाले बालक भी अपने पूर्वजन्मका हाल बतला देते हैं) जिस प्रकार संस्कारोंके साक्षात् करनेसे अपने पूर्वजन्मका ज्ञान होता है इसी प्रकार दूसरेके संस्कारोंके साक्षात् करनेसे दूसरेके पूर्वजन्मका ज्ञान होता है । (विज्ञान भिक्षुके अनुसार, 'पर' अर्थात् भावी जन्मोंका भी इसी भाँति संस्कारके साक्षात् करनेसे ज्ञान हो जाता है)

टिप्पणी—॥ सूत्र १८ ॥ पूर्वोक्त अर्थमें श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये भाष्यकारोंने आवट्य नामक योगीश्वरका योगिराज जैगीषव्यके साथ एक संवाद उपन्यस्त किया है । उसका यहाँ निरूपण किया जाता

है। भगवान् जैगीषव्य जो प्रसिद्ध योगीश्वर हुए हैं उनके सम्बन्धमें ऐसा प्रसिद्ध है कि वे संस्कारोंके साक्षात्कारसे दश महाकल्पोंमें व्यतीत हुए अपने जन्म-परिणाम-परम्पराका अनुभव करते हुए विवेकज-ज्ञान-सम्पन्न थे और योगिराज भगवान् आवट्यके सम्बन्धमें कहा जाता है कि योगबलसे स्वेच्छामय दिव्य विग्रहको धारण करके विचरते थे। किसी समय इन दोनों योगियोका संगम हो गया। तब आवट्यने जैगीषव्यसे यह बात पूछी कि दश महाकल्पोंमें देव, मनुष्यादि योनियोंमें उत्पन्न होते हुए आपने जो अनेक प्रकारके नरक, तिर्यक्-योनियोमें और गर्भमें दुःखोका अनुभव किया है वह सब आपको परिज्ञात है, क्योकि स्वच्छ और अनभिभूत बुद्धि सत्त्व होनेके कारण आपको सारे पूर्व जन्मोंका ज्ञान है। इसलिये आप यह बतलाये कि दश महाकल्पोमें जो आपने अनेक प्रकारके जन्म धारण किये हैं, उन जन्मोंमें आपने सुख और दुःखमें अधिक किसको जाना अर्थात् संसार सुखबहुल है वा दुःख-बहुल ? तब जैगीषव्यजीने बतलाया कि इन दश महाकल्पोमें अनेक प्रकारके नरक तिर्यग्-योनियोमें दुःखोंका अनुभव करते हुए बारम्बार देव और मनुष्यादि योनियोमें उत्पन्न होते हुए मैने जो अनुभव किया है, उन सबको दुःखरूप ही जानता हूँ अर्थात् विषय-सुख, दुःखरूप होनेसे संसार दुःखबहुल ही है सुखबहुल नहीं।

आवट्य मुनिने फिर पूछा—'हे जैगीषव्य मुने! दीर्घायुवाले जो आपको प्रधान वशित्व और अनुत्तम सतोष सुखका लाभ हुआ है क्या वह भी दुःखपक्षमें निक्षिप्त है ?' तब भगवान् जैगीषव्यने कहा—'हे आवट्य मुने! विषय-सुखकी अपेक्षासे ही यह संतोष सुख अनुत्तम कहा जाता है। कैवल्यकी अपेक्षासे तो यह दुःखरूप ही है; क्योकि संतोष बुद्धि सत्त्वका ही धर्म है और जो-जो बुद्धिका धर्म है वह सब त्रिगुणात्मक प्रत्यय होनेसे हेय पक्षमें पतित है।' अर्थात् बुद्धिका धर्म होनेसे सतोष भी सुखस्वरूप नहीं है। सूत्रकारने 'सतोषादनुत्तमसुखलाभः' इस सूत्रसे संतोषको जो अनुत्तम सुखका हेतु कहा है, उसका तात्पर्य यह है कि रज्जुके सदृश पुरुषोको बाँधनेवाली जो दुःखस्वरूप तृष्णातन्तु है उस तृष्णारूप दुःखका सतोषसे नाश होता है। तब तृष्णाके अभावसे चित्त पीडासे रहित होकर प्रसन्न हो जाता है। इस प्रकार तृष्णाकी निवृत्तिद्वारा सर्वानुकूल सतोष सुखको उत्तम कहा है। कैवल्यकी अपेक्षासे तो यह सब दुःखरूप ही है।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—प्रत्ययस्य = दूसरेके चित्तकी वृत्तिके साक्षात् करनेसे, परचित्तज्ञानम् = दूसरेके चित्तका ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ—दूसरेके चित्तकी वृत्तिके साक्षात् करनेसे दूसरेके चित्तका ज्ञान होता है।

व्याख्या—जब योगी किसीके चेहरे तथा नेत्र आदिकी आकृति देखकर उसके चित्तकी वृत्तिमें सयम करता है तो उसको उस चित्तका साक्षात् हो जाता है। इससे उसको ज्ञान हो जाता है कि इस समय उसका चित्त राग, द्वेषादि ससारकी वासनाओसे रँगा हुआ है अथवा वैराग्ययुक्त है।

सङ्गति—शङ्का—दूसरेके चित्तकी वृत्तिमें सयम करनेसे यह चित्त चित्त-मात्र प्रत्यक्ष होता है अथवा स्वविषयसहित ? इसका उत्तर देते हैं—

न च तत् सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ २० ॥

शब्दार्थ—न-च-तत्=पर नहीं वह (चित्त); स-आलम्बनम्=विषय-सहित (साक्षात् होता है); तस्य=उस विषयसहित चित्तके; अविषयी-भूतत्वात्=सयमका विषय न होनेसे ।

अन्वयार्थ—पर वह (दूसरेका चित्त) अपने विषय सहित साक्षात् नहीं होता; क्योंकि वह (विषयसहित चित्त) उसका (संयमका) विषय नहीं है ।

व्याख्या—पिछले सूत्रमे दूसरेके चित्तकी वृत्तिमें सयम करना बतलाया है । इससे इतना ही ज्ञान हो सकता है कि चित्त राग-द्वेषादिसे युक्त है अथवा वीतराग है । राग, द्वेष आदिका विषयज्ञान नहीं होता कि किस विषयमे राग है, किस विषयमें द्वेष है इत्यादि । क्योंकि ये उस संयमके विषय न थे । सयमद्वारा उसीका साक्षात् होता है जो उसका विषय है । और सयमका विषय वही होता है जिसको किसी-न-किसी प्रकारसे पहले जान लिया है । बाहरी चिह्नो अर्थात् नेत्र अथवा चेहरेकी आकृतिसे केवल राग-द्वेषादि जाने जा सकते हैं न कि राग-द्वेषादिके विषय । इसलिये वे सालम्बन चित्तके संयमके विषय नहीं बन सकते । यदि राग-द्वेषादि आभ्यन्तर लिङ्गोद्वारा संयम किया जावे तो उनके विषयका भी अर्थात् सालम्बन चित्तका भी ज्ञान हो सकता है ।

टिप्पणी—विज्ञानभिक्षुने इस सूत्रको भाष्य मानकर उन्नीसवें सूत्रमे ही सम्मिलित कर दिया है । भोज और वाचस्पति मिश्रने इसको अलग सूत्र माना है ।

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—काय-रूप-सयमात्=अपने शरीरके रूपमें संयम करनेसे; तद्-ग्राह्य-शक्ति-स्तम्भे=उसकी (रूपकी) ग्राह्य-शक्ति रुक जानेपर; चक्षुः-प्रकाश-असम्प्रयोगे=दूसरेकी आँखोके प्रकाशका सयोग न होनेपर; अन्तर्धानम्=योगीको अन्तर्धान प्राप्त होता है ।

अन्वयार्थ—अपने शरीरके रूपमें सयम करनेसे रूपकी ग्राह्य-शक्ति रुक जाती है । इससे दूसरेके आँखोके प्रकाशसे योगीके शरीरका संनिकर्ष न होनेके कारण योगीके शरीरका अन्तर्धान (छिप जाना) हो जाता है ।

व्याख्या—चक्षु ग्रहण-शक्ति है और रूप ग्राह्य-शक्ति है । इन दोनों शक्तियोंके संयोगसे ही देखने-का काम होता है । इन दोनोंमेंसे किसी एककी शक्तिके रुक जानेसे देखनेका कार्य बंद हो जाता है । योगी संयमद्वारा शरीरके रूपकी ग्राह्य-शक्तिको रोक देता है । इस कारण चक्षुकी ग्रहण-शक्ति होते हुए भी दूसरे पुरुष उसके शरीरको नहीं देख सकते । यह उस योगीका अन्तर्धान अर्थात् छिप जाना है । इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रस और गन्धमें संयम करनेसे उस-उसको ग्राह्य-शक्ति रुक जाती है और उनके वर्तमान रहते हुए भी वे अपने विषय करनेवाली इन्द्रियोंसे ग्रहण नहीं किये जा सकते ।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—सोपक्रमम्=उपक्रमसहित (तीव्र वेगवाले) अथवा आरम्भसहित; च निरुपक्रमम्= और उपक्रमरहित (मन्द वेगवाले) अथवा आरम्भरहित; कर्म= (दो प्रकारके) कर्म होते है; तत्-संयमात्=उनमें संयम करनेसे; अपरान्त-ज्ञानम्=मृत्युका ज्ञान होता है; अरिष्टेभ्यः-वा=अथवा उलटे चिह्नोंसे ।

अन्वयार्थ—कर्म सोपक्रम और निरुपक्रम दो प्रकारके होते है। उनमें सयम करनेसे मृत्युका ज्ञान होता है अथवा अरिष्टोसे मृत्युका ज्ञान होता है।

व्याख्या—आयु नियत करनेवाले पूर्वजन्मके कर्म दो प्रकारके होते हैं। एक सोपक्रम अर्थात् वे कर्म जो आयु समाप्त करनेका काम पूरे वेगसे कर रहे हैं, जिनका बहुत-सा फल हो गया है और कुछ शेष है। दूसरे निरुपक्रम अर्थात् वे कर्म जो मन्द वेगवाले है, जिन्होंने आयु भोगनेका कार्य अभीतक आरम्भ नहीं किया है। जैसे गीला वस्त्र गरम देशमें विस्तारपूर्वक फैलाया हुआ शीघ्र ही सूख जाता है अथवा जैसे शुष्क तृणोके ऊपर फेकी हुई अग्नि चारो ओर वायुसे युक्त होकर शीघ्र ही तृणोको जला देती है, वैसे ही शीघ्र फल करनेवाले सोपक्रम कर्म हैं। और जैसे वही गीला वस्त्र इकट्ठा लपेटकर शीत देशमें रखा हुआ देरमें सूखता है अथवा जैसे हरित तृणोपर फेकी हुई अग्नि वायुरहित स्थानमें देरसे तृणोको जलाती है, वैसे ही विलम्बसे फल देनेवाले निरुपक्रम कर्मको जानना चाहिये। अपरान्त शरीरके वियोगको कहते है। इन दोनो कर्मोंमें सयम करनेसे उनका साक्षात् हो जानेपर योगीको सशय रहित यह ज्ञान हो जाता है कि आयु कितनी शेष रही है। किस काल और किस देशमें शरीरका वियोग होगा।

अथवा अरिष्टोसे अर्थात् उलटे चिह्नोसे जो मृत्युके बतलानेवाले हैं, अपनी मृत्युका ज्ञान हो जाता है। अरिष्ट तीन प्रकारके है—

१ आध्यात्मिक—अभ्यास होते हुए भी कानोको बद करनेपर अंदरकी ध्वनिका न सुनायी देना। अथवा आँखोंको हाथोसे दबानेपर भी ज्योतिके कनकोका न दिखलायी देना।

२ आधिभौतिक—मरे हुए पुरुषोका इस प्रकार दिखलायी देना मानो सामने खड़े हैं।

३ आधिदैविक—अकस्मात् सिद्रोका दिखायी देना, अथवा आकाशके नक्षत्र-तारा आदिका उल्टा-पुल्टा दिखायी देना। इन अरिष्टोके देखनेसे मृत्युके निकट होनेका ज्ञान होता है।

इसी प्रकार प्रकृतिका बदल जाना अर्थात् उदारका कृपण और कृपणका उदार हो जाना इत्यादि; तथा विपरीत ज्ञानका होना, जैसे धर्मको अधर्म, अधर्मको धर्म, मनुष्यलोकको स्वर्गलोक और स्वर्गलोकको मनुष्यलोक समझना इत्यादि भी अरिष्ट अर्थात् सनिहित-मरणके चिह्न है।

पहिला सयमद्वारा मृत्युका ज्ञान तो केवल योगियोको ही होता है। दूसरा अरिष्टोद्वारा योगियो और साधारण मनुष्योको भी होता है। मृत्युके जाननेके प्रसङ्गमें अरिष्टोका भी वर्णन कर दिया है, इन अरिष्टोसे भी अयोगियोको साधारण रीतिसे और संशयात्मक ज्ञान होता है। योगियोको सशय-रहित प्रत्यक्ष-के तुल्य देश और कालसहित मृत्युका ज्ञान होता है।

सङ्गति—पूर्वोक्त परिकर्म अर्थात् चित्तशुद्धिसे हुई सिद्धियोको बतलाते है—

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—मैत्री-आदिषु=मैत्री आदिमें (संयम करनेसे); बलानि=मैत्री आदि बल प्राप्त होते हैं।

अन्वयार्थ—मैत्री आदिमें सयम करनेसे मैत्री आदि बल प्राप्त होता है।

व्याख्या—पहिले पादके तैंतीसवें सूत्रमें मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा—चार भावनाएँ बतलायी गयी हैं। इनमेसे पहली तीन भावनाओमें साक्षात्-पर्यन्त सयम करनेसे योगीका क्रमानुसार मैत्री, करुणा, मुदिता बल बढ जाता है। अर्थात् योगीको मैत्री आदि ऐसी उत्कृष्ट हो जाती है कि सबकी मित्रता

आदिको प्राप्त होता है। जब मैत्रीमें सयम करता है तो सब प्राणियोंका सुखकारी मित्र बन जाता है। करुणामे संयम करनेसे दुखियोके दुःख दूर करनेकी शक्ति आ जाती है। मुदितामें संयम करनेसे पक्षपाती नहीं होना। चौथा उपेक्षा अर्थात् उदासीनता अभावात्मक पदार्थ है, इस कारण वह सयमका विषय नहीं बन सकता।

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—बलेषु=बलोमें (सयम करनेसे); हस्ति-बल-आदीनि=हाथी आदिके बल प्राप्त होते है।

अन्वयार्थ—हाथी आदिके बलोंमें संयम करनेसे हाथी आदिके बल प्राप्त होते है।

व्याख्या—जब योगी हाथी, सिंह आदिके बल और वायु आदिके वेगमें तदाकार होकर साक्षात्-पर्यन्त सयम करता है तो उन-जैसे बलोको प्राप्त होता है अर्थात् जिसके बलमें संयम किया जाता है वही बल प्राप्त होता है।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—प्रवृत्ति-आलोक-न्यासात्=प्रवृत्तिके प्रकाश डालनेसे; सूक्ष्म=सूक्ष्म (इन्द्रियातीत); व्यवहित = व्यवधानवाली (आडमे रहनेवाली); विप्रकृष्ट = दूरकी वस्तुओका; ज्ञानम्= ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ—प्रवृत्तिके प्रकाश डालनेसे सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तुका ज्ञान होता है।

व्याख्या—पहले पादके छत्तीसवे सूत्रमें बतलायी हुई मनकी ज्योतिष्मती प्रवृत्तिके प्रकाशको जब योगी सयमद्वारा किसी सूक्ष्म (इन्द्रियातीत) जैसे अदृश्य परमाणु आदि, व्यवहित (ढके हुए) जैसे भूमिके अदर दबी हुई खानें दीवारकी ओटमें छिपी हुई वस्तुएँ, शरीरके अंदरके भाग इत्यादि, विप्रकृष्ट—दूरस्थ वस्तुपर जहाँ आँख नहीं पहुँचती, डालता है तब उनका उसको प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। जैसे सूर्यादिके प्रकाशसे घटादि प्रत्यक्ष होते है वैसे ही ज्योतिष्मतीके प्रकाशमें सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तुका ज्ञान होता है।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—भुवन-ज्ञानम्=भुवनका ज्ञान, सूर्ये-संयमात्=सूर्यमें सयम करनेसे होता है।

अन्वयार्थ—सूर्यमे संयम करनेसे भुवनका ज्ञान होता है।

व्याख्या—प्रकाशमय सूर्यमें साक्षात्-पर्यन्त संयम करनेसे भूः, भुवः, स्वः आदि सातो लोकोंमें जो भुवन हैं अर्थात् जो विशेष हदवाले स्थान है, उन सबका यथावत् ज्ञान होता है। पिछले पचीसवे सूत्रमें सात्त्विक प्रकाशके आलम्बनसे सयम कहा गया है, इस सूत्रमें भौतिक सूर्यके प्रकाशद्वारा संयम बताया गया है, किंतु सूर्यका अर्थ सूर्यद्वारसे लेना चाहिये और यहाँ सूर्यद्वारसे अभिप्राय सुषुम्ना है। उसीमें संयम करनेसे उपर्युक्त फल प्राप्त हो सकता है। श्रीव्यासजीने भी सूर्यके अर्थ सूर्यद्वारसे किये हैं। तथा मुण्डकमें भी सूर्यद्वारका वर्णन है। "सूर्यद्वारेण ते विरजा।"

टिप्पणी—कई टीकाकारोंने सूर्यका अर्थ पिंगला नाड़ीसे लगाया है पर यह अर्थ न भाष्यकारको अभिमत है, न वृत्तिकारको और न इसका प्रसङ्गसे कोई सम्बन्ध है।

भाष्यकारने इस सूत्रकी व्याख्यामें अनेक लोकोंको बड़े विस्तारके साथ वर्णन किया है, उसको इस

विषयोंके लिये उपयोगी न समझकर हमने व्याख्यामें छोड़ दिया है और सूत्रका अर्थ भोजवृत्तिके अनुसार किया है।

इस भाष्यके सम्बन्धमें कई एकोंका मत है कि यह व्यासकृत नहीं है, इसीलिये भोजवृत्तिमें इसका कोई अंश भी नहीं मिलता।

इसमें अलंकाररूपसे वर्णन की हुई तथा संदेहजनक बहुत-सी बातें स्पष्टीकरणीय भी हैं, इन सब बातोंके स्पष्टीकरणके साथ व्यासभाष्यका भावार्थ पाठकोंकी जानकारीके लिये कर देना उचित समझते हैं—

व्यासभाष्यका भाषानुवाद सूत्र ॥ २६ ॥

भूमि आदि सात लोक, अवीचि आदि सात महानरक (सात अधोलोक जो स्थूलभूतोंकी स्थूलता और तमस्के तारतम्यसे क्रमानुसार पृथिवीकी तलीमें माने गये हैं) तथा महातल आदि सात पाताल (सात जलके बडे भाग जो पृथिवीकी तलीमें सात महानरक सज्ञक प्रत्येक स्थूल भागके साथ माने गये हैं), यह भुवन पदका अर्थ है। इनका विन्यास (ऊर्ध्व-अधोरूपसे फैलाव) इस प्रकार है कि अवीचि (पृथिवीसे नीचे सबसे पहिला नरक अर्थात् तामसी स्थूल भाग। अवीचिके पश्चात् क्रमानुसार स्थूलता और तामस आवरणकी न्यूनताको लेते हुए छः और स्थूल भाग हैं) से सुमेरु (हिमालय पर्वत) की पृष्ठ-पर्यन्त जो लोक है वह भूलोक है, और सुमेरु पृष्ठसे ध्रुव-तारे (PoleStar पोलस्टार) पर्यन्त जो ग्रह, नक्षत्र, तारोंसे चित्रित लोक है वह अन्तरिक्ष लोक है (यह अन्तरिक्ष-लोक ही भुव.-लोक कहलाता है)। इससे परे पाँच प्रकारके स्वर्ग-लोक हैं। उनमें भूलोक और अन्तरिक्ष-लोकसे परे जो तीसरा स्वर्गलोक है वह महेन्द्रलोक (स्वःलोक) कहलाता है। चौथा जो महःलोक है वह प्राजापत्य-स्वर्ग कहलाता है। इससे आगे जो जनःलोक, तपःलोक और सत्यलोक नामके तीन स्वर्ग हैं, वे तीनो ब्रह्मलोक कहे जाते हैं। (इन पाँचो—स्व, मह., जनः, तपः और सत्यलोकको ही द्यौः-लोक कहते हैं)। इन सब लोकोंका संग्रह निम्न श्लोकमें है—

ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान्।
माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा भुवि प्रजा ॥

(जन., तपः, सत्यम्) तीन ब्राह्म लोक हैं, उनसे नीचे मह. नामका प्राजापत्य लोक है। उनसे नीचे स्वः नामका महेन्द्र लोक है, उनसे नीचे अन्तरिक्षमें भुवः नामक तारा लोक है, उनसे नीचे प्रजा मनुष्योंका लोक—भूलोक है।

जिस प्रकार पृथ्वीके ऊपर छः और लोक हैं, इसी प्रकार पृथ्वीसे नीचे चौदह और लोक हैं, उनमें सबसे नीचा अवीचि नरक है। उसके ऊपर महाकाल नरक है जो मिट्टी, कंकड़, पाषाणादिसे युक्त है। उसके ऊपर अम्बरीष नरक है जो जलपूरित है। उसके ऊपर रौरव नरक है जो अग्निसे भरा हुआ है। उसके ऊपर महारौरव नरक है जो वायुसे भरा हुआ है। उसके ऊपर महासूत्र नरक है जो अंदरसे खाली है। उसके ऊपर अन्धतामिस्र नरक है जो अन्धकारसे व्याप्त है। इन नरकोंमें वही पुरुष दुःख देनेवाली दीर्घ आयुको प्राप्त होते हैं जिनको अपने किये हुए पाप-कर्मोंका दुःख भोगना होता है। इन नरकोंके साथ महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, पाताल—ये सात पाताल हैं। आठवीं इनके ऊपर यह भूमि है जिसको वसुमति कहते हैं, जो सात द्वीपोंसे युक्त है, जिसके मध्य भागमें सुवर्णमय पर्वतराज

सुमेरु विराजमान है । उस सुमेरु पर्वतराजके चारों दिशाओंमें चार शृङ्ग (पहाड़की चोटी) हैं । उनमें जो पूर्व दिशामें शृङ्ग है वह रजतमय है (सम्भवतः यह शान स्टेटका पर्वत-शृंग हो, बर्माकी शान स्टेटके नमूर पर्वतमें आजकल रजत निकलती भी है), दक्षिण दिशामें जो शृङ्ग है वह वैदूर्य-मणिमय (नीली-मणिके सदृश) है, जो पश्चिम दिशामें शृङ्ग है वह स्फटिक-मणिमय (जो कि प्रतिबिम्ब ग्रहण कर सकती है) और जो उत्तर दिशामें शृङ्ग है वह सुवर्णमय (या सुवर्णके रंगवाले पुष्पविशेषके वर्णवाला) है । वहाँ वैदूर्य-मणिकी प्रभाके सम्बन्धसे सुमेरुके दक्षिण भागमें स्थित आकाशका वर्ण नीलकमलके पत्रके सदृश स्थान (दिखलायी देता) है । पूर्व भागमें स्थित आकाश श्वेत वर्ण (दिखलायी देता) है । पश्चिम भागमें स्थित आकाश स्फटिक वर्ण (दिखलायी देता) है । और उत्तर भागमें स्थित आकाश पीत वर्ण (दिखलायी देता) है । अर्थात् जैसे वर्णवाला जिस दिशाका शृङ्ग है वैसे ही वर्णवाला उस दिशामें स्थित आकाशका भाग (दिखलायी देता) है । इस सुमेरु पर्वतके ऊपर उसके दक्षिण भागमें जम्बू-वृक्ष है जिसके नामसे इस द्वीपका नाम जम्बू-द्वीप पड़ा है (प्रायः विशेष देशोंमें विशेष वृक्ष हुआ करते हैं । सम्भव है यह प्रदेश किसी कालमें जम्बू-वृक्ष प्रधान देश हो । वर्तमान समयमें जम्मू रियासत सम्भवतः जम्बू-द्वीपका अवशेष हो) ।

इस सुमेरुके चारों ओर सूर्य भ्रमण करता है, जिससे यह सर्वदा दिन और रातसे संयुक्त रहता है । (जब कोई बड़े मोटे बेलनके साथ पतला छोटा बेलन घूमता है तब वह भी अपना पूरा चक्र करता है । इस दृष्टिसे उस पतले बेलनके चारों ओर बड़े बेलनका चक्र हो जाता है । इसी प्रकार जब पृथिवी सूर्यके चारों ओर घूमती है तो चौबीस घंटेमें सूर्यका भी पृथिवीके चारों ओर घूमना हो जाता है । इस भाँति सुमेरु पर्वतके एक ओर उजाला और एक ओर अँधेरा है । उजाला दिन है और अँधेरा रात्रि है । इसी प्रकार दिन और रात सुमेरु पर्वतसे मिले-जैसे मालूम होते हैं) । सुमेरुकी उत्तर दिशामें नील, श्वेत और शृङ्गवान नामवाले तीन पर्वत विद्यमान हैं जिनका विस्तार दो-दो हजार वर्ग योजन है । इन पर्वतोंके बीचमें जो अवकाश (बीचके भाग=घाटी=valley) हैं उनमें रमणक, हिरण्मय, उत्तर कुरु (शृङ्गवान्के उत्तरमें समुद्रपर्यन्त उत्तर कुरु है । टालेमीने लिखा है कि चीनके एक प्रदेशका नाम उत्तर कोई Ottarokarrha है, जो कि उत्तर कुरु शब्दका अपभ्रंश प्रतीत होता है, इससे आस-पासका समुद्रपर्यन्त प्रदेश उत्तर कुरु प्रतीत होता है ।) नामक तीन वर्ष (खण्ड) हैं जो नौ-नौ हजार वर्ग-योजन विस्तारवाले है (नीलगिरि मेरुके साथ लगा है । नीलगिरिके उत्तरमें रमणक है । पद्मपुराणमें इसे रम्यक कहा है । श्वेतगिरिके उत्तरमें हिरण्मय है ।) और दक्षिण भागमें तीन पर्वत निषध, हेमकूट, हिमशैल दो-दो हजार वर्ग योजन विस्तारवाले है (लंकाके उत्तर-पूर्व सागरतक विस्तृत हिमगिरी है । हिमगिरीके उत्तर हेमकूट है । यह भी समुद्रतक फैला हुआ है । हेमकूटके उत्तरमें निषध पर्वत है । यह जनपद शायद विन्ध्याचलपर अवस्थित था । दमयन्तीपति नल निषधके राजा थे) । इनके बीचके अवकाशमें नौ-नौ हजार वर्ग योजन विस्तारवाले तीन वर्ष (खण्ड) हरिवर्ष, किंपुरुष और भारत विद्यमान है, (सम्भवतः हिमालयके इलावृत प्रदेश और निषध पर्वतके बीचके प्रदेशको भारत कहा गया हो, हरिवर्ष सम्भवतः वह प्रदेश हो जो कि हरि अर्थात् वानर जातिके राजा सुग्रीवद्वारा कभी शासित होता था) सुमेरुकी पूर्व दिशामें सुमेरुसे संयुक्त माल्यवान् पर्वत है (माल्यवान् पर्वतसे समुद्रपर्यन्त प्रदेश भद्राश्व नामक है । आजकल बर्माके नीचे एक मलय प्रदेश है । सम्भवतः यह

प्रदेश और इसके ऊपरका वर्मा प्रदेश माल्यवान् हो)। माल्यवान्से लेकर पूर्वकी ओर समुद्रपर्यन्त भद्राश्व नामक प्रदेश है [वर्मा और मलयसे पूर्वकी ओर श्याम और अनाम (इण्डो चाइनाके प्रदेश सम्भवतः) भद्राश्व नामक हैं]। सुमेरुके पश्चिममें केतुमाल और गन्धमादन देश हैं। और केतुमाल तथा भद्राश्वके बीचके वर्षका नाम इलावृत है [सुमेरुके दक्षिणमें जो उपत्यका (अर्थात् पर्वतपादकी ऊँची भूमि) है उसे यहाँ इलावृत कहा गया है]।

पचास हजार वर्ग योजन विस्तारवाले देशमें सुमेरु विराजमान है और सुमेरुके चारो ओर पचास हजार वर्गयोजन विस्तारवाला देश है। इस प्रकार सम्पूर्ण जम्बूद्वीपका परिमाण सौ हजार वर्गयोजन है। इस परिमाणवाला जम्बूद्वीप अपनेसे दुगुने परिमाणवाले वलयाकार (कङ्कणके सदृश गोल आकार-वाले) क्षार समुद्रसे वेष्टित (घिरा हुआ) है। जम्बू-द्वीपसे आगे दुगुने परिमाणवाला शाक-द्वीप है, जो अपनेसे दुगुने परिमाणवाले वलयाकार इक्षुरस (एक प्रकारका जल) के समुद्रसे वेष्टित है (भारतमें शक जातिने आक्रमण किया था। कास्पीयन सागरके पूर्वकी ओर " शाकी " नामकी एक जातिका निवास है। यूरोपीय पुराविदोने स्थिर किया है कि वर्तमान तातार, एशियाटिक रूस, साईवेरिया, क्रिमिया, पोलेण्ड हङ्गरीका कुछ हिस्सा, लिथुयनिया, जर्मनीका उत्तरांश, स्वीडन, नारवे आदिको शाकद्वीप कहा गया है)। इससे आगे इससे दुगुने परिमाणवाला कुश द्वीप है, जो अपनेसे दुगुने परिमाणवाले वलयाकार मदिरा (एक प्रकारका जल) के समुद्रसे वेष्टित है। इससे आगे दुगुने विस्तारवाला क्रौञ्च-द्वीप है जो अपनेसे दुगुने परिमाणवाले वलयाकार घृत (एक प्रकारका जल) के समुद्रसे वेष्टित है। इससे आगे इससे दुगुने परिमाणवाला शाल्मलि-द्वीप जो अपनेसे दुगुने परिमाणवाले वलयाकार दधि (एक प्रकारका जल) के समुद्रसे वेष्टित है। इससे आगे दुगुने परिमाणवाला मगध-द्वीप है जो अपनेसे दुगुने परिमाण-वाले वलयाकार क्षीर (एक प्रकारका जल) के समुद्रसे वेष्टित है। इससे आगे दुगुने विस्तारवाला पुष्कर-द्वीप है, जो अपनेसे दुगुने विस्तारवाले वलयाकार मिष्ट जलके समुद्रसे वेष्टित है। इन सातो द्वीपोसे आगे लोकाऽलोक पर्वत है। इस लोकाऽलोक पर्वतसे परिवृत जो सात समुद्रसहित सात द्वीप हैं वे सब मिलकर पचास कोटि वर्ग योजन विस्तारवाले हैं [वर्त्तमान समयमें पृथिवीका क्षेत्रफल १९६५०००० वर्ग मील तथा घन फल २५९८८०००००० घन मील माना जाता है। साथ ही वर्तमान समयमें योजन ४ कोसोका तथा कोस २ मीलके लगभग माना जाता है]। यह जो लोकाऽलोक पर्वतसे परिवृत विश्वम्भरा (पृथिवी) मण्डल है वह सब ब्रह्माण्डके अन्तर्गत संक्षिप्त रूपसे वर्तमान है और यह ब्रह्माण्ड प्रधानका एक सूक्ष्म अवयव है, क्योंकि जैसे आकाशके एक अति अल्प देशमें खद्योत विराजमान होता है वैसे ही प्रधानके अति अल्प देशमे यह सारा ब्रह्माण्ड विराजमान है।

इन सब पाताल, समुद्र और पर्वतोमें असुर, गन्धर्व, किन्नर, किंपुरुष, यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच, अपस्मारक, अप्सराएँ, ब्रह्मराक्षस, कूष्माण्ड, विनायक नामवाले देवयोनि-विशेष (मनुष्योकी अपेक्षा निकृष्ट अर्थात् राजसी-तामसी प्रकृतिवाले प्राणधारी) निवास करते हैं। और सब द्वीपोमें पुण्यात्मा देव-मनुष्य निवास करते हैं। सुमेरु पर्वत देवताओकी उद्यान-भूमि है, वहाँपर मिश्र-वन, नन्दन-वन, चैत्ररथ-वन, सुमानस-वन—चार वन हैं। सुमेरुके ऊपर सुधर्म नामक देव-सभा है, सुदर्शन नामक पुर है और वैजयन्त नामक प्रासाद (देव-महल) है। यह सब पूर्वोक्त भूलोक कहा जाता है। इसके ऊपर अन्तरिक्ष लोक है,

जिसमें ग्रह (मङ्गल, बुध आदि जो कि सूर्यके चारों ओर घूमते हैं), नक्षत्र (अश्विनी आदि जिसमें कि चन्द्रमा गति करता है), तारक (ग्रहों और नक्षत्रोंसे भिन्न अन्य तारे तथा तारामण्डल) भ्रमण करते हैं । वह सब कल, सङ्ग आदि, ध्रुव नामक ज्योति (Pole star पोल स्टार) के साथ, वायुरूप रज्जुसे बाँधे हुए (ध्रुवसे भिन्न) वायुके नियत संचारसे नियत संचारवाले होकर, ध्रुवके चारो ओर भ्रमण करते हैं । उत्तानपाद नामक मेदिनीस्थ (एक काठका स्तम्भ जो कि खलिहानके मध्यमें खड़ा होता है जिसके चारों ओर बैल घूमते हैं) के सदृश निश्चल है । इसके ऊपर स्वर्गलोक है । जिसको माहेन्द्र-लोक कहते हैं । माहेन्द्र लोकमें त्रिदश, अग्निष्वात्त, याम्य, तुषित, अपरिनिर्मित-वशवर्ती, परिनिर्मित-वशवर्ती—ये छः देवयोनि-विशेष निवास करते हैं । ये सब देवता सहज सिद्ध अणिमादि ऐश्वर्य-सम्पन्न और कल्पायुपवाले तथा ऊर्ध्वरेतस (ऊपरके लोक) कामभोगी और औपपादिक देहवाले (बिना माता-पिताके दिव्य शरीरवाले) है; और उत्तम अनुत्तम अवस्थामें इनकी स्थिति है ।

इस स्वर्गलोकसे आगे महान् नामक स्वर्ग-विशेष है, जिसको महर्लोक तथा प्राजापत्यलोक कहते हैं । इसमें कुमुद, ऋभु, अञ्जनाभ, प्रतिनाभ—ये पांच प्रकारके देवयोनि-विशेष वास करते हैं । ये सब देवयोनिगण महाभूतजयी (जिनकी इच्छामात्रसे महाभूत कार्यरूपमें परिणत होते हैं) और ध्यानाहार (बिना अन्नादिके सेवन किये ध्यानमात्रसे तृप्त और पुष्ट होनेवाले) तथा सहस्र कल्प आयुवाले है । महर्लोकसे आगे जन लोक है जिसको प्रथम ब्रह्मलोक कहते हैं । जनःलोकमें ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक और अमर—ये चार प्रकारके देवयोनि-विशेष निवास करते हैं । ये भूत तथा इन्द्रियोंको स्वाधीन करणशील हैं । जनःलोकसे आगे तपःलोक है जिसको द्वितीय ब्रह्मलोक कहते हैं । तपोलोकमें अभास्वर, महाभास्वर, सत्य-महाभास्वर—ये तीन प्रकारके देवयोनि-विशेष निवास करते है, जो भूत, इन्द्रिय, प्रकृति (अन्तःकरण) इन तीनोंको स्वाधीन करणशील हैं और पूर्वसे उत्तर-उत्तर दुगुने-दुगुने आयुवाले हैं । ये सभी ध्यानाहार ऊर्ध्वरेतस् (जिनका वीर्यपात कभी नहीं होता) है । ये ऊर्ध्व—सत्यादि लोकमें अप्रतिहत ज्ञानवाले और अवर, अर्चिः आदि लोकमें अनावृत ज्ञानवाले अर्थात् सब लोकोंको यथार्थरूपसे जाननेवाले हैं । तपोलोकसे आगे सत्यलोक है जिसको तृतीय ब्रह्मलोक कहते हैं । इस मुख्य ब्रह्मलोकमें अच्युत, शुद्ध-निवास, सत्याभ, संज्ञासंज्ञी—ये चार प्रकारके देवता-विशेष निवास करते हैं । ये अकृत-भवनन्यास (किसी एक नियत ग्रहके अभाव होनेसे अपने शरीररूप ग्रहमें ही स्थित) होनेसे स्वप्रतिष्ठित है और यथाक्रमसे ऊँची-ऊँची स्थितिवाले है । ये प्रधान (अन्तःकरण) को स्वाधीन करणशील और पूरी सर्ग आयुवाले हैं । अच्युत नामक देव-विशेष सवितर्क ध्यानजन्य सुख भोगनेवाले है, शुद्धनिवास सविचार ध्यानसे तृप्त हैं । इस प्रकार ये सभी सम्प्रज्ञात (समाधिपाद सूत्र १७) निष्ठ है । ये सब मुक्त नहीं है, किंतु त्रिलोकीके मध्यमें ही प्रतिष्ठित हैं । इन पूर्वोक्त सातो लोकोंको ही परमार्थसे ब्रह्मलोक जानना चाहिये । (क्योंकि हिरण्यगर्भके लिङ्ग-देहसे यह सब लोक व्याप्त है) ।

विदेह और प्रकृतिलय नामक योगी (समाधिपाद सूत्र १९) मोक्षपद (कैवल्यपद) के तुल्य स्थितिमें है इसलिये वे किसी लोकमें निवास करनेवालोके साथ नहीं उपन्यास किये गये ।

सूर्यद्वार (सुषुम्ना नाडी) में संयम करके योगी इस भुवन-विन्यासके ज्ञानको सम्पादन करे । किंतु यह नियम नहीं है कि सूर्यद्वारमें संयम करनेसे ही भुवन-ज्ञान होता हो, अन्य स्थानमें संयम करनेसे

भा भुवन-ज्ञान हो सकता है, परतु जबतक भुवनका साक्षात्कार न हो जाय तबतक दृढचित्तसे सयमका अभ्यास करता रहे और बीच-बीचमें उद्वेगसे उपराम न हो जाय ।

उपर्युक्त व्यासभाष्यमें बहुत-सी बातोंका हमने स्पष्टीकरण कर दिया है । कुछ एक बाते जो पौराणिक विचारोसे सम्बन्ध रखती हैं उनको हमने वैसा ही छोड दिया है ।

भूलोक अर्थात् पृथिवी लोकको विशेषरूपसे वर्णन किया गया है । उसके ऊपरी भागको जो सात द्वीपो और सात महासागरोमें विभक्त किया गया है उनका इस समय ठीक-ठीक पता चलना कठिन है; क्योकि उस प्राचीन समयसे अबतक भूलोकसम्बन्धी बहुत कुछ परिवर्तन हो गया होगा तथा योजन चार कोसको कहते हैं । यहाँ कोसका क्या पैमाना है ? यह भाष्यकारने नहीं बतलाया है । यह वही हो सकता है जिसके अनुसार भाष्यकारका परिणाम पूरा हो सके । वर्तमान समयके अनुसार सात द्वीप और सात सागर निम्न प्रकार हो सकते हैं । सात द्वीप—१. एशियाका दक्षिण भाग अर्थात् हिमालय-पर्वतके दक्षिणमें जो अफगानिस्तान, भारतवर्ष, बर्मा और स्याम आदि देश हैं । २.एशियाका उत्तरी भाग अर्थात् हिमालय-पर्वतके उत्तरमें तिब्बत, चीन तथा तुर्किस्तान इत्यादि । ३. यूरोप, ४ अफ्रीका, ५ उत्तरी अमेरिका, ६ दक्षिणी अमेरिका ७. भारतवर्षके दक्षिण-पूर्वमें जो जावा, सुमात्रा और आस्ट्रेलिया आदिका द्वीप-समूह है ।

सात महासागर:—

१. हिंद महासागर (Indian Ocean)

२.प्रशान्त महासागर (Pacific Ocean)

३. अन्ध महासागर (Atlantic Ocean)

४. उत्तर हिममहासागर (Arctic Ocean)

५ दक्षिण हिममहासागर (Antarctic Ocean)

६. अरब सागर (Arabian Sea)

७. भूमध्य सागर (Mediterranean Sea)

सुमेरु अर्थात् हिमालय-पर्वत उस समय भी ऊँची कोटिके योगियोंके तपका स्थान था ।

स्थूल भूतोकी स्थूलता और तमस्के तारतम्यके क्रमानुसार पृथिवीके नीचे भागको सात अधो-लोकोमें नरक-लोकोके नामसे विभक्त किया गया है । इनके साथ जो जलके भाग हैं उनको सात पातालों-के नामसे दर्शाया गया है तथा इन तामसी स्थानोमें रहनेवालों मनुष्यसे नीची राजसी, तामसी योनियोंको असुर राक्षस आदि नामोसे वर्णन किया गया है ।

भुवः-लोक अन्तरिक्ष-लोक है, जिसके अन्तर्गत पृथिवीके अतिरिक्त इस सूर्य-मण्डलके ध्रुव-पर्य्यन्त सारे ग्रह, नक्षत्र, तारका आदि तारागण हैं । यह सब भूलोक अर्थात् हमारी पृथिवीके सदृश स्थूल भूतोवाले हैं । इनमें किसीमें पृथिवी, किसीमें जल, किसीमें अग्नि और किसीमें वायु तत्त्वकी प्रधानता है।

अन्य पाँच सूक्ष्म और दिव्य लोक हैं जिनकी सम्मिलित संज्ञा द्यौः-लोक है । यह सारे भूः-भुवः अर्थात् पृथिवी और अन्तरिक्ष लोकके अंदर हैं । इनकी सूक्ष्मता और सात्त्विकताका क्रमानुसार तारतम्य चला गया है अर्थात् भूः और भुवःके अंदर स्वः, स्वःके अंदर महः, महःके अंदर जनः, जनःके अंदर तपः और तपःके अंदर सत्यलोक है ।

इनके सूक्ष्मता और सात्त्विकताके तारतम्यसे और बहुत-से अवान्तर भेद भी हो सकते है। इनमेंसे स्व., मह:, स्वर्गलोक और जन:, तप. और सत्यलोक ब्रह्मलोक कहलाते हैं। इनमें वे योगी स्थूल शरीर-को छोड़नेके पश्चात् निवास करते हैं जो वितर्कानुगत भूमिकी परिपक्व अवस्था, विचारानुगत भूमि तथा आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमिकी आरम्भिक अवस्थामें संतुष्ट हो गये है और जिन्होने विवेक-ख्याति-द्वारा सारे क्लेशोंको दग्धबीज करके असम्प्रज्ञातसमाधिद्वारा स्वरूपावस्थितिके लिये यत्न नहीं किया है। आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमिकी परिपक्व अवस्थावाले उच्चतर और उच्चतम कोटिके विदेह और प्रकृतिलय योगी सूक्ष्म शरीरो, सूक्ष्म इन्द्रियो और सूक्ष्म विषयोको अतिक्रमण कर गये हैं; इसलिये वे इन सब सूक्ष्म लोकोसे परे कैवल्यपद-जैसी स्थितिको प्राप्त किये हुए है।

सूर्यके भौतिक स्वरूपमे सयमद्वारा योगीको भूलोक अर्थात् पृथिवी-लोक और भुव:-लोक अर्थात् अन्तरिक्ष-लोकके अन्तर्गत सारे स्थूल लोकोका सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है और इसी सयममें पृथिवीका आलम्बन करके अथवा केवल पृथिवीके आलम्बनसहित सयमद्वारा पृथिवीके ऊपरके द्वीपो, सागरो, पर्वतो आदि तथा उसके अधोलोकोका विशेष ज्ञान प्राप्त होता है।

ध्यानकी अधिक सूक्ष्म अवस्थामें इसी उपर्युक्त संयमके सूक्ष्म हो जानेपर अथवा सूर्यके अध्यात्म सूक्ष्म स्वरूपमें सयमद्वारा सूक्ष्म लोको अर्थात् स्व:, मह:, जन:, तप: और सत्यलोकका ज्ञान प्राप्त होता है।

वाचस्पति मिश्रने सूर्यद्वारको सुषुम्ना नाड़ी मानकर सुषुम्ना नाड़ीमें सयम करके भुवन-विन्यासके ज्ञानको सम्पादन करना बतलाया है। वास्तवमें कुण्डलिनी जाग्रत् होनेपर सुषुम्ना नाडीमे जब सारे स्थूल प्राणादि प्रवेश कर जाते है तभी इस प्रकारके अनुभव होते हैं।

उस समय सयमकी भी आवश्यकता नही रहती, किंतु जिधर वृत्ति जाती है अथवा जिसका पहलेसे ही संकल्प कर लिया है उसीका साक्षात्कार होने लगता है।

सङ्गति——अन्य भौतिक प्रकाशको संयमका विषय बनाकर भिन्न-भिन्न सिद्धियाँ कहते हैं——

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ——चन्द्रे=चन्द्रमामें (संयम करनेसे), तारा-व्यूह-ज्ञानम्=ताराओके व्यूहका (नक्षत्रोके स्थान-विशेषका) ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ——चन्द्रमामें सयम करनेसे ताराओके व्यूहका ज्ञान होता है।

व्याख्या——ताराओकी स्थितिका अर्थात् अमुक तारा अमुक स्थानपर है इसका यथावत् ज्ञान चन्द्रमामें सयम करनेसे होता है। पृथिवी एक दिनमें प्राय: दो-दो घंटोमें एक-एक राशिके हिसाबसे, बारह राशियोको एक बार देखा करती है और एक-एक राशि-राशिमें एक-एक मासतक निवास करती हुई बारह राशियोंका चक्कर बारह मासोंमें अर्थात् एक वर्षमें करती है, परंतु चन्द्रमा चूँकि अपने चान्द्रमासमें एक बार पृथिवीके चारो ओर घूमता है, अर्थात् एक चान्द्रमासमें बारह राशियोमे एक बार घूम लेता है, इसलिये एक वर्षमें चन्द्र बारह राशियोमें बारह बार घूमेगा। इस कारण चन्द्रमें सयमद्वारा योगीको राशि-चक्रका ज्ञान सुगम रीतिसे हो सकता है। ज्योतिषका यह सिद्धान्त है कि जितने ग्रह हैं, उन सबमें चन्द्र एक राशिपर सबसे कम समय तक रहता है, इस हिसाबसे प्रत्येक तारा व्यूह राशिकी आकर्षण-विकर्षण शक्तिके साथ

चन्द्रका अतिघनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः उस आकर्षण-विकर्षण शक्तिके आलम्बनसे युक्त तारा व्यूहके ज्ञानमें चन्द्रकी सहायता ली जा सकती है।

टिप्पणी—कई टीकाकारोंने चन्द्रमासे इडा-नाड़ी अर्थ लिया है जो सुषुम्नाके वाम ओरसे गयी है। यह अर्थ व्यासभाष्य और भोजवृत्तिके अभिमत नहीं है और न इसका प्रसङ्गसे कोई सम्बन्ध है।

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—ध्रुवे=ध्रुवमें सयम करनेसे; तद्-गति-ज्ञानम्=उनकी (ताराओकी) गतिका ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ—ध्रुवमें संयम करनेसे ताराओकी गतिका ज्ञान होता है।

व्याख्या—ध्रुव सब ताराओमें प्रधान और निश्चल है। इसीलिये उसमें संयम करनेसे प्रत्येक ताराकी गतिका ज्ञान, नियत काल और नियत देश-सहित हो जाता है। अर्थात् इतने समयमें यह तारा अमुक राशि, अमुक नक्षत्रमें जायगा।

टिप्पणी—कई टीकाकारोंने ध्रुवसे सुषुम्ना नाड़ी अर्थ लिया है जो मेरुदण्डमें मूलधारसे लेकर सहस्रदलतक चली गयी है। पूर्व सूत्रकी टिप्पणीमें इस सम्बन्धमें जो लिख आये हैं वही यहाँ भी समझना चाहिये।

व्यासभाष्यमें इतना और है—ऊर्ध्व (आकाशमें उड़नेवाले) विमानोंमें संयम करनेसे उनका ज्ञान होता है।

सङ्गति—बाहरकी सिद्धियोका प्रतिपादन करके अब आभ्यन्तर सिद्धियोंका आरम्भ करते हैं—

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—नाभि-चक्रे=नाभि-चक्रमें संयम करनेसे; काय-व्यूह-ज्ञानम्=शरीरके व्यूहका ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ—नाभि-चक्रमें संयम करनेसे शरीरके व्यूहका ज्ञान होता है।

व्याख्या—सोलह अरों (सिरों) वाला नाभिचक्र, शरीरके मध्यमें है और सब ओर फैली हुई नाडियो आदिका विशेष स्थान है। इसीलिये इसमें संयम करनेसे शरीरमें रहनेवाली वात, पित्त, कफ-तीनो दोष और त्वचा, रक्त, मांस, नाडी, हड्डी, चरबी, वीर्य—सातो धातुओकी स्थिति आदिका पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है।

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—कण्ठ-कूपे=कण्ठ-कूपमें (सयम करनेसे), क्षुत्-पिपासा-निवृत्तिः=क्षुधा और पिपासाकी निवृत्ति होती है।

अन्वयार्थ—कण्ठ-कूपमें सयम करनेसे क्षुधा और पिपासा (भूख-प्यास) की निवृत्ति होती है।

व्याख्या—जिह्वाके नीचे सूतके समान एक नस है, उसके नीचे कण्ठ है। उस कण्ठके नीचे जो गड्ढा है उसे कण्ठकूप कहते हैं। उस स्थानमें प्राणादि-प्राणादिका स्पर्श होनेसे पुरुषको भूख-प्यास लगती है। इसलिये इस कण्ठ-कूपमें सयमद्वारा प्राणादि-प्राणादिका स्पर्शकी निवृत्ति हो जानेसे योगीको भूख-प्यास नहीं लगती है।

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—कूर्मनाड्याम्=कूर्मनाडीमें (संयम करनेसे); स्थैर्यम्=स्थिरता होती है ।

अन्वयार्थ—कूर्म-नाड़ीमें सयम करनेसे स्थिरता होती है ।

व्याख्या—कण्ठ-कूपके नीचे छातीमें कछुवेके आकारवाली एक नाडी है । उसे कूर्म-नाडी कहते हैं । उसमें संयम करनेसे स्थिरताकी प्राप्ति होती है । जैसे सर्प और गोह स्थिर होते है । (प्रसिद्ध भी है और वास्तविक घटना भी है—सर्प छिद्रमें आधा घुसा हो तो आधेको पकडकर कितना ही बलपूर्वक खींचे वह ऐसा जम जाता है कि चाहे टूट जाये परंतु खिंचता नहीं । यही बात गोहके सम्बन्धमें भी प्रसिद्ध है । प्राय. चोर किसी छतपर चढनेके निमित्त गोहके कमरमें रस्सी बाँधकर उसको ऊपर चढा देते है । जब वह मुँडेरपर पहुँच जाती है तब पैर जमा लेती है और चोर रस्सीके सहारे ऊपर चढ़ जाते हैं । श्रीअंगदजीके पैर न उठनेकी बात भी इसी संयमकी सिद्धिकी सूचक हो सकती है ।)

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—मूर्ध-ज्योतिषि=मूर्धाकी ज्योतिमें (संयम करनेसे); सिद्ध-दर्शनम्=सिद्धोका दर्शन होता है ।

अन्वयार्थ—मूर्धाकी ज्योतिमें संयम करनेसे सिद्धोंका दर्शन होता है ।

व्याख्या—शरीरके कपालमें ब्रह्म-रन्ध्र नामक एक छिद्र है । उसमें जो प्रकाशवाली ज्योति है वह मूर्धा-ज्योति कहलाती है । उसमें संयम करनेसे सिद्धोके दर्शन होते हैं । द्यौ और पृथिवीलोकमें विचरनेवाले सिद्ध (व्यासभाष्य) द्यौ और पृथिवीलोकके अन्तरालमें विचरनेवाले सिद्ध, अर्थात् दिव्य-पुरुष जो दूसरे प्राणियोको अदृश्य रहते हैं, योगी उनको ध्यानावस्थामें देखता है और उनके साथ भाषण करता है । (भोजवृत्ति)

विशेष विचार—इस ज्योतिका सम्बन्ध भ्रुकुटी अर्थात् आज्ञाचक्रसे है । इसलिये ब्रह्मरन्ध्रमें प्राण तथा मनको स्थिर करनेके पश्चात् जब आज्ञाचक्रमें ध्यान किया जाता है तो इस मूर्धा-ज्योतिके सत्त्वगुणके प्रकाशमें सूक्ष्म जगत्का अनुभव होने लगता है । विशेष १ । ३४ के वि० व० में देखो ।

सङ्गति—सब वस्तुओंको जाननेका उपाय कहते है—

प्रातिभाद् वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—प्रातिभाद्वा=अथवा प्रातिभ-ज्ञानसे; सर्वं सब कुछ जाना जाता है ।

अन्वयार्थ—अथवा प्रातिभ-ज्ञानसे योगी सब कुछ जान लेता है ।

व्याख्या—प्रातिभ (Intutional insight) वह प्रकाश अथवा ज्ञान है जो बिना किसी बाहरके निमित्तके स्वयं अंदरसे प्राप्त हो । प्रातिभ ही तारक-ज्ञान (३-५४) का नाम है, यह विवेक ज्ञानका प्रथम रूप है । जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेका प्रथम ज्ञापक चिह्न प्रभा है, इसी प्रकार प्रसंख्यानके उदय होनेका प्रथम लिङ्ग प्रातिभज्ञान है । जैसे सूर्यकी प्रभाके उत्पन्न होनेपर सब कुछ जाना जा सकता है इसी प्रकार प्रातिभ-ज्ञानकी उत्पत्ति होनेपर योगी बिना सयमके ही सब कुछ जान लेते हैं । वा (अथवा) शब्द इस अभिप्रायसे लगाया गया है कि इससे पूर्व जो-जो संयम कहा गया है उससे जिन-जिन विषयोका ज्ञान होता है यह सब प्रातिभ-ज्ञानसे हो जाता है ।

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—हृदये=हृदयमें (संयम करनेसे); चित्तसंवित्=चित्तका ज्ञान होता है ।

अन्वयार्थ—हृदयमें संयम करनेसे चित्तका ज्ञान होता है ।

व्याख्या—हृदयकमल चित्तका निवासस्थान है, उसमें संयम करनेसे वृत्तिसहित चित्तका साक्षात्कार होता है । विशेष व्याख्या १ । ३४ के वि० व० में अनाहतचक्र देखे ।

टिप्पणी—हृदय शरीरमें विशेष स्थान है; उसमें सूक्ष्म कमलाकार जिसका मुख नीचेकी है उसके अंदर अन्तःकरण चित्तका स्थान है । उसमें जिस योगीने संयम किया है, उसको अपने और दूसरेके चित्तका ज्ञान उत्पन्न होता है । अपने चित्तमें प्रविष्ट सब वासनाओं और दूसरेके चित्तमें प्रविष्ट रागादिको जान लेता है । यह अर्थ है । भोजवृत्ति ।

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थान्यस्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ—सत्त्व-पुरुषयोः=चित्त और पुरुष, अत्यन्त-असंकीर्णयोः=जो परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं (इन दोनोंकी); प्रत्यय-अविशेषः=प्रतीतियोंका अभेद; भोगः=भोग है, उनमेंसे, परार्थ=परार्थ-प्रतीति (से), अन्य-स्वार्थ-संयमात्=भिन्न जो स्वार्थ-प्रीति (पौरुषेय प्रत्यय) है उसमें संयम करनेसे, पुरुष-ज्ञानम्=पुरुषका ज्ञान होता है अर्थात् पुरुष-विषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है ।

अन्वयार्थ—चित्त और पुरुष जो परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं इन दोनोंकी प्रतीतियोंका अभेद भोग है । उनमेंसे परार्थ-प्रतीतिसे भिन्न जो स्वार्थ-प्रतीति है उसमें संयम करनेसे पुरुषका ज्ञान होता है अर्थात् पुरुष-विषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है ।

व्याख्या—सत्त्व अर्थात् चित्त प्रकाश और सुखरूप होनेसे और पुरुष ज्ञानस्वरूप होनेसे तुल्य जैसे प्रतीत होते हैं, किंतु वास्तवमें ये दोनो अत्यन्त भिन्न है; क्योंकि चित्त परिणामी, जड़ और भोग्य-रूप है और पुरुष निर्विकार, चैतन्य और भोक्ता-स्वरूप है । इस जड़ चित्तमें चैतन्य पुरुषसे प्रतिबिम्बित होकर जो दुःख, सुख और मोहरूपी वृत्तियोंका उदय होना है, यह प्रत्ययाविशेष है, क्योंकि इससे चित्तके धर्म सुख, दुःख और मोह आदिका चित्तमें प्रतिबिम्बित चैतन्य पुरुषमें अध्यारोप होता है । यही प्रत्ययाविशेष अर्थात् चित्त और चित्तमें प्रतिबिम्बित चेतनके प्रत्ययों (वृत्तियों) का अभेद भोग है । यह भोगरूप प्रत्यय यद्यपि चित्तका धर्म है तथापि चित्तको (परार्थत्वात्) पुरुषके अर्थवाला होनेसे और पुरुषका चित्तका भोक्ता होनेसे यह भोगरूप प्रत्यय भी परार्थ अर्थात् पुरुषके अर्थ है । और जो भोगरूप प्रत्ययसे भिन्न चेतनमात्रको अवलम्बन करनेवाला पौरुषेय प्रत्ययरूप चित्तका धर्म है वह स्वार्थ प्रत्यय है ।

अर्थात् यद्यपि सुख, दुःखादि-दुःखादिके अनुभवका नाम भोग है और भोगका अनुभव करनेवाला भोक्ता कहलाता है ऐसा भोग-कर्तृत्वरूप भोक्तृत्व निर्विकार-चेतन-पुरुषमें भी वास्तवमें सम्भव नहीं है, तथापि चित्तके धर्म उस प्रत्ययरूप भोग, सुख, दुःख आदि-आदिका पुरुषके प्रतिबिम्बद्वारा पुरुषमें आरोप-स्वरूप ही है । जैसे स्वच्छ जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमामें जलके कम्पनसे चन्द्रमा काँपता है, ऐसा कम्पनका आरोप होता है । वास्तवमें चन्द्रमामें कम्पन नहीं होता है, वैसे ही यह भोग चित्तका परिणाम होनेके कारण वास्तवमें चित्तधर्म होता है, परंतु प्रतिबिम्बद्वारा निर्विकार पुरुषमें सुख-दुःखादि-दुःखादिका आरोपरूप भोग है । इसलिये आरोपित भोगवाला होनेसे पुरुष भोक्ता कहलाता है । ऐसा चित्तका परिणाम प्रत्ययस्वरूप

भोग जड़ होनेसे परार्थ है और परार्थ होनेसे भोग्य है; क्योंकि जो वस्तु परार्थ होती है वह भोग्य होती है। इस परार्थ जड़-भोगसे भिन्न जो पुरुषका प्रतिबिम्बित रूप प्रत्यय है वह स्वार्थ कहलाता है। वह पौरुषेय प्रत्ययरूप भोग किसीका भोग्य नहीं है। उस प्रतिबिम्बरूप स्वार्थ-प्रत्ययको पौरुषेय-प्रत्यय और पौरुषेय-बोध भी कहते हैं। इस स्वार्थ-प्रत्ययमें संयम करनेसे पुरुष (विषयक) ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् पुरुषको विषय करनेवाली प्रज्ञा उत्पन्न होती है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि चित्तके धर्म पुरुष-प्रत्ययसे पुरुष जाना जाता है, किंतु पुरुष ही चित्तमें प्रतिबिम्बित हुआ स्वात्मावलम्बन (अपने स्वरूपको प्रकाश करनेवाला) रूप प्रत्ययको देखता है; क्योंकि ज्ञाता पुरुषका वास्तविक स्वरूप चित्तद्वारा नहीं जाना जा सकता है, जैसा बृहदारण्यकोपनिषद्में कहा है—

विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।

अर्थ—सबको जाननेवाले विज्ञानीको किससे जाना जा सकता है अर्थात् किसीसे नहीं जाना जा सकता है।

विशेष वक्तव्य—सूत्र ३५। वाचस्पति आदिने इस सूत्रमें "परार्थस्वार्थसंयमात्" पाठ पढ़कर 'अन्य' शब्दका अध्याहार करके अर्थ पूरा किया है। पर भोजवृत्तिका पाठ "परार्थान्यस्वार्थसंयमात्" अध्याहारकी अपेक्षा नहीं रखता। इसलिये यहाँ यही पाठ रखा गया है। इस सूत्रके भावको और अधिक स्पष्ट करनेके उद्देश्यसे भोजवृत्तिका भाषार्थ भी दिये देते हैं—

भोजवृत्तिका भाषार्थ—सूत्र ३५। सत्त्व (चित्त=बुद्धि) जो प्रकाश और सुखरूप है वह प्रकृतिका परिणाम-विशेष है। पुरुष उसका भोक्ता और अधिष्ठाता (स्वामी) रूप है। ये दोनों भोग्य-भोक्ता और जड़-चेतनरूप होनेसे अत्यन्त भिन्न हैं। इन दोनोंके प्रत्ययों (वृत्तियों=ज्ञानों) का जो अविशेष अर्थात् अभेदका भासित होना है उससे सत्त्व (चित्त=बुद्धि=अन्तःकरण) की कर्तृत्व-वृत्तिद्वारा जो सुख, दुःखका ज्ञान होना है वह भोग है। सत्त्व (चित्त=बुद्धि) स्वार्थ अर्थात् अपने किसी प्रयोजनकी अपेक्षा नहीं रखता इसलिये वह भोग उसके लिये 'स्वार्थ' नहीं है, किंतु 'परार्थ' दूसरेके निमित्त अर्थात् पुरुषके निमित्त है। उससे भिन्न 'स्वार्थ' पुरुषका अपने स्वरूपमात्रका आलम्बन (अपने स्वरूपका विषय करना) अर्थात् अहंकार-रहित सत्त्व (चित्त=बुद्धि) में जो चेतनके छाया (प्रतिबिम्ब) का संक्रमण है उसमें संयम करनेवाले योगीको पुरुष-विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। इस प्रकार पुरुष स्वावलम्बन (अपने स्वरूपको विषय करनेवाले) सत्त्व (चित्त) में रहनेवाले ज्ञानको जान लेता है। यह नहीं है (इससे यह न समझना चाहिये) कि इस प्रकार ज्ञाता चेतन पुरुष ज्ञानसे जाना जाता है, क्योंकि ऐसा माननेमें ज्ञाता पुरुष ज्ञेय (ज्ञानका विषय) मानना पड़ेगा और ज्ञाता और ज्ञेयमें अत्यन्त भेद है।

सङ्गति—स्वार्थ-प्रत्ययके संयमके मुख्य-फल अर्थात् पुरुष-ज्ञानके उत्पन्न होनेसे पूर्व जो सिद्धियाँ होती हैं, उनका निरूपण करते हैं—

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—तत =उस स्वार्थसंयमके अभ्याससे; प्रातिभ-श्रावण-वेदना-आदर्श आस्वाद-वार्ता-जायन्ते =प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्ता ज्ञान उत्पन्न होता है।

अन्वयार्थ—उस स्वार्थ-संयमके अभ्याससे प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्ता ज्ञान उत्पन्न होता है।

व्याख्या—स्वार्थ-सयमके अभ्याससे पुरुष-ज्ञान उत्पन्न होनेसे पूर्व निम्न प्रकारकी छः सिद्धियाँ प्रकट होती है—

१ प्रातिभ—मनमें सूक्ष्म (अतीन्द्रिय), व्यवहित (छिपी हुई), विप्रकृष्ट (दूरस्थ), अतीत और अनागत वस्तुओके जाननेकी योग्यता । सूत्र ३ । ३३ ।

२ श्रावण—श्रोत्रेन्द्रियकी दिव्य और दूरके शब्द सुननेकी योग्यता ।

३ वेदना—त्वचा-इन्द्रियकी दिव्यस्पर्श जाननेकी योग्यता ।

'वेद्यतेऽनया' इस व्युत्पत्तिके द्वारा स्पर्शेन्द्रियमें उत्पन्न ज्ञानकी 'वेदना' सज्ञा है । (**भोजवृत्ति**)

४ आदर्श—नेत्रेन्द्रियकी दिव्य रूप देखनेकी योग्यता ।

आ समन्ताद् दृश्यतेऽनुभूयते रूपमनेन ।

इस व्युत्पत्तिसे नेत्रेन्द्रियसे उत्पन्न ज्ञानका नाम आदर्श है । —(**भोजवृत्ति**)

५ आस्वाद—रसनेन्द्रियकी दिव्य रस जाननेकी योग्यता ।

६ वार्ता—घ्राणेन्द्रियकी दिव्य गन्ध सूँघनेकी योग्यता ।

शास्त्रीय परिभाषामें वृत्ति शब्द घ्राणेन्द्रियका वाची है 'वर्तते गन्धविषये इति वृत्तिः' गन्ध जिसका विषय है वह वृत्ति है अर्थात् नासिकाग्रवर्ती घ्राणेन्द्रिय है, उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान 'वार्ता' कहलाता है । --(**भोजवृत्ति**)

सङ्गति—स्वार्थ प्रत्ययका सयम पुरुष-ज्ञानके निमित्त किया है; उससे पूर्व इन सिद्धियोको पाकर योगी अपने-आपको कृतार्थ मानकर उपरामको प्राप्त न हो जावे किंतु पुरुष-ज्ञानके लिये बराबर प्रयत्न करता रहे, इस हेतुसे कहते हैं—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ—ते=वे उपर्युक्त छः सिद्धियाँ; समाधौ-उपसर्गाः=समाधि (पुरुष-दर्शन) में विघ्न हैं, व्युत्थाने-सिद्धय =व्युत्थानमें सिद्धियाँ हैं ।

अन्वयार्थ—वे उपर्युक्त छ सिद्धियाँ समाधि (पुरुष-दर्शन) में विघ्न हैं, व्युत्थानमें सिद्धियाँ हैं ।

व्याख्या—पिछले सूत्रमें बतलायी हुई छः सिद्धियाँ एकाग्र चित्तवालोंको समाधि-प्राप्ति (पुरुष दर्शन) में विघ्नकारक हैं; क्योकि उनमें हर्ष, गौरव, आश्चर्यादि करनेसे समाधि शिथिल होती है, पर व्युत्थान-दशामें विशेष फलदायक होनेसे सिद्धिरूप होती है अर्थात् जैसे जन्मका कँगला अत्यल्प द्रव्यको पाकर ही अपने-आपको कृतार्थ समझने लगता है वैसे ही विक्षिप्त चित्तवालोंको ही पुरुष ज्ञानसे पूर्व होनेवाले उपर्युक्त प्रातिभादि छः ऐश्वर्य सिद्धिरूप दीखते हैं ।

समाहित चित्तवाला योगी इन प्राप्त ऐश्वर्योंसे दोष-दृष्टिद्वारा उपराम होकर इनको समाधिमें रुकावट जानकर अपने अन्तिम लक्ष्य आत्मसाक्षात्कारके लिये स्वार्थ-सयमका निरन्तर प्रमाद-रहित होकर अभ्यास करता रहे।

सङ्गति—पुरुष-दर्शनपर्यन्त सयमका फल ज्ञानरूप ऐश्वर्य-विभूतियोका निरूपण करके अब क्रिया-रूप सिद्धियोको दिखलाते हैं—

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—बन्ध-कारण शैथिल्यात्=बन्धके कारणके शिथिल करनेसे, प्रचार-संवेदनात्-च=और

घूमनेके मार्ग जाननेसे, चित्तस्य=चित्तका (सूक्ष्म-शरीरका); पर-शरीर-आवेशः=दूसरेके शरीरमें आवेश होता है ।

अन्वयार्थ—बन्धके कारणके शिथिल करनेसे और घूमनेके मार्गके जाननेसे चित्त (सूक्ष्म शरीर) का दूसरेके शरीरमें आवेश होता है ।

व्याख्या—चित्तका शरीरमें बन्ध रहनेका कारण धर्माऽधर्म अर्थात् सकाम कर्म और उनकी वासनाएँ हैं । योगी जब धारणा, ध्यान, समाधिके अभ्याससे सकाम कर्मोंको छोड़कर निष्काम कर्मोंका आसन लेता है तो इन बन्धोंके कारणोंको ढीला कर देता है और नाड़ियोंमें संयम करके चित्त (सूक्ष्म-शरीर) के उनमें आने-जानेका मार्ग प्रत्यक्ष कर लेता है । इस प्रकार जब बन्धके कारण शिथिल हो जाते हैं और नाड़ियोंमें चित्त (सूक्ष्म-शरीर) के घूमनेके मार्गका पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है तब योगीमें यह सामर्थ्य हो जाती है कि वह अपने शरीरसे चित्त (सूक्ष्म-शरीर) को निकालकर किसी दूसरे शरीरमें डाल सके । चित्तके अनुसार ही इन्द्रियाँ भी यथास्थान आवेश कर जाती हैं ।

टिप्पणी—भोजवृत्तिका भावार्थ—। सूत्र ३८ । अन्य सिद्धि कहते हैं—

आत्मा और चित्त व्यापक हैं, पर नियत कर्मों (भले-बुरे कर्मों) के वशसे ही शरीरके भीतर रहते हैं । उनका जो भोक्ता (आत्मा) और भोग्य (चित्त) बनकर बँध जाना है वह ही शरीरका बन्धन है । इस बन्धनका कारण धर्म और अधर्म जब समाधिसे शिथिल अर्थात् कृश हो जाता है तब हृदयसे लेकर इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंके सम्मुख जो चित्तका प्रचार (फैलाव वा गमनागमनका मार्ग) है उसका ज्ञान हो जाता है कि यह चित्तको बहानेवाली (चित्तके गमनागमनकी) नाडी है । इससे चित्त बहता है अर्थात् विषयोंमें जाता है । और यह नाड़ी रस और प्राणादिको बहानेवाली नाडियोंसे भिन्न है । जब अपने और दूसरोंके शरीरोंमें चित्तके संचारको जान जाता है तब दूसरेके मृतक शरीरमें वा जीते हुए शरीरमें चित्तके संचारद्वारा प्रवेश करता है । दूसरेके शरीरमें प्रवेश होनेपर चित्तके पीछे अन्य सब इन्द्रियाँ भी साथ हो लेती हैं, जैसे रानी मक्खीके पीछे अन्य मक्खियाँ । दूसरेके शरीरमें घुसा हुआ योगी अपने शरीरकी तरह उस शरीरमें बर्तता है, क्योंकि चित्त और पुरुष दोनों व्यापक हैं इसलिये भोगोंके सकोचका कारणरूप कर्म (क्रिया) यदि समाधिसे हट गया तो स्वतन्त्रताके कारण सर्वत्र ही भोग-सम्पादन हो सकता ।

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—उदान-जयात्=संयमद्वारा उदानके जीतनेसे, जल=जल; पङ्क=कीचड़; कण्टक-आदिषु=काँटों आदिमें; असङ्गः=असङ्ग रहना होता है; उत्क्रान्तिः च=और ऊर्ध्व गति होती है ।

अन्वयार्थ—(संयमद्वारा) उदानके जीतनेसे जल, कीचड, काँटों आदिमें असङ्ग रहना और ऊर्ध्व गति होती है ।

व्याख्या—शरीरमें समस्त इन्द्रियोंमें बर्तनेवाले जीवनका आधार प्राणवायु है । उसके क्रिया-भेदसे पाँच मुख्य नाम हैं—

१ *प्राण*—यह इन पाँचोंमें सबसे प्रथम है । यह मुख और नासिकाद्वारा गति करनेवाला है । नासिकाके अग्रभागसे लेकर हृदय-पर्यन्त वर्तता है ।

२ *अपान*—नीचेको गति करनेवाला है । मूत्र, पुरीष और गर्भ आदिको नीचे ले जानेका हेतु है । नाभिसे लेकर पादतलतक अवस्थित है ।

३ *समान*—खान-पानके रसको सम्पूर्ण शरीरमे अपने-अपने स्थानपर समानरूपसे पहुँचानेका हेतु है। हृदयसे लेकर नाभितक वर्तता है।

४ *व्यान*—सारे शरीरमें व्यापक होकर गति करनेवाला है।

५ *उदान*—ऊपरकी गतिका हेतु है। कण्ठमे रहता हुआ शिर-पर्यन्त वर्तनेवाला है। इसीके द्वारा शरीरके व्यष्टि प्राणका समष्टि प्राणसे सम्बन्ध है। मृत्युके समय सूक्ष्म-शरीर इसी उदानद्वारा स्थूल-शरीरसे बाहर निकलता है। जब योगी संयमद्वारा उदानको जीत लेता है तो उसका शरीर रूईकी तरह हल्का हो जाता है। वह पानीपर पैर रखते हुए उसमें नहीं डूबता। कीचड़-काँटोमे उसके पैर नहीं फँसते; क्योंकि वह अपने शरीरको हल्का किये ऊपर उठाये रखता है। और मरण समयमें उसकी ब्रह्म-रन्ध्रद्वारा प्राणोके निकलनेसे ऊर्ध्व गति (शुक्ल गति) उत्तर-मार्गसे होती है।

विशेष वक्तव्य सं० १। सूत्र ३९।—अन्तःकरणकी दो प्रकारकी वृत्तियाँ होती हैं—

(१) बुद्धिका निश्चय, चित्तकी स्मृति, अहङ्कारका अभिमान, मनका संकल्प करना—यह इन सबका अलग-अलग काम बाह्य-वृत्ति है।

(२) इन सबका साधारण साझा (मिश्रित) काम आभ्यन्तर-वृत्ति है। जैसे सूखे हुए तृणोंमें अग्नि लगानेसे एकदम अग्नि प्रज्वलित हो जाती है अथवा जैसे एक कबूतर पिंजरेको नहीं हिला सकता और बहुत-से मिलकर एक साथ चला सकते हैं इसी प्रकार शरीर-धारणरूपी कार्य जो अन्तःकरणकी मिश्रित आभ्यन्तर वृत्तिसे चल रहा है, इसीका नाम जीवन है। यह जीवनरूप प्रयत्न शरीरमें उपगृहीत वायुकी क्रियाओके भेदका कारण है। इस जीवनरूप प्रयत्नसे पाँच प्रकारके वायुकी क्रिया होती है। उन क्रियाओ और स्थानोके भेदसे वायुके प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान पाँच मुख्य नाम हैं।

स्वालक्षण्यं वृत्तित्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या।
सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च॥ (साख्यकारिका २९)

अपना-अपना लक्षण तीनो (अन्त.करणो) का काम है। सो यह साझा (काम) नहीं है, अन्तःकरणोंका साझा (काम) प्राण आदि पाँच वायु हैं।

अर्थात् बुद्धिका निश्चय, अहकारका अभिमान और मनका सकल्प—यह तीनों अन्तःकरणोका अपना-अपना काम है। साझा काम नहीं है।

प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान—यह पाँच वायु इनका साझा काम है। यह पाँच प्रकारका जीवन-कार्य मन, अहंकार और बुद्धिके आश्रित है, इनके होते हुए होता है।

विशेष वक्तव्य स० २। सूत्र ३९। मृत्युके समय लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीरकी चार अवस्थाएँ—

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्॥
(प्रश्नोप० ३—७)

अब उदान जो ऊपरको जानेवाला है वह एक नाड़ी, (सुषुम्ना) के द्वारा (लिङ्ग-शरीरको) पुण्यसे पुण्यलोक (आदित्यलोक वा चन्द्रलोक) को ले जाता है (इन दोनो लोकोंमें अन्तर्मुख होकर जाना होता है)। पापसे पापलोक (पशु-पक्षी, कीट-पतङ्गादिकी योनिको) और दोनो (मिले हुए पुण्य-पाप) से मनुष्यलोकको ले जाता है।

वे मनुष्य जिनकी रुचि सदा पापमें रहती है, जो स्वार्थसिद्धि अथवा विना स्वार्थके भी दूसरोंको हानि पहुँचाने तथा नाना प्रकारसे हिंसात्मक और नीच कर्मोंमें लगे रहते है, उनका लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर मृत्युके समय वर्तमान स्थूल-शरीरको छोडकर कीट, पशु, पक्षी आदि तिर्यक्-योनियोको प्राप्त होता है। और पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, हिंसात्मक और अहिंसात्मक इन दोनो प्रकारके मिश्रित कर्म करनेवाला जीव मनुष्ययोनिको प्राप्त होता है। इन दोनो प्रकारके मनुष्योके लिङ्ग-शरीरकी मृत्युके समय अधः तथा मध्यम गति स्थूल लोकोमे बाहरकी ओरसे होती है।

पितृयाण एवं देवयान

पुण्यात्माओके लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीरोकी कृष्ण और शुक्ल गतियोका पितृयाण और देवयान नामसे वेदो, उपनिषदो और गीतामे सविस्तर वर्णन किया गया है।

यथा--

द्वे सृती अशृण्वं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥
(यजुर्वेद १९। ४७, ऋग्वेद १०। ८८। १५)

(अन्तरिक्षलोक और पृथ्वीलोकके बीचमे) मनुष्योके जानेके लिये मैने दो मार्ग सुने है। जिनमेंसे एकका नाम देवयान और दूसरेका नाम पितृयाण है। इन्हीं दोनो मार्गोंसे समस्त संसारी पुण्यात्माओके लिङ्ग-शरीर जाते है।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ (गीता ८। २३)

और हे अर्जुन! जिस काल (मार्ग) में शरीर त्यागकर गये हुए योगीजन लौटकर न आनेवाली गतिको और लौटकर आनेवाली गतिको भी प्राप्त होते हैं, उस काल (मार्ग) को कहूँगा।

शुक्लकृष्णे गति ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ (गीता ८। २६)

क्योकि जगत्के ये दो प्रकारके शुक्ल और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयाण मार्ग सनातन माने गये है। (इनमें) एकके द्वारा (गया हुआ) पीछे न आनेवाली गतिको प्राप्त होता है और दूसरेके द्वारा (गया हुआ) पीछे आता है अर्थात् जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है।

पितृयाण—सकामी पुण्यात्माओ (तथा सम्प्रज्ञात समाधिकी नीची भूमियोमे आसक्त योगियो) का लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर पितृयाण मार्गद्वारा चन्द्रलोक (स्वर्गलोकमें) जाकर अपने सुकृत कर्मोंको भोगनेके पश्चात् उसी मार्गसे लौटकर मनुष्यलोकमें मनुष्य-शरीर धारण करता है। "सकाम कर्म" अविद्या और अज्ञानरूपी अन्धकारसे मिश्रित होते हैं। इसलिये ऐसे लिङ्ग-शरीरोंकी गति निष्काम कर्मयोगियोकी अपेक्षा रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन-जैसे अन्धकारके समय (मार्ग) तथा अन्धकारके लोकोमें होकर बतलायी गयी है।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ (गीता ८। २५)

धूम, रात्रि तथा कृष्णपक्ष (जब चन्द्रमाका कृष्ण भाग पृथ्वीके सामने रहता है, जो कृष्ण प्रतिपदा-से अमावास्यातक अथवा कृष्ण पञ्चमीसे शुक्लपक्ष पञ्चमीतक अथवा कृष्ण अष्टमीसे शुक्ल अष्टमीतक माना

गया है) और दक्षिणायनके छः महीने (जब उत्तर ध्रुव-स्थानपर रात होती है अथवा सूर्यके कर्कमें संक्रमणसे लेकर छः मास) आषाढ शुक्लपक्ष, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष कृष्णपक्ष अर्थात् वर्षा-ऋतु, शरद्-ऋतु और हेमन्त-ऋतु । उस काल (मार्ग) में मरकर गया हुआ सकाम कर्मयोगीका लिङ्ग-शरीर चन्द्रलोक (स्वर्गलोक) को प्राप्त होकर (वहाँ अपने शुभकर्मोंका फल भोगकर) फिर लौटता है (मनुष्य-शरीर धारण करता है) ।

ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद् यान् षड् दक्षिणैति मासांस्तान्, नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥ ३ ॥

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद् देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति ॥ ४ ॥

तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते ॥ ५ ॥

(छान्दोग्य उप० ५ । १०)

उनके लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर धूमको अपना मार्ग बनाते है । धूमसे रात्रिके अन्धकारको, रात्रिसे कृष्णपक्षके अन्धकारको, कृष्णपक्षसे छः मास दक्षिणायनके अन्धकारको जिनमें सूर्य दक्षिणको जाता है, मार्ग बनाते हुए आगे जाते हैं । वे संवत्सर (कल्प) को प्राप्त नहीं होते ।

दक्षिणायनके छः महीनोंसे पितृलोकको, पितृलोकसे आकाशको मार्ग बनाते है । आकाशसे चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं । यह सोम राजा (चन्द्रमा अर्थात् चन्द्रलोक 'स्वर्गलोक') है । यह पितरोंका अन्न (शुभ कर्मोंके फलोंका भोगस्थान) है, इसको पितर भक्षण करते हैं अर्थात् चन्द्रलोकमें अपने अमृतरूपी सूक्ष्म फलोंको भोगते है ।

वे वहाँ (चन्द्रलोकमें) उतनी देर रहते है जबतक उनके कर्म क्षीण नहीं होते । तब वे उसी मार्गको फिर लौटते हैं, जैसे गये थे ।

उपनिषदोंमें लिङ्ग-शरीरका वृष्टिद्वारा पृथ्वीलोकमें आना इत्यादि जो बतलाया गया है, वह केवल अधोगतिका सूचक है और कई एक भाष्यकारोंने स्थूलदृष्टिवाले सकाम-कर्मियोंके सकाम-कर्मोंकी निःसारता दिखलाकर उनसे आसक्ति छुडानेके लिये इस अधोगतिको और अधिक स्थूलरूपसे वर्णन किया है । यथा—लिङ्ग-शरीरका ओषधियों आदिमें जाकर मनुष्योंसे खाये जाना और वीर्यद्वारा रजसे मिलकर जन्म लेना इत्यादि । वास्तवमें लिङ्ग-शरीरका इस भौति स्थूल-पदार्थों-जैसा व्यवहार नहीं है । लिङ्ग-शरीरकी गति स्थूल-शरीर तथा स्थूल-पदार्थोंसे अति विलक्षण है । जैसा (सूत्र १ । २८ एवं ४ । १० की) व्याख्यामें विस्तारपूर्वक बतलाया गया है ।

यहाँ चन्द्रसे अभिप्राय यह भौतिक चन्द्र नहीं है, जो आकाशमें हमें दीखता है । यह तो हमारी पृथिवीके सदृश एक स्थूल जगत् है । हमारे मर्त्यलोक पृथिवीकी अपेक्षासे चन्द्र शब्द अमृतके अर्थमें सारे सूक्ष्म लोकोंके लिये प्रयोग हुआ है, जिनको द्युलोक, स्वर्गलोक और कहीं-कहीं ब्रह्मलोक भी कहा जाता है (वि० पा० सूत्र २६ का वि० व०) । ये सूक्ष्म लोक तो भूः और भुवः अर्थात् पृथ्वीलोक और सारे स्थूल अन्तरिक्षलोकोंके अदर है, न कि बाहर । ऊपर बतला आये हैं कि सूक्ष्म लोकोंमें अन्तर्मुख होकर जाना होता है । उसीके उल्टे क्रमसे सूक्ष्म लोकोंसे मनुष्यलोकमें बहिर्मुख होना होता है । इसलिये लिङ्ग-शरीरोंका वृष्टिद्वारा पृथिवी लोकमें गिरना और ओषधियों आदिद्वारा मनुष्यो आदिसे खाये जानेकी

कल्पना असमञ्जस है। देवस्थानसे पशु-पक्षी आदि नीची योनियोंमें जानेकी बात भी अयुक्त है, क्योंकि सूक्ष्म लोकोंमें दिव्य शरीरको देनेवाले नियत विपाकके प्रधान कर्माशयोंकी निचली भूमिमें मनुष्य-शरीरको देनेवाले नियत विपाकके कर्माशय ही हो सकते हैं।

छान्दोग्योपनिषद् ५। १० में अयोगति दिखलानेके लिये उस स्थूल गर्भका वर्णन है, जिसमें सकामियोंको चन्द्रलोकके आनन्द भोगनेके पश्चात् मनुष्यलोकमें प्रवेश करना होता है अर्थात् "अभ्र मेघ होकर बरसता है, उससे चावल, ओषधियां, तिल आदि उत्पन्न होते हैं। इनसे बड़ी कठिनाईसे वीर्य बनता है अर्थात् जब मनुष्य उनको खाता है, तब उनका अति सूक्ष्म अंश वीर्य बनता है। उस वीर्यको जब वह (स्त्री योनिमें) सींचता है, तब रजसे मिलकर गर्भ बनता है। उस गर्भमें सकामियोंका सूक्ष्म-शरीर चन्द्रलोकसे (वृत्तिरूपमें) प्रवेश करता है।"

सूक्ष्म-शरीरका वीर्यद्वारा प्रवेश करना श्रुतिके विरुद्ध भी है। श्रुतिमें ब्रह्मरन्ध्रद्वारा प्रवेश होना बतलाया है। यथा—

"स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत" (ऐतरेय अध्या० १ खण्ड ३। १२)

तब उसने इसी सीमा ब्रह्मरन्ध्रको फोड़ा और वह इस द्वारसे प्रविष्ट हुआ।

और मन्त्र ७ में इस बातको दर्शाया गया है कि इस लोकमें अच्छे कर्मवाले अच्छे गर्भोंमें और बुरे कर्मोंवाले बुरे गर्भोंमें अर्थात् वे जो इस लोकमें शुभ आचरणवाले हैं तत्काल ही शुभ जन्मको पाते हैं—जैसे ब्राह्मण-जन्म, क्षत्रिय-जन्म, वैश्य-जन्म और जो इस लोकमें निन्दित आचरणवाले हैं, वे शीघ्र ही नीच जन्मको पाते हैं जैसे कुत्तेके जन्म, सूकरके जन्म तथा चाण्डालके जन्म।

देवयान—निष्कामकर्मी (तथा असम्प्रज्ञात समाधिकी भूमिको प्राप्त किये योगी) पुण्यात्माओंका लिङ्ग-शरीर देवयान मार्गद्वारा आदित्यलोकमें आकर मुक्तिको प्राप्त होता है। उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती है। निष्काम-कर्म विद्या और ज्ञानके प्रकाशसे युक्त होते हैं; इसीलिये निष्काम कर्मियोंकी गति सकामकर्मियोंकी अपेक्षा दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण-जैसे प्रकाशके समय (मार्ग) तथा प्रकाशके लोकोंमें होकर बतलायी गयी है। यथा—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ (गीता ८। २४)

अग्नि ज्योति दिन शुक्लपक्ष (जब चन्द्रमाका शुक्ल-भाग पृथ्वीके सामने रहता है अर्थात् शुक्ल प्रतिपदासे पूर्णिमातक अथवा शुक्ल पञ्चमीसे कृष्ण पञ्चमीतक अथवा शुक्ल अष्टमीसे कृष्णपक्ष अष्टमीतक) उत्तरायणके छः मास (जब उत्तर ध्रुव स्थानपर दिन होता है अथवा सूर्यके मकरमें सक्रमणसे लेकर छः मास) पौष शुक्ल, माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ कृष्ण, अर्थात् वसन्त ऋतु, ग्रीष्म ऋतु और शिशिर ऋतु। इस प्रकारके समय (मार्ग) में मरकर गये हुए योगीजन आदित्यलोकको प्राप्त होते हैं।

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च न, अर्चिषमेवाभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान्, मासेभ्यः संवत्सरꣳ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान् ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथः। एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते॥ (छान्दोग्य० ४। १५। ५)

अब चाहे वे (ऋत्विज्) उनके लिये शवकर्म (अन्त्येष्टि-संस्कार) करते हैं, चाहे न, सर्वथा वे (उपासक) किरण अर्चिको प्राप्त होते है। अर्चिसे दिनको, दिनसे शुक्लपक्षको, शुक्लपक्षसे उन छः महीनोको जिनमें सूर्य उत्तरको जाता है। महीनोंसे बरसको, बरससे सूर्यको, सूर्यसे चन्द्रमाको, चन्द्रमासे बिजलीको। वहाँ एक अमानव (जो मानुषी सृष्टिका नहीं) पुरुष (अर्थात् पुरुषविशेष=ईश्वर=अपरब्रह्म) है।

वह इनको परब्रह्मको पहुँचाता है। यह देवपथ (देवताओका मार्ग है), ब्रह्मपथ है (वह मार्ग जो पर-ब्रह्मको पहुँचाता है)। वे जो इस मार्गसे जाते है, इस मानवचक्र (मानुषी जीवन) को वापिस नहीं आते हैं। हाँ, वापिस नहीं आते हैं।

उपर्युक्त सारे प्रकाशमय मार्गोंके वर्णनसे सकामकर्मियोकी अपेक्षा निष्कामकर्मियोंकी केवल ऊर्ध्व तथा शुक्ल गतिका ही निर्देश समझना चाहिये। वास्तवमे तो—

स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति। एतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम्॥ (छान्दोग्य० ८। ६। ५)

वह जितनी देरमे मन फेंका जाता है, उतनी देरमे आदित्यलोकमे पहुँच जाता है; क्योकि यह आदित्यलोक पर-ब्रह्मका द्वार है। ज्ञानियोके लिये यह खुला हुआ है और अज्ञानियोके लिये बंद है।

इसी ऊर्ध्व गतिको योगदर्शनके उपर्युक्त सूत्रमें 'उत्क्रान्तिः' शब्दसे बतलाया गया है। यथा—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमापन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति॥ (छान्दोग्य० ८। ६। ६, कठ० ६।१६)

एक सौ एक हृदयकी नाड़ियाँ है। उनमेंसे एक मूर्धाकी ओर निकलती है। उस नाडीसे ऊपर चढ़ता हुआ (ज्ञानी) अमृतत्व (ब्रह्मलोक) को प्राप्त होता है। दूसरी (नाड़ियाँ) निकलनेमे भिन्न-भिन्न गति (देने) वाली होती है। हाँ, निकलनेमें भिन्न-भिन्न गति देनेवाली होती है।

मुक्तिके दो भेद

वेदान्तमें मुख्यतया मुक्तिके दो भेद माने हैं—

१ क्रममुक्ति—जिसमें निष्कामकर्मयोगी जो शबल-ब्रह्मको तो साक्षात् कर चुके, किंतु शुद्ध ब्रह्मको साक्षात् करनेसे पूर्व ही इस लोकसे चल देते हैं। वे उपर्युक्त देवयानद्वारा आदित्यलोकमें पहुँचकर वहाँ शुद्ध ब्रह्मको साक्षात् करके मुक्त होते है। (तथा असम्प्रज्ञात समाधिकी भूमिको प्राप्त किये हुए वे योगी जो निरोधके सस्कारोद्वारा बहुत अंशमें व्युत्थानके सस्कारोको नष्ट कर चुके हैं, कुछ शेष रह गये है, जिस अवस्थामे उन्होने स्थूल शरीरको त्यागा है वे आदित्यलोको अर्थात् विशुद्ध सत्त्वमयचित्तको प्राप्त होते है। वहाँ ईश्वरके अनुग्रहसे उनके व्युत्थानके शेष संस्कार निवृत्त हो जानेपर कैवल्य अर्थात् परब्रह्मको प्राप्त होते हैं।) यथा—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्। (वेदान्तदर्शन ४। ३। १०)

आदित्यलोकमें पहुँचकर वह कार्य (शबल ब्रह्म) को उलाँघकर उस कार्यसे परे जो उसका अध्यक्ष परब्रह्म है, उसके साथ ऐश्वर्यको भोगता हे। (आदित्यलोक यहाँ आकाशमें दिखलायी देनेवाले भौतिक सूर्यका बोधक नहीं है, जो हमारी पृथिवीके सदृश एक भौतिक स्थूललोक है। इससे अभिप्राय विशुद्ध सत्त्वमयचित्त है, जिसका वर्णन हमने कई स्थानोंमे ईश्वरके चित्तके रूपमें किया है। जो सारे सूक्ष्मलोकोमे सूक्ष्मतम, कारण लोक अर्थात् कारण जगत् हे।)

२ *सद्योमुक्ति*—वे निष्काम-कर्मयोगी जो शुद्ध ब्रह्मको पूर्णतया साक्षात् कर चुके हैं (तथा असम्प्रज्ञात समाधिकी भूमिको प्राप्त किये हुए वे योगी जो व्युत्थानके सारे सस्कारोंको निवृत्त कर चुके है), उनको आदित्यलोकमे जानेकी अपेक्षा नहीं है । वे देहको छोडते ही मुक्त हो जाते हैं। यथा—

योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति । (बृह० उप० ४ । ४ । ६)

'जो कामनाओसे रहित है, जो कामनाओसे बाहर निकल गया है, जिसकी कामनाएँ पूरी हो गयी हैं या जिसको केवल आत्माकी कामना है, उसके प्राण नहीं निकलते हैं; वह ब्रह्म ही हुआ ब्रह्मको पहुँचता है ।'

ब्रह्मके शबल स्वरूपकी उपासना और उसका साक्षात्कार कारणशरीर (चित्त) से होता है, शुद्ध चेतनतत्त्वमे कारण शरीर तथा कारण जगत् परे रह जाते हैं । यथा—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ।
(तै० उप०)

'जहाँसे वाणियाँ (इन्द्रियाँ) मनके साथ बिना पहुँचे लौटती है । ब्रह्मके उस आनन्दको अनुभव करता हुआ (शुद्ध परमात्मस्वरूपमें एकीभावको प्राप्त करता हुआ) सर्वतो अभय हो जाता है ।'

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—समान-जयात्=(संयमद्वारा) समानके जीतनेसे; ज्वलनम्=योगीका दीप्तिमान् होना होता है ।

अन्वयार्थ—(संयमद्वारा) समानके जीतनेसे योगीका दीप्तिमान् होना होता है ।

व्याख्या—जब सयमद्वारा योगी समानवायुको वशमें कर लेता है, तब समान प्राणके अधीन जो शारीरिक अग्नि है, उसके उत्तेजित होनेसे उसका शरीर अग्निके समान चमकता हुआ दिखायी देता है ।

सगति—छत्तीसवे सूत्रमें स्वार्थसंयमके अवान्तर फलरूप श्रावणसिद्धिको बतलाया है, अब श्रावणसिद्धिवाले संयमको बतलाते हैं—

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—श्रोत्र-आकाशयोः=श्रोत्र और आकाशके; सम्बन्ध-संयमात्=सम्बन्धमें संयम करनेसे; दिव्य श्रोत्रम्=दिव्य श्रोत्र होता है ।

अन्वयार्थ—श्रोत्र और आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे दिव्य श्रोत्र होता है ।

व्याख्या—शब्दकी ग्राहक श्रोत्रेन्द्रिय अहंकारसे उत्पन्न हुई है और अहकारसे उत्पन्न हुए शब्द-तन्मात्राका कार्य आकाश है । इन दोनोका सम्बन्ध देश-देशी आश्रयाश्रयिभावसे है । इस सम्बन्धमें संयम करनेसे योगीको दिव्य श्रोत्र प्राप्त होता है, जिससे वह दिव्य, सूक्ष्म, व्यवहित (आवृत्त) और विप्रकृष्ट अर्थात् दूरस्थ शब्दोको सुन सकता है । इसी प्रकार (त्वचा-वायु, चक्षु-तेज, रसना-जल, घ्राण-पृथ्वी) के सम्बन्धमें संयम करनेसे दिव्य त्वचा, दिव्य नेत्र, दिव्य रसना और दिव्य घ्राण प्राप्त होता है। ये सब सिद्धियाँ सूत्र छत्तीसमें पुरुष-ज्ञानसे पूर्व भी बतलायी गयी हैं ।

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—काय-आकाशयोः=शरीर और आकाशके; सम्बन्ध-संयमात्=सम्बन्धमें सयम करनेसे; लघु-तूल-समापत्तेः च=और हल्के- रूई आदिमें समापत्ति करनेसे; आकाशगमनम्=आकाश-गमन (सिद्धि प्राप्त होती है)।

अन्वयार्थ—शरीर और आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे और हल्के रूई आदिमें समापत्ति करनेसे आकाश-गमन-सिद्धि प्राप्त होती है।

व्याख्या—जहाँ शरीर है वहीं उसको अवकाश देनेवाला आकाश है, इस प्रकार इन दोनोंमें आधेय-आधार व्याप्य-व्यापक भावका सम्बन्ध है। इस सम्बन्धमें संयम करनेसे अथवा रूई-सदृश हल्की वस्तुओंमें समापत्ति (१-४१) करनेसे (तदाकार होनेसे) योगीका शरीर लघुताको प्राप्त करता है। इसलिये जलपर पाँव रखता हुआ चल सकता है। इसके पश्चात् मकड़ीके जाले-सदृश सूक्ष्म तारोंपर चलनेकी सामर्थ्य आ जाती है। अन्तमें शरीरके अति सूक्ष्म हो जानेसे आकाशगमनकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—बहिः-अकल्पिता=शरीरसे बाहर कल्पना न की हुई; वृत्तिः=वृत्ति; महाविदेहा=महा-विदेहा कहलाती है; ततः=उससे; प्रकाश-आवरण-क्षयः=प्रकाशके आवरणका नाश होता है।

अन्वयार्थ—शरीरसे बाहर कल्पना न की हुई वृत्ति महाविदेहा है, उससे प्रकाशके आवरणका नाश होता है।

व्याख्या—मनको शरीरसे बाहर धारण करना "विदेहा-वृत्ति" तथा मनकी "विदेहा धारणा" कह-लाती है। जबतक मन शरीरके अंदर ही स्थित रहे पर उसको वृत्तिमात्रसे बाहर ही धारण किया जाय तबतक वह "कल्पिता" कहलाती है। अभ्यासके परिपक्व हो जानेपर बिना कल्पनाके मन शरीरसे बाहर यथार्थ रूपसे स्थित हो जाता है; तब विदेहा-वृत्ति अकल्पिता कहलाती है। इसीको महाविदेहा कहते हैं। यह योगीको पर-शरीर-आवेश तथा लोक-लोकान्तरोंमें सूक्ष्म-शरीरसे भ्रमण करनेमें सहायक होती है। इन दोनोंमें कल्पित-विदेहा-धारणा साधन है और अकल्पित-विदेहा-धारणा साध्य है; क्योंकि पहले कल्पित विदेहाका अभ्यास किया जाता है, उसके पश्चात् अकल्पित-विदेहाको साधा जाता है। इसके अभ्याससे चित्तके प्रकाशको रोकनेवाले अविद्यादि क्लेश, कर्मविपाक आदि मल जो रजस्के मूलक हैं, नाश हो जाते हैं और चित्तमें निरावरण होनेके कारण यथेच्छ विचरनेकी सामर्थ्य हो जाती है।

सङ्गति—सोलहवे सूत्रसे लेकर तैतालीसवें सूत्रतक समाधिमें श्रद्धा उत्पन्न करनेके लिये भिन्न-भिन्न संयम और उसकी सिद्धियाँ वर्णन करके अब अपने दर्शनके उपयोगी सबीज और निर्बीज-समाधिकी सिद्धिमें विविध उपाय दिखाते है। अगले सूत्रमें ग्राह्य पाँचो भूतोंका सयम बताया है—

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ—स्थूल=(पाँचो भूतोके) स्थूल; स्वरूप=स्वरूप; सूक्ष्म=सूक्ष्म; अन्वय=अन्वय; अर्थवत्त्व=अर्थवत्त्वमें, संयमात्=संयम करनेसे, भूत-जयः=भूतोका जय होता है।

अन्वयार्थ—पाँचो भूतोके स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्वमें संयम करनेसे भूतोका जय होता है।

व्याख्या—पृथ्वी आदि पाँच भूतोंके पाँच-पाँच रूप हैं—

१ स्थूल—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आकाशका अपना-अपना विशिष्ट आकार स्थूल रूप है।

२ स्वरूप—उपर्युक्त पाँच भूतोंका अपना-अपना नियत धर्म, जिनसे ये जाने जाते है—जैसे पृथ्वीकी मूर्ति और गन्ध, जलका स्नेह, अग्निकी उष्णता, वायुकी गति या कम्पन और आकाशका अवकाश देना स्वरूप है ।

३ सूक्ष्म—स्थूल भूतोके कारण गन्ध-तन्मात्रा, रस-तन्मात्रा, रूप-तन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा और शब्द-तन्मात्रा सूक्ष्म रूप है ।

४ अन्वय रूप—सत्त्व, रजस् तथा तमस् जो तीनो गुण अपने प्रकाश, क्रिया और स्थिति धर्मसे पाँचो भूतोंमें अन्वयीभावसे मिले रहते है, अन्वयी रूप है ।

५ अर्थवत्त्व—पुरुषका भोग अपवर्ग । जिस प्रयोजनको लेकर ये पाँचो भूत कार्योंमें लगे हुए है वह अर्थवत्त्वरूप है । इस प्रकार पाँचो भूतोके धर्म, लक्षण और अवस्था भेदोसे पचीसो रूपोमें क्रमसे साक्षात्-पर्यन्त सयम करनेसे पाँचो भूतोका सम्यक्ज्ञान और उनपर पूरा वशीकार होता है । इस प्रकार भूतोके स्वाधीन होने-पर जैसे गाय बछडोंके अनुकूल होती है, वैसे ही सब भूतोकी प्रकृतियाँ योगीके सकल्पानुसार हो जाती है ।

टिप्पणी—व्यासभाष्यकी व्याख्या सूत्र ४४—पाँचो भूतोके जो अपने-अपने धर्मों शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नामवाले विशेष और आकार आदिसहित जो एक-एक रूप है, वे स्थूल रूप है । जैसे पृथ्वीके गोत्वादि आकार (अवयवोका सनिवेश विशेष), गुरुत्व (भारीपन), रूक्षता (रूखाई), आच्छादन (ढाँपना), स्थिरता, सर्वभूताधारता, भेद (विदारण), सहनशीलता (सहिष्णुता), कृशता, मूर्त्ति (कठोरता), सर्वयोग्यतारूप धर्मोसहित शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध हैं, यह पृथ्वीका एक रूप है, और जलके जो स्नेह (चिकनापन), सूक्ष्मता, प्रभा (कान्ति), शुक्लता, मृदुता, गुरुत्व (भारीपन), शीतल स्पर्श, रूक्षता, पवित्रता, सम्मेलनसहित शब्द, स्पर्श, रूप, रस है—यह जलका एक रूप है; अग्निके जो उष्णता, ऊर्ध्वगति, पवित्रता, दाह-शीलता, लघुता, भास्वरता, प्रध्वसन, बलशीलता, रूप धर्मोसहित शब्द स्पर्शरूप हैं—यह अग्निका एक रूप है; वायुके जो वहनशीलता (तिर्यग्गति), पवित्रता, आक्षेप (गिरा देना), कम्पन, बल, चञ्चलता, अनाच्छा-दन (आच्छादनका अभाव),रूक्षतारूप धर्मोसहित शब्द-स्पर्श है—यह वायुका एक रूप है, और आकाशके जो व्यापकता, विभाग करना, अवकाश देना आदि रूप धर्मोसहित जो शब्द है—वह आकाश-का एक रूप है । इस प्रकार पाँचो भूतोंके अपने-अपने धर्मोसहित जो शब्दादि है, वे सूत्रमें 'स्थूल' पदसे कहे हुए पाँच भूतोंके एक रूप हैं ।

पाँचों भूतोका जो स्व-स्व सामान्य धर्म है, वह सूत्रमें 'स्वरूप' पदसे कहे हुए भूतोका द्वितीय रूप है । अर्थात् मूर्ति (कठिनता), स्निग्धता (चिकनापन), उष्णता, वहनशीलता और सर्वत्र विद्यमानता, क्रमसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाशके जो द्वितीय रूप हैं, वे स्वरूप है । ये मूर्ति (कठिनता) आदि धर्म ही स्व-स्व सामान्य पदके वाच्य है । इन कठिनतादि सामान्य धर्मवाले पृथ्वी आदिकोके परस्पर भेद करनेवाले शब्दादि हैं । इसलिये शब्दादिको विशेष कहा जाता है । जैसे स्निग्ध, उष्णादि रूप जल, अग्नि आदिकोसे कठिन पृथ्वीका भेदक (भिन्नताका ज्ञापक) मूर्ति (कठिनता) धर्म है, और कठिन, उष्णादिरूप पृथ्वी, अग्नि आदिकोसे जलका भेदक स्नेह है, और कठिन, स्निग्ध आदि रूप पृथ्वी, जल आदिकोंसे अग्निकी भिन्नताका ज्ञापक उष्णता धर्म है । इस प्रकार भूतोके परस्पर भेदक

होनेसे मूर्ति (कठिनता) आदि-आदि धर्म विशेष कहलाते है । ऐसे ही पञ्चशिखाचार्यजीने कहा है—

"एकजातिसमन्वितानामेषां धर्ममात्रव्यावृत्तिः"

अर्थात् एक जातिवाले पृथ्वी आदिकोकी अम्ल, मधुरादि धर्ममात्रसे व्यावृत्ति होती है । यद्यपि कठिनतादि धर्म भी पृथ्वी आदिकोके परस्पर भेदक है तथापि नीबूरूप पृथ्वीसे अंगूररूप पृथ्वीका जो भेद है, उसका करनेवाला केवल खट्टा-मीठा रस ही कहा जायगा । इससे रस आदिको विशेष जानना अर्थात् पृथ्वीका जल आदिकोसे जो भेद है वह तो कठिनतादिरूप असाधारण धर्मोसे परिज्ञात हो सकता है, परंतु पृथ्वीसे अन्य पृथ्वीका भेदक रस आदि हैं । इस अभिप्रायसे "एकजातिसमन्वितानाम्" इन दोनो सामान्य और विशेषका जो समुदाय है, वही योगमतमें द्रव्य कहा जाता है । प्रसङ्गसे समुदायका निरूपण करते है ।

समुदाय दो प्रकारका होता है—एक 'प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगत', दूसरा 'शब्देनोपात्तभेदावयवानुगत' अर्थात् अवान्तर विभागके बोधक शब्दसे जिन अवयवोंका अवान्तर विभाग बोधन न किया गया हो उन अवयवोमें अनुगत जो द्रव्य है, वह 'प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगत' कहलाता है; जैसे शरीर, वृक्ष, यूथ, वन ये समुदाय है । इनके अवान्तर विभागके बोधक शब्दका उच्चारण नहीं किया गया है अर्थात् हस्तादि अवयवोका समुदाय शरीर पदका वाच्य है, शाखादि अवयवोका समुदाय वृक्ष पदका वाच्य है, वृक्षादिका समुदाय वन पदका वाच्य है, किंतु इन सब समुदायोमें अवान्तर विभागका बोधक कोई शब्द नहीं उच्चारण किया गया है, केवल समुदायमात्र उच्चारण किया गया है; इसलिये यह 'प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगत' समुदाय कहा जाता है ।

जहाँ अवान्तर विभागके बोधक शब्दका उच्चारण किया जाता है, वह 'शब्देनोपात्तभेदावयवानुगत' समुदाय कहा जाता है । 'उभये देवमनुष्याः' (देवता और मनुष्य दोनो है) यह समुदाय है । इस आकाङ्क्षापर कि वे दो अवयव कौन है जिनके लिये शब्दका अर्थ है—कहते हैं देव और मनुष्य अर्थात् इस समूहका एक भाग देव है और दूसरा अवयव मनुष्य है । ये दोनो 'देवमनुष्या.' इस शब्दसे उच्चारण किये गये हैं, इसलिये यह समुदाय 'शब्देनोपात्तभेदावयवानुगत' कहा जाता है । यह शब्द 'शब्देनोपात्त-भेदावयवानुगत' समुदाय भेद-विवक्षा और अभेद-विवक्षासे दो प्रकारका है । जैसे 'आम्राणा वनम्' आमोका वन है और 'ब्राह्मणाना संघ ' ब्राह्मणोका समूह है । यह भेद-विवक्षासे दो प्रकारका समूह है और अभेद-विवक्षासे 'आम्रवनम्' आम ही वह वन है और 'ब्राह्मणसंघ.' ब्राह्मण ही सघ है । ये दो समूह हैं । इस प्रकार समूह-समूहकी अभेद-विवक्षासे यहाँ समानाधिकरण है । पुनः यह समुदाय दो प्रकारका है—एक 'युतसिद्धावयव', दूसरा 'अयुतसिद्धावयव' । 'युतसिद्धावयव' समुदाय वह है, जिसके अवयव विरले अर्थात् जुदा-जुदा हों, जैसे वृक्ष और सघरूप समुदायमे वनके अवयव वृक्ष जुदे-जुदे और विरले प्रतीत होते है तथा यूथके समुदाय गाय, बैल आदि भी पृथक्-पृथक् प्रतीत होते है ।

'अयुतसिद्धावयव समुदाय' वह है, जिसके अवयव पृथक् प्रतीतिसे रहित निरन्तर मिले हुए हो; जैसे शरीर, वृक्ष, परमाणु आदि । यहाँ त्वक्, रुधिर, मांस, मज्जादिकोका समुदाय जो शरीर है, उसके ये अवयव मिले हुए होते हैं और मूल शाखादिकोका समुदाय जो वृक्ष है, उसके भी ये अवयव मिले हुए होते हैं ।

यह 'अयुतसिद्धावयव समुदाय' ही पतञ्जलि मुनिके मतमे द्रव्य कहलाता है । यही भूतोका द्वितीय रूप है और यही स्वरूप पदका अर्थ है । अर्थात् मूर्ति (कठिन) रूप सामान्यका और कठोरता आदि धर्मोसहित शब्दादिरूप विशेषोंका 'अयुतसिद्धावयव समुदाय' रूप पृथ्वी द्रव्य है । स्निग्ध (चिकना) रूप सामान्यका और स्नेहादि धर्मोसहित शब्दादि विशेषोका 'अयुतसिद्धावयव समुदाय' रूप जल द्रव्य

है । इसी प्रकार सामान्य-विशेषोंका 'अयुतसिद्धावयव समुदाय' रूप अग्नि आदि द्रव्य भी जान लेना चाहिये । यही सामान्य-विशेषोका समुदायरूप द्रव्य सूत्रमें 'स्वरूप' शब्दसे बतलाये हुए पाँचो भूतोका दूसरा रूप है ।

इन पृथ्वी आदि पाँचो भूतोंके कारण पञ्चतन्मात्राएँ है और तन्मात्राओके परिणाम परमाणु है अर्थात् तन्मात्राएँ परमाणुओका 'अयुत सिद्ध अवयवानुगत समुदाय' हैं । इसलिये परमाणु और पञ्चतन्मात्राएँ सूत्रमे सूक्ष्म पदसे बतलाये हुए पाँचो भूतोके तृतीय रूप है अर्थात् पाँचो भूतोके जैसे परमाणु सूक्ष्म रूप है, वैसे ही पञ्चतन्मात्राएँ परमाणुओके सूक्ष्म रूप है ।

भूतादि सर्व कार्योंमें अनुगत जो प्रकाश-क्रिया-स्थितिशील तीन गुण है, वे सूत्रमे अन्वय शब्दसे बतलाये हुए पाँचो भूतोका चतुर्थ रूप है ।

पुरुषके भोग और अपवर्गके सम्पादन करनेका जो गुणोमें सामर्थ्यविशेष है, वह सूत्रमे अर्थवत् जो शब्दसे कथन किया हुआ भूतोका पाँचवाँ रूप है ।

यहाँ इतना और जान लेना चाहिये कि गुणोमें तो भोगापवर्ग-सम्पादनकी सामर्थ्य साक्षात् अनुगत है और तन्मात्राभूत आदिकोमे परम्परासे (गुणोद्वारा) अनुगत है तथा साक्षात् और परम्परासे सभी पदार्थ अर्थवत्तावाले है । इस प्रकार पाँच भूतोके पाँच रूपोमें जिस-जिस रूपमें योगी संयम करता है, उस-उस रूपका योगीको साक्षात्कार और जय होता है । स्थूल स्वरूप सूक्ष्मादि रूपोके क्रमसे पाँचो भूतोंके पाँचो रूपोमें संयम करनेसे योगीको पाँचो भूतोंका प्रत्यक्ष और वशीकार हो जाता है । ऐसे योगीको भूत-जयी कहते हैं । सब भूतोकी प्रकृतियाँ उसके सकल्पानुसार हो जाती है अर्थात् भूतोका स्वभाव उसके सकल्पानुसार हो जाता है ।

उपर्युक्त कथित भूतजयकी कई सिद्धियाँ पूज्यपाद परमहस श्रीविशुद्धानन्दजी महाराज प्रसिद्ध गन्धबाबा (जिनकी सिद्धियोंसे पाश्चात्त्य विद्वान् भी विस्मित होते थे) मे देखी गयी थीं, जिनके जीवनके अन्त समयमे लेखकको लगभग छः मास सेवामें रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था ।

सङ्गति—भूतजयका फल बतलाते है—

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ—तत.=उससे (भूतजयसे); अणिमादि-प्रादुर्भावः=अणिमादि आठ सिद्धियोका प्रादुर्भाव; काय-सम्पत्=काया सम्पत्; तत्-धर्म-अनभिघात -च=और पाँचो भूतोके धर्मोंसे चोटका न लगना—रुकावट न होना होता है ।

अन्वयार्थ—उस भूतजयसे अणिमा आदि आठ सिद्धियोका प्रादुर्भाव और कायसम्पत् होती है और उन पाँचों भूतोके धर्मोंसे रुकावट नही होती ।

व्याख्या—चौवालीसवे सूत्रमें बताये हुए भूतजयसे निम्न प्रकारकी आठ सिद्धियाँ प्राप्त होती है ।

१ *अणिमा*—शरीरका सूक्ष्म कर लेना ।

२ *लघिमा*—शरीरका हल्का कर लेना ।

३ *महिमा*—शरीरका बड़ा कर लेना ।

४ *प्राप्ति*—जिस पदार्थको चाहे प्राप्त कर लेना । ये सिद्धियाँ भूतोमे संयम करनेसे प्राप्त होती है ।

५ *प्राकाम्य*—बिना रुकावटके इच्छा पूर्ण होना । यह पाँचों भूतोके स्वरूपमें संयम करनेसे सिद्ध होती है ।

६ *वशित्व*—पाँचो भूतों तथा भौतिक पदार्थोंका वशमें कर लेना (भूतोके सूक्ष्मरूपमे संयम करनेसे) ।

७ *ईशितृत्व*—भूत-भौतिक पदार्थोंके उत्पत्ति-विनाशका सामर्थ्य । (यह सिद्धि अन्वयमें संयम करनेसे प्राप्त होती है ।)

८ *यत्रकामावसायित्व*—प्रत्येक सकल्पका पूरा हो जाना अर्थात् जैसा योगी सकल्प करे उसके अनुसार भूतोंके स्वभावका अवस्थापन हो जाना है । वह योगी यदि संकल्प करे तो अमृतकी जगह विष खिलाकर भी पुरुषको जीवित कर सकता है । (यह सिद्धि अर्थवत्त्वमें संयम करनेसे प्राप्त होती है ।)

ये सब सकल्प होते हुए भी योगीके सकल्प ईश्वरीय नियमके विपरीत नहीं होते । अपने परमगुरु नित्यसिद्ध योगिराज ईश्वरके सकल्पानुसार ही योगियोंका सकल्प होता है ।

भगवत्-भाष्यकार कामावसायी योगीके सम्बन्धमें लिखते हैं कि यद्यपि यह योगी सर्वसामर्थ्यवाला है तथापि वह पदार्थोंकी शक्तियोको ही विपरीत करता है न कि पदार्थोंको । अर्थात् चन्द्रमाको सूर्य और सूर्यको चन्द्रमा तथा विषको अमृत नहीं करता है, किंतु विषमे जो प्राण-वियोग करनेकी शक्ति है, उसको निवृत्त कर उसमें जीवन-शक्तिका सम्पादन कर देता है; क्योंकि पदार्थोंका विपरीत होना नित्यसिद्ध ईश्वरके सकल्पके विरुद्ध है । इसलिये ऐसा नहीं होता है और शक्तियाँ पदार्थोंकी अनियत हैं । इसलिये उनके विपरीत करनेमे कोई दोष नहीं अर्थात् पूर्वसिद्ध अन्यकामावसायी सत्यसंकल्प ईश्वरका यह सकल्प है कि सूर्य सूर्य ही रहे और चन्द्रमा चन्द्रमा ही रहे । इसलिये उसकी आज्ञाके विरुद्ध योगी सकल्प नहीं कर सकता ।

यहाँ यह भी जान लेना चाहिये कि कामावसायी योगी शुद्धचित्त और न्यायकारी होते हैं । उनका सकल्प, ईश्वर-सकल्प और उसकी आज्ञाके विपरीत नहीं होता है । इसलिये जब कभी वे अपने इस ऐश्वर्यको काममें लाते है तो वह ईश्वरके संकल्प और उसके आज्ञानुसार न्याय और व्यवस्थाके धारणार्थ ही होता है ।

(२) *कायसम्पत्*—शरीरकी सम्पदा । इसका वर्णन अगले सूत्रमे दिया है ।

(३) *तद्धर्मानभिघातः*—इन पाँचो भूतोंके कार्य योगीके विरुद्ध रुकावट नहीं डालते अर्थात् मूर्तिमान् कठिन पृथ्वी योगीकी शरीरादि क्रियाको नहीं रोकती । शिलामे भी योगी प्रवेश कर जाता है । जलका स्नेहधर्म योगीको गीला नहीं कर सकता । अग्निकी उष्णता उसको नहीं जला सकती । वहनशील वायु उसको नहीं उडा सकता । अनावरणरूप आकाशमें भी योगी अपने शरीरको ढक लेता है और सिद्ध पुरुषोसे भी अदृश्य हो जाता है ।

सङ्गति—अगले सूत्रमें कायसम्पत्को बतलाते हैं—

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—रूप=रूप, लावण्य=लावण्य, बल=बल, वज्रसंहननत्वानि=वज्रकी-सी बनावट, कायसम्पत्=शरीरकी सम्पदा कहलाती है ।

अन्वयार्थ—रूप, लावण्य, बल, वज्रकी-सी बनावट । कायसम्पत् (शरीरकी सम्पदा) कहलाती है ।

व्याख्या—१ *रूप*—मुखकी आकृतिका अच्छा और दर्शनीय हो जाना ।

२ *लावण्य*—सारे अङ्गोमें कान्तिका हो जाना ।

३ *बल*—बलका अधिक हो जाना ।

४ *वज्रसंहननत्वानि*—शरीरके प्रत्येक अङ्गका वज्रके सदृश दृढ और पुष्ट हो जाना । यह काय-सम्पत् कहलाती हैं ।

सङ्गति—ग्राह्य भूतोमें सयम करनेकी विधि दिखलाकर अगले सूत्रोमें ग्रहण इन्द्रियोंमें सयम दिखलाते हैं—

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ—ग्रहण=ग्रहण, स्वरूप=स्वरूप, अस्मिता=अस्मिता, अन्वय=अन्वय; अर्थवत्त्व=अर्थवत्त्वमें; संयमात्=संयम करनेसे, इन्द्रिय-जयः=इन्द्रियजय होता है ।

अन्वयार्थ—ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्वमें सयम करनेसे इन्द्रियजय होता है ।

व्याख्या—इन्द्रियोंके निम्न पाँच रूप है । इन पाँचो रूपोंमें क्रमसे साक्षात्पर्यन्त सयम करनेसे इन्द्रिय-जय-सामर्थ्य प्राप्त होती है ।

१ *ग्रहण*—इन्द्रियोकी विषयाभिमुखी वृत्ति ग्रहण कहलाती है ।

२ *स्वरूप*—सामान्य रूपसे इन्द्रियोका प्रकाशकत्व, जैसे नेत्रोंका नेत्रत्व आदि स्वरूप कहलाता है ।

३ *अस्मिता*—इन्द्रियोका कारण अहकार, जिसका इन्द्रियाँ विशेष परिणाम हैं ।

४ *अन्वय*—सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुण, जो अपने प्रकाश, क्रिया, स्थिति धर्मसे इन्द्रियोंमे अन्वयीभावसे अनुगत हैं ।

५ *अर्थवत्त्व*—इनका प्रयोजन पुरुषको भोग-अपवर्ग दिलाना ।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद ॥ सूत्र ४७ ॥

सूत्रकी उपर्युक्त सरल और सक्षिप्त व्याख्या कर दी गयी है । यहाँ व्यासभाष्यका स्पष्टीकरणके साथ अनुवाद किया जाता है ।

पाँच ज्ञानेन्द्रियोंमे एक-एक इन्द्रियके पाँच-पाँच रूप है—

(१) इनमें सामान्य-विशेष रूप जो शब्दादि ग्राह्य विषय और श्रोत्रादि इन्द्रियोकी जो विषयाकार परिणामरूप वृत्ति है, वह ग्रहण पदका अर्थ है । यह इन्द्रियोकी वृत्ति केवल सामान्यमात्रविषयक नहीं होती है, किंतु सामान्य-विशेष दोनो विषयवाली होती है । यदि विशेषविषयक इन्द्रियोकी वृत्ति न मानी जाय तो इन्द्रियोसे अनुगृहीत होनेके कारण वह विशेष मनसे निश्चित न किया जा सकेगा; क्योकि बाह्य इन्द्रियोके अधीन होकर ही मन बाह्य विषयोमें अनुव्यवसायवाला होता है, स्वतन्त्र नहीं होता है; इसलिये सामान्य-विशेषरूप विषयाकार ही इन्द्रियोकी वृत्ति होती है । यह सूत्रमें ग्रहणपदसे कथन किया हुआ इन्द्रियोका प्रथम रूप है ।

(२) प्रकाशात्मक महत्तत्त्वका परिणाम जो अयुतसिद्ध अवयव सात्त्विक अहकार है, उसमें कार्य-रूपसे अनुगत जो सामान्य-विशेष रूप द्रव्य है, वह इन्द्रियोका स्वरूप है अर्थात् सात्त्विक अहंकारका कार्य जो प्रकाशस्वरूप द्रव्य 'इन्द्रिय' है, वह इन्द्रियोका 'स्वरूप नामक' दूसरा रूप है ।

(३) इन्द्रियोंका कारण जो अहंकार है, वह इन्द्रियोका अस्मिता नामक तीसरा रूप है । इस सामान्य रूप अहकारके इन्द्रियाँ विशेष परिणाम है ।

(४) व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) महत्तत्त्वके आकारसे परिणामको प्राप्त हुए जो प्रकाश-प्रवृत्ति-स्थितिशील गुण है, वह अन्वय नामक इन्द्रियोंका चौथा रूप है अर्थात् अहंकारके साथ इन्द्रियोको

महत्तत्त्वका परिणाम होनेसे और महत्तत्त्वको गुणोका परिणाम-होनेसे तीनों गुण इन्द्रियोंमे अनुगत है; इसलिये गुणोको अन्वयरूप कहा जाता है ।

(५) गुणोमे अनुगत जो पुरुषके भोग-अपवर्ग-सम्पादनकी सामर्थ्य है, वह अर्थवत्त्व नामक इन्द्रियोका पाँचवाँ रूप है ।

इन पाँचो इन्द्रियोके रूपमे क्रमसे सयम करनेसे उस-उस रूपके जयद्वारा पाँचो रूपोका जय होनेसे योगीको इन्द्रियजय प्राप्त होता है ।

सङ्गति—इन्द्रिय-जयका फल बताते है—

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ—ततः=उससे (इन्द्रियजयसे), मनोजवित्वं=मनोजवित्व, विकरणभावः=विकरणभाव; प्रधान-जयः च=और प्रधानका जय होता है ।

अन्वयार्थ—इन्द्रियजयसे मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानका जय होता है ।

व्याख्या—उपर्युक्त इन्द्रियजयसे निम्न फल प्राप्त होते हैं—

१ *मनोजवित्व*—मनके समान शरीरका वेगवाला होना (ग्रहणके सयमसे) ।

२ *विकरणभाव*—शरीरकी अपेक्षाके बिना इन्द्रियोंका वृत्तिलाभ अर्थात् बिना शरीरकी परवाके इन्द्रियोमें काम करनेकी शक्ति आ जाना । दूरके और बाहरके अर्थोका जान लेना (स्वरूपमे संयम करनेसे) ।

३ *प्रधानजय*—प्रकृतिके सब विकारोका वशीकार (अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्वमें संयमसे) । सिद्धियाँ जितेन्द्रिय पुरुषसे-ही प्राप्त की जा सकती हैं । योगशास्त्रमें ये तीनो सिद्धियाँ मधुप्रतीका कहलाती है, क्योकि इन सिद्धियोके प्राप्त होनेपर योगीको प्रत्येक सिद्धिमे मधु-समान स्वाद प्रतीत होता है अथवा योगसे उत्पन्न ऋतम्भरा प्रज्ञाका नाम 'मधु' है; उस मधुका प्रतीक अर्थात् कारण जिससे प्रत्यक्ष किया जाय, वह मधुप्रतीक है ।

सङ्गति—ग्राह्य और ग्रहणके पश्चात् ग्रहीतृ (चित्त) में संयमका फल बतलाते हैं अर्थात् जिस विवेकख्यातिके लिये यह सब संयम निरूपण किये है, उसका अवान्तर फल बतलाते हैं—

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ—सत्त्व-पुरुष-अन्यता-ख्यातिमात्रस्य=चित्त और पुरुषके भेद जाननेवालेको, सर्व-भाव-अधिष्ठातृत्वम्=सारे भावोका मालिक होना, च-सर्वज्ञातृत्वम्=और सर्वज्ञ (सबका जाननेवाला) होना प्राप्त होता है ।

अन्वयार्थ—चित्त और पुरुषके भेद जाननेवालेको सारे भावोका मालिक होना और सर्वज्ञ होना प्राप्त होता है ।

व्याख्या—सर्वभाव-अधिष्ठातृत्वम्—गुणोका कर्तृत्व-अभिमान शिथिल होनेपर उनके सब परिणामो और भावोंको पुरुषके प्रति स्वामीके समान वर्तना है ।

सर्वज्ञातृत्व—वे गुण जो अतीत, अनागत और वर्तमानकालमें धर्मीभावसे अवस्थित रहते हैं, उनका यथार्थ विवेकपूर्ण ज्ञान सर्वज्ञातृत्व कहलाता है । सूत्र (१ । २) में बतला आये हैं कि गुणोका सबसे प्रथम परिणाम महत्तत्त्व अर्थात् समष्टि चित्त है । इसीमें सृष्टिके सब नियम बीजरूपसे रहते हैं । पुरुषोके व्यष्टि चित्त ग्रहीतृरूप हैं, जिनके द्वारा गुणोंके परिणामोका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके स्वरूप अवस्थित होते हैं । पुरुष चित्तका स्वामी, ज्ञानस्वरूप है पर अविवेकके कारण चित्तमें आत्माका अध्यारोप हो जाता है । यही सर्वक्लेशोकी मूल अविद्या है । सात्त्विक चित्तके प्रकाशमें संयम करनेसे पुरुष और

चित्तमें भेद करानेवाला विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है, जिसको विवेक-ख्याति कहते है । इस विवेक-ख्याति-के हो जानेपर पुरुष अपनेको चित्तसे पृथक् देखता हुआ गुणोके परिणामोका सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है और उनपर पूर्ण अधिकार रखते हुए उनका अधिष्ठाता होकर नियममें रखता है । श्रुति भी ऐसा ही बतलाती है "आत्मनो वा अरे दर्शनेनेदं सर्वविदितम्" अर्थात् पुरुष-दर्शन होनेपर सर्वज्ञातृत्व प्राप्त हो जाता है । इस सिद्धिका नाम विशोका है; क्योकि इसकी प्राप्तिसे योगी क्लेशोंके बन्धनोके क्षीण होनेसे सबका अधिष्ठाता और सर्वज्ञ होकर शोकसे रहित विचरता है ।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि वास्तवमें 'सर्वभावाधिष्ठातृत्व' पाँचों क्लेशोको दग्धबीज करके उनपर विजय प्राप्त कर लेना है, और 'सर्वज्ञातृत्व' यह साक्षात् कर लेना है कि सारा व्यवहार ग्रहण और ग्राह्यरूप तीनो गुणोमें चल रहा है अर्थात् सारा ही दृश्य त्रिगुणात्मक है, आत्मा इनका द्रष्टा इनसे सर्वथा भिन्न, असङ्ग, निर्लेप, अजर, अमर, अप्रसवधर्मी, निष्क्रिय, ज्ञानस्वरूप कूटस्थ-नित्य है ।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद सूत्र ॥ ४९ ॥

जब बुद्धि सत्त्वके रज और तम धुल जाते है, वह परवैशारद्य परवशीकार अवस्थामें अवस्थित होता है । सत्त्व और पुरुषकी अन्यताख्याति-मात्ररूपमें प्रतिष्ठित होता है, तब बुद्धि सत्त्वको सर्वभावो-का अधिष्ठातृत्व हो जाता है । सर्वात्मक गुण व्यवसाय और व्यवसेयरूप गुण स्वामी क्षेत्रज्ञके प्रति अशेष दृश्यरूपसे उपस्थित हो जाते हैं ।

सर्वज्ञातृत्व-सर्वात्मकगुण जो शान्त, उदित और अव्यपदेश्य धर्मसे अवस्थित है, उनके विषयमें अक्रमोपारूढ (क्रियारहित) विवेकज ज्ञान होता है, यह विशोका नामकी सिद्धि है, जिसको प्राप्त करके योगी सर्वज्ञ क्षीणक्लेशबन्धन और वशी विहार करता रहता है ।

योगवार्तिकका भाषानुवाद सूत्र ॥ ४९ ॥

पूर्वोक्त प्रकारसे ग्राह्य और ग्रहण विषयके संयमोंकी सिद्धिको कहकर ग्रहीतृ संयमकी सिद्धिको कहते है ।

सूत्रमें मात्रशब्दसे संयमरूप ख्याति उपलब्ध होती है तथा सत्त्व और पुरुषकी अन्यताके सयम वाले (धर्म-धर्मीके अभेदसे) चित्तका सर्वभावोमें प्रकृति और प्रकृतिके कार्यों और पुरुषके विषयमें अधिष्ठातृत्व स्वदेहके समान स्वेच्छया विनियोक्तृत्व हो जाता है ।

तथा प्रकृति और पुरुष आदिमें सर्वज्ञातृत्व हो जाता है । यहाँ भी साक्षात्कारतक ही समझना चाहिये; क्योकि संयमकी सिद्धि ही अन्य सिद्धियोंका हेतु है ।

शङ्का—"परार्थात् स्वार्थसयमात्" इस सूत्रोक्त संयमसे इस संयमका क्या भेद है, जिससे वहाँ पुरुषज्ञानरूप सिद्धि होती है और यहाँ दूसरी सिद्धि होती है ।

समाधान—वहाँ सुखादिके अनुभवरूप परिच्छिन्नमें पौरुषेय प्रत्यय ही सयम कहा है और अपरिच्छिन्न पुरुषमें संयम नही कहा । यहाँ तो उस संयमसे परिपूर्ण पुरुषका ज्ञान हो जानेपर बुद्धि-विवेक संयम कहा है, यह विशेषता है ।

शङ्का—सत्त्व यह विशेष वचन अनुचित है, गुण पुरुषान्यता आदि कहना ही ठीक है ।

समाधान—यह शङ्का ठीक नही, क्योकि रजस् और तमस्से पुरुषमें साक्षात् अविवेक हो नही सकता, बुद्धिसत्त्वके अविवेकद्वारा ही देह और इन्द्रियादिमें अविवेकसे स्वप्न और बाधिर्य (बहरापन) आदि

अवस्थाओंमें चेतनमें देह और इन्द्रियादिके विवेकको योगके आरम्भकालमें ही साधारण पुरुष भी जानते हैं।

इस सूत्रकी व्याख्या करते हैं—निर्धूतेति-परवैशारद्य-परम स्वच्छताको कहते हैं अर्थात् अतिसूक्ष्म वस्तुके प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेके सामर्थ्यका नाम है परम वशीकार संज्ञा। "परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकार" यह कहा है, 'रूपेण प्रतिष्ठस्य रूपप्रतिष्ठस्य' यह तृतीया तत्पुरुष समास है। रूपसे प्रतिष्ठित अन्तःकरण बुद्धि सत्त्वका सर्वभावाधिष्ठातृत्व होता है, इसका विवरण करते है सर्वात्मान इति=इसका भी विवरण है व्यवसाय-व्यवसेयात्मक इन्द्रिय और इन्द्रिय-विषयात्मक गुण, अशेष दृश्येति सकल्पमात्रसे पुरुषोंके साथ संयुक्त और असयुक्त अशेष वस्तुओंके आकारसे परिणत होकर योगीको उपस्थित होते हैं। उसमे 'स्वामिन क्षेत्रज्ञम्' यह दो हेतुगर्भित विशेषण हैं, क्योंकि वह स्वामी क्षेत्रज्ञ भोक्ता होनेसे प्रेरक है। अत. जैसे अयस्कान्त मणिके पास लोहा खिंच आता है, वैसे ही गुण दृश्यरूप बनकर स्वामी क्षेत्रज्ञको उपस्थित हो जाते है। अथवा क्योंकि वह स्वामी क्षेत्रज्ञ गुणोंके परिणाम क्षेत्रादिको प्रेरित करता है, प्रवृत्त करता है या परिणमन प्रकारको जानता है, अतः उसके प्रति वे उपस्थित हो जाते हैं।

यद्यपि सब पुरुष सब गुणोंके अशेषतया स्वामी है तथापि पापादिके प्रतिबन्धसे सब गुण सब समय सब पुरुषोंके आदि भोग्यरूपसे उपस्थित नहीं होते, यह भाव है।

ऐसी श्रुति भी इस विषयमें प्रमाण है "स यदि पितृलोककामः सकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ती-त्यादि" जब यह पुरुष पितरलोककी कामनावाला होता है, तब सकल्पमात्रसे ही उसको पितर उपस्थित हो जाते हैं इत्यादि।

क्रियैश्वर्यरूप सिद्धिकी व्याख्या करके ज्ञानैश्वर्यरूप सिद्धिकी व्याख्या करते हैं। सर्वज्ञातृत्वमिति=सब आत्मा सब पुरुष बद्ध, मुक्त और ईश्वरोंका और शान्त, उदित तथा अव्यपदेश्यरूप धर्मविशिष्ट गुणोंका ज्ञान सर्वज्ञातृत्व है। इसका नाम है विवेकज-ज्ञान—विवेकसे जायमान ज्ञान। यह सज्ञा सान्वय है। विशेष सज्ञाके अन्वर्थको कहते हैं 'याम्प्राप्येति'। क्लेशबन्धनके क्षीण होनेसे विशोका नामकी सिद्धि है। जिसका अर्थ है शोकशून्यता।

सङ्गति—विवेकख्याति भी चित्तकी ही अवस्था है, इसलिये उसमें भी वैराग्य बताते है अर्थात् विवेकख्यातिका अवान्तर फल कहकर अब उसके मुख्य फल कैवल्यको बतलाते हैं—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—तत्-वैराग्यात्-अपि=उसके (विवेक-ख्यातिके) वैराग्यसे भी, दोषबीजक्षये=दोषोंके बीज-क्षय होनेपर, कैवल्यम्=कैवल्य होता है।

अन्वयार्थ—विवेक ख्यातिसे भी वैराग्य होनेपर दोषोंके बीज-क्षय होनेपर कैवल्य होता है।

व्याख्या—यह विवेक-ख्याति जिससे योगी सर्वभाव-अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व प्राप्त करता और जिससे अपने शुद्ध, अपरिणामी और ज्ञान-स्वरूपको त्रिगुणात्मक, परिणामी और जड चित्तसे अलग करके देखता है, चित्तहीका एक धर्म है, उसीका एक परिणाम है, अपना वास्तविक स्वरूप नहीं। इस-लिये अपने वास्तविक शुद्ध स्वरूपमें अवस्थित होनेके लिये इस विवेक-ख्यातिसे भी विरक्त हो जाता है। इसीको परवैराग्य कहते हैं। जब परवैराग्य पूर्ण तथा परिपक्व हो जाता है, तब चित्तको बनानेवाले गुण पुरुषको भोग-अपवर्ग दिलानेके कार्यको पूर्ण करके अपने कारणमें लीन हो जाते हैं। उनके साथ ही

अविद्या आदि क्लेशोंके संस्कार भी विवेकख्यातिद्वारा दग्ध बीजके सदृश उत्पत्तिके अयोग्य होकर लीन हो जाते हैं, तब आगेके सामने कोई दृश्य नहीं रहता। यह पुरुषका गुणोंसे अत्यन्त पृथक् होकर अपने केवलीस्वरूपमें अवस्थित होना कैवल्य है।

टिप्पणी—व्यासभाष्यका भावानुवाद सूत्र ॥ ५० ॥

क्लेश और कर्मोंके क्षय होनेपर जब इस योगीका ऐसा भाव होता है कि विवेक प्रत्यय बुद्धिरूप सत्त्वका धर्म है और बुद्धि अनात्म होनेसे हेय (त्याज्य) पक्षमें मानी गयी है और शुद्ध स्वरूप अविकारी पुरुष बुद्धिसे भिन्न है, तब इस प्रकारके विवेकसे विवेकख्यातिमें भी वैराग्य उदय हो जाता है। इस परवैराग्यवाले पुरुषके चित्तमें जो क्लेश-बीज विद्यमान हैं वे शालि (चावलों) के दग्ध बीजके सदृश अपने अनुत्पादनमें अवस्थित गुण मनके सहित ही नष्ट हो जाते हैं। उन क्लेश आदिकोंके प्रलीन होनेपर पुरुष आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक—इन तीनों तापोंको नहीं भोगता है और कर्म, क्लेश विपाकरूपमें चित्तमें विद्यमान चरितार्थ हुए गुणोंका प्रतिप्रसव अर्थात् मनके सहित ही स्वकारणमें लय हो जाता है। यह पुरुषका आत्यन्तिक गुण-वियोग (गुणोंसे अत्यन्त पृथक् हो जाना) कैवल्य है। इस दशामें चितिशक्तिरूप पुरुष स्वरूपप्रतिष्ठित होता है। ५।

तात्पर्य—योगके मार्गमें मनुष्य ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों उसके सामने बड़े-बड़े प्रलोभन, दिव्य विषय और विभूतियाँ उपस्थित होती हैं। उनसे सावधान रखनेके लिये अगला सूत्र है—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ—स्थानि-उपनिमन्त्रणे=स्थानवालोंके आदर-भाव करनेपर; सङ्गस्मय-अकरणम्=लगाव और घमंड नहीं करना चाहिये; पुनः अनिष्ट-प्रसङ्गात=फिर अनिष्टके प्रसङ्गसे (अनिष्टके लगनेके भयसे)।

अन्वयार्थ—स्थानवालोंके आदर-भाव करनेपर लगाव एवं घमंड नहीं करना चाहिये; क्योंकि (इसमें) फिर अनिष्टके प्रसङ्गका भय है।

व्याख्या—योगियोंको भूमियोंके अनुसार चार श्रेणियोंमें विभक्त कर सकते हैं, जो निम्न प्रकार है—

१ प्रथम कल्पिक—आरम्भिक अभ्यासवाले जो सवितर्क समाधिका अभ्यास कर रहे हैं। (१-४२)

२ मधु-भूमिका—जो निर्वितर्क समाधि नामी ऋतम्भरा प्रज्ञाको प्राप्त करके भूत और इन्द्रियोंके जीतनेका अभ्यास कर रहे हैं। (१—४३) (३—४४—४७)

३ प्रज्ञा-ज्योति—जिन्होंने सविचार समाधिद्वारा भूत-इन्द्रियोंको जीत लिया है और स्वार्थ-संयमद्वारा विशोका-भूमिका अभ्यास कर रहे हैं। (३१, ३५, ४९)

४ अतिक्रान्तभावनीय—जो निर्विचार समाधिद्वारा मधु-प्रतीका और विशोका भूमियोंको प्राप्त करके उनसे विरक्त हो गये हैं, जिनको अब कुछ साधना शेष नहीं रहा केवल असम्प्रज्ञात समाधि-द्वारा चित्तका लय करना बाकी है। जो सात प्रकारकी प्रान्त-भूमि प्रज्ञावाले हैं। (२ । २७)

उपर्युक्त श्रेणियाँ भाष्योंके आधारपर लिखी गयी हैं। सुगमताके लिये निम्नश्रेणियोंमें भूमियोंको विभक्त किया जा सकता है। (१) वितर्कानुगत भूमि, (२) विचारानुगत भूमि, (३) आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमि (४) विवेकख्यातिकी भूमि।

अपनी-अपनी भूमियोंके स्थानपति देवता बड़े आदरसे नाना प्रकारके भोगों और ऐश्वर्योंका योगियों-को प्रलोभन देते हैं, अर्थात् इन भूमियोंमें नाना प्रकारके भोग, ऐश्वर्य, दिव्य विषय और विभूतियोंके

प्रलोभन आते है । इनसे योगियोको सदा सावधान और सचेत रहना चाहिये । इनमें यदि फँसा तो सब किया हुआ परिश्रम व्यर्थ जायगा । इस कारण इनसे सदा अलग रहना चाहिये । परंतु इन प्रलोभनोको देखकर और अपनेमें उनको हटानेकी सामर्थ्य समझकर अभिमान भी न करना चाहिये; क्योकि अभिमान-से उन्नति रुक जाती है और पतन होने लगता है । प्रथम भूमिवाला अभ्यासी इस योग्य ही नहीं होता कि उसके लिये ये प्रलोभन आवे, तीसरे और चौथे भूमिके अभ्यासी इतनी योग्यता प्राप्त कर लेते है, कि आसानीसे इनके फंदेमें नहीं आ सकते । दूसरी भूमिवालोके गिरनेकी बहुत सम्भावना है, इस कारण उनको सबसे अधिक सावधान रहनेकी आवश्यकता है ।

सङ्गति—सूत्र ४९ में जो फलरूप विवेक-ज्ञान कहा है, उसीके विषयमें पूर्वोक्त संयमसे भिन्न दूसरा उपाय बतलाते हैं—

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ—क्षण-तत्-क्रमयोः=क्षण और उसके क्रमोमें; संयमात्=सयम करनेसे; विवेकजम् ज्ञानम्=विवेकज-ज्ञान उत्पन्न होता है ।

अन्वयार्थ—क्षण और उसके क्रमोमें संयम करनेसे विवेकज-ज्ञान उत्पन्न होता है ।

व्याख्या—जिस प्रकार द्रव्यका सबसे छोटा विभाग जो भागरहित है, वह परमाणु है, वैसे ही समयकी सबसे छोटी विभागरहित गति क्षण है । अथवा जितने समयमें चलाया हुआ परमाणु पूर्वदेशको छोड़कर उत्तर देशको प्राप्त होवे वह कालकी मात्रा क्षण है । उन क्षणोके प्रवाहका विच्छेद न होना अर्थात् बने रहना क्रम कहलाता है ।

क्षण और उसका क्रम दोनो एक वस्तु नहीं हैं । ये बुद्धिके निर्माण किये हुए मुहूर्त, दिन, रात, मास आदि होते हैं । अथवा इसको यो समझना चाहिये कि काल वास्तवमें वस्तुसे शून्य है, केवल बुद्धि-हीकी निर्माण की हुई वस्तु है । वस्तुसे शून्य होते हुए भी कालको शब्द-ज्ञानके पीछे विकल्प (१ । ९) से व्यवहारदशामें लोग वस्तुके समान जानते हैं । क्षण, क्रमाश्रित होनेसे कोई वस्तु नहीं है । एक क्षणके पीछे दूसरे क्षणका आना क्रम कहलाता है । योगीजन इसीको काल कहते हैं । दो क्षण एक साथ नहीं हो सकते और क्रमसे भी दो क्षण एक साथ नहीं हो सकते; क्योकि पूर्ववाले क्षणसे उत्तरवाले क्षणका अन्त न होना ही क्षणोका क्रम है । इसलिये वर्तमान ही एक क्षण है, पूर्व और उत्तर क्षण नहीं हैं । इसलिये इन दोनोका एकत्व भी नहीं है । अतीत और अनागत क्षण वर्तमान क्षणके ही 'परिणाम कहने योग्य हैं । उस एक वर्तमान क्षणसे ही सम्पूर्ण लोक परिणामको प्राप्त होते हैं । सब धर्म उस एक क्षणके ही आश्रित हैं । इसलिये क्षण और उसके क्रममें संयम करनेसे इन दोनोका साक्षात्कारपर्यन्त विवेकज-ज्ञान उत्पन्न होता है ।

भाव यह है कि जैसे नैयायिक सबसे छोटे निर्विभाग पदार्थको परमाणु मानते हैं वैसे ही योगा-चार्य सत्त्वादिके एक परिणाम-विशेषको द्रव्यरूप क्षण मानते हैं । क्षणोके प्रवाहका अविच्छेद अर्थात् पूर्वापरभाव होना क्रम कहलाता है । पर यह क्रम वास्तवमें सत्य नहीं है, कल्पित है; क्योंकि दो अगले-पिछले क्षणोंका एक समयमें समाहार होना असम्भव है । इसलिये घटिका, मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात, मास, वर्ष आदि रूप काल भी वास्तवमें वस्तुशून्य हैं । इनमें विकल्पसे व्यवहार हो रहा है । वास्तवमें

एक वर्तमान क्षण ही सत्य है। उसी एक वर्तमान क्षणका परिणाम यह सारा ब्रह्माण्ड है। ऐसा जो एक वर्तमान क्षण है और उसका जो यह कल्पित क्रम है, उसमें संयम करनेसे विवेकज-ज्ञान उत्पन्न होता है।

विवेकज-ज्ञान—विवेकसे उत्पन्न ज्ञान योगका पारिभाषिक शब्द है, जिसका लक्षण सूत्र ५४ में बतलाया जायगा।

टिप्पणी—भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ ५२ ॥

पूर्व जो फलरूप विवेकज-ज्ञान कहा है उसीके विषयमें पूर्वोक्त संयमसे भिन्न उपाय कहते हैं—

सबके अन्तका, कालका ऐसा अवयव, जिसके फिर हिस्से न हो सकें वह क्षण कहलाता है। उस प्रकारके कालक्षणोंका जो क्रम अर्थात् पूर्वापरभावसे परिणाम है, उनमें संयम करनेसे भी पूर्वोक्त विवेकज-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यह क्षण इस क्षणसे पूर्व और इस क्षणसे उत्तर है, इस प्रकार काल-क्रममें संयम करनेवालेको जब अत्यन्त सूक्ष्म क्षण-क्रमका प्रत्यक्ष होता है तो अन्य बुद्धि आदि सूक्ष्म पदार्थोंका भी प्रत्यक्ष हो जाता है ऐसे विवेकज्ञानसे ज्ञानान्तर होते हैं।

सङ्गति—इस विवेकज-ज्ञानका मुख्य फल बतलानेसे पूर्व अवान्तर फल अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

जातिलक्षणदेशैरन्यतामवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ—जाति-लक्षण-देशैः=जाति, लक्षण, देशसे; अन्यता-अनवच्छेदात्=भेदका निश्चय न होनेसे; तुल्ययोः=दो तुल्य वस्तुओंका; ततः=उस विवेकज-ज्ञानसे; प्रतिपत्तिः=निश्चय होता है।

अन्वयार्थ—एक दूसरेसे जाति, लक्षण, देशसे भेदका निश्चय न होनेसे दो तुल्य वस्तुओंका, विवेकज-ज्ञानसे निश्चय होता है।

व्याख्या—जातिः=अनेक व्यक्तियोंमें जो अनुगत सामान्य धर्म है वह जाति है। जैसे गायोंमें गोत्व; भैंसोंमें महिषत्वादि।

लक्षण—जातिसे समान वस्तुओंको पृथक् करनेवाले असाधारण धर्मका नाम लक्षण है। जैसे लाल गाय, काली गाय इत्यादि।

देश—देश नाम पूर्वत्व तथा परत्वका है।

पदार्थोंके, एक दूसरेसे, भेद निश्चित करानेके कारण जाति, लक्षण और देश होते हैं। जैसे एक देशमें समान लक्षण अर्थात् काले रङ्गकी एक गौ और एक भैंस हो तो उन दोनोंमें जातिसे भेद होता है। जाति और देश समान होनेपर जैसे एक चितकबरी गाय और एक लाल गाय हो, उनका भेद लक्षणसे होता है। जाति और लक्षण समान होनेपर जैसे दो ऑवले समान जाति और लक्षणके हों तो उनका पूर्व व उत्तर देशसे भेद जाना जाता है। जिसने इन दोनो ऑवलोंको पहले देखा है, उसकी दृष्टि बचाकर यदि कोई पूर्व देशके ऑवलेको उत्तर देशमें और उत्तर देशके ऑवलेको पूर्व देशमें रख दे तो तुल्य देश होनेपर इन दोनोंमें संशयरहित यथार्थ ज्ञानद्वारा यह विभाग निश्चय नहीं हो सकता कि यह पूर्ववाला है, यह उत्तरवाला है। इसका निश्चय विवेकज-ज्ञानसे हो सकता है। यह ज्ञान योगीको विवेकज-ज्ञानसे किस प्रकार होता है? इसका उत्तर भाष्यकारने इस प्रकार दिया है—कि उत्तर ऑवलेके क्षण-सहित देशसे पूर्व ऑवलेका क्षण-सहित देश भिन्न है। जब वे ऑवले अपने देश-क्षण अनुभवमें भिन्न है तब उन

दोनोके देश-क्षणका अनुभव उन दोनोके भेदका कारण है। इसी दृष्टान्तके समान जाति, लक्षण, देशके परमाणुओंमें पूर्व देशवाले परमाणुके देश, क्षणोंसहित, साक्षात् करनेसे उस उत्तर देशवाले परमाणुका वह देश निश्चय न होनेपर उत्तरवालेके देशका भिन्न अनुभव क्षणोसहित भेदसे होता है। उन दोनो देश-क्षण-सहित परमाणुओंके ज्ञानमें समर्थ योगीहीको उन दोनोके भेदका ज्ञान होता है।

वैशेषिक सिद्धान्तवाले जो यह कहते हैं कि छः पदार्थों (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय) में जो विशेष पदार्थ है वही द्रव्योका भेदक है। सो उन विशेषोमें भी (१) देश, (२) लक्षण, (३) मूर्ति (अवयव सनिवेशविशेष), (४) व्यवधि (व्यवधानविशेष) और (५) जाति, भेद-ज्ञानका कारण होते हैं। यहाँ यह और जान लेना चाहिये कि जाति आदिके भेदसे पदार्थोंका भेद-ज्ञान होना तो साधारण है, किंतु क्षण-भेदसे भेद-ज्ञान होना केवल योगीके ही बुद्धिगम्य है। इससे ही वार्षगण्याचार्यने कहा है "मूर्त्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूलपृथक्त्वमिति" मूल प्रकृतिमें भेद नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें मूर्त्ति, व्यवधि, जाति आदि जो भेदके कारण है इनका अभाव है।

सङ्गति—इस प्रकार विवेकज-ज्ञानका अवान्तर फल दिखलाकर अब लक्षणद्वारा उसका मुख्य फल बतलाते हैं—

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ—तारकम्=बिना निमित्तके अपनी प्रभासे स्वयं उत्पन्न होनेवाला; सर्वविषयम्=सबको विषय करनेवाला; सर्वथाविषयम्=सब प्रकारसे विषय करनेवाला; अक्रमम्=बिना क्रमके (एक साथ ज्ञानको); विवेकजंज्ञानम्=विवेकज-ज्ञान कहते है।

अन्वयार्थ—बिना निमित्तके अपनी प्रभासे स्वयं उत्पन्न होनेवाला, सबको विषय करनेवाला, सब प्रकारसे विषय करनेवाला, बिना क्रमके एक साथ ज्ञानको विवेकज-ज्ञान कहते है।

व्याख्या—विवेकज ज्ञान चार लक्षणोवाला होता है।

१ तारकम्—बिना बाह्य निमित्तके अपनी प्रभासे स्वय उत्पन्न होनेवाला और संसारसागरसे तारनेवाला।

२ सर्वविषयम्—महदादिपर्यन्त सब तत्त्वोका विषय करनेवाला।

३ सर्वथाविषयम्—सब तत्त्वोंको सब अवस्थामें स्थूल, सूक्ष्म आदि भेदसे उनके तीनों परिणामो-सहित सब प्रकारसे विषय करनेवाला।

४ अक्रमम्—क्रमकी अपेक्षारहित होकर सबको एक क्षणमें सब प्रकारसे विषय करनेवाला।

ये सम्पूर्ण विवेक-ज्ञान है। इक्यावनवें सूत्रमें बतलायी हुई ऋतम्भरा प्रज्ञावाली मधुमती भूमि इसका एक अंश है। उससे ज्ञानकी वृद्धि करता हुआ योगी इस अवस्थातक पहुँचता है।

यह ज्ञानकी अन्तिम गति है, क्योंकि इसमें कोई वस्तु इसका अविषय नहीं रहती।

सङ्गति—योगीको उपर्युक्त प्रकारसे विवेकज-ज्ञान उत्पन्न हो अथवा न हो, चित्त और पुरुष दोनोंकी समान शुद्धि ही कैवल्यका कारण है—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ—सत्त्वपुरुषयोः=चित्त और पुरुषकी; शुद्धिसाम्ये=शुद्धि समान होनेपर; कैवल्यम्=कैवल्य होता है; इति=यहाँ तीसरा पद समाप्त होता है।

अन्वयार्थ—चित्त और पुरुषकी समान शुद्धि होनेपर कैवल्य होता है।

व्याख्या—सत्त्व-चित्तका पुरुषके समान शुद्ध होना यह है कि उसमें रजस्-तमस्का मैल यहाँतक दूर हो जावे कि वह पुरुष और चित्तका भेद दिखाकर गुणोंके परिणामोंका यथार्थ ज्ञान कराकर पुरुषको अपना स्वरूप साक्षात् करानेके योग्य हो जावे। पुरुषकी शुद्धि यह है कि चित्तमें आत्म-अध्यासके कारण उसके भोगको जो उपचारसे अपना समझ रहा था उसका चित्त और पुरुषके भेदके यथार्थ ज्ञानसे सर्वथा अभाव हो जावे। यही कैवल्य है। इस पादमें बतायी हुई कुछ विभूतियाँ कैवल्य-प्राप्तिमें सहायक हो सकती हैं, पर यह आवश्यक नहीं कि इन भिन्न-भिन्न सयमोंद्वारा भिन्न-भिन्न विभूतियों और भूमियोंको प्राप्त करनेके पश्चात् कैवल्य हो। ये विभूतियाँ और भूमियाँ प्राप्त हो या न हो, कैवल्यके लिये पुरुष और चित्तमें यथार्थरूपसे भेद करानेवाला प्रसंख्यान अर्थात् विवेक-ज्ञान आवश्यक है। विवेक-ज्ञानसे अविद्याका नाश होता है। अविद्याके नाशसे अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश दग्धबीजसदृश नष्ट हो जाते है। उनके न रहनेपर सकाम कार्योंका भी अभाव हो जाता है। सकाम कार्योंके अभावसे उनकी वासनासे फलकी भावनाका वृक्ष भी पैदा नहीं होता। वृक्षके अभावमें उसके फल, जन्म, आयु और भोग भी नहीं लगते। फिर उनका स्वाद दुःख-सुख भी नहीं चखा जा सकता। इस प्रकार गुणोंका प्रयोजन, पुरुषको भोग-अपवर्ग दिलानेका, समाप्त हो जाता है, और वे चरितार्थ होकर अपने कारणमें लीन हो जाते हैं और पुरुष अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाता है। यही कैवल्य है (४ । ३४) कैवल्य, अपवर्ग, निर्वाण, मुक्ति, मोक्ष, स्वरूपावस्थिति, गुणाधिकारसमाप्ति, परमधाम और परमपद एकार्थक शब्द है।

उपसंहार

इस प्रकार समाधिके अन्तरङ्ग तीनों अङ्ग (धारणा, ध्यान और समाधि) को कहकर, उन तीनोंकी संयम संज्ञा करके, संयमके विषय दिखलानेको तीन प्रकारके परिणाम बताकर संयमके बलसे उत्पन्न पूर्वान्त, परान्त और मध्यकी सिद्धियोको दिखाकर, समाधिमें अभ्यास करनेके लिये भुवन-ज्ञानादि रूप बाहरकी और कायव्यूह-ज्ञानादि रूप भीतरकी सिद्धियोंको कहकर, समाधिके उपकारार्थ इन्द्रियजय, प्राणजयादि-पूर्वक सिद्धियोको दिखाकर मुक्ति-सिद्धिके लिये क्रमसे अवस्थासहित भूतोंके जय और इन्द्रियोके जयसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धियोंकी व्याख्या करके, विवेकज-ज्ञानके लिये उन-उन उपायोंको बतलाकर, सब समाधियोंके अन्तमें होनेवाले 'तारक' के स्वरूपको कहकर, उसमें समाधिसे कर्तव्यको समाप्त करके चित्तके अपने कारणमें लीन हो जानेसे 'मुक्ति' उत्पन्न होती है यह कहा गया है। सूत्र २६ 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' की टिप्पणीमें व्यासभाष्यका भावार्थ उसमें अलंकाररूपसे वर्णन की हुई और संदेह-जनक बातोंका स्पष्टीकरण तथा सूत्र ३९ विशेष वक्तव्यमें मृत्युके समय सूक्ष्म शरीरकी चार अवस्थाओ, पितृयाण व देवयान इत्यादिका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इस प्रकार पातञ्जलयोगप्रदीपमें विभूति नामवाले तीसरे पादकी व्याख्या समाप्त हुई।

इति पातञ्जलयोगप्रदीपे तृतीयो विभूतिपादः समाप्तः ॥

कैवल्यपाद

पहले पादमें योगका स्वरूप समाधि, दूसरे पादमें उसका साधन, तीसरेमें उससे होनेवाली सिद्धियाँ वर्णन करके अब चौथे पादमें कैवल्यको बताते हैं। कैवल्यका निर्णय चित्त और चितिके अधीन है, इस कारण कैवल्यके उपयोगी चित्तका निर्णय करनेके हेतु सबसे पहले पाँच प्रकारकी सिद्धियाँ और उनसे उत्पन्न होनेवाले पाँच सिद्ध चित्तोको बताते हैं—

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

शब्दार्थ—जन्म-ओषधि-मन्त्र-तपः-समाधिजाः=जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधिसे उत्पन्न होनेवाली; सिद्धयः=सिद्धियाँ हैं।

अन्वयार्थ—जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधिसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धियाँ हैं।

व्याख्या—शरीर, इन्द्रियो और चित्तमें विलक्षण परिणाम उत्पन्न होने अर्थात् इनकी प्रकृतिमें विलक्षण परिवर्तन होनेको सिद्धि कहते हैं। इनके निमित्त पाँच हैं। जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधि।

इसलिये सिद्धियाँ भी इन निमित्तोके कारण पाँच प्रकारकी हैं।

१ जन्मजा सिद्धि—वे सिद्धियाँ हैं जिनकी उत्पत्तिमें केवल जन्म ही निमित्त है। जैसे पक्षियों आदिका आकाशमे उड़ना अथवा कपिल आदि महर्षियोका पूर्व जन्मके पुण्योके प्रभावसे जन्मसे ही सासिद्धिक ज्ञानका उत्पन्न होना। ये चित्त जन्मसे ही इस योग्यताको प्राप्त किये हुए होते है।

२ ओषधिजा सिद्धि—पारे आदि रसायनके उपयोगसे शरीरमें विलक्षण परिणाम उत्पन्न करना। अथवा सोमरसपान तथा अन्य ओषधियोद्वारा काया-कल्प करके शरीरको पुनः युवा बना लेना इत्यादि। यह ओषधि आदि सेवनद्वारा चित्तमे सात्त्विक परिणामसे होता है।

३ मन्त्रजा सिद्धि—जैसे (स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः) स्वाध्यायसे इष्ट देवताका मिलना। मन्त्रद्वारा चित्तमें एकाग्रताका परिणाम होता है। उससे यह सिद्धि प्राप्त होती है।

४ तपोजा सिद्धि—"कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः" तपसे अशुद्धिके दूर हो जानेपर शरीर और इन्द्रियोंकी सिद्धि होती है। चित्तमें तपके प्रभावसे यह योग्यता होती है।

५ समाधिजा सिद्धि—समाधिसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धियाँ, जिनका वर्णन तीसरे पादमें सविस्तर है। यह समाधिसे उत्पन्न हुआ चित्त ही कैवल्यके उपयोगी है। इस प्रकार सिद्धियोके पाँच भेदसे सिद्ध चित्तोके भी पाँच भेद जान लेना चाहिये।

टिप्पणी—श्रीभोज महाराजने ये जन्म, ओषधि, मन्त्रादि पाँचों सिद्धियाँ पूर्व जन्ममे अभ्यस्त समाधिके बलसे ही प्रवृत्त हुई बतलायी हैं। पाठकोकी जानकारीके लिये उनकी इस सूत्रकी वृत्तिका भावार्थ दिये देते है—

भोजवृत्तिका भावानुवाद ॥ सूत्र १ ॥

पहले जो सिद्धियाँ कही है उनके अनेक प्रकारके जन्मादि (सूत्रोक्त) कारण हैं। इसका प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार यह बतलाते हैं कि ये जो सिद्धियाँ है वे सब पूर्व जन्ममें अभ्यस्त समाधिके

बलसे ही प्रवृत्त हुई है। जन्म, ओषधि आदि सब निमित्तमात्र है। इससे अनेक जन्ममें जो समाधि की जाती है उसकी कोई हानि नहीं है अर्थात् एक जन्ममें कोई फल न हो तो जन्मान्तरमें अवश्य होगा, ऐसा जान लेना चाहिये। ऐसे विश्वासको पैदा करनेके लिये और समाधि-सिद्धिकी प्रधानता कैवल्यके लिये (बतलाते हुए यह) कहते हैं—किन्हीं सिद्धियोंके केवल जन्म कारण हैं—जैसे पक्षी आदिका आकाशमें उड़ना आदि अथवा (पक्षी आदिके उड़नेको सिद्धि न माना जाय तो) जन्मके अनन्तर ही जो कपिल महर्षि आदिकोंके स्वाभाविक गुण थे (वह जन्मजा सिद्धि है)। पारे आदि रसायनादिके उपयोगसे ओषधिजन्य सिद्धियाँ होती है। किसी मन्त्रके जपसे किन्हींका आकाशमें उड़ना आदि "मन्त्रसिद्धि" है। विश्वामित्र आदिकोंको 'तपःसिद्धि' हुई थी। समाधिसिद्धि इससे पूर्व पादमें बतला चुके हैं। ये सब सिद्धियाँ पूर्व-जन्ममे क्लेशोंको नष्ट करनेवालोंको ही होती हैं। इससे समाधिके तुल्य द्वितीय जन्ममें अभ्यस्त समाधि ही अन्य सिद्धियोंका कारण है। जन्म आदि केवल निमित्तमात्र है।

सङ्गति—पूर्वोक्त मन्त्र, तप और समाधि आदिसे जो पाँच प्रकारकी सिद्धियाँ बतलायी है वे सिद्धियाँ यही हैं कि शरीर और इन्द्रियो आदिमें विलक्षण शक्ति आ जाय या पहली जातिसे दूसरी जाति बदल जाय। जात्यन्तर परिणाम बिना उपादानके केवल मन्त्रादिसे कैसे हो सकता है? इस शङ्काके निवारणार्थ अगला सूत्र है।

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

शब्दार्थ—जात्यन्तर-परिणामः=एक जातिसे दूसरी जातिमें बदल जाना; प्रकृति-आपूरात्=प्रकृतियोंके भरनेसे होता है।

अन्वयार्थ—एक जातिसे दूसरी जातिमें बदल जाना प्रकृतियोंके भरनेसे होता है।

व्याख्या—'जात्यन्तरपरिणाम'—एक जातिसे दूसरी जातिमें बदल जाना अर्थात् शरीर, इन्द्रियों आदिका ओषधि मन्त्रादिके अनुष्ठानसे विलक्षण-शक्तिवाला हो जाना। 'प्रकृत्यापूरात्'—प्रकृति उपादान-कारणको कहते हैं। शरीरकी प्रकृति पृथ्वी जलादि पाँच भूत हैं और इन्द्रियोंकी प्रकृति अस्मिता है। प्रकृतियोंका कारणरूपसे कार्यरूप अवयवोके आकारमें भरने या प्रवेश करनेको 'प्रकृत्यापूर कहा गया है। इस प्रकृतिकी 'आपूर' पूर्ण होनेसे जात्यन्तर (दूसरे जातिके रूप व आकार) में परिणाम होता है।

सूत्रका भाव यह है कि योगीके इन्द्रियों आदिमें जो जात्यन्तर परिणाम अर्थात् उनका पहले रूपसे विलक्षण-शक्तिवाला हो जाना ओषधि, मन्त्र, तप, समाधि आदिके प्रभावसे होता है, वह प्रकृतियोंके अपूर्व अवयवोंके समूहसे होता है। जैसे शुष्कतृणों व शुष्कवनमें सूक्ष्मरूपसे व्याप्त अग्निके अपूर्व अवयवोके समूह अग्निकी एक कणिकासे दीर्घ देशव्यापी प्रचण्ड ज्वालारूप हो जाते हैं वैसे ही योगीके शरीर और इन्द्रियो आदिके पहले राजसी व तामसी अवयव अलग हो-होकर ज्यो-ज्यों उनके स्थानपर दूसरे सात्त्विक अवयव भरते चले जाते हैं त्यों-त्यों उसके शरीर, इन्द्रियाँ आदि विलक्षण-शक्तिवाले होते जाते हैं। इस प्रकार उस जातिके अनुकूल अवयव भरते रहनेसे दूसरी जाति बन जाती है। इस जात्यन्तर परिणाममें निमित्त योगज धर्म है जिसे योगी मन्त्र-तप आदिसे सिद्ध करता है।

टिप्पणी—भोजवृत्तिका भावार्थ ॥ सूत्र २ ॥

सूत्र १ की टिप्पणीसे इसका सम्बन्ध देखें—यहाँपर शङ्का होती है कि नन्दीश्वरादिका जाति आदि परिणाम उसी जन्ममें देखा गया है तो फिर किस प्रकार दूसरे जन्मोंमें समाधि किये हुए अभ्यासको कारण कहा जाता है। इस शङ्काका उत्तर अगले सूत्रमें देते है।

'यह जो एक जन्ममें ही नन्दीश्वरादिका जात्यादि परिणाम (तपके प्रभावसे देवत्वको प्राप्त करना) है, वह प्रकृतिके अवयव प्रवेश (अथवा प्रकृतिके सर्वत्र व्याप्त होनेसे) हुआ जानना चाहिये। पिछले जन्मकी ही प्रकृति इस जन्ममें अपने विकारोंको प्रवेश करके जाति विशेषाकारसे परिणत होती है।'

नोट—शिवपुराणीय सनत्कुमारसंहिताके ४५ अध्यायमें ऐसा वर्णन है कि शिलाद मुनिका नन्दी नामक कुमार शिवजीकी अति उग्र उपासनाद्वारा मनुष्य-शरीरको त्यागकर उसी जन्ममें देवदेहको प्राप्त हो गया था।

सङ्गति—क्या धर्म जो प्रकृतियोंके आपूरसे जात्यन्तर परिणाममें निमित्त है स्वयं प्रकृतिको ऐसे परिणामके लिये प्रेरता है अथवा केवल प्रतिबन्धकको हटा देता है ? इसका उत्तर देते है—नहीं, वह केवल रुकावटको दूर कर देता है। रुकावटके दूर होनेसे जाति बदलनेवाले प्रकृतिके अवयव स्वयं भरने आरम्भ हो जाते हैं।

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—निमित्तम्=(धर्मादि) निमित्त; अप्रयोजकम्=अप्रयोजक—प्रेरक नहीं हैं; प्रकृतीनाम्=प्रकृतियों-का; वरण-भेदः=आवरण—प्रतिबन्धक—रुकावटका तोड़ना (होता) है; तु=किंतु; ततः=उससे अर्थात् धर्मादि निमित्तसे, क्षेत्रिकवत्=किसानकी तरह।

अन्वयार्थ—धर्मादि निमित्त प्रकृतियोंका प्रेरक नहीं होता है, किंतु उससे किसानके सदृश रुकावट दूर होती है।

व्याख्या—धर्मादि निमित्त प्रकृतियो (उपादान-कारणो) के प्रवृत्त करनेवाले नहीं होते। क्योंकि धर्मादि प्रकृतिके कार्य हैं और कार्य कारणका प्रवर्तक नहीं होता। जैसे किसान जब जलसे भरी एक क्यारीमेंसे दूसरी क्यारीमें जल ले जाना चाहता है तो हाथसे पानीको उस क्यारीमें नहीं ले जाता किंतु उस क्यारीकी मेंड (मुहाना जो बंद है) को तोड देता है, उस मेडके खुल जानेपर जल, स्वय दूसरी क्यारीमें भर जाता है। इसी प्रकार धर्म प्रकृतियोंके वरण (आवरण—प्रतिबन्धक अधर्म) को नष्ट कर देता है। उस अधर्मरूपी प्रतिबन्धकके नष्ट होनेपर प्रकृतियाँ स्वयं अपने-अपने कार्यको नये अवयवोंसे भर देती हैं। अथवा जैसे वही किसान धान, गेहूँ, मूँग आदिके मूलमे जल और भूमिके रसोंको प्रवेश करनेमें असमर्थ होता है, किंतु खेतमें जलके सींचनेपर जल भूमि आदिके रस स्वयं ही धानों आदिके मूलमें प्रवेश हो जाते हैं वैसे ही धर्म भी अपने विरोधी अधर्मकी निवृत्तिमात्र करनेमें कारण है; क्योकि शुद्ध और अशुद्ध दोनोंमें अत्यन्त विरोध है। प्रकृतिसे प्रवृत्त करनेमें धर्म उपादान-कारण नहीं होता, किंतु निमित्त होता है।

जिस प्रकार धर्म प्रकृत्यापूर अर्थात् प्रकृतियोंकी प्रवृत्तिमें निमित्त (हेतु) है इसी प्रकार अधर्मको भी प्रकृतियोंको प्रवृत्त करनेमें निमित्त जानना चाहिये । जब धर्म अधर्मरूपी रुकावटको दूर करता है तब उसका शुद्ध परिणाम होता है और जब अधर्म धर्मरूप प्रतिबन्धको हटाता है तब अशुद्ध परिणाम होता है ।

टिप्पणी—भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र ३ ॥

सूत्र २ की टिप्पणीसे इसका सम्बन्ध देखें । यहाँ यह शङ्का होती है कि धर्म आदि भी तो पूर्व जन्ममें किये गये हैं उन्हींको जात्यन्तर परिणामका कारण क्यो न मान लिया जाय । प्रकृतिको उस परिणामका कारण क्यो माना जाता है । इसका उत्तर देते है ।

निमित्त जो धर्मादि हैं वे प्रकृतिके अर्थान्तर परिणाममे प्रयोजक नही हैं (क्योकि वे प्रकृतिके ही कार्य हैं) कार्यसे कारणको प्रेरणा नहीं होती । तो फिर धर्मादिका कहाँ काम पडता है ? इसका सूत्रकार उत्तर देते हैं कि जब उस धर्मसे उसके विरोधी अधर्मका नाश किया जाता है तो प्रतिबन्धकके न रहने-पर प्रकृतियाँ स्वयं अपने कार्यमें समर्थ होती हैं । इसमें दृष्टान्त यह देते है कि जैसे खेती करनेवाला, जो कि एक क्यारीसे दूसरी क्यारीमें जल ले जानेकी इच्छा करता है, वह जलकी रोकमात्र (मेंड, मिट्टी आदि) को हटाता है, जब रुकावट दूर हो जाती है तो जल स्वयमेव फैलकर उस क्यारीमें चला जाता है । जलके फैलानेमें किसानका कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं है । इसी प्रकार धर्मादि निमित्त अधर्मादिको हटाते मात्र है ।

विशेष वक्तव्य सूत्र ३—चित्तभूमि जन्म-जन्मान्तरोके कर्माशयोंसे चित्रित है । जो कर्माशय नियत विपाक बनकर ऊपरकी भूमिमें आकर प्रधान रूपसे अपना कार्य आरम्भ कर देते है वे अपने विरोधी उपसर्जन कर्माशयोंको प्रतिबन्धकरूपसे निचली भूमियोंमें दबाये रखते है (सा० पा० सूत्र १३) । सूत्रमें बतलाये हुए निमित्त धर्मोका केवल इतना काम होता है कि जिन प्रकृतियोंको आपूर अर्थात् भरना होता है उनके विरोधी प्रकृतिवाले प्रधान कर्माशयोको उनके द्वारा हटा दिया जाता है । इस प्रकार निचली भूमियोमें दबे पडे हुए उपसर्जन (गौण) कर्माशय अपने प्रतिबन्धकके हट जानेपर ऊपरकी भूमिमें आकर प्रधानरूपसे अभिमत (इच्छित) प्रकृतियोके भर देनेका काम आरम्भ कर देते है । जिस प्रकार जब किसान खेतमें पानी भरना चाहता है तब उसके प्रतिबन्धक मेंडको काट देता है । इस प्रकार प्रतिबन्धक मेंडके हट जानेपर मेंडसे रुका हुआ खेतसे बाहरका पानी स्वय खेतमें आना आरम्भ हो जाता है । इसी प्रकार सूत्र सं० २ मे बतलाये हुए एक जातिसे दूसरी जातिमें बदल देनेका परिणाम उनकी उपादान-कारण प्रकृतिके भर देनेसे होता है । यही कारण है कि कभी-कभी ऐसा देखनेमें आता है कि अकस्मात् एक अधर्मी धर्मात्मा बन जाता है तथा कभी-कभी धर्मात्मा अधर्मी ।

सङ्गति—जब योगी बहुत-से शरीरोंका निर्माण करता है तब क्या एक मनवाला होता है वा अनेक मनवाला ? इसका उत्तर देते हैं—(व्यासभाष्य)

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—निर्माण-चित्तानि=निर्माण चित्त, अस्मिता-मात्रात्=अस्मिता-मात्रसे (होते हैं) ।

अन्वयार्थ—अस्मितामात्रसे निर्माण-चित्त होते हैं ।

व्याख्या—चित्तके कारण अस्मितामात्रको लेकर चित्तोंको निर्माण करता है उससे सचित्त होते हैं।—(व्यासभाष्य)

अर्थात् योगी अस्मिता-मात्रसे निर्माण-चित्तोंको अपने संकल्पमात्रसे निर्मित करता है। (बनाता है) इन निर्माण-चित्तोंसे योगीके बनाये हुए सब शरीर चित्तसंयुक्त होते हैं।

भोजवृत्तिमें इस सूत्रकी सङ्गति तथा सूत्रार्थ निम्न प्रकार दिये हैं—

सङ्गति—तत्त्वको साक्षात् करनेवाले योगीको जब एक बार ही कर्मफल भोगनेके लिये अपनी निरतिशय (सबसे बडी) सिद्धिके अनुभवसे एक साथ अनेक शरीरोंके रचनेकी इच्छा होती है, तब अनेक चित्त कैसे हो जाते हैं ? यह कहते हैं—

योगीके अपने रचे हुए शरीरोंमें जो चित्त होते हैं, वे अपने मूल कारण अस्मिता मात्रसे ही योगी-की इच्छासे फैल जाते हैं। जैसे अग्निसे निकले हुए कण एक बार ही परिणत होते हैं। (भोजवृत्ति)

विशेष विचार सूत्र ॥ ४ ॥ इस सूत्रकी सङ्गति तथा व्याख्यामें हमने व्यासभाष्य तथा भोजवृत्ति-के शब्दार्थ दे दिये हैं। योगीकी शक्ति अपरिमित हो सकती है और योगके बलसे ऐसी सिद्धिका होना भी सम्भव हो सकता है। पर यहाँ कई कारणोंसे यह संदेह होता है कि यह शब्द श्रीव्यासजी महाराज तथा भोजजीके ही हैं अथवा अन्य किसी और पुरुषने योगका अद्भुत चमत्कार दिखलानेके लिये एक समयमें बहुत-से शरीर और चित्तोंकी कल्पना करके यह शब्द बढ़ा दिये हैं। संदेहके कारण निम्नलिखित है—

(१) योगकी भिन्न-भिन्न प्रकारकी विभूतियाँ विभूतिपादमें वर्णन की गयी है। यदि सूत्रकारको कोई ऐसी 'निरतिशय' विभूति बतलाना अभिमत होता तो उसमें इसका कुछ-न-कुछ संकेत अवश्य किया जाता।

(२) अन्य ग्रन्थोंमें जहाँ कहीं बहुत-से भौतिक शरीरोंके एक साथ दिखलानेका वर्णन आया है, वे मायावी बतलाये गये हैं न कि वास्तविक और कर्मफल भोगकी निवृत्तिके लिये प्रकृति आपूर सूत्र २ की विधिके अनुसार निर्माण किये गये हैं।

(३) गुणोंका प्रथम विषम परिणाम चित्त है और पुरुष (चेतनतत्त्व) से प्रतिबिम्बित अर्थात् प्रकाशित चित्तकी सत्ता अस्मिता है। एक व्यष्टि चित्त दूसरे व्यष्टि चित्तोंका उपादान-कारण अर्थात् प्रकृति नहीं बन सकता। चित्तका विषम परिणाम अर्थात् विकृति अहंकार ही हो सकता है। इसलिये यदि यहाँ निर्माण-चित्तोंको अहंकारके अर्थोंमें लें तो अहंकार भिन्न होनेसे वह योगी उन अहंकारोंके कर्मों और फलोंका भोक्ता नहीं हो सकता है।

(४) यदि निर्माण-चित्तके अर्थ अहंकार न लेकर केवल चित्तके ही लें तो वे भी पुरुष (चेतनतत्त्व) से प्रतिबिम्बित होकर उस योगीसे भिन्न नये पुरुष (जीव) रूप हो जायँगे।

(५) कर्म तीन प्रकारके होते हैं—क्रियमाण, प्रारब्ध और संचित। प्रारब्धकर्म प्रधान कर्माशय नियत विपाकवाले होते हैं और संचितकर्म उपसर्जन कर्माशय अनियत विपाकवाले होते हैं। उन दोनोंमेंसे प्रथम श्रेणीके कर्म तो, जिन्होंने जन्म, आयु और भोग फल देना आरम्भ कर दिया है, भोगने ही होते हैं; किन्तु दूसरी श्रेणीके कर्मोंको जिन्होंने अभीतक फल देना आरम्भ नहीं किया है उनको इतनी सामर्थ्य-वान् योगी स्वयं दग्धबीज-तुल्य कर सकता है।

(६) बहुत-से शरीरोंके एक साथ निर्माण करनेका यहाँ कोई प्रसङ्ग नहीं है। यह संगतिके विरुद्ध है।

(७) यहाँ प्रथम सूत्रसे पाँच प्रकारकी सिद्धियोंद्वारा पाँच प्रकारके सिद्ध 'निर्माण' चित्तोंका प्रसङ्ग चला आ रहा है। एक साथ बहुत-से शरीरोंके रचनेका कहीं संकेतमात्र भी नहीं है।

(८) श्रीव्यासजी तथा भोजजी महाराजने स्वयं छठे सूत्रके भाष्य तथा वृत्तिमें निर्माण-चित्तके अर्थ जन्म, ओषधि आदिद्वारा उत्पन्न हुए पाँच सिद्ध चित्त बतलाये है न कि एक साथ उत्पन्न हुए अनेक शरीरोंके रचनेवाले अनेक चित्त।

इसको अधिक स्पष्ट करनेके लिये अर्थसहित मूलभाष्य और वृत्ति नीचे लिख देते है।

पञ्चविधं निर्माणचित्तं जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धय इति। तत्र यदेव ध्यानजं चित्तं तदेवानाशयं तस्यैव नास्त्याशयो रागादिप्रवृत्तिर्नातः पुण्यपापाभिसम्बन्धः क्षीणक्लेशत्वा-द्योगिन इति। इतरेषां तु विद्यते कर्माशयः॥ ६॥ —(व्यासभाष्य)

जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप, समाधिसे उत्पन्न जो पाँच प्रकारके सिद्ध निर्माण चित्त हैं, उनमें जो ध्यान (समाधि) से उत्पन्न हुआ चित्त है वही वासनारहित है। उसमें ही रागादि प्रवृत्ति और वासनाएँ नहीं होती। इस कारण क्लेश नष्ट होनेसे योगीका पुण्य-पापसे सम्बन्ध नहीं होता। दूसरों (चार—जन्म, ओषधि, मन्त्र और तपसे उत्पन्न होनेवाले सिद्ध निर्माण-चित्तों) की तो कर्म और वासनाएँ विद्यमान रहती हैं।

ध्यानजं समाधिजं यच्चित्तं तत्पञ्चसु मध्येऽनाशयं कर्मवासनारहितमित्यर्थः॥ ६॥

—(भोजवृत्ति)

ध्यानजं अर्थात् समाधिसे उत्पन्न हुआ जो चित्त है वह उन पाँचो (सिद्ध निर्माणचित्तों) में अनाशय अर्थात् कर्मकी वासना और सस्कारोंसे रहित होता है यह अभिप्राय है।

उपर्युक्त सब बातोंको दृष्टिकोणमें रखते हुए सूत्र ४ की व्याख्या इस प्रकार होनी चाहिये—

निर्माणचित्तानि=जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप, समाधि—इन पाँच सिद्धियोंसे उत्पन्न होनेवाले पाँच प्रकारके सिद्ध-चित्त जिनका प्रथम सूत्रसे प्रसङ्ग चला आ रहा है।

अस्मितामात्रात्=पुरुषसे प्रतिबिम्बित चित्तसत्त्व (जिससे अहङ्कार उत्पन्न होता है अर्थात् जिसमें अहङ्कार बीजरूपसे रहता है) जो निर्माणचित्तोंकी प्रकृति है। उन विलक्षण शक्तिवाले सिद्ध शरीर इन्द्रियों आदिको रचनेवाले सिद्ध निर्माणचित्त अस्मितामात्रसे उत्पन्न होते हैं अर्थात् उनकी प्रकृति (उपादान कारण) अस्मिता (चित्तसत्त्व) है। जिसके 'आपूर' से उनमें यह विलक्षण परिणाम होता है।

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्॥ ५॥

शब्दार्थ—प्रवृत्ति-भेदे=प्रवृत्तिके भेदमें; प्रयोजकम्=प्रेरनेवाला, चित्तम्=चित्त; एकम्=एक; अनेकेषाम्=अनेकोंका होता है।

अन्वयार्थ—प्रवृत्तिके भेदोंमें एक चित्त अनेकोंका प्रेरनेवाला होता है।

व्याख्या—एक चित्तसे किस प्रकार अनेक चित्तोंके अभिप्रायपूर्वक प्रवृत्ति होती है। इस शंकाके उत्तरमे कहते हैं कि सब चित्तोंका प्रवर्त्तक एक चित्त है, उससे प्रवृत्तिभेद होता है।—(व्यासभाष्य)

उन अनेक चित्तोके वृत्तिभेद होनेमें एक ही चित्त अधिष्ठाता होकर प्रेरणा करनेवाला होता है। इससे अनेक चित्तोंका मतभेद नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जैसे एक मन अपने शरीरका अधिष्ठाता बनकर चक्षु-हस्तादिकी इच्छापूर्वक प्रेरणा करता है, वैसे ही अन्य कार्योंमें भी प्रेरक माना जाता है।—(भोजवृत्ति)

विशेष विचार ॥ सूत्र ५ ॥ पिछले वि० वि० अनुसार सूत्रकी व्याख्या इस प्रकार होगी—ऊपर बताये हुए पाँचो निर्माणचित्तोका नाना प्रकारकी प्रवृत्तिमें लगानेवाला अस्मिता अर्थात् अधिष्ठाता चित्त है। इन चित्तोकी सारी प्रवृत्तियाँ उसी एक अधिष्ठाता चित्तके अधीन हैं।

सगति—इन पाँच प्रकारकी सिद्धियोसे उत्पन्न हुए निर्माणचित्तोमेंसे समाधिजन्य चित्तकी विलक्षणता अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—तत्र=उनमेसे (पाँच प्रकारके निर्माण-सिद्धचित्तोंमेंसे); ध्यानजम्=ध्यानसे उत्पन्न होनेवाला (चित्त), अनाशयम्=वासनाओसे रहित (होता) है।

अन्वयार्थ—उन पाँच प्रकारके जन्म, ओषधि आदिसे उत्पन्न हुए पाँचों निर्माणसिद्ध-चित्तोमेंसे समाधिसे उत्पन्न होनेवाला चित्त वासनाओंसे रहित होता है।

व्याख्या—जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधिसे उत्पन्न जो पाँच प्रकारके सिद्धनिर्माण-चित्त हैं, उनमें जो ध्यान (समाधि) से उत्पन्न हुआ चित्त है, वही वासनारहित है। उसमें ही रागादि प्रवृत्ति और वासनाएँ नहीं होतीं। इस कारण क्लेश नष्ट होनेसे योगीका पुण्य-पापसे सम्बन्ध नहीं होता। दूसरो (चार—जन्म, ओषधि, मन्त्र और तपसे उत्पन्न होनेवाले) सिद्ध-निर्माण-चित्तोकी तो कर्म और वासनाएँ विद्यमान रहती हैं।—(व्यासभाष्य)

ध्यानज अर्थात् समाधिसे उत्पन्न हुआ जो चित्त है, वह उन पाँचों (सिद्ध निर्माण चित्तोमें) अनाशय अर्थात् कर्मकी वासना और संस्कारोसे रहित होता है—यह अभिप्राय है। (भोजवृत्ति)

सगति—जब योगी भी साधारण मनुष्योंकी भाँति कर्म करते देखे जाते हैं, तो उनके चित्त वासनारहित किस प्रकार हो सकते हैं ?

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—कर्म=कर्म; अशुक्ल अकृष्णम्=न शुक्ल न कृष्ण; योगिन.=योगीका; त्रिविधम्=तीन प्रकारका, इतरेषाम्=दूसरोका होता है।

अन्वयार्थ—योगीका कर्म अशुक्लाकृष्ण (न शुक्ल न कृष्ण अर्थात् निष्काम) होता है, दूसरोंका तीन प्रकारका (पाप, पुण्य और पाप-पुण्य-मिश्रित) होता है।

व्याख्या—कर्म चार प्रकारके होते है—

१ कृष्ण—पापरूप कर्म अर्थात् हिंसा आदि दूसरोको हानि पहुँचानेवाले स्तेय, व्यभिचार आदि कर्म दुराचारी पुरुषोंके होते है।

२ शुक्ल—पुण्यकर्म अहिंसा आदि दूसरोंको लाभ पहुँचानेवाले, स्वाध्याय, तप, ध्यान आदि धर्मक्रियाओंके होते है।

३ कृष्ण-शुक्ल—पापपुण्यमिश्रित कर्म—जिनमें किसीको हानि, किसीको लाभ हो, साधारण मनुष्योंके होते हैं ।

४ अशुक्ल अकृष्ण—न पुण्य न पाप अर्थात् फलोंकी वासनारहित निष्काम शुद्ध कर्म ।

इनमेंसे योगियोंके कर्म अशुक्ल अकृष्ण होते है अर्थात् न पुण्यवाले न पापवाले । पापकर्म तो वे कभी करते ही नहीं । क्योंकि वे उनके लिये सर्वदा त्याज्य है, इस कारण उनके कर्म अकृष्ण है । शुक्लकर्मोंको निष्कामभावसे फलोंको त्यागकर करते है, इस कारण वे अशुक्ल होते हैं । साधारण मनुष्योंकी तरह उनको कर्ममें प्रवृत्त करनेवाले अविद्या आदि क्लेश नहीं होते; बल्कि वे अपने आपको तथा अपने सब कर्मों और उनके फलोंको ईश्वर-समर्पण करके केवल उसकी आज्ञापालनमें अपना कर्तव्य समझते हुए करते हैं । इस कारण वे वासनारहित है ।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः । लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि । योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् । अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥

(गीता ५ । १०—१२)

'जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामे अर्पण करके आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेके सदृश पापसे लिप्यमान नहीं होता । निष्काम कर्मयोगी केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं । निष्काम कर्मयोगी कर्मोंके फलोंको परमेश्वरके अर्पण करके परमात्मप्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकामी पुरुष फलोंमें आसक्त हुआ कामनाके द्वारा बँधता है' ॥ १०-१२ ॥

साधारण मनुष्योंके तीन प्रकारके कर्म १—शुक्ल=अच्छे, २—कृष्ण=बुरे, ३—शुक्ल-कृष्ण-मिश्रित—अच्छे-बुरे मिले हुए होते है । इस कारण वे चित्तमें फलोंकी वासनाको पैदा करते हैं ।

संगति—ऊपर बताये हुए योगियोंसे अतिरिक्त साधारण मनुष्योंके तीन प्रकारके कर्मोंका फल बताते हैं—

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—ततः=उससे (तीन प्रकारके कर्मोंसे); तद्-विपाक-अनुगुणानाम् एव=उन्हींके फलके अनुकूल ही, अभिव्यक्तिः—प्रकटता; वासनाम्=वासनाओंकी होती है ।

अन्वयार्थ—उन तीन प्रकारके कर्मोंसे उनके फलके अनुकूल ही वासनाओंकी अभिव्यक्ति (प्रादुर्भाव) होती है ।

व्याख्या—योगियोंसे अतिरिक्त सकामी पुरुष फलोंकी वासनासे कर्म करते हैं । जैसे कर्म होते हैं, उनके फलोंके अनुकूल गुणोंवाली वासनाएँ उत्पन्न होती हैं । उन वासनाओंसे फिर वैसे ही कर्म और उनसे फिर उसी प्रकारकी वासनाएँ बनती हैं । वासनाएँ चित्तमें दो प्रकारके संस्काररूपसे होती हैं । एक स्मृतिमात्र फलवाली, दूसरी जाति, आयु, भोग-फलवाली । जब कोई कर्म फल देता है तो उसके फलके अनुकूल ही सारी वासनाएँ प्रकट हो जाती हैं । उदाहरणार्थ—जब कर्मोंका फल मनुष्य-जन्म होता है तो स्मृति फलवाली वासनाएँ, मनुष्य-जाति, आयु और भोगवाली वासनाओंको जो जन्म-जन्मान्तरोंसे

चित्तमें सस्काररूपसे पड़ी हुई है, जगा देती है। उससे भिन्न अन्य जाति, आयु और भोगवाली वासनाएँ चित्तभूमिमें दबी रहती हैं। इसी प्रकार यदि कर्मोंका फल (कर्मविपाक) कोई पशुयोनि हो तो उस जाति-आयु और भोगकी वासनाओकी स्मृति-फलवाली वासनाएँ जगा देती हैं। और वे अपना फल देने लगती है। इसका विवरण विस्तारपूर्वक (२ । १२ । १३) सूत्रमें आवागमनके सम्बन्धमें किया गया है।

संगति—वासनाएँ सैकड़ो जन्म पूर्वकी होती हैं और इनमें देश तथा समयका भी अत्यन्त अन्तर होता है, फिर एक जन्मको देनेके लिये भिन्न-भिन्न जन्मो, देशो और कालोमें चित्तमें पड़ी हुई वासनाएँ एक साथ किस प्रकार प्रकट हो सकती है ? उत्तर—

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—जाति-देश-काल-व्यवहितानाम्-अपि=जाति, देश और कालसे व्यवधानवाली (वासनाओ) का भी; आनन्तर्यम्=व्यवधान (दूरत्व) नहीं होता है; स्मृति-सस्कारयोः=स्मृति और सस्कारके, एकरूपत्वात्=एकरूप होनेसे—समानविषयक होनेसे।

अन्वयार्थ—जाति, देश और कालकृत व्यवधानवाली वासनाओका भी व्यवधान नहीं होता; क्योकि स्मृति और संस्कार एकरूप (समानविषयक) होते हैं।

व्याख्या—जाति, देश और कालका निकट होना वासनाओके संस्कारोंके प्रकट होनेका कारण नहीं होता है, बल्कि उनको प्रकट करनेवाला कारण उनका अपना-अपना अभिव्यञ्जक (प्रकट करनेवाला) होता है। वह संस्कार चाहे कितने ही पिछले जन्मोके हो और चाहे उनमें कितना ही देश और कालका व्यवधान (फासला) हो अभिव्यञ्जक मिलनेपर तुरत प्रकट हो जाते हैं। उदाहरणार्थ—जब कर्मफल (कर्मविपाक) यह हो कि मनुष्य किसी पशुयोनिमें जाय तो वह उन सब वासनाओके संस्कारोके जगानेमें अभिव्यञ्जक हो जाते हैं जो उस जातिके बननेवाले अथवा उनमें भोगे जानेवाले है। चाहे वे सैकड़ो जन्म पहलेके बने हुए हो, चाहे सहस्रों वर्ष व्यतीत हो गये हो और कितने ही दूर देशोके क्यो न बने हो। यह व्यवधान उनके प्रकट होनेमें रुकावट न डाल सकेंगे; क्योकि स्मृति सस्कारोके सदृश उत्पन्न होती है। जैसे सस्कार हो वैसी स्मृति होती है।

सगति—जब वासनाओके अनुसार ही जन्म होता है और कर्मोंके अनुसार वासनाएँ तो सबसे पहले जन्म देनेवाली वासना कहाँसे आयी ? उत्तर—

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

शब्दार्थ—तासाम्=उन (वासनाओ) को, अनादित्वं च=अनादिता भी है; आशिषः=आशिषके—अपने कल्याणकी इच्छाके; नित्यत्वात्=नित्य होनेसे।

अन्वयार्थ—उन वासनाओको आशिष (अपने कल्याणकी इच्छा) के नित्य होनेसे अनादित्व भी है।

व्याख्या—आशिष—अपने कल्याणकी इच्छा कि मेरे सुख साधन सदैव बने रहे। उनसे मेरा वियोग कभी न हो। यह इच्छा सर्व प्राणियोमें सदैव पायी जाती है। यही सकल्प-विशेष सब वासनाओं-का कारण है। इसके सदासे बने रहनेके कारण वासनाओका सदासे बना रहना है। यह इच्छा

(संकल्पविशेष) प्रवाहसे अनादि है इसलिये वासनाओंका भी प्रवाहसे अनादित्व सिद्ध होता है, इसका कोई आदि नहीं है ।

विशेष वक्तव्य—॥ सूत्र १० ॥ इस सूत्रके भाष्यमें भाष्यकारने प्रसङ्गसे चित्तके परिमाणका विशेषताके साथ वर्णन किया है । उसको बतलानेके निमित्त व्यासभाष्य अर्थसहित लिखे देते है ।

तासां वासनानामाशिषो नित्यत्वादनादित्वम् । येयमात्माशीर्मा न भुवं भूयासमिति सर्वस्य दृश्यते सा न स्वाभाविकी । कस्मात् । जातमात्रस्य जन्तोरननुभूतमरणधर्मकस्य द्वेषदुःखानुस्मृतिनिमित्तो मरणत्रासः कथं भवेत् । न च स्वाभाविकं वस्तु निमित्तमुपादत्ते । तस्मादनादिवासनानुविद्धमिदं चित्तं निमित्तवशात्काश्चिदेव वासनाः प्रतिलभ्य पुरुषस्य भोगायोपावर्तत इति ।

(घटप्रासादप्रदीपकल्पं संकोचविकासि चित्तं शरीरपरिमाणाकारमात्रमित्यपरे प्रतिपन्नाः । तथा चान्तराभावः संसारश्च युक्त इति ।

वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य संकोचविकासिनीत्याचार्यः)

तच्च धर्मादिनिमित्तापेक्षम् । निमित्तं च द्विविधम्—बाह्यमाध्यात्मिकं च । शरीरादिसाधनापेक्षं बाह्यं स्तुतिदानाभिवादनादि, चित्तमात्राधीनं श्रद्धाद्याध्यात्मिकम् । तथा चोक्तम्—ये चैते मैत्र्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाह्यसाधननिरनुग्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्ममभिनिवर्तयन्ति । तयोर्मानसं बलीयः । कथं ज्ञानवैराग्ये केनातिशय्यते दण्डकारण्यं च चित्तबलव्यतिरेकेण शारीरेण कर्मणा शून्यं कः कर्तुमुत्सहेत समुद्रमगस्त्यवद्वा पिबेत ॥ १० ॥

अर्थ—आशिषके नित्य होनेसे उन वासनाओंका अनादित्व पाया जाता है । 'मा न भुव भूयासम्' 'ऐसा न हो कि मैं न होऊँ' किंतु 'बना रहूँ' यह आशिष अर्थात् अपने सदा बने रहनेकी प्रार्थना (इच्छा) हर-एक प्राणधारीमें पायी जाती है । यह स्वाभाविक नहीं है; क्योंकि वह जन्तु जो अभी उत्पन्न हुआ है और जिसने इस जन्ममें किसी भी प्रमाणसे मरनेके दुःखको अनुभव नहीं किया है, वह भी दुःख अनुभवसे पीछे होनेवाले स्मृतिके निमित्त मरण-त्राससे द्वेष करता है । स्वाभाविक वस्तु निमित्तके आश्रय नहीं होती इस कारण यह चित्त अनादि वासनाओंसे बँधा हुआ निमित्तके वशसे किसी वासनाको लब्ध करके पुरुषके भोग आयु प्राप्त कराता है ।

अर्थात् यद्यपि चित्त अनादि अनेक जन्मोंकी विलक्षण वासनाओंसे अनुविद्ध (युक्त) है तथापि सब वासनाएँ अभिव्यक्त (प्रकट) नहीं होती । किंतु जो कर्म फल देनेको उन्मुख हुआ है वही कर्म जिनका व्यञ्जक होता है, वे वासनाएँ उदित होकर पुरुषके भोगमें निमित्त होती है, अन्य वासनाएँ दबी रहती है । यहाँ प्रसङ्गसे भाष्यकार चित्तके परिमाणके सम्बन्धमें अन्य तथा योगदर्शनके सूत्रकारके विचार बतलाते हैं—

'घटप्रासाद युक्त इति'=कई एक दर्शनोंका मत है कि जिस प्रकार दीपकका प्रकाश, दीपकको घटमें रखनेसे सकुचित हो जाता है और महलमें रखनेसे विकसित हो जाता है, इसी प्रकार चित्त (मनुष्य, हाथी, चींटी आदि) जिस शरीरमें जाता है उस परिमाण आकार-मात्र हो जाता

है; इसलिये उसकी (सूक्ष्म-शरीरमें रहते हुए) मृत्युके समय 'अन्तराभाव' परलोकगमन अर्थात् एक स्थूल शरीरका छोडना और (उसी सूक्ष्म शरीरमें रहते हुए जन्म लेनेके समय) 'ससार' परलोकसे आगमन अर्थात् दूसरे स्थूल शरीरमें प्रवेश करना 'युक्त' सिद्ध होता है ।

'वृत्तिरेव' · ·· 'आचार्य'=आचार्य अर्थात् योगदर्शनके सूत्रकार श्रीपतञ्जलि महाराजका यह सिद्धान्त है कि इस विभु चित्तकी वृत्ति ही सङ्कोच-विकासवाली है (चित्त सङ्कोच-विकासवाला नहीं है; क्योकि वह विभु है)" "और यह (चित्तका वृत्तिमात्रसे शरीरमात्रमें) सङ्कोच-विकास धर्मादि (धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य) निमित्तकी अपेक्षासे होता है । यह निमित्त दो प्रकारके होते हैं—बाह्य और आध्यात्मिक । शरीर (इन्द्रिय, धन आदि) की अपेक्षा रखनेवाले स्तुति, दान, अभिवादन आदि बाह्य निमित्त है । और चित्तमात्रके अधीन अर्थात् चित्तमात्रसे ही होनेवाले श्रद्धा आदि (श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा, वैराग्य आदि) आध्यात्मिक निमित्त है । और ऐसा ही पूर्व आचार्य (पञ्चशिखाचार्य) ने कहा है—यह जो योगियोके मैत्री आदि तथा श्रद्धा आदि विहार (प्रयत्नसाध्य व्यापार) हैं वे बाह्य साधन (शरीर आदि) की अपेक्षासे रहित है और अति प्रकृष्ट (अति उत्तमशुक्ल) धर्मको उत्पन्न करते हैं । इन दोनो (बाह्य और आध्यात्मिक साधनों) मेंसे मानस (आध्यात्मिक) बलवान् है; क्योकि ज्ञान-वैराग्य जो मानव-धर्म हैं, उनसे अधिक प्रबल कोई बाह्य साधन नहीं है । चित्त-बलके बिना (केवल) शारीरिक-बलसे कौन दण्डक वनको (खरदूषणादि चौदह हजार राक्षसोका क्षय करके राक्षसोसे) शून्य करनेका उत्साह (श्रीरामचन्द्रजीके सदृश) कर सकता है (तथा) कौन अगस्त्य मुनिके समान समुद्रको पी सकता है ।"

भाष्यका स्पष्टीकरण—

१ तासाम् · ·· दृश्यते । आशिषके नित्य होनेसे वासनाओंका तथा जन्मोका प्रवाहसे नित्य होना सिद्ध किया है ।

२ सा न स्वाभाविकी · ·· "मुपादत्ते ॥ नास्तिकोके इस तर्कका कि तत्काल उत्पन्न हुए जन्तुका इष्ट वस्तुओके देखनेमें हर्ष और अहितकर वस्तुओके देखनेमें शोक प्रकट करना कमल-पुष्पके खिलने और मुरझानेके सदृश स्वाभाविक है इस युक्तिसे खण्डन किया है कि कमलका खिलना और मुरझाना भी स्वाभाविक नहीं, किंतु सूर्यकी किरणोंके निमित्तसे है, क्योकि स्वाभाविक वस्तुएँ सदा एक-सी रहती है—जैसे अग्निकी उष्णता । इसी प्रकार तत्काल उत्पन्न हुए बच्चेका हर्ष, शोक स्वाभाविक नहीं किंतु पूर्व जन्मोंमें सुख-दु.खके अनुभवोकी स्मृति उसका निमित्त है' ।

३ तस्मादनादि वा· · ··· · 'इति ॥ चित्तका अनादि अनेक जन्मोकी वासनाओसे चित्रित होना और पुरुषके भोगका सम्पादन कराना सिद्ध किया है । (यह सिद्धान्त सब दर्शनकारोंको अभिमत है) ।

४ घटप्रासाद· · · युक्त इति ॥ नैयायिको तथा वैशेषिकोका मत दिखलाते है, न्याय और वैशेषिकने पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुके उन सूक्ष्म परमाणुओंको जिनका कोई विभाग न हो सके और मनको अणु (सूक्ष्म) परिमाण माना है । दिशा, काल, आकाश तथा आत्माको विभु (व्यापक) महत् परिमाण माना है । अणु और विभु दोनो नित्य होते है । अनेक परमाणुओसे मिलकर जो पदार्थ

बनते हैं वे मध्यम परिमाणवाले होते हैं, जैसे पृथ्वी, जल आदि। ये अनित्य है, क्योंकि सयोगका विभाग होना आवश्यक है। यह मध्यम परिमाणवाले पदार्थ वास्तवमें न अणु हैं न विभु। परतु एक दूसरेकी अपेक्षासे परस्पर अणु और महत् भी कहलाते है, जैसे पृथ्वीकी अपेक्षासे घट अणु है और घटकी अपेक्षा पृथ्वी महत् परिमाणवाली है (६ । ११ वैशेषिक)। इन दोनो दर्शनोंमे चित्तकी संज्ञा मनकी है जिसमें सब जन्मोंके वासनारूप संस्कार रहते हैं। मन दीपकके तुल्य प्रकाशवाला है। जिस प्रकार एक कोचकी चिमनीमे प्रकाशमान ज्योतिका प्रकाश घटमे रखनेसे उसके परिमाणके अनुसार संकुचित और बड मकानमें रखनेसे उसके परिमाणके अनुसार विकसित होता है। इसी प्रकार अणु परिमाण मन सकोच-विकासवाला है, सूक्ष्म शरीररूपी चिमनीमे प्रकाशमान जब वह किसी छोटे चींटी आदिके स्थूल शरीरमें जाता है तो उसका प्रकाश उसके शरीरके परिमाणके अनुसार सकुचित हो जाता है और जब मनुष्य हाथी आदि जैसे बडे स्थूल शरीरमे होता है तो उसके परिमाणके अनुसार विकसित हो जाता है।

तदभावादणु मनः (७ । १ । २३ वैशेषिक)

उसके अर्थात् विभुत्वके अभावसे मन अणु है।

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु । (३ । २ । ६३ न्याय)

उक्त हेतु अर्थात् युगपत् ज्ञानके न होनेसे मन अणु है।

यहाँ यह भी जान लेना चाहिये कि इस न्याय और वैशेषिकमे बतलाये हुए मनकी सज्ञा सांख्य और योगमे अहकार है।

५ वृत्तिरेवास्य····· ····त्याचार्यः ॥ इससे भाष्यकारने योगदर्शनके सूत्रकारका सिद्धान्त बतलाया है अर्थात् चित्त धर्मी विभु है, उसमें सकोच-विकास नहीं होता, उसके धर्म-वृत्तियोमे ही संकोच-विकास होता है। वृत्तियोका लाभ जन्म है और उनके छिप जानेका नाम मृत्यु है। ये वृत्तियाँ नैयायिकोके गुण नहीं है किंतु द्रव्य हैं।

शका—चित्त प्रधान प्रकृतिका कार्य होनेसे विभु अर्थात् महत् परिमाणवाला नहीं हो सकता। और यह साख्य तथा योग-सिद्धान्तके विरुद्ध भी है।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकाश्रितं लिङ्गम् ॥ (१ । १२४ साख्यदर्शन)

कारणवाला अर्थात् कार्य, अनित्य, अव्यापी, क्रियावाला, अनेक आश्रयवाला; ये कार्यके लिङ्ग हैं (जो कारण प्रकृतिको बतलाते हैं)।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् । सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् । (१० साख्यकारिका)

कारणवाला, अनित्य, अव्यापी, क्रियावाला, अनेक आश्रित, चिह्न, अवयववाला, पराधीन, व्यक्त होता है और इससे उल्टा अव्यक्त।

समाधान—उपर्युक्त सांख्यसूत्र तथा कारिकामें प्रकृति और विकृतिके लक्षण बताये हैं। सांख्य और योगने अणुत्व और विभुत्वको न्याय और वैशेषिकके (परमाणु आदिकी अपेक्षासे) पारिभाषिक अर्थमें नही प्रयोग किया है, किंतु (गुणोके परिणामकी अपेक्षासे) अव्यक्त और व्यापी अर्थमें प्रयोग किया है।

उन्होने आठ प्रकृतियाँ, मूलप्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पाँच तन्मात्राएँ और १६ केवल विकृतियाँ, पाँच स्थूलभूत और मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ मानी है। मूलप्रकृति निरपेक्ष प्रकृति है, अन्य सात प्रकृतियाँ सापेक्ष अर्थात् अपनी प्रकृतियोंकी अपेक्षा विकृति और विकृतियोकी अपेक्षा प्रकृति हैं। प्रत्येक प्रकृति अपनी विकृतिमें व्यापी होनेसे उसकी अपेक्षा विभु है और उसमें अव्यक्त (सूक्ष्म अप्रकट) रूपसे अनुगत रहनेके कारण उसकी अपेक्षा अणु (सूक्ष्म) है। और विकृतिरूपसे अव्यापी और व्यक्त (प्रकट) होती है। इसी प्रकार (मूल प्रकृतिके अतिरिक्त सातो प्रकृतियोमेंसे) हरेक प्रकृतिके प्रकृति और विकृति होनेकी अपेक्षासे उपर्युक्त लक्षण जानना चाहिये।

मूल प्रकृति अपने प्रकृति रूपसे अव्यक्त तथा गुणोके साम्य परिणामवाली होनेसे परोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष करने योग्य नहीं है, केवल उसकी व्यक्त विकृतियोंसे और गुणोके विषम परिणामोसे उसकी सत्ता अनुमानगम्य है। गुणोके साम्य परिणामवाली होनेसे पुरुषके भोग अपवर्ग सम्पादनमे भी निष्प्रयोजन है। भाव यह है कि प्रकृति केवल विकृतिरूपसे ही अपनेको व्यक्त कर सकती है, प्रकृतिरूपसे नहीं। मूल प्रकृति केवल प्रकृति है, स्वयं किसीकी विकृति नहीं है। इसलिये अव्यक्त रूपसे प्रत्यक्ष करने योग्य नहीं है, केवल सत्तामात्र अनुमानगम्य और आगमगम्य है। योगीजन जो विवेकख्यातिमें तीनो गुणोके अलग-अलग परिणामोको साक्षात् करते हैं, उससे गुणोके साम्य परिणामकी सत्ताका अनुमान करते हैं। अर्थात् महत्तत्त्वके साक्षात्कारसे मूलप्रकृति अनुमेय है। और यदि उस साक्षात्कारको मूल प्रकृति ही मान लिया जाय तो वह व्यक्त होनेसे किसी और अव्यक्त प्रकृतिकी अपेक्षावाली होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायगा। इसलिये चित्त यद्यपि प्रधान प्रकृतिकी अपेक्षा अव्यापी लिङ्ग और विषम परिणामवाला है, तथापि अन्य सब विकृतियोकी प्रकृति होनेसे सारी सृष्टिकी अपेक्षा व्यापी अर्थात् विभु है। इसलिये इसकी सज्ञा महत्तत्त्व अर्थात् विभु परिमाणवाला तत्त्व की गयी है।

चित्तमें 'अहम्' भाव पैदा करके भिन्नता करनेवाली महत्तत्त्वकी विकृति अहकार है। साख्य तथा योगकी परिभाषामे प्रकृति उपादान कारण और धर्मी तथा विकृति कार्य, धर्म, परिणाम और वृत्ति एकार्थक शब्द है। इसलिये वृत्ति शब्द चित्तके धर्म अहकारके लिये प्रयुक्त हुआ है, अर्थात् विभु चित्तका सकोच-विकास उसके धर्म अहकाररूपसे होता है। इसी कारण साख्यने अहंकारमे ही कर्त्तापन बतलाया है। यथा 'अहकार. कर्ता न पुरुष' इस सम्बन्धमें अगले सूत्रोमें विशेष व्याख्या की जायगी।

शका—मन न अणु है न विभु है, किंतु मध्यम परिमाणवाला है। जैसे—

न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा ॥ सक्रियत्वाद् गतिश्रुतेः ॥

(५। ६९—५। ७० सा० द०)

मनको व्यापकता नहीं है करण होनेसे, इन्द्रिय होनेसे, क्रियावाला होनेसे, और (परलोकमें) गति सुननेसे इससे मनके विभु होनेका खण्डन है।

न निर्भागत्वं तद्योगाद्घटवत् ॥ (५। ७१ सा० द०)

वह निरवयव भी नहीं है, क्योकि उसका घटके समान योग है। इससे अणु होनेका खण्डन किया है।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ॥ (मुण्डक० २। १। ३)

इस (परमात्मा) से प्राण, मन और सारी इन्द्रियाँ उत्पन्न होते है। इससे चित्तका मध्यम परिमाण होना सिद्ध है।

समाधान—सांख्यने आठ प्रकृतियाँ और १६ विकृतियाँ मानी हैं जैसा ऊपर बतला आये हैं। यहाँ 'मन' शब्दका 'महत्तत्त्व' प्रकृतिके लिये नहीं प्रयोग हुआ किंतु सोलह विकृतियोंमें जो ग्यारह इन्द्रियाँ हैं, उस मन इन्द्रियके लिये (५, ६९, ७०, ७१ सांख्यदर्शन) प्रयोग हुआ है। वह केवल विकृति होनेसे न विभु है, न अणु है; किंतु मध्यम परिमाणवाला है और (मुण्डक उप० २। १। ३) में पुरुषके शुद्ध स्वरूप अर्थात् परब्रह्मको अक्षर, अव्यक्त, प्रकृतिसे परे तथा सब कार्य-जगत्का निमित्त कारण बतलाया है। प्राण, मन, इन्द्रियादिमें परस्पर भिन्नता अथवा उपादान कार्य-भाव नहीं बतलाया गया है।

श्रुतिमें मनको चित्त अर्थमें विभु ही बतलाया है। जैसे—

अनन्तं वै मनः (बृ० उप०)

चित्त अनन्त (विभु) है।

सारांश—'वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य संकोचविकासिनी' का थोडे-से शब्दोमें इस प्रकार स्पष्टीकरण समझ लेना चाहिये कि वृत्ति, परिणाम, धर्म और विकृति तथा प्रकृति, उपादान कारण और धर्मी एकार्थक शब्द हैं। प्रकृति अपनी विकृतिकी अपेक्षा विभु अर्थात् व्यापक होती है। इसलिये पाँचो तन्मात्राएँ तथा ११ इन्द्रियाँ विभु अहंकारकी वृत्तिरूप है। और अहंकार भी विभु चित्तका वृत्तिरूप ही है।

संगति—जब वासनाएँ अनादि है तो उनका अभाव भी नहीं हो सकता और उनके अभाव न होनेसे मुक्ति असम्भव है। उत्तर—

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—हेतु-फल-आश्रय-आलम्बनैः=हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनसे (वासनाओका); संगृहीतत्वात्=संगृहीत होनेसे; एषाम्=इनके (हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनके), अभावे=अभावमें; तद्-अभावः=उनका (वासनाओका) अभाव होता है।

अन्वयार्थ—हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनसे वासनाओंके संगृहीत होनेसे इनके (हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनके) अभावसे उन (वासनाओ) का अभाव होता है।

व्याख्या—१ वासनाओका हेतु-अविद्या आदि क्लेश, शुक्ल, कृष्ण तथा दोनों मिश्रित सकाम कर्म हैं।

२ वासनाओंका फल—जाति, आयु और भोग है।

३ वासनाओका आश्रय—अधिकारसहित चित्त है।

४ वासनाओका आलम्बन—इन्द्रियोके विषय है।

यद्यपि वासनाएँ अनादि है और अनन्त हैं तथापि वे सब इन्हीं हेतु-फल-आश्रय और आलम्बनके सहारे रहती है। इनकी स्थितिमें वासनाओकी उत्पत्ति होती है और अभावमें नाश। विवेक-ख्यातिद्वारा तत्त्वज्ञानसे अविद्या आदि क्लेशोका उनके फल आश्रय और आलम्बनसहित अभाव हो जाता है, उनके नाश होनेपर वासनाओका भी अभाव हो जाता है।

व्यासभाष्यका भाषानुवाद ॥ सूत्र ११ ॥

हेतु आदिके उदाहरण ये है । यथा—धर्मसे सुख, अधर्मसे दुःख, सुखमे राग और दुःखमें द्वेष होता है । इन राग और द्वेषसे प्रयत्न होता है । उस प्रयत्नसे मन, वाणी और शरीरसे चेष्टा करता हुआ किसीपर अनुग्रह करता है और किसीकी हानि । ऐसा करनेसे फिर धर्म-अधर्म, सुख-दुःख, राग-द्वेष होते हैं । इस प्रकार यह छः अरोंवाला संसार-चक्र चलता है । इस प्रतिक्षण घूमते हुए चक्रको चलानेवाली अविद्या है । वही सब क्लेशोका मूल होनेसे अनन्त-अनादि वासनाओंका हेतु (कारण) है । जिसके आश्रय होकर जो उत्पन्न होता है वह उसका फल है तथा धर्म-अधर्मके सुख-दुःख भोग फल है । अविकारसयुक्त चित्त वासनाओंका आश्रय है, क्योकि जिस चित्तकी फलभोगरूप सामर्थ्य समाप्त हो गयी है उसमे ये वासनाएँ निराश्रय होकर नहीं ठहर सकतीं । जिसके सम्मुख होनेसे जो वासना प्रकट होती है वही उसका आलम्बन है (वे रूप, रस आदि इन्द्रियके विषय हैं) । इस प्रकार सब वासनाएँ हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनसे सगृहीत है (इसलिये यद्यपि ये वासनाएँ अनादि और अनन्त हैं तथापि) इन हेतु आदि चारोके अभाव होनेपर उनके आश्रय रहनेवाली वासनाओका अभाव हो जाता है ।

भोजवृत्ति भाषानुवाद ॥ सूत्र ११ ॥

उन वासनाओके अनन्त होनेसे उनका नाश कैसे होता है ? इस आशङ्काको करके नाशका उपाय कहते है—

वासनाओका समीपवर्ती (वर्तमान) ज्ञान कारण है । उस सुखदुःखादिके ज्ञानके राग-द्वेषादि कारण हैं । उन राग-द्वेषादिकोका कारण अविद्या है । इस प्रकार वासनाओंका कारण साक्षात् अथवा परम्परा-से अविद्या है । वासनाओंके फल शरीरादि और स्मृत्यादि है । वासनाओका स्थान चित्त है । जो ज्ञानका विषय है, वही वासनाओ (सस्कारो) का विषय है । इससे उन हेत्वादिकोसे अनेक वासनाओका भी सग्रह व्यापन हो रहा है अर्थात् अनेक वासनाएँ व्याप्त हैं । जब वासनाओंके हेत्वादिकोका नाश हो जाय अर्थात् ज्ञान और योगसे उन हेत्वादिकोंको जले हुए बीजके बराबर कर दिया जाय तो जडके न रहनेसे वासनाएँ नहीं उगतीं अर्थात् शरीरादिको नही आरम्भ करतीं । इस प्रकार अनन्त वासनाओका नाश हो जाता है ।

सगति—अभावका कभी भाव नहीं होता और भावका कभी अभाव (नाश) नहीं होता । इस कारण वासनाओका और उनके हेतु, अविद्या आदि क्लेशोंका जो भावरूप है अभाव कैसे सम्भव है ? उत्तर—

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—अतीत-अनागतम्=भूत और भविष्यत्; स्वरूपतः-अस्ति=स्वरूपसे रहते है क्योकि, अध्व-भेदात्=कालसे भेद होता है, धर्माणाम्=धर्मोका ।

अन्वयार्थ—अतीत और अनागत स्वरूपसे रहते हैं, क्योंकि धर्मोका कालसे भेद होता है ।

तात्पर्य—वासनाएँ और उनके हेतु आदिका अभाव कहनेसे यह अभिप्राय नहीं है कि उनका अत्यन्ताभाव हो जाता है । अभिप्राय यह है कि वे वर्तमान अवस्थाको छोडकर भूत अवस्थामें चले जाते हैं । जिनने धर्म हैं वे सदा धर्मीमे बने रहते हैं । जबतक भविष्यत् अवस्थामें रहते हैं तबतक वे अपना कार्य प्रकट नहीं करते हैं । केवल वर्तमान अवस्थामें अपना कार्य दिखाते हैं । फिर जब वे अपना

कार्य बंद कर देते हैं तो वर्तमान अवस्थासे भूत अवस्थामें चले जाते है। इसका विस्तारपूर्वक वर्णन ३। ९ वें सूत्रकी संगतिमें तथा ३। १३ वे सूत्रकी व्याख्यामें कर दिया है।

विशेष वक्तव्य—॥ सूत्र १२ ॥ नैयायिकों तथा वैशेषिकोने अभावको भी एक अलग पदार्थ निरूपण करके पाँच प्रकारका माना है।

१ *प्रागभाव*—उत्पत्तिसे पहले अभाव, जैसे घटकी उत्पत्तिसे पहले घटका अभाव होता है।

२ *प्रध्वंसाभाव*—विद्यमान वस्तुका अभाव, जैसे घटका मुद्गर आदिके प्रहारसे टूट जाना।

३ *अन्योन्याभाव*—एक दूसरेमे भेदरूप अभाव—जैसे घटका वस्त्रमें अभाव और वस्त्रका घटमें अभाव है।

४ *अत्यन्ताभाव*—जो न उत्पन्न हुआ हो और न उत्पन्न हो सके, जैसे वन्ध्याका पुत्र।

५ *सामयिकाभाव*—जो समय-समयपर उत्पन्न होकर नाशको प्राप्त हो। जैसे घटके एक स्थानसे दूसरे स्थानपर चले जानेसे उसका अभाव।

वेदान्त, योग और साख्यका सिद्धान्त सत्कार्यवाद है। इसके यह अर्थ हैं कि कोई भी कार्य पैदा नहीं होता है किन्तु कार्यकी अभिव्यक्ति होती है। कारणमें कार्य पहले ही विद्यमान होता है। केवल सस्थानादि विशेषसे उसका आविर्भाव होता है। जैसे गीतामें बतलाया गया है—'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' असत् वस्तुका 'भाव' उत्पत्ति नहीं होती और सत् वस्तुका 'अभाव' नाश नहीं होता अर्थात् कार्य सत् है, अपनी सत्ता रखता है, उसका न कभी अभाव था न आगे होगा। कार्य-कारण और धर्म-धर्मी पर्यायवाचक है, कार्य (धर्म) सदा अपने कारण (धर्मी) में सत्-भावसे अपने स्वरूपसे बना रहता है। भेद केवल इतना ही है कि वर्तमान कालमें व्यक्त, स्थूल प्रकटरूपसे और भविष्यत् तथा भूतकालमें अव्यक्त (सूक्ष्म—अप्रकट) रूपसे रहता है। जिसकी अभिव्यक्ति आगे होनेवाली है वह अनागत (भविष्य), जिसकी अभिव्यक्ति पीछे हो चुकी वह अतीत (भूत) और जो व्यापारमें उपारूढ़ हुआ अभिव्यक्त हो रहा है वह उदित (वर्तमान) रूपसे रहता है। इसी कारण योगी-को त्रैकालिक पदार्थ-विषयक योगज ज्ञान हो सकता है।

इसलिये उपर्युक्त पाँचो अभावोमेंसे (३) 'अन्योन्याभाव' में वस्त्रमें घटका पहलेसे अभाव था। उस अभावसे ही अभाव घटकी उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार (४) 'अत्यन्त अभाव' में वन्ध्याके पुत्रका पहले-से अभाव था उस अभावसे ही अभावकी उत्पत्ति होती है। (५) 'सामयिक अभाव' में घटके एक स्थानसे दूसरे स्थानमें जानेमें उसका नाश नहीं होता है; क्योकि वह दूसरे स्थानपर अपने स्वरूपसे विद्यमान है इसलिये भावसे अभाव नहीं होता। (१) 'प्रागभाव' उत्पत्तिसे पूर्व अनागत कालमें घट अपने कारण (धर्मी) मिट्टीमें अव्यक्त (सूक्ष्म) रूपसे विद्यमान था, इसलिये अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं हुई। (२) 'प्रध्वसाभाव' मे घटके टूटनेसे वह अपने वर्तमान मार्गको छोड़कर अपने कारण (धर्मी) मिट्टीमें अव्यक्त (सूक्ष्म) रूपसे छिप गया, इसलिये भावसे अभाव नहीं हुआ। इसी प्रकार वासनाओका नाश नहीं होता; किंतु वे भूतावस्थामें (अव्यक्त) हो जाती हैं अर्थात् छिप जाती हैं। और अपना कार्य जाति, आयु और भोग आगेके लिये बंद कर देती हैं।

टिप्पणी—भोजवृत्तिका भावानुवाद ॥ सूत्र १२ ॥

शङ्का यह है कि चित्तमें रहनेवाली वासनाएँ और वासनाओंके स्मृत्यादिरूप फल कार्य-कारण भावसे एक कालमें नहीं होते, इससे वासनाओंका और उनके फलोंका भेद है, तो कैसे माना जाय कि चित्तरूपी धर्मी, अपने धर्मोंके साथ एकरूप है ? इस शंकाका उत्तर देते हुए धर्म-धर्मीकी एकरूपता-का प्रतिपादन करते हैं—

इस दर्शनमें सर्वथा न रहनेवाली वस्तुओंकी उत्पत्ति युक्तियुक्त नहीं समझी जाती, क्योंकि सत् और असत् पदार्थोंका मेल हो ही नहीं सकता। शश-शृङ्गादि (खरगोशके सींग आदि) जो सर्वथा असत् हैं, उनका किसी सद्वस्तुके साथ सम्बन्ध नहीं देखा गया है। यदि कार्यको निरुपाख्य (असत्, तुच्छ) माना जाय तो किसको उद्देश्य करके कारण प्रवृत्त होते हैं, जो वस्तु नहीं है उसको समझकर कोई भी प्रवृत्त नहीं होता। सद्वस्तुओंका असद्वस्तुओंके साथ विरोध है। इसलिये सत् और असत्का कोई सम्बन्ध नहीं और जो वस्तु अपने स्वरूप अनागतादिको लाभ किये हुए है, वह क्योंकर निरुपाख्य और अभावरूप हो सकती है। स्वरूपको प्राप्त हुई वस्तु अपने विरुद्ध रूपको नहीं ग्रहण करती, इससे जो चीज है उसका नाश नहीं हो सकता और जो चीज नहीं है उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती तो उन-उन धर्मसे बदलनेवाला (धर्मी) चित्तादि सदा एकरूप ही रहता है। उसमें तीनों कालोंमें रहनेवाले धर्म अधिक रूपसे रहते हैं। वे धर्म अपने कालमें स्थित हुए स्वरूपको नहीं छोड़ते और जब केवल वर्तमान कालमें रहते हैं तो भोगके योग्य बन जाते हैं। इससे धर्मोंका ही भूत, भविष्यत् आदि रूपसे काल (मार्ग) भेद है। उस रूपसे ही कार्य-कारण भाव इस दर्शनमें माना जाता है, इससे मोक्षपर्यन्त एक ही चित्त धर्मी रूपमें बना रहता है जिसको मोक्षतक अलग नहीं कर सकते।

संगति—धर्मोंका स्वरूप बताते हैं—

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—ते=वे (धर्म), व्यक्तसूक्ष्माः=प्रकट और सूक्ष्म; गुणात्मानः=गुणस्वरूप हैं।

अन्वयार्थ—वे धर्म प्रकट और सूक्ष्म गुणस्वरूप हैं।

व्याख्या—सब धर्म तीनों मार्गोंवाले हैं। वर्तमान मार्गमें व्यक्त (स्थूल) अर्थात् प्रकट होनेवाले होते हैं, और अतीत तथा अनागत मार्गमें अव्यक्त=सूक्ष्म अर्थात् छिपे रहते हैं। ये सारे धर्म महत्तत्त्वसे लेकर स्थूलभूतों-पर्यन्त तीनों गुणोंके ही परिणामविशेष हैं। वास्तवमें देखा जाय तो सब पदार्थ महत्तत्त्वसे लेकर भूत-भौतिकतक गुणोंका सन्निवेश (तरकीब) मात्र होनेसे गुणस्वरूप ही है। अर्थात् पृथ्वी आदि पाँचों स्थूलभूत पञ्चतन्मात्रा-स्वरूप हैं। पञ्चतन्मात्रा तथा एकादश इन्द्रियाँ अहंकार-स्वरूप हैं। अहंकार महत्तत्त्व स्वरूप है। महत्तत्त्व प्रधान (मूलप्रकृति) स्वरूप है और प्रधान गुण-त्रय-स्वरूप है। इस प्रकार परम्परामें यह सारा प्रपञ्च गुणस्वरूप ही है। यद्यपि गुणोंका असली स्वरूप हमारी दृष्टि-गोचर नहीं होता, जैसा कि भगवान् वार्षगण्यका वचन है—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम् ॥

गुणोंका असली रूप दिखायी नही देता, और जो दृष्टिगोचर होता है वह माया-सा है और विनाशी है ।

अर्थात् कारणरूप गुण देखनेमें नहीं आते हैं और जो दीखते है, वे माया अथवा इन्द्रजालकी तरह तुच्छ हैं । भाव यह है कि यह सब कार्य गुणत्रयात्मक रूप अपने कारण प्रधान स्वरूप ही है ।

संगति—जब तीनों गुण ही सम्पूर्ण पदार्थोंके कारण है तो पदार्थोंको अलग-अलग धर्मीरूप कैसे कह सकते है ? उत्तर—

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—परिणाम-एकत्वात्=परिणामके एक होनेसे; वस्तु-तत्त्वम्–वस्तुकी एकता होती है ।

अन्वयार्थ—परिणामके एक होनेसे वस्तुकी एकता होती है ।

व्याख्या—यह ठीक है कि तीनो गुण ही सब पदार्थोंके कारण हैं, पर वे अपने प्रकाश, क्रिया, स्थिति, स्वभावसे अङ्ग-अङ्गीभावसे गति कर रहे हैं । कहीं सत्त्वगुण अङ्गी है अर्थात् प्रधान है और रज, तम उसके अङ्ग अर्थात् गौण है । इसी प्रकार कही रज अङ्गी है और कहीं तम अङ्गी है और शेष गुण उसके अङ्ग हैं । इस कारण उनकी परिणामकी एकतासे वस्तु एक ही कही जाती है । इन गुणोंके अङ्ग-अङ्गीभावमें भी नाना प्रकारके भेद होते है । इस कारण उनके परिणाम भी भिन्न-भिन्न होते हैं । परिणाम-की भिन्नतासे वस्तुएँ भिन्न-भिन्न धर्मोंवाली होती हैं—जैसे यह महत्तत्त्व है, यह अहङ्कार है, यह इन्द्रियाँ हैं, यह पृथ्वी है इत्यादि ।

विशेष वक्तव्य ॥ सूत्र १४ ॥

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ॥

(सांख्यकारिका १३)

सत्त्व हलका और प्रकाशक माना गया है, रजस् उत्तेजक और चल और तम भारी और रोकनेवाला है और दीपकसदृश एक उद्देश्य (पुरुषके भोग अपवर्ग) से इनकी वृत्ति (काम) है ।

१ सत्त्व, रजस् और तमस्का साम्य परिणाम 'प्रधान' मूल प्रकृति है ।

२ सत्त्वमें रजस्, तमस्का लिंगमात्र विषम परिणाम महत्तत्त्व है ।

३ सत्त्व महत्तत्त्वमें अहम् वृत्तिसे भेद उत्पन्न करनेवाला रजस्-तमस्का किञ्चित् अधिक विषम-परिणाम अहंकार है ।

४ अहकारके सत्त्वप्रधान अशमें रजस्-तमस्का विषम-परिणाम ग्यारह इन्द्रियाँ है । इसमें भी सत्त्वप्रधान अंशसे मन; रजःप्रधान अशसे ज्ञानेन्द्रियाँ और तमःप्रधान अशसे कर्मेन्द्रियाँ—इन इन्द्रियोमें भी परस्पर भेद करनेवाली गुणोकी न्यूनाधिकता है ।

५ अहङ्कारके तम प्रधान अंशमें रजस्-तमस्का परिणाम पाँचों तन्मात्राएँ हैं । इन पाँचोमें भी गुणोकी न्यून-अधिकता परस्पर भेदक है ।

६ इन तन्मात्राओमें भी रजस्-तमस्के न्यून-अधिक विषम-परिणाम रूप पाँचो स्थूल भूत परस्पर भेदवाले हैं ।

इन पाँचो स्थूल भूतोके धर्म सब भौतिक पदार्थ सत्त्वगुणकी प्रधानतामें प्रकाशवाले, हलके, सुख देनेवाले, रजस्‌की प्रधानतामे उत्तेजक, प्रवृत्त करानेवाले और दुःख देनेवाले तथा तमस्‌की प्रधानतामें भारी, रोकनेवाले और प्रमाद तथा मोह उत्पन्न करनेवाले होते हैं। इसलिये यद्यपि गुण तीन है, तथापि जैसे वत्ती, तेल और अग्नि मिलकर एक दूसरेको सहायता देते हुए प्रकाशका काम देते हैं, इसी प्रकार तीनो गुण मिलकर पुरुषके उपयोग अलग-अलग वस्तुओको भिन्न-भिन्न रूपमें उत्पन्न करते हैं।

सगति—शंका—जिस प्रकार स्वप्नमें चित्तके अतिरिक्त और कोई वस्तु भावरूपसे नहीं होती है, उसीसे सब कल्पित होते हैं। इसी प्रकार जाग्रत् अवस्थामें भी चित्तसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। सब चित्तकी ही रची हुई है। चित्त अनादि वासनाओसे चित्रित है। इस कारण उसको अपनी-अपनी वासनाओके अनुसार भिन्न-भिन्न वस्तुएँ प्रतीत होती हैं। वास्तवमें चित्तसे भिन्न कोई बाहर वस्तु नहीं है।

समाधान—

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—वस्तु-साम्ये=वस्तुके एक होनेपर (भी); चित्त-भेदात्=चित्तके भेदसे, तयोः-विभक्तः पन्थाः=उन दोनोका (चित्त और वस्तुका) अलग-अलग मार्ग है।

अन्वयार्थ—वस्तुके एक होनेपर भी चित्तके भेदसे उन दोनो (चित्त और वस्तु) का अलग-अलग मार्ग है।

व्याख्या—प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वरूपमें ही स्थिर है और बहुत-से चित्तोका विषय बन सकती है। पर वह न एक चित्तकी कल्पना की हुई होती है, न अनेक चित्तोकी। क्योकि एक ही वस्तुको देखकर चित्तके अवस्था-भेदसे किसीको सुख होता है, किसीको दुःख; किसीको मोह और किसीको उदासीनता। यदि चित्तसे भिन्न वह वस्तु न होती तो इतने चित्तोका विषय न बन सकती। फिर वही वस्तु अनेक चित्तोंको नाना प्रकारके भावोसे प्रतीत हो रही है। इस कारण वस्तुएँ चित्तकी कल्पनासे नहीं होती हैं, बल्कि चित्तसे भिन्न और उससे बाहर अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखती हैं।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र १५ ॥

यदि कोई शका करे कि ज्ञानसे भिन्न घटादि पदार्थ हो, तो एक अथवा अनेक वस्तु कहना चाहिये। जब कि एक विज्ञान (चित्त) ही संस्कारवशसे कार्य-कारण-भावको प्राप्त हुआ घटपटादिरूपसे भासता है तो यह कैसे कह सकते है कि एक अथवा अनेक वस्तु है ? इसका उत्तर देते हैं—

ज्ञान और ज्ञेय (जानने योग्य पदार्थ घटादि) का भिन्न मार्ग है अर्थात् ये दोनो भिन्न ही हैं। क्योकि एक वस्तुमे चित्तो (विज्ञानो) का भेद रहता है। अर्थात् स्त्री आदि एक पदार्थके मिलनेपर स्त्रीकी सुन्दरतामे अनेक देखनेवालोके चित्तकी भिन्नता सुख-दुःख-मोहरूपसे प्रतीत होती है। जैसे एक सुन्दर रूपवती स्त्री मिल जाय तो कामीका चित्त सुखी होता है। उस स्त्रीकी सपत्नी (सौत) का चित्त उससे दुखी होता है। और सन्यासीका चित्त उससे उदासीनता अर्थात् उपेक्षा करता है। जब एक ही वस्तुमे अनेक प्रकारकी चित्तवृत्तियाँ होती है तो स्त्री आदि चित्तके कार्य नहीं है। यदि एक चित्तके ही कार्य हों तो, एक ही रूपसे ज्ञान हो। और दूसरी बात यह है कि यदि वस्तुको चित्तका कार्य माना जाय तो जिस पुरुषके चित्तका कार्य, वह वस्तु है उसके चित्तके दूसरी वस्तुमें लग जानेपर, वह वस्तु कोई वस्तु

ही न रहे ? यदि कहो कि वह वस्तु नहीं रहती, तो अन्य पुरुषोंको वह कैसे मालूम होती है ? प्रतीत होनेसे, वस्तु चित्तका कार्य नहीं है। यदि यह माना जाय कि बहुत-से चित्त मिलकर एक वस्तुको उत्पन्न करते हैं तो बहुतोंकी बनायी हुई चीजोंसे एक चित्तकी बनायी हुई चीज विलक्षण होनी चाहिये। यदि विलक्षण नहीं मानते तो कारणोंसे भिन्न-भिन्न होनेपर भी कार्यका भेद न रहनेसे जगत्को बिना कारणके अथवा एकरूप मानना होगा। बात यह है कि यदि कारणोंके भिन्न होनेपर भी कार्य भिन्न-भिन्न न माने जायँ, तो सब जगत् जो कि अनेक कारणोंसे उत्पन्न हुआ है वह एकाकार होना चाहिये। अथवा कारण विशेषका सम्बन्ध न रहनेसे स्वतन्त्रतासे कारणशून्य होना चाहिये।

शंका—यदि एक चित्त (विज्ञानात्मक) से अनेक वस्तु नहीं होती (तो) तुम्हारे मतमें एक त्रिगुणात्मक चित्तसे एक ही पुरुषको सुख-दुःख-मोहरूप अनेक ज्ञान कैसे हो जाते हैं ? अर्थात् जैसे तुम्हारे मतमें एक चित्त अनेकरूपसे परिणत होता है, वैसे हमारे मतमें विज्ञान भी अनेक कार्य-कारण-भावसे अवस्थित है।

उत्तर—हमारे मतमें त्रिगुण यथार्थ हैं। जब चित्तसे अर्थ (घटादि) ज्ञान होता है तो धर्माधर्मसहकारी (साथ रहनेवाले) कारण होते हैं। उन धर्मादिकोंके प्रकाश और तिरोभावसे चित्तका तत्तद्रूपसे प्रकाश होता है। जैसे कामेच्छु पतिके पास स्त्री हो तो धर्म-सहकारी चित्त सत्त्वप्रधान होकर सुखमय परिणत होता है। और अधर्मके साथ रहनेसे सौतका रजःप्रधान चित्त दुःखरूपसे परिणत होता है। अधिक अधर्मका सम्बन्ध होनेसे क्रुद्ध सौतका तमःप्रधान चित्त मोहमय (अज्ञानमय) होता है। इससे सिद्ध हुआ कि विज्ञान (चित्त) से भिन्न बाह्य ग्राह्य अर्थ होता है। तो विज्ञान (चित्त) और अर्थके स्वरूपका भेद होनेसे कार्य-कारणभाव (विज्ञान और अर्थका) नहीं है। कारणके भेद न होनेसे भी यदि कार्यभेद माना जाय तो दण्डसे भीति आदि भी होने चाहिये। इससे अर्थका ज्ञानसे भेद ही है।

विशेष वक्तव्य ॥ सूत्र १५ ॥ बुद्धि, चित्त, विज्ञान ये एकार्थक हैं।

यहाँ उन क्षणिक विज्ञानवादियोंकी शंकाओंका समाधान किया गया है जो क्षणिक विज्ञानसे अतिरिक्त वस्तुकी सत्ताको अनुमानद्वारा नहीं मानते। उनका अनुमान है कि जो ज्ञेय है वह विज्ञानसे भिन्न नहीं है, क्योंकि विज्ञानसे भिन्न दशामें उसकी उपलब्धि (विषयका ज्ञान) नहीं होती। जैसे विज्ञानसे विज्ञान अभिन्न है वैसे ही घटादि ज्ञेय भी विज्ञानसे अभिन्न हैं। उनकी शंकाका समाधान इस प्रकार किया गया है कि वस्तु एक होनेपर भी चित्त (विज्ञान) का भेद दिखलायी देता है, जैसे स्त्रीरूप वस्तु एक दशामें बनी रहती है किन्तु उसको देखकर पतिको सुख, सपत्नीको दुःख, कामीको मोह और निष्काम संन्यासीको उसमें उपेक्षा विज्ञान होता है। इस प्रकार विज्ञान (चित्तवृत्ति) चार है किन्तु वस्तु एक ही बनी रहती है। जो एक है वह अनेकोंसे भिन्न है। जैसे एक नीलका ज्ञान अनेक पीतादि ज्ञानोंसे भिन्न है वैसे ही एक स्त्रीरूप वस्तु अपने अनेकों विज्ञानोंसे भिन्न है। इसलिये ज्ञान और ज्ञेय एक नहीं हो सकते। ज्ञान विषयी है और ज्ञेय विषय है।

एक प्रकृतिरूप वस्तुसे चित्त अनेक प्रकारका क्यों होता है ? इसका उत्तर यह है कि चित्त और घटादि पदार्थ दोनों त्रिगुणात्मक हैं। जबतक चित्तमें धर्म, अधर्म, अविद्याका सम्बन्ध रहता है तबतक सत्त्व, रजस् और तमस्की क्रमशः अधिकता होनेसे सुख, दुःख और मोह हुआ करते हैं। तत्त्वज्ञान

होनेसे उन त्रिगुणात्मक वस्तुओंमें उपेक्षा हो जाती है। इसलिये अर्थ विज्ञानसे भिन्न है। इसीसे ही जगत् मिथ्यावाद, जगत् स्वप्नवाद, दृष्टि-सृष्टिवाद (ज्ञानके साथ ही वस्तुका होना) के भ्रमोंका समाधान समझना चाहिये।

सङ्गति—शङ्का—वस्तुकी सत्ता सत्त्वचित्तोंके ही अधीन ठहरती है; क्योंकि भिन्न-भिन्न चित्तको एक ही वस्तु उनके भावके अनुसार ही भिन्न-भिन्नरूपसे प्रतीत होती है।

समाधान—

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—न-च=नहीं और; एक-चित्त-तन्त्रम्=एक चित्तके अधीन है; वस्तु=वस्तु; तत्=वह (वस्तु); अप्रमाणकम्=बिना प्रमाणके अर्थात् बिना चित्तके; तदा=उस समय; किं-स्यात्=क्या होगी।

अन्वयार्थ—प्राह्य-वस्तु एक चित्तके अधीन नहीं है; क्योंकि वह (वस्तु) बिना प्रमाण (चित्त) के उस समय क्या होगी ?

व्याख्या—यदि एक चित्तके ही अधीन वस्तुको माना जाय तो जब वह चित्त किसी दूसरे विषयमें लगा हो तो अथवा निरुद्ध हो गया हो तो उस समय उसका अभाव होना चाहिये। लेकिन हम देखते हैं कि वह विद्यमान रहती है। इसको स्पष्ट रूपसे यो समझो कि शरीरका जो भाग पीठ या हाथ आदि जिस समय दिखलायी न दे तो उसको उस समय चित्तका विषय न होनेसे अविद्यमान नहीं कह सकते। इस कारण वस्तुकी सत्ता स्वतन्त्र है, चित्तके अधीन नहीं।

व्यासभाष्यका भाषानुवाद ॥ सूत्र १६ ॥

यदि वस्तु एक चित्त (विज्ञान) के ही अधीन हो अर्थात् ज्ञानके साथ ही वह वस्तु उत्पन्न हो तो चित्तके अन्य विषयमें लगनेपर अथवा निरुद्ध होने (रुकने) पर वह वस्तु अप्रमाणक हो जाय अर्थात् उसके स्वरूपका ग्रहण करनेवाला कोई न रहे, ऐसी होगी तो फिर वह होगी ही क्या ? क्योंकि वह दूसरेका विषय नहीं बनी और एक चित्तसे उसके स्वरूपका सम्बन्ध नहीं अथवा चित्तके साथ सम्बद्ध हुई भी वह वस्तु कहाँसे उत्पन्न होगी ? और जो इसके अनुपस्थित भाग हैं वे भी न होंगे और पीठके न ग्रहण होनेसे पेट भी ग्रहण न किया जायगा। इससे अर्थ (वस्तु) स्वतन्त्र है और सब पुरुषोंके लिये साधारण है, और चित्त (विज्ञान) भी प्रत्येक पुरुषमें स्वतन्त्र है। उन वस्तु और चित्त (विज्ञान) के सम्बन्धसे जो उपलब्धि है वह पुरुषका भोग है।

सङ्गति—शङ्का—यदि वस्तुकी सत्ता स्वतन्त्र होती तो वह सदा चित्तको ज्ञात रहती, लेकिन कभी ज्ञात होती है, कभी नहीं। यह बात सिद्ध करती है कि वह चित्तके अधीन है।

समाधान—

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ—तद्-उपराग-अपेक्षित्वात्=उस पदार्थके उपराग (विषयका चित्तमें प्रतिबिम्ब पडना) की अपेक्षावाला होनेसे; चित्तस्य=चित्तको; वस्तु=वस्तु; ज्ञात-अज्ञातम्=ज्ञात और अज्ञात होती है।

अन्वयार्थ—चित्तको वस्तुके जाननेमें उसके उपराग (विषयका चित्तमें प्रतिबिम्ब पड़ना) की अपेक्षा होती है इसलिये उसको (चित्तको) वस्तु ज्ञात और अज्ञात होती है।

व्याख्या तृतीय पादके ५५ वें सूत्रमें कर दी गयी है। यहाँ यह और जान लेना चाहिये कि जैसे वेदान्तमें अज्ञानकी निवृत्ति और परमानन्दस्वरूप ब्रह्म-प्राप्तिको समकाल होनेपर भी कहीं अज्ञानकी निवृत्तिको जैसे 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' और फिर अन्तमें सारी माया निवृत्त हो जाती है और कहीं ब्रह्मकी प्राप्तिको जैसे 'स यो वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' जो निश्चय उस ब्रह्मको जानता है ब्रह्म ही हो जाता है' मुक्ति कहा है। वैसे ही यहाँपर भी गुणोंका प्रतिप्रसव और चितिशक्तिकी स्वरूपप्रतिष्ठा इन दोनोके समकाल होनेपर भी तात्पर्यकी एकता होनेसे कैवल्यके दो लक्षण कहे है। लक्षणभेदसे कैवल्यका भेद नहीं किया है।

सम्यग् ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः॥
प्राप्ते शरीरं भेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति॥ (सा० का० ६७, ६८)

यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिसे जब कि धर्म आदि अकारण बन जाते हैं, तब पुरुष (पिछले) संस्कारके वशसे चक्रके सदृश शरीरको धारण किये हुए ठहरा रहता है। शरीरके छूट जानेपर और चरितार्थ होनेसे प्रधानकी निवृत्ति होनेपर ऐकान्तिक (अवश्य होनेवाले) और आत्यन्तिक (बने रहनेवाले) दोनो प्रकारके कैवल्यको प्राप्त होता है।

'इति' शब्द इस पाद तथा योगशास्त्रकी समाप्तिके लिये लाया गया है।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद॥ सूत्र ३४॥

अब फलरूप मोक्षके सामान्यस्वरूपको कहते हैं—जो सत्त्वादि गुण भोग और मोक्षरूप पुरुषार्थको समाप्त कर चुके उनका जो उल्टे-उल्टे परिणामकी समाप्ति होनेपर क्षणोमें विकारका पैदा न होना अथवा वृत्तियोके तुल्यरूपकी निवृत्ति होनेपर चेतनशक्तिका अपने स्वरूपमात्रमें स्थिति करना मोक्ष कहा जाता है, केवल हमारे ही दर्शन (मत) में मोक्षावस्थामे पुरुष इस प्रकारका चेतनरूप नहीं होता, किंतु अन्य दर्शनोमें भी विचार करनेपर स्वरूपावस्थित होता है। जैसे—

आत्मा क्षणिक विज्ञान नहीं है—संसारावस्थामें कर्ता, भोक्ता और विचार करनेवाला आत्मा प्रतीत होता है। अन्यथा यदि एक कोई चेतन उस प्रकारका न हो और ज्ञानक्षणोको ही, जो कि पूर्वापरविचारसे शून्य हैं आत्मा माना जाय तो कर्म और फलका सम्बन्ध नियमपूर्वक नहीं हो सकता और किये हुएकी हानि, नहीं किये हुएकी प्राप्तिरूप दोष भी हो। जिसने शास्त्रोमें ही कहे हुए कर्मको किया है, वही यदि भोक्ता रहे तो सबकी प्रवृत्ति कल्याणप्राप्तिके लिये दुःखकी निवृत्तिके लिये हो सकती है। ग्रहण करना या छोडना विचारसे ही होता है। इससे और ज्ञानक्षणोको परस्पर भिन्न होनेसे (पूर्वापर) विचारशून्यता है। यदि कोई उनका अनुसंधान करनेवाला न रहे तो किसीका भी व्यवहार नहीं चल सकता। इससे जो कर्ता, भोक्ता, अनुसंधाता (विचार करनेवाला अथवा जाननेवाला) है वह आत्मा है यह व्यवस्था की जाती है। मोक्षावस्थामे केवल चैतन्यरूप ही आत्मा रहता है; क्योंकि मोक्षदशामें तो ग्राह्य-ग्राहकरूप अर्थात् ग्रहण करना आदि सब व्यवहारोके न रहनेसे केवल चैतन्य ही शेष रहता है। वह चैतन्य, अपने स्वरूपको जाननेसे नहीं है, किंतु स्वरूपसे है, क्योंकि विषयोको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य ही चेतनका स्वरूप है। अपने स्वरूपको ग्रहण करना नहीं (ऐसा ही श्रुति बतलाती है)। यथा—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' सबके

समाधान—

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—सदा ज्ञाताः=सदा ज्ञात रहती हैं; चित्त-वृत्तयः—चित्तकी वृत्तियाँ, तत्-प्रभोः=उस चित्तके स्वामी, पुरुषस्य=पुरुषके, अ-परिणामित्वात्=परिणामी न होनेसे ।

अन्वयार्थ—चित्तका स्वामी पुरुष परिणामी नहीं है, इसलिये चित्तकी वृत्तियाँ उसे सदा ज्ञात रहती है ।

व्याख्या—चित्तका जब बाहरके विषयके साथ सम्बन्ध होता है तो वह उसको ज्ञात होता है और जब सम्बन्ध नहीं होता तो अज्ञात होता है, इसलिये वह कभी बाहरके विषयको जानता है, कभी नहीं जानता है । वह जानने, न जानने—इन दोनो अवस्थाओंमें बदलता रहता है । यह उसमें परिणाम होना रहता है, इसलिये वह परिणामी है । पर पुरुषमें यह परिणाम नहीं होता । वह सदा चित्तकी वृत्तियोंका साक्षी है । चाहे उसमें कोई विषय हो या न हो, चित्तका कार्य केवल इतना ही है कि वह जिस विषयसे सम्बन्ध रखता हो उसके आकारमें परिणत होकर उसके स्वरूपको अपने स्वामी चिति (पुरुष) के सामने रख दे । पुरुषको चित्तके ऐसे परिणामका सदा ही ज्ञान बना रहता है । इस ज्ञानसे पुरुषमें चित्तकी भाँति कोई परिणाम नहीं होता । अर्थात् चित्तके विषय घटादि है और पुरुषका विषय वृत्तिसहित चित्त है । विषयोके होते हुए चित्त कभी उन विषयोको जानता है, कभी नहीं, पर पुरुष अपने चित्तको वृत्तिसहित सर्वदा जानता है । कभी न जानता तो परिणामी होता । अपने काममें सदा जानी हुई भोग्यरूप चित्तवृत्तियाँ ही भोक्ता पुरुषको परिणामशून्य जतलाती हैं । मानसिक ज्ञानमें अर्थाकारतारूप सम्बन्धकी आवश्यकता है, पर पौरुषेय ज्ञानमें पुरुष अर्थाकार (वस्तुके आकारमें परिणत) नहीं होता, किंतु प्रतिबिम्ब सम्बन्धसे ज्ञाता मात्र होता है । यद्यपि चित्त जड़ है, इससे उसमें ज्ञान (बोध) नहीं हो सकता, तथापि जैसे लोहपिण्डमें अग्निके प्रवेश होनेसे लोह भी प्रकाशरूप होता है, वैसे ही ज्ञानरूप पुरुषके साथ भोग्यता-सम्बन्ध होनेसे चित्तमें ज्ञान कहा जाता है । चित्तको जो जहाँ तहाँ प्रकाशरूप कहा है वह इसलिये कि शुद्धतासे प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेकी इसमें शक्ति है । एक बात और भी है कि चित्तका सर्वदा ज्ञाता पुरुष न हो तो 'मैं सुखी हूँ अथवा नहीं' इत्यादि संशय भी होना चाहिये, सो होता नहीं । इससे भी पुरुष परिणामी नहीं है ।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र १८ ॥

प्रमाता (जाननेवाला) पुरुष भी जिस समय नील पदार्थको जानता है, उस समय पीतादिसे सम्बन्ध रखनेवाले चित्तके आकारका ग्रहण न करनेसे कदाचित् परिणामी हो जायगा, इस आशङ्काको हटाते हैं—

जो प्रमाण-विपर्ययादिरूप चित्तकी वृत्तियाँ होती हैं, उनको ग्रहण करनेवाला चित्तका अधिष्ठाता पुरुष सब कालमें ही जानता है, क्योंकि पुरुषका परिणाम नहीं होता । यदि वह पुरुष परिणामी हो तो परिणामके कभी-कभी होनेसे चित्तकी वृत्तियोको सदा जाननेवाला नहीं बन सकता । तात्पर्य यह है कि चैतन्यरूप पुरुष, चित्तका सर्वदा स्वामी है, और निर्मल अन्तःकरण भी उसके साथ सदैव रहता है । वह चित्त जिस पदार्थके साथ सम्बन्ध

करता है, उसी पदार्थका ज्ञाता पुरुष कहलाता है; क्योंकि घटाद्याकार वृत्तियोंमें चेतनका प्रतिबिम्ब-सा पड़ता है। इससे पुरुषमें परिणामिताकी शङ्का कभी नहीं हो सकती।

संगति—शङ्का—अग्निकी भाँति चित्त ही वस्तुका भी प्रकाशक है और अपना भी, इसलिये चित्तसे अतिरिक्त किसी अन्य पुरुषके माननेकी आवश्यकता नहीं रहती।

समाधान—

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ—न=नहीं; तत्=वह चित्त; स्व-आभासम्=स्वप्रकाश (अपनेको आप ही प्रकाश करनेवाला अर्थात् जाननेवाला) है; दृश्यत्वात्=दृश्य होनेसे।

अन्वयार्थ—चित्त स्वप्रकाश नहीं है; क्योंकि वह दृश्य है।

व्याख्या—जिस प्रकार इतरी इन्द्रियाँ और शब्द आदि विषय दृश्य होनेसे स्वप्रकाश (अपनेको आप ही प्रकाश करनेवाले अर्थात् जाननेवाले) नहीं हैं, उसी प्रकार चित्त भी दृश्य होनेसे स्वप्रकाश नहीं है, किंतु पुरुषसे प्रकाश्य और जानने योग्य है। अग्निका दिया हुआ दृष्टान्त भी यहाँ लागू नहीं हो सकता। अग्नि जड़ है, उसको स्वयं अपना ज्ञान नहीं होता, उसको जाननेके लिये किसी अन्य ज्ञानवालेकी आवश्यकता होती है। इसी प्रकार चित्त भी जड़ है, उसे जाननेके हेतु उससे अलग चिति (पुरुष) को मानना पड़ेगा। चित्तके दृश्य होनेमें एक प्रमाण यह भी है कि उसमें सुख, दुःख, भय, क्रोध आदिके जो परिणाम होते हैं वे दूसरेसे देखे जाते हैं; जैसे—मैं सुखी हूँ, मैं क्रोधमें था इत्यादि। इससे सिद्ध है कि चित्तकी इस अवस्थाको देखनेवाला उससे अतिरिक्त चेतन पुरुष है।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र १९ ॥

यदि सत्त्वगुणकी प्रधानतासे चित्तको ही प्रकाशक मान लिया जाय तो उसको ही अर्थका और अपने स्वरूपका प्रकाशक माननेसे 'यह घट है' इत्यादि व्यवहार हो जायँगे, पुरुषको माननेकी क्या आवश्यकता है? इस शङ्काको हटानेके लिये यह सूत्र है।

वह चित्त, स्वाभास अर्थात् अपने स्वरूपका स्वयं प्रकाशक नहीं है, किंतु पुरुषसे प्रकाश्य है। क्योंकि वह दृश्य (देखनेके योग्य अथवा प्रकाशके योग्य) है। जो-जो दृश्य है, वह-वह द्रष्टासे प्रकाश्य है, यह व्याप्ति है। जैसे घटादि दृश्य हैं और द्रष्टासे प्रकाश्य हैं। चित्त भी दृश्य है, इससे स्वयं प्रकाशक नहीं हो सकता।

संगति—शङ्का—यदि यह मान लिया जाय कि चित्त ही विषयका ज्ञान करता है और चित्त ही अपना ज्ञान भी करता है तो उपर्युक्त दोषकी निवृत्ति हो जाती है। इसका उत्तर देते हैं—

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ—एक-समये-च=एक समयमें और; उभय-अनवधारणम्=दोनोंका विषय और चित्तका ज्ञान नहीं हो सकता।

अन्वयार्थ—और एक समयमें दोनों विषय और चित्तका ज्ञान नहीं हो सकता।

व्याख्या—यदि यह कहा जाय कि चित्त ही विषयका ज्ञान प्राप्त करता है और चित्तको ही अपना ज्ञान होता है तो इसमें यह दोष आता है कि एक समयमें दो ज्ञान नहीं हो सकते अर्थात् एक विषय-

ज्ञान, दूसरा विषयवाले चित्तका ज्ञान। इस कारण चित्तसे अतिरिक्त इसका साक्षी अन्य चेतन पुरुषका मानना अनिवार्य है।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र २० ॥

उक्तार्थमें एक शङ्का तो यह है कि चित्तका दृश्यत्व सिद्ध नहीं हुआ, इससे दृश्यत्व साध्यके तुल्य है, इसलिये 'दृश्यत्व' हेतु 'साध्यसम' हेत्वाभास है। और दूसरी शङ्का यह है कि पुरुषकी बुद्धिके व्यापारको जानकर ही हितप्राप्ति और अहित-निवृत्तिके लिये वृत्तियाँ होती हैं तथापि 'क्रुद्धोऽहम्' 'अत्र मे राग' 'मैं क्रोधी हूँ' 'मेरी इसमें प्रीति है,' इत्यादि प्रवृत्तियाँ बिना बुद्धिकी वृत्तिके नहीं हो सकतीं, तो फिर बुद्धिको ही स्वप्रकाशक क्यों न माना जाय? इन दोनों शङ्काओंका उत्तर इस सूत्रमें दिया है—

'यह वस्तु सुखका हेतु अथवा दुःखका हेतु है,' इस प्रकार व्यवहारकी योग्यता करनेवाला एक वस्तु-सम्बन्धी बुद्धिका वृत्तिरूप व्यापार है। और 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार व्यवहारका सम्पादक बुद्धिका वृत्तिरूप व्यापार दूसरा है। अर्थज्ञान-कालमें ऐसे दो विरोधी व्यापारोंका होना असम्भव है अर्थात् एक कालमें चित्त अपने स्वरूपको और वस्तुओंको निश्चित नहीं कर सकता, इससे चित्त स्वप्रकाशक नहीं है; किंतु उक्त प्रकारके दो व्यापारोंको करनेके बाद ही दो प्रकारके स्फूर्तिरूप (प्रकाशरूप उपलब्धि वृत्तियोंसे भिन्न है)। फलोंका भान होता है अर्थात् फलरूप भान होता है, इसलिये बहिर्मुखरूपसे ही अपनेमें रहनेवाले चित्तको पुरुष स्वयं जानता है, इससे पुरुषमें ही वह फल है, चित्तमें नहीं।

वृत्तिका तात्पर्य—घट और चित्त दोनोंका चित्तको एक ही क्षणमें ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये इन दोनोंका साक्षी पुरुष है। अर्थात् 'घटमहमद्राक्षम्' 'घटको मैंने देखा' इस प्रकारका जो स्मृतिज्ञान होता है वह चित्त और घटके अनुभवसे उत्पन्न होता है। एकचित्तके क्षणमें ही नहीं हो सकता, इसलिये इन दोनोंका अनुभवकर्त्ता इनसे पृथक् पुरुष है।

सङ्गति—शङ्का—यदि ऐसा मान लिया जाय कि एकचित्तसे विषय ग्रहण किया जाता है और उस विषयसहित चित्तको दूसरा चित्त ग्रहण करता है तो विषय और चित्त दोनोंका ज्ञान हो सकता है। इसका उत्तर—

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—चित्त-अन्तर-दृश्ये=एकचित्तको दूसरे चित्तका दृश्य माननेमें; बुद्धिबुद्धेः=चित्तका चित्त होना; अतिप्रसङ्गः=अनवस्था दोष होगा; स्मृति-सङ्करः च=और स्मृतियोंका गड़बड़ हो जाना भी।

अन्वयार्थ—यदि पहले चित्तको दूसरे चित्तका दृश्य माना जाय तो चित्त (ज्ञान) के चित्त (ज्ञान) का अनवस्था दोष होगा और स्मृतियोंका संकर भी हो जायगा।

व्याख्या—यदि यह माना जाय कि क्षण-क्षणमें चित्त बदलता रहता है, अर्थात् एक चित्तने एक विषय ग्रहण किया और उस विषयसहित चित्तको दूसरे चित्तने। इसी प्रकार उसको तीसरेने, तीसरेको चौथेने, तो यह क्रम बराबर चलता रहेगा—कभी समाप्त न हो सकेगा, इसमें अनवस्था दोष आ जायगा. अर्थात् पहले एक वस्तुका ज्ञान, फिर उस वस्तुके ज्ञानके ज्ञानका ज्ञान, इस प्रकार कभी एक ज्ञान भी समाप्त न होने पायेगा। दूसरा दोष स्मृतिसंकरका है। जितनी

बुद्धियोंका अनुभव है, उतनी ही स्मृति होगी । अनुभव अनन्त हैं, जब उन सबकी स्मृति होने लगे तो उनके संकर होनेसे यह स्मृति किसकी है ? यह धारणा न हो सकेगी अर्थात् उनमें गड़बड़ी हो जायगी । कुछ पता न चल सकेगा कि किसकी कौन-सी स्मृति है । इस कारण चित्तसे अतिरिक्त द्रष्टा पुरुषको मानना ही पड़ता है ।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र २१ ॥

बुद्धिका स्वयं ग्रहण न हो, पर एक बुद्धिका द्वितीय बुद्धिसे ग्रहण हो जायगा (फिर पुरुषान्तर क्यों मानना ?) इस आशङ्काका उत्तर देते है—

यदि बुद्धिको जाननेवाली द्वितीय बुद्धि मानेंगे तो वह दूसरी बुद्धि भी अपने स्वरूपको न जानकर अन्य बुद्धिको प्रकाशित करनेमें असमर्थ है, इससे उस द्वितीय बुद्धिको ग्रहण करनेवाली तृतीय बुद्धि कल्पित करनी चाहिये और उसकी भी ग्राहिका अन्य, इस प्रकारकी अनवस्था हो जायगी तो बिना पुरुषके अर्थज्ञान नहीं होगा; क्योंकि बिना बुद्धिके ज्ञान हुए अर्थज्ञान होता नहीं (इससे बुद्धिसे भिन्न पुरुष मानना चाहिये) । दूसरा दोष यह होगा कि स्मृतियोंका मेल हो जायगा । रूप और रसमें जो बुद्धि उत्पन्न हुई है उस बुद्धिको ग्रहण करनेवाली अनन्त बुद्धियोंके उत्पन्न होनेसे, उन बुद्धियोंसे उत्पन्न संस्कार भी अनेक होंगे । उन अनेक संस्कारोंसे जब एक बार ही बहुत-से स्मृतिज्ञान किये जायँगे तो बुद्धिके समाप्त न होनेसे बहुत-सी बुद्धिस्मृतियोंकी एक बार ही उत्पत्ति होगी । एक बार ही उत्पत्ति माननेसे किस विषयमें यह स्मृति हुई है, यह ज्ञान न हो सकेगा तो स्मृतियोंका मेल हो जायगा । इस गड़बड़ीसे यह रूपविषयमें स्मृति है, यह रसविषयमें, इस प्रकारका विभक्त ज्ञान न हो सकेगा ।

सङ्गति—पुरुष क्रियारहित और अपरिणामी है और ज्ञान प्राप्त करने अथवा किसी विषयको ग्रहण करनेमें क्रिया और परिणाम दोनों होते हैं । फिर पुरुष चित्तके विषयका ज्ञान किस प्रकार कर सकता है ?

समाधान—

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—चितेः=चिति अर्थात् चेतन पुरुषको, अ-प्रति-संक्रमायाः=जो क्रिया अथवा परिणाम-रहित है; तद्-आकार-आपत्तौ=स्वप्रतिबिम्बित चित्तके आकारकी तरह आकारकी प्राप्ति होनेपर; स्व-बुद्धि-संवेदनम्=अपने विषयभूत बुद्धि (चित्त) का ज्ञान होता है ।

अन्वयार्थ—पुरुषको, जो क्रिया अथवा परिणामरहित है, स्वप्रतिबिम्बित चित्तके आकारकी प्राप्ति होनेपर अपने विषयभूत चित्तका ज्ञान होता है ।

व्याख्या—यद्यपि अपरिणामी भोक्तृ-शक्ति पुरुष अप्रतिसंक्रम अर्थात् किसी विषयसे सम्बद्ध न होनेसे निर्लेप है तथापि विषयाकार परिणामी बुद्धि (चित्त) में प्रतिबिम्बित हुआ तदाकार होनेसे वह उस बुद्धि (चित्त) की वृत्तिका अनुपाती (अनुसारी) हो जाता है । इस प्रकार चैतन्य प्रतिबिम्बित ग्राहिणी बुद्धि-वृत्ति (चित्त-वृत्ति) के अनुकारमात्र होनेसे ही बुद्धिवृत्तिमें अभिन्न हुआ वह चेतन ज्ञान-वृत्ति कहा जाता है । परमार्थमें वह चेतन ज्ञाता नहीं है । क्योंकि चेतनके प्रतिबिम्बका आधार होनेसे जो चित्तका चेतनाकार हो जाना है वह तदाकारापत्ति है । इस तदाकारापत्तिके होनेसे जो चित्तमें दर्शन-

कर्तृत्व है उसको लेकर ही चेतनको द्रष्टा कहा जाता है, वास्तवमें तो यह दृशिमात्र ही है। (२ । २०)

अर्थात् निर्विकार पुरुषमें दर्शनकर्तृत्व, ज्ञातृत्व स्वाभाविक नहीं है, किंतु जैसे निर्मल जलमें प्रतिबिम्बित हुए चन्द्रमामें अपनी चञ्चलताके बिना ही जलरूप उपाधिकी चञ्चलतासे चञ्चलता भासती है वैसे ही चित-प्रतिबिम्बित जो चेतन है वह भी स्वाभाविक ज्ञातृत्व और भोक्तृत्वके बिना ही केवल प्रतिबिम्बाधार चित्तके विषयाकार होनेसे तदाकार भासता है।

अथवा चेतन पुरुषका प्रतिबिम्ब पडनेसे चित्तका जो चेतनवत् आकार होना है वह तदाकारापत्ति है। ऐसी तदाकारापत्ति हुए चित्तमें जो ज्ञातृत्व है उसीका निर्विकार पुरुषमें आरोप होता है।

इस प्रकार चैतन्य-प्रतिबिम्बित चित्त ही चिदाकार हुआ अपनेको दृश्य और चेतनको द्रष्टा कर देता है। वास्तवमें पुरुष द्रष्टा नहीं है केवल ज्ञानस्वरूप है, चित्त और चेतनका अभिन्न रूपसे भान होनेसे ही ऐसा कहा गया है। निम्न वाक्यसे चेतनको बुद्धिवृत्यविशिष्ट कहा गया है ?

न पातालं न च विवरं गिरीणां नैवान्धकारं कुक्षयो नोदधीनाम्।
गुहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं बुद्धिवृत्तिमविशिष्टां कवयो वेदयन्ते॥

जिस गुफामें शाश्वत (नित्य) ब्रह्म निहित है वह गुफा न तो पाताल है, न पर्वतोकी गुफा है, न अन्धकार है, न समुद्रोंकी खाडी है, किंतु प्रतिबिम्बित चेतनसे अभिन्न-सी जो बुद्धिवृत्ति (चित्तवृत्ति) है उसीको कवि (ब्रह्मज्ञानी) ब्रह्मगुहा कहते हैं।

टिप्पणी—उपर्युक्त व्याख्या व्यासभाष्यानुसार है। यह सूत्र अधिक महत्त्वका है इसलिये भोजवृत्तिका भावार्थ भी यहाँ देते है—

भोजवृत्तिका भावानुवाद ॥ सूत्र २२ ॥

यदि बुद्धि स्वयं प्रकाश नहीं और भिन्न बुद्धिसे उसका ग्रहण नहीं होता तो बुद्धि-ज्ञानरूप व्यवहार कैसे होता है ? इस आशङ्काको करके अपना सिद्धान्त कहते हैं—

पुरुष जो कि चैतन्यरूप है, वह किसीसे मिला हुआ नहीं अर्थात् जैसे सत्त्व, रजस् आदि गुणोंका जब अङ्गाङ्गिभाव लक्षण परिणाम होता है तो वे गुण अपने प्रधान गुणके-से रूपको धारण कर लेते हैं। अथवा जैसे लोकमें फैलते हुए परमाणु एक विषय (घटादि) को बना देते हैं, वैसे चैतन्य शक्ति नहीं है, क्योंकि वह सर्वदा एकरूप सुप्रतिष्ठित रहती है, उस चैतन्यशक्तिके सङ्ग होनेसे जब बुद्धि चैतन्य-सी हो जाती है, और जब चेतन शक्ति बुद्धिवृत्तिमें प्रतिफलित हुई बुद्धिवृत्तिसे मिली हुई जानी जाती है, तब (चितिको) बुद्धिमें अपने स्वरूपका ज्ञान होता है।

वृत्तिका तात्पर्य यह है कि यद्यपि जैसे बुद्धिका क्रियाद्वारा घटादि सम्बन्ध होता है, वैसे चितिका बुद्धिके साथ संयोग नहीं है; क्योंकि चिति परिणामशून्य है। तथापि जैसे सूर्यका जलमें प्रतिबिम्ब पडता है, वैसे चितिका बुद्धिमें प्रतिबिम्ब पडता है, इससे बुद्धिको चिदाकारता होनेसे चितिको बुद्धिवृत्तिसहित बुद्धिका भान होता है।

संगति—पिछले आठ सूत्रोंमें यह सिद्ध करके कि बाह्य जगत् और पुरुष चित्तसे भिन्न है, अब यह बताते हैं कि चितको ही बाह्य वस्तु और आत्मा मानने और उससे अतिरिक्त इन दोनोंका अस्तित्व न माननेमें क्या भ्रान्ति होती है ?

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ—द्रष्टृ-दृश्य-उपरक्तम्=द्रष्टा और दृश्यसे रँगा हुआ, चित्तम्=चित्त, सर्वार्थम्=सारे अर्थोंवाला (अनेकाकार) होता है ।

भावार्थ—द्रष्टा और दृश्यसे रँगा हुआ चित्त सारे अर्थोंवाला होता है ।

व्याख्या—१ चित्त, गुणोंका प्रथम सात्त्विक विषम परिणाम, प्रसवधर्मी (क्रियावाला), परिणामी और अचेतन (जड़) है । पर इसका अपना भाषण स्वरूप है ।

२ पुरुषसे प्रतिबिम्बित होकर चित्त चेतन अर्थात् ज्ञानवाला प्रतीत होता है । यह उसका द्रष्टासे उपरक्त रूप कहलाता है । इसीसे यह चित्तको चेतन और उससे अन्य किसी पुरुषके न होनेकी भ्रान्ति होती है ।

३ दृश्य विषयोंसे प्रतिबिम्बित होकर चित्त उन-जैसा भासने लगता है । यह उसका दृश्य उपरक्त रूप कहलाता है । इसीसे यह भ्रान्ति होती है कि चित्तसे अतिरिक्त कोई बाह्य विषय और बाह्य जगत् नहीं है ।

अर्थात् चित्त, बाह्य जगत् और वस्तुएँ, और पुरुष तीनों अलग-अलग हैं और अपनी अलग-अलग सत्ता रखते हैं ।

चित्त केवल दृश्य (अर्थ) से ही उपरक्त (सम्बद्ध) नहीं होता है, किंतु अपनी वृत्ति (प्रतिबिम्ब) द्वारा विषयी पुरुष (प्रतिबिम्बित चेतन) भी उसके साथ सम्बन्धवाला है । इसीसे 'घटमहं जानामि' (मैं घटको जानता हूँ) यह जो प्रत्यक्षरूप ज्ञान है वह विषय और विषयी इन दोनोंका उपस्थापक होता है, केवल दृश्य अर्थका ही उपस्थापक नहीं होता है ।

इस प्रकार चित्त अचेतन विषयरूप होते हुए भी चेतन और विषयीके सदृश होनेसे चेतना चेतन स्वरूप तथा विषय-विषयी अर्थात् दृश्य-द्रष्टारूपसे भासता हुआ स्फटिक मणि (बिल्लौर) के सदृश अनेक रूपवाला है ।

जिस प्रकार एक स्फटिक मणि (बिल्लौर) के पास एक नीला पुष्प और एक लाल पुष्प रख दें तो वह एक बिल्लौर ही नीले फूल और लाल फूलके प्रतिबिम्बसे और तीसरे अपने निज रूपसे तीन रूपवाला प्रतीत होता है, इसी प्रकार एक ही चित्त विषय और पुरुषके प्रतिबिम्बसे और तीसरे अपने रूपसे ग्राह्य, गृहीता और ग्रहणस्वरूप होकर तीन रूपवाला हो जाता है अर्थात् अपने रूपसे ग्रहणाकार, विषयके प्रतिबिम्बसे ग्राह्याकार और पुरुषके प्रतिबिम्बसे ग्राहकाकार होनेसे चित्त सर्वार्थ है ।

अथवा सिनेमाके साधारण श्वेत रङ्गकी चादर (पर्दा) के सदृश चित्तका अपना ग्रहणाकार रूप है । विद्युत्से प्रकाशित चादरके समान उसका आत्मासे प्रकाशित दृष्टृ उपरक्तरूप है और चित्रोंसे युक्त चादर जैसा विषयसहित चित्तका ग्राह्याकार दृश्य उपरक्त रूप है । इस प्रकार चित्त सर्वार्थ है ।

चित्तकी इस सर्वार्थताके ही कारण किन्हीं-किन्हीं अभ्यासियोंको चित्तको पुरुषके प्रतिबिम्बसे भासते हुए उसके गृहीत्राकार स्वरूपको देखकर यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि चित्तके अतिरिक्त अन्य कोई पुरुष (आत्मा) नहीं है तथा उसके दृश्यके प्रतिबिम्बसे भासते हुए ग्राह्याकार स्वरूपको

देखकर किसी-किसीको यह भ्रम होता है कि चित्तसे भिन्न कोई ग्राह्य वस्तु नहीं है ।*

उनका यह भ्रम समाधिद्वारा आत्माके साक्षात्कारसे दूर हो सकता है । अर्थात् समाधिकालमें जो सविकल्प प्रज्ञा होती है, उस प्रज्ञामें प्रतिबिम्बित अर्थ भिन्न है और जिसमे विषयका प्रतिबिम्ब पडता है वह प्रज्ञा भिन्न है तथा प्रतिबिम्बित पदार्थयुक्त प्रज्ञाको अवधारण करनेवाला जो पुरुष है वह भिन्न है । चित्त ही सब कुछ नहीं हो सकता; क्योंकि गृहीता, ग्रहण और ग्राह्य सब भिन्न-भिन्न है, एक नहीं हैं ।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र २३ ॥

इस प्रकार, पुरुषसे जाना हुआ चित्त, सब वस्तुओके ग्रहण करनेकी शक्तिके कारण, सब व्यवहारोंके निर्वाह योग्य होगा, यह कहते है—

द्रष्टा पुरुष है, उसके साथ चित्त भी चेतन-सा हो जाता है और जब दृश्य विषयोंके साथ सम्बन्ध करता है अर्थात् विषयाकाररूपी परिणामको प्राप्त होता है, तब वही चित्त सब वस्तुओको ग्रहण करनेकी शक्तिसे सम्पन्न होता है । जैसे निर्मल स्फटिक (बिल्लौर) दर्पण (शीशा) आदि ही प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेमें समर्थ होता है वैसे रजोगुण और तमोगुणसे अनाक्रान्त, शुद्ध चित्त सत्त्व ही, चेतन प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेमें समर्थ होता है । रज और तम, दोनों अशुद्ध होनेके कारण प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेमें असमर्थ है । वह चित्त रज और तमको दबाता हुआ सत्त्वप्रधान बनकर स्थिर दीपककी शिखा (चोटी) के आकार-सा चेतन प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी शक्तिके कारण सदा एक रूपसे परिणत होता हुआ मोक्षतक रहता है । जैसे चुम्बकके निकट होनेपर लोहका चलना प्रकट होता है । ऐसे ही चैतन्य रूप पुरुषके निकट सत्त्वका अभिव्यग्य चैतन्य प्रकट हो जाता है । इसीसे इस शास्त्रमें दो प्रकारकी चित्-शक्ति (ज्ञानशक्ति) मानी जाती है । एक नित्योदिता (नित्य उदित), द्वितीय अभिव्यग्य (प्रकाश होने योग्य) नित्योदिता । चेतन शक्ति पुरुष है । उसीकी निकटतासे प्रकाशनीय है चैतन्य, जिसका ऐसा सत्त्व प्रकटित होता है, वही अभिव्यग्य चिच्छक्ति है । वह अत्यन्त समीप होनेसे पुरुषका भोग्य है । अर्थात् नित्योदित कूटस्थ चित् शक्तिका सुखादिकी समानरूपताको प्राप्त हुई, चित्प्रतिबिम्बरूप चित्-शक्ति भोग है । वही सत्त्व, शान्त ब्रह्मवादी साख्यो (योगाचार्यों) से, परमात्माद्वारा अधिष्ठेय अर्थात् कर्मानुकूल सुख-दु खका भोक्ता कहा जाता है । तीनो गुणोवाले, सुख-दुःखादि रूप, (घटादि) जो कि

---

* जैसा कि कहा गया है—चित्त प्रवर्तते चित्त चित्तमेव विमुच्यते । चित्त हि जायते नान्यच्चित्तमेव निरुध्यते ॥ लकावतार सूत्र । चित्तकी ही प्रवृत्ति होती है और चित्तकी ही विमुक्ति होती है । चित्तको छोड़कर दूसरी वस्तु उत्पन्न नहीं होती और न उसका नाश होता है । चित्त ही एकमात्र तत्त्व है ॥ दृश्यं न विद्यते बाह्य चित्त चित्त हि दृश्यते । देहभोगप्रतिष्ठान चित्तमात्र वदाम्यहम् ॥ अर्थात् बाहरी दृश्य जगत् बिल्कुल विद्यमान नहीं है । चित्त एकाकार है । परतु वही इस जगत्में विचित्र रूपसे दीख पड़ता है । कभी वह देहके रूपमें और कभी भोग (वस्तुओंके उपभोग) के रूपमें प्रतिष्ठित रहता है, अतः चित्तहीकी वास्तवमें सत्ता है । जगत् उसीका परिणाम है ॥ चित्तमात्र न दृश्योऽस्ति द्विधा चित्त हि दृश्यते । ग्राह्यग्राहकभावेत शाश्वतोच्छेदवर्जितम् ॥ लकावतार ३ । ६५ । अविभागो हि बुद्धयात्मा विपर्यासितदर्शनैः । ग्राह्यग्राहकसवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥ —म० मि० म० पृ० १२ । अर्थात् चित्त ही द्विविध रूपसे प्रतीयमान होता है—(१) ग्राह्य विषय, (२) ग्राहक वित्ति ॥ भ्रान्त दृष्टिवाला व्यक्ति ही अभिन्न बुद्धिमे ग्राह्य, ग्राहक, ग्रहण—इस त्रिपुटीकी कल्पना कर उसे भेदवती बनाता है ॥

बिना किसी विशेषताके, किसी गुणके प्रधान होनेसे प्रतिक्षण परिणत होते रहते है, वे कर्मानुसारी (चित् प्रतिबिम्बयुक्त) शुद्ध सत्त्वमें, अपने आकारको समर्पण करनेसे ज्ञेय बन जाते हैं । जिसमें चेतनका प्रतिबिम्ब पड़ता है. जिसका विशिष्ट आकार, विषयोके आकारको ग्रहण करनेसे बनता है और जो वस्तुत: चेतन न होनेपर भी चित् प्रतिबिम्बके बलसे चेतन-सा प्रतीत होता है वह पहला चित्त सत्त्व ही, सुख-दु खस्वरूप भोगका अनुभव करता है । वही भोग पुरुषके भी अत्यन्त निकट होनेसे भेद ज्ञान न होनेसे अभोक्ता पुरुषका भी भोग कहा जाता है । इसी अभिप्रायसे विन्ध्यवासी (किसी आचार्य) ने कहा है कि—चित्त सत्त्वका दु.खादि ही पुरुषका दु:खादि है और अन्यत्र भी लिखा है कि "बिम्बके रहते हुए, प्रतिबिम्बित छायाके सदृश छायाका प्रकट होना प्रतिबिम्ब शब्दसे कहा जाता है" । वैसे ही चित्त सत्त्वमें भी पुरुषके प्रतिबिम्बके तुल्य चैतन्यका प्रकट होना "प्रतिसंक्रान्ति" शब्दका अर्थ है । तात्पर्य यह है कि दो प्रकारका भोग है, एक चिदवसानतारूप और दूसरा परिणामलक्षण । प्रतिबिम्बित चिच्छक्तिरूप पुरुषका चिदवसानतारूप भोग है और प्रतिबिम्बित हुआ है चैतन्य जिसमें ऐसी सुखादि आकारसे परिणत होनेवाली बुद्धि (चित्त) का परिणामलक्षण भोग है ।

शङ्का यह है कि जिसका परिणाम नियत अर्थात् परिच्छिन्न हो ऐसी निर्मल वस्तुका, निर्मल (शुद्ध) वस्तुमें प्रतिबिम्ब पडता है; जैसे मुखका शीशेमें । परंतु अत्यन्त निर्मल पुरुषकी अपेक्षा, जो अशुद्ध सत्त्व है, उसमे अत्यन्त निर्मल, व्यापक, अपरिणामी (परिणामशून्य) पुरुषका प्रतिबिम्ब कैसे पडता है ? उत्तर यह है कि—प्रतिबिम्बके स्वरूपको न जानकर शङ्काकारने यह कहा है—क्योकि सत्त्वमे प्रकाशनीय चैतन्य शक्तिका पुरुषकी निकटतासे प्रकटित हो जाना ही प्रतिबिम्ब है, और पुरुषमे जैसी चेतनशक्ति है उसीकी छाया भी इसमे प्रकट होती है । यह कहना कि अत्यन्त निर्मल पुरुष, अशुद्ध सत्त्वमें कैसे प्रतिबिम्बित होता है, यह भी व्यभिचरित है अर्थात् अत्यन्त शुद्ध वस्तुका भी अपनेसे अशुद्ध वस्तुमें प्रतिबिम्ब पडता है । जैसे निर्मलतासे निकृष्ट जलादिमें, अत्यन्त निर्मल सूर्यादि प्रतिबिम्बित हुए मालूम होते हैं । यह कहना कि—व्यापकका प्रतिबिम्ब नहीं होता, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि व्यापक आकाशका शीशेमें प्रतिबिम्ब मालूम होता है । ऐसे प्रतिबिम्ब माननेमें कोई दोष नहीं । द्वितीय शङ्का यह है कि सत्त्वगुणके परिणामरूप बुद्धि सत्त्व (अन्त:करण) में पुरुषकी निकटतासे प्रकाशित चित् शक्तिका जो बाह्य वस्तुओके सम्बन्ध होनेपर भोग है, वही पुरुषका भोग है, यह कहना ठीक नहीं है; क्योकि यदि प्रकृति परिणामरहित है तो चित्त सत्त्व कैसे हो सकता है ? और यदि प्रकृतिमें परिणाम होता है तो वह परिणाम उसका क्यो होता है ? यह कहना कि पुरुषार्थ कर्तव्यताको अर्थात् पुरुषको सुख-दु.खादि देनेके लिये प्रकृतिका परिणाम होता है, ठीक नहीं, क्योकि 'पुरुषार्थ मुझे करना चाहिये' इस प्रकारकी इच्छाको 'पुरुषार्थकर्तव्यता' कहते हैं । प्रकृति जड है । उसमें ऐसी इच्छा पहले कहाँसे आयी ? यदि वैसी इच्छा है तो प्रकृतिको जड क्यो कहा जाता है ? (उत्तर) प्रकृतिमें अनुलोम और प्रतिलोम—दो प्रकारके स्वाभाविक परिणाम होते हैं । वे ही परिणाम 'पुरुषार्थकर्तव्यता' कहलाते हैं । वह परिणामरूप शक्ति, जड प्रकृतिमें भी स्वाभाविक है । इस प्रकृतिका बहिर्मुख रूपसे महत् आदिसे लेकर पञ्चमहाभूतपर्यन्त अनुलोम परिणाम होता है, फिर अपने-अपने कारणमे प्रवेशद्वारा (अर्थात् पृथ्वीका जलमें, जलका तेजमें, तेजका वायुमें, वायुका आकाशमें

इत्यादि रूपसे) अस्मितातक प्रतिलोम परिणाम होता है । इस तरह जब पुरुषके भोगोकी समाप्ति हो जानेसे प्रकृतिकी स्वाभाविक उक्त दोनो शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, तब मुक्त पुरुषके प्रति प्रकृति कृतार्थ हुई (अपने कामको समाप्त करनेवाली) (उस मुक्त पुरुषके लिये) फिर परिणामको नहीं आरम्भ करती । जड़ प्रकृतिको ऐसी पुरुषार्थ-कर्तव्यता माननेसे कोई दोष नहीं ।

शङ्का—यदि ऐसी स्वाभाविक शक्ति प्रकृतिमें है तो मुमुक्षु पुरुष मोक्षके लिये क्यो प्रयत्न करता है ? यदि मोक्ष इष्ट न हो तो मोक्षका उपदेशक शास्त्र व्यर्थ ही हो जाय । अर्थात् जब इच्छादि प्रकृतिमें ही है तो मुक्ति और बन्धन प्रकृतिके ही अधीन हुए, फिर पुरुष क्यो यत्न करता है ?

उत्तर—प्रकृति और पुरुषका भोग्य-भोक्तारूप सम्बन्ध अनादिसे है, उसके रहते हुए प्रकटित हुआ है चैतन्य जिसमें ऐसी प्रकृतिको 'कर्तृत्वाभिमान' 'मै करता हूँ' इस प्रकारका अभिमान होता है, उस अभिमानसे दु खका अनुभव होता है । दु.खके अनुभव होनेसे (पुरुष) यह चाहता है कि मुझे यह अत्यन्त दु.खनिवृत्ति कैसे हो, तो दु:खनिवृत्तिके उपायके उपदेशक शास्त्रकी अपेक्षा प्रकृतिको होती है । दु:ख-निवृत्तिका इच्छुक कर्माधिकारी अन्त.करण शास्त्रोपदेशका विषय है । अन्य दर्शनोंमें भी इस प्रकारका ही अविवेकी शास्त्रमें अधिकारी है । वही अधिकारी मोक्षके लिये यत्न करता हुआ, ऐसे शास्त्रोपदेशरूपी कारणकी अपेक्षासे मोक्षरूप फलको प्राप्त होता है । सब कार्य अपनी सामग्रीको प्राप्त होनेपर ही स्वरूपको लाभ करते हैं । प्रकृतिके प्रतिलोम परिणामद्वारा उत्पन्न मोक्षरूप कार्यकी ऐसी ही सामग्री शास्त्रादि प्रमाणोसे निश्चित है । द्वितीय प्रकारसे उपपादन नहीं हो सकता, तो शास्त्रोपदिष्ट यम, नियम, विवेक-ज्ञानादि रूप सामग्रीके बिना मोक्ष कैसे हो सकता है । इससे सिद्ध हुआ कि विषयोके आकारको ग्रहण करनेवाला और प्रकट हुआ है चैतन्यप्रतिबिम्ब जिसमें ऐसा अन्त:करण, विषयोका निश्चय करके सब व्यवहारोंको चलाता है । इस प्रकारके कथनसे ऐसे ही चित्तको मानते हुए और जगत् स्वसंवेदन चित्त मात्र है (स्वेन स्वरूपेण संवेद्यं प्रकाशो यस्य तच्चित्त तदेव) अर्थात् अपने स्वरूपसे ही प्रकाश है जिसका ऐसा केवल चित्त ही जगत् है, इस प्रकार कहनेवाले लोग समझाये जाते हैं । (क्योकि चित्तसे भिन्न ज्ञाता, ज्ञेयादि भी हैं) ।'

विशेष वक्तव्य—॥ सूत्र २३ ॥ वार्तिककारादिने इस सूत्रपर और इससे पूर्व सूत्रपर जो भाष्य लिखा है, उसका तात्पर्य निम्न प्रकार है—

भोक्ता पुरुष परिणामशून्य है, इससे उसमें कहीं आना-जाना नहीं होता, किंतु बुद्धिवृत्तिमें वह प्रतिबिम्बित-सा होता है, इसलिये बुद्धिवृत्तिको चेतन-तुल्य बना देता है । अन्यथा 'घटमहं जानामि' 'मैं घटको जानता हूँ' यह बुद्धिवृत्ति चेतन भावार्थ नहीं हो सकती; क्योंकि अहं पदका अर्थ केवल जड़ बुद्धि नहीं है । जैसे बुद्धि (अन्त:करण) इन्द्रियादिद्वारा अर्थोंके संनिकर्षसे अर्थों (घटादिकों) के आकारमे परिणत होकर अर्थाकार होती है, वैसे ही पुरुषके अत्यन्त सनिकर्ष भोग्य भोक्तृ रूप सम्बन्धसे उनके प्रतिबिम्बको ग्रहण करके आत्माकार बन जाती है । परिणाम बुद्धिमें ही होता है, वह बहिर्मुख होकर विषयाकार होती है (विषयाकार होनेसे ही, मनकी स्वप्नावस्थामें तत्तदाकार-सी वृत्तियाँ होती रहती हैं) और अन्तर्मुख होकर आत्माकार प्रतिबिम्बको ग्रहण करना ही उसकी आत्माकारता है । वस्तुत: प्रतिबिम्बके न होनेपर भी, बुद्धिका आत्माकार हो जाना ही प्रतिबिम्ब

है । अपने (इस प्रकार) प्रतिबिम्बद्वारा ही चेतन भोक्ता कहलाता है । अर्थात् कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व—ये सब बुद्धिवृत्तिमें वास्तविक हैं और पुरुषमें आरोपित है । तात्पर्य यह कि बुद्धि-वृत्ति तदाकारमें परिणत हो अपने स्वरूपको पुरुषके लिये समर्पण करती है, इससे पुरुषमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व सम्भव जाना है । और आत्मा भी प्रतिबिम्बद्वारा अपने रूपको बुद्धिके अर्पण करता है, इससे बुद्धि चेतन समझी जाती है । आत्माकार-सा बुद्धिवृत्तिका हो जाना प्रतिबिम्बके तुल्य होनेसे प्रतिबिम्ब कहलाता है । केवल वृत्तियोंका ज्ञेय भी ज्ञेयादि वृत्तियोंके तुल्य है, वह 'जानामि' 'मैं जानता हूँ' इस वृत्तिका विषय होता है । इस सूत्रमें जिनको 'सर्वार्थ' कहा है । इस शब्दका अर्थ यह है कि चित्त ग्रहण, ग्रहीता—इन सबको गौण करता है 'अयं घटः' 'यह घट है' इस व्यवसायात्मक ज्ञानके अनन्तर 'घटमहं जानामि' 'मैं घटको जानता हूँ' इस प्रकारका जो अनुव्यवसायात्मक ज्ञान होता है वह भी पूर्व ज्ञानके तुल्य सर्वार्थ है, इसलिये सर्वार्थ कहना ठीक है । इस उत्तर-ज्ञानमें ज्ञेय, ज्ञाता, ज्ञान—तीनों समान होते हैं । 'ग्रहीतृग्रहणोपरक्तम्' अर्थात् पुरुष और विषय—दोनोंके आकारवाला चित्त होता है । पुरुष और बुद्धिकी अत्यन्त समीपता है, इससे शब्दाद्याकारान्वित पुरुषाकार बुद्धिवृत्ति होकर पुरुषमें प्रतिबिम्बित होती है, इस बुद्धिवृत्तिका प्रकाश होना ही पुरुषमें शब्दादिका ज्ञान और पुरुषका ज्ञान कहलाता है । इससे पुरुष-ज्ञानके लिये पुनर्ज्ञान अथवा ज्ञानान्तरकी अपेक्षा नहीं और न कर्मकर्तृविरोध है अर्थात् 'अहं जानामि' 'मैं जानता हूँ' इत्यादि प्रतीतियोंका आश्रय होनेसे कर्त्ता और उक्त प्रतीतियोंका विषय होनेसे आत्मा कर्म होता है । पर आत्माके विरुद्ध कर्मकर्तृत्व कैसे रह सकते हैं इस प्रकारका विरोध नहीं है । क्योंकि अन्तःकरणको द्वार माना जाता है । जैसे स्फटिक मणि दोनो तरफ भिन्न-भिन्न प्रकारकी वस्तुओं-के और अपने स्वरूपके साथ तीनो रूपवाला-सा प्रतीत होता है वैसे ही चित्तकी दशा है (यहाँ स्फटिक-का दृष्टान्त, सर्वांशमें नहीं है, क्योंकि उसमें प्रतिबिम्बमात्र पडता है और चित्त तदाकारसे परिणत भी होता है । इसमें उस-उस वस्तुके साथ मेल होनेसे वैसा-वैसा प्रतीत होनेमात्रमें दृष्टान्त है) ।

सब वस्तुओंको भ्रममात्रसे कल्पित मानना भी ठीक नहीं । सीपमें जो चाँदीका अथवा रज्जुमें जो सर्पका ज्ञान होता है वह सारूप्य दोषसे है, इससे अविद्याकी सर्वत्र कल्पना करना अयुक्त है । भ्रमस्थलोंमें विषयका आकार चित्तमें रहता है, विषय सत्य ही है ।

जिन सांख्ययोगी वेदान्तियोंने विवेकद्वारा गृहीता, ग्रहण और ग्राह्य—इन तीनोंको परस्पर विजातीय-रूपसे पृथक्-पृथक् जान लिया है, वही समदर्शी है, उन्होंने ही पुरुषके स्वरूपको जान लिया है । अन्य जो अविवेकी हैं वे सब भ्रान्तिमें हैं । उनकी उपेक्षा न करनी चाहिये, किंतु कृपा करके उनको बोधन कराना चाहिये ।

सङ्गति—शङ्का—जब चित्तसे सब व्यवहार चल रहे हैं और उसीमें सब वासनाएँ रहती हैं तो द्रष्टा प्रमाणशून्य होकर चित्त ही भोक्ता सिद्ध होता है ।

समाधान—

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—तत्=वह=चित्त; असंख्येय-वासनाभिः-चित्रम्-अपि=अनगिनत वासनाओंसे चित्रित हुआ भी; पर-अर्थम्=दूसरेके लिये है; संहत्य-कारित्वात्=संहत्यकारी होनेसे ।

अन्वयार्थ—चित्त अनगिनत वासनाओंसे चित्रित हुआ भी परार्थ है; क्योंकि वह संहत्यकारी है ।

व्याख्या—जो वस्तु कई चीजोसे मिलकर कामकी बनती है वह संहत्यकारी कहलाती है; जैसे मकान, शय्या आदि। संहत्यकारी वस्तु अपने लिये नहीं होती, बल्कि किसी दूसरेके लिये होती है, जैसे मकान, शय्या आदि अपने लिये नहीं हैं; बल्कि किसी दूसरेके रहने और आरामके लिये हैं। इसी प्रकार चित्त भी सत्त्व, रजस् और तमस् गुणोंके अङ्ग-अङ्गीभावके मेलसे सत्त्वप्रधान बना है। इसलिये वह भी संहत्यकारी है और किसी दूसरेके लिये होना चाहिये सो पुरुषके ही भोग-अपवर्गके लिये इसकी प्रवृत्ति होती है।

यद्यपि यह ठीक है कि अनन्त वासनाओंसे चित्रित होनेके कारण चित्तहीको भोक्ता मानना चाहिये, क्योंकि जो वासनाका आश्रय होता है वह भोगका आश्रय होनेसे भोक्ता बन सकता है, अन्य नहीं। तथापि जड संहत्यकारी होनेसे वह चित्त स्वार्थ नहीं किंतु परार्थ ही है अर्थात् पुरुषके ही भोग-अपवर्ग सम्पादन अर्थ जानना चाहिये। इसलिये सुखाकार जो चित्त है, वह चित्तके भोगार्थ नहीं है और तत्त्वज्ञानाकार जो चित्त है, वह भी चित्तके अपवर्गार्थ नहीं, किंतु यह दोनों प्रकारका चित्त परार्थ है और वह जो इस भोग और अपवर्ग अर्थसे अर्थवाला है, वही असंहत केवल पुरुष है।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र २४ ॥

यदि उक्त प्रकारके चित्तसे ही सब व्यवहार चलते हैं, तो प्रमाणरहित द्रष्टा क्यों माना जाता है? इस शङ्काको करके द्रष्टामें प्रमाण देते हैं—

वह चित्त ही असंख्यात वासनाओंसे नाना प्रकारका हुआ अपने स्वामीके लिये है अर्थात् भोक्ता जीवके भोग और मोक्षरूपी प्रयोजनको सिद्ध करता है; क्योंकि मिलकर काम करनेवाला है। जो-जो मिलकर काम करते हैं वे अन्यके लिये होते हैं। जैसे शय्या, आसनादि (मिले हुए किसी पुरुषके लिये होते हैं)। सत्त्व, रज, तम—ये तीनों चित्तरूपसे परिणत होनेवाले मिलकर कार्य करते है, इससे परके लिये हैं। जो इनसे पर (भिन्न) है वह पुरुष है।

शङ्का—शय्या, आसनादिके दृष्टान्तसे तो शरीरवाला ही 'पर' सिद्ध होता है और तुमको तो केवल चिन्मात्र पुरुष इष्ट है, दृष्टान्त उससे विपरीतकी सिद्धि करता है, तो 'संहत्यकारित्वात्' यह हेतु तुम्हारा इष्टसाधक नहीं।

उत्तर—यह ठीक है कि सामान्यरूपसे केवल परविषयिणी व्याप्ति (जो-जो मिलकर कार्य करता है वह-वह परार्थ है, इस प्रकारकी) गृहीत होती है। परंतु सत्त्वादि गुण तो मिलकर कार्य करनेवाले ही हैं, इनसे विलक्षण कोई अन्य धर्मी होना चाहिये, ऐसा विचार करनेपर सत्त्वादि गुणोंसे विलक्षण, असहत चिन्मात्ररूप भोक्ता सिद्ध होता है। जैसे काष्ठोंसे घिरे हुए पर्वतमें विलक्षण धूमसे पर्वतकी लकड़ियोंसे उत्पन्न अन्य वह्नियोंसे विलक्षण प्रकारका भी वह्नि (अग्नि) अनुमित होता है। वैसे यहाँ भी भोग्य सत्त्व गुणसे, परार्थताका अनुमान करनेपर उससे विलक्षण ही भोक्ता, स्वामी, चेतनरूप, असहत (किसीसे नहीं मिला हुआ) सिद्ध होता है। यदि उसपर (पुरुष) में परत्वधर्म, सर्वोत्कृष्टत्व (सबसे उत्तमतारूप) ही माना जाय तो भी तमोगुण प्रधान विषयोंसे शरीर उत्तम है, क्योंकि यह प्रकाशरूप इन्द्रियोंका आश्रय है। उस शरीरसे भी उत्तम इन्द्रियाँ हैं। उन इन्द्रियोंसे भी उत्तम चित्तसत्त्व है। उस चित्तका भी जो प्रकाशक है, जिसका कोई अन्य प्रकाशक नहीं, वह चेतनरूप ही है, उसमें मेल कहाँसे हो सकता है।

शङ्का—यद्यपि चित्त और पुरुषका भेद युक्तिद्वारा बतलाया गया, पर आत्मा कैसा है, क्या

है ? यह युक्तिसे नहीं जाना जा सकता; क्योंकि यह अनुभवका विषय है, इसका वास्तविक स्वरूप समाधिद्वारा जाना जा सकता है । इसको अगले सूत्रमें बतलाते हैं—

विशेषदर्शिनः आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—विशेष-दर्शिनः=(विवेकख्यातिद्वारा पुरुष और चित्तमें) भेदके देखनेवालेकी; आत्म-भाव-भावना=आत्मभावकी भावना, विनिवृत्तिः=निवृत्त हो जाती है ।

अन्वयार्थ—विवेकख्यातिद्वारा पुरुष और चित्तमें भेदके देखनेवालेकी आत्मभावकी भावना निवृत्त हो जाती है ।

व्याख्या—आत्मभावभावना=आत्मभावकी चिन्ता कि मैं कौन हूं, कैसा हूं, क्या था, आगे क्या होऊँगा इत्यादि ।

विशेष-दर्शिनः=पुरुष और चित्तके भेदको विवेकख्यातिद्वारा साक्षात् करनेवाला विवेकज्ञानी ।

विवेकख्यातिद्वारा जब योगीको पुरुष और चित्तका भेद साक्षात् हो जाता है तब उसकी आत्मभावना कि मैं कौन हूं, क्या हूं इत्यादि निवृत्त हो जाती है । वह चित्तमें ही सारे परिणामोंको देखता है और उनके धर्मोंसे भिन्न अपनेको अपरिणामी ज्ञानस्वरूप अनुभव करने लगता है ।

जिस पुरुषके चित्तमें यह भावना होती है, वही आत्मज्ञान उपदेशका अधिकारी है और वही योगाभ्यासद्वारा विवेक-ज्ञानका सम्पादन करता है । उसी विवेकज्ञानसे यह आत्मभाव-भावना निवृत्त होती है । जिसको यह आत्मभाव-भावना ही नहीं उसको न तो इस आत्मज्ञानके उपदेशका अधिकार ही है, न उसको विवेकज्ञान ही उत्पन्न होता है और न आत्मभाव-भावनाकी निवृत्ति होती है ।

किसके चित्तमें यह भावना उदय हुई है और किसके चित्तमें नहीं उदय हुई है इसका भाष्यकार इस अनुमानसे जान लेना बतलाते हैं कि जैसे वर्षा ऋतुमें तृणोंके अङ्कुरोंका प्रादुर्भाव देखकर उन तृणोंके बीजोंकी सत्ताका अनुमान किया जाता है वैसे ही जिस पुरुषको मोक्षमार्ग श्रवणसे रोमाञ्च, हर्ष और अश्रुपात होवे उस पुरुषने विवेक-ज्ञानके बीजभूत तथा अपवर्गके साधन जो यम, नियम आदि कर्म हैं उनका पूर्व जन्ममें अनुष्ठान कर लिया है और उसके चित्तमें आत्मभाव-भावनाका उदय भी है । जिन पुरुषोंकी पूर्व जन्ममें शुभ कर्मोंके अनुष्ठानके अभावसे केवल पूर्व पक्षमें ही रुचि हो और सिद्धान्तमें अरुचि हो उनके चित्तमें अनुमानसे आत्मभाव-भावनाका अनुदय जान लेना ।

सङ्गति—विशेष-दर्शनके उदय होनेपर विशेष-दर्शीका चित्त कैसा होता है ? इसको बतलाते हैं—

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—तदा=तब (विशेषदर्शनके उदय होनेपर); विवेकनिम्नम्=विवेककी ओर निम्न अर्थात् झुका हुआ—विवेकमार्ग संचारी; कैवल्य-प्राग्भारम्=कैवल्यकी प्राग्भारवाला अर्थात् कैवल्यके अभिमुख; चित्तम्=विशेषदर्शीका चित्त होता है ।

अन्वयार्थ—विशेषदर्शनके उदय होनेपर विशेषदर्शीका चित्त विवेक-मार्ग-सचारी होकर कैवल्यके अभिमुख होता है ।

व्याख्या—जो वस्तु कई चीजोसे मिलकर कामकी बनती है वह सहत्यकारी कहलाती है; जैसे मकान, शय्या आदि । संहत्यकारी वस्तु अपने लिये नहीं होती, बल्कि किसी दूसरेके लिये होती है, जैसे मकान, शय्या आदि अपने लिये नहीं हैं; बल्कि किसी दूसरेके रहने और आरामके लिये हैं । इसी प्रकार चित्त भी सत्त्व, रजस् और तमस् गुणोके अङ्ग-अङ्गीभावके मेलसे सत्त्वप्रधान बना है । इसलिये वह भी संहत्यकारी है और किसी दूसरेके लिये होना चाहिये सो पुरुषके ही भोग-अपवर्गके लिये इसकी प्रवृत्ति होती है ।

यद्यपि यह ठीक है कि अनन्त वासनाओसे चित्रित होनेके कारण चित्तहीको भोक्ता मानना चाहिये, क्योंकि जो वासनाका आश्रय होता है वह भोगका आश्रय होनेसे भोक्ता बन सकता है, अन्य नहीं । तथापि जड सहत्यकारी होनेसे वह चित्त स्वार्थ नहीं किंतु परार्थ ही है अर्थात् पुरुषके ही भोग-अपवर्ग सम्पादन अर्थ जानना चाहिये । इसलिये सुखाकार जो चित्त है, वह चित्तके भोगार्थ नहीं है और तत्त्वज्ञानाकार जो चित्त है, वह भी चित्तके अपवर्गार्थ नहीं, किंतु यह दोनों प्रकारका चित्त परार्थ है और वह जो इस भोग और अपवर्ग अर्थसे अर्थवाला है, वही असहत केवल पुरुष है ।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र २४ ॥

यदि उक्त प्रकारके चित्तसे ही सब व्यवहार चलते हैं, तो प्रमाणरहित द्रष्टा क्यो माना जाता है ? इस शङ्काको करके द्रष्टामें प्रमाण देते हैं—

वह चित्त ही असंख्यात वासनाओंसे नाना प्रकारका हुआ अपने स्वामीके लिये है अर्थात् भोक्ता जीवके भोग और मोक्षरूपी प्रयोजनको सिद्ध करता है; क्योंकि मिलकर काम करनेवाला है । जो-जो मिलकर काम करते हैं वे अन्यके लिये होते हैं । जैसे शय्या, आसनादि (मिले हुए किसी पुरुषके लिये होते हैं) । सत्त्व, रज, तम—ये तीनो चित्तरूपसे परिणत होनेवाले मिलकर कार्य करते है, इससे परके लिये हैं । जो इनसे पर (भिन्न) है वह पुरुष है ।

शङ्का—शय्या, आसनादिके दृष्टान्तसे तो शरीरवाला ही 'पर' सिद्ध होता है और तुमको तो केवल चिन्मात्र पुरुष इष्ट है, दृष्टान्त उससे विपरीतकी सिद्धि करता है, तो 'सहत्यकारित्वात्' यह हेतु तुम्हारा इष्टसाधक नहीं ।

उत्तर—यह ठीक है कि सामान्यरूपसे केवल परविषयिणी व्याप्ति (जो-जो मिलकर कार्य करता है वह-वह परार्थ है, इस प्रकारकी) गृहीत होती है । परतु सत्त्वादि गुण तो मिलकर कार्य करनेवाले ही हैं, इनसे विलक्षण कोई अन्य धर्मी होना चाहिये, ऐसा विचार करनेपर सत्त्वादि गुणोसे विलक्षण, असहत चिन्मात्ररूप भोक्ता सिद्ध होता है । जैसे काष्ठोसे घिरे हुए पर्वतमे विलक्षण धूमसे पर्वतकी लकड़ियोंसे उत्पन्न अन्य वह्नियोंसे विलक्षण प्रकारका ही वह्नि (अग्नि) अनुमित होता है । वैसे यहाँ भी भोग्य सत्त्व गुणसे, परार्थताका अनुमान करनेपर उससे विलक्षण ही भोक्ता, स्वामी, चेतनरूप, असहत (किसीसे नहीं मिला हुआ) सिद्ध होता है । यदि उसपर (पुरुष) में परत्वधर्म, सर्वोत्कृष्टत्व (सबसे उत्तमतारूप) ही माना जाय तो भी तमोगुण प्रधान विषयोसे शरीर उत्तम है, क्योंकि यह प्रकाशरूप इन्द्रियोका आश्रय है । उस शरीरसे भी उत्तम इन्द्रियाँ हैं । उन इन्द्रियोंसे भी उत्तम चित्तसत्त्व है । उस चित्तका भी जो प्रकाशक है, जिसका कोई अन्य प्रकाशक नहीं, वह चेतनरूप ही है, उसमें मेल कहाँसे हो सकता है ।

सगति—यहाँतक चित्त और पुरुषका भेद युक्तिद्वारा बतलाया गया, पर आत्मा कैसा है, क्या

है ? यह युक्तिसे नहीं जाना जा सकता; क्योंकि यह अनुभवका विषय है, इसका वास्तविक स्वरूप समाधिद्वारा जाना जा सकता है । इसको अगले सूत्रमे बतलाते हैं—

विशेषदर्शिनः आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—विशेष-दर्शिनः=(विवेकख्यातिद्वारा पुरुष और चित्तमें) भेदके देखनेवालेकी; आत्म-भाव-भावना=आत्मभावकी भावना; विनिवृत्तिः=निवृत्त हो जाती है ।

अन्वयार्थ—विवेकख्यातिद्वारा पुरुष और चित्तमें भेदके देखनेवालेकी आत्मभावकी भावना निवृत्त हो जाती है ।

व्याख्या—आत्मभावभावना=आत्मभावकी चिन्ता कि मै कौन हूँ, कैसा हूँ, क्या था, आगे क्या होऊँगा इत्यादि ।

विशेष-दर्शिनः=पुरुष और चित्तके भेदको विवेकख्यातिद्वारा साक्षात् करनेवाला विवेकज्ञानी ।

विवेकख्यातिद्वारा जब योगीको पुरुष और चित्तका भेद साक्षात् हो जाता है तब उसकी आत्मभावना कि मै कौन हूँ, क्या हूँ इत्यादि निवृत्त हो जाती है । वह चित्तमें ही सारे परिणामोको देखता है और उसके धर्मोंसे भिन्न अपनेको अपरिणामी ज्ञानस्वरूप अनुभव करने लगता है ।

जिस पुरुषके चित्तमें यह भावना होती है, वही आत्मज्ञान उपदेशका अधिकारी है और वही योगाभ्यासद्वारा विवेक-ज्ञानका सम्पादन करता है । उसी विवेकज्ञानसे यह आत्मभाव-भावना निवृत्त होती है । जिसको यह आत्मभाव-भावना ही नहीं उसको न तो इस आत्मज्ञानके उपदेशका अधिकार ही है, न उसको विवेकज्ञान ही उत्पन्न होता है और न आत्मभाव-भावनाकी निवृत्ति होती है ।

किसके चित्तमें यह भावना उदय हुई है और किसके चित्तमें नहीं उदय हुई है इसका भाष्यकार इस अनुमानसे जान लेना बतलाते है कि जैसे वर्षा ऋतुमें तृणोके अङ्कुरोका प्रादुर्भाव देखकर उन तृणोके बीजोंकी सत्ताका अनुमान किया जाता है वैसे ही जिस पुरुषको मोक्षमार्ग श्रवणसे रोमाञ्च, हर्ष और अश्रुपात होवे उस पुरुषने विवेक-ज्ञानके बीजभूत तथा अपवर्गके साधन जो यम, नियम आदि कर्म है उनका पूर्व जन्ममें अनुष्ठान कर लिया है और उसके चित्तमें आत्मभाव-भावनाका उदय भी है । जिन पुरुषोकी पूर्व जन्ममें शुभ कर्मोंके अनुष्ठानके अभावसे केवल पूर्व पक्षमे ही रुचि हो और सिद्धान्तमें अरुचि हो उनके चित्तमे अनुमानसे आत्मभाव-भावनाका अनुदय जान लेना ।

सङ्गति—विशेष-दर्शनके उदय होनेपर विशेष-दर्शीका चित्त कैसा होता है ? इसको बतलाते है—

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—तदा=तब (विशेषदर्शनके उदय होनेपर); विवेकनिम्नम्=विवेककी ओर निम्न अर्थात् झुका हुआ—विवेकमार्ग संचारी; कैवल्य-प्राग्भारम्=कैवल्यकी प्राग्भारवाला अर्थात् कैवल्यके अभिमुख, चित्तम्=विशेषदर्शीका चित्त होता है ।

अन्वयार्थ—विशेषदर्शनके उदय होनेपर विशेषदर्शीका चित्त विवेक-मार्ग-संचारी होकर कैवल्यके अभिमुख होता है ।

व्याख्या—निम्न—जलके प्रवाहके सचारयोग्य जो ढलवान् अर्थात् झुका हुआ प्रदेश है वह निम्न कहलाता है।

प्राग्भार—ऐसी उठी हुई भूमि अर्थात् ऊँचे प्रदेशको जहाँ जलका प्रवाह रुक जाता है प्राग्भार कहते है।

यहाँ चित्तकी उपमा बहते हुए जलसे दी गयी है, जिस प्रकार पानी नीचेकी ओर बहता है इसी प्रकार योगीका चित्त जो पहले अविवेकके मार्गमें बहता हुआ विषयोकी ओर जा रहा था, विशेषदर्शनसे वह मार्ग बद हो जाता है और चित्तका प्रवाह आत्मानात्मरूप विवेक-ज्ञानके मार्गकी ओर निम्न होकर कैवल्य प्राग्भारके अभिमुख हो जाता है। अर्थात् चित्त अज्ञानके कारण जो ससारी विषयोमें लगा हुआ था, विशेषदर्शनद्वारा विवेकज्ञान होनेपर उसकी प्रवृत्ति कैवल्यकी ओर हो जाती है। इसी प्रकारकी उपमा १। १२ में दी गयी है।

सङ्गति—विवेक-प्रवाही चित्तमें भी बीच-बीचमें कभी-कभी व्युत्थानकी वृत्तियाँ क्यो उत्पन्न होती हैं? इसको बताते है—

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—तत्=उस (विवेक-ज्ञानके); छिद्रेषु=छिद्रोमें—बीच-बीचमें—अन्तरालमें; प्रत्यय-अन्तराणि=दूसरी (व्युत्थानकी) वृत्तियाँ, सस्कारेभ्यः=(पूर्वके व्युत्थानके) सस्कारोंसे होती है।

अन्वयार्थ—उस विवेक-ज्ञानके बीच-बीचमें अन्य व्युत्थानकी वृत्तियाँ (भी) (पूर्वके व्युत्थानके) सस्कारोंसे उदय होती रहती हैं।

व्याख्या—छिद्र=विवेकज्ञानके बीचमें कभी-कभी होनेवाला विवेक-अभावरूप अवकाश, अन्तराल अथवा अवसर।

जबतक चित्तमें पुरुष और चित्तकी भिन्नताका ज्ञान प्रबलतासे रहता है तबतक उसकी प्रवृत्ति कैवल्यकी ओर रहती है, पर जब-जब इस विवेकज्ञानमे शिथिलता आने लगती है, तब-तब व्युत्थानके संस्कार अर्थात् व्युत्थानकी ममता और अहताकी वृत्तियाँ 'यह मेरा है' 'मै सुखी हूँ' 'मै दुखी हूँ' इत्यादि उत्पन्न हो जाती हैं। यह प्रत्ययान्तराणि अर्थात् समाधिकी वृत्तियोंसे भिन्न व्युत्थानकी वृत्तियाँ इसलिये बीचमें उत्पन्न होती हैं कि विवेकख्याति (विशेषदर्शन) अभी अत्यन्त परिपक्व नहीं हुई है और अनादिकालसे प्रवृत्त व्युत्थानके सस्कार अभी किंचित् बलवान् हैं।

सङ्गति—उनके त्यागका उपाय बताते हैं—

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—हानम्=निवृत्ति, एषाम्=उनकी (व्युत्थानके सस्कारोकी) क्लेशवत्=क्लेशोकी तरह; उक्तम्=कही गयी है।

अन्वयार्थ—उन (व्युत्थानके सस्कारों) की निवृत्ति क्लेशोकी निवृत्तिके तुल्य कही गयी जानना चाहिये।

व्याख्या—जैसे दूसरे पादके दसवें और ग्यारहवे सूत्रोमे क्लेशोंका नाश बतलाया है वैसे ही व्युत्थान-के सस्कारोका भी नाश जान लेना चाहिये अर्थात् जिस प्रकार प्रसंख्यानरूप अग्निसे क्लेश दग्ध-बीज-

भावको प्राप्त होकर अपने अंकुर-उत्पादनमें असमर्थ हो जाते हैं वैसे ही विवेक अभ्यासरूप प्रसंख्यान अग्निसे पूर्वके जन्मोंके व्युत्थानके संस्कार भी दग्धबीज होकर व्युत्थानकी वृत्तियोंको नहीं उत्पन्न करते। अपरिपक्व विवेकनिष्ठ चित्तमें ही व्युत्थानके संस्कारोंका प्रादुर्भाव होता है, परिपक्व ज्ञाननिष्ठ चित्तमें नहीं होता। इसलिये पहले विवेकज्ञानके अभ्याससे विवेकज्ञानके संस्कारोंका सम्पादन करके व्युत्थानके संस्कारोंका निरोध करना चाहिये। फिर निरोधसंस्कारोंसे विवेकके संस्कारोंका क्षय करना चाहिये। उसके पश्चात् निरोधके संस्कारोंका भी असम्प्रज्ञात समाधिद्वारा लय कर देना चाहिये। विवेक-ज्ञानमें ही अपनेको कृतकृत्य न समझ लेना चाहिये।

सङ्गति—व्युत्थानके निरोधका उपाय विवेक-अभ्यासरूप प्रसंख्यान बतलाकर अब प्रसंख्यानके निरोधका उपाय कहते हुए जीवन्मुक्तिकी परमकाष्ठारूप धर्ममेघ समाधिका स्वरूप कहते हैं—

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—प्रसंख्याने-अपि-अकुसीदस्य=प्रसंख्यान ज्ञानमें भी विरक्त है जो योगी, उसको; सर्वथा-विवेकख्यातेः=निरन्तर विवेक-ख्यातिके उदय होनेसे; धर्म-मेघः-समाधिः=धर्ममेघ समाधि होती है।

अन्वयार्थ—जो योगी प्रसंख्यान ज्ञानसे भी विरक्त है उसको निरन्तर विवेक-ख्यातिके उदय होनेसे धर्ममेघ समाधि होती है।

व्याख्या—प्रसंख्यान= जितने तत्त्व परस्पर विलक्षण स्वरूपवाले हैं, उनका यथाक्रम विचार करना प्रसंख्यान कहलाता है। (भोजवृत्ति) इसीको विवेकज्ञान भी कहते हैं।

धर्ममेघः=अति उत्तम पुण्य-पापसे रहित परम पुरुषार्थके साधक धर्मकी जो वर्षा करता है वह धर्ममेघ कहलाता है। (भोजवृत्ति)

अकुसीद—ऋण देकर मास-मासमें धनकी वृद्धि करना अर्थात् सूद (व्याज) लेनेको कुसीद कहते हैं। यहाँ जो योगी प्रसंख्यानकी लिप्सावाला है उसके लिये कुसीद और जो फलकी इच्छासे विरक्त है उसके लिये अकुसीद शब्दका प्रयोग हुआ है।

जब ब्रह्मनिष्ठ योगी पर-वैराग्यद्वारा प्रसंख्यान अर्थात् विवेक-ज्ञानसे भी किसी फल (सर्वज्ञत्वादि जिनको ३। ४९ में बतला आये हैं) की इच्छा नहीं रखता तो उसके विरक्त हो जानेपर इसपर वैराग्यशील योगीकी सर्वथा विवेक-ख्याति उदय होती है, अर्थात् निरन्तर विवेकज्ञानका प्रवाह बहने लगता है। इससे व्युत्थानके संस्कारोंके बीज नितान्त भस्म हो जाते हैं। इस कारण व्युत्थानकी वृत्तियाँ बीच-बीचमें उत्पन्न नहीं होतीं। ज्ञानकी इस परिपक्व अवस्थाको धर्ममेघ समाधि कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधिकी सबसे ऊँची अवस्था विवेक-ख्याति (प्रसंख्यान) है। विवेक-ख्यातिकी परिपक्व अर्थात् निरन्तर रहनेवाली अवस्था धर्ममेघ समाधि है। इसकी पराकाष्ठा ज्ञानप्रसाद-नामी पर-वैराग्य है। जिसका फल असम्प्रज्ञात अर्थात् निर्बीज समाधि है।

सङ्गति—धर्ममेघ समाधिका फल क्लेशकर्मकी निवृत्ति बताते हैं—

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ—ततः=उस (धर्ममेघ समाधि) से; क्लेश-कर्म-निवृत्तिः=क्लेश और कर्मोंकी निवृत्ति होती है।

अन्वयार्थ—उस धर्ममेघ समाधिसे क्लेश और कर्मोंकी निवृत्ति होती है ।

व्याख्या—उस धर्ममेघ समाधिकी प्राप्तिपर अविद्या आदि पाँचो क्लेश और शुक्ल, कृष्ण तथा मिश्रित तीनो प्रकारके कर्म (सकाम कर्म) और उनकी वासनाएँ मूलसहित नाश हो जाती हैं । इस प्रकार क्लेश और कर्मोंके अभावमे योगी जीवन्मुक्त होकर विचरता है और शरीर त्यागनेके पश्चात् विदेह मुक्त पदको प्राप्त होता है अर्थात् पुनः जन्म-धारण नहीं करता जैसा कि भाष्यकार लिखते हैं 'तस्माद् यस्माद्विपर्ययो भवस्य कारणम्, न हि क्षीणक्लेशविपर्ययः कश्चित् केनचित्कचिज्जातो दृश्यत इति ।' क्योकि विपर्यय ज्ञान अर्थात् अविद्या ही ससारका कारण है । इसलिये जिसके अविद्यादि क्लेश नष्ट हो गये हैं ऐसा पुरुष कोई भी किसी कारणसे भी, कहीं भी उत्पन्न हुआ नहीं देखा जाता । महर्षि गौतमने भी न्यायदर्शनमें ऐसा ही कहा है । 'वीतरागजन्मादर्शनात्' (३ । १ । २५) जिसके राग बीत गये हैं ऐसे पुरुषका ससारमे जन्म न देखे जानेसे ।

सगति—क्लेशकर्मकी निवृत्तिपर क्या होता है ?

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—तदा=तब क्लेशकर्मकी निवृत्तिपर; सर्व-आवरण-मल-अपेतस्य=सारे आवरण मलसे अलग हुए, ज्ञानस्य=ज्ञानके—चित्तके प्रकाशके; आनन्त्यात्=अनन्त होनेसे; ज्ञेयम्=जानने योग्य वस्तु; अल्पम्=थोडी रह जाती है ।

अन्वयार्थ—तब सब क्लेशकर्मोंके क्षय-कालमें सर्व आवरणरूप मलोसे रहित होकर चित्तरूप प्रकाशके अनन्त होनेसे ज्ञेय पदार्थ अल्प हो जाता है ।

व्याख्या—चित्त सत्त्वप्रधान सूर्यके सदृश प्रकाशशील है । जिस प्रकार शरद् ऋतुमें मेघ सूर्यके प्रकाशको ढक देते हैं, उसी प्रकार रजस्-तमस्-मूलक अविद्या आदि क्लेश और सकाम कर्मकी वासनाएँ चित्त-के प्रकाशपर आवरण डाले हुए रहते हैं । बादलोके हटनेपर जब सूर्यका प्रकाश चारो दिशाओमें फैलता है तो सारी वस्तुएँ स्पष्ट दीखने लगती हैं, ये सारी वस्तुएँ उसके सर्वत्र फैले हुए प्रकाशकी अपेक्षा अति न्यून परिच्छिन्न हैं, इसी प्रकार धर्ममेघ समाधिद्वारा जब रज-तम-मूलक क्लेश और कर्म वासनाओंके मलका पर्दा चित्तसे हट जाता है तो उसके अपरिमित ज्ञानके सर्वत्र फैले हुए प्रकाशमें कोई वस्तु छिपी नहीं रहती । उसका प्रकाश इतना बढ जाता है कि जानने योग्य कोई वस्तु अज्ञात नहीं रह सकती । विषय बहुत न्यून, परिच्छिन्न और ज्ञानका प्रकाश अनन्त अपरिच्छिन्न हो जाता है । ज्ञेय सासारिक वस्तुएँ उसकी दृष्टिमें अल्प अर्थात् तुच्छ हो जाती हैं, जैसे प्रकाशमें जुगनू । श्रीव्यासजी महाराज उसके विषयमें निम्न दृष्टान्त देते हैं—

अन्धो मणिमविध्यत्तमनङ्गुलिरावयत् । अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत्तमजिह्वोऽभ्यपूजयत् ॥ इति ॥

अन्धेने मणियोंको बींधा, बिना अँगुलीवालेने उसमें धागा पिरोया, ग्रीवारहितके गलेमें वह डाली गयी और जिह्वारहितने उसकी प्रशंसा की ।

अर्थात् जैसे यह वाक्य आश्चर्यरूप जान पडता है, ऐसे ही आश्चर्यरूप दशा योगीकी इस कालमें होती है ।

संगति—धर्ममेघ समाधिसे क्लेशकर्मोंकी निवृत्ति हो जानेपर भी गुण जो स्वतः ही परिणाम

स्वभाववाले हैं, विद्यमान रहते हुए उस पुरुषके लिये शरीर और इन्द्रियोंको क्यों नहीं उत्पन्न करते ? इसका उत्तर अगले सूत्रमें देते हैं—

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—ततः=तब; कृतार्थानाम्=कृतार्थ हुए; गुणानाम्=गुणोंके; परिणामक्रमः=परिणामके क्रमकी; समाप्तिः=समाप्ति हो जाती है ।

अन्वयार्थ—तब कृतार्थ हुए गुणोंके परिणामके क्रमकी समाप्ति हो जाती है ।

व्याख्या—गुणोंकी प्रवृत्ति पुरुषके भोग-अपवर्गके लिये है । जबतक पुरुषके यह दोनों प्रयोजन सिद्ध नहीं हो लेते तबतक वे इसके लिये अपने परिणामके क्रम (शरीर, इन्द्रिय आदिके आरम्भ) को जारी रखते हैं ।

धर्ममेघ समाधिसे क्लेश और कर्मोंकी निवृत्ति होती है । उसके फलस्वरूप रजस्-तमस् गुणोंका आवरण हटनेसे ज्ञान अनन्त (अपरिमित) और ज्ञेय अल्प हो जाता है । यह अपरिमित ज्ञान ही प्रकृतिके दोषोंका दिखलानेवाला होनेसे पर-वैराग्यरूप है । उस उत्कृष्ट वैराग्यके बाद गुणोंका जो अनुलोमतया (सीधे) सृष्टि उन्मुख और प्रतिलोमतया (उल्टे) प्रलय उन्मुख प्रधान-अप्रधान भावसे स्थितिरूप परिणाम है, उसके क्रमकी उस पुरुषके प्रति समाप्ति हो जाती है । उस पुरुषके लिये फिर गुण प्रवृत्त नहीं होते ।

भाव यह है कि धर्ममेघ समाधिके पश्चात् जब पुरुषके भोग और अपवर्ग प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं, तो इन गुणोंका उस पुरुषके लिये कोई कार्य शेष नहीं रहता । इस कारण उसकी ओरसे कृतार्थ अर्थात् कर्तव्य पूरा करके अपना परिणाम क्रम समाप्त कर देते हैं और दूसरे पुरुषोंके इसी प्रयोजनको सिद्ध करनेमें लगे रहते हैं (२ । २२) ।

संगति—क्रमका स्वरूप बताते हैं—

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—क्षण-प्रतियोगी=क्षणोंकी सम्बन्धी—प्रतिक्षण होनेवाली; परिणाम-अपरान्त-निर्ग्राह्यः= परिणामकी समाप्तिपर ग्रहण करने योग्य (जो गुणोंकी अवस्थाविशेष है वह), क्रमः=क्रम कही जाती है ।

अन्वयार्थ—प्रतिक्षण होनेवाली परिणामकी समाप्तिपर जानी जानेवाली (गुणोंकी अवस्थाविशेष-का नाम) क्रम है ।

व्याख्या—क्षणोंकी निरन्तर (परम्परागके) धाराके आश्रित जो परिणामोंकी निरन्तर परम्परा है, उसको परिणाम-क्रम कहते हैं अर्थात् क्षण-क्षणमें जो प्रत्येक वस्तुमें परिणाम होता रहता है, उसको क्रम कहते हैं । परिणाम इतना सूक्ष्म होता है कि ग्रहण नहीं हो सकता । वह होते-होते अन्तमें स्थूलरूप होनेपर दिखलायी देने लगता है । जैसे वस्त्र कितना ही सुरक्षित क्यों न रखा जाय, एक समयपर इतना जीर्ण हो जाता है कि हाथ रखनेसे फटने लगता है । यह परिणामका क्रम उसी समय नहीं हुआ बल्कि प्रत्येक क्षणमें होता रहा है । परन्तु इतने सूक्ष्म रूपमें हो रहा था कि देखा नहीं जा सकता था, अन्तमें बहुत-से परिणामोंका स्थूलरूपमें होनेपर वह दिखलायी देने लगा । यही गुणोंके धर्मपरिणाम और

लक्षण-परिणामका क्रम है। अर्थात् परिणामोकी जो आगे-पीछेकी एक धारा या सिलसिला है वह क्रम है। किसी क्रमका आरम्भ एक विशेष क्षणमें होता है और समाप्ति एक दूसरे क्षणमें। पहले क्षणको, जहाँसे क्रम आरम्भ होता है, पूर्वान्त और अन्तिम क्षणको, जहाँ वह क्रम समाप्त होता है, अपरान्त कहते हैं।

यह क्रम धर्म, लक्षण और अवस्था—तीनों परिणामोमें पाया जाता है। ऊपर वस्त्रके उदाहरणसे बताया है कि अवस्था-परिणामका क्रम सूक्ष्मरूपसे होता हुआ दिखायी नहीं देता है। उसका अन्तिम फल ही प्रत्यक्ष होता है। धर्म और लक्षण-परिणामका क्रम भी जो दिखलायी देता है वह भी कई परिणामोंका स्थूल रूप ही है, जो क्रम प्रत्येक क्षणमें सूक्ष्मरूपसे होता रहता है, वह इनमें भी साक्षात् नहीं दिखायी देता।

यह परिणाम-क्रम गुणोंमें बराबर होता रहता है यदि यह शङ्का हो कि गुण तो नित्य हैं, उनमें परिणाम कैसे हो सकता है? उसका समाधान करते हैं। अतीतावस्थासे शून्य होनामात्र ही नित्यका सामान्य लक्षण है न कि अपरिणामी होना। इसलिये नित्यता दो प्रकारकी होती है—एक कूटस्थ नित्यता, दूसरी परिणामी नित्यता।

१ *कूटस्थ नित्यता*—स्वरूपसे सदा एक बना रहना और किसी प्रकारका परिणाम न होना। यह पुरुषकी नित्यता है, जिसमें वह सदैव एक रूपमें बना रहता है और उसमें कोई परिणाम नहीं होता।

२ *परिणामी नित्यता*—अवस्थासे परिणाम होता रहना, स्वरूपसे सदा एक बने रहना। यह परिणामी नित्यता गुणोंकी है। गुण परिवर्तनको प्राप्त होते हुए भी स्वरूपसे नष्ट नहीं होते हैं। उन नित्य धर्मी गुणोंके परिणामोंकी कोई अन्तिम सीमा नहीं प्रतीत होती। जहाँ सीमा प्रतीत होती है वह अन्य धर्मियोंकी है जो अनित्य हैं, जैसे बुद्धि, इन्द्रिय, तन्मात्रा, पाँचो भूत, शरीर आदि।

अब यह शङ्का होती है कि स्थिति और गति अर्थात् सृष्टि-प्रलय प्रवाहरूपसे जो गुणोंमे वर्तमान संसारक्रम है, इस क्रमकी समाप्ति होती है या नहीं? यदि समाप्ति मानी जाय तो ऊपर जो कहा गया है कि 'गुणोके परिणामकी कोई अन्तिम सीमा नहीं' इसका खण्डन होता है और यदि समाप्ति न मानी जाय तो पूर्व सूत्रमें गुणोंके क्रमकी समाप्ति क्यों कही? इस शङ्काके निवारणार्थ भाष्यकारोंने यह कहा है कि यह प्रश्न एकान्त वचनीय नहीं है अर्थात् एक बार ही 'हाँ' अथवा 'ना' में उत्तर देने योग्य नहीं है, किंतु अवचनीय है। प्रश्न तीन प्रकारके होते हैं—

१ *एकान्त वचनीय*—जो नियमसे एक ही समाधानद्वारा उत्तर देने योग्य है।

२ *विभज्य वचनीय*—जो विभागपूर्वक उत्तर देने योग्य है।

३ *अवचनीय*—जिसका उत्तर एकान्तरूपसे एक प्रकारसे कहने योग्य नहीं होता।

जैसे 'क्या सब जगत् जो उत्पन्न हुआ है मरेगा'? उत्तर—'हाँ अवश्य मरेगा'। यह एकान्त वचनीय अर्थात् एक ही उत्तर देनेकी योग्यतावाला है। 'क्या जो-जो मरेगा वह सब उत्पन्न होगा'? उत्तर—'केवल जिसको विवेकज्ञान उदय हो गया है और जो तृष्णारहित हो गया है वह उत्पन्न न होगा अन्य उत्पन्न होगा'। 'मनुष्यजाति उत्तम है या नहीं?' उत्तर—'मनुष्यजाति पशुओसे उत्तम है, देवताओं-

से उत्तम नहीं है' । यह विभज्य-वचनीय है । 'यह संसार अन्तवान् है या अनन्त है ?' यह अवचनीय है । क्योंकि दोनोंमेंसे एक विशेष कहने योग्य नहीं है । परन्तु आगमप्रमाण (शब्दप्रमाण) से इसका उत्तर यह है कि ज्ञानियोंके संसार-क्रमकी समाप्ति है, अर्थात् ज्ञानियोका संसार अन्तको प्राप्त होता है, अज्ञानियोंको नहीं होता । ज्ञानी संसारक्रमके समाप्त होनेपर अर्थात् संसारके अन्त होनेपर मुक्त हो कैवल्यपदको प्राप्त होते हैं ।

टिप्पणी—भोजवृत्तिमें यह सूत्र कुछ पाठान्तरके साथ लिखा गया है, इसलिये इस सूत्रका भोज-वृत्तिके अर्थसहित पाठकोंकी जानकारीके लिये देते हैं ।

क्षणप्रतियोगी परिणामोऽपरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

उक्त क्रमका लक्षण कहते हैं—

भोजवृत्तिका भाषानुवाद ॥ सूत्र ३३ ॥

सबसे छोटे कालका नाम क्षण है, (क्षण भी क्रियात्मक और शाब्दबोधात्मक परिणाम ही है ।) उस क्षणका जो प्रतियोगी (निरूपक) क्षणसे भिन्न परिणाम है, वह गुणोंका क्रम है । जाने हुए क्षणोंमें पीछे जोड़ लगानेसे ही वह ग्रहण किया जाता है । बिना जाने हुए क्षणोके उनमें क्रम नहीं जाना जा सकता, इससे उसे 'अपरान्तनिर्ग्राह्य' कहा है ।

विशेष वक्तव्य—॥ सूत्र ३३ ॥ श्रीविज्ञान भिक्षु आदि सूत्रमें 'परिणामापरान्त' पाठ मानते है । श्रीरामानन्द यति कुछ विभिन्न व्याख्यान करते हैं । वे क्षणप्रतियोगी शब्दका षष्ठी समास नहीं, किंतु बहुव्रीहि करते हैं (वही ठीक मालूम होता है) अर्थात् 'क्षणौ प्रतियोगिनौ निरूपकौ यस्य, असौ क्षण-प्रतियोगी' । क्षण हैं निरूपक बतलानेवाले जिसके, वह क्षणप्रतियोगी है । क्षण कलाश (परिमाणविशेष) को कहते हैं । क्षणोंमें बुद्धिको समाविस्थ करके ही क्रम (पूर्वापरभाव) जानने योग्य है । इससे यह बता दिया कि क्षणिक परिणाम होता है । उस क्रममें प्रमाण देते हैं—

'अपरान्तनिर्ग्राह्यः' । कहीं क्रम प्रत्यक्ष और कहीं अनुमेय है । मृत्तिकामें पिण्ड, घट, कपाल, चूर्ण कणरूपी प्रत्यक्ष परिणाम होते हैं । उनका पूर्वान्त पिण्ड है और अपरान्त कण है । इनमें पूर्वोत्तर अवधि-के ज्ञानसे क्रम, निश्चितरूपसे गृहीत होता है, अर्थात् मृत् पिण्डके अनन्तर घट होता है ऐसा क्रम प्रत्यक्ष है । अच्छे प्रकार रक्खा हुआ वस्त्र भी पुराना पड जाता है । वस्त्रमें पुरानापन एक बार तो आता नहीं, किंतु क्षण-क्षणमें पूर्वान्त नवीनतासे लेकर पुराणता होती रहती है । अर्थात् नवीन होनेके बाद अत्यन्त सूक्ष्म पुराणता, फिर सूक्ष्म पुराणता इत्यादिरूपसे पुराणता होती रहती है । वहॉपर क्रम अनुमान करने योग्य है । यह क्रम नित्य और अनित्य दोनो प्रकारके पदार्थोंमें होता है । नित्य दो प्रकारके हैं । एक—कूटस्थ नित्य होते हैं जैसे—पुरुष । द्वितीय—परिणामी नित्य होते है, जैसे सत्त्वादि गुण । धर्म, लक्षण, अवस्था—इन तीनों प्रकारो (तृतीय पादके १३ वें सूत्रोक्त) से परिणाम होनेपर भी, धर्मीमें स्वरूपका नाश न होना 'परिणामी नित्यता' है । एक धर्मको छोड़ धर्मान्तरको ग्रहण करना 'परिणाम' है । अनित्य बुद्धि आदि धर्मियोमें जो क्रम हैं, वह अवधिसहित है । बुद्धिमें रागादि परिणाम 'पूर्वान्त' और पुरुषका प्रत्यक्ष करना 'अपरान्त' क्रम है । परिणामी नित्य गुणोंमें परिणामका क्रम, अवधि (हद) से रहित है । क्योंकि मुक्त पुरुषोके प्रति, गुणोंका परिणाम न होनेपर भी बद्ध जीवोंके प्रति होता ही रहता है ।

प्रश्न—सब जीव मुक्त हो सकते हैं या नहीं ? यदि हो सकते है, तो प्रकृति (गुणो) का परिणाम अवधिसे रहित मानना ठीक नहीं और नहीं हो सकते तो तत्त्वज्ञानमे किसे विश्वास होगा अर्थात् तत्त्वज्ञान होनेपर भी, यदि नहीं हो सकते तो तत्त्वज्ञानमें विश्वास उठ जायगा, विश्वास उठनेसे कोई मुमुक्षु न रहेगा, इत्यादि दोष होगे ।

उत्तर—तीन प्रकारका प्रश्न हो सकता है—एकान्तवचनीय, विभज्यवचनीय, अवचनीय । यदि पहला प्रश्न किया जाय कि क्या सब उत्पन्न हुए मरेगे ? तो यह एकान्तवचनीय है, अर्थात् कहना चाहिये कि हाँ अवश्य मरेंगे । आपका किया हुआ जो दूसरा प्रश्न है, वह 'विभज्यवचनीय' है अर्थात् विभाग करके उत्तरणीय है—कि जिसे तत्त्वज्ञान होगा, वह मुक्त हो जायगा और जिसे न होगा, वह नहीं । जीव अनन्त हैं, सृष्टि-प्रलय भी अनन्त है । इससे सबकी मुक्ति नहीं हो सकती । तीसरा प्रश्न यह हो सकता है कि प्रकृतिका परिणामक्रम समाप्त होता है या नहीं ? इसके उत्तर दो हो सकते हैं—प्रथम यह है कि निश्चित नहीं कर सकते कि समाप्त होता है या नहीं । द्वितीय यह है कि जो ज्ञानी है, उनके लिये समाप्त होता है; अन्योके लिये नहीं । वास्तविक परिणामक्रम परिणामी नित्य गुणोंमें है और पुरुषमें कल्पित है, वस्तुत. नहीं अर्थात् बुद्धिके परिणामोका आरोप है इत्यादि भाष्यका तात्पर्य है ।

सगति—गुणोंके परिणामक्रमकी समाप्तिपर कैवल्य कहा गया है । उसका स्वरूप अगले सूत्रमें बताते है—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चिति-शक्तिरिति ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—पुरुषार्थशून्यानां-गुणानाम्=पुरुष-अर्थसे शून्य हुए गुणोंका; प्रतिप्रसवः=अपने कारणमें लीन हो जाना, कैवल्यम्=कैवल्य है, वा=अथवा, स्वरूप-प्रतिष्ठा=अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाना; चितिशक्तिः=चितिशक्तिका (कैवल्य है); इति=और यह पाद तथा योगशास्त्र समाप्त होता है ।

अन्वयार्थ—पुरुषार्थसे शून्य हुए गुणोंका अपने कारणमें लीन हो जाना कैवल्य है अथवा चिति शक्तिका अपने स्वरूपमे अवस्थित हो जाना कैवल्य है ।

व्याख्या—गुणोकी प्रवृत्ति पुरुषके भोग अपवर्गके लिये है । इसलिये भोग और अपवर्ग ही पुरुषार्थ है । इसी पुरुषार्थके लिये गुण शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदिमें परिणत हो रहे हैं । जिस पुरुषका यह प्रयोजन सिद्ध हो गया उसके प्रति इनका कोई कार्य शेष नहीं रहता । तब उस पुरुषके भोग तथा अपवर्गरूप पुरुषार्थके सम्पादनसे कृतार्थ हुए पुरुषार्थ-शून्य कार्य-कारण स्वरूप गुण प्रतिप्रसवको प्राप्त होते है अर्थात् प्रतिलोम परिणामसे अपने कारणमें लीन हो जाते हैं । अर्थात् व्युत्थान समाधि और निरोधके सस्कार मनमे लीन हो जाते है—मन अहकारमे, अहकार बुद्धि (चित्त) में और बुद्धि प्रधान प्रकृतिमें लय हो जाती है । इस प्रकार पुरुषका अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग सम्पादन करनेके पश्चात् गुणोके अपने कारणमें लीन हो जानेका नाम कैवल्य, अर्थात् गुणोका उस पुरुषसे अलग होना है । अथवा यो कहना चाहिये कि धर्म चित्तके परिणाम क्रम बनानेवाले गुणोका अपने कारणमें लीन हो जानेपर चितिशक्ति पुरुषका चित्तसे किसी प्रकारका सम्बन्ध न रहनेपर अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जानेका नाम कैवल्य है । इसकी सविस्तर

व्याख्या तृतीय पादके ५५ वे सूत्रमें कर दी गयी है। यहाँ यह और जान लेना चाहिये कि जैसे वेदान्तमें अज्ञानकी निवृत्ति और परमानन्दस्वरूप ब्रह्म-प्राप्तिको समकाल होनेपर भी कहीं अज्ञानकी निवृत्तिको जैसे 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' और फिर अन्तमें सारी माया निवृत्त हो जाती है और कहीं ब्रह्मकी प्राप्तिको जैसे 'स यो वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' जो निश्चय उस ब्रह्मको जानता है ब्रह्म ही हो जाता है' मुक्ति कहा है। वैसे ही यहाँपर भी गुणोंका प्रतिप्रसव और चितिशक्तिकी स्वरूपप्रतिष्ठा इन दोनोंके समकाल होनेपर भी तात्पर्यकी एकता होनेसे कैवल्यके दो लक्षण कहे है। लक्षणभेदसे कैवल्यका भेद नहीं किया है।

सम्यग् ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ।
तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः॥
प्राप्ते शरीरं भेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति॥ (सा० का० ६७, ६८)

यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिसे जब कि धर्म आदि अकारण बन जाते हैं, तब पुरुष (पिछले) संस्कारके वशसे चक्रके सदृश शरीरको धारण किये हुए ठहरा रहता है। शरीरके छूट जानेपर और चरितार्थ होनेसे प्रधानकी निवृत्ति होनेपर ऐकान्तिक (अवश्य होनेवाले) और आत्यन्तिक (बने रहनेवाले) दोनो प्रकारके कैवल्यको प्राप्त होता है।

'इति' शब्द इस पाद तथा योगशास्त्रकी समाप्तिके लिये लाया गया है।

भोजवृत्तिका भाषानुवाद॥ सूत्र ३४॥

अब फलरूप मोक्षके सामान्यस्वरूपको कहते है—जो सत्त्वादि गुण भोग और मोक्षरूप पुरुषार्थको समाप्त कर चुके उनका जो उल्टे-उल्टे परिणामकी समाप्ति होनेपर क्षणोंमें विकारका पैदा न होना अथवा वृत्तियोंके तुल्यरूपकी निवृत्ति होनेपर चेतनशक्तिका अपने स्वरूपमात्रमें स्थिति करना मोक्ष कहा जाता है, केवल हमारे ही दर्शन (मत) में मोक्षावस्थामे पुरुष इस प्रकारका चेतनरूप नहीं होता, किंतु अन्य दर्शनोमे भी विचार करनेपर स्वरूपावस्थित होता है। जैसे—

आत्मा क्षणिक विज्ञान नहीं है—संसारावस्थामें कर्ता, भोक्ता और विचार करनेवाला आत्मा प्रतीत होता है। अन्यथा यदि एक कोई चेतन उस प्रकारका न हो और ज्ञानक्षणोंको ही, जो कि पूर्वापरविचारसे शून्य हैं आत्मा माना जाय तो कर्म और फलका सम्बन्ध नियमपूर्वक नहीं हो सकता और किये हुएकी हानि, नहीं किये हुएकी प्राप्तिरूप दोष भी हो। जिसने शास्त्रोंमें ही कहे हुए कर्मको किया है, वही यदि भोक्ता रहे तो सबकी प्रवृत्ति कल्याणप्राप्तिके लिये दुःखकी निवृत्तिके लिये हो सकती है। ग्रहण करना या छोडना विचारसे ही होता है। इससे और ज्ञानक्षणोंको परस्पर भिन्न होनेसे (पूर्वापर) विचारशून्यता है। यदि कोई उनका अनुसंधान करनेवाला न रहे तो किसीका भी व्यवहार नहीं चल सकता। इससे जो कर्ता, भोक्ता, अनुसंधाता (विचार करनेवाला अथवा जाननेवाला) है वह आत्मा है यह व्यवस्था की जाती है। मोक्षावस्थामे केवल चैतन्यरूप ही आत्मा रहता है; क्योंकि मोक्षदशामें तो ग्राह्य-ग्राहकरूप अर्थात् ग्रहण करना आदि सब व्यवहारोंके न रहनेसे केवल चैतन्य ही शेष रहता है। वह चैतन्य, अपने स्वरूपको जाननेसे नहीं है, किंतु स्वरूपसे है, क्योंकि विषयोंको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य ही चेतनका स्वरूप है। अपने स्वरूपको ग्रहण करना नहीं (ऐसा ही श्रुति बतलाती है)। यथा—'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' सबके

जाननेवाले विज्ञाताको किससे जाना जा सकता है। तथा 'येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्' जिससे ये सब कुछ जाना जाता है उसको किससे जानें ? जैसे चेतनसे गृहीत हुई वस्तु 'यह है' इस प्रकार ग्रहण की जाती है और चेतनका स्वरूप 'अहं' अर्थात् 'मैं हूँ' इस प्रकार ग्रहण किया जाता है। आपसमें विरुद्ध, बहिर्मुखता और अन्तर्मुखतारूप दो व्यापार एक कालमें नहीं हो सकते तो चेतनस्वरूपसे ही शेष रहता है। इससे मोक्षावस्थामें गुणोंके कार्योंकी समाप्ति होनेपर केवल चैतन्यरूप ही आत्मा रहता है यही ठीक है, और संसारदशामें तो ऐसे ही आत्माको कर्ता, भोक्ता और अनुसंधाता होना सब ठीक है।

आत्माका संसारदशा और मुक्ति-अवस्थामें एक ही रूप है। देखिये जो ये प्रकृतिके साथ अज्ञानमूलक भोग्यका भोग करनारूप अनादि स्वाभाविक सम्बन्ध है उसके होनेपर और जो पुरुषार्थ-कर्तव्यतारूप शक्तियोंके होनेसे (चौथे पादके २३ वें सूत्रोक्त) प्रकृतिका महान् आदिरूपसे परिणाम है, उसमें संयोग होनेपर जो आत्माका अधिष्ठाता (स्वामी) बनना अर्थात् अपने प्रतिबिम्बको समर्पण करने-की शक्ति अन्तःकरणकी पड़े हुए चेतन प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेकी शक्ति रखना, तथा चेतनके सम्बन्ध-से बुद्धिमें कर्तृत्व, भोक्तृत्वका निश्चय है, उसीसे स्मृतिपूर्वक व्यवहारोंकी सिद्धि हो जायगी, फिर अन्य तुच्छ कल्पनाओंसे क्या प्रयोजन ? (अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं) यदि इस प्रकारके मार्गको छोड़कर आत्मामें पारमार्थिक कर्तृत्वादि धर्मोंको स्वीकार किया जाय, तो आत्माको परिणामी मानना पड़ेगा। परिणामी और अनित्य माननेपर आत्माका आत्मभाव अर्थात् एकरससे रहना न बनेगा। क्योंकि एक ही समयमें, एक रूपसे, परस्पर विरुद्ध अवस्थाओंका ज्ञाता नहीं हो सकता। जैसे जिस अवस्थामें आत्मामें समवाय सम्बन्ध-से सुख उत्पन्न हुआ, उसी अवस्थामें आत्मामें दुःखका अनुभव करना नहीं हो सकता तो अवस्थाओंके भेद होनेसे अवस्थाओंसे अभिन्न अवस्थावालेका भेद मानना चाहिये। भेद माननेसे परिणामी मानना पड़ेगा और परिणामी माननेपर न आत्मामें आत्मभाव रह सकता है, न नित्यभाव। इसलिये योगाचार्य तथा सांख्याचार्य आत्माका संसार-दशामें और मुक्ति-अवस्थामें एक ही रूप स्वीकार करते हैं।

आत्मा वृत्ति-ज्ञानसे विलक्षण स्वयप्रकाश ज्ञान-स्वरूप है। जो वेदान्ती लोग (उपनिषदों तथा व्यास भगवान्के तात्पर्यको भली प्रकार न समझकर) चिदानन्दमय होना, आत्माकी मुक्ति मानते हैं उनका मत ठीक नहीं है। क्योंकि आनन्द सुखरूप ही है और सुख सर्वदा ज्ञेय (जानने योग्य) रूपसे ही भान होता है और ज्ञेयता बिना ज्ञानके नहीं हो सकती, तो ज्ञान, ज्ञेय दो पदार्थोंको माननेसे (उसके माने हुए) अद्वैतवादकी हानि होगी। मुक्ति-प्राप्त आत्माको सुखरूप मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान, ज्ञेय एक नहीं हो सकते। अद्वैतवादी लोग कर्मात्मा और परमात्माके भेदसे दो प्रकारका आत्मा मानते हैं, तो जिस प्रकारसे कर्मात्माको सुख-दुःखका भोग होता है उसी रूपसे यदि कर्मात्माके तुल्य परमात्माको सुख-दुःखका भोक्ता माना जाय तो परमात्मा परिणामी और अज्ञानी हो जाय। 'ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि श्रुतियोंसे परमात्मा ज्ञानस्वरूप ही सिद्ध होता है और जहाँ कहीं आनन्द शब्द ब्रह्मके साथ आया है वहाँ उसको ज्ञान अर्थमें लेना चाहिये और यदि सुखके अर्थमें लिया जाय तो वह अपर-ब्रह्म=सबल ब्रह्म=सगुण ब्रह्म अर्थात् ईश्वरका बोधक होगा न कि पर-ब्रह्म=शुद्धब्रह्म=निर्गुण ब्रह्म अर्थात् परमात्माका, क्योंकि सुख प्रकृतिके सत्त्व गुणमें है और शुद्ध ब्रह्म परमात्मा प्रकृतिसे परे है। और यदि आत्माको साक्षात् भोग नहीं होता, किंतु बुद्धिद्वारा आरोपित भोग होता है अर्थात् परमात्मासे प्राप्त भोक्तृत्वको

उदासीनरूपसे अधिष्ठाता हुआ स्वीकार करता है। यह माना जाय तो हमारे मतमें (योगोक्त मतमें) प्रवेश होगा। आत्मा आनन्द (सुख) रूप है, यह पहले ही खण्डन कर दिया। और यदि आत्माको अविद्या स्वभाव माना जाय तो स्वयं स्वभावशून्य होनेसे अर्थात् अपनेमें किसी धर्मके न रहनेसे शास्त्रका अधिकारी कौन रहेगा ? क्योंकि सर्वदा मुक्त होनेसे परमात्मा (शास्त्रका अधिकारी) नहीं हो सकता, और न अविद्या स्वभाव होनेसे कर्मात्मा (शास्त्रका) अधिकारी हो सकता है। तो अधिकारी न होनेसे सब शास्त्र व्यर्थ हो जायँगे। यदि जगत्को अविद्यामय माना जाय तो वह अविद्या किसको है ? यह विचार किया जाता है—परमात्माको अविद्या है, यह नहीं कह सकते; क्योंकि वह नित्यमुक्त है और विद्यारूप है अर्थात् चैतन्यरूप है। और न कर्मात्माको अविद्या है क्योकि वह (अविद्याके) स्वयं स्वभावशून्य होनेसे शशविषाण (खरगोशके सींग) के तुल्य होनेसे अर्थात् कल्पनामात्र होनेसे अविद्याके साथ कैसे सम्बद्ध हो सकता है ? यदि यह कहा जाय कि विचारमें न आना ही अविद्याका अविद्यापन है अर्थात् जो सूर्य-किरणोंके स्पर्शसे ही नीहार (बर्फका कुहर) के तुल्य नष्ट हो जाय वह 'अविद्या' है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जो वस्तु कुछ काम करती है उसे अवश्य किसीसे भिन्न अथवा अभिन्न कहनी चाहिये। और अविद्याका संसाररूपी कार्यका करना अवश्य ही स्वीकार करना पडेगा। उस कार्यके करनेपर भी अनिर्वचनीय अविद्याको माननेसे कोई भी पदार्थ निर्वचनीय न रहेगा तो ब्रह्म भी निर्वचनीय न ठहरेगा अर्थात् सत्य, ज्ञानादिरूपसे उसका निरूपण न हो सकेगा। इससे चैतन्यरूप अधिष्ठातृताके सिवा पुरुषका अन्यरूप सिद्ध नहीं हो सकता अर्थात् वृत्तिज्ञानसे विलक्षण स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप आत्मा है।

आत्मत्वादि जातियोंसे भिन्न मुक्तात्मा अधिष्ठान चैतन्यरूप है—जो नैयायिक आदि (गौतम मुनि और कणाद मुनिके अभिप्रायको न जानकर) बुद्धिके योगसे आत्माको चेतन मानते हैं और बुद्धिको भी मनके संयोगसे उत्पन्न मानते है; जैसे कि इच्छा, ज्ञान-प्रयत्नादि जीवात्माके गुण व्यवहारदशामें अर्थात् संसारावस्थामें आत्मा और मनके संयोगसे उत्पन्न होते हैं। उन्हीं गुणोसे आत्मा स्वयं ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता कहा जाता है और मोक्षदशामे तो मिथ्याज्ञानकी निवृत्ति होनेसे मिथ्याज्ञानमूलक राग-द्वेषादि सब गुणोंकी भी निवृत्ति हो जाती है तो आत्माके विशेष गुण अर्थात् ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, सुख, दुःख, द्वेष—इन सबका अत्यन्त नाश हो जाता है; फिर आत्मा अपने स्वरूपमात्रमें स्थित होता है। यह उनका पक्ष भी ठीक नहीं है। क्योकि मोक्षदशामें नित्यत्व, व्यापकत्व आदि गुण तो आकाशादिकोंके भी रहते हैं, इससे उनसे विलक्षण आत्माका चैतन्यरूप अवश्य अङ्गीकार करना चाहिये। आत्मत्व जातिका सम्बन्ध ही आकाशादिकोसे विलक्षणता है, यह नहीं कह सकते। क्योंकि आत्मत्व-जातिका योग तो संसारी जीवोमें भी है (मुक्तात्माको संसारियोंसे विलक्षण होना चाहिये) इससे आत्मत्वादि जातियोसे भिन्नता मुक्तात्माकी अवश्य माननी चाहिये; और वह भिन्नता अधिष्ठानचैतन्यरूप माननेसे ही घट सकती है अन्यथा नहीं।

आत्मा 'अहम्' प्रतीतिका विषय नहीं, किंतु केवल चिद्रूप अधिष्ठाता है—जो मीमांसक लोग (जैमिनि मुनिके सिद्धान्तको ठीक-ठीक न समझते हुए) आत्माको कर्म-कर्तारूप मानते है, उनका पक्ष भी ठीक नहीं है। उनकी प्रतिज्ञा है कि 'अहम्' (मै) प्रतीति (ज्ञान) से ग्रहणके योग्य आत्मा है, 'अहम्' प्रतीतिमें आत्माको (आश्रयता सम्बन्धसे) कर्तृत्व और (विषयता सम्बन्धसे) कर्मत्व है। पर यह

उनका मन्तव्य अयुक्त है। क्योकि प्रमातृत्वरूप कर्तृत्व और प्रमेयत्वरूप कर्मत्वका विरोध है (प्रमाता जाननेवाला, प्रमेय जानने योग्य) अर्थात् जाननेवाला और जानने योग्य होना ऐसे विरुद्ध धर्मोका एक कालमें, एक पदार्थमें समावेश नहीं हो सकता। जो विरुद्ध धर्मोंके अधिष्ठान हैं, वे एक नहीं, जैसे—भाव और अभाव। कर्तृत्व, कर्मत्व भी परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। यह कहना कि कर्तृत्व और कर्मत्वका विरोध नहीं, किंतु कर्तृत्व और करणत्वका है, ठीक नहीं, क्योकि विरोधी धर्मोंका अध्यारोप दोनो स्थानोंमें तुल्य होनेसे केवल कर्तृत्व और करणत्वका ही विरोध है, कर्तृत्व-कर्मत्वका नहीं, यह कौन कह सकता है ? (अर्थात् कोई नहीं कह सकता)। इससे आत्माको अहं प्रतीतिका विषय न मानकर, केवल चिद्रूप अधिष्ठाता ही मानना चाहिये।

आत्मा अव्यापक शरीर-तुल्य परिमाणवाला और परिणामी नहीं है—जो द्रव्यबोध पर्यायभेदसे अर्थात् नामान्तर रखकर आत्माको अव्यापक शरीर-तुल्य परिमाणवाला और परिणामी मानते हैं, उनका पक्ष तो उठकर ही मरा हुआ है अर्थात् बिल्कुल ही निकम्मा है; क्योंकि परिणामी माननेसे चेतन कहाँ रहा वह तो जडरूप हो गया। (जो परिणामी है, वह अचेतन है यह व्याप्ति है) जड माननेपर आत्मामें क्या आत्मभाव रहा इससे अधिष्ठातृतारूप चैतन्य ही आत्मा है।

आत्मामें साक्षात् कर्तृत्व धर्म नहीं है—कोई कर्तारूप ही आत्माको मानते है। जैसे—घटादि विषयोके समीप होनेपर, जो ज्ञानरूप क्रिया उत्पन्न होती है, उस क्रियाका विषय संवेदन अर्थात् विषयोंका प्रकाशरूपी फल है। उस फलमें फलका स्वरूप प्रकाशरूपसे भासित होता है और विषय ग्राह्यरूपसे तथा आत्मा ग्राहकरूपसे; क्योकि 'घटमह जानामि' (घटको मै जानता हूँ) इस आकारसे वह फल उत्पन्न होता है। क्रियाका कारण कर्ता ही है, इससे कर्तृत्व और भोक्तृत्व आत्माका ही रूप है। यह पक्ष भी युक्ति-युक्त नहीं। (क्योकि इन विकल्पोंका उत्तर नहीं बन सकता) यह बताओ कि संवित्तिरूप फलोंका कर्ता आत्मा एक कालमें ही होता है अथवा क्रममें ? एक किसी कालमें सबोका कर्ता मानो तो अन्य क्षणोंमें कर्ता नहीं रहेगा (तो आत्माको कर्ता मानना ठीक नहीं) और क्रमसे कर्ता होना भी एकरूप आत्माका नहीं घट सकता; क्योंकि यदि उसे एक रूपसे ही कर्ता माना जाय तो वह सर्वदा (व्यापक होनेसे) पास तो है ही, सब फल भी एकरूप होने चाहिये। और यदि अनेकरूपसे कर्ता माना जाय तो परिणामी होनेसे चिद्रूप नहीं हो सकता। इससे सिद्ध हुआ कि आत्माको चैतन्यरूप माननेवालोंको आत्मामें साक्षात् कर्तृत्व धर्म नहीं मानना चाहिये, किंतु कूटस्थ, नित्य, चिद्रूप आत्माका कर्ता होना जैसा हमने प्रतिपादन किया है, वह ही ठीक है।

जो ऐसा मानते हैं कि विषयोंके ज्ञान अथवा प्रकाशद्वारा आत्मामें ग्राहकता-शक्ति प्रकट हो जाती है, उनका पक्ष भी उक्त विकल्पोंसे खण्डित जानना चाहिये।

आत्मा विमर्शरूपसे चेतन नहीं है। कोई विमर्शरूपसे आत्माको चेतन मानते है, वे कहते हैं कि बिना विमर्श (विचार) के आत्माको चेतनरूप नहीं बतला सकते। चैतन्यरूप जगत्से भिन्न है, पर, विचारके सिवा अन्यथा उसकी स्थिति नही हो सकती (अर्थात् विचाररूप ही है)। यह पक्ष भी अयुक्त है; क्योकि विचारका नाम 'विमर्श' है। वह बिना अस्मिता (द्वितीय पादके ६ सूत्रोक्त) के नहीं हो सकता। क्योकि आत्मा (अन्तःकरण) में पैदा होनेवाला विमर्श 'अहमेवं भूतः' मै ऐसा हूँ'

इस आकारसे जाना जाता है। और इस प्रतीतिमें अहं शब्दसे भिन्न आत्म-रूपी अर्थका प्रकाश होनेसे विकल्पस्वरूपता अर्थात् यथार्थज्ञानसे भिन्नता है। स्वभावसिद्ध निश्चयात्मक ज्ञान बुद्धिका धर्म है, चेतन-का नहीं; क्योंकि कूटस्थ नित्य होनेसे चैतन्य सदा एकरूप रहता है। चितिको नित्य होनेसे ही अहङ्कारमें अन्तर्भाव नहीं कर सकते। इससे आत्माको विचाररूप सिद्ध करनेवालेने बुद्धिको ही आत्मा भ्रान्तिसे समझ लिया है। प्रकाशरूप आत्माके स्व-रूपको नहीं समझा।

सब दर्शनोंमें आत्माका अधिष्ठातृतारूप ही और वृत्तियोंके सदृश रूपोंको छोडकर स्वरूपमें स्थित होना ही चिति-शक्तिका कैवल्य सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार सब दर्शनोंमें ही अधिष्ठातृताको छोड़कर, आत्माका अन्यरूप नहीं बन सकता। जड़से भिन्न चैतन्यरूपता ही 'अधिष्ठातृता' है। जो चित्तरूपसे अधिष्ठान करता है, वह ही (बुद्धिको) भोग्य बनाता है। और जो चेतनसे अधिष्ठित है वह सब कामोंके योग्य होता है। इस प्रकार आत्माको नित्य माननेसे प्रकृतिके व्यापारकी निवृत्ति होनेपर जो आत्माका मोक्ष हमने वर्णन किया है उसे छोडकर अन्य मतोंकी कोई गति नहीं। इससे यह युक्ति-युक्त कहा है कि वृत्तियोंके सदृश रूपोंको (जो कि प्रतिबिम्बित होते रहते है) छोडकर अपने स्वरूपमें स्थित होना चितिशक्तिका कैवल्य (मुक्ति) है।

नोट—यहाँ यह न समझना चाहिये कि वृत्तिकारने अन्य दर्शनोंका खण्डन किया है, किंतु 'अन्य शास्त्रोंमें ऐसी ही मुक्ति बन सकती है' यह सिद्धकर कैवल्य (मुक्ति) के स्वरूपका निरूपण किया है। विशेष जानकारीके लिये भूमिकारूप 'षड्दर्शन-समन्वय' मे देखे।

उपसंहार

उक्त प्रकारसे (इस पादमें) अन्य सिद्धियोंसे भिन्न सब सिद्धियोंकी मूल समाधि-सिद्धिको कहकर अन्य जातिमें परिणामरूप सिद्धिकी प्रकृतिकी पूर्णता कारण है, यह सिद्ध कर; धर्माधर्मकी प्रतिबन्धकको हटानेमात्रमें शक्ति है; यह दिखाकर सिद्धिजन्य पाँचों चित्तोंका अस्मितामात्रसे होना बतला-कर, (सूत्र ४ के विशेष वक्तव्यमें) एक समयमें भोगनिवृत्तिके लिये बहुत-से चित्तो और शरीरोंकी अस्मितामात्रसे उत्पत्ति बतलानेवाले शब्दोंके प्रामाणिक होनेमें जो सदेह उत्पन्न होते हैं उनको दिखलाकर सूत्र ४ की प्रसङ्गानुसार व्याख्या कर, पाँच प्रकारकी सिद्धियोंसे उत्पन्न हुए निर्माण चित्तोंमेंसे समाधिजन्य चित्तको अपवर्गका भागी बतलाकर, योगीके कर्मोंकी, लौकिक कर्मोंसे विचित्रताको सिद्धकर, कर्म-फलानुकूल वासनाओं (सस्कारो) के प्रकट होनेको समर्थनकर, कार्य-कारणकी एकता सिद्ध करनेसे व्यवधान (बीच) युक्त वासनाओंकी समीपताको सिद्धकर, वासनाओंके अनन्त होनेपर भी, हेतु-फलादिद्वारा उनका नाश बताकर, भूतादि कालोंमें घटादि धर्मोंकी स्थितिको उपपादन कर, विज्ञानवादियोंकी शङ्काओंको निवृत्तकर, चित्तद्वारा पुरुषको ज्ञाता माननेसे सब व्यवहारोंकी सिद्धिको निरूपणकर, पुरुषके होनेमें प्रमाण दिखाकर, मुक्तिके निर्णयके लिये दस सूत्रोंसे, क्रमसे उपयोगी अर्थोंको कहकर, अन्य शास्त्रोंमें भी 'ऐसी ही मुक्ति बन सकती है' यह सिद्धकर, मुक्तिके स्वरूपका निर्णय किया। इस प्रकार पातञ्जल-योग-प्रदीपमें कैवल्य नामवाले चौथे पादकी व्याख्या समाप्त हुई।

इति पातञ्जलयोगप्रदीपे कैवल्यपादः चतुर्थः

Vaidic Library

मूल सूत्र

पृष्ठ

तत्त्वसमास सांख्यसूत्र

१–अथातस्तत्त्वसमासः ... ७७
२–अष्टौ प्रकृतयः .. ७८
३–षोडश विकाराः ७८
४–पुरुषः ७९
५–त्रैगुण्यम् ८५
६–संचराः प्रतिसंचराः ... ८९
७–अध्यात्ममधिभूतमधिदैवं च ... ९०
८–पञ्चाभिबुद्धयः ९१
९–पञ्च दग्योनयः ९१
१०–पञ्च वायवः ९२
११–पञ्च कर्मात्मानः ९२
१२–पञ्चपर्वा अविद्या ... ९२
१३–अष्टाविंशतिधाऽशक्तिः ... ९३
१४–नवधा तुष्टिः ९३
१५–अष्टधा सिद्धिः ९४
१६–दश मौलिकार्थाः ९६
१७–अनुग्रहः सर्गः ९७
१८–चतुर्दशविधो भूतसर्गः ९७
१९–त्रिविधो बन्धः १००
२०–त्रिविधो मोक्षः १००
२१–त्रिविधं प्रमाणम् १०७
२२–एतत् सम्यगज्ञात्वा कृत्यकृत्यः स्यात्। न पुनस्त्रिविधेन दुःखेनाभिभूयते १०७

पातञ्जलयोगसूत्र

अथ समाधिपादः—१

१–अथ योगानुशासनम् ... १४०
२–योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ... १४७
३–तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ... १५३
४–वृत्तिसारूप्यमितरत्र .. १५४
५–वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः .. १५५
६–प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ... १५५
७–प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ... १५६
८–विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् १५९
९–शब्दज्ञानानुपातीवस्तुशून्यो विकल्पः १६१

पृष्ठ

१०–अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ... १६२
११–अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ... १६३
१२–अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ... १६५
१३–तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ... १६६
१४–स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ... १६७
१५–दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ... १६८
१६–तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ... १७०
१७–वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ... १७१
१८–विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः १७८
१९–भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् १८५
२०–श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् १९३
२१–तीव्रसंवेगानामासन्नः ... १९५
२२–मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः १९५
२३–ईश्वरप्रणिधानाद्वा ... १९६
२४–क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टःपुरुषविशेष ईश्वरः १९६
२५–तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ... २००
२६–पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् २०२
२७–तस्य वाचकः प्रणवः ... २०४
२८–तज्जपस्तदर्थभावनम् ... २०७
२९–ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च २१४
३०–व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ... २१५
३१–दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ... २१६
३२–तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः .. २१६
३३–मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावना-

	पृष्ठ
तच्चित्तप्रसादनम् ...	२२०
३४-प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य	२२२
३५-विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ...	२२६
३६-विशोका वा ज्योतिष्मती ..	२२९
३७-वीतरागविषयं वा चित्तम् ...	२५०
३८-स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ...	२५०
३९-यथाभिमतध्यानाद्वा ...	२५२
४०-परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः	२५२
४१-क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ...	२५२
४२-तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ...	२५३
४३-स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ...	२५४
४४-एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ..	२५६
४५-सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्	२५७
४६-ता एव सबीजः समाधिः ...	२६०
४७-निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः	२६१
४८-ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ...	२६२
४९-श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ...	२६३
५०-तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी	२६३
५१-तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ...	२६४
इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे समाधिनिर्देशो नाम प्रथमः पादः ॥ १ ॥	

अथ साधनपादः—२

	पृष्ठ
१-तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ...	२७२
२-समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ...	२७८
३-अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाःक्लेशाः	२७९
४-अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ...	२८०
५-अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ...	२८२
६-दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ...	२८४
७-सुखानुशयी रागः ...	२८५
८-दुःखानुशयी द्वेषः ...	२८५
९-स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ...	२८६
१०-ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ...	२८७
११-ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ...	२८८
१२-क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ..	२८९
१३-सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः	२९०
१४-ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ...	२९३
१५-परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः	२९५
१६-हेयं दुःखमनागतम् ...	२९६
१७-द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ...	२९८
१८-प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ..	३०३
१९-विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ...	३१२
२०-द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ..	३२५
२१-तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ...	३३२
२२-कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ...	३३३
२३-स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ...	३३४
२४-तस्य हेतुरविद्या ...	३४१
२५-तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ...	३४४
२६-विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ...	३४५
२७-तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ...	३४८
२८-योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ...	३४९
२९-यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ...	३५०
३०-अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ...	३६३

पृष्ठ

३१–जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ·· ३६८
३२–शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि नियमाः ३८०
३३–वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ४०८
३४–वितर्का हिंसादयः कृतकारितानु-मोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदु-मध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् · ४०९
३५–अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैर-त्यागः ·· ४१०
३६–सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ४११
३७–अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ४१२
३८–ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ४१२
३९–अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ४१२
४०–शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ·· ४१३
४१–सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रिय-जयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च · ४१३
४२–संतोषादनुत्तमसुखलाभः ··· ४१३
४३–कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ४१४
४४–स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ··· ४१४
४५–समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् · ४१४
४६–स्थिरसुखमासनम् ·· ४१५
४७–प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम् ४३४
४८–ततो द्वन्द्वानभिघातः · ४३५
४९–तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयो-र्गतिविच्छेदः प्राणायामः ४३५
५०–बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकाल-संख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः · ४३६
५१–बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ४४७
५२–ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ४४९
५३–धारणासु च योग्यता मनसः ४४९
५४–स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानु-कार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ४४९
५५–ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ··· ४५०

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे साधननिर्देशो नाम द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

पृष्ठ

अथ विभूतिपादः—३

१–देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ··· ४७३
२–तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् · ४७३
३–तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्य-मिव समाधिः · ४७४
४–त्रयमेकत्र संयमः ·· ४७५
५–तज्जयात्प्रज्ञालोकः ··· ४७६
६–तस्य भूमिषु विनियोगः ··· ४७६
७–त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ··· ४७९
८–तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य · ४८०
९–व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभव-प्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ४८१
१०–तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् · ४८३
११–सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः · · ४८३
१२–ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ··· ४८४
१३–एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणा-वस्थापरिणामा व्याख्याताः ··· ४८५
१४–शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी · ४९६
१५–क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ५०२
१६–परिणामत्रयसंयमादतीतानागत-ज्ञानम् ५०४
१७–शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूत-रुतज्ञानम् ५०४
१८–संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजाति-ज्ञानम् · ५१३
१९–प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् · ५१४
२०–न च तत्सालम्बनं तस्याविषयी-भूतत्वात् · ५१४
२१–कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ·· ५१५
२२–सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ५१५
२३–मैत्र्यादिषु बलानि · ५१६

	पृष्ठ
२४-बलेषु हस्तिबलादीनि ..	५१७
२५-प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहित-विप्रकृष्टज्ञानम्	५१७
२६-भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ..	५१७
२७-चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ..	५२३
२८-ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ..	५२४
२९-नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ..	५२४
३०-कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ...	५२४
३१-कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ..	५२४
३२-मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् .	५२५
३३-प्रातिभाद्वा सर्वम् .	५२५
३४-हृदये चित्तसंवित् ..	५२५
३५-सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थान्य-स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् .	५२६
३६-ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शा-स्वादवार्ता जायन्ते ...	५२७
३७-ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः	५२८
३८-बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचार-संवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः	५२८
३९-उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्व-सङ्ग उत्क्रान्तिश्च .	५२९
४०-समानजयाज्ज्वलनम् .	५३५
४१-श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमात् दिव्यं श्रोत्रम् ..	५३५
४२-कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघु-तूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ..	५३५
४३-बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ...	५३६
४४-स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्व-संयमाद् भूतजयः ...	५३६
४५-ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः काय-सम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ...	५३९
४६-रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ...	५४०
४७-ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्व-संयमादिन्द्रियजयः ...	५४१
४८-ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च .	५४२

	पृष्ठ
४९-सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ..	५४३
५०-तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ...	५४४
५१-स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ...	५४५
५२-क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् .	५४६
५३-जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः .	५४७
५४-तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ..	५४८
५५-सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति	५४८

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे विभूतिनिर्देशो नाम तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

अथ कैवल्यपादः—४

१-जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः	५५०
२-जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ..	५५१
३-निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्	५५२
४-निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्	५५३
५-प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेक-मनेकेषाम्	५५५
६-तत्र ध्यानजमनाशयम् ...	५५६
७-कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविध-मितरेषाम् .	५५६
८-ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभि-व्यक्तिर्वासनानाम् .	५५७
९-जातिदेशकालव्यवहितानामप्यान-न्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् .	५५८
१०-तासाम नादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्	५५८
११-हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वा-देषामभावे तदभावः ..	५६३
१२-अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्व-भेदाद्धर्माणाम् ..	५६४
१३-ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ..	५६६
१४-परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ...	५६७

	पृष्ठ
१५-वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः	५६८
१६-न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्	५७०
१७-तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्	५७०
१८-सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्	५७२
१९-न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्	५७३
२०-एकसमये चोभयानवधारणम्	५७३
२१-चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च	५७४
२२-चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्	५७५
२३-द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्	५७७
२४-तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्	५८१
२५-विशेषदर्शिनः आत्मभावभावना विनिवृत्तिः	५८२

	पृष्ठ
२६-तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्	५८३
२७-तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः	५८४
२८-हानमेषां क्लेशवदुक्तम्	५८४
२९-प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः	५८५
३०-ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः	५८५
३१-तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्	५८६
३२-ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्	५८७
३३-क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः	५८७
३४-पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति	५९०

इति श्रीपातञ्जले योगशास्त्रे कैवल्यनिरूपणं नाम चतुर्थ. पाद. ॥ ४ ॥

॥ समाप्तं योगदर्शनम् ॥

Vaidic Library

वर्णानुक्रमसूत्रसूची

तत्त्वसमाससांख्य-सूत्र

(अ)

सूत्र-संख्या			पृष्ठ
१-अथातस्तत्त्वसमासः	...		७७
७-अध्यात्ममधिभूतमधिदैवं च	...		९०
१७-अनुग्रहः सर्गः	...		९७
२-अष्टौ प्रकृतयः	..	.	७८
१३-अष्टाविंशतिधाऽशक्तिः		.	९३
१५-अष्टधा सिद्धिः	...	.	९४

(ए)

२२-एतत् सम्यग् ज्ञात्वा कृतकृत्यः स्यात्। न पुनस्त्रिविधेन दुःखेनाभिभूयते		.	१०७

(च)

१८-चतुर्दशविधो भूतसर्गः		..	९७

(त)

१९-त्रिविधो बन्धः	...	.	१००
२०-त्रिविधो मोक्षः	...	...	१००
२१-त्रिविधं प्रमाणम्	.	...	१०७
५-त्रैगुण्यम्	.	.	८५

(द)

१६-दश मौलिकार्थाः	...		९६

(न)

१४-नवधा तुष्टिः		..	९३

(प)

४-पुरुषः	..	.	७९
८-पञ्चाभिबुद्धयः		.	९१
९-पञ्च दृग्योनयः		..	९१
१०-पञ्च वायवः			९२
११-पञ्च कर्मात्मानः		.	९२
१२-पञ्चपर्वा अविद्या	...	...	९२

(स)

६-संचरः प्रतिसंचरः		.	८९

(ष)

३-षोडश विकाराः		..	७८

पातञ्जलयोग-सूत्र

सूत्र-संख्या	पाद	पृष्ठ
१-अथ योगानुशासनम्	१	१४०
५-अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या	२	२८३
११-अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः	१	१६३
३९-अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता सम्बोधः	२	४१२
१०-अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा	१	१६२
१२-अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः	१	१६५
३-अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः	२	२७९
४-अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्	२	२८०
३७-अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्	२	४१२
३५-अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः	२	४१०
३०-अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः	२	३६३

(ई)

२३-ईश्वरप्रणिधानाद्वा	..	१	१९६

(उ)

३९-उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च	..	३	५२९

(ऋ)

४८-ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा		१	२६२

(ए)

२०-एकसमये चोभयानवधारणम्		४	५७३
४४-एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता		१	२५६
१३-एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः		३	४८५

(क)

३०-कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः		३	५२४
७-कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्	...	४	५५६
२१-कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्		३	५१५
१२-अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्	..	४	५६४

Vaidic Library

सूत्र संख्या	पाद	पृष्ठ
४२–काशाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघु-तूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्	३	५३५
४३–कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः	२	४१४
३१–कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्	३	५२४
२२–कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्य-साधारणत्वात्	२	३३३
१५–क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः	३	५०२
२४–क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष-विशेष ईश्वरः	१	१९६
१२–क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्म-वेदनीयः	२	२७९

(ग)

४७–ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमा-दिन्द्रियजयः	३	५४१

(च)

२७–चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्	३	५२३
२२–चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्	४	५७५
२१–चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च	४	५७४

(ज)

१–जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः	४	५५०
९–जातिदेशकालव्यवहितानामप्या-नन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्	४	५५८
३१–जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्	२	३६८
५३–जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः	३	५४७
२–जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्	४	५५१

(त)

२७–तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः	४	५८४
२८–तज्जपस्तदर्थभावनम्	१	२०७
५०–तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार-प्रतिबन्धी	१	२६३
५–तज्जयात्प्रज्ञालोकः	३	४७६
४५–ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्त-द्धर्मानभिघातश्च	३	५३९
४८–ततो द्वन्द्वानभिघातः	२	४३५
४८–ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च	३	५४२
३२–ततः कृतार्थानां परिणामक्रम-समाप्तिर्गुणानाम्	४	५८७
३०–ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः	४	५८५
५२–ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्	२	४४९
५५–ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्	२	४५०
१२–ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः	३	४८४
२९–ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्य-न्तरायाभावश्च	१	२१४
३६–ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शा-स्वादवार्ता जायन्ते	३	५२७
१६–तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्	१	१७०
३२–तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः	१	२१६
२ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्	३	४७३
६–तत्र ध्यानजमनाशयम्	४	५५६
२५–तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्	१	२००
४२–तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः	१	२५३
१३–तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः	१	१६६
८–ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवा-भिव्यक्तिर्वासनानाम्	४	५५७
८–तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य	३	४८०
२५–तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्	२	३४४
२१–तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा	२	३३२
२४–तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्	४	५८१
३–तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्	१	१५३
२६–तदा विवेकनिम्नं कैवल्य-प्राग्भारं चित्तम्	४	५८३
३१–तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्	४	५८६
१७–तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्	४	५७०
३–तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूप-शून्यमिव समाधिः	३	४७४

सूत्र-संख्या	पाद	पृष्ठ
५०–तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्	३	५४४
१–तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः	२	२७२
३०–तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः	२	४३५
१०–तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्	३	४८३
६–तस्य भूमिषु विनियोगः	३	४७६
२७–तस्य वाचकः प्रणवः	१	२०४
२७–तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा	२	३४८
२४–तस्य हेतुरविद्या	२	३४१
५१–तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः	१	२६४
४६–ता एव सबीजः समाधिः	१	२६०
२१–तीव्रसंवेगानामासन्नः	१	१९५
५४–तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्	३	५४८
१०–तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्	४	५५८
१०–ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः	२	२८७
१४–ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्	२	२९३
१३–ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः	४	५६६
३७–ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः	३	५२८
७–त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः	३	४७९
४–त्रयमेकत्र संयमः	३	४७५
(द)		
३१–दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः	१	२१६
८–दुःखानुशयी द्वेषः	२	२८५
६–दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता	२	२८४
१५–दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्	१	१६८
१–देशबन्धश्चित्तस्य धारणा	३	४७३
२०–द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः	२	३२५
१७–द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः	२	२९८
२३–द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्	४	५७७
(ध)		
५३–धारणासु च योग्यता मनसः	२	४४९
११–ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः	२	२८८
२८–ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्	३	५२४
(न)		
२०–न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्	३	५१४
१६–न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्	४	५७०
१९–न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्	४	५७३
२९–नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्	३	५२४
३–निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्	४	५५२
४–निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्	४	५५३
४७–निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः	१	२६१
(प)		
४०–परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः	१	२५२
१५–परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः	२	२९५
१६–परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्	३	५०४
१४–परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्	४	५६७
३४–पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति	४	५९०
२६–पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्	१	२०२
१८–प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्	२	३०३
३४–प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य	१	२२२
१९–प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्	३	५१४
७–प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि	१	१५६
६–प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः	१	१५५
४९–प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम्	२	४३४
५–प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्	४	५५५

सूत्र-संख्या	पाद	पृष्ठ
२५–प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्म-व्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ..	३	५१७
२९–प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः	४	५८५
३३–प्रातिभाद्वा सर्वम् ·	३	५२५
(ब)		
३८–बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ···	३	५२८
२४–बलेषु हस्तिबलादीनि	३	५१७
४३–बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः	३	५३६
५१–बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः	२	४४७
५०–बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देश-कालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः	२	४३६
३८–ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ···	२	४१२
(भ)		
१९–भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलया-नाम् · ·	१	१८५
२६–भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ·	३	५१७
(म)		
३२–मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ···	३	५२५
२२–मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः · ..	१	१९५
३३–मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ···	१	२२०
२३–मैत्र्यादिषु बलानि	३	५१६
(य)		
३९–यथाभिमतध्यानाद्वा	१	२५२
२९–यमनियमासनप्राणायाम-प्रत्याहारधारणाध्यानसमाध-योऽष्टावङ्गानि	२	३५०
२–योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः	१	१४७
२८–योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञान-दीप्तिराविवेकख्यातेः	२	३४९
(र)		
४६–रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ·	३	५४०
(व)		
१५–वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्वि-भक्तः पन्थाः ···	४	५६८
३३–वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्	२	४०८
१७–वितर्कविचारानन्दास्मितारूपा-नुगमात् सम्प्रज्ञातः ··	१	१७१
३४–वितर्का हिंसादयः कृतकारिता-नुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखा-ज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्ष-भावनम् ·· ···	२	४०९
८–विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूप-प्रतिष्ठम् ·· ·	१	१५९
१८–विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कार शेषोऽन्यः ·· ···	१	१७८
२६–विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः	२	३४५
२१–विशेषदर्शिनः आत्मभावभावना विनिवृत्तिः · · ···	४	५८३
१९–विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ···	२	३१२
३६–विशोका वा ज्योतिष्मती ·	१	२४९
३५–विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ·	१	२४६
३७–वीतरागविषयं वा चित्तम्	१	२१०
५–वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः	१	१५५
४–वृत्तिसारूप्यमितरत्र ·	१	१५४
३०–व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्या-विरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमि-कत्वानवस्थितत्वानि चित्त-विक्षेपास्तेऽन्तरायाः ··	१	२१५
९–व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभव-प्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ···	३	४८१
(श)		
९–शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ··· ···	१	१६१
१७–शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूत-रुतज्ञानम् ·	३	५०४

सूत्र-संख्या	पाद	पृष्ठ
१४–शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ...	३	४९६
३२–शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि नियमाः	२	३८०
४०–शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः	२	४१३
२०–श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ..	१	१९३
४९–श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ..	१	२६३
४१–श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्	३	५३५
(स)		
१३–सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः	२	२९०
१४–स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारा-सेवितो दृढभूमिः ...	१	१६७
३६–सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ...	२	४११
५५–सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ..	३	५४८
३५–सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थान्य-स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ...	३	५२६
४९–सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्व-भावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च	३	५४३
४१–सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रिय-जयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च	२	४१३
१८–सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ...	४	५७२
४२–संतोषादनुत्तमसुखलाभः	२	४१३
२–समाधिभावनार्थः क्लेशतनू-करणार्थश्च	२	२७८
४५–समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्	२	४१४
४०–समानजयाज्ज्वलनम्	३	५३५
११–सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ..	३	४८३
७–सुखानुशयी रागः ...	२	२८५
४५–सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यव-सानम् ..	१	२५७
२२–सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संय-मादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा	३	५१५
१८–संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजाति-ज्ञानम्	३	५१३
४३–स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थ-मात्रनिर्भासा निर्वितर्का ...	१	२५४
५१–स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ...	३	५४५
४६–स्थिरसुखमासनम्	२	४१५
४४–स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्व-संयमाद्भूतजयः	३	५३६
३८–स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा	१	२५०
९–स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढो-ऽभिनिवेशः	२	२८६
५४–स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्व-रूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः	२	४४९
२३–स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धि-हेतुः संयोगः	२	३३४
४४–स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः	२	४१४
(ह)		
२८–हानमेषां क्लेशवदुक्तम्	४	५५९
३४–हृदये चित्तसंवित् ..	३	५२५
११–हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वा-देषामभावे तदभावः	४	५६३
१६–हेयं दुःखमनागतम्	२	२९६
(क्ष)		
५२–क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ...	३	५४६
३३–क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्त-निर्ग्राह्यः क्रमः	४	५८७
४१–क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृ-ग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ...	१	२५२

Vaidic Library

शब्दानुक्रमणी

षड्दर्शनसमन्वय

(अ)

पृष्ठ

१–अग्नि ... ४७
२–अणु ... ५०
३–अकर्तृत्व ... ९६
४–अत्यन्ताभाव ... ५४
५–अथर्ववेद ... १
६–अद्वैत-सिद्धान्त १०, १२, २१, २४, २९, ३०
विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त ... २६
शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त ... २८
७–अदृष्ट ... ६१
८–अधर्म ... ५२
९–अधिकरण ... १०
१०–अधिकरण सिद्धान्त ... ५७
११–अधिदैव (सृष्टि) ... ९०
१२–अधिभूत (सृष्टि) ... ९०
१३–अध्यात्म (सृष्टि) ... ९०
१४–अध्यास (जो वास्तवमें न हो किंतु अज्ञानसे मान लिया हो, आरोपित) ... १२
१५–अनुमान प्रमाण ... ५५, १०७
१६–अन्तःकरण ... ८०, ८१, १२९
१७–अन्यता ... ९६
१८–अन्योन्याभाव ... ५४
१९–अपरत्व ... ५०
२०–अपवर्ग ... ६०
२१–अपान ... ९२
२२–अभ्युपगम सिद्धान्त ... ५७
२३–अभाव पदार्थ ... ५४
२४–अभिनिवेश ... १२९
२५–अर्थ ... ५९
२६–अर्थवत् ... ९६
२७–अवयव ... ५७
२८–अवक्षेपण ... ५२
२९–अविद्या ... ९२, १३०, १३२
३०–अशक्ति ... ९३
३१–अस्तित्व ... ९६
३२–असम्प्रज्ञातसमाधि ... ८२, १२९, १४८
३३–अस्मिता ... ९२
३४–अहङ्कार ... ८३, ८८, १०९

(आ)

१–आकाश ... ४७
२–आकुञ्चन कर्म ... ५२
३–आगम-प्रमाण ... ५६, १०७
४–आत्म-तत्त्व ... ६, १२
५–आत्मा (शुद्ध चेतन-तत्त्व) २, ४७-४९, ५९
६–आत्रेय ... २०
७–आधिदैविक ... १, ९०
८–आधिभौतिक ... १, ९०
९–आध्यात्मिक ... १, ९०
१०–आरम्भिक उपादान कारण ... ६३
११–आश्मरथ्य ... २०,
१२–आसुरि ... १९, ७५

(इ)

१–इच्छा ... ४९, ५२
२–इन्द्रियाँ ... ४८, ८४, १०९
३–इन्द्रियें (कर्म) ... ९२
४–इन्द्रियें (ज्ञान) ... ५९, ९१

(ई)

१–ईश्वर (पुरुषविशेष, शबल चेतन तत्त्व समष्टिरूप) २, १४, २९, ८१
२–ईश्वरवाद (सांख्य) ११७-१२२
३–ईश्वरवाद (पूर्वमीमांसा) ५-८

(उ)

१–उत्तरमीमांसा (वेदान्त-दर्शन, ब्रह्म-सूत्र) ... ९, ४५
२–उत्क्षेपण कर्म ... ५२
३–उदान ... ९२
४–उपचार छल ... ५९
५–उपलब्धि ... ६०
६–उदाहरण ... ५७
७–उपनय ... ५७
८–उपनिषद् (वेदमन्त्रोंके आध्यात्मिक विचारोंको दर्शानेवाले ग्रन्थ, जिनमें मुख्य ग्यारह हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक और श्वेताश्वतर उपनिषद्) ... १

पृष्ठ

९–उपमान-प्रमाण ... ५६
१०–उपलक्षण .. १४
११–उपस्थ .. ७८
१२–उपादान-कारण ...२९,६२

(ऋ)

१–ऋग्वेद ... १
२–ऋषि (वेदमन्त्रोंके द्रष्टा) ... १

(ए)

१–एकत्व ... ९६

(औ)

१–औडुलोमि आचार्य .. ८,२०

(क)

१–कणाद . ४६
२–कपिल ... १९, ७४, ७५
३–कल्प (आश्वलायन, आपस्तम्ब, बोधायन और कात्यायन आदि ऋषियोंके बनाये श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र हैं जिनमे यागके प्रयोग, मन्त्रोंके विनियोगकी विधि है) .. ३
४–कर्म . ४६,५२
५–कारण ... ६२
६–काम्य कर्म ... ४
७–काल ...४७,४८
८–कालातीत हेत्वाभास ... ५८
९–काशकृत्स्न . २०
१०–काष्णाजिनि २०
११–कार्य .. ६२
१२–कैवल्य . १३३, १३४, १३६
१३–क्लेश . .. १३०

(ग)

१–गन्ध . ४८,४९
२–गमनकर्म . ५२
३–गुण .. ४९, ८५, ११०,१११
४–गुदा .. ७८
५–गुरुत्व .. ५०
६–गौतम ४६

(घ)

१–घ्राण .. ४६,७८

(च)

१–चतुःसूत्री ... १३, ८८, १३०
२–चित्त .२६, ७८, ८३, १२४, १२५, १३५
३–चित्तवृत्ति .. १२४, १२६, १२७
४–चेतन-तत्त्व (आत्मा, परमात्मा) ... २, १५, २२, ७९, ८८, १०८

(छ)

१–छन्द (लौकिक और वैदिक शब्दोंको नियमित करने, पाद, यति और विराम आदिकी व्यवस्था करनेमें उपयोगी है) ... ३
२–छल ... ५८

(ज)

१–जड तत्त्व (प्रकृति, माया, गुणोंका साम्य तथा विषम परिणाम) २, ७०, ७८
२–जनक ..१९,७५
३–जल ४७, ४८, ८७
४–जल्प . ५७
५–जाग्रत्-अवस्था ... १३५
६–जाति .. ५९
७–जीव (पुरुष=शबल चेतन-तत्त्व व्यष्टिरूप) .. २, २३, ८०, ८१
८–जैगीषव्य आचार्य ...१९, ७५
९–जैमिनि ५, ८, १९, २०
१०–ज्योतिष (यज्ञादि अनुष्ठानके काल-विशेषकी व्यवस्था करता है) .. ३

(त)

१–तत्त्व (सार वस्तु) ... २,७७
२–तमस् . ८५, १०९–१११
३–तत्त्वसमास ...७५,७७
४–तन्मात्रा .. ७८, ७९, १०९
५–तर्क .. ५८
६–तुष्टि . ९३,९४
७–त्वचा ...४८,७८

(द)

१–दर्शन (तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी शास्त्र) ...१, ३
२–दयानन्द सरस्वती २१, २६, २७
३–दिशा .. ४७,४८
४–दुःख (अपने विरुद्ध प्रतीत होनेवाली रजोगुणसे उत्पन्न हुई चित्तकी एक वृत्तिका नाम दुःख है) १, ४८,४९,५२, ६०
५–दृश्य ...१३१,१३२

पृष्ठ

६-दृष्टान्त .. ५६
७-दोष . ६०
८-द्रवत्व ४९, ५१
९-द्रव्य .. ४७
१०-द्रष्टा ... १३१
११-द्वेष ... ४८, ४९, ५२, ९२, १३०
१२-द्वैत-सिद्धान्त १०, १२, २६, २८, २९
१३-द्वैताद्वैत-सिद्धान्त .. २८

(ध)

१-धर्म . ४७, ४९, ५२
२-धर्म (मूल) ५९
३-धर्मी .. ४७
४-धारणा .. १३३
५-ध्यान . १३३

(न)

१-निगमन .. ५७
२-निग्रह-स्थान . ५९
३-नित्य .. ४७
४-निद्रा (वृत्ति) ९१
५-निमित्तकारण ६२
६-निम्बार्काचार्य . २८
७-निर्णय ५७
८-निरुक्त (पद-विभाग, मन्त्रका अर्थ और देवताके निरूपणद्वारा एक-एक पदके सम्भावित और अवयवार्थका निश्चय करता है) ३
९-नित्य कर्म .. ४
१०-निषिद्ध कर्म ४
११-निरोध १२९, १३०
१२-नेत्र .. ४८, ७८
१३-नैमित्तिक कर्म . ४
१४-न्याय (प्रमाणोंसे अर्थका परीक्षण, गौतम मुनिका बनाया हुआ दर्शन) ... ३, ४६, ५४, ६३

(प)

१-पञ्च-भूत ... ४८
२-पञ्च-यज्ञ ... ४-६
३-पञ्चशिखाचार्य १९, ७५
४-पदार्थ ४७, ५४
५-परत्व . ४९, ५०
६-परमाणुवाद ६३
७-परमात्मतत्त्व .. १०, १४
८-परमात्मा (शुद्ध चेतन तत्त्व समष्टि रूप) .. २, ८१, १०८
९-पराशर १९
१०-परार्थ . ९६
११-परार्थानुमान ... ५७
१२-परिमाण .. ४९, ५०
१३-पाद (चौथा भाग, प्रकरण) .. ८, १२८
१४-पुरुष (जीव=शबल चेतन तत्त्व व्यष्टिरूप) .. २, ८०
१५-पुरुषविशेष (ईश्वर, शबल चेतन तत्त्व समष्टि रूप) २, ८०
१६-पुरुषका बहुत्व . ११२-११५
१७-पूर्ववत् अनुमान-प्रमाण ... ५५
१८-पृथक्त्व .. ४९, ५०
१९-पृथ्वी ... ४७-४९, ७८
२०-प्रकरण (अध्याय, वृत्तान्त) . १, ४, ४६, ६७
२१-प्रकरणसमहेत्वाभास ... ५८
२२-प्रकृति (गुणोंका साम्य परिणाम माया) .. २, ७८, ८५, १०८, १०९
२३-प्रत्यक्ष-प्रमाण ... ५४, १०७
२४-प्रतिज्ञा ... ५७
२५-प्रतितन्त्र-सिद्धान्त ... ५७
२६-प्रध्वंसाभाव .. ५४
२७-प्रमाण .. ५४, ५६, १०७
२८-प्रमाता .. ५४
२९-प्रमाण-वृत्ति ... ९१
३०-प्रमिति . ५४
३१-प्रमेय ५६, ६९
३२-प्रयत्न . ४९, ५२
३३-प्रयोजन . ५६
३४-प्रलय ८९
३५-प्रलयावस्था ... १३५
३६-प्रवृत्ति ... ६०
३७-प्रसारण कर्म . ५२
३८-प्रज्ञा ... १३२
३९-प्रागभाव ... ५४
४०-प्रायश्चित्त कर्म .. ४
४१-प्राण . ९२

पृष्ठ

४२-प्रादुर्भाव (वर्तमान वस्तुका प्रकट होना) ... १
४३-प्रेतभाव ६०

(फ)

१-फल ६०

(ब)

१-बन्ध ... १००, ११४
२-बुद्धि .. ४९, ५१, ६०, १२९
३-बहुत्व ... ९६
४-बल्लभाचार्य ... २८
५-बादरायण ... १९
६-बादरि १९
७-ब्राह्मण (वेदमन्त्रोंके व्याख्या-ग्रन्थ, इनमेंसे चार प्रसिद्ध हैं— ऐतरेय ऋग्का, शतपथ यजुका, ताण्डय ब्राह्मण सामका और गोपथ अथर्वका) ... १

(भ)

१-भावागणेश ... ७५

(म)

१-मध्वाचार्य .. २६
२-मन ४७, ४९, ६०, ७८, १२९
३-महत्तत्त्व ... ७८, ७९, १०८, १०९
४-महावाक्य .. १४
५-माया (प्रकृति, गुणोंका साम्य परिणाम) .. २, ११, २१, २५
६-मीमांसादर्शन (पूर्वमीमांसा,जैमिनि मुनिका बनाया हुआ दर्शन) ... ३, ५
७-मुनि (मननशील, वेदके अर्थोंको मनन करके उनके तत्त्वोंको दर्शानेवाले) ... १
८-मोक्ष . १००, ११४

(य)

१-यजुर्वेद ... १
२-यज्ञ ... ४, ६
३-योग (समाधिः पतञ्जलि मुनिका बनाया हुआ दर्शन) ३, ६७, १२३-१३६

(र)

१-रजोगुण ... ८५, ११०
२-रस ... ४७, ४९
३-रसना . ४८, ७८
४-राग .. ९२, १३०
५-रामानुजाचार्य . २६
६-रूप .. ४८, ४९, ५२

(ल)

१-लिङ्ग .. ५५, ५९
२-लिङ्गि ... ५५

(व)

१-वाक्छल . ५८
२-वाणी ... ७८
३-वाद ५७
४-वार्षगण्याचार्य .. १९, ७५
५-वायु . ४७, ५०, ७८
६-विकल्प (वृत्ति) ... ९१
७-विकृति . ७८, १०८, १०९
८-वितण्डा ५७
९-विपर्यय (वृत्ति) ... ९१
१०-विभाग ४९, ५०, ५२
११-विभु ४८, ४९
१२-वियोग ... ९६
१३-विज्ञानभिक्षु . ७४
१४-विवर्त्तवाद .. ११
१५-विवेक-ख्याति ... १३२
१६-विशेष ४६, ४७, ५३
१७-विराट् .. १४
१८-विरुद्धहेत्वाभास . ५८
१९-वृत्ति ९१, १२४, १२९
२०-वेद (ईश्वरीय ज्ञान, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद) . १
२१-वेदान्त (उत्तरमीमांसा, व्यास मुनिका बताया हुआ दर्शन, उपनिषद्) .. ३, ४, ९
२२-वेदोके अङ्ग (शिक्षा कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष) . ३
२३-वेदोके उपाङ्ग (मीमांसा, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग) ... ३
२४-वैशेषिक (पदार्थोंके भेदोंका बोधक, कणाद मुनिका बनाया हुआ दर्शन) ... ३, ४६, ६३-६६

पृष्ठ

२५-व्यष्टि (अंशरूप) ·· ६, १४,७९-८१-११२
२६-व्याकरण (व्याकरण, प्रकृति और प्रत्यय आदिके उपदेशसे पदके स्वरूप और उसके अर्थके निश्चय करनेमें उपयोगी है) ··· ३
२७-व्यान ··· ९२
२८-व्यास मुनि · ५, ८, १९
२९-व्याप्ति ··· ५५

(श)

१-शंकराचार्य २१, २२, २४-२६
२-शब्द ४९, ५१, ५२
३-शरीर ··· ५९
४-शबल स्वरूप ·· १५
५-शिक्षा (शिक्षाका उपयोग वैदिक वर्णों, स्वर और मात्राओंके बोध करानेमें होता है) ··· ३
६-शुद्ध चेतनतत्त्व ··· ८१
७-शुद्धस्वरूप · १५
८-शेषवत अनुमान-प्रमाण ·· ५५
९-शेषवृत्तित्व · ९६
१०-श्रोत्र ४८, ७८

(ष)

१-षड्दर्शन (मीमांसा, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग, जो वेदोंके उपाङ्ग कहलाते है) ·· ३
२-षष्टि तन्त्र ··· ७५

(स)

१-संख्या ·· ४९
२-सत्त्वगुण · १०९, १११
३-समन्वय (मेल, अविरोध) · २६
४-समवाय ४६ ५४
५-समष्टि (पूर्ण रूप) १४, ८९-८१, ११२
६-समाधि प्रारम्भ-अवस्था १३५
७-समाधि १, १२३, १२८
८-समान ··· ९२
९-सम्प्रज्ञात समाधि (एकाग्रता) · १३५
१०-सम्प्रज्ञात समाधि (विवेकख्याति) १३६
११-संयम १३३
१२-सर्वतन्त्र सिद्धान्त · ५६
१३-सव्यविचार हेत्वाभास ··· ५७

पृष्ठ

१४-संयोग ५०, ५१, ९६
१५-संशय ··· ५६
१६-संस्कार ५०, ५२
१७-संहिता (पुस्तक) ··· १
१८-सांख्य (कपिल मुनिका बनाया हुआ दर्शन) ३, ६८-७५
१९-सांख्यसप्तति ··· ७५
२०-साधारण कारण ··· ६२
२१-साध्यसम हेत्वाभास ··· ५८
२२-सामवेद ··· १
२३-सामान्य ··· ५३
२४-सामान्य छल ··· ५८
२५-सामान्यतो दृष्ट अनुमान प्रमाण · ५५
२६-सिद्धि ९४, १३३
२७-सिद्धान्त ··· ५६
२८-सुषुप्ति-अवस्था ··· १३५
२९-सुख ४९, ५१
३०-सृष्टि ८९, ९०, ९७, १०९, ११२
३१-स्थूलभूत ७८, १०९
३२-स्पर्श ४७-४९
३३-स्वप्न ··· १३५
३४-स्वरूपावस्थिति १२, १२९, १३०
३५-स्वरूपस्थिति (जड़तत्त्वके अविवेकपूर्ण संयोगसे परे होकर पुरुषका अपने शुद्ध चेतन-स्वरूपमें स्थित होना) २, १२
३६-स्वार्थानुमान ··· ५७
३७-स्मृति (वृत्ति) ··· ९१
३८-स्नेह ४९, ५१

(ह)

१-हस्त ··· ७८
२-हान (दुःखका नितान्त अभाव) २, १०, १२, ६०, १०८, १३२
३-हानोपाय (हानका साधन) २, १०, १२ ६१, १०८, १३२
४-हिरण्यगर्भ १४, १२८
५-हेतु ··· ५७
६-हेय (त्याज्य=दुःख) २, १०, १०८, १३१
७-हेय हेतु (हेयका कारण) २, १०, ६० १०८, १३१
८-हेत्वाभास ··· ५७

पृष्ठ

(ज्ञ)

१-ज्ञान ... ५९

पातञ्जलयोगप्रदीप

(अ)

१-अक्लिष्ट २५५, २६०
२-अग्निमेहत्व ... २१६
३-अजीर्णनाशक (ओषधियाँ) ... ४५७
४-अदृष्टजन्मवेदनीय २८९, २९०
५-अध्यात्मप्रसाद ... २६२
६-अनवस्थितत्व ... २१५
७-अनन्त समापत्ति ४३५
८-अनात्म २८३
९-अनाहत चक्र ... २३६
१०-अनियत विपाक ... २९०
११-अनित्य ... २८३
१२-अनुमान १५५, १५६, १५८, १५९
१३-अनुमानप्रमा ... २६३
१४-अन्तराय २१४-२१६
१५-अन्तर्धान ... ५१५
१६-अन्यता-ख्याति ... ५४३
१७-अन्तःकरणचतुष्टय ... १५१
१८-अन्नमय कोश १७६, १७७
१९-अपरान्त ज्ञान ५१५, ५१६
२०-अपवर्ग ३०५, ३०६, ३१०, ३११
२१-अपरिग्रह ३६३, ३६७, ३७९, ४१२
२२-अपान २२५-२२६, ५२९, ५३०
२३-अवतार १८४, २७०
२४-अविशेष ... ३१२
२५-अविद्या २७८-२८४, ३४१-३४४
२६-अभिनिवेश (क्लेश) २८५-२८७
२७-अभिव्यञ्जक ... २९०
२८-अभ्यास १६५-१६८
२९-अमृतधारा (नुस्खा) ... ४५७
३०-अम्ल-पित्त-नाशक (ओषधि) ... ४५९
३१-अरण्डीपाक (ओषधि) ... ४५९
३२-अरिष्ट ५१५, ५१६
३३-अर्श (बवासीर) ४६६-४६७
३४-अलब्धभूमिकत्व २१५
३५-अलिङ्ग २५७-२५९, ३१२-३१६, ३१९, ३२२
३६-अविरति ... २१५
३७-अशुचि ... २८३
३८-अश्विनी मुद्रा ४२०
३९-अष्टक गोली (नुस्खा) ... ४५८
४०-असम्प्रज्ञात-समाधि १४०, १७०, १७४ १७८, १७९, १८३, २६५, २६६
४१-अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात १७१, १७३, १७४ १७५, १८३, २५८-२६१
४२-अस्मिता क्लेश २७९, २८२-२८५
४३-अस्तेय ३६३, ३६५, ३६६, ३७७, ४१२
४४-अहिंसा ३६३, ३६४, ३६७, ३६९, ४१० ४११
४५-अहङ्कार १५१-१५४, १७३, १८२

(आ)

१-आकर्ण धनुपासन ४२३
२-आकाशगमन ... ५३६
३-आँखके रोग (ओषधियाँ) ४६९, ४७०
४-आगम १५५, १५६, १६८
५-आदित्यलोक १८४, २७०
६-आधे सिरका दर्द (ओषधियाँ) ... ४५९
७-आत्मा ५९२-५९६
८-आनन्त्य-समापत्ति ४३४, ४३५
९-आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात १७१, १७३-१७५ १८२, २४८, २५८ २६१
१०-आनन्दमय कोश १७६, १७७
११-आनन्दभैरों रस (ओषधि) ... ४५७
१२-आभ्यन्तर वृति ४३६, ४३७
१३-आलस्य ... २१५
१४-आशिष ... ५६०
१५-आशय ... १९८
१६-आँव नाशक (ओषधियाँ) ४५४
१७-आसन ४१५-४३३
१८-आक्षेपी ४४७, ४४८
१९-आज्ञा-चक्र २३७, २३८
२०-आर्य सत्य ... ३४४

(इ)

१-इन्द्रियाँ १५१, १५२, १७२
२-इडानाडी २२७, २२८

Vedic Library

पृष्ठ

(ई)

१–ईश्वरप्रणिधान १९६, २१४, २७३, ३८१

(उ)

१–उत्क्रान्ति .. ५२९
२–उज्जाई प्राणायाम ... ४४२
३–उड्डीयान बन्ध ४१८
४–उत्तानपादासन ४२३, ४३१
५–उत्थित पद्मासन ... ४२९
६–उदान २२५, २२८ ५२९, ५३०
७–उदानजय ५२९, ५३०
८–उदार (क्लेश) २८०
९–उपसर्जन कर्माशय २९०
१०–उपसंहार २७१, ४५१, ५५०, ५९६
११–उपाय प्रत्यय १८८
१२–उपेक्षा भावना २२०–२२२
१३–उष्ट्रासन ४२८, ४३१

(ऊ)

१–ऊर्ध्वपद्मासन ४२९
२–ऊर्ध्वसर्वाङ्गासन ४२५, ४३१

(ऋ)

१–ऋतम्भरा प्रज्ञा .. २६२

(ए)

१ एकतानता ४७३
२–एकपादाङ्गुष्ठासन . ४२९
३–एकाग्रावस्था १४०, १४७, १४९, १५०
४–एकतत्त्वाभ्यास . २१६
५–एकेन्द्रिय वैराग्य १६९

(ओ)

१–ओ३म् २०४, २१३

(क)

१–कपालभाति २२३, ३८७
२–कफनाशक (ओषधियाँ) ४५३
३–कमरके अंदरके फोड़ेकी दवा ४६५
४–करुणा भावना २२०–२२२
५–कर्णपीड़ासन ४२५, ४३१
६–कण्ठकूप .. ५२४
७–क्रम ५०२, ५४६
८–क्रम-मुक्ति ५३४
९–कर्म १९६, १९७, ५८६, ५८७
१०–कविप्राणायाम ४३५
११–कर्माशय .. २८९
१२–काकी प्राणायाम .. ४४३
१३–कानका दर्द (ओषधि) ४७१
१४–कारण .. ३४९
१५–कारण शरीर १७६, १७७, २११, २१३
१६–काल परिदृष्ट . ४३६
१७–काव्यव्यूहज्ञान ५२४
१८–क्रियायोग २७२
१९–क्रियाफलाश्रय . ४११
२०–कुक्कुटासन .. ४२९
२१–कुम्भक ४३८–४४७
२२–कूर्मासन .. ४२९
२३–कूर्म नाड़ी ५२४, ५२५
२४–कृतार्थ .. ३३३
२५–कृत्रिमनिद्रा ३९८–४००
२६–कैवल्य ३४४, ५४९
२७–कैवल्यपाद .. ५५१
२८–कोणासन .. ४३१
२९–कोश १७६, १७७
३०–कोष्ठवद्धनाशक (ओषधियाँ) ... ४५२
३१–क्लिष्ट १५५, १६०
३२–क्लेश १९६–१९८, २७८, २७९, २८५, २८७, २८९, ५८५, ५८७

(ख)

१–खाँसी-नाशक (ओषधियाँ,) ४५५
२–खुश्की ,, ,, . ४५५, ४५६
३–खेचरी मुद्रा . ४१९
४–ख्याति ५४३

(ग)

१–गठिया-नाशक (ओषधियाँ) ४५९, ४७०
२–गरुडासन ४३०
३–गर्भासन ४२६
४–गुण १५१, ३०३, ३३४, ५९१–५९५
५–गुण-वृत्ति-विरोध (दुःख) २९५, २९६
६–गुणपर्वणि ३१२, ३१४, ३२२
७–गोरक्षासन ४२८

पृष्ठ

(च)

१-चक्र (पद्म) २३४-२३९
२-चक्र-भेदन २४१-२४३
३-चक्रासन ... ४२६
४-चन्द्रप्रभावटी (नुस्खा) .. ४६०
५-चन्द्रलोक १८१, ५३२
६-चन्द्रभेदी प्राणायाम ... ४४२
७-चतुर्थ प्राणायाम ४४७, ४४८
८-चितिशक्ति १५३, ५७६, ५९१
९-चित्त १४७, १५१, १५३, ५६०, ५८४, ५९१
१०-चित्त-वृत्ति १५३, १५४, १५६
११-चित्तकी अवस्थाएँ १४८, १४९
१२-चित्तविक्षेप २१५

(ज)

१-जल-चिकित्सा ३८९,
२-जाग्रत्-अवस्था .. २११
३-जानुशिरासन ४२३, ४३१
४-जात्यन्तर परिणाम ... ५५१
५-जालन्धर-बन्ध ... ४१८
६-जीवन्मुक्त .. २७१
७-जुकाम-नाशक (ओषधियाँ) ४५३, ४५४

(त)

१-तत्त्व २२९-२३४
२-तन्मात्राएँ १५१, १५२, १७२-१७४
३-तनु (क्लेश) ... २८०
४-तनुकरण .. २७८
५-तमोगुण ... १५१, २५१
६-तप २७३, २७६, ३८०, ४१४
७-ताड़ागी मुद्रा .. ४२१
८-ताप दुःख . २९५
९-ताड़ासन ... ४३१
१०-तालयुक्त प्राणायाम ... ४४१
११-तारक .. ५२९
१२-तिल्लीकी ओषधि .. ४६७
१३-तोलाङ्गुलासन . ४३१
१४-त्राटक ३८२, ३९४, ३९७
१५-त्रिवेणी (युक्त) ... २३८

पृष्ठ

१६-त्रिवेणी (मुक्त) .. २३४
१७-त्रिबन्धासन . ४३१

(द)

१-दमा-नाशक (ओषधियाँ) ४५५, ४५६
२-दन्त-रोगनाशक (ओषधियाँ) ४६२, ४६३
३-दर्शन-शक्ति . २८४
४-द्रष्टा १५३, ३२५, ३३२, ५७७
५-द्रष्टृ २९८, ३०२, ५५६, ५७७, ५८१
६-दस्त नाशक (ओषधियाँ) ४५६
७-दाद-नाशक (ओषधियाँ) ... ४६४
८-दिलकी धड़कन (ओषधि) ४७१
९-दिव्य श्रोत्र ५३५
१०-दुःख १५१, २१६, २८३, २८५, २८७
११-दृश्य २९८, ३३२, ५७७, ५८१
१२-दृशिमात्र ३२६, ३३२
१३-दृशेः .. ३४४
१४-दृष्टजन्म वेदनीय २८९-२९१
१५-दृक्शक्ति . १५४, २८४
१६-देवयान १८४, ५३१-५३४
१७-देशपरिदृष्ट ४३६-४३८
१८-दौर्मनस्य .. २१६
१९-द्वन्द्व- ४३५
२०-द्विपाद मध्यशीर्षासन . ४३२
२१-द्वेष (क्लेश) २७९, २८५

(ध)

१-धनुरासन ४२७, ४३१
२-धर्म .. ४९६-५०३
३-धर्म-परिणाम ४८०, ४८१
४-धर्मी ४७०-५०३
५-धारणा ३५०-३५३, ४७३, ४७४
६-धौति (षट्कर्म) ३८२-३८५
७-ध्यान ३५०, ३५१, ४७३-४७५
८-ध्यानहेया . २८८
९-ध्यातृ ४७४
१०-ध्येय ४७३-४७४

(न)

१-नाभ्यासन ४२७, ४३१
२-नाड़ीशोधन- प्राणायाम . ४४७

पृष्ठ

३–निद्रा · १५५, १६२
४–नियम ३५०, ३५१ ३८०, ४०८
५–नियतविपाक ··· ३९०
६–निरतिशय · २००
७–निरुद्ध-अवस्था १४०, १४९, १५०
८–निरोध १४७, १५३, २६४-२६८
९–निर्वितर्क २५४–२५७, २६०
१०–निर्विचार (समापत्ति) २४६, २५८, २६०-२६२
११–निर्बीज समाधि २६४–२६५
१२–निर्माण चित्त ५५४–५५६
१३–नेति · ३८६
१४–नौली (षट्कर्म) ३८६

(प)

१–पद्मासन ४१६, ४२९
२–परमवश्यता ·· ४५०
३–पञ्च-शील ·· ३५२
४–परचित्त-ज्ञान ··· ५१४
५–परशरीरावेश ··· ५२८, ५२९
६–पर-वैराग्य १७०, १७१
७–परिणाम १४८–१५५, ४८०, ४९६
८–परिणाम दुःख २९५, २९६
९–पश्चिमोत्तानासन ४२२, ४३१
१०–पवनमुक्तासन ४२५, ४३१
११–पागलपनकी ओषधि ·· ४७२
१२–पादहस्तासन ४३०, ४३१
१३–पादाङ्गुष्ठ-नासाग्रस्पर्शासन ··· ४२२
१४–पारा बाँधना · ४७१
१५–पार्वती आसन ··· ४२८
१६–पितृयाण ५३१–५३४
१७–पिंगला नाड़ी २२७, २२८, २३८
१८–पुरुष १५२, ५४९
१९–पुरुष विशेष १५१, १९६–१९९
२०–पुरुष ज्ञान ·· ५२६
२१–पुरुषार्थ ·· ५९१
२२–पूरक ४३७–४४६
२३–पूर्ववत् अनुमान प्रमाण · १५८
२४–पूर्व-जाति-ज्ञान · ५१३

पृष्ठ

२५–पेटके कीड़े (ओषधि) ··· ४६८
२६–पेशाबमें शक्कर आना (ओषधि) ··· ४५९
२७–पौरुषेय ज्ञान (बोध) ··· १५६
२८–प्रकृति १५०, १५२, ५५२, ५५३
२९–प्रकृतिलय · १८३, १८५, १९२
३०–प्रकृत्यापूर ··· ५५१
३१–प्रकाशावरण · ५३६
३२–प्रत्यक्ष वृत्ति ··· १५६
३३–प्रतिपक्षभावना ४०९, ४१०
३४–प्रत्यय ३२५, ४७२
३५–प्रत्यय अनुपश्य ३२५, ३२७
३६–प्रत्यय-अविशेष ··· ५२६
३७–प्रत्याहार ३५०, ३५१, ४४९, ४५०
३८–प्रच्छर्दन ··· २२२
३९–प्रमा १५५–१५७
४०–प्रमाद ··· २१५
४१–प्रमाण वृत्ति (प्रमाण) १५५–१५८
४२–प्रसंख्यान २८७, २८८, ५८६
४३–प्रसुप्त (क्लेश) २८०–२८२
४४–प्रणव २०४–२०७
४५–प्रतिप्रसवहेया २८७, २८८
४६–प्रधान ३०३, ३०५–३०९, ५४२
४७–प्रधान कर्माशय ··· २९१
४८–प्रमेह-नाशक (ओषधि) ४५९, ४६०
४९–प्रयत्न-शैथिल्य ··· ४३३
५०–प्रश्वास २१६, ४३५
५१–प्रज्ञा १९३, २६३
५२–प्रज्ञालोक ··· ४७५
५३–प्रातिभ ··· ५२५
५४–प्राण २२३–२२७, ५२६, ५३०
५५–प्राण (सूक्ष्म) २२७, २२८
५६–प्राणायाम ३५०, ४३५, ४४९
५७–प्राणमय कोश १७७, १७८
५८–प्रान्त-भूमि ·· ३४८
५९–प्लावनी प्राणायाम ··· ४४५

(व)

१–वकासन ··· ४२९
२–वज्रोली मुद्रा ··· ४२१

पृष्ठ

३–वज्रासन ... ४१६
४–वदहजमीकी ओषधि ... ४५७
५–वद्ध पद्मासन ... ५१६
६–वंद पेशाव खोलना ... ४६८
७–वन्ध ४१७, ४१८
८–वहुमूत्र-नाशक (ओषधि) ... ४६१
९–वाह्य-वृत्ति ४३६, ४३८
१०–वुखार-नाशक (ओषधियाँ) ... ४६१
११–वुद्धि २६२, २९८, २९९
१२–वेध ... ४१८
१३–वौद्ध दर्शन ३४८, ३५२
१४–ब्रह्मचर्य ३६३, ३७९, ४१२
१५–ब्राह्मी घृत ... ४६०

(भ)

१–भव प्रत्यय (योगी) १८५, १८६
२–भस्त्रिका प्राणायाम ४३९, ४४३
३–भावना १७२, १७६
४–भुजङ्गासन ४२६, ४३१
५–भुजङ्गी प्राणायाम ... ४४३
६–भुवनज्ञान ... ५१७
७–भुवः लोक ५१७, ५२२
८–भूतजय ... ५३६
९–भूः लोक ५१७, ५२२
१०–भोग ३०३–३१६
११–भ्रान्ति-दर्शन ... २१५
१२–भ्रामरी प्राणायाम ४३९, ४४४

(म)

१–मधुभूमिका ५४५
२–मणिपूरकचक्र ... २३५
३–मत्स्यासन ४३९, ४३१
४–मत्स्येन्द्रासन ... ४२७
५–मन १५१, ५६२–५६५
६–मनोजवित्व ५४२
७–मनोमय कोश १७७, १७८
८–मयूरासन ४२६, ४३१
९–मरोड़ ४५४
१०–मस्तक-पादाङ्गुष्ठासन ४२६
११–महत्तत्त्व १५१, ५६२
१२–महामुद्रा ४१९
१३–महावन्ध ... ४१८
१४–महावेध ... ४१८
१५–महाव्रत ... ३६८
१६–महाविदेहा वृत्ति ५३६
१७–मार्जन क्रिया ... ३९६
१८–माया ३०१, ३१८, ३२५
१९–मुद्रा ४१९–४२२
२०–मुँहके छाले (ओषधि) ... ४७१
२१–मुदिता भावना ५१६, २२०–२२२
२२–मुक्ति २७०
२३–मूढ़-अवस्था १४०, १४९, १५०, १५३
२४–मूलवन्ध ... ४१७
२५–मूलाधार चक्र २३४
२६–मूर्च्छा प्राणायाम ४३९, ४४५
२७–मूर्धाज्योति ... ५२५
२८–मैत्री-भावना २२०–२२२, ५१६
२९–मृत्युंजय रस (ओषधि) ... ४६२

(य)

१–यम ३५०, ३५१, ३५७, ३८०
२–यतमान वैराग्य ... १६९
३–योग १४०, १४७–१५२, १५५
४–योगाङ्ग ३५०, ३५६
५–योगमुद्रा ४२१
६–योनिमुद्रा ४२०

(र)

१–रजोगुण १५२, २५१
२–रक्तविकार (फोड़े-फुंसी आदि नाशक ओषधियाँ) ... ४६४
३–राग (क्लेश) २७९, २८५ २८७
४–रुक-रुककर पेशाव आना (ओषधियाँ) ... ४६८
५–रेचक (प्राणायाम) ४३५–४४६

(ल)

१–लिङ्ग ३१२–३१६
२–लोलासन ... ४२९

(व)

१–वस्ति (षट्कर्म) ३८२, ३८५

पृष्ठ

२–वशीकार संज्ञा (वैराग्य) १६८–१७०
३–वातविकारनाशक (ओषधियाँ) ४५३, ४५८
४–वातारि गूगल (ओषधियाँ) ४५८
५–वासना १९६, १९७, ५५७, ५६१–५६३, ५६४
६–विकल्प-वृत्ति १५६, १६०, १६२, १६३
७–विकरणभाव ५४२,
८–विकृति ३१४
९–विचारानुगत सम्प्रज्ञात १७२–१७५, १८०
१०–विच्छिन्न (क्लेश) २८०
११–वितर्क ४०८–४१०
१२–वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात १७२–१७५, १७९
१३–विधारण २२२, २२३
१४–विपरीतकरणी मुद्रा ४२१, ४३१
१५–विदेह १८२, १८५, १८७
१६–विपाक १९६, २९०
१७–विपर्यय-वृत्ति १५५, १५९, १६०
१८–विराम १७८
१९–विवेकख्याति १७८, १८३, ३४५, ३४६, ३४९
२०–विवेकजज्ञान ५४६–५४९
२१–विशुद्ध सत्त्वमय चित्त १९९, २००, २७० ५३४
२२–विशुद्ध चक्र २३६
२३–विशेष ३१३, ३१५
२४–विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति २४८–२५०
२५–विषम परिणाम १५१
२६–विक्षिप्त-अवस्था १४०, १५०
२७–विक्षेप २१५, २१६
२८–वीरासन ४१२
२९–विज्ञानमय कोश १७६, १७७
३०–वीतराग-विषय-चित्त २५०
३१–वीर्य १९३, ४१६
३२–वृत्ति १४७, १५४–१६७
३३–वृत्तिसारूप्य १५४
३४–वृश्चिकासन ४२८
३५–वैनाशिक (क्षणिक विज्ञानवादी) २१७, २२०
३६–वैराग्य १६५, १६६, १६८–१७१
३७–वैशारद्य २६०
३८–व्यान २२५, २२६, ५३०
३९–व्याधि २१
४०–व्यतिरेक संज्ञा वैराग्य १६९
४१–व्युत्थान ४८१, ४८२

(श)

१–शब्दप्रमाण १५८
२–शवासन ४२६
३–शलभासन ४०७, ४३१
४–शक्तिचालनी मुद्रा ४२०
५–शाम्भवी मुद्रा ४२१
६–शीतकारी प्राणायाम ४४३
७–शीतली प्राणायाम ४४२
८–शीर्षासन ४२१, ४३१
९–शीर्षपादासन ४२३, ४३१
१०–शेषवत् अनुमानप्रमाण १५८
११–शौच ३८०, ३८२
१२–श्रद्धा १६८, १९३, १९४
१३–श्रुत-प्रज्ञा २६३
१४–श्वास २१६, ४३५, ४३६

(स)

१–सत्य ३६३–३६७, ३७१–३७८, ४११
२–सत्त्वगुण १५०, १५१, २५१
३–सत्त्वपुरुष-अन्यता-ख्याति ५४२
४–सद्यो मुक्ति ५३४
५–सन वाथ ३८९
६–संतोष ३८०, ३८१
७–संकल्प-शक्ति ३९२, ४०२–४०८
८–संग्रहणी (ओषधि) ४५८
९–संख्या परिदृष्ट ४३७, ४३७
१०–सञ्जीवनीबटी (नुस्खा) ४५७
११–संस्कार २६३–२६५
१२–संस्कारशेष १७८, १७९, २६५
१३–संस्कारदुःख २९५, २९६
१४–संशय २१५
१५–संयोग २९८–३०२, ३३४–३४४
१६–संयम ४७५–४७८
१७–सफेद कोढ़-नाशक ओषधि ४६४
१८–सबीज समाधि २६०
१९–समाधि १४०, १९६, २६०, २७८, ४१४ ४७४
२०–समाधिस्थ २६८, २६९

पृष्ठ

२१-सम्प्रज्ञात समाधि १४०, १४७, १४९, १६१, १७७, २१२
२२-सम्प्रसारण-भू-नमनासन ४२२, ४३१
२३-समान (प्राण) २२५, २२६, ५३०
२४-समापत्ति ... २५२-२५८
२५-समासन .. ४१५
२६-सम्मोहन-शक्ति ३९२, ३९३, ४००
२७-संवेग १९५, १९६
२८-सर्वाङ्गासन ४२५, ४२६, ४३१
२९-सर्वज्ञ बीज २००
३०-सर्वज्ञातृत्वम् ५४३-५४५
३१-सर्वभावाधिष्ठातृत्वम् ... ५४३
३२-सर्वभूतरुतज्ञान .. ५०४
३३-सविचार समापत्ति २४६, २४७
३४-सवितर्क समापत्ति २५३, २५४
३५-सहस्रार चक्र ... २३८
३६-सहित कुम्भक .. ४४६
३७-साधन पाद ... २७२
३८-साधारण ... ३३४
३९-साधारणसहित कुम्भक ४४०, ४४१
४०-साम्य परिणाम १५०, १५२, १५३
४१-सामान्यतोदृष्ट ... १५८
४२-सिट्ज बाथ ... ३८८
४३-सिद्धासन ... ४१५-४१६
४४-सिंहासन .. ४२८
४५-सुप्तवज्रासन ... ४२८
४६-सुषुम्ना नाड़ी २२७-२३१, २३३
४७-सुषुप्ति-अवस्था १६३, २१३
४८-सूचनाएँ ... ३९६
४९-सूर्यचिकित्सा ३८९, ३९०
५०-सूर्यप्रभा वटी . ४६१
५१-सूर्यभेदी प्राणायाम ४३९, ४४१, ४४२
५२-सूर्यभेदी व्यायाम .. ४३२
५३-सूक्ष्म विषय २५७, २५८
५४-सूक्ष्म शरीर २०८, २११, २१२
५५-सोते समय पेशाब निकल जाना (ओषधि) ... ४६१
५६-स्टीम बाथ . ३८८
५७-स्तम्भ वृत्ति ... ४३६
५८-स्त्यान .. २१५
५९-स्थूल भूत . १५२
६०-स्थूल शरीर २०८, २११, २१२
६१-स्थितप्रज्ञ २६८-२७०
६२-स्थिति १६६, २१६
६३-स्नायु-संचालनासन ४२५
६४-स्फोटवाद ५०५, ५१३
६५-स्मृति १६३, १९३, २५४, २५५, ५३९
६६-स्मृति वृत्ति .. १६४
६७-स्वप्न-अवस्था १६५, २११
६८-स्वप्न-निद्रा-ज्ञानालम्बन .. २५०, २५१
६९-स्वरसाधन २२८-२३१
७०-स्वः लोक .. ५२२, ५२३
७१-स्वबुद्धि संवेदन . ५७५
७२-स्वाधिष्ठान चक्र . २३४
७३-स्वरूपावस्थिति १५३, २६५, २६७
७४-स्वरूप-उपलब्धि ३३५, ३३८
७५-स्वरूपस्थिति २६५, २६७
७६-स्वशक्ति ... ३३५
७७-स्वामीशक्ति .. ३३५
७८-स्वाध्याय २७२, ३८१, ४१४
७९-स्वस्तिकासन . ४१५

(ह)

१-हस्तपादाङ्गुष्ठासन .. ४३०
२-हान .. ३४४
३-हानोपाय .. ३४५
४-हिप बाथ .. ३८८
५-हिंसा ४०९, ४१०
६-हिरण्यगर्भ १४१, १४२, २०९, २१०, २१३
७-हेय २९६
८-हेयहेतु . २९८
९-हैजा (ओषधि) ... ४५८
१०-हृदयस्तम्भासन ४२३, ४३१

(क्ष)

१-क्षणक्रम ... ५४६
२-क्षिप्तावस्था १४०, १४९, १५०
३-क्षेत्र ... २८०

(ज्ञ)

१-ज्ञानदीप्ति ... ३४९

विषयसूची

विषय	पृष्ठ
षड्दर्शनसमन्वय	
(१) पहला प्रकरण—	
१–वेद–मूलमन्त्रोंकी ४ संहिताएँ। ब्राह्मण ग्रन्थ। उपनिषद्। दर्शन—प्राणिमात्र की दुःखनिवृत्तिकी ओर प्रवृत्ति	१
२–दर्शनोंके ४ प्रतिपाद्य विषय—हेय, हेयहेतु, हान, हान-उपाय। तीन मुख्य तत्त्व (१) चेतनतत्त्व पुरुष (जीव), (२) जडतत्त्व प्रकृति, (३) चेतन-तत्त्व पुरुषविशेष (ईश्वर)	२
३–षड्दर्शन—वेदोंके छः अङ्ग और छः उपाङ्ग	३
(२) दूसरा प्रकरण—	
१–पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा। कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड मीमांसाके अर्थ	४
२–पूर्वमीमांसायज्ञ, महायज्ञ। वेदके ५ प्रकारके विषय	५
३–स्वर्गकामो यजेत। श्रीमद्भगवद्गीता-में यज्ञका वर्णन	५
४–'मीमांसामें तीसरे चेतन तत्त्व ईश्वर-को ही व्यष्टिरूपसे प्रत्येक यज्ञका अधिष्ठातृदेव मानकर विशेष यज्ञोंमें उपासना' इसमें प्रमाण	६
५–हान-उपाय, हान	७
६–जैमिनि मुनि, औडुलोमि आचार्य तथा व्यासजीका मुक्तिविषयक मत। जैमिनि ईश्वरवादी थे–इसमें प्रमाण	८
७–पूर्वमीमांसामें पशु मास-बलिका निषेध	८
८–उत्तरमीमांसा—उत्तरमीमांसाके चारों अध्यायोंका संक्षिप्त वर्णन	९
९–अधिकरण, अधिकरणोंके विषय। हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय	१०
१०–द्वैताद्वैत सिद्धान्तके भेद। परिणाम-वाद और विवर्त्तवाद ...	१०
११–द्वैताद्वैत सिद्धान्तके भेदमें अविरोध	१२
१२–हान, हानोपाय ...	१२
१३–वेदान्तकी चतुःसूत्री। ब्रह्मका शुद्ध और शबल स्वरूप, शबल स्वरूपके ३ भेद—विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर ...	१३
१४–व्यष्टि और समष्टिरूपसे ब्रह्मकी उपासना। अन्यादेश, अहंकार देश, आत्मादेश। उपलक्षणसे ब्रह्मका वर्णन	१४
१५–चेतन तत्त्वका शुद्ध स्वरूप	१५
१६–ब्रह्मसूत्रोंमें योगसाधनकी शिक्षा	१८
१७–दोनों मीमांसाओंके ग्रन्थकार आचार्यों-का समय और उनसे पूर्व आचार्यों-के नाम ...	१९
१८–वेदान्तपर भाष्यकार आचार्योंके नवीन सम्प्रदाय ...	२०
१९–ब्रह्मसूत्रपर भाष्यकार श्रीस्वामी शंकराचार्यका अद्वैतसिद्धान्त ..	२१
२०–सांख्ययोगका द्वैतसिद्धान्त	२२
२१–शांकरके निर्विशेष अद्वैतसिद्धान्त और सांख्ययोगके द्वैत-सिद्धान्तमें तुलना ...	२४
२२–ब्रह्मसूत्रके भाष्यकार श्रीरामानुजाचार्य-का विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त ..	२६
२३–ब्रह्मसूत्रके भाष्यकार श्रीमध्वाचार्य-का द्वैतसिद्धान्त ...	२६
२४–श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वतीका द्वैत-सिद्धान्त	२६
२५–ब्रह्मसूत्रके भाष्यकार श्रीवल्लभाचार्य-का शुद्धाद्वैत सिद्धान्त। ब्रह्मसूत्रके भाष्यकार श्रीनिम्बार्काचार्यका द्वैताद्वैत-सिद्धान्त। ब्रह्मसूत्रोंमें अन्य वैदिक दर्शनोंका खण्डन नहीं है ..	२८
२६–"जन्माद्यस्य यतः" के तीन प्रकारसे अर्थ—जड अद्वैतवाद, चेतन अद्वैत-वाद और चेतन जड अर्थात् आत्म-अनात्म-द्वैतवाद ...	२९
२७–"ईक्षतेर्नाशब्दम्" (ब्रह्म सू० अ० १। १। ५) का स्पष्टीकरण ...	३३

विषय	पृष्ठ
२८-"आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च" (ब्र० सू० १।४।१) और "सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्" (ब्र० सू० १।४।२) की व्याख्या ...	३८
२९-"तदधीनत्वादर्थवत्" (ब्र० सू० १।४।३)। "ज्ञेयत्वावचनाच्च" (ब्र० सू० १।४।४)। "वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात्" (ब्र० सू० १।४।५) "त्रयाणामेव चैवमुपन्यासःप्रश्नश्च" (ब्र० सू० १।४।६) की व्याख्या ...	३९
३०-"महद्वच्च" (ब्र० सू० १।४।७)। "चमसवदविशेषात्" (ब्र० सू० १।४।८)। "ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके" (ब्र० सू० १।४।९) "कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः" (ब्र० सू० १।४।१०)	४०
३१-"न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च" (ब्र० सू० १।४।११)। "प्राणादयो वाक्यशेषात्" (ब्र० सू० १।४।१२)	४१
३२-"ज्योतिरैक्षामण्यमाम्नन्ते" (ब्र० सू० १।४।१३)। "रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्" (ब्र० सू० २।२।१)। "प्रवृत्तेश्च" (ब्र० सू० २।२।२)। पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि" (ब्र० सू० २।२।३) ...	४२
३३-"व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात्" (ब्र० सू० २।२।४)। "अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत्" (ब्र० सू० २।२।५।)। "अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात्" (ब्र० सू० २।२।६)। "पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि" (ब्र० सू० २।२।७)। "अङ्गित्वानुपपत्तेश्च" (ब्र० सू० २।२।८)। "अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात्" (ब्र० सू० २।२।९)। "विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम्" (ब्र० सू० २।२।१०)	४३
३४-"स्मृत्यनवकाशदोषप्रसंग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगात्" (ब्र० सू० २।१।।)	४४
३५-"इतरेषाञ्चानुपलब्धेः। (ब्र० सू० २।१।२)। एतेन योगः प्रत्युक्तः" (ब्र० सू० २।१।३)	४५
(३) तीसरा प्रकरण--	
१-न्यायवैशेषिक दर्शन। वैशेषिक दर्शन। वैशेषिकका अर्थ, वैशेषिक सूत्रोंकी संख्या ...	४६
२-वैशेषिकके नौ द्रव्य, उनके सुबोध लक्षण तथा अवान्तरभेद ...	४७
३-वैशेषिकके चौबीस गुण ..	४९
४-बुद्धिसम्बन्धी न्याय-वैशेषिकका सांख्य-योगके साथ समन्वय .	५१
५-अविवेकी पुरुषोंद्वारा न्याय-वैशेषिक-पर बुद्धिसे अलग आत्माको एक जड़ द्रव्य माननेके आक्षेपका निवारण	५१
६-कर्म--कर्मके पाँच भेद, ...	५२
७-सामान्य, सामान्यके भेद-व्याख्या और लक्षणसहित-विशेषका विस्तृत व्याख्यासहित लक्षण ...	५३
८-समवायका व्याख्यासहित लक्षण। अभाव पदार्थ--प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव ...	५४
९-न्याय-दर्शन। न्यायका स्वरूप--न्यायके चार प्रमाण-प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमान-प्रमाण, उपमान-प्रमाण और आगम-प्रमाण। इनका विस्तृत वर्णन। न्यायके सोलह पदार्थ जिनके द्वारा तत्त्व-ज्ञानसे निःश्रेयस् होता है। प्रत्येकका विस्तृत स्वरूप (लक्षण) ..	५४
१०-अनुमान-प्रमाण--उसके तीन भेद-पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ...	५५
११-न्यायके सोलह पदार्थ, जिनके न्याय-द्वारा तत्त्वज्ञानसे निःश्रेयस् होता है। प्रत्येकका विस्तृत स्वरूप (लक्षण)	५६

विषय	पृष्ठ
१२–वैशेषिकके नौ द्रव्यों और न्यायके सोलह पदार्थोंमेंसे बारह प्रमेयमें समानता। बारह प्रमेयोंका लक्षण	५९
१३–इन दोनों दर्शनोंके अनुसार नित्य और अनित्य पदार्थ। इन दोनों दर्शनोंका आस्तिक सिद्ध होना और परमात्मतत्त्वको अलग न वर्णन करनेका कारण	६०
१४–मुक्तिके स्वरूपका वर्णन ...	६१
१५–मुक्ति और कैवल्यका स्वरूप। कार्य-कारण—तीन प्रकारके कारण	६२
१६–न्यायवैशेषिकका सिद्धान्त। उसकी सांख्य और योगके सिद्धान्तमें समानता। विभु-अणु और मध्यम परिमाण। इन दोनों दर्शनोंका आस्तिक सिद्ध होना तथा ईश्वरके वर्णन न करनेके कारण। ईश्वर-सिद्धि ...	६३
१७–आत्माको जडतत्त्वसे भिन्न दिखलानेवाले चिह्न। आत्मामें बुद्धिको सम्मिलित करके उसके शबल स्वरूपके अस्तित्वके सिद्ध करनेका कारण। इन दोनों दर्शनोंका सांख्ययोगके साथ समन्वय ...	६४
१८–"विभवान् महानाकाशस्तथा आत्मा" इस वैशेषिक सूत्रका उपनिषद् और गीताके साथ समन्वय	६५
१९–वैशेषिक और न्यायमें योग-साधनकी शिक्षा। इन दोनों दर्शनोंमें अतीन्द्रिय पदार्थोंको जाननेके लिये योगका सहारा बतलाना तथा योग-साधनका उपदेश। ...	६६
(४) चौथा प्रकरण—	
१–सांख्य और योगदर्शन–सांख्य और योगके निष्ठाओंकी परम्परा श्रुतियों और स्मृतियोंके प्रमाणद्वारा ...	६७
२–सांख्य और योगकी निष्ठाओंमें तुलना, योगद्वारा अन्तर्मुख होना, सांख्यद्वारा अन्तर्मुख होना, योगमें उत्तम अधिकारियोंके लिये असम्प्रज्ञात समाधि-लाभका विशेष उपाय 'ईश्वर-प्रणिधान' ...	६८

विषय	पृष्ठ
३–सांख्यमें उत्तम अधिकारियोंके लिये असम्प्रज्ञात समाधि-लाभका विशेष उपाय 'ध्यानं निर्विषयं मनः'। कार्यक्षेत्रमें सांख्य और योगका व्यवहार	६९
४–योगियोंका कार्यक्षेत्रमें व्यवहार, सांख्ययोगियोंका कार्यक्षेत्रमें व्यवहार	७०
५–सांख्य और योगकी उपासना–योगद्वारा उपासना 'अन्य आदेश' अर्थात् प्रथम और मध्यम पुरुषद्वारा सांख्यद्वारा उपासना—'अहंकारादेश और आत्मादेश' अर्थात् उत्तम पुरुष और आत्मा-द्वारा ...	७१
६–सांख्य-दर्शन–	७३
७ सांख्यप्रवर्तक कपिलमुनि सांख्यके प्रसिद्ध प्राचीन आचार्य ...	७४
८–सांख्यके मुख्य ग्रन्थ—कपिल मुनिप्रणीत तत्त्वसमास, पञ्चशिखाचार्यके सूत्र, वार्षगण्याचार्यप्रणीत षष्टितन्त्र, सांख्यसप्तति	७५
९–सांख्य-सूत्र	७६
१०–श्वेताश्वतर उपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीता, कपिलमुनिप्रणीत तत्त्वसमासके सूत्रोंकी विस्तृत व्याख्या, 'अथातस्तत्त्वसमासः' की व्याख्या, जड़-तत्त्व ...	७७
११–'अष्टौ प्रकृतयः' ॥ २ ॥ 'षोडश विकाराः' ॥ ३ ॥ की व्याख्या, आठ प्रकृतियाँ, सोलह विकृतियाँ ...	७८
१२–चेतनतत्त्व, 'पुरुषः' ॥ ४ ॥ की व्याख्या	७९
१३–पुरुष शब्द तीन अर्थोंमें जीव, ईश्वर और शुद्ध चेतन तत्त्व ...	७९
१४–प्रकृतिके तीन गुण, 'त्रैगुण्यम्' ॥ ५ ॥ की विस्तृत व्याख्या ...	८५
१५–सृष्टि और प्रलयका क्रम, 'संचरः प्रतिसंचरः' ॥ ६ ॥ की विस्तृत व्याख्या	८९
१६–सृष्टिके तीन भेद—'अध्यात्ममधिभूतमधिदैवं च' ॥ ७ ॥ की विस्तृत व्याख्या	९०

विषय	पृष्ठ
१७-पाँच वृत्तियाँ—'पञ्चाभिवुद्धयः' ॥ ८ ॥ की विस्तृत व्याख्या। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—'पञ्चदग्योनयः' ॥ ९ ॥	९१
१८-पाँच प्राण—'पञ्च वायवः' ॥ १० ॥ की विस्तृत व्याख्या। पाँच कर्मेन्द्रियाँ—'पञ्च कर्मात्मानः' ॥ ११ ॥ पाँच गाँठवाली अविद्या—'पञ्चपर्वा अविद्या' ॥ १२ ॥	९२
१९-अट्ठाईस अशक्तियाँ—'अष्टाविंशतिधाऽशक्तिः' ॥ १३ ॥ की व्याख्या। नौ तुष्टियाँ—'नवधा तुष्टिः' ॥ १४ ॥ की व्याख्या ..	९३
२०-आठ सिद्धियाँ-'अष्टधा सिद्धिः' ॥ १५ ॥ की व्याख्या	९४
२१-दश मूल धर्म—'दश मौलिकार्थाः' ॥ १६ ॥ ...	९६
२२-सृष्टिका रूप-'अनुग्रहः सर्गः' ॥ १७ ॥	९७
२३-चौदह प्रकारकी प्राणिसृष्टि 'चतुर्दशविधो भूतसर्गः' ॥ १८ ॥	९७
२४-वन्ध और मोक्षके तीन प्रकार—'त्रिविधो बन्धः' ॥ १९ ॥ 'त्रिविधो मोक्षः' ॥ २० ॥	१००
२५-तीन प्रकारके प्रमाण—'त्रिविधं प्रमाणम्' ॥ २१ ॥	१०७
२६-दर्शनोंके चार प्रतिपाद्य विषयोंपर सांख्यके मुख्य सिद्धान्त। दो मुख्य तत्त्व—जड़ और चेतन .	१०८
२७-जड़ तत्त्वके चौबीस विभाग करके सांख्यके सब पचीस तत्त्व। चौबीस जड़ तत्त्व। मूल प्रकृति केवल प्रकृति अविकृति, सात प्रकृति—विकृति, सोलह केवल विकृति अप्रकृतिः पचीसवाँ चेतन पुरुष—अप्रकृति अविकृति (न प्रकृति न विकृति) .	१०८
२८-सृष्टिक्रम। न्याय वैशेषिक तथा सांख्य और योगके सिद्धान्तमें तुलना .	१०९
२९-गुणोंका स्वरूप, गुणोंकी सामर्थ्य, गुणोंका काम	११०
३०-गुणोंके धर्म। गुणोंका परिणाम ..	१११
३१-सृष्टि-उत्पत्ति	११२
३२-पुरुषका वहुत्व—पुरुषमें वहुत्व केवल अस्मिताकी अपेक्षासे होना। स्वरूपस्थिति अथवा कैवल्यकी अवस्थामें बुद्धिका संयोग न रहनेपर सुख-दुःख क्रिया आदिके सदृश वहुत्व (संख्या) का भी अभाव हो जाना ..	११२
३३-पुरुष—वन्ध और मोक्ष .	११४
३४-सांख्यदर्शनमें पुरुषका वहुत्व .	११५
३५-सांख्य और ईश्वरवाद। साम्प्रदायिक पक्षपातियोंद्वारा कपिल मुनिपर नास्तिकता और उनके दर्शनपर अनीश्वरवादका दोषारोपण। उनकी शङ्काओंका समाधान। सांख्य और योग, न्याय और वैशेषिकका आस्तिक सिद्ध होना। इनका ईश्वरके विशेषरूपसे न वर्णन करनेका कारण	११७
३६-'ईश्वरासिद्धेः' का युक्ति और प्रमाणपूर्वक समाधान	११९
३७-कपिल मुनि आस्तिक थे—इसमें अन्य युक्तियाँ . .	१२२
३८-योगदर्शन। योगका महत्त्व ..	१२३
३९-योगका वास्तविक स्वरूप, योगके तीन अन्तर्विभाग—उपासना, कर्म और ज्ञान, उपासना, कर्म और ज्ञान—इन तीनो योगोंका अपना-अपना स्वतन्त्र स्वरूप . .	१२४
४०-तीनों योगोंके दो मुख्य भेद—सांख्य और योगनिष्ठा। रूपकद्वारा योगका स्वरूप .. .	१२७
४१-योगके आदि आचार्य—हिरण्यगर्भ। योगदर्शनके चार पाद।	१२८
४२-समाधिपाद-एकाग्रताका रहस्य, योगके अन्तर्गत मनको दो प्रकारसे रोकना।	१२९
४३-निरोध चेतन-स्वरूपका सर्वथा नाश हो जाना नहीं है, किंतु जड़ तत्त्वके अविवेकपूर्ण संयोगका सर्वथा हट जाना है। योग-	

विषय	पृष्ठ
दर्शनकी चतुःसूत्री । साधनपाद—सब दुःखोंके मूले कारण पाँच क्लेश	१३०
४४-हेय—त्याज्य दुःख, हेयहेतु—त्याज्य दुःखका कारण दृश्यका स्वरूप। द्रष्टाका स्वरूप । दृश्यका प्रयोजन	१३१
४५-योगके आठ अङ्ग । विभूतिपाद कैवल्यपाद । ...	१३३
४६-चित्तकी नौ अवस्थाओंका संक्षिप्त वर्णन ...	१३५
४७-पतञ्जलि मुनिका परिचय ...	१३६
४८-योगदर्शनपर भाष्य तथा वृत्ति आदि	१३८
४९-'षड्दर्शन-सदुपयोग-समन्वय-सूत्र' अर्थसहित ...	१३९

पातञ्जलयोगप्रदीप

(१) समाधिपाद

१-सूत्र १—योगके आरम्भकी प्रतिज्ञा । व्याख्या—अर्थ, योग और अनुशासन	१४०
२-विक्षेप विचार—अनुबन्धचतुष्टय—विषय, प्रयोजन, अधिकारी और सम्बन्ध; धात्वर्थ । योगकी प्राचीन परम्परा । अनुशासन ...	१४०
३-'हिरण्यगर्भ योगके आदि गुरु हैं' इसमें श्रुति और स्मृतियोंके प्रमाण	१४१
४-श्वेताश्वतर उपनिषद्में योगका उपदेश ...	१४२
५-कठ-उपनिषद्में योगका उपदेश	१४३
६-गीतामें योगका उपदेश ...	१४४
७-योगदर्शनकी विशेषता ...	१४५
८-योगके अवान्तर भेद और उन सबका पातञ्जलयोगदर्शनमें समावेश	१४६
९-सूत्र २—योगका लक्षण चित्तकी वृत्तियोंका निरोध । व्याख्या—योगका स्वरूप । चित्तवृत्तिनिरोध	१४७
१०-चित्तकी पाँच अवस्थाएँ—मूढावस्था, क्षिप्तावस्था, विक्षिप्तावस्था, एकाग्रावस्था ..	१४८
११-चित्तकी पाँच अवस्थाओंकी तालिका	१४९
१२-निरुद्धावस्था । विशेष विचार—चित्तके स्वरूप तथा सृष्टि-क्रमका विस्तारपूर्वक वर्णन । जड़तत्त्व मूल प्रकृति, गुणोंके साम्य परिणामका पुरुषके निष्प्रयोजन होना, उसका गुणोंके विषम परिणामोंके प्रत्यक्ष होनेसे अनुमानगम्य और आगमगम्य होना। जड़तत्त्व सक्रिय परिणामी नित्य और चेतन तत्त्व निष्क्रिय कूटस्थ नित्य, चेतन तत्त्वका शुद्ध स्वरूप जड़तत्त्वसे सर्वथा विलक्षण, उसकी संनिधिमात्रसे जड़तत्त्वमें ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रिया। समष्टि जड़तत्त्वके सम्बन्धसे चेतन तत्त्वके शबल स्वरूपकी संज्ञा पुरुषविशेष अर्थात् ईश्वर	१५०
१३-गुणोंका प्रथम विषम परिणाम महत्तत्त्व (समष्टि तथा व्यष्टि चित्त) —सत्त्वगुणमें रजोगुणका क्रियामात्र तथा तमोगुणका स्थितिमात्र विषम परिणाम सारी सृष्टिका कारण महत्तत्त्वका विषम परिणाम अहंकार—एकत्व, बहुत्व, व्यष्टि, समष्टि आदि सब प्रकारकी भिन्नता उत्पन्न करनेवाला । अहंकारका ग्रहण विषम परिणाम ग्यारह इन्द्रियाँ और ग्राह्य विषम परिणाम पाँच तन्मात्राएँ, पाँच तन्मात्राओंका विषम परिणाम पाँच स्थूल भूत ..	१५१
१४-पुरुष, उसका प्रयोजन भोग और अपवर्ग, गुणोंका साम्य परिणाम मूल प्रकृति तथा उनके विषम परिणाम सात प्रकृतियाँ अनादि, सोलह विकृतियाँ प्रवाहसे अनादि स्वरूपसे सादि। सत्त्वमें ज्ञानस्वरूप पुरुषसे प्रतिबिम्बित होनेसे पुरुषको ज्ञान दिलानेकी योग्यता और निष्क्रिय पुरुषको चित्तमें अपने प्रतिबिम्ब जैसे चेतनासे चित्तका तथा उसके सारे विषयोंका ज्ञान। अतः चित्त दृश्य और पुरुष	

विषय	पृष्ठ
द्रष्टा। समाधि, चित्तके सार्वभौम धर्म-का अविद्या आदि क्लेशोंके आवरणसे दबा रहना और वृत्तिरूप बाह्य परिणामोंका होते रहना	१५२
१५-सूत्र ३—वृत्तियोंके निरोध होनेपर द्रष्टाकी स्वरूपमें अवस्थिति।व्याख्या—वृत्तिनिरोध-अवस्थामें पुरुषका अपने स्वरूपसे निरोध नहीं होता, किंतु अपने उपाधिरहित स्वरूपमें अवस्थिति होती है	१५३
१६-सूत्र४—निरोधसे भिन्न व्युत्थान-अवस्थामे पुरुषकी वृत्तिसारूप्यता। व्याख्या—संनिधिमात्रसे उपकार-करणशील चित्तरूप दृश्यका दृश्य-स्वरूपसे पुरुषके साथ भोग-अपवर्ग-सम्पादनार्थ अनादि स्व-स्वामि-भाव-सम्बन्ध; शान्त, घोर आदि चित्तके धर्मोंका चिति (पुरुष) मे आरोप	१५४
१७-सूत्र ५—क्लिष्ट-अक्लिष्ट भेदवाली पाँच वृत्तियाँ। व्याख्या। सूत्र ६—पाँच वृत्तियोंके नाम प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति।	१५५
१८-सूत्र-प्रमाणवृत्तिके तीन भेद-प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम। व्याख्या—बोध, प्रमा, अप्रमा, प्रमाण। प्रमाका लक्षण—प्रमा और पौरुषेय ज्ञान=पुरुष-निष्ठज्ञान=यथार्थ अनु-भव==सत्य ज्ञान। प्रमाके करण, प्रमाण चित्तवृत्तिके तीन भेद-प्रत्यक्ष-प्रमाण, अनुमान-प्रमाण, आगम-प्रमाण। प्रमाणोंसे पुरुष ज्ञान (फल-प्रमा) के तीन भेद—प्रत्यक्षप्रमा, अनुमितिप्रमा, शाब्दीप्रमा। प्रत्यक्ष-प्रमाण या प्रत्यक्षप्रमा। अनुमान-प्रमाण या अनुमानप्रमा अर्थात् अनुमिति। आगमप्रमाण या आगम-प्रमा।	१५६
१९-विशेष वक्तव्य—विज्ञानभिक्षुके योग-वार्त्तिककी समालोचना करते हुए प्रत्यक्ष-प्रमाणके, प्रमाण, प्रमेय, प्रमा, प्रमाता और साक्षी भेदसे पाँच पदार्थका सिद्ध करना	१५७
२०-अनुमानप्रमाणके तीन भेद—पूर्व-वत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट। लिङ्ग-लिङ्गीका सम्बन्ध करानेवाला धर्म-व्याप्ति	१५८
२१-व्याप्ति-ज्ञान अनुमानका मूल प्रत्यक्ष। भ्रान्ति दोषके कारण। शब्द-प्रमाण आप्त पुरुष आचार्योंके वचन। उप-मान, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव, ऐतिह्य और संकेतका तीनों प्रमाणोंके अन्तर्गत होना।	१५८
२२-सूत्र ८—विपर्ययवृत्तिका वर्णन। व्याख्या—विपर्यय, मिथ्या-ज्ञान, अतद्रूपप्रतिष्ठम्। विपर्यय-प्रमाण-का भेद।	१५९
२३-संशय-विपर्ययके अन्तर्गत; विपर्यय-संज्ञक चित्तकी वृत्ति अविद्या। टिप्पणी—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेशोंके सांख्य-परिभाषामें क्रमशः राग, मोह, महा-मोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र नामान्तर	१६०
२४-विशेष वक्तव्य—विपर्यय-वृत्ति किस प्रकार अक्लिष्ट-रूप हो सकती है? इसका विवेचन।	१६०
२५-सूत्र ९—विकल्प-वृत्तिका वर्णन। व्याख्या—विकल्पमें प्रमाण और विपर्ययसे भिन्नता	१६१
२६-विज्ञानभिक्षुके अनुसार सूत्रका अर्थ।	१६२
२७-सूत्र१०—निद्रावृत्तिका वर्णन। व्याख्या—अभावका अर्थ। नशा, क्लोरोफार्म आदिसे उत्पन्न हुई मूर्छित अवस्था निद्रावृत्तिके अन्तर्गत	१६२
२८-विशेष विचार—सुषुप्ति और प्रलय-काल तथा असम्प्रज्ञात समाधि और कैवल्यमें भेद। वाचस्पति मिश्र-अनुसार सूत्रका अर्थ। सूत्र ११—स्मृतिवृत्तिका वर्णन। व्याख्या	१६३

Vaidic Library

विषय	पृष्ठ
२९–अनुभूत विषय, असम्प्रमोष, भावित स्मर्तव्य स्मृति, अभावित स्मर्तव्यस्मृति ...	१६४
३०–विशेष विचार-स्वप्न-अवस्था । स्वप्नके तीन भेद ..	१६५
३१–सूत्र १२—अभ्यास-वैराग्यद्वारा वृत्तियोंका निरोध । व्याख्या—अभ्यास-वैराग्यका सुन्दर रूपकद्वारा वर्णन ...	१६५
३२–गीतामें अभ्यास और वैराग्यका वर्णन । सूत्र १३—व्याख्या—स्थिति, अभ्यास । ...	१६६
३३–सूत्र १४—अभ्यासकी दृढ़ताके साधन । व्याख्या । ...	१६७
३४–विशेष विचार—तीन प्रकारकी श्रद्धा । सूत्र १५—वशीकार वैराग्यका लक्षण । व्याख्या—दृष्ट और आनुश्रविक विषय । आनुश्रविक विषयके दो भेद । ..	१६८
३५–किसी विषयका केवल त्यागना मात्र वैराग्य नहीं है । वैराग्यके चार भेद—यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार ।	१६९
३६–सूत्र १६—परवैराग्यका वर्णन । व्याख्या । विशेष विचार—गुणवैतृष्ण्यम् । ...	१७०
३७–सूत्र १७–सम्प्रज्ञात-समाधिका उसके चार अवान्तर भेदसहित स्वरूप-निरूपण । ..	१७१
३८–व्याख्या—भावना, भाव्य । वितर्कानुगत ग्राह्यसमाधि, विचार-अनुगत ग्राह्यसमाधि, आनन्दानुगत केवल ग्रहणरूपसमाधि, अस्मितानुगत गृहीतृरूप समाधि	१७२
३९–चतुष्टयानुगत, त्रितयानुगत, द्वयानुगत और एकानुगत सम्प्रज्ञात समाधि ।	१७३
४०–विशेष वक्तव्य—कोशोंद्वारा अभ्यास-की प्रणाली । सूत्रमें बतलायी हुई चारों भावनाओं तथा कोशोंद्वारा सम्प्रज्ञात समाधितक पहुँचनेकी प्रक्रियामें भेद । ...	१७४
४१–तालिका—सम्प्रज्ञात-समाधिके चार भेद । ..	१७५
४२–चिमनियोंके दृष्टान्तके साथ कोशोंका विस्तारपूर्वक वर्णन । कोशसम्बन्धी चित्र ।	१७७
४३–सूत्र १८—परवैराग्यजन्य असम्प्रज्ञात-समाधिका लक्षण । व्याख्या	१७८
४४–विशेष वक्तव्य—चारों भूमियोंके वास्तविक अनुभवका विस्तारपूर्वक वर्णन ...	१७९
४५–सूत्र–१९—भव-प्रत्यय विदेह और प्रकृतिलयोंका योग । व्याख्या ।	१८५
४६–गीतामें विदेह और प्रकृतिलय योगियोंका वर्णन ।	१८६
४७–विशेष वक्तव्य—विदेह और प्रकृतिलयोंका वास्तविक स्वरूप दिखलाने और सूत्रके यथार्थ अर्थको बतलानेके उद्देश्यसे इस सूत्रके व्यासभाष्यका भाषानुवाद तथा वाचस्पति मिश्रके तत्त्ववैशारदी और विज्ञानभिक्षुके योगवार्तिकका भाषानुवाद और उनपर समीक्षा	१८७
४८–सूत्र २०—विदेह और प्रकृतिलयोंसे भिन्न साधारण लोगोंके लिये असम्प्रज्ञात-समाधिका उपायसे प्राप्त करना । व्याख्या—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा	१९३
४९–विशेष विचार—श्रद्धा, वीर्य आदिसे किस प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि-प्राप्ति की जा सकती है ? ..	१९३
५०–संगति–उपाय प्रत्यय योगियोंके नौ भेद	१९४
५१–सूत्र २१—अधिमात्र उपाय तीव्र संवेगवान् योगियोंको शीघ्रतम समाधि-लाभ । व्याख्या — ..	१९५

विषय	पृष्ठ
५२-सूत्र २२—साधनोंकी प्रबलतासे समाधि-लाभमें विशेषता। व्याख्या	१९५
५३-सूत्र २३—ईश्वरप्रणिधानसे शीघ्रतम लाभ। व्याख्या— ...	१९६
५४-सूत्र २४-ईश्वरका स्वरूप-निरूपण, उसमें अन्य पुरुषोंसे विशेषता। व्याख्या—क्लेश, कर्म, विपाक, आशय, अपरामृष्ट ...	१९६
५५-(१) क्लेश, कर्म, विपाक आदि चित्तके धर्म हैं, पुरुष ईश्वरके समान निर्लेप होनेसे ईश्वरमें विशेषता मानना अयुक्त है, इस शङ्काका समाधान। (२) मुक्त और प्रकृतिलय आदि क्लेशोंसे सम्पर्क न रखनेके कारण ईश्वरके वाच्य हो सकते हैं, इस शङ्काका समाधान ...	१९७
५६-(३) पुरुषोंके उद्धारका सत्य-संकल्प-रूप ऐश्वर्य विना चित्तके नहीं हो सकता और सदा-मुक्त ईश्वरमें चित्तके साथ स्वस्वामिभाव-सम्बन्ध अयुक्त है, इस शङ्काका समाधान ...	१९८
५७-(४) यदि ईश्वरमें विशुद्ध सत्त्वमय चित्तके द्वारा सर्वोत्कृष्टतामें श्रुति-स्मृतिको प्रमाण माना जाय तो श्रुति-स्मृतिमें क्या प्रमाण है? इस शङ्काका समाधान। (५) यदि ईश्वरको न मानकर केवल प्रधान (मूल-प्रकृति) को ही पुरुषके भोग-अपवर्ग प्रयोजनके सम्पादनार्थ संसार-रचनामें प्रवृत्त माने तो क्या दोष है? इस शङ्काका समाधान। अन्य छोटी-छोटी शङ्काओंका समाधान ...	१९९
५८-विशेष विचार। सारांश ...	२००
५९-सूत्र २५—ईश्वरकी सर्वज्ञता अनुमान प्रमाणद्वारा। व्याख्या—सातिशय, निरतिशय, सर्वज्ञबीजम् ...	२००
६०-टिप्पणी—भोजवृत्तिका भावानुवाद	२०१
६१-सूत्र २६—ईश्वर आदि गुरु है। व्याख्या—विशेष वक्तव्य—	२०२
६२-गुरुमहिमा	२०३
६३-सूत्र २७—ईश्वरके वाचक ओ३म्-का वर्णन। व्याख्या— ...	२०३
६४-विशेष वक्तव्य— ...	२०५
६५-सूत्र २८—ईश्वर-प्रणिधानका लक्षण	२०७
६६-व्याख्या विशेष विचार—उपनिषदोंमें बतलायी हुई प्रणव-उपासना। जाग्रत्-अवस्था, स्वप्न-अवस्था अथवा सम्प्रज्ञात-समाधि, सुषुप्ति अथवा विवेक-ख्याति	२०८
६७-आत्मा तथा परमात्माका शुद्ध स्वरूप। शबल स्वरूपके तीन भेद	२०८
६८-ओ३म्के चार पाद और मात्राएँ। मात्राओंसे ओ३म्की उपासना ...	२०९
६९-उपनिषदोंमें परमात्माके शुद्ध स्वरूपका निषेधात्मकरूपसे वर्णन। विराम 'स्वरूपावस्थिति'में उपास्य-उपासक-भावकी निवृत्ति	२१०
७०-स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरका वर्णन	२११
७१-ओंकारका भावनामय चित्र	२१३
७२-सूत्र २९—ईश्वरप्रणिधानसे विशेष फल, प्रत्यक्-चेतनाका साक्षात्कार, अन्तरायोंका अभाव। व्याख्या—प्रत्यक् चेतना ...	२१४
७३-विशेष वक्तव्य ..	२१५
७४-सूत्र ३०—योगके नौ विघ्नोंका स्वरूप। व्याख्या—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति-दर्शन, अलब्ध-भूमिकत्व, अनवस्थितत्व	२१५
७५-सूत्र ३१—विक्षेपोंके साथकारी अन्य पाँच योगके प्रतिबन्धकोंका स्वरूप। व्याख्या—दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास, प्रश्वास। सूत्र ३२—विक्षेपों और उपविक्षेपोंको दूर करनेके लिये एकतत्त्वका अभ्यास। व्याख्या ...	२१६

विषय	पृष्ठ
७६–टिप्पणी-क्षणिक प्रत्ययमात्र प्रत्यय नियत चित्त नहीं है, किंतु अनेक पदार्थोंको विषय करनेवाला सब प्रत्ययोंका आश्रय एक स्थायी चित्त है। विशेष वक्तव्य—	२१७
७७–सूत्र ३३—चित्तको निर्मल करनेका उपाय। व्याख्या—रागकालुष्य, ईर्ष्या-कालुष्य, परापकार-चिकीर्षा-कालुष्य, असूया-कालुष्य, द्वेष-कालुष्य, आमर्ष-कालुष्य	२२०
७८–मैत्री-भावना, करुणा-भावना, मुदिता-भावना, उपेक्षा-भावना	२२१
७९–टिप्पणी—भोजवृत्ति आदि	२२२
८०–सूत्र ३४—निर्मल चित्तकी स्थितिका उपाय प्राणायाम व्याख्या—	२२२
८१–केवल प्रच्छर्दन और प्रच्छर्दन-विधारण प्रक्रियाएँ	२२३
८२–विशेष वक्तव्य—प्राणका वास्तविक स्वरूप। प्राणका महत्त्व	२२४
८३–रयि और प्राण, समष्टि प्राण	२२५
८४–कार्यभेदसे प्राणके दस नाम तथा उनका स्थान और कार्य	२२५
८५–सूक्ष्म प्राणका वर्णन। सुषुम्ना, इडा, पिंगला नाडियोंका वर्णन।	२२७
८६–स्वर और उनकी चाल	२२७
८७–स्वर-साधन—स्वर बदलनेकी क्रियाएँ	२२८
८८–तत्त्वोंका वर्णन। तत्त्व पहचाननेकी रीति। तत्त्व-साधन-विधि	२२९
८९–स्वर-सम्बन्धी तालिका	२३०
९०–तत्त्वसम्बन्धी तालिका	२३२
९१–पृथ्वी-तत्त्वका साधन। जल-तत्त्वका साधन। अग्नि-तत्त्वका साधन। वायु-तत्त्वका साधन। आकाश-तत्त्वका साधन। सुषुम्ना नाड़ी। सुषुम्नाके अन्तर्गत सूक्ष्म नाड़ियाँ। शक्तियोंके केन्द्र। सात मुख्य पद्म	२३३
९२–चक्रोंका वर्णन। —(१) मूलाधार चक्र।	२३४
९३–(२) स्वाधिष्ठान चक्र। —(३) मणिपूरक चक्र	२३५
९४–(४) अनाहत चक्र	२३६
९५–(५) विशुद्ध चक्र	२३६
९६–(६) आज्ञा चक्र	२३७
९७–(७) सहस्रार चक्र	२३८
९८–कुण्डलिनी शक्ति।	२४०
९९–कुण्डलिनी जाग्रत् करनेके उपाय। चक्र भेदन अर्थात् कुण्डलिनी योग	२४१
१००–कुण्डलिनी जाग्रत् करनेका एक अनुभूत साधन	२४२
१०१–साधकोंके लिये चेतावनी	२४३
१०२–सूत्र ३५—निर्मल चित्तकी स्थितिका दूसरा उपाय विषयवती प्रवृत्ति। व्याख्या—गन्ध प्रवृत्ति, रस प्रवृत्ति, रूप प्रवृत्ति, स्पर्श प्रवृत्ति और शब्द प्रवृत्ति	२४६
१०३–विशेष विचार। विषय प्रवृत्तियोंद्वारा वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि	२४७
१०४–सूत्र ३६—तीसरा उपाय 'विशोका वा ज्योतिष्मती'। व्याख्या।	२४९
१०५–सूत्र ३७—चौथा उपाय वीतराग विषय चित्त। सूत्र ३८—पाँचवाँ उपाय स्वप्न तथा निद्रा ज्ञानका आलम्बन।	२५०
१०६–सूत्र ३९—छठा उपाय यथाभिमत ध्यान।	२५२
१०७–सूत्र ४०—इन उपायोंका फल। सूत्र ४१—समाधिका स्वरूप और विषय।	२५२
१०८–सूत्र ४२—सवितर्कसंज्ञक स्थूल ग्राह्यसमापत्तिका लक्षण। व्याख्या—शब्द, अर्थ, ज्ञान, विकल्प।	२५३
१०९–पर—प्रत्यक्ष। सूत्र ४३—निर्वितर्क समापत्ति।	२५४
११०–व्याख्या—स्मृतिपरिशुद्धौ, स्वरूप-शून्य इव। विशेष विचार। टिप्पणी।	२५५
१११–सूत्र ४४—सविचार और निर्विचार समापत्ति। व्याख्या।	२५६

Vaidic Library

विषय	पृष्ठ
११२-टिप्पणी—ध्यान, सवितर्क तथा निर्विचार समापत्ति और समाधिमें भेद सूत्र ४५—सूक्ष्म विषयकी अवधि। व्याख्या टिप्पणी ..	२५७
११३-विशेष वक्तव्य सूत्र ४५-अलिङ्ग मूल प्रकृति योगीके संयमका विषय नहीं बन सकती। ..	२५८
११४-सूत्र-४६—सबीज समाधिका स्वरूप। व्याख्या। सबीज समाधिके छः भेद। विशेष वक्तव्य—सबीज समाधिके अवान्तर भेदोंमें वाचस्पति मिश्र और विज्ञानभिक्षुका मत-भेद ..	२६०
११५-सूत्र ४७—निर्विचारकी निर्मलताका फल	२६१
११६-सूत्र ४८—ऋतम्भरा प्रज्ञाका वर्णन	२६२
११७-सूत्र ४९-ऋतम्भरा प्रज्ञा-जन्य प्रत्यक्षज्ञानकी श्रेष्ठता ...	२६३
११८-सूत्र ५०—ऋतम्भरा प्रज्ञाका फल	२६३
११९-सूत्र ५१—निर्बीज समाधिका वर्णन। व्याख्या	२६४
१२०-विशेष विचार—निरोधपरिणाम	२६५
१२१-श्रीमान् महात्मा हरिभजनका संक्षिप्त परिचय। उनके अनुभव ...	२६६
१२२-स्वरूप स्थिति प्राप्त किये हुए योगीके लक्षण। समाधिस्थित और स्थितप्रज्ञ	२६७
१२३-स्वरूपस्थितिको प्राप्त किये हुए दो प्रकारके योगियोंकी दो प्रकारकी मुक्ति। अवतार ...	२७०
१२४-समाधिपादका उपसंहार	२७१
(२) साधनपाद	
१-सूत्र १—क्रियायोगका स्वरूप। व्याख्या—तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान ...	२७२
२-विशेष वक्तव्य—तपकी व्याख्या—युक्ताहार (मिताहार)	२७४
३-युक्तविहार, युक्तकर्मचेष्टा, युक्त स्वप्नावबोध ..	२७५
४-वाणीका तप, मनका तप ...	२७६
५-स्वाध्याय—गायत्रीमन्त्रकी व्याख्या	२७७
६-सूत्र २—क्रियायोगका फल। व्याख्या-समाधि,भावना, क्लेश तनूकरण ..	२७८
७-सूत्र ३—क्लेशोंका स्वरूप। टिप्पणी-क्लेशोंके सांख्य-परिभाषामें नामान्तर	२७९
८-सूत्र ४—क्लेशोंका क्षेत्र और अवस्थाएँ। व्याख्या—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार क्लेश। दग्ध बीज क्लेश	२८०
९-विशेष वक्तव्य—विदेह और प्रकृतिलयोंके सम्बन्धमें भ्रान्तिजनक अर्थोंका निराकरण ...	२८१
१०-व्यासभाष्यका अर्थ ...	२८२
११-भोजवृत्तिका अर्थ ...	२८३
१२-सूत्र ५—अविद्याका स्वरूप। विशेष वक्तव्य—सत्त्व चित्तोंमें अविद्याका स्थान ...	२८३
१३-सूत्र ६—अस्मिताका स्वरूप। वि० व०	२८४
१४-सूत्र ७—रागका लक्षण। सूत्र ८—द्वेषका लक्षण। ...	२८५
१५-सूत्र ९—अभिनिवेशका लक्षण ...	२८६
१६-सूत्र १०—दग्धबीज क्लेशोंकी निवृत्ति	२८७
१७-सूत्र ११—तनुक्लेशोंके दूर करनेका उपाय	२८८
१८-सूत्र १२—क्लेश सकाम कर्मोंके कारण हैं, जिनकी वासनाएँ वर्तमान जन्म और जन्मान्तरोंमें फलती हैं।	२८९
१९-सूत्र १३—कर्माशयोंका फल जाति, आयु और भोग। व्याख्या—	२९०
२०-प्रधान कर्माशय, उपसर्जन कर्माशय, नियत विपाक, अनियत विपाक, अनियत विपाकवाले उपसर्जन कर्माशयोंकी तीन प्रकारकी गति। विशेष वक्तव्य—संचित कर्म, प्रारब्ध कर्म, क्रियमाण कर्म ...	२९१
२१-विकासवादियोंकी इस शङ्काका कि मनुष्यसे नीचे पशु आदि योनिमें जाना विकासवादके विरुद्ध है, समाधान	२९१
२२-सूत्र १४—जाति, आयु और भोगका फल, सुख-दुःख ..	२९३

विषय	पृष्ठ
२३-सूत्र १५—योगीकी दृष्टिमें विषय-सुख भी दुःख ही है। व्याख्या—	२९५
२४-परिणाम-दुःख, ताप-दुःख, संस्कार-दुःख, गुणवृत्ति-विरोध	२९५
२५-सूत्र १६—हेय (त्यागने योग्य) क्या है ? टिप्पणी—योगदर्शनके चार प्रतिपाद्य विषयोंकी बौद्ध धर्मके चार आर्य सत्यके साथ समानता ...	२९६
२६-सूत्र १७—हेय (दुःख) का हेतु क्या है ? ...	२९८
२७-टिप्पणी—व्यासभाष्य भाषार्थ ...	२९८
२८-विज्ञानभिक्षुके योगवार्तिकका भाषानुवाद	२९९
२९-सूत्र १८—दृश्यका स्वरूप और प्रयोजन। व्याख्या—गुणोंका धर्म	३०३
३०-गुणोंका कार्य, गुणोंका प्रयोजन, भोग, अपवर्ग। अनिष्ट भोग, इष्ट भोग, अपवर्ग ..	३०४
३१-टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद	३०५
३२-विज्ञानभिक्षुके योगवार्तिकका भाषानुवाद ..	३०६
३३-सूत्र १९—दृश्यकी अवस्थाएँ। व्याख्या—विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र, अलिङ्ग ..	३१२
३४-विशेष वक्तव्य—गुणपर्वाणि, जड़ तत्त्वके तीन विभाग प्रकृति-अविकृति, प्रकृति-विकृति, विकृति-अप्रकृति। सत्कार्यवादका सिद्धान्त ..	३१३
३५-टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद	३१४
३६-विज्ञानभिक्षुके योगवार्तिकका भाषानुवाद ..	३१५
३७-सूत्र २०—द्रष्टाका स्वरूप और उसका चित्तसे सम्बन्ध ..	३२५
३८-व्याख्या—दृशिमात्र, प्रत्ययानुपश्य	३२५
३९-टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषार्थ	३२६
४०-विज्ञानभिक्षुके वार्तिकका भाषानुवाद	३२७
४१-सूत्र २१—दृश्यके स्वरूपका प्रयोजन पुरुषके लिये है ...	३३२
४२-टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद। भोजवृत्तिका भाषार्थ	३३२
४३-सूत्र २२—एक पुरुषका प्रयोजन साधकर भी दृश्य अपने स्वरूपसे नष्ट नहीं होता, किंतु दूसरोंका प्रयोजन साधनेमें लगा रहता है। टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद, भोजवृत्तिका भाषार्थ ...	३३३
४४-सूत्र २३—द्रष्टा और दृश्यके संयोगके वियोगका कारण स्वशक्ति और स्वामिशक्तिके स्वरूपकी उपलब्धि ...	३३४
४५-टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद	३३६
४६-भोजवृत्तिका भाषार्थ। विज्ञानभिक्षुके वार्तिकका भाषानुवाद ...	३३७
४७-सूत्र २४—अदर्शनरूपी संयोगका कारण अविद्या ...	३४१
४८-टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद	३४२
४९-भोजवृत्तिका भाषार्थ। विज्ञानभिक्षुके वार्त्तिकका भाषानुवाद ..	३४३
५०-सूत्र २५—हानका लक्षण और स्वरूप	३४४
५१-सूत्र २६—हानका उपाय। व्याख्या—विप्लवसहित विवेकख्याति, विप्लवरहित अर्थात् अविप्लव विवेकख्याति ..	३४५
५२-टिप्पणी—व्यासभाष्यका भावार्थ। विज्ञानभिक्षुके वार्तिकका भाषानुवाद	३४६
५३-बौद्धदर्शन—बौद्धधर्ममें 'हान' के स्थानमें 'तृतीय आर्य सत्य' 'दुःख-निरोध' (निर्वाण) ..	३४७
५४-सूत्र २७—अविप्लव विवेक-ख्याति-वाले योगीकी कृतकृत्यता (सात प्रकारकी प्रज्ञा)। व्याख्या—कार्य-विमुक्ति प्रज्ञा अर्थात् हेयशून्य अवस्था, हेयहेतु-क्षीण-अवस्था, प्राप्यप्राप्त-अवस्था और चिकीर्षाशून्यअवस्था चित्तविमुक्ति प्रज्ञा, गुणलीनता	३४८
५५-आत्मस्थिति। सूत्र २८—विवेकख्याति-का साधन योग-अङ्गोंका अनुष्ठान। व्याख्या। टिप्पणी—कारणके नौ भेद	३४९
५६-सूत्र २९—योगके आठ अङ्गोंका वर्णन	३५०
५७-विशेष वक्तव्य—बहिर्मुखता और अन्तर्मुखता अर्थात् अवरोह और आरोहका क्रम ..	३५१

विषय	पृष्ठ
५८-टिप्पणी—बौद्धदर्शन—'अष्टाङ्ग योग' की बौद्धधर्मके 'अष्टाङ्गिक मार्ग' के साथ समानता	३५२
५९-अष्टाङ्गिक मार्गका विशिष्ट रूप	३५३
६०-जैनधर्ममें पाँचों यमोंको पाँच महाव्रतके नामसे व्याख्या	३५७
६१-सूत्र ३०—यमोंका वर्णन। व्याख्या—अहिंसा	३६३
६२-सत्य	३६५
६३-अस्तेय। ब्रह्मचर्य। अपरिग्रह	३६५
६४-सूत्र ३१—यमोंके पालनकी सबसे ऊँची अवस्था।	३६८
६५-विशेष विचार यमोंका व्यापक स्वरूप अहिंसा। तीन प्रकारकी हिंसा	३६९
६६-सत्य	३७१
६७-राष्ट्रकी सारी परिस्थितियोंको ध्यानमें रखते हुए योगीश्वर श्रीकृष्ण भगवान्का सत्य भाषणका उपदेश (महाभारत कर्णपर्व अध्याय ६९)	३७२
६८-अस्तेयका व्यापक स्वरूप	३७८
६९-ब्रह्मचर्य। अपरिग्रहका व्यापक स्वरूप। सूत्र ३२—वैयक्तिक धर्मरूप नियमोंका वर्णन। व्याख्या—शौच	३८०
७०-संतोष	३८०
७१-तप स्वाध्याय। ईश्वरप्रणिधान। विशेष वक्तव्य। हठयोगकी छः क्रियाओंद्वारा शरीरशोधन। धौति-धौतिके तीन भेद	३८१
७२-घेरण्डसंहिताके अनुसार धौतिके चार भेद	३८३
७३-वस्ति। घेरण्डसंहिताके अनुसार वस्तिके दो भेद	३८६
७४-नेति-नेतिके दो भेद। नौली। नौलीके तीन भाग। त्राटक—	३८६
७५-त्राटकके तीन भेद। कपालभाति। घेरण्डसंहिताके अनुसार कपालभातिके तीन भेद	३८७
७६-प्राकृतिक नियमोंद्वारा शरीरशोधन अर्थात् बिना औषध रोग दूर करनेके उपाय। प्राकृतिक जीवन, खान-पान आदिके नियम	३८८
७७-स्वास्थ्य सुधारने, फेफड़ों, पसली, छाती आदिके रोगोंके दूर करनेके लिये प्राणायाम। जल-चिकित्सा-हिप बाथ, सन बाथ, स्टीम बाथ, सिट्ज बाथ	३८८
७८-शौच साफ लाने, ऑव निकालने व फोड़े-फुन्सी आदिके दूर करनेके उपाय। सूर्यविज्ञान—सूर्यचिकित्सा। विशेष-विशेष रंगोंका सूर्यकी किरणोंद्वारा रुग्ण शरीरमें लाभ पहुँचानेके उपाय	३८९
७९-रंगोंका प्रयोग—किस-किस रोगमें कौन-कौनसे रंगोंका प्रयोग	३९०
८०-अन्य प्राकृतिक चिकित्साएँ—ज्वर आदि, सिरका दर्द, सिरका चक्कर, बादीका बुखार, कोष्ठबद्ध, दन्तरोग, चक्षुरोग, रक्तविकार तथा मस्तिष्कके कार्यसे थकावट, नींद न आने आदिकी अवस्थामें उपयोगी क्रियाएँ	३९१
८१-सम्मोहन-शक्ति और संकल्प-शक्तिद्वारा शरीरशोधन। सम्मोहनशक्ति, उसका मुख्य स्थान और प्रयोग	३९२
८२-सम्मोहन-शक्तिके विकास करनेके नियम। सम्मोहन-शक्तिके ह्रासके कारण। आकर्षण-शक्तिको बढ़ानेके साधन। मनको एकाग्र करनेका अभ्यास। शरीरकी आन्तरिक क्रियाओं तथा रक्त-प्रवाहिनी नाड़ियोंके वशीकार करनेका अभ्यास	३९३
८३-त्राटकका अभ्यास। प्राणायामका अभ्यास। आरोग्यता और स्वास्थ्यकी दृढ़ भावना। इष्ट (अच्छी) प्रकृतियोंका ग्रहण और अनिष्ट (बुरी) प्रकृतियोंका परित्याग	३९४
८४-आकर्षणशक्तिका प्रयोग। सूचनाएँ अर्थात् आदेश (Suggestions)। मार्जन क्रिया (Passes) के प्रयोग करनेकी विधि	३९६

विषय	पृष्ठ
८५-झाटक और फूँक। दूर बैठे रोगीका इलाज (Post Hypnotism) ···	३९८
८६-अपने रोगका स्वयं इलाज करना। दूसरोंकी पीड़ाओंको वशमें खींचना। कृत्रिम निद्रा (Hypnosis)-कृत्रिम निद्रा उत्पन्न करनेकी कई सरल विधियाँ ·	३९८
८७-कृत्रिम निद्राद्वारा रोगनिवारण	३९९
८८-कृत्रिम निद्राकी अवस्थाएँ Ceairvoyance- Spiritualism	४००
८९-Telepathy संकल्पशक्ति (Will power) । वेदोंमें संकल्प-शक्ति-सम्बन्धी मन्त्र	४०१
९०-प्राणिमात्रकी भलाईकी प्रार्थना। वेदोंमें निर्भयताकी प्रार्थना। वेदोंमें संसारके कल्याण और शान्तिकी प्रार्थना ··	४०४
९१-आत्मविश्वास और आस्तिकता। सूत्र ३३—यम तथा नियमोंके पालनमें विघ्नोंके रोकनेका उपाय	४०८
९२-व्याख्या-प्रतिपक्ष-भावना। व्यास-भाष्य-अनुसार प्रतिपक्ष-भावना। सूत्र ३४—वितर्कोंके स्वरूप, उनके भेद और उनके फलसहित प्रतिपक्ष-भावना। टिप्पणी-भोजवृत्ति ··	४०९
९३-सूत्र ३५—अहिंसामें सिद्धिका फल।	४१०
९४-सूत्र ३६-सत्यमें सिद्धिका फल।	४११
९५-सूत्र ३७-अस्तेयमें सिद्धिका फल सूत्र ३८-ब्रह्मचर्यसिद्धिका फल। सूत्र३९-अपरिग्रहसिद्धिका फल। नियमोंकी सिद्धिके फल	४१२
९६-सूत्र ४०-शौचसिद्धिका फल। सूत्र४१-आभ्यन्तर शौचसिद्धिका फल। सूत्र ४२-सन्तोषका फल	४१३
९७-सूत्र ४३—तपका फल। सूत्र ४४—स्वाध्यायका फल। सूत्र ४५—ईश्वर-प्रणिधानका फल ·	४१४
९८-सूत्र ४६-आसनका लक्षण। व्याख्या —स्वस्तिक-आसन, सिद्धासन	४१५
९९-समासन, पद्मासन, बद्धपद्मासन, वीरासन, गोमुखासन, वज्रासन, सरल आसन। आसनसम्बन्धी विशेष बातें ···	४१६
१००-विशेष वक्तव्य-अभ्यासके उपयोगी स्थान इत्यादि। बन्ध और वेध—मूलबन्ध ···	४१७
१०१-उड्डीयान-बन्ध, जालन्धर-बन्ध। महाबन्ध, महावेध ··	४१८
१०२-मुद्राएँ-(१)खेचरी मुद्रा,(२) महामुद्रा	४१९
१०३-(३) अश्विनी मुद्रा, (४) शक्तिचालिनीमुद्रा, (५) योनिमुद्रा	४२०
१०४-(६) योगमुद्रा, (७) शाम्भवी मुद्रा, (८) तड़ागी मुद्रा, (९) विपरीतकरणी मुद्रा, (१०) वज्रोली मुद्रा	४२१
१०५-आसन—चित्त लेटकर करनेके आसन—(१) पादाङ्गुष्ठ-नासाग्र-स्पर्शासन, (२) पश्चिमोत्तानासन, (३) सम्प्रसारण-भू-नमनासन ·	४२२
१०६-(४) जानुशिरासन, (५) आकर्ण धनुपासन और उसकी चार प्रक्रियाएँ, (६) शीर्षपादासन,(७) हस्तस्तम्भासन, (८) उत्तानपादासन और उसकी नौ प्रक्रियाएँ ··	४२३
१०७-(९) हस्त-पादाङ्गुष्ठासन ·	४२४
१०८-(१०) स्नायु-संचालासन, (११) पवन-मुक्तासन, (१२)ऊर्ध्व-सर्वाङ्गासन, (१३) सर्वाङ्गासन (हलासन), (१४) कर्णपीड़ासन ··	४२५
१०९-(१५) चक्रासन, (१६) गर्भासन, (१७) शवासन (विश्रामासन), पेटके बल लेटकर करनेके आसन-(१८) मस्तक-पादाङ्गुष्ठासन, (१९) नाभ्यासन, (२०) मयूरासन, (२१) भुजङ्गासन (सर्पासन) और उसकी तीन प्रक्रियाएँ ··	४२६
११०-(२२) शलभासन, (२३) धनुरासन, बैठकर करनेके आसन—(२४) मत्स्येन्द्रासन पाँचों भागोंसहित ·	४२७

विषय	पृष्ठ
१११-(२५) वृश्चिकासन, (२६) उष्ट्रासन, (२७) सुप्त-वज्रासन, (२८) कन्दपीड़ासन, (२९) पार्वतीआसन, (३०) गौरक्षासन, (३१) सिंहासन ...	४२८
११२-(३२) वकासन, (३३) लोलासन, ३४) एक-पादाङ्गुष्ठासन, पद्मासन लगाकर करनेके आसन, (३५) ऊर्ध्वपद्मासन, (३६) उत्थितपद्मासन, (३७) कुक्कुटासन, (३८) गर्भासन, (३९) कूर्मासन, (४०) मत्स्यासन	४२९
११३-(४१) तोलाङ्गुलासन, (४२) त्रिबन्धासन, खड़े होकर करनेके आसन—(४३) ताड़ासन, (४४) गरुड़ासन, (४५) द्विपादमध्यशीर्षासन, (४६) पादहस्तासन, (४७) हस्तपादाङ्गुष्ठासन ...	४३०
११४-(४८) कोणासन। विशेष आसनोंसे विशेष लाभ उठानेकी विधि ...	४३१
११५-सूर्यकी व्यायाम और इसके विविध प्रकार, आसनका उठना। आसन उठानेकी विधि। गुफामें बैठना। गुफामें बैठनेकी दो विधियाँ	४३२
११६-सूत्र ४७-आसनकी सिद्धिका उपाय	४३४
११७-सूत्र ४८-आसनकी सिद्धिका फल। सूत्र ४९-प्राणायामका लक्षण ...	४३५
११८-सूत्र ५०-प्राणायामके तीन भेद ...	४३६
११९-विशेष वक्तव्य ...	४३७
१२०-प्राणायाम प्रणवरूप है।	४३८
१२१-कुम्भकके आठ भेद—प्राणायाममें मन्त्रका प्रयोग, प्राणायाममें अङ्गन्यासका प्रयोग ...	४३९
सूत्र ५१—ध्रुवमें से तारोंकी गतिका ज्ञान। सूत्र ५२—नाभिचक्रमें संयम करनेसे शरीरके व्यूहका ज्ञान। सूत्र ५३—कण्ठकूपमें संयम करनेसे भूख-प्यासकी निवृत्ति। सूत्र ५४—कूर्म नाड़ीमें संयम करनेसे स्थिरता ...	५२४

विषय	पृष्ठ
१२५-(३) उज्जाई कुम्भक, दीर्घसूत्री उज्जाई, (४) शीतली कुम्भक, शीतकारी प्राणायाम, काफी प्राणायाम, भुजङ्गी प्राणायाम ...	४४२
१२६-(५) भस्त्रिका कुम्भक—(क) मध्यम भस्त्रिका, (ख) वाम भस्त्रिका, (ग) दक्षिण भस्त्रिका, (घ) अनुलोम-विलोम भस्त्रिका ...	४४३
१२७-भस्त्रिकाके अन्तर्गत दो प्राणायाम (६) भ्रामरी कुम्भक ...	४४४
१२८-अनुलोम-विलोम भ्रामरी प्राणायाम, ध्यानात्मक प्राणायाम, (७) मूर्च्छा कुम्भक (षण्मुखी सर्वद्वार बंद मुद्रा), (८) प्लावनी कुम्भक, केवल कुम्भक ...	४४५
१२९-केवल कुम्भककी विधि हठयोगद्वारा। केवल कुम्भककी विधि राजयोगद्वारा। विशेष सूचना	४४६
१३०-सूत्र ५१-चौथे प्राणायामका लक्षण, व्यासभाष्य ...	४४७
१३१-चौथे प्राणायामकी चार विधियाँ ...	४४८
१३२-विशेष वक्तव्य—पाँचवीं विधि ...	४४८
१३३-सूत्र ५२-प्राणायामका फल। सूत्र ५३-प्राणायामका दूसरा फल। सूत्र ५४-प्रत्याहारका लक्षण ...	४४९
१३४-सूत्र ५५-प्रत्याहारका फल ...	४५०
१३५-साधनपादका उपसंहार ...	४५१
१३६-परिशिष्ट—	
१-ओषधिद्वारा शरीरशोधन (आरोग्यता)। कोष्ठबद्ध दूर करनेकी ओषधियाँ ...	४५२
२-वातविकारनाशक तथा रेचक कफनाशक, पाचक और रेचक, बिगड़े हुए जुकाम, खाँसी, सब प्रकारके मस्तिष्क या पेटके विकारोंको दूर करनेके लिये अनुभूत ओषधियाँ ...	४५३
४-टिप्पणी—जुकामके लिये काढ़ा, प्राणायाम, ध्यान आदि उत्पन्न होनेवाली ...	

विषय	पृष्ठ
४–आँवके रोग मरोड़ व पेचिशके लिये पाँच अनुभूत ओषधियाँ, ज्वरके पश्चात् निर्बलता दूर करनेके लिये चूर्ण, खाँसीकी ओषधियाँ	४५४
५–श्वास, दमाके १४ अनुभूत नुसखे	४५५
६–अजीर्ण, दस्त और कै आदिके लिये अमृतधारा तथा संजीवनीवटीके नुसखे तथा अन्य ओषधियाँ, संग्रहणीके दो नुसखे	४५७
७–हैजेका नुसखा, अम्लपित्तसे हाजमा ठीक न रहनेके लिये अविपत्तिकर चूर्ण। वातविकारके लिये रेचक, वातारि गूगल, अरण्डीपाक तथा अन्य ओषधियाँ	४५८
८–आधेसिरका दर्द, नथने बंद रहने, सिरके भारी रहनेकी अनुभूत ओषधियाँ। प्रमेह, पेशावमें शक्कर आना, स्वप्नदोष आदि वीर्य-विकारके लिये चन्द्रप्रभावटी, सूर्यप्रभावटी, ब्राह्मी घृतकी दो विधियाँ तथा अन्य अनुभूत ओषधियाँ	४५९
९–सोते समय पेशाव निकल जाना, पेशाबके साथ शक्कर आना, बहुमूत्र—इनकी ओषधियाँ हर प्रकारके बुखारके लिये ओषधियाँ	४६१
१०–नपुंसकके लिये तीन अनुभूत ओषधियाँ। पायोरिया, दाढ़का दर्द, दाँतोंके सब रोगोंके लिये ओषधियाँ,	४६२
११–फोड़े, फुन्सी, रक्तविकार आदि-सम्बन्धी ओषधियाँ। सफेद कोढ़, दादकी अनुभूत ओषधियाँ	४६४
१२–भगंदर अर्थात् काले दाद, छाजन, चम्बल, नासूर, भगंदर, कमरके अदरके फोड़े तथा गाँठवाले फोड़ोंकी अनुभूत ओषधियाँ।	४६
१३–भगंदर तथा गुदाके रोगों, अर्श (बवासीर), मस्सोंके झाड़ने-	
१४–तिल्ली दर्द गुर्दकी दवाइयाँ	४१४
१५–बंद पेशावके खोलने, [illegible]द्रासन। व्याख्या पेशाव आने, वायुगोला दिमागके कीड़े-सम्बन्ध	४१५
१६–पीलपा, गजपा, गठिया, आँखोंसे सम्बन्ध रखनेवाले रोगोंकी दवाएँ	४६९
१७–कानका दर्द, मुँहके छालेके लिये दवाएँ, दिलकी धड़कन-सम्बन्धी अनुभूत दवाएँ, पागलपन या उन्मादकी दवा,	४७१
१८–नींदका न आना, बुद्धिवर्धक सारस्वतीचूर्ण नहरुआ, पारा बाँधना	४७२
(३) विभूतिपाद	
१–सूत्र १–धारणाका लक्षण। व्याख्या—देश, बन्ध, ध्येय। सूत्र २ ध्यानका लक्षण व्याख्या–प्रत्यय, एकतानता	४७३
२–सूत्र ३—समाधिका लक्षण। व्याख्या-स्वरूपशून्यम् इव, अर्थमात्र-निर्भासम्	४७४
३–विशेष वक्तव्य–त्रिपुटी, धारणा, ध्यान और समाधिमें भेद	४७४
४–सूत्र ४—संयमका लक्षण	४७५
५–सूत्र ५—सयमका फल। प्रज्ञालोक। सूत्र ६–संयमका विनियोग	४७६
६–विशेष वक्तव्य–संयमका महत्त्व	४७६
७–सूत्र ७–योगके अन्तरङ्ग	४७९
८–सूत्र ८–योगके बहिरङ्ग। संगति–धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम, अवस्था-परिणाम	४८०
९–सूत्र ९—चित्तका निरोध-परिणाम। व्याख्या—निरोध, अभिभव, प्रादुर्भाव, निरोधक्षणचित्तान्वय। निरोध-परिणाम	४८१
१०–सूत्र १०—निरोधसंस्कारका फल। सूत्र ११—चित्तमें समाधि-परिणाम	४८३
११–समाधि–परिणाम और निरोध-परिणाममें भेद, (१९) [illegible]ासन, [illegible]थासन, (२०) मयूरासन, (२१) भुजङ्गासन (सर्पासन) और उसकी तीन प्रक्रियाएँ	४२६
१२–(२२) शलभासन, (२३) धनुरासन, बैठकर करनेके आसन—(२४) मत्स्येन्द्रासन पाँचों भागोंसहित	४२७

विषय पृष्ठ

...ष्ट ४

...य ...गवार्त्तिकका ... ४९८

...ांके अनेक ...र होते हैं ? ... ५०२

...रूप और सात ...णाम ... ५०३

अप्रत्यक्ष...

२०-सूत्र १६—तीनों परिणामोंके संयमका फल, भूत और भविष्यत्का ज्ञान। सूत्र १७—शब्द, अर्थ और ज्ञानके विभागमें संयम करनेका फल सब प्राणियोंकी बोलीका ज्ञान ... ५०४

२१-टिप्पणी—स्फोटवाद। भोजवृत्तिका भाषानुवाद। व्यासभाष्यका भाषानुवाद ५०५

२२-विज्ञानभिक्षुके योगवार्त्तिकका भाषानुवाद ... ५०७

२३-विशेष वर्णन ... ५१२

२४-सूत्र १८—संस्कारके साक्षात् करनेका फल पूर्वजन्मका ज्ञान। टिप्पणी ५१३

२५-सूत्र १९-२०—दूसरेके चित्तका ज्ञान ५१४

२६-सूत्र २१—सामने होते हुए दिखलायी न देना। सूत्र २२—मृत्युका ज्ञान। सोपक्रम-निरुपक्रम अरिष्ट ... ५१५

२७-सूत्र २३—मैत्री आदिमें संयमका फल ५१६

२८-सूत्र २४—हाथी आदिके बलकी प्राप्ति। सूत्र २५—सूक्ष्म दृष्टिकी प्राप्ति। सूत्र २६—सूर्यमें संयम करनेसे भुवनोंका ज्ञान ५१७

९-टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद। भुवनोंका वर्णन। व्यासभाष्यका भाषानुवाद .. ५१८

सूत्र २७—चन्द्रमामें संयम करनेसे ताराव्यूहका ज्ञान .. ५२३

सूत्र २८—ध्रुवमें संयम करनेसे तारोंकी गतिका ज्ञान। सूत्र २९—नाभिचक्रमें संयम करनेसे शरीरके व्यूहका ज्ञान। सूत्र ३०—कण्ठकूपमें संयम करनेसे भूख-प्यासकी निवृत्ति। सूत्र ३१—कूर्म नाड़ीमें संयम करनेसे स्थिरता ... ५२४

विषय पृष्ठ

३२-सूत्र ३२—मूर्द्धा-ज्योतिमें संयम करनेसे सिद्धोंके दर्शन। विशेष विचार। सूत्र ३३—प्रातिभसे सब बातोंका ज्ञान। सूत्र ३४—हृदयमें संयमसे चित्तका ज्ञान ... ५२५

३३-सूत्र ३५—स्वार्थसंयमका फल पुरुषविषयक ज्ञान .. ५२६

३४-विशेष वक्तव्य ... ५२७

३५-भोजवृत्तिका भावार्थ। सूत्र ३६—पुरुषविषयक ज्ञानसे पूर्व होनेवाली छः सिद्धियाँ—प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद, वार्ता ... ५२७

३६-सूत्र ३७—ये सिद्धियाँ समाधिमें विघ्न, व्युत्थानमें सिद्धियाँ हैं। सूत्र ३८—चित्तका दूसरेके शरीरमें आवेश ५२८

३७-टिप्पणी—भोजवृत्तिका भावार्थ। सूत्र ३९—उदानजयका फल जलादिमें असङ्ग रहना और ऊर्ध्वगति ... ५२९

३८-विशेष वक्तव्य १—अन्तःकरणकी दो प्रकारकी वृत्तियाँ। विशेष वक्तव्य २—मृत्युके समय लिङ्ग शरीरकी चार अवस्थाएँ ... ५३०

३९-पितृयाण एवं देवयान दक्षिणायन ... ५३१

४०-देवयान, उत्तरायण .. ५३३

४१-मुक्तिके दो भेद। क्रममुक्ति और सद्योमुक्ति ... ५३४

४२-सूत्र ४०—समानके जीतनेसे दीप्तिमान् होना। सूत्र ४१—श्रोत्र—आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे दिव्य श्रोत्र होना। सूत्र ४२—शरीर और आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे आकाशगमन सिद्धि। ५३५

४३-सूत्र ४३—बहिरकल्पिता वृत्तिसे प्रकाशके आवरणका नाश। सूत्र ४४—पाँचों ग्राह्य भूतोंके स्थूल स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्वमें संयमका फल, भूतजय। ५३६

४४-टिप्पणी—व्यासभाष्यकी व्याख्या ५३७

Vedic Library

विषय — पृष्ठ

४५-सूत्र ४५—भूतजयका फल आठ प्रकारकी सिद्धियाँ, कायसम्पत् और भूतोंके धर्मोंकी रुकावटका दूर होना। व्याख्या—अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशितृत्व, यत्रकामावसायित्व ... ५३९

४६-सूत्र ४६—कायसम्पत्का लक्षण—रूप, लावण्य, बल, वज्रकी-सी बनावट। ... ५४०

४७-सूत्र ४७—ग्रहण-इन्द्रियोंके ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय, अर्थवत्त्व-मे संयमका फल इन्द्रियजय। टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद ५४१

४८-सूत्र ४८—इन्द्रियजयका फल मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानजय सूत्र४९—ग्रहीतृमे संयम अर्थात् विवेकख्यातिका फल सर्वभाव अधिष्ठातृत्वऔरसर्वज्ञातृत्व। टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद, योगवार्तिकका भाषानुवाद ... ५४२

४९-सूत्र ५०—विवेक-ख्यातिसे भी वैराग्यका फल कैवल्य। टिप्पणी—व्यासभाष्यका भाषानुवाद ... ५४४

५०-सूत्र ५१—स्थानधारियोंके आदर-भावपर योगी लगाव और घमंड न करे। योगियोंकी चार भूमियाँ—प्रथम कल्पिक। मधुभूमिका, प्रज्ञाज्योति, अतिक्रान्त भावनाय ५४५

५१-सूत्र ५२—क्षण और उसके क्रममे संयम करनेका फल विवेकज-ज्ञान। ५४६

५२-टिप्पणी—भोजवृत्तिका भाषानुवाद सूत्र ५३— ५४७

५३-विवेकज ज्ञानके मुख्य फलसे पूर्व अवान्तर फल—जाति, लक्षण, देशसे भेदका निश्चय न होनेसे दो तुल्य वस्तुओंका विवेकज ज्ञानसे निश्चय होना। सूत्र ५४—विवेकज-ज्ञानका स्वरूप ... ५४८

५४-सूत्र ५५—चित्त और पुरुषकी समान शुद्धि होनेपर कैवल्य। उपसंहार ५४८

विषय — पृष्ठ

१७-वि... ठिया, आँखोंसे भाव... गोकी दवाएँ ४८९

१८-सूत्र ... लेके लिये दवाएँ, परिण... बन्धी अनुभूत व्याख्य... त्मादकी दवा, ४...

भाषानुवाद चित्तवृत्ति... परिणामका वर्णन

२-सूत्र २—जात... प्रकृत्यापूर ५५

३-टिप्पणी—भोजवृत्तिका भाषार्थ। सूत्र ३—प्रकृतियोंके बदलनेमे धर्म-अधर्मका काम ५५

४-भोजवृत्तिका भाषानुवाद। विशेष वक्तव्य। सूत्र ४— ५५

५-निर्माण चित्तोंका वर्णन। विशेष विचार ५५

६-सूत्र ५—निर्माण चित्तोंका प्रेरक अधिष्ठाता चित्त। विशेष विचार ५५

७-सूत्र ६—अपवर्गके उपयोगी चित्तका वर्णन। सूत्र ७—कर्मोंके चार भेदोंमें-से योगीके अशुक्ल अकृष्ण कर्म ५५

८-सूत्र ८—कर्मोंके फलोंके अनुकूल वासनाओंका उत्पन्न होना ५५

९-सूत्र ९—दूसरा जन्म देनेवाली वासनाओंके उदय होनेमे जाति, देश और कालकी रुकावट नहीं होती है। सूत्र १०—वासनाओंके अनादि होनेका वर्णन

१०-विशेष वक्तव्य। व्यासभाष्यका भाषार्थ तथा स्पष्टीकरण तथा चित्तके परिणामके सम्बन्धमे दार्शनिक विचार

११-सूत्र ११—अनादि वासनाओंके दूर होनेमें युक्ति। व्यासभाष्यका भाषानुवाद

१२-भोजवृत्तिका भाषानुवाद। सूत्र१२—अतीत और अनागत स्वरूपसे रहते है, क्योंकि धर्मोंका कालसे भेद होता है। विशेष वक्तव्य—पाँच प्रकारका अभाव

Vaidic Library

प्रसिद्ध पाश्चात्त्य पण्डित थीबोंने शङ्कराचार्यकृत भाष्यके स्वरचित अनुवादकी भूमिकामें शङ्कराचार्यकी व्याख्याके सम्बन्धमें लिखा है कि 'बादरायणका दार्शनिक सिद्धान्त शङ्कराचार्यके सिद्धान्तसे सर्वथा भिन्न था, किंतु शङ्कराचार्यने अपने शुष्क निर्विशेष अद्वैत सिद्धान्तका प्रचार करनेके लिये बादरायणके ऊपर अपने मतका आरोप किया है, इसलिये ब्रह्मसूत्रके शाङ्करभाष्यको पढ़नेसे सूत्रकारका वास्तविक सिद्धान्त नहीं मालूम हो सकता।' इनकी समालोचनाके अनुसार ही पूर्ववर्ती बहुत-से समालोचकोंने स्वामी शङ्कराचार्यके विषयमें ऐसा ही मत प्रकट किया है। प्राचीन कालके रामानुजाचार्यने भी ब्रह्मसूत्रके व्याख्यानके प्रसङ्गमें स्वामी शङ्कराचार्यके व्याख्यानके ऊपर विभिन्न स्थलोंपर दोष दिखलाये हैं। रामानुजाचार्यके पूर्ववर्ती आचार्य भास्करने अपने भाष्यके आरम्भमें लिखा है कि 'शङ्कराचार्यने सूत्रकारके अभिप्रायको गुप्त करके अपना सिद्धान्त ब्रह्मसूत्रके भाष्यके बहाने प्रकट किया है।'

सम्भव है उपर्युक्त समालोचनाओंमें अत्युक्तिसे काम लिया गया हो; क्योंकि ब्रह्मसूत्रके भाष्यकारोंमें अपने सम्प्रदायसे भिन्न विचारवालोंके प्रति प्रायः ऐसी ही शैली चल निकली है। किंतु बादरायणके मूल सूत्रोंपर साम्प्रदायिक पक्षपातसे रहित होकर स्वतन्त्र विचारसे दृष्टि डालनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अन्य सब दर्शनकारों (न्याय, वैशेषिक, विशेषकर साख्य और योग) के सदृश उनमें भी सांख्य और योगके द्वैतसिद्धान्तका ही प्रतिपादन किया गया है जो स्वामी शङ्कराचार्यकी अद्भुत विद्वत्ताद्वारा निर्विशेष अद्वैत सिद्धान्तके रूपमें दिखलाया गया है।

ब्रह्मसूत्रमें वैदिक दर्शनोंका खण्डन नहीं प्रत्युत श्रुतियोंके साथ उनका समन्वय है और बादरायणसे लगभग ढाई हजार वर्ष पश्चात् भगवान् बुद्धका जन्म हुआ है; जिनके सम्प्रदायोंका ब्रह्मसूत्रके शाङ्करभाष्यमें खण्डन किया गया है।

वास्तवमें यह बात प्रतीत होती है कि स्वामी शङ्कराचार्यके समयमें सारे भारतवर्षमें नास्तिकता फैल रही थी और अवैदिक मतमतान्तरोंका सब ओर प्रचार था। तान्त्रिक सम्प्रदाय, पाशुपत और पाञ्चरात्र तथा शाक्तमतवालोंकी नास्तिकता बढ़ रही थी। बौद्ध धर्म जो एक प्रकारसे साख्य और योगका ही रूपान्तर है, जिसके निवृत्तिमार्गमें भगवान् बुद्धने अन्वय-व्यतिरेक करते हुए समाधिद्वारा नेति-नेतिरूप (सर्ववृत्तिनिरोध रूप) स्वरूप-अवस्थिति प्राप्त करना सिखलाया था। सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार, माध्यमिक आदि सम्प्रदायोंमें विभक्त होकर अपने उच्च आत्म और चैतन्यवादसे विच्युत होकर जडवादकी ओर झुक रहा था और बहुत सम्भव है कि इस जडवादके प्रभावमें उस समयके कोई-कोई दार्शनिक विद्वान् भी वैदिक दर्शनोंसे अनीश्वरवादको सिद्ध करनेमें प्रवृत्त हो रहे हों। इसलिये इस सारे अवैदिक और नास्तिक वातावरणको वैदिक धर्ममें परिवर्तित करनेके लिये स्वामी शङ्कराचार्यको पाशुपत, पाञ्चरात्र और शाक्त सम्प्रदायोंके साथ-साथ वैदिक दर्शनोंके भी खण्डनकी आवश्यकता हुई हो और जडवादके स्थानमें अद्वैत चैतन्यवाद स्थापन करना आवश्यक समझा हो। यहाँ वैदिक दर्शनों विशेषकर साख्य और योगके द्वैत सिद्धान्तको सक्षेपसे बतलाकर उसकी शङ्करके अद्वैतसिद्धान्तसे सामान्यरूपसे तुलना दिखला देना पाठकोंकी जानकारीके लिये उचित प्रतीत होता है—

साख्ययोगका द्वैत-सिद्धान्त—चेतन और जड दो अनादि तत्त्व हैं। चेतन तत्त्व (पुरुष)

अपरिणामी, निष्क्रिय, निर्विकार ज्ञानस्वरूप, कुटस्थ, नित्य है। जड तत्त्व (मूलप्रकृति) त्रिगुणात्मक, सक्रिय और परिणामी नित्य है। चेतन तत्त्वकी सन्निधिसे जड तत्त्वमें एक प्रकारका ज्ञान नियम और व्यवस्थापूर्वक विरूप अर्थात् विषम परिणाम हो रहा है। सत्त्वमे क्रियामात्र रज और उस क्रियाको रोकनेमात्र तमका सबसे पहला विषम परिणाम महत्तत्त्व कहलाता है। यही महत्तत्त्व सत्त्वकी विशुद्धतासे अपने समष्टिरूपमें विशुद्ध सत्त्वमय चित्त कहलाता है, जिसमें समष्टि अहकार बीज रूपसे रहता है। यह ईश्वरका चित्त है और अपने व्यष्टि रूपमें सत्त्वकी विशुद्धताको छोड़े हुए सत्त्वचित्त कहलाते है, जो संख्यामें अनन्त हैं, जिनमें व्यष्टि अहंकार बीजरूपसे रहते है। ये जीवोके चित्त है। चेतन तत्त्वमें अपने ज्ञानके प्रकाश डालनेकी और महत्तत्त्वमें उसको ग्रहण करनेकी योग्यता अनादि चली आ रही है। पुरुषसे प्रकाशित अथवा प्रतिबिम्बित समष्टि चित्त समष्टि अस्मिता और व्यष्टि चित्त व्यष्टि अस्मिता कहलाते है। पुरुष निष्क्रिय होता हुआ भी अपने चित्तका द्रष्टा है अर्थात् चित्तमें उसके ज्ञानके प्रकाशमे जो कुछ भी हो रहा है वह उसे स्वय ज्ञात रहता है। व्यष्टि चित्तके सम्बन्धसे चेतन तत्त्वका नाम जीव है, जो सख्यामें अनन्त और अल्पज्ञ है और समष्टि चित्तके सम्बन्धसे चेतनतत्त्वका नाम ईश्वर, अपर ब्रह्म, सगुण ब्रह्म और शबल ब्रह्म है, जो एक और सर्वज्ञ है। अपने शुद्ध स्वरूपसे चेतन तत्त्वका नाम परमात्मा, निर्गुण ब्रह्म, शुद्ध ब्रह्म और परब्रह्म है। पुरुष शब्दका प्रयोग जीव, ईश्वर और परमात्मा तीनों अर्थोमे होता है। दूसरा विषम परिणाम अहंकार है अर्थात् पुरुषसे प्रकाशित अथवा प्रतिबिम्बित महत्तत्त्व ही रज और तमकी अधिकतासे विकृत होकर अहकाररूपसे व्यक्त भावमें बहिर्मुख हो रहा है। यह अहकार ही अहभावसे एकत्व, बहुत्व, व्यष्टि और समष्टिरूप सब प्रकारकी भिन्नताका उत्पन्न करनेवाला है। विभाजक अहकारसे ग्रहण और ग्राह्य रूप दो प्रकारके विषम परिणाम हो रहे है। अर्थात् विभाजक अहकार सत्त्वमें रज और तमकी अधिकतासे विकृत होकर ग्रहण रूप ग्यारह इन्द्रियो (पॉच ज्ञान-इन्द्रियॉ, पॉच कर्म-इन्द्रियॉ, ग्यारहवॉ इनका नियन्ता मन) और सत्त्वमें रज तमकी कुछ विशेषताके साथ अधिकतासे विकृत होकर परस्पर भेदवाली पॉच तन्मात्राओंमे विकृत होकर बहिर्मुख हो रहा है। पॉचवाँ विषम परिणाम पाँच स्थूल भूत हैं अर्थात् अहकारसे व्याप्त पॉचो तन्मात्राएँ ही सत्त्वमें रज और तमकी अधिकतासे विकृत होकर पाँचो सूक्ष्म और स्थूल भूतोमें व्यक्त भावसे बहिर्मुख हो रही हैं। इस प्रकार बहिर्मुखतामें महत्तत्त्वकी अपेक्षा अहकारमें, अहंकारकी अपेक्षा ग्यारह इन्द्रियों और पॉचों तन्मात्राओमें और तन्मात्राओंकी अपेक्षा पॉचो सूक्ष्म और स्थूल भूतोंमें क्रमशः रज तथा तमकी मात्रा बढ़ती जाती है और सत्त्वकी मात्रा कम होती जाती है। यहांतक कि स्थूल जगत् और स्थूल शरीरमें रज-तमका ही व्यवहार चल रहा है। सत्त्व केवल प्रकाशमात्र ही है और महत्तत्त्वमे प्रकाशित अथवा प्रतिबिम्बित चेतन तत्त्व भी उपर्युक्त राजसी-तामसी आवरणोंमें आच्छादित होता हुआ स्थूल शरीर और भौतिक जगत्में केवल झलक मात्र ही दिखलायी दे रहा है। यह सब अवरोहक्रम (Descent) है। इससे उल्टे आरोहक्रम (Ascent) में जितनी अन्तर्मुखता बढती जायगी उतना ही रज तथा तमका विक्षेप-आवरण हटकर सत्त्वका प्रकाश बढता जायगा और उस प्रकाशमें चेतन तत्त्वकी अधिक स्पष्टतासे प्रतीति बढती जायगी। इस प्रकार अन्तमें गुणोके सबसे प्रथम विषम परिणाम रूप चित्तको भी सर्ववृत्तिनिरोधद्वारा अपने कारणमें लीन करके शुद्ध चेतन स्वरूपमें अवस्थिति प्राप्त की जा सकती है।

व्यष्टि चित्तोमें जो लेशमात्र तम है, उसमें बीजरूपसे अविद्या विद्यमान है। इस अविद्या-क्लेशसे क्रमश. अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, क्लेश और उनसे सकाम कर्म, सकाम कर्मोसे उन्हींके

कल्याण-साधनांक

प्रथम खण्ड

श्रीहरिः

साधनाङ्ककी विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

१–सत्सङ्गके कुछ क्षण ५
२–कल्याण ('शिव') ८
३–प्रेम-प्राप्तिका साधन (पूज्यपाद परमहंस श्रीरामकृष्णदासजी महाराजके उपदेश) ... ११
४–साधक और मनका संवाद (पूज्यपाद स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी) १२
५–साधकके लिये (पूज्यपाद स्वामीजी श्रीउड़िया-बाबाजीके उपदेश) १४
६–साधन और उसका प्रधान विघ्न (पूज्यपाद स्वामीजी श्रीहरिबाबाजी महाराजके उपदेश) १६
७–प्रार्थनाका प्रभाव (पूज्यपाद महात्मा स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज) १६
८–साधना ('श्रीज्योतिजी') १८
९–साधु साधकोंके लिये (पूज्यपाद स्वामी श्रीआत्मदेवकृष्णजी महाराज) ... २०
१०–गृहस्थोंके लिये साधारण नियम ... २१
११–अपरोक्षज्ञान-साधन (संत स्वामी श्रीमेंहीदासजी) २२
१२–ईश्वर-प्राप्तिका प्राथमिक साधन–विचार-शक्तिका विकास (स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज) २३
१३–कुछ साधनसम्बन्धी प्रश्नोत्तर (पू० श्रीरामदासजी महाराज रामायणी) २७
१४–संकीर्तनप्रेमियोंके प्रति (पूज्यपाद स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी अवधूत) २७
१५–प्रेम-साधना (बाबा श्रीरामदासजी महाराज) ३०
१६–कलिकालका परम साधन (म० श्रीअञ्जनी-नन्दनशरणजी) ३१
१७–प्रधान साधन (परमहंस स्वामी श्रीनारायण-दासजी महाराज) ३२
१८–जीवका प्रधान कर्तव्य (श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी श्रीजयेन्द्रपुरीजी महाराज) ... ३७
१९–कीर्तनका सविशेष विवरण (श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी श्रीभागवतानन्दजी महाराज महामण्डलेश्वर काव्यसांख्ययोगन्यायवेदवेदान्ततीर्थ, वेदान्त-वागीश, मीमांसाभूषण, वेदरत्न, दर्शनाचार्य) ४०
२०–मोक्षका श्रेष्ठ साधन—ब्रह्मविद्या (श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य दार्शनिकसार्वभौम विद्यावारिधि न्यायमार्तण्ड वेदान्तवागीश श्रीस्वामी महेश्वरानन्दगिरिजी महाराज महामण्डलेश्वर) ४९
२१–पूज्यपाद स्वामी श्रीगङ्गेश्वरानन्दजी महाराज महामण्डलेश्वरके उपदेश (प्रेषक–भक्त रामशरणदासजी) ५६
२२–नवधा भक्तिमें सर्वसाधनोंका समावेश (श्रीशारदापीठाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य स्वामी श्रीस्वरूपानन्दजी तीर्थ) ... ५७
२३–वैदिक साधनान्तर्गत न्यासविद्या (पूज्यपाद वे० शि० स्वामी श्रीश्रीरामानुजाचार्यजी शास्त्री) ६०
२४–साधन-भक्तिके चौंसठ अङ्ग (श्रीमन्माध्व-सम्प्रदायाचार्य दार्शनिकसार्वभौम साहित्य-दर्शनाचार्य, तर्करत्न, न्यायरत्न, श्रीदामोदर-जी गोस्वामी) ७०
२५–साधनाके चार सहायक (श्रीअरविन्द) ७२
(१) शास्त्र ... ... ,,
(२) उत्साह ७४
(३) गुरु ७७
(४) काल ८१
२६–याद रक्खो ८१
२७–प्रेम-साधन (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ८२
२८–अभय (महात्मा गांधीजी) ... ८५
२९–शक्तिपात-रहस्य (महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपी-नाथजी कविराज एम्० ए०) ... ८६
३०–मृत्युसे अमृतकी ओर (प्रो० श्रीअक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय एम्० ए०) ... ९७
३१–साधनका स्वरूप (पण्डितप्रवर श्रीपद्मानन तर्करत्न भट्टाचार्य) १०२

पृष्ठ-संख्या

३२–गौडीय वैष्णव-दर्शनमें अद्वैत ब्रह्मतत्त्व (महामहोपाध्याय पण्डित श्रीप्रमथनाथ तर्कभूषण) ··· ··· १०६
३३–महापापीके उद्धारका परम साधन ··· १०८
३४–नवधा भक्तिका सामान्य एवं सविशेष निरूपण (परमवैष्णव स्वामी श्रीकृष्णानन्ददासजी महाराज) ··· ··· १०९
३५–आवश्यक साधन (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ११२
३६–कुछ उपयोगी साधन (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ··· ११३
(क) अचिन्त्य ब्रह्मकी उपासना ··· ,,
(ख) चराचररूप ब्रह्मकी उपासना ··· ,,
(ग) सङ्कल्पब्रह्मकी उपासना ··· ११४
(घ) शब्दब्रह्मकी उपासना ··· ,,
(ङ) निःस्वार्थ कर्म-साधन ··· ,,
(च) सेवा-साधन ··· ११५
(छ) पञ्च महायज्ञ-साधन ··· ११६
(ज) विषय-हवनरूप साधन ··· ११७
(झ) महात्माओंका आज्ञापालनरूपी साधन ११८
३७–सबसे पहली साधना (स्वामीजी श्रीतपोधनजी महाराज) ··· ··· १२१
३८–साधनकी अनिवार्य आवश्यकता ··· १२२
३९–साधकका परमधर्म (श्रीदादा धर्माधिकारीजी) १२६
४०–सदाचार-साधनकी परमावश्यकता (स्वामीजी श्रीनारदानन्दजी महाराज) ··· १२८
४१–योगचतुष्टय (एक एकान्तवासी महात्मा) ··· १३०
(क) मन्त्रयोग ··· ··· ,,
(ख) हठयोग ··· ··· १३१
(ग) लययोग ··· ··· १३२
(घ) राजयोग ··· ··· १३४
४२–योगका सोपान (स्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती) ··· ··· १३६
४३–साधन-तत्त्व (आचार्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी महाराज) ··· ··· १३९
४४–सच्ची साधना क्या है ? (डा० श्रीभगवानदासजी एम्० ए०, डी० लिट्०) ··· १४१
४५–साधनाका मनोवैज्ञानिक आधार (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल एम्० ए०, बी० टी०) ··· १४२

पृष्ठ-संख्या

४६–सहज साधन (प्रो० श्रीधीरेन्द्रकृष्ण मुखोपाध्याय एम्० ए०) ··· ··· १४६
४७–कलियुगी जीवोंके कल्याणका साधन (श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी) ··· १४९
४८–श्रीभगवन्नामसाधन (श्रीस्वान्तःसुखाय) १५२
४९–कीर्तनका सविशेष वर्णन (रायबहादुर पण्ड्या श्रीबैजनाथजी) ··· ··· १५५
५०–साधनका मनोवैज्ञानिक रहस्य (डॉ० श्रीदुर्गाशङ्करजी नागर स० कल्पवृक्ष) ··· १५५
५१–ईश्वर-दर्शनका साधन (पू० पण्डित श्रीशिवदत्तजी शर्मा) ··· ··· १६०
५२–मोक्षका मुख्य साधन—भक्ति (पं० श्रीविनायक नारायण जोशी साखरे महाराज) १६२
५३–अभ्युदय और निःश्रेयसके साधन (श्रीनारायण स्वामीजी महाराज) ··· ··· १६५
५४–तत्त्वंपदार्थ-शोधन (स्वामी श्रीप्रेमपुरीजी महाराज) ··· ··· १६६
५५–भगवान्‌के सम्बन्धमें साधनोंका सामर्थ्य ('कविशिरोमणि' देवर्षि भट्ट श्रीमथुरानाथजी शास्त्री) ··· ··· १६९
५६–मधुर-रसकी साधना (पं० श्रीहजारीप्रसादजी द्विवेदी) ··· ··· १७३
५७–प्रेम-साधन (म० श्रीप्रेमप्रकाशजी) ··· १७६
५८–संस्कार-साधना (डा० श्रीराजबलीजी पाण्डेय एम्० ए०, डी० लिट्०) ··· ··· १८०
५९–जीवन सर्वोत्कृष्ट साधना है (श्रीब्रजमोहनजी मिहिर) ··· ··· १८४
६०–उद्दालककी साधना और समाधि (पं० श्रीशान्तनुविहारीजी द्विवेदी) ··· १९०
६१–साधना (श्रीनलिनीमोहन सान्याल एम्० ए०, भाषातत्त्वरत्न) ··· ··· १९८
६२–त्याग और पवित्रता (रेवरेंड आर्थर ई० मैसी) २००
६३–प्रणवोपासना (श्रीमोतीलाल रविशङ्करजी घोडा बी० ए०, एल्-एल्० बी०, वेदवेदान्तवारिधि) ··· ··· २०३
६४–सद्गुरु और शिष्य ··· ··· २०६
६५–दीक्षा और अनुशासन ··· ··· २१०
६६–भूतशुद्धि ··· ··· २१४

पृष्ठ-संख्या

६७–आदर्श-ध्यानयोग (पं० श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत) २१७
६८–मन्त्रानुष्ठान २१७
(क) मन्त्रानुष्ठानके योग्य स्थान २१७
(ख) भोजनकी पवित्रता ... २१८
(ग) कुछ आवश्यक बातें ... २१९
(घ) जपकी महिमा और भेद ... २२०
(च) मन्त्रमें सूतक और मन्त्रसिद्धिके साधन ... २२०
६९–मन्त्र-साधन २२२
(क) मन्त्र और सिद्धादि-शोधन ... ,,
(ख) मन्त्र-चैतन्य २२७
(ग) मन्त्रार्थ २२८
(घ) मन्त्रोंकी कुल्लुका २२९
(च) मन्त्रसेतु ... ... ,,
(छ) महासेतु ... ... ,,
(ज) निर्वाण ... ... ,,
(झ) मुखशोधन २३०
(ट) प्राणयोग ... ... ,,
(ठ) दीपनी ... ... ,,
(ड) मन्त्रके आठ दोष ... ... ,,
(ढ) मन्त्र-सिद्धिके उपाय २३१
७०–मन्त्रोंके दस संस्कार (पं० श्रीहरिरामजी शर्मा 'मार्तण्ड' विद्वच्चूडामणि) ... २३२
७१–माला और उसके संस्कार २३४
७२–पूजाके विविध उपचार २३७
७३–श्रीभगवान्‌के रूपादिका चिन्मयत्व (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री) २४०
७४–योगनिद्रा (पं० श्रीविजयानन्दजी त्रिपाठी) २४२
७५–अष्टपाश (अध्यापक पं० श्रीशिवनारायणजी शर्मा) २४४
७६–साधकोंके कुछ दैनिक कृत्य २४८
७७–आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें श्रौत-कर्मोंका उपयोग (पं० श्रीरमापतिजी मिश्र) २५४
७८–साधना-तत्त्व (श्रीताराचन्दजी पाण्ड्या) ... २५६
७९–सब साधनोंका सार (श्रीसुदर्शनसिंहजी) ... २५७
८०–साधनाकी उपासना (पं० श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ) २५८

पृष्ठ-संख्या

८१–साधक, साधना और साध्यका सम्बन्ध (त्यागमूर्ति गोस्वामी श्रीगणेशदत्तजी महाराज) २६०
८२–साधन और सिद्धि (स्वामी श्रीशुद्धानन्दजी भारती) २६२
८३–साधना और सिद्धि (स्वामी श्रीअसङ्गानन्दजी महाराज) २७०
८४–साधनाको गुप्त रखनेका महत्त्व (डा० शिवानन्द सरस्वती एम्० ए०) ... २७४
८५–साधना (श्रीकृष्णशङ्कर उमियाशङ्कर) ... २७६
८६–साधना-विज्ञान (पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा 'सौरभ') २८०
८७–जपयोगका वैज्ञानिक आधार (पं० श्रीभगवानदासजी अवस्थी एम्० ए०) २८३
८८–आत्मतत्त्व विद्यातत्त्व शिवतत्त्व तुरीयतत्त्व (श्रीकृष्ण काशीनाथ शास्त्री) ... २८६
८९–मध्यम मार्ग (श्रीसुदर्शन) २८९
९०–शक्तिपातसे आत्मसाक्षात्कार (श्रीचामन दत्तात्रेय गुलवणी) २९६
९१–शक्तिपात और दीक्षा (एक जिज्ञासु) ... ३०२
९२–शक्तिपात और कर्मसाम्य, मलपाक तथा पतन (मनोविनोदाय) ३०३
९३–रहस्यरहित रहस्य (प्रलाप) ३०५
९४–महासिद्धि, गुणहेतुसिद्धि, क्षुद्रसिद्धि और परमसिद्धि (पं० श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत) ३०६
९५–पञ्चभूतोंकी धारणा ३०९
९६–पञ्चाग्नि-विद्या (पं० श्रीजौहरीलालजी शर्मा सांख्ययोगाचार्य, विद्याधुरीण, विद्यासागर) ... ३११
९७–भीमा और नीराके पवित्र सङ्गमपर (शान्त) ३१२
९८–साधन-समीक्षा (साधु प्रज्ञानाथजी) ... ३२०
९९–साधना-तत्त्व (पं० श्रीहनूमानजी शर्मा) ... ३२७
१००–वैदिक कर्म और ब्रह्मज्ञान (श्रीवसन्तकुमार चटर्जी एम्० ए०) ३२९
१०१–न्यासका प्रयोग और उसकी महिमा ... ३३२
१०२–तन्त्रमें गुरु-साधना (डा० भवानीदासजी मेहरा०, बी० एस्-सी०, एल्० एस्०, एम्० एफ्०) ... ३३७
१०३–दिव्य चक्षुका उन्मीलन (श्रीचित्रगुप्तस्वरूपजी) ३४२
१०४–मन ही साधन है (श्री'चक्रपाणि') ... ३४३

पृष्ठ-संख्या

१०५–साधन-रहस्य-सार (श्री'सुदाम' वैदर्भीय) ३४४
१०६–अनाहत नाद (स्वामी श्रीनयनानन्दजी सरस्वती) ३४७
१०७–साधनाकी एक झाँकी ३४८
१०८–अमृत-कला (यो० श्रीपार्श्वनाथजी) ... ३५२
१०९–महापुरुषपूजा (शास्त्रवाचस्पति डा० प्रभुदत्तजी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, बी० एस्-सी० विद्यासागर) ३५४
११०–शरणागति-साधन (पं० श्रीराजमङ्गलनाथजी त्रिपाठी एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, साहित्याचार्य) ३५६
१११–साधन-सत्य (डा० हरिहरनाथजी टुकू, एम्० ए०, डी० लिट्०) ३५७
११२–इन्द्रादि देवोंकी उपासना (म० नि० परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमद्दण्डिस्वामी शिवानन्दजी सरस्वती) ३५७
११३–इन्द्रादि देवोंकी उपासना ३६२
११४–इन्द्रादि देवोंकी उपासना (मुखिया श्रीविद्यासागरजी) ३६५
११५–साधनाका प्रथम पाद (श्रीदेवराजजी विद्यावाचस्पति) ३६८
११६–माया, महामाया तथा योगमायाका भेद (यो० श्रीपारसनाथजी) ३६९
११७–सत्यसाधन (वेदाचार्य पं० श्रीवंशीधरजी मिश्र 'मीमांसाशास्त्री') ३७१
११८–साधना और नारी (कुमारी श्रीशान्ता शास्त्री) ३७३
११९–संतमतमें साधना (श्रीसम्पूर्णानन्दजी) ... ३७७
१२०–संतोंकी सहज-शून्य-साधना (आचार्य श्रीक्षितिमोहन सेन शास्त्री एम्० ए०) ... ३८४
१२१–श्रीमद्भागवतकी साधना (सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार) ३८६
१२२–भागवती साधना (पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम्० ए०, साहित्याचार्य) ३९१
१२३–श्रीभगवान्‌के पूजन और ध्यानकी विधि ३९३
१२४–गीतामें तत्त्वों, साधनों और सिद्धियोंका समन्वय-साधन (दीवान बहादुर के० एस्० रामस्वामी शास्त्री) ३९५
१२५–गीतोक्त साधन (पं० श्रीकलाधरजी त्रिपाठी) ४००
१२६–प्राणशक्तियोग और परकायप्रवेशविद्याका पूर्वरूप (पं० श्रीत्र्यम्बक भास्कर शास्त्री खरे) ४०४

पृष्ठ-संख्या

१२७–तान्त्रिक साधन (श्रीदेवेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय बी० ए०, काव्यतीर्थ) ४२१
१२८–श्रीवल्लभसम्प्रदायसम्मत साधना (देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री) ४२६
१२९–श्रीचैतन्य और रागानुगा भक्ति (प्रभुपाद श्रीप्राणकिशोर गोस्वामी एम्० ए०, विद्याभूषण) ४३२
१३०–प्रेम-साधना (पू० पा० श्रीभोलानाथजी महाराज) ४३६
१३१–प्रत्याहार-साधन (प० पू० श्रीश्रीभार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द स्वामीजी) ... ४४७
१३२–निराकार-उपासनाका साधन (पु० पं०श्रीहरिनारायणजी बी० ए०, विद्याभूषण) ... ४४८
१३३–इस युगकी साधना (श्रीयुत नलिनीकान्त गुप्त) ४५२
१३४–पञ्चदेवोपासना (पं० श्रीहनूमान्‌जी शर्मा) ... ४५४
१३५–ईश्वरप्राप्तिके वैदिक साधन (महामहोपाध्याय पं० श्रीसकलनारायणजी शर्मा) ... ४६३
(क) उद्गीथविद्या ... ... ,,
(ख) संवर्गविद्या ... ... ,,
(ग) मधुविद्या ४६४
(घ) पञ्चाग्निविद्या ... ... ,,
(च) उपकोसलकी आत्मविद्या ... ,,
(छ) शाण्डिल्यविद्या ४६५
(ज) दहरविद्या ... ... ,,
(झ) भूमविद्या ... ... ,,
(ट) दीर्घायुष्यविद्या ... ... ,,
(ठ) मन्थविद्या ४६६
१३६–दहरविद्या (महामहोपाध्याय डा० श्रीगङ्गानाथजी झा एम्० ए०, डी० लिट्०, एल्-एल्० डी०) ४६६
१३७–दहरविद्या-विमर्श (पं० श्रीश्रीधराचार्यजी शास्त्री, वे० भू०, वे० ती०, का० ती०, वे० शि०) ४६८
१३८–दहर-विद्या (पं० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे) ४७३
१३९–उपकोसल-विद्याका रहस्य (श्रीनरसिंहाचार्यजी वरखेडकर) ४७७
१४०–शाण्डिल्यविद्या (श्रीश्रीधर मजूमदार, एम्० ए०) ४७९
१४१–तान्त्रिक दृष्टि (महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम्० ए०) ... ४८०
१४२–तान्त्रिक साधना (श्रीउपेन्द्रचन्द्र दत्त) ... ४९४

पृष्ठ-संख्या

१४३–साधना (महात्मा श्रीबालकरामजी विनायक) ४९७
१४४–विचित्र साधन (श्रीहरिश्चन्द्रजी अष्ठाना 'प्रेम') ५००
१४५–साधन क्या ? (साहित्याचार्य पं० श्रीवीरमणि-प्रसादजी उपाध्याय एम्० ए०,एल-एल्०बी०) ५११
१४६–साधना–आँखमिचौनीका खेल (श्री पी० एन्० शङ्करनारायण ऐयर) ... ५१५
१४७–पञ्चधा भक्ति (प्रो० श्रीगिरीन्द्रनारायण मल्लिक एम्० ए०, बी० एल्०) ... ५१७
१४८–नवधा भक्ति (सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार) ५२२
१४९–भक्तिका स्वरूप ५३२
१५०–साधन-भक्तिके चौंसठ अङ्ग ... ५३६
१५१–सेवापराध और नामापराध ... ५३८
१५२–अटपटा साधन–प्रेम (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) ५४०
१५३–वर्णाश्रमसाधनका तत्त्व (प्रो० श्रीअक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय एम्० ए०) ५४३
१५४–गृहस्थके लिये पञ्चमहायज्ञ (प्रो० श्रीसत्येन्द्र-नाथ सेन एम्० ए०, धर्मरत्न) ... ५५१
१५५–गृहस्थके पञ्चमहायज्ञका विवरण (पं० श्रीवेणी-रामजी शर्मा गौड) ५५४
१५६–प्राणशक्ति और मनःशक्तिका साधन (स्वामी श्रीविभूतिनन्दजी सरस्वती) ... ५५८
१५७–साधनाके गभीर स्तर (श्रीमेहर बाबा) ... ५६२
१५८–साधन और उसकी प्रणाली (महामहोपाध्याय पं० श्रीसीतारामजी शास्त्री) ... ५६७
१५९–कल्याणका साधन-सर्वस्व (शतपत्स्वी श्रीगीतानन्दजी शर्मा) ५७०
१६०–गीताकी साधना (डॉ० एस्० के० मैत्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ५७४
१६१–वृन्दावनकी प्रेम-साधना (बहिन श्रीरैहाना तय्यबजी) ५८१
१६२–मेरा स्वप्न (सौ० बहिन इन्दुमति ह०देवाईजी) ५८४
१६३–साधन-तत्त्व (श्री 'अप्रबुद्ध') ... ५८६
१६४–साधन-तत्त्व (श्रीज्वालाप्रसादजी कानोड़िया) ५८८
१६५–इस युगका एक महासाधन (श्रीजयेन्द्रराय भगवानलाल दूरकाल एम्० ए०, विद्यावारिधि-धर्म-विनोद) ५९१
१६६–विचार-साधन (श्रीमत्स्वामी शङ्करतीर्थजी महाराज) ५९३

पृष्ठ-संख्या

१६७–साधना (स्वामीजी श्रीभूमानन्दजी महाराज) ५९८
१६८–तन्त्रकी प्रामाणिकता (पं० श्रीहाराणचन्द्र भट्टाचार्य) ६०४
१६९–कल्याण-साधन (श्रीस्वामी सन्तप्रसादजी उदासीन) ६०६
१७०–अग्निविद्या (पं० श्रीहरिदत्तजी शास्त्री, वेदान्ताचार्य) ६०७
१७१–आत्मोन्नतिका एक साधन—विचार (श्री-भोगीन्द्रराय नानालाल वैद्य, बी० ए०, बी० टी०) ६०९
१७२–साधन-पथ (श्रीविन्दुजी ब्रह्मचारी) ... ६११
१७३–परमोत्कृष्ट साधन (पण्डितप्रवर श्रीद्वारका-प्रसादजी चतुर्वेदी) ६१५
१७४–सहज साधन (श्रीबदरीदासजी महाराज वानप्रस्थी, वेदान्तभूषण) ... ६१८
१७५–सर्वोच्च साधनके लिये एक बात (पं० स्वामी श्रीपराङ्कुशाचार्यजी शास्त्री) ... ६२०
१७६–एक जिज्ञासुके प्रश्नोत्तर (रायसाहेब श्रीकृष्ण-लालजी बाफणा) ६२२
१७७–षट्कर्म (श्रीकमलाप्रसादसिंहजी) ... ६२४
१७८–सच्ची साधना और उसका मुख्य ध्येय (पं० श्रीदामोदरजी उपाध्याय) ... ६३१
१७९–बौद्ध सिद्धोंकी साधना (पं० श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ... ६३२
१८०–बौद्ध-साधना (डा० श्रीबिनयतोष भट्टाचार्य एम्० ए०; पी-एच्० डी०) ... ६३६
१८१–बौद्ध-मूर्तितत्त्व (श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम्० ए०) ६३८
१८२–सिद्धिसाधक साधनाकी संक्षिप्त रूप-रेखा (व्या० वा० आचार्यदेव श्रीमद्विजयरामचन्द्र सूरी-श्वरजी महाराज) ६४१
१८३–जैनसम्प्रदायके साधन (श्रीनरेन्द्रनाथजी जैन) ६५१
१८४–जीवन-सिद्धिका मार्ग (श्रीजयभगवानजी जैन बी० ए०, एल्-एल्० बी०) ... ६६६
१८५–जरथुस्त्रधर्मकी साधना (श्रीफीरोज कावसजी दावर एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ... ६७२
१८६–जरथुस्त्रधर्मकी अग्नि-उपासना (श्रीनरीमान सोराबजी गोलवाला) ... ६७४

पृष्ठ-संख्या

१८७–वेदसे कामना-साधन (पं० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र गौड़ वेदशास्त्री, वेदरत्न) ··· ६७८

१८८–श्रीस्वामिनारायणसम्प्रदायमें उपासना (पं० श्रीनारायणजी शास्त्री, तर्क-वेदान्त-मीमांसा-सांख्यतीर्थ) ··· ··· ६७९

१८९–श्रीस्वामिनारायणके मतानुसार साधन (वेदान्त-तीर्थ सांख्ययोगरत्न पं० श्रीश्वेतवैकुण्ठ शास्त्री) ६८२

१९०–थियासफीकी साधना (श्रीहीरेन्द्रनाथ दत्त एम्० ए०, बी० एल्०, वेदान्तरत्न) ··· ६८४

१९१–थियासफीकी उपासना-पद्धति (रायबहादुर पण्ड्या बैजनाथजी, बी०ए०,एफ्० टी० एस्०) ६८६

१९२–सूफ़ियोंका साधना-मार्ग (डा० एम्० हाफ़िज़ सैयद मुहम्मद एम्०ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०) ··· ··· ६८८

१९३–सूफ़ियोंकी साधना (श्रीचन्द्रबलिजी पाण्डेय एम्० ए०) ··· ··· ६९१

१९४–इस्लामधर्मकी कुछ बातें और शिया-सुन्नियोंका भेद (श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम्० ए०) ६९३

१९५–सद्गुरु कबीरसाहबकी सहज साधना (श्रीधर्माधिकारी महन्त श्रीविचारदासजी साहब शास्त्री) ६९५

१९६–कबीरसाहबकी 'भाव-भगति'का रहस्य (पं० श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· ··· ६९६

१९७–श्रीदादूदयालके मतानुसार साधन (पु० श्रीहरिनारायणजी बी० ए०, विद्याभूषण) ७००

१९८–प्रेम-साधन (श्रीमन्निजानन्दसम्प्रदायाद्यधर्म-पीठाधीश्वर धर्मधुरीण आचार्य श्रीधनीदासजी महाराज 'सद्धर्मरत्न') ··· ··· ७०८

१९९–श्रीराधावल्लभीय सम्प्रदायमें साधन (श्रीहितरणछोड़लालजी गोस्वामी) ··· ७१०

२००–श्रीरामस्नेही-सम्प्रदायकी उपासनापद्धति (दैवशप्रवर स्वामी श्रीमनोहररामजी रामस्नेही, शास्त्री, साहित्यभूषण) ··· ७१५

२०१–विजयकृष्ण-कुलदानन्दकी नाम-साधना (श्रीनरेश ब्रह्मचारी) ··· ··· ७१६

२०२–उदासीन-सम्प्रदायका साधन-विधान (श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य उदासीनवर्य श्रीपण्डित स्वामी हरिनामदासजी महाराज) ७२१

पृष्ठ-संख्या

२०३–वैष्णवोंकी द्वादशशुद्धि ··· ··· ७२३

२०४–स्वरोदय-साधन (पं० श्रीतडित्कान्तजी वेदालङ्कार, साहित्यमनीषी) ··· ··· ७२३

२०५–सर्वोत्तम साधन—जनसेवा (पं० श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयी) ··· ··· ७३५

२०६–आरोग्य-साधन (राजज्यो० पं० श्रीमुकुन्दवल्लभजी मिश्र ज्यौतिषाचार्य) ··· ··· ७३६

२०७–साधनाका मथितार्थ—सेवा (पं० श्रीधर्मदेवजी शास्त्री, दर्शनकेसरी, दर्शनभूषण, सांख्य-योग-वेदान्त-न्याय-तीर्थ) ··· ··· ७३७

२०८–आजकी साधना (बाबा श्रीराघवदासजी) ··· ७३९

२०९–लक्ष्मी-साधन (पं० श्रीदयाशङ्करजी दुबे, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· ७४१

२१०–साधक और स्थिरता (श्रीभगवानदासजी केला) ७४२

२११–श्रीअरविन्दकी योगसाधनपद्धति और मानव-संस्कृतिका समन्वय (श्रीअम्बालाल पुराणी) ७४४

२१२–नवग्रहोंकी उपासना ··· ··· ७५०

२१३–शरीर, वाणी और मनके दोषोंका त्याग करो ७५३

२१४–हनुमत्-उपासना (पं० श्रीहनूमान्जी शर्मा) ७५४

२१५–साधन और इष्टप्राप्ति (यो० श्रीउमेशचन्द्रजी) ७५७

२१६–साधनकी साध (श्री 'जयराम') ··· ७५९

२१७–भोजन-साधन ··· ··· ७६१

२१८–हंस (श्रीआत्मारामजी देवकर) ··· ७६२

२१९–प्रभु-प्राप्तिके साधन (माता श्रीगायत्री देवी काक) ७६४

२२०–ध्यान-साधन (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ७६५

२२१–चार अनमोल उपदेश (एक ब्रह्मचारीजी द्वारा) ७६९

२२२–भक्ति-साधन (वैष्णवाचार्य महंत श्रीस्वामी श्रीरामदासजी महाराज) ··· ··· ७७२

२२३–सरल नाम-साधन ··· ··· ७७५

२२४–त्याग-साधन (सत्य घटना) ··· ··· ७७६

२२५–कामके पत्र (गोपीभावका साधन) ··· ७७९

२२६–शरण-साधन ··· ··· ७८५

२२७–शिव-तत्त्व और शैव-साधना ··· ··· ७८६

२२८–शक्ति-तत्त्व और शक्ति-साधन ··· ··· ७८८

२२९–नाम-साधन (श्रीभार्गव वासुदेव खांबेटे) ··· ७८९

२३०–विभिन्न देवताओंके मन्त्र ··· ··· ७९०

२३१–क्षमा-याचना ··· ··· ७९२

कविता

पृष्ठ-संख्या

१–सच्ची साधना (श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध') ··· ··· ३

२–सत्य-साधना [प्रेम-धर्मकी रीति] (श्रीसूरज-चन्दजी सत्यप्रेमी) ··· ··· ११९

पृष्ठ-संख्या

३–चारों युगोंका एक ही साधन [नाम-जपकी महिमा] (रचयिता–श्रीशेषो धोंडो हुंबरवाड अनु०—पं० श्रीरामनारायणदत्त, पाण्डेय 'राम') १९६

४–शरण-साधना (पु० श्रीप्रतापनारायणजी कविरत्न) ··· ··· २७३

संकलित

१–कल्याणकारी सङ्कल्प (यजुर्वेद-संहिता) ··· २

२–जैसा संग वैसा रंग (महाभारत) ··· ७

३–कब न बोले (महाभारत) ··· ··· १७

४–त्यागके समान सुख नहीं (महाभारत) ··· ७१

५–नामका प्रताप (पलटू) ··· ··· १३८

६–शरीरकी गति (कबीर) ··· ··· १५१

७–हरिकी आश करो (रैदास) ··· ··· १५४

८–भगवान्‌का विरह (दरिया साहेब) ··· १६४

९–राम-राम कहो (मलूकदासजी) ··· ··· १६८

१०–नामका प्रकाश (पलटू) ··· ··· १७९

११–सच्चे गुरुदेव (सुन्दरदासजी) ··· १९५

१२–राम बिना सभी बेकार हैं (तुलसीदासजी) ··· २०५

१३–राम-ही-राम (सुन्दरदासजी) ··· ··· २१३

१४–हरिका बिरह (दयाबाई) ··· ··· २१६

१५–रामके सन्मुख हो रहो (दरिया साहेब) ··· २२१

१६–सत्यकी महिमा (कबीर) ··· ··· २३१

१७–तेरा विचार कुछ न चलेगा (सुन्दरदासजी) ··· २३६

१८–नदी-नाव-संयोग (दूलनदासजी) ··· ··· २५६

१९–राम भजता है, वही धन्य है (भीखा साहेब) ··· २५७

२०–राम-नामकी महिमा (तुलसीदासजी) ··· २६१

२१–नाम बिना सब दुःख है (चरणदासजी) ··· २७२

२२–राम रम रहा है (दादूजी) ··· ··· २८५

२३–राम-नाममें ऐसा चित्त लगे (गुलाल साहेब) ··· २८८

२४–लालच (रैदास) ··· ··· ३०८

२५–नीचे बनो (कबीर) ··· ··· ३१९

२६–नाम और प्रेम (दरिया साहेब) ··· ··· ३३६

२७–शरीरका गर्व न करो (मलूकदासजी) ··· ३५३

२८–शोभासिन्धु (सूरदासजी) ··· ··· ३६१

२९–गोविन्दके गुण गाओ (दादूजी) ··· ··· ३६७

३०–सोते क्यों हो ? (कबीर) ··· ··· ३६८

३१–रूखी रोटी अच्छी (कबीर) ··· ··· ३७२

३२–प्रार्थना (कबीर) ··· ··· ३८५

३३–भजनमें जल्दी करो (पलटू) ··· ··· ३९२

३४–काम (चरनदासजी) ··· ··· ४२०

३५–विनय (तुलसीदासजी) ··· ··· ४२५

३६–शोकादि कबतक रहते हैं ? (श्रीमद्भागवत) ··· ४३१

३७–सच्ची बानी (पलटू) ··· ··· ४३५

३८–बिना गुरुका साधक (पलटू) ··· ··· ४५३

३९–किस कार्यके लिये किस देवताकी उपासना करनी चाहिये (श्रीमद्भागवत) ··· ४६२

४०–सदा सुहागिन (मलूकदासजी) ··· ४६७

४१–सिद्ध पुरुषकी स्थिति (पलटू) ··· ४७२

४२–यह सौदा करो (गरीबदासजी) ··· ४७६

४३–कौन देश पवित्र है ? (श्रीमद्भागवत) ··· ५१४

४४–मनपर विश्वास न करो (श्रीमद्भागवत) ··· ५१६

४५–भगवान्‌को जीवन समर्पण करनेवाला चाण्डाल भी ब्राह्मणसे श्रेष्ठ है (श्रीमद्भागवत) ··· ५३१

४६–हरिनाम-उच्चारणका फल (श्रीमद्भागवत) ··· ५३७

४७–जीवोंका परम धर्म क्या है ? (श्रीमद्भागवत) ५३९

४८–सबमें स्थित भगवान्‌का तिरस्कार न करो ! (श्रीमद्भागवत) ··· ··· ५५७

४९–करनेयोग्य (श्रीरूपगोस्वामी) ··· ··· ५५८

५०–मनुष्यमात्रके तीस धर्म (श्रीमद्भागवत) ··· ५६०

५१–प्रेमसिद्धा मीरा (मीराबाई) ··· ५६१

५२–कौन इन्द्रिय किस काममें लगे ? (श्रीमद्भागवत) ··· ··· ५६६

पृष्ठ-संख्या

५३–संतोंकी प्रत्येक चेष्टा लोककल्याणके लिये होती है ! (श्रीमद्भागवत) ५७३
५४–विनय (सूरदासजी) ५८५
५५–सर्वमय भगवान्‌को प्रणाम करो (श्रीमद्भागवत) ५९७
५६–गृहस्थ क्या करे ? (महाभारत) ... ६०५
५७–गर्व न करो—काल सबको खा जाता है (महाभारत) ६०६
५८–श्रेष्ठ भागवत कौन हैं ? (श्रीमद्भागवत) ... ६०८
५९–महान् यशको कौन प्राप्त होते हैं ? (महाभारत) ६१०
६०–ब्रह्मवेत्ता मुनि कौन है ? (महाभारत) ... ६१६
६१–विनय (तुलसीदासजी) ६१७
६२–प्रेमसाधनाके साध्य (सूरदासजी) ... ६३५
६३–रासमें कामविजय (सूरदासजी) ... ६५१

पृष्ठ-संख्या

६४–मृत्यु बाघिनकी तरह पकड़कर ले जाती है (महाभारत) ६७३
६५–प्रेमकी अनोखी छवि (सूरदासजी) ... ६९९
६६–एक ही शत्रु है (महाभारत) ... ७०७
६७–दूसरेके पुण्यको कौन ग्रहण करता है ? (महाभारत) ७२२
६८–सन्तोष ही परम धन है ! (महाभारत) ... ७४३
६९–छः महीनेमें ब्रह्मप्राप्तिके साधन (महाभारत) ७५८
७०–मुक्ति कौन पाता है ? (महाभारत) ... ७६२
७१–वन्दे मातरम् ७६३
७२–बोलीके बाण मत मारो (महाभारत) ... ७६४
७३–देवता सदा किसपर प्रीति करते हैं ? (महाभारत) ७७५
७४–किस देशमें रहे और किसको छोड़ दे (महाभारत) ७८७

चित्र-सूची

सुनहरी

१–शोभासिन्धु (बहिन अनसूयादेवी) ... ३६१
२–पञ्चदेव (पं० श्रीहनूमानजी शर्माकी कृपासे प्राप्त) ४५७
१–शिव ।
२–विष्णु ।
३–शक्ति ।
४–गणेश ।
५–सूर्य ।
३–जगज्जननी श्रीराधा (श्रीजगन्नाथ) ५०८
४–सूरदासकी साधना (,,) ५८५
५–प्रेमसाधनाके साध्य (बहिन चन्द्रकलादेवी) ... ६३५
६–प्रेमकी अनोखी छवि (बहिन उर्मिलादेवी) ... ६९९

बहुरंगी

७–भगवत्प्राप्तिके विभिन्न मार्ग (श्रीजगन्नाथ) मुखपृष्ठ
८–श्रीमहागणेश (,,) आरम्भमें
९–बिहारीलाल (,,) १
१०–श्रीदक्षिणामूर्ति (श्रीविनयकुमार मित्र) ५६
११–श्रीलक्ष्मीदेवी (श्रीजगन्नाथ) ६५
१२–माखनप्रेमी (श्रीजगन्नाथ) १४०
१३–बालमुकुन्द माँकी गोदमें (,,) ,,
१४–वंशीका चमत्कार (,,) १७३
१५–नवदुर्गा–१ (,,) १९९
१–शैलपुत्री ।
२–ब्रह्मचारिणी ।
३–चन्द्रघण्टा ।
१६–श्रीनृसिंहदेव (,,) २२८
१७–लक्ष्मी-पृथ्वीसहित भगवान् विष्णु (,,) २३७
१८–चौबीस अवतार—१ (,,) २४०
१–सनत्कुमार ।
२–वाराह ।
३–नारद ।
४–नर-नारायण ।
५–कपिलदेव ।
६–दत्तात्रेय ।
७–यज्ञपुरुष ।
८–ऋषभदेव ।
९–राजा पृथु ।
१०–मत्स्य ।

पृष्ठ-संख्या

११–कूर्म ।
१२–धन्वन्तरि ।
१९–गायत्री (श्रीजगन्नाथ) २५३
१–प्रातःकालका स्वरूप ।
२–मध्याह्नका स्वरूप ।
३–सायंकालका स्वरूप ।
२०–काली (श्रीविनयकुमार मित्र) २७६
२१–बुद्धकी साधना (श्रीशारदा उकील) २८९
२२–कैलासवासी शिव (बहिन सौदामिनीदेवी) ३१६
२३–बालगोपाल (श्रीजगन्नाथ) ३८६
२४–श्रीसीताराम (श्रीविनयकुमार मित्र) ४०३
२५–तुलसीदासकी साधना (श्रीजगन्नाथ) ४२५
२६–श्रीचैतन्यकी भाव-साधना (श्रीशारदा उकील) ४३२
२७–नवदुर्गा—२ (श्रीजगन्नाथ) ४८०
१–कूष्माण्डा ।
२–स्कन्दमाता ।
३–कात्यायनी ।
२८–नवदुर्गा—३ (,,) ४९६
१–कालरात्रि ।
२–महागौरी ।
३–सिद्धिदात्री ।
२९–पाँच प्रकारके भक्ति-रस (,,) ५१७
१–शान्त ।
२–दास्य ।
३–सख्य ।
४–वात्सल्य ।
५–मधुर ।
३०–भगवान् विष्णु (,,) ५२६
३१–पञ्च महायज्ञ (,,) ५५२
३२–प्रेमसिद्धा मीरा (श्रीकनु देसाई) ५६१
३३–चौबीस अवतार–२ (श्रीजगन्नाथ) ५७२
१–मोहिनी ।
२–नृसिंह ।
३–वामन ।
४–परशुराम ।
५–व्यास ।
६–हंस ।
७–श्रीराम ।
८–श्रीकृष्ण ।
९–हयग्रीव ।
१०–हरि ।
११–बुद्ध ।
१२–कल्कि ।

पृष्ठ-संख्या

३४–श्रीसरस्वती देवी (श्रीजगन्नाथ) ६०२
३५–तुलसीदासकी साधना (,,) ६१७
३६–रासमें कामविजय (श्रीकनु देसाई) ६५१
३७–नारायण (श्रीविनयकुमार मित्र) ... ७३६
३८–नवग्रह (,,) ... ७५२
३९–परमगुरु मारुति (श्रीजगन्नाथ) ... ७५४
४०–भारतमाता (श्रीविनयकुमार मित्र) ... ७६३
४१–पञ्चमुख महादेव (,,) ... ७६८
४२–श्रीराधा-कृष्ण (श्रीजगन्नाथ) ... ७७९

इकरंगे

४३–श्रीकृष्णध्यान नं० १-२ (श्रीअजेन्द्र) ... २९
४४– ,, ३-४ (,,) ... ४१
४५– ,, ५-६ (,,) ... ८२
४६– ,, ७-८ (,,) ... ३९४
४७–जीवका प्राणमय शरीर ... ४०६
४८–प्राणमय शरीरका अणुमय दृश्य ... ४०६
४९–प्राणमय शरीर ... ४११
५०–चीनदेशके साधु ... ४११
५१–प्राणमय शरीरका आवरण ... ४१७
५२–प्राणमय शरीरकी स्थिति ... ४१७
५३–ध्यानी बुद्ध रत्नसम्भव ... ६३८
५४–ध्यानी बुद्ध अमिताभ ... ६३८
५५–ध्यानी बुद्ध अमोघसिद्धि ... ६३८
५६–ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य ... ६३८
५७–प्रज्ञापारमिता देवी ... ६४०
५८–बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर ... ६४०
५९–श्रीकृष्णध्यान नं० ९-१० (,,) ६८१
६०– ,, ११-१२ (,,) ७१३
६१–श्रीमहाकाली (श्रीदेवलालीकर) ७९०
६२–श्रीमहालक्ष्मी (,,) ७९०
६३–श्रीमहासरस्वती (,,) ७९०

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता १८ । ६५)

वर्ष १५ | गोरखपुर, अगस्त १९४० सँवत् श्रावण १९९७ | संख्या १ पूर्ण संख्या १६९

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ।
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

हे प्रभो ! त्रयी (वेदमार्ग), सांख्य, योग, पाशुपत मत, वैष्णव मत सभी आपकी प्राप्तिके ही मार्ग हैं । रुचि-वैचित्र्यके कारण ही 'यह श्रेष्ठ है, वह हितकारी है' इस प्रकार उनमें पृथक्ता प्रतीत होती है । हे प्रभो ! जैसे समस्त नदी-नालोंका जल समुद्रमें ही जाता है, वैसे ही सीधे-टेढ़े सभी साधन-मार्गोंसे यात्रा करनेवाले मनुष्योंके गन्तव्य स्थान एकमात्र आप ही हैं ।

कल्याणकारी सङ्कल्प

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं
तदु सुप्तस्य तथैवेति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

जो जागते हुए पुरुषका दूर चला जाता है और सोते हुए पुरुषका वैसे ही निकट आ जाता है, जो परमात्माके साक्षात्कारका प्रधान साधन है, जो भूत, भविष्य, वर्तमान, सन्निकृष्ट और व्यवहित पदार्थोंका एकमात्र ज्ञाता है और जो विषयोंका ज्ञान प्राप्त करनेवाले श्रोत्र आदि इन्द्रियोंका एकमात्र प्रकाशक और प्रवर्तक है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो ॥१॥

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो
यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

कर्मनिष्ठ एवं धीर विद्वान जिसके द्वारा यज्ञिय पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त करके यज्ञमें कर्मोंका विस्तार करते हैं, जो इन्द्रियोंका पूर्वज अर्थात् आत्मस्वरूप है, जो पूज्य है और समस्त प्रजाके हृदयमें निवास करता है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो ॥२॥

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

जो विशेष प्रकारके ज्ञानका कारण है, जो सामान्य ज्ञानका कारण है, जो धैर्यरूप है, जो समस्त प्रजाके हृदयमें रहकर उनकी समस्त इन्द्रियोंको प्रकाशित करता है, जो स्थूलशरीरकी मृत्यु होनेपर भी अमर रहता है और जिसके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो ॥३॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्
परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

जिस अमृतस्वरूप मनके द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्यसम्बन्धी सभी वस्तुएँ ग्रहण की जाती हैं और जिसके द्वारा सात होतावाला अग्निष्टोम यज्ञ सम्पन्न होता है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो ॥४॥

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन
प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

जिस मनमें रथचक्रकी नाभिमें आरियोंके समान ऋग्वेद और सामवेद प्रतिष्ठित हैं तथा जिसमें यजुर्वेद प्रतिष्ठित है, जिसमें प्रजाका सब पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाला सम्पूर्ण ज्ञान ओतप्रोत है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो ॥५॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्या-
न्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

श्रेष्ठ सारथि जैसे घोड़ोंका संग्रहकर्ता और रासके द्वारा घोड़ोंका नियन्त्रण करता है, वैसे ही जो प्राणियोंका संचालन तथा नियन्त्रण करनेवाला है, जो हृदयमें रहता है, जो कभी बूढ़ा नहीं होता और जो अत्यन्त वेगवान् है, मेरा वह मन कल्याणकारी भगवत्सम्बन्धी सङ्कल्पसे युक्त हो ॥६॥

(यजुर्वेदसंहिता ३४ । १ । ५ । ६)

सच्ची साधना

(लेखक—श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध')

(चौपदे)

है दृगोंकी ज्योति जीवन-सहचरी ।
लोकके आलोककी है वर्त्तिका ॥
है दिखाती हृदय सबके सत्यतम ।
दृष्टिके व्यापारकी है व्यंजिका ॥ १ ॥

किन्तु अन्तर्ज्योति है अति उज्ज्वला ।
ज्ञान गरिमाकी अलौकिक मूर्त्ति है ॥
वर विचार, विवेककी है पुत्तली ।
दिव्यतम अनुभूतिमयी पूर्त्ति है ॥ २ ॥

जब दृगोंकी ज्योति अन्तर्ज्योतिकी
है बनी रहती प्रकृत अनुगामिनी,
प्रति दिवसके सर्व कार्य-कलापकी
तब ठीक वह मानती है स्वामिनी ॥ ३ ॥

है वही मिलती उसे सद्बुद्धि वह,
है जिसे कहते प्रकृत आराधना ॥
उस सुपथ दिखाता दिव्यता दिव्य है ।
है सफलता लाभ करती साधना ॥ ४ ॥

दीखती है सब जगह विभुता वहीं ।
है विभूति विराजती सर्वत्र ही ॥
दृष्टि है संसारमें अवलोकती
सत्यता, शिवता सुधानाग वही ॥ ५ ॥

हो प्रभूत प्रफुल्ल विस्तृत व्योममें
भूतभावन-विभव है अवलोकते ॥
भव-विकासकका विकास सुसज्ज नयन
है सुविकसित लोकमध्य विलोकते ॥ ६ ॥

कान जो बातें सुनें सद्वृत्तिकी ।
दिव्य रस उनके रसायन जो बनें ॥
पूत चरितावलि पुनीत पदावली-
प्रेममें जो वे सरसतासे सनें ॥ ७ ॥

हों खुले सुन धर्मकी अवहेलना ।
बंद हों न किसी करुण स्वरके लिये ॥
जो खुले हितभरे सुननेको मिलें ।
तुल हों न कभी कथामृतके लिये ॥ ८ ॥

क्यों उन्हें मिलतीं न तो सब सिद्धियाँ ।
क्यों न वे कृतकृत्य होते सर्वथा ॥
क्यों न होते स्वहितैकि हेतु वे ।
स्वकर्त्तव्यविहीन होते अन्यथा ॥ ९ ॥

रह सहायक योगसे सत्कर्मकी ।
सर्वदा सद्भावकी उन्मनी रहे ॥
ऊँच है तो ऊँचताका ध्यान रख ।
नाक कहला नाक नाकों बनी रहे ॥ १० ॥

है दयाके पात्र होते आपत ,
साचकर यह वह कभी भिजुके नहीं ॥
वह सदा निर्भीक बनी इतनी रहे,
जो उसे कोई कभी पकड़े नहीं ॥ ११ ॥

सोसकी गतिमें असुविधा हो नहीं ।
वह भले ही साँसतें कितनी सहे ॥
ध्वनि भरी उसमें रहे हरिनामकी ।
इस तरहसे बोलती जो वह रहे ॥ १२ ॥

नासिका तो धर्म-कर्म-उपासिका ।
बन बनेगी सर्वथा उपयोगिनी ॥
और होगा सार्थक उसका सृजन ।
जायगी सहयोगिनी सच्ची मिनी ॥ १३ ॥

फूल जो मुँहसे सदा झड़ते रहें ।
हो सुभाषिता मधुर वचनावली ॥
जीभ मोहन मंद मंजु समीरसे ।
जो खिलाती ही रहे जीकी कली ॥ १४ ॥

जो वदन अरविन्द बनते ही रहें
रस-पिपासित मधुप मानसके लिये ॥
ध्वंस करनेको तिमिर अज्ञानका
ज्ञानदीपक बाल है जिसने दिये ॥ १५ ॥

लोकका हित कर सफलता लाभ कर
जिस वदनपर है विलसती वर हँसी ॥
है दमकती कान्ति जिसपर कीर्तिकी ।
गरिमा जिसपर सुकृतिकी है लसी ॥ १६ ॥

चारु चन्दन कान्त कुलोंका कभी
भव्य भाव-विभूतिमय जो मुख बना,
छाप जिसपर देशहितकी है लगी,
है हुई जिसपर मनुजता न्योछावर ॥१ ॥

है वही मुख दर्शनीय मनाज्ञतम;
और वह मुख ही अतीव पुनीत है ॥
है वही आदर्श नरका कर्मका।
गोस्वामि जनकण्ठमें यह गीत है ॥१ ८॥

हाथको तब हाथ कोई क्यों कहे,
हो सका जब लोकसेवामें न बन ॥
दे सका जब दान दीनोंको नहीं,
जो न पाया पूज पूजितको सतत ॥१ ९॥

आज जिसमें लाजवालोंकी रहे,
सुन सका जो वह नहीं ऐसा वसत;
लोकहितका काम कर कमनीयतम,
जो सका भरमें न कीर्ति-वितान तन ॥२ ०॥

जो न गिरतोंके उठानेको उठा,
जो मिटी उसमें सुरुचि-कथा नहीं ॥
तो कहाँ उसमें रही कमनीयता,
जो लगी उसको सुकृति प्यारी नहीं ॥२ १॥

जो नमेके शीशपर छाया न की;
जल रहेको जो बचा पाया नहीं;
जो न उसके आँखके आँसू पुँछे,
हाथ तो कुछ हाथके आया नहीं ॥२ २॥

चारु चल-चल-लोक-चित उत्फुल्ल कर,
सत्पथोंमें जो सदैव जमे मिले ॥
बन अटल जीवन समर-मैदानमें,
जो किसी भूधर समान थमे मिले ॥२ ३॥

कौन हितरत न जो देखे गये;
जो विलम्बित-उत्साहके है नहीं;
जो थिरकते हैं सदा सत्कर्म कर,
जो विलोके सिद्धि अगति नहीं ॥२ ४॥

जो खड़े होकर कभी उखड़े नहीं,
जो न विचलित हो सके पथ्य पड़े ॥
पाँव वे ही वास्तवमें पाँव हैं,
दौड़कर जो काम करने हैं बढ़े ॥२ ५॥

यदि सदाशयता सदन सुचिता निलय
हृदयमें बन भूतहित करती रहे ॥
धर्म मर्म समझ सत्रिधि सत्कर्म कर,
सर्वदा सद्भावमें सनती रहे ॥२ ६॥

यदि मननरत मन बने नियमन-व्रती ।
यदि न सात्त्विक वृत्तिधाका पथ तजे ।
सर स्वरोंमें माधुरी सद्भावकी,
सुनति कर्मे सतत हर्षती बने ॥२ ७॥

यदि भजन-पूजन, मजन, जप-योगका ।
धारणा-ध्यानादि सहित समाधिका ॥
आत हो सिद्धान्त और विवेक हो ।
विघ्न-बाधा आधि-व्याधि अबाधिका ॥२ ८॥

आत्महितसे लोकहित सवर्धित तथा
भूतहितका जो अधिक अनुरक्त हो,
मान सबकी मूर्ति विभुकी, विश्व सहित
यदि मनुज सवभूतियोंका भक्त हो ॥२ ९॥

तो बनाकर जन्म अपना वह सफल
कर सकेगा दिव्यतम आराधना ॥
है यही कृति सर्वसिद्धिप्रदायिनी
है यही विधिबद्ध सच्ची साधना ॥३ ०॥

अर्थ क्या है और है परमार्थ क्या
क्या प्रकृत सात्त्विक प्रवृत्ति निवृत्ति है—
मान जिसको सिद्धिकी है, सोच दे —
कौन साधन साधना सर्वस्व है ॥३ १॥

सत्सङ्गके कुछ क्षण

जिज्ञासु—भगवन्! वैदिक, तान्त्रिक आदि जो अनेक प्रकारकी साधनाएँ हैं, उनमेंसे किसका अधिकारी कौन है?

गुरु—इससे पहले यह जाननेकी आवश्यकता होगी कि इन साधनाओंका स्वरूप क्या है। हमें तान्त्रिक, वैदिक—ऐसे किसी नामका आग्रह क्यों होना चाहिये, कोई भी साधना पद्धति और दृष्टिकोणके भेदसे तान्त्रिकी या वैदिकी हो सकती है। इस प्रश्नका सीधे-सीधे उत्तर दे देनेसे किसी विशेष प्रयोजनकी पूर्ति नहीं होगी। जैसे दहरविद्याको लो। यह एक वैदिक साधना है। यदि पूछा जाय कि इसका अधिकारी कौन है, तो इसका सीधा उत्तर तो यही होगा कि जो हृदयाकाशमें चित्त समाहित करनेकी योग्यता रखता है। परन्तु इस प्रकारकी योग्यता तो अन्यान्य साधनाओंमें भी अपेक्षित है ही, इसलिये इस उत्तरसे कोई वास्तविक समाधान नहीं होता। वस्तुतः सभी प्रकारकी साधनाओंमें अन्य साधनाओंका संसर्ग भी रहता ही है। किसी विशेष दृष्टिकी प्रधानताके कारण ही उसका कोई विशेष नाम पड़ जाता है। जैसे पृथिवीमें आकाशादि अन्य भूत भी रहते ही हैं, तथापि पृथिवीतत्त्वकी प्रधानता होनेके कारण ही उसे पृथिवी कहा जाता है। ऐसी ही बात ज्ञान, भक्ति और कर्मादिके विषयमें भी है। इनमें भी ज्ञानमें भक्ति और कर्म, भक्तिमें ज्ञान और कर्म तथा कर्ममें ज्ञान और भक्ति रहते ही हैं। इसके सिवा एक बात और है। जिसकी जिस प्रकारकी निष्ठा होती है, उसे अन्य साधनाएँ उसीकी अङ्गभूत और तद्रूप ही जान पड़ती हैं। कर्मकी दृष्टिसे देखा जाय तो ज्ञान और भक्ति भी कर्मके सिवा और क्या हैं? श्रवण-कीर्तनादि जो भक्तिके नौ भेद हैं, वे सब कर्म ही हैं। ज्ञानके साधन—श्रवण, मनन और निदिध्यासन भी कर्म ही हैं; श्रवण ऐन्द्रियिक कर्म है, मनन मानसिक कर्म है और निदिध्यासन बौद्ध कर्म है। इसी प्रकार प्रत्येक साधनामें प्रत्येकका समावेश हो सकता है। वस्तुतः लक्ष्य तो सबका एक ही है। उस एक ही लक्ष्यको अपने-अपने दृष्टिकोणके अनुसार विभिन्न प्रकारसे देखनेके कारण यह केवल प्रणालियोंका ही भेद है। जिस प्रकार इस मकानके ही यदि भिन्न दिशाओंसे फोटो लिये जायँ तो वे एक ही मकानके चित्र होनेपर भी न जाननेवालोंको विभिन्न जान पड़ेंगे। परन्तु जिसने इसे देख लिया है, वह तो जान ही लेगा कि इन सबमें एक ही मकान है। इसी प्रकार यद्यपि ब्रह्म एक ही तत्त्व है और वह सर्वथा निर्विभाग है, तो भी उसके सत्, चित्, आनन्द—ये तीन नाम क्यों? इसका कारण यही है कि कर्मी उसे सद्रूपसे देखता है, ज्ञानी चिद्रूपसे देखता है और भक्त आनन्द-रूपसे। परन्तु जिसने किसी भी साधनपद्धतिका आश्रय लेकर उसका साक्षात्कार कर लिया है, उसे वह युगपत् सच्चिदानन्द जान पड़ता है। उसका किसी भी पद्धतिसे विरोध नहीं रहता।

जिज्ञासु—ठीक है, परन्तु जब साधनपद्धतियोंका भेद है तो उनके अधिकारियोंमें भी भेद तो होना ही चाहिये।

गुरु—अधिकारियोंमें भेद तो होता है; परन्तु कौन किस साधनाका अधिकारी है, इसका निर्णय कौन करेगा?

जिज्ञासु—गुरु।

गुरु—ठीक है, तब इस विषयमें हमारे चर्चा करनेसे क्या लाभ? शिष्यके अधिकारका निश्चय तो गुरु ही कर सकता है। हमने तो पहले बताया है कि सभी प्रकारकी साधनाओंमें अन्य साधनाओंका भी समावेश रहता ही है। इस प्रकार सभी सब प्रकारकी साधनाओंके अधिकारी हो सकते हैं। परन्तु किसको किस पद्धतिका आश्रय लेनेसे शीघ्रतर तत्त्वकी उपलब्धि होगी, इसका निर्णय तो गुरुदेव ही कर सकते हैं। जिसको जो मार्ग अभीष्ट होता है, वह उसीको प्रधानता देता है। तथापि उसके साधनरूपमें वह अन्य मार्गोंको भी स्वीकार कर ही लेता है। ज्ञानमार्गी भक्तिको ज्ञानका साधन मानते हैं, यह बात प्रसिद्ध ही है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते' तथा भगवान् शङ्कराचार्यजी भी कहते हैं—'मोक्षसाधनसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।' इसी प्रकार भक्तिमार्गी ज्ञानको भक्तिका साधन मानते हैं, और शास्त्रोंमें उनके इस सिद्धान्तका समर्थन करनेवाले भी अनेकों प्रमाण मिलते हैं।

जिज्ञासु—ऐसे कौन प्रमाण हैं, जिनमें ज्ञानको भक्तिका साधन बताया गया है?

गुरु—ऐसे तो बहुत प्रमाण बताये जा सकते हैं; परन्तु ज्ञान और भक्तिकी साध्य-साधकतामें जो यह पारस्परिक मतभेद है, उसका कारण दूसरा है। ज्ञानी भक्तिको जिस ज्ञानका साधन मानते हैं, वह उस ज्ञानसे भिन्न है जिसे भक्त भक्तिका साधन मानते हैं; और भक्त जिस भक्तिको ज्ञानका साध्य मानते हैं, वह भी ज्ञानियोंकी मानी हुई साधनरूपा

आवश्यक साधन

'कल्याण'के पाठक बड़े-बड़े संतोंके अनुभूत वचनोंसे यह जान चुके हैं कि मनुष्यजीवनका परम लक्ष्य 'श्रीभगवान्'को या उनके 'अनन्यप्रेम'को प्राप्त करना है। वस्तुतः मुक्ति, मोक्ष, ज्ञान, सनातन शान्ति, परम आनन्द आदि सब इसीके पर्याय हैं। जीवन बहुत थोड़ा है और वह भी अनेक बाधा-विघ्नोंसे भरा हुआ है। आजकल तो चारों ओरसे ही विघ्न-बाधाओंकी और दुःख-कष्टोंकी मानो बाढ़-सी आ रही है। ऐसे आपद्-विपद्से पूर्ण क्षुद्र जीवनमें जो मनुष्य शीघ्र-से-शीघ्र अपने लक्ष्यकी ओर ध्यान देकर सावधानीके साथ चलकर अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है, वही बुद्धिमान् है, उसीका जन्म सार्थक है और उसीका मनुष्यजीवन सफल है। याद रखना चाहिये, यह मनुष्यजीवन यदि यों ही व्यर्थकी बातोंमें बीत गया तो पीछे पछतानेके सिवा और कोई उपाय नहीं रह जायगा। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको अपनी स्थितिपर विचार करके इस ओर लग जाना चाहिये। जो लगे हुए हैं, वे आगे बढ़ें, जो अभी नहीं लगे हैं, वे लगें और जल्दी लगें। आजकल मौत बहुत सस्ती हो रही है। कुछ लोग तो कहते हैं कि बहुत ही शीघ्र पृथ्वीमें मनुष्योंकी संख्या आधीसे भी अधिक घट जायगी। उस घटनेवाली मनुष्यसंख्यामें हम-लोग भी तो होंगे। इसलिये और भी शीघ्र सजग होकर लग जाना चाहिये। विशेष कुछ न हो तो नीचे लिखे नियमोंका पालन स्वयं विश्वासपूर्वक करना चाहिये तथा अपने इष्ट-मित्रोंसे करवाना चाहिये। रोज अपनी रिपोर्ट लिखनी चाहिये और यदि हो सके तो अपने कुछ मित्रोंकी एक मण्डली बनाकर उसमें परस्पर रिपोर्ट सुनानी चाहिये और नियम टूटनेपर दण्डविधान करना चाहिये। दण्ड पैसोंका न होकर नाम-जप आदि किसी साधनका ही होना चाहिये, जिसमें आगेसे नियम न टूटे और उत्साह भी न घटे। मण्डली हो, तो दण्डमें जबरदस्ती या पक्षपात न हो, इस बातका पूरा ध्यान रहे।

१–सूर्योदयसे पहले जग जाना।

२–प्रातःकाल जगते ही भगवान्का स्मरण करना।

३–दोनों समय भगवान्की प्रार्थना करना या सन्ध्या करके गायत्रीका जाप करना।

४–कम-से-कम २१६०० भगवन्नामोंका जप नित्य कर लेना।

५–कम-से-कम आध घण्टे उपनिषद्, गीता, रामायण या अन्य किसी भी पारमार्थिक ग्रन्थ या संतवाणीका स्वाध्याय करना या सत्सङ्ग करना।

६–जानकर किसीका बुरा न करना।

७–जानकर झूट न बोलना।

८–पुरुष हो तो परस्त्रीको और स्त्री हो तो परपुरुषको बुरी नजरसे न देखना।

९–किसीकी निन्दा करनेसे बचना।

१०–भोजन, फलाहार और जलपानके समय भगवान्को याद करना। उन्हें मन-ही-मन अर्पण करके खाना-पीना।

११–दूसरेके हककी किसी चीजको न लेना, न उसपर मनको ही चलने देना।

१२–अपनी शक्तिके अनुसार प्रतिदिन कुछ दान करना।

१३–हँसी-मजाक न करना।

१४–माता-पिता आदि बड़ोंको रोज प्रणाम करना।

१५–सब जीवोंमें भगवान् हैं, सारा जगत् भगवान्से भरा है, सारा जगत् भगवान्से ही निकला है, भगवान्में ही है, इस बातको याद रखनेकी चेष्टा करना।

१६–क्रोधके त्यागका अभ्यास करना। क्रोध आनेपर प्रत्येक बार सौ बार भगवान्का नाम लेकर उसका प्रायश्चित्त करना।

१७–किसी भी जीवसे घृणा न करना।

१८–सोनेके समय प्रतिदिन भगवान्को स्मरण करना।

१९–प्रतिज्ञापूर्वक नियमोंका पालन करना। और किसी नियमके टूट जानेपर दण्डकी व्यवस्था करना।

२०–नियमोंके पालनका ब्यौरा रोज लिखना।

यदि भगवत्प्राप्तिके लिये इन नियमोंके पालनका साधन होता रहेगा तो आशा है भगवत्कृपासे बहुत शीघ्र अन्तःकरणकी शुद्धि होगी और आप भगवान्के प्रेमपथपर अग्रसर एक सच्चे साधक हो सकेंगे। साधनाङ्गमें बहुत तरहके साधनोंका वर्णन पढ़नेको मिलेगा और वे सभी साधन अधिकारभेदसे उत्तम हैं, परन्तु अन्तःकरणकी शुद्धि प्रायः सभी साधनोंमें आवश्यक है, इसलिये इन साधनोंका अभ्यास सभीको करना चाहिये। इनसे अन्तःकरणकी शुद्धि होगी और फिर यही परम साधन बनकर भगवत्प्राप्तिमें मुख्य हेतु बन जायँगे।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

कुछ उपयोगी साधन

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

साधन शब्दका अर्थ बहुत ही व्यापक है। परन्तु वास्तविक साधन तो उसे ही समझना चाहिये जो परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला हो। परमात्माकी प्राप्तिके लिये शास्त्रोंमें अनेकों प्रकारके साधन बतलाये गये हैं। उनमें सुगमता-पूर्वक हो सकनेवाले कुछ सरल साधनोंका उल्लेख यहाँ किया जाता है। विवेकदृष्टिसे विचार करनेपर सारे साधन ज्ञाननिष्ठा और योगनिष्ठा—इन दोनों निष्ठाओंके अन्तर्गत आ जाते हैं। जीवात्मा और परमात्माकी एकताके आधारपर होनेवाले जितने भी साधन हैं, वे सब ज्ञाननिष्ठाके अन्तर्गत हैं तथा जीवात्मा और परमात्माके भेदके आधारपर होनेवाले योग-निष्ठाके अन्तर्गत हैं। इसी बातको लक्ष्यमें रखते हुए भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अभेदनिष्ठाको सांख्य, संन्यास अथवा ज्ञानयोगके नामसे कहा है और भेदनिष्ठाको योग, कर्मयोग तथा भक्तियोग आदि नामोंसे। श्रीमद्भागवतमें भी अभेद और भेदनिष्ठाओंका विशद वर्णन है। इसी प्रकार गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी श्रीरामचरितमानसके उत्तर-काण्डमें ज्ञानदीपकके नामसे अभेदनिष्ठाका और भक्तिमणिके नामसे भेदनिष्ठाका वर्णन किया है।

वेद और उपनिषदोंके 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य अभेदनिष्ठा (अभेदज्ञान) का प्रतिपादन करते हैं और 'द्वा सुपर्णा' आदि श्रुतियाँ भेदनिष्ठाका प्रति-पादन करती हैं। इस प्रकार श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि वैदिक सनातनधर्मके प्रायः सभी आर्ष ग्रन्थोंमें भेदनिष्ठा और अभेदनिष्ठाका ही भेदोपासना और अभेदोपासना आदि अनेकों नामोंसे वर्णन किया गया है। इन्हीं दोनों निष्ठाओंके आधारपर यहाँ कुछ साधनोंका वर्णन किया जाता है।

अचिन्त्य ब्रह्मकी उपासना

नेत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ अनुभव किया जाता है एवं मनसे जो कुछ चिन्तन किया जाता है, अनुभव और चिन्तन करनेवाले इन्द्रियों और मनके सहित उस सम्पूर्ण दृश्यको नाशवान्, क्षणभङ्गुर और स्वप्नवत् समझकर उसका अभाव करना अर्थात् उसे अनित्य होनेके कारण असत् समझकर उससे रहित हो जाना और जिस बुद्धिवृत्तिके द्वारा सबका अभाव किया जाता है उस वृत्तिका त्याग करके उससे भी रहित हो जानेपर द्रष्टाका जो केवल चिन्मयस्वरूप बच रहता है अर्थात् दृश्यमात्रका अभाव हो जानेपर चिन्तन करनेवाला जो द्रष्टा शेष बच जाता है उसमें स्थित होना ही अचिन्त्य ब्रह्मकी उपासना है। इस उपासनारूप साधनसे दृश्य, दर्शनका बाध हो जाता है और द्रष्टाका परब्रह्म परमात्माके साथ तादात्म्य हो जाता है। यही परमात्माकी प्राप्ति है। जैसे घटाकाश और महाकाशके बीच व्यवधानरूप केवल घटकी आकृति ही भेद-दर्शनमें हेतु है इसी प्रकार जड दृश्यमात्र जीवात्मा और परमात्माके भेद-दर्शनमें हेतु है। जब यथार्थ ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण दृश्य और दर्शनका बाध हो जाता है, तब स्वभावतः ही जीवात्मा परमात्माको प्राप्त हो जाता है। जैसे घटके फूट जानेपर घटाकाशस्थानीय आकाश महाकाशके साथ एक हो जाता है उसी प्रकार जीवात्माका सच्चिदानन्दघन परमात्माके साथ एकीभाव हो जाता है अर्थात् वह अभेदरूपसे ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।

चराचररूप ब्रह्मकी उपासना—

जो भी कुछ चर-अचर, जड-चेतन संसार है, वह सब परमात्मासे ही उत्पन्न है, परमात्मामें ही स्थित है और परमात्मामें ही लीन हो जाता है, इसलिये वस्तुतः परमात्म-स्वरूप ही है।

जो पुरुष इस सम्पूर्ण संसारको परमात्माका स्वरूप समझकर परमात्मभावसे इसकी उपासना करता है, वह परमात्माको ही प्राप्त होता है।

यह उपासना भेद और अभेद दोनों ही दृष्टियोंसे की जा सकती है। भेददृष्टिवाला साधक समझता है कि जो कुछ है सो परमात्मा है और मैं उसका सेवक हूँ। जैसे गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा है—

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

और अभेद दृष्टिवाला साधक सारे संसारको एवं अपने-आपको भी परमात्माका स्वरूप मानता है। जैसे श्रीमद्भगवद्-गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च। (१३।१५)

'परमात्मा चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है।'

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ (१३।३०)

'जिस क्षण यह पुरुष भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक परमात्मामें ही स्थित तथा उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है, उसी क्षण वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।'

इस प्रकार इस सम्पूर्ण दृश्यमात्रको परमात्माका स्वरूप मानकर उसकी उपासना करते-करते साधककी सर्वत्र सम-बुद्धि हो जाती है और वह राग-द्वेषरहित होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

सङ्कल्पब्रह्मकी उपासना

सङ्कल्पब्रह्मकी उपासनामें जो भी कुछ अच्छे या बुरे सङ्कल्प मनमें उठते हैं उनको ब्रह्म मानकर उपासना की जाती है। इस प्रकार मनमें उठनेवाले प्रत्येक सङ्कल्पको ब्रह्म मानकर उपासना करनेवालेके लिये कोई भी सङ्कल्प (स्फुरणा) विघ्नकारक नहीं होते तथा उनमें समबुद्धि हो जानेके कारण अनुकूल और प्रतिकूल सङ्कल्पोंमें राग-द्वेष नहीं होता।

सङ्कल्पमात्रमें निरन्तर ब्रह्माकारवृत्ति बनी रहनेके कारण साधकको विज्ञानानन्दघन ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है।

शब्दब्रह्मकी उपासना

शब्दब्रह्मकी उपासना करनेवालेको जो भी कुछ भला या बुरा शब्द सुनायी देता है उसे वह ब्रह्म मानकर उपासना करता है। ब्रह्म सम और एक है, इसलिये साधककी शब्द-मात्रमें समबुद्धि हो जाती है। अतएव वह अनुकूल और प्रतिकूल शब्दोंमें राग-द्वेष और हर्ष-शोकसे रहित हो जाता है। कोई उसकी स्तुति या निन्दा करता है तो इससे उसके चित्तमें कोई विकार नहीं होता। शब्दमात्रको ब्रह्म माननेके कारण उसकी वृत्ति हर समय ब्रह्माकार बनी रहती है, जिससे उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

निःस्वार्थ कर्म-साधन

स्वार्थ (स्व-अर्थ) का अभिप्राय है—'अपने लिये' अपने व्यक्तिगत लाभके लिये, और निःस्वार्थका अर्थ है—'अपने लिये नहीं' अर्थात् दूसरों (समष्टि) के हितके लिये। साधारण मनुष्य यज्ञ, दान, तप, सेवा, तीर्थ, व्रत, उपवास, कृषि, वाणिज्य, खान-पान, शौच-स्नान, लेन-देन आदि जो कुछ भी कर्म करता है, किसी-न-किसी व्यक्तिगत स्वार्थको लेकर ही करता है। जैसे क्रय-विक्रय करनेवाला लोभी व्यापारी दूकान खोलनेके समयसे लेकर उसे बंद करनेतक दिनभर जो भी कुछ क्रय-विक्रय, लेन-देन आदि व्यापार करता है, सबमें उसका लक्ष्य हर समय यही रहता है कि अधिक-से-अधिक रुपये पैदा हों। जिसमें जरा भी अर्थकी हानि होती हो, ऐसा कोई भी काम वह जान-बूझकर कभी नहीं करना चाहता। इसी प्रकार यज्ञ, दान, तपादि कार्य करनेवाले सकामी लोग धन, स्त्री, पुत्र आदि इहलौकिक और स्वर्गादि पारलौकिक भोगोंकी कामनासे ही उन कामोंमें प्रवृत्त होते हैं।

यह स्वार्थ इतना व्यापक है कि किसी भी छोटे-से-छोटे कामका आरम्भ करनेके समय मनुष्य यही सोचता है कि इसके करनेसे मुझे व्यक्तिगत क्या लाभ होगा? किसी लाभका निश्चय करके ही वह कार्यमें प्रवृत्त होता है। बिना प्रयोजन एक पैंड भी चलना नहीं चाहता। उसके मनमें पद-पदपर स्वार्थकी भावना भरी रहती है। इसी स्वार्थ-बुद्धिसे मनुष्यको बार-बार दुःखरूप संसारचक्रमें भटकना पड़ता है। अतएव यथार्थ कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको स्वार्थरहित होकर लोक-हितके लिये ही कर्म करने चाहिये। जैसे स्वार्थी मनुष्य प्रत्येक कामके आरम्भमें यह सोचता है कि मुझे इसमें क्या लाभ होगा, ऐसे ही निःस्वार्थी पुरुषके मनमें यह भाव होना चाहिये कि इससे अन्य प्राणियोंका क्या हित होगा। जिस कामके आरम्भमें संसारका हित सोचकर प्रवृत्त हुआ जाता है, वही निष्काम कर्म है।

बहुत-से सज्जन लोकोपकारके कामोंमें धन-सम्पत्ति और शरीरके आरामका त्याग करते हैं और यह बहुत उत्तम है, परन्तु वे जो इसके बदलेमें मान, बड़ाई और प्रतिष्ठा चाहते हैं, इससे उनका वह त्याग निःस्वार्थ नहीं रह जाता। मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी कामनासे शुभ कर्म करनेवाले लोग अवश्य ही शुभ कर्म न करनेवालोंकी अपेक्षा तो बहुत ही अच्छे हैं, किन्तु वास्तविक कल्याणमें तो उनकी यह कामना भी बाधक ही है। और यदि कहीं राग-द्वेषके वश होना पड़ा तब तो इस कामनासे पतन भी हो सकता है। अतएव वास्तविक हित चाहनेवाले पुरुषको मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाकी इच्छाका भी सर्वथा त्याग करके विशुद्ध निःस्वार्थभावसे ही लोक-हितार्थ कर्म करने चाहिये।

कुछ सज्जन मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गकी इच्छाका भी त्याग करके केवल अपने आत्माके उद्धारकी इच्छासे यज्ञ, दान, तप, सेवा, सत्सङ्ग और व्यापार आदि शास्त्र-विहित कर्म करते हैं। यद्यपि इस प्रकार कर्म करनेवाले लोग उपर्युक्त सभी साधकोंसे श्रेष्ठ हैं, तथापि केवल अपने ही आत्माके उद्धारकी यह इच्छा भी सूक्ष्मरूप स्वार्थ-बुद्धिके कारण कभी-कभी मोहमें डालकर साधकको कर्तव्य-च्युत कर देती है। कहीं-कहीं तो यह राग-द्वेषको उत्पन्न करके साधकका पतन भी कर डालती है। इसलिये केवल अपने उद्धारकी इच्छा न रखकर सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणके उद्देश्यसे ही मनुष्यको शास्त्रविहित कर्मोंमें प्रवृत्त होना चाहिये। इस प्रकार निःस्वार्थभावसे कर्म करनेवाला मनुष्य सहज ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

संसारका हित चाहनेवाले ऐसे दयालु भक्तोंके सम्बन्धमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने तो यहाँतक कहा है—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥

इसका कुछ रहस्य निम्नलिखित दृष्टान्तके द्वारा समझना चाहिये।

भगवान्‌के एक भक्त जगत्‌के परम हितैषी थे। वे सदा-

सर्वदा जगत्‌के हितमें रत रहा करते थे। इसके फलस्वरूप एक दिन भगवान् स्वयं उनको दर्शन देनेके लिये उनके सामने प्रकट हुए और बोले—'तुम्हारी जो इच्छा हो वही वर माँगो।'

भक्तने कहा—'भगवन्! आपकी मुझपर जो अनन्त कृपा है, इससे बढ़कर और कौन-सी वस्तु है, जिसकी मैं याचना करूँ—आपकी कृपासे मुझे किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं है।'

भगवान्‌ने विशेष आग्रहपूर्वक कहा—'मेरे सन्तोषके लिये तुम्हें कुछ तो अवश्य ही माँगना चाहिये।'

भक्तने कहा—'प्रभो! यदि आपका इतना आग्रह है तो मैं यही चाहता हूँ कि मेरे मनमें यदि कुछ माँगनेकी इच्छा हो तो आप उसका सर्वथा विनाश कर दीजिये।'

भगवान् बोले—'यह तो तुमने कुछ भी नहीं माँगा। मेरी प्रसन्नताके लिये तुम्हें अवश्य कुछ माँगना पड़ेगा। तुम जो चाहो सो माँग सकते हो।'

भक्तने कहा—'जब आप इतना बाध्य करते हैं तो मैं यह माँगता हूँ कि आप संसारके सभी जीवोंका कल्याण कर दीजिये।'

भगवान्‌ने कहा—'यदि सब जीवोंका कल्याण कर दिया जाय तो उनके किये हुए पापोंका फल कौन भोगेगा?'

भक्तने कहा—'प्रभो! सबके पापोंका फल मुझे भुगता दीजिये।'

भगवान् बोले—'तुम-सरीखे भक्तको सब जीवोंके पापोंका दण्ड कैसे भुगताया जा सकता है?'

भक्तने कहा—'तो फिर सबको क्षमा कर दीजिये।'

भगवान्‌ने कहा—'इस प्रकार सबको पापोंका फल न भुगताकर उन्हें क्षमा कर देना तो असम्भव है।'

भक्तने कहा—'भगवन्! आप तो असम्भवको भी सम्भव करनेवाले सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हैं। आपके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है।'

भगवान्‌ने कहा—'इस प्रकार करनेके लिये मैं असमर्थ हूँ।'

भक्तने कहा—'यदि आप अपनेको असमर्थ कहते हैं, तो फिर आपने इच्छानुसार वर माँगनेके लिये इतना आग्रह क्यों किया था? आपको स्त्री, पुत्र, धन, मान-बड़ाई, स्वर्ग, मोक्ष आदि किसी एक वस्तुके माँगनेके लिये कहना चाहिये था। जो इच्छा हो सो माँगनेका वचन देनेपर तो याचककी माँग पूरी करनी ही चाहिये।'

भगवान्‌ने कहा—'भाई! मेरी हार और तुम्हारी जीत हुई। मैं भक्तोंके सामने सदा ही हारा हुआ हूँ।'

भक्तने कहा—'प्रभो! हार तो मेरी हुई। जीत तो तब होती जब आप सबका कल्याण कर देते।'

भगवान्‌ने कहा—'तुम्हारे इस निःस्वार्थभावसे मैं अति प्रसन्न हुआ हूँ। मैं तुम्हें यह वर देता हूँ कि जो कोई भी तुम्हारा दर्शन, स्पर्श और चिन्तन आदि करेगा, उसका भी कल्याण हो जायगा।'

इस प्रकार संसारका कल्याण चाहनेवाले निःस्वार्थ भक्तको विनोदमें भगवान्‌से भी बढ़कर कहना कोई अत्युक्ति नहीं है। अतएव कल्याणकामी पुरुषोंको निःस्वार्थभावसे लोक-हितार्थ ही सारे कर्म करने चाहिये।

सेवा-साधन

धन-सम्पत्ति, शारीरिक सुख और मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा आदिको न चाहते हुए ममता, आसक्ति और अहङ्कारसे रहित होकर मन, वाणी, शरीर और धनके द्वारा सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत होकर उन्हें सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना 'सेवा-साधन' कहलाता है। इस साधनसे साधकके चित्तमें निर्मलता और प्रसन्नता होकर उसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

उपर्युक्त प्रकारकी सेवा-साधना तीन प्रकारके भावोंसे की जा सकती है—एक ही ईश्वरकी सन्तान होनेके कारण सबको अपना 'बन्धु' मानते हुए, आत्मदृष्टिसे सबको अपना 'स्वरूप' समझते हुए, और परमात्मा ही सब भूतोंके हृदयमें स्थित है इसलिये सबको साक्षात् 'परमेश्वर' समझते हुए। इन तीनों भावोंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है। बन्धुभावसे होनेवाली सेवामें एक दूसरेके प्रति पर-बुद्धि होनेके कारण राग-द्वेषवश कभी झगड़ा भी हो सकता है, परन्तु आत्मभावमें इसकी सम्भावना नहीं है, अतः बन्धुभावसे की हुई सेवाकी अपेक्षा आत्मभावसे की हुई सेवा उत्तम है। आत्मभावसे की हुई सेवाकी अपेक्षा भी परमात्मभावसे की हुई सेवा उत्तम है, क्योंकि मनुष्य अपने इष्टकी सेवाके लिये प्रसन्नता-पूर्वक अपने प्राणोंका भी बलिदान कर सकता है। तीनों प्रकारके भावोंसे की हुई सेवाका परिणाम एक होनेपर भी भगवत्प्राप्तिमें शीघ्रताकी दृष्टिसे ही उत्तरोत्तर श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया गया है।

उत्तम देश, काल और पात्रके प्राप्त होनेपर जो न्यायानुकूल सेवा की जाती है, वही सेवा महत्त्वपूर्ण होती है। जैसे—अन्य देशोंकी अपेक्षा आर्यावर्त देश उत्तम माना गया है, उसमें भी काशी आदि तीर्थ अधिक उत्तम माने गये हैं। परन्तु यदि काशी आदि तीर्थोंमें अन्नकी फसल अच्छी हो और मगध आदि देशोंमें भयङ्कर अकाल पड़ा हो तो अन्नदानके लिये काशीकी अपेक्षा मगध अधिक उपयुक्त देश है। इसी प्रकार यद्यपि साधारण कालकी अपेक्षा एकादशी, पूर्णिमा, सोमवती, व्यतिपात, ग्रहण और पर्वकाल दानके लिये श्रेष्ठ हैं तथापि यदि अन्य कालमें अन्नके बिना प्राणी मरते हों तो पर्वकालकी अपेक्षा भी वह

पर्वातिरिक्त काल अन्नदानके लिये श्रेष्ठ काल है। पात्रके विषयमें भी ऐसा ही समझना चाहिये। जिस प्राणीके द्वारा जितना अधिक उपकार होता है, उतना ही वह सेवाका अधिक पात्र है। जैसे कीड़े, चींटी आदिकी अपेक्षा पशु आदि, पशुओंमें भी अन्य पशुओंकी अपेक्षा गाय आदि, पशुओंकी अपेक्षा मनुष्य, मनुष्योंमें भी दूसरोंकी अपेक्षा उत्तम गुण और आचरणवाले पुरुष सेवाके विशेष पात्र हैं। उदाहरणके लिये—यदि देशमें बाढ़ या अकाल आदिके कारण प्राणी भूखों मर रहे हों और साधकके पास थोड़ा-सा परिमित अन्न हो तो ऐसी स्थितिमें पूर्वमें बतलाये हुए प्राणियोंकी अपेक्षा बादमें बतलाये हुए उत्तरोत्तर सेवाके अधिक पात्र हैं, क्योंकि उनके द्वारा उत्तरोत्तर लोकोपकार अधिक होता है। परन्तु इसमें भी यह बात है कि जिसके पास अन्नका जितना अधिक अभाव हो उतना ही उसे अधिक पात्र समझना चाहिये। जैसे—किसी देशमें अकाल होनेपर भी गायोंके लिये चारेकी कमी न हो पर कुत्ते भूखों मरते हों तो वहाँ कुत्ते ही अधिक पात्र हैं। इसी प्रकार सबके विषयमें समझना चाहिये। प्यासेको पानी, नङ्गोंको वस्त्र, बीमारको औषध और आतुरको अभयदान आदिके विषयमें भी यही बात समझनी चाहिये।

परन्तु विशेष ध्यान देनेकी बात तो यह है कि सेवा-साधनमें क्रियाकी अपेक्षा भावकी प्रधानता है। स्त्री-पुत्र, धन-मान, बड़ाई-प्रतिष्ठा और स्वर्गादिकी प्राप्तिके उद्देश्यसे तत्परताके साथ आजीवन किये हुए उपर्युक्त विशाल सेवा-कार्यकी अपेक्षा ममता, आसक्ति और अहङ्कारसे रहित होकर निःस्वार्थभावसे की हुई थोड़ी सेवा भी अधिक मूल्यवाली होती है।

पञ्च महायज्ञ-साधन

पञ्च महायज्ञसे हमारे नित्यके पापोंका प्रायश्चित्त तो होता ही है, यदि स्वार्थत्यागपूर्वक निष्कामभावसे केवल भगवत्प्रीत्यर्थ इनका साधन किया जाय तो इनसे भगवत्प्राप्ति भी हो जाती है।

ब्रह्मयज्ञ (ऋषियज्ञ), पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ (बलिवैश्व) और मनुष्ययज्ञ—ये पञ्च महायज्ञ कहलाते हैं।* जिस कर्मसे बहुतोंकी तृप्ति हो उसे यज्ञ कहते हैं और जिससे सारे संसारकी तृप्ति हो उसे महायज्ञ कहते हैं। इस दृष्टिसे इनका महत्त्व बहुत अधिक है।

देवयज्ञसे मुख्यतासे देवताओंकी, ऋषियज्ञसे ऋषियोंकी, पितृयज्ञसे पितरोंकी, मनुष्ययज्ञसे मनुष्योंकी और भूतयज्ञसे भूतोंकी तृप्ति होती है और गौणरूपसे इनके द्वारा सारे संसारकी तृप्ति होती है। वैदिक सनातनधर्मके इन महायज्ञोंमें सम्पूर्ण संसारके जीवोंके हितके लिये जैसा दया और उदारतापूर्ण स्वार्थ-त्यागका भाव भरा है, वैसा अन्य धर्मोंमें देखनेमें नहीं आता।

वेद और शास्त्रोंका पठन-पाठन जगत्‌के हितार्थ ऋषियोंको सन्तुष्ट करनेके लिये ही किया जाता है, अपने स्वार्थके लिये नहीं। सन्ध्योपासनमें भी 'पश्येम शरदः' आदिमें सबके हितकी ही प्रार्थना की गयी है। और इसी प्रकार गायत्रीमन्त्रमें स्तुति और ध्यान बतलाकर सभीकी बुद्धियोंको सत्कार्यमें लगानेकी प्रार्थना की गयी है।

पितृतर्पणमें भी देवता, ऋषि, मनुष्य, पितर एवं सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको जलदान करनेकी विधि है। यहाँतक कि पहाड़, वनस्पति और शत्रु आदिको भी जल देकर तृप्त किया जाता है।

देवयज्ञमें अग्निमें आहुति दी जाती है। वह सूर्यको प्राप्त होती है और सूर्यसे वृष्टि और वृष्टिसे अन्न और प्रजाकी उत्पत्ति होती है।†

भूतयज्ञसे भी सारे प्राणियोंकी तृप्ति होती है। इसको बलिवैश्वदेव भी कहते हैं, क्योंकि इसमें सारे विश्वके लिये बलि दी जाती है।

मनुष्ययज्ञमें घर आये हुए अतिथिका सत्कार करके उसे विधिपूर्वक यथाशक्ति भोजन कराया जाता है‡। यदि भोजन करानेकी सामर्थ्य न हो तो उसे बैठनेके लिये जगह, आसन, जल और मीठे वचनोंका दान तो गृहस्थको अवश्य ही करना चाहिये।§

उपर्युक्त पाँच प्रकारके महायज्ञोंपर ऋषियोंने बहुत

---

* अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥
(मनु० ३। ७०)

वेद-शास्त्रका पठन-पाठन एवं सन्ध्योपासन, गायत्रीजप आदि ब्रह्मयज्ञ (ऋषियज्ञ) है, नित्य श्राद्धतर्पण पितृयज्ञ है, हवन देवयज्ञ है, बलिवैश्वदेव भूतयज्ञ है और अतिथि-सत्कार मनुष्ययज्ञ है।

† अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥
(मनु० ३। ७६)

‡ सम्प्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम्॥
(मनु० ३। ९९)

§ तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥
(मनु० ३। १०१)

जोर दिया है। अतएव स्वाध्यायसे ऋषियोंका, हवनसे देवताओंका, तर्पण और श्राद्धसे पितरोंका, अन्नसे मनुष्योंका और बलिकर्मसे सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका यथायोग्य सत्कार करना चाहिये।* इस प्रकार जो मनुष्य नित्य सब प्राणियोंका सत्कार करता है वह तेजोमय मूर्ति धारणकर सरल अर्चिमार्गके द्वारा परमधामको प्राप्त होता है।† इसके विपरीत जो मनुष्य दूसरोंको भोजन न देकर केवल अपने ही उदर-पोषणके लिये भोजन बनाता है, वह पापायु मनुष्य पाप ही खाता है। सबको भोजन देनेके बाद शेष बचा हुआ अन्न यज्ञशिष्ट होनेके कारण अमृतके तुल्य है, इसलिये ऐसे अन्नको ही सज्जनोंके खाने योग्य कहा गया है।‡

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें अध्याय ३ श्लोक १३ में भी प्रायः ऐसी ही बात कही है।§

उपर्युक्त सभी महायज्ञोंका तात्पर्य है सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंकी अन्न और जलके द्वारा सेवा करना एवं अध्ययन-अध्यापन, जप, उपासना आदि स्वाध्यायद्वारा सबका हित चाहना। अपने स्वार्थके त्यागकी बात तो पद-पदमें बतलायी गयी है।

हवनके और बलिवैश्वदेवके मन्त्रोंमें भी स्वार्थत्यागकी ही बात कही गयी है। जैसे 'ॐ इन्द्राय स्वाहा, इदमिन्द्राय न मम। ॐ ब्रह्मणे स्वाहा, इदं ब्रह्मणे न मम।' इस न ममका अभिप्राय यह है कि यह आहुति इन्द्रके लिये दी जाती है, इसका फल मैं नहीं चाहता। यह आहुति ब्रह्मके लिये दी जाती है, इसका फल मैं नहीं चाहता। अन्य मन्त्रोंमें भी इसी प्रकारके त्यागकी बात जगह-जगहपर कही गयी है। इन सबसे यही शिक्षा मिलती है कि मनुष्य-को अपने स्वार्थका त्याग करके संसारके हितके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये।

सम्पूर्ण संसारके प्राणियोंमें एक मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जो प्राणीमात्रकी सेवा कर सकता है। अन्य प्राणियोंके द्वारा भी जगत्का बहुत उपकार होता है, किन्तु सबकी सेवा तो केवल मनुष्य ही कर सकता है। मनुष्यका शरीर खान-पान, ऐश-आराम और भोग भोगनेके लिये नहीं मिला है। ये सब तो अन्य योनियोंमें भी प्राप्त हो सकते हैं। मनुष्यका जन्म तो प्राणीमात्रके हितकी चेष्टा करनेके लिये ही मिला है। अतएव सब लोगोंको चाहिये कि अपने तन, मन और धनद्वारा निःस्वार्थभावसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी सेवाके लिये तत्परतासे चेष्टा करें। और इस प्रकार प्राणीमात्रमें विराजित भगवान्की सेवा करके उनको प्राप्त कर सफल-जीवन हों।

विषय-हवनरूप साधन

इन्द्रियोंके विषयोंको राग-द्वेषरहित होकर इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति होती है। शब्द, स्पर्श, रूप आदिका श्रवण, स्पर्श और दर्शन आदि करते समय अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थोंमें राग-द्वेषरहित होकर उनका न्यायोचित सेवन करनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और उसमें 'प्रसाद'का अनुभव होता है। उस 'प्रसाद'से सारे दुःखोंका नाश होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। परन्तु जबतक इन्द्रियाँ और मन वशमें नहीं होते और भोगोंमें वैराग्य नहीं होता, तबतक अनुकूल पदार्थके सेवनसे राग और हर्ष एवं प्रतिकूलके सेवनसे द्वेष और दुःख होता है। अतएव सम्पूर्ण पदार्थोंको नाशवान् और क्षणभङ्गुर समझकर न्यायसे प्राप्त हुए पदार्थोंका विवेक और वैराग्ययुक्त बुद्धिके द्वारा समभावसे ग्रहण करना चाहिये। श्रवण, दर्शन, भोजनादि कार्य रसबुद्धिका त्याग करके कर्तव्यबुद्धिसे भगवत्प्राप्तिके लिये करने चाहिये। इन पदार्थोंमें ऐशो-आराम, मौज-शौक, स्वाद-सुख और इन्द्रियतृप्ति, रमणीयता या भोग-बुद्धिकी भावना ही मनुष्यके मनमें विकार उत्पन्न करके उसका पतन करनेवाली होती है। उपर्युक्त दोषोंसे रहित होकर विवेक और वैराग्ययुक्त बुद्धिके द्वारा किये जानेवाले इन्द्रियोंके विषय-सेवनसे तो हवनके लिये अग्निमें डाले हुए ईंधनकी तरह वे सब पदार्थ अपने आप ही भस्म हो जाते हैं। फिर उनकी कोई भी सत्ता या प्रभाव नहीं रह जाता। इस प्रकार साधन करते-करते अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर सारे दुःखों और पापोंका अभाव होकर परमात्माके स्वरूपमें स्थिर और अचल स्थिति हो जाती है अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

---

* स्वाध्यायेनार्चयेतर्षीन्होमैर्देवान्यथाविधि।
पितॄञ्छ्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥
(मनु० ३। ८१)

† एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति।
स गच्छति परं स्थानं तेजोमूर्तिः पथर्जुना॥
(मनु० ३। ९१)

‡ अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते॥
(मनु० ३। ११८)

§ यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
(गीता ३। १३)

महात्माओंका आज्ञापालनरूपी साधन

जो पुरुष महात्माओंके* पास जाकर उनके उपदेशको सुनकर उसके अनुसार साधन करता है, उसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥
(१३। २५)

'परन्तु दूसरे जो पुरुष स्वयं इस प्रकार (ध्यानयोग, सांख्ययोग और कर्मयोग) न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले महापुरुषोंसे सुनकर तदनुसार उपासना करते हैं, वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं।'

अतएव जो पुरुष श्रद्धा-भक्तिपूर्वक महात्माओंकी आज्ञाका पालन करता है, उसका कल्याण हो जाता है। शास्त्रोंमें इसके अनेक उदाहरण भी मिलते हैं।

महाभारत आदिपर्वके तीसरे अध्यायमें २०से ३२ श्लोकतक आयोदधौम्य और उनके शिष्य पाञ्चालदेशीय आरुणिकी कथा है। वहाँ लिखा है कि शिष्यको गुरुने खेतमें जाकर खेतकी मेंड बाँधनेकी आज्ञा दी। शिष्य जब चेष्टा करनेपर भी मिट्टीसे मेंड न बाँध सका तब उसने स्वयं जलके प्रवाहके सामने सोकर जलको रोक लिया। जब शामतक वह घर न लौटा तो गुरु उसे खोजते हुए खेतमें आये और पुकारने लगे। उनकी आवाज सुनकर आरुणि उठा और जाकर सामने खड़ा हो गया। मिट्टीके स्थानपर खुद उसके पड़नेकी बात जानकर धौम्यमुनि उसकी आज्ञापालन-परायणताको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने वरदान दिया कि तुमने जो मेरी आज्ञाका पालन किया है, इससे तुम्हारा कल्याण हो जायगा। समस्त वेद और धर्मशास्त्रोंका ज्ञान तुम्हें बिना ही पढ़े अपने आप हो जायगा।† इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद्‌के अध्याय ४, खण्ड ४से ९ में भी एक कथा आती है। हारिद्रुमत गौतम ऋषिने अपने शिष्य सत्यकाम जाबालका उपनयनसंस्कार करके उसे ४०० कृश और दुर्बल गायोंको वनमें ले जाकर चरानेकी आज्ञा दी। शिष्यने गुरुका भाव समझकर यह कहा कि जब इन गायोंकी संख्या पूरी १००० हो जायगी, तब मैं लौट आऊँगा।

कई वर्ष बीतनेपर एक दिन एक साँड़ने उससे कहा कि अब हम पूरे हजार हो गये हैं, तुम हमें गुरुके पास ले चलो। सत्यकाम जब उन्हें लेकर आने लगा तो गुरुकृपासे उसे साँड़, अग्नि, हंस और मद्गु (जलचर पक्षी) ने मार्गमें ही ब्रह्मका उपदेश दे दिया। जब वह घर लौटा तो उसे देखकर गुरुने कहा—'तुम तो ब्रह्मवेत्ता-से प्रतीत हो रहे हो, तुमको उपदेश किसने दिया?' सत्यकामने रास्तेकी सच्ची-सच्ची घटना बतलाकर कहा—'मैं अब आपके द्वारा उपदेश प्राप्त करना चाहता हूँ।' महर्षि गौतमने उसे पुनः अक्षरशः वही ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया जो उसे रास्तेमें प्राप्त हुआ था।

इसी प्रकारके और भी अनेक उदाहरण शास्त्रोंमें आते हैं, जिनमें महात्माओंके आज्ञापालनमात्रसे ही शिष्योंका कल्याण हुआ है।

'महात्माओंके आज्ञापालनसे परम कल्याण हो इसमें तो कहना ही क्या है, उनका दर्शन, स्पर्श और चिन्तन भी कल्याणका परम कारण होता है।

देवर्षि नारदजीने कहा है—

महत्सङ्गस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च। (नारदभक्तिसूत्र ३९)

'महात्मा पुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ, अगम्य और अमोघ है।'

महात्माओंका मिलना कठिन है, मिलनेपर उन्हें पहचानना कठिन है, परन्तु न पहचाननेपर भी उनका मिलना व्यर्थ नहीं होता, वह महान् कल्याणकारक होता है। जैसे सूर्यको न जानकर भी यदि कोई सूर्यके सामने आ जाय तो उसकी सरदी दूर हो जाती है। यह सूर्यका स्वाभाविक गुण है। इसी प्रकार महात्माओंका मिलन अपने स्वाभाविक वस्तुगुणसे ही मनुष्योंको तारनेवाला होता है।

अतएव महात्माओंके सङ्ग और उनके आज्ञापालनसे सबको लाभ उठाना चाहिये।

---

* ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यासी कोई भी पुरुष जो गीता अध्याय १२ श्लोक १३ से १९ और अध्याय १४ श्लोक २२ से २५ में वर्णित लक्षणोंसे युक्त हो, उसीको महात्मा समझना चाहिये।

† यस्माच्च त्वया मद्वचनमनुष्ठितं तस्माच्छ्रेयोऽवाप्स्यसि।
सर्वे च ते वेदाः प्रतिभास्यन्ति सर्वाणि च धर्मशास्त्राणीति॥
(महा० आ० प० ३। ३२)

सत्य-साधना

प्रेम-धर्मकी रीति

(लेखक—श्रीसुरजचन्दजी सत्यप्रेमी)

जगतमें दुःख भरे नाना।
प्रेमधर्मकी रीति समझकर, सब-सहते जाना ॥ जगतमें दुःख भरे नाना ॥ टेक ॥

सरल सत्य शिव सुन्दर कहना,
हिलमिल करके सबमें रहना।
अपनी नीची ओर देखकर, धीरज-धन पाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ १ ॥

वे भी हैं पृथ्वीके ऊपर,
जिनको जीना भी है दूभर।
उनकी हालतमें हमदर्दी, दिलसे दिखलाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ २ ॥

अन्न-वस्त्रमें क्यों दुविधा हो,
इनकी तो सबको सुविधा हो।
भूखे या बेकार बन्धुको हिम्मत पहुँचाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ ३ ॥

यदि तन-धन-जनसे विहीन हम,
पर मनसे क्यों बनें दीन हम ?
भला न सोचा अगर किसीका—बुरा न सुझवाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ ४ ॥

जितना हो दुनियाको देना,
बदलेमें कम-से-कम लेना।
जग-हितमें सर्वस्व मुक्त कर, सत्य मोक्ष पाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ ५ ॥

ये सब कंचन-कामिनिवाले,
क्षणभरको बनते मतवाले।
पर यह तो भीतर तृष्णाकी, भट्टी भड़काना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ ६ ॥

कण-भर सुख है, मण-भर दुख है,
विषय-वासनाका यह रुख है।
हाय-हाय मचती रहती है, चैन नहीं पाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ ७ ॥

काम भोग अनुकूल न पायें,
पर तृष्णाको नहीं बढ़ायें।
इच्छा ईंधन सदा अनलमें, यह न भूल जाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ ८ ॥

जीवन जलत-बुझत दीवट है,
जल-घटकोंका यंत्र रँहट है।
भरता है रीता होनेको, रीता भर जाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥ ९ ॥

झूठे वैभव पर क्यों फूला,
यह तो ऊँचा-नीचा झूला।
धन-यौवनके चंचल-बलपर, कभी न इतराना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥१०॥

नीति-सहित कर्तव्य निभाना,
अपने-अपने खेल दिखाना।
संन्यासी हों या गृहस्थ हों, रंक हों कि राना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥११॥

उठना गिरना हँसना रोना,
पर चिन्तामें कभी न सोना।
कर्मबंधके बीज न बोना, सत्य-योग-ध्याना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥१२॥

ईश्वर एक, भरा हम सबमें,
श्रद्धा रहे राम या रबमें।
'सबके सुखमें अपने सुख' का तत्त्व न बिसराना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥१३॥

दिव्य गुणोंकी कीर्ति बढ़ाना,
जग-जीवनको स्वर्ग बनाना।
दुनियाका नंदन वन फूले, वह रस बरसाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥१४॥

जीवन्मुक्ति-मर्म समझाना,
हृदयोंको स्थितप्रज्ञ बनाना।
सदा सत्यमय प्रेम-मंत्रके अमर-गीत गाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥१५॥

सब ही शास्त्र बने हैं सच्चे,
किन्तु समझनेमें हम कच्चे।
पक्षपातका रंग चढ़ाकर, क्यों भ्रम फैलाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥१६॥

अविवेकी चक्कर खाता है,
तब लड़ना भिड़ना भाता है।
रागद्वेषसे वैर बसाकर, धर्म न लजवाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥१७॥

सब धर्मोंने रस बरसाया,
पाप-अनलका ताप बुझाया।
यह रस भी अब तपा अनलसे, अंग न जलवाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥१८॥

जाति-भेद हैं इतने सारे,
बने सभी सुविधार्थ हमारे।
मानवताका भाव भूल क्यों मदमें मस्ताना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥१९॥

धर्म-पंथमें भेद भले हों,
पर अपवाद विरोध टले हों।
एक सूत्रमें विविध पुष्पकी, माला पिरवाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥२०॥

नैतिक नियमोंका पाबंदी,
संत स्वतंत्र सदा आनंदी।
पर पर-पीड़ामें उसको भी, आँसू बह आना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥२१॥

युक्त अहार-विहार सदा हो,
फिर भी होना रोग बदा हो।
इस जीवनका नहीं भरोसा, मनको समझाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥२२॥

हर हालतमें हों सम भावी,
बनें धर्मके सच्चे दावी।
सभी अवस्थाएँ अस्थिर हैं, हरदम गम खाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥२३॥

कोई हो ऐसा अन्यायी,
बन जाये जगको दुखदायी।
उसे बचाना प्राण-मोह है, यह न दया लाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥२४॥

विनयी सत्य-अहिंसक होना,
पर भौतिक भी शक्ति न खोना।
परके सिरपर किन्तु शांतिकी नींव नहीं आना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥२५॥

मनको सीधे पंथ चलाना,
यथा-लाभ संतुष्ट बनाना।
पर-हित करके आत्म-प्रशंसक गर्व नहीं लाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥२६॥

छल प्रपंच पाखंड भुलाना,
दुःखार्थोंका दम्भ मिटाना।
भेष दिखा करके भोलोंको, कभी न बहकाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥२७॥

भूलें महामोहकी मस्ती,
बस जाये फिर उजड़ी बस्ती।
हितकर मनहर सद् भावोंका सरवर लहराना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥२८॥

ये सब नभके मेघ रसीले,
इन्द्र-धनुष हैं विविध रँगीले।
ऐसा ही बस अपना मन हो, मैल नहीं लाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥२९॥

इन सफेद आँखोंमें लाली,
उसमें भी है फीकी काली।
भिन्न-भिन्न मिल जायँ स्नेहसे, सुंदरता पाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥३०॥

यह हलकी-सी जीभ हमारी,
रस चखती है भारी-भारी।
पर क्यों इतनी विशद बुद्धिने, तत्त्व न पहचाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥३१॥

ज्वालामुख भूकम्प प्रलय सब,
ये संकट आ जाते जब-तब।
एक दिवस हमको मरना है, फिर क्यों घबराना ?
जगतमें दुःख भरे नाना ॥३२॥

यह तो प्रकृति-देविकी लीला,
क्षण-क्षणमें संघर्षण-शीला।
यथाशक्ति सहयोग परस्पर लेना दिलवाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥३३॥

आधा नर है आधी नारी,
मानव-रथ दो-चक्र-विहारी।
एक दूसरेके उपकारी, पूरक कहलाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥३४॥

पूर्ण ब्रह्मका ध्रुव प्रकाश है,
क्यों किसका जीवन निराश है।
सच्चे बनकर चिदानन्दमें आप समा जाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥३५॥

अन्तस्तलमें फैली माया,
द्रोह-मोहका घन तम छाया।
सत्य-प्रेमके 'सूर्यचंद' की किरणें चमकाना ॥
जगतमें दुःख भरे नाना ॥३६॥

प्रेम-धर्मकी रीति समझकर, सब सहते जाना।
जगतमें दुःख भरे नाना ॥

सबसे पहली साधना

(लेखक—स्वामीजी श्रीतपोवनजी महाराज)

सबसे पहले मनुष्यको मनुष्य बननेके लिये साधना करनी चाहिये। मनुष्यके आकारमात्रसे ही कोई मनुष्य नहीं हो सकता। आकारके साथ ही उसमें मनुष्योचित गुण भी होने चाहिये। जिसमें मनुष्यके गुण विद्यमान हैं, वही वस्तुतः 'मनुष्य' शब्दका वाच्य हो सकता है। पशु-मनुष्य, मनुष्य-मनुष्य, और देव-मनुष्य—इस प्रकार स्थूलरूपसे मनुष्यके तीन विभाग किये जा सकते हैं। सच कहा जाय तो किसी-किसी अंशमें तो मनुष्य पशुसे भी निकृष्टतर जन्तु है। आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि चेष्टाएँ पशुओंमें प्रकृतिके अनुसार नियमपूर्वक परिमितरूपमें हुआ करती हैं। पशु अपने आन्तरिक भावको किसी भी प्रकारसे छिपानेका प्रयत्न नहीं करते। भीतर क्रोध होता है तो बाहर भी क्रोध प्रकट करते हैं। उनके मनमें विषाद होता है तो चेहरेपर भी आ जाता है। अंदर भूख-प्यास होती है तो वे बाहर भी वैसी ही चेष्टा करते हैं। परन्तु यह मनुष्य-जन्तु तो ऐसा है कि उसके भीतर रागकी आग धधकती रहती है, पर बाहरसे बड़ा विरक्त बन जाता है। चित्त क्रोधसे आकुल होनेपर भी बाहरसे प्रेम दिखलाता है। मन शोकसागरमें डूबा रहता है, परन्तु बाहर सर्वथा अशोक और हर्षका स्वाँग भरता है और अंदरसे पक्का नास्तिक होनेपर भी बाहर पूरा आस्तिक और धर्मोपदेशक बन बैठता है। इस प्रकारकी अप्राकृतिक जालसाजियोंके और अनियमित भोगलिप्साओंके कारण यह मनुष्य-जन्तु पशुओंकी श्रेणीमें भी स्थान न पाकर उनसे भी नीचा जीवन व्यतीत करता है।

कहना न होगा कि धर्म और अधर्मका ज्ञान न होनेके कारण जगत्‌में केवल इन्द्रियसम्बन्धी व्यवहार करनेवाले पशु-मनुष्यकी अपेक्षा भी वह भोगपरायण और दम्भी मनुष्य अत्यन्त निकृष्ट है, जो प्रकृतिसिद्ध भोगोंके अतिरिक्त नाना प्रकारके कृत्रिम और महान् अनर्थकारी भोगोंका लोलुप होकर उन्हींकी प्राप्तिके उपायोंमें लगा रहता है तथा धर्मध्वजी बनकर अपने वागूजालसे लोगोंको ठगा करता है। पशुमें कृत्याकृत्यका ज्ञान नहीं होता। यही उसमें मुख्य दोष है। इसीलिये जिस मनुष्यमें कृत्याकृत्यका ज्ञान नहीं होता, वह पशु-मनुष्य कहलाता है। परन्तु उपर्युक्त मनुष्य तो अनेकों प्रकारके महान् अक्षन्तव्य दोषोंसे दूषित है। पढ़े-लिखे, पण्डित और बुद्धिमान् होनेका अभिमान रखनेवाले लोग ही अधिकतर इस नीच श्रेणीके भूषण देखनेमें आते हैं। सीधे-सादे पशुतुल्य गँवार मनुष्योंमें तो इस अनर्थकारिणी नीच कलाका विकास ही नहीं होता।

इसलिये मनुष्यको सबसे पहले मनुष्यत्व प्राप्त करनेकी साधना करनी चाहिये। प्राचीन समयमें गुरुकुलवास, गुरु-शुश्रूषा, सदाचार-निष्ठा आदि ऐसी उत्तम-उत्तम वैदिक प्रथाएँ थीं कि उनके प्रभावसे मनुष्यमें आप ही मनुष्यत्वका विकास हो जाता था। उस समय मनुष्यत्वके लिये विशेष साधना करनेकी आवश्यकता नहीं थी। आजकल तो, हेतु कुछ भी क्यों न हो, मनुष्य अपने मनुष्यत्वको ही खो रहा है। और जब मनुष्यमें मनुष्यत्व ही न हो तब फिर वह दिव्य-गुण-सम्पन्न देव-मनुष्य तो हो ही कैसे सकता है! ईश्वराराधन, ईश्वरभक्ति, अध्यात्म-विचार तथा ध्यान और समाधि आदि ऊँची दिव्य साधनाएँ ऐसे पतित मनुष्योंके द्वारा कैसे सम्पादित हो सकती हैं!

'नाविरतो दुश्चरितात्।'

—इत्यादि श्रुतियाँ दुराचरण और दुर्गुणोंसे रहित उत्तम पुरुषोंका ही अध्यात्मसाधनामें अधिकार बतलाती हैं। कर्म, योग, भक्ति और ज्ञानसम्बन्धी वैदिक, तान्त्रिक अथवा पौराणिक अध्यात्मसाधना श्रेष्ठ सदाचारी पुरुष ही कर सकते हैं। हठ, दुराग्रह या कौतूहलपूर्वक अनधिकार चेष्टा करनेसे क्या फल हो सकता है?

अतएव हे मनुष्य! तुम पहले मनुष्य बनो! मनुष्यत्वके लिये जिन साधनाओंकी आवश्यकता है, पहले उन्हींको करो। धर्मका ज्ञान न हो तो सत्पुरुषोंकी सङ्गतिसे पहले उसे प्राप्त करो। धर्मज्ञान हो तो उसमें श्रद्धा और निष्ठा करके तदनुकूल आचरण करो। शुद्ध आचरण ही मनुष्यत्वके मापनेका मानदण्ड है।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

—इस उक्तिको सदा याद रक्खो। तथा—

'सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न

प्रमदितव्यम्। सत्यं वद। धर्मं चर। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि।'

—इत्यादि श्रुतिवचनोंके अनुसार सत्य, धर्म, दया, दान, समता, मैत्री, तप, शम, दम, सन्तोष, धैर्य, स्थैर्य, क्षमा, शौच, आर्जव (मन, वाणी और शरीरकी सरलता—एकरूपता), ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, गुरुभक्ति, मातृभक्ति, पितृभक्ति, देशभक्ति, दीनसेवा आदि श्रेष्ठ गुणोंका उपार्जन करके सच्चे धर्मनिष्ठ सदाचारी मनुष्य बनो। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी, भरत, लक्ष्मण, युधिष्ठिर एवं सीता, सावित्री आदि ऐतिहासिक उत्तम-उत्तम पुरुषरत्न और स्त्रीरत्नोंके जीवनको सामने रखकर अपनेको उसीके अनुसार सच्चा और श्रेष्ठ मनुष्य बनानेकी चेष्टा करो।

उत्तम मनुष्य ही ईश्वर-प्राप्तिकी दिव्य ईश्वरीय साधना करनेका अधिकारी होता है। इसलिये प्रकाण्ड ताण्डव छोड़कर अर्थात् बड़े-बड़े ईश्वरभक्त और ब्रह्मज्ञानियोंके देवपूज्य और देवदुर्लभ उच्च स्थानोंपर आरोहण करनेकी उत्सुकता त्यागकर सबसे पहले मनुष्यत्वको प्राप्त करनेकी सच्ची साधना करो। धर्माचरणरूपी यह धार्मिक साधना ही अध्यात्म-मन्दिरपर चढ़नेके लिये पहली सीढ़ी है। इसलिये यही सबसे पहली साधना है।

साधनकी अनिवार्य आवश्यकता

'उत्तिष्ठध्वं जागृध्वमभिमिच्छध्वं भारताः।'

—श्रुति

'बुद्धिमानो! उठो, जागो और भगवत्प्राप्तिकी इच्छा करो।'

विचारशील मनुष्यके सामने सबसे पहले यह प्रश्न आता है कि हमें क्या चाहिये? और जो चाहिये, उसके लिये हमें क्या करना चाहिये। पहले उद्देश्यका निश्चय, तत्पश्चात् उसकी साधनाका निश्चय होता है। मनुष्य कुछ-न-कुछ चाहता है। कोई धन-सम्पत्ति चाहता है, कोई स्त्री-पुत्र चाहता है, कोई मान-प्रतिष्ठा और कीर्ति चाहता है, कोई सुन्दर शरीर चाहता है और कोई चाहता है अप्रतिहत शासन। इस चाहके और भी अनेकों नाम-रूप हो सकते हैं। परन्तु ये भी जीवनके उद्देश्य नहीं, क्योंकि इनके द्वारा भी सुख ही चाहा जाता है। यदि ये दुःखके कारण बन जायँ तो इनके भी परित्यागकी इच्छा होती है और परित्याग कर दिया जाता है। इसलिये यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि मनुष्य-जीवनका लक्ष्य परम सुखकी प्राप्ति है—ऐसी प्राप्ति, जिसमें किसी प्रकारकी सीमा, अन्तराय अथवा विच्छेद न हो—चाहे वह संग्रहसे हो चाहे त्यागसे। यही कारण है कि मनुष्य जिसको सुख समझता है उसको प्राप्त करनेके लिये दौड़ पड़ता है, सम्पूर्ण शक्तिसे उसके लिये प्रयत्न करता है। इस प्रयत्नका नाम ही साधना है।

साधारण मानव-समाजकी ओर दृष्टि डाली जाय तो यह प्रत्यक्ष ही दीख पड़ता है कि सभी किसी-न-किसी साधनमें लगे हुए हैं। ऐसा होनेपर भी वे दुःखी हैं, निराश हैं और साधना करके जिस आत्मतुष्टिका अनुभव करना चाहिये उससे वञ्चित हैं। इसका कारण क्या है? शान्त और गम्भीर चित्तसे विचार करनेपर जान पड़ता है कि जीवनका उद्देश्य निश्चय करनेमें ही उन्होंने भूल की है। धधकती हुई आगको शीतल मणि-खण्ड समझकर गोदमें उठा लेना जैसे सुखका कारण नहीं हो सकता, विषको अमृत समझकर पीना जैसे अमरत्वका कारण नहीं हो सकता, ठीक वैसे ही विनाशी वस्तुओंको सुख समझकर अपनानेसे सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जिन स्थूल और जड वस्तुओंमें सुखकी कल्पना करके साधारण मनुष्य जी-तोड़ परिश्रम कर रहे हैं, उनकी प्राप्ति होनेपर भी सुख नहीं मिलता; क्योंकि उनमें सुख है ही नहीं। इसीसे वे दुःखी हैं और तबतक उनका दुःख नहीं मिट सकता, जबतक सुखके वास्तविक स्थानका पता लगा कर वे उसको प्राप्त नहीं कर लेते।

वास्तविक सुख क्या है? इसका एकमात्र उत्तर है—**परमात्मा**। क्योंकि संसारमें जब कभी इच्छाओंके शान्त हो जानेपर यत्किञ्चित् सुखकी अनुभूति होती है और कई बार कई कारणोंसे होती है तब इस निश्चयका कारण मिल जाता है कि इन समस्त छिट-पुट सुखोंका अवश्य ही कोई-न-कोई भाण्डार है। उसीका नाम तो परमात्मा है। एक ऐसी सत्ता है, जो समस्त परिवर्त्तनोंमें सदा एकरस है। एक ऐसा ज्ञान है जो सम्पूर्ण ज्ञानोंका उद्गम है, जिसमें अज्ञानका लेश भी नहीं है। एक ऐसा आनन्द है, जिसका निर्वचन मन और

वाणीसे मौन होकर ही किया जाता है और जिसके आस्वादनमें आस्वाद्य और आस्वादकका भेद नहीं रहता। वह मधुरातिमधुर, नित्यनूतन, परम मनोहर, सत्य परमात्मा ही तो है। उसको देखे बिना आँखें अतृप्त ही रहेंगी। उसके बिना हृदयकी सेज सूनी ही रहेगी, उसका आलिङ्गन प्राप्त किये बिना बाँहें फैली ही रहेंगी। तात्पर्य यह कि उसको प्राप्त करनेमें ही जीव-जीवनकी पूर्णता है और जिस जीवनका यह लक्ष्य है, वही सच्चा जीवन है। इस सच्चे जीवनका नाम ही साधन है। जिन्हें यह साधन प्राप्त है, साध्य भी उन्हें प्राप्त ही है। क्योंकि साधन ही साध्य है और वही सिद्धि भी है। यही वास्तविक सुख है।

जीव पूर्वतन संस्कारोंसे इतना जकड़ गया है कि वह संज्ञाहीन, मूर्च्छित अथवा सुषुप्त हो गया है। वह भगवदीय प्रेरणा और शक्तिका अनुभव करनेमें असमर्थ है। क्योंकि इस समय जो अन्तःकरण जागरित रहकर कार्यकारी हो रहा है, वह वासनाओंके पुञ्जके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसीसे प्रेरित होकर साधारण मनुष्य उन्मत्तकी भाँति लक्ष्यहीन प्रयत्न कर रहे हैं, जिनके कारण बन्धन और भी दृढ़ होता जा रहा है। यही कारण है कि अधिकांश अपनेको स्थूलशरीर मानकर इसीसे सम्बन्ध रखनेवाली सम्भावनाओंके प्रवाहमें बह रहे हैं। इस जडताको, अन्धगतिको और बन्धनको नष्ट करना होगा। यह सत्य है कि यह बन्धन बहुत ही निष्ठुर है; तथापि इसको काट डालनेमें कोई सन्देह नहीं है। भगवान्‌की अनन्त शक्ति और कृपाका आश्रय लेकर क्या नहीं किया जा सकता? अन्तमें भागवत सत्ताकी विजय निश्चित है।

वासनाओंसे सञ्चालित होते रहनेके कारण चित्तमें इतनी पराधीनता आ गयी है कि इनसे मुक्त होनेका प्रयत्न प्रारम्भ करनेमें और उसको चालू रखनेमें कई बार अपनी ही वृत्तियाँ बाधक हो जाती हैं और यह असम्भव मालूम होने लगता है कि मेरी इस साधनासे भी कुछ सिद्धि-लाभ हो सकता है। अवश्य ही यह ठीक है कि सारा चराचर जगत् कर्मसूत्रसे बँधा हुआ है और यह वर्तमान जीवन और इसकी प्रवृत्तियाँ प्रारब्धके द्वारा ही परिचालित होती हैं; परन्तु यही सोचकर पुरुषकार अथवा साधनसे विमुख हो जाना, अपनी आध्यात्मिक उन्नतिको भी प्रारब्धपर छोड़ बैठना, बहुत बड़ी कमजोरी है—बल्कि यों कहें कि यह अपने ही हाथों अपने-आपकी हत्या है। भला, जिस साधनसे अपने-आपकी उपलब्धि होती है उसीको प्रारब्धके हाथों सौंप देना आत्मघात नहीं तो और क्या है?

विचार करनेकी बात है कि जिस प्रारब्धके भरोसे हम अपने जीवनका उज्ज्वल भविष्य अन्धकारमें डाल देते हैं, उसका मूल क्या है? पूर्वजन्मोंके पुरुषकारको ही तो प्रारब्ध कहते हैं। हमारे पूर्वजन्मके कर्म अच्छे थे या बुरे, साधक थे या बाधक—इसका निर्णय कैसे किया जा सकता है? मान लें कि वे साधनके विरोधी थे तो क्या हमें इस जन्ममें भी उनसे लड़कर आगेके लिये साधनके अनुकूल प्रारब्ध नहीं बनाना चाहिये? क्या उन्हीं कर्मोंके चक्रमें पिसते रहकर जन्म-जन्म उन्हींकी गुलामी करनी चाहिये? जिसमें जरा भी जीवन है, वह कभी ऐसी पराधीनता स्वीकार नहीं कर सकता। यदि यह मानें कि मेरे पूर्वजन्मोंके कर्म, जिनसे प्रारब्धका निर्माण हुआ है, साधनके अनुकूल ही थे तो क्या उनकी सहायताके लिये वैसे ही और भी कर्म करके उनकी प्रगतिको बढ़ाना नहीं चाहिये? तात्पर्य यह कि प्रारब्ध चाहे अनुकूल हो अथवा प्रतिकूल, दोनों ही हालतोंमें हमें अपने जीवनके उद्देश्यको पूर्ण करनेके लिये अथक प्रयत्न करनेकी आवश्यकता है।

कभी-कभी ऐसा देखनेमें आता है कि जो वर्षोंसे साधनामें लगे हैं, उन्हें सिद्धि नहीं प्राप्त होती और जिन्होंने बहुत ही थोड़ा परिश्रम किया है, उन्हें थोड़े ही दिनोंमें बहुत बड़ी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसका कारण क्या है? पूर्वजन्मके संस्कार ही इसमें प्रधान कारण हैं। जिनके संस्कार साधनाके अनुकूल किन्तु प्रसुप्त थे और अब साधनाके संयोगसे जागृत हो उठते हैं, उन्हें अविलम्ब सिद्धि मिल जाती है। जिनके संस्कार नहीं थे या कम थे, उनकी साधना धीरे-धीरे पूर्वसञ्चित कर्मोंके भाण्डारसे सामग्री संग्रह करती है और समय आनेपर, तैयारी पूरी होनेपर साधनाकी अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, जिसमें पूर्व संस्कार भस्म हो जाते हैं और वह नित्य सिद्ध वस्तु, जो विभिन्न संस्कारोंसे अलिप्त, अस्पृष्ट और अनाकलित है, प्रकट हो जाती है तथा जीव अल्पसे महान् हो जाता है। संस्कारोंसे विजडित होनेके कारण ही जीवकी दृष्टि अशुद्ध हो गयी है। वह जो कुछ देखता है, संस्काराक्रान्त दृष्टिसे ही देखता है। इसीसे सत्य भी उसके चश्मेके रंगमें रँगा हुआ ही दीखता है। परमात्माकी बात तो अलग रही, वह अपने आपको ही दूसरे रंगमें रँगा हुआ देखता है। संस्कारोंके इस चश्मेको, दृष्टिके एक-एक दोषको ढूँढ़-ढूँढ़कर निकाल फेंकना होगा। सत्य कर्म-संस्कारोंकी अभिव्यक्ति नहीं है। इनके धो-बहानेपर

जो अवशेष रह जाता है, जो धोनेवालेका मूल स्वरूप है, जो धोनेवालेके धुल जानेपर भी रहता है, वही सत्य है और उसको ढूँढ़ निकालना ही साधना है। यह स्वयं ही करना होगा। जो आलस्य और प्रमादके भावोंसे अभिभूत हो रहे हैं, उनका अच्छा प्रारब्ध भी बाँझ हो जायगा; क्योंकि साधनाके साथ संघर्ष हुए बिना वह फलप्रसू नहीं हुआ करता। प्रारब्धरूपी बीजके अङ्कुरित, पल्लवित, पुष्पित और फलित होनेके लिये साधना एक सुसमृद्ध उर्वर क्षेत्र है और इसको तैयार करना साधकके अधीन है।

जीवका धर्म है साधना, और भगवान्‌का धर्म है कृपा। जीव जब अपने धर्मका पालन करता है, तभी वह भगवद्धर्मका अनुभव कर सकता है। जो स्वधर्मका पालन नहीं करता, वह दूसरेसे धर्मपालनकी आशा रक्खे—यह उपहासास्पद बात है। इसमें सन्देह नहीं कि भगवान्‌की कृपा चर-अचर, व्यक्त-अव्यक्त और जीव-अजीव—सबपर एकरस एवं अहैतुक है, उसके लिये देश, काल अथवा वस्तुका भेद नहीं है, वह अनादि कालसे अनन्त कालतक एकरस बरसती रहती है, बरसना ही उसका स्वभाव है और इस प्रकार बरसती रहती है कि जो कुछ है, वह सब उस कृपाका एक कणमात्र है; परन्तु इस सत्यका साक्षात्कार साधनाके बिना नहीं होता। हम कुछ न करें, कुछ न सोचें, परन्तु हमारी नस-नसमें कृपाकी विद्युत्-शक्ति दौड़ रही हो, हमारे रग-रगमें वही सुधा-मधुर धारा प्रवाहित हो रही हो, हमारे प्राणोंमें उसीका शक्ति-सञ्चार हो तथा मन, बुद्धि, अहङ्कार—जो कुछ मैं हूँ—उसीमें डूब-उतरा रहे हों, हमारी यह स्थिति बाह्य दृष्टिसे साधना न होनेपर भी परम साधना है। और मैं तो कहता हूँ, यही सबसे बड़ी सिद्धि है। यदि इससे बड़ी कोई सिद्धि हो तो वह हमें नहीं चाहिये। परन्तु इस अनुभूतिके बिना कृपाका नाम लेकर हाथपर हाथ धरके बैठ रहना आत्मवञ्चना है। स्त्रीके लिये, पुत्रके लिये, शरीरके लिये, मनोरञ्जनके लिये प्रयत्न हो अथवा आलस्यको ही सुख मानकर पड़े रहें, परन्तु साधनकी चर्चा चलनेपर अपनी अकर्मण्यता और आलस्यप्रियताके समर्थनमें भगवत्कृपाका नाम ले लें या उसके नामपर सन्तोष कर लें—साधना-जगत्‌में यह एक अमार्जनीय अपराध है।

सूर्यका स्वभाव है कि वह अपनी आलोक-रश्मियोंके विस्तारसे निखिल जगत्‌में नवीन चेतना और स्फूर्तिका सञ्चार करता रहे। यदि नेत्र-दोषके कारण कोई उस प्रकाशको नहीं ग्रहण कर सके तो यह सूर्यका वैषम्य नहीं, नेत्रके रोगीका ही दोष है। इसी प्रकार भगवत्कृपा होनेपर भी, रहनेपर भी, उसको अनुभव कर सकनेकी योग्यताका अभाव दूर करना होगा। हमें साधनाके द्वारा अपने अन्तःकरणमें ऐसी पात्रता और क्षमताको उद्दीप्त करना पड़ेगा, जिसके द्वारा हम उस एकरस कृपाका अनुभव करनेमें समर्थ हो सकें। सूर्यका प्रकाश तो कोयले और आतशी शीशेपर समानरूपसे ही पड़ता है, परन्तु कोयलेपर उसका बहुत ही कम प्रभाव पड़ता है और आतशी शीशेके संयोगसे वह प्रज्वलित हो उठता है। यही बात भगवत्कृपाके सम्बन्धमें भी है। उसकी अनुभूतिके लिये साधनाके संघर्षसे चमकते हुए निर्मल और उज्ज्वल अन्तःकरणकी आवश्यकता है।

कौन नहीं जानता कि अग्नि सर्वव्यापक है। आकाशमें फैले हुए नन्हे-नन्हे जल-कण और प्रलयकी आगको भी बुझा देनेकी शक्ति रखनेवाली समुद्रकी उत्ताल तरङ्गें भी अव्यक्त अग्निसे शून्य नहीं हैं। यह सत्य है। परन्तु इस व्यापक अग्निके द्वारा न तो घरका अँधेरा ही दूर किया जा सकता है और न भोजन ही तैयार किया जा सकता है। यदि हम ऐसा करना चाहते हैं तो हमें साधन-सामग्रीसे अव्यक्त अग्निको व्यक्त करना पड़ता है, व्यापक अग्निको एक घेरेमें प्रज्वलित करना पड़ता है। यदि हम भगवत्कृपाके द्वारा अपने हृदयमें प्रकाश और आनन्दका अनुभव करना चाहते हैं तो हमें साधन-सामग्रीसे उसको ऐसा बनाना ही पड़ेगा कि वह उस अव्यक्त और व्यापक कृपाको मूर्त्तरूपमें अनुभव कर सके। इसीसे यह देखा गया है कि भगवत्कृपापर जिनका जितना अधिक विश्वास है, वे उतना ही अधिक साधनामें संलग्न होते हैं। वे एक क्षणके लिये भी भगवत्कृपाकी प्रतीक्षा और उसकी अनुभूति नहीं छोड़ते, छोड़ नहीं सकते; क्योंकि उनका जीवन कृपामय अतएव साधनमय हो गया है।

हृदयके अन्तर्देशमें परमात्मा और उसके बहिर्देशमें स्थूल प्रपञ्च है। दोनोंके मध्यमें स्थित हृदय जब स्थूल प्रपञ्चका चिन्तन करता है तब क्रमशः जडभावापन्न हो जाता है और जब अन्तःस्थित चित्स्वरूप परमात्माका चिन्तन करता है, तब चिद्भावापन्न हो जाता है। हृदयको जडताके दलदलसे निकालकर चिद्भूमिपर प्रतिष्ठित करनेका प्रयत्न ही साधना है। इस प्रयत्नमें अनेकों प्रकारके स्तर और भूमिकाएँ सहजरूपसे ही आती हैं। कई साधक पहले जन्मोंमें उनमेंसे बहुत-

सी अथवा कुछ भूमिकाएँ पार कर चुके होते हैं, इसलिये वर्तमान जन्ममें उन्हें उसके आगेकी ही साधना करनी पड़ती है। अधिकारभेदका भी यही कारण है। इसीसे भिन्न-भिन्न साधकोंके लिये अलग-अलग साधनाओंका निर्देश है। एक उदाहरणसे यह बात स्पष्ट की जाती है।

मान लीजिये, दो व्यक्ति भयङ्कर धूपमें घूम रहे हैं। एकको लू लग जाती है और एकको थोड़ी-सी गरमीका ही अनुभव होता है। पहलेको ज्वर हो आता है, दूसरा स्वस्थ रहता है। एक ही धूपका इन दोनोंपर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। इसका कारण क्या है? यही कारण है कि इनके शरीरमें रहनेवाली धातुएँ एक-सी नहीं हैं। एकमें धातु-साम्य है तो दूसरेमें वैषम्य। इसीसे एक ही धूपके दो फल होते हैं। इसी प्रकार किसीका अभिमान स्थूलशरीरमें है तो किसीका सूक्ष्मशरीरमें। इसके भी अनेकों स्तर होते हैं। जो जिस स्तरकी साधनाको पार कर चुका है, वह उसके लिये सहज होता है और जो अभी दूर है, उसमें प्रवृत्ति ही नहीं होती। जिस स्तरमें उसका अभिमान है, वहींसे साधना प्रारम्भ होती है। मनको निषिद्ध कर्मोंसे हटाकर विहित कर्मोंके स्तरमें लाना पड़ता है। विहित कर्मोंमें भी जबतक ऐहलौकिक काम्य कर्म होते हैं, तबतक स्थूलशरीरका ही अभिमान काम करता रहता है। पारलौकिक कामना होनेपर सूक्ष्मशरीरका जागरण प्रारम्भ होता है और निष्कामताके साथ ही अन्तःकरणकी शुद्धि होने लगती है। यह निष्कामता भी शारीरिक कर्मके साथ, मानसिक कर्मके साथ और दोनोंसे रहित—तीन प्रकारकी होती है। पहलेका नाम कर्मयोग, दूसरेका नाम भक्तियोग और तीसरेका नाम ज्ञानयोग है। जब अन्तःकरण शारीरिक और मानसिक कर्मोंसे रहित होकर निस्सङ्कल्प जागरित रहने लगता है, तब उसे विशुद्ध सत्त्व कहते हैं। समाधियोंके समस्त भेद इसीके अन्तर्गत हैं। इसीमें वास्तविक ज्ञानका उदय होता है, जो कि स्वयं परमात्मा है। इसके पहले अपनी वासनाएँ ही, जो कि अनादि कालसे अगणित रूपोंमें दबी पड़ी रहती हैं, नाना प्रकारके रूप धारण करके आती हैं। समस्त संस्कारोंके धुल जानेपर ही परम सत्यका साक्षात्कार सम्भव है। उनको धो डालना ही साधनाओंका काम है। इनमेंसे और इनके अतिरिक्त और भी विभिन्न स्तरोंमेंसे जो जिस स्तरमें पहुँचा हुआ साधक होगा, उसको उससे भी ऊपर उठनेके लिये साधनाकी आवश्यकता होगी—चाहे उस साधनाका रूप जो भी हो।

ज्ञान साधनाका विरोधी नहीं है। वह तो उसमें रहनेवाले अज्ञानमात्रका ही विरोधी है। अज्ञानका नाश करके साधनाओंके स्वरूपकी रक्षा करनेमें ज्ञानका जो महत्त्व है, वह कोई अनुभवी महापुरुष ही जान सकता है। साधनाओंमेंसे नीच-ऊँच भावको निकालकर विभिन्न रुचि, प्रवृत्ति और अधिकारवालोंके लिये सबको सम श्रेणीमें कर देना ज्ञानदृष्टिका ही काम है। इसलिये ज्ञानसम्पन्न पुरुष कभी किसी भी साधनाका विरोध नहीं करते और जैसे दूसरे साधकोंके द्वारा प्रयत्नपूर्वक साधनाएँ होती हैं, वैसे ही ज्ञानीके शरीरसे भी सहज रूपमें हुआ करती हैं। प्रमाद और आलस्य तो अज्ञानके कार्य हैं, जो आदर्श महात्मामें रह ही नहीं सकते। इसीसे ज्ञानके पूर्वकालमें उन्हें जिन साधनोंका अभ्यास हो जाता है, उन्हींका शरीरके त्यागपर्यन्त सदा अनुष्ठान होता रहता है। जहाँ आलस्य, प्रमाद अथवा कायक्लेशके कारण जान-बूझकर साधनोंका परित्याग किया जाता है, वहाँ तो विशुद्ध ज्ञान ही नहीं है। और ऐसी स्थितिमें दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो ही नहीं सकती।

साधनामें प्रवृत्ति ही दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिको लक्ष्य करके होती है। जबतक लक्ष्यकी सिद्धि न हो, तबतक साधनासे निवृत्त हो जाना कायरता है। सुख और दुःख अन्तःकरणमें होते हैं। इसलिये अन्तःकरणको ऐसी स्थितिमें ले जाना साधनाका काम है, जिसमें उनका अनुभव ही नहीं होता। ज्ञानाभासका आश्रय लेकर अन्तःकरणको सुख-दुःखमें पड़ा रहने देना अज्ञान है। ऐसा निस्सङ्कल्प अन्तःकरण, जिसमें सुख और दुःख दोनोंके प्रति समत्व है अथवा उनकी प्राप्ति और विघातके लिये कोई स्पन्दन नहीं है, जीवन्मुक्तका अन्तःकरण है; और यदि ज्ञान नहीं भी हुआ है तो साधनकी चरम सीमा अवश्य है। इसीसे ज्ञानप्राप्ति और ज्ञानरक्षा अर्थात् जीवन्मुक्तिका सुख अनुभव करनेके लिये ज्ञानसिद्धान्तमें भी साधनाकी अनिवार्य आवश्यकता स्वीकार की गयी है।

क्षीण हो रहा है क्षण-क्षण यह मनुष्य-जीवन। काल

निगल जाना चाहता है अभी-अभी ! सारा संसार विनाशकी ओर द्रुतगतिसे दौड़ रहा है। एक ओर यह दृश्य है तो दूसरी ओर परमानन्दस्वरूप प्रभु हमें अपनी गोदमें लेनेके लिये न जाने कबसे प्रतीक्षा कर रहे हैं और अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। अज्ञान-निद्रामें सोया हुआ यह जीव यदि जग जाय तो यह अपनेको परमात्माकी गोदमें, उनके स्वरूपमें ही पाकर निहाल हो जाय और स्वप्नकी सारी विभीषिकाएँ निर्मूल होकर लीलाके रूपमें दीखने लगें। यह जागरण ही साधना है और यह करना ही होगा।

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।'

'उठो, जागो और बड़ोंके पास जाकर जानो।'

शा.

साधकका परम धर्म

(लेखक—श्रीदादा धर्माधिकारी)

साधक वह है, जिसने अपने साध्यतक पहुँचनेके लिये एक निश्चित मार्ग सोच-समझकर निर्धारित कर लिया हो। उसका साध्य तो निश्चित है ही। लेकिन इसके अतिरिक्त उस साध्यकी प्राप्तिका साधन भी निश्चित है। साधन-निश्चय और साधननिष्ठा ही साधककी विशेषता है। कई लोग यह कहते पाये जाते हैं कि 'साधननिष्ठाकी आवश्यकता नहीं है। एक ही साध्यके अनेक साधन हो सकते हैं और होते भी हैं। अपनी शक्ति तथा देश-काल-परिस्थितिके अनुसार जब जो साधन सुलभ हो, उस वक्त उसका प्रयोग करना चाहिये। 'साधनानामनेकता'—लोकमान्य तिलक-जैसे ज्ञानवान् कर्मयोगीका दिया हुआ सूत्र है।'

दूसरे कुछ लोग 'End justfies the means' वाली अंग्रेजी कहावतका अनुवाद करते हुए कहते हैं, 'साध्यशुद्धौ साधनशुद्धिः'। वे कहते हैं, 'हमारा उद्देश्य और हमारी नीयत पवित्र होनी चाहिये। उस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये हम किन साधनोंको काममें लाते हैं, इसकी छान-बीन करना अनावश्यक एवं अप्रस्तुत है। धर्मका सम्बन्ध मनुष्यके उद्देश्य और अभिप्रायसे है, न कि उसकी बाह्य कृतियोंसे। धर्मकी गति स्थूल और बाह्य नहीं है। इसलिये साधनको महत्त्व देना साध्यको भुला देनेके बराबर है।'

ये दोनों पक्ष तर्कदुष्ट हैं। दोनोंमें गहरे तथा सूक्ष्म विचारका अभाव है। शास्त्रीय दृष्टि तो इनमें नामको भी नहीं है। वैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करनेपर सबसे पहले साध्य और साधनका अपरिहार्य सम्बन्ध ध्यानमें आवेगा। ईश्वरकी इस सृष्टिमें सर्वत्र नियति और व्यवस्था पायी जाती है। हम जिसे 'संयोग' या 'आकस्मिक घटना' कहते हैं, उसके पीछे भी सृष्टिके कुछ शाश्वत और अबाधित नियम होते हैं। इसीलिये श्रीअरविन्दने कहींपर कहा है—'In the dispensation of an Almighty Providence nothing happens by accident.' शायद उन्होंने इन्हीं शब्दोंमें न कहा हो, लेकिन इसी अर्थके शब्दोंमें कहा है।

इस सृष्टिमें साध्य-साधनका भी एक अपरिहार्य और अबाधित सम्बन्ध पाया जाता है। चाहे जिस साधनसे चाहे जो साध्य प्राप्त होता हुआ नहीं पाया जाता। अगर ऐसा होता तो सृष्टिमें कोई व्यवहार ही सम्भव न होता, जीवनकी गति कुण्ठित हो जाती और अनवस्था-प्रसङ्ग आ जाता। सृष्टिमें कार्य-कारण-सम्बन्ध किसी-न-किसी रूपमें सर्वत्र विद्यमान है। इसीलिये हमारा जीवन और उसके आनुषङ्गिक व्यवहार चल सकते हैं। साध्य और साधनका भी ऐसा ही कार्य-कारण-सम्बन्ध है। हर किसी कारणमेंसे हर कोई कार्य निष्पन्न नहीं होता। पानी या तेल बिलोनेसे मक्खन नहीं निकलता। अगर मक्खनकी आवश्यकता हो तो दूध या दही ही बिलोना पड़ेगा। दही बिलोनेकी विधियाँ या उपकरण अनेक हो सकते हैं। लेकिन मुख्य साधन तो एक ही होगा—दूध या दही बिलोना।

साध्य निश्चित करनेके बाद साधननिश्चय क्रमप्राप्त है। साधननिश्चयकी सबसे पहली शर्त यह है कि वह साध्यानुकूल हो यानी उसमें हमारा अभीष्ट साध्य प्राप्त करानेकी शक्ति सन्निहित हो। अगर उसमें यह शक्ति न हो तो वह साधन बेकार है और उसे स्वीकार करना जडता तथा मूढ़ताका लक्षण है।

मतलब यह कि साध्यविवेक और साध्यनिर्णयका जितना महत्त्व है, उतना ही महत्त्व साधनविवेक और साधननिर्णयका भी है। साधन भी दो प्रकारके होते हैं—एक साक्षात् या

प्रत्यक्ष और दूसरा सहायक या अप्रत्यक्ष। प्रत्येक साध्यका साक्षात् या प्रत्यक्ष साधन खोजकर उसका नैष्ठिक आचरण करना साधकका विशिष्ट धर्म है। इसीमें उसका साधकत्व है। साधकदृष्टिकी यह विशेषता है कि वह साध्य-साधनके अचूक सम्बन्धको देखनेकी अविरत चेष्टा करती है। साध्य और साधनके अपरिहार्य सम्बन्धका पहला लक्षण यह है कि उन दोनोंमें स्पष्ट साधर्म्य होना चाहिये। साधनमें साध्यको प्रकट करनेकी शक्ति होनी चाहिये। 'कथमसतः सज्जायेत ?' —यह प्राचीन शास्त्रकारोंका नियम यहाँपर भी लागू होता है। जिस साधनमें साध्य उत्पन्न करनेकी शक्ति न हो, अर्थात् जिसमें साध्य बीजरूपमें विद्यमान न हो, या अधिक स्पष्ट भाषामें कहें तो जिस साधनमें साध्यकी विशेषताएँ मौजूद न हों—वह साधन उपयोगी नहीं है। इस दृष्टिसे 'साधनानाम् अनेकता'का अर्थ 'साधनानाम् अविवेकः' या 'साधनानाम् अनिश्चयः' नहीं है। क्योंकि किसी भी साधनका कुशलता-पूर्वक प्रयोग तभी हो सकता है, जब कि उसका स्वीकार विचारपूर्वक किया गया हो और उसका हमारे निर्दिष्ट साध्यसे स्वाभाविक सम्बन्ध हो। जो साधक इस मूलभूत सिद्धान्तको भूलेगा, उसकी बुद्धि अव्यवसायात्मिका हो जायगी। वह अपनी बहुशाख बुद्धिकी अनन्त गुत्थियोंमें और अनन्त साधनोंमें उलझकर गुमराह हो जायगा।

साधननिश्चयमें साध्य-साधनके अनिवार्य सम्बन्धके बाद साधकको अपने अधिकारका विचार करना चाहिये। अधिकार-में दो अंश हैं। एक अर्थित्व और दूसरा योग्यता। अर्थित्व-से मतलब है एक निश्चित उद्देश्य सिद्ध करनेकी उत्कट अभिलाषा। जहाँ अभिलाषा या अर्थित्व ही न हो, वहाँ कोई साधन खोजने या अपनानेका सवाल ही नहीं उठता—'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते।' दूसरा अंश है योग्यता। साधककी शक्ति और परिस्थितिसे उसकी योग्यता मर्यादित होती है। इसलिये अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार प्रत्यक्ष साधनतक पहुँचनेके अनेक उपसाधन हो सकते हैं। परन्तु इन उपसाधनोंपर भी वे ही नियम लागू होते हैं जो कि मुख्य साधनपर। अर्थात् ये उपसाधन भी मुख्य साधनके अनुरूप होने चाहिये और उनमेंसे किसी एकको ही अपने अधिकारके अनुसार अपनाकर उसका एकाग्रतासे अनुष्ठान करना चाहिये।

एकाग्रता और निःसन्दिग्धता साधकबुद्धिके आवश्यक गुण हैं। साधकके मनमें जबतक साधनके विषयमें सन्देह रहेगा, तबतक वह अपनी सारी शक्ति लगाकर उसका आचरण नहीं कर सकता। मनःपूर्वकता और हार्दिकता कार्य-कुशलताकी कुञ्जी है। इसलिये साधकको अपने साधनमें इतना लीन हो जाना चाहिये कि उसे साध्यकी भी सुध न रहे। क्योंकि वह यह तो जानता ही है कि साधनकी पराकाष्ठा ही साध्यप्राप्ति है। रास्तेका अन्तिम बिन्दु ही तो मुकाम है न ! साधनकी परिपक्व अवस्थाका ही तो नाम साध्य है न ! 'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' कहकर ऋषिने ब्रह्मप्राप्तिका साधन बतलाया। लेकिन इतनेहीसे उसे सन्तोष नहीं हुआ। इसलिये उसने साध्य-साधनका अभेद निर्दिष्ट करनेके लिये उक्त सूत्रमें 'तपो ब्रह्मेति' यह अंश और जोड़ दिया। जो साधक अपनी साधनामें उत्कटतासे जुट गये, उन्होंने उसीमें साध्यप्राप्तिका अमित आनन्द पाया। साध्य और सिद्धि दौड़कर उनके पीछे आयी और उनके जीवनमें घुल-मिल गयी, लेकिन उन्हें उसका पता भी न चला। वे तो साधना-के सात्त्विक आनन्दसे मतवाले हो रहे थे। प्रह्लादसे जब कहा गया कि 'मनमाना वरदान माँग ले' तो उसने कहा कि 'जो मुक्तिके लिये भक्ति करता है 'स वै वणिक्'। मैं कोई सौदागर नहीं हूँ। भक्ति तो मेरा स्वभाव है।' तुकारामने कहा, 'मैं मुक्ति-मुक्ति नहीं चाहता, मुझे तो साधनामें ही आनन्द आता है।' पुण्डलीकके पीछे स्वयं मुक्तिदाता आकर खड़े हो गये तो भी साधननिरत पुण्डलीकने नम्रतासे कहा कि 'इस वक्त मैं मुड़कर भी नहीं देख सकता। सेवामें लगा हूँ।'

यह है साधनपरायणताकी चरम सीमा। ये भक्तश्रेष्ठ जानते थे कि जिस साधनाकी बदौलत हमें सिद्धि प्राप्त हुई है, उसकी महिमा अपरम्पार है। यह अविवेकी 'साधन-आग्रह' या 'साधनवाद' नहीं है। इसमें साधनको ही साध्यके सिंहासनपर हठात् बैठानेका मूढ़ प्रयास नहीं है। यह तो साध्य और साधनका वैज्ञानिक सम्बन्ध जानकर उसके अनुसार सारी शक्तियाँ साधनपर एकाग्र करनेका शास्त्रशुद्ध और युक्तिसङ्गत मार्ग है। साधननिष्ठा ही साधकका परम धर्म है। इसीलिये स्वामी विवेकानन्दने कहा है, 'Take care of the means and the end will take care of itself.' और इस युगका अद्वितीय साधक गांधी कहता है, 'I believe that ultimately the means and the end are convertible terms.' (साधन और साध्य ऐसे शब्द हैं जो अन्ततः एक दूसरेमें परिवर्तित किये जा सकते हैं।)

यदि 'End justifies the means' (अर्थात् साधनकी निकृष्टताको साध्यकी सिद्धि उत्कृष्ट बना देती है), इसका अर्थ यह हो कि अशुद्ध साधनसे भी शुद्ध साध्य प्राप्त हो सकता है तो वह अपसिद्धान्त है। हमें उसका अर्थ ऐसा करना चाहिये कि 'जो साधन साध्यके अनुकूल हो, वही उपयुक्त है'। यदि 'साधनानाम् अनेकता' का अर्थ 'साधनानाम् अनियमः' हो तो वह भी भयानक अपसिद्धान्त है। एक समय एक ही साधनका सम्यक् और नैष्ठिक अनुष्ठान हो सकता है। भिन्न-भिन्न अविरुद्ध साधनोंका सह-अनुष्ठान एक परिमित सीमातक ही सम्भव और इष्ट हो सकता है। विरुद्ध साधनोंका सह-अनुष्ठान न तो सम्भव है और न वाञ्छनीय ही।

हमारे राष्ट्रिय साध्यके साधननिर्णयमें गांधीजीकी यही भूमिका रही है।

सदाचार-साधनकी परमावश्यकता

(लेखक—स्वामीजी श्रीनारदानन्दजी महाराज)

सत्पुरुषोंद्वारा प्रमाणित आचरण ही सदाचार है। सत्य, अहिंसा आदि दैवी गुणोंसे युक्त पुरुष ही सत्पुरुष है। सत्पुरुषको साधु और असत्पुरुषको असाधु कहा जाता है। संसारमें दो ही प्रकारके पुरुष कहे गये हैं। भले-बुरे, सज्जन-दुर्जन, पुण्यात्मा-पापी, सुर-असुर, संत-असंत, सदाचारी और दुराचारी नामोंसे लोकमें और शास्त्रोंमें मनुष्योंको दो ही विभागोंमें विभाजित किया गया है—'द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।'

श्रीगीताजीमें दैवी सम्पद्से युक्त पुरुषको ही देव कहा गया है। दैवी सम्पद्का वर्णन करते हुए १६ वें अध्यायमें सम्पूर्ण सदाचारके लक्षण दिये गये हैं—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥ २॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

सदाचारी अर्थात् दैवी प्रकृतिवाला पुरुष मोक्षको प्राप्त होता है और दुराचारी अर्थात् आसुरीप्रकृतिवाला बन्धनमें पड़ा रहता है—'दैवी संपद् विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।' श्रीरामायणजीमें भी श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने लिखा है—

संत असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी॥
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥
तते सुर सीसन्ह चढ़त जग बल्लभ श्रीखंड।
अनल दाहि पीटत घनहि परसु बदन यह दंड॥
बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमल चित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥
निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुन मंदिर सुख पुंज॥

सदाचारी पुरुषोंकी संख्या और शक्ति जैसे-जैसे क्षीण होती जाती है, वैसे-ही-वैसे संसारमें घोर अशान्ति बढ़ती जाती है और बिना समय ही प्रलयका-सा सङ्कट आ उपस्थित होता है। ऐसे समयमें संत-सुर-रक्षक श्रीजगदीश किसी महापुरुषके द्वारा सदाचारकी रक्षा तथा वृद्धि करवाकर शान्तिकी स्थापना करते हैं और विशेष आवश्यकता होनेपर स्वयं अवतरित होकर स्वयं उत्तम पुरुषोंके आचरण करके सारे जगत्को सदाचारकी शिक्षा देकर और संसारमें पूर्ण शान्तिका साम्राज्य स्थापित करके अन्तर्हित हो जाते हैं।

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु॥

सदाचारकी स्थापना प्राणिमात्रके लिये कल्याणप्रद है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी मनुष्योंके लिये सर्वश्रेष्ठ आचरण करनेके कारण ही मर्यादापुरुषोत्तम कहलाये। सदाचारी पुरुषोंको परिणाममें सुख तथा दुराचारी पुरुषोंको दुःख हमेशा मिलता रहा है। सभी इतिहास-पुराण इसके साक्षी हैं। अतएव वर्तमान कालमें भी प्रत्येक समाजमें सदाचारकी स्थापनासे ही सुख-शान्ति मिल सकती है। प्रायः यह सभीके

अनुभवमें आ रहा है कि सदाचारी पुरुषके प्रति सबकी श्रद्धा होती है और श्रद्धेय पुरुषका ही प्रभाव संसारमें अधिक समयतक टिकता है। कला-कौशल, भौतिकविद्या, अथवा शारीरिक बलका प्रभाव क्षणिक होता है।

जो मन, वाणी और शरीरसे सदाचारी है वही सदाचारी है। केवल वाणी या क्रियाका सदाचार दम्भमें परिणत हो जाता है, जिसके प्रकट होते ही पुरुष घृणाका पात्र बन जाता है और परिणाममें दुःखभोग करता है।

जिस समय श्रीहनूमान्‌जी लंकामें संत-असंतोंकी परीक्षा कर रहे थे, उन्हें प्रथम ऐसा प्रतीत हुआ कि यहाँके निवासी सभी सदाचारी हैं; कारण यह कि सबके यहाँ वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप नित्य होता था और पुनः हार्दिक श्रद्धा देखनेपर ज्ञात हुआ कि सब लंकानिवासी अहिंसा, सत्य और दयासे शून्य हैं।

दया, शौच और सत्य, अहिंसा आदि दैवीगुणोंका अभाव देखकर हनूमान्‌जीने निश्चय कर लिया कि ये सभी राक्षस हैं, इनसे मैत्री करनेसे अवश्य हानि है। अधिक खोजनेपर एक गृह राम-नामसे अंकित मिला तथा रामनाम-का उच्चारण करते विभीषण मिले और जब उन्हें यह विश्वास हो गया कि इनका मन भी शुद्ध है, ये दया, शौच आदि दैवी-गुणोंसे संयुक्त हैं, और साधु हैं, तभी हनूमान्‌जीने एक विभीषणको अपना सहायक बनाना निश्चय किया।

राम राम तेहिं सुमिरन कीन्हा। हृदयँ हरष कपि सज्जन चीन्हा॥
एहि सन हठि करिहउँ पहिचानी। साधु ते होइ न कारज हानी॥

अहिंसा, सत्य, शौच, दया इत्यादि गुणोंका स्थान अन्तःकरणमें है और इन दैवीगुणोंकी परीक्षा दैवीप्रकृति-सम्पन्न शुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष ही कर सकता है। सदा-चारके अन्तरङ्ग साधन ही मुख्य हैं, बहिरङ्ग गौण हैं। बहिरङ्ग साधन सरल होनेके कारण उनमें सबकी अतिशीघ्र प्रवृत्ति होती है। बहिरङ्ग गौण साधनोंका लक्ष्य अन्तरङ्ग अहिंसा, सत्य आदिकी वृद्धि करना है—इस बातको भूल जानेके कारण और आसुरी प्रकृति न त्यागनेके कारण प्रायः बहिरङ्ग साधन दम्भमें परिणत हो जाते हैं। कालनेमिके बहिरङ्ग साधन उत्तम साधुके समान थे। वेष, क्रिया, वाणीमें वह पूरा साधु प्रतीत होता था। परन्तु आसुरी प्रकृति हृदयस्थ होनेके कारण श्रीहनूमान्‌जीने उसका वध करनेमें संकोच न किया। आसुरी प्रकृतिवालोंको बाह्य आचरणोंके कारण प्रथम पूजित, पुनः भ्रष्ट और नष्ट होते देखकर बहिरङ्ग साधनोंपर जनताकी घोर अश्रद्धा हो गयी है तथा जिन ग्रन्थोंने बहिरङ्ग साधनोंकी महिमा गायी है, उनके वचनोंमें विश्वास कम हो गया है! यदि शास्त्रमर्मज्ञ, अनुभवी, गुणातीत पथ-प्रदर्शकके द्वारा बहिरङ्ग साधनोंमें लगे हुए साधकको शनैः-शनैः अन्तरङ्ग साधनोंकी ओर अग्रसर करके एवं साधनाके सफल होनेपर सफलताके अभिमानसे सुरक्षित किया जाय तो साधक कृतकृत्य हो सकता है। ऐसा एक ही साधक सहस्रों नास्तिकोंको आस्तिक बना सकता है। जब श्रीनारदजीको अपने साधनमें सिद्धि देखकर अभिमान हुआ, भगवान्‌ने लीला करके उस अभिमानको दूर करके उन्हें कृतकृत्य किया। श्रीकाकभुशुण्डिजी पूर्वजन्ममें शूद्र-शरीर पाकर नाम-जप तो करते ही थे, परन्तु नीतिकी और सदाचारकी आवश्यकता नहीं समझते थे। इसी कारण गुरुके उपदेशकी बार-बार अवहेलना करते थे।

गुरु नित मोहि प्रबोध दुखित देखि आचरन मम।
मोहि उपजइ अति क्रोध दंभिहि नीति कि भावई॥

शङ्कर भगवान् भी इस अनीतिको सहन न कर सके और उन्होंने अन्तमें दण्ड देकर ही इस अभिमान और अनीतिसे काकभुशुण्डिजीको मुक्त किया।

तमोगुणीको तमोगुणी पदार्थ ही प्रिय होते हैं और तमो-गुणी पदार्थोंके सेवनसे तमोगुण ही बढ़ता है, जिससे बन्धन और दृढ़ हो जाता है। जब कभी तमोगुणी पुरुष रजोगुणी पुरुषके प्रभावसे प्रभावित हो जाता है, तब वह रजोगुणी पदार्थोंका सेवन करता है। रजोगुणी पदार्थोंके सेवनसे वह कुछ समयमें रजोगुणी बन जाता है और ऐसा रजोगुणी पुरुष आगे चलकर सात्त्विक पुरुषके प्रभावसे प्रभावित होकर सात्त्विक पदार्थोंका सेवन करने लगता है और कुछ समयतक लगातार सात्त्विक पदार्थोंके सेवनसे सत्त्वगुणी बन जाता है। सत्त्वगुणी पुरुष ही ज्ञान और भक्तिके साधनोंमें प्रवृत्त होकर गुणातीत अथवा जीवन्मुक्त हो जाता है और सब प्रकारके संशयोंसे छूट जाता है। शास्त्रोंमें गुणातीतको ही स्थितप्रज्ञ, भगवद्भक्त, ज्ञानी या जीवन्मुक्त आदि नामोंसे सम्बोधित किया गया है। इनके लक्षणोंमें कोई खास भेद नहीं पाया जाता—

स्थितप्रज्ञ—यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
(गीता २। ५७)

भगवद्भक्त—तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥
(गीता १२ । १९)

गुणातीत— मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥
(गीता १४ । २५)
नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥
(गीता १४ । १९)

जीवन्मुक्त— यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥
(गीता ५ । २८)

सदाचारके द्वारा ही तमोगुणीसे रजोगुणी बनता है और क्रमशः सदाचारके पालनसे रजोगुणीसे सत्त्वगुणी और सत्त्वगुणीसे गुणातीत बन जाता है। श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके तेरहवें अध्यायमें लिखा है कि गुणपरिवर्तनमें दस पदार्थ कारण होते हैं। गुणपरिवर्तनसे आचरणमें और स्वभावमें परिवर्तन होता है, क्योंकि कारणके सुधरनेसे कार्य स्वतः ठीक हो जायगा। वे दस पदार्थ ये हैं—

आगमोऽपः प्रजा देशः कालः कर्म च जन्म च ।
ध्यानं मन्त्रोऽथ संस्कारो दशैते गुणहेतवः ॥

'शास्त्र, जल, जनसमुदाय, स्थान, समय, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार—ये दस पदार्थ गुणपरिवर्तनमें हेतु हैं।'

ये पदार्थ सत्त्वगुणी, तमोगुणी और रजोगुणी—तीनों प्रकारके होते हैं, जिनकी पहचान संतों तथा सद्ग्रन्थोंद्वारा हो सकती है।

साधनमार्गमें उन्नति चाहनेवालेके लिये परमावश्यक है कि वह सदाचारकी निरन्तर वृद्धि करते हुए तमोगुणी और रजोगुणी पदार्थोंको छोड़कर सत्त्वगुणी पदार्थोंका ही सेवन करता रहे। इस प्रकार राजसी और तामसी प्रकृतिवाले पुरुष सात्त्विक बन सकते हैं। जिन पुरुषोंको यह भ्रम हो कि तामसी या राजसी प्रकृतिवाले पुरुषोंके स्वभावमें परिवर्तन हो ही नहीं सकता, वे इस साधनको आचरणमें लावें तो उनका भ्रम दूर हो सकता है। वर्तमानमें अनेकों साधक इसके प्रयोगसे सुधर गये हैं और सुधर रहे हैं। दुर्गुणोंको छुड़ानेके लिये अपराधियोंको दण्ड देनेके बजाय यदि इन दस पदार्थोंका संशोधन करके सेवन कराया जाय तो दुर्गुणी भी सदाचारी बन सकते हैं। सदाचारके साधनके प्रचारसे संसारमें सुख-शान्तिकी बहुत कुछ वृद्धि शीघ्र हो सकती है। सदाचारका प्रचार सदाचारी पुरुष ही कर सकते हैं। सदाचारके प्रचारकी प्रत्येक समाजमें परम आवश्यकता है।

योगचतुष्टय

(लेखक—एक एकान्तवासी महात्मा)

(१)

मन्त्रयोग

योगसाधनका रहस्य दर्शनोंमें महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शनमें, महर्षि भरद्वाजकृत कर्ममीमांसादर्शनमें और मन्त्रयोगसंहिता, हठयोगसंहिता, लययोगसंहिता, राजयोगसंहिता तथा पुराणोंमें और तन्त्रोंमें विस्तृतरूपसे वर्णित है। योगसाधनकी चार अलग-अलग शैलियाँ हैं। उनमें मन्त्रयोग प्रथम है। उसके महर्षि नारद, पुलस्त्य, गर्ग, वाल्मीकि, भृगु, बृहस्पति आदि आचार्य हुए हैं।

मन्त्रयोगका सिद्धान्त यह है कि परमात्मासे भाव, भावसे नाम-रूप और उसका विकार तथा विलासमय यह संसार है। इसलिये जिस क्रमके अनुसार सृष्टि हुई है, उसके विपरीत मार्गसे ही लय होगा, यह निश्चय है। अर्थात् परमात्मासे भाव और भावसे नाम-रूपद्वारा जब सृष्टि हुई है, जिससे समस्त जीव संसार-बन्धनमें आ गये हैं, तो यदि मुक्तिलाभ करना हो तो प्रथम नाम-रूपका आश्रय लेकर, नाम-रूपसे भावमें और भावसे भावग्राही परमात्मामें चित्तवृत्तिका लय होनेपर ही मुक्ति होगी। इसलिये नारदादि महर्षियोंने नाम और रूपके अवलम्बनसे साधनकी विधियाँ बतलायी हैं; इसीका नाम मन्त्रयोग है। यथा योगशास्त्रमें:—

नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात् ।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः ॥
तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते ।
उत्तिष्ठति जनः सर्वोऽप्यक्षेणैतत्समीक्ष्यते ॥
नामरूपात्मकैर्भावैर्बध्यन्ते निखिला जनाः ।
अविद्यासंसितास्त्रैव तादृक्प्रकृतिवैभवात् ॥
आत्मनः सूक्ष्मप्रकृतिं प्रवृत्तिं चानुसृत्य वै ।
नामरूपात्मनोः शब्दभावयोरवलम्बनात् ॥

'सृष्टि नाम-रूपात्मक होनेके कारण नाम-रूपके अवलम्बनसे ही साधक सृष्टिके बन्धनसे अतीत होकर मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। जिस भूमिपर मनुष्य गिरता है, उसी भूमिके अवलम्बनसे वह पुनः उठ सकता है—यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है। नाम-रूपात्मक विषय जीवको बन्धनयुक्त करते हैं, नाम-रूपात्मक प्रकृति-वैभवसे जीव अविद्याग्रस्त हुए रहते हैं; अतः अपनी-अपनी सूक्ष्म प्रकृति और प्रवृत्तिकी गतिके अनुसार नाममय शब्द तथा भावमय रूपके अवलम्बनसे जो योगसाधन किया जाय, उसको मन्त्रयोग कहते हैं।' मन्त्रयोगका विस्तार और महिमा सबसे अधिक है। हिंदू-जातिकी मूर्त्तिपूजा और पीठविज्ञान मन्त्रयोगके अनुसार ही सिद्ध होते हैं। मन्त्रयोग-साधन-प्रणालीके अनेक अङ्ग हैं। उनमेंसे मन्त्रयोगके ग्रन्थोंमें निम्नलिखित अङ्ग मुख्य बतलाये हैं।

भवन्ति मन्त्रयोगस्य षोडशाङ्गानि निश्चितम्।
यथा सुधांशोर्जायन्ते कलाः षोडश शोभनाः॥
भक्तिः शुद्धिश्चासनं च पञ्चाङ्गस्यापि सेवनम्।
आचारधारणे दिव्यदेशसेवनमित्यपि॥
प्राणक्रिया तथा मुद्रा तर्पणं हवनं बलिः।
यागो जपस्तथा ध्यानं समाधिश्चेति षोडश॥

'चन्द्रकी सोलह कलाओंकी तरह मन्त्रयोग भी सोलह अङ्गोंसे पूर्ण है। ये सोलह अङ्ग इस प्रकार हैं—भक्ति, शुद्धि, आसन, पञ्चाङ्गसेवन, आचार, धारणा, दिव्यदेश-सेवन, प्राणक्रिया, मुद्रा, तर्पण, हवन, बलि, याग, जप, ध्यान और समाधि।' नाना शास्त्रोंमें इन सोलह अङ्गोंका विस्तृत वर्णन पाया जाता है। भक्तिका विस्तार तो सभी भक्ति-शास्त्रोंमें पाया जाता है। शुद्धिके अनेक भेद हैं। यथा—किस दिशामें मुख करके साधन करना चाहिये, यह दिक्शुद्धि है; कैसे स्थानमें बैठकर साधन करना चाहिये, यह स्थान-शुद्धि है; स्नानादिद्वारा शरीरशुद्धि और प्राणायामादिद्वारा मनःशुद्धि होती है। कैसे आसनपर बैठना चाहिये—जैसे कि चैलासन, मृग-चर्मासन, कुशासनादि—यह आसन-शुद्धि है। अपने इष्टकी गीता, सहस्रनाम, स्तव, कवच और हृदय—ये पाँचों पञ्चाङ्ग कहाते हैं। आचारके तन्त्र और पुराणोंमें अनेक भेद कहे गये हैं। मनको बाहर मूर्त्ति आदिमें लगानेसे अथवा शरीरके भीतर स्थान-विशेषोंमें मनके स्थिर रखनेको धारणा कहते हैं। जिन सोलह प्रकारके स्थानोंमें पीठ बनाकर पूजा की जाती है, उनको दिव्यदेश कहते हैं। यथा—मूर्धास्थान, हृदयस्थान, नाभिस्थान, घट, पट, पाषाणादिकी मूर्त्तियाँ, स्थण्डिल, यन्त्र आदि। मन्त्रशास्त्रमें प्राणायामोंके अतिरिक्त शरीरके नाना स्थानोंमें प्राणको ले जाकर साधन करनेकी आज्ञा है। ये सब साधन प्राणक्रिया कहलाते हैं। न्यास आदि इसीके अन्तर्गत हैं। मन्त्रयोगमें अपने-अपने इष्टदेवके प्रसन्न करनेकी जो चेष्टाएँ हैं, वे मुद्रा कहाती हैं; यथा—शङ्खमुद्रा, योनिमुद्रा आदि। पदार्थविशेषद्वारा इष्टदेवका तर्पण किया जाता है। अग्निमें आहुति देनेको हवन कहते हैं। बलि तीन प्रकारकी होती है—यथा आत्मबलि अहङ्कारादिकी। इन्द्रियोंकी बलि तथा काम-क्रोधादिकी बलि, ये सब अन्तर्बलि हैं। बहिर्बलिमें सात्त्विक बलि फलादिकी और राजसिक-तामसिक बलि पशुकी होती है। अन्तर्याग और बहिर्यागभेदसे याग दो प्रकारका होता है। अपने इष्टके नामके जपको जप कहते हैं। जप भी वाचनिक, उपांशु और मानसिकभेदसे तीन प्रकारका होता है। इष्टके रूपके ध्यानको मनके द्वारा करनेसे जो साधन होता है, उसको 'ध्यान' कहते हैं। इष्टके रूपका ध्यान करते-करते अपनेको भूल जानेसे जो एक अवस्था होती है, उसे मन्त्रयोगमें 'महाबोध-समाधि' कहते हैं। यही मन्त्रयोगसमाधि है।

(२)

हठयोग

जैसे मन्त्रयोगके साधनोंमें नाम-रूपके अवलम्बनसे साधनकी विशेषता है, उसी प्रकार केवल स्थूलशरीरके अधिक अवलम्बनसे चित्तवृत्तिनिरोध करके योगसाधनकी प्रणाली हठयोगमें चलायी गयी है। महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इस प्रकारसे श्रीभगवान्‌के निकट पहुँचनेके लिये साधनकी आठ पैड़ियाँ बतलायी गयी हैं। ये उत्तरोत्तर एक दूसरेसे ऊँची हैं। बहिरिन्द्रियोंपर प्रभाव रखनेको 'यम' कहते हैं। अन्तरिन्द्रियोंपर प्रभाव रखनेको 'नियम' कहते हैं। योगसाधनके लायक शरीर बनानेको 'आसन' कहते हैं। प्राण और अपान वायुपर प्रभाव डालकर उनको योगसाधनोपयोगी बनानेको 'प्राणायाम' कहते हैं। मनको बाहरसे खींचकर भीतरकी ओर लानेको 'प्रत्याहार' कहते हैं। भीतरमें मनको ठहरा रखनेको 'धारणा' कहते हैं। इष्टरूपी ध्येयमें मनके लगा रखनेको 'ध्यान' कहते हैं और इष्टमें मनको लीन करके अपनेको भूल जानेको 'समाधि' कहते हैं। यही 'अष्टाङ्गयोग' का सार है। इनमेंसे चार अङ्ग बाहरके हैं और चार अङ्ग भीतरके हैं। इन

आठोंका बहुत कुछ विस्तार है। उन विस्तारोंमेंसे मन्त्र, हठ, लय और राज—इन चार श्रेणीके साधनोंमें इन आठों अङ्गोंमेंसे किसीमें किसी अङ्गपर अधिक ध्यान दिया है और किसी-किसी साधनमें किसी-किसी दूसरे अङ्गपर विशेष ध्यान दिया है। शास्त्रोंमें कहा गया है कि महर्षि मार्कण्डेय, भरद्वाज, मरीचि, जैमिनि, पाराशर, भृगु, विश्वामित्र आदिकी कृपासे इस कल्पमें हठयोगका विस्तार हुआ है। जब देखा जाता है कि सूक्ष्मशरीरके तीव्र संस्कारसे उत्पन्न हुए कर्मोंके भोगका आश्रयरूपी जीवका स्थूलशरीर बनता है, अर्थात् सूक्ष्मशरीरके भावके अनुरूप ही स्थूलशरीरका संघटन होता है तथा सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीर एक ही सम्बन्धयुक्त होकर रहते हैं, तब इसमें क्या बाधा है कि स्थूलशरीरके कार्योंके द्वारा सूक्ष्मशरीरपर आधिपत्य नहीं किया जा सकता! फलतः अधिकारिविशेषके लिये स्थूलशरीरप्रधान योगक्रियाओंका आविष्कार योगशास्त्रमें किया गया है, जिनके द्वारा साधक प्रथम अवस्थामें स्थूलशरीरकी क्रियाओंका साधन फस्ता हुआ स्थूलशरीरपर सम्पूर्ण आधिपत्य कर लेता है और क्रमशः उस शक्तिको अन्तर्मुख करके उसके द्वारा सूक्ष्मशरीरको वशमें लाकर चित्तवृत्तिनिरोधके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार करनेमें समर्थ होता है। इसी योगप्रणालीको हठयोग कहते हैं।

मन्त्रयोगमें जिस प्रकार भावपूर्ण स्थूल ध्यानकी विधि है, हठयोगमें वैसे ही ज्योतिःकल्पनारूप ज्योतिर्ध्यान करनेकी विधि रक्खी गयी है। अन्तर्जगत्‌के पवित्र भावोंको आश्रय करके जिस प्रकार नाना देव-देवियोंके ध्यानके लिये मन्त्रयोगमें उपदेश है, उसी प्रकार परमात्माको सब ज्योतियोंका ज्योतिःस्वरूप जानकर उनके ज्योतिर्मय रूपकी कल्पना करके ध्यानका अभ्यास करनेकी व्यवस्था हठयोगमें है। मन्त्रयोग-समाधिमें नाम-रूपोंकी सहायतासे समाधि-लाभ करनेकी साधन-प्रणाली वर्णित है और हठयोगमें वायुनिरोधके द्वारा मनका निरोध करके समाधिलाभ करनेकी विधि है। मन्त्रयोग-समाधिको 'महाभाव' और हठयोग-समाधिको 'महाबोध' समाधि कहा जाता है। हठयोगके अङ्गोंका वर्णन इस प्रकार है:—

षट्कर्मासनमुद्राः प्रत्याहारश्च प्राणसंयामः।
ध्यानसमाधी सप्तैवाङ्गानि स्युर्हठस्य योगस्य॥

'षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि—हठयोगके ये सात अङ्ग हैं।' इन सब अङ्गोंके क्रमानुसार साधनद्वारा क्या-क्या फलप्राप्ति होती है, उसका योगशास्त्रमें वर्णन है—

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद् दृढम्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता॥
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनः।
समाधिना त्वलिप्तत्वं मुक्तिश्चैव न संशयः॥

'षट्कर्मद्वारा शरीरशोधन, आसनके द्वारा दृढ़ता, मुद्राके द्वारा स्थिरता, प्रत्याहारसे धीरता, प्राणायाम-साधनद्वारा लाघव, ध्यानद्वारा आत्माका प्रत्यक्ष और समाधिद्वारा निर्लिप्तता तथा मुक्तिलाभ अवश्य होता है।' इन सब मानसिक और आध्यात्मिक लाभोंके सिवा हठयोगके प्रत्येक अङ्ग और उपाङ्गके साधनद्वारा शारीरिक स्वास्थ्यविषयक भी विशेष लाभ होता है, जो योगिराज श्रीगुरुदेवसे जानने योग्य है। धौति, बस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक और कपालभाति—ये छहों क्रियाएँ षट्कर्मकी कहलाती हैं। हठयोगके अनुसार बैठकर साधन करनेके कुल तैंतीस आसन माने गये हैं। उनकी क्रियाएँ अलग-अलग हैं। हठयोगके अनुसार आठ प्रकारके प्राणायामकी क्रिया कही गयी है। उनके नाम सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली हैं। इसी प्रकार हठयोगमें पचीस मुद्राओंकी साधनकी विधि पायी जाती है। ये सब मुद्राएँ वायु और मनको स्थिर करनेवाली होती हैं। प्रत्याहारमें भी ये मुद्राएँ मदद करती हैं तथा ध्यानसिद्धि और समाधि देनेमें भी मदद करती हैं, जो हठयोगका अन्तिम साधन है।

(३)

लययोग

अङ्गिरा, याज्ञवल्क्य, कपिल, पतञ्जलि, वशिष्ठ, कश्यप और वेदव्यास आदि पूज्यचरण महर्षियोंकी कृपासे परम मङ्गलकारी तथा मन-वाणीसे अगोचर ब्रह्मपद-प्राप्तिके कारणभूत लययोगका सिद्धान्त संसारमें प्रकट हुआ है।

प्रकृति-पुरुषके शृङ्गारसे उत्पन्न हुए ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों एक ही हैं। समष्टि और व्यष्टि-सम्बन्धसे ब्रह्माण्ड और पिण्ड एकत्व-सम्बन्धसे युक्त हैं। अतः ऋषि, देवता, पितर, ग्रह, नक्षत्र, राशि, प्रकृति, पुरुष सबका स्थान समानरूपसे ब्रह्माण्ड और पिण्डमें है। पिण्डज्ञानसे ब्रह्माण्डज्ञान हो सकता है। श्रीगुरुदेशद्वारा शक्तिसहित पिण्डका ज्ञान लाभ करनेके अनन्तर सुकौशलपूर्ण क्रियाद्वारा प्रकृति-

को पुरुषमें लय करनेसे लययोग कहलाता है। पुरुषका स्थान सहस्रारमें है और कुलकुण्डलिनीनाम्नी महाशक्ति आधारपद्ममें प्रसुप्त हो रही है। उसके सुप्त रहनेसे ही बहिर्मुखी सृष्टिक्रिया होती है। योगाङ्गद्वारा उसको जाग्रत् करके पुरुषके पास ले जाकर लय कर देनेपर योगी कृतकृत्य होता है, इसीका नाम 'लययोग' है।

योगशास्त्रमें इसके नौ अङ्ग बतलाये गये हैं। यथा—

अङ्गानि लययोगस्य नवैवेति पुराविदः।
यमश्च नियमश्चैव स्थूलसूक्ष्मक्रिये तथा॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानञ्चापि लयक्रिया।
समाधिश्च नवाङ्गानि लययोगस्य निश्चितम्॥
स्थूलदेहप्रधाना वै क्रिया स्थूलाभिधीयते।
वायुप्रधाना सूक्ष्मा स्याद्ध्यानं बिन्दुमयं भवेत्॥
ध्यानमेतद्धि परमं लययोगसहायकम्।
लययोगानुकूला हि सूक्ष्मा या लभ्यते क्रिया॥
जीवन्मुक्तोपदेशेन प्रोक्ता सा हि लयक्रिया।
लयक्रियासाधनेन सुप्ता सा कुलकुण्डली॥
प्रबुद्धा तस्मिन् पुरुषे लीयते नात्र संशयः।
शिवत्वमाप्नोति तदा साहाय्यादस्य साधकः॥
लयक्रियायाः संसिद्धौ लयबोधः प्रजायते।
समाधिर्येन निरतः कृतकृत्यो हि साधकः॥

'योगतत्त्वज्ञ महर्षियोंने लययोगके नौ अङ्ग वर्णन किये हैं। यम, नियम, स्थूल क्रिया, सूक्ष्म क्रिया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, लयक्रिया और समाधि—ये नौ अङ्ग लययोगके हैं। स्थूलशरीरप्रधान क्रियाको 'स्थूल क्रिया' और वायुप्रधान क्रियाको 'सूक्ष्म क्रिया' कहते हैं। बिन्दुमय प्रकृति-पुरुषात्मक ध्यानको 'बिन्दुध्यान' कहते हैं। यह ध्यान लययोगका परम सहायक है। लययोगानुकूल अति सूक्ष्म सर्वोत्तम क्रिया, जो केवल जीवन्मुक्त योगियोंके उपदेशसे ही प्राप्त होती है, 'लयक्रिया' कहाती है। लयक्रियाओंके साधनद्वारा प्रसुप्त कुलकुण्डलिनी-नामक महाशक्ति प्रबुद्ध होकर ब्रह्ममें लीन होती है। इनकी सहायतासे जीव शिवत्वको प्राप्त होता है। लयक्रियाकी सिद्धिसे महालयरूपी समाधिकी उपलब्धि होती है, जिससे साधक कृतकृत्य हो जाता है।'

बहिरिन्द्रियोंको वशमें लानेके साधनको 'यम' कहते हैं। अन्तरिन्द्रियोंको वशमें लानेके साधनको 'नियम' कहते हैं। हठयोगकी तरह तैंतीस आसनोंमेंसे कुछ आसनोंका साधन, पचीस मुद्राओंमेंसे कुछ थोड़ी-सी मुद्राओंका साधन—ये सब लययोगकी 'स्थूल क्रिया' कहाती हैं। उसी प्रकार हठयोगके आठ प्राणायामोंमेंसे थोड़े-से प्राणायाम और स्वरोदय आदिकी क्रियाएँ लययोगके अनुसार 'सूक्ष्म क्रिया' कहाती हैं। स्वरोदयके द्वारा बहुत-सी सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। लययोगका पञ्चम साधन प्रत्याहार है, जो केवल मनकी सहायतासे किया जाता है। प्रत्याहारकी सिद्धि प्रारम्भ होते ही योगी नादका सुनना प्रारम्भ कर देता है। लय-योगके आठवें अङ्गमें योगी शरीरके अंदरके षट्चक्रोंको जानता और उनकी सहायतासे साधनका अभ्यास करता है। योगाचार्योंका मत है कि मेरुदण्डके नीचेसे लेकर मस्तकके ऊपरतक सात ऐसे स्थान हैं, जिनकी सहायतासे योगी प्रकृति-शक्तिको नीचेसे ले जाकर सातवें सहस्रदलके स्थानमें शिव-शक्तिका संयोग करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इस चक्रकी क्रियाके पूर्ण होनेपर मुक्तिकी प्राप्ति होती है। यह साधन धारणा-साधनसे प्रारम्भ होकर समाधि-सिद्धितक सहायता करता है। लययोगके ध्यानका नाम 'बिन्दुध्यान' है। इस प्रकारसे योगी साधन करते-करते प्रकृतिके सूक्ष्म रूपका बिन्दुरूपमें दर्शन करता है। उसीका ध्यान बढ़ाते-बढ़ाते और उसके साथ लययोगकी कुछ और भी लयक्रिया जो गुरुमुखसे प्राप्त होती है, उसका साधन करते-करते योगी अन्तिम क्रिया समाधिकी प्राप्ति कर लेता है। लययोगकी समाधिका नाम महालय है। लययोगकी विशेषताके सम्बन्धसे स्वरोदयकी क्रियाएँ, षट्-चक्रके भेदनकी क्रियाएँ और अन्यान्य लयक्रियाएँ—जैसे व्योमजयी, प्रभाजयी, सुरभिजयी, अजया आदि—हैं, जिनके विषयमें लययोगसंहितामें निम्नलिखित वर्णन है—

सूक्ष्मा योगक्रिया या स्याद् ध्यानसिद्धिं प्रसाध्य वै।
समाधिसिद्धौ साहाय्यं विदधाति निरन्तरम्॥
दिव्यभावयुता गोप्या दुष्प्राप्या सा लयक्रिया।
महर्षिभिर्विनिर्दिष्टा योगमार्गप्रवर्तकैः॥
लयक्रिया प्राणभूता लययोगस्य साधने।
समाधिसिद्धिदा प्रोक्ता योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥
षट्चक्रं षोडशाधारद्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
पीठानि चोनपञ्चाशज्ज्ञात्वा सिद्धिरवाप्यते॥
समाधिसिद्धिर्ध्यानस्य सिद्धिश्चाप्यनया भवेत्।
आत्मप्रत्यक्षतां याति चैतया योगविज्ञः॥

'जो सूक्ष्म योगक्रियाएँ ध्यानकी सिद्धि कराकर साधककी

समाधिसिद्धिमें सहायक होती हैं, उन अलौकिक भावपूर्ण अति गोप्य और अति दुर्लभ उक्त क्रियाओंका महर्षियोंने लय-क्रियाके नामसे वर्णन किया है। लयक्रिया ही लययोगका प्राण है और समाधिसिद्धिका कारण है। षट्चक्र, षोडश आधारसे अतीत व्योमपञ्चक और उन्मनि पीठ—इनको जाननेसे लययोगमें सिद्धि प्राप्त होती है। लयक्रियाके द्वारा ध्यानसिद्धि, समाधिसिद्धि होती है और आत्मसाक्षात्कार होता है।'

मन्त्रयोगमें जैसे रूपकल्पनाद्वारा ध्यान किया जाता है, हठयोगमें जैसे भगवान्‌का ज्योतिःकल्पनाद्वारा ध्यान किया जाता है, लययोगमें वैसी कल्पना नहीं की जाती। लययोगका योगी योगसाधनके द्वारा अन्तर्जगत्‌में एक अलौकिक बिन्दुका दर्शन करता है। उसीको स्थिर रखकर उसीमें परमात्माके ध्यान करनेको 'बिन्दुध्यान' कहते हैं। यह लययोगकी विशेषता है। लययोगकी दूसरी विशेषता यह है कि लययोगी यदि चाहे तो सारे ब्रह्माण्डको अपने शरीरमें देख सकता है, क्योंकि लययोगसिद्धान्तके अनुसार समष्टिरूपी ब्रह्माण्डका व्यष्टिरूपी मनुष्यपिण्ड पूरा नमूना है। लययोगकी सहायतासे ही प्राचीन कालके पूज्यपाद महर्षिगण इस मृत्युलोकमें बैठकर सारे ब्रह्माण्डका पता लगा सकते थे।

राजयोग

सब योगसाधनोंका राजा होनेसे इसको राजयोग कहते हैं। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है—'राजत्वात् सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः।' राजयोगके लक्षणके विषयमें और उसके साधन-क्रमके विषयमें शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है—

सृष्टिस्थितिविनाशानां हेतुता मनसि स्थिता।
तत्सहायात्साध्यते यो राजयोग इति स्मृतः॥
अन्तःकरणभेदास्तु मनो बुद्धिरहङ्कृतिः।
चित्तञ्चेति विनिर्दिष्टाश्चत्वारो योगपारगैः॥
तदन्तःकरणं दृश्यमात्मा द्रष्टा निगद्यते।
विश्वमेतत्तयोः कार्यकारणत्वं सनातनम्॥
दृश्यद्रष्टृोश्च सम्बन्धात्सृष्टिर्भवति शाश्वती।
चाञ्चल्यं चित्तवृत्तीनां हेतुमत्र विदुर्बुधाः॥
वृत्तीर्जित्वा राजयोगः स्वस्वरूपं प्रकाशयेत्।
विचारबुद्धेः प्राधान्यं राजयोगस्य साधने॥
ब्रह्मध्यानं हि तद्ध्यानं समाधिर्निर्विकल्पकः।
तेनोपलब्धसिद्धिर्हि जीवन्मुक्तः प्रकथ्यते॥
उपलब्धमहाभावा महाबोधान्विताश्च वा।
महालयं प्रपन्नाश्च तत्त्वज्ञानाबलम्बतः॥
योगिनो राजयोगस्य भूमिमासाद्यन्ति ते।
योगसाधनमूर्द्धन्यो राजयोगोऽभिधीयते॥

'सृष्टि, स्थिति और लयका कारण अन्तःकरण ही है; उसकी सहायतासे जिसका साधन किया जाता है, उसको राजयोग कहते हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये अन्तःकरणके चार भेद हैं। अन्तःकरण दृश्य और आत्मा द्रष्टा है। अन्तःकरणरूपी कारण दृश्यसे जगद्रूपी कार्य दृश्यका कार्य-कारण सम्बन्ध है। दृश्यसे द्रष्टाका सम्बन्ध स्थापित होनेपर सृष्टि होती है। चित्तवृत्तिका चाञ्चल्य ही इसका कारण है। वृत्तिजयपूर्वक स्व-स्वरूपका प्रकाश करना राजयोग कहलाता है। राजयोगसाधनमें विचारबुद्धिका प्राधान्य रहता है। विचार-शक्तिकी पूर्णताद्वारा राजयोगका साधन होता है। राजयोगके ध्यानको 'ब्रह्मध्यान' कहते हैं। राजयोगकी समाधिको 'निर्विकल्प समाधि' कहते हैं। राजयोगसे सिद्धि-प्राप्त महात्माका नाम 'जीवन्मुक्त' है। महाभाव (मन्त्रयोगकी समाधि)-प्राप्त योगी, महाबोध (हठयोगकी समाधि)-प्राप्त योगी वा महालय (लययोगकी समाधि)-प्राप्त योगी तत्त्वज्ञानकी सहायतासे राजयोग-भूमिमें अग्रसर होते हैं। राजयोग सब योगसाधनोंमें श्रेष्ठ है और साधनकी चरम सीमा है, इस कारण इसको राजयोग कहते हैं।'

राजयोगके साधनोंको भी शास्त्रोंमें सोलह अङ्गोंमें विभक्त करके वर्णन किया गया है, वे निम्नलिखित हैं—

कलाषोडशकोपेतं राजयोगस्य षोडश।
सप्त चाङ्गानि विद्यन्ते समज्ञानानुसारतः॥
विचारमुख्यं तज्ज्ञेयं साधनं बहु तस्य च।
धारणाङ्गे द्विधा ज्ञेये ब्रह्मप्रकृतिभेदतः॥
ध्यानस्य त्रीणि चाङ्गानि विदुः पूर्वे महर्षयः।
ब्रह्मध्यानं विराड्ध्यानं चेशध्यानं यथाक्रमम्॥
ब्रह्मध्याने समाप्यन्ते ध्यानान्यन्यानि निश्चितम्।
चत्वार्यङ्गानि जायन्ते समाधेरिति योगिनः॥
सविचारं द्विधाभूतं निर्विचारं तथा पुनः।
इत्थं संसाधनं राजयोगस्याङ्गानि षोडश॥
कृतकृत्यो भवत्याशु राजयोगपरो नरः।
मन्त्रे हठे लये चैव सिद्धिमासाद्य यत्नतः।
पूर्णाधिकारमाप्नोति राजयोगपरो नरः॥

'षोडशकलासे पूर्ण राजयोगके षोडश अङ्ग हैं। समज्ञान-

भूमिकाओंके अनुसार सात अङ्ग हैं। ये सब विचारप्रधान हैं। उनके साधन अनेक प्रकारके हैं। धारणाके अङ्ग दो हैं—एक प्रकृतिधारणा और दूसरी ब्रह्मधारणा। ध्यानके अङ्ग तीन हैं—विराट्-ध्यान, ईशध्यान और ब्रह्मध्यान। ब्रह्मध्यानमें ही सबकी परिसमाप्ति है और समाधिके चार अङ्ग हैं—दो सविचार और दो निर्विचार। इस प्रकारसे राजयोगके षोडश अङ्गोंके साधनद्वारा राजयोगी कृतकृत्य होता है। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग—इन तीनोंमें सिद्धिलाभके अनन्तर अथवा किसी एकमें सिद्धिलाभ करनेके अनन्तर साधकको राजयोगका पूर्णाधिकार प्राप्त होता है।' राजयोगसंहितामें लिखा है—

साधनं राजयोगस्य धारणाध्यानभूमितः।
आरभ्यते समाधिर्हि साधनं तस्य मुख्यतः॥
समाधिभूमौ प्रथमं वितर्कः किल जायते।
ततो विचार आनन्दानुगता तत्परा मता।
अस्मितानुगता नाम ततोऽवस्था प्रजायते॥
विशेषलिङ्गं स्वविशेषलिङ्गं
लिङ्गं तथालिङ्गमिति प्रभेदान्।
वदन्ति दृश्यस्य समाधिभूमि-
विवेचनायां पटवो मुनीन्द्राः॥
हेया अलिङ्गपर्यन्ता ब्रह्माहमिति या मतिः।
निर्विकल्पे समाधौ हि न सा तिष्ठति निश्चितम्॥
द्वैतभावास्तु निखिला विकल्पश्च तथा पुनः।
क्षीयन्ते यत्र सा ज्ञेया तुरीयेति दशा बुधैः॥
समाधिसाधनं शास्त्राभ्यासतो न हि लभ्यते।
गुरोर्विज्ञाततत्त्वात्तु प्राप्तुं शक्यमिति ध्रुवम्॥

'राजयोगका साधन प्रथमावस्थामें धारणा और ध्यानभूमिसे प्रारम्भ होता है और राजयोगकी साधनभूमि प्रधानतः समाधिभूमि ही है। समाधिभूमिमें पहले वितर्क रहता है। तदनन्तर अग्रसर होनेपर विचार रहता है। उससे आगेकी अवस्थाका नाम आनन्दानुगत अवस्था है और उससे आगेकी अवस्थाका नाम अस्मितानुगत अवस्था है। विशेषलिङ्ग, अविशेषलिङ्ग, लिङ्ग और अलिङ्ग—ये चार भेद दृश्यके हैं। अलिङ्गतक त्यागने योग्य हैं। मैं ब्रह्म हूँ, यह भाव भी निर्विकल्प समाधिमें नहीं रहता। कोई द्वैतभाव अथवा कोई विकल्प जब शेष न रहे, वही तुरीयावस्था है। समाधिभूमिका साधनक्रम शास्त्रमें ज्ञात नहीं हो सकता। जिनको अपरोक्षानुभूति हुई है, ऐसे जीवन्मुक्त गुरु ही उसका भेद बतला सकते हैं।'

राजयोगके साधन-क्रमकी समालोचना करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि प्रथम परम भाग्यवान् राजयोगी दर्शनोक्त सप्तज्ञानभूमियोंको, एकके बाद दूसरीको, इस तरह क्रमशः अतिक्रम करता हुआ, जैसे मनुष्य सोपानद्वारा छतपर चढ़ जाता है, उसी प्रकार सप्तज्ञानभूमियोंका रहस्य समझ जाता है। यही राजयोगोक्त १६ अङ्गोंमेंसे प्रथम सप्ताङ्गका साधन-क्रम है। उसके अनन्तर वह सौभाग्यवान् योगी सत् और चित्-भावपूर्ण प्रकृति-पुरुषात्मक दो राज्यके दर्शन करके उनकी धारणासे अनन्तरूपमय प्रपञ्चकी विस्मृति-सम्पादन करनेमें समर्थ होता है। यही राजयोगके अष्टम और नवम अङ्गका साधन-क्रम है। उसके अनन्तर वह योगिराज परिणामशील प्रकृतिके स्वरूपको सम्पूर्णरूपसे जानकर ब्रह्म, ईश या विराट्रूपमें अद्वितीय ब्रह्मसत्ताका दर्शन करके ध्यानभूमिकी पराकाष्ठामें पहुँच जाता है। यही राजयोगोक्त १६ अङ्गोंमेंसे दशम, एकादश और द्वादश अङ्गका साधन-क्रम है। उसके अनन्तर वह परम भाग्यवान् योगाचार्य यथाक्रम वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत—इन चारों आत्मज्ञानयुक्त (ये चारों समाधिकी दशा पूर्वकथित मन्त्र-हठ-लययोगोक्त महाभाव, महाबोध, महालय समाधिसे विभिन्न हैं) समाधि-दशाओंको अतिक्रमण करते हुए स्वस्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। इसी दशाको जीवन्मुक्त-दशा कहते हैं। यही सब प्रकारके योग-साधनोंका अन्तिम लक्ष्य है। यही उपासना-राज्यकी परिधि है और यही वेदान्तका चरम सिद्धान्त है।

योगका सोपान

(लेखक—स्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती)

मनुष्य केवल इस लोकका ही नागरिक नहीं है, बल्कि अनेक लोकोंका है। केवल इसी लोकमें सङ्कटों और प्रलोभनोंका उसे सामना नहीं करना पड़ता, प्रत्युत अन्य लोकोंमें भी करना पड़ता है। यही कारण है कि योगशास्त्र यह बतलाता है कि साधक पहले अपने-आपको शुद्ध कर ले, अपनी इन्द्रियोंको वशमें करे, अपनी सब इच्छाओंको दूर कर दे और यममें स्थित हो और तब मूलाधारमें स्थित सुप्त कुण्डलिनीशक्तिको जगानेकी चेष्टा करे। आसन, बन्ध, मुद्रा और प्राणायामके द्वारा चित्तको शुद्ध करनेसे पहले ही यदि कुण्डलिनी जाग जाय तो अन्य लोकोंके प्रलोभन उसके सामने आ उपस्थित होंगे और उनका परिहार कर सकनेका-सा मनोबल उसमें न रहनेसे उसका बहुत ही बुरा पतन होगा। योग-सोपानकी जिस ऊँची पैड़ीपर वह गिरनेसे पहले था, वहाँतक भी पहुँचना उसके लिये फिर बहुत ही कठिन होगा। इसलिये साधनामें पहला काम यह है कि साधक अपने-आपको शुद्ध करे। जप, कीर्तन तथा सतत निःस्वार्थ सेवाके द्वारा जब वह पूर्ण शुद्धि लाभ कर लेगा तब कुण्डलिनी आप ही जाग उठेगी और सहस्रारमें स्थित कैलासपति ज्ञान, आनन्द और शान्तिके निधान भगवान् शिवका साक्षात्कार करनेको चल पड़ेगी।

योगकी सीढ़ीपर चढ़नेवाले बहुत-से साधक ऊँचाईकी एक हदतक पहुँचकर वहीं रुक जाते हैं। स्वर्ग, गन्धर्वलोक आदि उच्च लोकोंके मोह उन्हें वशीभूत करके मार्गसे भ्रष्ट कर देते हैं। साधक अपने विवेकको खोकर स्वर्गके भोगोंमें अपने-आपको भुला देते हैं। इन उच्च लोकोंके अधिवासी अनेक प्रकारोंसे साधकोंको लुभाते हैं। साधकसे कहते हैं—'हे योगी! हम तुम्हारे तप, वैराग्य, अभ्यास और दैवी गुणोंसे बहुत ही प्रसन्न हुए हैं। यही लोक, जहाँ तुम अपने पुण्यप्रताप और तपोबलसे आये हो, तुम्हारा परम विश्रामस्थान है। हम सब तुम्हारे दास हैं; जो इच्छा या आज्ञा करोगे, हम सब उसीका पालन करेंगे। स्वर्गका यह दिव्य रथ तुम्हारी सवारीके लिये है। इसपर बैठकर तुम जहाँ चाहो, जा सकते हो। ये स्वर्गकी अप्सराएँ हैं, जो तुम्हारी सेवा करेंगी। स्वर्गीय सङ्गीत सुनाकर ये तुम्हें प्रसन्न करेंगी। यह कल्पवृक्ष है, जो तुम्हारी सब इच्छाओंको पूर्ण करेगा। इस सुवर्णपात्रमें यह स्वर्गका सोमरस है, जिसे पानकर तुम अमर होओगे। यहीं वह परमानन्द-सरोवर है, जिसमें तुम स्वच्छन्दताके साथ विहर सकते हो।' देवोंके इन मधुर, मिष्ट, पुष्पित भाषणोंसे असावधान योगी अपने मार्गसे भ्रष्ट हो जाता है। मिथ्या तुष्टिसे ही वह सन्तुष्ट होता और यह समझता है कि हम योगकी पराकाष्ठाको पहुँच गये। इस तरह वह प्रलोभनोंके वशीभूत होता है और उसकी शक्ति हतस्ततः बिखर जाती है। ज्यों ही उसका पुण्यबल समाप्त होता है, त्यों ही वह इस भूलोकमें उतर आता है। तब उसे फिरसे इस अध्यात्म-सोपानकी चढ़ाई आरम्भ करनी पड़ती है। परन्तु पूर्ण विरक्त योगी, जिसका विवेक सुदृढ है, देवताओंकी इन मीठी बातोंका टका-सा जवाब सुना देता है और धीरताके साथ अपने अध्यात्मपथपर आगे बढ़ता है और जबतक योग-सोपानकी अन्तिम पैड़ी या ज्ञानपर्वतके उच्चतम शिखर अथवा निर्विकल्प समाधितक नहीं पहुँच जाता, तबतक कहीं भी नहीं रुकता। वह खूब अच्छी तरहसे जानता है कि स्वर्गके भोग मायिक, क्षणिक और निःसार हैं, इस लोकके भोगोंसे उनका किञ्चित् भी अधिक मूल्य नहीं है। स्वर्गके भोग बहुत सूक्ष्म, बहुत ही अधिक मादक और अतिशय होते हैं। इस कारण असावधान साधक, जिसका विवेक और वैराग्य अत्यन्त तीव्र और दृढ़ नहीं है, इन उच्च लोकोंके प्रलोभनोंमें अनायास फँस जाता है। इस भूलोकमें भी, उदाहरणार्थ पश्चिमके देशों और अमेरिकामें—जहाँ कुबेरका भाण्डार भरा है—लोग इन्द्रियोंके सूक्ष्म और आत्यन्तिक भोगोंमें लिप्त रहते हैं। इन्द्रियोंके विविध विरुद्धाचरण और उपद्रवकी वृत्तियोंको तुष्ट करनेके लिये वहाँके वैज्ञानिक प्रतिदिन ही नवीन-नवीन आविष्कार, इन्द्रिय-सुखके नये-नये प्रकार सामने ला रहे हैं। हिन्दुस्तानका कोई संयमी, सादे रहन-सहनका मनुष्य भी जब अमेरिका या यूरोपमें कुछ दिन रह जाता है तो एक दूसरा ही जीव बन जाता है। वह वहाँके प्रलोभनोंमें फँस जाता है। यह मायाका चमत्कार है, प्रलोभनका प्रभाव है, उद्दण्ड इन्द्रियोंका विलक्षण वेग है। परन्तु जिस मनुष्यका विवेक सुदृढ है, वैराग्य प्रखर है, बुद्धि स्थिर है, जिसके अंदर मोक्षकी इच्छाकी आग जल रही है, वह यथार्थमें सुखी हो सकता है, जीवनके परम लक्ष्यतक पहुँच सकता है, परमानन्द-धामको पा सकता या अनन्तके अथाह दर्शन कर सकता है।

नवधा भक्तिमें नौ विधियाँ या पैड़ियाँ हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन। श्रीभगवान्‌की लीलाओंको सुनना श्रवण है। उनके नामोंका गान करना कीर्तन है। उनका स्मरण स्मरण है। उनके चरणोंकी सम्मार्जनादि सेवा पादसेवन है। उन्हें पुष्पादि चढ़ाना अर्चन है। दण्डवत् साष्टाङ्ग प्रणाम करना वन्दन है। हम उनके सेवक हैं, ऐसा भाव धारण करना दास्य है। उनसे मैत्री-भाव रखना सख्य है। अपने-आपको समर्पित कर देना या शरणागत होना आत्मनिवेदन है।

श्रद्धा, विश्वास, भक्ति, रुचि (भगवन्नामके जप और गानमें), निष्ठा, रति, स्थायिभाव (प्रेममें स्थिरता) और महाभाव (प्रेममय अथवा परम प्रेम)—ये प्रेम-सोपान या भक्तियोगकी आठ पैड़ियाँ हैं। श्रद्धा, भक्ति, पूजा और तादात्म्य-भक्तियोगके चार पड़ाव हैं। सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—ये भक्तोंकी मुक्तिके चार रूप हैं।

प्राणको वशमें करके योगी धीरे-धीरे योगकी सीढ़ीपर चढ़ता है और चढ़ाईमें भिन्न-भिन्न चक्रोंमें ठहरकर विश्राम करता है। एक चक्रसे दूसरे चक्रमें, दूसरेसे तीसरेमें जाता है और प्रत्येक चक्रमें वहाँके विशेष आनन्द और शक्तिका अनुभव करता है और अन्तमें सहस्रदल कमलमें भगवान् शिवके साथ समरस होकर निर्विकल्प समाधिमें प्रवेश करता है। इस सोपानकी सात पैड़ियाँ जो सात चक्र हैं, वे ये हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार।

हठयोगमें प्राणायामकी चार अवस्थाएँ हैं—आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था और निष्पत्त्यवस्था।

नादयोग या लययोगमें योगी सिद्धासन या पद्मासन अथवा सुखासनसे बैठकर षण्मुखी (वैष्णवी) मुद्राका साधन करता और दाहिने कानसे अनाहत नाद सुनता है। इस प्रकार जो नाद उसे सुन पड़ता है, उससे बाहरके शब्दोंके लिये उसके कान बहिरे हो जाते हैं। पहले-पहल समुद्रका गरजना, मेघोंकी गड़गड़ाहट, नगारेके शब्द-जैसा गर्जन सुन पड़ता है, फिर मध्य अवस्थामें घण्टानाद, वंशीध्वनि, वीणाके स्वर अथवा मधु-मक्खियोंकी भनभनाहट-जैसा प्रतीत होता है। योगी अपना ध्यान स्थूल शब्दसे हटाकर सूक्ष्ममें और सूक्ष्म शब्दसे हटाकर स्थूलमें लगा सकता है।

मन जब किसी एक शब्दपर स्थिर हो जाता है, तब वह उसीमें स्थित होकर उसीमें लीन हो जाता है। मन शब्दके साथ वैसे ही एक हो जाता है जैसे दूधके साथ पानी; और तब बड़ी शीघ्रतासे सनातन ब्रह्ममें लीन हो जाता है। योगी इस अनाहत नाद या शब्दपर अपने मनको एकाग्र करनेका सतत अभ्यास करे। इससे नाद मनका विनाश कर देता है। शब्द अक्षरमें लीन होता है और अन्तमें योगी अशब्द परब्रह्म अर्थात् सनातन आनन्दके परम धामको प्राप्त होता है।

अष्टाङ्गयोगकी सीढ़ीकी आठ पैड़ियाँ या आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम अपने-आपको वशमें रखना है। नियम नित्य धर्म अथवा नित्यकी आध्यात्मिक दिनचर्याका पालन है। आसन शरीरको विशेष स्थितिमें रखना है। प्राणायाम प्राणकी गतिको वशमें करना है। प्रत्याहार इन्द्रियोंको विषयोंसे खींचकर लौटाना है। धारणा एकाग्रता है। ध्यान एकाग्र होकर ध्येयविषयमें स्थिर होना है। समाधि परम बोध है।

महर्षि पतञ्जलिके राजयोगकी समाधि सात प्रकारकी है—सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार, सास्मिता, सानन्द और असम्प्रज्ञात। प्रथम छः प्रकारकी समाधि सविकल्प समाधि है और सातवीं निर्विकल्प। राजयोगकी मधुमती, मधुप्रतीक, विशोका और संस्कारशेष प्रभृति विविध भूमिकाएँ हैं। क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ, एकाग्र और निरोध—ये पाँच राजयोगमें मनकी भूमिकाएँ हैं।

ज्ञानयोग-सोपानकी सात पैड़ियाँ अथवा सात भूमिकाएँ हैं—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी और तुरीया। शुभेच्छा संसार-सागरके पार होकर आत्मज्ञान लाभ करनेकी समुचित इच्छा है। ब्रह्मके स्वरूपका अनुसन्धान विचारणा है। मनका सूक्ष्म होना तनुमानसा है। विशुद्धता सत्त्वापत्ति है। असङ्ग—अनासक्ति असंसक्ति है। तत्त्वमसि आदि महावाक्योंका मनन-निदिध्यासन पदार्थाभावनी है। परम बोध तुरीया है। स्फुरणा, हर्ष, आदेश, प्रत्यक्ष और परमानन्द—ज्ञानयोगमें आध्यात्मिक अनुभूतिकी पाँच भूमिकाएँ हैं। तमस्, भ्रम, अनन्ताकाश, प्रकाश और अनन्त अद्वयबोध भी ज्ञानयोगकी अनुभूतिकी विशेष भूमिकाएँ हैं।

शुद्धि, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, एकीभाव और लय—वेदान्तसाधनाकी छः अवस्थाएँ हैं। शब्दानुविद्ध, शब्दाननु-

विद्ध, दृश्यानुविद्ध, दृश्याननुविद्ध, बाह्य निर्विकल्प, आन्तर निर्विकल्प, अद्वैतभावनारूप समाधि, अद्वैतावस्थानरूप समाधि—ये वेदान्तियोंकी विभिन्न प्रकारकी समाधियाँ हैं। पहली चार समाधियाँ सविकल्प हैं और अन्तिम चार निर्विकल्प।

कर्मयोगी सतत निष्काम कर्मके द्वारा अपने चित्तको शुद्ध करता है। उसका यह कर्म ईश्वर नारायणभाव या आत्मभावसे होता है। उसके कर्ममें उसकी फलाकाङ्क्षा नहीं होती। वह अहङ्काररहित होकर कर्म करता है। वह यह अनुभव करता है कि मैं केवल एक निमित्त अथवा भगवान्‌के हाथोंमें एक करणमात्र हूँ। वह अपने सब कर्म और उनके फल भगवान्‌को समर्पित करता है। वह प्रत्येक कर्ममें अपनी नीयतकी जाँच करता और उसे स्वार्थरहित बनाता है। सबके मुखोंकी ओर देखते हुए वह ईश्वरको देखता है। अन्तःस्थित ईश्वरकी ही उसे सर्वत्र प्रतीति होती है। वह यह समझता है कि सारा विश्व विश्वपतिका आविर्भाव है, सारा विश्व वृन्दावन है। प्रत्येक स्थितिके अनुकूल बननेका वह अभ्यासी होता है। जो कुछ शरीरतः, अन्तःकरणतः और अध्यात्मतः उसके पास है उसे वह सबको बाँटकर लेता है। शरीरनिर्वाहमात्रके लिये जो कुछ आवश्यक है, उतनी ही सामग्री वह अपने पास रखता है। ब्रह्मचर्यके पालनमें वह बड़ी कड़ाई रखता है। कर्म करते हुए वह मनसा 'ब्रह्मार्पण' करता रहता है। वह अपने सब कर्म भगवान्‌को अर्पण करता है और सोते समय भगवान्‌से इस प्रकार प्रार्थना करता है कि 'हे भगवन्! आज जो कुछ मैंने किया, तुम्हारे लिये किया है। उसे तुम प्रसन्न होकर स्वीकार करो।' इस प्रकार वह अपने कर्मोंके फलोंको जलाता है और कर्मोंसे नहीं बँधता। कर्ममें वह मुक्ति-लाभ करता है। निष्काम कर्मयोगके द्वारा उसका चित्त शुद्ध होता है और चित्तशुद्धिसे वह आत्मज्ञानको प्राप्त होता है। देशसेवा, समाजसेवा, दीनसेवा, रुग्णसेवा, मातृ-पितृ-सेवा, गुरुसेवा, सत्पुरुषसेवा—ये सब सेवाएँ कर्मयोग हैं।

गीताके मतसे योगी अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके छः मास—इस अर्चिरादि मार्गसे ब्रह्मलोकको जाता है। उपनिषद् कहते हैं कि 'देवयानसे योगी अग्निलोकको, वायुलोकको, वरुणलोकको, इन्द्रलोकको, प्रजापतिलोकको और ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है।' (कठोपनिषद् १-३) छान्दोग्योपनिषद्‌में कहा है कि 'योगी आदित्यलोकसे चन्द्रलोकको जाता है, चन्द्रलोकसे बिजलीको; वहाँसे अमानव पुरुष उसे ब्रह्मके समीप ले जाता है।'

मनुष्योंके स्वभाव, गुण, अधिकार भिन्न-भिन्न हैं, इस कारण योगमार्ग भी भिन्न-भिन्न हैं; पर गन्तव्यस्थान एक ही है। अन्तमें सब योगी एक ही स्थानमें आ जाते हैं। परम अनुभूति सब साधकोंकी अन्तमें एक-सी ही होती है। यह परानुभूति व्यष्टि पुरुषका परम पुरुषमें लय होना, ब्रह्मके परम धामको प्राप्त होना है।

किसी भी योगमार्गमें एक-एक पैड़ीपर मजबूतीसे पैर रखनेके बाद ही दूसरी पैड़ीपर चढ़ना होता है। इसी क्रमसे योगकी सबसे ऊँची अन्तिम पैड़ीपर मनुष्य पहुँचता है। इस काममें कोई अधीर न हो। अधीरतासे साधकका पैर फिसलता है और उसका उन्नति-क्रम बुरी तरहसे रुक जाता है।

इसलिये ईश्वर करे आप सब लोग योगमें दृढ़ हों और धीरताके साथ निर्विकल्प समाधिके शिखरतक पहुँच जायँ और परमात्म-मिलनके द्वारा परमानन्दके भागी हों।

नामका प्रताप

देखौ नाम प्रताप से सिला तिरै जल बीच॥
सिला तिरै जल बीच सेत में कटक उतारी।
नामहिं के परताप बानरन लंका जारी॥
नामहिं के परताप जहर मीरा ने खाई।
नामहिं के परताप बाल पहलाद बचाई॥
पलटू हरि जस ना सुनै ता को कहिये नीच।
देखौ नाम प्रताप से सिला तिरै जल बीच॥

—पलटू

साधन-तत्त्व

(लेखक—आचार्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी महाराज)

साधन-तत्त्वके ज्ञानसे पूर्व साध्य-तत्त्वका कुछ परिज्ञान होना परमावश्यक है। साधक जिस वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा करता है, उसे साध्य कहते हैं। 'भिन्नरुचिर्हि लोकः' की उक्तिके अनुसार वाञ्छित वस्तुएँ विभिन्न प्रकारकी हो सकती हैं, किन्तु मूलवाञ्छा सबकी एक ही है—यथा 'सुखं मे भूयात्, दुःखं मे मा भूत्' अर्थात् सुख मुझको हो, दुःख न हो। तात्पर्य यह है कि संसारमें एक कीटाणुसे लेकर ब्रह्मातक सब सुखप्राप्तिकी ही इच्छा करते हैं। अतएव सबका प्रधान साध्य सुख ही है। इस सुखरूप साध्यका स्वरूप ही प्रथम विवेचनीय है।

कुछ लोगोंका कहना है कि दुःखके अभावका नाम ही सुख है, किन्तु यह बात नहीं है। सुख और दुःख, ये दोनों भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र वेदनाएँ (feelings) हैं; जैसा कि कहा गया है—'अनुकूलतया वेदनीयं सुखम्, प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम्।' अर्थात् जो वेदना हमको प्रीतिकर प्रतीत हो, उसे सुख कहते हैं और जो अप्रीतिकर हो, उसे दुःख कहते हैं। वास्तवमें किसी वस्तुविशेषमें सुख-दुःख नहीं होता, क्योंकि एक ही वस्तु किसीको सुखदायक और किसीको दुःखदायक होती है। इन दोनोंमें सुख ही सर्ववाञ्छनीय है, अतः यही साध्यस्वरूप है।

यह अनुकूल वेदनात्मक साध्यस्वरूप सुख दो वस्तुओंके सम्मिलनसे उत्पन्न होता है और वस्तुसंयोगकी विभिन्नतासे तीन प्रकारका होता है—१ जड-जड-संयोगजन्य सुख, २ जड-चेतन-संयोगजन्य सुख, ३ चेतन-चेतन-संयोगजन्य सुख।

१—जड-जड-संयोगजन्य वह सुख है, जो हमारी जडेन्द्रियोंके साथ उनके जड विषयोंका संयोग होनेपर होता है। यह सुख अनित्य एवं नाशवान् होता है; क्योंकि जिन दो वस्तुओंके संयोगसे यह उत्पन्न होता है, वे इन्द्रिय और उनके विषय दोनों ही अनित्य एवं नाशवान् हैं। अतएव यह सुख नित्य और अविनाशी जीवका वास्तविक साध्य होनेके अयोग्य है।

२—जड-चेतन-संयोगजन्य सुख वह है, जो हमारे जडीय मन और चेतन आत्माके संयोगसे समाधिकालमें उत्पन्न होता है। यह सुख पूर्वापेक्षया अधिक कालतक स्थायी होनेके कारण किसी सीमातक साध्यरूपसे ग्रहण किया जा सकता है; किन्तु यह भी संयुक्त वस्तुओंमेंसे एक (मन) के अनित्य एवं विनाशी होनेके कारण नित्य जीवका नित्य साध्य नहीं हो सकता।

३—चेतन-चेतन-संयोगजन्य सुख वह है, जो चेतनघन परमात्माके साथ चेतन-कण जीवात्माका संयोग होनेपर होता है। ये संयुक्त तत्त्व दोनों ही नित्य एवं सत्य हैं; अतएव इनके संयोगसे जो सुख होता है, वही नित्य जीवके नित्य साध्य स्वरूपसे स्वीकार किया जा सकता है। यहाँ इसी सुखको साध्यरूपसे स्वीकार कर साधन-तत्त्वका निर्णय किया जायगा।

साधक साध्यकी प्राप्तिके लिये जो प्रयत्न करता है, उसे साधन कहते हैं। इस साधनको दूसरे शब्दोंमें पथ या मार्ग भी कहते हैं। यह मार्ग प्रक्रियाभेदसे दो प्रकारका होता है—एक आरोही मार्ग, दूसरा अवरोही मार्ग। आरोही मार्ग उस प्रक्रियाका नाम है, जिसके द्वारा साधकको अपने साध्यतक स्वयं पहुँचना पड़ता है। यह प्रक्रिया अत्यन्त कठिन एवं भयाकुल है। अवरोही मार्ग उस पद्धतिका नाम है, जिसमें साध्य वस्तु साधकके समीप सहजमें आ जाती है। यह अति सरल एवं निर्भय है। यह विषय नीचेके इस दृष्टान्तसे स्पष्ट हो जायगा—

कल्पना करो कि एक बहुत बड़ा आमका वृक्ष है; उसकी सबसे ऊपरकी शाखामें एक पका हुआ फल लगा है, जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं। उसकी प्राप्तिके लिये हम दो ही उपाय कर सकते हैं। एक तो हम स्वयं वृक्षपर चढ़ें और सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओंको अतिक्रम करके उस फलको प्राप्त करें। इसको आरोही मार्ग कहते हैं। और दूसरा यह है कि बिना किसी विघ्न-बाधाके वह फल सहजमें हमतक आ जाय। जैसा कि प्रायः देखा जाता है कि कोई-कोई लोग एक लंबे बाँसमें जालीकी थैली बाँधकर नीचेसे ही उस फलको तोड़कर और थैलीमें धरकर धीरेसे उतार लेते हैं। इसको अवरोही मार्ग कहते हैं।

इन दोनों मार्गोंमेंसे वर्तमान युगके साधकोंकी परिस्थितिके अनुसार कौन-सा सुगम है, यह बात निष्पक्ष होकर

विचारनेसे सहज ही ज्ञात हो जायगी कि द्वितीय अर्थात् अवरोही मार्ग ही सब प्रकारसे सुन्दर और अभय है। आरोही मार्गमें पतनका भय है, जैसा कि ब्रह्मादि देवताओंने श्रीभगवान्‌की स्तुति करते हुए कहा है:—

अन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ॥

'हे कमलनयन! तुम्हारे प्रति भक्तिभाव अस्त होनेके कारण जिनकी बुद्धि अशुद्ध हो गयी है, ऐसे मुक्ताभिमानी मनुष्य बड़ी कठिनतासे परम पदतक चढ़कर भी नीचे गिर जाते हैं; क्योंकि उन्होंने आपके चरणारविन्दोंका आदर नहीं किया है।' इसीके आगे अवरोही मार्गकी निर्भयता कही गयी है:—

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्
भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः ।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ॥

'हे प्रभो! हे माधव! आपके जिन भक्तोंका प्रेम आपमें बँधा हुआ है, वे उक्त प्रकारके मुक्ताभिमानी मनुष्योंकी तरह अपने मार्गसे कभी भ्रष्ट नहीं होते; वे तो आपके द्वारा रक्षित होकर विघ्नकारियोंके अधिपतियोंके मस्तकपर (पैर रखकर) निर्भय होकर विचरते रहते हैं।'

इन स्तुतिवाक्योंसे उक्त दोनों मार्गोंका तारतम्य स्पष्ट ही ज्ञात हो रहा है। और इनसे यह भी सिद्ध हो रहा है कि एकमात्र भगवद्भक्ति ही अवरोही मार्ग या सर्वसुलभ साधन है। इस भक्ति-साधनकी व्यापकता एवं महिमाका वर्णन इस छोटे-से निबन्धमें नहीं किया जा सकता—इसके लिये श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत आदि भक्ति-ग्रन्थोंकी आलोचना करनी चाहिये। यहाँ तो केवल इसका प्रकारमात्र दर्शित किया जायगा।

प्रथम तो भक्ति ही दो प्रकारकी है—एक शुद्धा भक्ति, दूसरी विद्धा भक्ति। जिसका श्रीभगवान्‌के साथ साक्षात् सम्बन्ध है, वह शुद्धा भक्ति कहलाती है और जिसका सम्बन्ध देवतान्तरोंके साथ है, वह विद्धा भक्ति कही जाती है। यहाँ विद्धा भक्तिकी आलोचना करनेकी आवश्यकता नहीं है, इस समय केवल शुद्धा भक्ति ही विवेचनीय है।

साधकके स्थितिभेदके अनुसार शुद्धा भक्तिका साधन दो प्रकारका है—एक जडदेहगत साधन, दूसरा चिद्देहगत। मायाबद्ध जीवकी जबतक देहात्मबुद्धि रहेगी, तबतक उसे जडदेहगत साधन ही करना होगा और जब इसका अनुष्ठान करते-करते मायामुक्त होकर वह भागवत तनु-लाभ करेगा, तब उसे चिद्देहगत भक्तिसाधनका अधिकार प्राप्त होगा।

जडदेहगत साधन भी दो प्रकारका है—एक स्थूलदेहगत, दूसरा सूक्ष्मदेहगत। विशेष-विशेष जडीय स्थूल स्थलोंमें श्रीभगवान्‌का अधिष्ठान मानकर उनमें तादात्म्यबोधसे श्रद्धापूर्वक जो जडीय स्थूल वस्तुओंसे भगवत्पूजन सम्पन्न किया जाता है, वह स्थूलदेहगत भक्तिसाधन है और जो मनोमयी भगवत्प्रतिमाका मनःकल्पित वस्तुओंसे अर्चन किया जाता है, वह सूक्ष्मदेहगत भक्तिसाधन है।

वैसे तो इन दोनों प्रकारके साधनोंका क्रिया-कलाप सब समान ही होता है, परन्तु साधककी देश-काल-वस्तुगत परिस्थितिके अनुसार अन्तर केवल इतना हो जाता है कि स्थूलदेहगत साधनमें कई प्रकारकी बाधाएँ आ जाती हैं और सूक्ष्मदेहगत साधनमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती। जैसे हम किसी वस्तुविशेषको पूजनके समय श्रीभगवान्‌के अर्पण करना चाहते हैं, किन्तु वह वस्तु इस देशमें उत्पन्न नहीं होती या इस कालमें उत्पन्न नहीं होती या उत्पन्न होनेपर भी धनाभावके कारण उसको प्राप्त करनेमें हम असमर्थ होते हैं तो हम उसे अर्पण नहीं कर सकते। मनोराज्यमें किसी भी वाञ्छित वस्तुका प्राप्त करना असम्भव नहीं है, प्रत्युत वहाँ असम्भव भी सम्भव हो जाता है। इसीसे साधन-तत्त्वके विशेषज्ञोंने स्थूलदेहगत साधनकी अपेक्षा सूक्ष्मदेहगत साधन (मानसिक उपासना) को उत्तम बताया है।

चिद्देहगत भक्ति-साधनका व्यापार बड़ा ही विचित्र और अलौकिक है। अलौकिक इसे इसलिये कहते हैं कि प्रथम तो चिद्देहमें स्थूल-सूक्ष्मका कोई भेद नहीं है; दूसरे, इसमें देह-देहीका भी अन्तर नहीं है—जो देह है वही देही है, जो देही है वही देह है। यही साधककी विदेहावस्था है। इस अवस्थामें भक्तिका साधन जडीय स्थूल-सूक्ष्म देहके समान क्रियात्मक या विचारात्मक नहीं होता, भावात्मक होता है। अर्थात् इसमें भक्तिका साधन स्वतःसिद्ध स्वरूपगत एक धर्मविशेष होता है। चिद्देहगत और जडदेहगत भक्ति-साधनमें

इतना अन्तर होता है कि पहलेमें साधककी स्वतः प्रवृत्ति होती है और दूसरेमें परतः प्रवृत्ति होती है। अर्थात् पहलेमें अनुराग प्रबल होता है और दूसरेमें शास्त्र-शासन प्रबल होता है। यही कारण है कि चिदेहगत भक्ति-साधनकी शास्त्रविधि अभीतक कोई लिपिबद्ध नहीं हुई है और न हो ही सकती है। इस साधनकी विचित्रता यह है कि यह और साधनोंकी तरह अपना फल उत्पन्न कर निरस्त नहीं होता; सिद्धावस्थामें भी यह उसी तरह प्रवृत्त रहता है, जिस तरह साधनावस्थामें रहता है। इसका कारण यह है कि इसमें साध्य और साधन दोनों अभिन्न हैं। तात्पर्य यह है कि इस अवस्थामें साधकके साधन-कालमें जो वस्तु साधनका काम देती है, वही वस्तु सिद्धि-कालमें आस्वादनका काम देती है। इस विषयका अनुमोदन श्रीमद्भागवतके इस श्लोकसे स्पष्ट होता है:—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥

अर्थात् 'जो मायाकी ग्रन्थिसे मुक्त आत्मामें रमण करनेवाले मुनिगण हैं, वे भी उरुक्रम भगवान्‌में अहैतुकी भक्ति-का साधन करते हैं; क्योंकि श्रीहरिके गुण ही ऐसे हैं।'

साधन-तत्त्वका विवेचन एक विस्तृत विषय है। 'कल्याण' का कलेवर विपुल होनेपर भी स्थानका संकोच है, अतएव इस लघुतम लेखमें सुयोग्य सम्पादक महोदयके अनुरोधानुसार विवेचनीय विषयका केवल परिचयमात्र कराया गया है। जिन साधकोंको इस विषयमें विशेष जिज्ञासा हो, उन्हें साधन-तत्त्वके किन्हीं विशेषज्ञ गुरुदेवकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। वे ही कृपाकर साधकके अधिकारानुरूप तत्त्वोपदेश देकर किसी सरल साधन-पथका प्रदर्शन करा देंगे।

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'

सच्ची साधना क्या है ?

(लेखक—डा० श्रीभगवानदासजी, एम्० ए०, डी० लिट्०)

'सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥'—मनुः
धर्मश्चार्थश्च कामश्च त्रिवर्गोऽभ्युदयः स्मृतः।
चतुर्थः पुरुषार्थस्तु मोक्षो निःश्रेयसं तथा॥
साध्येषा चतुर्वर्गं सैवास्ति ननु साधना।
ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य श्रान्त्वा त्रिष्वाश्रमेष्वपि।
त्रिवर्गं साधयित्वा तैराश्रमैश्चरमं विशेत्॥
अन्यथा वर्त्तमानस्तु न साधनोऽयेकमप्यसौ।
'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य तान्येव मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः॥'मनुः
'अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य च सत्प्रजाः।
अनिष्ट्वा चोत्तमैर्यज्ञैर्मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः॥'मनुः
'एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।'गीता
'श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।'गीता
'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'—गीता
'तज्जपस्तदर्थभावनम्'—योगसूत्र

धर्म, अर्थ, काम—इस त्रिवर्गका नाम अभ्युदय है; मोक्षको निःश्रेयस भी कहते हैं, क्योंकि उससे बढ़कर और कोई श्रेयस् नहीं। वेदमें अर्थात् सत्यज्ञान, वेदान्त, वेदके शास्त्रमें बताया है कि मानव जीवको पहले प्रवृत्तिमार्गमें रहकर, प्रवृत्त कर्म करके, त्रिवर्गका साधन करना चाहिये; और फिर चतुर्थ वर्ग मोक्षका। जिस 'साधना'से ये चारों पुरुषार्थ सधें—सिद्ध हों, वही तो सच्ची साधना है। अन्य साधनाएँ प्रायः धोखा देनेवाली हैं। यह सच्ची साधना क्या है ? यह है प्रजापति, प्रजावत्सल, सर्वज्ञानमय भगवान् मनुकी आदिष्ट-निर्दिष्ट पदवी; क्रमशः एक आश्रमसे दूसरेमें, दूसरेसे तीसरेमें जाय; ब्रह्मचर्यमें सच्चा ज्ञान सीखे, गृहस्थीमें उत्तम प्रजाका उत्पादन, पालन-पोषण करे (उतनी ही सन्ततिका उत्पादन करे, जितनेका पालन-पोषण अच्छी तरह कर सके; क्योंकि वेदोंमें यह भी कहा है कि 'बहुप्रजाः कृच्छ्रमापद्यते', 'बहुप्रजाः निर्ऋतिमाविवेश'); वनस्थीमें पारमार्थिक ज्ञानका यज्ञ मुख्यतः तथा अन्य जनताहितकर सार्वजनिक कर्मरूपी यज्ञ करे; फिर सब व्यवहारोंका न्यास करके संन्यासाश्रममें परमात्मध्यान करे। इस क्रमके विरुद्ध जो आचरण करता है, तीनों आश्रमोंमें क्रमसे ऋषि-पितृ-देवके तीन ऋण नहीं चुकाता तथा अर्थ-काम-धर्मका अर्जन नहीं करता और बालब्रह्मचारी या बालसंन्यासी आदि बनना चाहता है, वह प्रायः अधः—नीचे गिरता है। अर्थकी भावना करके जप करना उत्तम यज्ञ है।

साधनाका मनोवैज्ञानिक आधार

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०)

तन धन सुखिया कोइ न देखा, जो देखा सो दुखिया रे ।
चंद्र दुखी है, सूर्य दुखी है, भरमत निसि दिन जाया रे ॥
ब्रह्मा और प्रजापति दुखिया, जिन यह जग सिरजाया रे ।
हाटो दुखिया, बाटो दुखिया, क्या गिरस्थ बैरागी रे ॥
शुकाचार्य जनम के दुखिया, माया गर्ब न त्यागी रे ।
धूत दुखी, अवधूत दुखी हैं, रंक दुखी धन रीता रे ॥
कहै कबीर वोही नर सुखिया, जो यह मन को जीता रे ॥

'साधना' एक आध्यात्मिक शब्द है । साधनाके द्वारा साधक आनन्द और सुखकी प्राप्तिकी आशा करता है । आनन्द और सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसके विषयमें अध्यात्मवाद और जडवादमें भारी अन्तर है । संसारके सभी प्राणी सुखकी आशा करते हैं और सुखकी खोजमें ही अनेक प्रकारके यत्न किया करते हैं, किन्तु स्थायी सुख किसीको प्राप्त नहीं होता । ज्यों ही हम सुखका स्पर्श करते हैं, त्यों ही वह अभावमें विलीन हो जाता है । जैसा कविवर कीट्सने कहा है—

At a touch sweet pleasure melteth.
Like unto bubbles when rain pelteth.

(जिस तरह बूँदके पड़ते हुए उसके धक्केसे पानीका बबूला फूट जाता है, उसी तरह स्पर्शमात्रसे ही सुख अभावमें विलीन हो जाता है ।) जब हमें किसी इच्छित वस्तुकी प्राप्ति हो जाती है तो हम आनन्दसे फूल उठते हैं; जब वह हमारे हाथसे चली जाती है तो हम शोकातुर हो जाते हैं । इतना ही नहीं; इच्छित वस्तुकी प्राप्ति होनेपर मनमें आनन्दकी स्थिति थोड़ी देरतक रहती है; फिर अपने-आप ही मनमें बेचैनी पैदा हो जाती है । इस स्थितिको शोपेनहूर महाशयने अपने सारगर्भित वाक्यमें यह कहकर प्रदर्शित किया है कि मनुष्यका मन सदा दुःख और बेचैनीकी अवस्थामें ही इधर-से-उधर झूलता रहता है (Human mind swings backward and forward between ennui and pain.)

इस दुःख और बेचैनीको हटानेके लिये भौतिक विचार-वाले तत्त्ववेत्ताओंने यह मार्ग प्रदर्शित किया है कि हमें सदा ही अनेक प्रकारके सुखोंका संग्रह करते रहना चाहिये । हमें अपने-आपको ऐसा बनाना चाहिये कि जिससे हम अपने मनको संसारके हजारों कार्योंमें व्यस्त रख सकें, ताकि हमें दुःख और सुखके सम्बन्धमें विचार करनेका अवसर ही न रहे । बरट्रैंड रसेल (Bertrand Russel) महाशयने अपनी पुस्तक 'कांक्वेस्ट ऑव हैपीनेस' (Conquest of Happiness) में यही दिखलाया है कि मनुष्य अपने-आपको सदा किसी-न-किसी व्यवसायमें लगा करके ही सुखी रह सकता है । इसी प्रकारका सिद्धान्त १८वीं शताब्दीमें बैन्थम महाशयने इँग्लैंडमें प्रचलित किया था ।

इस प्रकारकी भौतिकताको इँग्लैंडके प्रसिद्ध लेखक कार्लिथनने शैतानका राज्य (Reign of Belzebub) कहा है । हमें एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे देखना है कि वास्तवमें सुखकी खोज साधनाके द्वारा करनी चाहिये अथवा भौतिक प्रकारसे । साधना करनेवाले व्यक्तिको आज संसारके लोग प्रायः मन्दबुद्धि समझते हैं । हम देखते हैं कि साधक निरर्थक ही अपने शरीरको त्रास दिया करता है और अनेक प्रकारसे अपने-आपको संसारके सुखोंसे वञ्चित करता है । क्या ऐसा करना निरी भूल है ? मनोविज्ञान इस विषयमें क्या कहता है ?

मनोविज्ञान भौतिक विज्ञानोंके समान ही एक विज्ञान है, अतएव आध्यात्मिकताकी पुष्टि करना मनोवैज्ञानिकके लिये कठिन है; तथापि कुछ मनोविज्ञानियोंने ऐसी मौलिक बात कही है, जिससे हमें यह ज्ञात हो सकता है कि हमें सुखकी खोज कहाँ करनी चाहिये । उनमेंसे एक विलियम जेम्सद्वारा कथित आनन्दका सिद्धान्त है । विलियम जेम्सने इस विषयको एक फारमूलेमें बतलाया है—

"आनन्द=$\frac{\text{लाभ}}{\text{तृष्णा}}$ $\left(\text{Satisfaction}=\frac{\text{Achievement}}{\text{Expectation}}\right)$

यदि किसी मनुष्यका किसी विषयमें लाभ अधिक हो और उसकी आशा (तृष्णा) कम हो तो उसको आनन्द अधिक होगा । यदि उसकी तृष्णा या आशा अधिक हो और लाभ कम तो आनन्द कम होगा । हम आनन्दकी वृद्धि लाभको बढ़ाकर अथवा आशाको

कम करके कर सकते हैं। यदि लाभको इतना कम किया जाय कि शून्य हो जाय तो हमारा आनन्द शून्य हो जायगा, किन्तु यदि लाभको जैसा-का-तैसा रखते हुए आशाको शून्य कर दिया जाय तो हमारा आनन्द अनन्तानन्द हो जायगा। अर्थात् जिसे ब्रह्मानन्द कहा गया है, उसकी प्राप्ति इस गणितके फारमूलेके अनुसार आशा या तृष्णाकी शून्यतासे ही सिद्ध होती है। विलियम जेम्स महाशय स्वयं उपर्युक्त निष्कर्षपर नहीं पहुँचे हैं, किन्तु उनके दिये हुए मनोवैज्ञानिक फारमूलेसे हम गणितविज्ञानकी सहायतासे इस निष्कर्षपर सरलतासे पहुँच सकते हैं। जिसकी बुद्धि कुशाग्र है, उसे यह सत्य हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो जाना चाहिये।

अब प्रश्न यह है कि हम आशाकी शून्यता कैसे प्राप्त करें। यह सहज ही प्राप्त नहीं हो जाती। संसारके सभी मनीषियोंने तृष्णा या आशाकी शून्यतामें आनन्द और सुखकी प्राप्तिका उपाय बताया है। इस तृष्णाकी शून्यताके लिये साधनाकी आवश्यकता है। आशा या तृष्णा मनकी तरङ्गें हैं। विचलित मन आशा और तृष्णामय होता है। प्रशान्त मन आशा और तृष्णासे रहित होता है। इस प्रशान्त स्थितिको प्राप्त करनेके लिये नित्यकी साधना आवश्यक होती है। मन वायुके समान वेगवान् है; परन्तु अभ्यास और वैराग्यके द्वारा वह नियन्त्रणमें लाया जा सकता है। श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥*

क्या अभ्यासके आध्यात्मिक सत्यका भी कोई मनोवैज्ञानिक आधार है? अभ्यासके द्वारा प्राणिमात्रके स्वभावमें इतना परिवर्तन होता है कि वह एक नये प्रकारका प्राणी बन जाता है। जो शेर अनेक वर्षोंतक पिंजड़ेमें रह आता है, वह पिंजड़ेका दरवाजा खुलनेपर भी पिंजड़ेसे नहीं भागता; यदि उसे बाहर निकाल भी दिया जाता है तो भी वह फिर पिंजड़ेमें ही घुसता है। जिन कैदियोंका जन्म कैदमें ही बीतता है, वे जब कैदसे मुक्त होते हैं तब भी कैदमें ही जानेको तरसते हैं। अभ्यासके कारण ही मील-मील गहरी खानोंमें काम करनेवाले आदमी उन खानोंमें आनन्दसे जीवन बिता ले जाते हैं और अभ्यासके कारण ही ज्वालामुखी पर्वतोंपर रहनेवाले लोग तथा सदा वायुयानमें उड़नेवाले वायुयानचालक निर्भयताके साथ अपना जीवन व्यतीत करते हैं। उनका प्राणान्त किसी क्षण हो सकता है, इसकी उन्हें कोई चिन्ता नहीं रहती। अभ्यासके द्वारा गणितज्ञ एक ही प्रश्नको विचारते-विचारते ऐसे समाधिस्थ हो जाते हैं कि खाना-पीनातक उन्हें भूल जाता है और चलते-फिरते भी वे अपने विचारमें ही विचरा करते हैं। हमारा मन अभ्यासके द्वारा इस प्रकारसे नियन्त्रित किया जा सकता है। हम जिधर उसे चाहें ले जा सकते हैं। हम जिस परिस्थितिमें अपने आपको रखना चाहें, रख सकते हैं। जिस स्थितिसे हमें अभ्यास हो जाता है, उसमें हमें आनन्द आने लगता है। अतएव किसी परिस्थितिको आनन्दमय बनाना अभ्यासपर निर्भर करता है। यदि हमारा मन हमारे पूर्ण नियन्त्रणमें है तो हम सभी अवस्थाओंमें अनन्त आनन्दका उपभोग कर सकते हैं। मन अभ्याससे वशमें आता है।

मनको वशमें लानेका अभ्यास अनेक प्रकारका होता है। इन अभ्यासोंका नाम साधना कहा गया है। जिस व्यक्तिने अपने मनको पहलेसे ही शान्ति-अशान्ति, मान-अपमान, सुख-दुःखसे निर्लिप्त बना लिया है, वही निर्विघ्न शान्तिमें स्थित रह सकता है*। जो व्यक्ति काम-क्रोधके वेगोंको सह सकता है वही वास्तविक सुखी है†।

जब हम अपने मनको दुःखोंके सहनेके लिये पहलेसे तैयार कर लेते हैं तो दुःखोंके आनेपर हम विचलितमन नहीं होते। संसारकी कोई भी परिस्थिति एक-सी नहीं रहती। परिस्थितियोंमें परिवर्तन सदा होते ही रहते हैं, जो व्यक्ति इन परिवर्तनोंसे नहीं डरता, प्रतिकूल परिस्थिति पाकर जिसके मनको किसी प्रकारका उद्वेग नहीं होता, वही एकरस आनन्द और शान्तिका उपभोग कर सकता है। ऐसा ही व्यक्ति अध्यात्मतत्त्वका वास्तविक चिन्तन कर सकता है। सत्यान्वेषणके लिये मनका अनुद्विग्न होना आवश्यक है; बिना मनको वशमें किये सत्यका

* योगसूत्रमें कहा है—अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

* समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
—गीता

† शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥
—गीता

चिन्तन सम्भव नहीं। अतएव मनको वशमें करनेकी साधना ही सत्यकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय है।

कितने साधु-संन्यासी, यती-योगी मनको वशमें करनेके लिये हठयोगका अभ्यास करते हैं। ऐसे योगियोंके ऊपर प्रायः आधुनिक सभ्यतामें पले लोग हँसा करते हैं। इस प्रकारकी चेष्टाओंको वे मन्दबुद्धिका परिचायक मानते हैं। किन्तु यदि हम संसारके बड़े-बड़े महात्माओंकी जीवनियोंको देखें और हठयोगकी साधनाका मनोविज्ञानकी दृष्टिसे विवेचन करें तो हम पायेंगे कि हठयोग सही मार्गपर है।

यूनानका एक प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता डायोजिनीज़, जो कि सुकरातका चेला था, अपना जीवन एक नादमें ही बिता लेता था। वह अपने रहनेके लिये घर बाँधना आवश्यक नहीं समझता था। एक बार किसी युवकने उसे एक पत्थरकी मूर्त्तिसे देरतक भीख माँगते देखा। उस युवकने पूछा 'डायोजिनीज़! भला, पत्थरकी मूर्त्तिसे तुम क्यों भीख माँगते हो? क्या वह तुमको भीख दे देगी?' डायोजिनीज़ने उत्तर दिया, 'मैं इस मूर्त्तिसे भीख माँगकर किसी पुरुषके भीख न देनेपर शान्त चित्त रहनेका अभ्यास कर रहा हूँ।' भिक्षा माँगना वास्तवमें त्यागियों और योगियोंके लिये एक साधना है। जो गाली दे और तिरस्कार करे, उसको भी योगी आशीर्वाद ही देता है। जिस योगीका चित्त ऐसी अवस्थामें विचलित हो जाता है, वह योगसे गिर जाता है।

श्रीरामकृष्ण परमहंसजी 'टाका माटी' का अभ्यास समय-समयपर करते थे। एक हाथमें रुपया लेते और दूसरेमें मिट्टी और 'टाका माटी, टाका माटी' कई बार कहते-कहते दोनोंको फेंक देते थे। इस प्रकारका अभ्यास मनुष्यको पैसेके प्रलोभनमें पड़नेसे बचाता है। स्वामी रामतीर्थको सेव बहुत ही प्रिय थे, उनका मन बार-बार कोई गम्भीर विचार करते हुए सेवोंके ऊपर चला जाता था। एक दिन स्वामीजीने कुछ सेव लाकर अपने सामनेके आलेमें रख दिये, इसलिये कि सदा उनकी नजर उन्हींके ऊपर पड़े। मन बार-बार सेवकी ओर जाता था और वे बार-बार उसे खींचकर दूसरी ओर लगाते थे। इस प्रकार आठ दिनतक युद्ध चला, तबतक सेव सड़ गये; तब वे फेंक दिये गये। इस अभ्यासका परिणाम यह हुआ कि फिर उनका मन सेवोंकी ओर कोई महत्त्वपूर्ण विचार करते समय नहीं जाता था। इस प्रकारका अभ्यास प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है। जिस चीजपर बार-बार मन जाय, उससे मनको रोकनेके लिये यदि हठ करके अभ्यास किया जाय तो फिर मन उस वस्तुपर नहीं जाता। इतना ही नहीं, वह फिर दूसरी वस्तुओंपर जानेसे भी सरलतासे रोका जा सकता है।

आधुनिक चित्त-विश्लेषण-विज्ञानकी कुछ खोजें ऐसी हैं, जिनसे उपर्युक्त अभ्यास किसी मानसिक स्वास्थ्यके लिये लाभप्रद नहीं जँचता। मनको हठसे रोकनेवाले व्यक्ति मानसिक और शारीरिक रोगोंके शिकार बनते हैं। हमारी वास्तविक आन्तरिक इच्छाओंका अवरोध हमारे अदृश्य मनमें अनेक प्रकारकी ग्रन्थियाँ (complex) उत्पन्न कर देता है, जिनके कारण उन्माद, बेचैनी, विस्मृति, हिस्टीरिया आदि अनेक रोग पैदा हो जाते हैं। अतएव कोई-कोई मनोवैज्ञानिक हमारी पाशविक प्रवृत्तियोंका अवरोध करना हमारे लिये हानिकर बतलाते हैं।

किन्तु यह उनकी एक भूल है। ग्रन्थियाँ उन वासनाओं और भावनाओंके अवरोधसे पैदा होती हैं, जो अविचारसे दबायी जाती हैं। जिन वासनाओंके दबानेका कारण विचार है, उनसे मनमें ग्रन्थियोंका पड़ना सम्भव नहीं। विवश होकर, प्रतिकूल वातावरणके कारण जो इच्छाएँ तृप्त नहीं होतीं, वे ही स्वप्न, उन्माद इत्यादिका कारण होती हैं। स्वेच्छामूलक आत्मनियन्त्रण कदापि आत्मविनाशक नहीं हो सकता।

दूसरे, चित्त-विश्लेषण-विज्ञानकी खोजोंसे यह भी पता चलता है कि जो व्यक्ति अपनी नैतिक बुद्धि (super-ego) की आज्ञाकी अवहेलना करता है, उसे भी अनेक प्रकारके मानसिक और शारीरिक क्लेश होते हैं। यदि किसी प्रकारका व्यभिचार करना हमारी नैतिक बुद्धिके प्रतिकूल है तो ऐसा कार्य हमारी पाशविक वासनाको तृप्त करनेवाला होनेपर भी मनमें अशान्ति लावेगा। हमारी नैतिक बुद्धि सदा हमें कोसा करेगी, जिसके कारण हम कदापि शान्तचित्त नहीं रह सकेंगे। पाप दुःखदायी होता है और पुण्य सुखदायी, इस कथनके मूलमें मनोवैज्ञानिक सत्य निहित है।

मनका नियन्त्रण दो प्रकारसे किया जा सकता है। एक उसकी गतिका मार्ग परिवर्तन करनेसे और दूसरे उसे गतिहीन कर देनेसे। योगसूत्रोंमें वृत्तिहीन अवस्था ही योगाभ्यासका लक्ष्य बतलाया है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः', 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।' जहाँ चित्तवृत्तिका निवारण हुआ कि आत्मस्वरूपकी प्राप्ति निश्चित ही है। इससे पहले यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान और धारणाद्वारा

मनकी गति एक ओर लगायी जाती है। ये सब साधन हमें सविकल्प समाधितक पहुँचाते हैं, निर्विकल्प समाधि इसके परे है।

मनोविज्ञानके अनुसार मनको गतिहीन करना सम्भव नहीं। जैसे कि साइकिलपर चढ़ा हुआ मनुष्य साइकिलको रोककर एक ही जगह नहीं रह सकता, उसे सदा गतिमान् बनना पड़ता है, इसी तरह मनुष्यका मन सदा गतिमान् है। किन्तु जिस तरह हम साइकिलको एक ओर न ले जाकर दूसरी ओर ले जा सकते हैं, इसी तरह हम मनको भी एक ओर न ले जाकर दूसरी ओर लगा सकते हैं। मन कुछ-न-कुछ करता ही रहेगा, उसे कुछ काम देते रहना चाहिये।

इस मनोवैज्ञानिक सत्यको गीताकारने भली प्रकारसे समझा था। इसलिये गीतामें कर्मयोग और भक्तियोगको ही मनको वशमें करनेके श्रेष्ठ उपाय बतलाया गया है। निर्गुण और सगुण दोनों ही उपासनाएँ प्रशंसनीय हैं, फिर भी भगवान् श्रीकृष्णने गीताके बारहवें अध्यायमें* सगुण ब्रह्मकी उपासनाको अधिक श्रेष्ठ माना है। वास्तवमें जब अखिल संसारमें एक ही तत्त्व व्याप्त है† तो सबकी सेवा करना ही ब्रह्मभावको प्राप्त होना है। यदि हमें आस्तिक बुद्धि प्राप्त हो गयी है तो मनोविज्ञानकी दृष्टिसे मनसे लड़ना व्यर्थ है। हमें मनको योग्य कार्यमें लगाना चाहिये। सभी काम उस एक ही सत्ताके स्फुरणमात्र हैं। यह जानकर जो कुछ भी हम करते हैं, वह परमात्माकी पूजा ही है।

जहँ जहँ जाऊँ सोइ परिकरमा, जो जोइ करूँ सो पूजा।
सहज समाधि सदा उर राखूँ, भाव मिटा दूँ दूजा॥

मनको शून्यतामें विलीन करना सम्भव नहीं; मन जबतक मनरूपमें है, वह गतिशील ही रहेगा। अध्यात्म-दृष्टिसे मन अविद्याका कार्य है। द्वैतबुद्धि ही अविद्या है। इस द्वैतबुद्धिका निवारण ज्ञानसे होता है। द्वैतबुद्धिका नाश होनेपर मन अपने-आप विलीन हो जाता है। अर्थात् जबतक हमें अद्वैत-तत्त्वका ज्ञान नहीं होता, मनका अवरोध करना उसे काष्ठलोष्टवत् बनानेकी चेष्टा करना है। मनमें चैतन्यका आभास होनेके कारण ही वह चञ्चल है। जबतक शुद्ध चैतन्यकी प्राप्ति नहीं होती, मनका इधर-उधर दौड़ना स्वाभाविक है। वास्तवमें मनकी इस दौड़-धूपका अन्तिम प्रयोजन आत्मानन्द प्राप्त करना ही है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट है कि स्थायी सुखका होना साधनापर ही निर्भर है। यह साधना मनको वशमें करना है और मनको वशमें करनेका सरल उपाय उसे परमात्माके हेतु निरन्तर भले कामोंमें लगाये रखना है। जहाँतक मनोविज्ञान इस कथनकी सत्यताको प्रमाणित करता है, उसके सिद्धान्तोंका उल्लेख किया गया। किन्तु साधनाकी उपयोगिताके विचारमें अन्तिम प्रयोजन अपरोक्षानुभव ही हो सकता है; मनोविज्ञान उसका स्थान ग्रहण नहीं कर सकता।

---

* मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥
—गीता

मुझमें (भगवान्‌में) मन लगाकर निरन्तर मेरे भजनमें लगे हुए जो भक्तजन अत्यन्त श्रद्धाके साथ मुझ सगुणको भजते हैं, वे मेरे मतमें अति उत्तम योगी हैं। परन्तु जो पुरुष इन्द्रियसमूहको भलीभाँति वशमें करके अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, अक्षर ब्रह्मको भजते हैं, वे सब भूतोंके हितमें रत और समभावसे युक्त योगी भी मुझ (भगवान्) को ही प्राप्त होते हैं। उन अव्यक्त ब्रह्ममें लगे हुए पुरुषोंके साधनमें क्लेश विशेष है, क्योंकि देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्तविषयक गति दुःखपूर्वक प्राप्त की जाती है।

† ईशावास्यमिदं सर्वं यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
—ईशावास्योपनिषद्

सहज साधन

(लेखक—अध्यापक श्रीधीरेन्द्रकृष्ण मुखोपाध्याय, एम्० ए०)

स्वास्थ्य-चिकित्सकका यह काम है कि वह पहले रोगका निदान करे और पीछे औषध दे। हमलोग इस संसारके वासी भी अस्वस्थ ही तो हैं। हमारी अस्वस्थता क्या है ? हम 'स्व' में स्थित नहीं हैं, इसी कारण 'अस्वस्थ' हैं, रोगी हैं, अनेकानेक कष्टों और यन्त्रणाओंको झेलते हुए मृत्युपथमें ही चल रहे हैं। रोग, शोक, दुःख, दारिद्र्य, अकालमृत्यु, अपमृत्यु, हाहाकार यही तो सारा संसार है। अशान्ति, अभाव, अनाचार, अत्याचार, कलह, ईर्ष्या, द्वेषका ही तो दावानल चारों ओर धधक रहा है। इसकी गाथा, इस भव-रोगकी कथा धर्मपथके पथिकों और मोक्षमार्गके यात्रियोंको पहले समझ लेनी होगी। कारण, दुःखसागरका मन्थन न करनेसे आनन्द और अमृतका पता नहीं चल सकता। जो दुःख हमें कष्ट दे रहा है, वही हमें सुखका पता भी बता देगा। दुःखमें बिना गिरे बहिर्मुख जीव अन्तर्मुख नहीं होता। इस दुःख-सागरमें गिरकर ही सुरथ और समाधि माँको पहचान सके। इसी विषादके अनलमें गिरनेपर ही 'गीतामृतं महत्' श्रीभगवान्‌के मुखसे इस पृथिवीपर आया। इस विषाद-सिन्धुको मथकर ही भागवत-कौस्तुभ पाया गया, जिसने भारतको समुज्ज्वल किया। धर्मके पथपर चलनेके लिये दुःखका बोध होना जरूरी है, सर्वबोधके पूर्व विषादयोग है। हमलोग दुःखमें गिरनेपर ही भगवान्‌को पुकारते हैं, ऐश्वर्यमें उन्हें भूल जाते हैं। इसीलिये कुन्तीमाताने भगवान्‌से यह प्रार्थना की थी कि 'हमें दुःख दो, जिसमें तुम्हारा स्मरण बना रहे।' बहिर्मुख भगवद्विमुख जीवका उद्धार करनेके लिये ही भगवान् हमें दुःख दिया करते हैं।

स्वरूपच्युति ही हमारे दुःखका कारण है। परमात्मस्वरूप श्रीभगवान्‌को भुलाकर जीव स्वयं प्रभु बन बैठा है और अपने सच्चिदानन्दस्वरूपको खोकर अनात्मा—अहङ्कार-विमूढात्मा बनकर अनन्त कर्मजालमें फँसा इस दुःखसागरमें डूब रहा है। इस दुःखसागरसे उद्धार पानेके तीन मार्ग ऋषियोंने बतलाये हैं—कर्म, ज्ञान और भक्ति। ये तीनों मार्ग वस्तुतः सर्वथा भिन्न नहीं हैं। ज्ञानमें सामान्यतः कर्म और भक्ति मिली हुई है, कर्ममें भक्ति और ज्ञान मिला है और भक्तिमें ज्ञान और कर्म सम्मिश्रित है। इन तीन मार्गोंके त्रिविध अधिकारका भी एक विचार है। श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्धमें भगवान् बतलाते हैं कि 'संसारमें जो लोग आसक्त हैं उनके लिये कर्मयोगका मार्ग प्रशस्त है, संसारसे जो विरक्त हैं उनके लिये ज्ञानयोग और जो अधिक आसक्त भी नहीं हैं और विरक्त भी नहीं हैं, उनके लिये भक्तियोग है।' सब प्रकारके ऐहिक-पारलौकिक भोगोंसे जब मन विरक्त होता है; निषिद्धवर्जनपूर्वक नित्य-नैमित्तिक कर्मद्वारा जब चित्त विशुद्ध होता है; शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधानरूप षट्सम्पत्तिसे सम्पन्न होकर जब साधक केवल एक परमात्मवस्तुकी प्राप्तिके लिये व्याकुल हो उठता है तब वह ज्ञानमार्गका अधिकारी होता है। अधिकारके बिना ज्ञानकी चर्चा केवल ज्ञानका विडम्बन है। इस कलिमें कर्मकाण्डका भी यथाविहित होना अत्यन्त दुर्लभ है। आत्मशुद्धि, द्रव्यशुद्धि, मन्त्रशुद्धि, स्थानशुद्धि आदिका भी कोई उपाय है ? मन्त्रके स्वर और वर्णके उच्चारणमें किञ्चित् भी दोष होनेसे वह वाग्वज्र बनकर यजमानको नष्ट कर देता है। विधिहीन कर्मसे कर्ताका विनाश होता है। कर्मकाण्डमें शूद्रका तो कोई अधिकार है ही नहीं; पर आज ब्राह्मण भी जिस दुरवस्थामें जा गिरे हैं, उसमें उन्हें भी कहाँतक इसका अधिकार है—यह विचारणीय है। ऐसी अवस्थामें हमलोगोंको अपना अधिकार जानकर उसी योगमें मन लगाना चाहिये।

हमलोगोंके अपराधोंकी कोई सीमा नहीं है। श्रीभगवान्‌की करुणा भी असीम है। यह जानकर हमें शरणागतिरूप भक्तियोगका ही अवलम्बन करना चाहिये। इसमें वेदज्ञ ब्राह्मणसे लेकर शूद्र, म्लेच्छ, यवनतक सबका अधिकार है। इसमें कोई प्रत्यवाय नहीं, कोई भय नहीं। सहज, सरल, सुगम पथ है। इसलिये—

'तस्मात् सर्वेषामधिकारिणामनधिकारिणां भक्तियोग एव प्रशस्यते। भक्तियोगो निरुपद्रवः। भक्तियोगान्मुक्तिः। चतुर्मुखादीनां सर्वेषां विना विष्णुभक्त्या कल्पकोटिभिर्मोक्षो न विद्यते। कारणेन विना कार्यं नोदेति। भक्त्या विना ब्रह्मज्ञानं कदापि न जायते। तस्मात्त्वमपि सर्वोपायान् परित्यज्य भक्तिनिष्ठो भव। भक्तिनिष्ठो भव। मद्भक्तोपासकः सर्वोत्कृष्टः स भवति। मद्भक्तोपासकः परं ब्रह्म भवति।' (श्रीभक्तिपारिजातः)

अर्थात् 'अधिकारी, अनधिकारी सबके लिये ही भक्तियोग प्रशस्त है। निरुपद्रव है। मुक्तिका देनेवाला है। चतुर्मुखादि सबका मोक्ष विष्णुभक्तिके बिना नहीं होता। भक्तिके बिना ब्रह्मज्ञान कदापि नहीं होता। इसलिये तुम भी सब उपायोंका परित्याग कर भक्तिनिष्ठ होओ। भक्तिनिष्ठ होओ। मेरा उपासक सबसे उत्कृष्ट होता है। मेरा उपासक परब्रह्म होता है।'

न तपोभिर्न वेदैश्च न ज्ञानेनापि कर्मणा।
हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिकाः॥
नृणां जन्मसहस्रेण भक्तौ प्रीतिर्हि जायते।
कलौ भक्तिः कलौ भक्तिर्भक्त्या कृष्णः पुरः स्थितः॥

(श्रीमद्भागवत-माहात्म्य २। १८-१९)

अर्थात् 'तपसे, वेदोंसे, ज्ञानसे या कर्मसे, इनमेंसे किसी-से भी श्रीहरि नहीं मिलते, मिलते हैं भक्तिसे; और इसके प्रमाण हैं गोपिकाएँ। सहस्रों जन्मोंकी साधसे भक्तिमें प्रीति उत्पन्न होती है। कलिमें केवल भक्ति ही है, भक्तिसे ही श्रीकृष्ण सम्मुख उपस्थित होते हैं।'

इसलिये 'भक्तिरेकैव सिद्धिदा'—केवल एक भक्ति ही सिद्धि देनेवाली है।

बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥

'विषयोंसे विवश होनेवाला अजितेन्द्रिय मनुष्य मेरा भक्त होनेपर प्रगल्भा भक्तिके प्रभावसे प्रायः विषयोंके वशीभूत नहीं होता।'

भगवान्‌की शरणमें जो कोई जाता है, वह अभय हो जाता है। भगवान् स्वयं कहते हैं कि 'जो कोई दीन होकर मुझे पुकारता और कहता है कि मैं तुम्हारा हूँ, उसे मैं सबसे अभय कर देता हूँ, यही मेरा व्रत है।'

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

श्रीभगवान्‌की ओर किञ्चित् भी आकर्षण हो, उनके चरणोंमें लेशमात्र भी रति हो तो इसे उनकी महती कृपाका प्रसाद समझना चाहिये। इस प्रसादका यत्नपूर्वक रक्षण, पोषण और संवर्द्धन करना आवश्यक है। इसका साधन सत्सङ्गके करने और दुस्सङ्गको छोड़नेसे होता है। जो लोग धर्मसे द्वेष करते, देव-द्विजोंकी उपेक्षा करते, शौच-सदाचारमें अनास्था रखते हैं, उनका सङ्ग ही दुःसङ्ग है। इससे भक्तको सदा सावधान रहना चाहिये। दुष्ट सर्पसे जिस तरह मनुष्य दूर भागता है, उसी तरह भक्त भी अभक्तके सङ्गसे भागता है—'व्याल्येवाभक्तसंसर्गाद्दुष्टात्सर्पाद्यथा नरः'; क्योंकि—

आलापाद् गात्रसंस्पर्शात्ष्ठीवनाल्लहभोजनात्।
सङ्क्रामन्ति हि पापानि तैलबिन्दुरिवाम्भसा॥

'भाषणसे, शरीरस्पर्शसे, एक साथ सोनेसे, एक साथ बैठकर भोजन करनेसे पाप एकसे दूसरेमें प्रवेश कर जलमें तैलके बिन्दुके समान फैलते हैं।' गुण-दोष सबके संसर्गज हुआ ही करते हैं, इसलिये भक्तलोग सदा सत्पुरुषोंके सङ्गकी ही इच्छा करते हैं। सत्सङ्ग बड़े पुण्यसे प्राप्त होता है। कहते हैं—

यदा पुण्यविशेषेण लभते सङ्गतिं सताम्।
मद्भक्तानां सुशान्तानां तदा मद्विषया मतिः॥
मत्कथाश्रवणे श्रद्धा दुर्लभा जायते ततः।
ततः स्वरूपविज्ञानमनायासेन जायते॥

(श्रीभक्तिपारिजात)

अर्थात् 'जब विशेष पुण्यके प्रभावसे मनुष्य मेरे भक्त और सुशान्त सत्पुरुषोंका सङ्ग लाभ करता है, तभी उसके मेरे विषयकी बुद्धि उपजती है। पीछे मेरे कथाश्रवणमें उसकी उत्कट श्रद्धा होती है और उससे फिर अनायास ही उसमें मेरा स्वरूपविज्ञान उत्पन्न होता है।'

साधुसङ्ग, सत्सङ्ग या भक्तसङ्ग अत्यन्त दुर्लभ है। जहाँ जब मिले, उसे अपना अहोभाग्य समझना चाहिये। पर जब जहाँ इसकी सुलभता न हो, वहाँ सद्ग्रन्थोंका सङ्ग तो अवश्य ही करना चाहिये। प्रतिदिन ही व्यास-वाल्मीकि आदिके ग्रन्थोंका पाठ होना ही चाहिये। इन ग्रन्थोंके पठनसे हृदय पवित्र होता है, प्राण आनन्द-रससे अभिषिक्त होते हैं, शुष्क नीरस हृदय भी भक्तिभावसे भर आता है। भक्तिके विषयमें श्रीमद्भागवत-जैसा दूसरा ग्रन्थ नहीं है—'निगम-कल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्। पिबत भागवतं रसमालयम्'।

श्रीमद्भागवतके समान अध्यात्मरामायण भी भक्तिविषयक अति उपादेय ग्रन्थ है। रामायण, महाभारत, भागवत,

अध्यात्मरामायण प्रभृति सद्ग्रन्थ हमारे जन्म-जन्मान्तरोंके पापोंको नष्ट करनेमें प्रज्वलित अग्निका काम करते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीचण्डीसप्तशती, श्रीदेवीभागवत आदिके पाठ सब पाशविक वृत्तियोंको नष्ट करके सब पाशोंसे मुक्त करनेवाले हैं। वाल्मीकिके अवतार तुलसीदास, कृत्तिवास और काशीराम आदिके ग्रन्थ ही तो उत्तर भारतमें हिन्दू-धर्मको जीवित रक्खे हुए हैं। भगवद्भक्तिमें सत्सङ्गके समान सहायक और कोई नहीं। सत्पुरुषोंका सङ्ग न मिले तो सद्ग्रन्थोंके पाठके द्वारा श्रीभगवान्‌के नाम, रूप, लीला, गुण और अवतारकी कथा बार-बार श्रवण करनी चाहिये। इससे चित्त शुद्ध होता और भगवद्भावकी सृष्टि और पुष्टि होती है।

शास्त्रोंका कथन है—

'अत्यन्तोत्कृष्टसुकृतपरिपाकवशात् सद्भिः सङ्गो जायते। तस्माद्विधिनिषेधविवेको भवति। ततः सदाचारप्रवृत्तिर्जायते। सदाचारादखिलदुरितक्षयो भवति। तस्मादन्तःकरणमतिविमलं भवति। ततः सद्गुरुकटाक्षमन्तःकरणमाकाङ्क्षति। यथा जात्यन्धस्य रूपज्ञानं न विद्यते तथा गुरूपदेशेन विना कल्पकोटिभिः तत्त्वज्ञानं न विद्यते। तस्मात् सद्गुरुकृपाकटाक्षलेशविशेषेणाचिरादेव तत्त्वज्ञानं भवति। यदा सद्गुरुकटाक्षो भवति तदा भगवत्कथाश्रवणध्यानादौ श्रद्धा जायते। तस्माद् हृदयस्थितानादिदुर्वासनाग्रन्थिविनाशो भवति। ततो हृदयस्थिताः कामाः सर्वे नश्यन्ति। तस्माद् हृदयपुण्डरीककर्णिकायां परमात्माविर्भावो भवति।'

अर्थात् 'अत्यन्त उत्कृष्ट पुण्यके परिपाकसे सत्सङ्ग प्राप्त होता है; उससे विधि-निषेधका विवेक उत्पन्न होता है। विवेकसे सदाचारमें प्रवृत्ति होती है। सदाचारसे सब पापोंका क्षय होता है। तब अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो जाता है। तब सद्गुरुकटाक्ष पानेकी इच्छा अन्तःकरणमें होती है। जन्मान्ध व्यक्तिको जैसे रूपका बोध नहीं होता, वैसे ही गुरुके उपदेश विना कोटि कल्पोंमें भी किसीको तत्त्वका ज्ञान नहीं होता। सद्गुरुकी कृपादृष्टिके लेशमात्रसे तुरंत तत्त्वज्ञान होता है। जब सद्गुरुकी कृपादृष्टि पड़ जाती है, तब भगवत्कथाश्रवण-ध्यानादिमें श्रद्धा उत्पन्न होती है। उससे हृदयस्थित अनादि दुर्वासनाग्रन्थिका विनाश होता है। उससे हृदयस्थित सब काम नष्ट होते हैं। तब उससे हृत्पद्मकी कर्णिकामें परमात्माका आविर्भाव होता है।'

सद्गुरुकृपाके विना साधनराज्यमें कोई व्यक्ति प्रवेश नहीं कर सकता। जिस विधिसे सद्गुरु शिष्यको साधन-राज्यमें प्रवेश करनेका अधिकार देते हैं, उसीको दीक्षा कहते हैं। दीक्षासे दिव्य ज्ञान होता और पापका क्षय हो जाता है, इसीलिये उसे दीक्षा कहते हैं।

दिव्यज्ञानं यतो दद्यात्कुर्यात्पापस्य संक्षयम्।
तस्माद्दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभिः॥
दीक्षामूलं जपं सर्वं दीक्षामूलं परं तपः।
दीक्षामाश्रित्य निवसेत्तत्र कुत्राश्रमे वसन्॥

× × × ×

देवि दीक्षाविहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गतिः।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत्॥

× × × ×

उपपातकलक्षाणि महापातककोटयः।
क्षणाद्दहति देवेशि दीक्षा हि विधिना कृता॥

अर्थात् 'जप-तप सबका मूल दीक्षा है; जहाँ-कहीं जिस किसी आश्रममें भी दीक्षाका आश्रय करके ही रहना चाहिये। दीक्षाके विना सिद्धि नहीं मिलती, सद्गति नहीं प्राप्त होती। इसलिये हर उपायसे गुरुके द्वारा दीक्षित होना चाहिये। विधिपूर्वक दीक्षा होनेसे वह दीक्षा एक क्षणमें लाखों उपपातक और करोड़ों महापातक जला डालती है।'

अग्निसे ही अग्नि प्रज्वलित होता है। सद्गुरुसे प्राप्त मन्त्र अग्निके समान पापराशिको जलाकर शिष्यका मुक्तिद्वार उन्मुक्त कर देता है। ग्रन्थोंके पठन-पाठनसे केवल शब्द-पाण्डित्य बढ़ सकता है, पर प्रत्यक्ष क्रियाका बोध सद्गुरु-कृपाके विना नहीं हो सकता। सद्गुरुकी प्राप्तिके लिये जो कुछ करना पड़ता है, उसका हमलोगोंको कुछ भी ध्यान नहीं है। पाषाणमें भी प्राणप्रतिष्ठा करनेसे देवताका आगमन होता है। आचार्यकी उपासना करनेसे ब्रह्मवस्तु अवश्य ही मिलेगी। एकलव्यने द्रोणाचार्यकी मृन्मयी प्रतिमाको पूजकर साधनबलसे अस्त्रशिक्षामें असाधारण दक्षता लाभ की और हमलोग गुरु न मिलनेके बहाने अपने आध्यात्मिक उन्नति-पथका द्वार ही बंद रक्खे हुए हैं। आदर्श गुरु मिलनेके पूर्व अपने आपको आदर्श शिष्य बनाना पड़ता है। श्रीसद्गुरु ही भगवान्, गुरु और मन्त्र तीनोंमें हैं। जिन्हें ऐसे सद्गुरुकी कृपा प्राप्त हुई, उनके लिये और कुछ भी प्राप्तव्य

नहीं है। भगवान् ही श्रीसद्गुरुरूपसे सत् शिष्यके सामने आविर्भूत हुआ करते हैं।

इस युगमें कृच्छ्रतपादि कठोर साधना करनेकी सामर्थ्य जीवमें नहीं रह गयी। श्रीभगवान्‌की शरण लेकर उनके चरणोंमें अपनी आँखें लगाकर प्रार्थना करनेके सिवा जीवके लिये और कोई उपाय नहीं है। यह उपाय सहज, सरल, सुगम है। शास्त्र ही भगवान्‌की वाणी हैं, शास्त्र ही भागवती तनु हैं; अतः शास्त्रानुयायी जीवन ही उन्हें प्राप्त करनेका सहज उपाय है। जिस किसी वर्णमें हमारा जन्म हुआ हो, हमारी जैसी भी अवस्था हो, शौच-सदाचारका अवलम्बन कर अपने धर्मका पालन करते रहें, इसीसे भगवान् प्रसन्न होंगे। श्रीभगवत्-प्रीति ही हमारा परम धर्म है। उनका प्रीत होना ही हमारा परम कल्याण है। ब्राह्मण-सन्तान ब्राह्मण-धर्म पालन करें, शौच-सदाचार-सत्य-अहिंसा-शम-दम-तपःसमन्वित हों, त्रिसन्ध्योपासन करें, शास्त्रचर्चा और जपादि कर्मोंमें नियुक्त हों, कुलगुरुसे कुलमन्त्रकी दीक्षा लेकर सन्ध्या-जपादि करें, पुराणादि पाठ करें, सत्य, शौच, शास्त्रसेवादि अवलम्बन करें और सभी वर्ण सदा श्रीभगवन्नाम-महामन्त्रका जप करें, उच्चस्वरसे हरिनामसङ्कीर्त्तन करें। इस साधनासे भगवान् प्रसन्न होंगे और कभी-न-कभी सद्गुरुरूपसे आविर्भूत होकर साधकको कृतार्थ करेंगे।

कलिमें नाम-साधन ही सहज साधन है, यही महा-साधना है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।

कलियुगी जीवोंके कल्याणका साधन

(लेखक—श्रीजवरामदासजी 'दीन' रामायणी)

यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु बिचार।
श्रीरघुनाथ नाम तजि नाहिन आन अधार॥

एहिं कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा॥
रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि। संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि॥

—श्रीरामचरितमानस

यह 'दीन' लेखक पाठक महानुभावोंसे सर्वप्रथम उपर्युक्त पदोंमें आये हुए 'यह' तथा एहिं शब्दपर विचार करनेके लिये विनम्र प्रार्थना करता है। श्रीमानस-ग्रन्थके रचयिता गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने बार-बार 'यह कलिकाल, एहिं कलिकाल' का प्रत्यक्ष अङ्गुल्यानिर्देश करके निश्चयपूर्वक यह सिद्धान्त स्थिर कर दिया है कि इस वर्तमान घोर कलिकालमें श्रीभगवान्‌के नाम और यश (चरित्र) को छोड़कर दूसरे जितने भी साधन हैं, उनमेंसे किसीसे भी सिद्धि नहीं हो सकती, वे सभी साधन अनुभव करके देखे जा चुके हैं। श्रीगोस्वामिपादने अपने अनुभवकी बातको विनयपत्रिकाके भी निम्नलिखित पदोंमें व्यक्त कर दिया है। यथा—

'एहिं कलिकाल सकल साधनतरु है श्रम फलनि फरो सो' ॥१७३॥

'प्रसे कलि-रोग जोग-संजम-समाधि रे।
राम-नाम छाडि जो भरोसो करै और रे।
तुलसी परोसो त्यागि माँगै कूर कौर रे'॥ ६६॥

'जोग, जाग, जप, बिराग, तप, सुतीरथ अटत।
बाँधिबेको भव-गयंद रेनुकी रजु बटत॥
परिहरि सुरमनि सुनाम गुंजा लखि लटत।
लालच लघु तेरो लखि तुलसी तोहि हटत' ॥१२९॥

'साधन बिनु सिद्धि सकल निकल लोग लपत।
कलिजुग बर बनिज बिपुल नाम-नगर खपत' ॥१३०॥

'बिस्वास एक राम-नाम को।
ब्रत तीरथ तप सुनि सहमत, पचि मरै, करै तन छाम को।
करम-जाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दामको।
ग्यान बिराग जाग जप तप, मय लोभ मोह मद कामको' ॥१५५॥

'राम-नामके जपे जाइ जियकी जरनि।
कलिकाल अपर उपाय ते अपाय भये,
जैसे तम नासिबेको चित्रके तरनि॥
करम-कलाप परिताप-पाप साने सब,
ज्यों सुकूल फूले तरु फोकट फरनि।

जोग न समाधि निरुपाधि न बिराग ग्यान,
बचन बिसेष बेष, कहूँ न करनि ॥
राम-नामको प्रताप हर कहैं, जपैं आप,
जुग-जुग जानै जग, बेदहूँ बरनि' ॥१८४॥

'नाना पथ निरजानके, नाना बिधान बहु मीति ।
तुलसी तू मेरे कहे जपु राम-नाम दिन राति' ॥१९२॥

'जपहि नाम रघुनाथको, चरचा दूसरी न चालु' ॥१९३॥

'संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो ।
अपनो भलो राम-नामहि ते तुलसिहि समुझि परो' ॥२२६॥

'प्रिय राम नाम ते जाहि न रामो ।
ताको भलो कठिन कलिकालहुँ आदि-मध्य-परिनामो' ॥२२८॥

'राम जपु जीह ! जानि, प्रीति सों प्रतीति मानि,
राम-नाम जपे जैहै जियकी जरनि ।
राम-नाम सों रहनि, राम-नाम की कहनि,
कुटिल कलि-मल सोक-संकट हरनि' ॥२४७॥

'संभु-सिखवन रसनहँ नित राम-नामहि घोसु ।
दंभहूँ कलि नाम-कुंमज सोच-सागर-सोसु' ॥१५१॥

इसी प्रकार विनयपत्रिकाके और भी बहुत-से पदोंमें तथा गीतावली, दोहावली, कवितावली, बरवै रामायण आदि समस्त तुलसीरचित ग्रन्थोंमें इस घोर कलिकालके लिये केवल भगवन्नाम और यशको ही सर्वोत्तम एवं सफल साधन ठहराकर दूसरे सब साधनोंको निस्सार तथा निष्फल सिद्ध करनेके अनुभवयुक्त प्रमाण दिये हुए हैं, जिन सबको उद्धृत करनेसे लेख बड़ा हो जायगा। इसलिये इस वर्तमान कलियुगमें जन्म पाये हुए हम सभी मनुष्योंको उपर्युक्त 'एहिं कलिकाल' के ही निर्दिष्ट भावपर विचार करना चाहिये। हमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके सामर्थ्यसे अपने सामर्थ्यकी तुलना करनी चाहिये। यदि हममें उनसे अधिक वैराग्य, ज्ञान, ध्यानादिकी साधन-सामग्री नहीं हो, तब तो यही उचित है कि वर्तमान युगके उन निकटतम आचार्यने (श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीने) अपने अनुभवसे जो निर्णय किया है, उसीपर हम दृढ़ विश्वास कर लें और निर्भयतापूर्वक उन्हींके बताये मार्गपर चलकर सर्वसुलभ साधन भगवन्नाम-यशके जप-कीर्तनद्वारा बिना प्रयास संसार-सागरसे पार हो जायँ। श्रीमानसके ये वचन कितने स्पष्ट हैं !—

सुनु ब्यालारि काल कलि मल अवगुन आगार ।
गुनउ बहुत कलिजुग कर बिनु प्रयास निस्तार ॥
कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग ।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग ॥
कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास ।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥

—उत्तरकाण्ड १०२ क, ख; १०३ क

यहाँ साधारणतः यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जगत्‌में जब अनेकों आचार्योंने अनेकों साधन-मार्ग बतलाये हैं, तब हम कलियुगी जीवोंकी गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीसे ही क्या घनिष्ठता है ? हम क्यों उन्हींसे अपनी तुलना करें और उन्हींके अनुभवोंको अपने लिये उपयोगी मानें। इसके उत्तरमें भी यह 'दीन' लेखक उसी 'एहिं' शब्दपर विचार करनेकी प्रार्थना करता है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके साथ हम कलियुगी जीवोंकी घनिष्ठताका सम्बन्ध जोड़नेवाला वही 'एहिं' शब्द है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि सत्ययुग, त्रेता अथवा द्वापरमें जन्म ग्रहण किये हुए श्रीतुलसीदासजीका वह कथन नहीं है। कलियुग भी अनेकों व्यतीत हो चुके, उन बीते हुए कलियुगोंमें जन्म ग्रहण किये हुए श्रीतुलसीदासजीका भी यह कथन नहीं है; बल्कि वह अनुभवयुक्त कथन उन श्रीतुलसीदासजीका है, जो इसी वर्तमान कलियुगमें, जिसमें हम सबका जन्म हुआ है, कुछ ही वर्षों पूर्व जन्म ले चुके हैं; जिन्होंने अपना सारा जीवन ही हमारे-जैसे कलि-कुटिल जीवोंके उद्धारार्थ परोपकारकी भेंट चढ़ा दिया था और इसीलिये जिन ब्रह्मभूत आत्माका इस कलियुगमें अवतार हुआ था। यथा—

'कलि कुटिल जीव निस्तार हित बालमीक तुलसी भयो' ।

—श्रीनाभादासकृत भक्तमाल

'उलटा नामु जपत जगु जाना । बालमीकि भए ब्रह्म समाना' ॥

—श्रीरामचरितमानस

अस्तु, महर्षि वाल्मीकिजीकी ब्रह्मभूत आत्माने गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके रूपमें अवतार लेकर हमारे कल्याणके निमित्त हमसे कुछ ही दिनों पहले इस कलियुगके दुःख-द्वन्द्वोंका साक्षात् अनुभव किया और फिर यह विचार किया कि—

'कलि केवल मल मूल मलीना । पाप पयोनिधि जन मन मीना' ॥

—श्रीरामचरितमानस

इस प्रकार कलियुगी जीवोंके साधन-पुरुषार्थका विचार करके डंकेकी चोटसे यह सिद्धान्त उद्घोषित किया गया—

'एहिं कलिकाल न साधन दूजा'।
'यह कलिकाल मलायतन मन करि देखु बिचार'।

—श्रीरामचरितमानस

'एहिं कलिकाल सकल साधन तरु है श्रम फलनि फरो सो'।

—विनयपत्रिका

फिर इस कलिकालमें जो साधन फलीभूत हो सकता है उस सुलभ, सुखद और सच्चे साधनकी दुंदुभी बजायी गयी। हम यहाँ केवल उन मूल वचनोंको ही उद्धृत कर देना चाहते हैं। यथा—

'नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू'॥
'कलिजुग केवल हरि गुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥
कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना'॥
'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मन माहीं'॥
'सब भरोस तजि जो भज रामहि। प्रेम समेत गाव गुनग्रामहि॥
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं'॥
कलिमल समन दमन मन राम सुजस सुखमूल।
सादर सुनहिं जे तिन्ह पर राम रहहिं अनुकूल॥
कठिन काल मल कोस धर्म न ग्यान न जोग जप।
परिहरि सकल भरोस रामहि भजहिं ते चतुर नर॥

—श्रीरामचरितमानस

न मिटै भव संकट दुर्घट है तप तीरथ जन्म अनेक घटो।
कलिमें न बिराग न ग्यान कहूँ, सब लागत फोकट झूठ जटो॥
मट ज्यों जमि पेट कुपेटक कोटिक चेटक कौतुक ठाट ठटो।
तुलसी जो सदा सुख चाहिअ तो रसना निसि बासर राम रटो॥

—कवितावली

काल कराल बिलोकहु होइ सचेत।
रामनाम जपु तुलसी प्रीति समेत॥
कलि नहिं ग्यान बिराग न जोग समाधि।
रामनाम जपु तुलसी नित निरुपाधि॥
तप तीरथ मख दान नेम उपबास।
सब ते अधिक नाम जपु तुलसीदास॥

—बरवै रामायण

राम नामको अंक है सब साधन हैं सून।
अंक गएँ कछु हाथ नहिं अंक रहें दसगून॥
रामनाम अवलंब बिनु परमारथकी आस।
बरषत बारिद बूँद गहि चाहत चढ़न अकास॥

—दोहावली

इससे अधिक सुन्दर और स्पष्ट उपदेश और क्या हो सकते हैं?

सियावर रामचन्द्रकी जय!

शरीरकी गति

कबीर गर्ब न कीजिये, काल गहे कर केस।
ना जानौं कित मारिहै, क्या घर क्या परदेस॥
हाड़ जरै ज्यौं लाकड़ी, केस जरै ज्यों घास।
सब जग जरता देखि करि, भये कबीर उदास॥
झूँठे सुख को सुख कहै, मानत है मन मोद।
जगत चबैना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद॥
पानी केरा बुदबुदा, अस मानुसकी जात।
देखत ही छिप जायगी, ज्यों तारा परभात॥
रात गँवाई सोय करि, दिवस गँवायो खाय।
हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय॥

—कबीर

श्रीभगवन्नाम-साधन

(क्या नामाभास मानना नामापराध करना है ?)

(लेखक—श्री'स्वान्तःसुखाय')

'मङ्गलभवन अमङ्गलहारी'का परम पावन एक ही नाम परम कल्याणकारी है, एक ही नामसे भवसिन्धु सूख जाता है—'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं ।' एक नाममें इतनी पापनाशक शक्ति है जितना पाप संसारका कोई भी, किसी प्रदेश और कालका भी महान्-से-महान् पापी नहीं कर सकता —इस प्रकार श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त वचनोंसे तथा अन्यान्य संत-वाणियोंसे जहाँ एक ओर नाम महाराजकी महिमा प्रकट होती है, वहाँ दूसरी ओर यह देखकर कि प्रतिदिन नामकी लक्ष मालिका पूर्ण करनेपर भी कितने लोग अपने व्यावहारिक जीवनमें टस-से-मस नहीं होते, जहाँ थे वहीं पड़े दीखते हैं, उनमें दैवी गुणोंके सञ्चार तथा आसुरी गुणोंके परिहारका कोई व्यक्त लक्षण नहीं दिखलायी पड़ता । इस अवस्थामें यह सन्देह भी अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता कि जिस नामकी महिमा ऊपर कही गयी है वह क्या कोई दूसरा नाम है । कारण, यदि वह यही होता, जिसकी लक्ष मालिका पूरी की जाती है तो परिणाम दृष्टि-गोचर क्यों नहीं होता ? परिणाम दृष्टिगोचर न होनेकी दशामें क्या यह मान लें कि वस्तुतः नामके सम्बन्धकी ये उक्तियाँ भूतार्थवाद नहीं, केवल अर्थवाद हैं ? पर ऐसा मानना नामके दशापराधोंमेंसे एक महान् अपराध करना है । फलतः, शास्त्र-श्रद्धालु ऐसा नहीं कर सकते । अतएव इस शङ्काका समाधान दूसरे प्रकारसे होना चाहिये । कहनेकी आवश्यकता नहीं कि नामाभासकी कल्पनाका उदय इसी शङ्काके समाधानस्वरूप हुआ है । अर्थात् जिस नामका अभ्यास साधारण साधक करते हैं वह वास्तविक 'नाम' नहीं है, 'नामाभास' है ; इस प्रकार उपर्युक्त असङ्गतिका निराकरण हो जाता है ।

परन्तु नामाभासकी यह कल्पना जिस दोषको हटानेके लिये की जाती है, उसीको पुनः प्रकारान्तरसे ला खड़ा कर देती है । साधारण साधक पूर्ण नाम-रसानुभूतिके पूर्व जिस नामका अभ्यास करता है वह वास्तविक नाम नहीं, नामाभास है—इससे यत्नोपाख्यान-जैसे धोखेमें, अज्ञाततया, अश्रद्धया, हेलनया नामोच्चारणकी फलश्रुतिमें वास्तविक आस्था न होकर अर्थवादकी ही भावना हो सकती है । अर्थात् दूसरे शब्दोंमें, 'नामाभासकी कल्पना नामापराध है' ऐसा निष्कर्ष निकलता है । फिर मूल सन्देहका निराकरण कैसे हो ?

इसके लिये यत्नोपाख्यानवर्णित नाम और तज्जन्य कल्याणके स्वरूप तथा इन दोनोंसे उसके उससे पूर्व जीवनके सम्बन्धका स्पष्टीकरण आवश्यक है । यवनद्वारा उच्चारित नाममें श्रद्धा एवं विश्वास तथा दिव्यभावनाकी तो बात ही क्या, उसे यह भी बोध नहीं था कि 'राम'नामका कोई भगवान् भी है । वहाँ तो जापककी भावनाकी रंचमात्र भी अपेक्षा नहीं है । वहाँ नामकी स्वरूपभूत शक्तिका एकान्त परिचय मिलता है । यवनके मुखसे उच्चारित 'राम' उसके भगवान्का नाम नहीं है, प्रत्युत उसके अश्लीलोद्धारका एक अंशमात्र है । उस अश्लीलोद्धारके अवयवभूत भगवन्नामकी महिमा ऐसी कि साक्षात् श्रीभगवान्के पार्षद आकर उसे वैकुण्ठ ले जाते हैं ! रही उसके पूर्वजीवनकी बात । इसके सम्बन्धमें भगवत्-पार्षदोंसे यमदूतोंने जो उसका चरित्रचित्रण किया है, वही पर्याप्त है । कौन ऐसा पाप था कि जिसको उसने नहीं किया था—

उपर्युक्त विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कोई अन्य अलौकिक दिव्य नाम दैवीगुणसम्पन्न व्यक्तिद्वारा श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उच्चारित होनेसे नहीं, प्रत्युत यही नित्यका श्रुत-उच्चारित-चिन्तित कोई भी भगवन्नामद्योतक शब्द ही परम कल्याणकारी है । फलतः हमारी मूल शङ्का सिद्धान्ततः नहीं है, पर व्यवहारके कुछ आकर्षक उज्ज्वलाङ्कोंको परमार्थके साथ मिश्रीभूत करनेका फल है । अर्थात् दैवीगुणोंके प्रति जीवमात्रका स्वाभाविक श्रद्धा-आदर-भाव है । फलतः वह नहीं चाहता कि किसी आसुरीसम्पत्तिसम्पन्न व्यक्तिको वही दिव्य गति प्राप्त हो जाय, जो दिव्य गुणवालोंको होती है । यह पक्षपात, यह अनुदारता, यह वणिग्वृत्ति इतनी अस्वाभाविक और प्रबल हो जाती है कि वह दिव्य गुण और परमार्थको यदि एक नहीं तो इतना घनिष्ठ सम्बन्धी मानने लगता है,

मनवाने लगता है कि दिव्य गुणोंके बिना परमार्थकी प्राप्ति शक्य ही नहीं, असम्भव-सी है। पर यदि यही वास्तविक बात होती तो भगवान्‌के प्रति ये उद्गार कैसे निकलते—

'ऐसो को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर राम सरिस कोउ नाहीं'॥

नामके सम्बन्धमें तो ऐसे उद्गार भी पूरे नहीं पड़ते, क्योंकि 'नामीसे नाम बड़ा है।' यह सब श्रुति-स्मृति-शास्त्र-पुराण-संतकी टेर है। फिर तो—

मायँ कुमायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥
पापिउ जा कर नाम सुमिरहीं। अति अपार भवसागर तरहीं॥

—का क्या स्वारस्य होगा? इसमें सन्देह नहीं कि दिव्य-गुणसम्पन्नता नामाभिरुचि बढ़ाने तथा उससे शाततया लाभान्वित होनेके लिये अनिवार्य है। पर इसका यह कदापि अर्थ नहीं है कि दिव्यगुणसम्पन्नता नामप्रभावका कारण है। इसके विरुद्ध, नाम महाराज कार्य-कारणातीत अति दिव्य हैं। वह अपनी महिमामें विराजते हैं, उन्हें किसीकी अपेक्षा नहीं। उनमें यह शक्ति है कि वे परम पापी और परम पुण्यात्माको समान गति दे सकते हैं, देते हैं, दिये हैं, देंगे। केवल उनको ग्रहण करना चाहिये, यही एक शर्त है। यह अवश्य है कि दिव्यगुणसम्पन्नतासे ग्रहण अधिक सम्भव एवं सहज हो जाता है। पर जीवनमें जिसने एक बार भी ग्रहण कर लिया, उसके परम कल्याणकी रजिस्ट्री हो गयी, इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है।

जहाँतक परम कल्याणका सम्बन्ध है, वहाँतक तो यही नाम एक बार भी किसीके द्वारा भी किसी स्थान या समयमें भी उच्चारित हो तो वह परम कल्याण कर ही देता है। परम कल्याणकी साक्षात् अनुभूतिमें दिव्यासुरगुणसम्पन्नताके तारतम्यसे अन्तर पड़ सकता है। दिव्यगुणसम्पन्न जीते ही मुक्त हो सकता है, आसुरगुणसम्पन्न मरणके पश्चात् मुक्त होता है। अथवा यह भी हो सकता है कि दो-एक जीवनका व्यवधान और भी पड़ जाय, परन्तु अन्तिम मरणके पश्चात् उसकी मुक्ति होती ही है।

एक और भी प्रमुख भेद है, केवल कल्याण ही परम वाञ्छनीय नहीं है, कल्याणकी अधिकाधिक निरन्तर अनुभूति उससे भी बढ़कर है। कल्याण तो भगवान्‌के नाम-रूप-लीलाधाममेंसे एक या कइयोंके ग्रहणसे हो ही जाता है, पर उसके बाद भी भजनका सुख शेष रहता है। प्रभुकी साक्षात् प्राप्तिके अनन्तर सुग्रीवके ये शब्द—

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करौं दिन राती॥

—इसीके इंगित हैं। और भी, यदि कल्याण ही परम ध्येय होता तो जीव उसे छोड़कर आता ही क्यों? कल्याणरूप तो था ही, है ही, रहेगा ही। जीवने उस अवस्थाका त्याग केवल भजन-सुखके लिये किया था और उसकी प्राप्ति दिव्यगुणसम्पन्नतापूर्वक नाम-स्मरणसे सहज ही हो सकती है।

नामकी महिमा, गुणकारिता आदिमें अनेक 'किन्तु', 'परन्तु' लगानेका एक और भी कारण है, इसीके परिणाम-स्वरूप नामके साथ अन्यान्य बन्धन लगा दिये जाते हैं। परमार्थकी कल्पना हममेंसे सर्वोत्कृष्ट जीवोंका भी सर्वस्व है। सभी श्रेय और प्रेयकी परिसमाप्ति उसमें ही होती है। वही परमार्थ केवल एक बार किसी भी भगवन्नामके भाव-कुभाव, इच्छा-अनिच्छा, श्रद्धा-अश्रद्धापूर्वक जैसे-तैसे उच्चारित करनेसे अनायास सहज प्राप्त हो जाता है—इस बातको द्राविड-प्राणायामी अन्य साधन-मार्ग एवं मार्गी सहज उदार हृदयसे स्वीकार नहीं कर पाते। उनके मनमें सहज ही प्रश्न उठता है—जिस परमार्थको बड़े-बड़े उद्भट, क्रियाशील, सद्गुरु-शरणागत, योगी, वयोवृद्ध विद्वान् आजीवन चेष्टा करनेपर जन्म-जन्मान्तरोंमें भी उपार्जित नहीं कर सकते, उसको लघार्थमें लिया गया एक भगवन्नाम प्राप्त करा दे—यह क्या समझकी और वैसे हृदयकी ग्राह्य बात हो सकती है? कदापि नहीं। पर शास्त्रोंकी उक्तियोंपर हड़ताल लगाकर अपनेपर ही कुठाराघात कैसे करें? इसलिये वे उस सिद्धान्तको तो अस्वीकार कर नहीं सकते, पर अपने व्यावधानिक 'किन्तु', 'परन्तु'से इसको इतना दुरूह और अगम्य बना देते हैं कि श्रुति भगवतीने सर्वथा सन्तप्त, असहाय, निरालम्ब दीनोंके लिये नामोच्चारणद्वारा कल्याणप्राप्तिकी जो घोषणा की है, उस प्रभुदत्त आश्वासनमें सहज आस्था करनेमें ये बड़े बाधक होते हैं। और इनके माध्यमसे उन दीनोंके अन्तःकरणमें भी नामसम्बन्धी ये धारणाएँ स्थान पा जाती हैं। फलतः बेचारे नाम-पारस-मणि पाकर भी दीन-दुखी ही रहते हैं। इन उद्भटोंने सकृदुच्चारित कल्याणदायी नामके सम्बन्धमें ऐसे-ऐसे नियम लगा दिये हैं कि अमुक विधिसे, अमुक आसनसे, अमुक संख्यामें, अमुक नाम कल्याण-कारी होता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि नाम भगवान् वाञ्छाकल्पतरु हैं, सबकी सब तरहकी वाञ्छाओंको पूर्ण

करते हैं। फलतः जब कोई मनमें धारता है कि अमुक नाम, अमुक प्रकारसे कल्याणकारी होगा तो नाम महाराज कहते हैं 'एवमस्तु, तुम्हारा कल्याण मेरे स्वरूपभूत स्वभावके विरुद्ध तुम्हारी विधिकी पूर्णतापर ही होगा।' यही कारण है कि सद्यः नामकी महिमा प्रकट नहीं होती।

फलतः जो नामसम्बन्धी सम्पूर्ण शास्त्रकथित एवं व्यवहार-प्रचलित नामापराधोंको यहाँतककी उनकी धारणाको बलात् हटाकर इसमें स्थित हो जाता है कि जैसे तैसे सकृदुच्चारित नाम ही कल्याणकारी है, उसका कल्याण ध्रुव है। नामके सम्बन्धमें कोई भी बोध, कोई भी धारणा न हो—जैसे यवनकी थी, तो नामकी महिमा तत्काल दीखती है। अथवा कोई कल्पना हो भी तो यह कि नामशक्तिको रोकनेवाला कुछ भी नहीं है, तो भी सद्यः प्रकट होती है। परन्तु नाममें ऐसा विश्वास स्वल्प पुण्यवानोंको नहीं होता। कहा भी है—

महाप्रसादे गोविन्दे हरेर्नाम्नि तथा गुरौ।
स्वल्पपुण्यवतां राजन् विश्वासो नैव जायते॥

प्रसङ्गतः यहाँ एक दुरूह प्रश्न उपस्थित होता है। क्या नामके सम्बन्धमें नामापराध भी न मानें? फिर इस लेखका प्रयोजन क्या? सचमुच बात तो ऐसी ही है। नाम-सम्बन्धी अन्य कुधारणाएँ तो नामापराधकी कल्पनासे हटती हैं और नामापराधकी मान्यतारूपी कुधारणा उसके भी परित्यागसे। उस विषयमें 'येन त्यजसि तत्त्यज' की उक्ति अक्षरशः चरितार्थ होती है। और वस्तुतः नामापराध मानना अन्तिम नामापराध है। जबतक नामापराधकी भावना है तबतक नामकी महिमाको समझ नहीं सकते; तबतक वही दशा है, जैसे सूर्यके सम्मुख उपस्थित होनेकी बात कहना और साथ ही शीत और अन्धकारका अनुभव भी करना। और भी यदि नामापराध वास्तविक होता तो स्वयं नामद्वारा ही उसकी निवृत्ति शक्य नहीं बतलायी जाती। जैसे—तीर्थापराध वज्रलेप होकर उस तीर्थद्वारा नहीं मिटता, वैसे ही नामापराध भी नामद्वारा नहीं हटता।

अन्तमें एक और बातकी ओर ध्यान दिलाकर लेख समाप्त किया जायगा। शास्त्रों और संतोंकी कृपासे साधारणतः भारतवासियों और विशेषतः धर्म-विश्वासियोंमें परम कल्याण-कारी नामका इतना अधिक प्रचार है कि वह अमूल्य—बेमोल, कौड़ीका तीन प्रतीत होता है। जैसे सर्वत्र व्यापक होनेके नाते आकाश और वायुका महत्त्व बिना विचारके साधारणतः नहीं प्रतीत होता, उसी प्रकार नाम भी 'कुछ नहीं' के बराबर स्थान पाता है। 'केवल नाम लेनेसे क्या होगा?' 'खाली नाम क्या कर सकेगा?' आदि उद्गार इसीके व्यञ्जक हैं। पर यहीं बड़ी भूल होती है। यह 'केवल' या 'खाली' नाम सचमुच अमूल्य है—सर्वोपरि अति मूल्यवान् है। विचारना चाहिये कि चौरासी लाख योनियोंके अनन्त कोटि जन्मोंके अनन्तर मनुष्ययोनि प्राप्त होती है, उसमें भी वर्तमान संसारके लगभग पौने दो अरब मनुष्योंमेंसे कितनोंको 'परम मधुर मुनहु नाम, राधेकृष्ण सीताराम' की कर्णद्वारा प्राप्ति है। इस दृष्टिसे हम कितने भाग्यशाली हैं, कितना विशेषाधिकार मिला हुआ है—इसकी ओर ध्यान नहीं देनेके कारण ही हम 'केवल नाम', 'खाली नाम' कहकर नाम भगवान्‌की उपेक्षा करते हैं। सचमुच नाम खाली नहीं है; इसका साधारण, कम-से-कम मूल्य है अनन्तकोटि जन्मोंकी अनुभूतिके अनन्तर परम प्रभु नामीकी असीम कृपा। सोचिये तो सही, नाम महाराज कितने मूल्यवान् हैं—और तो क्या, स्वयं नामीको ही वशमें कर लेते हैं! केवल मनगढ़ंत बात नहीं है। प्रमाण देखिये—

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखउ रामू॥

और अन्तमें—

कहौं कहाँ लगि नाम बड़ाई। रामु न सकहिं नाम गुन गाई॥

बोलिये प्रेमसे नाम महाराजकी जय!

हरिकी आश करो

हरि-सा हीरा छाड़ि कै, करै आन की आस।
ते नर जमपुर जाहिंगे, सत भाखै रैदास॥

—रैदास

कीर्तनका सविशेष वर्णन

(लेखक—रायबहादुर पंड्या श्रीबैजनाथजी)

मैं यहाँ एक वास्तविक घटनाका हाल लिखता हूँ। मेरे एक परिचित मित्र कुछ साधना करते हैं। उन्हें अन्तरमें आदेश हुआ कि, 'तुम अमुक तीर्थको जाओ, वहाँ तुम्हें कुछ अनुभव होगा।' वह श्रीकृष्णका तीर्थस्थान था। वहाँ जाकर मन्दिरमें दर्शन कर बैठकर धीरे-धीरे कीर्तन करनेपर उन्हें ऐसा भान होने लगा कि मूर्तिमेंसे श्रीकृष्ण निकलकर मेरे साथ नाचते हैं। इनको अपने शरीरकी सुध न रही। ये श्रीकृष्णके साथ बहुत ऊँचे लोकमें गये—जहाँ इनके कपड़े, शरीरके अवयव, बाल आदि सब गिर पड़े और ये केवल प्रकाशके रूपमें रह गये। वहाँ इतना आनन्द था कि वहाँसे लौटनेका मन नहीं होता था। पर कुछ कालके पश्चात् इन्हें लौटा दिया गया। लौटनेपर बाह्य चेतनामें सब मनुष्योंमें श्रीकृष्णका ही भान होता था। तबसे इन्हें इस प्रकारका अनुभव कीर्तनमें बार-बार होता है और उस ऊँचे लोकमें इनसे पूछा जाता है कि क्या तुम जगत्की सेवाके लिये इस आनन्दका त्याग करनेको तैयार हो। उन्हें यह भी कहा जाता है कि ये ऊँचे अनुभव करानेका हेतु यह है कि तुम जगत्में जाकर यह बताओ कि सच्चे कीर्तनमें इस प्रकारकी समाधिकी अवस्थाको प्राप्त होना चाहिये। उस आनन्दको छोड़नेकी तो इच्छा कभी हो ही नहीं सकती। पर जग-सेवाके लिये उसे त्यागना आवश्यक होता है। इसलिये इनसे कहा जाता है कि 'तुम्हारा कर्तव्य जगत्में जाकर जगत्कल्याणार्थ चेष्टा करना है, न कि उस आनन्द-दशामें रहना।'

यदि किसीको इस कीर्तनके विषयमें कुछ पूछना हो तो उत्तरके लिये टिकट आनेपर उत्तर देनेका प्रयत्न किया जायगा।

साधनका मनोवैज्ञानिक रहस्य

(लेखक—डॉ० श्रीदुर्गाशंकरजी नागर)

संसारमें मनुष्य घड़ीके पेण्डुलमके समान कभी प्रसन्नता, कभी अप्रसन्नता, कभी सुख, कभी दुःख, कभी उन्नति, कभी अवनतिके संयोग और वियोगके अधीन होकर हिलोरे खाया करता है। अनेक अवस्थाओंमें इधर-से-उधर लुढ़कता रहता है। सैकड़ों बार घबरानेके और उद्विग्न होनेके मौके आते रहते हैं। समय सदा एक-सा किसीका नहीं रहता, सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुखका चक्र फिरता ही रहता है।

आजकल मनुष्यका जीवन ऐसा भाररूप हो गया है कि एक क्षण भी चित्त स्थिर और शान्त नहीं रहता। यह बात अनुभवसे सिद्ध है कि जो लोग किसी साधनका अभ्यास नहीं करते, उनका अन्तःकरण इन्द्रियोंके साथ सम्बद्ध रहता है। अन्तःकरण, मस्तिष्क, ज्ञानतन्तु, गतितन्तु और शरीर—सब तदात्मवत् होकर रहते हैं। ज्ञानतन्तु और शरीरमें बाह्य कारणसे क्षोभ उत्पन्न होते ही अन्तःकरणको पहुँचता है और अन्तःकरणमें जो एक जातिकी वृत्तिका प्रवाह रहता है, वह खण्डित हो जाता है और विजातीय वृत्तिका प्रवाह प्रबलतासे चलने लगता है।

बाह्य उपाधि अन्तरकी अस्थिरता तभीतक प्रकट कर सकती है जबतक कि शरीर, इन्द्रिय और प्राणद्वारा अन्तःकरणका अस्थिरताजनक स्वभाव बना हुआ है। किन्तु जिनके अन्तःकरणकी भावनामय व्यापारकी वृत्ति अन्तर्बाह्य स्थूल-सूक्ष्म साधनद्वारा स्थिर हो जाती है और अस्थिरता पैदा करनेवाले हेतुओंका लगभग अभाव अथवा शिथिलता हो जाती है, उनके चित्त अडोल और अकम्प हो जाते हैं और प्रतिकूलता तथा परिस्थिति उनके ध्येयसे उन्हें विचलित नहीं कर सकती।

जिस प्रकार मोम-जैसी मुलायम वस्तुपर मोहर दबानेसे उस पदार्थकी प्रतिकृति (छाप) उस वस्तुपर अङ्कित हो जाती है किन्तु पाषाण और लोहेकी वस्तुपर उसका (Impression) इम्प्रेशन नहीं होता, उसी प्रकार जिन

मनुष्योंने स्थिरता प्राप्त करनेके किसी साधनका अवलम्बन नहीं किया है उनका चित्त दुर्बल होता है और उनके मनपर प्रत्येक प्रसङ्गकी छाप पड़ती है, किन्तु जिनका मन साधन-सम्पन्न होकर दृढ़ हो गया है उनके मनपर उसकी इच्छाके बिना किसी भी प्रसंग या प्रतिकूलताका प्रभाव नहीं पड़ सकता। व्यावहारिक जगत्‌में हम देखते हैं कि जिनका मन किसी एक विषयमें तल्लीन हो जाता है अर्थात् एकाग्र हो जाता है, उनके मनपर वातावरणका लेशमात्र भी असर नहीं होता और न दूसरे विषयोंकी उनके मनपर छाप पड़ती है।

वर्तमान शिक्षाप्रणालीमें एक बड़ा भारी दोष यह है कि चेतन मन (Conscious mind) का लक्ष्य रखकर ही प्रवृत्ति हो रही है किन्तु उच्च नीतिका और आध्यात्मिकता-का जीवनके व्यवहारमें अभाव दिखायी दे रहा है। चेतन मन (Conscious mind) का साम्राज्य होनेसे अन्तर्मन (Sub-conscious mind) मृतप्राय हो जाता है। जाग्रत् मनसे व्यवहार करनेवाले बड़े विचारशील माने जाते हैं किन्तु हमेशा संशयी बने रहते हैं। इनमें आन्तरिक प्रसन्नताका अभाव रहता है। आत्मविश्वास एवं ईश्वरके प्रति श्रद्धाका लोप हो जाता है। श्रद्धा, भक्ति और प्रेमका अभाव हो जाता है। वे शुष्क तर्क-वितर्कमें ही गोते खाते रहते हैं। जरा-जरा-सी बातपर आपेसे बाहर हो जाते हैं। जरा-सी विपत्ति आनेपर आकाश-पाताल एक कर देते हैं। बाह्य जगत्‌की प्रत्येक घटनाका इनके दुर्बल चित्तपर अप्रतिहत प्रभाव पड़ता है और थोड़ा अधिक श्रम करनेसे या रोगसे आक्रान्त होने-पर (Emotional and nervous break down) स्नायविक दुर्बलता अर्थात् मजातन्तुकी व्याधि होकर इनकी (Will-Power) इच्छाशक्तिका ह्रास हो जाता है और इनका ज्ञानतन्तुव्यूह (Nervous System) और मस्तिष्क इतना कमजोर हो जाता है कि ये रात-दिन अशान्त और परेशान रहते हैं और किसी भी तरह जीवनको अन्त करनेकी सोचते रहते हैं और कोई-कोई तो पागल हो जाते हैं। यह बुद्धिकी पराकाष्ठा है।

साधनका नाम लेते ही कई लोग चौंक जाते हैं। उपासना करनेवाले और संयमका साधन करनेवालेके विषयमें कई बार ऐसा देखनेमें आता है कि अमुक मनुष्यने हनुमान् या देवीकी साधना या उपासना की और वह पागल हो गया। अमुक मनुष्यने भैरवकी साधना की और उसको चित्तभ्रम हो गया। अमुकने हठयोगका अभ्यास किया और उसको हृद्‌रोग हो गया। अमुकने प्राणायामका अभ्यास किया, उसको अमुक रोग हो गया। अमुकका मुद्राके प्रयोगसे उचाटन हो गया। वर्षभरमें बहुत-से साधनभ्रष्ट हमारे यहाँ आते हैं, जिन्हें वास्तवमें हानि हुई होती है, किन्तु इसमें उन्हींका दोष है।

वास्तवमें उपासककी अनधिकार चेष्टा ही इस प्रकारकी स्थितिका कारण है। कामनाओंके वशीभूत होकर ये उपासनामें प्रवृत्त होते हैं। इनका चेतन मन (Conscious mind) सुशिक्षित नहीं होता। कामनाओंकी सिद्धिके लिये लौकिक उपाय भी दौड़-धूपके साथ करते हैं और निष्फल होनेपर साधनमें लगते हैं। इनका चेतन मन (Conscious mind) निरुत्साह हो जाता है और कामनाके विचार सतत उठते रहते हैं और इनके अन्तर्मन (Sub-conscious mind) के गर्भभागमें प्रविष्ट हो जाते हैं।

चेतन मन और अन्तर्मनके अन्य व्यापार बन्द हो जाते हैं और दुर्दशाग्रस्त विह्वल मनकी स्थितिमें ये साधन आरम्भ करते हैं और अन्तर्मनमें प्रवेश करते ही अन्त-र्मनकी कामना-पिशाची इनको दबोच लेती है और इनका चित्त भ्रमित हो जाता है या ये पागल हो जाते हैं। चेतन मनकी सत्ता तो पहलेसे ही लोप हुई होती है, इसलिये ये जाग्रत् मनसे कुछ विचार ही नहीं कर सकते। किसी-किसी-को धार्मिक उन्माद (Religious mania) हो जाता है।

दूसरे लोग जो प्राणायाम आदिकी क्रियाओंको दोष देते हैं, वे अपनी क्रियाके धुनमें घंटों अभ्यास करते हैं और जाग्रत्-अवस्थामें आते ही बड़ा कष्ट अनुभव करते हैं।

अन्तर्मनको ही प्रधानता देनेसे इस प्रकारकी दुर्गति होती है।

यदि हम किसीसे भी यह प्रश्न करें कि सब लोग संसारमें क्या चाहते हैं तो वह यही उत्तर देगा कि सब कोई शान्ति और आनन्द चाहते हैं। शान्ति और आनन्द प्राप्त करनेके लिये सारा जगत् दौड़ लगा रहा है। शान्ति और आनन्दकी प्राप्ति सफलतासे होती है और सफलता किसी साधनका दीर्घ कालतक अवलम्बन करनेसे ही प्राप्त हो सकती है।

जिनमें निश्चयबल या सङ्कल्पबल दुर्बल होता है और जिनके मनमें भय, शङ्का, सन्देहके विचार उठते हैं उनको अन्तर्बल मजबूत और दृढ़ करनेके लिये, चित्त स्थिर करनेके लिये साधन करना परम आवश्यक है। अन्तःकरण-का स्वभाव ही चलायमान है। साधनद्वारा ही हम अपने अन्तःकरणमें फेर-फार कर सकते हैं। अन्तःकरणमें दृढ़ जमे हुए संस्कारको निर्मूल करनेके लिये साधनकी आवश्यकता है।

हमें संसारमें क्या करना चाहिये, हम संसारमें क्यों उत्पन्न किये गये हैं—यह बात ठीक तरह हम उसी समय समझ सकते हैं, जब हम कुछ देरके लिये संसारसे अलग हटकर अपनेको और संसारको देख सकें। ऐसी अवस्था तभी प्राप्त होती है, जब चित्त स्थिर हो जाता है और संकल्प-बल दृढ़ हो जाता है। शान्त और स्थिर अवस्था प्राप्त करनेके पाश्चात्य और पौरस्त्य सरल साधनोंका यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है, जिनके थोड़े दिनोंके अभ्याससे ही साधकको अपनेमें विलक्षण परिवर्तन दृष्टिगोचर होगा और साधक अयोग्य प्रभावसे बच जायगा।

पाश्चात्य साधन

एकाग्रता (Concentration)

कई मनुष्योंकी व्यर्थ चेष्टा करनेकी, बिना प्रयोजन अङ्ग सञ्चालन करनेकी आदत पड़ जाती है और दुर्बल शनतन्तुवाले या जिनका मस्तिष्क विकृत हो गया है या विलपावर (इच्छाशक्ति) मन्द हो गयी है, उनमें भी ये आदतें पायी जाती हैं। नाखून कुचरना, अँगुलियाँ चटखाना, मूँछ मरोड़ना, हाथ-पाँवोंका हिलाना, सिर खुजलाना, मुँह बिगाड़ना, आँखें टिमटिमाना, कोई भी चीज पड़ी हुई हो उसको उठाकर टुकड़े कर देना आदि हरकतोंसे (Dissipation of energy) प्राणशक्ति निरर्थक नष्ट होती है। मनुष्य अपने ऊपर अधिकार खो देता है और उसका चित्त विक्षिप्त हो जाता है और एकाग्रता भंग हो जाती है। चित्तको एकाग्र करना सीखना हो तो सर्वप्रथम अपने शरीरपर अधिकार करो। (A would-be psychologist must first learn not to make any movement of the body without any reason) जो व्यक्ति शक्तिसम्पन्न बनना चाहता है, उसे सर्वप्रथम यह सीखना चाहिये कि वह निष्प्रयोजन अपने शरीरका अङ्ग-सञ्चालन न होने दे।

जो मनुष्य क्षणमें रुष्ट और क्षणमें तुष्ट हो जाता है, उसका अपने मनपर अधिकार नहीं हो पाता। अपने विचार और भावनाका निरीक्षण करो। तुम्हारे मनमें कितने निरर्थक भाव और विचार उठते हैं, इसका विचार करो। जिस प्रकार एक ग्लासमें पड़ी हुई बारूद किसी उपयोगकी नहीं किन्तु उसको बन्दूककी नालमें संयम करनेसे एकाग्रता होते ही तत्काल प्राणहरण करनेका सामर्थ्य उसमें आ जाता है, उसी प्रकार एकाग्र किये हुए विचार शक्तिवाले होते हैं और निरर्थक विचार फालतू होते हैं।

जब चाहे किसी विषयपर विचार लगाया जा सके और जब चाहे किसी विषयसे विचार हटाया जा सके, यह बलवान् मनका लक्षण है। जिसका मन भटकता रहता है, वह अपनी शक्तियोंको बरबाद करता रहता है। जो वस्तु, जो कार्य हमारे सामने हो, उसपर देखने, सुनने और विचारनेकी सारी वृत्तियोंको लगा देना ही एकाग्रता है। विचारको एक ही वस्तुपर अथवा कार्यपर एक ही स्थानपर निरन्तर (Undivided attention) अनन्यासक्त ध्यानसे रोक रखना ही एकाग्रताकी कुंजी है। यह सदा स्मरण रक्खो कि सामनेकी वस्तुपर जो एकाग्रता कर सकता है, वही सब जगह कर सकता है। जो अपने शरीर और मनपर अधिकार रख सकता है, वही एकाग्रताका अभ्यास कर सकता है।

मानस चित्रकल्पना (Visualization)

मानस-शास्त्रका यह सिद्धान्त है कि जिसका चित्र हम अपने मनमें अखण्ड आरूढ़ रखते हैं, परिणाममें हमारे व्यावहारिक जीवनमें वही प्रत्यक्ष हो जाता है। जिस प्रकारका हमारा अन्तर्जीवन होता है, उसी प्रकारकी वस्तुओंका हमारे बाह्य जीवनमें आकर्षण होता है। हम लोह-चुम्बकके समान हैं; जैसे लोह-चुम्बक लोहेको अपनी ओर खींचता है, उसी प्रकार हम भी अपने सदृश पदार्थोंका आकर्षण करते हैं।

जब अमुक चित्रकी मनमें रचना होती है तब उस चित्रके समान ही विचार उत्पन्न होते हैं। ये विचार मनसे बाहर प्रकट होते हैं और सारे शरीरमें व्याप्त हो जाते हैं और हमारी इच्छा, उद्देश्य और मनोवृत्तिमें फेर-फार कर देते हैं।

पूर्ण आरोग्य और बलका चित्र मनमें दीर्घकालतक आरूढ़ रहे तो चाहे जैसा हठीला रोग भी नष्ट हो जाता है और शरीर पूर्ण आरोग्यमय बन जाता है।

मानसिक चित्र कोई ऐसी एक वस्तु नहीं है कि व्यवहारमें जैसे हम स्थूल पदार्थोंको देखते हैं, उसे भी देख सकें। यह तो एक कल्पना, विचार अथवा भावना है और बुद्धि-वृत्तिसे ही हम उसको देख सकते हैं।

यदि तुम्हारा शरीर कृश और दुर्बल है और तुम मोटे-ताजे बनना चाहते हो तो उसी तरहका ध्यान करके अपना मानस चित्र देखो। अगर तुम्हारा शरीर बहुत स्थूल है और तुम अपनी चरबी छाँटना चाहते हो तो वैसा ही अपने मनके नेत्रोंसे अपने सुन्दर, सुडौल शरीरको देखो। यदि मानसिक और आत्मिक शक्तिकी अभिवृद्धि चाहते हो तो मानसिक शक्ति और आत्मिक शक्तिके सद्गुणोंसे अपने मस्तिष्कको भरा हुआ देखो। इस सिद्धान्तको फालतू समझकर मत उड़ा दो। इसके अंदर प्रकृतिका एक बड़ा सिद्धान्त भरा हुआ है। जिस तरहका तुम अपना मानसिक चित्र देखोगे, वैसे ही बन जाओगे।

एकान्तमें नित्य एक-एक करके स्मरण करके स्मृतिपट-पर नित्य इष्ट मानसिक चित्र उपस्थित करनेसे बड़ा लाभ होगा। कोई पदार्थ जो तुम्हारे सामने हो, उसको बारीकीसे छोटे-से-छोटे अंशको देखो। अब नेत्र मूँदकर उस पदार्थको ज्यों-का-त्यों अपने भीतर मानसिक दृष्टिसे देखो; फिर नेत्र खोलकर देखो कि किन-किन अंशोंको तुम भूल गये हो। पुनः दूसरे दिन अभ्यास करो। पाँच मिनिट नित्य अभ्यास लगानेसे कुछ दिनोंमें स्मरणशक्ति तीव्र होने लगेगी।

इच्छाशक्ति (Will-Power)

मानस-शास्त्रका यह नियम है कि जो जैसा अपनेको समझता है, वह वैसा ही बन जाता है। सुननेमें तो यह बात आश्चर्य-सी मालूम होती है, परन्तु वास्तवमें है बिलकुल सत्य। जो बात बार-बार मनमें चला करे, वह विश्वासके रूपमें बदल जाती है और अपने मन और शरीरके सम्बन्धमें जैसा जिसका विश्वास होता है वैसे ही लक्षण प्रकट होने लगते हैं। इस प्रकार बार-बार दुहरानेके लिये जिस वाक्यका उपयोग होता है, उसे (Auto-suggestion) आत्म-द्योतन कहते हैं।

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

जैसी जिसकी भावना होती है, वैसी ही सिद्धि होती है। तीव्र इच्छाशक्तिको जाग्रत् करनेका सर्वोत्तम उपाय आत्म-द्योतन या सूचना है। मनोविज्ञानाचार्य एमीलोका कथन है कि रात्रिको सोते समय अन्तर्मनमें जिस भावनाका चिन्तन करते हुए हम निद्रामें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार हमारे जीवनका निर्माण होता है। अन्तर्मन हमारी स्मरणशक्तिका भाण्डार है। इसमें जीवनके प्रत्येक क्षणमें होनेवाली घटना तथावत् अङ्कित रहती है।

प्रत्येक भावना जो हमारे मनमें आती है, उसको यदि अन्तर्मन (Sub-conscious mind) की अचेतन वृत्ति ग्रहण कर लेती है तो वह सत्यस्थ होकर हमारे जीवनकी एक स्थायी वृत्ति हो जाती है।

इस सिद्धान्तके नियमानुसार भावनाओंका प्रभाव हमारे मन, विचार, प्रवृत्ति, शारीरिक संगठन तथा उसके कार्योंपर अवश्य पड़ता है।

आनन्द, सुख, शान्ति, आरोग्य, उत्साह, श्रद्धा, सामर्थ्य, बल आदिकी भावना अन्तर्मनमें भर सकते हो और यही भावनाएँ सत्य होकर तुम्हारे जीवनको उच्च बना सकती हैं।

जो कुछ तुम्हारी इच्छा हो, आवश्यकता हो—जैसे तुम्हें बल प्राप्त करना है तो 'मैं बलवान् हूँ' इस सबल भावनाको रात्रिको सोते समय बार-बार दोहराया करो। या इच्छाशक्ति (विल-पावर) को उन्नत करना हो तो निम्न सूचनाओंको दोहराते हुए निद्रामें प्रवेश करो—

'मेरी इच्छाशक्ति बलवती है। मैं सब कुछ कर सकता हूँ। अतः मैं अवश्य करूँगा। यही मेरे जीवनके मन्त्र हैं। मैं दुःख और विपत्तियोंसे कभी नहीं डरता। मैं निर्भय हूँ। मैं अपनी समस्त शक्तियोंको केवल इच्छाशक्तिको बलवती बनानेमें लगाता हूँ। शरीर और मनपर मेरा पूर्ण अधिकार है। मेरा स्वभाव परम शान्त और स्थिर है।'

इस अभ्याससे थोड़े ही दिनोंमें तुम्हारे शरीर और मनमें आश्चर्यमय उन्नति होगी और इच्छाशक्तिके बढ़नेसे तुम्हारा स्वभाव तुम्हारे वशमें आ जायगा।

पौरस्त्य साधन

पाश्चात्त्य मानस-शास्त्रियोंने बाहरी एकाग्रताके लिये कल्पना, एकाग्रता और इच्छाशक्तिको उन्नत करनेके उपाय बतलाये हैं, जिनसे हम इस संसारमें सफल जीवन व्यतीत

कर सकते हैं। पाश्चात्य मनोविज्ञानी रात्रिको सोते समय बाह्य मनको विरोधी विचारसे रहित करके इष्ट विचारोंमें तन्मय होकर, जिस स्थितिको प्राप्त करना हो, अन्तर्मनमें प्रवेश करनेका आदेश देते हैं।

हमारे प्राचीन ऋषि सद्भावको स्थिर करनेके लिये सन्धिके समय सन्ध्या करनेका महत्त्व बतलाते हैं। (१) प्रातः-कालकी सन्धि, (२) मध्याह्नकालकी सन्धि और (३) सायं-कालकी सन्धि—इन तीनों समयपर मनुष्य दत्तचित्त होकर किसी सद्भावको अन्तःस्थित करेगा तो वही जाग्रत् रहेगा और उसीका प्रवाह दिनभर प्रवाहित होगा। सन्धिके समय जिस प्रकारके भाव पैदा हो जाते हैं, उसका असर प्रधानरूपसे अगली सन्धितक रहता है। प्रातःकालमें सर्वप्रथम शौच और स्नानके पश्चात् सन्ध्या करनेकी ही आज्ञा वेदमें दी गयी है—'अहरहः स्नात्वा सन्ध्यामुपासीत।' क्योंकि उस समय सांसारिक व्यवहारके भाव कुछ नहीं होते और मस्तिष्कके केन्द्र और नाड़ी-केन्द्र सब ग्रहणशील अवस्थामें होते हैं और उत्तम संस्कार दृढ़तासे अङ्कित हो जाते हैं—क्योंकि प्रकृति इस समय अपनी समरूपताकी अवस्थामें रहती है। सत्, रज, तम—इन तीनों गुणोंकी हलचल बंद रहती है। इसीलिये जप, ध्यान, धारणादि क्रिया करनेके लिये सन्धिकालका इतना महत्त्व बतलाया है।

इस सन्धिकालमें (Rhythmic Harmony) एक लयबद्ध महान् राग स्वाभाविकरूपसे सारे विश्वमें प्रवृत्त रहता है। जो लोग इस समय संसारके जंजालसे—चित्तको निरन्तर क्षोभ पैदा करनेवाले प्रसङ्गोंसे अलग होकर कुछ समय एकान्तमें जाकर सन्ध्याके अनुष्ठानमें अपने अन्तरके एक रागको विश्वके एक महान् रागसे सम्बद्ध करते हैं, वे बाहरी और भीतरी दोनों प्रकारकी एकाग्रता सम्पादन करते हैं और व्यवहार तथा परमार्थ दोनोंमें आश्चर्यकारक उन्नति करते हैं। प्रातःकाल, सायंकाल, मध्याह्नकाल या रात्रिको सोते समय—जिस समय अनुकूलता हो, नित्य नियमित समय एवं नियत स्थानपर सुखसे मेरुदण्डको सीधा करके आलथी-पालथी मारकर बैठ जाओ और शरीरको बिल्कुल सीधा रक्खो। ठोढ़ी, सिर और शरीर सीधा रहे। दोनों हाथोंको जंघाओंपर सीधे धर लो, आँख बंद कर लो और नेत्रोंको मूँदे हुए दोनों भौंहोंके बीच दृष्टि जमाओ। बिखरे हुए विचारोंको खींचकर और सब इन्द्रियोंको अपने विषयोंसे हटाकर अपने अन्तरके एक रागपर स्थिर करो। दस-बीस बार गहरे श्वास-प्रश्वास लो अर्थात् दीर्घ श्वास-प्रश्वास करो। ध्यान करते समय मक्खी अथवा मच्छर काटे तो सहन कर लो और अङ्ग-प्रत्यङ्गको बिल्कुल नहीं हिलने दो।

अपने मनसे द्वेष, अनुत्साह, दीनता, दुर्बलता, रोग, एवं अधमताके विचारोंको बाहर हटा दो। अपने अभ्यासगृहके किवाड़ बंद करके ध्यानके लिये बैठो। ध्यानके समय कोई विक्षेप न करे, इस प्रकारकी व्यवस्था करो। प्रत्येक स्नायुको शिथिल करो। प्रत्येक ज्ञानतन्तुके तानको मुलायम कर दो। शरीर और मन दोनोंको शिथिल करो। भूतकाल, वर्तमान-काल तथा भविष्यकालकी सब सांसारिक चिन्ताओंको छोड़कर मनकी प्रशान्त स्थितिमें प्रवेश करो। जैसे शान्तिके महासागरमें गोता लगा रहे हो, इस प्रकार शान्तिमें तल्लीन हो जाओ। 'सारे विश्वमें एक रागके आन्दोलन चल रहे हैं, उस प्रवाहको मैं अपनेमें ग्रहण कर रहा हूँ'—ऐसी भावना करते हुए हृदयाकाशमें अपनी भावनाको स्थिर करो, यही परमात्मप्रदेश है। यही सम्पूर्ण सुखमय आध्यात्मिक जगत् है। इस दिव्य जगत्में प्रवेश करना ही मनुष्यमात्रका कर्तव्य है।

इस अनन्त जगत्के अणु-अणुमें यह सुखमय जगत् व्याप्त है। यह सर्वका कारण है। चैतन्यमय है। इन चैतन्य-मय विचारोंमें तन्मय हो जाओ—

'मैं चैतन्यस्वरूप हूँ। मैं जीवन-तत्त्वसे परिपूर्ण हूँ। परमात्म-जीवनसे आरोग्य, शान्ति, पूर्णताका मेरे शरीरके अणु-अणुमें सञ्चार हो रहा है। मैं परमतत्त्वमें लीन हो रहा हूँ। वह सर्वव्यापक है और अन्तर्बाह्य परिपूर्ण है। मैं सर्वदुःखोंसे, दोषोंसे, व्याधियोंसे अन्तर्बाह्यमुक्त हो गया हूँ।'

विश्व-व्यवस्थापक सत्ताके साथ इस प्रकार अभेद-सम्बन्ध स्थापित करनेसे हममें अमर्याद आध्यात्मिक बल प्रकट होता है। फिर जगत्की कोई स्थिति हमारे अन्तःकरणको चलायमान नहीं कर सकती। इस प्रकार परमात्माका नित्य अखण्ड अनुसन्धान करनेसे और उनमें तन्मय होनेसे जीवनमें तत्क्षण परिवर्तन हो जाता है। हमारी आत्मा परमात्माके अधिक-अधिक निकट सम्बन्धमें आने लगती है और हमारा शरीर, मन और आत्मा—सब परमात्माकार हो जाते हैं और दुःखरूप संसारके स्थानपर सुखका महासागररूप संसार दिखायी देता है।

न जले मार्जनं सन्ध्या न मन्त्रोच्चारणादिभिः।
सन्धीयते परब्रह्म सा सन्ध्या सद्भिरुच्यते॥
(देवीभागवत)

'केवल शरीरपर जल छिड़कनेसे अथवा केवल मन्त्रोच्चारण कर लेनेसे सन्ध्या नहीं होती। जिस अवस्थामें परात्पर तत्त्वसे एकता हो जाय, सत्पुरुषोंने उसे सन्ध्या कहा है।'

इस प्रकार इस सरल सन्ध्याके अनुष्ठानमें अपने चित्तको स्थिर करनेका अभ्यास नित्य करोगे तो इन्द्रिय, प्राण और मन आत्माके अनुकूल व्यवहार करने लगेंगे। मज्जातन्तुजाल (Nervous System) दृढ़ हो जायगा। रोगप्रतिबन्धक-शक्ति दृढ़ होगी। आधि-व्याधि तुमपर आक्रमण नहीं कर सकेंगी और न चित्तक्षोभ या विक्षेप तुम्हें तंग करेंगे। आत्माको परमात्मामें लीन करनेसे या परम तत्त्वमें तन्मय करनेसे जीव, प्रकृति, ब्रह्मका रहस्य समझमें आयेगा। सब साधनोंका प्रकाशक मुख्य साधन यही है और एकाग्रता सम्पादन करना ही इसकी एकमात्र कुंजी है। सर्वसिद्धियोंका मूल मन्त्र एकाग्रता है और एकाग्रता शक्तिका रहस्य साधन है।

ईश्वर-दर्शनका साधन

(लेखक—पू० पण्डित श्रीशिवदत्तजी शर्मा)

'समस्त शक्तियोंका भाण्डार, समस्त विश्वका सञ्चालक, समस्त चेतनाओंका झरना परमात्मा है'—इस सत्यको मान लेनेसे और इसीपर ध्यान करनेसे तुम्हारे और उसके बीचमें जितने पर्दे हैं, एक-एक करके सब हट जायँगे और एक दिन तुम और वह एक हो जाओगे। यही प्रथम सत्य है।

'शिव' शब्दका अर्थ ईश्वर है और सुख, शान्ति, आनन्द तथा ऐश्वर्यका नाम भी शिव है। यदि तुम पहले शिवको प्राप्त कर लोगे तो दूसरे शिव आप-से-आप तुम्हें प्राप्त हो जायँगे।

एक महात्माने इसी बातको बहुत स्पष्ट शब्दोंमें इस प्रकार कहा है कि यदि तुम्हें किसी भी संसारी वस्तुकी आवश्यकता हो तो संसारके स्वामीसे मिलो और उससे माँगो, क्योंकि यह संसार उसीकी मिलकियत है।

दूसरा सत्य आत्मा है। आत्माका वाचक 'मैं' है। इस 'मैं' के अंदर ही प्रथम सत्यको प्राप्त कर लेनेकी शक्ति छिपी हुई है अथवा इस दूसरे सत्यमें ही पहला सत्य छिपा हुआ है।

तात्पर्य यह है कि पहले तुम्हें दोनों सत्य समझ लेनेकी जरूरत है। वह और मैं (ईश्वर और जीव)—इसीका नाम द्वैतवाद है। फिर जैसे-जैसे ध्यानका अभ्यास बढ़ता जायगा, वैसे-ही-वैसे यह द्वैत-भावना क्षीण होती जायगी और यह 'मैं' भूलता जायगा। जिस समय 'मैं' बिलकुल भूलकर इसके परेकी अवस्थामें स्थिति हो जाती है, उसी अवस्थाका नाम अद्वैत-अवस्था है।

वही सबसे ऊँची अवस्था है। यहाँ पहुँचनेवालेको प्रेम, जीवन, शक्ति, बुद्धि, आरोग्य, प्रसन्नता—ये सब प्राप्त हो जाते हैं। पहुँचे हुए सिद्ध पुरुषके यही लक्षण हैं। दुखी पुरुषोंके दुःखोंको मिटानेमें ही सिद्ध पुरुष अपनी सिद्धियोंका उपयोग करते हैं।

इस अवस्थाको प्राप्त करनेके पाश्चात्य उपाय

रात-दिनमें किसी समय एकान्तमें बैठकर पहले कई दीर्घ श्वास-प्रश्वास करो। फिर शान्तिसे ऐसा भान करो कि एक ऐसी वस्तु सब जगह भरी हुई है जो सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, आनन्दका समुद्र है—वह मेरे भीतर-बाहर, ऊपर-नीचे, सर्वत्र पूर्ण है।

उस समय तुम्हारी अवस्था बड़ी शान्त हो जायगी। उस समय एकाग्रता होनेसे नये-नये विचार उठते हैं और वे सभी विचार लाभदायक होते हैं। यदि तुम्हारे कुछ पेचीदे विचार हों तो उन्हें सुलझानेका उस समय यत्न करो।

सब मनुष्योंमें परमात्मा हैं। परमात्मा समस्त शक्तियोंके भाण्डार हैं। परमात्माके पास पहुँचनेका मार्ग ध्यान है। ध्यानके द्वारा मनुष्योंकी सब इच्छाएँ पूर्ण हो सकती हैं। यही पाश्चात्य मनोज्ञानका निचोड़ है।

परन्तु प्राच्य प्रणालीमें ईश्वर-दर्शनका विषय जैसा महत्त्वपूर्ण है, उसी प्रकार उसका मार्ग भी 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथः'—छुरेकी धारा-सा तेज और दुर्गम है। विरले ही साहसी और भाग्यवान् जन वहाँ पहुँच पाते हैं।

पञ्चकोष

प्राच्य प्रणालीमें ईश्वर-दर्शनके लिये पहले पञ्चकोषोंका ज्ञान होना आवश्यक है। तदनन्तर उनमें ध्यानद्वारा

प्रवेश करना चाहिये। पञ्चकोष ये हैं—(१) अन्नमय, (२) प्राणमय, (३) मनोमय, (४) विज्ञानमय तथा (५) आनन्दमय। यहाँ इनका संक्षिप्त विवेचन दिया जाता है—

(१) पहले शुचि होकर एकान्त देशमें बैठकर विश्वमें बिखरी हुई वृत्तियोंको खींचकर अपने स्थूलशरीरपर लगाना चाहिये। यह शरीर क्या है? रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और शुक्रका बना हुआ एक पुतला है। ये सातों धातु अन्नसे बनी हुई हैं, इसलिये इस पुतलेका नाम अन्नमय कोष है।

अब अन्नमय कोषके भीतर घुसो। वहाँ दूसरा प्राणमय कोष है। प्राण दस हैं—प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय। इन्हीं दस प्राणोंके द्वारा शरीर और मनके सारे व्यापार चलते हैं। इस प्रकार ध्यान करनेको प्राणमय कोषमें प्रवेश करना कहते हैं।

उसके आगे मनोमय कोष है। वहाँ मनके साथ पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। उससे आगे विज्ञानमय कोष है, जहाँ बुद्धिके साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं; और पाँचवाँ आनन्दमय कोष है। वहाँ आनन्दकी प्रतीति होती है।

इस प्रकार एक-एक कोषका ध्यान करते हुए आगे बढ़ते जाना चाहिये। आनन्दमय कोषमें पहुँचनेपर आनन्द क्या वस्तु है, इसका अनुभव होता है—आनन्द प्राप्त होता है।

अब अपने हृदय-देशमें, अङ्गुष्ठ-परिमाण दहराकाशमें अणु-परिमाण लिङ्गशरीरका ध्यान करो। यह लिङ्गशरीर सत्रह तत्त्वोंका बना हुआ है—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ, मन और बुद्धि। इसी लिङ्गशरीरके भीतर वह जीवात्मा रहता है, जिसका वाचक 'मैं' है।

जिसे हम 'मैं' कहते हैं, वह इसी लिङ्गशरीरके अंदर रहनेवाला जीवात्मा है। जिस समय कोई मनुष्य ध्यानद्वारा वहाँ पहुँच जाता है अर्थात् अपने असली स्वरूपमें पहुँच जाता है, उस समय उसका बाह्य भान बिलकुल नष्ट हो जाता है। यही उसकी पहचान है।

यह जीवात्मा ईश्वरका मन्दिर है। इसतक पहुँचना मानो ईश्वरके मन्दिरके द्वारपर पहुँच जाना है। अब यदि ईश्वर-दर्शन करना है तो मन्दिरके अंदर प्रवेश करना चाहिये।

जैसे हम (जीवात्मा) इस स्थूलशरीरमें रहते हैं, उसी प्रकार ईश्वर हमारे भीतर रहता है; इसलिये परमात्माके दर्शनाभिलाषीको पहले पञ्चकोषोंके ध्यानक्रमसे जीवात्मातक पहुँचना चाहिये। फिर जीवात्माके भीतर (अपने-आपके भीतर) ध्यानद्वारा प्रवेश करना चाहिये, तब वहाँ परमात्माके दर्शन हो सकते हैं।

यह प्रक्रिया कठिन अवश्य है, पर ईश्वर-दर्शन कुछ दाल-भातका खाना भी नहीं है। अनेक जन्मोंका पुण्य उदय होनेपर ही मनुष्यकी ईश्वरकी ओर किञ्चित् प्रवृत्ति होती है। ऐसे महान् उद्देश्यकी सिद्धिके लिये महान् प्रयत्नकी ही आवश्यकता है।

यह विषय बड़ा गहन और गूढ़ है। लिखा-पढ़ीमें इतना ही आ सकता है। अधिक जानकारीके लिये किसी जानकार व्यक्तिके साथ प्रत्यक्ष सत्सङ्ग करना चाहिये।

काम क्रोध लोभ मोह मद, तजि भज हरि को नाम।
निस्चै सहजो मुक्ति हो, लहै अमरपुर धाम॥
कामी मति भिष्टल सदा, चलै चाल विपरीत।
सील नहीं सहजो कहै, नैनन माहिं अनीत॥

—सहजोबाई

मोक्षका मुख्य साधन—भक्ति

(लेखक—पं० श्रीविनायक नारायण जोशी साखरे महाराज)

'शङ्करः शङ्कराचार्यः' कहकर जैसे श्रीमत् शङ्कराचार्यको साक्षात् श्रीशङ्कर ही कहा गया है, वैसे ही 'ज्ञानेशो भगवान् विष्णुः' कहकर ज्ञानेश्वर महाराजको साक्षात् श्रीविष्णुका अवतार बताया गया है। श्रीमत् शङ्कराचार्यने जिस तत्त्वका अर्थात् 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' का प्रतिपादन किया है, उसीको ज्ञानेश्वर महाराजने भी अपने 'ज्ञानेश्वरी', 'अमृतानुभव' और 'पासष्टी' ग्रन्थोंमें उपपत्तिसहित विशद किया है। अद्वैत आत्मतत्त्व समझनेके लिये वेद-शास्त्राध्ययनका जो अधिकार और बुद्धिका जो विकास अपेक्षित है, वह सब जीवोंके लिये सुलभ नहीं है। अतः श्रीज्ञानेश्वर महाराजने अपने ज्ञानेश्वरी ग्रन्थमें यह सिद्ध किया है कि वेद-शास्त्रादि वाक्योंपर जिन लोगोंकी श्रद्धा है और जिनके अंदर तीव्र मुमुक्षा है, उनके लिये मुख्य साधन भगवद्भक्ति है।

ज्ञानेश्वरीके सोलहवें अध्यायमें भगवान् कहते हैं कि 'हे अर्जुन! जो कोई अपना कल्याण चाहता हो वह वेदोंकी आज्ञाका कभी उल्लङ्घन न करे। यहाँतक कि वेद-शास्त्र यदि सर्वैश्वर्यसम्पन्न सार्वभौम राज्यका त्याग करनेको कहें तो कल्याणकी इच्छा करनेवाले पुरुषको वह त्याग अवश्य करना चाहिये। शास्त्र यदि विषपान भी करनेको कहें तो विषपानमें ही अपना कल्याण जाने। वेदोंमें जिस किसीकी ऐसी अनन्य निष्ठा हो, उसके लिये अनिष्ट नामकी कोई वस्तु ही नहीं रह जाती। जबतक मुमुक्षु पुरुषको ब्रह्मके साथ अपना ऐक्य बोध न हो तबतक श्रुतिका कभी त्याग न करे, श्रुत्येकशरण होकर आत्मानन्द लाभ करे।

श्रुतिका मुख्य सिद्धान्त क्या है, यह गीताके ९ वें अध्यायके इन श्लोकोंकी टीकाके प्रसंगसे बतलाते हैं—

> मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
> मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥
> न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्॥

ज्ञानेश्वर महाराज भगवान्से कहलाते हैं कि 'हे अर्जुन! प्रकृतिके परे मेरा जो मायारहित विशुद्ध परमात्मस्वरूप है, उसमें यदि तुम अपनी कल्पनाको छोड़कर देखो तो परमात्मस्वरूपमें भूतोंका रहना सत्य नहीं है। कारण, सारा दृश्य-जगत् मैं हूँ। जगत्के अनादि संस्कारसे जीवोंकी आँखोंपर संकल्पका जो क्षणस्थायी सायंकालीन मन्दान्धकार छा गया है, उससे उनकी दृष्टि अर्थात् उनका ज्ञान आच्छादित हो गया है, इसीलिये एकमेवाद्वितीय अखण्ड ब्रह्मसत्तामें उन्हें नानात्व भासित हो रहा है। संकल्पकी यह सायंवेला टल जाय तो जगद्रहित परमात्मा अपने अखण्ड स्वरूपमें हैं ही। मन्दान्धकारमें पुष्पमालापर होनेवाला सर्पभ्रम जब निवृत्त होता है तब जैसे पुष्पमालाका सर्परूप नहीं रह जाता, वैसे ही परमात्मस्वरूपके अंदर जगत् वस्तुतः नहीं है, जो देख पड़ता है, वह देखनेवालेकी कल्पनाका आरोप है। पर्वतके समीप की जानेवाली ध्वनि जो प्रतिध्वनित होती है, वह पर्वतकी ध्वनि नहीं होती, अपनी ध्वनिकी ही प्रतिध्वनि होती है। दर्पणमें जो मुखड़ा देख पड़ता है वह दर्पणमें नहीं होता, अपने मुखका ही तो प्रतिबिम्ब होता है। इसी प्रकार शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूपमें जो भिन्न-भिन्न भूत देख पड़ते हैं, वे देखनेवालेके संकल्पसे ही देख पड़ते हैं। भूतोंकी कल्पना करनेवाली यह प्रकृति यदि ब्रह्मविचारसे नष्ट हो जाय तो स्वगत सजातीय-विजातीयभेदशून्य विशुद्ध ब्रह्मस्वरूप ही अवशिष्ट देख पड़े। विशुद्ध परमात्मस्वरूपमें भूतोंकी उत्पत्ति सम्भावित ही नहीं है। इसलिये मेरे अंदर न भूत हैं और न भूतोंके अंदर मैं हूँ। इसलिये अब तुम इन्द्रियोंके कपाट बन्द करके अर्थात् इन्द्रियोंको अन्तर्मुख करके इस ज्ञानका आनन्द अनुभव करो।'

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचनमें पहले अध्यासवाद बतलाकर अजातवाद स्थापित किया गया है। अजातवाद एकाएक किसीकी समझमें नहीं आता। रज्जु-सर्प और शुक्तिका-रजतादि दृष्टान्तोंसे अध्यासवाद मन्दबुद्धि मनुष्यकी भी समझमें आ जाता है और अध्यासवादका ही और भी सूक्ष्म विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सीपमें भासमान रजत रजत-प्रतीतिके पूर्व नहीं था, सीपका ज्ञान होनेपर नहीं रहता—यही नहीं, बल्कि जिस समय रजतकी प्रतीति हो रही थी उस समय भी रजत नहीं था। इस प्रकार अध्यस्त रजतका त्रिकालमें अत्यन्ताभाव ही देख पड़ता है। इसीको अजातवाद कहते हैं। इस विचारमें जिस बुद्धिका प्रवेश नहीं हो पाता, उसके लिये

श्रेष्ठ मोक्षसाधन सगुणोपासन ही है—जिसके फलस्वरूप उसे भगवत्प्रसादसे ब्रह्मात्मैक्यज्ञान प्राप्त हो जाता है।

इस सगुणोपासना या भक्तिके विवरणसे ज्ञानेश्वरीके अनेक स्थल परिपूर्ण हैं। उनमेंसे कुछ प्रसंगोंके अवतरण आगे दिये जाते हैं। भगवान् कहते हैं—

'हे अर्जुन! जो सरल भावुक भक्त मुझ परमेश्वरको जानकर अपने अहङ्कारको चूर करते और अपने सब कर्मोंके द्वारा मेरा भजन-पूजन करते हैं, वे देही होकर भी देहमें नहीं रहते, मेरे स्वरूपमें ही रमते हैं। जैसे वे मेरे स्वरूपमें रहते हैं, वैसे ही मैं भी उनके हृदयमें सम्पूर्णरूपसे निवास करता हूँ। जैसे वटवृक्ष उत्पन्न होनेके पूर्व अपने सम्पूर्ण शाखादि विस्तारके साथ वटबीजमें गुप्त रहता है और वटबीज भी जैसे वटवृक्षमें सर्वतः व्यापक रहता है, वैसे ही भक्त और भगवान्—इस नाम-भेदके रहते हुए भी, मैं जो कुछ हूँ वही वे मेरे भक्त हैं।...उन भक्तोंका मन मद्भावनामें ही सन्निहित रहता है। मनका इन्द्रियके द्वारा जिस वस्तुके साथ सम्बन्ध होता है, मन उसी वस्तुका आकार धारण कर लेता है—तदाकार हो जाता है। उसी प्रकार मेरे भक्तोंका मन मुझमें रत रहनेसे मद्रूप ही हो जाता है। जो भक्त प्रेमभावसे तथा अनन्यभावसे मुझे भजते हैं, वे मत्स्वरूप हो जाते हैं—इसमें आश्चर्य ही क्या? मेरा भक्त किसी जातिका हो, उसका कुछ भी आचरण हो, पापियोंमें सबसे बड़ा पापी भी वह क्यों न हो—उसने जब अपना जीवन भक्तिकी वेदीपर रख दिया, तब उसे मेरा स्वरूप प्राप्त हुए बिना रह ही नहीं सकता। पहले वह चाहे कितना भी बड़ा दुराचारी रहा हो, अन्तमें तो वह मेरा भक्त हुआ; इसलिये वही सर्वोत्तम है। किसी महाजलप्रवाहमें कोई कूद पड़ा और लोगोंने समझा कि यह तो डूब मरा; पर जीकर जब वहाँसे अपने घर-गाँवको लौट आया तब सबका यह निश्चय कि वह डूब गया, व्यर्थ ही तो हुआ। उसी प्रकार दुराचारका परित्याग कर जिसने अपना सारा जीवन भगवद्भक्तिमें लगा दिया उसके सब पाप उस भक्तिसे नष्ट हो गये, अनुताप-तीर्थमें स्नान कर वह मेरे स्वरूपमें आ मिला। पिछला कोई भी दोष फिर उसमें नहीं रहता। यही नहीं, जिस कुलमें उसका जन्म हुआ रहता है वही कुल पवित्र समझो, उसीसे उस कुलकी कुलीनता जानो। मनुष्यजन्मका फल, सच पूछो तो, उसीको मिला; सब शास्त्रोंको उसीने तो जाना, सब तप उसीने तो किये। उसके अन्तःकरणमें मेरी ही आस्था है, मेरा ही प्रेम है। वह सब कर्मोंसे उत्तीर्ण हुआ, इसमें सन्देह ही क्या है। कारण, उसने मन, बुद्धि, चित्त, शरीरके सब व्यापार मत्स्वरूपनिष्ठाकी मञ्जूषामें रखकर मुझे अर्पण कर दिये।'

(ज्ञानेश्वरी अ० ९। ४०८–४२४)

भगवान् अपने ऐसे अनन्य भक्तको कितना प्यार करते हैं, यह आगे बतलाते हैं—

'अनन्यचित्तसे जो मेरा अनुचिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उनकी सेवा मैं ही करता हूँ। कारण, उनका चित्त जब सब तरफसे बटुर कर मेरी भक्तिमें लगा तब उसी क्षण उनका सारा भार मुझपर आ पड़ा। अतः उन्हें जो-जो कुछ करना होता है, वह सब मुझे ही करना पड़ता है। जिन शिशु-पक्षियोंके अभी पंख नहीं निकले हैं उन्हें खिलाने-पिलानेका उपाय जैसे उनकी माँको करना पड़ता है अथवा भूख-प्यासका लगना भी जो बच्चे नहीं जानते उनकी सारी चिन्ता उनकी माताको ही करनी पड़ती है, उसी प्रकार समस्त जीवन-प्राणसे जो भक्त मेरी भक्तिमें लग जाते हैं उनका सारा भार मैं वहन करता हूँ। उनकी सब इच्छाएँ, सब भावनाएँ मैं पूर्ण करता हूँ। देहाभिमान है तो संसार-साधन ही, पर वे इसे मुझ श्रीहरिकी उपासनामें लगाते हैं। संसारके सारे अनात्मपदार्थोंका लोभ त्यागकर वे मत्स्वरूपके लोभी होते हैं। उनमें वैषयिक काम नहीं होता, उनमें मेरी प्रीति होती है। वे संसारको मानो चीन्हते-पहचानते ही नहीं। वे शास्त्रोंको पढ़ते-सुनते हैं मेरे लिये, मन्त्रपाठ करते हैं मेरे लिये। अपने शरीरकी सब चेष्टाओंद्वारा वे मेरा ही भजन करते हैं।'

(ज्ञानेश्वरी अ० ९। ३३७–३४३)

भक्तिके उपाय और प्रकारके विषयमें आगे कहते हैं—

'भक्तोंका अपना आपा मुझे अर्पण कर देना ही मेरी प्राप्तिका एकमात्र उपाय है, इस बातको हे अर्जुन! तुम ध्यानमें रक्खो। अन्य किसी उपायसे मत्स्वरूपलाभ नहीं हो सकता। वेदोंसे अधिक ज्ञानसम्पन्न भला, कौन हो सकता है? सहस्रजिह्व शेषसे अधिक बोलनेकी शक्ति भला किसमें है? पर उस शेषको मेरा बिछावन होकर रहना पड़ा और वेदोंको 'नेति-नेति' कहकर लौट जाना पड़ा। सनकादि मेरे पीछे पागल हो रहे। योगीश्वर श्रीशङ्करको अपने तपोबलसे शान्ति नहीं मिली और उन्होंने मत्पादोद्भवा गङ्गाको अपने मस्तकपर धारण किया। तात्पर्य, जो मत्स्वरूपको प्राप्त होना

चाहते हों, वे धन-मानादिकी बड़ाई छोड़ दें, व्युत्पत्ति-ज्ञान भुला दें, देहाभिमान त्याग दें, संसारमें सर्वत्र विनम्र होकर रहें; तो ही मुझे पा सकते हैं। मैं भक्तकी केवल निर्मल भक्तिका ही आदर करता हूँ। मैं जाति-पाँति नहीं देखता; जो मुझे भजता है, वह चाहे किसी जातिका हो—मैं उसके घर सदा मेहमान बना रहता हूँ। किसी निमित्तसे जिसका चित्त मुझमें लग जाता है, उसे मत्स्वरूपलाभ होता ही है। यह वस्तुस्वभाव है। स्पर्शमणिको कोई क्रोधवश फोड़ डालनेके लिये उसपर लोहेका हथौड़ा चलावे तो स्पर्श होनेके साथ ही वह लोहा सोना हो जायगा। गोपियाँ काम-बुद्धिसे ही मेरे पास आयी थीं, पर प्राप्त हो गयीं मेरे स्वरूपको। भयसे कंस और द्वेषसे शिशुपालादि मच्चित्त होकर मद्रूप हो गये। माता-पिता-बन्धु-बान्धव-सम्बन्धसे वसुदेव-देवकी और यादव मद्रूप हुए। किसीका भी चित्त किसी प्रकार मेरे स्वरूपमें लग जाय, उसे अवश्य मेरी प्राप्ति होगी।'

(ज्ञानेश्वरी अ० ९। ३६२–४७४)

फिर द्वादशाध्यायकी टीकामें श्रीज्ञानेश्वर महाराज भगवान्‌के भक्तप्रेमका वर्णन करते हैं। भगवान् कहते हैं—

'हे अर्जुन! मैं अपने प्रेमी भक्तोंके पीछे कितना पागल हो जाता हूँ, कहाँतक बतलाऊँ! मैं उन्हें अपने सिरपर लेकर नाचता हूँ।' अर्जुन पूछता है, 'वह कौन-सा भक्त है, जिसे आप सिरपर लेकर नाचते हैं?' भगवान् इसका उत्तर देते हैं, 'मुक्ति नामकी जो चौथी पुरुषार्थसिद्धि है, उसे अपने हाथमें रखके भक्तिमार्गपर चलनेवाले भोले-भाले भाविकोंको जो बाँटता फिरता है, कैवल्यमोक्षका मानो जो स्वामी है, चाहे जिसे उसका दान करता या अपने ही पास रख छोड़ता है—इतने बड़े ऐश्वर्यका स्वामी होकर भी जो सदा जलके समान नम्र, निरभिमान बना रहता है, उसे मैं प्रणाम करता हूँ, उसे मुकुट बनाकर अपने मस्तकपर रखता हूँ, उसके चरणतल निरन्तर अपने हृदयमें धारे रहता हूँ, उस भक्तके गुण मेरे अलङ्कार बनते हैं और मैं उनसे अलङ्कृत होता हूँ। अपने कानोंसे मैं उसकी कीर्ति सुना करता हूँ। अर्जुन! मेरा जो अरूप स्वरूप है, उसमें चक्षुरादि इन्द्रिय कहाँ? पर अपने भक्तको आँखें भरकर देखनेके लिये मैं आँखें बना लेता हूँ। मेरे हाथमें जो कमल है उसे मैंने अपने सूँघनेके लिये नहीं, बल्कि जहाँ कहीं मेरा भक्त मिले, उसे तुरत चढ़ानेके लिये रक्खा है। मैंने दो और दो—चार हाथ जो अपने बना लिये हैं वे भी चारों हाथोंसे भक्तको आलिङ्गन करनेके लिये हैं। भक्तसङ्गके परम सुखके लिये ही विदेह होकर भी मुझे देह धारण करनी पड़ती है। अधिक क्या बतलाऊँ? भक्तसे मेरा जो स्नेह है, उसकी कोई उपमा नहीं है। और तो क्या, मेरे भक्तोंके चरित्रोंको जो श्रवण करते और उनके गुणोंको बखानते हैं, वे भी मेरे प्राणाधिक प्रिय होते हैं।'

इस प्रकार ज्ञानेश्वर महाराजने कितने ही स्थानोंमें भक्तिकी महिमाका बड़ा ही मनोहर वर्णन करके सगुणभक्तिकी अत्यन्त सरस श्रेष्ठता दरसायी है, इसीको मुख्य साधन बताया है। भाग्यबलसे जिसे यह भक्ति-साधन प्राप्त हो गया, उसके लिये मोक्ष क्या दूर है?

भगवान्‌का विरह

दरिया हरि किरपा करी, बिरहा दिया पठाय।
यह बिरहा मेरे साधको, सोता लिया जगाय॥
बिरह बियापी देहमें, किया निरंतर बास।
ताला बेली जीवमें, सिसके साँस उसाँस॥
दरिया बिरही साधका तन पीला मन सूख।
रैन न आवै नींदड़ी, दिवस न लागै भूख॥
बिरहिन पिउके कारने, ढूँढ़न बनखँड जाय।
निसि बीती पिउ ना मिला, दरद रहा लपटाय॥

—दरिया साहेब

अभ्युदय और निःश्रेयसके साधन

(लेखक—श्रीनारायण स्वामीजी)

अभ्युदय लोकोन्नति और निःश्रेयस परलोकोन्नति अथवा मोक्ष या ईश्वर-प्राप्तिको कहते हैं। लोकोन्नति परलोकोन्नतिका साधन हुआ करती है। इसलिये लोककी उपेक्षा न करके उसे इस प्रकार काममें लाना चाहिये कि वह परलोककी उन्नतिका साधन बन जाय। इस सम्बन्धमें वेदमें एक जगह कहा गया है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥
(यजुर्वेद ४०। १४)

अर्थात् 'विद्या (ज्ञान) और अविद्या (ज्ञानेतर—कर्म) दोनोंको जो साथ-साथ काममें लाता है, अर्थात् न ज्ञानकी उपेक्षा करता है और न कर्मकी, वह कर्मके द्वारा मृत्युको पार करके ज्ञानके द्वारा अमरताको प्राप्त करता है।' यहाँ वेदने असन्दिग्ध शब्दोंमें बतला दिया है कि मनुष्यका धर्म ज्ञान उपलब्ध करके उसके अनुकूल कर्म करना है। वेदने इस ज्ञान और कर्मका उद्देश्य मृत्युके सबसे बड़े बन्धनको पार करना बतलाया है। छोटे-छोटे बन्धनोंको पार करता हुआ ही मनुष्य बड़े बन्धनको पार किया करता है। इसलिये लोककी उन्नतिके लिये मनुष्य ज्ञान और कर्मको इस प्रकार यहाँ काममें लावे जिससे लोकके छोटे-मोटे बन्धन बराबर शिथिल होते रहें। ऐसा होनेपर ही लोकोन्नति परलोकोन्नतिका साधन बना करती है और मनुष्य इन छोटे-मोटे बन्धनोंको दूर करते हुए इस योग्य हो जाता है कि बड़े-से-बड़े मौतके बन्धनको भी दूर कर सके। और ऐसा हो जानेपर वह अपने परलोकको भी उन्नत कर लिया करता है। यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिये कि मोक्ष अथवा ईश्वर-प्राप्ति मनुष्यको दो बातें प्राप्त कराया करती है—(१) मौतके बन्धनसे छुटकारा (२) आनन्द। इनमेंसे पहली बात निर्गुण और दूसरी बात सगुणोपासनाका फल हुआ करती है। जब मनुष्य ईश्वरके निर्गुणताप्रदर्शक गुणोंका चिन्तन करता है कि ईश्वर अजर है, अमर है, अभय है—इत्यादि, तो इससे उसके भीतर भी निर्गुणता आती है और वह भी निमित्तसे ही क्यों न हो, अजर, अमर और अभय हो जाया करता है। और जब वह ईश्वरकी सगुणताका चिन्तन करता है कि ईश्वर सच्चिदानन्द है, न्यायकारी है, दयालु है—इत्यादि, तो उसके भीतर नैमित्तिक रीतिहीसे क्यों न हो, सच्चिदानन्द आदि गुणोंका संयोग-सम्बन्धवत् समावेश हो जाया करता है। और इस प्रकार मनुष्यको मोक्षके दोनों पहलू प्राप्त हो जाते हैं। यह तो जीवनोद्देश्यका स्थूल ढाँचा हुआ। यह ढाँचा किन साधनोंसे बना करता है, उसपर थोड़ा विचार करना चाहिये।

साधन

योगदर्शनमें वर्णित 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' की शिक्षाके अनुसार मनुष्यको ईश्वरके गुणवाचक नामोंका जप करके अपने भीतर उनमेंसे अनेकका समावेश करना चाहिये, जिससे वह कम-से-कम इतना शक्तिसम्पन्न अवश्य हो जाय कि अपने अंदरसे अहङ्कारको निकाल सके। अहङ्कारकी उत्पत्तिसे जगत्में व्यष्टित्वका समावेश होता है, मनुष्यके भीतर भी अहङ्कारकी कुछ मात्रा आ जानेसे मेरे और तेरेपनका भाव (ममता) पैदा हो जाता है। ईश्वर प्रकारकी दृष्टिसे परिच्छिन्न नहीं अपितु विभु है। इस ममताकी उत्पत्तिका फल यह होता है कि ज्यों-ज्यों यह बढ़ती है, मनुष्य ईश्वरसे दूर होता जाता है। जगत् बेशक अहङ्कारसे उत्पन्न होता और अहङ्कारसे ही उसकी स्थिति भी बनी रहती है। परन्तु जब मनुष्य ईश्वरकी ओर चलनेका इरादा करता है तो उसके लिये आवश्यक हो जाता है कि अहङ्कारसे अपना पीछा छुड़ावे। अहङ्कारसे पीछा छुड़ानेका तरीका अपनेको भुला देनेमें निहित है। अपनेको किस प्रकार भुलावे? इसके लिये प्रेम और भक्तिका आश्रय लेनेकी जरूरत है। जब मनुष्य ईश्वरको अपने प्रियतमके रूपमें देखकर उसके प्रेम और उत्कृष्ट प्रेमकी चरम सीमामें अपनेको पहुँचा देता है तब वह प्रभुप्रेममें इतना लीन हो जाता है कि उसे अपनी सुध-बुध भी नहीं रह जाती। इस दरजेपर पहुँच जानेपर अहङ्कार, ममता या मेरे-तेरेपनके भाव उसे व्यथित नहीं कर सकते। इसी अवस्थाके लिये कवियोंने लिखा है—

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाय।
प्रेम गली अति साँकरी, तामें दो न समाय॥

अथवा—

बेखुदी छा जाय ऐसी, दिलसे मिट जावे खुदी।
उनके मिलनेका तरीका अपने खो जानेमें है॥

इस अवस्थापर पहुँच जानेपर यह नहीं हो सकता कि उपासक अथवा प्रेमीकी सत्ता न रहती हो; वह रहती अवश्य है, परन्तु प्रियतममें लवलीन हो जानेसे उसे हर जगह वही दिखायी देने लगता है—'जिधर देखता हूँ, उधर तू-ही-तू है।' न उसे अपनी सुध रहती है न दूसरोंकी। योगदर्शनकी परिभाषामें इसीको चित्तकी वृत्तियोंका निरोध कहा जाता है। तात्पर्य इसका यह है कि चित्तकी वृत्तियाँ बहिर्मुखी हैं और बाहर सारी माया अहङ्कारकी ही हुआ करती है, इसलिये उन वृत्तियोंके निरुद्ध हो जानेका फल यह हुआ कि चित्तका सम्बन्ध अहङ्कारसे बाकी न रहा। इस सम्बन्धके बाकी न रहनेसे आत्माका सम्बन्ध भी चित्तसे टूट-सा जाता है और इस सम्बन्धके टूट जानेसे आत्मा अपने भीतर काम करने लगता है और यही अवस्था है जिसमें आत्म-साक्षात्कार और परमात्म-साक्षात्कार हुआ करता है। यही अवस्था है, जिसे स्वाद चखनेकी अवस्थासे उपमा दिया करते हैं। यहाँ जो स्वाद आता है, उसे कोई ज़बानसे कह नहीं सकता। उपनिषदोंने इसीके लिये कहा है—

'न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥'

तत्त्वंपदार्थ-शोधन

(लेखक—स्वामी श्रीप्रेमपुरीजी महाराज)

साधनेषु समस्तेषु तत्त्वम्पदार्थशोधनम्।
श्रुत्या प्रोक्तं प्रमुख्यं वै स्मृत्या युक्त्यावधार्यताम्॥

साधन-राज्यमें तत्त्वंपदार्थ-शोधनको प्रमुख स्थान प्राप्त है, यह श्रुतिकी सूक्ति है। परिशोधित 'तत्' पदार्थ तथा 'त्वं' पदार्थके अभेदनिश्चयके लिये श्रुति, स्मृति तथा तदनुकूल युक्तिकी शरण लेनी चाहिये।

समस्त साधन एवं तत्प्रतिपादक शास्त्रका सार है जीव-ब्रह्मकी एकरूपता। यही साधकका चरम लक्ष्य है, साध्य-सिद्धि है। जीवात्मा और परमात्माकी एकताके बोधक वैदिक वाक्य 'महावाक्य' नामसे व्यवहृत होते हैं। इनमें 'तत्त्वमसि' विशेष प्रसिद्ध और प्रचलित है। गुरु शिष्यको उपदेश देते हैं, 'तत्त्वमसि' तू वही (परब्रह्म) है। अनन्तर श्रुति, स्मृति और युक्तिद्वारा मनन करनेपर श्रोताके अन्तःकरणमें 'अहं ब्रह्मास्मि', मैं (वही) परब्रह्म हूँ—इस प्रकार ब्रह्मापरोक्षानुभवका उदय होता है। इसीलिये 'तत्त्वमसि' को उपदेश-महावाक्य एवं 'अहं ब्रह्मास्मि' को अनुभवात्मक महावाक्य कहा जाता है।

महावाक्यसे जीव-ब्रह्मकी एकताका अखण्डार्थ-बोध होनेके लिये उसके पदार्थज्ञानकी अपेक्षा है। पदार्थज्ञानके अनन्तर वाक्यार्थज्ञान होता है। 'तत्त्वमसि' महावाक्यके तत्, त्वम्, असि—ये तीन पद हैं। 'तत्' पदका अर्थ है सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, आनन्दमय परमात्मा। 'त्वं' पदका अर्थ है अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, दुःखमय जीवात्मा। 'असि' पद दोनोंकी एकताका सूचक है। परन्तु आनन्दमयत्वादिविशिष्ट 'तत्' पदार्थकी और दुःखमयत्वादिविशिष्ट 'त्वं' पदार्थकी एकता अत्यन्त विरुद्ध है। अतः इनके शोधनद्वारा एकताका समन्वय करना है।

पद (शब्द) में अपने अर्थका बोध करानेकी जो सामर्थ्य है, उसे वृत्ति कहते हैं। वह शक्तिवृत्ति, व्यञ्जनावृत्ति तथा लक्षणावृत्ति-भेदसे तीन प्रकार की है। वृत्तिभेदसे अर्थभेद भी होता है। शक्तिसे प्रतीत होनेवाले अर्थको शक्य, व्यञ्जनासे व्यङ्ग्य और लक्षणासे प्रतीत होनेवालेको लक्ष्य कहते हैं।

शब्दके स्वाभाविक अर्थका भान जिस सामर्थ्यसे होता है, उसे शक्ति और उसके द्वारा प्रतीत हुए अर्थको शक्यार्थ कहते हैं। उदाहरण—'भक्ता भजन्ति भगवन्तम्', भक्त भगवान्‌का भजन करते हैं।

शब्दसे स्वाभाविक अर्थके सर्वथा विपरीत अर्थकी प्रतीति होती हो तो उस विपरीत अर्थकी प्रत्यायक सामर्थ्यको व्यञ्जना तथा उस विपरीत अर्थको व्यङ्ग्यार्थ कहा है। किसी-किसी मतमें इसका लक्षणामें अन्तर्भाव करके दो ही वृत्तियाँ मानी गयी हैं। उदाहरण—'विषं भुङ्क्ष्व', जहर खा लो। कोई सरल व्यक्ति शत्रुके बहकावेमें भूलकर उसका दिया

१. निरहङ्कारता। २. अहङ्कार।

भोजन खानेको तैयार है। अन्य जानकार सज्जन उसे सावधान करते हैं कि 'विषं भुङ्क्ष्व' अर्थात् शत्रुके हाथका उत्तम-से-उत्तम भोजन पानेकी अपेक्षा विष खाना कहीं अच्छा है। यहाँ 'विषं भुङ्क्ष्व' के स्वाभाविक अर्थसे (शक्यार्थसे) सर्वथा विपरीत अर्थका भान कराना है कि शत्रुके हाथसे कुछ भी मत खाओ; अधिक स्पष्टताके निमित्त अन्य उदाहरण—एक मनुष्य दूसरेसे व्यङ्गरूपमें कह रहा है, आप बड़े महात्मा हैं! यहाँ 'महात्मा' पदके स्वाभाविक अर्थ 'महान् आत्मा' के सर्वथा विरुद्ध अर्थ 'आप वास्तवमें दुष्टात्मा हैं' की प्रतीति होती है।

कभी-कभी तात्पर्यविशेषसे प्रयुक्त पद अथवा पदसमुदाय-(वाक्य)-से सांकेतिक अर्थका भान होता है। उसकी प्रत्यायक सामर्थ्यको लक्षणा तथा उस अर्थको लक्ष्य कहते हैं। लक्षणाके तीन प्रकार हैं—'जहल्लक्षणा', 'अजहल्लक्षणा' और 'जहदजहल्लक्षणा।' इसके अर्थ (लक्ष्यार्थ) को भी तीन तरहका होना पड़ता है। विषय गहन होनेके कारण दुरूह है, सरल करनेका यथासाध्य प्रयत्न किया जायगा। अध्यात्मविषयमें, विशेषतः लक्षणाद्वारा 'तत्त्वमसि' महावाक्यके लक्ष्यार्थनिश्चयमें अनेक शङ्काओंको अवकाश हो सकता है। जिज्ञासुओंको अपने निकटके मर्मज्ञोंद्वारा समाधान करा लेना चाहिये।

जहाँ शब्दके स्वाभाविक (शक्य) अर्थका त्यागकर उसके विरुद्ध अर्थका ग्रहण किया जाय, वहाँ 'जहल्लक्षणा' मानी जाती है। उदाहरण—'गङ्गायां घोषः' गङ्गामें घोषियोंके घर (ग्वालोंका गाँव) हैं। यहाँ 'गङ्गा' शब्दका स्वाभाविक अर्थ है महाराज भगीरथके परिश्रमसे इस भारतभूमि पर उतरा हुआ दिव्य जल-प्रवाह। उसमें घोषका बसना असम्भव है; अतः वक्ताके संकेतानुसार 'गङ्गा' शब्दके स्वाभाविक अर्थका त्याग कर उसके विरुद्ध सांकेतिक अर्थ 'गङ्गातट'का ग्रहण किया जाता है। तटपर घोषका बसना सम्भव हो जाता है। 'गङ्गायाम्' कहनेका सांकेतिक तात्पर्य भी संघटित हो जाता है कि 'प्रवाहके एकदम समीप होनेके कारण जैसी पवित्रता, शीतलता आदि प्रवाह (गङ्गा) में है वैसी ही घोषमें भी है। यहाँ 'गङ्गा'पदके शक्यार्थ 'जल'के स्थानपर उससे विरुद्ध लक्ष्यार्थ 'स्थल'का ग्रहण है।

जहाँ शब्दके स्वाभाविक अर्थका त्याग न होता हो, किन्तु उसके साथ अन्य अधिक अर्थका ग्रहण करना पड़ता हो, वहाँ 'अजहल्लक्षणा' होती है। उदाहरण—'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्', कौओंसे दही बचाना। यहाँ 'काक' शब्दके स्वाभाविक अर्थ कौओंका त्याग न कर उसके साथ दधिकी हानि पहुँचानेवाले चूहे, कुत्ते आदि अन्य अधिक अर्थका भी ग्रहण करना पड़ता है; क्योंकि तमाम जीव-जन्तुओंसे दधिकी रक्षा अपेक्षित है, इसीमें सांकेतिक तात्पर्य है।

जहाँ शब्दार्थके विरुद्ध (विशेषण) भागका त्याग और अविरुद्ध (विशेष्य) भागका ग्रहण किया जाय, वहाँ 'जहदजहल्लक्षणा' होती है; इसे 'भागत्यागलक्षणा' भी कहते हैं। उदाहरण—'सोऽयं देवदत्तः', यह वही देवदत्त है। दस वर्ष पूर्व बदरीनारायणमें वस्त्राभूषणविभूषित, हृष्टपुष्ट, डाँडीपर सवार, यात्रामें खूब दान-पुण्य करनेवाले जिस देवदत्त नामक मनुष्यको देखा था, उसीको आज रामेश्वरमें फटे चिथड़ोंसे ढका, रोगी, पैर घिसते, भीख माँगते देखकर द्रष्टा बोल उठा—अरे, यह वही है। यहाँ 'यह' और 'वह'के साथ देवदत्तकी एकता दिखलायी गयी है। परन्तु वह तब सम्भव हो सकती है, जब कि 'यह' तथा 'वह' के परस्पर विरुद्ध विशेषणोंका त्याग एवं अविरुद्ध विशेष्यका ग्रहण किया जाय। यह काम 'भागत्यागलक्षणा'का है। 'यह'का निःकृष्टावस्थाभाग और 'वह'का उत्कृष्टावस्थाभाग निकाल दिया जाता है, तो एक अभिन्न देवदत्त व्यक्तिका बोध हो जाता है।

प्रकृत 'तत्त्वमसि' महावाक्यमें उपदिष्ट तत्त्वंपदार्थशोधनमें शक्तिवृत्तिसे काम नहीं चलता। 'तत्'पदके शक्यार्थ एवं 'त्वं'पदके शक्यार्थकी एकता अत्यन्त विरुद्ध है, यह बात पूर्वमें कही गयी है। उपदेशावसर होनेसे व्यञ्जनावृत्तिको स्थान ही नहीं है। शेष रह जाती है लक्षणा। इससे तत्त्वंपदार्थशोधन हो जाय तो अच्छी बात है।

प्रथमतः जहल्लक्षणा प्रस्तुत है; परन्तु वह अभीष्ट सिद्ध न कर सकेगी। उसमें स्वाभाविक अर्थका त्याग और विरुद्धका ग्रहण होता है, जैसा कि उदाहरणमें स्पष्ट हो चुका है। यहाँ 'तत्' पदके स्वाभाविक अर्थ सर्वज्ञ, सर्वशक्ति और आनन्दमयादिका त्याग कर उसके स्थानमें उससे विरुद्ध अल्पज्ञ, अल्पशक्ति एवं दुःखमयादिका ग्रहण किया जाय तो 'तत्त्वमसि'के अर्थ होंगे—हे शिष्य! तू अल्पज्ञ, अल्पशक्ति और निरा दुःखमय तत्पदार्थ है। ऐसा तो वह प्रथम भी मानता था, उपदेशने क्या अपूर्वता की? दूसरे यह भी सम्भव नहीं कि 'तत्' पदका अर्थ कोरा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति तथा दुःखमय हो।

दूसरी अजहल्लक्षणा भी उपयोगी न हो सकेगी। उसमें स्वाभाविक अर्थके साथ और अधिक अर्थका ग्रहण है। जहाँ स्वाभाविक अर्थमें ही अनिवार्य विरोध घुसा हुआ है, वहाँ और अधिक अर्थ ग्रहण करनेपर विरोध कम होना तो दूर रहा, प्रत्युत बढ़ ही जायगा। 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' में यदि कौओंसे ही दधिरक्षा न हो सकती हो, तो अन्य जीव-जन्तुओंसे कैसे हो सकेगी? जब कौओंका ही परिचय न हो सका, तो अन्य दध्युपघातक प्राणियोंका परिचय कैसे होगा! सुतरां दधिरक्षा खटाईमें पड़ जायगी। वैसे ही 'तत्त्वमसि' में तत्त्वंपदार्थका ही समन्वय नहीं हो सकता तो अन्य अधिक अर्थका किस प्रकार हो सकेगा? जहाँ तत्त्वंपदार्थके स्वाभाविक अर्थका ही स्वरूपपरिचय नहीं हो सकता, वहाँ अन्य अधिक अर्थकी खिचड़ी पकानेसे विशेष उलझन बढ़नेके अतिरिक्त और क्या हो सकेगा? अतएव तत्त्वंपदार्थका समन्वय असम्भव हो जायगा। इस प्रकार तत्त्वंपदार्थशोधनमें इस अजहल्लक्षणाका भी उपयोग नहीं है।

अब चलिये जहदजहल्लक्षणा (भागत्यागलक्षणा) की शरण। यह साध्य सिद्ध कर देगी। इसमें विरुद्ध भागका त्याग और अविरुद्ध भागका ग्रहण करना होता है। 'तत्'पदके स्वाभाविक अर्थ (शक्यार्थ) सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, आनन्दमय परमात्माके तथा 'त्वं'पदके शक्यार्थ अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, दुःखमय जीवात्माके परस्परविरुद्ध विशेषण भागोंको अलग कर दीजिये। परमात्मामेंसे परम भाव निकल गया, शुद्ध आत्मा रह गया। जीवात्मासे जीवभाव छूट गया, आत्मामात्र रह गया। 'असि'पदने दोनोंकी एकता बोधित कर दी। अब 'तत्त्वमसि' के अर्थ समन्वित (तत्त्वंपदार्थके शोधन) हो गये। गुरुने उपदेश किया 'तत्त्वमसि'—वत्स! तू वही है, तेरा आत्मचेतन ब्रह्मचेतन ही है। उपदेशानन्तर शिष्य मनन करता है, 'तत्'पदके अर्थ परमात्माके मायाकृत विशेषणोंको हटा-हटाकर निर्विशेष चेतनको परिशेष कर लेता है। जीवात्मामेंसे भी अविद्याकृत विशेषणोंको निकाल फेंकना जारी कर देता है, जीवभावकी पतङ्गड़का धावा बोल देता है, एक-एक करके समस्त उपाधियोंका खात्मा कर डालता है और अशेष अविद्याविरहित अपने आपको निःशेष मायाविवर्जित अखण्डैकरस निर्विशेष ब्रह्मचेतनानन्दसागरके निकट खड़ा पा लेता है। तब उसके अन्तस्तलमें गहरी-गहरी "अ···हं··· ब्र···स्मा···स्मि"—इस प्रकार अनुभवात्मकवृत्ति स्फुरित हो आती है। वह अधिक खड़ा नहीं रह सकता, विशेष विलम्ब नहीं सह सकता। दीप दीख गया, फिर पतंगा अलग रह जाय—यह नयी बात नहीं हो सकती। उसने अपनेको होम दिया। जलकी बूँद सागरमें बरस पड़ी, बूँदभाव खो गया, सागरभाव उद्वेलित हो उठा। जीवभाव झड़ गया, ब्रह्मभाव उमड़ आया। वह निरञ्जनमें रक्षित हो रहा। उसका तुच्छ 'अहम्' 'ब्रह्माहम्'में घुल-मिल गया, एकमेक हो गया। साधन सफल हुए, साधना पूरी हुई, सर्वत्र साध्य-ही-साध्य व्याप रहा। उसके आगे-पीछे, अगल-बगल, दायें-बायें, ऊपर-नीचे, अंदर-बाहर ब्रह्मानन्द ही भरा पड़ा है।

राम-राम कहो

राम कहो राम कहो, राम कहो बावरे।
अवसर न चूक भोंदू, पायो भलो दाँव रे॥
जिन तोको तन दीन्हो, ताको न भजन कीन्हो।
जनम सिरानो जात, लोहे कैसो ताव रे॥
रामजीको गाय गाय, रामजीको रिझाव रे।
रामजीके चरन कमल, चित्त माहिं लाव रे॥
कहत मलूकदास, छोड़ दे तैं झूठी आस।
आनँद मगन होइ के, हरि गुन गाव रे॥

—मलूकदासजी

भगवान्‌के सम्बन्धमें साधनोंका सामर्थ्य

(लेखक—'कविशिरोमणि' देवर्षि भट्ट श्रीमथुरानाथजी शास्त्री)

'घन बयार, मझधार मह नैया मँवर मझार ।
करुनाधार ! उबारिये निज कर कै पतवार ॥'

अपने प्राणप्रेष्ठके विरहमें व्याकुल हुई व्रजगोपिकाओंने भगवान्‌के खोजनेके लिये कोई कसर न की । अपनी जानमें यमुनातटका एक-एक स्थान छान डाला । सामने जो कोई मिला, उससे पूछा—यहाँतक कि पशु-पक्षी, लता-वृक्ष, जो कोई भी दिखायी दिया, उसीसे भगवान्‌का पता पूछा । उनके हृदयमें भगवान्‌का अप्रतिरोधनीय असामान्य अनुराग था । भगवान्‌की प्राप्तिके लिये वे घर-द्वार, सम्बन्धी-स्वजन, सब कुछ छोड़ चुकी थीं । यहाँतक कि लौकिक-पारलौकिक मर्यादाओंपर भी उनकी दृष्टि न थी । एकमात्र भगवान् ही उनकी प्राप्तिके लक्ष्य थे । उन्हीं प्राणप्रियतमका वियोग, और फिर वह भी ऐसे समयमें जब कि उनकी सब मनोवृत्तियाँ उत्तेजित होकर अपने प्रियतमके एकान्त अभिमुख हो रही थीं ! फिर भला, विकलता क्यों न हो ? विरहाग्निसे हृदय संतप्त हो रहा था । प्रेम और तज्जनित व्याकुलताका यह हाल था कि उनका एक-एक अवयव, रोम-रोम, भगवान्‌के दर्शनके लिये लालायित था । भला, गोपिकाओंके अनुरागकी कोई सीमा है ? उनकी प्रीतिकी तुलना किसी अन्यसे की ही नहीं जा सकती, प्रत्युत प्रीतिके विषयमें उन्हींकी उपमा सब जगह दी जाती है—'यथा व्रज-गोपिकानाम्' ।

भगवदनुरागके कारण उनकी भाग्यवत्ताको देवता भी सराहते हैं और चाहते हैं कि वृन्दावनमें वृक्ष, लता, गुल्म आदिमें ही हमारा जन्म हो जाय—जिससे कि आते-जाते समय गोपिकाओंकी चरण-रज तो हमारे मस्तकपर पड़ जाय[1] । वही असामान्य अनुरागिणी गोपिकाएँ भगवान्‌की प्राप्तिके लिये पूर्ण यत्न कर चुकीं, पर आप न मिले । प्रेम और विरहमें विह्वल होकर वे कभी भगवान्‌के चरित्रोंको गाती थीं तो कभी प्रलाप करती थीं । अन्तमें तो यह दशा हुई कि विरह-व्याकुलताके कारण रोने लगीं—'रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः' । परन्तु इसपर भी उनके उपाय और यत्नोंसे कुछ न हुआ । करुणावरुणालय भगवान्‌को ही जब उनकी हालतपर दया आयी, तब 'तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः'—उनकी प्रणय-परीक्षापर हँसते हुए भगवान् उनके ही मध्यमें प्रकट हुए ।

इस कथाकी सङ्गति कई तरहसे लगायी जाती है और सब जानते भी हैं; किन्तु क्या इस घटनासे यह अभिव्यञ्जित नहीं होता कि चाहे जितने अनुकूल और प्रबल साधन क्यों न हों, पर ऐसे शक्तिघनके सम्मुख जहाँ कि किसी उपायकी पहुँच नहीं वे साधन अपने स्वरूपसे तो कुछ फल नहीं दिखला सकते । जब वही (सब शक्तियोंका केन्द्र) उन साधनोंको स्वीकार करना चाहे, तभी कुछ फलसिद्धि हो सकती है । योगसिद्धिसे, देखते-देखते अलक्ष्य हुए योगीको हम चाहे जितना पकड़ना चाहें, खोजें, किन्तु नहीं पा सकते । वही जब अपनी इच्छासे हमारे सम्मुख आवे तभी वह हमें मिल सकता है । सर्वसिद्धान्तोंसे जिसका स्वरूप यह सिद्ध होता है कि—'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' अर्थात् जहाँ मन-वाणीकी पहुँच नहीं, वे भी उनतक न पहुँचकर जहाँसे निष्फल लौट आते हैं, वहाँ भला, फिर कौन-से साधन अपना बल दिखलायेंगे ? 'ईष्टे इति ईश्वरः' इस व्युत्पत्तिसे जब उनके सामर्थ्यको 'अन्यसामर्थ्यानभिभवनीय' अर्थात् अन्यशक्तिसे न दबने-वाला मानते हैं, तब वहाँ बेचारे साधन कर ही क्या सकते हैं ? और यदि साधनोंने अपना सामर्थ्य वहाँ जमा दिया तो फिर वह 'अन्यसामर्थ्यानभिभवनीय' भी कैसे कहलायेंगे ?

व्यवहारमें भी आप देखते हैं कि हम किसी हाकिमके सम्मुख अपने सब प्रमाण उपस्थित कर देते हैं । साक्षियोंके द्वारा तथा अन्यान्य उपायोंसे अपनी निर्दोषता भरसक अच्छी तरह सिद्ध कर देते हैं, तथापि निर्दोषताका फैसला देना तो उसके ही हाथमें मानते हैं । जब सामान्यसे अधिकारीका इतना सामर्थ्य माना जाता है, तब जो चतुर्दश भुवनोंका 'ईश्वर' प्रसिद्ध है, उसके सामर्थ्यकी क्या कोई सीमा हो सकती है ? आप जिस कामको आसान समझते हैं, थोड़े-से

१. 'आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥'

यत्नसे सिद्ध होनेवाला मानते हैं, वहींपर लाख यत्न होनेपर भी, बहुत कालतक दौड़-धूप करनेपर भी, कुछ फल नहीं होता। किन्तु जब कोई अदृष्ट शक्ति चाहती है, तभी आपको उसका फल मिलता है। ऐसी दशामें क्या आप अपने साधनोंपर भरोसा या गर्व कर सकते हैं? शास्त्र साफ-साफ बतलाते हैं कि—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'। जब साधनोंका स्वातन्त्र्येण फल ही नहीं, अपनी इच्छासे फल देनेवाला कोई स्वतन्त्र दूसरा है, तब उन साधनोंमें साधनत्व (साधनपन) ही कहाँ रह गया? 'साध्यते अनेन तत्साधनम्'—जिससे कोई काम सिद्ध किया जाय, हमारी क्रियासिद्धिमें जो हमारा असाधारण उपकार करे, वही तो 'साधन' कहलाता है। ईश्वरप्राप्तिके विषयमें जब एक-दो साधन क्या, साधनोंका काफिला-का-काफिला ही पीछे रह जाता है, तब फिर उनसे क्रियासिद्धिकी आशा कैसी?

तो क्या वेदादिमें बतलाये हुए भगवत्प्राप्तिके उपाय—यज्ञ, याग, जप, तप, व्रत, नियमादि—सब व्यर्थ हैं? ऐसी दशामें यज्ञादिको भगवत्प्रसादका 'साधन' बतलानेवाले वेदादि शास्त्रका भी अप्रामाण्य सिद्ध होगा। भक्तिमार्गमें कहा जाता है कि 'यज्ञ-यागादि कष्टसाध्य हैं। सब लोग इनके अधिकारी भी नहीं। किन्तु 'भक्ति' में सबका अधिकार है। कलियुगमें उसके ही द्वारा उद्धार हो सकता है, इत्यादि।' परन्तु जब साधनमात्र यहाँ विफल सिद्ध होते हैं, तब 'भक्ति' भी साधन कैसे हो सकती है? ठीक है। इसपर थोड़े सूक्ष्म विचारकी आवश्यकता है। श्रुति-वेदान्तादि वाक्योंसे सिद्ध होता है कि सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, सर्वसामर्थ्यशाली भगवान्‌ने अपनी लीलासे, रमणकी इच्छासे यह सृष्टि उत्पन्न की, प्रपञ्चकी रचना की। धर्मादिकी व्यवस्था करके व्यवहारोंका नियमन किया। जबतक आपकी रमणेच्छा रहे, तबतक यह प्रपञ्चप्रवाह बन्द न हो—इसलिये कर्मादिका सूत्र अनुस्यूत करके इस संसार-प्रवाहको ऐसा प्रचलित कर दिया कि इसके विरत होनेकी कोई सम्भावना नहीं। परन्तु इस संसारकी व्यवस्था दृढ़ नियमोंके बिना सुशृङ्खलासे नहीं चल सकती। इसीलिये सदसद्विवेचनापूर्वक लोकव्यवस्था करनेवाले शास्त्रादि निर्णीत किये। ये ही शास्त्र हमें भगवत्प्राप्तिके अभिमुख करते हैं। इनके उपदेशोंके अनुसार यदि हम आचरण करें तो अवश्य हमें भगवत्प्राप्ति होगी, इसमें सन्देह नहीं। अतएव वेदादि शास्त्र और उनके द्वारा बोधित यज्ञ-याग, जप-तप, अनुष्ठानादि सभी क्रिया-कलाप प्रामाणिक सिद्ध होते हैं। किन्तु विचार करनेकी बात है कि इन उपदेशक शास्त्रोंके मूलमें भी भगवान्‌की शक्ति और इच्छा अनुस्यूत है। उन्हींकी इच्छासे ये शास्त्र प्रवृत्त हुए हैं। अब आप ही देख लीजिये कि जब इन व्यवस्था करनेवालोंका भी व्यवस्थापक कोई दूसरा है, तब इनका स्वातन्त्र्येण सामर्थ्य कहाँ रहा?

यहाँ यह कहा जा सकता है कि जब शास्त्रोंके परिचालित नियमोंसे ही सब व्यवस्था चलती है और उसमें कुछ भी व्यत्यास नहीं होता, प्रत्युत शास्त्रोंके प्रवर्तक भगवान्‌की इच्छा और आज्ञा ही यह है कि वेदादि शास्त्रोंके अनुसार ही चला जाय तो ऐसी दशामें शास्त्रोंको ही स्वतन्त्र प्रमाण मानना उचित प्रतीत होता है। उनके मूलमें भी और प्रमाणान्तर माननेसे अनवस्था हो जायगी। और जब वेदादि स्वतन्त्र व्यवस्थापक सिद्ध हुए तो उनके द्वारा बोधित यज्ञ-यागादि भी भगवत्प्राप्तिके प्रति साधन अवश्य सिद्ध होंगे। ठीक है। 'अनवस्था हो जायगी' इस भयसे शास्त्रादिको स्वतन्त्र प्रमाण मान लेना ही कह रहा है कि इस विषयमें स्वतन्त्र व्यवस्थापक अथवा प्रमाण अन्य ही कोई है। जब किसीकी इच्छा अथवा आज्ञासे कोई शासन कर रहा है, तब शासनकालमात्रमें उसका स्वातन्त्र्य होनेपर भी स्वतन्त्र शक्तिशाली उसकी आज्ञा देनेवाला ही माना जायगा। वर्तमान कालमें भी कानूनके हाथमें ही शासनकी बागडोर रहनेपर भी क्या अन्तरात्मा यह नहीं जानता कि कानूनको बनानेवाली शक्तियाँ उससे भी प्रबल हैं, जो आवश्यकता पड़नेपर कभी-कभी अपनी स्वतन्त्रता (अन्यथा-कर्तुं समर्थता) का परिचय दे ही दिया करती हैं।

अच्छा। और-और साधनोंके विषयमें चाहे कुछ कहा जा सकता हो, किन्तु 'साधन-भक्ति' तो भगवान्‌की प्राप्तिके लिये अवश्य ही सफल 'साधन' सिद्ध होगी। क्योंकि भक्ति (अनुराग) में शक्ति ही ऐसी है कि जिसके द्वारा वह अपने आलम्बन (प्रेमी) को बलात् आकृष्ट कर लेती है। मैं समझता हूँ, विस्तार करनेकी आवश्यकता न होगी। बहुत-से दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं कि चित्रपर प्रेम-प्रदर्शन करनेमात्रसे बड़े-बड़े सम्राट्‌तक एक दीनकी कुटियामें स्वयं आ उपस्थित होते हैं। भक्तोंके अनुरागसे आकृष्ट हुए भगवान्‌ने ही अपने भक्तोंके लिये क्या-क्या कार्य नहीं किये? और कहाँ-कहाँ आपको नहीं पहुँचना पड़ा? व्रजभक्तोंकी कथाको तो जाने

दीजिये, वह तो असाधारण ही है कि जिनके क्षणमात्र दर्शनके लिये दिव्यदेशनिवासी मुनितक तरसा करते हैं, वही भगवान् जहाँ सेवककी तरह कार्य करते हैं—गोपोंकी 'पादुका' तक उठाते हैं (बिभर्त्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मानपादुकम्); किन्तु नरसी आदि भक्तोंके लिये ही भगवान्‌को कहाँ-कहाँ पहुँचना पड़ा है, यह कौन नहीं जानता ? आप स्वयं आज्ञा करते हैं—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयः ..... ॥

अर्थात् 'मैं भक्तोंके पराधीन हूँ । मुझे बिलकुल स्वतन्त्रता नहीं । स्वतन्त्रता तो तब हो, जब मैं पृथक् सत्ता रखता होऊँ । 'अहं तु साधुभिर्ग्रस्तहृदयः'—मेरे हृदयको तो साधु (भक्तोंने) ग्रास कर लिया है, सर्वथा ले रक्खा है ।' अनुरागमें स्वाभाविक शक्ति ही यह है कि प्रबल होनेपर वह दूसरेको अपनी तरफ बलात् खींच लेता है । उर्दूका एक शैर सुना है—

'इश्क सच्चा है तो बस, एक दिन इन्शा अल्ला ।
कच्चे धागे से खिंचे आप चले आयेंगे ॥'

ऐसी परिस्थितिमें भक्तिको तो भगवत्प्राप्तिके लिये 'साधन' मानना ही पड़ेगा ।

ठीक है । किन्तु इसपर थोड़े गम्भीर विचारकी आवश्यकता है । क्या एक ओरकी कियामात्रसे ही आकर्षण हो जाता है ? दूसरी तरफ़से यदि इसपर ध्यान ही न दिया गया तो फिर आकृष्ट होकर आना ही किसका होगा ? मार्मिक विचारसे आपको स्वयं प्रतीत हो जायगा कि भक्तोंके सच्चे अनुरागके कारण करुणावरुणालय भगवान्‌की दयाशक्ति भक्तोंके अभिमुख हो जाती है, जिससे भगवान्‌की उद्धार करनेकी इच्छा जाग्रत् होकर भक्तोंके अभीष्टकी सिद्धि हुआ करती है । भक्तिग्रन्थोंमें स्थान-स्थानपर यह कहा गया है, जैसा कि भक्त श्रीलक्ष्मीजीके प्रति विनय करता है—

अकरुणा करुणा ध्रुवमम्ब ते क्षितितले भवतीमवतार्य या ।
अहह यातु पुरः स्थिरवेदनामगमयज्जगदार्त्तिनिवृत्तये ॥

'हे जननी ! यह आपकी दया ही अत्यन्त निर्दया है, जो आपको इस भूमण्डलपर उतारकर जगत्‌की पीड़ा दूर करनेके लिये आपको भी राक्षसादिसे पीड़ा सहन कराती है ।' समस्त कल्याणगुणाश्रय भगवान्‌में यदि दया-गुण न होता तो भक्तोंके उद्धारका रास्ता ही कैसे खुलता ? 'अवाङ्मनसगोचर' (वाणी और मनकी भी जहाँ पहुँच नहीं) भगवान्‌तक हमारी पहुँच ही कहाँ थी ? जिन भगवान्‌को हमारे शास्त्र 'दिव्योपसृप्य' (उत्तमलोकनिवासी ही जिनके समीप पहुँच सकें, ऐसे) बताते हैं, प्रत्युत कहीं-कहीं दिव्य मुनि सनकादितक जिनके पास पहुँचनेसे रोक दिये जाते हैं, वहाँ क्या इन धराधामवासियोंकी गति हो सकती थी ? परन्तु लोकानुकम्पासे प्रेरित होकर भगवान् स्वयं अपना रूप आप प्रकट करते हैं । उसी प्राकट्यावस्थामें भगवान्‌के दर्शन-गुणश्रवण-चरितानुकीर्तनादिके द्वारा अनेकानेक भक्तोंका उद्धार हुआ है और होता है ।

अब आप ही स्वयं देख लीजिये, यदि भगवान् अपनी लीलासे अपना रूप स्वयं प्रकट करना नहीं चाहते तो 'अवाङ्मनसगोचर' उन भगवान्‌को हम अपने साधनोंसे कैसे पाते ? और बिना जाने, देखे-सुने उनका अनुकीर्तन भी क्या करते ? अतएव यह भगवान्‌की ही महिमा है कि वे दया करके लोगोंकी भक्तिको अङ्गीकार करते हैं ।

अब लौकिक प्रेमको भी देख लीजिये । जिससे हम प्रेम करते हैं वह हमारी कुछ बात ही न सुनता-समझता हो, अथवा हमारे प्रेमकी पुकार ही जहाँ नहीं पहुँच सकती हो तो भला 'खिंचे चले' आनेकी वहाँ क्या सूरत हो सकती है ? कच्चे धागेसे खिंचे चले आनेमें शाब्दिक चमत्कारकी तो बात दूसरी है, परन्तु इस सूक्तिमें प्रेमको परखनेवालेकी कदरदानी ही प्रधान प्रतीत हो रही है, अन्यथा कवि स्वयं अपने मुखसे स्वीकार कर रहा है कि इधर खींचनेके लिये तो 'कच्चा धागा' है । यदि दूसरी तरफ कुछ भी कदरदानी न हो तो कच्चा धागा तो फिर कच्चा ही ठहरे । इसीलिये भक्तिपथमें भगवान्‌के अनुग्रहपर ही निर्भर रहकर 'विनय' के अङ्गको ही प्रधानता दी गयी है । फिर प्रेमका तो मार्ग ही निराला है । वहाँ तो अपने प्रेमाधारके प्रेममें लीन हुआ प्रेमी अपने-आपको ही भूल जाता है, अपनी सत्ताको ही भुलाकर 'मैं हूँ' का अभिमान ही मिटा देता है । फिर भला, वहाँ अपने साधन-बलपर अभिमान करनेकी क्या कथा ? सुनिये, प्रेमी भक्तका अद्वैतवाद—

'जब 'मैं' है तब हरि नहीं, हरि हैं तब मैं नाहिं ।
प्रेम-गली अति साँकरी, तामें द्वै न समाहिं ॥'

न केवल भक्तिमार्गमें ही, कर्ममार्गमें भी तो यही देखा जाता है। विधिके अनुसार यज्ञ-यागादि क्रिया-कलाप करके भी बड़े-बड़े ऋषि-मुनितक भगवान्‌से यही प्रार्थना करते हैं कि 'हे भगवन्! यदि आपकी अनुकूल दृष्टि न हो तो हम अपने साधनोंसे कर ही क्या सकते हैं; और हमारे हज़ार यज्ञ करनेपर भी वह हमारी 'साधना' पूरी ही कैसे हो सकती है?' यदि साधनोंपर ही सब कुछ निर्भर रहता तो फिर इतने कमावड़े होनेकी क्या बात थी? किन्तु सभी 'पन्थों' का अन्त एक सिद्धान्तपर ही देखा जाता है कि चाहे तपस्या करिये, चाहे ज्ञानयोगका आश्रय लीजिये, चाहे मन्त्रोंपर निर्भर रहिये, चाहे यज्ञ-यागादि क्रियाकलाप कीजिये; जबतक उन कर्मोंपरसे स्वाभिमान हटाकर उन्हें भगवान्‌के समर्पण न करेंगे, तबतक अभीष्टसिद्धि नहीं हो सकती। चाहे उनके द्वारा उत्तम लोकादि प्राप्त करके कर्मफलक्षय होनेपर फिर इधर-उधर भटकनेका रास्ता खोल लीजिये; किन्तु 'क्षेम' (चैन) नहीं मिल सकता। परमहंसचूडामणि श्रीशुकदेव मुनि कहते हैं—

'तपस्विनो दानपरा यशस्विनो
मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः।
क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥'

इसीलिये तो भगवदाज्ञानुसार अपने-अपने वर्ण और आश्रमके अनुकूल सब कुछ क्रिया-कलाप करके भी फल-प्राप्तिके लिये साक्षात्-साधन अन्तमें भगवान्‌को ही मानना पड़ा है। देखिये, कर्मकाण्डपर ही साधनाका बल रखने-वाली वैदिकादि विधियोंमें भी सब साधनोंके साधन अन्तमें भगवान् ही बन जाते हैं। इसीलिये तो वहाँ प्रार्थना की जाती है—

'मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्दन।
यत्कृतं तु मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे॥'

अन्यथा यह तो स्पष्ट ही असङ्गति है कि साधन-बलपर साधना आरम्भ होती है और साधनोंके बल-संहारपर उसका उपसंहार होता है।

शिष्टोंका व्यवहार भी प्रमाणरूपमें देख लीजिये कि आजतकके सभी ज्ञानी-ध्यानी भक्त सम्पूर्ण साधनसम्पन्न होनेपर भी उनपर अभिमान या भरोसा नहीं लाते। वे तो सदा अपनेको निःसाधन और दीन-हीन समझकर भगवान्‌को ही अपना सब कुछ साधन मानते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं—

'बेद न पुरान गान, जानौं न बिग्यान ग्यान,
ध्यान, धारना, समाधि, साधनप्रबीनता।
नाहिन बिराग, जोग, जाग, भाग 'तुलसी' कें
दया-दीन-दूबरो हौं, पाप ही की पीनता॥
लोभ-मोह-काम-कोह-दोष-कोष मोसो कौन?
कलिहूँ जो सीख लई मेरियै मलीनता।
एक ही भरोसो राम रावरो कहावत हौं,
रावरे दयालु दीनबंधु, मेरी दीनता॥'

हाँ, अभिमान नहीं करते सो नहीं। करते हैं और खूब बढ़कर करते हैं कि सब पुण्यवानोंसे बढ़कर मैं हूँ। किन्तु उसका तर्ज़ देखिये—

'जोग न बिराग जप जाग तप त्याग ब्रत,
तीरथ न धर्म जानौं बेद-बिधि किमि है।
'तुलसी' सो पोच न भयो है, नहि ह्वैहै कहँ,
सोचैं सब याके अघ कैसें प्रभु छमिहैं॥
मेरो तो न डर रघुबीर! सुनौ, साँची कहौं—
खल अनखैहैं तुम्हैं, सज्जन न गमिहैं।
भलें सुकृतीके संग मोहि तुलाँ तौलिये तौ,
नाम के प्रसाद भार मेरी ओर नमिहै॥'

दयानिधानकी दयापर ही सब 'साधनों' का सामर्थ्य निर्भर मानकर उसका ही अवलम्बन अबतकके व्यवहारमें प्रचलित है। इन पङ्क्तियोंके इस तुच्छ लेखककी भी 'करुणा कितै गई' इस समस्याकी पूर्ति इसी विषयपर है—

'उदधि अथाह बीच ग्राह सों सतायो जब,
दीन गजराज पै असीम करुना भई।
गीध गुहराज गनिका हू पै करी ही दया,
अधम अजामिलहूँ अगम गती लई॥
दुर्मद दुसासनने दुसह दुखाई जब,
दुपदसुता यों तब टेरी दीनताभई।
मेरी बेर एती देर कैसें कै करी है कान्ह!
करुनानिधान! तेरी करुना कितै गई॥'

निबन्धका सार यही है कि भक्तिमार्गका वास्तविक रहस्य सुगम नहीं। इसमें अनेक भेद और अनेक तत्त्व विचारणीय हैं, किन्तु 'भगवान् ही साध्य हैं और भगवान् ही साधन हैं' यह सिद्धान्त बड़ा उच्च और गम्भीर है। इसे प्रत्येक विचारशील मार्मिक मानेगा, इसमें सन्देह नहीं।

'न हि मुक्तिं मुक्तिं न खलु यदुनायक याचामि।
भक्तिं तव पदसरसिजे देहि शरणमुपयामि॥'

मधुर रसकी साधना

(लेखक—पं० श्रीद्विजारीप्रसादजी द्विवेदी)

'मधुर' नामक भक्ति-रसके विचारका उत्थापन करते समय श्रीरूप गोस्वामीने भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थमें लिखा है कि 'आत्मोचित विभावादिद्वारा मधुरा रति जब सदाशय व्यक्तियोंके हृदयमें पुष्ट होती है, तब उसे मधुर नामक भक्तिरस कहते हैं। यह रस उन लोगोंके किसी कामका नहीं जो निवृत्त हों (अर्थात्, जैसा कि जीव गोस्वामीने इस शब्दका अर्थ किया है, प्राकृत शृंगार-रसके साथ इसकी समानता देखकर इस भागवत-रससे भी विरक्त हो गये हों); फिर यह रस दुरूह और रहस्यमय भी है; इसलिये यद्यपि यह बहुत विशाल और वितताङ्ग है, तथापि संक्षेपमें ही लिख रहा हूँ।'

'आत्मोचितविभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि ।
मधुराख्यो भवेद् भक्तिरसोऽसौ मधुरा रतिः ॥
निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरूहत्वादयं रसः ।
रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य वितताङ्गोऽपि लिख्यते ॥'

गोस्वामिपादके इस कथनके बाद दुनियादारीके झंझटोंमें फँसे हुए किसी भी मादृश व्यक्तिका इस रसके सम्बन्धमें लिखनेका सङ्कल्प ही दुःसाहस है। फिर भी यह दुःसाहस किया जा रहा है। क्योंकि पहले तो गोस्वामिपादने यद्यपि बड़े कौशलपूर्वक इसकी दुरूहताकी ओर ध्यान आकृष्ट कर दिया है, परन्तु कहीं भी ऐसा सङ्केत नहीं किया कि इस रसकी चर्चा निषिद्ध है; दूसरे, भक्तिशास्त्रकारोंकी और अनुरक्त भक्तजनोंकी चर्चा करते रहनेसे, ऐसा विधान है कि पहले श्रद्धा, फिर रति और फिर भक्ति अनुक्रमित होती है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥

(श्रीमद्भा० ३ । २५।२५)

तीसरे, गोस्वामिपादने इसे उन लोगोंके लिये अनुपयोगी बताया है जो निवृत्त हों अर्थात् इस रसके साथ शृङ्गारका साम्य देखकर ही विदक गये हों—उन लोगोंके लिये नहीं जो शृङ्गार-रसके साथ इसका साम्य देखकर ही इधर आकृष्ट हुए हों। शास्त्रोंमें और इतिहासमें ऐसे अनेक भक्त प्रसिद्ध हो गये हैं, जो ग़लतीसे ही इस रास्तेमें आ पड़े थे और फिर जीवनका चरम लाभ पा लेनेमें समर्थ हुए थे। कहते हैं, रसखान और घनानन्द इसी प्रकार इस रास्ते आ गये थे, सूरदास और बिल्वमङ्गल ग़लतीसे ही इधर आ पड़े थे और बादमें वे क्या हो गये—यह जगद्विदित प्रसङ्ग है।

इन पङ्क्तियोंके लेखकके समान ही ऐसे बहुत-से लोग होंगे जो साहित्य-चर्चाके प्रसङ्गमें दिन-रात रत्यादिक स्थायी भावों तथा विभाव-अनुभाव-सञ्चारीभाव और सात्त्विक भावोंकी चर्चा करते रहते होंगे या कर चुके होंगे। उन लोगोंको यह जान रखना चाहिये कि भक्तिमें केवल एक ही स्थायी भाव है—श्रीकृष्णविषयक रति या लगन। अवश्य ही, भक्तोंके स्वभावके अनुसार यह लगन पाँच प्रकारकी हो सकती है—शान्त स्वभावकी, दास्य-स्वभावकी, सख्य-स्वभावकी, वात्सल्य-स्वभावकी और मधुर स्वभावकी। इन पाँचों स्वभावोंके अनुसार रति भी पाँच प्रकारकी होती है—शान्ता, प्रीता, प्रेयसी, अनुकम्पा और कान्ता। जहाँतक जड जगत्का विषय है, इनमें शान्ता रति सबसे श्रेष्ठ है और फिर बाकी चार क्रमशः नीचे पड़ती हुई अन्तिम रति कान्ताविषयक होकर शृङ्गार नाम ग्रहण करती है। जडविषयक होनेपर यह सबसे निकृष्ट होती है। परन्तु जड़ जगत् है क्या चीज़? नन्ददासने ठीक ही कहा है कि यह भगवान्की छाया है, जो मायाके दर्पणमें प्रतिफलित हुई है—

या जगकी परछाँह री माया दरपन बीच ।

अब अगर दर्पणकी परछाँहकी जाँच की जाय तो स्पष्ट ही मालूम होगा कि इसमें छाया उलटी पड़ती है। जो चीज ऊपर होती है, वह नीचे पड़ जाती है और जो नीचे होती है, वह ऊपर दीखती है। ठीक यही अवस्था रतिकी हुई है। जड जगत्में जो सबसे नीचे है, वह भगवद्विषयक होनेपर सबसे ऊपर हो जाती है। यही कारण है कि शृङ्गार-रस, जो जड जगत्में सबसे निकृष्ट है, वस्तुतः भगवद्विषयक मधुर रसकी छाया है, जो सबसे उत्कृष्ट है। वस्तुतः भगवद्विषयक शृङ्गार ही मधुर रस है, यद्यपि भक्तिशास्त्रकी मर्यादाके अनुसार इसे शृङ्गार नहीं कहा जा सकता। केवल व्रज-सुन्दरियोंके लिये शृङ्गार और मधुर एक रस हैं; क्योंकि उनके

लिये काम और प्रेममें भेद नहीं है। भक्तिरसामृतसिन्धुमें कहा गया है कि गोपरमणियोंका प्रेम ही काम कहा गया है—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।

कारण स्पष्ट है—जडविषयक अनुरागको 'काम' कहते हैं और भगवद्विषयक अनुरागको 'प्रेम'। व्रजसुन्दरियोंकी सारी कामनाके विषय 'असमानोर्ध्वसौन्दर्यलीलावैदग्ध्यसम्पदाम्' आश्रयस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण थे और इसीलिये उनके काम-को जडविषयक कहा ही नहीं जा सकता। गीतगोविन्दमें कहा गया है कि 'हे सखि, जो अनुरञ्जनके द्वारा समस्त विश्वका आनन्द उत्पादन करते हैं, जो इन्दीवर-श्रेणीके समान कोमल श्यामल अङ्गोंसे अनङ्गोत्सवका विस्तार कर रहे हैं तथा व्रज-सुन्दरियोंद्वारा स्वच्छन्द भावसे जिनका प्रत्येक अङ्ग आलिङ्गित हो रहा है, वही भगवान् मूर्तिमान् शृङ्गारकी भाँति मुग्ध होकर वसन्त-ऋतुमें विहार कर रहे हैं—

विश्वेषामनुरञ्जनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर-
श्रेणीश्यामलकोमलैरुपनयन्नङ्गैरनङ्गोत्सवम्।
स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यङ्गमालिङ्गितः
शृङ्गारः सखि मूर्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीडति॥

सो यही भगवान्, जो साक्षात् शृङ्गारस्वरूप हैं, मधुर रसके प्रधान अवलम्बन हैं। इनकी प्रेयसियाँ वे परम अद्भुत किशोरियाँ हैं, जो नव-नव उत्कृष्ट माधुरीकी आधारस्वरूपा हैं, जिनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग भगवान्‌के प्रणय-तरङ्गसे करम्बित हैं और जो रमणरूपसे भगवान्‌का भजन करती हैं—

नवनवरमाधुरीधुरीणाः
प्रणयतरङ्गकरम्बिताङ्गरङ्गाः।
निजरमणतया हरिं भजन्तीः
प्रणमत ताः परमाद्भुताः किशोरीः॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

इन व्रजसुन्दरियोंमें भी सर्वश्रेष्ठ राधारानी हैं, जिनके लोचन मदमत्त चकोरीके लोचनोंकी चारुताका हरण करनेवाले हैं, जिनके परमाह्लादन वदनमण्डलने पूर्णिमाके चन्द्रकी कमनीय कीर्तिका भी दमन किया है, अविकल कलधौत (स्वर्ण) के समान जिनकी अङ्ग-श्री सुशोभित है, जो मधुरिमाकी साक्षात् मधुपात्री हैं—

मदचकुटचकोरीचारुताचोरदृष्टि-
र्वदनदमितराकारोहिणीकान्तकीर्तिः।
अविकलकलधौतोद्भूतिधौरेयकश्री-
र्मधुरिममधुपात्री राजते पश्य राधा॥

जडादिविषयक शृङ्गारादि रसके साथ इस अनिर्वचनीय मधुर रसका एक और मौलिक अन्तर है। अलङ्कारशास्त्रोंमें विवृत शृङ्गारादि रस केवल जडोन्मुख ही नहीं होते, उनके भावकी स्थिति भी जडमें ही होती है। अलङ्कारशास्त्रमें बताया गया है कि शृङ्गारादि रसोंके रत्यादि स्थायीभाव संस्काररूपसे मनमें स्थित होते हैं। यह संस्कार या वासना पूर्वजन्मोपार्जित भी होती है और इस जन्मकी अनुभूति भी हो सकती है। अब आत्मा तो निर्लेप है, उसके साथ पूर्वजन्म-के संस्कार तो आ ही नहीं सकते; फिर स्थायी भावके संस्कार आते कैसे हैं? इसका उत्तर शास्त्रोंमें इस प्रकार दिया गया है कि आत्माके साथ सूक्ष्म या लिङ्गशरीर भी एक शरीरसे दूसरेमें संक्रमित होता है। इस सूक्ष्मशरीरमें ही पाप-पुण्य आदिके संस्कार रहते हैं। बृहदारण्यक-उपनिषद्‌में कहा गया है कि यह आत्मा विज्ञान, मन, श्रोत्र, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, तेजस्, काम, अकाम, क्रोध, अक्रोध, धर्म और अधर्म इत्यादि सब लेकर निर्गत होता है। यह जैसा करता है, वैसा ही भोगता है—

स वायमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्च-क्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाश-मयस्तेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदंमयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। (बृहदारण्यक० ४। ४। ५)

सांख्यकारिकामें करीब-करीब इन सभी बातोंको लिङ्ग-शरीर कहा गया है। बताया गया है कि प्रकृतिके तेईस तत्त्वोंमेंसे अन्तिम पाँच तो अत्यन्त स्थूल हैं, पर बाकी अठारहों तत्त्व मृत्युके समय पुरुषके साथ-ही-साथ निकल जाते हैं। जबतक पुरुष ज्ञान प्राप्त किये बिना मरता है, तबतक ये तत्त्व उसके साथ लगे होते हैं (सां० का० ४०)। अब यह तो स्पष्ट ही है—प्रथम तेरह अर्थात् बुद्धि, अहङ्कार, मन और दसों इन्द्रिय प्रकृतिके गुणमात्र, अतः सूक्ष्म हैं; उनकी स्थितिके लिये किसी स्थूल आधारकी जरूरत होगी।

पञ्चतन्मात्र इसी स्थूल आधारका काम करते हैं। उपनिषदोंमें इसी बातको और तरहसे कहा गया है। आत्माका सबसे ऊपरी आवरण तो यह स्थूलदेह है। इसे उपनिषदोंमें अन्नमय कोष कहा गया है। दूसरे आवरण क्रमशः अधिक सूक्ष्म हैं; उनमें प्राणमय, ज्ञानमय और आनन्दमय कोष हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि स्थूलशरीरकी अपेक्षा प्राण सूक्ष्म हैं, उनकी अपेक्षा मन, उसकी अपेक्षा बुद्धि और इन सबसे अधिक सूक्ष्म आत्मा है। भगवान्‌ने गीतामें इसी बातको इस प्रकार कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

वेदान्तशास्त्रमें कई प्रकारसे यह बात बतायी गयी है। कहीं इसके सत्रह अवयव बताये गये हैं—पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि, मन और पाँच प्राण (वेदान्तसार १३); फिर आठ पुरियोंका उल्लेख है (सुरेश्वराचार्यका पञ्चीकरण-वार्तिक)—जिनमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त, पाँच प्राण, पाँच भूतसूक्ष्म (तन्मात्र) अविद्या, काम और कर्म हैं। ऐसे ही और भी कई विधान हैं। इनका शास्त्रकारोंने समन्वय भी किया है (वेदान्तसार १३ पर विद्वन्मनोरञ्जनी टीका)। यहाँ प्रकृत यह है कि स्थायी भावोंके संस्कार इसी लिङ्गशरीरमें हो सकते हैं। वह चूँकि जड है, इस लिये उसकी प्रवृत्ति जडोन्मुख होती है। अलङ्कारशास्त्रोंमें यह बार-बार समझाया गया है कि रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य। क्योंकि कार्य होता तो विभावादिके नष्ट होनेपर नष्ट नहीं हो जाता, कारणके नष्ट होनेसे कार्यका नष्ट होना नहीं देखा जाता—स च न कार्यः, विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात् (काव्यप्रकाश ४र्थ उल्लास)। परन्तु मधुर रस आत्माका धर्म है, यह स्थूल जड जगत्‌की वस्तु नहीं है। उसके विभावादिका कभी विलय नहीं होता, इसलिये उसके लिये सम्भवासम्भव-प्रसङ्ग उठता ही नहीं।

रस कई प्रकारके हैं। सबसे स्थूल है अन्नमय कोषका आस्वाद्य रस। रसनादि इन्द्रियोंसे उपभोग्य रस अत्यन्त स्थूल और विकारप्रवण है। इससे भी अधिक सूक्ष्म है मानसिक रस अर्थात् जो रस मनन या चिन्तनसे आस्वाद्य है। उससे भी अधिक सूक्ष्म है विज्ञानमय रस, जो बुद्धिद्वारा आस्वाद्य है; पर यह भी जितना भी सूक्ष्म क्यों न हो, सूक्ष्मतम आनन्दमय रसके निकट अत्यन्त स्थूल है। आत्मा जिस रसका अनुभव करता है, वही सर्वश्रेष्ठ भक्ति-रस है, जिसका नाना स्वभावोंके भक्त नाना भावसे आस्वादन करते हैं। मधुर रस उसीका सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है। स्पष्ट ही है कि इसकी ठीक-ठीक धारणा इन्द्रियोंसे तो हो ही नहीं सकती, मन और बुद्धिसे भी नहीं हो सकती। वह न तो चिन्तनका विषय है न बोधका। वह अलौकिक है। इसीलिये भक्तिशास्त्रने इसके अधिकारी होनेके लिये बहुत ही कठोर साधनाका उपदेश किया है। रूप गोस्वामीने इसीलिये इसे दुरूह कहा है। श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—तृणसे भी सुनीच होकर, वृक्षकी अपेक्षा भी सहनशील बनकर, मान त्यागकर, दूसरेको सम्मान देकर ही हरिकी सेवा की जा सकती है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन सेवितव्यः सदा हरिः॥

इन्द्रिय, मन और बुद्धिका सम्पूर्ण निग्रह और वशीकरण जबतक न हो जाय, तबतक इस सुकुमार भक्तिक्षेत्रमें आनेका अधिकार नहीं मिलता। लोक-परलोकके विविध भोगोंकी और मोक्षसुखकी कामना जबतक सर्वथा नहीं मिट जाती, तबतक इस मधुर प्रेमराज्यकी सीमाके अंदर प्रवेश ही नहीं हो सकता। इसीसे यह सिद्धान्त बतलाया गया है—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

जबतक भोग और मोक्षकी पिशाचिनी इच्छा हृदयमें वर्तमान है, तबतक प्रेम-सुखका उदय कैसे हो सकता है?

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—असत् शास्त्रोंमें आसक्ति, जीविकोपार्जन, तर्कवादपक्षाश्रयण, शिष्यानुबन्ध, बहुग्रन्थाभ्यास, व्याख्योपयोग, महान् आरम्भ—ये सब भक्ति चाहनेवालेके लिये वर्जित हैं—

नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम्।
वादवादांस्त्यजेत्तर्कान् पक्षं कं च न संश्रयेत्॥
न शिष्यानुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद्बहून्।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् क्वचित्॥

(श्रीमद्भा० ७। १३। ६-७)

इन बातोंके लिये शास्त्रकारोंने बहुत-से उपाय बताये हैं, जो न तो इस क्षुद्र प्रबन्धमें बताये ही जा सकते हैं और न

अनधिकारी लेखनीके साध्य ही हैं। इसीलिये इस चर्चाको और आगे नहीं बढ़ाया गया। जब सारा अभिमान और अहङ्कार दूर हो जायगा, ज्ञान और पाण्डित्य शान्त हो रहेंगे, तब वह परमाराध्य जिसकी नर्त्यमान भ्रूलताके कारण मुखश्री अत्यन्त मधुर हो उठी है, जिसका कर्णाग्रभाग अशोक-कलिकासे विभूषित है, ऐसा कोई नवीन निकष-प्रस्तरके समान वेशवाला किशोर वंशीरवसे मन और बुद्धिको बेवस कर डालेगा—

भ्रूचञ्चिताग्रद्वयकलामधुराननश्रीः
कर्णेलिकोरककरम्बितकर्णपूरः।
कोऽयं नवीननिकषोपलतुल्यवेषो
वंशीरवेण सखि मामवशीकरोति॥

प्रेम-साधन

(लेखक— म० प्रेमप्रकाशजी)

भगवत्प्राप्तिके अनेक साधनोंमें प्रेम-साधन एक मुख्य साधन समझा जाता है। ईश्वरके प्रति परमानुराग ही प्रेम है। कितने ही संतों और ऋषियोंने प्रेमको ही साधन और साध्य माना है। देवर्षि नारदने 'स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमाराः' (ना० भ० सू० ३०) कहकर सनत्कुमारादिके मतानुसार प्रेमको स्वयं फलरूप बताया है। वह प्रेम कर्म, ज्ञान और योगसे भी श्रेष्ठतर है 'सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा' (ना० भा० सू० २५)।

प्रेमकी प्राप्ति विशेषकर महापुरुषोंकी कृपा अथवा भगवत्कृपाके लेशमात्रसे होती है—'मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा।' प्रेमका रूप वास्तवमें तो अनिर्वचनीय है, परन्तु उसके लक्षणोंका अनुभव शान्ति और आनन्दसे हो सकता है। प्रायः अनन्यप्रेमी भक्तोंको भगवान्‌के नामोंको सुनते ही कण्ठावरोध, रोमाञ्च और अश्रुपात होने लगता है। कीर्तनसे भी वह प्रेम शीघ्र प्रकट होता है—'स कीर्त्यमानः शीघ्रमेवाविर्भवति, अनुभावयति च भक्तान्।' परमहंस रामकृष्ण कहा करते थे—'कलियुगमें नारदीय भक्ति सार है। ईश्वरका नाम-गुण-गान करने और व्याकुल चित्तसे प्रार्थना करनेपर परमात्माकी प्राप्ति होती है।'

'गोपी या राधा-प्रेमकी एक भी बूँद किसीमें हो तो उसका क्या कहना है! उसका अनुराग केवल सोलह आने नहीं, बल्कि बीस आने है। इसीका नाम प्रेमोन्माद है। यदि पागल होना है तो संसारकी वस्तुके लिये क्यों पागल हो? यदि पागल होना है तो ईश्वरके लिये हो।' (श्रीश्रीरामकृष्ण-कथामृत १। १०। ४)

समस्त प्रेमोंमें गोपी-प्रेम अथवा श्रीराधा-प्रेम सर्वोत्तम समझा जाता है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य—इन पाँच प्रकारके प्रेमोंमें माधुर्य रस ही सर्वोत्तम है और यह माधुर्य-प्रेम श्रीवृषभानुसुता श्रीराधाजीमें ही पूर्णरूपसे मिलता है। श्रीराधाजी ही माधुर्यरसाधिष्ठात्री महादेवी हैं। इन्हींकी कृपासे माधुर्य प्रेम प्राप्त हो सकता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्षसे भी बढ़कर प्रेम है। प्रेम पञ्चम पुरुषार्थ है। भगवान्‌को वशमें करनेका एकमात्र उपाय प्रेम ही है। भगवान् श्रीकृष्ण प्रेमी भक्तोंके अधीन हैं। 'अहं भक्तपराधीनः' कहकर भगवान्‌ने दुर्वासा ऋषिको प्रेमी भक्त अम्बरीषके पास लौटा दिया था। जिस प्रेममें किसी प्रकारकी वासना नहीं रहती, साधक केवल अपने प्रियतमके सुखमें ही सुखी रहता है तथा अपना कुछ भी अहङ्कार नहीं रखता, वही प्रेम माधुर्य-रसका है और उसे ही पूर्ण प्रेम कहा जाता है। उस स्थितिमें साधक और साध्य दोनों एकरूप हो जाते हैं। प्रेमी, प्रेम अथवा प्रियतममें कुछ भेद नहीं रह जाता (तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्)। गोस्वामी तुलसीदासजी श्रीरामचरितमानसमें उसी सहज प्रेमका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

श्रीसीतारामका निरन्तर वास उसी प्रेमी भक्तके हृदयमें रहता है, जिसे कोई आशा नहीं रहती और जो प्रेमके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहता। वही प्रेमी भक्त सहज सनेहका पात्र हो सकता है।

अगर कोई नाता भगवान् राम मानते हैं तो वह एक प्रेमभक्तिका ही सम्बन्ध है। भगवान् रामने भक्तिमती शबरीसे कहा है—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥
(रा० मा०)

श्रीरामको केवल प्रेम ही अच्छा लगता है—

रामहि केवल प्रेम पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥
(अयोध्या० रा० मा०)

वह प्रेम बिना अनुरागसे प्राप्त नहीं होता अथवा श्रीरघुनाथजी बिना अनुरागके कभी नहीं मिलते—चाहे जितना ही साधक योग, जप, ज्ञान, विरागका अभ्यास करे—

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग जप ग्यान बिरागा॥

एक प्रेमके कारण ही एक परमात्मा नानारूपमें स्वयं व्यक्त हो गया है। अकेले रमण नहीं किया जा सकता, इसलिये परमात्मा या भगवान् या ब्रह्म स्वयं अपने भक्तोंमें ही मिल सकता है।

एकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्। (श्रुति)

रस अथवा प्रेम ही आनन्द है। यह सिद्धान्त अनुभव करके प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। भगवती श्रुति भी यही कहती है—

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।

परमात्मा सर्वव्यापक रहते हुए भी उसका अनुभव प्रेमसे ही किया जा सकता है। भगवान् शंकर कहते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥
(रा० मा०)

जगद्विख्यात संत कबीर साहब अपना विचार इस प्रकार प्रकट करते हैं—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई अक्षर 'प्रेम' का पढ़ै, सो पंडित होय॥

पूर्ण प्रेममें विधि-निषेध नहीं रहता, वह परम स्वतन्त्र है। प्रेमी लोक-संग्रहके लिये नियम और प्रेम दोनों पालन कर सकता है, परन्तु उसके लिये निजी कोई कर्तव्य नहीं रहता।

नेमु प्रेमु संकर कर देखा। अबिचल हृदयँ भगति कै रेखा॥
(रा० मा०)

प्रेमी भक्तके अधीन ज्ञान और विज्ञान हैं। श्रीरामचरितमानसमें स्पष्ट कहा गया है—

सो स्वतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥

एक अमेरिकन देवी मिसेज एलेन जी. ह्वाइट (Mrs. Ellen G. White) ने लिखा है कि प्रेम ही ईश्वर है और प्रेम ही जीवनी शक्ति है—(God is Love and Love is Life.)

सबसे सीधा मार्ग भगवत्प्राप्तिका यदि कोई है तो वह प्रेममार्ग ही है। श्रीउद्धवजीको गोपिकाओंने इस प्रकार कहा था—

'कौन ब्रह्म को जोति ग्यान कासों कहो ऊधो।
हमरे सुंदर स्याम प्रेमको मारग सूधो॥'
'ऊधो जोग जोग हम नाहीं।
जेहि लगि जोगी भरमत भूले, सो तो है अपु माहीं।'
—इत्यादि।

ऐसे विचारोंको सुनकर उद्धवका ज्ञानका अहंकार नष्ट हो गया और उन्होंने यह समझ पाया कि ज्ञानके परे एक पूर्ण प्रेमकी अनिर्वचनीय दशा भी है।

प्रेमी भक्तको किसी साधनाकी आवश्यकता नहीं रहती। वह तो स्वयं सिद्धोंका सिद्ध रहता है और वर देनेवालोंको वर देनेवाला होता है।

महाराज जनक श्रीभरतजीके प्रेमभावसे मुग्ध होकर कहते हैं—

साधन सिद्धि राम-पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥
(रा० मा०)

'श्रीरामजीके पदोंका नेह ही साधन और सिद्धि है'—यही श्रीभरतजीका सिद्धान्त है।

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥
(रा० मा०)

श्रीकबीर साहबने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि राम-सनेही सदा अमर है—

'सून्य मरै, अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय।
राम सनेही ना मरै, कह कबीर समुझाय॥'

(बीजक कबीरदास—विश्वनाथ-टीका)

भगवान्‌ने प्रेमी भक्त देवर्षि नारदसे कहा है कि मैं सदा प्रेमी भक्तोंके मध्यमें ही मिलता हूँ—

**नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥**

'वैकुण्ठमें चाहे मैं न रहूँ, अथवा योगियोंके हृदयमें भी मेरा पता न लगे; पर जहाँ मेरे प्रेमी भक्त मेरे गुणोंका गान करते हैं, वहाँ तो मैं अवश्य रहता ही हूँ।'

श्रीकृष्णभक्ति—प्रेमा-भक्ति, पूर्ण भक्ति अथवा श्रीराधा-कृष्ण-प्रेम या पराभक्ति तो हजारों जन्मोंतक तपस्या, ध्यान, समाधिके निरन्तर अभ्यासके बाद प्राप्त होती है—

**'जन्मान्तरसहस्रेण तपोध्यानसमाधिभिः।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥**

अबिरल भक्ति बिसुद्ध तव, श्रुति पुरान जेहि गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि, प्रभु प्रताप कोउ पाव॥

(रा० मा०)

प्रेमाभक्तिका मिलना भगवान् श्रीकृष्ण या भगवान् श्रीराम अथवा भगवान् श्रीशिवकी कृपापर ही निर्भर है।

'भक्तिनिष्ठा तदा ज्ञेया यदा कृष्णः प्रसीदति।'

श्रीउत्पलाचार्यजी भक्ति-प्रेमके सम्बन्धमें इस प्रकार लिखते हैं—

**भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्।
पृथया वा दरिद्राणां किमन्यदपयाचितम्॥**

(नारद)

अर्थात् 'परमात्माकी प्रेमाभक्तिरूपी लक्ष्मीसे समृद्ध लोगोंको क्या चाहिये? कुछ नहीं। परमेश्वरकी दासता सम्पत्तिकी पराकाष्ठा है और इस सम्पत्तिसे रहित हतभाग्य पुरुषोंको और छोड़ना क्या है? इस सम्पत्तिके न होनेरूप दारिद्र्यसे पिण्ड छुड़ाना ही सबसे बड़ा कर्तव्य और पुरुषार्थ है।'

प्रेमी संत और सत्य भगवान्‌में कुछ भी अन्तर नहीं है। प्रेमी संत भगवान् ही हैं—

'संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं
किमपि मतिमलिन कह दास तुलसी।'

(विनयपत्रिका)

'क्रन्दनयोग' से भी भगवान्‌का अनन्य प्रेम प्राप्त हो सकता है। परम विरहासक्तिका भाव इस छन्दसे प्रकट होता है—

'चित्त रत होत प्रानप्यारेमें निरत है कै,
होत मल सोधक बिघात सारे छनमें।
रोमहर्ष खीझ झुँझलाहट हृदय धौंति,
मेरु दंड स्पंदन प्रकंप होत तनमें॥
लीन है समाधिमें बिसरि अपनापौ जात,
या सों बड़ो और कौन जोग सोचौ मनमें।
राज हठ मक्ति तीनों जोग सधि जात ऊधौ,
एक मनमोहन बियोगके रुदनमें॥

प्रेमी भक्तके भगवान् अधीन हैं और ज्ञानसे अगम्य हैं—

'ज्ञानेर अगम्य तुमि, प्रेम ते भिखारी,
द्वारे द्वारे माग प्रेम नयने ते वारी।'

(जयदेवके साधन-तीर्थ केन्दुबिल्वमें बाउल-गान)

अर्थात् 'तुम ज्ञानके अगम्य हो पर प्रेमके भिखारी हो। तुम सजल-नयन होके प्रेम-भीख माँगते फिरते हो।'

'रागमार्ग क्यों मधुर है' यह समझानेके लिये कृष्णदासने कहा है—

'राग-मार्गे भजे येन छाड़ि धर्म-कर्म,
अतएव मधुर रस कहि तार नाम।'

अर्थात् 'भक्त धर्म-कर्म छोड़कर रागमार्गसे भजन करता है। अतएव इस रसका नाम मधुर है।'

जिसके लिये प्रेम स्वाभाविक हो जाता है, वह छिपाये भी नहीं छिपता—

प्रेम छिपाये ना छिपै, जा घट परगट होय।
जद्यपि मुख बोलै नहीं, नैन देत हैं रोय॥

(कबीर)

वह प्रेम स्वयं ही स्वामी है—

सब घट मेरा साहयाँ, सूना घट नहिं कोय।
बलिहारी वा घट की, जा घट परगट होय॥

(कबीर)

'प्रकाशते क्वापि पात्रे' (ना० भ० सू०)—परन्तु वह प्रेम किसी विरले पात्रमें ही प्रकट होता है। भगवान्‌के नामके प्रेमको ही भगवान् कहते हैं और हरि-स्मरण ही हरि-मिलन है। उस परमात्माकी कोई खास प्रतिमा नहीं है। उसके नामका बड़ा यश है—

'न तस्य प्रतिमास्ति यस्य नाम महद्यशः।'
(यजुः ३२। ३)

पूर्ण प्रेमके प्राप्त हो जानेपर सन्ध्यादि साधन-कर्म छूट जाते हैं। श्रीजीव गोस्वामीने कहा है—

हृदाकाशे चिदानन्दं मुदाभाति निरन्तरम्।
उदयास्तं न पश्यामः कथं सन्ध्यामुपास्महे॥
सद्भक्तिदुहिता जाता माया भार्या मृताधुना।
अशौचत्रयमाप्नोति कथं सन्ध्यामुपास्महे॥

प्रेमका रसास्वादन गूँगेके गुड़की तरह है। 'मूकास्वादनवत्'—देवर्षि नारद कहते हैं। यह अनिर्वचनीय है—'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।' गुरु नानकके ग्रन्थसाहबमें एक दोहा इस प्रकार आया है—

हरि सम जलमें वस्तु नहिं, प्रेम पंथ सम पंथ।
सद्गुरु सम सज्जन नहीं, गीता सम नहिं ग्रंथ॥

प्रेमी भक्त और प्रेमपूर्ण भगवान् दोनों अनन्त और अभेद हैं।

भगवान् कृष्ण अपने प्रेमी भक्तका योगक्षेमका भार स्वयं अपने ऊपर ले लेते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(गीता ९। २२)

प्रेमी भक्तको नित्य शान्ति रहती है और उसका कभी नाश नहीं होता—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९। ३१)

प्रेमी भक्तमें भगवान् श्रीकृष्ण रहते हैं और भक्त भगवान् श्रीकृष्णमें रहता है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(गीता ९। २९)

अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिन राती॥

इस प्रकारके भावकी प्रेमभिक्षा भगवान् और उनके प्रेमी भक्त देनेकी कृपा करें तो तुरंत अचल शान्ति और आनन्द प्राप्त हो जाय।

नामका प्रकाश

दीपक बारा नाम का महल भया उजियार॥
महल भया उजियार नाम का तेज बिराजा।
सब्द किया परकास मानसर ऊपर छाजा॥
दसो दिसा भई सुद्ध बुद्ध भई निर्मल साची।
छुटी कुमति की गाँठ सुमति परगट होय नाची॥
होत छतीसों राग दाग तिर्गुन का छूटा।
पूरन प्रगटे भाग करम का कलसा फूटा॥
पलटू अँधियारी मिटी बाती दीन्ही टार।
दीपक बारा नाम का महल भया उजियार॥

—पलटू

संस्कार-साधना

(लेखक—डा० श्रीराजबलीजी पाण्डेय, एम्० ए०, डि० लिट्)

भारतीय शास्त्रकारोंने जीवनका एक ध्येय निश्चित किया था और उसतक पहुँचनेके लिये अनेक साधनोंका आविष्कार। संस्कार भी एक इसी प्रकारका साधन है। उन्होंने जीवनकी सामग्रियोंको दो भागोंमें बाँटा है। एक तो वह जिसको लेकर मनुष्य उत्पन्न होता है; दूसरी वह जिसका सञ्चय वह अपने वर्तमान जीवनमें परिस्थितियोंके अनुकूल करता है। शास्त्रकारोंका मत है कि नवजात शिशुका मस्तिष्क कोरी पट्टीके समान नहीं है, जिसपर बिल्कुल नया लेख लिखना है; इसके विरुद्ध इसपर उसके अनेक पूर्वजन्मोंके संस्कार अङ्कित हैं। साथ-ही-साथ उनका यह भी विश्वास है कि नवीन संस्कारोंद्वारा पुराने संस्कारोंको प्रभावित, उनमें परिवर्तन, परिवर्धन और उनका उन्मूलन भी किया जा सकता है। प्रतिकूल संस्कारोंका विनाश और अनुकूल संस्कारोंका निर्माण ही साधकका प्रयास है।

संस्कार क्या है? इसको केवल बाहरी धार्मिक आडम्बर समझना भूल है। इसमें बाहरी कृत्य अवश्य हैं, किन्तु ये आन्तरिक आध्यात्मिक सौन्दर्यके बाह्य दृष्टरूप हैं और इसीमें संस्कारकी महत्ता है। आध्यात्मिक जीवनसे विच्छेद होनेपर ये मृत अस्थिपञ्जरके समान हैं, जिसमें गति और जीवन नहीं है। 'संस्कार' शब्दका प्रयोग कई अर्थोंमें किया गया है। कौषीतकि[1], छान्दोग्य[2] और बृहदारण्यकादि[3] उपनिषदोंने इसका प्रयोग (संस्करोति) उन्नति करनेके अर्थमें किया है। महर्षि पाणिनिने इस शब्दका प्रयोग तीन विभिन्न अर्थोंमें किया है—(१) उत्कर्ष करनेवाला (उत्कर्षसाधनं संस्कारः), (२) समवाय अथवा संघात और (३) आभूषण। ब्राह्मण और सूत्र-ग्रन्थोंने 'संस्कार' शब्दका व्यवहार यज्ञकी सामग्रियोंको पवित्र करनेके अर्थमें किया है। बौद्ध त्रिपिटकोंमें निर्माण, आभूषण, समवाय, प्रकृति, कर्म और स्कन्धके अर्थमें इस शब्दका प्रयोग पाया जाता है। बौद्धदर्शनने संस्कारको भवचक्रकी बारह शृङ्खलाओंमेंसे एक माना है। हिन्दूदर्शनोंमें इसका प्रयोग कुछ भिन्न अर्थमें हुआ है। यहाँ संस्कारका अर्थ भोग्य पदार्थोंकी अनुभूतिकी छाप है। हमारे अव्यक्त मनपर जितने अनुभवोंकी छाप है, अनुकूल अवसर पानेपर उन सबका पुनरावर्तन होता है। इस अर्थमें संस्कार 'वासना' का पर्यायवाची है। अद्वैतवेदान्तमें आत्माके ऊपर मिथ्या अध्यासके रूपमें संस्कारका प्रयोग हुआ है। वैशेषिकोंने चौबीस गुणोंमेंसे इसको एक माना है। संस्कृत-साहित्यमें बड़े व्यापक अर्थमें 'संस्कार' शब्द व्यवहृत हुआ है—शिक्षण[2], चमक, सजावट, आभूषण[3], छाप, आकार, साँचा, क्रिया, प्रभाव-स्मृति[4], पावक कर्म, विचार, धारणा, पुण्यादि[5]। धर्मशास्त्रियोंने मानवजीवनको पवित्र और उत्कृष्ट बनानेवाले समय-समयपर होनेवाले, षोडश धार्मिक कृत्योंको संस्कार माना है। प्रायः इसी अर्थमें 'संस्कार' शब्दका प्रयोग किया गया है। संस्कारमें अनेक प्रकारके भावों और अर्थोंका समावेश है। इसीलिये किन्हीं विद्वानोंने इसको एक विचित्र अनिर्वचनीय पुण्य उत्पन्न करनेवाला धार्मिक कृत्य कहा है[6]।

धर्मशास्त्रियोंने जीवनका ध्येय आध्यात्मिक निश्चित किया है; किन्तु उनकी यह भी धारणा है कि शरीर धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका साधन है। इसलिये वे आत्माके पुजारी होते हुए भी शरीरकी अवहेलना नहीं करते। इसके विपरीत वे शरीरको आत्माके अवतरण और प्रकाशके लिये योग्य माध्यम बनाना चाहते हैं। इनका मार्ग घोर भौतिकवादियों और एकान्त निवृत्तिमार्गियोंके बीचका है। भौतिकवादी शरीरको ही मानवजीवनका सर्वस्व समझते हैं।

१—२.६

२—४.१४.२, ३, ४

३—६.३.१

४—६.१.१३७

१. अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरा-मरण।

२. निसर्गसंस्कारविनीत इत्यसौ नृपेण चक्रे युवराजशब्दभाक्। (रघुवंश ३। ३५)

३. स्वभावसुन्दरं वस्तु न संस्कारमपेक्षते। (शकुन्तला ७।२३)

४. संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। (तर्कसंग्रह)

५. फलानुमेयाः प्रारम्भाः संस्काराः प्राक्तना इव। (रघुवंश ५।२०)

६. आत्मशरीरान्यतरनिष्ठो विहितक्रियाजन्योऽतिशयविशेषः संस्कारः। (वीरमित्रोदय, संस्कारप्रकाश, भाग १, पृष्ठ ११२)

प्राणायामकी महिमा सभी जानते हैं। शारीरिक स्वास्थ्यकी वृद्धि, पाप-वासनाओंकी निवृत्ति और चञ्चलताको दूर करनेके लिये यह अद्भुत उपाय है। जिसका प्राण वशमें है, उसका मन और वीर्य भी वशमें है। यह प्राणायाम समन्त्रक होनेके कारण और भी लाभप्रद है और इसमें जो ध्यान हैं, वे तो मानो सोनेमें सुगन्ध हैं।

अघमर्षण और भूतशुद्धि एक ही वस्तु हैं। 'भूतशुद्धि' शीर्षक लेख देखना चाहिये। सन्ध्यामें अघमर्षणकी क्रिया बहुत ही संक्षिप्त है, फिर भी वह लाभकी दृष्टिसे अत्यन्त उपयोगी है। उसका भाव समझ लेनेपर जान पड़ता है कि उसमें कितना महत्त्व है।

अर्घ्यदान और सूर्योपस्थान दोनों ही भगवान् सूर्यकी उपासना हैं। न्यासका एक स्वतन्त्र लेखमें अलग विचार किया गया है। संक्षिप्तरूपसे इतना समझ लेना चाहिये कि शरीरके प्रत्येक अङ्गमें जब मन्त्र और देवताओंका स्थापन हो जाता है तब सम्पूर्ण शरीर मन्त्रमय, देवमय हो जाता है। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्'के अनुसार वास्तवमें तभी देवपूजाका अधिकार प्राप्त होता है। ध्यान, मानस पूजा और जपके सम्बन्धमें आगे निवेदन करना है। सन्ध्याकी प्रत्येक क्रिया ध्यानकी तैयारी है। ध्यानके पश्चात् केवल जप करना ही अवशिष्ट रह जाता है। जपकी महिमा अवर्णनीय है। जपोंमें भी गायत्री-जपके विषयमें तो कहना ही क्या है।

यह तो वैदिक सन्ध्या हुई, एक तान्त्रिक सन्ध्या भी होती है। यह विधि कुछ अप्रसिद्ध होनेसे लिखी जाती है। शाक्त सन्ध्यामें आचमनके निम्न मन्त्र हैं—

'ॐ आत्मतत्त्वाय स्वाहा।' 'ॐ विद्यातत्त्वाय स्वाहा।' 'ॐ शिवतत्त्वाय स्वाहा।'

शैव आदिकोंकी सन्ध्यामें केवल आचमन ही होता है। इसके पश्चात् 'गङ्गे च यमुने' इत्यादि स्नानविधिमें लिखे हुए मन्त्रके द्वारा तीर्थोंका आवाहन करके अपने इष्ट-मन्त्रसे कुशके द्वारा तीन बार पृथिवीपर जल छिड़के और सात बार अपने सिरपर। इष्ट-मन्त्रसे प्राणायाम और षडङ्गन्यास करके बायें हाथमें जल लेकर दाहिने हाथसे ढककर 'हं यं वं लं रं' इनसे तीन बार अभिमन्त्रित करके इष्ट-मन्त्रका उच्चारण करते हुए गिरते हुए जलबिन्दुओंसे तत्त्व-मुद्राके द्वारा सात बार अभ्युक्षण करके शेष जल दाहिने हाथमें ले ले। उसको तेजोरूप चिन्तन करके इडा नाडीसे खींचकर, देहके भीतर रहनेवाले पापको धोकर, उस जलको काले रंगका एवं पापरूप देखते हुए पिङ्गलासे बाहर निकालकर सामने कल्पित वज्रशिलाके ऊपर 'फट्' इस मन्त्रका उच्चारण करके पटक दे। इसके पश्चात् हाथ धोकर आचमन करके 'ह्रीं हंसः ॐ घृणिः सूर्य आदित्यः' इस मन्त्रसे सूर्यको अर्घ्य दे और 'ॐ सूर्यमण्डलस्थायै नित्यचैतन्योदितायै अमुकदेवतायै नमः' इस मन्त्रमें अमुकके स्थानपर अपने इष्टदेवताका नाम जोड़कर तीन बार जलाञ्जलि देनी चाहिये। यह क्रिया इष्टदेवताकी गायत्रीसे भी सम्पन्न होती है। इसके पश्चात् गायत्रीका समयोचित ध्यान करना चाहिये। प्रातःकाल ब्राह्मीका, मध्याह्नमें वैष्णवीका और सायाह्नमें शाम्भवीका ध्यान करना चाहिये। तान्त्रिक सन्ध्यामें इष्टदेवकी गायत्रीका ही जप होता है। गायत्री सबकी पृथक-पृथक हैं। यहाँ कुछका उल्लेख किया जाता है।

विष्णु-गायत्री—नैलोक्यमोहनाय	विद्महे	कामदेवाय धीमहि	तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।
नारायण-गायत्री—नारायणाय	विद्महे	वासुदेवाय धीमहि	तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।
नृसिंह ,, —वज्रनखाय	,,	तीक्ष्णदंष्ट्राय ,,	,, नरसिंहः ,,।
राम ,, —दाशरथाय	,,	सीतावल्लभाय ,,	,, रामः ,,।
शिव ,, —तत्पुरुषाय	,,	महादेवाय ,,	,, रुद्रः ,,।
गणेश ,, —तत्पुरुषाय	,,	वक्रतुण्डाय ,,	,, दन्ती ,,।
शक्ति ,, —सर्वसम्मोहिन्यै	,,	विच्चजनन्यै ,,	तन्नः शक्तिः ,,।
लक्ष्मी ,, —महालक्ष्म्यै	,,	महाश्रियै ,,	,, श्रीः ,,।
सरस्वती ,, —वाग्देव्यै	,,	कामराजाय ,,	,, देवी ,,।
गोपाल ,, —कृष्णाय	,,	दामोदराय ,,	,, विष्णुः ,,।
सूर्य ,, —आदित्याय	,,	मार्त्तण्डाय ,,	तन्नः सूर्यः ,,।

—इत्यादि इष्टदेवताके अनुसार भिन्न-भिन्न गायत्री हैं। उनका १०८ अथवा कम-से-कम १० बार जप करना चाहिये। जपके समय सूर्यमण्डलमें अपने देवताका चिन्तन करना चाहिये। तदनन्तर संहारमुद्रासे देवताको अपने हृदयमें लाकर स्थापित करना चाहिये। ज्ञानविधिमें कहे हुए ढंगसे तर्पण भी कर लेना चाहिये।

सन्ध्या और तर्पण आभ्यन्तर भी होते हैं। उनका भी यहीं उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। कुण्डलिनी शक्तिको जागरित करके उसे मूलाधारादि-क्रमसे सहस्रारमें ले जाकर परम शिवके साथ एक कर देना ही सन्ध्या है। आभ्यन्तर तर्पण भी इसी प्रकारका होता है। मूलाधारसे उत्थित चन्द्र-सूर्य-अग्निस्वरूपिणी कुण्डलिनीको परमबिन्दुमें सन्निविष्ट करके उससे निकलते हुए अमृतके द्वारा ही देवताओंका तर्पण करना चाहिये। ऐसा भी कहा गया है कि ब्रह्मरन्ध्रके नीचे आज्ञाचक्रमें चन्द्रमण्डलमय पात्र है। उसको अमृतसारसे परिपूर्ण करके उसीके द्वारा इष्टदेवताका तर्पण करना चाहिये। तर्पणके अनुरूप ही ध्यानकी भी व्यवस्था है। कहा गया है कि किरणोंमें, चन्द्रमामें, सूर्यमें और अग्निमें जो ज्योति है उसको एकत्र करके केन्द्रित कर दे और फिर सबको महाशून्यमें विलीन करके पूर्णरूपसे स्थित हो जाय। यह निरालम्ब स्थिति ही योगियोंका ध्यान है। इसके पश्चात् पूजामण्डपमें प्रवेश करना चाहिये। पूजाकी सामग्री, पूजाकी विधि आदिपर क्रमशः विचार किया जायगा। हिन्दू साधनाकी एक-एक क्रिया साक्षात् परमात्मासे ही सम्बन्ध रखती है और साधकको सर्वविध उन्नतिदान करनेमें समर्थ है। विचारशील पुरुषोंको चाहिये कि वे उनपर विचार करें और उनका अनुष्ठान करें। इस प्रकार अपनी प्राचीन शक्ति और शान्तिका संग्रह करके अभ्युदय और निःश्रेयसका लाभ करें।

शा०

आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें श्रौतकर्मोंका उपयोग

(लेखक—पं० श्रीरमापतिजी मिश्र)

आत्मज्ञानकी प्राप्ति और श्रौत कर्मका परस्पर कार्य-कारणसम्बन्ध है। आत्मज्ञानकी प्राप्ति कार्य है और श्रौतकर्म कारण हैं। आत्मज्ञानका तात्पर्य है आत्मविषयक विस्मृतिकी सर्वतोभावेन निवृत्ति। सर्वतोभावेन आत्मविस्मृतिके नाशके उत्तरकालमें ही आत्मा भेदेन भासमान प्रपञ्चका स्वस्वरूपाभेदेन अनुभव करता है और संशयरहित होकर अपने स्वरूपका अनुभव करता है। यह अनुभव भी व्यावहारिक है। इस दशामें अनुभवकर्ता और अनुभवका विषय—इन दोनोंके स्वरूपमें भेद विद्यमान रहता है। देहविशेषके अभिमानमें यह दोष है कि वह भेदबुद्धिको सुरक्षित रखता है। 'शिवः केवलोऽहम्', 'वासुदेवः सर्वम्', 'ऐतदात्म्यमिदम्', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि वाक्योंके द्वारा यद्यपि परमार्थ अद्वैतका उपदेश दिया गया है, परन्तु इन वाक्योंके शाब्दबोधसे जो बोध होता है, वह व्यावहारिक ही है। इनके शाब्दबोधमें उद्देश्यविधया तथा प्रतियोगि-विधया व्यावहारिक वस्तुका भान होता है। 'शिवः केवलोऽहम्' इस वाक्यके शाब्दबोधमें उद्देश्यविधया भासमान अहमर्थ व्यावहारिक वस्तु है। 'वासुदेवः सर्वम्' इस वाक्यके शाब्दबोधमें उद्देश्यविधया भासमान सर्वशब्दार्थ व्यावहारिक वस्तु है। 'ऐतदात्म्यमिदम्' इस वाक्यके शाब्दबोधमें उद्देश्यविधया भासमान इदमर्थ व्यावहारिक वस्तु है। 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस वाक्यके शाब्दबोधमें प्रतियोगिविधया भासमान नाना-बोध्य प्रपञ्च व्यावहारिक वस्तु है। अनुभवका विषय व्यावहारिक हो या अनुभवका कर्ता व्यावहारिक हो, यदि वह वाक्यार्थके द्वारा ज्ञात होता है तो ज्ञान व्यावहारिक कहा जाता है। यद्यपि इन वाक्योंका तात्पर्यार्थ व्यावहारिक वस्तुओंकी स्वतन्त्र सत्ता-का अभावदर्शन है अर्थात् सर्व जायमान वस्तुओंका अधिष्ठान परमात्मा ही निरधिष्ठान होनेसे स्वतन्त्र और सत् है तथा व्यवहारमें प्रतीयमान पदार्थ साधिष्ठान होनेसे परतन्त्र और मिथ्या है—इस अर्थका समर्थक है। तथापि तात्पर्यार्थके शाब्द-बोधोत्तरकालभावी होनेसे वह शाब्दबोधकी मर्यादासे अलग नहीं जा सकता।

ऊपर यह लिखा गया है कि 'आत्मज्ञानका तात्पर्य है आत्मविषयक विस्मृतिका सर्वतोभावेन नाश'। यहाँ यह नहीं स्पष्ट किया गया है कि आत्मविषयक विस्मृति किसको होती है। आत्मा तो विषयी है, जगत्को विषय करता है; वह किसकी स्मृति या विस्मृतिका विषय बनता है। ज्ञान-अज्ञान, स्मृति और विस्मृति—ये सभी केवल चेतनके धर्म हैं; आत्मासे अतिरिक्त मन, इन्द्रिय, शरीर—ये सभी अचेतन

(जड) हैं। ये आत्माको ज्ञानरूपी सामग्रीका अभाव होनेसे विषय बनानेमें असमर्थ हैं। इस प्रश्नात्मक जिज्ञासाके शमनार्थ आत्मविषयक विस्मृतिका स्पष्टीकरण आवश्यक है। वह यह है—

अचिन्त्यशक्ति होनेके कारण आत्माके सम्बन्धमें किसी भी कल्पनाकी असम्भावनाको अवकाश नहीं है। स्वप्न इस सिद्धान्तका साक्षी है। आत्मा स्वप्नावस्थामें निज-कल्पित जगत्में कभी-कभी अपने सद्भाव तथा अभावका भी अनुभव करता है। जाग्रत्में भी आत्मा नहीं है; आत्मा देहादिसे अतिरिक्त तत्त्व है, परन्तु उसका मान परमाणु है; आत्मा स्वतन्त्र तत्त्व है, मान उसका मध्यम है, अर्थात् जिस देहमें रहता है, उसके मानके समान ही उसका मान है; आत्मा व्यापक है; आत्मा है, परन्तु द्रव्यस्वरूप नहीं है—क्षणिक विज्ञानस्वरूप है; आत्मा है, नित्य है, व्यापक है, ज्ञानस्वरूप है; आत्मा और परमात्मा भिन्न हैं; आत्मा और परमात्मामें वास्तविक भेद नहीं है—इत्यादि अनेक रूपसे आत्मा अपने स्वरूपका अनुभव करता है। यही आत्मविषयक विस्मृति है। शुद्ध-बुद्ध मुक्त-स्वभाव व्यापक आत्माका सृष्टिगत सर्व पदार्थोंमें भान होना आत्मज्ञान है। यही आत्मविषयक विस्मृतिका सर्वतोभावेन नाश है। इसकी प्राप्तिके साधन चिरकालानुष्ठित श्रौतकर्म हैं। उसका प्रकार यह है—

परमात्माने क्रीडाके लिये इस जगत्की कल्पना की है। यह कल्पित जगत् अमृतमय है, वैसे ही विषमय भी है। शास्त्र और शास्त्रोक्त कर्मसे उदासीन होकर जो देहाभिमानी जीव इन्द्रियोंके वशमें हो जाता है, उसकी भावना आसुरी बन जाती है। आसुरभावापन्न वह जीव आत्मज्ञानसे शनैः-शनैः दूर होता जाता है अर्थात् उसको आत्मविषयक विस्मृति अपनाने लगती है। आसुरी सृष्टिके उपभोगार्थ कल्पित सामग्रीको प्राप्त कर वह जीव अधिकाधिक उन्मत्त बनता जाता है। जगत्की अशान्तिका निमित्त बनता जाता है। अशान्त जगत्को देखकर प्रसन्न होने लगता है। अशान्त जगत्को ही उन्नत मानने लगता है। यह उन्मत्तता उस देहाभिमानी जीवको अनेक प्रकारकी दुर्गतियोंमें निमग्न कर देती है। जगत्को विषमय माननेकी परिस्थितिका दर्शन करा देती है।

जो देही सद्भाग्यवश सत्पुरुषोंकी सङ्गतिको सौभाग्य समझने लगता है, उसको शास्त्र और शास्त्रविहित कर्मोंमें श्रद्धा उत्पन्न होने लगती है। वह शास्त्रका अभ्यासी बननेकी इच्छाको सफल बनानेकी चेष्टा करने लगता है। अधिकारके अनुसार शास्त्रविहित कर्मको करने लगता है। ईश्वरीय विशिष्ट शक्तिसे सम्पन्न देवताओंसे अभिमत पदार्थोंकी प्राप्ति और प्राप्त पदार्थोंको श्रौतकर्मोंके द्वारा देवताओंके अधीन करनेको अपना कर्तव्य समझने लगता है। (आरम्भकालमें भोगकी लिप्साके प्रबल रहनेसे वह देही यह मानता है कि श्रौत-कर्मोंका फल है केवल भोग और उपभोगके योग्य पदार्थोंकी प्राप्ति।) जिस समयसे यह भावना उत्पन्न होती है, उसी समयसे आसुरी भावना क्षीण होने लगती है और दैवी भावना प्रबल। ज्यों-ज्यों दैवी भावना प्रबल होने लगती है, त्यों-ही-त्यों आत्मविस्मृति क्षीण होने लगती है। यह आत्मविस्मृतिकी क्षीणताका आरम्भकाल ही आत्मज्ञानका आरम्भकाल है अथवा आत्मोपासना या उसकी साधनाका काल है।

आत्मविषयक विस्मृतिका जन्म अज्ञात है। इसके कालकी इयत्ताका निर्णय अशक्य है। इसका नाश दीर्घकालसे होता है। श्रौत क्रियाएँ दीर्घकालपर्यन्त अनुष्ठित होनेपर साधनाका स्वरूप ग्रहण करती हैं। श्रौतकर्मोंका कर्ता भी दीर्घकालतक निरन्तर श्रौतकर्मोंके अनुष्ठानके पश्चात् साधक कहलाने योग्य बनता है। साधक आरम्भकालमें फलकी इच्छासे श्रौतकर्ममें प्रवृत्त होता है। देवताप्रदत्त पवित्र सामग्रीके सेवनसे उसका अन्तःकरण निर्मल बनता जाता है (पवित्र पदार्थके सेवनसे निर्मलता प्राप्त होती है। पवित्र पदार्थ वे ही हैं, जो शास्त्रसम्मत देवतोपासनासे प्राप्त हैं।) अन्तःकरणके निर्मल हो जानेपर साधक संयोगज फलसे उदासीन होकर शान्तिके पथपर आरूढ हो जाता है। शान्तिके मार्ग अनेक हैं। साधक यदि नकली न हो तो वे सभी मार्ग शान्तिके भवनतक पहुँचानेमें समर्थ होते हैं। (साधककी शुद्धताके लक्षण हैं शम, दम, उपरति तितिक्षा आदि सद्गुण।) शान्तिभवनकी प्राप्ति, आत्मविषयक विस्मृतिकी सर्वतोभावेन निवृत्ति—इन दोनों वाक्योंका तात्पर्यार्थ एक-सा ही है।

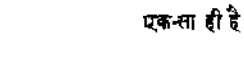

साधना-तत्त्व

(लेखक—श्रीताराचंदजी पांड्या)

तुम्हारा उद्देश्य आनन्द—स्वाधीन, अविनाशी, चिन्ता-रहित, भयरहित पूर्ण सुख है। यह इच्छामें सम्भव नहीं, क्योंकि इच्छा स्वयं ही दुःख है और अभाव (दुःख) का चिह्न है। यह राग (रुचि) में भी सम्भव नहीं; क्योंकि राग होता है किसी खास वस्तु—बल्कि किसी वस्तुकी खास अवस्थासे ही, जो कि सदा और सर्वथा तुम्हारे वशमें नहीं है और जिससे सुख पाना भी तुम्हारे रागकी मंदता और स्थिरता—तुम्हारे सन्तोष और तुम्हारे दृष्टिकोणपर ही निर्भर है। और किसी खास वस्तुमें रागका अर्थ उस खास वस्तुके प्रतिकूलसे (जिसकी दुनियामें कमी कमी नहीं) द्वेष है, जो दुःखका ही दूसरा नाम है।

इच्छाका सर्वथा अभाव तभी हो सकता है जब यह प्रत्यय हो जाय कि शरीर (तन, मन, वचन) और सांसारिक सब बाह्य पदार्थोंसे स्वाधीन (अतः भिन्न), अविनाशी, अखण्ड, स्वतः आनन्दमय और स्वयंपूर्ण मैं हूँ।

राग-द्वेषका नाश अथवा द्वेषरहित राग तभी हो सकता है जब सब कालोंकी, सब वस्तुओंकी सब अवस्थाओंके प्रति (अर्थात् उनके ज्ञानके प्रति) एक-सा राग हो अथवा सबके साथ सर्वथा उपेक्षा (उदासीनता) हो। दोनों बातें एक ही हैं। यही समत्व-भाव है और इसीको वीतरागता भी कहते हैं।

इन्हीं तत्त्वोंको ठीक तौरसे जानकर उनमें दृढ़ श्रद्धान करना और तदनुसार अपने आचरणको ढालना—यही साधनाका सार है। इसी श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र्यकी एकतासे आनन्दकी उपलब्धि होती है। सर्वज्ञता और पूर्णता-की भी तभी सिद्धि होती है।

इनमें श्रद्धान सबसे पहले जरूरी है; क्योंकि श्रद्धान ज्ञानके पश्चात् होनेपर भी उस ज्ञानको अर्थ-साधक बनाने वाला होता है और श्रद्धान ही उद्देश्यको निर्मित और निश्चित कर उसे स्थिर रखता है। चारित्र्य तो श्रद्धानका ही प्रस्फुटीकरण—विकास है।

वे श्रद्धालु जो इच्छा-पाशसे अपेक्षाकृत अधिक जकड़े हुए हैं, पर सांसारिक जीवनमें चरम लक्ष्यको सामने रखकर इन तत्त्वोंका अपनी परिस्थिति और शक्तिके अनुसार आचरण करते हैं और दूसरोंको आचरण करनेकी सुविधा देते हैं, सद्गृहस्थ कहलाते हैं।

जो इस पथपर आगे बढ़े हुए हैं और जिनका प्रकट और अप्रकटरूपसे एकमात्र यही लक्ष्य है, यही व्यवसाय है, वे संत कहलाते हैं।

जो इनसे सर्वथा और सदाके लिये तन्मय—तत्स्वरूप हो जाते हैं, वे जीवन्मुक्त, सिद्ध या परमात्मा कहलाते हैं। वे ही आदर्श भी हैं—उन्हींके उदाहरण और स्वरूपसे अज्ञानी जीवोंको मार्ग-ज्ञान और स्वरूप-ज्ञान होता है और उत्साहहीनोंका उत्साह तथा साहसहीनोंका साहस जागरित होता है। इसलिये वे साधकोंके लिये साधनस्वरूप भी हैं।

नदी-नाव-संयोग

दूलन यह परिवार सब नदी नाव संजोग।
उतरि परे जहँ तहँ चले सबै बटाऊ लोग॥
दूलन यहि जग आइकै का को रहा दिमाक।
चंद रोज को जीवना आखिर होना खाक॥
दूलन काया कबर है कहँ लगि करौं बखान।
जीवत मनुआँ मरि रहै फिरि यहि कबर समान॥

—दूलनदासजी

सब साधनोंका सार

(लेखक—श्रीसुदर्शनसिंहजी)

बड़ी सुन्दर धुन थी—पक्की लगन थी।

मैं स्वयं आश्चर्य करता हूँ कि कैसे उतना अधिक जप, उतना पाठ, चिरस्थायी प्रगाढ़ ध्यान और वह वज्रको भी विदीर्ण करनेवाली व्याकुलता उन्होंने प्राप्त की थी।

मेरे आश्चर्यकी तब सीमा नहीं रहती जब वे कहते, 'भैया, जीवनमें तनिक भी शान्ति नहीं! अन्तरका आनन्द मुझसे कोसों दूर है!! विकारोंका भण्डार हृदयसे हटता ही नहीं!!!' उनके वचनोंको असत्य भी कैसे मान लूँ?

मैं सोचता 'जब इतने उत्कट साधनसे भी शान्ति नहीं मिलती, विकार दूर नहीं होते, भगवद्दर्शन दुर्लभ हैं, तो इस युगमें ये सब कोरी कल्पना हैं।' मैं प्रायः अविश्वासी हो चुका था—धर्म और ईश्वरकी ओरसे।

एक दिन मैंने उन्हें देखा—न संसारकी सुधि थी और न शरीरकी। मतवाले-से झूमते और कुछ गुनगुनाते कहीं नाककी सीधमें जा रहे थे। आनन्दसे उनका मुख खिला हुआ था। बड़ी कठिनतासे उन्हें रोककर सावधान कर पाया।

पर्याप्त टालमटोल करनेके पश्चात् उन्होंने भरे कण्ठसे कहा, 'बन्धु, तुम भूलते हो! मैंने आजतक साधन किया ही नहीं था। इतना सब करके सोचता था कि मैं बड़ा साधन-निष्ठ हूँ और दूसरे तुच्छ सांसारिक विषयी प्राणी। मेरा अहङ्कार मेरे पीछे बँधे भैंसके पँड़वे (बच्चे) की भाँति मेरी बटी रस्सियोंको सपाचट करता जाता था।'

वे रुके—कण्ठ बहुत भर आया। कहने लगे, 'एक दिन अत्यन्त निराश हो गया। समझा कि इस जीवनमें श्यामसुन्दर मुझे नहीं मिलेंगे। हताश होकर गया था माता जाह्नवीकी गोदमें शरण लेने। कूदने ही वाला था कि मुझे एक दोहा स्मरण आ गया। जैसे किसीने बिजलीके तारसे मेरे स्पर्श करा दिया हो। धमसे बैठ गया। पीछे कोई खुलकर हँस पड़ा। मैंने मुख फेरा—वही नटखट था।'

वे आगे बिना कुछ बोले फूट-फूटकर रोने लगे और रोते-रोते ही उठकर एक ओर चल पड़े। मैं उनके वर्णनसे इतना लुब्ध हो गया था कि उन्हें रोक भी नहीं सका। मुझसे कुछ साधन-भजन तो होता नहीं; कभी-कभी उनके उस दोहेकी आवृत्ति अवश्य कर लेता हूँ। दोहा कोई यन्त्र-मन्त्र नहीं, सीधा-सा पुराना दोहा है—

जब लगि गज निज बल करयो, सरयो न एकौ काम।
बल थाक्यो ताक्यो प्रभुहि, आये आधे नाम॥

राम भजता है, वही धन्य है

मन क्रम बचन बिचारि कै राम भजे सो धन्य॥
राम भजे सो धन्य धन्य बपु मंगलकारी।
रामचरन अनुराग परम पद को अधिकारी॥
काम कोध मद लोभ मोह की लहरि न आवै।
परमातम चेतन्य रूप महँ दृष्टि समावै॥
व्यापक पूरन ब्रह्म है भीखा रहनि अनन्य।
मन क्रम बचन बिचारि कै राम भजे सो धन्य॥

—भीखा साहेब

साधनाकी उपासना

(लेखक—पं० श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ)

संसारमें मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार अवस्था और व्यवस्था देखकर अपने-अपने उद्देश्य स्थिर कर लेते हैं। इसीलिये इस त्रिगुणात्मक संसारमें मनुष्योंके भिन्न-भिन्न उद्देश्य रहते हैं, जिनकी प्राप्तिके लिये वे नाना प्रकारकी साधना करते रहते हैं। कभी-कभी वे अपना उद्देश्य तो कुछ और ही बनाते हैं, पर—

'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'

'निग्रहः किं करिष्यति ?'

प्रकृति उन्हें किधर ही ले जाती है। प्रकृतिके इस अज्ञात, अलक्षित प्रभावको मनुष्य समझता नहीं और जब उसको स्वनिर्धारित उद्देश्यकी प्राप्ति नहीं होती, तब वह उस अप्राप्तिके लिये किसी-न-किसीको दोषी ठहराता रहता है। अज्ञानी प्राणी यह नहीं देखता या समझता कि वस्तुतः दोष है उसीके अज्ञानका—मिथ्याज्ञानका, जो कि उसे अपनी प्रकृतिको समझने नहीं देता। फिर वह यह भी नहीं सोचता कि—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

सबके ऊपर, सबके भीतर एक ऐसी अदृश्य प्रबल शक्ति है, जो प्राणियोंको स्वसंकेतानुसार घुमाती रहती है। विवश होकर मनुष्यको कठपुतलीकी तरह नाचना पड़ता है।

इसलिये उद्देश्य स्थिर करनेके पूर्व मनुष्यको खूब सोचना-विचारना चाहिये। यथार्थ उद्देश्यको स्थिर कर लेनेपर भी वह उद्देश्य कभी कर्म-वैगुण्य, कभी कर्तृ-वैगुण्य, कभी साधन-वैगुण्य, इस प्रकार कभी एक वैगुण्यसे, कभी दो वैगुण्योंसे और कभी तीन वैगुण्योंसे सिद्ध नहीं होता। उद्देश्य ठीक हो, साधन भी ठीक हो, करनेवाला कर्ता भी सावधान रहे, तब साधना सफल समझो।

संसारके समस्त उद्देश्योंका समावेश धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारमें समझिये। एक-एकके भेद करने बैठें तो अल्पज्ञ प्राणी इनका अन्त नहीं पा सकता। पर उपर्युक्त चारमें सब आ जाते हैं। इसीलिये यदि उपर्युक्त चारमें एक उद्देश्य हो, दो हों, तीन हों अथवा चारों हों तो उनके साधना-प्रकार भी भिन्न-भिन्न होंगे, यह स्पष्ट है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥

साधनाके लिये (१) उत्तम अधिष्ठान चाहिये।
साधनाके लिये (२) उत्तम सावधान कर्ता चाहिये।
साधनाके लिये (३) उपयुक्त उपकरण चाहिये।
साधनाके लिये (४) उपयुक्त विविध प्रयत्न चाहिये।
और सबसे बढ़कर चाहिये (५) दैवकी अनुकूलता—जिसके बिना प्रथम चार व्यर्थ हो जाते हैं। जब यह तत्त्वकी बात है, तब जो मूर्ख अपने अज्ञान—मिथ्या ज्ञानसे यही समझ बैठता है कि सब कुछ मैं ही करनेवाला हूँ, वह दुर्मति यथार्थ रीतिसे न देखता है, न समझता है।

साधना क्या है ?

सब प्रकारके उपकरण प्राप्त हो जानेपर उनके द्वारा उद्देश्य-प्राप्तिकी ओर बढ़ना ही स्थूल रूपसे साधना है; पर उस साधनामें भक्ति भी परम आवश्यक है, जिसके बिना साधना न चलती है, न आगे बढ़ती है, प्रत्युत ठप-सी हो जाती है।

संसारकी साधारण-साधारण इच्छाओंकी पूर्तिमें भी जब इतनी-इतनी विघ्न-बाधाएँ आ जाती हैं, तब उच्चतम उद्देश्योंकी प्राप्तिमें क्या होता होगा ? इसका अनुमान सहजमें ही लगाया जा सकता है। ययाति-जैसे महाराजको भी अन्तमें हारकर कहना अथवा मानना पड़ा था—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

भला, कभी किसीने अग्निमें घृत डाल-डालकर उसको बुझानेमें सफलता प्राप्त की है ? रामका नाम लो। यह तो हुई कामकी बात।

धर्मको ही लीजिये।

पहले धर्मके तत्त्वको ही समझना कठिन समझ लें तो उसपर चलना उससे भी सहस्रगुण कठिन है—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥

तीक्ष्ण छुरेकी धार है, तीक्ष्ण छुरेकी धार ! चलना बड़ा कठिन !

अर्थकी भी यही दशा है।

कामके संकुचित अर्थ न किये जायँ तो अर्थ भी उसीमें आ जाता है। अब रही मोक्षकी बात। जिन्होंने योग-दर्शनका सूक्ष्म अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि मोक्षकी साधना कितनी कठिन है। वह किसीको एक जन्ममें सिद्ध हो जाय तो समझ लेना चाहिये कि पूर्वजन्मका कोई तीव्र पुण्य फला; नहीं तो वह तो—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥

—की बात हो जाती है।

साधना शब्द बहुत व्यापक अर्थ रखता है। अ-आ-इ-ई से लेकर पूर्ण विद्वान्, महामहोपाध्याय बननेतक जो भी श्रद्धायुक्त कर्म है, सब साधनामें आ जाता है। ए-बी-सी-डी से लेकर एम्० ए० होनेतक जो भी कर्म हैं, वे सब साधनामें आ जाते हैं। चित्तवृत्तिनिरोधसे लेकर कैवल्यप्राप्तितक जो भी करना पड़ता है, सब साधनामें आ जाता है। पर यह ध्यान रहे सात्त्विकप्रधान भावनासे ओत-प्रोत साधना ही सच्ची साधना है। राजसी तथा तामसी भावनासे प्रयुक्त साधना साधना नहीं। सच्ची साधना आध्यात्मिक वातावरण-में जन्म लेती है, पलती है, पुष्ट होती है, पनपती है, खेलती है, कूदती है, आमोद-प्रमोद करती है। राजसी साधना संसारके मिश्रित वातावरणमें उत्पन्न होती है और वह कभी मुरझाती है, कभी खेलती है, कभी हँसती है, कभी रोती है, कभी अन्धकारमें ठोकरें खाती है, कभी प्रकाशमें खिल उठती है और तामसी साधना तो यही नहीं समझ सकती कि वह कहाँ है, क्यों है, उसको क्या करना है, वह दीखनेमें सबसे अच्छी, पर वैसे सबसे बुरी रहती है।

उद्देश्य—सात्त्विक

कर्ता—सात्त्विक

साधन—तदनुरूप सात्त्विक

कर्म—तदनुरूप सात्त्विक

श्रद्धा—तदनुरूप सात्त्विक

तब साधना फलती-फूलती, करनेवालोंको आनन्द देती, संसर्गमें आनेवालोंको भी हर्षाती और पूर्णरूपसे फलने-फूलने-पर संसारको भी नीचेके वातावरणसे ऊपर उठाती हुई एक अनिर्वचनीय आनन्द देती है। बस, फिर उस आनन्दकी व्याख्या नहीं हो सकती।

उपनिषदोंमें नाना प्रकारके आनन्दोंकी व्याख्या है—

मनुष्योंका आनन्द।

चक्रवर्ती राजाका आनन्द।

देवोंका आनन्द।

उच्चकोटिके देवोंका आनन्द।

सबसे बड़ा आनन्द मोक्षानन्द है, जिसके एक बिन्दुमें वह आनन्द होता है, जिसकी तुलना समस्त संसारके समस्त अमूल्य पदार्थोंके आनन्द भी मिलकर नहीं कर सकते।

वह मनुष्य धन्य, उसका कुल धन्य, उसकी जाति, उसका देश, उसका राष्ट्र धन्य—जिसमें ऐसा व्यक्ति, संसारसे ऊपर उठा हुआ, पाप-पुण्यसे ऊपर उठा हुआ, उत्पन्न हो जाय। भारतवर्ष धर्मभूमि है, पुण्यभूमि है। इसकी ऋषि-मुनि-महर्षि-परम्परामें ऐसे महापुरुष सदा होते चले आये हैं, जिनके कारण आजके भारतवर्षकी संकटपूर्ण अतएव हीन दशामें भी उसका सिर उसी मधुविद्याके कारण, उसी ब्रह्मविद्याके कारण, उन्हीं नाना प्रकारके साधन और साधनाओंके कारण, उन्हीं सिद्ध-साधक महा-महा महापुरुषोंके कारण, उन्हीं सायुज्य, सालोक्य, सामीप्य पदोंके कारण, उसी कैवल्यपदके कारण अब भी संसारमें सबसे ऊँचा उठा हुआ है। यही नहीं, अपि तु जहाँ ऐसे महापुरुष बैठ-बैठ-कर तपस्या-साधन कर गये, वे पवित्र हिमालयकी अधित्यकाएँ, उपत्यकाएँ, गुफाएँ भी अबतक संसारसे ऊपर सिर उठा रही हैं। इसीलिये हम ऋषियोंके ही शब्दोंमें उन ऋषियोंको नमस्कार करके इस तुच्छ लेखको समाप्त करते हैं—

'ॐ नमः परमर्षिभ्यः, नमः परमर्षिभ्यः।'

साधक, साधना और साध्यका सम्बन्ध

(लेखक—त्यागमूर्ति गोस्वामी श्रीगणेशदत्तजी महाराज)

साधक, साधना और साध्यका परस्पर वही सम्बन्ध है जो कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयका है। साधक भक्त है, साधना उसकी भक्ति है और साध्य उसका आराध्य भगवान् है।

साधनाके इच्छुक साधकके लिये यह आवश्यक है कि वह विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुतासे सम्पन्न हो और सांसारिक विषय-वासना, राग-द्वेष, काम, क्रोध, मोह आदिके कीचड़से बाहर निकल गया हो। इसमें सन्देह नहीं कि इनसे बाहर निकलना भी एक महान् साधना है, जिसमें बहुत ही थोड़े व्यक्ति सफल हो सकते हैं।

साध्यतक पहुँचनेके लिये साधकको दो बातोंकी आवश्यकता होती है—पहली अपने हृदयमें उत्कट अभिलाषाका होना और दूसरी मन्त्रशक्तिका आश्रय।

साधकके हृदयमें साध्यकी प्राप्तिके लिये इतनी अधिक उत्कट अभिलाषा होनी चाहिये, जिसके सामने अन्य सभी सांसारिक इच्छाएँ-अभिलाषाएँ समाप्त हो जायँ। प्रायः कहा जाता है कि साधकके हृदयमें साध्यकी प्राप्तिके लिये उसी प्रकारकी अभिलाषा होनी चाहिये, जैसी किसी युवतीके हृदयमें अपने प्रियतमको प्राप्त करनेके लिये होती है। पर मैं समझता हूँ, साधकके हृदयमें इससे भी अधिक उत्कट अभिलाषाका होना आवश्यक है। ऐसी अभिलाषा, जो हृदयमें साध्यकी प्राप्तिके लिये बेचैनी और तड़प पैदा कर दे, जिससे साधक साध्यके ध्यानमें ही पागल हो जाय, सिद्धिका लक्षण है।

एक बार किसी शिष्यने अपने गुरुजीसे पूछा कि 'महाराज! भगवान्‌की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है?' गुरुजीने कहा, 'कुछ समयके बाद बताऊँगा।' दोनों नदीमें स्नान करने चले गये। जब शिष्य स्नान करनेके लिये नदीके मध्यमें पहुँचा तो गुरुजीने उसके सिरपर जोरसे पैर रखकर पानीके नीचे दबा दिया। कुछ ही पलोंमें शिष्य घबड़ा गया और छटपटाने लगा। अन्तमें कुछ देरतक बहुत प्रयत्न करनेके पश्चात् पानीके बाहर निकल सका। उस समय उससे गुरुजीने पूछा, 'जिस समय तुम पानीमें डूबे जाते थे, तुम्हारे हृदयमें क्या विचार आते थे?' शिष्यने उत्तर दिया, 'मेरे हृदयमें केवल पानीसे ऊपर निकलनेकी इच्छा थी, उसीके लिये मैं तड़प रहा था, मुझे और किसी भी वस्तु या बातका जरा भी ध्यान न था।' गुरुजीने कहा—'बस, जब इस प्रकारकी उत्कट अभिलाषा और छटपटाहट भगवान्‌की प्राप्तिके लिये होती है, तभी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है।'

अशोकवाटिकामें पहुँचकर जब श्रीहनुमान्‌जीने सीताजीको रामचन्द्रजीके लिये सन्देश देनेको कहा तो श्रीसीताजीने अपनी दशा यह कहकर व्यक्त की—

जिमि मनि बिनु ब्याकुल भुजग जल बिनु ब्याकुल मीन।
तिमि देखे रघुनाथ बिनु मैं तड़फत हूँ दीन॥

बिना मणिके सर्प जिस प्रकार तड़पने लगता है या बिना जलके मछली जिस प्रकार छटपटाती है, उसी प्रकारकी तड़प और छटपटाहट साधकके हृदयमें होनी आवश्यक है।

उत्कट अभिलाषाके अतिरिक्त साधकको साध्यतक पहुँचनेके लिये *तीव्र सङ्कल्पभावना या मन्त्राश्रयकी* आवश्यकता है। वह मन्त्रके मोहन, वशीकरण आदि प्रयोगोंके द्वारा अथवा केवल एक ही मन्त्रका दृढ़ विश्वाससे जप करता हुआ सफल हो सकता है। उदाहरणके लिये यदि 'ओम्'—इस महामन्त्रका जप करता हुआ साधक अपने हृदयमें यह ध्यान करता रहे कि—'मैं अ-उ-म्, सत्-चित्-आनन्द हूँ। मैं स्थूल-सूक्ष्म-कारण, मन-बुद्धि-अहङ्कार, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, प्राण-अपान-उदान-व्यान-समानसे परे साक्षी सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्ण ब्रह्म हूँ। काम, क्रोध और मोह मुझतक पहुँच भी नहीं सकते। मैं सर्वप्रकाश, सर्वज्ञान और सर्व आनन्दका घर हूँ। मैं दृश्य और द्रष्टासे परे हूँ, प्रकृतिका अधिष्ठाता हूँ। सोऽहम्, सोऽहम्। मैं भगवान् ही हूँ, और कुछ नहीं।' मन्त्राश्रय लेकर इस प्रकारकी भावना करता हुआ साधक साध्यतक पहुँच सकता है।

साध्यतक पहुँचनेके लिये एकवृत्तिका होना अत्यन्त आवश्यक है। एक बार गुरु द्रोणाचार्यजीने अपने शिष्योंकी परीक्षाके लिये एक ऊँचे पीपलकी शाखाके ऊपर एक कृत्रिम पक्षी रख दिया और उसके मस्तकपर एक काला बिन्दु लगा दिया। उस बिन्दुपर बाण मारनेके लिये उन्होंने अपने शिष्योंसे कहा। जब दुर्योधन लक्ष्यभेदनके लिये आगे आये तो गुरुजीने पूछा—'तुम्हें हम सब लोग, पीपलका वृक्ष, पक्षी और उसके सिरपर बिन्दु दिखायी देता है?' दुर्योधनने उत्तर दिया—'जी हाँ, मैं आपको, अपने सहपाठियोंको, पीपलको और उसके ऊपर पक्षीको तथा उसके सिरपर

काले बिन्दुको—सबको अच्छी तरह देख रहा हूँ।' गुरुजीने कहा—'तुम पीछे चले जाओ, तुमसे लक्ष्य-भेदन नहीं होगा।' इसी प्रकार एक-एक करके सभी शिष्योंसे गुरुजीने यही प्रश्न पूछा और उन्होंने प्रायः यही उत्तर दिया। जब अर्जुनकी बारी आयी तो उससे भी यही प्रश्न पूछा गया—उसने उत्तर दिया, 'गुरुजी! मुझे न आप दिखायी देते हैं, न अपने सहपाठी। पीपलका पेड़ और पक्षी मुझे कुछ भी नहीं दिखायी देता। केवल एक काला बिन्दु मेरी दृष्टिमें आता है। बाकी सब अन्धकार-ही-अन्धकार प्रतीत होता है।' गुरुजीने कहा—'बस, मैं समझ गया कि तुम लक्ष्य-भेदन कर सकते हो।'

ठीक इसी प्रकार साध्यकी प्राप्तिके लिये साधककी दृष्टि होनी चाहिये। उसके लिये संसारकी सारी क्रियाएँ, सारी घटनाएँ शून्य हो जानी चाहिये। उसके सम्मुख केवल साध्यके अतिरिक्त किसी भी वस्तुका चित्र नहीं होना चाहिये। जिस प्रकार लक्ष्य तभी बेधा जा सकता है जब तीर चलानेवाला, तीर और लक्ष्य बिल्कुल एक सीधमें हों, इसी प्रकार साधक, साधना और साध्यमें भी एकवृत्तिका होना अत्यन्त आवश्यक है। जिस समय साधक अपने अन्तर्गत साध्यके लिये उत्कट अभिलाषा और तड़प पावे, जिस समय उसे मन्त्र और मन्त्रेश्वरका ऐक्य प्रतीत हो, जिस समय उसे अपनेमें, साधनामें और साध्यमें एक ही वृत्ति दिखायी दे, उस समय उसे समझ लेना चाहिये कि अब वह और साध्य एक हो गये हैं, जीव ब्रह्ममें मिल गया है, भक्तको भगवान्‌ने अपना लिया है।

रामनामकी महिमा

राम नाम मनि दीप धरु जीह देहरी द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजियार॥
हियँ निर्गुन नयनन्हि सगुन रसना राम सुनाम।
मनहुँ पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम॥
राम नाम को अंक है सब साधन हैं सून।
अंक गएँ कछु हाथ नहिं अंक रहें दस गून॥
हम लखि लखहि हमार लखि हम हमार के बीच।
तुलसी अलखहि का लखहि राम नाम जपु नीच॥
राम नाम अवलंब बिनु परमारथ की आस।
बरषत बारिद बूँद गहि चाहत चढ़न अकास॥
बिगरी जनम अनेक की सुधरै अबहीं आजु।
होहि राम को नाम जपु तुलसी तजि कुसमाजु॥
राम नाम कलि कामतरु राम भगति सुरधेनु।
सकल सुमंगल मूल जग गुरु पद पंकज रेनु॥
राम नाम कलि कामतरु सकल सुमंगल कंद।
सुमिरत करतल सिद्धि सब पग पग परमानंद॥
जथा भूमि सब बीजमय नखत निवास अकास।
राम नाम सब धरममय जानत तुलसीदास॥
हरन अमंगल अघ अखिल करन सकल कल्यान।
राम नाम नित कहत हर गावत बेद पुरान॥
राम नाम रति राम गति राम नाम बिस्वास।
सुमिरत सुभ मंगल कुसल दुहूँ दिसि तुलसीदास॥

—तुलसीदासजी

साधन और सिद्धि

(लेखक—स्वामी श्रीशुद्धानन्दजी भारती)

'साधना' किसे कहते हैं ?

'साधना' का अर्थ है प्रयत्न करना, उद्योग करना, लगना। साधनाका अर्थ सिद्धि भी है। आत्मानुसन्धानके मार्गमें, अपनी आत्माको परमात्मामें लीनकर 'पूर्णमदः पूर्णमिदम्' की अनुभूतिके पथमें हमारी जो कुछ भी आध्यात्मिक चेष्टाएँ होती हैं उन सबका नाम 'साधना' है। नदीकी धारा ऊँचे चढ़ती है, नीचे ढलती है, वन-पर्वतको लाँघती हुई बढ़ती जाती है। क्यों, किसलिये ? इसलिये कि वह अन्तमें अपने-आपको समुद्रकी गोदमें सुला दे, लीन कर दे, मिटा दे। मनुष्यकी आत्मा भी भाग्यके चढ़ाव-उतार, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद और ऐसे ही जीवनके विविध खट्टे-मीठे अनन्त अनुभवोंको पार करती हुई सत्, चित् और आनन्दके एक अनन्त महासागरमें अपने-आपको ढाल देनेके लिये व्याकुल है, बेचैन है। नदीका लक्ष्य है समुद्र, मनुष्यका लक्ष्य है भगवान्। भगवान्‌के मार्गमें चलनेके लिये जो भी अनुष्ठान किया जाता है, जो भी व्रत लिया जाता है, वह सभी 'साधना' है और जो कुछ भी इस मार्गमें अवरोधक है, वह है अन्तराय, वह है साधनामें विघ्न।

साधनाका श्रीगणेश कहाँ और कैसे होता है ?

मनुष्यमात्र अपने भीतर एक निगूढ़, एक अव्यक्त अभावका अनुभव करता है। वह 'कुछ' खोज रहा है, चाह रहा है; परन्तु वह 'कुछ' क्या है, उसे पता नहीं। वह 'किसी' को देखना चाहता है। परन्तु वह जानता नहीं कि वह 'कोई' कौन है, कहाँ है, और कैसा है। संसारके इन बनने-मिटनेवाले चित्रोंसे, क्षण-क्षणपर बदलनेवाली वस्तुओंसे उसे स्थायी सुख, स्थायी शान्ति मिले तो कैसे ? आजका विश्वासी मित्र कल घोर शत्रु हो जाता है, दगा दे जाता है। स्वजन-परिजनोंसे आज घड़ी-दो-घड़ीके लिये एक हल्की-सी सुखानुभूति हुई, परन्तु कल ही उनका दुःख-दर्द देखकर रोना पड़ता है। मनुष्य आज धन-सम्पत्ति जमा करता है, परन्तु कल ही स्वयं उसके बन्धनोंमें बँधकर तड़पने लगता है, छटपटाने लगता है, उसके भारसे पिसने लगता है। इन्द्रियोंका सुख क्षणभरके लिये उसे सहला तो जाता है, परन्तु फिर सदाके लिये असन्तोष और सन्तापके अथाह सागरमें छोड़ जानेके लिये। बुद्धिकी दौड़-धूप और उछल-कूदसे जीवनकी घोर अशान्ति जाती नहीं, मनकी शङ्का मिटती नहीं। अपने ही मनके रचे हुए जेलमें मनुष्य अपने-आप कैदी है। वह प्रकाशके लिये तड़प रहा है, स्वतन्त्रताके लिये बिलख रहा है। पिंजड़ेको तोड़कर, जेलकी दीवारें लाँघकर वह बाहर आना चाहता है। परन्तु, परन्तु ..... परन्तु जुगनुओंसे कहीं रातका अन्धकार जाता है ? जगत्‌के सुख-भोगसे कहीं अन्तरकी प्यास मिटती है ? हीरे-जवाहर भी तो इस अन्धकारको छिन्न-भिन्न नहीं कर सकते, फिर बुद्धिके उच्चतम विकास और विलाससे मनका संशय कैसे मिटे ? दुनियाभरमें नाम और यशका विस्तार हो गया; परन्तु इससे उसको कौन-सा सन्तोष मिला, कहाँ भी तृप्ति मिली ! इन्द्रियोंके सुख-भोगसे क्षणभरकी जो तृप्ति-सी हुई, उसके पीछे मन सदाके लिये, चिरकालके लिये चञ्चल और क्षुब्ध हो उठा ! मन तो भावोंका, बल खाते हुए भावोंका एक सागर है, और जीवन है उस क्षुब्ध जलमें डगमगाती हुई एक नन्ही-सी नाव। इसके सामने है रहस्योंसे भरा भविष्य, इसके पीछे-पीछे लगा आ रहा है भाग्यका मकर, किस्मतका घड़ियाल। सन्नाटा और तूफान, धूप और वर्षा, ओले और कुहरा मार्गमें आते हैं और नावकी गति-विधिको छेड़ते रहते हैं। प्रकृतिकी शक्तियोंके सामने हमारी बुद्धि कुछ काम नहीं देती। पग-पगपर वह हमें छकाती है; अब गया, तब गया ऐसा लगने लगता है। एकाएक वह देखता है कि उसकी किश्ती बुरी तरह घिर गयी है सर्वनाशी तूफानसे; और तब वह अपनेको पाता है चारों ओरसे असहाय, निराधार और निरवलम्ब। ऐसे ही समय उसके अन्तस्तलसे एक पुकार उठती है, एक हूक निकलती है—हे प्रभो ! हे मेरे स्वामी ! मुझे बचाओ, बचाओ ! मैं दीन-हीन हूँ, असहाय हूँ।

बुद्धिर्विकुण्ठिता नाथ समाक्षा मम युक्तयः।
नान्यत्किञ्चिद्विजानामि त्वमेव शरणं मम॥
त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

'हे नाथ ! मेरी मति कुण्ठित हो गयी है, मेरी सारी तर्कयुक्तियाँ समाप्त हो गयी हैं, मैं तुम्हारे सिवा कुछ भी नहीं जानता; बस, तुम ही मेरे एकमात्र शरण हो। तुम्हीं सच्चे पिता हो, तुम्हीं स्नेहमयी माता हो, तुम्हीं विपत्तिसे बचानेवाले बन्धु हो, तुम्हीं सच्चे मित्र हो; विद्या, धन और सर्वस्व, हे देवदेव ! मेरे सब कुछ तुम्हीं हो।'

हे प्रभो, हे अशरणशरण ! आज तुम्हारे सिवा मेरे लिये कोई सहारा नहीं है, कोई गति नहीं है; तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो, जीवनके आधार हो, प्राणोंके अवलम्ब हो; मुझे बचाओ, बचाओ। तुमसे प्रेम करना ही प्रेम है, तुम्हें जानना ही ज्ञान है। प्रभो ! दया कर अपने प्रेमका दान दो, अपने प्यारसे मुझे नहला दो, पवित्र कर दो; अपने ज्ञानका प्रकाश दो, जिससे मेरा अन्तर-बाहर ज्योतिर्मय हो जाय—शुभ्र ज्ञानमय हो जाय !

मनुष्यके हृदयसे जब ऐसी करुण पुकार निकलती है, तब समझना चाहिये कि यथार्थ साधनाका श्रीगणेश हुआ है।

साधनाकी आवश्यकता क्यों है ?

हर बातमें उपयोगिताको ढूँढ़नेवाले यह पूछ सकते हैं कि आखिर साधनाकी आवश्यकता किस लिये है, उससे क्या लाभ है ? क्यों न मनुष्य खाये-पीये, मौज करे, धन संग्रह करे, बम बरसावे, दुनियाको जीतकर उसकी छातीपर अपना शासन स्थापित करे, हुकूमत कायम करे ? उसे इस बातकी आवश्यकता ही क्या है कि वह भगवान् और साधनाके विषयमें सोचे-विचारे, माथापच्ची करे ? परन्तु यह भी कोई जीवन है ? यह तो अज्ञान-तिमिरमें भटकना है ! यह जगत् त्रिगुणमयी मायाकी अनन्त क्रीडास्थली है। मनुष्य आँख-मिचौनी खेल रहा है। उसकी आँखोंपर अज्ञानकी पट्टियाँ बँधी हैं। अहङ्कारके कारण वह दुःखके गर्तमें जा पड़ा है। कभी इसे छूता है, कभी उसे, दुनियाभरकी खाक छानता फिरता है। अटकले कटकतक, चीनसे पेरूतक चक्कर लगाता फिरता है और सुख-दुःख, हर्ष-विषादके थपेड़े खाता फिरता है। जहाँ जाता है, वहीं धक्के खाता है, दुरदुराया जाता है। कहीं भी शान्ति नहीं, सुख नहीं, स्वतन्त्रता नहीं, सन्तोष नहीं। अपने-ही-आप अपनी इच्छाओंमें आबद्ध है, वासनाओं-में जकड़ा हुआ है, अपनी ही इच्छाओंका गुलाम है। वह जितना भी सोचता-विचारता है, जितना भी हाथ-पैर मारता है, उतना ही वह दुःखोंकी जंजीरोंसे अधिकाधिक जकड़ा जाता है, उलझता जाता है।

इतनेहीमें अन्तरकी घण्टी बज उठती है और भगवान्-का नाम हृदयमें गूँजने लगता है। शास्त्र एक स्वरसे कहते हैं—डंकेकी चोट कहते हैं कि भगवान् ही—एकमात्र श्रीभगवान् ही विशुद्ध आनन्द हैं, वास्तविक ज्ञान हैं, परात्पर सत्य हैं, सर्वसमर्थ प्रेम हैं। भगवान्‌के श्रीचरणोंके केवल एक बारके स्पर्शसे ही आँखकी पट्टी खुल जाती है, जीवन उन्मुक्त हो जाता है, सत्य उतर आता है और हृदयके अन्तस्तलमें आनन्दकी तरङ्गें उठने लगती हैं। नामका अनुसरण और भगवान्‌के चरणोंका स्मरण साधनाकी पहली सीढ़ी है। भगवान्‌के परम पावन चरणयुगल ही हमारे सच्चे आश्रय हैं, एकमात्र शरण्य हैं; और तमाम आधार व्यर्थ हैं, धोखेमें डालनेवाले हैं, भरमानेवाले हैं। भगवान्‌की प्राप्ति ही सच्ची प्राप्ति है; उसके बिना और सारी प्राप्ति व्यर्थ है, महान् हानि है। भगवत्-चेतनाके बिना जीवन दारुण आत्महत्या है, भयानक आत्महनन है। आजकी दुनियामें, जहाँ विज्ञानके नवीन-नवीन अनुसन्धानोंमें मनुष्यका अहङ्कार इतरा उठा है, जहाँ भोगमय साम्राज्यवादकी दानवी ज्वाला-से मानवता पीड़ित एवं क्षुब्ध है—सर्वत्र इसी आत्महननका दौर-दौरा है। यह पैशाचिकता नहीं तो और क्या है कि समुद्रके गर्भमें लोहचुम्बक तारोंका जाल बिछाकर जहाजोंको डुबा देते हैं और निरीह मानवोंपर बम बरसाये जा रहे हैं ? इस अज्ञानसे मनुष्यको ऊपर उठना होगा, इस अहङ्कारसे पल्ला छुड़ाना पड़ेगा और तभी वह अपने सत्यस्वरूपकी, उस सनातन शाश्वत सत्यकी उपलब्धि कर सकेगा, जिसके लिये उसके भीतर तड़प है, व्याकुलता है, अभावका बोध है। दूसरे शब्दोंमें, उसे साधना करनी होगी और तब उसे अपने सत्यस्वरूपका—जो स्वयं श्रीनारायण है—पता लगेगा। यह साधना जीवनके लिये आवश्यक है, अनिवार्य है। जीवनमें अन्न, जल, वायु, प्रकाशकी अपेक्षा भी इस साधना-की आवश्यकता अधिक है।

साधनाके केन्द्र

मनुष्य वस्तुतः दिव्य भागवत प्राणी है। वह आत्मदृष्टि साक्षात् श्रीभगवान् ही है, मनुष्यताका तो उसने चोला धारण किया है। मनुष्यकी तमाम पहेलियोंका बस, एक ही हल है और वह यही है कि मनुष्य अपने दिव्य भगवत्स्वरूपकी उपलब्धि करे। मनुष्यके भीतर भगवान्

पञ्चकोषोंमें छिपे हुए हैं। मनुष्यका भौतिक रूप आत्माका परिच्छद है, यही है अन्नमय कोष। उसके बाद है प्राणोंका कोष अर्थात् स्नायुजाल, जो शरीरको धारण किये हुए है। इस स्नायुजालमें ही जीवनकी धाराएँ प्रवाहित होती रहती हैं। मन इन स्नायुओंका पोषण और सञ्चालन करता है। शरीर, मन और प्राण मनुष्यके निम्नस्तरके केन्द्र हैं। मनके परे विज्ञान है। इस विज्ञानकी दृष्टिमें एक ही तत्त्व बहुत ही स्पष्ट एवं प्राञ्जलरूपमें रह जाता है। विज्ञानके परे आनन्दमय कोष है और इसमें प्रवेश करनेपर मनुष्य आत्मानन्दके हृदयमें प्रवेश कर जाता है। आत्मा इन पाँचों ही कोषोंसे परे है और हमारे हृदय-कमलके कोषमें जगमगा रहा है। साधनाकी तीव्रताके द्वारा जब दिव्य चेतनताका स्फुरण और जागरण होता है, तब इन पञ्चकोषोंकी प्रक्रिया स्पष्ट समझमें आ जाती है। शरीरके सभी अङ्गोंमें भगवान्‌के दिव्य संस्पर्शकी अनुभूति होनी चाहिये। इसके लिये आवश्यकता इस बातकी है कि हमारे समग्र अङ्ग सक्रिय साधनामें लगें। साधना कोई भी क्यों न हो, यह आवश्यक है कि वह हमारी मन-बुद्धिको उद्‌बोधित करे और हृदयको स्पर्श करे। और वस्तुतः सच्ची साधना मन-बुद्धि और हृदयको स्पर्श करती ही है। हमारे शरीरके अंदर हृदय और बुद्धिमें ही भगवान्‌का निवास है। मन-बुद्धि साधनामें स्थिर हो जायँ और हृदय उसके आनन्द-रसका निरन्तर आस्वादन करता रहे—यही तो साधनाकी सफलताके लक्षण हैं। मन-बुद्धि और हृदयके केन्द्रोंको जो साधना स्पर्श नहीं करती, वह अधूरी ही साधना समझी जायगी। अच्छा, इस सम्बन्धमें फिर आगे विचार किया जायगा।

साधनाके सिद्धान्त

साधारणतः हमारी चेतना बहिर्मुखी होती है। बाहरके विषयोंमें यह मनमाना बेलगाम दौड़ लगाती है, खूब उछल-कूद मचाती है और उसकी प्रत्येक उछल-कूदमें हमारी शान्ति और शक्तिका क्षरण होता रहता है और मन क्षुब्ध एवं चञ्चल होता रहता है। मनपर अच्छी तरह लगाम कसकर और इस प्रकार समग्र बिखरी हुई चेतनाको अपने अंदर समेटकर उसे हृदयमें डुबा देना ही साधनाका गुह्य तत्त्व है। जिस प्रकार मरजीवा समुद्रमें गोते लगाकर रत्न ढूँढ़ निकालता है, उसी प्रकार साधकको अपने हृदयमें डूबना होगा। हमारे सभी अङ्ग, हमारे अस्तित्वका एक-एक कण भगवत्प्राप्तिकी सजग अभीप्सामें पुलकित हो उठे, हमारे भीतर दिव्य पवित्रता भर जाय—इसके लिये हमारे अंदर दृढ़ निश्चय चाहिये, अटल निष्ठा चाहिये और चाहिये साधनाके प्रति अटूट अनुराग। 'अन्तर्मुख होओ, भीतरकी ओर लौटो'—समस्त साधनोंका एकमात्र यही सूत्र है।

साधनाका मूल आधार

हृदयमें स्थित नारायणका साक्षात्कार करनेके लिये तथा समस्त जगत्‌में उनका संस्पर्श अनुभव करनेके लिये अनेक प्रकारकी साधनाएँ हैं। उनमेंसे कोई भी साधना लगन और उत्साहके साथ की जाय तो साधक अवश्यमेव अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लेगा; क्योंकि हमारी अन्तरात्मा ही हमें यन्त्र बनाकर साधना करती है। मन, वचन और कर्मकी पवित्रता, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सात्त्विक एवं युक्त आहार-विहार, सत्सङ्ग, एकान्तसेवन, आँख, कान, जिह्वा, और उपस्थेन्द्रियका पूर्ण संयम, भगवान्‌में पूर्ण विश्वास, नाम-स्मरण, नम्रता, निरपेक्षता, सद्‌ग्रन्थ-सेवन, साधु-सेवन, श्रीगुरुका आज्ञापालन—ये ही हैं साधनाके मूल आधार और कोई भी साधक, चाहे जिस शैलीकी उसकी साधना हो, इन तत्त्वोंकी अवहेलना कर नहीं सकता।

गुरु

योग्य गुरुके संरक्षणमें साधना करना सर्वथा सुरक्षित एवं निरापद है। परन्तु सच्चे गुरुके लिये सच्ची खोज होनी चाहिये। गुरुके जीवनमें जितनी अधिक पवित्रता होगी, जितनी अधिक दिव्यता होगी, उसके मुखमण्डलपर चिच्छक्तिका जितना अधिक विकास होगा, उसकी करुणा-भरी, कृपाभरी दृष्टिमें जितनी भी दिव्य आध्यात्मिक ज्योति निकलती रहेगी, उसके शान्त, स्थिर, निर्मल, अहङ्कारशून्य, सरल, निश्छल, निर्मान, निर्मोह आचरणमें, उसकी शीतल स्निग्ध वाणीमें, जो सहज ही संशयका उच्छेदन करती है, आनन्द और प्रकाशकी वर्षा करती है, जितना अधिक प्रभाव होगा, साधकका उतना ही शीघ्र कल्याण होगा। सच्चा गुरु कभी अपनेको अवतार घोषित नहीं करता, न अपनेको सर्वशक्तिमान् ही बतलाता है। इस प्रकारके अहङ्कारका उसमें लेश भी नहीं होता। प्रकाशन और प्रचारकी अपेक्षा मौन और एकान्तसे उसका विशेष प्रेम होता है। वह यह कहता भी नहीं कि मैं गुरु हूँ। सच्चा गुरु एक बारके दृष्टि-निक्षेपमात्रसे, एक बारके स्पर्शसे, एक बारके सङ्कल्पसे अपने योग्य शिष्यमें शक्तिपात कर सकता है। वह

मीलों दूरसे अपने शिष्यकी काया पलट सकता है; क्योंकि परमाणुओंकी गतिमें जो संवेग है, उससे भी अधिक तीव्र संवेग उसके विचारोंमें, उसके सङ्कल्पमें होता है। बड़ा ही भाग्यशाली है वह साधक, जिसे ऐसा गुरु प्राप्त हो गया है। ऐसे योग्य गुरु हैं बहुत ही दुर्लभ। भगवान्‌की कृपासे ही वे इस धराधामपर आते हैं। इस संसारमें आजकल ऐसे गुरु बहुत ही थोड़े हैं।

कुछ साधनाएँ

साधनाके जिन आवश्यक तत्त्वोंका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, यदि उनका विकास किसी साधकमें हो रहा है तो वह आत्मज्ञानकी निम्नलिखित साधनाओंमेंसे किसी एकका, जिसका निर्देश उसके गुरुदेव करें अथवा जिसका अनुमोदन उसकी अन्तरात्मा करे, आधार ले सकता है—

१. भगवद्गीता, रामायण, भागवत, सूतसंहिता, विवेक-चूड़ामणि आदि-आदि धर्मग्रन्थोंका अनुशीलन एवं मनन।

२. राम, कृष्ण, शिव, शक्ति, अल्लाह, जेहोवा या भगवान्‌के अन्य किसी भी प्रिय नामका प्रतिदिन कम-से-कम दस हजार जप।

३. भजन गाना, भगवत्प्रेममें नाचना और खूब प्रेमसे भगवन्नामका ज़ोर-ज़ोरसे उच्चारण और भगवत्कृपाका आवाहन। हृदय-द्वारको खोलने तथा हृदय-ग्रन्थियोंको काटनेके लिये यह सर्वोत्तम साधन है।

४. सत्सङ्ग, साधु-सेवा और संत-महात्माओंको भगवान्‌का स्वरूप समझकर उनका सम्मान करना।

५. हमारे धर्मशास्त्रके द्वारा अनुमोदित नित्य नैमित्तिक कर्मानुष्ठान—सन्ध्योपासन, ब्रह्मयज्ञ, बलिवैश्वदेव आदि पवित्र कर्मोंका विधिवत् पालन करना। इन कर्मोंमें महान् आध्यात्मिक रहस्य भरा पड़ा है।

६. भगवदर्पणबुद्धिसे ही कर्म करना और उन समस्त कर्मोंसे, जो अहंकार उत्पन्न करते हैं और मनकी शान्तिको नष्ट करते हैं, सर्वथा अलग रहना।

७. भगवान्‌की मूर्त्तिकी उपासना और अर्चा। यह भाव दृढ़ रहे कि मूर्त्तिमें साक्षात् श्रीभगवान्‌का निवास है। वह धातुकी नहीं है, अपितु स्वयं श्रीभगवान्‌का दिव्य मङ्गल-मय विग्रह है। मूर्त्तिपूजाके आलोचक इस बातको भूल जाते हैं और इसीलिये मूर्त्तिपूजाके तत्त्वसे अनभिज्ञ ही रह जाते हैं।

८. नियमपूर्वक किसी मन्दिरमें जाना, उसे धोना, पोंछना, साफ करना, बत्ती जलाना, धूप दिखाना आदि कैङ्कर्य करना।

९. तीर्थ-सेवन, गङ्गा, यमुना, सरयू आदि पवित्र नदियोंमें स्नान करना। यदि सचाईके साथ निष्ठापूर्वक ये कार्य किये जायँ तो अवश्य ही इसके द्वारा चित्तशुद्धि होती है और भक्तिकी लता लहलहा उठती है।

१०. **दान करना**—दीन-दुखियों, अपाहिजोंको अन्न देना, पशु-पक्षियोंको अपनी सन्तान समझकर उनको दाना-पानी पहुँचाना, गो-सेवा करना, पूजाके लिये बाग-बगीचे और फुलवारियाँ लगाना, ब्रह्मचारियोंको अन्न-वस्त्र देना, साधु-संन्यासियोंकी आवश्यकताओंका ध्यान रखना, पवित्र सद्ग्रन्थोंका प्रकाशन करना, सद्ज्ञानका प्रचार और प्रसार, गरीबोंके लिये, रोगियोंके लिये अस्पताल खुलवाना, गरीबों और मजदूरोंके लिये काम-काजकी व्यवस्था करना और उनकी जीविकाकी व्यवस्था बैठाना, उदारतापूर्वक दान देना; मानवमात्रको श्रीनारायणका विग्रह समझकर निष्काम-भावसे उसकी सेवा-शुश्रूषा करना। अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये ये कार्य नितान्त अनिवार्य हैं।

११. **गुरुसेवा**—गुरुके चरणोंमें अपने आपको अर्पित कर देना, उन्हें साक्षात् श्रीभगवान् समझना और धैर्य तथा उत्साहके साथ उनके निर्दिष्ट पथका, उनकी आज्ञाओंका श्रद्धापूर्वक पालन एवं अनुसरण करना, कभी उनकी भगवत्तामें संशय न करना।

१२. **हठयोगकी कुछ क्रियाएँ**—आसन, बन्ध, मुद्रा, प्राणायाम, कुम्भक, धौति, नौलि, त्राटक आदिका अभ्यास किसी योग्य अनुभवी गुरुके अनुशासन एवं तत्त्वावधानमें करना। हठयोगके आसनोंका अभ्यास एकमात्र नाडीशुद्धि और प्राणशुद्धिके लिये किया जाता है। इससे तुरन्त लाभ यह होता है कि इसके द्वारा साधकका चित्त स्थिर होता है और ध्यान जमता है और शारीरिक क्षोभ अथवा विक्षेप नहीं होने पाता। चमत्कारके लिये आसनोंका जो प्रदर्शन होता है, उससे कुछ भी होता-जाता नहीं। पैसेके लिये तो राहमें भिखमंगे भी आसन करते देखे जाते हैं। मनके साथ स्नायुओंका सीधा सम्बन्ध है। योगके आसनोंद्वारा प्राण-प्रवाहपर बहुत ही सुन्दर ढंगसे नियन्त्रण किया जा सकता है, मनके वेगोंपर लगाम कसा जा सकता है और इस कारण

आसनोंके द्वारा मन और प्राण स्वस्थ होते हैं और शरीर भी पुष्ट होता है, संगठित होता है। हठयोगका यही लक्ष्य है।

१३. **राजयोग**—राजयोगमें आठ सीढ़ियाँ हैं। यम, नियम, आसन और प्राणायामके सम्बन्धमें ऊपर कुछ उल्लेख हो चुका है। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिके विषयमें बहुत संक्षेपमें यहाँ चर्चा की जा रही है। पहले चार तो बाह्य साधनाके अंग हैं और पिछले चार आन्तरिक साधनाके। पिछले चारके द्वारा मनुष्य भगवान्‌के बहुत निकट पहुँच जाता है। ध्यान ही आभ्यन्तर साधनाका प्राण है। ध्यानका सरल अर्थ यही है कि समस्त बाह्य वृत्तियोंको अन्तर्मुख कर हृदयात्मा अथवा हृत्पुण्डरीकस्थित आत्म-पुरुषमें लीन कर देना। ध्यानमें सबसे पहले चित्तकी वृत्तियोंको एकाग्र करना पड़ता है। इष्ट देवताकी मूर्त्ति या चित्रपर दृष्टिको टिकानेसे सहज ही ध्यान जमता है, चित्त एकाग्र होता है अथवा किसी पुष्प, नक्षत्र, सूर्य, आकाश, मन्त्र, श्वासोच्छ्वास अथवा हृदयकी धड़कनपर दृष्टि स्थिर करनेसे सहज ही ध्यान लगने लगता है। तारे और पुष्पको अपने परम प्रियतम प्रभुकी मृदुल मुसकान समझना चाहिये, आकाश और पृथ्वीको उसका निवासस्थान समझना चाहिये, हृदयको उसका मन्दिर मानना चाहिये। सभी वस्तुओंके रहस्यमय आन्तरिक स्वरूपको ही ग्रहण करना चाहिये। ध्यान जब हृदयमें किया जाता है, तब बाहरके किसी भी उपकरण या सहायताकी आवश्यकता नहीं रह जाती; क्योंकि हृदयस्थ चैत्य पुरुषका दिव्य भाव-प्रवाह हमारी समस्त सत्ता-को आत्मसात् कर लेता है और इस कारण हमारी उपासना भी दिव्य हो जाती है। हृदयदेशमें स्थित नारायणका ध्यान लगातार पूरे छः महीने करनेपर हमारी अन्तश्चेतना जाग उठती है और उसके अनन्तर तो साधकको केवल इसी बात-का ध्यान रखना पड़ता है कि उसकी अन्तर्गुफामें जो दिव्य ज्वालमाल जगमगा रहा है उसपर उसकी दृष्टि स्थिर रहे। फिर और कुछ करना-धरना नहीं पड़ता; साधना तो स्वयं चलती जाती है, होती रहती है। इससे होगा यह कि धीरे-धीरे जब समग्र चेतना जाग उठेगी तो मन-बुद्धिका आत्मामें विलयन हो जायगा और समाधिका आनन्द प्राप्त होने लगेगा।

१४. **भक्तियोग**—अपने इष्टदेवके चरणोंमें सर्वात्मसमर्पण ही सर्वश्रेष्ठ साधना है। इससे स्वयं ही साधकमें साधनाकी सभी आवश्यक बातें आ जाती हैं। भक्तिकी साधना अत्यन्त सुगम है और इसमें किसी प्रकारके विघ्न-बाधा या अन्तरायका प्रायः भय नहीं है। भगवान्‌के चरणोंमें भक्ति करके संसारमें आजतक कभी किसीको धोखा हुआ नहीं, हो नहीं सकता। गृहस्थोंके लिये, जिनकी संख्या संसारमें ९९% (सौमें निन्यानवे) है, यह सर्वोत्तम साधना है। भक्तिके मुख्यतः दो भेद हैं—सगुणभक्ति और निर्गुणभक्ति अथवा अपराभक्ति और पराभक्ति। इनमें सगुणभक्ति अधिक सुगम है और इसका पालन सभी कर सकते हैं। प्रेम कई प्रकारसे व्यक्त होता है। प्रेमी भक्त अपने प्रेमको अनेकों प्रकारसे प्रकट करता है। भगवान्‌से वह कई प्रकारका सम्बन्ध जोड़ लेता है—दास्यभाव, सख्यभाव, वात्सल्यभाव, माधुर्यभाव आदि कई सम्बन्धोंको लेकर वह भगवान्‌से जुड़ जाता है। इनमेंसे किसी भी भावसे की हुई भक्तिके द्वारा भगवत्कृपा प्राप्त होती ही है।

१५. **ज्ञान-साधन**—समाधिके लिये ज्ञान-साधन बहुत ही उत्तम साधन है। विवेक, वैराग्य, आत्मविचार, अन्त-र्दर्शन—यह है प्रक्रिया ज्ञान-साधनकी। दृश्य जगत्‌के समस्त विषयोंके प्रति—जो अनात्म हैं, तुच्छ और क्षणभङ्गुर हैं—ज्ञानी अपनी दृष्टि मूँद लेता है, अपनी इन्द्रियोंको हटा लेता है—खींच लेता है। मैं यह भी नहीं हूँ, मैं यह भी नहीं हूँ—'नाहम्' 'नाहम्'से वह शुरू करता है। फिर सहज ही प्रश्न उठता है—फिर मैं क्या हूँ, मैं क्या हूँ—'कोऽहम्' 'कोऽहम्'! अन्तमें शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूपमें अपने आपको स्थित पाकर वह कह उठता है—मैं 'वह' हूँ, मैं 'वह' हूँ—'सोऽहम्' 'सोऽहम्'! ज्ञानी इस बातको जानता है कि वह 'आत्मा' है, स्वयं ब्रह्म है। अहर्निश, सोते-जागते, उठते-बैठते वह इसी जाग्रत् चेतनामें रहता है और अपने मन, चित्त तथा प्राणको उसी 'एक' शाश्वत सत्यमें लय किये रहता है। उसी 'एक' का ही वह अपने अन्तर्हृदय-में दर्शन करता है—और आँखें खोलकर बाहरके संसारमें भी वह उसीका दर्शन करता है। 'उस'के सिवा उसके लिये और कुछ रह ही नहीं जाता। वह सर्वत्र और सब वस्तुओं-में उसी एक अद्वितीयको ही और उसी 'एक' अद्वितीयमें सब वस्तुओं और सब रूपोंको देखता है। इसीको कहते हैं एकमें अनेक और अनेकमें एकका दर्शन! ऐसे ही आत्म-दर्शी संतका गुणगान गीता और उपनिषद् गाती हैं।

१६. **तन्त्र**—योगी लोग जाग्रत कुण्डलिनीकी उपासना शक्तिरूपमें करते हैं। चक्रवेधकी प्रक्रियाके द्वारा वह

कुण्डलिनीको छः चक्रोंको भेदता हुआ सहस्रारमें ले जाता है और वहाँ महाकुण्डलिनीका 'पुरुष'से मिलन होता है। इस मिलनसे ॐकारकी ध्वनि स्पष्ट सुननेमें आती है और ब्रह्म-रन्ध्रमें प्रकाश जगमगाने लगता है और कई वर्षकी साधनासे हमारा सम्पूर्ण अस्तित्व—हमारा मन, प्राण, शरीर सब-का-सब दिव्य हो जाता है। नस-नसमें, कण-कणमें चिच्छक्तिका दिव्य विलास होने लगता है और आनन्दकी पुलकसे रोम-रोम सिहर उठता है। परन्तु यह बात स्मरण रखनेकी है कि तन्त्रकी साधनासे कुण्डलिनी-जागरणद्वारा जो कुछ आनन्दानुभूति होती है, ज्ञानीकी सहज समाधि या भक्तके अशेष आत्मसमर्पणमें उससे किञ्चिदंशमें भी कम आनन्दानुभूति नहीं होती। तन्त्रका मार्ग सङ्कटापन्न है और किसी अनुभवी योग्य सिद्ध गुरुकी देख-रेखमें रहकर ही इस मार्गमें प्रवृत्त होना चाहिये। गुरु ऐसा हो, जो शिष्यमें शक्तिपात कर सके। केवल प्रपञ्चसार, षट्चक्रभेदन, कुलार्णव या महार्णव तन्त्र पढ़ लेनेसे तन्त्रका ज्ञान नहीं हो सकता। और इन्हें पढ़कर पञ्चमकारकी उपासनामें प्रवृत्त होना तो अपनेको एकदम खतरेमें डालना है। बहुत-से साधक इस मार्गपर चलकर खतरा उठा चुके हैं, धोखा खा चुके हैं। इस पथमें पूरी सावधानी न रही तो अवाञ्छनीय परिणाम होना स्वाभाविक है। यह जान लेना चाहिये कि भक्ति-साधना और शक्ति-साधना दोनों ही समानरूपसे प्रभावशाली हैं।

पुकारो, भगवान्‌को पुकारो

बचपनमें मैं सहज ही भक्तिके मार्गमें लगा। मेरे दादा एक सच्चे संन्यासी थे। पैदल दो बार मद्राससे हिमालयतककी यात्रा उन्होंने की थी और अपने अन्तिम दिनोंमें वे एक पर्णशालामें रहा करते थे। मेरी अवस्था उस समय छः-सात सालकी थी। मैं बराबर उनकी सेवा-परिचर्यामें लगा रहता था और मेरेलिये तो वे भगवान् ही थे। उनके ही पास रहकर मैंने हठयोगके तमाम आसन सीखे, प्राणायामकी प्रक्रिया सीखी—और यह सब कुछ हुआ खेल-तमाशेमें। उनकी सेवामें मुझे इतना रस मिलता कि पढ़ना-लिखना सब ताकपर रख दिया और मेरा दिल-दिमाग दुनियाकी किसी भी बातमें रमता ही नहीं था। घरवाले मुझे बुरी तरह फटकारते, परन्तु मैं अपनी सारी बातें चुपचाप अपने दादासे—जिन्हें मैं साक्षात् नारायण समझता था—कह दिया करता था।

मैं—स्वामीजी! मेरे पिताजी मुझे पीटते हैं···

वे—एक ऐसा भी पिता है, जो अपने बच्चोंको कभी नहीं पीटता; उसे खोजो।

मैं—स्वामीजी! मेरी माँ मुझे बुरी तरह फटकारती है!

वे—एक ऐसी माँ है जो तुम्हें कभी भी फटकारेगी नहीं, वह केवल तुम्हें प्यार-ही-प्यार करेगी; उसे ढूँढ़ो।

मैं—स्वामीजी! मेरे मास्टर बेंतोंसे मेरी खबर लेते हैं!

वे—एक ऐसा भी मास्टर है जो तुम्हें कभी भी बेंत नहीं लगायेगा, न तुम्हें छेड़ेगा ही। वह तुम्हें ऐसी बातें सिखलावेगा जिन्हें तुम्हारे दुनियाके मास्टर सौ जन्ममें भी नहीं सिखला सकेंगे।

मैं—मुझे किताबोंमें कुछ मजा नहीं मिलता।

वे—(मेरे हृदयको थपथपाकर) असली किताब तो यहाँ है; इसे ही खोलकर देखो, पढ़ो। फिर आप-ही-आप तुम्हें सारा ज्ञान हासिल हो जायगा।

दिन-दिन इन उत्तरोंसे मेरे अन्तरकी गाँठें खुलती गयीं और अपने-आप ही मैं आत्मविचारमें लग गया। मेरे मनने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि उस 'परमपिता'के दर्शन करने ही हैं और उसका ज्ञान प्राप्त करना ही है, अवश्यमेव करना है। एक दिन वे बहुत ढंगसे यह समझा रहे थे कि जो कुछ है, सब-का-सब भगवान् ही है, एकमात्र भगवान् है, भगवान् सर्वत्र है और सब कुछ है। इसपर मैंने पूछा—'स्वामीजी! क्या मैं उनका दर्शन कर सकता हूँ?'

'हाँ, हाँ'—उन्होंने स्नेहके साथ कहा।

'कैसे?' मैंने आतुरतासे पूछा।

'पुकारो, उसे पुकारो'—उन्होंने समझाते हुए कहा।

'कैसे पुकारूँ स्वामीजी?'

'अरे भाई, उसे पुकारनेमें क्या दिक्कत है? वह सर्वव्यापक है, शुद्ध है, पवित्र है, सर्वशक्तिमान् है। चाहे जिस नामसे पुकारो वह सुनता ही है, सुनता ही है, अवश्य सुनता है। उसे शुद्ध ब्रह्म कहो या उसे सर्वशक्तिमान्, सर्वसमर्थ कहो। उसे पुकारो या उसकी शक्तिको पुकारो। अच्छा सुनो, मैं तुम्हें एक मन्त्र सुनाता हूँ; तुम इसे जपा करो और तुम इसके दिव्य चमत्कारको देखोगे। वह मन्त्र है—'ॐ शुद्ध शक्ति'! इससे तुम्हारे सारे मनोरथ सिद्ध हो जायँगे।'

इस मन्त्रके साथ मेरे हृदयका एक विचित्र अकथनीय आकर्षण हो गया, उसके लिये हृदयमें चाह उत्पन्न हो

आयी और रात-दिन मैं बराबर उसका जप करता रहा। यह मन्त्र मेरे हृदयकी धड़कनके साथ मिल गया। मैं अपने हृदयकी धड़कनमें स्पष्ट सुनता था उस मन्त्रकी ध्वनि! मुझे यह दिव्य मन्त्र प्रदान कर वह महात्मा इस संसारसे चल बसे। इसके बाद मैं अनेकों संत-महात्माओंके संसर्गमें आया और अनेकों प्रकारकी साधनाएँ कीं। परन्तु अन्ततः मेरे लिये तो उस परम शुद्ध शक्तिके चरणोंमें पूर्ण आत्मसमर्पणका ही एकमात्र आधार रह गया है और इसीसे मेरे जीवनमें एक अद्भुत आनन्द है, जिसका मैं निरन्तर पान किया करता हूँ। भक्तिकी ज्वाला मेरे हृदयमें अहर्निश प्रज्वलित रहती है। शुद्ध और शक्तिका वही सम्बन्ध है, जो सूर्य और उसकी किरणोंका है।

महासाधन

सम्पूर्ण, निःशेष आत्मसमर्पणको ही मैं 'महासाधन' कहता हूँ। साधकोंकी प्राणदायिनी माता गीताका यह सार-सर्वस्व है। लोग समझते हैं कि समर्पण एक बहुत आसान चीज है, परन्तु यह आसान है नहीं। समर्पणसे सारा कार्य, सारी साधना, समस्त मनोरथ सफल हो जाते हैं—इसमें कोई भी सन्देह नहीं। मुझे तो एकमात्र समर्पणसे ही पूर्ण शान्ति एवं पूर्ण आनन्दकी अनुभूति हुई है। हठयोग और राजयोगकी अपेक्षा समर्पणका मार्ग अधिक कठिन है। समर्पणमें कर्म, भक्ति और ज्ञानका पूर्ण समन्वय है। हाँ, यह बात अवश्य है कि हमारा यह समर्पण पूर्णतः प्रीतिपूर्वक होना चाहिये। नम्रता, आज्ञापालन, प्रभुकी सेवा और भगवद्भावसे जगत्‌के जीवोंकी यथाशक्ति सेवा-सहायता करना—यह तो है शरीरका समर्पण। प्राणोंका स्तर इतना सुदृढ़ होना चाहिये कि वह साधनाके भारको सँभाल सके, अहङ्कारको भगा सके, इच्छा, वासना, मोह, आसक्ति, ईर्ष्या, राग-द्वेष, लोभ, लालसा, मद, मत्सरसे साधकको अलग—अछूता रख सके। यह पूर्णतः नरम, कोमल, चिकना, मसृण और संवेदनशील होना चाहिये—जिसमें यह भगवत्कृपाके संस्पर्श और प्रभावको बराबर अनुभव करता रहे। किसी भी व्यक्तिगत वासना, किसी भी अहङ्कार-पूर्ण माँग या शर्तके द्वारा समर्पणको कलङ्कित नहीं करना चाहिये। चित्त सर्वथा शुद्ध और निर्मल हो, स्थिर हो, दृढ़ हो और हमारी समस्त इच्छाएँ पुञ्जीभूत होकर भगवान्‌को पुकार सकें, भगवान्‌को ही प्राप्त करनेके लिये तड़प उठें! अहङ्कारको तो एकदम मिटा देना होगा, निःशेष कर देना पड़ेगा। साधकको इस बातका दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि मनुष्य तो भगवान्‌के हाथमें यन्त्रमात्र है, भगवान् उससे जो कुछ कराना चाहते हैं, वही उसे करना पड़ता है। उसे यह अनुभव करना चाहिये कि स्वयं भगवान् ही उसके प्राणोंके प्राण हैं, जीवनके जीवन हैं, मस्तिष्कमें बैठकर भगवान् ही विचार करते हैं, और हृदयमें बैठकर वही आनन्दकी सृष्टि करते हैं।

साधनाके दो घोर शत्रु हैं—अहङ्कार और ममकार, मैं और मेरा। इनके नाममात्रसे भी साधनाके क्षेत्रमें सब कुछ किया-कराया चौपट हो जाता है। बुद्धिके द्वारा आत्माको अनात्मासे पृथक् करके भगवान्‌के पथमें आगे बढ़ना चाहिये। मन पाँचों इन्द्रियोंपर पूरी चौकसी रक्खे। इन्द्रियाँ कभी-कभी मदमाते उद्दाम घोड़ोंकी तरह मनुष्यको खाई-खंदकोंमें गिरा फेंकती हैं और मनुष्य विषय-वासनाओंके जंगलमें भटकता फिरता है। मनुष्य अज्ञानके हाथकी कठपुतली हो जाता है। मन तो विषयोंका स्फुरण-स्थान है। मन हृदयमें डूब जाय और हृदयमें भगवान्‌की ज्योति सदैव जगमगाती रहे—फिर चाहिये क्या। हृदयको इस बातका पूरा-पूरा विश्वास हो जाना चाहिये कि अभोगामी विषयोंमें कुछ भी है नहीं और प्रेम करने योग्य कोई वस्तु है तो वह है परम प्रियतम प्राणधन हरि। जब दिव्य प्रेम हृदयको संस्पर्श करता है तो मार्ग अपने-ही-आप सुगम हो जाता है और सारी कठिनाइयाँ आप-ही-आप हल हो जाती हैं। तब तो ऐसा होता है कि हमारा परम प्रियतम हमें अपनी भुजाओंमें बाँधकर अपने साथ ही लिये फिरता है। जब मन-बुद्धि-प्राण भगवान्‌में डूब जायँ, जब हृदयमें उसी एक 'दिलबर' के लिये, उसी एक 'महबूब' के लिये प्यार और तड़प रह जाय—बस, प्यार-भरी तड़प और तड़पता हुआ प्यार रह जाय, जब जगत्‌के भोग-विलासोंसे चित्त आप-ही-आप फिर जाय, जब साधक यह समझे, यह अनुभव करे कि शरीर जाय तो जाय, परन्तु भगवान्‌को पाये बिना रह न सकूँगा, जब उसे जीवनकी अपेक्षा भी प्रभु प्रिय लगें, तब उसे यह समझना चाहिये कि भगवदीय चेतनाका उसमें अवतरण एवं स्फुरण हुआ है। तभी उसपर भगवान्‌की दया उतरती है, दिव्य प्रकाश उसपर अपने-आप बरसने लगता है और तभी उसके भीतर भागवती इच्छा अपना कार्य करने लगती है। साधक तब यह समझता है कि वह भगवान्‌के हाथका एक यन्त्रमात्र है और भगवान्‌की

जो इच्छा होती है वही उसके द्वारा होता है, अन्यथा कुछ हो ही नहीं सकता। वह यह अनुभव करता है कि उसके फुफ्फुसमें भगवान् ही साँस लेते हैं, उसकी वाणीमें भगवान् ही बोलते हैं, भगवान् ही उसके हृदयमें बैठे प्यार करते हैं, उसकी बुद्धिमें बैठे हुए विचार करते हैं और उसकी आत्मामें रहकर आनन्दका आस्वादन करते हैं। यह है समर्पणकी पराकाष्ठा। इसके द्वारा मनुष्य स्वतः निश्चिन्त, निर्द्वन्द्व और निर्लेप रहता है और उसके द्वारा भागवती शक्ति अपना कार्य करने लगती है। साधक अपने हृदेशमें भगवान्‌के साथ नित्य युक्त रहता है। साधक भगवान्‌को नहीं छोड़ता, भगवान् साधकको नहीं छोड़ते। साधकका निवास होता है भगवान्‌में, भगवान्‌का निवास होता है साधकमें। इस प्रकारके समर्पणकी प्रक्रिया हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंने बतलायी है। और यही है इस युगके लिये परम साधन।

सिद्ध पुरुष

सिद्ध पुरुष यह जानता है कि भगवान् ही उसकी आत्मा हैं। वही यह डंकेकी चोट कह सकता है कि मैं आत्मा हूँ, मैं ब्रह्म हूँ। परन्तु सिद्ध पुरुष इस कारण किसी ऐसे भ्रममें या अहङ्कारमें नहीं पड़ेगा कि वह सोचने लगे कि वह सर्वशक्तिमान् है, सर्वव्यापक है और स्वयं भगवान् है या उसका प्रतिनिधि है। समाधि-साधकोंको तो इस दिशामें बहुत ही सतर्क रहनेकी आवश्यकता है। नाममात्रका अहङ्कार भी उसे ले डूबेगा। मनुष्य तो सीमाओंसे आबद्ध है। वह ईश्वरका अंश अवश्य ही है, परन्तु ईश्वर नहीं है। अंश पूर्णके बराबर नहीं हो सकता, सूर्यकी एक किरण सूर्यके समान नहीं हो सकती। जलका एक कण लघु सागर है—इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु यह पूर्ण सागर तो नहीं है। साधक सदैव इस बातका ध्यान रक्खे कि वह जीवित है, क्योंकि भगवान्‌का उसमें निवास है; वह साँस लेता है, क्योंकि भगवान् उसके भीतर बैठे साँस लेते हैं; वह सोचता-विचारता है, इसलिये कि उसकी बुद्धिमें बैठे हुए भगवान् अपने प्रकाशसे उसकी बुद्धिको प्रकाशित किये हुए हैं और वह भगवान्‌का साक्षात्कार करता है, क्योंकि भगवान् ही उसके जीवनकी सार सत्ता हैं। डायनेमो बिजलीके प्रवाहसे चलता है। स्वयं मशीनमें क्या शक्ति है कि कुछ भी कर सके। उस अनन्त शक्तिके एक कणमात्रसे समस्त लोक-लोकान्तरोंमें जीवन-प्रवाह प्रवाहित हो रहा है। उसी शक्तिसे यह जगत्-चक्र चल रहा है। मनुष्य उस शक्ति-कणका करोड़वें हिस्सेका भी करोड़वाँ हिस्सा है या उससे भी कम। इसलिये उसे यह भूल नहीं जाना चाहिये कि चाहे कितनी भी उसकी शक्ति क्यों न हो, वह देश और कालसे सीमित है, परिच्छिन्न है और वह कदापि उस अनन्त, सर्वशक्तिमान् प्रभुकी समानता कर नहीं सकता। इसलिये मनुष्यमात्रके लिये एक ही मार्ग है और वह है समर्पणका। जिस प्रकार मालाके मनिये धागेमें पिरोये रहते हैं उसी प्रकार जपसे लेकर समाधितक समस्त साधनाओंका मूल आधार है यह समर्पण, सर्वस्व-समर्पण, निःशेष सर्वात्मसमर्पण।

समर्पण

प्रभो! मेरे देवाधिदेव! मैं यह भूलूँ नहीं कि तुम सदैव मेरे हृदयदेशमें निवास करते हो। तुम्हीं मेरे जीवनके सूत्रधार हो। इस क्षण-क्षण बदलनेवाले, पल-पलमें बनने-मिटनेवाले संसारमें जो कुछ भी हो रहा है, जो कुछ भी सामने आ रहा है, जो कुछ भी हिल-डुल रहा है और फिर आँखोंसे ओझल हो रहा है वह सारा ही तुम्हारी सत्तासे अनुप्राणित है, स्पन्दित है। मेरा मन-प्राण तुममें ही निवास करे, बसे और मेरा यह ज्ञान, यह चेतना बनी रहे कि तुम्हारी इच्छाके सिवा मेरी कोई गति नहीं, कोई आश्रय नहीं, कोई शरण नहीं, कोई अस्तित्व नहीं। यह शरीर तो मृत पिण्ड है, यह सजीव इसलिये है कि तुम इसमें साँस लेते हो। ओ मेरे प्रियतम, मेरे प्राणाराम! मैं अपने हृदयदेशमें सतत तुम्हारा आलिङ्गन-रस पाता रहूँ। जो कुछ करूँ तुम्हारी प्रेरणा और सङ्केतसे, तुम्हीं मेरे द्वारा अपना कार्य करो, अपना उद्देश्य साधो; मेरे हृदयमें तुम्हारा ही प्रेम विराजे, तुम्हीं प्रेमरूपमें विराजो; मेरी बुद्धिमें तुम्हीं प्रकाशरूप बने रहो, मेरे मस्तिष्कमें तुम्हीं विचार करो। मेरे समस्त अहङ्कारको अपनेमें डुबा लो, प्रभो! मेरे अंदर तुम्हारे सिवा कुछ भी रह न जाय, तुम्हीं-तुम रह जाओ। हे सर्वशक्तिमान्, सर्वसमर्थ स्वामिन्! भले

ही मैं समाधिकी अवस्थामें तुमसे एकाकार होकर तुम्हारी ही तरह हो जाऊँ; परन्तु यह भूलकर भी मैं यह न मान बैठूँ कि मैं तुम्हारे सदृश हूँ। मैं हूँ ही क्या। एक तुच्छ नगण्य नाचीज—जो अपनी एक-एक साँसके लिये तुम्हारी कृपापर अवलम्बित है, तुम्हारी दयाका मुँह जोहता है। तुम्हारे अनन्त महासागरके सम्मुख इस कणकी क्या हस्ती है, प्रभो! मेरा अहङ्कार तुम ले लो, मेरे दयामय हरि! और मुझे नम्रता, दीनता प्रदान करो। ओ मेरे स्वामी! तुम्हारी इच्छा मेरे जीवनमें पूर्ण हो, तुम्हारी जो इच्छा हो वही मेरे भीतर-बाहर हो—तुम्हीं मेरे भीतर साधना करो और तुम्हीं मेरे भीतर सिद्ध होकर अपनी इच्छा पूर्ण करो।

साधना और सिद्धि

(लेखक—स्वामी श्रीअखंडानन्दजी महाराज)

साधनाके विशाल एवं व्यापक क्षेत्रपर यदि हम उदार दृष्टि डालें तो हमारा यह विश्वास दृढ़ हो जायगा कि हमारा सम्पूर्ण जीवन साधनाका अनन्त क्षेत्र है। 'जैसी करनी वैसा फल'—यह एक ऐसा सत्य सिद्धान्त है जो हमारे जीवनके समग्र शारीरिक और मानसिक कर्मोंमें—एक-एक कार्यमें लागू होता है; वह कार्य चाहे जिस प्रकारका हो—उसका सम्बन्ध कलासे हो या साहित्यसे हो, चित्रकारीसे हो, सङ्गीतसे हो या संस्कृतिसे हो—सर्वत्र समानरूपसे यह सिद्धान्त घटता ही है। ऊपर हम जितने भी क्षेत्र गिना आये हैं, उनमें हमें सफलता उतने ही अंशमें मिलती है, जितने अंशमें हम उसमें निष्ठा एवं शक्तिके साथ प्रवृत्त होते हैं। इसलिये यदि हमने अपनी चरम लक्ष्य-सिद्धिके लिये पूरा-पूरा प्रयत्न नहीं किया, जी-जानसे परिश्रम नहीं किया तो हमारे लिये अपनी असफलता-पर दुःख करनेका, खिन्न होनेका कोई कारण नहीं है। अतिचेतन और अतीन्द्रिय परमात्मसत्ताकी उपलब्धिके लिये हम जो कोई भी आध्यात्मिक अनुष्ठान करते हैं—ध्यान, चिन्तन, पूजा, जप, आसन, भजन इत्यादि-सब साधनाकी परिभाषाके अन्तर्गत आ जाते हैं।

सभी संत-महात्माओं तथा धर्मसंस्थापकोंने अत्यन्त कठिन-कठोर साधनाके द्वारा ही आत्मज्ञानका प्रकाश पाया और आत्मानुभूतिके दिव्य प्रकाशमें ही उन्होंने जगत्के लिये भगवान्का पथ ढूँढ़ निकाला, भगवत्साक्षात्कार अथवा निर्वाण-का मार्ग आलोकित किया। और यही कारण है कि इन आत्मदर्शी संत-महात्माओंके चरण-चिह्नोंका अनुसरण कर, उनके आदेश और आचरणका अनुकरण कर आज भी एक सच्चा साधक, भगवान्के पथपर चलनेवाला एक निष्ठावान् पुरुष आध्यात्मिक साधनाकी एक-एक सीढ़ी चढ़ता हुआ अपने लक्ष्यकी ओर बढ़ता जाता है; क्योंकि वह महात्माओंके बताये हुए उस मार्गपर चल रहा है, जिसका उल्लेख संसारके धर्म-शास्त्रों एवं अध्यात्मग्रन्थोंमें बहुत विस्तारसे हुआ है। साधनाका यह पथ इतना प्रशस्त, सुरक्षित एवं सुनिश्चित है कि साधकको इधर-उधर भटकनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। कारण कि उन संत-महात्माओंने जो कुछ लिखा है वह अपने अनुभवसे लिखा है, उनके उपदेश और आचरणमें पूर्णतः एकता थी, वे वही बात लिखते थे जिसका उन्हें अनुभव था और इसीलिये उनके उपदेशोंमें जीवन एवं शक्ति भरी पड़ी है। ऐसे संत-महात्मा जिस धर्ममें जितने भी अधिक होंगे, वह धर्म उतना ही दीर्घजीवी और स्थायी होगा। परन्तु खेदका विषय है कि बीच-बीचमें अपकर्षकी अन्तर्दशा भी आती रहती है और उस समय उन महात्माद्वारा प्रज्वलित आत्मज्ञानकी ज्वाला धूमाच्छन्न हो जाती है। परन्तु वह तेज है तो सनातन, चिरप्रकाशमान और दिव्य। इसी कारण वह केवल धूमाच्छन्न होता है, बुझता नहीं—बुझ सकता ही नहीं। इसलिये एक सच्चा साधक अवसाद और अपकर्षकी अन्तर्दशासे निराश एवं क्लान्त नहीं होता, अपितु अपनी कठोर तपस्या एवं तीव्र साधनासे वह समस्त साधन-पथको आलोकित कर देता है—उसमें नवीन प्राण, नूतन जीवन डालकर पुनः जाज्वल्यमान कर देता है।

संसारके धर्मशास्त्रोंका तुलनात्मक अध्ययन करनेपर हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि सनातनधर्मके अतिरिक्त सभी धर्मोंने अपने-अपने अनुयायियोंके मानसिक विकासके लिये एक सुनिश्चित साधन-प्रणाली निर्धारित कर दी है

जिसमें एक विशिष्ट प्रकारकी भावना, ध्यान, चिन्तन तथा साधनाकी प्रक्रियाओंका निर्देश है। परन्तु हिन्दूधर्मने अपने अनुयायियोंकी मनोदशा, प्रवृत्ति आदिका ध्यान रखकर अनेकों प्रकारकी साधन-शैलीका अनुसन्धान एवं उद्घाटन किया है जिससे सब लोगोंके लिये साधनाका पथ सुगम हो—सभी अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार साधना कर सकें। अत्यन्त स्थूल मूर्त्ति-पूजासे लेकर निर्गुण निराकार-चिन्तनतक साधनाकी कई सीढ़ियाँ हैं। बाहर-बाहरसे देखनेवालोंकी बुद्धिमें ये बातें आ ही नहीं सकतीं; न वे इनका रहस्य ही समझ सकते हैं। सनातनधर्म तो एक ऐसी माताके समान है, जो अपनी सन्तानकी वय और शक्तिको देखकर तरह-तरहकी चीजें उसके उपयुक्त तैयार कर खिलाती रहती है और उसका स्नेहके साथ भरण-पोषण करती है। सच तो यह है कि हमारे पूर्वपुरुष, हमारे ऋषि-महर्षि और सिद्ध पुरुष—जो हिमाच्छादित, गगनचुम्बी महामहिम हिमालयसे लेकर कन्याकुमारीतक फैले हुए इस आर्यदेशमें एक छोरसे दूसरे छोरतक रहते थे—वस्तुतः शास्त्रज्ञानमें बड़े ही निपुण एवं पारंगत थे, ज्ञान-विज्ञानमें विशारद थे। उनके बताये हुए साधन-मार्ग एवं साधन-प्रणालीका सचाईके साथ अनुसरण कर हम निश्चय ही अपने दुर्जय-दुर्धर्ष मनपर विजय प्राप्त कर सकते हैं, उसे पवित्र बना सकते हैं, जिसके द्वारा इस शरीर-रूपी पिंजड़ेके भीतर बंद हंस उन्मुक्त होकर कुरेल कर सकता है। हमारे वे ऋषि-महर्षि सच्चे अर्थमें विज्ञानवेत्ता थे और आज भी उनके विज्ञान-ज्ञानका संसार लोहा मानता है। क्योंकि उन्होंने जो कुछ भी अनुभव किये, वे भले ही अवर्णनीय एवं अचिन्त्य हों; परन्तु सत्य सदैव उनका अनुमोदन करता है। सत्य सदा उनके अनुभवका आधार है। इसीलिये उनका अनुभव और ज्ञान भी सनातन सत्यकी भाँति शाश्वत है, चिरन्तन है।

कुशल-कुशाग्र बुद्धि एवं सत्य-सनातन अनुभवमें यही अन्तर है। अध्यात्मका विशाल, विस्तृत क्षेत्र बुद्धिके लिये सर्वथा अगम्य ही है। यह बेचारी बुद्धि, जिसका हमें बड़ा गर्व एवं अभिमान है; वस्तुतः है क्या! यह तो देश-काल-कारणसे परिच्छिन्न है और यहाँतक परिच्छिन्न है कि इसका उस लोकमें प्रवेश ही नहीं है, जिसमें प्रवेश करनेके लिये साधकको देश-काल और कारणको या तो भुलाना पड़ता है या लोप करना पड़ता है। यही कारण है कि सनातनधर्मके आचार्य बार-बार हमारे कानोंमें यही कहते हैं कि वेदोंमें विश्वास करो, आप्तवाक्योंमें विश्वास करो और इन्हींके आसरे साधनमार्गपर चले चलो, चले चलो और तबतक चले चलो जबतक अन्तरका पट न खुल जाय। साधना करो, साधना करो; सचाई, निष्ठा और विवेकके साथ साधना करो; शेष सारी बातें अपने-आप हो जायँगी—यही है हमारे शास्त्रों और ऋषियोंकी वाणीका सार समुच्चय। दूसरे धर्मोंके प्रवर्त्तक तथा आचार्योंका भी यही कहना है और उनकी इस वाणीमें एक दिव्य ज्योति गर्भित है। परन्तु जिन लोगोंको बुद्धिका अजीर्ण हो गया है, वे सब बातोंको अपनी बुद्धिकी तुलापर तौलते हैं। उन्हें पता नहीं कि अध्यात्मके पथमें साधनाके बिना कुछ भी नहीं बनता और इसीलिये वे इन संत-महात्माओं और आचार्योंको कुछ-का-कुछ समझ लेते हैं।

किसी भी बातके लिये दी हुई शर्तोंको पूरा कर देनेपर ही सफलताका मार्ग खुलता है। यह एक ऐसा नियम है जो ज्ञानके क्षेत्रमें सर्वत्र समानरूपसे लागू है और धर्मके क्षेत्रमें तो विशेषरूपसे। इसलिये सत्यके, ज्ञानके अथवा भगवद्दर्शनके सच्चे साधक अथवा आत्मार्थीके लिये कुछ नियम होते हैं, कुछ विधियाँ होती हैं, जिनका सम्यक्‌रूपसे पालन करनेपर ही मानव-जीवनकी चरम सिद्धि होती है। अद्वैत-वेदान्तके साधकको भी, जिसके लिये यह जगत् एक मायाजाल है, नित्यानित्यविवेक, इहामुत्र-फलभोगविराग, शम-दमादि षट्-सम्पत्ति और मुमुक्षुत्वकी शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं और उन्हें पूरा करनेपर ही वह संसारके बन्धनोंसे छूटकर मुक्तिपथमें सफलतापूर्वक जा सकता है। वे ही क्यों, सभी साधकोंको—चाहे वे कर्मयोगी हों, भक्त हों या राजयोगी हों या और किसी मार्गके हों—कठिन साधनाके मार्गपर चलना ही पड़ता है, घोर तपस्या करनी पड़ती है और तब जाकर वे सच्ची साधनाके सच्चे अधिकारी होते हैं। उन सभी साधनोंमें, जिनका उल्लेख संसारके धर्मशास्त्रोंने किया है, चार मुख्य हैं। वे हैं—अशेष धैर्य, आत्मसंयम, सचाई और आत्मोत्सर्ग। केवल कुछ जप या ध्यान कर लेनेसे ही मनुष्य अपने आदर्शको नहीं पा सकता। भगवान् तो सर्वलोकमहेश्वर हैं, उन्हें किसी शर्तमें बाँधा नहीं जा सकता। साधकको चाहिये कि वह असीम धैर्य एवं साहसके साथ अपनी साधनाका अनुष्ठान करता रहे, करता रहे। एक दिन वह देखेगा कि उसके बिना जाने ही प्रभुकी असीम अनुकम्पाका प्रवाह उसकी ओर मुड़ गया है और दिव्य लोकका द्वार उसके लिये खुल गया है। देवर्षि नारद तथा

दो साधकोंकी कहानी इस सम्बन्धमें संस्मरणीय है और वस्तुतः बड़ी ही भावपूर्ण है। देवर्षि वीणा बजाते भगवान्‌के दर्शनोंके लिये जा रहे थे। राहमें उन्हें दो साधक पृथक्-पृथक् स्थानोंमें साधना करते हुए मिले। पूछनेपर दोनोंने ही यह जानना चाहा कि भगवान्‌की प्राप्ति कब होगी। देवर्षिने भगवान्‌से इनकी चर्चा चलायी तो भगवान्‌ने कहा कि एकको तो दस वर्षमें दर्शन होंगे और दूसरेको उतने ही वर्ष लगेंगे, जितने उस इमलीके पेड़में पत्ते हैं, जिसके नीचे बैठा वह साधना कर रहा है। देवर्षि लौटे तो पहलेने पूछा। उसे यह जानकर बड़ी ही निराशा हुई कि अभी दस वर्षतक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। इसलिये उसने साधना छोड़-छाड़कर घरकी राह ली। दूसरा जब मिला तो उससे देवर्षिने डरते हुए कहा,—'भाई, अभी तो बड़ी देर है। इस इमलीके पेड़में जितने पत्ते हैं, उतने वर्ष बाद श्रीहरि तुम्हें दर्शन देंगे।' परन्तु इस साधकके आनन्दका पारावार नहीं रहा। वह आनन्दमें नाचने लगा। 'मिलेंगे न!' बस, यही सोचकर वह प्रभुकी कृपामें आत्मविस्मृत हो डूब गया! भक्तिकी धारा उमड़ पड़ी, साधना तीव्र हो गयी और उसे शीघ्र ही भगवान् मिल गये।

धार्मिक जीवनका मूल आधार है आत्मसंयम। आत्म-संयमके बिना साधना हो नहीं सकती, हो नहीं सकती। क्षुब्ध और चञ्चल शरीर तथा मनसे आध्यात्मिक जगत्‌में सफलता मिल ही नहीं सकती; सफलताका मिलना सर्वथा असम्भव ही समझना चाहिये। कारण कि जिस शक्तिको संघटित एवं केन्द्रीभूत करके भगवान्‌में लगाना है, वही शक्ति अधोमुख होकर क्षरित हो जाती है, नष्ट हो जाती है।

भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है कि मिथ्याचारी पुरुष लोक और परलोक दोनोंसे ही भ्रष्ट हो जाता है। भगवान्‌ने अर्जुनको बुरी तरह फटकारा है—बातें तो करते हो पण्डितोंकी-सी, परन्तु शोक करते हो उन बातोंका जिनके लिये शोक नहीं करना चाहिये! परमहंस रामकृष्णदेवने कहा है कि मन और मुखको एक करना ही सच्ची साधना है। सच्चा साधक जब अपने हृदयको टटोलेगा तो वह देखेगा कि कई तरहकी दुर्बलता और अशुचिता उसमें भरी पड़ी है और जबतक ये दुर्बलताएँ और अशुचिताएँ बनी हुई हैं, तबतक वास्तविक एवं स्थायी सफलता कैसे प्राप्त हो सकती है? यही है आध्यात्मिक जीवनका बीज।

अन्तमें एक बहुत ही आवश्यक बात कहनी है। अध्यात्मपथमें आत्मोत्सर्गकी जितनी भी आवश्यकता समझी जाय, थोड़ी ही है। अध्यात्मके आकाशमें हम चाहे जितनी भी ऊँची उड़ान लें—योगकी चाहे जितनी भी सिद्धियाँ प्राप्त कर लें—हमें यह जान रखना चाहिये कि जहाँतक हमारे अंदर अहङ्कार और ममकार है, जहाँतक इनका सर्वथा विलोप नहीं हो जाता, वहाँतक भगवद्दर्शन अथवा मोक्ष एक कल्पनामात्र है। यदि आप भक्त हैं, भक्तिकी साधना करते हैं तो 'इति, इति' के मार्गसे चलिये, समन्वयके पथपर चलिये और अपनी इच्छाओंको, अपने तुच्छ 'अहम्' और 'मम' को भगवदिच्छाके महासागरमें लीन हो जाने दीजिये। यदि आप ज्ञानी हैं, ज्ञानके मार्गपर चल रहे हैं तो 'नेति', 'नेति' के द्वारा अपने अहङ्कारको मिटा दीजिये—व्यतिरेककी पद्धतिसे।

गीताके अन्तमें भगवान्‌ने अर्जुनको 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज', सब धर्मोंको छोड़कर मेरी शरण लो—यह आदेश किया। श्रीरामकृष्णदेवका भी अपने भक्तोंको कितना दिव्य उपदेश है—'अहङ्कारके मिट जानेपर जगज्जननी माँ साधकके शवपर अपना नृत्य करती है, वह नृत्य जो एक बार शुरू होकर फिर कभी बंद नहीं होता।'

इस प्रकार समस्त साधनाएँ सिद्धिके महासागरमें प्रवेश कर जाती हैं।

नाम बिना सब दुःख है

जीवत ही स्वारथ लगे मूए देह जराय।
हे मन सुमिरौ राम कूँ धोखे काहि पराय॥
हाथी घोड़े धन धना चंद्रमुखी बहु नारि।
नाम बिना जमलोक में पावै दुक्ख अपार॥

—चरणदासजी

शरण-साधना

(लेखक—पु० श्रीप्रतापनारायणजी, कविरत्न)

अलौकिक कामिनियोंकी ही
कामना कोई करता है।
सुखी संतानोंकी कोई
साधनापर ही मरता है॥ १॥

किसीका सुंदरि-सेवामें
चला जाता सब जीवन है।
किसीका रमा हुआ रहता
रमामें ही व्याकुल मन है॥ २॥

धाम-धन-दौलतको कोई
लोकमें जमा किया करता।
पेट-पालनको ही कोई
माँगकर दान लिया करता॥ ३॥

शीशपर धुन सवार रहती
किसीके नाम कमानेकी।
किसीके आदत पड़ जाती
देह पर भस्म रमानेकी॥ ४॥

साधना जो ऐसी करते,
अंत में वे ही पछताते।
कभी वे नहीं सोचते यह—
यहाँ वे क्या करने आते॥ ५॥

आज दुनियामें नकली हैं,
बहुत कम हैं असली भोले।
यहाँ तो अपने मतलबमें
गजबके सब ही हैं गोले॥ ६॥

यहाँका देना ही तो है
वहाँके लिये साथ लेना।
निकलना जगके जालोंसे
नावको अपनी है खेना॥ ७॥

किसीकी क्यों न साधना हो
अंतमें साधक पछताता।
विश्व है नश्वर, इससे वह
विनश्वर वैभव-सुख पाता॥ ८॥

सर्वदा पूरी होकर भी
अधूरी मनुज-कामना है।
उसे बस, पूरा कर सकती
रामकी सही साधना है॥ ९॥

भक्तको इधर-उधर डुलकर
तत्त्व पर आना ही पड़ता।
मोहमें, ममतामें मुँहकी
अंतमें खाना ही पड़ता॥१०॥

मुक्तिकी इच्छासे बढ़कर
भक्तिकी भव्य भावना है।
साधनाओंकी इन्द्राणी
श्यामकी शरण-साधना है॥११॥

भूल सब कर्मोंको हरिकी
मान लो यह आज्ञा सत्वर—
'छोड़ सब धर्मोंको मेरी
एक तू शरण-साधना कर'॥१२॥

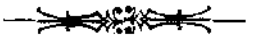

साधनाको गुप्त रखनेका महत्व

(लेखक—डा० शिवानन्द सरस्वती एम्० ए०)

उपनिषदोंमें जिस 'परा विद्या' का वर्णन है उसे स्थान-स्थानपर 'गुह्य' या रहस्यमय कहा गया है। उसे प्रकट करनेका निषेध किया गया है। गीतामें भगवान्‌ने 'राजयोग' को 'गुह्य' शब्दसे प्रकट किया है। तन्त्रोंमें तो स्थान-स्थान पर—

गोपनीयं गोपनीयं गोपनीयं प्रयत्नतः।
स्वयापि गोपितव्यं हि न देयं यस्य कस्यचित्॥

—इत्यादि शब्दोंके द्वारा साधनाको प्रकट करनेका निषेध किया गया है। किन्तु साथ ही यह भी कहा गया है कि ये साधनाएँ भोग-मोक्ष देनेवाली, जीव और ब्रह्मको एक बनानेवाली और आवागमनके बन्धनसे मुक्त करनेवाली हैं। इनसे बढ़कर प्राणियोंका हितकर साधन दूसरा नहीं। अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसी हितकर साधनाओंको गुप्त क्यों रक्खा जाय? इनका तो सर्वसाधारणमें इतना अधिक प्रचार करना चाहिये कि एक भी व्यक्ति इनसे अपरिचित न रहे। सभी इनसे लाभ उठाकर आवागमनके चक्रसे मुक्त हो जायँ, संसारके दुःखोंमें न भटककर भगवान् तक पहुँच जायँ। हमारे शास्त्रोंमें स्वादिष्ट वस्तु दूसरेको न देकर स्वयं खा लेने और धन व्यय न करके कंजूसकी भाँति गाड़ देनेको घोर पाप बतलाया गया है। यदि इतनी साधारण वस्तुओंको दूसरोंको न देकर स्वयं उपभोग करनेसे ही पातक लगता है तो परब्रह्मको प्राप्त करानेवाली विद्याको छिपानेमें कितना घोर पातक लगेगा?

यह प्रश्न विचारणीय है। धर्मशास्त्रोंमें साधनाओंको गुप्त रखनेका जो आदेश है उसके दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि साधनाके प्रकट होनेसे स्वयं साधकको ही हानि पहुँचती है। साधारण-से-साधारण साधना भी जब जनसाधारणके सम्मुख प्रकट हो जाती है तो लोग साधकका सम्मान करने लगते हैं, या यों कहिये कि उससे साधकका यश जनसाधारणमें फैलने लगता है। इस प्रकार यशका फैलना साधकके लिये अत्यन्त अहितकर है। तन्त्रोंमें लिखा है कि 'यदि जनताको यह ज्ञात हो जाय कि यह व्यक्ति तान्त्रिक साधक है तो उसी दिन तान्त्रिककी मृत्यु समझ लेनी चाहिये।' साधनाके प्रकट होनेपर साधकको जितना ही यश प्राप्त होगा, उतनी ही मात्रामें वह साधनाके फलको कम कर देगा। इसीलिये बाइबिलमें लिखा है कि 'ढोल बजाकर दान-पुण्य न करो। जो ढोल बजाकर दान-पुण्य करते हैं, उन्हें उसका फल उसी समय मिल गया, आगे उनके लिये कुछ भी नहीं रहता।' कहते हैं ययातिके यज्ञोंका फल केवल इतनेहीमें नष्ट हो गया था कि रावणने अपने मुँहसे उन्हें प्रकट कर दिया था।

सर्वसाधारणमें यश फैलनेसे जनता साधकका सम्मान करने लगती है, धीरे-धीरे साधक भी यह समझने लगता है कि मैं अवश्य सम्मानके योग्य हूँ। इससे उसके हृदयमें सम्मानके प्रति राग उत्पन्न होता है, उससे अहङ्कार बढ़ता है। इधर यदि किसी व्यक्तिविशेषने उसी प्रकार सम्मान न किया तो द्वेष या दुःख होता है, उससे क्रोध उत्पन्न होता है। इस प्रकार साधक अपनी साधनाको प्रकट करनेसे फिर उसी राग-द्वेष, अहङ्कार, क्रोध आदिके कीचड़में फँस जाता है, जिससे ऊपर निकलनेका प्रयत्न वह कर रहा है। राग-द्वेष या अहङ्कार-क्रोधके कीचड़में फँसते ही यह समझ लेना चाहिये कि आज ही सारी साधना नष्ट हो गयी है और फिर गीताके शब्दोंमें क्रोधसे सम्मोह, सम्मोहसे स्मृतिविभ्रम, स्मृतिविभ्रमसे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशसे सर्वनाश ही हो जाता है।

साधनाके प्रकट होनेपर अनेकों व्यक्ति अनेकों लालसाओंसे साधकके पास आकर उसे घेर लेते हैं। कोई पुत्रकामनासे उसके चरण छूता है, कोई धनकी कामनासे पंखा झलता है, कोई शत्रुके भयसे मुक्त होनेके लिये सेवा करने लगता है। इस प्रकार भीड़के उपस्थित होनेसे साधककी साधनामें बाधा पड़ती है। उचित समयपर उसका अपना कार्यक्रम पूरा नहीं होता। मौनव्रत भङ्ग करना पड़ता है। उसका ध्यान साध्यकी ओर न रहकर उन्हीं लोगोंकी बातोंमें लग जाता है। वे सारी सांसारिक बातें होती हैं, इसलिये ध्यान भगवान्‌के चरणोंमें न रहकर सांसारिक बातोंमें लग जाता है। इस प्रकार कई प्रकारकी भावनाओंसे प्रेरित होकर साधक कभी-कभी इन सेवा करनेवाले व्यक्तियोंको कुछ आशीर्वाद दे देता है। यह आशीर्वाद देना साधकके लिये अत्यन्त घातक होता है। यदि उसकी साधना इतनी अधिक हुई कि उसका आशीर्वाद सफल हो गया तो आशीर्वादका फल उसकी साधनाके फलमेंसे काट लिया जायगा। इस प्रकार उसे अपनी साधनाका जो

फल मिलना चाहिये था, वह नष्ट होता जायगा। दूसरी ओर यदि साधना थोड़ी ही हुई और उससे आशीर्वाद सफल न हुआ तो साधक झूठा गिना जायगा और उसका अपमान-अपयश होगा।

प्रायः किसी साधककी साधना सुनकर जो बहुत-से व्यक्ति साधकके पास आते हैं वे प्रायः कुछ-न-कुछ वस्तुएँ—फल-फूल, अन्न, मिठाई या धन आदि लेकर साधकके चरणोंमें चढ़ाते हैं। इनको ग्रहण करने या इन्हें खा जानेसे साधककी साधनाको बहुत हानि पहुँचती है। कुलार्णवमें लिखा है—

यस्यान्नेन तु पुष्टाङ्गो जपं होमं समाचरेत्।
अन्नदातुः फलस्यार्धं चार्धं कर्तुर्न संशयः॥

'यदि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्तिके अन्नसे पुष्ट होकर जप, होम इत्यादि साधना करता है तो उसकी साधनाका आधा फल अन्नदाताको मिलता है और आधा उसे (करनेवालेको)।' इस प्रकार साधक दो रोटियोंके या सामान्य-सी वस्तुओंके लिये अपनी आधी साधना खो देता है। शेष आधे फलमेंसे कुछ तो वे चरण दबाने, पानी भरने, पंखा झलने आदि सेवा करनेवाले लोग छीन लेते हैं और कुछ साधक राग-द्वेष आदिकी भावनाओंमें आकर स्वयं ही खो देता है। इस प्रकार साधकको वर्षोंतक साधना करनेपर भी कुछ नहीं मिलता।

महाभारतमें एक साधुका वर्णन आता है, जिसने सुनारका अन्न खानेसे उसीके घर चोरी की थी। इस प्रकार यदि साधकके पास किसी ऐसे व्यक्तिका अन्न आया जो पापद्वारा अर्जित किया गया हो, तो साधक केवल अपनी साधनाका अर्धांश ही नहीं खोयेगा, उसकी मति भी भ्रष्ट हो जायगी।

इससे भी अधिक हानि उस समय होती है, जब साधकके पास चेलियाँ जुटने लगती हैं। पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक श्रद्धालु हुआ करती हैं और किसी भी व्यक्तिके साधारण-से आडम्बरपर विश्वास कर लेती हैं। यदि उन्हें किसी साधकका पता लगा तो किसी-न-किसी उपायसे उसके पास पहुँच जाती हैं। वे समझती हैं कि बाबाजी धन, पुत्र, सुख आदि सभी इच्छाएँ पूर्ण कर सकते हैं। और, गीताके अनुसार, सङ्गसे काम उत्पन्न होता है, इस प्रकार साधकगण साधना और साध्यको भूलकर चेलियोंको धन, पुत्र, सुख आदि देने लगते हैं और धीरे-धीरे उनका कितना पतन हो सकता है, यह विश्वामित्र-मेनका आदिकी कथाओंसे ज्ञात हो सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधनाके प्रकट हो जानेपर साधकको स्वयं कितनी हानि पहुँचती है। इसीलिये भगवान् ईसाने अपने अनुयायियोंको कहा था 'Let not thy left hand know what thy right hand gives'. 'अपने बायें हाथको यह न जानने दो कि तुम्हारा दाहिना हाथ क्या पुण्य कर रहा है!' साधना एकहीसे होती है। साधना जब दूसरे व्यक्तिपर प्रकट हो जाती है तो उसी दिन नष्ट हो जाती है।

साधना करते हुए साधकको अनेकों अत्यन्त विचित्र दृश्य स्वप्नमें या प्रत्यक्ष दिखायी देते हैं। ऐसी अवस्थामें यदि साधक उन्हें गुप्त रख सका तो उनकी परम्परा लगी रहती है और वे साधनाका फल कैसा होगा—यह प्रकट करते रहते हैं। किन्तु यदि उन्हें साधकने तनिक भी प्रकट कर दिया तो फिर वे दृश्य नहीं दिखायी देते और साधकका उत्साह भङ्ग हो जाता है।

साधनाको प्रकट करनेसे दूसरी हानि यह होती है कि वह अनधिकारियोंके पास प्रकट होती है। कितनी ही साधनाएँ इतनी रहस्यमय होती हैं जिनके तत्त्वको समझना अत्यन्त कठिन है। तान्त्रिक या वाममार्गी साधनाके रहस्यको तो विरले ही व्यक्ति समझ सकते हैं। जब लोग किसी बातको नहीं समझ सकते तो उसकी निन्दा करने लगते हैं। जनता उसकी मज़ाक उड़ाती है, जिसे वह समझ नहीं सकती। इसीलिये सभी साधनाओंमें उन्हें गुप्त रखनेके लिये कहा गया है। संत मत्तीके सुसमाचारमें कहा गया है—

'To you it is given to know the mysteries of God, but to them it is not'. 'तुम्हें भगवान्‌के रहस्योंको जाननेकी आज्ञा दी जाती है, किन्तु उनको नहीं जो इसके अधिकारी नहीं हैं!'

प्राचीन यूनानमें जब शिष्य गुरुसे दीक्षा लेते थे तो उन्हें अग्निके सम्मुख शपथ लेनी होती थी कि वे कभी भी अनधिकारियोंके सामने अपनी साधना प्रकट नहीं करेंगे। आरम्भमें ईसाई-धर्मके माननेवालोंमेंसे कुछ विशेष व्यक्तियोंको एक प्रकारकी दीक्षा दी जाती थी, जिसको जन-साधारणके पास प्रकट करनेपर मृत्युदण्ड दिया जाता था। इसका कारण यह है कि जो लोग रहस्यको गुप्त न रखकर

अनधिकारियोंके पास प्रकट कर देते हैं, वे उस रहस्यको जाननेके सर्वथा अयोग्य हैं, और ऐसे अयोग्य व्यक्तियोंका रहस्यसे परिचित होना सारे सम्प्रदायके लिये हानिप्रद होता है। वेट (Waite) ने लिखा है—

'It is a fatal law of the arcane sanctuaries that the revelation of their secrets entails death to those who are unable to preserve them'.

'अनधिकारी साधनाके रहस्यसे कुछ भी लाभ नहीं उठा सकते और दूसरी ओर अधिकारी साधकको हानि पहुँचाते हैं।'

अस्तु, आप चाहे कैसी भी साधना करें, उसका महत्व अधिक हो या कम, उसे कभी प्रकट न करें। अन्तर्यामी भगवान् उसे स्वयं ही देख लेते हैं। वे ही उसका फल देनेवाले हैं। जन-साधारण तो उसके फलको छीननेवाले हैं। सर फ्रांसिस बर्नार्डने लिखा है—

'Hold fast in silence all that is your own, lest icy fingers be laid upon your lips to seal them for ever'.

'जो कुछ तुम्हें प्राप्त हो चुका है, उसे अपने ही पास गुप्त—सुरक्षित रक्खो, नहीं तो बर्फ-सी ठंढी उँगलियाँ तुम्हारे होठोंको सदाके लिये बन्द कर देंगी।'

तन्त्रोंमें स्थान-स्थानपर साधनाको योनिके समान दूसरोंसे गुप्त रखनेकी आज्ञा दी गयी है। इसका तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार कुल-स्त्री अपने अङ्गोंको परपुरुषोंसे छिपाकर केवल अपने पतिके पास प्रकट करती है, उसी प्रकार साधकको अपनी साधना दूसरोंसे छिपाकर केवल अपने हृदयस्थित अपने पति भगवान्‌के सामने ही प्रकट करनी चाहिये।

साधकको चाहिये कि नित्य सावधानीसे यह देखता रहे कि उसकी साधना दूसरोंपर प्रकट तो नहीं हो रही है। उसकी साधनाका फल चुरानेके लिये कोई उसके निकट तो नहीं आ रहा है, जानते हुए या अनजाने वह अपनी साधनाको नष्ट तो नहीं कर रहा है?

साधना

(लेखक—श्रीकृष्णशङ्कर उमियाशङ्कर)

किसी भी वस्तुकी सिद्धिके लिये जो क्रिया की जाती है उसे 'साधना' कहते हैं। साधना संस्कृत शब्द है और धर्मसे मिलता-जुलता-सा है, परन्तु आजकलके जडवादी युगमें धर्मका तो नाम सुनते ही लोग चमक उठते हैं, पढ़नेकी बात तो दूर रही। अतएव 'साधना' या 'प्रैक्टिकल साइंस'-जैसे नामसे आजके युवक भी पूरा ध्यान देंगे, ऐसी आशा है।

सन्ध्या, पूजन, जप, तप आदिको ढोंग माननेवाले भी जब 'Practical science' नाम सुनते हैं तो तुरंत उसे पढ़नेकी इच्छा करने लगते हैं। सन्ध्या-पूजन आदि भी प्रैक्टिकल साइंस ही हैं, परन्तु यह 'साधना' तो सचमुच 'साइंस' ही है। बहुत-से लेखक केवल शास्त्रके शब्द ही उद्धृत कर देते हैं, इससे वह आजके लोगोंको रुचिकर नहीं होता। आजके युगमें तो सूगर-कोटेड-फैशनमें शब्दोंकी रचना होनी चाहिये।

इतना लिखनेका तात्पर्य यही है कि यहाँ जो कुछ लिखा जाता है, सो केवल लोककल्याणके लिये ही लिखा जाता है। जिन लोगोंकी उम्र पकी हुई है और जिन्होंने धार्मिक शिक्षा प्राप्त की है, वे तो धार्मिक लेख पढ़ेंगे ही। परन्तु मैं तो नये जमानेके लोगोंको भी इस ओर खींचना चाहता हूँ।

'साधना' शब्दका प्रयोग देवी-देवताओंकी उपासनाके लिये भी होता है, जिससे अभीष्ट महान् कार्यकी सिद्धि होती है। देश, काल, क्रिया, वस्तु और कर्ता—ये पाँचों जब साधनाके लिये उपयुक्त होते हैं, तभी साधना सिद्ध होती है।

साधना दो प्रकारकी होती है—दैवी और आसुरी। इन्हींको शास्त्रमें दक्षिण और वाममार्ग कहा गया है। दक्षिणमार्गकी साधनामें साधकको लाभ चाहे न हो, परन्तु हानि तो होती ही नहीं। पर वाममार्गकी साधनामें लाभ नहीं होता तो नुकसान जरूर होता है। दक्षिणमार्गमें तत्काल लाभ नहीं दीखता, धीरे-धीरे कल्याण होता है, परन्तु वाममार्गमें तत्काल ही लाभ-हानि हो जाती है।

दोनोंमें ही अक्रोध, शौच और ब्रह्मचर्यका पालन आवश्यक है। इनका पालन न करनेसे दक्षिणमार्गमें कोई फल नहीं मिलता, परन्तु वाममार्गमें बड़ा नुकसान हो जाता

है। कभी-कभी तो प्राणोंपर आ बीतती है। वाममार्गमें जरा भी कहीं चूके कि बलिदान होते देर नहीं लगती।

मेरे एक मित्रने किसी मन्त्रकी सिद्धिके लिये ग्रहणके दिन श्मशानमें एक आकके पेड़के नीचे बैठकर साधना शुरू की। उन्हें सामनेके पहाड़से एक अघोरी उतरता दिखायी दिया। अघोरीने श्मशानमें पहुँचकर एक बच्चेकी गड़ी हुई लाश निकाली और उसे सेककर खा गया। फिर वहीं गुम हो गया। यह देखकर मेरे मित्रका शरीर मारे डरके पसीने-पसीने हो गया, वे बड़े जोरसे चीख मारकर वहीं ढुलक पड़े। वहाँ उनकी कौन सुनता? ग्रहण शुद्ध होनेपर लोग नहानेको आये, चन्द्रमाका उजियाला हुआ, तब किसीने उनको वहाँ पड़े देखा। उठाकर मन्दिरमें लाया गया। जोरसे ज्वर चढ़ा था। तीन-चार दिनों बाद बुखार उतरा, पर वे पागल हो गये और कुछ ही वर्षोंके बाद शरीर छोड़कर चल बसे!

वेदमें ब्राह्मण और मन्त्र—ये दो विभाग हैं, किसी भी देवकी सिद्धिके लिये उस देवताकी मूर्ति, यन्त्र और मन्त्रकी जरूरत है। प्रयोगके समय वहाँ एक-दो आदमी उपस्थित रहने चाहिये। कभी-कभी तो मनुष्य एकान्तसे ही डर जाता है और यों उसका सब काता-बुना कपास हो जाता है।

मेरे एक परिचित देवीके उपासक थे। वे अपने घरमें रात्रिको सदा उनके मन्त्रका जप करते। एक दिन उन्होंने एकाएक अपने शरीरपर कुछ बिच्छुओंको चढ़ते देखा। वे काँप उठे। बिच्छुओंको झड़काने लगे। फिर मन्त्र शुरू किया, बिच्छू फिर चढ़ने लगे। बस, तबसे उन्हें सिद्धि तो मिली ही नहीं, परन्तु जहाँ जप शुरू किया कि लगे कपड़े झड़काने! उनके मनमें निश्चय हो गया कि मेरे कपड़ोंपर अभी बिच्छू चढ़ रहे हैं। ऐसे समयमें कोई दूसरा पुरुष पास होता तो शायद वे रास्तेपर आ सकते!

डामर-तन्त्रके मन्त्र तत्काल सिद्धि देते हैं, पर उनका फल थोड़े ही समयके लिये रहता है। स्थायी नहीं रहता। वे मन्त्र केवल चमत्कार दिखानेमें ही काम करते हैं।

उग्र देवताकी साधना और उग्र फलकी प्राप्तिके लिये बहुत बार अपने प्राणोंको हथेलीपर रख देना पड़ता है। गाँवों और शहरोंमें कितने ही ऐसे साधु-फकीर मिलते हैं, जिनमें कुछ लोग मैली साधनावाले होते हैं, तो कुछ शून्य साधना करते हैं और जरूरत पड़नेपर किसी-किसी समय वे उन्हें आजमाते हैं। बिच्छू और साँपोंका जहर उतारनेवाले मन्त्र-साधक तो हमलोग बहुतेरे देखते हैं। हमारे राज्यमें तो ऐसे एक सज्जन सौ रुपये मासिक वेतनपर नियुक्त हैं।

मेरे एक संबन्धीके घर हमेशा एकाध बिच्छू निकलता रहता। मेरे जातिके एक सज्जन मन्त्र-शास्त्री हैं। मैंने उनसे कहा। उन्होंने जाकर मकानके आसपास अभिमन्त्रित जल छिड़क दिया। प्रायः दस मिनट बाद चारों ओरसे बिच्छू आ-आकर इकट्ठे होने लगे। लगभग पचास बिच्छुओंको पकड़-पकड़कर एक बर्तनमें भर लिया गया और उन्हें वे दूर छोड़ आये। तबसे आजतक वहाँ एक भी बिच्छू दिखलायी नहीं पड़ा।

मन्त्र-साधनाके लिये घरकी अपेक्षा एकान्त देवमन्दिर, गुफा या किसी बड़ी नदीका किनारा उत्तम है। वहाँ साधनामें सफलता शीघ्र होती है। किसी महापर्वके दिन, ग्रहणके समय, मध्यरात्रि, कालरात्रि, महारात्रि, मोहरात्रि, दारुण-रात्रि आदि दिनोंमें साधना करनेसे शीघ्र सिद्धि मिलती है।

लक्ष्मीकी प्राप्तिके लिये मैंने लक्ष्मीसूक्तका 'कांसोस्मितां' मन्त्र सिद्ध करनेका निश्चय किया। दुर्गापाठमें बतलायी हुई विधिके अनुसार न्यास और ध्यानसहित मैंने उक्त मन्त्रका सम्पुट देकर जाप शुरू कर दिया। लगभग पन्द्रह सम्पुट शतचण्डी पूरी हो गयी, परन्तु मेरी साधना सफल नहीं हुई। इसपर भी मैंने प्रयोगको तो चालू ही रक्खा। एक दिन एकाएक मेरे मनमें स्फुरणा हुई कि इन मन्त्रोंको श्रीमहादेवजीने कील रक्खा है। निष्कील किये बिना सिद्धि नहीं मिलती। तब मैंने मन्त्रको निष्कील किया। बस, तुरंत ही, घी और तेलके जो दीपक स्वाभाविक जल रहे थे उनमें ज्योति पैदा हुई और वह मेरी आँखोंतक ऊपरकी ओर उठी। देवताका सिंहासन मेरे सामने था। दुर्गापाठकी पोथी खुली पड़ी थी। पाठ लगभग पूरा होनेको आया था। रात्रिके बारह बजे थे। जन्माष्टमीके कारण पास ही देवमन्दिरमें दर्शनोंके लिये दौड़-धूप हो रही थी और कोलाहल मचा हुआ था।

इसी बीच इस घटनाके बन जानेसे मैंने सोचा, मेरी आँखोंमें जल भर आया होगा, इसीसे मुझे ऐसा लगता होगा। इसलिये मैंने आसनसे उठकर आँखोंपर जल छिड़का, मुँह धोया और फिर पाठ करना शुरू कर दिया। पाठ शुरू करना था कि फिर वही हाल!

मुझे कुछ डर-सा लगा कि कहीं मैं जल न जाऊँ। अतएव मैं उठकर दर्शन करने चला गया। फिर नहा-धोकर अधूरा पाठ पूरा करने बैठा। पाठ शुरू करते ही फिर वही हाल हुआ। इस समय रात्रिके दो बजे थे। मनुष्योंके पैरोंकी आहट शान्त हो गयी थी। चारों ओर सुन-सान था। सारी पोथी और सिंहासन तेजोमय हो रहे थे। जैसे-तैसे पाठ पूरा करके मैं उठा। उस समय सबेरेके पाँच बजे थे।

नवमीके दिन मैंने पाठ न करके केवल जप शुरू किया। जप करनेमें भी वैसा ही हुआ। तबसे मेरे लक्ष्मीजी आने लगीं। मेरी वकालतकी प्रैक्टिस बढ़ती ही गयी। यहाँतक कि किसी-किसी समय तो खाने-पीनेका भी अवकाश नहीं मिलता और अधिकांश समय मुझे सिर्फ चाय और चिउरोंपर चलाना पड़ा था। रातके दो बजेतक फुरसत नहीं मिलती।

मैं अपने एक मित्रके साथ गिरनार पहाड़पर जा रहा था। साधु-संतोंकी चर्चा चल रही थी। मित्रने कहा, 'तुम्हें यह सब एकाएक कैसे हो गया?' मैंने कहा—'चमत्कार देखना हो तो अभी दिखाऊँ।' मैंने तुरंत ही 'कांसोस्मिता' मन्त्रका जप शुरू किया। हमलोग बहुत आगे बढ़ गये, परन्तु कुछ भी हुआ नहीं। मैं कुछ सकुचाया। जप तो चालू था। इतनेमें ही एक पेड़की ओटसे आवाज आयी—'ओ वकील साहेब।' आवाज सुनकर मेरे मित्र और मैं स्तब्ध होकर इधर-उधर देखने लगे। एक फकीरने केवड़ेकी एक पत्ती और नक़द पन्द्रह रुपये पैरोंमें रखकर मेरे चरण छुए। मेरे मित्र यह देखकर मन्त्र-मुग्ध-से रह गये। मुझे याद नहीं था कि इस फकीरको लगभग डेढ़ वर्ष पहले मैंने फौजदारीसे छुड़ाया था। और ये रुपये उसीकी फीसके थे!

कई मन्त्र-देवता अन्धे होते हैं। कई बहरे, गूँगे और लूले-लँगड़े भी होते हैं। ऐसे देवताओंकी साधना कष्टसाध्य है। द्वादशमुद्राओंके साधनसे इनकी सिद्धि प्राप्त हो सकती है, परन्तु अगर कहीं जरा भी चूके कि फिर चौकड़ी भूलते देर नहीं लगती।

किसी-किसी देवतासे साधककी पूरी पटती ही नहीं, इससे वह चाहे, कितनी ही साधना करे, हाथमें आयी हुई बाजी भी छटक जाती है और साधना व्यर्थ होती है।

सिद्ध-देवकी साधना सिद्धिप्राप्त होनेके बाद भी साधकको चालू रखनी चाहिये। नहीं तो, उस दैवी सिद्धिको अदृश्य होते देर नहीं लगती; और फिर उसका हाथ लगाना असम्भव हो जाता है।

साधकके लिये प्राप्त हुई सिद्धिका उपयोग स्वार्थमें न करके परमार्थमें ही करना श्रेयस्कर है। थोड़े समयके लिये साधकको स्वार्थ-साधन होता देखकर सुख होता है, परन्तु इसके लिये आगे चलकर उसे बहुत कुछ सहन करना पड़ता है।

हमारे यहाँ एक माताजीके भक्त हैं। उन्हें अपने कार्यमें सिद्धिका उपयोग करनेकी सूझी। मैंने उन्हें सचेत भी किया, परन्तु उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया। उनकी जाहोजलाली बढ़ती गयी। लखपतिका-सा दिखावा हो गया। सारे शहरमें उनकी कीर्ति फैल गयी। वे थोड़े-से वेतनके क्लर्क थे। कुछ ही दिनों बाद ऐसे फँसे कि उन्हें जेलयात्रा करनी पड़ी। कोर्टमें भी मैंने उनका ध्यान खींचा था। आखिर चार हजार रुपये दण्ड देनेपर किसी तरह उनकी जान छूटी। इस समय वे बिल्कुल तबाह हो गये हैं।

'साधना' शब्दका प्रयोग केवल धार्मिक वस्तुकी सिद्धिके लिये ही होता है, ऐसी बात नहीं है। महात्मा गाँधीजी और देशके अन्यान्य नेतालोग जो कार्य कर रहे हैं, वह स्वराज्यकी साधना कहलाती है। किसी भी डिग्रीकी प्राप्ति तबतक नहीं होती, जबतक मनुष्य सरस्वती (विद्या) की साधना नहीं करता, परन्तु उसके लिये सद्गुरुकी आवश्यकता होती है। कोई उस विषयका निष्णात न हो और केवल पुस्तकें पढ़कर ही एक्सपेरीमेंट (प्रयोग) करने बैठ जाय तो उसे तो हानि ही उठानी पड़ती है।

आयुर्वानकी साधना अभी सम्पूर्णरूपसे सिद्ध नहीं हुई। अभी उसके प्रयोग ही चल रहे हैं। इसमें अबतक मरजीवों-की भाँति कितनोंका बलिदान हो चुका है, और अभी और भी होना बाकी है।

हमारे ऋषि-मुनियोंने तो हमारे सामने मानो थाल परोस कर रख दिया है। हमें नवीन शोध करनेकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु आजकल तो साधना करनी ही है किसको? 'साधना' के नामसे ही लोग भड़क कर भागते हैं। यदि विधिवत् शास्त्रानुसार साधना की जाय तो सिद्धि निश्चय ही मिलती है। यह मेरा अपना अनुभव है।

'कलौ काली-विनायकौ' कलियुगमें काली और विनायककी साधना शीघ्र सिद्ध होती है। बस, इतना सुनकर

मेरे एक वकील मित्रने गणपतिकी साधना आरम्भ की। जप, तर्पण, मार्जन, होम और ब्राह्मणभोजन सभी साधनाओंमें आवश्यक हैं। कुछ खास-खास जप-तप-प्रायश्चित्तादि तो दोषनिवारणके लिये करने पड़ते हैं। इस प्रकार करते उक्त वकील मित्रको लगभग तीन महीने बीत गये। ब्रह्मचर्यका व्रत भङ्ग हुआ। इससे चौथे महीनेके चौथे दिन उन्हें रातको स्वप्नमें हाथी दिखायी दिये, वे उन्हें मारनेके लिये आगे बढ़े आ रहे थे। एक-दो बार आगे, परन्तु विशेष ध्यान नहीं दिया। फिर एकाएक जाग उठे और 'मुझे ये हाथी मार रहे हैं, बचाओ-बचाओ' पुकारते हुए दौड़ने लगे। चिल्लाहट सुनकर स्त्री-बच्चे जागे और उन्हें पकड़कर जल पिलाकर शान्त किया। सबेरे देखा गया, उनके मुँहपर सूजन थी। एक समाहतक दवा हुई। आखिर ऑपरेशन कराकर दो महीने अस्पतालमें रहना पड़ा। मुश्किलसे मौतके मुँहसे बचे।

काली और विनायक बहुत उग्र देवता हैं और उनकी सिद्धि भी बहुत उग्र है। सूरतके मेरे एक परिचित सज्जनने दोनों चौथ शुरू कीं। वे जातिके ब्राह्मण हैं और भिखारीकी हालतमें थे। परन्तु प्रभुकृपासे इस समय उनकी ऋद्धि-सिद्धि लाखोंकी समझी जाती है। साधनाके बाद ही उनका विवाह हुआ। इस समय वे बाल-बच्चेवाले और ढेले-तबेलेवाले सुखी हैं।

'साधना' हिन्दूको ही सिद्ध होती है, ऐसी बात नहीं है। कोई भी हो, आस्तिकता और श्रद्धाके साथ करनेपर साधना सभीको फल देती है।

'One who runs can reach' 'जो दौड़ता है वह पहुँच सकता है।' हमें कुछ करना तो है नहीं। फिर, 'शास्त्रोंमें सब गपोड़े भरे हैं', यों कहनेसे कोई भी काम सिद्ध नहीं होगा। 'साधना' का शास्त्र 'वरदान' या 'शाप' का शास्त्र नहीं है। यह तो 'कर' और 'देख' का शास्त्र है। साधनासे भड़कनेका कोई भी कारण नहीं है। भूख मिटानेके लिये हमें रोज अन्न सिद्ध करना पड़ता है। यह जैसे हमेशाकी 'रूटीन' है; इसी प्रकार किसी बड़े कामकी सिद्धिके लिये हम बड़े लोगोंकी मदद लिया करते हैं। ठीक, इसी प्रकार हमें देवताओंकी साधना करनी चाहिये। देवताओंकी साधनासे हमें चिरस्थायी सुख मिल सकता है, यह निर्विवाद बात है।

मैं तो ऐसा मानता हूँ कि किसी भी 'साधना' के बिना मनुष्य महान् बन ही नहीं सकता। किसी एक वस्तुको तो अवश्य सिद्ध कर रखना ही चाहिये। कर्ण, भीष्म, द्रोण आदिके पास महान् सिद्धियाँ थीं। इसीसे वे महान् बन सके थे।

इस समय हम देख रहे हैं कि पश्चिमीय देशोंमें महान् आसुरी सिद्धियाँ काम कर रही हैं। इन सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिये लोगोंने बड़ी-बड़ी साधनाएँ की हैं। परन्तु इन आसुरी साधनाओंकी यह चमचमाहट थोड़े ही दिनोंके लिये है। दैवी साधनामें इनसे विलक्षण और चिरस्थायी शान्ति और आनन्द है।

'राम-नाम' की साधना करनेसे समयपर अवश्य ही दर्शन होते हैं। किसी भी देवताके नामकी धुन लगानेसे मनःकामनाकी अवश्य सिद्धि होती है। विधिवत् करनेसे शीघ्र लाभ होता है और विधिवत् न करनेसे देर लगती है। यह साधना असफल तो होती ही नहीं।

कभी-कभी मनुष्य साधना शुरू तो करता है, परन्तु सिद्धि न देखकर अधबीचमें ही छोड़ देता है और फिर शास्त्रोंकी निन्दा करने लगता है। असलमें हमें इसके लिये प्यास ही कहाँ है? इसीलिये तो हम खोजमें लगनेकी तकलीफ नहीं उठाते।

महात्मा गाँधीजी स्वराज्यके लिये साधन कर ही रहे हैं। शारीरिक और मानसिक कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं। इसपर भी हम देखते हैं कि वे हिम्मत हारकर अपनी साधनाको बीचमें छोड़ नहीं बैठते। कितना जबरदस्त मनोनिग्रह है! कैसा अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन! और वाणीपर कितना विलक्षण अधिकार!

इसी प्रकार हमलोगोंको भी मन, वचन और कर्मको काबूमें रखकर—संयमका पालन करके श्रद्धाके साथ यथेष्ट साधना करनी चाहिये।

साधना-विज्ञान

(लेखक—पं० रामनिवासजी शर्मा 'सौरभ')

'The end and aim of all sciences is to find a unit.' (विवेकानन्द)

आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक इष्ट-सिद्धि और सफलताका भी एक विज्ञान है। सम्पूर्ण इष्ट-सिद्धि और सफलता इसी क्रियात्मक साधना-विज्ञानपर निर्भर है। यही कारण है कि साधनाकी छोटी-से-छोटी प्रक्रियाके दोषसे असफलता ही नहीं मिलती, अपितु कभी-कभी साधक दुर्धर्ष विघ्नोंका शिकार हो जाता है*। यह साधना-विज्ञान मुख्यतः निम्नलिखित भागोंमें विभक्त है—

१. साधनाका स्वरूप
२. साधनाका महत्त्व
३. साधना-सौन्दर्य
४. साधनाके अङ्गावयव
५. साधनाका मुख्य उद्देश्य
६. साधनाके मूल तत्त्व
७. साधनाका सरल उपाय
८. साधनाका स्वभाव
९. सब कुछ साधनात्मक

१. साधनाका स्वरूप

किसी भी लक्ष्य या उद्देश्यकी सिद्धिके लिये जो स्वाभाविक उपाय किये जाते हैं उन्हें साधना कहते हैं, परन्तु धार्मिक दृष्टिसे विशेषतः हिन्दू-दृष्टिकोणसे उस परम पुरुषार्थको ही साधना कहते हैं जो कि आध्यात्मिक ध्येयकी प्राप्तिके लिये किया जाता है। इस साधनाका अर्थ किसी भी प्रकारकी क्रिया या कर्म होता है और वस्तुतः यही वास्तविक साधना भी है।

२. साधनाका महत्त्व

पूर्वकथनानुसार साधना ही असलमें प्रत्येक वस्तुकी प्राप्तिका उपाय है। यह सफलताकी कुंजी है, कविका कवित्व है, ऋषिका ऋषित्व है; क्योंकि ये सब साधनाके ही द्वारा प्राप्त किये जाते हैं। ऐसे ही भुक्ति-मुक्ति भी साधनाका ही फल है। असलमें संसारमें प्रत्येक वस्तु या तत्त्व साधनासे ही सिद्ध होता है। साधकको साध्यवस्तु साधनाके द्वारा ही प्राप्त होती है। सारांश यह कि सब कुछ साधनाका ही विषय है।

३. साधना-सौन्दर्य

साधनाका सौन्दर्य इसीमें है कि वह दिव्य-सौन्दर्यात्मक हो, उसकी प्रत्येक बात अपने दिव्य साध्यकी उत्पादक हो, वह स्वयं सत्य, शिव और सौन्दर्यमय हो, हृदयके प्रसुप्त स्वर्गीय सौन्दर्यात्मक भावों और विचारोंको क्रियात्मक बनानेवाली हो, उसमें दिव्य आध्यात्मिक गन्ध और सरसता हो, साथ ही वह अलौकिक माधुर्य और ऐश्वर्यकी व्यञ्जनासे व्यञ्जित हो। उसकी सजीव कर्ममय स्वरलहरीसे अनन्तका निनाद निकलता हो कि जिससे मानव-मन और हृदय सौन्दर्यके स्वर्गमें परिणत हो जावे, तभी वह वास्तविक साधना कहलानेके योग्य हो सकती है। बाइबलने इसी सौन्दर्यात्मक स्वर्गीय साधनापर, देखिये, किस तरह प्रकाश डाला है—

'Heaven will be inherited by every man who has heaven in his soul.' अर्थात् 'स्वर्ग उसीको मिलेगा जिसका हृदय पहले स्वर्गीय हो गया है।' हमारे शास्त्रोंकी तो यह उच्च घोषणा है कि—

'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः।'

ऐसी दशामें सहजमें यह बात सामने आती है कि साधना अपने कार्य-कारणात्मक भावों और फलोंसे पहचानी जाती है। साथ ही वह सच्ची तभी हो सकती है जब कि उससे दिव्य भावकी प्राप्ति हो। यही कारण है कि हिन्दू-धर्ममें योगके अष्टाङ्ग अथवा अष्टाङ्ग-प्रधान सम्पूर्ण भाव-भावना और क्रियाको साधन माना है।

४. साधनाके अङ्गावयव

साधनाके अङ्गावयव इस प्रकार हैं—

क. अधिकार
ख. विश्वास
ग. गुरु-दीक्षा
घ. सम्प्रदाय
ङ. मन्त्र-देवता

* दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

क. साधनामें अधिकार-भेदकी अपार महिमा है। अधिकारकी परवा न कर अतलमें कोई भी साधक साधना-द्वारा साध्यको नहीं प्राप्त कर सकता। इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य जब, जहाँ, जिस अवस्थामें भी हो, वहींसे अपने लक्ष्यपर पहुँच सकता है; उसे अधिकार और अवस्था-विरुद्ध अन्य मार्ग या सोपानसे जानेकी आवश्यकता नहीं है। उदाहरणके लिये सती 'सतीत्व' से और शूर 'शूरत्व' से ही सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

सारांश यह कि प्रत्येक अवस्था, धर्म और कालमें ही प्रत्येक व्यक्ति साधनासे लाभ उठा सकता है, साधारण साधारणसे और विशेष विशेषसे। परन्तु लाभमें दोनों ही समान रहते हैं। यही कारण है कि व्रजकी अहीरनियाँ और वनवासी ऋषि-महर्षि एक ही दिव्य स्थानको प्राप्त हुए हैं।

ख. साधनामें विश्वास भी अन्यतम साधन है। इसके अनेक कारण हैं, उनमें मुख्यतम ये तीन हैं—

१–विश्वास स्वयं एक दिव्य भाव है। वह त्रिपुटीका कारण और कार्य भी है। साथ ही जिस विश्वासमें ज्ञान और प्रेमकी पुट है वह तो दिव्य वस्तु ही होता है। परन्तु यहाँ विश्वास-का तात्पर्य अन्ध-विश्वास नहीं, अपितु वास्तविक तत्परता है।

२–आधुनिक दृष्टिसे भी आत्मविश्वास एक महतो महीयान् तत्त्व है और यही असलमें सिद्धिका साधक है, इसीकी प्रेरणासे कर्मठको इष्ट-फल प्राप्त होता है। यह वस्तुतः एक मनोवैज्ञानिक रहस्य है।

३–परन्तु इसकी योगात्मक व्याख्या विचित्र है। और यही असलमें विश्वास-तत्त्वकी आत्माकी साधना है। इसका सुगुप्त रहस्य इस प्रकार है—

विश्वास शब्द 'वि' उपसर्ग और 'श्वास' के योगसे बना है। इसका साधारण अर्थ यहाँ साधकका श्वासरहित होना है, परन्तु इसका योगात्मक अर्थ श्वास अर्थात् ईडा-पिङ्गला-नाड़ीके साम्यद्वारा सङ्कल्प तथा ज्ञानकी विशुद्धि और आत्मैश्वर्यकी प्राप्ति है।

ग. साधनाका गुरु-दीक्षासे भी समधिक सम्बन्ध है। यद्यपि अनेक बार विना गुरु-दीक्षाके भी किसी बात अथवा आन्तरिक प्रेरक कारणसे अथवा संस्कारोंके प्राबल्यसे मनुष्य स्वतः सन्मार्गके द्वारा लक्ष्यबिन्दुतक पहुँच जाता है, फिर भी इसका प्रशस्त राजमार्ग तो गुरु-दीक्षा ही है। दीक्षामें भी मुख्य वस्तु शक्तियोंकी मन्त्रद्वारा जागृति और भाव-भावना-का उद्बोधन है। सच्चा गुरु मन्त्र-शक्तिद्वारा यथाधिकार शिष्यमें साधना-विषयक शक्तिका सञ्चार कर देता है। इससे शिष्य फिर स्वतः साधना-पथपर अग्रसर हो जाता है।

घ. साधनामें साधकका साम्प्रदायिक होना भी आवश्यक है। यहाँ सम्प्रदायका अर्थ है—साधना-सम्बन्धी वातावरण उत्पन्न करना और सत्सङ्गका लाभ उठाना। परन्तु इसका सच्चा लाभ तो इस प्रकार है—

जन्मान्तरीय संस्कारोंके सिद्धान्तानुसार जन्मसे वर्ण या जाति माननेपर वर्ण और जातिके परम्परागत गुण सदैव विकासोन्मुख रहते हैं, इसी प्रकार एक ही परम्परागत सम्प्रदायमें सुदीक्षित होते रहनेके भी अनन्त लाभ हैं, इससे भी सम्प्रदायात्मक गुणोंके संस्कार स्वतः विकासोन्मुख हो जाते हैं।

ङ. साधनामें मन्त्र और देवताका भी विशेष स्थान है। साम्प्रदायिक दृष्टिसे मन्त्र-देवतात्मक दीक्षा अनिवार्य है, परन्तु मन्त्र और देवता दो वस्तुएँ होती हुई भी एक ही वस्तु है। इन दोनोंका पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है, ये दोनों असलमें एक-दूसरेसे भिन्न नहीं हैं; क्योंकि मन्त्रकी आत्मा ही देवता है और देवत्वका स्थान मन्त्र है। देवता असलमें मन्त्रात्मक ही है और इसलिये भी कि मन्त्रके द्वारा ही देवताका आकर्षण होता है। किन्तु देवताका चुनाव शिष्यके संस्कारानुसार ही किया जाना चाहिये और देवताके अनुरूप ही मन्त्रका चुनाव भी। साधक, देवता और मन्त्र—ये एक ही वस्तु-विकासके विभिन्न स्तर हैं और इनका समन्वय ही अन्तमें साधकको मुख्य ध्येयतक पहुँचा देता है। इस तरह साधक, मन्त्र, इष्ट-देव, महाशक्ति, परमतत्त्व और मुक्ति आदि सब एक ही विकासके विविध स्तर हैं और ये ही अन्तमें ब्राह्मी स्थितिमें परिणत हो जाते हैं।

५. साधनाका मुख्य उद्देश्य

साधनाके द्वारा आत्मलाभ होता है और आत्मलाभके द्वारा दिव्यत्व, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता प्राप्त हो जाती है। आत्मलाभका ही फल अनन्त विभूतियोंकी प्राप्ति भी है। भारतवर्ष कर्म-प्रधान और साधना-प्रधान देश है, परन्तु इसकी साधना मुक्ति-परक, आत्म-परक अथवा ब्रह्म-परक है। आप किसी भी सम्प्रदायपर दृष्टिपात करें, उसमें साधनाका अभिप्राय

यही मिलेगा। मन्त्र-तन्त्र-सम्प्रदायके अनुयायियोंका भी विश्वास है कि—

मन्त्राभ्यासेन योगेन ज्ञानं ज्ञानाय कल्पते।
न योगेन विना मन्त्रो न मन्त्रेण विना हि सः॥
द्वयोरभ्याससंयोगो ब्रह्मसंसिद्धिकारणम्।
.....॥

इसका अभिप्राय यह है कि हमारा प्रत्येक सम्प्रदायका साधनात्मक ध्येय ऊर्ध्व और स्वर्गीय ही है। इस समय भी महात्मा गांधीकी गति-मति और राजनीतिमें मुक्तिकी ही प्रधानता है। मुक्ति भी केवल भारतकी ही नहीं, अपितु समस्त विश्वको और वह भी सत्य और अहिंसाके द्वारा।

६. साधनाके मूल तत्त्व

साधनाके मूल तत्त्व तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान हैं। इनसे साधककी शक्ति और ज्ञानकी वृद्धि होती है। स्वाध्यायसे ज्ञान और तपसे शक्ति बढ़ती है। साथ ही ज्ञान और शक्तिद्वारा ही साधक परम साध्यतक पहुँच जाता है। परन्तु श्रीअरविन्दके मतसे तो अभीप्सा ही साधनाकी मूल भित्ति है; इसीसे सब कुछ हो सकता है। स्वामी विवेकानन्दके मतसे प्रत्येक प्रकारकी साधनासे मनुष्य परमतत्त्वके मार्गका यात्री हो सकता है। वे लिखते हैं—

'All worship consciously or unconsciously leads to this end.'

'ज्ञानपूर्वक अथवा अज्ञानपूर्वक की हुई समस्त साधना-आराधनाका चरम फल आध्यात्मिक लक्ष्यकी प्राप्ति ही है।'

महात्मा गांधी अहिंसा और सत्यके द्वारा ही बड़े-से-बड़े लक्ष्यतक पहुँचना बताते हैं। प्राचीन लोग ब्रह्मचर्य और तपको ही मुख्यता देते हैं। पातञ्जलयोग चित्त-वृत्तिके निरोधको ही परम पुरुषार्थ और साधना बताता है। स्वर्गीय स्वामी विशुद्धानन्दजी परमहंसने भक्तिको ही समस्त साधनाओंका केन्द्र बताया है। वस्तुतः किसी भी सात्त्विक उपायद्वारा गन्तव्यमार्गकी ओर चल देना ही वास्तविक साधना है। बस, फिर पूर्व-जन्मके संस्कार स्वयं अपना काम करने लगेंगे।

७. साधनाका सरल उपाय

साधनामें आवरणको हटानेके लिये विघ्नोंका सामना करने और अभावोंको हटानेकी अपेक्षा सद्भावोंको उत्पन्न कर उन्हें सुपुष्ट करना ही सिद्धिका सर्वोत्तम उपाय है। इससे विघ्न स्वतः नष्ट हो जाते हैं और अति शीघ्र सफलता हस्तगत हो जाती है; क्योंकि किसी सीधी रेखाको हाथके द्वारा छोटी करनेकी अपेक्षा उसके बराबर एक बड़ी रेखा खैंच देना ही ठीक है, उससे वह अपने-आप छोटी हो जायगी। यही दशा मल, विक्षेप और आवरणकी भी है। वे भी सात्त्विक तत्त्वोंके सेवनसे अपने-आप नाम-शेष हो जाते हैं। पातञ्जलयोगमें इसी सरल सत्यको इस तरह समझाया है—

'अक्लिष्ट वृत्तिके संस्कारोंके द्वारा क्लिष्ट वृत्तिके संस्कार अपने-आप नष्ट हो जाते हैं।'

८. साधनाका स्वभाव

स्वभावसे समस्त जीव-राशि उस अनन्त सत्य वस्तुकी ओर ही जा रही है। आत्माकी गति असलमें परमात्माकी ओर ही हो सकती है; विजातीय वस्तुकी ओर नहीं; नदियाँ समुद्रमें ही जाकर रहती हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्डात्मक जड़-चेतनका अन्तिम ध्येय असलमें आत्मलाभ ही है।

९. सब कुछ साधनात्मक

हमारे सम्पूर्ण क्रिया-कलाप साधनामय ही हैं। ऐसी दशामें हम कुछ भी करें, कहें और सोचें, सब कुछ साधना ही है, परन्तु इन क्रियाओंका समन्वय साधनात्मक तत्त्वोंके साथ होना चाहिये। साथ ही इनमें आवश्यक सामञ्जस्य भी पर्याप्त मात्रामें हो। ऐसी दशामें प्रत्येक साधनासम्पन्न मार्ग और सम्प्रदाय यथाधिकार पृथक् होता हुआ भी एक ही सम्पूर्ण लक्ष्यका प्रदर्शक हो जाता है। यही कारण है कि लता-गुल्म, कीट-पतंग, पशु-पक्षी और देव-मानव सब ही अपनी-अपनी योनि और स्थानसे ही कभी-न-कभी अन्तिम लक्ष्यकी ओर ही पहुँचकर रहते हैं।

जपयोगका वैज्ञानिक आधार

(लेखक—पं० श्रीभगवानदासजी अवस्थी, एम्० ए०)

आश्चर्यने सभीको अवाक् कर रक्खा था। विस्मय-विस्फारित नेत्रोंसे सभी स्त्री-पुरुष वह अविश्वसनीय घटना देख रहे थे। यदि उनकी आँखोंके सामने वह न दिखलायी गयी होती तो सुननेपर उन्हें किसी तरह भी विश्वास न होता। पर सामने, होश-हवासके दुरुस्त रहते, अपनी आँखोंसे देखते हुए वे उसे माननेको विवश थे।

लार्ड लीटनके एक सजे-सजाये कमरेमें ऊँचे दर्जेके खास-खास विद्वानों तथा विदुषियोंका एक दल एकत्र था। सभी बीसवीं शताब्दीके विज्ञान तथा आविष्कारों—खोजोंसे भलीभाँति परिचित थे। बहुत-से तो विज्ञानके पारदर्शी पण्डित थे। उनके सामने एक गायिका एक साधारण-से बाजेपर रागदारीके साथ गाना गा रही थी।

गायिकाने एक राग छेड़ा। पर्देपर खास तरहके सितारे-के रूपकी आकृतियाँ नाचती-कूदती दिखायी दीं। रागके बंद होते ही आकृतियाँ भी देखते-देखते गायब हो गयीं।

गायिकाने दूसरा राग छेड़ा। बात-की-बातमें दूसरे प्रकारकी आकृतियाँ सामने आयीं।

राग बदलते गये। आकृतियाँ भी बदलती गयीं। कभी तारे दीख पड़ते, कभी टेढ़ी-मेढ़ी सर्पाकार आकृतियाँ नज़र आतीं; कभी त्रिकोण, षट्कोण दिखलायी देते; कभी रंग-बिरंगे फूल अपनी शोभासे मुग्ध करते; कभी भीषण आकृतिवाले समुद्री जीव-जन्तु प्रकट होते; कभी फलों-फूलोंसे लदे वृक्ष सामने आते; कभी एक ऐसा दृश्य दृष्टिगोचर होता जिसमें पीछे तो अनन्त नील समुद्र लहराता नजर आता और सामने नाना प्रकारकी सुन्दर छोटी-बड़ी शिलाओंके बीचमें नाना रूप-रङ्ग, आकार-प्रकारके पत्र-पुष्प-फलोंसे लदे वृक्ष मन्द-मन्द वायुके झोंकोंसे लहराते, फल-फूलोंकी वर्षा करते दीख पड़ते।

जैसे-जैसे राग बदलते गये, वैसे-ही-वैसे आकृतियाँ भी बदलती गयीं। दर्शक चकित—स्तम्भित—चित्रलिखे-से चुपचाप देखते रहे। अन्तमें गायिकाने राग बंद किया। आकृतियाँ अदृश्य हो गयीं। दर्शक-मण्डलीको चेत आया। सब अपने-अपने उद्‌गारोंको प्रकट करने लगे।

लार्ड महोदयने गायिकाका परिचय देते हुए कहा—'आप प्रसिद्ध अन्वेषिका श्रीमती वाट्स ह्यूस (Watts Hughes) हैं। आपको एक बार इस बाजेपर एक राग छेड़ते समय एक विशेष प्रकारकी सर्पाकृति प्रकट होती देख पड़ी। फिर आप जब-जब उस रागको छेड़तीं तब-तब वही आकृति प्रकट होती। इससे आपने यह निष्कर्ष निकाला कि राग और आकृतिका कोई प्राकृतिक सम्बन्ध अवश्य है। एक खास रागके छेड़नेपर एक खास आकृति प्रकट हो जाती है। तब आपने अनेक वर्षोंतक इसी विषयको लेकर अनुसन्धान किया। उसका जो फल हुआ है, वह आज आपके सामने प्रदर्शित किया गया है।'

इसी प्रकार फ्रांसमें दो बार इसी विषयको लेकर प्रदर्शन और परीक्षण किये गये हैं। एकमें तो मैडम लैंगने एक राग छेड़ा था जिसके फलस्वरूप देवी मेरी (Virgin Mary) की आकृति शिशु जेजस क्राइष्ट (Jesus Christ) को गोदमें लिये हुए प्रकट होती देख पड़ी थी। दूसरी बार एक भारतीय गायकने भैरव राग छेड़ा था, जिसके फलस्वरूप भैरवकी भीषण आकृति प्रकट हुई थी।

इसी प्रकार इटलीमें भी परीक्षण हो चुका है। एक युवतीने एक भारतीयसे सामवेदकी एक ऋचाको सितारपर बजाना सीखा। खूब अभ्यास कर लेनेके अनन्तर उसने एक बार एक नदीके किनारे रेतमें सितार रखकर उसी रागको छेड़ा। उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वहाँ रेतपर एक चित्र-सा बन गया। उसने अन्य कई विद्वानोंको यह बात बतलायी। उन्होंने उस चित्रका फोटो लिया। चित्र वीणा-पुस्तकधारिणी सरस्वतीका निकला। जब-जब वह युवती तन्मय होकर उस रागको छेड़ती तब-तब वही चित्र बन जाता।

पश्चिमी देशोंके अनेक विज्ञानवेत्ताओंने समय-समयपर प्रदर्शन करके यह प्रमाणित कर दिया है कि एक खास तरहके रागके छेड़नेपर एक खास तरहकी आकृति बन जाती है।

इस विज्ञान और आविष्कारोंके युगमें भी यह प्रमाणित हो चुका है कि रागोंसे आकृतियोंका एक विशेष वैज्ञानिक और प्राकृतिक सम्बन्ध है। (रागके बलपर शून्यसे सर्वर्ण-

साकार आकृतियाँ प्रकट की जा सकती हैं।) इसी वैज्ञानिक आधारपर भारतमें शताब्दियों पूर्व जपयोगका प्रासाद निर्मित हुआ था। ईश्वरप्राप्तिके अनेक साधनोंमें 'जप' एक प्रधान साधन था। साधकोंको विशेष अक्षरोंका उच्चारण एक विशेषरूपसे करना पड़ता था। साधनामें सफल होनेपर उसे उक्त अक्षरोंसे सम्बन्ध रखनेवाले देवताके दर्शन हो जाते थे। उसके अभीष्टकी सिद्धि हो जाती थी।

भारतमें बहुत प्राचीन कालमें ही विभिन्न राग-रागिनियोंके रंग, रूप, आकार, प्रकार, गुण, प्रभाव आदिका पता लग चुका था। सिद्ध गायक राग-रागिनियोंका रूप खड़ा कर देते थे। उनके प्रभाव प्रकट रूपमें प्रदर्शित कर दिखाते थे। पर समयने पलटा खाया। वे बातें गपोड़बाजी मानी जाने लगीं। किन्तु इधर पश्चिमी वैज्ञानिकोंके अनुसन्धानने फिर बाजी पलट दी है।

अनुसन्धानके अनन्तर प्राचीन कालमें तपस्वी-ऋषि-मुनियोंको विभिन्न बीजाक्षरोंका ज्ञान प्राप्त हो गया था। इन बीजाक्षरोंके विधिपूर्वक जपद्वारा विभिन्न देवताओंकी आराधना की जाती थी और मनचाही सिद्धि प्राप्त की जाती थी। इसी प्रकार अनेक ऋषि-मुनियोंको अनेक मन्त्रोंका बोध हुआ था। कठिन तपद्वारा उन्होंने इष्ट मन्त्र प्राप्त किये थे। और उनके जपके द्वारा उन्होंने अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं।

उन्हीं मन्त्रोंके जपद्वारा समय-समयपर अनेक साधकोंने अपने-अपने इष्ट देवोंको प्रसन्न करके अपनी-अपनी अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति की है। किन्तु इधरके संशय-युगमें जपयोगसे लोगोंकी श्रद्धा उठ-सी गयी है। इसका कारण यह है कि बिना यथार्थ ज्ञानके पाखण्डी प्राणियोंने आडम्बर खड़े करके दुनियाके भोले-भाले स्त्री-पुरुषोंको बेतरह ठगना आरम्भ कर दिया। दूसरे किसी तात्कालिक लाभ अथवा इच्छा-पूर्तिकी लालसासे जपयोगके यथार्थ-तत्त्व और उस कार्यके योग्य बीजमन्त्र और जपको न जाननेवाले अज्ञानी पुरुष, जो सामने आया उसी मन्त्रका, विधि आदिके जाने ही बिना, लट्ठम-पट्ठम रूपसे जप शुरू कर देते हैं। इन कारणोंसे जपका जो प्रभाव होना चाहिये वह देखनेमें नहीं आता। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'यज्ञोंमें मैं जपयज्ञ हूँ (यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि)'। इसका मुख्य कारण यह है कि अन्य यज्ञोंमें जो बाहरी सामान, तैयारी, सहायता आदिकी आवश्यकता पड़ती है वे सब झंझटें जपयज्ञमें नहीं होतीं। जपयज्ञमें केवल सात्त्विक भाव, प्रेम, साधना, तन्मयता, एकाग्रताकी ही आवश्यकता पड़ती है। प्रेमभावसे किसी भी स्थान, अवस्था, समय और परिस्थितिमें इष्टदेवका जप किया जा सकता है। इसी कारण मनके एकाग्र होकर इष्टदेवमें लगते ही जपयोग सिद्ध हो जाता है और अनायास ही मनचाहे फलकी प्राप्ति हो सकती है।

जपमें मन्त्र, बीजाक्षर या इष्टदेवके नामको एक विशेष विधिसे बार-बार दोहराना पड़ता है। जप करते समय सबसे बड़ी बात है, मनको एकाग्र करके जप और इष्टदेवके ध्यानमें लगाना। किन्तु यहाँपर एक बात अच्छी तरहसे समझ लेनी चाहिये कि ध्यान और जप दो भिन्न-भिन्न क्रियाएँ हैं। अपने इष्टके रूपका एकाग्रचित्त होकर मनन करना ही ध्यान कहलाता है। नाम या मन्त्रको बार-बार दोहरानेको जप कहते हैं। ध्यान और जप दोनों एक साथ भी चलते हैं और अलग-अलग भी। ध्यान जपसहित भी होता है और जपरहित भी। बिना जपके केवल ध्यान करना जपरहित ध्यान कहलाता है। ध्यानके साथ ही, जिसका ध्यान किया जाय उसके, नाम या मन्त्रके जपको जपसहित ध्यान कहा जाता है। जब साधक अपने इष्टदेवके ध्यानमें इतना तन्मय हो जाता है कि उसकी आत्मा इष्टदेवके रूपमें लीन हो जाती है, उस समय साधक समाधिकी अवस्थामें पहुँच जाता है और उस स्थितिमें जप ध्यानमें लीन हो जानेके कारण समाप्त हो जाता है। केवल ध्यान रह जाता है।

किन्तु ध्यानकी इस उच्चतम अवस्थाके पूर्व मन, वाणी और इन्द्रियोंको एकाग्र करके इष्टदेवके ध्यानमें लगानेके लिये जपकी आवश्यकता पड़ती है। जपके नादसे सांसारिक वस्तुओं तथा विचारोंसे मनको खींचकर एक ओर लगानेके लिये प्रेम-भक्तिसे, सद्भावपूर्वक इष्टमन्त्र या नामका जप अनिवार्य है। ध्वनिके माधुर्यसे खिंचकर मन इन्द्रियोंसहित एक ओर लग जाता है। धीरे-धीरे इष्टपर ध्यान एकाग्र होने लगता है और अन्तमें बाह्य विघ्न-बाधाओं, आकर्षणों, प्रलोभनोंके जालको तोड़कर मन इष्टमें रम जाता है।

मनोविज्ञानके विद्वानोंने अनेक प्रकारके प्रयोग, परीक्षण, खोज और छान-बीनके अनन्तर यह सिद्ध कर दिखाया है कि मनुष्यके मस्तिष्कमें बार-बार जिन विचारोंका उदय होता रहता है, वे विचार वहाँ नक्श हो जाते हैं। उसी प्रकारके

भाव मस्तिष्कमें घर बना लेते हैं। फल यह होता है कि वे ही या उसी प्रकारके विचार मस्तिष्कमें बराबर चक्कर लगाया करते हैं। उनसे मनका इतना लगाव हो जाता है कि उन्हींमें वह आनन्द प्राप्त करता है। उन्हींमें मगन रहने लगता है। ऐसी दशामें दूसरे प्रकारके अच्छे-से-अच्छे विचार और हितकर-से-हितकर भाव मनको नहीं रुचते। वह उनसे जल्दी ही ऊब उठता है, भागने लगता है और अपने पुराने विचारोंके बीचमें जाकर शरण लेता है। हमारे शास्त्रकारोंने इसीको संस्कार कहा है। इन्हीं संस्कारोंसे प्रेरित होकर मनुष्य अच्छा-बुरा आचरण करता है; और उन्हीं अपने विचारों, संस्कारोंके कारण ही संसारके सामने सज्जन या दुष्ट ठहरता है।

पहले मनुष्यके मनमें विचार उठते हैं। फिर वह उन्हें वचन या कार्यद्वारा प्रकट करता है। अस्तु, मनुष्यके आचरणोंका मूल आधार उसके विचारों, भावोंमें ही रहता है। जो मनुष्य जैसे विचार रखता है, वह उसी प्रकारका हो जाता है। मनुष्य अपने विचारोंका व्यक्त या साकाररूप मात्र है।

जपसे मनुष्यके विचार संयत हो जाते हैं। बार-बार उसके मुखसे एक विशेष प्रकारके शब्द उच्चारित होते हैं। कान बराबर उन शब्दोंको सुनते हैं। मन और मस्तिष्कपर उनका निरन्तर प्रभाव पड़ता है। मस्तिष्कके कोषोंमें उनका असर पड़ता है, चिह्न बनता, संस्कार जमता और एक स्थायी प्रभाव अङ्कित हो जाता है।

जपके समय साधकके सामने इष्टदेवके रूप, गुण, कर्मका चित्र जाज्वल्यमानरूपसे उपस्थित होता है। उसका प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है। देवोचित गुणोंका प्रभाव हितकर ही होगा। साधकके पूर्वसंस्कारोंमें परिवर्तन होता है, वे धीरे-धीरे घिसने-मिटने लगते हैं। इष्टदेवके गुणोंका प्रभाव अङ्कित होने लगता है। साधकके संस्कार इष्टदेवके रूप, गुणके अनुसार बनने लगते हैं।

एक पात्रमें जल भरा है। उसमें पिघला हुआ शीशा उड़ेला जाता है। जैसे-जैसे शीशेकी धार पात्रकी तहमें बैठती जाती है, वैसे-ही-वैसे पानीका अंश पात्रके ऊपरसे बाहर बह-कर निकलता जाता है। अन्तमें जब शीशेकी तह पात्रके मुँह-तक आती है, तब पानीका कुल भाग पात्रसे बाहर निकल जाता है। पात्रमें नीचेसे ऊपरतक केवल शीशा-ही-शीशा भरा नज़र आने लगता है।

ठीक इसी प्रकार जब साधक जपके द्वारा अपने इष्टदेवके गुणोंकी धार धीरे-धीरे किन्तु निश्चित तथा प्रबलरूपसे मस्तिष्क-कोषोंके पात्रमें उड़ेलने लगता है, तब एक-एक करके सभी गंदे विचार दूर होने लगते हैं; और अन्तमें मन-मस्तिष्क शुद्ध होकर इष्टदेवके रूप, गुण, कर्मसे भरकर भासित होने लगते हैं। वहाँ अज्ञान-अन्धकारमय असद्-विचारोंको स्थान ही नहीं रह जाता। लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, मद, मात्सर्य, क्रोध आदि सभी दूषित भाव दूर हो जाते हैं। तामस, राजस भावोंके स्थानमें शुद्ध, सात्त्विक भाव अङ्कित हो जाते हैं।

आम शब्दके कहनेसे मनमें उसके रूप, रंग, गुण, स्वादका उदय हो आता है। दुर्गन्धयुक्त गंदी वस्तुओंके नामस्मरण होनेसे मन घिनाने लगता है। उसी तरह इष्ट-देवके नामके स्मरण, उच्चारणसे दैवीगुण मनमें उदय होते हैं। मन शुद्ध हो जाता है। विकार दूर हो जाते हैं। साधक दैवी भावको प्राप्त होने लगता है। जप इष्टदेवकी प्राप्तिका सरल वैज्ञानिक अचूक उपाय है।

राम रम रहा है

दादू देखौं दयाल कौं सकल रहा भरपूरि।
रोम रोम में रमि रह्या तूँ जिनि जाणै दूरि॥
दादू देखौं दयाल कौं बाहरि भीतरि सोइ।
सब दिसि देखौं पीव कौं दूसर नाहीं कोइ॥

—दादूजी

आत्मतत्त्व विद्यातत्त्व शिवतत्त्व तुरीयतत्त्व

(लेखक—श्रीकृष्ण काशीनाथ शास्त्री)

साधनमें प्रवृत्त होनेवाले साधकको तत्त्वज्ञान होना आवश्यक है। तत्त्वोंकी आवश्यकताका प्रारम्भ आचमनसे ही होता है। जिस प्रकार साधारण आचमन—

ॐ केशवाय स्वाहा।
ॐ नारायणाय स्वाहा।
ॐ माधवाय स्वाहा।

—हम इन तीन मन्त्रोंसे करते हैं उसी प्रकार दुर्गा, काली, तारा, महाविद्या, षोडशी आदि महाविद्याओंके क्रममें, तथा सभी तान्त्रिक महाविद्याओंके क्रममें तथा सभी तान्त्रिक मन्त्रोंकी साधनाके आरम्भमें मूल-मन्त्रसहित इन तत्त्वोंसे चार आचमन किये जाते हैं। यथा—

ॐ आत्मतत्त्वाय स्वाहा।
ॐ विद्यातत्त्वाय स्वाहा।
ॐ शिवतत्त्वाय स्वाहा।
ॐ सकलतत्त्वाय स्वाहा।

स्थूलदेह, सूक्ष्मदेह, कारणदेह और महाकारण-देहके शोधनमें भी इन तत्त्वोंका उच्चारण करना अनिवार्य है।

आत्मतत्त्वसे स्थूलदेहका शोधन किया जाता है। विद्यातत्त्वसे सूक्ष्मदेहका, शिवतत्त्वसे कारणदेहका और सकलतत्त्वसे महाकारणदेहका शोधन किया जाता है। अब, तत्त्वका स्वरूप क्या है, संख्या कितनी है और तत्त्वातीत क्या है? यह हम इस लेखद्वारा 'कल्याण' के प्रेमियोंको समझानेकी चेष्टा करते हैं।

यह विश्व ३६ तत्त्वोंसे बना है। ये ३६ तत्त्व प्रलय होनेतक विद्यमान रहकर जगत्‌को भोगकी सामग्री देते हैं। प्राणियोंके शरीर, घट, पट—ये तत्त्व नहीं हैं।

आप्रलयं यत्तिष्ठति सर्वेषां भोगदायि भूतानाम्।
तत्तत्त्वमिति प्रोक्तं न शरीरघटादि तत्त्वमतः॥
(गुप्तसंहिता)

सुषुप्ति-अवस्थामें जैसे जीवोंका संसार लय होकर सूक्ष्मरूपसे जीवोंमें स्थित रहता है, ठीक उसी प्रकार, प्रलयकालमें यह जगत् सूक्ष्मरूपसे परशिवके कुक्षिगत रहता है। सब जीव, अपने अदृष्ट पञ्चभूत तथा जीवोंके संस्कार सूक्ष्मरूपसे परशिवमें रहते हैं, जैसे वट-बीजमें वटवृक्ष रहता है। ये संस्कार परशिवके पुनः सृष्टि उत्पन्न करनेमें सहकारी होते हैं।

केवल निजरूपमें अवस्थित परशिवकी जब प्रजोत्पादनकी इच्छा होती है कि 'बहु स्यां प्रजायेय', तब इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति, इन तीनोंके योगसे वे जगत् उत्पन्न करते हैं। यह जगत् ३६ तत्त्वोंसे निर्मित है। इन ३६ तत्त्वोंके तीन विभाग हैं—(१) आत्मतत्त्व (२) विद्यातत्त्व और (३) शिवतत्त्व अर्थात् (१) सत् (२) चित् (३) आनन्द।

आत्मतत्त्वमें ३१ तत्त्वोंका समावेश होता है वे इस प्रकार हैं—

आत्मतत्त्वः—

पृथ्वी	उपस्थ	बुद्धि
आप	पायु	मन
तेज	पाद, पाणि	प्रकृति
वायु	वाक्	जीव
आकाश	घ्राण	नियति
गन्ध	रसना	काल
रस	चक्षु	राग
रूप	त्वचा	कला
स्पर्श	श्रोत्र	अविद्या
शब्द	अहङ्कार	माया

विद्यातत्त्वः—

(१) सदाशिव (२) ईश्वर (३) विद्या

शिवतत्त्वः—

(१) परम शिव (२) शक्ति

मायान्तमात्मतत्त्वं विद्यातत्त्वं सदाशिवान्तं स्यात्।
शक्तिशिवौ शिवतत्त्वं तुरीयतत्त्वं समष्टिरेतेषाम्॥

अर्थात् 'पृथ्वीसे मायातक ३१ तत्त्वोंकी समष्टि आत्मतत्त्व है, यह सत्-रूप है। विद्यातत्त्वसे सदाशिवतत्त्वतक 'विद्यातत्त्व' चित्-रूप है, शक्ति और शिवतत्त्व 'आनन्दरूप' हैं। इन तत्त्वोंकी समष्टि 'तत्त्वातीत' नामक सच्चिदानन्द 'तुरीयतत्त्व' है।

अब हम इन ३६ तत्त्वोंकी क्रमशः व्याख्या करते हैं:—

(१) परम शिव—

जगत्के उत्पादनकी इच्छासे युक्त परम शिव, यह 'शिव' नामक प्रथम तत्त्व है।

(२) शक्ति

परम शिवकी सिसृक्षा—जगत् उत्पन्न करनेकी इच्छा—यह दूसरा तत्त्व है।

(३) सदाशिव

मैं जगद्रूप हूँ, इस प्रकार परम शिवका जगत्को अहन्तारूपसे देखना—इस वृत्तिसे युक्त 'सदाशिव' नामक तीसरा तत्त्व है।

(४) ईश्वर

यह केवल जगत् है, इस भेदविषयिणी वृत्तिसे युक्त 'ईश्वर'—यह चतुर्थ तत्त्व है।

(५) विद्या

यह जगत् मेरा ही स्वरूप है, ऐसी जो सदाशिवकी वृत्ति है, इसको विद्या कहते हैं—यह पाँचवाँ तत्त्व है।

(६) माया

यह जगत् है, ऐसी ईश्वरकी भेद-विषयिणी वृत्ति 'माया' नामक छठा तत्त्व है।

(७) अविद्या

पूर्वोक्त विद्याको तिरोहित करनेवाली तथा विद्याकी विरोधिनी 'अविद्या' कहलाती है—यह सातवाँ तत्त्व है।

(८) कला

जीवनिष्ठ सर्वकर्तृत्व-शक्तिका संकोच होकर केवल यत्किञ्चित् करनेका सामर्थ्य होना—यह 'कला' नामक आठवाँ तत्त्व है।

(९) राग

जीवनिष्ठ जो नित्यतृप्ति, वही संकुचित होकर कुछ विषयोंकी प्राप्तिके लिये अतृप्त रहती है—यह 'राग' नामक नवम तत्त्व है।

(१०) काल

जीवनिष्ठ-नित्यताका संकोच होकर, जीव इन षट् भावोंसे युक्त होता है—वे षट् भाव ये हैं:—

(१) अस्तित्व (३) वृद्धि (५) क्षय
(२) जनन (४) परिणमन (६) नाश

इन षट् भावोंके सहित जीवकी नित्यताका संकोच—यह 'काल' नामक दसवाँ तत्त्व है।

(११) नियति

परशिव और जीवका अभेद होनेसे, जिस प्रकार परशिव स्वतन्त्र है उसी प्रकार जीव भी स्वतन्त्र है, परन्तु अविद्याके कारण जीवकी आनन्दशक्तिकी स्वतन्त्रताका संकोच होकर यह जीव दूसरे कारणकी अपेक्षा रखता है—यह 'नियति' नामक ग्यारहवाँ तत्त्व है।

(१२) जीव

उपर्युक्त नियति, काल, राग, कला और अविद्या—इन उपाधियोंसे युक्त 'जीव' यह बारहवाँ तत्त्व है।

(१३) प्रकृति

सत्त्व, रज और तम, इन तीनों गुणोंका साम्य 'प्रकृति' है—यह तेरहवाँ तत्त्व है।

(१४) मन

सत्त्वगुण और तमोगुण दबे हुए हों और रजोगुणकी प्रधानता हो, इसको 'मन' कहते हैं—यह चौदहवाँ तत्त्व है। मन सङ्कल्पका कारण है।

(१५) बुद्धि

रजोगुण तथा तमोगुण दबे हुए हों और सत्त्वगुणकी प्रधानता हो वह 'बुद्धि' नामक पन्द्रहवाँ तत्त्व है।

(१६) अहङ्कार

सत्त्वगुण और रजोगुण दबकर तमोगुणकी श्रेष्ठता हो, वह विकल्पका कारण 'अहङ्कार' होता है—यह सोलहवाँ तत्त्व है।

१७ से २६ तक तत्त्व हैं—

श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी।

इन २० तत्त्वोंका अर्थ स्पष्ट है।

यह आत्मतत्त्व, विद्यातत्त्व और शिवतत्त्वका अर्थात् सत्, चित् और आनन्दका वर्णन हुआ। तुरीय-तत्त्व इन तीनों तत्त्वोंकी समष्टि 'सच्चिदानन्द' है।

'तुरीयतत्त्वं समष्टिरेतेषाम्'

यही 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' है, यही अक्षर है, अनिर्देश्य है, अव्यक्त है, सर्वव्यापी है, अचिन्त्य है, ध्रुव है, कूटस्थ है और अनिर्वचनीय है। उक्त ब्रह्ममें जो शक्ति विलीन रहती है, उसका नाम सरस्वती है, उसका वाहन हंस है, हकार शिवका वाचक है, सकार शक्तिका वाचक है। हकार अहंका पर्याय है और सकार इदम् (जगत्) का पर्याय है, सोऽहम् यह हंसः का उल्टा है, 'सोऽहम्' प्रपञ्चसे ब्रह्मकी ओर संसरण करता है और 'हंसः' यह ब्रह्मसे शक्तिकी ओर, यही अजपाजप गायत्री है, जिसके २१६०० जप नित्य जीव अपने श्वासोच्छ्वाससे करता रहता है।

'हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।'

यही तत्त्वातीतका जप है, जो जीवनभर चलता रहता है। योगीके लिये यह तत्त्वातीतका जप है, प्राकृत जनोंके लिये यह धमनीका चलना है।

परब्रह्मके साथ ऐक्य-सिद्धि प्राप्त करना, यही मनुष्यका परम पुरुषार्थ है। 'शिवो भूत्वा शिवं यजेत्' स्वयं शिवरूप होकर शिवकी पूजा करना है, इसलिये हमें इस मायामोहरूपी ३६ तत्त्वोंके जगत्का शिवरूप संवित् (ज्ञान) अग्निमें हवन करना चाहिये। यथा—

अस्मिन्निरन्तरमनिन्धनमेधमाने
मोहान्धकारपरिपन्थिनि संविदग्नौ।
कस्मिंश्चिदद्भुतमरीचिविकासमाने
विश्वं जुहोमि वसुधादि शिवावसानम्॥

'देहमें बिना ईंधनके ही निरन्तर प्रज्वलित रहनेवाली, अद्भुत प्रकाशसे युक्त, मोहरूपी अन्धकारका नाश करनेमें कुशल, ऐसी अनिर्वचनीय संवित् अग्निमें हम, षट्त्रिंशत् तत्त्वमय जगत्—जिसका आदि तत्त्व 'वसुधा' और अन्तिम तत्त्व 'शिव' है—हवन करते हैं अर्थात् मायामोहके आवरणको भस्म करके हम उस परमात्माके साथ अपना योग करते हैं।'

निष्कले परमे सूक्ष्मे निर्लक्ष्ये भाववर्जिते।
व्योमातीते परे तत्त्वे प्रकाशानन्दविग्रहे॥
विश्वोत्तीर्णे विश्वमये तत्त्वे स्वात्मनियोजनम्॥

'जीवात्माका परमात्माके साथ योग करे, जो परमात्मा सच्चिदानन्द है, अखण्ड है, महत्से भी महान् है, अणुसे भी सूक्ष्म है, अलक्ष्य है, केवल भावनागम्य है, जिसका प्रकाशानन्द स्वरूप है, जो ३६ तत्त्वोंसे परे है और जो ३६ तत्त्वमय है।' ऐसे परमेश्वरके साथ ऐक्यसिद्धि प्राप्त करे और भावना करे कि—

अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्॥

अर्थात् 'मैं प्रकाशरूप हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ, मैं नित्यमुक्त हूँ, मैं सच्चिदानन्द हूँ और शोक-मोह-अज्ञानसे परे हूँ'—यही 'जीवशिवयोरैक्यसिद्धिः' है। इसी सिद्धिको प्राप्त करना मुमुक्षु साधकका परम पुरुषार्थ है।

राम-नाममें ऐसा चित्त लगे

जो चित लागै राम नाम अस॥ टेक॥
तृषावंत जल पियत अनँद अति।
थलकहि गाँव मिलत है जौन जस॥
निर्धन धन सुत बाँझ बसत चित।
संपति बढ़त न घटत जौन अस॥

—गुलाल साहेब

मध्यम मार्ग

(लेखक—श्रीसुदर्शन)

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥
(गीता ६ । १७)

भगवान् बुद्ध एक पर्वतपर आसन लगाये बैठे थे। उन्होंने आहार, जल और निद्रा सब छोड़कर—

इहासने शुष्यतु मे शरीरं
त्वगस्थिमांसानि लयं प्रयान्तु ।
अप्राप्य बोधं बहुकल्पदुर्लभं
नैवासनात्कायमिदं चलिष्यति ॥

—का दृढ़ निश्चय कर लिया था। दिन-पर-दिन और रात-पर-रात बीतती चली जा रही थी; किन्तु अमिताभके मनमें न तो शान्ति आयी और न स्थिरता। चित्त उनका अशान्त था, वे विक्षिप्त हो रहे थे।

मैं यह माननेको प्रस्तुत नहीं कि यह विकलता भगवान् बुद्धमें वस्तुतः थी। उन आत्माराम आप्तकाममें भला उद्विग्नताको कहाँ अवकाश ? पर जैसे साधकोंके कल्याणार्थ उन्होंने वैराग्यका प्रदर्शन किया, वैसे ही आवेशकी व्यर्थता दिखलानेके लिये उनका यह नाटक रहा होगा।

एक-दो नहीं, उस अवस्थामें इस प्रकार चालीस दिन व्यतीत हो गये। अन्तमें सहसा उन्हें अपनी भूल ज्ञात हुई। वे धीरेसे आसन छोड़कर हाथ और पैरोंके बलसे खिसकते हुए जलके किनारे पहुँचे। शरीर निर्बल हो रहा था। आचमन किया और एक चिथड़ेको धोकर उसकी कौपीन लगायी। वहाँसे वे नगरमें आये और भिक्षा की।

भिक्षा करके भगवान् पुनः लौटे और उन्होंने बोधि-वृक्षके नीचे आसन लगाया। यहीं उन्हें ज्ञान होकर बुद्धत्वकी प्राप्ति हुई और वे उस ज्ञानका प्रसार करने सारनाथ गये।

भगवान्‌ने अपने इस साधन-मार्गका नाम 'मध्यम मार्ग' रक्खा। मैं बौद्ध ग्रन्थोंके उन पारिभाषिक शब्दोंके फेरमें नहीं पड़ना चाहता, जो मध्यम मार्ग शब्दकी अपने ढंगकी व्याख्या करते हैं। मुझे तो उस मध्यम मार्गपर विचार करना है, जिसका सङ्केत लेखके आरम्भमें दिये गीताके श्लोकमें है।

बौद्ध धर्मके पारिभाषिक मध्यम मार्गकी ओर न जाते हुए भी मैं विवक्षित मार्गको मध्यम मार्ग इसलिये कह रहा हूँ कि वह न तो उग्र हठका मार्ग है और न आलस्यका। जीवनको माध्यमिक दशामें रखकर ही उसका साधन किया जा सकता है। जो साधक अपने साधनमें सफलता चाहता है, उसके लिये यह सर्वोत्तम ही नहीं, अपितु एकमात्र मार्ग है। कोई भी साधन बिना माध्यम स्थितिमें आये पूर्णताको प्राप्त हो नहीं सकता।

साहित्य एवं उपदेश दो प्रकारके होते हैं—प्रचारात्मक और क्रियात्मक। लोगोंको प्रोत्साहित करने और उनमें रुचि उत्पन्न करनेके लिये अधिकांश प्रचारात्मक साहित्य प्रस्तुत होता है। सभा, कथा, सत्संग, उपदेश भी अधिक इसी उद्देश्यसे होते हैं। क्रियात्मक साहित्य और उपदेश थोड़ा होता है और उसके अधिकारी भी थोड़े ही होते हैं। साधनके आध्यात्मिक पथमें क्रियात्मक बातें गुप्त भले न रहें, पर वे कुछ निश्चित अधिकारके व्यक्तियोंतक सीमित अवश्य रहती हैं। दूसरोंके सम्मुख होनेपर भी गम्भीरताके कारण वे उसे ग्रहण नहीं कर पाते।

साधारण समाज प्रायः ओजपूर्ण उत्तेजनात्मक बातें सुनना और सोचना पसन्द करता है। व्यावहारिकताकी कसौटीपर कसकर उन ऊँची उड़ानोंकी परीक्षा करनेके लिये वह तत्पर नहीं होता। ऐसी बातोंको वह साहसहीनता, कायरता और हतोत्साह करनेवाली समझकर उनकी उपेक्षा एवं परिहास करता है।

साधनेच्छु व्यक्ति उसी साधारण समाजमेंसे आता है। अपने गन्तव्य पथके विषयमें वह एक अनुभवशून्य पथिक होता है। उसे आगे आनेवाली कठिनाइयोंका ज्ञान या तो होता ही नहीं और यदि होता भी है तो वह उन्हें कोई महत्त्व नहीं देता। वह अपनी शक्तिसे अपरिचित होता है। उसे अपने उस अलहड़ साथी (मन) के स्वभावका तनिक भी पता नहीं होता, जिसके ऊपर उसकी वर्तमान यात्राकी सफलता या असफलता निर्भर करती है।

वह नव यात्री आता है प्रचारात्मक साहित्यका उबलता जोश लिये हुए। उसके भीतर एक तूफान होता है। वह

उच्च-से-उच्च आदर्शको आदर्शकी भाँति नहीं, कार्यकी भाँति देखते हुए स्वयं झटपट 'रोटी सेंकी और खा लिया' की भाँति, वैसा बन जानेकी आशा करता है। वह उन कठिनाइयोंको ध्यानमें भी नहीं लाता जो कि उसने पढ़ी और सुनी हैं, जिनसे उसे बार-बार सावधान किया गया है।

'मनुष्य-जीवन अमूल्य सम्पत्ति है। यदि यह खो गयी तो फिर पश्चात्ताप करते हुए चौरासी लक्ष योनियोंमें भटकना ही हाथ रहेगा। कोई ठिकाना नहीं कि काल कब इस अमूल्य धनको हमारे हाथसे छीन ले। इसलिये उठो और इसी क्षण उस परम लक्ष्यको प्राप्त करनेमें लग जाओ! तुम उसे प्राप्त कर सकते हो! उसे प्राप्त करनेके लिये ही तुम्हारा यह जीवन है! वह तुम्हारा स्वरूप है। कोई शक्ति नहीं जो तुम्हें उसके प्राप्त करनेसे रोक सके। उठो, पूरी शक्तिसे लग जाओ और लक्ष्यको प्राप्त करो!' ऐसी ही बातें प्रायः उस नव पथिकने सुनी हैं और सुनता रहता है।

प्रायः उसके सम्मुख ध्रुव, प्रह्लाद प्रभृतिके आदर्श होते हैं। वह युग और शक्तिपर ध्यान न देकर सोचता है, 'मैं भी इसी प्रकार घोर साधन करूँगा। थोड़े ही समयमें मैं अपने लक्ष्यको प्राप्त कर लूँगा।' उत्साह और साहस बुरा नहीं है। मैं भी उसकी प्रशंसा ही करूँगा; पर जिसे कार्यक्षेत्र-में आना है, उसे व्यावहारिकतासे परिचित होना ही चाहिये।

प्रारम्भिक साधकको जोश दिलाया गया होता है तीव्रसे तीव्रतर गतिको लेकर बढ़नेका। वह जीतोड़ श्रम करता है; लेकिन उसे श्रम करनेकी रीतिका पता नहीं होता। वह अभ्यास नहीं करता। अभ्यासको वह जानता ही नहीं। वह करता है बलप्रयोग। भला बलप्रयोग कहीं स्थायी होता है? आवेशका अनिवार्य परिणाम श्रान्ति है।

उदाहरण लेकर देखिये—एक व्यक्तिने सुना है कि व्यायाम करनेसे शरीर पुष्ट होता है। व्यायाम शक्ति देता है। वह अखाड़ेमें गया और पहले दिन ही उसने दण्ड-बैठकोंमें अपनेको थका लिया। सम्भव है कि दूसरे दिन भी किसी प्रकार वह पहले दिनकी संख्या पूरी कर ले; परन्तु तीसरे दिन उसके लिये उठना-बैठना भी कठिन हो जायगा। ज्वर आ जाय तो भी आश्चर्य नहीं। इस प्रकारका व्यायाम शरीर-के लिये लाभके बदले हानि अधिक करेगा और अन्तमें ऊब-कर वह व्यक्ति व्यायामको ही छोड़ देगा।

प्रकृतिका नियम है कि जहाँ आघात होगा, वहाँ प्रत्याघात होना ही है। साधक जब मनपर अत्यन्त दबाव डालने लगता है तो कुछ समय वह समझता है कि मैं साधनमें अग्रसर हो रहा हूँ। यह दशा अधिक दिन नहीं टिकती। मनसे उस बलप्रयोगका प्रतीकार होने लगता है। अनेक ऐसे सङ्कल्प-विकल्प उठने लगते हैं जो साधन न करनेके समय भी नहीं उठते थे। मन चञ्चल हो जाता है और लाख प्रयत्न करके भी स्थिर नहीं हो पाता। साधक समझने लगता है कि वह अपनी साधन-समयसे पूर्वकी स्थितिसे भी नीचे पहुँच गया है। उसके मनमें साधनपर ही सन्देह होने लगता है।

मनपर दबाव डालना साधकके लिये कभी हितकर नहीं होता। भगवान्‌ने गीतामें 'अभ्यासेन तु' कहकर और महर्षि पतञ्जलिने अपने योगदर्शनमें 'अभ्यासवैराग्याभ्यां' के द्वारा साधन-पथका निर्देश किया है। बलप्रयोगकी चर्चा कहीं भी नहीं है। गीतामें भगवान्‌ने हठपूर्वक शरीरको पीड़ा देकर होनेवाले तपको तामस तप कहा है। उन्होंने बताया है कि—

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥
(१७।६)

'जो मूर्ख शरीरके पाञ्चभौतिक नस, नाड़ी, मांस आदिको (बलपूर्वक) खींचते (पीड़ित करते) हैं और (इस प्रकार) मुझ शरीरमें रहनेवालेको (परमेश्वर जो जीवात्मारूपसे हैं उसे) पीड़ित करते हैं, उन्हें आसुर (तामस) निश्चयवाले समझो।'

अभ्यासका अर्थ है स्वभाव डालना—जितना मन और शरीर सरलतासे सह सके, उससे आरम्भ करके धीरे-धीरे उसे इस प्रकार बढ़ाना कि वह असह्य न हो और वैसा करनेका स्वभाव बन जाय। आरम्भ एक छोटी मात्रासे करके उसे बहुत धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिये। अभ्यासका यह नियम है कि उतना ही बढ़ाया जाय जिसे फिर कभी घटाना न पड़े।

यह अभ्यासक्रम पर्याप्त समयतक चल सकता है। इसमें उद्विग्नता होनेकी सम्भावना एक प्रकारसे नहीं ही होती। समय लगता अवश्य है, पर साधक मनकी प्रतिक्रियासे सुरक्षित रहता है। उसे उस प्रत्याघातका सामना नहीं करना पड़ता, जो एक दुःखद अवस्था है और जिसे सहन करना कठिन पड़ता है। फिर उससे कोई लाभ भी नहीं होता।

प्रत्याघातकी शान्तिपर साधकको पता लगता है कि उसके बलप्रयोगका कोई प्रभावकारी सुफल उसे नहीं मिला।

यह एक कठिनाई है कि प्रारम्भिक साधकको यह अभ्यासक्रम नहीं समझाया जा सकता। वह आवेश लिये और उतावला होता है। उसे बलप्रयोगकी धुन रहती है। ऐसी बातोंको वह हतोत्साह करनेवाली समझता है। दो-चार बार बलप्रयोग और उसके अनिवार्य परिणाम मनकी चञ्चलताके द्वारा ताड़ित होकर तब कहीं वह अभ्यासकी ओर आता है। यह स्वाभाविक होते हुए भी भयङ्कर है। प्रत्याघातके समय प्रायः ऐसा होता है कि साधकका विश्वास साधनपरसे जाता रहता है। वह उसे छोड़ देता है। यहाँतक भी कुशल है। पर बहुधा वह दूसरा साधन करने लगता है और उसमें भी वही पहली भूल करता है।

मैंने देखा है कि इस प्रकार कई साधन पकड़ने और छोड़नेके पश्चात् साधककी श्रद्धा साधनमात्रपरसे उठ जाती है। वह आध्यात्मिकताको एक भुलावा मानने लगता है। अपनी भूलके कारण मनुष्य-जीवनके लक्ष्यसे दूर जा पड़ता है। यह घातक परिणाम रोका जा सकता है, यदि एक प्रत्याघातके पश्चात् उसे कोई दूसरा उसकी भूल समझा दे और पुनः उसे अभ्यास-क्रममें लगा दे। ऐसे अवसरपर साधन बदलनेसे कोई लाभ नहीं।

यह एक भ्रान्ति है कि यदि एक घंटेके जपमें पाँच मिनट मन एकत्र रहता है तो पाँच घंटेके जपमें पचीस मिनट एकत्र रहेगा। यह गणित मनके ऊपर नहीं घटता। मनका स्वभाव है कि वह किसी भी कामको प्रारम्भमें पसंद कर लेता है और फिर उससे ऊब जाता है। फिर वह उसमें रस नहीं लेता। जो लोग लगातार पूरे दिन साधनमें लगे रहते हैं, उनमें यदि महापुरुषोंको अपवाद मान लिया जाय तो शेष प्रायः या तो ऊँघते रहते हैं, अथवा उनका मन कहीं इधर-उधरकी सोचता रहता है।

मनके लिये कोई एक वस्तु प्यारी नहीं। वह नवीनतासे प्रेम करता है। अच्छी-से-अच्छी वस्तुको भी छोड़ देता है और उससे घटियाको भी चाहने लगता है। सुस्वादु भोजन पानेवाला सम्पन्न पुरुष भी एक बार रूखी रोटियाँ पाकर प्रसन्न होता है। इस बातको न समझनेके कारण साधक किसी नये साधनमें एकाग्रता प्राप्त करके उसकी ओर आकर्षित हो जाता है और अपने पुराने साधनको छोड़ बैठता है। नये साधनकी एकाग्रता भी उसकी नवीनता-तक रहती है। मन बादको उसमें भी वैसे ही रुचि नहीं रखता जैसे पहले साधनमें। अतः यह समझ लेना चाहिये कि साधनका बदलना कोई लाभकारी बात नहीं।

मैं पहले कह चुका हूँ कि मन नवीनतामें आकर्षित होता है। विश्वास न हो तो तीर्थवासियों, मन्दिरके पुजारियों, कथावाचकोंके अपने साथियों और संत-महात्माओंके निकटस्थ व्यक्तियोंके जीवनको देखिये। जहाँ कुछ घंटे रहनेसे आप श्रद्धा और सात्त्विकतासे भर गये थे, वहीं सर्वदा रहनेवालोंपर उसका कोई प्रभाव नहीं। वह मूर्ति जो आपको आकर्षणका केन्द्र जान पड़ती है, पुजारीके लिये उसमें कोई आकर्षण नहीं। वह उपदेश जो आपको विह्वल बना रहे हैं, उपदेशकके भाईपर उनका कोई प्रभाव नहीं। कारण यह है कि वे उसे रोज-रोज देखते और सुनते हैं। उनके लिये वह सामान्य हो गया है। आपने उसे प्रथम देखा या सुना है, आपके लिये वह नवीन अतः आकर्षक है।

एक हलवाई क्या मिठाइयोंको वैसे ही चाहता है, जैसे कोई रूखी रोटीसे पेट भरनेवाला गरीब बालक? पर यदि उसी बालकको मिठाईकी दूकानमें नौकर रख लिया जाय और यथेच्छ मिठाई खानेकी छुट्टी दे दी जाय तो क्या वह सदा पूर्ववत् मिठाइयोंमें स्वाद और आकर्षण प्राप्त कर सकेगा? इसी प्रकार आपको भी स्मरण रखना चाहिये कि जहाँ आज आपने इतना अधिक आकर्षण पाया है, वहीं यदि सदा रहने लगेंगे तो आपको कोई लाभ नहीं होगा। उस स्थान या व्यक्तिका आपपर कोई प्रभाव सदा नहीं पड़ सकता।

एक दिनके लिये किसी स्थान या व्यक्तिमें आकर्षण देखकर उसके पास रहनेको उतावला होना पागलपन है। इस प्रकार घर छोड़कर बाहर जा बसनेवाले साधक निराशा-के अतिरिक्त और कुछ नहीं पाते। यदि साधन किसी एक स्थानमें रहकर नहीं होता तो वह दूसरे स्थानमें जाकर भी नहीं होगा। मन बाह्य प्रभावोंसे एकाग्र नहीं किया जा सकता। ये प्रभाव तो क्षणिक होते हैं। उनकी नवीनताके कारण मन उधर खिंचता है। एकाग्रता तो प्राप्त करनी होगी। वह धैर्य-पूर्वक साधनके क्रमिक अभ्याससे प्राप्त होगी। वह आभ्यन्तर-की वस्तु है। बाहर उसको नहीं पाया जा सकता।

जो कुछ भी करना है, वह साधकको स्वयं करना होगा। दूसरे उसे केवल उत्साह दिला सकते हैं, भूलें बतला सकते

हैं और गन्तव्य पथका एक धुंधला परिचय दे सकते हैं। चरम स्थिति कोई बाह्य वस्तु नहीं, जिसे कोई उठाकर दे देगा। वह अपने ही अन्तरकी वस्तु है। वह अपने ही साधनसे मिलेगी। किसीके लिये कोई दूसरा साधन नहीं कर सकता। यदि कोई ऐसा करे भी तो वह व्यर्थप्राय है।

लोग विवेकानन्दजीपर परमहंस रामकृष्णकी कृपाके समान दृष्टान्त ढूँढ़ लेते हैं और कल्पना कर बैठते हैं कि उन्हें भी कोई ऐसा ही महापुरुष मिल जायगा। ऐसे लोग स्वयं तो कुछ करना चाहते नहीं, महापुरुषोंके पीछे पड़े रहते हैं। एकसे निराश होकर दूसरे और दूसरेसे तीसरे, इस प्रकार एक-न-एकके पीछे पड़े रहना उनका स्वभाव बन जाता है। मैं पूछता हूँ कि महापुरुष क्यों एक व्यक्तिपर कृपा करके उसे उच्च आध्यात्मिक स्थिति प्रदान करेगा और दूसरेको नहीं? क्या सेवासे प्रसन्न होकर? इसका तो अर्थ होता है कि वह दूसरोंसे अपनी शारीरिक सेवा कराना चाहता है। उसमें शरीरके प्रति मोह है। फिर वह महापुरुष कैसा?

समदर्शी महापुरुष किसीपर कृपा नहीं करते और न किसीपर क्रोध। उनके लिये तो सब अपने स्वरूप हैं। अथवा वे कृपाके स्वरूप होते हैं। उनकी कृपा सबपर सदा समान रहती है। उनके द्वारा किसीपर कृपा या कोप जो प्रतीत होता है, वह उसी व्यक्तिके कर्मका फल होता है। परमहंसजीने केवल स्वामी विवेकानन्दपर ही ऐसी कृपा क्यों की? उनके सेवकोंमें तो नरेन्द्रसे अधिक दूसरे भी अनुरागी थे। बात तो यह है कि यह विषय कृपाका नहीं। यदि यह विषय कृपाका होता तो अनन्त करुणावरुणालय जगदीश्वरके होते किसी जीवको संसार-चक्रमें भटकना ही न पड़ता। उस कृपासिन्धुसे भी अधिक कोई कृपालु हो सकता है, यह बात मानने योग्य नहीं।

पूर्वजन्मके या इस जन्मके साधनसे सम्पन्न अधिकारीका कोई संस्कार आवरण बना रहता है और महापुरुष केवल उसे दूर कर देते हैं। फलतः वह अपने साधनकी पूर्णावस्थाको प्राप्त कर लेता है। महापुरुषोंकी कृपाका यही रहस्य है। साधन तो उसी व्यक्तिको करना होगा। चाहे उसने पहले किया हो या अब करे। अधिकारी बने बिना किसीको पूर्ण स्थिति कभी प्राप्त हो नहीं सकती।

अब रहा यह कि साधन कैसे किया जाय? अधिकांशमें लोगोंकी यह धारणा होती है, विशेषतः साधन प्रारम्भ करनेसे पूर्व कि,—बिना घरके काम-काज छोड़े, बिना सांसारिक व्यवहारोंसे पृथक् हुए, साधन नहीं हो सकता, ऐसे लोग जब कभी कुछ देर साधनमें बैठते हैं और मनकी चञ्चलतामें विकल होते हैं, तो उनकी यह धारणा और भी दृढ़ हो जाती है। वे चाहते हैं कि आरम्भमें ही मन झटपट एकाग्र होने लगे और जबतक वे चाहें, एकाग्र रहे। ऐसा होता नहीं—अतः वे इसका दोष अपने दैनिक कार्योंको देते हैं, जिनका चिन्तन मन साधनके समय करने लगता है। वे समझते हैं कि यदि वे उन कामोंको छोड़ दें तो मन उनका चिन्तन नहीं करेगा। वह एकाग्र हो जायगा।

सीधी-सी बात है कि जो घरमें मनको एकाग्र नहीं कर सकता, वह जंगलमें कभी न कर सकेगा। घरके थोड़े-से कामोंको छोड़ देने मात्रसे क्या होगा? जन्म-जन्मान्तरके संस्कार तो हृदयमें भरे हैं। आसक्ति यदि हृदयमें है तो वह रहेगी। घरमें रहनेपर वह घरसे और वनमें रहनेपर वनसे रहेगी। यही दशा दूसरे सभी विकारोंकी है। मनको सोचनेके लिये वहाँ भी बहुत-सी बातें मिलेंगी।

घरमें पूरी सात्त्विकता प्राप्त किये बिना कर्मोंको छोड़ देना एक बहुत दुःखद परिणाम प्रकट करता है। वनमें या कहीं भी एकान्तमें जानेमात्रसे सात्त्विकता तो आ नहीं जाती। साधनमें एकाएक मन लगता नहीं। दो-चार दिन उसपर बलप्रयोग कर भी लें तो वह प्रतीकार कर बैठता है। उधर कर्मोंको छोड़ देनेसे रजोगुण भी दूर हो जाता है। फलतः आता है तमोगुण। प्रायः दिनभर तन्द्रा और आलस्य घेरे रहते हैं।

मुझे एक संतके शब्द सदा स्मरण रहते हैं। उन्होंने कहा था, 'डाका डालना अच्छा है, लड़ाई करना अच्छा है, पर ऊँघते हुए पड़े रहना अच्छा नहीं। रजोगुणसे सत्त्वगुणमें जानेकी सम्भावना रहती है। पर तमोगुणसे कोई सत्त्वगुणमें नहीं जा सकता। हमें डाकुओंके भक्त होनेका उदाहरण मिलता है, पर किसी निद्रालु या आलसीके भक्त होनेका उदाहरण कोई भी कहीं नहीं बता सकता।' मैं प्रत्येक साधकसे कहूँगा कि वे इन शब्दोंको स्मरण रखें। कर्मोंको त्यागकर रजोगुणसे तमोगुणके गर्तमें कूदनेकी अपेक्षा वहीं स्थित रहना अधिक लाभकारी है। सत्त्वगुणकी स्थिति वहीं अभ्यासके द्वारा प्राप्त हो सकती है। उसके लिये उतावली व्यर्थ है।

साधन कैसे करना चाहिये—यह बात भगवान्‌ने स्वयं बतलायी है। मध्यम मार्गमें स्थित रहकर ही साधन किया जा सकता है। इस माध्यमिकताको स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं—'युक्ताहार' आहार युक्त—संयत होना चाहिये। वह न तो अधिक हो न न्यून।

अधिक आहार साधनमें बाधक है, इस विषयमें कोई भी मतभेद नहीं। जीभके स्वादके लिये जो पेटको ठूँसता रहता है, वह उदर भारी होनेसे स्वभावतः आलसी होगा। जो रसनाको संयत नहीं रख सकता, उससे दूसरी इन्द्रियोंके संयमकी आशा बहुत कम है। मनका भोजनसे सम्बन्ध है। 'जैसा खाय अन्न, वैसा बने मन।' अतएव अनियमित भोजन करनेवाला मनपर नियन्त्रण नहीं रख सकता। साधकका आहार शुद्ध, सात्त्विक, पवित्र परिश्रमसे उपार्जित और परिमित होना चाहिये।

जहाँ साधनमें आहारकी अधिकता बाधक है, वहाँ उसका त्याग या अत्यल्पता भी बाधक है। इस दिशामें साधक प्रायः भूलें करते हैं। आहारका त्याग तो किसी दिनके विशेष व्रत या अस्वस्थ अवस्थाको छोड़कर कभी नहीं करना चाहिये। साथ ही आहारकी मात्रा इतनी हो और उसमें ऐसे पदार्थ हों, जो शरीरको पर्याप्त पोषण दे सकें।

एक सीधी-सी बात है कि भगवान् तपस्यासे नहीं मिलते और न तपसे मनपर विजय पायी जाती है। तपका फल केवल स्वर्ग है। क्योंकि तप स्वयं एक पुण्य है। यदि तपसे भगवान् मिलते होते तो सभी तप करते, सबसे बड़े तपस्वी महर्षि दुर्वासापर भगवान्‌का चक्र न चलता। यदि तपसे मन वशमें हो जाता तो घोर तपस्याके पश्चात् भी विश्वामित्रजीमें वशिष्ठसे बदला लेने और ब्रह्मर्षि कहलानेकी वृत्ति शेष न रहती।

'जबतक भगवान् न मिलें तबतक भोजन न करूँगा।' यह एक दुराग्रह है और भगवान् ऐसे दुराग्रहसे नहीं मिल सकते। वे मिलेंगे तो प्रेमसे। ऐसे हठी लोग जब अपने दुराग्रहसे कष्ट उठाकर विफल होते हैं तो अविश्वासी और नास्तिक हो जाते हैं।

इसी प्रकार दो मुट्ठी चने चबाकर या आहारको अत्यल्प करनेसे भी प्रभुके दर्शन नहीं हो सकते। ऐसे अपर्याप्त आहार या अनाहारकी अवस्थामें साधन नहीं होता। साधनकी पूर्णताके लिये मन स्वस्थ चाहिये और मन शरीरके स्वस्थ रहनेपर ही स्वस्थ रह सकता है। महापुरुषोंकी बात छोड़ दीजिये। साधकका मन ऐसी अवस्थामें या तो मूढ़ रहता है या भोजनकी चिन्ता करता है।

आहारको युक्त करनेका आदेश देनेके साथ भगवान् उसी स्वरमें आगे कह गये हैं, 'विहारस्य'। विहार—शारीरिक क्रियाओंको भी संयत और परिमित रखना होगा। बस, भवन प्रभृति और घूमने-फिरने आदिको न तो पूरी तरह छोड़ना है और न उनके संग्रहमें ही व्यस्त हो जाना है।

वर्षा, धूप और सरदीमें खुले आकाशमें बैठकर तपस्या हो सकती है, साधन नहीं हो सकता। तपस्याके फलके सम्बन्धमें प्रथम कह चुका हूँ। इसी प्रकार केवल कौपीन पहनकर प्रत्येक अवस्थामें रहना भी तपस्या ही है। साधकमें महल बनाने और वस्त्राभूषणोंसे शरीरको सजानेकी कामना हो नहीं सकती। यदि हो भी तो इसे वह साधनमें सहायक नहीं मानेगा। अतः इस विषयमें कुछ कहना व्यर्थ है। पर इनके सर्वथा त्यागका हठ भी उसमें नहीं होना चाहिये। साधनको सुचारु रूपसे संचालित रखनेके लिये आवश्यक है कि वर्षा, धूप प्रभृतिसे रक्षित रहनेके लिये एक स्थान हो, चाहे वह फूसका झोपड़ा ही क्यों न हो। इसी प्रकार शरीरके शीतनिवारणार्थ कुछ वस्त्र हों, भले वे चिथड़े या टाट हों। व्यर्थमें शरीरपर दबाव डालनेसे साधन नहीं होता। फिर तपस्या ही होती है। शीत सह लो या ध्यान कर लो। साधक दोनों साथ-साथ नहीं कर सकता।

विहार शब्दके भीतर शरीरकी क्रियाएँ भी आती हैं। उन्हें भी नियत रखनेका इससे आदेश मिलता है। बहुत बोलना, बहुत चलना या घूमना, दृष्टि सदा चञ्चल रखना, ये सब साधनके बाधक हैं ही, परन्तु न बोलनेकी प्रतिज्ञा कर लेना, सदा नेत्र बंद ही रखना, आसनसे उठनेका नाम न लेना, कोठरी या आश्रमसे न निकलनेका व्रत करना, ये सब भी साधन नहीं हैं। तपस्या ही हैं।

सबसे पहली हानि तो यह है कि आप जिस अङ्गसे काम न लेंगे, वह दुर्बल और निकम्मा हो जायगा। उससे फिर कोई काम नहीं लिया जा सकेगा। दूसरी और प्रबल हानि है मनका सङ्घर्ष। आप जिस कामको न करनेकी प्रतिज्ञा करेंगे, मन उसे बार-बार करना चाहेगा। छोटी-सी आवश्यकताको भी वह तूल देगा। अधिकांश समय उससे सङ्घर्ष करनेमें जायगा। साधनमें मन न लगकर उस रोके

हुए कामको करनेकी सोचता रहेगा। साधन तो छूट जायगा और वह निषेध ही साधन हो जायगा। संसारमें बहुत लँगे, अन्धे, लूले, लँगड़े हैं। आपने घोर द्वन्द्व करके मनको परास्त किया और वैसे बने तो क्या लाभ! इस तपस्यासे आपको स्वर्ग तो पाना नहीं, फिर साधनके मार्गमें ये रोड़े क्यों अटकाये जायँ!

'युक्तचेष्टस्य कर्मसु'—कर्मोंमें नियमित चेष्टा भी हो। साधकके लिये दिन-रात्रि कार्यव्यस्त रहना, इतना परिश्रम करना कि शरीर श्रान्त हो जाय, कर्मोंमें इतना आसक्त होना और उनकी इतनी उलझन सिरपर ले लेना कि सोते समय भी उन्हींका स्वप्न दिखायी दे, उपयुक्त नहीं है। ऐसा कार्यव्यग्रपुरुष साधन नहीं कर सकता। ऐसा व्यक्ति यदि कुछ समय निकाल भी ले, तो भी उस समय उसका मन उन्हीं उलझनोंमें पड़ा रहेगा। साधनसे उठनेकी शीघ्रता रहेगी और एकाग्रता प्राप्त न हो सकेगी।

जैसे कर्मोंका आधिक्य साधनमें बाधक है, वैसे ही उनका सर्वथा अभाव भी। मेरी समझसे यह अवस्था पहलीसे अधिक खराब है। प्रायः साधक भ्रमवश इस अवस्थाको पाना अच्छा मानते हैं और इसके लिये प्रयत्न भी करते हैं। किन्तु इससे उत्पन्न होनेवाली बाधाओंको वे देखते ही नहीं।

अनुष्ठानोंकी बात छोड़ दीजिये। एक दिनसे लेकर साल-दो-सालके भी अनुष्ठान हो सकते हैं और उस समय यदि अनुष्ठान बड़ा हुआ तो दूसरे कार्यके लिये समय नहीं मिलता। अनुष्ठान भी एक साधन अवश्य है, पर वह 'अभ्यासवैराग्याभ्यां···' वाला मनोनिरोधका साधन नहीं। यदि अनुष्ठान सकाम हुआ तो कामनासिद्धि और निष्काम हुआ तो पापक्षय होता है। उसके द्वारा मनोनिरोध नहीं होता। बहुत अंशोंमें अनुष्ठान मनपर बलप्रयोग करके होता है और यह मनोनिरोधके विपरीत दशामें भी ले जानेका कारण हो सकता है। ऐसा अधिकांश देखनेमें आया है कि अनुष्ठानके पश्चात् कामनाएँ प्रबल हो उठती हैं।

अनुष्ठान भी एक प्रकारका आवेश है और आवेश सदा नहीं रह सकता। जो साधक बार-बार अनुष्ठान करके लक्ष्यको प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं एवं अभ्यासके राजमार्गको छोड़ देते हैं, निश्चय ही उनमें कष्ट-सहिष्णुता और राजस आवेग बहुत अधिक होता है। यह आवेग उनके धैर्यको नष्ट कर देता है। उनमें उतावलापन आ जाता है। विफल होनेपर जो कि बलप्रयोगका अनिवार्य परिणाम है, या तो वे आत्महत्या करके उद्देश्यको प्राप्त करनेकी भ्रान्त आशा करते हैं, अथवा धर्म और ईश्वरको मूर्खोंकी कल्पना बताने लगते हैं।

दो बातें स्मरण रखनी चाहिये—मन एक ही कार्यमें बराबर नहीं लगा रह सकता और शरीरका प्रभाव मनपर अवश्य पड़ता है। निरन्तर भजन, पूजन, ध्यान करते रहना किसी महापुरुषके लिये भले सम्भव हो, पर साधकके लिये नहीं। साधक यदि चाहेगा कि उसका प्रत्येक समय सात्त्विक एवं आध्यात्मिक कार्योंमें जाय तो वह अपने साधनको राजस बना लेगा। उसका मन सदा सत्त्वगुणमें रहनेमें समर्थ नहीं। मनको कोई लौकिक कार्य दिया नहीं जाता। फलतः जो कार्य हैं, उन्हींमें वह राजसिकता एवं तामसिकता लावेगा, धीरे-धीरे वह ऐसा करनेका आदी हो जायगा और फिर साधनसे उसे कोई सात्त्विकता प्राप्त नहीं होगी।

साधक साधनसे उठे तो उसमें स्फूर्ति, आनन्द और प्रसन्नता भरी होनी चाहिये। वह सत्त्वगुणसे उठकर आया है, यह स्पष्ट ज्ञात होना चाहिये। यदि बात-बातमें झल्लाहट हो, स्वभाव चिड़चिड़ा हो उठे, साधनमें या उठनेपर आलस्य ज्ञात हो तो समझना होगा कि उसके मनने साधनसे सात्त्विकता ग्रहण नहीं की। उसने साधनको एक कार्य समझ लिया जो उसपर बलात् लादा गया है। वह उससे राजस या तामस प्रभाव ग्रहण कर रहा है। इस अवस्थासे बचनेका यही उपाय है कि साधक पहले साधनकाल थोड़ा रक्खे और धीरे-धीरे बढ़ावे। जितनी देर प्रसन्नतासे मन लगे, साधन किया जाय। उस समय ऐसा अवसर ही न आने दे कि मनको राजस, तामस अवस्थामें जाना पड़े।

यह प्रश्न हो सकता है कि साधक साधनकाल तो थोड़ा रक्खे तो फिर शेष समय क्या करे? करनेके लिये बहुत काम हैं, उसे अपनी रुचिके अनुसार कोई काम चुन लेना चाहिये। केवल इतना ध्यान रहे कि वे काम पवित्र हों, पतनोन्मुख करनेवाले न हों और मन उनमें लगता हो। उसे बलात् न लगाना पड़े। कथा, मन्दिर-दर्शन, सत्संग, बच्चोंको पढ़ाना, दीन एवं रोगीकी सेवा, घरका कोई काम या व्यापार कुछ भी करे; पर पड़ा न रहे।

मनको स्वस्थ रखनेके लिये शरीरको स्वस्थ रहना चाहिये। साधकके लिये यह और भी आवश्यक है। अतः काम ऐसे चुनने

चाहिये जिनमें शरीरके लिये पर्याप्त परिश्रम मिले। केवल मानसिक परिश्रमके काम पर्याप्त नहीं। मानसिक परिश्रम तो साधनमें भी हो जाता है। शारीरिक परिश्रम न करनेसे शरीर दुर्बल हो जायगा, फलतः मनपर उसका हानिकर प्रभाव पड़ेगा। स्वस्थ मन स्वस्थ शरीरमें ही रहता है। इन बातोंको स्मरण रखकर साधक कार्य चुन ले। केवल पारमार्थिक कामोंमें रुचि होना बहुत कठिन है। आरम्भिक साधकके लिये यही मार्ग सुगम है कि वह लौकिक कार्योंको न छोड़े। उन्हें नियमित रूपसे करता हुआ साधनका समय सुरक्षित कर ले। प्रत्येक आरम्भिक साधक यदि अपनी रुचिके अनुकूल कोई लौकिक कार्य जो निर्दोष हो, करता रहे तो वह साधनमें आनेवाले विघ्नोंसे बहुत कुछ सुरक्षित रह सकेगा।

'युक्तस्वप्नावबोधस्य'—सोने और जागनेमें भी संयम रक्खे। रात-दिन पड़े रहनेवाला आलसी कहीं साधक हो सकता है? ठीक ऐसे ही रात-रात जागरण करके भी साधन नहीं होता। जागरण जो अस्वाभाविक हो, वायुको कुपित करता और शरीरमें आलस्य भर देता है। ऐसे समय मन चञ्चल भले न हो; किन्तु साधनके लिये तत्पर भी नहीं रह सकता। तमोगुणकी मूढ़ दशा रहती है। अतः साधकको उतनी निद्रा अवश्य लेनी चाहिये जो स्वास्थ्यके लिये आवश्यक है।

बार-बार ऊँघते हुए ध्यान या जप करनेसे कोई लाभ नहीं। अच्छा यही होगा कि यदि साधनके समय नींद तंग करती है तो शरीरको बलपूर्वक खड़ा या बैठा न रक्खे। उस समय जाकर सो रहना अच्छा है। थोड़ी देर सो लेनेके पश्चात् पुनः उठकर जब साधक साधनमें लगेगा तो वह नींद पूरी हो जानेसे अपनेमें स्फूर्तिका अनुभव करेगा। उसका मन प्रसन्नतासे उसकी आज्ञा मानकर साधनमें एकाग्र हो जायगा।

'योगो भवति दुःखहा'—भगवान् कहते हैं कि इस प्रकार अति और पूर्णतः निरोधसे बचकर मध्यम मार्गसे चलनेवाले साधकका योग—साधन दुःख—संसारके आवागमन घोर क्लेश एवं दैहिक, दैविक तथा मानसिक त्रिविध तापोंका नाशक होता है। इसके पूर्वके श्लोकमें भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
(गीता ६। १६)

'अर्जुन! योग (साधन) न तो बहुत भोजन करनेवाले कर सकते और न सर्वथा उपवास करके रहनेवाले। वह बहुत सोनेवालोंके बसका नहीं और सदा जागते रहनेवाले भी उसे अपनानेमें असमर्थ हैं।'

इस प्रकार आहार, विहार, चेष्टा, कर्म, निद्रा, जागर प्रभृति जीवनके जितने भी कर्म हैं, उनको नियमित करके साधकको अपने साधनपथमें बढ़ना चाहिये। यदि उसने किसीके त्यागका हठ किया तो साधन चल नहीं सकेगा। या तो वह बार-बार परिश्रम करके फिर हताश हो जायगा अथवा लौटकर अपनी भूल उसे सुधारनी पड़ेगी। बुद्धिमानी इसीमें होगी कि आरम्भसे ऐसी भूल न की जाय।

मैं निबन्धके मध्यमें कथा, सत्संग, तीर्थवास, देवदर्शन, मौन, अनुष्ठान प्रभृतिके विषयमें बहुत कुछ ऐसी बातें लिख आया हूँ जो किसीमें कुछ विपरीत धारणा उत्पन्न कर सकती हैं। उनका स्पष्टीकरण हो जाना चाहिये। उपर्युक्त सभी कार्य पवित्र हैं और उनसे सात्त्विकताकी उपलब्धि होती है। उनका निषेध किसीको भी अभीष्ट नहीं हो सकता। इतना अवश्य है कि उनका उपयोग इस प्रकार हो जिसमें अधिक-से-अधिक लाभ हो।

सारांश यह है कि, साधकको अपने सम्मुख यह सिद्धान्त सदा रखना चाहिये कि 'बलप्रयोग मत करो! किसीकी अति मत करो!' उसे यदि अतिकी सीमापर पहुँचाना है तो केवल अपने साधनको। वह भी बलपूर्वक नहीं, अभ्यासके द्वारा उसके लिये मध्यम मार्गमें स्थित होकर साधन करना ही राजमार्ग है। इसीके द्वारा वह अपने लक्ष्यतक सरलतासे पहुँच सकेगा। उसे सुननेमें सुन्दर लगनेवाली उत्तेजनात्मक बातोंसे सावधान रहना चाहिये। वे केवल रुचि उत्पन्न करनेके लिये हैं। क्रियात्मक मूल्य उनका उतना नहीं। क्रियात्मकरूपमें तो धैर्य और संयम चाहिये।

॥ श्रीहरिः शरणमस्तु ॥

शक्तिपातसे आत्मसाक्षात्कार

(लेखक—श्रीबामन दत्तात्रेय गुलवणी)

अद्वैतानन्दपूर्णाय व्यासशङ्करूपिणे ।
नमोऽस्तु वासुदेवाय गुरवे सर्वसाक्षिणे ॥
जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतः पुंस्त्वं ततो विप्रता
तस्माद्वैदिकधर्ममार्गपरता विद्वत्त्वमस्मात्परम् ।
आत्मानात्मविवेचनं स्वनुभवो ब्रह्मात्मना संस्थिति-
र्मुक्तिर्नो शतजन्मकोटिसुकृतैः पुण्यैर्विना लभ्यते ॥
(विवेकचूडामणि)

भगवान् श्रीमत् शङ्कराचार्यजी महाराजने इन श्लोकोंमें इस जगत्में आये हुए जीवके विकासकी पराकाष्ठाका वर्णन किया है । अत्यन्त सूक्ष्म जन्तुसे विकासके होते-होते दुर्लभ मनुष्य-जन्मलाभ होता है । फिर इसके आगे मनुष्यमें भी पुरुष-जन्म है और फिर पुरुष-जन्ममें भी विप्रता है । इससे भी आगे बढ़नेपर वैदिक धर्ममार्गपरता है, फिर विद्वत्त्व है । विद्वत्तासे आत्मानात्मविवेक है । तब श्रेष्ठ अनुभव है, 'मैं ही वह ब्रह्म हूँ' इस भावकी अखण्ड स्थितिरूप मुक्ति है । 'सा काष्ठा सा परा गतिः' वही हद है, वही परा गति है । ऐसी मुक्ति असंख्य-जन्मकृत पुण्यबलके बिना दुर्लभ है ।

मनुष्य-जन्मका लाभ भगवत्कृपासे ही हुआ करता है, यह बात माननी पड़ेगी । कारण, पशु आदि निम्न योनियोंमें पुण्य-पापफलरूप कर्म होता ही नहीं अर्थात् मनुष्य-जन्मके होनेमें इस प्रकारका कोई कर्म कारण न होनेसे भगवत्कृपाके सिवा और कोई कारण मनुष्य-जन्मका नहीं माना जा सकता । परन्तु मनुष्य-जन्म होनेके बादका जो मार्ग है उस-पर आरूढ़ होनेके लिये मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह अपने पुण्यकर्मके द्वारा ईश्वरानुग्रह प्राप्त करे । दुर्लभ मानव-जन्मलाभ करके भी जो मनुष्य आत्ममुक्तिके साधनमें यत्नवान् नहीं होता उससे बड़ा आत्महन्ता और कौन हो सकता है ?

इतः को न्वस्ति मूढात्मा यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति ।
दुर्लभं मानुषं देहं प्राप्य तत्रापि पौरुषम् ॥

वैदिक धर्मके अन्तर्गत निज-निज वर्णाश्रम-धर्मके अनुसार नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका आचरण करना ही ईश्वराराधन है, यह जानकर जो इसका पालन करता है, उसे ईश्वरका प्रसाद प्राप्त होता है ।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

इस स्वकर्माचरणसे मलविक्षेपका नाश होता है और उससे चित्त शुद्ध और स्थिर होता है । तब ईश्वरीय प्रसादसे ही शास्त्रश्रवणके द्वारा नित्यानित्यविवेक होता है और उसके फलस्वरूप वैराग्य उत्पन्न होता और मोक्षकी ऐसी तीव्र इच्छा होती है । मोक्षकी ऐसी तीव्र इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुको भगवत्प्रसादसे सद्गुरु प्राप्त होते हैं ।

ईश्वराराधनधिया स्वधर्माचरणास्सताम् ।
ईशप्रसादसद्रूपः सुलभश्चात्र सद्गुरुः ॥

सद्गुरु-सेवनसे उनका प्रसाद प्राप्त होता है और उससे असम्भावना और विपरीत भावनारूप प्रतिबन्ध कट जाते हैं और महावाक्योपदेशसे तुरंत मोक्षलाभ होता है—'शानसम-कालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः ।'

सद्गुरोः सम्प्रसादेऽस्य प्रतिबन्धक्षयस्ततः ।
दुर्भावनातिरस्काराद्विज्ञानं मुक्तिदं क्षणात् ॥

यह अनादि स्वप्नभ्रमरूप संसार अपने-आप ही निरस्त नहीं होता । केवल एक ईश्वर और तदभिन्न सद्गुरुके प्रसादसे ही इसका निरास होता है ।

अनादिस्वप्नभ्रमोऽयं न स्वयं विनिवर्तते ।
किन्तु स्वदैवयोगात्तैर्वाचार्यप्रसादतः ॥

और यह सद्गुरुप्रसाद उन्हींकी अनन्य भावसे सेवा करके ही प्राप्त किया जाता है, अन्य किसी उपायसे यह सम्भव नहीं ।

'अयं गुरुप्रसादस्तोषाप्राप्यो न चान्यथा ।'
'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।'

'आत्मविद्या चानन्तर्मुखस्य गुरुकारुण्यरहितस्य न वेद-शास्त्रमात्रेणोत्पद्यते ।' तथा च श्रुतिः—

'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।' इति ।

गुरुकारुण्यरहित बहिर्मुख पुरुष केवल बुद्धिके बलपर, बहुत-सा श्रवण करके या प्रवचनसे आत्मविद्या नहीं पा सकता ।

योगवासिष्ठमें यद्यपि कहा है कि, 'शक्तेस्तु कारणं राम शिष्यप्रज्ञैव केवलम्' (अर्थात् हे राम ! शक्तिका कारण केवल शिष्यकी प्रज्ञा ही है), तथापि—

परिपक्वमला ये तानुत्साद्यनहेतुशक्तिपातेन ।
योजयति परे तत्त्वे स दीक्षयाचार्यमूर्तिस्थः ॥

इत्यादि आगमवाक्योंसे यही स्पष्ट होता है कि इसमें गुरुप्रसाद ही मुख्य कारण है । 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ' इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे भी यही प्रतिपन्न होता है । गुरुप्रसाद अथवा ईश्वरप्रसाद सच्छिष्यको शक्तिपातसे प्राप्त होता है और शक्तिपातके साथ महावाक्यका उपदेश होनेसे शिष्य कृतकार्य हो जाता है ।

शक्तिपातेन संयुक्ता विद्या वेदान्तवाक्यजा ।
यदा यस्य तदा तस्य विमुक्तिर्नात्र संशयः ॥

'वेदान्तवाक्यसे प्राप्त विद्या जब शक्तिपातके साथ जिसमें संयुक्त होती है, तब उसी क्षण वह मुक्त हो जाता है—इसमें कोई संशय नहीं ।'

ऐसे शक्तिसम्पन्न सद्गुरुकी शरणमें जानेको कहते हुए श्रीमद् वासुदेवानन्द सरस्वतीने अपने 'बृद्धशिक्षा' नामक वेदान्तग्रन्थमें यह वाक्य दिया है—'विशारदं ब्रह्मनिष्ठं श्रोत्रियं गुरुमाश्रयेत् ।' (श्रोत्रियम् अर्थात् शब्दब्रह्मनिष्णातम्, ब्रह्मनिष्ठम्—संजातापरोक्षसाक्षात्कारम्, विशारदम्—लौकिकादिदृष्टान्तोपपत्त्यादिना शक्तिपातेन च वाक्यार्थग्राहयितारं गुरुम् आश्रयेत् ।) गुरु यदि श्रोत्रिय हों, ब्रह्मनिष्ठ हों, पर उनमें यदि शक्तिपात करनेकी सामर्थ्य न हो तो शिष्यको उसी क्षण साक्षात्कार नहीं हो सकता ।

शक्तिपातविहीनोऽपि सत्यवाग् गुरुभक्तिमान् ।
आचार्याच्छ्रुतवेदान्तः क्रमान्मुच्येत बन्धनात् ॥

'गुरु-भक्तियुत शिष्य शक्तिपातरहित होकर भी वेदान्तवाक्यके श्रवण, मनन, निदिध्यासनसे प्रतिबन्धक्षय होनेपर क्रमशः बन्धनसे मुक्त होता है ।'

सूतसंहितामें मायाके बाधका मुख्य साधन इस प्रकार वर्णित हुआ है—

तत्त्वज्ञानेन मायाया बाधो नान्येन कर्मणा ।
ज्ञानं वेदान्तवाक्योत्थं ब्रह्मात्मैकत्वगोचरम् ॥
तच्च देवप्रसादेन गुरोः साक्षात्किरीक्षणात् ।
जायते शक्तिपातेन वाक्यादेवाधिकारिणाम् ॥

'तत्त्वज्ञानसे मायाका निरास होता है, अन्य किसी कर्मसे नहीं होता । यह तत्त्वज्ञान अधिकारी शिष्यको देवप्रसादके द्वारा शक्तिपातपूर्वक ब्रह्मसे आत्माके अभिन्नत्वका प्रतिपादन करनेवाले वेदान्त-महावाक्यसे ही होता है ।' ऐसे शक्तिपातपूर्वक ज्ञानोपदेश करनेवाले सद्गुरुकी महिमा सभी धर्मोंके ग्रन्थोंमें गायी गयी है । हमारे देशके सभी सत्पुरुष परमेश्वरसे अथवा शक्तिसम्पन्न सद्गुरुसे ही प्राप्त ज्ञानसे सम्पन्न होनेके कारण उनके ग्रन्थोंमें सद्गुरुकृपाकी महिमाका सर्वत्र ही बखान हुआ है ।

भगवान् श्रीमत् शङ्कराचार्यप्रणीत 'शतश्लोकी' के पहले श्लोकमें शक्तिपातपूर्वक ज्ञानदान करनेवाले सद्गुरुका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है—

दृष्टान्तो नैव दृष्टस्त्रिभुवनजठरे सद्गुरोर्ज्ञानदातुः
स्पर्शज्ञेत्थं कल्प्यः स नयति यदहो स्वर्णतामक्ष्मसारम् ।
न स्पर्शत्वं तथापि श्रितचरणयुगे सद्गुरुः स्वीयशिष्ये
स्वीयं साम्यं विधत्ते भवति निरुपमस्तेन वा लौकिकोऽपि ॥

'इस त्रिभुवनमें ज्ञानदाता सद्गुरुके लिये देनेयोग्य कोई दृष्टान्त ही नहीं दीखता । उन्हें पारसमणिकी उपमा दें तो यह भी ठीक नहीं जँचती, कारण, पारस लोहेको सोना तो बना देता है पर पारस नहीं बनाता । परन्तु सद्गुरु-चरणयुगलका आश्रय करनेवाले शिष्यको सद्गुरु निज साम्य ही दे डालते हैं । इसलिये सद्गुरुकी कोई उपमा नहीं ।'

शतश्लोकीके ९१ वें श्लोकमें चाक्षुषी दीक्षाद्वारा शक्तिपातका वर्णन है—

तद्ब्रह्मैवाहमस्मीत्यनुभव उदितो यस्य कस्यापि चेद्वै
पुंसः श्रीसद्गुरूणामतुलितकरुणापूर्णपीयूषदृष्ट्या ।
जीवन्मुक्तः स एव भ्रमविधुरमना निर्गतेऽनाद्युपाधौ
नित्यानन्दैकधाम प्रविशति परमं नष्टसन्देहवृत्तिः ॥

'श्रीसद्गुरुकी अतुलित करुणामयी अमृतदृष्टिसे यदि किसीके यह अनुभव उदय हो जाय कि 'मैं ब्रह्म हूँ' तो उसका मन भ्रमरहित हो जाता है । उसीसे उसके सब संशय नष्ट होते हैं और वह जीवन्मुक्त होता है । उसकी अनादि उपाधि नष्ट होनेपर वह विगतसन्देह पुरुष परमनित्यानन्दधाममें प्रवेश करता है ।'

'सुप्रसिद्ध महात्मा श्रीएकनाथ महाराजकृत 'एकनाथी भागवत' (श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धकी मराठी टीका) में

यदु-अवधूत-संवादके अन्तर्गत श्रीदत्तात्रेयद्वारा यदुको आलिङ्गन कर स्पर्शदीक्षा देकर आत्मबोध करानेके प्रसङ्गका बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन है—'यह सद्गुरुकथा तुमसे परमार्थ-सिद्धिके लिये कही।' यह कहकर 'अवधूतने बड़े ही हर्षोत्फुल्ल अन्तःकरणसे राजा यदुको अपने हृदयसे लगा लिया और दोनों एक ही आत्मबोधमें एक हो गये। जीने जीको पकड़ लिया और सारी सृष्टिमें आनन्दका समुद्र उमड़ आया। उससे वाणीकी गति रुक गयी, उलटकर बोलना वह भूल गयी। हृदयभुवनमें जब यह महान् हर्ष नहीं समाया तब वह स्वेद बनकर बाहर उमड़ पड़ा। नेत्राकाशमें आनन्दके मेघ छा गये और स्वानन्दवारिकी वर्षा करने लगे। अहङ्कारकी बेड़ियाँ टूट गयीं, भवार्णवके उस पार पहुँच गये। प्रगाढ़ अज्ञान—अविद्यापर जो विजय पायी उसीकी वैजयन्ती खड़ी की रोमाञ्चके रूपमें। सारा देहभाव समूल नष्ट हो गया, इसीसे देहके सब अङ्ग काँपने लगे। सङ्कल्प-विकल्प जाता रहा, मनका मनोरथ मिट गया। जीव-भाव जो कुछ था, वह सम्पूर्ण राजा यदुने श्रीसद्गुरु अवधूतके चरणोंमें अर्पण कर दिया। वही चिह्न उनके अङ्ग-अङ्गपर दीख पड़ने लगा।' अवधूत स्वयं दत्तात्रेय हैं, उन्होंने राजा यदुको आलिङ्गन कर इस प्रकार अपने स्वरूपका उन्हें अनुभव-बोध कराया। इस गुरु-शिष्य-संवादका वर्णन करते हुए श्रीएकनाथ महाराजका हृदय श्रीगुरुभक्तिसे इतना भर आया कि इसके बाद ही उन्होंने अपने गुरु श्रीजनार्दन स्वामीपर किस प्रकार श्रीगुरु दत्तात्रेयका अनुग्रह हुआ, इसका भी वर्णन कर दिया है। भगवान् दत्तात्रेयकी शिष्य-परम्परा बतलाते हुए महाराज कहते हैं कि 'पहले शिष्य सहस्रार्जुन हुए, दूसरे यदु हुए और तीसरे कलियुगमें जनार्दन स्वामी हुए। गुरु कब कैसे मिलेंगे, इसी चिन्तामें जनार्दन स्वामीके दिन बीत रहे थे। सद्गुरुचिन्तन करते-करते यहाँतक हालत हो गयी कि स्वामी तीनों अवस्थाएँ भूल गये। भगवान् भावके ही तो भूखे हैं, उन्होंने इनके सुदृढ़ अनन्य भावको जाना। श्रीगुरु दत्तात्रेय सामने आकर प्रकट हुए और उनके मस्तकपर उन्होंने अपना हाथ रक्खा। हाथके रखते ही चिन्मय स्वरूप जाग उठा, प्रपञ्चके मूलका मिथ्यात्व प्रकट हुआ। स्वबोध ही स्वरूप है, इसकी प्रतीति हुई। कर्म करके भी अकर्ता बने रहनेकी स्थितिका जो अकर्तात्मबोध है वह उन्हें श्रीगुरुसे प्राप्त हुआ; देहके रहते हुए भी विदेहता उन्हें तत्त्वतः प्राप्त हो गयी। गृहस्थाश्रमको बिना छोड़े, कर्मरेखाको बिना लाँघे, अपना सब काम करते रहनेकी अवस्थामें ही उन्हें वह बोध मिला, जो नहीं मिला करता। और उसके मिलते ही मन अमन हो गया, उसमें मनपना कुछ रह ही न गया, वह अवस्था उनमें न समा सकी और वे मूर्छित हो गये। तब उन्हें सचेत करके श्रीगुरुने कहा कि, 'प्रेम सत्त्वकी अवस्था है, इसे भी पी जाओ और निजबोधमें स्थित होकर रहो।' जनार्दन स्वामी उठे और श्रीगुरुकी पूजा करके उनके चरणोंपर गिरे। बस, इसी अवकाशमें गुरु दत्त योगमायाका आश्रय कर अदृश्य हो गये।'

उपर्युक्त दोनों ही उदाहरणोंमें शक्तिपातके सभी लक्षण आ गये हैं—

देहपातस्त्था कम्पः परमानन्दहर्षणे।
स्वेदो रोमाञ्च इत्येतच्छक्तिपातस्य लक्षणम्॥

महाराष्ट्र-संतशिरोमणि श्रीज्ञानेश्वर महाराजने श्रीमद्भगवद्गीताकी अपनी ज्ञानेश्वरी (भावार्थदीपिका) टीकामें शक्तिपातका इस प्रकार वर्णन किया है—'यह दृष्टि जिसपर चमकती है अथवा यह करारविन्द जिसे स्पर्श करता है वह होनेको तो चाहे जीव ही हो पर बराबरी करता है महेश्वर श्रीशङ्करकी।'

भक्तराज अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने शक्तिपात करके किस प्रकार आत्मानुभव कराया, इसका वर्णन श्रीज्ञानेश्वर महाराज करते हैं—'तब शरणागत भक्तशिरोमणि अर्जुनको उन्होंने अपना सुवर्णकङ्कणविभूषित दक्षिण बाहु फैलाकर अपने हृदयसे लगा लिया। हृदय-हृदय एक हो गये। इस हृदयमें जो था वह उस हृदयमें डाल दिया। द्वैतका नाता बिना तोड़े अर्जुनको अपने-जैसा बना लिया।'

ऐसे सद्गुरु सच्छिष्यको आप ही मिलते हैं। शिष्यको उनकी ढूँढ़—खोज नहीं करनी पड़ती। श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं, 'जब कर्मसाम्यकी अवस्था आती है तब सद्गुरु स्वयं ही आकर मिलते हैं।'

चाक्षुषी आदि दीक्षाओंके द्वारा जो शक्तिपात किया जाता है, वह शिष्यका कर्मसाम्य होनेपर ही फलप्रद होता है, उससे पहले नहीं।

अधर्मधर्मयोः साम्ये जाते शक्तिः पतत्यसौ।
ज्ञानात्मिका परा शक्तिः शाम्भोर्यस्मिन्निपातिता॥
तस्य शिष्यस्य विप्रेन्द्राः कर्मसाम्ये सति द्विजाः।
शाम्भवी शक्तिरत्यर्थं तस्मिन्भवति चिद्वपुषे॥

जन्तोरपञ्चिमतनोः सति कर्मसाम्ये
निःशेषपाशपटलच्छिदुरा निमेषात् ।
कल्याणदेशिककटाक्षसमाश्रयेण
कारुण्यतो भवति शाम्भवचेष्टदीक्षा ॥

तात्पर्य इसका श्रीविद्यारण्य स्वामीकी इस टीकासे ध्यानमें आ जायगा—

कर्मसाम्ये सतीति । परमेश्वरानुग्रहवशादीक्षासंस्कारेण भाविजन्मापादककर्मक्षयाद्वर्तमानजन्मनि च सुखदुःखहेतुभूतयोः पुण्यपापयोः उपभोगेन क्षीणत्वादारब्धफलयोः सञ्चितवर्तमानकर्मणोः क्षयसाम्ये सतीत्यर्थः ।

इस प्रकार जिस अधिकारी शिष्यमें आचार्यके द्वारा चाक्षुषी प्रभृति दीक्षाके द्वारा परमेश्वरकी ज्ञानात्मिका परा शक्तिका पात किया जाता (या शक्ति प्रेरित की जाती) है, उसीमें इस शक्तिका सञ्चार होता है ।

इसपर यह शंका की जा सकती है कि इस शक्ति शब्दसे यदि अद्वैत चिति अभिप्रेत है तो यह तो स्व-स्वरूपभूत अनन्त और अमूर्त है, इसलिये उसका पात असम्भव है । यदि यह शक्ति स्वस्वरूपसे कोई भिन्न वस्तु है तो उसे 'ज्ञानात्मिका' और 'परा' नहीं कह सकते ।

समाधान—शक्तिसे यहाँ अभिप्राय चिति शक्तिका ही है और चिति अद्वैतात्मस्वरूप ही है और उसका पात होना इत्यादि जो कुछ है, औपचारिक है । श्रीमन्माधवाचार्यने इसका रहस्य इस प्रकार अपनी टीकामें लिखा है—

अयमत्र रहस्यार्थः—परमेश्वरस्वरूपभूतत्वेन सर्वगतायाः परशक्तेः पतनासम्भवाच्छिष्यस्यात्मनि प्रागेवावस्थिता सा पाशजालावृतत्वेन तिरोहिता सती दीक्षासंस्कारेणावरणापगमे सत्यभिव्यक्तिमासादयन्ती पतितेत्युपचर्यते । ऊर्ध्वदेशादधोदेशप्राप्तिर्हि पतनं न खलु तादृशमस्याः सम्भवतीति । आगमेऽप्युक्तम्—

व्यापिनी परमा शक्तिः पतितेत्युच्यते कथम् ।
ऊर्ध्वादधोगतिः पातो मूर्तस्यासर्वगस्य च ॥
सत्यं सा व्यापिनी नित्या सहजा शिवसंस्थिता ।
किन्त्विदं मलकर्मादिपाशबन्धेषु संवृता ।
पक्वपाकेषु सुव्यक्ता पतितेत्युपचर्यते ॥

परमेश्वरस्वरूपा सर्वगत पराशक्तिका पात होना तो असम्भव है । अतः शिष्यमें आत्मस्वरूपभूत जो पराशक्ति पहलेसे ही मौजूद है जो मल-कर्मादि पाशबन्धसे घिरी हुई है उसे ही, दीक्षा-संस्कारके द्वारा, आवरणको हटाकर, अभिव्यक्त किया जाता है । इसके इस अभिव्यक्त होनेको ही शक्तिपात कहा जाता है ।

यदि केवल शक्तिपातसे ही अज्ञानकी निवृत्ति होती हो तो 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इत्यादि श्रुतिवाक्योंकी सङ्गति कैसे लगे ? दीक्षादिके द्वारा ज्ञानके प्रतिबन्धका जब नाश हुआ तब 'गुरुणोपदिष्टं साक्षात्मन्महावचनमेव विमुक्तिहेतुः' यह सिद्धान्त बाधित नहीं होता । शक्तिपात कैसे होता है, आगेके श्लोकमें यही बात कही गयी है—

तदा शिष्यस्य चिद्रूपे कल्पिता मोहरूपिणी ।
माया दग्धा भवेत्किञ्चित्तदा पतति विग्रहः ॥

इस श्लोकपर श्रीमन्माधवाचार्यकी टीका है—

शिष्यस्य चिद्रूपे स्वात्मनि चिच्छक्तितिरोधायिका हेयोपादेयविवेकज्ञानमावृण्वती मोहात्मिका या मायाश्रिता सा सच्चिद्रूपिण्याः शिष्यस्य स्वात्मन्यभिव्यक्तायाः परशक्तेः प्रसादेन किञ्चिदपसरतीत्यर्थः । तदा पतति विग्रहः । मायासम्बन्धनिबन्धनो ह्यात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिसम्बन्धस्तथाविधस्यात्मनः स्वोपभोक्तव्यसुखदुःखहेतुभूतपुण्यपापात्मककर्मबन्धनो भोगायतनभूतदेहेन सम्बन्धस्तथा च शक्तिपातेन मायाया अपसरणादात्मनः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिबन्धशैथिल्ये पुण्यपापनिमित्तस्य देहसम्बन्धस्यापि गलितत्वात्तदभिमानाभावेन तत्पात इत्यर्थः ।

दर्शनात्स्पर्शनाच्छब्दात्कृपया शिष्यदेहके ।
जनयेद्यः समावेशं शाम्भवं स हि देशिकः ॥

इत्यादि योगवासिष्ठोक्त लक्षणोंसे युक्त गुरुके द्वारा जब शक्तिपात किया जाता है तब शिष्यमें अभिव्यक्त होनेवाली पराशक्तिके प्रसादसे शिष्यकी अन्तःस्थ चिच्छक्तिको ढाँके हुई (हेयोपादेय ज्ञानको आवृत करनेवाली) माया किञ्चित् हट जाती है और उससे देहाभिमान नष्ट होता है तथा देहाभिमानके नष्ट होनेसे देहपात होता है ।

देहपातादि लक्षण आगममें इस प्रकार बताये हैं—

देहपातस्तथा कम्पः परमानन्दहर्षणे ।
स्वेदो रोमाञ्च इत्येतच्छक्तिपातस्य लक्षणम् ॥

निद्रा, मूर्छा, घूर्णा आदि और भी कई लक्षण अन्यत्र दिये हैं । यह जो शक्तिपातरूप परमेश्वरप्रसाद है, वह कर्म-

साम्यको प्राप्त शिष्यमें उत्पन्न होता है। उसका महत्त्व तथा शक्तिपातके और भी कुछ लक्षण सूतसंहितान्तर्गत ब्रह्मगीताके चतुर्थ अध्यायमें विस्तारके साथ वर्णित हैं, यथा—

प्रसादो नाम रुद्रस्य कर्मसाम्ये तु देहिनाम्।
दैशिकाकोकनाज्ज्ञातो विधिष्टातिशयः सुराः॥
प्रसादस्य स्वरूपं तु मया नारायणेन च।
रुद्रेणापि सुरा वक्तुं न शक्यं कल्पकोटिभिः॥
केवलं लिङ्गगम्यं तु न प्रत्यक्षं शिवस्य च।
शिवाज्ञया हरेः साक्षान्मम चान्यस्य चास्तिकाः॥

लक्षणानि—

प्रहर्षः स्वरनेत्राङ्गविक्रिया कम्पनं तथा।
स्तोमः शरीरपातश्च भ्रमणं घोर्णितिस्तथा॥
आक्रान्तोऽवस्थितिर्दैवाः शरीरान्तरसंस्थितिः।
अदर्शनं च देहस्य प्रकाशत्वेन भासनम्॥
अनधीतस्य शास्त्रस्य स्वत एव प्रकाशनम्।
निग्रहानुग्रहे शक्तिः पर्वतादेश्च भेदनम्॥
एवमादीनि लिङ्गानि प्रकाशस्य सुरर्षभाः।
तीव्रात्तीव्रतरः शम्भोः प्रसादो न समो भवेत्॥
पूर्वरूपः प्रसादश्च शिवया च शिवेन च।
ज्ञायते न मया नान्यैर्नैव नारायणेन च॥
अतः सर्वं परित्यज्य शिवाद्यन्यस्तु दैवतम्।
तमेव शरणं गच्छेत्सद्यो मुक्तिं यदीच्छति॥

इन सब लक्षणोंमें देहपातका महत्त्व विशेष देख पड़ता है—

शिष्यस्य देहे विप्रेन्द्रा धरित्र्यां पतिते सति।
प्रसादः शाङ्करस्तस्य द्विजाः सञ्जात एव हि॥
यस्य प्रसादः सञ्जातो देहपातावसानकः।
कृतार्थ एव विप्रेन्द्रा न स भूयोऽभिजायते॥

'शिष्यका शरीर जब धरतीपर गिरे तब यही समझना चाहिये कि यह शङ्करका प्रसाद हुआ। जिसमें देहपात करा देनेवाला प्रसाद होता है, वह कृतार्थ हो जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।'

तस्य प्रसादयुक्तस्य विद्या वेदान्तवाक्यजा।
दहत्यविद्यामखिलां तमः सूर्योदयो यथा॥

'ऐसे प्रसादयुक्त शिष्यकी सारी अविद्याको वेदान्तवाक्यजा विद्या वैसे ही जला डालती है, जैसे सूर्योदय अन्धकारको।'

कुलार्णवतन्त्रमें तीन प्रकारकी दीक्षाओंका इस प्रकार वर्णन है—

स्पर्शदीक्षा—यथा पक्षी स्वपक्षाभ्यां शिशून् संवर्धयेच्छनैः।
स्पर्शदीक्षोपदेशस्तु तादृशः कथितः प्रिये॥

'स्पर्शदीक्षा उसी प्रकारकी है जिस प्रकार पक्षी अपने पंखोंके स्पर्शसे अपने बच्चोंका लालन-पालन-बढ़न करता है।' जबतक बच्चा अण्डेसे बाहर नहीं निकलता तबतक पक्षी अण्डे-पर बैठता है और अण्डेसे बाहर निकलनेके बाद जबतक बच्चा छोटा होता है तबतक उसे वह अपने पंखोंसे ढाँके रहता है।

दृग्दीक्षा—स्वापत्यानि यथा कूर्मी वीक्षणनैव पोषयेत्।
दृग्दीक्षाख्योपदेशस्तु तादृशः कथितः प्रिये॥

'दृग्दीक्षा उसी प्रकारकी है जिस प्रकार कछवी अपने बच्चोंका दृष्टिमात्रसे पोषण करती है।'

ध्यानदीक्षा—यथा मत्स्यी स्वतनयान् ध्यानमात्रेण पोषयेत्।
वेधदीक्षोपदेशस्तु मनसः स्यात्तथाविधः॥

'ध्यानदीक्षा मनसे होती है और उसी प्रकार होती है जिस प्रकार मछली अपने बच्चोंको ध्यानमात्रसे ही पोसती है।'

पक्षिणी, कछवी और मछलीके समान ही श्रीसद्गुरु अपने स्पर्शसे, दृष्टिसे तथा सङ्कल्पसे अपनी शक्ति शिष्यमें डालकर उसकी अविद्याका नाश करते और महावाक्यके उपदेशसे उसे कृतार्थ करते हैं। स्पर्श, दृष्टि और सङ्कल्पके अतिरिक्त एक 'शब्ददीक्षा' भी होती है जिसका वर्णन दर्शनात्स्पर्शनाच्छब्दात्कृपया शिष्यदेहके' इस वाक्यमें पहले आ चुका है। इस प्रकार चतुर्विधा दीक्षा है और उसका क्रम आगे लिखे अनुसार है—

विद्धि स्थूलं सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं सूक्ष्मतममपि क्रमतः।
स्पर्शनभाषणदर्शनसङ्कल्पनआवतश्चतुर्धा तम्॥

'स्पर्श, भाषण, दर्शन, संकल्प यह चार प्रकारकी दीक्षा क्रमसे स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम है।'

इस प्रकार दीक्षा पाये हुए शिष्योंमें कोई ऐसे होते हैं, जो दूसरोंको वही दीक्षा देकर कृतार्थ कर सकते हैं और कोई केवल स्वयं कृतार्थ होते हैं, परन्तु दूसरोंको शक्तिपात करके कृतार्थ नहीं कर सकते।

साम्यं तु शक्तिपाते गुरुवत्स्वस्यापि सामर्थ्यम् ।

चार प्रकारकी दीक्षामें गुरुसाम्यासाम्य कैसा होता है, यह आगे बतलाते हैं—

स्पर्श—स्थूलं ज्ञानं द्विविधं गुरुसाम्यासाम्यवृत्त्वभेदेन ।
दीपप्रस्तरयोरिव संस्पर्शोल्लिन्धवर्त्मयसोः ॥

'किसी जलते हुए दीपकसे किसी दूसरे दीवटकी घृताक्त या तैलाक्त बत्तीको स्पर्श करते ही वह बत्ती जल उठती है, फिर यह दूसरी जलती हुई बत्ती चाहे किसी भी अन्य स्निग्ध बत्तीको अपने स्पर्शसे प्रज्वलित कर सकती है। यह शक्ति उसे प्राप्त हो गयी, यही शक्ति इस प्रकार प्रज्वलित सभी दीपोंको प्राप्त है। इसीको परम्परा कहते हैं। दूसरा उदाहरण पारसका है। पारसके स्पर्शसे लोहा सोना बन जाता है, परन्तु इस सोनेमें यह सामर्थ्य नहीं होती कि वह दूसरे किसी लोहखण्डको अपने स्पर्शसे सोना बना सके।' साम्यदान करनेकी यह शक्ति उसमें नहीं होती, अर्थात् परम्परा आगे नहीं बनी रहती।

शब्द—तद्वद् द्विविधं सूक्ष्मं शब्दश्रवणेन कोकिलाम्बुदयोः ।
तत्सुतमयूरयोरिव तद्विज्ञेयं यथासंख्यम् ॥

'कौओंमें पला हुआ कोयलका बच्चा कोयलका शब्द सुनते ही यह जान जाता है कि मैं कोयल हूँ। फिर अपने शब्दसे वही बोध उत्पन्न करनेकी शक्ति भी उसमें आ जाती है। मेघका शब्द सुनकर मोर आनन्दसे नाच उठता है, पर यही आनन्द दूसरेको देनेकी सामर्थ्य मोरके शब्दमें नहीं आती।'

दृष्टि—दृष्टं सूक्ष्मतरमपि द्विविधं कूर्म्या निरीक्षणात्तस्याः ।
पुत्र्यास्तथैव सवितुर्निरीक्षणाल्लोकमिथुनस्य ॥

'कछवीके दृष्टिनिक्षेपमात्रसे उसके बच्चे निहाल हो जाते हैं और फिर यही शक्ति उन बच्चोंको भी प्राप्त होती है। इसी प्रकार सद्गुरुकी करुणादृष्टिके पातसे शिष्यमें ज्ञानका उदय हो जाता है और फिर उसी प्रकार करुणादृष्टिपातसे अन्य अधिकारियोंमें भी ज्ञान उदय करानेकी शक्ति भी उसमें आ जाती है। परन्तु चकवा-चकईको सूर्यदर्शनसे जो आनन्द प्राप्त होता है, वही आनन्द वे अपने दर्शनके द्वारा दूसरे चकवा-चकईके जोड़ोंको नहीं प्राप्त करा सकते।'

सङ्कल्प—सूक्ष्मतममपि द्विविधं मत्स्याः सङ्कल्पतस्तु तद्वद्धितुः ।
तृप्तिर्नगरादिजनिर्मान्त्रिकसङ्कल्पतश्च भुवि तद्वत् ॥

'मछलीके सङ्कल्पसे उसके बच्चे निहाल होते हैं। और इसी प्रकार सङ्कल्पमात्रसे अपने बच्चोंको निहाल करनेकी सामर्थ्य फिर उन बच्चोंको भी प्राप्त हो जाती है। परन्तु मान्त्रिक अपने सङ्कल्पसे जिन वस्तुओंका निर्माण करता है, उन वस्तुओंमें वह सङ्कल्पशक्ति नहीं उत्पन्न होती।'

इन सब बातोंका निष्कर्ष यह है कि सद्गुरु अपनी सारी शक्ति एक क्षणमें अपने शिष्यको दे सकते हैं। यही बात परम भगवद्भक्त संत तुकाराम अपने एक अभंगमें इस प्रकार कहते हैं कि 'सद्गुरुके बिना रास्ता नहीं मिलता, इसलिये सब काम छोड़कर पहले उनके चरण पकड़ लो। वह तुरंत (शरणागतको) अपने-जैसा बना लेते हैं, इसमें उन्हें जरा भी देर नहीं लगती।'

गुरुकृपासे जब शक्ति प्रबुद्ध हो उठती है, तब साधकको आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि करनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं होती। प्रबुद्ध कुण्डलिनी ऊपर ब्रह्मरन्ध्रकी ओर जानेके लिये छटपटाने लगती है। उसके उस छटपटानेमें जो कुछ क्रियाएँ अपने-आप होती हैं, वे ही आसन, मुद्रा, बन्ध और प्राणायाम हैं। शक्तिका मार्ग खुल जानेके बाद ये सब क्रियाएँ अपने-आप होती हैं और उनसे चित्तको अधिकाधिक स्थिरता प्राप्त होती है। ऐसे साधक देखे गये हैं, जिन्होंने कभी स्वप्नमें भी आसन-प्राणायामादिका कोई विषय नहीं जाना था, न ग्रन्थोंमें देखा था, न किसीसे कोई क्रिया ही सीखी थी, पर जब उनमें शक्तिपात हुआ तब वे इन सब क्रियाओंको अन्तःस्फूर्तिसे ऐसे करने लगे जैसे अनेक वर्षोंका अभ्यास हो। योगशास्त्रमें वर्णित विधिके अनुसार इन सब क्रियाओंका उनके द्वारा अपने-आप होना देखकर बड़ा ही आश्चर्य होता है। जिस साधकके द्वारा जिस क्रियाका होना आवश्यक है, वही क्रिया उसके द्वारा होती है, अन्य नहीं। जिन क्रियाओंके करनेमें अन्य साधकोंको बहुत काल कठोर अभ्यास करना पड़ता है, उन आसनादि क्रियाओंको शक्तिपातसे युक्त साधक अनायास कर सकते हैं। यथावश्यक रूपसे प्राणायाम भी होने लगता है और दस-पन्द्रह दिनकी अवधिके अंदर दो-दो मिनटका कुम्भक अनायास ही लगने लगता है। इस प्रकार होनेवाली यौगिक क्रियाओंसे साधकको कोई कष्ट नहीं होता, किसी अनिष्टके भयका कोई कारण नहीं रहता, क्योंकि प्रबुद्ध शक्ति स्वयं ही ये सब क्रियाएँ साधकसे उसकी प्रकृतिके अनुरूप करा लिया करती है। अन्यथा

हठयोगके साधनमें जरा-सी भी त्रुटि होनेसे बहुत बड़ी हानि होनेका भय रहता है जैसा कि 'हठयोगप्रदीपिका' ने 'अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः' यह कहकर चेता दिया है। परन्तु शक्तिपातसे प्रबुद्ध होनेवाली शक्तिके द्वारा साधकसे जो क्रियाएँ होती हैं, उनसे शरीर रोगरहित होता है, बड़े-बड़े असाध्य रोग भी भस्म हो जाते हैं। इससे गृहस्थ साधक बहुत लाभ उठा सकते हैं। अन्य साधनोंके अभ्यासमें तो भविष्यमें कभी मिलनेवाले सुख-की आशासे पहले कष्ट-ही-कष्ट उठाने पड़ते हैं, परन्तु इस साधनमें आरम्भसे ही सुखकी अनुभूति होने लगती है। शक्तिका जागना जहाँ एक बार हुआ वहाँ फिर वह शक्ति स्वयं ही साधकको परम पदकी प्राप्ति करानेतक अपना काम करती रहती है। इस बीच साधकके जितने भी जन्म बीत जायँ, एक बार जागी हुई कुण्डलिनी फिर कभी सुप्त नहीं होती।

शक्तिसञ्चारदीक्षा प्राप्त करनेके पश्चात् साधक अपने पुरुषार्थसे कोई भी यौगिक क्रिया नहीं कर सकता, न इसमें उसका मन ही लग सकता है। शक्ति स्वयं जो स्फूर्ति अंदरसे प्रदान करती है, उसीके अनुसार साधकको सब क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। यदि उसके अनुसार न करे अथवा उसका विरोध करे तो उसका चित्त स्वस्थ नहीं रह सकता, जैसे नींदके आनेपर भी जागनेवाला मनुष्य अस्वस्थ होता है। साधकको शक्तिके अधीन होकर रहना पड़ता है। शक्ति ही उसे जहाँ जब ले जाय, उसे जाना पड़ता है और उसीमें सन्तोष मानना पड़ता है। एक जीवनमें इस प्रकार उसकी कहाँसे कहाँतक प्रगति होगी, इसका पहलेसे कोई निश्चय या अनुमान नहीं किया जा सकता। शक्ति ही उसका भार वहन करती है और शक्ति किसी प्रकार उसकी हानि न कर उसका कल्याण ही करती रहती है।

योगाभ्यासकी इच्छा करनेवालोंके लिये इस कालमें शक्तिपात-सा सुगम साधन अन्य कोई नहीं है। इसलिये ऐसे शक्तिसम्पन्न गुरु जब सौभाग्यसे किसीको प्राप्त हों तब उसे चाहिये कि ऐसे गुरुका कृपाप्रसाद लाभ करे। इस प्रकार वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हुए ईश्वरप्रसाद लाभ करके कृतकृत्य होनेमें साधकको सदा प्रयत्नवान् होना चाहिये।

प्रसादे सति देवेशो दुर्ज्ञेयोऽपि सुरैर्वृतः।
शक्यते मनुजैर्द्रष्टुं प्रत्यगात्मतया सदा॥

शक्तिपात और दीक्षा

(लेखक—एक जिज्ञासु)

शक्तिपात करनेवाले लोग अब भी हैं। शक्तिपातमें गुरुको थोड़ी देरके लिये शिवत्वको प्राप्त होना चाहिये। वह पूर्ण दयासे प्रेरित होकर इस दशाको यदि प्राप्त हो और शक्तिपात करे तो शक्तिका पतन होगा और वह कार्यकरी होगी। मैंने एक-दो गुरुओंको शक्तिपात करते देखा, पर मेरी समझसे उनमें वह भाव न आया और इसलिये शक्तिका पतन नाममात्रको ही हुआ।

दीक्षामें भूतशुद्धि करके गुरु शिवत्वको यथासाध्य प्राप्त होकर एक हाथसे शिवकी शक्तिको और दूसरेसे अपने गुरुकी शक्तिको अपने शिष्यके सिरपर अपने दोनों हाथ रखकर भरता है। यदि गुरुने ठीक कार्य किया और शिष्य सात्त्विक है तो वह थोड़ी देरके लिये स्तब्ध हो जायगा और जो मन्त्र उसे दिया जायगा वह क्रियावान् होगा। एक व्यक्ति बहुत काल-से एक मन्त्र जपता था, पर उसे कुछ अनुभव नहीं होता था। एक गुरुने भूतशुद्धि कर अति दयाके भावसे प्रेरित हो उसे ऊपर लिखी दीक्षा दी तो अब उसे मन्त्रके जपनेसे उस मन्त्रके देवताके दर्शन होते हैं और उसे बहुत आनन्दका अनुभव होता है। एक दूसरे व्यक्तिको भूतशुद्धि कर उपनयनविधिसे गायत्री-मन्त्रकी दीक्षा दी गयी और उसमें शक्तिपात किया गया। उस समय इस व्यक्तिमें उन्नतिकी सम्भावनाके कोई लक्षण न थे; पर अब समय-समयपर उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है; कीर्तनमें उपस्थित अदृश्य देवोंके उसे दर्शन होते हैं; दूरके दृश्य भी कभी-कभी सही दीखते हैं।

तीसरे व्यक्तिने किसी संन्यासीसे मन्त्र लिया था। पर उसके जपनेसे उसे कोई लाभ नहीं होता था। उसमें भी इसी प्रकार भूतशुद्धि कर शक्तिपात किया गया और दीक्षा दी गयी और अब उसे भी मन्त्रजपमें आनन्द, दर्शन इत्यादि होते हैं।

शक्तिपात और कर्मसाम्य, मलपाक तथा पतन

('मनोविनोदाय')

कबीरदासकी उलटबाँसी प्रसिद्ध ही है। उनकी उलटबाँसियोंका क्षेत्र साहित्यतक ही सीमित न था, व्यवहारजगत्‌में भी परीक्षार्थ उसे कभी-कभी वे उतारा करते थे। कहा जाता है कि एक बार उन्होंने किसी तरुणीको 'माई' कहकर सम्बोधित किया। उसने इन्हें साधु मानकर आदर-सत्कार किया। किसी दूसरे दिन उसीको अपनी उलटबाँसीकी आजमाइशके लिये 'बापकी मेहर' (पिताकी स्त्री अर्थात् माई) कहकर पुकारा। वह बेतरह बिगड़ी और बदमाश समझकर मारने दौड़ी।'''''''ठीक यही दशा विश्व-प्रपञ्चकी है। 'होइहैं सोइ जो राम रचि राखा', 'यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा' सोलहों आने ठीक है। चाहे व्यवहारजगत् हो या साधनाजगत्—वस्तुतः यह भेद भी तो सापेक्ष ही है, अन्यथा जिसे हम व्यवहारजगत् कहते हैं, वह भी तत्त्वदृष्टिसे साधनाजगत् ही है। इस विश्व-पहेलीकी घटित घटनाओंको नाम-दुर्नाम देना एवं फलस्वरूप, सुखी-दुःखी होना अपने मनकी माया है।

कर्मसाम्य, मलपाक और पतन उपर्युक्त प्रकारसे एक ही भावके द्योतक हैं। तीनोंमें ही, सापेक्षतः, एक उच्च स्थानसे निम्नतर स्तरपर उतरना, फिसलना, गिरना होता है। परन्तु, यह उतार, फिसलाव, गिराव वस्तुतः व्यावहारिक अर्थमें निन्द्य पतन नहीं है, प्रत्युत शक्तिपातकी योग्य भूमिका है। कृपालु सद्गुरु कृपापात्र शिष्यपर अपने सहज कृपालु स्वभावसे शक्ति उतारते हैं। इस प्रक्रियाको 'शक्तिपात' करना कहते हैं। इस प्रक्रियामें मुख्य कार्य सद्गुरुका ही है, शिष्यकी ओरकी तैयारी तो एक प्रकार नहींके बराबर है। शिष्यकी तैयारी केवल इतनी ही है कि यदि वह त्रिगुणोंमेंसे किसी एकके उत्कर्षके कारण विषमावस्थामें होता है तो सद्गुरु उस विषमताको उत्कर्ष गुणके प्रपातसे दूर करते हैं। गुणोत्कर्षके इस प्रपातको ही कर्मसाम्य, मलपाक एवं पतन कह सकते हैं। कर्मसाम्यमें सत्त्वोत्कर्ष, मलपाकमें राजसोत्कर्ष और पतनमें तामसोत्कर्षसे प्रपात किया-कराया जाता है। कर्मसाम्यमें साधक एवं गुरु दोनोंकी, मलपाकमें केवल गुरुकी और पतनमें साधक तथा गुरु किसीकी भी नहीं, स्वेच्छाका शात सम्बन्ध होता है। यदि साधक और गुरुके इस स्वेच्छापूर्वक शात सम्बन्धको अलग कर दें तो मूलतः स्वरूपसे ये तीनों एक ही कहे जा सकते हैं।

जैसे किसी आधारपर कोई सम वस्तु रखनेके लिये उस आधारको भी साम्यावस्थामें लाना पड़ता है, उसकी ऊँचाई-नीचाईरूपी विषमताको उचित काट-छाँटद्वारा दूर करना पड़ता है और इस प्रक्रियामें सुगमता उच्चस्थलके काटनेमें ही है, निम्नको उच्च बनानेमें नहीं; उसी प्रकार किसी साधकको शक्तिके अवतारका योग्य आधार बनानेके लिये उसके गुणवैषम्यको उत्कर्ष-गुणके दूरीकरणद्वारा हटाया जाता है। सामान्यतः अन्य साधनमार्गमें सत्त्वोत्कर्षका अपकर्ष नहीं किया जाता, प्रत्युत वह उत्कर्ष इतना बढ़ाया जाता है कि रजोगुण और तमोगुण सर्वथा आच्छन्न हो जायँ और सत्त्वगुणके चरम उत्कर्षद्वारा एक प्रकारकी साम्यावस्था स्थापित हो जाय। परन्तु, शक्तिपात-प्रक्रियामें सत्त्वोत्कर्षका भी सापेक्ष अपकर्ष कराया जाता है। कारण, शक्तिपातके आधार-पात्रमें यदि कुछ भी सक्रियता शेष रहे तो यह प्रक्रिया सफल नहीं हो सकती। जैसा कि ऊपर कहा गया है। शक्तिपातके पात्रकी एकमात्र योग्यता परिपूर्ण निष्क्रियता (complete passivity) है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि परिपूर्ण निष्क्रियता किसी एक गुणके चरम उत्कर्ष तथा फलस्वरूप अन्य दोकी विलीनतासे नहीं हो सकती। कारण, किसी भी एक गुणके चरम उत्कर्षमें निष्क्रियता नहीं होती, प्रत्युत उस गुणकी सर्वोपरि सक्रियता होती है।

इस प्रकार, उपर्युक्त परिपूर्ण निष्क्रियताके संस्थापनमें किसी भी गुण-भावका एकाङ्गी प्राबल्य बाधक होता है—शुभ-अशुभ दोनों प्रकारकी वासनाओं-संस्कारोंकी प्रबलता सानुकूल नहीं होती। फलतः अमोघदृष्टि कल्याणदर्शी सद्गुरु कृपापात्र शिष्यके स्वभाव-संस्कारोंकी एकाङ्गी प्रबलताको कुशलतासे हटाते हैं। जिस साधकमें शुभ वासनाओंकी प्रबलता होती है, उसे सद्गुरु लोकैषणाके शुभकार्योंमें नियुक्त कर उसकी उस प्रबलताको दूर करते हैं। जहाँ सद्गुरुकी साक्षात् कृपादृष्टिमें यह कार्य होता है, वहाँ स्वयं साधकके मनमें तथा संसारकी दृष्टिमें भी इस सत्त्वोत्कर्षके त्यागसे ग्लानि, निन्दा आदिके भाव नहीं उठते। परन्तु, जहाँ सद्गुरुकी साक्षात् कृपादृष्टि नहीं होती और यह कार्य परम गुरु, परम

नियन्ताके अमोघ विधानसे बलात् पर सहजरूपमें होता है, वहाँ स्वयं साधकके मनमें समय-समयसे ग्लानि, संकोच आदि तथा संसारकी दृष्टिमें निन्दा, आलोचना आदिके भाव उठते हैं। पर यह क्रिया चाहे सद्गुरुकी साक्षात् कृपादृष्टिमें हो अथवा परम गुरु, परम नियन्ताके अमोघ विधानसे हो, दोनों ही अवस्थाओंमें परिणाम एक ही होता है—शक्तिपातकी योग्य भूमिकाका निर्माण। जहाँ इस उत्कर्षका त्याग सद्गुरुके साक्षात् आदेशसे होता है, वहाँ तो यथासमय शक्ति-सञ्चार होता ही है, इसमें कहना ही क्या; पर जहाँ परम गुरुका अमोघ विधान इस क्रियाको कराता है, वहाँ भी वैराग्यशक्ति, विवेकशक्ति, विचारशक्तिका अवतार—पात—होता ही है।

शुद्ध शुभ वासनाओंके प्राबल्यको इस प्रकार दूर करनेकी प्रक्रियाको कर्मसाम्य कह सकते हैं। इसमें उतार होनेपर भी शुभकार्य ही होते हैं और साधक तथा गुरु दोनोंकी स्वेच्छासे होते हैं। इसीलिये कहा गया है कि कर्मसाम्यमें साधक और गुरु दोनोंकी स्वेच्छाका ज्ञात सम्बन्ध होता है। पर जहाँ यह उतार सापेक्ष शुभाशुभ वासना-प्राबल्यसे होता है और फलतः साधकको अपेक्षाकृत अशुभ कार्यों, उदाहरणार्थ गृहस्थाश्रममें प्रवेश, सन्तानोत्पादनादि प्रापञ्चिक व्यवहारोंमें रत होना पड़ता है, वहाँ इस प्रक्रियाको 'मलपाक' कह सकते हैं। मलपाकमें अशुभ वासनाएँ अपने परिपाकसे अपने-आप हट जाती हैं। इसमें, गुरुकी स्वेच्छाकी ही प्रधानता रहती है, साधककी नहीं। कारण, कोई भी साधक स्वेच्छापूर्वक बिना आदेशके ऐसे प्रसङ्गोंमें पड़नेके लिये हृदयसे तैयार नहीं होता। यह प्रक्रिया भी यदि सद्गुरुकी साक्षात् कृपादृष्टिमें हो तो स्वयं साधकको भी अधिक क्षेप नहीं होती और संसार भी क्षमाकी दृष्टिसे देखता है। महाप्रभु गौराङ्गदेवके आदेशसे नित्यानन्दकी गार्हस्थ्याश्रमकी स्वीकृतिसे इसपर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। वहाँ न तो नित्यानन्दको स्वयं क्षेप मालूम पड़ती है न संसार ही उनपर घृणाकी दृष्टि डालता है। पर यदि यही मलपाक परम गुरुके अमोघ विधानसे हो तो अल्पधीर साधक और दोषदर्शी संसार दोनोंके मनोभावोंमें महान् अन्तर आ जाता है। परन्तु इसे कदापि भूलना न चाहिये कि मूलतः एवं परिणामतः यह प्रक्रिया दोनों रूपोंमें एक ही है।

कर्मसाम्यमें केवल शुभ, मलपाकमें शुभाशुभ मिश्रित तथा पतनमें केवल अशुभ संस्कारों—भावों—वासनाओंकी प्रबलता होती है। फलतः पतनमें एकमात्र अशुभ कर्म ही होते हैं। उसका न तो साधक ही स्वेच्छापूर्वक अभिनन्दन करता है, न संसार ही क्षमादृष्टिसे ग्रहण करता है, उसमें साधककी आत्मग्लानि और संसारकी फटकार होती है। इसी लिये पतनकी सर्वतोमुखी निन्दा, आलोचना, होती है। यहाँतक कि तन्त्र-शास्त्रके कुछ प्रसङ्गोंको छोड़कर पतन-क्रियाको साधनाका अङ्ग कोई माननेको तैयार ही नहीं है। पर यहाँ भी हमें सदा स्मरण रखना चाहिये कि 'पतन' केवल 'पतन' ही नहीं है, प्रत्युत शक्तिपातरूपी उत्थानका पूर्वपीठ है। प्रत्येक पतनक्रियाकी परिसमाप्तिपर ज्ञात वा अज्ञात दैवी शक्तिपात होता है। यही कारण है कि 'पतन' के अन्तिम अन्तमरण और दूसरे अङ्ग 'सुरति' के अनन्तर बल्कि इनके स्मरणमात्रसे 'श्मशानवैराग्य' हो जाता है और कहनेकी आवश्यकता नहीं कि तीव्र एवं सच्चा वैराग्य केवल इन श्मशानवैराग्योंका योगफलमात्र ही है। पतनकी प्रायश्चित्ताग्निमें इतनी प्रखरता है कि महाकामी स्वनामधन्य पतनप्रेरित गोस्वामी तुलसीदासको निष्कामी—भगवत्कामी—रागी—बना देता है। कारण स्पष्ट ही है। कर्मसाम्य तथा मलपाक जहाँ कई दृष्टियोंसे पतनसे श्रेष्ठतर माने गये हैं, वहाँ एक दृष्टिसे पतनसे निम्नतर हैं। चाहे कितने ही उच्च कोटिके साधक एवं गुरु कर्मसाम्य और मलपाकमें क्यों न हों, पर एकान्ततः निरभिमानी नहीं हो सकते, अभिमानावशेष रहता ही है। पर पतनके साधक पतित और उसके परम गुरु परमेश्वरमें यह विशेषता है कि यहाँ अभिमानका भान कुछ भी नहीं रहता है। यही कारण है कि पतनके योग्य आधारपर शक्तिपात अलौकिक होता है, अमोघ होता है। इसीलिये संसारकी प्रायः सभी महान् विभूतियाँ, विशेषतः भक्त-समुदाय अपनेको 'पतित', 'पतितनमें नामी', 'प्रसिद्ध पातकी', 'मत्समः पातकी नास्ति' कहकर संसारके परितप्त जीवोंसे अश्रुधार गिरवाकर प्रशान्त करता है। इस प्रकार, पतन सचमुच परम उत्थानका प्रधान पथ प्रतीत होता है।

अन्तमें, यह स्पष्ट कह देना है कि उपर्युक्त पंक्तियाँ केवल 'मनोविनोदाय' हैं। फलतः, न तो इनके शास्त्रीय आधारकी ओर दृष्टि रक्खी गयी है और न इन्हें स्वीकार करानेके आग्रहकी ओर ही। फिर भी इसके अवलोकनसे यदि हममें सहिष्णुता आ जाय तो बस है। साधकके लिये सहिष्णुता श्रद्धाके बाद अद्वितीय महत्त्वकी वस्तु है। जिसे हम पतित समझकर घृणा कर रहे हैं, उसके प्रति यदि हमारे ये भाव

हो जायँ कि पशुपतिके अमोघ संरक्षणमें यह अपने परमपदके पथपर अग्रसर हो रहा है तो क्या हम कभी उससे घृणा कर सकते हैं ? कदापि नहीं। इसीलिये तो इस दृष्टिकी फल-श्रुति है—

भोगो योगायते सम्यग् दुष्कृतं सुकृतायते।
योगायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि॥

इस कुलसे दूर—विमुख—रहना ही परम व्याकुलता (वि + आ + कुलता) है।

रहस्यरहित रहस्य

(प्रेम और सत्य)

(लेखक—'प्रलाप')

अनेकों वर्ष संलग्न विचार और सावधान प्रयोग करके मैंने जो कुछ पाया उससे यही नतीजा निकलता है कि **सतत, सुदृढ और अविचल भावसे सत्यका आचरण करना और प्रेमभाव तथा सहानुभूतिको बढ़ाये चलना, यही सबसे सुगम, सबसे स्पष्ट और सबसे अधिक अमोघ साधन** है। सब शास्त्रोंने एक स्वरसे इसी बातको माना है—'सत्यान्नास्ति परो धर्मः।' 'अहिंसा परमो धर्मः।' आदि हिन्दूधर्मके शास्त्रसिद्धान्त सर्व-विश्रुत ही हैं। ये ही सिद्धान्त बौद्धधर्मके भी हैं। ईसामसीह-का भी सबसे यही कहना था कि 'तुमलोग पहले भगवान्‌के राज्य और उनके दिव्य गुणोंकी इच्छा करो; और ये सब चीजें तुम्हारे साथ जुट जायँगी।' योग अथवा अध्यात्म-साधनाका भी तो यही सार है; तथापि यह शिक्षा इतनी स्पष्ट और आपाततः इतनी सुगम है कि यह स्पष्टता और सुबोधता ही सामान्य साधकोंकी बुद्धिको चक्करमें डाल देती है और उत्साहके साथ इसे धारण करनेमें वे असमर्थ हो जाते हैं। जीवनमें सुख नहीं, साधनपथ बड़ा विकट है, मन और इन्द्रियोंको वशमें ले आना हँसी-खेल नहीं, यह सब हमलोग कहा करते हैं। परन्तु जो कुछ कठिन, दुस्साध्य-असाध्य है उसीकी ओर हमलोगोंकी कुछ ऐसी आन्तरिक प्रवृत्ति है कि हम-लोग उसकी ओर दौड़ते हैं और राह चलते यदि सब रोगोंकी कोई अचूक पर मामूली दवा मिलती है तो उसपर हमें विश्वास नहीं होता, हम उसपर हँस देते हैं, उसकी अव्यर्थता-पर हमें गहरा सन्देह होता है। होमियोपैथिक औषधकी गोलियोंको हममेंसे बहुतेरे इसीलिये कोई चीज नहीं समझते कि उनमें कोई ताव, तेजी या तीतापन नहीं होता। अव्यर्थ शक्तिके साथ प्रतिकूल वेदना और किसी प्रकारकी जटिलता-का होना जरूरी समझनेके हमलोग आदी हो गये हैं। हम-लोग बचपनसे ही 'सत्य' और 'प्रेम'की प्रशंसा बराबर सुनते आये हैं। इसी अति परिचयके कारण ही उनके वस्तुगत गुणोंसे हमारी आँखें अन्धी हो गयी हैं। हम समझते हैं कि यह सब बच्चोंके लिये भुलावा है, इतनी मामूली-सी बातमें भला रक्खा ही क्या है! परन्तु यदि हमलोग अपने ऋषि-मुनियोंके वचनोंपर कुछ भी विश्वास रक्खें और उनके अनु-शासनोंका पालन करके देखें तो बहुत जल्द ही हमें यह पता चलेगा कि सत्य और प्रेमका आचरण इतना आसान तो नहीं है जितना कि सामान्यतः इन नामोंसे सूचित होता है; यही नहीं, प्रत्युत इनका आस्थापूर्वक पालन करने लग जाइये तो पद-पदपर ऐसी कठिनाइयाँ सामने उपस्थित होंगी कि आपके निश्चय और सहिष्णुताकी पूरी परीक्षा होगी, आपके उत्तमोत्तम गुण बाहर निकल आयेंगे और इस प्रकार उन गुणोंका विकास होगा जिन्हें मानवसमाजके महान् आचार्योंने मनुष्यकी परम सिद्धिके लिये अत्यन्त आवश्यक माना है।

सत्य सीधी-सादी, सबकी समझमें आनेवाली चीज है, प्रेम और सहानुभूति भी ऐसी ही है। इनके बारेमें कोई बात दुर्बोध नहीं है; कोई गुप्त चीज नहीं, कहींसे बंद या आच्छादित नहीं। तथापि ज्यों ही आप इन सत्य और प्रेमको अपने जीवनके सिद्धान्त बना लेंगे, त्यों ही आप यह अनुभव करने लगेंगे, आप-के उत्तमोत्तम कर्मों और गभीरतम शक्तियोंपर इनका कितना बोझ पड़ता है। इनके लिये आपको अपने सब विचारों, भावों और कर्मोंमें बड़ी सावधानी रखनी पड़ेगी और क्रमशः आपके मनकी एकाग्र होनेकी शक्ति खूब बढ़ेगी और वह आत्मसंयम होगा जो सब योगसाधनाओंका चरम लक्ष्य है।

भगवान्‌का राज्य और क्या है? सत्य और प्रेमका ही तो राज्य है; और सब दैवी गुण उसी राज्यकी प्रजा हैं। इस प्रकार सत्य और प्रेमके पथपर सचाईके साथ निरन्तर चलकर

आप एक तरफसे ऊपर भगवद्राज्यमें पहुँचते हैं और दूसरी तरफसे उस भगवद्राज्यको पृथ्वीपर उतार लाते हैं।

योग जो सबसे कठिन साधना है, कहीं मिलन और कहीं समत्व कहकर लक्षित किया गया है। दोनों ही सही अभिधान हैं, पर 'मिलन' मैं समझता हूँ कि अधिक अभिव्यञ्जक है। अब, मिलनका सर्वोत्तम उपाय क्या प्रेम ही नहीं है, जैसे कि द्वेष बिगाड़का निश्चिततम उपाय है? और क्या परमात्माके साथ सायुज्य अर्थात् उनके स्वरूपके साथ संयोग या मिलन ही हमलोगोंके जीवनका परम लक्ष्य नहीं है? और क्या सत्य और प्रेम परमात्माके ही स्वरूप नहीं हैं? और यदि प्रेम तथा सत्य—सत्य और प्रेम भगवान्‌के ही स्वरूप हैं और सौन्दर्य तथा आनन्दका उनके हृदयोंमें निवास है तो हम क्यों न इन्हीं सरल स्वाभाविक गुणोंके द्वारा सीधे ही उनके समीप चल चलें!—आसन, प्राणायाम, मुद्रा, मन्त्र, कुण्डलिनी-चक्र और न जाने क्या-क्याके फेरमें क्यों पड़ें और इन रास्तोंकी जोखिममें क्यों उठावें? योगी श्री-अरविन्द ठीक ही तो कहते हैं कि हमारी भागवती माता ही हमें सीधा सच्चा रास्ता दिखाती हैं, वे ही प्रकृतिके रूपमें प्रकट हैं; और प्रेम तथा सत्य उन्हींकी सन्तान हैं। इसलिये प्रेम और सत्यका स्वागत है, ये ही हमारे रक्षक हैं जो कभी गलत रास्तेपर नहीं जाते और चाहे जहाँ चाहे जिसके द्वारा पहुचाने भी जाते हैं।

महासिद्धि, गुणहेतुसिद्धि, क्षुद्रसिद्धि और परमसिद्धि

(लेखक—पं० श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत)

श्रीमद्भागवतान्तर्गत एकादश स्कन्धके १५ वें अध्यायमें श्रीभगवान्‌ने उद्धवको उपर्युक्त सिद्धियाँ और उनके साधन बताये हैं। उस विवरणपर श्रीएकनाथ महाराजकी भी बड़ी सुन्दर टीका है जिसके आधारपर ही यह लेख लिखा जाता है।

महासिद्धियाँ आठ हैं। इनमें (१) अणिमा, (२) महिमा और (३) लघिमा देहसम्बन्धी सिद्धियाँ हैं। 'अणिमा' सिद्धिसे देहको अणु-परमाणु-परिमाण छोटा बनाया जा सकता है। श्रीहनूमान्‌जीने श्रीसीताजीकी खोजमें अणु-रूपसे ही लङ्कामें प्रवेश किया था। 'महिमा' सिद्धिसे देहको चाहे जितना बड़ा या भारी बनाया जा सकता है। समुद्रलङ्घन करते समय हनूमान्‌जीने अपने शरीरको पर्वतप्राय बनाया था। 'लघिमा' सिद्धिसे शरीर कपाससे भी हलका, हवामें तैरने लायक बनाया जा सकता है। (४) 'प्राप्ति' इन्द्रियोंकी महासिद्धि है। (५) 'प्राकाम्य' परलोकगत अदृश्य विषयोंका परिज्ञान करानेवाली सिद्धि है। (६) 'ईशिता' माया और तदंशभूत अन्य शक्तियोंको प्रेरित करनेवाली सिद्धि है। (७) 'वशिता' कर्मोंमें अलिप्त रहने और विषय-भोगमें आसक्त न होनेकी सामर्थ्य देनेवाली सिद्धि है। (८) ख्याति त्रिभुवनके भोग और वाञ्छित सुखोंको अकस्मात् एक साथ दिलानेवाली सिद्धि है।

ये अष्ट महासिद्धियाँ भगवान्‌में स्वभावगत हैं, भगवदितरोंको महान् कष्ट और प्रयाससे प्राप्त हो सकती हैं। भगवान् और भगवदितर सिद्धोंके बीच वैसा ही प्रभेद है, जैसा प्राकृतिक लोहचुम्बक और कृत्रिम लोहचुम्बकके बीच होता है।

गौण सिद्धियाँ दस हैं—(१) 'अनूर्मि' अर्थात् क्षुधा, तृषा, शोक-मोह, जरा-मृत्यु इन षड् ऊर्मियोंसे देहका बेलाग रहना। (२) 'दूरश्रवणसिद्धि' अर्थात् अपने स्थानसे चाहे जितनी दूरका भाषण सुन लेना। (इस समय यह काम रेडियो कर रहा है। योगी अपने श्रवणेन्द्रियोंकी शक्तिको बढ़ाकर यह काम कर लेते हैं।) (३) 'दूरदर्शनसिद्धि' अर्थात् त्रिलोकमें होनेवाले सब दृश्यों और कार्योंको अपने स्थानमें बैठे ही देख लेना। (यह काम इस समय टेलिविजन कर रहा है। योगी अपने दर्शनेन्द्रियकी शक्तिको विकसित कर यह काम घर बैठे कर लेते हैं। संजयको व्यासदेवकी कृपासे दूरश्रवण और दूरदर्शन दोनों सिद्धियाँ प्राप्त थीं।) (४) 'मनोजवसिद्धि' अर्थात् मनोवेगसे चाहे जिस जगह शरीर तुरंत पहुँच सकना। (चित्रलेखाको यह सिद्धि तथा दूर-दर्शनसिद्धि भी नारद भगवान्‌के प्रसादसे प्राप्त हुई थी।) (५) 'कामरूपसिद्धि' अर्थात् चाहे जो रूप धारण कर लेना। (६) 'परकायप्रवेश' अर्थात् अपने शरीरसे निकलकर दूसरेके शरीरमें प्रवेश कर जाना। (श्रीमत् शंकराचार्यका परकायप्रवेश सर्वश्रुत है।) (७) 'स्वच्छन्दमरण' अर्थात् (भीष्मजीके समान) कालके वशमें न होकर स्वेच्छासे कलेवर छोड़ना। (८) 'देवक्रीडानुदर्शन'

अर्थात् स्वर्गमें देवता जो क्रीडा करते हैं, उन्हें यहाँसे देखना और वैसी क्रीडा स्वयं कर सकना। (९) 'यथासङ्कल्पसंसिद्धि' अर्थात् सङ्कल्पित वस्तुका तुरंत प्राप्त होना, सङ्कल्पित कार्योंका तुरत सिद्ध होना। (१०) 'अप्रतिहतगति और आज्ञा' अर्थात् आज्ञा और गतिका कहीं भी न रुकना। (इस सिद्धिसे सम्पन्न योगीकी आज्ञाको राजा भी सिर आँखों चढ़ाता है। ऐसे योगी चाहे जहाँ जा आ भी सकते हैं।)

क्षुद्रसिद्धियाँ पाँच हैं—(१) 'त्रिकालज्ञता'—भूत, भविष्य, वर्तमान—इन तीनों कालोंका ज्ञान। (महर्षि वाल्मीकिजीको यह सिद्धि केवल अखण्ड राम-नाम-स्मरणसे प्राप्त हुई थी और इसीसे वे श्रीरामचन्द्रजीके जन्मके पूर्व रामायण लिख सके।) (२) 'अद्वन्द्वता'—शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मृदु-कठिन आदि द्वन्द्वोंके वशमें न होना। (ऐसे सिद्ध पुरुष इस समय हिमालयमें तथा अन्यत्र भी देखे जाते हैं। (३) 'परचित्ताद्यभिज्ञता' दूसरोंके मनका हाल जानना, दूसरोंके देखे हुए स्वप्नोंको जान लेना इत्यादि। (इसीको आजकल 'थाट-रीडिंग' कहते हैं।) (४) 'प्रतिष्टम्भ'—अग्नि, वायु, जल, शस्त्र, विष और सूर्यके तापका कोई असर न होना। (५) 'अपराजय'—सबके लिये अजेय होकर सबपर जयलाभ करना।

इन सब प्रकारकी सिद्धियोंको प्राप्त करनेके लिये अनेक प्रकारके साधन हैं। मनमें तरह-तरहकी कामनाएँ रखे हुए लोग इष्टसिद्धिके साधनमें महान् कष्ट सहते हैं। परन्तु भगवान् कहते हैं कि, इन अनेक प्रकारके साधनोंके बिना सब सिद्धियोंकी प्राप्ति जिस एक धारणासे होती है वह मैं तुझे बतलाता हूँ—

जितेन्द्रियस्य दान्तस्य जितश्वासात्मनो मुनेः।
मद्धारणां धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्लभा॥

'पञ्चज्ञानेन्द्रियों और पञ्चकर्मेन्द्रियोंको जिसने शम-दमसे जीता है, प्रखर वैराग्यके द्वारा जिसने प्राण और अपानको अपने वशमें किया है, विवेकबलसे जिसने अपने चित्तको सावधान बनाया है और मेरे निरन्तर चिन्तनसे जिसने मनोजय-लाभ किया है और इस प्रकार जो सतत मेरा ही ध्यान करता है, उसके लिये कौन-सी सिद्धि दुर्लभ है?' सब सिद्धियाँ उसकी दासियाँ बनकर सदा उसके समीप रहती हैं। पर उसको चाहिये कि वह इन सिद्धियोंका अपने स्वार्थमें प्रयोग न करे।

सिद्धियाँ किसीको जन्मतः, किसीको दिव्य ओषधियोंसे, किसीको मन्त्रसे, किसीको तपसे और किसीको योगाभ्याससे प्राप्त होती हैं। साँपका वायुभक्षण करके रहना, मत्स्यका जलमें तैरना, पक्षीका आकाशमें उड़ना, ये जन्मतः प्राप्त सिद्धियाँ हैं। राजहंसका नीरक्षीरविवेक, कोकिलका मधुर स्वर, चकोरका चन्द्रामृतप्राशन, ये भी जन्मसिद्ध सिद्धियाँ हैं। ओषधियोंसे प्राप्त होनेवाली सिद्धियोंके सम्बन्धमें श्रीएकनाथ महाराज अपनी टीकामें बतलाते हैं—'मंगलवार-की चतुर्थी अर्थात् अंगारकी चतुर्थीका व्रत श्वेतमन्दारके नीचे बैठकर जो कोई बराबर इक्कीस वर्षतक करता रहेगा उसे उस वृक्षके नीचे श्रीगणेशजीकी मूर्त्ति मिलेगी और उससे उसे सब विद्याओंका ज्ञान प्राप्त होगा तथा उसका घर धन-धान्यसे भरेगा। अजानवृक्षका लासा चाटनेवाला आदमी अजर-अमर हो जाता है। नित्य कडुआ नीम खाने-वालेपर कोई विष असर नहीं करता। पातालगारुडीका मुख प्राशन करनेवालेको देहदुःखसे कोई क्लेश नहीं होता। पूतिकावृक्षकी जड़ महाशक्तिकी एक मूर्त्ति ही है। इस जड़को हाथमें रखकर कोई चाहे तो अप्सराओंके बीचमें चला जा सकता और उनसे क्रीडा कर सकता है। ऐसी-ऐसी कितनी ओषधियाँ हैं, जिनसे विलक्षण सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। परन्तु इन्हें पाना सचमुच ही बड़ा कठिन है।' तपसे होने-वाली सिद्धियोंके विषयमें बतलाते हैं कि, 'कृच्छ्र, पराक्, चान्द्रायण आदि व्रत, मेघकी जलधारामें बैठ रहना, जलमें खड़े होना, ये सब ऐसे साधन हैं कि जिस भावनासे इनमेंसे जो कोई साधन किया जाता है, उससे वही सिद्धि प्राप्त होती है।' मन्त्रसिद्धिके प्रसङ्गमें कहते हैं—

'रातभर शवपर बैठकर अनुष्ठान करे तो उससे प्रेतदेवता प्रसन्न होते हैं और भूत, भविष्य, वर्तमान अर्थात् त्रिकालके ज्ञानकी सिद्धि होती है। सूर्यमन्त्रका अनुष्ठान करनेसे दूरदर्शनसिद्धि प्राप्त होती है। मन्त्र जैसा हो और जैसी बुद्धि हो वैसी ही सिद्धि मिलती है।

इन सब सिद्धियोंके रहनेका एक निधान योगधारणा है। आसन दृढ़कर प्राणापानको एक करके जो योगधारणा करता है, उसे सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ऐसा होनेपर भी भगवान् कहते हैं कि यह सब कुछ भी न करके जो मुझ एक परमात्माको अपने हृदयमें धारण करता है, सब सिद्धियाँ उसके चरणतले आ जाती हैं और चारों मुक्तियाँ स्वभावसे ही उसकी दासियाँ होकर रहती हैं। अनेक सिद्धियोंकी धारणासे मेरी सलोकता, समीपता और सरूपता भी नहीं प्राप्त होती, सायुज्यताकी तो कोई बात ही नहीं!

जो मेरे अनघ अनन्यभक्त मुक्तिको भी छोड़कर मेरी भक्तिमें ही नित्य तृप्त होते हैं, वे मेरे लिये पूज्य हैं।

परम सिद्धि अर्थात् परमानन्द-प्राप्ति

मनुष्यका सारा प्रयास आनन्दलाभके लिये है। ऊपर जिन सिद्धियोंके लाभके प्रचण्ड घटाटोपका कुछ वर्णन हुआ, उन सिद्धियोंका लक्ष्य भी आनन्द ही होता है। पर आनन्दको भी परखकर ग्रहण करना चाहिये। आनन्द तीन प्रकारके हैं—इन्द्रियगम्य, मनोगम्य और बुद्धिगम्य। इन्द्रियगम्य आनन्द पशुका, मनोगम्य आनन्द मनुष्यका और बुद्धिगम्य आनन्द देवोंका होता है। इसके भी परे विशुद्ध-बुद्धिगम्य आनन्द है जो 'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्' है, उसे संत या भक्त लेते हैं। इसीको परमानन्द कहते हैं। संत कबीरदास कहते हैं—

गुपत होकर परगट होवे, जावे मथुरा कासी।
ब्रह्मरन्ध्रसे प्राण निकले, सत्य लोकका बासी॥
सोई कच्चा बे कच्चा बे। नहीं गुरुका बच्चा बे॥

बड़ी-बड़ी सिद्धियोंसे प्राप्त होनेवाला आनन्द शाश्वत आनन्द नहीं है, परमानन्द नहीं है। वैसा आनन्द लेनेवाले योगीको कबीर साहब 'कच्चा' ही बतलाते हैं, उसे 'गुरुका बच्चा' नहीं मानते। इसलिये वास्तविक कल्याणकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको ऐसे आनन्दके पीछे न पड़कर परमानन्दकी प्राप्तिमें ही प्रयत्नवान् होना चाहिये। यही सच्चा पुरुषार्थ है। इस परमानन्दका साधन श्रीभगवान् बतलाते हैं—

निर्गुणे ब्रह्मणि मयि धारयन् विशदं मनः।
परमानन्दमाप्नोति यत्र कामोऽवसीयते॥

इसपर श्रीएकनाथ महाराजकी टीका है—चित्तदेवता सत्त्वगुण है, इन्द्रिय रजोगुण है और विषय तमोगुण। यही परमानन्दका आवरण है। परमानन्दको छिपा रखनेवाले ये ही प्रकृतिके तीन गुण हैं, ये ही परमानन्दकी प्राप्तिमें बाधक हैं। इन तीन गुणोंको छोड़कर जो मेरे निर्गुण ब्रह्मस्वरूपका ध्यान करता है, वह परमानन्दलाभ करता है। (निर्गुणका अर्थ है प्रकृतिगुणोंके परे जो 'दिव्यगुण' है वह। भगवान्‌का सगुण-साकाररूप प्राकृत नहीं बल्कि दिव्य है। गीतामें भगवान्‌ने कहा ही है कि 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'; इस दिव्य जन्म-कर्मको जो तत्त्वतः जान लेता है वह देह छोड़कर मुझे प्राप्त होता है, पुनर्जन्मको नहीं।) मेरे ध्यानसे परमानन्दलाभ होता है और इस आनन्दमें उसकी सब इच्छाएँ विलीन हो जाती हैं। सूर्योदयके होते ही चन्द्रसहित सब नक्षत्र जिस तरह लुप्त हो जाते हैं, उसी तरह परमानन्दमें करोड़ों इच्छाएँ मिलकर शेष हो जाती हैं। इन्द्रियसुखकी बातें तो मारे लज्जाके जहाँ-की-तहाँ ही ठंडी हो जाती हैं। भगवान् कहते हैं,—हे उद्धव! सुनो। जबतक परमानन्द नहीं मिलता तबतक लाख उपाय करनेपर भी कामकी निवृत्ति नहीं होती। इसलिये प्रत्येक साधकको परमानन्द पानेमें ही यत्नवान् होना चाहिये। यही परम सिद्धि है। यह भगवान्‌के सगुण-निर्गुण ध्यानसे प्राप्त होती है। (पर यह ध्यान तीव्र होना चाहिये।) अन्य सिद्धियोंके लिये जितना प्रयास किया जाता है, उतनेसे ही परम सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। भक्तवर तुकाराम कहते हैं—

साधन यही सिद्धियोंका है सरल और सुखधाम।
श्रीगोपालनाम लेता रह मुखसे आठों याम॥

संतोंका यह अनुभव है कि अखण्ड नाम-स्मरण अथवा नामोच्चारणसे ही सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। परम कारुणिक भगवान् सब साधकोंको ऐसी ही सद्बुद्धि प्रदान करें।

लालच

खट्टा मीठा चरपरा, जिभ्या सब रस लेय।
चोरों कुतिया मिलि गई, पहरा किसका देय॥
माखी गुड़में गड़ि रही, पंख रह्यो लपटाय।
हाथ मलै औ सिर धुनै, लालच बुरी बलाय॥

—रैदास

पञ्चभूतोंकी धारणा

यह स्थूल संसार जिसे जनसाधारण वज्रके समान ठोस देखते हैं, स्वप्नके दृश्योंसे भी अधिक हलका और सारहीन है। कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका भार केवल मन सम्हाले हुए है और वह जबतक उस भारकी याद नहीं करता तबतक किसी प्रकारका दुःख उसे नहीं होता, जब वह स्थूल वस्तुओंके स्मरणमें ही अपनेको खो बैठता है, भूल जाता है, तब मानो उसपर सौ-सौ पहाड़ोंके भार आ जाते हैं और वह उनसे दबकर अधोगामी होने लगता है और लघु-से-लघुतर होकर जड़प्राय हो जाता है। अधिकांश लोगोंका मन अपनी विशालता, शक्ति और ज्ञानको भूलकर एक शरीरकी प्रवृत्तियोंमें इतना अधिक फँस गया है कि अपनेको शरीरके अतिरिक्त और कुछ समझता ही नहीं; और विश्व-ब्रह्माण्डके उद्भवन और विलयनकी तो बात ही क्या, उनकी कल्पनासे ही मूर्छित हो जाता है। मनकी यह दुर्बलता बहुत दिनोंसे अभ्यस्त है और इसीके कारण संसारके सारे दुःख-द्वन्द्व हैं। यह मन, जो कि चिन्मय है, जबतक पुनः अपने चिन्मयत्वका अनुभव नहीं कर लेगा तबतक सुखी और शान्त नहीं हो सकता; इसके लिये भावनाकी, अभ्यासकी आवश्यकता है। संतोंने, शास्त्रोंने इसीके लिये अनेकों प्रकारके साधन बतलाये हैं, उनमेंसे एक प्रमुख साधन पञ्चभूतोंकी धारणा है। इसके द्वारा मनको धीरे-धीरे अल्पताके कारागारसे निकालकर अखण्ड-स्वातन्त्र्यमें, जो कि अनन्त है, स्थापित किया जाता है। वास्तवमें यही उसका स्वरूप है। स्वरूपकी उपलब्धि ही इस साधनाका उद्देश्य है, यद्यपि मार्गमें सभी प्रकारकी सिद्धियाँ भी मिलती हैं।

पञ्चभूत हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश। इनकी धारणाका अर्थ है क्रमशः चित्तको इन्हींमें बाँधना। यद्यपि ये सब चित्तमें बँधे हुए हैं, तथापि वर्त्तमान कालकी शरीरप्राय मनोवृत्तिको देखते हुए, ऊपर उठानेका यही क्रमिक उपाय मालूम पड़ता है। इन पाँच भूतोंमेंसे सबसे पहले पृथिवीकी धारणा की जाती है। उस धारणाका यह स्वरूप है कि ये पाँचों भूत, जो इन्द्रियोंसे बाहर दीख रहे हैं, सब-के-सब मनके अंदर हैं। इस मनुष्य-शरीरमें पैरसे लेकर जानुपर्यन्त पृथिवी-मण्डल है। उसका वर्ण हरतालके समान पीला है, उसकी स्थिति चतुष्कोण है, उसके अधिष्ठात्री देवता ब्रह्मा हैं, उसका बीज 'लं' है। प्राणोंको स्थिर करके पाँच घटिकापर्यन्त उपर्युक्त धारणा करनी चाहिये। यह धारणा करते-करते ऐसा अनुभव होने लगता है कि मैं एक शरीरमें आबद्ध अथवा शरीर नहीं हूँ। मैं सम्पूर्ण पृथिवी हूँ। ये बड़े-बड़े नदी-नद मेरे शरीरकी नस-नाड़ियाँ हैं और सम्पूर्ण जीवोंके शरीरके रोग अथवा आरोग्यके कीटाणु हैं। समस्त पार्थिव शरीर मेरे अपने ही अङ्ग हैं। घेरण्ड-संहितामें कहा गया है कि पूर्वोक्त प्रकारसे पृथिवीकी धारणा करके जो उसे हृदयमें प्राणोंके साथ चिन्तन करते हैं वे सम्पूर्ण पृथिवीपर विजय प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं। शारीरिक मृत्युपर उनका आधिपत्य हो जाता है और सिद्ध होकर वे पृथिवी-तलमें विचरण करते हैं। योगी याज्ञवल्क्यने कहा है कि पृथिवी-धारणा सिद्ध होनेपर शरीरमें किसी प्रकारके रोग नहीं होते।

जल-धारणा इस प्रकार की जाती है—जानुसे लेकर पायु-इन्द्रियपर्यन्त जलका स्थान है। किसी-किसी आचार्यके मतमें जानुसे लेकर नाभिपर्यन्त जलका स्थान है। परन्तु योगी याज्ञवल्क्य यह बात नहीं मानते। जलमण्डल शङ्ख, चन्द्रमा और कुन्दके समान श्वेत-वर्ण है, इसका बीज अमृतमय 'वं' है। इसके अधिष्ठात्री देवता चतुर्भुज, पीताम्बरधारी, शुद्ध-स्फटिक मणिके समान श्वेत-वर्ण मन्द-मन्द मुस्कराते हुए परम कोमल भगवान् नारायण हैं। इस जलमण्डलका चिन्तन करके प्राणोंके साथ इसको हृदयमें ले आवे और पाँच घटिकापर्यन्त चिन्तन करे। इसके चिन्तनसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि मैं जल-तत्त्व हूँ। पृथिवीका कण-कण मेरे अस्तित्वसे ही स्निग्ध है। स्वर्गीय अमृत और विष दोनों ही मेरे स्वरूप हैं। कुसुमोंकी सुकुमारता और पाषाणोंका पिण्डीभाव मेरे ही कारण है। पृथिवी मेरा ही परिणाम है। मैं ही पृथिवीके रूपमें प्रकट हुआ हूँ। मैं ही नारायणका आवास-स्थान हूँ। अनुभवी सन्तोंने कहा है कि जल-धारणा सिद्ध हो जानेपर समस्त ताप मिट जाते हैं। अन्तःकरणके विकार धुल जाते हैं। अगाध जलमें भी उसकी मृत्यु नहीं होती।

अग्नि-धारणा इस प्रकार की जाती है—पायु-इन्द्रियसे लेकर हृदयपर्यन्त अग्नि-मण्डल है। इसका वर्ण रक्त है, आकार त्रिकोण है। इसका मुख्य केन्द्र नाभि और 'रं' बीज है। इसके अधिष्ठात्री देवता रुद्र हैं। इनका चिन्तन करते

हुए प्राणोंको स्थित करे। जब यह धारणा सिद्ध हो जाती है, तब ऐसा अनुभव होता है कि मैं अग्नि हूँ। सम्पूर्ण वस्तुओंका रंग-रूप जो आँखोंसे देखा जाता है मैं ही हूँ। मणियोंकी चमक-दमक, पुष्पोंका सौन्दर्य और आकर्षण मेरे ही कारण है। सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत्के रूपमें मैं ही प्रकाशित होता हूँ। जल और पृथिवी मेरी ही लीला हैं। सबके उदरमें रहकर मैं ही शरीरका धारण और पोषण करता हूँ। सबके नेत्रोंके रूपमें प्रकट होकर मैं ही सब कुछ देखता हूँ। समस्त देवताओंका शरीर मेरेद्वारा बना है। पाँच घटिका-पर्यन्त अग्नि-धारणा सिद्ध होनेसे कालचक्रका भय नहीं रह जाता। साधकका शरीर यदि धधकती हुई आगमें डाल दिया जाय तो वह जलता नहीं। इस धारणामें रुद्रका चिन्तन इस प्रकार किया जाता है:—रुद्र भगवान् मध्याह्न कालीन सूर्यके समान प्रखर तेजस्वी हैं, आँखें तीन हैं। सम्पूर्ण शरीरमें भस्म लगाये हुए हैं, प्रसन्नतासे वर देनेको उत्सुक हैं।

वायुधारणा इस प्रकार की जाती है—हृदयसे लेकर भौंहोंके बीचतक वायु-मण्डल है, इसका वर्ण अञ्जन-पुञ्जके समान काला है। यह अमूर्त्त तत्त्व-शक्तिरूप है, इसका बीज है 'यं'। इसके अधिष्ठात्री देवता हैं—ईश्वर। प्राणोंको स्थिर करके हृदयमें इसका चिन्तन करना चाहिये। इसकी भावना जब पाँच घटिकातक होने लगती है, तब ऐसा अनुभव होता है कि मैं वायु हूँ। अग्नि मेरा ही एक विकास है। इस अनन्त आकाशमें सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी आदिको मैंने ही धारण कर रक्खा है। यदि मैं नहीं होता तो ये सब इस शून्य-में निराधार कैसे टिक पाते? मेरी सत्ता ही इनकी सत्ता है। प्रत्येक वस्तुमें जो आकर्षण-विकर्षण शक्ति है, वह मैं ही हूँ। ये ब्रह्माण्ड-मण्डल मेरे क्रीड़ा-कन्दुक हैं, मैं गतिस्वरूप हूँ, सबकी गतियाँ मेरी कला हैं, समुद्रमें मैं ही तरङ्गें उछालता हूँ। बड़े-बड़े वृक्षोंको झकझोरकर मैं ही पुष्प-वर्षा करता हूँ। सबका श्वासोच्छ्वास बनकर मैं ही सबको जीवन-दान कर रहा हूँ। मेरी गति अबाध है। शास्त्रोंमें कहा गया है कि यह वायु-धारणा सिद्ध होनेपर साधक निर्द्वन्द्व भावसे आकाशमें विचरण कर सकता है। जिस स्थानमें वायु नहीं हो, वहाँ भी वह जीवित रह सकता है। वह न जलसे गलता, न आगसे जलता, न वायुसे सूखता। बुढ़ापा और मौत उसका स्पर्श नहीं कर सकती।

आकाशकी धारणाका प्रकार निम्नलिखित है—भौंहोंके बीचसे मूर्धापर्यन्त आकाशमण्डल है। समुद्रके शुद्ध-निर्मल जलके समान इसका वर्ण है। इसका बीज है 'हं'। इसके अधिष्ठात्री देवता हैं—आकाशस्वरूप भगवान् सदाशिव। शुद्ध-स्फटिकके समान श्वेत-वर्ण है, जटापर चन्द्रमा हैं, पाँच मुख, दस हाथ और तीन आँखें हैं। हाथोंमें अपने अस्त्र-शस्त्र लिये हुए, दिव्य आभूषणोंसे आभूषित, वे समस्त कारणोंके कारण, पार्वतीके द्वारा आलिङ्गित, भगवान् सदाशिव प्रसन्न होकर वरदान दे रहे हैं। प्राणोंको स्थिर करके पाँच घटिकापर्यन्त धारणा करे। इसका अभ्यास करनेसे ऐसा अनुभव होता है कि मैं आकाश हूँ। मेरा स्वरूप अनन्त है, देश, काल मुझमें कल्पित हैं। मैं अनन्त हूँ, इसलिये मेरा कोई अंश नहीं हो सकता। मेरी सम्पूर्ण विशेषताएँ मनके द्वारा आरोपित हैं। मन ही मुझमें हृदयाकाश और बाह्याकाशकी कल्पना करता है। मैं घन हूँ, एकरस हूँ। न मेरे भीतर कुछ है और न तो बाहर। मैं सन्मात्र हूँ। इस आकाश-धारणाके सिद्ध होनेपर मोक्षका द्वार खुल जाता है, सारी सृष्टि मनोमय हो जाती है। सृष्टि और प्रलयका कोई अस्तित्व अथवा महत्त्व नहीं रह जाता, मृत्युके वाच्यार्थका अभाव हो जानेसे केवल उसका लक्ष्यार्थ शेष रहता है, जो अपना स्वरूप है।

इन धारणाओंका साधारण क्रम यह है कि पहले पृथिवी-मण्डलका चिन्तन करके उसको जलमण्डलमें विलीन कर दे, जलमण्डलको अग्निमण्डलमें, अग्निमण्डलको वायुमण्डलमें और वायुमण्डलको आकाशमें। इस प्रकार क्रमशः कार्यको कारणमें विलीन करते हुए सबको परम कारण सदाशिवमें स्थापित करे और अन्ततः सदाशिवको आत्मस्वरूप, परमात्मस्वरूप जानकर उन्हींके स्वरूप-रूपसे स्थित हो जाय। इस विषयमें अनुभवी योगियोंका ऐसा उपदेश है कि प्रत्येक मण्डलका चिन्तन करते समय प्रणवके द्वारा तीन-तीन प्राणायाम करके कार्य-मण्डलको कारण-मण्डलमें हवन कर दे।

ॐ अमुकमण्डलम् अमुकमण्डले जुहोमि स्वाहा।

इसी प्रकार सम्पूर्ण मण्डलोंका लय करके अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाना चाहिये।

ब्रह्मवेत्ता परम योगी देव-वैद्य अश्विनीकुमारोंने कहा है कि सबके शरीर पाञ्चभौतिक हैं, इन शरीरोंमें तीन तत्त्व हैं—वात, पित्त और कफ। पञ्चभूतोंकी इस धारणासे ये तीनों तत्त्व शुद्ध हो जाते हैं। अग्निधारणासे वातज दोष, पृथिवी

और जलधारणासे श्लेष्मज दोष निवृत्त हो जाते हैं। वायु-धारणासे पित्तज और श्लेष्मज दोष नष्ट हो जाते हैं। आकाश-धारणासे त्रिदोषजनित सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं।

पञ्चभूतोंकी इस धारणासे कैसे-कैसे विचित्र अनुभव होते हैं, इसका बड़ा सरस वर्णन योगवाशिष्ठान्तर्गत निर्वाण-प्रकरणके उत्तरार्द्धमें अट्ठासिवें सर्गसे बानबे सर्गतक हुआ है। उसको पढ़नेसे आनन्दका बड़ा विकास होता है। विस्तार-भयसे यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया जा सकता। साधकोंको वहीं उसका अनुशीलन करना चाहिये। इस धारणासे यह अनुभूति तो बहुत ही शीघ्र होने लगती है कि यह स्थूल प्रपञ्च मनोमय है। आगे चलकर मनकी चिन्मयताका अनुभव होता है और यही जडस्फूर्ति और जडत्ववासनासे शून्य अन्तःकरणकी शुद्धि है। जब इस शुद्ध अन्तःकरणमें तत्त्वको स्वीकार करनेकी योग्यता आ जाती है तब उस विशुद्ध एकरसतत्त्वका बोध होता है। यह बोध ही समस्त साधनोंका चरम और परम फल है। शा०

पञ्चाग्नि-विद्या

(लेखक—पण्डित श्रीजौहरीलालजी शर्मा, सांख्ययोगाचार्य, विद्यापुराण, विद्यासागर)

उपनिषदोंकी अनेक विद्याओंमेंसे एकका नाम है पञ्चाग्नि-विद्या। यह पुनर्जन्मका सिद्धान्त बतानेवाली विद्या है। मृत्युके अनन्तर किसका जन्म होता है और किसका नहीं, और जिनका होता है उनका किस प्रकार होता है? इन बातोंका समावेश इस विद्यामें है।

स्थूलशरीरको त्यागनेपर जीव सूक्ष्मशरीरके साथ-ही-साथ स्थानान्तरको जाता है और फिर एक निर्दिष्ट क्रमसे वापस आता हुआ जन्मान्तरमें स्थूलशरीरको पाता है। उपनिषद्में इस तत्त्वको निम्न प्रकारसे समझाया है। अग्निमें किसी वस्तुकी आहुति डालनेपर उस वस्तुका रूपान्तरमें परिवर्तित होकर हवामें उड़ जाना हम सभीके अनुभवमें आया है। तोलाभर घी अग्निमें डालनेसे वह सुगन्धमय धूमके रूपमें बदलकर वायुमें मिल जाता है। घी और उसका उत्तरकालीन परिवर्तित रूप तत्त्वदृष्टिसे एक ही वस्तु है। रासायनिक विश्लेषणकी प्रक्रियाके ही कारण घीमें इतना परिवर्तन हो जाता है और इस परिवर्तनका कारण अग्नि है।

इस प्रत्यक्ष दृष्टान्तकी सहायताको लेते हुए ऋषियोंने बतलाया है कि किस प्रकार एक देहको छोड़नेसे दूसरे देहको ग्रहण करनेतक जीवका शरीर अनेक रासायनिक परिवर्तनों-को प्राप्त करता है।

मृत जीवका सूक्ष्मभूतमय शरीर श्रद्धा कहा जाता है और 'आप्' भी कहलाता है, क्योंकि उस समय उसमें जल-तत्त्वकी प्रधानता रहती है। इस श्रद्धाका संयोग होता है 'सोम' से और जहाँ यह संयोग होता है, उसीको 'परलोक' कहते हैं। यह प्रथम रासायनिक परिवर्तन भूमिसे ऊर्ध्व प्रदेशमें—अन्तरिक्षमें होता है, अतएव इसे परलोक कहते हैं। परलोकरूपी प्रथम अग्निमें 'श्रद्धा' की आहुतिसे इस प्रकार 'सोम' होता है।

यही 'सोमरस' पर्जन्यरूपी अग्निमें पड़कर 'वर्षा' रूपमें परिवर्तित होता है। अतएव पर्जन्य द्वितीय अग्नि है।

तदनन्तर वर्षाका जल अन्नरूपमें परिवर्तित होता है और पृथिवीमें इस प्रकारके परिवर्तन होनेके कारण पृथिवीको तृतीय अग्नि कहा जाता है।

यह अन्न फिर वीर्यरूपमें परिवर्तित होता है और पुरुष-शरीरमें इस परिवर्तनके होनेके कारण पुरुषको चतुर्थ अग्नि कहा जाता है।

अन्तमें वीर्य ही गर्भरूपमें परिवर्तित होता है और पत्नीमें इस परिवर्तनके होनेके कारण वह पञ्चम अग्नि कहलाती है।

इस प्रकार पाँच अग्नियों (Stages of transforma-tion) में होता हुआ 'श्रद्धा' नामक द्रव्य 'गर्भ' रूपमें आता है। गर्भ वीर्यसे, वीर्य अन्नसे, अन्न वर्षासे, वर्षा सोम-से और सोम श्रद्धासे होता है।

श्रद्धासे लेकर गर्भतक पाँच दशाएँ बतलायी गयी हैं। जीव अन्तःकरणसहित ही इन पाँचों दशाओंमें रहता है। जिस प्रकार गर्भाशयमें स्थित रजोवीर्यसे उत्पन्न शरीरमें जीव और उसके सूक्ष्मशरीरका सम्पर्क रहता है, उसी प्रकार वीर्यमें, अन्नमें, वर्षामें और सोममें भी जीवके साथ अन्तःकरणका सम्पर्क रहता है।

प्रथम देहत्यागके अनन्तरकी अवस्थाको श्रद्धा कहा गया है। यह वह स्थिति है, जिसमें जीवकी अग्रिम यात्राका निश्चय होता है। 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः'।

जन्मभर सत्कर्मोंके अनुष्ठानसे मरणानन्तर भी शुभ श्रद्धा ही रहती है और दुष्कर्मोंके आचरणसे दुष्ट श्रद्धा रहती है। अग्रिम जन्मका निर्णय हो जानेपर जीव अपने अन्तःकरणके साथ-ही-साथ सोमावस्था, जलावस्था, अन्नावस्था, वीर्यावस्था और गर्भावस्थाके स्थूल पञ्चभूतोंमें निवास करता है और अन्तिम अवस्थासे ही भूमिपर जन्म लेता है। जन्मानन्तर सूक्ष्मशरीरसंयुक्त जीवसे अधिष्ठित स्थूलशरीरमें ही बाल्य, यौवन और जराका परिणाम होता है।

इस प्रकार श्रद्धा वा कर्मानुसार जीव संसारमें आवागमनका चक्कर काटता रहता है और चौरासी लाख योनियोंमें घूमता-फिरता सुख-दुःखमोहात्मक दशाओंमें रमता रहता है।

जन्म-मरणके चक्रको पितृयान भी कहा जाता है और कृष्ण-गति भी। अज्ञानका रंग काला माना गया है, अतएव अज्ञानसे होनेवाले जन्म-मरणको कृष्ण-गति (Black Route) कहते हैं।

इसके विपरीत ज्ञानका वर्ण शुक्ल माना गया है और इसलिये ज्ञानसे होनेवाली मुक्तिकी दशाको शुक्ल गति कहते हैं। शुक्ल गतिको देवयान भी कहते हैं।

शुक्ल गतिमें अन्तःकरण वा सूक्ष्मशरीर भी हट जाता है। तब आत्मा अपने विशुद्ध रूपमें निवास करता हुआ चिदानन्दका उपभोग करता है।

भीमा और नीराके पवित्र सङ्गमपर

(लेखक—'शान्त')

(१)

अभी सूर्योदय होनेमें विशेष विलम्ब था। अरुणोदयकी अरुणिमा भी स्पष्टरूपसे नहीं दीख रही थी। वायुमण्डल शान्त था, मलयज पवनके शीतल झोंके रह-रहकर छू जाया करते थे। इतनी शान्ति थी उस समय कि वृक्ष भी सोये हुए-से जान पड़ते थे, तारे ठिठके हुए और चन्द्रमा समुद्रके पास। भीमा और नीराके सङ्गमपर जो विशाल वटवृक्ष था, उसकी एक लम्बी शाखापर दो श्वेत पक्षी जाग रहे थे और केवल वे ही जाग रहे थे। जैसे भीमा शान्त थी और नीरा चञ्चल, वैसे ही उन दोनों पक्षियोंमें भी एक गम्भीर था और दूसरा उत्सुक। गम्भीर पक्षी बड़ा था और चञ्चल छोटा। छोटे पक्षीकी आँखें इधर-उधर दौड़ जाती थीं और कोई नयी वस्तु देखकर वह पूछ बैठता था कि यह क्या है। उस शान्त, नीरव ब्रह्मवेलामें केवल दो ही प्रकारके शब्द थे—एक तो नीरा नदीकी कलकलध्वनि और दूसरे उस चञ्चल पक्षीके चापल्य-मिश्रित, उत्सुकतापूरे बालोचित प्रश्न।

भीमा और नीराके मधुर सङ्गमकी ओर, जो दो प्रिय सखियोंके मिलन-जैसा आनन्दमय था, दृष्टि जाते ही छोटे पक्षीको एक नवीन दृश्य दीख पड़ा। एक युवक, जिसकी रेख अभी भिनी नहीं थी, झीनी-सी चादरसे अपना शरीर ढके हुए, स्वस्तिकासनसे ध्यानमग्न बैठा हुआ था। न उसकी साँस चलती दीखती थी और न उसके शरीरमें तनिक भी स्पन्दन था। उसके जीवनका चिह्न इतना ही था कि वह शान्त, स्थिर और गम्भीर मुद्रासे बैठा था। छोटा पक्षी उसको जाननेके लिये चञ्चल हो उठा। उसने बड़े पक्षीको सम्बोधित करके पूछा—'भैया! यह कौन है, क्या कर रहा है? तुम तो अन्तर्यामी हो, इसके मनकी सारी बातें जानते हो, मुझे बताओ। इसके चित्तकी स्थिति जाननेके लिये मेरे मनमें बड़ा कुतूहल है।' बड़ा पक्षी, जो हंस था, उस समय बड़े शान्त भावसे उस युवककी ओर ही देख रहा था। मानो युवकके हृदयकी प्रत्येक गति-विधि उसकी आँखोंके सामने हो और वह उसे देख-देखकर मुग्ध हो रहा हो। हंसने छोटे पक्षीको सम्बोधन करके कहा—वत्सल! मैं प्रायः तुम्हारे प्रश्नोंको टाल दिया करता हूँ। इसका यह कारण नहीं है कि मैं तुम्हारी उपेक्षा करता हूँ। बात इतनी ही है कि जब मैं स्थूल जगत्‌को छोड़कर सूक्ष्म जगत्‌के किसी गम्भीर रहस्यके चिन्तनमें संलग्न रहता हूँ, तब तुम इतने उथले प्रश्न करते हो, ऐसी चर्चा छेड़ देते हो, जिसके कहने-सुनने, समझाने-समझानेमें

रुचि ही नहीं होती। परन्तु आज अभी इस समय जो तुमने प्रश्न किया है, वह इस अवसरके अनुकूल ही है; क्योंकि जो मैं मनकी आँखोंसे देख रहा हूँ, वही तुम पूछ रहे हो। कितनी तन्मयता है उस युवकमें, कितनी लगन और तल्लीनताके साथ तत्पर है वह अपनी साधनामें! ऐसा मालूम पड़ता है कि साधनाका लम्बा मार्ग यह कुछ क्षणोंमें ही समाप्त कर देगा। मैं तो इसके अन्तर्देशके दर्शनसे ही ध्यानस्थ हो रहा हूँ। ध्यान करनेवाला किस प्रकार ध्यान कर रहा है, उसके चित्तमें इस समय किन-किन भावोंका उदय और विलय हो रहा है, उसके चित्तके चबूतरेपर कौन-कौन-सी मूर्तियाँ आकर नाच जाती हैं, उनको देखकर वह किस प्रकार आनन्दविभोर हो जाता है—इन बातोंकी कल्पनासे ही अन्तःकरणमें एक अपूर्व सुख-शान्तिका अनुभव होता है। इस समय यह धीर युवक भगवान्‌की मधुर और मोहक लीलाओंमें रम रहा है; इसके मन, प्राण, शरीर और रोम-रोममें भगवान्‌की दिव्यता अवतीर्ण हो रही है। इसकी एक-एक वृत्ति भगवान्‌को लेकर ही उठ रही है और भगवान्‌में ही विलीन हो रही है। इस समय यह पवित्रता, शान्ति और आनन्दकी त्रिवेणीमें उन्मज्जन-निमज्जन कर रहा है, डूब-उतरा रहा है। कितनी मस्ती है इसमें! देखो तो सही, इसके शरीरमेंसे प्रकाशकी कैसी किरणें निकल रही हैं! इसका मुखमण्डल ज्योतिर्मय हो रहा है, इसके हृदयसे शान्ति और आनन्दकी धारा प्रवाहित होकर आसपासके सम्पूर्ण जड़-चेतनको एक दिव्य प्रेम और रससे सराबोर कर रही है। ऐसा जान पड़ता है कि यदि इसी प्रकार इसका ध्यान चलता रहा तो थोड़े ही समयमें इसकी सम्पूर्ण प्रकृतिका परिवर्तन हो जायगा और न केवल इसका अन्तःकरण ही, बल्कि स्थूलशरीर भी अत्यन्त दिव्य और नारायणमय हो जायगा।

वत्सलने कहा—'हे राजमराल! शिव भगवान्‌की कृपासे आपको महान् सिद्धि प्राप्त है; आप दूरकी वस्तु देख सकते हैं, दूसरेके मनकी बात जान सकते हैं; भूत और भविष्य, दूर और निकटकी सभी वस्तुएँ आपके लिये करामलकवत् हैं। आपसे कोई भी रहस्य अज्ञात नहीं है। आप मेरी उत्सुकताको मिटानेके लिये कृपा करके यह बतलाइये कि इसने किस प्रणाली और किस क्रमसे ध्यान किया है, जिससे इसे इतनी तन्मयता प्राप्त हो गयी।' राजमरालने कहा—"वत्सल! यह विषय अत्यन्त गोपनीय है, फिर भी तुम्हारे आग्रह और प्रेमको देखते हुए न बताना अनुचित जान पड़ता है। इसलिये सावधानीसे सुनो। मैं तुम्हें इसके ध्यानकी गाढ़ताका कारण बतलाये देता हूँ। नित्य कर्म—सन्ध्यावन्दन आदिके नियमपूर्वक अनुष्ठानसे इसके सम्पूर्ण अङ्गों और इन्द्रियोंके देवता अनुकूल तथा प्रसन्न हो गये हैं। वे ध्यानकी स्थिरतामें किसी प्रकारका विघ्न नहीं डालते। ध्यानके समय वे स्वयं ही इसके शरीर और इन्द्रियोंको स्थिर और अविचल कर देते हैं। यम-नियमके पालनसे और इस दृढ़ निश्चयसे कि 'अब मैं कभी पाप-कर्म नहीं करूँगा' पाप-वासनाएँ तो इसके चित्तमें उठती ही नहीं। प्राणायाम और विचारके द्वारा इसने शुभ कर्मकी वासनाओंका भी तनूकरण सम्पन्न कर लिया है। भूत-शुद्धि और मन्त्र-चैतन्यकी क्रियासे इसके अन्तःकरण और इष्ट-मन्त्रमें भी विशिष्ट शक्तिका विकास हो गया है और अब यह इच्छा करते ही एकाग्र हो जाता है। कितना निरुद्ध और भावप्रवण हो गया है इसका चित्त, इस बातको आज मैंने प्रत्यक्ष देखा। आज ब्रह्मवेलाके पूर्व ही जब यह यहाँ आकर बैठा और मेरे देखते-देखते ही अन्तर्मुख होकर भावलोकमें प्रवेश कर गया, तब मैं आश्चर्यचकित हो रहा था।

"इस युवकने पहले अग्नि-प्राकारकी भावना की, अनुभव किया कि 'मेरे चारों तरफ एक ज्योतिर्मय चहारदीवारी है और उसके बीचमें मैं सुरक्षितरूपसे बैठकर परमात्माका चिन्तन करने जा रहा हूँ। किसी प्रकारकी दुर्भावना और दुर्वासनाएँ मेरा स्पर्श नहीं कर सकतीं।' यह दृढ़ निश्चय करके इसने अपने सर्वाङ्गमें कीर्ति आदि शक्तियोंके साथ केशवादिका न्यास किया, जिससे इसके शरीरकी सम्पूर्ण अपवित्रताएँ धुल गयीं और शरीरमें दिव्यता आ गयी। तत्पश्चात् पीठन्यास करते हुए इसने सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमण्डल और लोकोंको यथास्थान शरीरमें स्थापित किया। इसने क्रमशः ऐसी भावना की कि यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममें स्थित है, इसके अधिष्ठान ब्रह्म हैं। इसलिये यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय है, ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्मकी वह शक्ति भी ब्रह्म ही है, जिसने ब्रह्ममयी प्रकृतिको धारण कर रखा है। ब्रह्ममें आधारशक्ति, आधारशक्तिमें प्रकृति, प्रकृतिमें एक ब्रह्माण्डमण्डलको धारण करनेवाले व्यक्तरूपसे विराजमान कूर्म भगवान् और उनके आधारपर स्थित शेष भगवान्, जिन्होंने यह पृथ्वी धारण कर रखी है। पृथ्वीपर अनन्त विस्तृत उत्ताल तरङ्गोंसे तरङ्गायमान धवलातिधवल क्षीरसागर—जिसमें नाना प्रकारके रङ्ग-बिरङ्गे कमलोंके आसपास अनेकों हंस, सारस आदि दिव्य पक्षी क्रीड़ा कर रहे हैं और

जिसके मध्यभागमें बड़ा ही विशाल सात्त्विकताका साम्राज्य श्वेतद्वीप है—हिलोरें ले रहा है। श्वेतद्वीपमें लताओंके कुञ्जमें मणियोंका सुन्दर मण्डप है और उस मण्डपके अन्तर्गत प्रेमके पुष्प और आनन्दके फलोंसे परिपूर्ण एक दिव्य कल्पवृक्ष है, जिसकी दिव्य सुरभिसे सारा संसार सुवासित हो रहा है। कल्पवृक्षके नीचे मणियोंकी वेदी है और उसपर रत्नजटित सिंहासन है।"

राजमरालने कहा—"प्यारे वत्सल! अभी थोड़ी ही देर पहलेकी तो बात है, इन्हीं दिव्य वस्तुओंकी भावना करते-करते यह युवक इस स्थूल सारका उल्लङ्घन कर गया है और दिव्य लोकमें प्रविष्ट हुआ है। वहाँ आते ही इसने उस रत्नसिंहासनपर जो अपने शान्त स्वरूपमें अनन्तको छिपाये हुए था और अनन्त होनेपर भी शान्त दीख रहा था, द्वादशकलात्मा सूर्य, षोडशकलात्मा चन्द्रमा और दशकलात्मा अग्निको देखा और क्रमशः और भी अन्तर्जगत्में प्रवेश करता गया। वहाँ इसने सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणोंको देखा; तीनों अवस्थाएँ इसके सामने नाच गयीं; उनके अभिमानी भी आये और नमस्कार करके चले गये। इसने आत्मा, अन्तरात्मा और ज्ञानात्माको प्रत्यक्ष देखा। इस विशुद्ध प्रेम और ज्ञानके राज्यमें, जहाँ दोनोंका एकत्व है, पहुँचते ही इस युवकके सामने भगवान्‌का लीला-लोक प्रकट हो गया है। इस समय यह नारायणके शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी, वर्षाकालीन मेघके समान सुन्दर, पीताम्बर ओढ़े हुए, मधुर, मञ्जुल, मङ्गलमय स्वरूपकी सेवा कर रहा है। इसने अभी कुछ ही क्षण पहले भगवान्‌का चरणामृत लिया है, उन्हें अपने हाथसे माला पहनायी है, अनेकों प्रकारके फल-मूल और व्यञ्जनके नैवेद्य लगाये हैं। और प्रेमपूर्वक आग्रह करके भगवान्‌को खिलाये हैं। कितने प्रेमी हैं भगवान्, प्रेमका प्रतिदान तो केवल वे ही जानते हैं। वे नित्यतृप्त हैं और अपनी अखण्ड महिमामें स्थित हैं, फिर भी प्रेमपरवश होकर अपने भक्तोंके लिये क्या-क्या नहीं करते! भगवान्‌ने इसकी सेवा स्वीकार की है, इसे अभयदान दिया है और अपनाया है। इस समय प्रेममुग्ध होकर आरती करता हुआ यह भगवान्‌के सामने नाच रहा है और इसके शरीरमें क्रमशः आठों सात्त्विक भाव उदय हो-होकर अपनेको सार्थक कर रहे हैं।"

वत्सलने पूछा—"राजमराल! तुम्हें तो इसका भविष्य भी ज्ञात है; अब आगे क्या होगा, यह बतलानेकी कृपा करो।' राजमरालने कहा—"अब प्रातःकाल होनेपर आया। मुझे यहाँसे बहुत दूर, पण्ढरपुरसे पचास मीलपर गुप्तलिङ्ग भगवान् शङ्करका दर्शन करने जाना है; इसलिये मैं तो अब चलता हूँ। इसका ध्यान अभी शीघ्र टूटनेवाला नहीं, इसका शरीर भी नारायणमय हो जायगा। अभी तो मैं चलूँ।" वत्सलने कहा—'राजमराल! मुझे भी अपने साथ ले चलें।' राजमरालने अनुमति दी और दोनोंने एक ही साथ वहाँसे यात्रा की।

(२)

महाराष्ट्रमें भगवान् शङ्करके आठ लिङ्ग अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उनमें सात प्रकट हैं और आठवाँ गुप्त। बड़े महादेव, जो कि हरिहरात्मक लिङ्गमूर्ति हैं, शिवाजीके पूर्वजोंके द्वारा चिरकालसे पूजित हैं। उनके दर्शनमात्रसे आज भी जीवोंके अन्तस्तलमें एक अलौकिक पवित्रताका सञ्चार होता है। यहाँसे थोड़ी ही दूर, एक कोसके लगभग दो पर्वतोंकी सन्धिमें भगवान् शङ्करका गुप्त लिङ्ग है, वहाँ हरे-भरे, सुन्दर-सुन्दर वृक्ष हैं। बारहों मास बहनेवाले झरने हैं। दो-तीन छोटे-छोटे कुटीर हैं, जिनमें कभी-कभी दो-एक साधु रह जाते हैं और कभी कोई नहीं रहता। गुप्तलिङ्ग भगवान्‌के ठीक ऊपर पर्वतशृङ्गपर पीपलके कई बड़े-बड़े वृक्ष हैं। उनमें एक तो मानो वहाँके वृक्षोंका राजा ही है। थोड़ी हवामें भी जब उनके पत्ते खड़खड़ा उठते हैं, तब ऐसा जान पड़ता है मानो भगवान् शङ्करका डमरू बज उठा हो। उस स्थानकी अनन्त महिमा है और अनन्त सौन्दर्य है। राजमराल प्रतिदिन वहीं जाकर झरनेमें स्नान करते, शिवकी पूजा करते, पीपलपर बैठकर उनका ध्यान करते। यही उनका सहज कर्म था। न इसमें परिश्रम था और न कृत्रिमता। जैसे स्वभावतः प्राण चला करते हैं, वैसे ही उनके शरीरसे यह क्रिया हुआ करती थी।

प्रतिदिनकी अपेक्षा आज कुछ विशेषता थी। रोज वे अकेले रहते थे, आज दो थे। जब वे नित्य-कृत्य समाप्त करके बड़ी शान्तिसे पीपलकी एक शाखापर बैठे, तब वत्सलने पूछा—"भैया! उस युवककी क्या स्थिति होगी, अब उसका इस समय क्या भाव होगा! वह क्या अनुभव करता होगा!' राजमराल उस समय ध्यानस्थ हो रहे थे, वे किसी भी प्रश्नका उत्तर देना नहीं चाहते थे। वत्सल उनका रुख देखकर चुप हो रहा। परन्तु उसके मनमें इस बातकी बड़ी छटपटी थी कि उस युवककी क्या स्थिति है। थोड़ी देरके बाद वत्सलने देखा राजमरालकी आँखोंसे आँसूकी

धारा बह रही है, शरीर काँप रहा है, सारे शरीरपर स्वेद-बिन्दु हैं और मुखमण्डल प्रेमकी ज्योतिसे जगमगा रहा है। राजमरालकी यह दशा देखकर वत्सलको उनके शरीरकी बड़ी चिन्ता हो गयी और वह उन्हें अपने पङ्खके पङ्खेसे हवा करने लगा एवं अनेकों प्रकारसे उन्हें जगानेकी चेष्टा करने लगा। बहुत उपचारके बाद जब वे होशमें आये और स्वस्थ हुए, तब वत्सलने पूछा—'भैया, यह तुम्हारी क्या दशा हो गयी थी? किस अनुभूतिमें तुम डूब गये थे? तुम्हारे लिये ऐसी कौन-सी अनहोनी वस्तु है, जिसे देख-सुनकर या स्मरण करके तुम विह्वल हो जाते हो? मेरे प्रश्नको सुनातक नहीं। यदि कोई अत्यन्त रहस्यकी बात न हो तो बतलानेकी कृपा करो।' राजमरालने बड़े प्रेमसे कहा—'भाई वत्सल! तुम तो मेरा समग्र जीवन ही पूछ रहे हो। मैं जब अपने जीवनकी अतीत घटनाओंका स्मरण करता हूँ तो भगवान्‌की अहैतुकी कृपा, उनके प्रेम और अपने मस्तकपर उनके वरद कर-कमलोंकी छत्रछाया देखकर उन्हींके स्मरणमें विह्वल हो जाता हूँ। मुझे अपने तन-बदनकी सुधि नहीं रहती। देखो न मैं क्या था, क्या हो गया? कहाँ तो एक पक्षी हंस और कहाँ भगवान्‌की इतनी महान् कृपा! मेरा जीवन धन्य हो गया, प्रभुकी कृपासे।'

'सारी घटना स्मरण हो आयी है, कहे बिना रहा नहीं जाता' यह कहकर राजमरालने फिर बोलना आरम्भ किया—'तुम कैलासपर्वतको तो जानते ही हो, यहाँसे यदि वहाँ जाना हो तो शत-शत पर्वतमालाओंको पार करना पड़ता है। वहीं गौरीशङ्कर चोटीके पास बड़ा विशाल मानस-सर है, जिसमेंसे भक्ति और ज्ञानके समान ब्रह्मपुत्र और सिन्धु—ये दोनों नद प्रवाहित हुए हैं। मैं उसी मानस-सरका निवासी हूँ। मैं वहाँ अकेला न था, कोटि-कोटि हंस वहाँ निवास करते हैं। उन्हींमें एक मैं भी था। सब-के-सब मानस-सरमें क्रीडा करते थे, कमलोंसे खेलते थे; सब-के-सब शुद्ध सात्त्विक थे, प्रेमी थे और नीर-क्षीरविवेकी थे। एक बारकी बात है—सभी हंस इकट्ठे थे, अपनी विवेकशक्तिकी चर्चा चल रही थी। हंसोंकी जाति बड़ी विवेकवती है, पानीमेंसे दूधको अलग कर लेती है; यही सबसे महान् जाति है। ऐसी एक भी समस्या नहीं, जिसे यह हल न कर सके। उसी सभामें एक प्रश्न छिड़ा—'हमलोग जो मोती चुगते हैं, वे क्या चीज हैं? उनकी उत्पत्ति कैसे, किससे?' इस प्रश्नका उत्तर सहसा कोई नहीं दे सका। अन्तमें यह निर्णय हुआ कि सब लोग इस प्रश्नपर विचार करें। जो इसका ठीक-ठीक उत्तर देगा, वह हमलोगोंका राजा होगा और मानस-सरके बीचोबीच जो सबसे बड़ा कमल है, वही उसको आसनके रूपमें प्राप्त होगा। जिनकी विचारशक्ति प्रखर थी, उन्होंने उस स्थानको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न आरम्भ किया। छः महीनेकी अवधि रक्खी गयी।

'मेरे मनमें न तो उस स्थानका प्रलोभन था और न मेरी विचारशक्ति ही प्रखर थी। परन्तु यह प्रश्न मेरे चित्तमें भी उठा कि जो मोती हमलोग चुगते हैं, वे क्या हैं; इन्हें किसने, किसलिये बनाया है? केवल मोतीके ही सम्बन्धमें नहीं, सम्पूर्ण जगत्‌के और अपने सम्बन्धमें भी यही प्रश्न उठ खड़ा हुआ। मैंने अबतक कोई साधन-भजन तो किया नहीं था, सत्सङ्गका अवसर भी कम मिला था; ऐसी स्थितिमें मैं स्वयं क्या विचार सकता? सामने केवल निराशा-ही-निराशा थी। आशा थी तो बस, एक—गौरीशङ्करकी चोटीपर रहनेवाले भगवान् शङ्करको पानेकी—जिन्हें मैंने कभी देखा नहीं था, जहाँतक जानेकी मुझमें शक्ति नहीं थी, परन्तु जिनके पास आकाशमार्गसे जाते हुए सिद्धों, संतों, ऋषियों और देवताओं-को मैं देखा करता था। आशा थी तो केवल उनकी ही। चित्तसे प्रश्न टलता नहीं था, समाधानका कोई उपाय न था। चित्तमें इतनी व्याकुलता हुई कि जीवन भार हो गया। भला, वह जीवन किस कामका जिसमें एक तिनकेका भी यथार्थ ज्ञान नहीं है—और तो क्या, अपने आपका भी ज्ञान नहीं है। अब मैं चलूँगा भगवान् शङ्करके पास; यदि रास्तेमें मर जाऊँ तो इस अज्ञानावृत जीवनसे वह मरना भला ही है; और यदि जीते-जी वहाँतक पहुँच जाऊँ तो सारा भेद आप ही खुल जायगा। ऐसा निश्चय करके मैं उड़ा—गौरीशङ्करकी उस चोटीपर चढ़नेके लिये, जहाँ अवधूतके वेशमें भगवान् शङ्कर निवास करते हैं।

'मैं उड़ा, उड़ता ही गया; न जीवनका मोह था न लोभ। इसलिये कष्टोंकी परवा भी न थी। कितनी दूरतक कुहरा पड़ा और कितनी दूरतक अन्धकार, कहाँ जाड़ेसे ठिठुरकर गिर पड़ा, कहाँ ठोकर खाकर—इन सब बातोंकी कोई याद नहीं है। आगे चलकर तो मेरा शरीर उड़ रहा है या नहीं—यह भी भूल गया, केवल मन-ही-मन उड़ता रहा। जब होशमें आता तब शरीर भी उड़ता और मूर्च्छित हो जाता तो कहीं गिर पड़ता। एक बार ऐसे ज़ोरकी ठोकर लगी कि मैं तिलमिला उठा, शरीर बेबस हो गया; परन्तु ऐसी आश्चर्य-

जनक घटना घटी कि मैं अलग था और शरीर अलग। शरीरको ठोकर लगनेसे मुझे तनिक भी व्यथा नहीं हो रही थी। मैं स्वयं आश्चर्यचकित हो बोल उठा—'अरे! तो क्या मैं शरीरसे अलग हूँ? क्या मेरा शरीर ही घायल होकर पड़ा है, उसके साथ मन मूर्च्छित नहीं हुआ? शरीर एक व्यक्ति है, मन भी एक व्यक्ति है, जगत्के सम्पूर्ण शरीर और मन भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। शरीरसे मनका और मनसे शरीरका सम्बन्ध है। ये जब जागरित रहते हैं तब पृथक्-पृथक्, सुषुप्त अथवा प्रलीन रहते हैं तब एक; यही समस्त व्यक्तियोंकी एक समष्टि है। मोती स्थूल है, मेघ सूक्ष्म है; समुद्र कारण है, उसमें मेघ और मोती अभिन्न हैं। स्थूल जगत् सूक्ष्म जगत्में, दोनों कारण-जगत्में और मैं सबसे पृथक्, सबको देखनेवाला। मुझसे कारणका क्या सम्बन्ध है? मैं ही तो कारणको देख रहा हूँ? यह कारण मेरे अंदर है या बाहर? अंदर है तो मुझसे भिन्न क्यों? क्या मैं ही कारण बन गया हूँ? मुझ अनन्त, एकरस, निर्विकार, देश-काल-वस्तु-परिच्छेदशून्य, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदरहित चिद्घनमें कार्य-कारणकी परम्परा कैसी? केवल मैं-ही-मैं हूँ। ऐसा निश्चय होते ही मैं समाधिस्थ हो गया। कोई प्रश्न नहीं रहा। न आकुलता थी, न शान्ति; बस, केवल मैं था।

"जब मेरी समाधि टूटी और मैंने अपने शरीरकी ओर देखा तो वह कैलासके एक शिखरपर भगवान् गौरीशङ्करकी गोदमें था और वे अपने कृपा-कटाक्षोंसे उसे सींचते हुए मुस्करा रहे थे। माताकी वह स्नेहमयी मूर्ति, पिताका वह लोकोत्तर वरदान आज भी मेरी आँखोंके सामने नाच रहा है। उन्होंने अपने कर-कमलोंके स्पर्शसे मुझे जीवनदान दिया और मैं सचेतन होकर उनके चरणोंके पास लोटने लगा। उनका वह कर्पूरोज्ज्वल श्रीविग्रह, उनकी वह करुणामयी मूर्ति कभी भुलायी नहीं जा सकती। उनकी आज्ञासे मैं हंसोंमें लौट आया; मेरा अज्ञान नष्ट हो गया, सम्पूर्ण समस्याएँ सुलझ गयीं।

"छठा महीना पूरा होते-न-होते, उसी मानस-सरमें फिर हंसोंकी पञ्चायत इकट्ठी हुई; सबने अपने-अपने विचार सुनाये। एकने कहा—'स्वाती नक्षत्रपर जब सूर्य आते हैं, तब सीपमें वर्षाका जल पड़नेसे मोती बनते हैं। इसलिये सीप और मेघ तो निमित्त-कारण हैं और जल उपादान-कारण। इसी क्रमसे मोतीकी उत्पत्ति होती है। जलमें जो मोती निहितरूपसे रहता है, वह स्वाती नक्षत्रकी सूर्य-रश्मियों और सीपके संयोगसे अभिव्यक्त हो जाता है। मोती एक वस्तु है—कारणरूपमें नित्य और कार्यरूपमें अनित्य। इसलिये उसकी पवित्रता अक्षुण्ण है। उसके कारणस्वरूपपर दृष्टि रखी जाय तो वह कभी दुःखद नहीं हो सकता।'

"दूसरेने कहा—'यदि कारणमें सब वस्तुओंका अस्तित्व अलग-अलग स्वीकार किया जाय, तब तो उनका पारस्परिक सम्बन्ध जुड़ना असम्भव हो जायगा। जल पृथक् वस्तु है और उसमें स्थित मोती पृथक् वस्तु है, दोनोंका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है—ऐसा मान लें तो जलसे मोतीके अभिव्यक्त होनेका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। इसलिये कारणमें सब वस्तुओंकी अलग-अलग सत्ता है, ऐसा मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। कारण एक है, उसके परिणाम ही भिन्न-भिन्न कार्य हैं। मोती, सीप, मेघ, सूर्य, समुद्र और जगत्की समस्त भिन्नताएँ मूलतः एक ही वस्तुके परिणाम हैं। इसलिये प्रिय-अप्रिय और अनुकूल-प्रतिकूलका भेद केवल कार्यपर दृष्टि रखनेके कारण है। यदि यह स्थूल दृष्टि निवृत्त करके वस्तु-दृष्टि रखी जाय तो शोक-मोहके लिये कहीं स्थान ही न रहे। इसलिये मोतीको मोतीके रूपमें नहीं, उस अद्वितीय कारणके रूपमें देखना ही निःश्रेयस है।'

"मैं भी वहीं था, मेरे मनमें भी बोलनेकी आयी और मैं बोल उठा—'भाई! जब यह निश्चय किया जाता है कि कारण-दृष्टिसे सब एक ही हैं, तब निश्चय करनेवाला अपनेको किस कोटिमें मानता है? उसका अस्तित्व तो निर्विवाद है और उसे किसी-न-किसी कोटिमें भी होना ही चाहिये। ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न उठता है कि निश्चय करनेवाला मैं कार्य हूँ अथवा कारण। यदि मैं कार्य हूँ तो कारणको जान ही नहीं सकता। और यदि कारण हूँ तो यह सम्पूर्ण जगत् मेरा ही परिणाम होना चाहिये। परन्तु मैं परिणामी तो नहीं हूँ। क्योंकि मेरा ज्ञान और साक्षित्व एकरस, निर्विकार है; कार्य-कारण-परम्पराकी प्रत्येक स्थितिको मैं जानता हूँ। मैं ज्ञान-स्वरूप हूँ और यह कारण-कार्य-परम्परा मेरी दृष्टिके अन्तर्गत है। मुझ अनन्तमें दृष्टि और दृश्य सम्भव ही नहीं। यह कारण-कार्य-परम्परा एक विवर्त है, जो स्वरूपमें सर्वथा असम्भव है। कहाँ मोती और कहाँ जल। सब मैं-ही-मैं हूँ।'

"मेरी बात सबके समझमें नहीं आयी। कोई-कोई इस विषयको अज्ञेय कहकर मौन हो गये और किसी-किसीने इसे अस्वीकार कर दिया। परन्तु बात यहींतक नहीं थी; सर्वश्रेष्ठ

कमलके सिंहासनपर बैठना भी था। हंसोंमें मतभेद हो गया। उस कोलाहलमें कुछ निर्णय कैसे होता? परन्तु भगवान् शङ्करने बड़ी कृपा की। वे माँ गौरीके साथ उसी सर्वश्रेष्ठ कमलपर प्रकट हो गये। अकस्मात् सबकी आँखें उनकी ओर खिंच गयीं और उनके सामने सबके सिर झुक गये। भगवान्ने कहा—'हंसो! तुम्हारे सामने जो प्रश्न है, वह केवल मोतीके सम्बन्धमें नहीं है; वह तो सम्पूर्ण जगत्के सम्बन्धमें है और अपना आपा भी उससे अलग नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् निर्विकार आत्मस्वरूप ही है। न इसका आरम्भ है, न परिणाम और न विवर्त। यह एकरस, सद्घन, चिद्घन और आनन्दघन है। ऐसी स्थितिमें राजमरालकी बातें ही सत्य हैं और वही सर्वोच्च आसनके अधिकारी हैं।'

"भगवान् शङ्करकी अहैतुकी कृपाको देख मैं चकित—स्तम्भित हो रहा था। परन्तु जब उन्होंने सर्वोच्च आसनकी बात कही, तब मेरी मुग्धता भङ्ग हुई और मैंने उनके चरणोंके पास जाकर आर्तस्वरसे प्रार्थना की—'हे प्रभो! इस उपाधिसे मेरी रक्षा कीजिये, ऐसे काममें न तो मेरी रुचि है और न प्रवृत्ति। अवश्य ही मेरे मनके सूक्ष्म प्रदेशमें इस विषयकी कोई गुप्त वासना होगी, जिसके कारण आप ऐसा कह रहे हैं; अन्यथा मैं तो यही चाहता था कि कहीं एकान्तमें रहकर आपके चरणोंका चिन्तन किया करूँ और फिर कभी इस जंजालमें न पड़ूँ।' मेरे भाई-बन्धु और जातीय लोग तो यही चाहते थे कि मैं वहीं रहूँ और उन्हींके समान संसारके झंझटोंमें फँसा रहूँ। परन्तु मेरा अतिशय आग्रह देखकर भगवान् शङ्करने मुझे मुक्त कर दिया और अब मैं उनकी कृपासे स्वच्छन्द विचरण करता हूँ। उनके स्वरूप और कृपाकी कभी विस्मृति नहीं होती। जगत्की परस्परविरुद्ध घटनाओंसे मेरे चित्तमें कभी किसी प्रकारका क्षोभ अथवा विकार नहीं होता। मैं प्रत्येक अवस्थामें ही अपनी मुक्तिको जानता और अनुभव करता हूँ। जब भगवान्की कृपा और वे घटनाएँ मुझे स्मरण हो आती हैं, तब मैं विह्वल हो जाता हूँ—न अपने शरीरकी सुधि रहती है न जगत्की।"

राजमरालकी आत्मकथा सुनते-सुनते वत्सल बहुत कुछ अन्तर्मुख हो गया था। वह उन्हीं घटनाओंको सोचते-सोचते, मन-ही-मन मानस-सर पहुँच गया था और उसे यह ध्यान ही न था कि मैं गुप्तलिङ्गके पास पीपलपर बैठा हुआ हूँ। राजमरालने वत्सलसे कहा—"अब पण्ढरपुर चलनेका समय हो गया; आओ, आजकी रात्रि वहीं चलकर व्यतीत की जाय।" राजमरालकी बातसे वत्सलका ध्यान भङ्ग हुआ और दोनोंने पण्ढरपुरकी यात्रा की।

(३)

निस्तब्ध निशीथ। भीमा नदीका पावन तट। विट्ठलनाथके मन्दिरसे थोड़ी दूर, जहाँ भगवान्के चरण-चिह्न हैं, ठीक सामने एक वृक्षपर दो पक्षी बैठे हुए थे। यदि कोई देख सकता तो यही देखता कि उनके शरीर निष्कम्प हैं और उनके चित्तमें केवल पण्ढरीनाथ भगवान्की स्मृति है। चिरकालतक वे वैसे ही बैठे रहे। वे देख रहे थे कि विट्ठल भगवान्की आरती हो रही है और उनकी श्रीमूर्तिपर बार-बार एक दिव्य ज्योति आती है और छिप जाती है। घण्टा-घड़ियाल बज रहे हैं और विट्ठल, विट्ठलकी आकाश-भेदी ध्वनिसे दिशाएँ मुखरित हो रही हैं। बहुत समयतक वे इसी ध्यानमें मग्न रहे। जब आँखें खुलीं तब उन्होंने देखा सामने भगवान्के वे ही चरण-चिह्न विद्यमान हैं, जो भगवान्ने संसारी जीवोंके कल्याणार्थ यहाँ रख छोड़े हैं।

कुछ समयके बाद वत्सलने फिर वही प्रश्न दुहराया—'अब उस युवककी क्या स्थिति होगी, क्या करता होगा वह? राजमराल! तुमसे तो उसकी कोई भी स्थिति छिपी नहीं है, कृपा करके बतलाओ न।' अब राजमरालको भी उसकी कथा कहनेमें आपत्ति नहीं थी। क्योंकि अब वे बातचीत करनेकी भूमिमें उतर आये थे। उन्होंने कहा—"अब उसकी स्थितिका क्या पूछना है, वह भगवान्को प्राप्त करके कृतार्थ हो गया। हमलोगोंके वहाँसे चलनेके बाद उसकी साधना इतनी तेजीसे बढ़ी कि भगवान्की आरती करते-करते बेसुध होकर वह उनके चरण-कमलोंमें लोट गया। उस दिव्य लोकमें उसका दिव्य शरीर भगवान्का स्पर्श और आलिङ्गन प्राप्त करके आमूल परिवर्तित हो गया और वह भगवान्के श्रीविग्रह-जैसा ही चिन्मय और आनन्दमय हो गया। आनन्दकी इस बाढ़से उसका स्थूलशरीर, जो भीमा और नीराके सङ्गमपर बैठा हुआ था, प्रभावित हुए बिना नहीं रहा और उसमें भी स्पष्ट चिन्मयता आ गयी। जब उसकी आँखें खुलीं और बाह्य जगत्की ओर उसने देखा तो वहाँ भी वही दृश्य, जो अन्तर्जगत्में उसने देखा था। उसकी टकटकी बँध गयी। वह इस प्रकार निर्निमेष नयनोंसे निहारने लगा कि उसके सारे प्राण और सम्पूर्ण अन्तःकरण उस रूपमाधुरीके पानमें मस्त हो गये, प्रणाम

करनेकी भी स्मृति न रही। भगवान्‌ने स्वयं अपने कर-कमलोंसे उठाकर उसका आलिङ्गन किया और उसे अपने साथ ही अपने दिव्य धाममें ले गये। उसका जीवन सच्चा जीवन हो गया, उसके जन्म-जन्मकी आराधना सफल हो गयी और वह भगवान्‌का सान्निध्य प्राप्त करके कृतकृत्य हो गया।"

वत्सलने पूछा—'राजमराल! उसकी अवस्था तो बहुत छोटी थी, दीर्घ कालतक उसने कुछ साधन भी नहीं किया; फिर भगवान्‌की कृपाकी यह दिव्य अनुभूति इतनी जल्दी उसे कैसे प्राप्त हो गयी?' राजमरालने कहा—"भगवान्‌की कृपाके लिये अवस्था अथवा साधनाकी कुछ भी अपेक्षा नहीं है, वे तो निष्कारण ही सबके ऊपर कृपा और प्रेमकी अनवरत वर्षा किया करते हैं। जिसका अन्तःकरण शुद्ध हुआ, जिसके हृदयमें उसके लिये सच्ची व्याकुलता हुई, उसीने उसका अनुभव किया। पूर्वजन्ममें तीव्र तपस्या करनेके फलस्वरूप उसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया था, वासनाएँ नष्ट हो गयी थीं और भगवत्प्राप्तिकी उत्कट उत्कण्ठा जाग गयी थी। यही कारण है कि बिना किसी साधनाके ही उसे भगवत्प्राप्ति हो गयी।"

वत्सलने राजमरालसे पूछा—'भैया, क्या उसके पूर्व-जन्मकी साधना बतलानेकी कृपा करोगे?' राजमराल बोले—"वत्सल! जिस दिन पहले-पहल उस युवकसे मेरी जान-पहचान हुई थी, उसी दिन उसने अपने पूर्वजन्मकी बातें मुझे बतायी थीं—जो कि अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर ध्यानके समय स्वतः ही उसके चित्तमें स्फुरित हुई थीं। उस युवकने मुझसे कहा था—'पूर्वजन्ममें मैं एक ब्राह्मण था, विशेष शास्त्रज्ञान तो था नहीं, यों ही किसी प्रकार अपना जीवननिर्वाह कर लेता। कोई सुख नहीं था तो कोई दुःख भी न था। परन्तु एक बातसे मुझे बड़ी चोट लगी। जिनका मैं विश्वास करता, उन्हींसे धोखा खाना पड़ता। सब-के-सब स्वार्थके सङ्गी, निःस्वार्थ कोई बात पूछनेवाला भी नहीं। मेरे जीवनमें सबसे बड़ी व्यथा, सबसे बड़ी पीड़ा यही थी। और इससे छुटकारे-का कोई उपाय नहीं था। एक महात्माने मेरी यह मनोदशा ताड़ ली और कृपा करके उन्होंने मुझे एक साधन बतलाया। वह साधन शारीरिक नहीं, मानसिक था; इसलिये उसके अनुष्ठानमें मुझे कोई कठिनाई नहीं मालूम हुई। क्योंकि मन-ही-मन तो न जाने क्या-क्या सोचता ही रहता था; फिर एक निश्चित बातके सोचनेमें आपत्ति ही क्या हो सकती थी। हाँ, प्रातःकाल कुछ विशेष क्रिया करनी पड़ती थी।

'दो घड़ी रात रहते उठकर आवश्यक कृत्योंसे निवृत्त होकर स्थिर आसनसे बैठ जाता। दोनों अँगूठोंसे दोनों कान बन्द करके, दोनों तर्जनीसे दोनों आँख, दोनों मध्यमासे दोनों नाक और दोनों हाथकी अनामिका और कनिष्ठा अङ्गुलियोंसे मुखका स्पर्श करते हुए प्राण, मन और आत्माकी एकताका चिन्तन करता। कुछ दिनोंतक ऐसा अभ्यास करनेसे भौंहोंके बीचमें कुछ स्पन्दन मालूम होने लगा। उससे कुछ-कुछ आनन्दका विकास हुआ और साधनामें मन लगने लगा। फिर तो क्रमशः बहुत-से नदी, नद, पर्वत, समुद्र और मूर्तियोंके दर्शन होने लगे! घण्टा, शङ्ख और मृदङ्गकी ध्वनियोंके साथ-ही-साथ वंशीके स्वर भी सुनायी पड़ते। भ्रमरोंका मधुर गुञ्जार भी गूँजता ही रहता। मैं प्रायः बाह्य चिन्तनसे विरत हो जाता और उसीके आनन्दमें मस्त रहता।'

"एक प्रक्रिया उन्होंने और बतायी थी—'जब मैं सन्ध्या-वन्दन आदि नित्य-कर्म करके बैठता तो ऐसी भावना करता कि मेरी नाभिमें जो स्वाधिष्ठानचक्र है, उसमें एक त्रिकोण कुण्ड है; उस कुण्डमें चिन्मय अग्नि प्रज्वलित हो रही है और मेरे दुष्कर्म, दुर्भाव और दुर्गुणकी आहुतियाँ पड़कर भस्म हो रही हैं। मनके सुवासे 'ॐ अहंतां जुहोमि स्वाहा' इस क्रमसे एक-एक दोष ढूँढ़-ढूँढ़ हवन करता। थोड़े ही दिनोंमें मुझे बड़ी पवित्रताका अनुभव हुआ और मेरा जीवन सदाचारमय बन गया। इस पवित्रता और सदाचारसे मेरी एकाग्रता बढ़ी और मैं श्रीकृष्णका ध्यान करने लगा।

'श्रीकृष्णके ध्यानमें मुख्यता लीलाकी ही थी, प्रातःकाल मैं प्रातःकालकी लीलाओंका ही चिन्तन करता। मैं भावकी आँखोंसे देखता श्रीवृन्दावनधाममें सबसे बड़ा, सबसे सुन्दर, सबसे विचित्र नन्दबाबाका राजमहल है। उसके मणिमय आँगनमें अनेकों दासियाँ दूध और दही मथ रही हैं। वे धीरे-धीरे श्रीकृष्णकी लीला और नामोंका भी गायन करती जा रही हैं। नीलमणिके चबूतरोंपर पड़े हुए दूध और दहीके बिन्दु इतने मनोहर जान पड़ते हैं कि आँखें उधरसे हटती ही नहीं। नन्दरानी दासियोंको आज्ञा कर रही हैं—'कोई जोरसे न बोले; मेरा लल्ला, मेरा कन्हैया, अभी सोया हुआ है; कहीं किसीकी कर्कश ध्वनिसे उसकी नींद न टूट जाय।' सभी दासियाँ बड़ी सावधानीके साथ अपने-अपने काममें

सजग हैं। श्रीकृष्ण एक सजे हुए कमरेमें मणि-रत्नजटित शय्यापर सोये हुए हैं और दूसरोंकी दृष्टिमें सोते हुए होनेपर भी स्वयं जाग रहे हैं। उनके मुखकमलपर कृपा, प्रेम और आनन्दकी ज्योति स्पष्टरूपसे झलक रही है। ऐसा मालूम होता है वे अब बोल उठते हैं, तब बोल उठते हैं। जब नन्दरानी कहती हैं कि मेरे लल्लाकी नींद न टूटे; कलका थका है, तब उनके होठोंपर मुस्कराहटकी एक रेखा खिंच जाती है। माँके वात्सल्यका दर्शन करनेके लिये आँखें खुलना चाहती हैं, पर वे उन्हें बन्द कर लेते हैं। माँके प्रेमका स्मरण करके उनके सारे शरीरमें रोमाञ्च हो आता है। उसे वे रोक नहीं सकते, परन्तु माँ-के लिये और उसके प्रेम तथा आनन्दके लिये वे सोये ही रहते हैं। उनकी यह गाढ़ निद्रा तबतक नहीं टूटती, जबतक माँ उनके पास जाकर नहीं जगातीं।

'सूर्योदयके पहले ही बहुत-से ग्वालबाल आँगनमें इकट्ठे हो जाते हैं, बलराम भी उनके साथ हो लेते हैं और वे सब-के-सब इस प्रतीक्षामें खड़े हो जाते हैं कि श्रीकृष्ण कब उठें और कब उनके दर्शन-स्पर्शनसे हम धन्य हों। कोई कहता—'मेरी माँ तो अभी आने ही नहीं देती थी, मैं उससे पल्ला छुड़ाकर भाग आया।' कोई कहता कि 'कन्हैयाके बिना न बछड़े दूध पीते हैं न गौएँ पिन्हाती हैं, इसलिये गौओंके पास न जाकर मैं यहाँ चला आया।' ग्वालबालोंकी उत्सुकता देखकर नन्दरानी श्रीकृष्णकी शय्याके पास जाकर कहती हैं—'लल्ला, तुम्हारे बाबा तुम्हें बिना जगाये ही गोठको चले गये। वे जानते थे कि गौएँ पिन्हायेंगी नहीं, तुम्हें देखे बिना। फिर भी प्रेमवश उन्होंने तुम्हें जगाना उचित नहीं समझा। ग्वालबाल तुम्हारी प्रतीक्षामें खड़े हैं, बछड़ोंकी आँख भी तुम्हारी तरफ़ लगी है। उठो, देखो, आज कितना सुन्दर सूर्योदय हुआ है।' वे श्रीकृष्णके सिरहाने बायें हाथके बल लटककर दाहिने हाथसे उन्हें सहलाने लगती हैं और श्रीकृष्ण अँगड़ाते हुए, देह तोड़ते हुए, जँभाते हुए उठकर शय्याके एक ओर बैठ जाते हैं—चरणकमलोंको एक ओर लटकाकर। वे अपने हाथों सोनेकी झारीमें पानी लाती हैं, श्रीकृष्णका मुँह धोती हैं, उनके बिखरे बालोंको सँवारती हैं और फिर कस्तूरी-केसरका तिलक करके, यह कहकर बाहर जाने देती हैं कि 'बहुत जल्दी लौट आओ, जिससे कलेऊमें देर न हो।' ग्वालोंमेंसे कोई उनका हाथ पकड़ लेता है, कोई बाँसुरी, कोई पीताम्बर पकड़ लेता है तो कोई कमरसे ही लिपट जाता है। इस प्रकार सब नाचते-कूदते, हँसते-खेलते, उछलते-कूदते बाहर जाते हैं और मैं अपनी भाव-दृष्टिसे यह सब देख-सुनकर मुग्ध होता रहता।'''

राजमरालने वत्सलसे कहा—''यह सब कहते हुए उस युवकका कण्ठस्वर गद्गद था, आँखोंसे आँसूकी धारा बह रही थी और सारे शरीरमें रोमाञ्च हो रहा था। उसने आगे कहा—'परन्तु मेरी यह भावना पूर्ण नहीं हो सकी। मेरे चित्तका एक सुषुप्त संस्कार जाग उठा और तबतक मैं उससे नहीं बच सका, जबतक मेरी मृत्यु नहीं हो गयी। परन्तु उन्हीं साधनोंका यह फल था कि मुझे इस जन्ममें सद्गुरु और सत्-साधनकी प्राप्ति हुई और अब मैं कुछ-कुछ अपने लक्ष्य-की ओर बढ़ रहा हूँ।'''

राजमरालने वत्सलको सम्बोधन करके कहा—''इसके बाद उस युवककी जैसी स्थिति हुई, तुम सब जानते हो। भगवान्-की कृपासे ही ऐसे संतोंके दर्शन होते हैं। धन्य है वह भूमि, जहाँ ऐसे प्रेमी भक्त भगवान्का स्मरण, चिन्तन करते हैं। उसके दर्शनसे, वहाँके जल-वायुके संस्पर्शसे चित्तमें पवित्र भावनाओंका उद्रेक होता है। भीमा और नीराके सङ्गमपर, जहाँ बैठकर उस दिन वह युवक ध्यानमग्न था, जहाँ भगवान्ने प्रकट होकर उसे अपनाया था, आज भी वे ही दृश्य, यदि कोई भावकी आँखसे देखे तो देख सकते हैं। क्या ही अच्छा हो कि हम भी अपना शेष जीवन वहीं व्यतीत करें!'' वत्सलने कहा—'हाँ, ठीक तो है; चलिये, वहीं चलकर रहा जाय!' दोनों चल पड़े।

बहुत दिनोंतक लोगोंने देखा कि दो श्वेत पक्षी बड़ी गम्भीरतासे अपना जीवन व्यतीत करते हैं उस वटवृक्षपर, जो प्राचीनकालसे स्थित है भीमा और नीराके पवित्र सङ्गमपर।

नीचे बनो

ऊँचे पानी ना टिकै, नीचे ही ठहराय।
नीचा होय सो भरि पिवै, ऊँचा प्यासा जाय॥
सब तें लघुताई भली, लघुता तें सब होय।
जस दुतियाको चंद्रमा, सीस नवै सब कोय॥ —कबीर

साधन-समीक्षा

(लेखक—साधु प्रज्ञानाथजी)

'कल्याण'-सम्पादकने साधनाङ्कमें लेख भेजनेके लिये अनुरोध किया है और पत्रके साथ एक विषय-सूची भेजी है। विषय-सूचीके आकार-प्रकारको देखकर ही चित्त घबड़ा जाता है और यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि इन विषयोंमेंसे किस विषयपर लेख लिखना चाहिये। साधन सबके प्राणकी वस्तु है, किसीसे भी साधनके विषयमें मतामतकी जिज्ञासा करना अभद्रता समझी जाती है; क्योंकि इससे साधकके सम्बन्धमें प्रश्नकर्त्ताका राग-द्वेष उत्पन्न हो सकता है। अतएव किसीका भी साधनाको जाननेके लिये औत्सुक्य प्रकट करना सङ्गत नहीं है। मैं कुछ ऐसे महामहोपाध्याय सज्जनोंके विषयमें जानता हूँ कि उनकी साधना दूसरी होनेपर भी वे वेदान्ती बनकर दूसरे पक्षके मतका खण्डन करके लोगोंमें अपनेको वेदान्ती बतलाते हैं, साथ-ही-साथ वे अपने शिष्योंको कौलप्रथाके अनुसार देवीकी उपासनाका उपदेश करते हैं। ऐसी अवस्थामें खण्डनखण्डखाद्यकारका श्लोक हमें याद आता है—

एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित्।
आस्ते न धीरवीरस्य भङ्गः सङ्गरकेलिषु॥

सम्पादक महाशयका उद्योग जीवोंके कल्याणके लिये होते हुए भी जो लोग साधनासम्बन्धी लेख भेजेंगे, उनमें अनेकोंको अपने मतका स्थापन करके परमतका खण्डन करना पड़ेगा। मुझे यहाँ ऐसा करनेकी इच्छा न होनेके कारण शास्त्रानुसार साधकोंके लिये जो कुछ सार्वजनीनभावसे प्रकट किया जा सकता है, उतना ही इस लेखमें व्यक्त करूँगा। साधक होनेके लिये क्या-क्या करना चाहिये (क्या प्रथम कर्त्तव्य है), यही यहाँ दिखाया जायगा। इसलिये साधन-समीक्षा अर्थात् साधनका विचार ही यहाँ किया जायगा। एक भावुकने कहा है—

'आदर करे हृदे रेखो आदरिणी श्यामा माके।
मन तुमि देखो आर आमि देखि आर येन केह ना देखे।'

'आदरणीया श्यामा माँको आदरके साथ हृदयमें रक्खो। हे मन! तुम देखो और मैं देखूँ। और कोई भी न देखने पावे।' साधन सबके लिये प्रियतम वस्तु है। जो वस्तु जितनी प्रिय होती है, उसे उतना ही छिपाकर रक्खा जाता है। धानका भूसा बाहर पड़ा रहता है, उसे कोई चुराने नहीं जाता। धानको गोलेमें रखना पड़ता है। सोने-चाँदीको बड़े जतनसे सन्दूकके भीतर बक्समें भरकर रखते हैं। उसी प्रकार गुरूपदिष्ट अभीष्ट श्यामा माँको भी हृदयमें छिपाकर रखना पड़ता है, जिसमें उसे कोई दूसरा देख न ले। व्यवहारमें भी देखा जाता है कि सभी लोग अपनी स्त्रीको शुद्धाचारिणी बनाये रखनेकी प्राणपणसे रक्षा करते हैं। किसी बन्धु-बान्धवके घर आनेपर स्त्रीके साथ हँसी-मजाक नहीं किया जाता, इसीलिये आजकलके मनचले बाबू लोग उपपत्नी रखते हैं। जिस दिन बन्धु-बान्धवादिके साथ मद्यपान करके खेल-तमाशा करनेकी आवश्यकता समझते हैं, उस दिन उस उपपत्नीको बुलाकर खूब नाच-गान, आमोद-प्रमोद करते रहते हैं; परन्तु अपनी स्त्रीके सम्बन्धमें यदि कोई भद्दी मजाक कर बैठता है तो तलवार लेकर उसका सिर काटनेको तैयार हो जाते हैं। साधनके विषयमें भी इसी प्रकार समझना चाहिये। कोई किसी प्रकारकी साधना करे, उससे पूछनेपर वह चुप हो जायगा और कहेगा कि इससे तुम्हें क्या प्रयोजन है। यहींसे दलबन्दीका सूत्रपात होता है। नाना प्रकारके साधक एक ही कथावाचककी कथा सुनने जाते हैं। इनमें कथावाचककी जो कथा जिसके साधनके लिये उपयोगी होती है, वह वही कथा ग्रहण करता है, दूसरी कथाका त्याग करता है। कथावाचक यदि अपने मताग्रह-विशेषसे किसी साधनपर कटाक्ष कर बैठता है तो उसे विडम्बना भोगनी पड़ती है। अतएव सर्वसाधारणके लिये जो अनुकूल और हितकारी होता है, कथावाचक अपना मताग्रहविशेष छोड़कर उसी बातको कहते हैं। एक आदमीके लिये जो हितकारी है, दूसरे आदमीके लिये वही अनिष्टकारी हो सकता है। इसी कारण साधन, भोजन और औषध—ये तीन कभी सब लोगोंके लिये एक नहीं हो सकते। इसीलिये सुयोग्य चिकित्सक ही प्रकृति देखकर विभिन्न रुचिके लोगोंके लिये विभिन्न साधन, औषध और भोजनकी व्यवस्था करते हैं।

जिसकी जिस विषयमें आसक्ति होती है, उसे उस विषयसे हटाकर दूसरे विषयमें लगानेकी चेष्टा करनेसे वह उस विषयको तो छोड़ ही नहीं सकता, उलटे

उपदेष्टाके प्रति उसकी अश्रद्धा ही उत्पन्न हो जाती है। इसलिये कोई महापुरुष प्रकृति जाने बिना किसी व्यक्तिको साधनविषयक कोई उपदेश नहीं देते। जिस विषयमें उसका अभिनिवेश देखते हैं, उसको उसी विषयका उपदेश देकर क्रमशः वहींसे रास्ता दिखलाकर वही उपाय बतलाते हैं, जिससे वह श्रेयलाभ कर सके। कुतर्क, विषयासक्ति, देहात्मबुद्धि और बुद्धिकी मन्दता—ये चार साधकके प्रबल विघ्न हैं। इनके रहते साधनाका उपदेश कार्यरूपमें परिणत होते नहीं देखा जाता। इसलिये साधकको सबसे पहले इन सबका त्याग करना पड़ता है। अविश्वाससे ही कुतर्क उत्पन्न होता है। निजकी कोई बुद्धि नहीं और शास्त्रोंका भी अध्ययन नहीं किया, तो भी अपनी साधारण बुद्धिकी प्रेरणासे किसी एक मनमाने मतको उत्तम मानकर शास्त्रों तथा महापुरुषोंके वचनोंकी जो अवज्ञा की जाती है, उसे कुतर्क कहते हैं। शास्त्र और गुरुवाक्यके ऊपर दृढ़ विश्वास करके इस दोषको दूर करना चाहिये। अविश्वासके बिना कुतर्क नहीं उत्पन्न होता। अविश्वासीको उपदेश देनेसे कोई फल नहीं मिलता। एक सच्ची घटनाका यहाँ उल्लेख करता हूँ। कुमिल्ला शहरके समीप ही दुर्गापुर एक गाँव है। उस ग्राममें एक अति बुद्धिमान् और ज्ञानवान् साधु रहते थे। उनमें उपदेश देनेकी असाधारण शक्ति थी। उनके गुणोंसे मुग्ध होकर बहुत लोग शहरसे उनका उपदेश सुनने वहाँ जाया करते थे। वे भी जो जिस प्रकारका अधिकारी होता था उसी प्रकारका उसे उपदेश देकर विदा करते थे, किसीमें बुद्धिभेद नहीं उत्पन्न करते थे। एक दिन एक सत्सङ्गी कुमिल्लाके एक डिप्टी साहबको संग लेकर उनके समीप उपस्थित हुए। डिप्टी साहबको अभिमान था कि मैं विशेष ज्ञानवान् हूँ, इसलिये वे साधुको प्रणाम करना भी उचित न समझकर बूट पहने ही उनके पास बैठ गये। साधु महाराज सबके साथ बातचीत करते रह गये और डिप्टी साहबको देखकर भी उनका उन्होंने कोई सम्मान नहीं किया। यह देखकर डिप्टी साहब अपने अभिमानमें ही फूले जा रहे थे। अन्तमें उपेक्षाका भाव देखकर डिप्टी साहबने स्वयं ही प्रश्न किया, "महाशय! कुछ ज्ञानका उपदेश दीजिये।" साधुने कहा—"हरिनाम लो।" डिप्टी साहब बोले—"'हरि' शब्दके तो भगवान्, जल, सिंह और बन्दर आदि अनेक अर्थ होते हैं; शब्दमें क्या रक्खा है, जो आप हरिनाम लेनेको कहते हैं। मुझे तो ज्ञानोपदेश कीजिये।" डिप्टी साहबके वचन सुनकर भी साधु महाराज कोई उत्तर न देकर अन्यमनस्कके समान दूसरोंके साथ बातचीत करते रहे। एक बार, दो बार, तीन बार—इस प्रकार उपेक्षासूचक वाक्य डिप्टी साहबसे सुनकर साधु बहुत ही रूखे स्वरसे जोरसे बोल उठे—'चुप रह साला।' यह सुनते ही डिप्टी साहबके मस्तकपर मानो वज्राघात हुआ। वे क्रोधसे अन्धे होकर बूट लेकर साधुको मारनेके लिये उठ खड़े हुए। वहाँ जो लोग उपस्थित थे, वे डिप्टी साहबको पकड़कर शान्त करने लगे। साधु महाराजने धीरेसे कहा—'मैंने तो आपको गाली नहीं दी, आप इस प्रकार क्रोधान्ध होकर मुझे मारनेके लिये क्यों तैयार हो रहे हैं?' डिप्टी साहबने कहा—"तुमने अभी मुझको 'साला' कहा और अब कहते हो कि मैंने गाली नहीं दी। तुम्हारे-जैसे मिथ्यावादी पाषण्डी धूर्त्त साधु मैंने बहुत-से देखे हैं, अभी तुमको इसका पूरा मज़ा चखाता हूँ। तुम जानते नहीं कि मैं कौन हूँ। तुमको अभी जेल भेज सकता हूँ।" साधुने कहा—"महाशय, आप डिप्टी हो सकते हैं, मैंने तो आपके प्रश्नका उत्तर ही दिया है। इससे यदि मुझे जेल जाना पड़े तो कोई दुःख नहीं, परन्तु आप विचार करके मुझे जेल भेजें। बिना विचारे जेल भेजनेसे आपका ही अपराध होगा।" डिप्टी साहबने कहा—"उत्तर दिया आपने 'साला' गाली देकर?"

साधुने कहा—"आप बार-बार पूछ रहे थे कि 'हरि' शब्दमें कौन-सी शक्ति है। मैंने आपके लिये केवल एक 'साला' शब्दका प्रयोग किया। 'साला' स्त्रीके भाईको कहते हैं। मैं जन्मसे ही ब्रह्मचारी हूँ, मैंने कभी स्त्रीसहवास नहीं किया। मेरे वाक्यसे आप मेरे साले नहीं हो सकते, अर्थात् मैं आपकी बहिनसे विवाह नहीं कर सकता। यह 'साला' शब्द आपको क्रोधान्ध बनाकर मुझे मारनेका उद्योग करा रहा था। यदि शब्दमें कोई शक्ति न होती तो 'साला' शब्द आपको इस प्रकार क्रोधमें पागल कैसे कर सकता?" डिप्टी साहबको अब होश आया, उनकी समझमें आया कि शब्दमें भी शक्ति होती है! डिप्टी साहब हरिनाम लेनेके भी अधिकारी न थे, क्योंकि अविश्वासने और विद्याके मदने उन्हें अन्धा बना रखा था। परन्तु हरिनामके गुणसे मनुष्यका सारा मद दूर होकर वह साधनके उपयुक्त बन सकता है, इसीलिये साधुने उनको हरिनामका उपदेश दिया था।

साधनका द्वितीय प्रतिबन्ध है विषयासक्ति। विषयोंमें

आसक्ति रहते साधन ग्रहण करनेपर भी आलस्यादिके कारण साधनमें अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। शास्त्रोंका और सज्जनोंका संग करके यह दोष दूर किया जाता है।

देहात्मबुद्धिसे ही भोगासक्ति उत्पन्न होती है, देहमें आत्मबुद्धि रहते उपदेश कार्यकारी नहीं होता। बार-बार देहकी नश्वरतादिका विचार करनेसे यह दोष निवृत्त हो सकता है।

एक प्रकारके ऐसे मनुष्य भी देखे जाते हैं, जिनमें उपर्युक्त तीनों प्रतिबन्ध नहीं रहते। वे अविश्वासी भी नहीं होते, विषयमें उनकी आसक्ति नहीं होती और देहात्मबुद्धि भी नहीं होती। परन्तु पूर्वजन्मके कर्मोंके फलसे उनकी बुद्धिमें ऐसी जडता होती है कि सैकड़ों बार समझानेपर भी वे कुछ भी समझ नहीं सकते। इस प्रकारके मुमुक्षु ध्यान करके या गुरुकी सेवा करके अपनी बुद्धिकी जडताको दूरकर साधनमें नियुक्त हो सकते हैं।

साधनका प्रयोजन

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चारों पुरुषार्थ कहाते हैं। जिनके लिये अर्थ और काम ही परम पुरुषार्थ होता है, उनको संसारी जीव कहा जाता है। अर्थ और कामके सिवा जगत्‌में वे किसी वस्तुको साध्य नहीं समझते। वे कभी किसी धर्मका सेवन करते भी हैं तो केवल काम और अर्थके लिये ही। शरीरके सुखमें जरा भी बाधा आनेपर वे धर्मका त्याग कर देते हैं। ऐसे लोगोंको संसारनिष्ठ जीव कहा जाता है। ये लोग बार-बार जन्म और मृत्युके अधीन होकर संसारमें ही चक्कर काटते रहेंगे। अर्थोपार्जन करके भी जो लोग इस संसारमें सुख नहीं पाते, ऐसे लोग धर्मार्थ दानादि करके परलोकके साधनका संग्रह करना आवश्यक समझते हैं। ये लोग पुरुषार्थी तो हैं, परन्तु आत्यन्तिक पुरुषार्थी नहीं हैं। साधनके द्वारा जो वस्तु प्राप्त होती है, कभी-न-कभी उसका नाश होता ही है। स्वर्गादि भोगोंका भी नाश देखनेमें आता है। इसीलिये स्वर्गादिसे किसी-किसीकी उपेक्षाबुद्धि हो जाती है। स्वर्गके तथा इहलोकके सुखोंमें जिनकी विरक्ति होती है, वे ही मोक्षकी जिज्ञासाके अधिकारी हो सकते हैं। देखा जाता है कि एक साधनके द्वारा समस्त कार्य सम्पन्न नहीं होते। कुठारके द्वारा लकड़ी चीरी जाती है, परन्तु कलम बनानेके लिये छुरीकी ही आवश्यकता पड़ती है। तलवारके द्वारा मनुष्य और कूष्माण्डादिको भी काटा जा सकता है, परन्तु तरकारी बनानेके लिये कोई तलवारका व्यवहार नहीं करता। प्रत्येक कार्यके साधन पृथक्-पृथक् होते हैं। सर्वप्रधान करणको ही साधन कहते हैं, जैसे अग्नि भोजन-पाक करनेका साधन है। पाक करनेके लिये जल, चावल और पात्रादिका प्रयोजन होनेपर भी अग्निके बिना पाक नहीं होता। अतएव अग्निको ही साधन कहा जाता है। जलके बदले दूध, बटुलीके बदले लोटा, चावलके बदले आलू आदि हो सकते हैं; परन्तु पाकके लिये अग्नि ही चाहिये। इसी प्रकार सब कार्योंके लिये साधनविशेष होते हैं। जो लोग सामयिक दुःखोंकी निवृत्तिके लिये भूत-पिशाचादिकी पूजा करते हैं, उन लोगोंको अशुचि जलादि सामग्रीसे मन्त्रादि साधन संग्रह करना पड़ता है। जो लोग भगवान्‌के वैकुण्ठमें जानेके इच्छुक हैं, उन्हें भक्ति और शरणागतिरूप साधन संग्रह करना पड़ता है। जिन्हें मोक्षकी उत्कट इच्छा होती है, उनको साधनचतुष्टय-सम्पन्न होकर वेदान्तका विचार करके आत्मा और अनात्माके विचारके द्वारा जीवात्मा और परमात्माके एकत्वज्ञानके साधनको शास्त्र और गुरुसे जानकर उसीका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके तत्त्वज्ञान पानेका यत्न करना पड़ता है। इसीलिये वार्तिककार लिखते हैं—

पुरुषार्थोपदेष्टृत्वाद्वृत्तं कार्ये प्रमाणता।
तथैकात्म्ये विशेषाद्वा पुमर्थातिशयत्वतः॥
पुमानिष्टस्य सम्प्राप्तिमनिष्टस्य च वर्जनम्।
इच्छन्नपेक्षते योग्यमुपायमपि तत्परः॥
ग्रामादि किञ्चिदप्राप्तं प्राप्तुमिष्टमिहेच्छति।
हेमादि विस्मृतं किञ्चित्करस्थमपि लिप्सति॥
परिहार्यतयानिष्टं कण्टकादि जिहासति।
रज्ज्वां सर्पादि किञ्चिच्च स्वकमेव जिहासति॥
नियतोपायसाध्यत्वाद्वाप्यपरिहार्ययोः।
विधितः प्रतिषेधाच्च साधनापेक्षता भवेत्॥
अज्ञानान्तरितत्वेन सम्प्राप्तस्यकयोः पुनः।
यायात्म्यज्ञानतो नान्यत्पुरुषार्थाय कल्पते॥

(बृ०भा०वार्तिक, सम्बन्ध-वार्तिक ८८,३-८)

कर्मके द्वारा इहलोकके भोग्य प्राप्त होते हैं। कारीर यज्ञ करनेसे वर्षाके प्रबल प्रतिबन्धक नष्ट हो जाते हैं और वृष्टि होती है। यह यज्ञरूप कर्मका फल है। अतएव यज्ञ कर्मका साधन है। निष्काम कर्म और अहैतुकी भक्ति वैकुण्ठके साधन हैं। योग और ज्ञान मोक्षके साधन होते हैं। इनमेंसे किसीके लिये योग अनुकूल होता देखा जाता है

और किसीके लिये विचार अनुकूल होता देखा जाता है। इसीलिये भगवान्‌ने गीतामें दो प्रकारके उपाय बतलाये हैं। समस्त प्राणिवर्गको तीन भागोंमें विभक्त कर कर्म, भक्ति और ज्ञान श्रेयःप्राप्तिके उपायरूपसे गीतामें बतलाये गये हैं। सबके अधिकार और रुचि समान नहीं होते। इसी कारण साधन भी विभिन्न होते हैं। देखना होगा कि साधक क्या चाहता है। यदि उसे किसी पार्थिव वस्तुकी कामना है तो मोक्षके साधन बतलानेसे उसे कोई लाभ नहीं हो सकता। वह अपनी इच्छाके अनुकूल वस्तुको पानेके लिये ही लालायित रहेगा। भजनको भी वस्तुप्राप्तिका साधन ही समझेगा। अतएव रोग देखकर जैसे ओषधिकी व्यवस्था की जाती है, उसी प्रकार साधककी इच्छाके अनुसार साधन बतलाया जाता है। ठीक-ठीक साधनकी प्राप्ति होनेपर वस्तु सिद्ध करनेमें देर नहीं होती। इसलिये जो जिस विषयमें अभिज्ञ हैं, उनसे उसीके साधनकी शिक्षा लेकर प्रथम इच्छा-की पूर्त्ति करके तब मोक्षकी चेष्टा करनी चाहिये। जो लोग देशोद्धार करनेके लिये योगसाधन करेंगे, उनके मोक्षके मार्गमें प्रतिबन्ध होनेसे उन्हें मोक्षकी प्राप्ति नहीं होगी। सारी इच्छाओंकी निवृत्ति ही मोक्ष है। मोक्षके लिये जो लोग साधन-भजन करते हैं, उनके लिये किसी विषयकी इच्छा न करना ही कर्त्तव्य है। यहाँतक कि उन्हें कौतूहलवश या खेलके लिये भी कभी सिद्धि या स्वर्गादिकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। ग्राममें जाना है, यह सोचते हुए बैठ रहनेसे ही कोई ग्राममें नहीं पहुँच सकता। यहाँ चलना ही साधन है। अर्थके लिये व्यापारादि साधन करने होंगे। स्वर्गादि भोगके लिये यज्ञ, दम, दया आदि साधनोंका संग्रह करना होगा। मोक्षके लिये सर्वत्यागरूप उपरति ही एकमात्र साधन है। जिस कर्मका जो साधन है, उसको उस कर्मकी सिद्धिके लिये उपयुक्त रूपमें संग्रह करना होगा। रज्जुमें सर्पभ्रम होता है, वहाँ बैठकर प्राणायाम या गरुड़-मन्त्रका जप करनेसे सर्पभ्रम दूर न होगा। वस्तुका स्वरूपज्ञान ही वहाँ साधन है। रोशनी लेकर आते ही सर्पभ्रम दूर हो जायगा। रज्जुका ज्ञान होते ही सर्पभ्रम चला जायगा। इस विश्वप्रपञ्चका कारण अज्ञान है। ज्ञानके द्वारा इसके अधिष्ठानका बोध होते ही विश्वप्रपञ्चकी निवृत्ति होकर मोक्षकी प्राप्ति होगी। मिथ्या पदार्थके प्रति कभी ज्ञानी पुरुषकी प्रवृत्ति नहीं देखनेमें आती। मिथ्याका दृढ़ निश्चय होनेपर उसमें साधककी प्रवृत्ति क्षीण हो जाती है। प्रवृत्ति न होनेसे जन्म नहीं होता और जन्म न होनेसे दुःख नहीं होता। इस प्रकार अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति एक ही बात है।

गृहस्थकी साधना

स्ववर्णाश्रमधर्मेण श्रद्धया गुरुतोषणात्।
साधनं प्रभवेत्पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्॥

वर्णाश्रमधर्मका जो लोग नियमानुसार पालन नहीं कर सकते, वे क्या किसी प्रकारकी साधना कर सकते हैं? सबसे पहले वर्णाश्रमधर्ममें तीनों वर्णोंके लिये जिन नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका विधान है, उनका निष्काम भावसे पालन करना पड़ता है। मन, वचन और शरीरके द्वारा जो कुछ किया जाता है, उसका फल भगवान्‌को समर्पण कर देना पड़ता है और कर्त्तव्य-बुद्धिसे ही सारे कार्य करने पड़ते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यके यज्ञोपवीत धारण करते ही उनका गायत्री-मन्त्रमें अधिकार हो जाता है। यथाशक्ति तीन माला गायत्री-जप करनेसे शरीर शुद्ध हो जाता है। रात्रिमें जो पाप किया जाता है, प्रातःसन्ध्याद्वारा वह पाप नष्ट हो जाता है। सायं-सन्ध्याके द्वारा दिनमें किये गये पापोंका नाश हो जाता है। असावधानताके कारण मन, वचन, कर्मसे जो पाप हो जाते हैं उन्हींका नाश सन्ध्याद्वारा हो सकता है। जो पाप जान-बूझ-कर किये जाते हैं, उनके नाशके लिये प्रायश्चित्त करना पड़ता है। मूर्खको द्रव्यदानादि प्रायश्चित्त करके पाप दूर करने पड़ते हैं। पाप दूर होनेसे मन प्रसन्न होता है, शरीर नीरोग और सुन्दर हो जाता है। इस प्रकारकी अवस्था प्राप्त होनेसे ही मनमें विषयभोगसे विराग और गुरुकी प्राप्तिकी इच्छा उत्पन्न होती है। सुकृतके फलका परिपाक होनेसे संतोंकी सङ्गति प्राप्त होती है। उससे विधि और निषेधका ज्ञान होता है तथा सदाचारमें प्रवृत्ति होती है। सदाचारमें प्रवृत्ति होनेसे ही अशेष दुष्कृतोंका नाश हो जाता है। उससे अन्तः-करण अत्यन्त निर्मल हो जाता है। तभी सद्गुरुके कृपा-कटाक्ष-के लिये मन व्याकुल हो उठता है। गुरुके कृपा-कटाक्षसे ही सब प्रकारकी सिद्धि प्राप्त होती है। सब प्रकारके बन्धन नष्ट होते हैं। श्रेयमार्गके सब विघ्न नष्ट हो जाते हैं। सब प्रकार-के श्रेयःसाधन स्वयं ही आकर उपस्थित होते हैं। जन्मान्ध-को जिस प्रकार रूपका ज्ञान नहीं हो सकता, उसी प्रकार सद्गुरुके उपदेशके बिना तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव सद्गुरुके कृपा-कटाक्षके लेशमात्रसे ही तत्त्वज्ञान हो जाता है। इस प्रकार त्रिपादविभूति उपनिषद्‌में गुरु करने-

का प्रयोजन कहा गया है। जिन लोगोंका कुलगुरुमें विश्वास न हो, उनको निम्नलिखित उपाय करना चाहिये। इस उपायसे उत्तम श्रद्धालुको एक वर्षमें और मध्यम श्रद्धालुको तीन वर्षमें गुरुकी प्राप्ति हो सकती है। गुरुप्राप्तिको ही शास्त्रोंमें एक सिद्धि कहा गया है। गुरु प्राप्त होते ही समझना चाहिये कि भवसागर पार करनेकी नौका मिल गयी। प्रयत्न करनेसे एक जन्ममें, और प्रयत्नमें शिथिलता करनेसे तीन जन्ममें मनुष्य कृतार्थ हो सकता है—ऐसा किसी महात्माका वचन है।

साधनकी प्राप्तिके पूर्व साधनके लिये तैयार होनेके उद्देश्यसे साधनार्थीको प्रतिदिन तीन हजार गायत्रीका जप करना चाहिये तथा निम्नलिखित यन्त्र बनाकर उसकी पूजा करनी चाहिये। इसके द्वारा भगवत्-कृपासे शीघ्र ही गुरुकी प्राप्ति हो जाती है। उपयुक्त गुरुके प्राप्त होनेपर अपनेको उनके चरणोंमें अर्पण करके वे जैसी आज्ञा दें, वैसा ही करना चाहिये। परन्तु किसी पाषण्डी वेशधारीके घर आते ही उसे गुरु मानकर तन-मन-धन अर्पण करनेकी मूर्खता भी नहीं करनी चाहिये। साधु निष्काम, निःस्पृह और अहैतुकी कृपा करनेवाले होते हैं। जो अपना कोई स्वार्थ सिद्ध करना चाहता है, उसको गुरुके रूपमें स्वीकार करके धोखा नहीं खाना चाहिये।

आगे दिये जानेवाले यन्त्रके मध्यमें चित्त लगाकर ध्यान करनेसे शुद्ध चित्तमें गुरुकी मूर्ति दीख पड़ेगी, तब संशयरहित होकर उन्हींको गुरु मानकर उनके आज्ञानुसार चलना चाहिये। दस-बीस पोथियाँ इकट्ठी करके अपने मनसे ही एक साधनाकी खिचड़ी बनाकर कुछ स्तोत्रों और मन्त्रोंका संग्रह कर कभी देवीका, कभी देवताका मन्त्र-जप, ध्यान और योग करके व्यर्थ समय नष्ट नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेसे कोई साधनमें अग्रसर नहीं हो सकता। अपने विचारके ऊपर विश्वास न होनेसे वे कोई फल प्रदान नहीं कर सकते। विश्वाससे ही मन्त्रका फल प्राप्त होता है। जो जिस विषयका अभ्यास नहीं करता, उसके द्वारा उस मन्त्रको ग्रहण करनेसे भी कोई फल नहीं मिल सकता। सिद्ध महापुरुषसे मन्त्र ग्रहण करनेपर उस मन्त्रका पुरश्चरण नहीं करना पड़ता। मन्त्रके साथ ही गुरुकी शक्ति शिष्यके शरीरमें प्रवेश कर जाती है। सिद्ध गुरुके न मिलनेकी स्थितिमें मन्त्रोंको तन्त्रोक्त नियमोंके द्वारा शोधन करके पुरश्चरण करना पड़ता है। भगवान् सदाशिवने ३½ करोड़ मन्त्रोंकी रचना की है, सिद्ध पुरुषोंके सिवा अन्य किसीके द्वारा इन मन्त्रोंके दिये जानेपर इनका फल नहीं प्राप्त होता। इसीलिये सिद्ध गुरुको खोजना पड़ता है। उनसे मन्त्र ग्रहण करनेपर सब विघ्न दूर हो जाते हैं। शरीरके रोगी होनेपर योगके द्वारा या मन्त्र-जपके द्वारा शरीरको शुद्ध करना पड़ता है। जो लोग कुछ भी न करके या गायत्री-मन्त्रका जप किये बिना ही साधन करते जाते हैं, उनके शरीरमें नाना प्रकारकी व्याधियाँ उत्पन्न होकर साधनमें विघ्न उपस्थित कर देती हैं। व्याधि होनेपर साधन नहीं किया जा सकता। इसलिये व्याधिनाशके निमित्त गायत्री या प्रणवका जप करना होता है।

'रक्षोघ्नं मृत्युतारकं
सुदर्शनं महाचक्रम्'

नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्के पञ्चमाध्यायमें इस प्रकारके यन्त्रका उल्लेख है। देवताओंने प्रजापतिसे कहा कि अनुष्टुप् मन्त्रराजमें हमारे लिये नारसिंह महाचक्रका वर्णन कीजिये। यह सब कामनाओंको सिद्ध करनेमें समर्थ है और योगिजन इसे मोक्षका द्वार कहा करते हैं। प्रजापतिने कहा कि यह सुदर्शनचक्र षडक्षर हुआ करता है। इसके षट् पत्रोंमें षडक्षर रहते हैं। छः ऋतुएँ होती हैं, उन्हींके परिमाणसे इनकी संख्या होती है। इनके मध्यमें नाभि होती है। नाभिमें जिस प्रकार रथके अरे होते हैं, उसी प्रकार इस नाभिमें षट् पत्र होते हैं। बाहर मायाद्वारा वृत्ताकारमें परिवेष्टित होता है। आत्माको माया स्पर्श नहीं कर सकती, इसीलिये माया बाहरका आवरण है। इसके बाहर अष्टाक्षर पद्म रहता है। अष्टाक्षरा गायत्री होती है। गायत्रीके समान ही इसकी संख्या होती है। बाहर मायाका परिवेष्टन होता है। इसके बाहर द्वादशदल पत्रका चक्र होता है। द्वादशाक्षर जगती छन्द होता है, उसकी संख्याके अनुसार पद्मके पत्रोंकी संख्या होती है। बाहर मायाका वेष्टन होता है। इसके आगे षोडशदलविशिष्ट चक्र होता है, पुरुषकी षोडश कलाएँ होती हैं। उनकी संख्याके अनुसार ही इनकी संख्या होती है। मायावृत्तद्वारा बाहरसे वेष्टित होता है। इसके बाहर बत्तीस दलोंका पद्म रहता है। अनुष्टुप्के बत्तीस अक्षर होनेके कारण इसकी संख्याके साथ इस पद्मका मेल हो जाता है। इसके बाहर मायाका वेष्टन है। अराके द्वारा यह यन्त्र सुबद्ध होता है। वेद ही इसके अरा हैं और छन्द ही इसके पत्र।

इस सुदर्शन महाचक्रके मध्यमें नाभिके अंदर ॐकार रखना पड़ता है। षट् दलोंके मध्यमें षडक्षर सुदर्शन रहता है। अष्टाक्षर 'ॐ नमो नारायणाय' मन्त्र अष्ट

रक्षोघ्नं मृत्युतारकम्
सुदर्शनं महाचक्रम्।

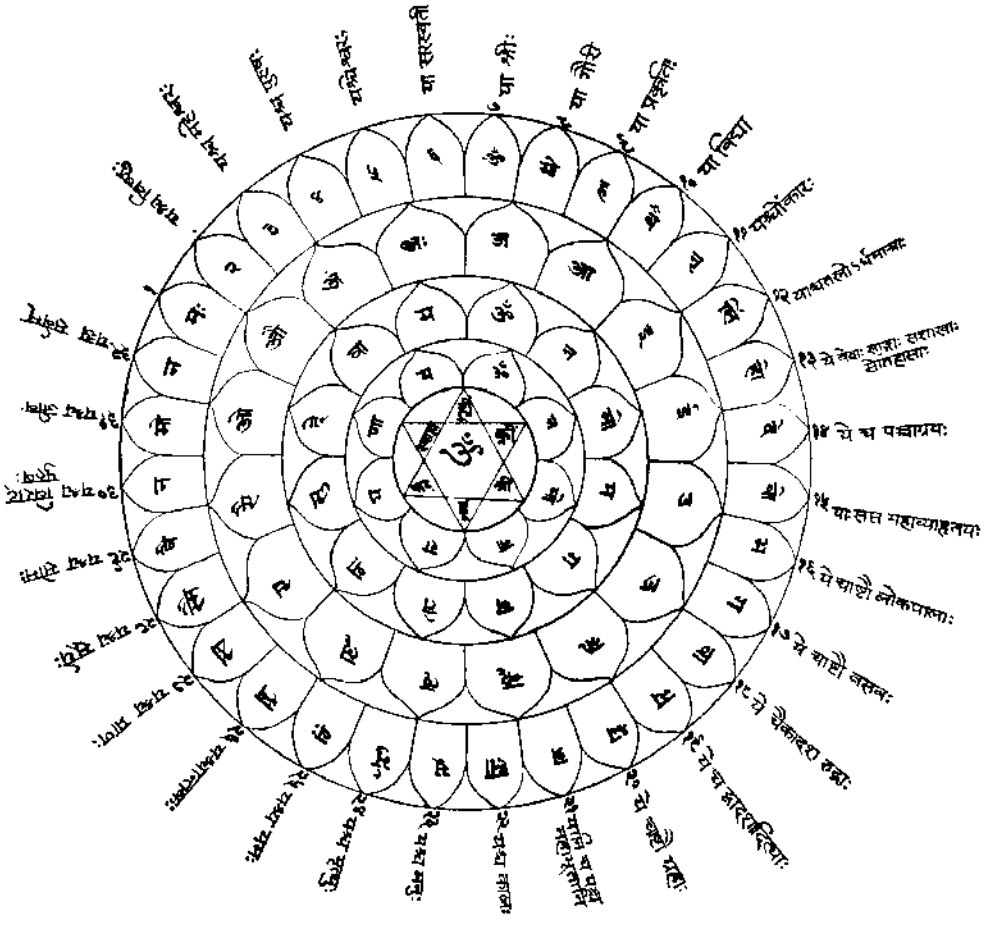

पत्रोंपर लिखना होता है। द्वादश पत्रोंमें द्वादशदल वासुदेव-मन्त्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) लिखना होता है। षोडशदलमें मातृकासे प्रारम्भ करके बिन्दुपर्यन्त (अ, आ आदि) षोडशाक्षर लिखने होते हैं। बत्तीस दलोंमें बत्तीस अक्षरका मन्त्रराज नारसिंह अनुष्टुप् लिखना होता है। यह सुदर्शन महाचक्र सर्वकामद, मोक्षद्वार, ऋङ्मय, यजुर्मय, साममय, ब्रह्ममय और अमृतमय होता है। इसके सम्मुख वसुगण वास करते हैं। दक्षिणमें आदित्य, पश्चाद्भागमें विश्वेदेव और उत्तरमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर वास करते हैं। नाभिमें सूर्य और चन्द्रमा वास करते हैं और पार्श्वमें यह ऋक्द्वारा आवृत होता है। जिस दिन इस चक्रको धारण करे, उस दिन एक गोदान करना चाहिये।

मोक्षका साधन

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार प्रकारके पुरुषार्थोंमें मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है, यह निर्विवाद है। यही कारण है कि मुक्तिके लिये हिन्दू, जैन, बौद्ध, मुसल्मान, ईसाई आदि सभी जाति, एवं धर्म-सम्प्रदाय सदासे साधन करते आ रहे हैं। मन्त्र-तन्त्र-यन्त्रके द्वारा मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती, ये मोक्षकी प्राप्तिके साधनमें सहायतामात्र करते हैं। वैराग्य ही ज्ञानका मुख्य साधन है। वैराग्यकी प्राप्तिके लिये ही वर्णाश्रम-धर्मोंका पालन करना पड़ता है, यह बात पहले दिखलायी गयी है। वर्णाश्रमधर्मोंके पालनके द्वारा मनके कुछ शुद्ध होनेपर अर्थ और काममें वितृष्णा उत्पन्न होती है। धर्मके फलको उनकी अपेक्षा श्रेष्ठ समझकर धार्मिक पुरुष धर्मके लिये अर्थ—अर्थ ही क्यों, स्त्रीतकका भी त्याग करनेको तैयार हो जाते हैं। धर्मसे अर्थ और कामका सिद्ध होना स्वाभाविक है, परन्तु अर्थसे धर्म होना कठिन है। अर्थका स्वभाव ही यह है कि वह मनुष्यको कृपण बना देता है। अर्थ और काममें आसक्त पुरुष कभी धर्मकी प्राप्ति नहीं कर सकता। इसी कारण भुजा उठाकर व्यासजीने कहा है—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

शास्त्रोंमें स्वर्गादिका जो फल बतलाया गया है, उसे सुनकर तथा अनित्य द्रव्योंद्वारा जो प्राप्त होता है, वह नित्य नहीं हो सकता—इस प्रकारके विचारके द्वारा धर्मका फल अन्तवन्त जानकर मुमुक्षु पुरुषकी धर्ममें भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकारके पुरुष योग, ज्ञान या भक्तिमेंसे किसी एक साधनका आश्रय लेकर मोक्षके लिये प्रयास करते हैं। इनके साधनोंका विभिन्न रूपोंमें अनेकों लेखक वर्णन करेंगे और समय-समयपर हम भी 'कल्याण' में वर्णन करते आ रहे हैं। यहाँ सब साधनोंको विस्तारपूर्वक देना असम्भव है। अतएव उक्त ज्ञान, योग और भक्तिमेंसे किसी एक साधनको अपने अनुकूल जानकर साधक प्रयत्न कर सकते हैं। उनमेंसे सब साधकोंको जो साधन अवश्य करने पड़ते हैं, यहाँ मैं उन्हींका वर्णन करूँगा। साम्प्रदायिक भेदभावको छोड़कर सबको ये साधन समानरूपसे करने पड़ते हैं। इनका पालन किये बिना मोक्षकी प्राप्ति असम्भव है।

कामजनित लोभसे क्रोध उत्पन्न होता है और शत्रुके दोषोंको देखकर इसकी वृद्धि होती है। क्षमाके द्वारा क्रोधका उपशम होता है। सङ्कल्पसे काम उत्पन्न होता है, कामके निरन्तर सेवित होनेसे उसकी वृद्धि ही होती है, कभी उसका ह्रास नहीं होता। विचारके द्वारा कामसे विरत होनेपर अर्थात् सङ्कल्प त्याग करनेपर तथा स्वादु भोजनकी स्पृहा त्यागनेपर काम नष्ट होता है। परासूयाको दयाके द्वारा दूर करना पड़ता है। अज्ञानसे मोह उत्पन्न होता है, पापके अभ्यासके द्वारा इसकी वृद्धि होती है, प्राज्ञका सङ्ग करनेसे मोह नष्ट हो जाता है। विरुद्ध शास्त्रोंके देखनेसे संशय उत्पन्न होता है, तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिसे संशयकी निवृत्ति होती है। प्रीतिसे शोक उत्पन्न होता है, प्रियवियोगका शोक अत्यन्त कष्टप्रद होता है। अनिष्टकारी समझकर शोकका त्याग करनेसे ही मन स्वस्थ होता है। क्रोध और लोभसे परासूया उत्पन्न होती है, निर्वेद और दयाके अभ्याससे उसका क्षय होता है। अहितका सेवन तथा सत्यका त्याग करनेसे मात्सर्य उत्पन्न होता है। साधुजनोंकी सेवा करनेसे मात्सर्य दूर होता है। कुलके ज्ञान तथा ऐश्वर्यसे मद उत्पन्न होता है, इनके स्वरूपका ज्ञान होनेसे वह नष्ट हो जाता है। कामसे ईर्ष्या उत्पन्न होती है और उसमें हर्ष प्रकाशित करनेसे उसकी और भी वृद्धि होती है। प्रज्ञाके द्वारा उसका नाश किया जाता है। द्वेषपूर्ण वचनोंसे कुत्सा उत्पन्न होती है, लोककी गति देखकर वह कुत्सा नष्ट हो जाती है। शत्रुकी समृद्धिका नाश करना असम्भव जानकर तीव्र असूया उत्पन्न होती है, उसके ऊपर करुणा करनेसे वह असूया दूर हो जाती है। दीन-दुखीको देखकर कृपाका प्रादुर्भाव होता है; उसमें जब धर्मनिष्ठा देखी जाती है, तभी कृपाकी शान्ति हो जाती है। सर्वभूतोंके अज्ञानसे ही लोभकी उत्पत्ति देखनेमें आती है। भोगकी अस्थिरताका चिन्तन करनेसे किसी वस्तुके प्रति लोभ नहीं रह जाता।

सात्त्विक भोजन करनेसे मनुष्य निद्राको जय करनेमें समर्थ हो सकता है। उपस्थ और उदरकी रक्षा धैर्यावलम्बनके द्वारा करनी चाहिये। चक्षु और श्रोत्रकी रक्षा मनके द्वारा करनी चाहिये। मन और वाक्यकी रक्षा कर्मके द्वारा करनी चाहिये, अर्थात् मन और वाक्यके द्वारा दुष्ट चिन्तन करनेपर भी कर्मके द्वारा उसका निरोध करना चाहिये। प्रमाद ही भयका कारण है। अप्रमादके द्वारा भयको दूर करना चाहिये। दम्भको साधुकी सेवाके द्वारा दूर करना चाहिये। आलस्य छोड़कर योगके इन समस्त विघ्नोंको दूर करना चाहिये। अग्नि और ब्राह्मणको प्रणाम और उनकी पूजा करनी चाहिये। देवताओंको प्रणाम करना चाहिये। किसीको भी अप्रिय वचन न कहना चाहिये। जिससे हिंसा होती है या किसीके मनमें दुःख होता है, ऐसी बात नहीं कहनी चाहिये।

ध्यान, अध्ययन, दान, सत्य, ह्री (लज्जा), सरलता, क्षमा, शौच, आचार, चित्तशुद्धि, इन्द्रियजय—इन सबके साधनके द्वारा तेजकी वृद्धि होती और पापोंका नाश होता है। साधकका सारा प्रयोजन इनके द्वारा सिद्ध होता है तथा विज्ञान भी उत्पन्न होता है। वस्तुकी प्राप्ति और अप्राप्तिमें एकरस रहनेसे पाप नष्ट हो जाते हैं। लघु आहारके द्वारा काम-क्रोधको जय करके ब्रह्मपदके लिये प्रयास करना चाहिये। मन और इन्द्रियोंको एकाग्र करके रात्रिके पूर्वार्द्ध और परार्द्धमें मनको आत्मामें स्थित करना चाहिये। पञ्च इन्द्रियोंमेंसे यदि एक इन्द्रिय भी छिद्रयुक्त हो तो उस इन्द्रियके द्वारा उसकी प्रज्ञा बखालसे जलके समान बाहर निकल जाती है। मत्स्यजीवी जिस प्रकार कुमत्स्यको पहले पकड़कर अन्य मत्स्योंको क्रमशः पकड़ते हैं, उसी प्रकार साधकको मनरूपी दुष्ट मत्स्यका पहले निग्रह करके तब अन्य इन्द्रियोंका निग्रह करना चाहिये।

करणे घटस्य या बुद्धिर्घटोत्पत्तौ न सा मता।
एवं धर्मोऽनुपायेषु नान्यद्धर्मेषु कारणम्॥
पूर्वे समुद्रे यः पन्थाः स न गच्छति पश्चिमम्।
एकः पन्था हि मोक्षस्य तन्मे विस्तरतः शृणु॥
क्षमया क्रोधमुच्छिन्द्यात् कामं सङ्कल्पवर्जनात्।
सत्त्वसंसेवनाद्धीरो निद्रां चच्छेत्तुमर्हति॥
अप्रमादाद्भयं रक्षेच्छ्मश्रुं क्षेत्रक्रियाशीलनात्।
इच्छां द्वेषं च कामं च धैर्येण विनिवर्तयेत्॥
भयं संमोहमावर्तमभ्यासाद्विनिवर्तयेत्।
निद्रां च प्रतिभां चैव ज्ञानाभ्यासेन तत्त्ववित्॥
उपद्रवांस्तथा रोगान् हितजीर्णमिताशनात्।
लोभं मोहं च सन्तोषाद्विषयांस्तत्त्वदर्शनात्॥
अनुक्रोशाद्धर्मं च जयेद्धर्मावेक्षया।
आशया च जयेदाशामर्थं सङ्कल्पवर्जनात्॥
अनित्यत्वेन च स्नेहं क्षुधां योगेन पण्डितः।
कारुण्येनात्मनो मानं तृष्णां च परितोषतः॥
उत्थानेन जयेत्तन्द्रां वितर्कं निश्चयाज्जयेत्।
मौनेन बहुभाष्यञ्च शौचेन च भयं त्यजेत्॥
यच्छेद्वाङ्मनसी बुद्ध्या तां यच्छेज्ज्ञानचक्षुषा।
ज्ञानमात्मावबोधेन यच्छेदात्मानमात्मना॥
तदेतदुपशान्तेन बोद्धव्यं शुचिकर्मणा।
योगदोषान् समुच्छिद्य पञ्च यान् कवयो विदुः॥

(महा० शान्ति० २७४। ३—१३)

अध्यात्मरामायणके अरण्यकाण्डके चतुर्थ सर्गमें जीवात्माका ज्ञान किस प्रकार होता है, इसका वर्णन है। जीवात्मा और परमात्मा पर्यायवाचक शब्द हैं, इनके बीच भेद-बुद्धि नहीं करनी चाहिये। अमानिता, अदम्भ, अहिंसा, क्षमा, सरलता, मन, वाणी और शरीरके द्वारा सद्गुरुकी सेवा, बाह्य और आन्तर शौच, सत्कर्मनिष्ठता, शरीर-मन-वाणीका निग्रह, विषयके प्रति वैराग्य, निरहङ्कारता, समस्त विषयोंमें जन्म-मृत्यु-जरा आदिकी आलोचना, पुत्र-धन-दारा आदिमें आसक्तिका त्याग, स्नेह-शून्यता, इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिमें समचित्तता, अनन्यरूपसे सब पदार्थोंमें सर्वत्र भगवद्भावका दर्शन, जन-समूहके समागमका त्याग, शुद्ध देशका सेवन, मूर्ख और जन-समूहके प्रति अरति, आत्मज्ञानके लिये सर्वदा उद्योग, वेदान्तशास्त्रका अवलोकन—इन सब साधनोंसे तथा इनके विरोधी साधनोंके त्यागसे जीवात्माका ज्ञान होता है। गीतामें तेरहवें अध्यायके ८वें श्लोकसे लेकर १२ श्लोकतक यही बात कही गयी है।

साधना-तत्त्व

(लेखक—पं० श्रीहनूमानजी शर्मा)

विषय गम्भीर और व्यापक है; अति तुच्छ जीवसे लेकर महत्तम देवाधिदेवतक सभी साधनाके साध्य हैं। जिसे जिस साध्यको पानेकी इच्छा हो, उसके लिये उसकी साधना मौजूद है। साधना यदि निष्काम होगी तो उसका फल किसी भविष्य कालमें सर्वोत्कृष्ट (पर अज्ञात) मिलेगा और यदि सकाम होगी तो तत्काल मिल जायगा। साधना कोई भी हो, उसके साथ सावधानी अवश्य रखनी होगी; अन्यथा साध्य रूठ जायगा और साधना बिगड़ जायगी।

(२) यदि आपको ब्रह्मकी साधना करनी हो तो नित्यानित्य-विवेकके द्वारा फलभोगका त्याग कर शम-दमादिकी विपुल सम्पत्तिका संग्रह करना होगा और चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते मनको ब्रह्ममें ही लगाना होगा। 'ब्रह्म' का स्वरूप क्या है, यह जाननेके लिये चराचर सृष्टिके प्रत्येक प्राणी-पदार्थको ब्रह्मका प्रतिरूप मानकर सर्वत्र उन्हींका अनुसन्धान करना होगा।

(३) यदि आपको भैरव, भवानी, हनुमानजी या अन्य किसी भी देवी-देव, भूत-प्रेत, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व अथवा डाकिनी-शाकिनी आदिकी साधना करनी हो तो सर्वप्रथम सद्गुरुके समीप रहकर इनके मन्त्र, साधना, गुण और स्वरूपका ज्ञान प्राप्त कीजिये और इनका अभ्यास हो जानेपर साधनामें मन लगाइये। उक्त देवोंमें कोई सत्त्वगुणी, कोई रजोगुणी और कोई तमोगुणी हैं। इसलिये सत्त्वगुणी और रजोगुणी देवोंके साधन-मन्त्र वेदों और मन्त्रशास्त्रोंसे और तमोगुणीके माली, तेली, धोबी और चमार आदिसे प्राप्त कीजिये। इसी प्रकार सत्त्वगुणी तथा रजोगुणी देवोंके स्वरूप ऋषिप्रणीत स्तोत्रोंमें आये हुए ध्यानोंसे और तमोगुणीके प्रकृतिकी तात्कालिक विकृतिसे लीजिये। इन सब बातोंको जानकर साधना कीजिये। यह ध्यान रखिये कि साधनाके समय सत्त्वगुणी देवोंके समीपमें, रजोगुणी देवोंके सामने और तामसीके पृष्ठभागमें बैठकर उनके प्रत्यक्ष दीखते हुए या ध्यानादिसे जाने हुए स्वरूपको हृदयमें रखकर यथाविधि जप कीजिये और विनयी बने रहिये। इस प्रकार करते रहनेसे अगर आपकी साधना अनुकूल हुई तो उसकी अवधि समाप्त होनेके पहले सात्त्विकी देवता उस काममें आपकी अरुचि पैदा करेंगी, रजोगुणी उसमें देर लगावेंगे और तमोगुणी बाधा डालेंगे। ऐसी अवस्थामें आप धैर्य, दृढ़ता और संलग्नतामें मजबूत रहेंगे तो आपकी साधना सफल हो जायगी और कदाचित् कुछ गड़बड़ होगी तो बना-बनाया काम बिगड़ जायगा। उचित तो यह है कि साधनासम्पन्न होनेतक सब तरहसे सावधान रहें और साध्य देवको साक्षात् ब्रह्म मानकर उसमें मन लगावें। अगर आराध्य देवको प्रत्यक्ष करना हो तो श्रद्धा, अभ्यास, साधना और लग्नताकी विशेष वृद्धि करें। उससे ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि या तो स्वप्नमें दर्शन देंगे या किसी अदृष्टपूर्व विलक्षण दृश्यके रूपमें कुछ कहेंगे। सूर्य, शक्ति या हनूमान्‌जी आदि गो, द्विज, बटुक या महाकाय मर्कटके रूपमें दर्शन देंगे। भैरव-भवानी या भोमियाँ आदि सिंह, श्वान या सर्पादिके द्वारा मिलेंगे। यक्ष-राक्षस या गन्धर्वादि पशु-पक्षी या नारीके रूपमें नजर आवेंगे। भूत-प्रेत और पिशाचादि भेड़, ऊँट या भैंसे आदि बनकर दीखेंगे। यक्षिणी नवयुवती-जैसी मालूम होगी और डाकिनी अपने ही विकृत वेषमें आवेगी। इनमें जिनको भी आप प्रत्यक्ष करना चाहेंगे वही आपको उक्त प्रकारसे दर्शन देंगे। किन्तु ऐसे अनुष्ठानोंमें अनेक आपत्तियाँ आती हैं। कई एक देवता प्रत्यक्ष होनेके पहले कुछ ऐसे दृश्य उपस्थित कर देते हैं जिनको देखकर सामान्य साधक सहम जाते या बेसुध हो जाते हैं और अन्तमें उनका बिगाड़ हो जाता है। अतः ऐसी भावनाके बदले शान्त-अशान्त सभीको ब्रह्मके रूपमें परिणत करके सात्त्विकी साधना करें तो अच्छा है।

(४) यदि आप मन्त्र-तन्त्र या कृत्या साधना चाहें तो इस विषयके शास्त्रोंका अध्ययन या अवलोकन कीजिये। रहस्य-ज्ञानके बिना यों ही किसी सत्पात्रको सत्ताहीन करनेके लिये 'ह्रां,ह्रीं,हुं,फट्' से मन्त्रशास्त्रोंकी समाप्ति और दूसरोंके सुत-दारा और सम्पत्तिको मिटानेके लिये सेहका सूला, कुमारीका सूत, चाकका डोरा और पड़ोसीकी झाड़ू आदिसे तन्त्रशास्त्रोंकी इतिश्री करना अच्छा नहीं; इनका अनर्थकारी अधम फल तत्काल नहीं तो अन्तकालतक अवश्य मिलता है। अतएव इनकी अपेक्षा—

'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय', 'ॐ नमः शिवाय', 'ॐ

नमो वक्रतुण्डाय', 'ॐ नमः सूर्याय', 'ॐ नमः शक्त्यै' 'ॐ नमो हनुमते' और 'ॐ नमः परमात्मने'

—आदिके अखण्ड प्रयोगोंसे मंत्रोंका और गन्ध-पुष्पादिसे शोभित, घृतपूर्ण बत्तियोंसे प्रज्वलित और अनुष्ठानियोंके द्वारा पूजित प्रकाशमान दीपकको चौराहेमें रखकर दध्योदनादि-की बलि देनेके द्वारा तन्त्रोंका और जनपदनाशादि उत्पातोंके उपशमनार्थ अखण्ड रामध्वनि, अहोरात्र होमाहुति, शतसहस्रायुत चण्डीप्रयोग और प्रतिदिनके प्रीतिभोज आदि-की कृत्याओंका प्रचार करना अच्छा है। ऐसे मन्त्र-तन्त्र और कृत्याके अमिट और अमित फलसे अड़ोसी-पड़ोसी और आप सकुटुम्ब सुखी रहेंगे और आपका यश फैलेगा।

(५) यदि आपको किसी 'मनुष्य' की साधना करनी हो तो साध्य चाहे मा-बाप, भाई-बहिन, स्त्री-पुत्र, गुरु-पण्डित, अमीर-गरीब, धनी या निर्धन कोई हों, आप उनमें ब्रह्मका अंश मानकर उसी भाँति साधना कीजिये जिस भाँति आराध्य देवकी करते हैं। सबसे पहले आप उनके खान-पान, व्यवहार और स्वभावको जान लीजिये और फिर उनके मन या मिजाजके माफिक साधिये। वे जो भी चाहें, कहें, करावें उसको तुरंत कीजिये और सब कामोंमें तत्परता दिखाते हुए मीठे बर्तावसे उनको वशवर्ती बना लीजिये। उनके कहे मुताबिक करनेमें कभी देर, संकोच या न्यूनता न होने दीजिये। साधनाके समय अगर आपको धूप, वर्षा या सर्दी आदि सतावें तो उनको भी सह लीजिये। इस भाँति करनेमें यदि आपकी साधना सकाम होगी तो साध्य आपको अपना शरीर-तक देनेमें भी संकोच नहीं करेंगे और निष्काम होगी तो सर्वस्वसे बढ़कर शुभाशिष् मिलेगी, जिसका फल परमात्मा देंगे और वह अमिट रहेगा।

(६) यदि आप हाथी, घोड़े, गाय, बैल या भैंस आदि-की साधना करना चाहें तो इनमें भी उसी ब्रह्मका अंश मान-कर सानुराग साधना कीजिये और ठीक समयपर चारा-दाना;पानी, सफाई और सँभाल आदिके सिवा प्यार-दुलार भी करते रहिये। इस भाँति करनेमें आपकी साधना सकाम होगी तो उनसे आप हर तरहका काम लेंगे, हर तरहका लाभ उठावेंगे और दूध, दही, घी, छाछ या मलाई आदि पौष्टिक पदार्थ आपको मिलते रहेंगे—जिनसे स्वास्थ्य और आयुकी वृद्धि होगी। और यदि साधना निष्काम होगी तो मरणानन्तर उनके हाड़, दाँत, चमड़ेका और उनकी सन्ततिका पूरा लाभ (आपको नहीं, पर आपके पुत्रादिकों या पड़ोसियोंको) अवश्य मिलेगा।

(७) यदि आप तोता, मैना या मुर्गे आदि पक्षियोंकी साधना करना चाहें तो वे भी उसी बापके बेटे हैं, उनको भी उसी भाँति साधिये और मैना आदिको 'हरे राम' रटाकर मुक्तिमार्गमें लगा दीजिये। साथ ही मुर्गे आदिसे विषमिश्रित भोजनादिकी परीक्षा करवाकर अपाहिज बुभुक्षितोंकी प्राण-रक्षा कीजिये। यदि यह साधना सकाम हो तो उक्त पक्षियों-को बेचकर पैसे पैदा कीजिये और निष्काम हो तो उनको खुले मैदानमें यथायोग्य दाना-पानी देकर पक्षीमात्रका पालन कीजिये। इस प्रयोगसे आपको ज्ञात होगा कि मनुष्यों-की अपेक्षा पशु-पक्षियोंके आहार-विहार, बर्ताव-व्यवहार कितने उत्कृष्ट होते हैं।

(८) यदि आप वृक्ष, वाटिका, वनस्पति या अन्नादि-की साधना करना चाहें तो बड़ी खुशीकी बात है। खूब मन लगाकर कीजिये। उनमें भी उसी ब्रह्मका अंश है जिसका ब्रह्मा,विष्णु,महेशमें है। इनकी साधना यदि सकाम करोगे तो 'वृक्षों' से फल-फूल, छाया और काष्ठसंग्रह होगा। 'वाटिका' से पुण्य-सुगन्ध और स्वास्थ्यप्रद शुद्ध वायु मिलेगा, 'वनस्पति' से औषधनिर्माणके साधन और 'अन्न' से भरण-पोषण और उदरदरीका पूरण आदि अनेक लाभ होंगे। और यदि निष्काम होगी तो इनसे आपको होनेवाले सभी सुख-लाभ या स्वास्थ्य-साधन दूसरोंको मिलेंगे, जिसमें आपका यश, पुण्य और नाम पीढ़ियोंतक मौजूद रहेगा।

(९) यदि आपको इन साधनाओंमें यह सन्देह हो कि संसारके अगणित प्राणी, पदार्थ या देवादि सभीमें अकेले ब्रह्मका अंश कैसे आ सकता है तो इसकी निवृत्तिके लिये आप मुँह देखनेके शीशेको फोड़कर अगणित टुकड़े कर दीजिये। वे गोल, चौकोर, चिपटे, षट्कोण, छोटे-बड़े, बारीक—कैसे भी हों, सबको दुपहरीकी धूपमें रख दीजिये। उनके समीप ही अनेक प्रकारके पात्रोंमें घी, दूध, दही, छाछ, जल, तेल आदि पदार्थ भर दीजिये और वहीं हर तरहके प्रकाशमान वस्त्र, शस्त्र, आभूषण और बर्तन रखवा दीजिये और फिर उन सबको अलग-अलग या एक साथ देखिये। उन सबमें ब्रह्मके प्रत्यक्ष स्वरूप तेजःपुञ्ज जगदाधार और सहस्रों किरणवाले सूर्यका जो प्रतिबिम्ब आकाशमें दीखता है वही यथावत् (ज्यों-का-त्यों) दीखेगा और साक्षात् सूर्यकी भाँति उन सब

वस्तुओंमें दीखनेवाले प्रतिबिम्बसे भी आँखोंमें चकाचौंध आयेगी। इससे आप जान सकेंगे कि सूर्यकी भाँति ही ब्रह्मका अंश भी सबमें प्रविष्ट रहता है और उसी तरह सब काम यथावत् करता है।

(१०) साधनाके अनेक प्रकार हैं। उनमें प्रतिदिनकी सेवाके सिवा (१) एक सौ आठ तुलसी-मंजरियोंसे विष्णुकी, (२) अर्कपुष्प, बिल्वपत्र, पार्थिवपूजन और ब्रह्माभिषेकसे शिवकी, (३) प्रति परिक्रमामें मोदक अर्पण करनेसे गणेशकी, (४) रक्तचन्दन और लाल कनीरके पुष्पोंसे युक्त १०८ अर्घ्यदान, नमस्कार और परिक्रमणसे सूर्यकी, (५) अनेक प्रकारके पुष्पोंकी सौ पुष्पाञ्जलियोंसे 'शक्ति'की, (६) रामायणके पाठके साथ तिलोंके तेलके अविच्छिन्न अभिषेकसे हनुमान्‌जी-की, (७) नाम-जपके साथ चम्पक-पुष्प अर्पण करनेसे सीता-की, (८) दूर्वाङ्कुरोंके अभिषेकसे गौरीकी, (९) तैलधारासे भैरवकी, (१०) मूँग-भातसे 'भोमियों' की, (११) जलार्पणसे पीपलकी, (१२) सूत्रार्पणसे 'वट' की, (१३) गुड़मिश्रित गोधूमचूर्णादिसे गौकी, (१४) सूखे अन्नराशि-से कपोतमण्डलकी, (१५) आश्रयदानादिसे अपाहिजोंकी और (१६) मनस्तुष्टिके प्रीत्युपहारोंसे परिवारकी साधना विशेष रूपसे सम्पन्न हो सकती है। उपासनाके ग्रन्थोंमें इनके विधि-विधान विस्तारपूर्वक लिखे हैं। उनको देखकर यथोचित कार्य करें।

वैदिक कर्म और ब्रह्मज्ञान

(लेखक—श्रीसन्तकुमार चटर्जी, एम्०, ए०)

पाश्चात्त्य विद्वानोंकी यह कल्पना है कि वैदिक कर्मकाण्ड और औपनिषद ब्रह्मज्ञानमें परस्परविरोध है। डा० विंटरनिज लिखते हैं कि 'जब ब्राह्मणलोग यज्ञ-यागादिके निरर्थक शास्त्रमें प्रवृत्त थे, तब अन्य लोग उन महान् प्रश्नोंके विचारमें लगे थे जिनका पीछे उपनिषदोंमें इतनी उत्तमताके साथ विवेचन हुआ है।' (हिस्टरी आफ संस्कृत लिटरेचर पृ० २३१) मि० मैकडानेल कहते हैं कि 'उपनिषद् यद्यपि ब्राह्मणग्रन्थों-के ही भाग हैं, क्योंकि हैं वे उन्हींके ज्ञानकाण्डके विस्तारस्वरूप, तथापि उनके द्वारा एक नये ही धर्मका प्रतिपादन हुआ है, जो वैदिक कर्मकाण्ड या व्यवहारके सर्वथा विरुद्ध है।' (हिस्टरी ऑफ संस्कृत लिटरेचर पृ० २१८) इन विद्वान् प्रोफेसर-को यह नहीं सूझा कि एक ही ग्रन्थके दो भाग एक-दूसरेके विरुद्ध कैसे हो सकते हैं। जो लोग भारतीय संस्कृतिकी परम्परा-में नहीं जन्मे, नहीं फले-फूले, उन विदेशियोंको तो इस गलतीके लिये क्षमा किया जा सकता है। उनका जन्म-जात संस्कार ही वैदिक कर्मकाण्डके विरुद्ध है। उनकी तो यह समझ है कि ये वैदिक कर्म अन्धविश्वासकी उपज हैं, आत्मज्ञानसे इनका कोई सरोकार नहीं। परन्तु हम उन अग्रगण्य आधुनिक भारतीय विद्वानोंको क्या कहें जो वैदिक कर्मकाण्ड और औपनिषद ब्रह्मज्ञानके इस पाश्चात्त्य विद्वानों-द्वारा कल्पित परस्परविरोधका ही अनुवाद किया करते हैं! क्या उन्हें भी यह नहीं सूझता कि श्रीमत् शङ्कराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य-जैसे महान् प्रतिभाशाली व्यक्तियोंमें इतनी समझ तो अवश्य रही होगी कि यदि वेदोंके कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें परस्परविरोध है तो दोनों ही काण्ड सत्य नहीं माने जा सकते! यह बात स्मरण रहे कि श्रीशङ्कराचार्य और श्रीरामानुजाचार्य तथा भारतके सभी प्राचीन आचार्योंने यह माना है कि वेद, जिनमें उपनिषद् भी आ जाते हैं, अपौरुषेय हैं अर्थात् सर्वथा सत्य हैं।

इस कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डके परस्परविरोधकी कल्पना जिस आधारपर की जाती है, उसका यदि हम परीक्षण करें तो हमें यह देखकर आश्चर्य होगा कि इतने बड़े-बड़े विद्वान् मूलमें ही इतनी बड़ी गलती कैसे कर गये। वैदिक कर्मकाण्ड-की यह फलश्रुति है कि इन कर्मोंके आचरणसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है। उपनिषदोंने कहीं भी इसका खण्डन नहीं किया है। इसके विपरीत उपनिषदोंके अनेक वाक्य इसके समर्थक हैं। इसके दो अवतरण नीचे देते हैं—

'तपो ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते।' (प्रश्नोपनिषद् १।९)

'जो लोग यज्ञ करना, बावली-कूप-तड़ागादि खुदवाना और बगीचा लगवाना आदि इष्टापूर्तरूप कर्ममार्गका ही अवलम्बन करते हैं, वे चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं।' (चन्द्रलोक स्वर्गका ही एक भेद है)।

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु
यथाकालं चाहुतयो ह्यादयायन्।

तं यज्ञन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो
यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥
(मुण्डक० १।२।५)

'इन दीप्तिमान् जिह्वाओंमें जो यथाकाल आहुति देता हुआ अग्निहोत्र करता है, उसे वे आहुतियाँ सूर्यकी रश्मियोंके साथ मिलकर वहाँ ले जाती हैं, जहाँ देवताओंका एक पति सबसे ऊपर विराजता है।'

मुण्डकोपनिषद् स्पष्ट ही बतलाता है कि वैदिक कर्मकाण्ड सदा अर्थात् अव्यर्थ फलप्रद है। यथा—

'तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्'
(मुण्डक० १।२।१)

'ऋषियोंने मन्त्रोंमें जिन कर्मविधियोंको देखा, वे सत्य हैं।' प्रथमतः मन्त्र प्रकट हुए, तब उन मन्त्रोंके साथ वैदिक कर्म करनेकी विधियाँ ब्राह्मणग्रन्थोंमें समाविष्ट की गयीं। ये ब्राह्मणग्रन्थ वेदोंके ही अंग हैं और अपौरुषेय वेदमन्त्रोंसे ही निकले हैं। इस प्रकार वेद मन्त्र-ब्राह्मणात्मक हैं, जैसा कि 'यज्ञपरिभाषासूत्र' में महर्षि आपस्तम्ब कहते हैं—

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।'
'वेद नाम मन्त्रों और ब्राह्मणोंका है।'

वैदिक कर्म और औपनिषद ज्ञानके बीच परस्परविरोध केवल आधुनिक पण्डितोंकी कल्पना है, यह बात इससे भी स्पष्ट हो जायगी कि उपनिषदोंने कितने ही स्थानोंमें वेदोंके मन्त्रभागसे प्रमाण उद्धृत किये हैं—यह कहकर कि 'तदेतद् ऋचाभ्युक्तम्' अथवा 'तदेष श्लोकः' इत्यादि (अर्थात् ऋक्में ऐसा कहा है, अथवा वेदमन्त्र ऐसा है)।

ब्रह्मकी महिमाका वर्णन करते हुए एक जगह मुण्डकोपनिषद्में यह मन्त्र आता है—

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा
यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः
सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥
(२।१।६)

'उन परब्रह्मसे ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, दीक्षा, यज्ञ, क्रतु, दक्षिणा, संवत्सर, यजमान और विविध लोक, जिनमें चन्द्र और सूर्य चलते हैं, प्रकट हुए हैं।'

कठोपनिषद्में यह देखा जाता है कि नचिकेताको ब्रह्मज्ञान देनेके पूर्व उन वैदिक यज्ञोंको करनेकी दीक्षा दी गयी, जिनसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है।

इस प्रकार यह सर्वथा स्पष्ट है कि उपनिषद् वैदिक यज्ञोंद्वारा स्वर्गकी प्राप्तिका होना घोषित करते हैं। परन्तु इस विषयमें यह भी तो कहा जा सकता है कि यज्ञोंसे स्वर्गलाभ भले ही होता हो, पर उपनिषदोंका लक्ष्य तो स्वर्ग नहीं प्रत्युत मोक्ष है और इसलिये उपनिषद् ऐसा कैसे कह सकते हैं कि कोई अपना समय और शक्ति वैदिक यज्ञ-यागादिमें व्यर्थ ही व्यय किया करे। परन्तु यह कुतर्क ही है। उपनिषद् तो स्पष्ट ही विधान करते हैं कि यज्ञ करो। स्नातकके समावर्तन-संस्कारमें आचार्य शिष्यको स्पष्ट ही आदेश देते हैं कि —

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। (तै०उ०१।११।२)

'देवों और पितरोंके लिये यज्ञ करनेमें कभी प्रमाद न करना।' मुण्डकोपनिषद्के उपसंहारमें यह कहा है कि—

तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत
शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥
(मुण्डक०३।२।१०)

'यह ब्रह्मविद्या उन्हींसे कहे, जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रत (एक वैदिक यज्ञ) सम्पन्न किया हो।' कठोपनिषद्की कथामें वैदिक यज्ञोंकी विद्या पहले बताकर तब ब्रह्मविद्याको बतलाना इसी बातको ही तो सूचित करता है कि ब्रह्मविद्याका अधिकार वैदिक कर्मका विधिपूर्वक पालन करनेसे ही प्राप्त होता है।

फिर भी यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि वैदिक कर्म स्वर्गके ही देनेवाले हैं तो जो मनुष्य स्वर्ग न चाहता हो, मोक्ष ही चाहता हो, उसके लिये वैदिक कर्मकी आवश्यकता ही क्या हो सकती है? इसका उत्तर बृहदारण्यकोपनिषद्के इस वचनसे मिलता है—

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन।' (४।४।२२)

'ब्राह्मणलोग वेदाध्ययनसे तथा कामनारहित यज्ञ, दान और तपसे उस (ब्रह्म) को जाननेकी इच्छा करते हैं।' इस वचनमें अनाशकेन (कामनारहितेन) पद विशेष अर्थपूर्ण है। इसका यही अर्थ है कि वेदोक्त

यज्ञादि कर्म जब आसक्तिसहित किये जाते हैं, तब उनसे स्वर्गलाभ होता है और जब आसक्तिरहित किये जाते हैं, तब काम-क्रोधादिकोंसे मुक्त होकर कर्ताका चित्त शुद्ध हो जाता है। यही बात गीताने इन श्लोकोंमें कही है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥
(१८। ५-६)

'यज्ञ, दान, तप आदि कर्म त्याज्य नहीं हैं, अवश्य करणीय हैं; क्योंकि वे मनीषियोंको पावन करते हैं। इन कर्मोंको भी आसक्ति और फलेच्छाको छोड़कर करना चाहिये, यही मेरा निश्चित उत्तम मत है।' उपनिषद्के 'अनाशकेन' पदको ही गीताके 'सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च' शब्दोंने विशद किया है।

अब उपनिषद्के उस मन्त्रका भी विचार कर लीजिये, जिससे आधुनिकोंको वैदिक कर्म और औपनिषद ज्ञानमें परस्परविरोध देख पड़ता और यह कहनेका मौका मिलता है कि उपनिषदोंने तो वैदिक कर्मकाण्डका खण्डन किया है। मन्त्रार्थका ठीक तरहसे विचार करनेपर अवश्य ही यह प्रतीत होगा कि खण्डन वैदिक कर्मकाण्डका नहीं, बल्कि उसके फलस्वरूप स्वर्गभोगकी इच्छाका खण्डन है। मन्त्र इस प्रकार है—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥
(मुण्डक० १। २। ७)

अर्थात् 'जिनपर ज्ञानवर्जित कर्म अवलम्बित है—ऐसी ये अठारह यज्ञसाधनरूप नौकाएँ अदृढ हैं। इन्हें जो श्रेय जानकर इनका अभिनन्दन करते हैं, वे मूढ हैं। वे फिरसे जरा और मृत्युको प्राप्त होते हैं।' यहाँ यज्ञोंको 'अदृढ नौकाएँ' कहा है; क्योंकि ये नौकाएँ मृत्युसागर पार नहीं करातीं, ब्रह्मविद्या ही मृत्युसागरके पार पहुँचाती है। इसका यह मतलब तो नहीं हुआ कि इन यज्ञोंका कोई प्रयोजन ही नहीं है। इसके पूर्वके दो मन्त्रोंमें यह बात कही जा चुकी है कि जो लोग यज्ञ करते हैं, वे मृत्युके पश्चात् स्वर्गको जाते हैं। इस मन्त्रसे यह भी न समझना चाहिये कि इसका अभिप्राय यज्ञोंके खण्डनमें है। कारण, अन्य मन्त्रोंमें, जो पहले उद्धृत किये जा चुके हैं, यज्ञोंका आग्रहपूर्वक विधान किया गया है। यहाँ 'अदृढाः' पदसे इतना ही सूचित किया गया कि यही अन्तिम और सबसे बड़ी चीज नहीं है।

आधुनिकोंके चित्तमें यह शङ्का उठ सकती है कि वैदिक यज्ञोंके करनेसे मनकी शुद्धि कैसे हो सकती है। इसका समाधान यह है कि मनकी जो विविध कामनाएँ हैं जो आत्मवश्यताके न होनेसे ही उत्पन्न होती हैं, मनकी मलिनता या अशुद्धि हैं। वैदिक कर्मकाण्ड आत्मसंयमकी शक्तिको ही बढ़ाता है। केवल बाह्य विधिका ही सम्पादन यथेष्ट नहीं होता। आत्मशुद्धि और ज्ञानप्राप्तिकी सच्ची अभिलाषा भी होनी चाहिये। जहाँ ऐसी इच्छा होती है, वहाँ बाह्य विधिसे बड़ी सहायता मिलती है। मनुष्य शरीर भी है और शरीरी जीव भी। वह जबतक अपने शरीरको योग्य नहीं बना लेता, तबतक वह आध्यात्मिक उत्कर्षका अधिकारी नहीं होता। एक दूसरे ढंगसे भी इस प्रश्नपर विचार किया जा सकता है। हमारा चित्त अनेक प्रकारके कुकर्मोंसे मलिन हो गया है। इन सब मलोंको हटानेके लिये सत्कर्मोंका किया जाना आवश्यक है। सत्कर्म कराना ही वैदिक कर्मकाण्डका उद्देश्य है। ईशोपनिषद्का यह वचन है कि मोक्षके लिये अविद्या और विद्या दोनों आवश्यक हैं। विद्याके बिना केवल अविद्यासे काम नहीं चलता; अविद्याके बिना केवल विद्या उससे भी खराब है। श्रीमद्रामानुजाचार्यने विद्यासे अर्थ ग्रहण किया है ज्ञानका और अविद्यासे शास्त्रोक्त कर्मका—एक साधनाका तात्त्विक अङ्ग है और दूसरा व्यावहारिक। शास्त्रोक्त कर्मोंके करनेसे चित्त शुद्ध होता है और तब ब्रह्मविद्या, श्रवण करनेसे, फलवती होती है। अशुद्धचेताको उस श्रवणसे कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिमें साधनरूपसे वैदिक कर्मोंकी फलवत्ता भगवान् वेदव्यासने ब्रह्मसूत्रोंमें प्रतिष्ठित की है—

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्। (३। ४। २६)

अर्थात् परम ज्ञानके लिये वेदोक्त कर्मोंका आचरण वैसे ही आवश्यक है, जैसे एक स्थानसे दूसरे स्थानको जानेके लिये घोड़ेकी सवारी आवश्यक होती है। घोड़ेके साथ जीन और लगाम आदिकी भी जरूरत होती है। इसी प्रकार परम ज्ञानकी प्राप्तिमें केवल वेदानुवचनसे ही काम नहीं चलता, बल्कि वेदोक्त कर्म करनेकी भी आवश्यकता बढ़ती है। (श्रीरामानुजाचार्यकृत 'श्रीभाष्य')

विहितत्वाच्च आश्रमकर्मापि । (३ । ४ । ३२)

सहकारित्वेन च । (३ । ४ । ३३)

—इन सूत्रोंमें यह स्पष्ट कहा गया है कि आश्रमधर्मोंका पालन भी ब्रह्मविद्यामें साधक होता है और आहारादिके विषयमें भी शास्त्रविधिसे युक्त आचरण सहकारी होता है। काम-क्रोधादि विकार ईश्वरध्यानमें बाधक होते हैं। वेदोक्त वर्णाश्रमधर्म काम-क्रोधादिको जीतनेकी सामर्थ्य देता है। यह सच है कि वर्णाश्रमधर्मके आचरणके बिना जप, तप, उपवास और दानसे भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। छान्दोग्योपनिषद्के रैक्व, बृहदारण्यककी वाचक्नवी, महाभारतके भीष्म किसी आश्रममें नहीं थे अर्थात् उन्होंने वर्णाश्रमधर्मसे विहित कर्मोंका विधियुक्त आचरण नहीं किया, तथापि वे ब्रह्मविद्या-लाभ कर ब्रह्मज्ञानी हुए। मनुसंहिताका यह वचन है—

जप्येनापि च संसिद्ध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥
(२ । ८७)

सारांश यह कि 'जपसे भी ब्राह्मणको संसिद्धि प्राप्त होती है, चाहे वह कोई अन्य कर्म करे या न करे।' वेदव्यासने इस वचनका 'अपि च स्मर्यते' (३ । ४ । ३७) इस सूत्रमें प्रामाण्य दरसाया है। तथापि जप-तप-दानादिकी अपेक्षा वर्णाश्रमधर्म ही ब्रह्मप्राप्तिमें अधिक फलप्रद है—

अतस्त्वितरज्यायो लिङ्गाच्च । (ब्रह्मसूत्र ३ । ४ । ३९)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि परम ज्ञानकी प्राप्तिके साधनमें बाह्य आचरणके नियमनकी भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि आन्तर अभ्यासकी।

न्यासका प्रयोग और उसकी महिमा

न्यासका अर्थ है स्थापन। बाहर और भीतरके प्रत्येक अङ्गमें इष्टदेवता और मन्त्रका स्थापन ही न्यास है। इस स्थूलशरीरमें अपवित्रताका ही साम्राज्य है, इसलिये इसे देवपूजाका तबतक अधिकार नहीं जबतक यह शुद्ध एवं दिव्य न हो जाय। जबतक इसकी अपवित्रता बनी रहती है, तबतक इसके स्पर्श और स्मरणसे चित्तमें ग्लानिका उदय होता रहता है। ग्लानियुक्त चित्त प्रसाद और भावोद्रेकसे शून्य होता है, विक्षेप और अवसादसे आक्रान्त होनेके कारण बार-बार प्रमाद और तन्द्रासे अभिभूत हुआ करता है। यही कारण है कि न तो वह एकतार स्मरण ही कर सकता है और न विधि-विधानके साथ किसी कर्मका साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान ही। इस दोषको मिटानेके लिये न्यास सर्वश्रेष्ठ उपाय है। शरीरके प्रत्येक अवयवमें जो क्रियाशक्ति सुषुप्त हो रही है, हृदयके अन्तरालमें जो भावनाशक्ति मूर्च्छित है, उनको जगानेके लिये न्यास अव्यर्थ महौषधि है।

न्यास कई प्रकारके होते हैं। मातृकान्यास, स्वर और वर्णोंका होता है। मन्त्रन्यास पूरे मन्त्रका, मन्त्रके पदोंका, मन्त्रके एक-एक अक्षरका और एक साथ ही सब प्रकारका होता है। देवतान्यास शरीरके बाह्य और आभ्यन्तर अङ्गोंमें अपने इष्टदेव अथवा अन्य देवताओंके यथास्थान न्यासको कहते हैं। तत्त्वन्यास वह है, जिसमें संसारके कार्य-कारणके रूपमें परिणत और इनसे परे रहनेवाले तत्त्वोंका शरीरमें यथास्थान न्यास किया जाता है। यही पीठन्यास भी है। जो हाथोंकी सब अङ्गुलियोंमें तथा करतल और करपृष्ठमें किया जाता है, वह करन्यास है। जो त्रिनेत्र देवताओंके प्रसङ्गमें षडङ्ग और अन्य देवताओंके प्रसङ्गमें पञ्चाङ्ग होता है, उसे अङ्गन्यास कहते हैं। जो किसी भी अङ्गका स्पर्श किये बिना सर्वाङ्गमें मन्त्रन्यास किया जाता है, वह व्यापकन्यास कहलाता है। ऋष्यादिन्यासके छः अङ्ग होते हैं—सिरमें ऋषि, मुखमें छन्द, हृदयमें देवता, गुह्यस्थानमें बीज, पैरोंमें शक्ति और सर्वाङ्गमें कीलक। और भी बहुत-से न्यास हैं, जिनका वर्णन प्रसङ्गानुसार किया जा सकता है।

न्यास चार प्रकारसे किये जाते हैं। मनसे उन-उन स्थानोंमें देवता, मन्त्रवर्ण, तत्त्व आदिकी स्थितिकी भावना की जाती है। अन्तर्न्यास केवल मनसे ही होता है। बहिर्न्यास केवल मनसे भी होता है और उन-उन स्थानोंके स्पर्शसे भी। स्पर्श दो प्रकारसे किया जाता है, किसी पुष्पसे अथवा अङ्गुलियोंसे। अङ्गुलियोंका प्रयोग दो प्रकारसे होता है। एक तो अङ्गुष्ठ और अनामिकाको मिलाकर सब अङ्गोंका स्पर्श किया जाता है और दूसरा भिन्न-भिन्न अङ्गोंके स्पर्शके

लिये भिन्न-भिन्न अङ्गुलियोंका प्रयोग किया जाता है। विभिन्न अङ्गुलियोंके द्वारा न्यास करनेका क्रम इस प्रकार है—मध्यमा, अनामिका और तर्जनीसे हृदय, मध्यमा और तर्जनीसे सिर, अङ्गूठेसे शिखा, दसों अङ्गुलियोंसे कवच, तर्जनी, मध्यमा और अनामिकासे नेत्र, तर्जनी और मध्यमासे करतल-करपृष्ठमें न्यास करना चाहिये। यदि देवता त्रिनेत्र हो तो तर्जनी, मध्यमा और अनामिकासे, द्विनेत्र हो तो मध्यमा और तर्जनी-से नेत्रमें न्यास करना चाहिये। पञ्चाङ्गन्यास नेत्रको छोड़कर होता है। वैष्णवोंके लिये इसका क्रम भिन्न प्रकारका है। ऐसा कहा गया है कि अङ्गूठेको छोड़कर सीधी अङ्गुलियोंसे हृदय और मस्तकमें न्यास करना चाहिये। अङ्गूठेको अंदर करके मुट्ठी बाँधकर शिखाका स्पर्श करना चाहिये। सब अङ्गुलियोंसे कवच, तर्जनी और मध्यमासे नेत्र, नाराचमुद्रासे दोनों हाथोंको ऊपर उठाकर अङ्गूठे और तर्जनीके द्वारा मस्तकके चारों ओर करतलध्वनि करनी चाहिये। कहीं-कहीं अङ्गन्यासका मन्त्र नहीं मिलता, ऐसे स्थानमें देवताके नामके पहले अक्षरसे अङ्गन्यास करना चाहिये।

शास्त्रमें यह बात बहुत ज़ोर देकर कही गयी है कि केवल न्यासके द्वारा ही देवत्वकी प्राप्ति और मन्त्रसिद्धि हो जाती है। हमारे भीतर-बाहर अङ्ग-प्रत्यङ्गमें देवताओंका निवास है, हमारा अन्तस्तल और बाह्य शरीर दिव्य हो गया है—इस भावनासे ही अदम्य उत्साह, अद्भुत स्फूर्ति और नवीन चेतनाका जागरण अनुभव होने लगता है। जब न्यास सिद्ध हो जाता है, तब तो भगवान्‌से एकत्व स्वयंसिद्ध ही है। न्यासका कवच पहन लेनेपर कोई भी आध्यात्मिक अथवा आधिदैविक विघ्न पास नहीं आ सकते; जब कि बिना न्यासके जप, ध्यान आदि करनेपर अनेकों प्रकारके विघ्न उपस्थित हुआ करते हैं। प्रत्येक मन्त्रके, प्रत्येक पदके और प्रत्येक अक्षरके अलग-अलग ऋषि, देवता, छन्द, बीज, शक्ति और कीलक होते हैं। मन्त्रसिद्धिके लिये इनके ज्ञान, प्रसाद और सहायताकी अपेक्षा होती है। जिस ऋषिने भगवान् शङ्करसे मन्त्र प्राप्त करके पहले-पहल उस मन्त्रकी साधना की थी, वह उसका ऋषि है। वह गुरुस्थानीय होनेके कारण मस्तकमें स्थान पाने योग्य है। मन्त्रके स्वर-वर्णोंकी विशिष्ट गति, जिसके द्वारा मन्त्रार्थ और मन्त्रतत्त्व आच्छादित रहते हैं और जिसका उच्चारण मुखके द्वारा होता है, छन्द है और वह मुखमें ही स्थान पानेका अधिकारी है। मन्त्रका देवता, जो अपने हृदयका धन है, जीवनका सञ्चालक है, समस्त भावोंका प्रेरक है, हृदयका अधिकारी है; हृदयमें ही उसके न्यासका स्थान है। इस प्रकार जितने भी न्यास हैं, सबका एक विज्ञान है और यदि ये न्यास किये जायँ तो शरीर और अन्तःकरणको दिव्य बनाकर स्वयं ही अपनी महिमाका अनुभव करा देते हैं। अभी थोड़े ही दिनोंकी बात है—गङ्गा और सरयूके सङ्गमके पास ही एक ब्रह्मचारी रहते थे, जिनका साधन ही था न्यास। दिनभर वे न्यास ही करते रहते थे। उनमें बहुत-सी सिद्धियाँ प्रकट हुई थीं और उन्हें बहुत बड़ा आध्यात्मिक लाभ हुआ था। यहाँ संक्षेपसे कुछ न्यासोंका विवरण दिया जाता है—

मातृकान्यास

ॐ अस्य मातृकामन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिर्गायत्रीच्छन्दो मातृका-सरस्वती देवता हलो बीजानि स्वराः शक्तयः क्षौं कीलकं मातृ-कान्यासे विनियोगः।

—यह विनियोग करके जल छोड़ दे और ऋष्यादिका न्यास करे। सिरमें—ॐ ब्रह्मणे ऋषये नमः। मुखमें—ॐ गायत्रीच्छन्दसे नमः। हृदयमें—ॐ मातृकासरस्वत्यै देवतायै नमः। गुह्यस्थानमें—ॐ हलभ्यो बीजेभ्यो नमः। पैरोंमें—ॐ स्वरेभ्यः शक्तिभ्यो नमः। सर्वाङ्गमें—ॐ क्षौं कीलकाय नमः। इसके पश्चात् करन्यास करे—

ॐ अं कं खं गं घं ङं आं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।
ॐ इं चं छं जं झं ञं ईं तर्जनीभ्यां स्वाहा।
ॐ उं टं ठं डं ढं णं ऊं मध्यमाभ्यां वषट्।
ॐ एं तं थं दं धं नं ऐं अनामिकाभ्यां हुम्।
ॐ ओं पं फं बं भं मं औं कनिष्ठाभ्यां वौषट्।
ॐ अं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं अः करतलकर-पृष्ठाभ्याम् अस्त्राय फट्।

इसके अनन्तर इस प्रकार अङ्गन्यास करे—

ॐ अं कं खं गं घं ङं आं हृदयाय नमः।
ॐ इं चं छं जं झं ञं ईं शिरसे स्वाहा।
ॐ उं टं ठं डं ढं णं ऊं शिखायै वषट्।
ॐ एं तं थं दं धं नं ऐं कवचाय हुम्।
ॐ ओं पं फं बं भं मं औं नेत्रत्रयाय वौषट्।
ॐ अं यं रं लं वं शं षं सं हं लं क्षं अः अस्त्राय फट्।

इस अङ्गन्यासके पश्चात् अन्तर्मातृकान्यास करना चाहिये। शरीरमें छः चक्र हैं; उनमें जितने दल होते हैं,

उतने ही अक्षरोंका न्यास किया जाता है। इसकी प्रक्रिया सम्प्रदायानुसार भिन्न-भिन्न है। यहाँ वैष्णवोंकी प्रणाली लिखी जाती है।

पायु-इन्द्रिय और जननेन्द्रियके बीचमें सिवनीके पास मूलाधारचक्र है। उसका वर्ण सोनेका-सा है और उसमें चार दल हैं। उन चारों दलोंपर प्रणवके साथ इन अक्षरोंका न्यास करना चाहिये—ॐ वं नमः, शं नमः, षं नमः, सं नमः। जननेन्द्रियके मूलमें विद्युत्के समान षड्दल स्वाधिष्ठान कमल है, उसके छः दलोंपर प्रणवके साथ इन अक्षरोंका न्यास करना चाहिये—ॐ बं नमः, भं नमः, मं नमः, यं नमः, रं नमः, लं नमः। नाभिके मूलमें नील मेघके समान दशदल मणिपूरकचक्र है, उसमें इन वर्णोंका न्यास करना चाहिये—ॐ डं नमः, ढं नमः, णं नमः, तं नमः, थं नमः, दं नमः, धं नमः, नं नमः, पं नमः, फं नमः। हृदयमें स्थित मूँगेके समान लाल द्वादशदल अनाहतचक्रमें—ॐ कं नमः, खं नमः, गं नमः, घं नमः, ङं नमः, चं नमः, छं नमः, जं नमः, झं नमः, ञं नमः, टं नमः, ठं नमः। कण्ठमें धूम्रवर्ण षोडशदल विशुद्धचक्र है; इसमें—ॐ अं नमः, आं नमः, इं नमः, ईं नमः, उं नमः, ऊं नमः, ऋं नमः, ॠं नमः, ऌं नमः, ॡं नमः, एं नमः, ऐं नमः, ओं नमः, औं नमः, अं नमः, अः नमः। भ्रूमध्यस्थित चन्द्रवर्ण द्विदल आज्ञाचक्रमें—ॐ हं नमः, क्षं नमः। इसके पश्चात् सहस्रारपर, जो कि स्वर्णके समान कान्तिमान् और समस्त स्वर-वर्णोंसे भूषित है, त्रिकोणका ध्यान करना चाहिये। उसके प्रत्येक कोणपर ह, ल, क्ष—ये तीनों वर्ण लिखे हुए हैं। उसकी तीनों रेखाएँ क्रमशः 'अ'से, 'क'से और 'थ'से शुरू हुई हैं। इस त्रिकोणके बीचमें सृष्टि-स्थिति-लयात्मक बिन्दुरूप परमात्मा विराजमान है। इस प्रकारके ध्यानको अन्तर्मातृकान्यास कहते हैं।

बहिर्मातृकान्यास

इस न्यासमें पहले मातृकासरस्वतीका ध्यान होता है, वह निम्नलिखित है—

पञ्चाशल्लिपिभिर्विभक्तमुखदोःपद्मद्वयवक्षःस्थलां
भास्वन्मौलिनिबद्धचन्द्रशकलामापीनतुङ्गस्तनीम्।
मुद्रामक्षगुणं सुधाढ्यकलशं विद्यां च हस्ताम्बुजै-
र्बिभ्राणां विशदप्रभां त्रिनयनां वाग्देवतामाश्रये॥

'पचास स्वर-वर्णोंके द्वारा जिनके मुख, बाहु, चरण, कटि और वक्षःस्थल पृथक्-पृथक् दीख रहे हैं, सूर्यके समान चमकीले मुकुटपर चन्द्रखण्ड शोभायमान है, वक्षःस्थल बड़ा और ऊँचा है, कर-कमलोंमें मुद्रा, रुद्राक्षमाला, सुधापूर्ण कलश और पुस्तक धारण किये हुए हैं, अङ्ग-अङ्गसे दिव्य ज्योति बिखर रही है, उन त्रिनेत्रा वाग्देवता मातृकासरस्वतीकी मैं शरण ग्रहण करता हूँ।' ऐसा ध्यान करके न्यास करना चाहिये। इस न्यासमें अङ्गुलियोंका नियम अनिवार्य है। इसलिये उन-उन स्थानोंके साथ ही अङ्गुलियोंकी संख्या भी लिखी जा रही है। न्यास करते समय उनका ध्यान रखना चाहिये। संख्याका सङ्केत इस प्रकार है—१—अङ्गुष्ठा, २—तर्जनी, ३—मध्यमा, ४—अनामिका और ५—कनिष्ठा। जहाँ जितनी अङ्गुलियोंका संयोग करना चाहिये वहाँ उतनी संख्या लिख दी गयी है।

ललाटमें—ॐ अं नमः ३, ४। मुखपर—ॐ आं नमः २, ३, ४। आँखोंमें—ॐ इं नमः, ॐ ईं नमः १, ४। इसी प्रकार पहले ॐ और पीछे नमः जोड़कर प्रत्येक स्थानमें न्यास करना चाहिये। कानोंमें—उं, ऊं १। नासिकामें—ऋं, ॠं १, ५। कपोलोंपर—ऌं, ॡं २, ३, ४। ओठमें—एं ३। अधरमें—ऐं ३। ऊपरके दाँतोंमें—ओं ४। नीचेके दाँतोंमें—औं ४। ब्रह्मरन्ध्रमें—अं ३। मुखमें—अः ४। दाहिने हाथके मूलमें—कं ३, ४, ५। केहुनीमें—खं ३, ४, ५। मणिबन्धमें—गं। अङ्गुलियोंकी जड़में—घं। अङ्गुलियोंके अग्रभागमें—ङं। इसी प्रकार बायें हाथके मूल, केहुनी, मणिबन्ध, अङ्गुलीमूल और अङ्गुल्यग्रमें—चं छं जं झं ञं। दाहिने पैरके मूलमें, दोनों सन्धियोंमें, अङ्गुलियोंके मूलमें और उनके अग्रभागमें—टं ठं डं ढं णं। बायें पैरके उन्हीं पाँच स्थानोंमें—तं थं दं धं नं। दाहिने बगलमें—पं, बायेंमें—फं और पीठमें—बं (यहाँतक अङ्गुलियोंकी संख्या केहुनीवाली ही समझनी चाहिये)। नाभिमें—भं १, ३, ४, ५। पेटमें—मं १ से ५। हृदयमें यं। दाहिने कन्धेपर—रं। गलेके ऊपर—लं। बायें कन्धेपर—वं। हृदयसे दाहिने हाथतक—शं। हृदयसे बायें हाथतक—षं। हृदयसे दाहिने पैरतक—सं। हृदयसे बायें पैरतक—हं। हृदयसे पेटतक—लं। हृदयसे मुखतक—क्षं। हृदयसे अन्ततक हथेलीसे न्यास करना चाहिये।

संहारमातृकान्यास

बाह्यमातृकान्यास जहाँ समाप्त होता है, वहींसे संहारमातृकान्यास प्रारम्भ होता है। जैसे हृदयसे लेकर मुखतक—ॐ क्षं नमः। मुखसे पेटतक—ॐ लं नमः। इस प्रकार उलटे चलकर ललाटतक पहुँच जाना, यह संहारमातृकान्यास है। इसके पूर्व यह ध्यान किया जाता है—

अक्षस्रजं हरिणपोतमुदग्रदण्डं
विद्यां करैरविरतं दधतीं त्रिनेत्राम्।
अर्द्धेन्दुमौलिमरुणाम्बुजसंस्थितां
वर्णेश्वरीं प्रणमत स्तनभारनम्राम्॥

'जो अपने चार करकमलोंमें सदा रुद्राक्षकी माला, हरिण-शावक, पत्थर फोड़नेकी तीखी टाँकी और पुस्तक लिये रहती हैं, जिनके तीन आँखें हैं और मुकुटपर अर्द्ध चन्द्रमा हैं, शरीरका रंग लाल है, कमलपर बैठी हुई हैं, स्तनोंके भारसे झुकी हुई उन वर्णेश्वरीको नमस्कार करो।' संहारमातृका-न्यासके सम्बन्धमें कुछ लोगोंकी ऐसी सम्मति है कि यह केवल संन्यासियोंको ही करना चाहिये। बाह्य मातृकान्यासमें अक्षरोंका उच्चारण चार प्रकारसे किया जा सकता है। केवल अक्षर, बिन्दुयुक्त अक्षर, सविसर्ग अक्षर और बिन्दु-विसर्गयुक्त अक्षर। विशिष्ट कामनाओंके अनुरूप इनकी व्यवस्था है। इन अक्षरोंके पूर्व बीजाक्षर भी जोड़े जाते हैं। वाक्सिद्धिके लिये ऐं, श्रीवृद्धिके लिये श्रीं, सर्वसिद्धिके लिये नमः, वशीकरणके लिये क्लीं और मन्त्रप्रसादनके लिये अः जोड़ा जाता है। मन्त्रशास्त्रमें ऐसा कहा गया है कि मातृकान्यासके बिना मन्त्रसिद्धि अत्यन्त कठिन है।

पीठन्यास

देवताके निवासयोग्य स्थानको 'पीठ' कहते हैं। जैसे कामाख्यादि स्थानविशेष पीठके नामसे प्रसिद्ध हैं। जैसे बाह्य आसनविशेष शास्त्रीय विधिके अनुष्ठानसे पीठके रूपमें परिणत हो जाता है, वैसे ही पीठन्यासके प्रयोगसे साधकका शरीर और अन्तःकरण शुद्ध होकर देवताके निवास करने योग्य पीठ बन जाता है। वर्तमान युगमें जो दो प्रकारके पीठ प्रचलित हैं, समन्त्रक और अमन्त्रक उन दोनोंकी अपेक्षा यह पीठन्यास उत्तम है, क्योंकि इसमें बाह्य आलम्बनकी आवश्यकता नहीं है। यह साधकके शरीरमें ही मन्त्रशक्ति, भावशक्ति, प्राणशक्ति और अचिन्त्य दैवी शक्तिके सम्मिश्रणसे उत्पन्न हो जाता है। विचारदृष्टिसे देखा जाय तो पीठन्यासमें जितने तत्त्वोंका न्यास किया जाता है वे प्रत्येक शरीरमें पहलेसे ही विद्यमान हैं। स्मृति और मन्त्रके द्वारा उन्हें अव्यक्तसे व्यक्त किया जाता है, उनके सूक्ष्मरूपको स्थूलरूपमें लाया जाता है। यह सृष्टिक्रमके इतिहासके सर्वथा अनुकूल है और यह साधकको देवताका पीठ बना देनेमें समर्थ है। इसका प्रयोग निम्नलिखित प्रकारसे होता है—

प्रत्येक चतुर्थ्यन्त पदके साथ, जिनका उल्लेख आगे किया जा रहा है, पहले ॐ और पीछे नमः जोड़कर यथा-स्थान न्यास करना चाहिये—जैसे ॐ आधारशक्तये नमः। इसी प्रकार क्रमशः सबके साथ ॐ और नमः जोड़कर न्यासका विधान है।

हृदयमें—**आधारशक्तये, प्रकृत्यै, कूर्माय, अनन्ताय, पृथिव्यै, क्षीरसमुद्राय, श्वेतद्वीपाय, मणिमण्डपाय, कल्पवृक्षाय, मणिवेदिकायै, रत्नसिंहासनाय।**

दाहिने कन्धेपर—**धर्माय**
बायें कन्धेपर—**ज्ञानाय**
बायें ऊरुपर—**वैराग्याय**
दाहिने ऊरुपर—**ऐश्वर्याय**
मुखपर—**अधर्माय**
बायें पार्श्वमें—**अज्ञानाय**
नाभिमें—**अवैराग्याय**
दाहिने पार्श्वमें—**अनैश्वर्याय**

फिर हृदयमें—**अनन्ताय, पद्माय, अं सूर्यमण्डलाय द्वादश-कलात्मने, उं सोममण्डलाय षोडशकलात्मने, मं वह्निमण्डलाय दशकलात्मने, सं सत्त्वाय, रं रजसे, तं तमसे, आं आत्मने, अं अन्तरात्मने, पं परमात्मने, ह्रीं ज्ञानात्मने।**

सबके साथ पहले ॐ और पीछे नमः जोड़कर न्यास कर लेनेके पश्चात् हृदय-कमलके पूर्वादि केसरोंपर इष्टदेवता-की पद्धतिके अनुसार पीठशक्तियोंका न्यास करना चाहिये। उनके बीचमें इष्टदेवताका मन्त्र, जो कि इष्टदेवस्वरूप ही है, स्थापित करना चाहिये। इस न्याससे साधकके हृदयमें ऐसा पीठ उत्पन्न हो जाता है, जो अपने देवताको आकर्षित किये बिना नहीं रहता।

इन न्यासोंके अतिरिक्त और भी बहुत-से न्यास हैं, जिनका वर्णन उन-उन मन्त्रोंके प्रसङ्गमें आता है। उनके विस्तारकी यहाँ आवश्यकता नहीं है। वैष्णवोंका एक केशवकीर्त्यादि-न्यास है, उसमें भगवान्‌के केशव, नारायण, माधव आदि मूर्तियोंको उनकी शक्तियोंके साथ शरीरके विभिन्न अङ्गोंमें स्थापित करके ध्यान किया जाता है। उस न्यासके फलमें कहा जाता है कि यह न्यास प्रयोग करनेमात्रसे साधकको भगवान्‌के समान बना देता है। वास्तवमें न्यासोंमें ऐसी ही शक्ति है।

न्यासके प्रकार-भेदोंकी चर्चा न करके यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि सृष्टिके गम्भीर रहस्योंकी दृष्टिसे

न्यास भी एक अतुलनीय साधन है। वर्णोंके न्याससे वर्णमयी सृष्टिका उद्बोध होकर परमात्माके स्वरूपका ज्ञान और प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि जब यह सृष्टि नहीं थी, तब प्रथम कम्पनके रूपमें प्रणव प्रकट हुआ और उस प्रणवसे ही समस्त स्वर-वर्णोंका विस्तार हुआ। उनके आनुपूर्वी-संघटनसे वेद और वेदसे समस्त सृष्टि। इस क्रमसे विचार करनेपर ज्ञात होता है कि ये समस्त महान् और अणु, स्थूल एवं सूक्ष्म पदार्थ अन्तिम रूपमें वर्ण ही हैं। वर्णोंके न्यास और इनकी वर्णात्मकताके ध्यानसे इनका वास्तविक रूप, जो कि दिव्य है, दृष्टिगोचर हो जाता है और फिर तो सर्वत्र दिव्यता-ही-दिव्यता छा जाती है। समस्त नाम-रूपात्मक जगत्में अव्यक्त-रूपसे रहनेवाली दिव्यताको व्यक्त करनेके लिये वर्णन्यास अथवा मन्त्रन्यास सर्वोत्तम साधनोंमेंसे एक है।

पीठन्यास, योगपीठन्यास अथवा तत्त्वन्यासके द्वारा भी हम उसी परिणामपर पहुँचते हैं, जो साधनाका अन्तिम लक्ष्य होना चाहिये। अधिष्ठान परब्रह्ममें आधारशक्ति, प्रकृति एवं क्रमशः सम्पूर्ण सृष्टि स्थित है। क्षीरसागरमें मणिमण्डप, कल्पवृक्ष, रत्नसिंहासन आदिकी भावना करते-करते अन्तःकरण सर्वथा अन्तर्मुख हो जाता है और इष्टदेवताका ध्यान करते-करते समाधि लग जाती है। एक ओर तो उस सृष्टिक्रमका ज्ञान होनेसे बुद्धि अधिष्ठानतत्त्वकी ओर अग्रसर होने लगती है और दूसरी ओर मन इष्टदेवको प्राप्त करके उन्हींमें लय होने लगता है। इस प्रकार परमानन्दमयी अवस्थाका विकास होकर सब कुछ भगवान् ही है और भगवान्के अतिरिक्त और कोई अन्य सत्ता नहीं है, इस सत्यका साक्षात्कार हो जाता है।

सिरमें ऋषि, मुखमें छन्द और हृदयमें इष्टदेवताका न्यास करनेके अतिरिक्त जब सर्वाङ्गमें—यों कहिये कि रोम-रोममें सशक्तिक देवताका न्यास कर लिया जाता है, तो मनको इतना अवकाश ही नहीं मिलता और इससे मधुर अन्यत्र कहीं स्थान नहीं मिलता कि वह और कहीं बाहर जाय। शरीरके रोम-रोममें देवता, अणु-अणुमें देवता और देवतामय शरीर! ऐसी स्थितिमें यह मन भी दिव्य हो जाता है। जडताके चिन्तनसे और अपनी जडतासे यह संसार मनको जडरूपमें प्रतीत होता है। इसका वास्तविक स्वरूप तो चिन्मय है ही, यह चिन्मयी लीला है। जब चिन्मयके ध्याससे इसकी जडता निवृत्त हो जाती है, तो सब चिन्मयके रूपमें ही स्फुरित होने लगता है। जब इसकी चिन्मयताका बोध हो जाता है, तब अन्तर्देशमें रहनेवाला निगूढ़ चैतन्य भी इस चिन्मयसे एक हो जाता है और केवल चैतन्य-ही-चैतन्य अवशेष रहता है।

यहाँ न्यासके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा गया है, वह न्यासके स्वरूप और महिमाको देखते हुए बहुत ही स्वल्प है। हमारी परिस्थितिको देखते हुए विज्ञजन क्षमा करेंगे। शा०

नाम और प्रेम

नाम बिन भाव करम नहिं छूटै।
साधुसंग और राम भजन बिन काल निरंतर लूटै॥
मल सेती जो मल को धोवै, सो मल कैसे छूटै?
प्रेम का साबुन नाम का पानी दोय मिल ताँता टूटै॥
मेद अभेद भरम का भाँडा, चाड़े पड़ पड़ फूटै।
गुरमुख सब्द गहै उर अंतर, सकल भरम से छूटै॥
राम का ध्यान तू धर रे प्रानी अमृत का मेंह बूटै।
जन दरियाव अरप दे आपा जरा मरन तब टूटै॥

—दरिया साहेब

तन्त्रमें गुरु-साधना

(लेखक—डा० भवानीदासजी भेहरा०, बी० एस्-सी०, एल्० एस्० एम्० एफ्०)

साधनपथका श्रीगणेश गुरुसे ही होता है, अतएव साधनाके सभी मार्गोंमें गुरुका पद सर्वोच्च स्वीकार किया गया है। यों तो प्रायः सभी धर्मग्रन्थोंने गुरुकी इस सर्वोच्चता और महिमाका गान किया है, किन्तु तन्त्रमें गुरुकी सर्वोत्कृष्टताका जैसा वर्णन किया गया है, वैसा अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। तन्त्रने श्रीगुरु और इष्टदेवमें अभेदका वर्णन किया है। साधकके प्रति तन्त्रका वाक्य है—

यथा देवे तथा मन्त्रे यथा मन्त्रे तथा गुरौ।
यथा गुरौ तथा स्वात्मन्येवं भक्तिक्रमः स्मृतः॥

और भी—

यथा घटश्च कलशः कुम्भश्चैकार्थवाचकाः।
तथा मन्त्रो देवता च गुरुश्चैकार्थवाचकाः॥

(सुन्दरीतापिनी)

'तामिच्छाविग्रहां देवीं गुरुरूपां विभावयेत्।'

(नित्याहृदय)

ललितासहस्रनामके 'गुरुमण्डलरूपिणी' और 'गुरुप्रिया' (श्लोक १८९-१९०) के गुरुपदसे भास्करायने अपने सौभाग्यभास्कर-भाष्यमें शिवका ही अर्थ ग्रहण किया है। निर्वाणतन्त्रानुसार शिव ही गुरु हैं और गुरु, परम गुरु, परमेष्ठी गुरु एवं परात्पर गुरु शिवके ही अंश हैं।

शिरःपद्मे महादेवस्यैव परमो गुरुः।
तत्समो नास्ति देवेशि पूज्यो हि भुवनत्रये॥
तदंशं चिन्तयेद्देवि बाह्ये गुरुचतुष्टयम्।

मूलाधारादि षट्चक्रोंमें सर्वोपरि स्थान श्रीगुरुदेवका ही नियत किया गया है। अधोमुख सहस्रदल-कमलकर्णिकान्तर्गत मृणालरूपी चित्रिणी नाडीसे भूषित गुरुमन्त्रात्मक द्वादश वर्ण (ह स ख फ्रें ह स क्ष म ल व र यं)-रूपी द्वादशदल पद्ममें अ क य आदि त्रिरेखा और ह ल क्ष कोणसे भूषित कामकला त्रिकोणमें नाद-विन्दुरूपी मणिपीठ अथवा हंसपीठपर शिवस्वरूप श्रीगुरुका स्थान है (पादुकापञ्चक १, २, ३)।

शिरःपद्मे शुक्ले दशशतदले केसरगते
पतत्रीणां तल्पे परमशिवरूपं निजगुरुम्।

(अग्रदाकल्प)

सहस्रदलमध्यस्थमन्तरात्मानमुत्तमम्।
तस्योपरि नादविन्दोर्मध्ये सिंहासनोज्ज्वलम्॥
तस्मिन् निजगुरुं नित्यं रजताचलसन्निभम्।

(कङ्कालमालिनीतन्त्र)

तन्त्रवर्णित श्रीगुरुका ध्यान शिव-शक्तिका ध्यान है—

'निजशिरसि श्वेतवर्णं सहस्रदलकमलकर्णिकान्तर्गतचन्द्रमण्डलोपरि स्वगुरुं शुक्लवर्णं शुक्लालङ्कारभूषितं ज्ञानानन्दमुदितमानसं सच्चिदानन्दविग्रहं चतुर्भुजं ज्ञानमुद्रापुस्तकवराभयकरं त्रिनयनं प्रसन्नवदनेक्षणं सर्वदेवदेवं वामाङ्के वामहस्तधृतनीलोत्पलया रक्तवसनाभरणया स्वप्रियया दक्षभुजेनालिङ्गितं परमशिवस्वरूपं शान्तं सुप्रसन्नं ध्यात्वा तच्चरणकमलयुगलविगलदमृतधारया स्वात्मानं प्लुतं विभाव्य मानसोपचारैराराध्य'

तन्त्रमें श्रीगुरुका सर्वोच्च पद स्वीकार किया गया है, अतएव तन्त्रमतानुयायी साधकके लिये गुरुपूजा अत्यावश्यक मानी गयी है। गुरुपूजा विना साधककी सब साधना निष्फल होती है—

गुरुपूजां विना देवि स्वेष्टपूजां करोति यः।
मन्त्रस्य तस्य तेजांसि हरते भैरवः स्वयम्॥

(कालीविलासतन्त्र १। १३)

रुद्रयामलानुसार—

पूजाकाले च चार्वङ्गि आगच्छेच्छिष्यमन्दिरम्।
गुरुर्वा गुरुपुत्रो वा पत्नी वा वरवर्णिनि॥
तदा पूजां परित्यज्य पूजयेत्स्वगुरुं प्रिये।
देवतापूजनार्थं यद् गन्धपुष्पादिकञ्च यत्॥
तत्सर्वं गुरवे दद्यात्पूजयेत्तद्गतेन्द्रिये।
तदैव सहसा देवि देवता प्रीतिमाप्नुयात्॥

श्रीगुरुपूजाका विस्तृत वर्णन तन्त्रोंमें किया गया है। देवोपासनाके पञ्चाङ्गकी तरह गुरुपटल, गुरुपद्धति, गुरुकवच, गुरुस्तोत्र और गुरुसहस्रनाम ये अनेकों तन्त्र-ग्रन्थोंमें नाना प्रकारसे वर्णित हैं। स्कन्द-पुराणान्तर्गत गुरुगीता प्रसिद्ध है। रुद्रयामलतन्त्रका गुरुपादुकास्तोत्र एक अद्भुत चमत्कारी रहस्यमय स्तोत्र है। वामकेश्वरतन्त्रमें गुरुस्तव वर्णित है।

कुब्जिकातन्त्रमें छः श्लोकोंका श्रीगुरुस्तोत्र है। इसमें शिवरूपसे श्रीगुरुकी स्तुति की गयी है। श्रीशिवोक्त पादुकापञ्चक विख्यात है। कालीचरणकी 'अमला' नामक टीकामें इसके गूढ़ रहस्यको खोला गया है।

तन्त्रवर्णित श्रीगुरुपूजामें सबसे विचित्र बात श्रीगुरुमण्डलार्चन है। गुरुमण्डलार्चन-मन्त्र कई एक तन्त्र-ग्रन्थोंमें मिलता है। यह एक अपूर्व अद्भुत रहस्यमय मन्त्र है। प्रायः किसी एक तन्त्र-ग्रन्थमें इसका विस्तृत रहस्य नहीं खोला गया है। किसी-किसी तन्त्रमें कहीं-कहीं इसका उल्लेख देखनेमें आता है। 'आम्नायसप्तविंशतिरहस्य' में इसका अधिकतर रहस्य खोला गया है। इस ग्रन्थमें आम्नायभेदसे देवसमूहका विभाग करके श्रीगुरुमण्डलके देवताओंका उल्लेख किया गया है। यह ग्रन्थ अभीतक अप्रकाशित है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति जम्मूमें श्रीरघुनाथजीके मन्दिरके पुस्तकालयमें सुरक्षित है। एक हस्तलिखित प्रति मण्डीनरेश राजा सर योगेन्द्रसेनके चित्र-भण्डारमें भी विद्यमान है। नीचे श्रीगुरुमण्डलार्चनके विचित्र मन्त्रका विस्तारपूर्वक विवरण कई एक तन्त्र-ग्रन्थोंसे संग्रह करके लिखा जाता है। इस लेखमें अधिकतर 'आम्नायसप्तविंशतिरहस्य' का आश्रय लिया गया है। जहाँ कहीं मतभेद है, वहाँ अन्य तन्त्र-ग्रन्थोंमें वर्णित भेदादि स्पष्ट कर दिये गये हैं। श्रीगुरु-मण्डलार्चनके समय साधक पृथक्-पृथक् देवताका मन्त्रसहित नाम उच्चारण करके अन्तमें 'श्रीपादुकां पूजयामि तर्पयामि नमः' ऐसा उच्चारण करते हैं। इस लेखमें देवताओंके मन्त्र लेखके अधिक विस्तृत हो जानेके भयसे और उनके गुह्यतम होनेके कारणसे प्रकाशित नहीं किये जाते।

मन्त्र—ॐ श्रीनाथादिगुरुत्रयं गणपतिं पीठत्रयं भैरवं
सिद्धौघं वटुकत्रयं पदयुगं दूतीक्रमं मण्डलम्।
वीरानष्ट चतुष्कषष्टिनवकं वीरावलीं पञ्चकं
श्रीमन्मालिनिमन्त्रराजसहितं वन्दे गुरोर्मण्डलम्॥

१. श्री० श्रीलक्ष्मी

२. नाथादि०

आम्नायसप्तविंशतिरहस्यमें इसका अधिक उल्लेख नहीं किया गया; किन्तु विद्यार्णव-निबन्धमें जिन ओघत्रय (दिव्य, सिद्ध और मानव) का षोडशोपासनामें वर्णन है, वे रूपान्तरसे आम्नायसप्तविंशतिरहस्यमें दिये हैं।

१. दिव्यौघः—

१. श्रीशिवानन्दनाथ पराशक्त्यम्बा
२. श्रीसदाशिवानन्दनाथ चिच्छक्त्यम्बा
३. श्रीईश्वरानन्दनाथ आनन्दशक्त्यम्बा
४. श्रीरुद्रदेवानन्दनाथ इच्छाशक्त्यम्बा
५. श्रीविष्णुदेवानन्दनाथ ज्ञानशक्त्यम्बा
६. श्रीब्रह्मदेवानन्दनाथ क्रियाशक्त्यम्बा

२. सिद्धौघः—

१. श्रीसनकानन्दनाथ
२. श्रीसनन्दनानन्दनाथ
३. श्रीसनातनानन्दनाथ
४. श्रीसनत्कुमारानन्दनाथ
५. श्रीशौनकानन्दनाथ
६. श्रीसनत्सुजातानन्दनाथ
७. श्रीदत्तात्रेयानन्दनाथ
८. श्रीरैवतानन्दनाथ
९. श्रीवामदेवानन्दनाथ
१०. श्रीव्यासानन्दनाथ
११. श्रीशुकानन्दनाथ

३. मानवौघः—

१. श्रीनृसिंहानन्दनाथ
२. श्रीमहेशानन्दनाथ
३. श्रीभास्करानन्दनाथ
४. श्रीमहेन्द्रानन्दनाथ
५. श्रीमाधवानन्दनाथ
६. श्रीविष्णुदेवानन्दनाथ

कादिविद्योपासकानामोघत्रयम्—

दक्षिणामूर्तिसम्प्रदायानुसारतः—

१. दिव्यौघः—

१. परप्रकाशानन्दनाथ
२. परशिवानन्दनाथ
३. पराशक्त्यम्बानन्दनाथ
४. कौलेश्वरानन्दनाथ
५. शुक्लदेव्यम्बानन्दनाथ
६. कुलेश्वरानन्दनाथ
७. कामेश्वर्यम्बानन्दनाथ

२. सिद्धौघः—

१. भोगानन्दनाथ
२. क्लिन्नानन्दनाथ
३. समयानन्दनाथ
४. सहजानन्दनाथ

३. मानवौघः—

१. गगनानन्दनाथ
२. विश्वानन्दनाथ
३. विमलानन्दनाथ
४. मदनानन्दनाथ
५. भुवनानन्दनाथ
६. लीलानन्दनाथ
७. स्वात्मानन्दनाथ
८. प्रियानन्दनाथ

ज्ञानार्णव-तन्त्रके मतसे षोडशी-उपासनामें भी ओघत्रय-की यही परम्परा है।

हादिविद्योपासकानां परम्परा—

१. दिव्यौघः—

१. परमशिवानन्दनाथ
२. कामेश्वर्यम्बानन्दनाथ
३. दिव्यौघानन्दनाथ
४. महौघानन्दनाथ
५. सर्वानन्दनाथ
६. प्रज्ञादेव्यम्बानाथ
७. प्रकाशानन्दनाथ

२. सिद्धौघः—

१. दिव्यानन्दनाथ
२. चिदानन्दनाथ
३. कैवल्यानन्दनाथ
४. अनुदेव्यम्बानन्दनाथ
५. महोदयानन्दनाथ
६. सिद्धानन्दनाथ

३. मानवौघः—

१. चिदानन्दनाथ
२. विश्वानन्दनाथ
(विश्वशक्त्यानन्दनाथ)
३. रामानन्दनाथ
४. कमलानन्दनाथ
५. परानन्दनाथ
६. मनोहरानन्दनाथ
७. स्वात्मानन्दनाथ
८. प्रतिभानन्दनाथ

षोडश्युपासकानां परम्परा—विद्यार्णवनिबन्धे

१. दिव्यौघः—

१. व्योमातीताम्बा
२. व्योमेश्यम्बा
३. व्योमाकाम्बा
४. व्योमचारिण्यम्बा
५. व्योमस्थाम्बा

२. सिद्धौघः—

१. उन्मनाकाशानन्दनाथ
२. समनाकाशानन्दनाथ
३. व्यापकाकाशानन्दनाथ
४. शक्त्याकाशानन्दनाथ
५. ध्वन्याकाशानन्दनाथ
६. ध्वनिमात्राकाशानन्दनाथ
७. अनाहताकाशानन्दनाथ
८. विन्द्वाकाशानन्दनाथ
९. इन्द्वाकाशानन्दनाथ

३. मानवौघः—

१. परमात्मानन्दनाथ
२. शाम्भवानन्दनाथ
३. चिन्मुद्रानन्दनाथ
४. वाग्भवानन्दनाथ
५. लीलानन्दनाथ
६. सम्भ्रमानन्दनाथ
७. चिदानन्दनाथ
८. प्रसन्नानन्दनाथ
९. विश्वानन्दनाथ

मन्त्रादिविद्यानां परम्परा—

१. दिव्यौघः—

१. परप्रकाशानन्दनाथ
२. परविमर्शानन्दनाथ
३. कामेश्वर्यम्बानन्दनाथ
४. मोक्षानन्दनाथ
५. अमृतानन्दनाथ
६. सिद्धानन्दनाथ
७. पुरुषानन्दनाथ
८. अघोरानन्दनाथ

२. सिद्धौघः—

१. प्रकाशानन्दनाथ
२. सदानन्दनाथ
३. सिद्धौघानन्दनाथ
४. उत्तमानन्दनाथ

३. मानवौघः—

१. उत्तरानन्दनाथ
२. परमानन्दनाथ
३. सर्वज्ञानन्दनाथ
४. सर्वानन्दनाथ
५. सिद्धानन्दनाथ
६. गोविन्दानन्दनाथ
७. शङ्करानन्दनाथ

परोपासकानामोघत्रयम्

(परशुरामकल्पसूत्र, अष्टम खण्ड, पराक्रम-सूत्र २६)

१. दिव्यौघः—

१. परा भट्टारिका
२. अघोर
३. श्रीकण्ठ

२. सिद्धौघः—

१. शक्तिधर
२. क्रोध
३. त्र्यम्बक

३. मानवौघः—

१. आनन्द
२. प्रतिभादेव्यम्बा
३. वीर
४. संविदानन्द
५. मधुरादेव्यम्बा
६. ज्ञान
७. श्रीराम
८. योग

२. गुरुत्रयम्—

१. श्रीमदुमाम्बासहित श्रीविश्वनाथानन्दनाथ श्रीगुरु ।
२. श्रीमदन्नपूर्णाम्बासहित श्रीविश्वेश्वरानन्दनाथ श्रीपरमगुरु ।
३. श्रीमत्यराम्बासहित श्रीपरात्मानन्दनाथ श्रीपरमेष्ठिगुरु ।

४. गणपतिः—

श्रीमहागणपति

५. पीठत्रयम्—

१. श्रीकामगिरिपीठ ब्रह्मात्मकशक्त्यम्बा
२. श्रीपूर्णगिरिपीठ विष्णुात्मकशक्त्यम्बा
३. श्रीजालन्धरपीठ रुद्रात्मकशक्त्यम्बा

६. भैरवः—

१. श्रीमन्थान भैरव
२. श्रीषट्चक्र भैरव
३. श्रीफट्कार भैरव
४. ऐकात्मक भैरव (एकान्त, आम्नाय)
५. श्रीरविभक्ष्य भैरव (रविभैरव आम्नाय)
६. श्रीचण्ड भैरव
७. श्रीनभोनिर्मल भैरव
८. श्रीभ्रमरभास्कर भैरव

७. सिद्धौघः—

१. श्रीमहादर्शनाम्बा सिद्ध
२. श्रीसुन्दर्यम्बा सिद्ध
३. श्रीकरालिकाम्बा सिद्ध (विश्वोदर्यम्बा सिद्ध आम्नाय)
४. श्रीत्रिबाणाम्बा सिद्ध (शचीबीजाम्बा सिद्ध आम्नाय)
५. श्रीभीमाम्बा सिद्ध
६. श्रीकराल्यम्बा सिद्ध
७. श्रीखराननाम्बा सिद्ध
८. श्रीविधिशालीनाम्बा सिद्ध (विशालाक्ष्यम्बा आम्नाय)

८. वटुकत्रयम्—

१. श्रीस्कन्द वटुक
२. श्रीचित्र वटुक
३. श्रीविरञ्चि वटुक

९. पदयुगम्—

१. श्रीप्रकाशचरणम्
२. श्रीविमर्शचरणम्

१०. दूतीक्रमः—

१. श्रीयोन्यम्बा दूती
२. श्रीयोनि सिद्धनाथाम्बा दूती
३. श्रीमहायोन्यम्बा दूती
४. श्रीमहायोनि सिद्धनाथाम्बा दूती
५. श्रीदिव्ययोन्यम्बा दूती
६. श्रीदिव्ययोनि सिद्धनाथाम्बा दूती
७. श्रीशङ्खयोन्यम्बा दूती
८. श्रीशङ्खयोनिसिद्धनाथाम्बा दूती
९. श्रीपद्मयोन्यम्बा दूती
१०. श्रीपद्मयोनि सिद्धनाथाम्बा दूती

आम्नायसप्तविंशतिरहस्यमें केवल आठ दूतियाँ वर्णित हैं, प्रथम और द्वितीय नहीं।

११. मण्डलम्—

१. सोममण्डल
२. सूर्यमण्डल
३. अग्निमण्डल

१२. वीरा अष्ट—*

१. श्रीसृष्टिवीरभैरव
२. श्रीस्थितिवीरभैरव
३. श्रीसंहारवीरभैरव
४. श्रीरक्तवीरभैरव
५. श्रीयमवीरभैरव
६. श्रीमृत्युवीरभैरव
७. श्रीभद्रवीरभैरव
८. श्रीपरमार्कवीरभैरव
९. श्रीमार्तण्डवीरभैरव
१०. श्रीकालाग्निरुद्रवीरभैरव

१३. चतुष्कषष्टिः—

श्रीमङ्गलानाथ, चण्डिका, कन्तुका, पटहा, कूर्म, धनदा, गन्ध, गगन, मतङ्ग, चम्पका, कैवर्त, मातङ्गगम, सूर्यभक्ष्य, नभोभक्ष्य, स्तौतिका, रूपिका, दंष्ट्रापूज्य, धूम्राक्ष, ज्वाला, गान्धार, गगनेश्वर, माया, महामाया, नित्या, शान्ता, विश्वा, कामिनी, उमा, श्रिया, सुभगा, सर्वगा, लक्ष्मी, विद्या, मीना, अमृता, चन्द्र, अन्तरिक्ष, सिद्धा, श्रद्धा, अनन्ता, शम्बरा, उल्क, त्रैलोक्या, भीमा, राक्षसी, मलिना, प्रचण्डा, अनङ्गविधि, रवि, अनभिमता, नन्दिनी, अभिमता, सुन्दरी, विश्वेशा, काल, महाकाल, अभया, विकार, महाविकार, सर्वगा, सकला, पूतना, शार्वरी, व्योमा। ६४

१४. नवकम्—

१. सर्वसंक्षोभिणी
२. सर्वविद्राविणी
३. सर्वाकर्षिणी
४. सर्ववशङ्करी
५. सर्वोन्मादिनी
६. सर्वमहाङ्कुशे
७. सर्वखेचरी
८. सर्वबीजेश्वरी
९. सर्वयोनि

आम्नायसप्तविंशतिरहस्यके अनुसार—

१. तुरीयाम्बा
२. महार्धाम्बा
३. अश्वारूढाम्बा
४. मिश्राम्बा
५. वाग्वादिन्यम्बा
६. महाकाल्यम्बा
७. ताराम्बा
८. (१. वनदुर्गाम्बा, २. जयदुर्गाम्बा ३. महिषमर्दिनी दुर्गाम्बा)
९. मुद्रानवकाम्बा

१५ वीरावली—

१. श्रीब्रह्मवीरावली
२. श्रीविष्णुवीरावली
३. श्रीरुद्रवीरावली
४. श्रीईश्वरवीरावली
५. श्रीसदाशिववीरावली

* (मन्त्रमें 'वीर' की गणना ८ है किन्तु ग्रन्थोंमें १० दिये हैं।)

१६. पञ्चकम्—

१. पञ्च लक्ष्म्यः—

१. श्रीमहालक्ष्मीश्वरीवृन्दमण्डितासनसंस्थिता सर्वसौभाग्यजननी श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी श्रीविद्यालक्ष्म्यम्बा

२. श्रीमहा.....
श्रीएकाक्षरलक्ष्मीलक्ष्म्यम्बा

३. श्रीमहा.....
श्रीमहालक्ष्मीलक्ष्म्यम्बा

४. श्रीमहा.....
श्रीत्रिशक्तिलक्ष्मीलक्ष्म्यम्बा

५. श्रीमहा.....
श्रीसर्वसाम्राज्यलक्ष्मीलक्ष्म्यम्बा

२. पञ्चकोश—

१. श्रीमहाकोशेश्वरीवृन्दमण्डितासनसंस्थिता सर्वसौभाग्यजननी श्रीविद्याकोशाम्बा

२. श्रीमहा.....
श्रीपरज्योतिःकोशाम्बा

३. श्रीमहा.....
श्रीपरनिष्कलशाम्भवीकोशाम्बा

४. श्रीमहा.....
श्रीअजपाकोशाम्बा

५. श्रीमहा.....
श्रीमातृकाकोशाम्बा

३. पञ्च कल्पलता

१. श्रीमहाकल्पलतेश्वरीवृन्दमण्डितासनसंस्थिता सर्वसौभाग्यजननी श्रीविद्याकल्पलताम्बा

२. श्रीमहा.....
श्रीत्वरिता कल्पलताम्बा

३. श्रीमहा.....
श्रीपारिजातेश्वरी कल्पलताम्बा

४. श्रीमहा.....
श्रीत्रिपुटा कल्पलताम्बा

५. श्रीमहा.....
श्रीपञ्चबाणेश्वरी कल्पलताम्बा

४. पञ्च कामदुघा

१. श्रीमहाकामदुघेश्वरीवृन्दमण्डितासनसंस्थिता सर्वसौभाग्यजननी श्रीविद्या कामदुघाम्बा

२. श्रीमहा.....
श्रीअमृतपीठेश्वरी कामदुघाम्बा

३. श्रीमहा.....
श्रीसुधासूः कामदुघाम्बा

४. श्रीमहा.....
श्रीअमृतेश्वरी कामदुघाम्बा

५. श्रीमहा.....
श्रीअन्नपूर्णा कामदुघाम्बा

५. पञ्च रत्नविद्या

१. श्रीमहारत्नेश्वरीवृन्दमण्डितासनसंस्थिता सर्वसौभाग्यजननी श्रीविद्यारत्नाम्बा

२. श्रीमहा.....
श्रीसिद्धलक्ष्मीरत्नाम्बा

३. श्रीमहा.....
श्रीमातङ्गेश्वरीरत्नाम्बा

४. श्रीमहा.....
श्रीभुवनेश्वरीरत्नाम्बा

५. श्रीमहा.....
श्रीवाराहीरत्नाम्बा

इति पञ्चपञ्चिका

१७. श्रीमन्मालिनी—

ॐ अं आं.....अं

१८. मन्त्रराज—

श्रीनृसिंहमन्त्र

उपर्युक्त विवरणसे तान्त्रिक उपासनाकी गम्भीरता स्पष्ट होती है। तन्त्रवर्णित श्रीगुरु आजकलके नाना आडम्बर-भूषित गुरुसे सर्वथा भिन्न हैं। तन्त्रानुसार श्रीगुरु इष्टदेवके ही रूप हैं। और जिस प्रकार तन्त्रमतानुयायी साधक गुरु-साधना करते हैं उससे न केवल मन्त्रदाता गुरुकी पूजा होती है, किन्तु स्वेष्टदेवाभिन्न शिव-शक्तिसामरस्यस्वरूप नादबिन्दु-कलातीत परमानन्द तत्त्वकी पूजा होती है और यही तन्त्रवर्णित श्रीगुरु और श्रीगुरुसाधनाकी अद्भुत सर्वोत्कृष्टता है।

श्रीआदिनाथचरणारविन्दार्पणमस्तु

दिव्य चक्षुका उन्मीलन

(लेखक—श्रीचित्रगुप्तस्वरूपजी)

प्रत्येक जीवात्माके सिरमें तीन नेत्र होते हैं। एक नेत्र बंद रहता है और दो खुले होते हैं। यानी एक नेत्र गुप्त होता है और दो प्रकट होते हैं। उस गुप्त या प्रधान नेत्रको पण्डितलोग दिव्य चक्षु कहते हैं। उस असली आँखको योगीलोग शिवनेत्र कहते हैं और उस नूरेनज़रको साधक-लोग तीसरा नेत्र कहते हैं।

सर्वसाधारणका जो यह विश्वास है कि शिवनेत्र केवल शङ्करजीके शरीरमें है, वह भ्रमपूर्ण है। योगविद्या घोषित करती है कि तीसरा तिल सबमें विद्यमान है और जो भी चाहे, भगवान् शङ्करकी तरह, अपने दिव्य चक्षुका उन्मीलन कर सकता है—फिर चाहे उससे आग निकाली जाय या पानी; क्योंकि वहाँ पञ्चतत्त्वका एक केन्द्र रहता है।

शिवनेत्रमें ब्रह्मका, दाहिने नेत्रमें कालका और बायें नेत्रमें शक्तिका निवास है। इन तीनों अंशोंकी संयुक्तावस्था ही परमेश्वरका रूप है। विराट्में जो आत्म-मण्डलकी त्रिपुटी है, ये तीनों नयन उसीकी छाया हैं। शिवनेत्रका सम्बन्ध ब्रह्ममण्डलसे, दाहिनेका सूर्यमण्डलसे और बायेंका सम्बन्ध चन्द्रमण्डलसे है। शिवनेत्रसे विचार उत्पन्न होता है, दाहिने नेत्रसे इच्छा पैदा होती है और बायेंसे क्रिया उत्पन्न होती है।

दिव्य चक्षुका प्रमाण

प्रत्येक घटमें दिव्य चक्षुके होनेका एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। जब आप सो जाते हैं, तब ये बाहरी दोनों नेत्र बंद हो जाते हैं। फिर आप जो सपना देखते हैं, वह उसी भीतरी नेत्रके प्रकाशसे देखते हैं। दिव्य चक्षुका प्रकाश बाहरी दुनियामें तबतक नहीं हो सकता, जबतक उसका बाकायदा उन्मीलन न किया जाय। परन्तु दिव्य चक्षुका प्रकाश भीतरी दुनियाँमें—(सूक्ष्म जगत्, कारण जगत् और आत्मजगत्में) स्वयं भरपूर रहता है। इसी कारण स्वप्नमें जो कुछ होता है, वह दिखायी पड़ता है। सपनेको मन नहीं देखता; क्योंकि मनमें देखनेकी शक्ति नहीं होती। अगर मन ही देखता तो अपने मनका आकार क्यों दीखता? सपनेमें अपना मन आकार धारण कर लेता है और सपना देखनेवालेकी सूरत धारण कर लेता है। अगर मन ही देखता होता तो आप अपने मनका धारण किया हुआ साकार कैसे देख सकते थे? सपनेमें आपसहित सभी बातें दिखायी दिया करती हैं। शिवनेत्रका प्रकाश ही आपके मनका आकार आपको दिखलाता है। अतः सपनोंका दीखना मनकी शक्तिके अन्तर्गत नहीं—दिव्य चक्षुकी शक्तिके अन्तर्गत है। सिनेमाके परदेपर जो खेल होता है, वह फिल्मरूपी मनकी लीला जरूर है; मगर उस लीलाको प्रकाशित करनेका श्रेय उस रोशनीको है, जो ऊपरसे आकर उस परदेपर पड़ रही है। बिजलीरूप दिव्य चक्षु ही परदेपर प्रकाश डालता है। तभी सब खेल दिखलायी पड़ते हैं।

उन्मीलनका विधान

पद्मासनसे बैठो। नेत्रोंको बन्द करो। जीभको तालूकी ओर चढ़ा लो। अपने ध्यानको दोनों भृकुटिके मेलके स्थानसे—यानी नाककी जड़से—दो अङ्गुल ऊपर जमाओ। यह ध्यान सिरके बाहरी भागपर न होना चाहिये—भीतरी भागपर होना चाहिये। ध्यानके समय 'शिव' मन्त्रका जाप मनसे करना चाहिये।

फल

जिनका दिव्य चक्षु खुल गया है, उनको ज्ञान और शक्तिसे काम लेनेका अधिकार प्राप्त हो जाता है। उनको सब स्थानोंकी घटनाएँ दिखलायी पड़ने लगती हैं। उनका मन धीरे-धीरे स्वयं एकाग्र हो जाता है। अपने और परायेके भविष्यका हाल मालूम हो सकता है। अपना जीवन बढ़ाया जा सकता है। देवदर्शन प्राप्त होता और स्वास्थ्य बढ़िया रहता है।

मन ही साधन है

(लेखक—श्रीचक्रपाणि)

साधनकी अपेक्षा साधकको होती है, साधककी अपेक्षा साध्यको होती है। अर्थात् पहले साध्य, पीछे साधक और तब साधन। साध्य कोई वस्तु साधकके पहलेसे है, साधक उसीकी इच्छा करता है और उसका यह इच्छा करना ही साधन बनता है। इष्ट (जिसकी हम इच्छा करते हैं) साध्य है, इच्छा साधन है और साधक इन दोनोंका संयोजक है। यह साधक कौन है, जो साध्यकी इच्छा करता है?

यह मन है, जिसकी इच्छा ही उसकी गति है। हम जो चाहते हैं, वही तो करते हैं और वही तो होता है। संसारमें क्या हो रहा है? युद्ध। युद्ध ही सही। पर क्या यह हमारी इच्छाओंका ही संघर्ष नहीं है? जगत्में जितने जीव हैं, सब किसी-न-किसी वस्तुको पानेकी इच्छा करते हैं और ये इच्छाएँ एक दूसरीसे टकराती हैं—यही संघर्ष है, यही युद्ध है। संसारमें युद्ध न हो, यह भी एक इच्छा है और वह कभी युद्धकी इच्छाको दबाती और कभी स्वयं उससे दबती है। इसलिये संसारमें शान्ति और युद्ध दोनों ही बने रहते हैं। यदि कहीं ऐसा हो जाय कि कोई जीव कोई इच्छा ही न करे तो युद्ध असम्भव है। पर क्या कभी ऐसा हो सकता है? हम अपनी ही बातको देखें तो यह कहना पड़ेगा कि एक क्षण भी हमारा ऐसा नहीं बीतता, जब हम किसी इच्छाके वशमें न हों। प्रत्येक क्षण हम अपनी इच्छाके पीछे चल रहे हैं। ये इच्छाएँ (हमारी अपनी ही) कभी-कभी इतनी परस्परविरोधिनी होती हैं कि इच्छाके उदयकालमें तो हमें उनके परस्परविरोधी फलोंका अनुमान नहीं होता, पर फलोदयकालमें ये फल इतने परस्परविरुद्ध होते हैं कि हम घबरा जाते हैं कि यह क्या हो रहा है। ऐसा मालूम होता है कि हमने ऐसी विकट संघर्षमय परिस्थितिकी तो कभी इच्छा नहीं की थी, ईश्वरने यह क्या कर दिया! हमने अपनी परस्पर-विरोधिनी इच्छाओंका कोई खाता नहीं रक्खा है; इसलिये हम हिसाब फैलाकर यह नहीं देख सकते कि यहाँ हमारे जिम्मे क्या देना-पावना है। पर इतना तो स्पष्ट है कि इच्छा ही हमारी पूँजी है और उसीसे उसका ब्याज बढ़ता जा रहा है और ब्यालसे पूँजी भी बढ़ती जा रही है। यह एक प्रकारका साधन ही तो है; क्योंकि हम जब इच्छा करते हैं, तब किसी साध्यको पानेकी ही इच्छा करते हैं और जो इच्छा करते हैं वही करते हैं, वही होता है। इस साधनको शिष्ट लोग साधन नहीं कहते; क्योंकि यह शिष्टोंके विचारसे मनुष्योचित साध्यका साधक नहीं, बल्कि बाधक है—बन्धन है। 'साधन' शब्दका भी प्रयोग करना हो तो हम कह सकते हैं कि यह बन्धनका साधन है, मुक्तिका नहीं। पर मुक्ति साध्य हो या बन्धन, साधकका साधन है मन ही—इसमें कोई सन्देह नहीं। कहा भी है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

अच्छा तो अब यह विचारें कि मनुष्योचित सामान्य साध्य क्या है? 'सामान्य' शब्दका प्रयोग हम इसलिये करते हैं कि जितने मनुष्य हैं, उन सबकी मति भिन्न-भिन्न है और उसके अनुसार साध्य भी सबके भिन्न-भिन्न अर्थात् विशेष-विशेष हो सकते हैं। सब मनुष्योंका मनुष्यके नाते एक सामान्य साध्य है, उसीको हम मनुष्योचित सामान्य साध्य कहते हैं। यह सामान्य साध्य सब मनुष्योंका है और प्रत्येक मनुष्यका भी, इसीलिये इसे सामान्य साध्य कहते हैं। कोई मनुष्य इस सामान्य साध्यके बिना मनुष्य नहीं रह सकता; क्योंकि मनुष्यका जो सामान्य लक्षण है, वह उसमें नहीं है। यह साध्य क्या है? साध्य सदा ही इतना ऊँचा होता है कि वहाँतक हमारे हाथ नहीं पहुँचते और पहुँचानेकी हमें इच्छा होती है। अर्थात् वह अवस्था मनुष्यकी सामान्य अवस्थासे ऊँची होती है। इस अवस्थाको हमलोग अमानव, अलौकिक अथवा दिव्य कहते हैं। मनुष्यके नीचेकी योनियोंमें एक ऐसी सोपानपरम्परा देख पड़ती है, जिसमें प्रत्येक सोपानके जीव अपनेसे ऊपरके सोपानके जीवोंको देखते हैं और सम्भव है उन्हींकी अवस्थाको साध्य मानकर अपना जीवन उसीकी प्राप्तिमें लगा देते हैं और इस क्रमसे अन्तमें मनुष्ययोनिको प्राप्त होते हैं। पर मनुष्ययोनिमें आकर इसके ऊपरकी योनि उतनी स्पष्ट नहीं देख पड़ती जितनी कि पशु-पक्षियोंको मनुष्ययोनि देख पड़ती है। मनुष्यका अनित्य, दुःखमय लौकिक जीवन ही उसे नित्य सुखमय दिव्य योनिकी सत्ताका भान कराता है। उस सत्ताको पाना ही मनुष्यका साध्य है, मनुष्य ही उसका साधक है और उसे प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाला उसका मन ही उसका साधन है।

यह साधन हम कैसे करें ? यह साधन क्या है ?—मन। साध्य क्या है ?—मनुष्यके मनके ऊपरकी स्थिति। बस, उसीमें इस मनको लगा दो—साध्यमें साधनको लगा दो। 'लगा दो' कहनेसे भी नहीं होगा। संसारमें हम अपने मनको लगाते हैं; क्योंकि मनुष्य उसकी इच्छा करता है और जिसकी इच्छा करता है, उसे वह पा लेता है। कैसे ? मनको लगाकर, मनको तन्मय करके, मनको उसीका सङ्कल्प और कर्म करनेमें प्रवृत्त करके, मनको उसीके सामने झुकाकर, उसीको साध्य मानकर साधनसहित उसका रास्ता चलकर। इसीलिये मनके ऊपर मनुष्यका जो महान् अमानव अलौकिक अमृत आनन्दमय साध्य है, जो साधकके पहलेसे वहाँ स्थित है और जिसने ही यह साधन—मन मनुष्यको दे रक्खा है, उसीकी यह वाणी है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

जहाँ साध्य सामने हो, साधकका मन तत्परायण हो, वहाँ साध्य-साधक-साधनकी सिद्धिमें और क्या चाहिये ? साधनकी सीढ़ीपर जिसने पैर रक्खा, वह साधनके ऊपर साध्यका हाथ पकड़कर ही उसके समीप जा रहा है। यह साधन है मन, इसीका साध्यके साथ योग होना मनुष्यजन्मका लक्ष्य है।

साधन-रहस्य-सार

(लेखक—श्री 'सुदाम' वैदर्भीय)

दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत्॥

सबका ध्येय एकमात्र अविनाशी, अतृप्तिकर, परम पूर्णानन्द ही है। स्वर्गादि सुख, सिद्धिवैभव और दिग्विजयादि विकारी अपूर्ण प्रकृतिक्षेत्रगत पदार्थ हैं; इनसे यह पूर्णानन्द नहीं मिल सकता। सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म ही उस पूर्णानन्दके अधिष्ठान हैं। उससे भिन्न किसी भी फलके लिये किये जानेवाले साधन बन्धन ही हैं। कारण 'यदल्पं तन्मर्त्यम्', 'भूमा वै तत्सुखम्', 'नाल्पे सुखमस्ति', 'आनन्दो ब्रह्मेति'—यही श्रुति-सिद्धान्त है और यही संतोंका अनुभव है। इसलिये ब्रह्मानुभवके बिना कभी किसीको पूर्णानन्द न मिला न मिल सकता है। अतः इस सर्वोत्तम ध्येयको छोड़ और किसीके लिये कोई साधन क्यों किया जाय ?

यह ब्रह्मतत्त्व सर्वत्र—सर्वव्यापक है, अतः हमारे अंदर भी है; केवल अंदर ही नहीं है, हम स्वयं तद्रूप ही हैं—'जीवो ब्रह्मैव नापरः।' इस प्रकार यद्यपि ब्रह्म सबको प्राप्त है, तथापि कल्पनाके इस घटाटोपमें उसका कहीं पता नहीं चलता। 'हम कौन हैं ?' इसीका हमें कोई पता नहीं है। हम बहे जा रहे हैं अपने आपको भुलाकर कल्पनाके प्रवाहमें न जाने कहाँ किस ओर! इसलिये पहले अपने आपको ढूँढ़ना होगा, इसके बिना सुखका पता लग नहीं सकता।

प्रकाशकी ओर देखते-देखते यदि हठात् हम अपनी दृष्टिको छायामें, अन्धकारमें ले जायँ तो वहाँ हम सहसा कुछ भी न देख सकेंगे, केवल अन्धकार ही देखेंगे। परन्तु दृष्टिको वहीं कुछ समय स्थिर करके रक्खें तो अन्धकारमें छिपी रक्खी वस्तुओंको भी वह देख सकेगी, अन्धकारमें उसे प्रकाश मिलने लगेगा। यही बात हमारी चित्तवृत्तिकी भी है। बाह्य व्यवहारोंमें लगी हुई वृत्ति अंदरकी वस्तुओंको कैसे ढूँढ़े ? अंदर उसका घबरा जाना ही स्वाभाविक है, इसीलिये कुछ दिन इसे अंदरके विचारमें स्थिर करना होगा। इससे अंदर देखनेकी इसकी शक्ति बढ़ेगी।

गँदले, चञ्चल और अँधेरे पानीके हौजमें पड़ी हुई किसी चीजको अथवा अपनी परछाईंको कोई कैसे देख सकता है ? मल, विक्षेप और आवरणसे युक्त बुद्धि भी, इसी प्रकार, आत्मतेजको प्रत्यक्ष कैसे कर सकती है ? निर्मल, निश्चल और प्रकाश (ज्ञान) युक्त बुद्धि ही आत्मानुभवमें समर्थ होती है। कपड़ा सीनेके लिये सूईकी जरूरत होती है, कुदालकी नहीं। सूक्ष्मातिसूक्ष्म जो आत्मतत्त्व है उसके साथ युक्त होनेके लिये, उसी प्रकार, अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धिकी आवश्यकता होती है; स्थूल बुद्धिसे वहाँ काम नहीं चलता। अर्थात् आत्मानुभवके लिये चित्तकी शुद्धि, मनकी स्थिरता और बुद्धिकी सूक्ष्मता होनी चाहिये और जिस उपायके करनेसे यह काम बन जाय, उसीको हम साधना कहेंगे। सद्ग्रन्थों और साधु-संतोंने जहाँ-जहाँ जो-जो साधन बताये हैं, उन सबका मर्म यही है। साधन चाहे जितने भी कठिन हों; पर

जिनसे यह काम न बनता हो वे साधन नहीं, केवल भ्रमविलास हैं।

बहुत लोग परमानन्दलाभकी इच्छासे साधनमें लगते हैं। परन्तु रहस्यको न जाननेवाले इन साधनोंसे कोई लाभ उठाते नहीं नज़र आते। प्रायः यही देखनेमें आता है कि लोग साधनके सौन्दर्य, काठिन्य और वैशिष्ट्यका ही अधिक आदर करते हैं और कठिन साधनोंके पीछे पड़ जाते हैं। परन्तु साधनके बाह्यरूपमें क्या रक्खा है? परमार्थदृष्टिसे उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं। वृत्तिको सुधारनेका काम है, यदि वह घर बैठे होता हो तो यही सबसे श्रेष्ठ साधन है। कहते भी हैं—'मन चंगा तो कठौतीमें गङ्गा।'

बहुतेरे यही रोना रोते हैं कि 'हमने कितने ही साधन किये, जप किया, दान किया, तीर्थयात्रा की, कितने व्रत किये, पर चित्तकी शुद्धि नहीं हुई; मन जहाँ पहले भटका करता था, वहीं अब भी भटकता ही है! आखिर ऐसा क्यों होता है?' बात यह है कि इन बेचारोंको यही पता नहीं है कि चित्त है क्या चीज और जब यही नहीं जानते, तब शुद्ध और स्थिर तो किसको करें और कैसे करें? इसलिये चित्त क्या है, यह पहले जानना चाहिये; तब उसे शुद्ध और स्थिर करना अनायास ही हो जायगा।

आप जो चिन्ता या चिन्तन करते हैं, आपके इस स्वभावको ही चित्त कहते हैं। चित्त कोई स्वतन्त्र पदार्थ है ही नहीं। यह कहना कि चित्त शुद्ध नहीं होता, केवल अपनी मूर्खता प्रकट करना है। यदि अशुद्ध चिन्तन करते ही रहेंगे तो सैकड़ों साधनोंके करनेसे भी क्या होगा? जबतक आप शुद्ध चिन्तन न करेंगे, तबतक बाह्य साधनोंसे कुछ भी न होगा। हाँ, यह बात सही है कि 'हम अशुद्ध चिन्तन न करेंगे' केवल ऐसा निश्चय कर लेनेसे ही चित्त शुद्ध हो जाता हो—यह बात नहीं है। कारण, आप सांसारिक सुखकी इच्छा तो करते ही होंगे—सुख, सौन्दर्य और प्रेमकी अनुभूति तो आपको जगत्‌में होती ही होगी। यदि ऐसा है तो इनका चिन्तन भी आप अवश्य ही करेंगे, वह कैसे छूट सकता है? और फिर इस हालतमें अन्य साधनोंकी भी क्या आवश्यकता है? इसमें तो केवल एक ही साधन है और वह है विवेक। विवेक इसी बातका कि सुख, सौन्दर्य, प्रेम संसारमें सचमुच ही हैं या यह केवल कल्पनाविलास हैं; शान्ति भी इस संसार-में संसारके किसी पदार्थसे किसीको मिलती है या केवल ऐसा भ्रम होता है? यहाँ मेरे-पराये यथार्थमें कौन हैं? कौन कबतकके मेरे साथी हैं और उसके बाद नहीं? अन्तमें फिर यह मृत्यु क्या है? इसको हम क्या समझें? कैसे इसका सामना करें? इत्यादि। यह विवेक जैसे-जैसे होता जायगा, वैसे-ही-वैसे कामना और आसक्ति कम होती जायगी और भगवद्गुण और महिमाका श्रवण करनेसे श्रद्धा-भक्ति बढ़ती जायगी। इस प्रकार चित्तका विरागानुरागयुक्त होना ही चित्तशुद्धि है। उपाय सरल है, पर जो अपने चित्तको शुद्ध करना चाहें उनके लिये। चित्तशुद्धिकी आवश्यकता तो तब ही प्रतीत होती है जब विवेक हो चुकता है; उससे पहले विवेक ही साधन है और इसके लिये सत्सङ्ग करना चाहिये और सद्ग्रन्थोंको पढ़ना-सुनना चाहिये।

मन स्थिर क्यों नहीं होता? मनका स्वरूप है मानना, मनन करना। आप भला-बुरा, सच्चा-झूठा सब कुछ तो माना करते हैं, चाहे जो मनन करते रहते हैं; तब मन स्थिर हो तो कैसे? आप मानना, मनन करना छोड़ दीजिये; मनका कहीं कोई चिह्न भी बाकी न रहेगा। केवल ऊपरी साधनोंसे कुछ न होगा।

मनन यदि किसी तरह बन्द न होता हो तो भगवान्‌की किसी मूर्तिका ही मनन करो, इसी एक संस्कारमें मनको लगा दो, इसीके स्मरण-ध्यानमें मनको केन्द्रीभूत कर दो; इससे मन स्थिर होगा। परन्तु चित्त जबतक शुद्ध नहीं होता, तबतक मनको स्थिर करना सुलभ नहीं होता। वैराग्यसे चित्तशुद्धि और अभ्याससे स्थिरता होती है—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥' (गीता)

मनकी कल्पनाओंके प्रवाहमें बहना छोड़ दो, और तटस्थ होकर साक्षीरूपसे उन्हें देखते रहो तो मन स्थिर ही समझो।

कोई-कोई पूछते हैं, हमें ज्ञान कैसे प्राप्त होगा? बड़े-बड़े पण्डितों और तपस्वियोंकी जहाँ दाल नहीं गलती, वहाँ हमें कौन पूछता है! बहुत ग्रन्थ देखे, भेस लिया, आश्रम-धाम ढूँढ़े, संतोंकी सेवा-टहल की; पर आत्माका कोई पता नहीं चला! ठीक ही तो हुआ। आत्मा क्या बाहर है, वनों और जंगलोंमें है, मठों और आश्रमोंमें है? और क्या उसके लिये पण्डित या तपसी होना पड़ता है? जो कुछ किया, आपने अच्छा किया; अब चुपचाप बैठिये, बाहरी ग्रन्थोंको रख दीजिये—अंदरका ग्रन्थ पढ़िये। मन-बुद्धिके मूलका पता लगाइये और इन मन-बुद्धिको जाननेवाले जो आप हैं, उन

अपने आपको पहचानिये। मनको अत्यन्त सुस्थिर रखकर अपने आपको ढूँढ़िये, पता लगा लीजिये; पता चल जायगा। बुद्धिको सूक्ष्म करनेके लिये महावाक्यके विवरण, श्रवण, मनन और निदिध्यासनकी बड़ी आवश्यकता है। पर ग्रन्थवचनोंसे आत्मविषयक (विशेषण या लक्षणके अनुसार) कल्पना और तर्क मत कीजिये। ब्रह्म या आत्मा-नामसे किसी अन्य पदार्थ-को ढूँढ़ना नहीं है, अपने आपको ही तो जान लेना है!

'हम' या 'मैं' इस शब्दका प्रयोग आप जिस वस्तुके लिये करते हैं, उसे शान्ति और युक्तिके साथ अपने अंदर ही ढूँढ़िये। मूलमें 'मैं', 'हम', 'अहम्' आदि शब्द नहीं हैं; केवल एक आत्मसत्ताका स्वतः स्फूर्त्त सतत बोधमात्र है। 'मैं' पनकी भाषा और कल्पनाको अपनेसे हटा दो; 'मैं और मेरा' का जो-जो कुछ लगाव है, सब अपनेसे अलग कर दो। स्मरण-विस्मरणसे रहित होकर स्वभावमें स्थिर हो जाओ। इस स्वभावको जाननेवाला (प्रकाश करनेवाला) आपका जो स्वरूप है, वही आप हैं। अपनी सत्ताको स्फुरित न करके स्वस्थ रहो। बस, यही आप हैं; यही आत्मस्वरूप है। 'स्वरूप कहते हैं 'उस अरूपको जो तत्त्वनिरसनके परे है।' (रामदास)

सबको जाननेवाली, त्रिगुण संस्कारको भी जाननेवाली जो चेतना है उसे भी आप ही प्रकाशित करते हैं। उस चेतनाको पहचानो और फिर उसे पहचाननेवालेको भी पहचानो; पहचाननेकी तब कोई चीज न रहेगी, रह जायगा केवल आत्मस्वरूप। 'जाननेवालेको जहाँ जान लिया, वहीं मैंपनका मूल कट गया (रामदास)।' जरा गहराईके साथ, शान्तिके साथ ढूँढ़ो; जिसकी सत्तासे ढूँढ़ा जायगा, वही आप हैं। ढूँढ़नेकी उपाधिको छोड़ो, छोड़नेकी उपाधिसे बचो। तब जो कुछ रहा, वह आत्मस्वरूप ही है।

मन जब स्थिर होता और कल्पना नष्ट होती है, तब क्या रहता है? 'कुछ नहीं' यही प्रत्यय होता है। इस 'कुछ नहीं' (शून्य) का अभिमान मत धारण करो (कारण, अभिमानधारकत्व ही जीवत्व है)। इस लयको जो प्रकाशित करता है, वही आत्मा है। 'तुकाराम कहते हैं कि जब मन लीन हो जाता है, तब जो कुछ रहता है, वही तुम हो।' 'वही ब्रह्म मैं हूँ' यह भावना भी आपका ही मन्तव्य है। इसे भी छोड़ो और केवल आप-ही-आप रहो—'केवलं सत्तामात्र-स्वरूपं भावं परं ब्रह्म' इति श्रुतिः। युक्तिसे इसका अनुभव करो, पर अन्य होकर नहीं।

त्रिपुटी कोई हो, वह आपका सत्ताविलास है। ध्याता, ज्ञाता आदि भी आप नहीं हैं, आपकी केवल एक लहर है। अथवा आपके आश्रयमें क्रीडन करनेवाली कल्पनाके कार्यानुसार आपपर होनेवाले वे मिथ्या आरोप हैं। ध्याता-ध्यान-ध्येय, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय इत्यादि त्रिविध वस्तुओंको जो प्रकाशित करता है वही आत्मा है। वही आप हैं। त्रिपुटीका अतिक्रम करके देख लीजिये, तन्मय हो जाइये। किसी प्रक्रियासे हो, अपनी सहज आत्मस्थितिको अनुभव करना ही तो सब साधनोंका सार है। अनुभवी महात्माओं-का आश्रय ग्रहणकर अन्तर्युक्ति सीख लीजिये और अनुभव करिये; बस, इतना ही काम है।

गुरू कृपा जेहि नरपर कीन्ही तिन्ह यह जुगति पिछानी।
नानक लीन भयो गोबिंद सैंग ज्यों पानीमें पानी॥

उस युक्तिको जानना ही यथार्थमें गुरुकृपा है।

सारा संसार एक महास्वप्न है। केवल कल्पित नाम-रूपसे सब भेद देख पड़ते हैं। परन्तु यथार्थमें अस्ति, भाति, प्रियत्वके सिवा और कुछ भी इस संसारमें नहीं है। संसार संसाररूपसे मिथ्या और सच्चिदानन्दरूपसे सत्य है। अर्थात् जगत् या देहकी कल्पना आदि मिथ्या और एक तत्त्व ही अखण्ड है। भेदभावकी कल्पना जहाँ छूटी, वहाँ सब एक ही है। इस प्रकार यथार्थ जानकर जो लोग अखण्ड अनुसन्धान करते हैं, वे स्वानन्द-सिन्धुमें खेलते हुए अन्तमें उसीके साथ सर्वथा समरस हो जाते हैं। जो कुछ प्राप्तव्य है, यही है।

तात्पर्य—

(कु०) परमानन्दहि ध्येय है, है वह हरिका नूर।
दूर दूर क्या सोचता, है सबमें भरपूर॥
है सबमें भरपूर, सच्चिदानन्द वही तू।
मृषा नाम अरु रूप, छाड़ अध्यास तुही तू॥
चाह कल्पना छोड़, मृषा तज मैंपन बंधहि।
रह जा चुप्प सुदास! सहज तू परमानन्दहि॥

अनाहत नाद

(लेखक—स्वामी नथनानन्दजी सरस्वती)

संत-समाजका एक बड़ा भारी भाग अनाहत नाद या अनहद नादका उपासक है। कबीर, रैदास, नानक और राधास्वामीने केवल अनहद-योगका प्रचार किया था। उक्त आचार्योंने, अपने-अपने अलग-अलग मत या सम्प्रदाय कायम किये और उनको अनहद नादका साधन बतलाया।

विराट्में जितने मण्डल हैं—उनमेंसे दस मण्डलोंने शब्द भी जारी किये हैं। इन मण्डलोंमें प्रत्येक मण्डल अपना एक शब्द रखता है। विराट्में कुल छत्तीस मण्डल हैं और वे सब अपना-अपना एक-एक शब्द रखते हैं। परन्तु केवल दसका शब्द प्रकट स्वरमें चालू है और शेष छब्बीस मण्डलोंके शब्द स्वररूपसे गुप्त आवाजमें चालू रहते हैं। उपर्युक्त ३६ मण्डल अलग-अलग अपना रंग, रूप, शब्द और अधिकार रखते हैं। उन सबकी अर्द्धमात्राएँ अलग हैं, उनके बीज यानी शिव भी अलग-अलग हैं। प्रत्येक मण्डलसे जो सूत्र यहाँ आता है, वह स्वर या शब्दके रूपमें ही होता है। इसराज नामक बाजेमें जो ३६ तार होते हैं, वे ३६ मंज़िलके स्मारक हैं और ३६ प्रकारके अनाहत नादके द्योतक हैं। दस प्रकारका अनहद कानसे सुना जाता है। बाकी २६ प्रकारका अनहद—जो स्वररूप है—केवल अनुभवके कानसे सुनायी पड़ता है। वे लोग यथार्थ नहीं जानते, जो अनहदको केवल दस ही प्रकारका जानते या मानते हैं। कारण यह कि जो दस मण्डल अखण्ड अर्द्ध-मात्राके नीचे—अर्द्धचन्द्राकार घेरेमें—आबाद हैं—वहींसे प्रकट शब्द हुआ करता है और अनहद नादके जितने प्रचारक संसारमें आये, वे सब उन मण्डलोंके ही शिव लोग ही थे। अखण्ड अर्द्धमात्रासे लेकर पूर्णमात्रातक जितनी मंज़िलें हैं—या जितने मण्डल हैं, उनके शिव या कारण-शरीर इस मायिक भूमिकापर नहीं आये। इसीलिये उनके मण्डलोंका स्वर लोगोंको सुनायी नहीं पड़ा। हाँ, परमरम्य भविष्य महाकालमें वे सब इस भूमिपर अवतार लेंगे। उसी समय छत्तीस तारवाला इसराज बजेगा! तबतक दस तारवाली सारंगी बजाते रहिये।

अनहदसे लाभ

१—अगर मरते समय किसी नादको पकड़ लिया जाय तो मृतककी आत्मा उसी मण्डलमें जा पहुँचेगी, जहाँसे वह शब्द आ रहा है।

२—नादके पथिकको यमदूत नहीं पकड़ सकते, क्योंकि वे मण्डल यमलोकसे बहुत ऊँचे हैं।

३—नादके अभ्यासीकी बुद्धि विकसित होती रहती है। उसकी समझमें सत्यका प्रकाश आने लगता है।

४—नादके अभ्यासीको एकदम किसी-न-किसी स्वर्गके मण्डलमें स्थान मिल जाता है। जिस तारको पकड़कर रूह चढ़ेगी, उसी तारकी सरकारमें वह जा पहुँचेगा। परन्तु पाप-पुण्यके चक्रसे वह भी सुरक्षित नहीं। जब उसका पुण्य समाप्त होगा, वह फिर अपने पाप भोगनेके लिये इसी भूमिपर उतार दिया जायगा।

५—नादके अभ्यासीपर कामादि पाँचों शैतानी तत्त्व अपना प्रभाव कम डाल सकते हैं।

अनहद नाद

नंबर	मण्डलका नाम	स्वर है या शब्द	उसकी उपमा
१	संहारक देवका लोक	शब्द	पायजेबकी झङ्कार-सी
२	पालक देवका लोक	,,	सागरकी लहर-सी
३	सृजक देवका लोक	,,	मृदङ्ग-सी
४	सहस्रदलकमल	,,	शङ्ख-सी
५	आनन्द-मण्डल	,,	तुरही-सी
६	चिदानन्द-मण्डल	,,	मुरली-सी
७	सच्चिदानन्द-मण्डल	,,	बीन-सी
८	अखण्ड अर्द्धमात्रा	,,	सिंहगर्जन-सी
९	अगम मण्डल	,,	नफीरी-सी
१०	अलख मण्डल	,,	बुलबुल-सी

उपर्युक्त १० मण्डल अपराके इलाकेमें हैं और शेष २६ मण्डल पराके इलाकेमें हैं।

नादका अभ्यास

प्रातःकाल शौचादिसे छुट्टी पाकर किसी एकान्त स्थानपर चले जाओ। मुरदा आसन लगाओ यानी सीधे लेट जाओ। हाथके दोनों अँगूठोंसे दोनों कान बंद करो। अपने ही घटमें शब्द सुनायी पड़ना शुरू हो जायगा। अपनी दायीं ओरके शब्दोंको सुनना चाहिये। बायीं ओरके शब्द मायाके हैं और त्याज्य हैं।

साधनाकी एक झाँकी

मन कल्पनाओंका पुञ्ज है। सुषुप्तिमें जो कल्पनाएँ विलीन रहती हैं, वे ही स्वप्नमें और जागरितमें उठा करती हैं और जिन वस्तुओं और घटनाओंका परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, उनका बनावटी सम्बन्ध जोड़कर व्यवहारकी विशाल एवं जटिल परम्परा खड़ी कर देती हैं। मैं तो कभी-कभी इन कल्पनाओंके जालमें ऐसा उलझ जाता हूँ कि उनसे छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। ऐसा अनेकों बार होता है। किसी-किसी दिनकी कल्पनाएँ बड़ी मनोरञ्जक और लाभप्रद हो जाती हैं, पीछे उनके स्मरणसे भी मनोरञ्जन और लाभ होता है। इसलिये एक दिन ब्रह्मवेलामें, जब कि वृत्तियोंको निस्सङ्कल्प करके मुझे शान्त-भावसे बैठा रहना चाहिये था, जिन कल्पनाओंके प्रवाहमें मैं बह गया था, उनका स्मरण किया जाता है।

दरबार लगा हुआ था। बहुत-से दरबारी मौन-भावसे अपने-अपने स्थानपर बैठे थे। सबसे ऊँचे आसनपर अपनी धर्मपत्नी बुद्धिदेवीके साथ महाराज अहङ्कार विराजमान थे। उस सभाके सदस्योंमें मूर्तिमान् रूपसे दस इन्द्रिय, पाँच प्राण, पाँच भूत और मन उपस्थित था। कुछ अव्यक्तरूपसे थे और कुछ छोटे-मोटे दूसरे लोग भी थे; परन्तु उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं था। यह विशाल सभा-मण्डप और उसकी प्रत्येक क्रिया मेरी आँखोंके सामने थी। परन्तु मैं कहाँ हूँ और किस रूपसे देख रहा हूँ, यह मुझे पता नहीं था; मैं केवल देख रहा था। राजासाहबने मनको बुलाया और कहा कि यहाँ जितने सदस्य उपस्थित हैं, उनको एक-एक करके मेरे सामने लाओ; मैं उनका परिचय, जीविका और उनके जीवनका उद्देश्य जानना चाहता हूँ। मनने हाथ जोड़कर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की।

एक अधेड़ स्त्रीके साथ मन उनके निकट उपस्थित हुआ। अहङ्कारने पूछा, 'तुम कौन हो?' उस स्त्रीने उत्तर दिया, 'मेरा नाम पृथिवी है।' उन्होंने पूछा, 'तुम्हारी जीविका क्या है?' पृथिवी—'मुझे जीविकाके लिये कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। मुझे प्रत्येक समय सर्दी, गर्मी, हवा, और अवकाश मिलता रहता है और सहज रूपसे ही मैं समस्त भूत-प्राणियोंको धारण किये रहती हूँ। न मुझे कोई चिन्ता होती है और न तो अशान्ति। यही मेरी जीविका है और इसीमें मैं लीन रहती हूँ।' अहङ्कार—'तुम्हारे जीवनका उद्देश्य क्या है?' पृथिवी—'मेरा स्वतन्त्र जीवन ही क्या है कि उसका कोई उद्देश्य हो! जिसने मुझे अस्तित्व दिया, जिसने मुझे प्रकृतिकी गोदसे निकाला, जो मुझे धारण किये हुए है, वह जैसे नचाता है नाचती हूँ। मेरी एक-एक चेष्टा उसके इशारेसे ही होती है। शायद इससे वह रीझता हो; परन्तु मैं उसको रिझाती हूँ, ऐसी बात नहीं। मेरा कुछ उद्देश्य नहीं और उसके उद्देश्यका मुझे पता नहीं।' अहङ्कार—'यह यदि तुम्हें पानीमें गला दे, आगमें जला दे, तुम्हारा अस्तित्व नष्ट कर दे तो क्या तुम्हें दुःख नहीं होगा?' पृथिवी—'बिल्कुल नहीं। उसकी इच्छा ही मेरा जीवन है और मृत्यु भी वही है। जीवन-मृत्यु नहीं हैं, उसकी इच्छा है। फिर अन्तर क्या? मेरे चित्तमें दुःख और सुखकी कल्पना ही नहीं उठती।' अहङ्कार—'अच्छा, जाओ। अपने स्थानपर रहो। तुमसे कुछ नहीं कहना है।'

मन एक दूसरे सदस्यके साथ पुनः उपस्थित हुआ। अहङ्कार—'तुम्हारा नाम?' आगन्तुक सदस्य—'जल।' अहङ्कार—'तुम्हारी जीविका क्या है?' जल—'मुझे चाहे जो अपने काममें लावे, मैं आपत्ति नहीं करता। पृथिवी मुझसे स्निग्ध हो, सूर्य मेरा पान करे, वायुमण्डल मुझसे शीतल हो और मैं आवश्यकताके अनुसार उनका उपयोग कर लूँ। बस, यही मेरी जीविका है। इसके लिये न मुझे चिन्ता करनी पड़ती है न कोई श्रम।' अहङ्कार—'तुम्हारे जीवनका उद्देश्य क्या है?' जल—'यह मैं नहीं जानता। जिसने मुझे अस्तित्व दिया है, उज्जीवित किया है, उसीकी प्रेरणासे बादलसे पर्वतपर, पर्वतसे भूमिपर, भूमिसे समुद्रमें और समुद्रसे बादलमें घूमा करता हूँ। जो घुमाता है, वह इसका रहस्य जानता होगा।' अहङ्कार—'तब इस यात्रामें तुम्हें रसका अनुभव होता होगा, कभी यह बन्द हो जाय तो?' जल—'मैंने कभी नहीं चाहा था कि मुझे कोई घुमावे, यह भी नहीं चाहता कि यह घूमना बन्द हो जाय। जब घूमने-न-घूमनेकी इच्छा ही नहीं है, तब मेरे लिये कोई भी परिस्थिति नीरस कैसे हो सकती है?' अहङ्कार—'तुम्हें कोई जला दे, सुखा दे, नष्ट कर दे तब?' जल—'जल जाऊँगा, सूख जाऊँगा, नष्ट हो जाऊँगा।' अहङ्कार—'तुम्हें दुःख नहीं होगा?' जल—'न, बराबर

ही तो हैं सब। जब जीना दूसरेकी इच्छासे, तब मरना भी दूसरेकी इच्छासे। दूसरेकी इच्छा ही अपना जीवन है। न इसमें दुःख है न सुख।' अहङ्कार—'ठीक है, जाओ।'

मनने एक तेजस्वी मूर्तिके साथ प्रवेश किया। अहङ्कार—'कौन हो तुम?' अग्नि—'मैं अग्नि हूँ।' अहङ्कार—'क्या जीविका है तुम्हारी?' अग्नि—'जिसकी जितनी इच्छा हो, मुझसे उष्णता और प्रकाश ले ले। मैं भी वायु, जल, पृथिवी आदिका उपयोग कर लेता हूँ। यही मेरा स्वरूप है। न इसमें मेरा कर्तृत्व है और न आसक्ति ही।' अहङ्कार—'यह किसलिये करते हो तुम?' अग्नि—'कोई कराता है मुझसे।' अहङ्कार—'न करावे तो?' अग्नि—'नहीं करूँगा।' अहङ्कार—'वह तुम्हें नष्ट कर दे तो?' अग्नि—'नष्ट हो जाऊँगा।' अहङ्कार—'यह समत्व तुम्हें कहाँसे प्राप्त हुआ?' अग्नि—'यह भी उसीका दिया हुआ है। मुझे अभिमान था कि मुझमें भी कुछ शक्ति है; पर उसने मुझे अनुभव करा दिया कि वह शक्ति उसीकी है, मैं जो कुछ हूँ उसीका हूँ। चाहे वह नष्ट कर दे या रक्खे, उसकी मौज!' अहङ्कार—'अच्छा, जाओ तुम।'

वायुकी बारी आयी। अहङ्कारके पूछनेपर उसने कहा—'मैं वायु हूँ। मेरी जीविका है—सङ्घर्ष। मैं विद्युत्, प्राणशक्ति और अग्निका निर्माण करता हूँ। संसारकी सम्पूर्ण गतियाँ मेरा आश्रय लेती हैं।' अहङ्कार—'इतनी शक्ति तुममें कहाँसे आयी, वायु?' वायु—'जहाँसे मैं आया। ये मेरी शक्तियाँ हैं—यह तो कहनेकी बात है। यह सब सहज रूपसे होता है, मेरे सोच-विचारकर किये बिना ही। मैं तो एक यन्त्र हूँ। मेरी यन्त्रता भी किसीकी इच्छा ही है, तब मेरी क्या विशेषता है' अहङ्कार—'यदि तुमसे ये सारी शक्तियाँ छीन ली जायँ तो?' वायु—'इसका अर्थ है कि मैं भी छीन लिया जाऊँगा। जिसका मैं हूँ, जिसकी ये शक्तियाँ हैं, वे यदि खींच लें अपने आपमें, अथवा नष्ट ही कर दें तो इससे बढ़कर प्रसन्नताकी बात क्या होगी?' अहङ्कार—'ठीक है, तुम जा सकते हो।'

आकाशने उपस्थित होकर अहङ्कारके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए कहा—'मैं आकाश हूँ। अवकाश और शब्द ही मेरा स्वरूप है। मैं चारों भूत और उनसे बने हुए पदार्थोंको धारण करता हूँ। यह भी उन भूतोंकी दृष्टिसे ही मैं कह रहा हूँ। मेरी दृष्टिमें तो वे पराये नहीं हैं। मुझे वे नहीं दीखते। जब मैं देखता हूँ, मैं ही दीखता हूँ। इसमें बनावट नहीं है, विभुका यह सहज स्वरूप ही है।' अहङ्कार—'यदि कोई तुम्हारा नाश कर दे तो?' आकाश—'उस नाशके रूपमें तो मैं ही रहूँगा।' अहङ्कार—'मान लो तुम रहो ही नहीं, तब?' आकाश—'उस समय अवश्य ही वह रहेगा जिसका मैं हूँ, जिसमें मैं हूँ। यदि मेरा अस्तित्व नष्ट होकर उसका अस्तित्व प्रकट हो सके तो मेरा नष्ट होना ही अच्छा है।' अहङ्कार—'परन्तु तुम नष्ट हो जाओ और वह प्रकट न हो तब?' आकाश—'अवश्य ही वह उसकी आँखमिचौनी होगी। उसकी लीलाके लिये मेरा मिट जाना ही सर्वोत्तम है।' अहङ्कार—'तुम पाँचोंका समर्पण पूर्ण है।'

अहङ्कारकी प्रेरणासे मन एक ऐसे व्यक्तिको लेकर उपस्थित हुआ जो एक होनेपर भी पाँच रूपोंमें दीख रहा था। यों समझिये कि एक मूर्ति थी और चार उसकी छाया। पूछनेपर उसने बतलाया कि 'मेरा नाम प्राण है। एक होनेपर भी स्थानभेद और क्रियाभेदसे समष्टि और व्यष्टि दोनोंमें ही मैं पाँच प्रकारका हो जाता हूँ। जगत्‌में जितनी भी चेष्टाएँ हो रही हैं, मेरेद्वारा। स्थूल जगत् यदि क्रिया है तो मैं उसके अंदर रहनेवाली शक्ति हूँ।' अहङ्कार—'तुम समष्टि हो या व्यष्टि?' प्राण—'यों तो मैं समष्टि ही हूँ, मुझमें व्यष्टिका भेद है ही नहीं। परन्तु यह कहनेकी बात है। मैं व्यष्टि हूँ और इस प्रकार व्यष्टि हूँ कि समष्टिको जानता ही नहीं।' अहङ्कार—'तब तुम अपना मोह और बन्धन स्वीकार करते हो।' प्राण—'जी हाँ। मैं ऐसा मानता हूँ कि मेरे ही कारण शरीर जीवित है और रुधिराभिसरण, पाचन आदि क्रियाएँ मेरे ही द्वारा होती हैं—यहाँतक कि मेरे बिना पलक भी नहीं गिर सकती।' अहङ्कार—'यह शक्ति तुम्हारे अंदर कहाँसे आयी?' प्राण—'मैं तो समष्टि-प्राणसे शक्ति लेता हूँ और समष्टि परमात्मासे।' अहङ्कार—'यदि तुम्हें शक्ति न दी जाय तो?' प्राण—'मैं तो वैसी स्थितिकी कल्पनासे ही काँपने लगता हूँ। मेरी रग-रगमें मृत्युकी भयानकता भरी हुई है।' अहङ्कार—'तब तो तुम्हारे अंदर समत्वका अभाव है।' प्राण—'सत्य है।' अहङ्कार—'इस विषमताके अपराधका दण्ड भोगना पड़ेगा तुम्हें।' प्राण—'दण्ड तो मैं अभी भुगत रहा हूँ। जितना दण्ड मैं भोग रहा हूँ इस समय, इससे अधिक और क्या दण्ड होगा?' अहङ्कार—'अवश्य ही तुम

बन्धनमें जकड़े हुए हो। परन्तु इससे छूटनेका उपाय भी यही है कि तुम और भी बाँध दिये जाओ। तुम्हारी क्रिया सीमित हो जाय। इडा और पिङ्गलाके मार्गमें समरूपसे चलते रहो, यह समता सुषुम्णाका रूप धारण कर ले। तुम्हारा घटना-बढ़ना और स्वेच्छाचार सर्वथा बन्द हो जाय, तुम मेरे सामने रहा करो। एक क्षणके लिये भी मेरी आँखोंसे ओझल मत होओ। तुम्हारे लिये जो यह दण्डकी व्यवस्था की गयी है, यह तुम्हारी उद्देश्यहीनताके कारण है। अवश्य ही इससे तुम्हें दुःख होगा, परन्तु वह दुःख तुम्हारे वर्तमान सुखसे तो बहुत ही उत्तम होगा। तुममें जन्म और मृत्युके प्रति समत्व नहीं है, परमात्माके प्रति समर्पण नहीं है, उद्देश्यकी ओर तुम्हारी गति नहीं है। इसलिये प्राण! तुम कैद कर लिये गये। मेरी आँखोंके सामने स्थिर भावसे खड़े रहो।' प्राण खड़ा हो गया। परन्तु वह बहुत ही धीरे-धीरे काँप रहा था।

अहङ्कारने मनसे कहा—'इन्द्रिय दस हैं, सबको मेरे पास लानेकी आवश्यकता नहीं है। उनकी सम्मतिसे एक प्रमुख इन्द्रियको ले आओ, जो सबका प्रतिनिधित्व कर सके।' तत्क्षण मनने आज्ञा शिरोधार्य की और इन्द्रियोंकी सम्मतिसे वागिन्द्रियको लेकर उपस्थित हुआ। इन्द्रियोंके सम्बन्धमें प्रश्न करनेपर वाक्‌ने कहा—'हमलोगोंकी संख्या दस है—पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं और पाँच कर्मेन्द्रिय। कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रियोंके पूरकमात्र हैं। जैसे—नेत्र कोई स्थान देखना चाहता है तो पैर वहाँ पहुँचा देते हैं, त्वक् स्पर्श करना चाहती है तो हाथ उसका स्पर्श करा देते हैं—इत्यादि। प्रधानता ज्ञानेन्द्रियोंकी ही है, उनकी जीविका और उनके जीवनके उद्देश्य भिन्न-भिन्न हैं। कोई शब्दजीवी है तो कोई स्पर्शजीवी और कोई रूपजीवी। उनके जीवनका उद्देश्य है अपने-अपने विषयोंकी पूर्णता प्राप्त करना। जैसे कान चाहता है मधुर शब्दोंके केन्द्रमें स्थित होना, आँखें चाहती हैं रूपराशि और त्वक् सुकोमल स्पर्श। कटु शब्द, असुन्दर रूप और रूक्ष स्पर्श आदिसे उनका द्वेष भी है। सभी अपने-अपने लक्ष्यकी पूर्ति भिन्न-भिन्न दिशामें मानते हैं। इसीसे उन्होंने अपने जीवनमें द्वन्द्वकी सृष्टि कर रक्खी है।'

अहङ्कार—'क्या उन्होंने भगवान्‌के भी सम्बन्धमें कुछ विचार किया है? उन पाँचोंने यह भी सोचा है क्या कि हम सबके उद्देश्यकी पूर्ति एक ही भगवान्‌में होती है?' वाक्—'नहीं। वे अपने-अपने उद्देश्यको पृथक्-पृथक् समझते हैं और उनकी धारणा है कि इनकी पूर्णता ही भगवान् है।' अहङ्कार—'जहाँ उन विषयोंकी आंशिक अभिव्यक्ति रहती है, वहाँ क्या वे भगवत्-रसकी अनुभूति नहीं प्राप्त करते? जिन्हें वे कटु, रूक्ष एवं अप्रिय समझते हैं उनमें भी तो उनके जीवनका उद्देश्य किसी-न-किसी रूपमें है ही? फिर वैषम्य-भावसे द्वेषकी सृष्टि करके दुःखी होना उनका अपराध है। इसलिये उनको इसका दण्ड मिलना चाहिये।' वाक्—'वे दण्ड भोगनेको तैयार नहीं हैं।' अहङ्कार—'यही तो उनका सबसे बड़ा अपराध है। पहला अपराध उनका यह है कि उन्होंने रूप, रस, गन्धादि सबके केन्द्रस्वरूप भगवान् ही हैं—इस बातको स्वीकार नहीं किया। दूसरा यह है कि उन्होंने सर्वत्र अपने प्रिय उद्देश्यको ही नहीं देखा और द्वेषकी सृष्टि की। द्वन्द्वको जन्म देकर उन्होंने सारे संसारको दुःखमय बना दिया। अब दण्ड भोगनेको भी तैयार नहीं। इसलिये मैं उन्हें दण्ड देता हूँ कि वे अपने-अपने गोलकोंमें स्थिर हो जायँ। न बाहर जायँ न भीतर। एक इंच भी यदि इधर-उधर हटीं, रागवश प्रिय वस्तुओंकी ओर बढ़ीं और द्वेषवश अप्रिय वस्तुओंकी ओरसे हटीं तो उन्हें नष्ट कर डाला जायगा।' वाक्—'भगवन्, यह तो इन्द्रियोंके लिये मृत्यु-दण्ड है।' अहङ्कार—'जो जीवित रही हैं, उन्हें मरना भी पड़ेगा। जीवन और मृत्युकी एकरसताका अनुभव करना ही प्रत्येक व्यक्तिका भाग्य है, परन्तु यह मृत्यु वर्तमान जीवनसे सुन्दर है। सब सावधान हो जायँ। मेरी आज्ञा इसी क्षणसे जारी है।' वाक् जहाँ-की-तहाँ सन्न रह गयी। समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने स्थानमें गड़ गयीं। अब उस सभामण्डपमें मन, बुद्धि और अहङ्कारके अतिरिक्त और कोई नहीं था। मैं केवल देख रहा था।

बुद्धि देवीने मनसे कहा—'और कोई हो तो उसे मेरे सामने ले आओ।' मन—'जब इन्द्रियाँ स्फूर्तिशून्य हो चुकी हैं, तब मैं और किसीका ज्ञान कैसे प्राप्त करूँ और किसे लाऊँ? मैं तो स्वरूपशून्य हो रहा हूँ।' बुद्धिने मुसकराते हुए कहा—'तुम हो ही क्या?' मन—'मैं वासनाओंका पुञ्ज हूँ; मेरे अंदर भूत, भविष्य और वर्तमानकी कोटि-कोटि वासनाएँ सञ्चित हैं।' बुद्धि—'परन्तु अब तो वे नष्ट हो जायँगी, क्योंकि उन्हें पूर्ण करनेवाली इन्द्रियाँ अब हिल-डोलतक नहीं सकतीं।' मन—'मैं उनके जीवित होनेतक प्रतीक्षा करूँगा। अवश्य ही इस समय मैं शून्य-सा हो रहा हूँ। मेरी वासनाएँ

क्षीण हो रही हैं और मैं मर रहा हूँ। परन्तु नहीं, नहीं; मैं मरना नहीं चाहता। मुझे बचाओ, मेरी रक्षा करो।'

बुद्धि—'अब तुम्हारी रक्षा असम्भव है, तुमने अपनेको और सारे संसारको क्षुब्ध कर दिया। जिसके हो, उसको नहीं जाना। यन्त्र होनेपर भी यन्त्रताका अनुभव नहीं किया। जीवन और मृत्युकी समतामें तुमने ही वैषम्यका आरोप किया और उसे दृढ़ किया। अमृतको विष बना दिया तुमने। तुम्हारे अपराधका यही समुचित दण्ड है कि तुम नष्ट हो जाओ। हाँ, तुम नष्ट हो जाओ।' देखते-ही-देखते मनके शरीरकी छाया भी नहीं रही वहाँ, केवल बुद्धि और अहङ्कार दो ही व्यक्ति थे। मैं केवल देख रहा था।

बुद्धिने अहङ्कारसे कहा—'अब हम और तुम दो ही हैं, मेरा जीवन तुम्हारे आश्रयसे ही है। तुम न रहो तो मैं रह नहीं सकती। अबतक यथाशक्ति तुम्हारी सेवा करती रही हूँ। परन्तु तुमने मुझे अपना रहस्य नहीं बताया। भला, यह भी कोई प्रेम है? जिनका जीवन समर्पित है, तुमने उनकी प्रशंसा की है; जिनमें अहंता थी, आसक्ति थी और ममता थी उन्हें तुमने दण्ड दिया है। परन्तु क्या तुम्हारा जीवन समर्पित है? क्या तुमने भी वही अपराध नहीं किया है, जो उन लोगोंने किया है? तुम्हारे पास इन प्रश्नोंका क्या उत्तर है?'

अहङ्कार—'तुम्हारे प्रश्न हम दोनोंके लिये ही हितकर नहीं हैं, मैं जान-बूझकर इस रहस्यको छिपाये हुए था। उसका भेद खोल देनेपर न तुम रहोगी न मैं।' बुद्धि—'यह तो तुम्हारे कथनके ही विरुद्ध है। अभी तुम हित-अहित और जीवन-मृत्युमें समत्वका पाठ पढ़ा रहे थे। हम दोनोंका नाश हो जाय, यह स्वीकार है; परन्तु हम सत्यके ज्ञानसे वञ्चित रहें, यह स्वीकार नहीं।' अहङ्कार—'इस प्रकार आत्मनाश क्यों किया जाय।' बुद्धि—'जहाँ आत्माका ज्ञान ही नहीं, वहाँ आत्मनाश कैसा? 'क्यों' का प्रश्न तो वह कर सकता है जो आत्माको जानता हो। मेरा प्रश्न 'क्यों' नहीं 'क्या' है।'' अहङ्कार—'अच्छा तो लो, जानो, यह सब मेरा एक खिलवाड़ था। इन्द्रियोंके साथ रमना, तुम्हारे साथ सोचना, फूलकर बैठे रहना और सो जाना—यह सब मेरी एक लीला थी, केवल दिखावाभर था। मैंने सब कुछ किया; पर मैं कुछ नहीं था। मैं एक पोल हूँ, मैं एक प्रतीति हूँ। व्यवहारमें व्यवहारी बनकर रहा, साधकोंमें साधकके रूपमें प्रतिष्ठित हुआ, परमार्थियोंमें परमार्थी हो गया। किसीने पूजा की और किसीने तिरस्कार। परन्तु न मैं व्यावहारिक हूँ न प्रातिभासिक, पारमार्थिककी तो बात ही क्या है। मैं हूँ नहीं, और तुम देखो, मैं नहीं हूँ।' बुद्धिने आँख उठाकर देखा, वास्तवमें अहङ्कार नहीं है! वह किंकर्तव्यविमूढ़-सी हो गयी। उसने चकित होकर कहा—'अरे! जिसने सब कुछ किया वही कुछ नहीं, आश्चर्य है। परन्तु तब यह सब किया ही क्यों? ठीक है; यदि यह सब नहीं करते तो आज मैं उन्हीं प्रतीतियोंमें उलझी रहती। यह अवसर ही न आता, जिससे मैं सत्यको जान पाती। करनेसे ही कुछ न करनेका बोध होता है। उनका करना ठीक था, उनका कहना ठीक था। वे कुछ नहीं थे और मैं भी कुछ नहीं हूँ। उनके बिना मैं कैसी! वास्तवमें मैं कुछ नहीं हूँ।'

मैंने देखा बुद्धि भी नहीं है, परन्तु मैं देख रहा हूँ। सभामण्डप भी नहीं है, परन्तु मैं देख रहा हूँ। मैंने इतने बड़े प्रपञ्चके भाव और अभाव दोनोंको अपनी आँखोंसे देखा। पञ्चभूत, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहङ्कार—इतना ही क्यों, निखिल दृश्यप्रपञ्च मेरी आँखोंके सामने नाचकर अदृश्य हो गये और मैं उनकी इस कार्य और कारण दोनों ही अवस्थाओंको देखता रहा और केवल देखता रहा। परन्तु यह देखना क्या है? मैं देखनेवाला कौन हूँ? यदि ये सब होते तो इनका अभाव न होता। परन्तु ये जब नहीं रहे तो इनका अस्तित्व ही सन्दिग्ध है। सन्दिग्ध ही क्यों, है ही नहीं। तब किसे कौन देख रहा था? मैं ही मैंको देख रहा था! भला, कर्ता कर्म कैसे हो सकता है? कर्त्ता कर्म नहीं हुआ था, साक्षी साक्ष्य नहीं हुआ था। कर्ता और कर्म, साक्षी और साक्ष्य—दोनों ही प्रतीतिमात्र हैं और सद्वस्तु अर्थात् मैं ('मैं' पदका लक्ष्यार्थ) प्रतीत-अप्रतीत सबका अधिष्ठान है और वस्तुगत्या सब कुछ है। केवल मैं-ही-मैं हूँ।

विचारोंकी धारा यहाँ आकर समाप्त हो गयी और मैं स्थिर एवं निष्कम्प स्वरूपसे स्थित हो गया। अवश्य ही उस समय समयकी स्फुरणा नहीं हुई। जब मैंने आँखें खोलीं, तब सूर्योदय हो रहा था। मेरी आँखोंके सामने उन कल्पनाओंका नृत्य होने लगा। पञ्चमहाभूतोंका समर्पण, प्राणोंकी स्थिरता, इन्द्रियोंकी सजा, मनकी मृत्यु और अहङ्कारका खोखलापन—सब-का-सब मुझे स्मरण हो आया और मुझे मालूम हुआ कि मेरी इस कल्पनामें परमार्थके

साथ ही व्यवहारके सम्बन्धमें बहुत-सी उपादेय बातें हैं। यदि प्राण, इन्द्रिय आदि अपनी विषमताओं, द्वन्द्वोंका परित्याग करके पञ्चभूतोंके समान यन्त्रवत् व्यवहार करने लग जायँ तो इनके निरोधकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। ये स्वयं निरुद्ध हो जाते हैं। यदि ये समर्पित भावसे काम नहीं करते तो इनके निरोधकी आवश्यकता है और वही आवश्यकता इस कल्पनामें अभिव्यक्त हुई है और उसका फल भी प्रत्यक्ष है।

क्या यह कल्पना केवल मनोरञ्जन है अथवा इससे कुछ साधनाका मार्ग भी स्पष्ट होता है?

अमृत-कला

(लेखक—यो० श्रीपार्श्वनाथजी)

सहस्रदल कमलके मध्यमें जो सिंहासन है, उसके नीचे दो कलाओंके दो केन्द्र—जंकशन हैं। एकका नाम है—अमृत-कला और दूसरीका नाम है—मृत्यु-कला।

एक तत्त्व तो सहस्रदल कमलकी शाहीसे नीचेकी तरफ़ उतरता रहता है। उसका रंग जुगनू-जैसा है। उस तत्त्वको देखते ही शहदसे भी सौ गुना 'धुर—मधुर सुगन्धित स्वाद' अपने-आप आने लगता है। अगर उसे पी लो, तो फिर क्या बात! उसी तत्त्वको यानी उसी 'शाहीसूत्र'को—उसी ब्रह्मसूत्रको अमृत-कला कहते हैं। उसको जाननेवाला सर्वदा तथा सर्वथा १६ सालका रहता है। इसीलिये इस अमृत-कलामें 'षोडशी' नामक शक्ति निवास करती है। षोडशी अथवा अमृत-कलापर विचार तभी किया जा सकता है, जब उसके जाननेवाले काफ़ी हों।

सहस्रदल कमलके 'शिव-शक्तिसंयुक्त सिंहासन' के नीचे जो 'कर्णिका' है, वहींसे अमृत-कलाका तत्त्व यानी सोता या सूत्र जारी है और जो सद्गुरुका लाड़ला लड़का उस सोतेका 'आबेहयात' पीने लगता है, वह खुद षोडशी बन जाता है। षोडशीकी शक्ति ही सहस्रदल कमलके परमात्माकी आत्मा है।

वहाँपर कैवल्यरूपसे केवल अमृत-कला ही है। मगर जीवनके उस चन्द्रकी जो चाँदनी वहाँ फैली है, उसे मौतका घोर अन्धकार जकड़े हुए है। इसलिये वहाँ मौतका भी जंकशन है। एक होकर भी वहाँ दो हैं—चाँदनीरूपी जीवन है, अन्धकाररूप मरण है। वहीं दोनों महातत्त्व रहते हैं। सिंहासनके नीचे दो घटाएँ हैं—एक अमृतमयी और दूसरी मरणमयी।

अमृत-कलाके काम

१—अपने साधकको दीर्घ जीवन देती हुई जीवन-मरण-की शिक्षा देती है।

२—अपने साधकको बुढ़ापा और मौतसे बचाये रखती है।

३—अपने साधकको ऐसे महात्माओंसे मिलाती रहती है, जो बहुत दिनोंसे उसके विद्यार्थी हैं—ताकि उसका ज्ञान विस्तृत हो।

अमृत-कलाके सूत्र

अमृत-कलाका सूत्र कुण्डलिनीके भीतर होता है। जिनकी कुण्डलिनी जाग्रत् नहीं हुई, उनको अमृत-कलाका परिचय नहीं हो सकता। उनके लिये अमृत-सूत्र होनेपर भी नहीं है। क्योंकि सहस्रदल कमलवाला वह अमृतवर्षण कुण्डलिनीकी नागनी ही पी जाती है। जीवात्माको पीनेके लिये वह प्राप्त नहीं होता।

भूगोलकी मर्दुमशुमारी दो अरब है। उसमें बहुत थोड़े ही व्यक्ति अमृत-कलासे सम्बन्ध रखते हैं, शेष सब मृत्यु-कला-से सम्बन्ध रखते हैं। जो अमृत-कलामें नहीं गया, वह मृत्यु-कलामें स्वयं फँस जाता है। इस प्रकार प्रायः समस्त संसार मृत्यु-कलासे परिचय रखता है और वह सबके लिये मृत्युको अनिवार्य देखता है।

अमृत-कला चाहती है कि सारा संसार अमर हो जाय। परन्तु वह कुण्डलिनी-आबद्ध होनेसे अपना पूरा काम सफलतापूर्वक नहीं कर सकती। मृत्यु-कला कुण्डलिनीसे आबद्ध नहीं है, इसलिये उसका प्रभाव सर्वत्र सर्वदा पड़ा करता है।

जो लोग कुण्डलिनीबद्ध हैं, उनके लिये अमृत-कलाका परिचय नीचे लिखे साधनोंसे प्राप्त हो सकता है। बाहरी जगत्के कतिपय पदार्थोंमें भी अमृत-कलाकी कला विद्यमान है और वह अमरत्वका प्रचार करती रहती है। जगत्में

बहुत थोड़े अमर लोग ऐसे हैं, जिन्होंने सद्गुरुकृपासे कुण्डलिनीको जाग्रत् करके अमृत-कला प्राप्त की है। शेष सब अमर लोग बाहरी पदार्थोंसे अमर हुए हैं।

१—अमृत-कलाका एक सूत्र प्रत्येक स्त्रीमें मौजूद रहता है। किसी स्त्रीकी दाहिनी आँखमें होकर वह सूत्र नीचेकी तरफ उतरता है और किसीकी बायीं आँखमें होकर। जिस नेत्रमें गुलाबी रंगत छायी हुई हो, समझ लो कि उसी तरफसे अमृत-कलाका सूत्र आ रहा है। स्त्रीको सीधा लिटा देना चाहिये और उसी नसको हाथके अँगूठेसे रगड़ना चाहिये, जो अमृतवाहिनी नस है। इस साधनसे अमृत प्राप्त हो जाता है। उसे धो डालना चाहिये। वह पानीमें मिलता नहीं है। अमृतका रंग हिंगुल-सा सुरख होता है। शहद-सा वह गाढ़ा होता है। उसमें कस्तूरी-की खुशबू होती है। किसी चीज़में मिलता नहीं। पारेकी तरह अपनी सत्ता अलग रखता है। पीनेमें अत्यन्त मधुर। संसारकी सारी मधुरता मात हो जाती है। कम-से-कम एक छटाँक पीनेसे अमृतत्व प्राप्त होता है।

२—हिमालय-प्रदेशमें सञ्जीवन बूटी नामक एक जड़ी होती है। उसकी पहचान यह है कि अँधेरी रातमें उसका हर एक पत्ता जुगनूकी तरह चमकता है। लक्ष्मणजीकी जब अकाल मृत्यु आयी थी, तब इसी बूटीने उनको अमरत्व प्रदान किया था। सिद्ध पुरुषोंमें बहुतेरे इसी सञ्जीवनीद्वारा दीर्घजीवी हो सके हैं।

३—जीभका जो हिस्सा नीचे जुड़ा रहता है, उसको कटवा देना चाहिये और मक्खनके सहारे उस जीभको खींच-खींचकर लंबा करना चाहिये। इसके बाद शीर्षासन लगाना चाहिये। नीचे सिर और ऊपर पैर करके खड़ा होना चाहिये। कानोंको हाथोंके दोनों अँगूठोंसे बंद करना चाहिये। नेत्र भी बंद रखने चाहिये। तालूकी तरफ जीभको बढ़ाना चाहिये। अमृत-कलाका जो अमृत घटमें प्रकट होता है, उसको इस साधनद्वारा जीभसे पीना चाहिये। इस साधन-वालेके सामने कुण्डलिनीका कपट हार जाता है।

अमर-कलावाला सर्वदा जीवित रहेगा, ऐसी बात नहीं है। अमर-कलावालेकी मौत उसीके अधिकारमें हो जाती है। वह जब मरना चाहे, मर भी सकता है। अपना जीवन-मरण अपने हाथमें कर लेना ही अमृत-कलाका लक्ष्य है।

जीवनके तीन दर्जे हैं—(१) मर (२) अमर (३) अविनाशी। जो सौ सालके भीतर मर जाते हैं, उनको मर कहते हैं। अमर लोग अपनी इच्छा-शक्तिद्वारा मरनेवालोंको मारा करते हैं। जो अपनी मृत्यु अपने हाथमें रखते हैं—जिनको जीवनका स्वराज्य मिल गया है, उनको अमर कहते हैं। वे या तो अपनी इच्छासे मरते हैं या कोई दोष हो जाने-के कारण उनको कोई अविनाशी मार डालता है। रावण था अमर—राम थे अविनाशी। रावणने अपना काल अपनी चारपाईसे बाँध रक्खा था। इसका मतलब यही है कि रावण-की मौत उसीके हाथमें थी। वैसा ही हुआ भी। उसने जान-बूझकर एक अविनाशीसे तकरार की और जानसे हाथ धो बैठा।

आशा है कि इस लेखसे पाठक लोग यह बात समझ गये होंगे कि अमृत-कलाद्वारा सबको दीर्घजीवन प्राप्त करने-का अधिकार है।

शरीरका गर्व न करो

गर्व भुलाने देह के, रचि रचि बाँधे पाग।
सो देही नित देखि के, चोंच सँवारे काग॥
सुंदर देही पाय के, मत कोइ करै गुमान।
काल दरेरा खायगा, क्या बूढ़ा क्या ज्वान॥
इस जीने का गर्व क्या, कहा देह की प्रीत।
बात कहत ढह जात है, बारू की-सी भीत॥
देही होय न आपनी, समुझ परी है मोहि।
अबहीं तें तजि राख तूँ, आखिर तजि है तोहिं॥

—मलूकदासजी

महापुरुष-पूजा

(लेखक—शास्त्रवाचस्पति डा० प्रभुदत्तजी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस-सी०, विद्यासागर)

सत्यकी उपलब्धिके नानाविध साधन हैं। हमारे आध्यात्मिक अधिकारकी जो विभिन्न भूमिकाएँ हैं, उन्हींके अनुरूप कर्म, भक्ति और ज्ञानकी एक साधन-परम्परा है। पर इसी साध्यका एक इससे भी सुगम साधन है और वह है महापुरुषोंके चरित्र और आचरणका तत्त्वतः अनुकरण करनेका अभ्यास करना। हिन्दू-शास्त्रोंने सत्सङ्गको सर्वदुःखहर भेषज कहा है ('सतां सङ्गो हि भेषजम्')। महापुरुषोंका सामीप्य भी, अध्यात्मकी दृष्टिसे, बड़ा कल्याणकारी होता है। इसीलिये तो भारतवर्षमें साधु-महात्माओंकी सेवा और आदर करनेकी परम्परा अबतक अखण्डरूपसे चली आयी है।

महापुरुष शिक्षा-दीक्षासे महान् नहीं बनाये जाते, वे जन्मतः ही महान् होते हैं। उनकी चाहे कोई अलग जाति न हो, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनमें महत्ताप्राप्तिकी योग्यताका अद्भुत सञ्चय होता है। मनुष्य कर्मके विविध क्षेत्रोंमें महत्ता-लाभ कर सकता है, पर भौतिक महत्ताकी अपेक्षा बौद्धिक महत्ता श्रेष्ठ होती है और जहाँ कोई वास्तविक बौद्धिक महत्ता होती है वहाँ उसके पीछे आध्यात्मिक पृष्ठ-भूमि भी होती ही है। किसीकी वास्तविक महत्ता उसके चरित्रसे प्रकट होती है।

जो लोग धन कमानेमें लगते और बाह्यजीवनके स्व सुखोंका संग्रह करते हैं, उनका बहुत लोगोंपर बड़ा प्रभाव होता है, परन्तु यथार्थमें ये लोग महान् नहीं होते। हममेंसे बहुतेरे ऐसे हैं जो, अच्छी नीयतके होते हुए भी, आसुरी सम्पदाका ही पीछा करते हैं। वास्तविक महत्ता उस दैवी सम्पदाके साथ एकत्व-लाभ करनेसे ही मिलती है, जिसका वर्णन श्रीमद्भगवद्गीताके सोलहवें अध्यायमें हुआ है। महान् पुरुष महान् तभी माने जाते हैं जब वे सत्य, अभय, सत्त्व-संशुद्धि, परोपकार, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, असंसक्ति, अक्रोध, अद्वेष और अनहंकारिताका ही जीवन व्यतीत करनेका पूरा-पूरा प्रयत्न करते हैं।

महान् पुरुषोंकी दो कक्षाएँ हैं—एक वे जो इस अध्यात्म-पथपर हैं और अधिकाधिक सदाचार-सिद्धि लाभ कर रहे हैं और दूसरे वे जो सिद्ध हैं। पूर्वोक्त भी हैं तो महान् ही; पर उत्तरोक्त ही महापुरुष हैं। ऐसे सिद्ध महापुरुष सामान्य विधि-निषेधके परे पहुँच जाते हैं और उनका जीवन राग-द्वेष, हर्ष-शोक, लाभालाभ, जय-पराजयादि द्वन्द्वोंसे रहित अवधूतका-सा होता है। इस अवस्थामें उनके लिये कुछ भी शास्त्रोक्त कर्त्तव्य नहीं होता, उनका आचरण ही उनका शास्त्र और अधिकार होता है। उनके उदाहरण देखकर सामान्य लोगोंका कहीं बुद्धि-भेद न हो, इसलिये वे उस अवस्थामें भी वैसे ही आचरण करते हैं, जैसे दूसरे लोग करते हैं।

> न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
> जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥
>
> (गीता ३। २६)

महापुरुषोंके लक्षणोंको एक दूसरी ही पृष्ठ-भूमिसे देखना भी मनोरञ्जक होगा। इसके लिये उदाहरण-स्वरूप हम विगत शताब्दीके एक ऐसे तत्त्ववेत्ताको लेते हैं, जिन्हें लोगोंने यथावत् समझा ही नहीं है। ये तत्त्ववेत्ता हैं—नीच्छे (१८४०-१९००)।

यूरोपके तत्त्वज्ञानके इतिहासमें नीच्छे (Nietzsche) की महापुरुष-कल्पना एक अनोखी चीज है। इस विषयमें उनके विचार बहुत उद्बोधक हैं। 'दज स्पेक जरथुष्ट्र' (१८८३) इस नामकी अपनी पुस्तकमें उन्होंने 'सुपरमैन' (महापुरुष) शब्दका बारम्बार प्रयोग किया है। बर्नार्ड शाने इस शब्दका प्रयोग करना आरम्भ किया, इसीसे प्रायः यह शब्द अंग्रेजी भाषामें चल पड़ा। नीच्छेके भी पूर्व नेपोलियन, गेटे (Goethe), हाइने (Heine), शोपनहौअर (Schopenhauer), वागनर (Wagner), बिस्मार्क आदि 'सुपरमैन' कहे जाते थे। इन व्यक्तियोंको अवश्य ही सद्-यूरोपियन, अति-राष्ट्रिय अथवा उच्चतर मानव कहा जा सकता है, परन्तु इनमें नीच्छेके 'महापुरुष'-लक्षण नहीं हैं।

बहुत लोगोंकी यह धारणा है कि नीच्छेका महापुरुष कोई महाकाय, महाबल, महाविजयी दानव है जिसको देखते ही मनुष्य भयभीत होकर जमीन चूम लें। परन्तु वस्तुतः नीच्छेने इस कल्पनाका खण्डन ही किया है और यह माना है कि नम्रता और शान्तिमें जो शक्ति है वह दूसरी शक्तियोंसे श्रेष्ठ है तथा लोगोंको डराना-धमकाना और रौंदना-कुचलना उसके लिये कोई जरूरी बात नहीं है, बल्कि उसके द्वारा

सामान्य जनसमुदाय स्वस्थ और उपकृत ही होगा। 'भले-बुरेके परे' (Beyond Good and Evil) नामकी अपनी पुस्तकमें 'मनुष्योंका स्वभावसिद्ध स्वामी' इनके विचारसे, वह मनुष्य है 'जो किसी इष्ट कार्यका नेतृत्व करे, संकल्पको कार्यमें परिणत करे, भूतमें निष्ठावान् हो, स्त्रीको अपने वशमें रक्खे, बदमाशको दण्ड दे और उखाड़ दे,··· जिसका क्रोध अपने वशमें हो और तलवार अधीन हो, दुर्बल, दुःखी, दलित मनुष्य और पशु भी प्रसन्नतासे जिसका मुँह ताकें और जिसके होकर रहें।'

महत्ताका मूल है ज्ञान और ज्ञान है शक्ति (जैसा कि बहुत समय पहले बेकनने कहा है)। बुद्धिका बल शारीरिक बल और भौतिक पराक्रमसे श्रेष्ठ है और वस्तुतः तत्त्ववेत्ता ही सबसे महान् पुरुष हैं। नीच्छेने यह भी लिख रक्खा है कि शक्ति दूसरोंको अपने अधीन करनेमें ही नहीं, बल्कि उनके हृदयोंको जीतनेमें है, अन्यथा वैसी शक्ति 'अपूर्ण' ही होती है। यदि नीच्छेके तत्त्वविचारका यही वास्तविक मर्म है तो शत्रुके साथ उदारता और क्षमाका व्यवहार करने और उसका जो कुछ है उसे लौटा देनेकी जो भारतकी पुरातन रीति है, उसके साथ नीच्छेका यह विचार मिलता-जुलता है। यही बात एक प्राचीन इटालियन ग्रन्थकारने बड़ी खूबीके साथ यों कही है कि, 'विजय करना तो वही जानता है जो क्षमा करना जानता है।'

यदि महान् पुरुष सामान्य मनुष्योंके-से नहीं होते बल्कि कई बातोंमें विशिष्ट होते हैं तो इससे यही सिद्ध होता है कि सब मनुष्योंमें उन्नति करनेकी एक-सी क्षमता नहीं होती। अर्थात् सब मनुष्य स्वतन्त्र और समान नहीं; बल्कि सभी एक दूसरेसे भिन्न होते हैं; और इनमें कुछ ही लोग ऐसे होते हैं जो नेता बननेके लिये ही पैदा हुए होते हैं और फिर इन नेताओंमेंसे भी कुछ ही ऐसे होते हैं जो सिद्ध महापुरुष हों। कर्मविपाक-सम्बन्धी हमारे सिद्धान्त ('कर्मसापेक्षत्वात्') से ही जीवनके इस तर-तम भावकी सङ्गति लगती है। नीच्छे भी इन भेदोंको, इस 'श्रेष्ठ-कनिष्ठ-भाव' को, इस अधिकार-भेदको बहुत कुछ वैसा ही मानते हैं, जैसे हिन्दू गुण-कर्म-विभागसे वर्ण-भेदकी सृष्टि मानते हैं।

श्रेष्ठ-कनिष्ठ-भावको इस प्रकार माननेके कारण नीच्छे स्वभावतः ही प्रजातन्त्रको राज्यकी सर्वोत्तम व्यवस्था नहीं मानते। जब यह बात है कि महान् पुरुष ही अपने स्वगत विशिष्ट गुणोंके कारण ही नेतृत्व तथा शासन करनेके लिये पैदा हुए होते हैं, तब प्रजातन्त्र तो केवल निम्न और मध्यम श्रेणीके लोगोंका राज्य हुआ, उत्तम श्रेणीद्वारा शासित उत्तम राज्य नहीं। इसलिये नीच्छेके विचारमें प्रजातन्त्र 'राज्य-व्यवस्थाके क्षीण होनेका ही एक रूप है, महान् पुरुषों और शिष्ट जनोंपर विश्वास न होनेका ही एक चिह्न है।'

नीच्छेका यह भी सिद्धान्त है कि महान् पुरुष अपने कर्त्तव्योंका पाठ अपनेसे बाहरकी किसी संस्थासे नहीं ग्रहण किया करते, उनका सर्वप्रधान कर्त्तव्य 'आत्मसम्मान' होता है। महान् पुरुष, जहाँ कहीं भी हों, सदा 'असंसक्त' रहते हैं। उन्हें एकान्तमें आनन्द मिलता है, वे स्वयं बहुत कुछ एकाकी होते हैं। 'महान् जो कुछ हुआ करता है, वह हाट-बाटसे दूर ही हुआ करता है।'

महान् पुरुषोंका एक दूसरा लक्षण यह है कि उनका जीवन सादा और संयत होता है। वे दुःखको भी आत्मसिद्धिके लाभके लिये तपके तौरपर सहर्ष स्वीकार करते हैं। दुःख सहनेकी क्षमता सचमुच ही महत्ताका ही एक चिह्न है। महान् पुरुष दारिद्र्य और दैन्यको प्रसन्नता-पूर्वक सहते हैं। जो कुछ मिथ्याप्रयुक्त, मिथ्याज्ञात या मिथ्यानिन्दित है, उसे ये बचाते हैं। 'ये उच्चतर वातावरणमें उठ जाते हैं, केवल कभी-कभी नहीं, प्रत्युत वहीं रहते ही हैं।' ये आत्मसंयमके अभ्यासी होते हैं, अपने चित्तकी वृत्तियोंपर जय-लाभ करते और असंसक्तिको बढ़ाते हैं, यदृच्छालाभसन्तुष्ट रहते और अपने जीवनके लिये कृतज्ञ होते हैं।

सिद्ध महापुरुषमें ये सब गुण होते हैं, पर महत्तर-रूपमें। सिद्ध महापुरुषोंका कोई समाज नहीं होता। महापुरुष अपनी ही एकान्त-महिमामें स्थित रहता है। उसमें बच्चेकी-सी सरलता होती है, कभी-कभी वह हँस पड़ता है तो वह सोनेकी-सी चमकवाली उसकी हँसी विलक्षण ही होती है। 'सबसे अधिक दुःख उठानेवाला पशु मनुष्य ही तो है और उसीने हँसना ईजाद किया!'

एक मनुष्य दस हजार या दस लाख मनुष्योंके बराबर है, 'यदि वह सर्वोत्तम हो'। ऐसा मनुष्य कौन है? वही—महापुरुष। महापुरुष मनीषी भी होता है और साथ ही कर्मी भी। वह सदा ऐसी परिस्थितियोंका स्वागत करता है, जिनमें

बड़ी विपत्ति और बड़ी भारी जोखिम है, क्योंकि आपत्कालमें ही वैयक्तिक पुरुषत्वको बढ़नेका अवसर मिलता और वह अपने महत्त्वको प्राप्त होता है। ऐसी विपज्जनक परिस्थितियोंसे ही मनुष्य और भी बलवान् होकर बाहर निकलता है। इस कोटिके मनुष्य ही महापुरुषका सादृश्य-लाभ करते हैं।

इन विचारोंसे यह प्रकट हुआ कि हर कोई पुरुष मनुष्योंका नेता नहीं हो सकता। नेतृत्वका भी एक सहजसिद्ध अधिकार होता है। सिरगिनतीसे या चोट गिनकर बड़े-बड़े प्रश्न हल नहीं किये जा सकते। कुछ ही लोग होते हैं जो अपने सहज अधिकारसे नेतृत्व कर सकते हैं, बहुजन-समाजका काम इतना ही है कि वह उनकी आज्ञाका पालन करे। यही उन्नतिका रास्ता है। जिन लोगोंके मन उत्तम कोटिके नहीं हैं, उन्हें शासन करनेके बजाय आज्ञाधारक होना चाहिये। बौद्धिक महत्ता शासक होनेकी क्षमताका चिह्न है, यह बौद्धिक महत्ता अवश्य ही ऐसी होनी चाहिये जो आध्यात्मिक महत्ताकी ओर आगे बढ़े। सच्चा नेतृत्व पूजनीय है और सच्चे महान् पुरुषोंका नेतृत्व ही जो-जो कुछ हमलोगोंके चाहने योग्य है, उसे पानेका सबसे नजदीकका रास्ता बना देता है। इस प्रकार महापुरुष-पूजा परम पुरुषार्थकी प्राप्तिका बहुत ही अच्छा साधन है।

शरणागति-साधन

(लेखक—पं० श्रीराजमङ्गलनाथजी त्रिपाठी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, साहित्याचार्य)

इस त्रिगुणात्मिका सृष्टिमें तापत्रयसे विमुक्त होनेके लिये लोक-कल्याणकामनासे राग-द्वेषशून्य ऋषियोंने अनेक मार्गोंका अन्वेषण करके समस्त सिद्धियोंको सुलभ कर दिया है। प्रत्येक साधक अवस्थाभेदके अनुसार कल्याण-सिद्धिके लिये किसी-न-किसी साधनका अवलम्बन करता है और साधनानुकूल सिद्धियाँ भी प्राप्त होती ही हैं। परन्तु भगवान्‌की लीला विचित्र है। महामायाकी कृपासे मन कामिनी-काञ्चन-कीर्तिके पाशमें बेतरह फँसा है; फँसना उसका स्वभाव है। अतः इस पाशसे मुक्त होना सहज नहीं है। सृष्टिके भ्रमजाल-से मुक्तिकी युक्ति भगवत्-शरणागतिमें ही सूझ सकती है। शास्त्रोंके तथा गीतादि सद्ग्रन्थोंके अनुशीलन और तपःपूत भक्तोंके सत्सङ्गके द्वारा विवेक उत्पन्न होता है। परन्तु हरिकृपाके बिना तो वह भी सम्भव नहीं। भक्तकुलचूड़ामणि तुलसीदासजी कदाचित् इसी संकटमें बोल उठे थे—

'हे हरि, कवन जतन भ्रम भागै ?
देखत सुनत बिचारत यह मन निज स्वभाव नहिं त्यागै॥
भगति ग्यान बैराग्य सकल साधन यहि लागि उपाई। (परंतु)
कोउ भल कहहु देउ कछु कोऊ असि बासना न जाई॥'

ऐसा वासनासक्त है यह मन! यह उस पतिङ्गेसे भी बेढब है जो जलनेके हेतु ही अग्निमें कूदता है। अनन्त लौकिक शक्तिशाली अर्जुनको भी कल्याण-साधनामें मनकी परवशताकी विकट स्थितिका अनुभव हुआ था। अखिल साधनाओंके प्रवर्तक करुणासिन्धु योगेश्वरने युक्ति बतलायी—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।'

—साधकका काम इतनेपर भी नहीं चला। किन्तु उसकी आर्ति इतनी बढ़ी कि दयासागरको और भी उमड़ना पड़ा। भगवान् बोले—सब छोड़कर मेरी शरणमें आ जाओ, सम्पूर्ण काम अपने-आप बन जायँगे। यही तो मूल साधना है। उसका रहस्य है 'एकै साधै सब सधै।' एकान्त ज्ञानके साधक कबीरको भी मनके ममत्वकी प्रबलता खली। बोले—

'मैं मंता मन मारि रे नान्हा करि करि पीस।
तब सुख पावै सुंदरी ब्रह्म झलकै सीस॥'

किन्तु मन हमारी कोरी चेतावनीसे सचेष्ट कैसे हो? उसमें अनासक्ति-भावका उदय तो तब होगा जब उसे तपकी अग्निसे तपा लिया जाय। आसक्तिके समस्त उपकरणोंको भगवत्प्रीत्यर्थ भगवान्‌को ही समर्पण कर दिया जाय। अनन्यशरणागति-रूप साधनामें भक्ति, ज्ञान, वैराग्यादि सब साधनोंका समावेश हो जाता है। आत्मसमर्पण करते ही साधककी स्थितिमें महान् परिवर्तन होता है। अनन्यशरणागतिसे मन-माया-मिलनका विच्छेद होना अवश्यम्भावी है। फिर मोहपाशकी शृङ्खलाओंके टूटनेमें विलम्ब नहीं लगता। अर्जुनने कहा था—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

—यह उक्ति साधकोंकी आशाको निरन्तर दृढ़तर करने-वाली है।

अर्जुनकी विजय हुई। समस्त संसारने विस्मयान्वित हो विस्फारित नेत्रोंसे देखा। न देखनेवालोंके लिये, सोते हुओंको जगानेके लिये संजयने अपनी अमरवाणीको अन्तमें सुनाया—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

साधन-सत्य

(लेखक—डाक्टर हरिहरनाथजी टुकू, एम्० ए०, डी० लिट्०)

ज़मीन फोड़कर जब नदीका पानी पहाड़ी घाटीमें निकल आया तब उसने यह किसीसे न पूछा कि समुद्र किधर है और मैं किस मार्गसे उसके पास पहुँचूँ ? जोशसे मतवाली वह नदी कूदती-फाँदती छलाँग भरती बस चल पड़ी। उसके हृदयमें तो एक अनन्त समाया हुआ था। उसके दिलने कहा—'तू चल पड़, पूछ मत, पृथ्वीके चारों ओर समुद्र-ही-समुद्र है।' वह दौड़ पड़ी। पत्थर उसे देखकर हँसते थे। वे, बड़े-बड़े पत्थर, उसके रास्तेमें जा बैठे, उसका मार्ग रोकनेके लिये—उसे प्यारेसे न मिलने देनेके लिये। कैसा कड़ा पत्थर-सा उनका कलेजा था ! लेकिन नदी दीवानी थी। जो पत्थर उसके मार्गमें रोक डाले पड़े थे, उनसे भी वह बिना प्यारेसे मिले, बिना गले लगाये, आगे न बढ़ी। प्यार-भरे हृदयमें घृणा कहाँ ? जिन पत्थरोंने उसे टक्करें खिलायीं, उनके प्रति भी उसने प्रेम अर्पित किया, अपने स्नेह-स्पर्शसे उनका ताप हरण किया, अपने प्यारसे उनकी विषमता हरी और उन्हें सुडौल बनाया। जो पत्थर उसे दीवानी कहते थे, उसे हँसते थे, वे वहीं पड़े रहे और वह प्रेममस्तीभरी नदी हज़ारों मील दूर निकलकर जिसके मिलनके लिये यह पागल थी उससे एक होकर सुख पा सकी। जिसके मनमें दीवानापन होता है, वही प्यारेको प्यारा होता है। मीरा श्रीकृष्णको प्यारी इसलिये हुई कि वह प्रेम-दीवानी थी। अपना सयानापन ही हमारा सबसे बड़ा वैरी है।

जबतक यह दीवानापन नहीं होता तबतक कोई मन्त्र क्या करेगा ? साधना मनसे या बुद्धिसे नहीं होती। साधना एकाङ्गी प्रयत्न नहीं है। साधना सर्वाङ्गी है, चौबीसों घंटोंकी एक-एक क्षणकी, प्रेम-बाढ़; जिसमें मन, बुद्धि, वाणी, स्वत्व सब कुछ बह चलें।

और जब ऐसी प्रेम-बाढ़में बह चले तो मन्त्र कैसा और क्या पथ पूछना ? जिधर पाँव ले जायँगे उधर ही प्यारा है। जो नाम निकलेगा वही मन्त्रवत् होगा। साधन-पथके लिये मन्त्र केवल एक है—प्यारेका नाम; प्रियतमके हज़ारों नामोंमेंसे वही, जिसे लेते ही प्रेमी अधीर हो जाय, उसके शरीरमें पुलकावलि हो जाय और आँखोंसे अटूट जलधार बह चले !

इन्द्रादि देवोंकी उपासना

(लेखक—गङ्गोत्तरीनिवासी परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमद्दण्डिस्वामी शिवानन्दजी सरस्वती)

ब्रह्मा दक्षः कुबेरो यमवरुणमरुद्वह्निचन्द्रेन्द्ररुद्राः
शैलाः सप्तार्णवाः सप्तग्रहगणमनुजा दैत्यगन्धर्वनागाः।
द्वीपा नक्षत्रतारा रविसुमुनयो व्योमभूरश्विनौ च
संलीना यस्य सर्वे वपुषि स भगवान् पातु वो विश्वरूपः॥

हम देखते हैं, उपासना-जगत्में उपासक अनन्त हैं। कोई सौर हैं, कोई गाणपत्य हैं, कोई शैव हैं, कोई शाक्त हैं और कोई वैष्णव हैं। इसी प्रकार और भी कई तरहके उपासक हैं। अतः प्रश्न होता है कि देवता कितने हैं ?

भगवान् अनन्त विभूतिमय हैं। वे विश्वेश्वर, विश्वरूप और विश्वमय हैं। जल, स्थल, मरुत्, व्योम सभी उनसे व्याप्त हैं। वे सबके आधार और सर्वमय हैं। इन्द्रादि देवशरीरोंमें उनका अंश सम-भावसे विद्यमान है। समस्त देवोंमें वे अपने पूर्ण अंशसे विराज रहे हैं—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इसीसे हमारे शास्त्रोंमें देव-देवियोंकी आराधनाका इतना विशद और विस्तृत विधान है। इसीसे हिन्दुओंके देव-देवी असंख्य हैं, अगणित हैं, उनकी संख्या तैंतीस कोटि बतायी जाती है। तथा इसीसे इन्द्रादि समस्त देवताओंमें भी हिन्दुओंकी पूर्ण आराध्यबुद्धि देखी जाती है। यद्यपि आराध्यदेव 'एकमेवाद्वितीयम्' ही है, तथापि आराधनाके तारतम्यानुसार हिन्दुओंके उपास्यदेव तैंतीस कोटि भी हैं। आराध्यके सम्बन्धमें सभी संज्ञाएँ सम्भव हैं, क्योंकि जो सर्वमय, सर्वस्वरूप और सर्वशक्तिमान् हैं, उन भगवान्के लिये क्या सम्भव और क्या असम्भव हो सकता है ? अपने आराध्यके विषयमें अभिज्ञता प्राप्त करनेके लिये कुछ काल गुरुदेवकी शरणमें रहनेका नियम है। हिन्दुओंमें यह बात सदासे चली आयी है। उनकी अस्थि, मज्जा और धमनियोंमें यही शिक्षा गूँज रही है कि 'देवता एक है और वही तैंतीस करोड़ भी है।' हिन्दुओंके योगी, ऋषि, और तपस्वी, हिन्दुओंके वेद, वेदान्त और उपनिषद्, हिन्दुओंके पुराण, उपपुराण और संहिता, हिन्दुओंके

गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास तथा हिन्दुओंकी साकार-निराकार सब प्रकारकी उपासनाएँ पर्यायक्रमसे यही शिक्षा दे रही हैं कि, 'देवता एक है, देवता अनेक हैं, देवता अनन्त हैं—देवता विराट् हैं, देवता अल्प हैं एवं देवता अणु-परमाणुमात्र हैं।' इसीसे मातेश्वरी श्रुति भी श्रवण-मधुर स्वरमें कहती है—'बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।'

अतः विराट्की विशाल धारणाको अपने लिये विषम समझकर पीछे हटनेकी आवश्यकता नहीं है, तुम भगवान्के अणुरूपका ही आश्रय लेकर आगे बढ़ो। इससे भी तुम ऊँची-से-ऊँची साधनापर बड़ी आसानीसे अधिकार प्राप्त कर लोगे। अतएव देवता असंख्य हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर, काली, तारा, महाविद्या; राम, कृष्ण, वामन; मत्स्य, कूर्म, वाराह; नृसिंह, परशुराम, बुद्ध; कल्कि, कपिल, दत्तात्रेय; इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, वरुण, यम, कुबेर—ये सभी देव हैं। *यहाँतक कि श्रीहनूमान्जी भी हिन्दुओंके यहाँ* देवताके रूपमें पूजित होते हैं। वस्तुतः इन सब रूपोंमें वे एकमात्र विश्वरूप विश्वेश्वर ही विराजमान हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वरादि विभिन्न नाम और रूपोंद्वारा भी उन्हींकी उपासना होती है। हाँ, नाम और रूपकी विलक्षणताके कारण उनकी पूजापद्धतिमें भी भेद अवश्य है।

श्रीमद्भगवद्गीता, नवम अध्यायमें पाण्डुकुलभूषण अर्जुनसे श्रीभगवान् कहते हैं—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ २३॥
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ २४॥
यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ २५॥

'हे अर्जुन! जो लोग अन्य देवताओंमें भक्ति-भाव रखकर श्रद्धापूर्वक उनकी आराधना करते हैं, वे भी अविधि-पूर्वक मेरी ही पूजा करते हैं, क्योंकि मैं ही सारे यज्ञोंका भोक्ता और अधिष्ठाता हूँ। वे मुझे पूर्णतया जानते नहीं हैं, इसीसे परमार्थसे पतित हो जाते हैं। उनमें जो देवोपासक होते हैं, वे देवताओंके पास जाते हैं, जो पितृगणकी पूजा करनेवाले होते हैं, वे पितृलोकोंमें जाते हैं और जो भूतपूजक होते हैं, वे भूतोंको प्राप्त होते हैं। किन्तु जो मेरी उपासना करते हैं, वे मुझे ही प्राप्त कर लेते हैं।'

तात्पर्य यह है कि एकमात्र सच्चिदानन्दस्वरूप मैं ही परमेश्वर हूँ। मुझसे भिन्न कोई अन्य देवता नहीं है। लोग जो मेरी ओर लक्ष्य न रखकर इन्द्रादि अन्य देवताओं-की उपासना करते हैं, वह उनका भ्रम ही है, क्योंकि अपने निज रूपसे मैं सर्वदा अप्राकृत प्रपञ्चातीत सच्चिदानन्द तत्त्व हूँ।

तुम एकाग्रचित्त होकर यदि सावधानीसे विचारोगे तो तुम्हें स्पष्टतया मालूम होगा कि वे सब देवगण मेरे ही गौण अवतार हैं। जो लोग मेरे वास्तविक तत्त्वको समझकर उन-उन देवताओंकी मेरे गुणावताररूपसे उपासना करते हैं, उनकी वह उपासना वैध—विधियुक्त अर्थात् उन्नतिकी सोपानरूपा मानी जाती है। और जो उन्हें नित्य समझकर पूजते हैं, वे मोहपङ्कमें फँसकर त्रयीजालके फन्देमें पड़ प्रमादसे अविधिपूर्वक असार और अनित्य सुखकी ही उपासना करते हैं। इससे उन्हें नित्य फलकी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि *मैं ही समस्त यज्ञोंका भोक्ता और प्रभु हूँ।* किन्तु वे मुझे जान नहीं पाते, इसलिये स्वर्गपदपर पहुँचकर फिर भोग समाप्त होनेपर वहाँसे लौट आते हैं। इस प्रकार जो लोग अन्यान्य देवताओंकी ही उपासना करते हैं, वे अनित्य और असार वस्तुका आश्रय लेनेके कारण उस देवताके अनित्य लोकको ही प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार जो पितृ-गणकी उपासना करते हैं, वे पितृ-लोकको, और जो भूतोंको पूजते हैं, वे भूत-लोकको जाते हैं। किन्तु जो नित्य चिन्स्वरूप मेरी उपासना करते हैं, वे तो अन्तमें मुझको ही पाते हैं। तात्पर्य यह कि देवोपासकोंको देवगण, पितृपूजकोंको पितृगण एवं भूतोपासकोंको भूतगणकी प्राप्ति होती है तथा मेरे भक्त मुझे प्राप्त होते हैं। इस प्रकार उन उपासकोंको फल देनेमें मेरा कोई पक्षपात नहीं है। मेरा तो यह अटल नियम है कि सब जीवोंको निरपेक्ष-भावसे उनके कर्मोंका फल देता हूँ। अपने भक्तोंसे भी मैं कोई विशेष वस्तु नहीं चाहता। मुझे तो वे जो कुछ पत्र, पुष्प, फल, जल भक्ति-भावसे भेंट कर देते हैं, उसीको बड़ी प्रसन्नतासे स्वीकार कर लेता हूँ। उस शुद्धचित्त भक्तकी भेंटको मैं तत्क्षण भक्षण कर लेता हूँ।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
(गीता ९। २६)

किन्तु जो अन्य देवताओंकी उपासना करनेवाले होते हैं वे यदि बड़े परिश्रमसे बहुत-सी सामग्री जुटाकर बड़े

आडम्बरके साथ ऊपरी श्रद्धासे मेरी पूजा करते हैं तो मैं उसमेंसे कुछ भी स्वीकार नहीं करता, क्योंकि वे किसी-न-किसी निमित्त या फलकी इच्छासे ही ऐसा करते हैं। ऐसे उपासकोंको जिस-जिस कामनासे जिस-जिस देवताकी उपासना करनी चाहिये—इसका विवरण श्रीमद्भागवत, द्वितीय स्कन्धके तीसरे अध्यायमें इस प्रकार दिया है—

ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणस्पतिम्।
इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन्॥ २॥
देवीं मायां तु श्रीकामस्तेजस्कामो विभावसुम्।
वसुकामो वसून् रुद्रान्वीर्यकामोऽथ वीर्यवान्॥ ३॥
अन्नाद्यकामस्त्वदितिं स्वर्गकामोऽदितेः सुतान्।
विश्वान्देवान् राज्यकामः साध्यान्संसाधको विशाम्॥ ४॥
आयुष्कामोऽश्विनौ देवौ पुष्टिकाम इलां यजेत्।
प्रतिष्ठाकामः पुरुषो रोदसी लोकमातरौ॥ ५॥
रूपाभिकामो गन्धर्वान्स्त्रीकामोऽप्सरउर्वशीम्।
आधिपत्यकामः सर्वेषां यजेत परमेष्ठिनम्॥ ६॥
यज्ञं यजेद्यशस्कामः कोशकामः प्रचेतसम्।
विद्याकामस्तु गिरिशं दाम्पत्यार्थ उमां सतीम्॥ ७॥
धर्मार्थ उत्तमश्लोकं तन्तुं तन्वन्पितॄन्यजेत्।
रक्षाकामः पुण्यजनानोजस्कामो मरुद्गणान्॥ ८॥
राज्यकामो मनून्देवान् निर्ऋतिं त्वभिचरन्यजेत्।
कामकामो यजेत्सोममकामः पुरुषं परम्॥ ९॥

'जिसे ब्रह्मतेजकी इच्छा हो वह ब्रह्माजीकी, जिसे इन्द्रियोंकी पटुताकी अभिलाषा हो वह इन्द्रकी, जिसे प्रजाकी इच्छा हो वह दक्षादि प्रजापतियोंकी, जिसे सौभाग्यकी कामना हो वह दुर्गादेवीकी, जो तेज चाहता हो वह अग्निकी, जिसे धनकी इच्छा हो वह वसुगणकी, जिसे वीर्यकी कामना हो वह रुद्रकी, जो अन्नकामी हो वह अदितिकी, जो स्वर्गकी इच्छा रखता हो वह द्वादश आदित्योंकी, जिसे राज्यकी अभिलाषा हो वह विश्वेदेवोंकी और जो देशकी प्रजाको अपने अधीन करना चाहता हो वह साध्यगणकी उपासना करे। जो दीर्घायु चाहता हो उसे अश्विनीकुमारोंकी, जिसे पुष्टिकी इच्छा हो उसे शस्यश्यामला वसुन्धराकी, जो प्रतिष्ठाकामी हो उसे अन्तरिक्षकी, जो रूप चाहता हो उसे गन्धर्वोंकी, जिसे स्त्रीकी इच्छा हो उसे उर्वशी अप्सराकी तथा जो सबका आधिपत्य चाहता हो उसे प्रजापतिकी आराधना करनी चाहिये। यशकी इच्छावाला यज्ञभगवान्‌की उपासना करे। जो कोशकी कामनावाला हो वह वरुणदेवकी उपासना करे। विद्याभिलाषी श्रीशङ्करकी आराधना करे और दाम्पत्यकी इच्छावाला उमा देवीका पूजन करे। जो धर्मसञ्चय करना चाहता हो उसे श्रीनारायणकी, जो सन्तान-वृद्धिकी इच्छावाला हो उसे पितृगणकी, जिसे रक्षाकी कामना हो उसे यक्षोंकी, जो बल चाहता हो उसे मरुद्गणकी, जिसे राज्यकी इच्छा हो उसे मनुओंकी, जो अभिचार करना चाहता हो उसे राक्षसोंकी, जो भोगोंकी इच्छा रखता हो उसे चन्द्रमाकी और जिसे कोई इच्छा न हो उसे परमपुरुष परमात्माकी उपासना करनी चाहिये।' इस प्रकार लोकमें भिन्न-भिन्न कामनाओंसे भिन्न-भिन्न देवताओंकी आराधना की जाती है। जो लोग किसी वस्तुको पानेके लिये देवताकी उपासना करते हैं वे उसे पाकर ही कृतकृत्य हो जाते हैं। अतः उन्हें किसी अन्य परमार्थतत्त्वको पानेकी अपेक्षा नहीं होती। किन्तु जिनकी उपासना परमार्थतत्त्वकी उपलब्धिके लिये होती है, वे अन्तमें भगवत्तत्त्वस्वरूप मुझको ही पा लेते हैं, क्योंकि वे प्रकारान्तरसे तत्परतापूर्वक अन्य देवतामें भी मेरी ही उपासना करते हैं।

इसके आगे भगवान् अर्जुनका कर्तव्य बताते हैं। वे कहते हैं—'अर्जुन! तुमने धर्म-वीर और कर्म-वीर रूपसे इस मर्त्यलोकमें मेरे साथ अवतार लिया है। तुम निरन्तर मेरी लीलापुष्टिमें नियुक्त हो। इसलिये तुम मेरे सकाम या निष्काम भक्तोंमें ही नहीं गिने जा सकते। तुम्हारे द्वारा तो निष्काम-कर्म और ज्ञान दोनोंसे मिली हुई भक्तिका अनुष्ठान होना चाहिये। अतः तुम्हारा यही कर्तव्य है कि—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(गीता ९। २७)

'तुम जो कर्मानुष्ठान करो, जो भोजन करो, जो हवन करो, जो दान दो और जो तप करो वह सब मुझे ही अर्पण कर दो।' दूसरे—

'अतः तुम मूलमें अपने कर्मको ही मुझे अर्पण करते हुए भक्ति-भावसे उसका अनुष्ठान करो। इससे तुम कर्मजनित शुभाशुभ फलसे मुक्त हो जाओगे एवं कर्मार्पणरूप त्यागसे युक्त होकर मुक्ति-लाभपूर्वक मेरे स्वरूपभूत तत्त्वको प्राप्त कर सकोगे।'

अतः भगवान्‌के उपर्युक्त शब्दोंसे यह निश्चय होता है कि इन्द्रादि देवताओंके उपासकोंको भी यदि भगवद्भक्तोंका समागम होनेसे भगवान्‌के प्रति अविचल भक्ति-भाव उत्पन्न हो जाता है तब तो उन्हें परम पुरुषार्थकी प्राप्ति समझनी चाहिये, नहीं तो उनका सारा प्रयास व्यर्थ ही है। वे किसी-न-किसी लौकिक या अलौकिक वस्तुको पाकर ही अपनेको कृतकृत्य मान बैठेंगे। परन्तु यदि इन्द्रादि देवताओंकी भी परमात्मबुद्धिसे ही उपासना की जाय तो उसका फल भी परमात्माकी प्राप्ति ही होगा। भगवद्बुद्धि होनेसे किसी भी देवताकी उपासनाके फलमें न्यूनाधिकता नहीं होती। यही बात भगवान् बादरायणने भी कही है—'विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्' (ब्र० सू० ३। ३। ५९) किन्तु जिन्हें किसी वस्तुकी इच्छा नहीं है अथवा जो पूर्वोक्त सारी ही कामनाएँ रखते हैं वे भी समस्त देवोंके आधारभूत श्रीहरिकी उपासनाद्वारा अपना अभीष्ट-लाभ कर सकते हैं, क्योंकि जिस प्रकार मूलको सींचनेसे वृक्षके पत्ते, शाखा और स्कन्ध सभीका पोषण हो जाता है तथा प्राणोंको खुराक मिल जानेसे सभी इन्द्रियाँ सचेत हो जाती हैं, वैसे ही श्रीहरिकी पूजासे समस्त देवताओंकी पूजा हो जाती है। यही बात भक्तशिरोमणि देवर्षि नारदजी कहते हैं—

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन
तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां
तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥
(श्रीमद्भा० ४। ३१। १४)

परमपुरुष सच्चिदानन्दमय भगवान् विष्णु सभीके उपास्यदेव हैं। सौर, गाणपत्य, शाक्त, शैव कोई भी हों—सभी सम्प्रदायोंके साधक भगवान् विष्णुकी आराधना कर सकते हैं। जो जिस देवताके मन्त्रमें दीक्षित हैं, उन्हें उस मन्त्रके देवता या देवीकी ही उपासना करनी चाहिये—यह तो ठीक है, किन्तु उनकी वह उपासना श्रीविष्णुभगवान्‌की प्रसन्नताके लिये ही होनी चाहिये। प्रत्येक साधकको प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष-भावसे पूजा या श्राद्ध-तर्पणादिके समय हृदयकी निर्भरता, प्राणोंकी वेदना और आन्तरिक एकाग्रताके साथ श्रीविष्णुभगवान्‌के प्रति ही अपनी सारी साधना लगा देनी चाहिये। अतः उपासकके कामनाक्रान्त, वासनाविजडित, कामक्रोधादिकलुषित चित्तकी शुद्धिके लिये सर्वदेवशिरोमणि सर्वाराध्य सर्वशक्तिमान् श्रीविष्णुभगवान्‌की उपासना ही परम उपयोगी एवं मङ्गलमयी है। जिस प्रकार जल मेघादिक्रमसे सूर्यसे उत्पन्न होकर फिर वाष्पादिक्रमसे उसीमें लीन हो जाता है तथा जैसे स्थावर-जङ्गम समस्त प्राणी पृथिवीसे उत्पन्न होकर अन्तमें उसीमें समा जाते हैं, वैसे ही यह चेतनाचेतनस्वरूप समस्त प्रपञ्च भगवान् हरिसे उत्पन्न होकर अन्तमें उन्हींमें लीन हो जाता है। अतः—

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥

हे अशरणशरण! हे जगत्पते! विश्वका मङ्गल हो। दुष्ट पुरुष अनुकूल हो जायँ। समस्त प्राणी आपसमें मिलकर कल्याणकामना करें। उनका मन अपने मङ्गलकी ओर प्रवृत्त हो और हमारा चित्त अकारण ही आपमें लग जाय।

शोभा-सिन्धु

मोहन-बदन बिलोकत अँखियन उपजत है अनुराग ।
तरनि ताप तलफत चकोरगति पिवत पियूष पराग ॥
लोचन नलिन नये राजत रति पूरन मधुकर भाग ।
मानहु अलि आनंद मिले मकरंद पिवत रतिफाग ॥
भँवरि भाग भ्रकुटी पर कुमकुम चंदन बिंदु बिभाग ।
चातक सोम सक्रधनु धनमें निरखत मनु बैराग ॥
कुंचित केस मयूर चंद्रिका मंडल सुमन सुपाग ।
मानहु मदन धनुष-सर लीन्हें बरसत हैं बन बाग ॥
अधरबिंब बिहँसान मनोहर मोहन मुरली राग ।
मानहु सुधा-पयोधि घेरि घन ब्रजपर बरसन लाग ॥
कुंडल मकर कपोलनि झलकत श्रम-सीकरके दाग ।
मानहु मीन मकर मिलि क्रीडत सोभित सरद-तड़ाग ॥
नासा-तिलक प्रसून पदवि पर चिबुक चारु चित खाग ।
दाडिम दसन मंदगति मुसकनि मोहत सुर-नर-नाग ॥
श्रीगोपाल रस रूप भरी है 'सूर' सनेह सोहाग ।
ऐसो सोभा सिन्धु बिलोकत इन अँखियनके भाग ॥

—सूरदासजी

इन्द्रादि देवोंकी उपासना

हमारे पूर्वजोंका भी एक युग था। उनकी धन-सम्पत्ति पूर्ण थी, शरीर आरोग्य था, परिवार सुखी था, सबके हृदयमें शान्ति थी, संसारके व्यवहार उनके लिये क्रीड़ा-कौतुक थे, उनके स्मरण करनेसे बड़े-बड़े देवता आ जाते थे, इच्छा-मात्रसे उनका शरीर ब्रह्मलोकतक जा सकता था, उनके रथ और विमानोंकी गति अप्रतिहत थी, हजारों कोस दूरसे किसी भी वस्तुको वे देख लेते थे, सुन लेते थे, जान लेते थे, भविष्य और भूतका, दूर और निकटका व्यवधान उनके लिये नगण्य था। समस्त वस्तुओंका ज्ञान उनके करामल-कवत् था। जिसपर प्रसन्न होते वरदान देते, जिसपर रुष्ट होते दण्ड भी देते। उनमें निग्रह-अनुग्रहकी पूर्ण क्षमता थी। स्वर्गके देवता उनकी सहायताके लिये अपेक्षा किया करते थे। प्राचीन ग्रन्थोंमें इस बातके अनेकों प्रमाण हैं। वे केवल मनगढ़न्त नहीं, ऐतिहासिक हैं, सत्य हैं।

परन्तु आज हम कहाँ हैं? हमारे पास अपनी कहनेके लिये एक बित्ता जमीन नहीं, पेट भरनेके लिये दो रोटी नहीं, दुर्भिक्ष, महामारी, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्दैव और अत्याचारोंसे पीड़ित होकर आज हम सुखसे सो नहीं सकते, एक क्षणके लिये मनको समाहित करके शान्तिका अनुभव नहीं कर सकते। चाहे धनी हों या गरीब, शरीरके भोगों और उपकरणोंके लिये ही इतने चिन्तित हो रहे हैं कि हम केवल स्थूलताओंके बन्धनमें ही जकड़कर मोहग्रस्त और त्रस्त हो रहे हैं और इसीमें इतने उलझ गये हैं कि इस बातका पता ही नहीं रहा कि इन स्थूलताओं और स्थूल बन्धनोंके ऊपर हमारा एक सूक्ष्म रूप है और उसके भी संगी, साथी, सहायक और भी बहुतसे लोग हैं, जिनके द्वारा शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे त्राण पाया जा सकता है और जिनके साथ सम्बन्ध कर लेने मात्रसे लौकिक, पारलौकिक और पारमार्थिक उन्नतिको बहुत कुछ सरल बनाया जा सकता है। जो लोग केवल स्थूलशरीरको सत्य समझकर इसीको सुखी करना चाहते हैं, जो केवल स्थूल जगत्के उलझनोंमें लगे हुए हैं, यदि वे संसारमें एकच्छत्र सम्राट् हो जायँ तब भी वे पूर्ण नहीं हो सकते; क्योंकि कोई-न-कोई अभाव उनके साथ लगा रहेगा। कारण स्थूल जगत्का जीवन सूक्ष्म जगत्की अपेक्षा बहुत न्यून है और हमारा हृदय स्थूल जगत्की नहीं, सूक्ष्म जगत्की वस्तु है।

अध्यात्मवादी हमें क्षमा करें। हम उनके चरणोंमें सिर रखकर प्रार्थना करते हैं कि आप जहाँ हैं वहाँसे विचार नहीं कर रहे हैं। जहाँ आपको पहुँच जाना चाहिये, वहाँसे विचार करते हैं। इस स्थूल जगत् और भगवत्प्राप्तिके बीचमें एक सूक्ष्म जगत् भी है, जो कि आध्यात्मिक उन्नतिमें सीढ़ीका काम करता है। उसकी सहायता लिये बिना आप अध्यात्म-पथपर अग्रसर हो रहे हैं, इसका यह अर्थ है कि आप बिना किसी सहारेके, बिना किसी अवलम्बनके आकाशमें विचरण करना चाहते हैं। यदि आप स्थानसे ही यात्रा प्रारम्भ करते, जहाँ कि आप वास्तवमें उलझे हुए हैं, तो आप देखते कि इन स्थूलताओंके भीतर एक महान् सूक्ष्म लोक है, जिसमें इस लोककी अपेक्षा अधिक ज्ञान, अधिक शक्ति, अधिक सुख और अधिक सुव्यवस्था है। वहाँके शासक स्थूल जगत्पर भी आधिपत्य रखते हैं और वहाँकी प्रगति एवं प्रवृत्तियोंमें उनकी मुख्य प्रेरणा रहती है। जैसे यह स्थूलशरीर आप नहीं हैं, इसके अंदर रहनेवाले जीव हैं; वैसे ही पृथ्वीमें, जलमें, अग्निमें, वायुमें, चन्द्रमें, सूर्यमें, प्रत्येक ग्रहमण्डल और भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें एक दिव्य जीव निवास करता है, जिसको पृथ्वीदेवता, अग्निदेवता आदि नामसे कहते हैं, ये स्थूल पृथ्वीमण्डल, जलमण्डल आदि जिनके शरीर हैं। इनकी एक सुव्यवस्थित राजधानी है, सेवक हैं, सहायक हैं, न्यायाधीश हैं और राजा हैं। पृथ्वीकी नियमित गति, जलकी नियमित धारा, अग्निकी उष्णता, स्थूल जगत्के रोग-शोक, इन्हींके द्वारा नियन्त्रित हैं, मर्यादित हैं। इनका एक संगठित राज्य है और उनके पद और पदाधिकारी, उनके समयकी अवधि, सब कुछ नियमसे होता है। कोई प्रत्येक युगमें बदलते हैं, कोई प्रत्येक मन्वन्तरमें बदलते हैं, कोई प्रत्येक कल्पमें बदलते हैं। कभी-कभी इन पदोंपर बड़े-बड़े तपस्वी जीव भी जाते हैं और कभी-कभी ब्रह्मलोकसे आधिकारिक पुरुष भी भेजे जाते हैं। देवताओंके राजा इन्द्र हैं। न्यायाधीश धर्मराज हैं। धनाध्यक्ष कुबेर हैं। इन सबके आचार-व्यवहार, सामर्थ्य-शक्तिके वर्णन वेदोंसे लेकर काव्योंतक सम्पूर्ण संस्कृत-साहित्यमें और बाइबिल, कुरान आदि अन्य धर्मोंके ग्रन्थोंमें भी मिलते हैं।

हमारे पूर्वजोंको जो ऐसी महान् शक्ति प्राप्त हुई थी, वह इन्हीं देवताओंकी उपासना और सम्बन्धका फल था।

यह स्थूल जगत् तो सूक्ष्म जगत्की प्रतिच्छाया मात्र है। सूक्ष्म जगत्से सम्बन्ध होनेपर और उसमें अधिकार प्राप्त होनेपर स्थूल जगत्में मनमाने परिवर्त्तन किये जा सकते हैं। लौकिक उन्नति करनेकी इच्छा हो तो वह सरलतासे सिद्ध हो सकती है। ये देवोपासनाके छोटे-से-छोटे फल हैं। जो लोग इससे ऊपर उठते हैं, स्थूल शरीर और स्थूल जगत्को क्षणिक समझकर सूक्ष्म जगत्में ही विहार करना चाहते हैं, वे देवोपासनाके द्वारा स्वर्गमें कल्पभरके लिये स्थान प्राप्त कर सकते हैं। वे अपनी तपस्या और उपासनाके अनुसार इन्द्र हो सकते हैं। और इन्द्रकी तो बात ही क्या, ब्रह्मातक हो सकते हैं। देवोपासनाके द्वारा यह सब कुछ बहुत ही सुलभ है। इस युगमें सबसे बड़ा ह्रास इस देवोपासनाका ही हुआ है। अध्यात्मवादियोंने यह कहकर कि 'हम ब्रह्मलोकतकके भोगपर लात मारते हैं' और आधिभौतिकोंने यह कहकर कि 'सूक्ष्म लोक कोई वस्तु ही नहीं है' देवोपासनाका परित्याग कर दिया। वर्त्तमान समय इस बातका साक्षी है कि दोनों ही अपने-अपने प्रयासमें असफल हो रहे हैं। अधिकांश अध्यात्मवादियोंका वैराग्य उन लोकोंके न देखनेके कारण अथवा उनपर विश्वास न होनेके कारण है। यह कितने आश्चर्यकी बात है कि जो लोग इस जगत्के एक पुष्पके सौन्दर्य और सौरभ पर लुभा जाते हैं, वे सूक्ष्म लोकोंके अतुलनीय भोगोंपर लात मारनेकी बात कहते हैं। आधिभौतिकोंके सम्बन्धमें यहाँ कुछ कहना अप्रासङ्गिक है, क्योंकि उन बेचारोंको इस विषयमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। क्या ही अच्छा होता कि वे हमारे प्राचीन इतिहासोंको सत्य मानते और श्रद्धायुक्त विवेकसे काम लेकर देवताओंके अस्तित्व एवं महत्त्वको मानते और उनकी सहायतासे शीघ्र-से शीघ्र अपने लक्ष्यतक पहुँच जाते।

इस कथनका यह भाव कदापि नहीं है कि अध्यात्मवादी उन लोकोंके वैभवसे विरक्त न हों। विरक्त तो होना ही चाहिये, परन्तु वह विरक्ति आत्मवञ्चना नहीं हो, पूर्ण हो। पूर्ण वैराग्यमें देवताओंकी उपासना बाधक नहीं साधक ही है। देवता रुष्ट हों तो इन्द्रियों और मनका संयम अत्यन्त कठिन हो जाता है। क्योंकि वे इनकी अधिष्ठातृ-देवता हैं। इसीसे प्राचीनकालमें ऋषिगण यज्ञ-यागादिके द्वारा इनको सन्तुष्ट किया करते थे। देवताओंकी उपासनामें मुख्यता राजसूय, वाजपेय आदि वैदिक यज्ञोंकी ही है। समस्त वेदान्ती और भक्त आचार्योंने एकस्वरसे स्वीकार किया है कि ये यज्ञ, देवोपासना आदि यदि सकामभावसे किये जाते हैं, तो इस लोककी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले होते हैं और परलोकमें इन्द्रत्व और पारमेष्ठ्यको भी देनेवाले होते हैं, और यदि ये ही कर्म निष्काम-भावसे किये जाते हैं तो अन्तःकरणको शुद्ध करके भगवान्की भक्ति अथवा तत्त्वज्ञानके हेतु होते हैं। चाहे सकाम हो या निष्काम, किसी भी अवस्थामें देवोपासना लाभदायक ही होती है। जो लोग इन्द्रियोंका संयम करके मनको एकाग्र एवं परमात्मामें स्थिर करना चाहते हैं, उनके लिये भी देवोपासना बड़ी सहायक है। सूर्यकी उपासनासे, जो कि उनके सामने बैठकर गायत्रीके जपसे होती है, ब्रह्मचर्य स्थिर होता है और आँखें बुरे विषयोंपर नहीं जातीं। नित्य और नैमित्तिक कर्मोंमें देवपूजाके जितने भी मन्त्र हैं, उनमें कहा गया है—'अमुक देवता मेरी इन्द्रियोंको संयत करें, मनको विषयोंसे विमुख करें और अपराधोंकी पुनरावृत्ति न हो, ऐसी कृपा करें।' सन्ध्या और पञ्चमहायज्ञ-जैसे नित्यकर्म भी एक प्रकारसे देवोपासना ही हैं और देवताओंकी सहायता प्राप्त करते रहनेके लिये ही आर्य-जीवनसे उनका घनिष्ठ सम्बन्ध जोड़ दिया गया है।

वर्त्तमान युगमें सर्वसम्मतिसे यह स्वीकार कर लिया गया है कि गीता अध्यात्मशास्त्रका एक उज्ज्वल प्रकाश है। इसकी गम्भीरता, महत्ता और तात्त्विकता सर्वमान्य है। गीता ग्रन्थमें प्रसङ्गवश कई बार देवपूजाका उल्लेख हुआ है। सात्त्विक पुरुषोंका वर्णन करते हुए स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि सात्त्विक पुरुष देवताओंकी पूजा करते हैं 'यजन्ते सात्त्विका देवान्'। शारीरिक तपोंमें सर्वप्रथम स्थान देवपूजाको ही प्राप्त है। इसके अतिरिक्त और भी अनेक स्थलोंमें जैसे यज्ञके साथ प्रजाकी सृष्टि बतलाते हुए कहा गया है कि यज्ञके द्वारा तुम उन्नति करो। यज्ञ तुम्हारी समस्त कामनाओंको पूर्ण करे। वहाँ स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य यज्ञके द्वारा देवताओंको प्रसन्न करे और देवता मनुष्योंको उन्नत करें। इस प्रकार एक दूसरेके सहकारी बनकर परम कल्याण प्राप्त करें। आगे चलकर तो यह भी कहा गया है कि संसारकी सम्पूर्ण सुख-सम्पत्ति देवताओंसे ही प्राप्त होती है। इसलिये उनकी चीज उनको दिये बिना जो भोगते हैं, वे एक प्रकारसे चोर हैं—'स्तेन एव सः'। भगवान्की यह वाणी प्रत्येक साधकको सर्वदा स्मरण रखनी चाहिये कि इस यज्ञ-चक्रका जो अनुष्ठान नहीं करता, वह इन्द्रियोंके भोगोंमें रमनेवाला पापी व्यर्थ ही जीवन धारण करता है। भगवान्के ये

वचन इतने स्पष्ट हैं कि इनकी टीका-टिप्पणी आवश्यक नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि भगवान्‌ने सकामताको हेय बतलाया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि कर्मका ही त्याग कर दिया जाय। यज्ञ करके यज्ञका फल नहीं चाहना यह गीताका सिद्धान्त है। उपासना न करनेवालेकी अपेक्षा तो उपासना करनेवाला श्रेष्ठ ही है। चाहे वह सकाम-भावसे ही क्यों न करता हो। पुराणोंमें और उपासनासम्बन्धी ग्रन्थोंमें ये बातें बहुत स्पष्टरूपसे लिखी हुई हैं।

परमार्थदृष्टिसे परमात्माके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं होनेपर भी व्यवहारदृष्टिसे सब कुछ है और ज्यों-का-त्यों सत्य है। इसलिये यदि स्थूल लोक सत्य है, तो सूक्ष्म लोककी सत्यतामें कोई सन्देह नहीं रह जाता। फिर इनकी उत्पत्तिका क्रम और इनकी व्यवस्था भी स्वीकार करनी ही पड़ती है। मूलतः इस सृष्टिके कर्त्ता, धर्त्ता, हर्त्ता एकमात्र ईश्वर ही हैं। वही परम देव हैं। उन्हींको कर्त्तापनकी दृष्टिसे ब्रह्मा, धर्त्तापनकी दृष्टिसे विष्णु और हर्त्तापनकी दृष्टिसे शिव कहते हैं। ये तीनों नाम एक ही ईश्वरके हैं। इसलिये ये भी परम देव ही हैं। इन तीनोंमेंसे ब्रह्माकी उपासना प्रचलित नहीं है; क्योंकि वे अपने कामको स्वाभाविकरूपसे करते रहते हैं और सृष्टिके लिये प्रार्थना करना आवश्यक नहीं है। संसारकी स्थितिके लिये अथवा संसारसे मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त करनेके लिये उपासना की जाती है। यही कारण है कि विष्णु और शिवकी उपासना अधिक प्रचलित है। संसारकी विभिन्नताओंके स्वामीके रूपमें गणेशकी और प्रकाशकके रूपमें सूर्यकी उपासना होती है। इन सबके साथ यों कहिये कि सबके रूपमें भगवान्‌की अचिन्त्य शक्ति है, इसलिये केवल शक्तिकी भी आराधना होती है। इस प्रकार विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश और शक्ति—ये पाँचों भगवान् ही हैं। इसलिये उपास्यदेवोंमें इन्हींका मुख्य स्थान है। जिस देवताकी जो शक्ति होती है वही उसकी पत्नी है और शक्तिमान्‌के साथ शक्तिका अभेद है। सामान्य देवताओंसे विलक्षण होनेके कारण इन पाँचोंकी गिनती देवताओंमें नहीं होती। समय-समयपर इन सभीके अवतार हुआ करते हैं और इस प्रकार निखिल जगत्‌की रक्षा-दीक्षा होती है।

सूक्ष्म जगत्‌के देवताओंमें अनेकों भेद हैं। ब्राह्मस्वर्गके देवता, माहेन्द्रस्वर्गके देवता और भौमस्वर्गके देवता, इनमें कुछ तो प्रजारूपसे निवास करते हैं और कुछ अधिकारीरूपसे। उनके शरीरमें स्थूल पञ्चभूत बहुत ही न्यून परिमाणमें होते हैं और पृथ्वी, जलकी मात्रा तो नहींके बराबर होती है। इसीसे उन्हें पार्थिव भोजनकी आवश्यकता नहीं होती, केवल सूँघनेसे या अमृतपानसे ही उनका जीवन परिपुष्ट रहता है। ब्राह्मस्वर्गमें तो गन्ध या पानकी भी आवश्यकता नहीं होती, इसलिये यज्ञ-यागादिका सम्बन्ध अधिकांश माहेन्द्रस्वर्गसे ही है। भौमस्वर्गके देवता पितर हैं।

देवता दो प्रकारके होते हैं। एक नित्य देवता और दूसरे नैमित्तिक देवता। नित्य देवताओंका पद प्रवाहरूपसे नित्य होता है। जैसे प्रत्येक प्रलयके बाद इन्द्रपद रहेगा ही। ऐसे ही दिक्पाल, लोकपाल आदिके भी पद हैं। इनके अधिकारी बदलते रहते हैं किन्तु पद ज्यों-का-त्यों रहता है। इस समय जो बलि हैं, वे ही आगे इन्द्र हो जायँगे। इनके बदलनेका समय निश्चित रहता है। यह नियम प्रत्येक ब्रह्माण्डमें चलता है। नैमित्तिक देवताका पद समय-समयपर बनता है और नष्ट हो जाता है। जैसे कोई नवीन ग्रामका निर्माण हुआ तो उसके अधिकारीके रूपमें नये ग्राम-देवता बना दिये जायँगे। नवीन गृहके लिये नवीन वास्तु-देवता भी नियुक्त कर दिये जायँगे। परन्तु उस ग्राम और घरके टूटते ही उनका वह अधिकार नष्ट हो जायगा। ग्राम-देवताकी पूजासे ग्रामका और गृह-देवताकी पूजासे गृहका कल्याण होता है। अब भी भारतके गाँवोंमें किसी-न-किसी रूपमें ग्राम-देवता और गृह-देवताकी पूजा चलती है।

देवताओंकी संख्या नहीं हो सकती। जितनी वस्तुएँ हैं, उतने ही देवता हैं। इसीसे शास्त्रोंमें देवताओंको असंख्य कहा गया है। तैंतीस करोड़का हिसाब अक्षपादने दिखलाया है। कहीं-कहीं देवताओंकी संख्या तैंतीस हजार तैंतीस सौ तैंतीस कही गयी है। मुख्यतः तैंतीस देवता माने गये हैं। उनकी संख्या इस प्रकार पूरी होती है। प्रजापति, इन्द्र, द्वादश आदित्य, आठ वसु और ग्यारह रुद्र। निरुक्तके दैवतकाण्डमें देवताओंके स्वरूपके सम्बन्धमें विचार किया गया है। वहाँके वर्णनसे यही तात्पर्य निकलता है कि वे काम-रूप होते हैं; वे स्वेच्छासे स्त्री, पुरुष अथवा अन्यरूप धारण कर सकते हैं। वेदान्त-दर्शनमें कहा गया है कि देवता एक ही समय अनेक स्थानोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे प्रकट होकर अपनी पूजा स्वीकार कर सकते हैं। देवताओंके सम्बन्धमें और भी बहुत-सी ज्ञातव्य बातें हैं, परन्तु विस्तारभयसे उनका उल्लेख नहीं किया जा सकता है। अपने लोकमें वे जिस रूपसे निवास करते हैं, वही उनका स्थायी रूप माना जाता है। उसी रूपमें उनका

ध्यान एवं उपासना की जाती है । वेदोंमें प्रायः सभी देवताओंका वर्णन आया है; जैसे इन्द्रके लिये 'वज्रहस्तः पुरन्दरः'। उनके कर्मका भी वर्णन है कि वे वर्षाके अधिपति हैं और वृत्रवध आदि कर्म करते हैं । वैदिक यज्ञोंके द्वारा देवताओंकी जिस प्रकारसे उपासना की जाती है, यहाँ उसका संक्षिप्त दिग्दर्शन भी सम्भव नहीं है । तान्त्रिकपूजा-पद्धतिके अनुसार कुछ देवताओंके ध्यान और मन्त्र लिखे जाते हैं ।

इन्द्र

इन्द्रका वर्ण पीला है, उनके शरीरपर मयूर-पिच्छके सदृश सहस्र नेत्रोंके चिह्न हैं, उनके एक हाथमें वज्र है और दूसरेमें कमल । अनेकों प्रकारके आभूषण धारण किये हुए हैं । दिक्पतियोंके स्वामी इन्द्रका इस प्रकार ध्यान करना चाहिये । इन्द्रका मन्त्र है—ॐ इं इन्द्राय नमः ।

अग्नि

अग्निका वाहन छाग है । सात ज्वालाएँ निकलती रहती हैं, शरीर स्थूल है, पेट लाल है; भौंह, दाढ़ी, बाल और आँखें पिङ्गल वर्णकी हैं । हाथमें रुद्राक्षकी माला और शक्ति है । अग्निका मन्त्र है—ॐ अग्नये नमः ।

कुबेर

कुबेर धनाध्यक्ष हैं । उनके दो हाथ हैं और शरीर नाटा है । पीताम्बर धारण किये हैं । सर्वदा प्रसन्न रहते हैं । यक्ष-गुह्यकोंके स्वामी हैं और धन देनेवाले हैं । इस प्रकार कुबेर-का ध्यान करके उनके मन्त्रका जप करना चाहिये । कुबेरका मन्त्र है—ॐ नमः कुबेराय ।

वास्तुदेव

वास्तुदेवका शरीर सोनेके रंगका है । उनके शरीरसे लालिमा निकलती रहती है । कानोंमें श्रेष्ठ कुण्डल हैं । अत्यन्त शान्त सौभाग्यशाली और सुन्दर वेश है । हाथमें दण्ड है । सब लोगोंके आश्रय एवं विश्वके बीज हैं । जो प्रणाम करता है, उसके भयको नष्ट कर देते हैं । ऐसे वास्तु-पुरुषका ध्यान करना चाहिये । इनका मन्त्र यह है—ॐ वास्तुपुरुषाय नमः ।

देवताओंकी उपासनासे सभी प्रकारके अभाव पूर्ण हो सकते हैं । अनुकूल होनेपर ये भगवत्प्राप्तिमें भी सहायक होते हैं । इसलिये इनकी उपासना करनी चाहिये । भिन्न-भिन्न देवताओंकी उपासनापद्धति भी पृथक्-पृथक् है । जिसकी उपासना करनी हो, उसकी पद्धतिके अनुसार करनी चाहिये ।

इन्द्रादि देवोंकी उपासना

(लेखक—मुखिया श्रीविद्यासागरजी)

कानूनकी किताब ही कानून नहीं है । कानून केवल ताजीरातमें ही नहीं है । वेद, गीता, रामायण, कुरान और इंजील भी कानूनी किताबें हैं । गीतामें एक दफा यों आयी है कि—

'जनताको चाहिये कि वह देवोंको सन्तुष्ट करे और देवोंको चाहिये कि वे जनताको सन्तुष्ट करें ।'

(गीता ३ । ६)

इस प्रजापालक दफापर किसीने भी ध्यान नहीं दिया । इस दफाके अंदर खेतीका प्राण रख दिया गया है—इसकी खबर किसीको नहीं हुई । बड़े-बड़े नेताओंकी टीकाएँ बहुत प्रसिद्ध हुईं । मगर उन्होंने भी इस दफाकी आवश्यक व्याख्या करना जरूरी न समझा । अंग्रेजीवालोंने तो इस दफाका मुताला अश्रद्धाके साथ किया है । वे सोचते हैं कि गीतामें भी कहीं-कहीं 'मुर्दा दफाएँ' मौजूद हैं । क्योंकि अंग्रेजीवाले देवता और प्रेतोंमें विश्वास लाना नपुंसकता समझते हैं । चाहे कोई शङ्का करे और चाहे कोई तर्क करे कि देव और भूत हैं ही नहीं—इस संसारमें वह सब है कि जिसका नाम सुना जाता है । रूपके बिना नाम पड़ेगा कैसे ? जिसका रूप है उसका नाम भी है । जिसका नाम है, उसका रूप भी है । कुछ लोग यह भी कहते हैं कि जिसे देखा नहीं उसे हम नहीं मान सकते । यह उन्होंने कब देखा कि उनकी माता ही उनकी जननी है ! सुना हुआ क्यों मानते हैं ? फिर देवोंको देखनेका आपने कब प्रयत्न किया ? जो लोग देव-दर्शनकी क्रिया बाकायदा करते हैं, वे देवताओंको देखते हैं और जो लोग भूतोंका आवाहन बाकायदा करते हैं, वे भूतोंको भी देखते हैं । आपके बँगलेपर जाकर कोई देव या भूत आपको हाज़िरी नहीं देगा । घरसे निकले स्कूलमें घुस गये, स्कूलसे भागे तो घरमें आ टपके । फिर जब नौकरी मिली तो स्कूलके बजाय दफ्तरसे पाला पड़ा । भला, ऐसे अनजान आदमी क्या जानें कि देवता होते हैं या नहीं और

भूतयोनि, वास्तविक है या काल्पनिक ! ऐसे ही लोग कहा करते हैं कि गीतामें भी मुर्दापन है और रामायणमें भी विरोधाभास है ! वे लोग अपने दिमागका मुर्दापन नहीं देखते, अपने दिलका विरोधाभास नहीं देखते !

संसारका जीवन खेतीपर निर्भर है। चौकीदारसे लेकर बादशाह तकका सम्बन्ध खेतीसे है। संसारका समस्त विज्ञान, समस्त विद्याएँ, समस्त कलाएँ, समस्त व्यापार और समस्त कारखानोंकी जड़ खेती है। खेती ही जीवनका जीवन है और खेती ही प्राणोंका प्राण है। अतः खेतीके विषयमें सबको एकमत होना चाहिये।

दिन-रातके चौबीस घंटोंमें कम-से-कम तीन बार जीवोंको अनाजसे जीवनीशक्ति लेनी पड़ती है। भोजनके सिवा जिन वस्त्रोंद्वारा लोगोंकी इज्जत सुरक्षित रहती है, वे भी खेतीसे ही प्राप्त होते हैं। अतः खेतीके मामलेमें सबको मदद देनी चाहिये।

यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि संसारकी सञ्चालक एक हजार शक्तियोंमें चार शक्तियाँ प्रधान हैं। वे हैं—(१) हल, (२) कलम (सरस्वती), (३) रुपया (लक्ष्मी) और (४) लाठी (बल)। इन चारोंमें प्रधान खेती है। अतः खेतीके बारेमें सबको दिलचस्पी लेनी चाहिये और विशेष आत्माओंको तो दिलचस्पी लेनी ही चाहिये।

मनुष्य नर-नारियोंका ही जीवन खेतीसे सम्बद्ध है—ऐसा नहीं। नर-नारी, पशु-पक्षी और भूत-देवता भी अपने-अपने जीवनका निर्वाह खेतीसे ही किया करते हैं। अतः समस्त सचराचरको मिलकर खेतीकी उन्नति करनी चाहिये; क्योंकि अन्नपूर्णाके द्वारके सभी भिखारी हैं !

संसारके उसी मुख्य कार्य खेतीकी आज पूर्ण दुर्दशा है। भारतमें जो अशिक्षित हैं, जिनके किये अन्य कोई उद्योग नहीं हो सकता, वही लोग खेती करते हैं। अर्थात् उत्तम कामका सम्पादन निकृष्ट लोग करते हैं—फिर भला सफलता हो तो कैसे ? इसी कारण कृषि-कला मुर्दा हो रही है। भारतमें इस समय प्रति-बीघा एक मनकी उपजका औसत लग रहा है। इस गिरी हुई उपजके कारण भारतीय किसान आधा पेट रहकर यमयातना सहता है। किसानोंके हाहाकारी चीत्कारसे सारा भूगोल काँप रहा है।

सरकारने खेतीका महकमा अलग कायम किया है। उसके प्रधान अफसर 'डायरेक्टर आफ़ एग्रीकल्चर' कहलाते हैं। यह महकमा जगह-जगह फार्म खोले बैठा है। लाखों रुपया सालाना खर्च किया जा रहा है। प्रायः फार्म घाटेपर चल रहे हैं। इसका कारण यह है कि वास्तवमें अंग्रेज़ जाति कृषिकलाको नहीं जानती। इसके सिवा, खेतीके कामसे देवताओंका अटूट सम्बन्ध है और देवताओंके नामसे इन लोगोंको बुखार चढ़ आता है !

यूरोपमें धनवान् और ज्ञानवान् लोग खेती करते हैं। वे लोग विज्ञानकी सहायतासे खेती करते हैं। बीज, खाद, जुताई और सिंचाईके कामोंमें निपुण हैं। इसी कारण उनकी उपजका औसत फी बीघा दस मन है। पर वैज्ञानिक उसूलोंसे ही कृषि-कलामें परिपूर्णता नहीं आ सकती। यूरोप-वाले प्रत्येक कलामें अपनेको एम्० ए० मानते हैं, जो उनका कोरा भ्रम है। कानून और कृषिमें वे लोग पूरी तौरसे फेल हुए हैं। अतः भारतीय अशिक्षित किसान और यूरोपीय सुशिक्षित किसान—दोनों ही कृषि-कलामें पूरे 'बुद्धू' प्रमाणित हो चुके हैं। वर्तमानकी अधूरी कृषि-कलापर सफलताकी आशा लादना पूरी चकल्लस है।

संसारमें जितने चक्रवर्ती सम्राट् हुए हैं, एकको छोड़कर उनमेंसे किसीको भी परिपूर्ण कृषि-कला प्राप्त नहीं हुई। केवल महाराजा रामने कृषि-कलाका परिपूर्ण विधान प्राप्त कर लिया था। जबतक भूगोलका कृषिक्षेत्र महाराजा रामके विधानको स्वीकार नहीं करता, तबतक वह खुद भी भूखों मरेगा और दूसरोंको भी मारता रहेगा।

महाराजा रामको खेतीकी पूरी कला विदित थी, इसीलिये भारतमें दस हजार सालतक खेती खूब फूली और खूब फली। रामराज्यमें न तो कभी ओले पड़े और न कभी तुषार पड़ा। न कभी अनावृष्टि हुई और न कभी अतिवृष्टि हुई। न कीड़ोंने उपजको चौपट किया और न सूरजने बीजको सुखाया। न कभी चूहे आये और न कभी टिड्डी आयी। भला, यूरोपके कृषिकलाविशारद लोग और भारतीय खेतीके डायरेक्टर लोग जवाब दें कि उनके पास ओला, पाला, तुषार, कीड़ा, अनावृष्टि और अतिवृष्टिके लिये क्या माकूल जवाब है ? इतना ही नहीं, रामराज्यमें किसानोंको जोतना और बोना भी बंद रखना पड़ा। जिसने जिस खेतमें जो चीज बो दी वही दस हजार सालतक बराबर पैदा होती रही। मजा यह कि उपज हरसाल बढ़ती जाती थी।

किसानका काम था खेतीकी निकाई करना और खेती काटना। जोतना और बोना बन्द। जिस तरह जापानी खेती एक साल बो देनेसे दस सालतक चलती है, उसी तरह रामराज्यके सभी बीज सर्वदा स्वयं उगा करते थे। कृषि-कला जब परिपूर्ण होती है तब नर-नारी, देव-पितर, भूत-प्रेत और पशु-पक्षी अनाजसे तृप्त हो जाते हैं। बचा हुआ अनाज ही खाद बनकर खेतमें डाला जाता है—इतनी उपज बढ़ जाती है।

महाराजा रामने कृषि-कलाको दो भागोंमें बाँट दिया था—(१) बाह्यजगत्के ५ साधन और (२) अन्तर्जगत्के ५ साधन। बस, यही परिपूर्ण कृषि-कलाकी चाभी उनके पास थी।

बाहरी साधन

(१) अच्छी जुताई, (२) अच्छी खाद, (३) अच्छा बीज, (४) अच्छी निकाई और (५) अच्छी सिंचाई।

भीतरी साधन

इन्द्रादि देवोंका साधन—(१) इन्द्र, (२) सूर्य, (३) पृथ्वी, (४) वायु और (५) गणेशके यज्ञ।

यों तो देवतालोग तैंतीस प्रकारके होते हैं। परन्तु खेतीके काममें उपर्युक्त पाँच देवताओंका ही सहयोग पर्याप्त है। इन पाँचों देवताओंका सम्मिलित यज्ञ रामनवमीके दिन समस्त भारतमें जारी करा दिया गया था। रामराज्यने उन वैदिक मन्त्रोंको खोज निकाला था कि जो खेतीके सहायक देवताओंके लिये वेदने निश्चित किये हैं।

मान लीजिये कि खेतीके काममें १० पदार्थ सहायक हैं। ५ बाह्यजगत्के साधन और ५ अन्तर्जगत्के साधन। अब यदि कोई १० आवश्यक पदार्थोंमेंसे केवल ५ पदार्थोंकी ही सहायतासे ही मुकम्मिल खेती करनेका बीड़ा उठावे तो यह कैसे हो सकता है? खेतीके काममें कुदरतने इन्द्रादि देवताओंकी सहायता अनिवार्य कर दी है। मगर मूर्ख मनुष्य उसके बायकाटपर तुला हुआ है और मजा यह कि वह कृषि-कलामें पूर्णता भी चाहता है।

जब सूर्य, वायु, गणेश, पृथ्वी और इन्द्र आपकी खेतीमें काम करेंगे, तब क्या आप उनको उनकी मजदूरी यज्ञके रूपमें अदा नहीं करेंगे? नहीं करेंगे, तो वे भी अपना काम सीधा नहीं करेंगे बल्कि उल्टी माला फेर देंगे, जैसा कि वर्तमान समयमें हो रहा है। यदि देवोंको तृप्त किया जाय और वे लोग मदद न दें या अनुकूल आचरण न करें तो उनपर मुकदमा कायम हो सकता है और गीताकारकी अदालतमें उनको शरमिन्दा किया जा सकता है। लेकिन बिना उनको तृप्त किये उनसे काम लेनेका अधिकार गीता नहीं देती कि जो न्यायानुकूल उचित भी है।

इन्द्रादि देवोंकी उपासनाका फल

१—गणेश=खेतीमें चूहा, टिड्डी और दीमकसे रक्षा करते हैं।

२—सूर्य=किरणोंद्वारा खेतीका शोषण नहीं—पोषण करते हैं।

३—पवन=अनुकूल समयपर बादलोंको लाते हैं।

४—पृथ्वी=उपज बढ़ाती है।

५—इन्द्र=ठीक समयपर जलकी उचित वर्षा करते हैं।

सरकार प्रत्येक गाँवमें ग्रामसुधार-योजनाके अनुसार 'पंचायत' कायम करा रही है। उन पंचायतोंको तीन काम दिये गये हैं—(१) ग्रामकी सफाई, (२) ग्राममें साक्षरता-प्रचार तथा (३) ग्रामके मामलोंका निपटारा। परन्तु जबतक इन्द्रादि देवताओंकी पूजाकी व्यवस्था न होगी, तबतक न खेतीमें पूरी सफलता मिलेगी, न ग्रामसुधार ही होगा।

अतएव इन्द्रादि देवोंकी उपासना आवश्यक है, उसके बिना न तो सांसारिक जीवनकी अन्यान्य इच्छाएँ पूर्ण हो सकती हैं और—

'न मुकम्मिल खेतीका कामयाब प्रोग्राम' ही बन सकता है।

गोविन्दके गुण गाओ

दादू देही देखताँ सब किसही को जाइ।
जब लग साँस सरीरमें गोविंदके गुण गाइ॥ —दादूजी

साधनाका प्रथम पद

(लेखक—श्रीदेवराजजी विद्यावाचस्पति)

मनुष्यको किसी भी लक्ष्यको सिद्ध करना हो तो सबसे पहले उसे यह दृढ़ निश्चय करना चाहिये कि उसको अमुक लक्ष्य अवश्य ही सिद्ध करना है। सिद्ध करनेकी इच्छामें जबतक दृढ़ता न आवे तबतक उसको सिद्ध करनेके लिये प्रवृत्ति नहीं होती, यदि प्रवृत्ति हो भी तो उस प्रवृत्तिमें बल न होनेसे कार्य अधूरा ही रह जाता है। ऐसे लोग जो कार्य प्रारम्भ करके बीचमें ही छोड़ देते हैं, मध्यम कोटिके कहलाते हैं। वे मनुष्य जो किसी प्रकारकी आशङ्काके कारण कार्य करनेके लिये प्रवृत्त ही नहीं होते, अधम कोटिके मनुष्य कहलाते हैं, परन्तु जो मनुष्य सब प्रकारकी आशङ्काओंके परिहारका उपाय करके प्रबल इच्छाके साथ कार्यको सिद्ध करनेमें लग जाते हैं और अवश्य सिद्ध कर डालते हैं, वे उत्तम कोटिके मनुष्य कहलाते हैं।

दुर्व्यसनोंमें पड़े हुए अनेक मनुष्य जानते हैं कि हमें दुर्व्यसन छोड़ना चाहिये, उससे हमारी हानि है, तो भी वे आशङ्काओंके कारण छोड़नेमें प्रवृत्त ही नहीं होते, तथा बहुतसे प्रवृत्त होकर भी रुक जाते हैं। दृढ़ सङ्कल्पका बल एक ऐसा बल है, जिसके द्वारा मनुष्य कठिन-से-कठिन कार्यके भी पार पहुँच जाता है। मनुष्यका इतना ही कर्तव्य है कि दृढ़ताके साथ अपनी व्यक्तिगत शक्तिके द्वारा कार्य करना आरम्भ कर दे। यदि ऐसे दृढ़ सङ्कल्पके साथ कार्य आरम्भ हुआ है कि जो कदम आगे बढ़ चुका है वह पीछे नहीं हटेगा—'कार्यं वा साधयेयं देहं वा पातयेयम्'—तो उस कार्यको सिद्ध करनेके लिये जितने भी साधन चाहिये वे यथासमय अवश्य ही उपस्थित हो जायँगे। इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

कार्यको सिद्ध करनेकी इच्छामें जो प्रबल दृढ़ता है वह तप है। इस तपके कारण ही मनुष्य लक्ष्यसे च्युत करनेवाले तथा बीच-बीचमें आनेवाले अवान्तर विषयोंमें भटकनेसे बच जाता है, उनसे विरक्त रहता है। जबतक कार्य समाप्त नहीं हो जाता तबतक मनके अंदर 'यह कार्य मुझको अवश्य ही पूरा करना है' ऐसी आवृत्ति लगातार बनी रहती है।

इस आवृत्तिके लगातार बने रहनेका नाम 'अभ्यास' है। इस अभ्यासके कारण ही लक्ष्यच्युति नहीं होती। तप ही अभ्यास और वैराग्य दो भागोंमें बँट जाता है। व्यवहारमें अपने-अपने कार्योंको करते हुए हमलोग अभ्यास और वैराग्यका साधन कर सकते हैं। अभ्यास और वैराग्यके द्वारा चित्तकी चञ्चलता शान्त होती है और कार्य सिद्ध होता है। तपकी वृद्धिके साथ चञ्चलता दूर होनेसे क्रमशः सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है। जितना ही अधिक सत्त्वगुणका उदय होता है, उतना ही अधिक मनुष्य लक्ष्यके समीप होता है।

साधकका सबसे प्रथम पद लक्ष्यको सिद्ध करनेके लिये चित्तमें विद्यमान अशुद्धिको दूर करना है। तपके द्वारा चित्तमें रजोगुण (चञ्चलता) और तमोगुण (अप्रकाश, अप्रवृत्ति) के मलोंको दूर करना ही सबसे प्रथम पद है।

सोते क्यों हो ?

कबीर सोया क्या करै, जागिके जपो मुरार।
एक दिना है सोवना, लंबे पाँव पसार॥
कबीर सोया क्या करै, उठि न रोवै दुक्ख।
जाका बासा गोरमें, सो क्यों सोवै सुक्ख॥
कबीर सोया क्या करै, जागनकी करु चौंप।
ये दम हीरालाल है, गिनि गिनि गुरुको सौंप॥

—कबीर

माया, महामाया तथा योगमायाका भेद

(लेखक—यो० श्रीपारसनाथजी)

पुस्तकोंके पढ़नेसे ही माया, महामाया और योगमायाका भेद नहीं मालूम हो सकता। इस विषयको वस्तुतः वही जान सकता है कि जिसे समाधिके द्वारा अनुभव करनेकी क्षमता प्राप्त हो।

परमात्माने जब जगत्-प्रपञ्च रचनेकी इच्छा की तब इच्छाशक्ति पैदा हुई। वही साकार इच्छाशक्ति जगत्-रचनामें मुख्य कारण है।

कर्त्री इच्छादेवीने ही तीन प्रकारकी मायाको उत्पन्न किया। उन्हींको योगमाया, महामाया तथा माया कहते हैं।

परमात्मामें समस्त तत्त्व घनतत्त्व हो रहे हैं। थोड़े-से घनतत्त्वको लेकर इच्छाशक्तिने योगमायाके द्वारा समस्त तत्त्वोंका पृथक्करण किया। मिले हुए तत्त्वोंको अलग-अलग किया और उन सब तत्त्वोंके नक्शेमें अपने-आप ही योगमाया व्यापक होकर बैठ गयी। एकसे लेकर दस शङ्खतककी पूरी संख्याको बनाया है इच्छाशक्तिने, परन्तु एकको दूसरी संख्यासे जुदा करना और हरेक संख्याकी कीमत स्थिर रखना—यह योगमायाका काम है। सृष्टिके परिपूर्ण हिरण्यगर्भमें तदाकार व्यापकता रखना योगमायाका काम है। कलम बतौर इच्छाशक्ति है। परन्तु, कलमके अक्षरोंमें जो व्यापक स्याही है—वह योगमाया है। मेरी रायसे इस लेखकी सुरखीमें एक कमी रह गयी है। मायाके भेद तीन नहीं—चार हैं। जबतक चारों रूपोंकी आलोचना न की जायगी, मायामण्डलसे पूरी जानकारी न हो सकेगी। पूरी सुरखी यों है—

'माया, महामाया, योगमाया तथा इच्छाशक्तिका भेद।'

इच्छाशक्तिकी परिभाषा

जब सृष्टि नहीं थी तब केवल परमात्मा था। एकाएक उस परमतत्त्वसागरमें यह विचार पैदा हुआ कि 'हमीं-हम हैं—अब यह देखना चाहिये कि हममें कैसा ज्ञान है और कितनी शक्ति है?'

यह जानकर भी कि सम्पूर्ण ज्ञान एवं सम्पूर्ण शक्तिके केन्द्र हमीं हैं, परमात्माने अपने ज्ञान और शक्तिको लेकर खेलनेकी इच्छा की। उसी परमात्मीय इच्छाशक्तिने समस्त जगत्की रचना की है। हमलोग जितनी इच्छाएँ किया करते हैं, वे सब उसी इच्छाशक्तिसे निकलती हैं और उसीमें लय होती हैं। अतएव कर्त्री इच्छाशक्ति है। लोग कहते भी हैं कि—'यह भगवान्की इच्छासे हुआ!' यह बात कोई नहीं कहता कि अमुक काम भगवान्ने किया। यही कहा जाता है कि भगवान्की इच्छासे हुआ। अगर यह कहा जाय कि अमुक घटना भगवान्ने की तो वह गलत है; क्योंकि भगवान् द्रष्टा हैं, कर्ता नहीं। कर्ता इच्छारूपी परमात्मा हैं। परमात्मा निराकार है और इच्छाशक्ति साकार है। भगवान् भी शक्तिको लेकर ही साकार हैं। इच्छाशक्तिने जो जगत्का चित्र बनाया है, उसीमें माया, महामाया तथा योगमायाका विवरण मौजूद है।

योगमायाकी परिभाषा

भगवान्की इच्छाशक्तिके द्वारा बनाये हुए जगत्में जो व्यापक शक्ति वर्तमान रहती है, उसको योगमाया कहते हैं। योगमाया नक्शा है, योगमाया ही साकारता और प्रत्येक आकारकी महिमा है। योगमायारूपी मकानके भीतर, माया एवं महामायाका निवास है। योगमायाकी क्षमता, माया और महामायाकी क्षमतासे कहीं अधिक है। माया और महामायाका सञ्चालन योगमाया करती है और योगमायाका सञ्चालन इच्छाशक्ति करती है। इच्छाशक्तिको इंजिनका ड्राइवर मानना चाहिये। समूचा इंजिन बतौर योगमाया मानना चाहिये। ठीक समयपर सूर्य निकलता है। केवल बारह घंटेके लिये सूर्य निकलता है। सूर्यका निकालना और छिपाना योगमायाके हाथमें है। योगमाया चाहे तो महीनेभरतक रात ही बनी रहे। वह चाहे तो छः महीनेकी रात कर दे। वह चाहे तो छः महीनेतक सूर्यदेव तपते ही रहें। वह चाहे तो जयद्रथ-वाला सूर्य कर दे। है भी और नहीं भी। सूर्य नहीं—सृष्टिके प्रत्येक परमाणुपर योगमायाका परिपूर्ण अधिकार है। सूर्यसे केवल उपमा दी गयी है। समस्त आध्यात्मिक और भौगोलिक परिवर्तन योगमायाके द्वारा ही होते हैं। परन्तु स्वयं योगमाया कुछ नहीं करती। वह इच्छाशक्तिके द्वारा आज्ञा पाकर आज्ञानुसार काम करती है। संसारका प्रत्येक

अवतार इस इच्छाशक्तिका ही अवतार है। इसी कारण—योगमायाजी अवतारके अधीन रहती हैं। योगमायापर केवल इच्छाशक्तिका शासन रहता है। इच्छाशक्तिका जो शासन माया तथा महामायापर चालू होता है वह योगमायाके द्वारा ही सञ्चालित किया जाता है।

महामायाकी परिभाषा

जगत्के दो विभाग हैं—(१) त्रिगुण और (२) त्रिगुणातीत। जगत्को आदमी-जैसा एक साकार मान लीजिये। छातीसे पैरतक त्रिगुण है; यानी मायाका अधिकारक्षेत्र है और छातीसे चोटीतक महामायाका अधिकारक्षेत्र है। उसे त्रिगुणातीत कहते हैं। विराट्के अंदर महामाया एवं माया—दोनोंके स्थान हैं। अधोगतिके भागकी व्यवस्थापिका माया है और ऊपरी भागकी मैनेजर महामाया है। निरंजन चक्र यानी सहस्रदल-कमलसे लेकर—अथाह मण्डलतककी निगरानी महामाया करती है। इसके अलावा—विवाहका काम महामाया अपने हाथमें रखती है। अर्धाङ्ग-जीवनरूपी विवाहका भेद महामाया ही छिपाये हुए है। जीवन-मरणका कारण महामाया ही है।

मायाकी परिभाषा

सत्, रज और तम नामक तीनों गुणोंमें खेलनेवाली शक्तिको माया कहते हैं। पञ्चतत्त्व और तीन गुण—इन आठ चीजोंका जो जगत् है, उसकी व्यवस्थापिका माया है। पातालसे लेकर सहस्रदल-कमलतक जो सृष्टि है, उसकी स्वामिनी माया है। महामायाके आधे जगत्में जो सृष्टि है, उसमें न तो स्थूल पञ्चतत्त्व शामिल है और न स्थूल तीन गुण ही।

निष्कर्ष

उपमाके तौरपर यों समझना चाहिये कि मकानकी बनानेवाली—रचनारूपी मकानकी कर्त्री—इच्छाशक्ति है। गोया इच्छाशक्ति ही रचनाके मकानकी मालिक है।

मकान ही योगमाया है। उस मकानमें एक माता और एक पुत्री रहती है। माता महामाया है और पुत्री माया है। मायाके काममें महामाया दखल दे सकती है, परन्तु महामायाके काममें माया दखल नहीं दे सकती। महामायाके कितने ही भेदोंको माया जानती भी नहीं है। अतः मायाकी अफसर महामाया है; परन्तु दोनोंके स्थान और दोनोंके काम अलग-अलग हैं।

माया और महामायापर योगमायाका शासन है। परिवर्तनोंकी सूचना, नये आर्डर और विचित्र घटनाएँ, योगमायाके द्वारा महामाया और मायापर प्रकट होती हैं। परन्तु योगमायाकी अफसर इच्छाशक्ति है।

इच्छाशक्ति—जगत्को बनानेवाली और जगत्का सञ्चालन करनेवाली महाशक्ति। दुःखान्तक तथा सुखान्तक दो नाटकोंद्वारा जगत्में ईश्वरीय तमाशा करनेवाली महादेवी। जगत्के प्रथम प्रभातसे दुःखान्तक नाटक शुरू किया गया, फिर सुखान्तक नाटक शुरू होगा। दोनों खेलोंके विधि-विधानकी जिम्मेवारी तथा जवाबदेही, इच्छाशक्तिपर है। इच्छाशक्तिका आर्डर योगमायापर उतरता है। वह महामाया तथा मायापर सीधा हुक्म जारी नहीं करती; क्योंकि इच्छाशक्तिका सम्बन्ध केवल योगमायासे है।

योगमाया—हिरण्यगर्भमें साकारता, विभिन्नता तथा प्रत्येक आकारका महत्त्व योगमाया प्रदर्शित करती है। उस घेरेका नाम हिरण्यगर्भ है, जिसमें योगमाया फैली हुई रहती है। योगमाया अपने ऊपरके आर्डरोंकी तामील महामाया तथा माया—दोनोंपर करती रहती है। आर्डरकी तामीलपर योगमाया गौर भी रखती है। ऐसा नहीं है कि योगमाया महामायाको आर्डर दे और महामाया मायाको दे। दोनोंसे योगमायाका अलग-अलग सम्बन्ध रहता है। चूँकि महामाया और मायाके दो विभिन्न जगत् हैं, इसलिये एक दूसरेसे कोई खास लगाव नहीं है।

महामाया—यह परा विद्यावाले ऊर्ध्व जगत्की व्यवस्थापिका है। सिद्धों और देवताओंपर महामायाका राज्य है। महामाया अपना अफसर योगमायाको मानती है। वह यह नहीं जानती कि योगमाया स्वतन्त्र नहीं है और वह इच्छाशक्तिके द्वारा परिचालित है। महामायाका इच्छाशक्तिसे कोई परिचय नहीं है। विवाह और जीवन-मरणकी समस्या महामायाके हाथमें रहती है। इन तीनोंके गुप्त भेदोंसे वह किसीको भी जानकार नहीं होने देती।

माया—पञ्चतत्त्व और त्रिगुणपर राज्य करती है। मनुष्य, पशु और पक्षी आदि सभी जीवोंपर उसका शासन है। वह अपरा जगत्की स्वामिनी है।

यही इन चारों मायाओंकी वास्तविक परिभाषा है।

सत्यसाधन

(लेखक—वेदाचार्य पं० श्रीवंशीधरजी मिश्र 'मीमांसाशास्त्री')

संसारमें एक सत्यसाधन ही ऐसा है कि जिसके साथ लेनेपर सब नियम-व्रतादि अपने-आप ही सध जाते हैं। स्नातकके सब नियम लिखकर सूत्रकार इसी बातको कहते हैं—'सत्यवदनमेव वा' (पा० गृ० सू० २।८।८) अर्थात् यदि स्नातक अन्य नियमोंका पालन न कर सके तो सत्य-भाषणरूप नियमका ही पालन करे, उसीसे सब नियमोंका पालन हो जाता है। संक्षेपमें 'सत्य' शब्दके अर्थ निम्न-लिखित हैं।

श्रीमती श्रुति सत्यको परब्रह्म परमात्मा कहती है—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' (तै० उ० २।१।१)

पुराणमें 'सत्य' शब्दका अर्थ—

यथार्थकथनं यच्च सर्वलोकसुखप्रदम्।
तत्सत्यमिति विज्ञेयमसत्यं तद्विपर्ययः॥
(पद्मपुराण)

'सब लोगोंको सुख देनेवाला जो यथार्थ कथन है, उसी-को सत्य कहते हैं, उससे विपरीत असत्य (मिथ्या) कहलाता है।'

'सत्यं च त्रिकालाबाध्यत्वम्' इति वेदान्तिनः।

'तीनों कालमें जो अबाधितरूपसे रहे, उसे सत्य कहते हैं—ऐसा वेदान्ती मानते हैं।'

'यथार्थज्ञानविषयत्वं सत्यत्वम्' इति नैयायिकाः।

'नैयायिकलोग यथार्थ ज्ञानके विषयको सत्य कहते हैं।' अस्तु।

यह निर्विवाद सिद्ध है कि सब शास्त्रोंमें, सब धर्मोंमें, सब सम्प्रदायोंमें और सब आश्रमोंमें सबसे अधिक सत्यका ही महत्त्व है। ऐसा कोई धर्म, सम्प्रदाय तथा आश्रम नहीं, जिसमें सत्यको सबसे पहला साधन न माना गया हो। साक्षात् वेद भगवान्‌की आज्ञा है—

'सत्यं वद' 'सत्यान्न प्रमदितव्यम्' (तै० उ० १।११।१)

सत्य बोलो। सत्य बोलनेसे कभी प्रमाद मत करो।

'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि' (शु० य० सं० १।५)

'हे व्रतके स्वामी अग्निदेव! मैं व्रतका आचरण करूँगा, तुम्हारी सहायतासे उसको मैं कर सकूँ; वह मेरा सफल हो, यह मैं झूठसे छुटकारा पाकर सत्यको प्राप्त होता हूँ।' अर्थात् मिथ्याभाषण छोड़कर सत्यभाषण करनेका नियम कर रहा हूँ।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥
(शु० य० सं० १९।७७)

'प्रजापतिने देखकर सत्य और झूठ इन दोनों रूपोंको अलग किया; झूठके लिये मनुष्यके हृदयमें अश्रद्धा पैदा कर दी और सत्यके लिये श्रद्धा पैदा कर दी।'

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥
(ऋ० सं० ७।१०४।१२)

'ज्ञानवान् मनुष्य इस बातको अच्छी तरह जानता है कि असत्य और सत्य वाक्य आपसमें स्पर्धा करते हैं, इन दोनोंमें सत्य अधिक सरल है और परमात्मा उसकी रक्षा करते हैं तथा असत्यका नाश करते हैं।'

ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु॥
(अथर्व० ४।४।१६।३)

'हे वरुण! जो तुम्हारी तीन तरहकी सात-सात फाँसें बाँधनेवाली हैं, वे सब मिथ्याभाषण करनेवालेको बाँधें और जो सत्यवादी हैं, उसको छोड़ दें।' उपनिषदोंमें भी सत्यकी बहुत प्रशंसा है—

'सत्यञ्च स्वाध्यायप्रवचने च' 'तद्धि तपस्तद्धि तपः'।
(तै० उ० १।९।१)

सत्य बोलना, स्वाध्याय करना, प्रवचन करना, यह सब तप है।

'सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।

येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥
(मुण्डक० ३ । १ । ६)

'सत्यकी जीत होती है, झूठकी नहीं; सत्यसे देवयान-मार्ग विस्तृत है, जिस मार्गसे तृष्णारहित उपासक लोग वहाँ जाते हैं, जहाँ वह सर्वोत्कृष्ट सत्यसाधनका स्थान है ।'

'सत्यं ब्रह्म' 'देवाः सत्यमेवोपासते' ।
(बृहदा० ५ । ५ । १)

'सत्य ही ब्रह्म है । देवता सत्यकी ही उपासना करते हैं ।'

'तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति ।'
(बृहदा० १ । ४ । १४)

इसलिये सांसारिक लोग भी सत्यभाषण करनेवालेको 'यह धर्ममय वचन बोलता है'—ऐसा कहते हैं ।

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम् ।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥

'हजारों अश्वमेध यागोंको और सत्यको यदि तुलासे तोला जाय तो हजार अश्वमेध यज्ञोंसे एक सत्य ही विशिष्ट पड़ता है ।'

नास्ति सत्यसमो धर्मो न सत्याद्विद्यते परम् ।
न हि तीव्रतरं किञ्चिदनृतादिह विद्यते ॥

'इस संसारमें सत्यके समान कोई धर्म नहीं तथा सत्यसे अधिक कोई उत्तम नियम नहीं और झूठसे बढ़कर कोई तीखी वस्तु नहीं है । इस सत्यरूप धर्ममें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज, पुरुष, स्त्री—इन सबका समान अधिकार है । इसके सेवन करनेसे छोटे-से-छोटा मनुष्य भी बड़ा बन सकता है । सत्य बोलनेवाला पुरुष निःसन्देह निर्भीक होता है और उसमें आत्मबल अधिक होता है ।

सत्य बोलनेवालेको निन्दा-स्तुतिका भय नहीं होता—

'निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु ।'

यह सत्यसाधन वस्तुतः कोई कठिन मार्ग नहीं है, अपितु अभ्यास करनेपर बहुत ही सरल है । इसका प्रकार यह हो सकता है कि मनुष्य पहले यह सङ्कल्प करे—'आजसे मैं अकारण मिथ्याभाषण कभी नहीं करूँगा ।' इस प्रतिज्ञाका पालन इस तरह हो सकता है—प्रतिदिन मनुष्य यह विचार करे कि मैंने कल कितनी बार मिथ्या भाषण किया और अमुक मिथ्या भाषणकी जगह सत्य बोलनेसे भी कार्य चल सकता था, यह मैंने बड़ा अनुचित किया । और भगवान्‌से क्षमा माँगे कि 'भगवन् ! मैंने बड़ा अपराध किया, अब आगे ऐसा नहीं करूँगा ।' ऐसा करते-करते कुछ दिनोंमें पूर्ण अभ्यास हो जायगा तब यह प्रतिज्ञा करे कि चाहे प्राण भले ही चले जायँ, किन्तु मिथ्याभाषण कदापि नहीं करूँगा । बहुधा लोग ऐसा कहा करते हैं कि—'सत्य बोलनेसे सांसारिक कार्य नहीं चलता ।' यह उनकी सरासर भूल है । सब कार्य अच्छी तरह चल सकता है । इस समय भी ऐसे महापुरुष हैं, जो सत्य ही बोलते हैं उनके सब कार्य चलते ही हैं । इतिहासको देखिये, राजा हरिश्चन्द्र, महाराज युधिष्ठिर कैसे सत्यवादी थे ? जिनका नाम आज भी अजर-अमर है !

जबसे हमलोगोंने सत्यको छोड़कर मिथ्याका आश्रय लिया, तभीसे बड़ी-बड़ी आपत्तियोंका सामना करना पड़ रहा है । जिस समय इस देशमें सत्यका खूब प्रचार था, उस समय यह धन-धान्यसे समृद्ध था और सब लोग सुखपूर्वक रहते थे । अब भी सत्यका प्रचार होनेसे सब सुख मिल सकते हैं । अतः मनुष्यमात्रका कर्तव्य है कि यथासाध्य सत्यका प्रचार करे । सत्यका प्रचार व्याख्यानोंसे नहीं होगा । वह होगा स्वयं सत्यका आदर, सत्यका पालन और सत्यकी प्रतिज्ञा करनेसे । श्रीविश्वनाथजीसे हाथ जोड़कर प्रार्थना है कि इस देशमें पुनः सत्यका प्रचार हो ।

सत्यान्नास्ति परो धर्मः ।

रूखी रोटी अच्छी

रूखा सूखा खाइ कै, ठंढा पानी पीव ।
देखि बिरानी चूपड़ी, मत ललचावै जीव ॥
कबीर साईं मुज्झ को, रूखी रोटी देय ।
चुपड़ी माँगत मैं डरूँ, (कहुँ) रूखी छीनि न लेय ॥

—कबीर

साधना और नारी

(लेखिका—कुमारी श्रीशान्ता शास्त्री)

जीवनका चरम लक्ष्य—जीवका चरम लक्ष्य आनन्द ही है। संसारमें जितने प्राणी हैं वे सब एकमात्र आनन्दकी ही खोजमें हैं। दुःखमें रहना मनुष्य तो क्या, कोई भी प्राणी नहीं चाहता। अतः सुखके लिये ही मनुष्यका सारा प्रयत्न है। इसीको पानेके लिये वह या तो भोगोंकी ओर दौड़ता है या उनकी ओरसे उदासीन होकर अपवर्गकी खोजमें लग जाता है। जिसे अपवर्गकी प्राप्ति हो जाती है उसे तो फिर कुछ करना नहीं रहता। किन्तु जो लोग भोगोंमें रम रहे हैं उनकी दौड़-धूप कभी शान्त नहीं होती। वे एक-से-एक बढ़कर विलास-सामग्री सञ्चित करते हैं, नित्य नये-नये आमोद-प्रमोदके साधनोंका आविष्कार करते हैं। परन्तु क्या इनसे उन्हें शान्ति मिलती है? वे तो उनकी भोगलिप्साको बढ़ाकर उन्हें और भी अधिक अशान्त कर देते हैं। इनके माया-जालमें फँसकर वे और भी अधिक भटकने लगते हैं। इनके पीछे भटकते हुए शान्तिकी आशा रखना तो ऐसा ही है जैसे कोई घृतकी धारा छोड़कर अग्निको शान्त करना चाहे! आजकल हमारी दशा ऐसी हो रही है जैसे किसीकी सूई गुम हो घरमें, और वह प्रकाश न होनेके कारण उसे ढूँढ़े बाजारमें। हमें शान्ति पानेके लिये कहीं बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं है, वह जहाँ खोयी है उसे वहीं ढूँढ़ना चाहिये। शान्तिका घर तो तुम्हारा हृदय ही है। तुम अज्ञानान्धकारके कारण उसे उपलब्ध नहीं कर रहे हो। तनिक ज्ञानदीपक जलाओ, वह तुरंत तुम्हें मिल जायगी।

उस सच्ची शान्तिके मिलनेपर भोग-विलास तथा शौक-शृङ्गारके संक्रामक रोगोंसे तुम्हें सदाके लिये बिल्कुल छुटकारा मिल जायगा और तुम्हें वह पद प्राप्त होगा जहाँ पहुँचनेपर किसी प्रकारका भय नहीं रहता, मृत्युकी भी मृत्यु हो जाती है और फिर कभी उस स्थितिसे पीछे नहीं लौटना पड़ता। 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम', 'यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः', 'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते' इत्यादि श्रुति और स्मृति भी इसी परमपदका महत्त्व गा रही हैं। इस पदको जान लेनेपर मनुष्यकी कोई अभिलाषा शेष नहीं रहती। उसे जो पाना होता है वह सब मिल जाता है और वह योगसूत्रोंके भाष्यकारकी भाषामें ऐसा अनुभव करने लगता है—

'प्राप्तं प्रापणीयम्, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमो यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायते।'

(यो० भा० १। १६)

'मुझे जो पाना था वह मिल गया, जिन्हें क्षय करना था वे क्लेश क्षीण हो गये, जिसका छेदन न होनेसे जीव जन्मकर मरता और मरकर जन्म लेता है वह संसारचक्र अपनी ग्रन्थियोंके शिथिल हो जानेसे कट गया।' इस परमपदका साक्षात्कार हो जानेपर क्या नहीं मिल जाता? हृदयकी गाँठ खुल जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं तथा सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं। अतः मनुष्यका प्रधान कर्तव्य इस परम-पदको प्राप्त कर लेना ही है।

साधना—इससे यह तो निश्चय हो गया कि परमात्माकी प्राप्तिके सिवा मनुष्यकी कोई अन्य गति नहीं है, यही उसका अन्तिम लक्ष्य है। अब देखना यह है कि इस लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये किस प्रकारकी साधना आवश्यक है। ऐसा कौन उपाय है, जिससे सुगमतासे इसकी उपलब्धि हो सकती है। गीतामें भगवान्‌ने योगकी बहुत प्रशंसा की है। यहाँतक कि उन्होंने योगीको तपस्वी, ज्ञानी और कर्मीसे भी बढ़कर बताया है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

(६। ४६)

एक दूसरी जगह वे कहते हैं—

'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।'

(गीता १३। २४)

'कई लोग ध्यानके द्वारा आत्माका अपने अन्तःकरणमें साक्षात्कार करते हैं।' अतः भगवत्प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन योग ही है। इसीका निरूपण करनेके लिये महर्षि पतञ्जलिने योगसूत्रनामक एक स्वतन्त्र दर्शनकी रचना की थी। उसमें—

'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।'

(२। २९)

इस सूत्रद्वारा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार,

धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग बताये हैं। इससे पहले सूत्रमें इनके अनुष्ठानका फल बताया है—'योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः'—'योगके अङ्गोंका अनुष्ठान करनेसे अशुद्धि दूर होनेपर विवेकख्यातिपर्यन्त ज्ञानका विकास हो जाता है।' इन योगाङ्गोंमें सबसे अन्तिम समाधि है, यही योगसाधनकी सर्वोत्कृष्ट सीढ़ी है। इसकी उपयोगिता और महिमाका वर्णन जगह-जगह किया गया है। भगवान् शङ्कराचार्यजी समाधिसुखको वाणीका अविषय और केवल अनुभवग्राह्य ही बताते हैं—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसः
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥
(विवेकचूडामणि)

अतः योग ही भगवत्प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन निश्चित होता है।

अधिकारिनिर्णय—अब विचार यह करना है कि इस योगसाधनाके अधिकारी कौन हैं? वस्तुतः भगवत्प्राप्तिकी योग्यता तो मनुष्यमात्रमें है। मनुष्ययोनि है ही साधनाद्वारा भगवान्‌का साक्षात्कार कर लेनेके लिये। अतः मनुष्यमात्र इसका अधिकारी है। किन्तु 'मनुष्य' का अर्थ केवल पुरुष ही नहीं है, 'मत्वा कर्माणि सीव्यन्तीति मनुष्याः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार स्त्रियाँ भी मनुष्य ही हैं। अतः स्त्रियोंको भी योगसाधनाका वैसा ही अधिकार है जैसा कि पुरुषोंको। हम सभी भगवान्‌के पुत्र और पुत्रियाँ हैं, अतएव उनके पास पहुँचनेके लिये किसीको रुकावट क्यों? परम पिता परमात्मा तो बड़े न्यायी हैं, उन्हें कोई पक्षपात कैसे हो सकता है? वे तो अपनी पुत्रियोंको पुत्रोंकी अपेक्षा भी अधिक प्यार करते हैं।

कुछ लोगोंका विचार है कि स्त्रियाँ तो मन्दमति, अपवित्र और अबला हैं; उनमें भगवद्भजनकी योग्यता नहीं है और न उनका योगमार्गमें प्रवेश ही हो सकता है! परन्तु ऐसी बातोंमें सार कुछ भी नहीं है। शारीरिक दृष्टिसे तो स्त्री-पुरुष सभी अपवित्र हैं, सभीके शरीरोंमें हड्डी, मांस, रुधिर आदि अपवित्र वस्तुएँ ही भरी हुई हैं। परन्तु यदि पुरुषोंके समान स्त्रियोंमें भी भगवत्साक्षात्कारकी उत्कण्ठा और योग्यता है तो वे भी उसके अधिकारसे वञ्चित कैसे की जा सकती हैं? साधनामें तो श्रद्धा और सरलतासे ही अधिक सफलता मिल सकती है और ये गुण बुद्धिप्रधान पुरुषोंकी अपेक्षा हृदयप्रधान नारियोंमें अधिक हैं। इसलिये कोई कारण नहीं कि स्त्रियोंको साधनमें सफलता न मिले। स्त्री कोई ऐसी घृणित वस्तु नहीं है, घृणाके योग्य तो पुरुषोंकी अपनी ही भोग-लिप्सासे उत्पन्न हुई उनके प्रति आसक्ति ही है। यदि स्त्रीरूप और स्त्रीनाममें ही कोई दोष होता तो साक्षात् श्रीभगवान् ही जगज्जननी दुर्गाके रूपमें क्यों पूजे जाते? और भावुक भक्त उन्हें 'करुणामयी माँ' कहकर क्यों पुकारते? भगवान्‌ने तो स्वयं गीतामें कहा है—

'कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा॥'
(१०।३४)

'मैं स्त्रियोंमें कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ।' जिस प्रकार ये सात देवियाँ भगवान्‌की विभूति हैं वैसे ही साधना देवी भी तो स्त्री ही हैं। वे स्नेह और श्रद्धासे स्वागत करनेवाली अपनी सजातीया नारियोंसे दूर-दूर रहना ही क्यों चाहेंगी? अतः भगवत्प्रीतिके लिये किसी जातिविशेष या लिङ्गविशेषकी आवश्यकता नहीं है, 'न लिङ्गं धर्मकारणम्।' भगवान्‌को तो जो निश्छलभावसे भजता है, वही प्यारा है 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः।' गीतामें वे स्वयं कह रहे हैं—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(९।३२)

'हे पार्थ! मेरा आश्रय लेकर तो जो पापयोनियाँ तथा स्त्री, वैश्य और शूद्र हैं, वे भी परमगति लाभ कर लेते हैं।' इससे अधिक भगवान्‌के भजन और भगवत्प्राप्तिमें सबका अधिकार घोषित करनेवाली और कौन विधि होगी? अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्त्रियोंको भी ब्रह्मज्ञानका पूर्ण अधिकार है। वेद भगवान् भी पुरुषकी अपेक्षा स्त्रीकी उत्कृष्टता घोषित करते हुए कहते हैं—

'उत त्या स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी। अदेवत्रादराधसः'
(ऋ० ५।५।६१।६)

'(उत) यह प्रसिद्ध है कि (अदेवत्रात्) देवार्चनहीन और (अराधसः) ईश्वराराधन न करनेवाले (पुंसः) पुरुषसे (स्त्री) स्त्री (शशीयसी) प्रशस्ततर और (वस्यसी) अधिक धर्मनिष्ठ होती है।'

इन सब बातोंसे निश्चय होता है कि साधनाका अधिकारी कोई लिङ्गविशेष नहीं है, अपितु पवित्रता ही साधनाकी सीढ़ी है। वह चाहे पुरुषमें हो चाहे स्त्रीमें।

गृहस्थाश्रम और साधना—बहुत लोगोंका विचार है कि गृहस्थाश्रम साधनमें बाधक होता है, परन्तु बात ऐसी नहीं है। एक अनुकूल साथीके मिल जानेसे तो किसी भी मार्गमें अग्रसर होनेमें सुविधा ही रहती है। अतः यदि स्त्री और पुरुष परस्पर विवाहबन्धनमें बँधकर भगवत्प्राप्तिको ही अपना लक्ष्य बनाकर चलें तो अपनी संयुक्तशक्तिसे तो वे अकेलेकी अपेक्षा अधिक सरलतासे ही संसारको पार कर सकते हैं। वेदभगवान् भी कहते हैं—

'या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः। देवासो नित्ययाशिरा'

(ऋ० ८।५।३१।५)

'जो दम्पति एक साथ एकमन होकर प्रार्थना-उपासनाके द्वारा परमात्माके निकट जाते हैं, उन्हें कदापि क्लेश पीडित नहीं करते।' अतः विवाहबन्धनसे तो हम सब प्रकारके लौकिक और पारलौकिक बन्धनोंको सुगमतासे खोल सकनेके लिये ही बँधते हैं—भोगोंमें बँधनेके लिये नहीं।

गृहस्थाश्रम एक प्रकारका शिक्षालय है। यहाँ मनुष्य प्रेम करना सीखता है। स्त्रीको पति और माँको बच्चा दे दिया जाता है और कहा जाता है कि 'लो इसपर अभ्यास करो, फिर इस अभ्यस्त प्रेमको पतियोंके पति परमात्मापर आरोपित कर देना।' इस प्रकार इस पाठशालामें रहकर स्त्री और पुरुष प्रभुप्रेमका ही पाठ पढ़ते हैं।

साधनकी सुविधा भी गृहस्थाश्रममें कम नहीं है। यहाँ स्त्री और पुरुषके कार्योंका विभाग हो जानेके कारण उनकी जिम्मेवारीका बोझा भी हल्का हो जाता है। पुरुष घरकी चिन्तासे मुक्त होकर द्रव्योपार्जन करता है और स्त्री धनसंग्रहकी चिन्तासे छूटकर घरका प्रबन्ध कर लेती है। उसे किसी प्रकारकी आर्थिक चिन्ता नहीं रहती। चित्तकी एकाग्रतामें निश्चिन्तताकी बड़ी आवश्यकता है। इसके सिवा घरहीके भीतर रहनेसे उसे बहुत-सी संसारी बातोंको सुननेका भी अवसर नहीं मिलता तथा साधनके लिये समय भी खूब मिल जाता है। भगवान्‌को ढूँढ़नेके लिये तो कहीं बाहर जानेकी आवश्यकता है नहीं। वे तो सर्वत्र विराजमान हैं। ऐसा कौन-सा स्थल है जहाँ उनका अस्तित्व नहीं है। अतः भारतीय नारियोंका इधर-उधर न भटककर घरमें रहना भी उनकी साधनाके लिये तो सहायक ही है। भगवान् कहीं बाहर नहीं हैं, वे तो हमारे अन्तःकरणोंमें ही विराज रहे हैं। हम उन्हें इन चर्मचक्षुओंसे नहीं देख सकते। उन्हें देखनेके लिये तो मन-मन्दिरके कपाटोंको खोलनेकी आवश्यकता है। जब उन्हें खोलकर हम ज्ञानदीपकसे देखेंगे तभी उनकी झाँकी होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्रियोंके पास साधनोंकी कमी नहीं है, कमी है साधनाकी, जिससे वे ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके उस स्थितिपर पहुँच जायँ। जिससे, ये सांसारिक भोग तो क्या, देवताओंके 'इह आस्यताम्, इह रम्यताम्, कमनीयोऽयं भोगः' इत्यादि प्रलोभन भी हमें तिलभर विचलित न कर सकें।

शिक्षा और साधना—हमारे देशकी स्त्रियाँ प्रायः पढ़ी-लिखी बहुत कम हैं। अतः किन्हीं-किन्हीं बहिनोंका विचार है कि हम साधना कैसे कर सकती हैं, हम कुछ जानती तो हैं नहीं। परन्तु वे सच मानें कि जिन्हें वे पढ़ी-लिखी और समझदार समझती हैं, वे इस विद्यासे कोसों दूर हैं। बहुत सम्भव है उनकी अपेक्षा तो, जिन्हें आजकलकी भाषामें अशिक्षिता कहा जाता है वे बहिनें इस दिशामें अधिक उन्नति कर सकें, क्योंकि इनकी अपेक्षा उनमें श्रद्धा और दृढ़ अध्यवसायकी मात्रा अधिक है। इन लौकिक भाषाओंको कितना ही सीख लो अध्यात्मकी ओर बढ़नेमें तो इनका मूल्य शून्यके ही बराबर है। सीखना तो उस एक ही विद्याको चाहिये, जिसे जान लेनेपर सब कुछ जान लिया जाता है। 'यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।' उसका नाम है 'ब्रह्मविद्या।'

कुछ उदाहरण—यह बात कभी नहीं समझनी चाहिये कि स्त्रियाँ ब्रह्मज्ञान नहीं पा सकतीं। इतिहासमें इसके अनेकों उदाहरण हैं। महाराज जनककी ब्रह्मसंसद्‌में जब याज्ञवल्क्यने अपनेको सबसे बड़ा ब्रह्मज्ञानी घोषित करनेके लिये अपने शिष्योंको गौएँ ले जानेकी आज्ञा दी तो ब्रह्मवादिनी गार्गीने उस समय उनसे जैसे-जैसे प्रश्न किये हैं उनसे उसकी ब्रह्मज्ञता स्पष्ट सिद्ध होती है। भगवान् शङ्कराचार्य और मण्डनमिश्र-जैसे उद्भट विद्वान् एवं तत्त्वज्ञोंका शास्त्रार्थ हो और उनकी मध्यस्थता करनेवाली भारती ब्रह्मविद्याशून्य हो—यह सम्भव नहीं है। भारती स्वयं मण्डनमिश्रजीकी स्त्री थी—गार्हस्थ्यधर्मका ही पालन करती थी।

फिर भी वह पूर्ण ब्रह्मवेत्री थी। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि गृहस्थाश्रम ब्रह्मज्ञानमें बाधक नहीं है।

सुलभा-ब्रह्मवादिनी थी—यह तो प्रसिद्ध ही है। वह ब्रह्मज्ञ होनेपर भी गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेको तैयार थी। इसलिये नहीं कि उसे सांसारिक भोगोंकी इच्छा थी, अपितु इसलिये कि मैं अपनेसे अधिक ब्रह्मनिष्ठ पति पाकर अपनी निष्ठाको और भी सुदृढ बना सकूँ। किन्तु ऐसा कोई ब्रह्मनिष्ठ वर न मिलनेसे ही वह ब्रह्मचारिणी रही। इसी प्रकार लोपामुद्रा आदि और भी कई महिलाएँ अपनी ब्रह्मनिष्ठाके लिये प्रसिद्ध हैं। इसलिये यह कहना ठीक नहीं कि स्त्रियाँ ब्रह्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकतीं। स्त्रियाँ तो जगज्जननी हैं, वे ही सबकी आदिगुरु हैं। यदि उनमें ब्रह्मज्ञानकी योग्यता नहीं होगी तो औरोंमें आवेगी कहाँसे?

ब्रह्मज्ञानके अनधिकारी—तो फिर इसके अनधिकारी कौन हैं? इस विषयमें उपनिषदें कहती हैं—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥
(कठ० १।२।२४)

'जो व्यक्ति दुराचारसे दूर नहीं रहता, जो अशान्त है, जिसका मन चञ्चल है और जो अशान्तचित्त है वह इसे ज्ञानपूर्वक प्राप्त नहीं कर सकता।' इसके सिवा भगवान् कहते हैं—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
(गीता ६।१६)

'जो अधिक खानेवाला है अथवा जो बिलकुल नहीं खाता तथा जो बहुत सोता है और जो जागता ही रहता है, उससे योग नहीं हो सकता।' तात्पर्य यह कि जिसका जीवन असंयत और अनियमित होता है, वह योगसाधनमें विशेष उन्नति नहीं कर सकता। अतः स्त्री हो अथवा पुरुष जो—अशान्त, असंयमी और चञ्चलचित्त है, वही योगका अनधिकारी है और उसीको ब्रह्मविद्या भी नहीं मिल सकती।

उपसंहार—इससे निश्चय होता है कि जिन्हें योगमार्गमें चलना हो उन्हें अपने जीवनको नियमित बनाना चाहिये। जो नियमसे काम करता है, उसे ही सर्वत्र सिद्धि प्राप्त होती है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥
(गीता ६।१७)

'जिसका आहार-विहार नियमित होता है और जिसकी कर्मोंमें भी नियमित प्रवृत्ति होती है तथा जो नियमानुसार सोता और जागता है उसीको दुःखहारी योगकी प्राप्ति हो सकती है।'

अतः स्त्री हो अथवा पुरुष जो नियमनिष्ठ है, उसीको योगश्री वरमाला पहनाती है। इसलिये माताओं और बहिनोंको चाहिये कि अपने स्त्रीत्वको हेयदृष्टिसे न देखकर जीवनको नियमित बनावें। घरहीमें रहते हुए घरके सब कामोंको नियमसूत्रमें बाँधें और योगसाधनाद्वारा ब्रह्मको प्राप्त करनेका प्रयत्न करें। यदि स्त्रियाँ ही इस ओर प्रवृत्त न होंगी तो होगा कौन? उन्हींके संस्कार तो बच्चोंमें भी आवेंगे। अतः मानवजातिमें ब्रह्मविद्याका प्रसार करनेके लिये माताओं-को स्वयं ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके अपनी सन्ततिको ब्रह्मविद्या प्रदान करनी चाहिये। देखिये, मदालसाने अपने चारों पुत्रोंको ब्रह्मज्ञानी बनाया था। माँ तो वह फली है, जिससे उसी प्रकारके कई बीज निकलेंगे। अतः उसके लिये तो पुरुषोंकी अपेक्षा भी साधनाकी अधिक आवश्यकता है। यद्यपि नारीका जीवन ही साधनामय है, उसने अपने पति, पुत्र एवं अन्यान्य सम्बन्धियोंके लिये अपना क्या नहीं दे रक्खा है? इस प्रकार आत्मोत्सर्गपूर्वक सेवाधर्मको निभाते हुए यद्यपि उसने परम पिता परमात्माके आदेशका खूब अच्छी तरह स्मरण रक्खा और पालन किया है, तथापि इस आज्ञापालनके साथ हमें उस पिताको भी नहीं भूल जाना चाहिये। जब हम पिताकी आज्ञाओंका पालन करती हुई उनके पास जाकर कहेंगी, 'पिता, बजा आये तेरे आदेशको' तो क्या पिता झट हमें गोदमें उठाकर प्यार न करेंगे? उस समय हमें क्या मिलेगा? 'आनन्द! आनन्द! परम आनन्द!'

संतमतमें साधना

(लेखक—श्रीसम्पूर्णानन्दजी)

भारतके धार्मिक जगत्‌के इतिहासमें संतमतका एक विशेष स्थान है। संतमत उस प्रकारका सम्प्रदाय नहीं है, जैसे कि वल्लभ या मध्व या किसी एक पुरुषद्वारा प्रवर्तित दूसरे सम्प्रदाय हैं; वह एक धारा है जो आजसे लगभग पाँच सौ वर्ष पहले प्रकट हुई और अबतक बह रही है। सबसे पहले उसके सम्बन्धमें कबीर साहबका नाम उल्लेख्य है; फिर नानक, दादू, दरिया, चरणदास, सहजोबाई, गरीबदास, पल्टूदास, मलूकदास आदिने अपने-अपने समयमें इस धाराको पुष्ट किया। बहुत-से अंग्रेजोंकी और उनकी भाँति सोचनेवाले कुछ भारतीय विद्वानोंकी यह राय है कि संतमत एक संग्रहात्मक (eclectic) सम्प्रदाय है, जिसमें कुछ बातें हिंदूधर्म और कुछ बातें इस्लाम-से लेकर मिला दी गयी हैं। ये लोग संतोंको सुधारकमात्र मानते हैं। उनका खयाल है कि हिंदू-मुसलमानोंके आपसी झगड़ोंको और दोनोंमें प्रचलित कुरीतियोंको देखकर कुछ दयालु ईश्वरभक्तोंने समाजके कल्याणके लिये एक सरल मार्ग निकाला, जिसपर दोनों सम्प्रदाय मिल-जुलकर चल सकें। उन्होंने एक ईश्वरकी भक्तिका उपदेश किया, छुआछूत और जात-पाँतकी निन्दा की; भूत-प्रेतकी पूजा, कुर्बानी, बलिदान आदिका निषेध किया; पीर, औलिया, कब्रकी वन्दना-से लोगोंको रोका; सदाचारकी महिमा बतलायी, हिंदू-मुसलमान-को मिल-जुलकर रहना सिखाया। इनमें कई अब्राह्मण थे, कुछ जन्मना हिंदू भी नहीं थे। संस्कृत तो इनमेंसे स्यात् ही कोई जानता था, इसलिये इन्होंने अपने उपदेश हिन्दीमें दिये। इस कारण पण्डितवर्ग तो इनसे अप्रसन्न हुआ, पर जनतामें खूब प्रचार हुआ।

ये बातें कुछ हदतक सच हैं। संतोंने निःसन्देह एक ईश्वरकी निष्ठा सिखायी, कुरीतियोंका निषेध किया, भेदबुद्धिका खण्डन किया। पर इसका कारण यह नहीं था कि वे समाज-सुधारक थे। वे संत थे और संतोंके उपदेशों-में ये बातें स्वभावतः आ जाती हैं। इसके लिये उनको दस धर्मों-की पोथियोंसे सामग्री जुटाकर भानमतीका कुनबा जोड़नेकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

भारतमें मुसलमानी शासनकी स्थापनाने एक विचित्र परिस्थिति उत्पन्न कर दी। हिंदुओंका राज्य चला गया, उनका गौरव नष्ट हो गया, विभूति लुट गयी, देवस्थान भ्रष्ट हो गये, स्वाभिमान जाता रहा। विद्या और कलाके लिये स्फूर्तिका द्वार बंद हो गया। मौलिक रचनाओंकी जगह टीकाग्रन्थोंने ली, जीवित काव्योंके स्थानमें परतन्त्र रजवाड़ोंके दरबारोंमें पलनेवाली अधम कोटिकी शृङ्गारी तुक-बंदीकी थैली फट पड़ी। जो जाति ऐसी आपन्न अवस्थामें पड़ जाय, उसकी अधोगतिका रुकना कठिन होता है; उसका तो शतमुख विनिपात अवश्यम्भावी हो जाता है। पर अभी हिंदूजातिके दिन अच्छे थे, उसकी आत्माकी अमर ज्योति नष्ट नहीं हुई थी। उसमेंसे दो किरणें निकलीं, जिन्होंने अँधेरे घरोंको फिरसे प्रकाशित किया और मृतप्राय प्राणियोंको अमृत पिलाकर पुनरुज्जीवित किया।

एक किरण तो भक्तिमार्गकी थी। इस मार्गको तुलसी, सूर, मीरा आदिने प्रशस्त किया। दुर्बलोंसे कहा गया कि हिम्मत मत हारो, तुम्हारा बल भगवान् है। यहाँ तुम्हारी कोई न सुने; पर वह तो सदा तुम्हारे पास है, तुम्हारे दुःख-सुखका साक्षी है, तुम्हारी सुनता है, तुम्हारी भक्तिपर रीझकर तुम्हारे लिये सब कुछ करता और कर सकता है। जो आज विजित थे उनको उनके पूर्वजोंके, राम और कृष्णके, गौरवकी स्मृति दिलायी गयी; वर्णाश्रमधर्मकी मर्यादा रखते हुए ऊँच-नीच सभीके सामने भक्तिका थाल परसा गया। उपदेशकी भाषा हिन्दी थी, इसलिये सबने ही इस रसका आस्वादन किया। कुछ मुसलमान कुलमें उत्पन्न व्यक्तियोंतकपर इसका प्रभाव पड़ा। दीन-दुखिया हिंदूजाति मरते-मरते बच गयी। मैं इस विषयपर विस्तारसे यहाँ नहीं लिख सकता; पर इतिहासने ऐसा कई बार दिखलाया है कि विजित, दरिद्र, दुखी जातियोंमें भक्तिसम्प्रदाय और भक्तिसाहित्यका उदय हुआ है। जितना भक्तिसाहित्य हमारे देशमें पिछले चार-पाँच सौ वर्षोंमें निकला है, उतना पहले कभी नहीं बना। स्वतन्त्र आर्योंके, जो सभ्य जगत्‌के गुरु और विशाल साम्राज्योंके स्वामी थे, मुँहसे यह गाना कम ही निकल सकता था—'निर्बल के बल राम'। जो स्वयं बली था, वह उपासनाकालमें भी अपनेको भूल नहीं सकता था। इसका प्रमाण उन ओजस्वी मन्त्रोंमें मिलता है, जिनमें वैदिक आर्य इन्द्रादिसे बल या विजयका वरदान

माँगते हैं। जहाँ भक्तिकालीन हिंदू रोता-गिड़गिड़ाता है, वहाँ वैदिक आर्य इस प्रकार बात करता है जैसे कोई अपने हकको माँग रहा हो और लेकर छोड़नेकी सामर्थ्य रखता हो।

जातिकी आत्मासे जो दूसरी किरण निकली, उसका ही नाम संतमत है। इस आकाशके कुछ नक्षत्रोंके नाम मैं ऊपर गिना चुका हूँ। यही लोग संत कहलाते हैं। इन्होंने सगुण-साकारकी उपासनाके स्थानमें निर्गुण-उपासना, योग और ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया। यों तो भक्तिमार्गमें भी ऊँच-नीचका भेद नहीं होना चाहिये; फिर भी उसमें जिन साधनोंका प्रायः काम पड़ता है—मन्दिर, पूजाकी सामग्री आदि—वह बहुतोंको अप्राप्य है। तुलसीदासजीने कलियुगके लक्षणोंका वर्णन करते हुए शूद्रोंके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा है, उससे यह प्रतीत होता है कि इन बड़े आचार्योंके भाव क्या थे। पर योगाभ्यासके लिये तो कोई बाहरी साधन नहीं चाहिये। पूजाकी सामग्रीके लिये पैसे नहीं चाहिये। इसलिये यह मार्ग सचमुच सबके लिये सुलभ, सुगम है। कठिन अवश्य है, पर सच्ची भक्ति भी तो कोई दिल्लगीकी चीज़ न होगी। इसलिये इधरकी ओर अधिक व्यापक आकर्षण हुआ। नाई, धोबी, जुलाहा, मोची, जन्मके मुसलमान भी आये; ऊँची जातिवाले भी आये।

इस मार्गमें एक और विशेषता थी। सच्चा जीवन केवल चुपचाप साँस लेनेमें नहीं है। उसका लक्षण है जागृति, क्रियाशीलता। सजीव प्राणी इस आसरे नहीं बैठा रहता कि कोई मुझपर आक्रमण करे तो मैं अपनेको किसी प्रकार बचा लूँ; वह आक्रमणकारीपर आगे बढ़कर आक्रमण करता है। भक्तिमार्गने मुमूर्षु हिंदूजातिमें जान डाली, संतमतने सक्रियता प्रदान की। केवल अपने कोनेमें पड़े रहनेके बदले मुसलमानोंके दोषोंका खुलकर निदर्शन होने लगा। योगीमें बल होता है, आत्मविश्वास होता है। उसकी वाणीमें अपूर्व शक्ति होती है। इससे जनतामें भी आत्मनिर्भरता आयी। उसी आत्मनिर्भरताकी एक कली सिक्ख-सङ्गठन और महाराजा रणजीतसिंहके राज्यके रूपमें खिली।

इन बातोंके साथ ही दो और बातोंको भूल न जाना चाहिये। संतमत और भक्तिमार्ग कोई नये आविष्कार न थे। दोनोंकी परम्परा बहुत ही प्राचीन कालसे चली आ रही है। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिये कि दोनोंके बीच कोई ऐसी ऊँची दीवार न थी, जो एक मार्गको दूसरे मार्गसे बिलकुल पृथक् कर दे। पतञ्जलिने 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' सूत्रमें ईश्वरचिन्तनको भी योगका एक मार्ग माना है। जो योगाभ्यासके मार्गपर आरूढ़ होगा उसमें भी उन श्रद्धादि गुणोंका होना आवश्यक है, जो भक्तिके लक्षण हैं; भक्तको जब एकाग्रता प्राप्त होगी, तब उसको भी वैसे ही अनुभव होंगे, जैसे कि योगीको होते हैं। इस बातका प्रमाण हमको अपने यहाँके आध्यात्मिक साहित्यमें पूरा-पूरा मिलता है। एक ओर तो संतमतके आचार्योंकी रचनाओंमें भक्तिभावसे ओतप्रोत वाक्य मिलते हैं, दूसरी ओर भक्तिसम्प्रदायके प्रवर्तकोंके ग्रन्थोंमें योगके अनुभवकी झलक आती है। उदाहरणके लिये नीचे दो अवतरण देता हूँ।

पहला कबीर साहबके प्रधान शिष्य धर्मदासजीकी रचना है।

दरसन दीजै नाम सनेही। तुम बिन दुख पावै मेरी देही॥
दुखित तुम बिन रटत निस दिन, प्रगट दरसन दीजिये।
बिनति सुन, प्रिय स्वामियाँ! बल जाउँ बिलँब न कीजिये।
अन्न न भावै, नींद न आवै, बार बार मोहि बिरह सतावै॥
बिबिध बिधि हम भइँ ब्याकुल, बिन देखे जिव ना रहै।
तपत तन, जिव उठत उबाला, कठिन दुख अब को सहै॥
नैनन चलत सजल जलधारा, निस दिन पंथ निहारैं तुम्हारा॥
—इत्यादि

दूसरा सूरसागरसे लिया गया है—

अपुनपौ आपुनही में पायो।
सब्दहि सब्द भयो उजियारो सतगुरु भेद बतायो॥
सूरदास समुझे की यह गति मनहीं मन मुसकायो।
कहि न जाय या सुखकी महिमा ज्यों गूँगो गुड़ खायो॥

भक्तिमार्ग संतमतसे पहले चल चुका था। उसने जो वैष्णव वातावरण पैदा कर दिया था, उसका प्रभाव संतोंपर भी पड़ा था। उन्होंने भी ईश्वरके लिये विष्णुके पर्याय हरि, माधव, गोपाल, राम आदि शब्दोंका प्रयोग किया है। इसका एक कारण यह भी था कि कबीर साहबने, जो आदि संत कहलाते हैं, प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य रामानन्दजीसे पहले-पहले दीक्षा प्राप्त की थी।

जहाँतक आध्यात्मिक सिद्धान्तकी बात है, संत लोग प्रायः सभी शाङ्कर अद्वैतमतको मानते थे। 'प्रायः' मैंने इसलिये कहा है कि किसी-किसीने शुद्धाद्वैत मत और विशिष्टाद्वैत मतका भी प्रतिपादन किया है; द्वैतवादी इनमेंसे कोई भी

न था। इस लेखमें संतोंके दार्शनिक विचारोंकी विवेचना करना अप्रासङ्गिक होगा, क्योंकि इसका मूल विषय साधना है; फिर भी उदाहरणके लिये मैं कुछ अवतरण देता हूँ। सुन्दरदासजी कहते हैं—

ब्रह्म निरीह निरामय निर्गुन, नित्य निरंजन और न भासै।
ब्रह्म अखंडित है अध ऊरध, बाहिर भीतर ब्रह्म प्रकासै॥
ब्रह्महि सूच्छम स्थूल जहाँ लगि, ब्रह्महि साहब, ब्रह्महि दासै।
सुंदर और कछू मत जानहु, ब्रह्महि देखत ब्रह्म तमासै॥

एक जगह पलटूदासजी कहते हैं—

कोटिन जुग परलै भई, हमहीं सिरजनहार।
हमहीं सिरजनहार, हमहिं करता के करता,
जेकर करता नाम, आदि में हमहीं रहता॥

—इत्यादि

यह वही भाव है, जो छान्दोग्य उपनिषद्में 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च' इत्यादिसे व्यक्त किया गया है।

दादूदयालजी कहते हैं—

तन मन नाहीं, मैं नहीं, नहिं माया, नहिं जीव।
दादू एकै देखिए, दह दिस मेरा पीव॥

जीवन्मुक्तके वर्णन अनेक स्थलोंपर आये हैं। दृष्टान्तके रूपमें मैं उनमेंसे दोको उद्धृत करता हूँ। पहलेमें चरणदासजी कहते हैं—

जब हो एक दूसरा नासै।
बंध मुक्तिकी रहै न साँसै॥
मृतक अवस्था जीवत आवै।
करम रहित अस्थिर गति पावै॥
जब कोइ मितर, बैरी नाहीं।
पाप पुन्य की पैर न छाँही॥
ख्याल दसा ऐसी करि गाई।
चरनदास सुकदेव बताई॥

दूसरेमें कबीरसाहब यों कहते हैं—

भाई, कोई सतगुरु संत कहावै, नैनन अलख लखावै।
डोलत डिगै न बोलत बिसरै, जब उपदेस दृढ़ावै॥
प्रान पूज्य क्रिरिया ते न्यारा, सहज समाधि सिखावै।
द्वार न रूँधै, पवन न रोकै, नहिं अनहद अरुझावै॥
यह मन जाय जहाँ लग, जबहीं परमातम दरसावै।
करम करै निःकरम रहै, जो ऐसी जुगत लखावै॥
सदा बिलास त्रास नहिं मन में, भोग में जोग जगावै।

—इत्यादि

एकाधको छोड़कर संतोंने निश्चितरूपसे पुस्तकें नहीं लिखी हैं। उनकी कुछ स्फुट रचनाएँ मिलती हैं, जिनको समय-समयपर उनके शिष्योंने लिख लिया था। इनमेंसे जो गाने लायक हैं उनको 'शब्द' तथा शेषको—जो प्रायः दोहा, सोरठा आदि छन्दोंमें हैं—'साखी' कहते हैं।

अब मैं इस लेखके मूल विषय 'साधना' की ओर आता हूँ। इतना तो पहले भी सङ्केत किया जा चुका है कि ये लोग योगाभ्यासको मोक्षका साधन प्रतिपादित करते हैं। पतञ्जलिके अनुसार 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' अर्थात् अभ्यास और वैराग्यसे चित्तकी वृत्तिका निरोध होता है, दूसरे शब्दोंमें योगमें सिद्धि प्राप्त होती है। वैराग्यका उपदेश देनेवाले पद संतोंकी बानियोंमें भरे पड़े हैं। मैं केवल एक उदाहरण देना पर्याप्त समझता हूँ—

नाहक गर्ब करे हो अंतहिं खाक में मिलि जायगा।
दिना चारि को रंग कुसुम है, मैं मैं करि दिन जायगा॥
बालुक मंदिल ढहत बार नहिं, फिर पाछे पछितायगा।
रचि रचि मंदिल कनक बनायो, ता पर कियो है अबासा॥
घर में चोर रैन दिन मूसहिं, कहहु कहाँ है बासा।
पहिरि पटंबर भयो लाड़िला, बन्यो छैल मदमाता॥
देखी चक्र फिरै सिर ऊपर, छिन में करै निपाता।
नेकु धीर नहिं धरै बाबरे, ठौर ठौर चित जाते॥
देवहर पूजत तीर्थ नेम व्रत, फोकट को रँग राते।
कासें कहैं, कोउ संग न साथी, खलक सबै हैराना॥
कहैं गुलाल संत पुर बासी, जम जीतो है दिवाना॥

वैराग्यवृत्तिको दृढ़ रखनेमें सत्सङ्गसे बड़ी सहायता मिलती है। इस सम्बन्धमें उदाहरणके लिये चरणदासजीकी एक साखीको उद्धृत करना काफी होगा—

तप के बरस हजार हों, सतसंगति घड़ि एक।
तौ भी सरबरि ना करै सुकदेव किया बिबेक॥

बिना एक अच्छे गुरुकी सहायताके योगाभ्यास करना और उसमें सफलता प्राप्त करना यदि असम्भव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य है। बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जिनको अनुभवी व्यक्ति ही समझा सकता है; बहुत-सी ऐसी भूलें हैं, जिनको वही दूर कर सकता है। कभी-कभी तो गलती कर

देनेसे योगाभ्याससे शरीर और मस्तिष्कके लिये भयावह परिणाम खड़े हो सकते हैं। उपनिषद्का उपदेश है—'स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।' दुःखकी बात यह है कि आजकल 'गुरु' शब्द तो चारों ओर मारा-मारा फिरता है; परन्तु इस बातकी छानबीन नहीं की जाती कि जो लोग गुरु बनते हैं, वे ब्रह्मनिष्ठ हैं भी या नहीं। यदि सौभाग्यसे सद्गुरु मिल जायँ तो फिर यह पुराना वाक्य सर्वथा सार्थक होता है—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

संतोंने सद्गुरु-महिमामें सचमुच कलम तोड़ दी है। यहाँपर तो केवल थोड़े-से ही उदाहरण दिये जा सकते हैं—

बिनु सद्गुरु कोउ भेद न पावा। धरती से आकास लौं धावा॥
(बजहन)

दादू काढ़ै काल मुख, अंधे लोचन देइ।
दादू ऐसा गुरु मिल्या, जीव ब्रह्म करि लेइ॥ (दादू)

गुरु चरनन पर तन मन वारूँ। गुरु न तजूँ, हरि को तजि डारूँ॥
(सहजोबाई)

सतगुरु आदि अनादि है, सतगुरु मध अरु मूल।
सतगुरु कूँ सिजदा करूँ, एक पलक नहिं भूल॥
(गरीबदास)

सतगुरु मारा बान भरि, ढोला नाहिं सरीर।
कहु चुंबक क्या कर सकै, सुख लागै वोहि तीर॥
सतगुरु मारा तानकर, सब्द सुरंगी बान।
मेरा मारा फिर जिये, तो हाथ न गहूँ कमान॥
(कबीर)

ऐसा सद्गुरु धन इत्यादिका भूखा नहीं होता। वह जिसको अधिकारी समझेगा, उसको अवश्य ही सदुपदेश प्रदान करेगा। जो शिष्य बननेका हौसला रखता हो, उसमें अटल श्रद्धा और अथाह धीरता होनी चाहिये। उसको पलटू साहब यह परामर्श देते हैं—

पड़ा रहै संत के द्वारे, धक्का धनी का खाय।
कबहूँ तो धनी निवाजिहैं, काज सहज होइ जाय॥

पतञ्जलिने योगको अष्टाङ्ग कहा है। कुछ लोग उसको इस कारण षडङ्ग भी कहते हैं कि यम और नियम केवल योगी ही नहीं वरं मनुष्यमात्रके लिये उपयोगी हैं। उन्होंने विशेषरूपसे योगकी कोई पोथी तो लिखी नहीं है, इसलिये षडङ्ग-अष्टाङ्गका शास्त्रीय विवेचन भी उन्होंने नहीं किया है। परन्तु जो बातें यम-नियममें परिगणित हैं, इनपर उन्होंने बहुत ज़ोर दिया है। उदाहरणस्वरूप कबीरकी कुछ साखियाँ देता हूँ—

जूआ, चोरी, मसखरी, ब्याज, घूस, पर नार।
जो चाहै दीदार कौं, एती बस्तु निवार॥
कामी, क्रोधी, लालची, इन से भक्ति न होय।
भक्ति करै कोइ सूरमा, जाति, बरन, कुल खोय॥
गोधन, गज धन, बाज धन और रतन धन खान।
जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान॥
मरि जाऊँ, माँगूँ नहीं, अपने तन के काज।
परमारथके कारने मोहि न आवै लाज॥
साँचे खाप न लागहीं, साँचे काल न खाय।
साँचे को साँचा मिलै, साँचे माहिं समाय॥
गुरु पसु नर पसु नारि पसु, बेद पसु संसार।
मानुष सोई जानिये, जाहि बिबेक बिचार॥
निंदक नियरे राखिये, आँगन कुटी छवाय।
बिनु पानी, साबुन बिना, निरमल करै सुभाय॥

योगाभ्यासकी कई रीतियाँ प्रचलित हैं। इनमें लक्ष्यगत कोई भेद नहीं है। मुख्य भेद धारणा अर्थात् चित्तकी वृत्तिको एकाग्र करनेके अन्तर्मुख साधनके सम्बन्धमें है। श्रुतिमें भी इस प्रकारकी कई रीतियाँ भिन्न-भिन्न विद्याओंके नामसे परिगणित हैं। प्रायः सभी संतोंने जिस प्रक्रियाका मुख्यतः उपदेश किया है, उसे 'सुरत शब्दयोग' कहते हैं। यह कोई नूतन आविष्कार नहीं है, परन्तु संतकालके पहले इसका स्यात् इतने विस्तारसे अवलम्बन नहीं हुआ। सुरत, जिसे सुरति भी कहते हैं, 'स्रोत' शब्दका अपभ्रंश है। दर्शनग्रन्थोंमें स्रोतका अर्थ है 'चित्तवृत्तिप्रवाह'; अतः सुरत शब्दयोग वह पद्धति है, जिसमें शब्दकी धारणा की जाती है अर्थात् चित्तकी वृत्तिका प्रवाह शब्दमें लय किया जाता है। शब्दका किसी बाह्य मन्त्रसे तात्पर्य नहीं है। शरीरके भीतर और शरीरके बाहर एक प्रकारकी ध्वनि बराबर हो रही है, जिसे अनाहत—जो बिना किसी प्रकारका आघात किये हुए उत्पन्न हो—कहते हैं। संतोंने इसे अनहद कहा है। गुरु-पदिष्टमार्गसे अभ्यास करनेसे इस ध्वनिकी डोर हाथ आ जाती है और फिर उसके सहारे चढ़कर चित्तकी वृत्ति बीचकी

भूमिकाओंको पार करती हुई असम्प्रज्ञात समाधिपदमें सहज ही लीन हो जाती है। नादबिन्दूपनिषद्में इसका वर्णन इस प्रकार आता है—

ब्रह्मप्रणवसन्धानं नादो ज्योतिर्मयः शिवः।
स्वयमाविर्भवेदात्मा मेघापायेंऽशुमानिव ॥ ३० ॥
यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः।
तत्र तत्र स्थिरीभूत्वा तेन सार्धं विलीयते ॥ ३८ ॥
सर्वचिन्तां समुत्सृज्य सर्वचेष्टाविवर्जितः।
नादमेवानुसन्दध्यान्नादे चित्तं विलीयते ॥ ४१ ॥
निगमनसमर्थोऽयं निनादो निशिताङ्कुशः।
नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते ॥४५ ॥

इसी प्रकार ध्यानबिन्दूपनिषद्में भी बतलाया है:—

अनाहतं तु यच्छब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम्।
तत्परं विन्दते यस्तु स योगी छिन्नसंशयः ॥ ३ ॥

शिवसंहिता आदि ग्रन्थोंमें भी अनाहत ध्वनि और उसके द्वारा चित्तवृत्तिके उपशमका वर्णन आया है।

इसी ध्वनिका आश्रय लेकर योगीको अन्तरमें आदि-ध्वनि अर्थात् प्रणवका अनुभव होता है। पतञ्जलि कहते हैं कि प्रणव अर्थात् ॐकार ईश्वरका वाचक है। ॐकारके अकार, उकार, मकार—इस प्रकार टुकड़े करके अनेक प्रकारसे अर्थ किये गये हैं। योगीकी दृष्टिमें ॐकार आदि शब्द अर्थात् पाञ्चभौतिक जगत्का आदिम रूप, शब्द-तन्मात्राका सूक्ष्मातिसूक्ष्म सार, इसीलिये पाञ्चभौतिक जगत्में ईश्वरकी पहली अभिव्यक्ति है। इसीलिये यह उसका वाचक या पवित्रतम नाम कहा जाता है। श्रुतिमें प्रणवकी अनेक प्रशस्तियाँ हैं। यथा—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥१५॥
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म ह्येतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥१६॥
(कठोपनिषद् द्वितीय वल्ली)

जिस प्रकार वैदिक ग्रन्थोंमें ॐकारको प्रणव, उद्गीथ आदि अनेक नामोंसे पुकारा गया है उसी प्रकार संतोंने इसे प्रायः नाम या सत्तनाम (सत्यनाम) कहकर पुकारा है। सत्यनामकी अपार महिमाका उन्होंने भी बार-बार वर्णन किया है। वे भी कहते हैं कि नादके परे जो भूमिका है, वह निःशब्द 'अनामी' लोक है। इस सम्बन्धमें कुछ अवतरण देता हूँ—

ओ३म्कार पानी अरु पवन। सूर्य, चंद्र, धनि, महि, भवन।
ओ३म्कार पूजा अरु मान। ओ३म्कार जप संजम ध्यान॥
ओ३म्कार तप तीरथ दान। ओ३म्कार रासै सुर ग्यान।
ओ३म्कार गुरू अरु चेला। ओ३म्कार रह रासी मेला॥
ओ३म्कार निरंतर बानी। जिन जानी तिन गुरुमुख जानी।
(नानक)

सत्तनाम निज सार है, अमरलोक को जाय।
कह दरिया सतगुरु मिलै, संसय सकल मिटाय॥(दरिया)

मूलमंत्र निज नाम है, सुरत सिंधु के तीर।
तेही बानी अरसमें सुर नर धरैं न धीर॥(गरीब)

ता पर अकह लोक है भाई, पुरुष अनामी तहाँ रहाई।
जो पहुँचै जानैगे वाही, कहन सुनन से न्यारा है॥(कबीर)

संतोंने सुरत शब्दयोगको ही निदिध्यासनकी प्रधान प्रक्रिया माना है। वे इसीको 'भजन' भी कहते हैं। अभ्यास करते-करते योगीको जो अनुभव होते हैं, उनका वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद्में अति संक्षेपमें इस प्रकार हुआ है—

नीहारधूमार्कानलानिलानां
खद्योतविद्युत्स्फटिकाशनीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥११॥
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते
पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥१२॥
—इत्यादि। (अध्याय २)

इसी विषयका नादबिन्दु आदि उपनिषदोंमें किञ्चित् अधिक विस्तारसे वर्णन है। योगदर्शनके विभूतिपादमें 'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्', 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' इत्यादि सूत्रोंद्वारा कुछ और विस्तार किया गया है। तन्त्र-ग्रन्थोंमें भी कहीं-कहीं अच्छा वर्णन आया है।

संतोंने भी इस अनुभवका वर्णन किया है और मेरा तो विश्वास है कि संस्कृत-ग्रन्थोंमें भी इस सम्बन्धमें इससे ललित भाषाका प्रयोग नहीं किया गया है। योगीको अभ्यासके

प्रसादसे चतुर्दश भुवनमें कोई भी वस्तु अज्ञात नहीं रह जाती, वह अणिमादि सिद्धियोंका स्वामी हो जाता है। यह असम्भव है कि जो अनुभव स्वसंवेद्य है, जो पद 'नेति नेतीति वाच्यम्' है, जहाँ मन और वाणीकी पहुँच नहीं, उसका वर्णन शब्दों-में किया जा सके। हाँ, नीचेकी कुछ बातें बतलायी जा सकती हैं—वे भी संकेतोंद्वारा। इस वर्णनका भी रस उसीको मिल सकता है, जिसकी इस मार्गमें कुछ गति हो। दूसरा इतना ही अनुमान कर सकता है कि किसी प्रकारकी विचित्र और आनन्दमयी अनुभूति होती होगी। मैं नीचे कुछ अवतरण इस सम्बन्धके भी देता हूँ। इनमें कुछ पारिभाषिक शब्द भी आये हैं। इनमेंसे सभी योगविषयक संस्कृत-ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं।

अनहद तालदंग थेई थेई बाजै।
सकल भुवन जाकी ज्योति बिराजै॥
ब्रह्मा बिस्नु खड़े सिव द्वारे।
परम ज्योति सों करैं जुहारे॥
गगन मँडल में निरतन होय।
सतगुरु मिलै तो देखै सोय॥
आठ पहर जन बुल्ला गाजै।
भक्तिभाव माथे पर छाजै॥ (बुल्ला साहब)

उलट देखो घट में ज्योति पसार।
बिनु बाजे तहँ धुनि सब होवै, बिगसि कमल कचनार॥
पैठि पताल सूर ससि बाँधे, साधै त्रिकुटी द्वार।
गंग जमुनके बारपार बिच, भरतु है अमिय करार॥
इँगला पिंगला सुखमन सोधौ, बहत सिखर मुख धार।
सुरत निरत लै बैठु गगन पर सहज उठै झनकार॥
सोहं डोरि मूल गहि बाँधौ, मानिक भरल लिलार।
कह गुलाल सतगुरु बर पायो, भरो है मुक्ति भंडार॥
(गुलाल साहब)

निर्बान निर्गुन नाम है, जप लाग अनहद तान की।
बिमल ग्यान बिराग उपजै, धँसत धारा ध्यान की॥
ध्यान धरकै सिखर देखौ, जिकर ररंकार की।
जपत अजपा गगन देखौ, लखौ एक मस्यालची॥
दहिने घंटा संख बाजै बाएँ किंगरी सारँगी।
मधुर मुरली मध्य बाजै, ज्योति एक बिराजती॥
यही है एक कथा निर्गुन दूसरी नहीं जानते।
जगजिवन प्रानहि सोधिकै छुटि जात आवागमन ते॥
(जगजीवन साहब)

बाबा निकट पंथ रे जोगी, ताते छोड़ सकल रस भोगी।
परथम सिद्धि गनेस मनाओं मूल कमल की मुद्रा।
किलियम् जाप जपौ हरि हीरा, मिटै करम सब छुद्रा॥
करम बाय पर सेस बाय है, तासु होत उदगारम्।
दोहूँ जीत जनम जुग जोगी अवगत खेल अपारम्॥
नाभि कमल में नाद सभोओ नागिन निद्रा मारो।
दो फुंकार संखिनी जीतो उरधै नाम बिचारो॥
हिरदै कमल सुरत का संजम निरत कला निरस्वाँसा।
सोहं सिंघ सैल पद कीजै ऐसे चढ़ो अकासा॥
कंठ कमल से हरहर बोलै षोड्स कला उगानी।
यह तो मध मारग सतगुरु का पंथ बूझ ब्रह्मग्यानी॥
त्रिकुटी मद्धे मूरत दरसै दो दल दरपन माहीं।
कोट जतन कर देखा भाई बाहर भीतर नाहीं॥
वह तो सिंघ दोउ से न्यारा कहो कहाँ ठहराए।
सुन्न बेसुन्न मिलै नहीं भौंरा, कहाँ रहत घर पाए॥
अनहद नाद बजाओ जोगी, बिना चरन चल नगरी।
काया कासी छाँड़ि चलोगे जाय बसो मन मथरी॥
धरती धूत अँकार न पाऊँ मेरुदंड पर मेला।
गगन मँडल में आसन करहूँ तो सतगुरु का चेला॥
तिल परमान ब्रह्म दरवाजा, तिस घाटी ले जाऊँ।
चींटी के पग हस्ती बाँधूँ अधर धार ठहराऊँ॥
दखिन देस में दीपक जोहूँ, उत्तर धरूँ धियाना।
पछिम देसमें देवल हमरा, पूरब पंथ पयाना॥
पिंड ब्रह्मांड दोऊ से न्यारा अगम ग्यान गोहराऊँ।
दास गरीब अगम गति आवै सिंघे सिंघ मिलाऊँ॥
(गरीबदास)

आगासी सरु भजिया नीर, ता महँ कवँल बहुत बिस्तीर।
भौंरा लोभधा ताँको गंध, नानक बोलै बिरमी संध
बारह सोलह सम करि गहै, आसणु सहजि निरानसु वहै
चेतनी डोरी सुरति लावै, नानक कहै जोग इउँ पावै
मेरुदंड सूधा करि राखै, गुरु प्रसाद अंम्रितु रस चाखै
दोने शराह इकठी भरै, नानक बोलै जीवत मरै
उलटै पौण उलटै काया, शबिद अनाहद शब्द बजाया
धुनि अंतर मनु राखै थीरु, नानक बोलै अउलि फकीरु
(नानक साहब)

गगनके बीचमें ऐन मैदान है, ऐन मैदानके बीच गली सहस्र दल कँवलमें भँवर गुंजारहै, कँवलके बीचमें सेत गली इडा औ पिंगला सुखमना घाट है, सुखमना घाटमें लगी नली

सुन्न सागर भरा सतके नामसे, तेहिके बीचमें सुरति हली
अहै एक वृच्छ है तेहिके डारिमें, पड़ा हिंडोलना प्रेम झुली
अमीरस चुवै सोह पिवत एक नागिनी, नागिनी मारिकै बुंद रही
बंकके नालपर तहाँ एक ऊँच है, तेहुँके सीस चढ़ि जोति बली
जोतिके बीचमें तहाँ एक राह है, राहके बीचमें नाद चली
नादके बीचमें तहाँ एक रूप है, रूपको देखिके रह तसली
दास पलटू कहै होय आरूढ़ जब, संतको सहज समाधि भली

(पलटू साहब)

महरम होय सो जानै साधो, ऐसा देस हमारा ॥
बेद कतेब पार नहिं पावत, कहन सुनन सो न्यारा ।
जाति बरन कुल किरिया नाहीं संख्या नेम अचारा ॥
बिन जल बुंद परत जहँ भारी, नहिं मीठा नहिं खारा ।
सुन्न महलमें नौबत बाजे, किंगरी बीन सितारा ॥
बिन बादर जहँ बिजली चमकै बिन सूरज उजियारा ।
बिना नैन जहँ मोती पोहै बिनु सुर सब्द उचारा ॥
जो चलि जाय ब्रह्म तहँ दरसै आप अगम अपारा ।
कहै कबीर वहँ रहनि हमारी, बूझै गुरमुख प्यारा ॥

(कबीर साहब)

अन्तमें मैं दो शब्द अपने दादागुरु बाबा रामलालजीके देना चाहता हूँ:—

(१) धुर फुलझरी बरै मसाला । दरसै अमृत ज्योति रसाला ॥
दसहुँ दिसा महँ दामिनि दमकै । दहिने बाम रबि चंदा चमकै ॥
हरित चक्र त्रिकुटी रह छाई । फनिपति रूप अजब दरसाई ॥
स्याम स्वरूप निरंजन झलकै । दीप शिखा सम माया दमकै ॥
त्रिगुन त्रिदेव बहुत दरसाहीं । रंग अरंग बरनि नहिं जाहीं ॥
कोटि कोटि ब्रह्मांड तमासा । रामलाल चढ़ि लखत अकासा ॥

(२) मूल मंत्र करि बंध बिचारी । षट चक्रहि नव सोधहि नारी ॥
संधिके मेरुदंड ठहराना । सहज मिलावै प्रान अयाना ॥
बंक नाल गहै मन मूला । बिहँसत अष्टकमल दल फूला ॥
पच्छिम दीसा लागि किवारी । सतगुरु जी सन लेहु उघारी ॥
जस मकरीका लागा तागा । वैसेहि प्रेम बढ़ै अनुरागा ॥
उलटा पवन चढ़े जस मीना । है सतगुरु का मारग झीना ॥
अजपा जाप लिखि धुनि ध्याना । सोऽहं सब्द महँ पवन समाना ॥
आदी सब्द अहै ओंकारा । उठै सब्द धुनि रारंकारा ॥
दसौ दिसा होइगे उँजियारा । झलकत जगमग जोति अपारा ॥
गैबि मिले जब गैब समाना । है अलमस्त अमीरस पाना ॥
कालदंड नाहीं जम त्रासा । देखत गैबी गैब तमासा ॥
जो अस चलै सून्य मिल जाई । ता कर आवागमन नसाई ॥
रामलाल कोउ बिरला पावा । निरधन धनी निसान नचावा ॥

मैं समझता हूँ कि इतने अवतरण पर्याप्त हैं । जैसा मैंने ऊपर लिखा है, इनका और इनके-जैसे दूसरे पदोंका रसास्वादन वही कर सकता है, जो इस मार्गपर चल रहा है। जो मनुष्य अपने अनुभवके कारण या किन्हीं ऐसे महात्माओं-के वचनोंको प्रमाण माननेके कारण; जिनका उसको सत्सङ्ग प्राप्त हुआ हो; योगको मोक्षका उत्कृष्टतम साधन मानता है वह प्रकृत्या संतबानीकी ओर आकृष्ट होगा; और मेरा ऐसा विश्वास है कि उसका इसमें परम कल्याण होगा । आजकल ऐसा कहनेका दस्तूर-सा चल पड़ा है कि इस युगमें योगाभ्यास नहीं किया जा सकता; और मुमुक्षुओंसे दूसरे साधनोंके नाम लिये जाते हैं, जो योगकी अपेक्षा अधिक सुलभ और सुकर हैं । योग कठिन है, इसमें कोई सन्देह नहीं । पतञ्जलि कहते हैं—

'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।'

जिस चित्तका निग्रह गीताके शब्दोंमें वायुके बाँधनेके समान दुष्कर है, उसकी वृत्तियोंका निरोध सहज नहीं हो सकता । निरन्तर सतर्क रहनेकी आवश्यकता पड़ती है । पदे-पदे पतनकी सम्भावना है । कबीरने योगीके इस मानस रणक्षेत्रका इन शब्दोंमें अच्छा वर्णन किया है—

साध संग्राम है, बिकट बेढ़ा जती, सती और सूरकी चाल आगे ।
सती घमसान है पलक दो चारका, सूर घमसान पल एक लागे ॥
साध संग्राम है रैन दिन जूझना, देह पर्यंतका काम भाई ।
कहत कबीर टुक बाग ढीली करै, ऊलट मन गगनसे जमी आई ॥

इसलिये कोमलबुद्धि लोगोंका, जो दोनों हाथ चाँदी चाहते हैं, चित्त इस मार्गसे घबराता होगा । परन्तु किया क्या जाय ? दूसरा वास्तविक मार्ग है भी नहीं । आजसे दो हज़ार वर्ष पहलेकी बात है । एक मिश्री राजकुमार रेखागणित पढ़ रहा था । उसने घबराकर अपने अध्यापकसे पूछा 'क्या इन तथ्योंके सीखनेका कोई सरल उपाय नहीं है ?' उत्तर मिला—'नहीं, नरेशोंके लिये रेखागणित सीखने-का कोई अलग मार्ग नहीं है ।' उसी प्रकार मुमुक्षुओंके लिये भी कोई सरल मार्ग नहीं है । हाँ, अधिकारिभेदसे अनेक प्रकारकी यज्ञ, याग, जप, पूजा आदि उपासना-पद्धतियाँ हैं, जिनसे सत्त्वकी शुद्धि होती है और अपात्र क्रमशः पात्रत्व प्राप्त करता है । इनकी उपयोगिता अस्वीकार नहीं की जा

सकती। इनमेंसे कई तो योगके अङ्गोपाङ्गोंके पर्यायमात्र हैं—जैसे नियमोंमें परिगणित ईश्वरप्रणिधानकी भक्ति नामसे महिमा गाना। भगवती श्रुति भी किसी दूसरे मार्गका प्रतिपादन नहीं करती। संतमतके आचार्योंने दिखला दिया है कि इस युगमें भी वह द्वार पहलेकी ही भाँति खुला है।

सिद्धियोंकी प्राप्ति भी योगका एक परिणाम है। पतञ्जलिजी कहते हैं—

'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।'

संतोंने भी इसी दृष्टिसे सिद्धियोंकी निन्दा की है पर उनकी ओर संकेत भी किया है। उनकी विभूतियोंकी बहुत-सी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। पर इन बातोंका उल्लेख करना मैं अनावश्यक समझता हूँ।*

संतोंकी सहज-शून्य-साधना

(लेखक—आचार्य श्रीक्षितिमोहन सेन शास्त्री, एम्० ए०)

मध्ययुगके भक्त और साधकगण बहुत समय गुरुकी तुलना शून्यसे करते हैं। जीवनके सहज विकासके लिये शून्य—एक मुक्त आकाशकी ज़रूरत होती है। गुरु भी ऐसा ही होना चाहिये। इसीलिये रज्जबजीने कहा 'सतगुरु सून्य समान है' (गुरुदेव अंग, ५६)। ये 'शून्य' और 'सहज' शब्द बौद्धों, निरंजन और नाथपंथी योगियों, सहजियों और बाउल आदि संतोंमें भी हैं। मध्ययुगके भी बहुतेरे साधक अपनेको सहज-पंथी कहते थे। देखा जाय, इसका अर्थ क्या है?

धर्म सहज हो तो यह सहज सकल बाधाहीन होकर अनन्त आधारको चाहता है—यही शून्य है। इसीलिये सभी सहज-वादी किसी-न-किसी रूपमें शून्यको स्वीकार करते हैं। 'शून्य' का भावात्मक जीवनाधार महाकाश न मिले तो कोई भी जीवन-बीज अङ्कुरित नहीं हो सकता। इसीलिये सहजमतमें गुरुको शून्य कहा गया है। यदि गुरु अपने व्यक्तित्वसे शिष्यके व्यक्तित्वको दबा दे तो धर्म-जीवन अङ्कुरित होनेके बदले पिस जायगा। इसीलिये शून्य ही गुरु है और गुरु शून्य है।

प्रत्येक अङ्कुर जीवन्त होकर उठते समय शून्य आकाशकी ओर अपने प्राणोंको प्रकाशित करता है। अतिशय क्षुद्र जो अङ्कुर है और क्षुद्रतम जो पुष्प है, वह भी अपने मस्तक-पर अनन्त शून्य आकाशको न पाये तो अपने उस छोटे-से जीवनको विकसित नहीं कर सकता। आकाश यदि शून्य न होकर ठोस हो तो सारा जीवन दबकर तहस-नहस हो जाय। इसी तरह समस्त प्रकारके जीवनके विकासके लिये एक

* नोटः—योगके सब पारिभाषिक शब्दोंका, जो संतबानीमें आये हैं, अर्थ लिखना न तो उचित है न सम्भव। फिर भी मैं उन लोगोंकी सुविधाके लिये, जो संस्कृतके योगसाहित्यसे मिलान करना चाहें, दो-एक बातोंकी ओर सङ्केत कर देना चाहता हूँ।

इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा नाडियोंको प्रायः इंगला, पिंगला, और सुखमना और सांकेतिक भाषामें गङ्गा, यमुना और सरस्वती कहा गया है। इडा और पिङ्गला ही चन्द्र और सूर्य हैं। मेरुदण्ड पृष्ठास्थि है। सुषुम्णा उसीके बीचमेंसे जानेवाली नाडी है, जिसका अंग्रेजी नाम स्पाइनल कार्ड है। इसी नाडीमें वे छः विशिष्ट स्थान हैं, जिनको षट्चक्र कहते हैं। चक्रोंके नामों और स्थानोंका ब्यौरा इस प्रकार है:—

चक्रका नाम	स्थान	चक्रका नाम	स्थान
मूलाधार	मेरुदण्डका सबसे नीचा स्थान	अनाहत	हृदय
स्वाधिष्ठान	योनि	विशुद्ध	कण्ठ
मणिपूर	नाभि	आज्ञा	नेत्रोंके बीचमें; तिल

इन चक्रोंके क्रमशः गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, अविद्या और पुरुष अधिष्ठातृ देवता हैं। इन चक्रोंके ऊपर सहस्रदल कमल या सहस्रार, ब्रह्मरन्ध्र आदि वे स्थान हैं, जो मेरुदण्डसे ऊपर मस्तिष्कमें हैं। जिस स्थानपर इडा और पिङ्गला सुषुम्णासे मिलकर अपनी-अपनी दिशा बदल देती हैं अर्थात् दक्षिण नाडी वाम और वाम नाडी दक्षिणकी ओर चली जाती है, उसको त्रिकुटी या त्रिकुटीसङ्गम कहते हैं। प्रत्येक चक्रके साथ कैसा कमल सम्बद्ध है, किस स्थानपर कौन-सी वायु है, कैसा नाद है, सर्पिणी अर्थात् कुण्डलिनीका स्थान कहाँ है? और वह किस प्रकार ऊर्ध्वगामिनी बनायी जा सकती है, ये सब अंशतः योगसम्बन्धी पुस्तकों और मुख्यतः अपने अनुभवसे ही जाननेकी बातें हैं।

प्रकारकी शून्यता जरूरी है। जहाँ प्राणका विकास नहीं है, वहाँ इस शून्यताका प्रयोजन नहीं हो सकता है; किन्तु जहाँ कहीं प्राण है, वहीं उसके विकासके लिये शून्यताका प्रयोजन है। धर्म और भाव भी तो जीवन्त वस्तु हैं, इसीलिये इनके विकासके लिये भी शून्यताका एक अनुकूल आकाश चाहिये। परन्तु यह शून्यता नास्तिधर्मात्मक वस्तु नहीं है।

रामानन्दधारामें गुरुपरम्परासे प्रचलित एक नमस्कार इस प्रकार है—

नमो नमो निरंजन नमस्कार गुरुदेवतः।
बन्दनं सर्व साधवा परनामं पारंगतम्॥

यह न हिन्दी, न संस्कृत प्रणाम बहुत पुराना है। दादूने अपने नामसे इसे चलाया है—

'दादू नमो निरंजनं नमस्कार गुरुदेवतः'—इत्यादि

अर्थात् निरञ्जनको प्रणाम करता हूँ, उन्हें समझनेके लिये प्रणाम करता हूँ गुरुदेवताको। गुरु उसी अनादि अनन्त निःसीम निरञ्जनको समझनेके सुगम उपाय हैं। किन्तु यदि रास्ता ही हमें सीमाबद्ध कर दे तो? इसीलिये मुक्तिका पथ खुला रखनेके लिये कहा गया—'बन्दनं सर्व साधवा।' जितने भी साधक हों और जिस भावसे भी उन्होंने निरञ्जनको प्राप्त किया हो, उन्हें नमस्कार। ऐसा करनेसे ही यह प्रणाम सीमाबद्ध नहीं होगा। समस्त संकीर्णता और समस्त साम्प्रदायिकताकी बाधा पार कर जायगा। तभी यह प्रणाम होगा 'पारंगतः' अर्थात् समस्त सीमाके पार गया हुआ सीमा-हीन प्रणाम।

इसीलिये गुरु यदि शून्य हों तो किसी विपत्तिका डर नहीं। यह शून्यता ही आत्माके विहारकी सहज भूमि है, इसी सहजमें आत्माकी नित्य केलि और आनन्द-कल्लोलका स्थान है। यहीं संगीत और कलाकी उत्पत्ति है, क्योंकि कलामात्र ही अनन्तमें आत्मारूपी हंसके सहज संगीतका कल्लोल है (दादू परचा अंग ६१)।

भक्तप्रवर सुन्दरदासने अपने सहजानंदनामक ग्रंथमें लिखा है कि हिंदू हो या मुसलमान—यदि साधक बाह्य आचार, अनुष्ठान और कृत्रिम कर्मकाण्ड न माने, ऊपरी भेष और चिह्न न धारण करे, अन्तरमें सहज अग्निशिखा जला रक्खे, सहज ध्यानमें मग्न हो, सहजमें डूबकर सहजभावसे ही रहे, तब उसके जीवनमें सहज ही भगवान्‌का नाम अपने-आप निःशब्द भावसे ध्वनित होता रहता है। कृत्रिम जप-तपकी कोई ज़रूरत नहीं होती (सहजानंद ग्रंथ २-४)। इसी ग्रंथमें अन्यत्र (२९) कहा गया है कि स्मरण, ध्यानयोगके लिये ये कालाकाल नहीं मानते, सहजमें डूबकर ये कृत्रिम विचार वे भूल जाते हैं। सहज सर्वव्यापी निरञ्जनमें डूबकर साधक विश्व-जगत्‌की सब साधनाओंके साथ योगयुक्त होता है। कबीरदासने नाना भावसे नाना स्थानपर इस सहजावस्थाकी बात कही है। दादूने कहा है कि 'कुछ नाहीं' का नाम धरके सारा संसार भरम रहा है, इसीलिये भीतरके देवताको छोड़कर व्यर्थ ही बाहर चक्कर मार रहा है—

कुछ नाहीं का नावँ धरि भरम्या सब संसार।
पूजनहारे पाति हैं, देही मा है देव।
दादू ता कौं छाड़ि करि, बाहरि माँडी सेव॥
(साच अंग १४६,१४८)

प्रार्थना

मैं अपराधी जनम का, नखसिख भरा बिकार।
तुम दाता दुख-भंजना, मेरी करौ सम्हार॥
अवगुन मेरे बापजी, बकसु गरीबनिवाज।
जो मैं पूत कपूत हौं, तऊ पिता कौ लाज॥
औगुन किये तो बहु किये, करत न मानी हार।
भावै बंदा बकसिये, भावै गरदन मार॥

—कबीर

श्रीमद्भागवतकी साधना

(लेखक—सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार)

साधनका विषय अत्यन्त व्यापक होनेके कारण बहुत जटिल है। फिर श्रीमद्भागवतमें निरूपित साधनोंपर लिखनेका अधिकार तो महानुभाव विद्वानोंका ही है। मेरे-जैसे अल्पज्ञ-द्वारा इस विषयमें दुःसाहस किया जाना अवश्य ही अनधिकार चेष्टा है। अतएव इस धृष्टताके लिये मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

अन्य पारमार्थिक ग्रन्थोंमें जिस प्रकार ऐहिक, पारलौकिक और पारमार्थिक श्रेयस्कर अनेक साधनोंका निरूपण किया गया है, उसी प्रकार यद्यपि श्रीमद्भागवतमें भी सभी प्रकारके साधनोंका निरूपण मिलता है, किन्तु ऐहिक और पारलौकिक कामनाओंके लिये योगक्रियाओंद्वारा उपलब्ध होनेवाले सर्वोपरि अणिमादि सिद्धियोंके साधनोंके विषयमें भी श्रीमद्-भागवतमें स्वयं भगवान्‌ने अपने परम भक्त उद्धवके प्रति यह आज्ञा की है—

अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम्।
मया सम्पश्यमानस्य कालक्षपणहेतवः॥
(११। १५। ३३)

इसके द्वारा स्पष्ट है कि श्रीमद्भागवतमें कल्याणमार्गके पथिक भगवद्भक्तोंके लिये तो अणिमादि सिद्धियाँ भी केवल समयको व्यर्थ नष्ट करनेवाली ही बतलायी गयी हैं। अतः श्रीमद्भागवतका लक्ष्य पारमार्थिक श्रेयके साधनोंका निरूपण ही है। उनमें भी प्रसङ्गानुकूल अनेक स्थलोंपर सांख्य, योग और ज्ञान-वैराग्य आदि विभिन्न साधनोंका अधिकारि-भेदसे निरूपण किया गया है। जैसा कि सूत्ररूपमें भगवान् श्रीकृष्णने—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥
(श्रीमद्भा० ११। २०। ६-८)

—इन वाक्योंमें कहा है कि मैंने मनुष्योंके कल्याणकी इच्छासे ज्ञान, कर्म और भक्ति—इस प्रकार तीन योग बतलाये हैं। इन तीनोंके सिवा और कोई चौथा साधन नहीं है। इनमें जो कर्मफलोंको दुःखरूप जानकर उनका त्याग करने-वाले संन्यासी हैं, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं। जो लोग कर्मोंको सुखरूप समझकर कर्मोंसे विरक्त नहीं हुए हैं—जिनको संसारसे वैराग्य नहीं हुआ है, वे कर्मयोगके अधिकारी हैं। और इनके अतिरिक्त अकस्मात् किसी भाग्योदयसे जो लोग मेरी कथा आदिके कहने-सुननेमें श्रद्धा उत्पन्न हो जानेपर कर्मोंके फलोंमें न तो अत्यन्त आसक्त हैं और न अत्यन्त विरक्त ही हैं, वे भक्तियोगके अधिकारी हैं। किन्तु श्रीमद्भागवतमें कदाचित् ही कोई ऐसा स्थल हो, जहाँ विभिन्न साधनोंके वर्णनमें भगवद्भक्तिको सर्वोपरि प्रधानता न दी गयी हो। देखिये—

प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥
न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्॥
(श्रीमद्भा० ७। ७। ५१, ५२)

परम भक्त श्रीप्रह्लादजी दैत्यबालकोंके प्रति कहते हैं कि 'वृत्त, बहुज्ञता, दान, तप, पूजा, शौच और व्रतादिसे मुकुन्द भगवान् प्रसन्न नहीं हो सकते; वे तो केवल विशुद्ध भक्तिसे ही सन्तुष्ट होते हैं। भक्तिके सिवा और सब विडम्बनामात्र है।'

भगवान् कपिलदेव भी माता देवहूतिजीसे यही कहते हैं—

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये॥
(श्रीमद्भा० ३। २५। १९)

योगिजनोंको ब्रह्मप्राप्तिके लिये कल्याणकारक मार्ग भक्तिके समान दूसरा कोई नहीं है। और भी—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्॥
(श्रीमद्भा० ३। २५। ४४)

'इस संसारमें तीव्र भक्तियोगद्वारा मनको स्थिर करके मुझमें लगाना ही मनुष्योंके लिये एकमात्र निःश्रेयसकारक है।'

भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं उद्धवजीके प्रति यह स्पष्ट कहा है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥
(श्रीमद्भा० ११।१४।२०)

'हे उद्धव ! मुझमें बढ़ी हुई भक्ति जिस प्रकार मुझे वश कर सकती है उस प्रकार न योग, न ज्ञान, न धर्म, न वेदाध्ययन, न तप और न त्याग ही मुझे वश कर सकते हैं।'

प्रश्न हो सकता है कि भगवद्भक्तिको इस प्रकार सर्वोपरि महत्त्व दिये जानेका क्या कारण है, जब कि श्रुति-स्मृतियोंमें एवं श्रीमद्भागवतमें भी अन्य साधनोंका भी महत्त्व प्रतिपादित है ? इसका समाधान श्रीमद्भागवतके निम्नलिखित वाक्योंद्वारा हो जाता है—

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये ।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान् ॥
यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥
(११ । २ । ३४, ३५)

योगीश्वर कवि श्रीजनक महाराजसे कहते हैं कि 'हे राजन् ! भगवान्‌ने स्वयं श्रीमुखसे जो धर्म* आत्मतत्त्वकी उपलब्धिके लिये बतलाये हैं—जिनके द्वारा सर्वसाधारण अल्पज्ञ जन भी सुखपूर्वक—सहज ही भगवत्प्राप्ति कर सकते हैं, वे ही भागवत धर्म हैं। उन भागवत धर्मोंका अनुष्ठान करता हुआ पुरुष कभी प्रमादको प्राप्त नहीं हो सकता—जिस प्रकार राजमार्गमें आँख बंद करके भी दौड़ते हुए मनुष्यको गिरनेका भय नहीं होता, उसी प्रकार भागवत धर्मोंमें प्रवृत्त होकर आँख मूँदकर दौड़ते हुए चलनेपर भी किसी प्रकारके विघ्नका खटका नहीं होता।' अर्थात् अन्य श्रुति-स्मृतिविहित धर्मोंके साधनोंमें कुछ भी त्रुटि होनेपर साधक पथभ्रष्ट हो जाता है। किन्तु भगवद्भक्तिमें श्रुति-स्मृतिप्रतिपादित धर्मोंका यथावत् अनुष्ठान न होनेपर भी भगवद्भक्त कदापि पथभ्रष्ट नहीं हो सकता। और देखिये—

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरे-
र्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि ।
यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं
को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥
(श्रीमद्भा० १।५।१७)

देवर्षि नारद भगवान् वेदव्यासजीसे कहते हैं—नित्य-नैमित्तिक स्वधर्माचरणको त्यागकर भगवद्भक्ति करता हुआ पुरुष यदि भक्तियोगकी परिपक्व अवस्थाको प्राप्त न होकर मर जाय अथवा भक्तिमार्गसे च्युत हो जाय तो भी क्या उस पुरुषका कभी अमङ्गल हो सकता है ? कभी नहीं। इसके विपरीत भगवद्भक्तिको न करके केवल कर्म-बन्धनमें फँसानेवाले धर्मोंको करते-करते जो लोग मर जाते हैं, उनको क्या फल मिलता है ? अर्थात् उस धर्मके प्रतिफलसे कुछ काल स्वर्गादि सुख भोगकर पुनः उनको दुःखमय संसारचक्रमें ही घूमना पड़ता है। यद्यपि श्रीमद्भगवद्गीताके—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥

—इस भगवद्वाक्यमें अल्पज्ञोंके लिये कर्मोंका साधन उपादेय बतलाया गया है, किन्तु वह ज्ञानके जिज्ञासुओंके लिये ही कहा गया है। क्योंकि ज्ञानके लिये अन्तःकरणकी शुद्धि परमावश्यक है और वह निष्काम कर्मोंद्वारा ही प्राप्त हो सकती है। किन्तु भक्ति तो अनपेक्ष ही अन्तःकरणकी शुद्धि करनेवाली है। कहा है—

केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः ।
अघं धुन्वन्ति कात्स्न्र्येन नीहारमिव भास्करः ॥
(श्रीमद्भा० ६।१।१५)

श्रीमद्भागवतमें तो भक्तिरहित ज्ञानको भी केवल क्लेशकारक ही बतलाया गया है—

श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥
(१०।१४।४)

भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुतिमें ब्रह्माजी कहते हैं—'हे स्वामिन् ! समस्त श्रेयोंकी मूल-स्रोत जो आपकी भक्ति है, उसे न करके जो पुरुष केवल शुष्क ज्ञानके लिये परिश्रम करते हैं, उनको केवल क्लेशमात्र ही प्राप्त होता है। जैसे धानके छिलकोंको कूटनेवालोंको सिवा क्लेशके और कुछ हाथ नहीं लगता।

—इत्यादि अनेक वाक्योंद्वारा स्पष्ट है कि श्रीमद्भागवतका चरम सिद्धान्त भगवद्भक्तिका प्रतिपादन ही है। किन्तु

* भगवान्‌के बतलाये हुए 'श्रद्धामृतकथायाम्' आदि धर्मोंका वर्णन आगे चलकर किया गया है। —लेखक

भक्तिका महत्त्व प्रतिपादन करनेवाले वाक्योंका तात्पर्य ज्ञानादि साधनोंको हेय बतलानेका नहीं । वस्तुतः उनका अभिप्राय यह है कि ज्ञानादि अन्य सभी साधन भक्तिसापेक्ष हैं—वे स्वतन्त्ररूपसे भक्तिके बिना भगवत्प्राप्तिमें सहायक नहीं हो सकते । कहा है—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥
(श्रीमद्भा० १ । ५ । १२)

महर्षि व्यासजीके प्रति देवर्षि नारदजी कहते हैं—'राग-द्वेषादि उपाधिरहित ब्रह्मतादात्म्यकारक ज्ञान भी जब भक्तिके बिना शोभित नहीं होता—मोक्षमें सहायक नहीं हो सकता, तब साधन और फल दोनोंमें दुःख देनेवाले सकाम कर्म भगवान्‌के अर्पण हुए बिना किस प्रकार मोक्षकारक हो सकते हैं ?' क्योंकि—

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ।

'अन्य साधनोंद्वारा महान् क्लेशसे परमपदको पा लेनेपर भी आपके चरणारविन्दोंकी भक्ति न करनेवाले वहाँसे नीचे गिर जाते हैं ।'

इसके सिवा एक बात और भी है । भगवान् स्वयं आज्ञा करते हैं—

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥
यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
(श्रीमद्भा० ११ । २० । ३१-३३)

'अतएव मेरे भक्तको—ऐसे भक्तको जिसने आत्माको मुझमें लीन कर दिया है एवं जो मेरी भक्तिसे युक्त है—ज्ञान और वैराग्य आदि श्रेयके अन्य साधनोंकी आवश्यकता नहीं रहती । जब कि कर्मकाण्ड, तप, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान और धर्म एवं अन्यान्य श्रेयके साधनोंसे जो फल प्राप्त होते हैं, वे सब मेरे भक्तको केवल भक्तियोगद्वारा अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं ।'

ऐसी परिस्थितिमें ज्ञानादिके लिये अत्यन्त क्लिष्ट साधनोंका किया जाना आवश्यक नहीं । इसके विरुद्ध सुगम मार्गको ग्रहण न करके गहन मार्ग ही जिनको वाञ्छनीय है, उनके लिये श्रीमद्भागवतमें भी इच्छानुसार ज्ञानयोगादि अनेक मार्गोंका निर्देश किया ही गया है ।

भक्तिके भेद

यों तो भक्तिग्रन्थोंमें भक्तिके अनेकों भेद-प्रभेद कथन किये गये हैं । उन सबकी स्पष्टताके लिये यहाँ स्थान कहाँ । संक्षेपमें साधारणतया भक्तिके दो भेद हैं—साध्य-भक्ति और साधन-भक्ति ।

साध्य-भक्तिका ही नामान्तर परा भक्ति या प्रेमलक्षणा भक्ति है । प्रेमलक्षणा भक्तिके अधिकारी भगवान्‌के अनन्य भक्त ही होते हैं, जिनके विषयमें भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । १४)

'जिसने मुझमें मन अर्पण कर दिया है वह मेरा अनन्य भक्त मुझे छोड़कर ब्रह्माजीका पद, इन्द्रका आसन, चक्रवर्ती साम्राज्य, लोकाधिपत्य, योगजनित सिद्धियाँ ही नहीं, किन्तु मोक्षपदकी भी इच्छा नहीं करता है ।' अतः परा भक्तिका परमानन्द अनिर्वचनीय है । पराभक्तिप्राप्त भगवान्‌के भक्तोंको देहानुसन्धान भी नहीं रहता, उनकी परमानन्दमयी अवस्थाका वर्णन योगीश्वर कविने इस प्रकार किया है—

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥
एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २ । ३९-४०)

'चक्रपाणि भगवान्‌के सुन्दर मङ्गलमय—कल्याणकारी जन्म और कर्मोंकी कथाओंका श्रवण करता हुआ एवं उन जन्म-

कर्मोंके अनुसार महाजनोंद्वारा गाये गये नामोंका लोक-लज्जा छोड़कर गान करता हुआ भगवान्‌का अनन्य भक्त संसारमें अनासक्त रहकर विचरता है। इस प्रकार अपने प्रियतम भगवान्‌के नाम-कीर्तनादिका व्रत धारण करते हुए जब प्रेमी भक्तको अनुराग उत्पन्न हो जाता है, तब वह प्रेमसे द्रवितचित्त होकर विवशतया कभी तो—भगवान्‌को भक्तोंसे पराजित समझकर—अट्टहास करने लगता है, कभी यह विचार कर कि हा! इतने कालतक मैं भगवद्विमुख क्यों रहा—रोने लग जाता है, कभी दर्शनोंकी उत्कट उत्कण्ठासे चिल्लाने लग जाता है, कभी भावावेशमें भगवच्चरित्र-गान करने लगता है और कभी—लोकातिरिक्त लावण्यसिन्धु भगवान्‌के स्वरूपका दर्शन करके-हर्षोद्रेकपूर्वक प्रेमविभोर और उन्मत्त होकर नृत्य करने लगता है।'

भक्तिके साधन

भक्तिका सर्वोपरि प्रधान एवं प्रथम साधन सत्सङ्ग है। भगवान्‌ने स्वयं श्रीमुखसे आज्ञा की है—

न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥
(श्रीमद्भा० ११। १२। १-२)

'हे उद्धव! यद्यपि योग[1], सांख्य[2], धर्म[3], वेदाध्ययन, तप[4], त्याग[5], इष्टापूर्त[6], दान, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ, यम और नियमादि—ये सभी मुझे प्रसन्न करनेके साधन हैं; किन्तु जिस प्रकार अन्य समस्त सङ्गोंको निवारण करनेवाले सत्सङ्गके द्वारा मैं वशीभूत हो सकता हूँ, उस प्रकार योगादि उपर्युक्त साधनोंसे नहीं।'

सत्सङ्गको इतना महत्त्व इसलिये दिया गया है कि भगवद्भक्ति सत्सङ्गके बिना उपलब्ध नहीं हो सकती। राजा रहूगणके प्रति परमहंस जडभरतजीने कहा है—

रहूगणैतत्तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्य-
विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥
(श्रीमद्भा० ५। १२। १२)

'हे रहूगण, भगवत्तत्त्वका ज्ञान, महापुरुषोंके चरणोंकी रज जबतक सिरपर धारण नहीं की जाती, न तपसे, न यज्ञादि कर्मोंसे, न अन्नादिके दानसे, न संन्याससे, न वेदाध्ययनसे, न जल, अग्नि और सूर्यकी उपासनासे प्राप्त हो सकता है—यह तो सत्सङ्गसे ही प्राप्त हो सकता है।' सत्सङ्ग-द्वारा भगवद्भक्तिका आविर्भाव किस प्रकार होता है, इस विषयमें भगवान् कपिलदेव कहते हैं—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥
(श्रीमद्भा० ३। २५। २५)

'सत्पुरुषोंके निरन्तर सङ्गमें मेरे माहात्म्यसूचक चरित्रोंकी कानोंमें सुधा बरसानेवाली हृदयाकर्षिणी कथा होती है, उन कथाओंके श्रद्धापूर्वक सेवनसे शीघ्र ही हरि भगवान्‌में क्रमशः श्रद्धा, रति और भक्ति बढ़ती जाती है।'

सत्सङ्गके पश्चात् भगवद्भक्तिके अनेक साधन बहुत-से प्रसङ्गोंपर श्रीमद्भागवतमें बतलाये गये हैं। स्वयं भगवान्‌ने भी उद्धवजीसे कथन किया है—

श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम्।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम॥
आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम्।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम्॥
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः॥
एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते॥
(श्रीमद्भा० ११। १९। २०-२४)

---

१. आसन, प्राणायामादि अष्टाङ्गयोग।
२. तत्त्वोंके विवेचनात्मक प्रकृति-पुरुषके स्वरूपका ज्ञान।
३. सामान्य तथा अहिंसा आदि।
४. कृच्छ्रचान्द्रायणादि।
५. संन्यासधर्म।
६. इष्ट—अग्निहोत्रादि कर्म और पूर्त—कुएँ, तालाब, देवस्थान, बाग आदिका निर्माण।

अर्थात् निरन्तर[1] अमृतके समान मेरी कथामें श्रद्धा, मेरे नामों और गुणोंका कीर्तन, मेरी पूजामें अत्यन्त निष्ठा, स्तुतियोंद्वारा मेरा स्तवन, मेरी परिचर्यामें आदर, सर्वाङ्गसे मुझे प्रणाम,[2] मेरे भक्तोंकी विशेषरूपसे पूजा, सब प्राणियोंमें मुझे देखना, मेरे लिये सारे अङ्गोंकी चेष्टा,[3] वार्तालापमें भी मेरे ही गुणोंका वर्णन करना, मनको मुझमें अर्पण करना, सांसारिक सभी कामनाओंका त्याग करना, मेरे निमित्त द्रव्य, भोग और सुखका त्याग[4] करना, मेरे लिये ही यज्ञ, दान, होम, जप, तप और व्रत आदि सब कर्म करना। हे उद्धव! इन धर्मोंके द्वारा आत्मनिवेदन करनेवालेको मेरी प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्त हो जाती है। फिर उसके लिये कुछ भी साधन अथवा साध्य शेष नहीं रह जाता।

यहाँ यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि जैसे अन्य कोई साध्य वस्तु प्राप्त हो जानेपर उसके साधनोंका त्याग कर दिया जाता है, वैसे यहाँ प्रेमलक्षणा भक्तिके जो श्रवण, कीर्तन आदि साधन हैं, उनका त्याग नहीं किया जाता; क्योंकि श्रवण, कीर्तनादि साधन तो प्रत्युत उत्तरोत्तर भक्तिको सहस्रगुण परिवर्द्धन करनेवाले ही हैं और भक्तके अति प्रिय हैं।

साधन-भक्ति

उपर्युक्त भगवद्वाक्योंमें जो प्रेमलक्षणा भक्तिके साधन कथन किये गये हैं, उनमें श्रवणादि बहुत-सी साधन-भक्तियोंका समावेश हो जाता है। प्रधानतया—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—यह नवधा भक्ति बहुमतसे साधन-भक्ति ही है। इनमें प्रत्येकका वर्णन श्रीमद्भागवतमें अनेक स्थलोंपर बहुत विशदरूपसे किया गया है और वह प्रासङ्गिक भी है, किन्तु विस्तारभयसे इनके विषयमें स्पष्टीकरण इस लेखमें नहीं किया गया है। यह भी महत्त्वपूर्ण विषय है, अतएव स्वतन्त्र लेखमें विशदरूपसे लिखने योग्य है।

---

१. यहाँ निरन्तर (अनिशम्) का सम्बन्ध कथा आदि सभी साधनोंके साथ है।

२. आवाहनादि षोडशोपचार पूजा।

३. भगवान्‌के मन्दिर आदिका परिमार्जन आदि, जैसा कि 'सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्त्तनैः। गृहद्युश्रूषणे मह्यं दासवद्यदमायया॥' (श्रीमद्भा० ११।११।३९) में कहा है।

४. दोनों पैर, दोनों हाथ सीधे पसारकर दण्डके समान सीधा होकर सिर, मन, बुद्धि और वाणीसहित साष्टाङ्ग प्रणाम करना।

५. भगवान्‌के आराधनके निमित्त उद्यान-निर्माण, उत्सवादिके निर्वाहके लिये ग्रामादिककी जीविका निकालना—जैसा कि भागवतके ११।२७।३८-३९ श्लोकोंमें कहा है। अङ्गोंका प्रयोग करना। जैसा कि 'स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः ... ... 'इत्यादि भागवतके ९।४।१८—२० तक तीन श्लोकोंमें अम्बरीषके प्रकरणमें सारे अङ्गोंका भगवान्‌के लिये प्रयोग किया जाना कहा गया है।

६. भगवान्‌के निमित्त मन्दिर और उत्सवादिमें द्रव्य व्यय करना।

७. लौकिक भोग और सुखोंकी तो बात ही क्या, त्रैलोक्यके ऐश्वर्यके लिये भी भगवान्‌के भजनका त्याग न करना कहा है—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥
(श्रीमद्भा० ११।२।५३)

८. जैसा कि भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(९।२७)

भागवती साधना

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य)

श्रीमद्भागवत संस्कृत-धार्मिक-ग्रन्थोंमें एक अनुपम स्थान रखता है। उसके समान अन्य ग्रन्थ मिलना बिल्कुल असम्भव-सा है—वह ग्रन्थ जिसमें पाण्डित्य तथा कवित्व दोनोंका मणिकाञ्चन योग हो, सिवा इस ग्रन्थरत्नके हमारे लिये सुलभ नहीं है। 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' इस सुप्रसिद्ध लोकोक्तिसे ग्रन्थकी दुरूहताका परिचय भी पर्याप्तमात्रामें हो सकता है। अतः भागवतमें किस साधना-पद्धतिका किस प्रकारसे उल्लेख किया गया है, इसका ठीक-ठीक विवेचन भागवतके परदृश्वा विवेचक विद्वान् ही साङ्गोपाङ्गरूपसे कर सकते हैं; परन्तु फिर भी अपनी बुद्धिसे इस विषयका एक छोटा-सा वर्णन पाठकोंके सामने इस आशासे प्रस्तुत किया जाता है कि अधिकारी विद्वान् इसका यथातथ्य विस्तृत निरूपण प्रस्तुत करें।

हमारे देखनेमें भागवती साधनाका कुछ विस्तृत वर्णन द्वितीय स्कन्धके आरम्भमें तथा तृतीय स्कन्धके कपिलगीता-वाले अध्यायोंमें किया गया मिलता है। कपिलकी माता देवहूतिके सामने भी यही प्रश्न था कि भगवान्‌के पानेका सुलभ मार्ग कौन-सा है। इसी प्रश्नको उन्होंने अपने पुत्र कपिलजीसे किया, जिसके उत्तरमें उन्होंने अपनी माताकी कल्याण-बुद्धिसे प्रेरित होकर अनेक ज्ञातव्य बातें कही हैं। परन्तु सबसे अधिक आवश्यकता थी इसकी राजा परीक्षितको। उन्होंने ब्राह्मणका अपमान किया था; सातवें दिन उन्हें अपना भौतिक पिण्ड छोड़ना था। बस, इतने ही स्वल्पकालमें उन्हें अपना कल्याण-साधन करना था। बेचारे बड़े विकल थे, बिलकुल बेचैन थे। उनके भाग्यसे उन्हें उपदेष्टा मिल गये शुकदेव-जैसे ब्रह्मज्ञानी। अतः उनसे उन्होंने यही प्रश्न किया—हे महाराज, इतने कम समयमें क्या कल्याण सम्पन्न हो सकता है? पर शुकदेवजी तो सच्चे साधककी खोजमें थे। उन्हें ऐसे साधकके मिलनेपर नितान्त प्रसन्नता हुई। शुकदेवजीने परीक्षितसे कहा कि भगवान्‌से परोक्ष रहकर बहुत-से वर्षोंसे क्या लाभ है? भगवान्‌से विमुख रहकर दीर्घ जीवन पानेसे भला, कोई फल सिद्ध हो सकता है? भगवान्‌के स्वरूप-को जानकर उनकी सन्निधिमें एक क्षण भी बिताना अधिक लाभदायक होता है। जीवनका उपयोग तो भगवच्चर्चा और भगवद्गुणकीर्तनमें है। यदि वह सिद्ध न हो सके, तो दीर्घ जीवन भी पृथ्वीतलपर भारभूत है। खट्वाङ्गनामक राजर्षि-ने इस जीवनकी असारताको जानकर अपने सर्वस्वको छोड़कर समस्त भयोंको दूर करनेवाले अभय हरिको प्राप्त किया। तुम्हें तो अभी सात दिन जीना है। इतने कालमें तो बहुत कुछ कल्याण-साधन किया जा सकता है।

इतनी पूर्वपीठिकाके अनन्तर शुकदेवजीने भगवती भागीरथीके तीरपर सर्वस्व छोड़कर बैठनेवाले राजा परीक्षितसे भागवती साधनाका विस्तृत वर्णन किया। अष्टाङ्ग योगकी आवश्यकता प्रायः प्रत्येक मार्गमें है। इस भक्तिमार्गमें भी वह नितान्त आवश्यक है। उन्होंने कहा कि साधकको चाहिये कि किसी एक आसनपर बैठनेका अभ्यास करके उस आसनपर पूरा जय प्राप्त कर ले। अनन्तर प्राणोंका पूरा आयमन करे। संसारके किसी भी पदार्थमें आसक्ति न रक्खे। अपनी इन्द्रियोंपर पूर्ण विजय प्राप्त कर ले। इतना हो जानेपर साधकका मन उस अवस्थामें पहुँच जाता है, जब उसे एकाग्रता प्राप्त हो जाती है। अपने मनको जिस स्थानपर लगावेगा, उस स्थान-पर वह निश्चयरूपसे टिक सकेगा। अभी भगवान्‌के स्थूल रूपका ध्यान करना चाहिये। भगवान्‌के विराट् रूपका ध्यान सबसे पहले करना चाहिये। यह जगत् ही तो भगवान्‌का रूप है। 'हरिरेव जगज्जगदेव हरिर्हरितो जगतो नहि भिन्न-तनुः'। इस जगत्‌के चौदहों लोकोंमें भगवान्‌की स्थिति है। पाताल भगवान्‌का पादमूल है, रसातल पैरका पिछला भाग है, महातल पैरकी एड़ी है, तलातल दोनों जङ्घाएँ हैं, सुतल जानु-प्रदेश है और दोनों ऊरु वितल तथा अतल लोक हैं। इस प्रकार अधोलोक भगवत्-शरीरके अधोभागके रूपमें है। भूमितल जघनस्थल है तथा इससे ऊर्ध्वलोक ऊपरके भाग हैं। सबसे ऊपर सत्यलोक या ब्रह्मलोक भगवान्‌का मस्तक है। इस जगहपर भागवतकारने भगवान्‌के विराट् रूपका वर्णन बड़े विस्तारके साथ किया है। जगत्‌की जितनी चीज़ें हैं, वे सब भगवान्‌का कोई-न-कोई अंग या अंश अवश्य हैं। जब यह जगत् भगवान्‌का ही रूप ठहरा, तब उसके भिन्न-भिन्न अंगोंका भगवान्‌के भिन्न-भिन्न अवयव होना उचित है। यह हुआ भगवान्‌का स्वविष्ठ—स्थूल-तम स्वरूप। साधकको चाहिये कि इस रूपमें इस प्रकार

अपना मन लगावे, वह अपने स्थानसे किञ्चिन्मात्र भी चलायमान न हो। जबतक भगवान्‌में भक्ति उत्पन्न न हो जाय, तबतक इस स्थूलरूपका ध्यान नियतरूपसे साधक-को अपनी नित्यक्रियाओंके अन्तमें करना चाहिये। कुछ लोग इसी साधनाको श्रेष्ठ समझकर इसीका उपदेश देते हैं।

पर अन्य आचार्य अपने भीतर ही हृदयाकाशमें भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करना उत्तम बतलाते हैं और वे उसीका उपदेश देते हैं। आसन तथा प्राणपर विजय प्राप्त कर लेनेके अनन्तर साधकको चाहिये कि अपने हृदयमें भगवान्‌के स्वरूपका ध्यान करे। आरम्भ करे भगवान्‌के पादसे और अन्त करे भगवान्‌के होठोंकी मृदुल मधुर मुसुकानसे। 'पादादि यावद्धसितं गदाभृतः' का नियम भागवतकार बतलाते हैं। नीचेसे आरम्भ कर ऊपरके अङ्गों-तक जाय और एक अङ्गका ध्यान निश्चित हो जाय, तब अगले अङ्गकी ओर बढ़े। इस प्रकार करते-करते पूरे स्वरूपका ध्यान दृढ़ रूपसे सिद्ध हो जाता है। इस तरहके ध्यानका विशद वर्णन तृतीय स्कन्धके २८ वें अध्यायमें किया गया है। पहले-पहल उस रसिकशिरोमणिके पैरसे ध्यान करना आरम्भ करे। श्रीभगवान्‌के चरण-कमल कितने सुन्दर हैं! उनमें वज्र, अङ्कुश, ध्वजा, कमलके चिह्न विद्यमान हैं तथा उनके मनोरम नख इतने उज्ज्वल तथा रक्त हैं कि उनकी प्रभासे मनुष्योंके हृदयका अन्धकार आप-से-आप दूर हो जाता है। श्रीभागीरथीका उद्गम इन्हींसे हुआ है। ऐसे चरणोंमें चित्तको पहले लगावे। जब वह वहाँ स्थिररूपसे स्थित होने लगे, तब दोनों जानुओंके ध्यानमें चित्तको रमावे। तदनन्तर ललित पीताम्बरसे शोभित होनेवाले ओजके खजाने भगवान्‌की जङ्घाओंपर ध्यान लगावे। तदनन्तर ब्रह्माजीके उत्पत्तिस्थानभूत कमलकी उत्पत्ति जिससे हुई है, उस नाभिका ध्यान करे। इसी प्रकार वक्षःस्थल, बाहु, कण्ठ, कण्ठस्थ मणि, हस्तस्थित शङ्ख, चक्र, पद्म, गदा आदिका ध्यान करता हुआ भगवान्‌के मुखारविन्दतक पहुँच जाय। तदनन्तर कुटिल कुन्तलसे परिवेष्टित, उन्नत भ्रूसे सुशोभित, मीनकी भाँति चपल नयनोंपर अपनी चित्त-वृत्ति लगावे। मनुष्योंके कल्याणके लिये अवतार धारण करनेवाले भगवान्‌के कृपा-रससे सिक्त, तापत्रयकी शमन करनेवाली चितवनको अपने ध्यानका विषय बनावे। अन्तमें भगवान्‌के होठोंपर विकसित होनेवाली मन्द मुसुकानमें अपना चित्त लगाकर बस, यहीं दृढ़ धारणासे टिक जाय। वहाँसे टले नहीं। वही अन्तिम स्थान ध्यानका हुआ। पर इस स्थानपर निश्चितरूपसे स्थित होनेका प्रधानतम उपाय हुआ भक्तियोग। जबतक हृदयमें भगवान्‌के प्रति भक्तिका सञ्चार न होगा, तब-तक जितने उपाय किये जायँगे वे सर्वथा व्यर्थ सिद्ध होंगे। अष्टाङ्ग योग भी तो बिना भक्तिके छूछा ही है—नीरस ही है। भक्ति होनेपर ही तो भक्तका प्रत्येक कार्य भगवान्‌की पूजाका अङ्ग हो जाता है, अतः इस भक्तिका पहले होना सबसे अधिक आवश्यक है।

अतः भागवतकारको पूर्वोक्त प्रकारकी ही साधना अभीष्ट है, क्योंकि ध्रुव आदि भक्तोंके चरित्रमें इसी प्रकारकी साधनाका उपयोग किया गया मिलता है।

भजनमें जल्दी करो

भजन आतुरी कीजिये और बात में देर॥
और बात में देर जगत् में जीवन थोरा।
मानुष-तन धन जात गोड़ धरि करौ निहोरा॥
काँच महल के बीच पवन इक पंछी रहता।
दस दरवाजा खुला उड़न को नित उठि चहता॥
भजि लीजै भगवान एहो में भल है अपना।
आवागौन छुटि जाय जनम की मिटै कलपना॥
पलटू अटक न कीजिये चौरासी घर फेर।
भजन आतुरी कीजिये और बात में देर॥ —पलटू

श्रीभगवान् भक्तिप्रिय हैं, वे केवल भक्तिसे जितने सन्तुष्ट होते हैं उतने पूजन, यज्ञ और व्रतसे नहीं होते। भगवान्‌की पूजाके लिये ये आठ पुष्प सर्वोत्तम हैं—अहिंसा, इन्द्रियनिग्रह, प्राणियोंपर दया, क्षमा, मनका निग्रह, ध्यान, सत्य और श्रद्धा। इन आठ प्रकारके पुष्पोंसे पूजा करनेपर भगवान् बहुत ही प्रसन्न होते हैं।

सूर्य, अग्नि, ब्राह्मण, गौ, भक्त, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, आत्मा और समस्त प्राणी—ये सभी भगवान्‌की पूजाके स्थान हैं। अर्थात् इनको भगवान्‌से पूर्ण—भगवान् समझकर इनकी सेवा करनी चाहिये। इनमें गौ और ब्राह्मण प्रधान हैं। जिसके पितृकुल और मातृकुलके पूर्व-पुरुष नरकोंमें पड़े हों, वह भी जब श्रीहरिकी सेवा-पूजा करता है तो उन सबका नरकसे उसी क्षण उद्धार हो जाता है और वे स्वर्गमें चले जाते हैं। जिनका चित्त विश्वमय वासुदेवमें आसक्त नहीं है, उनके जीवनसे और पशुकी तरह चेष्टा करनेसे क्या लाभ है?

किं तेषां जीवितेनेह पशुवच्चेष्टितेन किम्।
येषां न प्रवणं चित्तं वासुदेवे जगन्मये॥

अब श्रीभगवान्‌के ध्यानकी महिमा सुनिये—हे राजन्! अग्निरूपधारी दीपक जैसे वायुरहित स्थानमें निश्चल भावसे जलता हुआ सारे अन्धकारका नाश करता है, वैसे ही श्रीकृष्णका ध्यान करनेवाले पुरुष सब दोषोंसे रहित और निरामय हो जाते हैं। वे निश्चल और निराश होकर वैर और प्रीतिके बन्धनोंको काट डालते हैं और शोक, दुःख, भय, द्वेष, लोभ, मोह एवं भ्रम आदि इन्द्रिय-विषयोंसे सर्वथा छूट जाते हैं। दीपक जैसे जलती हुई शिखाके द्वारा तेलका शोषण करता है, वैसे ही श्रीकृष्णका ध्यान करनेवाला पुरुष ध्यानरूपी अग्निसे कर्मोंको जलाता रहता है। अपनी-अपनी स्थिति और रुचिके अनुसार भगवान्‌के निराकार और साकार दोनों ही रूपोंका ध्यान किया जा सकता है। निराकारध्यान करनेवाले विचारके द्वारा ज्ञानदृष्टिसे इस प्रकार देखें—

'वे परमात्मा हाथ-पैरवाले न होकर भी सब वस्तुओंको ग्रहण करते हैं और सर्वत्र जाते-आते हैं। मुख-नासिका न होनेपर भी वे आहार करते और गन्ध सूँघते हैं। कान न होनेपर भी वे जगत्पति सर्वसाक्षी भगवान् सब कुछ सुनते हैं। निराकार होकर भी वे पञ्चेन्द्रियोंके वश होकर रूपवान्-से प्रतीत होते हैं। सब लोकोंके प्राण होनेके कारण वे ही चराचरके द्वारा पूजित होते हैं। वे जीभ न होनेपर भी वेद शास्त्रानुकूल सब वचन बोलते हैं। त्वक् न होनेपर भी समस्त शीतोष्णादिका स्पर्श करते हैं। वे सर्वदा आनन्दमय, एकरस, निराश्रय, निर्गुण, निर्मम, सर्वव्यापी, सर्वदिव्यगुणसम्पन्न, निर्मल ओजरूप, किसीके वश न होनेवाले, सर्वदा अपने वशमें रखनेवाले, सबको यथायोग्य सब कुछ देनेवाले और सर्वज्ञ हैं। उनको कोई माँ नहीं उत्पन्न करती, वे ही सर्वमय विभु हैं।'

जो पुरुष एकान्त चित्तसे इस प्रकार ध्यानके द्वारा सर्वमय भगवान्‌को देखता है, वह अमृत अमृतमय परम-धामको प्राप्त होता है।

अब साकारध्यानके विषयमें सुनिये—

'उनका सजल मेघोंके समान श्यामवर्ण और अत्यन्त चिकना शरीर है। सूर्यके समान शरीरका तेज है। उन जगत्पति भगवान्‌के चार बड़ी सुन्दर भुजाएँ हैं। दाहिनी भुजाओंमें महामणियोंसे जड़ा हुआ शङ्ख और भयानक असुरोंको मारनेवाली कौमोदकी गदा है। बायीं भुजाओंमें कमल और चक्र शोभा पा रहे हैं। भगवान् शार्ङ्ग धनुष धारण किये हैं। उनका गला शङ्खके समान, गोल मुखमण्डल और नेत्र कमल-पत्रके सदृश हैं। उन हृषीकेशके कुन्द-से अति सुन्दर दाँत हैं। उन पद्मनाभ भगवान्‌के अधर प्रवालके तुल्य लाल हैं, मस्तकपर अत्यन्त तेजपूर्ण उज्ज्वल किरीट शोभा पा रहा है। उन केशव-भगवान्‌के हृदयपर श्रीवत्सका चिह्न है, वे कौस्तुभ मणि धारण किये हुए हैं। उन जनार्दनके दोनों कानोंमें सूर्यके समान चमकते हुए कुण्डल विराजमान हैं। वे हार, बाजूबंद, कड़े, करधनी और अँगूठियोंके द्वारा विभूषित हैं और स्वर्णके समान पीताम्बर धारण किये गरुड़जीपर विराजित हैं।'

हे राजन्! पापसमूहका नाश करनेवाले भगवान्‌के साकार स्वरूपका इस प्रकार ध्यान करनेसे मनुष्य शारीरिक, वाचिक और मानसिक—तीनों पापोंसे छूट जाता

है और सारे मनोरथोंको पाकर तथा देवताओंके द्वारा पूजित होकर श्रीभगवान्‌के दिव्य परमधामको प्राप्त होता है।

यं यं चाभिलषेत् कामं तं तं प्राप्नोति निश्चितम्।
पूज्यते देवगन्धर्वैश्च विष्णुलोकं स गच्छति॥
(पद्मपुराणके आधारपर)

गीतामें तत्त्वों, साधनों और सिद्धियोंका समन्वय-साधन

(लेखक—दीवान बहादुर के० एस्० रामस्वामी शास्त्री)

ऑगस्ट कौंतेने बहुत ठीक कहा है कि प्रत्येक सिद्धान्त एक पूर्वपक्ष बनता है, उससे उसका उत्तरपक्ष उत्पन्न होता और फिर दोनोंका एक महान् समन्वय साधित होता है। गीता इसी प्रकारका एक महान् समन्वय-ग्रन्थ है। इसमें तत्त्वोंका समन्वय है, साधनाओंका समन्वय है और सिद्धियोंका समन्वय है। हमलोग गीताको तबतक ठीक तरहसे नहीं समझ सकते, जबतक इसकी इस स्तुतिके यथार्थ मर्मको न समझें कि 'सब उपनिषदें गौएँ हैं, अर्जुन बछड़े हैं और श्रीकृष्ण दूधके दुहनेवाले हैं तथा गीतारूपी अमृत ही दूध है।' गौएँ भिन्न-भिन्न रंगकी हो सकती हैं, उनके डील-डौल भी अलग-अलग हो सकते हैं; पर जो दूध उनसे दुहा जाता है वह शुभ्र ही होता है, और सब गौओंका दूध मिलकर एक हो जानेसे वह बड़ा ही उत्तम आहार बनता और उसमें विविध रस लिये हुए एक रसका विलक्षण माधुर्य उत्पन्न होता है। यही नहीं, गीता स्वयं एक 'उपनिषद्, ब्रह्मविद्या और साथ ही योगशास्त्र' कहाती है। इसका यह अभिप्राय है कि गीता अज्ञानको नष्ट करती और ज्ञानका प्रकाश देती है और केवल लक्ष्यको ही परिलक्षित नहीं कराती प्रत्युत उसका रास्ता भी दिखाती है।

जिस धार्मिक आचार-विचारकी भूमिपर गीता प्रतिष्ठित है, उसको ध्यानमें रखते हुए यदि हम गीताके महत्त्वको समझनेका यत्न करें तो इसके समन्वयका स्वर और भी अधिक स्पष्ट सुनायी दे। आधुनिक संस्कृति धर्म और तत्त्व-ज्ञानको एक दूसरेसे अलग रखती है और इसपर उसको गर्व भी है। परन्तु भारतीय संस्कृतिका यह तरीका नहीं है। सदासे ही उसने धर्म और तत्त्वज्ञानको परस्परसम्बद्ध रक्खा है। इसी प्रकार आशा और निराशा, अहम् और इदम्, अद्वैत और द्वैत, एकेश्वरत्व और बहुदेवत्व, प्रकृति और परमेश्वर, माया और लीला, त्याग और भोग इत्यादि विचारों और भावोंका एक दूसरेके साथ सर्वथा पार्थक्य हिन्दुस्थानमें कभी रहा ही नहीं है। यह भी स्मरण रहे कि हिन्दुस्थानमें ज्ञानका लक्ष्य जीवनका सच्चा मार्ग ही रहा है, केवल बौद्धिक विश्लेषण-का मानस विलास नहीं। यह लक्ष्य केवल इसी जीवनके ही मार्गका नहीं था बल्कि परम जीवनके मार्गका भी। केवल न्यायशास्त्रको अथवा धर्मशास्त्रको ही हिन्दुओंने जीवनका अथ और इति नहीं माना। धर्मशास्त्रमें भी स्वत्वोंकी अपेक्षा कर्त्तव्योंपर ही अधिक ध्यान दिलाया गया है और न्याय-शास्त्रतकमें यह बात मान ली गयी है कि न्यायशास्त्रके परे भी कोई और चीज है। जगत्‌को (जो अपरा प्रकृति है) भगवान्‌का मन्दिर मानना, सब जीवोंको (जो परा प्रकृति है) प्यार करना और इन दोनोंमें आत्मरूपसे रहनेवाले भगवान्‌की प्रगाढ़ रागमयी भक्ति करना हिन्दू-तत्त्वज्ञानका सार-मर्म रहा है।

आधुनिक हिन्दू-तत्त्वशोधनविद्या (Indology) का दिमाग तो बहुत ऊँचा है, परन्तु हिन्दू-संस्कृतिकी शोभाको उसकी आँखें अभी प्रायः नहीं देख सकी हैं। इसने वेदोंमें वर्णित विषयोंको प्राकृत दृश्योंका वैदिक देवकरण कहा है और इन देवताओंकी स्तुति, अर्चा, यजन आदिको अनेक-देववाद और देवविशेषवाद आदि मनमाने नाम दिये हैं। परन्तु यथार्थमें वेदोंने इन सब देवोंको एक ही कहा है और ईश्वरको जगत्‌में अन्तःस्थित तथा जगत्‌के परे भी माना है—'अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।' इत्यादि वेदोंकी देवस्तुति केवल प्रकृतिपर देवत्वका आरोप या वेदोंका बहुधा देवाभिधान अनेकदेववाद नहीं है। ऋग्वेदके ऋषि दिव्य प्रकृति (गोपा ऋतस्य) के व्यक्त भावस्वरूप धर्मके अनुशासनको जितना जानते थे, उतना ही प्रकृतिके विधानको भी जानते थे। अद्वैतवाद, विश्वदेवतावाद आदिकी जो आधुनिक परिभाषाएँ (मोनिज्म, पैनथीज्म) हैं, वे बड़े चक्करमें डालनेवाली हैं। हिन्दुओंका सिद्धान्त तो सदासे यही रहा है कि ईश्वर ही जगत्‌का उपादान और निमित्त कारण है और वह जगत्‌में अन्तःस्थित भी है और जगत्‌के परे भी है तथा व्यष्टिपुरुष और समष्टिपुरुष तत्त्वतः दोनों एक हैं।

'हिन्दू-तत्त्वशोधनविद्या' का यह आविष्कार है कि पुनर्जन्म वैदिक सिद्धान्त नहीं है, वेद तो स्वर्ग और नरकको नित्य मानते हैं। इस अभिनव विद्याका फिर यह भी कहना है कि उपनिषदोंके सिद्धान्त वेदोंके विरुद्ध हैं, उपनिषदोंने वेदोंके कर्मकाण्डको तहस-नहस कर डाला। भारतीय हिन्दू-तत्त्वशोधक भी इन सब विषयोंमें तोतेकी तरह वही बात रटा करते हैं, जो उन्हें इस विद्याके उनके पाश्चात्य गुरुओंने पढ़ा दी है। इस संकुचित अन्धानुकरण-प्रणालीको वेदव्यासकृत ब्रह्मसूत्रों और गीताके वचनोंकी समन्वय-दृष्टिके सामने रखकर देखा जाय तो इसका विकृत रूप आप ही देख पड़ेगा और समन्वयके सिद्धान्तकी महत्ता प्रकट होगी। भगवान् गीतामें कहते हैं—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥
(१५। १५)

बात यह है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' का सिद्धान्त और विश्वके देवताओंके अनेकत्वका सिद्धान्त—ये दोनों परस्पर-विरोधी सिद्धान्त नहीं हैं बल्कि एक ही सुसङ्गत, सुसमन्वित, एकीभूत सिद्धान्तके दो अङ्ग हैं। सगुण और निर्गुणके सम्बन्धमें जो अप्रिय विवाद पीछे चले, उनको गीताके ही समन्वय-साधक वचनोंसे शान्त करनेका प्रयास हुआ था। ईश्वरको जगत्-सम्बन्धसे देख सकते हैं अथवा जगद्रहित दृष्टिसे भी देख सकते हैं। ईश्वरका जगत्कर्तृत्व और ईश्वरका आनन्दमय स्वरूप—इन दोनोंमें भला, कौन-सी तात्त्विक विसंवादिता है? 'तज्जलानिति शान्त उपासीत' इस छान्दोग्य श्रुतिके साथ 'नेदं यदिदमुपासते' इस केनोपनिषन्मन्त्रका कौन-सा ऐसा विरोध है जो नहीं मिट सकता? आरम्भवाद, परिणामवाद और विवर्त्तवाद क्या एक दूसरेके ऐसे शत्रु हैं जिनमें मेल नहीं हो सकता? क्या मायाको असत् और भ्रमके साथ ही समासीन करना होगा और अविद्याको अज्ञान और अबोधके साथ? क्या ये दोनों ही नाम-रूप साधक तत्त्व नहीं हैं? अनन्त ब्रह्मका सान्त होना वैसा ही आश्चर्यमय है जैसा जगत् और जीवका ब्रह्म होना है। जीव कर्त्ता और भोक्ता है और जगत् वह चीज है जो बदलती रहती और इस कर्तृत्व तथा भोक्तृत्वको अवसर देती है। ब्रह्म अनन्त नित्य आनन्द है। सामान्य जीवमें यह आनन्द कर्तृत्व और भोक्तृत्वसे आच्छन्न रहता है। अवतारों और जीवन्मुक्त पुरुषोंमें यह आवरण नहीं होता। ब्रह्म अज्ञेय नहीं है किन्तु परम ज्ञेय, परम भोग्य और परम भाव्य है ('अथ मर्त्योऽमर्त्यो भवति', 'अत्र ब्रह्म समश्नुते'।) ब्रह्म जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंके परे है। वह तुरीय क्या, बल्कि तुरीयातीत अवस्था है। वह जाग्रत्-स्वप्नरहित सुषुप्तिकी अवस्था है। अहङ्कारको विवेक और वैराग्य, भक्ति और श्रवण-मनन-निदिध्यासनके द्वारा परिशुद्ध करके ब्राह्मी स्थिति-में पहुँचाना होगा।

मेरे कथनका यह अभिप्राय नहीं है कि भारतीय तत्त्वज्ञान वृद्धिशील नहीं था। मैं केवल यह कहना चाहता हूँ कि वैदिक ऋषियोंको ऊँचे-से-ऊँचे तत्त्वोंके प्रत्यक्ष दर्शन हुए थे, आप इसे दर्शन या अन्तःस्फूर्ति जो चाहे कह लीजिये। इनके इन स्वानुभवोंका पीछे विविध प्रकारसे समन्वय हुआ और जो सबसे महान् समन्वय हुआ, वही यह गीता है। प्रोफेसर रानडे ठीक ही कहते हैं कि 'उपनिषदोंमें कोई एक ही दर्शनप्रणाली नहीं है, बल्कि कितनी ही प्रणालियाँ हैं जो पर्वतश्रेणियोंके समान एकके ऊपर एक उठती-सी देख पड़ती हैं और अन्तमें एकमेवाद्वितीय ब्रह्मको प्राप्त होती हैं।' हिन्दू इस सिद्धान्तको मानते हैं कि जगत् अनित्य और दुःखमय है। फिर हिन्दुओंका यह भी सिद्धान्त है कि जीवन परमानन्दका ही उद्रेक है। जो लोग इन दोनों सिद्धान्तोंको एक दूसरेको काटनेवाले समझते हैं, वे यह नहीं जानते कि हिन्दू जगत्को क्या समझते हैं। अज्ञान और राग ही मृत्यु और दुःखके कारण हैं; ज्ञान, त्याग और योग आनन्दके साधन।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
(गीता २। ६४)

धर्म, अध्यात्मशास्त्र और योग—तीनों उपनिषदोंमें आकर एक हो जाते हैं। शाण्डिल्य जो कुछ कहते हैं उसके विरुद्ध याज्ञवल्क्यके कथनको मत ढूँढ़ लाइये; प्रत्युत दोनोंके वचनोंमें दोनोंके अनुभवों और अनुशासनोंकी जो परस्पर-पूर्त्ति है उसपर ध्यान दीजिये।

यहाँतक हमने उपनिषदोंकी इसलिये चर्चा की कि जबतक लोग ब्रह्मसूत्रोंद्वारा साधित समन्वयकी दृष्टिसे उपनिषदोंकी ओर नहीं देखेंगे तबतक गीताको भी कदापि नहीं समझ सकते। ये तीन ग्रन्थ ही तो हमारे प्रस्थानत्रय हैं। गीतामें उपनिषदोंका स्वाद आ ही जाता है। गीताके कई श्लोक कठोपनिषद्से लिये गये हैं—जैसे 'य एवं वेत्ति हन्तारम्'···'न जायते म्रियते'···'इन्द्रियाणि पराण्याहुः'···

इत्यादि, जो गीताके द्वितीय अध्यायके १९, २० और ४२ वें श्लोक हैं। भाव भी कई उपनिषन्मन्त्रोंके गीतामें ज्यों-के-त्यों आये हैं—जैसे 'न कर्म लिप्यते नरे' (ईशावास्य) उपनिषद्-का यह भाव 'लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' इस प्रकार गीता (५। १०) में प्रतिध्वनित हुआ है। पुरुष-सूक्तका पुरुषवर्णन और मुण्डकोपनिषद्का 'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ' यह मन्त्र गीतान्तर्गत विश्वरूपवर्णनके पूर्वरूप हैं। कठोपनिषद्में जिस संसाररूप अश्वत्थवृक्षका वर्णन है, वही गीताके पन्द्रहवें अध्यायके अश्वत्थवर्णनका बीज है। अन्य अनेक उपनिषन्मन्त्र गीतामें प्रतिध्वनित हुए हैं।

यदि हम गीताके साधन-समन्वयको ध्यानमें ले आवें तो इससे बड़ा लाभ हो सकता है यदि इस साधन-समन्वयका हम तत्त्वोंके समन्वयके साथ तथा सिद्धियोंके समन्वयके साथ समन्वय कर लें। गीता अध्याय २ के ५४ वें श्लोकका भाष्य करते हुए श्रीमत् शङ्कराचार्य कहते हैं—

'सर्वत्रैव ह्यध्यात्मशास्त्रे कृतार्थलक्षणानि यानि तान्येव साधनान्युपदिश्यन्ते यत्नसाध्यत्वात्।'

'अर्थात् अध्यात्मशास्त्रमें सर्वत्र ही जिसके जो लक्षण बतलाये गये हैं, वे ही उसकी प्राप्तिके साधनरूपसे उपदिष्ट होते हैं, क्योंकि वे यत्नसाध्य हैं।' इस प्रकार गीतामें मुक्त पुरुषके जो लक्षण बतलाये गये, वे ही मुक्तिके साधन हैं। साधन-समन्वयमें जो बात मुख्यतया ध्यानमें रखनेकी है, वह यह है कि साधनमात्र ही साधककी आत्मभूमिका तथा जगत् और ईश्वरसम्बन्धिनी उसकी भावनाके अनुरूप ही हुआ करता है। साधनसम्बन्धी इस मूल सिद्धान्तका ध्यान न रहनेसे ही जगत्में नाना प्रकारके धार्मिक और साम्प्रदायिक झगड़े हुआ करते हैं।

गीताके तेरहवें अध्यायका यह बाईसवाँ श्लोक बड़े महत्त्वका है—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥

इससे यह मालूम होता है कि जीवात्मा जो परमात्मासे अभिन्न है, भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे देखा जा सकता है। हम उसे उसके जगत्सम्बन्धकी दृष्टिसे देख सकते हैं, जगत्में देख सकते हैं और जगत्से पृथक् भी देख सकते हैं। हम इसे जगत्में निमग्न भोक्तारूपमें या जगद्व्यवहारी कर्त्तारूपमें या मनके द्वारा होनेवाले कार्योंके अनुमन्तारूपमें अथवा साक्षी या सङ्ग या निरपेक्ष ब्रह्मरूपमें देख सकते हैं। ये विभिन्न भाव साधकके आत्मसाक्षात्कारके विभिन्न स्तर हैं। इस श्लोक-की नीलकण्ठी टीका इस प्रकार है—'पहले यह बतला चुके हैं कि गुणसङ्ग ही जन्मका कारण है। यह सङ्ग चार प्रकारका होता है—पुरुषका अपलाप और गुणोंकी ही प्रधानता हो अथवा पुरुषको अन्तर्भूत करके गुणोंकी प्रधानता हो अथवा गुणोंकी समप्रधानता हो या गुणोंकी अप्रधानता हो। पहले देह, इन्द्रिय, मन आदिरूप गुणसङ्घातको ही आत्मा जानकर भोक्ता बनता है, जैसे चार्वाकादि। दूसरे, गुणोंकी प्रधानतासे अपने अंदर वास्तविक कर्तृत्वादि-का अभिमान करके भर्त्ता बनता है—जैसे तार्किकादि। तीसरे, गुणोंकी समप्रधानतासे उस भोक्तृत्वको, जो यथार्थमें गुणगत ही है, स्वयं असङ्ग होते हुए भी अपने अंदर वस्त्र-में भल्लातक (भिलावे)के चिह्नके समान, अनुमति दे लेता है—जैसे सांख्य। चौथे, गुणधर्मोंका अपनेसे कुछ भी लगाव न देख-कर यह गुणोंद्वारा होनेवाले कार्यका केवल दर्शक अर्थात् उपद्रष्टा होता है, जैसे अपने यहाँ साक्षी। इन चारों प्रकारके गुणसङ्गियोंमें उपद्रष्टा उत्तम है, अनुमन्ता मध्यम, भर्त्ता अधम और भोक्ता अधमाधम है। वही जब गुणोंको वशमें करके क्रीडा करता है, तब महेश्वर कहाता है। सृष्टि-स्थिति-प्रलयका कर्त्ता जो जगदन्तर्यामी प्रभु है, वही गुणोंको दूर करके परमात्मारूपसे स्थित और उक्त होता है। इस प्रकार एक ही इस देहमें विद्यमान है जो पर है, गुणातीत है, जो गुणोंको अपने अंदर प्रलीन करके अखण्डैकरसरूपसे स्थित है। आत्मा गुणसङ्गसे षड्विध होता है। इसका यही प्रभाव है। अनुमन्ता, भर्त्ता और भोक्ता—इन रूपोंसे यह बद्ध होता है; उपद्रष्टा, महेश्वर, परमात्मा—इन रूपोंमें नित्यमुक्त एकमात्र है।'

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमें आत्माकी इस कर्तृत्व-भोक्तृत्व-अनुमन्तृत्व-भावनासे उठकर साक्षित्व और परमात्मा-के साथ एकत्वके भावको प्राप्त होना होगा। जीवात्मा और परमात्माका परस्पर सम्बन्ध बतलाते हुए गीता कहती है कि परमात्मा माता, पिता, बन्धु और स्वामी हैं और जीव उन्हींका एक अंश है जो उनसे अभिन्न है।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥
(९। १७, १८)

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः । (१५ । ७)
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत । (१३ । २)

क्या ये सब विभिन्न अनुभव परस्परविसंवादी हैं ? कदापि नहीं। ये मिलन और एकत्वके उत्तरोत्तर उच्च स्तरोंके अनुभव हैं।

इसी प्रकार सगुण और निर्गुण ब्रह्म, अन्तर्भाव और परमभाव, मातृभाव और पितृभाव, पतिभाव और ईश्वरभाव—इन सबमें जो सामञ्जस्य है, उसे साधना होगा। गीताके द्वादशाध्यायमें यह बतलाया गया है कि सगुण ब्रह्मके उपासक और निर्गुण ब्रह्मके उपासक दोनों ही एक ही ब्रह्मको पाते हैं—

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः । (१२ । ४)
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । (१२ । ७)

अपनी पुस्तक Problems of The Bhagavad Gita में जो 'कल्याण-कल्पतरु' में प्रकाशित हो चुकी है, मैंने 'ब्रह्मयोग' (५ । २१) और 'मद्योग' (१२ । ११) के भावोंको स्पष्ट करनेका यत्न किया है। इनमें जो भेद है वह स्तरोंका नहीं है, बल्कि ये दो प्रकारके अनन्त नित्य धाम हैं और दोनों ही परम आश्चर्य और आनन्दमय हैं। अर्जुन श्रीकृष्णको परम ब्रह्म, परम धाम, परम पवित्र, शाश्वत पुरुष, आदिदेव, अज और विभु (१० । १२), ये विशेषण लगाते हैं। दूसरे अध्यायके ७२ वें श्लोकमें तथा नवें अध्यायके २४ से २६ तकके श्लोकोंमें 'ब्रह्मनिर्वाण' की विशेषरूपसे चर्चा हुई है और उतने ही विशिष्टरूपसे 'ब्रह्म'को परम अक्षर और आठवें अध्यायके तीसरे और चौथे श्लोकमें 'वासुदेव' को अधियज्ञ कहा गया है। तेरहवें अध्यायके १२ से १७ तकके श्लोकोंमें 'ज्ञेय' परब्रह्मका विस्तृत वर्णन है और फिर उसी अध्यायके १४ वें श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं अमृत अव्यय ब्रह्म, शाश्वत धर्म और ऐकान्तिक सुखका धाम हूँ। इस प्रकार भगवद्रूप साध्यके सम्बन्धमें गीताका समन्वय साधकरूप जीवके समन्वयका-सा ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

जगत्सम्बन्धी जो समन्वय गीतामें है, वह भी इतना ही महत्त्वपूर्ण है। हमलोग इस समय जगत्की सत्यासत्यताके विषयमें एक बड़े चक्करमें पड़े हुए हैं। प्रश्न यह होता है कि यह दुःखालय है या आनन्दकन्दमें इसकी स्थिति है। गीता कहती है कि यह दुःखालय है, अशाश्वत है (८ । १५) और अनित्य है, असुख है (९ । ३३); पर इसी जगह हम परमानन्दका सुधास्वादन भी कर सकते हैं—'प्रसादमधिगच्छति' (२ । ६४), 'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते' (२ । ६५) (पाँचवें अध्यायके २३ से २६ तकके श्लोक भी देखिये।), 'सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते' (६ । २८), 'सुसुखं कर्तुमव्ययम्' (९ । २)। दुःख और मृत्युका कारण तो काम है। गीतामें मृत्तिका और घट, सुवर्ण और अलङ्कार, रज्जु और सर्प, शुक्तिका और रजत, मरुभूमि और मृगजल, ऐन्द्रजालिक और इन्द्रजाल इत्यादि प्रचलित उदाहरणोंका कोई पता नहीं है। श्रीकृष्ण केवल आकाश और वायु (९ । ६, १३ । ३२) तथा सूर्य और पृथ्वी (१३ । ३३) का उदाहरण देते हैं। जगत् उत्पन्न किया भगवान्ने, धारण करते हैं उसे भगवान् और भगवान् ही उसमें व्यापक हैं। सूर्य, चन्द्र, अग्निका जो तेज है वह उन्हींके तेजसे निकला है (अ० १५, श्लोक १२ से १८ तक)।

दसवें अध्यायमें जगत्को भगवान्की विभूति कहा है। जगत् उत्पन्न होता है भगवान्से और भगवान्में ही लय होता है। भगवान्की महिमासे इसकी महिमा है और इसकी सत्यता पराश्रित है। जब हम निरपेक्ष ब्रह्मका विचार करते हैं और जगत्को उसका एक अशाश्वतरूप मानते हैं, तब हम विवर्त्तवादसे काम लेते हैं। जब हम अपनी दृष्टिको प्रत्येक कल्पमें आबद्ध न रखकर जगत्के पुनः-पुनः उत्पन्न होने और लीन होनेका दृश्य एक साथ देखते हैं, तब वह परिणामवाद होता है। जब प्रत्येक कल्पमें अपनी दृष्टिको परिसीमित करते हैं, तब आरम्भवाद ग्रहण करते हैं। रही मायाकी बात, वह बहुत कुछ मायिक ही है। मायावादके प्रवर्त्तक श्रीमत् शङ्कराचार्य नहीं हैं, न यह बौद्धोंके शून्यवादका ही संविधान है। माया वस्तु उपनिषद्की है। ईशावास्यके—

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।'

(सूर्यके सुवर्णपात्रके द्वारा सत्यका मुख छिपा हुआ है।)
—इस मन्त्रमें मायाका भाव स्पष्ट आ गया है। मुण्डकोपनिषद्में वर्णित हृदयग्रन्थि मायाका ही एक दूसरा रूप है। बृहदारण्यकके—

'असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मा अमृतं गमय।'

इस मन्त्रमें माया एक तीसरे ही रूपमें सामने है। कठोपनिषद्के 'अध्रुवेषु ध्रुवं तत्' ये पद और एक रूपमें

मायाको पेश करते हैं। माया कहनेसे भ्रम और मिथ्यात्वका बोध होता है। 'माया' शब्दका प्रयोग शक्ति-अर्थमें भी होता है (इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते)। श्वेताश्वतर उपनिषद्में माया, प्रकृति और शक्ति—तीनों शब्द एक ही अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं (मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्; देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्)। गीतामें भगवान्‌ने 'माया' शब्दका प्रयोग अपनी प्रकृति और शक्तिके अर्थमें किया है—'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।' (४।६) 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया' (७।१४), 'माययापहृतज्ञानाः' (७।१५), 'ईश्वरः सर्वभूतानाम्' ''भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥' (१८।६१)।

इस प्रकार एक दृष्टिसे जगत् ईश्वरको छिपाता है, दूसरी दृष्टिसे ईश्वरको प्रकट करता है। जब जगत्‌से ईश्वरका छिपना होता है, तब मायाका अर्थ है मनुष्यके मनका भ्रम; जब उससे ईश्वरका प्राकट्य होता है तब मायाका अर्थ है विद्या। जब हम अनेकको एकके ही व्यक्त रूप देखते हैं, तब मायाका अर्थ है शक्ति। जब हम एकको अनेकमें और अनेकको एकमें, विभिन्नतामें एकता और एकतामें विभिन्नता देखते हैं तब मायाका अर्थ है प्रकृति। जब हम अनेकको एक ही देखते और नानात्वको केवल अध्यारोप, तब मायाका अर्थ होता है भ्रम या मिथ्यात्व। सूर्य मेघनिर्माण करता है और उसके छोटे-छोटे जल-बिन्दुओंके स्रष्टाकोंपर इन्द्रधनुष चमकाता है, जिसमें तरह-तरहके रंग देख पड़ते हैं; ये सब रंग अनेक हैं, फिर भी हैं तो एक ही।

इसी दृष्टिसे गीताके साधनोंका जब हम विचार करते हैं तो यह देख पड़ता है कि इसमें सामन्यथिक सहिष्णुता और सहिष्णु समन्वय भरा हुआ है। साध्यस्वरूप भगवान् इसमें सबको ग्रहण कर रहे हैं।

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।
(२।२३; ४।११)

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(९।२९)

श्रीकृष्ण भावके भूखे हैं, बाह्य आडम्बरके नहीं (९।३०, ३१)। सत्कर्म करनेवाला पुरुष कभी दुर्गतिको नहीं प्राप्त होता (६।४०)। भगवान्‌के भक्तका कभी नाश नहीं होता (९।३१)। गीता किसीकी श्रद्धा-बुद्धिमें भेद नहीं उत्पन्न करती (३।२६)। साध्य सबका एक है और वह है नित्य अनन्त परमानन्द। इसे पानेके अनेक रास्ते हैं। जनकादिकोंने कर्मयोगके द्वारा इसे प्राप्त किया (३।२०)। इस कर्मयोगमें ध्यान और ज्ञान भी शामिल हैं, पर ज्ञानोत्तर कर्ममें इसकी जड़ है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥
(५।७)

यह 'योगः कर्मसु कौशलम्' है, क्योंकि बन्धनके साधनको यह मोक्षका साधन बना लेता है। यह पारस-मणि है, जिससे संसारका लोहा मोक्षका सोना बन जाता है। यह योगसमत्व है (२।४८)। गीता कर्मका संन्यास नहीं सिखाती, बल्कि कर्ममें संन्यास सिखाती है; कर्मसे मुक्त होना नहीं बताती, कर्ममें मुक्त होना बताती है। सारा गीता-रहस्य, अवश्य ही, कर्मयोग ही नहीं है। ध्यान या राजयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग—इन सबके साधकोंको गीतामें मोक्षकी प्राप्ति कही गयी है। कर्मयोगमें ध्यान, भक्ति और ज्ञानका अंश भी है ही। अकेला—इन सबसे रीता कर्मयोग कोई मोक्षसाधन नहीं है। श्रीकृष्ण सभी मार्गोंको एक-से-एक बढ़कर बतलाते हैं, पर अपना उदाहरण कर्मयोगके प्रसङ्गमें ही देते हैं—यह विशेष बात है (३।२२से२४)। तेरहवें अध्यायके २४वें और २५ वें श्लोकोंमें अनेक मार्ग एकत्र संकलित हैं। उनमें सबसे सुगम और सुनिश्चित भक्तियोग ही है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(११।५४)

गीताका लक्ष्य वही है, जो उपनिषदोंका है—अर्थात् निःश्रेयसकी प्राप्ति। मार्ग कोई हो, यदि वह ईश्वरकी ओर ले जानेवाला है तो उसीसे चलकर मनुष्य उसके पास पहुँच सकता है। सब उसीके मार्ग हैं, सबका एक लक्ष्य है, सब भगवान्‌की ओर जा रहे हैं। इस प्रकार जानकर अपने

मार्गपर चलता हुआ जो भक्तिभावसे भगवान्‌को भजता है, वह भगवज्ज्ञान, भगवत्प्रेम और भगवदनुभूतिको प्राप्त होता है।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥
(१४।२)

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८।५४-५५)

गीतोक्त साधन

(लेखक—पं० श्रीकलाधरजी त्रिपाठी)

(१) साधन-फल

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥'
(गीता ९। ३३)

इन सोलह अक्षरोंमें षोडशकलासम्पन्न पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके सुन्दर गीतोपदेशका सार है। सभी प्राणी सुख चाहते हैं, परन्तु उन सबका सुख एक ही प्रकारका नहीं है। अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार कुछ लोग तो आत्मबुद्धिके प्रसादसे उत्पन्न सुखमें ही रमते हैं (गीता १८। ३७); कुछ विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे जो सुख होता है, उसमें ही अपनेको कृतार्थ मानकर उसकी प्राप्तिके लिये अनेक कर्म करते हैं (गीता १८। ३८) और कोई-कोई निद्रा, आलस्य एवं प्रमादसे उद्भूत सुखमें ही अपनेको सुखी समझते हैं (गीता १८। ३९)।

जो मनुष्य भगवान्‌का भजन जिस रूपमें करते हैं, भगवान् उसी रूपमें उनका मनोरथ पूर्ण कर देते हैं (गीता ४। ११); इसीलिये वेदमें भगवद्दर्शन (वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः) और स्वर्गादिके सुखका सम्पादन (गीता २। ४३) दोनोंका ही विधान है।

यज्ञार्थ (भगवदर्थ) कर्मके अतिरिक्त जो कर्म किया जाता है, वह बन्धनका कारण होनेसे (गीता ३। ९) उसके कर्त्ताका जीवन ही व्यर्थ है (गीता ३। १९)। एतदर्थ वेदार्थको जानकर, दैवी प्रकृतिके आश्रित पुरुष नित्य-सुखस्वरूप भगवान्‌की सेवा निरन्तर निष्काम भावसे करते हैं (गीता ९। १३) और अपने साधनके अनुसार उत्तम, ऐकान्तिक, आत्यन्तिक तथा अक्षय सुख पाते हैं। परन्तु जिनकी रजोगुणी वृत्ति सकाम साधनमें लगी हुई है, वे भगवान्‌को जानकर भी स्वर्गादि भोगोंके प्राप्त्यर्थ भगवान्‌की विधिवत् उपासना करते हैं (गीता ९। २७), भगवान् उनको वेदविहित कर्म करनेके कारण अभीष्ट फल प्रदान करते हैं; परन्तु कुछ समयके पश्चात् उनका कर्म-फल क्षीण हो जाता है (गीता ९। २१)। कुछ ऐसे भी मनुष्य हैं, जो देवताओं-को ही कर्मफलका दाता जानकर सकामभावसे देवताओंकी उपासना करते हैं; उनकी कामनाको भी भगवान् पूरा कर देते हैं। इनका फल भी अन्तवान् होता है; अतएव ये नित्यसुखसे वञ्चित ही रहते हैं। इनके अतिरिक्त आसुरी सम्पत्तिसे सम्पन्न, तामसिक प्रकृतिके कुछ ऐसे भी हैं जो अज्ञानवश भगवान्‌की सत्ताको न मानकर वेदविरुद्ध कर्म करते हैं। ये लोग बारंबार अधम योनिको प्राप्त होते हैं (गीता १६। १५-२०) यद्यपि ये भी ईश्वरके अंश, चेतन और 'सहज अमल सुखरासी' हैं तथापि राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिके वशीभूत होकर, जड और चेतनमें ग्रन्थि पड़ जानेसे, मोघज्ञान, मोघाशा तथा मोघकर्ममें फँसे हुए (गीता ९। १२) नित्यसुखप्रद भगवद्भजनको त्यागकर, विषय-दर्शन, विषय-कामना और विषय-सुखके निमित्त कर्म करते हैं, जिसके फलस्वरूप संसारी बने रहकर अनेक दुःख भोगते हैं। इन संसारी जीवोंके समक्ष, विश्वरूप भगवान्‌के स्थानपर, विश्वपट उद्घाटित रहता है और शब्द, स्पर्श आदि विषयोंके सम्बन्धसे इनका आत्मा विषयद्वारा सर्वथा आच्छन्न रहता है, जिसके कारण इनको भगवद्दर्शन नहीं होता—

'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।'

परन्तु जब इन दीन अल्पज्ञ जनोंपर दीनानाथकी कृपा होती है, तब विश्वपटल पलट जाता है और प्रत्येक जड एवं चेतन पदार्थमें विश्वात्मा भगवान्‌का अनुभव होने लगता है। अर्थात् 'वासुदेवः सर्वमिति' अथवा 'सौय राममय सब जग जानी' की अनुभूति होती है और उस समय प्रत्येक कर्म भगवन्निमित्त किया जाता है।

भगवान्‌के परम कृपापात्र भक्त अर्जुनने भी तदर्थ कर्म न करनेवाले, मोघज्ञानविचेता संसारी जीवोंके उद्धारके लिये धर्मसम्मूढ़चेता मनुष्योंके समान लीला की थी। उस समय वे स्वजनोंके जीवनकी मोघाशा (कामना) में ही सुख मान रहे थे (गीता १ । ३३)। अतएव कुलधर्मकी रक्षाके अर्थ चिन्ता करते हुए (गीता १ । ३८-४०) पिण्डोदककियाको ही पितरोंके उद्धारका एकमात्र उपाय जाननेके कारण, उसके लुप्त हो जानेके भयसे निःशस्त्र रहकर अपने विपक्षियोंद्वारा मारे जानेके 'मोघकर्म' में ही कल्याण समझ रहे थे (गीता १ । ४२-४६)।

अपने प्रिय सखाको संसारके मोहग्रस्त मनुष्योंके समान बातें करते देखकर तथा शिष्यभावसे शरणागत होनेपर (गीता २ । ७) भगवान्‌ने लोकहितके निमित्त अपने मतका उपदेश किया है और उसके अनुष्ठानके लिये जो विधि बतलायी है उसमें कर्म, उपासना और ज्ञानका निष्कर्ष है; अतएव वह सभीको उपादेय है।

कर्मयोगी (गीता ६ । ४७), भगवान्‌के भक्त (गीता १२ । २०) और गुणातीत ज्ञानी (गीता १४ । २६)—सभी इस अनुष्ठानमें तत्पर हैं; जीवन्मुक्त प्राणी भी इसका रसास्वादन करते हैं—

सुक सनकादि मुक्त बिचरत, तेउ भजन करत अजहूँ।
(विनयपत्रिका)

(२) साधन

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥
(गीता । ३ । ३०)

भगवान्‌ने अपने उपर्युक्त मतद्वारा प्रत्येक मनुष्यके लिये इस साधनका उपदेश दिया है कि साधक संसारके विषयोंकी आशा (कामना) और ममताको त्यागकर, शोकरहित हो शास्त्रविहित कर्म करते हुए कर्मफलको मेरे अर्पण करे।

मनुष्यका यह स्वभाव है कि वह थोड़े-से ही प्रयासद्वारा बहुत बड़े फलकी आकाङ्क्षा करता है अर्थात् स्वल्प परिश्रमसे ही महती सिद्धि चाहता है। इसलिये दयालु गुरु (भगवान्) ने अपने आर्त शिष्य अर्जुनको ऐसे ही सुलभ साधनका उपदेश किया है, जिसकी थोड़ी-सी साधना करनेपर भी संसारके अल्पज्ञ दुःखी जीवोंका महान् भयसे उद्धार होता है (गीता २ । ४०)।

जिस तरह कुशल वैद्य रोगीके रोगका ठीक-ठीक निदान मालूम करके रोगका उपचार करता है उसी तरह भगवान्‌ने भी संसारके दुःखसे ग्रस्त जीवोंके दुःखका मूल कारण अविद्या-ग्रन्थि, हृदयग्रन्थि अर्थात् अविद्या*, कामना†, और कर्मको‡ जानते हुए, जो श्रीगीतामें मोघज्ञान, मोघाशा और मोघकर्मके नामसे कथित हैं, उनको दूर करनेके लिये क्रमशः अध्यात्मचेता बनने, निराशीः एवं निर्मम होने तथा शास्त्र-विहित कर्मोंका फल अपने अर्पण करनेकी शिक्षा दी है।

इसी ईश्वरप्रणिधानको महर्षि पतञ्जलिने अपने क्रियायोगमें मुख्य मानते हुए इसीसे समाधिसिद्धि§का उपदेश किया है। और महर्षि व्यासजीने अपने भाष्यमें ईश्वरप्रणिधानका अर्थ 'सब कर्मोंको परम पुरुष (परमेश्वर) के अर्पण करना' किया है।

भगवान्‌के उपर्युक्त मतका अनुष्ठान करनेसे, जिसका उपदेश श्रीमद्भगवद्गीता (३ । ३०) में है, साधक पञ्चक्लेशसे मुक्त हो जाता है—जिनका वर्णन इसी मतके आगे और पीछेके दो-दो श्लोकोंमें है। अर्थात् कर्मफलके संन्याससहित ईश्वरमें कर्म अर्पण करनेसे अविद्याजनित आसक्ति नहीं रहती (गीता ३ । २५)। अध्यात्मचेता होकर सेवकके समान स्वामीके प्रसन्नतार्थ कर्म करनेसे 'मैं कर्म करता हूँ' इस प्रकारकी 'अस्मिता' नष्ट हो जाती है (गीता ३ । २७)। निराशीः होकर कर्म करनेसे कर्मफलके प्रति रागादि नहीं रहते (गीता ३ । ३४) और निर्मम होनेसे अभिनिवेश दूर हो जाता है, साधक स्वधर्म-साधनमें ही मरणके भयके बदले निधनको श्रेय समझता है (गीता ३ । ३५)।

भगवान्‌के इस सुगम एवं सुलभ मतमें सब कर्मोंके संन्यासका आशय यह है कि साधक जो शास्त्रविहित कर्म करता है (जिस प्रकार अर्जुनका शास्त्रोक्त कर्म युद्ध था) —जिसके न करनेसे सिद्धि, सुख और सद्गति नहीं मिलती

* अविद्या—भगवान्‌को न जानना, आत्मज्ञान न होना अर्थात् सांसारिक पदार्थोंको ईश्वरसे पृथक् स्वतन्त्र सत्ता समझना।

† कामना—पदार्थोंको स्वाधीन सत्ता जानकर उनके पानेकी इच्छा।

‡ कर्म—उनके पानेके लिये कर्मका अनुष्ठान।

§ 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्'। (यो० द०)

(गीता १६ । २३-२४)—वह कर्म अर्थात् यज्ञ, दान, तप* और यज्ञसे बचे हुए अमृततुल्य अन्नका भोजन भगवान्‌का नाम लेकर करना चाहिये और उसका फल भगवदर्पण कर देना चाहिये (गीता ९ । २७) । ऐसा करनेसे उसको शुभाशुभ फलका कर्मबन्धन नहीं होगा ।

इसलिये अद्वैतमतके प्रवर्तक आस्तिकशिरोमणि स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजीने भी 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य' का अर्थ गीता ३ । ३० के भाष्यमें 'परमेश्वरके लिये सेवकके समान सब कर्म करना' किया है । और श्रीरामचरितमानसमें परमभक्त काकभुशुण्डिजीका भी यही मत है—

सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि ।
भजहु राम पद पंकज अस सिद्धांत बिचारि ॥
(उत्तरकाण्ड)

और अद्वैतमतके आचार्य श्रीविद्यारण्य स्वामीने अपने विख्यात ग्रन्थ पञ्चदशीमें अविद्या-कामना-कर्मरूपी हृदय-ग्रन्थिके निवारणार्थ वैराग्य, बोध और उपरतिका जो वर्णन किया है, उसका आधार भी भगवान्‌का यही मत है; अर्थात् कर्मफलका त्याग 'वैराग्य', अध्यात्मचेता होना 'बोध' और निराशीर्निर्मम होना 'उपरति' है ।

तथा भक्तिमार्गके आचार्य श्रीवल्लभाचार्यजीने सांसारिक विषयोंके प्रति अनासक्ति और भगवच्चरणोंमें आसक्ति होनेके लिये विद्याके जो पाँच भेद—सांख्य, योग, तप, वैराग्य और भक्ति—बतलाये हैं, उनका सिद्धान्त भी भगवान्‌के इस मतमें उपदिष्ट साधनों अर्थात् कर्मफलके संन्यास तथा अध्यात्म-चेता, विगतज्वर, निराशी और निर्मम होनेपर निर्भर है । इसीलिये भगवान्‌का यह मत कर्मयोगी, भक्तियोगी और ज्ञानयोगी सभीकी साधनाके लिये है ।

(२) साधक

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥
(गीता ३ । ३१)

जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक, दोषदृष्टिको त्यागकर अर्थात् इन्द्रियसंयम, मनन, ज्ञानतत्परता और निष्ठाद्वारा इन्द्रिय, मन और बुद्धिके दोषोंको दूर करके भगवान्‌द्वारा उपदिष्ट मतके अनुसार अनुष्ठान करते हैं, वे कर्मबन्धनसे छूट जाते हैं । साधकको यह बुद्धियोग भगवान्‌का प्रेमपूर्वक भजन करनेसे प्राप्त होता है (गीता १० । १०) ।

निर्गुणमतसे इस सगुणमतमें यह विशेषता है कि निर्गुणोपासक अपने उद्धारका भार स्वयं अपने ही ऊपर ले लेता है, जिससे उसको अनेक विघ्नोंका सामना करना पड़ता है; परन्तु सगुणब्रह्म-भगवान्‌का भक्त अपने समस्त कर्मोंका फल दयासागर भगवान्‌को सौंपकर निश्चिन्त हो जाता है ।

इसीलिये ज्ञाननिष्ठ साधक, सब प्राणियोंके सुहृद् पुरुषोत्तम भगवान्‌की सर्वप्रकारसे सेवा करके कृतार्थ होते हैं (गीता १५ । १९-२०) ।

यद्यपि भक्तजन, सर्वभूतहितरत होकर, अहर्निश भगवान्‌की सेवामें ही मग्न रहते हैं और जन्म-मरणके त्राससे अभय होनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना न करके उनके स्नेहकी ही कामना करते हैं—

कुटिल कर्म कै जाहिं मोहि जहँ-जहँ अपनी बरिआई ।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाड़ियो कमठ अंडको नाईं ॥
(विनयपत्रिका)

तथापि भक्तभयहारी भगवान् उनको केवल सम्पूर्ण विघ्नोंसे ही पार नहीं कर देते (गीता १८ । ५८) अपितु उनका योगक्षेम भी स्वयं वहन करते हैं (गीता ९ । २२) ।

केवल सदाचारी भक्तोंपर ही भगवान् अनुग्रह करते हों, यह बात नहीं है; प्रत्युत यदि दुराचारी भी भगवान्‌की सेवा करने लगें तो वे भी धर्मात्मा और साधु होकर शान्ति पाते हैं (गीता ९ । ३०-३१) ।

एतदर्थ सभी मनुष्योंकी शोभा भगवान्‌की सेवा करनेमें है—

करुना सिंधु भक्त चिंतामनि सोभा सब तहूँ ।
(विनयपत्रिका)

परन्तु जो साधक भगवान्‌के उपर्युक्त मतमें उपदिष्ट सम्पूर्ण साधनको एक साथ करनेमें असमर्थ हैं, उनकी सुविधाके लिये भगवान्‌ने नैष्कर्म्यसिद्धिका यह सोपान बताया है कि साधक परमात्मामें मन और बुद्धि लगाकर अध्यात्म-चेता बनें (गीता १२ । ८); जो ऐसा नहीं कर सकते, वे अभ्यासके द्वारा संसारकी समस्त कामनाओंको छोड़कर अर्थात् निराशीः होकर केवल भगवद्दर्शनकी इच्छा करें

* देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनादि सात्त्विक तप ।

(गीता १२ । ९); जिनके लिये यह भी अशक्य हो, वे भगवदर्थ कर्म करें (गीता १२ । १०) और जो इसमें भी अशक्त हों, वे कर्मफलकी ममता त्यागकर कर्म करें (गीता १२ । ११)।

अवश्य ही ऐसी दशामें साधकको तत्त्वदर्शी ज्ञाननिष्ठ गुरुके समीप जाकर साधनका अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि बिना गुरुके ज्ञान नहीं होता—'गुरु बिनु होइ कि ग्यान ?'

भगवान्‌के साधनका तत्त्व समझनेके लिये श्रीगुरुकी शरणमें जानेके पूर्व साधकको श्रद्धावान्, ज्ञानतत्पर, संयतेन्द्रिय, गुरु-शुश्रूषादिसे युक्त और परिप्रश्न करनेकी मतिसे सम्पन्न होना चाहिये—जैसा कि भगवान्‌ने अर्जुनको उपदेश किया है (गीता ४ । ३४; ३९) और छान्दोग्योपनिषद्‌में भी भूमविद्याके प्रकरणमें साधकके लिये इन्हीं सब अर्थात् श्रद्धा, विज्ञान, मति,* निष्ठा† (गुरु-शुश्रूषादि) और कृति‡ (इन्द्रियसंयम) को आवश्यक बतलाया गया है।

इन्हीं पञ्चसाधन अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान, मति, इन्द्रियसंयम और निष्ठाका वर्णन रामचरितमानसमें काकभुशुण्डिजीने इस प्रकार किया है—

सदगुरु बैद बचन बिस्वासा§ । संजम× यह न बिषय कै आसा ॥
रघुपति भगति सजीवन÷ मूरी । अनूपान श्रद्धा मति पूरी ॥
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं । नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं ॥
जानिअ तब मन बिरुज गोसाँई । जब उर बल बिराग अधिकाई ॥
सुमति छुधा बाढ़इ नित नई । बिषय आस दुर्बलता गई ॥
बिमल ग्यान जल जब सो नहाई । तब रह राम भगति उर छाई ॥
(उत्तरकाण्ड)

ऐसे साधनसम्पन्न साधककी स्थितिका वर्णन गोस्वामीजीने इस प्रकार किया है—

जानकीजीवन की बलि जैहौं ।
चित कहै राम सीयपद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं ॥१॥
उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख प्रभु पद बिमुख न पैहौं ।
मन समेत या तनु के बासिन्ह इहै सिखावन दैहौं ॥२॥
श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं रसनाँ और न गैहौं ।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहि, सीस ईसही नैहौं ॥३॥
जातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं ।
यह छर मार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं ॥४॥
(विनयपत्रिका)

इस विनयमें भगवान्‌के उक्त मतमें उपदिष्ट सभी साधनों*का समन्वय रुचिर रूपमें मिलता है। यथा—

(१) 'जानकीजीवन की बलि जैहौं।'

अर्थात् जिस प्रकार श्रुतिमें देवताओंद्वारा परमात्माको भेंट अर्पण करनेका वर्णन है—

ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति।
(तै० उ० १ । ५ । ५)

—उसी प्रकार साधक अपना समस्त कर्मफल भगवान्‌के अर्पण कर देता है, भगवान्‌पर अपना सर्वस्व निछावर कर देता है।

(२) 'चित कहै राम सीयपद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं।'

भगवान्‌के चरणचिन्तनके अतिरिक्त किसी अन्य विषयमें चित्तका न लगाना ही अध्यात्मचेताका सुन्दर लक्षण है।

(३) 'उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख प्रभु पद बिमुख न पैहौं।
मन समेत या तनु के बासिन्ह इहै सिखावन दैहौं ॥
श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं रसनाँ और न गैहौं।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहि, सीस ईसही नैहौं ॥'

अर्थात् भगवान्‌के सिवा किसी दूसरे विषयकी कुछ भी कामना न करना और श्रवण, नयन आदि इन्द्रियों तथा मनको सब ओरसे खींचकर भगवद्विषयमें स्थिर कर देना ही अध्यात्मचेताके साथ-साथ निराशीः होना है।

---

* मति—अर्थात् मननपूर्वक परिप्रश्न करना।

† निष्ठा—गुरुशुश्रूषादितत्परत्वं ब्रह्मविज्ञानाय।
(छा० उ० शाङ्करभाष्य)

‡ कृतिरिन्द्रियसंयमश्चित्तैकाग्र्यताकरणं च।
(छा० उ० शाङ्करभाष्य)

§ 'गुरुके वचनमें विश्वास' से निष्ठाका तात्पर्य है।

× इन्द्रियसंयम अर्थात् कृति।

÷ छान्दोग्योपनिषद्‌में भी भूमाको अमृत कहा गया है।

* इस विनयकी पहली, दूसरी और तीसरी पङ्क्तिमें पञ्चदशी-विहित वैराग्यके कारण, स्वरूप और फल, चौथी और पाँचवीं पङ्क्तिमें बोधका कारण, छठीमें स्वरूप और फल तथा सातवीं और आठवीं पङ्क्तियोंमें उपरतिके कारण, स्वरूप और फलके लक्षण क्रमशः समाविष्ट हैं। इसी प्रकार श्रीवल्लभाचार्यजीका 'सांख्य' पहली पङ्क्तिमें, 'योग' चौथी, पाँचवीं और छठी पङ्क्तियोंमें, 'तप' और 'भक्ति' तीसरी पङ्क्तिमें तथा 'वैराग्य' सातवीं और आठवीं पङ्क्तिमें वर्णित है।

(४) 'नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं ।'

यह अध्यात्मचेताके साथ सांसारिक विषयोंमें ममता न रखनेका उत्कृष्ट उदाहरण है ।

(५) 'यह छर मार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं ।'

और यदि सांसारिक सम्बन्धोंको तोड़ देनेसे कोई बुरा माने तो इसकी चिन्ता भी साधकको नहीं रहती । वह संसारकी सब निन्दा-स्तुतिका भार भगवान्‌को सौंपकर शोक एवं सन्तापसे रहित हो जाता है । यही विगतज्वर हो जाना है ।

इसीलिये अनित्य सुखको छोड़कर परमात्माका भजन करनेसे परमानन्दकी प्राप्ति होती है । इस भजनसे भगवान्‌की उस सेवासे तात्पर्य है जो भगवान्‌को प्रिय हो, अर्थात् जो भगवान्‌को रुचिकर हो । भगवान् सब प्राणियोंके सुहृद् हैं तो हम सब सेवकोंको भी सर्वप्राणियोंके हितमें रत रहना चाहिये; भगवान् साधुओंके परित्राणके लिये अवतार लेते हैं, इसीलिये हमलोगोंको भी साधुसेवी होना चाहिये; भगवान् धर्मकी संस्थापना करते रहते हैं तो हमारे लिये भी भगवान्‌के आज्ञानुसार धर्मका पालन करना उचित है; भगवान् आलस्यरहित सब कर्मोंमें बर्त रहे हैं, अतएव हमलोगोंको भी शास्त्रविहित स्व-वर्णाश्रमोचित कर्तव्य कर्ममें लगे रहना चाहिये (गीता १८।४५) । इन कर्मोंद्वारा भगवान्‌की सेवा करनेसे ही हमलोगोंको सिद्धि मिल सकती है (गीता १८ । ४६) और असक्तबुद्धिसे निष्काम होकर भगवान्‌की सेवा करनेपर नैष्कर्म्यसिद्धि (गीता १८ । ४९) अर्थात् परमसुखकी प्राप्ति होती है (गीता ३ । १९) । साधक चाहे तो नित्य विभूतिके सुखमें और चाहे भगवान्‌की लीलाविभूतिमें रमण कर सकता है; अवश्य ही उसको संसारसे मुक्त होकर श्रीचरणोंमें पहुँचनेका अधिकार प्राप्त हो जाता है ।

सब साधन कर सुफल सुहावा । लखन राम सिय दरसन पावा ॥

(रामचरितमानस)

प्राणशक्तियोग और परकायप्रवेशविद्याका पूर्वरूप

(लेखक—पण्डित श्रीत्र्यम्बक भास्कर शास्त्री खरे)

प्राण क्या है, प्राणशरीर क्या है—इत्यादि विषयोंका विस्तारपूर्वक विवेचन अबतक किसी ग्रन्थमें नहीं मिला । इस कठिन काममें हाथ डालनेका हेतु यही है कि इस लेखको पढ़कर इस विषयका विचार करनेमें पाठकोंकी प्रवृत्ति हो । प्राणशक्ति क्या है और प्राणशक्तियोग किसको कहते हैं ? इसीका ऊहापोह, इसलिये, इस लेखमें किया जायगा । विषयका सम्यक् उद्बोधन हो, इसके लिये इसके नीचे लिखे अनुसार आठ विभाग किये हैं—

(१) प्राण क्या है ? (२) प्राणमय शरीर किसको कहते हैं ? (३) प्राणायाम क्या है ? (४) अन्नमय कोशके साथ प्राणमय कोशका क्या और कैसा सम्बन्ध है ? (५) प्राणायामके द्वारा प्राणमय शरीरको अन्नमय कोशसे बाहर निकाल ले जानेकी प्रक्रिया । (६) जीव प्राणमय कोशको अन्नमय कोशके बाहर ले जाकर किस प्रकार आपाततः तथा बुद्धिगृहीत कर्म करता है ? (७) प्राणमय कोशके ज्ञानसे लाभ । (८) प्राणशक्तियोगकी फलश्रुति ।

१. सर्वसाधारण लोगोंकी धारणा यह है कि प्राणवायु ही प्राण है । प्राणायामका विवेचन करते हुए योगग्रन्थोंमें प्राण-वायुको प्राण और प्राणायामको श्वासायाम कहा गया है । श्रीपतञ्जलि महामुनिका वचन है—'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयो-र्गतिविच्छेदः प्राणायामः । . प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।' अर्थात् श्वास-प्रश्वासकी गतिको बंद करना प्राणायाम है । अमृतनादोपनिषद्में भी प्राण-प्राणायामकी ऐसी ही परिभाषा की गयी है—

'रुचिरं रेचकं चैव वायोराकर्षणं तथा ।
प्राणायामास्त्रयः प्रोक्ता रेचकुम्भकपूरकाः ॥
त्रिः पठेदायतः प्राणः प्राणायामः स उच्यते ।'

श्रीमद्भागवतमें 'दश कृत्वा त्रिषवणं मासादर्वाग् जितोऽनिलः ।' यह कहकर यह बतलाया है कि प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल—तीनों समय नित्य दस प्राणायाम तीन महीनेतक बराबर करे तो वह मनुष्य जितानिल हो सकता है अर्थात् वायुको जय कर सकता है । श्रीमद्भगवद्गीतामें भी 'प्राणा-पानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।', 'अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।', 'प्राणान् प्राणेषु जुह्वति'

इत्यादि वचनोंके प्राणशब्दका अर्थ प्राणवायु ही किया जाता है।

२. पुरुषसूक्तमें 'प्राणाद् वायुरजायत' यह वचन है। इसमें यह बतलाया है कि वायु-तत्त्व प्राण-तत्त्वसे उत्पन्न हुआ है। अर्थात् प्राण और वायु दो भिन्न तत्त्व हैं। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश—ये पञ्चतत्त्व यथाक्रम एक-से-एक अधिक सूक्ष्म हैं; उसी प्रकार प्राणतत्त्व भी वायुतत्त्वकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म है।

प्राणाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति॥

—यह तैत्तिरीयश्रुति है। 'प्राणो वा ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च' (छान्दोग्य), 'प्राणो वै बलम्' (बृहदारण्यक), 'प्राणो वा अमृतम्। आयुर्नः प्राणः। राजा मे प्राणः।' इत्यादि इसी आशयके उपनिषद्-वचन हैं। काशी गुरुकुलके संस्थापक श्री-अभयानन्द सरस्वतीने प्राणायामविधिपर एक ग्रन्थ लिखा है। उसमें प्राणविज्ञानात्मक अध्यायमें प्राणका वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'परमात्मा प्रकृतिमेंसे प्राण बनाता है।' प्राण सामान्य और विशेष भेदसे दो प्रकारका है। प्राणतत्त्व सम्पूर्ण जगत्में व्यापक है, अर्थात् दृश्य और ज्ञेय जगत्की अपेक्षा वह अधिक सूक्ष्म है। अथर्ववेदमें प्राणकी महिमा यह कहकर गायी गयी है कि 'प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।' अर्थात् उस प्राणको प्रणाम है, जिसके वशमें यह सारा जगत् है। प्राण पृथ्वीपर है, अन्तरिक्षमें है, द्युलोकमें है। द्युलोकमें प्राण सूर्य-किरणोंद्वारा आता है और अन्तरिक्षमें स्थित प्राण पर्जन्यके द्वारा पृथ्वीपर आता है और पृथ्वीपर आनेके पश्चात् यह वायुतत्त्वमें मिलकर रहता है। द्युलोकगत और अन्तरिक्ष-गत प्राण ही सब जीवोंकी जीवनशक्ति है। प्रश्नोपनिषद्के

'अथादित्य उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते। यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते।'

—इन वचनोंसे यही पता लगता है कि सूर्यदेव अपने रश्मिजालसे द्युलोकका प्राण पृथ्वीपर लाते हैं। इसी प्रकार 'प्राणो हि सूर्यः प्राणश्चन्द्रमाः। प्राणमाहुः प्रजापतिः प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्वमुपासते।' इन वचनोंसे यह मालूम होता है कि सूर्य, चन्द्रमा, प्रजापति, विराट् आदि प्राणरूप ही हैं। 'प्राणापानौ व्रीहियवौ अनड्वान् प्राण उच्यते।' इस वचनमें प्राण और अपानको व्रीहि और यव कहकर उनका संग्रह करनेवाले अनडवान् (बैल) को प्राण कहा है। इन सब वचनोंसे यही सिद्ध होता है कि प्राणतत्त्व प्राणवायुसे भिन्न है।

३. प्राणतत्त्वका प्राणवायुसे भिन्न होना व्यावहारिक उदाहरणसे भी दरसाया जा सकता है। जीव जब गर्भाशयमें होता है, तब उसे प्राणवायुके मिलनेका साधन नहीं रहता; गर्भमें रहते हुए बाहरसे वह प्राणवायु नहीं ले सकता। तथापि सातवें महीनेसे ही वह हिलने-डोलने लगता है और उसके हृदयमें रक्ताभिसरणकी क्रिया होती रहती है। ऐसी हालतमें उसका जीवन प्राणवायुपर नहीं, बल्कि प्राणतत्त्वपर निर्भर करता है। मृत शरीरमें प्राणवायु जा-आ सकता है; पर उससे मनुष्य जी उठे, यह नहीं हो सकता। मूर्च्छित मनुष्य, जलमें डूबा हुआ मनुष्य, डाक्टरके चीरा देनेके पहले दवा सुँघाकर शरीरकी स्मृति खोया हुआ मनुष्य और समाधिमें स्थित योगी—इन सबके शरीर मृतवत् हुए रहते हैं, श्वास-प्रश्वासकी क्रिया उनमें नहीं होती। परन्तु उनके शरीरोंमें प्राणतत्त्व बना रहता है, इसलिये श्वास-प्रश्वासकी क्रिया उनमें फिरसे आरम्भ हो जाती है। कर्नल टाउनशेंडने अपनी इच्छासे अपना प्राणमय शरीर अपने अन्नमय शरीरसे बाहर निकाल लिया था। उस समय तीन सर्जनोंने उनके शरीरकी परीक्षा करके यह निर्णय दे दिया था कि इनकी मृत्यु हो गयी। उनकी नाडी, रक्ताभिसरण और हृदयकी क्रियाएँ सब बंद थीं। शरीर ठंडा पड़ चुका था, नसें तन गयी थीं। परन्तु फिर भी कर्नल टाउनशेंड फिरसे अपने प्राणमय शरीर-के साथ उस शरीरमें आ गये और ऐसे उठ बैठे जैसे कोई सोकर उठा हो। मास्को शहरकी एक बालिका १४ दिन मूर्छितावस्थामें थी। तीन बार उसका प्रेतसंस्कार भी किया गया। पर हर बार अन्तिम क्षणमें वह जागकर उठ बैठती। महाराज रणजीतसिंहके दरबारके योगीकी कथा प्रसिद्ध ही है। छः फुट नीचे जमीनमें उन्होंने अपने-आपको गाड़ लिया, ऊपरसे वह जमीन जोती-बोयी गयी, उसकी चारों ओर संगीनका पहरा बैठाया गया। सात दिन बाद योगी महाराज-के सामने बाहर निकले। महाराजसे उन्होंने कहा, 'मैं वहाँ बड़े आनन्दमें था।' इस तरहकी योगक्रिया करनेवाले लोग आज भी मौजूद हैं। इन उदाहरणोंसे यही स्पष्ट होता है कि प्राण एक स्वतन्त्र तत्त्व है।

४. वैशेषिक दर्शनमें प्राणतत्त्वका कोई वर्णन नहीं है, पर आकाशको ही प्राणतत्त्व और नित्य द्रव्य माना है। जैन-दर्शनमें आकाशतत्त्वके लोकाकाश और अलोकाकाश दो भेद

हैं, लोकाकाश मर्यादित और अलोकाकाश अमर्यादित और नित्य है; शरीरके जीव और पुद्गल—दो भेद हैं; पर प्राण और प्राणमय कोशका कोई वर्णन नहीं है। कणाद 'अणु-अणु' कहते-कहते उसीमें मगन हो रहे और महर्षि पतञ्जलि यह बतला गये कि मनःसंयम करो और इससे विभिन्न विभूतिरूप ज्ञानभण्डारकी कुञ्जियाँ अपने हाथमें कर लो; जैसे 'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्।' परन्तु शरीरको जीवित रखनेवाले प्राणतत्त्वका या प्राणमय शरीरका उन्होंने पता नहीं दिया।

५. सूक्ष्म दृष्टिसे विचारिये तो सृष्टिके इस मूर्त्तरूपको प्राप्त होनेमें ईशसंकल्प, देवसंकल्प और ऋषिसंकल्प—ये तीन संकल्प कारण हुए हैं। ईशसंकल्पके सूक्ष्म परमाणु हुए, देवसंकल्पके उनकी अपेक्षा स्थूल और ऋषिसंकल्पके उनसे भी अधिक स्थूल हुए। ईशसंकल्पसे देव निर्माण हुए और देवसंकल्पसे ऋषि और मानव निर्माण हुए। ईशसंकल्पसे प्रथमतः मन और अनन्तर आकाशादि अपञ्चीकृत पञ्चतत्त्व निर्माण हुए और इन अपञ्चीकृत पञ्चतत्त्वोंसे पञ्चीकृत स्थूल पञ्चतत्त्व उत्पन्न हुए। ईशसंकल्पके ये स्थूल मूर्त्तरूप ही प्रकृति-परमाणु हैं। ईशसंकल्पसे धाता उत्पन्न हुए और उनमें 'यथापूर्वं कल्पयामि' की भावना उत्पन्न हुई। उस भावनासे आदित्य-परमाणु और उनसे सूर्यग्रहोंसहित सूर्यमाला उत्पन्न हुई। इसके अनन्तर मानसपुत्रादि मानस सृष्टि हुई और फिर जारज सृष्टि। जन्मको प्राप्त होनेवाला जीव जगदात्मा सूर्यसे सूर्य-परमाणु और फिर मनके लिये चन्द्रमण्डलसे चन्द्र-परमाणु ग्रहण करता है और नीचे उतरते हुए वह अन्य ग्रहोंसे भी अपने प्रारब्धकर्मभोगके लिये तत्तत् ग्रहोपग्रहोंके शुभाशुभ-फलदायी परमाणु ग्रहण करके पृथ्वीपर आता और माताकी कोखमें आकाश, तेज, अप्, वायु, पृथ्वी—इन पञ्चीकृत तत्त्वोंसे अपने प्राणशरीरके सजातीय प्राण-परमाणुओंका संग्रह कर अपना अन्नमय शरीर निर्माण करता है और इस प्रकार पूर्वकर्मानुरूप भोग भोगनेके लिये अपने प्राणमय, मनोमय, वासनामय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशोंसहित भोगायतन अन्नमय शरीर धारण करके माताकी कोखसे बाहर निकलता है। सूर्यमण्डलसे आदित्यप्राण-परमाणु और चन्द्र-मण्डलसे चन्द्र-परमाणु लेकर जीव जब पृथ्वीपर आता है तब ज्योतिषीलोग उसकी लग्नकुण्डली और राशिकुण्डली फैलाते और तत्तद् ग्रहोंका बलाबल देखकर जीवके सुख-दुःखादि-भोगके स्थान और समय निर्दिष्ट कर देते हैं। इससे यह पता लगता है कि जीवके अन्नमय, प्राणमय और मनोमय कोश सूर्यसे दैनन्दिन गतिके साथ प्रसूत होनेवाले प्राण-परमाणुओंसे बने हुए हैं। अर्थात् यही सिद्ध हुआ कि प्राणमय कोशके संघटक प्राण-परमाणु और श्वासोच्छ्वासके प्राणवायु एक दूसरेसे भिन्न हैं। समस्त दृश्यादृश्य जगत् सच्चिदानन्दस्वरूप है—इस सिद्धान्तके अनुसार प्राण-परमाणुओंमें भी सत्ता, चेतना और ज्ञान अबाधित, बलित अथवा संघटित हैं। सूर्यमण्डलसे निकले हुए प्राण तेजोरूप हैं, इसलिये प्राणमय शरीर भी तेजोरूप है। साधारण मनुष्य भी स्वप्नकी अवस्थामें अपने शरीरको प्रकाशरूप ही देखता है, चाहे रात अँधेरी हो और समीप कोई दीप भी जलता हुआ न हो।

६. थिऑसोफिकल सोसायटीके आद्य प्रवर्त्तक महात्माओं-का बाह्य जगत्में प्रतिनिधित्व करनेवाली मैडम ब्लावेट्स्कीने यह कहा है कि हमारे रक्तके अंदर जो शुभ्र और ताम्रबिन्दु हैं, उनमें ताम्रबिन्दुओंके अंदरके अयस्कण ही प्राण-परमाणुके घटक हैं। उनके मतसे जीवन एक सूक्ष्म गति है; जिसे प्राण कहते हैं, वह एक स्वयंभू शक्ति है। यह शक्ति जगत्के धाता सूर्यसे मनुष्यको प्राप्त हुई है। यह शक्ति पृथ्वीपर काम आनेके लिये तेज, आकाश, वायुके साथ होकर तथा जनलोक, महर्लोक, स्वर्लोक और द्युलोकादि लोकोंमेंसे आते हुए परिणत होकर विद्युदाकर्षणरूप परमाणुओंसे मनुष्यका प्राणमय शरीर निर्माण करती है। यहाँ प्राणको शक्ति कहा है। परन्तु शक्ति (Force) होनेपर भी उसके कार्यक्षम होनेके लिये किसी-न-किसी प्रकारका साधन होना जरूरी है। विद्युत्कणोंमें प्रकाशशक्ति है और उसीका दूसरा रूप उष्णताशक्ति है। इन शक्तियोंके प्रभावशाली होनेके लिये विद्युत्कणोंकी आवश्यकता रहती ही है। इसलिये विद्युत्कण कहें या प्राण-परमाणु कहें, वे और उनकी शक्ति वायु-कण और वायुशक्तिसे भिन्न ही हैं। प्राण-परमाणु और प्राणशक्ति दोनों ही वायु-परमाणु और वायुशक्तिसे सूक्ष्म हैं और प्राणमय शरीर (Astral body) आकाश-शरीर(Ethereal body) तथा अन्नमय शरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म हैं। अन्नमय शरीर और आकाश-शरीर दोनों ही कुछ ही दिन, कुछ ही वर्ष बने रहते हैं। चीन अथवा ईजिप्ट देशवालोंके 'ममी'—रासायनिक प्रक्रियासे रक्खे हुए मृत मनुष्योंके ऐसे ही अन्नमय शरीर हैं (चित्र नं० १ देखिये)। परन्तु प्राणमय शरीर पाँच-पाँच सौ, हजार-हजार वर्षतक भी बने रहते हैं। यथार्थमें वर्ष अथवा कालकी गणना

इस पृथ्वीपर ही है और अन्नमय तथा आकाशमय कोशपर उसका नियम चलता है। द्युलोकमें तो कालगणना है ही नहीं। पाँच सौ और हजार वर्षकी जो अवधि कही, वह इस कारण कि १००० वर्ष पूर्व इस पृथ्वीपर जो महात्मा शरीरसे थे, वे अब भी पृथ्वीपर माध्यम (Medium) की सहायतासे उस कालकी बातें बतलाते हैं, जो इतिहासकी दृष्टिसे भी ठीक उतरती हैं।

७. रसायनशास्त्र और वैद्यशास्त्रसम्बन्धी इतने अगाध आविष्कारोंके होनेपर भी अभीतक वैज्ञानिकोंको यह पता नहीं चला कि प्राण अथवा जीवन क्या है। डॉ० वानडेन ब्रांकने लंदनके 'फोरम' पत्रके जनवरी १९३५ के अङ्कमें 'हम मरते कब हैं?' इस विषयपर एक लेख लिखा है। इस लेखमें प्रसङ्गतः प्राणकी चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि रक्तसे ही हृदयकी क्रिया होती रहती है, इसलिये रक्त स्वयं ही एक महान् शक्तिशाली पदार्थ है। पदार्थविज्ञानवेत्ताओंका विचार यह है कि हृदयकी क्रियासे रक्ताभिसरणकी क्रिया होती है; यह सही होनेपर भी रक्तबिन्दुओंके अंदर जो विद्युदाकर्षणशक्ति है, उसीके द्वारा जागरित शिराओंके पुञ्जोंमेंसे होकर यह रक्ताभिसरणक्रिया होती है। शरीरके चलन-वलन व्यापारको ही जीवन मानकर यह बात कही गयी है। परन्तु आर्थर ए० वेल (कैलिफोर्निया) का यह कहना है कि शरीरके चलन-वलन-व्यापारका चलना या चलाना मनुष्यकी मनोभूमिपर अवलम्बित है—देहस्थित जीवात्माका शरीर जब जीर्ण होता या असंयत आचरण अथवा किसी अपघातसे भग्न या बेकार हो जाता है, तब वह अपने मनको आज्ञा देकर स्थूलदेहके साथ अपना सम्बन्ध तोड़ डालता है। इससे भी यही बात पुष्ट होती है कि प्राणशक्ति रक्तबिन्दुओंके अयस्कणोंमें जो विद्युदाकर्षणशक्ति है, वही है। वानडेन फ्रैंकका यह कहना है कि हृदय और रक्ताभिसरणका नियमन शिखरी स्थान (Medulla Oblangata) से होता है। अपने यहाँके योगियोंका भी यही मत है कि हृदयक्रियाको शिखरीके द्वारा जब चाहे बंद और जारी किया जा सकता है। बालानन्द सरस्वती (वैद्यनाथधामके) और अगम्य गुरु बात करते-करते अपनी नाडी और हृदयका चलना इच्छामात्रसे बंद कर देते थे, इस बातको इस लेखके लेखकने स्वयं अनुभव किया है।

८. रक्तबिन्दुका अयस्कण ही पाश्चात्य विज्ञानका अणु (Atom) है। अणु एक सौरमण्डल या सूर्यग्रहमाला ही है। सौरमण्डलमें जैसे मध्यमें सूर्य है, वैसे ही अणुमें घनविद्युत्-केन्द्र (Proton) है और उसके चौतर्फा ऋणविद्युत्कण (Electrons) अत्यन्त वेगके साथ वर्तुल गतिसे घूमा करते हैं। घनविद्युत्कण बाहरसे शक्तिको अंदर खींचता है और अंदरसे बाहर फेंकता है। जब यह शक्तिको बाहर फेंकता है, उस समय ऋणविद्युत्कण बाहरकी कक्षासे भीतर कूद पड़ते हैं और जब यह शक्तिको बाहरसे अंदर खींचता है, उस समय ऋणविद्युत्कण अंदरसे बाहर उछल पड़ते हैं। एक कक्षासे दूसरी कक्षामें ऋणविद्युत्कणोंका यह जो भ्रमण होता है, वह किसी नियमके अनुसार नहीं होता; उनकी यह क्रिया बेरोक होती है। इनकी अनियत स्वैरवृत्तिका कारण क्या है, यह पदार्थविज्ञानवेत्ताओंके लिये बड़ी पहेली है। इन ऋणविद्युदणुओंके बड़े समुदायके सम्बन्धमें कुछ नियम देख पड़ते हैं; पर व्यक्तिशः कोई ऋणविद्युदणु किस समय किस गतिसे चलेगा, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता—जैसे मानवसमाजके सम्बन्धमें समाजशास्त्रकी दृष्टिसे कुछ मोटे नियम बनाये जा सकते हैं, पर प्रत्येक व्यक्तिकी स्थिति और गतिका कोई अनुमान नहीं किया जा सकता।

९. अणुकी स्वैरगतिके सम्बन्धमें भगवान् कणादका यह वैशेषिक सूत्र है कि 'अणूनां मनसश्च आद्यं कर्म अदृष्टकारितम्।' अर्थात् अणुके और मनके आद्य कर्म (या उनकी मौलिक स्वैरगति) का कारण अदृष्ट ही है। अर्थात् यह गति स्वयंभू है।

१०. ऋणाणु और धनाणु दोनोंमेंसे शक्तिकी लहरें उठा करती हैं। एडीसन कहते हैं कि ऋणाणुओंके कुछ ही प्रभावकार्य हमलोग जान पाते हैं। ऋणाणु शक्तितरङ्गोंका केन्द्र है। उसके सम्बन्धमें हम जो कुछ जान पाते हैं, वह उसकी शक्तितरङ्गोंसे ही। पाश्चात्य पदार्थविज्ञान ऋणाणु और धनाणुतक ही पहुँच पाया है। पर इन ऋण-धनाणुओंसे शक्तिका आविर्भाव कैसे होता है, इसका उसे कोई पता नहीं चला है।

११. योगदीपिकामें प्राणकी इस प्रकार व्याख्या की गयी है—

> प्राणो भवेत् परं ब्रह्म जगत्कारणमव्ययम्।
> प्राणो भवेत् तथा मन्त्रज्ञानकोशगतोऽपि वा॥
> क्षेत्रज्ञश्च तथा प्राणः पञ्चभूतेन्द्रियार्थकः।
> प्राणार्थोऽयेति सिद्धान्तः श्रुतिभिः समुदीरितः॥

—तात्पर्य, ज्ञानकोश यानी विज्ञानमय कोशमें जो प्राणशक्ति है वही प्राण है। श्वासोच्छ्वास अन्नमय कोशके प्राण-अपान हैं। प्राण इनसे अधिक सूक्ष्म हैं।

१२. सच पूछिये तो ऋणाणु-धनाणु प्राण-परमाणुओंके मूर्त्तरूप हैं। स्वयं प्राण-परमाणु इनसे अधिक सूक्ष्म और अधिक कार्यक्षम हैं। ऋणाणु और धनाणुके अन्तर्गत प्राण-परमाणु प्रकाशमय हैं, यह बात पाश्चात्त्य विज्ञानकी प्रक्रियासे सिद्ध है। अथर्ववेदके एकादश काण्डकी दूसरी ऋचा है—

नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते॥

टीकाकारोंने 'स्तनयित्नवे' पदकी टीका 'विद्युदात्मना विद्योतमानाय' इस प्रकार की है। अर्थात् प्राण विद्युदात्मक हैं और परम्परया प्राणमय कोश प्रकाशात्मक है, यही स्पष्ट होता है। पाश्चात्य वैज्ञानिकोंकी अब यह राय हो चली है कि सब स्थूल शारीरिक क्रियाएँ विद्युच्छक्तिसे ही हुआ करती हैं। आथर्वणवेदके उपर्युक्त मन्त्रसे इसका समर्थन होता है। इससे यह मालूम होता है कि आर्यावर्त्तके जिन ऋषि-मुनियोंने प्राण-शक्तिको अनुभव कर उसकी कार्यपरम्परा निर्दिष्ट कर दी, उन्हींके सिद्धान्तकी ओर पाश्चात्य वैज्ञानिक भी धीरे-धीरे आ रहे हैं।

१३. कुछ पाश्चात्त्य विद्वान् एक प्रवाहशील पार्थिव अंश-को, जिसे इन नेत्रोंसे नहीं देख सकते, प्राण कहते हैं। मानवविद्युदाकर्षण (Human magnetism) को भी कुछ लोग प्राण कहते हैं। जीवमें अपनी जो एक निजी शक्ति है (Metabolism), उसे ही कुछ लोग प्राण जानते हैं। और कुछ जीवन-रस (Protoplasm) तथा अव्यक्त जीवन रस (Ecloplasm) को प्राण मानते हैं। परन्तु ये चारों प्राणशक्तिके गुण हैं, स्वयं प्राण नहीं।

१४. टार्डिग्राफ नामका एक जन्तु है, जो मैसोरके नन्दि-दुर्ग पहाड़के ऊपर देखा जाता है। इसका आकार $\frac{1}{10}$ इंचके बराबर होता है। जल न मिलनेपर इसकी देह सूख जाती है और सूखनेपर यह बरसों इस तरह निश्चेष्ट पड़ा रहता है कि यह पता नहीं लगता कि यह जीता है या मरा—मरा ही समझा जाता है, क्योंकि उसमें हिलने-डोलनेकी कोई क्रिया नहीं देख पड़ती। परन्तु बरसों इसी हालतमें पड़े रहनेपर भी यह देखा गया है कि इसकी देहको काट-काटकर उन टुकड़ोंको किसी काँचके बर्तनमें रख दिया जाय तो भी इसकी प्राणशक्ति नष्ट नहीं होती। शून्य अंश (zero degreh) की उष्णतावाले किसी पात्रमें हेलियम (सूर्यकिरणका एक घटक पदार्थ) द्रवित करके उसमें यह सूखी देह रखी जाय तो यह देखा जाता है कि यह जन्तु चैतन्य होता और हिलने-डोलने लगता है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस जन्तुकी स्वयं चेतन शक्ति (Metabolism)'नष्ट' होनेपर भी फिरसे आ जाती है। प्राणशक्ति उसकी देहमें इतनी सोयी हुई रहती है कि वैज्ञानिकोंके लिये एक बड़ी पहेली हो जाती है और उन्हें इस गूढ़ प्राणशक्तिका पता नहीं चलता।

१५. इस प्रकार पाश्चात्त्य वैज्ञानिकोंको अभीतक प्राण-शक्तिका पता नहीं लगा। हमारे यहाँके प्राचीन शास्त्रकार इस शक्तिको खूब जानते थे। प्राणशक्तिके सम्बन्धमें उन्होंने जो-जो कुछ कहा है, उसको अलग रखने और अपेक्षाकृत आधुनिक कालमें आवें तो प्राणशक्तिकी व्याख्या गौतमबुद्धके इस वचनमें मिलती है कि 'प्राणशक्ति सर्वत्र विद्यमान है, अभेद्य है और अविभाज्य है।' अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि प्राणशक्ति अमुक स्थानमें है और अमुक स्थानमें नहीं। जिन सूर्य-किरणोंके साथ सूर्यदेव इस विश्वपर सतत प्राण-शक्तिकी वर्षा कर रहे हैं, उन सूर्यकिरणोंको यानी प्रकाशको विभाजित किया जा सकता है। प्रकाशके तरङ्गवाद (Wave theory) या आन्दोलनकी क्रियाका निरीक्षण करनेसे यह देख पड़ता है कि एक प्रकाश-तरङ्गके अन्तिम बिन्दु और दूसरी प्रकाश-तरङ्गके आरम्भ-बिन्दुके बीच थोड़ा अन्तर हुआ करता है। मैगास फाक्स अथवा आइनस्टीनके अंशपरमाणुवादसे भी यह बात सिद्ध होती है कि प्रकाशका विभाजन होता है। प्रकाशतरङ्गोंके परस्पर-आन्दोलनमें प्रकाश-विच्छेद होता है, यह बात नीचे दिये हुए उदाहरणसे स्पष्ट होती है।

१६. एक मीलकी दूरीपर एक घड़ी रक्खी है। इस घड़ीमें जब एक बजनेका समय होता है, तब एक बजनेकी आवाज आती है। पर एक बजा हुआ देख पाना एक सेकंडके एक लाख छियासी हजारवें हिस्सेका अंतर देकर होता है। पदार्थका अस्तित्व और उसका दर्शन, इन दोनोंके बीच इतना अन्तर होता है। प्रकाशतरङ्गोंके परस्पर-आन्दोलनोंके बीचका यह अन्तर है। अर्थात् प्रकाशकी सत्ता अबाधित नहीं है, उसमें सूक्ष्मतम प्रकाश-गति-विच्छेद है। यह अनुभव अवश्य ही मानव-नेत्र, श्रोत्र और मानव-बुद्धिसे बने हुए यन्त्रोंसे होनेवाला है। यथार्थमें प्रकाशतरङ्गोंके बीच विच्छेद-सा जो कुछ देख पड़ता है, वह दृग्भ्रम है।

१७. स्वामिभक्त वशिष्ठ प्राणकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि प्राण (Cosmic Energy) अखिल ब्रह्माण्डकी ओतप्रोत शक्ति है और प्राणियोंके शरीरोंमें यह विशेषरूपसे प्रकट होती है। एक शरीरसे दूसरे शरीरमें भी इसका आवागमन होता है। जब हम किसी रोगपीडित जीवके शरीरसे किसी अन्य शरीरधारी जीवके द्वारा रोगका हटाया जाना देखते हैं, तब यह काम प्राणशक्तिके द्वारा ही होता है।

१८. स्तम्भ १२ में मानवविद्युदाकर्षण (Human magnetism) को प्राणशक्तिका एक गुण बताया है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों और आविष्कारकोंके प्रयत्नोंकी प्रशंसा जितनी कीजिये, थोड़ी होगी। इन लोगोंने यह पता लगाया और आगे और लगा रहे हैं कि शरीरके स्थूल और सूक्ष्म व्यापार किस प्रकार विद्युदाकर्षणसे हुआ करते हैं और शरीर-व्यापार तथा विद्युदाकर्षणके बीच कैसा सम्बन्ध है। प्राण-शक्तिके अंदर जो विद्युदाकर्षण है, उसीकी क्षमतासे शरीरके सब व्यापार होते हैं—यह सही है; परन्तु मानवविद्युदाकर्षण मनःशक्तिपर निर्भर करता है। मन और शरीरके बीच सम्बन्ध जोड़नेवाला एक महत्तर विद्युद्वेगशक्तिकेन्द्र (मस्तिष्क) शरीरमें है और इसी केन्द्रसे विद्युच्छक्ति निकलकर शरीरके सब व्यापार चलानेमें समर्थ होती है। हार्वर्ड मेडिकल स्कूल-के प्रोफेसर जे० एडविन कोहेनने इस विषयमें दस वर्ष लगातार प्रयोग करके जो तथ्य निकाला, वह नीचे दिया जाता है।

१९. जीवनशक्ति (Protoplasm) के मुख्य परमाणु स्नायुवर्द्धक परमाणु हैं। इन परमाणुओंसे विद्युच्छक्ति निकलती है। ये ही विद्युदुत्पादक परमाणु नाडीजालमें रहते हैं। इन्हीं स्नायुवर्द्धक परमाणुओंके घटक एनिमो-ऐसिड (जीवन-क्षार) में भी देख पड़ते हैं। एनिमो-ऐसिडके परमाणु हाइड्रोजनके परमाणुओंकी अपेक्षा चौंतीस हजार गुना बड़े होते हैं। एनिमो-ऐसिडके इन परमाणुओंके एक छोरपर ऋणविद्युत्कण और दूसरे छोरपर धनविद्युत्कण होते हैं। इस प्रकार इनके ओर-छोरपर परस्परविरुद्ध शक्तिवाले अणुओंके होनेके कारण, एनिमो-ऐसिडके ये परमाणु शक्तिविहीन होते हैं। तथापि इनसे विद्युद्वेगरूप लघु परमाणु उत्पन्न होते हैं। और वे प्राणशक्ति और शरीरेन्द्रियोंके बीच सम्बन्ध जोड़ते हैं। अनन्तर स्नायुवर्द्धक परमाणु और एनिमो-ऐसिड परमाणुओंका एक मण्डल बनता है। ये परमाणु महत्तर होनेके कारण इनका एक आकर्षण-पुञ्ज बनता है। इस आकर्षण-पुञ्जसे अनन्त विद्युदणु निकलते हैं। ऐसे एक छोर-पर धनविद्युदणु और दूसरे छोरपर ऋणविद्युदणु रहते हैं। इसलिये इन परमाणुओंको द्विशक्तिशाली परमाणु कहते हैं। ये द्विशक्तिशाली परमाणु अपने-अपने स्थानमें स्थिर रहते हैं। इनके अगल-बगल जो धनविद्युत्कण हैं, उनकी ओर इन द्विशक्तिशाली कणोंका ऋणविद्युदग्र प्रवृत्त होता है और ऋणविद्युत्कणोंकी ओर इनका धनविद्युदग्र।

२०. इस प्रकार द्विशक्तिशाली परमाणुओंकी एक माला बन जाती है। एक द्विशक्तिशाली परमाणुका धनविद्युदग्र उससे अलग होता और दूसरे द्विशक्तिशाली परमाणुके ऋण-विद्युदग्रसे जा मिलता है। एक क्षणके शतांश कालमें यह क्रिया होती है और बराबर उसी प्रकार जारी रहती है। इन द्विशक्तिशाली कणोंके क्रियाकलापसे एक गति निर्माण होती है और उस गतिसे देहगत नाडियोंका आकुञ्चन-प्रसरण हुआ करता है, उसीसे नेत्रों और हस्त-पादादि इन्द्रियोंके व्यापार होते हैं। परन्तु इस द्विशक्तिशाली परमाणुके धनविद्युदग्रको अलग करनेकी क्रिया करनेवाला कौन है, इसका पता वैज्ञानिकों-को नहीं चला है। यह क्रिया करनेवाली शक्ति मन है। परन्तु मनःशक्तिके कार्यकरी होनेके लिये प्राणशक्तिकी अनु-कूलता आवश्यक है। नाडियोंमें जो द्विशक्तिशाली परमाणु होते हैं, उनसे शरीरके सब अवयवोंकी आकुञ्चन-प्रसरण-क्रिया सतत हुआ करती है। इस क्रियाके कारण ही हस्त-पादादिक इन्द्रियोंके इष्ट कर्म होते रहते हैं; और इसी प्रकार पित्त-पिण्डसे पित्तका उत्पन्न होना, लंब-पिण्ड (Thyroid) से रसका निर्माण होना, शिखरीसे हृदय-क्रियाका सङ्कोच-विकास होना अथवा उसका बंद होना—ये सब अदृष्ट क्रियाएँ भी होती रहती हैं। ये सब क्रियाएँ प्राणशक्तिसे ही होती हैं।

२१. इन परमाणुओंके आकारानुरूप जो स्नायुवर्द्धक परमाणु रक्तमें होते हैं, वे वर्तुलाकार होते हैं। शरीरकी आकुञ्चन-प्रसरण-क्रियाके होते हुए शरीरमें इनशुलिन, थायरोग्लोबिन आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं; परन्तु रक्त जब किसी चोटसे एक जगह जम जाता है, तब उस रक्तमें उन परमाणुओंका आकार छड़ी-सा लंबा देख पड़ता है। सामान्य नाडीपुञ्जके द्विशक्तिशाली परमाणुओंके चतुर्दिक् जो धनविद्युत् अथवा ऋणविद्युत्कण देख पड़ते हैं उनके आकारसे रक्तगत परमाणु शतगुण बड़े होते हैं।

२२. द्विशक्तिशाली परमाणुओंके अन्तर्गत प्राण-परमाणु

होते हैं। प्राण-परमाणु पृथक्-पृथक् देख पड़ते हैं, पर होते हैं सब प्राणशक्तिसे एकत्र ही। इसलिये प्राण-परमाणुओंके विभाज्य होनेपर भी प्राणशक्ति अविभाज्य है और उसके अविभाज्य होनेसे तथा प्राण-परमाणु भी प्राणशक्तिप्रेरित ही होनेके कारण प्राण-परमाणुओंको भी अविभाज्य कह सकते हैं। मधुमक्खियोंका छत्ता अनेकों पेशियोंसे युक्त होता है। परन्तु मधुमक्खियाँ उसे अपना एक ही घर समझती हैं और यथार्थमें वह एक ही होता भी है। प्राण-परमाणु प्राणशक्तिके कारण जैसे अविभाज्य हैं, वैसे ही मधुमक्खियोंका छत्ता मधुरसके कारण अविभाज्य है।

२३. यहाँतक प्राण-परमाणुओंकी बात हुई। अब इन प्राण-परमाणुओंसे घटित प्राणमय शरीर कैसा होता है? यह विचारें। सर ओलिवर लाज कहते हैं कि प्राणमय शरीरके घटक वियत्तत्त्व (Ether) के बने होते हैं। मैडम ब्लावेट्स्की-के मतसे वियत्तत्त्व और प्राणतत्त्व एक चीज नहीं है। उनका कहना है कि प्राण-परमाणु वियत्तत्त्व (Ether) के घटकोंकी अपेक्षा सूक्ष्म हैं। डा० हेनरी लिंडालका यह मत है कि अखिल ब्रह्माण्डमें जो-जो शक्तियाँ अनुभूत होती हैं, उन सबका मूल स्थान प्राणशक्ति है। विद्युत्का प्रकाश या गति काँचके बल्ब अथवा कारबनके तन्तुपर अवलम्बित नहीं होती। काँचका बल्ब हटा देनेसे विद्युत् प्रकाशित न होगी पर उसकी गति बन्द नहीं होगी और विद्युद्वहनिवाहक प्राण-परमाणु भी नष्ट नहीं होंगे। दूरध्वनियन्त्र (रेडिओ) की सहायतासे हम दूर देशोंके शब्द सुन लेते हैं और यह यन्त्र यदि खराब हो जाय तो हम उन शब्दोंको न सुन सकेंगे; परन्तु इससे उन विद्युत्तरङ्गोंकी गति और आक्रमण और शब्द या रूपवाहन-क्षमता नहीं नष्ट होती, उसका कार्य तो होता ही रहता है।

२४. इन बातोंसे यह स्पष्ट होता है कि प्राणोंका बना हुआ प्राणमय शरीर स्थूलदृष्टिसे दृश्य न होनेपर भी अपनी सत्ता तो रखता ही है। मनुष्यकी शकलके किसी काँचके बर्त्तनमें पानी भरा जाय तो पानी उसमें सर्वत्र फैल जायगा और वह बर्त्तन भरा हुआ देख पड़ेगा। मनुष्यके स्थूल-शरीरमें प्राणमय शरीर भी इसी प्रकारसे है। अन्तर इतना अवश्य है कि पानी उस काँचके बर्त्तनके बाहर बर्त्तनको भेदकर न जायगा, पर प्राणमय शरीर स्थूलशरीरके बाह्य आवरणमें अटका नहीं रहता। दिव्यदृष्टिवाले मनुष्य प्राणमय शरीरको स्थूलशरीरके अंदर-बाहर ओतप्रोत देख सकते हैं।

२५. इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्यका बाह्य शरीर जब छूट जाता है तब उसका प्राणमय शरीर स्थूल-शरीरके रहते जितना प्रभावशाली था उससे अधिक प्रभावशाली हो जाता है। कारण, प्राणमय शरीर स्थूलशरीरकी अपेक्षा अधिक वेगवान् होता है और स्थूलशरीरके परमाणुओं-की अपेक्षा प्राणमय शरीरके परमाणु अधिक सूक्ष्म और शुद्ध होते हैं। प्राणमय शरीरके इन्द्रियगोलक सूक्ष्म होते हैं और सूक्ष्मतर इन्द्रियार्थसन्निकर्षमें समर्थ होते हैं। स्थूल द्रव्य जिस प्रकार स्थूल इन्द्रियोंको सत्य भासते हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म द्रव्य सूक्ष्म इन्द्रियोंको सत्य प्रतीत होते हैं। प्राणमय शरीरके परमाणु संस्कारके द्वारा उत्तरोत्तर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम हो सकते हैं और तब प्राणशक्तिकी गति और ज्ञानशक्ति भी उसी क्रमसे बढ़ती है।

२६. ग्रीस देशके तत्त्वदर्शी पिथागोरसने आजसे २५०० वर्ष पहले यह सिद्धान्त सामने रक्खा था कि सब सृष्ट पदार्थों-में तीन ही तत्त्व हैं—द्रव्य, गति और संख्या। आश्चर्य यह है कि आधुनिक पाश्चात्य विज्ञानका सिद्धान्त इससे मेल खाता जा रहा है। पिथागोरसका 'द्रव्य' वही है जो पाश्चात्य वैज्ञानिकोंका विश्वव्यापी व्याप्त (Universal Ether) अथवा प्राच्य शास्त्रकारोंका आकाशतत्त्व है। पिथागोरसका 'गति' तत्त्व आधुनिक विज्ञानकी विद्युत् है और 'संख्या' आधुनिक विज्ञानका अणु और अणुके अंदर गतिमान् ऋणविद्युत्कण (Electrons) है। प्राणमय शरीर (Astral body) के सम्बन्धमें डा० लिण्डार्सकी यही कल्पना है। इस विषयमें पाश्चात्य वैज्ञानिकोंका ज्ञान अभी बहुत अधूरा है। फिर भी उनका यह विश्वास है कि प्राणशरीरका ठीक पता शीघ्र ही चल जायगा और वह चलेगा रसायनशालाकी मेजपर ही।

२७. कुछ वर्ष पूर्व पैरिसमें सार्वराष्ट्रिक परलोकविद्या-विशारदोंकी एक सभा हुई थी। उस समय विनोदसे यह बात कही गयी थी कि एक मक्खीके पंखके बराबर प्राणमय शरीरका वजन हो सकता है। एंड्रू जैकसनका यह कहना है कि प्राणमय शरीरका तौल एक औंस यानी ढाई तोला हो सकता है। बहुतोंका यह भी कहना है कि इसका तौल कुछ हो ही नहीं सकता। पर प्राण जब एक द्रव्य है, तब उसका वजन तो होना ही चाहिये। बहुतेरोंका यह मत है कि वियत्-शरीर (Ethereal body) और वियत् अर्थात् आकाश

एक पञ्चीकृत तत्त्व है, इसलिये प्राणमय शरीरके साथ उसका वजन जरूर हो सकता है।

२८. हेगके डा० माल्थ और जेल्ट, इन दो व्यक्तियोंने परलोकगत जीवोंके साथ वार्त्तालाप करनेके लिये डायना-मिस्टोग्राफ नामका एक यन्त्र आविष्कृत किया और इसकी मददसे बिना किसी मीडियमके परलोकगत जीवोंके सन्देश पाये। इस यन्त्रके छोरपर, एक अक्षर-लम्बक लगा रहता है, जिसके स्पर्श होनेके साथ ही एक बड़े पतले कागजपर टाइपराइटरकी तरह अक्षर उठते जाते हैं। एक बारके प्रयोगमें तो एक सम्पूर्ण भाषण ही इस तरह लिख गया। बात यह हुई कि अत्यन्त सूक्ष्म स्पर्शसे उस लम्बकपर आघात हुआ और इस आघातके होनेके लिये आघात कर सकनेयोग्य सूक्ष्म परमाणुओंका आकाश-परमाणु-संघटित प्राणमय मानव-शरीर बना हुआ है, यह बात ध्यानमें आयी। इसी प्रकारके प्रयोगोंका वर्णन मि० कारिंग्टनने अपने 'अर्वाचीन मनो-वैज्ञानिक दृश्य' नामक ग्रन्थमें किया है। उन्होंने लिखा है कि हमने अपनी प्रयोगशालामें यह सिद्ध किया है कि आकाश-परमाणु-संघटित प्राणमय शरीर होता है। उन्होंने प्रयोग करके देखा है कि शरीर आकुञ्चन-प्रसरणशील है और यह आकुञ्चन-प्रसरण मनुष्यकी इच्छाशक्तिपर निर्भर है। मनुष्यकी इच्छाशक्ति इस शरीरपर काम करती है अर्थात् शरीर गुरुत्वाकर्षणक्षम है। एक शक्ति ऐसी है, जिससे शरीरके परमाणु एक जगह इकट्ठे होते हैं। प्राणमय शरीरके अणु बहुत ही सूक्ष्म होते हैं। बाहरके वातावरणमें अणुओंकी जितनी घनता होती है, उतनी घनता प्राणमय शरीरके अणुओंमें होती है। बाहरके वातावरणका दबाव बढ़नेसे शरीरके अणुओंका भी दबाव उसी हिसाबसे बढ़ता है। ऐसे इस प्राणमय शरीरका वजन ढाई औंस यानी पाँच तोला होता है। प्राणमय शरीरके अणुओंका दृश्य साथ दिये हुए चित्रमें दिखाया गया है (चित्र नं० २ देखिये)। डा० माल्थ और जेल्टके मतानुसार तथा सूक्ष्म दृष्टि रखनेवाले लोगोंकी सूक्ष्म दृष्टिके द्वारा देखे हुए दृश्यके अनुसार यह चित्र चित्रित किया गया है।

२९. हैवेरहिलमामके डा० डकन मैकडूगलने मास नामक स्थानमें एक ऐसा प्रयोग किया कि क्षय-रोगसे मरनेवाले एक मनुष्यका, मरनेसे पहले, उन्होंने वजन कर लिया। रोगीकी चारपाई एक अति सूक्ष्म भारदर्शक काँटेपर रक्खी गयी और वजन किया गया। वजनका काँटा ठीक लगाकर रखा गया। मृत्यु होनेके साथ ही काँटा पीछे सरका। यह देखा गया कि मृत्यु होनेके साथ ही उस शरीरका ढाई औंस या पाँच तोला वजन तुरंत घट गया। डच वैज्ञानिकोंने भी प्रयोग करके इसको प्रत्यक्ष किया है।

३०. मनुष्यके महाप्रयाणकालमें उसका वियत्-शरीर-सहित प्राणमय शरीर स्थूलशरीरसे बाहर जाता हुआ कैसा देख पड़ता है (चित्र नं० ३ देखिये)। यह स्पष्ट ही देख पड़ता है कि अन्नमय शरीर और प्राण-प्रयाणकालीन प्राणमय शरीर, दोनों बिलकुल एक-से ही होते हैं। बुद्धदेवके मतसे प्राणमय शरीर अणुपरिमाण हो सकता है; पर इस चित्रसे उनका मत ठीक नहीं था, यही कहना पड़ता है। ऑलिवर क्रामवेलको ७ वर्षके लिये राज्याधिकार देनेवाले बिशपका (ऑकल्ट रिव्यू एप्रिल १९३६) अथवा हैम्लेटको उसके पिताका जो प्राणमय शरीर देख पड़ा और ऐसे-ही-ऐसे जो अन्य अनेक उदाहरण हैं, उनसे यही सिद्ध होता है कि स्थूल-शरीरके छूटनेपर मनुष्य स्थूलशरीरके ही आकारवाले प्राणमय शरीरमें स्थित रहता है और अन्नमय शरीरवालोंके सामने प्रकट होनेके लिये वियत्तत्त्वके परमाणु संग्रह कर वह अपनी सत्ता प्रकट कर सकता है। प्राणमय शरीर और वियत्-शरीर-को दृश्य बनानेके लिये प्राणमय शरीरके परमाणुओंका वेग अपनी मनःशक्तिसे कम किया जा सकता है और इस क्रियासे वह स्थूलशरीरधारियोंको दिखायी दे सकता है।

३१. चीन और मिश्र देशोंमें मृत मनुष्यके स्थूल-शरीरको कुछ रासायनिक क्रियाओंके द्वारा और कई प्रकारके लेप लगाकर शरीरके ही आकारके संदूकमें सम्हाल कर रखते हैं। वह परलोकगत जीव, जिसका वह शरीर होता है, उसे देखनेके लिये लौट आया करता है। वह उसे देखना चाहता है और इसी पार्थिवबन्धनसे बँधकर कई परलोकगत जीव इस प्रकार लौट आते हैं। शरीरको सम्हालकर रखनेसे—चाहे वह किसी संदूकमें रक्खा हो या किसी कब्रमें दफन हो—उस शरीरकी आशासे परलोकगत जीव लौटा करते हैं, इसमें सन्देह नहीं। कर्णप्रयागमें स्वामी भास्करा-नन्द जब समाधि ले चुके उसके बाद उनकी समाधिका बड़े ठाठसे जब पूजन-अर्चन हो रहा था, तब स्वामीजी कर्ण-प्रयागसे प्राणमय शरीरसे कोल्हापुर लौट आये, यह तो लेखकने स्वयं देखा है।

३२. चीन देशमें 'ममी' (रासायनिक क्रियासे सम्हालकर

रक्खे हुए मृत शरीर) को उस 'ममी' देहका परलोकगत स्वामी जीव किस प्रकार देखने आया करता है, इसका चित्र इस लेखके साथ दिया है (चित्र नं० १ देखिये ।) । चीन देशमें ममीको इस प्रकार देखनेके लिये आनेवाले दृश्य प्राणमय शरीरवाले जीवको 'का' कहते हैं ।

३३. चीन देशके 'लामा' साधु इस परलोकगत जीवोंका इस तरह पार्थिव आशासे बँधकर लौटना रोकनेके लिये तथा उनके प्रकाशमार्गसे अर्थात् देवयानमार्गसे ऊपरकी ओर जानेके लिये एक क्रिया किया करते हैं । China's Book of the Dead (चीनके मृत मनुष्योंका ग्रन्थ) नामक पुस्तकमें वह प्रक्रिया दी है । वह यही है कि महाप्रयाणके समय उस मनुष्यके कानोंके पीछेकी दोनों प्राणवाहिनी नाडियोंको (श्वास-प्रश्वास-नाडियोंको नहीं) लामा लोग इस तरह दबाकर पकड़ रखते हैं कि उसके प्रभावसे वह जीव महाप्रयाणके अन्तिम क्षणमें धूममार्गसे हटकर प्रकाशमार्गसे चला जाता है । यह लेखक कई लामाओंसे मिला, पर इस क्रियाको किये हुआ उनमें कोई भी न था ।

३४. श्रीमद्भगवद्गीताके 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति·····' इत्यादि श्लोकके अर्थके विषयमें बहुत भ्रम फैला हुआ है । लोग यही समझते हैं कि महाप्रयाणके बाद मनुष्य तुरंत ही दूसरी योनिमें चला जाता है । उसे अपने कर्मके अनुसार दूसरा जन्म प्राप्त होता है और पूर्वजन्ममें जो कुछ अनुभव हुआ, उसी अनुभवको बढ़ाना उसके दूसरे जन्मका हेतु होता है । परन्तु यह बात पशुवत् इन्द्रियलोलुप जीवोंके विषयमें तो नहीं कही जा सकती । इनके जो जन्म होते हैं, वे उन्हीं पहलेके ही इन्द्रियविशिष्ट सुखोंको भोगनेके लिये होते हैं । मृत्युके पश्चात् जीव किस स्थितिमें होता है, इस विषयके अनेकानेक वर्णन पाश्चात्य परलोक-विद्याविशारदोंने अपने ग्रन्थोंमें किये हैं । गीताके उस श्लोकका आशय यह है कि जीवको इस जगत्में इस जगत्के लिये व्यवहारोपयोगी जैसा स्थूलशरीर प्राप्त है, वैसा ही उसी आकारका वियत्-शरीर भी है—जिसके सात कोश हैं । मनुष्य प्रयाणकालमें स्थूलशरीर और वियत्-शरीरके सात कोशोंमेंसे तीन कोश, सब मिलाकर चार शरीर यहाँ छोड़ जाता है । तथापि वियत्-शरीरके चार उपशरीर तथा प्राणमय शरीरकी सहायतासे वह जीव अन्तरालके पितृलोकमें जा रहता है । कुछ कालपश्चात् वियत्-शरीरके चार उपशरीर नष्ट हो जाते हैं, तब वह प्राणमय कोश (Astral body) में जाता है और अपने कर्मानुरूप उच्चसे उच्चतर महर्लोकादि लोकोंमें रहकर अपनी उन्नति कर सकता है ।

३५. प्राणमय शरीरमें रहते हुए मनुष्य आगे अनुभव प्राप्त करनेके लिये भूलोकमें आनेकी इच्छा करता है । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि अपना स्थूलशरीर यदि किसी अपघातसे नष्ट हुआ हो तो उसे किसी ऐसे दूसरे शरीरमें, जिसका शरीरी उसे अभी-अभी छोड़ गया हो, प्रवेश करना पड़ता है ।

३६. आजसे लगभग ४० वर्ष पूर्व एक ऐसी स्त्रीको देखा था जो मराठी भाषा लिख-पढ़ सकती थी । उसके पति ग्रेजुएट थे । उस स्त्रीके सोलहवें वर्षमें ऐसी घटना हुई कि उसके शरीरमें एक दूसरी ही स्त्रीके जीवका प्रवेश हुआ । यह दूसरी स्त्री संस्कृत और अंग्रेजी भाषाओंको खूब जानती थी । उस स्त्रीके शरीरमें इसका प्रवेश सन्ध्याके ६ बजेसे भोर ६ बजेतक रहा करता था । इस अवस्थामें वह अपने पतिसे अंग्रेजी और संस्कृतमें बातचीत करती और न्याय-शास्त्रके बड़े कठिन परिष्कार भी कर दिया करती थी । इस प्रकार इसमें उस 'दूसरी स्त्रीका जो प्रवेश हुआ करता था, वह कुछ विशेष अनुभवोंको प्राप्त करनेके लिये ही हुआ करता होगा ।'

३७. पूनेमें स्वर्गीय गोंदवलेकर महाराजके शिष्य श्रीहरि-भक्तिपरायण भाऊसाहब केतकर रहा करते हैं । उनकी देहमें श्रीगोंदवलेकर महाराज आकर रहते और बातचीत करते हैं । सातारामें श्रीमुलेजी महाराज बड़े अच्छे सत्पुरुष हैं, उनकी देहमें भी इसी प्रकारसे महान् सिद्ध आकर बातें करते हैं । सावंतवाड़ीमें १२ वर्ष वयस्के एक पुरुष सीताराम महाराजके नामसे प्रसिद्ध थे । उनके शरीरमें उनकी वयस्के १६ वें वर्षतक एक संत आकर रहा करते थे । उस समय उनके मुखसे श्रीतुकाराम महाराजकी-सी ही 'अभङ्ग' वाणी निकला करती थी ।

३८. हाला और मितगोल दो बालिकाएँ थीं । दोनोंमें परस्पर बड़ा स्नेह था । हाला एक किसानकी लड़की थी और बड़ी सुन्दरी थी । मितगोल किसी कालेजके प्रिंसिपल-की लड़की थी और पिताकी देखभालमें रहकर विदुषी हो गयी थी । एक दिन सन्ध्यासमय दोनों लड़कियाँ गाने-बजाने-के किसी जलसेमें गयीं । लौटते हुए मोटर-दुर्घटना

हुई और दोनों गतप्राण हुईं। हालाके शरीरमें कोई चोट नहीं थी, पर मितगोलका शरीर जख्मोंसे छिन्न-भिन्न हो गया था। आश्चर्यकी घटना यह हुई कि किसीने (किसी अदृश्य शक्तिने) मितगोलके प्राणमय शरीरको पकड़कर हालाके शरीरमें डाल दिया, हाला जी उठी। परन्तु हालाका यह केवल स्थूलशरीर था, प्राणात्मा तो मितगोलका था।

३९. दोनों लड़कियोंके बाप उन्हें देखने आये। हालाके बापने हालाको जीता पाया और उसे हाला कहकर पुकारा। उसने कहा, 'मैं हाला नहीं हूँ, मितगोल हूँ।' मितगोलके पितासे उसने कहा, 'मैं मितगोल हूँ, हाला नहीं।' उसके सामने शीशा लाया गया, शीशेमें अपना मुँह देखकर वह अकचका गयी। तब मितगोलने अपने पितासे पूछा, 'यह क्या हुआ?' उन्होंने कुछ काल विचारमें डूबकर कहा, 'यह पुनर्जन्म है।' मितगोलने पूछा, 'यह कैसा पुनर्जन्म? मैं हालाके शरीरमें कैसे चली गयी?' उन्होंने उत्तर दिया, 'यह तेरा नवशरीरग्रहण (Re-embodiment) है।' इसके बाद एक दिन कालेजके अध्यापकों और विद्यार्थियोंके सामने मितगोलने 'स्पिनोजाका तत्त्वज्ञान' इस विषयपर व्याख्यान देकर यह सिद्ध किया कि 'मैं ही मितगोल हूँ'। तब सबको यह विश्वास हुआ कि यह शरीरान्तर हुआ है। अन्नमय शरीर तो हालाका ही था, पर उसको मितगोलके प्राणमय शरीरने अधिकृत कर लिया था। किसी अन्य शक्तिने यह काम किया। श्रीमदाद्य शङ्कराचार्यने तो स्वयं ही सुधन्वाके शरीरमें प्रवेश किया था। इस नवीन सुधन्वाके अगाध ज्ञानको देखकर उसके दरबारी चकित-विस्मित हुए थे। मितगोलका परकायप्रवेश पराश्रित था और श्रीमत् आचार्यपादका स्वाश्रित। परकायप्रवेशके सम्बन्धमें आगे और लिखना है।

४०. सन् १९१४–१८ के यूरोपीय महायुद्धमें डान और बाब नामके दो आदमी लड़ाईपर गये थे। ये दोनों एक दूसरेके बड़े प्रेमी मित्र थे। लड़ाईमें इनके मारे जानेकी खबर भी छप चुकी थी। बाबके शरीरपर कोई जख्म नहीं था, पर डानका छिन्न-विच्छिन्न हो गया था। किसी अदृश्य शक्तिने डानका प्राणात्मा बाबके शरीरमें डाल दिया और डान-बाब जी उठा। डान अपने माँ-बापसे मिलने गया, पर वे उसे कैसे पहचानते!

४१. डानकी माँने कहा, 'मेरा डान साँवला था और तुम तो गोरे हो' इत्यादि। पर जब डानने जीवनकी पिछली सब बातें बतायीं और उसके माँ-बापने देखा कि इसका स्वभाव, बोलनेका ढंग और रहन-सहन तो अपने डान-जैसा ही है, तब उन्हें निश्चय हुआ कि यह डान ही है।

४२. इन बातोंसे यह मालूम होता है कि मनुष्यका पुनर्जन्म उसके वशमें ही हो, यह बात नहीं है। अध्यात्मरामायणमें भगवदवतारोंको स्वाधीनसम्भव कहा है। संत-महात्मा भी अपनी इच्छासे जन्म लेते हैं। श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं कि 'हम वैकुण्ठके रहनेवाले हैं; भगवान्‌ने सत्य-भावका कर्म करने भेज दिया, इसलिये चले आये।' इस प्रकार भगवदवतार और सत्पुरुषजन्म स्वाधीनसम्भव होते हैं।

४३. अन्य जीवोंके जन्म किस प्रकार होते हैं, वे स्वयं आते हैं, अथवा भेजे जाते हैं, उन्हें भेजनेवाली कौन-सी शक्ति या देव-देवी हैं—इसका अब किञ्चित् विचार करें।

४४. हमारे इस भूलोककी अपेक्षा सूक्ष्म और सूक्ष्मतर लोक भुवः और स्वः हैं। भुवर्लोकमें रहनेवाले जीवोंमें कामदेव, रूपदेव और अरूपदेव, ये तीन एक-से-एक ऊँची कोटिके देव हैं। कामदेव प्राणमय शरीरवाले हैं। मनोमय शरीरधारी देवों-तक इनकी गति होती है। रूपदेव मनोमय शरीरधारी होते हैं और अरूपदेव वासनामय शरीरधारी अर्थात् कारणदेहधारी होते हैं। अरूपदेव कभी-कभी मनोमय शरीर धारण करते हैं, प्राणमय शरीर सहसा नहीं धारण करते।

४५. अरूपदेवोंकी कोटिसे भी उच्च कोटिके देवोंकी और चार श्रेणियाँ हैं। ये श्रेष्ठ देव ग्रहमालाधिष्ठित देव हैं। उपर्युक्त तीन देवकोटियोंसे विशेष सम्बन्ध न रखनेवाले पर पृथ्वी, अप्, वायु और तेज—इन तत्त्वोंपर स्वामित्व रखनेवाले चार देवराज हैं। ये इन चार तत्त्वोंके साथ पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर—इन चार दिशाओंके भी राजा हैं। पुराणोंमें इनके धृतराष्ट्र, विरूपाक्ष, विरुढक और वैश्रवण नाम बताये हैं। इनके अधीन गन्धर्व, कुम्भक, नाग और यक्ष हैं—जो निम्नकोटिके देवदूत हैं। इन चार महाराजाओंके वर्ण यथाक्रम शुभ्र, नील, रक्त और हैम हैं। प्रत्येक धर्मग्रन्थमें किसी-न-किसी नामसे इन चार महाराजाओंका वर्णन अवश्य हुआ है।

४६. विधाताने इन महाराजाओंको पृथ्वीपर उत्पन्न

होनेवाले मनुष्योंके कर्मोंका नियन्त्रण-कार्य सौंपा है। अर्थात् पृथ्वीपर रहनेवाले मनुष्योंकी उन्नतिके सूत्र इन्हींके हाथोंमें हैं। अखिल विश्वके जो कामदेव हैं, उन्हें लिपिका कहते हैं। प्राणमय शरीरवाले जीवके कर्मानुसार भुवर्लोकमें उसका अधिवासकाल जब समाप्त होता है, तब ये लिपिकादेव उसके कर्माकर्मका हिसाब देखते और उस जीवको भावी अनुभव-क्षेत्र दिलानेके लिये दूसरे जन्मके योग्य प्राणमय शरीर निर्माण करते हैं और पृथ्वी, अप्, वायु, तेज—इन चार तत्त्वोंके अधिपति देवराज लिपिकाके उद्देश्यानुसार उस जीवका अन्नमय शरीर गढ़ते हैं। मनुष्यको इच्छा-स्वातन्त्र्य दिया गया है और तदनुरूप कर्म-स्वातन्त्र्य भी। इसलिये भूलोकमें आकर मनुष्य अपनी इच्छाके अनुसार सदसत् कर्म करता है, फिर उन्हीं कर्मोंके अनुसार उसका भावी जन्म निर्द्धारित होता है।

४७. उपर्युक्त विवरणसे यह मालूम हो जाता है कि किस शक्तिने स्तम्भ ३८ से ४१ तकमें वर्णित मितगोल और डानको दूसरे जीवके शरीरमें डाला। प्राण और प्राणमय शरीरका यहाँतक वर्णन हुआ। अब यह देखें कि अन्नमय कोशसे प्राणमय कोशका उद्गमन क्या है?

४८. सिद्ध पुरुषोंके चरित्रोंसे यह पता लगता है कि कितने ही सिद्ध पुरुषोंने आपद्ग्रस्त भक्तोंके संकटनिवारणार्थ योगकी प्रक्रियासे अन्नमय शरीरसे निकलकर प्राणमय शरीरसे दूर देशोंमें जाकर उन्हें बचाया है। आज भी चीन देशके लामाओंमें यह शक्ति है और उसके अनुभवी लोगोंने यह बात लिख रक्खी है कि ये लोग प्राणायामकी सहायतासे अन्नमय कोशसे प्राणमय कोशको निकाल लेनेकी क्रिया सिद्ध कर लेते हैं।

४९. मनमें अनेक प्रकारकी वृत्तियाँ उठा करती हैं, उनके अनुसार स्थूलशरीरसे प्रत्यक्ष क्रियाके होनेमें प्राणमय शरीरकी क्रियाकी रोक या तो मनःसंयमसे होती है या वायु-संयमसे। मनःसंयमसे किया जानेवाला चित्तवृत्तियोंका निरोध ही वास्तविक प्राणायाम है और यही श्रेष्ठ कोटिका प्राणायाम है। यह सबसे भले ही न सधता हो, पर इससे शरीरमें कोई बिगाड़ नहीं होता। वायु-संयमनमें शरीरकी बड़ी सम्हाल रखनी पड़ती है और गुरुके समीप रहकर ही इसका अभ्यास करना होता है। इस लेखमें सूचित प्राणायाम मनःसंयमसे ही करना चाहिये, यही इस लेखकका मत है। उससे अन्नमय शरीरसे प्राणमय शरीरको निकाल लेनेका कौशल प्राप्त होता है।

५०. हिन्दुस्तानमें पहाड़ोंके अंदर खोदकर बनी हुई कितनी ही गुफाएँ हैं। उनमें ५०० वर्ष पहलेके खुदे हुए चित्र भी हैं। परन्तु इन चित्रोंमें अन्नमय कोशसे प्राणमय कोशके बाहर निकालनेका दृश्य दिखानेवाला कोई चित्र नहीं है। पेरूल, जलगाँव, साँची आदि स्थानोंके समीपकी गुफाओंको लेखकने स्वयं देखा है। अस्तु। बहुत प्राचीन कालसे चीन देशके धर्मगुरु लामाओंमें योगविषयक सब प्रकारके शास्त्रोंका अभ्यास हुआ करता था और आज भी तिब्बतके लामाओंमें कोई-कोई लामा गुरु इठयोगमें बड़े निपुण होते हैं। इन लामाओंके आश्रमों और बौद्ध विहारोंमें उनके गुरुओंके चित्र होते हैं। इन चित्रोंमेंसे कुछ अमेरिकन और यूरोपियन यात्रियोंको प्राप्त हुए हैं। अमेरिकाके प्रोफेसर निकोलस रोरी लासामें २० वर्षतक रहे। वे स्वयं बौद्ध हो गये। ये अपने साथ अमेरिका जो चित्र ले गये, उनमें एक चित्र अन्नमय शरीरसे प्राणमय शरीरके बाहर निकलनेका था, यह बात उन्होंने अपनी 'हार्ट ऑव् एशिया' नामकी पुस्तकमें लिख रक्खी है।

५१. सिलवानजे-मुलडोन और हेरेवार्ड फैरिंगटन नामके दो सज्जनोंने सन् १९२९ में 'प्राणमय शरीरका उत्क्षेप' (The projection of astral body) नामकी पुस्तक लिखी। उसे लंदनके मेसर्स राइडर ऐंड को०ने प्रकाशित किया है। इस लेखमें जो चित्र दिये गये हैं, वे सब उसी पुस्तकमें प्रकाशित चित्रोंकी नकलें हैं। पुस्तकप्रकाशककी आज्ञासे ही वे इस लेखमें छापी गयी हैं। उनकी इस उदारताके लिये लेखक उनका कृतज्ञ है।

५२. स्तम्भ ५० में वर्णित चीनी लामाका चित्र स्तम्भ ५१ में वर्णित प्रकाशककी पुस्तकसे लिया गया है (चित्र नं० ४ देखिये)। लामा गुरुके इस चित्रमें शिराओंके मध्यभाग अर्थात् ब्रह्मरन्ध्रसे एक जीवन-तन्तु (सिल्वर कॉर्ड) निकला है और ऊपर उसके छोरसे उन्हींका फोटो निकला हुआ देख पड़ता है। इस प्रकारसे प्राणमय शरीरका उत्क्षेप जाग्रत् अवस्थामें किया जा सकता है। पर उत्क्षेप होनेपर स्थूलशरीर तना बैठा नहीं रह सकता। चित्रमें स्थूल-शरीर जो तना बैठा दिखाया गया है, वह भूल है। तथापि प्राणशरीरके उत्क्षेपका यह अच्छा निदर्शन है।

५३. फ्रांसके मोशिये हुरावेलने भी 'प्राणमय शरीरका उत्क्षेप' इसी नामसे ऐसा ही एक ग्रन्थ लिखा है। उसमें प्राणशरीरके उत्क्षेपके चित्र दिये हैं। इसी पुस्तकसे मि०

मुलडोनने अपनी पुस्तकमें उपर्युक्त चित्र लिया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने किये हुए कई प्रयोग सचित्र प्रकाशित किये हैं। प्राणशरीर जब स्थूलशरीरसे बाहर निकलता है, तब जैसा देख पड़ता है उसका चित्र दिया है (चित्र क्रमाङ्क ५ देखिये)। यह चित्र मि० मुलडोनने मोशिये डुरावेलकी पुस्तकसे लिया है।

५४. स्तम्भ २८ में प्राणमय शरीरके अणुओंका चित्र है। इसके बादकी अवस्था अन्तरालमें प्राणमय शरीरका देख पड़ना है। प्राणमय शरीरकी अणुमयताका यह दृश्य इस चित्र (चित्र नं०५ देखिये) में देख पड़ता है। पाठकोंमें जो लोग ज्ञानमार्गी हों अर्थात् पञ्चीकरणका अभ्यास करके जो कुछ आगे बढ़े हों उन्हें लिङ्ग अथवा सूक्ष्म शरीर, भोगायतन प्राणमय शरीर अथवा निर्माणकायका औपपत्तिक ज्ञान तो अवश्य होगा ही। लेखकको अबतक ऐसे सौ-दो सौ मनुष्योंसे मिलनेका अवसर हुआ है। ज्ञानमार्गकी सप्तभूमिकाओंका विवेचन भी कई बार इन ज्ञानमार्गियोंसे सुना है। परन्तु क्रियायोगके द्वारा औपपत्तिक ज्ञानको प्रत्यक्ष अनुभव करने या करा देनेवाले बहुत ही कम व्यक्ति मिले। हठयोगी और राजयोगी सिद्ध पुरुषोंके सम्बन्धमें ऐसी बातें सुनी जाती हैं कि अमुक सिद्धने एक ही समयमें दो जगह दर्शन दिये। परन्तु उनके शिष्योंमें कोई ऐसे साधक नहीं मिलते, जो इसकी प्रक्रिया जानते हों या इस शक्तिको पानेका जिन्होंने यत्न किया हो। साम्प्रदायिक शिष्योंकी मनोवृत्ति ही कुछ ऐसी देख पड़ती है कि वे अपने गुरुको इतनी बड़ी पदवीको प्राप्त समझते हैं कि उनसे यह कहना कि हमें अमुक क्रिया सिखाइये, उन्हें एक बड़ा अपराध-सा मालूम होता है, छोटे मुँह बड़ी बात मालूम होती है। अस्तु। भविष्यमें ऐसे सिद्ध पुरुष होंगे, जो इन क्रियाओंका अपने शिष्योंको अनुभव करा देंगे और उनके मृत्युकालीन कष्ट, भय और संशय दूर कर देंगे।

५५. इस विषयमें और भी बहुत कुछ लिखा जा सकता है। परन्तु जो लोग इस विषयको विशेषरूपसे जानना चाहते हों, उनके लिये मि० मुलडोनद्वारा लिखित 'प्राणमय शरीरका उद्गमन' ग्रन्थका निर्देश ही यहाँ कर दिया जाता है। (Mr. Muldone's Projection of Astral Body. Publishers: Messrs. Rider and Co., Paternaster Row, London E. C.) इस ग्रन्थमें दिये हुए प्राणशरीरोद्गमनके प्रयोग गुरुसन्निधिके बिना भी किये जा सकते हैं। इसके लिये कुछ आत्मसंयम आवश्यक होता है, प्रयोग करनेमें समय भी बहुत लगाना पड़ता है और इन प्रयोगोंको करना ही अपना खास उद्योग बना लेना पड़ता है। आजीविकाके निमित्त जिनके पीछे बहुत-सी उपाधियाँ लगी हुई हैं, वे इन प्रयोगोंको नहीं कर सकते। कम-से-कम दो महीने लगातार किसी एकान्त स्थानमें रहना होगा, आहार-विहार परिमित रखना होगा। ऐसा करनेसे मि० मुलडोनको जो अनुभव प्राप्त हुए, वे चाहे जिस अभ्यासीके लिये करतलामलकवत् हो जायँगे। इस लेखके लेखकने ये तथा ऐसे ही अन्य प्रयोग करके देख लिये हैं।

५६. प्राच्य पद्धतिसे प्राणमय शरीरके उद्गमनका अभ्यास गुरुके समीप ही किया जा सकता है। पातञ्जल योग-सूत्रमें इसके यौगिक उपाय बताये हैं। मन्त्र, यन्त्र और तन्त्रके ग्रन्थोंमें भी प्राणमय शरीरके उद्गमन अर्थात् परकाय-प्रवेशके साधन मिलते हैं। शौनक ऋषिका ऋग्विधान (२।२।१; ७।७।१)—सुषुमादि सप्तसूक्तों तथा निवर्त्तध्वम्' से शुरू होनेवाले सात सूक्तोंके पाठकी बात कहता है—

सुषुमादिसप्तसूक्तानि जपेच्चेद्विष्णुमन्दिरे।
मार्गशीर्षेऽयुतं धीमान् परकायं प्रवेशयेत्॥
निवर्त्तध्वं जपेत् सूक्तं परकायाच्च निर्गतः।
कार्तिक्यां ऽयुतं धीमान् कीर्तिमान् विष्णुमन्दिरे॥

शौनक ऋषिके इस प्रयोगमें मार्गशीर्ष मासमें परकाय-प्रवेश करनेपर इसके ग्यारह महीने बाद परकाय-निर्गमनका विधान है। यह उन्हींका स्वानुभूत प्रयोग हो सकता है।

५७. श्रीमदाद्यशङ्कराचार्यने लिखा है कि श्रीपतञ्जलि महामुनिके 'यथाभिमतध्यानाद्वा' इस सूत्रके अनुसार ध्यान करनेसे परकायप्रवेश सिद्ध होता है। पाश्चात्य क्रियायोगमें भी भ्रूमध्यमें 'मैं इस शरीरके बाहर जा रहा हूँ' यह ध्यान ही करनेको कहा गया है। श्रीमत् शङ्कराचार्यने इस विद्याके साधनके लिये एक यन्त्र भी बताया है, जिसके साथ 'सौन्दर्य-लहरी' के एक श्लोकका पाठ भी करना होता है। वह श्लोक, वह यन्त्र और मन्त्र प्रक्रियासहित नीचे दिया जाता है।

५८. सौन्दर्यलहरी, श्लोक ८७—

हिमानीहन्तव्यं हिमगिरिनिवासैकचतुरौ
निशायां निद्राणं निशि चरमभागे च विशदौ।
वरं लक्ष्मीपात्रं श्रियमतिसृजन्तौ समयिनां
सरोजं त्वत्पादौ जननि जयतश्चित्रमिह किम्॥*

* इस श्लोककी क्रम-संख्या और पाठ वाणीविलास प्रेससे प्रकाशित पुस्तकके अनुसार है।

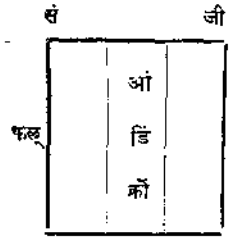

यह यन्त्र सोनेके पत्रेपर लिखे और इक्कीस दिनतक इसे मधु, चित्रान्न और पायसका भोग लगावे। उपर्युक्त श्लोक नित्य सहस्र बार जपे और इस यन्त्रको सहस्र बार हलदी बिछे हुए किसी पीढ़ेपर लिखे। इससे परकायप्रवेशकी विद्या सिद्ध होती है।

५९. हठयोगकी खेचरी-मुद्रासे भी परकायप्रवेशका सिद्ध होना हठयोगके ग्रन्थोंमें लिखा है। परन्तु शारीरिक उपायोंसे खेचरी सिद्ध करनेके पूर्व खेचरीकी सिद्धिके लिये योगकुण्डल्युपनिषद्ने नीचे लिखा मन्त्र और यन्त्र बताया है—

मन्त्र—ॐ ह्रीं गं सं मं फं लं अं सूं खं फ्रें गूं स्मूं लों।

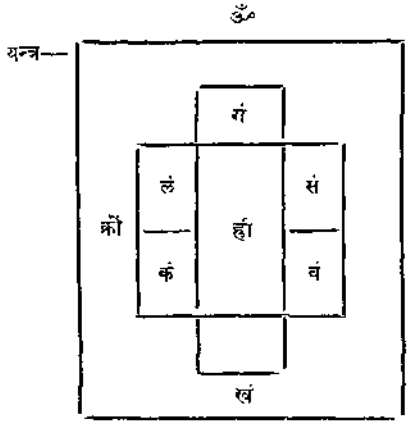

मेलनमन्त्र

सोमांशनवकं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत्।
तस्माद् ङ्यंशकमाख्यातमक्षरं चन्द्ररूपकम्॥
तस्मादष्टमं वर्णं विलोमेन परं सुने।
तथा तत्परमं विद्धि तदादिरपि पञ्चमी॥
इन्दोश्च बहुभिन्ने च कूटोऽयं परिकीर्तितः।

.....

तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते॥

—योगकुण्डल्युपनिषद्

५०. मेलनमन्त्रराजमुद्धरति—खेचरेति। खचाचकतया चरतीति खेचरः हकारः, आवरूथमिति धारणाशक्तिरीकारः, रेति वह्निः, अम्बुमण्डलमिति बिन्दुः। एतत्सर्वं मिलित्वा भूषितं हीमिति खेचरीबीजमाख्यातम्। तेनैव लम्बिकायोगः प्रसिद्ध्यति। शिष्टबीजषट्कमप्यम्बुमण्डलभूषितमिति ज्ञेयम्। सोमांशः सकारः चन्द्रबीजं तत्प्रतिलोमेन तन्नवकं वर्णमुद्धरेद् भमिति। तस्माद् भकारादनुलोमेन ङ्यंशकं चन्द्रबीजमाख्यातं समिति। तस्मात् सकाराद् विलोमेन अपरमष्टमं वर्णमुद्धरेद् ममिति। तथा मकाराद् विलोमेन अपरं पञ्चवर्णं पमिति विद्धि। पुनरिन्दोश्च बीजं समिश्युद्धरेत्। बहुभिः ककारषकारबिन्दुभिः युक्तोऽयं कूटः क्षमिति। आहृत्य बीजानि सप्त—ह्रीं भं सं मं पं सं क्षं इति।

६१. प्राच्य साधनक्रममें तत्त्वसाधन आवश्यक होता है। प्रातःकाल प्रथमतः आकाशतत्त्वके उदय होनेपर अभ्यासके द्वारा आकाशतत्त्वको बारह घंटे साधे रहना पड़ता है। इसका जब स्थायी भाव होता है, तब खेचरी मुद्रा सिद्ध करके बैठ सकते हैं। इस मुद्राका साधन करते हुए स्तम्भ ५७ और ५८में दिये हुए मन्त्र और यन्त्रको साधना होता है। मन्त्रके बिना भी खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है। परन्तु किसी भी कार्यके सिद्ध होनेमें देवता-प्रसाद और देवता-साहाय्य आवश्यक होता है। खेचरी सिद्ध करनेके पूर्व उसी प्रकार देवता-प्रसाद प्राप्त होनेसे वह खेचरी फलवती और सुखदायिनी होती है। खेचरीका साधन बंबईके स्वामी कुवल्यानन्द अथवा स्वामी अभयानन्द या वीरभद्र, पोस्ट ऋषिकेशके स्वामी सत्यानन्दके पास जानेसे सुगम हो सकता है। स्तम्भ ५९में कुण्डल्युपनिषद्का मन्त्रोद्धार—ह्रीं भं सं मं पं सं क्षं—दिया जा चुका है। स्तम्भ ५५में लिखे अनुसार पाश्चात्य प्रक्रियासे प्राणमय शरीर अन्नमय शरीरके बाहर निकाल लिया जा सकता है और प्राणमय शरीरमें जानेपर अन्नमय शरीरसे बाहर निकल आनेकी प्रतीति भी होती है।

६२. इस प्रकार अन्नमय शरीरसे प्राणमय शरीरको बाहर लिया जा सकते हैं और जब यह प्रतीति होती है कि अन्नमय शरीरको छोड़नेपर हम हर तरहसे जागते हुए रहते हैं, तब एक प्रकारका विलक्षण आनन्द होता है। यह आनन्द अपने अमरत्वकी प्रतीतिका है। यह अमरत्व केवल औपपत्तिक नहीं, प्रत्यक्ष प्रयोगसिद्ध है। सिरे औपपत्तिक ज्ञानसे जो समाधान हो सकता है, उससे हजार गुना अधिक समाधान प्रयोगसिद्धिसे होता है—यह तो हमलोग हर बातमें नित्य ही अनुभव करते हैं। इस अमृतत्वको लाभ करना ही मृत्युको

जय करना है। मृत्युकी क्रिया केवल अन्नमय शरीरके साथ प्राणमय शरीरको बाँधनेवाले जीवनतन्तुका टूटकर अलग होना ही है। परन्तु अन्नमय शरीरमें रहते हुए ही जब हम इस जीवन-तन्तु और प्राणमय शरीरको अनुभव कर लेते हैं, तब उस जीवन-तन्तुके अन्नमय शरीरको छोड़ देनेपर भी साधकको मृत्युका भय नहीं होता।

६३. स्तम्भ २८के साथ जो चित्र दिया है, उसके अनुसार उस अणुघटित प्राणमय शरीरको अपने स्थूलशरीरके समीप लाकर उसका आकार अपने स्थूलशरीरमें देख पड़े—यह उसके बादकी अवस्था है। उस चित्रका दर्शन धूमकेतुका-सा है। हमारा जो स्वप्नशरीर है, वही हमारा प्राणमय शरीर है। जो लोग इसके अभ्यासी हैं, वे निद्रावश होनेके पूर्व अपने मनमें इसी निश्चयको जागता हुआ रखकर तब सोते हैं। स्वप्नमें अनेक बार आकाशमें उड़नेका अनुभव होता है। इसका मतलब यही है कि प्राणमय शरीर उस समय स्थूल-शरीरके बाहर निकलकर अन्तरिक्षमें तैरता रहता है। इसके बादकी अवस्था यह है कि स्थूलशरीर निद्रावस्थामें जहाँ जैसे पड़ा है, उसे वैसा ही देखते हुए उससे ४ इंचके फासलेपर उसी स्थूलशरीरकी प्रतिमूर्ति अभ्यासीको देख पड़ती है। इस प्रकार अभ्यासीका प्राणमय शरीर स्थूलशरीरसे दूर चला जाता है। इस क्रियाका छायाचित्र साथ दिये हुए चित्रक्रमाङ्क ६में देखिये।

६४. इस चित्रमें (चित्र नं० ६ देखिये) चारपाईपर पड़े हुए स्थूलशरीर और स्थूलशरीरके बाहर दीखनेवाले प्राणमय शरीर अथवा स्वप्नशरीरके आकारके बीच एक तन्तु जुड़ा हुआ देख पड़ता है। इसे ही जीवन-तन्तु (Silver cord या Astral cord) कहते हैं। इस प्रकार प्राणमय शरीर स्थूलशरीरसे १५ फीट दूर चला जाता है। चित्रमें जैसा दिखाया है वैसा ही यह तन्तु देख पड़ता है, पीछे वह सूक्ष्म होता जाता है। हमारे स्थूलशरीरमें जो प्राणनाडी है, उसीके साथ यह तन्तु जुड़ा हुआ रहता है। इस जीवन-तन्तुके घटक प्राण-परमाणु ही हुआ करते हैं। प्राणमय शरीर इस प्रकार सहस्रों मील दूर जा सकता है। श्रीमत् आद्य शङ्कराचार्यने इसी रीतिसे राजा सुधन्वाके मृत शरीरमें प्रवेश किया था और उसके पूर्व अपने स्थूलशरीरको सम्हाल रखनेके लिये अपने शिष्योंसे कह रक्खा था। राजा सुधन्वाके कुलगुरु और प्रधान सचिवको यह निश्चय हो गया था कि परकायप्रवेशकी विद्यासे राजाके शरीरमें प्रवेश करके कोई महापुरुष आये हैं। इसीलिये उन्होंने यह आज्ञा प्रचारित की कि जहाँ कहीं गिरि-कन्दराओं और गुहाओंमें जो कोई मृतवत् मानव-शरीर सुरक्षित हों, वे जला दिये जायँ। ऐसे सुरक्षित मृतवत् शरीरोंकी ढूँढ-खोज करनेके लिये जासूस भी भेजे गये थे। हेतु यह था कि राजा सुधन्वाके शरीरमें आ बैठे हुए महापुरुषका स्थूलशरीर मिल जाय तो वह जला दिया जाय, जिसमें उस स्थूलशरीरसे जीवन-तन्तु टूट जाय और उन महापुरुषको राजाके शरीरमें ही रहना पड़े। मनुष्य जब इहलोकसे प्रयाण करता है, तब उसका यह जीवन-तन्तु टूट जाता है। इसे तोड़ना कभी-कभी इस स्थूलदेहधारी जीवके हाथमें होता है और सब समय स्तम्भ ४३ में उक्त उन चार महाराजाओंके हाथमें होता है, जो जीवके नियत ऐहिक कर्मके समाप्त होते ही जीवन-तन्तुको तोड़ डालने अथवा जीवमें ही उसे तोड़ डालनेकी प्रबल इच्छा उत्पन्न करते हैं। यहाँतक प्राणमय शरीरके उद्गमनका प्रकार वर्णित हुआ; अब उसकी क्रिया क्या है ? उसे देखें।

६५. प्राणमय शरीरके उद्गमनकी दो क्रियाएँ हैं—एक विज्ञात उद्गमनकी और दूसरी अज्ञात उद्गमनकी। अज्ञात उद्गमन निद्राकालमें होता है। अज्ञात उद्गमन मानव-जातिकी निद्रावस्थाका एक आवश्यक कर्म है। यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि जाग्रत् अवस्थामें शरीरव्यापारके चलानेमें प्राणशक्तिका जो व्यय होता है, उसकी पूर्ति निद्राश्रित उद्गमनसे होती है।

६६. हेरवार्ड फैरिंगटन कहते हैं कि 'निद्राके विषयमें अबतक अनेकोंके अनेकों विचार प्रकट हुए हैं। कोई इसकी रासायनिक उत्पत्ति बताते हैं अर्थात् यह बताते हैं कि जाग्रत् अवस्थामें शरीरके अंदर जो विषयुक्त रस उत्पन्न होते हैं, वे निद्रासे नष्ट हो जाते हैं। कुछ यह बतलाते हैं कि मनुष्यके मस्तिष्कमें होनेवाली रक्ताभिसरणकी एक विशिष्ट क्रिया है, जिससे निद्रा आती है। कोई शरीरके कुछ विशिष्ट मांसपिण्डोंकी क्रियाको इसका कारण बतलाते हैं। कोई शरीरके स्नायुओंकी शिथिलतासे निद्राका लगना मानते हैं और कोई दृढ़तापूर्वक यह प्रतिपादन करते हैं कि बाह्य विषयोंसे इन्द्रियोंको उत्तेजित करनेवाली कोई चीज जब नहीं मिलती, तब ही निद्रा आ जाती है। इन बातोंसे निद्राके कारणका कोई पता नहीं चलता। मनुष्यके स्थूलशरीरमें एक

प्राणमय शरीराभिमानी आत्मा है और स्थूलशरीरके बाहर सर्वत्र अनन्त अमित प्राणशक्ति भरी हुई है। निद्राकालमें यह प्राणमय आत्मा स्थूलशरीरके बाहर निकलकर बाहरकी प्राणशक्तिसे अपनी आवश्यकताभर प्राणशक्ति बटोरकर फिर अन्नमय शरीरमें आ जाता है, इस बातको माने बिना इस समस्याका कोई समाधान नहीं होता।'

६७. मि० वाल्टा कहते हैं कि मानव-शरीर वाष्पयन्त्रवत् नहीं; बल्कि विद्युद्-यन्त्रके समान है। अन्नरससे शरीरके सब व्यापार होते हैं, यह कहना सही नहीं है; बल्कि निद्राकालमें प्राणमय आत्मा जो शक्ति सञ्चित कर रखता है, उसीसे शरीरके सब व्यापार होते हैं। अन्नरससे उसके जीर्ण स्नायुओंमें उत्साह लाया जा सकता है। यदि यह मानें कि अन्नरससे शरीरके व्यापार होते हैं तो निद्राकी फिर कोई आवश्यकता नहीं रहती, निद्राके बदले अन्नरस ही देनेसे निद्राका काम हो जाना चाहिये। पर ऐसा तो नहीं होता। मि० मुलडोनका यह मत है कि हमारा प्राणमय शरीर बाह्य प्राणशक्तिका सञ्चय-स्थान है। प्राणमय शरीरको बाह्य प्राणशक्ति और स्थूल मानवशरीरके मज्जातन्तुजालके बीचकी लड़ी समझिये। स्थूलशरीरके निद्राकालमें यह प्राणमय शरीर बाह्य प्राणशक्तिका आकर्षण कर संग्रह करनेके लिये स्थूलशरीरके बाहर निकला करता है अर्थात् अन्नमय शरीरसे उसका उद्गमन हुआ करता है। यही स्तम्भ ६१में कथित प्राणमय शरीरकी अज्ञात उद्गमनक्रिया है।

६८. विज्ञात उद्गमन (Conscious projection) दो प्रकारका है। एक है प्राच्य योगशास्त्रकी क्रियासे सिद्ध होनेवाला और दूसरा पाश्चात्य प्रयोगसे अर्थात् स्वप्नस्थिति-नियन्त्रणसे सिद्ध होनेवाला।

६९. 'बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः' (पातञ्जल योगसूत्र तृ० पा० सूत्र ३८)। कर्मवशात् प्राप्त होनेवाले शरीरभोगोंका भोक्ता जो जीव है, उसे उस भोगसे जो अवस्था प्राप्त होती है, उसे बन्ध कहते हैं। जब सुख-दुःख, पाप-पुण्यादिके विषयमें साधकको कोई प्रतिकूल या अनुकूल वेदना नहीं होती अर्थात् इन द्वन्द्वोंको उसकी चित्तवृत्ति पार कर जाती है या यह कहिये कि उसका बन्धन विलीन हो जाता है, तब वह साधक चित्तवहा नाडीमें प्रवेश करता है। यह चित्तवहा नाडी प्राणवहा नाडीकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म होती है। इसमें प्रवेश करनेपर साधकको अपने अंदरकी तथा दूसरोंके अंदरकी चित्तवहा नाडीके प्रचारका ज्ञान होता है और वह किसी चेतन-अचेतन प्राणीके शरीरमें प्रवेश कर सकता है। इस प्रकार दूसरेके शरीरमें जब चित्तवहा नाडीसे प्रवेश करता है, तब मधुमक्खियोंकी रानीके पीछे-पीछे जैसे अन्य मधुमक्खियाँ चलती हैं वैसे ही उस साधककी चित्तवहा नाडीके पीछे-पीछे उसकी अन्य इन्द्रियाँ भी उस शरीरमें प्रवेश करती हैं। इस प्रकार वह साधक अपने प्राणमय शरीरसे दूसरेके स्थूलशरीरमें रहकर सब काम करता है। श्रीमदाचार्यप्रोक्त परकायप्रवेशयन्त्र-विधि स्तम्भ ५५ में निर्दिष्ट है।

७०. प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—ये पाँच वृत्तियाँ हैं। इनमें जो निद्रावृत्ति है, उसके निरोधसे परकायप्रवेशकी क्रिया सिद्ध होती है। इसलिये इसी वृत्तिका यहाँ विचार करें। पर इससे पहले स्मृतिवृत्तिका भी किञ्चित् विचार कर लेना आवश्यक है। स्मृतिवृत्तिके निरोधके लिये साधकको अपने मनोमय शरीरमें अन्तर्हित होना पड़ता है। मनोमय शरीरमें जानेके लिये चन्द्रनाडीका निरोध करना पड़ता है। चन्द्रनाडी वाम नासा-रन्ध्रसे बहनेवाले श्वासको कहते हैं, और वह ठीक है। परन्तु यहाँ चन्द्रनाडीका अभिप्राय उस चन्द्रनाडीसे नहीं है। यहाँ चन्द्रनाडी प्राण-तत्त्ववाहिनी नाडी है। ये नाडियाँ अनेक हैं और शरीरके आभ्यन्तर भागमें हैं। पाचक रसका उत्पन्न होना और बाहर निकलना, खाये हुए पदार्थोंमेंसे सार-भाग निकाल लेना, रक्ताभिसरणकी क्रियाका होना और श्वास-प्रश्वासका चलना—ये सब कार्य चन्द्रनाडियोंमें प्रवाहित होनेवाली प्राण-शक्तिसे हुआ करते हैं। पहले तत्त्वाभ्यास करके, प्रातःकाल या सायंकाल चन्द्रस्वरको २ घंटे २४ मिनट स्थिर रखकर उस समय खेचरीमुद्रा सिद्ध करके उस समताको यदि स्थिर रक्खा जाय तो चन्द्रनाडीका निरोध होता है और उससे हृदय-क्रिया बंद होती और नाडियोंमें होनेवाला रक्तप्रवाह बंद हो जाता है। उस समय प्राणमय शरीर अन्नमय शरीरमेंसे बहने लगता है, अर्थात् बाहर निकलकर स्वच्छन्दगामी होता है। ऐसे समय अन्नमय शरीर स्फटिक मणि-सा उज्ज्वल देख पड़ता है। उस समय प्रकाश-साक्षात्कार होता है। दूर-शब्द-श्रवण, दूरदर्शन आदि क्रियाएँ सिद्ध होती हैं। यही स्मृतिवृत्तिका निरोध है। अन्नमय शरीरमें लौट आते समय ऐसा प्रतीत होता है कि स्थूलशरीरमें मानो सहस्रों जलधाराएँ एक साथ प्रवाहित हो रही हों और इससे स्थूल-शरीरमें एक विलक्षण महान् आनन्द अनुभूत होता है।

७१. निद्रावृत्तिके निरोधके लिये वरणा नाडीका निरोध आवश्यक होता है। वरणा नाडी मनोमय शरीरमें नादबिन्दु-कला और आज्ञाचक्रतक फैली हुई है। चन्द्रनाडीकी अपेक्षा यह नाडी सूक्ष्म है और इसे मनोवहा नाडी कहते हैं। सुषुम्णा नाडीके कन्दमें अर्थात् सहस्रारके अंदर अतिशय आभ्यन्तरमें इस नाडीका होना अनुभूत होता है। चन्द्रनाडीके निरोधसे इसका निरोध होता है और इसके निरोधसे निद्रावृत्तिका निरोध होता है। वरणा नाडीके निरोधसे पूर्वजन्मस्मृति प्राप्त होती है। चन्द्रनाडीके निरोधसे प्राणमय शरीर अन्नमय शरीरके बाहर उससे पृथक् देख पड़ता है और वरणाके निरोधसे मनोमय शरीर प्राणमय शरीरके साथ अन्नमय शरीरके बाहर निकाल लिया जा सकता है। यही परकायप्रवेशके लिये उपयुक्त परिस्थिति है।

७२. पाश्चात्य लोगोंके प्राणमयशरीरोद्गमनकी क्रिया स्तम्भ ६८ में कहे अनुसार स्वप्नस्थितिनियन्त्रण है। हमलोगों-का निद्रावृत्तिनिरोध और उन लोगोंका स्वप्नस्थितिनियन्त्रण दोनों क्रियाएँ प्रायः एक ही हैं। साधकको चाहिये कि पहले स्वप्ननियन्त्रणका अभ्यास करे। स्वप्नका नियन्त्रण यही है कि आज रातको अमुक प्रकारका स्वप्न ही हम देखें, यह निश्चय करके सो जाय। इस प्रकार अभ्याससे जब स्वप्न-स्थितिका नियन्त्रण हो लेगा, तब ऐसी भावना करना आरम्भ करे कि आजकी स्वप्नस्थितिमें हमारा प्राणमय शरीर अन्नमय शरीरके बाहर अमुक स्थानमें जाय। ऐसी दृढ भावना करके सोनेका अभ्यास करे। इस अभ्याससे यह अनुभव होगा कि प्राणमय शरीर सङ्कल्पके अनुसार तत्तत् स्थानमें पहुँचता है, अभ्यासी यह अनुभव दूसरोंको भी करा दे सकता है। प्रबल सङ्कल्पबलसे स्थूल पदार्थ भी स्पर्शशक्तिसे हिलाये जा सकते हैं।

यहाँतक पाश्चात्योंके सिद्ध प्रयोगका वर्णन हुआ। इन प्रयोगोंको किये हुए व्यक्ति पाश्चात्योंमें अभी ५-६ से अधिक नहीं हैं। इनमें मि० मुलडोन, मि० आलिवर फारक्र फ्रेंचमैन और मोशिये दुरावेलने इस विषयमें ग्रन्थ लिखे हैं। मि० मुलडोनकी पुस्तकमेंसे अन्नमय शरीरसे प्राणमय शरीरके उद्गमनकी विधिके सम्बन्धमें कुछ सूचनाएँ नीचे देते हैं।

७३. मत्स्य-मांस और उत्तेजक पदार्थ सेवन न करे। जिस दिन प्रयोग करना हो, उस दिन उपवास करना अच्छा है। कम-से-कम प्यास बनी रहे, उसे न बुझावे। हृदयक्रियाके बंद होनेकी बीमारी जिसे हो या जो जल्द घबरा जाता हो, उसे यह प्रयोग नहीं करना चाहिये। प्रयोग दिनमें न करे, प्रयोग करते समय दीपक भी न हो। चारपाईपर पीठके बल लेट जाय। दोनों आँखोंकी पुतलियोंको भ्रूमध्यकी ओर ले जाकर स्थिर करे और यह भावना करे कि हम बिन्दुके समीप हैं। अनन्तर यह भावना करे कि हमारा प्राणमय शरीर उसी बिन्दुसे बाहर निकल रहा है। इस क्रियासे आँखें दुखेंगी। पर है यह क्रिया बहुत ही कार्यक्षम। एक दूसरी क्रिया भी है। रातको जल्दी सो जाय और लगभग २ बजे रातमें उठे। ऐसी प्रबल इच्छा करे कि प्राणमय शरीरको बाहर ले जाना है। ऐसी भावना करे कि किसी हवाई जहाजमें बैठे या लिफ्टमें खड़े-खड़े ऊपर चले जा रहे हैं। इस भावनाके साथ सो जाय अथवा ऐसी भावना करे कि किसी सरोवरमें तैरते हुए या चक्राकार गतिसे ऊपरकी ओर जा रहे हैं, आगे-पीछे अगल-बगल चलनेवाले वायुकी ओर हम देख रहे हैं अथवा शङ्खाकार किसी महान् शङ्खसे बाहर निकल रहे हैं। अथवा यह भावना करे कि अग्नि-ज्वाला सामने है और उसमें हम मिल गये हैं अथवा विमानमें बैठे ऊपर जा रहे हैं। प्रयोग-वाले दिन पानी बिलकुल न पीये। जब न रहा जाय, तब नमक डालकर एक घूँट पानी पी ले, इससे प्यास बढ़ती जायगी। जलवाले घरमें लोटा या गिलास पानी भरकर रक्खे और उसपर दृष्टि गड़ाकर सो जाय और सोनेके कमरेसे वहाँ-तकका रास्ता ध्यानमें ले आवे। इससे नींदके लगते ही प्राणमय शरीर जलसे भरे उस गिलासके पास पहुँच जायगा। जिस दिन जहाँ इस प्रकार जानेकी इच्छा हो, उसीको दिनभर सोचता रहे और यह भी निश्चय कर ले कि वहाँ जाकर अमुक मनुष्यसे मिलना है। कुछ दिन पहलेसे ही समय और स्थान निश्चित करके उस दिन और समयकी प्रतीक्षा करता रहे। भावना दृढ होनेसे उस दिन उस समय उस स्थानमें उसके पास आ पहुँचे, यह उस व्यक्तिको अनुभव होगा।

७४. मृत्यु क्या चीज है? कोई महाबली मनुष्य, देव या दानव नहीं है, बल्कि एक अवस्थान्तरमात्र है। इस अवस्थान्तरका ज्ञान न होनेसे सब प्राणी ही पूर्वजन्मस्मृतिके कारण मृत्युको भीषण, महाभयावह मानते हैं। छोटा बच्चा नहीं जानता कि मृत्यु क्या है, पर उससे वह डरता जरूर है; क्योंकि पूर्वजन्ममें शरीर-वियोगके समय जो दुःख हुआ था, उसकी स्मृति किसी रूपमें उसमें छिपी हुई है। 'जातस्य

हि ध्रुवो मृत्युः' इस वाक्यको जोर-जोरसे घोषनेपर भी अथवा 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्' की खूब मीमांसा करनेपर भी मरणका समय तो भयप्रद ही मालूम होता है। कितने प्राणी सिंह या साँपके समीप आते ही बेहोश होकर गिर पड़ते या मर जाते हैं। श्रीयम (नियमन करनेवाले) राजा और उनके दूतोंकी एक कथा है। यमराजने दूतोंसे कहा, ४०० मनुष्य ले आओ। काम पूरा करके दूत लौटे, पर उनके साथ ८०० मनुष्य थे। इसपर यमराज बिगड़े। उन्होंने कहा—मैंने तो ४०० को लानेको कहा था, ये ८०० क्यों ले आये? दूतोंने कहा—हमलोग तो ४०० को ही ला रहे थे, पर बाकी भयसे आप ही मरे; इसलिये उन्हें भी ले आये। तात्पर्य, कभी-कभी केवल भयसे ही मनुष्य मर जाता है। इस लेखकको याद है कि एक बार एक घरमें साँप निकला, उसको देखते ही उस घरका एक मनुष्य तुरंत मर गया। भयसे शरीरकी सब क्रियाएँ बंद हो जाती हैं। मन दुर्बल होनेसे शारीरिक शक्ति भी क्षीण होती है।

७५. मनुष्य बराबर मरते जा रहे हैं, फिर भी मनुष्य अमर होनेकी इच्छा किया ही करता है और श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं कि 'अमर होओ, अमर ही तो हो, सच-झूठ स्वयं देख लो।' तुकारामके कथनका मतलब यह है कि तुम सूक्ष्मदेहसे अमर हो; मरता केवल तुम्हारा स्थूलशरीर है, तुम नहीं मरते।

७६. सच पूछिये तो ऐसे उपदेशकी आवश्यकता है कि तुम अमर हो, तुम्हारा स्थूलशरीर तुम्हारे शरीरपरके वस्त्रके समान है, प्राणमय शरीरका यह स्थूलशरीर वस्त्र ही है। प्राणमय शरीरसे मनोमय शरीरमें पहुँचनेतक तुम अमर ही हो और आनन्दमय शरीरमें पहुँचनेपर तो तुम ब्रह्मस्वरूप ही हो।

७७. इस प्रकारसे जीवात्मा और परमात्माका एकत्व-सम्पादन होता है। वेदान्तकी घोषणा भी तो यही है कि 'जीवात्मा परमात्मा एक ही हैं।' योगके क्रियाकलापसे इस ऐक्यको प्राप्त करना मनुष्यका प्रथम कर्तव्य है। वेदान्त-विचारसे शब्द-ज्ञान होगा, पर स्वानुभूत ज्ञानके लिये राजयोग-का आश्रय करना ही होगा।

७८. सम्पूर्ण लेखका सारांश यही है कि अन्नमय कोशसे प्राणमय कोश बाहर निकल सकता है और उससे अन्नमय कोशकी असत्यता प्रमेय, प्रमाण और प्रत्यक्षानुभवसे सिद्ध होती है। अन्नमय कोशका छूटना अर्थात् लौकिक मृत्युका होना अन्नमय कोशसे प्राणमय कोशका निकलना है, उद्गमन है, मृत्यु नहीं। इस प्रकार प्राणमय कोशकी सत्यता जँच जानेपर अन्नमय और प्राणमय कोशोंका परस्पर-विच्छेद होना मृत्यु नहीं, किन्तु अवस्थान्तर है—यह बात सामने आ जाती है। प्राणमय कोशसे मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशकी परम्परया अनुभूति होनेपर जीव-शिवके ऐक्यको जानना ही प्राणमय शक्तिके सिद्ध होनेकी फलश्रुति है। इसके केवल औपपत्तिक ज्ञानसे नहीं, बल्कि इसका प्रयोगसिद्ध ज्ञान होनेसे जीव-शिवके एकत्वके विषयमें कोई संशय नहीं रहेगा। इस लेखसे यदि इतना काम बन जाय तो लेखकको इस बातका सन्तोष होगा कि उसके इस प्रयत्नकी दिशा तो ठीक है।

इस प्रकार पाठकोंकी मनोभूमि तैयार हो और वे अमर-पदको प्राप्त करें—'शिवोऽहम्', 'ब्रह्माहम्', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इन परम सत्य वचनोंकी भूमिकातक पहुँचें, यही श्रीनाथ-माता और राजराजेश्वरी श्रीललिता भगवतीसे प्रार्थना कर यह लेख समाप्त करता हूँ।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात्॥

काम

तन मन जारै काम हीं चित कर डाँवाडोल।
धरम सरम सब खोय के रहै आप हिये खोल॥
नर नारी सब चेतियो दीन्हों प्रगट दिखाय।
पर तिरिया पर पुरुष हो भोग नरक को जाय॥

—चरनदासजी

तान्त्रिक साधन

(लेखक—श्रीदेवेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय बी०ए०, काव्यतीर्थ)

इस संसारमें जितने प्रकारके साधन हैं, उनमें चार प्रकारके साधन ही श्रेष्ठ हैं। प्रथम वेदविहित साधनचतुष्टय; द्वितीय सांख्यप्रदर्शित साधनत्रय; तृतीय योगशास्त्रोक्त साधनकी रीति तथा चतुर्थ तन्त्रशास्त्रोक्त साधनप्रणाली। परन्तु कलिकालमें केवल तन्त्रशास्त्रोक्त साधन ही प्रशस्त और सिद्धिप्रद हैं। यही शास्त्रकी उक्ति है। महानिर्वाण-तन्त्रमें कहा गया है—

तपःस्वाध्यायहीनानां नृणामल्पायुषामपि।
क्लेशप्रयासाशक्तानां कुतो देहपरिश्रमः॥
गृहस्थस्य क्रियाः सर्वा आगमोक्ताः कलौ शिवे।
नान्यमार्गैः क्रियासिद्धिः कदापि गृहमेधिनाम्॥

कलिकालमें मनुष्य तपसे हीन, वेदपाठसे रहित और अल्पायु होंगे; वे दुर्बलताके कारण उस प्रकारके क्लेश और परिश्रमके सहनेमें समर्थ न होंगे। अतएव उनसे दैहिक परिश्रम किस प्रकार सम्भव हो सकता है? कलिकालमें गृहस्थलोग केवल आगमोक्त विधानोंके अनुसार ही कर्मानुष्ठान करेंगे। दूसरे प्रकारकी विधियोंसे अर्थात् वैदिक, पौराणिक और स्मार्त्तसम्मत विधियोंका अवलम्बन करके क्रियानुष्ठान करनेसे कदापि सिद्धिलाभ करनेमें समर्थ न होंगे।

(१) षट्चक्रभेद

तान्त्रिक साधन दो प्रकारका है—बहिर्याग और अन्तर्याग। बहिर्यागमें गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, तुलसी, बिल्वपत्र और नैवेद्यादिके द्वारा पूजा की जाती है। अन्तर्यागमें इन सब बाह्य वस्तुओंकी आवश्यकता नहीं होती। मानसोपचारके उपकरण स्वतन्त्र होते हैं, इसमें पञ्चभूतोंके द्वारा उपचार-कल्पना करनी पड़ती है। यथा—

पृथिव्यात्मकगन्धः स्यादाकाशात्मकपुष्पकम्।
धूपो वाय्वात्मकः प्रोक्तो दीपो वह्न्यात्मकः परः॥
रसात्मकं च नैवेद्यं पूजा पञ्चोपचारिका।

पृथ्वीतत्त्वको गन्ध, आकाशतत्त्वको पुष्प, वायुतत्त्वको धूप, तेजस्तत्त्वको दीप, रसात्मक जलतत्त्वको नैवेद्यके रूपमें कल्पना करके इस पञ्चोपचारद्वारा पूजा करनी पड़ती है। इसीका नाम अन्तर्याग है। षट्चक्रोंका भेद ही इस अन्तर्यागका प्रधान अङ्ग है।

षट्चक्रोंका अभ्यास हुए विना आत्मज्ञान नहीं होता; क्योंकि किसी वस्तुके प्रत्यक्ष हुए विना मनका सन्देह नहीं छूटता, अतएव वास्तविक ज्ञान नहीं होता। दार्शनिक विचारोंके द्वारा केवल मौखिक ज्ञान होता है, यथार्थ ज्ञान नहीं होता। इसके प्रत्यक्ष होनेका उपाय है षट्चक्र-साधन।

षट्चक्र क्या हैं?

इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा या भवेत्खलु।
षट्स्थानेषु च षट्शक्तिं षट्पद्मं योगिनो विदुः॥

इडा और पिङ्गलानामक दो नाडियोंके मध्यमें जो सुषुम्णानामक नाडी है, उसकी छः ग्रन्थियोंमें पद्माकारके छः चक्र संलग्न हैं। गुह्यस्थानमें, लिङ्गमूलमें, नाभिदेशमें, हृदयमें, कण्ठमें और दोनों भ्रूके बीचमें—इन छः स्थानोंमें छः चक्र विद्यमान हैं। ये छः चक्र सुषुम्णा-नालकी छः ग्रन्थियोंके रूपमें प्रसिद्ध हैं। इन छः ग्रन्थियोंका भेद करके जीवात्माका परमात्माके साथ संयोग करना पड़ता है। इसीको प्रकृत योग कहते हैं। यथा—

न योगो नभसः पृष्ठे न भूमौ न रसातले।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः॥

(देवीभागवत)

'योगविशारदलोग जीवात्माके साथ परमात्माकी एकता साधन करनेको ही योगके नामसे निर्देश करते हैं।' और योगकी क्रिया-सिद्धिके अंशका नाम साधन है।

अब किस स्थानमें कौन-सा चक्र है? इसे क्रमशः स्पष्ट किया जाता है—

गुह्यस्थलमें मूलाधारचक्र चतुर्दलयुक्त है, उसके ऊपर लिङ्गमूलमें स्वाधिष्ठानचक्र षड्दलयुक्त है, नाभिमण्डलमें मणिपूरचक्र दशदलयुक्त है, हृदयमें अनाहतचक्र द्वादशदलयुक्त है, कण्ठदेशमें विशुद्धचक्र षोडशदलयुक्त है और भ्रूमध्यमें आज्ञाचक्र द्विदलयुक्त है। ये षट्चक्र सुषुम्णा-नाडीमें ग्रथित हैं।

मानव-शरीरमें तीन लाख पचास हजार नाडियाँ हैं।

इन नाडियोंमें चौदह नाडियाँ प्रधान हैं—सुषुम्णा, इडा, पिङ्गला, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, कुहू, सरस्वती, पूषा, शङ्खिनी, पयस्विनी, वारुणी, अलम्बुषा, विश्वोदरी और यशस्विनी। इनमें भी इडा, पिङ्गला और सुषुम्णा—ये तीन नाडियाँ प्रधान हैं। पुनः इन तीनोंमें सुषुम्णा नाडी सर्वप्रधान है और योगसाधनमें उपयोगिनी है। अन्यान्य समस्त नाडियाँ इसी सुषुम्णा नाडीके आश्रयसे रहती हैं। इस सुषुम्णा नाडीके मध्यगत चित्रा नाडीके मध्य सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर ब्रह्मरन्ध्र है। यह ब्रह्मरन्ध्र ही दिव्यमार्ग है, यह अमृतदायक और आनन्दकारक है। कुलकुण्डलिनीशक्ति इसी ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा मूलाधारसे सहस्रारमें गमन करती है और परम शिवमें मिल जाती है, इसी कारण इस ब्रह्मरन्ध्रको दिव्यमार्ग कहा जाता है।

इडा नाडी वामभागमें स्थित होकर सुषुम्णा नाडीको प्रत्येक चक्रमें घेरती हुई दक्षिणनासापुटसे और पिङ्गला नाडी दक्षिण भागमें स्थित होकर सुषुम्णा नाडीको प्रत्येक चक्रमें परिवेष्टित करती हुई वामनासापुटसे आज्ञाचक्रमें मिलती है। इडा और पिङ्गलाके बीच-बीचमें सुषुम्णा नाडीके छः स्थानोंमें छः पद्म और छः शक्तियाँ निहित हैं। कुण्डलिनी देवीने अष्टधा कुण्डलित होकर सुषुम्णा नाडीके समस्त अंशको घेर रक्खा है तथा अपने मुखमें अपनी पूँछको डालकर साढ़े तीन घेरे दिये हुए स्वयम्भूलिङ्गको वेष्टन करके ब्रह्मद्वारका अवरोध कर सुषुम्णाके मार्गमें स्थित हैं। यह कुण्डलिनी सर्पका-सा आकार धारण करके अपनी प्रभासे देदीप्यमान होकर जहाँ निद्रा ले रही हैं, उसी स्थानको मूलाधारचक्र कहते हैं। यह कुण्डलिनीशक्ति ही वाग्देवी हैं अर्थात् वर्णमयी बीजमन्त्रस्वरूपा हैं। यही सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंकी मूलस्वरूपा प्रकृति देवी हैं। इस कन्दके बीचमें बन्धूकपुष्पके समान रक्तवर्ण कामबीज विराजमान है। इस स्थानमें त्रिरण्ड नामक एक सिद्धलिङ्ग और डाकिनी शक्ति रहती है।

जिस समय योगी मूलाधारस्थित स्वयम्भूलिङ्गका चिन्तन करता है, उस समय उसकी समस्त पापराशि क्षणमात्रमें ध्वंस हो जाती है तथा मन-ही-मन वह जिस वस्तुकी कामना करता है, उसकी प्राप्ति हो जाती है। इस साधनाको निरन्तर करनेसे साधक उसे मुक्तिदाताके रूपमें दर्शन करता है।

मूलाधारचक्रके ऊपर लिङ्गमूलमें विद्युद्वर्ण षड्दल-विशिष्ट स्वाधिष्ठाननामक पद्म है। इस स्थानमें बालनामक सिद्धलिङ्ग और देवी राकिणी शक्ति अवस्थान करती है। जो योगी सर्वदा इस स्वाधिष्ठानचक्रमें ध्यान करते हैं, वे सन्देह-विरहित चित्तसे बहुतेरे अश्रुत शास्त्रोंकी व्याख्या कर सकते हैं तथा वे सर्वतोभावेन रोगरहित होकर सर्वत्र निर्भय विचरण करते हैं। इसके अतिरिक्त उनको अणिमादि गुणोंसे युक्त परम सिद्धि प्राप्त होती है।

स्वाधिष्ठानचक्रके ऊपर नाभिमूलमें मेघवर्ण मणिपूर-नामक दशदल पद्म है। इस मणिपूरपद्ममें सर्वमङ्गलदायक रुद्रनामक सिद्धलिङ्ग और परम धार्मिकी देवी लाकिनी शक्ति अवस्थान करती है। जो योगी इस चक्रमें सर्वदा ध्यान करते हैं, इहलोकमें उनकी कामनासिद्धि, दुःखनिवृत्ति और रोगशान्ति होती है। इसके द्वारा वे परदेहमें भी प्रवेश कर सकते हैं तथा अनायास ही कालको भी वञ्चित करनेमें समर्थ हो सकते हैं; इसके अतिरिक्त सुवर्णादिके बनाने, सिद्ध पुरुषोंका दर्शन करने, भूतलमें ओषधि तथा भूगर्भमें निधिके दर्शन करनेकी सामर्थ्य उनमें उत्पन्न हो जाती है।

मणिपूरचक्रके ऊपर हृदयस्थलमें अनाहतनामक एक द्वादशदल रक्तवर्ण पद्म है। इस पद्मकी कर्णिकाके बीचमें विद्युल्लभासे युक्त धूम्रवर्ण पवनदेव अवस्थित हैं तथा इस षट्कोण वायुमण्डलमें यं बीजके ऊपर ईशाननामक शिव काकिनी शक्तिके साथ विद्यमान हैं। कुछ लोगोंके मतसे इन्हें त्रिनयनी शक्तिके साथ बाणलिङ्ग कहा जाता है। इस बाणलिङ्गके स्मरणमात्रसे दृष्टादृष्ट दोनों वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं। इस अनाहतनामक पद्ममें पिनाकी नामक सिद्धलिङ्ग और काकिनी शक्ति रहती है। इस अनाहतचक्रके ध्यानकी महिमा नहीं कही जा सकती। ब्रह्मा प्रभृति समस्त देवगण बहुत यत्नपूर्वक इसको गुप्त रखते हैं।

कण्ठमूलमें विशुद्धनामक चक्रका स्थान है। यह चक्र षोडशदलयुक्त है और धूम्रवर्ण पद्माकारमें अवस्थित है। इसकी कर्णिकाके बीचमें गोलाकार आकाशमण्डल है, इस मण्डलमें श्वेत हस्तीपर आरूढ़ आकाश हं बीजके साथ विराजित है। इसकी गोदमें अर्द्धनारीश्वर शिवमूर्ति है—दूसरे मतसे इसे हर-गौरी कहते हैं। इस शिवके गोदमें पीतवर्ण चतुर्भुजा शाकिनी शक्ति विराजित है। इस चक्रमें पञ्च स्थूल-भूतोंके आदिभूत महाकालका स्थान है। इस आकाशमण्डल-से ही अन्यान्य चारों स्थूल भूत क्रमशः चक्ररूपमें उत्पन्न हुए

हैं अर्थात् आकाशसे वायु, वायुसे तेज, तेजसे जल और जलसे पृथिवी उत्पन्न हुई है। इस चक्रमें छगलाण्डनामक शिवलिङ्ग और शाकिनीनामक शक्ति अधिदेवतारूपमें विराजित हैं। जो प्रतिदिन इस विशुद्धचक्रका ध्यान करते हैं, उनके लिये दूसरी साधना आवश्यक नहीं होती। यह विशुद्धनामक षोडशदल कमल ही ज्ञानरूप अमूल्य रत्नोंकी खान है। क्योंकि इसीसे रहस्यसहित चतुर्वेद स्वयं प्रकाशित होते हैं।

ललाटमण्डलमें भ्रूमध्यमें आज्ञानामक चक्रका स्थान है। इस चक्रको चन्द्रवत् श्वेतवर्ण द्विदल पद्म कहा जाता है। इस चक्रमें महाकालनामक सिद्धलिङ्ग और हाकिनी शक्ति अधिष्ठित हैं। इस स्थानमें शरत्कालीन चन्द्रके समान प्रकाशमय अक्षर बीज (प्रणव) देदीप्यमान है। यही परमहंस पुरुष है। जो लोग इसका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, वे किसी भी कारणसे दुःखी या शोक-तापसे अभिभूत नहीं होते।

पहले कहा गया है कि सुषुम्णा नाडीकी अन्तिम सीमा ब्रह्मरन्ध्र है तथा यह नाडी मेरुदण्डके आश्रयसे ऊपर उठी हुई है। इडा नाडी इस सुषुम्णा नाडीसे ही लौटकर (उत्तरवाहिनी होकर) आज्ञापथकी दाहिनी ओरसे होकर वामनासापुटमें गमन करती है। आज्ञाचक्रमें पिङ्गला नाडी भी उसी रीतिसे बायीं ओरसे घूमकर दक्षिण नासापुटमें गयी है। इडा नाडी वरणा नदीके नामसे और पिङ्गला नाडी असी नदीके नामसे अभिहित होती है। इन दोनों नदियोंके बीचमें वाराणसी धाम और विश्वनाथ शिव शोभायमान हैं।

योगीलोग कहते हैं कि आज्ञाचक्रके ऊपर तीन पीठस्थान हैं। उन तीनों पीठोंका नाम है—बिन्दुपीठ, नादपीठ और शक्तिपीठ। ये तीनों पीठस्थान कपालदेशमें रहते हैं। शक्तिपीठका अर्थ है ब्रह्मबीज ॐकार। ॐकारके नीचे निरालम्बपुरी तथा उसके नीचे षोडशदलयुक्त सोमचक्र है। उसके नीचे एक गुप्त षड्दल पद्म है, उसे ज्ञानचक्र कहते हैं। इसके एक-एक दलसे क्रमशः रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द और स्वप्रज्ञान उत्पन्न होते हैं। इसीके नीचे आज्ञाचक्रका स्थान है। आज्ञाचक्रके नीचे तालुमूलमें एक गुप्त चक्र है, इस चक्रको द्वादशदलयुक्त रक्तवर्ण पद्म कहा जाता है। इस पद्ममें पञ्चसूक्ष्मभूतोंके पञ्चीकरणद्वारा पञ्चस्थूलभूतोंका प्रादुर्भाव होता है। इस चक्रके नीचे विशुद्धचक्रका स्थान है।

अब सहस्रारकी बात सुनिये। आज्ञाचक्रके ऊपर अर्थात् शरीरके सर्वोच्च स्थान मस्तकमें सहस्रार कमल है। इसी स्थानमें विवरसमेत सुषुम्णाका मूल आरम्भ होता है एवं इसी स्थानसे सुषुम्णा नाडी अधोमुखी होकर चलती है। इसकी अन्तिम सीमा मूलाधारस्थित योनिमण्डल है।

सहस्रार या सहस्रदलकमल शुभ्रवर्ण है, तरुण सूर्यके सदृश रक्तवर्ण केशरके द्वारा रञ्जित और अधोमुखी है। उसके पचास दलोंमें अकारसे लेकर क्षकारपर्यन्त सबिन्दु पचास वर्ण हैं। इस अक्षरकर्णिकाके बीचमें गोलाकार चन्द्रमण्डल है। यह चन्द्रमण्डल छत्राकारमें एक ऊर्ध्वमुखी द्वादशदलकमलको आवृत किये है। इस कमलकी कर्णिकामें विद्युत्-सदृश अकथादि त्रिकोण यन्त्र है। उक्त यन्त्रके चारों ओर सुधासागर होनेके कारण यह यन्त्र मणिद्वीपके आकारका हो गया है। इस द्वीपके मध्यस्थलमें मणिपीठ है, उसके बीचमें नाद-बिन्दुके ऊपर हंसपीठका स्थान है। हंसपीठके ऊपर गुरु-पादुका है। इसी स्थानमें गुरुदेवके चरण-कमलका ध्यान करना पड़ता है। गुरुदेव ही परम शिव या परम ब्रह्म हैं। सहस्रदलकमलमें चन्द्रमण्डल है, उसकी गोदमें अमरकला नामकी षोडशी कला है तथा उसकी गोदमें निर्वाणकला है। इस निर्वाणकलाकी गोदमें निर्वाणशक्तिरूपा मूलप्रकृति बिन्दु और विसर्ग शक्तिके साथ परमशिवको वेष्टन किये हुए है। इसके ध्यानसे साधक निर्वाण-मुक्तिको प्राप्त कर सकता है।

सहस्रदलस्थित परमशिव-शक्तिको वेदान्तके मतसे परम ब्रह्म और माया कहते हैं तथा पञ्चको आनन्दमय कोष कहते हैं। सांख्यमतसे परमशिव-शक्तिको प्रकृति-पुरुष कहा जाता है। इसीको पौराणिक मतसे लक्ष्मी-नारायण, राधा-कृष्ण तथा तन्त्रमतसे परमशिव और परमशक्ति कहते हैं।

(२) नवचक्रसाधन

यहाँतक शिवसंहिताकारके मतसे सुषुम्णास्थित षट्चक्रोंका वर्णन संक्षेपमें किया गया। अब अन्यान्य तन्त्रोंमें कथित नवचक्रोंका वर्णन किया जाता है। यथा—

नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे यो न जानाति स योगी नामधारकः॥

'शरीरमें नवचक्र, षोडशाधार, त्रिलक्ष्य और पञ्च प्रकारके व्योमको जो व्यक्ति नहीं जानता वह व्यक्ति केवल नामधारी योगी ही है।'

नवचक्र ये हैं—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, तालु, ब्रह्मरन्ध्र और सहस्रार।

षोडशकलाधार इस प्रकार हैं—अङ्गुष्ठ, पादमूल, गुल्फदेश, लिङ्गमूल, जठर, नाभि, हृदय, कण्ठ, जिह्वाग्र, तालु, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, नासापुट, भ्रूमध्य और नेत्र। त्रिलक्ष्य ये हैं—स्वयम्भूलिङ्ग, बाणलिङ्ग और ज्योतिर्लिङ्ग। पञ्चव्योम ये हैं—आकाश, महाकाश, पराकाश, तत्त्वाकाश और सूर्याकाश।

प्रथम चक्रसाधन

पहला ब्रह्मचक्र अर्थात् आधारचक्र भगाकृति है। इसमें तीन आवर्त्त हैं। यह स्थान अपानवायुका मूलदेश है और समस्त नाडियोंका उत्पत्तिस्थान है, इसी कारण इसका नाम कन्दमूल है। कन्दमूलके ऊपर अग्निशिखाके समान तेजस्वी कामबीज 'क्लीं' है—इस स्थानमें स्वयम्भूलिङ्ग हैं। इन स्वयम्भूलिङ्गको तेजोरूपा कुण्डलिनी शक्ति साढ़े तीन बार गोलाकार वेष्टन करके अधिष्ठित है। इस ज्योतिर्मयी कुण्डलिनी शक्तिको जीवरूपमें ध्यान करके उसमें चित्तको लय करनेसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

द्वितीय चक्रसाधन

स्वाधिष्ठाननामक द्वितीय चक्र है। यह प्रवालाङ्कुरके समान और पश्चिमाभिमुखी है। इसमें उड्डीयान पीठके ऊपर कुण्डलिनी शक्तिका ध्यान करनेसे जगत्‌को आकर्षण करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है।

तृतीय चक्रसाधन

तृतीय मणिपूरनामक नाभिचक्र है। उसमें पञ्च आवर्त्तसे विशिष्ट विद्युद्वर्णा है। चित्स्वरूपा मध्यशक्ति भुजगावस्थामें रहती है। उसका ध्यान करनेसे योगी निश्चयपूर्वक सर्वसिद्धियोंका पात्र हो जाता है।

चतुर्थ चक्रसाधन

चतुर्थ अनाहतचक्र हृदयदेशमें अधोमुख अवस्थित है। उसके बीचमें ज्योतिःस्वरूप हंसका यत्नपूर्वक ध्यान करके उसमें चित्तलय करना चाहिये। इस ध्यानसे समस्त जगत् वशमें हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं।

पञ्चम चक्रसाधन

पञ्चम विशुद्धनामक कालचक्र कण्ठदेशमें स्थित है। उसके वामभागमें इडा, दक्षिणभागमें पिङ्गला और मध्यमें सुषुम्णा नाडी है। इस चक्रमें निर्मल ज्योतिका ध्यान करके चित्त लय करनेसे योगी सर्वसिद्धिका भाजन हो जाता है।

षष्ठ चक्रसाधन

षष्ठ ललना वा तालुका चक्र है। इस स्थानको घण्टिकास्थान और दशमद्वारमार्ग कहते हैं। इसके शून्य स्थानमें मनोलय करनेसे उस लययोगी पुरुषको निश्चय ही मुक्ति प्राप्त होती है।

सप्तम चक्रसाधन

आज्ञापुरमें भ्रूमध्यमें भ्रूचक्रनामक सप्तम चक्र है। इस स्थानको बिन्दुस्थान कहते हैं। इस स्थानमें वर्त्तुलाकार ज्योतिका ध्यान करनेसे मोक्षपदकी प्राप्ति हो जाती है।

अष्टम चक्रसाधन

अष्टम चक्र ब्रह्मरन्ध्रमें है। यह चक्र निर्वाण प्रदान करनेवाला है। इस चक्रमें सूचिकाके अग्रभागके समान धूम्राकार जालन्धरनामक स्थानमें ध्यान करके चित्त लय करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

नवम चक्रसाधन

नवम ब्रह्मचक्र है। यह चक्र षोडशदलमें सुशोभित है। उसमें सच्चिद्-रूपा अर्द्धशक्ति प्रतिष्ठित है। इस चक्रमें पूर्णा चिन्मयी शक्तिका ध्यान करनेसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

इन नौ चक्रोंमें एक-एक चक्रका ध्यान करनेवाले योगीके लिये सिद्धि और मुक्ति करतलगत हो जाती है। क्योंकि वे ज्ञाननेत्रके द्वारा कोदण्डद्वयके मध्य कदम्बके समान गोलाकार ब्रह्मलोकका दर्शन करते हैं और अन्तमें ब्रह्मलोकको गमन करते हैं।

एतेषां नवचक्राणामेकैकं ध्यायतो मुनेः।
सिद्धयो मुक्तिसहिताः करस्थाः स्युर्दिने दिने॥
कोदण्डद्वयमध्यस्थं पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषा।
कदम्बगोलकाकारं ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते॥

विनय

हरि ! तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों ।
साधन धाम बिबुध दुरलभ तनु मोहि कृपा करि दीन्हों ॥
कोटिहुँ मुख कहि जात न प्रभुके एक एक उपकार ।
तदपि नाथ ! कछु और माँगिहौं दीजै परम उदार ॥
बिषय-बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक ।
ताते सहौं बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक ॥
कृपाडोरि बनसी पद अंकुस परम प्रेम मृदु चारो ।
एहि बिधि बेधि हरहु मेरो दुख कौतुक राम तिहारो ॥
हैं श्रुतिबिदित उपाय सकल सुर केहि केहि दीन निहोरै ।
'तुलसिदास' येहि जीव मोह-रजु जेहि बाँध्यो सोइ छोरै ॥

—तुलसीदासजी

श्रीवल्लभसम्प्रदायसम्मत साधना

(स्वतन्त्र भक्तिमार्ग अथवा पुष्टिभक्ति)

(लेखक—देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री)

साधनसे ही साध्यकी प्राप्ति होती है, यह सिद्धान्त नियत नहीं है। कंसके समयमें प्रायः सबको दुःख हो रहा था। सबको दुःखाभाव साध्य था। उसके लिये पृथ्वी, ब्रह्मा और देवगणने स्तुति-स्तोत्रादि साधनोंका अनुष्ठान किया; किन्तु गँवार व्रजवासियोंने कौन-सा साधन किया था? उनके सब दुःख अपने-आप दूर हो गये।

भगवत्प्राप्तिमें भक्ति ही साधन है, यह सब कोई जानते और मानते भी हैं। किन्तु व्रजनारियोंको भगवान्‌की प्राप्ति पहले हो गयी और भक्ति पीछे हो पायी। ऐसी अवस्थामें साधनसे ही साध्यकी सिद्धि होती है, यह नियत सत्य नहीं है। हाँ, कहीं-कहीं ऐसा हो सकता है।

अंग्रेजोंने आकाशगमनके लिये विमान बनाये, सैकड़ों कोसकी बातें सुननेके लिये अनेक यन्त्र बनाये, बड़े श्रम किये, अनेक साधन किये—यह ठीक है। किन्तु हम-आप, जिन्होंने उसके लिये कभी हाथ-पैर नहीं हिलाये, एक दिनमें ही रेलके द्वारा सैकड़ों कोसकी यात्रा कर आते हैं। घर बैठे दूरका गाना और बातें सुना करते हैं। यह क्या बात है? अपने साधनानुष्ठान करनेसे ही साध्यकी प्राप्ति होती है, यह सार्वत्रिक नियत नियम नहीं है। वाद-विवाद करनेके लिये यह वक्तव्य नहीं है।

इन बातोंसे यह स्पष्ट होता है कि कोई एक ऐसा मार्ग भी है जहाँ प्रसिद्ध और नियत साधनोंके अनुष्ठानके बिना भी फलकी प्राप्ति हो जाती है। स्वतन्त्र भक्तिमार्ग किंवा पुष्टिमार्ग ऐसा ही है। दोनों एक ही पदार्थ हैं। भगवान्‌के अनुग्रहको 'पुष्टि' कहते हैं—'पोषणं तदनुग्रहः'। उस अनुग्रहसे जो भक्ति—भगवत्प्रेम प्राप्त हो, वह पुष्टिभक्ति है। यह भक्ति स्वरूपसे रागमयी है, इसलिये रागात्मिका भी कही जा सकती है। कितने ही रागात्मिकाके स्थानपर रागानुगा शब्दका प्रयोग करते हैं; पर इस शब्दका अर्थ जबतक समझमें न आवे तबतक उसके विषयमें कुछ कहना साहस है। 'रागम् अनुगच्छति असौ, किंवा रागस्य अनुगा रागानुगा' दोनों तरहकी व्युत्पत्ति मूल अर्थका स्पर्श नहीं करती। रागका अर्थ प्रेम या स्नेह है, यह ठीक है; किन्तु वही भक्ति भी है। भक्ति यदि कोई दूसरा पदार्थ हो और वह रागका अनुगमन करती हो, तब उसे रागानुगा कह सकते हैं। 'रागस्य अनुगा' में भी यही अड़चन आती है। अस्तु,

राग, स्नेह या प्रेम ही भक्तिपदार्थ है—यह तो अनुभवकी बात है। नारदसूत्र, शाण्डिल्यसूत्र और नारदपाञ्चरात्र प्रभृति शास्त्रोंने भी स्नेहको ही भक्तिशब्दार्थ माना है—'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' (नारदसूत्र); 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (शां० सू०)। पाञ्चरात्रमें भी कहा है—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥

स्नेहात्मिका, रागात्मिका या प्रेममयी भक्ति भगवान्‌के अनुग्रहसे भी प्राप्त होती है—यह निर्विवाद है। इसे ही पुष्टिभक्ति भी कहते हैं। कितनोंका तो यह कहना है कि 'भी' नहीं, भक्ति तो भगवान्‌के अनुग्रहसे ही प्राप्त होती है। जहाँ हमें भक्तिके कारण अन्य साधन दीख रहे हैं, वहाँ भी भगवदनुग्रह ही साधन है। भगवान्‌की भक्ति भगवान्‌के अनुग्रहसे मिलती है, यह निर्विवाद है। 'पुष्टि' शब्द अनुग्रहमें रूढ है। श्रीभागवतके षष्ठ स्कन्धका नाम ही अनुग्रहस्कन्ध है। वहाँ इस अनुग्रह-शब्दार्थका प्रमाण-प्रमेय, साधन और फलके द्वारा खूब विस्तार किया गया है। मैंने भी अपने 'अनुग्रहमार्ग' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थमें अनुग्रहका स्पष्ट विवेक कर दिया है।

अनुग्रह या पुष्टि भगवद्धर्म है। भगवान्‌में संक्षेपसे छः प्रधान धर्म स्वतन्त्र रहते हैं और विस्तारसे अनन्त धर्म रहते हैं। भगवान्‌के वीर्य (पराक्रम)-विशेषको अनुग्रह कहते हैं। 'भगवान्' शब्दकी व्युत्पत्तिमें ही छः धर्म स्थित हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

भगमस्यास्तीति भगवान्। भगवद्वीर्य—अनुग्रहरूपा पुष्टिसे जो भक्ति प्राप्त होती है, वही पुष्टिभक्ति है। 'भक्ति'

शब्दका अर्थ तो यहाँ भी जो है सो ही है। भज्-ति—'भज्' प्रकृति और 'ति' प्रत्यय। 'भज्' प्रकृतिका अर्थ सेवा और 'ति' प्रत्ययका अर्थ भाव। परिचर्या (चाकरी) सेवाका खुलासा है। अर्थात् भावसहित सेवाको भक्ति कहते हैं। किंवा भावात्मक सेवाको भी भक्ति कहते हैं। यह मार्ग ऐसा है, जहाँ साधन ही फल माना गया है। ऐकान्तिक भक्तलोग भगवत्प्रेमको ही परम फल मानते हैं। 'दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।'—'मेरे भक्त मेरी प्रेमात्मक सेवाके सिवा अन्य फल नहीं ग्रहण करते', 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्त-सर्वार्थाः'—'भगवद्भक्त रहनेमें ही अपना सब फल पूर्ण हुआ मानते हैं।' भेद इतना ही है कि भावसहित सेवा (चाकरी) साधन है और फलावस्थामें वही भक्ति या सेवा भावात्मक रह जाती है। कल्पनामयी सेवाको भावात्मिका सेवा नहीं समझना चाहिये।

कितने ही कहते हैं कि नारदपाञ्चरात्रमें माहात्म्यज्ञान भी भक्तिमें सम्मिलित है, फिर केवल स्नेहको ही भक्ति किस तरह कहते हो। ठीक है। 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु' यहाँ माहात्म्यज्ञानको भी लिया है, पर 'पूर्वः'। प्रारम्भमें माहात्म्य-ज्ञान रहता है, फिर सर्वदा नहीं रहता। प्रेम होनेके बाद तो केवल स्नेह ही रह जाता है। बड़प्पनको 'माहात्म्य' कहते हैं। बड़प्पनवालेमें जो स्नेह किया जाता है, वह भक्ति है। बड़प्पन भगवान्‌में रहता है, स्नेह भक्तमें रहता है; इसलिये प्रेम तो केवल ही रहा।

भगवान् अपने अनन्त धर्मोंमेंसे कितने ही ज्ञानादि प्रसिद्ध धर्मोंका दान जीवके लिये भी करते हैं। उनमें एक भक्ति भी है। सच्चिदानन्द भगवान्‌के प्रधानतम धर्म सत्, चित् और आनन्द हैं। सृष्टि-अवस्थामें कभी-कभी भगवान् किसी जीवको इनका दान भी करते हैं। भगवान्‌के सत्‌से क्रिया, चित्‌से ज्ञान और आनन्दसे भक्ति या प्रेम लिया गया है। ये तीनों ही सृष्टिमें फैले हुए हैं। सब जगत् यह है। इस विषयको भी हम अपने 'ब्रह्मवाद' ग्रन्थमें स्पष्ट कर चुके हैं। भक्तिमें भी सत्-चित्-आनन्द तीनों मिले हुए रहते हैं। भक्तिमें क्रियाविशेष भी है और आनन्दविशेष भी है ही। परिचर्या (चाकरी) क्रियाविशेष है और यह 'भज्' प्रकृतिका अर्थ है। माहात्म्यज्ञान चिद्विशेष है तथा प्रेम ही आनन्दकी लहर है। यह दोनों ति-प्रत्ययका अर्थ है। प्रकृति-प्रत्ययार्थ मिलाकर एक भक्ति-शब्दार्थ है। किन्तु प्रकृति-प्रत्ययार्थमें प्रत्ययार्थ ही मुख्य माना गया है। इसलिये प्रेम ही 'भक्ति' शब्दका मुख्य अर्थ है। साधना-वस्थामें भले माहात्म्यज्ञान रहा आवे, पर पूर्ण स्नेह होनेपर वह नहीं रहता।

महामहोपाध्याय पण्डितजी किसी गरीबके घर गये। उस समय चाहे उस गरीबके हृदयमें उनका स्नेह रहे या न रहे, पर माहात्म्यज्ञान तो पूर्ण है। बड़ी कृपा की; आसन, कुर्सी, दण्डवत् प्रणाम, स्तुति, स्तोत्र, भेंट—ये सब माहात्म्यज्ञानके ही आडम्बर हैं। किन्तु जब घनिष्ठ परिचय होनेसे दोनोंमें पूर्ण प्रेम हो गया, तब फिर धीरे-धीरे माहात्म्य-ज्ञानके वे सब अंश (चोचले) दूर होते जाते हैं। धरतीपर बैठे तो क्या और कुर्सीपर बैठे तो क्या? बरफी-पेड़े हुए तो क्या और दाल-भात हुआ तो क्या? स्तुति-स्तोत्र न हुए और गाली दे दी तो क्या? केवल स्नेह ही रह गया। अतएव किसी मर्मज्ञने कहा है—

उपचारः कर्तव्यो यावदनुत्पन्नसौहृदाः पुरुषाः।
उत्पन्नसौहृदानामुपचारः कैतवं भवति॥

'जबतक स्नेह न हो, तबतक माहात्म्यज्ञानसम्बन्धिनी चेष्टाएँ हों तो ठीक है। पर जब पूर्ण स्नेह हो चुका, तब भी यदि उपचार किये जायँ तो वह कपट मालूम देता है।' श्रीकृष्णने जब गोवर्धनगिरिको धारण किया तो नन्दादि गोपगणोंको थोड़ी देरके लिये भगवान्‌का माहात्म्य समझमें आया, पर थोड़ी देरमें ही वह हट भी गया। पर्वतको यथा-स्थान रख देनेके बाद जब सब लोग श्रीकृष्णसे मिलने लगे तो वह माहात्म्यज्ञान न जाने कहाँ गया। केवल प्रेम-ही-प्रेम रह गया। अतएव वहाँ कहा है—

तं प्रेमवेगाच्चिभृता व्रजौकसो
यथा समीयुः परिरम्भणादिभिः।
गोप्यश्च सस्नेहमपूजयन्मुदा
दध्यक्षताद्यैर्युयुजुः सदाशिषः॥

'गिरिराजको यथास्थान धर देनेके बाद व्रजवासी गोप-गोपियोंका प्रेमप्रवाह भगवान् श्रीकृष्णकी तरफ दौड़ा। अतएव वे सब अपने-अपने अधिकारके अनुसार भगवान्‌से गलेसे गला, छातीसे छाती लगाकर मिले। कितनी ही गोपियाँ लोकलज्जासे सबके देखते पुरुषोंकी तरह न मिल सकीं तो उन्होंने भगवान्‌के स्नेहको दूसरी तरह प्रकाशित

किया। किसीने उनपर दधि डाला, किसीने अक्षत फेंके और किसी प्रियाने भगवान्‌पर पानी ही डाल दिया। और जो भगवान्‌से उमरमें बड़ी—अथवा माता, मौसी प्रभृति सम्बन्धवृद्धा थीं, उन्होंने 'बेटा! तेरी उमर बड़ी हो' इत्यादि सुन्दर-सुन्दर आशीर्वाद दिये।' ऐसी अवस्थामें प्रेमके सिवा माहात्म्यज्ञान कहाँ रहा?

—इत्यादि कारणोंसे स्पष्ट होता है, 'भक्ति' शब्दसे तो केवल स्नेहकारी वस्तुता मालूम देती है। प्रेमके पहले माहात्म्यज्ञान भले रहे, पर प्रेम होनेके बाद माहात्म्यज्ञान नहीं रहता। उस समय तो केवल प्रेम ही रहता है। यह प्रेम फलरूप है। यह फलात्मक प्रेम भगवान्‌के अनुग्रहसे ही प्राप्त होता है, इसलिये इसे 'पुष्टिभक्ति' कहते हैं। भगवान्‌का अनुग्रह होनेमें भगवदिच्छा किंवा भगवान्‌के सिवा दूसरा कारण किंवा साधन नहीं हो सकता। भगवान्‌का अनुग्रह साधन-साध्य नहीं। सत्कर्म, योगाभ्यास, भक्तिप्रभृति किसी साधनके परतन्त्र अनुग्रह नहीं है और न वह अनित्य ही है। अतएव वह किसी साधनके द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता।

साधनानुष्ठानका निषेध नहीं है, पर साधनोंका कुछ देना नहीं आता, जो भगवान् अनुग्रह करें ही। अनुग्रह परतन्त्र रहते भी स्वतन्त्र है, नित्य है, कार्य नहीं। साधनानुष्ठानके अनन्तर भगवान् अनुग्रह करें ही—इसका तो यह अर्थ होता है कि भगवान् और भगवान्‌का अनुग्रह परतन्त्र हैं, स्वतन्त्र नहीं। भगवान् भक्त-परतन्त्र हैं, इस प्रसिद्धिका आशय दूसरा है। भगवान् जिसपर अनुग्रह करते हैं, उसके परतन्त्र हो जाते हैं—इसका अर्थ यह है कि वे आप अपने ही परतन्त्र हैं। मैं किसी प्रेमीको अपने घर निमन्त्रण देकर स्नेहसे उसकी सेवा करता हूँ तो इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि मैं उसका नौकर हूँ या परतन्त्र हूँ। मैं तो अपने स्नेहके वशमें अर्थात् अपने आपका ही परतन्त्र हूँ। भगवान् भी किसीके परतन्त्र नहीं हैं। स्नेहके या अनुग्रहके या भक्तके परतन्त्र रहते भी वे अपने ही तन्त्रमें हैं, स्वतन्त्र हैं। इसी तरह अनुग्रह भी स्वतन्त्र है। सभी भगवद्धर्म नित्य पदार्थ हैं। मर्यादामार्गमें भगवान् परतन्त्र हैं, स्वतन्त्र नहीं। मर्यादामार्गकी रचना भिन्न है और पुष्टिमार्गकी रचना भिन्न है। मर्यादामार्गमें भगवान् साधन-परतन्त्र हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं। इस मार्गमें भगवान्‌को अपनी बाँधी हुई मर्यादाओंकी रक्षा करना अभीष्ट है। अतएव वे साधनोंके परतन्त्र हैं। जो कोई जैसा कर्म, जैसा ज्ञान, किंवा जैसी भक्ति सम्पादन करेगा उसे वैसा-वैसा नपा-तुला फल देना ही पड़ेगा।

पर पुष्टिभक्तिमें यह नहीं है। पुष्टिभक्तिमें भगवान् 'भिन्नसेतुः' हैं। भगवान्‌ने जब हमें पुष्टिभक्तिका दान कर दिया तब फिर भगवान् साधन-परतन्त्र नहीं, स्वतन्त्र हैं। हजार दण्डवत्-प्रणाम, यज्ञ-यागादि, तत्त्वज्ञान आदि साधन पासमें हों पर फल नहीं देते और कुछ भी साधन न करनेपर भी सब कुछ दे देते हैं। इतना ही नहीं, भक्त भी स्वतन्त्र हो जाता है। साधन असाधन हो जाते हैं। असाधन साधन हो जाते हैं। गालियाँ स्तुति बन जाती हैं। उपचारोंमें उपचारता ही नहीं रह जाती। अतएव कहना पड़ता है कि पुष्टिमार्गमें भगवान् स्वतन्त्र, भक्त स्वतन्त्र और भक्ति भी स्वतन्त्र है। पर उसका मूल भगवान्‌की स्वतन्त्रता है। भगवान् स्वतन्त्र हैं, इसलिये भक्त और भक्ति स्वतन्त्र हैं। बहुत-से लोग इन बातोंसे चिढ़ेंगे, पर क्या किया जाय? वस्तुका यथार्थ विवेचन तो करना ही पड़ता है।

अब यह विचार करना है कि 'स्वतन्त्र' शब्दमें 'स्व'का अर्थ क्या करना चाहिये। निषेध तो हो नहीं सकता अर्थात् स्वतन्त्रका अतन्त्र अर्थ हो नहीं सकता। क्योंकि शब्दकी ऐसी कोई सीधी मर्यादा नहीं, जिससे 'स्व' का निषेध अर्थ हो सके। दूसरी बात यह भी है कि अतन्त्र होनेसे ही वह परतन्त्र नहीं हो सकता। खाली जगहमें हर कोई बैठ सकता है। जो किसीका नौकर नहीं है, उसे हर कोई नौकर रख सकता है। आजतक न तो कोई पदार्थ अतन्त्र होकर पैदा हुआ है और न वह वैसे ठहर ही सकता है।

कितने ही कहते हैं कि आकाश-पदार्थ नित्य है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती, अतएव वह अतन्त्र, अनधीन या स्वतन्त्र है। किन्तु यह मान्यता आस्तिककी नहीं हो सकती। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' इत्यादि वेदवाक्योंके अनुसार सभी आस्तिक आकाशकी उत्पत्ति मान रहे हैं। आकाशको भगवत्कार्य मान लेनेपर भी आकाश अतन्त्र नहीं रह सकता, इसलिये अतन्त्र तो स्वका अर्थ नहीं।

अब स्वके तीन अर्थ बाकी रहते हैं—ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान; भक्त, भजनीय और भक्ति किंवा जीव, ईश्वर और प्रेम। इनमें ज्ञाता तो स्वयं ही परतन्त्र है, अतएव वह भक्तिमार्गको अधीन कैसे रख सकता है? जीव स्वका अर्थ

नहीं। देह, इन्द्रिय और बुद्धिके परतन्त्र पदार्थ स्वका अर्थ या स्वतन्त्रका अर्थ नहीं हो सकता। अतएव भक्ति ज्ञातृ-परतन्त्र नहीं हो सकती। यही अतिदेश भक्तिमें भी है, भक्ति भक्तपरतन्त्र भी नहीं हो सकती। अब रहा ज्ञेय-भजनीय—ईश्वर। हाँ, यह 'स्वतन्त्र' शब्दके स्वका अर्थ हो सकता है किंवा है ही। भक्तिमार्ग ईश्वर-परतन्त्र है, भगवत्परतन्त्र है। इसीको मैं स्वतन्त्र भक्तिमार्ग कहता हूँ। इस मार्गको अनुग्रहमार्ग कहो, पुष्टिमार्ग कहो या स्वतन्त्र भक्तिमार्ग कहो—सब एक ही पदार्थ हैं। यह मार्ग जीवकृतिसाध्य नहीं किन्तु भगवत्कृत दानसाध्य है। अतएव भगवत्परतन्त्र है, स्वतन्त्र है।

सर्ग-विसर्ग आदि जिस प्रकार श्रीपुरुषोत्तमकी लीलाएँ हैं, उसी तरह भक्ति, अनुग्रह या पुष्टि भी भगवान्‌की लीला ही है। भगवान् सर्ग क्यों करते हैं—यह प्रश्न जैसे नहीं हो सकता, उसी तरह भगवान् अनुग्रह क्यों करते हैं—यह प्रश्न भी नहीं हो सकता। भगवान् स्वतन्त्र हैं, उनकी क्रीडामें प्रश्न भी नहीं हो सकता। हमारी या हमारे बालकोंकी क्रीडा* में हेतु या प्रश्न हो सकता है? अतएव कहा है—

क्रीडायामुद्यमोऽभीष्ट कामश्चिक्रीडिषान्यतः।
स्वतस्तृप्तस्य च कथं निवृत्तस्य सदान्यतः॥

अप्रयास, अप्रयोजन, अपनी खुशीसे कुछ-न-कुछ औंधा-सूधा करते रहना—इसको लीला या क्रीडा कहते हैं। बालकमें यह है। पालनेमें सोता हुआ बच्चा अप्रयास, अप्रयोजन, अपनी मर्जीसे औंधा-सूधा कुछ भी करता ही रहता है। यह रहते भी उसमें तीन बातें हैं—उद्यम, काम (विलासेच्छा) और दूसरेके साथकी अपेक्षा। किन्तु भगवान् स्वतः पूर्ण हैं, तृप्त हैं। उद्यम बिना ही सब कुछ करते हैं और उनके लिये कोई अन्य है ही नहीं। ऐसी अवस्थामें लीला या क्रीडा क्यों करते हैं? यह प्रश्न हो सकता है और विदुरजीने मैत्रेयसे किया ही है। उसका उत्तर भी मैत्रेयजीने प्रश्नकर्ताके अधिकारानुसार दिया है। किन्तु ये प्रश्न और उत्तर दोनों मर्यादामार्ग (वैदिक मार्ग) के अनुसार हैं, पुष्टिमार्ग किंवा स्वतन्त्र भक्तिमार्गके अनुसार नहीं हैं।

* लीला नाम विलासेच्छा। कार्यव्यतिरेकेण कृतिमात्रम्। न तया कृत्या बहिः कार्यं जन्यते। जनितमपि कार्यं नाभिप्रेतम्। नापि कर्तरि प्रयासं जनयति। किन्त्वन्तःकरणे पूर्णे आनन्दे तदुल्लासेन कार्यजननसदृशी क्रिया काचिदुत्पद्यते इत्यादि। सुबोधिनी, भाग० १ स्कन्धे।

पुष्टिमार्गमें भगवान् पूर्ण हैं, असंकुचित सर्वसामर्थ्यवान् हैं। यहाँ उद्यम भी है, काम भी है; अन्य भी है, क्रीडेच्छा भी है। पुष्टिमार्गीय भगवान् तृप्त नहीं, अतृप्त हैं; निष्काम नहीं, विलासेच्छु हैं; निष्क्रिय नहीं, सक्रिय हैं; अद्वितीय नहीं, सद्वितीय हैं; निर्धर्मक नहीं, सधर्मक हैं; निर्दोष हैं, निर्गुण हैं, निर्विकार हैं। पुष्टिमार्गीय पूर्ण पुरुषोत्तम ईश्वर श्रीकृष्ण हैं। पुरुषोत्तमके ही रूपान्तरका नामान्तर श्रीकृष्ण है। पुरुषोत्तम आन्तरस्वरूप है, यह बाह्यस्वरूप। पुरुषोत्तम मार्यादिक भी हैं, पौष्टिक भी। श्रीकृष्ण भी मार्यादिक हैं और पौष्टिक भी। लेखका विस्तार होनेसे मैं इन बातोंका विशेष खुलासा नहीं कर सकता। जो लोग ईश्वरको अपूर्ण और संकुचित-सामर्थ्य मान रहे हैं उनका ईश्वर अनीश्वर ही है, कहनेमात्रका ईश्वर है। इष्टे असौ ईश्वरः। यहाँ असंकुचित सामर्थ्य ही वास्तविक अभीष्ट है। 'पूर्ण' शब्द भी असंकुचित है। लोकमें कोई ईश्वर, पूर्ण या पुरुषोत्तम है ही नहीं। एक पौष्टिक ईश्वर ही ईश्वर, पूर्ण और पुरुषोत्तम है। श्रीकृष्ण वास्तविक ईश्वर, पूर्ण और पुरुषोत्तम हैं। 'पुरमुषतीति पुरुषः।' पुरुष सब दोषोंको भस्म कर दे और पुरुषोत्तम न कर सके तो वह पुरुषोत्तम कैसा?

जो लोग श्रीकृष्णको ईश्वरेश्वर, पूर्ण और पुरुषोत्तम नहीं मानते, उनके प्रति मेरा यह लेख नहीं है। किन्तु मेरा यह लेख 'कल्याण'के लिये है। कल्याणके पाठक, जो कल्याणेच्छु हैं, मुझे विश्वास है कि मुझे गालियाँ देते जायँगे, पढ़ते जायँगे और स्वीकार करते जायँगे। मर्यादाके भयङ्कर पक्षपाती लोग चाहे मुझे गालियाँ दें, किन्तु सत्य बात कहनी ही पड़ती है। जितने मर्यादाके ईश्वर हुए हैं वे सब वास्तविक अपूर्ण, संकुचित (अनीश्वर) सामर्थ्यवाले हैं। पुष्टिमार्गीय ईश्वर सदोष है, निर्दोष भी है। सदोष होनेसे ही हमारे कामका है। स्वतन्त्र भक्तिमार्गीय ईश्वरमें सबसे ज़बरदस्त दोष तो विषमता है। अर्जुनको अच्छा कहते हैं, अर्जुनके लिये प्राण देते हैं। 'विजयरथकुटुम्बे' अर्जुनके रथको अपना कुटुम्ब समझते हैं। भीष्म, द्रोण, कर्ण आदिको मरवाना चाहते हैं। महाभारतमें अनेकत्र इस ईश्वरकी विषमता खोली गयी है। यदि वे केवल निर्दोष होते तो हमारी तरफ देखते ही क्यों? शास्त्र जैसे पापियोंका बहिष्कार किये रहता है, वैसे वे भी हमसे बचते रहते। ईश्वरकी विषमता ही गरीब और सदोषोंका जीवन है।

अतएव कहना पड़ता है कि स्वतन्त्र भक्तिमार्गके 'स्व'

शब्दका अर्थ पुष्टिमार्गीय ईश्वर है। यह भक्ति भगवान्‌के अधीन है। भगवान् ही साधन हैं। पुष्टिमार्गीय भक्तोंसे जो यह भगवान् कभी-कभी धर्माचरण, ब्रह्मभाव और भजन आदि कराते हैं, यह सब इनका ढोंग है। मर्यादामार्गकी रक्षा और मर्यादामार्गीय साधनोंकी रक्षा करनेके लिये यह सब ढोंग रच रक्खा है। इसके मार्ग (अनुग्रह) में कोई साधन ही नहीं है। यह आप ही साधन है। इसके धर्म और यह धर्मी दोनों एक ही पदार्थ हैं। राजाने एक चमारको अपना दोस्त बना लिया हो तो लोग कहते हैं कि राजाने चमारको दोस्त बना लिया, या यह भी कहते हैं कि राजाके अनुग्रहने उसे बड़ा ऊँचा कर दिया। दोनों एक ही हैं। हमने एक दिन जब इस ईश्वरकी चालाकी छिपकर देख पायी तो मालूम हुआ कि मर्यादामार्गमें भी साधनोंकी आड़-ही-आड़ है, वास्तवमें काम तो यही कर रहा है। सबका उद्धार करनेमें साधन तो ये स्वयं ही हैं; पर वेदकी रक्षा, ब्राह्मणोंका पालन और साधनोंकी रक्षा करनेके लिये कर्म, ज्ञान, भक्ति आदि साधनोंको आगे कर रक्खा है।

कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टिः कालादिबाधिका।
अनुग्रहो लोकसिद्धो गूढभावात्तिरूपितः॥
देवगुह्यत्वसिद्ध्यर्थं नामध्यानार्चनादिकम्।
पुरस्कृत्य हरेर्वीर्यं नामादिषु निरूप्यते॥

अनुग्रहमार्ग वेदसिद्ध नहीं है, लोकसिद्ध है—लोकमें सर्वत्र प्रचलित है। गूढ़ भावसे उसका प्रकाश होता है। भगवान् अन्य मार्गों (वैदिक मार्गों) की रक्षा करनेके लिये अपने अनुग्रहको छिपा रखना चाहते हैं। भगवान्‌का अनुग्रह देवगणको भी मालूम नहीं हो पाता। अतएव नाम, ध्यान, अर्चन आदि मर्यादामार्गीय साधनोंकी आड़ रखते हैं। साधनानुष्ठानरहितका भी उद्धार करना है, दुष्ट और महा-दुष्टका भी उद्धार करना है; पर नाम-ध्यानादिको आगे रखकर। अपने वीर्यसे (अनुग्रहसे) उद्धार करना है; पर नामग्रहण, ध्यान, अर्चन आदिका यश गवाना है। सदोष अजामिलका उद्धार करना है, पर साँचे-झूठे नामग्रहणको आगे रखकर। भगवन्नामसे अजामिलका मोक्ष हो गया, यह कहलवाना है। नाम, ध्यान, अर्चन आदि साधनोंकी आबरू रखनी है। यह कपट यदि भगवान्‌में न होता तो हम पापियोंका उद्धार कौन करता? भगवान् सदोष भी हैं, निर्दोष भी हैं; डरते भी है, डराते भी हैं और इसीमें जीवका उद्धार अन्तर्निहित है। उनकी सभयता, निर्भयता दोनों जीवोद्धारमें साधन हैं।

'भीषास्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः' यह उस ईश्वरेश्वर श्रीकृष्णकी निर्भयता है। वे सबको डराते हैं।

गोप्यादृते त्वयि कृतागसि दाम तावद्
या ते दशाश्रुकलिलाञ्जनसम्भ्रमाक्षम्।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य
सा मां विमोहयति भीरपि यद्बिभेति॥

युधिष्ठिरकी माता जब अपने भतीजे (श्रीकृष्ण) की माता यशोदासे मिलने नन्दग्राम गयीं तो वहाँ क्या देखती हैं कि सैकड़ों गोपस्त्रियोंकी भीड़ लगी हुई है और मध्यमें श्रीकृष्ण डरे हुए सिर झुकाये खड़े हैं, आँखोंमेंसे काजल-से मँदले अश्रु निकल रहे हैं और कभी माताको और कभी माँके हाथकी रस्सीको देख लेते हैं और फिर मुँह नीचा कर लेते हैं। कुन्तीने किसी गोपीसे पूछा कि यशोदाजी अपने बच्चे-को क्यों मारती हैं तो उसने उत्तर दिया कि अजी, बड़ा अधमी छोरा है; आज इसने दहीका माट फोड़ दिया, अब लाला पिट रहे हैं। कुन्ती भगवान्‌की स्तुति करते समय कह रही हैं कि नाथ! उस समय तो मुझे वह आपका डरना, रोना और आपकी वह दशा ठीक और सत्य मालूम होती थी; पर 'इदानीं सा मां विमोहयति'—आज वह मुझे भुलावेमें डाल रही है। जिससे काल भी डरता है, क्या वह माँसे डरे? डरना सत्य है या निर्भयता और डराना सत्य है, कुछ समझमें नहीं आता।

किसी लँगोटियेने कहा है—

गोपीक्षीरघटीविलुण्ठनविधिव्यापारवार्ताविदोः
पित्रोस्ताडनशङ्कया शिशुवपुर्देवः प्रकाश्य ज्वरम्।
रोमाञ्चं रचयन् दृशौ मुकुलयन् प्रत्यङ्गमुत्कम्पयन्
सीत्कुर्वन् तमसि प्रसर्पति गृहे सायं समागच्छति॥

श्रीदामा गोपबालकने श्रीनन्द-यशोदासे जाकर कहा कि आज तो तुम्हारे श्रीकृष्णने हठीला (गोपी) की दूधकी मटकी भर रास्ते लूट ली। यह सुनकर दोनों माँ-बाप श्रीकृष्णपर बड़े गुस्सा हो रहे थे। यह बात श्रीकृष्णने जान ली। अब तो डरके मारे घरमें भोजनतक करने न आये। पर कहाँतक? आखिर अँधेरा हुआ, बाहर डर लगने लगा।

बालक ही तो ठहरे। रातको कहीं घर आये, पर ज्वरका प्रकाश करते। सारे शरीरमें रोमाञ्च हो आया है, अङ्ग-अङ्ग काँप रहा है। कभी आँखोंको मूँदते हैं, कभी शीतके आवेगसे सीत्कार करते हैं। यह अनुग्रहमार्ग है, यही भगवन्मार्ग है और यही स्वतन्त्र भक्तिमार्ग है।

कितने ही कहते हैं कि हम तो गीताको और गीताके श्रीकृष्णको मानते हैं। मानो भाई !! हमारी दृष्टिमें तो गीता और भागवत दोनोंके श्रीकृष्ण एक हैं।

सर्वानेव गुणान् विष्णोर्वर्णयन्ति विचक्षणाः।
तेऽमृतोदाः समाख्यातास्तद्वाक्पानं सुदुर्लभम्॥

'जो विचक्षणलोग श्रीकृष्णके सभी गुणोंका समान भावसे वर्णन, श्रवण और स्मरण करते हैं वे अमृतके समुद्र कहे गये हैं और उनके वचनामृतका पान करना बहुत महँगा है।' तथापि यदि गीतापर ही किसीका प्रेम हो तो यहाँ भी यही कहा है कि जीवोद्धार करनेमें ईश्वरेश्वर पुष्टिमार्गस्थित पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही सब साधनोंके मूल साधन हैं। हम पहले कह चुके हैं कि ईश्वर मर्यादास्थित पुरुषोत्तम भी हैं और पुष्टिस्थित भी। मर्यादामार्ग भी है और पुष्टिमार्ग भी है। साधन भी है, अनुग्रह भी है। भागवतमें दोनों हैं, श्रीगीतामें भी दोनों हैं। प्रत्युत गीताका उपसंहार पुष्टिमार्गपर ही है। गीतामें जहाँ यह है—

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
... ...
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥
... ...
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

—वहीं यह भी है—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
... ... ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥
.....मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
... ... ॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामकं शरणं व्रज।

इस तरह शास्त्र और अनुभवके द्वारा यह स्पष्ट होता है कि स्वतन्त्र भक्तिमार्गमें एक श्रीकृष्ण ही शरण हैं। विशेष तो क्या, मेरा सन्देह तो यह भी है कि मर्यादामार्गके सर्वसाधनोंके भीतर भी उन परम दयालु भगवान्‌की कृपा छिपी हुई है। अन्यथा शास्त्रकार ऐसा क्यों कहते ?—

यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्॥

'जिसके स्वरूप और नामका स्मरण कर लेनेमात्रसे तप, यज्ञ किंवा अन्य क्रिया, ज्ञान, भक्ति आदिकी न्यूनता (कमी) सम्पूर्ण हो जाती है उन भगवान् श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूँ।'

इसलिये—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

—इतना कहकर मैं अपने वक्तव्यको सम्पूर्ण करता हूँ।

शोकादि कबतक रहते हैं ?

श्रीब्रह्माजी भगवान्‌से कहते हैं—

तावद्भयं द्रविणगेहसुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः।
तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥
(श्रीमद्भा० ३।९।६)

हे प्रभो ! तभीतक धन, घर और मित्रोंके कारण होनेवाले भय, शोक, कामना, तिरस्कार और लोभ रहते हैं, तभीतक समस्त दुःखोंका मूल 'यह मेरा है,' इस प्रकारकी झूठी धारणा भी रहती है, जबतक जीव तुम्हारे भयरहित चरणकमलोंकी शरण नहीं ग्रहण करता।

श्रीचैतन्य और रागानुगा भक्ति

(लेखक—प्रभुपाद श्रीप्राणकिशोर गोस्वामी, एम्० ए०, विद्याभूषण)

व्रजेर निर्मल राग शुनि भक्तगण।
रागमार्गे भजे येन छाड़ि धर्म कर्म॥

श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु चिरकालसे अनर्पित जिस व्रजप्रेमका दान करनेके लिये अवतीर्ण हुए थे, उस प्रेमका तात्पर्य रागमार्गीय भजनपद्धतिसे ही है। महाप्रभुने श्रीराय रामानन्दके साथ इसी भक्तिका माधुर्य आस्वादन किया था। उन्होंने स्वयं श्रीरूप, श्रीसनातन और श्रीरघुनाथदास गोस्वामीको इस साधनाका उपदेश दिया था। स्वरूप-दामोदर आदि अन्तरङ्ग भक्तोंके साथ महाप्रभुने इसी मधुर रसका आस्वादन करते हुए गंभीराकी नन्ही-सी कोठरीमें लगातार बारह वर्षका लंबा समय बिताकर जीवोंको व्रजमाधुरीका परिचय कराया था। महाप्रभुके द्वारा प्रवर्तित गौडीय वैष्णवसम्प्रदायमें आज भी इस रागमार्गीय भक्ति-साधनाके लिये एक विशिष्ट स्थान सुरक्षित है।

श्रीरूपगोस्वामिपादने भक्तिरसामृतसिन्धुमें इस रागभक्तिका लक्षण बतलाया है—

इष्टे स्वारसिको रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः साऽत्र रागात्मिकोच्यते॥

रागका स्वरूपलक्षण है—इष्ट विषयमें गाढ़ तृष्णा और तटस्थलक्षण है—इष्टमें परम आविष्टता। इस प्रकारकी रागमयी भक्तिका नाम ही रागात्मिका भक्ति है। कोई-कोई भाग्यवान् पुरुष इस रागात्मिका भक्तिकी बात सुनकर इसके प्रति लुब्ध होते हैं। रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शादि प्राकृत विषयोंको प्राप्त करनेकी प्रबल इच्छा विषयी पुरुषोंमें स्वाभाविक ही देखनेमें आती है। इन्द्रियाँ सहज ही भोगलोलुप होकर विषयोंके प्रति खिंची जाती हैं। रूपादि विषयोंका ग्रहण करनेके लिये चक्षु आदि इन्द्रियोंका जो यह प्रबल इच्छामय प्रेम है, इसीको राग कहते हैं। यह राग वैषयिक है। किसी भाग्यवान्‌के हृदयमें जब भगवत्-सम्बन्धसे ऐसा प्रेम प्रकट होता है, तब वही यथार्थ राग कहलाता है। भक्तिसन्दर्भमें श्रीजीवगोस्वामीजीने कहा है—

'तत्र विषयिणः स्वाभाविको विषयसंसर्गेच्छामयः प्रेमा रागः, यथा चक्षुरादीनां सौन्दर्यादौ। तादृश एवात्र भक्तस्य श्रीभगवत्यपि राग इत्युच्यते।'

श्रीकृष्णदास कविराज महोदयने श्रीचैतन्यचरितामृतमें लिखा है—

इष्टे गाढ तृष्णा रागस्वरूपलक्षण।
इष्टे आविष्टता तटस्थलक्षणकथन॥
रागमयी भक्तिर हय रागात्मिका नाम।
ताहा शुनि लुब्ध हय कोन भाग्यवान॥

रागात्मिका भक्ति कामरूपा और सम्बन्धरूपा भेदसे दो प्रकारकी है। नित्यसिद्ध भक्त ही इस द्विविध भक्तिके आश्रय हैं। वैकुण्ठ, अयोध्या, द्वारका आदि भगवद्धामोंमें भी रागात्मिका भक्ति है; परन्तु व्रजवासी भक्तोंमें तो यही भक्ति मुख्यरूपसे है। 'रागात्मिका भक्ति मुख्या व्रजवासी जने' (चै० च०)। व्रजवासियोंका जो श्रीकृष्णविषयक 'राग' है, उसीकी अनुगामिनी भक्तिको 'रागानुगा भक्ति' कहते हैं। यह रागानुगा भक्ति महाप्रभु श्रीचैतन्यदेवकी विशेष देन है।

विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासिजनादिषु।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोदिता॥
(श्रीरूप)

जिनके हृदयमें इस रागानुगाका उदय होता है, उनके लिये किसी शास्त्रका, युक्तिका या किसी विधि-निषेधका बन्धन नहीं रहता। एक स्वाभाविक प्रेमकी प्रेरणासे ही उनकी जीवन-गति चलती है। व्रजवासियोंके प्रेमकी कथा साधकको इस प्रकार लुभा लेती है कि फिर साधक अपनी योग्यता-अयोग्यताका विचार नहीं कर पाते। उनकी भजनकी प्रवृत्तिको वह लोभ ही जगा देता है। उनके मनमें केवल एक तीव्र लालसा फूट निकलती है और वे परवश होकर दिन-रात उस व्रजप्रेमकी प्राप्तिके लिये ही व्याकुल प्राणसे प्रार्थना किया करते हैं।

लोभे व्रजवासीर भावे करे अनुगति।
शास्त्रयुक्ति नाहि माने रागानुगार प्रकृति॥

इस प्रकारकी रागानुगा भक्तिका भक्तहृदयमें किस प्रकार उदय होता है, इसका क्रमानुसन्धान करनेसे पता लगता है कि इसमें साधकका अपना पुरुषार्थ कुछ भी नहीं है। व्रजके भक्तोंकी प्रेमसेवाकी चर्चा सुनकर किसी

भाग्यवान्‌के चित्तमें जो लोभ होता है, वह लोभ ही इस रागानुगाका मूल कारण है। श्रीजीवगोस्वामी कहते हैं—

'यस्य पूर्वोक्तरागविशेषे रुचिरेव जातास्ति न तु रागविशेष एव स्वयं तस्य तादृशरागसुधाकरकराभास-समुल्लसितहृदयस्फटिकमणेः शास्त्रादिश्रुतासु तादृश्या रागात्मिकाया भक्तेः परिपाटीष्वपि रुचिर्जायते।'

व्रजवासियोंकी इस रागात्मिका भक्तिमें रुचि होनेपर जिनके चित्त स्फटिकमणिके सदृश स्वच्छ हैं, उन्हींके चित्तमें व्रजवासियोंके इस रागरूपी चन्द्रमाका किरणाभास प्रतिफलित होता है—जिससे रुचि अथवा व्रजवासियोंके चरित्रानुकरणका लोभ उत्पन्न हो जाता है। 'रागवर्त्मचन्द्रिका'में विश्वनाथ चक्रवर्ती महोदय कहते हैं—'वह लोभ भगवत्कृपाहेतुक और अनुरागिभक्तकृपाहेतुक भेदसे दो प्रकारका होता है। फिर भक्तकृपाहेतुक लोभमें भी प्राक्तन और आधुनिक—ये दो भेद होते हैं। पूर्वजन्ममें प्राप्त भक्तकृपाहेतुक लोभ प्राक्तन है और इस जन्ममें किसी प्रेमी भक्तकी कृपासे उत्पन्न लोभ आधुनिक है। जन्मान्तरमें प्राप्त लोभ होनेपर उस लोभके बाद वैसे ही प्रेमी गुरुका चरणाश्रय होता है; और आधुनिक भक्तकृपाका क्षेत्र होनेपर गुरुचरणाश्रयके बाद लोभ उत्पन्न होता है।

तत्तद्भावादिमाधुर्ये श्रुते धीर्यदपेक्षते।
नात्र शास्त्रं न युक्तिश्च तल्लोभोत्पत्तिलक्षणम्॥

व्रजराजनन्दन श्यामसुन्दर और उनके प्रिय व्रजवासियोंके प्रेम-माधुर्यादिकी कथा सुननेपर वैसे ही भावकी प्राप्तिके लिये शास्त्र और युक्तिकी अपेक्षा न करके जो एक लोभका उदय होता है, उसीके द्वारा रागानुगा भक्तिका परिचय मिलता है। श्रीवल्लभाचार्यके सम्प्रदायमें इसी भक्तिमार्गको पुष्टिमार्ग कहा गया है। कहीं-कहीं इसे 'अविहिता भक्ति' भी कहा गया है—

'माहात्म्यज्ञानयुतेश्वरत्वेन प्रभौ भक्तिर्विहिता, अन्यतः प्राप्तत्वात् कामाद्युपाधिजा त्वविहिता' (अणुभाष्य)

अविहिता भक्ति कामजा और स्नेहजा तथा कामानुगा और सम्बन्धानुगा भेदसे चार प्रकारकी है। श्रीजीवगोस्वामी अविहिताका निर्णय करते हुए कहते हैं—

'अविहिता रुचिमात्रप्रवृत्त्या विधिप्रयुक्तत्वेनाप्रवृत्त-त्वात्।'

'रुचिमात्रप्रवृत्तिके कारण ही इस प्रकारकी भक्तिको अविहिता कहते हैं।' इसकी प्रवृत्तिके मूलमें किसी विधिका प्रयोग नहीं होता। भगवत्-सम्बन्धी स्नेह-कामादिमें कोई विधान नहीं होता। 'स्नेहकामादीनां विधातुमशक्यत्वात्।' 'मुक्ताफल' नामक ग्रन्थमें श्रीगोपदेवने भी इस भक्तिको अविहिता ही कहा है। 'श्रीगोविन्दभाष्य' ग्रन्थमें श्रीबलदेव विद्याभूषण इसको 'रुचिभक्ति' कहते हैं।—'रुचिभक्तिर्माधुर्यज्ञानप्रवृत्ता, विधिभक्तिरैश्वर्यज्ञानप्रवृत्ता।'

'रुचिरत्र रागः। तदनुगता भक्तिः, रुचिभक्तिः। अथवा रुचिपूर्वा भक्तिः, रुचिभक्तिः। इयमेव 'रागानुगा' इति गदिता॥'

श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके श्रीहरिव्यासजीने अपनी 'सिद्धान्त-रत्नाञ्जलि' टीकामें अविहिता भक्तिका उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि व्रजके परिकर श्रीनन्द अथवा सुबल आदिके भावसे लोभवश अविहिता भक्तिका अनुष्ठान हो सकता है। परन्तु 'महावाणी'में उन्होंने ही सखीभावसे नित्य वृन्दावनमें श्रीराधागोविन्दकी युगल-सेवाप्राप्तिकी साधना बतलायी है। महावाणीमें दास, सखा या पिता-माताका उल्लेख नहीं है। गौडीय वैष्णवोंकी रागानुगा भक्तिके साथ श्रीहरिव्यासजीकी साधनाका भेद इस विषयमें सुस्पष्ट है। महाप्रभुका सम्प्रदाय कहीं भी दास, सखा, पिता-माताको बिल्कुल बाद देकर केवल युगल-भजनका निर्देश नहीं करता। 'कुत्रापि तद्रहिता न कल्पनीया।' फिर, श्रीहरिव्यासजीमें श्रीकृष्णकी देवलीलापरायणता है। परन्तु गौडीय वैष्णव केवल नरलीलामें ही माधुर्योपासक हैं।

इस माधुर्यका आस्वादन करनेके लिये जिनके चित्तमें सदिच्छा उत्पन्न हो गयी है, वे ही इस रागानुगा भक्तिके अधिकारी हैं। श्रीसनातन गोस्वामीने इस सम्बन्धमें भागवत-की व्याख्याके उपसंहारमें कहा है—

भक्तौ प्रवृत्तिरत्र स्यात्तच्चिकीर्षा सुनिश्चया।
शास्त्राल्लोभात्तच्चिकीर्षू स्यातां तदधिकारिणौ॥

कलियुगपावनावतार श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने विद्या-नगरमें राय रामानन्दके साथ साध्य-साधनतत्त्वका विचार करते समय श्रीराधाकृष्ण युगल सरकारकी कुञ्जसेवाको ही सर्वश्रेष्ठ साध्य निर्णय किया है। इस साध्यकी प्राप्तिके लिये श्रीराधाजीकी प्रिय सखियोंके अनुगत होनेके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें है—

राधा कृष्णेर लीला एइ अति गूढतर।
दास्य वात्सल्यादि भावेर ना हय गोचर॥

सखी बिना एइ लीलाय अन्येर नाहि गति ।
सखीभावे तांरे जेइ करे अनुगति ॥
राधाकृष्ण कुञ्जसेवा साध्य सेइ पाय ।
सेइ साध्य पाइते आर नाहिक उपाय ॥

अनुगत सखीभावके लोभी साधकको निरन्तर अन्तर्मुखी मनसे स्मरण करना चाहिये—अपने-अपने अभीष्ट श्रीकृष्णका और उनकी प्रियतमा श्रीराधाजी, ललिता, विशाखा और श्रीरूपमञ्जरी गोपीजनोंका । साथ ही उन्हें श्रीहरिनाममें और लीलाकथाके श्रवणमें रत होकर श्रीव्रजधाममें निवास करना चाहिये । सेवाप्राप्तिकी इस साधनाके सम्बन्धमें पूर्वाचार्योंने कहा है—

कृष्णं स्मरन् जनं चास्य प्रेष्ठं निजसमीहितम् ।
तत्तत्कथारतश्चासौ कुर्याद्वासं व्रजे सदा ॥ (श्रीरूप)

रागानुगा भक्तिमें बाह्य और आन्तर भेदसे दो प्रकारके साधन होते हैं । साधकको साधनाकी प्रारम्भिक स्थितिसे लेकर अपने साधक और सिद्ध देहके भेदको जानना चाहिये । रघुनाथदास गोस्वामीको महाप्रभुने जो शिक्षा दी है, उसे याद रखना चाहिये । ग्राम्यवार्ता (दुनियाकी चर्चा), दूसरोंकी समालोचना करना और सुनना साधकके लिये निषिद्ध है । बढ़िया चीजें खाने और बढ़िया कपड़े पहननेका त्याग करना चाहिये । स्वयं अमानी होकर दूसरोंका सम्मान करना चाहिये । साधकदेहसे सदा 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे । हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे'—इन नामोंका कीर्तन करना चाहिये । मनमें सिद्धदेहकी भावना करके वृन्दावनधाममें श्रीराधागोविन्दकी सेवा करनी चाहिये । जहाँतक हो सके साधकका वृन्दावनमें रहना ही कर्तव्य है, नहीं तो मन-ही-मन वृन्दावनमें रहना चाहिये । सनातन गोस्वामीको भी महाप्रभुने कहा है कि उपर्युक्त प्रकारसे रागानुगा भक्तिकी साधना करनेपर श्रीकृष्णके चरणोंमें प्रीति उत्पन्न होती है, इसी प्रीतिसे भगवान् भक्तोंके वश होते हैं । इस रागानुगा भक्तिसे ही प्रेमसेवाकी प्राप्ति होती है ।

रागानुगा भक्तिमें स्मरणकी ही प्रधानता है । श्रीसनातन गोस्वामीजीने 'बृहद्भागवतामृत' ग्रन्थमें इसका विस्तारसे वर्णन किया है । राग मनका धर्म है । इस साधनमें मानसिक सेवा और संकल्प ही मुख्य हैं । रघुनाथदास गोस्वामीके 'विलापकुसुमाञ्जलि' और श्रीजीवगोस्वामीके 'संकल्पकल्पद्रुम' आदि ग्रन्थोंमें रागानुगा भक्तिके अनुकूल संकल्प और मानसी सेवाके क्रमका वर्णन मिलता है ।

सेवा साधकरूपेण सिद्धरूपेण चात्र हि ।
तद्भावलिप्सुना कार्या व्रजलोकानुसारतः ॥

यथावस्थित देह ही साधकदेह है और अंदरमें अपने इष्ट श्रीराधागोविन्दकी साक्षात् सेवा करनेके लिये जो उपयोगी देह है, वह सिद्धदेह है । जो व्रजभावको प्राप्त करनेकी इच्छा रखते और उसके लिये ललचाते हैं, उनको निश्चय ही व्रजवासियोंके अनुगत होकर अपने साधकदेह और सिद्धदेहसे कभी बाह्य उपचारोंसे और कभी मानसिक उपचारोंसे भगवत्सेवा करनी चाहिये । सिद्धदेहकी भावनाके सम्बन्धमें सनत्कुमारतन्त्रमें कहा गया है—

आत्मानं चिन्तयेत्तत्र तासां मध्ये मनोरमाम् ।
रूपयौवनसम्पन्नां किशोरीं प्रमदाकृतिम् ॥

रागानुगाके साधनमें जो 'अजातरति' साधक है अर्थात् जिनको रतिकी प्राप्ति नहीं हुई है, उनको अपने लिये गुरुदेवके उपदेशानुसार सखीकी सङ्गिनीके भावसे मनोहर वेश-भूषादिसे युक्त किशोरी रमणीके रूपमें भावना करनी चाहिये । सखीकी आज्ञाके अनुसार सदा सेवाके लिये उत्सुक रहते हुए श्रीराधाजीके निर्माल्यस्वरूप अलङ्कारोंसे विभूषित साधकोंके सिद्धस्वरूप इस मञ्जरी-देहकी भावना निरन्तर करनी चाहिये । मञ्जरी-स्वरूपमें तनिक भी सम्भोगकी वासना नहीं है । इसमें केवल सेवा-वासना है । जो साधक 'जातरति' हैं, अर्थात् जिनको रति प्राप्त हो गयी है, उनमें इस सिद्धस्वरूपकी स्फूर्ति अपने-आप ही हो जाती है । प्रसङ्गवश यहाँ हमें 'द्रविडोपनिषत्-तात्पर्य' ग्रन्थमें उल्लिखित प्राचीन आळवार भक्त शठारि मुनिका स्मरण हो आता है । शठारि मुनिके साधकदेहमें ही सिद्धदेहका भाव उतर आया था । उन्होंने अनुभव किया था कि एक श्रीभगवान् ही पुरुषोत्तम हैं, अखिल जगत् स्त्री-स्वभाव है । अन्तमें शठारिमें कामिनीभावका आविर्भाव हो गया था—

पुंस्त्वं नियम्य पुरुषोत्तमतानिविष्टे
स्त्रीप्रायभावकथनाजगतोऽखिलस्य ।
पुंसां च रञ्जकवपुर्गुणवत्तयापि
शौरेः शठारियमिनोऽजनि कामिनीत्वम् ॥
(बँगला वैष्णवधर्म)

गौडीय वैष्णव साधकगण 'गोविन्दलीलामृत' और 'कृष्णभावनामृत' आदि ग्रन्थोंके क्रमानुसार गुरु गौराङ्गदेवके अनुगत भावोंसे श्रीराधा-गोविन्दकी अष्टकालीन लीलाका स्मरण करते हैं। इस लीलाके ध्यानमें ही मानसोपचारसे इच्छित सेवा होती रहती है। बंगालके साधक श्रीनिवास आचार्य किसी समय मञ्जरी-देहसे श्रीराधाकृष्णलीलाका ध्यान कर रहे थे। उन्होंने देखा श्रीकृष्ण गोपीजनोंके साथ यमुनाजीमें क्रीड़ा कर रहे हैं, परन्तु हाय! यह क्या हुआ? श्रीराधाके कानका एक मणिकुण्डल जलमें गिर पड़ा। सखियाँ और उनकी अनुगता मञ्जरी दासियाँ सभी खोज रही हैं, परन्तु वह मिलता नहीं। अन्तर्देहमें इस कुण्डलकी खोजमें श्रीनिवासका एक सप्ताहका समय पूरा हो गया। साधकदेह निष्पन्द प्राणहीनकी तरह आसनपर विराजित था। श्रीनिवासजीकी पत्नी और अन्यान्य सभी लोगोंने समझा कि श्रीनिवासजीने देहत्याग कर दिया है। वनविष्णुपुरके राजा वीरहम्मीर उन्हें देखने आये, सबसे अधिक आदमी उनके साथ थे। किसी भक्तने कहा, 'रामचन्द्र कविराजको बुलाना चाहिये, श्रीनिवास आचार्यके हृदयसे वे ही परिचित हैं।' रामचन्द्र वहाँ बुलाये गये। प्रभुके चरणोंमें प्रणाम करके रामचन्द्रने जान लिया कि ये इस समय मञ्जरीदेहके आवेशमें हैं। रामचन्द्र भी इस दिशामें पहुँचे हुए थे। वे भी अपने सिद्धदेहकी भावना करके अन्तर्जगत्में श्रीनिवासकी अनुगता दासीके रूपमें उनके साथ हो लिये। वहाँ उन्होंने देखा, अभी कुण्डलकी खोज चल ही रही है। नवीन मञ्जरी-देहसे खोजनेके काममें चतुर रामचन्द्रको थोड़ी ही देरमें एक कमलपत्रके नीचे श्रीराधाजीका कुण्डल दिखलायी पड़ा। उसी क्षण उठाकर उन्होंने श्रीनिवासजीके हाथमें दे दिया। सखी-मञ्जरियोंमें आनन्दकी तरङ्गें उछलने लगीं। श्रीनिवासजी अपनी गुरुपरम्परासे सखियोंके साथ श्रीराधाजीके चरणोंमें पहुँचे और नवीन मञ्जरीद्वारा मिला हुआ कुण्डल उन्हें दे दिया। श्रीराधारानीने प्रसन्न होकर अपना चबाया हुआ पान उन्हें पुरस्कारके रूपमें दिया। रामचन्द्र और श्रीनिवास दोनों ही सोकर उठनेवालोंकी तरह साधकदेहमें लौट आये, देखा गया कि सचमुच ही श्रीराधाजीका दिया हुआ पान-प्रसाद उनके मुखोंमें था।

महाप्रभुका दिया हुआ यह रागानुगा-भजन विश्वका कल्याण करे।

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदतां
ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे
आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥

'विश्वका कल्याण हो, दुष्टलोग निष्ठुरताका त्याग करके प्रसन्न हों, समस्त जीव कल्याणका चिन्तन करें; उनके मन शान्त कल्याणमय भावको धारण करें एवं उनकी तथा हमारी सबकी मति निष्काम होकर अधोक्षज भगवान् श्रीगोविन्दमें प्रवेश कर जाय।'

सच्ची बानी

जो मैं हारौं राम की जो जीतौं तौ राम॥
जो जीतौं तौ राम राम से तन मन लावौं।
खेलौं ऐसो खेल लोक की लाज बहावौं॥
पासा फेंकौं ज्ञान नरद बिस्वास चलावौं।
चौरासी घर फिरै अढ़ी पौबारह नावौं॥
पौबारह सिखाय एक घर भीतर राखौं।
कबी मारा पाँच रैनि दिन सबद भाखौं॥
पलटू बाजी लाइहौं दोऊ बिधि से राम।
जो मैं हारौं राम की जो जीतौं तौ राम॥

—पलटू

प्रेम-साधना

(लेखक—पूज्यपाद श्रीभोलानाथजी महाराज)

कारे बगैर इश्क न दारम दर जहाँ।
इश्कस्त कारे मा व बदीं कार आमदेम॥

I have no mission except Love in this world,
My mission is Love and my work is Love.

इस संसारमें मेरा सिवा प्रेमके और दूसरा काम ही क्या है ? प्रेम मेरा सिद्धान्त है और उसीके लिये मैं आया हूँ।

प्रश्न—आपको 'प्रेम' इतना प्यारा क्यों है ?

उत्तर—चूँकि यह अति सुन्दर वस्तु है और यह नियम है कि जहाँ सौन्दर्य होता है, वहाँ प्रेम होता है।

प्र०—लेकिन जब सौन्दर्य हो तो उससे प्रेम हो; मगर आप तो 'प्रेम'को प्रेम करते हैं ?

उ०—चूँकि प्रेम ही सौन्दर्य है, इसलिये यह प्रियतम भी है और सौन्दर्य भी।

प्र०—यह सुन्दर क्यों है ?

उ०—चूँकि सुन्दर है।

प्र०—इसके सौन्दर्यके लक्षण क्या हैं ?

उ०—यह एक ऐसा तत्त्व है जिसमें सब खूबियाँ मौजूद हैं।

प्र०—प्रेम परिच्छिन्न (limited) है या अपरिच्छिन्न (unlimited) ?

उ०—अपरिच्छिन्न भी है और परिच्छिन्न भी।

प्र०—एक ही समयमें दो विरोधी बातें कैसे इकट्ठी हो सकती हैं ?

उ०—विरोधी तो देखनेवालोंकी नज़रमें हैं, अपनी असलियतमें नहीं। यह अपरिच्छिन्न तो अपने सामान्य रूपमें है और परिच्छिन्न अपने विशेष रूपमें। जिस तरह एक लकड़ीको रगड़कर उसके कोनेपर आग पैदा कर दी जाय तो वह एक तरहसे तो परिच्छिन्न हुई, क्योंकि अपने विशेष रूपमें केवल एक जगह प्रकट हो रही है; लेकिन अपनी असलियतमें वह अपरिच्छिन्न है, क्योंकि वह लकड़ीके हर हिस्सेमें मौजूद है।

'तो प्रेमके अपरिच्छिन्न और असीम (unlimited) होनेका प्रमाण क्या है ?'

'सूरजके होनेका प्रमाण क्या है—सूरज खुद आप या कोई और ?'

'आँखें ?'

'लेकिन आँखें सूरजको किससे देखती हैं ? उसीसे या किसी मोमबत्ती (candle) वग़ैरहसे ?'

'उसको उसीके प्रकाशसे देखा जाता है।'

तो बस, प्रेमके अपरिच्छिन्न होनेका प्रमाण प्रेम खुद आप है। प्रेम संसारके हर हिस्सेमें मौजूद है। प्रेमके बग़ैर संसारकी स्थिति असम्भव है। प्रेमके बग़ैर कोई मुल्क, क़ौम या देश नहीं रह सकता—यहाँतक कि प्रेमके बग़ैर अपना आप भी नहीं रहता। प्रेम मनुष्योंमें है, पशुओंमें है, पक्षियोंमें है; प्रेम पञ्चभूतोंमें आकर्षण (gravitation)के रूपमें प्रकट होता है। संसारका नियमितरूपसे चलना इसी प्रेमपर निर्भर है। संसारके एक परमाणुका दूसरे परमाणुकी तरफ़ खिंचना प्रेम ही तो है। आपने जलकी बूँदको पुष्पकी पत्तीपर रक्खा, सूरजके प्रकाशने उसको धुँआ बनाकर उड़ा दिया, मानो वह नष्ट-सी हो गयी। वहाँसे हवाने उसको गोदमें लिया और पहाड़ोंपर झूला झुलाने लगी। सरदीने उसका स्वागत किया। फिर वह पानी बनाकर पहाड़की चट्टानोंपर फेंकी गयी, वहाँसे नालोंमें मिली, फिर दरियामें आयी और आखिर समुद्रमें जाकर समुद्रसे एक हो गयी, चारों तरफ़ लहराने लगी। अपने मामूली-से अस्तित्वको खोकर उसने पूर्ण और बड़े आकारको धारण कर लिया।

आपने आकाशकी तरफ़ पत्थर फेंका, वह ज़मीनकी तरफ़ चला आया। उसको अपनी धरती (पृथ्वी) से प्रेम है। आपने मोमबत्ती (candle) जलायी, प्रकाश ऊपरको हो गया, चूँकि उसका ध्येय सूरज वहाँ मौजूद है। आपने फ़ुटबालके tube को फाड़ा, उसकी हवा कुलमें दौड़कर चली गयी। इत्यादि।

मनुष्य अपनेसे प्रेम करता है, अपने सम्बन्धियों और प्रिय वस्तुओंसे प्रेम करता है। संसारमें हर परमाणुमें किसी-न-किसी वस्तुके लिये—जानते या न जानते हुए—आकर्षण पाया जाता है, जिसका मतलब यह है कि वह आकर्षण प्रेम है। यहाँतक कि भगवान्‌को संसारसे प्रेम है। अगर भगवान्‌को संसारसे प्रेम न होता तो वह उसको पैदा ही न करता। यदि कहीं रुद्ररूप बनकर वह संसारको तोड़ता नज़र आता है तो उसका मतलब यह है कि वह उसको तोड़कर कोई और अच्छी शक्ल देना चाहता है। संसारको उससे प्रेम है। संसार जानता या न जानता हुआ अपने ध्येयकी तरफ़ जा रहा है। और सबका ध्येय अपने ध्याताके प्रेममें यहाँतक मग्न है कि हर वक्त ध्याताको प्रसन्न करनेके नये-नये सामान तैयार करता रहता है।

सिद्धान्त—संसारमें कोई ऐसा परमाणु नहीं कि जिसमें प्रेम न हो और जहाँ प्रेम न होगा, वह परमाणु रह ही नहीं सकता। उसका कारण यह है कि जिसको अपनेसे प्रेम न होगा उसको अपनेसे घृणा होगी; नतीजा यह होगा कि वह अपना नाश चाहेगा और एक दिन अपनेको नष्ट कर डालेगा, क्योंकि संसारमें हर परमाणु कायम रहना चाहता है और अपने नाशसे भय मानता है। इसलिये हर परमाणुको अपनेसे प्रेम है। यही संसारकी स्थितिका बड़ा भारी तत्त्व है। मनुष्यके नित्य होनेका प्रमाण यह भी है कि हर मनुष्यको अपनी आत्मासे प्रेम है। संसारमें तमाम जीवित प्राणी या तो किसी दूसरेसे प्रेम करते हैं या अपने-आपसे। और जड़ पदार्थ न जानते हुए भी प्रेमके वश किसी-न-किसी ओर खिंचे जाते हैं। यह है प्रेमकी अपरिच्छिन्नता (unlimitedness) का प्रमाण।

प्र०—लेकिन जहाँ प्रेमाकर्षण एक ओर खींचता है तो दूसरेसे नफ़रत नज़र आती है; इसलिये जो स्थान नफ़रत—घृणाका होता है, वह तो प्रेमसे खाली ही हुआ?

उ०—यह भी ग़लत है; क्योंकि घृणा खुद तो कोई पदार्थ है नहीं, केवल प्रेमके अभावका नाम घृणा है। इसलिये पहले तो यह मानना होगा कि जहाँ प्रेम नहीं, वहाँ शून्य है। मगर यदि ग़ौरसे देखें तो मालूम होता है कि घृणा उस अवस्थाका नाम है कि जहाँ हमारा प्रेम दूसरी ओर मुड़ता है, गोया प्रेमके दूसरी ओर मुड़नेका नाम घृणा है। इसका मतलब यह हुआ कि प्रेम वहाँ भी मौजूद है, लेकिन शक्ल ऐसी है कि समझमें नहीं आता।

प्रेम परमेश्वर

फिर यह भी सुननेमें आता है कि प्रेम भगवान् है और भगवान् प्रेम—

'God is Love and Love is God.'

—क्योंकि दोनोंके गुण समान हैं। और जब दो पदार्थ एक ही गुणवाले हो जायँ तो उनका भेद केवल नाममात्रका ही रह जाता है, वास्तविक नहीं। दो चिनगारियाँ अलहदा-अलहदा उड़ती हुई क्या हैं? सिर्फ़ आग। इसी तरह जब प्रेम और परमात्माके गुण एक हो जायँ तो दोनों एक ही तो हुए। परमात्मा सुखका समुद्र है, प्रेम भी सुखका समुद्र है; परमात्मा पूर्ण सौन्दर्य है, प्रेम भी पूर्ण सौन्दर्य है, परमात्मा व्यापक है, प्रेम भी व्यापक है। और अगर कोई कहता है कि नहीं, प्रेम तो परमात्माका गुण है तो हम पूछते हैं कि परमात्माका गुण किसी एक अंशमें है या सर्वांशमें। अगर एक अंशमें कहें तो बाक़ी परमात्माको प्रेमसे ख़ाली मानना पड़ेगा और अगर सर्व अंशोंमें है तो परमात्मासे प्रेम जुड़कर एक है या ऐन वही होकर? अगर जुड़कर एक है तो बाक़ी हिस्सा जो परमात्माका बचा है कि जो इस जोड़से बाहर है, उसमें प्रेमका अभाव पाया जायगा और अगर बग़ैर जोड़के परमात्मासे एक है और हम उसमें और परमात्मामें कोई अन्तर कायम नहीं कर सकते तो परमात्मा और प्रेममें फ़र्क़ ही क्या रहा? जब अग्निको गरमीकी दृष्टिसे देखा तो कह दिया कि आग गरम है और जब गर्मीको (analyse) विश्लेषित किया या अच्छी तरह देखा तो गरमी सिवा आगके और है ही क्या? इसलिये प्रेम परमात्माका गुण होता हुआ परमात्मासे एक है। प्रेम गुण भी है और गुणी भी। कार्यरूपमें प्रेम गुण है और कार्यकी समाप्तिपर परमात्माका ही स्वरूप है। किसीने उसका नाम प्रेम रक्खा और किसीने परमात्मा।

प्र०—परमात्माके प्रेमस्वरूप होनेका प्रमाण क्या है?

उ०—सृष्टिकी उत्पत्ति और नाश परमात्माके प्रेमस्वरूप होनेका प्रमाण है।

प्र०—लेकिन जो नाश करता है, वह कौन है?

उ०—वह भी वही है कि जो उत्पत्ति और पालन करता है।

प्र०—तो उसमें प्रेमका अभाव तो ज़रूर पाया ही जायगा ?

उ०—नहीं, उसके तोड़नेमें भी प्रेम है; वह नयी चीज़ोंको बनानेके लिये पुरानी तोड़ता है, एक सङ्कल्पको तोड़कर दूसरा बनाता है, एकको गिराकर दूसरा क़ायम करता है।

प्र०—लेकिन जिसको गिराता है, उससे तो प्रेम नहीं करता ?

उ०—चूँकि उसीको फिर नया बनाता है, इसलिये प्रेम ही तो हुआ।

प्रेम सुखरूप है

प्रेमके बग़ैर सुख असम्भव है। यह प्रेम ही एक ऐसी वस्तु है कि जिससे सुखका अनुभव हो सकता है। जहाँ प्रेम नहीं, वहाँ सुख नहीं। पतंगेको अगर लाख रुपयेके फ़ानूसपर छोटा-सा प्रकाश नज़र न आवे तो उसके लिये वह व्यर्थ है, और अगर एक मिट्टीका दीपक टिमटिमाता हुआ नज़र आवे तो वह उसपर अपना सर्वस्व निछावर कर देता है। अगर झोंपड़ीसे प्रेम है तो वहाँ सुख है, अगर महलसे घृणा है तो उसमें सुखका अभाव पाया जाता है। यहाँतक कि प्रेम दुःखको भी सुख बना देता है।

एक समय भगवान् श्रीकृष्णका नाखून (नख) श्रीराधेजीको लग गया, कई महीनोंतक तो वह ज़ख़्म ताज़ा रहा। एक दिन अचानक भगवान्‌ने देखकर पूछा कि 'राधाजी ! यह ज़ख़्मका निशान कैसा है ?' तो हँसकर जवाब दिया कि 'हाँ, आपको क्यों मालूम हो ? आप तो ऐसे दाता हैं कि सब कुछ देकर भूल जाते हैं।' वाह, वाह, दातापनका क्या प्रमाण दिया ! देकर सब कुछ भूल जाते हैं ! देखिये हम किसीको एक पैसा देते हैं तो सौ आदमियोंको दिखाते हैं। अगर कोई हमको पैसा देते वक़्त देखनेवाला न हो तो ज़ोरसे खाँसकर राह चलतोंकी नज़र अपनी ओर आकर्षित करते हैं और अपनी आँखें उनकी आँखोंसे जोड़कर उस भिक्षुकको कहते हैं कि 'ले पैसा, यह है तुम्हारे सामने।' मगर वाह री दानशीलता ! दान प्रभुका कि जिसने हमको सब कुछ देकर अपना मुँह इस तरह छुपा लिया कि कोई ढूँढ़ कर तो दिखाये। शायद उनको यह ख्याल है कि कोई यह न कह दे कि यह मेरा दाता है ! लेकिन तमाशा तो यह है कि प्रभु जितना छुपते हैं, उतना ही और प्रकट हो जाते हैं। जिस तरह सूरज जब छुपनेके लिये बादलका परदा मुँहपर लेता है तो और प्रकट हो जाता है। प्रभु दान करके छुप गये। उनके छुपनेने उनको और भी मशहूर कर दिया कि देखो कैसा देता है कि जिसने हमको सब कुछ देकर अपना आप छुपा लिया। हे प्रभो ! आप तो छिपे थे कि कोई आपको देख न ले, लेकिन आप तो और भी प्रकट हो गये। इसलिये अब अगर छुपना है तो दूसरा ढंग अख़्तियार कीजिये, वह यह कि अगर आप छुपनेसे प्रकट होते हैं तो प्रकट होकर छुप जाइये ! फिर तो आपके सामने आनेपर लोगोंको लेनेकी फ़िकर और झोलियाँ भरनेकी फ़िकर होगी। यह कहेगा ही कौन कि यह है दाता ! सम्भव है लेते-लेते लोग इतना भी भूल जायँ कि देनेवाला है ही कौन—जैसा कि रोज़ देखनेमें आता है कि जिसने सब कुछ दिया, उसको तो भूल ही बैठे हैं।

एक बैरिस्टर साहबने एक दिन मेरे पास आकर फूल चढ़ाये। मैंने जान-बूझकर बैरिस्टर साहबको तो न देखा और फूलोंको देखना शुरू कर दिया और वह भी इस हदतक कि उनको अपनी ख़ामोशीको इस तरह तोड़ना पड़ा कि 'महाराज क्या ख़ूब, फूलोंमें इस तरह लग गये कि देनेवालेकी याद ही नहीं आ रही।' जब मैंने उनकी यह बात सुनी तो आँख ऊपर कर कहा कि 'बड़ा आश्चर्य तो यह है कि आपकी तरफ़ देखनेसे भी आप प्रसन्न न होते; क्योंकि उस समय आपको यह शिकायत होती कि 'वाह महाराज ! अच्छे रहे, मेरी तरफ़ ही देखते जा रहे हैं और जो फूल दिये हैं, उनको देखतेतक नहीं। तो फिर ऐसी अवस्थामें भी आपको ज़रूर शिकायत होती।' इसके बाद मैंने कहा, 'लीजिये अपने फूल, मैं बाज़ आया। यह आपने मुझको फूल दिये या शिकायतका दफ़्तर खोल दिया ?' मैंने उनके फूल उनके हाथमें लौटा दिये तो उन्होंने फिर कहा कि 'महाराज ! इस तरह भी तो शिकायत रफ़ा न हुई; क्योंकि आपने मेरे फूल ही लौटा दिये।' तो मैंने कहा कि 'नहीं, अब तो शिकायत न रहनी चाहिये, क्योंकि मैं आपको और आपके फूलोंको एक ही नज़रसे देख रहा हूँ।' वह हँस पड़े और क़हक़हा लगाया ! उन्होंने पूछा 'महाराज ! इस तमाम क़िस्सेसे आपका भावार्थ क्या है ?'

मैं—सिर्फ़ शिकायत रफ़ा करना और उसके साथ यह भी कि भगवान्‌ने सृष्टि बनायी और हमारे सामने रक्खी। अगर हम इसीको देखने लग जाते हैं तो उनको ज़रूर शिकायत होती है कि वाह अच्छे रहे, दुनियाको यहाँतक देखने

लगे कि बनानेवालेका ख्यालतक नहीं आता। अगर हम इसको बिल्कुल भी न देखते तो यह शिकायत पैदा होती कि खूब! इतनी अच्छी दुनिया बनाकर दी और ये देखतेतक नहीं, सिर्फ़ मुझहीको देखे जाते हैं। फिर यह शिकायत तो इसी तरह रफ़ा हो सकती है कि प्रभुकी दुनिया उनके सामने रक्खें और उसको और उसकी दुनियाको एक ही नज़रसे देखते जायँ।

वे बहुत प्रसन्न हुए। लेकिन हम तो दूसरी तरफ़ आ गये! हमको तो यह कहना था कि प्रभु ऐसे दाता हैं कि देकर छुप जाते हैं या देकर ऐसी बात बना देते हैं कि किसीको यह पता न चले कि देनेवाला कौन था। और है भी सच। कौन कहता है कि प्रभुने मुझको यह दिया, वह दिया। अक्सर यही सुननेमें आता है कि फ़लाँ कामसे हमको यह मिला, फ़लाँ business से यह प्राप्ति हुई, वग़ैरह। यह भी कोई कहता है कि प्रभुने हमको यह दिया। और अगर कोई मुँहसे कह भी देता है तो अंदरसे ज़रूर जानता है कि अगर हम वह काम न करते तो आज यह बात कैसे बनती। प्रभुने अपने आपको छुपानेके लिये गोवर्धनको ग्वालोंके डंडे इसीलिये लगवाये थे, कि कोई यह न कह दे कि काम उस छोटी-सी उँगलीका था। भगवान् श्रीकृष्णको माखन खानेका शौक़ था और जब माखन खाते तो झट बछड़ोंके मुँहमें मल देते और जब माँ पूछती कि किसने माखन खाया तो झट प्यारी-प्यारी उँगली उठाकर मुँह बनाकर यह कह देते कि जिसके मुँहको लगा होगा उसने खाया होगा। वाह-वाह! क्या बात है! भला भी उनके मुँहपर कि जो आगेसे यह भी न कह सकें कि हमने नहीं खाया, खानेवाले तो यह आप ही हैं।

इधर पञ्चभूत जड और उधर आत्मा चेतन। जड बेचारा तो करेगा ही क्या, और चेतन कुछ ऐसे ढंगके कि सब कुछ कर-कराकर अपने माथे कोई बात लगने दें तो फिर चतुराई ही क्या हुई! अगर पूछ बैठिये कि आप करनेवाले नहीं तो यह और करनेवाला कौन है, तो झट जवाब दे देते हैं कि 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'—हम तो केवल साक्षी हैं। इस अदापर कुर्बान!

इस सादगीपर कौन न मर जाय, ऐ ख़ुदा!
लड़ते हैं और हाथमें तलवार भी नहीं॥

एक मस्त स्त्री सड़कोंपर बैठी कहा करती थी—

जो बिगड़ी हमसे बिगड़ी, तुमसे क्या बिगड़ी?
नहीं, जो बिगड़ी तुमसे बिगड़ी, हमसे क्या बिगड़ी?
जो किया हमने किया, तुमने क्या किया?
नहीं, जो किया तुमने किया, हमने क्या किया?

वाह वाह! कैसी लीला है! शायद दान कर छुप जाने-का मतलब यह है कि अपने भिक्षुकोंके मनमें इस तरह अपने प्रेमकी आग भड़काकर उन्हें इधर-उधर तलाश करते देखकर ख़ुश हों।

एक आदमी रातको सफ़ेद वस्त्र सिरहाने रखकर सो गया। सुबह जब वह उठा तो क्या देखता है कि उसके वस्त्र रँगे हुए थे। इतना प्रिय रंग है कि आँख झपकानेको दिल नहीं चाहता। लेकिन किसी ख्यालसे आँखको इधर-उधर उठाना ही पड़ा कि कौन है वह रँगरेज़ कि जिसने इतना सुन्दर रंग मेरे वस्त्रोंको दिया है! जब इधर-उधर नज़र न आया तो फिर सोचा और दिलमें प्रेमकी आग भड़क गयी कि आह, यह दयालु रँगरेज़ कौन है कि जिसने वस्त्र भी इतने सुन्दर रँगे और ख़ुद भी छुप गया। इसमें तो स्वार्थ बिल्कुल नहीं। झट वस्त्रोंको पहन लिया, लेकिन फिर भी मस्त हुआ किसी औरको ढूँढने लगा। वह था उसका प्रीतम रँगरेज़ कि जिसने उसके हृदयरूपी वस्त्रपर—उसके वस्त्रोंको रँगकर—अपने प्रेमका रंग चढ़ाया था। यह घबराया, इसका धीरज टूट गया और 'रँगरेज़-रँगरेज़' करने लगा। यह उन वस्त्रोंको पहनकर इधर-उधर भागा फिरता था कि कहाँ है वह प्रियतम रँगरेज़ कि जिसने इतना सुन्दर रंग वग़ैर रँगाई लिये ही रँग दिया है।

यह एक तरफ़को दौड़ा कि शायद उधर वह मिल जाय; लेकिन क्या देखता है कि वहाँ एक आदमी जा रहा है कि जिसकी पगड़ीपर उसी रंगके छींटे हैं कि जैसा उसके कपड़ोंका रंग था। यह जाकर उससे लिपट गया—'क्या आप ही हैं वह रँगरेज़ कि जिन्होंने मेरे वस्त्र रँगे थे?' उसने रोकर कहा—'नहीं, मैं भी उसको ढूँढ रहा हूँ। जिसने ये सुन्दर छींटे मेरे कपड़ोंपर डाले हैं।' अच्छा हुआ दो प्रेमी उसीके ढूँढनेवाले इकट्ठे हो गये।

क्या खब गुजरेगी जब मिल बैठेंगे दीवाने दो॥

लेकिन जब यह कुछ और दूर निकल गया तो क्या देखता है कि एक आदमीकी पगड़ी उसी रंगकी है कि

जिस रंगके इसके कपड़े रँगे हुए थे। इसने उससे भी पूछा, लेकिन उत्तर 'न' में मिला। यह कभी इधर भागता और कभी उधर दौड़ता था, मगर सिवा निराशाके और कोई बात सामने न आती थी। आखिर हार गया, थक गया। हर चीजकी हद होती है, जब इसी तलाशमें भागता-भागता थककर गिर गया तो बेहोश हो गया। मगर इसको अपनी मूर्छाका भी ज्ञान न था, क्योंकि अगर ऐसा होता तो यह होशवाला कहलाता।

मुझसे एक शख्सने आकर कहा कि महाराज! मैं बिल्कुल अज्ञानी हूँ। तो मैंने हँसकर कहा कि नहीं, यह गलत है। उसने पूछा कि यह कैसे, तो मैंने जवाब दिया कि अगर आप बिल्कुल अज्ञानी होते तो आपको यह ज्ञान कहाँसे होता कि आप अज्ञानी हैं। अपने अज्ञानका ज्ञान होना भी तो एक ज्ञान है।

कुछ देरके बाद उसको होश आया तो क्या देखता है कि उसको किसीने उठा रक्खा है और जिसने उठा रक्खा है, उसके हाथ उसी रंगसे अभीतक रँगे हुए हैं (क्योंकि रँगरेजको भाग-दौड़में फुरसत ही कहाँ मिली कि वह अपने हाथ धो लेता)। उसने हैरान होकर पूछा कि आप कौन हैं, तो जवाब मिला कि मैं·····। लेकिन उसने झट अपने रँगरेज़का बाजू (हाथ) पकड़ लिया और कहा कि अब तो बता दीजिये कि आप कौन हैं। रँगरेज़ने दबी जबानसे कहा कि 'मैं वही हूँ, वही हूँ कि जिसने तुम्हारे कपड़े रँगे थे।' उसने सवाल किया कि क्या मैं पूछ सकता हूँ कि आप इस तरहसे मेरे वस्त्र रँगकर छुप क्यों गये, सामने क्यों न आये। रँगरेज़ने जवाब दिया कि 'मैं वस्त्र रँगनेके बाद तुम्हारे दिलमें अपना प्रेम फूँककर यह देखना चाहता था कि तुम मेरे रँगे वस्त्र पहिनकर मुझको किस तरह ढूँढ़ते फिरते हो। और जब तुम दौड़ते फिरते थे तो मैं तुम्हारे पीछे-पीछे होता था और यह देखकर खुश होता था कि वाह! रंग क्या ही अच्छा चढ़ा!' लेकिन उससे रहा न गया और उसने फिर पूछ ही लिया कि 'यह तो बताइये कि जब छुपना ही था तो अब क्यों सामने आकर पकड़े गये?' तो रँगरेज़ने जवाब दिया कि 'क्या करता! जब तुमको अपने प्रेममें मस्त होकर इस तरह गिरते देखा तो मुझे यह ख्याल आया कि ऐसा न हो कि मेरे रँगे वस्त्र खराब हो जायँ और तुमको कोई चोट आ जाय। भला, मैं अपने रंगको खराब होते कैसे देख सकता था?' वह आदमी रँगरेज़ और उसकी दयाकी तरफ देखने लगा।

शायद प्रभु देकर इसलिये भी छुप जाते हैं कि उसके दिलमें प्रेम पैदा हो।

बस, श्रीराधेजीको कहना ही पड़ा कि प्रभो! आप तो इतने भोले हैं कि ऐसे दान करके भी भूल जाते हैं!

भगवान्—तो क्या मैं ऐसा दाता हूँ कि मैं ज़ख्म लगाता हूँ?

राधेजी—नहीं, इसको ज़ख्म कौन कहता है? यह तो संसारके ज़ख्मोंको दूर करनेकी मरहम है। यह वह दीपक है, जिससे अंधकार दूर होता है; यह वह सुन्दर पुष्प है कि जिसमें काँटा है ही नहीं। यह वह दर्द है कि जिसको दवाकी आवश्यकता नहीं। प्रभो! इसको ज़ख्म न कहिये।

भगवान्—शायद मेरा मन रखनेके लिये ऐसा कह रही हो?

राधेजी—नहीं भगवन्, आपका मन कौन रख सकता है! आप तो संसारका मन रखनेवाले हैं, तभी तो माखन-चोर कहलाते हैं यानी मन-चोर। माखनका पहला हिस्सा है म और अन्तिम न, और मध्यका भाग अ और ख रह जाता है—अर्थात् अख या आँख। गोया आप आँख लड़ाकर मनको चुरानेवाले हैं।

भगवान्—(हँसकर) आपने तो हमको और भी बड़ा चोर बना दिया। अच्छी तारीफ की!

राधेजी—जो बीमारीको चुराये, वह वैद्य या डाक्टर कहलाता है; जो अज्ञानको चुराये, वह गुरु। फिर जो मनको चुराये, वह सिवा भगवान्के और हो ही कौन सकता है?

भगवान्—वह क्यों? भला, मनके चुरानेसे फायदा?

राधेजी—तमाम संसार नाम-रूपमें रहता है, नाम-रूप देश-कालमें और देश-काल मनमें रहते हैं। इसलिये जब आपने किसीका मन ही चुरा लिया या अपने पास रख लिया तो फिर उसका देश-काल कहाँ रहा और जब देश-काल नहीं तो नाम-रूप कहाँ? और जब नाम-रूप नहीं तो अपना-बेगाना कहाँ, अपने-बेगानेके अभावसे राग-द्वेष कहाँ? जब

राग-द्वेष गये, पाप-पुण्य भी गये और जब पाप-पुण्य गये तो दुःख-सुख आप ही उड़ गये यानी बन्धन और उसका भय भी जाता रहा। आपने किसीका मन क्या चुराया, उसको तमाम दुःखोंसे ही मुक्त कर दिया। उसके तमाम आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक ताप नष्ट हो गये। वाह! कैसे सुन्दर चोर हैं कि जिसका मन चुराते हैं, उसे सबसे बड़ा रत्न परमानन्दका दे देते हैं। या यों कहिये कि परमानन्द, जो कि प्रेमका समुद्र है, उसको दे देते हैं, जिसका कि मन चुराते हैं। आपने जिसका मन चुराया, उसके अंदर आप और आपका प्रेम बैठ गया। अब लिया तो मन जो कि अति चञ्चल था, विक्षिप्त था, इधर-उधर भागता था, हर समय पीड़ित रखता था और दिया वह प्रेम जिससे उसको यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिकी कुल अवस्थाएँ सहज ही प्राप्त हो गयीं। प्रेमीकी इन्द्रियाँ बहिर्मुख नहीं रहतीं, उसका नियम प्रभुकी तरफ़ देखना होता है। प्रेमीका आसन यह है कि प्रेम उसको विह्वल करके जिस किसी भी साँचेमें ढाल दे, वही उसका आसन बन जाता है। प्रेमी जमीनपर पड़ा है, अश्रुपात हो रहे हैं, हिचकियाँ बँधी हैं। कभी आँखें खुलती हैं तो इस आशामें कि शायद कभी सामनेसे आ जायँ और बंद होती हैं तो इस भावसे कि शायद भीतर ही उनके दर्शन हो सकें। प्रेमीको बाहरकी मामूली-सी सरसराहट भी शङ्कित कर देती है कि कहीं उसका प्रीतम तो नहीं आ रहा है!

प्रेमीका आसन क्या है? प्रेम जिस साँचेमें उसको ढाल दे।

प्रेमीका प्राणायाम—उसको अपने प्राणोंकी गतिपर क़ाबू पानेकी आवश्यकता नहीं होती, बल्कि उसका मन प्रभुमें जुड़ जानेसे और मनकी गति ठीक हो जानेसे उसे स्वाभाविक ही उस प्रकारके प्राणायामकी प्राप्ति हो जाती है जिससे पारमार्थिक पथपर वह ज़ोरोंसे चलता जाय।

प्रेमीका प्रत्याहार—मन, इन्द्रियाँ स्वभावतः प्रभुकी तरफ़ दौड़ती हैं।

प्रेमीकी धारणा—केवल यह है कि उसने हृदयमें सदा प्रभुको धारण किया है।

प्रेमीका ध्यान—भगवान्‌का ध्यान है।

प्रेमीकी समाधि—वह अपने प्रियतम और उसके सौन्दर्यमें यहाँतक विलीन हो जाता है कि फिर उसको न तो दूसरा नज़र आता है और न उसको दूसरा देखनेकी फ़ुरसत ही होती है। वह किसी औरको देखे तो क्यों? क्या उससे कोई सुन्दर है? और अगर कोई सुन्दर है भी तो उसको क्या? पहलेसे फ़ुरसत मिले तो दूसरेकी तरफ़ देखे! उसको तो यहाँतक भी फ़ुरसत नहीं कि प्रियतमको देखता हुआ अपनी तरफ़ भी देख सके। क्योंकि वह जानता है कि मैं जितने समयतक अपनी ओर देखूँगा अपने प्रीतमकी ओर न देख सकूँगा। दरअसल बात यह भी नहीं—अगर वह यह जानकर और इस भयसे अपनी तरफ़ नहीं देखता कि कहीं प्रीतमकी तरफ़से आँख न हट जाय, तो भी वह ग़लत है; क्योंकि ऐसा करनेसे वह अपनी तरफ़ तो नहीं देखता लेकिन उन विचारोंकी तरफ़ ज़रूर देखता है कि जिनमें 'अपनी तरफ़ देखनेसे अपने प्रीतमकी तरफ़ न देखे जाने' का भय मौजूद है। वह तो अपनी तरफ़ इसलिये नहीं देखता कि वह अपनी तरफ़ देख ही नहीं सकता और किसी औरकी तरफ़ इसलिये नहीं देखता कि उसको न तो कोई और नज़र आता है और न उसको अपने प्रियतमसे इतनी फ़ुरसत ही मिलती है कि किसी औरकी तरफ़ देख सके।

ध्यानकी पहली अवस्था

पहले प्रेमी प्रीतमका ध्यान करता है और यह कमज़ोर अवस्था होती है, क्योंकि ध्यान न लग सकनेकी वजहहीसे तो वह ध्यान करता है। इस अवस्थामें अभीतक प्रेमीके मनमें संसार और उसकी भावनाएँ होती हैं और उसके साथ आप भी होता है और प्रीतम भी। यह एक विचित्र कशमकशकी अवस्था होती है। वह कभी तो अपने मनको संसारसे हटाता है और कभी भगवान्‌में जोड़ता है। जब संसारकी तरफ़ बढ़ता है तो प्रियतमका सौन्दर्य उसके बीचमें आकर खड़ा हो जाता है और जब यह घबराकर उससे लिपटना चाहता है तो संसार बीचमें आ खड़ा होता है। यह है प्रेमीके 'ध्यान करनेकी अवस्था'। अक्सर लोग पूछा करते हैं कि 'कारण क्या है—दिनभर तो मन अच्छा ही रहता है, लेकिन जहाँ भगवान्‌का ध्यान किया झट संसारकी भावनाएँ सामने आ खड़ी हुईं! इस ध्यानसे तो न ध्यान करना ही अच्छा हुआ।' तो मैंने जवाब दिया कि जब तुम पहलवान बनकर बाहर निकलोगे तो तुम्हें गिरानेके लिये दूसरे पहलवान आवेंगे ही। अगर तुम डर गये तो और बढ़िया करना,

और अगर उनको गिरा लिया तो पहलवानोंके सरताज बन जाओगे।

वह—महाराज! इस तरह तो भगवत्प्राप्तिमें देर लगती है।

मैं—देर ही तो एक ऐसी चीज़ है कि जिससे भगवत्-प्राप्तिका सुख मिलता है। अच्छा, यह तो बताइये कि अगर भूख लगनेपर उसी समय आपकी भूख मिट जाय तो बेचारे रसोइयेकी यह तमाम मिहनत ज़ाया न हो जायगी कि जो उसने अच्छे-अच्छे भोजन बनानेमें लगायी है।

ध्यानकी दूसरी अवस्था

इस अवस्थामें प्रेमी ध्यान नहीं करता बल्कि उसका प्रीतम उसके अंदर बैठकर अपना ध्यान करवाता है। जब पतङ्गेने दीपकको देख लिया तो दीपक उसके अंदर आ गया। अब देखनेमें तो यह आता है कि पतङ्गा दीपककी तरफ़ दौड़ता है, लेकिन असलियत यह है कि दीपक पतङ्गेमें बैठकर अपनी ओर आप भागता है। और यह नियम भी है कि सजातीय सजातीयकी तरफ़ जाता है। दीपक उसके अंदरको अंदर बैठकर जलाता है और उसके बाह्य आकारको अपने अंदर खींचकर भस्म कर देता है। गोया दीपक परवानेके घरमें उसके नेत्रोंके दरवाज़ेसे घुसकर उसके घरको आग लगा देता है और उसके तमाम सामानको आग लगाकर आग ही बना देता है।

प्रेमकी त्रिपुटी

प्रेमकी त्रिपुटी एकाकार इस तरह होती है—प्रेमी, प्रेम और प्रीतम। यह हुई प्रेमकी त्रिपुटी या Trinity। एकके बग़ैर दूसरा रह नहीं सकता। प्रेमी और प्रीतम एक दूसरेसे खड़े हैं। प्रेमी प्रीतमके ध्यानमें जुड़कर जब अपना आपा खो बैठता है तो उसके इस त्याग (sacrifice) को देखकर प्रीतम उसका प्रेमी बन जाता है। प्रेमी तो प्रीतमके ध्यानमें अपना आपा खो बैठा और प्रीतम प्रेमीके ध्यानमें अपना आपा भूल गया। या यों कहिये कि जब प्रेमी न रहा तो प्रीतम भी न रहा और जब प्रेमी और प्रीतम न रहे तो प्रेम कहाँ रहा? इस तरहसे प्रेमका अन्तिम सार वह अवस्था है कि जो अनिर्वचनीय है। लेकिन यह शून्य नहीं बल्कि वह अवस्था है कि जिसको मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ पकड़ नहीं सकतीं। जिस तरह ज्ञानी अपनी अन्तिम सीढ़ीपर पहुँचकर ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयभावसे ऊपर हो जाता है उसी तरह प्रेमी अपनी अन्तिम अवस्थामें पहुँचकर प्रेमी, प्रीतम और प्रेमके भावसे ऊपर हो जाता है। यह है प्रेमीकी समाधि और ध्यानकी परिपक्वता। लेकिन इससे पहले जहाँतक कि धारणा और ध्यानकी अवस्थाएँ हैं, वहाँतक प्रेमी दूसरे दर्जेमें ध्यान और धारणाको प्रयत्नद्वारा नहीं करता बल्कि कराया जाता है। यानी प्रेम उसके अंदर बैठकर उसको अष्टाङ्गयोगकी उन तमाम सीढ़ियोंसे आप ही गुज़ारता जाता है कि जिनको योगी लोग प्रयत्नद्वारा करते हैं। जिस तरह जब दवा खा ली जाती है तो उसके बाद दवा खाने-वालेको यह फ़िक्र करनेकी ज़रूरत नहीं होती कि वह दवाके ज़रिये बीमारीको जगह-बजगहसे निकालता फिरे। यह दवाका काम है कि उस बीमारीको दूर करे और बीमारका काम है दवा खाना।

इसलिये जब भगवान् किसीके मनको चुराते हैं तो उसके मनमें अपना प्रेम फूँक देते हैं—जिससे उसको धारणा, ध्यान और समाधिकी अवस्थाएँ आहिस्ता-आहिस्ता खुद ही प्राप्त हो जाती हैं।

देखा, आप कितने सुन्दर चोर हैं कि जिसका मन चुराते हैं, उसको सब कुछ दे देते हैं और उसका दिल फिर चाहता है कि वह एक मन चुराये जानेपर दूसरा मन पैदा करे, ताकि आप उसको भी चुरायें! ख़ूब चोरी है! मन क्या चुराया, माया ही चुरा ली!!

भगवान्—नहीं, हमें जल्दी है। पहले यह बताओ कि ज़ख्म लगा कैसे और कब?

राधेजी—प्रभो, जवाब न देना भी ठीक नहीं; इसलिये बता ही देती हूँ कि यह ज़ख्म किस तरह और कब लगा। प्रभो! एक दिन आपका हाथ अचानक बढ़ा तो मेरे लग गया और यह है इस ज़ख्मका कारण।

भगवान्—लेकिन यह तो बताया ही नहीं कि वह लगा कब?

राधेजी—प्रभो! बहुत दिन हो गये।

भगवान्—नाखूनका ज़ख्म तो एक-दो दिनमें ठीक हो जाता है और यहाँ इसको कई दिन हो गये। आख़िर कारण क्या है कि अच्छा नहीं हुआ?

राधेजी—लेकिन भगवान्, मैंने कब कहा कि यह अच्छा नहीं हुआ ?

भगवान्—फिर आप कहें या न कहें, लेकिन नज़र तो आ रहा है।

राधेजी—अच्छा, अगर आपको नज़र आता है तो बताये देती हूँ कि प्रभो ! न तो यह अच्छा हुआ है और न मैं चाहती ही हूँ कि यह अच्छा हो; क्योंकि जब इसपर अंगूर आता है, मैं इसको हाथोंसे छील देती हूँ।

भगवान्—(चौंककर) वह क्यों ?

राधेजी—वह इसलिये कि यह हरा हो जावे और वह इसलिये कि इसमें दर्द हो और यह क़ायम रहे।

भगवान्—वह क्यों ?

राधेजी—वह इसलिये कि जब मैं इसको छीलती हूँ तो इसमें दर्द होता है और जब दर्द होता है तो बुद्धि प्रश्न करती है कि यह किसका दिया दर्द है। तब उस आइने (शीशे) में आप नज़र आते हैं और जब आप नज़र आते हैं तो कोई दर्द ही नहीं रहता। फिर मैं इसको दर्द कहूँ या कुल दर्दोंकी दवा ? इसको काँटा कहूँ या फूल ? इसको दुःख कहूँ या सुख ? हे प्रभो ! आपके प्रेमका ज़ख्म जो इन दिलोंपर लगा हुआ है, उसको कभी न भरने देना, ताकि उस दुःखका अभाव न हो जावे कि जिसके होनेसे और कोई दूसरा दुःख हो ही नहीं सकता।

इसलिये प्रेम वह पदार्थ है कि जो दुःखको सुख बना देता है। अब सुख तो सुख है ही, लेकिन जिसने दुःखको भी सुख बना लिया, उसके लिये फिर दुःख रहा कहाँ ? जिस वस्तुसे तुम प्रेम करते हो, वह सबसे सुन्दर हो जाती है।

प्रेम खुद सौन्दर्य है

प्रेम खुद सौन्दर्य है, क्योंकि जबतक किसी पदार्थको प्रेम न करें, वह कभी सुन्दर नहीं हो सकता। एक प्रेमीसे किसीने कहा कि 'तुम्हारा प्रीतम काला है।' उसने कहा 'झूठ, बिल्कुल झूठ; उस-सा तो सुन्दर कोई नहीं।' उसने कहा—'मैं सच कहता हूँ, वह काला है'। तो उसने फिर पूछा कि तुमने किस औज़ारसे देखा है। तो जवाब दिया कि 'जिससे कुल संसार देखता है।' उस प्रेमीने कहा—'तो इसका यह मतलब है कि तुमने अपने नेत्रोंसे देखा है।' उसने कहा 'हाँ'। उसने झट ही कह दिया कि 'तभी तो तुमको मालूम न हो सका कि उसका वास्तविक सौन्दर्य क्या है।' उसने पूछा—'क्या उसको देखनेका कोई और औज़ार है ?' उसने कहा 'हाँ, वह हैं मेरी आँखें।' उसने पूछा कि 'इसमें विशेषता क्या है ? आँखें तो सब समान ही होती हैं।' उसने कहा कि 'ठीक है। लेकिन जो प्रेमरूपी सुरमा मेरी आँखोंमें पड़ा है, वह तुम्हारीमें नहीं और जबतक वह सुरमा किसी आँखमें न पड़े, सौन्दर्यका पता ही नहीं चल सकता।'

प्रेम स्वर्ग है

प्रेम स्वर्ग है; क्योंकि जहाँ प्रेम है, वहाँ दुःख रह नहीं सकता। दुःखका स्वरूप प्रतिकूलता है और जहाँ प्रेम है, वहाँ प्रतिकूलता रह नहीं सकती। जहाँ प्रतिकूलता नहीं, वहाँ अनुकूलता है और अनुकूलताका नाम स्वर्ग है।

प्रेमी unity है

असाँ देखी काती अत घनी जा एकसे दा करे।
बहलोल काती प्रेम दी जो दोसे एक करे॥

'हमने देखा है कि तलवार काटकर एकको दो बनाती है, लेकिन प्रेमकी तलवारका काम कुछ विचित्र ही है। यह दोको एक करती है।'

यह तलवार जिस दिलपर चली, वह एक हो गया। जिस मुल्कमें चली, वह एक हो गया। जिस संसारमें चली, वह एक हो गया और जब ईश्वर और जीवके दर्म्यान तो दोनों एक हो गये ! वाह-वाह ! कैसी विचित्र चीज़ है जो दोको एक करती है !

प्रभु अकेले थे, दो हो गये और अब फिर दोसे एक होना चाहते हैं। यह है उनकी लीला और दोसे एक करना प्रेमका काम है। बात तो यह है कि एकसे दो होना भी प्रेमहीका काम है, क्योंकि एकसे दो इसलिये हुआ था कि दो होनेके बाद फिर एक होनेका आनन्द ले सके !

एक जलकी बूँदने समुद्रसे शिकायत की कि 'यह तूने क्या किया जो मुझको अपनेसे जुदा कर दिया ? इसमें सन्देह नहीं उच्च-से-उच्च और सुन्दर-से-सुन्दर स्थान मुझको संसारमें प्राप्त हैं। मैं आँखोंमें आँसू बनकर नहीं बैठी, बल्कि फूलपर ओस बनकर बैठी हूँ; लेकिन मुझको यहाँ चैन नहीं, सन्तोष

नहीं, धीरज नहीं। क्योंकि इतने उच्च और कोमल तथा सुन्दर स्थानपर होते हुए भी हवाकी लहरें मुझको डरा रही हैं कि हम तुमको नष्ट किये बग़ैर न रहेंगी और जब हवाकी तेज़ रफ्तारका ख़याल आता है तो मेरा तमाम सुख नष्ट हो जाता है, मेरा हृदय काँपने लगता है और धड़कन शुरू हो जाती है। उफ़! यह तूने क्या किया जो मुझको अपनेसे जुदा कर दिया और इस संसारके दुःखोंमें डाल दिया, मुझे थोड़ा-सा लालच देकर क्यों फेंक दिया?' समुद्रने उत्तर दिया 'यह तो सब ठीक है, लेकिन मैंने तुझको जुदा इसलिये किया है कि तू इस जुदाई (वियोग) से मेरे संयोगका आनन्द ले सके।'

आपको कभी यह ख़्याल नहीं आता कि आप अपनेसे मिले हैं, क्योंकि आपको अपनेसे जुदा होनेका भी ख़्याल नहीं आता और दरअसल आप जबतक दो नहीं होते अपना मुँह देख ही नहीं सकते। आख़िर शीशेमें भी तो अपने आपको देखनेके लिये दूसरा बनना ही पड़ता है।

तो प्रभुने केवल योगका आनन्द देनेके लिये यह वियोग पैदा किया है। बस, इस वियोगके पैदा करनेमें प्रेम ही है, इसलिये कि उससे संयोगका आनन्द मिल सकता है। दायरा (circle) जहाँसे शुरू होता है, वहीं आकर मिलता है। जब बिन्दु (point) था, हरकत न थी; जब हरकत हुई, दायरा बन गया। अब यह हरकत क्या है? नुक़्ते (बिन्दु) का अपने नुक़्तेसे मिलना और वह हरकतके बाद। इसी तरह प्रभु एकसे चलकर दो बने और फिर दो बनकर एककी तरफ़ चल दिये। बस, इस क्रियामें सिवा प्रेमके और कुछ है ही नहीं।

प्रेम क्या है?

प्रेम क्या है? त्याग—अहंकारका त्याग, ख़ुदीका तर्क (Self-abnegation)।

When shall I be free?

When I shall cease to be.

प्रेम क्या है? योग यानी वह आकर्षण या वृत्ति कि जो दोको एक करती है। सारांश यह कि प्रेम ही सब कुछ है। अपने सामान्य रूपमें यह परमात्मासे एक हो रहा है और विशेष-रूपमें भक्तोंके हृदयमें चमकता है और जहाँ विशेषरूपमें चमकता है, वहाँ प्रेमी बनकर अपने प्रीतमको सामने रखता है और इस तरह अपने प्रीतमसे एक होनेकी कोशिश करता है।

प्रेमके कुछ दर्जे

(१) **पहली अवस्थामें**—प्रेम मनुष्यके अंदर होता हुआ भी अनहुआ-सा होता है और यह मालूम नहीं होता कि उसका प्रीतम कौन है। वह जीवित होता है। उसमें प्रेम प्रेमके रूपमें नहीं रहता बल्कि तलाशकी शक्लमें रहता है और संसारमें अपने प्रियतमको ढूँढता फिरता है, लेकिन यह जानकर नहीं कि वह प्रियतमको ढूँढ रहा है। उसके अंदरका असली स्वभाव उसे प्रीतमकी तलाशमें दौड़ाता है, लेकिन वह समझता है कि वह संसारमें ही कुछ ढूँढ रहा है। इस दर्जेमें प्रेम तो होता है, लेकिन दूसरी शक्ल अख़्त्यार करके। उसकी तलाश प्रीतमके लिये ही होती है; लेकिन जिन चीज़ोंमें वह उसे ढूँढता है, वहाँ वह नहीं मिलता। यह अजब ग्रहण और त्यागकी अवस्था होती है। एकको छोड़ता है तो दूसरीको पकड़ता है, दूसरीको छोड़ता है तो तीसरीको पकड़ता है। लगातार कशमकश बनी रहती है। इसे न ग्रहणमें सुख होता है न त्यागमें। इसकी भूख कहीं नहीं मिटती। आख़िर इसको मालूम हो जाता है कि चैन यहाँ नहीं।

(२) **दूसरी अवस्था**—इसकी आँख अपने प्रियतमसे लड़ जाती है, लेकिन प्रियतम ख़ुद बहुत दूर होता है। यह उसको पकड़ना चाहता है, लेकिन पकड़ नहीं सकता। इस अवस्थामें इसको एक बात तो ज़रूर प्राप्त हो जाती है—यह यह कि वह समझ लेता है कि पहली अवस्थाकी दौड़-धूप रहस्यपूर्ण थी। उसका भावार्थ यह था कि जिस चीज़की उसको तलाश थी, वह उनमें न थी कि जिनमें वह आजतक ढूँढता रहा। दूसरी अवस्थामें जब प्रीतमसे आँख लड़ती है और यह उसको पा नहीं सकता तो इसके अंदर संयोग और वियोग दोनों इकट्ठे काम करते हैं। संयोग तो इसलिये कि वह इसको पानेकी कोशिश करता है। इस अवस्थामें प्रेमीकी विचित्र हालत होती है। उस प्यारेका ध्यान बाक़ी तमाम सांसारिक वृत्तियोंको दबा लेता है। सब ध्यान ख़त्म होकर एक ही ध्यान रह जाता है। इस प्रेमके आते ही बाक़ी सब मोह-जाल और इच्छाएँ गिर जाती हैं। लोक और परलोक इसकी दृष्टिसे यों गिर जाते हैं कि जिस तरह नेत्रोंमें सुरमा डालनेसे दो आँसू। इसे बाह्य वृत्तियोंको रोकने और

मिथ्या पदार्थोंको त्यागनेके लिये प्रयत्न ज़रा भी नहीं करना पड़ता। न वैराग्यकी किताबें ही पढ़नी पड़ती हैं और न अपने मनको बार-बार यह समझाना पड़ता है कि ये पदार्थ दुःखदायी हैं, मिथ्या हैं, मृगतृष्णाके जलवत् हैं। बल्कि ये खुद ही इन शक्लोंमें ढल जाते हैं। एक प्रेमीके सामने सुन्दर-से-सुन्दर चीजें अपने प्रियतमके न होनेपर बेकार हो जाती हैं और प्रीतमके साथ छोटे-से-छोटे पदार्थ भी बड़े-से-बड़े हो जाते हैं। प्रीतमके न होनेपर प्रेमीको फूल काँटे, सुख दुःख, स्वर्ग नरक और ज़िंदगी मौतसे बदतर हो जाती है। प्रेमीके मनको प्रीतमके वियोगमें कोई दूसरा पदार्थ प्रसन्न नहीं कर सकता। प्रेमीका मन उसी दिनसे संसारभरके प्रलोभनोंसे निश्चिन्त हो जाता है कि जिस दिनसे उसकी आँख अपने प्रियतमसे लड़ जाती है। सारांश यह कि ऐसे प्रेमीको न तो कोई लालच ही रहता है और न भय। लालच तो इसलिये नहीं कि वह इन चीजोंको चाहता नहीं और भय इसलिये नहीं कि उसे अपने ध्यानकी परिपक्वतामें अपने जीवनकी याद ही भूल जाती है। अगर कोई उसके पास उसके प्रियतमका नाम ले दे तो वह मरा-मरा भी जी उठता है और भूल जानेपर जीवनको भी मौत ख्याल करता है।

(३) तीसरा दरजा—जब प्रेमी अपने प्रियतमको देख लेता है और उसकी समीपताको चाहने लगता है और वह आहिस्ता-आहिस्ता अपने प्रभुके समीप होता जाता है, यहाँतक कि प्रभुकी अत्यन्त समीपता उसको प्राप्त हो जाती है। इस अवस्थामें प्रेमीको भगवान् हर समय सामने ही नज़र आते हैं, थोड़ी भी दूरी नहीं रहती। इस उच्च अवस्थामें संसार और उसके प्रलोभनोंका तो ज़िक्र ही क्या है, आसुरी वृत्तियाँ तो नामको भी वहाँ नहीं पहुँच सकतीं। प्रेमीका खाना-पीना, सोना-बैठना, जागना-उठना एक ही ध्यानमें लीन हो जाता है। वह सब क्रियाएँ करता रहता है, लेकिन क्षणमात्रके लिये भी उसके ख्यालसे अलहदा नहीं होता। लेकिन इस अवस्थामें भी प्रेमीको यह ख्याल आता है कि मैं प्रभुके अत्यन्त समीप हूँ। इसमें भी इसको पूरा चैन नहीं मिलता, या यों कहिये कि इसका वियोग पूर्णरूपसे दूर नहीं होता; क्योंकि यह उसकी समीपताको अनुभव करता है। 'समीपता' शब्दका अर्थ यह है कि वह उसके नज़दीक है—जिसका मतलब यह है कि इसमें अभी अपना आप उसने नहीं खोया, वरना समीपताका ख्याल और दूर होनेका भय भी कैसे होता? यह अवस्था बड़ी उच्च होती है, लेकिन हम इसको पूर्ण नहीं कह सकते। क्योंकि प्रेमीकी पूर्ण अवस्था वह होती है कि जिसमें प्रेमी खुद रहता ही नहीं और समीपताका ख्याल बग़ैर अपने हुए हो ही नहीं सकता। ऐसी अवस्थामें कभी तो प्रेमीको अभिमान और कभी भय आकर दुःख देते हैं। अभिमान तो इस बातका कि मैं पूर्ण सौन्दर्यके क़रीब बैठा हूँ और भय इस बातका कि कहीं यहाँसे अलहदा न किया जाऊँ। और अक्सर इस प्रकारका मोह भी इस अवस्थामें आ जाता है कि 'देखा, आखिर हमने भगवान्‌को पा ही लिया!' जब भगवान् अपने प्रेमीको इन बातोंका शिकार होते देखते हैं तो उसको थोड़ा-सा परे कर देते हैं और फिर वह अपनी कोशिशसे भगवान्‌को पाना चाहता है, लेकिन नहीं पा सकता। इस हालतमें उसका अभिमान टूट जाता है और इसमें एक प्रकारकी आजिज़ी (दीनता) आ जाती है। अब यह समझने लगता है कि यह प्रेम मेरा अपना न था, यह प्रभुकी देन थी; क्योंकि जबतक दीपक न जले, पतंगा उसमें जल ही नहीं सकता। इसलिये अहंकार और अज्ञानका तो नाश हो गया और भयका नाश भी इसलिये हो गया कि वह समझ लेता है कि जिसने इतनी कृपा करके अपनाया है, वह मुझको क्यों फेंकने लगा।

(४) चौथा दरजा—चौथी अवस्थामें प्रेमीका रहा-सहा अहंकार उस भड़कती हुई प्रेमकी अग्निमें जलकर खत्म हो जाता है, जिस तरह लकड़ी आगमें जलकर खत्म हो जाती है। इस अवस्थामें प्रेमी पूर्णतः अपने आपको प्रभुके अर्पण कर देता है। फिर जिधर भी देखता है, सिवा एक भगवान्‌के और कुछ नज़र ही नहीं आता। अपना-बेगाना, छोटा-बड़ा, दोस्त-दुश्मनको देखतातक नहीं; केवल प्रभु-ही-प्रभु रह जाते हैं। ज्ञान तो इस अद्वैतवादतक गहरी युक्तियों द्वारा लाता है, लेकिन प्रेम बग़ैर किसी विज्ञान (philosophy) और तर्क (logic) के इसी मंज़िलपर ला खड़ा करता है। अब देखनेको तो प्रेमी 'प्रेमी' कहलाता है, लेकिन उसमें सिवा प्रीतमके और कुछ नहीं होता; यह है प्रेमका सर्वोत्तम लक्षण। भावार्थ यह है कि जहाँ ज्ञानयोग, राजयोग, कर्मयोग मनुष्यको उठाकर यत्नद्वारा लाते हैं, वहाँ यह प्रेम प्रेमीको अपने कंधेपर उठाकर ला डालता है। धन्य है यह प्रेम! लेकिन यह ज़रूर है कि इसकी प्राप्ति सच्चे प्रियतमकी इच्छापर ही निर्भर है।

ना बूद शुदम बूद नमी दानम चीस्त ।
अबमर शुदा अम दूद नमी दानम चीस्त ॥
दिल दादमो जाँ दादमो ईमाँ दादम ।
सूरस्त दिगर सुद नमी दानम चीस्त ॥

मैं नाश हो गया, अब मुझे अपने पहले 'होने' की याद नहीं। मैं सुलगता हुआ कोयला बन गया, मुझे धुँआका ज्ञान नहीं। मैंने हृदय, प्राण और धर्म प्रभुकी भेंट कर दिये—और मुझको सबसे बड़ा फ़ायदा यही मालूम हुआ; इसके अलावा दूसरे फ़ायदेको मैं जानता ही नहीं।

प्रश्न—आप अपने पहले अस्तित्वको भूलकर नाश हो गये! इससे क्या फ़ायदा हुआ! क्या नाश होना भी कोई फ़ायदा है!

उत्तर—बीमारीका नाश होना, अंधकारका नाश होना, बुराईका नाश होना, परिच्छिन्नताका नाश होना और उस अहंकारका नाश होना, जो अपने प्रियतमसे दूर रखता है, क्या फ़ायदा नहीं!

प्रश्न—यह ठीक है। लेकिन बीमारीके दूर होनेपर बीमार तो रहता है, यहाँ तो आप ही नष्ट हो गये!

उत्तर—यह नाश इस प्रकारका नाश है कि जिसमें नाश कुछ भी नहीं होता बल्कि अल्पज्ञता सर्वज्ञताके, परिच्छिन्नता अपरिच्छिन्नताके, किरण सूर्यके और जलकी बूँद समुद्रके अर्पण कर दी जाती है। जलकी बूँदको समुद्रमें फेंका, किरण सूरज-में लिपट गयी तो क्या इनका वास्तविक नाश हो गया? जिस तरह जलकी बूँद समुद्रमें गिरकर नाश हो जाती है, उसी तरह अहंकार प्रभुमें मिलकर नाश हो जाता है। जलकी बूँद समुद्रमें गिरकर अपने आपको फिर कभी नहीं दिखाती बल्कि समुद्रको और उसकी बड़ाईको ही सामने रखती है। कोई भूलकर भी यह नहीं कहता कि यह क़तरा है। इसी तरह जब अहंकार प्रभुमें मिल जाता है तो वह अपने उस नाशसे प्रभुके अस्तित्वको दिखाता है लेकिन ख़ुद कहीं बाहर नहीं जाता। क़तरा (बूँद) तो समुद्रका अंश है। उसको कोई हक उसके नाश करनेका नहीं। हाँ, जिस क़तरेने जल और समुद्रसे अलहदा अपनी हस्ती मुक़र्रर कर ली है और जो इस तरह जल और समुद्रसे अलहदा बन गया है, उसको तो उसे नाश करना ही पड़ता है। वह कहता है कि मैं क़तरा हूँ, मेरी एक ख़ास हस्ती है, मैं एक ख़ुदमुख़्तार पदार्थ हूँ। लेकिन जब वह जलको देखता है तो उसका अपना सब कुछ सिवा जलके और कुछ नहीं निकलता। जलतक तो उसको अपनी अलहदा 'मैं' क़ायम करनेका अख़्त्यार नहीं; क्योंकि वह 'मैं' जलकी है और जलके बग़ैर क़तरा कुछ रहता नहीं। बस, इस दृष्टिमें क़तरेको कहना पड़ता है कि 'मैं अपने प्रियतमको देखकर नाश हो गया।' वैसे तो कुछ नाश-वाश हुआ नहीं।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

नाश हो किसका सकता था? जलका?

वह तो एक सत् पदार्थ था।

नाम-रूपका?

वे थे ही नहीं।

बस, न 'होने'का नाश हो सकता है और न 'न होने' का। हाँ, उस भ्रमका नाश जरूर हो गया, जिसने दूसरे-की चीज़पर झूठा क़ब्ज़ा कर रक्खा था। प्रेमी ख़ुद, जो कि अपने प्रीतमका अंश है, उस अंशको प्रीतमसे अलहदा करके उसपर अपना क़ब्ज़ा जमा लेता है और फिर कुछ-का-कुछ बन जाता है। कहीं शरीर है, कहीं मन है, कहीं बुद्धि है, कहीं प्राण है, कहीं ब्राह्मण है, क्षत्रिय है, महात्मा है, राजा है, ग़रीब है, अमीर है, छोटा है, बड़ा है, ज्ञानी है, अज्ञानी है, इज़्ज़तवाला है, क़िस्मतवाला है—इत्यादि। यह फिर प्रभुके पवित्र अंशपर जो प्रेमीका सांसारिक आरोप होता है, प्रेम उसको जलाकर ख़ाक कर देता है और शेष जो कुछ रह जाता है, वह प्रियतमका वह अंश होता है कि जिसपर प्रेमीने अपने जुदा अहंकारकी दुनिया क़ायम की होती है।

प्रेमकी अग्नि अहंकारको जला देती है और जब यह जल जाता है तो उसको फिर कभी याद भी नहीं आता कि वह था क्या। इस नाशपर सौ जान क़ुर्बान कि जो प्रियतमसे एक कर देता है! क़तरा समुंदरमें ग़र्क़ होकर समुंदरसे जुदा नहीं रह जाता जबतक लकड़ीका अपना अस्तित्व आगमें रहता है, उससे धुआँ निकलता रहता है, लेकिन जब जलकर ऐन आग बन जाती है तो धुआँ भी ख़त्म हो जाता है। इसी तरह जबतक अहंकारका कोई अंश भी प्रीतमके साथ रहता है, दुःख और भ्रमका नाश नहीं होता; और जब बिलकुल मिट गया तो धुआँ ख़त्म हो गया। मैंने अपने प्रीतमके प्रेममें अपना दिल, प्राण और धर्म सब कुछ दे दिये।

प्रश्न—वाह, अच्छे रहे ! सब कुछ मिलना चाहिये या वो सब कुछ दे देना ?

उत्तर—जिस देनेमें फ़ायदा हो, उसका दे देना ही अच्छा है। जब दिल दिया, झगड़े खत्म हो गये; प्राण दिये, मौतसे आज़ाद हो गये ! और जब सांसारिक धर्म उनकी भेंट किया तो बड़ा धर्म मिल गया, क्योंकि बड़ा धर्म यही है कि उसको अपना सर्वस्व देकर उससे एक हो जावे। प्रेमीको लेनेकी फ़ुरसत ही कहाँ है ? उसे तो सब कुछ देना-ही-देना है। सब कुछ प्रियतमको दिया, वह तो लालचमें आकर ले गये; लेकिन प्रेमी अजीब चतुर निकला कि अपना आप उनको देकर उनके नज़दीक बैठ गया और जब कभी प्रभुने उस धनपर ये शब्द फरमाये कि 'ये हैं मेरी चीजें' तो प्रेमी फूला नहीं समाया और कहने लगा कि 'हाँ, मैं इनका हूँ' और दबी ज़बानसे यह भी कह दिया कि 'यह मेरे हैं।' वाह, वाह, क्या सौदा है !

(शेष फिर)

प्रत्याहार-साधन

(परमपूजनीय श्रीश्रीभार्गव शिवरामकिंकर योगत्रयानन्द स्वामीजीके साधनसम्बन्धी उपदेशसे)

प्रत्याहार किसे कहते हैं ? प्रत्याहारका अर्थ है इन्द्रियोंको विषयोंसे लौटाकर ध्येय पदार्थमें संलग्न करना। इन्द्रियाँ विषयको प्राप्त करना चाहती हैं भोग करनेके निमित्त। विषयके प्रति इन्द्रियोंकी बहुत दिनोंसे एक प्रकारकी प्रीति (आसक्ति) उत्पन्न हो गयी है, इसी कारण इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर जाना चाहती है। विषय क्या हैं ? रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गन्ध। (विपूर्वक 'षीञ् बन्धने' धातुसे विषय शब्द बनता है) ये विषय विशेष करके मनको बाँधे रखते हैं और भगवान्‌की ओर नहीं जाने देते; इसी कारण इनका नाम विषय है। मन कभी रूपकी ओर, कभी रसकी ओर, कभी शब्दकी ओर, कभी स्पर्शकी ओर और कभी गन्धकी ओर दौड़ता है। यही उसका स्वभाव है। यदि ऐसी कोई वस्तु प्राप्त की जा सके, जिसमें ये सभी विषय प्राप्त हों, तो फिर इन्द्रियाँ विषयोंके लिये चलायमान न होंगी। जिससे उत्कृष्टतर कोई रूप नहीं है, इस प्रकारके रूपको यदि नेत्र देख पावें, तो वे फिर अन्य किसी रूपको देखनेके लिये लालायित न होंगे। जिससे बढ़कर कोई मधुर रस नहीं, ऐसे रसका आस्वादन यदि रसना कर सके, तो वह पुनः किसी दूसरे रसका स्वाद लेनेके लिये लोलुप न होगी। जिससे मधुरतर और कोई शब्द नहीं है, इस प्रकारका शब्द यदि श्रोत्र श्रवण कर सकें, तो वे पुनः अन्य किसी शब्दके श्रवणके लिये व्याकुल न होंगे। जिससे बढ़कर कोई सुखकर स्पर्श नहीं, यदि इस प्रकारके स्पर्शका अनुभव स्पर्शेन्द्रिय (त्वक्) को प्राप्त हो जाय, तो वह फिर अन्य किसी स्पर्शका अनुभव करनेके लिये चञ्चल न होगी। जिससे बढ़कर कोई दूसरा मनोहर गन्ध नहीं, यदि घ्राणेन्द्रिय इस प्रकारके गन्धका आघ्राण—भोग कर सके, तो फिर वह किसी अन्य वस्तुके आघ्राणके—उपभोगके लिये व्यस्त न होगी। देखा जाता है कि जिससे उत्कृष्टतर रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गन्ध कहीं नहीं है, इस प्रकारके रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गन्धके एकमात्र आधार श्रीभगवान् ही हैं। अतएव यदि विषयोंसे मनको हटाकर भगवान्‌में लगाया जाय, तभी यथार्थ प्रत्याहार-धर्मका साधन किया जा सकता है।

स्वभावतः हमारी इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर जाना चाहती हैं, विषयोंमें ही रहना चाहती हैं; इसीलिये उपासनाके समय उन्हें बलपूर्वक लौटा करके भगवान्‌के चरणमें लगाते समय इतना कष्ट होता है। इन्द्रियाँ जो कुछ देखना चाहती हैं, सुनना चाहती हैं, अथवा अन्य किसी विषयको प्राप्त करना चाहती हैं, उन सबको यदि तुम भगवान्‌के रूपमें ही परिणत कर सको, तो फिर इन्द्रियोंको इन विषयोंसे लौटा लेनेकी आवश्यकता ही न होगी तथा तज्जनित कष्टका भी अनुभव न होगा। इन्द्रियाँ जहाँ चाहें वहाँ रहें, परन्तु रहें उसे भगवान् ही समझकर। भूलोकमें जो कुछ स्थित है, भुवर्लोकमें जो कुछ विद्यमान है, स्वर्लोकमें जो कुछ है, सब कुछ राम ही हैं—यदि तुम इस प्रकारका चिन्तन कर सकते हो तो इसके परिणामस्वरूप भूर्भुवः स्वः—इन तीनों लोकोंके चाहे किसी भी विषयमें इन्द्रियाँ क्यों न रहें, उससे कोई हानि नहीं हो सकती; वह भी प्रत्याहार ही कहलायेगा। इस प्रकारकी भावना प्रत्याहार-सिद्धिका एक बहुत उत्तम साधन है।

—रामशरण ब्रह्मचारी

निराकार-उपासनाका साधन

(पुरोहित पं० श्रीहरिनारायणजी, बी० ए०, विद्याभूषण)

परमात्माको स्मरण करनेके इस संसारमें प्रायः दो ही मार्ग देखे जाते हैं—(१) निराकार-उपासनामार्ग, (२) साकार-उपासनामार्ग। संसारके धर्मोंके इतिहास और धर्मानुसारी जातियोंके अनुभवसे यह बात प्रत्यक्ष और निर्विवाद है। ईश्वर-स्मरण और उपासनाके विषयमें यह बात ध्यानपूर्वक विचारनेकी है कि साधारण जनसमुदायमें—संसारमें कहीं भी दृष्टि डालकर देख लीजिये—यह बात मनुष्योंके नैसर्गिक, स्वाभाविक तथा अकृत्रिम भावनाओंमें तुरंत प्रकट होती है कि भगवान्‌को लोग अपनेसे बाहर ही कहते हैं, जानते हैं और लिखतेतक हैं। बातोंमें कहीं भगवान्‌की बात-की प्रतीति या शपथ अथवा प्रमाणकी बात आती है तो साधारण जन हाथ या अँगुलीको आकाशकी ओर उठाते हैं; या किसी देवालय, उपासना-स्थान अथवा उपास्य देवको याद करते हैं। ध्यान-पूजनतकमें साधारण आदमी ऐसा ही करते हैं। अपने उपास्य इष्टदेवोंके स्थान, लोक और निवासस्थानोंके ग्रन्थोंतकमें गहरे रंगके साथ विस्तृत वर्णन हैं। स्वर्ग, सत्यलोक, विष्णुलोक, शिवलोक, 'अर्श' और 'फलक', परलोक, सचलोक (सिक्खोंके मतमें) अथवा अकाल पुरुषका लोक इत्यादि स्थानादि ईश्वरके या देवोंके बताये जाते हैं। इनसे ईश्वरका अपने बाहर होनेका मानुषीय साधारण प्रकृतिका भाव जाना जाता है। सिद्धान्तकी बात, उच्चकोटिके विचारोंकी बात जब आती है तो ईश्वरको सर्वव्यापक कहनेसे ईश्वरका सर्वभूत-प्राणी-व्यक्तिमें वर्तमान होना कहनेसे उसका मनुष्यशरीरमें भी विराजना कहा जाता है। और वेदान्त, 'सूफी' मत, 'थिऑसाफी', 'साइकिकल' सम्प्रदाय इत्यादिमें तथा योगियों, पहुँचे हुए फ़कीरों, उच्चकोटिके महात्माओंमें ईश्वरको हृदयमें, दिलमें, मन और बुद्धिमें, सारे शरीरमें, जीवात्मामें, आत्माका आत्मा, जीवका जीव, 'जानका जान' इत्यादि वचनोंसे स्मरण करते हैं।

इतना-सा कहनेका उपासनाके साधनोंकी नैसर्गिक स्थितिका दिग्दर्शन करा देना ही प्रयोजन है। साकार-उपासनासे शनैः-शनैः निराकार-उपासनाकी स्थिति अंशतः प्राप्त होने लगती है, यदि सद्गुरुका उपदेश और शिक्षण भगवत्कृपा और प्रारब्धसे अनुकूल होता जाय। वेदों, उपनिषदों और अद्वैत वेदान्तके ग्रन्थोंके अनुसार परमात्मा निराकार ही प्रमाणित हुआ है। यद्यपि कहीं-कहीं उसे साकार भी कहा गया है, परन्तु वहाँ साकारके कथनसे माया या प्रकृति-उपहित चेतनका ही तात्पर्य है। उस दशामें ईश्वर उभयरूप है। कहीं-कहीं उपनिषदोंमें दोनों रूपोंका उल्लेख दिखायी पड़ता है। यथा—

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे' (बृहदारण्यक० २। ३। १)—ब्रह्मके दो रूप हैं। तथा 'एतद्वै सत्यकाम! अपरं च परं च' (ब्रह्मोपनिषद् ५। २)—हे सत्यकाम! यही तो परब्रह्म है, यही अपर ब्रह्म है। और श्वेताश्वतर उपनिषद्‌में 'मायिनं तु महेश्वरम्'—परब्रह्म जब मायासे युक्त होते हैं, तब वे महेश्वर हैं। और कठोपनिषद् (१। ३। १५) में—'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'—वह ब्रह्म न तो कानोंसे सुना जाता है न स्पर्शमें आता है, न उसका कोई रूप है; वह तो अव्यय है, उसका कुछ घटता-बढ़ता नहीं है। और छान्दोग्योपनिषद्‌में तो—'सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्वगन्धः, सर्वरसः' (३। १४। २)—उसीसे वा उसीमें सब कर्म है, सब इच्छाएँ हैं, सब प्रकारकी गन्ध हैं, सब प्रकारके रसादि हैं—ऐसा कहा है। यह सगुण और निर्गुणका प्रत्याख्यान हुआ। कहीं-कहीं तो सगुण और निर्गुणमें कोई भेद ही नहीं बताया है—वही ब्रह्म निर्गुण-निराकार और वही सगुण-साकार, वही पर और वही अपर ऐसा कहा है। यथा—मुण्डकोपनिषद् (२। २। ८) में 'तस्मिन् दृष्टे परावरे'—वह पर और अवर दिखायी देता है, वही निर्गुण-सगुण है—ऐसा प्रतीत होता है। यद्यपि ऐसा कथन है, परन्तु वस्तुतः सिद्धान्तमें परमात्मा परब्रह्म निर्गुण-निराकार ही है। उसका साकारत्व, सगुणत्व उसके योगमायासे समावृत होनेसे है, उपाधिके कारणसे है। अनेक उपनिषदोंमें अनेक स्थलोंपर परब्रह्मका जो वर्णन है, उससे ब्रह्मका निर्गुण, निराकार, निर्विशेष, केवल, निरामय इत्यादि विशेषणोंसे निश्चय जाना जाता है। यथा—

(१) 'तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्।'

(बृहदारण्यक० २। ५। १९)

---

(१) वह यह ब्रह्म अपूर्व है, उस-सा और कोई नहीं है, अक्षय है, सर्वव्यापक अन्तर्यामी है।

चले; तब वह गुरुदेव कृपा करके ज्ञान सिखावेंगे, विधि और मार्ग बतावेंगे और सुझावेंगे। ऐसे सत्यज्ञानके पारङ्गत गुरु जैसा मार्ग बताते हैं, वह वेदान्तशास्त्रमें वर्णित है। परन्तु वह गुरुगम्य ही होता है। उसका थोड़ा-सा भान नीचे लिखे वर्णनसे भी हो सकेगा।

जिज्ञासुको प्रथम उस ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये वह तैयारी करनी पड़ती है, जिससे वह उसका अधिकारी और उसके योग्य बनता है। गुरुदेवसे ध्यानपूर्वक सारभूत ज्ञान लेता रहे और साधना करता रहे—

'यत्सारभूतं तदुपासितव्यम्।' 'सारभूतमुपासीत ज्ञानं यत् स्वार्थसाधकम्।'

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः॥

जो साररूप ज्ञानके पदार्थ हैं, उनको लेकर साधन करे। अपने अर्थकी साधक जो बात हो उसको—क्या बड़े और क्या छोटे—ग्रन्थादि उपदेशोंसे, भौंरा जैसे पुष्परसोंको ग्रहण करता है, वैसे ही ग्रहण करे। ऐसा न करेगा तो ज्ञान तो अनन्त समुद्र है, उसका पार ही क्या। अनेक आयु पा लेनेपर भी पार नहीं आवेगा। गुरु-कृपा और अपने सच्चे भाव और साधनसे सारग्राही होकर ज्ञानोपार्जन करनेपर शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है। अति नम्रता और विनय तथा भक्तिपूर्वक गुरुसे ज्ञान सीखे और जहाँ न समझे, वहाँ फिर पूछे; सीखे हुएका निरन्तर विवेकवृत्तिसे अभ्यास करे। सीखे हुएको मननपूर्वक बुद्धिमें धारण करता रहे। इस प्रकार ज्ञानकी उन्नति होती रहेगी। जिस शिष्यने पहले सत्कर्म और सदुपासनाके साधनोंसे अपने अन्तःकरणकी उत्तम शुद्धि कर ली है, उसपरके मल और विक्षेपको शनैः मिटा लिया है, अर्थात् निष्काम कर्मोंके अनुष्ठानोंद्वारा मल दूर किया है और इष्टकी उपासना (भक्ति-सेवा-साधनादि) द्वारा विक्षेप दोष दूर कर लिया है—उसके अब केवल अज्ञानका ही आवरण शेष रहा है। ऐसा जिज्ञासु मोक्षकी इच्छा रखता हुआ गुरुसे मोक्षमार्गकी प्रार्थना करे। तब गुरु उसे कृपा कर वह ज्ञानमार्ग—मोक्षकी सड़क—बताते हैं।

प्रथम विवेकको बताते हैं कि आत्मा नाश और विकारसे रहित है। इसमें कोई क्रिया भी नहीं है। यह अटल-अचल है। परन्तु यह संसार विकारी है; इसमें परिवर्त्तन, परिणाम और क्रिया होती रहती हैं। इससे यह जगत् आत्मतत्त्वका विरोधी स्वभाववाला है। ऐसा ज्ञान रखना ही विवेक है। यह विवेक ही सारे साधनोंका प्रधान मूल है। विवेक हो जानेसे वैराग्य, त्याग आदि सब साधन उत्तरोत्तर होते जायँगे। विवेकके उत्पन्न हुए बिना अन्य साधन बन ही नहीं सकते।

विवेकके आगे वैराग्य होता है। फिर शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा—ये छः साधन शमादि षट्-सम्पत्ति कहलाते हैं। यह शमादि षट्सम्पत्ति ज्ञानका विख्यात साधन है। यों इन तीन साधनोंके होनेसे शिष्यको मुमुक्षु (मोक्षकी इच्छा और प्राप्तिवाला) होनेका अधिकार हो जाता है। तब वह मुमुक्षुताका साधन करता है। यों विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता—ज्ञानके इन चार अन्तरङ्ग साधनोंकी मुख्यता है।

इनकी साधनाके साथ या इनसे आगे श्रवण (गुरुद्वारा शास्त्रोंका ज्ञान सुनना-सीखना), मनन (जीव-ब्रह्मकी एकताको प्रतिपादन करनेवाली और भेदको निवारण करनेवाली युक्तियोंका चिन्तन करना), निदिध्यासन (अनात्म-पदार्थोंके ज्ञानसे जो वृत्तियाँ उत्पन्न हों, उनको ज्ञानशक्ति और विचारसे हटाकर मननके फल और तारतम्यसे ब्रह्माकार वृत्ति—सत्-चित्-आनन्दरूपताके साथ ध्यानोन्नत अवस्था वा स्थिति रखना) ये तीन साधन हैं। निदिध्यासनकी परिपक्व अवस्थाहीको समाधि कहते हैं। समाधि कोई पृथक् या भिन्न साधनविधि नहीं है। ये श्रवण, मनन और निदिध्यासन—तीनों साधन बुद्धिके संशय और विपर्यय (असम्भावना और विपरीतभावना) के नाशक हैं। इसलिये ये ज्ञानप्राप्तिके हेतु हैं। इन तीनों साधनोंके सिद्ध हो जानेपर ही गुरुदेव अपने शिष्यको चौथा साधन (जो विवेकादि चार और श्रवणादि तीनके अनन्तर आठवाँ है) वेदान्तके वाक्योंका ज्ञान कराते हैं। तत् पद और त्वं पदका शोधन अर्थके प्रतिपादनद्वारा बताते हैं। जब गुरु शिष्य अधिकारीको 'तत्त्वमसि' (वह ब्रह्म तू आत्मा है—अर्थात् तेरी आत्मा ब्रह्म है) ऐसा वाक्य कहें, तब अधिकारी मुमुक्षु शिष्यको यह ज्ञान-भान होता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं—मेरी आत्मा—ब्रह्म ही है)। जैसे किसी देवदत्त-को शिवदत्त ऐसा कहे कि तुम 'बड़े बुद्धिमान् हो' तो इस

शिवदत्तके वाक्यको सुनते ही देवदत्तको तुरंत ही यह ज्ञान भान हो जायगा कि 'मैं बड़ा बुद्धिमान् हूँ ।' (मुझे शिवदत्त बुद्धिमान् बताता है, अतः मैं बुद्धिवाला पुरुष हूँ) । इसी प्रकार उपर्युक्त वेदान्तवाक्यके श्रवणसे मुमुक्षु अधिकारी शिष्यको यह ज्ञान-भान हो जाता है कि मेरी आत्मा ब्रह्मस्वरूप है और इस ज्ञानके शोधनसे आत्मा और परमात्माकी एकता—अर्थात् ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान उसे प्राप्त होता है । यही उसका परम और चरम ध्येय है । इस ध्येयको प्राप्त करके वह कृतकृत्य हो जाता है ।

वेदान्तवाक्य श्रवण करके गुरुकी शिक्षाके अनुसार अधिकारी मुमुक्षु उस वाक्यके अर्थको अपने आत्मामें गहरी रीतिसे विचारता है । ऐसी विवेकभरी विवेचना करता है—जैसे ब्रह्म तो अधिष्ठान है और जगत् अध्यस्त है, ब्रह्म द्रष्टा—साक्षी चेतन है और प्रकृतिजन्य संसार दृश्य और जड है, ब्रह्म तो साक्षी कूटस्थ है और सृष्टि साक्ष्य और विकारी है । वह, जैसे हंस क्षीरमें मिले हुए नीरको क्षीरसे पृथक् कर देता है वैसे ही विवेक-ज्ञान-मननद्वारा और गुरुकी बतायी हुई प्रक्रियासे सत्‌को असत्‌से, अपने विचारके लोकमें, न्यारे करके दिव्य ज्ञान प्राप्त करता है । वह पहले वेदान्तके उन वाक्योंके अर्थ और रहस्यको विचारता है जो ब्रह्म, जीव, माया और उनके प्रतिपादक पदार्थोंको बताते हैं । यथा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि—इनसे ब्रह्मके लक्षणोंका परोक्ष ज्ञान ही हुआ । ऐसे वेदान्तवाक्य 'अवान्तरवाक्य' ही कहलाते हैं । और 'तत् त्वम् असि' (तत्त्वमसि)—इत्यादि वेदान्तवाक्य ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान प्रतिपादन करते हैं, इससे वे 'महावाक्य' कहे जाते हैं ।

जिस जिज्ञासुका बहिरंग साधनों (कर्म और उपासना आदि) से अन्तःकरण शुद्ध हो गया, उसको अन्तरंग साधन (श्रवण, मनन, निदिध्यासन और वेदान्तवाक्योंके संशोधनसे पूर्व विवेक, वैराग्य, शमादि षट्‌सम्पत्ति और मुमुक्षुता—साधनचतुष्टय) निरन्तर करनेसे दिव्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है ।

शम (विषयोंसे मनका रोकना), दम (इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना), श्रद्धा (गुरुके वचन और वेदादि सच्छास्त्रमें विश्वासरूपी निश्चय) एवं समाधान (शब्दादि विषयोंसे रोके हुए अन्तःकरणको श्रवणादि साधनोंमें तथा उनके अनुसारी या उपकारी अभिमानरहितता आदि साधनोंमें निरन्तर लगाना और चिन्तन करना), उपरति (साधनों-सहित बहिरंग कर्मका त्याग करते हुए विषयोंको विष-समान त्यागना), तितिक्षा (सहनशीलता; सुख-दुःख, गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास आदिको सहना, इनसे घबराना नहीं)—ये शमादि छः साधन परस्पर सम्बन्ध रखते हैं—एक-दूसरेके सहायक होते हैं । यदि न हों तो इन्हें साधनमें विघ्नरूप जानना चाहिये । ये छहों एक वर्गमें रहकर एक साधन ही कहाते हैं । परन्तु यह बहुत आवश्यक है । मुमुक्षुका यह एक मुख्य साधन है ।

इसके साथ विवेक और वैराग्य प्रथम और मुमुक्षुता (संसारके बन्धनों और अज्ञानरूपी अध्यासमें निवृत्त होकर सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ब्रह्मकी प्राप्ति हो, ऐसी उत्कट इच्छा या मनकी गहरी लगन) अनन्तर होती रहे और उस तीव्र इच्छासे ब्रह्मप्राप्तिके साधन गुरुसे प्राप्त करे ।

वे साधन श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा 'तत्' पद, 'त्वं' पद आदि वेदान्तवाक्योंका शोधन—जैसा कि ऊपर कहा गया [उपर्युक्त विवेक, वैराग्य, शमादि षट्‌सम्पत्ति और मुमुक्षुता—इन चारको लेकर] आठ ज्ञानके अन्तरंग साधन हुए । साधनसम्पन्न मुमुक्षु जिज्ञासु अधिकारीको गुरुदेव वेदान्तके महावाक्योंका ज्ञान प्राप्त कराते हैं । उस अधिकारीका निर्मल शुद्ध अन्तःकरण उन वाक्योंसे पवित्र अद्वैत ब्रह्मज्ञान-को पाकर अपरोक्षानुभवमें प्रवेश करके ब्रह्मानन्दको पाता है । परमानन्दकी प्राप्ति ही सब साधनोंका मुख्य प्रयोजन और ध्येय है । उस आनन्दकी प्राप्ति प्रभुकृपा और गुरुकृपासे मिल जानेपर ज्ञानसाधनके निरन्तर प्रभावसे ब्रह्मपरोक्षानुभव होता है । यह किन्हीं दिव्य आत्माओंको तो शीघ्र थोड़े कालमें ही हो जाता है और वे जीवन्मुक्त हो जाते हैं—उनको परमहंसगति प्राप्त होती है और अन्य शुद्ध आत्माओंको क्रमशः इस जन्ममें या दूसरे जन्ममें अथवा कई-एक जन्मोंमें मिल ही जाती है । अर्थात् उस ज्ञानीकी आत्मा

ब्रह्ममें लीन हो जाती है, उसका फिर जन्म नहीं होता; वह तो सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ब्रह्म या ब्रह्मीभूत अवस्थाको पहुँच जाता है। बस, हो गया निरञ्जन निराकार उपासना-साधनाका महोच्च सुफल। अन्य साधनोंसे भी उत्तम गति प्राप्त होती है, परन्तु उनसे जन्मान्तर नहीं मिटता।

यह विषय महान् और बहुत गम्भीर है। इसमें बहुत कुछ कहना शेष है। परन्तु यहाँ न स्थान है और न समय ही इतना है कि विस्तारसे लिखा जाय।

इस युगकी साधना

(लेखक—श्रीयुत नलिनीकान्त गुप्त)

सबसे प्रथम और आदि सत्य है जड़—जड़ जगत्, जिसका अंश हमारा यह स्थूलशरीर है। इस क्षेत्रमें केवल जड़ शक्तिकी क्रिया होती है, स्थूल-भौतिक रासायनिक क्रिया और प्रतिक्रिया होती है।

परन्तु सृष्टिमें एकमात्र जड़ ही नहीं है; एक सजीव वस्तु, प्राणवान् सत्ता भी है। देहके अतिरिक्त भी हमारे अंदर हमारा जीवन, हमारा प्राण है। यह प्राण जड़का ही एक विशेष धर्म या क्रिया या रूपमात्र नहीं है। इसकी अपनी पृथक् सत्ता भी है; इसका अपना धर्म, कर्म और सार्थकता भी है। जड़के समान ही प्राणका भी एक सम्पूर्ण जगत् विद्यमान है और उसीका अंश हमारी प्राणशक्ति है, विश्वजीवनके अंदर ही हमारा जीवन घुला-मिला है। जड़के ऊपर दूसरा स्तर यह प्राण है।

प्राणके अतिरिक्त, प्राणके अंदर और ऊपर और एक वस्तु है—वह है मन। यह मन प्राणकी ही एक विशेष क्रियामात्र नहीं है, इसकी भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता और सार्थकता है। इसका भी एक सम्पूर्ण लोक है। हमारा मन इस विश्व-मनका अंश और व्यष्टिरूप है। यह मन है तीसरा स्तर।

यह मन ही अन्तिम वस्तु नहीं है। मनोमय लोकके ऊपर और पीछे और एक लोक है—उसको कभी-कभी विज्ञानमय लोक कहते हैं—हम साधारण तौरपर उसका नाम अध्यात्मचेतनाका लोक रख सकते हैं। यह है चौथा या तुरीय अधिष्ठान।

विश्वसृष्टिका रहस्य यही है कि इस लोकपरम्पराके चिरकालसे वर्तमान रहनेपर भी, इन लोकोंके अनादि, अनन्त, सनातन होनेपर भी इनका प्राकट्य हुआ है एकके बाद एक—इस क्रमसे। सबसे पहले लोकके अंदर, उसका आश्रय लेकर सृष्टिका अभियान शुरू हुआ और वहींपर अन्यान्य लोक एकके बाद एक मूर्त्त हो रहे हैं।

अनेक युगोंतक आरम्भमें केवल जड़ था—जड़-ही-जड़ था—निर्जीव, प्राणहीन वस्तुओंका ही समारोह था। उसके अंदर एक दिन प्राण उतर आया। इस कारण एक प्रकारका विप्लव, रूपान्तर उपस्थित हुआ। सृष्टिके एक अंशमें प्राणके धर्मने जड़को अधिकृत, नियन्त्रित किया—जीवकी, प्राणीकी उत्पत्ति हुई। जीवके, प्राणीके अंदर जड़का धर्म अब अक्षुण्ण नहीं रहा; वह एक बृहत्तर, ऊर्ध्वतर धर्मके द्वारा परिवर्तित हुआ।

इसी प्रकार एक और विपर्यय, विप्लव उपस्थित हुआ जब और जहाँपर प्राण इतना पुष्ट और परिपक्व हो गया कि उसके अंदर मनोमय शक्ति अवतरित हुई—फलस्वरूप मनुष्यका आविर्भाव हुआ। मनके धर्मके द्वारा प्राण और देहको गठित, नियन्त्रित करना ही मनुष्यत्वकी साधना हुई।

मनुष्य अपनी मनन-शक्तिके जोरसे अपने जीवनमें मनसे ऊर्ध्वतर, ऊर्ध्वतम शक्तिको उतारकर जीवनको नयी मूर्तिमें ढालनेका प्रयत्न युग-युगसे करता आ रहा है। साधक, शिल्पी, संस्कारक, आदर्श व्रती—सबने अपने-अपने मार्गसे यही साधना की है।

परन्तु वर्तमान समयमें आवश्यकता है पूर्वकालकी युगसन्धियोंकी तरह एक प्रकारके आमूल परिवर्तनकी, विप्लवकी—एक नये जगत्को, नये जगत्की शक्तिको नीचे उतारकर एक प्रकारकी नयी सृष्टिके लिये आयोजन करनेकी।

हम कह चुके हैं कि मनके ऊपरका लोक है विज्ञानमय,

अध्यात्मलोक । इसी अध्यात्मलोकको नीचे उतारकर मनोमय लोकमें प्रतिष्ठित करना होगा—अध्यात्मके धर्मके द्वारा मनोमय, प्राणमय और अन्नमय स्थितिको गठित, नियन्त्रित करना होगा ।

अध्यात्मलोककी किरण, कण, प्रभा पृथ्वीके मनोमय लोकमें बहुत बार दिखायी पड़ी है, इसमें सन्देह नहीं—जहाँ-तहाँ उसने रूप ग्रहण करनेकी भी चेष्टा की है । परन्तु वह समूचा लोक अर्थात् उसकी पूर्ण शक्ति चिरस्थायी होकर, पृथ्वीके ऊपर पृथ्वीके अच्छेद्य और स्वाभाविक अङ्गके रूपमें, अभीतक प्रतिष्ठित नहीं हुई है ।

जिस प्रकार पृथ्वीपर उद्भिज समाज, प्राणी-समाज, मानव-समाज विद्यमान है उसी प्रकार मनुष्यके बाद सिद्धोंका, आध्यात्मिक पुरुषोंका समाज—देवसमाज भी वर्तमान रहेगा ।

मनुष्यतक, मनुष्यको जन्म देनेके समयतक प्रकृतिकी अवचेतन साधना चलती रही है । अब मनुष्यके मनोमय पुरुषका आश्रय लेकर प्रकृति सचेतन हो गयी है—प्रकृतिका सचेतन यन्त्र होकर मनुष्यको मनुष्यके ऊपर चला जाना होगा, उसे पहुँचना होगा अध्यात्मलोककी अध्यात्म-चेतनामें, उसके अंदर स्थिरप्रतिष्ठ होकर, उसके अंदर परिपूर्ण होकर उसे नीचे उतार लाना होगा—मनको, प्राणको और देहतकको उसी चेतनाके द्वारा और उसी सत्ताकी ज्योतिके द्वारा अमर बना देना होगा ।

सृष्टिकी, प्रकृतिकी गति, परिणतिका सम्भवतः यहाँ भी अन्त नहीं हो जायगा—विवर्तनकी धारा सम्भवतः अनन्त है । परन्तु आजकी साधना है एक विशेष युगसन्धिका प्रयास—इसका अर्थ है अपरार्द्धसे परार्द्धमें सृष्टिका आरोहण—अपरार्द्धका ऊपर परार्द्धके अंदर पहुँच जाना । अबतक सृष्टिकी चेतनाकी गति अन्धकारसे आरम्भ होकर अस्पष्ट प्रकाशके अंदर आयी थी, अब वह गति प्रकाशसे—पूर्ण प्रकाशसे चलकर पूर्ण प्रकाशके भीतरसे होकर पूर्ण प्रकाशके अंदर उपस्थित होगी ।

अपरार्द्धमें—देह, प्राण और मनको लिये हुए जो अर्द्ध है उसके अंदर ऊर्ध्वतर प्रतिष्ठान निम्नतर प्रतिष्ठानको पूर्णरूपसे आयत्त या रूपान्तरित नहीं कर सकता । प्राण जड़को आयत्त करके, नियन्त्रित करके प्राणीके रूपमें परिणत तो हुआ—प्राणीके अंदर प्राणशक्ति प्रधान तो हुई; फिर भी प्राण जड़के आकर्षणको, प्रभावको पूर्णरूपसे अतिक्रम नहीं कर सका । उसी तरह मनका आविर्भाव होनेपर जब मनुष्य उत्पन्न हुआ तब मन, प्राण और जड़ देहको आधार तो बनाया, उन्हें नियन्त्रित तो किया; पर स्वयं भी बहुत कुछ उनके द्वारा प्रभावान्वित होकर ही रहा । एक परार्द्धमें ही जब हम पहुँचते हैं तब नीचेके सभी धर्मोंको पूर्णरूपसे पार कर जाते हैं; तभी ये पूर्णरूपसे ऊपरके धर्मके अधीन होते हैं, ये एकदम रूपान्तरित हो जाते हैं । इसका कारण यह है कि इनकी जो निगूढ़ सत्य सत्ता है, उसका मूल उस परार्द्धकी चेतनामें ही है ।

बिना गुरुका साधक

नाव मिली, केवट नहीं कैसे उतरै पार ॥
कैसे उतरै पार पथिक बिस्वास न आवै ।
लगै नहीं बैराग यार कैसे के पावै ॥
मन में धरै न ज्ञान, नहीं सतसंगति रहनी ।
बात करै नहिं कान, प्रीति बिन जैसे कहनी ॥
छुटी डगमगी नाहिं, संत को बचन न मानै ।
मूरख तजै बिबेक, चतुरई अपनी आनै ॥
पलटू सतगुरु शब्द का तनिक न करै बिचार ।
नाव मिली, केवट नहीं कैसे उतरै पार ॥

—पलटू

पञ्चदेवोपासना

(लेखक—पं० श्रीहनूमानजी शर्मा)

चिन्मयस्याप्रमेयस्य निष्कलस्याशरीरिणः । साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥ १ ॥

(तन्त्रसार)

पूर्वाङ्क

(१) देवपूजासे मनुष्यका कल्याण होता है । सुख, शान्ति और सन्तोष मिलते हैं । उत्तम विचारोंका उदय होता है । शरीरमें अलौकिक शक्ति आती है । स्वभावमें स्वाधीनता बढ़ती है और ब्रह्मकी ओर मन लगता है । देवता ब्रह्मके अंश-प्रसूत हैं । 'पञ्चदेव' ब्रह्मके प्रतिरूप हैं । ब्रह्म अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तरूप एवं अशरीरी हैं । ब्रह्मके साम्राज्यमें हमारे सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र या भूमण्डल-जैसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड हैं और ब्रह्म उनके अधिष्ठाता हैं । वे सर्वगत होनेपर भी जाने नहीं जा सकते । उनको वही जान सकते हैं जो संसारी बन्धनोंसे मुक्त, लोक-व्यवहारोंसे विमुक्त और फलाशाओंसे सर्वथा उन्मुक्त हैं । सामान्य मनुष्योंसे ऐसा हो नहीं सकता । जिसने किसी प्राणी, पदार्थ या देवादिको देखा नहीं वह उसके स्वरूपको हृदयाङ्कित कैसे कर सकता है ? मान लीजिये किसीने गौ, कमल, रुपये या राजाको कभी देखा नहीं और उससे उनका स्वरूप पूछा जाय तो कैसे बता सकता है ? यही बात ब्रह्मके सम्बन्धमें है । अतएव अमूर्त ब्रह्मको हृदयङ्गम करनेके लिये मूर्त ब्रह्म 'पञ्चदेव' (विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य और शक्ति) की साधना अवश्य ही आवश्यक और श्रेयस्कर है और इसीलिये यहाँ उसका परिचय दिया जाता है ।

(२) 'पञ्चदेव' की साधनामें यह सन्देह हो सकता है कि अन्य देवोंकी अपेक्षा इनका ऐसा प्राधान्य क्यों है । इसके समाधानमें दो उपक्रम उपस्थित करते हैं । एक यह है कि 'पञ्चदेव' पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाशके अधिष्ठाता या तन्मय हैं और पञ्चतत्त्व ब्रह्मके स्वरूप हैं । अतएव अशरीर ब्रह्मकी उपासना सशरीर पञ्चदेवके द्वारा ही सम्पन्न हो सकती है । कपिलतन्त्रमें लिखा है—

आकाशस्याधिपो विष्णुरग्नेश्चैव महेश्वरी ।
वायोः सूर्यः क्षितेरीशो जीवनस्य गणाधिपः ॥

'विष्णु आकाशके, सूर्य वायुके, शक्ति अग्निकी, गणेश जलके और शिव पृथ्वीके अधिपति हैं ।'

दूसरा यह है कि व्याकरणके नियमानुसार अन्य देवोंकी अपेक्षा पञ्चदेवके धात्वर्थक नाम ही ऐसे हैं, जिनसे उनका ब्रह्म होना द्योतित होता है । यथा 'विष्णु' (सबमें व्याप्त), 'शिव' (कल्याण-कारी), 'गणेश' (विश्वगत सर्वगणोंके ईश), 'सूर्य' (सर्वगत) और 'शक्ति' (सामर्थ्य)—इन नामोंका पूर्ण अर्थ ब्रह्ममें ही घटता है । अतएव अन्यकी अपेक्षा इनकी साधना अधिक हितकर है ।

(३) वेद, पुराण और धर्मशास्त्रोंमें देवपूजाका महान् फल लिखा है । इसकी साधनासे ब्रह्मकी उपासना स्वतः हो जाती है । संसारमें देवपूजा स्थायी रखनेके प्रयोजनसे वेद-व्यासजीने ब्रह्मा, विष्णु, महेशादिके जुदे-जुदे पुराण निर्माण किये हैं । उनमें प्रत्येकमें प्रत्येक देवताका प्राधान्य प्रतिपादित किया है—यथा विष्णुपुराणमें 'विष्णु' का, शिवपुराणमें 'शिव' का, गणेशपुराणमें 'गणेश' का, सूर्यपुराणमें 'सूर्य' का और शक्तिपुराणमें 'शक्ति' का । इन सभीको (अपने-अपने पुराणोंमें) सृष्टिके पैदा करनेवाले, पालन करनेवाले और संहार करनेवाले सूचित किया है और इन्हींको ब्रह्म बतलाया है । इसी कारण यजन-याजनके अधिकांश अनुरागी अपनी-अपनी रुचिके अनुसार कोई ब्रह्मा-विष्णु-महेशादिको, कोई सूर्य-शक्ति-समीरादिको, कोई राम-कृष्ण-नृसिंहादिको और कोई भैरव, गणेश या हनूमान्‌जीको पूजते हैं । किसीको भी पूजें, पूजा-उपासना एक ब्रह्मकी ही होती है । क्योंकि जिस प्रकार अनन्त आकाशके अगणित तारोंपर ब्रह्मके प्रत्यक्ष प्रतिरूप सूर्यनारायणका जब प्रकाश पड़ता है तभी वे प्रकाशित होते हैं, यदि न पड़े तो दीख ही नहीं सकते; उसी प्रकार चराचर सृष्टिके प्रत्येक प्राणी, पदार्थ और देवादिमें ब्रह्मका ही अंश विद्यमान रहता है, तभी वह अमुकामुक माने जाते हैं, यह न हो तो वे दीख ही नहीं सकते । उनमें पञ्चदेव तो ब्रह्मके प्रतिरूप ही हैं । अतएव किसी भी प्राणी, पदार्थ या देवादिकी साधना, उपासना या आराधनामें ब्रह्मका ही ध्यान होता है और वही उनके इष्टदेवमें प्रविष्ट रहकर अभीष्ट फल देते हैं । पञ्चदेवकी उपासना तो उनकी है ही । अस्तु,

(४) देवता कौन और कितने हैं, इसमें मतभेद है। इस विषयके प्राप्त प्रमाण नीचे दिये जाते हैं। (१) वेदान्ती केवल ब्रह्मको ही देवता मानते हैं। (२) यास्कने दान और दीपन करनेवाले जो 'द्यौः' नामक स्थानमें रहते हैं, उनको देवता बतलाया है। (३) अथवा सृष्टिमें जो भी प्रकाशमान हैं, वे सब देवता हैं। (४) किसीका मत है कि प्राचीन कालमें सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, अग्नि और तारागणोंसे संसारके अनेक कार्य और उपकार होते देखकर इन्हींको देवता माना गया था। (५) कात्यायनके कथनानुसार जिनकी कथा या वाक्य हैं, वे ऋषि हैं; जिनका विषय उन्हींसे ज्ञात होता है, वे देवता हैं और ऋषि, छन्द तथा देवता—इनसे वेद बने हैं। संख्याकी दृष्टिसे (६) वेदान्तके अनुसार केवल एक ब्रह्म है। (७) जनता प्रकृति और पुरुष दो जानती है। (८) पुराणोंमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश—तीन हैं। (९) ऋग्वेदमें इन्द्र, मित्र, वरुण और वह्नि—चार लिखे हैं। (१०) आह्निकतत्त्वमें विष्णु, रुद्र, गणेश, सूर्य और शक्ति—ये पाँच बतलाये हैं। (११) ब्रह्मवैवर्तके मतानुसार गणेश, महेश, दिनेश, वह्नि, विष्णु और उमा—ये छः हैं। (१२) शतपथमें ८ वसु, ११ रुद्र, १२ सूर्य, १ इन्द्र और १ प्रजापति—ये ३३ हैं। (१३) ऋग्वेदमें एक जगह ११ स्वर्गके, ११ पृथ्वीके और ११ अन्तरिक्षके—सब ३३ देवता लिखे हैं। (१४) दूसरी जगह अग्नि, वायु, इन्द्र और मित्रादि ३३ देवता और सरस्वती, सूनृता, इला और इन्द्राणी आदि १२ देवियोंके नाम दिये हैं। और (१५) तीसरी जगह तीन हजार, तीन सौ उन्तालीस देवता लिखे हैं। (१६) ऐतरेयमें ३३ 'सोमप' और ३३ 'असोमप'—कुल ६६ बतलाये हैं। उनमें १ इन्द्र, १ प्रजापति, ८ वसु, ११ रुद्र और १२ आदित्य 'सोमप' (अमृत पीनेवाले) हैं और ११ प्रयाज, ११ अनुयाज और ११ उपयाज 'असोमप' (अमृतेतर पेय पीनेवाले) हैं। उनकी तृप्ति गन्ध-पुष्पादिसे और इनकी यज्ञादिके पशुओंसे होती है। (१७) अग्नि-पुराणके अनुसार १४९ देवी और (१८) आदित्यपुराणके अनुसार २०० देवता हैं। (१९) हिंदू-संसारमें ३३ करोड़ देवता विख्यात हैं और (२०) पद्मपुराणमें भी यही संख्या निर्दिष्ट की गयी है। अस्तु,

(५) देवता चाहे एक हों, अनेक हों, तीन हों, तैंतीस हों या ३३ करोड़ और अर्ब-खर्ब हों—हमारे उपास्य 'पञ्चदेव' प्रसिद्ध हैं और शास्त्रोंमें इनके नाम निर्दिष्ट किये गये हैं। 'उपासनातत्त्व' (परिच्छेद ३) में लिखा है—

> आदित्यं गणनाथं च देवीं रुद्रं च केशवम्।
> पञ्चैवतमित्युक्तं सर्वकर्मसु पूजयेत्॥
> एवं यो भजते विष्णुं रुद्रं दुर्गां गणाधिपम्।
> भास्करं च धिया नित्यं स कदाचिन्न सीदति॥

'आदित्य, गणनाथ, देवी, रुद्र और विष्णु—ये पाँच देव सब कामोंमें पूजने योग्य हैं। जो विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य और शक्तिकी आदरबुद्धिसे आराधना करते हैं वे कभी हीन नहीं होते अर्थात् उनके यश-पुण्य और नाम सदैव रहते हैं।'

अतएव इनकी पूजा उसी तरह आवश्यक है, जिस तरह ब्राह्मणोंका नित्यस्नान है। यदि यह न की जाय तो प्रत्यवाय होता है। पूजा नित्य, नैमित्तिक और काम्य—तीन प्रकारकी होती है—(१) जो प्रतिदिन की जाय, वह 'नित्य', (२) पुत्रजन्म या व्रतोत्सवादिमें की जाय, वह 'नैमित्तिक' और (३) सुख-सम्पत्ति एवं सन्तान आदिकी सम्प्राप्ति अथवा आपन्निवारणार्थ की जाय, वह 'काम्य' होती है। ये सब (१) 'पञ्चोपचार' (२) 'दशोपचार' (३) 'षोडशोपचार' (४)

(१, ६) 'एकमेव ब्रह्म' (वेदान्त)। (२) दानाद्वा दीपनाद्वा द्युस्थानगो भवति (यास्क० ७। १५)। (९) इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निम्०(ऋग्-मन्त्र)। (१०) आदित्यं गणनाथं च० (आह्निक०)। (११) गणेशं च दिनेशं च० (ब्रह्मवैवर्तपुराण)। (१२) कथमेते त्रयस्त्रिंशदित्यद्यौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या एकत्रिंशत्, इन्द्रश्च प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशत्। (शतपथ)। (१३) ये देवासो दिव्येकादश स्थ। अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् (ऋक् १। २०। १३९। ११)। (१५) त्रीणि सहस्राणि त्रीणि शता त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्। (ऋक् ३। १। ९। ९)। (२०) सदारा विबुधाः सर्वे स्वानां स्वानां गणैः सह। त्रैलोक्ये ते त्रयस्त्रिंशत्कोटिसंख्यतयाभवन्॥ (पद्मोत्तर०)

(१) **पञ्चोपचार**—गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य।

(२) **दशोपचार**—उक्त ५ के सिवा पाद्य, अर्घ्य, आचमन, मधुपर्क और पुनराचमन।

(३) **षोडशोपचार**—आवाहन, आसन, पाद्य, अर्घ्य आचमन, स्नान, वस्त्र, (यज्ञोपवीत) गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बूल और दक्षिणा।

(४) **अष्टादशोपचार**—षोडशोपचारके सिवा स्वागत और आभूषण।

'अष्टादशोपचार' (५) 'षट्त्रिंशदुपचार' (६) 'चतुःषष्ट्युपचार' (७) 'राजोपचार' (८) 'आवरण' और (९) 'मानसोपचार' आदि यथालब्ध और यथोचित उपचारोंसे सम्पन्न होती हैं। इन सबमें गणेशपूजन अनिवार्य है। 'आह्निकतत्त्व' में लिखा है—

देवतादौ यदा मोहाद् गणेशो न च पूज्यते।
तदा पूजाफलं हन्ति विघ्नराजो गणाधिपः॥ १॥

'देवपूजामें अज्ञानवश गणपति-पूजन न किया जाय तो विघ्नराज गणेशजी उसका पूजाफल हर लेते हैं।' अस्तु,

(५) **षट्त्रिंशदुपचार**—आसन, अभ्यञ्जन, उद्वर्तन, निरञ्जन, सम्मार्जन, सर्पिःस्नपन, आवाहन, पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, मधुपर्क, पुनराचमन, यज्ञोपवीत-वस्त्र, अलङ्कार, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, पुष्पमाला, अनुलेपन, शय्या, चामर, व्यजन, आदर्श, नमस्कार, गायन, वादन, नर्तन, स्तुतिगान, हवन, प्रदक्षिणा, दन्तकाष्ठ और विसर्जन।

(६) **चतुःषष्ट्युपचार**—(शक्तिपूजामें) पाद्य, अर्घ्य, आसन, तैलाभ्यङ्ग, मज्जनशालाप्रवेश, पीठोपवेशन, दिव्यस्नानीय, उद्वर्तन, उष्णोदकस्नान, तीर्थाभिषेक, धौतवस्त्रपरिमार्जन, अरुणाद्युत्कूलधारण, अरुणोत्तरीयधारण, आलेपमण्डपप्रवेश, पीठोपवेशन, चन्दनादि दिव्य-गन्धानुलेपन, नानाविधपुष्पार्पण, भूषणग्रहण, नवमणिमुकुटधारण, चन्द्रशकल, सीमन्तसिन्दूर, तिलकरत्न, कालाञ्जन, कर्णपाली, नासाभरण, अधरयावक, अथनभूषण, कनकचिबुकदल, महापदक, मुक्तावली, पदकावली, देवच्छन्दक, केयूरचतुष्टय, वलयावली, ऊर्मिकावली, काञ्चीदाम-कटिसूत्र, शोभाख्याभरण, पादकटक, रत्नमूपुर, पादाङ्गुलीयक, चार हाथोंमें क्रमशः अङ्कुश, पाश, पुष्पेक्षुचाप और पुष्पबाणका धारण, माणिक्यपादुका, सिंहासनारोहण, पर्यङ्कोपवेशन, अमृतासवसेवन, आचमनीय, कर्पूरवटिका, आनन्दोल्लासविलासहास, मङ्गलार्तिक, श्वेतच्छत्र, चामरद्वय, दर्पण, तालवृन्त, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, पुनराचमन, ताम्बूल और वन्दना।

(७) **राजोपचार**—षोडशोपचारके सिवा छत्र, चामर, पादुका, दर्पण।

(८) **आवरण**—कामनाविशेष या स्थापन-व्रतोत्सवादिमें पूजा-पद्धतिके अनुसार उपर्युक्त उपचारोंका कई बार उपयोग होनेसे होता है।

(९) **मानसोपचार**—इसमें स्नान-गन्धादि सभी साधनोंका केवल ध्यानमात्रसे उपयोग किया जाता है, प्रत्यक्ष वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती। आगे 'पूजाविधि' दी गयी है, उसके अनुसार किसी भी देवताकी पूजा की जा सकती है।

(६) भारतमें पञ्चदेवोंकी उपासना कितनी अधिक व्यापक है, इसका विचार किया जाय तो मालूम हो सकता है कि इनकी सामूहिक साधना करनेवाले, पृथक्-पृथक् उपासना करनेवाले अथवा इनमें किसी एकहीकी पूजा करनेवाले अनेक साधक हैं और वे अपनी पूजा पद्धतिके अनुसार अर्चन करते हैं। उनके विषयमें 'तन्त्रसार' में लिखा है—

शैवानि गाणपत्यानि शाक्तानि वैष्णवानि च।
साधनानि च सौराणि चान्यानि यानि कानि च॥

[जिस प्रकार ब्रह्मके उपासक 'ब्राह्म' होते हैं] उसी प्रकार विष्णुके उपासक 'वैष्णव', शिवके उपासक 'शैव', गणपतिके उपासक 'गाणपत्य', सूर्यके उपासक 'सौर' और शक्तिके उपासक 'शाक्त' होते हैं। इनमें शैव, वैष्णव और शाक्त विशेष विख्यात हैं। भारतमें इन सम्प्रदायोंके सर्वत्र मन्दिर हैं। उनमें कई मन्दिर बड़े ही भव्य, विशाल, विश्वमोहक, सुदर्शनीय या साधारण भी हैं और उनमें सिद्धि-साधना या दर्शनार्थ अगणित नर-नारी प्रतिदिन जाते हैं। उनके सिवा सैकड़ों साधक अपने मकानमें या बटुएमें भी भगवान्‌की मूर्ति रखते और यथोचित विधिसे पूजते हैं।

(७) उपर्युक्त पाँचों सम्प्रदायोंके सुविशाल या साधारण मन्दिरोंमें जगदीश, द्वारकाधीश, बुद्धगया, लक्ष्मण-बाला और गोविन्ददेवादि 'विष्णु' के; रामेश्वर, कालेश्वर, विश्वनाथ, सोमनाथ और पशुपतिनाथादि 'शिव' के; चतुर्थीविनायक, साक्षी विनायक, गढ़गणेश, गणपति और गणराजादि 'गणेश' के; त्रिभुवनदीप, अरुणादित्य, सूर्यनारायण, लोकमणि और द्वादशादित्यादि 'सूर्य' के; तथा ज्वालाजी, कालीजी, अन्नपूर्णा, कामाख्या, मीनाक्षी और विन्ध्यवासिनी आदि 'शक्ति' के कई एक मन्दिर (मूर्तियाँ या विग्रह) विशेष विख्यात हैं। और उनके दर्शनार्थ भारत-के प्रत्येक प्रान्तसे अगणित यात्री जाते हैं। स्मरण रहे कि जिस प्रकार ये मन्दिर अद्वितीय हैं उसी प्रकार इनके साधन-समारोह, पूजा-विधान या भोगरागादिके आयोजन भी अद्वितीय हैं। इन मन्दिरोंमें या सद्गृहस्थोंके घरोंमें आमलक-सम शालग्रामजी-जैसे छोटे और भूधराकार हनूमान्‌जी-जैसे बड़े अगणित देव प्रतिदिन पूजे जाते हैं। उनमें चाहे भैरव, भवानी, शीतला आदि हों; चाहे शिव, गणेश, सूर्यादि हों और चाहे गोविन्द, मुकुन्द, लक्ष्मीनारायणादि हों; सब उसी ब्रह्मकी सत्ता हैं और पञ्चदेवके ही रूपान्तर या नामान्तर हैं। अतः

साधकोंको चाहिये कि आगे दी हुई पूजाविधिके अनुसार पञ्चदेवकी—सामुदायिक या पृथक्-पृथक्—अथवा जो इष्ट हों, उनकी पूजा करें और उनके अनन्य भक्त हो जायँ।

पराङ्ग

(१) पञ्चदेवस्थापन—

यदा तु मध्ये गोविन्दमैशान्यां शङ्करं यजेत्।
आग्नेय्यां गणनाथं च नैर्ऋत्यां तपनं तथा॥ १॥
वायव्यामम्बिकाञ्चैव यजेन्नित्यं समाहितः।
यदा तु शङ्करं मध्ये ऐशान्यां श्रीपतिं यजेत्॥ २॥
आग्नेय्यां च तथा हंसं नैर्ऋत्यां पार्वतीसुतम्।
वायव्यां च सदा पूज्या भवानी भक्तवत्सला॥ ३॥
हेरम्बं तु यदा मध्ये ऐशान्यामच्युतं यजेत्।
आग्नेय्यां पञ्चवक्त्रं तु नैर्ऋत्यां भुमणिं यजेत्॥ ४॥
वायव्यामम्बिकाञ्चैव यजेन्नित्यमतन्द्रितः।
सहस्रांशुं यदा मध्ये ऐशान्यां पार्वतीपतिम्॥ ५॥
आग्नेय्यामेकदन्तं च नैर्ऋत्यामच्युतं तथा।
वायव्यां पूजयेद्देवीं भोगमोक्षैकभूमिकाम्॥ ६॥
भवानीं तु यदा मध्ये ऐशान्यां माधवं यजेत्।
आग्नेय्यां पार्वतीनाथं नैर्ऋत्यां गणनायकम्॥ ७॥
प्रद्योतनं तु वायव्यामाचार्यस्तु प्रपूजयेत्॥ ८॥

(२) पञ्चदेवध्यान—

(१)

सशङ्खचक्रं सकिरीटकुण्डलं सपीतवस्त्रं सरसीरुहेक्षणम्।
सहारवक्षःस्थलकौस्तुभश्रियं नमामि विष्णुं शिरसा चतुर्भुजम्॥

विष्णो रराटमसि विष्णोः श्नपूत्रे स्थो विष्णोः स्यूरसि विष्णोर्ध्रुवोऽसि वैष्णवमसि विष्णवे त्वा॥ (यजु० ५। २१)

(२)

ध्यायेन्नित्यं महेशं रजतगिरिनिभं चारुचन्द्रावतंसं
रत्नाकल्पोज्ज्वलाङ्गं परशुमृगवराभीतिहस्तं प्रसन्नम्।
पद्मासीनं समन्तात् स्तुतममरगणैर्व्याघ्रकृत्तिं वसानं
विश्वाद्यं विश्ववन्द्यं निखिलभयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम्॥

नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः। बाहुभ्यामुत ते नमः॥ २॥ (यजु० १६। १)

(३)

श्वेताङ्गं श्वेतवस्त्रं सितकुसुमगणैः पूजितं श्वेतगन्धैः
क्षीराब्धौ रत्नदीपैः सुरवरतिलकं रत्नसिंहासनस्थम्।
दोर्भिः पाशाङ्कुशाब्जाभयधरमनिशं चन्द्रमौलिं त्रिनेत्रं
ध्यायेच्छान्त्यर्थमीशं गणपतिममलं श्रीसमेतं प्रसन्नम्॥

नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च वो नमो नमो गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च वो नमो नमो विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः॥ (यजु० १६। २५)

* 'पञ्चदेव' के पूजनमें इष्टदेवको मध्यस्थ करके शेषको नीचेके कोष्ठकमें लिखे अनुसार स्थापित कर पूजन करें। (यदि लिंग या एकत्र निर्मित विग्रह हों तो उनमें इष्टको मध्यस्थ मानकर शेषकी यथाक्रम कल्पना करें) यथा—'विष्णु' इष्टदेव हों तो मध्यमें विष्णु, ईशानमें शिव, अग्निमें गणेश, नैर्ऋत्यमें सूर्य और वायव्यमें शक्तिकी स्थापना करके (या चित्रादि हों तो उनमें वैसे मानकर) वहाँ उनका यथाविधि पूजन करें और शेषके लिये नीचेके कोष्ठकमें (१), (२), (३), (४), (५) को देखें। आरम्भमें पञ्चदेवका एक चित्र है—आराधक चाहें तो नित्यके सामूहिक अथवा पृथक्-पृथक् पूजनमें अपने इष्टदेवको सुगमतासे मध्यमें स्थापन करनेके लिये उस चित्रके अनुसार काठ, कागज, चाँदी या मकरानेके चौकोर ५ टुकड़ोंपर पञ्चदेवकी अलग-अलग मूर्ति बनवा लें और उनका यथेष्ट स्थापन करके पूजन करें। नित्यके पूजनमें इससे सुविधा होती है और स्नान-गन्धादि नित्य धोये जा सकते हैं। पहलेके पञ्चदेव-उपासक ऐसे ही साधन रखते थे। अब भी जयपुरमें कागजके ५) में, काठके ८) में, चाँदीके १०—१५) में और संगमरमर (मकराने) के २०—२५) में बन सकते हैं। चाँदी या मकरानेके समचौरस ९ टुकड़े बनवाकर ५ में विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य और शक्ति तथा ४ में फूल बनवाके उनको समचौरस चौखटेमें रख लें और पूजाके समय इच्छानुसार वैसा बना लें।

वि. | सू. (२) —शि.— श. | ग.	पू. / उ. * द. / प.	वि. | शि. (३) —गा.— श. | सू.
पू. / उ. * द. / प.	शि. | ग. —वि.— (१) श. | सू.	पू. / उ. * द. / प.
वि. | शि. —श.— (५) सू. | ग.	पू. उ. * द. प.	शि. | ग. —सू.— (४) श. | वि.

(४)

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।
केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी
हारी हिरण्मयवपुर्धृतशङ्खचक्रः ॥

सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ२॥ अजस्रम् । तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान् सम्पश्यन् विश्वा भुवनानि गोपाः ॥ (यजु० १७ । ५८)

(५)

श्यामाङ्गीं शशिशेखरां निजकरैर्दानं च रक्तोत्पलं
रक्ताढ्यं कलशं परं भयहरं संबिभ्रतीं शाश्वतीम् ।
मुक्ताहारलसत्पयोधरनतां नेत्रत्रयोल्लासिनीं
ध्यायेत्तां सुरपूजितां हरवधूं रक्तारविन्दस्थिताम् ॥

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय । पशूनाꣳ रूपमन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा ॥ (यजु० ३१ । १४)*

(३) पञ्चदेव-आवाहन—

(१)

आवाहयेत्तं गरुडोपरि स्थितं
रमार्द्धदेहं सुरराजवन्दितम् ।
कंसान्तकं चक्रगदाब्जहस्तं
भजामि देवं वसुदेवसूनुम् ॥

ॐ इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पाꣳसुरे स्वाहा ॥ (यजु० ५ । १५)

(२)

एह्येहि गौरीश पिनाकपाणे
शशाङ्कमौले वृषभाधिरूढ ।
देवाधिदेवेश महेश नित्यं
गृहाण पूजां भगवन्नमस्ते ॥

ॐ नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च ॥ (यजु० १६ । ४१)

(३)

आवाहयेत्तं गणराजदेवं
रक्तोत्पलाभासमशेषवन्द्यम् ।
विघ्नान्तकं विघ्नहरं गणेशं
भजामि रौद्रं सहितं च सिद्धया ॥

ॐ गणानां त्वा गणपतिꣳ हवामहे प्रियाणां त्वा प्रियपतिꣳ हवामहे निधीनां त्वा निधिपतिꣳ हवामहे वसो मम । आहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधम् ॥ (यजु० २३ । १९)

(४)

आवाहयेत्तं द्युमणिं महेशं
सप्ताश्ववाहं द्विभुजं दिनेशम् ।
सिन्दूरवर्णप्रतिमावभासं
भजामि सूर्यं कुलवृद्धिहेतोः ॥

ॐ आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च । हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन् ॥ (यजु० २३ । ४३)

(५)

या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भुवनेष्वलक्ष्मीः
पापात्मनां कृतधियां हृदयेषु बुद्धिः ।
श्रद्धा सतां कुलजनप्रभवस्य लज्जा
तां त्वां नताः स्म परिपालय देवि विश्वम् ॥

ॐ अम्बे अम्बिके अम्बालिके न मानयति कश्चन । स ससस्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम् ॥

---

* 'पञ्चदेवके ध्यान' में (१) शङ्ख-चक्रधारी, किरीट और कुण्डलोंसे विभूषित, पीताम्बर पहने हुए, सुन्दर कमल-जैसे नेत्रवाले और वक्षःस्थलमें वनमालासहित कौस्तुभमणिकी शोभावाले 'विष्णु'; (२) चाँदीके पर्वतके प्रभावाले, रत्नमय आभूषणभूषित, उज्ज्वलाङ्ग, हाथोंमें सुन्दर मृग-मुद्रा और परशुवाले, पद्मासनस्थ, देववन्दित, व्याघ्रचर्मधारण करनेवाले, निखिलभयहारी, विश्वेश और विश्वबन्धु 'शिव'; (३) क्षीराब्धिमें रत्नसिंहासनपर विराजे हुए, ऐरावतारूढ, श्वेतवस्त्र, श्वेतपुष्पादिसे पूजित, देवताओंमें श्रेष्ठ, हाथोंमें अङ्कुश, अभय, कमल और पाश रखनेवाले त्रिनेत्र 'गणेश'; (४) सूर्यमण्डलमें कमलासनपर विराजे हुए, मकराकार कुण्डल, केयूर और किरीटधारी, सुवर्णतुल्य शरीरवाले और शङ्ख-चक्र धारण करनेवाले 'पुरुषनारायण'; तथा (५) लाल कमल, रत्नाढ्य कलश, वर और अभयमुद्रा धारण करनेवाली, मुक्ताहारादिसे शोभित, श्यामाङ्गी, शशिशेखरा और त्रिनेत्रा 'शक्ति'; इन पञ्चदेवोंका उक्त स्वरूपमें ध्यान करें ।

यदि पूर्वोक्त प्रकारका चित्र या मूर्तियाँ अथवा घट, चक्र या मकरानेके समचौरस ४ टुकड़ोंमें बने हुए सुदर्शनार्थ विग्रह हों तो उनको सामने रख ले ।

*(१)'पञ्चदेव'-आवाहन करते समय अञ्जलि बाँधकर विनम्रभावसे कहे कि—हे गरुडारूढ, रमार्द्धदेह, इन्द्रवन्दित, कंसारि, चक्र-गदा और पद्माधारी 'वसुदेवसुत'! आप पधारें ॥(२)—हे गौरीश, पिनाकपाणि, शशाङ्कधर, वृषभासीन, देवाधिदेव 'महेश'! आपको नमस्कार

पूजा-प्रयोग

(१) प्रातरुत्थाय शुचिर्भूत्वा सुस्नातः कृतसन्ध्याद्यावश्यककर्मा देवमन्दिरं गत्वा द्वारसन्धौ तालत्रयं दत्त्वा कपाटमुद्घाट्य, अन्तः प्रविश्य (स्वगेहे वा देवसमीपे उपविश्य) हस्तौ प्रक्षाल्य पूजनपात्राणि सम्मृज्य जलेन प्रक्षाल्य वस्त्रेण प्रोञ्छ्य च यथास्थाने सुस्थाप्यानि । सुवासितजलपूर्णं कुम्भं दक्षिणभागे संस्थाप्य, वामे घण्टाम्, पुरतः गंधपुष्पभूषणानि, दक्षिणतः शङ्खदीपौ, वामे तु धूपम् अन्यामपि पूजनोपयुक्तसामग्रीं च यथास्थानं संस्थाप्य, आचम्य, प्राणानायम्य, मङ्गलोच्चारणं कुर्यात् ।

(२) मङ्गलमन्त्राः—

ॐ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः । स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

(ऋ० १ । १४ । ८९ । ६)

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

(ऋ० १ । १४ । ८९ । ८)

तं पत्नीभिरनुगच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः । नाकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोके तृतीये पृष्ठे अधि रोचने दिवः ॥

(यजु० १५ । ५०)

सुमुखश्चैकदन्तश्च०, धूम्रकेतुर्गणाध्यक्षो०, विद्यारम्भे विवाहे च०, शुक्लाम्बरधरं०, अभीप्सितार्थ० इत्यादयः ।

श्रीलक्ष्मीनारायणाभ्यां नमः, उमामहेश्वराभ्यां० शचीपुरन्दराभ्यां० मातापितृभ्यो० इष्टदेवताभ्यो० कुलदेवताभ्यो० ग्रामदेवताभ्यो० स्थानदेवताभ्यो० ।

(३) ततो हस्ते जलमादाय—

ॐ तत्सदद्य मासोत्तमे मासे अमुकमासे अमुकपक्षे अमुकतिथौ अमुकवासरे अमुकगोत्रोत्पन्नोऽमुकशर्मा (वर्मा, गुप्तः) अहं यथामिलितोपचारद्रव्यैर्विष्णु (शिव-गणपति-सूर्य-शक्ति) पूजनं करिष्ये—इति सङ्कल्प्य; तन्मादौ कलशे—वरुणाय नमः, वरुणमावाहयामि, सर्वोपचारार्थे गन्धाक्षतपुष्पाणि समर्पयामि—इति गन्धपुष्पादिभिः सम्पूज्य; एवं घण्टास्थगरुडाय नमः इति घण्टाम्, सर्वदेवेभ्यो नमः इति च शङ्खं पूर्ववत् सम्पूज्यान्यपात्रेषु च गन्धादि क्षिपेत् । अत्रैव कार्यविशेषे—अन्यदेवार्चने वा—गणानां त्वा इति० 'गणनाथम्', इदं विष्णुरिति 'विष्णुम्', नमः शम्भवायेति 'शिवम्', आ कृष्णेनेति 'सूर्यम्', अग्ने अम्बिके० इति 'शक्तिम्' च पञ्चोपचारैः पूजयेत् ।

(४) ततोऽङ्गन्यासं कुर्यात् ।

ॐ तत्सदद्येत्यादि० अमुकशर्माहं पञ्चदेवपूजार्थे (तन्मध्ये अमुकेष्टदेवपूजार्थे अन्यदेवार्चने वा) अङ्गन्यासं करिष्ये । ॐ सहस्रशीर्षा० इति वामकरे । ॐ पुरुष एवेद० इति दक्षिणकरे । ॐ एतावानस्य० इति वामपादे । त्रिपादूर्ध्व० इति दक्षिणपादे । ततो विराडजायत० इति वामजानुनि । तस्माद्यज्ञात्० इति दक्षिणजानुनि । तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः० इति वामकट्याम् । तस्मादश्वा० इति दक्षिणकट्याम् । तं यज्ञं० इति नाभौ । यत्पुरुषं व्यदधुः० इति हृदये । ब्राह्मणोऽस्य० इति वामकुक्षौ । चन्द्रमा मनसो० इति दक्षिणकुक्षौ । नाभ्या० इति कण्ठे । यत्पुरुषेण० इति वक्त्रे । सप्तास्यासन्० इत्यक्ष्णोः । यज्ञेन यज्ञ० इति मूर्ध्नि । ततः पूजां समारभेत ।

है । आप पूजन ग्रहण करें ॥ (३)—हे गणराज, लाल कमल-जैसी प्रभावाले, सर्वबन्धु, विघ्ननाशक, विघ्नहर, रुद्रसुत 'गणेश' ! आप पधारें ॥ (४)—हे ग्रहेश, दिनमणि, सात घोड़ोंके रथपर आरूढ, द्विभुज, दिनेश, सिन्दूर-सम प्रभावाले 'सूर्य' ! आप पधारें ॥ (५) और हे सुकृतिजनोंको लक्ष्मी एवं आनन्द और पापात्माओंको दंडना देनेवाली तथा विद्वानोंके हृदयमें बुद्धिका प्रकाश फैलानेवाली और विश्वका पालन करनेवाली 'देवी' ! आप पधारें और मेरी की हुई पूजा ग्रहण करें ॥

*'देवपूजा-प्रयोग' के प्रारम्भमें प्रातःकाल उठकर शौचादिसे निवृत्त हो सन्ध्यादि नित्यकर्म करें और देवताके मन्दिरमें जाकर द्वार-सन्धिमें तीन ताली देकर कपाट खोल अंदर प्रवेश करें । (यदि अपने मकानमें ही मन्दिर हो या देवमूर्ति रखते हों तो वहां देवताके समीप उपस्थित होकर) हाथ धोवे, पूजनके पात्रोंको मांजे, जलसे धोकर वस्त्रसे साफ कर लें और यथास्थान रख दें । सुगन्धियुक्त जलपूर्ण कुम्भ दाहिनी तरफ, धूप और घण्टा बायीं तरफ, गन्ध, पुष्प, अर्घ्य एवं आभूषण सामने, और शेष यथोचित स्थानपर रखके आचमन करें और प्राणायाम करके मङ्गलमन्त्रोंका उच्चारण करें । मङ्गलमन्त्रोंमें 'स्वस्ति न इन्द्रो०' 'भद्रं कर्णेभिः' 'तं पत्नीभिः' मुख्य हैं । इनके सिवा सुमुखश्चैकदन्तश्च० आदिसे गणेशस्मरण करके उपर्युक्त देवोंको नमस्कार करें ।

* फिर हाथमें जल लेकर वर्तमान मास, पक्ष, तिथि, वार और अपना गोत्रसहित नाम उच्चारण करके पञ्चदेव या उनमें किसी एक देव अथवा भैरव, भवानी, गङ्गा, हनुमान् आदि अन्य देवमें जिसका पूजन करना

संसार-समुद्रसे उत्तीर्ण होनेकी इच्छावाले पुरुषको भगवान् पुरुषोत्तमकी लीलाओंके कथामृतसेवनके सिवा अन्य कोई भी प्लव (पार उतारनेकी नौका) नहीं है ।'

(२) कीर्तन-भक्ति

भगवान्‌की मङ्गलमय लीलाओंके महत्त्वसूचक चरित्रोंका कीर्तन अर्थात् भगवच्चरित्रोंकी कथाओंका पाठ अथवा भगवान्‌के नामोंका कीर्तन और जप आदि 'कीर्तन-भक्ति' है ।

भक्तिके अङ्गोंमें श्रवण, कीर्तन और स्मरण—ये तीन अङ्ग मुख्य हैं—

तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥
(श्रीमद्भा० २ । १ । ५)

इन तीनोंमें भी कीर्तन प्रधान है । इसका तात्पर्य श्रवण और स्मरणकी न्यूनता बतानेका नहीं, किन्तु बात यह है कि श्रवण और स्मरणमें चित्तकी एकाग्रताका होना परमावश्यक है । चित्तकी एकाग्रता बिना श्रवण और स्मरण (ध्यान) यथावत् नहीं हो सकता, परन्तु नाम-कीर्तनके विषयमें तो यहाँतक कहा गया है—

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत् ।
सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः ॥
(श्रीमद्भा० ६ । २ । १८)

'अनजानमें अथवा जानमें उत्तमश्लोक भगवान्‌का नाम-कीर्तन करनेवाले पुरुषके पाप तत्काल वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे अग्निसे ईंधन ।' इसीसे कीर्तन-भक्तिको प्रधानता दी जाती है । कीर्तन-भक्तिद्वारा परा भक्ति प्राप्त होती है । श्रीशुकदेवजीने कहा है—

इत्थं हरेर्भगवतो रुचिराव्रतार-
वीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि ।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन्मनुष्यो
भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ३१ । २८)

'हे राजन् ! जो मनुष्य इस प्रकार यहाँ (भागवतमें) तथा अन्यत्र पुराण-इतिहासादिमें वर्णन किये गये भगवान् श्रीकृष्णके मङ्गलमय बालचरित एवं अवतारोंके पराक्रम-सूचक अन्य चरित्रोंका कीर्तन करता है, वह परमहंस-गतिको देनेवाले भगवान्‌में परा भक्ति प्राप्त करता है ।'

कीर्तन-भक्तिका महत्त्व श्रीमद्भागवतके अनेक प्रसङ्गोंमें बताया गया है । वेदव्यासजीके यह पूछनेपर कि मेरेद्वारा वेदोंका विस्तार, वेदान्तदर्शन और महाभारत एवं पुराणादिकी रचना किये जानेपर भी मेरा चित्त अकृतार्थकी भाँति क्यों असन्तुष्ट है, मुझमें क्या न्यूनता है, जिससे मुझे शान्ति नहीं मिलती, देवर्षि नारदजीने कहा है—

भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम् ।
येनैवासौ न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम् ॥
(श्रीमद्भा० १ । ५ । ८)

'आपने प्रायः भगवान्‌के यशका कीर्तन नहीं किया । वह ज्ञान, जिससे भगवान् सन्तुष्ट न हों, न्यून ही है अर्थात् आपकी अशान्तिका कारण एकमात्र भगवान्‌के गुणानुवादका अभाव ही है' क्योंकि—

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः ।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥
(श्रीमद्भा० १ । ५ । २२)

'तपका, शास्त्रोंके श्रवणका, स्विष्ट अर्थात् यज्ञादिविहित कर्मोंका, सूक्त अर्थात् अच्छी प्रकारकी वाक्यरचनाके ज्ञानका और दान आदिका अविच्युत अर्थ (परम फल) कवियोंने यही निरूपण किया है कि उत्तमश्लोक भगवान्‌के गुणोंका कीर्तन किया जाय ।'

कीर्तन-भक्तिके भी तीन भेद हैं—भगवान्‌की लीलाओंका, गुणोंका और नामोंका कीर्तन । इन तीनोंमें नाम-कीर्तन मुख्य है । भगवन्नाम-कीर्तन केवल साधकोंके ही नहीं, किन्तु समाधिप्राप्त शुद्धान्तःकरण निष्काम योगीजनोंके लिये भी परमावश्यक कहा गया है —

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम् ॥
(श्रीमद्भा० २ । १ । ११)

'हे राजन् ! जो दुःखरूप इस संसारसे विरक्त हो गये हैं और निर्भय होना चाहते हैं, उन योगीजनोंके लिये एक-मात्र भगवान् हरिके नामोंका कीर्तन ही सारभूत निर्णय किया गया है ।'

ब्रह्माजीने देवर्षि नारदजीसे कहा है—

यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि
नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति ।
ते नैकजन्मशमलं सहसैव हित्वा
संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये ॥
(श्रीमद्भा० ३ । ९ । १५)

'जिन भगवान्‌के अवतारोंके गुण और कर्मोंके सूचक देवकीनन्दन, कंसनिकन्दन, कालियमर्दन, भक्तवत्सल और गोवर्धनधारी इत्यादि नामोंको प्राणान्तके समय विवश होकर भी जो पुरुष उच्चारण करते हैं, उनके अनेक जन्म-जन्मान्तरोंके पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं। वे खुले हुए मोक्षद्वारमें सीधे चले जाते हैं। ऐसे भगवान्‌की शरणमें मैं प्राप्त होता हूँ।'

सभी प्रकारके पापोंके प्रायश्चित्तके लिये तो भगवान्‌का नाम-कीर्तन सर्वोपरि है, अजामिलोपाख्यानमें यमदूतोंके प्रति भगवान्‌के पार्षदोंका कथन है—

स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग्ब्रह्महा गुरुतल्पगः ।
स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे ॥
सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥
(श्रीमद्भा० ६ । २ । ९-१०)

'भगवान्‌का नाम-कीर्तन श्रद्धा-भक्तिसे किया जाय उसका तो कहना ही क्या, किन्तु अवज्ञादिसे भी नाम ले लिया जाय तो वह सब पापोंको हर लेता है।'

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥
पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः ।
हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम् ॥
(श्रीमद्भा० ६ । २ । १४-१५)

'संकेतसे, हँसीसे, गानके आलापको पूरा करनेके लिये, अवहेलनासे किसी भी प्रकारसे लिया गया भगवान्‌का नाम सब पापोंका हरनेवाला है। घबड़ाकर गिरा हुआ, मार्गमें ठोकर खाकर पड़ा हुआ, अङ्ग-भङ्ग हुआ, सर्प आदिसे डसा हुआ, ज्वरादिसे सन्तप्त और घायल मनुष्य विवश होकर भी यदि 'हरि' पुकार उठता है तो वह यातनाओंको नहीं भोगता।'

कलियुगमें तो केवल भगवन्नाम-कीर्तन ही मुख्य है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान्गुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ॥
कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥
(श्रीमद्भा० १२ । ३ । ५१-५२)

'हे राजन्! कलियुग यद्यपि सब दोषोंसे भरा हुआ खजाना है, फिर भी इसमें एक बड़ा भारी गुण यह है कि भगवान् श्रीकृष्णके नाम-कीर्तनमात्रसे ही पुरुष मुक्तसङ्ग होकर परमपदको प्राप्त हो जाता है। सत्ययुगमें जो फल भगवान्‌के ध्यानद्वारा, त्रेतामें जो फल यज्ञादिके यजनद्वारा और द्वापरमें जो फल भगवान्‌की पूजाके द्वारा प्राप्त होता है, वही फल कलिकालमें केवल हरि भगवान्‌के कीर्तनमात्रसे प्राप्त हो जाता है अर्थात् अन्य युगोंमें ध्यान, यज्ञ और पूजा आदिकी साधनाके लिये अत्यन्त दुष्कर साधन अपेक्षणीय है, किन्तु कलियुगमें केवल हरि-कीर्तनमात्रसे ही बेड़ा पार हो जाता है।'

नाम-कीर्तनमें नामके अपराधोंसे बचना परमावश्यक है। नामके अपराधोंमें दो अपराध मुख्य हैं। एक तो भगवान्‌के नामके भरोसेपर यह समझकर कि नाम-कीर्तनसे पाप तो सब नष्ट हो ही जायँगे, पाप करना। इस अपराधकी शुद्धि यम-नियमादिके साधनद्वारा भी नहीं हो सकती।

नाम्नो बलाद्यस्य हि पापबुद्धि-
र्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः ।

और दूसरा अपराध है शास्त्रोक्त नाम-माहात्म्यको केवल प्रशंसात्मक समझना। जो ऐसा समझते हैं वे अवश्य ही नरकगामी होते हैं। कहा है—

अर्थवादं हरेर्नाम्नि सम्भावयति यो नरः ।
स पापिष्ठो मनुष्याणां निरये पतति ध्रुवम् ॥

(३) स्मरण-भक्ति

भगवान्‌के प्रभावशाली नाम, रूप, गुण और लीला आदिके किये गये कथामृतके श्रवण अथवा कीर्तनका मनन करना और भगवान्‌की लोकोत्तर लावण्यमयी श्रीमूर्तिका ध्यान करना स्मरण-भक्ति है। स्मरण-भक्तिको भी परा भक्तिका साधन बताया गया है—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च ।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम् ॥
(श्रीमद्भा० १२ । १२ । ५४)

'भगवान् श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंका स्मरण (ध्यान) समग्र अमङ्गलोंका नाश और शान्तिका विस्तार करता है, एवं सत्त्वकी शुद्धि, परमात्माकी भक्ति और वैराग्यसहित विज्ञानका विस्तार करता है ।'

अन्तःकरण-शुद्धिका सर्वोपरि साधन भगवत्-स्मरण (ध्यान) ही है । श्रीशुकदेवजीने कहा है—

विद्यातपःप्राणनिरोधमैत्री-
तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः ।
नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा
यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते ॥
(श्रीमद्भा० १२ । ३ । ४८)

'विद्या (शास्त्र-अध्ययन), तप (अनशन आदि), प्राणायामादि योगक्रिया, मैत्री (अहिंसा आदि), तीर्थस्नान, व्रत (एकादशी आदि), दान, जप आदिसे अन्तःकरणकी वैसी शुद्धि नहीं होती है, जैसी अनन्त भगवान् हरिके हृदय-में स्थापित करनेसे होती है ।'

गीताजीमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण आज्ञा करते हैं—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥
(१२ । ६-७)

ज्ञानीजनोंकी अव्यक्तोपासनाको अधिक दुःसाध्य बताकर भगवान् कहते हैं—कि 'हे पार्थ ! जो मेरे परायण रहनेवाले सगुणोपासक भक्तजन अपने सम्पूर्ण कर्मोंको मुझ सगुणरूप वासुदेवमें अर्पण करके अनन्यभक्तियोगके द्वारा मेरा ध्यान करते हैं, उन मुझमें चित्त लगानेवाले भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसमुद्रसे पार करनेवाला होता हूँ ।'

भगवान्का स्मरण द्वेष, भय आदि भावोंसे भी करनेसे सारूप्य और सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है । देवर्षि नारदजीने कहा है—

वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्र-
शाल्वादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः ।
ध्यायन्त आकृतधियः शयनासनादौ
तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ५ । ४८)

'शिशुपाल, पौण्ड्रक और शाल्व आदि राजागण सोते-बैठते और खाते-पीते समय सर्वदा भगवान् श्रीकृष्णकी गमन और चितवन आदि चेष्टाओंका वैरभावसे भी चिन्तन करनेसे भगवान्के साम्यको प्राप्त हो गये । तब भगवान्में एकान्त अनुरक्त रहनेवाले भक्तोंकी तो बात ही क्या है—वे तो जीवन्मुक्त ही हैं ।'

भगवान्के श्रीविग्रहके ध्यानका प्रकार श्रीमद्भागवतमें अनेक प्रसङ्गोंपर बड़ा चित्ताकर्षक वर्णन किया गया है । विस्तारभयसे यहाँ केवल श्रीकपिलदेवजीद्वारा वर्णित ध्यानका उल्लेख किया जाता है—

प्रसन्नवदनाम्भोजं पद्मगर्भारुणेक्षणम् ।
नीलोत्पलदलश्यामं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥
लसत्पङ्कजकिञ्जल्कपीतकौशेयवाससम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम् ॥
मत्तद्विरेफकलया परीतं वनमालया ।
परार्ध्यहारवलयकिरीटाङ्गदनूपुरम् ॥
काञ्चीगुणोल्लसच्छ्रोणिं हृदयाम्भोजविष्टरम् ।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम् ॥
अपीच्यदर्शनं शश्वत्सर्वलोकनमस्कृतम् ।
सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम् ॥
कीर्तन्यतीर्थयशसं पुण्यश्लोकयशस्करम् ।
ध्यायेद्देवं समग्राङ्गं यावन्न च्यवते मनः ॥
स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशयम् ।
प्रेक्षणीयेहितं ध्यायेच्छुद्धभावेन चेतसा ॥
तस्मिँल्लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम् ।
विलक्ष्यैकत्र संयुञ्ज्यादङ्गे भगवतो मुनिः ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २८ । १३–२०)

'विकसित कमलके समान प्रसन्न मुखारविन्द, कमलके मध्यभागके समान रक्त नेत्र, नील कमलदलके समान श्याम-सुन्दर देह-कान्ति, हस्तकमलोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित, कमलकी केसरके समान पीताम्बर धारण किये हुए, वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न और ग्रीवामें कौस्तुभमणि विभूषित, गुञ्जायमान मत्त भ्रमरोंसे युक्त वनमाला धारण किये हुए, अन्य अङ्गोंमें यथास्थान बहुमूल्य हार, कङ्कण, किरीट, मुकुट, बाजूबन्द और नूपुर आदि आभूषणभूषित, कटिस्थलपर काञ्चन-की किङ्किणी, भक्तजनोंके हृदयरूप आसनपर विराजमान, मन और नेत्रोंको आनन्ददायक दर्शनीय शान्त स्वरूप, किशोरा-

वक्षामें स्थित, सबके द्वारा वन्दनीय, भक्तोंपर अनुग्रह करनेमें व्यग्र, पवित्र और कीर्तनीय यशवाले और भक्तजनोंका यश बढ़ानेवाले भगवान्‌के सर्वाङ्ग विग्रहका इस प्रकार ध्यान करना चाहिये। और इस प्रकार सर्वाङ्ग ध्यान भली प्रकार हृदयस्थ हो जानेपर भगवान्‌के प्रत्येक अङ्गका पृथक्-पृथक् ध्यान करना चाहिये।

(४) पादसेवन

पादसेवन-भक्ति एक तो भगवान्‌की साक्षात् पादसेवा है और दूसरा भगवान्‌के पाद-पद्मोंका भजन। इसमें प्रथम प्रकारकी पाद-सेवा बड़ी दुर्लभ है। जिसके लिये ब्रह्माजी भी लालायित होकर भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं—

तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो
भवेऽत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम्।
येनाहमेकोऽपि भवज्जनानां
भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ३०)

'हे नाथ! इस जन्ममें अब अथवा आगे जहाँ कर्मवश प्राप्त होनेवाले पशु, पक्षी आदि किसी भी तिर्यक् योनिके जन्ममें मुझे वह सौभाग्य प्राप्त हो जिसमें मैं भी आपके भक्त-जनोंमेंसे एक होकर आपके पाद-पल्लवकी सेवा करूँ।'

ब्रह्माजीने भगवान्‌के साक्षात् पाद-सेवनकी प्राप्तिको अति दुर्लभ समझकर फिर भगवान्‌के प्रिय व्रजवासियोंके चरण-रजकी प्राप्तिके लिये प्रार्थना की है कि—

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्द-
स्वप्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ३४)

'यह मेरा सौभाग्य होगा यदि मनुष्यलोकमें विशेषतया गोकुल या व्रजके किसी वनमें किसी भी पशु, पक्षी, कीट, पतंग और वृक्ष आदि—योनिमें मेरा जन्म हो, जिससे भगवान् मुकुन्द ही हैं सर्वस्व जिनके ऐसे व्रजवासियोंकी चरण-रजका मेरेपर अभिषेक होता रहे, जिस चरण-रजको श्रुति भी अनादिकालसे ढूँढ़ रही है किन्तु प्राप्त न कर सकी है।'

अतएव साक्षात् पादसेवन तो भगवान्‌के निरन्तर समीपवर्ती श्रीसीताजी, लक्ष्मीजी, रुक्मिणीजी आदि महारानियोंको तथा व्रजके गोपबाल और व्रजाङ्गनाओंको तथा उद्धवजी आदि अनन्यभक्तोंको ही उपलब्ध है, फिर भी वे भगवान्‌के पादसेवनकी अभिलाषा करते ही रहते हैं।

पादसेवनकी अभिलाषाके विषयमें गोपाङ्गनाएँ भगवान्‌से प्रार्थना करती हैं—

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम्।
यस्याः स्वलीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-
स्तद्वद्वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः॥
(श्रीमद्भा० १०। २९। ३७)

'जिन लक्ष्मीजीका कृपाकटाक्ष प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मादि देवगण बड़े तप आदिद्वारा प्रयास करते हैं, लक्ष्मीजी आपके वक्षःस्थलमें निवास पाकर भी अपनी सपत्निरूप तुलसीके साथ आपके भृत्यगणोंसे सुशोभित चरणारविन्दके रजकी अभिलाषा करती हैं, उसी प्रकार हम भी आपकी चरण-रजको प्राप्त हुई हैं।'

श्रीरुक्मिणीजी भी भगवान्‌से यही प्रार्थना करती हैं—

अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुराग
आत्मन्नतस्य मयि चानतिरिक्तदृष्टेः।
(श्रीमद्भा० १०। ६०। ४६)

'आप निजानन्दमें रमण करनेवाले हैं, अतः आप मुझ-पर उपेक्षा-दृष्टि रखते हैं। मेरी तो यही प्रार्थना है कि मुझे आपके चरणोंमें अनुराग (पादसेवा) प्राप्त हो।'

भगवान्‌की साक्षात् पाद-सेवन भक्ति तो साध्य भक्तिके अन्तर्गत ही कही जा सकती है। साधन-भक्तिके अन्तर्गत तो भगवान्‌के पादपद्मोंके भजनरूप पाद-सेवन भक्ति ही है।

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः।
भवन्ति वै भागवतस्य राजंस्ततः
परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ४३)

'इस प्रकार अच्युत भगवान्‌के चरणकमलकी सेवा करनेवाले भक्तको भगवद्भक्ति, वैराग्य और भगवद्विषयक ज्ञान—ये सब एक साथ ही प्राप्त हो जाते हैं और उसके पश्चात् वह आत्यन्तिक क्षेमको प्राप्त हो जाता है'। यहाँ पाद-सेवनभक्तिको परा भक्तिका साधन कहा गया है।

भगवान्‌के पाद-पद्मका भजन भी अनिर्वचनीय है। श्रीसनत्कुमार आदिराज पृथु महाराजसे कहते हैं—

यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या
कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्ध-
स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥
कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशां
षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीरषन्ति।
तत्त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रिं
कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम्॥
(श्रीमद्भा० ४। २२। ३९-४०)

'जिस भगवान्‌के चरण-कमलके पत्ररूप अङ्गुलियोंकी कान्तिकी भक्तिद्वारा कर्माशयोंकी वासनामयी ग्रन्थिको भक्तजन जिस प्रकार (आसानीसे) काट सकते हैं, उस प्रकार सब इन्द्रियोंको वशीभूत करनेवाले निर्विकल्प समाधिनिष्ठ योगीजन नहीं काट सकते, इसलिये उस शरण्य भगवान् श्रीवासुदेवका भजन करो। काम-क्रोधादि षड्वर्गोंसे व्याप्त संसार-समुद्रको जो भगवान्‌के चरणकमलरूप नौकाके बिना अन्य साधनोंके द्वारा उत्तीर्ण होना चाहते हैं, उनको महान् कष्ट प्राप्त होता है। अतएव हे राजन्! तुम हरि भगवान्‌के भजन करने योग्य चरणकमलोंको नौका करके इस दुस्तर संसार-समुद्रसे उत्तीर्ण हो।'

(५) अर्चन-भक्ति

बाह्य सामग्रियोंके द्वारा अथवा मनके द्वारा कल्पित सामग्रियोंसे भगवान्‌का श्रद्धापूर्वक पूजन करना 'अर्चन-भक्ति' है।

स्वयं भगवान्‌ने अपने पूजनके अधिष्ठान (आश्रय) प्रतिमा, स्थण्डिल, अग्नि, सूर्य, जल, हृदय, गौ और ब्राह्मण आदि बताये हैं—

इनमें पूर्व-पूर्वकी अशक्यतामें उत्तरोत्तरका विधान है, प्रतिमा आठ प्रकारकी बतायी गयी है—

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता॥
(श्रीमद्भा० ११। २७। १२)

'पाषाणमयी अर्थात् शालग्राम और पाषाणनिर्मित, काष्ठमयी, सुवर्ण आदि धातुमयी, चन्दनादिद्वारा लेपन की हुई, चित्रमयी, मृत्तिकामयी, मनोमयी (मनद्वारा कल्पित) और रत्नमयी।' इनकी पूजाके उपचार अधिष्ठान-भेदसे भिन्न-भिन्न हैं। पाषाण, धातु और मृत्तिकाकी प्रतिमाओंका पूजन स्नानादि षोडशोपचारद्वारा, चित्रादिका मार्जन आदिद्वारा, मनोमयीका मानसोपचारद्वारा, स्थण्डिलका तत्तन्यासद्वारा, अग्निका घृतादिकी आहुतिद्वारा, सूर्यका उपस्थान एवं अर्घ्यादिद्वारा, जलका जलाञ्जलि आदिद्वारा, ब्राह्मणोंका आतिथ्यद्वारा, गौका घास आदिद्वारा पूजन किया जाता है। भगवान्‌का अर्चन तीन प्रकारसे वैदिक (वेदमन्त्रोंद्वारा), तान्त्रिक (स्मृति-पुराणादि तन्त्र-ग्रन्थोंके मन्त्रोंद्वारा) और इन दोनोंके (वैदिक तथा तान्त्रिकके) मिश्रित मन्त्रोंसे किया जाता है।

भगवान्‌की पूजनविधि श्रीमद्भागवतके कई प्रसङ्गोंमें वर्णन की गयी है। भगवान्‌के अर्चनमें श्रद्धा ही मुख्य है। स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

श्रद्धयोपाहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्यपि।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते॥
(श्रीमद्भा० ११। २७। १७-१८)

'श्रद्धापूर्वक यदि जल भी अर्पण किया जाय तो वह मुझे अत्यन्त प्रिय है, श्रद्धारहित अमूल्यवस्तु भी अर्पणकी हुई मेरे लिये सन्तोषप्रद नहीं हो सकती।'

अर्चनभक्तिको भी परा भक्तिका साधन स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति।
भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्॥
(श्रीमद्भा० ११। २७। ५१)

'निष्काम भक्तियोगद्वारा जो इस प्रकार मेरी पूजा करता है, उसको मेरी भक्ति अर्थात् प्रेमलक्षणा परा भक्ति प्राप्त होती है।'

गृहस्थोंके लिये तो विशेषतया अर्चनभक्ति कर्तव्य है—

अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः।
यच्छ्रद्धयाप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषः॥
(श्रीमद्भा० १०। ८४। ३७)

'द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) गृहस्थके लिये यही कल्याणकारक है कि सन्मार्गसे प्राप्त हुए द्रव्यद्वारा श्रद्धापूर्वक भगवान्‌का अर्चन करे।'

किन्तु जो मनुष्य भगवान्‌की अर्चन-भक्ति सांसारिक

कामनाओंके लिये करते हैं, उनके विषयमें ध्रुवजीने कहा है—

नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते
ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः ।
अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्य-
मिच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि नृणाम् ॥
(श्रीमद्भा० ४ । ९ । ९)

'निश्चय ही उन लोगोंकी बुद्धि आपकी मायासे मोहित है, जो जन्म-मरणसे छुटकारा करनेवाले कल्पवृक्षरूप आपकी पूजा तुच्छ सांसारिक विषय-भोगादिके लिये करते हैं, जो नारकीजनोंको भी प्राप्त है ।'

(६) वन्दन-भक्ति

वन्दनका अर्थ है प्रणाम—दण्डवत् । भगवान्‌के श्रीचरणोंमें श्रद्धाभक्तिपूर्वक अनन्यभावसे प्रणाम करना वन्दन-भक्ति है ।

प्रणाम करनेकी विधि स्वयं भगवान्‌ने इस प्रकार बतायी है ।

स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि ।
स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत दण्डवत् ॥
शिरो मत्पादयोः कृत्वा बाहुभ्यां च परस्परम् ।
प्रपन्नं पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहार्णवात् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २७ । ४५-४६)

'अनेक प्रकारके वेदोक्त, पुराणोक्त एवं तन्त्रोक्त और प्राकृत स्तोत्रोंसे स्तुति करके यह निवेदन करे—'हे भगवन् ! आप प्रसन्न हों, और दण्डकी भाँति गिरकर पृथ्वीपर इस प्रकार प्रणाम करे, सिरको मेरे चरणोंमें रखकर दोनों हाथ जोड़कर प्रार्थना करे—हे प्रभो ! इस संसारसागरके मृत्युरूप ग्रहसे मेरी रक्षा कीजिये ।'

भगवान्‌को प्रणाम करनेका महत्त्व पाण्डवगीतामें कहा है—

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः ।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥

'भगवान् श्रीकृष्णको एक बार भी प्रणाम करना दश अश्वमेध यज्ञके अवभृथ-स्नानके तुल्य है किन्तु अश्वमेधयज्ञ करनेवालोंको पुनर्जन्मकी प्राप्ति होती है, पर भगवान्‌को प्रणाम करनेवालोंको फिर जन्म नहीं लेना पड़ता । यह विशेषता है ।' उनकी मुक्ति हो जाती है । ब्रह्माजीने भी श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ८)

'आपकी कृपा कब प्राप्त होगी ? इस प्रकार प्रतीक्षा करते हुए और अपने कर्मोंके फलको भोगते हुए एवं शरीर, वाणी और मनसे आपकी वन्दन-भक्ति करते हुए जो जीवित रहते हैं, वे मुक्तिपदके भागीदार हो जाते हैं, अर्थात् उनको मुक्ति सुलभ हो जाती है ।'

(७) दास्य-भक्ति

भगवान्‌की श्रद्धा और प्रेमपूर्वक दास्यभावसे सेवा करना दास्य-भक्ति है, दास्य-भक्तिके लिये भगवान्‌ने स्वयं आज्ञा की है—

सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्तनैः ।
गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायया ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ११ । ३९)

'भगवान्‌के मन्दिरका मार्जन, लेपन, सिञ्चन, मण्डल आदिकी रचना (चौक पूरना, स्वस्तिक बनाना आदि सेवा) निष्कपटभावसे दासकी भाँति करनी चाहिये ।'

भगवान्‌का दास्य-भाव प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है । भगवान्‌के पूर्ण कृपापात्र भक्त भी दास्य-सेवाके लिये उत्कण्ठित रहते हैं, प्रह्लादजीने भगवान् श्रीनृसिंहजीसे प्रार्थना की है—

यस्माद्भियाग्निरिह दारुण योगसंयोगजन्म-
शोकाग्निना सकलयोनिषु दह्यमानः ।
दुःखौषधं तदपि दुःखमतद्धियाहं
भूमन् भ्रमामि वद मे तव दास्ययोगम् ॥
(श्रीमद्भा० ७ । ९ । १७)

'हे भूमन् ! प्रिय और अप्रिय पदार्थोंके संयोग और वियोगसे उत्पन्न होनेवाले अग्निसे सब योनियोंमें तापित होकर मैंने जो-जो ओषधि की, उससे शान्ति न मिलकर यद्यपि उलटा

दुःख ही मिलता रहा है; पर उनको मैं दुःख न समझकर भ्रमसे सुख समझता हुआ इस संसारमें भ्रमता रहा हूँ। अतएव अब आप अपना दास्ययोगरूप अमोघ ओषधि प्रदान कीजिये, जिससे सदाके लिये उस तापका नाश होकर शान्ति प्राप्त हो।'

श्रीमद्भागवतमें गोपीजनोंने प्रार्थना की है—

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं
प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः।
त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम-
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्॥
(श्रीमद्भा० १०। २९। ३८)

'हे दुःखनाशक पुरुषोत्तम! आपकी सेवा करनेकी आशा रखनेवाली हम अपने घरोंको त्यागकर आपके चरणोंके समीप आयी हुई है। हमारा हृदय आपके सुन्दर मन्द हास्यपूर्वक कटाक्षपातसे उत्पन्न प्रेमाग्निसे संतप्त हो रहा है अतएव आप अपनी दास्य-सेवा देनेकी कृपा कीजिये।'

भगवान्‌की सेवा जो मनुष्य स्वार्थके लिये करते हैं उनमें वह दास्य-भाव नहीं है—वह तो लेन-देन करनेवाले वैश्योंके व्यापारके समान है—

यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥
(श्रीमद्भा० ७। १०। ४)

(८) सख्य-भक्ति

भगवान्‌में मित्रभावसे प्रेम करना सख्य-भक्ति है। भगवान्‌में सख्यभाव भगवान्‌की पूर्ण कृपाद्वारा ही प्राप्त हो सकता है। अतः सख्य-भक्तिका अधिकार तो भगवान्‌की इच्छापर ही निर्भर है। सख्य-भक्ति श्रीरामावतारमें कपिराज सुग्रीव और विभीषणादिको तथा श्रीकृष्णावतारमें व्रजके गोप-गोपाङ्गनाओंको तथा उद्धव एवं पाण्डुपुत्र अर्जुन आदि कतिपय सौभाग्यशाली जनोंको ही प्राप्त हो सकी है। सख्य-भक्तिप्राप्त भक्तोंका, भगवान्‌में अनन्य श्रद्धा एवं पूज्य-भाव रहते हुए भी वे भगवान्‌के साथ मित्रोंके समान बर्ताव करते हैं और उनके प्रति कठोर वाक्य भी कह उठते हैं। श्रीव्रजाङ्गनाएँ कहती हैं—

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्वाडेष्यदुध्वाङ्क्षवद्य-
स्तदलममसितस्त्रैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः॥
(श्रीमद्भा० १०। ४७। १७)

'जिन्होंने रामावतारमें व्याधकी भाँति बालीका वध कर दिया तथा अपनी पत्नीके वशीभूत होकर बेचारी कामातुरा शूर्पणखाके नाक-कान काटकर कुरूप कर दिया, यही नहीं इसके पूर्व वामनावतारमें राजा बलिके सर्वस्व अर्पण करनेपर भी उसको इस प्रकार वरुण-पाशसे बाँधकर स्वर्गसे गिरा दिया, जैसे काक पक्षी किसी वस्तुको कुछ खाकर नीचे गिरा देता है; अतएव ऐसे काले वर्णवालोंकी मित्रतासे हम बाज आयीं। वस्तुतः ऐसोंकी चर्चा-कथा भी उचित नहीं है, फिर भी न मालूम क्यों श्रीकृष्णकी चर्चा किये बिना हमसे नहीं रहा जाता।'

भगवान्‌ने सख्य-भाव यहाँतक निभाया है कि व्रजवासियोंको अपनी पीठतकपर बिठा लिया है—

उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः।
(श्रीमद्भा० १०। १८। २४)

भगवान् श्रीकृष्णने खेलमें पराजित होकर श्रीदामानामक गोपको पीठपर चढ़ाया, सख्य-भक्तिके विषयमें ब्रह्माजीने कहा है—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ३२)

'अहो! नन्दादि व्रजवासी गोपोंके धन्य भाग्य हैं! धन्य भाग्य हैं! जिनके सुहृद् परमानन्दरूप सनातन पूर्णब्रह्म आप हैं।'

(९) आत्मनिवेदन

अहङ्काररहित अपने तन, मन, धन और परिजनसहित अपने-आपको तथा सर्वस्वको श्रद्धा और प्रेमपूर्वक भगवान्‌के समर्पण कर देना आत्मनिवेदन भक्ति है। श्रीनिमि योगेश्वरने कहा है—

इष्टं दत्तं तपो जप्तं वृत्तं यच्चात्मनः प्रियम्।
दारान्सुतान्गृहान्प्राणान्यत्परस्मै निवेदनम्॥
(श्रीमद्भा० ११। ३। ४८)

'यज्ञ, दान, तप, जप, अपने वर्णाश्रमानुसार किये हुए

धर्मानुष्ठान, पूर्त, आत्माको प्रिय करनेवाले सदाचार, स्त्री, पुत्र, घर और प्राण सर्वस्व भगवान्‌के अर्पण करे।'

आत्मनिवेदन करनेवाले भगवान्‌के अनन्य भक्त होते हैं। वे ब्रह्मपद, इन्द्रपद, चक्रवर्ती राज्य, रसातलका आधिपत्य और योगद्वारा प्राप्त सिद्धियाँ ही नहीं, किन्तु भगवान्‌के सिवा वे कैवल्य मोक्षतककी इच्छा नहीं करते—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
(श्रीमद्भा० ११। १४। १४)

क्योंकि ऐसे भक्तोंको भगवान्‌की पराभक्ति प्राप्त हो जाती है और उन्हें कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता। कहा है—

एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्।
मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते॥
(श्रीमद्भा० ११। १९। २४)

गीताजीके अन्तमें भगवान्‌ने अर्जुनको शरणागत होनेकी ही आज्ञा की है। शरणागति आत्मनिवेदन ही है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८। ६६)

'सब धर्मोंको त्यागकर तू एक मेरी शरणमें ही आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू सोच मत कर।'

श्रीमद्भागवतमें उद्धवजीके प्रति भी भगवान्‌ने यही कहा है—

मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः॥
(११। १२। १५)

'सब देहधारियोंके आत्मारूप एकमात्र मेरी ही अनन्यभावसे शरणमें आ जा जिससे मेरे द्वारा अकुतोभय हो जायगा।'

शरणागत भक्तके रक्षक भगवान् स्वयं हो जाते हैं। राजा अम्बरीषके प्रसङ्गमें महर्षि दुर्वासाजीसे भगवान्‌ने कहा है—

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान्वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥
(श्रीमद्भा० ९। ४। ६५)

'जो स्त्री, पुत्र, घर, कुटुम्ब, सबसे अधिक प्राण, धन, यह लोक और परलोक सभीको त्यागकर मेरी शरण आ गये हैं, उनकी उपेक्षा मैं किस प्रकार कर सकता हूँ?'

शरणागतके विषयमें तो भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने यहाँतक प्रतिज्ञारूपमें आज्ञा की है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
(वा० रा० युद्ध० १८। ३३)

'जो एक बार भी मेरी शरणमें आ जाता है और 'मैं तुम्हारा हूँ' इस प्रकारकी प्रार्थना करता है उसको मैं प्राणिमात्रसे अभयदान दे देता हूँ, यह मेरा व्रत है।'

फिर भला, अनन्यभावसे जो भक्त शरणागत होता है, उसकी तो बात ही क्या?

नवधा भक्तिका विषय अत्यन्त विस्तृत है, इस विषयके अनेक ग्रन्थ हैं। श्रीमद्भागवतमें तो अनेक स्थलोंपर प्रत्येक प्रसङ्गपर विस्तारके साथ भक्तिका वर्णन है। उसमेंसे प्रायः यहाँ बहुत संक्षिप्तरूपसे दिग्दर्शनमात्र कराया जा सका है। सम्भव है, प्रसङ्गानुकूल इसमें बहुत कुछ त्रुटियाँ रह गयी हों, उनके लिये मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ।

भगवान्‌को जीवन समर्पण करनेवाला चाण्डाल भी ब्राह्मणसे श्रेष्ठ है

श्रीप्रह्लादजी कहते हैं—

विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥
(श्रीमद्भा० ७। ९। १०)

बारह गुणोंसे युक्त किन्तु भगवान्‌के चरणकमलोंसे विमुख ब्राह्मणकी अपेक्षा मैं उस चाण्डालको श्रेष्ठ मानता हूँ, जिसने अपनी वाणी, मन, चेष्टा, धन और प्राण भगवान्‌को समर्पित कर दिये हैं। वह चाण्डाल अपने कुलको पवित्र करता है; परन्तु वह अभिमानी ब्राह्मण अपनेको भी पवित्र नहीं कर सकता।

भक्तिका स्वरूप

अखिलरसामृतमूर्तिः प्रसृमररुचिरुद्धतारकापालिः ।
कलितश्यामालतितो राधाप्रेयान् विधुर्जयति ॥

चित्तवृत्तिका निरन्तर अविच्छिन्नरूपसे अपने इष्टस्वरूप श्रीभगवान्‌में लगे रहना अथवा भगवान्‌में परम अनुराग या निष्काम अनन्य प्रेम हो जाना ही भक्ति है। भक्तिके अनेक साधन हैं, अनेकों स्तर हैं और अनेकों विभाग हैं। ऋषियोंने बड़ी सुन्दरताके साथ भक्तिकी व्याख्या की है। पुराण, महाभारत-रामायणादि इतिहास और तन्त्र-शास्त्र भक्तिसे भरे हैं। ईसाई, मुसलमान और अन्यान्य मतावलम्बी जातियोंमें भी भक्तिकी बड़ी सुन्दर और मधुर व्याख्या और साधना है। हमारे भारतीय शैव, शाक्त और वैष्णव-सम्प्रदाय तो भक्ति-साधनाकी ही जय-घोषणा करते हैं। वस्तुतः भगवान् जैसे भक्तिसे वश होते हैं, वैसे और किसी भी साधनसे नहीं होते। भक्तिकी तुलना भक्तिसे ही हो सकती है। भगवान् श्रीचैतन्य महाप्रभु भक्तिके मूर्तिमान् दिव्य स्वरूप हैं। उनके अनुयायियोंने भक्तिकी बड़ी ही सुन्दर व्याख्या की है और उसीके आधारपर यहाँ कुछ लिखनेका प्रयास किया जाता है।

जिनके असाधारण सौन्दर्य और माधुर्यने बड़े-बड़े महात्मा, ब्रह्मज्ञानी और तपस्वियोंके मनोंको बरबस खींच लिया; जिनकी सबसे बढ़ी हुई अद्भुत, अनन्त प्रभुतामयी पूर्ण ऐश्वर्य-शक्तिने शिव, ब्रह्मातकको चकित कर दिया, उन सबके मूल आश्रयतत्त्व स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके लिये जो अनुकूलतायुक्त अनुशीलन होता है, उसीका नाम भक्ति है। अनुकूलताका तात्पर्य है, जो कार्य श्रीकृष्णको रुचिकर हो, जिससे श्रीकृष्णको सुख हो, शरीर, वाणी और मनसे निरन्तर वही कार्य करना। श्रीकृष्णके लिये अनुशीलन तो कंस आदिमें भी था, परन्तु उनमें उपर्युक्त आनुकूल्य नहीं था। श्रीकृष्णसे यहाँ श्रीराम, नृसिंह, वामन आदि सभी भगवत्स्वरूप लिये जा सकते हैं, परन्तु गौड़ीय वैष्णव भगवान् श्रीकृष्ण-स्वरूपके निमित्त और तत्सम्बन्धिनी अनुशीलनरूपा भक्तिको ही मुख्य मानते हैं।

भक्तिकी उपाधियाँ

भक्तिमें दो उपाधियाँ हैं—१—अन्याभिलाषिता और २—कर्मज्ञानयोगादिका मिश्रण। इन दोनोंमेंसे जबतक एक भी उपाधि रहती है तबतक प्रेमकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

अन्याभिलाषा—भोग-कामना और मोक्ष-कामनाके भेदसे दो प्रकारकी होती है, और ज्ञान, कर्म तथा योगके भेदसे भक्तिका आवरण तीन प्रकारका होता है। यहाँ ज्ञानसे 'अहं ब्रह्मास्मि', योगसे भजनरहित हठयोगादि और कर्मसे भक्तिरहित याग-यज्ञादि शास्त्रीय और भोगादिकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले लौकिक कर्म समझने चाहिये। जिस ज्ञानसे भगवान्‌के स्वरूप और भजनका रहस्य जाना जाता है, जिस योगसे चित्तकी वृत्ति भगवान्‌के स्वरूप, गुण, लीला आदिमें तल्लीन हो जाती है और जिस कर्मसे भगवान्‌की सेवा बनती है, वे ज्ञान-योग-कर्म तो भक्तिमें सहायक हैं, भक्तिके ही अङ्ग हैं। वे भक्तिकी उपाधि नहीं हैं।

सकाम भक्ति

जिस भक्तिमें भोग-कामना रहती है, उसे सकाम भक्ति कहते हैं। सकाम भक्ति राजसी और तामसी भेदसे दो प्रकारकी है—विषय-भोग, यश-कीर्ति, ऐश्वर्य आदिके लिये जो भक्ति होती है, वह राजसी है; और हिंसा, दम्भ तथा मत्सर आदिके निमित्तसे जो भक्ति होती है, वह तामसी है। विषयोंकी कामना रजोगुण और तमोगुणसे ही उत्पन्न हुआ करती है। इस सकाम भक्तिको ही सगुण भक्ति भी कहते हैं। जिस भक्तिमें मोक्षकी कामना है, उसे कैवल्यकामा या सात्त्विकी भक्ति कहते हैं।

उत्तमा भक्ति

उत्तमा भक्ति चित्स्वरूपा है। उस भक्तिके तीन भेद हैं—साधन-भक्ति, भाव-भक्ति और प्रेम-भक्ति। इन्द्रियोंके द्वारा जिसका साधन हो सकता हो, ऐसी श्रवण-कीर्तनादिका नाम साधन-भक्ति है।

इस साधन-भक्तिके दो गुण हैं—क्लेशघ्नी और शुभदायिनी। क्लेश तीन प्रकारके हैं—पाप, वासना और अविद्या। इनमें पापके दो भेद हैं—प्रारब्ध और अप्रारब्ध। जिस पापका फल मिलना शुरू हो गया है उसे 'प्रारब्ध पाप' और जिस पापका फलभोग आरम्भ नहीं हुआ, उसे 'अप्रारब्ध पाप' कहते हैं। पापका बीज है—'वासना' और वासनाका कारण है 'अविद्या'। इन सब क्लेशोंका मूल कारण है—भगवद्-विमुखता; भक्तोंके सङ्गके प्रभावसे भगवान्‌की सम्मुखता प्राप्त होनेपर क्लेशोंके सारे कारण अपने-आप ही नष्ट हो जाते हैं। इसीसे साधन-भक्तिमें 'सर्वदुःखनाशकत्व' गुण प्रकट होता है।

'शुभ' शब्दका अर्थ है—साधकके द्वारा समस्त जगत्‌के प्रति प्रीति-विधान और सारे जगत्‌का साधकके प्रति अनुराग, समस्त सद्गुणोंका विकास और सुख। सुखके भी तीन भेद हैं—विषयसुख, ब्राह्मसुख और पारमैश्वर-सुख। ये सभी सुख साधन-भक्तिसे प्राप्त हो सकते हैं।

भावभक्तिमें अपने दो गुण हैं—'मोक्षलघुताकृत्' और 'सुदुर्लभा'। इनके अतिरिक्त दो गुण—'क्लेशनाशिनी और शुभदायिनी' साधन-भक्तिके इसमें आ जाते हैं। जैसे आकाशके गुण वायुमें और आकाश तथा वायुके गुण अग्निमें—इस प्रकार अगले-अगले भूतोंमें पिछले-पिछले भूतोंके गुण सहज ही रहते हैं, वैसे ही साधन-भक्तिके गुण भाव-भक्तिमें और साधन-भक्तिके तथा भाव-भक्तिके गुण प्रेमभक्तिमें रहते हैं। इस प्रकार भाव-भक्तिमें कुल चार गुण हो जाते हैं और प्रेमभक्तिमें—'सान्द्रानन्दविशेषात्मा' और 'श्रीकृष्णाकर्षिणी' इन दो अपने गुणोंके सहित कुल छः गुण हो जाते हैं। यह उत्तमा भक्तिके छः गुण हैं।

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

(श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु)

१—क्लेशनाशिनी और २—सुखदायिनीका स्वरूप तो ऊपर बतलाया ही जा चुका है।

३—मोक्षलघुताकृत्‌से तात्पर्य है कि यह भक्ति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सार्ष्टि और सायुज्य—पाँच प्रकारकी मुक्ति)—सबमें तुच्छ बुद्धि पैदा करके सबसे चित्त हटा देती है।

४—सुदुर्लभाका अर्थ है—साम्राज्य, सिद्धि, स्वर्ग, ज्ञान आदि वस्तु विभिन्न साधनोंके द्वारा मिल सकते हैं, उनको भगवान् सहज ही दे देते हैं परन्तु अपनी भाव-भक्तिको भगवान् भी शीघ्र नहीं देते। निष्काम साधनोंके द्वारा भी यह सहजमें नहीं मिलती। यह तो उन्हीं भक्तोंको मिलती है, जो भक्तिके अतिरिक्त मुक्ति-भुक्ति सबका निरादर करके केवल भक्तिके लिये सब कुछ न्यौछावर करके भगवान्‌की कृपापर निर्भर हो रहते हैं।

५—सान्द्रानन्दविशेषात्माका अर्थ है करोड़ों ब्रह्मानन्द भी इस प्रेमामृतमयी भक्ति-सुखसागरके एक कणकी भी तुलनामें नहीं आ सकते। यह अपार और अचिन्त्य प्रेम-सुखसागरमें निमग्न कर देती है।

६—श्रीकृष्णाकर्षिणीका अभिप्राय है कि यह प्रेमभक्ति समस्त प्रियजनोंके साथ श्रीकृष्णको भक्तके वशमें कर देती है।

साधन-भक्ति

पूर्वोक्त साधन-भक्तिके द्वारा भाव और प्रेम साध्य होते हैं। वस्तुतः भाव और प्रेम नित्यसिद्ध वस्तु हैं, ये साध्य हैं ही नहीं। साधनके द्वारा जीवके हृदयमें छिपे हुए भाव और प्रेम प्रकट हो जाते हैं। साधन-भक्ति दो प्रकारकी होती है—१—वैधी और २—रागानुगा।

अनुराग उत्पन्न होनेके पहले जो केवल शास्त्रकी आज्ञा मानकर भजनमें प्रवृत्ति होती है, उसका नाम वैधी भक्ति है। भजनके ६४ अङ्ग होते हैं (इनका वर्णन दूसरे लेखमें देखिये)। जबतक भावकी उत्पत्ति नहीं होती, तभीतक वैधी भक्तिका अधिकार है।

व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर श्रीकृष्णमें जो स्वाभाविकी परमाविष्टता अर्थात् प्रेममयी तृष्णा है उसका नाम है राग। ऐसी रागमयी भक्तिको ही रागात्मिका भक्ति कहते हैं।

रागात्मिका भक्तिके भी दो प्रकार हैं—कामरूपा और सम्बन्धरूपा। जिस भक्तिकी प्रत्येक चेष्टा केवल श्रीकृष्णसुखके लिये ही होती है अर्थात् जिसमें काम प्रेमरूपमें परिणत हो गया है, उसीको कामरूपा रागात्मिका भक्ति कहते हैं। यह प्रख्यात भक्ति केवल श्रीगोपीजनोंमें ही है; उनका यह दिव्य और महान् प्रेम किसी अनिर्वचनीय माधुरीको पाकर उस प्रकारकी लीलाका कारण बनता है, इसीलिये विद्वान् इस प्रेम-विशेषको काम कहा करते हैं।

मैं श्रीकृष्णका पिता हूँ, माता हूँ—इस प्रकारकी बुद्धिका नाम सम्बन्धरूपा रागात्मिका भक्ति है।

इस रागात्मिका भक्तिकी जो अनुगता भक्ति है, उसीका नाम रागानुगा है। रागानुगा भक्तिमें स्मरणका अङ्ग ही प्रधान है।

रागानुगा भी दो प्रकारकी है—कामानुगा और सम्बन्धानुगा। कामरूपा रागात्मिका भक्तिकी अनुगामिनी तृष्णाका नाम कामानुगा भक्ति है। कामानुगाके दो प्रकार हैं—सम्भोगेच्छामयी और तत्तद्भावेच्छात्मा। केलि-सम्बन्धी अभिलाषासे युक्त भक्तिका नाम सम्भोगेच्छामयी है; और यूथेश्वरी व्रजदेवीके भाव और माधुर्यकी प्राप्तिविषयक वासनामयी भक्तिका नाम तत्तद्भावेच्छात्मा है।

श्रीविग्रहके माधुर्यका दर्शन करके या श्रीकृष्णकी मधुर लीलाका स्मरण करके जिनके मनमें उस भावकी कामना जाग उठती है, वे ही उपर्युक्त दोनों प्रकारकी कामानुगा भक्तिके अधिकारी हैं।

जिस भक्तिके द्वारा श्रीकृष्णके साथ पितृत्व-मातृत्व आदि सम्बन्धसूचक चिन्तन होता है और अपने ऊपर उसी भावका आरोप किया जाता है, उसीका नाम सम्बन्धानुगा भक्ति है।

भाव-भक्ति — शुद्ध-सत्त्व-विशेषस्वरूप प्रेमरूपी सूर्यकी किरणके सदृश रुचिकी अर्थात् भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषा, उनके अनुकूलताकी अभिलाषा और उनके सौहार्दकी अभिलाषाके द्वारा चित्तको स्निग्ध करनेवाली जो एक मनोवृत्ति होती है, उसीका नाम भाव है। भावका ही दूसरा नाम रति है। रसकी अवस्थामें इस भावका वर्णन दो प्रकारसे किया जाता है—स्थायिभाव और सञ्चारी-भाव। इनमें स्थायिभाव भी दो प्रकारका है—प्रेमाङ्कुर या भाव और प्रेम। प्रणयादि प्रेमके ही अन्तर्गत हैं। ऊपर जो लक्षण बतलाया गया है, यह प्रेमाङ्कुर नामक भावका ही लक्षण है। नृत्य-गीतादि सारे अनुभाव इसी भावकी चेष्टा या कार्य हैं। इस प्रकारका भाव भगवान्‌की और उनके भक्तोंकी कृपासे ही प्राप्त होता है, किसी दूसरी साधनासे नहीं। तो भी उसे साध्य-भक्ति बतलानेका भी एक विशेष कारण है। साधन-भक्ति भाव-भक्तिका साक्षात् कारण न होनेपर भी उसका परम्परा कारण अवश्य है। साधन-भक्तिकी परिपक्वता होनेपर ही श्रीभगवान्‌की और उनके भक्तोंकी कृपा होती है और उस कृपासे ही भाव-भक्तिका प्रादुर्भाव होता है। निम्नलिखित नौ प्रीतिके अङ्कुर ही इस भावके लक्षण हैं—

१. **क्षान्ति**—धन-पुत्र-मान आदिके नाश, असफलता, निन्दा और व्याधि आदि क्षोभके कारण उपस्थित होनेपर भी चित्तका जरा भी चञ्चल न होना।

२. **अव्यर्थ-कालत्व**—क्षणमात्रका समय भी सांसारिक विषय-कार्योंमें वृथा न बिताकर मन, वाणी, शरीरसे निरन्तर भगवत्सेवासम्बन्धी कार्योंमें लगे रहना।

३. **विरक्ति**—इस लोकके और परलोकके समस्त भोगोंसे स्वाभाविक ही अरुचि।

४. **मानशून्यता**—स्वयं उत्तम आचरण, विचार और स्थितिसे सम्पन्न होनेपर भी मान-सम्मानका सर्वथा त्याग करके अधमका भी सम्मान करना।

५. **आशाबन्ध**—भगवान्‌के और भगवत्प्रेमके प्राप्त होनेकी चित्तमें दृढ़ और बद्धमूल आशा।

६. **समुत्कण्ठा**—अपने अभीष्ट भगवान्‌की प्राप्तिके लिये अत्यन्त प्रबल और अनन्य लालसा।

७. **नाम-गानमें सदा रुचि**—भगवान्‌के मधुर और पवित्र नामका गान करनेकी ऐसी स्वाभाविकी कामना कि जिसके कारण नाम-गान कभी रुकता ही नहीं और एक-एक नाममें अपार आनन्दका बोध होता है।

८. **भगवान्‌के गुण-कथनमें आसक्ति**—दिन-रात भगवान्‌के गुण-गान, भगवान्‌की प्रेममयी लीलाओंका कथन करते रहना और ऐसा न होनेपर बेचैन हो जाना।

९. **भगवान्‌के निवासस्थानमें प्रीति**—भगवान्‌ने जहाँ मधुर लीलाएँ की हैं, जो भूमि भगवान्‌के चरण-स्पर्शसे पवित्र हो चुकी है, वृन्दावनादि—उन्हीं स्थानोंमें रहनेकी प्रेमभरी इच्छा।

जब उपर्युक्त नौ प्रीतिके अङ्कुर दिखलायी दें, तब समझना चाहिये कि भक्तमें श्रीकृष्णके साक्षात्कारकी योग्यता आ गयी है।

उपर्युक्त लक्षण कभी-कभी किसी-किसी अंशमें कर्मी और ज्ञानियोंमें भी देखे जाते हैं; परन्तु वह भगवान्‌में रति नहीं है, रत्याभास है। रत्याभास भी दो प्रकारका होता है—प्रतिबिम्बरत्याभास और छायारत्याभास। गद्गद-भाव और आँसू आदि दो-एक रतिके लक्षण दिखलायी देनेपर भी जहाँ भोगकी और मोक्षकी इच्छा बनी हुई है, वहाँ प्रतिबिम्ब-रत्याभास है; और जहाँ भक्तोंके सङ्गसे कथा-कीर्तनादिके कारण नासमझ मनुष्योंमें भी ऐसे लक्षण दिखलायी देते हैं, वहाँ छायारत्याभास है।

प्रेम-भक्ति — भावकी परिपक्व अवस्थाका नाम प्रेम है। चित्तके सम्पूर्णरूपसे निर्मल और अपने अभीष्ट श्रीभगवान्‌में अतिशय ममता होनेपर ही प्रेमका उदय होता है। किसी भी विघ्नके द्वारा जरा भी न घटना या न बदलना प्रेमका चिह्न है। प्रेम दो प्रकारका है—महिमाज्ञानयुक्त और केवल। विधिमार्गसे चलनेवाले भक्तका प्रेम महिमाज्ञानयुक्त है; और

राग-मार्गपर चलनेवाले भक्तका प्रेम केवल अर्थात् शुद्ध माधुर्यमय है। ममताकी उत्तरोत्तर जितनी ही वृद्धि होती है, प्रेमकी अवस्था भी उत्तरोत्तर वैसी ही बदलती जाती है। प्रेमकी एक ऊँची स्थितिका नाम है स्नेह। स्नेहका चिह्न है, चित्तका द्रवित हो जाना। उससे ऊँची अवस्थाका नाम है राग। रागका चिह्न है, गाढ़ स्नेह। उससे ऊँची अवस्थाका नाम है प्रणय। प्रणयका चिह्न है गाढ़ विश्वास। श्रीकृष्णरति-रूप स्थायिभाव विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भावके साथ मिलकर जब भक्तके हृदयमें आस्वादनके उपयुक्त बन जाता है, तब उसे भक्ति-रस कहते हैं। उपर्युक्त कृष्णरति शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुरके भेदसे पाँच प्रकारकी है। जिसमें और जिसके द्वारा रतिका आस्वादन किया जाता है, उसको विभाव कहते हैं। इनमें जिसमें रति विभावित होती है, उसका नाम है, आलम्बन-विभाव; और जिसके द्वारा रति विभावित होती है, उसका नाम है उद्दीपन-विभाव। आलम्बन विभाव भी दो प्रकारका है—विषयालम्बन और आश्रयालम्बन। जिसके लिये रतिकी प्रवृत्ति होती है, वह विषयालम्बन है, और इस रतिका जो आधार होता है, वह आश्रयालम्बन है। इस श्रीकृष्ण-रतिके विषयालम्बन हैं—श्रीकृष्ण और आश्रयालम्बन हैं—उनके भक्तगण। जिनके द्वारा रतिका उद्दीपन होता है, वे श्रीकृष्णका स्मरण करानेवाली वस्त्रालङ्कारादि वस्तुएँ हैं उद्दीपन-विभाव।

नाचना, भूमिपर लोटना, गाना, जोरसे पुकारना, अङ्ग मोड़ना, हुँकार करना, जँभाई लेना, लम्बे श्वास छोड़ना आदि अनुभावके लक्षण हैं। अनुभाव भी दो प्रकारके हैं—शीत और क्षेपण। गाना, जँभाई लेना आदिको शीत; और नृत्यादिको क्षेपण कहते हैं।

सात्त्विक भाव आठ हैं—स्तम्भ (जड़ता), स्वेद (पसीना), रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय (मूर्छा)। ये सात्त्विक भाव स्निग्ध, दिग्ध और रूक्ष भेदसे तीन प्रकारके हैं। इनमें स्निग्ध सात्त्विकके दो भेद हैं—मुख्य और गौण। साक्षात् श्रीकृष्णके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाला स्निग्ध सात्त्विक भाव मुख्य है और परम्परासे अर्थात् किञ्चित् व्यवधानसे श्रीकृष्णके सम्बन्धमें उत्पन्न होनेवाला स्निग्ध-सात्त्विक भाव गौण है। स्निग्ध-सात्त्विक भाव नित्यसिद्ध भक्तोंमें ही होता है। जातरति अर्थात् जिनमें प्रेम उत्पन्न हो गया है—उन भक्तोंके सात्त्विक भावको दिग्ध भाव कहते हैं और अजातरति अर्थात् जिसमें प्रेम उत्पन्न नहीं हुआ है, ऐसे मनुष्यमें कभी आनन्द-विस्मयादिके द्वारा उत्पन्न होनेवाले भावको रूक्ष भाव कहा जाता है।

ये सब भाव भी पाँच प्रकारके होते हैं—धूमायित, ज्वलित, दीप्त, उद्दीप्त और सुदीप्त। बहुत ही प्रकट, परन्तु गुप्त रखने योग्य एक या दो सात्त्विक भावोंका नाम धूमायित है। एक ही समय उत्पन्न होनेवाले दो-तीन भावोंका नाम ज्वलित है। ज्वलित भावको भी बड़े कष्टसे गुप्त रक्खा जा सकता है। बढ़े हुए और एक ही साथ उत्पन्न होनेवाले तीन-चार या पाँच सात्त्विक भावोंका नाम दीप्त है, यह दीप्त भाव छिपाकर नहीं रक्खा जा सकता। अत्यन्त उत्कर्षको प्राप्त एक ही साथ उदय होनेवाले छः, सात या आठ भावोंका नाम उद्दीप्त है। यह उद्दीप्त भाव ही महाभावमें सुदीप्त हो जाता है।

इसके अतिरिक्त रत्याभासजनित सात्त्विक भाव भी होते हैं, उनके चार प्रकार हैं। मुमुक्षु पुरुषमें उत्पन्न सात्त्विक भावका नाम रत्याभास है। कर्मियों और विषयी जनोंमें उत्पन्न सात्त्विक भावका नाम सत्त्वाभास है। जिनका चित्त सहज ही फिसल जाता है या जो केवल अभ्यासमें लगे हैं, ऐसे व्यक्तियोंमें उत्पन्न सात्त्विक भावको निःसत्त्व कहते हैं। और भगवान्‌में विद्वेष रखनेवाले मनुष्योंमें उत्पन्न सात्त्विक भावको प्रतीप कहा जाता है।

व्यभिचारी भाव ३३ हैं—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मरण, आलस्य, जाड्य, लज्जा, अनुभावगोपन, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, उत्सुकता, उग्रता, अमर्ष, असूया, चपलता, निद्रा, सुप्ति और बोध।

भक्तोंके चित्तके अनुसार इन भावोंके प्रकट होनेमें तारतम्य हुआ करता है। आठ सात्त्विक और तैंतीस व्यभिचारी भावोंकी व्याख्या स्थानाभावसे यहाँ नहीं की जाती है। इन तैंतीस व्यभिचारी भावोंको ही सञ्चारी भाव भी कहते हैं, क्योंकि इन्हींके द्वारा अन्य सारे भावोंकी गतिका सञ्चालन होता है।

अब स्थायिभावकी बात रही। स्थायिभाव सामान्य, स्वच्छ और शान्तादि भेदसे तीन प्रकारका है। किसी रस-निष्ठ भक्तका सङ्ग हुए बिना ही सामान्य भजनकी परिपक्वताके कारण जिनमें एक प्रकारकी सामान्यरति उत्पन्न हो गयी है, उसे सामान्यस्थायिभाव कहते हैं। शान्तादि भक्तोंके सङ्गसे सङ्गके समय जिनके स्वच्छ चित्तमें सङ्गके अनुसार रति उत्पन्न होती है, उस रतिको स्वच्छ स्थायिभाव कहते हैं और पृथक्-पृथक् रस-निष्ठ भक्तोंकी शान्तादि पृथक्-पृथक् रतिका नाम ही शान्तादि स्थायिभाव है। शान्तादि भाव पाँच प्रकारका है—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इनमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तर श्रेष्ठ है। (इन पाँच रसोंका विस्तृत वर्णन पाठकोंको अन्य लेखोंमें देखना चाहिये।) इन पाँच रसोंके अतिरिक्त हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स—ये सात गौण रस और हैं। भगवान्‌का किसी भी रसके द्वारा भजन हो, वह कल्याणकारी ही है, परन्तु साधनके योग्य आदर्श पाँच मुख्य रस हैं।*

साधन-भक्तिके चौसठ अङ्ग

१—श्रीगुरुके चरण-कमलोंका आश्रय-ग्रहण।

२—श्रीगुरुदेवसे श्रीकृष्ण-मन्त्रकी दीक्षा लेकर भगवद्-विषयमें शिक्षा प्राप्त करना।

३—विश्वासके साथ गुरुकी सेवा करना।

४—साधु-महात्माओंके आचरणका अनुसरण करना।

५—भागवतधर्मके सम्बन्धमें विनयपूर्वक प्रश्न करना।

६—श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये भोगादिका त्याग करना।

७—द्वारका, अयोध्या आदि भगवान्‌के लीलाधामोंमें और गङ्गादि तीर्थोंमें रहना।

८—जितने व्यवहारके बिना काम न चले, नियमपूर्वक उतना ही व्यवहार करना।

९—एकादशी, जन्माष्टमी, रामनवमी आदिका उपवास करना।

१०—आँवला, पीपल, तुलसी आदि पवित्र वृक्ष और गौ-ब्राह्मण तथा भक्तोंका सम्मान करना।

ये दस अङ्ग साधन-भक्तिके सहायक हैं; और ग्रहण करने योग्य हैं।

११—भगवद्-विमुख असाधु पुरुषका सङ्ग बिलकुल त्याग कर देना।

१२—अनधिकारीको, प्रलोभन देकर या बलपूर्वक किसीको शिष्य न बनाना, अधिक शिष्य न बनाना।

१३—भगवान्‌के सम्बन्धसे रहित आडम्बरपूर्ण कार्योंका आरम्भ न करना।

१४—बहुत-से ग्रन्थोंका अभ्यास न करना, व्याख्या या तर्क-वितर्क न करना। भगवत्सम्बन्धरहित कलाओंको न सीखना।

१५—व्यवहारमें अनुकूलता न होनेपर दीनता न लाना।

१६—शोक, मोह, क्रोधादिके वश न होना।

१७—किसी भी दूसरे देवता या दूसरे शास्त्रका अपमान न करना।

१८—किसी भी प्राणीको उद्वेग न पहुँचाना।

१९—सेवापराध और नामापराधसे सर्वथा बचे रहना।†

२०—श्रीकृष्ण और श्रीकृष्णके भक्तोंके द्वेष और निन्दा आदिको न सह सकना।

इन दस अङ्गोंके पालन किये बिना साधन-भक्तिका यथार्थ उदय नहीं होता।

२१—वैष्णव-चिह्न धारण करना।

२२—हरिनामाक्षर धारण करना।

२३—निर्माल्य धारण करना।

२४—श्रीभगवान्‌के सामने नृत्य करना।

२५—श्रीभगवान्‌को दण्डवत् प्रणाम करना।

२६—श्रीभगवान्‌की मूर्तिको देखते ही खड़े हो जाना।

---

* यहाँ बहुत ही संक्षेपमें केवल परिचयमात्र दिया गया है। जिनको विशेष जानना हो वे श्रीरूपगोस्वामीरचित 'हरिभक्ति-रसामृतसिन्धु' और 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक संस्कृत ग्रन्थोंका अध्ययन करें। —सम्पादक।

† सेवापराध और नामापराधका वर्णन इसी अङ्कमें दूसरी जगह देखिये।

२७–श्रीभगवान्‌की मूर्तिके आगे-आगे या पीछे-पीछे चलना।

२८–श्रीभगवान्‌के स्थानों अर्थात् उनके धाम और मन्दिरोंमें जाना।

२९–परिक्रमा करना।

३०–श्रीभगवान्‌की पूजा करना।

३१–श्रीभगवान्‌की परिचर्या या सेवा करना।

३२–श्रीभगवान्‌का लीला-सम्बन्धी गान करना।

३३–श्रीभगवान्‌के नाम, गुण और लीला आदिका उच्च स्वरसे कीर्तन करना।

३४–श्रीभगवान्‌के नाम और मन्त्रादिका जप करना।

३५–श्रीभगवान्‌के समीप अपनी दीनता दिखलाकर उनके प्रेमके लिये, सेवा प्राप्त करनेके लिये प्रार्थना करना।

३६–श्रीभगवान्‌की स्तुतियोंका पाठ करना।

३७–महाप्रसादका सेवन करना।

३८–चरणामृत पान करना।

३९–धूप और माला आदिका सुगन्ध ग्रहण करना।

४०–श्रीमूर्तिका दर्शन करना।

४१–श्रीमूर्तिका स्पर्श करना।

४२–आरति और उत्सवादिके दर्शन करना।

४३–श्रीभगवान्‌के नाम-गुण-लीला आदिका श्रवण करना।

४४–श्रीभगवान्‌की कृपाकी ओर निरन्तर देखते रहना।

४५–श्रीभगवान्‌का स्मरण करना।

४६–श्रीभगवान्‌के रूप, गुण, लीला और सेवा आदिका ध्यान करना।

४७–सारे कर्म श्रीभगवान्‌को अर्पण करके अथवा उन्हींके लिये सब कर्म करते हुए भगवान्‌का अनन्य दास बन जाना।

४८–दृढ़ विश्वास और प्रीतिके साथ अपनेको श्रीभगवान्‌का सखा मानना।

४९–श्रीभगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण कर देना।

५०–अपनी उत्तम-से-उत्तम और प्यारी-से-प्यारी सब वस्तुएँ भगवान्‌के प्रति निवेदन कर देना।

५१–भगवान्‌के लिये ही सब चेष्टा करना।

५२–सब प्रकारसे सर्वथा श्रीभगवान्‌के शरण हो जाना।

५३–उनकी तुलसीजीका सेवन करना।

५४–उनके शास्त्रोंका सेवन करना।

५५–उनकी पुरियोंका सेवन करना।

५६–उनके भक्तोंका सेवन करना।

५७–अपने वैभवके अनुसार सज्जनोंके साथ मिलकर भगवान्‌का महोत्सव करना।

५८–कार्तिकके व्रत करना।

५९–जन्म और यात्रा-महोत्सव मनाना।

६०–श्रद्धा और विशेष प्रेमके साथ भगवान्‌के चरण-कमलोंकी सेवा करना।

६१–रसिक भक्तोंके साथ मिलकर श्रीमद्भागवतके अर्थ और रसका आस्वादन करना।

६२–सजातीय और समान आशयवाले, भगवान्‌के रसिक महापुरुषोंका सङ्ग करना।

६३–नाम-सङ्कीर्तन करना

और

६४–व्रज-मण्डलादि मधुर लीलाधामोंमें वास करना।

हरिनाम-उच्चारणका फल

विष्णुदूत कहते हैं—

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा। वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
पतितः स्खलितो भग्नः संदष्टस्तप्त आहतः। हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्॥

(श्रीमद्भा० ६। २। १४–१५)

भगवान्‌का नाम चाहे जैसे लिया जाय, किसी बातका सङ्केत करनेके लिये, हँसी करनेके लिये, रागका अलाप पूरा करनेके लिये, अथवा तिरस्कारपूर्वक ही क्यों न हो, वह सम्पूर्ण पापोंको नाश करनेवाला होता है। पतन होनेपर, गिरनेपर, कुछ टूट जानेपर, डँसे जानेपर, बाह्य या आन्तर ताप होनेपर और घायल होनेपर जो पुरुष विवशतासे भी 'हरि' यह नाम उच्चारण करता है वह यम-यातनाके योग्य नहीं।

सेवापराध और नामापराध

सेवापराध

१–सवारीपर चढ़कर अथवा पैरोंमें खड़ाऊँ पहनकर श्रीभगवान्‌के मन्दिरमें जाना।

२–रथ-यात्रा, जन्माष्टमी आदि उत्सवोंका न करना या उनके दर्शन न करना।

३–श्रीमूर्त्तिके दर्शन करके प्रणाम न करना।

४–अशौच-अवस्थामें दर्शन करना।

५–एक हाथसे प्रणाम करना।

६–परिक्रमा करते समय भगवान्‌के सामने आकर कुछ न घूमकर फिर परिक्रमा करना अथवा केवल सामने ही परिक्रमा करते रहना।

७–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने पैर पसारकर बैठना।

८–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दोनों घुटनोंको ऊँचा करके उनको हाथोंसे लपेटकर बैठ जाना।

९–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने सोना।

१०–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने भोजन करना।

११–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने झूठ बोलना।

१२–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने जोरसे बोलना।

१३–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने आपसमें बातचीत करना।

१४–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने चिल्लाना।

१५–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने कलह करना।

१६–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने किसीको पीड़ा देना।

१७–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने किसीपर अनुग्रह करना।

१८–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने किसीको निष्ठुर वचन बोलना।

१९–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने कम्बलसे सारा शरीर ढक लेना।

२०–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दूसरेकी निन्दा करना।

२१–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दूसरेकी स्तुति करना।

२२–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने अश्लील शब्द बोलना।

२३–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने अधोवायुका त्याग करना।

२४–शक्ति रहते हुए भी गौण अर्थात् सामान्य उपचारोंसे भगवान्‌की सेवा-पूजा करना।

२५–श्रीभगवान्‌को निवेदन किये विना किसी भी वस्तुका खाना-पीना।

२६–जिस ऋतुमें जो फल हो, उसे सबसे पहले श्रीभगवान्‌को न चढ़ाना।

२७–किसी शाक या फलादिके अगले भागको तोड़कर भगवान्‌के व्यञ्जनादिके लिये देना।

२८–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहको पीठ देकर बैठना।

२९–श्रीभगवान्‌के श्रीविग्रहके सामने दूसरे किसीको भी प्रणाम करना।

३०–गुरुदेवकी अभ्यर्थना, कुशल-प्रश्न और उनका स्तवन न करना।

३१–अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करना।

३२–किसी भी देवताकी निन्दा करना।

श्रीवाराह-पुराणमें ३२ सेवापराधोंका वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया गया है—

१–राजाके अन्नका भक्षण करना।

२–अँधेरेमें श्रीविग्रहका स्पर्श करना।

३–नियमोंको न मानकर श्रीविग्रहका स्पर्श करना।

४–बाजा या ताली बजाये विना ही श्रीमन्दिरके द्वारको खोलना।

५–अभक्ष्य वस्तुएँ निवेदन करना।

६–पादुकासहित भगवान्‌के मन्दिरमें जाना।

७–कुत्तेकी जूँठन स्पर्श करना।

८–पूजा करते समय बोलना।

९–पूजा करते समय मलत्यागके लिये जाना।

१०–श्राद्धादि किये विना नया अन्न खाना।

११–गन्ध और पुष्प चढ़ानेके पहले धूप देना।

१२–निषिद्ध पुष्पोंसे भगवान्‌की पूजा करना।

१३–दँतवन किये विना भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा या उनका स्पर्श करना।

१४–स्त्री-सम्भोग करके भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा या उनका स्पर्श करना।

१५–रजस्वला स्त्रीका स्पर्श करके ,, ,,

१६–दीपका स्पर्श करके ,, ,,

१७–मुर्दैका स्पर्श करके ,, ,,

१८–लाल वस्त्र पहनकर ,, ,,

१९–नीला वस्त्र पहनकर ,, ,,

२०–विना धोया हुआ वस्त्र पहनकर भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा या उनका स्पर्श करना ।
२१–दूसरेका वस्त्र पहनकर ,, ,,
२२–मैला वस्त्र पहनकर ,, ,,
२३–शवको देखकर ,, ,,
२४–अधोवायुका त्याग करके ,, ,,
२५–क्रोध करके ,, ,,
२६–श्मशानमें जाकर ,, ,,
२७–खाया हुआ अन्न पचनेसे पहले खाकर ,, ,,
२८–पशुओंका मांस खाकर ,, ,,
२९–पक्षियोंका मांस खाकर ,, ,,
३०–गाँजा आदि मादक द्रव्योंका सेवन करके ,, ,,
३१–कुसुम्भ साग खाकर ,, ,,
और
३२–शरीरमें तैल मलकर ,, ,,

गङ्गास्नान करनेसे, यमुनास्नान करनेसे, भगवान्‌की सेवा करनेसे, प्रतिदिन गीताका पाठ करनेसे, तुलसीके द्वारा श्रीशालग्रामजीकी पूजा करनेसे, द्वादशीके दिन जागरण करके तुलसीका स्तवन करनेसे, भगवान्‌की पूजा करनेसे और भगवान्‌के नामका आश्रय लेकर नाम-कीर्त्तन करनेसे सेवापराध छूट जाता है । भगवान्‌के नामसे सारे अपराधोंकी क्षमा हो जाती है । श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

मम नामानि लोकेऽस्मिन्श्रद्धया यस्तु कीर्त्तयेत् ।
तस्यापराधकोटीस्तु क्षमाम्येव न संशयः ॥

'इस संसारमें जो पुरुष श्रद्धापूर्वक मेरे नामोंका कीर्त्तन करता है, मैं उसके करोड़ों अपराधोंको क्षमा कर देता हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं है ।'

नामापराध

१–सत्पुरुषोंकी निन्दा करना ।
२–शिव और विष्णुके नामोंमें ऊँच-नीचकी कल्पना करना ।
३–गुरुका अपमान करना ।
४–वेदादि शास्त्रोंकी निन्दा करना ।
५–'भगवान्‌के नामकी जो इतनी महिमा कही गयी है, यह केवल स्तुतिमात्र है, असलमें इतनी महिमा नहीं है ।' इस प्रकार भगवान्‌के नाममें अर्थवादकी कल्पना करना ।
६–'भगवान्‌के नामसे पापोंका नाश होता ही है; पाप करके नाम लेनेसे पाप नष्ट हो ही जायँगे, पाप हमारा क्या कर सकते हैं ?' इस प्रकार भगवान्‌के नामका आश्रय लेकर नामके बलपर पाप करना ।
७–यज्ञ, तप, दान, व्रत आदि शुभ कर्मोंको नामके समान मानना ।
८–श्रद्धारहित और सुनना न चाहनेवाले व्यक्तिको उपदेश करना ।
९–नामकी महिमा सुनकर भी नाममें प्रीति न करना । और
१०–'मैं' और 'मेरे'के फेरमें पड़कर विषय-भोगोंमें आसक्त होना ।

ये दस नामापराध हैं । नामापराधसे भी छुटकारा नामके जप-कीर्त्तनसे ही मिलता है ।

नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम् ।
अविश्रान्तप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि च ॥

'नामापराधयुक्त पुरुषोंका पाप नाम ही हरण करता है और निरन्तर कीर्त्तन किये जानेपर वह सारे मनोरथोंको पूरा करता है ।'

जीवोंका परम धर्म क्या है ?

यमराज अपने दूतोंसे कहते हैं—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्मः परः स्मृतः । भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः ॥
नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः । अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यत ॥
एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां सङ्कीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम् ।
विक्रुश्य पुत्रमघवान्यदजामिलोऽपि नारायणेति म्रियमाण इयाय मुक्तिम् ॥

(श्रीमद्भा० ६ । ३ । २२–२४)

इस संसारमें जीवोंका इतना ही परम धर्म है—भगवान्‌के नामोच्चारण आदिके द्वारा भगवान्‌में परमभक्ति करना । हे दूतो ! भगवान्‌के नामोच्चारणकी महिमा साक्षात् आँखोंसे देख लो कि जिससे अजामिल भी मृत्युपाशसे छूट गया । भगवान्‌के गुण, लीला और नामोंका कीर्त्तन, बस, इतना ही जीवोंके पापनाशके लिये पर्याप्त है । क्योंकि पापी अजामिल भी मरते समय 'नारायण' इस नामसे अपने पुत्रको पुकारकर मुक्तिको प्राप्त हुआ । (फिर जो पुण्यात्मा हैं—जीवनमें श्रद्धा-भक्तिसे भगवान्‌का नाम लेते हैं उनका तो कहना ही क्या है !)

अटपटा साधन—प्रेम

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

नातजुरबेकारी[1] से वाइज[2] की हैं ये बातें !
इस रंग को क्या जाने पूछो तो कभी पी है !!
उस मय[3] से नहीं मतलब दिल जिस से है बेगाना !
मक़सूद[4] है उस मय से दिल ही में जो खिंचती है !!

—अकबर

साध्य एक है—साधन अनेक; पर सबसे बड़ी कमी है साधकोंकी ! मार्ग बतानेवालोंकी कमी नहीं, कमी है मार्गपर चलनेवालोंकी । नेता और उपदेशकोंका टोटा नहीं, टोटा है तो उनके उपदेशोंको मानकर बताये हुए पथपर चलनेवालोंका । मज़ा तो यह है कि जो मार्ग बताते हैं, वे स्वयं ही उस मार्गपर नहीं चलते । 'आपु न जावे सासुरे औरन को सिख देइ !' वाली मसल है । भगवद्भक्तिके मार्गका भी ऐसा ही हाल है । इस ओर भी धर्मोपदेशकोंकी कमी नहीं । साधन बतानेवालोंका टोटा नहीं । और फिर भारतकी तो बात ही क्या कही जाय । यहाँकी तो गली-गलीमें वेदान्त बिखरा पड़ा है । यहाँके वज्रमूर्ख भी जगत्‌की नश्वरता, आत्माकी अमरता और भोगोंकी अस्थिरतापर घंटों विवाद कर सकते हैं । आजके इन उपदेशकोंकी भीड़में तुलसी और कबीर, मीरा और सूरदास, नरसी और रैदास, चैतन्य और नामदेव, रामकृष्ण और रामतीर्थ, विवेकानन्द और अरविन्द-जैसे साधक कितने हैं ? अरे, दालमें नमक बराबर भी तो नहीं । और वास्तवमें बात तो यह है कि सच्चे साधक तो उपदेश और प्रचारसे सर्वथा परे रहते हैं । यह दूसरी बात है कि उनके मुखोंसे यदा-कदा निकली पावन वाणीका लोग इस कार्यके लिये उपयोग कर लें; पर वे स्वतः इसके लिये सचेष्ट रहते हों, ऐसा प्रायः देखनेमें नहीं आता । कहा ही है कि—

जो जानै सो कहै नहिं, कहै सो जानै नाहिं ।

अधभरी गगरी ही अधिक छलका करती है, भरी नहीं । प्रेमानन्दमें विभोर रहनेवालोंको, ज्ञानानन्दसे आकण्ठ परिपूर्ण रहनेवालोंको तो यह चिन्ता रहती ही नहीं कि कोई अन्य व्यक्ति जाने कि वे कितने गहरेमें हैं ? उन्हींकी अवस्थाका परिचय देते हुए कबीर कहते हैं—

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले ?
हीरा पायो गाँठ गठियायो ।
बार बार वाको क्यों खोले ॥ १ ॥
हलकी थी तब चढ़ी तराजू ।
पूरी भई तब क्यों तोले ॥ २ ॥
सुरत कलारी भइ मतवारी ।
मदवा पी गई बिन तोले ॥ ३ ॥
हंसा पाये मान सरोवर ।
ताल तलैया क्यों डोले ॥ ४ ॥

पर जो हो, हमारी आध्यात्मिक भूख मिटानेके लिये तो कुछ-न-कुछ चाहिये ही । हमारे अन्तरकी तीव्र पिपासा तो मिटनी ही चाहिये । वह पिपासा एक-दो दिनकी पिपासा तो है नहीं । वह है न जाने कितने जन्म-जन्मान्तरोंकी । सहज ही वह मिट जाय, यह आशा करना तो व्यर्थ ही है । यह अवश्य है कि मृगतृष्णाके जलसे वह कुछ देर बहला भले ही रक्खी जाय । पर ऐसा बहलाना कबतक काम देगा !

अन्तरकी पिपासा जब हमारे भीतर जाग्रत् होती है तो हम व्याकुल हो उठते हैं उसे शान्त करनेके लिये । परन्तु उस समय न तो हमारा जाना हुआ मार्ग होता है और न उस मार्गपर जानेका साधन । उस समय जो लोग हमारे पथ-प्रदर्शकके रूपमें हमारे सम्मुख आते हैं, वे बेचारे स्वयं ही पथ नहीं जानते और इसका अवश्यम्भावी परिणाम यह होता है कि वे आप तो डूबते ही हैं, साथमें हमें भी ले डूबते हैं । हम अन्धकारमें ही टटोलते रह जाते हैं और वर्षोंके परिश्रमके उपरान्त भी अपनेको उसी स्थानपर खड़ा पाते हैं, जहाँसे हमने आगे चलना आरम्भ किया था । कारण ? कारण स्पष्ट है । पहला तो यह कि हमारी पिपासाकी तीव्रतामें कमी और दूसरा उचित साधनका अज्ञान । तीव्रतामें कमी इसलिये कि उसके तीव्र होनेपर व्यर्थ ही इधर-उधर भटकनेकी कम गुंजाइश रहती है और प्रलोभन मार्गमें किसी भाँतिकी बाधा डालनेमें समर्थ नहीं हो पाते और उचित साधनका अज्ञान तो रहता ही है । जब पथ-प्रदर्शक ही पथभ्रान्त हैं तब उचित साधन ही कैसा ! जब वे ही अन्धकारमें टटोल रहे हैं तो हमें प्रकाश कहाँसे मिलेगा !

और फिर, माना कि हमारी आध्यात्मिक भूख भली

१. अनुभवहीनता, २. उपदेशक, ३. शराब, ४. लक्ष्य, उद्देश्य ।

प्रकार जाग्रत् हो पड़ी है और हमें साधन भी ज्ञात हो गया है, तथा हम उसपर चलने लगे हैं। किन्तु जब हम देखते हैं कि इस मार्गपर चलते हमें इतना समय बीत गया और कुछ भी सिद्धि नहीं मिली तो हमारी साधनपरसे श्रद्धा विचलित हो उठती है और बस, हम गिर जाते हैं। हम सर्वथा भूल बैठते हैं, कि—

साधनाये सिद्धि लाभ एके दिन नाहिं हय,
श्रमेर साफल्य आछे ये जगते सुनिश्चय।
सुदिन होले आगत पूर्ण हबे मनोरथ,
सद्यः जात तरु शाखा फुटे ना कुसुमभार।
समये दिबेन प्रभु श्रम योग्य पुरस्कार॥

समय आनेपर श्रमका पुरस्कार मिलेगा ही। अतः साधनाके पथमें हताश होनेकी बात होती ही नहीं, परन्तु हम तो चाहते हैं कि हमें आनन-फानन फल मिले। थोड़ा-सा भी विलम्ब न लगे। भाँति-भाँतिके प्रलोभन भी आकर हमारा मार्ग रोकने लगते हैं और हम इस मार्गकी बाधाओंसे अनभिज्ञ होनेके कारण उनपर विजय न प्राप्त कर पथ-भ्रान्त हो जाते हैं।

योग, यज्ञ, तप, व्रत, दान, होम आदि-आदि न जाने कितने साधन हैं प्रभु-प्राप्तिके। सभीके द्वारा भक्त और ज्ञानी उनके सन्निकट पहुँचे हैं। भक्तोंकी पावन गाथाएँ पुकार-पुकारकर इसकी दुहाई पीट रही हैं, परन्तु आज हम इन सब साधनोंको अत्यन्त ही कष्टसाध्य पाते हैं। दूरकी बात ही क्यों, समीपकी ही ले लीजिये। कोई छोटा-मोटा पाठ या अनुष्ठान आरम्भ करते ही न जानें कितनी झंझटें हमारे सम्मुख आ उपस्थित होती हैं। फलस्वरूप हम या तो उन्हें अधूरा छोड़कर बैठ रहते हैं और यदि पूरा भी करते हैं तो ऐसे मानो इतना सबक हमें किसी-न-किसी तरह दोहरा ही जाना है। भला, कहीं इस प्रकारसे भगवत्प्राप्ति हुआ करती है? कौड़ी देकर कहीं हीरा खरीदा जाता है? उस सच्चे पारखीकी भी आँखोंमें किसी भाँति धूल झोंकी जा सकती है? इस तरह यदि बेगार काटनेसे चला करता या तोते-जैसे पाठसे अनुपम फलकी प्राप्ति हुआ करती तो जगन्नियन्ताको और किसी नामसे भले ही पुकार लिया जा सकता था, उसे न्यायकारी और कर्मानुसार फल देनेवाला तो कभी भी न कहा जाता। वह न्यायाधीश ही कब कहला सकता है जिसके दरबारमें अन्याय होता है! यह सब सोचकर यही जीमें आता है कि कोई साधन ऐसा होता जो कष्टसाध्य भी न होता और उससे अपना मतलब भी हल हो जाता। परेशानी भी न होती और काम भी चलता। तमाम तूमार भी न बाँधना होता और उद्देश्यमें सफलता भी प्राप्त होती।

हताश होनेकी बात नहीं। सच्चे साधकोंने ऐसा मार्ग भी खोज निकाला है। उस मार्गका नाम है—प्रेम। सरल-से सरल होनेपर भी वह बड़ा ही अटपटा मार्ग है।

इस मार्गके कुछ पथिकोंका अनुभव भी सुन लीजिये। एक साहब फरमा रहे हैं—

कूचए इश्कमें 'अहसान' सँभलकर चलना,
हजरते खिज्र भी भूले हैं ठिकाना अपना!

दूसरे साहब कहते हैं—

इश्ककी चोट कलेजे पै न खाये कोई,
जान से जाये मगर दिल न लगाये कोई!

तीसरे साहबका अनुभव है—

अल्लाह इश्क भी है कोई ऐसी मासियत,
एक आग सी लगी है दिले बेकरार में।

चौथे साहबका कहना है—

ये वो शै है कि न बात इसमें करे,
संखिया खाके मरे, इस को जबां पर न धरे!

हमारे बोधा कवि भी ऐसा ही कुछ गुनगुना रहे हैं—

यह प्रेम को पंथ कराल महा, तलवार की धार पै धावनो है।

कुछ औरोंकी बानगी इस प्रकार है—

सीस काटिके भुँइ धरै ता पर राखे पाँव।
इश्क चमन के बीचमें ऐसा हो तो आव॥
प्रेम पंथ अति ही कठिन सब पै निबहत नाहिं।
चढ़िबो मोम तुरंग पै चलिबो पावक माहिं॥
'नारायण' प्रीतम निकट सोई पहुँचनहार।
गेंद बनावे सीस की खेलै बीच बजार॥

यह सब होनेपर भी अनुभवियोंका यही कहना है कि—

प्रेम बराबर योग नहिं, प्रेम बराबर ध्यान।
प्रेम भक्ति बिन साधना, सब ही थोथा ज्ञान॥

प्रेम-पथकी गहनता, गुरुता और गम्भीरताको स्वीकार करते हुए भी प्रेमीलोग इस बातके क़ायल हैं कि चाहे कुछ क्यों न हो जाय पर किया तो प्रेम ही जाय! उनका तो बार-बार यही कहना है कि—

कोई लज्जत नहीं है फिर भी दुनिया जान देती है,
खुदा जाने मुहब्बतमें मजा होता तो क्या होता !

पर उनका ऐसा कहना भी अर्थ रखता है और वह यह कि मुहब्बत वास्तवमें बड़ी ही मजेदार चीज़ है। उसमें मज़ा है और इतना गहरा मज़ा है कि सारी दुनिया उसके पीछे पागल बनी फिरती है। जिधर देखिये उधर ही प्रेमका राग छिड़ा है। प्रेमकी महिमा अपार और अनन्त है। उसकी एक छोटी-सी भी झाँकी हमारा मन मुग्ध कर लेती है और हमें बरबस उसकी अलौकिक सत्ताको स्वीकार कर लेना पड़ता है। माताके कलेजेका रक्त बच्चेके लिये श्वेत दूधके रूपमें परिवर्तित हो जाता है, क्यों—कभी सोचा है ? शायद नहीं। यह उसके अन्तस्तलका प्रेम ही है जिसके कारण ऐसा होता है। एक-दो नहीं सैकड़ों ऐसे उदाहरण प्रतिदिन हमारे नेत्रोंके सम्मुखसे निकलते हैं जो प्रेमकी महिमाको हमारे सामने स्पष्ट कर जाते हैं और हमसे पुकार-पुकारकर कहते हैं—मूर्ख ! तू भी प्रेमका दीवाना बन। जीवनका एकमात्र सार प्रेममें ही है। निष्प्रेम रहकर तेरे जीवनका कोई मूल्य ही नहीं। तेरे हृदयमें यदि प्रेम न होगा तो तुझे कोई कौड़ी-मोल भी न पूछेगा। और सचमुच, इस जगत्‌में है ही ऐसा कौन जो प्रेमकी सत्ताको स्वीकार न करे ? लौकिक प्रेम ही जब इतना मनमुग्धकर है तब पारलौकिककी तो बात ही क्या कही जाय ? जिस प्रेममें वासनाका थोड़ा-सा भी पुट रहता है वह निकृष्ट श्रेणीका प्रेम समझा जाता है। उसमें वह मज़ा नहीं रहता जो सच्चे प्रेममें रहना चाहिये। पर सच्चे प्रेमके तो दर्शन भी दुर्लभ हैं। हम लौकिक प्रेमसे ही पारलौकिक प्रेमके आनन्दकी कल्पना कर सकते हैं। और उसके लिये इतना सोच लेना ही यथेष्ट है कि उसकी बदौलत सब कुछ सम्भव है। इतनेमें ही सब कुछ आ जाता है। प्रभुके चरणारविन्दोंतक पहुँचनेके लिये योगी और यति, महात्मा और ऋषि अनन्तकालीन साधनामें निरत रहे और उन्हें प्राप्त करना अत्यन्त ही दुरूह बताते रहे, परन्तु आँखें तो तब खुलीं जब देखा कि अरे, वही प्रभु जिसके लिये हम ऐसा कहते हैं—

ताहि अहीरकी छोहरियाँ छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।

फिर तो उन्हें झख मारकर स्वीकार करना पड़ा कि—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यो पुरानन गायन, वेद रिचा पढ़ी चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो न कहूँ कबहूँ वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
ढूँढत ढूँढ़ि फिर्‌यो 'रसखानि' बतायो न लोग लुगायन।
देख्यो, दुर्‌यो वह कुंज कुटीरन, बैठ्यो पलोटत राधिका पायन॥

देखा आपने ? हज़रत मिले भी तो कहाँ ? और जनाब ड्यूटी कौन सी अदा कर रहे थे ! श्रीमती राधारानीकी चरणसेवामें तल्लीन थे ! है न ये चक्करमें डाल देनेवाली बात ! अरे, वे बेचारे तो टापते ही रह गये जो बरसोंसे जप, तप, नियम, उपवासमें लगे थे और बाज़ी मार ले गयीं राधारानी ! राधारानीमें ऐसे कौन-से सुरखाबके पर लगे थे कि श्रीमान्‌जी उनकी तरफ तो इतने झुक गये कि पैर पलोटने लगे और इन लोगोंसे सीधे मुँह बात करना तो दर किनार एक बार अपनी झाँकीतक न दिखायी ? है न सरासर अन्धेर—परन्तु बात तो यह है कि—

हम आह भी करते हैं तो हो जाते हैं बदनाम,
वह जुल्म भी करते हैं तो चरचा नहीं होती !

उनकी दयादृष्टि जिसपर पड़ जाय उसके सौभाग्यका क्या कहना ! और यह दयादृष्टि डालना एकबारगी ही उनकी मर्जीपर है। जिसे चाहें निहाल कर दें और जिससे चाहें मुँह फेर लें। ऐसा सोचकर हम उन्हें मनमौजी भले ही कह लें, परन्तु वास्तवमें बात यह है कि प्रेम-अस्त्रके सामने उनकी भी कोई दाल नहीं गलती। और सारे अस्त्र निरर्थक हो जाते हैं, परन्तु प्रेम-अस्त्रका वार चूक जाय—यह असम्भव है। और उसके बलपर श्रीमान्‌जीसे चाहे जैसा ठुमका नाच नचवा लीजिये। बिना किसी नानु-नच्चके आप सब कुछ करनेको तैयार हो जायँगे। तभी तो इसीकी बदौलत—

वेद भेद जाने नहीं नेति नेति कहैं बैन।
ता मोहन पै राधिका कहै महाबर दैन॥

शायद आप पूछ बैठें कि यह प्रेम मिले कैसे ? इस साधनको उपलब्ध करनेका उपाय क्या है तो उसके लिये ग़ालिब साहब साफ कह गये हैं कि—

इश्क पर जोर नहीं है ये वो आतिश 'ग़ालिब',
जो लगाये न लगे और बुझाये न बुझे !

यह आग तो दिलमें अपने आप पैदा होती है। है तो सभीके दिलके भीतर परन्तु उसपर राख पड़ी हुई है—सांसारिक मायामोहकी, अज्ञान और अविद्याकी, विषय-भोगों और भाँति-भाँतिके प्रलोभनोंकी। यह राख फूक दी जाय तो प्रेमका दहकता हुआ अँगारा निकल आये ! फिर तो पूछनेकी भी जरूरत न रहे कि क्या करना है और किधर जाना है। तब तो स्वतः ही प्रेमका यह तीव्र उद्रेक होगा कि सब कुछ भूलकर एकमात्र प्रियतमका ही आठ पहर

चौसठ घड़ी ध्यान रहेगा। उसीका स्मरण होगा और उसी-का चिन्तन। हृदयमें वह तीव्र बेचैनी उत्पन्न हो जायगी जो प्रेमियोंकी एकमात्र बपौती है। उसके आगे तो कुछ कहना रह ही नहीं जाता। वह प्रेमानन्दका अलौकिक आनन्द, वह प्रेम-विह्वलता, वह प्रेमाश्रुओंका अविरल प्रवाह सबके भाग्यमें नहीं होता। उसे प्राप्त तो कोई भी कर सकता है पर सच्चे दिलसे उसके लिये कोई सचेष्ट भी तो हो! सब कुछ भूलकर कोई उस अलबेले प्रियतमको पानेके लिये छटपटाये भी तो। सच्चे दिलसे उसके लिये रोये भी तो! फिर यह हो नहीं सकता कि उसका रुदन व्यर्थ जाय—उसकी पुकार सुनी जायगी और अवश्य सुनी जायगी और—

> बल्दए इश्क सलामत है तो ईशा अल्लाह,
> कच्चे धागेमें चले आयेंगे सरकार बँधे॥

यह ध्रुव सत्य है।

वर्णाश्रमसाधनका तत्त्व

(लेखक—प्रोफेसर श्रीअक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय, एम्० ए०)

अनन्त विषमताओंसे भरे इस प्राकृत जगत्‌में अन्यान्य प्राणियोंकी भाँति ही मनुष्य भी शक्ति, ज्ञान, रुचि और संस्कारोंकी विचित्रताओंको लेकर ही जन्म-ग्रहण करता है। उसके बाहर भी विचित्रता है और अंदर भी विचित्रता है। जागतिक विचित्रताके साथ संयोग-वियोग होनेके कारण उसके जीवनमें भी विचित्रताएँ फूट निकलती हैं। वह अपने अंदर विचित्र अभावोंकी प्रताड़ना, विचित्र प्रयोजनोंकी प्रेरणा, विचित्र भावोंकी लहरियाँ और विचित्र आदर्शोंके आकर्षण-का अनुभव करता है। वह अपने जीवनपथमें जितना ही अग्रसर होता है, उतना ही अपनी व्यक्तिगत विशिष्टता और दूसरोंके साथ अपनी पृथक्‌ताकी उपलब्धि करता रहता है। मनुष्य केवल दूसरे प्राणियोंसे ही अपनी पृथक्‌ताका अनुभव करता हो, इतनी ही बात नहीं है। मनुष्यके साथ भी मनुष्यके असंख्य प्रकारके भेद हैं! उनमें शक्तिका भेद है, बुद्धिका भेद है, स्वार्थका भेद है और अवस्थाका भेद है। इन सब भेदोंके कारण मनुष्योंका परस्पर संघर्ष अनिवार्य हो जाता है। प्रत्येक मनुष्यको मानो अनवरत संग्राम करते हुए ही इस जगत्‌में अपनी जीवन-रक्षा और स्वार्थ-साधन करना पड़ता है।

जो मनुष्य प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्वितामें विशेष दक्ष नहीं है, उसके लिये मानो इस संसारमें आत्मरक्षा करनेका कोई उपाय ही नहीं है। इसीलिये मनुष्यके जीवनपथमें स्वाभाविक ही हिंसा, द्वेष, घृणा और भय आदि अनिवार्यरूपमें प्रकट होते रहते हैं। इसीलिये मानव-जातिमें अशान्तिका कभी अभाव नहीं होता। जिस स्वार्थ-सिद्धिके लिये मनुष्य सदा बैर मोल लेनेको तैयार रहता है, उस स्वार्थका भी प्रतिक्षण नाश होता रहता है। जगत्‌में दुःख और अतृप्तिसे रहित पूर्ण सुखभोग और आत्मतृप्ति किसीको भी नसीब नहीं होती। लगातार युद्ध करने और नये-नये युद्धोंकी तैयारी करनेमें ही जीवन बीत जाता है। इस युद्धके लिये ही मनुष्य सङ्घ बनाता है, भाँति-भाँतिके दाव-पेचोंका जाल फैलाना सीखता है, नये-नये अस्त्र-शस्त्र और कल-कारखानोंका आविष्कार करता है और प्रकृतिकी शक्तियोंपर अधिकार जमाकर उनको भी युद्धके साधन बना लेता है। इसीके परिणामस्वरूप युद्धकी भीषणता क्रमशः बढ़ती ही जाती है। व्यक्तिके साथ व्यक्तिका संग्राम तो चलता ही है; वही और भी भयङ्कर रूप धारण करके जातिके साथ जातिके, सम्प्रदायके साथ सम्प्रदायके और श्रेणीके साथ श्रेणीके युद्धके रूपमें परिणत होकर संसारको श्मशान बना देनेके लिये तैयार हो जाता है। इतना होते हुए भी मनुष्यके प्राण इस वैर-विरोध और संग्रामकी स्थिति-को कभी पसंद नहीं करते। वे सदा-सर्वदा शान्तिके लिये, तृप्तिके लिये, अपने अंदरकी पूर्णताको प्राप्त करनेके लिये और सबके साथ प्रेमका सम्बन्ध जोड़नेके लिये व्याकुल रहते हैं।

मनुष्य जब कभी अपने अन्तरात्माकी ओर देखता है, तभी उसे यह वाणी सुनायी पड़ती है कि 'संग्रामके द्वारा जीवनकी सार्थकता सम्भव नहीं है;—प्रकृतिके द्वारा युद्धके लिये खींचे जानेपर भी युद्धसे छुटकारा पाना ही उसके जीवनका आदर्श है;—प्राकृत जगत्‌में जीवन-संग्राम एक स्वाभाविक विधान होनेपर भी वह इस संग्रामसे ऊपर उठकर शान्तिमय राज्यमें निवास करनेका अधिकारी है।' अन्तरात्माके अंदर यह शान्ति, तृप्ति, समता और प्रेमका आदर्श नित्य निहित है—यही कारण है कि मनुष्यको संग्राम-क्षेत्रमें भी शान्तिके वचन सुनाने पड़ते हैं, हिंसावृत्तिको चरितार्थ करते

समय भी यह घोषणा करनी पड़ती है कि इसमें उसका उद्देश्य शान्ति, प्रेम, न्याय और साम्यकी स्थापना करना ही है। वस्तुतः मनुष्य-जीवनमें अन्तरात्माके आदर्श और बाह्य प्रकृतिकी प्रताड़नामें एक द्वन्द्व—झगड़ा सदासे ही चला आ रहा है। मनुष्यका अन्तरात्मा प्राकृत जगत्‌के इस संग्रामको आत्यन्तिक सत्य माननेके लिये कभी राजी नहीं होता।

मनुष्यके अन्तरात्माका यह दावा है कि मनुष्यको अपनी साधनाके द्वारा सब प्रकारके भेद, द्वन्द्व, कलह और युद्धोंके स्तरको लाँघकर शान्तिमय, सौन्दर्यमय और कल्याणमय अभेद-राज्यमें पहुँचना और वहाँ अपनेको प्रतिष्ठित करना पड़ेगा। भेदमें अभेदकी प्रतिष्ठा, विषमतामें समताकी प्रतिष्ठा, द्वन्द्वमय जगत्‌में शान्तिकी प्रतिष्ठा और मृत्युमय जगत्‌में अमृतत्वकी प्रतिष्ठा—यही मानवात्माका जीवनव्रत है, यही उसकी धर्म-साधना है। ज्ञानमें ऐक्यदर्शन, प्रेममें ऐक्यानुभूति और कर्ममें ऐक्यनिष्ठा,—यही मनुष्यके धर्मानुशीलनका आदर्श है। विचार-बुद्धिके सम्यक् अनुशीलनसे उसको सब प्रकारके भेद और विषमताओंके मूलमें एक अद्वितीय सच्चित् प्रेमानन्दघन परमतत्त्वको प्राप्त करना होगा। प्रेमके सम्यक् अनुशीलनके द्वारा सबके अंदर एक 'सत्य-शिव-सुन्दर' प्राणका अनुभव करके सबके जीवनके साथ अपने जीवनको मिला देना होगा। सबके स्वार्थमें ही अपने यथार्थ स्वार्थका परिचय पाकर अपने वैचित्र्यमय जीवनके समस्त विभागोंकी कर्मधाराको उसी उद्देश्यके अनुकूल बहा देना होगा। इस परम कल्याणमय ऐक्यके आदर्शद्वारा अनुप्राणित होकर सब प्रकारके द्वन्द्व, संघर्ष, हिंसा, द्वेष और अशान्तिके स्तरसे ऊपर मानवजीवनको प्रतिष्ठित करनेका व्रत ही वास्तवमें मनुष्योचित साधना है।

इस जगत्‌में मानव-जीवनको इस प्रकार द्वन्द्वातीत, अमृतमय और शान्तिमय बनानेके लिये जितना अपने देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धिका अनुकूल होना आवश्यक है, उतना ही सामाजिक स्थितिका भी अनुकूल होना अभीष्ट है। समाजके साथ व्यक्तिका अङ्गाङ्गी सम्बन्ध है। समाजसे अलग करके मानव-जीवनपर विचार करना सम्भव नहीं। समाजके सम्पर्कसे ही मनुष्यका परिचय प्राप्त होता है। समष्टिगत जीवनके साथ सम्बन्ध हुए बिना व्यष्टिगत जीवनका कोई परिचय ही नहीं मिल सकता। मनुष्यका जन्म, स्थिति, वृद्धि और परिणाम सब समाजके अंदर ही होता है। समाजसे ही प्रत्येक व्यक्ति अपने देह-धारणके लिये, मनोविकासके लिये और धर्मसाधनाके लिये आवश्यक उपकरण प्राप्त करता है। दूसरी ओर, प्रत्येक व्यक्ति इन सब उपकरणोंका जिस रीतिसे व्यवहार करके अपने-अपने जीवनको नियन्त्रित करता है, समाज-जीवनकी गतिपर ही उसका प्रभाव पड़ता है। जन-साधारणकी जीवन-धाराके लिये बहुत अंशमें समाज जिम्मेवार है। वैसे ही समाजकी विधि-व्यवस्थाके लिये जनसाधारणपर भी कम दायित्व नहीं है। समाजमें जो लोग विशेष बुद्धिमान्, शक्तिसम्पन्न और प्रभावशाली होते हैं, उन्हींके विचार, भाव और कर्मकी धारा सामाजिक विधि-व्यवस्थामें प्रतिफलित हुआ करती है। मानव-समाजके श्रेष्ठ विद्वानोंके चित्तमें यह समस्या सदा ही बनी रहती है कि—समाजकी सङ्गठन-विधि और रीति-नीति कैसी बनायी जाय जिससे मनुष्यके अन्तरात्माका मनोरथ समाजके द्वारा पूर्णरूपसे सिद्ध हो सके? व्यष्टिके साथ समष्टिका, व्यक्तिके साथ परिवारका, श्रेणीके साथ जातिका, श्रेणीके साथ श्रेणीका और राष्ट्रका सम्बन्ध किस प्रकारका हो, जिससे द्वन्द्व, कलह, ईर्ष्या, घृणा और द्वेषके सारे कारण यथासम्भव दूर हो जायँ और समग्र मानव-समाजमें एकप्राणताकी प्रतिष्ठा हो? सामाजिक जीवन-प्रवाहको किस प्रकारके आदर्शद्वारा अनुप्राणित किया जाय और वह आदर्श किस प्रकारके आचरण और कर्मोंके अंदर स्थापित किया जाय, जिससे प्रत्येक नर-नारी मानव-जीवनके महान् व्रतके सम्बन्धमें सदा-सर्वदा सजग रहे और उसका ज्ञान, प्रेम, कर्म, स्वाभाविक ही तद्भाव-भावित होकर ही परम कल्याणकी ओर अग्रसर हो? मनुष्यके साथ मनुष्यके नाना प्रकारके भेद और विषमताओंके होनेपर भी, मनुष्यकी शक्ति और ज्ञानमें तारतम्य होनेपर भी, कर्मक्षेत्रकी विभिन्नता और प्रयोजनोंकी विलक्षणता होनेपर भी, किस उपायसे मनुष्यके साथ मनुष्यके प्राण मिलाये जा सकते हैं, किस उपायसे रुचि, प्रकृति, शक्ति आदिके भेदसे युक्त पृथक्-पृथक् आवश्यकताओंसे प्रेरित मनुष्य परस्पर प्रेमकी डोरीसे बँधकर शान्तिपूर्वक सभी अपने-अपने जीवन-विकासके मार्गपर अग्रसर हो सकते हैं, मानव-समाजके सामने यह एक सनातन समस्या है।

भारतीय साधनाके क्षेत्रमें जो वर्णाश्रमका विधान है, वह इसी जटिल समस्याको सुलझानेकी एक महान् चेष्टा है। लाखों वर्षोंसे इस वर्णाश्रमविधानने भारतीय समाजके सभी एक-से-एक विलक्षण श्रेणीके नर-नारियोंमें एक महान् समन्वयकी स्थापना करके उनके मनुष्योचित साधनाके मार्गको

प्रशस्त कर रक्खा है। समस्त मानव-समाजके लिये यह विधान परम आदर्श है। समाज-नीतिकी दृष्टिसे भी इस विधानके अंदर छिपा हुआ तत्त्व विशेषरूपसे देखने योग्य है।

मनुष्योंमें परस्पर असंख्य प्रकारके भेद हैं और उनका रहना अनिवार्य है। इन सब भेदोंके अंदरसे ही अभेदकी प्रतिष्ठाका मार्ग खोज निकालना होगा। ऐसा किये बिना, समाज सदा अत्यन्त भयंकर संग्राम-क्षेत्र ही बना रहेगा। इस अभेदकी प्रतिष्ठा कैसे हो? मनुष्योंमें जहाँ-जहाँ भेद अवश्यम्भावी है, वहाँ-वहाँ उस भेदको स्वीकार कर लेनेकी मनोवृत्तिका जनसाधारणके चित्तमें विकास होना आवश्यक है; नहीं तो सभी जगह प्रतियोगिता, प्रतिद्वन्द्विता, संघर्ष, संग्राम, असन्तोष और अशान्ति बनी ही रहेगी। परन्तु ऐसी मनोवृत्ति यदि उपायहीनता और निराशाकी अनुभूतिसे उत्पन्न हो तो उससे मनुष्योचित जीवन-विकासके मार्गमें बाधा ही होगी। समाजकी जो व्यवस्था सभी नर-नारियोंको उनके जीवनकी सम्पूर्ण सार्थकताके मार्गपर बढ़ानेमें सहायक न हो, उस व्यवस्थासे उपर्युक्त समस्याका समाधान कभी नहीं हो सकता। समाजकी व्यवस्था तो ऐसी होनी चाहिये कि जिससे प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक श्रेणी सन्तुष्ट-मनसे अनिवार्य भेदोंको स्वीकार कर ले और साथ ही प्रत्येकके मनमें अपनी-अपनी अवस्था, शक्ति और तदनुरूप कर्म और साधनामें गौरवका भाव जाग्रत् रहे। प्रत्येक मनुष्यके सामने एक ऐसा मूर्तिमान् सजीव आदर्श रहना चाहिये कि जिससे अपने-अपने अधिकारके अनुसार प्राप्त कर्तव्य-कर्मोंका स्वेच्छापूर्वक प्रेमके साथ सम्पादन करते हुए अपनेको समाजका एक गौरवपूर्ण अङ्ग समझे और उसीको मनुष्यत्वके विकासका साधन मानकर जीवनके व्रतके रूपमें ग्रहण करनेको उत्साहित हो।

मनुष्यके साथ मनुष्यके जितने भी सङ्घर्ष होते हैं, सभी उसकी देह, इन्द्रिय और मनकी आकांक्षा तथा आवश्यकताके क्षेत्रमें होते हैं। प्रत्येक मनुष्यको अन्न, वस्त्र, घर और धनकी आवश्यकता है। प्रत्येक मनुष्यके मनमें सुख, ऐश्वर्य, प्रभाव, मान-सम्मानकी आकांक्षा है और इसी क्षेत्रमें एकका स्वार्थ दूसरेके स्वार्थके साथ टकराता है। यदि अन्न-वस्त्रादिकी वृद्धि और सुख-सम्पत्ति तथा स्वामित्वकी स्थापनाको ही मानव-साधनाके क्षेत्रमें एक श्रेष्ठ आदर्श मान लिया जाय तब तो मानव-समाजमें स्वार्थका विरोध, व्यक्तिगत और श्रेणीगत संग्राम और उसके फलस्वरूप आधिभौतिक उन्नतिके साथ-ही-साथ दुःखदायी अशान्तिका भोग भी अवश्यम्भावी है। बाह्य सम्पत्तिके आदर्शको नींव बनाकर जिस समाज-मन्दिरका निर्माण होगा, उसमें प्रारम्भमें आर्थिक उन्नति, राष्ट्रीय प्रभावकी वृद्धि हो सकती है, जड़-जगत्सम्बन्धी ज्ञान-विज्ञानकी उन्नति भी हो सकती है; परन्तु ये सब उन्नतियाँ होती हैं व्यक्तिके साथ व्यक्तिकी, सम्प्रदायके साथ सम्प्रदायकी और जातिके साथ जातिकी प्रतियोगिता, प्रतिद्वन्द्विता, सङ्घर्ष और संग्रामके द्वारा ही। इसीलिये यह उन्नति जन-साधारणकी नहीं होती; कुछ लोग जो बुद्धि-शक्ति, कल्पना-शक्ति, संघटन-शक्ति और निर्माण-शक्तिमें बढ़े हुए होते हैं, वस्तुतः उन्हींकी होती है, धन-सम्पत्ति और प्रभुत्वपर उन्हींका अधिकार होता है; और जो बलहीन तथा अपेक्षाकृत बुद्धिहीन होते हैं, वे अपनेको उनकी गुलामीमें लगाकर—उन्हींके स्वार्थ-साधनके उपकरण बनकर उन्हींके दिये हुए टुकड़ोंपर जीवन-निर्वाह करनेको बाध्य होते हैं! इधर वे शक्तिशाली प्रभुश्रेणीके लोग भी सदा एक-दूसरेके भयसे सशङ्कित रहते हैं, सुखकी सामग्रियोंका ढेर होनेपर भी उनके जीवनमें सुख-शान्ति कभी नसीब नहीं होती। मानव-समाजकी सभ्यता ही संग्रामात्मिका हो उठती है। संग्राममें कुशलता ही सभ्यताका लक्षण होता है। इस सभ्यतामें कोई प्राणी, कोई व्यक्ति, कोई श्रेणी और कोई भी जाति दीर्घकालतक ऐश्वर्य और प्रभुत्वका भोग नहीं कर सकती। ऐश्वर्य और प्रभुत्व दोनों ही लगातार एकसे दूसरेके हाथमें जाते रहते हैं। जब जिनके हाथमें ये ऐश्वर्य और प्रभुत्व होते हैं, तब उनको आत्मरक्षाके लिये ही व्यस्त रहना पड़ता है। जन-साधारणके सुख और कल्याणके लिये उनका उतना-सा ही धन या प्रभाव खर्च होता है, जितनेकी उनके अपने स्वार्थसाधनके लिये आवश्यकता होती है—आत्मरक्षाके लिये प्रयोजन होता है। समाज उन्हें त्यागके लिये—सेवाके निमित्त स्वार्थत्याग करनेके लिये किसी प्रकार भी प्रेरणा नहीं कर सकता। 'त्याग और सेवाके अंदर ही उनका यथार्थ स्वार्थ निहित है'—यह बतलानेका समाजके पास कोई साधन नहीं होता, क्योंकि समाजका आदर्श वैसा नहीं होता, उसका तो संगठन ही हुआ है बाह्य सम्पत्तिके आदर्शको लेकर। बाह्य सम्पत्तिको आदर्श माननेवाले समाजमें शान्तिकी कोई सम्भावना नहीं है, साम्यके स्थापनकी कोई योग्यता नहीं है, संघर्षके दूर करनेका कोई उपाय नहीं है और मानवताकी महान् उन्नतिके लिये कोई प्रेरणा नहीं है। यहाँ संग्रामके बाद संग्राम और विप्लवके बाद विप्लव अनिवार्य है। मनुष्यके अन्तरात्माका यह आर्त्तनाद इस प्रकारके समाजमें कभी-कभी कवियों, दार्शनिकों और

धार्मिकोंकी वाणीसे प्रकट होता रहता है, परन्तु सामाजिक जीवनमें अन्तरात्माके इस दुःखको मिटानेके लिये कोई उपाय नहीं दिखायी पड़ता। इसी सभ्यताका परिणाम है कि आज सारे भूमण्डलपर सभी एक-दूसरेके भयसे काँप रहे हैं और भोगोंके उपकरणोंकी बहुलता होनेपर भी चारों ओर त्राहि-त्राहि मची हुई है!

मानवसमाजको यथार्थ मानवताके विकासके योग्य और साम्य, शान्ति तथा सौन्दर्यका भाण्डार बनानेके लिये, एक ऐसे आदर्शको केन्द्र बनाकर समाजकी व्यवस्था और नियन्त्रण करनेकी आवश्यकता है, जो आदर्श मनुष्यकी स्वाभाविक सुख-सम्पत्ति और प्रभुत्वकी आकांक्षाके ऊपर राज्य करनेमें स्वयं समर्थ हो, जिस आदर्शके सामने मनुष्यकी यह सुख-सम्पत्ति और प्रभुताकी स्पृहा अपने-आप ही सिर झुकाकर गौरवका बोध कर सके, जो आदर्श मनुष्यकी अन्तरात्माके आदेशको बाह्य जीवनके आदेशका शक्तिसम्पन्न नियमन करनेवाला बनाकर खड़ा कर सके। जिस समाज-विधानसे मनुष्यकी आधिभौतिक आवश्यकताएँ आध्यात्मिक आदर्शके द्वारा संयमित होती हैं, काम और अर्थ धर्मके द्वारा अनुशासित होते हैं, आत्मिक उन्नतिके तारतम्यके द्वारा सामाजिक मर्यादाका निरूपण होता है, ज्ञान, प्रेम, त्याग और तपस्याका स्थान सुख-सम्भोग, धन-सम्पत्ति और प्रभुत्वके बहुत ऊपर माना जाता है,—वस्तुतः उसी समाजविधानके द्वारा मानव-समाजमें अनन्त प्रकारकी विषमताओंके रहते भी सच्चे साम्यकी स्थापना सम्भव है, प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विताके क्षेत्रमें भी सहयोगिता और समप्राणताकी प्रतिष्ठा सम्भव है और अशान्तिके कारणरूप अनेकों प्राकृतिक नियमोंके रहते हुए भी शान्तिकी स्थापना सम्भव है। भारतीय ऋषियोंने वर्णाश्रम-व्यवस्थामें इसी आदर्शकी स्थापना की है और हजारों-हजारों वर्षोंसे इसी व्यवस्थाके द्वारा नियन्त्रित होकर भारतीय जीवन-धारा कल्याण और शान्तिके मार्गपर प्रवाहित होती आ रही है।

वर्णाश्रम-विधानमें मुख्य ध्यान देने योग्य विषय यह है कि इसमें समाजके सर्वोच्च स्थानपर प्रतिष्ठित किया गया है ब्राह्मण और संन्यासीको। ब्राह्मण और संन्यासी सभी वर्णों और आश्रमोंके आदर्श माने जाते हैं। सभी विभागोंके सभी नर-नारी ब्राह्मण और संन्यासीके अनुशासनके अनुसार ही अपने कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करते हैं और उन्हींके आचरणको आदर्श मानकर अपने जीवनको नियन्त्रित करते हैं। ब्राह्मण और संन्यासी 'काम' और 'अर्थ' की साधनामें प्रवृत्त नहीं होते; सुख, ऐश्वर्य और प्रभुत्वकी आकांक्षासे प्रेरित होकर कोई कार्य नहीं करते; कृषि-शिल्प-वाणिज्य आदि बाह्य सम्पदाको बढ़ानेवाले उपायोंका अवलम्बन नहीं करते, देशके शासन, संरक्षण और दण्ड-विधानका काम भी अपने हाथमें नहीं लेते और किसीके अधीन होकर नौकरी भी नहीं करते। ये सारे कार्य उनके स्वधर्मसे प्रतिकूल हैं, उनकी मर्यादामें ठेस पहुँचानेवाले हैं। वे होते हैं तत्त्वकी खोज करनेवाले, ज्ञानतपस्वी, सर्वभूतहितमें रत और विश्वप्रेमी। त्याग, सेवा, ज्ञानवितरण और तपश्चर्या ही होते हैं उनके जीवनके व्रत! दरिद्रताका तो वे स्वयं अपनी इच्छासे वरण करते हैं! वे अपनी सारी शक्तिको लगा देते हैं समाजके उत्थान और अपनी संस्कृतिकी उन्नतिमें तथा मनुष्य-जीवनके सर्वश्रेष्ठ आदर्शकी स्थापनामें। इनमें ब्राह्मण गृहस्थ होकर भी, स्त्री-पुत्र-कन्याओंसे घिरे रहकर भी त्याग, सेवा, तपस्या और निःस्वार्थ ज्ञान-दान आदिका आदर्श स्थापित करते हैं। और संन्यासी यह सिद्ध कर देते हैं कि मानव-जीवनकी चरम शान्ति है—सर्वत्यागी और प्राणिमात्रमें समदर्शी होकर ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मध्यान और ब्रह्मानन्द-रसका पान करनेमें। ब्राह्मण और संन्यासी समाजके सभी स्तरोंके नर-नारियोंको इस महान् आदर्शके द्वारा अनुप्राणित करते हैं, इसीलिये समाजमें उनका आसन सबसे ऊपर और सबसे श्रेष्ठ है। उनके देह-पोषणके लिये, शारीरिक जीवननिर्वाहके लिये और उनके तपस्यामय जीवन-व्रतकी अनुकूलताका सम्पादन करनेके लिये जो कुछ भी आवश्यक है, उसका सारा भार समाजने अपने ऊपर ले लिया है। राष्ट्रिय शक्ति और आर्थिक शक्तिके सञ्चालकगण श्रद्धा और सम्मानके साथ उनकी सुविधा और स्वतन्त्रताकी रक्षाके लिये सदा प्रयत्नशील रहते हैं और उनके उपदेश तथा उनके जीवनके आदर्शके अनुसार अपनी शक्ति और सम्पत्तिका बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, सर्वभूतहिताय और भगवत्प्रीत्यर्थ प्रयोग करके अपने आन्तरिक जीवनकी कृतार्थताका अनुभव करते हैं। वर्णाश्रम-व्यवस्थाका यही मुख्य स्वरूप है।

बाह्य सम्पत्तिसे उदासीन स्वार्थबुद्धिसे रहित विश्वप्रेमी उन ब्राह्मण और संन्यासियोंके ऊपर ही समाज और राष्ट्रके व्यवस्थापूर्वक सञ्चालनके लिये विधि-निषेधकी रचना करनेका—कायदे-कानून बनानेका भार रहता है। अपना व्यक्तिगत और श्रेणीगत कोई स्वार्थ न रहनेके कारण वे ही सब श्रेणियोंके

प्रतिनिधि होनेकी योग्यता रखते हैं। वे मानवजीवनके चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिकी ओर अविचलित दृष्टि रखते हुए सभी श्रेणियोंके नर-नारियोंके लिये कर्तव्याकर्तव्यका निर्देश करते हैं। राष्ट्रिय शक्तिका व्यवहार किस प्रकार करना चाहिये, किस प्रकार धनको पैदा करना और बाँटना चाहिये,सभी श्रेणीके लोगों-द्वारा अपने-अपने अधिकारानुसार किस प्रकारका कार्य करने-से सारे समाजकी भलाई हो सकती है, अपनी-अपनी सम्पत्ति और शक्तिका किस प्रकार व्यवहार करके मनुष्य परमकल्याण भगवत्प्राप्तिकी ओर अग्रसर हो सकता है,—ब्राह्मण और संन्यासी अपने पक्षपातरहित सुनिपुण विचारद्वारा इन सब बातोंका निर्णय करनेमें समर्थ हैं।

ब्राह्मण और संन्यासीको राष्ट्र और समाजके केन्द्रस्थलमें आदर्शरूपमें और सर्वोच्च मर्यादामें प्रतिष्ठित करके समाजका संगठन, राष्ट्रका संगठन और कृषि-शिल्प-वाणिज्यादिका नियन्त्रण करना, यही भारतीय जातिकी विशेषता है और इसीमें भारतकी प्राणशक्ति निहित है। इसी प्राणशक्तिने जाति और समाजके सारे अवयवोंमें सुन्दर सामञ्जस्यकी स्थापना करके सब प्रकारके द्वन्द्व और सङ्घर्षोंको मिटाकर हजारों वर्षोंसे इसकी जीवन-धाराको अक्षुण्ण बना रक्खा है। इसीसे हिंदूजाति जीवित है।

एक बात और विशेष ध्यान देनेकी है, वह है जातिमें राष्ट्रशक्ति और अर्थशक्तिका—प्रभुत्व और सम्पत्तिका सम्बन्धनिरूपण। हमारी इस वर्णाश्रमव्यवस्थामें जो राष्ट्रशक्ति-के सञ्चालक होते हैं, देशकी शान्तिरक्षा और शक्तिवृद्धिका भार जिनके कन्धोंपर रहता है, जो अन्तर्विप्लव और बाहरी शत्रुओंके आक्रमणसे जाति और समाजकी रक्षा करनेके लिये जिम्मेवार हैं और जो तत्त्वदर्शी दारिद्र्यव्रती सर्वजीवप्रेमी ब्राह्मण और संन्यासियोंके अनुशासनके अनुसार जाति और समाजमें न्यायकी रक्षा करते हुए जातिकी बाह्य सम्पत्ति और अध्यात्मसम्पत्तिका न्यायसङ्गत अधिकार सब श्रेणियोंके नर-नारियोंको देते हैं, वे क्षत्रिय स्वयं अर्थका सेवन नहीं करते, कृषि-शिल्प-वाणिज्यादिको अपने हाथमें नहीं रखते, जाति-की बाह्य सम्पत्तिके उत्पादनमें और उसके बँटवारेमें उनका व्यक्तिगत अथवा श्रेणीगत कोई स्वार्थ नहीं होता। जातिकी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक शक्तिके उत्पन्न करने और बाँटनेका भार जैसे प्रधानतया यज्ञव्रती, त्यागशील, अध्यात्म-कल्याणनिष्ठ ब्राह्मण और संन्यासियोंके हाथमें रहता है, उसी प्रकार जातिकी बाह्य सम्पत्तिके उत्पन्न करने और बाँटनेका भार वैश्योंके हाथमें रहता है। क्षत्रियोंके कन्धोंपर तो देशकी शान्तिरक्षा और शक्तिवृद्धिका भार है। वे जैसे ब्राह्मण और संन्यासियोंसे ज्ञान-विज्ञान और नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शका आहरण करके समाजके सब स्तरोंमें उसका विस्तार करनेकी चेष्टा करते हैं, वैसे ही वैश्योंसे धनका आहरण करके उसके द्वारा समाजके सभी स्तरोंके लोगोंका अभाव दूर करते हैं। उनका खजाना जनसाधारण—विशेषतः ब्राह्मण, संन्यासी, दरिद्र, अन्धे, लूले-लँगड़े, रोगी, अपाहिज, बूढ़े-बच्चे और अनाथा विधवा आदिकी सेवाके लिये सदा-सर्वदा खुला रहता है। कहीं दुर्भिक्ष पड़ता है, अकाल पड़ता है तो उसकी जिम्मेवारी उनपर है। कहीं महामारी फैलती है तो वे उसके जिम्मेवार हैं। शत्रुका आक्रमण होनेपर उनपर दायित्व है। अन्तर्विप्लवके लिये वे दायी हैं और एक श्रेणीके द्वारा दूसरी श्रेणीपर अत्याचार होनेपर—बुद्धिमान् और शक्तिशाली व्यक्तियों अथवा श्रेणियोंके द्वारा अपेक्षाकृत बुद्धिहीन और कमजोर मनुष्यों अथवा श्रेणियोंका (उनकी शक्तिहीनताका लाभ उठाकर) शोषण किये जानेपर क्षत्रिय राजा ही जिम्मेवार हैं। देशका अर्थ ही उनका अर्थ है और देशकी शक्ति ही उनकी शक्ति है। वे देशके, जातिके और समाज-के सेवक हैं। इसीलिये ब्राह्मणोंके बाद ही उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे देशमें प्रभुशक्तिका सञ्चालन करते हैं—ब्राह्मण और संन्यासियोंके चरणोंमें सिर झुकाकर! और अर्थशक्तिका सञ्चालन करते हैं—वैश्योंके पाससे जातिके लिये अर्थका संग्रह करके। अतएव प्रभुत्व और अर्थ दोनोंमें ही उनका यथा-सम्भव निर्लिप्त रहना आवश्यक होता है, नहीं तो वे स्वधर्मसे भ्रष्ट हो जाते हैं। प्रभुत्व और अर्थका नियन्त्रण करनेवाले होनेपर भी वे हैं देशके दास और त्यागव्रती।

जैसे राष्ट्रशक्तिका सञ्चालन करनेवाले क्षत्रियोंके लिये अर्थलाभजनक कृषि-शिल्प-वाणिज्यादि स्वधर्मका नाश करने-वाले और मर्यादाको घटानेवाले हैं, वैसे ही कृषि-शिल्प-वाणिज्यादिके द्वारा देशकी अर्थ-सम्पत्तिको बढ़ानेमें लगे हुए वैश्योंके लिये राष्ट्रशक्तिके सञ्चालनका लोभ करना और समाज-के ऊपर प्रभुत्वका दावा करना स्वधर्मसे भ्रष्ट होना है। प्रभुत्व और अर्थ दोनोंमें ही मोह है। समाजकी अर्थ-शक्ति और राष्ट्र-शक्तिके एक ही हाथमें रहनेपर अर्थोपासकोंकी प्रतिद्वन्द्विता राष्ट्रके क्षेत्रमें भी न्याय और धर्मकी सीमा लाँघनेके लिये तैयार हो जाती है। धनके पैदा करने और बाँटनेमें स्वार्थका मोह प्रबल न हो उठे, न्याय और धर्मका आदर्श बड़ी सजगताके

साथ धनके नियामकके पदपर प्रतिष्ठित रह सके, इसीलिये न्याय और धर्मनिष्ठ राष्ट्रशक्ति अर्थकी उपासनामें, धन कमाने-में न लगकर अर्थके ऊपर प्रभुत्व करती है, और न्याय-धर्मके मूर्तिमान् आदर्श ब्राह्मण और संन्यासी राष्ट्रशक्ति और अर्थ-शक्ति (क्षत्रिय और वैश्य) दोनोंके ऊपर प्रभुत्व करते हैं, यही सनातनधर्मकी व्यवस्था है। राष्ट्रशक्ति जब अर्थशक्तिके हाथमें चली जाती है, किसान, कारीगर और वणिक्-समाज जब परस्पर प्रतिद्वन्द्विता करके अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिये राष्ट्रशक्ति-पर अधिकार जमानेको लालायित हो उठते हैं, तभी समाजमें नाना प्रकारकी अशान्तिके कारण उत्पन्न हो जाते हैं और समाज संग्राम-क्षेत्रके रूपमें परिणत हो जाता है। अर्थको नियन्त्रित करनेका अधिकार यदि धर्मको हो और धर्म ही यदि राष्ट्रशक्तिका सञ्चालन करनेवाला होकर अर्थके उत्पादन और विभाजनको नियन्त्रित कर सके तो समाजमें विषमताके अंदर भी समताकी स्थापना हो सकती है, प्रतियोगिताके क्षेत्रमें भी सहयोगिताकी प्रतिष्ठा हो सकती है। अतएव समाजमें अर्थशक्ति-का नियमन करनेके लिये राष्ट्रशक्तिकी और राष्ट्रशक्तिका नियमन करनेके लिये धर्मशक्तिकी स्थापना आवश्यक है। यही वर्णविभागका रहस्य है।

इसके बाद रही जन-साधारणकी बात। जिनमें ज्ञानशक्ति और कर्मशक्तिका भलीभाँति विकास नहीं हुआ है, जो स्वतन्त्र-रूपसे तत्त्वका विचार करनेमें, सारे समाजका कल्याण सोचकर कर्तव्यका निर्णय करनेमें, मनुष्य-जीवनके परम आदर्शको लक्ष्य करके साधनाके क्षेत्रमें अग्रसर होनेमें, स्वतन्त्रताके साथ राष्ट्रशक्ति और अर्थशक्तिका अपने और समाजके कल्याणमें प्रयोग करनेमें यथोचित शक्ति नहीं प्राप्त कर सके हैं, परन्तु जिनकी संख्या समाजमें अधिक है और जिनकी कर्मशक्तिका सुनियन्त्रित और सुव्यवस्थितरूपसे व्यवहार हुए बिना देशमें कृषि-शिल्प-वाणिज्यादिकी उन्नति सम्भव नहीं है, राष्ट्रका निर्विघ्न सञ्चालन सम्भव नहीं है और धर्म-कर्मादिका अनुष्ठान भी सम्भव नहीं है, समाजमें उन्हींकी संज्ञा शूद्र है। संख्याकी दृष्टिसे वे समाजके प्रधान अङ्ग हैं। परन्तु स्वतन्त्ररूपसे अपने-आप ही अपना सञ्चालन करके मनुष्य-जीवनकी सर्वश्रेष्ठ उन्नतिके मार्गपर अग्रसर होनेमें असमर्थ हैं। उनको समाजकी सेवामें लगाकर, उनकी शक्तिके अनुसार उनके लिये कर्तव्य-का विधान कर, आवश्यकतानुसार उनके लिये भोग-सुखकी सुव्यवस्था कर उनके जीवनको उन्नत बनाना उच्च श्रेणीके मनुष्योंका दायित्वपूर्ण कर्तव्य है।

ब्राह्मणोंके यज्ञ-यागादि कर्मोंके अनुष्ठानमें, क्षत्रियोंके राष्ट्र-नियन्त्रण और युद्ध-सञ्चालनादि कार्योंमें तथा वैश्योंके कृषि-शिल्प-वाणिज्यादि व्यापारोंमें, सर्वत्र ही शूद्रोंकी सहायता आवश्यक है। और समाजकी धर्मशक्ति, राष्ट्रशक्ति और अर्थशक्तिके अनुगत होकर समाजकी सेवा करनेमें ही शूद्रोंके जीवनकी सार्थकता है। उच्चतर स्वाधीन-कर्मरत श्रेणियोंके अनुगत होकर, इच्छापूर्वक प्रेमके साथ उनके नेतृत्वको सिर चढ़ाकर, सेवात्मक कर्मके द्वारा अपने जीवनको उन्नत बनाना और सारे समाजका कल्याण करना शूद्रका धर्म है। समाजके सब प्रकारके कल्याणजनक पुण्यकार्योंमें शारीरिक शक्तिका कार्य उन्हींके जिम्मे है। वे ब्राह्मणोंकी अधीनतामें सेवक हैं, क्षत्रियोंकी अधीनतामें सैनिक हैं और वैश्योंकी अधीनतामें किसान तथा कारीगर हैं। आधुनिक समाजमें इन्हींका नाम मजदूर है।

इस प्रकार आर्य ऋषियोंने सारी मानव-जातिको चार भागोंमें बाँटकर उनके कर्म-समन्वयद्वारा समाजका सङ्गठन किया है। इसमें मनुष्यके साथ मनुष्यका जो गुण और शक्ति-का स्वाभाविक भेद है, उसे स्वीकार किया गया है और साथ ही सारे मनुष्योंके समस्त गुणों और शक्तियोंको एक ही आदर्शकी ओर लगाकर सबको समाजके लिये अत्यावश्यक विभिन्न कर्मोंमें नियुक्त कर दिया है। समाजके लिये कल्याण-कारक चतुर्विध कर्मोंके लिये विशेषरूपसे योग्य चतुर्विध गुण-शक्तिविशिष्ट चार प्रधान श्रेणियोंके अतिरिक्त मानव-जातिमें अन्य किसी वर्णका अस्तित्व आर्य ऋषियोंको स्वीकार नहीं है—'पञ्चमो नोपपद्यते'। समग्र समाज एक मूर्तिमान् विराट् पुरुष है। ब्राह्मण उसका वाणीसहित मस्तिष्क है। क्षत्रिय उसका बाहुसमन्वित वक्षःस्थल है। वैश्य उसका नाभिमण्डल-युक्त उदर है और शूद्र उसके चरण या गति-शक्तिस्थानीय हैं। चतुर्वर्णके द्वारा ही सारे अवयवोंसे सम्पन्न विराट् समाज-पुरुषका शरीर बना है। प्रत्येक अवयवमें ही अङ्ग-उपाङ्गोंका भेद स्वाभाविक है। एक ही प्रकारके कर्ममें भी कर्मका वैचित्र्य है और एक-एक प्रकारके कर्ममें वंश-परम्परा-क्रमसे लगे रहनेके कारण एक-एक उपवर्ण या उपजातिका निर्माण हुआ है। इस प्रकार समाजके अंदर कर्मोंकी विचित्रताके कारण विभिन्न विचित्र कर्मोंमें खास-खास योग्यताके अनुसार अनेकों उपजातियोंकी सृष्टि प्राकृतिक नियमसे ही हुई है। कर्म और गुण (अर्थात् कर्मयोग्यता) के अनुसार श्रेणी-वैचित्र्य अस्वाभाविक नहीं है; परन्तु उनमें प्रतिद्वन्द्विता,

सङ्घर्ष, हिंसा, द्वेष और कलह आदि अशान्ति उत्पन्न करनेवाले और परस्पर एक दूसरेका विनाश करनेवाले बुरे भावोंके बदले किस तरहसे सहयोगिता, समन्वय, प्रेम, मैत्री और शान्तिकी स्थापना हो, यही समस्या है। हमारे समाजका सङ्गठन करनेवाले विद्वान् ऋषियोंने इस समस्याका जैसा समाधान किया है, उसकी अपेक्षा किसी उत्तम समाधानकी कल्पना आजतक कहीं नहीं हुई।

इस समस्याके समाधानका आर्य ऋषियोंके मतसे सर्वोत्तम उपाय है कर्मको धर्म-साधनके रूपमें परिणत करके समाजके सभी स्तरोंमें उसका प्रचार करना। कर्मको यदि केवल लौकिक भोग-सुखोंका साधन ही माना जाय, तो कर्मकी अपनी कोई मर्यादा नहीं रह जाती और जिस प्रकारका कर्म जितना ही अधिक, भोग-सुख और धन-सम्पत्तिकी प्राप्तिमें सहायक होता है, उसी प्रकारके कर्मके लिये सबके मनमें लालसा होना और उसके लिये छीना-झपटी और मार-पीट होना अनिवार्य हो जाता है। ऐसे कर्मके फलस्वरूप किसीको भी सच्ची शान्ति और आतङ्कहीन आनन्द प्राप्त नहीं हो सकता। भोगकी अपेक्षा समाजमें कर्मका स्थान ऊँचा रहना आवश्यक है। परन्तु कर्मका कोई उद्देश्य तो होता ही है, मनुष्य कर्म क्यों करे? कर्मका यथार्थ कल्याणप्रद उद्देश्य है अपने जीवनको उन्नत करना, अपने अंदर मनुष्यत्वका परिपूर्ण विकास करना, अपने अन्तरात्माको काम, क्रोध, लोभ, हिंसा, घृणा, भय आदिके बन्धनोंसे मुक्त करके एकान्त असीम आनन्द और शोक-तापादिसे रहित मृत्युभय-विजयी नित्य परिपूर्ण जीवनके योग्य बना देना। वैदिक ऋषियोंने इस प्रकारके दिव्य जीवनको ही 'स्वर्ग' कहा है। 'स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते'। 'कामस्याप्तिर्जगतः प्रतिष्ठा क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम्।' मृत्युके सारे पाशोंसे छूटकर सब प्रकारके शोक, ताप, अभाव, आकांक्षा, द्वन्द्व और अशान्तिकी सम्भावनाका अतिक्रम कर, सर्वसम्पत्तिसम्पन्न अनन्त यौवनमें प्रतिष्ठित होकर, सारे विश्वके प्राणोंके साथ अपने प्राणोंको प्रेमपूर्वक मिलाकर पूर्णानन्दको प्राप्त करना ही मानवीय साधनाका लक्ष्य है।

यह संसार कर्मक्षेत्र है और यह मनुष्यशरीर कर्मशरीर है। इस संसारमें जो मनुष्य जिस प्रकारके शक्ति-सामर्थ्यको लेकर जैसे वायुमण्डलमें जन्म ग्रहण करता है, वह वैसे ही शक्ति-सामर्थ्य और वायुमण्डलके उपयोगी विहित कर्मका सम्पादन करके जीवनमें पूर्णताको प्राप्त कर सकता है—स्वर्गीय जीवनको प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय अपनी शक्ति और अवस्थाके अनुसार विधिपूर्वक अपने-अपने कर्म करके जिस आध्यात्मिक कल्याणको प्राप्त करते हैं, वैश्य और शूद्र भी अपने-अपने कर्तव्य-कर्मका सम्पादन करके उसी आध्यात्मिक कल्याणको प्राप्त कर सकते हैं। एकको दूसरेके कर्मकी ओर ललचायी दृष्टिसे देखनेका कोई भी सङ्गत कारण नहीं है, उद्देश्य ठीक रहे तो अपने-अपने कर्मके द्वारा ही प्रत्येक मनुष्य उस एक ही उद्देश्यतक सुखपूर्वक पहुँच सकता है। हाँ, पूर्व-जन्मार्जित कर्मवश संसारमें लौकिक सुख-सम्पत्तिका न्यूनाधिक होना अवश्यम्भावी है; परन्तु उसका मूल्य ही क्या है? अनन्त आध्यात्मिक सम्पत्तिकी तुलनामें लौकिक सम्पत्ति सर्वथा तुच्छ और क्षणस्थायी है। आध्यात्मिक सम्पत्तिपर सभीका समान अधिकार है और उसका प्राप्त होना अपनी-अपनी शक्ति और अवस्थाके अनुसार, सन्तोषपूर्वक अपने-अपने कर्मोंके यथाविधि सम्पादनपर ही निर्भर है। इस आदर्शके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक श्रेणी, प्रत्येक सङ्घ या सम्प्रदाय दूसरेके कर्म, दूसरेके भोग और दूसरेकी मान-प्रतिष्ठाका लोभ न करके, दूसरेके साथ अस्वास्थ्यकारी प्रतिद्वन्द्विताके झगड़ेमें न पड़कर, गौरव और श्रद्धाके साथ उत्साहपूर्वक अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्तव्यके पालनमें ही लगा रहकर अपनी चरम उन्नति कर सकता है। कर्म और भोगके सम्बन्धमें उसका मन्त्र होता है—

'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्'
'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥'

इस दिव्य जीवनको सर्वश्रेष्ठ आदर्श मानकर ही आर्य ऋषियोंने सभी श्रेणियोंके नर-नारियोंके लिये सब प्रकारके पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्त्तव्योंका निर्धारण किया है। मर्त्य-जीवनमें स्वर्गीय जीवन-धाराको प्रवाहित करनेके लिये शारीरिक स्वास्थ्य और स्वच्छन्दताकी, पारिवारिक और सामाजिक रीति-नीति और सत्कर्मोंकी, राष्ट्रिय दण्ड-विधि और युद्ध-विग्रह-सन्धि आदिकी, कृषि-शिल्प-वाणिज्यादिके द्वारा देशमें धन-सम्पत्तिके बढ़ानेकी और साहित्य-दर्शन विज्ञानादिके समुचित अनुशीलनकी आवश्यकता है। कुल-नीति, अर्थ-नीति, समाज-नीति, राष्ट्र-नीति और सबकी आधाररूपा धर्म-नीति सभीका आदर्श दिव्य-जीवनकी प्रतिष्ठा है।

आर्य विद्वानोंने यह भी आविष्कार किया था कि समस्त

जाति और समाजके कल्याणके लिये अपनी-अपनी शक्ति और सम्पत्तिका उत्सर्ग कर देना ही प्रत्येक व्यक्तिके लिये, अपने जीवनकी उन्नतिका, दिव्य-जीवनकी प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय है। प्रत्येक व्यक्तिका अन्तरात्मा और सारे समाजका अन्तरात्मा वस्तुतः एक है, अभिन्न है। अतएव सारे समाजकी सेवा, सारे समाजके कल्याणके लिये बाहरी क्लेश और त्यागको स्वीकार करना, वस्तुतः अपने ही अन्तरात्माकी सेवा, अपने ही आध्यात्मिक जीवनकी पूर्णताके लिये तपस्या करना है। सारे समाजके ऐहिक स्वार्थके साथ अपने आध्यात्मिक स्वार्थका कोई भेद नहीं है। अतएव त्यागके द्वारा ही यथार्थ सम्भोगका अधिकार प्राप्त होता है,—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः।' यही यज्ञ-नीतिका तात्पर्य है। मनुष्यके जीवनमें यज्ञ ही मनुष्योचित कर्म है। यज्ञ ही व्यक्तिके और समाजके स्वार्थकी मिलन-भूमि है। तुम्हारे पास जो कुछ भी है, उसे सारे समाजके कल्याणके लिये दे दो; तभी सारे समाजके साथ अपनी एकताकी उपलब्धि कर सकोगे और विश्व-प्रकृति अपने अटूट भाण्डारमेंसे तुम्हारी चाहके अनुरूप सारे सुन्दर फलोंको देकर तुम्हें कृतार्थ कर देगी।

मानवसमाजकी जब इस यज्ञनीतिके ऊपर स्थापना होती है, तभी सर्वत्र सुख-शान्तिका विस्तार होता है; समाजके विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें प्रतिद्वन्द्विता, ईर्ष्या, द्वेष, सङ्घर्ष और संग्रामका क्षेत्र सङ्कुचित होता है; एक ही समाज-शरीरके विचित्र अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके रूपमें एकके साथ दूसरेका प्रेम और मैत्रीका सम्बन्ध स्थापित होता है; प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक श्रेणी सारे समाज-शरीरके अङ्गरूपमें अपनेको उससे अभिन्न मानकर समाजके कल्याणमें ही अपने कल्याणकी उपलब्धि करता है; शक्ति, ज्ञान, रुचि और अवस्थामें विषमता रहनेपर भी सभीके अंदर प्राणगत एकताकी अनुभूति होती है। फिर सभी देनेके लिये ही व्याकुल हो उठते हैं, पानेके लिये कोई अधीर नहीं होता। प्राप्तिके लिये, भोगके लिये, अपनी क्षुद्र ऐहिक स्वार्थसिद्धिके लिये ही प्राणियोंमें परस्पर छीना-झपटी और मार-पीटकी जो स्वाभाविक प्रवृत्ति देखी जाती है, समाजमें यज्ञके आदर्शका बड़े परिमाणमें प्रचार होनेपर वह प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। यज्ञनीतिके अनुसार कर्म और भोगका सम्बन्ध ही ऐसा बन जाता है कि कर्म होता है—समष्टिके कल्याणके लिये व्यष्टिका दान; और भोग होता है व्यष्टिके कल्याणके लिये समष्टिका दान। मनुष्य कर्म करता है स्वतन्त्र कल्याण-बुद्धिकी प्रेरणासे, आध्यात्मिक आदर्शकी प्रेरणासे, सारे समाजके कल्याणके लिये। और अपने ऐहिक भोगके लिये निर्भर करता है सारे समाजके कल्याणके ऊपर, विश्वान्तर्यामी कल्याण-विधाताके मङ्गल विधानके ऊपर।

आर्यजातिमें समाजके विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके कर्तव्याकर्तव्यका अधिकांशमें जन्म और वंशानुक्रमकी दृष्टिसे निर्देश करके दूसरेके कर्मकी लालसा, दूसरेके धनकी तृष्णा और उससे होनेवाली प्रतिद्वन्द्विता और सङ्घर्षके क्षेत्रको विशेषरूपसे सङ्कुचित कर दिया है। सभीको अपनी-अपनी सहजात वृत्तिसे प्राप्त कर्मोंको और भोग सम्पत्तिको सन्तुष्ट मनसे स्वीकार करके, अपने जीवन-विकासकी साधनाके रूपमें, उत्साहपूर्वक उन्हींपर निर्भर करके यज्ञनीतिके अनुसार बाह्यतः समाजसेवामें और तत्त्वतः आत्मसेवामें अपनेको लगा देना पड़ता है। इससे समाजमें भी शान्ति बनी रहती है और मनुष्य-जीवनकी सम्यक् सार्थकताके मार्गपर भी सबको अग्रसर होनेका सुअवसर प्राप्त होता है।

जीवनके इस आदर्शके अनुसार सार्थकताकी ओर चलनेके लिये प्रत्येक मनुष्यको पहले शक्ति और ज्ञानकी साधना करनी पड़ती है। प्रथम जीवनमें सुयोग्य शिक्षककी देख-रेखमें नियन्त्रण और संयमके उच्च आदर्शसे युक्त जीवन बिताकर देह, इन्द्रिय और मन-बुद्धिकी शक्तिको बढ़ाना पड़ता है और भावी जीवनके दायित्वपूर्ण कर्मसम्पादनके उपयोगी ज्ञान-विज्ञानको प्राप्त करना पड़ता है। जीवन-प्रभातकी इस साधनाका नाम है 'ब्रह्मचर्य'।

ब्रह्मचर्य-साधनाके द्वारा स्वस्थ देह-मन, सुनियन्त्रित कर्तव्य-सम्पादनका कौशल, मनुष्यके आदर्शकी एक सुस्पष्ट धारणा और अपने सहजात शक्ति, सामर्थ्य और वृत्तिके अनुसार कर्तव्याकर्तव्यके निर्णयका उपयुक्त ज्ञान प्राप्त करनेपर कर्म-जीवनमें प्रवेश करनेकी विधि है। यह कर्म-जीवन ही 'गार्हस्थ्य-जीवन' है। इसीमें परिवार, समाज, जाति और राष्ट्रके साथ साक्षात् सम्बन्धकी स्थापना होती है। इस गार्हस्थ्य-जीवनमें आध्यात्मिक आदर्शको हृदयमें रखते हुए ही यज्ञमय जीवन बिताना पड़ता है। अवश्य ही यज्ञका बाहरी रूप अपनी-अपनी शक्ति, सम्पत्ति, वृत्ति और अवस्थाके ऊपर निर्भर करता है। परन्तु ऐसी बात नहीं कि राजाके यज्ञकी अपेक्षा मजदूरके यज्ञका बाहरी रूप छोटा होनेके कारण उसके आध्यात्मिक मूल्यमें कहीं कुछ कमी आती हो। सबको अपने-अपने अधिकारके अनुसार ही यज्ञ करना पड़ेगा, परन्तु जिसके हृदयमें यज्ञका आदर्श जितने उज्ज्वलरूपमें

प्रकाशित होगा, जो जितने आध्यात्मिक भावके द्वारा अनुप्राणित होकर यज्ञ करेगा, उसका यज्ञ उतना ही सार्थक होगा।

कर्म-जीवनके अन्तमें कर्मत्यागके लिये, सर्वत्यागके लिये प्रस्तुत होना आवश्यक है। ब्रह्मचर्यके द्वारा जैसे गार्हस्थ्यके लिये योग्यता प्राप्त करना आवश्यक है, वानप्रस्थके द्वारा वैसे ही संन्यासके लिये योग्यता प्राप्त करना आवश्यक है। संन्यास-आश्रममें व्यक्तिगत जीवनके साथ विश्वजीवनका पूर्ण मिलन करा देना पड़ेगा। उस समय मनुष्यको परिवारकी, खण्ड समाज और जातिकी तथा सब प्रकारके ऐहिक प्रयोजनोंकी सीमाको लाँघकर, विश्वप्राणके साथ व्यष्टि प्राणका, विश्वात्माके साथ जीवात्मा और समाजात्माके सम्यक् ऐक्यका अपरोक्षरूपसे अनुभव करके साधनामें लग जाना पड़ेगा। इस साधनामें सिद्धि प्राप्त होना ही मनुष्य-जीवनकी सम्यक् सार्थकता है, यही 'परमसाम्य', 'पराशान्ति', 'पूर्णज्ञान' और 'परिपूर्णानन्द' है, यही 'अभयममृतं क्षेमम्' है। इसी अवस्थामें मनुष्यका अपने साथ और विश्वजनात्माके साथ सम्यक् परिचय और योगस्थापन होता है। यही वर्णाश्रम-साधनाका चरम लक्ष्य है।

गृहस्थके लिये पञ्चमहायज्ञ

(लेखक—प्रोफेसर श्रीसत्येन्द्रनाथ सेन एम्०ए०, धर्मरत्न)

संसारमें सबसे अधिक मननशील लोग प्राचीन कालके हिंदू ही थे। जीवनके सभी क्षेत्रोंका पूर्ण विचार करके प्रत्येकके सम्बन्धमें उन्होंने सच्चे सिद्धान्त स्थिर किये हैं। सुख और शान्ति इस लोकमें तथा परलोकमें भी—यही उनका बराबर लक्ष्य रहा है। उत्तम उपयोगी नागरिक बननेके लिये उन्होंने अपना जीवन ऐसा ढाला कि जिससे उनका ही नहीं, उनके पड़ोसियोंका भी और सारे संसारका कल्याण हो। भिन्न-भिन्न समाजोंके लिये जीविकाके भिन्न-भिन्न कर्म सौंप दिये गये और इस तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अन्त्यज सबकी जीविकाका सदाके लिये उत्तम प्रबन्ध हो गया। उनकी दिनचर्या ऐसी थी कि उनके द्वारा प्रातःकालसे सायंकालतक विविध प्रकारके ऐसे ही पवित्र कर्म हुआ करते थे जिनसे अपने-पराये सबको बड़ा सुख मिलता था। किसीके प्रति किञ्चित् भी अन्याय वे न होने देते थे। सबका जो सामान्यधर्म अहिंसा है, उसका वे बड़ी तत्परताके साथ पालन करते थे।

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दया दमः क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥
(याज्ञवल्क्य० १। १२२)

परन्तु जीवनमें पूर्ण अहिंसा असम्भव है। रसोई बनानेके लिये जब हम चूल्हेमें आग जलाते हैं तो उससे न जाने कितने असंख्य कृमि-कीटादि जीवोंकी हत्या होती है। इसी प्रकार जब हम चक्की या सील-लोढ़ासे काम लेते, झाड़ूसे बुहारते, ढेकी या ऊखलसे धान कूटते या घड़ोंमें पानी भरकर रखते हैं, तो कितने जीवोंका संहार होता है!

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥
(मनु० ३। ६८)

'सूना' कहते हैं कसाईखानेको। चूल्हा, लोढ़ा, झाड़, ढेकी या ऊखल और घड़ा ये—सचमुच ही गृहस्थके घरके पाँच कसाईखाने हैं!

अनिवार्यरूपसे होनेवाली इस हिंसाका भी पूरा विचार हमारे पूर्वपुरुषोंने किया और इन पापोंके प्रायश्चित्त भी स्थिर किये।

तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥
(मनु० ३। ६९-७०)

अन्य स्मृतिग्रन्थोंमें भी ऐसे ही श्लोक मिलते हैं। अस्तु।

ब्रह्मयज्ञ, जिसे स्वाध्याय भी कहते हैं, वेदोंका अध्ययन अध्यापन है। ब्रह्म शब्दका अर्थ है वेद। पितृयज्ञ नित्यका श्राद्ध और तर्पण है। दैवयज्ञ हवन है। भूतयज्ञ जीवोंको अन्नदान है। नृयज्ञ अतिथियोंका अर्घ्य-आसन-भोजनादिसे सत्कार है। प्रत्येक गृहस्थके लिये ये नित्य कर्त्तव्य हैं। भगवान् मनु कहते हैं कि जो इन यज्ञोंको नहीं करता वह जीता हुआ भी मरेके समान है—

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पञ्चानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥
(मनु० ३ । ७२)

वानप्रस्थियों और शूद्र गृहस्थोंके लिये भी पञ्चमहायज्ञोंके करनेका अपना-अपना विशिष्ट प्रकार है । (मनु० ६ । ५ और याज्ञवल्क्य० १ । १२१)

इन महायज्ञोंमेंसे प्रत्येकका विवरण एक-एक करके नीचे दिया जाता है—

(१) निष्कारणो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ।
(श्रुतिः)

'वेदको निर्हेतुक पढना और जानना चाहिये ।'

सांसारिक दृष्टिसे वेदाध्ययन लाभप्रद नहीं है, क्योंकि इससे रुपया नहीं मिलता न इसमें हमारे लिये कोई आकर्षण ही है । तथापि इसका नित्य अध्ययन करना चाहिये, क्योंकि इससे मन और शरीरकी शुद्धि होती है और उससे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है जो सब जीवोंका परम लक्ष्य है । सब वेदोंका अध्ययन करना जहाँ बन नहीं सकता, वहाँ कम-से-कम एक ऋक्, एक यजुः और एक सामका पाठ अवश्य होना चाहिये—

एकामृचमेकं वा यजुरेकं वा साम्नाभिव्याहरेत् ।
(गौतम तथा आपस्तम्ब)

इस समयकी प्रचलित रूढि यह है कि नित्य प्रातः-सन्ध्याके बाद तीनों वेदोंका एक-एक पहला मन्त्र उच्चारित किया जाता है । गायत्रीका विशेष जप कर लेनेसे भी वेदाध्ययनका काम हो जाता है । भगवान् मनु कहते हैं—

अपां समीपे नियतो नैत्यिकं विधिमास्थितः ।
सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः ॥
(२ । १०४)

अर्थात् नित्यके अवश्य अध्येय वेदाध्ययनके लिये कम-से-कम इतना तो करना ही चाहिये कि अरण्यमें जाकर जलाशयके समीप बैठकर समाहित होकर सावित्रीका जप करे ।

एक ही व्यक्तिके स्वाध्यायसे जगत्का दीर्घकालतक कोई लाभ नहीं हो सकता । इसलिये इसकी परम्पराको चलाते रहना चाहिये । ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे नये-नये वैदिक विद्वान् उत्पन्न हों । इसके लिये अधिकारी शिष्योंको वेद पढ़ाना चाहिये ।

यो हि विद्यामधीत्य अर्थिने न ब्रूयात् स कार्यहा स्यात् श्रेयसो द्वारमपावृणुयात् । (श्रुतिः)

'जो वेदोंका अध्ययन करके शिष्यको उसका अध्यापन नहीं कराता वह कार्यकी हानि करता है, श्रेयस्का द्वार ही बन्द कर देता है ।'

यही बात मनु भगवान् कहते हैं—

यमेव तु शुचिं विद्या नियतं ब्रह्मचारिणम् ।
तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रमादिने ॥
(२ । ११५)

'परन्तु जिसे तुम जानते हो कि यह पवित्र जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी है उस मुझ निधिके रक्षक अप्रमादी विप्रको विद्या पढ़ाओ ।'

(२) पितृयज्ञ नित्य पितरोंको तिलोदक देकर तर्पण करना और एक ब्राह्मणको उनके निमित्त भोजन करा कर उनका श्राद्ध करना है । (मनु० ३ । ८३)

बहुत लोग यही समझते हैं कि पितृतर्पण केवल पितृपक्षमें ही किया जाता है । परन्तु यथार्थमें पितरोंका तर्पण तो नित्यके पञ्चमहायज्ञोंमेंसे एक महायज्ञ है । पितृपक्षकी बात यह है कि इस पक्षमें प्रतिदिन पार्वण श्राद्ध करनेका विधान है जिसके अभावमें तर्पण ही अधिक श्रद्धा और बड़ी विधिके साथ कर लिया जाता है ।

(३) देवयज्ञ सूर्य, अग्नि, सोम आदि देवताओंके प्रीत्यर्थ नित्यका होम है । होमाग्निमें घृतकी जो आहुति दी जाती है, उसे आधुनिक लोग केवल अपव्यय ही समझते होंगे; परन्तु दूरदर्शी ऋषि इसके महत्त्वको जानते थे और हम लोगोंको इतना तो जानना ही चाहिये कि इससे वातावरण शुद्ध हो जाता है, जिससे आरोग्य प्राप्त होता और धान्यकी वृद्धि होती है । ये ही तो दो चीजें हैं जो सब जीवोंके जीवनके लिये आवश्यक हैं । भगवान् मनु कहते हैं—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥
(३ । ७६)

'अग्निमें जो आहुति दी जाती है वह आदित्यमें पहुँचती है और आदित्यसे वर्षा होती है, वर्षासे अन्न होता है और उससे प्राणी उत्पन्न होते और जीते हैं ।'

किसी देशमें महामारी आदि देशभरको उजाड़ देनेवाले रोगोंके फैलनेका कारण जाँचते हुए चरक यह बतलाते हैं कि पृथ्वी, जल, वायु आदिके दूषित हो जानेसे ये बीमारियाँ फैलती हैं, क्योंकि सबपर इस दोषका एक साथ असर पड़ता है—

ते खल्विमे भावाः सामान्या जनपदेषु भवन्ति तद्यथा—वायुरुदकं देशः काल इति । (चरक—विमानस्थान अ० ३)

आगे फिर यह बतलाते हैं कि—

सर्वेषामपि वाय्वादीनां वैगुण्यमुत्पद्यते यत् तस्य मूलमधर्मः । (चरक—विमानस्थान अ० ३)

अर्थात् 'वायु आदि सब महाभूत जो इस प्रकार दूषित हो जाते हैं, इसका मूल कारण अधर्म है ।'

वायु आदि महाभूतोंमें संक्रान्त इस दोषका सर्वोत्तम परिहार यज्ञ है । नित्य ही यदि यज्ञ किया जाय तो उससे आरोग्य सदा बना रहता है । रोगको होने ही न देनेके इस साधनकी ओर कोई ध्यान न देकर हमलोग समय-समयपर आनेवाले रोगोंके इलाजके लिये अपने धन और बलका सारा जोर लगाकर अस्पताल बनवाते चले जा रहे हैं । हमलोगोंने इस बातको तो भुला ही दिया है कि रोगको हटानेका उपाय करनेकी अपेक्षा रोगको होने ही न देना अधिक अच्छा है ।

(४) भूतयज्ञ सब प्रकारके जीवोंको—देव-पितर, पशु-पक्षी, कृमि-कीट, अन्त्यज और अपाहिज आदि सबको सिद्धान्न खिलाना है । यदि अन्त्यज आदि गरीब मनुष्योंको इस तरह प्रतिदिन घर-घरसे अन्न मिला करे तो उनका रोटीका प्रश्न ही हल हो जाय । आजकलका-सा दैन्य-दारिद्र्य पहले नहीं था, न आजकलका-सा वैमनस्य और संघर्ष ही था ।

(५) नृयज्ञ अतिथिका सत्कार है । आजकलके लोग इसको अच्छा नहीं समझते, इससे इसका चलन कम हो गया है और जगह-जगह होटल खुलते जा रहे हैं, जो सच पूछिये तो रोगोंके घर हैं । हमलोग अपने यार-दोस्तोंकी तो खूब आवभगत करते और उन्हें खिलाते-पिलाते हैं पर यदि कोई अनाथ असहाय प्राणी द्वारपर आ जाय तो उसके लिये हमारे घरमें, हमारे हृदयमें कोई स्थान नहीं है । हमारे पूर्व-पुरुष अतिथि-अभ्यागतकी प्रतीक्षा किया करते थे । जिस दिन कोई अतिथि उनके घर न आता उस दिन वे अपनेको अभागा समझते थे । कम-से-कम एक अतिथिको भोजन करा देना प्रत्येक गृहस्थका धर्म था । अतिथिके भोजन करनेके पश्चात् ही गृहस्थ और उनकी पत्नी भोजन कर सकते थे । मनु भगवान् कहते हैं—

अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात् । (३ । ११८)

अर्थात् जो अपने लिये ही रसोई बनाता है वह केवल पाप भक्षण करता है ।

महायज्ञोंका यह संक्षिप्त विवरण है । जब घर-घर ये महायज्ञ होते थे तब कोई झगड़ा नहीं था, कोई वैषम्य और संघर्ष नहीं था । जीवन सुखपूर्वक बीतता चला जा रहा था । जीवनमें कोई कृत्रिमता नहीं थी जो आजकल शुरूसे आखीर-तक हमारे जीवनका प्रधान अङ्ग हो रही है । उन पञ्च-महायज्ञोंके बदले आजकल हमारे ये पाँच यज्ञ हो रहे हैं—

(१) ब्रह्मयज्ञका स्थान अखबारोंने ले लिया है, जिनका काम झूठका प्रचार करना और लड़ाई-झगड़े और आपसकी दलबन्दीको बढ़ावा देना है ।

(२) पितृतर्पणकी जगह आजकल हमलोग अपने अफसरों या अपने मुवक्किलोंकी तृप्तिका उपाय किया करते हैं ।

(३) होमका काम बड़े साहबोंके पास भेजी जानेवाली डालियोंसे अथवा राजनीतिक नेताओंको दी जानेवाली थैलियोंसे हुआ करता है ।

(४) भूतयज्ञका सिद्धान्न अब यार-दोस्तोंको दी जानेवाली पार्टियोंमें समा गया है । इन पार्टियोंके हेतु इस जमानेमें जैसे हो सकते हैं, वैसे ही हुआ करते हैं ।

(५) नृयज्ञ अब दाम लेकर होटलोंमें किया जाता है । इसका जो कुछ परिणाम है, वह आँखोंके सामने है । जीवनमें सुख और शान्ति नामको भी नहीं रही है । बड़े जोरसे कोई आन्दोलन उठाया जाता है, कुछ दिन चलता है और फिर बेकार हो जाता है; तब कोई दूसरा आन्दोलन उठता है और उसी क्रमसे खतम होता है । इस प्रकार आन्दोलनपर आन्दोलन उठते-मिटते चले जा रहे हैं । पता

नहीं हमलोग कहाँ जा रहे हैं। सोचने और समझनेका समय है कि मनुष्यजातिको स्नेहसूत्रमें बाँध रखनेकी सबसे बड़ी शक्ति धर्मके ही आचार-विचारमें निहित है। जहाँ धर्म नहीं, वहाँ सुसङ्गति ठहर नहीं सकती, मेल हो नहीं सकता, परस्पर द्वेष ही वहाँ बढ़ेगा और नाना प्रकारके दल वहाँ निर्माण होते रहेंगे। जब धर्म रहेगा, तब हिंदू और मुसलमान भी एक साथ एक होकर सुखपूर्वक रह सकेंगे। धर्मके वे दिन शीघ्र आयें।*

गृहस्थके पञ्चमहायज्ञका विवरण

(लेखक—पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड)

कर्म तीन प्रकारके होते हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। जिन कर्मोंके करनेसे किसी फलविशेषकी प्राप्ति न होती हो और न करनेसे पाप लगता हो उन्हें 'नित्य'† कहते हैं; जैसे—त्रिकालसन्ध्या, पञ्चमहायज्ञ इत्यादि।

पञ्चमहायज्ञ करनेसे आत्मोन्नति आदि अवान्तर फलकी प्राप्ति होनेपर भी, 'पञ्च सूना' दोषसे छुटकारा पानेके लिये शास्त्रकारोंकी आज्ञा है कि—

'सर्वैर्गृहस्थैः पञ्च महायज्ञा अहरहः कर्तव्याः।'

अर्थात् गृहस्थमात्रको प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ करने चाहिये। इससे यह स्पष्ट है कि पञ्चमहायज्ञके करनेसे पुण्यकी प्राप्ति नहीं होती, किन्तु न करनेसे पापका प्रादुर्भाव अवश्य होता है।

हमलोगोंकी जीवनयात्रामें सहज ही हजारों जन्तुओंकी प्रतिदिन हिंसा होती है; जैसे—चलने-फिरनेमें, भोजनके प्रत्येक ग्रासमें तथा श्वास-प्रश्वासमें जीवकी हिंसा अवश्य होती है। प्राणधारी मनुष्यके लिये इन पापोंसे बचना कदापि सम्भव नहीं है। अतः इन पापोंसे मुक्त होनेके लिये ही महामहिमशाली महर्षियोंने पञ्चमहायज्ञका विधान बताया है। भगवान् मनु कहते हैं—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥

(३। ६८, ६९)

'प्रत्येक गृहस्थके यहाँ चूल्हा, चक्की, बुहारी (झाड़ू) ऊखल और जलका पात्र, ये पाँच हिंसाके स्थान हैं। इनसे होनेवाली हिंसाकी निष्कृत्तिके लिये महर्षियोंने गृहस्थोंके लिये प्रतिदिन पञ्चमहायज्ञ करनेका विधान किया है।'

* सृष्टिके कार्यका सुव्यवस्थित रूपसे सञ्चालन और सब जीवोंका यथायोग्य भरण-पोषण पाँच श्रेणियोंके जीवोंकी पारस्परिक सहायतासे सम्पन्न होता है। वे पाँच हैं—देवता, ऋषि, पितर, मनुष्य और पशु-पक्षी आदि भूतप्राणी। देवता संसारभरमें सबको इष्ट भोग देते हैं, ऋषि-मुनि सबको ज्ञान देते हैं, पितर सन्तानका भरण-पोषण करते, रक्षा करते और कल्याणकामना करते हैं, मनुष्य कर्मोंके द्वारा सबका हित करते हैं, और पशु, पक्षी, वृक्षादि सब जीवोंके सुखके लिये अपना आत्मदान देते रहते हैं। पाँचों ही अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार सबकी सेवा करते हैं, पाँचोंके सहयोगसे ही सबका निर्विघ्न जीवननिर्वाह होता है। इन पाँचोंमें अधिकार, साधनसामग्री और कर्मकी योग्यताके कारण कर्मयोनि मनुष्यपर ही सबकी पुष्टिका विशेष दायित्व है। पञ्चमहायज्ञसे इस लोकसेवारूपी शास्त्रीय कर्मका सम्पादन होता है जिससे सबकी पुष्टि होती है। अतएव मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह जो कुछ भी सिद्ध करे—कमावे उसमें इन सबका भाग समझे और सबको देकर ही उसे अपने उपयोगमें लावे। जो मनुष्य सब जीवोंको उनका उचित हिस्सा देकर बचा हुआ खाता है—अपने उपयोगमें लाता है, वही अमृताशी (अमृत खानेवाला) है। जो ऐसा न करके केवल अपने ही लिये कमाता और अकेला ही खाता है, वह पाप खाता है।

'भुञ्जते ते स्वयं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥'

† पूर्वकर्मानुसार जन्म ग्रहणकर जो मनुष्य जिस कक्षा (श्रेणी) में प्रविष्ट होता है, उसमें अपनी स्थिति बनी रहे, इसके लिये ही उसे अपनी कक्षाके योग्य समस्त कर्म करने पड़ते हैं, जिससे उसका उत्कर्षसाधनसे अधःपतन नहीं हो सकता। इसलिये नित्यकर्मोंके करनेसे पुण्यकी प्राप्ति नहीं होती, बल्कि इन्हें न करनेसे पाप अवश्य लगता है; क्योंकि उनके किये बिना उस कक्षामें स्थायी स्थिति सर्वथा असम्भव है।

यज्ञके दो भेद होते हैं—एक यज्ञ, दूसरा महायज्ञ। यज्ञ तथा महायज्ञके स्वरूप तथा इसकी विशेषताका वर्णन महर्षि भारद्वाजने इस प्रकार किया है—

'यज्ञः कर्मसु कौशलम्' 'समष्टिसम्बन्धान्महायज्ञः।'

'कुशलतापूर्वक जो अनुष्ठान किया जाता है उसे 'यज्ञ' कहते हैं।' 'पश्चात् समष्टि-सम्बन्ध होनेसे उसीको 'महायज्ञ' कहते हैं।'

इसी बातको महर्षि अङ्गिराने भी कहा है—

यज्ञमहायज्ञौ व्यष्टिसमष्टिसम्बन्धात्।

'व्यष्टि-समष्टि सम्बन्धसे यज्ञ-महायज्ञ कहे जाते हैं।'

यज्ञका फल आत्मोन्नति तथा आत्मकल्याण है, उसका व्यष्टिसे सम्बन्ध होनेके कारण उसमें स्वार्थकी प्रधानता आ जाती है। (यही इसकी न्यूनता है।)

महायज्ञका फल जगत्का कल्याण है, उसका समष्टिसे सम्बन्ध होनेके कारण उसमें निःस्वार्थताकी प्रधानता आ जाती है। यही इसकी विशेषता है।

जिस यज्ञानुष्ठानके प्रभावसे जीवकी क्षुद्रता, अल्पज्ञता आदिका विनाश होता और वह परमात्माके साथ एकताको प्राप्त होता है, उस अनुष्ठानका महत्त्व सर्वमान्य है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

पञ्चमहायज्ञ

पञ्चमहायज्ञका वर्णन प्रायः सभी ऋषि-मुनियोंने अपने-अपने धर्म-ग्रन्थोंमें किया है। जिनमेंसे कुछ ऋषियोंके वचनोंको यहाँ उद्धृत किया जाता है—

तैत्तिरीयारण्यकमें—

'पञ्च वा एते महायज्ञाः सततिं प्रतायन्ते। देवयज्ञः पितृयज्ञो मनुष्ययज्ञो भूतयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति।'

आश्वलायनसूत्रमें—

'अथातः पञ्च महायज्ञा देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञो ब्रह्मयज्ञो मनुष्ययज्ञ इति।'

छन्दोगपरिशिष्टमें—

देवभूतपितृब्रह्ममनुष्याणामनुक्रमात्।
महासत्राणि जानीयात् पृथ हि महामखाः॥

याज्ञवल्क्यस्मृतिमें—

बलिकर्मस्वधाहोमस्वाध्यायातिथिसत्क्रियाः।
भूतपित्रमरब्रह्ममनुष्याणां महामखाः॥

मनुस्मृतिमें—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्॥

जो मनुष्य पूर्वकथित पञ्चयज्ञके द्वारा देवता, अतिथि, पोष्यवर्ग, पितृलोक और आत्मा—इन पाँचोंको अन्नादि नहीं देते, वे जीते हुए भी मरेके समान हैं अर्थात् उनका जीवन निष्फल है। भगवान् मनु महाराजकी आज्ञा है कि—

पञ्चैतान् यो महायज्ञान्न हापयति शक्तितः।
स गृहेऽपि वसन्नित्यं सूनादोषैर्न लिप्यते॥
(३।७१)

'जो गृहस्थ शक्तिके अनुकूल इन पञ्चमहायज्ञोंका एक दिन भी परित्याग नहीं करते, वे गृहस्थाश्रममें रहते हुए भी प्रतिदिनके पञ्च सूनाजनित पापके भागी नहीं होते।'

पञ्चमहायज्ञके अनुष्ठानसे समस्त प्राणियोंकी तृप्ति होती है, इस प्रकारका संकेत भगवान् मनु महाराजने मनुस्मृतिके तृतीय अध्यायके ८०, ८१ और ७५ वें श्लोकमें किया है।

पञ्चमहायज्ञ करनेसे अन्नादिकी शुद्धि और पापोंका क्षय होता है। पञ्चमहायज्ञ किये बिना भोजन करनेसे पाप लगता है। देखिये, आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें क्या कहा है—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
(३।१३)

'यज्ञसे शेष बचे हुए अन्नको खानेवाले श्रेष्ठ पुरुष पञ्च-हत्याजनित समस्त पापोंसे मुक्त हो जाते हैं, किन्तु जो पापी केवल अपने लिये ही पाक बनाते हैं, वे पापका ही भक्षण करते हैं।'

अतः पञ्चमहायज्ञ करके ही गृहस्थोंको भोजन करना चाहिये। पञ्चमहायज्ञके महत्त्व एवं इसके यथार्थ स्वरूपको जानकर द्विजमात्रका कर्तव्य है कि वे अवश्य पञ्चमहायज्ञ किया करें—ऐसा करनेसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सुतरां प्राप्ति होगी।

ब्रह्मयज्ञ

वेदोंके पठन-पाठनको 'ब्रह्मयज्ञ'* कहते हैं। वेदमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें ज्ञानकी ही प्रधानता और परमावश्यकता बतलायी गयी है। ज्ञानके ही कारण जीवान्तरकी अपेक्षासे मनुष्य-देह उत्तम माना गया है। शास्त्रोक्त सदाचार तथा धर्मानुष्ठानमें तत्पर रहना ही मनुष्यकी मनुष्यता है और वही मनुष्य वास्तविक मनुष्यत्वका अधिकारी समझा जाता है। इसके बाद कर्मकाण्डद्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि हो जानेपर मनुष्य उपासनाकाण्डका अधिकारी बनता है, तदनन्तर भगवत्कृपाकटाक्षके लेशसे ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाता है। यह मनुष्योंका सामान्य उन्नतिक्रम है। क्रमिक उन्नतिमें ज्ञानका प्राधान्य है। अतः सभी अवस्थाओंमें ज्ञानकी ही आवश्यकता है। इसलिये प्रथमावस्थामें भी ज्ञानके बिना असदाचरणका परित्याग तथा धर्मानुष्ठानमें प्रवृत्ति कदापि नहीं हो सकती।

'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति।'

इस उपदेशके अनुसार बलवान् इन्द्रियसमूह उसमें प्रतिबन्धक अवश्य है, तथापि इन्द्रियाँ प्रथमावस्थामें मनुष्यको अपनी ओर प्रवृत्त करती हैं न कि धर्मानुष्ठानादिमें। इसी समय माता, पिता तथा गुरुजन भी धर्मानुष्ठानमें प्रवृत्त तथा अधर्मानुष्ठानसे निवृत्त करते हैं। इस प्रकार सभी अवस्थाओंमें ज्ञानकी ही प्रधानता सिद्ध होती है। अतएव ज्ञानयज्ञरूप स्वाध्याय (वेद-शास्त्रोंका पठन-पाठन) करना चाहिये।

ब्रह्मयज्ञ करनेसे ज्ञानकी वृद्धि होती है। ब्रह्मयज्ञ करनेवाला मनुष्य ज्ञानप्रद महर्षिगणका अनृणी और कृतज्ञ हो जाता है।

देवयज्ञ

अपने इष्टदेवकी उपासनाके लिये परब्रह्म परमात्माके निमित्त अग्निमें किये हुए हवनको 'देवयज्ञ' कहते हैं।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९। २७)

* मनुभगवान्‌ने तो 'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः' ही लिखा है; परन्तु—

गुरावध्ययनं कुर्वन्शुश्रूषादि समाचरेत्।
स सर्वो ब्रह्मयज्ञः स्यात्ततश्च परमुच्यते॥

इस कुल्लूक भट्टकृत भाष्यके अनुसार अध्ययनको भी 'ब्रह्मयज्ञ' कहते हैं।

भगवान्‌के इस वचनसे सिद्ध होता है कि परब्रह्म परमात्मा ही समस्त यज्ञोंके आश्रयभूत हैं। इसलिये ब्रह्मयज्ञमें ऋषिगण, पितृयज्ञमें अर्यमादि नित्य पितृगण और परलोकगामी नैमित्तिक पितृगण, भूतयज्ञमें देवरूप अनेक प्राणियोंको जानकर 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वम्' इस गीतोक्त भगवद्वचनके अनुसार ईश्वर-विभूतिधारी देवताओंकी जो-जो पूजा की जाती है, वह सर्वव्यापक अन्तर्यामी परमात्माकी अर्चना (पूजा) के अभ्यासके लिये ही की जाती है।

नित्य और नैमित्तिक भेदसे देवता दो भागोंमें विभक्त हैं। उनमें रुद्रगण, वसुगण और इन्द्रादि नित्य देवता कहे जाते हैं।

ग्रामदेवता, वनदेवता और गृहदेवता आदि अनित्य कहे जाते हैं।

दोनों तरहके ही देवता इस यज्ञसे तृप्त होते हैं। जिन देवताओंकी कृपासे जडभावको प्राप्त होते हुए भी विनश्वर कर्मसे फल उत्पन्न हो रहा है, जिनकी कृपासे समस्त सुख-शान्तिकी प्राप्ति होती है, जिनकी कृपासे संसारके समस्त क्रियाकलापकी भलीभाँति उत्पत्ति और रक्षा होती है, उन देवताओंसे उऋण होनेके लिये 'देवयज्ञ' करना परमावश्यक है।

भूतयज्ञ

कृमि, कीट, पतङ्ग, पशु और पक्षी आदिकी सेवाको 'भूतयज्ञ' कहते हैं।

ईश्वररचित सृष्टिके किसी भी अङ्गकी उपेक्षा कभी नहीं की जा सकती, क्योंकि सृष्टिके सिर्फ एक ही अङ्गकी सहायतासे समस्त अङ्गोंकी सहायता समझी जाती है, अतः 'भूतयज्ञ' भी परम धर्म है।

प्रत्येक प्राणी अपने सुखके लिये अनेक भूतों (जीवों) को प्रतिदिन क्लेश देता है, क्योंकि ऐसा हुए बिना क्षणमात्र भी शरीरयात्रा नहीं चल सकती।

प्रत्येक मनुष्यके निःश्वास-प्रश्वास, भोजन-प्राशन, विहार-सञ्चार आदिमें अगणित जीवोंकी हिंसा होती है। निरामिष भोजन करनेवाले लोगोंके भोजनके समय भी अगणित जीवोंका प्राणवियोग होता है, आमिषभोजियोंकी तो कथा ही क्या

है ? अतः भूतों (जीवों) से उऋण होनेके लिये 'भूतयज्ञ'* करना आवश्यक है ।

भूतयज्ञसे कृमि, कीट, पशु, पक्षी आदिकी तृप्ति होती है ।

पितृयज्ञ

अर्यमादि नित्य पितरोंकी तथा परलोकगामी नैमित्तिक पितरोंकी पिण्डप्रदानादिसे किये जानेवाले सेवारूप यज्ञको 'पितृयज्ञ' कहते हैं ।

सन्मार्गप्रवर्तक माता-पिताकी कृपासे असन्मार्गसे निवृत्त होकर मनुष्य ज्ञानकी प्राप्ति करता है । फिर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष आदि सकल पदार्थोंको प्राप्त कर मुक्त हो जाता है । ऐसे दयालु पितरोंकी तृप्तिके लिये, उनके सम्मानके लिये, अपनी कृतज्ञताके प्रदर्शन तथा उनसे उऋण होनेके लिये 'पितृयज्ञ' करना नितान्त आवश्यक है ।

पितृयज्ञसे समस्त लोकोंकी तृप्ति और पितरोंकी तुष्टिकी अभिवृद्धि होती है ।

मनुष्ययज्ञ

क्षुधासे अत्यन्त पीड़ित मनुष्यके घर आ जानेपर उसकी भोजनादिसे की जानेवाली सेवाको 'मनुष्ययज्ञ' कहते हैं ।

अतिथिके घर आ जानेपर वह चाहे किसी जाति या किसी भी सम्प्रदायका हो, उसे पूज्य समझकर उसकी पाद्य और अर्घ्यादिसे समुचित पूजा कर उसे अन्नादि देना चाहिये । इस विषयकी पुष्टि भगवान् मनु महाराजने भी अपनी स्मृतिके तीसरे अध्यायमें (३ । ९९–१०२, १०७, १११) विशदरूपसे की है । इससे यह सिद्ध हुआ कि पृथ्वीके सभी समाजवालोंको अतिथिसेवारूप धर्मका परिपालन अवश्य करना चाहिये ।

प्रथमावस्थामें मनुष्य अपने शरीरमात्रके सुखसे अपनेको सुखी समझता है, फिर अपने पुत्र, कलत्र, मित्रादिको सुखी देखकर सुखी होता है । तदनन्तर स्वदेशवासियोंको सुखी देखकर सुखी होता है । इसके बाद पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेपर वह समस्त लोकसमूहको सुखी देखकर सुखी होता है । परन्तु वर्तमान समयमें एक मनुष्य समस्त प्राणियोंकी सेवा नहीं कर सकता, इसलिये यथाशक्ति मनुष्यमात्रकी सेवा करना ही 'मनुष्ययज्ञ' कहा जाता है । मनुष्ययज्ञसे धन, आयु, यश और स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है ।

इस प्रकार सूत्ररूपसे गृहस्थके पञ्चमहायज्ञका विवरण है । आशा है, विज्ञ पाठकगण इससे अवश्य सन्तुष्ट होंगे ।

सबमें स्थित भगवान्‌का तिरस्कार न करो !

भगवान् कपिलदेव माता देवहूतिजीसे कहते हैं—

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा । तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥
यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् । हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥
द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः । भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे । नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥

(श्रीमद्भा० ३ । २९ । २१–२४)

मैं समस्त प्राणियोंमें उनकी आत्माके रूपसे सर्वदा स्थित रहता हूँ, मेरे उस स्वरूपका तिरस्कार करके मनुष्य पूजाकी विडम्बना करता है । जो समस्त प्राणियोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ ईश्वरको छोड़कर पूजा करता है, वह मूर्खतावश राखकी ढेरमें ही हवन करता है । जो एक शरीरमें अभिमान होनेके कारण अपनेको अलग समझता है, और दूसरे शरीरमें स्थित मुझसे ही द्वेष करता है, प्राणियोंके प्रति वैर-भावना रखनेवाले उस पुरुषका मन कभी शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता । जो मनुष्य प्राणियोंका अपमान करता है, उसके द्वारा बहुत-सी सामग्रियोंसे किये हुए मेरे पूजनसे भी मैं प्रसन्न नहीं होता ।

---

* देवेभ्यश्च हुतादन्नाच्छेषान्नूतबलिं हरेत् । अन्नं भूमौ श्वचाण्डालवायसेभ्यश्च निक्षिपेत् ॥ (या० स्मृ०)

'देवयज्ञसे बचे हुए अन्नको जीवोंके लिये भूमिपर डाल देना चाहिये और वह अन्न पशु, पक्षी एवं गौ आदिको देना चाहिये ।'

करनेयोग्य

छः वेगोंका दमन करो—

वाणीका वेग, मनका वेग, क्रोधका वेग, उदरका वेग, उपस्थका वेग और जिह्वाका वेग। इन छः दुर्निवार वेगोंका दमन करनेवाला पृथ्वीभरपर शासन कर सकता है।

छः बातोंका त्याग करो—

अधिक आहार, व्यर्थ कार्य, व्यर्थ अधिक बोलना, भजनके नियमका त्याग, विषयी जनोंका सङ्ग और विषय-लालसा। ये छः भक्तिमें बाधा देनेवाले हैं। इनके रहते भजनमें प्रेम नहीं होता। जो इनका त्याग करता है, वह भक्ति प्राप्त करता है।

छः बातोंको ग्रहण करो—

भजनमें उत्साह, दृढ़ निश्चय, धैर्य, भजनमें प्रवृत्ति, बुरे सङ्गका सर्वथा त्याग और साधुके आचरण—ये छः कर्तव्य हैं। इनके पालनसे बहुत शीघ्र भक्तिकी कृपा प्राप्त होती है।

(श्रीरूपगोस्वामी)

प्राणशक्ति और मनःशक्तिका साधन

(लेखक—स्वामी विभूतिनन्दजी सरस्वती)

प्राणशक्ति, मनःशक्ति, क्रियाशक्ति, भावनाशक्ति और बुद्धिशक्ति—ये पाँच शक्तियाँ हैं और इन्हींके अनुक्रमसे पाँच ही योग हैं—हठयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग। इनमें प्राणशक्ति और मनःशक्ति, ये दोनों अत्यन्त प्रबल हैं। इन दो शक्तियोंको जो वशमें कर लेता है, वह संसार-विजयी होता है।

प्राणशक्तिका साधन

प्राणशक्तिको वशमें करनेवाला साधक इस पृथ्वीपर रहनेवाले प्राणियों और आकाशमें उड़नेवाले पक्षियोंको वशीभूत कर सकता है और नक्षत्र-मण्डलकी वार्ता भी जान सकता है। प्राणके आधारपर ही यह अखिल ब्रह्माण्ड स्थित है। यही प्राण सबको वायुरूपसे प्रतीत हो रहा है। अथर्ववेदके ग्यारहवें काण्डमें इस प्राणका वर्णन है—

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्॥

'प्राण विराट् है, सबका प्रेरक है; इसलिये सब इसकी उपासना करते हैं। प्राण ही सूर्य और चन्द्रमा है, प्राणको ही प्रजापति कहते हैं।'

प्राणशक्तिके कारण ही हमारे शरीरकी नसों एवं नाड़ियोंमें रक्तका प्रवाह चल रहा है, उसी प्रकार प्राणशक्तिके बलपर ही सूर्यादि लोक घूम रहे हैं। अन्न, वनस्पति आदि सूर्यकी प्राणशक्तिसे ही उत्पन्न होते हैं। प्राण ही तेज है। इस पाञ्चभौतिक शरीरको प्राण जब छोड़ देता है, तब यह शरीर निस्तेज होता और नष्ट हो जाता है। प्राणियोंका प्राण ही ईश्वर है।

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
(अथर्व० कां० ११)

'उस प्राणको मेरा नमस्कार है, जिसके अधीन यह सारा जगत् है, जो सबका ईश्वर है, जिसमें यह सारा जगत् प्रतिष्ठित है।'

प्राण परमेश्वरकी एक शक्ति है। इसका साधन गुरुमुखसे ही जानकर करना चाहिये। मूलाधारचक्रसे साधन आरम्भ किया जाता है। बायें पैरकी एड़ीसे गुदद्वारको बन्द करके मूलबन्ध लगाया जाता है और जननेन्द्रियके मूलको दोनों एड़ियोंसे दबाकर कुण्डलिनीको जगाया जाता है।

स्वाधिष्ठानचक्रके ऊपर जो कन्द है, उसे दोनों एड़ियोंसे दबानेसे कुण्डलिनी जागती है। वहाँसे ऊपर चढ़कर मणिपूर-चक्रको भेदकर प्राण अनाहतचक्रमें पहुँचता है। वहाँ ज्योतिका साक्षात्कार होता है। तब और ऊपर चढ़कर विशुद्धचक्रको भेदकर प्राण आज्ञाचक्रमें जाता है। वहाँ शिवके दर्शन होते हैं। यहींसे अमृतस्राव होता है। योगी लोग खेचरी मुद्रा लगाकर इसे पान करते और अमर हो जाते हैं। नाभिमें जालन्धरबन्ध और वक्षःस्थलमें उड्डीयान-बन्ध लगाकर योगीलोग प्राणको मस्तिष्कमें ले जाते हैं, जहाँसे ऊपर सहस्रार है—जो श्रीविष्णुभगवान्‌का धाम और सबका मोक्षस्थान है। पूरक, रेचक, कुम्भक—इस त्रिविध प्राणायाम-से यह साधन बनता है। बाहरी कुम्भक और भीतरी कुम्भकसे जो प्राणको अपने वशमें कर लेता है वह अपनी शक्तिसे अनायास आकाशमें वायुके समान सञ्चार कर सकता है, सशरीर अन्य लोकोंमें जा सकता है, अपने स्थानमें बैठे-बैठे सहस्रों कोसकी दूरीपर अपना कार्य कर सकता है, रोगियोंको रोगोंसे मुक्त कर सकता है, बन्दियोंके बन्धन छुड़ा सकता है। यह सब तो मैंने लिख दिया, पर इसका साधन गुरुके समीप रहकर ही ठीक तरहसे हो सकता है।

मनःशक्तिका साधन

मन बड़ा चञ्चल है। यही बात अर्जुन-जैसे धीर-वीरने मनःसंयमके प्रसङ्गमें कही है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

'यह मन बड़ा चञ्चल, बड़ा बलवान्, दृढ और मथनेवाला है। इसको रोककर स्थिर करना वायुकी गतिको रोकनेके समान अत्यन्त कठिन है।'

मनका यह स्वभाव है कि यह बन्दरकी तरह यहाँसे वहाँ, एक डारपरसे दूसरी डारपर कूदता-फाँदता रहता है, एक क्षणमें उत्तरसे दक्षिण और पूर्वसे पश्चिमकी सैर कर आता है, बात-की-बातमें चारों धामकी यात्रा और पृथ्वीकी परिक्रमा कर लेता है। इसकी चञ्चलताका क्या ठिकाना है। मन-दुर्योधनसे युद्ध किये बिना आत्मराज्यका पाना असम्भव है और बिना राज्यके सुख और भोग कहाँ? परन्तु यह इतना बलवान् है कि सहस्रों हाथियोंके पाँवोंमें जंजीर डाल देना या सहस्रों सिंहोंको पिंजड़ेमें बंद रखना आसान है, पर इसे स्थिर करना आसान नहीं। मनने ही तो काशीपति श्रीविश्वनाथकी समाधि भङ्ग कर दी थी, विश्वामित्र और अगस्ति-जैसे महातपस्वियोंको पृथ्वीपर पटक दिया था, देवर्षि नारदको अपने मोहनास्त्रसे बाँध लिया था और भगवान् रामचन्द्रतकको पत्नी-वियोगसे रुला दिया था। यह अपनी ही चालपर इतनी दृढ़तासे डटा रहता है कि किसीके हटाये वहाँसे हटता ही नहीं और सब इन्द्रियोंको अपने अधीन करके सारे शरीरमें खलबली मचा देता है। इसे तो लक्ष्मण-जैसे यति, हनूमान्-जैसे योद्धा, भीष्मपितामह-जैसे महायोगी ही जीत सकते हैं। योग जो कुछ है, इसी मनकी वृत्तियोंका निरोध है। जो इसका निरोध कर सकता है, वही ईश्वरका साक्षात्कार कर सकता है। जो कुछ भी किया जाता है, वह मनके द्वारा किया जाता है। अच्छा या बुरा, मनके बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। जब यह मन शुभ सङ्कल्पोंवाला होता है, तब वह अनन्त सुखका कारण होता है। इसकी बिखरी हुई सब वृत्तियाँ जब किसी स्थानमें एकत्र निरुद्ध होती हैं, तब मनुष्य अनन्त शक्तिशाली होता है। बन्ध या मोक्ष, दोनोंका कारण मन ही है।

शास्त्रोंने इस मनको स्थिर करनेके उपाय बताये हैं। पर बड़े भाग्य और पुण्यके प्रतापसे ही किसीका मन स्थिर और शान्त हो पाता है। अब अधिक विस्तार न करके मनको स्थिर करने और मनःशक्ति प्राप्त करनेका एक साधन यहाँ लिखते हैं। मनका दसमंजिला मकान है, एक-एक मंजिलपर दस-दस मुकाम हैं, एक-एक मुकामपर सौ-सौ पैड़ियाँ हैं। इस मकानकी छतपर जो साधक चढ़ जाय और फिर उलटे पैरों लौट आये, वही संत है—चाहे वह गृहस्थ हो या ब्रह्मचारी, वर्ण और जातिमें श्रेष्ठ हो या कनिष्ठसे भी कनिष्ठ। यहाँ—

जात-पाँत पूछे नहिं कोई। हरिका भजै सो हरिका होई॥

मनका यह मकान मनःकल्पित ही है। आप शिव, विष्णु, राम, कृष्ण, सूर्य, ॐ—चाहे कोई भी एक नाम लीजिये और उसे १०० तक गिनिये। यह एक मुकाम है। वहाँसे उलटे लौटकर वैसे ही गिनते हुए एकपर आइये। इस प्रकार अभ्यास बढ़ाते हुए एक हजारतक चढ़ जाइये, फिर वहाँसे उलटे पैरों लौटिये। आप देखेंगे कि आपका मन कितना शान्त होता है। अब दो हजारतक चढ़िये, यह दूसरी मंजिल आ गयी। वहाँसे उलटे पैरों फिर लौटिये। इसी प्रकार तीसरी, चौथी, पाँचवीं, छठी, सातवीं, आठवीं, नवीं और दसवीं मंजिलतक—१० हजारतक चढ़ जाइये और

उलटी गिनती करते हुए लौटिये। आपको विलक्षण शान्ति मिलेगी और जप भी होगा। पर इस प्रकार जपका होना और उलटी-सीधी गिनतीमें मनका लगना भी बड़े पुण्यसे होता है। महान् पुण्योदयके बिना भगवान्‌की ओर मन नहीं लगता।

प्राण और मनका साधन सङ्ग

प्राणायाम करते हुए कुम्भककी क्रियामें जहाँ प्राण रुकेगा, वहीं मन भी स्थिर होगा—यह निश्चित बात है। मनः-साधनकी गिनती करते हुए जब आप एक हजारतक पहुँचें तब वहीं चुप होकर बैठ जायँ, मनको कहीं इधर-उधर जाने न दें। इसके बाद लौटिये। जब एकपर आ जायँ तब चुप होकर मनको भीतर ही रोक रक्खें और कुछ देर हृदय और नाभिचक्रका ध्यान करें। फिर अधखुले नेत्रोंसे, मनको नासिकाके अग्रभागपर या भ्रूमध्यमें स्थिर करें। इस अभ्याससे यह मन कुछ दिनोंमें शान्त होगा, आपको बड़ी आनन्द आवेगा और आत्मानुभव होने लगेगा।

पलङ्ग या चारपाईपर लेट जाओ। तकिया हटा दो। कपड़ोंको ढीला कर दो। शरीरको भी ढीला छोड़ दो। प्राणको उलटा खींचो, पेटमें ले जाओ, फिर छातीतक ले आओ, फिर पेटमें नाभितक घुमाओ। ऐसा करनेसे आपका नाभि-सूर्य प्रकाशित होगा। कुछ दिन इस प्रकार करके तब मनको इसीमें लगानेसे बड़ी शान्ति मिलेगी।

यदि शक्तिशाली बनना चाहते हो तो किसी मैदानमें खड़े हो जाओ, शरीर ढीला छोड़ दो, हाथोंको नीचे लटका दो, प्राणको आकाशमें फेंक दो। फिर प्राणको भीतर खींचते हुए मनसे यह काल्पनिक योग करो कि मैं अमुक शक्तिको खींचकर अपने अंदर ला रहा हूँ। कुछ दिन ऐसा अभ्यास करनेसे आपमें उस शक्तिका प्रवेश हो जायगा। हमारे महान् पूर्व पुरुष मन और प्राणकी इन शक्तियोंसे जो चाहते कर सकते थे। आप भी साधन सम्पन्न होंगे तो जो चाहेंगे कर सकेंगे।

पाँच शक्तियोंमेंसे मनःशक्ति और प्राणशक्तिका यहाँतक कुछ वर्णन किया गया। क्रियाशक्ति, भावनाशक्ति और बुद्धिशक्ति इन्हीं दो शक्तियोंमें समा जाती हैं; इनका पृथक्-पृथक् वर्णन यहाँ नहीं किया गया। जो लोग इन दो शक्तियोंका शोधन कर लेंगे, उन्हें इनके अलौकिक गुणोंका आप ही अनुभव होगा।

मनुष्यमात्रके तीस धर्म

देवर्षिनारदजी कहते हैं—

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः। अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
सन्तोषः समदृक्सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः। नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः। तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः। सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः। त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥

(श्रीमद्भा० ७। ११। ८–१२)

हे युधिष्ठिर! सब मनुष्योंके लिये यह तीस लक्षणवाला श्रेष्ठ धर्म कहा गया है। इससे सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं। वे तीस लक्षण ये हैं—सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, आत्म-निरीक्षण, बाह्य इन्द्रियोंका संयम, आन्तर इन्द्रियोंका संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, संतोष, समदृष्टि, सेवा, दुराचारसे निवृत्ति, लोगोंकी विपरीत चेष्टाओंके फलका अवलोकन, मौन, आत्मविचार, प्राणियोंको यथायोग्य अन्नदानादि, समस्त प्राणियोंमें विशेष करके मनुष्योंमें आत्मबुद्धि—इष्टदेव-बुद्धि, महात्माओंके आश्रयभूत भगवान्‌के गुणनाम आदिका श्रवण-कीर्तन, स्मरण, सेवा, यज्ञ, नमस्कार, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन।

प्रेमसिद्धा मीरा

पग घुँघरु बाँध मीरा नाची रे ।

मैं तो मेरे नारायनकी आपहि हो गइ दासी रे ।

लोग कहै मीरा भई बावरी न्यात कहै कुळनासी रे ॥

विषका प्याला राणाजी भेज्या पीवन मीरा हाँसी रे ।

मीराके प्रभु गिरधर नागर सहज मिले अबिनासी रे ॥

माई री ! मैं तो लियो गोबिंदो मोल ।

कोइ कहै छाने कोइ कहै छुपके, लियो री बजंता ढोल ॥

कोइ कहै मुँहघो कोइ कहै सुहँघो लियो री तराजू तोल ।

कोइ कहै काळो कोइ कहै गोरो, लियो री अमोलक मोल ॥

कोइ कहै घरमें कोइ कहै बनमें राधाके संग किलोल ।

मीराके प्रभु गिरधर नागर आवत प्रेमके मोल ॥

—मीराबाई

साधनाके गभीर स्तर

(लेखक—श्रीमेहरबाबा)

अधिकांश लोगोंके लिये आध्यात्मिक साधनाका स्वरूप अपने-अपने धर्मोद्वारा निर्दिष्ट क्रिया-कलापका बाह्य अनुष्ठान होता है। प्रारम्भिक अवस्थाओंमें इस अनुष्ठानका भी एक महत्त्व होता है, क्योंकि इससे आत्मशुद्धि और मनोनिग्रहमें सहायता मिलती है; परन्तु अन्ततोगत्वा साधकको बाह्य नियमोंके पालनकी अवस्थासे ऊपर उठकर आध्यात्मिक साधनाके गभीर स्तरोंमें प्रवेश करना पड़ता है। जब साधक इस भूमिकामें पहुँच जाता है, तब धर्मका बाह्यरूप उसके लिये गौण हो जाता है और उसकी रुचि धर्मके उन मूल तत्त्वोंकी ओर हो जाती है, जो सभी बड़े-बड़े मजहबोंमें व्यक्त हुए हैं। सच्ची साधना उस जीवनको कहते हैं, जिसके मूलमें आध्यात्मिक बोध रहता है और यह बोध उसीको होता है, जिसकी रुचि वास्तवमें आध्यात्मिक तत्त्वोंकी ओर होती है।

धार्मिक क्रिया-कलापकी भूमिकासे ऊपर उठकर साधनाके गभीर स्तरोंमें प्रवेश

साधनका अर्थ कठोर नियमोंका बन्धन नहीं समझना चाहिये। सबके जीवनमें अखण्ड और अटल एकरूपता हो नहीं सकती और न उसकी आवश्यकता ही है। आध्यात्मिक क्षेत्रमें साधन-भेदके लिये काफी अवकाश है। जो साधन किसी एक साधकके लिये उपयोगी होता है, वह अवश्य ही उसके संस्कारों और मनोवृत्तिकी अपेक्षा रक्खेगा और इस प्रकार, यद्यपि सबका आध्यात्मिक ध्येय एक ही होता है, उस विशिष्ट साधकका साधन विशेष प्रकारका हो सकता है। किन्तु ध्येय सबका एक होनेके कारण साधनगत भेद विशेष महत्त्वके नहीं होते और साधनाके गभीर स्तरभेदोंके रहते हुए भी सभी साधकोंके लिये महत्त्वपूर्ण होते हैं।

साधन-भेद

आध्यात्मिक क्षेत्रकी साधना भौतिक क्षेत्रकी साधनासे अवश्य ही तत्त्वतः भिन्न होगी, क्योंकि आध्यात्मिक क्षेत्रका ध्येय भौतिक क्षेत्रके ध्येयोंसे स्वरूपतः भिन्न होता है। भौतिक क्षेत्रका ध्येय एक ऐसा पदार्थ होता है, जिसका कालकी दृष्टिसे आदि और अन्त होता है और जो किसी अन्य वस्तुका कार्य होता है; आध्यात्मिक क्षेत्रका ध्येय पूर्णता है, जो कालकी सीमासे अतीत है। अतः भौतिक क्षेत्रकी साधनाका लक्ष्य ऐसी वस्तुकी प्राप्ति होता है, जो अभी भविष्यके गर्भमें है; किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्रकी साधनाका लक्ष्य उस वस्तुकी प्राप्ति होता है, जो सदा रही है, सदा रहेगी और इस समय भी है।

आध्यात्मिक क्षेत्रकी साधना भौतिक क्षेत्रकी साधनासे भिन्न होती है।

जीवनके आध्यात्मिक ध्येयको जीवनके भीतर ही ढूँढ़ना चाहिये, जीवनके बाहर नहीं; अतः आध्यात्मिक क्षेत्रकी साधना इस प्रकारकी होनी चाहिये कि वह हमारे जीवनको उस जीवनके अधिकाधिक निकट ले जाय, जिसे हम आध्यात्मिक समझते हैं। आध्यात्मिक क्षेत्रकी साधनाका ध्येय किसी सीमित अभीष्टकी प्राप्ति नहीं होता, जो कुछ दिन रहकर फिर सदाके लिये मिट जाय—इस तरह मिट जाय कि जैसे वह कोई बिल्कुल ही नगण्य वस्तु हो; उसका ध्येय होता है जीवनके स्वरूपका आमूल परिवर्तन, जिससे कि वह सदाके लिये चिरस्थायी **वर्तमानमें** महान् सत्यको अभिव्यक्त कर सके। साधना आध्यात्मिक दृष्टिसे तभी सफल होती है, जब वह साधकके जीवनको ईश्वरीय उद्देश्यके अनुकूल बनानेमें समर्थ होती है, जो जीवमात्रको ब्रह्मभावकी आनन्दमय अनुभूति कराना है। साधनको इस ध्येयके स्वरूपके सर्वथा अनुकूल बनाना पड़ेगा।

आध्यात्मिक ध्येयका सामान्य रूप।

आध्यात्मिक क्षेत्रमें साधनाके प्रत्येक अङ्गका ध्येय जीवनके सभी स्तरोंमें दिव्यताकी प्राप्तिरूपी आध्यात्मिक लक्ष्यकी सिद्धि होना चाहिये; अतः एक दृष्टिसे आध्यात्मिक साधनाके विभिन्न स्तर आध्यात्मिक पूर्णताकी स्थितिके निकट पहुँचनेकी ही भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं। साधना उतने ही अंशमें पूर्ण होती है जितने अंशमें वह इस आध्यात्मिक आदर्शको व्यक्त करती है, अर्थात् जितने अंशमें वह पूर्ण जीवनके सदृश होती है। इस प्रकार साधन और साध्यमें जितना ही अधिक अन्तर होता है, साधना उतनी ही अपूर्ण होती है; और साधन और साध्यमें जितना कम अन्तर होता है, साधना उतनी

साधन साध्यमें मिल जाता है

ही पूर्ण होती है। और जब साधना पूर्ण होती है, तब साधन पूर्ण आध्यात्मिक साध्यमें जाकर मिल जाता है और इस प्रकार साधन और साध्यका भेद अखण्ड सत्ताकी अविकल पूर्णतामें लीन हो जाता है।

साधनका अर्थ है साध्यकी आंशिक प्राप्ति।

साधन और उसके द्वारा प्राप्त किये जानेवाले साध्यका जो यह सम्बन्ध है, वह भौतिक क्षेत्रमें रहनेवाले साध्य और साधनके सम्बन्धसे भिन्न ही प्रकारका है। भौतिक क्षेत्रका साध्य प्रायः जिस साधनके द्वारा उसकी प्राप्ति होती है, उसके न्यूनाधिकरूपमें सर्वथा बाहर रहता है; और साधन एवं उसके द्वारा प्राप्त होनेवाले साध्यके स्वरूपमें भी स्पष्ट भेद होता है। उदाहरणके लिये बंदूकके घोड़ेको खींचना किसी मनुष्यकी मृत्युका साधन हो सकता है; परन्तु मनुष्यकी मृत्यु और घोड़ेके खींचनेकी क्रियामें स्वरूपतः महान् अन्तर है, दोनोंमें किसी प्रकारकी सजातीयता नहीं है। किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्रमें साधन और उसके द्वारा प्राप्तव्य साध्य एक दूसरेसे सर्वथा बाह्य नहीं हो सकते और उनमें कोई स्पष्ट स्वरूपगत भेद भी नहीं है। आध्यात्मिक क्षेत्रमें साधन और साध्यके बीचमें ऐसा अन्तर नहीं रक्खा जा सकता जो किसी प्रकार पट ही न सके; और इससे यह बात निष्पन्न होती है—जो देखनेमें असङ्गत-सी मालूम होती है—कि आध्यात्मिक क्षेत्रमें साधनका अर्थ ही साध्यकी आंशिक प्राप्ति होता है। इस प्रकार बहुत-से आध्यात्मिक साधनोंको वास्तवमें जो साध्य मानकर चलना पड़ता है, इसका कारण भी समझमें आ जाता है।

ज्ञान, कर्म और भक्तिकी साधना।

साधनाके गभीर स्तरोंमें आध्यात्मिक साधनका अर्थ होता है—(१) ज्ञान-मार्ग, (२) कर्म-मार्ग और (३) भक्ति-मार्गका अनुसरण। ज्ञानके साधनका स्वरूप होता है—(क) यथार्थ बोधसे उत्पन्न होनेवाले वैराग्यका अभ्यास, (ख) ध्यानकी भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ और (ग) विवेक और अन्तर्दृष्टिका निरन्तर उपयोग। आध्यात्मिक ज्ञानकी प्राप्ति अथवा अभिव्यक्तिके इन त्रिविध प्रकारोंकी कुछ व्याख्या करनेकी आवश्यकता है।

वैराग्य।

जीव इस नामरूपात्मक जगत्‌के जालमें फँसकर इस बातको भूल गया है कि वह ईश्वरकी ही सत्ताका एक अंश है। यह भूल अथवा अज्ञान ही जीवका बन्धन है और इस बन्धनसे मुक्ति प्राप्त करना ही आध्यात्मिक साधनाका उद्देश्य होना चाहिये। अतः सांसारिक विषयोंके बाह्य त्यागकी बहुधा मोक्षके साधनोंमें गणना की जाती है; परन्तु यद्यपि इस प्रकारके बाह्य त्यागका भी एक अपना महत्त्व हो सकता है, वह सर्वथा आवश्यक नहीं है। आवश्यकता है सांसारिक विषयोंकी स्पृहाके भीतरी त्यागकी। और जब इस स्पृहाका त्याग हो जाता है, तब इस संसारके पदार्थोंका त्याग गौण हो जाता है; क्योंकि जीवात्माने इस नामरूपात्मक मिथ्या जगत्‌से भीतरी सम्बन्धका त्याग कर दिया है और मुक्तिकी अवस्थाके लिये तैयारी कर ली है। वैराग्य ज्ञानके साधनका एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है।

ध्यान।

आध्यात्मिक ज्ञानको प्राप्त करनेका दूसरा साधन ध्यान है। ध्यानके सम्बन्धमें ऐसा नहीं मानना चाहिये कि वह पर्वत-कन्दराओंमें रहनेवाले मुनियोंके ही करनेकी कोई अनोखी क्रिया है। प्रत्येक मनुष्य अपनेको किसी-न-किसी वस्तुका ध्यान करते हुए पाता है। इस प्रकारके स्वाभाविक ध्यान और साधकके ध्यानमें अन्तर यही है कि साधकका ध्यान क्रमबद्ध और नियमितरूपसे होता है और वह ऐसी वस्तुओंका चिन्तन करता है, जो आध्यात्मिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण होती हैं। साधनरूपमें किया जानेवाला ध्यान साकार भी हो सकता है और निराकार भी।

साकार ध्यान वह होता है, जिसका सम्बन्ध किसी ऐसे व्यक्तिसे होता है, जो आध्यात्मिक दृष्टिसे पूर्ण हो। साकार ध्यानके लिये (साधककी रुचिके अनुसार) पूर्वके अवतारोंमेंसे अथवा वर्तमानके सिद्ध महापुरुषोंमेंसे किसीको चुना जा सकता है। इस प्रकारके साकार ध्यानका अभ्यास करनेसे साधकके अंदर उसके ध्येयके समस्त दैवी गुणों अथवा आध्यात्मिक ज्ञानका संक्रमण होने लगता है; और प्रेम तथा आत्मसमर्पणका भाव ध्यानके अन्तर्गत रहनेसे उससे

ध्येयकी कृपाका आकर्षण होता है और चरम सिद्धि उस कृपासे ही सम्भव होती है। इस प्रकार साकार-ध्यानकी साधनासे साधक अपने ध्येयके समान ही नहीं बन जाता वरं उसके साथ तत्त्वतः एक हो जानेमें भी सहायता मिलती है।

निराकार-ध्यानका सम्बन्ध परमात्माके निराकार एवं अपरिच्छिन्न स्वरूपसे होता है। इससे साधक परमात्माके निराकार स्वरूपकी प्राप्तिके मार्गमें अग्रसर हो सकता है; परन्तु सामान्यतः साकार-ध्यानके अभ्यास और सदाचारमय जीवनके द्वारा जबतक साधक भलीभाँति तैयार नहीं हो जाता, तबतक निराकार-ध्यान व्यर्थ ही होता है। अनन्त परमात्माकी चरम अनुभूतिमें न तो आकाररूप उपाधि रहती है और न सत्-असत्का भेद ही रहता है; इस अनुभूतिको प्राप्त करनेके लिये तो साकारसे निराकारमें और सत्से परमात्मामें जाना पड़ता है, जो सत् और असत् दोनोंसे परे हैं। निराकार-ध्यानके द्वारा तत्त्वको प्राप्त करनेकी दूसरी शर्त यह है कि साधकको अपना चित्त बिलकुल स्थिर कर लेना चाहिये। परन्तु यह तभी सम्भव होता है, जब चित्तके विभिन्न संस्कार नष्ट हो जायँ; और संस्कारोंका आत्यन्तिक विनाश ईश्वर अथवा महापुरुषकी कृपासे ही सम्भव होता है, निराकार-ध्यानके मार्गमें सिद्धि प्राप्त करनेके लिये भी ईश्वर अथवा महापुरुषकी कृपाके बिना काम नहीं चलता।

विवेक और अन्तर्दृष्टिका उपयोग

ज्ञानका साधन तबतक अधूरा ही रहता है, जबतक साधक निरन्तर विवेकका अभ्यास नहीं करता और अपनी उच्चतम अन्तर्दृष्टिका विकास नहीं करता। ईश्वरका साक्षात्कार उसी साधकको होता है, जो सत्य एवं नित्य वस्तुओंके सम्बन्धमें अपनी अन्तर्दृष्टि एवं विवेकसे काम लेता है। प्रत्येक मनुष्यके अंदर अनन्त ज्ञानका भंडार छिपा रहता है, उसे प्रकट करनेकी आवश्यकता होती है। मनुष्यके अंदर जो कुछ भी थोड़ा बहुत आध्यात्मिक ज्ञान होता है, उसे आचरणमें उतारना ही ज्ञानकी वृद्धिका उपाय है। ज्ञानी महापुरुषोंके द्वारा जो कुछ उपदेश मानव-जातिको समय-समयपर प्राप्त होते रहे हैं और साधकको जन्मसे ही जो विवेक-बुद्धि प्राप्त रहती है, उससे उसे इसके आगे उसे क्या करना है, इस विषयमें यथेष्ट प्रकाश मिलता है। जो कुछ ज्ञान उसे प्राप्त है, उसको अमलमें लाना ही कठिन है।

कर्मका महत्त्व

ज्ञानके साधनकी सफलताके लिये यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक अवस्थामें कर्म-सहकृत हो। दैनिक जीवन विवेकानुसारी होना चाहिये और उसमें ऊँची-से-ऊँची अन्तर्दृष्टिकी प्रेरणा होनी चाहिये। बिना किसी भय अथवा शङ्काके हृदयकी सर्वोत्तम प्रेरणाओंके अनुसार आचरण करना ही कर्मयोग अथवा कर्ममार्गका स्वरूप है। साधनमें आचरणकी ही प्रधानता है, केवल विचारकी नहीं। सम्यक् विचारकी अपेक्षा सम्यक् आचरणका बहुत अधिक महत्त्व है। अवश्य ही जो आचरण सम्यक् ज्ञानके ऊपर प्रतिष्ठित है, वह अधिक लाभदायक होगा; किन्तु आचरणकी दिशामें एक भी भूल होनेसे उससे हमें महत्त्वपूर्ण शिक्षा मिल सकती है। जो विचार केवल विचारके लिये ही होता है अर्थात् जिसके अनुसार आचरण नहीं किया जाता, उससे कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं होता—चाहे वह कितना ही निर्भ्रान्त क्यों न हो। इस प्रकार जो मनुष्य बहुत पढ़ा-लिखा तो नहीं है, किन्तु जो सच्चे मनसे भगवान्का नाम लेता है और अपने छोटे-से-छोटे कर्तव्यका पूरे मनसे पालन करता है, वह उस मनुष्यकी अपेक्षा भगवान्के अधिक समीप हो सकता है, जिसे दुनियाभरका दार्शनिक ज्ञान तो है, परन्तु जिसके विचारोंका उसके दैनिक जीवनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

एक गदहेका दृष्टान्त।

साधनके क्षेत्रमें विचारकी अपेक्षा आचरणका कितना अधिक महत्त्व है—यह बात एक गदहेके आख्यानसे, जो प्रसिद्ध है, स्पष्ट हो सकती है। एक गदहेको, जो बहुत देरसे चल रहा था, बड़ी भूख लगी। थोड़ी देर बाद उसको घासकी दो ढेरियाँ दिखलायी दीं, एक तो रास्तेकी दाहिनी ओर कुछ दूरपर थी और दूसरी मार्गकी बाँयीं ओर थी। गदहेने सोचा कि उन दोनों ढेरियोंमेंसे किसीके पास जानेका विवेकपूर्वक निश्चय करनेके पूर्व इस बातको निश्चितरूपसे जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि दोनों ढेरियोंमेंसे कौन-सी ढेरी सब ओरसे विचार करनेपर अधिक वरणीय ठहरती है। बिना भलीभाँति विचार किये और दूसरीकी अपेक्षा एकको पसंद करनेके लिये यथेष्ट कारण न होते हुए दोनोंमेंसे किसी एकको चुन लेना उसके लिये विवेकपूर्ण कार्य न होकर केवल इच्छाप्रेरित होगा। इसलिये पहले उसने इस बातपर विचार किया कि जिस रास्तेपर वह चल रहा है, वहाँसे दोनों ढेरियोंकी दूरी

कितनी है। दुर्भाग्यवश बड़ी देरतक विचार करनेके बाद वह इस निश्चयपर पहुँचा कि दोनों ही ढेरियाँ मार्गसे समानान्तरपर हैं। अतः अब वह किसी दूसरे कारणको ढूँढ़ने लगा, जिसके आधारपर उन ढेरियोंके तारतम्यका ठीक-ठीक निर्णय किया जा सके और इस विचारसे दोनों ढेरियोंमें कौन-सी बड़ी और कौन-सी छोटी है—इसपर विचार करने लगा। परन्तु इस बार भी वह विचारके द्वारा यह निर्णय नहीं कर सका; क्योंकि इस बार भी वह इसी निश्चयपर पहुँचा कि दोनों ढेरियाँ परिमाणमें भी बराबर ही थीं, छोटी-बड़ी नहीं। तब उसने अपनी स्वभावोचित धीरता और अध्यवसायके साथ घासकी उत्तमता आदि अन्य बातोंपर विचार किया; परन्तु प्रारब्धकी बात, सभी बातोंमें—जिनको लेकर वह विचार कर सकता था—उसे ऐसा मालूम हुआ कि दोनों ढेरियाँ समानरूपसे अभीष्ट हैं।

अन्तमें यह हुआ कि जब गदहेके ध्यानमें कोई ऐसी बात नहीं आयी कि जिसके आधारपर वह विचारपूर्वक कह सकता कि दोनों ढेरियोंमेंसे कौन-सी अधिक वरणीय है, वह उनमेंसे किसीके समीप नहीं गया किन्तु पहलेकी ही भाँति क्षुधार्पीड़ित और थका-माँदा सीधा चला गया; घासकी दो ढेरियाँ मिलनेपर भी वह उनसे कोई लाभ उठा नहीं सका। यदि वह विवेकपूर्वक विचारद्वारा ठीक-ठीक निर्णय करनेके आग्रहको छोड़कर दोनोंमेंसे किसी एक ढेरीके समीप चला गया होता तो सम्भव था वह ढेरी उतनी अच्छी न होती, जितनी दूसरी ढेरी रही होगी; परन्तु बुद्धि-द्वारा निर्णय करनेमें भूल रह जानेपर भी व्यावहारिक दृष्टिसे वह अनन्त गुना लाभमें रहता। आध्यात्मिक जीवनमें किसी मार्गपर चलना प्रारम्भ करनेके लिये यह आवश्यक नहीं है कि हमारे पास उस मार्गका पूरा मानचित्र हो, बल्कि मार्गका पूरा ज्ञान प्राप्त करनेका आग्रह होनेसे यात्रामें सहायता मिलनेकी अपेक्षा उल्टी रुकावट हो सकती है। आध्यात्मिक जीवनके गूढ़ रहस्य उन्हींके सामने प्रकट होते हैं, जो जोखिम उठाकर वीरतापूर्वक अपनेको परीक्षामें डालते हैं; जो आलसी मनुष्य एक-एक कदम आगे बढ़नेके लिये हानि न होनेकी गारंटी चाहता है, उसके सामने वे रहस्य कभी प्रकट नहीं होते। जो मनुष्य समुद्रके किनारे खड़ा होकर उसके सम्बन्धमें विचार करता है, उसे केवल समुद्रके ऊपरी भागका ही ज्ञान होगा; परन्तु जो समुद्रकी थाह लेना चाहता है, उसे समुद्रके जलमें गोता लगानेके लिये तैयार होना पड़ेगा।

निष्काम सेवा। कर्मयोगकी साधनामें सफल होनेके लिये इस बातकी आवश्यकता है कि कर्मका उद्गम ज्ञानसे होना चाहिये। ज्ञानपूर्वक कर्म बन्धन-कारक नहीं होता, क्योंकि वह अहङ्कार-मूलक न होकर अहङ्कारशून्य होता है। स्वार्थपरायणता अज्ञानका ही स्वरूप है और अहङ्कारशून्यता तत्त्वज्ञानका प्रतिबिम्ब है; हमें निःस्वार्थ सेवाका जीवन इसीलिये अङ्गीकार करना चाहिये कि उसके मूलमें ज्ञान रहता है, बाह्य परिणामकी दृष्टिसे नहीं। परन्तु निष्काम कर्ममें विलक्षणता यह है कि उससे साधकको इतना अधिक लाभ होता है, जितना अज्ञान-जनित स्वार्थपरायणतासे कभी प्राप्त हो ही नहीं सकता। स्वार्थपरायणताका परिणाम होता है सङ्कीर्ण जीवन, जिसका केन्द्र होता है सीमित एवं पृथक् व्यष्टिसत्ताका मिथ्या भाव; परन्तु निष्काम-कर्मसे भेद-भ्रमका नाश करनेमें सहायता मिलती है और हम अनन्त जीवनमें प्रवेश कर पाते हैं, जहाँ सर्वात्मभावकी अनुभूति होती है। मनुष्यके पास जो कुछ भी है, वह नष्ट हो सकता है और वह जिस वस्तुकी आकाङ्क्षा करता है, वह सम्भव है उसे कभी प्राप्त न हो; परन्तु जो कुछ वह परमात्माके अर्पण कर देता है, वह तो लौटकर उसीको मिल जाता है। कर्मयोगके साधनका यही स्वरूप है।

भक्ति। ज्ञान अथवा कर्मके साधनकी अपेक्षा भी भक्ति अथवा प्रेमका साधन और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि वह प्रेमहीके लिये किया जाता है। वह स्वतः पूर्ण है और किसी दूसरे सहायककी अपेक्षा नहीं रखता। संसारमें बड़े-बड़े संत हो गये हैं, जिन्होंने किसी भी और वस्तुकी अपेक्षा न करके भगवत्प्रेममें ही सन्तोष माना था। वह प्रेम प्रेम ही नहीं है, जो किसी आशासे किया जाता है। भगवत्प्रेमके अतिरेकमें प्रेमी प्रियतम भगवान्‌के साथ एक हो जाता है। प्रेमसे बढ़कर कोई साधन नहीं है, प्रेमसे ऊँचा कोई नियम नहीं है और प्रेमके परे कोई प्राप्तव्य वस्तु नहीं है; क्योंकि प्रेम भगवत्स्वरूप होनेपर अनन्त हो जाता है। भगवत्प्रेम और भगवान् एक ही वस्तु हैं; और जिसमें भगवत्प्रेमका उदय हो गया, उसे भगवान्‌की प्राप्ति हो चुकी।

साधनसे निःसाधनताकी प्राप्ति।

प्रेमको साधन और साध्य दोनोंका ही अङ्ग माना जा सकता है; परन्तु प्रेमका महत्त्व इतना अधिक स्पष्ट है कि बहुधा इसे किसी अन्य वस्तुकी प्राप्तिका साधन मानना भूल समझा जाता है। प्रेमके मार्गमें भगवान्‌के साथ एकीभाव जितना सुगम और पूर्ण होता है, उतना किसी भी साधनमें नहीं होता। जहाँ प्रेम ही हमारा पथप्रदर्शक होता है, वहाँ सत्यकी ओर ले जानेवाला मार्ग सहज और आनन्दमय होता है। साधारणतः साधनामें प्रयत्न रहता ही है, और कभी-कभी तो घोर प्रयत्न करना पड़ता है—उदाहरणतः उस साधकको जो प्रलोभनोंके रहते वैराग्यके लिये चेष्टा करता है। परन्तु प्रेममें प्रयत्नका भाव नहीं रहता; क्योंकि प्रेम करना नहीं पड़ता, अपने-आप होता है। स्वाभाविकपन ही सच्ची आध्यात्मिकताका स्वरूप है। ज्ञानकी सबसे ऊँची अवस्थाको, जिसमें चित्त सर्वथा तत्त्वाकार हो जाता है, सहजावस्था कहते हैं—जिसमें स्वरूप-ज्ञान अबाधित रहता है। आध्यात्मिक साधनामें एक विलक्षण बात यह है कि साधकका सारा प्रयत्न निःसाधनताकी अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये होता है।

कस्तूरी-मृगका दृष्टान्त।

एक कस्तूरी-मृगका बड़ा ही सुन्दर आख्यान है, जिससे सब प्रकारकी आध्यात्मिक साधनाका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। एक कस्तूरी-मृग एक बार उत्तराखण्डके पहाड़ोंमें विचर रहा था। सहसा उसे कहींसे ऐसी मनोमोहक गन्ध आती प्रतीत हुई, जिसका उसने जीवनमें कभी अनुभव नहीं किया था। उस गन्धसे वह इतना मुग्ध हो गया कि वह उसके उद्गम-स्थानका पता लगानेके लिये चल पड़ा। जहाँसे वह गन्ध आ रही थी, उस वस्तुको प्राप्त करनेके लिये उसके मनमें इतनी तीव्र उत्कण्ठा थी कि वह हिम-प्रदेशकी कठोर सर्दीकी तनिक भी परवा न कर इधर-से-उधर दौड़ने लगा। कड़ाकेकी सर्दीमें और जेठकी दुपहरियाके प्रचण्ड घाममें, वर्षा, आँधी, बिजली अथवा वज्राघातकी परवा न करके रात-दिन उस सुगन्धित द्रव्यकी खोजमें जी तोड़कर भागता रहा। उसके मनमें न भय था न शङ्का थी; किन्तु उस सुगन्धकी टोहमें एक चट्टानसे दूसरे चट्टानको वह भागता रहा। भागते-भागते एक जगह उसका पैर इस तरहसे फिसला कि वह एक सीधी चट्टानसे नीचे गिरा जिससे कि उसके प्राणोंपर बन आयी। मरते-मरते उस मृगको यह पता लगा कि जिस सुगन्धसे वह इतना मुग्ध हो रहा था और जिसे पानेके लिये उसने इतना घोर परिश्रम किया, वह उसीकी नाभिसे आ रही है। किन्तु मृगके जीवनका यह अन्तिम क्षण सबसे अधिक सुखदायक था, और उसके चेहरेपर एक अनिर्वचनीय शान्ति थी।

स्वरूपज्ञान ही साधनाका लक्ष्य है।

साधककी आध्यात्मिक साधना उस कस्तूरी-मृगकी दौड़-धूपके समान है। साधनाकी चरम सिद्धिमें साधकके व्यष्टि-जीवनका अन्त हो जाता है; परन्तु उस क्षणमें उसे यह अनुभूति होती है कि एक प्रकारसे अपनी सारी खोज और प्रयत्नका विषय वह स्वयं रहा है और जो कुछ भी सुख-दुःखका अनुभव उसने किया, जो कुछ भी जोखिम उठायी और जो कुछ भी त्याग और जीतोड़ परिश्रम किया, उस सबका एकमात्र लक्ष्य अपने स्वरूपका ज्ञान ही था—जिस स्वरूप-ज्ञानमें वह अपने सीमित व्यष्टिभावको त्यागकर यह अनुभव करता है कि वह वास्तवमें परमात्मासे अभिन्न है और परमात्मा सभी पदार्थोंमें विद्यमान है।

कौन इन्द्रिय किस काममें लगे ?

कुबेरपुत्र भगवान्‌से कहते हैं—

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः।
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे दृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १०। ३८)

हे प्रभो! वाणी आपके गुणोंके गायनमें, कान आपकी कथाके श्रवणमें, हाथ आपके कर्ममें, मन आपके चरण-कमलोंकी स्मृतिमें, सिर आपके निवासस्थान जगत्‌के प्रणाममें और आँखें आपके शरीरभूत संतोंके दर्शनमें लगी रहें।

साधन और उसकी प्रणाली

(लेखक—महामहोपाध्याय पं० श्रीसीतारामजी शास्त्री)

प्रत्येक भाषामें कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जिन्हें यदि अकेले प्रयोग किया जाय तो उनका पूरा अर्थ अभिव्यक्त नहीं होता। इसलिये उनके साथ कुछ अन्य शब्द जोड़नेकी आवश्यकता होती है। जैसे कोई कहे कि 'पिताको लाओ' तो इस वाक्यमें केवल 'पिता' शब्द होनेसे अभीष्ट व्यक्तिका बोध नहीं होता। इसलिये उसके पूर्व 'मेरे', 'अपने' अथवा 'रामके'—ऐसे किसी सम्बन्धबोधक शब्दके प्रयोगकी आवश्यकता होती है; तभी पितृपदवाच्य व्यक्तिका बोध हो सकता है। 'साधन' शब्द भी इसी प्रकारका है। यह 'साध' धातुसे सिद्ध होता है। इसका अर्थ है 'उपाय या युक्ति करना'। अतः जबतक यह निश्चय न हो कि किसका उपाय या युक्ति, तबतक इसका पूरा अर्थ समझमें नहीं आ सकता। इसलिये इसके पहले 'मुक्तिका', 'ब्रह्मप्राप्तिका' या 'ईश्वरप्राप्तिका'—ऐसा कोई पद और जोड़नेकी आवश्यकता होती है। तभी इसका पूरा स्वारस्य अभिव्यक्त होगा। परन्तु लोकमें यह शब्द इतना परिचित हो गया है कि अकेले प्रयोग करनेसे भी इसका पूरा भाव हृदयङ्गम हो जाता है।

अतः इसका अर्थ 'ईश्वरप्राप्तिका उपाय' ऐसा मानकर यहाँ कुछ विचार किया जाता है। आरम्भमें ही ये प्रश्न होते हैं कि ईश्वरप्राप्तिका साधन एक है या अनेक, और वे कौन-से हैं तथा कितने हैं। इन प्रश्नोंका निर्णय करनेके लिये यह भी विचार करना आवश्यक होगा कि ईश्वरप्राप्ति कहते किसे हैं और वह होती भी है या नहीं, तथा ईश्वर किसको कहते हैं और वह है या नहीं। इसी प्रकार यह विचारधारा और भी कई दिशाओंमें चल सकती है। अतः इस प्रश्नपरम्पराके विशेष झमेलेमें न पड़कर हम यह मानकर ही चलेंगे कि ईश्वर है और वह इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डके उत्पादन, पोषण, नियन्त्रण, निग्रह, अनुग्रह और विनाश करनेमें समर्थ एक शक्ति अथवा शक्तिशाली तत्त्वविशेष है। उसका आर्यधर्म तथा अन्यान्य धर्मोंमें अनेकों नामसे बोधन होता है। वस्तु एक होनेपर भी भावना-भेदके कारण उसके अनेकों नाम और रूप हैं। सर्वसाधारणमें उसकी सत्ता अनुमान और शास्त्रप्रमाणके आधारपर ही सिद्ध होती है, क्योंकि उसे प्रत्यक्ष देखनेकी शक्ति हर किसीमें नहीं है। अनुमानके लिये विशिष्ट हेतुकी आवश्यकता होती है। यहाँ ईश्वरको स्वीकार किये बिना विश्वके उत्पादनादिकी कोई ठीक व्यवस्था नहीं हो सकती। इसलिये जगत्‌के जन्मादि ही उसकी सत्ताके अनुमापक लिङ्ग हैं।

कुछ लोग डार्विनके सिद्धान्तानुसार क्रमिक विकासको ही जगत्‌की सब प्रकारकी व्यवस्थामें हेतु मानकर ईश्वर या धर्मादिकी कोई आवश्यकता नहीं समझते। किन्तु इस प्रकार तो धर्म-कर्म छूट जानेके कारण संसारमें किसी भी प्रकार शान्ति नहीं रहेगी और न शास्त्रोंका ही प्रामाण्य रहेगा। जड वस्तुओंका क्रमिक विकास भी किसी चेतनकी प्रेरणाके बिना नहीं हो सकता। अतः इस सिद्धान्तमें कोई सार नहीं है और हमें शास्त्रोंमें श्रद्धा रखकर शास्त्रोक्त प्रणालीसे ही ईश्वरकी प्राप्तिका प्रयत्न करना चाहिये।

शास्त्रोंमें ईश्वरसाक्षात्कारके दो स्वरूप बताये हैं—(१) ईश्वरको अनुग्राहकरूपसे अनुभव करना तथा (२) ईश्वरकी सत्तामें अपनेको लीन कर देना। इनमें प्रथम पक्षको 'ईश्वरकी सिद्धि' कहते हैं और द्वितीय पक्षको 'मुक्ति'। ईश्वरसाक्षात्कार इन स्थूल इन्द्रियोंसे नहीं होता। उनमें विशेष सामर्थ्य आ जानेपर ही उसकी अनुभूति होती है। जिस उपायसे वह विशेष सामर्थ्य प्राप्त किया जाता है, उसीका नाम 'साधन' है। उस सामर्थ्यकी प्राप्तिके लिये सबसे पहले मनपर विजय प्राप्त करना आवश्यक है। मनका विजय एकाएकी होना बहुत कठिन है। उसके लिये बड़ी एकाग्रताकी आवश्यकता है और यह एकाग्रता सच्चे वैराग्य और दीर्घकालतक तत्परतापूर्वक निरन्तर अभ्यास करनेसे ही प्राप्त हो सकती है। सच्चा वैराग्य इसे कहते हैं कि तरह-तरहके भोग्य विषय सामने हों और उन्हें भोगनेके लिये किसी प्रकारका प्रतिबन्धक भी न हो, तो भी उन्हें सेवन करनेके लिये मनकी तनिक भी प्रवृत्ति न हो। यह बड़े-बड़े तपस्वियोंके लिये भी दुर्लभ है। ऐसी स्थितितक पहुँचनेके लिये विषयोंमें दोषदृष्टि करना ही उपाय बताया गया है। अभ्यासका अर्थ है चित्तको बार-बार किसी एक ही लक्ष्यमें लगाना। इसके लिये साकार और निराकार दोनों प्रकारके आलम्बन हो सकते हैं। किन्तु आरम्भमें निराकारमें चित्तको स्थिर करना प्रायः सम्भव नहीं है। इसलिये विष्णु, शिव, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य और दुर्गा आदि साकारस्वरूपोंका ही पहले चिन्तन करना चाहिये। मनकी

चञ्चलताके कारण इनका चिन्तन भी आसान नहीं है। इसीसे पहले षोडशोपचारसे नित्य-प्रति पूजन करनेकी आवश्यकता होती है। पूजनके समय भी मन इधर-उधर जा सकता है, इसलिये उपचार-समर्पणके समय मन्त्रपाठकी विधि है। मन्त्रपाठ केवल पूजनके ही समय होता है, अतः अन्य समय चित्तकी विक्षिप्त वृत्तिको शान्त रखनेके लिये हर समय भगवन्नामजपकी आवश्यकता बतायी है। नाम-जपके समय भी मन इधर-उधर प्रत्यक्ष या परोक्ष विषयोंकी ओर चला जाता है, इसलिये उसे एक जगह फँसानेके लिये झाँझ और मृदङ्गादिकी तालके साथ सुमधुर स्वरसे नामसङ्कीर्तन करना उपयोगी है। इस प्रकार नामसङ्कीर्तनसे लेकर निराकार-ध्यान-पर्यन्त सब प्रकारके साधन चिन्तन या अभ्यासकी पुष्टिके लिये ही हैं। इनकी सहायतासे सब ओरसे हटपूर्वक हटाया हुआ मन असहाय और निर्विण्ण होकर किसी एक ही आलम्बनमें लग सकता है और जब उसे उसके चिन्तनका अभ्यास हो जाता है तो उसकी ओर उसका आकर्षण बढ़ जाता है। इस प्रकार इष्टके प्रति अनुरागकी वृद्धि हो जानेपर फिर उसे सारे लौकिक और अलौकिक विषय तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं। फिर किसी प्रकार उसकी उनके प्रति प्रवृत्ति नहीं होती और वह निरन्तर भगवत्-ध्यानमें मग्न रहता है।

जब साधकको इस प्रकार निरन्तर भगवान्‌का चिन्तन रहने लगता है तो उसे जहाँ-तहाँ अपने प्रियतमकी मधुर मूर्तिकी झाँकी होने लगती है। फिर धीरे-धीरे प्रभुका अनुग्रह होने लगता है और वे अपने भक्तकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये प्रत्यक्षरूपसे उसके सामने प्रकट हो जाते हैं। यही साकार भगवान्‌की प्राप्ति है। यहाँतक पहुँचनेके लिये भक्तको उपर्युक्त समस्त साधना-सोपानोंको पार करना होता है। साकार-चिन्तनमें विशेष प्रगाढ़ता होनेसे फिर आकार स्वयं ही लीन होने लगता है। अतः साकार चिन्तकके लिये फिर निराकार-ध्यान भी अनायास सिद्ध हो जाता है। इसके पश्चात् निराकार-चिन्तनकी भी अधिक गाढ़ता होनेपर भगवान्‌के उस स्वरूपका अनुभव होता है, जिसे उपनिषदोंमें 'विद्या' कहा है। इस समय ध्याता-ध्यान-ध्येयरूप त्रिपुटीका भी भान नहीं होता, चित्त केवल चिन्मात्र सत्तामें लीन हो जाता है। उपनिषदोंमें उद्गीथविद्या, मधुविद्या, दहरविद्या, शाण्डिल्यविद्या, उपकोसलविद्या, भूमविद्या आदि कई विद्याओंके नाम आये हैं। इनमें कुछ नाम तो आरम्भिक आलम्बनकी दृष्टिसे हैं और कोई उसके प्रवर्तक ऋषिकी दृष्टिसे। इन विद्याओंमें यद्यपि कोई बाह्य आलम्बन नहीं रहता, तो भी इनका आरम्भ किसी काल्पनिक आलम्बनको लेकर तो होता ही है। कालान्तरमें अभ्यासकी दृढ़ता होनेपर वह काल्पनिक आलम्बन छूट जाता है और साधक भगवान्‌के शुद्ध स्वरूपका साक्षात्कार कर लेता है। इस स्थितिको प्राप्त करनेपर वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका अत्यन्ताभाव देखता है और अपनी पृथक् सत्ताको खोकर भगवद्रूपमें ही मिल जाता है। इसीका नाम मुक्ति है।

किन्तु इस स्थितितक पहुँचनेके लिये चित्तशुद्धिकी बड़ी आवश्यकता है। चित्त शुद्ध हुए बिना उक्त जप-ध्यानादि साधनोंमें मनुष्यकी रुचि ही नहीं हो सकती। अतः आरम्भमें रुचि न होनेपर भी अपना कर्तव्य समझकर चित्तको हठपूर्वक इनमें जोड़ना चाहिये। पीछे स्वयं ही इनमें शनैः-शनैः रस आने लगेगा। चित्तकी साधनमें अनायास प्रवृत्ति होनेके उद्देश्यसे ही हमारे ऋषि-मुनियोंने यज्ञ, दान, तप आदि वर्णाश्रम-धर्मोंकी व्यवस्था की थी। अतः जो जिस वर्ण और जिस आश्रममें स्थित है, उसे इच्छा न होनेपर भी अपने धर्मोंका पालन करना ही चाहिये। इससे लौकिक सदाचारकी सुव्यवस्था रहनेके साथ-साथ चित्तमें भगवद्भजनकी योग्यता भी बढ़ती है। जो मनुष्य जिस वर्णमें उत्पन्न हुआ है, उसमें पितृपरम्परासे उसके अनुकूल संस्कार रहते हैं। उन्हें जबरदस्ती हटानेकी चेष्टा करना दुःसाहसमात्र ही है। ऐसा करनेसे व्यवहारमें विशृङ्खलता तो आती ही है, भगवत्प्राप्ति या मुक्तिके मार्गमें भी रोड़े खड़े हो जाते हैं। वस्तुतः वर्णाश्रमोचित कर्म तो भगवत्प्राप्तिके साधन ही हैं। उनके द्वारा तो भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त करके साधक बड़ी सुगमतासे सिद्धि लाभ कर सकता है। गीतामें श्रीभगवान्‌ने भी यही बात कही है—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(१८। ४६)

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
(१८। ४५)

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
(३। ३५)

इसके सिवा हमारे शास्त्रोंमें एक स्वतन्त्र साधनपद्धति भी है, जिसे योग कहते हैं। इसके द्वारा भी चित्तकी शुद्धि होकर चरम लक्ष्यकी प्राप्ति हो जाती है। इसके कई अङ्ग हैं, उनका क्रमशः अनुष्ठान करनेसे अन्तःकरणके मलका नाश होकर मोक्षपद प्राप्त हो जाता है। योगके कई भेद हैं; उनमें राज-

योग या अष्टाङ्गयोग प्रधान है। इस अष्टाङ्गयोगके महर्षि पतञ्जलिने आठ अङ्ग बताये हैं; यथा—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमेंसे प्रत्येक अङ्गका अभ्यास करते हुए अन्तमें निर्बीज समाधिमें स्थिति होती है। यही मुक्तिपदका अन्तिम सोपान है। किन्तु योगमें प्रगति होना कोई साधारण बात नहीं है। जिनकी देह और अन्तःकरण शुद्ध नहीं हैं, उनका इसके राज्यमें कदापि प्रवेश नहीं हो सकता। इसीलिये पहले यम-नियमादिके विधिवत् पालनकी आवश्यकता होती है, उसके पश्चात् ही धारणादि मनोजयकी भूमिकाओंपर अधिकार होना सम्भव है। इसीसे योगदर्शनमें पहले पाँच अङ्गोंको बहिरङ्ग और अन्तिम तीन अङ्गोंको अन्तरङ्ग साधन माना है, तथा निर्बीज समाधिकी अपेक्षा इन तीनको भी बहिरङ्ग बताया है। यथा—

'त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः' (पा० सू० ३। ७)
'तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य' (पा० सू० ३। ८)

भगवान् शङ्कराचार्यने 'साधनपञ्चक' नामका एक पाँच श्लोकोंका ग्रन्थ रचा है। उसमें सब प्रकारके साधनोंका बड़ी कुशलतासे वर्णन किया गया है। वे कहते हैं—

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयतां
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम्।
पापौघः परिधूयतां भवसुखे दोषोऽनुसन्धीयता-
मात्मेच्छा व्यवसीयतां निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यताम्॥ १॥

'नित्य वेदाध्ययन करो, सम्यक् प्रकारसे वेदोक्त कर्मोंका आचरण करो; उस कर्माचरणसे भगवान्‌की पूजा करो और काम्य कर्मोंकी वासना छोड़ दो। सब प्रकारके पापपुञ्जका नाश कर दो, सांसारिक सुखोंमें दोषदृष्टि करो, परमात्माकी इच्छाका अनुसरण करो और तुरंत ही अपने घरको छोड़ दो'॥ १॥

सङ्गः सत्सु विधीयतां भगवतो भक्तिर्दृढा धीयतां
शान्त्यादिः परिचीयतां दृढतरं कर्माशु सन्त्यज्यताम्।
सद्विद्वानुपसृप्यतां प्रतिदिनं तत्पादुका सेव्यतां
ब्रह्मैकाक्षरमर्थ्यतां श्रुतिशिरोवाक्यं समाकर्ण्यताम्॥ २॥

'सत्पुरुषोंका सङ्ग करो, भगवान्‌में सुदृढ़ अनुराग रक्खो, शम-दमादिका पूर्णतया पालन करो, काम्य कर्मोंको छोड़ दो तथा सच्चे संतोंके समीप जाकर प्रतिदिन उनके चरणोंकी सेवा करो और उनसे एकाक्षर ब्रह्म प्रणवका अर्थ कराओ तथा वेदान्तवाक्योंका श्रवण करो'॥ २॥

वाक्यार्थश्च विचार्यतां श्रुतिशिरःपक्षः समाश्रीयतां
दुस्तर्कात्सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्।
ब्रह्मास्मीति विभाव्यतामहरहर्गर्वः परित्यज्यतां
देहेऽहंमतिरुज्झ्यतां बुधजनैर्वादः परित्यज्यताम्॥ ३॥

'उन वेदान्तवाक्योंके अर्थका विचार करो, औपनिषद सिद्धान्तका आश्रय लो, कुतर्कसे दूर रहो, श्रुतिसम्मत युक्तियोंका अनुसन्धान करो, 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी भावना करो, नित्यप्रति अभिमानको छोड़ते जाओ, देहमेंसे अहंबुद्धि निकाल लो और बोधवानोंके साथ वाद-विवाद करना छोड़ दो'॥ ३॥

क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यतां
स्वाद्वन्नं न तु याच्यतां विधिवशात्प्राप्तेन सन्तुष्यताम्।
शीतोष्णादि विषह्यतां न तु वृथा वाक्यं समुच्चार्यता-
मौदासीन्यमभीप्स्यतां जनकृपानैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम्॥ ४॥

'भूखको व्याधि समझकर उसकी चिकित्सा करो, उसके लिये प्रतिदिन भिक्षारूप औषधका सेवन करो, स्वादिष्ट अन्न मत माँगो; दैवयोगसे जो मिल जाय, उसीसे सन्तुष्ट रहो; सर्दी, गर्मी आदि द्वन्द्वोंको सहन करो; वृथा वचन मत बोलो, उदासीनताकी ही इच्छा करो तथा अन्य लोगोंके प्रति कृपा और कठोरता दोनों ही छोड़ दो'॥ ४॥

एकान्ते सुखमास्यतां परतरे चेतः समाधीयतां
पूर्णात्मा सुसमीक्ष्यतां जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम्।
प्राक्कर्म प्रविलाप्यतां चितिबलान्नाप्युत्तरैः श्लिष्यतां
प्रारब्धं त्विह भुज्यतामथ परब्रह्मात्मना स्थीयताम्॥ ५॥

'एकान्तमें शान्तिसे बैठो और परात्पर ब्रह्ममें चित्तको समाहित करो। सर्वत्र पूर्णब्रह्मका अनुभव करो और इस जगत्‌को उसके द्वारा बाधित देखो। पूर्व-सञ्चित कर्मोंका चिदात्माके आश्रयसे बाध कर दो, भावी कर्मोंसे असङ्ग रहो तथा प्रारब्धका इसी जन्ममें भोग कर लो। [इस प्रकार कर्म-बन्धनसे छूटकर] फिर परब्रह्मरूपसे स्थित हो जाओ'॥ ५॥

उपर्युक्त पाँच श्लोकोंमें आचार्यपादने जिस साधनपद्धतिका वर्णन किया है, वह प्रधानतया विरक्ताश्रमियोंके लिये है; तथापि उसमें जिन शम, दम, तितिक्षा, समाधान एवं वैराग्यादिके अभ्यासपर जोर दिया गया है वे तो सभी

कल्याण-कामियोंके लिये परम आवश्यक हैं। इसलिये आचार्य-के इन उपदेशवाक्योंसे सभी श्रेणी और सभी आश्रमोंके साधक लाभ उठा सकते हैं।

इस प्रकार साधारणतया सर्वसाधारणके लिये जिन साधनोंकी अपेक्षा है, उनका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया। साधक अपनी-अपनी स्थिति और प्रवृत्तिके अनुसार इनमेंसे किसी भी प्रणालीका अनुसरण कर सकते हैं। परन्तु एक बात अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये कि हम एक बार जिस मार्गको अपने लिये चुन लें, उसपर ही दृढ़तापूर्वक बढ़ते चले जायँ। यह नहीं कि आज कुछ किया और कल कुछ और करने लगे। जो बार-बार अपने मार्गोंको बदलते रहते हैं, वे मार्गोंमें ही भटकते रहते हैं, लक्ष्यतक कभी नहीं पहुँच पाते। इसलिये अच्छी तरह ध्यान रखना चाहिये कि सारे मार्ग उस एक ही लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये हैं; यदि आप दूसरी ओर न देखकर एक ही मार्गपर बढ़ते चले जायँगे तो एक दिन अवश्य अपने ध्येयको पा लेंगे। भगवान् अपनी प्राप्तिके साधनोंमें मनुष्यमात्रकी प्रवृत्ति करें और वे उनके आश्रयसे उत्तरोत्तर प्रभुकी ओर अग्रसर हों—यही अन्तमें हमारी प्रार्थना है।

कल्याणका साधन-सर्वस्व

(लेखक—ज्ञानतपस्वी श्रीगीतानन्दजी शर्मा)

गीताकारके मतमें—

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः॥
(१८।१८)

अर्थात् कोई कर्म हो—यहाँतक कि ज्ञान, विज्ञान, आस्तिक्य (तत्-त्वम्-असि) आदि ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म ही क्यों न हों—उसकी प्रेरणा एवं संग्रह अवश्य रहते हैं।

साधन भी एक कर्म है। इस दृष्टिसे उक्त त्रिपुटी-नियम उसमें भी लागू होता है।

इसलिये साध्य क्या है, साधक कौन है और साधन कैसा है—इनका विचार पहले किया जाता है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥
(२।६६)

सुखतक आकर प्रश्न-परम्परा शेष हो जाती है। अतएव मनुष्यका—किं बहुना, प्राणिमात्रका—चरम साध्य सुख है, यह सिद्धान्त हुआ।

इस सुखके स्वरूपका किञ्चित् परिचय गीतामें यों दिया है—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
(६।१९-२३)

योगवर्णनके प्रसङ्गमें यह कहा जानेपर भी इसमें सुखका स्वरूप यथार्थभावसे चित्रित किया गया है।

सांसारिक सुख अनात्मपदार्थके योगसे उत्पन्न होता है; इस कारणसे वह प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव एवं अत्यन्ताभावसे भी ग्रस्त हो जाता है। १९ वें श्लोकमें उपमाद्वारा कहा गया है कि यह सुख अव्यय है, न्यूनाधिकता-से रहित है। उपमा एकदेशीय होती है। यहाँ केवल अचलतामें तात्पर्य है। अन्यथा वायुरहितता समान रहनेपर भी तेल, बत्ती आदिकी विषमतासे दीपशिखाका छोटा-बड़ापन अनिवार्य है। अस्तु,

'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्।'
(यो० द० विभूति० १०)

—यह सूत्र यहाँ अनुसन्धेय है। २०वें श्लोकसे स्पष्ट है कि इसके आत्मजन्य होनेके कारण ही यह अधिकारी है। आत्मा ब्रह्मस्वरूप है और—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
(गीता १४ । २७)

'[अव्यभिचारी भक्तियोगके गुणातीत एवं ब्रह्मभावमें हेतु होनेका समर्थन करते हैं] क्योंकि मैं (ब्रह्म, परमात्मा) ब्रह्मकी (अर्थात् त्रिगुणमय महद्ब्रह्मकी—१४ । ३, ४) प्रतिष्ठा हूँ, तथा अविनाशी अमृत (सत्) सनातन धर्म (चित्) एवं अखण्ड एकरस सुख (आनन्द) की भी प्रतिष्ठा (आधार) हूँ ।'

अतः आत्मयोगजन्य सुख भी अविनाशी एवं अखण्ड, एकरस है । एक प्रसङ्गप्राप्त शङ्काका निराकरण किया जाता है —

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
(गीता १५ । ७)

उपर्युक्त श्लोकमें भगवान् तो जीवात्माको अपना अंश बताते हैं । इसलिये आत्मयोगजनित सुखमें ब्रह्मानन्दकी सम्पूर्ण अंशमें समानता कैसे होगी ?

जीव-ब्रह्मकी एकताकी मीमांसा वेदान्तसूत्रमें की गयी है—

'अंशो नानाव्यपदेशात् ।'

जीवको नाना क्यों कहा ? 'बहु स्याम्' ऐसा श्रुतिवचन है।

समाधान यह है कि नानात्वका हेतु व्यपदेश (संज्ञा या प्रसिद्धि) है ।

'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।' अर्थात् नाम-रूपमें नानात्व, बहुत्व है; वस्तु एक ही है ।

ऊपर ६।२३में सुखका एक बहुत ही सारगर्भ विशेषण दिया गया है । वह है 'दुःखसंयोगवियोगम् ।'

इस लोकको भगवान् असुख और दुःखालय कहते हैं (८ । १५; ९ । ३३) । 'असुख'के अन्तर्वर्ती नञ् (अ) को पर्युदास (सुखभिन्न=दुःख) तथा प्रसज्यप्रतिषेध (सुखाभाव) दोनों ही अर्थोंमें लिया गया है । अर्थात् 'दुःखसंयोगवियोगम्' पदमें दुःखका अर्थ हुआ—यह देह । इसमें चार प्रकारका दुःख है—

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
(गीता १३ । ८)

इस श्लोकार्द्धमें बौद्धदर्शनका मानो सार-तत्त्व आ गया है। अस्तु,

इस संसारमें आदिसे अन्ततक इतना दुःख ओतप्रोत-भावसे रहनेपर भी—

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
(गीता ३ । ३३)

ज्ञानी मनुष्यका भी उसके साथ अभिनिवेश नहीं छूटता ।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ।
(यो० द० सा० ५)

कर्मसिद्धिके जो पाँच हेतु कहे गये हैं (१८ । १४), उनमें चेष्टा भी एक है । चेष्टा सुखका नाम है । ज्ञानी होकर भी मनुष्य गुणातीत नहीं हो जाता । क्योंकि ज्ञान भी त्रिगुणभेदसे भिन्न है और गुण मनुष्यद्वारा नित्य कर्म कराते हैं । अतः ज्ञानीको भी किसी-न-किसी सुखकी अपेक्षा रहती ही है । यद्यपि योगभाष्यकार कहते हैं कि 'सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति—मा न भूवम्, भूयासमिति' (सभी प्राणियोंको यह इच्छा नित्य ही बनी रहती है कि मेरा नाश न हो, मैं बना ही रहूँ), तथापि मृत्युका भय केवल प्रधान अभिनिवेशरूप क्लेश है । उसी तरहसे अन्यान्य प्रकारका भी अभिनिवेश होता है । जैसे राग सुखानुशयी (सुखका स्मरण दिलानेवाला) और द्वेष दुःखानुशयी (दुःखका स्मरण दिलानेवाला) क्लेश है, वैसे ही सुख-दुःख-विवेकज्ञानशून्य मोहरूप क्लेशका नाम अभिनिवेश है ।

फलतः यह बात आयी कि संसारमें दुःखबोध होनेपर भी उसको न त्यागकर यदि उसका दुःखांश मात्र निवृत्त किया जा सके और उसका सुखांश बना रहे तो मूढवत् विद्वान्को भी अभीष्ट ही होगा । परन्तु द्वन्द्वका रहना अनिवार्य होनेसे दुःख-का संयोग भी रहे, वियोग भी रहे; तो भी दुःखाभाव सिद्ध होनेसे मनुष्यको वह इष्ट है । उसका आत्मानन्द तो नष्ट हो ही नहीं सकता ।

आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनु संज्वरेत् ॥
(श्रुतिः)

आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति ।
(श्रुतिः)

इस प्रकार साध्यका निश्चय हुआ । अविनाशी सुख ही

सबका ध्येय है । अब इसका साधन क्या है, यह देखना चाहिये । साध्यके विचारमें ही एक प्रकारसे यह प्रश्न आ जाता है; क्योंकि यह सुख 'योग'-जन्य है, ऐसा कहा गया है । तथापि यह बात सामान्यरूपसे ही कही गयी है । अब इस विषयमें कुछ विशेष कथन किया जाता है ।

जिसको प्रस्थानत्रयी कहते हैं, वह परमपुरुषार्थकी सीढ़ी है । उसका उल्लेख गीताके पुष्पिकाकल्प वाक्यमें यों पाया जाता है—'उपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे ।'

इन तीनों सीढ़ियोंपर चढ़ना आवश्यक है, तथापि इन तीनोंका परस्पर अविच्छेद्य सम्बन्ध होनेसे सबका एक साथ अनुष्ठान होता है । यहाँ अवतारके विषयमें कुछ बातें अवश्यज्ञातव्य हैं । इनका प्रस्तुत विषयसे सम्बन्ध सुस्पष्ट है ।

गीताके अनुसार अवतार चार प्रकारके होते हैं । यथा—

(१) 'स्वयं भगवान्'

(१८ । ७५)

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥

(४ । ६)

(२) 'साक्षाद् भगवान्'

(१८ । ७५)

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

(४ । ७)

(३) 'योगेश्वर भगवान्'

(१८ । ७५)

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

(४ । ८)

(४) 'कृष्ण भगवान्'

(१८ । ७५)

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

(४ । ९)

इस प्रकार भगवान्‌ने 'स्वयं' की हैसियतसे उपनिषद् ही; साक्षात्‌की हैसियतसे ब्रह्मविद्या, योगेश्वरकी हैसियतसे योगशास्त्र कहा और श्रीकृष्णकी हैसियतसे अर्थात् 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' 'एवं मानुषीं तनुमाश्रितम्' के अनुसार श्रीकृष्ण-रूप अर्जुनके सखाकी हैसियतसे श्रीकृष्णार्जुनसंवाद किया ।

इस स्थलपर भगवान्‌के कहे हुए योगशास्त्रसे ही मेरा प्रयोजन है । यह अर्जुनके २ । ८ श्लोकमें पूछे हुए प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।—

इसके अष्टाङ्ग छठे अध्यायमें वर्णन किये गये हैं । १–२४ श्लोकोंमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार—इन पाँच बहिरङ्ग साधनोंका वर्णन करके, २५ वें श्लोकमें धारणा ('देशबन्धश्चित्तस्य धारणा')—

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।

२६ वें श्लोकमें ध्यान ('तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्')—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

तथा २७ वें श्लोकमें समाधि ('तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः')—

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥

—ये तीन अन्तरङ्ग साधन कहकर—

(विज्ञ पाठकोंको कहना अनावश्यक है कि 'त्रयमेकत्र संयमः' के अनुसार २५, २६, २७में धारणादित्रय एककालीन हैं ।) इसके बाद २८वें श्लोकमें वितर्कानुगत,

२९ ,, विचारानुगत,
३० ,, आनन्दानुगत और
३१ ,, अस्मितानुगत

सम्प्रज्ञातका स्वरूप दिखाकर—

३२वें श्लोकमें असम्प्रज्ञातको कहा है ।

इसका योगदर्शनोक्त लक्षण यह है—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ।

(यो० द० समाधि० १८)

अब अन्तमें साधकका विचार शेष रहा । अर्थात् योगानुष्ठानका अधिकारी कौन है, यह जानना चाहिये ।

गीता इसका उत्तर यों देती है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥

(६ । ३)

यदि 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति', यदि 'नाय-

मात्मा बलहीनेन लभ्यः', यदि 'नास्ति योगात् परं बलम्', तब तो गीताका उपदेश (भगवान्‌के स्वमुखसे दिया हुआ) हमलोगोंको नहीं भूलना चाहिये—

'तस्माद् योगी भवार्जुन ।' (६ । ४६)

यहाँपर 'तस्मात्'का कुछ स्पष्टीकरण किया जाता है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ॥

तपस्वीसे तपोयोगी श्रेष्ठ है, क्योंकि—

'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति ।' (२ । ४०)

ज्ञानीसे ज्ञानयोगी श्रेष्ठ है, क्योंकि—

'प्रत्यवायो न विद्यते' (२ । ४०)

और कर्मीसे कर्मयोगी श्रेष्ठ है, क्योंकि—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥
(२ । ४०)

अभिक्रम (प्रारम्भ) का नाश क्यों नहीं ? व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धि 'एक' होनेसे । प्रत्यवाय न करनेमें दोष क्यों नहीं ? ज्ञानके 'निस्त्रैगुण्य' होनेसे । थोड़े-से कर्मसे भी महान् भयसे रक्षा कैसे होती है ?

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥

—इसलिये ।

गीतोक्त ज्ञानके आधारपर यह लेख प्रस्तुत किया गया है । इस ज्ञानका हमलोगोंको मिलना कितना कठिन है, इसका निदर्शक एक सुप्रसिद्ध श्रौतवचन (योगभाष्यकार माधवाचार्यके मतानुसार) देकर इसकी इति करता हूँ—

अन्धो मणिमविन्दत्
तं निरङ्कुलिरावयत् ।
अग्रीवस्तं प्रत्यमुञ्चत्
तमजिह्वोऽभ्यपूजयत् ॥

दिव्यदृष्टिशून्य (अतएव अन्ध) सञ्जयको (व्यासप्रसादसे) गीतासंवादरूप मणि मिला ।

स्वयं लिखनेमें असमर्थ (अतएव निरङ्कुलि) भगवान् वेदव्यासजीने उस मणिको महाभारतके अंदर ग्रथित किया ।

गजके मस्तकको धारण करनेवाले (अतएव अग्रीव) गणेशजीने उसको गलेमें धारण किया अर्थात् उसका मर्मार्थ समझकर लिखा ।

मौनव्रती (अतएव अजिह्व) विद्वानोंने उसकी प्रशंसा की—

'यतो वाचो निवर्तन्ते'

संतोंकी प्रत्येक चेष्टा लोककल्याणके लिये होती है !

श्रीवसुदेवजी कहते हैं—

भगवन् भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम् । कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम् ॥
भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च । सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २ । ४-५)

हे देवर्षे ! जैसे माता-पिताका शुभागमन बालकोंके हितके लिये और भगवान्‌की ओर चलनेवाले संतोंका शुभागमन तापतप्त प्राणियोंके हितके लिये होता है । वैसे ही आपका शुभागमन समस्त प्राणियोंके परम कल्याणके लिये है । देवताओंके आचरण कभी प्राणियोंके सुखके लिये होते हैं तो कभी दुःखके लिये भी हो जाते हैं । परन्तु जो आपके-जैसे महात्मा हैं, जो भगवन्मय हैं, उनकी तो प्रत्येक चेष्टा ही प्राणियोंके सुखके लिये होती है ।

गीताकी साधना

(लेखक—डा० एस्० के० मैत्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

श्रीमद्भगवद्गीता वस्तुतः साधनाका ग्रन्थ है। यह न ज्ञानपरक है न कर्मपरक और न भक्तिपरक ही है, यद्यपि इन सबका विचार आत्मसाक्षात्कारकी दृष्टिसे इसमें अवश्य हुआ है।

गीता योगशास्त्र है, 'योग' शब्दका अर्थ—

भगवद्गीता वास्तवमें योगशास्त्र है। प्रत्येक अध्यायके अन्तमें ये शब्द आते हैं—'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे·····योगो नाम ·····अध्यायः।' प्रत्येक अध्यायको एक-एक योगके नामसे कहा गया है—जैसे, 'अर्जुनविषादयोग', 'सांख्ययोग', 'कर्मयोग' इत्यादि।

इस 'योग' शब्दका अर्थ क्या है? श्रीयुत डी० एस्० शर्मा अपनी 'भगवद्गीता-परिचय' (Introduction to the Bhagavadgita) नामक पुस्तकमें योगका अर्थ भगवान्‌के साथ संयोग या भगवत्साहचर्य बतलाते हैं। इसी प्रकार महात्मा श्रीकृष्णप्रेम भी अपने 'गीतोक्त योग' (The Yoga of the Bhagavadgita) नामक ग्रन्थमें यों कहते हैं—'योगका अभिप्राय यहाँ 'योग' नामसे परिचित किसी विशिष्ट साधनपद्धतिसे—ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग अथवा महर्षि पतञ्जलिके अष्टाङ्गयोगसे नहीं है; प्रत्युत इसका अभिप्राय उस मार्गसे है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने परिच्छिन्न व्यष्टिस्वरूपको अनन्त अपरिच्छिन्न परमात्माके साथ युक्त कर देता है।'

इस प्रकार योगका अर्थ है ईश्वरके साथ जुड़ जाना। पर ईश्वरके साथ जुड़ जानेके तीन अर्थ होते हैं—(१) अपने साथ युक्त होकर अपने व्यष्टिस्वरूपका साक्षात्कार करना, (२) विश्वके साथ एक होकर विश्वात्माका साक्षात्कार करना और (३) उपर्युक्त दोनों पूर्णयोगोंका योग करके आत्मसाक्षात्कार या ईश्वरसाक्षात्कार करना। इस प्रकारसे गीतामें जिन विभिन्न योगोंका वर्णन किया गया है, उनके तीन मुख्य विभाग किये जा सकते हैं—(१) जिनका ध्येय व्यष्टिचेतन या जीवात्माका साक्षात्कार कराना है, (२) जिनका लक्ष्य समष्टिचेतन या विश्वात्माका साक्षात्कार कराना है और (३) जिनका लक्ष्य पूर्ण आत्मसाक्षात्कार अथवा ईश्वरसाक्षात्कार कराना है। हाँ, एक बात आरम्भमें ही अच्छी तरह समझ लेनी चाहिये। यद्यपि विषयको समझानेकी सुविधाके लिये उपर्युक्त तीन विभाग किये जा सकते हैं, तथापि यह बात ध्यानमें रहे कि गीता एक अविच्छिन्न अनुभूतिको मानती है, खण्ड-खण्ड अनुभूतिमें विश्वास नहीं करती। इस अनुभूतिके अठारह साधन हैं, जो गीताके अठारह अध्यायोंमें वर्णित हैं।

अधिकारी कौन है?

साक्षात्कारका प्रसङ्ग छेड़नेके पूर्व दो एक बातोंको स्पष्ट कर लेना जरूरी है। पहली बात यह है कि गीतामें जिस अनुभूतिका वर्णन है, वह किसकी अनुभूति है—एक सामान्य मनुष्यकी या किसी असाधारण ज्ञानी पुरुषकी? यह प्रश्न बड़े महत्त्वका है। क्योंकि गीताने यदि किसी असाधारण विशिष्ट-शक्ति-सम्पन्न पुरुषको होनेवाली अनुभूतिका ही वर्णन किया हो, तब तो यह सबके कामका ग्रन्थ नहीं रह जाता; कुछ थोड़े-से विशिष्ट लोग ही इससे लाभ उठा सकते हैं। परन्तु यदि सामान्य मनुष्यकी अनुभूतिका इसमें प्रतिपादन हुआ है तो यह सभी सामान्य मनुष्योंके कामकी चीज़ है।

गीतामें अर्जुनकी अनुभूतिका वर्णन किया गया है। अर्जुन कौन है? वह कोई साधारण मनुष्य है या कोई असाधारण शक्ति-सम्पन्न प्रबुद्ध व्यक्ति? अर्जुन क्षत्रिय है, उत्तम कुलका है—चन्द्रवंशमें उत्पन्न हुआ है, क्षात्रोचित शिक्षा उसे मिली है, द्रोणाचार्य-जैसे महान् धनुर्विद्याविशारदसे उसने युद्ध-विद्या भी सीखी है। पर अध्यात्मविद्यामें वह कोरा ही है। ब्रह्मविद्यामें उसकी कोई गति नहीं है और न इस ओर उसका कोई विशेष झुकाव ही है। एक तरहसे वह वहमी भी है, क्योंकि वह असगुन देखता है (निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव)। उसमें भावुकता विशेष है। अपने स्वजनोंको अपने विरुद्ध युद्धमें खड़े देख उसका शरीर काँप उठता है, अङ्ग शिथिल हो जाते हैं और धनुष हाथसे छूट जाता है। ये लक्षण किसी विशेष आध्यात्मिक उन्नतिके नहीं हैं, बल्कि निम्नावस्थाके ही हैं। युद्धसे हटनेका उसका निश्चय भी किसी महान् नैतिक सिद्धान्तसे प्रेरित नहीं

है। वह अहिंसावादी नहीं था, जैसा कि कुछ लोग समझते हैं। उसकी यह स्थिति उसके भावोंकी प्रबलताके कारण हो गयी थी, जिनसे उसका विवेक दब गया था। युद्ध न करनेके लिये जो युक्तियाँ उसने पेश की थीं, वे सत्याभासके सिवा और कुछ भी नहीं और इसलिये भगवान् श्रीकृष्णने 'प्रज्ञावादांश्च भाषसे' कहकर जो उसकी चुटकी ली, वह ठीक ही थी। उसने स्वयं ही यह स्वीकार किया है कि मेरी बुद्धि शोकसे अभिभूत हो गयी है, भ्रमित हो गयी है, मैं यह निर्णय नहीं कर पाता कि मेरा क्या कर्तव्य है (गीता २। ७)। इसलिये यह कहना कि युद्धसे हटनेमें अर्जुनका बहुत ऊँचा भाव था, सरासर गलत है। श्रीशर्माजीने अपने उपर्युक्त ग्रन्थमें इस बातको बड़ी खूबीके साथ प्रमाणित किया है। इसीलिये मैं मानता हूँ कि अर्जुन एक सामान्य मनुष्य ही था। अवश्य ही वह उपदेशका अधिकारी था, अन्यथा जगद्गुरु भगवान् उसे अपने उपदेशका निमित्त न बनाते। उसमें विनय है, यद्यपि वह अहङ्कारसे सर्वथा रहित नहीं; क्योंकि जहाँ उसने कहा है 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' (मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, तुम्हारी शरणमें हूँ, मुझे शिक्षा दो), वहाँ तुरंत ही उसने यह भी कहा है कि 'न योत्स्ये' (मैं लड़ूँगा नहीं)। अर्जुन अधिकारी तो है, परन्तु ज्ञानी अथवा अध्यात्ममार्गमें बहुत आगे बढ़ा हुआ नहीं। अर्जुनके इस अधिकारको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भगवत्-प्राप्तिके क्षेत्रमें अर्जुनके लिये जो कुछ साध्य है, वह किसी भी सामान्य मनुष्यके लिये साध्य है, यदि वह सच्चा जिज्ञासु हो। यह कहना भी ठीक नहीं है कि अर्जुनको दिये हुए उपदेशके अधिकारी केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय ही हो सकते हैं, दूसरे नहीं। गीताकी दृष्टि अत्यन्त उदार है। अठारहवें अध्यायकी समाप्तिमें कहा गया है—

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥
(गीता १८। ७१)

केवल असूयारहित श्रद्धा होनी चाहिये। जिसमें ऐसी श्रद्धा है, वही इस उपदेशका अधिकारी है। परन्तु यह बात तो सभी उपदेशोंके लिये लागू है। दोषदृष्टियुक्त बुद्धिसे किसी भी उपदेशका ग्रहण नहीं हो सकता। गीतोपदेशका अधिकार विशिष्ट वर्णोंको ही नहीं, सबको है—जो भी उसे श्रद्धासे ग्रहण करना चाहें।

गीतोपदेशका प्रसङ्ग

दूसरा प्रश्न यह है कि वह प्रसङ्ग या आकस्मिक घटना क्या है, जिससे गीतोपदेशका आविर्भाव हुआ? आत्माकी ओर मुड़नेकी बुद्धि किसी ऐसे ही प्रसङ्गसे हुआ करती है, जिससे जीवकी धर्मबुद्धि आन्दोलित हो उठे, उसके लिये आत्माके सिवा और कोई सहारा न जान पड़े। गीताके पहले अध्यायमें इसी प्रसङ्गका वर्णन है। दूसरे अध्यायके ४ से ८ तकके श्लोकोंमें भी यही प्रसङ्ग है। यह है अर्जुनके भाव और कर्तव्यके बीचमें युद्ध। अर्जुनकी मानसिक स्थितिका सच्चा चित्र पहले अध्यायके २९ वें और ३० वें श्लोकोंमें खींचा गया है। उससे उसकी अतिशय भावुकता प्रकट होती है, जिसके कारण उसकी बुद्धि धर्मसङ्कटमें पड़कर भ्रमित हो गयी है। ऐसा धर्मसङ्कट मनुष्यके लिये कोई बहुत असाधारण बात नहीं है। भय अथवा शोकके प्रसङ्गमें ऐसा अनुभव बहुतोंको होता है। अर्जुनके सामने अपने स्वजनोंको ही मारनेका प्रसङ्ग उपस्थित था। केवल इतनेसे ही उसके मनमें धर्मसङ्कट उपस्थित न होता; पर बात यह थी कि उसके अंदर छिपे-छिपे यह बुद्धि भी अपना काम कर रही थी कि इस युद्धमें लड़ना तो मेरा कर्तव्य है। उसके अव्यक्त मनमें यह जो कर्तव्य-बुद्धि छिपी हुई थी, उसीके प्रभावको हटानेके लिये वह इसके विपरीत युक्तियोंको सामने रख रहा था। उसके मनोभाव ही अपने असली रूपको छिपानेके लिये इन युक्तियोंका जामा पहन रहे थे। फ्रूड और उनके शिष्योंके ग्रन्थोंका जिन्हें कुछ भी परिचय है, उनसे भावोंकी—अपने-आपको छिपानेकी यह कला छिपी नहीं है। अन्ततः ४६ वें श्लोकमें जब अर्जुन यहाँतक कह देता है कि 'कौरव हाथमें शस्त्र लेकर, मेरे हाथमें शस्त्र न रहते, मुझे मार डालें—यही मेरे लिये अधिक अच्छा होगा।' तब परदा फट जाता है और उसके मनकी असली हालत जाहिर हो जाती है। जिसकी बुद्धि भावोंसे अभिभूत हो गयी है, उसीके मुँहसे ऐसी बात निकल सकती है। अतएव उसके अव्यक्त मनमें काम करनेवाली उसकी अस्पष्ट कर्तव्य-बुद्धि तथा उसके भावोंके बीच होनेवाला युद्ध ही यह धर्मसङ्कट उपस्थित कर देता है।

ऐसे धर्मसङ्कटको तब योग क्यों कहा है? अर्जुनकी इस स्थितिका 'अर्जुनविषादयोग' नाम क्यों रक्खा गया? यह तो योगके सर्वथा विपरीत अवस्था है। यह सच है कि अर्जुनकी बुद्धि भ्रमित हो गयी है, मूढ़ हो गयी है; पर यह मोह—यह

मूढ़ावस्था भगवत्प्राप्तिकी पहली सीढ़ी है और इसलिये इसे 'योग' कहना ठीक ही है। आध्यात्मिक अनुभूतिकी मनोगत अवस्थाओंका पूर्ण परिज्ञान गीताके वक्ताको था, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं। अनेकानेक साधु-महात्माओं और पैगम्बरोंके जीवनमें यह बात देखनेमें आती है कि इसी प्रकारके विषाद और मानसिक सङ्कटोंमें पड़कर ही वे साधनाके पथपर आरूढ़ हुए। उदाहरणार्थ—रोग, जरा और मृत्युके दृश्य देखकर ही बुद्धदेवके चित्तपर ऐसा आघात पहुँचा कि वे राज़पाट त्यागकर सत्यकी खोजमें बाहर निकल पड़े। साधारण मनुष्योंमें भी यह देखा जाता है कि जब किसी मनुष्यको कोई महान् नैराश्य या शोक आकर हिला डालता है, तब वहींसे उसका एक नवीन आध्यात्मिक जीवन आरम्भ होता है। इसीलिये अर्जुनके विषादको योग कहना ठीक ही है, यद्यपि योगके सब लक्षण उसमें विद्यमान नहीं हैं।

गीताका योग और उसके व्यावहारिक लक्षण

अब श्रीमद्भगवद्गीताका योग क्या है, इसको हम देखें। गीताने योगके कुछ सामान्य लक्षण बतलाये हैं, जिन्हें हम योगके तटस्थ या व्यावहारिक लक्षण कह सकते हैं। प्रत्येक प्रकारके योगमें ये लक्षण होने ही चाहिये, केवल एक विषाद-योगमें नहीं होते।

प्रत्येक योगके व्यावहारिक लक्षण गीताके विभिन्न अध्यायोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे बतलाये गये हैं। मुख्य-मुख्य लक्षण ये हैं—कर्मफलकी इच्छाका न होना (२। ४७; ४। २०; ५। १२), विषयोंके प्रति अनासक्ति (२। ४८; ३। १९), समत्व (२। ४८), निष्कामता (४। १९), सुख-दुःख एवं हानि-लाभमें समता (२। ३८), शीतोष्ण एवं मानापमानमें उदासीनता (६। ७; १२। १८), तथा मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, बन्धु आदिमें पक्षपात-राहित्य (६। ९)। इन सबको एक शब्दमें कहें तो 'विषयोंसे अनासक्ति' कह सकते हैं। ये लक्षण अभावात्मक हैं। इनके अतिरिक्त प्रत्येक योगमें कुछ भावात्मक लक्षण भी हैं—जैसे सब कर्म भगवान्‌को अर्पण करना (३। ३०; ९। २७), सब अवस्थाओंमें सन्तुष्टि (१२। १९; १२। १४), मनको भगवान्‌में लगाना (१२। ७ और ८)। और भी कई भावात्मक लक्षण गिनाये गये हैं, पर उन सबका अन्तर्भाव उपर्युक्त तीन लक्षणोंमें हो जाता है।

भिन्न-भिन्न योगोंके व्यावहारिक लक्षणोंमें जो विलक्षण साम्य है यह कर्मयोगी, ज्ञानयोगी, सांख्ययोगी, भक्तियोगी आदि भिन्न-भिन्न योगियोंके वर्णन मिलाकर पढ़नेसे प्रत्यक्ष हो जाता है। स्थितप्रज्ञ या सांख्ययोगी और भक्तिमान् या भक्तियोगीके लक्षण देखिये—

स्थितप्रज्ञके लक्षण

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
(गीता २। ५६-५७)

भक्तिमान्‌के लक्षण

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥
(गीता १२। १७-१९)

इन्हीं लक्षणोंको १४ वें अध्यायके गुणातीतके लक्षणोंसे मिलाइये—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥
(गीता १४। २४-२५)

तीनों ही वर्णनोंमें कितना विलक्षण साम्य है! इससे यही बात सिद्ध होती है कि कुछ ऐसे सामान्य लक्षण हैं, जो प्रत्येक योगमें होते ही हैं।

इन व्यावहारिक लक्षणोंका गीतामें बारंबार वर्णन होनेसे गीताके वास्तविक सिद्धान्तके सम्बन्धमें बहुतोंको भ्रम हो जाता है। जैसे कुछ लोगोंकी यह धारणा है कि गीताका सिद्धान्त कर्मयोग ही है, क्योंकि योगके उपर्युक्त सब व्यावहारिक लक्षण इसमें मिलते हैं। परन्तु ऐसा कहना इस बातको भुला देना है कि ये लक्षण जितने कर्मयोगमें मिलते हैं उतने ही सांख्य या ज्ञानयोग, ध्यानयोग या भक्तियोगमें भी मिलते हैं। इनमेंसे किसी भी योगमें इन सब लक्षणोंका

मिलना इस बातका प्रमाण नहीं है कि गीतामें उसी योगका विशेषरूपसे प्रतिपादन हुआ है।

गीताने जर्मन-तत्त्ववेत्ता कांटकी तरह केवल धर्म या नीतिके व्यावहारिक लक्षण ही नहीं दिये हैं, बल्कि प्रत्येक योगके वास्तविक या स्वरूपभूत लक्षण भी बतलाये हैं। दीवानबहादुर के० एस्० रामस्वामी शास्त्री अपनी 'Problems of the Bhagavadgita' (भगवद्गीताके विचारणीय विषय) नामक पुस्तकमें लिखते हैं—'आत्म-संयम, कामनाका त्याग, प्राणिमात्रसे प्रेम, अहङ्कारशून्यता, निर्ममता, शीतोष्ण, सुख-दुःख एवं निन्दा-स्तुति आदिमें समता तो सभी योगोंके सामान्य लक्षण हैं; पर कर्मयोग कर्मपर विशेष जोर देता है, राजयोग ध्यानपर, भक्तियोग भक्तिपर और ज्ञानयोग ज्ञानपर विशेष जोर देता है।' प्रत्येक योगका एक निश्चित भावात्मक लक्षण है, वही उसके लक्ष्यका निर्देश है। जैसे कर्मयोगका निश्चित लक्ष्य लोक-संग्रह अर्थात् सब लोगोंका कल्याण है, ज्ञानयोगका लक्ष्य 'वासुदेवः सर्वमिति' यह ज्ञान है, सांख्ययोगका लक्ष्य ब्राह्मी स्थिति (२। ७२) है, और राजयोग या ध्यानयोगका लक्ष्य ब्रह्मसंस्पर्शरूप अक्षय सुखकी प्राप्ति (६। २८) है। इसी प्रकार विश्वरूपदर्शनयोगका लक्ष्य भगवान्‌के विश्वरूप-का दर्शन है और भक्तियोगका लक्ष्य भगवान्‌का अतिशय प्रिय होना (१२। २०) है। इस प्रकार सामान्य व्याव-हारिक लक्षणोंके अतिरिक्त प्रत्येक योगका अपना एक निश्चित भावात्मक स्वरूप भी है।

गीता किसी एक ही योगका उपदेश देती है या सभी योगोंको एक-सा महत्त्व देती है ?

इस प्रश्नने गीताके सम्बन्धमें बड़े-बड़े वाद खड़े कर दिये हैं! पूर्वके महान् आचार्योंने गीताको ज्ञान अथवा भक्तिका प्रतिपादक ग्रन्थ माना; परन्तु लोकमान्य तिलकने इसे कर्मयोग-शास्त्र कहा है। यहाँ इस विवादकी एक-एक बातको लेकर चर्चा करना स्थानाभावके कारण असम्भव है। पर दो-एक बातें कही जाती हैं, जिनसे यह मालूम होगा कि गीताका प्रतिपाद्य कोई एक ही विशिष्ट योग हो और अन्य सब योग उसके साधक हों—ऐसी बात नहीं है। यदि ऐसी बात होती तो अन्य योगोंका इसमें इतना विस्तार होनेका कोई कारण नहीं था; केवल एक ही विशिष्ट योगका विस्तारसे निरूपण करके यह कह देना पर्याप्त था कि अन्य सब योग उसीके सहायक अथवा अन्तमें उसीमें मिल जानेवाले हैं। पर गीतामें इस तरहकी कोई बात नहीं कही गयी है। यह सही है कि कहीं-कहीं विभिन्न योगोंको अभिन्न बताया गया है, जैसे—पाँचवें अध्यायके ४थे और ५वें श्लोकोंमें सांख्ययोग और कर्मयोगको स्पष्ट शब्दोंमें अभिन्न तथा एक ही लक्ष्यतक पहुँचानेवाला बतलाया गया है। उसी अध्यायके दूसरे श्लोकमें यह बात भी कही गयी है कि कर्मसंन्यास अर्थात् सांख्ययोग-की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है। परन्तु यहाँ हमें इन विभिन्न वचनोंका पसङ्ग भी अच्छी तरह देख लेना चाहिये। पाँचवें अध्यायके उपक्रममें अर्जुनने पूछा है कि 'हे कृष्ण! आप एक ओर तो कर्मोंके संन्यासकी प्रशंसा करते हैं और दूसरी ओर कर्मयोगको अच्छा बतलाते हैं; अतः इनमें जो उत्तम फल देनेवाला हो, वह मार्ग मुझे सुनिश्चितरूपसे बताइये।' ऊपरके वाक्य इसी प्रश्नके उत्तरमें कहे गये हैं। यथार्थमें चौथा अध्याय कर्मसंन्यासका प्रतिपादन नहीं करता, जैसा कि उसके इन दो अन्तिम श्लोकोंसे सर्वथा स्पष्ट है—

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥
तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥

इस स्पष्टोक्तिमें सन्देहकी कोई गुंजायश ही नहीं है। 'आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति' इन पदोंका तो कुछ अर्थ ही न रह जाय, यदि इन श्लोकोंको कर्मसंन्यासका प्रतिपादक माना जाय। फिर भी अर्जुनके मुखसे जो सन्देह प्रकट किया गया है उसका अभिप्राय, जैसा कि लोकमान्यने बतलाया है, यही मालूम होता है कि भविष्यमें चतुर्थ अध्यायके तात्पर्यके विषयमें किसीको सन्देह हो जाय तो उसके समाधानके लिये पाँचवें अध्यायमें अर्जुनकी शङ्का और उसका फिर समाधान है।

परन्तु 'संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ' कहनेमें गीताका क्या अभिप्राय है? गीताका अपना सिद्धान्त तो यह नहीं है कि कर्मसंन्याससे मोक्ष होता है, बल्कि इसके विपरीत तीसरे अध्यायके चौथे श्लोकमें यह स्पष्ट कहा गया है कि कर्मसंन्याससे सिद्धि नहीं प्राप्त होती। फिर भी संन्यास और कर्मयोग दोनोंको ही जो निःश्रेयसकर कहा गया है, इसका कारण विचारनेमें वही बात सामने आती है, जो तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने कही है, कि 'सृष्टि-

के आरम्भमें मैंने निःश्रेयसके दो मार्ग बताये थे—सांख्ययोगियों-के लिये ज्ञानयोगका (जिसमें कर्मका संन्यास करना पड़ता है) और कर्मयोगियोंके लिये कर्मयोगका ।' सृष्टिके आरम्भमें कही हुई इस बातको गीताने बिल्कुल एक नये रूपमें ग्रहण किया है; क्योंकि गीता कर्मसंन्यासको नहीं मानती पर एक दूसरे ही प्रकारका संन्यास बतलाती है, जिसमें कर्मफलका सन्यास किया जाता है । गीताने संन्यासकी नयी परिभाषा की है—'विद्वान् लोग काम्य कर्मोंके न्यासको ही संन्यास कहते हैं (१८ । २)' और संन्यासीकी भी नयी परिभाषा की है—'कर्मफलका आश्रय छोड़कर जो कर्तव्य-कर्म करता है वही संन्यासी है और वही योगी है, निरग्नि और निष्क्रिय नहीं (६ । १) ।'

सांख्य और योगको एक ही (एकं सांख्यं च योगं च) बतलानेमें भी गीताका अभिप्राय यह नहीं है कि एकका दूसरेमें लय हो सकता है, बल्कि यह दिखलाना है कि दोनों-में कोई विरोध नहीं है । सच पूछिये तो गीताकी यह एक प्रधान विशेषता है कि वह दोनोंका अपने योगके सिद्धान्त-द्वारा बहुत सुन्दर ढंगसे समन्वय कर देती है । सांख्य तो कर्मशून्य था, गीतामें आकर वह सांख्ययोग हो गया—जो कर्मका समर्थक है । और कर्म, जिसके मूलमें था काम, गीतामें आकर कर्मयोग हो गया—जिसका आधार है कामनाका अभाव । ऐसे ही संन्यास, जिसका अर्थ था कर्मोंका संन्यास, गीतामें आकर संन्यासयोग हो गया—जिसमें अहंकार और कर्मफलका न्यास होता है । इस प्रकार अपने योगके सिद्धान्तद्वारा गीता सांख्य, कर्म और संन्यासके वास्तविक स्वरूपकी रक्षा करते हुए भी इन मार्गोंमेंसे परस्पर विरोध उत्पन्न करनेवाले भावोंको हटा देती है ।

इसलिये मेरे विचारमें गीता किसी विशिष्ट योगका, अन्य योगोंके व्यतिरेकसे, प्रतिपादन नहीं करती और न एक योग-का दूसरे योगके साथ कोई विरोध ही मानती है । गीतामें जिस क्रमसे इन विभिन्न योगोंका वर्णन किया गया है, वह साधनाका ही क्रम है । द्वितीय अध्यायमें प्रतिपादित सांख्य-योगसे आगे बढ़कर साधक स्वभावतः कर्मयोगमें प्रवेश करता है, जो तीसरे अध्यायका विषय है । तीसरे अध्यायकी साधनासे साधक अपने-आप चतुर्थ अध्यायके कर्मसंन्यास—ज्ञानयोगमें पहुँच जाता है । चतुर्थ अध्यायका उपदेश ग्रहण करनेपर साधकके मनमें अनिवार्यरूपसे संन्यास और कर्मके परस्पर सम्बन्धका प्रश्न उठता है, और यही पाँचवें अध्यायका विषय है—जिसका नाम कर्मसंन्यासयोग रक्खा गया है । इस प्रकार कर्म, ज्ञान और संन्यासका परस्पर सम्बन्ध निर्धारित हो जानेपर ध्यानके द्वारा प्राप्त होनेवाली सिद्धिके स्वरूपका प्रश्न आता है; यही छठे अध्यायमें बतलाया गया है और इसीलिये इसे ध्यानयोग या आत्मसंयमयोग कहते हैं । यहाँतक जीवात्माके साक्षात्कारके सम्बन्धमें जितने साधन अथवा योग हैं, उनका प्रतिपादन हुआ । इसके बाद जो योग आते हैं, वे समष्टि-चेतन या विश्वरूप भगवान्‌की प्राप्तिके साधन हैं । सातसे बारह तकके अध्यायोंमें इन्हींका वर्णन है । अन्तमें इन दोनों सिद्धियोंका एकत्व साधन करनेवाले अर्थात् पूर्ण आत्मसाक्षात्कार या ईश्वर-साक्षात्कार करानेवाले योगोंका शेष छः अध्यायोंमें वर्णन है ।

(१) व्यष्टिचेतन अर्थात् जीवात्माका साक्षात्कार करानेवाले योग

ऊपर योगोंके जो तीन विभाग किये गये हैं, वे सिद्धिके स्वरूपको लेकर ही किये गये हैं । तदनुसार प्रथम वर्गके योग व्यष्टिचेतन या जीवात्माका साक्षात्कार करानेवाले हैं । यह मैं पहले ही कह चुका हूँ कि कोई भी सिद्धि केवल व्यष्टि-चेतनको लेकर नहीं होती, प्रत्येक सिद्धिका सम्बन्ध तीनों ही सिद्धियोंके साथ रहता है । परन्तु पहले छः अध्यायोंका विषय मुख्यतया व्यष्टिचेतन या जीवात्माके साक्षात्कारका ही है । व्यष्टिचेतनके साक्षात्कारमें सबसे बड़ा विघ्न उसके अंदर होनेवाले सङ्घर्ष हैं । ये सङ्घर्ष आरम्भसे छठे अध्यायतक किसी-न-किसी रूपमें ही बने रहते हैं । छठे अध्यायमें ध्यानयोग या राजयोगके द्वारा अपनी विभिन्न सत्ताओंको एकीभूत कर साधक अपने समग्र व्यष्टिस्वरूपका साक्षात्कार करता है । फिर भी जीवात्माके समग्र स्वरूपका पूर्ण साक्षात्कार अठारहवें अध्यायमें होता है, इससे पहले नहीं । जहाँ अर्जुन कह उठता है कि 'अब मेरा मोह नष्ट हो गया, संशय दूर हुआ; मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ।'

(२) विश्वरूप भगवान्‌का साक्षात्कार करानेवाले योग

जीवात्माके साक्षात्कारके बाद विश्वरूप भगवान्‌के साक्षात्कारका साधनक्रम सातवें अध्यायसे आरम्भ होता है । इसी अध्यायसे गीताका उपदेश सार्वभौम रूप धारण करना आरम्भ करता है । जीवात्माका यहीं विश्वात्माके साथ गँठ-बन्धन आरम्भ होता है । इसी सातवें अध्यायमें परा और अपरा प्रकृतिके भेदका निरूपण हुआ है । परा प्रकृति वह

बतायी गयी है, जो जीव बनी हुई ('जीवभूता') इस जगत्‌को धारण कर रही है ('ययेदं धार्यते जगत्') । परा प्रकृतिका यह लक्षण सारगर्भित है; इससे भगवान्‌की परा-प्रकृतिके साथ व्यष्टिचेतनका जो सम्बन्ध है, वह अधिक स्पष्ट हो जाता है और जीवके लिये भगवत्प्राप्तिका रास्ता खुल जाता है ।

आठवें अध्यायके तीसरे श्लोकमें कर्मके सार्वभौम अर्थका विशदीकरण हुआ और फिर सारे अध्यायमें जीवकी गतिका वर्णन किया गया है । नवें अध्यायमें भी यही विषय चला है । इसी अध्यायमें आगे चलकर वे प्रसिद्ध श्लोक आते हैं, जिनमें भगवत्स्वरूपका वर्णन है । भगवान्‌का वह स्वरूप जो सारे विश्वसे परे है, और वह स्वरूप जो विश्वमें ओतप्रोत है—दोनोंकी ही झाँकी यहाँ मिलती है, यद्यपि उनके पिछले स्वरूपपर अधिक जोर दिया गया है—जो ठीक ही है । क्योंकि विश्वरूप भगवान्‌की ओर ही विशेषरूपसे ध्यान दिलाना यहाँ अभिप्रेत है । दसवें अध्यायका नाम विभूतियोग यथार्थ ही है, क्योंकि इसमें भगवान्‌का विभुत्व—विश्वव्यापकत्व—और भी विशद किया गया है । इस अध्यायमें भगवान् अपने मानवातीत, विश्वव्यापक रूपपर अधिक जोर देते हैं—

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥
यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
(गीता १० । २-३)

श्रीकृष्णप्रेमजी कहते हैं कि 'गीताके जो वक्ता गीतामें बोल रहे हैं, कोई मनुष्य नहीं, बल्कि वे परब्रह्म हैं—जिनमेंसे सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और जिनमें फिर यथासमय लय हो जाते हैं ।'*

परन्तु भगवान्‌का यह विश्वव्यापक रूप अपनी परिपूर्णता, महान् ऐश्वर्य और अनन्त महिमाके साथ प्रकट होता है ग्यारहवें अध्यायमें ही । यहाँ जिस विश्वरूपका दर्शन होता है, वह इतना विराट् और भीषण है कि उसे देखकर अर्जुन भयसे काँप उठता है और भगवान्‌से पुनः अपने सौम्य मानुषरूपमें प्रकट होनेकी प्रार्थना करता है (११ । ४५) । भगवान्‌के विश्वरूपका जिसे दर्शन हो जाता है, वह भक्तिका ही अवलम्बन करेगा; इसलिये विश्वरूपदर्शनयोगके बाद भक्ति-योगका प्रारम्भ स्वाभाविक ही है । आत्माके उत्थानसे सम्बन्ध रखनेवाले योगोंका प्रतिपादन यहाँ समाप्त हो जाता है । अर्जुनको भगवान्‌की अनन्त महिमा और अनन्त शक्तिकी एक झाँकी मिल गयी । परन्तु इस विराट् रूपके दर्शनसे उसकी आँखें चौंधिया गयीं और वह भयभीत हो गया । कहाँ तो अनन्त ऐश्वर्यसम्पन्न भगवान् और कहाँ क्षुद्र जीव ! श्रीअरविन्द कहते हैं—'जीवकी परिच्छिन्न प्राकृत पृथग्भूत क्षुद्रातिक्षुद्र व्यष्टि-सत्ताके लिये इस अनन्त सत्ताका अपार अमित महातेज अत्यन्त दुस्सह है । इसलिये इस महान् और इस अल्पके बीच सम्बन्ध जोड़नेवाला कोई सूत्र होना चाहिये, जिससे यह व्यष्टिजीव उस महान् विश्वरूप भगवान्‌को अपने प्राकृत आधारमें अपने समीप अनुभव कर सके, केवल अपनी सर्वशक्तिमत्तासे अपनी अपरिमेय समष्टि-शक्तिके द्वारा उसकी समग्र सत्ताका नियमन करनेवाले नियन्ताके रूपमें ही नहीं, बल्कि उसके साथ व्यक्तिगत निकट सम्बन्ध जोड़कर उसे सहारा देने, उठाने और अपने साथ एक करनेवाले मनुष्यके रूपमें ।' ('Essays on the Gita', second series, P. 197) यह सूत्र है मनुष्यरूप धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण ।

(३) द्विविध अनुभूतिकी एकता अर्थात् पूर्ण आत्म-साक्षात्कार अथवा ईश्वर-साक्षात्कार करानेवाले योग

अब हम गीताके अन्तिम भागकी ओर आते हैं, जिसका प्रतिपाद्य विषय है पूर्वकी द्विविध सिद्धियोंकी एकता; जिसका परिणाम है सम्पूर्ण आत्मसाक्षात्कार अथवा भगवत्साक्षात्कार । यही चरम सिद्धि है । भगवान् और मनुष्यके बीच सम्बन्ध स्थापित करनेके लिये भगवान्‌का मनुष्यरूप धारण करना किस प्रकार आवश्यक है, यह हम अभी देख चुके । पर इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि मनुष्य भगवान्‌के विश्वरूपका साक्षात्कार करके संसारमें उतरे और इस साक्षात्कारके प्रकाशमें संसार-क्षेत्रके अंदर अपने कर्तव्योंका अवकलन करे । दूसरे शब्दोंमें मनुष्यको चाहिये कि वह अनन्त परमात्माके साथ अपना सम्बन्ध बनाये रहे और उन्हें अपना वास्तविक आत्मा समझे । इसकी जो कुछ साधना है, वही अन्तिम छः अध्यायोंका विषय है ।

यह स्पष्ट है कि इन अध्यायोंमें ज्ञानकी काफी चर्चा होगी । शायद इसीलिये इस अन्तिम भागको ज्ञानकाण्ड

* 'The Yoga of the Bhagavadgita.' P. 91

कहते हैं। परन्तु यह स्मरण रहे कि यहाँ जो ज्ञान कहा गया है, वह सातवें अध्यायमें विवृत ज्ञानसे भिन्न है। वहाँ 'वासुदेवः सर्वमिति' कहकर जिस ज्ञानका वर्णन किया है, वह केवल विचारात्मक ज्ञान है। यहाँ जिस ज्ञानका निरूपण किया गया है, वह हमें दो बातें बतलाता है—एक तो यह है कि आत्माका संसारके साथ क्या सम्बन्ध है और दूसरी यह है कि उसका भगवान्‌के साथ क्या सम्बन्ध है।

यह दोहरी दृष्टि तेरहवें अध्यायमें स्पष्ट देख पड़ती है। उक्त अध्यायके ८ से १२ तकके श्लोकोंमें ज्ञानके जो लक्षण बतलाये गये हैं उनमें अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा, आर्जव, आचार्योपासन, शुचिता, स्थिरता, आत्मनिग्रह इत्यादि गुण ही गिनाये गये हैं। ये आत्मज्ञानके लक्षण नहीं, बल्कि नैतिक गुण ही समझे जाते हैं। पर इन्हें ज्ञानके लक्षण बताया गया है, इससे यह जाहिर है कि गीता यहाँ केवल ज्ञानका सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि उसका व्यावहारिक रूप भी बतला रही है—जो संसारके साथ आत्माके सम्बन्धको दृष्टिमें लिये हुए है। इस दृष्टिसे इस अध्यायका नाम क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोग बहुत ठीक रक्खा गया है। संसारके साथ आत्माका सम्बन्ध क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका सम्बन्ध है। संसार क्षेत्र है, आत्मा क्षेत्रज्ञ। इस अध्यायमें क्षेत्रका जो वर्णन पाँचवें और छठे श्लोकोंमें दिया गया है उसमें शरीर, मन, इन्द्रिय और प्राण सभी कुछ आ जाते हैं। आत्मा इस क्षेत्रका ज्ञाता है, अङ्ग नहीं। आत्माका यह स्वरूप जीवात्माका परमात्माके साथ एकत्व बतलाता है। आत्मा और परमात्मामें यही तो अन्तर है कि आत्मा एक क्षेत्रका ज्ञाता है और परमात्मा समस्त क्षेत्रोंका। श्रीकृष्णप्रेमजीके शब्दोंमें, इस अध्यायका निचोड़ यही है कि 'जगत्‌की ज्योति तुम्हारे अंदर है।'

आत्मा और परमात्माके बीच भेदकी जो दीवार खड़ी है, वह इस तरह टूट जाती है। आत्माका स्वरूप परमात्माके स्वरूपका निर्देश करता है। इसीलिये आत्मस्वरूपके बाद ही इस अध्यायमें परमात्मस्वरूपका वर्णन आता है। २८ से ३४ तकके सुन्दर श्लोक आत्मस्वरूपके साथ-साथ परमात्मस्वरूपका भी वर्णन करते हैं।

गुणत्रयविभागयोग नामक चौदहवें अध्यायकी अवतारणा संसारके साथ आत्माके व्यवहारकी बात पूरी करनेके लिये हुई है। वह बात है—गुणोंके ऊपर उठनेकी, गुणातीत होनेकी। दूसरे अध्यायके ४५ वें श्लोकमें भी निस्त्रैगुण्य होनेका उपदेश दिया गया है। पर वहाँ गुणोंका वर्णन नहीं हुआ है और न यह बतलाया गया है कि निस्त्रैगुण्य होना क्यों आवश्यक है। बहुत-सी बातें इन पिछले अध्यायोंमें ऐसी आयी हैं, जो पहलेके छः अध्यायोंमें आ चुकी हैं; परन्तु दोनोंमें अन्तर यह है कि यहाँ उस विषयका अधिक पूर्ण और अधिक स्पष्टरूपमें उल्लेख हुआ है तथा आत्मा एवं जगत्‌के स्वरूपके विवेचनपूर्वक हुआ है।

तेरहवें और चौदहवें अध्यायोंमें आत्माके स्वरूप और संसारके साथ उसके सम्बन्धका निरूपण करके पन्द्रहवें अध्यायमें पुरुषोत्तम-योगका वर्णन किया गया है। भगवान्‌के सम्बन्धमें गीताका सर्वोत्तमभाव पुरुषोत्तमभाव है। इस भावको यथार्थरूपमें ग्रहण न करनेके कारण इसके सम्बन्धमें अनेक भ्रम उत्पन्न हो गये हैं। अनेकों विद्वानोंने पुरुषोत्तमभाव और अक्षर-ब्रह्मको एक ही समझ लिया है। श्रीअरविन्दके गीताभाष्य (Essays on the Gita) की आलोचना करते हुए 'मॉर्डन रिव्यू' में स्वर्गीय एम० सी० घोषने श्रीअरविन्दकी गम्भीर विचारशैलीको यह कहकर उड़ा दिया था कि 'अक्षरब्रह्म' से ऊँचा कोई 'पुरुषोत्तम' नहीं हो सकता। परन्तु 'अक्षरब्रह्म' और 'पुरुषोत्तम' दो अलग-अलग भाव हैं। इन दोनोंमें जो अन्तर है, वह पंद्रहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें प्रकट किया गया है। यही गीताकी सबसे बड़ी चीज है, इसके बिना गीताकी पूर्णता नहीं। श्रीअरविन्द कहते हैं कि 'आत्माकी परतमा स्थिति पुरुषोत्तममें निवास है, पूर्ण लय नहीं।'*

पुरुषोत्तमका साक्षात्कार ही गीताकी सर्वोत्तम अनुभूति है और इसीलिये इसे 'गुह्यतम शास्त्र' कहा गया है। परन्तु इस गुह्यतम ज्ञानके प्रकाशमें आत्माके लिये संसारमें रहते हुए क्षेत्रज्ञके नाते सांसारिक कर्तव्योंका पालन करनेमें संसार-विषयक जिस ज्ञानको ग्रहण कर लेनेकी आवश्यकता है, वही दैवासुरसम्पद्विभाग है, जो सोलहवें अध्यायका योग है। और इन सब योगोंमें साधकके लिये सबसे अधिक आवश्यक वस्तु है—श्रद्धा, जिसके बिना सारा ज्ञान और कर्म व्यर्थ हो जाता है, उसका न इहलोकमें कोई फल होता है न परलोकमें ('असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह') इसलिये श्रद्धाका स्वरूप उसके विविध भेदोंके विवरणके साथ सत्रहवें अध्यायमें बताया गया है, जिसमें इन सब योगोंके साधनमें साधककी श्रद्धाका योग हो। अन्तिम अध्याय गीताका उपसंहार है। सांख्य, कर्म आदि जो-जो योग पहले बताये गये, उन सबकी

* Essays on the Gita, second series P. 276

पूर्णता इसी अध्यायमें आकर होती है और आत्मसाक्षात्कारके सब योगोंकी परिसमाप्ति भी। और इसीलिये सम्पूर्ण योगोंके पश्चात् स्वयं श्रीपुरुषोत्तम भगवान् यह महान् आश्वासन देते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८। ६६)

वैसा ही श्रद्धा-भक्तिपूर्ण महान् उत्तर अर्जुनकी ओरसे भी आता है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥
(गीता १८। ७३)

यही जीवात्माकी आत्मा, विश्वात्मा और पुरुषोत्तम—इस त्रिविध स्थितिकी सिद्धिका योगशास्त्र है। यही गीताकी साधना है।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

वृन्दावनकी प्रेम-साधना

(लेखिका—बहिन श्रीरेहाना तय्यबजी)

वृन्दावन!

—नामका उच्चारण-स्मरण करनेके साथ, कानोंको चुपचाप यह नाम प्रेम और उत्कण्ठासे सुना देनेके साथ ही मानस-पटलपर भीतरसे कैसे-कैसे सुन्दर समुज्ज्वल चित्र हृदयकी आँखोंके सामने आने लग जाते हैं।

वृन्दावन! ओ हरे-भरे, सुहावने, प्यारे वृन्दावन! कमनीय कुसुमोंकी कुञ्जस्थली, मधुर विहग-काकलीके प्रवाह, कालिन्दीके कलकल निनादसे झङ्कृत और निर्झरोंके रूपमें मन्दस्मितसे युक्त वृन्दावन! सारा जीव-जगत् जहाँपर एक है और एकत्वके अनुभवमें आनन्दमग्न है!

क्या आश्चर्य जो मूर्तिमान् प्रेम पृथ्वीपर अवतीर्ण होनेकी इच्छासे वृन्दावनमें पधारे और इसीको उन्होंने अपना धाम बनाया!

वृन्दावन, जब वे नहीं आये थे, तब कैसा था?

जंगलोंमें उस समय भी हरियाली रही होगी, फूलोंमें विविध रंग और मोहक सुगन्ध रही होगी। भोले-भाले कृष्णसार मृग तथा अन्य छोटे-छोटे वन्य जीव सुखपूर्वक विचरते होंगे; पक्षियोंके कलरवमें भी मधुरता रही होगी; जल भी स्वच्छ, उज्ज्वल और मीठा रहा होगा—उस समय भी, जब वे नहीं आये थे। हरी-भरी गोचर-भूमियोंमें चरनेवाली गौएँ सरल, सीधी और शान्त रही होंगी। गोप-गोपी भी अपने दैनिक गृहकार्यमें मग्न, अपने ग्राम्य जीवनके आनन्दमें मस्त, भोले-भाले लोग रहे होंगे।

किस बातमें ये अन्य लोगोंसे भिन्न थे! क्या इनमें कोई विशेष बात थी! क्या ये कुछ और भी थे!

वृन्दावनमें वे प्रेमस्वरूप किसलिये पधारे! वृन्दावनको उन्होंने अपना दिव्य धाम क्यों बनाया! इन गोप-गोपियोंको क्या समझकर उन्होंने अपनाया, सिर चढ़ाया और अमर कर दिया! इनमें ऐसी कौन-सी बात थी, जो उन्हें खींच लायी! वह कौन-सी चीज़ थी इनके अंदर, जो उनकी पुकारपर दौड़ पड़ी!

कोई बात जरूर रही होगी। प्रेमकी पुकार हर जगह हर समय हो रही है; पर सब कोई तो उसे नहीं सुन सकते, न उसके पीछे चल ही सकते हैं। कोई चीज़ इनके अंदर अवश्य रही होगी, जिससे इनके नेत्रोंमें वह निर्मलता आ गयी कि बालरूपधारी वृन्दावनविहारीको देखते ही इन्होंने पहचान लिया, आनन्दसे उछल पड़े और उनकी भगवत्ताकी महिमाका अनुभव कर उसीमें डूब गये। कोई चीज़ इनके अंदर अवश्य रही होगी, जिससे इनके कान इतने पवित्र हो गये कि उनकी वंशीकी ध्वनिमें इन्होंने वह चीज़ सुनी जो गोकुलकी ब्राह्मणपत्नियाँ शास्त्र-संस्कारसे संस्कृत होनेपर भी नहीं सुन सकीं। कोई चीज़ इनके अंदर अवश्य रही होगी, जिससे इनका हृदय इतना विशुद्ध हो गया कि ज्यों ही वे इनके सामने आये, ये आत्मसमर्पणकी सहज अदम्य दीप्ति और दमकके साथ सर्वात्मभावसे उनपर उत्सर्ग हो गये। यह 'कोई चीज़' क्या रही होगी! क्या यह इनकी अनेक जन्मोंकी निरन्तर कठिन तपस्या या शक्ति-उपासना थी!

इनके जीवनपर दृष्टि डालो। कितना सादा, कितना आडम्बरशून्य! और इनके घर!—वे ही अरण्य-कुटीर! इनकी धन-सम्पत्ति!—वही गोधन! इनका आहार!—वही

मेरा स्वप्न

(ले०—सौ० बहिन इन्दुमति इ० देसाईजी)

'उषा, प्रातःकालकी मधुर उषाकी लालिमा गोकुल-वृन्दावनपर छाने लगी है। सुहावनी समीर-लहरी श्रीहरिके ध्यानमें मस्त तपस्वियोंको प्रफुल्लित कर रही है। श्रीहरिके चरण-कमल-मकरन्दका पान करनेवाली भ्रमरी-प्रेमोन्मादिनी गोपिकाएँ—श्रीकृष्णसङ्गकी प्रेम-केलियोंके मधुर स्वप्नका अनुभव करती हुई, जिनके मुखपर मन्द मुस्कान छिटक रही है, श्रीमन-मोहनके साथ प्रेमकलहमें लगी हैं; परन्तु इस उषाने उनके साथ वैरिणीका काम किया। पक्षियोंकी मधुर काकलीको सुनकर, शय्याका त्याग करके वे श्रीकृष्णका गुणगान करती हुई प्रातः-कृत्यसे निवृत्त होकर उतावली-उतावली श्रीनन्द-जीके महलमें पहुँचीं। नौबतखानेकी नौबतोंकी आवाजसे, मीठे मृदंग-चंगोंकी मधुर ध्वनिसे, भक्तोंके भावभरे भजनोंसे और यशोदामैयाके प्रेमवाक्योंसे विश्वविमोहन परब्रह्म श्यामसुन्दर सहज ही आलस्यसे अङ्ग मरोड़कर सुख-सेजपर उठ बैठे और प्रेमपाशमें बँधकर माताके चरणोंमें प्रणाम करने लगे। माताने उन्हें उठाकर गोदमें ले लिया। पहली गोपिकाओंने प्रेमविह्वल नेत्रोंसे इस अनुपम रूप-माधुरीका पान करके श्रीहरिके चरणोंमें वन्दन किया। कोई लायी थी माखन-मिश्री, कोई मीठा मलाईदार दही और कढ़ा हुआ दूध; कोई ताजी-ताजी रोटियाँ, कोई सेव-सुहाल और घेवर—जिससे जो बना, सबने प्रभुके सामने रक्खा। वे पहले अपने प्रेमी भक्तोंकी बानगी आरोगें, पीछे मैं—मैं तो सबसे अन्तमें काम आनेवाली चीजें ही ले गयी थी—सुगन्धभरा ताम्बूल, चन्दन, कलगी और वनमाला!

सारे गोपबालक—कन्हैयाके सखा कैसे आनन्दसे श्यामसे कहते हैं—कन्हैया, प्यारे कान्हा! चल-चल जल्दी, देख न, गायोंका झुंड तुझे निरखनेके लिये, तुझे स्पर्श करनेके लिये किस आतुरतासे पुकार रहा है। और कन्हैया! छोड़ सब बातोंको, चल जल्दी अपनी कुञ्जगलियोंमें, यमुनाजीके हरियाले तटपर और गोवर्धनकी गहरी गुफाओंमें। अरे मोहन! तेरी मुरली कहाँ है? उसके बिना कैसे काम चलेगा? गोपाल! गायें कैसे आवेंगी और कैसे लौटेंगी? तेरी इस मुरलीने क्या-क्या कर डाला है.....!

गोपियोंने यह सुनकर उलाहनेभरी आँखोंसे गोप-बालकोंकी ओर देखा। समझे कि नहीं? इनके प्रिय पुरुषोत्तमको ये बालक यों सबेरे-सबेरे ही ले जायें—भला, इनसे यह कैसे सहा जाय? सारा-सारा दिन श्रीहरिके बिना कैसे कटे! ये बालक क्यों ऐसा करते हैं! 'जाओ-जाओ तुम सब यहाँसे, आज हमारे हरि नहीं जायँगे। आज तो सब सखियोंने सुन्दर भोजन बनाकर हमारे और तुम्हारे कन्हैया-को जिमानेका निश्चय किया है। और फिर! फिर हम भी खेलेंगी कबड्डी, गुल्ली-डंडा, आँखमिचौनी—ऐसे बहुतेरे खेल मोहनको खेलावेंगी—और रातको रास—'

ये भोले गोपबालक कहाँ जानते थे कि इन गोपियोंने श्यामसुन्दरको अपने नयनोंमें छिपा रक्खा है। पर— पर सबके लिये यही तो रचा हुआ है—एकको संयोग, दूसरेको वियोग। उसी प्रकार इस अमूल्य दृश्यको देखकर मेरी भी आँखें खुल गयीं। मेरे श्याम! तुम्हारे बिना इस स्वप्नको सच्चा करनेवाला कौन है? कब? कब? ओ मेरे हरि! ज्ञान-चक्षु देकर इस स्वप्नवत् संसारको स्वप्नके समान दिखानेवाली, मेरी सच्ची आँखें कब खोलोगे? और मेरे मोहन! कब अपने दिव्य रूपकी मधुर झाँकीके पावन दर्शन इस दीन इन्दुको कराओगे?—

मेरे गिरधर—'सुध लीजिये मुरारी, दीन इन्दु है तुम्हारी।'

विनय

अबके माधव ! मोहि उधारि ।

मगन हौं भव-अंबु-निधिमें कृपासिंधु मुरारि ॥

नीर अति गंभीर माया लोभ लहरि तरंग ।

लिये जात अगाध जलमें गहे ग्राह अनंग ॥

मीन इंद्रिय अतिहि काटत मोह अघ सिर भार ।

पग न इत उत धरन पावत उरझि मोह-सेंवार ॥

काम क्रोध समेत तृष्ना पवन अति झकझोर ।

नाहिं चितवन देत तिय सुत नाव-नौका ओर ॥

थक्यो बीच बेहाल बिह्वल सुनहु करुनामूल ।

स्याम भुज गहि काढ़ि डारहु 'सूर' ब्रजके कूल ॥

—सूरदासजी

साधन-तत्त्व

(लेखक—श्री 'अप्रबुद्ध')

पाश्चात्य वैज्ञानिकों और भारतीय वैदिकोंकी सत्यानुसन्धान-पद्धतियोंमें जो बड़ा भारी अन्तर है, वह मानव-विचारके 'आरम्भ-बिन्दु' के विषयमें है। वैदिकोंका अनुसन्धान जिस स्थानसे आरम्भ होता है, पाश्चात्योंके अनुसन्धानमें उसका कोई स्थान ही नहीं है। पाश्चात्योंकी विचार-प्रणालीमें पञ्चदशीमें दिये हुए दृष्टान्तके समान अपना विचार छोड़कर शेष नवसंख्यकोंका विचार होता है। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्हें शेष संसारका तो ज्ञान हुआ; पर अपना ज्ञान न होनेसे शेष संसारका ज्ञान उनकी अपनी उन्नतिमें किसी तरह भी लाभकारी नहीं हुआ। पाश्चात्य वैज्ञानिकोंके महदाश्चर्यकारक अनेकानेक आविष्कारोंके रहते हुए भी उनके आत्माको उनसे कोई तृप्ति नहीं मिली। वह आत्मा अब मानो यह कह रहा है कि हमारे विज्ञानने सुख-साधनोंकी तो खूब समृद्धि की, पर हम अपने अंदर इससे कोई परिवर्तन हुआ नहीं देखते। आल्फ्रेड दि ग्रेटके समयमें इंग्लैंडकी सरकार घोड़ेकी सवारी करती थी और अब हमारे बड़े लाट विमानोंमें बैठकर सैर कर आते हैं। पर बाहरी दिखावेकी इस उन्नतिमें जीवकी भीतरी उन्नति क्या हुई?

वैदिक प्राज्ञ पुरुषोंकी विचारप्रणालीमें विचारक आप ही अपने विचारका आरम्भस्थान होता है; कारण, अपने आपके रहनेसे जगत्के साथ अपना सम्बन्ध है। यदि आप न हो तो जगत्से या जगत्के कर्ता ईश्वरसे भी क्या नाता? अपनेसे ही विचारका आरम्भ करनेपर सबसे पहले अपने शरीरका विचार होता है। विचारपूर्वक देखनेसे हमें अपने इस शरीरके अंदर दो प्रकारके प्रवाह काम करते हुए देख पड़ते हैं, जिनमेंसे एक स्वाधीन है और दूसरा पराधीन। ये ही दो प्रवाह बाह्य दृश्य-जगत्में भी देख पड़ते हैं। हम भोजन करते हैं, भोजन करनेमें और उठाकर मुँहमें डालने-तक ही हमारा अधिकार है, पाचन करनेवाली शक्ति या उसके कार्यपर हमारा कोई अधिकार नहीं। यही बात बाह्य जगत्के सम्बन्धमें भी है और इसीलिये गीतामें भगवान्ने कर्म-मात्रमें 'दैवं चैवात्र पञ्चमम्' कहकर दैवको पञ्चम कारण बताया है। इस प्रकार ये जो दो प्रवाह हैं, इनका सामञ्जस्य और एकीकरण किया जा सके तो अपने शरीरको अपने वशमें रखनेके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिये हमारे वैदिक पूर्वजोंने जो प्रयत्न किया, उसीका नाम साधना या उपासना है। भगवान् शङ्कराचार्यने उपासनाका यही तो लक्षण किया है—'उपासनं नाम समानप्रत्ययप्रवाह-करणम्।' पाश्चात्य वैज्ञानिक इन दो प्रवाहोंकी खबर भले ही रखते हों; पर इन्हें एक करनेकी कला वे निश्चय ही नहीं जानते।

ये दोनों प्रवाह एक दूसरेसे सर्वथा पृथक् नहीं बल्कि सम्बद्ध हैं। इनके छोर एक-दूसरेसे मिले हुए हैं। इसलिये हमारे साथमें जो छोर है, वह उस प्रवाहमें जा मिलता है जो हमारे हाथमें नहीं है। हमारे अंदर चार शक्तियाँ ऐसी हैं, जिनके इधरके छोर हमारे हाथमें हैं पर उधरके नहीं। ये शक्तियाँ हैं प्राण, मन, बुद्धि और वाक्। इन चारोंका एक-एक छोर हमारे हाथमें है, पर दूसरा हमारे हाथमें नहीं। यदि हम इन चारों शक्तिप्रवाहोंका सीढ़ियोंकी तरह उपयोग कर सकें तो 'इतस्त्वन्याम्' जो परा प्रकृति है, उसके दिव्य आनन्दमय परप्रदेशमें प्रवेश-लाभ कर सकें। वह परप्रदेश अतीन्द्रिय है।

इस इन्द्रियगोचर विश्वके परे अतीन्द्रिय अनन्त विश्वकी स्थिति है। उसीसे इस स्थूल इन्द्रियगोचर विश्वके उत्पत्ति-स्थिति-लय हुआ करते हैं। इस स्थूल विश्वके सञ्चालनकी सारी शक्तिका आगम वहींसे होता है। यह स्थूल विश्व इस तरह पराधीन है। इसकी स्वाधीन सत्ता न होनेसे यह अनित्य और सुख-दुःखादि वैषम्यसे परिपूर्ण है और वह स्वाधीन होनेसे नित्य, एकरस, अखण्ड सच्चिदानन्दस्वरूप है। वैदिकोंने यह अनुसन्धान किया कि उस सच्चिदानन्दस्थितिको जीव कैसे प्राप्त हो सकता है। उन्हें यह प्रत्यक्ष हुआ कि किसी यन्त्रको चलानेवाली शक्ति जिस प्रकार उस यन्त्रके एक-एक पुर्जे और कील-काँटेतकमें व्याप्त रहती है, उसी प्रकार इस विश्वको चलानेवाली सच्चिदानन्दमयी शक्ति इसके एक-एक अणु-रेणुमें व्याप्त है। प्रत्येक शरीरके एक-एक परमाणुमें वही शक्ति व्याप्त है। पर इसके प्रवाहको अपने अधीन करना सुसाध्य नहीं है। यदि यह शक्तिप्रवाह अपने हाथमें आ जाय तो मनुष्य स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाय।

यह शक्ति हमारे अंदर पूर्वोक्त चार प्रकारसे काम करती

है। इन चार शक्तिप्रवाहोंमेंसे किसी भी एक प्रवाहको कोई अपने वशमें कर ले तो 'नदीमुखेनैव समुद्रमाविशत्'के न्यायसे वह उसके साथ विरलभावको प्राप्त होकर मूल संवित्से युक्त हो सकता है। इसी सिद्धान्तके आधारपर मूलतः चार साधन-मार्ग निर्दिष्ट हुए और पीछे उनके परस्पर मिलनके अनेकविध तारतम्यसे हजारों-लाखों साधनमार्ग चल पड़े। प्राण-शक्तिको हाथमें लेकर उससे अन्य शक्तिप्रवाहोंको अपने वशमें करके स्वयं शक्तिस्वरूप होना हठयोग कहलाया। मनकी शक्तिको वशमें कर एक तरफ शरीरसहित प्राण और दूसरी तरफ बुद्धि और वाणीपर विजय पाना और इस प्रकार शक्ति-स्वरूप होना राजयोग हुआ। इन दोनों मार्गोंका क्रम शरीर और मन अर्थात् इस जड दृश्यसे आरम्भ कर उसे चैतन्यमें रूपान्तरित करना है; परन्तु बुद्धि और वाणीका क्रम इससे भिन्न, इसके विपरीत है। इस क्रममें शरीरके एक-एक सूक्ष्म तत्त्वको चिद्रूप करते हुए अन्तमें जड शरीरको भी चैतन्यमय करना है। बुद्धिका आश्रय करके इस साधनको करना ज्ञान-योग है और गीताशास्त्रोक्त शरणागतिसे इसे सिद्ध करना भक्तियोग है। बुद्धि निश्चयरूपिणी है। चित्परमाणु जीव अपनी इस बुद्धि या निश्चयसे ही जीवरूप होता है। इस कारण उसका सम्पूर्ण शरीर निश्चयके ही आधारपर है। अत्यन्त दृढ और बलवान् निश्चयसे सम्पूर्ण शरीर क्रमशः चिद्रूपमें परिवर्तित हो सकता है। परन्तु निश्चयके इस मार्गपर करोड़ोंमेंसे कोई एकाध ही ठहर सकता है। राजयोग और कर्मयोग भी, प्रतिकूल परिस्थितिके कारण, सबके लिये समानरूपसे लाभप्रद नहीं होते। भक्तियोगका तत्त्व प्रेम है और प्रेम ईश्वरकृपासे ही प्राप्त होता है, अन्य किसी उपाय या ग्रन्थोंके अध्ययनसे नहीं। इसलिये वैदिक ऋषियोंने चौथी शक्ति जो वाक् है, उसके आश्रयसे एक दूसरा मार्ग निर्दिष्ट किया। इस योग-मार्गका तत्त्व 'वेद' अर्थात् वेदसे निकला हुआ मन्त्रशास्त्र है। वर्णाश्रम-धर्म और भावयोग मन्त्रशास्त्रके ही आधार-पर स्थित हैं। यह साधन सुलभ है। अपने-अपने वर्णके अनुसार आचार-पालन करने, वेद पठन करने तथा मन्त्र या नाम जपनेसे इसमें सिद्धि प्राप्त होती है।

वेदोंका परम प्रतिपाद्य आद्य तत्त्व 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' है। इससे यह प्रतिसिद्धान्त आप ही निकलता है कि इस विश्वमें अकेले जीवकी ही स्थिति नहीं है, बल्कि वह विश्वका एक अविभाज्य, नित्यसम्बद्ध अङ्ग है। अतएव जीव और विश्व परस्पराश्रयी होते हैं, एक दूसरेको छोड़कर स्वतन्त्रता-से वे कुछ भी नहीं कर सकते। इसीलिये गीतामें भगवान्ने कहा है—'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'। अतएव इन दोनोंको अपने परस्पर-कार्यमें सङ्गति बैठाकर ही सब कुछ करना पड़ता है। इसलिये जीव और विश्वका परस्पर सहायक होकर दोनोंका सच्चिदानन्दस्वरूपको प्राप्त होना—यही ब्रह्मलोककी स्थिति हो सकती है। मनुष्यके शरीरका जडत्व इसमें बाधक है; यदि यह जडत्व हटा दिया जाय तो इनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष होगा और यह काम सुगम हो जायगा। वाक्शक्तिसे यह सुगमता सिद्ध होती है।

वाक्शक्ति आकाश-तत्त्व है। यह शब्दरूप है। यही विश्वका मूल कारण है। व्यक्त सृष्टिके आकाशस्वरूप मूलरूप-में प्रतीत होनेवाले शब्दसमूह ही मन्त्र या वेद हैं। ये स्वयम्भू हैं, इन्हें किसीने बनाया नहीं; ये नित्यसिद्ध, अपौरुषेय और ज्ञान, इच्छा, क्रिया—इन तीन शक्तियोंसे युक्त हैं। आधुनिक पदार्थविज्ञानसे भी यह सिद्ध किया जा सकता है कि यह जगत् जो कुछ है, वेदका ही व्यक्तरूप है। (इस विषयमें 'वैदिक धर्म' के वेदाङ्कमें मेरा 'वेदोंका अपौरुषेयत्व' लेख जिज्ञासु पाठक देखें।) यहाँ संक्षेपमें इतना कहना पर्याप्त होगा कि प्राणशक्ति, मनःशक्ति या निश्चयशक्तिसे जो कुछ होता है वह सब वाक्शक्तिसे भी होता है। इसीलिये कलियुगमें भगवन्नाम-का विशेष माहात्म्य कहा गया है। आत्मार्पणरूप बुद्धियोग और वाङ्मय मन्त्रयोगके मिश्रणसे ही भावयोगकी सृष्टि होती है। भगवन्नामसे सब कुछ हो सकता है—यह केवल अर्थवाद नहीं, परम शास्त्रीय सत्य है। माण्डूक्योपनिषद्में कहा है—

'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्। सर्वं ह्येतद्ब्रह्म।' 'सोऽय-मात्माध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादाः।' '...ॐकार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद॥'

इन चार शक्तिप्रवाहोंके चार मार्गोंमेंसे किसी एकका आश्रय करके उपासना करनेसे अन्य भी सिद्ध हो जाते हैं। प्राण, मन और बुद्धिसे अक्षरब्रह्म आत्माकी प्राप्ति होती है और तब वेदोंका भी साक्षात्कार हो जाता है। वेदकी उपासना और नामसाधनसे ॐका साक्षात्कार होता है और अक्षर-स्वरूप आत्मसाक्षात्कार भी। इस प्रकार किसी साधनाके द्वारा स्वाधीनचित्त हो जानेपर जीव या तो व्यतिरेकके द्वारा अमनस्कता लाभकर त्रिगुणातीत हो सद्योमुक्ति प्राप्त कर सकता है अथवा अक्षरब्रह्मको प्राप्त कर निजनिर्द्वार, स्वानन्द-विलास करते हुए क्रममुक्ति। ये ही दो मार्ग उसके सामने रहते हैं।

साधन-तत्त्व

(लेखक—श्रीज्वालाप्रसादजी कानोड़िया)

इस वर्ष 'कल्याण' के विशेषाङ्क 'साधनाङ्क' द्वारा साधन-सम्बन्धी बातें पाठकोंकी सेवामें उपस्थित की जा रही हैं। ऐसे अवसरपर मैं भी अपने अपरिपक्व विचारोंको पाठकोंके सम्मुख प्रकट कर रहा हूँ। मेरे विचारोंमें भूलों और त्रुटियोंका होना स्वाभाविक है; अतएव प्रेमी पाठकगण अपने सौजन्यपूर्ण हृदयसे उनकी उपेक्षा करके मुझे क्षमा करेंगे और जितना अंश ठीक समझेंगे, उसीको उपयोगमें लायेंगे।

यह बात सर्वसम्मत है कि किसी भी ध्येयको प्राप्त करनेका मार्ग साधन ही है। ध्येय कोई भी क्यों न हो, उसकी सिद्धि साधनद्वारा ही होती है; और वह साधन ध्येयके अनुरूप ही हुआ करता है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि साधनके अनुरूप ही फलकी प्राप्ति होती है अर्थात् साधक स्वयं ध्येयका स्वरूप ही बन जाता है। यही ध्येयकी प्राप्ति है। साधनके अनेक भेद हैं। उन सबको मुख्यतः दो भागोंमें विभक्त किया जाता है—एक प्रारम्भिक या प्राथमिक साधन और दूसरे उत्तरकालिक साधन। इन दोनों श्रेणियोंके साधनोंका यथाक्रम अभ्यास करनेसे ही साध्यकी सिद्धि होती है। यदि कोई साधक प्रारम्भिक साधनोंकी उपेक्षा करके उत्तरकालिक साधनोंके मार्गपर ही चलना चाहे तो मेरे निश्चयके अनुसार न वह चल सकता है और न उसे लक्ष्यकी ही प्राप्ति हो सकती है। उस अवस्थामें वह अपने लक्ष्यको भूलकर किसी ऐसी ही वस्तुको प्राप्त होगा, जो ऐसे संकर साधनोंका परिणाम होती है। आवश्यकता है साध्यके अनुरूप साधन करनेकी। साध्य वस्तुको प्रकटमात्र करनेसे वह प्राप्त नहीं हो सकती। वास्तवमें साधनके अनुरूप ही साध्य माना जाता है, उसको केवल वाणीसे व्यक्त करनेका कोई मूल्य नहीं है। साधन और साध्यका यह पारस्परिक अविचल सम्बन्ध प्राकृतिक एवं सनातन है। यदि कोई एक व्यक्ति यह कहे कि मेरा उद्देश्य सचाईपर चलनेका है, दूसरा यह कहे कि मेरा उद्देश्य किसीको न सतानेका है; परन्तु व्यवहारमें पहला व्यक्ति सत्यपर और दूसरा अहिंसापर दृढ़ नहीं है; तो उन दोनोंको भगवदीय न्यायसे स्वाभाविक वही फल प्राप्त होगा, जो असत्यवादी एवं हिंसापरायणको होता है। इसमें परमात्मा किसीकी मुरौवत नहीं करते। जिस प्रकार इमलीका बीज बोकर आमकी आशा करनेवाला अथवा जायफलके बदले जमालगोटा खाकर दस्त रोकनेकी चाह रखनेवाला निराश होता है, उसी प्रकार साधनाके क्षेत्रमें विपरीत साधन करनेवाला अपने लक्ष्यकी प्राप्तिसे हाथ धो बैठता है। साध्यकी सिद्धि उसी साधकको होती है जो ठीक-ठीक उसके अनुकूल साधना करता है, न कि जो केवल वाणीसे कहता है अथवा किसी सम्प्रदायविशेषका अवलम्बनमात्र करता है। केवल वाणीद्वारा साध्यका वर्णन करना अथवा उसके लिये किसी सम्प्रदाय-विशेषका अवलम्बनमात्र ग्रहण करना मुख्य बात नहीं है, बल्कि क्रिया और भाव ही प्रधान हैं। यदि कोई मनुष्य बाहरसे भक्तिका आडम्बर करे, परन्तु उसकी क्रिया और भाव लोगोंको ठगने तथा स्वार्थसिद्धिके लिये हों तो उसे कभी भी सच्चे भक्तकी स्थिति नहीं प्राप्त हो सकती, उसको अपने दम्भका फल भोगना ही पड़ेगा। अस्तु,

मेरे कथनका तात्पर्य यह है कि आधुनिक युगमें साधनोंका स्वरूप प्राचीन शास्त्रानुमोदित साधनोंके स्वरूपसे भिन्न होता जा रहा है। आजकल प्रायः भक्तियोगवाले साधक श्रवण-कीर्तनादिसे, ज्ञानयोगवाले साधक श्रवण-मनन-निदिध्यासनसे, अष्टाङ्गयोगवाले साधक आसन-प्राणायामसे और कर्मयोगवाले साधक वाचिक निष्काम कर्मसे ही अपनी-अपनी साधना आरम्भ करते हैं। कृपालु पाठकगण मुझे क्षमा करेंगे, मैं यहाँ किसीपर कटाक्ष नहीं कर रहा हूँ और न किसी साधना-पद्धतिकी व्यर्थता ही सिद्ध करने जा रहा हूँ। मेरा अभिप्राय आभ्यन्तरिक स्थितिमात्रको, जिससे मैं सुपरिचित हूँ, साधारणरूपसे प्रकट कर देनेका है और साथ ही उपर्युक्त उत्तरकालिक साधनोंकी सार्थकताके उपायके सम्बन्धमें भी निवेदन करनेका है, जिसको आजकलके अधिकांश साधक प्रायः उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते हैं। प्रारम्भिक साधनोंकी उपेक्षा करके सहसा उत्तरकालिक साधनोंका अभ्यास करनेसे आजकल जो परिणाम निकलता है, उसको सभी जानते हैं; उसके सम्बन्धमें विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है। कोई इमारत कितनी भी सुन्दर क्यों न हो, यदि उसकी नींव कमजोर है तो वह जल्दी ही टूटकर गिर जायगी; उसकी सुन्दरता उसे नहीं बचा सकती, उसको बचानेवाली कोई चीज है तो उसकी

बुनियाद ही है। यही बात साधनके सम्बन्धमें है। आजकल साधनाके क्षेत्रमें यह गड़बड़ी बड़े जोरोंसे फैल रही है कि प्राथमिक साधनोंकी तो उपेक्षा कर दी जाती है और साधकोंको केवल उत्तरकालिक साधनोंकी ही चर्चा सुनायी जाती तथा शिक्षा भी दी जाती है। साधकगण भी संयमके अभावके कारण प्राथमिक साधनोंको कष्टसाध्य समझकर छोड़ देते हैं तथा उत्तरकालिक साधनोंका ही अभ्यास करने लगते हैं। यदि उनसे कोई यह पूछे कि प्राथमिक साधनोंके बिना सिद्धि कैसे प्राप्त होगी तो उनकी ओरसे यह उत्तर मिलता है कि उत्तरकालिक साधनोंका अभ्यास करनेसे प्रारम्भिक साधन आप-से-आप सिद्ध हो जायँगे। पता नहीं, उन लोगोंका यह कथन कहाँतक ठीक है, जब कि केवल उत्तरकालिक साधनोंका अभ्यास करनेवालेको जो फल मिलता है वह प्रायः सबके सामने है।

पाठकगण मुझसे पूछेंगे कि वे प्रारम्भिक साधन कौन-से हैं, जिनका इतना गौरव है तथा जिनके बिना उत्तरकालिक साधन व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं। अतः मैं यहाँपर संक्षेपमें कुछ प्राथमिक साधनोंका वर्णन करूँगा। उत्तरकालिक साधनोंका वर्णन यहाँ करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे 'कल्याण' के द्वारा पाठकोंके सम्मुख अनेक बार आ चुके हैं तथा 'साधनाङ्क' में भी उनका विस्तारपूर्वक वर्णन मिलेगा। यहाँ तो केवल उन प्राथमिक साधनोंकी ही कुछ चर्चा होगी, जिनकी अवज्ञा करके उत्तरकालिक साधनोंका अभ्यास करनेसे वे सार्थक सिद्ध नहीं होते, परन्तु उन प्राथमिक साधनोंकी सिद्धि हो जानेपर उत्तरकालिक साधन आप-से-आप अनायास सिद्ध हो जाते हैं। यद्यपि प्राथमिक साधनोंके भी अनेक भेद हैं, तथापि उनमें ये मुख्य हैं—

१-अहिंसा, २-सत्य, ३-अस्तेय, ४-ब्रह्मचर्य, ५-सार्वभौम प्रेम, ६-समस्त भूतोंके हितमें रत रहना, ७-समत्वभाव, ८-घृणाका अभाव, ९-निष्कपटता, १०-दया, ११-क्षमा, १२-निरहङ्कारता।

इन बारह साधनोंको मैं प्रधानतया प्राथमिक साधन मानता हूँ। अब संक्षेपमें इन सबका कुछ स्पष्टीकरण कर देना ठीक होगा। यथा—

अहिंसा—मन, वाणी अथवा शरीरसे किसीको कष्ट न पहुँचाना। हिंसा तीन प्रकारकी होती है—कृत, कारित और अनुमोदित। कृत वह है जो स्वयं की जाय, कारित वह है जो दूसरेसे करायी जाय और दूसरेकी की हुई हिंसाका समर्थन करना अनुमोदित हिंसा है। इन तीनोंसे बचे रहना ही अहिंसा है (देखिये गीता अध्याय १६, श्लोक २ तथा योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३०)।

सत्य—अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जैसा अनुभव किया गया हो, उसी भावको प्रिय शब्दोंमें स्पष्ट वर्णन करना। इसमें प्रमाद, लोभ, क्रोध, हास्य, भय आदिके द्वारा कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये (गीता अध्याय १६, श्लोक २ तथा योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३०)।

अस्तेय—जो वस्तु अपने अधिकारकी न हो, उसपर किसी प्रकारसे भी अपना अधिकार न कायम करना (योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३०)।

ब्रह्मचर्य—आठों प्रकारके मैथुनोंसे मन, वाणी और शरीरको बचाये रखना (गीता अध्याय १७, श्लोक १४; योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३०)।

सार्वभौम प्रेम—जगत्‌के सम्पूर्ण जीवोंके प्रति समानभावसे निश्छल प्रेम रखना, उन सबको भगवान्‌की मूर्ति समझना (गीता अध्याय १२, श्लोक १३)।

समस्त भूतोंके हितमें रत रहना—संसारके समस्त प्राणियोंकी सेवामें रत रहना और उनकी सेवाको भगवान्‌की पूजा समझना, उनमें किसी प्रकारका भी भेदभाव न करना (गीता अध्याय १२ श्लोक ४)।

समत्वभाव—जगत्‌के सब जीवोंको समान अधिकारी समझकर उनके सुख-दुःखोंको अपने सुख-दुःखके समान समझना (गीता अध्याय १२, श्लोक ४;१८; अध्याय ६, श्लोक ३२)।

घृणाका अभाव—ईश्वरकी सृष्टिमें ईश्वररचित सभी जीव उनके प्रतीक हैं, अतएव कोई भी जीव घृणाके योग्य नहीं है—ऐसा दृढ़ निश्चय (गीता अध्याय ५, श्लोक १८; अध्याय ६, श्लोक ९)।

निष्कपटता—व्यवहार तथा कथन दोनोंमें सब प्रकारके कपटका अभाव होना।

दया—जगत्‌के किसी भी जीवके दुःखको देखकर द्रवित हो जाना और उसको अपने दुःखसे अधिक मानकर हार्दिक सहानुभूतिसहित उसे दूर करनेकी चेष्टा करना (गीता अध्याय १६, श्लोक २)।

क्षमा—किसीके द्वारा सताये जानेपर भी उसके साथ प्रेमका व्यवहार करना (गीता अध्याय १६, श्लोक ३)।

निरहङ्कारता—उपर्युक्त साधनोंको करते हुए अपनेमें किसी प्रकारके भी विशिष्ट भावका आरोप न होने देना। अपने ऊपर समस्त भगवत्स्वरूप प्राणियोंकी दया समझना, न कि मैं किसीपर दया करता हूँ—ऐसा अभिमान करना (गीता अध्याय १८, श्लोक १७)।

ये सभी साधन शास्त्रानुमोदित हैं और इन्हींकी जड़ मजबूत होनेपर उत्तरकालिक साधनोंकी सफलता सिद्ध हो सकती है; परन्तु आजके युगमें अधिकांश साधक इनको कठिन समझकर इनकी उपेक्षा कर देते हैं और इनके बादके साधनोंकी ओर दौड़ते हैं। फल वही होता है, जो इन साधनोंकी सिद्धिके अभावमें होना चाहिये। कुछ लोग तो यों ही अपनेको इन साधनोंसे सम्पन्न मान लेते हैं। वस्तुतः इन साधनोंकी यथार्थ परीक्षा किसी दूसरेके द्वारा होनी भी कठिन है। साधक मनुष्योंको तो अपनी परीक्षा अपने-आप करनी चाहिये। यदि कोई साधक विवेकपूर्वक निष्पक्ष भावसे अपनी परीक्षा अपने-आप करे तो अवश्य ही उसके स्वरूपका सच्चा और स्पष्ट चित्र उसकी आँखोंके सामने आ जायगा। सच्ची चाह होनी चाहिये—अपने दोषोंको जानकर उनका नाश करनेकी, न कि उन्हें दलीलोंसे ढकनेकी। मनुष्यका वास्तविक स्वरूप कोई और नहीं दिखा सकता। आजकलके लोग प्रायः साधु-महात्माओं अथवा विद्वान् पुरुषोंके पास जाकर उनसे अपने वास्तविक स्वरूपको दिखानेकी प्रार्थना किया करते हैं, परन्तु वे लोग यह नहीं समझते कि उनका सच्चा चित्र तो वे आप ही देख सकते हैं। गीताके अध्याय ६, श्लोक ५ में भगवान्‌ने स्वयं कहा है कि अपने आत्माकी अधोगति न करके अपना उद्धार अपने-आप करना चाहिये। जीवात्मा आप ही अपना मित्र और आप ही अपना शत्रु है। दूसरा कोई भी शत्रु या मित्र नहीं है।

यदि कोई यह पूछे कि मेरा सच्चा चित्र और कोई नहीं प्रकट कर सकता, इसका क्या कारण है, तो इसका कारण स्पष्ट है। अपने दोषों और गुणोंको हम जितना जानते हैं, उनको यदि हम किसीके सामने वाणीद्वारा प्रकट करने लगेंगे तो कुछ हदतक ही प्रकट कर सकेंगे, वाणीकी अक्षमताके कारण सब दोषों और गुणोंका यथार्थ वर्णन करना सहज नहीं है। फिर अपने भाव और उद्देश्यका वर्णन करना तो और भी कठिन है, क्योंकि उद्देश्य अन्तरकी सूक्ष्म वस्तु है। अतः एक तो दूसरेके सामने वाणीके द्वारा अपने बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग क्रिया-कलापों और भावोंका ठीक-ठीक वर्णन नहीं हो पाता; दूसरे ऐसे संत-महात्माओंका मिलना भी कठिन है, जो त्रिकालदर्शी हों और अन्तरकी सारी सूक्ष्म बातोंको जानते हों। इसलिये किसी मनुष्यका सच्चा स्वरूप कोई दूसरा नहीं बता सकता। जैसा कि ऊपर कहा गया है, मनुष्यके बाहर-भीतरका सच्चा चित्र प्रकट करनेवाला तो वह परमात्मा ही है, जो सबके अंदर आत्मरूपसे सदा स्थित है (अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः)। जो प्रकट-अप्रकट सब क्रियाओं और भावोंका साक्षी है तथा जिससे कुछ भी छिपाया नहीं जा सकता, वही परमात्मा हमारी सच्ची तस्वीर हमारे सामने रख सकता है; परन्तु तब जब कि हमें अपनी उस तस्वीरकी चाह होगी। वह तस्वीर हमारे कर्म और भावानुसार भद्दी भी हो सकती है तथा सुन्दर भी; परन्तु होगी वह सर्वथा अकृत्रिम—असली। सच बात तो यह है कि मनुष्य अपनी भद्दी और भयङ्कर तस्वीर देखना नहीं चाहता, देखनेकी हिम्मत नहीं करता, उससे डरता है। इसलिये वह उसे भरसक छिपाये रखना चाहता है, परन्तु कबतक छिपा सकता है? एक-न-एक दिन तो उसका कुरूप, कालिमाओंसे युक्त और विकलाङ्ग चित्र उसके सामने आयेगा ही। फिर जब अनिवार्य होकर वह चित्र सामने आयेगा तब उसमें सुधार होना अत्यन्त कठिन होगा। इसलिये मृत्युके पहले ही अपने उस चित्रको देखकर दोषोंका पता लगा लेना चाहिये। तभी उसे दोषोंसे विनिर्मुक्त करके सुन्दर बनाया जा सकता है और अन्तमें 'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम्' को चरितार्थ किया जा सकता है। असलमें भगवान्‌की प्राप्ति भगवदाज्ञानुसार आचरण करनेवालेको ही हो सकती है। जैसा भाव और व्यवहार भगवान्‌ने बताया है, वैसा ही भाव और व्यवहार साधकका होना चाहिये; अन्यथा उसकी साधनाकी सफलता और भगवत्प्राप्ति सम्भव नहीं है।

अन्तमें एक कहानीका संक्षिप्त उल्लेख करके लेख समाप्त करना है। किसी स्थानपर चार भक्त आपसमें भगवच्चर्चा कर रहे थे। उनके सामने यह विषय उपस्थित हुआ कि कैसे आचरणवालोंको भगवान् मिलते हैं। इसपर एक भक्तने कहा—

रोड़ा हो रह बाटका, तज मनका अभिमान।
ऐसा जो कोइ दास हो, ताहि मिलै भगवान॥

दूसरे भक्तने कहा कि 'नहीं, यह मार्ग कुछ दोषयुक्त है। भगवत्प्राप्तिका सरल मार्ग मैं बताता हूँ'—

रोड़ा भया तो क्या भया, पंथीको दुख देय।
हरिजन ऐसा चाहिये, ज्यों धरतीकी खेह॥

तीसरे भक्तने कहा कि 'यह मार्ग भी ठीक नहीं। मैं बताता हूँ, सुनिये'—

खेह भया तो क्या भया, उड़ उड़ लागे अंग।
हरिजन ऐसा चाहिये, ज्यों पानी सरबंग॥

चौथे भक्तने कहा कि 'यह मार्ग भी बिल्कुल ठीक नहीं है।' तब उपर्युक्त कथन करनेवाले तीनों भक्तोंने पूछा कि 'अच्छा, अब आप बताइये, किसको भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है।' इसपर चौथे भक्तने यह कहा—

पानी भया तो क्या भया, जो सीरा ताता होय।
हरिजन ऐसा चाहिये, हरि ही जैसा होय॥

इस कथनको सुनकर सब भक्तोंको सन्तोष हो गया। वास्तवमें इस जगत्‌का ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो प्रभुकी उपमाके योग्य हो। प्रभुकी उपमाके योग्य तो स्वयं प्रभु ही हैं। अतएव सच्चे कल्याणेच्छु साधकोंको चाहिये कि वे भगवत्प्राप्तिके सब साधनोंका यथाक्रम अभ्यास करें। ऊपरके वर्णित प्रारम्भिक साधन उपेक्षणीय नहीं हैं, बल्कि वे प्रधान हैं और प्रभुके व्यवहारके द्योतक हैं। उन्हींकी सिद्धिसे आगे चलकर उत्तरकालिक साधन भी सफल होंगे और फिर सबके फलस्वरूप भगवान्‌की प्राप्ति सुगम हो जायगी। ऐसा मेरा निश्चय है, आगे पाठकगण स्वयं इन बातोंकी मीमांसा करें।

इस युगका एक महासाधन

(लेखक—श्रीवरेन्द्रराय भगवानलाल दूरकाल एम्० ए०, विद्यावारिधि, धर्मविनोद)

आत्मकल्याणसिद्धिके लिये जगदीश्वर परमात्मा और महात्माओंने अनेक साधन निर्माण किये हैं। इनमेंसे अभी हमें ऐसे साधनका विचार करना है, जो वर्तमान समयमें काम दे, सबके लिये सुलभ हो और सबको लाभ पहुँचावे। कर्मयोग और ज्ञानयोग इस समयके लिये अनुकूल नहीं पड़ते और इनके अधिकारी भी बहुत कम हैं; क्योंकि अधिकांश मनुष्योंके मन राग और त्यागके मध्यवर्ती प्रदेशमें ही झूलते रहते हैं। ऐसे लोगोंके लिये भक्तिका मार्ग ही सरल और अनुकूल होता है।

शास्त्रोंने कलियुगमें भक्तिका ही प्राधान्य बताया है। वर्तमान युगके अधिकांश धर्माचार्यों और पंथप्रवर्तकोंने प्रधानतः भगवद्भक्तिका ही उपदेश किया है। भगवान् श्रीमत् शङ्कराचार्यके भक्तिरसपरिप्लुत ललित मधुर स्तोत्र प्रसिद्ध ही हैं। चीन, जापान और बर्मा आदि देशोंमें भगवान् बुद्धदेवकी मूर्तियोंका भक्तिभावसे पूजन-अर्चन ही सर्वत्र होता है। श्रीमद् रामानुज, श्रीमद् वल्लभ आदि आचार्य भक्तिसम्प्रदायके ही आचार्य कहे जाते हैं। ब्रह्मसमाजके प्रचारक केशवचन्द्र सेनके भगवद्भक्तिविषयक व्याख्यान ही उनके श्रोताओंको सबसे अधिक मुग्ध किया करते थे। श्रीरामकृष्ण परमहंस भगवतीके परम उपासक भक्त थे ही। हजरत ईसा और हजरत महम्मदके उपदेशोंमें भगवान्‌की वन्दनाके लिये ही सबसे अधिक आग्रह है। अपने देशके सुविख्यात महात्मा गाँधीका सबसे बड़ा भरोसा भगवान्‌की भक्ति और प्रार्थना ही तो है।

इस प्रकार भक्ति कल्याणका महामार्ग है। इस महामार्गसे चलनेवाला साधक निःश्रेयसके महाशिखरतक पहुँच सकता है और मार्गमें उसे अभ्युदय और सब प्रकारके प्रेयस् भी प्राप्त हो सकते हैं, क्योंकि प्रेयसके सरिता-सरोवर और अभ्युदयके फल-फूलोंसे सुशोभित सुवासित रम्य वनोपवन इस मार्गमें मिलते ही हैं। साधककी जैसी इच्छा होती है, वैसा उसे लाभ होता है। प्रेयसकी इच्छा निन्द्य या तिरस्करणीय नहीं होती; क्योंकि अविद्या-काम-कर्मसे उत्पन्न जीवोंमें सौमेंसे निन्यानवे जीव दैवी माया और वासनाओंसे ही बद्ध रहते हैं। इसलिये भगवान् श्रीकृष्णने सकाम भक्ति करनेवालोंको 'उदार' कहकर सम्मानित ही किया है। हाँ, राग-द्वेष वा किसी बाह्य विषयका अभिनिवेश इस मार्गमें जितना ही कम हो, उतनी ही शीघ्र साध्यकी सिद्धि होती है। भक्तिसे मुक्ति-जैसी सर्वोत्तम सिद्धि भी जब मिल जाती है, तब किसी शुभ कामनाका सिद्ध होना कौन-सी बड़ी बात है? इसके प्राचीन और वर्तमान उदाहरण भी असंख्य हैं, जिनकी पुनरुक्ति यहाँ करनेकी आवश्यकता नहीं।

हाँ, सकाम भक्तिके परे जो प्रेम है, उसका होना बहुत

ही दुर्लभ है; अनेक जन्मोंके पुण्योंका उदय होनेसे ही उसकी प्राप्ति हो सकती है। भगवान् वेदव्यासने इस उत्कट भक्ति-भाव या प्रेमका हृदयमें प्रादुर्भाव करानेके लिये एक महा-साधन अवश्य बताया है। वह साधन है श्रीमद्भागवतका सप्ताह-यज्ञ। इस यज्ञकी महिमा भारतवर्षमें सर्वत्र विदित है और इसका प्रचार भी बहुत कुछ है। असंख्य नर-नारी आजतक इस यज्ञसे कृतकृत्य हुए हैं। परन्तु आजकलके नवयुवकोंको इसकी महिमाका कुछ भी पता न हो, यह बड़ी शोचनीय बात है। उन्हें यह जानना चाहिये कि सर्वोत्कृष्ट रस-साहित्यसे परिपूर्ण इस भक्ति-सदाचार-रसामृत ग्रन्थमें जीवन-परिवर्तन-की विलक्षण दिव्य शक्ति है। सप्ताह-यज्ञमें इसका जिस रूपमें विनियोग है, वह मानसशास्त्र और समाजशास्त्रकी खूबियोंसे भरा हुआ है। केवल भागवतका पाठ कर लेनेसे ही यज्ञ सम्पन्न नहीं होता। इसमें तो एक साथ ही भगवत्प्रेरित किसी दिव्य जीवन-सन्देशकी प्राप्ति, अपने सब स्नेही-सम्बन्धियों-का भगवदधिष्ठानमें एक दिव्य सम्मेलन, एक सप्ताहका श्रद्धा-युक्त ब्रह्मचर्यपालन और तपश्चरण, आत्मस्वरूपकी पहचान-के लिये आवश्यक सार्वदेशिक ज्ञानका विहंगदर्शन, आर्यजाति-के दिव्य अमोघ आदर्शों, भावों और सिद्धान्तोंका आवर्तन—ये उत्तमोत्तम, अत्यन्त उपादेय कार्य सिद्ध होते हैं। सप्ताहमें भागवतका जो वक्ता हो, वह अवश्य ही भागवतनिष्ठ होना चाहिये।

यह सही है कि एक सप्ताहमें जल्दी-जल्दी सम्पूर्ण भागवत पढ़ जाने या सुन लेनेसे भागवत-ज्ञानका पूर्ण आकलन और भागवत-रसका पूर्ण आस्वादन सामान्य मनुष्य नहीं कर सकते। पर इस सप्ताहकी योजना इसके लिये है ही नहीं। यह यज्ञ तो भगवान्‌की मनोहारिणी वाङ्मयी मूर्तिकी झाँकी करने और जीवनके धन्य क्षणको पानेके लिये किया जाता है। फरहाद शीरींको या रोमिओ जूलिएटको किसी जलसेमें एक बार एक निगाह देख भर लेता है। वह उसकी महिमासे अभी अनभिज्ञ है; पर दर्शनमात्रसे वह उसका प्रेमी बन जाता है, अपना जीवन उसीकी अर्चनामें लगा देता और अन्तमें उसे उसीपर उत्सर्ग भी कर देता है। उसी प्रकार इस सप्ताहयज्ञमें जीवात्मा अपने परम प्रेमास्पदकी वह झाँकी कर लेता है, जिसके करनेपर उससे अधिक प्यारी चीज संसारमें उसके लिये कोई नहीं रह जाती और जगत्‌से उसका नाता जो कुछ रह जाता है, वह उसी प्रियतमके लिये और उसीके सम्बन्धमें ही रहता है।

सप्ताह-यज्ञमें भगवान्‌की वाङ्मयी मूर्तिका दर्शन होनेके साथ ही धर्मका भी दर्शन होता है, जो प्रभुका हृदय है और उस हृदयमें सदा रहनेवाली भक्तिमयी श्रीराधिकाजी दर्शन देती हैं। इस केन्द्रकी परिक्रमा करते हुए जगत्‌के इतिहास और सृष्टिनिरूपण मिलते हैं और विराट्‌रूपमें भगवान्‌के दर्शन होते हैं। एक ही परम लक्ष्यको लक्षित करानेवाली इसकी अत्यन्त बलशाली भाषाशैली श्रोताओंको उस सूत्रमें बाँध लेती है, जिससे वे कभी सत्यसे नहीं बिछुड़ते।

ऐसा यह विलक्षण ग्रन्थ है। पुराणग्रन्थ होनेसे शूद्रादिकोंके लिये भी श्रवणीय है और श्रवण करनेवाले मात्रका अत्यन्त उपकार करनेवाला है। यह कल्पनाका क्षणिक मनोराज्य नहीं, सत्यका सनातन साहित्य है। मनुष्य-जातिका परमहित उसमें निहित है। जगत्‌के आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रहस्य, धर्मका गूढ़तम तत्त्व, कर्मकी गहन गति, कालात्माकी अकल कला—इन सबका मर्मोद्‌घाटन इस महान् ग्रन्थमें महामुनि भगवान् वेदव्यासकी क्रान्तदर्शिनी बुद्धिके द्वारा हुआ है।

श्रीमद्भागवतके निकट परिचयसे यह बात दृष्टिगत हुई है कि इसका जो एकादश स्कन्ध है, वह वेदमाता गायत्रीका ही महाभाष्य है। इसके ३१ अध्याय हैं। इनमें पहला और अन्तके दो अध्याय उपक्रम और उपसंहारके अध्याय हैं। इन्हें छोड़कर बाकी जो २८ अध्याय हैं उनमें प्रणव, तीन व्याहृति और चौबीस अक्षर गायत्रीके मिलकर २८ अक्षरोंका तत्त्व निहित है। इन २८ अध्यायोंमें प्रथम चार अध्याय योगेश्वरोंके उपदेश हैं; अनन्तर २४ अध्यायोंमें महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णका उपदेश है, जो छठे अध्यायमें 'अथ' शब्दसे आरम्भ होता है। यही गायत्रीका महाभाष्य कहा जा सकता है।

जब साधनका विचार करना है, तब पहले साध्यका विचार होना ही चाहिये। सात्त्विक विचारवाले पुरुषोंके लिये साध्यका प्रश्न कोई कठिन प्रश्न नहीं है। सामान्यतः सभी मनुष्य सुख, समृद्धि, उन्नति या अभ्युदय और निःश्रेयस ही तो चाहते हैं और ये सब भगवत्कृपासे अति शीघ्र और अनायास प्राप्त होते हैं। इसलिये सामान्य और

विशेष—सबके लिये भगवत्कृपा ही एकमात्र वाञ्छनीय वस्तु है अर्थात् भगवत्कृपा ही सबकी साध्य होनी चाहिये। भगवत्कृपारूपिणी यह कामधेनु सदा भगवान्‌के समीप ही रहती है। इसे प्राप्त करनेमें भागवतका सप्ताहयज्ञ अत्यन्त अमोघ साधन है। इसीलिये इसे कलियुगका महासाधन कहा गया है। उसकी इस अगाध महिमाके कारणसे ही महामुनिने स्पष्ट ही निर्देश किया है कि—

साध्यमानि तिरस्कृत्य कलौ धर्मोऽयमीरितः।

विचार-साधन

(लेखक—श्रीमत्स्वामी शङ्करतीर्थजी महाराज)

विशोकः कश्चिदानन्दमयो विपश्चित्
स्वयं कुतश्चिन्न बिभेति कश्चित्।
नान्योऽस्ति पन्था भवबन्धमुक्तये
विना स्वतत्त्वावगमं सुसूक्ष्मम्॥ १॥

(भगवान् भाष्यकार श्रीशङ्कर)

शोकरहित आनन्दमय विद्वान् स्वयं किसीसे भी भयभीत नहीं होता। अतिसूक्ष्म आत्मतत्त्वज्ञानके बिना भवबन्धनसे मुक्ति प्राप्त करनेका और कोई उपाय नहीं है॥१॥

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
अन्तर्बहिःशून्यमनन्यमात्मनः।
विज्ञाय सम्यङ् निजतत्त्वमेतत्
पुमान् विपाप्मा विरजो विमृत्युः॥ २॥

नित्य, विभु, सर्वगत, अतिसूक्ष्म, भीतर और बाहरसे शून्य एवं भेदरहित आत्माके स्वरूपको सम्यक् रूपसे जानकर मनुष्य पापसे रहित, तापसे रहित और मृत्युञ्जय हो सकता है॥२॥

ब्रह्माभिन्नत्वविज्ञानं भवमोक्षस्य कारणम्।
येनाद्वितीयमानन्दं ब्रह्म सम्पद्यते बुधैः॥ ३॥

ब्रह्मके साथ आत्माका अभेदज्ञान संसारसे मुक्त होनेका हेतु है। ब्रह्म और आत्माके ऐक्यज्ञानके द्वारा पण्डितलोग अद्वितीय आनन्दस्वरूप ब्रह्मको प्राप्त होते हैं॥३॥

ब्रह्मभूतस्तु संसृत्यै विद्वान्नावर्तते पुनः।
विज्ञातव्यमतः सम्यग् ब्रह्माभिन्नत्वमात्मनः॥ ४॥

जो ब्रह्मको जानकर ब्रह्मस्वरूप हो गये हैं, उनका पुनः संसारमें आवागमन नहीं होता। अतएव सम्यक् रूपसे आत्मा और ब्रह्मका अभेदज्ञान प्राप्त करना चाहिये॥४॥

यदिदं सकलं विश्वं नानारूपं प्रतीतमज्ञानात्।
तत्सर्वं ब्रह्मैकं प्रत्यक्षाशेषभावबाधादद्वैतम्॥ ५॥

यह समस्त जगत् जो अज्ञानके कारण नानारूपमें प्रतीत हो रहा है, सब सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदसे रहित अद्वितीय ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ नहीं है; क्योंकि ब्रह्म-तत्त्वमें भेदभावनाके दोष प्रत्यक्ष हो रहे हैं॥५॥

मृत्कार्यभूतोऽपि मृदो न भिन्नः
कुम्भोऽस्ति सर्वत्र तु मृत्स्वरूपम्।
न कुम्भरूपात् पृथगस्ति कुम्भः
कुतो मृषा कल्पितनाममात्रः॥ ६॥

मृत्तिकासे उत्पन्न वस्तु मृत्तिकासे भिन्न नहीं होती, घट सर्वत्र ही मृत्तिकास्वरूप होता है। घटरूपसे घट पृथक् नहीं होता, क्योंकि 'घट' नाम और आकार मिथ्या अर्थात् मृत्तिकामें कल्पितमात्र होता है॥६॥

केनापि मृत्त्विततया स्वरूपं
घटस्य सन्दर्शयितुं न शक्यते।
अतो घटः कल्पित एव मोहा-
न्मृदेव सत्यं परमार्थभूतम्॥ ७॥

कोई भी मृत्तिकासे भिन्न घटके स्वरूपको नहीं दिखला सकता। अतः अज्ञानवश मृत्तिकामें घट कल्पित ही है, एकमात्र मृत्तिका ही सत्य और परमार्थरूप है॥७॥

सद्ब्रह्म कार्यं सकलं सदेव
तन्मात्रमेतन्न ततोऽन्यदस्ति।
असीति यो वक्ति न तस्य मोहो
विनिर्गतो निद्रितवत्प्रजल्पः॥ ८॥

ब्रह्म सत्स्वरूप है, समस्त कार्य सत्स्वरूप है, ब्रह्मस्वरूप है; क्योंकि ब्रह्मसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है। जो पुरुष कहता है कि ब्रह्मातिरिक्त कोई वस्तु है, उसकी बात सोये हुए पुरुषके प्रलापके समान मिथ्या है; क्योंकि उसका मोह नष्ट नहीं हुआ है॥८॥

मैं देह नहीं हूँ; क्योंकि देह दृश्यमान होता है, मैं द्रष्टा हूँ। मैं इन्द्रिय भी नहीं हूँ, क्योंकि इन्द्रियाँ भौतिक पदार्थ हैं और मैं अभौतिक हूँ। मैं प्राण नहीं हूँ, क्योंकि प्राण अनेक हैं और मैं एक हूँ। मैं मन नहीं हूँ; क्योंकि मन चञ्चल है, मैं स्थिर हूँ, एकरूप हूँ। मैं बुद्धि नहीं हूँ; क्योंकि बुद्धि विकारी है, मैं निर्विकार हूँ, एकरस हूँ। मैं तम नहीं; क्योंकि वह जड है, मैं चेतन हूँ, प्रकाशस्वरूप हूँ। मैं देह, इन्द्रिय आदिकी समष्टि भी नहीं हूँ; क्योंकि वे सब घटादिके समान नाशवान् हैं—मैं अविनाशी हूँ, नित्यसाक्षी हूँ। मैं देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, अज्ञान आदिको प्रकाशित कर, इन देहादिमें आत्माका अभिमान करनेवाले अहङ्कारको प्रकाशित करता हूँ।

यह सारा जगत् मैं नहीं हूँ, बुद्धिका विषयसमूह भी मैं नहीं हूँ; क्योंकि सुषुप्ति आदि अवस्थामें भी साक्षीरूपमें मेरी सत्ता प्रतीत होती है। मैं सुषुप्ति-अवस्थामें जिस प्रकार निर्विकार रहता हूँ, उसी प्रकार अन्य दो अवस्थाओं अर्थात् जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें भी मैं निर्विकार रहता हूँ। स्वप्न और जाग्रदवस्थाके विषयादिके स्पर्शसे मैं विकृत नहीं होता। जिस प्रकार उपाधिगत नील, रक्त प्रभृति वर्णोंके द्वारा स्फटिक लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार काम, क्रोध आदि शरीरज दोषोंके द्वारा आत्मा लिप्त नहीं होता।

जो पुरुष देहत्रयको नित्य समझकर उसमें आत्माभिमान करता है, तथा जबतक उसमें इस प्रकारका भ्रम रहता है, तबतक वह मोहान्ध पुरुष नाना योनियोंमें जन्म ग्रहण करता रहता है। निद्रावस्थामें जो देह प्रतीत होता है, उसमें जो सुख-दुःखादिके अनुभव होते हैं, वे सब जिस प्रकार जाग्रत् शरीरको स्पर्श नहीं कर सकते, उसी प्रकार जाग्रत् शरीरमें जो समस्त दुःख-सुखादिका ज्ञान होता है, वह आत्माको स्पर्श नहीं कर सकता। निद्रावस्थामें—स्वप्नमें जिस देहकी प्रतीति होती है, वह जाग्रत् शरीरके समान सत्य-सा प्रतीत होता रहता है। परन्तु स्वप्न-कल्पित शरीरके नष्ट होनेपर जाग्रत्-अवस्थाका शरीर नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार जाग्रत्-अवस्थामें जाग्रत् शरीर आत्मवत् प्रतीत होता है, अर्थात् उस समय जाग्रत् शरीरमें ही आत्माभिमान होता है; जब वह जाग्रत् शरीर विनष्ट हो जाता है, तब आत्मा कभी नष्ट नहीं होता। स्वप्नकल्पित शरीरके नष्ट होनेपर जिस प्रकार जाग्रत-अवस्थाका शरीर अवशिष्ट रहता है उसी प्रकार प्रबुद्ध व्यक्तिके जाग्रत्-अवस्थाके शरीरके नष्ट होनेपर आत्मा अवशिष्ट रहता है।

जिस प्रकार जिस व्यक्तिको रज्जुमें सर्प-भ्रम नहीं है, वह व्यक्ति रज्जु देखकर भयभीत नहीं होता, उसी प्रकार जो व्यक्ति ज्ञानी अर्थात् भ्रमरहित है, वह संसार तथा तज्जनित तापत्रयसे मुक्त हो जाता है। जो व्यक्ति अज्ञ है और काम्य कर्मोंमें निरत रहता है, वह निरन्तर संसार-चक्रमें भ्रमण किया करता है।

स्थूलशरीर मांसमय तथा सूक्ष्मशरीर वासना अर्थात् संस्कारमय होता है। पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च प्राण, बुद्धि और मन—इन सतरह तत्त्वोंकी समष्टिका नाम है 'सूक्ष्मशरीर'। अज्ञानको 'कारणशरीर' कहते हैं। साक्षीरूप बोध ही इस त्रिविध शरीरका प्रकाशक है। बुद्धिमें प्रतिबिम्बित बोधका आभास ही पुण्य और पापका कर्ता है। वही कर्मके वश होकर सदा इहलोक और परलोकमें गमनागमन करता रहता है। प्रयत्नपूर्वक इस बोधाभाससे शुद्धबोधको पृथक् करना चाहिये। जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थामें ही बोधाभास दृष्ट होता है। परन्तु सुषुप्तिकालमें जब बोधाभास लयको प्राप्त होता है, तब शुद्धबोध ही अज्ञानको प्रकाशित करता है। जाग्रत्-अवस्थामें भी बुद्धिका स्थिरभाव शुद्ध बोधके द्वारा प्रकाशित होता है, तथा चिदाभाससयुक्त जो बुद्धिके समस्त व्यापार हैं वे भी साक्षीचैतन्यके द्वारा प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार अग्निसे प्रतप्त जल तापयुक्त होकर शरीरको तापप्रद जान पड़ता है, उसी प्रकार आभाससंयुक्त बुद्धि साक्षीचैतन्यके द्वारा प्रकाशित होकर अन्य वस्तुकी प्रकाशक बनती है। रूप-रसादि पञ्च विषयोंमें गुण-दोषरूप जो विकल्प हैं, वे बुद्धिस्थ क्रियास्वरूप हैं। चैतन्य रूपादि विषयोंके साथ इन सब क्रियाओंको प्रकाशित करता है। प्रत्येक क्षण बुद्धिके विकल्प (व्यापार)-समूह विभिन्न रूप धारण करते हैं, परन्तु चैतन्य विभिन्न रूप नहीं होता। जिस प्रकार मोतीकी मालामें मोतियोंके परस्पर विभिन्न होनेपर भी सूत्र अन्यरूप नहीं होता, परन्तु सब मोतियोंमें पिरोया रहता है, उसी प्रकार बुद्धिके व्यापारोंके परस्पर भिन्न होनेपर भी चैतन्य सर्वत्र एक रूपमें अनुगत रहता है। जिस प्रकार मोतियोंके द्वारा ढका होनेपर भी सूत दो मोतियोंके बीचमें दिखलायी पड़ता है, उसी प्रकार चैतन्य बुद्धि-वृत्तिरूप विकल्पोंके द्वारा आवृत होनेपर भी दो विकल्पोंके बीचमें स्पष्ट प्रतीत होता है। पहले विकल्पके

नष्ट होनेपर जबतक दूसरा विकल्प उत्पन्न नहीं होता, तबतक निर्विकल्पक चैतन्य स्पष्टरूपसे प्रकाशित रहता है। जो लोग ब्रह्मकी अनुभूति प्राप्त करना चाहते हैं, उनको इसी प्रकार एक, दो या तीन क्षणोंमें विकल्प अर्थात् व्यापारके निरोधका क्रमशः यत्नपूर्वक अभ्यास करना चाहिये। जो अहं सविकल्प चैतन्य है, वही अहं एकमात्र निर्विकल्प ब्रह्म है। विकल्प स्वतः-सिद्ध, स्वाभाविक अर्थात् अविद्याकल्पित हैं। प्रयत्नपूर्वक इन सब विकल्पोंका निरोध करना चाहिये। जब शरीरमें आत्मबुद्धिके समान ब्रह्ममें आत्मबुद्धि दृढ़रूपसे हो जाती है, तभी कृतकृत्यता प्राप्त होती है; फिर शरीरकी मृत्यु होनेपर भी पुरुष मुक्त हो जाता है, इसमें कोई भी संशय नहीं।

× × × ×

मायाकी दो शक्तियाँ हैं—एक विक्षेपशक्ति और दूसरी आवरणशक्ति। विक्षेपशक्ति लिङ्गशरीरसे लेकर ब्रह्माण्ड-पर्यन्त जगत्‌की सृष्टि करती है। सृष्टि किसे कहते हैं? समुद्रमें जिस प्रकार फेन, बुद्‌बुद, तरङ्ग आदिका आविर्भाव होता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्दरूप परब्रह्ममें नामों और रूपोंका जो विकास होता है उसीका नाम सृष्टि है। आवरणशक्ति शरीरके भीतर द्रष्टा आत्मा और दृश्य अन्तःकरणके भेदको, तथा बाहर ब्रह्म और सृष्टिके भेदको आवृत करती है। यही आवरणशक्ति संसारका कारण है। स्थूलशरीरके साथ संयुक्त लिङ्गशरीर साक्षीके सम्मुख विराजमान रहता है। यह चैतन्यकी छायाके द्वारा सम्बन्ध होनेपर व्यावहारिक जीवके नामसे पुकारा जाता है। जीवका जीवत्व अध्यासके कारण साक्षीको जीवरूप प्रतीत होता है। आवरणशक्तिके नष्ट होनेपर अर्थात् साक्षी और जीवका भेद प्रकट हो जानेपर जीवत्व नष्ट हो जाता है। आवरणशक्ति सृष्ट पदार्थ और ब्रह्मके भेदको ढककर स्थित है, इसीसे ब्रह्म कार्यजगत्‌के रूपमें प्रकट होता है। मायाकी आवरणशक्तिका नाश होने-पर ब्रह्म और सृष्ट पदार्थोंका भेद प्रकट हो जाता है। सृष्टिकालमें ब्रह्म और सृष्ट पदार्थोंका विकार होता है; परन्तु वस्तुतः ब्रह्मका कभी विकार नहीं होता, आवरणशक्तिके कारण ब्रह्म विकारयुक्त जान पड़ता है।

प्रत्येक पदार्थमें पाँच अंश दिखलायी पड़ते हैं—सत्ता, प्रकाश, आनन्द, रूप और नाम। इनमें पूर्वोक्त तीन ब्रह्मके स्वरूप हैं, नाम और रूप जगत्‌के स्वरूप हैं। आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवीमें तथा देवता, पशु-पक्षी आदि तिर्यक् जाति और मनुष्य आदिमें सत्, चित्, आनन्द अभिन्नभावसे विद्यमान हैं; केवल नाम और रूपका भेद होता है। मोक्षकी इच्छा करनेवाले मनुष्यका कर्तव्य सच्चिदानन्द-वस्तुमें एकाग्र होकर नाम और रूपकी उपेक्षा करके सर्वदा हृदयमें अथवा बाहर समाधिका अभ्यास करना है। समाधि दो प्रकारकी होती है—सविकल्प और निर्विकल्प। फिर, सविकल्प समाधि भी दो प्रकारकी होती है—दृश्यानुविद्ध अर्थात् दृश्यसे सम्बद्ध और शब्दानुविद्ध अर्थात् शब्दसे सम्बद्ध। काम आदि सब दृश्य चित्तके धर्म हैं, इनकी उपेक्षा करके इनके साक्षीस्वरूप चेतनका ध्यान करना चाहिये। इसे हृदयस्थ दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि कहते हैं। 'मैं असंग हूँ, सच्चिदानन्द हूँ, स्वयंप्रकाश—द्वैतरहित हूँ' इस प्रकार निरन्तर एकतान चिन्तनप्रवाहमें डूबे रहनेका नाम है हृदयस्थ शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि। अपने अनुभवरूप रसके आवेशके द्वारा कामादि दृश्य पदार्थ और शब्दसमूहकी उपेक्षा करके निर्वात स्थानमें स्थित दीपशिखाके समान जो समाधि होती है, उसे निर्विकल्प समाधि कहते हैं। हृदयके समान बहिर्देशमें या किसी भी वस्तुमें दृश्यानुविद्ध समाधिका अभ्यास किया जा सकता है, उसमें नाम और रूपको पृथक् करके सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्मका ध्यान करना पड़ता है। 'अखण्ड, एकरस, सच्चिदानन्द-स्वरूप ही ब्रह्मवस्तु है' इस प्रकार अविच्छिन्नरूपसे चिन्तन करनेको शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि कहते हैं। रसा-स्वादनके परिपाकके द्वारा पूर्ववत् जो स्तब्धता आ जाती है, उसको निर्विकल्प समाधि कहते हैं। योगीको इस तरह छः प्रकारकी समाधिके द्वारा सदा काल व्यतीत करना चाहिये; शरीरमें आत्माभिमानके दूर होनेपर तथा परमात्मज्ञान होनेपर जहाँ-जहाँ मन दौड़ता है, वहीं-वहीं समाधि लगती जाती है। श्रुति कहती है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

परावर ब्रह्मका दर्शन होनेपर हृदयकी कामादि ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं, समस्त संशय छिन्न हो जाते हैं, तथा सञ्चित कर्मोंका क्षय हो जाता है।

जीव तीन प्रकारके हैं—बुद्धि आदिके द्वारा अवच्छिन्न, चिदाभास और स्वप्नकल्पित। इनमें अवच्छिन्न जीव पारमार्थिक है। अवच्छेद कल्पित है, परन्तु अवच्छेद्य यथार्थ है। अवच्छेद्य ब्रह्ममें जीवत्व आरोपित है, ब्रह्मत्व ही स्वाभाविक है। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य पूर्ण ब्रह्मके साथ

अवच्छिन्न जीवकी एकता प्रकट करते हैं, अन्य दो जीवोंके सम्बन्धमें कुछ नहीं कहते।

विक्षेपशक्ति और आवरणशक्तिसे युक्त माया ब्रह्ममें अवस्थान करती है। वह माया ब्रह्मकी अखण्डताको आवृत करके उसमें जगत् और जीवकी कल्पना करती है। बुद्धिस्थ चिदाभासको जीव कहते हैं, वही भोक्ता और कर्मकारक है। यह सब भूतभौतिक जगत् जीवका भोग्यस्वरूप है। अनादि-कालसे लेकर मोक्षके पूर्वपर्यन्त जीव और जगत् व्यवहार-कालमें वर्तमान रहते हैं, अतएव दोनों ही व्यावहारिक हैं। चिदाभासमें स्थित विक्षेप और आवरणशक्तिरूपा निद्रा मायाके द्वारा सृष्ट जीव और जगत्को आवृत करके नूतन जीव और जगत्की कल्पना करती है। जबतक प्रतीति है, तभीतक अवस्थिति रहती है; इसी कारण इस जीव और जगत्को प्रातिभासिक कहते हैं। क्योंकि स्वप्नसे जागे हुए व्यक्तिके लिये फिर स्वप्नमें इस जीव और जगत्की अवस्थिति नहीं रहती। प्रातिभासिक जीव प्रातिभासिक जगत्को वास्तविक समझता है, परन्तु व्यावहारिक जीव प्रातिभासिक जगत्को मिथ्या जानता है। व्यावहारिक जीव व्यावहारिक जगत्को सत्य समझता है, परन्तु पारमार्थिक जीव व्यावहारिक जगत्को मिथ्या जानता है। पारमार्थिक जीव अद्वितीय ब्रह्मको (जीव और ब्रह्मके ऐक्यको) पारमार्थिक जानता है, अन्य किसी वस्तुको पारमार्थिक नहीं समझता, बल्कि मिथ्या जानता है।

जलके धर्म माधुर्य, द्रवत्व और शैत्य जिस प्रकार तरङ्गमें व्याप्त होकर तरङ्गस्थित फेनमें व्याप्त होते हैं, उसी प्रकार साक्षीस्थित सच्चिदानन्द व्यावहारिक जीवसे सम्बद्ध होकर व्यावहारिक जीवके द्वारा प्रातिभासिक जीवमें व्याप्त हो जाते हैं। फेनके नष्ट होनेपर उसके धर्म द्रवत्व प्रभृति तरङ्गमें अवस्थित होते हैं और तरङ्गके विलय होनेपर पूर्वके अनुसार जैसे जलमें अवस्थान करते हैं, उसी प्रकार प्रातिभासिक जीवके लय होनेपर सत्-चित्-आनन्द साक्षीमें अवस्थान करते हैं।

× × × ×

जब अज्ञानके कारण अधिष्ठान, चिदाभास और बुद्धि—ये तीनों एक रूपमें प्रतीत होते हैं, तब उसे जीव नामसे पुकारा जाता है। केवल अधिष्ठान चैतन्य (कूटस्थ) जीव नहीं, क्योंकि अधिष्ठान चैतन्य निर्विकार है। चिदाभास (बुद्धिमें चित्प्रतिबिम्ब) भी जीव नहीं, क्योंकि वह मिथ्या है। और केवल बुद्धि—भी जीव नहीं, क्योंकि बुद्धि जड़ है। अतएव चिदाभास, कूटस्थ और बुद्धि—इन तीनोंका संयोग ही जीव कहलाता है। माया, चिदाभास और विशुद्ध आत्मा—इन तीनोंके संयोगको महेश्वर कहते हैं। माया और चिदाभासके मिथ्या होनेके कारण इनमेंसे कोई ईश्वर नहीं। आत्माको पूर्ण, विशुद्ध और निर्विकार होनेके कारण महेश्वर कहा जाता है। मायाके जड़त्वके कारण भी मायाको ईश्वर नहीं कहा जाता। अतएव माया और चिदाभास 'तत्' पदके प्रतिपाद्य ईश्वर नहीं हैं। अज्ञानके कारण जीव और ईश्वर प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार महाकाशमें घटाकाश और गृहाकाश कल्पित होते हैं, उसी प्रकार चिदाभासरूप अहंमें जीव और ईश्वर कल्पित होते हैं। माया और मायाके कार्यके लय होनेपर ईश्वरत्व और जीवत्व नहीं रहता, क्योंकि चैतन्यरूप आकाशके उपाधिविहीन होनेके बाद अहं शुद्ध चैतन्यरूपमें अवस्थान करता है।

चित्स्वरूप आत्मा उपाधिधारणके कारण जीवरूपमें प्रकट होता है, परन्तु उपाधिके नाश होनेपर शिवस्वरूप परमात्माका ईश्वरत्व और जीवत्व कुछ भी नहीं रहता। शिव ही सदा जीव और जीव ही सदा शिव हैं। जिनको इन दोनोंकी एकता प्राप्त हो गयी है वे ही आत्मज्ञ हैं, और कोई आत्मज्ञ नहीं। जिस प्रकार जल दूधमें मिलकर दूधके समान दिखलायी देता है, उसी प्रकार यह अनात्मस्वरूप जगत् आत्माके सहयोगसे आत्माके समान प्रतीत होता है। जीव स्थूलदेहादिसे आत्माको पृथक् करके मुक्त होता है। यदि स्थाणुमें चोरका आरोप होता है अर्थात् उसमें चोर होनेकी भ्रान्ति होती है तो इससे उस स्थाणुका कोई विकार नहीं होता, इसी प्रकार निर्विकार आत्मामें विश्वका आरोप होनेपर भी आत्मामें कोई विकार नहीं होता। जहाँ स्थाणुमें चोरका अध्यास होता है, वहाँ स्थाणुका ज्ञान होनेपर चोरकी उपलब्धि नहीं होती, चोरकी उपलब्धि न होनेपर भय भी नहीं रहता। इसी प्रकार आत्मज्ञान होनेपर संसार नहीं रहता और संसारके न रहने-पर नाना प्रकारकी वस्तुएँ नहीं दिखलायी देतीं। अविद्या-कल्पित समस्त अनर्थ निवृत्त हो जाते हैं और अविद्याकी निवृत्ति होनेपर पुरुष परमानन्दस्वरूपको प्राप्त होता है।

अविद्या या अज्ञानके कारण जीव अपनेको ब्रह्मरूप नहीं मानता, ब्रह्मात्मैक्यज्ञानके द्वारा यह अज्ञान नष्ट हो जाता है। इस अज्ञानके द्वारा ही जीव, ईश्वर और जगत्का

आविर्भाव होता है। अधिष्ठान ब्रह्मका ज्ञान होनेपर यह अज्ञान नष्ट हो जाता है—जीव, जगत् और ईश्वरभाव विलुप्त हो जाते हैं, और तब यह कहा जाता है कि जीवका मोक्ष हो गया। अन्यथा जीव स्वरूपतः (इस बद्ध-अवस्थामें भी) मुक्त है। जीवके सुख, दुःख, भय, शोक और मोह आदि सभी इसी अज्ञानके फल हैं। जबतक जीवका अज्ञान रहता है, तबतक व्यवहार रहता है। जबतक व्यवहार है, तबतक कर्म और उपासना हैं—तबतक पूजा-पाठ, प्रार्थना-स्तुति, होम, याग-यज्ञ—सभी अधिकारानुसार करने पड़ते हैं। देवता, ऋषि, गुरु सबकी आराधना करनी पड़ती है। और जबतक अज्ञान रहता है, तबतक दुःखमिश्रित सुखकी ही जीव कामना करता है। वैकुण्ठ, शिवलोक, ब्रह्मलोक आदि कामनाकी चरम सीमा हैं। यह क्रममुक्तिका मार्ग है। क्रम-मुक्तिसे भी अन्तमें अद्वैतज्ञानद्वारा निर्वाण प्राप्त होता है। परन्तु अद्वैतब्रह्मात्मैक्यज्ञान सद्योमुक्तिका मार्ग है।

श्रुत्याचार्यप्रसादेन दृढो बोधो यदा भवेत्।
निरस्ताशेषसंसारनिदानः पुरुषस्तदा॥
(वाक्यवृत्ति ५०)

जब श्रुति और आचार्यके अनुग्रहसे दृढ़ ज्ञान उत्पन्न होता है, तब पुरुषकी संसारकी कारणरूप समस्त अविद्या दूर हो जाती है।

विशीर्णकार्यकरणो भूतसूक्ष्मैरनावृतः।
विमुक्तकर्मनिगडः सद्य एव विमुच्यते॥
(वाक्यवृत्ति ५१)

जब कार्यरूप शरीर और करणरूप इन्द्रियाँ विशीर्ण हो जाती हैं, सूक्ष्म भूतोंके आवरण दूर हो जाते हैं, कर्मरूपी बन्धन नष्ट हो जाते हैं, तब मनुष्य शीघ्र ही मुक्तिको प्राप्त हो जाता है।

अहं साक्षीति यो विद्यादविच्छैव पुनः पुनः।
स एव मुक्तो विद्वानिति वेदान्तडिण्डिमः॥
(ब्रह्मज्ञानावलीमाला)

जो देह, इन्द्रिय प्रभृति अनात्मासे आत्माको पृथक् करके 'मैं साक्षीस्वरूप हूँ' इस प्रकारसे आत्माको जानते हैं, वे ही विद्वान् हैं, वे ही मुक्त हैं—यह समस्त वेदान्तकी घोषणा है।

देहत्रयमिदं भाति यस्मिन् ब्रह्मणि सत्यवत्।
स एवाहं परं ब्रह्म जाग्रदादिविलक्षणः॥
(अद्वैतानुभूति ८३)

जिस ब्रह्ममें देहत्रय सत्यके समान प्रतीयमान हो रहा है, मैं वही जाग्रदादिसे विलक्षण परम ब्रह्म हूँ।

विश्वादिकं त्रयं यस्मिन् परमात्मनि संस्थितम्।
स एव परमात्माहं विश्वादिकविलक्षणः॥
(वाक्यवृत्ति ८४)

जिस परमात्मामें विश्व, तैजस और प्राज्ञ—ये तीनों अवस्थान करते हैं, मैं विश्वादिसे विलक्षण वही परमात्मा हूँ।

जाग्रदादित्रयं यस्मिन् प्रत्यगात्मनि सत्यवत्।
स एवाहं परं ब्रह्म जाग्रदादिविलक्षणः॥
(वाक्यवृत्ति ८५)

जिस विश्वव्यापी आत्मामें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—ये अवस्थात्रय सत्यवत् प्रतीयमान होते हैं, मैं जाग्रदादि अवस्थाओं-से पृथक् वही परब्रह्म हूँ।

विराडादित्रयं भाति यस्मिन् ब्रह्मणि नश्वरम्।
स एव सच्चिदानन्दलक्षणोऽहं स्वयंप्रभुः॥
(वाक्यवृत्ति ८६)

जिस परब्रह्ममें विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर प्रभृति मूर्तित्रय प्रकाशमान होते हैं, मैं वही सच्चिदानन्दस्वरूप स्वयं-प्रकाश परब्रह्म हूँ।

सर्वमय भगवान्‌को प्रणाम करो

योगेश्वर कवि कहते हैं—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ४१)

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्रादि ज्योतिर्मण्डल, समस्त प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष आदि वनस्पति, नदियाँ और समुद्र सब-के-सब भगवान्‌के शरीर हैं, किसी भी जड़-चेतन पदार्थको भगवान्‌का स्वरूप समझकर अनन्यभावसे प्रणाम करना चाहिये।

साधना

(लेखक—स्वामीजी श्रीभूमानन्दजी महाराज)

भारतवर्षके विभिन्न सम्प्रदायोंमें विभिन्न साधन-प्रणालियाँ प्रचलित हैं। जिस सम्प्रदायके प्रवर्तकने अपने शिष्योंमें जिस साधन-धाराका प्रचलन किया, आज वही एक-एक विशिष्ट पन्थके नामसे परिचित है। जैसे नानक-पन्थ, कबीर-पन्थ और दादू-पन्थ इत्यादि। कहीं-कहीं यह भी देखा जाता है कि एक सम्प्रदायकी साधना दूसरे सम्प्रदायकी साधनासे विपरीत है। कोई साकारके उपासक हैं तो कोई निराकार-ध्यानके पक्षपाती हैं। किसीके मतमें अहिंसा ही धर्म और साधन है, तो किसीने हिंसाको भी साधनके अन्तर्गत मान लिया है। साधनाके इस तरह विभिन्न आकार-प्रकार देखकर सहज ही मनमें एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि यथार्थ साधन क्या है और साधनके नामसे किसको पुकारना चाहिये। साधना एक है या बहुत, और साधनाकी कोई आवश्यकता भी है या नहीं—ये प्रश्न विचारशील मनुष्यके मनमें घबराहट पैदा कर देते हैं।

२. शब्दार्थकी ओर ध्यान देकर विचार करनेसे पता लगता है कि साध्य विषयके लिये जो प्रयत्न, चेष्टा और अनुष्ठान किया जाता है, उसीका नाम साधन है। यही बात है तो यह भी मानना ही पड़ेगा कि साधनका विचार करनेसे पहले साध्यका निर्णय करना आवश्यक है। साध्य यदि सभीका एक हो और वह देश-काल-पात्रद्वारा परिच्छिन्न न होकर सार्वजनीन हो तो साधनका भी एक होना सम्भव है और वह सम्प्रदायगत विशेष विधि अथवा आचार नहीं हो सकता। अब विचार करना है कि साध्य क्या है?

३. जगत्के मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि सभी प्राणियोंकी चेष्टा और क्रियाओंपर स्थिर चित्तसे विचार करनेपर यह स्पष्ट ही दिखलायी देता है कि जीवका एकमात्र काम या साध्य 'सुख' है। इस सुख-प्राप्तिकी आशासे ही सभी जीव अपने जीवनके अन्तिम क्षणतक चेष्टा या साधन करते रहते हैं, परन्तु आश्चर्य है कि तृप्त कोई भी नहीं होता, अभावोंकी पूर्ण निवृत्ति किसीकी भी नहीं होती। सुखकी इच्छासे चेष्टा करनेपर यह देखा जाता है कि बहुतोंको सफलता मिलती है और वे सुखके निदानस्वरूप भोगोंको प्राप्त भी कर लेते हैं, परन्तु उनके भी अभावों और कामनाओंकी निवृत्ति नहीं होती, वरं ये उत्तरोत्तर बढ़ते ही जाते हैं। इसी बातको ध्यानमें रखकर शास्त्रोंने कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

इससे यह साफ मालूम होता है कि हमलोग साध्यका निश्चय किये बिना ही साधनमार्गपर बढ़ रहे हैं, इसीलिये सफलता मिलनेपर भी अभाव नहीं मिटता। अतएव विचारशील पुरुषमात्रका यह सिद्धान्त होना चाहिये कि वस्तुतः क्षणस्थायी सुख जीवकी आकाङ्क्षाका विषय नहीं है, वह तो अनादिकालसे अभावरहित नित्य सुखकी ही खोजमें लगा है और वही उसका साध्य है; परन्तु वह इस बातको नहीं जानता कि किस उपायसे अथवा किस विषयके द्वारा वह सुख प्राप्त हो सकता है और उसके अभावोंका सर्वथा अभाव हो सकता है। जगत्के सभी प्राणी इस एक ही अवस्थामें स्थित हैं; इसीसे यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि जब साध्य एक है, तब साधन भी एक ही होगा।

४. अब इस बातपर विचार करना है कि अभाव किसको है? हमारे इस देह और देहके संयोगसे जो कार्य, कर्म, सुख-दुःखादि-बोध, कामना-वासना आदि हो रहे हैं, उनकी ओर देखनेसे यह पता लगता है कि देह एक जड वस्तु है। यह अस्थि-चर्म, मांस-रक्त, मेद और मज्जा आदिका समष्टिभूत पिण्डमात्र है। दूसरी ओर यह भी देखा जाता है कि इसमें ज्ञान, बुद्धि, विचार और अनुभूति आदि विद्यमान हैं और इनमेंसे कोई-सा भी जडका धर्म नहीं है। अतएव यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि यह देह जड और चैतन्यका सम्मिश्रण है। इस देहमें ही इच्छा-शक्तिका विकास भी देखनेमें आता है और जडदेह उस इच्छाके अनुसार ही परिचालित होती है—यह भी देखा जाता है। अब प्रश्न यह है—यह इच्छा किसको है? कौन इस देहका कर्ता है? शास्त्रोंसे पता लगता है कि जो कर्ता है उसे देही, चैतन्य, ज्ञान, अक्षर, आत्मा और जीव आदि अनेकों नामोंसे अभिहित किया गया है। हम जिस समय कहते हैं 'यह मेरा शरीर है', उस समय भी हमारे अंदर यह ज्ञान रहता है कि शरीर 'मैं' नहीं है, शरीर 'मेरा' है; यहाँ भी

हम यह स्वीकार करते हैं कि 'मैं' देहातीत है, तो भी हम उसे पहचानते नहीं ! सूक्ष्मरूपसे विचार करनेपर यह पता लगता है कि अभावका बोध उस देही अथवा आत्माको ही है और उसीकी इच्छासे यह जड़देह अभावकी पूर्तिके लिये उसीके द्वारा परिचालित हो रही है। परन्तु अभावकी निवृत्ति करनेवाले विषयको न जाननेके कारण हमलोगोंने देहके अभावको ही आत्माका अभाव समझ लिया है और प्राणपर्यन्त चेष्टा करके दूसरे जड़देहके द्वारा इस देहके अभावकी पूर्तिमें लग रहे हैं। इसीलिये आत्माकी आकाङ्क्षा निवृत्त नहीं होती और वह दूसरे सुखकी लालसासे बार-बार दूसरे विषयोंकी प्राप्तिके लिये देहको नियुक्त करता है। जीव इसी प्रकार एक विषयको छोड़कर दूसरे विषयको ग्रहण करता है और एक योनिसे दूसरी योनिमें जाकर भटक रहा है और भटकता रहेगा।

५. अब प्रश्न यह है कि फिर उपाय क्या है ? विचार करनेपर पता लगता है कि हम इन्द्रियग्राह्य विषयोंके द्वारा अतीन्द्रिय आत्माके अभावकी पूर्तिके लिये चेष्टा कर रहे हैं; इसीसे आत्माकी आकाङ्क्षा पूर्ण नहीं होती और विषय-वासना बढ़ती रहती है। विषय ही यदि आत्माके अभावको पूर्ण कर सकता तो आकाङ्क्षित विषयकी प्राप्ति होनेपर उसको लेकर आत्मा चुप हो जाता। हम बहुत बार मनचाही चीज पाते हैं; परन्तु उसे पाकर हम चुप क्यों नहीं रह सकते ? उस वस्तुसे मन क्यों हट जाता है और फिर दूसरे विषयकी कामना क्यों करते हैं ? उदर और उपस्थके सुखको ही तो जीव चरम सुख मानता है; परन्तु उनमेंसे किसीको लेकर वह स्थिर नहीं रह सकता। कामनाके समय विषयमें जितने सुखकी कल्पना की जाती है, भोगके समय अथवा प्राप्तिके दूसरे ही क्षण वह फिर उतने सुखकी वस्तु नहीं मालूम होती; फिर किसी दूसरे अभावका बोध होने लगता है। देखा जाता है जीवका अभाव नित्य है, परन्तु उसके सुखके विषय और जिसके द्वारा वह सुख-भोग करता है वह शरीर—ये दोनों ही अनित्य हैं। इसीलिये अनित्य पदार्थके द्वारा नित्य अभावकी निवृत्ति नहीं होती। वास्तवमें आत्मामें इन्द्रियग्राह्य विषयका अभाव नहीं है; इन्द्रियग्राह्य विषय तो देहको अतिक्रमकर देहीके निकट-तक पहुँच ही नहीं सकता। इसीलिये देहीका अभाव नहीं मिटता। आत्माको आत्मस्वरूपका ही अभाव है और उस अपने स्वरूपकी प्राप्तिसे ही उसके अभावकी निवृत्ति होकर उसे सुख हो सकता है और वही जीवमात्रका साध्य है।

६. विचारशील और मुमुक्षु साधक कभी साधारण बाह्य साधनोंसे सन्तुष्ट नहीं होते। कारण, वे जानते हैं कि इन्द्रियग्राह्य विषयोंके द्वारा अतीन्द्रिय आत्मस्वरूपका पता नहीं लग सकता। इसीलिये उपनिषद् भी कहते हैं—

न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।

इसीलिये वे आन्तर साधनकी खोजमें लगे रहते हैं। परन्तु खेदका विषय है कि इस आन्तर साधन या स्वरूप-साधनके वक्ता और श्रोता दोनों ही दुर्लभ हैं—'श्रोता वक्ता च दुर्लभः'। जो कुछ भी हो, अब प्रश्न यह है कि वह आन्तर साधन किस प्रकार किया जा सकता है ? उपनिषद् हिन्दू-धर्मके श्रेष्ठ प्रामाणिक शास्त्र हैं। उपनिषद्का उपदेश किसी भी निर्दिष्ट सम्प्रदायविशेषके लिये नहीं है। मनुष्यमात्र ही औपनिषद साधनके अधिकारी हैं। अतएव पहले यह देखना चाहिये कि इस सम्बन्धमें उपनिषद् क्या कहते हैं ?

७. उपनिषदोंने प्रणव-साधनको ही श्रेष्ठ साधन बतलाया है—

(क) स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥

(ख) प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत्॥

(ग) प्रणवात्मकं ब्रह्म।

(घ) प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात्प्रभवो हरिः।
प्रणवात्प्रभवो रुद्रः प्रणवो हि परो भवेत्॥

अपने देहको नीचेकी अरणि और प्रणवको ऊपरकी अरणि करके ध्यानरूप मन्थनसे छिपी हुई वस्तुके समान देवको देखे। प्रणव धनुष है, आत्मा बाण है, उस बाणका लक्ष्य ब्रह्म है। जितेन्द्रिय पुरुषको उसे सावधानीके साथ बेधना चाहिये। बाणके समान तन्मय हो जाय। ब्रह्म प्रणवात्मक है। प्रणवसे ब्रह्मा है, प्रणवसे हरि है, प्रणवसे रुद्र है और प्रणव ही पर तत्त्व है।

परन्तु वर्तमान युगमें प्रणवके स्वरूपको बहुत थोड़े लोग ही जानते हैं। अधिक लोग तो ॐकारके उच्चारणको या मन-ही-मन जप करनेको प्रणव-साधन समझते हैं। परन्तु उपनिषद्के कथनानुसार ॐकारका उच्चारण नहीं किया जा सकता। क्योंकि वह स्वर या व्यञ्जन नहीं है और वह

कण्ठ, होठ, नासिका, जीभ, दाँत, तालु और मूर्धा आदिके योगसे या उनके घात-प्रतिघातसे उच्चारित नहीं होता—

अघोषमव्यञ्जनमस्वरं च
अकण्ठताल्वोष्ठमनासिकं च।
अरेफजातमुभयोष्ठवर्जितं
यदक्षरं न क्षरते कदाचित्।

८. अब प्रश्न यह है कि साधारणतः सभी शब्द कण्ठादिके द्वारा ही ध्वनित होते हैं; परन्तु यदि प्रणव कण्ठादिमें वायुके घात-प्रतिघातके बिना ही ध्वनित होता है, तो फिर वह ध्वनि क्या है और किस प्रकारसे, किस उपायसे अथवा किस साधनासे वह अनुभूत हो सकती है। उपनिषदादिमें इस ध्वनिको अनाहत नाद कहा गया है, तन्त्रविशेषमें इसका नाम है 'अकृतनाद'। जिस साधनका अभ्यास करनेसे यह नाद स्वतः ही उत्पन्न होता है, वही इसका वास्तविक साधन है और वही यथार्थ उपाय है; अन्यान्य साधन तो अनुपाय ही हैं—'अनुपायाः प्रकीर्तिताः'।

९. अब विचारका विषय यह है कि वह ध्वनि क्या है। जगत्के सृष्ट सभी विषयोंकी ओर जरा सूक्ष्मरूपसे देखनेपर यह पता लगता है कि सभी जीवों और पदार्थोंमें एक क्रिया या स्पन्दन (Vibration) है। विज्ञान बतलाता है कि क्रियामात्रमें ही दो प्रकारकी गति है—एक आकर्षण (Attraction) और दूसरी विकर्षण (Repulsion)। वर्तमान युगमें यन्त्रादिकी सहायतासे विज्ञानने यह प्रमाणित कर दिया है कि पत्थर, मिट्टी आदिमें भी यह क्रिया सूक्ष्मरूपसे रहती है। मनुष्य पशु-पक्षी-कीट-पतङ्गादिमें तो यह आकर्षण-विकर्षणात्मक क्रिया सुस्पष्टरूपसे दिखलायी देती है। थोड़ेमें यह कहा जा सकता है कि सारा जगत् ही एक आकर्षण-विकर्षणात्मक क्रियाके द्वारा नियमित हो रहा है। जगत्का 'जगत्' नाम भी इस अविराम स्पन्दन या गतिको लक्ष्य करके ही रक्खा गया है—गम् + क्विप्। साधनके सम्बन्धमें यहाँ मनुष्य-देहकी क्रियापर ही विचार करना है, इसलिये उसी क्रियाकी आलोचना करेंगे और साथ ही उसके साथ साधनाका क्या सम्बन्ध है, यह भी दिखलानेकी चेष्टा की जायगी।

१०. हमारे श्वास-प्रश्वासकी गतिकी ओर देखते ही यह पता लगता है कि एक गति अपने-आप ही नासिकाके भीतरसे ऊपरको उठती है और फिर नासिकाके छिद्रोंसे वह बाहर निकल जाती है। विज्ञान कहता है कि जहाँ स्पन्दन है, वहाँ स्पन्दनके अनुसार शब्द है; जहाँ शब्द है, वहाँ शब्दके अनुरूप स्पन्दन है। परन्तु वह शब्द सुनायी दे भी सकता है और नहीं भी, क्योंकि श्रवणेन्द्रियकी शक्ति एक निर्दिष्ट सीमावाली ही है; अतएव यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारे शरीरकी इस स्वाभाविक ऊँची-नीची दोनों क्रियाओंमें भी अपना-अपना शब्द या ध्वनि है। एक बात और है, जहाँ क्रिया है वहाँ कर्ता भी है। वह कर्ता कौन है? यदि कहें मैं ही कर्ता हूँ तो विचार करनेपर यह बात नहीं मानी जाती। कारण, सुषुप्ति-अवस्थामें तो मेरा कोई कर्तृत्व ही नहीं रहता, यहाँतक कि 'मैं' ज्ञान भी नहीं रहता; परन्तु यह क्रिया तो उस समय भी बराबर चलती ही रहती है। माताके गर्भमें भी गर्भस्थ जीवके शरीरमें बहुत सूक्ष्मरूपसे यह क्रिया चलती है और इसीसे उसका शरीर बढ़ता रहता है। अतएव यह स्वीकार करना होगा कि देहमें होनेवाली इस क्रियाका कर्ता 'मैं' नहीं हूँ। इसका कर्ता निश्चय ही कोई दूसरा है, वही इस देहमें रहकर इस अजब कलको चला रहा है। वह यदि मेरा 'मैं' हो, तो भी, उसके साथ मेरा परिचय नहीं है, उसका स्वरूप मैं नहीं जानता अर्थात् मैं मेरेको ही नहीं पहचानता। मेरा परिचय और सम्बन्ध तो केवल देहके ही साथ है, वह तो देहातीत है; यह देह उसीका है। तो उस 'मैं' का पता लगाना आवश्यक है। उसका पता पाना और आत्मस्वरूपको जानना एक ही बात है; इसीसे ईसाई धर्मोपदेशमें भी 'अपनेको जानो' (Know Thyself) कहा गया है। इस देहगत आत्माका स्वरूप जाननेके लिये भी साधनकी ही आवश्यकता है। वह साधन क्या है?

११. नासिकाके अंदरसे जो आकर्षण-क्रिया शब्दायमान होकर धीरे-धीरे ऊपरकी ओर उठती है, उस शब्दकी ओर जरा मन लगानेपर यह अच्छी तरह समझमें आ सकता है कि वह शब्द अस्पष्टरूपसे ओंकार-जैसा है। यह शब्द कण्ठ-तालु आदिके घात-प्रतिघातकी अपेक्षा नहीं करता। यहाँतक कि नासिकागत जो वायु उस आकर्षणात्मक क्रियाका अनुसरण करता है, उसकी भी अपेक्षा नहीं करता। उस ॐकारका विश्लेषण करनेपर जाना जाता है कि वह 'उ' और 'म' इन दो वर्णों या शब्दोंकी समष्टिमात्र है, यह ॐकार ऊपर उठनेके समय क्रमसे 'उ' का परित्याग करके 'म' कारमें पर्यवसित या लीन होता है। यह अस्थर

'म' ही साधन है। इसीसे उपनिषद्में कहा है—'अस्वरेण मकारेण पदं गच्छन्त्यनामयम्।' इस अस्वर 'म'कारका शेष अंश ही प्रणव या ॐकार है और उसका निःशब्दमें लय होना ही ब्रह्मानुभूति, आत्मानुभूति या स्वरूपप्राप्ति इत्यादि है। इसीसे तन्त्रमें कहा गया है—

निःशब्दं तु विजानीयात् स भावो ब्रह्म पार्वति।

उपायविशेषके द्वारा इस मकारात्मक अवस्थाको प्राप्त किया जा सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसीसे भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—'शक्योऽवाप्तुमुपायतः।' किसी भी उपायसे मकारात्मक अवस्थामें पहुँच जानेपर भी, हमारे देहमें जो स्वाभाविक विकर्षणात्मक क्रिया है, वह पुनः उस अवस्थाको निम्नगामिनी करके पूर्वावस्थापर पहुँचा देगी। निम्नगामिनी प्रश्वासकी गति और शब्दपर ध्यान देनेसे यह स्पष्ट समझमें आ सकता है कि वह शब्द अस्पष्ट रूपसे हुंकारके-जैसा है। इस निम्नगामी हुंकार शब्दका विश्लेषण करनेपर हमें 'ह् + उ + म्' मिलते हैं। अर्थात् उम् अवस्थाको हुंकारात्मक निम्नगामिनी क्रिया ही स्वरूपसे च्युत करती है। अब आवश्यकता यह है कि किस उपायसे इस गिरानेवाले शैतान 'ह'कारके चंगुलसे छूटा जाय। एकमात्र साधनाके द्वारा ही इसके कराल कवलसे छुटकारा मिल सकता है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

१२. जिस कौशलका अवलम्बन और अभ्यास करनेपर हकारात्मक बहिर्विक्षेपण (Repulsion) के क्रमशः मृदु होते-होते आकर्षणात्मक क्रिया क्रमसे ऊपरकी ओर जाती है और समयपर शेष सीमापर पहुँचकर निरुद्ध होकर निष्क्रिय अवस्थाको प्राप्त हो जाती है, उसका नाम हंस-योग है। यही लययोगका श्रेष्ठतम पथ है। इसीके दूसरे नाम हैं—सहजयोग, सहजपथ, सहज प्राणायाम, आत्मयोग, अजपा-साधन और प्रणव-साधन इत्यादि।

इस योगाभ्यासके द्वारा आत्मज्ञान स्फुरित होता है, इसी-से उसे 'आत्मयोग' कहते हैं। बहिर्विक्षेपणका लय होता है, इसीसे इसका नाम 'लययोग' है। इस साधनमें अलग मन्त्र-जप नहीं करना पड़ता, इसीसे यह 'अजपा-साधन' कहा जाता है। इसका अभ्यास देहस्थित सहजक्रिया और शब्द-का अवलम्बन करके किया जाता है, इसीसे इसका नाम 'सहज-साधन' है। इसीके द्वारा प्रणवमें मनका लय होता है, इसीसे यह 'प्रणव-साधन' कहलाता है और 'हं' तथा 'सः' इन दो शब्दोंके योगसे इस साधनका अभ्यास करना पड़ता है, इसीसे इसको 'हंसयोग' कहते हैं। यह 'हंस' शब्द और प्रणव अभिन्न हैं। इसीसे उपनिषद्में कहा है—'हंसप्रणव-योरभेदः।' ऋषियुगमें इस साधनाका बड़ा प्रचार था। क्रमशः मनुष्योंकी धारणाशक्तिका ह्रास और बाह्य विक्षेपकी अधिकता होनेसे भाँति-भाँतिके स्वर-व्यञ्जनयुक्त मन्त्रोंकी सृष्टि होने लगी और उसीके साथ-साथ नाना प्रकारकी कल्पित मूर्तियोंका मिश्रण होनेसे साधना एक बाह्य व्यापारके रूपमें परिणत हो गयी। इसी प्रकार सूक्ष्म प्रणव-साधन क्रमशः स्थूल पूजाके रूपमें परिणत हुआ। इसीसे शास्त्रमें कहा गया है—

साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूपकल्पना।

अवश्य ही यह स्वीकार करना पड़ता है कि 'हंसयोग' का अभ्यास करना सबके लिये सम्भव नहीं है। परन्तु जानकार गुरुदेवसे कौशल सीखकर दीर्घकालतक दृढ़ताके साथ साधना करनेसे साध्य आत्मस्वरूपकी प्राप्ति अवश्य ही होती है। आत्मस्वरूपकी प्राप्ति, अभावनिवृत्ति और नित्या-नन्दकी प्राप्ति—एक ही बात है। इस अवस्थाकी प्राप्ति हो जानेपर साधकके लिये फिर चाहने या पानेयोग्य और कुछ भी नहीं रह जाता। उसके सारे सन्देह दूर हो जाते हैं। जाननेके लिये फिर अन्य कोई विषय ही नहीं रह जाता। शङ्कराचार्यने इसी अवस्थाको 'ब्रह्म' बतलाया है—

यल्लाभान्नापरो लाभो यत्सुखान्नापरं सुखम्।
यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानं तद्ब्रह्मेत्यवधारयेत्॥

१३. आकर्षणात्मक 'हं' और विकर्षणात्मक 'स' इन दो अक्षरोंके योगसे जिस 'हंस' शब्दकी उत्पत्ति होती है, उसको शास्त्रादिमें हंस-मन्त्र, सोऽहं-मन्त्र, अजपा-मन्त्र, अजपा गायत्री, आत्ममन्त्र, अनाहत मन्त्र, पुं-प्रकृतिमन्त्र, ब्रह्म-मन्त्र, जीवमन्त्र, प्राणमन्त्र, विद्यामन्त्र और शिव-शक्ति-मन्त्र आदि नामोंसे कहा गया है। उपनिषद्, तन्त्र और पुराणादिमें इस मन्त्रका माहात्म्य भरा पड़ा है। साधारण जानकारीके लिये यहाँ कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं—

(क) सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत् पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥
(योगशिखोपनिषद्)

(ख) अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति॥
(योगचूडामणि उपनिषद्)

(ग) बिभर्ति कुण्डलीशक्तिरात्मानं हंसमाश्रिता ।
हंसः प्राणाश्रयो नित्यं प्राणा नाडीपथाश्रयाः ॥
(तन्त्रसार)

(घ) हं पुमान्प्रकाशरूपेण चन्द्रेण प्रकृतिस्तु सः ।
एतद्धंसं विजानीयात् सूर्यमण्डलभेदकः ॥
(रुद्रयामलतन्त्र)

(ङ) हंसविद्यामविज्ञाय मुक्तौ यत्नं करोति यः ।
स नभोभक्षणेनैव क्षुन्निवृत्तिं करिष्यति ॥
(सूतसंहिता)

(च) हंसेन मनुना देवि ब्रह्मरन्ध्रं नयेत् सुधीः ॥
(शाक्तानन्दतरङ्गिणी तन्त्र)

(छ) आत्मनः परमं बीजं हंसाख्यं स्फटिकामलम् ॥
(गरुडपुराण)

तन्त्र और पुराणादिमें इस हंसयोगके चरम साधन बतलाये जानेपर भी वर्तमान युगमें इसकी साधनाके अधिकारी पुरुष बहुत ही थोड़े होंगे, यही अनुमान करके ऋषियोंने समयोचित नानाविध साधन-प्रणालियोंकी व्यवस्था की है।

१४. मध्ययुगमें भारतवर्षमें जिन महापुरुषोंका आविर्भाव हुआ था, उनकी अमर वाणीकी ओर ध्यान देनेसे भी यह पता लगता है कि उन्होंने हंसयोगकी साधनासे ही आत्मज्योति-दर्शन तथा अनाहत ध्वनिका श्रवण करके उसीमें तन्मय होकर सिद्धि प्राप्त की थी। दरिया साहेब, यारी साहेब आदि कई मुसलमान संत भी इस पथके पथिक थे। दादू, कबीर, नानक आदि सिद्ध आत्मज्ञानी महापुरुषोंने अपने शिष्योंको इस हंसयोगका ही उपदेश किया था। दुःखकी बात है कि पीछेसे उनके शिष्योंने इस सार्वजनीन साधनाको अलग-अलग क्षुद्र साम्प्रदायिक सीमामें बाँधकर उसके भिन्न-भिन्न नाम रख दिये। मैंने ऐसे अनेकों सम्प्रदायोंके साधकोंसे बातचीत की, किन्तु आश्चर्यका विषय है कि उनमेंसे कोई भी अपने आदिगुरुके उपदेशका रहस्य नहीं जानते और तदनुसार साधन भी नहीं करते। वे पूजा-पाठ, भोग-राग आदि कुछ साम्प्रदायिक बाह्य आचारोंको ही साधना समझकर उन्हींका अनुष्ठान करते हैं। जो कुछ भी हो, साधनके सम्बन्धमें मध्ययुगके कुछ संतोंकी कुछ वाणियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

(क) अनहद बाणी पाइये तहँ होमि होइ बिनाशु । (नानक)
(ख) स्वास स्वास प्रभु तुमहि धियावउँ । (नानक)
(ग) (कबिरा) अजपा सुमिरन होत है सुन-मंडल अस्थान ।
कर जिह्वा तहाँ ना चलै मन पंगू तहँ जान ॥
(कबीर)
(घ) कबीर हंसा न बोलै उनमनी । (कबीर)
(ङ) दादू सहज सरोवर आतमा, हंसा करै किलोल । (दादू)
(च) सरीर माँहैं सोधी सँहैं अनहद ध्यान लगाई । (दादू)
(छ) चलो अगमके देस, काऊ देखत डरै ।
वहाँ सदा प्रेमका हौज, हंस केली करै ॥
(मीराबाई)
(ज) मान-सरोवर विमल नीर, जहँ हंस समागम तीर तीर ।
(दरियासाहेब)
(झ) घटमें प्रान अपान दुहाई । अरध आवे अरु अरध जाई ॥
ऐके प्रान अपान मिलावै । बाहि पवनतें गगन गरजावै ॥
(यारीसाहेब)
(ञ) अनहद ताल आदि सुर बानी बिनु जिभ्या गुन बेद पढ़ो ।
आपा उलटि आतमा पूजो, त्रिकुटी न्हाइ सुमेर चढ़ो ॥
(यारीसाहेब)
(ट) बुलेशाह नाल लाई बाजी, अनहद सबद बजाया है ।
(बुलेशाह)

१५. साधनपथपर अग्रसर होनेके लिये संयम और अभ्यासकी पूर्ण आवश्यकता है। मन असंयत होकर ही बहिर्मुख हो गया है; अतः इसको अन्तर्मुख करनेके लिये साधकको सबसे पहले संयमका अभ्यास करना पड़ेगा। संयम ही साधनामें प्रथम सहायक है। स्थूलतः साधकमात्रको त्रिविध संयम करना चाहिये—'आहारसंयम', 'वाक्संयम' और 'काय-संयम।' ये सब साधकके अधिकारकी चीजें हैं, इनके लिये दूसरेकी सहायता आवश्यक नहीं है। आहार-संयम करनेके लिये दो बातोंपर ध्यान रखना आवश्यक है—आहारका 'परिमाण' और 'प्रकार'। जो जिस प्रकारका आहार सम्पूर्णरूपसे पचा सकता हो, उसके लिये वही प्रकार संयत आहार है। खायी हुई चीजोंका अजीर्ण, कुजीर्ण या अतिजीर्ण न होना ही संयत आहारका लक्षण या प्रमाण है। परिमाणके सम्बन्धमें कोई निर्दिष्ट नियम नहीं हो सकता। अपनी-अपनी पाचन-शक्तिके अनुसार परिमाणकी व्यवस्था होनी चाहिये। तथापि शास्त्रकारोंने एक साधारण नियम बतलाया है—

पूरयेदशनेनार्द्धं तृतीयमुदकेन तु ।
वायोः सञ्चालनार्थं च चतुर्थमवशेषयेत् ॥

'भूखसे आधापेट अन्न खाय, चौथाई जल पीवे और चौथाई वायुसञ्चालनके लिये खाली रक्खे।'

आहारके प्रकारके सम्बन्धमें अनेकों मत हैं; परन्तु स्थूलरूपमें साधकके लिये कौन-सा आहार उपयुक्त है और कौन-सा त्याज्य है ? इस सम्बन्धमें गीतामें स्पष्टतः कहा गया है—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

(१७ । ८—१०)

'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिको बढ़ानेवाले रसयुक्त, चिकने, स्थिर रहनेवाले तथा स्वभावसे ही प्रिय आहार सात्त्विक पुरुषको प्रिय होते हैं । कड़ुवे, खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तीक्ष्ण, रूखे, दाहकारक और दुःख, शोक तथा रोग पैदा करनेवाले आहार राजस पुरुषको प्रिय होते हैं और जो आहार अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट तथा अपवित्र है वह तामस पुरुषको प्रिय होता है ।'

साधनमें सात्त्विक प्रवृत्तिका बढ़ना आवश्यक है, इसलिये राजस और तामस आहारका त्याग करके सात्त्विक आहार ही करना चाहिये ।

सत्य, प्रिय, हित और परिमित वाक्योच्चारणके द्वारा 'वाणीका संयम' होता है । बिल्कुल न बोलने यानी मौन धारण करनेसे वाणीका संयम नहीं होता । वैसी हालतमें तो भीतरका भाव बाहर प्रकट करनेके लिये नाना प्रकारके अस्वाभाविक उपायोंको काममें लाना पड़ता है, जिससे उल्टी विक्षिप्तता बढ़ती है ।

विचारके द्वारा विषयोंकी अनित्यताका ज्ञान और अभ्यासके द्वारा आवश्यकताओंका अभाव कर सकनेपर तथा सिद्धासनादि आसनोंका अभ्यास हो जानेपर 'देहसंयम' हो जाता है । सङ्ग ही सब प्रकारके परिवर्तनका मूल है । जो मनुष्य जैसा सङ्ग करता है, वह उसी रूपमें बदल जाता है । यह नित्य-प्रत्यक्ष है । अतएव साधकको अपनी साधनाके अनुकूल साधुसङ्ग, ज्ञानी महापुरुषोंका सङ्ग और शास्त्रोंका सङ्ग करना चाहिये । इनके अतिरिक्त एक और भी संयम बहुत ही आवश्यक है, जिसपर निजका कोई कर्तृत्व नहीं है—वह है 'मनका संयम ।' गुरुके उपदेशानुसार अभ्यास करनेपर मनःसंयम होता है । एक मनके संयत हो जानेपर इन्द्रियादि अपने-आप ही शान्त हो जाते हैं और शरीर तथा वाणीकी चञ्चलता सदाके लिये दूर हो जाती है । जो अपनी बुद्धिसे या अपने पैदा किये हुए उपायोंसे मनको रोकनेका प्रयत्न करते हैं, वे धोखा ही खाते हैं । उनका मन एक विषयकी चञ्चलताको छोड़कर दूसरे विषयोंमें चौगुना चञ्चल हो उठता है । वह कभी अचञ्चल और स्पन्दरहित अवस्थाको प्राप्त नहीं होता ।

१६. साधनाका एक सर्वप्रधान आवश्यक विषय है—मुमुक्षुत्व । 'मैं बद्ध हूँ, मैं मुक्त होऊँगा ।' भीतरके इस भावका नाम मुमुक्षुत्व है । जबतक मुमुक्षुत्व नहीं पैदा होता, तबतक साधनमें रति नहीं होती । मुमुक्षुत्व पैदा होते ही मुक्तिकामी साधकको सद्गुरुकी शरणमें चले जाना चाहिये । सद्गुरु ही साधनाका सर्वोत्तम मार्ग दिखला सकते हैं और शिष्यको उपदेशके द्वारा ज्ञानका स्वरूप समझा सकते हैं । यद्यपि इस घोर कलियुगमें सद्गुरुका संयोग एक प्रकारसे असम्भव-सा हो गया है तथापि भारतवर्ष आध्यात्मिक देश है, यहाँ सद्गुरुका सर्वथा अभाव सम्भव नहीं है । 'जिन खोजा तिन पाइया ।' खोज सच्ची होनी चाहिये । शास्त्र और संतोंके वचन गुरुकी महिमासे भरे पड़े हैं—

न गुरोरधिकं तत्त्वं न गुरोरधिकं तपः ।
तत्त्वज्ञानात्परं नास्ति तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

तन्त्रकी प्रामाणिकता

(लेखक—पं० श्रीहाराणचन्द्र भट्टाचार्य)

तन्त्रशास्त्रकी प्रामाणिकताके विषयमें कुछ मतभेद पाया जाता है। मनुस्मृति (२। १) की कुल्लूकभट्टकृत टीकामें हारीतऋषिके एक वाक्यका उद्धरण मिलता है। वह इस प्रकार है—'श्रुतिश्च द्विविधा, वैदिकी तान्त्रिकी च।'* इस वचनके आधारपर कुछ विद्वानोंकी यह धारणा हो गयी है कि श्रुति दो प्रकारकी है—वैदिक और तान्त्रिक। जिस प्रकार वेद अपौरुषेय होनेके कारण स्वतःप्रमाण हैं, उनकी सत्यताको सिद्ध करनेके लिये किसी प्रमाणान्तरकी आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार तन्त्र भी स्वतःप्रमाण हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार किसी अंशमें तन्त्रके विरुद्ध होनेपर भी वेदको अप्रमाण नहीं माना जाता, उसी प्रकार किसी अंशमें वेदके विरुद्ध होनेपर भी तन्त्रको अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि वेद और तन्त्र प्रामाणिकतामें एक दूसरेसे न्यून नहीं हैं, बल्कि समकक्ष हैं। इसलिये तन्त्र किसी विषयमें वेदकी अपेक्षा नहीं रखता।

अगाध पण्डित एवं विख्यात शाक्त दार्शनिक भास्करायने तन्त्रकी प्रामाणिकताका दूसरे प्रकारसे समर्थन किया है। उनके मतमें तन्त्रशास्त्र वेदके समकक्षरूपसे प्रमाण नहीं हैं। यदि तन्त्रशास्त्रकी वेदनिरपेक्ष स्वतन्त्र प्रामाणिकता मानी जायगी तो 'न शास्त्रपरिमाणात्' (पू० मी० सू० १। ३। ५) इस जैमिनिके सूत्रांशपर जो कुमारिलभट्टका तन्त्रवार्तिक है, उससे विरोध पड़ेगा। उक्त सूत्रके तन्त्रवार्तिकमें यह सिद्धान्त किया गया है कि 'पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, वेदके छः अङ्ग (शिक्षा, कल्पसूत्र, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष तथा छन्दःशास्त्र) और चार वेद (ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व)—इतने ही शास्त्र धर्मके विषयमें प्रमाण हैं;† इनके अतिरिक्त दूसरे शास्त्र प्रमाण नहीं हैं। तन्त्रशास्त्रको बिल्कुल स्वतन्त्र शास्त्र माननेपर मीमांसक-दृष्टिसे वह अप्रमाण हो जायगा; इसलिये तन्त्रको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं समझना चाहिये, किन्तु उसे धर्मशास्त्र (स्मृतिशास्त्र) के अन्तर्गत मानना चाहिये।

तन्त्रशास्त्र धर्मशास्त्रके अन्तर्गत होनेपर भी मनु, याज्ञवल्क्य प्रभृति ऋषिप्रणीत स्मृतियोंसे उसमें कुछ विशेषता है—मनु प्रभृतिकी स्मृतियाँ वेदके कर्मकाण्डसे सम्बन्ध रखती हैं, किन्तु तन्त्रशास्त्र वेदके ब्रह्म (ज्ञान) काण्डसे सम्बन्ध रखता है।‡

शारदातिलक नामक तन्त्रशास्त्रके विख्यात ग्रन्थके प्रामाणिक टीकाकार राघवभट्टने अपनी टीकाके आरम्भमें आगमशास्त्रके प्रामाण्यपर विचार किया है। उनकी सम्मतिमें आगमशास्त्र (तन्त्रशास्त्र) स्मृतिशास्त्र है। वेदके तीन काण्ड हैं—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ब्रह्मकाण्ड। उनमें कर्मकाण्डकी व्याख्या जैमिनि आदि कर्ममीमांसक ऋषियोंने की, नारद प्रभृति भक्त ऋषियोंने उपासनाकाण्डका विवरण किया और भगवान् बादरायण तथा अन्य ब्रह्मवादी ऋषियोंने ब्रह्मकाण्डकी व्याख्या की। आगमशास्त्रका मूल वेदका उपासनाकाण्ड है। सभी स्मृतियोंका प्रामाण्य वेदके आश्रयसे है। आगमस्मृतिका प्रामाण्य भी उसी प्रकार वेदके आधारपर है। तन्त्रका प्रामाण्य स्वतन्त्ररूपसे नहीं है।

इस प्रसङ्गसे राघवभट्टने एक बात और कही है। उनके विचारमें साकार उपासनासे मनुष्योंको स्वर्गादि फल बहुत

---

* आजकल जो हारीतस्मृति मिलती है, उसमें यह वाक्य नहीं है; परन्तु विद्वानोंका कथन है कि कुल्लूकभट्ट प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थकार हैं; उनके समयकी हारीतस्मृतिमें यह वाक्य अवश्य था, पीछेके लेखकोंके प्रमादसे सम्भव है यह पाठ छूट गया हो। वास्तवमें इस समय जितने भी शास्त्रग्रन्थ मिलते हैं, उनमें सभी स्थलोंमें प्राचीन पाठ ठीक है—यह कहना बहुत कठिन है; तथा किसी पाठको सहसा अप्रमाण कहना भी साहसमात्र है।

† याज्ञवल्क्यस्मृतिमें भी लिखा है—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

(१। ३)

‡ तन्त्राणां धर्मशास्त्रेऽन्तर्भावः (वरिवस्यारहस्यप्रकाश)। परमार्थतस्तु तन्त्राणां स्मृतित्वाविशेषेऽपि मन्वादिस्मृतीनां कर्मकाण्डशेषत्वं तन्त्राणां ब्रह्मकाण्डशेषत्वमिति सिद्धान्तात्।—भास्करराघवप्रणीत सौभाग्यभास्कर (ललितासहस्रनामभाष्य), प्रथम शतकका उपक्रम।

कम आयाससे प्राप्त हो जाते हैं, अन्ततक मोक्षकी प्राप्ति भी हो जाती है। कर्मकाण्ड अथवा ब्रह्मकाण्डकी सहायतासे मोक्षकी प्राप्ति इतने कम आयाससे सम्भव नहीं है। इसलिये उपासना-प्रधान आगमशास्त्र ही श्रेष्ठ है।

ब्रह्मसूत्रोंपर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके जितने भी भाष्य इस समय उपलब्ध हैं, उनमेंसे तीन भाष्य विशिष्टाद्वैतके अनुसार हैं। उनमें रामानुजका श्रीभाष्य वैष्णव मतके अनुकूल होता हुआ विशिष्टाद्वैतका समर्थन करता है।§ शैवमतके अनुसार भी दो भाष्य हैं, जो विशिष्टाद्वैतके पोषक हैं। उनमें श्रीकण्ठाचार्यका शैवभाष्य प्रसिद्ध है, जिसपर विश्वविख्यात पण्डित अप्पय्य दीक्षितकी 'शिवार्कमणिदीपिका' नामकी टीका है। दूसरा श्रीकर-भाष्यके नामसे प्रसिद्ध है, जो दक्षिण देशके 'वीरशैव-सम्प्रदाय' नामक शैवसम्प्रदायके अनुकूल है। ये दोनों शैवभाष्य तन्त्रके अनुगामी हैं।

श्रीकण्ठके शैवभाष्य (२। २। ३८) में तन्त्रको वेदवत् प्रमाण माना गया है। उसमें लिखा है कि वेद तथा आगम (तन्त्र) के प्रामाण्यमें कोई अन्तर नहीं है, दोनोंके निर्माणकर्ता एक ही शिव हैं; इसलिये वेद भी शिवागम हैं, केवल इतना ही अन्तर है कि वेद केवल तीन वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिये हैं और आगम सभीके लिये है।×

'शिवार्कमणिदीपिका' (२। २। ३८, ४२) में तन्त्रके विषयमें अधिकारिभेदसे व्यवस्था की गयी है। जो वेदके अधिकारी हैं, उनका वेदके अनुकूल तन्त्रोंमें अधिकार है; तथा जो तन्त्र वेदके विरुद्ध हैं, उनमें वेदके अनधिकारियोंका अधिकार है। सारांश यह है कि वेदके अनुकूल अथवा वेदसे विरुद्ध—सभी तन्त्र भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिये प्रमाण हैं। इस प्रकार अधिकारिभेदसे प्रामाण्यकी व्यवस्था होनेपर किसी तन्त्रके अप्रामाण्यकी शङ्का नहीं उठती।* श्रीशङ्कराचार्यप्रणीत सौन्दर्यलहरी (३१) की लक्ष्मीधरकृत टीकामें भी इसी रीतिसे अधिकारिभेदसे तन्त्रके प्रामाण्यकी व्यवस्था की गयी है।

उपासनामें तन्त्रशास्त्रका विशेष उपयोग है, इस बातको अस्वीकार करना भ्रम है। शाक्त और शैव सम्प्रदाय तो तन्त्रके अनुयायी हैं ही, वैष्णव सम्प्रदाय भी तन्त्रके अनुगामी हैं। वैष्णवोंका परम माननीय पाञ्चरात्र शास्त्र तन्त्रके ही अन्तर्गत है। श्रीमद्भागवतमें भी पाञ्चरात्रके अनुसार उपासना करनेका निर्देश पाया जाता है; इसलिये आस्तिक पुरुषोंको अपने-अपने अधिकारके अनुसार तन्त्रोंका उपयोग करना चाहिये।

तन्त्रशास्त्रका प्रभाव इतना अधिक फैला है कि वैदिक तथा पौराणिक उपासनाओंमें भी उसका कुछ-न-कुछ प्रभाव प्रतीत होता है। तन्त्रशास्त्रका बिल्कुल परित्याग करके किसी प्रकारकी उपासना करना असम्भव है, यह कहनेमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है।

गृहस्थ क्या करे ?

वर्तेत तेषु गृहवानक्रुध्यन्नसूयकः। पञ्चभिः सततं यज्ञैर्विधसाशी यजेत च॥

गृहस्थ पुरुष क्रोध और ईर्ष्यासे रहित होकर व्यवहार करे, नित्य पञ्चयज्ञ करे और देवता, पितर तथा अतिथियोंको भोजन करानेके बाद भोजन करे।

(महा० शान्ति० २३५। २५)

---

§ कुछ दिन पूर्व श्रीसम्प्रदायसे अलग होकर रामानन्दी वैष्णवोंने ब्रह्मसूत्रपर रामानन्द-भाष्य प्रकट किया है। रामानुज-भाष्यके अनुसार नारायण परमेश्वर हैं; रामानन्द-भाष्यके अनुसार रामचन्द्र परमेश्वर हैं। ये दोनों भाष्य विशिष्टाद्वैतके अनुकूल हैं। उपर्युक्त ग्रन्थके प्रकाशित होनेके पूर्व प्राच्य तथा पाश्चात्य पण्डित-मण्डली रामानन्द-भाष्यके नामसे परिचित न थी। रामानन्द-भाष्यको लेकर विशिष्टाद्वैतपरक चार भाष्य समझने चाहिये।

× वयं तु वेदशिवागमयोर्भेदं न पश्यामः। वेदोऽपि शिवागम इति व्यवहारो युक्तः, तस्य तात्पर्यभेदात्। अतः शिवागमो द्विविधः, द्वैवर्णिकविषयः सर्ववर्णिकविषयश्चेति। उभयोरेक एव शिवः कर्ता।.....उभावपि प्रमाणभूतौ वेदागमौ। (श्रीकण्ठभाष्य २। २। ३८)

* इस युक्तिसे किसी-किसी तन्त्रमें म्लेच्छोंतकका अधिकार सिद्ध होता है।

कल्याण-साधन

(लेखक—श्रीस्वामी सन्तप्रसादजी उदासीन, सम्बर)

कल्याण अर्थात् मोक्षका अर्थ शास्त्रोंमें 'सर्वदुःखनिवृत्ति, परमानन्दप्राप्ति' किया है। मोक्षके चार अन्तरङ्ग साधन कहे हैं—विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुता।

विवेक कहते हैं सारासारविचारको। वैराग्यका लक्षण बतलाते हैं, 'ब्रह्मलोकनृणीकागे वैराग्यस्यावधिर्मतः' अर्थात् ब्रह्मलोकतकके सब पदार्थोंको तृणवत् जानना, यही वैराग्यकी अवधि है। षट्सम्पत्तिका अर्थ है—छः सम्पत्तियाँ, उनके नाम ये हैं—शम, दम, श्रद्धा, समाधान, तितिक्षा और उपरति। शम है मनको रोकना, दम इन्द्रियोंको रोकना, श्रद्धा वेद-शास्त्र तथा गुरु और साधनोंमें पूर्ण विश्वास रखना, समाधान है—समाहित होना (मनका सर्वथा स्थिर होना), तितिक्षा है शीत-उष्ण, सुख-दुःखादिको सह लेना और उपरति है सांसारिक पदार्थोंसे उपराम होना। इस षट्सम्पत्तिके बाद चौथा साधन है मुमुक्षुता अर्थात् मोक्ष पाने, संसारके जन्म-मरण-चक्रसे छूटनेकी इच्छा। इन चार साधनोंसे ही ज्ञानद्वारा मुक्ति होती है।

अधिकारिभेदसे शास्त्रोंमें कल्याणसाधनार्थ तीर्थ, व्रत, नियम, योग, निष्काम कर्म आदि अनेक साधन बताये हैं; पर सबकी सीमा इन चार साधनोंमें ही जाकर समाप्त होती है। कारण ज्ञानसे ही मोक्ष होता है और ज्ञानके ये ही चार साधन हैं जो ऊपर लिखे गये।

परन्तु जन्म-जन्मके कुसंस्कारोंसे मन मलिन हो रहा है, इस कारण इन साधनोंके करनेमें मन नहीं लगता। इसलिये इसका उपाय हमारे उदासीन साधु-सम्प्रदायके मुनि-महात्माओंने नाम-जप बतलाया है। भगवान्‌के हरि, राम इत्यादि नामोंमेंसे किसी नामका मनुष्य जप करता रहे और साथ ही निष्काम कर्माचरण करे अर्थात् फलेच्छारहित होकर तीर्थ, व्रत, यज्ञ आदि शुभ कर्म करे तो इससे मन शुद्ध होता है और उपर्युक्त साधन बनते हैं और उनसे मनुष्य कल्याणको प्राप्त होता है। नाम-जप अखण्ड होना चाहिये। उठते-बैठते सब समय नाम-उच्चारण अंदर होता रहे।

गर्व न करो—काल सबको खा जाता है

बहूनीन्द्रसहस्राणि समतीतानि वासव। बलवीर्योपपन्नानि यथैवं त्वं शचीपते॥
त्वामप्येवंबलं शक्र देवराजं बलोत्कटम्। प्राप्ते काले महावीर्यः कालः संशमयिष्यति॥
य इदं सर्वमादत्ते तस्माच्छक्र स्थिरो भव। मया त्वया च पूर्वैश्च न स शक्योऽतिवर्तितुम्॥
यामेतां प्राप्य जानीषे राज्यश्रियमनुत्तमाम्। स्थिता मयीति तन्मिथ्या नेया होकत्र तिष्ठति॥
स्थिता हीन्द्रसहस्रेषु तद्विशिष्टतमेष्वियम्। मां च लोला परित्यज्य त्वामगाद्विबुधाधिप॥
मैवं शक्र पुनः कार्षीः शान्तो भवितुमर्हसि। त्वामप्येवंविधं ज्ञात्वा क्षिप्रमन्यं गमिष्यति॥

(महा० शान्ति० २२४। ५५–६०)

हे इन्द्र! जो बल और वीरतावाले थे, ऐसे तुम्हारे-जैसे हजारों इन्द्र हुए और चले गये। हे इन्द्र! इस प्रकार तू भी चला जायगा। हे शक्र! तू बड़ा बलवान् और देवताओंका राजा है तो भी जब तेरा समय पूरा हो जायगा तब महाबली काल तुझे भी राज्यसे भ्रष्ट कर देगा। हे इन्द्र! काल सबका संहार करता है, इसलिये तू धीरज रख, मैं, तू या जो पहले हो गये इनमेंसे कोई भी कालका उल्लङ्घन नहीं कर सकता। जिस सर्वोत्तम राज्यलक्ष्मीको प्राप्त करके तुम समझते हो कि यह मेरी हो गयी है, यह तुम्हारी झूठी कल्पना है क्योंकि यह कभी एक जगह स्थिर नहीं रहती। हे देवराज! तुझसे भी अधिक श्रेष्ठ हजारों इन्द्रोंके पास यह राज्यलक्ष्मी रह चुकी है (और उनके पाससे यह चली गयी है) वैसे ही यह चञ्चल राज्यलक्ष्मी तुझे भी छोड़कर तेरे पास आ गयी है। हे इन्द्र! अब आगे तू ऐसा गर्व न करना अब तू शान्त हो जा, यदि उसने जान पाया कि—तू मिथ्या घमण्डी है तो वह तुझे छोड़कर चली जायगी।

अग्निविद्या

(लेखक—पं० श्रीहरिदत्तजी शास्त्री वेदान्ताचार्य)

उपनिषदोंमें इस विद्याका वर्णन इसलिये हुआ है कि लोग पुनर्जन्मके विश्वासी बनें। पुनर्जन्म अनेक तरहसे सन्दिग्ध हो रहा है, बहुत-से नास्तिक इस शरीरसे भिन्न आत्माको नहीं मानते। आस्तिकोंमें भी मतबाहुल्य है। इस जीवको भी विभु माननेवाले बहुत-से आचार्य हैं। जब आत्मा विभु है, तब इसका परलोकादिमें गमन क्या? और वेदान्तमें भी बहुत-से सिद्धान्त पाये जाते हैं, जिनसे जन्मकी ही सिद्धि नहीं होती; क्योंकि विभु आत्माका जन्म और मरण कैसे हो सकता है? जो सर्वव्यापी आत्मा है, वह अत्यन्त क्षुद्र गर्भमें कैसे समा सकता है। फिर जब एक ही आत्मा है तो मरण अथवा जीवन सर्वथा असम्भव है, क्योंकि अनेकता रहनेपर ही जन्म-मरण हो सकता है। इसके अतिरिक्त किन्हीं श्रुतियोंका तात्पर्य यह है कि यह जीव ईश्वरका प्रतिबिम्ब है; अविद्याउपर जो ईश्वरका प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही जीव है। अथवा जैसे सूर्यका प्रतिबिम्ब अथवा आभास घटोंमें पड़े, वैसे ही ब्रह्मका आभास अन्तःकरणोंमें पड़ता है; वही जीव कहलाता है। इन दृष्टान्तोंसे भी पुनर्जन्मकी सिद्धि नहीं होती; क्योंकि घटके फूटनेसे घटस्थ बिम्ब किसी अन्य रूपको धारण कर कहीं अन्यत्र नहीं जाता, न इस प्रतिबिम्बकी कोई विभिन्न सत्ता ही होती है। जैसे पुरुषसे भिन्न छायाकी भिन्न सत्ता नहीं, दर्पणमें मुखादिकी जो छाया पड़ती है उसकी सत्ता मुखसे पृथक् नहीं, अतः घट फूटनेपर सूर्य-प्रतिबिम्ब ज्यों-का-त्यों बना रहता है, तद्वत् ब्रह्म-प्रतिबिम्ब जो यह जीव है वह अन्तःकरणके छिन्न-भिन्न होनेपर भी ज्यों-का-त्यों बना रहेगा, कैसे कहीं जायगा—इत्यादि कारणोंसे पुनर्जन्ममें लोगोंको सन्देह न हो, अतः मातृभूता परमकल्याणकारिणी श्रुति पञ्चाग्नि-वर्णनद्वारा पुनर्जन्मका प्रतिपादन करती है।

इस प्रकार राजाने जो पाँच प्रश्न किये थे, उनका उत्तर निम्न प्रकार है। प्रथम—यहाँसे प्रजा कहाँ जाती है, इस प्रश्नके तीन उत्तर हुए—कुछ ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मलोकको जाते हैं, द्वितीय कर्मपरायण जन चन्द्रलोकको जाते हैं, तृतीय सर्वथा जन्म-मरण-प्रवाहमें डूबते और उतराते रहते हैं।

द्वितीय प्रश्न राजाका यह है कि वहाँसे पुनः कैसे प्रजा लौट आती है। इसका उत्तर यह दिया गया है कि चन्द्रलोकसे आकाशमें, आकाशसे वायुमें इत्यादि।

तृतीय प्रश्न यह है कि देवयान और पितृयानका भेद कहाँ होता है। इसका उत्तर यह है कि देवयानका पथ अर्चिसे आरम्भ होता है और पितृयानका धूमसे; पुनः देवयानगामी संवत्सरमें जाते हैं, किन्तु पितृयानगामी उसमें नहीं।

चतुर्थ प्रश्न यह है कि ब्रह्मलोक क्यों नहीं भर जाता। इसका उत्तर यह है कि मरकर सब ही प्राणी अथवा सब ही मनुष्य ब्रह्मलोकमें ही अथवा चन्द्रलोकमें ही नहीं पहुँचते, किन्तु बहुतसे जीव मरते ही तत्काल अन्य योनियोंमें प्राप्त हो जन्म लेते और मरते रहते हैं; इस हेतु वह लोक नहीं भरता।

पञ्चम प्रश्न यह है कि पाँचवीं आहुतिमें जीववाचक जल कैसे मनुष्य बन जाता है। इसका उत्तर यह है कि आदित्यलोक, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष और स्त्री—ये पाँच अग्नि हैं। स्त्रीरूप अग्निमें जो आहुति दी जाती है, उससे जल पुरुषवाची हो जाता है।

कथा इस प्रकार है—

एक समय अरुणगोत्रोत्पन्न श्वेतकेतु नामका कोई कुमार पाञ्चाल देशके अधिपति प्रवहणनामक नृपतिकी समिति (सभा) में आ पहुँचा। राजा प्रवहणने निम्नलिखित पाँच प्रश्न उससे पूछे। वे प्रश्न ये हैं—

१—हे कुमार! यहाँसे प्रजाएँ ऊपरको जहाँ जाती हैं, उसे क्या तू जानता है?

कुमार—राजन्! नहीं।

२—प्रवहण—ये प्रजाएँ पुनः जैसे लौट आती हैं, क्या तू जानता है?

कुमार—नहीं।

३—प्रवहण—देवयान और पितृयान मार्गोंका वियोग-स्थान जानता है?

कुमार—हे भगवन्! मैं नहीं जानता।

४—प्रवहण—जिस प्रकार यह लोक नहीं भर जाता, उसको तू जानता है?

कुमार—हे भगवन्! मैं नहीं जानता।

५–प्रवहण–जिस कारण पाँचवीं आहुतिमें जल पुरुषवाची होता है, उसे तू जानता है ?

कुमार–नहीं जानता।

तब राजाने कहा कि विदित होता है कि 'तेरे पिताने तुझको अच्छी शिक्षा नहीं दी है।' एवमस्तु––

तब श्वेतकेतुने अपने पिताके पास जाकर कहा कि राजा प्रवहणने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे और मैं एकका भी उत्तर न दे सका। पिता पुत्रको साथ ले राजाके निकट जा पहुँचा और कहा कि मुझे आप अग्निविद्याका उपदेश दीजिये।

राजा बोला कि 'यह विद्या अबतक क्षत्रियोंको ही मालूम है, अन्य किसीको नहीं; दूसरे मुझ क्षत्रियकी शिष्यता आप ब्राह्मण होकर कैसे स्वीकार करेंगे ?' गौतमने कहा कि 'विद्या जहाँ कहींसे मिले, ग्रहण कर लेनी चाहिये; अतः आजसे मैं आपका शिष्य बनता हूँ, मुझे आप उपदेश दीजिये।'

तब राजाने कहा कि 'हे गौतम ! यह लोक ही एक अग्नि है; सूर्य उसकी समिधा है, किरणें धूम हैं, दिन लपट हैं, चन्द्रमा अङ्गार है, नक्षत्र चिनगारियाँ हैं, इस अग्निमें देवगण श्रद्धाकी आहुति देते हैं, इस आहुतिसे सोमराजा उत्पन्न होता है; यही प्रथम आहुति है।

हे गौतम ! पर्जन्य (मेघ) द्वितीय अग्नि है; उसकी वायु ही समिधा है, अभ्र (एक प्रकारका मेघ), धूम, विद्युत् ज्वाला, वज्र अङ्गार, मेघशब्द विस्फुलिङ्ग है। इस द्वितीय अग्निमें सोमराजाकी आहुति देवगण देते हैं, इसीसे वर्षा उत्पन्न होती है। यही द्वितीय आहुति है।

हे गौतम ! यह पृथिवी तृतीय अग्नि है; उसकी संवत्सर ही समिधा, आकाश धूम, रात्रि ज्वाला, दिशाएँ अङ्गार और अवान्तर दिशाएँ विस्फुलिङ्ग हैं। इस अग्निमें देवगण वर्षाकी आहुति देते हैं, उस आहुतिसे अन्न उत्पन्न होता है। यह तृतीय आहुति हुई।

हे गौतम ! यह पुरुष चतुर्थ अग्नि है। उसकी वाणी ही समिधा, प्राण धूम, जिह्वा ज्वाला, चक्षु अङ्गार और श्रोत्र विस्फुलिङ्ग है। इस अग्निमें देवगण अन्नकी आहुति देते हैं, उस आहुतिसे रेतस् (वीर्य) उत्पन्न होता है। इसका ही नाम चतुर्थ आहुति है।

हे गौतम ! यह स्त्री पञ्चम अग्नि है। इस अग्निमें देवगण रेतसकी आहुति देते हैं, उस आहुतिसे गर्भ उत्पन्न होता है। हे गौतम ! इस प्रकार पाँचवीं आहुतिमें जल पुरुषवाची होता है। वह गर्भ नौ या दस मास उल्बावृत हो पेटमें रह बालकरूपसे उत्पन्न होता है, पुनः अपनी आयुभर सुख-दुःख भोगकर मर जाता है। उसको बन्धु-बान्धव अग्निमें डाल देते हैं। इस प्रकार मानव-जीवनका एक चक्र समाप्त हो जाता है। यही अग्निविद्या या पञ्चाग्निविद्या है।

श्रेष्ठ भागवत कौन हैं ?

योगेश्वर हरि कहते हैं––

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भवः। वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः॥
न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा। सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः॥
त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥
विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥

(श्रीमद्भागवत ११। २। ५०, ५२, ५३, ५५)

जिसके चित्तमें कामना और कर्मोंके बीजका उदय ही नहीं होता, जिसके एकमात्र आश्रय श्रीभगवान् हैं—वह श्रेष्ठ भागवत (संत) है। जिसकी दृष्टिमें—शरीर और धनमें अपने-परायेका भेद नहीं है; जो सब प्राणियोंके लिये सम है, शान्त है, वह श्रेष्ठ भागवत (संत) है। जिन्होंने अपने मन, इन्द्रियोंको वशमें नहीं कर पाया है उन देवताओंके लिये जो अभी ढूँढ़नेकी वस्तु है, भगवान्‌के उन चरणकमलोंसे, त्रिलोकीकी सम्पत्तिके लिये भी जो आधे क्षण या निमेषतक भी अलग नहीं होते; वे निरन्तर भगवत्स्मरण-परायण पुरुष वे श्रेष्ठ वैष्णव हैं। विवशतासे पुकारनेपर भी जो पापोंका नाश करते हैं, वे भगवान् प्रेमकी रस्सीसे अपने चरणकमलोंके बँध जानेके कारण स्वयं जिसके हृदयको नहीं छोड़ सकते, वह भक्त श्रेष्ठ भागवत (संत) है।

आत्मोन्नतिका एक साधन—विचार

(लेखक—श्रीभोगीन्द्रराय नानालाल वैद्य बी० ए०, बी० टी०)

हम जैसे विचारोंका सेवन करेंगे, वैसे ही हो जायँगे। विचार ही हमारे भविष्यका निर्माण करते हैं—ऐसा कहनेमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है। हमारा मन सर्वदा अनेकों प्रकारके संकल्प करता रहता है। ये संकल्प अच्छे भी होते हैं और बुरे भी। जिस प्रकार अच्छा भोजन शरीरके लिये लाभकारी होता है, उसी प्रकार अच्छा विचार मनके ऊपर अच्छी छाप डालता है। सात्त्विक और बलवान् विचार हमारे मनको अलौकिक शान्ति, धैर्य, बल और स्वास्थ्य प्रदान करते हैं। इसके विपरीत निर्बल और हल्की जातिके विचार हमें निर्बल बना देते हैं। राल्फ वाल्डो ट्राइन नामका एक विचारक लिखता है—

'It is a great law of our being that we become like those things we contemplate. If we contemplate those that are true and noble and elevating, we grow in the likeness of these.'

(What all the world's a-seeking, page 61.)

इसका तात्पर्य यह निकलता है कि हमारा भविष्य किसी अदृश्य सत्ताके हाथमें नहीं है, कोई बाह्य संयोग भी हमारे भविष्यके प्रति उत्तरदायी नहीं हैं। बल्कि अपने बुरे या भले भविष्यके लिये हम स्वयं ही जवाबदार हैं—अपना उद्धार या नाश हमारे अपने ही हाथमें है। इसलिये बाहरके संयोग या दूसरे लोगोंको दोष देना—यह बड़ी भारी भूल है। भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें स्पष्ट कहते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

(गीता ६। ५)

'अपना बन्धु आप ही है और आप ही अपना शत्रु है। अतः अपनी अधोगति न करके उद्धार ही करना चाहिये।'

इससे स्पष्ट समझ सकते हैं कि आत्मोत्कर्षकी इच्छा-वालेको अपने विचारोंका हर घड़ी ध्यान रखना चाहिये। अपने हृदयमें समुद्रकी तरङ्गोंके समान बार-बार उछलते रहनेवाले विचारोंके ऊपर पूरा अङ्कुश रखनेकी आवश्यकता है। क्षुद्र विचारोंको निकाल देना—यह उनका पहला कर्तव्य है। मन तो बंदरके समान है, उसे काबूमें रखनेके लिये सर्वदा प्रयत्न करना पड़ता है। इसके लिये विशेष अभ्यासकी आवश्यकता है—ऐसे उन्नत विचारोंका सेवन करनेकी आवश्यकता है, जो हमें उत्कर्षके मार्गमें ले जायँ। संक्षेपमें हम विचारोंके गुलाम न बनें, इसके लिये उनके ऊपर हमारा प्रभुत्व होना आवश्यक है।

वैसे विचार तभी हो सकते हैं जब कि हमारा मन नीरोग, शुद्ध और तेजस्वी हो। अतः पहले उसे वैसा बनाने-के लिये प्रयत्न करना चाहिये। प्रथम तो शरीरको स्वस्थ रखना आवश्यक है; क्योंकि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'—धर्मका प्रथम साधन शरीर ही है। स्वस्थ शरीरके बिना स्वस्थ मन भी नहीं हो सकता। फिर मनको स्वस्थ रखनेके लिये उसे सुरुचिकर खुराक देना आवश्यक है। इसके लिये उसे अच्छे-अच्छे ग्रन्थ पढ़नेको देने चाहिये। सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय—यह एक प्रकारका सत्सङ्ग है। उनमें संत पुरुषोंके वचनामृतपर ही दृष्टि पड़ती है। सत्सङ्गका माहात्म्य सभी जानते हैं। नित्य निरन्तर साधुपुरुषोंके संसर्गमें आनेसे सद्विचारोंको उत्तेजना मिलती है। श्रीतुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

बिनु सतसंग बिबेक न होई। रामकृपा बिनु सुलभ न सोई॥
सत संगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥
सठ सुधरहिं सत संगति पाई। पारस परस कुधात सुहाई॥

प्राचीन भारतमें मन्दिर, चौराहे और नदीतीरोंपर होते रहनेवाली कथा-वार्ता एवं भजन-कीर्तनका मुख्य उद्देश्य यही था कि उन्हें सुननेवालोंके मानसिक विचारोंकी सृष्टि शुद्ध और पवित्र बने। ऐसे अवसरोंपर बार-बार उपस्थित होने एवं कीर्तनादि उत्सवोंमें भाग लेनेसे अच्छे विचार करनेकी आदत पड़ती है और वैसी आदत पड़ जानेसे मनुष्यके मनका स्वभाव ही ऐसा हो जाता है कि उसे तरह-तरहके सत्सङ्गके बिना चैन ही नहीं पड़ता।

मनको पवित्र और शुद्ध बनानेमें प्रार्थना बड़ा काम करती है। रामकृपाके बिना तो कोई भी वस्तु सुलभ नहीं है।

अतः इस भगवत्-कृपाकी प्राप्तिके लिये अनन्यचित्तसे परम कृपालु परमात्माकी प्रार्थना करना—यह सभीका परम आवश्यक कर्तव्य है। इसमें चूक करना बड़ा पाप है। जो ईश्वरीय सत्ता हमारी रात-दिन रक्षा कर रही है, जो कठिनाईके समय हमारी बहुत-सी आवश्यकताओंकी पूर्ति करती है, उसे भूल जाना-ऐसे परम कृपालु प्रभुको बिसार देना—यह तो कृतघ्नता ही है। प्रभुको याद रखना-यही सच्चा धन है और उन्हें भूल जाना—यही पूरा दुःख है। प्रार्थनाके द्वारा प्रभुके प्रति दृढ़ विश्वास होता है और मनको एक अनिर्वचनीय शान्तिका अनुभव होता है। विपरीत प्रसङ्गोंमें भी वह एक अद्भुत स्वास्थ्यकी रक्षा कर सकता है। प्रार्थना हमारे मनको स्फटिकके समान निर्मल कर देती है। इस दिव्य अलौकिक मानसिक बलके सामने दुष्ट विचार लाचार होकर अपने-आप ही खिसक जाते हैं।

पुनः-पुनः एक ही विचार करनेसे वह मनका एक अङ्ग बन जाता है। ऋषि-मुनि निरन्तर ओंकारका जप करते थे, 'सोऽहम्' मन्त्रका जप करते थे अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' मन्त्रका जप करते थे। इसमें भी एक ही सिद्धान्त समाया हुआ था कि मनुष्य जैसा ध्यान करता है, वैसा ही वह बन जाता है। 'मैं क्षुद्र हूँ, अशक्त हूँ, पापी हूँ—ऐसा विचार करनेसे मनुष्य निश्चय ही क्षुद्र, अशक्त और पापी बन जाता है। इसी प्रकार 'मैं निष्पाप हूँ' ऐसा चिन्तन करनेसे हम निष्पाप बन सकते हैं। प्रकाशका ध्यान करोगे तो तुम प्रकाश ही बन जाओगे, पुण्यका चिन्तन करोगे तो तुम पुण्यस्वरूप बन जाओगे। पुरुषसे पुरुषोत्तम हो जानेकी इच्छाका सेवन करो तो तुम अवश्य पुरुषोत्तम हो ही जाओगे। तुम्हारी जैसी भावना होगी वैसी ही सिद्धि होगी। स्वामी रामतीर्थ उच्च प्रकारकी भावनाके सेवनका समर्थन करते हुए सबसे अपने आत्मदेवके प्रति इस प्रकार सम्बोधन करनेके लिये कहते हैं—'ओ राजाधिराज! सम्पूर्ण शरीरोंके केन्द्रमें स्थित मेरे आत्मदेव! सच्चिदानन्द सम्राट्! अनन्त सत्ताधीश! आशीर्वादात्मक तत्त्वस्वरूप! ओ प्रियतम! तुम अज्ञानावरणके स्वप्नमें दासत्व स्वीकार न करो! उठो, जागो और अपनी परम सत्ताका अनुभव करो। तुम ईश्वर हो, तुम ईश्वर ही हो, और कुछ नहीं।'

अन्तमें कहना यह है कि अपने उत्कर्ष-साधनकी इच्छा रखनेवालेको प्रभुके ऊपर पूरा विश्वास रखना चाहिये। श्रद्धाके बिना किसी भी प्रकारके संकल्पकी सिद्धि होना सम्भव नहीं है। विश्वासपूर्वक मानो कि यह जगन्नियन्ता हमें शुभ मार्गपर ही ले जा रहा है। वह हमारे जीवनपथको अवश्य ही प्रकाश देगा। वह हमारा हितचिन्तक है। उसकी अनन्य भावसे शरण लो और जो हृदयको दुर्बल बनावें, उन क्षुद्र विचारोंको मनसे निकालकर सर्वदा शुभका ही चिन्तन करो। विश्वासपूर्वक प्रणवका अखण्ड जप करो। रात-दिन राम-नाम रटो। मनको किसी शुभ आलम्बनमें एकाग्र करो। कुछ समय एकान्तमें निकालो। इससे स्वयं ही शुभ विचारोंकी स्फूर्ति होगी। ऐसे उन्नत सजीव और तेजस्वी विचार स्वयं ही उत्कर्षकी ओर ले जायेंगे। तेजोमय प्रभुसे माँगो कि वे तुम्हारी बुद्धिको तेजस्वी करें। निश्चय मानो कि तुम श्रेष्ठ होनेके लिये ही रचे गये हो और अपना उन्नत भविष्य तुम्हें स्वयं ही बनाना है।

महान् यशको कौन प्राप्त होते हैं?

अनूच्यमानास्तु पुनस्ते मन्यन्तु महाजनात्। गुणवत्तरमात्मानं स्वेन मानेन दर्पिताः॥
अब्रुवन्कस्यचिन्निन्दामात्मपूजामवर्णयन्। विपश्चिद् गुणसम्पन्नः प्राप्नोत्येव महद्यशः॥

'अभिमानवश अपनेको महान् गुणी माननेवालोंको यदि कोई उपदेश देता है तो भी वे अपने मनमें गर्व कर महात्मा पुरुषोंसे भी अपनेको विशेष गुणी मानते हैं, वे अपनेको भले ही इस प्रकार माना करें परन्तु जो किसीकी निन्दा तथा आत्मश्लाघा नहीं करता और विद्या तथा गुणोंसे सम्पन्न होता है, वह पुरुष स्वयं महान् यश प्राप्त करता है।'

(महा० शान्ति० २८७। २७-२८)

साधन-पथ

(लेखक—श्रीविन्दुजी ब्रह्मचारी)

'साधन सिद्धि राम-पग नेहू ।'

आजकलका वातावरण कुछ ऐसा हो रहा है कि प्रत्येक श्वासोच्छ्वासमें बाह्याभ्यन्तर प्रकृतियोंमें राग-द्वेषादिके सहस्रों दूषित परमाणुओंका क्षण-क्षणमें विनिमय होता रहता है। घनतम तमोमय असंख्य परमाणुओंके सञ्चयसे प्रकृतिमें स्थूलता दृढ़ हो गयी है। जगत्‌में विश्वास नहीं, जगत्‌से अवकाश नहीं; परलोकमें निष्ठा नहीं, गुरु-वेद-वाक्योंकी प्रतिष्ठा नहीं। वृत्ति बहिर्मुखी हो गयी है। हम मुख्यतः बाह्य जगत्‌में ही विचरण करते हैं, भावनाओंका आधार वही हो गया है। ऐसी स्थितिमें परमार्थ-साधनका प्रश्न कितना महत्त्वास्पद हो सकता है, यह स्पष्ट है। उस पुण्य पीठसे, जहाँ आसन लगाकर वास्तविक साधनाराधन होता है और जो सिद्धियोंका केन्द्र है, हम पृथक् हो गये हैं। उसीका नाम हृदय है। चेतनताके स्थूलतामें आबद्ध हो जानेसे उसका (हृदयका) बहुत कुछ ह्रास हो गया है—उसकी शक्तियाँ अत्यधिक क्षीण हो गयी हैं और वह निर्जीव-सा हो गया है। श्रद्धा दया-दाक्षिण्यादि सद्गुण तिरोहित हो गये हैं। वास्तविकताका स्थान कृत्रिमताने ले लिया है और अनुभूतिका कोरी कल्पना और तर्कनाने। सात्त्विक हृदयके साथ दैवी सम्पत्तिका अत्यन्त ह्रास है और आसुरी सम्पत्तिके साथ तामसी बुद्धिका विकास। इसीसे आध्यात्मिक साधनका पथ बहुत ही दुर्गम और बाधित हो गया है। हृदय हमारा आवास नहीं रह गया, प्रत्युत स्थूल बुद्धि। एक तो हम साधनपथपर आरूढ़ ही नहीं होते अथवा हो पाते, और यदि आरूढ़ हुए भी तो थोड़ी ही दूर चलकर रह जाते हैं अथवा लौट आते हैं। यदि बीचमें कहीं अटक जाते हैं तो उसे ही गन्तव्य-सा मानकर रह जाते हैं और अपनेमें पूर्णताका अनुभव करने लगते हैं। हमको पता भी नहीं चलता कि हम कहाँ हैं, किधर भटक गये हैं। हम अपने भीतर टिक नहीं पाते। यदि हमारी कुछ धार्मिक भावना हुई और यदि कुछ साधनका क्रम चला, तो उसकी चरितार्थता स्थूल जगत्‌में ही होती है।

साधनका वही अधिकारी होता है, जिसके हृदयमें पूर्वसे कोई साध्य और लक्ष्य विद्यमान होता है। उसकी प्राप्ति अथवा संयोगकी चाह ही साधन-पथपर अग्रसर करती है। हृदय जिसकी आराधना करता है, उसीके लिये साधना भी की जाती है। जिस दर्जेकी चाह होती है, उसी कोटिकी साधना भी। ऐसा साधक ही साधन करता है और वही इष्टकी सिद्धि भी उपलब्ध करता है। कठिनाइयाँ आती हैं, परन्तु वे बाधक नहीं होतीं; उनसे ध्येयमें उसकी उत्कण्ठा और भी अधिक बढ़ती है। वह उन्हें अनायास झेल लेता है। जो किसी इष्ट अथवा प्रेयका आराधक है, वही वास्तविक साधक है। उसके साधनमें जीवन होता है, श्री होती है, सौन्दर्य होता है। उसमें इतना आकर्षण होता है कि दूसरे भी उसके अनुकरणके लिये उत्सुक होते हैं। वैसा करना वे पसंद करते हैं; ये हृदय-देशके साधक हैं; परन्तु जो वैसे नहीं हैं, वे बुद्धिके क्षेत्रमें अपने लिये उपयुक्त साधनका अन्वेषण करते हैं। और, पूर्व संस्कृति और प्रकृतिके अनुसार किसी साधनपर उनका मन टिक जाता है। कोई साधक उसी साधन-पथका अनुसरण करता है, जिसपर वह कभी कुछ चला हुआ अथवा जिसके निकट पहुँचा हुआ होता है। इसी प्रकार कोई आराधक (उपासक) भी उसी इष्टका वरण करता है, जिसमें कभी उसकी श्रद्धा हुई होती है। यह रुचि और निष्ठा पूर्वसंस्कारार्जित होती है। कोई अनायास ही उस दिशाको जाता है, जिधर कभी जा चुका है। नाना प्रकारके साधन विभिन्न अधिकारियोंहीके लिये हैं।

प्रत्येक साधक और आराधकका सबसे पहला कर्तव्य अपने ध्येय और लक्ष्यका निश्चय करना होता है। सच्चे साधक और आराधक सावधानता और संलग्नतापूर्वक ऐसा करते हैं और वे ही साधनमें प्रवृत्त होते हैं। सच्चे साधक और जिज्ञासुको ईश्वरीय प्रेरणासे सद्गुरु भी मिल जाते हैं और वह ठीक रास्तेपर आ जाता है और टिकाने लग जाता है। जिन्हें लक्ष्य और ध्येयका निश्चय नहीं, उन्हें अवश्य ही भटकना और अटकना पड़ता है। जिसका गन्तव्य ही निर्धारित नहीं, वह कहाँ जायगा? सङ्कल्प और प्रतिज्ञाकी दृढ़तासे ही साधनमें दृढ़ता आती है। अन्तर्मुखी वृत्तिकी ध्येयमें एकतानता ही, जिसे संतोंकी भाषामें सुरति कहते हैं,

वह पथ है जो लक्ष्यतक पहुँचाता है। ध्येयकी ओर देखते हुए गुरूपदिष्ट मार्गसे सावधानतापूर्वक (पूर्ण मनोयोगसे) चले जानेहीसे अभीष्टकी सिद्धि होती है। शारीरिक स्वास्थ्यके साथ मानसिक स्वास्थ्य ठीक रहनेहीसे साधन बन पड़ता है। युक्ताहार-विहारसे शारीरिक स्वास्थ्य ठीक रहता है और वैराग्य अथवा निःस्पृहतासे मानसिक स्वास्थ्य। मानसिक नैरुज्य उसीसे प्राप्त होता है। राग-द्वेषमूलक वैषम्यके रहते कोई सर्वथा समताकी भूमिकापर प्रतिष्ठित, परमार्थका अधिकारी नहीं हो सकता। परमार्थसाधकके लिये मानसिक स्पृहा और अतिसार बड़े घातक रोग हैं। मानसिक स्पृहा जप-तप सब भीतर-ही-भीतर खा जाती है, जिससे अन्तःकरण बिल्कुल निःसत्त्व हो जाता है। वह साधनको अपना आहार और लोकको विहार-स्थल बनाती है। वह मानसिक स्पृहा आत्मश्लाघा है। मानसिक अतिसार भी शक्ति-सञ्चय नहीं होने देता। कुण्डलिनीके यत्किञ्चित् स्फुरणसे जब प्रज्ञा विकसित होने लगती है, तब तत्त्व-विचारका क्रम चलता है। चेतनताकी किरणोंसे नाना भाव-विचार झड़ते रहते हैं। उन्हें यदि योगी पचा जाता है, तो वे विचार आचार (चरित) में परिणत होकर सद्गुण उत्पन्न करते हैं। जब विचार आचारके आशयमें भरकर ऊपर आ जाता है, तब वह प्रचार (काव्य-प्रणयन, प्रवचन, कीर्तन) का रूप धारण करता है। इससे जगत्का कल्याण होता है, जिज्ञासुओंको प्रकाश मिलता है। यदि इसके पूर्व आरम्भमें ही तत्त्व-विचार प्रचारका आकार ग्रहण करते हैं, तो साधकके हितकी हानि होती है और दूसरोंका भी उतना कल्याण नहीं होता जितना होना चाहिये। क्योंकि परिपाक न होनेसे उन विचारोंमें प्रभाव कम रहता है। पूर्ण परिपाक होनेसे उनकी स्वल्प मात्रा भी उपयोगिनी होती है,—उनमें शक्ति होती है, जीवन होता है। पूर्ण परिपाक आत्मप्रकाशमें होता है। समयके पूर्व विचारोंका प्रचारके क्षेत्रमें जाना ही मानसिक अतिसार है। निःसत्त्वता एवं अगाम्भीर्यसे ही वह कुरोग उत्पन्न होता है। आत्मालोचन तथा आत्म-संशोधनपूर्वक आत्मोन्नतिकी भावना सतत बनी रहनेसे साधक इन व्याधियोंसे बच जाता है। साधनका परिपाक होनेपर जब साधक अन्तर्जगत्में प्रवेश करता है, तब उसके पारमार्थिक पथको प्रकाशित करनेके लिये परमात्माकी ओरसे प्रकाशकी किरणें उसे मिलती हैं। यदि वह बाह्य जगत्में उनका उपयोग करता है और वृत्ति धीरे-धीरे बहिर्मुखी हो जाती है तो भीतर अन्धकारका अधिकार होने लगता है और पथभ्रष्ट होनेकी आशङ्का उपस्थित हो जाती है। जबतक प्रकाशके उद्गम-स्थलमें नहीं पहुँच जाते, जबतक आत्मज्योतिसे भरकर अन्तःकरण तद्रूप नहीं हो जाता और अनात्मभावना नष्ट नहीं हो जाती अथवा जबतक परमप्रियतम पुरुषोत्तमका पूर्ण परिचय प्राप्त नहीं हो जाता, तबतक तमस् और ज्योतिका द्वन्द्व चला ही करता है। अतः स्थिति कोमल अथवा शङ्कनीय ही रहती है।

साधकका वास्तविक साधना-क्षेत्र अन्तर्जगत् है। उसके लिये (वास्तविक साधनाके लिये) अन्तर्मुख होना बहुत आवश्यक है (प्रत्याहार बिना धारणा नहीं बनती और धारणा बिना ध्यानकी सिद्धि नहीं होती)। बाह्यसे ज्ञान-सञ्चय करनेवाले चक्षु और श्रोत्रका पूर्ण संयम और निरोध जबतक नहीं होता, तबतक हृदय-देशमें प्रवेश भी नहीं होता और जबतक हृदय-देशमें प्रवेश नहीं होता, तबतक साधन भी नहीं बनता और सिद्धि अथवा सफलता भी नहीं होती। किसी महापुरुषने कहा है—

चश्म बन्दो, गोश बन्दो लब बबन्द।
गर न यावी सिर्रे हक् बरमा बखन्द॥

अर्थात् नेत्र, श्रोत्र और वाक्को बन्द करो, रोको। यदि इसपर भी सत्यका रहस्य न अवगत हो, तो मुझे हँसो। पहले लोग तीन हिस्सा भीतर रहते थे और एक हिस्सा बाहर। फिर आधा बाहर, आधा भीतर। बाद तीन हिस्सा बाहर, एक हिस्सा भीतर और अब प्रायः सम्पूर्ण अंशोंमें बाहर ही रहते हैं। सम्प्रति हृदयका अत्यधिक ह्रास हो जानेसे श्रद्धाका ही तिरोभाव हो गया। कुछ है भी तो अधिकांशमें राजसी-तामसी, जो खण्डशः चलती है और खण्डन-खण्डमें ही रुचि रखती है। सात्त्विकी श्रद्धा तो अत्यन्त दुर्लभ हो रही है, जो परमार्थका साधन करती है। धर्म और प्रेम दोनोंहीकी आधार-भूमि सत्त्व है। प्रेमके (अथवा सुख-दुःखके) लक्षण अश्रु आदि भी सत्त्वहीके क्षेत्रमें समुदित होते हैं, इसीलिये वे सात्त्विक भाव कहलाते हैं और श्रद्धा एवं धृति आदि धार्मिक शक्तियाँ भी वहीं उत्पन्न होती हैं। क्षान्ति और शान्ति-जैसे दिव्य गुणोंका भी वही उद्गम है। सत्त्व-स्थता ही स्वस्थता है। सत्त्वगत होनेहीको किसी विषयमें 'लगना' कहते हैं। ज्ञानका साधन यद्यपि बुद्धि-वृत्तिसे होता है, तथापि उसका सम्पादन और निदिध्यासन सत्त्वहीसे होता है। उसकी स्थिरता और सार्थकता उसीके आश्रयसे होती

है। शुद्ध ज्ञानका और शुद्ध प्रेमका समुदय शुद्ध अन्तःकरणमें ही होता है। शुद्ध तत्त्वके प्रकाश और विकासके लिये शुद्ध सत्त्वकी स्थिति नितान्त आवश्यक है। क्योंकि उसके बिना सर्वात्मीयताके रूपमें आत्माकी व्यापकताका अनुभव नहीं होता। राग-द्वेष दम्भके पथसे परिच्छिन्नताकी ऐसी गहरी कन्दरामें ले जाकर डाल देते हैं, जहाँ आत्माके प्रकाशकी किरणें बिल्कुल नहीं पहुँचती। द्वेषके दुर्गम पर्वत और रागके सघन वन आत्मदेवसे इतना पृथक् कर देते हैं कि व्यापकताके लिये अवकाश ही नहीं रह जाता। भेदबुद्धि जितनी पुष्ट होगी, व्यापकता और उदारता उतनी ही बाधित होगी—यह निश्चित ही है। प्रेमका भाव ही आत्मीयता उत्पन्न करता है और द्वेषका परकीयता। जिनका हृदय आक्रीड (विहार-वन) होता है, जो आत्मज्योतिकी प्रसन्न कौमुदीसे सुरम्य उसके एकान्त प्रान्तमें प्रियके सरस साहचर्यमें रहते हैं अथवा उसके दिव्य भावसे भावित होते हैं, उनका लक्षण ही कुछ विलक्षण होता है। वे लोगोंसे मिलना, बोलना कम पसन्द करते हैं। बाह्य जगत्से वे ऊबते हैं। कौन अच्छा है, कौन बुरा है, कौन क्या करता है, क्या नहीं करता—इधर उनकी दृष्टि ही नहीं। कल्याण उनका स्वरूप, उपकार उनका चरित, करुणा उनकी चेष्टा, प्रसन्नता उनकी मुद्रा और शान्ति उनकी छटा होती है—

वदनं प्रसादसदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः।
करणं परोपकरणं येषां केषां न ते वन्द्याः॥

अस्तु, परमार्थ-साधनके लिये अन्तःकरण-संशोधन प्रथम वस्तु है। यदि भगवान्को रिझाना है, यदि उन्हें अनुकूल करना है तो उनके अनुकूल होना भी चाहिये। उसके लिये उनकी प्रिय वस्तु साधुताका अपनेमें (अपने स्वभावमें) सञ्चय करना सर्वथा सापेक्ष एवं अनिवार्य है। द्वेष-बुद्धिके पुष्ट होनेसे परदोषदर्शन और क्रोध अनायास उत्पन्न होते हैं, जो कलह-विग्रहके कारण बनते हैं। दोष-दृष्टि होनेसे दोष-ही-दोष दिखलायी देते हैं और गुण-दृष्टि होनेसे गुण-ही-गुण। द्वेष द्वेष ही उत्पन्न करता है और प्रेम प्रेम। प्रभाव अन्तःकरण अथवा मनोवृत्तिका ही पड़ता है। त्रिगुणातीत सच्चिदानन्दतत्त्व परमात्माके दर्शनके लिये दृष्टि और वृत्तिका गुणातीतताकी मर्यादातक पवित्र होना भी सर्वथा आवश्यक है—

नयन अँजि मन माँजि चेतिऐ चिदानंदघन राम।
अछ हृख-दीरघ नहिं होवै, ऐसी कसिय लगाम॥
(भगवती मञ्जुकेशी देवी)

वर्तमान काल लौकिक और पारलौकिक अथवा पारमार्थिक—हर एक विभागमें सज्जनता और सत्पात्रताकी बड़ी मार्मिक अपेक्षा कर रहा है। अतः उसकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट होना सर्वाधिक वाञ्छनीय है। एक संतहृदय एकान्तमें रहकर भी अपनी सिद्ध-समुदार सद्भावनाओंसे वह लोक-कल्याण कर सकता है, जो सामान्यजन कितने ही व्याख्यानों-से भी नहीं कर सकते।

अन्तःकरण-विशुद्धि ही सकल साधना-सार।
अहै त्योंहि एकाग्रता योग-तरव समुदार॥

(२)

साधन अनेक हैं—अधिकारके अनुसार, शक्ति और रुचिके भेदसे। कोई कुछ पसन्द करता है और कोई कुछ। जो जिसे पसन्द करता और चाहता है, उसके लिये वही अच्छा है—'रुचीनां वैचित्र्याद्·····।' 'जा कर मन रम जाहि सन·····॥' जिसमें मनुष्यकी स्वभावतः अभिरुचि होती है, चाहे वह प्रेय (इष्ट) हो अथवा श्रेय (साधन), उसीमें उसके चित्तकी एकाग्रता होती है और जिसमें चित्तकी एकाग्रता होती है, उसीमें अन्तःकरणकी तल्लीनता होती है और जहाँ तल्लीनता होती है, वहीं सुख-सन्तोषकी प्राप्ति होती है। तत्त्व सत्यके तलस्थलमें है—अन्तःकरणकी गहराईमें है। तल्लीनता अथवा पूर्ण सुरतिसे ही उसका अपरोक्षानुभव होता है। परन्तु रुचिके साथ एक बात विचारणीय होती है। वह है शक्तिका प्रश्न। इसीको अधिकार भी कहते हैं। अभिरुचि शक्तिसे ही सार्थक होती है। और यह मानी हुई बात है कि कलियुगी जीवोंकी शक्ति क्षीण होती है, जो प्रत्यक्ष है। अस्तु, चाहे जिसका जो साधन और साध्य हो, उसमें वह निष्ठा-युक्त होता हुआ भी सर्वसुलभ स्वयं शब्दब्रह्म अन्तर्नाद रामनाम-का अवलम्बन ले सकता है—उसका एकान्त जप-योग कर सकता है। जितने आस्तिक वेदनिष्ठ सज्जन होंगे, उन्हें शब्द-वाद अभिमत ही होगा। जो शब्दवादी हैं, उनकी श्रद्धा भगवन्नाममें भी हो सकती है—चाहे वे किसी सम्प्रदायके हों। भिन्न-भिन्न धारणाओं और भावनाओंके क्षेत्रोंमें उत्पन्न हुए भी कितने संत रामनामसे कृतार्थ हुए हैं। कारण यह कि जहाँ आत्मा है, वहीं राम अथवा जो आत्मा है, वही राम

एवं जो ज्योति है, वही ध्वनि और जो ध्वनि है, वही ज्योति—'ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिः ज्योतिषोऽन्तर्गतो ध्वनिः।' ध्वनि और ज्योतिकी तरह नाद-बिन्दुका भी घनिष्ठ सम्बन्ध है और वही रामनाम है। आत्मा ही वह केन्द्र है, जिसके समुज्ज्वल समतल स्थलमें सभी मतोंके संत एकत्र होकर एक स्वरसे रामनामका अखण्डमण्डलाकार मधुरालाप (अजपा जप) करते हैं। अतः जो अध्यात्मपथके पथिक और हृदय-देशके यात्री हैं, उन्हें भगवन्नामका आश्रयण, उसका एकान्त जप—ऐसा जप जिसका हृदय अभिमानी हो—करना ऐसा साधन है, जो सभी साधनाओं और निष्ठाओंको बल देता है, जिससे भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, योग—सब सिद्ध होते हैं, जो निर्गुण-सगुण-उभय ब्रह्मरूपोंका साक्षी और स्वयं सबका साध्य है।

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी॥

राम नाम अवलंब बिनु परमारथ की आस।
तुलसी बारिद बूँद गहि चाहत चढ़न अकास॥

यह अवश्य लक्ष्यमें रखनेकी बात है कि वाक्क्रमसे जिसका आरम्भ वैखरीसे होता है, चलनेहीसे सुगमतासे ठीक ठिकाने पहुँचते हैं—माता सरस्वती बड़ी सरलतासे मध्यमाकी उस सुरम्य सुख-पुञ्ज कक्षमें पहुँचा देती है, जिसे शाब्दिक अपनी परिभाषामें स्फोट कहते हैं, जहाँसे शब्द स्फुटित होते हैं, जहाँ रामनामके नाद-बिन्दु चिति और ह्लादिनीके साथ हिल-मिलकर खेलते रहते हैं। तात्पर्य यह कि वाङ्मार्गसे अजपा और दिव्य नाद (स्वयं शब्दब्रह्म-स्वरूप गुणातीत अनाहत) उभयकी सिद्धि होती है।

स्वतः शब्द-प्रामाण्यतः 'बिन्दु' वाक्-पथ गम्य।
शब्द-ब्रह्म रामेति ध्वनि-ध्यान-धारणा रम्य॥
वही गेय, वही ध्येय है, वही श्रेय, वही प्रेय।
राम नाम पीयूष ही 'बिन्दु' प्राण-प्रिय पेय॥

यद्यपि आजकल सद्गुरु बहुत दुर्लभ हो गये हैं और उनसे भी दुर्लभ उनकी पहचान हो गयी है, तथापि यदि भगवत्कृपा और भाग्यसे ऐसा सुयोग लग जाय और कोई रामके प्यारे मिल जायँ, तो उनकी शरणमें प्राप्त हो उनके निर्देशसे ही भजन करना श्रेयस्कर है—

'कि सालिक बेखबर न बुवद ब राहो-रस्मे मंजिलहा।'

क्योंकि गुरु मार्ग और केन्द्रोंके सब भेद जानता है। सच्चे साधक (भगवान्‌के लिये भगवान्‌के रास्तेपर चलनेवाले) को, जब उनकी सहायताका ठीक मुहूर्त्त आ जाता है, (ईश्वर अन्तिम अनिष्टकारक क्षणमें ही अचिन्त्य रीतिसे सहायता करते हैं) तब भगवान् किसी सद्गुरुसे अवश्य मिला देते हैं। यह सङ्घटन भगवान् स्वयं अपने जगद्गुरुरूपसे करते हैं—

जिमि पिय तुम अपनाते हो।
अपने मिलनेकी राह उसे आप हि बतलाते हो॥

जबतक ऐसा न हो, कोई सद्गुरु न मिलें, तबतक भगवान्‌के भरोसे पूर्ववर्ती संतोंके अनुभवोंसे लाभ उठाते हुए सावधानतापूर्वक रास्तेपर चलना चाहिये और अपनेको प्रभुके सामने सच्चा साधक और आराधक सिद्ध कर देना चाहिये। फिर तो वे सँभाल ही लेंगे। अपने कर्तव्यपालनमें वे बड़े सजग रहते हैं—'बड़ी साहिबीमें नाथ, बड़े सावधान हो।' कोई उनके लिये दो पग आगे बढ़ता है, तो वे चार पग आगे आकर उसे अपनाते हैं—

प्रीति प्रीति स्वारथ परमारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥

हाँ, अवश्य जान लेना चाहिये कि सच्चे गुरु एक सुदीर्घ कालके बाद मिलते हैं, जब भगवान्‌के मिलनेका मङ्गलमय समय समीप आता है—

शर्ते बायद कि याद आयद बकनार।
ई दौलत सरमद हमा कसरा न देहन्द॥

अर्थात् इस बातके लिये एक सुदीर्घ जीवनकी अपेक्षा है कि वह प्रियतम सखा गोदमें आये। ऐ सरमद, यह सम्पत्ति सबको नहीं मिलती।

गुरु गोविन्दका मिलना उतना कठिन नहीं, जितना कठिन उनके लिये हृदयमें सच्ची चाहका होना है। सच्ची चाहमें एक अद्भुत आकर्षण होता है, जिसके सूक्ष्म शक्ति-तन्तु वहाँतक खिंचे हुए होते हैं जहाँ जिसकी चाह होती है, वह होता है। सच्ची चाह या लगन स्वयं पथप्रदर्शनका

काम करती है। वह रास्ता साफ़ करती हुई उधर ही खींच ले जाती है, जिधर वह गयी हुई होती है। सचाईका रास्ता इतना प्रशस्त, विश्वस्त, सुघटित और सुव्यवस्थित अतएव अभय होता है कि उससे कोई भटक ही नहीं सकता। जहाँ, कोई भटकेगा, वहाँ भी वही है। वह उठाकर ठिकाने ला देगा—'कस न दीदम कि गुम शुद अज़ रहे-रास्त'—किसीको सचाईके रास्तेसे गुमराह होते नहीं देखा।

अतः आन्तरिक साधनकी ओर विशेष लक्ष्य रखना उचित है। उसीके बननेसे सब बनता है। अन्तःकरणको ऐसा साधना चाहिये कि वह निश्छल और निरहङ्कार हो, जिससे उसमें भगवान्‌के लिये सची चाह उत्पन्न हो सके—

निर्मल मानसिक आवास।
मलिन भाव बुहारि फेंकहु स्वच्छ करहु देवास।
खींचि नभतें मदहि मारो, मदन उलटो रास॥*
छरस, नवरस, पंचरस महँ बहै एक बतास।
कहति 'केशी' मठ सँवारहु करहिं जेहि हरि बास॥

परमोत्कृष्ट साधन

गायत्री

(लेखक—पण्डितप्रवर श्रीद्वारकाप्रसादजी चतुर्वेदी)

हमारे-जैसे जीवात्माओंको इहलोक और परलोक दोनों लोकोंमें सुख एवं शान्ति प्रदान करनेवाला यदि कोई परमोत्कृष्ट साधन है तो वह एकमात्र वेदमाता गायत्रीकी सर्वतोभावेन आराधना ही है। अनेक जन्म धारण करके अनेकों योनियोंमें भटकनेके बाद तब कहीं भगवत्कृपा अथवा उत्कृष्ट कर्मोंके फलरूपमें इस जीवको मानव-शरीर मिलता है। मानव-योनिमें भी ब्राह्मण होना महान् पुण्यकर्मोंका फल है। फिर ब्राह्मण होकर जिसने वेदमाता गायत्रीका अनुग्रह सम्पादन कर लिया, उसको तो किसी बातकी कमी ही नहीं रह जाती।

यद्यपि वेदादि शास्त्रोंमें ऐसे अनेक मन्त्र हैं जिनका साधन करके द्विजवर्ग सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है; तथापि वेदमाता गायत्रीकी महिमा सबसे अधिक है। शौनकीय ऋग्विधानमें तो यहाँतक कहा गया है—

प्रथमं लक्षगायत्रीं सप्तव्याहृतिसम्पुटाम्।
ततः सर्ववेदमन्त्रैः सर्वसिद्धिञ्च विन्दति॥

अर्थात् सप्त व्याहृतियोंसे सम्पुटित गायत्री-मन्त्रका एक लक्ष जप किये बिना कोई भी वेदमन्त्र सिद्धिप्रद नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट होता है कि गायत्री-मन्त्र वैदिक साहित्यके खजानेकी मानो कुंजी है। जिसने गायत्री-मन्त्रको साध लिया, उसने मानो उभय लोकोंको अपने वशमें कर लिया।

शुक्राचार्य युद्धमें मारे गये दानवोंको जिस मृत-सञ्जीवन मन्त्रके प्रभावसे जीवित कर देते थे, वह भी गायत्रीप्रधान मन्त्र ही है। जिस ब्रह्मास्त्रसे तीनों लोक थर्रा जाते थे, उसमें भी गायत्री-मन्त्रकी ही प्रधानता है। विश्वामित्रजीके समस्त अस्त्र-शस्त्रोंको विफल करनेवाला वसिष्ठजीका ब्रह्मदण्ड गायत्री-मन्त्रात्मक ही था। गायत्रीकी आराधनासे ही विश्वामित्रजीने न केवल ब्राह्मणत्व ही प्राप्त किया था, बल्कि उनमें नवीन सृष्टि रचनेकी शक्ति भी उत्पन्न हो गयी थी। इस प्रकार कितने उदाहरण दिये जायँ। ब्राह्मणके लिये तो गायत्री कामधेनुरूपा है। जो ब्राह्मण ऐसे महामहिम गायत्री-मन्त्रका महत्त्व न समझकर उसकी साधनासे विमुख रहता है, उसका ब्राह्मणके घर जन्म लेना व्यर्थ है।

प्राचीन कालके उदाहरणोंपर ही नहीं, बल्कि आधुनिक कालकी घटनाओंपर ही यदि ध्यान दिया जाय तो भी गायत्री-मन्त्रका अनुपम प्रभाव मूर्तिमान् होकर प्रत्यक्ष दीखने लगता है। श्रीज्ञानेश्वरजीको गायत्री-मन्त्रसे जो लाभ हुआ था, वह प्रसिद्ध ही है। स्वामी दयानन्दको इतना प्रसिद्ध करनेवाला गायत्री-मन्त्र ही है। हमारी जानकारीमें एक-दो नहीं, बीसियों ऐसे ब्राह्मण हैं, जिन्होंने आजन्म गायत्रीको छोड़ अन्य किसी उपायका अवलम्ब नहीं लिया और जो इस लोक और परलोक दोनोंमें सुखी रहे। 'हिन्दी-प्रदीप' पत्रके सम्पादक स्वर्गीय पण्डित बालकृष्णजी भट्ट गायत्री-

* मदको ऊर्ध्वसे अधःमें उतारो और मदनको अधःसे ऊर्ध्वमें चढ़ाओ।

मन्त्रके ही बलपर निर्भय होकर सिंहकी तरह दहाड़ते थे। मृत पुरुषोंकी बात छोड़िये; महामना पण्डित मदनमोहनजी मालवीयको देखिये; उनका हिंदूविश्वविद्यालय वेदमाता गायत्रीकी आराधनाका ही जीता-जागता फल है। जो कार्य पहले असम्भव-सा देख पड़ता था, वही गायत्री-मन्त्रके आश्रय-ग्रहणसे अत्यन्त सरल हो गया। इस प्रकार मृत-जीवित अन्य अनेक महापुरुषोंके नाम गिनाये जा सकते हैं, जिन्हें गायत्री-मन्त्रकी आराधनासे अपार लाभ हुआ है।

इतना ही नहीं, ब्राह्मण-जाति और गायत्री-मन्त्रका कुछ ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि कितने ही सच्चे ब्राह्मणोंको तो गायत्री-मन्त्रके आराधनसे आजन्म वञ्चित रहनेपर भी अन्तकालमें अपने-आप उसका स्मरण हो आता है। उदाहरणके तौरपर देशपर अपनेको न्यौछावर कर देनेवाले स्वर्गीय राष्ट्रभक्त पण्डित मोतीलालजी नेहरूको लीजिये। वे जीवनभर दूसरे वातावरणमें रहे, परन्तु शरीर छोड़ते समय पूर्वसंस्कारवश उन्हें गायत्री-मन्त्रका स्मरण हो आया! इस प्रकारकी घटनाएँ ब्राह्मण-जाति और गायत्री-मन्त्रके अविच्छेद्य सम्बन्धकी परिचायक नहीं तो और क्या हैं?

इन पंक्तियोंके लेखकके जीवनका आराध्य मन्त्र तो गायत्री-मन्त्र ही है। जब मैं अपने जीवनकी विषम कठिनाइयों और उनसे अनायास पार हो जानेके इतिहासपर दृष्टिपात करता हूँ, तब गायत्री-मन्त्रके अगणित उपकार प्रत्यक्ष हो जाते हैं और उसके प्रति मेरी निष्ठा यत्परो नास्ति हो जाती है। वारेन हेस्टिंग्ज नामक पुस्तक लिखनेके उपलक्ष्यमें तत्कालीन प्रान्तीय सरकारकी ओरसे मुझे जो पुरस्कार मिला, उसे प्रायः सभी हिन्दी-साहित्यानुरागी जानते हैं। उस समय आजीविकाहीन होकर कच्ची गृहस्थीके भारसे दब जानेके कारण मैं जिस मानसिक अशान्तिका शिकार हुआ था, उसे मैं ही जानता हूँ। परन्तु वेदमाता गायत्रीने वैसे गाढ़े समयमें भी अपना करावलम्ब देकर मुझको शोक-सागरसे हँसते-खेलते पार लगाया। मेरे जीवनमें गायत्री माताके ऐसे अनेक उपकार हैं, जिनका स्मरण करके हृदय गद्गद हो जाता है। सच पूछिये तो एकमात्र गायत्री माताकी कृपासे ही मैंने आजतक विविध विषम परिस्थितियोंमें पड़कर भी सानन्द जीवन बिताया है। उन्हींके भरोसे मैं आज भी चैनकी वंशी बजा रहा हूँ। अस्तु,

वेदमाता गायत्रीका ब्राह्मणमात्रपर वात्सल्य स्नेह है; फिर भी कितने खेदकी बात है कि आजकलके अधिकांश ब्राह्मण गायत्री माताकी साधना तो अलग रही, उनका स्मरण भी नहीं करते। फलतः वे इस जले पेटके लिये ब्राह्मणेतरोंके द्वारपर मारे-मारे फिरते हैं। मैं यह दावेके साथ कह सकता हूँ कि यदि अबसे भी ब्राह्मण-जाति सचेत हो जाय और गायत्री माताकी आराधना करने लगे तो फिर वह पहलेकी तरह शक्तिशालिनी हो सकती है। एकमात्र इसी सर्वोत्कृष्ट साधनसे कोई भी ब्राह्मण अपने लिये उभय-लोक बना सकता है। भला, जो वेदमाता गायत्री आयु, पृथिवी, द्रव्य और इन सबसे बढ़कर ब्रह्मवर्चस देनेवाली है, वह क्या कभी बिसारनेकी वस्तु है? मैं नित्य सन्ध्योपासनके समय विसर्जन करते हुए वेदमाता गायत्रीसे यह प्रार्थना किया करता हूँ—

स्तुता मया वरदा वेदमाता
प्रचोदयन्ती पवने द्विजाता।
आयुः पृथिव्यां द्रविणं ब्रह्मवर्चसं
मह्यं दत्वा प्रजातुं ब्रह्मलोकम्॥

ब्रह्मवेत्ता मुनि कौन है?

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं विधित्सावेगमुदरोपस्थवेगम्।
एतान्वेगान्यो विषहेदुदीर्णांस्तं मन्येऽहं ब्राह्मणं वै मुनिं च॥

जो पुरुष वाणीके वेगको, मनके वेगको, क्रोधके वेगको, काम करनेकी इच्छाके वेगको, उदरके वेगको और उपस्थके वेगको रोकता है, उसको मैं ब्रह्मवेत्ता मुनि समझता हूँ।

(महा० शान्ति० २९९। १४)

विनय

कबहुँक अंब ! अवसर पाइ ।

मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन-कथा चलाइ ॥

दीन सब अँगहीन, छीन मलीन अघी अघाइ ।

नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ ॥

बूझिहैं 'सो है कौन' कहिबी नाम दसा जनाइ ।

सुनत राम कृपालुके मेरी बिगरिऔ बनि जाइ ॥

जानकी जगजननि जनकी किये बचन सहाइ ।

तरै तुलसीदास भव तव नाथ-गुन-गन गाइ ॥

—तुलसीदासजी

सहज-साधन

(लेखक—श्रीबदरीदासजी महाराज वानप्रस्थी, वेदान्तभूषण)

इस समय संसारमें जीवोंका जीवन बहुत थोड़ा रह गया है। उन्हें न तो पूर्ण आयु ही मिलती है और न वे पूर्ण सुख-सम्पत्ति और स्वाधीनताका ही उपभोग कर पाते हैं—बीचहीमें कालके वशीभूत हो जाते हैं। ऐसे अल्पजीवी जीवोंके कल्याणके लिये यदि कोई सहज-साधन बता दिया जाय तो उनका महान् उपकार हो सकता है। इसी बातको लक्ष्यमें रखकर हमारे गुरुदेव परमपूज्यपाद योगिराज ब्रह्मनिष्ठ श्री१०८ श्रीवनराजजी महाराजने हमें जो सदुपदेश दिया था, उसे ही कल्याणके पाठकोंके समक्ष उपस्थित करके हम आशा करते हैं कि इस सहज-साधनके द्वारा वे अपना और अपने इष्ट-मित्रोंका कल्याण कर सकेंगे। अस्तु,

पूज्य गुरुदेवने कहा था कि जो कार्य स्वाभाविक हो—जो सुखसे और अपनी अखण्ड प्रसन्नतासे हो सके, वही 'सहज' होता है। उस सहज-साधनसे सत्पुरुष परमात्माका साक्षात्कार कर सकते हैं तथा अपने अज्ञानको नष्ट करके सारे जगत्का भला कर सकते हैं। अतः इस स्वल्प जीवनमें मनुष्यमात्रको इस सहज-साधनका अभ्यास करना चाहिये। इस साधनको समझनेके लिये पहले तीन शब्दोंकी परिभाषा समझ लेनी चाहिये, क्योंकि इन्हें समझे बिना सहज-साधनका अभ्यास हो नहीं सकता। वे तीन शब्द ये हैं—भ्रम, अविद्या या माया और अहङ्कार। (१) जो वस्तु वास्तवमें है नहीं, किन्तु दिखायी देती है, उसे भ्रम कहते हैं—जैसे मरुस्थलमें जल या सीपीमें चाँदी आदि। (२) जो वस्तु वास्तवमें है नहीं, किन्तु उत्पन्न हो जाती है उसका नाम अविद्या या माया है—जैसे घर, गाड़ी, धोती इत्यादि। घर वास्तवमें कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है, पञ्चभूतोंकी समष्टिविशेष ही घर बन जाती है। इसी प्रकार काष्ठ और लोहेके समूहविशेषका नाम गाड़ी है, तथा सूत ही धोती बन जाता है। (३) 'मैं' नामकी कोई वस्तु न होनेपर भी 'मैं' की प्रतीति होती है—इसीका नाम अहङ्कार है। मैं शरीरादि नहीं हूँ, फिर भी मैं अमुक अर्थात् बदरीदास हूँ—ऐसी वृत्ति होती है। इसे ही अहङ्कार कहते हैं। इस प्रकार इन तीन शब्दोंका अर्थ हृदयङ्गम हो जानेपर मनुष्यको सहज-साधनका अधिकार प्राप्त होता है। इस अधिकारके प्राप्त हुए बिना इसमें सफलता नहीं मिलती।

जिन भाग्यवानोंको यह संसार भ्रमवत् जान पड़ता है और जो कुछ होने या बननेवाले पदार्थ हैं वे ये सब अविद्या या माया हैं—ऐसा निश्चय होता है तथा मैं, तू, यह, वह—ये सब अहङ्कारके ही खेल दिखायी देते हैं, वे पुरुष या स्त्री ही इस सहज-साधनके सच्चे अधिकारी हैं। ऐसे अधिकारियोंको ही इससे सच्ची सिद्धि मिल सकती है—पापादिकी निवृत्ति तो इसके स्मरणमात्रसे हो जाती है।

मनुष्य क्या, प्राणिमात्रके भीतर प्रणवकी स्वाभाविक ध्वनि हो रही है। वह सुगमतासे सुनी जा सकती है और बड़ी प्रसन्नतासे उसका ध्यान हो सकता है। अतः स्वाभाविक होनेके कारण यह प्रणवध्यान ही सहज-साधन है। इसके अभ्याससे मनुष्य परमात्माका साक्षात्कार कर जीवन्मुक्त हो सकता है—नरसे नारायण हो सकता है। अतः 'प्रणव क्या है', 'उसका अर्थ क्या है' और 'प्रणवध्यान किस प्रकार किया जाता है' इन प्रश्नोंका संक्षेपमें उत्तर देकर कल्याणकामियोंको सहज-साधनका सुगम पथ बताया जाता है। प्रणव परमात्माका नाम है—'तस्य वाचकः प्रणवः' (यो० सू० १। २७)। नामीसे नामका भेद नहीं होता। अतः भगवन्नामस्मरण और भगवद्-ध्यान—ये दोनों समानरूपसे जीवका कल्याण करनेमें समर्थ हैं। प्रणवध्यानके विषयमें सर्वहितैषिणी भगवती श्रुति कहती है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

(मुण्डक० २। २। ४)

'प्रणव धनुष है, औपाधिक आत्मा बाण है और अक्षरब्रह्म उसका लक्ष्य कहा जाता है। अतः ब्रह्मस्वरूप लक्ष्यका सावधानीसे वेधन करना चाहिये और बाणके समान तन्मय अर्थात् ब्रह्ममय हो जाना चाहिये।

अधिकांश लोग ओंकारको ही प्रणव समझते हैं, परन्तु इन दोनोंमें एक सूक्ष्म अन्तर है। प्रणवध्वनि केवल चित्तवृत्तिको रोककर ही सुनी जा सकती है और 'ॐ' उसका गौणरूपसे उच्चारण करना है। इस प्रकार 'ॐ' प्रणवका ही स्थूल रूप है। यह ओंकार ही त्रिवर्णात्मक सगुण ब्रह्म है। इसका वाच्य अक्षरब्रह्म निर्गुण और विभु है।

ॐ ही अपर और पर ब्रह्म है। यह सम्पूर्ण विश्व ओंकार ही है। ॐ—यह अक्षर ही सब कुछ है। भूत, भविष्य और वर्तमान जो कुछ है, सब ॐ ही है। जिसको 'ॐ' कहा गया है और स्वयं ॐ—यह सब ब्रह्म ही है। ब्रह्म परमात्मा या भगवान् कृष्ण कोई परोक्ष वस्तु नहीं हैं। अन्तःकरणमें विराजमान यह आत्मा ही ब्रह्म है और वही ओंकार है।

इस ओंकारमें अ, उ, म् ये तीन वर्ण हैं। इनसे क्रमशः समष्टिमें विराट्, हिरण्यगर्भ या सूत्रात्मा तथा ईश्वर और व्यष्टिमें विश्व, तैजस एवं प्राज्ञका ग्रहण होता है। जिस परमात्मासे संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और नाश होते हैं उसीका नाम ॐ या प्रणव है। इसके ध्यानकी विधि नीचे लिखी जाती है।

प्रणवध्यान—"इस समय जब कि मैं जगा हुआ हूँ मेरी जाग्रत्-अवस्था है, मैं स्थूल भोगोंका भोक्ता हूँ और व्यष्टि-पिण्डाण्डमें रहनेसे मेरे शरीरका नाम, चेतनका नाम 'विश्व' है तथा समष्टिमें वही 'विराट्' कहा जाता है। यही ओंकारकी अ मात्रा है और यही जाग्रत्-अवस्थाका अभिमानी विश्वात्मा है"—इस प्रकार ॐका उच्चारण करते हुए प्रायः १५ मिनट स्मरण करना चाहिये।

"जिस समय मैं स्वप्न देखता हूँ उस समय मेरी स्वप्नावस्था होती है, तब मैं सूक्ष्म विषयोंका भोक्ता होता हूँ और व्यष्टि पिण्डाण्डमें रहनेसे मेरे शरीरका नहीं, चेतनका नाम 'तैजस' होता है तथा समष्टिमें वही 'हिरण्यगर्भ' कहा जाता है। यही ओंकारकी दूसरी मात्रा उ है और यही स्वप्नावस्थाका अभिमानी सूत्रात्मा है"—इस प्रकार ॐका उच्चारण करते हुए प्रायः २० मिनटतक चिन्तन करे।

"जिस समय मैं सो जाता हूँ उस समय मेरी सुषुप्तावस्था होती है। तब मैं बीजरूपसे सबका भोक्ता होता हूँ और व्यष्टि पिण्डाण्डमें रहनेसे मेरे शरीरका नहीं, चेतनका नाम 'प्राज्ञ' होता है तथा समष्टिमें वही 'ईश्वर' कहा जाता है। यही ओंकारकी तीसरी मात्रा म है और यही सुषुप्तिका अभिमानी कारणात्मा है। यह सबका ईश्वर, सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी है तथा सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और लयका स्थान होनेसे सबका कारण है"—इस प्रकार ॐका उच्चारण करते हुए प्रायः २५ मिनटतक चिन्तन करना चाहिये।

अन्तमें "अब मैं समाधिस्थ हूँ। यह मेरी तुर्यावस्था है। इसके सम्बन्धमें विद्वान् लोग ऐसा मानते हैं कि न यह अन्तःप्रज्ञ है, न बहिःप्रज्ञ है, न उभयतः अर्थात् अन्तर्बहिःप्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है। यह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्चका उपशम, शान्त, शिव और अद्वैतरूप है। यही मैं हूँ और व्यष्टि पिण्डाण्डकी उपाधिसे मेरा ही नाम 'आत्मा' और समष्टि ब्रह्माण्डकी उपाधिसे मेरा ही नाम 'परमात्मा' है। यह तुर्यावस्थाका अभिमानी साक्षी चेतनात्मा ही साक्षात् जानने योग्य है" इस प्रकार ओंकारका चिन्तन करते हुए जितनी देरतक बाह्य वृत्ति न हो, तबतक लगातार ध्यान करता रहे। यही प्रणवध्यानकी संक्षिप्त विधि है।

इस प्रणवध्यानमें न तो किसी प्रकारका शारीरिक कष्ट ही है और न पैसेका खर्च ही। केवल सिद्ध या स्वस्तिक आसनसे अथवा जिससे भी सुखपूर्वक अधिक देरतक बैठा जा सके, बैठ जाय। इस प्रकार प्रातः, मध्याह्न और सायं तीनों कालोंमें अभ्यास करे। ऐसा करनेसे ब्रह्मतेजकी प्राप्ति होकर जीव निष्पाप हो जाता है तथा उसे परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है। ओंकार मन्त्रराज है, इसीसे इसका 'सर्वकर्मारम्भे विनियोगः'—समस्त कर्मोंके आरम्भमें विनियोग किया जाता है। जिसका सब कार्योंके आरम्भमें सङ्कल्प हो, उसीको सहज या स्वाभाविक समझना चाहिये। अतः प्रणवध्यान ही सहज-साधन है और यह सबके लिये उपयोगी एवं परम पावन है।

अतएव इस सर्वोपयोगी साधनका हमें अहर्निश अभ्यास करना चाहिये। इससे हमारा, हमारे समाजका और हमारे देशका परम कल्याण होकर विश्वभरका श्रेय हो सकता है। यही सोचकर हमारे पूज्यपाद ऋषि-महर्षि और आचार्योंने भी सन्ध्याकी दशविध क्रियाओंमें सबसे पहले 'प्रणवध्यान' यानी यह सहज-साधन ही रखा है, क्योंकि इसका आबालवृद्ध सभी सुगमतासे अभ्यास कर सकते हैं।

सर्वोच्च साधनके लिये एक बात

(लेखक—पं० स्वामी श्रीपराङ्कुशाचार्यजी शास्त्री)

संसारमें जब हम विवेचनात्मक दृष्टि डालते हैं तो यह बात स्पष्ट दिखायी देती है कि प्रत्येक प्राणीकी प्रवृत्ति इष्ट-प्राप्ति और अनिष्टनिवृत्तिकी ओर ही है। सबकी यही चेष्टा रहती है कि हमें सब प्रकारके अभीष्ट सुख प्राप्त होते रहें और अवाञ्छनीय दुःख हमारे पास न फटकने पायें। परन्तु यह इष्टप्राप्ति और अनिष्टनिवृत्ति केवल मनोरथमात्रसे सिद्ध नहीं हो सकती, इसके लिये विशेष उद्योगकी आवश्यकता है—

'उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।'

अतः जो इन्हें पानेके लिये उत्सुक हैं, उन्हें इनके अनुरूप उद्योग करना होगा।

किसी भी अर्थकी सिद्धिके लिये शास्त्रोंने दो प्रकारके उपाय बताये हैं—दृष्ट और अदृष्ट। पहले प्राणी दृष्ट उपायका आश्रय लेता है; जब उसे उससे सफलता नहीं मिलती तो वह अदृष्ट उपायके द्वारा अपना मनोरथ सिद्ध करनेकी चेष्टा करता है। लोकमें यह बात स्पष्ट देखी जाती है कि जब कोई व्यक्ति बीमार पड़ता है तो उसके इष्ट-मित्र पहले उसकी विभिन्न वैद्य-डाक्टरोंसे चिकित्सा कराते हैं अथवा जल-वायुके परिवर्तनके द्वारा उसके स्वास्थ्यलाभके लिये प्रयत्न करते हैं। ये सब रोगनिवृत्तिके दृष्ट उपाय हैं। जब इनसे सफलता नहीं मिलती तो शतरुद्र, त्वरितरुद्र, मृत्युञ्जय, शतचण्डी, नृसिंह, सुदर्शन एवं हयग्रीव आदि मन्त्रोंके जप अथवा दुर्गासप्तशती, रामायण एवं भागवत आदि ग्रन्थोंके पारायण और दान-पुण्यादिके द्वारा उसकी व्याधिनिवृत्तिकी चेष्टा करते हैं। ये सब अदृष्ट उपाय हैं।

संसारमें दुःख इतने अधिक हैं कि उनकी ठीक-ठीक संख्या करना प्रायः असम्भव है। उन सबको हमारे पूज्य महर्षियोंने आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—तीन विभागोंमें विभक्त कर दिया है। इन तीन वर्गोंमें ही संसारके सारे दुःख आ जाते हैं। इसीसे ईश्वर कृष्णने सांख्यकारिकाके आरम्भमें 'दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ' कहकर त्रिविध दुःखोंकी निवृत्तिके साधनकी जिज्ञासामें ही सर्वदुःखनिवृत्तिकी जिज्ञासाका समावेश कर दिया है। ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट ही है कि दृष्ट साधनकी अपेक्षा अदृष्ट साधन विशेष बलवान् हैं। उन अदृष्ट साधनोंमें भी किसी-न-किसी देवताके मन्त्र या स्तोत्रके जप या पाठका ही प्राधान्य रहता है। शास्त्रोंमें दुःखोंके त्रिराशीकरणकी भाँति सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे देवताओंका भी त्रिराशीकरण किया गया है। इसीसे विभिन्न अधिकारी अपनी-अपनी प्रवृत्तिके अनुसार भिन्न-भिन्न देवताओंका अर्चन-पूजन करते हैं। गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान् भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥
(१७। ४)

इस श्लोकमें यह बताया गया है कि सात्त्विक प्रकृतिके पुरुष देवताओंका, राजस प्रकृतिके पुरुष यक्ष-राक्षसोंका और तामसी लोग प्रेत एवं भूतगणका पूजन करते हैं। किन्तु देवता भी सात्त्विकादि भेदसे कई प्रकारके होते हैं, जिनका साधक लोग अपनी लौकिक या अलौकिक कामनाओंकी पूर्ति और अनेकों क्षुद्र दुःखोंकी निवृत्तिके लिये पूजन करते हैं। किन्तु सर्वदुःखनिवृत्तिपूर्वक परमानन्ददायिनी मुक्तिकी प्राप्ति तो विशुद्धसत्त्वमय श्रीमन्नारायणकी उपासनासे ही प्राप्त होती है—'हरिस्मृतिः सर्वविपद्विमोक्षणम्।' इस विषयमें श्रुति, स्मृति, पुराण, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थोंसे अनेकों प्रमाण उद्धृत किये जा सकते हैं। अतः—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥

'निष्काम हो, सकाम हो अथवा मोक्षकी कामनावाला हो, उदारबुद्धि साधकको तीव्रतर भक्तियोगके द्वारा परमपुरुष श्रीनारायणकी ही उपासना करनी चाहिये।' उनकी कृपा होनेपर भक्तको भोग-मोक्ष कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता।

यद्यपि भगवान् श्रीनारायणके अनेकों नाम और मन्त्र हैं तथा वे सभी भक्तकी समस्त कामनाओंको पूर्ण करनेवाले हैं, तथापि उनके अष्टाक्षर मन्त्रका शास्त्रोंमें बड़ा महत्त्व है। इसीसे कहा है—'न वेदाच्च परं शास्त्रं न मन्त्रोऽष्टाक्षरात्परः'—

वेदसे बढ़कर कोई शास्त्र नहीं है और अष्टाक्षर-मन्त्रसे बढ़कर कोई मन्त्र नहीं है। श्रुति कहती है—'ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रोपासको वैकुण्ठं भुवनं गमिष्यति—'ॐ नमो नारायणाय' इस मन्त्रकी उपासना करनेवाला वैकुण्ठलोकको जायगा।' अनुस्मृतिमें कहा है—

किं तस्य बहुभिर्मन्त्रैः किं तस्य बहुभिर्जपैः।
नमो नारायणायेति मन्त्रः सर्वार्थसाधकः॥

'भक्तको अनेकों मन्त्र और अनेकों जपोंसे क्या प्रयोजन है? 'ॐ नमो नारायणाय' यह मन्त्र ही सम्पूर्ण अर्थोंकी सिद्धि करनेवाला है।' इस मन्त्रको चतुर्वेदसार भी कहते हैं—

चतुर्णां वेदानां हृदयमिदमाकृष्य विधिना
चतुर्भिर्यद्वर्णैः समघटि तु नारायण इति।
तदेतद्गायन्तो वयमनिशमात्मानमधुना
पुनीमो जानीमो न हरिपरितोषाय किमपि॥

अर्थात् विधाताने चारों वेदोंके हृदय (सार) को निकालकर चार वर्णोंसे 'नारायण' इस मन्त्रको रचा है। अतः हम अहर्निश इसका कीर्तन करते हुए अपनेको पवित्र करते हैं, इसके सिवा श्रीहरिको प्रसन्न करनेका कोई और साधन नहीं जानते। यह मन्त्र साधकको क्या-क्या दे सकता है, इस विषयमें एक जगह कहा है—

ऐहलौकिकमैश्वर्यं स्वर्गार्थं पारलौकिकम्।
कैवल्यं भगवन्तं च मन्त्रोऽयं साधयिष्यति॥

'यह मन्त्र ऐहिक ऐश्वर्य, स्वर्गलोक, वैकुण्ठलोक, कैवल्य और स्वयं श्रीभगवान्‌की भी प्राप्ति करा देता है।'

इस प्रकार यद्यपि यह मन्त्र सब प्रकार कल्याणकारी और अत्यन्त महिमान्वित है तथापि विधिविशेषसे अनुष्ठान करनेपर ही इसका यथावत् फल मिल सकता है। यह ठीक है कि किसी भी प्रकार भोजन करनेसे भूख मिट सकती है, किन्तु यदि उसके साथ स्थान, काल और वातावरणकी अनुकूलता भी हो तो उसका एक विशेष लाभ होता है। इसी प्रकार मन्त्रजपके लिये भी अधिकारी और विधिविशेषकी बड़ी आवश्यकता है। नहीं तो कभी-कभी उसका विपरीत फल भी हो सकता है।

मन्त्रानुष्ठानमें सबसे पहले गुरुके उपदेशकी आवश्यकता होती है। सद्गुरुका उपदेश मिले बिना कोई भी विद्या सफल नहीं होती—'न प्रसीदति वै विद्या बिना सदुपदेशतः।' श्रुतिने भी 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' ऐसा कहकर विद्याग्रहणके लिये पहले श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरणमें जानेका ही विधान किया है। किन्तु गुरु कैसा होना चाहिये? इस विषयमें आजकल बहुत अज्ञान है। शास्त्रोंमें गुरुके जो लक्षण बताये हैं, उनका इस श्लोकमें संग्रह किया गया है—

सिद्धं सत्सम्प्रदाये स्थिरधियमनघं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं
सत्त्वस्थं सत्यवाचं समयनियतया साधुवृत्त्या समेतम्।
दम्भासूयादिमुक्तं जितविषयगणं दीर्घबन्धुं दयालुं
स्खालित्ये शासितारं समरहितपरं देशिकं भूष्युरीप्सेत्॥

अर्थात् कल्याणकामी पुरुषको ऐसे गुरुकी खोज करनी चाहिये जो सर्वसाधनोंमें पारङ्गत, सत्सम्प्रदायमें दीक्षित, स्थिरबुद्धि, निष्पाप, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, सत्त्वगुणमें स्थित, सत्यवक्ता, समयानुकूल साधुवृत्तिसे सम्पन्न, दम्भ और असूयादि दोषोंसे रहित, जितेन्द्रिय, परम सुहृद्, दयालु, शिष्यका पतन होनेपर उसका शासन करनेवाला और जीवोंके हितमें तत्पर रहनेवाला हो।

ऐसे सद्गुरुका सम्बन्ध होनेपर ही शिष्य साधन-मार्गमें अग्रसर हो सकता है। गुरुकृपाके बिना तो श्रीहरिका भी अनुग्रह नहीं होता, जैसे कि कमलको विकसित करनेवाला सूर्य ही जलसे अलग होनेपर उसे सुखा डालता है—

नारायणोऽपि विकृतिं याति गुरोः प्रच्युतस्य दुर्बुद्धेः।
कमलं जलादपेतं शोषयति रविर्न पोषयति॥

अतः जो उपर्युक्त लक्षणोंसे सम्पन्न और सम्प्रदाय-परम्परागत नारायण-मन्त्रके उपासक हों, उन सद्गुरुसे दीक्षा लेकर इस मन्त्रका अनुष्ठान करना चाहिये। मन्त्रसिद्धिके लिये पुरश्चरणकर्ताको मन्त्रके पटल, पद्धति, पीठ-पूजा, कवच और सहस्रनाम—ये पाँच अङ्ग भी अवश्य जानने चाहिये। ये पाँच अङ्ग सभी देव-देवियोंके मन्त्रोंमें होते हैं। इनके सिवा मन्त्रके ऋषि, देवता, छन्द, योग और दस प्रकारके न्यासोंका ज्ञान भी होना बहुत आवश्यक है। अपने गुरुदेवसे इन सब मन्त्रोपचारोंका उपदेश ले मार्गशीर्ष शुक्ला द्वादशीको नियमपूर्वक इस मन्त्रका जप आरम्भ करे। प्रत्येक दिन बीस सहस्र मन्त्र जप करना चाहिये। इस प्रकार चालीस दिनमें आठ लाख जप करके फिर शुद्धतापूर्वक प्रसन्न मनसे दशांश हवन करे तथा उसके दशांशसे तर्पण, तर्पणके दशांशसे मार्जन करे और उसका दशांश ब्राह्मणभोजन करावे।

इस प्रकार जब साधक पञ्चाङ्गादि प्रथम साधन और हवनादि उत्तर साधनोंके सहित विधिवत् पुरश्चरण कर ले तो फिर उसे यह देखना चाहिये कि मन्त्र सिद्ध हुआ या नहीं। इस मन्त्रकी सिद्धि होनेपर साधकको ये चिह्न दिखायी देते हैं—स्वप्नमें श्रीवासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध, इनमेंसे किन्हीं एकके अथवा सबके दर्शन होना। किसी भगवदवतार या देवविशेषके दर्शन होना। वेदोच्चारण करते हुए विद्वान् ब्राह्मण या सिद्ध पुरुषोंके दर्शन होना अथवा उनका आशीर्वाद मिलना। पुष्प-फलान्वित वृक्षोंपर चढ़ना, हरे-भरे बाग और खेतोंको देखना। छत्र, चामर और वाहनादिका दर्शन या प्राप्त होना। राजा, राजपत्नी, राजपुरोहित, राजमन्त्री, मेघाच्छन्न गगनमण्डल अथवा वृष्टि होती देखना। जाग्रदवस्थामें मनमें अपूर्व प्रसन्नता, शान्ति, सन्तोष और उत्साह होना तथा सांसारिक प्रलोभनोंसे अकस्मात् वैराग्य हो जाना—इत्यादि। इन लक्षणोंको देखकर जब निश्चय हो जाय कि हमारा इष्ट-मन्त्र सिद्ध हो गया तो साधक इसका किसी भी लौकिक या पारलौकिक कामनाकी सिद्धिके लिये प्रयोग कर सकता है, अथवा इसीके द्वारा क्रमशः अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष सभी पुरुषार्थोंकी साधना कर सकता है। इस मन्त्रके द्वारा यदि शान्ति-कार्य सम्पादन करना हो तो स्वस्तिक मण्डलमें, पौष्टिक कार्य करना हो तो भद्रक मण्डलमें तथा अन्य अभीष्ट कार्योंकी सिद्धिके लिये चक्राब्ज मण्डलमें मन्त्रदेवकी आराधना करे।

इस प्रकार इस मन्त्रसे ऐहिक और आमुष्मिक सभी प्रकारकी कामनाएँ सिद्ध हो सकती हैं। यद्यपि लौकिक कामनाओंकी पूर्ति तो अन्यान्य मन्त्रोंसे भी हो जाती है, परन्तु निःश्रेयसरूप मोक्षदानमें तो जैसी शक्ति इस मन्त्रमें है वैसी बहुत ही थोड़े मन्त्रोंमें है। इसकी अपूर्व शक्तियोंके विषयमें अनेकों प्रमाण दिये जा सकते हैं। मन्त्रके द्वारा सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं, यह बात योगाचार्य महर्षि पतञ्जलिने भी स्वीकार की है। 'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः' (यो० सू० ४। १) इस सूत्रमें जन्म, ओषधि, तप और समाधिके समान मन्त्रको भी सिद्धियोंकी प्राप्तिका एक साधन बताया है। अतः इसका चिरकालतक नियमानुसार अनुष्ठान किया जाय तो इससे अणिमादि सिद्धियोंकी प्राप्ति भी कठिन नहीं है। इसके द्वारा रोगादिकी निवृत्तिमें तो स्वयं हमारा ही पर्याप्त अनुभव है। हमें पूर्ण विश्वास है कि इसके द्वारा कठिन-से-कठिन रोग भी बहुत शीघ्र शान्त हो सकता है।

अच्युतानन्तगोविन्दनामस्मरणभेषजात्।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥

एक जिज्ञासुके प्रश्नोत्तर

(लेखक—रायसाहेब श्रीकृष्णलालजी बाफणा)

प्रश्न—हमें क्या करना चाहिये? कोई कहते हैं कि तुम प्राणायाम करो; कोई बतलाते हैं कि सब कुछ ईश्वरपर छोड़ दो; कोई उपदेश देते हैं कि इस जगत्का प्रपञ्च दुःखमय और स्वप्नवत् है, इससे उपराम हो जाओ। कोई कहते हैं कि भगवान्की जो आज्ञा हो उसे किये जाओ; कोई बतलाते हैं कि धर्मशास्त्रोंके बताये मार्गपर चलो, नहीं तो पाप-पङ्कमें फँस जाओगे। कोई सुझाते हैं कि यह जगत ईश्वरका विकासस्वरूप है, इसकी सेवा करो। कोई समझाते हैं कि भगवान्का भजन-पूजन और स्मरण करना ही एकमात्र कर्तव्य है, इसमें लगे रहो। कोई यह चेत दिलाते हैं कि एक आत्मा ही सर्वत्र व्याप्त है, तुम आत्मा ही हो, अतएव अपने आत्मस्वरूपका अनुसन्धान करते रहो; और कोई यह आदेश देते हैं कि किस पचड़ेमें पड़े हो, निर्विकल्प हो जाओ।

इस प्रकार हमें भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाये जाते हैं, इनमेंसे हम कौन मार्ग ग्रहण करें? स्त्री-पुत्रादिकोंका मोह छोड़ा नहीं जाता। यदि हम संसारसे उन्मुख होना भी चाहें तो मनको समाधान नहीं होता; वह कहता है कि संसारकी सत्ता भी तो भगवान्की ही सत्ता है, कुटुम्बीजन भी तो भगवान्के ही अंश हैं। फिर उनको हम क्योंकर छोड़ दें? क्या उनके प्रति हमारा कोई उत्तरदायित्व नहीं है? जब सब कुछ भगवान् ही करते हैं तो वे जो चाहेंगे करायेंगे। उनके सामने हमारी स्वतन्त्रता ही क्या है? और जब हम स्वतन्त्र नहीं हैं, तब हमसे यह कहना कि तुम अपने आपको भगवान्के चरणोंमें समर्पित कर दो कहाँतक ठीक है? भगवान्की प्रेरणा और आज्ञा भी कैसे समझमें आवे? तात्पर्य यह है कि इन सब बातोंका ऊहापोह हमें जंजालमें फँसा देता है और चित्तमें विभ्रम उत्पन्न हो जाता है। फलतः हमें क्या करना चाहिये, यह बात समझमें नहीं आती।

एक रोगकी अनेक ओषधियाँ तो होती हैं; परन्तु किस रोगी-को कौन-सी ओषधि अनुकूल पड़ेगी, यह भी तो बताना चाहिये। इसलिये आप हमें बताइये कि हम क्या करें ?

उत्तर—प्रश्न ठीक है। उपदेश और साधन साधकोंके स्वभाव, गुण और कर्मोंके अनुसार अलग-अलग हुआ करते हैं; अतएव सब अपने-अपने स्थानपर ही उपयुक्त हैं। मनुष्यके सहज सुन्दर जीवनकी कुंजी तो यही है—

आपकी सुधि होय, सहजमें जो बनि आवै।
दुर्जन हँसै न कोय, चित्तमें खेद न पावै॥

अर्थात् जिस कार्यमें लोकापवाद न हो, जिससे अपनेको भय और लज्जाका शिकार न होना पड़े, वही काम करना और भगवान्‌के किसी एक नामपर पूर्ण विश्वास रख-कर उसे जपते रहना चाहिये। बस, एकमात्र यही मार्ग श्रेयस्कर और सुलभ है। बाकी सब जंजाल है। अपने कुल, धर्म और मर्यादाके अनुसार आचरण करते हुए श्रद्धा-विश्वास एवं प्रेमपूर्वक हरिनाम लेते रहना ही सब साधनोंका सार है।

प्रश्न—नाम-जपमें—हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

यह मन्त्र महामन्त्र क्यों माना जाता है ? इसमें तो न प्रणव (ॐ) है, न शक्ति-बीज है और न नमस्कार ही है ?

उत्तर—इस मन्त्रके 'हरे' शब्दमें ह्रीं बीज निहित है, 'राम'में ॐकार है और 'कृष्ण' नाममें 'क्लीं' बीज है। सारा मन्त्र ही बीजोंद्वारा शक्तिसे ओतप्रोत है। फिर 'हरे' शब्दमें 'हरि' (विष्णु) और 'हर' (महादेव) दोनोंके ही दर्शन होनेके कारण धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारोंके अधिपति देवोंका स्मरण हो जाता है। धर्म, आचरण और मर्यादाके पुरुषोत्तम श्रीराम हैं; अर्थके अधीश्वर लक्ष्मीपति श्रीविष्णु हैं; कामस्वरूप श्रीकृष्ण हैं और मोक्षके प्रदाता श्रीहर—महादेव हैं। इसीलिये यह मन्त्र महामन्त्र कहलाता है। 'हरे' शब्द सम्बोधनात्मक है, इसलिये इस मन्त्रमें नमस्कार और प्रार्थनाका भी समावेश है। इसलिये यह मन्त्र महामन्त्र ही है। विचार करनेपर इस महामन्त्रकी महिमा, सुन्दरता और गम्भीरता और भी अधिकाधिक प्रस्फुटित होती रहती है।

प्रश्न—जैन-सम्प्रदायके लोग चैत्र शुक्ला १३ को और हिंदू लोग चैत्र शुक्ला १५ को अलग-अलग महावीर-जयन्ती मनाते हैं, इसका क्या रहस्य है ? दो महावीर कैसे हुए ? यह भेद केवल साम्प्रदायिक है अथवा सैद्धान्तिक ? इसका स्पष्टीकरण हो जानेसे बहुतोंकी शङ्काका समाधान हो जायगा।

उत्तर—चैत्र शुक्ला १३को जैनियोंके तीर्थङ्कर श्रीवर्धमान भगवान्‌की जयन्ती है और चैत्र शुक्ला १५को श्रीहनुमान्‌जीकी। ये दोनों सिद्धान्ततः 'महावीर' कहलाते हैं। पहले 'वीर' शब्द-की व्याख्या करके फिर 'महावीर' की व्याख्या की जायगी, और तदनन्तर यह विवेचन किया जायगा कि किस सिद्धान्त-के अनुसार उपर्युक्त दोनों महापुरुष 'महावीर' कहलाये। इन्हीं दोनोंको 'महावीर' की उपाधि क्यों मिली ? अन्य तीर्थङ्कर अथवा देवताओंको 'महावीर' क्यों नहीं कहा गया ?

'वीर' शब्दकी अनेकों व्याख्याएँ हैं, परन्तु वे पूरी नहीं उतरतीं। जैसे यह कहा जाय कि अतुलित और असाधारण बलवालेको 'वीर' कहते हैं तो यहाँ यह प्रश्न उठता है कि बलका अभिप्राय किस बलसे है—मनोबलसे, बुद्धिबलसे, तपोबलसे, शारीरिक बलसे अथवा धनबलसे ? फिर यह शङ्का होगी कि उस बलका प्रदर्शन उचित होता है या अनुचित, नैतिक होता है या अनैतिक ? एक लुटेरा साधारण जनताके मुकाबलेमें अधिक बल दिखाता है, परन्तु वह वीरोंकी गिनतीमें नहीं आ सकता। ऐसे ही यदि 'वीर' का तात्पर्य मनोबलयुक्त पुरुषसे समझा जाय, अर्थात् यह कहा जाय कि मन और इन्द्रियोंको वशमें करनेवालेको 'वीर' कहते हैं, तो भी शङ्काओंका अन्त नहीं होता। क्योंकि हम कइयोंको देखते हैं कि वे भय, लोभ, हठ और अज्ञानसे भी मन और इन्द्रियोंको रोकते हैं। लोहेकी कीलोंपर सोने-वाले, किसी वृक्षकी डालमें हाथ-पैर बाँधकर लटकनेवाले ऐसे ही तो हैं। कहीं-कहीं अशक्त व्यक्तियोंको भी अपना मन रोकना पड़ता है। अतएव यह व्याख्या भी उपयुक्त नहीं हुई। कई लोग विरोधको जीतनेवालोंको 'वीर' कहते हैं, परन्तु यह भी ठीक नहीं जँचता। चोर यदि मालके मालिकको हरा दे तो वह 'वीर' नहीं कहला सकता। फिर विरोधकी भी कोई सीमा नहीं है, अच्छे कामोंका भी विरोध होता है और बुरे कामोंका भी। इसी प्रकार यदि हम कर्मक्षय करनेवालेको 'वीर' कहें तब भी सन्तोष नहीं होता। कर्मोंका क्षय उदासीनता और अकर्मण्यतासे भी हो सकता है। परन्तु प्रमादी और आलसी व्यक्तिको कभी 'वीर' नहीं माना जा सकता।

अस्तु, तब 'वीर' किसको माना जाय ? 'वीर' की सुन्दर व्याख्या यह है कि जो नैतिकतासे और अपने शक्तिभर पुरुषार्थसे धर्मके लिये विरोधका सामना करता है, वह 'वीर' है। एक मनुष्य शरीरसे निर्बल है, परन्तु यदि वह निःस्वार्थ-भावसे धर्मपर मर मिटता है तो वह निस्सन्देह 'वीर' है। अतः यदि यह व्याख्या मान्य हो तो अब 'महावीर' की व्याख्या शेष रही। 'महावीर' वही होगा, जो धर्मस्थापनके लिये समय-समयपर अवतरित हो। यह स्वयं भगवान् अथवा भगवत्स्वरूप महापुरुषोंसे ही हो सकता है। इसीलिये गीतामें भगवान्‌ने यह कहा है—'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।' ईश्वरपदमें वीरताकी सीमा समाप्त हो जाती है; वही नैतिकता, पुरुषार्थ और धर्मकी चरम सीमा है। श्रीवर्धमान भगवान् और श्रीरुद्रावतार हनुमान् ईश्वरपदके अधिकारी हैं, इसलिये वे 'महावीर' हो सकते हैं।

संसारमें दो प्रकारकी शक्तियोंके दर्शन होते हैं—एक स्फुरण और विकास, दूसरी संकुचन और विराम; एक स्पन्दन, दूसरा स्तम्भन; एक प्रवृत्ति, दूसरी निवृत्ति; एक पॉज़ीटिव, दूसरी नेगेटिव। इन दोनोंके दो सिरे अर्थात् आदर्श भी होने अनिवार्य हैं। प्रवृत्तिका आदर्श सेवाभावमें हो सकता है, वहाँ जगत्‌के सारे प्रपञ्चोंको झेलती हुई दृढ़ निःस्वार्थताका दिग्दर्शन होता है। इसी प्रकार निवृत्तिका उच्चतम लक्ष्य शान्ति है, वहाँ त्याग-वैराग्यके द्वारा ध्येय शान्त पद पाना है। संसारके पूर्ण विकासके समय इन दोनों आदर्शोंको धारण करनेवाले भगवान् श्रीहनूमान् तथा तीर्थङ्कर श्रीवर्धमान हैं, अतएव वे ही पूर्ण ऐश्वर्यवान् हैं। सेवाभावके आदर्श श्रीहनूमान्‌जी तथा शान्त पदके आदर्श श्रीवर्धमान भगवान् हैं। इसीसे वे महावीर हैं।

षट्कर्म

(लेखक—श्रीकमलाप्रसादसिंहजी)

'हठयोगप्रदीपिका' ग्रन्थके कर्ता स्वात्माराम योगीने १ धौति, २ वस्ति, ३ नेति, ४ नौलि, ५ कपालभाति और ६ त्राटकको षट्कर्म कहा है। आगे चलकर उन्होंने गजकरणीका भी वर्णन किया है। परन्तु 'भक्तिसागर' ग्रन्थके रचयिता चरणदासजीने १ नेति, २ धौति, ३ वस्ति, ४ गजकर्म, ५ न्योली और ६ त्राटकको षट्कर्म कहा है तथा १ कपालभाति, २ धौंकनी, ३ बाघी और ४ शङ्खप्रक्षाल—इन चार कर्मोंका नाम लेकर उन्हें षट्कर्मोंके अन्तर्गत कर दिया है। दोनोंमें यही अन्तर है कि एकने गजकर्मको और दूसरेने कपालभातिको षट्कर्मके अन्तर्गत माना है। चूँकि ये षट्कर्मकी शाखामात्र हैं, अतएव इस विभेदका कोई वास्तविक अर्थ नहीं होता।

नियम

षट्कर्मके साधकके लिये हठयोगमें दिखलाये हुए स्थान, भोजन, आचार-विचार आदिके नियमोंको मानना परमावश्यक है। यहाँ यही कहा जा सकता है कि स्थान रमणीक और निरापद, भोजन सात्त्विक—जैसे दूध, घी, घोटा हुआ बादाम और मिश्री आदि पुष्ट और लघु पदार्थ, तथा परिमित होना चाहिये। आचार-विचारमें एकान्त-सेवन, कम बोलना, वैराग्य, साहस इत्यादि समझना चाहिये।

नौलि, नौलिक, नलक्रिया या न्योली

अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् कंधोंको नवाये हुए अत्यन्त वेगके साथ, जलकी भँवरके समान अपनी तुन्दको दक्षिण-वाम भागोंसे घुमानेको सिद्धोंने नौलि-कर्म कहा है।

न्योली पद्मासन सों करै। दोनों पग जुतनी पर धरै॥
पेट रु पीठ बराबर होय। दहने बायें नवै त्रिलोय॥
जो गुरु करके तालि दिखावै। न्योली कर्म सुगम करि पावै॥

(भक्तिसागर)

वास्तवमें तुन्दको दायें-बायें घुमानेका रहस्य किताबोंसे पढ़कर मालूम करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसका हमने कुछ अनुभव किया है, अतः इसका स्वरूप कुछ यों समझना चाहिये। जब शौच-स्नान, प्रातःसन्ध्या आदिसे निवृत्त हो लिये हों और पेट साफ तथा हलका हो गया हो, तब पद्मासन (सिद्धासन या उत्कटासन) लगाकर, रेचक कर, वायुको बाहर रोक, बिना देह हिलाये, केवल मनोबलसे पेटको दायेंसे बायें और बायेंसे दायें

चलानेकी भावना करे और तदनुकूल प्रयास करे। इसी प्रकार सायं-प्रातः स्वेद आनेतक प्रतिदिन अभ्यास करते-करते पेटकी स्थूलता जाती रहती है। तदनन्तर यह सोचना चाहिये कि दोनों कुक्षियाँ दब गयीं और बीचमें दोनों ओरसे दो नल जुटकर मूलाधारसे हृदयतक एक गोलाकार खंभ खड़ा हो गया। यही खंभा जब बँध जाय, तब नौलि सुगम हो जाती है। मनोबल और प्रयासपूर्वक अभ्यास बढ़ानेसे यह खंभा दायें-बायें घूमने लगता है। इसे चलानेमें छातीके समीप, कण्ठपर और ललाटपर भी नाड़ियोंका द्वन्द्व मालूम पड़ता है। एक बार न्योली चल जानेपर चलती रहती है। पहले-पहल चलनेके समय दस्त ढीला होता है। जिसका पेट हलका है तथा जो प्रयासपूर्वक अभ्यास करता है, उसको एक महीनेके भीतर ही न्योली सिद्ध हो जायगी।

इस क्रियाका आरम्भ करनेसे पहले पश्चिमतानासन और मयूरासनका थोड़ा अभ्यास कर लिया हो तो यह क्रिया शीघ्र सिद्ध हो जाती है। जबतक आँत पेटके अवयवोंसे भलीभाँति पृथक् न हो तबतक आँत उठानेकी क्रिया सावधानीके साथ करे, अन्यथा आँतें निर्बल हो जायँगी। किसी-किसी समय आधान पहुँचकर उदररोग, शोथ, आमवात, कटिवात, गृध्रसी, कुब्जवात, शुक्रदोष या अन्य कोई रोग हो जाता है। अतः इस क्रियाको शान्तिपूर्वक करना चाहिये। अँतड़ीमें शोथ, क्षतादिदोष या पित्तप्रकोपजनित अतिसारप्रवाहिका (पेचिश), संग्रहणी आदि रोगोंमें नौलिक्रिया हानिकारक है।

मैल पेटमें रहन न पावै। अपान वायु तासों वश आवै॥
तापतिरी अरु गोला शूल। रहन न पावैं नेक न मूल॥
ओम उदरके रोग कहावैं। सो भी दे रहने नहिं पावै॥
(भक्तिसागर)

मन्दाग्निसन्दीपनपाचनादि-
सन्धायिकाऽऽनन्दकरी सदैव।
अशेषदोषामयशोषणी च
हठक्रियामौलिरियं च नौलिः॥
(हठयोगप्रदीपिका)

'यह नौलि मन्दाग्निका भली प्रकार दीपन और अन्नादिका पाचन और सर्वदा आनन्द करती है और समस्त वात आदि दोष और रोगका शोषण करती है। यह नौलि हठयोगकी सारी क्रियाओंमें उत्तम है।'

अँतड़ियोंके नौलिके वश होनेसे पाचन और मलका बाहर होना स्वाभाविक है। नौलि करते समय साँसकी क्रिया तो रुक ही जाती है। नौलि कर चुकनेपर कण्ठके समीप एक सुन्दर अकथनीय स्वाद मिलता है। यह हठयोगकी सारी क्रियाओंसे श्रेष्ठ इसलिये है कि नौलि जान लेनेपर तीनों बन्ध सुगम हो जाते हैं। अतएव यह प्राणायामकी सीढ़ी है। धौति, वस्तिमें भी नौलिकी आवश्यकता होती है। शङ्खप्रक्षालन क्रियामें भी, जिसमें मुखसे जल ले अँतड़ियोंमें घुमाते हुए गुदाद्वारा ठीक उसी प्रकार निकाल दिया जाता है जैसे शङ्खमें एक ओरसे जल देनेपर घूमकर जल दूसरी राहसे निकल जाता है, नौलि सहायक है। नौलिक्रियाकी नकल यन्त्रों-द्वारा पाश्चात्योंसे अभीतक न बन पड़ी है।

वस्तिकर्म

वस्ति मूलाधारके समीप है। रंग लाल है और इसके देवता गणेश हैं। वस्तिको साफ करनेवाले कर्मको 'वस्तिकर्म' कहते हैं। 'योगसार' पुस्तकमें पुराने गुड़, त्रिफला और चीतेकी छालके रससे बनी गोली देकर अपानवायुको वश करनेको कहा है। फिर वस्तिकर्मका अभ्यास करना कहा है।

वस्तिकर्म दो प्रकारका है—१. पवनवस्ति २. जलवस्ति। नौलिकर्मद्वारा अपानवायुको ऊपर खींच पुनः मयूरासनसे त्यागनेको 'वस्तिकर्म' कहते हैं। पवनवस्ति पूरी सध जानेपर जलवस्ति सुगम हो जाती है, क्योंकि जलको खींचनेका कारण पवन ही होता है। जब जलमें डूबे हुए पेटसे न्योली हो जाय, तब नौलिसे जल ऊपर खिंच जायगा।

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात् क्षालनं वस्तिकर्म तत्॥
(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् गुदाके मध्यमें छः अङ्गुल लम्बी बाँसकी नलीको रक्खे जिसका छिद्र कनिष्ठिका अँगुलीके प्रवेशयोग्य हो; उसे घी अथवा तेल लगाकर सावधानीके साथ चार अङ्गुल गुदामें प्रवेश करे और दो अङ्गुल बाहर रक्खे। पश्चात् बैठनेपर नाभितक जल आ जाय इतने जलसे भरे हुए टबमें उत्कटासनसे बैठे अर्थात् दोनों पार्ष्णियों—पैरकी एड़ियोंको मिलाकर खड़ी रखकर उनपर अपने सिचं (चूतड़) को रक्खे और पैरोंके अग्रभागपर बैठे और उक्त आसनसे बैठकर आधाराकुञ्चन करे, जिससे बृहद् अन्त्रमें अपने-आप जल चढ़ने लगेगा। बादमें भीतर प्रविष्ट हुए जलको नौलिक्रमसे चलाकर त्याग दे। इस जलके साथ अन्त्रस्थित मल, आँव,

कृमि, अन्त्रोत्पन्न सेन्द्रिय विष आदि बाहर निकल आते हैं। इस उदरके क्षालन (धोने) को वस्तिकर्म कहते हैं। धौति, वस्ति दोनों कर्म भोजनसे पूर्व ही करने चाहिये और इनके करनेके अनन्तर खिचड़ी आदि हल्का भोजन शीघ्र कर लेना चाहिये, उसमें विलम्ब नहीं करना चाहिये। वस्तिक्रिया करनेसे जलका कुछ अंश बृहद् अन्त्रमें शेष रह जाता है, वह धीरे-धीरे मूत्रद्वारा बाहर आवेगा। यदि भोजन नहीं किया जायगा तो वह दूषित जल अन्त्रोंसे सम्बद्ध सूक्ष्म नाडियोंद्वारा शोषित होकर रक्तमें मिल जायगा। कुछ लोग पहले मूलाधारसे प्राणवायुके आकर्षणका अभ्यास करके और जलमें स्थित होकर गुदामें नालप्रवेशके बिना ही वस्तिकर्मका अभ्यास करते हैं। उस प्रकार वस्तिकर्म करनेसे उदरमें प्रविष्ट हुआ सम्पूर्ण जल बाहर नहीं आ सकता और उसके न आनेसे धातुक्षय आदि नाना दोष होते हैं। इससे उस प्रकार वस्तिकर्म नहीं करना चाहिये। अन्यथा 'न्यस्तनालः' (अपनी गुदामें नाल रखकर) ऐसा पद स्वात्माराम क्यों देते? यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि छोटे-छोटे जलजन्तुओंका नलद्वारा पेटमें प्रविष्ट हो जानेका भय रहता है। अतएव नलके मुखपर महीन वस्त्र देकर आकुञ्चन करना चाहिये। और जलको बाहर निकालनेके लिये खड़ा पश्चिमतान आसन करना चाहिये।

कई साधक तालाब या नदीमेंसे जलका आकर्षण करते हैं, जिससे कभी-कभी जलके साथ सूक्ष्म जहरीले जन्तु आँतोंमें प्रवेशकर नाना प्रकारके रोग उत्पन्न कर देते हैं। किंतु गङ्गाजी और हिमालयसे निकलनेवाली अनेक बड़ी-बड़ी नदियोंका जल अधिक शीतल होनेके कारण न्यून शक्तिवालोंको इच्छित लाभके स्थानमें हानि पहुँचा देता है। जल अधिक शीतल होनेसे उसे शोषण करनेकी क्रिया सूक्ष्म नाडियोंद्वारा तुरंत चालू हो जाती है और शीतल जलसे ऑव या कफकी उत्पत्ति होती है। अतः दूध या अन्य किसी बड़े बरतनमें बैठकर गुद और सहन हो सके, ऐसे शीतल जलका आकर्षण करना विशेष हितकर है।

हठयोग, आयुर्वेद और पाश्चात्य ऐलोपैथिक आदि चिकित्साशास्त्रोंकी वस्तिक्रिया भिन्न-भिन्न प्रकारकी है। हठयोगमें आन्तरिक बलसे जल खींचा जाता है। आयुर्वेदमें रोगानुसार भिन्न-भिन्न औषधियोंके घृत-तैल-क्वाथादि चढ़ाये जाते हैं। पाश्चात्योंने इसी क्रियाके लिये एक यन्त्रका आविष्कार किया है, जिसे 'एनिमा' या 'डूश' कहते हैं। साबुन मिला हुआ गुनगुना जल, रेड़ीका तेल तथा गिलसरीन आदि मलशोधक औषधि यन्त्रद्वारा गुदाके मार्गसे आँतमें चढ़ाते हैं। पश्चिममें इसकी चाल इतनी बढ़ गयी है कि बहुत लोग तो सप्ताहमें एक बार एनिमा लगाना आवश्यक समझने लगे हैं। इस एनिमाद्वारा वस्तिकर्मके समान लाभ नहीं होता, क्योंकि चढ़ा हुआ सम्पूर्ण जल तो बाहर आ नहीं सकता। बल्कि कभी-कभी तो ऐसा भी देखा जाता है कि जलका अधिकांश भीतर रहकर भयङ्कर हानि कर देता है। और अपने उद्योग और परिश्रमद्वारा जो जल चढ़ाया जाता है, उसमें तथा जो जलयन्त्रद्वारा पेटमें चढ़ाया जाता है उसमें उतना ही अन्तर है जितना दस मील पैदल और मोटरपर टहलनेमें है। इसके अतिरिक्त गरम जल चढ़ानेके कारण वीर्यस्थान और मूत्रस्थानको उष्णता पहुँचती है, जिससे थोड़ी हानि तो बार-बार पहुँचती रहती है। यह दोष हठयोगकी वस्तिमें नहीं है।

यही तु बस्ती कर्म है, गुरु बिनु पावै नाहिं।
बिन-गुदाके रोग जा, समझे नहिं जाहिं॥
(भक्तिसागर)

वस्तिकर्ममें मूलाधारके पीड़ित और प्रक्षालित होनेसे लिङ्ग और गुदाके रोगोंका नाश होना स्वाभाविक है।

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः।
वस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयन्ते सकलामयाः॥
(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् वस्तिकर्मके प्रभावसे गुल्म, प्लीहा, उदर (जलोदर) और वात-पित्त-कफ इनके द्वन्द्व या एकसे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण रोग नष्ट होते हैं।

धातविन्द्रियान्तःकरणप्रसादं
दद्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम्।
अशेषदोषामयसंक्षयं निहन्या
दभ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म॥
(हठयोगप्रदीपिका)

'अभ्यास किया हुआ यह वस्तिकर्म साधकके सम धातुओं, दस इन्द्रियों और अन्तःकरणको प्रसन्न करता है। मुखपर सात्त्विक कान्ति छा जाती है। जठराग्नि उद्दीप्त होती है। वात-पित्त-कफ आदि दोषोंकी वृद्धि और न्यूनता दोनोंको नष्ट कर साम्यरूप आरोग्यको करता है।' हाँ, एक बात इस सम्बन्धमें अवश्य ध्यान देनेकी है कि वस्तिक्रिया

करनेवालोंको पहले नेति और धौतिक्रिया करनी ही चाहिये, जिनका वर्णन नीचे दिया जाता है। अन्य क्रियाओंके लिये ऐसा नियम नहीं है।

राजयक्ष्मा (क्षय), सङ्ग्रहणी, प्रवाहिका, अधोरक्त-पित्त, भगन्दर, मलाशय और गुदामें शोथ, सन्ततज्वर, आन्त्रसन्निपात (हल्का Typhoid), आन्त्रशोथ, आन्त्रव्रण, कफवृद्धिजनित तीक्ष्ण श्वासप्रकोप इत्यादि रोगोंमें वस्तिक्रिया नहीं करनी चाहिये।

यह वस्तिक्रिया भी प्राणायामका अभ्यास चारू होनेके बाद नित्य करनेकी नहीं है। नित्य करनेसे आन्त्रशक्ति परावलम्बिनी और निर्बल हो जायगी, जिससे बिना वस्ति-क्रियाके भविष्यमें मलशुद्धि नहीं होगी। जैसे तम्बाकू और चायके व्यसनीको तम्बाकू और चाय पिये बिना शौच नहीं होता, वैसे ही नित्य वस्तिकर्म अथवा षट्कर्म करनेवालोंकी स्वाभाविक आन्तरिक शक्तिके बलसे शरीर-शुद्धि नहीं होती।

धौतिकर्म

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम्।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत्॥
पुनः प्रत्याहरेच्चैनदुदितं धौतिकर्म तत्।
(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् चार अंगुल चौड़े और पंद्रह हाथ लम्बे महीन वस्त्रको गरम जलमें भिगोकर थोड़ा निचोड़ ले। फिर गुरूपदिष्ट मार्गसे धीरे-धीरे प्रतिदिन एक-एक हाथ उत्तरोत्तर निगलनेका अभ्यास बढ़ाता जाय। आठ-दस दिनमें पूरी धोती निगलनेका अभ्यास हो सकता है। करीब एक हाथ कपड़ा बाहर रहने दिया जाय। मुखमें जो प्रान्त रहे, उसे दाढ़ोंसे भली प्रकार दबा नौलिकर्म करे। फिर धीरे-धीरे वस्त्र निकाले। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि वस्त्र निगलने-के पहले पूरा जल पी लेना चाहिये। इससे कपड़ेके निगलनेमें सुभीता तथा कफ-पित्तका उसमें सटना आसान हो जाता है और कपड़ेको बाहर निकलनेमें भी सहायता मिलती है। धौतिको रोज साबुनसे धोकर स्वच्छ रखना चाहिये। अन्यथा धौतिमें लगे हुए दूषित कफरूप विजातीय द्रव्यके परमाणु पुनः दूसरे दिन भीतर जाकर हानि पहुँचावेंगे।

अनेक साधक बाँसकी नवीन करची (काईन, भोजपुरी भाषामें) या बटका बरोह सवा हाथका लेकर पहले जल पी, पीछे शनैः-शनैः निगलनेका अभ्यास करते हैं। सूतकी एक चढ़ाव-उतारवाली रस्सीसे भी धौति साधते हैं। जब-जब निगलते हैं, तब-तब जल बाहर निकलने लगता है और करची आदिको भीतर घुसनेमें भी सुभीता होता है।

धौतिकर्ममें कोई-कोई तो लाल वस्त्रका प्रयोग करते हैं और इस क्रियाको दूरसे देखनेवाले यह अफवाह उड़ा देते हैं कि उन्होंने अमुक महात्माको अपनी अँतड़ियाँ और कलेजा निकालकर धोते देखा था, अपनी आँखों देखा था। इससे यद्यपि योगियोंकी मान्यता बढ़ती है, तथापि झूठका प्रचार होता है।

कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः।
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयान्त्येव न संशयः॥
(हठयोगप्रदीपिका)

काया होवै शुद्ध ही, मटै पित्त कफ रोग।
शुकदेव कहैं धोती करम, सार्वे योगी लोग॥
(भक्तिसागर)

पाश्चात्योंने Stomach Tube (स्टॉमक ट्यूब) बनाया है। कोई एक सवा हाथकी रबरकी नली रहती है, जिसका एक मुख खुला रहता है और दूसरे सिरेसे कुछ ऊपर हटकर बगलमें एक छेद होता है। जल पीकर खुला सिरा ऊपर रखकर दूसरा सिरा निगला जाता है और जल रबरकी नलिकाद्वारा गिर जाता है।

चाहे किसी प्रकारकी धौति क्यों न हो, उससे कफ, पित्त और रंग-बिरंगे पदार्थ बाहर गिरते हैं। ऊपरकी नाड़ीमें रहा हुआ एकाध अन्नका दाना भी गिरता है। दाँत खट्टा-सा हो जाता है। परन्तु मन शान्त और प्रसन्न हो जाता है। वसन्त या ग्रीष्मकालमें इसका साधन अच्छा होता है।

घटिका, कण्ठनलिका या श्वासनलिकामें शोथ, शुष्क काश, हिक्का, वमन, आमाशयमें शोथ, ग्रहणी, तीक्ष्ण अतिसार, ऊर्ध्व रक्तपित्त (मुँहसे रक्त गिरना) इत्यादि कोई रोग हो, तब धौतिक्रिया लाभदायक नहीं होती। और आवश्यकता न रहनेपर इस क्रियाको प्रतिदिन करनेसे पाचनक्रियामें उपयोगी पित्त और कफ धौति निगलनेके कारण विकृत होकर बाहर निकलते रहेंगे, जिससे पाचनक्रिया मन्द होकर शरीरमें निर्बलता आ जायगी। पित्तप्रकोपसे ग्रहणीकला दूषित होनेपर धौतिक्रिया की जायगी तो किसी समय धौतिका भाग आमाशय और लघु अन्त्रके

सन्धिस्थानमें जाकर फँस जायगा। इसी प्रकार धौति फट जानेपर भी उसके फँस जानेका भय रहता है। यदि ऐसा हो जाय तो थोड़ा गरम जल पीकर ब्रह्मदातुन चलानेसे धौति निकलकर बाहर आ जायगी। इन कारणोंसे पित्तप्रकोपजन्य रोगोंमें धौतिका उपयोग करना अनुचित माना गया है।

नेतिकर्म

नेति दो प्रकारकी होती है—जलनेति और सूत्रनेति। पहले जलनेति करनी चाहिये। प्रातःकाल दन्तधावनके पश्चात् जो साँस चलती हो, उसीसे चुल्लूमें जल ले और दूसरी साँस बंदकर जल नाकद्वारा खींचे। जल मुखमें चला जायगा। सिरके पिछले सारे हिस्सेमें, जहाँ मस्तिष्कका स्थान है, उस कर्मके प्रभावसे गुदगुदाहट और सनसनाहट या गिनगिनाहट पैदा होगी। अभ्यास बढ़नेपर आगे ऐसा नहीं होगा। कुछ लोग नासिकाके एक छिद्रसे जल खींचकर दूसरे छिद्रसे निकालनेकी क्रियाको 'जलनेति' कहते हैं। एक समयमें आध सेरसे एक सेरतक जल एक नासापुटसे चढ़ाकर दूसरे नासापुटसे निकाला जा सकता है। एक समय एक तरफसे जल चढ़ाकर दूसरे समय दूसरी तरफसे चढ़ाना चाहिये। जलनेतिसे नेत्रज्योति बलवती होती है। यह स्कूल और कॉलिजके विद्यार्थियोंके लिये भी हितकर है। तीक्ष्ण नेत्ररोग, तीक्ष्ण अम्लपित्त और नये ज्वरमें जलनेति नहीं करनी चाहिये। अनेक मनुष्य रोज सुबह नासापुटसे जल पीते हैं। यह क्रिया हितकर नहीं है। कारण, जो दोष नासिकामें सञ्चित होंगे वे आमाशयमें चले जायँगे। अतः उपःपान तो मुँहसे ही करना चाहिये। जलनेतिके अनन्तर सूत्र लेना चाहिये। महीन सूतकी दस-पन्द्रह तारकी एक हाथ लम्बी बिना बटी डोरको, जिसका छः-सात इंच लम्बा एक प्रान्त बटकर क्रमशः पतला बना दिया गया हो, पिघले हुए मोमसे चिकना बनाकर जलमें भिगो लेना उचित है। फिर इस स्निग्ध भागको भी थोड़ा मोड़कर जिस छिद्रसे वायु चलती हो उस छिद्रमें लगाकर और नाकका दूसरा छेद अँगुलीसे बन्दकर, खूब जोरसे बारम्बार पूरक करनेसे सूतका भाग मुखमें आ जाता है। तब उसे तर्जनी और अङ्गुष्ठसे पकड़कर बाहर निकाल ले। पुनः नेतिको धोकर दूसरे छिद्रमें डालकर मुँहमेंसे निकाल ले। कुछ दिनके अभ्यासके बाद एक हाथसे सूतको मुँहसे खींचकर और दूसरेसे नाकवाला प्रान्त पकड़कर धीरे-धीरे चालन करे। इस क्रियाको 'घर्षणनेति' कहते हैं। इसी प्रकार नाकके दूसरे रन्ध्रसे भी, जब वायु उस रन्ध्रसे चल रहा हो, अभ्यास करे। इससे भीतर लगा हुआ कफ पृथक् होकर नेतिके साथ बाहर आ जाता है। नाकके एक छिद्रसे दूसरे छिद्रमें भी सूत चलाया जाता है, यद्यपि कुछ लोग इसे दोषयुक्त मानकर इसकी उपेक्षा करते हैं। उसका क्रम यह है कि सूत नाकके एक छिद्रसे पूरकद्वारा जब खींचा जाता है तो रेचक मुखद्वारा न कर दूसरे रन्ध्रद्वारा करना चाहिये। इस प्रकार सूत एक छिद्रसे दूसरे छिद्रमें आ जाता है। इस क्रियाके करनेमें किसी प्रकारका भय नहीं है। सब जानेपर इसे तीसरे दिन करना चाहिये। जलनेति प्रतिदिन कर सकते हैं। नेति डालनेमें किसी-किसीको छींक आने लगती है, इसलिये एक-दो सेकण्ड श्वासोच्छ्वासकी क्रियाको बंद करके नेति डालनी चाहिये।

नाक कान अरु दाँतका रोग न व्यापै कोय।
उज्ज्वल होवै नैन ही, नित नेती कर सोय॥
(भक्तिसागर)

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च॥
(हठयोगप्रदीपिका)

'नेति कपालको शुद्ध करती है, दिव्यदृष्टि देती है। स्कन्ध, भुजा और सिरकी सन्धिके ऊपरके सारे रोगोंको नेति शीघ्र ही नष्ट करती है।' प्रायः देखा जाता है कि रबरकी या दूसरे प्रकारकी नलिकासे शौकीन लोग नाकद्वारा जल पिया करते हैं। इसकी महत्ता भी लोगोंपर विदित है।

कफसे या नेतिके कारण नासिकाके ऊपरके भागमें दर्द हो, रक्त निकले या जलन हो तो गोघृत दिनमें दो बार सूँघे। घृतको हथेलीमें लेकर एक नासापुट बन्दकर दूसरे नासापुटसे सूँघे, तब वह ऊपर चढ़ेगा। पाण्डु, कामला, अम्लपित्त, ऊर्ध्व रक्तपित्त, पित्तज्वर, नासिकामें दाह, नेत्रदाह, नेत्राभिष्यन्द (नेत्रोंकी लाली), मस्तिष्कदाह इत्यादि पित्तप्रकोपजन्य रोगोंमेंसे कोई रोग हो तो इस नेतिका उपयोग न करे। अधिक आवश्यकता हो तो सम्हालपूर्वक करे, परन्तु घर्षणक्रिया न करे। पित्तप्रकोपके समय जलनेतिका उपयोग हितकर है।

त्राटककर्म

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्॥
(हठयोगप्रदीपिका)

'समाहित अर्थात् एकाग्रचित्त हुआ मनुष्य निश्चल दृष्टिसे सूक्ष्म लक्ष्यको अर्थात् लघु पदार्थको तबतक देखे, जबतक अश्रुपात न होवे। इसे मत्स्येन्द्र आदि आचार्योंने त्राटककर्म कहा है।'

त्राटककर्म टकटकी लागे। पलक पलक सो मिलै न तागे॥
नैन उघारे ही नित रहै। होय दृष्टि फिर शुकदेव कहै॥
आँख उलटि त्रिकुटीमें आनै। यह भी त्राटककर्म पिछानै॥
जैसे ध्यान नैनके होई। चरणदास पूरण हो सोई॥

सफेद दीवारपर सरसोंबराबर काला चिह्न दे, उसीपर दृष्टि ठहराते-ठहराते चित्त समाहित और दृष्टि शक्तिसम्पन्न हो जाती है। मेस्मेरिज्ममें जो शक्ति आ जाती है, वही शक्ति त्राटकसे भी प्राप्य है।

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम्।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम्॥
(हठयोगप्रदीपिका)

'त्राटक नेत्ररोगनाशक है। तन्द्रा, आलस्यादिको भीतर नहीं आने देता। त्राटककर्म संसारमें इस प्रकार गुप्त रखनेयोग्य है, जैसे सुवर्णकी पेटी संसारमें गुप्त रक्खी जाती है।' क्योंकि—

भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता।

उपनिषदोंमें त्राटकके आन्तर, बाह्य और मध्य—इस प्रकार तीन भेद किये गये हैं। हठयोगके ग्रन्थोंमें प्रकारभेद नहीं है। उक्त तीनों भेदोंका वर्णन क्रमशः नीचे दिया जाता है।

हृदय अथवा भ्रूमध्यमें नेत्र बन्द रखकर एकाग्रतापूर्वक चक्षुवृत्तिकी भावना करनेको 'आन्तर त्राटक' कहते हैं। इस आन्तर त्राटक और ध्यानमें बहुत अंशोंमें समानता है। भ्रूमध्यमें त्राटक करनेसे आरम्भमें कुछ दिनोंतक कपालमें दर्द हो जाता है तथा नेत्रकी बरौनीमें चञ्चलता प्रतीत होने लगती है। परन्तु कुछ दिनोंके पश्चात् नेत्रवृत्तिमें स्थिरता आ जाती है। हृदयदेशमें वृत्तिकी स्थिरताके लिये प्रयत्न करनेवालोंको ऐसी प्रतिकूलता नहीं होती।

चन्द्र, प्रकाशित नक्षत्र, पर्वतके तृणाच्छादित शिखर अथवा अन्य किसी दूरवर्ती लक्ष्यपर दृष्टि स्थिर करनेकी क्रियाको बाह्य त्राटक कहते हैं। केवल सूर्यपर त्राटक करनेकी मनाही है। कारण, सूर्य और नेत्रज्योतिमें एक ही प्रकारकी शक्ति होनेसे नेत्र-शक्ति सूर्यमें आकर्षित होती रहेगी, जिससे नेत्र दो-ही-तीन मासमें कमज़ोर हो जायँगे। यदि सूर्यपर त्राटक करना हो तो जलमें पड़े हुए सूर्यके प्रतिबिम्बपर करे। इस प्रकार किसी दूरवर्ती पदार्थपर त्राटक करनेकी क्रियाको 'बाह्य त्राटक' कहते हैं।

काली स्याहीसे कागज़पर लिखे हुए 'ॐ', बिन्दु, किसी देवमूर्ति अथवा भगवान्‌के चित्र, मोमबत्ती या तिलके तेलकी अचल बत्ती या बत्तीके प्रकाशसे प्रकाशित धातुकी मूर्ति, नासिकाके अग्रभाग या समीपवर्ती किसी अन्य लक्ष्यपर दृष्टि स्थिर रखनेकी क्रियाको 'मध्यत्राटक' कहते हैं। केवल भ्रूमध्यमें खुले नेत्रसे देखनेकी क्रिया प्रारम्भमें अधिक समय न करो, अन्यथा नेत्रोंकी नाड़ियाँ निर्बल होकर दृष्टि कमज़ोर (short sight) हो जायगी।

इन तीनों प्रकारके त्राटकके अधिकारी भी भिन्न-भिन्न हैं। जिस साधककी पित्तप्रधान प्रकृति हो, जिसके मस्तिष्क, नेत्र, नासिका या हृदयमें दाह रहता हो, नेत्रमें फूला, जाला या अन्य कोई रोग हो, वह केवल आन्तर त्राटकका अधिकारी है। यदि वह बाह्य लक्ष्यपर त्राटक करेगा तो नेत्रको हानि पहुँचेगी। जिनकी दृष्टि दूरकी वस्तुओंके लिये कमज़ोर हो, जिनकी वातप्रधान प्रकृति हो या जिन्हें शुक्रकी निर्बलता हो, वे समीपस्थ मूर्ति आदिपर त्राटक न करें। चन्द्रादि उज्ज्वल लक्ष्यपर त्राटक करें। जिनकी दृष्टि दोषरहित हो, त्रिधातु सम हों, कफप्रधान प्रकृति हो, नेत्रोंकी ज्योति पूर्ण हो, वे 'मध्य-त्राटक' करें।

जिनको दो-चार वर्ष पहले उपदंश (Syphilis) या सुजाक (Gonorrhea) रोग हुआ हो अथवा जो अम्लपित्त, जीर्ण-ज्वर, विषमज्वर, मज्जातन्तु-विकृति, पित्ताशयविकृति इत्यादि किसी व्यथासे पीड़ित हों अथवा तम्बाकू, गाँजा आदिके व्यसनी हों, वे किसी प्रकारका त्राटक न करें। इसी प्रकार मानसिक चिन्ता, क्रोध, शोक, पुस्तकोंका अध्ययन, सूर्यताप या आँचका सेवन करनेवाले भी इस त्राटककी क्रियामें प्रवृत्त न हों।

पाश्चात्योंका अनुकरण करनेवाले कुछ लोग मद्यपान, मांसाहार तथा अम्ल पदार्थादि अपथ्य वस्तुओंका सेवन करते हुए भी 'मेस्मेरिज्म' विद्याकी सिद्धिके लिये त्राटक किया करते हैं। परन्तु ऐसे लोगोंका अभ्यास पूर्ण नहीं होता। अनेकोंके नेत्र चले जाते हैं, और अनेकों पागल हो जाते हैं। जिन्होंने पथ्यका पालन किया है, वही सिद्धि प्राप्त कर सके हैं।

यम-नियमपूर्वक आसनोंके अभ्याससे नाड़ीसमूह मृदु हो जानेपर ही त्राटक करना चाहिये। कठोर नाड़ियोंको आघात पहुँचते देरी नहीं लगती। त्राटकके जिज्ञासुओंके लिये आसनोंके अभ्यासके परिपाककालमें नेत्रके व्यायामका अभ्यास करना विशेष लाभदायक है। प्रातःकालमें शान्तिपूर्वक दृष्टिको शनैः-शनैः बायें, दायें, नीचेकी ओर, ऊपरकी ओर चलानेकी क्रियाको नेत्रका व्यायाम कहते हैं। इस व्यायामसे नेत्रकी नसें दृढ़ होती हैं। इसके अनन्तर त्राटक करनेसे नेत्रको हानि पहुँचनेकी भीति कम हो जाती है।

त्राटकके अभ्याससे नेत्र और मस्तिष्कमें उष्णता बढ़ जाती है। अतः नित्य जलनेति करनी चाहिये। तथा रोज सुबह त्रिफलाके जलसे अथवा गुलाबजलसे नेत्रोंको धोना चाहिये। भोजनमें पित्तवर्द्धक और मलावरोध (कब्ज़) करनेवाले पदार्थोंका सेवन न करे। नेत्रमें आँसू आ जानेके बाद फिर उस दिन दूसरी बार त्राटक न करे। केवल एक ही बार प्रातःकालमें करे। वास्तवमें त्राटकके अनुकूल समय रात्रिके दोसे पाँच बजेतक है। शान्तिके समयमें चित्तकी एकाग्रता बहुत शीघ्र होने लगती है। एकाध वर्षपर्यन्त नियमितरूपसे त्राटक करनेसे साधकके सङ्कल्प सिद्ध होने लगते हैं, दूसरे मनुष्योंके हृदयका भाव मालूम होने लगता है, सुदूर स्थानमें स्थित पदार्थ अथवा घटनाका सम्यक् प्रकारसे बोध हो जाता है।

गजकर्म या गजकरणी

गजकर्म यहि जानिये, पिये पेट भरि नीर।
फेरि मुखिसों काढ़िये, रोग न होय शरीर॥

हाथी जैसे सूँड़से जल खींच फिर फेंक देता है, वैसे गजकर्ममें किया जाता है। अतः इसका नाम गजकर्म या गजकरणी हुआ। यह कर्म भोजनसे पहले करना चाहिये। विषयुक्त या दूषित भोजन करनेमें आ गया हो तो भोजनके पीछे भी किया जा सकता है। प्रतिदिन दन्तधावनके पश्चात् इच्छाभर जल पीकर अँगुली मुखमें दे उलटी कर दे। क्रमशः बढ़ा हुआ अभ्यास इच्छामात्रसे जल बाहर फेंक देगा। भीतर गये जलको न्यौलीकर्मसे भ्रमाकर फेंकना और अच्छा होता है। जब जल स्वच्छ आ जाय, तब जानना चाहिये कि अब मैल मुखकी राह नहीं है। पित्तप्रधान पुरुषके लिये यह क्रिया हितकर है।

कपालभातिकर्म

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससम्भ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी॥
(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् लोहारकी भाथीके समान अत्यन्त शीघ्रतासे क्रमशः रेचक-पूरक प्राणायामको शान्तिपूर्वक करना योगशास्त्रमें कफदोषका नाशक कहा गया है तथा 'कपालभाति' नामसे विख्यात है।

जब सुषुम्णामेंसे अथवा फुफ्फुसमेंसे श्वासनलिकाद्वारा कफ बार-बार ऊपर आता हो अथवा प्रतिश्याय (ज़ुकाम) हो गया हो, तब सूत्रनेति और धौतिक्रियासे इच्छित शोधन नहीं होता। ऐसे समयपर यह कपालभाति लाभदायक है। इस क्रियासे फुफ्फुस और समस्त कफवहा नाड़ियोंमें इकट्ठा हुआ कफ कुछ जल जाता है और कुछ प्रस्वेदद्वारा बाहर निकल जाता है, जिससे फुफ्फुस-कोषोंकी शुद्धि होकर फुफ्फुस बलवान् होते हैं। साथ-साथ सुषुम्णा, मस्तिष्क और आमाशयकी शुद्धि होकर पाचनशक्ति प्रदीप्त होती है। परन्तु उरःक्षत हृदयकी निर्बलता, वमनरोग, हृल्लास (उबाक), हिक्का, स्वरभङ्ग, मनकी भ्रमित अवस्था, तीक्ष्ण ज्वर, निद्रानाश, ऊर्ध्व रक्तपित्त, अम्लपित्त इत्यादि दोषोंके समय, यात्रामें, और वर्षा हो रही हो ऐसे समयपर इस क्रियाको न करे।

यदि यह क्रिया अधिक वेगपूर्वक की जायगी तो किसी नाड़ीमें आघात पहुँच सकता है। और शक्तिसे अधिक प्रमाणमें की जायगी तो फुफ्फुसकोषोंमें शिथिलता आ जायगी, जिससे वायुको बाहर फेंकनेकी शक्ति न्यून हो जायगी, जीवनीशक्ति भी क्षीण हो जायगी तथा फुफ्फुसोंमें वायु शेष रहकर बार-बार डकार बनकर मुँहमेंसे निकलता रहेगा।

इस क्रियासे आमाशयमें संगृहीत दूषित पित्त, पाक न होकर शेष रहा हुआ आहार-रस और विकृत श्लेष्म जलमें मिश्रित होकर वमनके साथ बाहर आ जाते हैं। कुछ जल आमाशयमेंसे अन्त्रमें चला जाता है। कुछ सूक्ष्म नाड़ियोंद्वारा रक्तमें मिल जाता है। परन्तु इससे कुछ भी हानि नहीं होती। वह जल मल-मूत्रद्वारसे और प्रस्वेदरूपसे एक-दो घण्टेमें बाहर निकल जाता है। इस क्रियाको करनेवालेके लिये भोजनमें खिचड़ी अथवा दूध-भात लेना विशेष हितकर है।

अजीर्ण, धूपमें भ्रमणसे पित्तवृद्धि, पित्तप्रकोपजन्य रोग, जीर्ण कफ-व्याधि, कृमि, रक्तविकार, आमवात, विषविकार

और त्वचारोगादि व्याधियोंको दूर करनेके लिये यह क्रिया गुणकारी है।

तीक्ष्ण कफप्रकोप, वमनरोग, अन्त्रनिर्बलता, क्षतयुक्त संग्रहणी, हृदयकी निर्बलता एवं उरःक्षतादि रोगोंमें यह क्रिया न करे। इसी प्रकार आवश्यकता न होनेपर इस क्रियाको नित्य न करे। शरद्-ऋतुमें स्वाभाविक पित्तवृद्धि होती रहती है। ऐसे समयपर आवश्यकतानुसार यह क्रिया की जा सकती है।

सच्ची साधना और उसका मुख्य ध्येय

(लेखक—पं० श्रीदामोदरजी उपाध्याय)

त्रिलोकीके नाथ मङ्गलमय श्रीभगवान्‌की मायासे उत्पन्न सत्, रज और तमने इस त्रिभुवनको ऐसा बाँध रखा है कि इसे समझनेमें संसारी प्राणियोंकी बुद्धि सदा असफल रही है। हाँ, जिन्होंने महारानीके महत्त्वको जान लिया है उनकी सफलतामें सन्देह नहीं। पञ्चभूत, मन, बुद्धि, अहङ्कार, प्राण और जीव—इनके मेलसे बना हुआ यह मानव-शरीर ऐसा यन्त्र है, जो साधनाके लिये सब तरहसे उपयुक्त माना गया है। हमें अपनी समस्याओंको हल करनेके लिये, तीनों प्रकारके सन्तापोंसे बचनेके लिये दो बातोंका जानना जरूरी है। वे दो बातें हैं—मनका विषय क्या है? और मनका कर्तव्य क्या है? मनका विवेचन करना विज्ञानसे सम्बन्ध रखता है। मनका निवास शरीरमें रहता है, इसलिये शारीरिक विज्ञानके आचार्य पूज्य महर्षि अग्निवेशजीने जो बहुमूल्य विचार प्रदान किये हैं वे यहाँ उपस्थित किये जा रहे हैं।

चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं सङ्कल्प्यमेव च।
यत् किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत् सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥

क्या करना, क्या नहीं—इसका चिन्तन करना, पूर्वापरका विचार करना, तर्क करना, ध्यान करना (भावना-ज्ञान), गुण-दोषका विवेचन करके निश्चय करना, इन्द्रियोंके अर्थोंका अनुभव करना तथा और भी तमाम प्रपञ्चकी बातोंकी जानकारी रखना मनका विषय (धर्म) है। जाग्रत-कालमें प्रत्यक्षरूपसे मन विषयोंका भोग करता या व्यवहार करता है। स्वप्नावस्थामें कल्पनाद्वारा उपयोग करता है। शेष सुषुप्ति और तुरीयावस्थासे विषयोंका कोई सम्बन्ध नहीं है।

(२) 'एकहि साधे सब सधै' इस उक्तिके अनुसार जब इन्द्रियराज मन ठिकानेपर आ जायगा तो पराधीन इन्द्रियाँ तो अपने आप रास्तेपर आ जायँगी। इस सत्यसे भी कोई मुख नहीं मोड़ सकता कि परम कृपालु जगदीश्वर परमेश्वरकी अमृतमयी दया जिस जीवपर हो जाती है, वह उस वास्तविक साधनामें संलग्न हो जाता है जिसका वर्णन वेदों, उपनिषदों, पुराणोंमें है। यही नहीं, बौद्ध, जैन, मुसलमान, ईसाई—सभी धर्मोंके माननेवाले इस साधनाकी ओर आये और सफल हुए हैं। सच पूछा जाय तो पुस्तकोंके ऊपर उन भूतपूर्व संत-मुक्त महात्माओंका स्थान है, जो हमारे लिये सचित्र उदाहरणरूप हैं। जो जीव सारहीन, प्रपञ्चयुक्त और एक-न-एक दिन नष्ट होनेवाली साधनामें उलझकर अपना मानव-जीवन गँवा देता है, उसपर भगवान्‌का अनुग्रह असम्भव है; बल्कि ऐसे साधक तो सच्ची साधनाकी छायासे भी दूर ही रहते हैं।

श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धमें उद्धवजी कहते हैं—'भगवन्! योगसाधन-जैसे दुस्तर अभ्यासको वही व्यक्ति कर सकता है, जिसका मनपर पूरा-पूरा अधिकार हो गया हो; साथ-ही-साथ मनपर अधिकार कर लेना सभीका काम नहीं है। इसलिये कोई ऐसी साधना बतलाइये, जिसका पालन करनेसे सहजहीमें सिद्धि मिल जाय। बहुधा देखा जाता है कि योगी मनको वशमें करनेके उपाय करते-करते थक जाते हैं, फिर भी उसको वशमें न कर सकनेके कारण बहुत ही दुःखी होते हैं।' इस उदाहरणसे हमारा केवल यही अभिप्राय है कि मन कितना भयङ्कर है, जो योगियोंतकको धोखा देकर पछाड़ डालता है। अपना कल्याण चाहनेवाले मनकी ओरसे सदा ही सावधान रहते हैं।

भली या बुरी—चाहे कैसी भी साधना साधी जाय, मनको तो अनिवार्यरूपसे नेता बनना पड़ेगा। नेता जिधर ले जायगा, उधर ही जनता (इन्द्रियाँ) जायगी। मनकी मारसे हम निजी रूपसे डरते रहते हैं, इसीलिये मनके प्रति हमारा विद्रोह है।

(३) श्रीमद्भागवत-माहात्म्य-वर्णनके तीसरे अध्यायमें श्रीनारदजी कहते हैं कि 'कलियुगमें इतनी विघ्न-बाधाएँ

हैं कि मनको एकाग्र रखना बड़ा ही कठिन है। मुक्तिरूपी साध्यको पानेके लिये श्रीभगवान्‌के चरणोंमें अनुराग, उनके परम पवित्र नामोंका कीर्तन होना आवश्यक है। कारण भक्ति भगवान्‌को अति प्रिय है और मुक्ति ठहरी भक्तिकी दासी।' ज्ञानियोंके ज्ञानकी और बुद्धिमानोंकी बुद्धिकी चरम सीमा यहींतक है कि इस मिथ्या नाशवान् शरीरसे सत्यस्वरूप अविनाशी ईश्वरको प्राप्त कर लें। भक्तियोगद्वारा जो साधना सम्पादित की जाती है, उसमें पर्याप्त सुगमता है। यह आज इस युगमें दिन-पर-दिन उन्नतिपर है।

बौद्ध सिद्धोंकी साधना

(लेखक—पं० श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी एम्० ए०, एल्-एल् बी०)

महात्मा गौतमबुद्धने संसारमात्रको दुःखमय मानकर 'दुःखनिरोध' को सबका अन्तिम ध्येय निश्चित किया था और इसके लिये सभी संस्कारोंका शमन, चित्तमलोंका त्याग एवं तृष्णाका क्षय परमावश्यक बतलाया था। इस निरोध या विरागमयी पूर्ण शान्तिकी अवस्थाको ही 'निर्वाण' का नाम दिया गया था—जिसकी उपलब्धि चित्तको सर्वप्रथम वस्तु-स्थितिका अनुभव प्राप्त करने योग्य और पूर्णरूपेण चिन्तनशील बनानेपर अवलम्बित रहती है। वस्तुस्थितिके ज्ञानका अभिप्राय पहले उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रसिद्ध मध्यम या आष्टाङ्गिक मार्गके रहस्यको हृदयङ्गम करना था—जो क्रमशः एक अनिर्वचनीय 'धर्म'के रूपमें समझा जाने लगा और जिसे आगे चलकर किसी-न-किसी प्रकार शून्य, धर्म-तथता या भूततथताके भी नाम दिये गये। यही धर्म अथवा शून्य बौद्ध सिद्धोंका 'बोहि' (बोधि), 'जिण रअण' (जिनरत्न), 'सहज', 'महासुह' (महासुख), 'धाम' 'अणुत्तर' (अनुत्तर) या 'जिनउर' (जिनपुर) है—जिसका साधनाद्वारा प्राप्त कर लेना परमार्थ या परम पुरुषार्थ समझा जाता है। 'निर्वाण' शब्द वास्तवमें निषेधार्थक नहीं और न 'शून्य' शब्द ही निषेधवाची है। दोनोंका तात्पर्य एक ही स्थिति या वस्तुस्थितिके पारमार्थिक रूपसे है—जो न तो सत् है, न असत् ही है, परन्तु जो सभीके लिये परमलक्ष्य है।

महात्मा गौतमबुद्धने संज्ञा या चेतनाको ही चित्त, मन या विज्ञान माना था और इसी चित्तको हम अनेक अबौद्ध दर्शनोंकी शब्दावलीके अनुसार 'आत्मा'की भी संज्ञा दे सकते हैं। यह चित्त स्वभावतः शुद्ध और मलरहित है; किन्तु इसीके अन्तर्गत वह मूलबीज भी वर्तमान है जिससे 'भव' एवं 'निर्वाण' दोनोंका विस्फुरण हुआ करता है और इसीलिये जिसके बद्ध हो जानेसे बन्धन और मुक्त होनेसे परममोक्षका लाभ भी हुआ करता है। अनङ्गवज्रने इस चित्तका स्वभाव दर्शाते हुए लिखा है—

अनल्पसङ्कल्पतमोऽभिभूतं
प्रभञ्जनोन्मत्तदिशलं च।
रागादिदुर्वारमलावलिप्तं
चित्तं हि संसारमुवाच वज्री॥

अर्थात्, वज्रयानाचार्योंके अनुसार, जब चित्तमें अनेकानेक सङ्कल्पोंका अन्धकार भरा रहता है और जब वह तूफानके समान उन्मत्त, बिजलीकी भाँति चञ्चल एवं रागादिके मलोंसे अवलिप्त रहता है तो उसीको संसारका नाम दिया जाता है। और—

प्रभास्वरं कल्पनया विमुक्तं
प्रहीणरागादिमलप्रलेपम्।
ग्राह्यं न च ग्राहकमप्रसक्तं
तदेव निर्वाणवरं जगाद॥

अर्थात् वही जब, प्रकाशमय होनेके कारण, सारी कल्पनाओंसे रहित होता है, जब उसमें रागादिके मल नहीं रहते और जब, उसके विषयमें, ज्ञाता अथवा ज्ञेय होनेका प्रश्न भी नहीं उठता, तब उसी श्रेष्ठ वस्तुको निर्वाण भी कहा जाता है। अतएव सिद्ध भुसुकुपाके शब्दोंमें—

अपणा मांसें हरिणा बैरी।

अर्थात् हरिणरूपी चञ्चल चित्त अपने मांस (सङ्कल्प-विकल्पादि दोषों) के कारण आप-ही-आप शत्रु भी बन जाता है और इसी प्रकार जब वह निश्चल होकर समरसकी अवस्थामें प्रवेश करता है तो काण्हपाके अनुसार, साधकको विषयादि निराश्य होकर आप-ही-आप त्याग देते हैं और वह स्वयं वज्रधर या सिद्धाचार्यकी अवस्था प्राप्त कर लेता है।

परन्तु चित्तकी उक्त चञ्चलता किस प्रकार दूर की जाय तथा उसे फिरसे निश्चल किस प्रकार बनाया जाय? सरहपाके अनुसार हमारे चित्तकी यह एक विशेषता है कि वह रागादिद्वारा ग्रस्त या बद्ध रहनेपर ही इधर-उधर चारों ओर

भागा फिरता है, इनसे मुक्त होकर वह स्वभावतः स्थिर हो जाता है। इसलिये मूलतत्त्वको 'खसम' (ख=आकाश, सम=समान) अथवा शून्य मानते हुए अपने मनको भी तदनुसार 'खसम-स्वभाव' या शून्यरूप कर देना आवश्यक है, जिससे वह 'अमन' (अर्थात् अपना चञ्चल स्वभाव छोड़कर अमनस्क-सा) हो जाय और उसे सहजावस्थाकी उपलब्धि सरलतापूर्वक हो सके। सिद्ध तेलोपाका कहना है—

चित्त खसम जहि समसुह पइट्ठइ।
इन्दीअ-विसअ तहि मत्तण दीसइ॥
आइ रहिअ पहु अंत रहिअ।
वग्गुरु पाअ अद्वअ कहिअ॥

अर्थात् जिस समय चित्त खसम (शून्यरूप) होकर समसुखमें प्रवेश करता है, उस समय किसी भी इन्द्रियके विषय अनुभवमें नहीं आ पाते। यह समसुख आदि एवं अन्त दोनोंसे रहित होता है और आचार्य इसे ही अद्वय नाम देते हैं। मनको इस प्रकार 'अमन' करनेवाली क्रियाको सिद्धोंने 'मनका मार डालना' या 'मनका निःस्वभावीकरण' भी कहा है और इसके अभ्यासको स्पष्ट करते हुए सिद्ध शान्तिपाने रुईके धुननेका एक सुन्दर रूपक भी दिया है। वे कहते हैं—

तुला धुणि-धुणि आँसुं आँसु।
आँसु धुणि-धुणि विआर समु॥
× × ×
तुला धुणि-धुणि सुण्ण महारिउ।

अर्थात् रुईको धुनते-धुनते उसके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अंश निकालते चलो, (फिर देखोगे कि) अंश-अंश विश्लेषण करते-करते अन्तमें कुछ भी शेष नहीं रह जाता। (जान पड़ता है कि) रुईको धुनते-धुनते उसे शून्यतक पहुँचा दिया। इसी क्रियाको एक शिकारके रूपकद्वारा 'बोधिचर्यावतार'में इस प्रकार बतलाया गया है—

इमं चर्मपुटं तावत्स्वबुद्ध्यैव पृथक् कुरु।
अस्थिपञ्जरतो मांसं प्रज्ञाशस्त्रेण मोचय॥
अस्थीन्यपि पृथक् कृत्वा पश्य ज्ञानमनन्ततः।
किमत्र सारमस्तीति स्वयमेव विचारय॥

अर्थात् इस चमड़ेकी ऊपरी वस्तुको अपनी बुद्धिकी सहायतासे अलग कर दो और तब अपनी प्रज्ञाद्वारा अस्थि-पञ्जरसे मांसको भी निकाल दो; फिर हड्डियोंको भी दूरकर अपने विवेकद्वारा सोचोगे तो स्वयं समझ लोगे कि अन्तमें कुछ भी तत्त्व नहीं रह जाता। सब कुछ वास्तवमें निःसारमात्र है। मनका आकार-प्रकार पूर्ण करनेवाले सङ्कल्प-विकल्पादिको दूर करनेपर भी इसी प्रकार शून्यमात्र रह जाता है। अतएव सिद्ध सरहपाका कहना है कि घर अथवा वन—जहाँ कहीं भी हम रहें, हमें केवल अपने मनके स्वभावका ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। बोधि सब कहीं निरन्तर वर्तमान है, इसलिये किसी एक स्थितिमें 'भव' और दूसरीमें 'निर्वाण' का अस्तित्व ढूँढना निरी मूर्खता होगी। हमें केवल इस रहस्यसे परिचित हो जाना चाहिये कि मूलमें चित्त नितान्त निर्मल और विकल्परहित है और यही अवस्था हमारे लिये परम पदकी स्थिति है, जिसे समरसके रूपमें प्राप्त कर लेनेपर जहाँ कहीं भी चित्त जाता है, वहाँ उसे अचित्तके रूपमें ही हम अनुभव करते हैं। उस निर्मल और भावाभावरहित दशाको प्राप्त कर लेनेपर चित्त कहीं भी विस्फुरित हो, उसे नाथ (प्रभास्वर) के स्वरूपका ही बोध होता है, क्योंकि जैसे जल और उसका तरङ्ग दोनों वास्तवमें एक ही अभिन्न वस्तु हैं, उसी प्रकार भवका साम्य भी आकाशके साम्यके ही स्वभावका होता है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञाननामक पाँचों स्कन्ध एवं पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाशनामक पाँचों भूत और आँख, कान, नाक, जीभ, काम और मननामक छहों आयतन इन्द्रियाँ—ये सभी सहज स्वभावद्वारा बद्ध-से हैं, अतएव हमें चाहिये कि अपने सङ्कल्पाभिनिविष्ट मनका विशोधन कर उसे निःस्वभाव बना दें, जिससे वह शून्यमें प्रवेश कर समरसकी स्थितिमें आ जाय। जिस प्रकार जलमें जल प्रवेश करता है, उसी प्रकार चित्त भी सहजसे मिलकर समरसकी अवस्थामें आता है। सहज जैसा बाहर है, वैसा ही भीतर भी रहता है। चौदहों भुवनोंमें वह निरन्तर वर्तमान है; वह अशरीरी शरीरमें ही छिपा है; उसे जो जानता है, वही मुक्त है।

शरीरके ही भीतर पाये जानेवाले उक्त सहज या महासुखका उत्पत्तिस्थान, काण्हपाके अनुसार, इडा एवं पिङ्गलानामक दो प्रसिद्ध नाड़ियोंके संयोगके निकट ही वर्तमान है; उसे पवनके नियमनद्वारा प्राप्त करना आवश्यक होता है। काण्हपाने कमलके रूपकद्वारा उक्त महासुखका वर्णन करते हुए लिखा है कि बायीं नासिकाकी ललना-नामक (प्रज्ञास्वरूप) चन्द्रनाड़ी और दाहिनी नासिकाकी रसनानामक (उपायस्वरूप) सूर्यनाड़ी उस महासुख-कमलके दो खण्डस्वरूप हैं। उसका पौधा गगनके जलमें, जहाँ अमिताभ या

परम आनन्दमय प्रकाश-पङ्करूपमें वर्तमान है, उत्पन्न होता है; उसका मुख्य नाल अवधूती अथवा मूलशक्ति होती है और उसका रूप हंकार अथवा अनाहत शब्दका होता है। इस महासुख-कमलके मकरन्दका पान योगी या साधकलोग साधनाद्वारा, शरीरके भीतर ही कर लिया करते हैं। काण्हपा अन्यत्र फिर कहते हैं—

जइ पवण-गमण-दुआरे दिढ़ ताला दि दिज्जइ ।
जइ तसु घोरन्धारें मण दिव हो किज्जइ ॥
जिण रअण उआरें जइ सो बरु अम्बरु छुप्पइ ।
भणइ काण्ह भव मुअन्ते णिव्वाणो वि सिज्झइ ॥

अर्थात् यदि पवनके निर्गमनद्वारपर दृढ ताला लग जाय और वहाँके घोर अन्धकारमें शुद्ध या निश्चल मनका दीप जलाया जाय और यदि वह जिनरत्नकी ओर उच्च गगनमें स्पर्श कर जाय तो संसारका उपभोग करते समय भी हमारे लिये निर्वाणकी सिद्धि हो जाय। जिसका मन निश्चल हो गया, उसका उसी क्षण वायुनिरोध भी सिद्ध है और वायुनिरोध होनेपर मन आप-से-आप निश्चल होता है। दोनोंका पारस्परिक सम्बन्ध है।

उक्त प्रकारसे पवन एवं मनको जिस स्थानपर एक साथ निश्चल किया जाता है, उसे सिद्धोंने 'उद्धमेरु' अथवा मेरुदण्ड (सुषुम्णा) का सिरा कहा है। काण्हपाने बतलाया है कि वह पर्वतके समान सम-विषम है, अतएव वहाँ चढ़ना-उतरना सरलतापूर्वक नहीं हो सकता। उसकी गम्भीर कन्दरामें सारा जगत् विनष्ट होकर शून्यमें लीन हो जाता है और हमारे द्रवाकार चञ्चल चित्तका निर्मल जल भी तन्मय हो जाता है। उसी ऊँचे पर्वतके शिखरको सिद्धोंने महामुद्रा या मूलशक्ति (नैरात्मा) का निवासस्थान भी बतलाया है। सिद्ध शबरपा कहते हैं कि उक्त पर्वतपर अनेक बड़े-बड़े वृक्ष पुष्पित हैं और उनकी डालें गगनचुम्बिनी हैं। वहाँ अकेली शबरी (नैरात्मा) वनका एकान्त-विहार किया करती है। वहीं त्रिधातुकी सुन्दर सेज भी पड़ी है और साधक योगी वहाँ पहुँचकर उक्त दारिकाके साथ प्रेम-पूर्वक समय व्यतीत करने लगता है। नैरात्माको सिद्धोंने शबरीके अतिरिक्त डोंबी, चण्डाली, शुण्डिनी, जोइणि (योगिनी) या पवनधारिणीके नामोंसे भी अभिहित किया है और उसका अनेक प्रकारसे वर्णन भी किया है। काण्हपाने उस डोंबीको चौसठ पँखुड़ीवाले कमलपुष्पके ऊपर चढ़कर सदा नाचती रहनेवाली बतलाकर, उसके साथ अपना विवाह-सम्बन्ध स्थापित करनेका रूपक बाँधा है और सिद्ध डोंबिपाने उसे ही शीघ्र पार कराकर जिनपुर पहुँचानेवाली कहा है। इसी प्रकार सिद्ध विरूपाका कहना कि वह अकेली शुण्डिनी (कलाली) इधर इडा और पिङ्गला नाडियोंको एक अर्थात् सुषुम्णा नाडीमें प्रविष्ट कराती है और उधर बोधिचित्तको ले जाकर प्रभास्वर शून्यमें भी बाँधा करती है; उसके निकट चौसठ घटीयन्त्रोंमें मद (महासुख) सँभालकर रक्खा रहता है और वहाँ एक बार भी पहुँचकर मदपी फिर लौटनेका नामतक नहीं लेता।

सिद्धोंने अपनी साधनाको सहज मार्गका नाम देकर उसे अत्यन्त सरल और सीधा भी बतलाया है। सिद्ध सरहपा इसके सीधेपनके विषयमें कहते हैं—'जब कि नादबिन्दु अथवा चन्द्र और सूर्यके मण्डलका अस्तित्व नहीं और चित्तराज भी स्वभावतः मुक्त है, तो फिर सरल मार्गका त्याग कर वंकमार्ग ग्रहण करना कहाँतक उचित कहा जा सकता है ? बोधि सदा निकट वर्तमान है, उसे लङ्का (कहीं दूर) जानेकी आवश्यकता नहीं; हाथमें ही कङ्कण है, दर्पण ढूँढ़ते फिरनेसे कोई भी लाभ नहीं होगा। स्वयं अपने मनमें ही अपनेको सदा अवस्थित समझ लो। पार वही लगता है जो दुर्जनोंके साथमें पड़कर विपथ नहीं होता। सहज मार्ग ग्रहण करनेवालेके लिये ऊँचा-नीचा, बायाँ-दाहिना, सभी एक भाव हो जाते हैं। इसी प्रकार सिद्ध भादेपाने अपने निजी अनुभवद्वारा इसके महत्त्वका वर्णन करते हुए कहा है कि 'अभीतक मैं मोहमें पड़ा था, अब मैंने सद्गुरुबोधद्वारा इसका ज्ञान प्राप्त किया है। मेरा चित्त अब नष्ट (शान्त) हो गया और गगन-समुद्रमें रल (हिल-मिल) कर एक या तदाकार हो गया। मुझे अब दसों दिशाओंमें शून्य-ही-शून्यका अनुभव होता है। वज्रगुरुके उपदेशद्वारा गगन-समुद्रको मैं अपने मनमें ही उतार लाया हूँ।' सहजके वास्तविक रूपका पूर्ण वर्णन अत्यन्त कठिन होनेसे उसके मार्गका उपदेश भी बिना निजी अनुभवके स्पष्टरूपसे हृदयङ्गम नहीं हो सकता और इसी कारण काण्हपाका कहना है कि जो कुछ भी इस विषयमें कहा जाता है, वह सभी मिथ्या-सा है। 'गुरु वास्तवमें गूँगा है और शिष्य बधिर है। 'वाक्पथातीत' वस्तुका वर्णन कैसे होगा ?'

प्रेम-साधनाके साध्य

चोरी करत कान्ह घर पाये ।

निसिबासर मोहिं बहुत सतायो अब हरि हाथहि आये ॥

माखन दधि मेरो सब खायौ बहुत अचगरी कीन्ही ।

अब तो हाथ परे हौ लालन तुमहि भले हौं चीन्हीं ॥

दोउ कर पकरि कह्यो कित जैहो माखन लेउँ मँगाइ ।

तेरी सौं मैं नेकु न चाख्यो सखा गए सब खाइ ॥

मुख तन चितै बिहँसि हँसि दीन्हो रिस सब गई बुझाइ ।

लिये स्याम उर लाइ ग्वालिनी सूरदास बलि जाइ ॥

—सूरदासजी

बौद्ध-साधना

(लेखक—डा० श्रीविनयतोष भट्टाचार्य एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

साधन दो प्रकारके होते हैं—लौकिक और अलौकिक। लौकिक साधनका अर्थ होता है अभ्यास-उद्योग—किसी चरम उद्देश्यकी सिद्धिके लिये लगातार प्रयत्न। अलौकिक साधन कहते हैं उन आध्यात्मिक या मानसिक साधनाओंको जो योग अथवा तन्त्रकी प्रक्रियासे अलौकिक सिद्धियों अथवा मुक्तिकी प्राप्तिके लिये की जाती हैं।

लौकिक साधन तो प्रायः सभी करते हैं। जीवन स्वयं एक साधना है, बालक ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अध्ययनरूपी साधन करते हैं। गवैये 'कलावंत' कहलानेके लिये 'रियाज़' करते हैं, स्वर साधते हैं। लेखक ग्रन्थकार बननेके लिये निबन्ध-पर-निबन्ध लिखते हैं। व्याख्यानदाता व्याख्यान-वाचस्पति बननेके लिये बोलनेका—वक्तृता देनेका अभ्यास करते हैं। चोर भी चोरी करते समय लोगोंकी नज़र बचाने-की साधना करते हैं। इनके अतिरिक्त ऐसे लोग भी हैं जो अहिंसा, सत्य एवं निःस्वार्थ लोकसेवा आदि सद्गुणों एवं श्रेष्ठ आचरणोंका अभ्यास करते हैं। लगातार अभ्यास करनेसे—रगड़पट्टी करनेसे निश्चय ही थोड़ी-बहुत दक्षता या पटुता प्राप्त होती है। इस पटुताको ही सिद्धि कह सकते हैं। साधकोंमें दूसरे लोगोंकी—असाधकोंकी अपेक्षा यही विशेषता होती है, उन्हें न्यूनाधिक रूपमें सिद्धि या सफलता प्राप्त होती ही है।

योग अथवा तन्त्रकी साधना इससे विलक्षण होती है। इसका सम्बन्ध मनोराज्यसे होता है और यह मनकी अव्यक्त शक्तियोंका विकास करनेके लिये की जाती है। इस प्रकारकी अलौकिक साधना ही प्रस्तुत निबन्धका विषय है। उसमें भी यहाँ हम केवल बौद्ध-साधनापर ही विचार करेंगे। जिसका वर्णन बौद्ध-सम्प्रदायके प्रकाशित ग्रन्थोंमें मिलता है।

बौद्धोंकी तान्त्रिक साधनामें सर्वप्रथम आवश्यकता होती है एक सुसंस्कृत साधककी, जिसकी परीक्षा किसी अधिकारी गुरुके द्वारा की जा चुकी हो तथा जिसे तान्त्रिक साधनाके योग्य करार दिया जा चुका हो।

जिस प्रकार तान्त्रिक साधनाके अनेक भेद हैं, उसी प्रकार साधकोंकी भी साधनकी कठिनता एवं सुगमताके अनुसार अनेक श्रेणियाँ होती हैं। तन्त्रोंकी भी चार श्रेणियाँ हैं—(१) क्रिया-तन्त्र, (२) चर्या-तन्त्र, (३) योग-तन्त्र और (४) अनुत्तरयोग-तन्त्र। और इन चार प्रकारके तन्त्रोंसे सम्बन्ध रखनेवाले उपासक भी चार श्रेणियोंमें विभक्त हैं।

प्रारम्भिक श्रेणीके साधक, तथा जिनका तन्त्रके रहस्योंमें अभी प्रवेश ही हुआ है ऐसे साधक क्रिया एवं चर्याकी निम्नतर श्रेणीमें भर्ती किये जाते थे। उन्हें सब प्रकारके निषिद्ध खाद्य एवं पेय पदार्थोंका त्याग करना पड़ता था और ब्रह्मचर्यके कठोर नियमोंका पालन करना पड़ता था।

ऊँची श्रेणीके साधकोंको आचारके विषयमें स्वतन्त्रता होती थी, उनपर किसी प्रकारके नियम लागू नहीं होते थे। उन्हें अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती थीं, और वे 'सिद्ध' कहलानेके अधिकारी होते थे।

अद्वयवज्र नामके एक प्रसिद्ध तन्त्रकारने साधकोंको दो श्रेणियोंमें विभक्त किया है—शैक्ष और अशैक्ष। शैक्षोंको आचारसम्बन्धी कठोर-से-कठोर नियमोंका पालन करना पड़ता था और दैनिक चर्या एवं खाद्य तथा पेय पदार्थोंके सम्बन्धमें भी उनपर कई प्रकारके बन्धन थे। अशैक्ष वर्गके साधक मनुष्योंके बनाये तथा ईश्वरके बनाये सभी नियमोंसे परे होते थे, क्योंकि वे ही सब प्रकारके नियम बनानेवाले थे और प्रकृतिके नियमोंका सञ्चालन करनेवाले भी वे ही थे।

तान्त्रिक साधनाके रहस्योंमें प्रवेश प्राप्त किये हुए साधकोंके संक्षेपमें यही भेद हैं। परन्तु ये सब बातें ग्रन्थोंके आधारपर नहीं सीखी जा सकतीं; अतः यह आवश्यक है कि इनका उपदेश गुरुमुखसे प्राप्त किया जाय। इतना ही नहीं, पुस्तकोंसे सीखी हुई अज्ञात रहस्यमयी साधनाओंके करनेमें थोड़ी-बहुत जोखिम भी रहती है।

ऐसी दशामें ऐसे गुरुकी, जो आध्यात्मिक साधनाओंके रहस्योंमें शिष्यका प्रवेश करा सके, और भी अधिक आवश्यकता हो जाती है। अतः किसी भी रहस्यमयी साधनामें गुरुका स्थान प्रमुख होता है। इसीलिये तन्त्र और योगके सभी सम्प्रदायोंमें, जिनमें बौद्ध सम्प्रदाय भी शामिल है, गुरुका बड़ा माहात्म्य वर्णन किया गया है।

गुरुके बिना कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। गुरु-

के बिना गूढ़ सिद्धान्तों और साधनाओंको समझना असम्भव है। जिस पुरुषकी दीक्षा हो चुकी है, उसके लिये कौन-सा मन्त्र अथवा साधना अनुकूल होगी—यह गुरु ही बतलाते हैं। कम-से-कम परिश्रमसे और बिना अधिक समय बरबाद किये सिद्धि प्राप्त करनेका सर्वोत्तम उपाय क्या है, यह बतलाना गुरुका ही काम होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधनके लिये गुरु और शिष्यकी बड़ी आवश्यकता है, जो दोनों ही अधिकारी होने चाहिये। तान्त्रिक साधनाके दो रूप हो सकते हैं—मन्त्र-साधन और देव-साधन, अथवा दोनोंकी साधना एक ही कालमें की जा सकती है। इस साधनाका योगके साथ, विशेषकर हठयोगके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है—जैसा कि आगे चलकर इसी निबन्धमें समझाया जायगा।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि हठयोगकी साधना आध्यात्मिक साधनाओंमें सबसे नीचे दरजेकी साधना है, क्योंकि शरीरको शुद्ध करना और उसे ऊँची साधनाओंके लिये तैयार करना ही इसका काम है। सभी प्रकारकी आध्यात्मिक साधनाओंमें ध्यान और चित्तकी एकाग्रता परम आवश्यक है और शारीरिक मल बहुधा ध्यानमें बाधक होते हैं।

हठयोगके द्वारा शारीरिक मलोंका शोधन हो जानेपर साधक मन्त्र अथवा देवतापर अथवा परब्रह्ममें चित्तको स्थिर कर सकता है। पहली साधना मन्त्रयोगकी है, दूसरी तन्त्र-योगकी और तीसरी राजयोगसे सम्बन्ध रखती है।

अधिक-से-अधिक मनोयोगके साथ मन्त्रका अखण्ड जाप करनेसे महान् शक्ति प्राप्त होती है। मन्त्रके अक्षर व्यक्त हो जाते हैं, मानसिक चक्षुके सामने चमकने लगते हैं और फिर अग्निशिखाकी भाँति दीप्तिमान् हो जाते हैं। किसी विशेष उद्देश्यको लेकर मन्त्रजप करनेसे मन्त्रका ऊपर बताये हुए ढंगसे साक्षात्कार होकर उस उद्देश्यकी प्राप्ति हो जाती है। जिस मन्त्रका इस प्रकार साक्षात्कार हो जाता है, उसे सिद्धमन्त्र कहते हैं। सिद्धमन्त्रके उच्चारणसे आश्चर्यजनक सिद्धि हो सकती है।

इसी प्रकार दीर्घकालतक एक निश्चित विधिके अनुसार श्रद्धा-भक्तिपूर्वक और किसी सुयोग्य गुरुके निरीक्षणमें किसी देवताविशेषका ध्यान करनेसे उस देवताका साक्षात्कार हो जाता है। देवता साधकके सामने प्रकट होकर उसके मनोरथको पूर्ण करता है। इसके बाद देवता साधकका परित्याग नहीं करता और एक प्रकारसे उसके अधीन होकर रहता है।

राजयोगकी पद्धतिसे साधक परमात्माकी प्राप्तिके मार्गमें ज्यों-ज्यों अग्रसर होता है, त्यों-त्यों उसे अणिमा, लघिमा आदि अष्ट महासिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

तन्त्रशास्त्रके अनुसार यह विश्व शक्तिका एक बहुत बड़ा खजाना है। सृष्टि और संहारकी सारी शक्तियाँ इसके अंदर केन्द्रीभूत रहती हैं और इनमेंसे किसी भी शक्तिको आकर्षण करके आत्मसात् करना और उस शक्तिसे शक्तिशाली होना प्रत्येक मनुष्यके लिये सम्भव है। आध्यात्मिक साधनाके द्वारा प्रकृतिके सूक्ष्म नियमोंपर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है।

इस विषयपर विस्तारसे लिखनेके लिये स्थान नहीं है, किन्तु मैं देवताके साक्षात्कारकी भूमिकाओंका वर्णन करना आवश्यक समझता हूँ। परन्तु ऐसा करनेके पूर्व मैं यह स्पष्ट बतला देना चाहता हूँ कि मैं स्वयं साधक नहीं हूँ और इस अपूर्व आध्यात्मिक सिद्धिका मुझे कोई निजी अनुभव नहीं है; अतः मैं जो कुछ कहूँगा वह मेरे पढ़े-पढ़ाये तान्त्रिक ग्रन्थोंके आधारपर ही होगा।

साधकको चाहिये कि वह प्रसन्न मनसे किसी ऐसे एकान्त स्थानमें जाय, जो शुद्ध और स्वच्छ हो तथा जिसके आसपासका दृश्य सुन्दर हो। वह सुखासनसे बैठकर अपने इष्टदेवका ध्यान प्रारम्भ करे। ध्यानमें उसे इतना तन्मय हो जाना चाहिये कि उसे बाह्य अनुसन्धान बिल्कुल न रहे और इस प्रकार उसे उस व्यापक शक्तिके साथ, जिसे बौद्धोंकी भाषामें 'शून्य' कहते हैं, अभेदका चिन्तन करना चाहिये। उसके चित्तकी अवस्था उस समय वैसी ही हो जानी चाहिये, जैसी सुषुप्तिकालमें होती है।

चिरकालतक इस साधनका अभ्यास करनेसे उसके मानसिक नेत्रोंके सामने कुछ खास लक्षण दिखायी देने लगते हैं, जिनसे यह प्रमाणित होता है कि साधक देवताके साक्षात्कार-की ओर क्रमशः बढ़ रहा है।

ये चिह्न या लक्षण पाँच प्रकारके होते हैं। प्रारम्भमें मृगतृष्णाका दर्शन होता है। इसके बाद धूमका दर्शन होता है। तीसरी भूमिकामें साधकको अन्तरिक्षमें जुगुनुओं-की भाँति ज्योतिःकण दिखलायी देते हैं। चौथी भूमिकामें एक ज्योतिके दर्शन होते हैं। और पाँचवीं भूमिकामें मेघ-

रहित आकाशमें व्याप्त रहनेवाली सूर्यकी ज्योतिके समान एक स्थिर प्रकाशका दर्शन होता है।

अर्थात् काफी समयतक ध्यानका अभ्यास करते रहनेसे साधकको एक ऐसे स्थिर प्रकाशका दर्शन होता है, जो कभी कम नहीं होता। साधक इस अवस्थाको पहुँचकर उससे कभी च्युत नहीं होता और नीचेकी अवस्थाओंका अनुभव नहीं करता।

अब साधक इस विश्वासके साथ कि मेरे इष्ट देवता मुझे दर्शन देंगे, उनका निरन्तर ध्यान कर सकता है। देवताके साक्षात्कारकी भी तीन भूमिकाएँ होती हैं।

पहली भूमिकामें बीजमन्त्रका दर्शन होता है। आगे चलकर यह एक अस्पष्ट मानव आकृतिमें बदल जाता है। ध्यानका क्रम जारी रखनेसे और आगे चलकर साधकको देवताका स्पष्ट रूप दिखायी देने लगता है, जिसमें उसके सारे अङ्ग, वर्ण, आयुध एवं वाहन अलग-अलग दिखलायी देते हैं। यह रूप अत्यन्त मनोहर होता है, जिसका दर्शन कर साधक अलौकिक आनन्दसे भर जाता है।

देवताका निरन्तर आँखोंके सामने रहना ही उसकी सिद्धि है। प्रारम्भमें उसकी दिव्य मूर्ति बार-बार प्रकट होती है और छिप जाती है। निरन्तर अभ्याससे उसका दर्शन स्थायी हो जाता है। इस अवस्थाको पहुँच जानेपर साधक सिद्ध कहलाने लगता है। उसका इष्टदेव उसकी सारी कामनाओंको पूर्ण कर देता है और उसका कभी परित्याग नहीं करता। साधक अलौकिक शक्तियोंसे सम्पन्न हो जाता है और उसका प्रकृतिके नियमोंपर भी अधिकार हो जाता है।

मन्त्रका देवताके साथ एक प्रकारका अभेद-सम्बन्ध होता है, उसका भी इसी प्रकार साक्षात्कार हो सकता है। मन्त्रके अक्षर पहले साधकके सामने प्रकट होते हैं और धीरे-धीरे अधिक दीप्तिमान् होकर शक्तिसे जाज्वल्यमान हो उठते हैं। इनका दर्शन जब स्थायी रूपसे होने लगता है, तब मन्त्रकी सिद्धि हो जाती है। उस मन्त्रसे साधकको वह सब कुछ प्राप्त हो सकता है, जो उसे देवतासे प्राप्त हो सकता था।

उपर्युक्त साधनकी प्रक्रिया बड़ी लंबी है, उसके लिये वर्षोंतक अथवा जीवनभर धैर्यपूर्वक अभ्यास करनेकी आवश्यकता होती है। यह अवकाशके समय केवल दिल बहलानेके लिये करनेकी चीज नहीं। साधन एक कला है। मनुष्य-जीवन इस कलाके अभ्यासके लिये ही है। यह जीवनमें प्राप्त होनेवाली सबसे बड़ी और सबसे दिव्य रहस्यमय अनुभूति है। हमारा जीवन साधनके बिना उद्देश्यहीन होता है।

बौद्ध मूर्तितत्त्व

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंह बी, एस्. ए.)

बौद्धधर्ममें मूर्तियोंका निर्माण वज्रयान मतके प्रादुर्भावके साथ हुआ है। वज्रयानके मुख्य ग्रन्थोंके अनुसार इन देवी-देवताओंका यथार्थमें कोई अस्तित्व ही नहीं है, वे सब केवल शून्यताके ही भिन्न-भिन्न रूपान्तर हैं। इन देवी-देवताओंके रूप उपासकोंकी भावना तथा सिद्धिके अनुसार प्रकट हुए माने जाते हैं।

अब क्षेपमें बौद्धधर्मके इन देवी-देवताओंकी मुख्य-मुख्य परम्पराओंका हाल सुनिये। सबसे पहले बोधिचित्त अर्थात् अव्यक्त पूर्ण ज्ञानसम्पन्न स्थितिकी कल्पना की जाती है। इसी बोधिचित्तकी पाँच वृत्तियाँ अथवा अवस्थाएँ मानी गयी हैं और इन्हींको सुप्रसिद्ध पाँच ध्यानी बुद्ध कहा गया है। इन ध्यानी बुद्धोंके नाम वैरोचन, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्धि तथा अक्षोभ्य हैं। पाँचों ध्यानी बुद्ध पद्मासनमें बैठे हुए दिखलाये जाते हैं। पद्मासनमें इस प्रकार पालथी मारकर बैठते हैं कि दोनों पैरोंके तलवे ऊपरकी ओर दिखलायी दें। ध्यानी बुद्धोंकी विभिन्नतासूचक उनकी हस्तमुद्राएँ होती हैं। ध्यानी बुद्ध वैरोचनके दोनों हाथ सुप्रसिद्ध धर्मचक्र अथवा व्याख्यान-मुद्रामें होते हैं। इस हस्तमुद्रामें दोनों हाथ वक्षःस्थलके समीप होते हैं और दाहिना हाथ बायें हाथके ऊपर रहता है। दाहिने हाथकी तर्जनी अँगुली उसी हाथके अँगूठेसे मिली होती है और इन दोनोंका सम्पर्क बायें हाथकी कनिष्ठिका अर्थात् सबसे छोटी अँगुलीसे होता है। ध्यानी बुद्ध रत्नसम्भवकी हस्तमुद्राएँ वरद होती हैं। इस मुद्रामें बायाँ हाथ हथेली ऊपर किये हुए गोदमें रक्खा रहता है और दाहिना हाथ हथेली ऊपर किये हुए इस प्रकार कुछ आगे बढ़ा हुआ होता है जैसे उस हाथसे किसीको कोई चीज दी जा रही हो। ध्यानी बुद्ध अमिताभ समाधि-मुद्रामें दिखलाये जाते हैं। इस मुद्रामें

दोनों हाथ हथेली ऊपर किये हुए एक दूसरेके ऊपर (बायेंके ऊपर दाहिना) गोदमें रक्खे हुए दिखलाये जाते हैं। ध्यानी बुद्ध अमोघसिद्धि सदा अभय-मुद्रामें दिखलाये जाते हैं। यह मुद्रा भी प्रायः वरद-मुद्राही-सी है। भेद केवल इतना ही है कि दाहिना हाथ वक्षःस्थलके पास उठा हुआ होता है और उसकी हथेली सामनेकी तरफ होती है। यह मुद्रा अभय, रक्षा अथवा आश्वासन दिया जाना सूचित करती है। पाँचवें ध्यानी बुद्ध अक्षोभ्य भूस्पर्श-मुद्रामें दिखलाये जाते हैं। इस मुद्रामें बायाँ हाथ उसी स्थितिमें रहता है जैसा कि वरद तथा अभय-मुद्राओंमें। दाहिने हाथकी हथेली नीचेकी ओर होती है और उसकी अँगुलियाँ दाहिने घुटनेसे नीचेकी ओर झुकी हुई पृथ्वीका स्पर्श करती हुई दिखलायी जाती हैं। गौतमबुद्धकी खड़ी अथवा बैठी जितनी मूर्तियाँ मिलेंगी, वे उपर्युक्त पाँच मुद्राओंमेंसे किसी-न-किसीमें होंगी। इनमेंसे पिछली चार मुद्राओंके चित्र अन्यत्र दिये जाते हैं। इनसे उनके यथार्थ स्वरूप अच्छी तरह समझमें आ जायँगे। सिद्धार्थने भूस्पर्श-मुद्राका प्रदर्शन उस समय किया था, जिस समय मार अर्थात् कामदेवने अपनी कन्याओंसहित उनपर इसलिये आक्रमण किया था कि वे अपनी तपस्यासे विमुख हो जावें। इसपर बुद्धने पृथ्वीको साक्षी करनेके लिये उसका स्पर्श किया था और अपने ध्येयकी दृढ़ता सूचित की थी। इस मुद्राके प्रदर्शन करते ही मार शीघ्र ही अन्तर्हित हो गया था और फिर उसने गौतमको क्षुब्ध करनेका प्रयत्न नहीं किया। भगवान् शाक्यसिंहने धर्मचक्र-मुद्राका अवलम्बन उस समय किया था जब ज्ञान-प्राप्तिके अनन्तर सारनाथनामक स्थानपर सर्वप्रथम बौद्धधर्मका उपदेश प्रारम्भ किया। बौद्धधर्मके प्रचारका सूचक पहियारूपी धर्मचक्र है और सारनाथ (जो कथाओंके अनुसार पूर्वकालमें मृगोंका रमना रह चुका था) मूर्तियोंमें मृगोंद्वारा सूचित किया जाता है। अतः अधिकतर जहाँ गौतम बुद्धकी प्रतिमा धर्मचक्र-मुद्रामें मिलेगी वहाँ मूर्तिके नीचे अगल-बगल दो हिरन और बीचमें एक पहिया भी मिलेंगे।

ध्यानी बुद्धोंके रंग क्रमशः सफेद, पीला, लाल, हरा और मेचक (नीला) हैं। ये रंग अधिकतर चित्रोंमें ही मिलते हैं और इनका गूढ़ तत्त्व परम गहन है। इन रंगोंका सम्बन्ध तान्त्रिक षट्कर्मोंसे है। शान्तिसम्बन्धी पुरश्चरणोंमें श्वेत रंगवाली मूर्ति प्रयुक्त होती है। रक्षासम्बन्धी विधियोंमें पीले रंगकी मूर्तियाँ काममें लायी जाती हैं। आकर्षण तथा वशीकरणमें हरे और लाल रंगोंका प्रयोग होता है और उच्चाटन तथा मारण-विधियोंमें नीला रंग काममें लाया जाता है। जिन ध्यानी बुद्धका जो विशेष रंग है, वही उनसे समुद्भूत समस्त देवी-देवताओंका रंग होगा। हाँ! कभी-कभी एक ही ध्यानी बुद्ध अथवा उनसे उत्पन्न कोई देवी या देवता भिन्न-भिन्न रंगोंमें भी मिलेंगे। इसका अर्थ एक ही मूर्तिका विभिन्न-षट्कर्म-विधियोंमें प्रयोग समझना चाहिये।

उपर्युक्त ध्यानी बुद्धोंके वाहन क्रमशः दो सर्प, दो सिंह, दो मयूर, दो गरुड तथा दो हस्ती हैं। इसके अतिरिक्त ध्यानी बुद्धोंके चिह्न क्रमशः चक्र, रत्नछटा (मणियोंका समूह), कमल, विश्वपद्म (दोनों ओर तीन फलवाला छोटा-सा शस्त्र) और वज्र (त्रिशूलसदृश छोटा-सा शस्त्र) है। भारतवर्षमें ध्यानी बुद्धोंकी अलग मूर्तियाँ अथवा चित्र प्रायः नहीं मिलते। ऐसे चित्र नैपाल तथा तिब्बतमें प्रचुरतासे मिलते हैं। इसी कारण पाठकोंको प्रायः उपर्युक्त सब बातोंके देखनेका अवसर कम ही मिलेगा। तथापि आगेके विषयको स्पष्ट करनेके निमित्त उपर्युक्त विस्तृत वर्णन दिया गया है।

इन पाँच ध्यानी बुद्धोंके अतिरिक्त कहीं-कहीं वज्रसत्त्व नामक एक छठे ध्यानी बुद्धकी भी कल्पना की जाती है। वज्रसत्त्व ध्यानी बुद्धोंके पुरोहित माने जाते हैं और इस पदके सूचक घंटा तथा वज्र उनके हाथोंमें दिखलाये जाते हैं। पाँचों ध्यानी बुद्ध तापस-वेषमें ही दिखलाये जाते हैं। वे सदैव ध्यानमग्न रहते हैं। सृष्टिके कार्य ध्यानी बुद्धोंसे उत्पन्न दिव्य बोधिसत्त्वगण करते हैं। पाँचों ध्यानी बुद्धोंकी शक्तियाँ क्रमशः वज्रधात्वीश्वरी, मामकि, पांडरा, आर्यतारा तथा लोचना हैं। और इनसे उत्पन्न दिव्य बोधिसत्त्व क्रमशः समंतभद्र, रत्नपाणि, पद्मपाणि (सुप्रसिद्ध अवलोकितेश्वर), विश्वपाणि तथा वज्रपाणि हैं। छठे ध्यानी बुद्ध वज्रसत्त्वकी शक्तिका नाम वज्रसत्त्वात्मिका है और इन दोनोंसे उत्पन्न दिव्य बोधिसत्त्वका नाम घण्टापाणि है। ध्यानी बुद्धोंकी शक्तियाँ अपने पतियोंके चिह्न तथा वाहनोंसे पहचानी जाती हैं। इसके अतिरिक्त उनके पतिकी विशिष्ट हस्तमुद्रायुक्त ध्यानासन मूर्ति उनके मुकुटमें सामने बनी रहती है। इसी प्रकार प्रत्येक वंश (जिसके लिये विशिष्ट शब्द 'कुल' है) के देवी तथा देवताओंके मुकुटमें उस वंशके जन्मदाता ध्यानी बुद्धकी

विशिष्ट हस्तमुद्रायुक्त ध्यानासन-मूर्ति दिखलायी जाती है और यही उनका मुख्य चिह्न माना जाता है।

महायानीय मतके अनुसार धर्म अमर अथवा सनातन माना जाता है और बुद्धका व्यक्तित्व इस धर्मके पूर्ण ज्ञानका साधनमात्र माना जाता है। प्रत्येक युगमें एक-न-एक मनुष्यशरीरधारी बुद्ध (अथवा ज्ञानी) धर्मका प्रचार करते हैं। एक बुद्धके निर्वाण प्राप्त होनेसे दूसरे बुद्धके जन्मतक कल्पके अधिष्ठाता ध्यानी बुद्धसे उत्पन्न दिव्य बोधिसत्व बौद्ध 'धर्म' की देखरेख करते हैं। गौतम बुद्धको गत हुए प्रायः २४०० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं और अबसे लगभग २६०० और बीत जानेपर (अर्थात् गौतम बुद्धकी मृत्युके ५०००वर्ष उपरान्त) बुद्ध मैत्रेयका जन्म होगा। इस समय बौद्धमतका भद्रकल्प चल रहा है और इसके अधिष्ठाता ध्यानी बुद्ध अमिताभ हैं। अतः इन ५००० वर्षोंमें ध्यानी बुद्ध अमिताभसे उत्पन्न (दिव्य) बोधिसत्व पद्मपाणि (जिनका दूसरा नाम अवलोकितेश्वर है) का प्रबन्ध चलता रहेगा। यही इस युगके प्रधान (दिव्य) बोधिसत्व हैं।

इन उपर्युक्त दिव्य बोधिसत्वोंकी मूर्तियाँ अनेक आसनोंमें बैठी अथवा खड़ी मिलती हैं। साधारणतया इनकी पहचान मुकुटपर अथवा मुकुटके पीछे प्रभामण्डलमें बने हुए ध्यानी बुद्धसे हो जाती है। अन्यथा इनके हाथमें स्थित ध्यानी बुद्धके चिह्नोंसे ये पहचाने जाते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'बोधिसत्व' अवस्था 'बुद्ध' अवस्थाके पूर्वकी स्थिति मानी गयी है। अतः बोधिसत्व प्रायः राजसी वेशमें मुकुट-आभूषणादियुक्त दिखलाये जाते हैं और बुद्ध तापसवेशमें।

जिस प्रकार भागवत अर्थात् वैष्णव-धर्ममें विष्णुके २४ अवतार माने गये हैं और जिस सिद्धान्तपर जैनधर्ममें २४ तीर्थङ्करोंकी भावना की जाती है, ठीक उसी प्रकार प्राचीन (अर्थात् हीनयानीय) बौद्धधर्ममें २४ अतीत मानुषी बुद्धोंकी बात मिलती है। महायानमतमें भी २४से ३२तक अतीत मानुषी बुद्धोंकी बात मिलती है। इन मानुषी बुद्धोंमें आखिरी सात (जिनमें सबसे अन्तमें गौतम-बुद्धका नाम आता है) विशेषरूपसे प्रसिद्ध हैं। इनके नाम विपश्यी, शिखी, विश्वभू, क्रकुच्छन्द, कनकमुनि, काश्यप तथा शाक्यसिंह हैं। ये सातों मानुषी बुद्ध एक साथ पद्मासन-में भूस्पर्श-मुद्रायुक्त मिलते हैं और यही सातकी गणना इनकी पहचान है। कभी-कभी इनकी संख्या भावी बुद्ध मैत्रेयको मिला लेनेसे आठ मिलती है। इनमेंसे प्रत्येकका एक विशिष्ट वृक्ष माना गया है।

गौतम बुद्धकी मूर्तियोंके साथ बोधिसत्व अवलोकितेश्वर तथा भावी बुद्ध मैत्रेय पार्षदोंके रूपमें चँवर लिये हुए दिखलाये जाते हैं।

वज्रयानीय बौद्धधर्मका मुख्य गढ़ इस समय महाचीन (तिब्बत) है। वहाँके प्रधान शासक दलाईलामा महात्मा गौतम बुद्धके अवतार माने जाते हैं और उनके बाद पदमें श्रेष्ठ शीगर्चेके ताशीलामा बोधिसत्व अवलोकितेश्वर-के अवतार माने जाते हैं। वज्रयानका गायत्रीतुल्य मुख्य मन्त्र 'ॐ मणिपद्मे हुम्' इन्हीं बोधिसत्व अवलोकितेश्वरका षडक्षरी मन्त्र है। अवलोकितेश्वरके अगाध करुणासागर होनेका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनके मुख्य चिह्न कमल तथा सुमिरनी हैं।

इनके अतिरिक्त वर्तमान बौद्धधर्ममें बोधिसत्व मंजुश्रीका भी पद बहुत ऊँचा माना गया है। इस स्थानपर बोधिसत्व मैत्रेय (भावी बुद्ध) तथा मंजुश्रीके विषयमें कुछ शब्द अनुपयुक्त न होंगे।

कहा जाता है कि बौद्ध तन्त्रोंके प्रधान आचार्य मैत्रेय हैं। ये इस समय तुषितनामक स्वर्गमें विराजमान हैं। असङ्गने इसी तुषित स्वर्गमें ध्यानद्वारा गमन करके आचार्य मैत्रेयसे तन्त्रोंके रहस्यको जाना था। मैत्रेय ही एक ऐसे देवता हैं, जिन्हें हीनयानीय तथा महायानीय दोनों सम्प्रदायवाले मानते हैं। मैत्रेयका चिह्न उनके मुकुटमें आगेकी ओर बना हुआ एक छोटा-सा चैत्य या स्तूप है। इस स्तूपकी कथा यों है। गौतम बुद्धके पूर्ववाले मानुषी बुद्ध काश्यप गयाके समीप कुक्कुटपादगिरि-के शिखरपर गड़े हुए हैं और उनके भौतिक अवशेषके ऊपर एक स्तूप विद्यमान है। जिस समय गौतम बुद्धके निर्वाणके ५००० वर्षोंके उपरान्त मैत्रेय बुद्धरूपसे इस भूमण्डलपर अवतीर्ण होंगे, उस समय वे काश्यपके स्तूपपर जायँगे और काश्यप बुद्ध मैत्रेय बुद्धको उनके वस्त्र त्रिचीवर (लँगोट, धोती और दुपट्टा) देंगे।

उपर्युक्त मुकुटस्थित चैत्यके अतिरिक्त मैत्रेयके चिह्न धर्मचक्र तथा अमृतकुम्भ (अमृतका लोटा, शीशी या कमण्डलु) भी हैं।

बोधिसत्व मंजुश्री स्मृति, मेधा, बुद्धि तथा वाक्पटुताके स्वामी माने जाते हैं। अर्थात् इनकी उपासनासे ये शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। साधारणतया इनके बायें हाथमें बौद्धधर्मकी सुप्रसिद्ध पुस्तक प्रज्ञापारमिता दिखलायी जाती है और दाहिने हाथमें अज्ञानान्धकारको काटनेवाला खड्ग दिखलाया जाता है। कहा जाता है कि महात्मा मंजुश्रीहीने नैपाल देशमें सभ्यता तथा बौद्धधर्मका प्रचार चीनसे आकर किया था। कहते हैं कि नैपाल देश पहले झील रूपमें जलमग्न था और इस विशाल जलराशिके मध्य भगवान् आदिबुद्धका स्थान था, जहाँ पृथ्वीके गर्भसे निरन्तर ज्वाला निकलती थी। जलके कारण यह स्थान अगम्य था। अतः मंजुश्रीने एक ओरसे इस विशाल जलराशिमें नहर-सी निकाल दी। यही नहर आजकल वागमती नदीके रूपमें बहती है। इस नहरद्वारा सब जल बह गया और सूखी भूमि निकल आयी। यहींपर बस्ती बस गयी और अब सरलतापूर्वक आदिबुद्धकी ज्वालाके ऊपर मन्दिर बन गया। (इस समय यह मन्दिर स्वयम्भूनाथके नामसे विख्यात है।)

ध्यानी बुद्धोंसे उत्पन्न अन्य देवी-देवताओंका वर्णन देनेसे लेखका विस्तार बढ़ जायगा और कदाचित् पाठकगण भी उस वर्णनको सरलतापूर्वक हृदयङ्गम न कर सकें। जिनको इस विषयमें अधिक जानकारीकी इच्छा हो, उन्हें श्रीविनयतोष भट्टाचार्यकृत Indian Buddhist Iconography तथा उन्हीं द्वारा सम्पादित 'साधनमाला' नामक ग्रन्थ देखना चाहिये।

सिद्धिसाधक साधनाकी संक्षिप्त रूप-रेखा

(लेखक—व्याख्यानवाचस्पति आचार्यदेव श्रीमद् विजय-रामचन्द्र सूरीश्वरजी महाराज)

ज्ञान और क्रियाकी आवश्यकता

इस जगत्में साधना कौन नहीं करता? यथार्थ हो या अयथार्थ, सुखदायी हो या दुःखदायी, अल्प हो या अधिक—जहाँ-जहाँ कामना है, वहाँ-वहाँ साधना है ही। कामनाकी पूर्तिके लिये किये जानेवाले प्रयत्न ही साधना हैं। कामनायुक्त विश्वका जीवन साधनामय है। इतना होनेपर भी साधनाके सम्बन्धमें विशेष विचार करनेकी आवश्यकता है। जैसे कामनामात्रसे इष्टकी सिद्धि नहीं होती, वैसे ही केवल साधनासे या प्रयत्नमात्रसे भी इष्टसिद्धि नहीं होती। सिद्धि प्राप्त करानेवाली साधनाके लिये साधनोंका यथार्थ ज्ञान और उसीके अनुकूल क्रियाशीलता भी आवश्यक है। ज्ञानशून्य क्रिया किंवा क्रियाशून्य ज्ञान सिद्धिसाधक नहीं बन सकता। साधनोंका यथार्थ ज्ञान हुए बिना इष्टकी प्राप्तिके लिये प्रायः वे ही क्रियाएँ होती हैं जो वस्तुतः इष्ट-प्राप्तिकी बाधक हैं, और साधनोंका यथार्थ ज्ञान होनेपर भी यदि उसके अनुसार क्रिया नहीं होती तो विपरीत क्रिया चालू रहनेके कारण इष्टकी प्राप्ति दूर हटती जाती है। कामनाकी प्रेरणासे साधनामें लगे हुए जीवमात्रको यह बात समझ लेनी चाहिये; क्योंकि साधनोंको ठीक जाने बिना और वास्तविक साधनोंके सेवनमें दत्तचित्त हुए बिना इस अनादिकालीन विश्वमें अनन्त कालतक भी न तो कोई आत्मा इष्टको प्राप्त कर सका है, न कर सकता है और न कर सकेगा ही—यह निर्विवाद है।

साधनाका हेतु

इस संसारमें मनुष्यमात्रकी प्रवृत्तिका केन्द्रित ध्येय कौनसा है? कोई धनके पीछे पड़ा हुआ है तो कोई कीर्तिके, कोई स्त्रीके लिये प्रयत्नशील है तो कोई पुत्रके लिये और कोई शक्तिके लिये जी-तोड़ चेष्टा कर रहा है तो कोई सत्ताके लिये। इस प्रकार मनुष्य भिन्न-भिन्न प्रकारकी कामनाओंको लेकर अपनी-अपनी शक्ति, अनुकूलता और समझके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारकी प्रवृत्तियोंमें लगे हैं; परन्तु इन सारी कामनाओं और तमाम प्रवृत्तियोंके पीछे सभीका ध्येय एक-सा है। वह ध्येय है—दुःखका नाश और सुखकी प्राप्ति। दुःख सबकी नापसन्दगीकी चीज है और सुख सबकी पसन्दगीकी। दुःखसे सर्वथा रहित, सुखसे परिपूर्ण, और जिसका किसी भी कालमें परिवर्तन या नाश सम्भव न हो—ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाय तो फिर कोई पुरुष कामना क्यों करे, प्रयत्न क्यों करे? अनिष्टकी और अपूर्ण इष्टकी विद्यमानता ही कामना पैदा करती है। अनिष्ट टल जाय, सम्पूर्ण इष्ट प्राप्त हो जाय और उसमें किसी भी समय जरा भी अल्पताका होना निश्चित रूपसे असम्भव हो जाय तो फिर कामनाके लिये अवकाश ही नहीं रहता। सुख ऐसा मिले कि जो दुःखके अंशमात्रसे भी रहित हो और इस प्रकारसे सम्पूर्ण हो कि किसी भी कालमें किसी भी जीवको उससे बढ़कर सुख मिलना सम्भव ही न हो और ऐसा दुःखरहित तथा सम्पूर्ण सुख किसी भी

कालमें अल्पताको या विनाशको प्राप्त होनेवाला न हो तो ऐसे सुखको प्राप्त जीवोंमें किसी प्रकारकी भी कामनाका कभी भी पैदा होना सम्भव नहीं है। साधनाकी तभीतक आवश्यकता है, जबतक कि इस प्रकारके सुखकी प्राप्ति नहीं हो जाती।

प्रचलित साधना सिद्धिसाधक नहीं है

मनुष्यको उपर्युक्त प्रकारके सुखकी वास्तविक साधना करनेमें ही अपने जीवनकी सफलता माननी चाहिये। मनुष्यको दुःख नहीं सुहाता, इतना ही नहीं; दुःखयुक्त सुख भी नहीं सुहाता। अधिक सुखमें भी यदि अल्प दुःख होता है तो वह भी मनुष्यके मनमें खटका करता है और वह यों सोचा ही करता है कि 'कब मेरे इस इतनेसे दुःखका नाश होगा?' इसी प्रकार जिसको अपूर्ण सुख प्राप्त है, वह भी शेष सुखकी इच्छा किया ही करता है। साथ ही प्राप्त सुखके चले जानेका विचार भी मनुष्यको सताता रहता है। अतएव सबको पसन्द तो वही सुख है, जो दुःखसे रहित भी हो, सम्पूर्ण भी हो और शाश्वत (नित्य) भी हो। ऐसे खास सुखको चाहनेवाला जगत् आज किस तरहकी साधना कर रहा है? क्या जगत्की वर्तमान साधना इसको वह सुख प्राप्त करा सकती है? यदि नहीं तो, क्या वर्तमान साधना भ्रम नहीं है? क्या वह इष्टप्राप्तिमें बाधक नहीं है? साधकमात्रके लिये यह प्रश्न विचारणीय है। जिस कामनासे जो प्रयत्न किया जाता हो, यदि उसका परिणाम उस कामनासे विपरीत हो अथवा यदि उस प्रयत्नसे वह कामना सिद्ध न होती हो, तो उसके कारणका विचार तो करना ही चाहिये न? बहुत सीधे ढंगसे इस प्रश्नपर विचार किया जा सकता है। दुःखरहित, सम्पूर्ण और शाश्वत सुखकी प्राप्ति क्या नाशवान् साधनोंसे हो सकती है? जो साधन स्वयं परिवर्तन स्वभाववाले और नाशवान् हैं, उनके द्वारा शाश्वत सुख कैसे मिल सकता है? धन, स्त्री, कीर्ति, सत्ता और पुत्र-परिवार आदिको सुखके साधन माननेवाले लोग जरा रुकें और विवेकी बनकर विचार करें। इनमेंसे कौन-सी वस्तु नित्य है या अल्पता आदि परिवर्तनको नहीं प्राप्त होनेवाली है? एक भी नहीं। असंख्य धनवान् भिखारी बन गये, अनेकों कीर्तिमान् पुरुषोंको भयङ्कर कलङ्कका टीका लगाकर बुरे हाल मरना पड़ा; और कितने ही सत्ताधारियोंने अपनी सत्ता खो दी—ऐसा इतिहास कहते हैं। स्त्री तथा पुत्र-परिवारादिका नाश तो रचा ही हुआ है। इतनेपर भी मान लीजिये कि धन मिल गया, कीर्ति और सत्ता मिल गयी तथा स्त्री और पुत्र-परिवारादिकी भी प्राप्ति हो गयी और मान लीजिये ये सब वस्तुएँ अपने पास सदा रहीं भी; परन्तु एक दिन हमारा तो मरना निश्चित ही है न? उस समय तो उन सबको छोड़ना पड़ेगा ही न? आजतक कोई ऐसा नहीं जन्मा और भविष्यमें अनन्त कालतक कोई ऐसा जन्म भी नहीं सकता, जिसकी मृत्यु न हो। जन्मके साथ मृत्यु तो लगी ही हुई है। इस संसारमें ऐसा कोई जन्म सम्भव ही नहीं है कि जो मृत्युके साथ न जुड़ा हुआ हो। हाँ, ऐसी मृत्यु जरूर सम्भव है कि जो जन्मके साथ न जुड़ी हुई हो; और ऐसी ही मृत्यु उसके बादकी हमारी दुःखरहित सम्पूर्ण और शाश्वत सुखसे युक्त स्थितिकी सूचक है। इस संसारमें ऐसी ही मृत्युको अपने समीप लानेका प्रयास करना चाहिये और यही सच्ची साधना है। इसके अतिरिक्त और सब साधनाएँ तो नाममात्रकी साधना हैं। उनसे इष्टकी प्राप्ति नहीं होती वरं उसका अवरोध होता है। अज्ञानी जगत् इष्टकी अवरोधक साधनाओंको इष्टकी प्राप्ति करानेवाली मान बैठा है। यही कारण है कि वह जीवनके तमाम क्षणोंको धन, कीर्ति, सत्ता और पुत्र-परिवारादिकी प्राप्तिके प्रयत्नमें ही खो रहा है। मृत्युके बाद धन आदि कोई भी चीज साथ नहीं चलती। आत्मा चला जाता है और सुखके साधन मानकर जिन धनादि पदार्थोंको हमने इकट्ठा किया था, वे सब जहाँ-के-तहाँ रह जाते हैं। हमारी आँखोंके सामने अनेकों चले गये और धनादिमेंसे कुछ भी वे अपने साथ न ले जा सके, यह भी हमने देखा। इतनेपर भी उन्हीं धनादिको सुखके साधन मानकर हम अपना जीवन उन्हींकी साधनामें बिता दें, तो यह क्या भ्रम नहीं है? यह क्या अज्ञानपूर्ण क्रिया नहीं है? फिर, धनादि वस्तुएँ क्या केवल परिश्रमसे ही मिल सकती हैं? इस जगत्में धनादिके लिये प्रयत्न करनेवाले कितने हैं और धनादिको प्राप्त करके श्रीमान् बननेवाले कितने हैं? क्या ऐसा एक भी मनुष्य ढूँढ़कर निकाला जा सकता है जिसको धनादिकी पूरी प्राप्ति हो गयी हो और इस कारण जिसकी धनकी कामना नष्ट हो गयी हो? धनादिके लिये प्रयत्न करनेवाले लाभग सभी हैं, परन्तु धनी बहुत थोड़े हैं। इससे एक ऐसी वस्तुकी सूचना मिलती है, जिसकी अपेक्षा प्रयत्न करनेवालेको भी रहती है। यह वस्तु है—पुण्य। चाहे जितनी मेहनत की जाय, परन्तु पुण्यके अभावमें धनादिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। और धनप्राप्तिका पुण्य होनेपर भी यदि भोगके लिये पुण्य न हुआ तो प्राप्त धनादिका भी भोग नहीं किया जा सकता। ऐसी वस्तुएँ पुण्यके

नाशके साथ ही नाशको प्राप्त हो जाती हैं। कदाचित् किसीके जीवनके अन्ततक पुण्योदय ही वर्तमान रहे और इस कारण धनादिका नाश न हो, तो अन्तमें मृत्यु तो तैयार ही बैठी है, जो धनादिका वियोग अवश्य ही करा देगी। इस प्रकार साधकमात्रको सबसे पहले यह तो निश्चय कर ही लेना चाहिये कि धनादिकी प्राप्तिके लिये की जानेवाली साधना यथार्थ साधना नहीं है; क्योंकि उससे दुःखरहित, सम्पूर्ण और शाश्वत सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इतना निर्णय हुए बिना यथार्थ साधनाकी रुचिका उत्पन्न होना सम्भव ही नहीं है।

यथार्थ साधना

धनादिकी साधना बाधक है, ऐसा निर्णय करनेके बाद यह निर्णय करना शेष रहा कि फिर साधक साधना कौन-सी है? दुःखरहित, सम्पूर्ण और शाश्वत सुखमय स्थितिकी प्राप्तिके लिये ऐसी मृत्युको प्राप्त करना चाहिये कि जिसके बाद जन्म न हो। जहाँ जन्म है, वहाँ दुःखका सर्वथा अभाव और सुखका एकान्त सद्भाव सम्भव नहीं है। इसलिये जन्मके कारणको मिटाना चाहिये। जो जन्मके कारणसे परे है, वही दुःखके कारणसे परे है। भिन्न-भिन्न गतियोंमें, भिन्न-भिन्न योनियों आदिके द्वारा विभिन्न सामग्रियोंके साथ होनेवाला जन्म आत्माके भूतकालीन और भविष्यकालीन जीवनका सूचक है। आत्मा ही एक गतिसे दूसरी गतिमें और एक स्थानसे दूसरे स्थानमें परिभ्रमण करता है। वस्तुतः आत्मा जन्म या मृत्युको प्राप्त नहीं होता। आत्मा तो था, है और रहेगा। मृत्यु तो आत्माके गत्यन्तर या स्थानान्तरकी सूचक है। अनन्त कालसे हमारा आत्मा इस प्रकार विभिन्न गतियोंमें भ्रमण कर रहा है। इस भ्रमणका कारण है जड कर्मका संयोग। जिस मृत्युके साथ ही आत्मा जड कर्मोंके संयोगसे सर्वथा मुक्त हो जाता है, वही मृत्यु भावी जन्मसे जुड़ी हुई नहीं होती। एक बार जड कर्मके संयोगसे आत्मा मुक्त हो जाय तो फिर उसका पुनः संयोग नहीं होता और इस कारण पुनः जन्म भी नहीं होता। इसीलिये इस संसारमें यदि कोई यथार्थ साधना है तो वह एक ही है—और वह है जड कर्मसे मुक्त बनानेकी साधना। इस साधनामें लग जानेवाले जीव क्रमशः अपने आत्माके साथ जड कर्मके संयोगको घटाते चले जाते हैं, अल्प संयोगको उसके वियोगसाधक बननेमें सहायक बना लेते हैं और अन्तमें उत्कट साधनाके प्रतापसे ऐसी मृत्युको प्राप्त होते हैं कि जिस मृत्युके साथ ही आत्मा जड कर्मके संयोगसे सर्वथा मुक्त हो जाता है। आत्माकी यह शाश्वत स्थिति होती है; क्योंकि जब जन्मका कारण नहीं रह जाता, तब मृत्यु भी सम्भव नहीं होती। यह स्थिति दुःखरहित तथा सम्पूर्ण सुखमयी होती है। इसमें दुःखके कारणका सर्वथा अभाव हो जानेके साथ ही आत्मा अपनी सम्पूर्ण स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त हो जाता है।

साधनादर्शकसम्बन्धी निश्चयकी आवश्यकता

इस प्रकारकी साधना ही इष्टको प्राप्त करानेवाली साधना है, परन्तु ऐसी साधनाके लिये विशिष्ट आलम्बनकी आवश्यकता है। धनादिकी साधनाका निषेध करनेपर भी ऐसे अनेकों साधनादर्शक पूर्वकालमें हो गये हैं, इस कालमें हैं और आगे भी होंगे, जो चेतन, जड और चेतन-जडके संयोगके विषयमें यथार्थ ज्ञान नहीं रखते। ऐसे लोगोंके द्वारा दिखलायी हुई साधना चेतनको जड कर्मके संयोगसे सर्वथा मुक्त करके दुःखरहित सम्पूर्ण और शाश्वत सुखकी प्राप्ति करानेमें सफल नहीं होती। ऐसा होना स्वाभाविक ही है। इस स्थितिमें अपने आत्माको कर्मके संयोगसे सर्वथा मुक्त करनेकी साधनामें लगना चाहनेवाले जीवोंको सबसे पहले साधनादर्शकके स्वरूपके विषयमें निश्चय करना चाहिये। यों न करनेवाले आत्मा यथार्थ साधनासे वञ्चित रह जाते हैं, और अयथार्थ साधनासे नाना प्रकारके कष्ट सहनेपर भी कष्टमयी संसार-परिभ्रमणकी स्थितिको नाश करनेके बदले उसको और भी बढ़ा लेते हैं!

साधनाके मूलभूत दर्शकोंका स्वरूप और उनके द्वारा स्थापित शासन

यथार्थ साधनाके मूलभूत दर्शक वे ही हो सकते हैं, जो असत्यवादके सभी कारणोंसे परे पहुँचे हुए हैं। राग, द्वेष और मोह आदि ऐसे दुर्गुण हैं कि जो इच्छापूर्वक असत्यमें कारण बनते हैं, और अज्ञानके योगसे असत्य बोलनेका इरादा न होनेपर भी असत्य बुलवा देते हैं। इन रागादि दुर्गुणोंसे और अज्ञानके लेशमात्रसे भी रहित होनेके कारण श्रीवीतराग और सर्वज्ञ परमपुरुष ही यथार्थ साधनाके मूलभूत दर्शक हो सकते हैं। इन तारकों (उद्धारकों) में आत्माका अनन्त ज्ञानगुण प्रकट हुआ रहता है; इस कारण ये तारक अनन्त भूतकालके, वर्तमानके और अनन्त भविष्यकालके सम्पूर्ण ज्ञानसे सम्पन्न होते हैं। चेतन और जड प्रत्येक पदार्थका, उसके प्रत्येक परिवर्तन और परिवर्तनके कारण आदिका सर्वतोगामी ज्ञान इन तारकोंको होता है। श्रीवीतराग

और सर्वज्ञ बने हुए ये आत्मा भी किसी कालमें इस संसारके ही मुसाफिर थे, इन्होंने भी अनन्त कालतक इस संसारमें परिभ्रमण किया था। ऐसे आत्माओंमें एक विशिष्ट प्रकारकी अनादिकालीन योग्यता होती है, जो आवश्यक सामग्रीका संयोग पाकर प्रकट हो जाती है। यह योग्यता, सच्ची साधनाके मार्गकी प्राप्ति होनेके पहले ही, उन तारकोंको नाना प्रकारसे उत्तमजीवी बना देती है। क्रमशः वे अपनी योग्यताके बलसे सच्ची साधनाके मार्गमें सुविश्वस्त बन जाते हैं। इस प्रकार सच्ची साधनाके मार्गमें सुविश्वस्त बने हुए वे तारक परम आराधक बननेके साथ ही परोपकारकी सर्वश्रेष्ठ भावनासे अतिशय ओतप्रोत हो जाते हैं। यह भावना दुःखके मारे क्रन्दन करते हुए और सुखके लिये तरसते हुए विश्वभरके जीवोंको सच्ची साधनाका मार्ग प्राप्त करवाकर उन्हें दुःखमुक्त और सुखके भागी बनानेकी होती है। इस प्रकारकी उत्कट भावनामें रमते हुए वे एक ऐसा अतुलनीय और अनुपम पुण्यकर्म अर्जन करते हैं कि जिसके प्रतापसे वे श्रीवीतराग और सर्वज्ञ बननेके साथ ही निवृत्तिमार्गके प्रतिपादक, समस्त पदार्थोंके प्ररूपक और उन्मार्गके उच्छेदक शासनकी स्थापना करनेवाले होते हैं। इस शासनको ही श्रीजैनशासन कहते हैं। जगत्के सब पदार्थोंके स्वरूपको यथार्थरूपमें बतलाना, सच्ची साधनाके यथार्थ मार्गका प्रतिपादन करना और विपरीत मार्गोंकी अकल्याणकारिता दिखलाना—यही जैनशासनका कार्य है। ऐसे शासनके प्रति श्रद्धालु वे ही बन सकते हैं, जिनके भावी जन्मसे अधिक मृत्यु समीप पहुँची हुई होती है। ऐसे आत्मा ही जैन हैं। किसी भी जाति, कुल या देशमें उत्पन्न आत्मा ऐसी श्रद्धालुताके द्वारा जैन बन सकता है। सच्ची साधनाके अर्थी प्रत्येक आत्माके लिये जैन-शासन है। वस्तुमात्रको उसके यथार्थ स्वरूपमें स्वीकार करना ही जैनत्वकी प्राप्ति है। इस जैनत्वकी प्राप्ति जिस किसी आत्माको होती है, उसे ऐसा ही भान होता है कि श्रीवीतराग और सर्वज्ञ जिनेश्वर देवोंने जीव आदि तत्त्वोंका जो स्वरूप दिखलाया है, वही वास्तविक है। ऐसे श्रीजिनेश्वर देव आजतक अनन्त हो चुके हैं, वर्तमानमें क्षेत्रान्तरोंमें विहरण कर रहे हैं और भविष्यमें भी अनन्त होंगे। इस प्रकार श्रीजैनशासन अनन्त आत्माओंद्वारा प्रकाशित होनेपर भी, उसकी परस्पर अविरुद्धता अखण्डरूपसे सुरक्षित है; क्योंकि उन सभी तारकोंका अनन्त ज्ञानादि गुणोंमें साम्य होता है। प्रवाहकी दृष्टिसे यह शासन अनादि भी है और व्यक्तिकी अपेक्षासे इस शासनको आदिवाला भी मान सकते हैं। इस प्रकार आदि-अनादिका विवेक करानेवाले सिद्धान्तको 'स्याद्वाद' कहते हैं। स्याद्वादका प्रत्येक कथन सापेक्ष होनेके कारण उसमें वस्तुके किसी भी धर्मका अपलाप नहीं होता। इसीलिये इस विश्वमें अगर कोई यथार्थवादी है तो वह यही है कि जो शुद्ध स्याद्वादके सिद्धान्तको स्वीकार करता है। यही कारण है कि श्रीजैनदर्शनका सारा वर्णन विशिष्ट, स्वतन्त्र और सम्पूर्णरूपसे यथार्थवादी है। इसीसे हम कहते हैं कि सच्ची साधना चाहनेवालेके लिये श्रीजैनशासन ही एक वास्तविक शरणभूत है।

चेतन या जड उद्भव या विनाशको प्राप्त नहीं होता

अनन्त ज्ञानके स्वामी श्रीजिनेश्वरदेव कह गये हैं कि यह जगत् अनादि, अनन्त है। इसका कोई स्रष्टा, संरक्षक या संहारक नहीं है। जगत् था, है और रहेगा। जो है उसका कभी समूल नाश नहीं होता, और जो नहीं है उसकी किसी कालमें उत्पत्ति नहीं होती। यह जो कुछ भी उद्भव और विनाश दिखायी देता है, वह किसी अवस्थाविशेषका उद्भव और विनाश है। मूलरूपमें तो विश्वकी कोई भी चीज न नयी उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। वस्तुरूपमें विश्व स्थायी है और अवस्थारूपमें परिवर्तनशील है। विश्वमें चेतन और जड—दो प्रकारकी वस्तुएँ थीं, हैं और रहेंगी। अनन्तानन्त आत्मा और अनन्तानन्त पुद्गलोंके धामका नाम ही जगत् है। चेतनके साथ जड कर्मोंका संयोग अनादिकालसे होनेके कारण ही चेतनकी विभिन्न प्रकारसे उत्पत्ति और विनाशमयता दिखायी देती है। वस्तुतः चेतन न उत्पन्न होता है और न विलीन। चेतनकी अवस्थान्तरोंको ही जन्म-मृत्यु आदि कहा जाता है। पुद्गल भी विभिन्न अवस्थाको प्राप्त होते हैं, परन्तु उनका समूल विनाश कभी नहीं होता। मान लीजिये—एक घर टूट गया, इससे उस घरका विनाश हो गया; पुद्गलोंके इस प्रकारके समूहका नाश हो गया, परन्तु इससे पुद्गलोंके अस्तित्वका नाश तो हुआ ही नहीं। इसी प्रकार जड कर्मके योगसे मुक्त होनेवाला आत्मा शाश्वत सुखमय अवस्थाको प्राप्त हो जाता है; वह संसारमें जन्म-मरणादिरूप परिभ्रमण नहीं करता, तो भी उसका अस्तित्व तो बना ही रहता है।

आत्माका स्वरूप और उनके भेद

कर्मके संयोगसे बद्ध होकर अनन्तानन्त आत्मा अनादिकालसे इस संसारमें परिभ्रमण करते हैं। इन अनन्तानन्त आत्माओंमें ऐसे भी अनन्तानन्त आत्मा हैं कि जो

मुक्तदशाको प्राप्त होनेकी योग्यतासे हीन हैं, और ऐसे भी अनन्तानन्त आत्मा हैं जो मुक्तदशा प्राप्त करनेकी योग्यतासे सम्पन्न होनेपर भी योग्य सामग्रीके न मिलनेके कारण अनन्त कालतक मुक्तदशाको प्राप्त नहीं होंगे। ऐसे आत्माओंको क्रमशः 'अभव्य' और 'जातिभव्य' कहते हैं। विश्वमें विद्यमान अनन्तानन्त आत्माओंका एक तीसरा वर्ग भी है। इस तीसरे वर्गके अनन्तानन्त आत्माओंको 'भव्य' कहा जाता है। इन 'भव्य' आत्माओंमेंसे अनन्त आत्मा आजतकके अनन्तकालमें सच्ची साधनाके द्वारा मुक्तदशाको प्राप्त हो चुके हैं। वर्तमानमें बहुसंख्यक आत्मा सच्ची साधना कर रहे हैं और भविष्यके अनन्त कालमें अनन्त आत्मा सच्ची साधनाके द्वारा मुक्तदशाको प्राप्त होंगे। निश्चयात्मक दृष्टिसे किसीके अनुग्रहसे कोई अपने साध्यको सिद्ध नहीं कर सकता। निश्चयदृष्टिसे तो सब कुछ आत्माको ही करना पड़ेगा; परन्तु व्यवहारदृष्टिसे उपकारक आदिकी मान्यता आदि रूपोंमें उपासना भी आवश्यक है; क्योंकि शुद्ध व्यवहारकी अवज्ञा करनेवाला शुद्ध निश्चयदृष्टिको नहीं पा सकता। आत्मा अनादिकालीन कर्मसंयोगसे सुबद्ध और परिणामी स्वभाववाला है—ऐसा मानकर जो अपने आत्माको कर्मसंयोगसे मुक्त करना चाहते हैं, वे ही अनन्त ज्ञानके स्वामी श्रीजिनेश्वरदेवोंके द्वारा उपदिष्ट सच्ची साधनाके मार्गपर विश्वस्त बनकर शुद्ध व्यवहारका पालन करते हैं और अन्तमें मुक्ति पा सकते हैं। अनादिकालीन कर्मसंयोगसे आत्माको मुक्त करना ही सच्चा साध्य है। ऐसा हुए बिना दुःखरहित, सम्पूर्ण और शाश्वत सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। मुक्ति प्राप्त करनेकी योग्यता रखनेवाले आत्मा भी इस साध्यका स्वीकार तभी कर सकते हैं, जब कि उनकी 'तथाभव्यता' नामक योग्यता परिपक्वताको प्राप्त हो जाती है। इस साध्यको प्राप्त करनेके पहले ही ऐसे आत्मा मुक्तिके अद्वेषी बन जाते हैं, यही उनको प्राप्त होनेवाली साधनाका सूचक है।

अपुनर्बन्धक आत्मा

प्रत्येक आत्मा अनादि कालसे ही अपने ज्ञानादि गुणोंको ढकनेवाले ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकारके जड़ कर्मोंसे आवृत होता है। नदी-घोल-पाषाण-न्यायसे, अध्यवसायके बलसे जबतक इन आवरणोंमें मन्दता नहीं आती और जबतक मोहनीय आदि कर्मोंके द्वारा पुनः नहीं बँध सकने-जैसी उत्कृष्ट सुन्दर आत्मदशाकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक आत्मा श्रीवीतराग परमात्माकी सिद्धिदायक उपासना आदिके योग्य नहीं होता। ऐसी दशाको प्राप्त आत्मा 'अपुनर्बन्धक' कहलाता है। ऐसे आत्मा प्रथम गुणस्थानकमें सार्थकताके साथ रहनेवाले माने जाते हैं। 'अपुनर्बन्धक' आत्मा भयङ्कर भवकी ओर बहुत मानकी दृष्टिवाले या तीव्रभावसे पापका आचरण करनेवाले नहीं होते। वे समस्त प्रवृत्तियोंमें औचित्यकी रक्षा करते हैं। वे मुक्तिके अद्वेषी होकर धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों पुरुषार्थोंमें धर्मको प्रधान मानते हैं। ऐसी दशामें वे सामग्रीकी अनुकूलताके मिलनेपर सच्चे साध्यको और उस साध्यको सिद्ध करनेवाले साधनोंको भी सहजहीमें पा जाते हैं।

मुक्ति किसे कहते हैं ?

श्रीजैनशासनका आदेश है कि 'आत्मा अपने मूलभूत स्वरूपको सर्वथा आवरणरहित बना दे, जड़ कर्मके संयोगसे अपनेको सर्वथा मुक्त कर दे।' इसीका नाम मुक्ति है। आत्माका सदाके लिये अपने स्वरूपमें ही सुस्थित हो जाना तभी सम्भव है, जब कि अनादि कालसे आत्माके साथ प्रवाहरूपसे लगे हुए समस्त कर्मोंका क्षय हो जाय। कर्मोंके सम्बन्धसे ही आत्माका स्वरूप छिपा हुआ है। अनन्त ज्ञान आदि गुणमयता ही आत्माका स्वरूप है। और ये गुण ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंसे आवृत हैं, इसीसे आत्माका स्वरूप तिरोभूत हो रहा है। आत्माके इस तिरोभूत स्वरूपका सम्पूर्ण आविर्भाव करके सदाके लिये अपने स्वरूपमें सुस्थित हो जाना ही मुक्ति है।

विवेककी सच्ची चाह कब जागती है ?

मुक्तिके इस स्वरूपकी यथार्थता जान लेनेपर इसे प्राप्त करनेकी अभिलाषा होना सहज है। मुक्तिके इस स्वरूपके प्रति रुचि हो जानेपर आत्माकी अर्थ-कामकी ओर रहनेवाली उपादेय बुद्धि नाश होने लगती है। श्रीवीतराग परमात्माकी भक्ति, तारकोंके आज्ञानुसार संसारका त्याग करके महाव्रतादिके द्वारा संयम-साधनामें प्रतिष्ठित हुए सद्गुरुओंकी सेवा और 'दान, शील, तप तथा भाव' रूप धर्मानुष्ठानोंके प्रति उनका आदर बढ़ता ही जाता है। यों अर्थ-कामके प्रति उपादेय बुद्धिका नाश होने लगने तथा परमात्माकी भक्ति आदि सदनुष्ठानोंके प्रति आदरबुद्धि बढ़नेसे वे आत्मा उस सुन्दर परिणामके स्वामी बन जाते हैं कि जिस परिणामके योगसे आत्माके साथ संलग्न कर्मोंमें राजास्वरूप 'मोहनीय कर्म' विशेषरूपसे शिथिल होता जाता है। मोहनीय कर्मके

भी अनेकों प्रकार हैं। इनमें 'मिथ्यात्वमोहनीय' नामक प्रकार बहुत ही भयङ्कर है। वह वस्तुको यथास्थित स्वरूपमें माननेमें बाधा पहुँचाता है। यथार्थ मुक्तिके प्रति आकर्षित और सदनुष्ठानोंके प्रति आदरबुद्धि रखनेवाले 'अपुनर्बन्धकता'-को प्राप्त आत्माओंकी जीव, अजीव आदि सभी पदार्थोंके जाननेकी इच्छा भी अतिशय उग्र बनती जाती है। इससे पौद्गलिक पदार्थोंका उत्कट लोभ, और उसके योगसे वेगको प्राप्त उत्कट माया, उत्कट मान और उत्कट क्रोध,—जिनको 'अनन्तानुबन्धी कषाय' कहते हैं,—घटने लगते हैं। इसीके साथ वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी पहचानमें विघ्न करनेवाला 'मिथ्यात्वमोहनीय'का बल भी बहुत क्षीण होता जाता है। उस आत्मामें देवता, गुरु और धर्मके निर्बाध स्वरूपको जाननेकी उत्कट इच्छा पैदा हो जाती है। तात्पर्य यह कि मुक्तिके प्रति द्वेषका नाश हो जानेपर की जानेवाली साधना आत्माके लिये सुन्दर सामग्री प्राप्त करा देती है और मुक्तिके सच्चे स्वरूपके प्रति आकर्षित होनेपर जो साधना होती है, वह आत्मामें वस्तुमात्रके वास्तविक रूपका परिचय देनेवाले विवेककी उत्कट चाह उत्पन्न कर देती है।

'अपूर्वकरण' द्वारा ग्रन्थिभेद

इस विवेककी चाहके प्रतापसे साधक आत्माओंमें आत्मस्वरूपको तिरोभूत कर रखनेवाले और अपने स्वरूपके आविर्भावमें अतिशय विघ्न करनेवाले राग और द्वेषके प्रति द्वेष जाग्रत् हो उठता है। यह द्वेष उन आत्माओंमें ऐसा उत्तम, शुद्ध, निर्मल परिणाम प्रकट करता है कि जिससे आत्माकी उत्कट राग-द्वेषमय दशा शिथिल होने लगती है। आत्माकी उत्कट राग-द्वेषमय दशाको 'दुर्भेद्य ग्रन्थि' कहते हैं। इस ग्रन्थिका भेद हुए बिना जीवादि पदार्थोंके यथावस्थित स्वरूपके प्रति शङ्कारहित रुचि नहीं पैदा होती। इस रुचिके पैदा हुए बिना कोई भी साधक मुक्ति प्राप्त करानेवाले अनुष्ठानोंका सम्यक् प्रकारसे सेवन नहीं कर सकता। वस्तुके वास्तविक स्वरूपको जाननेकी उत्कट इच्छा इस रुचिके उत्पन्न करनेमें बड़ी सहायक होती है। आत्मामें यह एक ऐसे सुन्दर परिणामको उत्पन्न कर देती है कि जो आत्माकी उत्कट राग-द्वेषमय दशारूपी दुर्भेद्य ग्रन्थिका भेद करनेमें समर्थ होता है। इस परिणामको 'अपूर्वकरण' कहते हैं। इस 'अपूर्व-करण' नामक मानसिक परिणामसे आत्माकी उत्कट राग-द्वेषमय दशारूप दुर्भेद्य ग्रन्थि टुकड़े-टुकड़े हो जाती है और इसीके साथ-साथ आत्मामें अनन्त ज्ञानी श्रीवीतराग परमात्मा जिनेश्वरदेवोंके—(जो रागादि शत्रुओंके ऊपर अन्तिम विजय प्राप्त करने तथा प्रकृष्ट पुण्योदयके द्वारा तीनों लोकोंकी 'योगक्षेमकर' नायताको सार्थक बनानेवाले धर्मतीर्थकी स्थापना करनेवाले होनेके कारण जिनेश्वरदेव कहलाते हैं।) द्वारा उपदिष्ट जीवादि तत्त्वोंको उनके स्वरूपमें रुचियुक्त करनेकी एक विशेष शक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसी शक्ति-को श्रीजैनशासनमें 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं। आत्माका यह सम्यग्दर्शन गुण जैसे अधिगमसे प्रकट होता है, वैसे ही नैसर्गिक भी प्रकट होता है। किसी भी उपायसे हो, 'अनन्ता-नुबन्धी कषायों' का और 'मिथ्यात्वमोहनीय' का उपशम किंवा क्षयोपशम होना चाहिये,—अपूर्वकरणके द्वारा आत्माकी ग्रन्थिका भेद हो जाना चाहिये, और ऐसा होनेपर ही आत्माकी दशाके अनुसार औपशमिक किंवा क्षयोप-शमिक सम्यग्दर्शन गुण आत्मामें प्रकट होता है।

चतुर्थ गुणस्थानकवर्ती आत्माकी समझ कैसी होती है?

इस सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिसे आत्मा 'मैं कौन हूँ और मेरा क्या कर्तव्य है' आदि बातोंको भलीभाँति समझ सकता है। मुक्ति ही अपना सम्पूर्ण स्वरूप है; ऐसा पक्का निश्चय होनेमें फिर आत्माको कोई भी बाधा नहीं होती। वह समझ सकता है कि—'मुझे जो यह रुचि उत्पन्न हुई है, यही मेरी सिद्धिपदकी साधनाका आदिस्वरूप है। यह रुचि यदि सुरक्षित हो जाय तो फिर मेरे अनन्त ज्ञानस्वरूपका प्राकट्य हुए बिना नहीं रहेगा। इस स्वरूपको प्रकट करनेके लिये मुझको सर्व प्रकारसे हेयस्वरूप अर्थ और कामकी आसक्तिका सर्वथा नाश करना पड़ेगा। और इसके नाशके लिये देवताकी तरह श्रीवीतराग परमात्माकी वीतराग होनेकी ही भावनासे सेवा करनी पड़ेगी। अर्थ-कामकी आसक्ति छोड़कर, घर-बार आदि समस्त बाह्य भावोंका त्याग करके, पाँच महाव्रतोंका धारक बनकर, धारण किये हुए पाँचों महाव्रतोंके पालनमें धीर होकर, सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्रकी साधनामें ही संलग्न रहकर, शुद्ध माधुकरी वृत्तिसे ही अपने परमशुद्ध संयमयुक्त जीवनका निर्वाह करते हुए और संसर्गमें आनेवाले किसी भी योग्य आत्माको एक धर्मका ही उपदेश देनेवाले सद्गुरुओंकी ही वैसा ही बननेके लिये उपासना करनी पड़ेगी। (सामर्थ्य प्रकट हो गया हो तो उसी समय, नहीं तो सामर्थ्यको प्रकट करके) सच्चा निर्ग्रन्थ बनकर शुद्ध संयमकी साधना करनी पड़ेगी।' आत्माकी जो ऐसी भावनामय उत्तम दशा है, यही आत्माका 'चतुर्थ गुणस्थानकवर्ती' पना है।

सिद्धिसाधनाके साधन

इस गुणस्थानकमें पहुँचे हुए आत्मा भलीभाँति समझ सकते हैं कि जैसा साध्य हो, साधन भी वैसे ही होने चाहिये। मेरा साध्य है सिद्धिपदकी साधना। मुक्ति इसीका पर्याय है, और इसका स्वरूप है आत्माका अपने शुद्ध स्वरूपमें शाश्वत-काल रहना। आत्माका शुद्ध स्वरूप है—अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त सुख। अनन्त गुणमय आत्माका यह मुख्य स्वरूप है। इस स्वरूपकी प्राप्तिमें साधन वही हो सकता है, जो इसके प्रकट करनेमें सहायक हो। शुद्ध स्थिरतारूप अनन्त चारित्रको प्राप्त किये बिना आत्माका इष्ट, ऐसा सुख—जो दुःखके लेशसे शून्य है तथा सम्पूर्ण और सदा स्थिर रहनेवाला है—नहीं मिल सकता। इसके लिये अहितकर प्रवृत्तियोंका जिसमें निरोध हो और हितकर प्रवृत्तियोंकी प्रवृत्ति हो, ऐसे चारित्ररूप साधनकी साधना किये बिना काम नहीं चल सकता। ऐसे सच्चारित्रकी आराधनाके लिये सम्यक् तत्त्वज्ञानकी अतिशय आवश्यकता है, और यह ज्ञान इस सम्यग्दर्शनके बिना साध्य नहीं है। अतएव सम्यक् चारित्रके साथ मेरे लिये सम्यग्-ज्ञान और सम्यग्दर्शनकी भी साधना अत्यन्त आवश्यक है।

छठे और सातवें गुणस्थानकका स्वामित्व

सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र—इन तीनोंकी उत्कट साधना तो यतिलोग ही कर सकते हैं। इन तीनोंकी साधना करनेवाले यति प्रमत्तावस्थामें होते हैं, तब छठे प्रमत्तके नामसे परिचित—अथवा जिसका दूसरा नाम 'सर्वविरति' है, उस गुणस्थानकके स्वामी माने जाते हैं। जिस अवस्थामें हेय प्रवृत्तिमात्रका त्याग हो जाता है, ऐसी इस सम्यग्दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्ररूप रत्नत्रयकी साधनाके परिणाममें साधक आत्मा जब एकरस बन जाता है, तब वह यति सातवें 'अप्रमत्त' नामक गुणस्थानकका स्वामी हो गया—ऐसा माना जाता है।

यतिरूप साधक बननेके लिये क्या करना चाहिये ?

यतिरूप साधक बननेके लिये दुनियादारीकी सारी प्रवृत्तियोंका—जो हिंसामय हैं—त्याग करना पड़ता है और 'पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय'—इन छहों कायके जीवोंकी हिंसा आदिसे सर्वथा दूर रहना पड़ता है। स्नान आदि अङ्गशोभा वगैरहमें भी जीवोंकी हिंसा होनेके कारण यतियोंके लिये वे भी त्याज्य हैं। देश, नगर, ग्राम और घर; माता, पिता या अन्य कोई भी सम्बन्धी; धन, धान्य, कोई भी वस्तु—इन सबका अथवा यों कहिये कि अनन्त ज्ञानियोंके द्वारा संयमकी साधनाके लिये बतलाये हुए आवश्यक उपकरणोंके सिवा सर्वस्वका त्याग किये बिना यतिपनकी साधना सम्भव नहीं है। कोई आत्मा गृहस्थमें रहता हुआ भी छठे और सातवें गुणस्थानकके योग्य अवस्थाको परिणामरूपमें प्राप्त हो जाय और कदाचित् परिणामकी धारामें आगे बढ़ते-बढ़ते मुक्तिपदका भोक्ता भी बन जाय, ऐसा होना असम्भव नहीं है। परन्तु यह सिद्धि-साधनाका राजमार्ग नहीं माना जा सकता। राजमार्ग तो यही माना जाता है। असत्य, चोरी, अब्रह्म-विषय-सेवन—अथवा सर्वव्यापी अर्थ लें तो—परभावमें रमण और परिग्रह भी हिंसामें निमित्त होनेके कारण, इनका भी त्याग किये बिना यतिपनकी साधना सम्भव नहीं है। क्षमा, निरभिमानता, निर्लोभता, ब्रह्मचर्य, तप, संयम, इन्द्रियोंका निग्रह, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह आदि तो यतिधर्मके अत्यावश्यक अङ्ग हैं। इन धर्मोंकी साधनाके बिना यतिपनकी साधना नहीं की जा सकती।

श्रीनवपद

यतिलोग श्रीनवपदके अखण्ड साधक होते हैं। श्रीनव-पदकी निरन्तर साधनामें ही सच्चा यतिपन है। श्रीनवपद ही जैनशासनका सर्वस्व है। श्रीनवपद ही जगत्के जीवोंके लिये सिद्धि-साधनाका सच्चा अङ्ग है। इन श्रीनवपदोंमें प्रथम पदपर श्रीअरिहन्त परमात्मा माने जाते हैं, जो तारकों-की सच्ची साधनाके मूलभूत प्रकाशक हैं। दूसरे पदपर श्री-सिद्धपरमात्मा माने जाते हैं, जो श्रीअरिहन्तदेवोंके द्वारा प्रकाशित साधनामार्गका सेवन करके अपने आत्माको जड़ कर्मके संयोगसे सर्वथा मुक्त कर चुके हैं। तीसरे पदपर श्रीआचार्य भगवान् माने जाते हैं, जो यति होनेके पश्चात् मोक्षमार्गके आचारोंमें जीवोंको प्रवृत्त करनेवाले विशिष्ट गुणोंसे सम्पन्न महान् आचार्यपदको प्राप्त हुए हैं। चौथे पदपर श्रीउपाध्याय भगवान् माने जाते हैं, जो यति होनेके उपरान्त तत्त्वज्ञानके पाठकपनकी गुणविशिष्टतासे गीतार्थ गुर्वादिद्वारा उपाध्याय पदको प्राप्त हो चुके हैं। पाँचवें पदपर साधु-भगवान् माने जाते हैं, जो यतिरूपसे अपना-पराया हित-साधन किया करते हैं। इस नवपदमें शुद्ध देव, शुद्ध गुरु और शुद्ध धर्मका भी समावेश हो जाता है। श्रीअरिहन्त-परमात्मा और श्रीसिद्धपरमात्मा, ये शुद्ध देव हैं। श्रीआचार्य-

भगवान्, श्रीउपाध्यायभगवान् और श्रीसाधुभगवान्—ये शुद्ध गुरु हैं। और सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान, सम्यक्-चारित्र और सम्यक्-तप—ये चार शुद्ध धर्म हैं। जो पुरुष श्रीसिद्धि-पदकी, आत्ममुक्तिकी अथवा आत्माको अपने ही स्वरूपमें शाश्वतकालतक सुस्थित करनेकी इच्छा रखते हैं, उन्हें श्रीनवपदकी साधनामें ही संलग्न हो जाना चाहिये।

आठवें, नवें और दसवें गुणस्थानकपर आत्मा क्या करता है ?

इस श्रीनवपदकी साधनामें संलग्न रहनेवाला यति बहुत ही सहजमें अप्रमत्त बन सकता है। अप्रमत्तताके योगसे वह साधक यति अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय नामक सातों कर्मप्रकृतियोंका क्षय करके ऐसी तत्त्वरुचिको प्राप्त हो जाता है कि जो कभी नाश नहीं होती। इन सात कर्मप्रकृतियोंको नामशेष करके वह साधक यति 'चारित्र-मोहनीय'की शेष इक्कीस प्रकृतियोंका,—जिन्होंने आत्माके 'अनन्त चारित्र' नामक गुणको ढक रक्खा है,—नाश करनेकी तैयारी करता है। इस तैयारीके समय यति 'अपूर्वकरण' नामक आठवें गुणस्थानकका स्वामी बनता है। इस गुणस्थानकमें रहनेवाला साधक आत्मा अनेकों विभिन्न रूपोंमें आत्माको हानि पहुँचानेवाले 'मोहनीय कर्म' और उसकी शेष इक्कीस प्रकृतिरूप इक्कीस शत्रुओंको इस तरहसे निर्बल बनाकर क्रमसे बैठा देता है कि जिससे वह (साधक आत्मा) नवें 'अनिवृत्तिकरण' और दसवें 'सूक्ष्मसम्पराय' नामक गुणस्थानकोंमें इन इक्कीस शत्रुओंके नाशका कार्य कर सकता है। यह साधक आत्मा इक्कीस शत्रुओंमेंसे बीसका और इक्कीसवेंके भी अधिकांश भागका नाश तो नवें गुणस्थानकमें ही कर डालता है और इक्कीसवेंके नहीं-जैसे बचे हुए भागका विनाश दसवेंमें करता है। इसीलिये दसवें गुणस्थानकका नाम 'सूक्ष्मसम्पराय' है।

बारहवें गुणस्थानकमें सच्ची विश्रान्ति

श्रीनवपदकी आराधनाके द्वारा इस स्थितिपर पहुँचनेके लिये जीव-तत्त्व और अजीव-तत्त्व दोनोंका यथास्थित ज्ञान होना चाहिये। पुण्य और पापरूप बनकर आत्माके साथ बँधे रहनेवाले कर्मोंकी निर्जराके लिये उसके आनेमें कारणरूप जो-जो आश्रव हैं, उन्हें रोकनेवाले शुद्ध संवरभावको धारण करके संवरके साधनोंकी सुन्दर-से-सुन्दर साधना भी चालू ही रहनी चाहिये। एकमात्र मोक्षको ध्येय बनाकर, उस मोक्षके लिये ही जीव और अजीव-तत्त्वको जानकर, पुण्य-पापरूप आश्रवसे बचनेके लिये शुद्ध संवररूप भावकी साधनाके साथ-ही-साथ निर्जराके कारणरूप बारह प्रकारके तपोंकी—जिनमें सम्यग् ज्ञानकी भी साधना भलीभाँति होती है,—साधनाके द्वारा सारे कर्मोंको निर्जर करके मोक्षपदकी प्राप्ति की जा सकती है। मिथ्यात्व आदि बन्धके कारणोंसे सावधान रहकर, संवर और निर्जराकी साधना करनेवाला ही, दसवें गुणस्थानकतक पहुँचकर सब कर्मोंमें शिरोमणि माने जानेवाले 'मोहनीय' कर्मका पूर्णतया विनाश कर सकता है। यह आत्मा सीधा ही बारहवें 'क्षीणमोह' नामक गुणस्थानकपर पहुँचकर सच्ची विश्रान्तिका अनुभव करता है। संसारमें इस आत्माको कहीं सच्ची विश्रान्ति मिलती हो, तो वह यहीं मिलती है।

बारहवें गुणस्थानकमें बचे हुए तीनों घाति-कर्मोंका भी क्षय

सम्यग्-दर्शनके प्राप्त होनेसे पूर्वके अज्ञानमात्रको ज्ञानरूप बना चुकनेवाला साधक आत्मा अपने मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको, ज्ञान और ज्ञानीकी सेवाके द्वारा तथा ज्ञानके शुद्ध ध्येयपूर्वक अभ्यासादिके द्वारा 'ज्ञानावरणीय कर्म' का क्षयोपशम करके, निर्मल बना चुकता है। कोई-कोई आत्मा तो 'अवधिज्ञान' या 'मनःपर्यवज्ञान' अथवा उन दोनों ज्ञानोंको भी पा चुका होता है। इस प्रकार दो ज्ञान, तीन ज्ञान या चार ज्ञानसे सम्पन्न 'क्षीणमोही' आत्मा इस गुणस्थानकमें बचे हुए तीनों घातिकर्मोंका भी विनाश कर देता है। पहले मोहनीयरूपी घातिकर्मका क्षय हुए बिना बाकीके तीनों—'ज्ञानावरणीय', 'दर्शनावरणीय' और 'अन्तराय'—घातिकर्मोंका क्षय होता ही नहीं।

अजीव-तत्त्वके एक प्रकाररूप आठ कर्म

आत्माके आत्मस्वरूपको आवृत करनेवाले कर्म आठ हैं—'ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय'। इन आठोंको कर्मकी मूल प्रकृति कहते हैं, क्योंकि इनसे उत्तरमें अनेकों भेद हो जाते हैं। ज्ञानावरणीयकी उत्तर-प्रकृति पाँच हैं, दर्शनावरणीयकी उत्तर-प्रकृति नौ हैं, वेदनीयकी उत्तर-प्रकृति दो हैं, मोहनीयकी उत्तर-प्रकृति अट्ठाईस हैं, आयुष्यकी उत्तर-प्रकृति चार हैं, नामकी उत्तर-प्रकृति ४२, ६७, ९३ और १०३ हैं। गोत्रकी दो हैं और अन्तरायकी पाँच हैं। इन

सारी प्रकृतियोंका जैन शास्त्रोंमें विस्तारसे विवेचन किया गया है। ये आठ कर्म भी अजीव-तत्त्वका ही एक प्रकार है। इस 'प्रकार'का व्यक्तिशः निर्माण करनेवाला आत्मा है और यही रूप इसका आदि भी है, परन्तु इसका अस्तित्व तो अनादिकालसे ही है। जैसे अनन्तानन्त आत्मा अनादि हैं वैसे ही ये आठ कर्म और आत्मा तथा इन कर्मोंका संयोग भी अनादि ही है।

चार घातिकर्मोंका कार्य

इन आठ कर्मोंमें चार घातिकर्म हैं और चार अघाति। चार घातिकर्म आत्माके मुख्य गुण अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्यको आवृत करते हैं। मोहनीय कर्मकी क्षीणताके साथ-साथ दूसरे घाति-कर्म भी क्षीण होते हैं। मोहनीयका विनाश हुए बिना शेष घातिकर्मोंका विनाश होता ही नहीं। वीतरागताका रोधक मोहनीय है। वीतरागताकी प्राप्तिके लिये मोहनीयका नाश करना चाहिये। मोहनीयके नाशके लिये शुद्ध चारित्रकी साधना आवश्यक है। शुद्ध चारित्रकी साधनाके लिये शुद्ध ज्ञान चाहिये और शुद्ध ज्ञान तभी होता है, जब कि सम्यग्-दर्शननामक गुण प्रकट हो। शुद्ध सम्यग्-दर्शनको रोकने-वाला भी मिथ्यात्वनामक मोहनीय है। मोहनीयके मुख्य भेद दो हैं—'दर्शनमोहनीय' और 'चारित्रमोहनीय'। दर्शनमोहनीयके सात प्रकार हैं और चारित्रमोहनीयके इक्कीस। 'अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ तथा मिथ्यात्वमोहनीय, मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्वमोहनीय'—इन सातके उपशमसे 'उपशम-सम्यक्त्व' होता है। इन सातके क्षयोपशमसे 'क्षायोपशमिक सम्यग्-दर्शन' होता है और इन सातके क्षयसे 'क्षायिकसम्यक्त्व' होता है। ये तीनों प्रकारके सम्यग्-दर्शन ज्ञानको सम्यक् बनानेवाले हैं। 'क्षयोपशम-सम्यक्त्व' नाशवान् होनेके साथ ही दूषित होनेकी सम्भावना रखता है। 'उपशम-सम्यक्त्व' शुद्ध होनेपर भी नाश होनेवाला है। 'क्षायिकसम्यक्त्व' शुद्ध होनेके साथ ही शाश्वत रहनेवाला है। यह सम्यक्त्व आत्माको शुद्ध ज्ञान-सम्पन्न बनानेके साथ ही शुद्ध चारित्रका सेवक बनाकर वीतराग, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बना देता है।

इक्कीस प्रकृतियोंके विनाशका ध्येय

शुद्ध सम्यग्-दर्शनकी साधनामें लगा हुआ आत्मा मुक्तिरूप साध्यकी सिद्धिके लिये ही जीवादि तत्त्वोंका सुन्दर ज्ञाता बनना चाहता है। जीवादि तत्त्वोंका ज्ञान मुक्तिरूप साध्यको सिद्ध करनेके लिये हो, तभी वह सम्यग्-ज्ञान है। इस सम्यग्-ज्ञानकी साधना भी विरतिरूप फलको उत्पन्न करनेवाली है। इसीलिये सम्यग्-दर्शन और सम्यग्-ज्ञान 'चारित्रमोहनीय'की इक्कीस प्रकृतियोंके विनाशकी भावनाको सदा जीवित रखते हैं। 'देशविरति'के रोकनेवाले 'अप्रत्याख्यानी क्रोध, अप्रत्याख्यानी मान, अप्रत्याख्यानी माया और अप्रत्याख्यानी लोभ'—ये चार कषाय हैं; 'सर्वविरति'के रोकनेवाले 'प्रत्याख्यानी क्रोध, प्रत्याख्यानी मान, प्रत्याख्यानी माया और प्रत्याख्यानी लोभ'—ये चार कषाय हैं तथा 'यथाख्यात चारित्र'के अथवा 'वीतरागता'के रोकनेवाले 'संज्वलन क्रोध, संज्वलन मान, संज्वलन माया और संज्वलन लोह'—ये चार कषाय हैं। इस प्रकार कुल बारह कषाय और इन कषायोंको उद्दीपन करनेवाले—'हास्य-मोहनीय, रतिमोहनीय, अरतिमोहनीय, भयमोहनीय, शोकमोहनीय और जुगुप्सामोहनीय तथा स्त्रीवेद, पुरुषवेद एवं नपुंसकवेद, ये नौ—जो 'नोकषायमोहनीय'के नामसे विख्यात हैं—मिलकर इक्कीस प्रकृतियाँ होती हैं। इन इक्कीस प्रकृतियोंका विनाश ही सम्यग्-दर्शन और सम्यग्-ज्ञानके साधकका ध्येय होता है।

पाँच प्रकारके चारित्र

इस ध्येयकी सिद्धिके लिये साधक सम्यक्चारित्रकी साधनामें ऐसा लग जाता है कि जिसके फलस्वरूप सातों दर्शन-मोहनीयके क्षयसे 'क्षायिकसम्यक्त्व' का स्वामी बनकर समभावरूप 'सामायिक-चारित्र'का उपासक बननेके लिये 'सामायिक' नामक चारित्रकी साधनामें प्रतिष्ठित हो जाता है। सामायिक चारित्रकी साधनामें संलग्न वह आत्मा षट्काय आदिका ज्ञाता बनकर 'छेदोपस्थानीय' नामक चारित्रको स्वीकार करता है। तदनन्तर 'परिहारविशुद्धि' नामक चारित्रकी सामग्री मिलनेपर उसकी भी आराधना करता है। परन्तु यह कोई नियम नहीं है कि प्रत्येक मोक्षगामीको इसका आचरण करना ही चाहिये। इसकी आराधनाके बिना ही क्षपक-श्रेणी-जैसी साधनाके द्वारा इक्कीसों चारित्रमोहनीय-का क्षय किया जा सकता है। इस क्षयको नवें गुणस्थानकमें साधकर शेष बचे हुए सूक्ष्म लोभके क्षयके लिये दसवें गुण-स्थानकमें जाय। दसवें गुणस्थानकमें सूक्ष्म लोभका भी क्षय करके बारहवेंमें जाय और 'क्षीणमोह' नामक गुणस्थानकका स्वामी हो जाय। वहाँ बचे हुए तीनों घातिकर्मोंका समूल संहार करनेपर अर्थात् सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बननेपर वह

तेरहवें 'सयोगी केवली' नामक गुणस्थानकका स्वामी माना जाता है। 'क्षीणमोह' नामक गुणस्थानकमें कषायरहित होनेके कारण 'यथाख्यात'नामक पाँचवें चारित्रकी साधना होती है। तेरहवें गुणस्थानकमें भी यही चारित्र होता है। तेरहवें गुणस्थानकमें केवल काययोग और वचनयोगकी ही प्रवृत्ति होती है तथा जरूरत पड़नेपर परमर्षिलोग द्रव्यमनका भी उपयोग करते हैं। इसके बाद योगनिरोधरूप 'अयोगी केवली'नामक चौदहवें गुणस्थानकमें शेष रहे हुए चार अघातिकर्मोंका भी सम्पूर्णतया क्षय करके वह मुक्तिपदका भोक्ता बन जाता है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त सुखके स्वामी बनकर ऐसे आत्मा शाश्वतकाल एक ही-सरीखी स्थितिमें रहते हैं और यही साधनाका सच्चा साध्य है।

देशविरतिरूप गृहस्थ साधक पाँचवें गुणस्थानकमें—

इस साध्यकी सिद्धिके लिये ही यह साधना आवश्यक है और सच्चे स्वरूपकी साधना भी यही है। जो आत्मा 'सर्वविरति' रूप चारित्रकी साधनामें समर्थ न हों, वे भी सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और देशविरतिरूप चारित्रके द्वारा साधना कर सकते हैं। स्थूल अहिंसा, स्थूल सत्य, स्थूल अचौर्य, स्थूल ब्रह्मचर्य यानी परदारा-परित्याग और स्वदारा-संतोष और स्थूल अपरिग्रहका पालन—ये पाँच अणुव्रत हैं; दिशाओंके परिभ्रमणका, भोग्य और उपभोग्य वस्तुओंके परिमाणका और बिना प्रयोजनके पापोंका विरमण करना—ये तीन गुणव्रत हैं और सामायिक, देशावकाशिक, पौषध और अतिथिसंविभाग—ये चार शिक्षाव्रत हैं। इस प्रकार कुल बारह अथवा इनसे कम व्रतोंका पालन देशविरतिरूप चारित्र कहलाता है। जो इन व्रतोंका पालन करता हुआ श्रीनवपदकी आराधनामें संलग्न रहता है, वह भी गृहस्थ साधक है। ऐसा साधक पाँचवें 'देशविरति' नामक गुणस्थानकका स्वामी माना जाता है। षडावश्यक आदि अनुष्ठानोंकी साधना तो इस साधकको भी करनी ही चाहिये।

अविरत सम्यग्दृष्टिकी साधना

जो देशविरतिरूप चारित्रकी साधनामें भी समर्थ न हों, वे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी साधनाके द्वारा आगे बढ़ते हुए, परिणाममें 'देशविरति' और 'सर्वविरति' आदि अवस्थाओंको प्राप्त कर सकते हैं। सम्यग्दर्शनकी आराधना सड़सठ प्रकारसे होती है। उसमें सम्यग्ज्ञानकी साधना भी आ जाती है और सम्यक्चारित्रका भी अभ्यास होता है।

क्षपणाके बिना सिद्धि नहीं

'सास्वादन' नामक दूसरा और 'सम्यग् मिथ्यात्व' नामक तीसरा गुणस्थानक पतनको प्राप्त आत्माओंके लिये है। ग्यारहवाँ गुणस्थानक उस आत्माके लिये है, जो 'चारित्र-मोहनीय' की क्षपणा न करके उपशमना करता है। जब सुन्दर साधनाके द्वारा मोहनीयकी क्षपणा होगी तभी वीतरागताके, केवल ज्ञानके और केवल दर्शनके प्राप्त होनेपर योगके निरोधद्वारा सब कर्मोंका क्षय होगा; और तभी मनुष्य-जीवनके साध्य मोक्षकी सिद्धि होगी। इसके बिना किसी भी आत्माके लिये, किसी भी रीतिसे, मोक्षरूप साध्यकी सिद्धि सम्भव नहीं है।

उपसंहार और अभिलाषा

श्रीजिनेश्वर देवोंके द्वारा उपदिष्ट अर्थात् उनके शासन द्वारा उपदिष्ट साधनाके सन्मार्गकी यह तो एक अत्यन्त संक्षिप्त और सूचनमात्रकी रूप-रेखा है। साधनाके समस्त अङ्गोंका श्रीजैनशासनमें साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिल सकता है। साधकका स्वरूप, साध्यका परम शुद्ध निश्चय, संसार और मोक्ष, जीव और अजीव, ज्ञान और अज्ञान, सम्यक्त्व और मिथ्यात्व, बन्ध और निर्जरा, आश्रव और संवर, शुद्ध देव, शुद्ध गुरु और शुद्ध धर्म आदि सभी स्वरूपों और तत्त्वोंका सुन्दर-से-सुन्दर साङ्गोपाङ्ग और निर्भ्रान्त वर्णन श्रीजैनशासनमें है। श्रीजैनदर्शनको स्वीकार किये बिना एकान्तवादकी उपासनासे छुटकारा नहीं मिल सकता और एकान्तवाद तत्त्वकी प्राप्तिमें प्रतिबन्धक है। अतएव 'सच्ची साधनाके अभिलाषी सभी लोग इस रूप-रेखाको पढ़कर श्रीजैनशासनकी अनुपम साधनाके सन्मार्गके अभ्यासकी ओर आकर्षित हों और परिणाममें कल्याण-कामियोंकी कल्याण-कामनासे ही उत्पन्न इस सच्चे शासनके साधक बनकर साध्यरूप सिद्धिपदके भोक्ता बनें।' इसी एक अभिलाषाके साथ लेखकी समाप्ति की जाती है।

रासमें कामविजय

मानों माई घन घन अंतर दामिनि ।

घन दामिनि दामिनि घन अंतर सोभित हरि ब्रजभामिनि ॥

जमुना पुलिन मल्लिका मनोहर सरद सुहाई जामिनि ।

सुंदर ससि गुन रूप राग निधि अंग अंग अभिरामिनि ॥

रच्यो रास मिलि रसिकराइ सों मुदित भई ब्रजभामिनि ।

रूपनिधान स्यामसुंदर घन आनँद मन विश्रामिनि ॥

खंजन मीन मराल हरन छवि भावभेद गजगामिनि ।

को गति गुनही सूर स्याम सँग काम बिमोह्यो कामिनि ॥

—सूरदासजी

जैनसम्प्रदायके साधन

(लेखक—श्रीनरेन्द्रनाथजी जैन)

जैनसम्प्रदायके तत्त्वोंका सूक्ष्म विवेचन करनेपर यह ज्ञात होगा कि जैन तत्त्वज्ञान व्यापक होनेके साथ ही निसर्ग-सिद्ध तत्त्व है। निसर्ग जैसे अनादि-अनन्त होता है, वैसे ही जैन तत्त्वज्ञान भी अनादि-अनन्त है। श्रीमहावीर आदि तीर्थङ्कर पुरुष उस तत्त्वके संस्थापक हैं, न कि निर्मापक। जैनतत्त्व कहता है—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।

अर्थात् श्रीमहावीरस्वामीसे मेरा पक्षपात नहीं और कपिलादि अन्य ऋषियोंसे द्वेष भी नहीं।

श्रीमहावीरस्वामीने ऐसा कहा है, इसीलिये वह सत्य है—ऐसा दुरभिमान जैनतत्त्वको नहीं है। लेकिन जो सत्य और निसर्ग था, उसीका कथन श्रीमहावीरस्वामीने किया है; इसलिये वह सत्य है।

इस लेखमें मुख्यतया जैनसम्प्रदायके साध्य, साधक और साधन—इन तीन बातोंपर प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया जाता है।

जैनसम्प्रदायका साध्य

सब सम्प्रदायोंने अन्तिम साध्य तो मोक्ष ही बतलाया है, लेकिन उस मोक्षके स्वरूपके विषयमें बड़ा मतभेद है।

जैनतत्त्वने जीवकी मुख्यतासे दो अवस्थाएँ मानी हैं—(१) संसारी अवस्था और (२) मुक्त-अवस्था। यह जीव अनादि कालसे कर्मके सम्बन्धसे इस संसारमें भ्रमण करता है। जब वह ध्यानबलसे आठों कर्मोंका नाश कर देता है, तब उसे उसका अन्तिम साध्य प्राप्त होता है।

उस अवस्थामें जीवके ज्ञानादि अनन्त गुणोंकी स्वाभाविक अवस्था प्राप्त होती है। उसी अवस्थामें वह फिर सदाके लिये विद्यमान रहता है, उससे फिर संसारी अवस्थामें कभी वापस नहीं आता। ऐसी आत्यन्तिक अवस्थाको 'मोक्ष' कहते हैं और वही जैनतत्त्वका सर्वोत्कृष्ट अन्तिम साध्य है।

मुक्त जीवका लक्षण इस प्रकार कहा है—

अट्ठविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा।
अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा॥

(गो० जी० ६८)

इन सात विशेषणोंकी सिद्धि मार्मिकतासे की गयी है—

(१) सदाशिवमतवाले कहते हैं कि जीव सदा कर्मसे रहित, शुद्ध ही होता है; जीवकी अशुद्धावस्था ही नहीं है। जीव सदैव मुक्त ही है। इस मतका निराकरण करनेके लिये पहला विशेषण 'अष्टविधकर्मविकलाः' दिया है। जीव आठों कर्मोंसे रहित होकर ही शुद्ध-मुक्त होता है।

(२) सांख्यमतवाले मानते हैं कि बन्ध-मोक्ष, सुख-दुःख—ये सब प्रकृतिको होते हैं, आत्माको नहीं। उसका निराकरण करनेके लिये 'शीतीभूताः'—सुखस्वरूप कहा।

(३) मस्करीमतवाले कहते हैं कि मुक्त जीव वापस संसारमें आता है। उसका निराकरण करनेके लिये 'निरञ्जनाः' यह विशेषण दिया है। अर्थात् मुक्त जीव भावकर्मोंसे रहित होनेसे, उसको वापस लौटनेमें कुछ निमित्त ही नहीं रहता।

(४) बौद्ध कहते हैं कि सब पदार्थ क्षणिक हैं। उक्त सिद्धान्तका निराकरण करनेके लिये 'नित्याः' यह विशेषण दिया है।

(५) नैयायिक तथा वैशेषिक मतवाले मानते हैं कि मुक्तिमें बुद्ध्यादि गुणोंका भी विनाश हो जाता है। दीप-निर्वाणकी तरह सबका अभाव हो जाता है। इस मतका निराकरण करनेके लिये 'अष्टगुणाः' यह विशेषण दिया है। आठ कर्मोंके अभावसे ज्ञानादि आठ गुणोंकी आविर्भूति होती है।

(६) ईश्वरवादी परमात्माको जगत्का कर्ता मानते हैं, उनके मतके निराकरणार्थ 'कृतकृत्य' यह विशेषण दिया है।

(७) मण्डलीमतवाले जीवको सदाके लिये ऊर्ध्व-गमनवाला मानते हैं, उसके निराकरणार्थ 'लोकाग्रस्थिताः' यह विशेषण दिया है।

लोकाकाशके अग्रभागपर सिद्धशिला विद्यमान है। वहाँ-पर मुक्त जीव सदैव विराजमान रहते हैं।

श्रीकृष्ण, राम, विष्णु आदि इतिहासप्रसिद्ध सत्पुरुषोंको जैनमतमें पुण्यपुरुष तो जरूर माना है, लेकिन उनकी सांसारिक अवस्थाको ही आदर्श न समझकर वीतराग-अवस्था-को साध्य माना है। सच्चा आदर्श, पूज्य या देव वही हो सकता है कि जो 'वीतराग', 'सर्वज्ञ' और 'हितोपदेशी' है।

बिना रागादिके अभावसे ज्ञानमें पूर्णता तथा सत्यता नहीं आती और जो स्वयं पूर्णताको नहीं पहुँच पाया, वह सच्चे मार्गका उपदेशक भी कैसे हो सकता है। इसलिये जैनमतने अपना आराध्यदेव वीतराग, सर्वज्ञ एवं हितोपदेशी परमात्माको ही कहा है।

साधक

जैनधर्मने पहले पूर्णत्यागका ही उपदेश दिया है और उसके बाद उस पूर्ण त्यागकी शक्ति न हो तो आंशिक त्यागरूप गृहस्थ-धर्मका उपदेश दिया है।

साधक या उपासकके तीन प्रकार माने गये हैं—

(१) पाक्षिक, (२) नैष्ठिक और (३) साधक।

(१) त्याग या व्रतके ग्रहण करनेका जिसका सङ्कल्प है और 'वह धन्य दिन कब आवेगा, जब कि मैं व्रती बनूँगा' ऐसी जिसको लगन लगी है, वह भव्य जीव 'पाक्षिक' कहलाता है।

(२) जो व्रतोंका पालन करता है, वह 'नैष्ठिक' है। और—

(३) जो आत्मध्यानमें निमग्न रहता है, उसको 'साधक' कहते हैं। गृहस्थको अपना जीवन इस तरह बिताना चाहिये कि जिससे धर्म, अर्थ, काम—इस त्रिवर्गमें परस्पर विरोध न आवे। जिससे धर्ममें दूषण लगे, ऐसा अन्याययुक्त अर्थोपार्जन और पशुतुल्य कामसेवन नहीं करना चाहिये। सदैव पूर्ण त्यागकी ओर अपना दृष्टिबिन्दु रखनेवाला ही सच्चा गृहस्थ कहलाता है।

गृहस्थसे उत्कृष्ट पूर्ण त्यागरूप यतिधर्म बतलाया है। पञ्च पापोंका पूर्णरूपसे त्याग करनेवाला, आरम्भ और परिग्रहका त्याग करनेवाला, शरीर और भोगसे विरक्त—इस प्रकार आत्महित साधनेवाला 'यति' कहलाता है। गृहस्थ और यति दोनोंका साध्य मोक्ष ही होनेसे वे 'मुमुक्षु' कहलाते हैं।

केवल बाह्य आचारको धर्म नहीं कहते। लेकिन भावपूर्वक आचरणको ही धर्म कहते हैं। उसीसे इष्टसिद्धि हो सकती है। केवल लोगोंसे मान-प्रतिष्ठादिकी चाह रखनेवाला भावरहित बाह्यवेषी साधु भी मुमुक्षु नहीं है। इसलिये भावपूर्वक पञ्चपापत्यागरूप धर्मका पालन करनेवाला 'सच्चा साधक' कहलाता है।

साधन

उपरिनिर्दिष्ट उत्तम साध्यका साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इन तीनोंकी पूर्णता बतलायी गयी है। आत्मस्वरूपके प्रति समीचीन श्रद्धा, आत्मस्वरूपका समीचीन ज्ञान और आत्मस्वरूपमें आत्माका लय होनेसे ही आत्माको निजतत्त्वकी प्राप्ति होती है। निजको निज और परको पर समझना—इसीको सम्यग्दर्शन कहते हैं। दृष्टिमें अर्थात् श्रद्धानमें समीचीनता आनेसे ही ज्ञानमें समीचीनता आती है और जिसे आत्मज्ञानकी झलक मिल गयी, उसकी आत्मप्रवृत्ति पर-पदार्थसे हटकर स्वयं आत्मस्वरूपमें प्रवृत्त होती है। जिसने अपना ध्येयबिन्दु देख लिया, वह उसको आज नहीं तो कल—कभी-न-कभी अवश्य प्राप्त करेगा। आत्मज्ञानीकी मुक्ति अवश्यम्भावी होनेसे उसीको जीवन्मुक्त कहते हैं।

आत्मज्ञानविरहित कितना ही तप, त्याग और धर्म किया जाय, वह सब निरर्थक है। समीचीन श्रद्धाके आठ अङ्ग हैं—

(१) 'तत्त्वम् इदम् एव इदृशम् एव, अन्यत् न च अन्यथा न' इस प्रकारकी अचल श्रद्धाको 'निःशङ्कित' अङ्ग कहते हैं।

(२) जिसने आत्माको आत्मा और परको पर समझ लिया, उसे आत्मरसमें ही सच्चा आनन्द मिलता है, भोग भोगनेकी इच्छा नहीं होती। मोक्षमार्गपर आरूढ़ हुए कुछ आत्मज्ञानी मुमुक्षुओंकी विषय-भोगकी ओर जो प्रवृत्ति दिखायी देती है, वह केवल 'चारित्र-मोह' के तीव्र उदयवश है। भोगके पश्चात् उन्हें तीव्र पश्चात्ताप होता है और वे अपने आत्माकी निन्दा करते हैं। इस प्रकार भोग भोगनेकी अभिलाषा न रखना—इसको 'निःकाङ्क्षित' अङ्ग कहते हैं।

(३) तत्त्वज्ञानी पुरुष कभी किसीसे ग्लानि नहीं करेगा। वह गुणानुरागी होनेसे गुणी पुरुषकी सेवा-शुश्रूषा करेगा, रोग आदिसे पीड़ित उसके शरीरसे कभी घृणा नहीं करेगा। यह 'उसका निर्विचिकित्सा' अङ्ग है।

(४) अज्ञानी या असमर्थ लोगोंके आचरणके द्वारा यदि कहींपर धर्मकी निन्दा होती हो तो उसका प्रमार्जन करना—यह 'उपगूहन' अङ्ग है।

(५) धर्मसे च्युत पुरुषको उपदेशादिद्वारा पुनः धर्ममें स्थिर करना—यह 'स्थितीकरण' अङ्ग है।

(६) दूसरे लोग ऐसा करते हैं, इसलिये स्वयं भी करना—यह गतानुगतिक वृत्ति न रखकर मिथ्यामार्ग और मिथ्यामार्गपर चलनेवाले पुरुषोंको मनसे सम्मति न देना,

वाणीसे उनकी स्तुति न करना और शरीरसे उनका आदर-सत्कार न करना तथा उनसे सम्पर्क (सहवास) न रखना—इसको 'अमूढदृष्टि' अङ्ग कहते हैं।

(७) प्राणिमात्रके प्रति प्रेमभाव रखना, किसीको दुःख न पहुँचाना—यह 'वात्सल्य' अङ्ग है।

(८) उपदेशादिद्वारा धर्मको प्रकाशमें लाना—प्रसार करना, यह 'प्रभावना' अङ्ग है।

सम्यग्दर्शनके ये आठ अङ्ग माने गये हैं। सम्यग्दृष्टिमें ये आठों अङ्ग (गुण) अवश्य रहते हैं। समीचीन श्रद्धासे ज्ञानमें समीचीनता तो आती है, परन्तु ज्ञानकी पूर्णता कषाय-मोहके अभाव होनेपर होती है।

इसी तरह मोह और योगका अभाव होनेपर चारित्रकी पूर्णता होकर परमोच्च अन्तिम साध्य मोक्ष प्राप्त होता है।

कर्मपुद्गलकी उत्पत्ति तथा निरोधका हेतुनिर्देश

जैनतत्त्वने पुद्गल-द्रव्यके २३ प्रकार (वर्गणाएँ) माने हैं। उनमेंसे कोई (आहार-वर्गणा) शरीरादिरूपमें परिणत होते हैं, कोई (भाषा-वर्गणा) शब्दरूपमें परिणत होते हैं, कोई (मनोवर्गणा) अष्टदल कमलाकार मनरूप बनते हैं और कोई (कार्माण-वर्गणा) कर्मपुद्गलरूप बनते हैं। ये सब वर्गणाएँ लोकाकाशमें भरी हुई हैं।

कर्मपुद्गल अचेतन होनेसे स्वयं आत्माके पास नहीं जाते, लेकिन अनादिकालीन बद्धरूप आत्माके 'योग'रूप परिणाममें ऐसी आकर्षक शक्ति है कि जिसके द्वारा वे कर्म-पुद्गल खींचे जाते हैं। कर्मपुद्गल नये नहीं बनते; क्योंकि असत्‌की उत्पत्ति तथा सत्‌का नाश कभी नहीं होता, किन्तु उनका अवस्थान्तर होता है। कार्माण-वर्गणाके ही आत्माके द्वारा खींचे जानेपर उसको 'कर्म' यह संज्ञा प्राप्त होती है। और उसकी स्थितिके अनुसार वह आत्माके पास रहकर जब उस कर्मकी स्थिति पूर्ण हो जाती है, तब वह फल देकर आत्मासे निकल जाता है और कार्माण-वर्गणारूप अपनी पूर्व अवस्थामें आ जाता है। कार्माण-वर्गणा सामान्य है, उसमें ज्ञानावरणादि प्रकार नहीं हैं; लेकिन जब वह कर्मरूप बनती है, तब उसमें ज्ञानावरणादि प्रकार होते हैं। आत्माके अलग-अलग गुणोंपर आवरण डालनेसे उनको अलग-अलग नामसे बोधित किया गया है।

(१) जो ज्ञान-गुणपर आवरण डालता है, उसे 'ज्ञानावरण' कहते हैं।

(२) जो दर्शन-गुणपर आवरण डालता है, उसे 'दर्शनावरण' कहते हैं।

(३) जिससे आत्माको सुख-दुःख होता है, उसे 'वेदनीय' कहते हैं।

(४) जो आत्माके सुख-गुणपर आवरण डालकर आत्माको मोहित करता है, जिससे आत्मा आत्माको भूलकर परको आत्मा समझने लगता है, उसे 'मोहनीय' कर्म कहते हैं।

(५) जिससे यह आत्मा चतुर्गतिमें भ्रमण करता है, वह 'आयु-कर्म' है।

(६) जिससे जीवको अपनी-अपनी गतिके अनुसार शरीर-इन्द्रिय-आकृति प्राप्त हो, उसे 'नामकर्म' कहते हैं।

(७) जिससे जीव उच्च आचरणवाले अथवा नीच आचरण-वाले कुलमें उत्पन्न हो, उसे 'गोत्रकर्म' कहते हैं।

(८) जिससे जीवको इष्ट वस्तुका लाभ आदि न हो, उसे 'अन्तराय' कहते हैं।

इस प्रकार कर्मपुद्गलके निमित्तसे आत्मा इस संसारमें दुखी होकर भटकता है। कर्म आत्माको भ्रमाता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि कर्म तो बेचारे अचेतन हैं, उनमें आत्माको भ्रमानेकी बुद्धि कैसे उत्पन्न हो सकती है। वास्तवमें आत्मा ही कर्मके बन्धनमें तथा मुक्तिमें कारण है। आत्मपरिणामसे ही कर्म खींचे जाते हैं और आत्म-परिणामसे ही उनका नाश होता है। कर्मके उदयसे मेरा हानि-लाभ हुआ, इस तरहकी कल्पना मनुष्य करता है; लेकिन वास्तवमें देखा जाय तो कर्म अपना कुछ भी नहीं करते। प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है। जिसकी परिणति जैसी होनेवाली है, वैसी ही होती है; उसमें परवस्तु केवल निमित्त बन जाती है।

इसलिये आत्मा ही कर्म-पुद्गलको खींचनेमें निमित्त है एवं उसका निरोध भी आत्मा ही कर सकता है।

सिद्धशिला

सिद्ध होनेका क्षेत्र कर्मभूमि ही होनेसे जम्बूद्वीप-लवणोदसमुद्र, धातकीखण्ड-कालोदसमुद्र और पुष्करार्ध द्वीप—इन ढाई द्वीपोंमेंसे ही जीव सिद्ध होते हैं।

सिद्धशिलाका क्षेत्र पैंतालीस लाख योजन है। मुक्त जीवोंका अमूर्त आकार होनेसे एक ही स्थानसे सिद्ध होने-

वाले जीव परस्परमें एकक्षेत्रावगाहरूप होकर रहते हैं। सिद्ध जीव जिस आकाश-प्रदेशसे उनकी मुक्ति होती है, उसी प्रदेश-पङ्क्तिसे सीधे ऊर्ध्वगमन कर लोकाकाशके अग्र-भागमें स्थित सिद्धशिलापर विराजमान होते हैं।

× × × ×

षड्द्रव्य

जैनतत्त्वने लोक-अलोकमें जितनी वस्तुएँ या पदार्थ मौजूद हैं, उन सबका समावेश ६ द्रव्योंमें किया है—(१) जीव, (२) पुद्गल, (३) धर्म, (४) अधर्म, (५) आकाश और (६) काल। इनमें (१) जीवद्रव्य सब द्रव्योंका ज्ञाता होनेसे प्रधान माना गया है। उसका स्वभाव ज्ञान-दर्शन-उपयोगरूप है। (२) जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण—ये चार गुण पाये जाते हैं, वह 'पुद्गल' है। (३) जो गतिमान् जीव और पुद्गलकी गमन करनेमें सहायता करता है, वह धर्म-द्रव्य है। (४) जो स्थितिमान् जीव और पुद्गलके स्थिर रहनेमें सहकारी होता है, वह अधर्म-द्रव्य है। (५) जो समस्त द्रव्योंको ठहरनेकी जगह देता है, वह आकाश-द्रव्य है। (६) जो सब द्रव्योंके परिणमनमें निमित्त बनता है, वह काल-द्रव्य है।

इनमें धर्म, अधर्म और आकाश—ये तीनों द्रव्य एक-एक अखण्ड द्रव्य हैं। धर्म-अधर्म तो सम्पूर्ण लोकाकाशमें व्याप्त हैं और आकाश-द्रव्य सम्पूर्ण लोक-अलोकमें व्याप्त है। आकाश-द्रव्य अनन्त और व्यापक है। उसमेंके जितने भागमें छहों द्रव्य रहते हैं, उसको लोकाकाश कहते हैं। उसके बाहर अनन्त आकाररूप अलोक है। लोकाकाशके बाहर धर्म-अधर्मादि द्रव्य न होनेसे वहाँ जीव और पुद्गल-द्रव्य नहीं जा सकते।

कर्मसे छूटा हुआ मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करके लोकाकाशके अन्ततक ही जा सकता है। ऊपर धर्म-द्रव्य न होनेसे अलोकमें नहीं जाता।

गुणस्थान

मोह और योगके निमित्तसे आत्माके सम्यक्त्व और चारित्र गुणोंकी जो अवस्थाएँ हैं, उनको गुणस्थान कहते हैं। उनके मुख्यतासे १४ प्रकार हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) सासादन, (३) मिश्र, (४) अविरत-सम्यक्त्व, (५) देशविरत, (६) प्रमत्त-विरत, (७) अप्रमत्त विरत, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिकरण, (१०) सूक्ष्म साम्पराय, (११) उपशान्त मोह, (१२) क्षीण मोह, (१३) सयोग-केवल और (१४) अयोग-केवल।

(१) आत्मस्वरूपकी पहचान न होनेसे पर-पदार्थको अपना समझकर उसपर मोह-ममत्व करना तथा पञ्चेन्द्रिय-विषयोंको भोगनेकी अभिलाषा करना—इस अवस्थाको 'मिथ्यात्व' कहते हैं। यह मिथ्यात्व ही जीवको संसारमें भ्रमण करानेमें प्रमुख कारण माना गया है। इस मिथ्यात्वके उदयसे जीवको उपदेश करनेपर भी सत्य तत्त्वपर श्रद्धा नहीं होती और विना उपदेशके ही अधर्ममार्गकी ओर स्वयं प्रवृत्ति होती है। मिथ्यादृष्टिके तीन प्रकार पाये जाते हैं—(क) कोई तो अनादिकालसे मोह-जंजालमें फँसे हुए अज्ञानान्धकारके कारण आत्मज्ञानरूप प्रकाशसे वञ्चित हैं। (ख) कोई दूसरेके उपदेशसे मिथ्यामार्गपर आरूढ होकर भूतबाधावाले पुरुषकी तरह यथेच्छ चेष्टा करते हैं। और (ग) कोई यह सच है कि वह सच है, इस संशय-पाशमें पड़े हुए हैं। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव आत्मज्ञानसे विमुख होकर निरन्तर पञ्चेन्द्रियोंके विषय भोगनेमें रत रहते हैं।

इस गुणस्थानके बाद एकदम चौथा गुणस्थान प्राप्त होता है। दूसरा और तीसरा गुणस्थान चौथेसे उतरते समय आते हैं।

(२) सासादन (स+आसादन)—इस नामसे ही यह प्रतीत होता है कि सम्यक्त्वसे आसादना—विराधना—च्युति होनेपर जबतक जीव मिथ्यात्व अवस्थाको नहीं पहुँच पाता, ऐसे बीचके परिणामको सासादन गुणस्थान कहते हैं।

(३) जिसमें मिथ्यात्व और सम्यक्त्वकी मिश्र अवस्था पायी जाती है अर्थात् जिसे मिथ्या भी नहीं कह सकते और सम्यक् भी नहीं कह सकते, ऐसे दही और गुड़के मिश्रणके स्वादकी तरह जो जात्यन्तररूप अवस्था प्राप्त होती है, उस परिणामको 'मिश्र' गुणस्थान कहते हैं।

(४) अविरत-सम्यक्त्व—इसमें आत्मस्वरूपकी पहचान होनेसे जीव परद्रव्यमें मोह-ममत्व नहीं रखता, विषयभोग इच्छावश नहीं भोगता; लेकिन उसकी जो उस ओर प्रवृत्ति दिखायी देती है, वह केवल चारित्र-मोहके तीव्र उदयवश होती है। कर्मोदयवश उसे विषयोंको भोगना पड़ता है, न कि उन्हें वह भोगता है।

इसे सत् तत्त्वका स्वरूप तो वह जरूर समझता है, लेकिन चारित्र-मोहके उदयवश वह कुछ भी त्याग-ग्रहण

नहीं कर सकता; इसलिये इसको अविरत-सम्यक्त्व कहते हैं। यही जैनियोंका 'कर्मयोगी' है।

(५) जहाँ जीव स्थूल पञ्चपापोंका त्याग तो कर देता है लेकिन सूक्ष्म पापोंको उपजीविका-साधन आदिके कारण नहीं छोड़ सकता, ऐसे आंशिक त्यागको 'देशविरत' कहते हैं। यहाँ पापोंका स्थूलतः त्याग और सूक्ष्मतः त्याग है, इस दृष्टिसे इसको 'विरताविरत' भी कहते हैं। त्यागीका वेष धारण करनेसे ही कोई त्यागी नहीं बनता, समीचीन श्रद्धापूर्वक पापोंको हेय समझकर त्याग करनेवाला व्रती कहलाता है। इसी तरह व्रत पालनेमें माया-कपटाचार, मिथ्यापन-असदाचार और निदान (व्रतोंसे भोग भोगनेको मिलें—ऐसी आकाङ्क्षा)—ये तीन शल्य नहीं होने चाहिये। राजालोग या क्षत्रियलोग भी व्रतोंका पालन कर सकते हैं। अहिंसाणुव्रती भी युद्ध इत्यादिमें विरोधी-हिंसा कर सकता है। कहा है—

यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्या-
द्यः कण्टको वा निजमण्डलस्य।
अस्त्राणि तस्मैव नृपाः क्षिपन्ति
न दीनकमीनशुभाशयेषु॥

(६) प्रमत्त-विरत—इसमें पञ्चपापोंका पूर्ण त्याग होता है। बाह्य—घर, कपड़े आदि परिग्रहोंका और अन्तरङ्ग—कषाय, राग-द्वेषादिकोंका त्याग कर नैसर्गिक—जन्मजात दिगम्बरत्वको धारणकर, शरीरको तपका साधन जानकर उसके रक्षणार्थ भिक्षावृत्तिसे अयाचकवृत्तिसे प्रासुक (निर्जन्तु) शुद्ध भोजन लेनेवाला, उपजीविकाके साधनभूत असि, मसि, कृषि आदि सब आरम्भ-क्रियाओंका त्याग करनेवाला, शास्त्र-स्वाध्याय, धर्मोपदेश और आत्मध्यानमें सदैव तत्पर रहनेवाला वनवासी साधु, मुनि अथवा तपस्वी प्रमत्त-विरत गुणस्थानवर्ती कहा जाता है। इसमें संयम तो होता है, लेकिन प्रमाद रहता है; आत्मस्वरूपमें जितनी सावधानता होनी चाहिये उतनी नहीं होती। आहार लेना, गमनागमन करना, निद्रा लेना आदि प्रमाद (आत्मस्वरूपमें असावधानी) रहते हैं; इसलिये इसको प्रमत्त-विरत गुणस्थान कहते हैं।

(७) जिसमें प्रमाद नहीं रहता, आत्मस्वरूपमें परिपूर्ण सावधानता रहती है, उसको 'अप्रमत्त-विरत' गुणस्थान कहते हैं। इसके दो भेद हैं—(१) स्वस्थान अप्रमत्त और (२) सातिशय अप्रमत्त। स्वस्थान अप्रमत्तवाला जीव छठेसे सातवेंमें और सातवेंसे छठेमें—इस प्रकार बार-बार चढ़ता-उतरता रहता है। लेकिन जब सातिशय अप्रमत्तवर्ती होता है, तब वहाँसे ध्यानस्थ होकर नियमसे वह ऊपर ही चढ़ता है। वहाँसे ऊपर चढ़नेके दो प्रकार हैं—(१) उपशम-श्रेणी और (२) क्षपक-श्रेणी। उपशम-श्रेणीसे चढ़नेवाला जीव चारित्रमोह कर्मका उपशम (कर्मका अनुदय होकर आत्माके पास कुछ कालतक दबकर रहना—इसको उपशम कहते हैं) करते-करते ८, ९ तथा १० गुणस्थानोंमें जाकर नियमसे ११ वें गुणस्थानमें ही जाता है, उसके ऊपर नहीं जा सकता; उसका रास्ता वहींपर बन्द हो जाता है। उसको वहाँसे नियमसे फिर वापस लौटना ही पड़ता है।

और जो दूसरी क्षपक-श्रेणीसे चढ़ता है, वह चारित्रमोहका क्षय (नाश) करते-करते ८, ९ तथा १० गुणस्थानोंमें चढ़कर नियमसे एकदम १२ वें गुणस्थानमें जाता है, वहाँसे फिर कभी वापिस नहीं लौटता। वह नियमसे १३ वें और १४ वें गुणस्थानमें आरूढ़ होकर मोक्षको प्राप्त कर लेता है।

श्रेणी चढ़ते समय परिणामोंकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—(१) अधःप्रवृत्तकरण, (२) अपूर्वकरण और (३) अनिवृत्तिकरण।

सातवें सातिशय-अप्रमत्त गुणस्थानमें अधःप्रवृत्तकरण परिणाम होते हैं। वहाँ परिणामोंकी विशुद्धि न्यूनाधिक होनेसे पीछेसे चढ़नेवाले जीवोंके परिणाम आगेके जीवोंके परिणामोंके सदृश हो सकते हैं। भिन्नसमयवर्ती जीवोंमें सदृशता पायी जाती है।

(८) आठवें अपूर्वकरणमें अपूर्वकरणरूप परिणाम होते हैं। अर्थात् परिणामोंकी विशुद्धि अपूर्व-अपूर्व ही होती जाती है। भिन्नसमयवर्ती जीवोंमें विसदृशता ही रहती है। लेकिन एकसमयवर्ती जीवोंमें सदृशता तथा विसदृशता भी पायी जाती है।

(९) अनिवृत्तिकरणमें परिणामोंकी विशुद्धि समान रूपसे बढ़ती जाती है। जहाँ भिन्नसमयवर्ती जीवोंमें विसदृशता ही और एकसमयवर्ती जीवोंमें सदृशता ही पायी जाती है, उसको अनिवृत्तिकरण गुणस्थान कहते हैं।

(११) उपशान्तमोहमें सम्पूर्ण कषाय—चारित्रमोह कर्मका उपशम हो जानेसे आत्मपरिणामोंकी विशुद्धि तो पूर्णतया (यथाख्यात चारित्ररूप) होती है, लेकिन वह कुछ कालतक ही रहती है। उपशमका काल पूर्ण होनेपर कर्मका नियमसे उदय होता है और उससे परिणामोंमें फिरसे अशुद्धि होकर वह नियमसे नीचेके गुणस्थानमें आता है।

यवनादि कर्मभूमिज म्लेच्छ हैं। पर्वतोंका जो अन्तभाग समुद्रमें जाता है, उसको अन्तर्द्वीप कहते हैं। उसपर रहनेवाले अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ हैं। वे अश्वमुख, कपिमुख आदि भिन्न-भिन्न प्रकारके हैं।

(३) तिर्यञ्चगति—इनके ५ प्रकार हैं।

(१) पृथ्वी, वनस्पति, अग्नि, वायु, जल—ये एकेन्द्रिय हैं। (२) आळी, शङ्ख आदि द्वीन्द्रिय हैं। (३) चींटी, खटमल आदि त्रीन्द्रिय हैं। (४) मक्खी, भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय हैं। और (५) गाय, भैंस आदि पञ्चेन्द्रिय हैं। एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रियतक सभी जीव असंज्ञी (मनरहित) होते हैं और पञ्चेन्द्रियोंमें कोई संज्ञी और कोई असंज्ञी होते हैं।

(४) नरकगति—पृथ्वीके नीचे सात नरक हैं। उनमें रहनेवालोंको सदैव दुःख ही होता है।

× × ×

२—इन्द्रिय-मार्गणा—इन्द्रियाँ पाँच हैं—(१) स्पर्शनेन्द्रिय, (२) रसनेन्द्रिय, (३) घ्राणेन्द्रिय, (४) चक्षुरिन्द्रिय और (५) कर्णेन्द्रिय। इनके विषय भी अलग-अलग हैं। संज्ञी जीवोंकी अपेक्षा असंज्ञी जीवोंकी इन्द्रियोंका विषय-क्षेत्र बड़ा रहता है। उनकी इन्द्रियाँ अधिक तीक्ष्ण होती हैं। संज्ञी जीवोंके कर्णेन्द्रियका क्षेत्र १२ योजन (४८ कोस) का है; स्पर्शन, रसन, घ्राणका ९ योजन है और चक्षुका ४७२६३$\frac{१}{२१}$ योजन है। चक्रवर्ती राजा भरत, जब सूर्यविमान उदयाचलपर आता है तब, उसमें स्थित जिन-बिम्बका दर्शन करते थे। इसीसे सूर्यनमस्कारकी प्रथाका पता चलता है।

३—काय-मार्गणा—काय ६ प्रकारकी है—(१) पृथ्वीकाय, (२) अप्काय, (३) तेजःकाय, (४) वायुकाय, (५) वनस्पतिकाय और (६) त्रसकाय। पृथ्वीसे लेकर वनस्पतिकायतक सबकी उत्पत्ति अपने योग्य स्पर्शादि गुणोंसे होती है। उनमें मांस, चर्म आदि धातु-उपधातु नहीं रहते; इसलिये उपजीविकावश इनको भक्षण करनेवाला शाकाहारी कहलाता है। ये पाँचों काय प्राणिमात्रके जीवन हैं। इनको भक्षण किये विना प्राणी जीवित नहीं रह सकता।

द्वीन्द्रियसे पञ्चेन्द्रियपर्यन्त जीवोंके शरीरको त्रसकाय कहते हैं। इनके शरीरमें मांस, चर्म आदि होनेसे उनको भक्षण करनेवाला मांसाहारी कहलाता है।

४—योग-मार्गणा—मन-वचन-कायद्वारा आत्मप्रदेशके परिस्पन्दको योग कहते हैं। उसके मुख्य तीन भेद हैं—(१) मनोयोग, (२) वचनयोग और (३) काययोग। मनकी प्रवृत्तिको मनोयोग, वचनकी प्रवृत्तिको वचनयोग और कायके व्यापारको काययोग कहते हैं। मनोयोगके ४ भेद हैं—(१) सत्यमनोयोग, (२) असत्यमनोयोग, (३) उभयमनोयोग और (४) अनुभयमनोयोग। इसी प्रकार वचनयोगके भी ४ भेद हैं—(१) सत्य, (२) असत्य, (३) उभय और (४) अनुभय। सत्य और असत्यका अर्थ तो सरल ही है। उभयमें सत्य और असत्यका मिश्रण रहता है। और जो न सत्यरूप है न असत्यरूप है, उसे अनुभय कहते हैं। असंज्ञियोंकी भाषा तथा आमन्त्रण, आज्ञा, याचना इत्यादिरूप जो वचन हैं, उनमें सत्यासत्य कुछ भी न होनेसे वे सब अनुभय हैं।

काययोगके ७ भेद हैं—(१) औदारिक, (२) औदारिकमिश्र, (३) वैक्रियिक, (४) वैक्रियिकमिश्र, (५) आहारक, (६) आहारकमिश्र और (७) कार्माण। जिस अवस्थामें जो-जो शरीर रहता है, उसके निमित्तसे वहाँपर वह योग भी रहता है।

सब तिर्यञ्च और मनुष्योंके शरीरको औदारिक शरीर कहते हैं। देव और नारकी जीवोंके वैक्रियिक शरीर होते हैं। किन्हीं-किन्हीं ऋद्धिधारी मुनिको भी विक्रिया-ऋद्धि प्राप्त हो सकती है।

आहारक शरीर—छठे गुणस्थानवर्ती मुनियोंमेंसे किसी-किसीको यह देह प्राप्त हो सकता है।

शुभ्रवर्णका, धातुरहित, एक हाथ ऊँचा, पुरुषाकार पुतला किसी-किसी मुनिके मस्तकमेंसे असंयमके परिहारके लिये, शास्त्रमें कुछ शङ्का आ जाय, तब जिन-वन्दनाके लिये बाहर निकलता है। उस पुतलेको आहारक शरीर कहते हैं।

औदारिकादि शरीरपर जो कान्ति है, उसको तैजस शरीर कहते हैं।

कर्मके पिण्ड (समूह) को कार्माण शरीर कहते हैं। तैजस और कार्माण—ये दोनों शरीर सब संसारी जीवोंके होते हैं।

५—वेदमार्गणा—मैथुन-सेवनकी इच्छाको वेद कहते हैं। वेदके मुख्य दो भेद हैं—भाववेद और द्रव्यवेद। मैथुन-सेवनके परिणामको भाववेद कहते हैं। शरीरके बाह्य लिङ्गको द्रव्यवेद कहते हैं। इन दोनोंके भी (१) पुंवेद,

(२) स्त्रीवेद और (३) नपुंसकवेद—ये ३ प्रकार हैं। प्रायः जो द्रव्यवेद रहता है, वैसा ही भाववेद भी रहता है; लेकिन कभी-कभी भिन्न भी रहता है। स्त्रीके साथ रमणकी इच्छाको पुंवेद कहते हैं। पुरुषके साथ रमणकी इच्छाको स्त्रीवेद कहते हैं। जो न पुरुष हैं न स्त्री, वे नपुंसक कहलाते हैं।

६—कषाय-मार्गणा—कषाय ४ हैं—(१) क्रोध, (२) मान, (३) माया और (४) लोभ।

कर्मरूप क्षेत्रमें जो ऐहिक सुख-दुःखरूप धान्य (बीज) कर्षण करता (बोता) है, उसको कषाय कहते हैं। वास्तवमें जीवोंको जो सुख या दुःख मिलता है, वह सब कषायका ही प्रताप है। प्रायः नरकगतिमें क्रोध, तिर्यञ्चगतिमें माया, मनुष्यगतिमें मान और देवगतिमें लोभ अधिकतासे पाया जाता है।

७—ज्ञान-मार्गणा—ज्ञानोपयोगके ७ भेद हैं—(१) मति, (२) श्रुत, (३) अवधि (ये तीनों जब सम्यग्दृष्टिको होते हैं तो सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं, और मिथ्यादृष्टिको होते हैं तो मिथ्याज्ञान कहलाते हैं), (४) कुमति, (५) कुश्रुत, (६) कुअवधि, (७) मनःपर्यय और (८) केवल।

(१) इन्द्रियों तथा मनसे जो ज्ञान होता है, उसे मतिज्ञान कहते हैं।

(२) मतिज्ञानसे जाने हुए पदार्थके विषयमें जो विशेष ज्ञान होता है अथवा उसके सम्बन्धसे किसी अन्य पदार्थका जो ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान केवल मनका विषय है।

(३) इन्द्रियोंकी सहायता विना आत्मशक्तिसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादामें जो रूपी (पुद्गल) पदार्थको स्पष्ट जानता है, वह अवधिज्ञान है।

(४) इन्द्रियोंकी 'सहायता' विना आत्मशक्तिसे दूसरेके मनके विषयोंको जो जान लेता है, वह मनःपर्यय ज्ञान है।

(५) लोक-अलोककी समस्त वस्तुओंको उनके त्रिकालवर्ती पर्यायोंसहित आत्मशक्तिसे युगपत् जो जानता है, वह केवलज्ञान है।

दर्पणकी तरह समस्त वस्तुओंका प्रतिभास इस केवलज्ञानमें झलकता है।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान समस्त छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञानी (१ से १२ गुणस्थानतकके) जीवोंको होता है। अवधिज्ञान नारकी जीवों, देवताओं और किन्हीं-किन्हीं मुनियोंको होता है। मनःपर्यय ज्ञान किन्हीं-किन्हीं मुनियोंको ही होता है और केवल ज्ञान सर्वज्ञ देवोंको (१३–१४ गुणस्थानवर्ती जीवों और सिद्ध परमात्माको) ही होता है।

८—संयम-मार्गणा—व्रतधारण, समितिपालन, कषाय-निग्रह, दण्डत्याग और इन्द्रियजय—इनको संयम कहते हैं। अर्थात् (१) अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच महाव्रतोंका पालन करना, (२) ईर्ष्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और व्युत्सर्ग—इन पाँच समितियोंको पालना; (३) क्रोध, मान, माया और लोभ—इन कषायोंका निग्रह करना; (४) मन-वचन-कायसे कृत, कारित एवं अनुमोदित तीनों प्रकारके दण्डका (हिंसाका) त्याग करना और (५) पञ्चेन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना। इनका नाम संयम है।

संयमके ७ भेद और हैं—(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापना, (३) परिहारविशुद्ध, (४) सूक्ष्मसम्पराय, (५) यथाख्यात, (६) देशसंयम और (७) असंयम।

९—दर्शनमार्गणा—ज्ञान होनेके पूर्व वस्तुका जो सामान्य प्रतिभास होता है, उसको दर्शन कहते हैं। इसके ४ भेद हैं—(१) चक्षुदर्शन, (२) अचक्षुदर्शन, (३) अवधिदर्शन और (४) केवलदर्शन।

(१) चक्षुरिन्द्रियसे होनेवाले मतिज्ञानसे पूर्व जो सामान्य प्रतिभास होता है, वह चक्षुदर्शन है।

(२) चक्षुके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले मतिज्ञानसे पूर्व जो सामान्य प्रतिभास होता है, वह अचक्षुदर्शन है।

(३) अवधिज्ञानके पूर्व जो दर्शन होता है, वह अवधिदर्शन है।

(४) केवलज्ञानके साथ-साथ जो दर्शन होता है, वह केवल-दर्शन है।

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है, इसलिये उसके पूर्व अलग दर्शन नहीं होता। तथा मनःपर्यय ज्ञान होते समय प्रथम मनमें विचार उत्पन्न होता है, फिर मनःपर्ययज्ञानी आत्मशक्तिसे परकीयमनोगत विचारको जानता है; इसलिये मनःपूर्वक होनेसे इसके पूर्व भी अलग दर्शन नहीं होता। छद्मस्थको दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होता है और सर्वज्ञको ज्ञान एवं दर्शन एक साथ होते हैं।

दर्शनमें	ज्ञानमें
(१) सामान्य प्रतिभास है।	विशेष प्रतिभास है।
(२) निराकार है।	साकार है।
(३) निर्विकल्प है।	सविकल्प है।

१०—लेश्या—कषायसे अनुरञ्जित जो आत्मपरिणामोंकी प्रवृत्ति है, उसे लेश्या कहते हैं। लेश्या ६ हैं—(१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत, (४) पीत, (५) पद्म और (६) शुक्ल। इन छः प्रकारके शरीर-वर्णको द्रव्यलेश्या कहते हैं और परिणामकी संक्लेशरूप या विशुद्धरूप जो अवस्था है, उसको भावलेश्या कहते हैं।

इन छः लेश्याओंके परिणाम कैसे होते हैं, इसके लिये दृष्टान्त दिया जाता है। (१) कृष्णलेश्यावाला जीव फल खानेकी इच्छासे वृक्षको जड़से उखाड़नेकी इच्छा रखता है। (२) नीलवाला उसे स्कन्धसे (तनेसे) काटनेकी इच्छा रखता है। (३) कापोतवाला केवल बड़ी शाखाको काटनेकी इच्छा करता है। (४) पीतवाला जिसमें फल लगे हैं, केवल उतनी ही छोटी टहनीको काटनेकी इच्छा करता है। (५) पद्मलेश्यावाला केवल फलको तोड़कर खानेकी इच्छा करता है। और (६) शुक्ल लेश्यावाला केवल नीचे पड़े हुए फलोंको खानेकी इच्छा करता है। इस प्रकार परिणामोंमें कषायकी मन्दता अधिकाधिक होनेसे विशुद्धि अधिकाधिक बढ़ती है। कौन-कौन-सी लेश्यावालोंके कैसे-कैसे परिणाम होते हैं, इसका भी साधारण अनुमान किया जा सकता है।

(१) तीव्रक्रोधी, वैर न छोड़नेवाला, लड़ने-झगड़नेवाला, निर्दय एवं धर्मद्वेषी—ये कृष्णलेश्याके चिह्न हैं।

(२) मन्द, बुद्धिहीन, विषयलोलुप, मानी, मायावी, आलसी, दूसरोंको फँसानेमें कुशल एवं तीव्रलोभी—ये नीललेश्याके लक्षण हैं।

(३) दूसरेकी निन्दा करनेवाला, शोक करनेवाला, भय रखनेवाला, दूसरोंका तिरस्कार और अपनी प्रशंसा करनेवाला तथा कार्य-अकार्यको न जाननेवाला, कापोतलेश्यावाला होता है।

(४) कार्याकार्यको और सेव्य-असेव्यको जाननेवाला, समताभाव रखनेवाला, दयावान्, दानी और विनयवान्—ये सब पीतलेश्याके चिह्न हैं।

(५) त्यागी, भद्र, क्षमाशील, साधुओंकी पूजा-भक्ति करनेवाला पद्मलेश्यावाला कहलाता है।

(६) पक्षपातशून्य, भोगकी आकाङ्क्षा न रखनेवाला तथा राग-द्वेषसे शून्य पुरुष शुक्ललेश्याधारी होता है।

इनमें कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अशुभ और शेष तीन शुभ हैं। जीवकी भली-बुरी अवस्था होनेमें प्रमुख कारण लेश्या ही है। जैसी-जैसी लेश्या होती है, वैसी-वैसी ही क्रिया जीव करता है। शुभ लेश्या ही जीवको उन्नत बनाती है।

११—भव्यत्व-मार्गणा—जीव दो प्रकारके हैं—(१) भव्य तथा (२) अभव्य। जिसमें अन्तिम साध्य मोक्षको सिद्ध करनेकी योग्यता है, वह भव्य और जिसमें वह योग्यता नहीं है, वह अभव्य कहलाता है। जीवोंकी ये दोनों राशियाँ निसर्गसिद्ध और नियत हैं। भव्य कभी अभव्य नहीं होता और अभव्य कभी भव्य नहीं होता।

भव्य जीवोंके भी दो प्रकार हैं—(१) भव्य तथा (२) अभव्यसम भव्य। जिनको कभी-न-कभी मुक्ति अवश्य प्राप्त होगी, वे भव्य हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी भव्य हैं, जिनमें भव्यत्व होनेसे योग्यता तो जरूर है परन्तु वैसा निमित्त ही न मिलनेसे वे कभी मुक्तिको नहीं प्राप्त करते, सदा-सर्वदा अभव्यकी तरह संसारहीमें रहते हैं। उन्हें अभव्यसम भव्य कहते हैं।

१२—सम्यक्त्व-मार्गणा—सात तत्त्वोंका जैसा स्वरूप है, वैसा ही समझना अर्थात् आत्माको आत्मा और परद्रव्यको पर समझना—इसीको सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसीको आत्मज्ञान या भेदविज्ञान कहते हैं। यह जिसको प्राप्त हो गया, उसकी प्रवृत्ति सहज ही परद्रव्यसे हटकर आत्माकी ओर मुड़ जाती है। इसलिये सम्यक्त्व ही सिद्धिका पहला प्रमुख साधन माना गया है।

१३—संज्ञित्व-मार्गणा—संसारी जीव दो प्रकारके होते हैं—(१) संज्ञी और (२) असंज्ञी। हिताहितका विचार करनेवाली और परोपदेशको ग्रहण करनेवाली मनःशक्तिको संज्ञा कहते हैं। वह संज्ञा जिसको है, वह संज्ञी है और जिसको नहीं, वह असंज्ञी है। मनसहित जीवोंको संज्ञी और मनरहित जीवोंको असंज्ञी कहते हैं। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय—ये सब असंज्ञी ही हैं। पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चोंमें कुछ असंज्ञी और कुछ संज्ञी होते हैं। मनुष्य, देव, नारकी—ये सब संज्ञी ही हैं।

१४–आहार-मार्गणा–यद्यपि लोकभाषामें आहारका अर्थ भोजन है, तथापि जैनपरिभाषामें आहारका अर्थ कर्म और नोकर्मका ग्रहण करना है। जबतक संसार है, तबतक कर्मका ग्रहण तो सदैव रहता है; इसलिये यहाँपर उसकी विवक्षा न रखकर केवल नोकर्म (शरीर, इन्द्रिय आदि) के लिये जो परमाणुओंका ग्रहण होता है, उसकी विवक्षासे आहार-मार्गणाद्वारा जीवका निरूपण किया गया है। इस नोकर्माहार-की अपेक्षासे कोई जीव आहारक और कोई अनाहारक होते हैं।

विग्रहगतिमें (एक शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर धारण करनेके लिये गमनरूप अवस्थाको विग्रहगति कहते हैं) रहनेवाले, केवल समुद्घात करनेवाले केवली, अयोग-केवली और सिद्ध परमात्मा—ये सब अनाहारक हैं; शेष सब आहारक हैं।

आठ कर्मोंका विवरण

आठ कर्मोंका स्वरूप पीछे लिखा गया है। उनमें (१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) मोहनीय, (४) अन्तराय—ये चार घातीय कर्म तथा (१) वेदनीय, (२) आयु, (३) नाम और (४) गोत्र—ये चार अघातीय कर्म हैं। घातीय कर्म जीवके ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य—इन चार गुणोंका घात करते हैं; किन्तु अघातीय कर्म आत्मगुणोंका साक्षात् घात नहीं करते, केवल आत्माको संसारके बन्धनमें रखनेके लिये कारण बनते हैं। इसलिये १३ वें गुणस्थानमें ही केवली भगवान्के चार घातीय कर्मोंका नाश हो जानेसे उनमें गुणोंका पूर्ण विकास हो जाता है। सिद्ध और अरिहंतमें गुणोंके विकासकी दृष्टिसे कुछ भी अन्तर नहीं है।

जीवकी नानाविध सांसारिक सुख-दुःखरूप अवस्थाका कारण ईश्वरवादी ईश्वरको मानते हैं, किन्तु जैनतत्त्व कर्मको ही उसका कारण मानता है। अपने-अपने पूर्वोपार्जित कर्मके उदयसे ही जीव सुख-दुःख भोगता है और उसीको ध्यान-तपद्वारा क्षय करके उनसे मुक्ति पाना भी आत्माके ही हाथमें है।

जीव और अजीव-तत्त्वके ही आधारपर आश्रवादि तत्त्व माने गये हैं।

आश्रव–जीवके पास कर्मके आनेको आश्रव कहते हैं। आश्रवके दो भेद हैं—(१) भावाश्रव और (२) द्रव्याश्रव। आत्माके जिन परिणामोंसे कर्म आते हैं, उन परिणामोंको भावाश्रव कहते हैं। भावाश्रवके ५ प्रकार हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग। १ले गुणस्थानमें मिथ्यात्वादि पाँच ही परिणामोंसे कर्मका आश्रव होता है, आगे मिथ्यात्व नहीं रहता। २ से ४ गुणस्थानमें अविरति आदि ४ प्रकारके परिणामोंसे कर्माश्रव होता है; आगे मिथ्यात्व, अविरति—ये दो नहीं रहते।

५-६ गुणस्थानमें प्रमाद आदि ३ प्रकारके परिणामोंसे कर्माश्रव होता है। इसके आगे प्रमाद भी नहीं रहता।

७से १० गुणस्थानतक कषाय और योगसे ही कर्माश्रव होता है। इसके आगे कषायका भी अभाव होता है।

११से १३तक केवल योग ही कर्माश्रवका कारण होता है।

१४ वें गुणस्थानमें आश्रवका कुछ भी कारण नहीं रहता। वहाँ केवल पूर्वबद्ध कर्मकी निर्जरा करना ही शेष रहता है।

भावाश्रव मुख्य कारण है, और द्रव्याश्रव उसका कार्य है। भावाश्रव होनेपर ही द्रव्याश्रव होता है, अन्यथा नहीं।

आत्माकी ओर कर्मकी आगमनरूप क्रियाको द्रव्याश्रव कहते हैं। कर्मरूप होनेयोग्य कार्माण-वर्गणा जो आत्माके पास आती है, वह तो आनेके समय सामान्यरूप (एकरूप ही) होती है; लेकिन आत्मासे बद्ध होनेके बाद पूर्वस्थित ज्ञानावरणादिरूप ७ प्रकारोंमें उसका यथासम्भव बटवारा हो जाता है। इसलिये द्रव्याश्रवके ज्ञानावरणादिरूप ८ प्रकार कहे गये हैं।

बन्ध–कर्मका आश्रव होनेके बाद ही बन्ध होता है। आश्रवको बन्धका कारण और बन्धको आश्रवका कार्य माना गया है। इसके भी दो भेद हैं—(१) भावबन्ध और (२) द्रव्यबन्ध। जिन परिणामोंसे कर्म और आत्माका बन्ध होता है, उसको भावबन्ध कहते हैं। ये वे ही परिणाम होते हैं जोकि भावाश्रवमें होते हैं। कर्म-परमाणु और आत्मप्रदेशका एकक्षेत्रावगाहरूप जो अन्योन्य प्रवेश है, उसको द्रव्यबन्ध कहते हैं।

बन्धका वर्णन ४ प्रकारसे किया गया है—

(१) प्रकृतिबन्ध, (२) प्रदेशबन्ध (३) स्थितिबन्ध और (४) अनुभागबन्ध—

(१) बाँधे गये कर्मका क्या-क्या स्वभाव है, यह प्रकृतिबन्ध बतलाता है।

(२) बाँधे गये कर्म कितने आये, इसके निर्णयको प्रदेशबन्ध कहते हैं।

(३) कर्म आत्माके पास कितने कालतक रहेगा, इसके निर्णयको स्थितिबन्ध कहते हैं।

(४) कर्मका फल क्या मिलेगा, यह अनुभागबन्धसे ज्ञात होता है।

आत्माके योगरूप परिणाममें जैसा तीव्र-मन्द परिस्पन्दन होता है, वैसा ही तीव्र या मन्द कर्मका स्वभाव और संख्या होती है और आत्माके कषाय-परिणाममें जैसी तीव्र-मन्दता होती है, उसी मात्रामें कर्मकी स्थिति और फल तीव्र या मन्द होते हैं।

कर्मका आत्माके साथ बन्ध होता है, इसका अर्थ यह नहीं कि आत्मा कर्मरूप (जड़) बन जाता है। द्रव्यमें अगुरुलघु नामकी एक ऐसी शक्ति है, जिससे एक द्रव्य दूसरा द्रव्य कभी नहीं बनता। जीव जीवत्व अवस्थामें ही और पुद्गल जड़त्व अवस्थामें ही रहता है। लेकिन इनमें ऐसी एक वैभाविक नामकी शक्ति है, जिससे ये दोनों अनादि कालसे अन्योन्यसम्पृक्त होनेके कारण विभावरूप अवस्थामें पड़े हैं। इनकी यह विभाव-अवस्था अनादि कालसे कनक-पाषाणकी तरह है। पुद्गलकी विभावरूप अवस्था (कर्म) के निमित्तसे जीवमें विभाव-परिणमन होता है और जीवके विभाव-परिणामोंके निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप (विभाव-अवस्थारूप) बनते हैं। ऐसा इनका संयोग-सम्बन्ध अनादि-कालसे है। ये पहले दो अलग-अलग शुद्ध द्रव्य थे, फिर इनका संयोग हुआ—ऐसी बात नहीं है। कनक-पाषाणमें शुद्ध सुवर्णत्व और पाषाणत्वका संयोग नहीं हुआ है, वह अनादिकालसे कनक-पाषाणरूप ही है; लेकिन उनमें विभिन्नता (द्वैविध्य) की जा सकती है। इसी तरह आत्मा ही आत्माके द्वारा कर्मको दूर कर सकता है।

इस प्रकार कर्म और आत्माका एकक्षेत्रावगाहरूप जो सम्बन्ध है, उसको बन्ध कहते हैं।

संवर—कर्मके आनेको रोकने अर्थात् कर्मको न आने देनेका नाम संवर है। इसके दो भेद हैं—(१) भाव-संवर और (२) द्रव्य-संवर। आत्माके जिन परिणामोंसे कर्मका आना बंद हो जाता है, उसको भाव-संवर कहते हैं और कर्मके न आनेको अर्थात् द्रव्याश्रवके निरोधको द्रव्य-संवर कहते हैं।

जिन परिणामोंसे कर्मका आना बंद होता है, उनके सात विभाग किये गये हैं—(१) व्रत, (२) समिति, (३) गुप्ति, (४) धर्म, (५) अनुप्रेक्षा, (६) परीषहजय और (७) चारित्र।

१—हिंसा, असत्य (झूठ), चोरी, मैथुन और परिग्रह (ममत्व)—इन पञ्च पापोंके त्यागको व्रत कहते हैं। आंशिक त्यागको अणुव्रत और पूर्ण त्यागको महाव्रत कहते हैं। पाँच प्रकारके पापोंकी अपेक्षासे व्रतोंके भी (१) अहिंसाव्रत, (२) सत्यव्रत, (३) अचौर्यव्रत, (४) ब्रह्मव्रत और (५) परि-ग्रहत्यागव्रत—इस प्रकार ५ भेद किये गये हैं।

२—समितिके पाँच भेद हैं—(१) ईर्या, (२) भाषा, (३) एषणा, (४) आदान-निक्षेपण और (५) व्युत्सर्ग।

(१) जीव-जन्तु देखकर गमन करनेको ईर्या-समिति कहते हैं।

(२) सत्य, प्रिय, हित और मित वचनको भाषा-समिति कहते हैं।

(३) प्रासुक (निर्जन्तु) शुद्ध आहारको एषणा-समिति कहते हैं।

(४) जीव-जन्तु देखकर कोई भी चीज उठाना या रखना—इसे आदान-निक्षेपण-समिति कहते हैं।

और (५) जीव-जन्तु देखकर मल-मूत्र-विसर्जन करना व्युत्सर्ग-समिति है।

३—गुप्ति—गुप्तिके तीन भेद हैं—(१) मनोगुप्ति, (२) वचनगुप्ति और (३) कायगुप्ति। मनकी क्रियाको रोकना मनोगुप्ति है, वचनकी क्रियाको रोकना वचनगुप्ति और कायकी (शरीरकी) क्रियाको रोकना कायगुप्ति है।

४—धर्म—धर्म कहते हैं स्वभावको। क्षमादि आत्माके स्वभाव हैं और क्रोधादि आत्माके विभाव-परिणाम हैं। धर्मके दस भेद हैं—(१) क्षमा—क्रोधका अभाव, (२) मार्दव—मानका अभाव, (३) आर्जव—मायाका अभाव, (४) शौच—लोभका अभाव, (५) सत्य—झूठ न बोलना, (६) संयम—इन्द्रियोंको अपने काबूमें (स्वाधीन) रखना, (७) तप—कष्ट सहन करना, (८) त्याग—स्वार्थबुद्धि न रखना, (९) आकिञ्चन्य—परायी वस्तुपर ममत्व न रखना और (१०) ब्रह्मचर्य—कामदेवपर विजय प्राप्त कर आत्मामें लीन रहना। ये ही आत्माके स्वभाव हैं इनसे आत्मा उन्नत होता है।

५–अनुप्रेक्षा–पुनः-पुनः चिन्तनको अनुप्रेक्षा या भावना कहते हैं। इनसे मनके संस्कार दृढ़ादिमें दृढ़ होते हैं। अनुप्रेक्षाके बारह भेद हैं—

(१) अनित्यानुप्रेक्षा–संसार अनित्य है। विषय, राज्य, धन, जीवन–ये सब चञ्चल हैं, नश्वर हैं। इस प्रकारके विचारोंसे इनके प्रति मोह कम होता है।

(२) अशरणानुप्रेक्षा–मरणसे कोई भी रक्षा नहीं कर सकता, धर्म ही शरण्यभूत है—ऐसी भावना करनी चाहिये।

(३) संसारानुप्रेक्षा–इस संसारमें यह जीव चौरासी लाख योनियोंमें नटकी तरह नाना वेष (जन्म) धारण करता हुआ भटकता है—इस तरह विचार करना।

(४) एकत्वानुप्रेक्षा–अपने-अपने कर्मका फल अपनेको ही भोगना पड़ता है और मरनेके बाद अकेले ही जाना पड़ता है, कोई भी साथी नहीं होता–ऐसा विचार करना।

(५) अन्यत्वानुप्रेक्षा–जिनको तू अपना समझता है, ये सब कनक-कान्ता-शरीर आदि पराये हैं—ऐसा विचार करना।

(६) अशुचित्वानुप्रेक्षा–यह शरीर रक्त, मांस, हड्डी आदि अपवित्र वस्तुओंकी खान है—ऐसा विचारकर देहपर ममत्व न रखना।

(७) आस्रवानुप्रेक्षा–मिथ्यात्व, अविरति, कषाय आदि परिणामोंसे कर्म आत्माके पास आते हैं और उन्हींके कारण आत्मा इस संसारमें भटकता है—इसलिये इनसे निवृत्त होना।

(८) संवरानुप्रेक्षा–व्रत, समिति आदि परिणामोंसे कर्म आत्माके पास नहीं आते—इसलिये इनमें सदैव प्रवृत्ति रखना।

(९) निर्जरानुप्रेक्षा–तपके प्रभावसे कर्म बिना फल दिये ही निकल जाते हैं—इसलिये तप, ध्यान आदिमें लीन रहना।

(१०) लोकानुप्रेक्षा–नरकगतिकी रचना ही ऐसी है कि जिससे दुःख होता है। मध्यलोककी रचना और ऊर्ध्वलोक-की रचनारूप लोकके आकारको लक्ष्यमें लाकर इनसे मैं कब मुक्त होऊँ—ऐसा विचार करना।

(११) बोधिदुर्लभ–इस संसारमें जीवने ऐन्द्रिय सुख तथा ऐश्वर्य तो अनेक भवोंमें प्राप्त किया, लेकिन बोधि अर्थात् सम्यक् ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई, अब यह दुर्लभ बोधि प्राप्त करके मुझे अपना आत्मकल्याण करना चाहिये—ऐसी भावना करना।

(१२) धर्मानुप्रेक्षा–धर्मके स्वरूपका विचार कर धर्ममें लीन होना।

ये बारह भावनाएँ संवेग (संसारसे और पापसे भीति) और वैराग्य (संसार और भोगसे निवृत्ति) होनेके लिये करनी चाहिये।

६–परीषह-जय–दुःख सहन करनेको परीषह-जय कहते हैं। परीषह २२ प्रकारके हैं—(१) क्षुधा, (२) तृषा, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) दंश-मशक, (६) नाग्न्य, (७) अरति, (८) स्त्री, (९) चर्या, (१०) निषद्या, (११) शय्या, (१२) आक्रोश, (१३) वध, (१४) याचना, (१५) अलाभ, (१६) रोग, (१७) तृणस्पर्श, (१८) मल, (१९) सत्कार-पुरस्कार, (२०) प्रज्ञा, (२१) अज्ञान और (२२) अदर्शन।

ध्यान-सामायिक-तप करते समय दैविक, मानुषिक, तैर्यञ्चिक–जो भी उपसर्ग और ऊपरके परीषह आवें, उनसे न डरना; उनको शान्तिसे सहन करके आत्मध्यानसे च्युत न होना—इसीका नाम परीषह-जय है। इससे मनका बल बढ़ता है।

७–चारित्र–चारित्रके ५ भेद हैं—

(१) सामायिक–सब जीवोंपर समताभाव रखकर आत्म-ध्यानमें लीन होना।

(२) छेदोपस्थापना–व्रतोंमें दोष या भङ्ग हो तो प्राय-श्चित्तादि लेकर उसमें फिरसे स्थिर रहना।

(३) परिहार-विशुद्धि–कषायकी मन्दतासे परिणामोंकी ऐसी विशुद्धि होती है कि जिसमें विहार करते समय प्राणियों-को बाधा न पहुँचे। इस प्रकारकी ऋद्धिकी प्राप्ति ही परिहार-विशुद्धि है।

(४) सूक्ष्म साम्पराय–केवल सूक्ष्म लोभरूप कषाय बाकी रहनेसे परिणामोंकी विशेष शुद्धता होती है। इसीको सूक्ष्म-साम्पराय कहते हैं।

(५) यथाख्यात–कषायोंका पूर्ण अभाव होनेसे आत्माकी स्वाभाविक अवस्था प्राप्त होती है। इसीका नाम यथाख्यात है। इन सब परिणामोंसे कर्मका आना बंद हो जाता है।

निर्जरा–कर्मकी स्थिति पूर्ण होनेके बाद कर्मके शनैः-शनैः आत्मासे पृथक् होनेको निर्जरा कहते हैं। उसके दो भेद हैं—(१) भाव-निर्जरा और (२) द्रव्य-निर्जरा।

जिन आत्माके परिणामोंसे कर्म निकल जाता है, उनको भाव-निर्जरा और कर्मके निकलनेको द्रव्य-निर्जरा कहते हैं। कर्मका निकलना दो प्रकारसे होता है—(१) सविपाक और (२) अविपाक। कर्मकी स्थिति जब पूर्ण हो जाती है, तब वह आत्माको फल देकर निकल जाता है। आत्मपरिणामोंको विभावरूप करना ही कर्मका उदय-फल है। इस विभाव-परिणामसे फिर कर्मका अभाव होता है। यही सविपाक द्रव्य-निर्जरा है। तपके प्रभावसे फल न देकर जो कर्मोंका निकल जाना है, उसको अविपाक निर्जरा कहते हैं।

× × ×

मोक्ष—आत्मासे कर्मके पूर्णतया पृथक् होनेका नाम ही मोक्ष है। मोक्षके दो भेद हैं—(१) भावमोक्ष और (२) द्रव्यमोक्ष। आत्माके जिन परिणामोंसे कर्म पृथक् होता है, उनको भावमोक्ष कहते हैं और कर्मके पृथक होनेको द्रव्य-मोक्ष कहते हैं।

घातीय कर्मोंका पूर्णतः क्षय होनेसे आत्माके सब गुण विकसित हो जाते हैं, इसलिये उसको भावमोक्ष भी कह सकते हैं। क्योंकि भावमोक्ष होनेके बाद द्रव्यमोक्ष अवश्यम्भावी होता है। आयु-कर्मकी स्थिति जबतक रहती है, तभीतक अघातीय कर्मोंका अस्तित्व रहता है। ये अघातीय कर्म आत्माके गुणोंका साक्षात् घात (आवरण) करनेवाले न होनेसे घातीय कर्मोंके नष्ट होनेके बाद इन अघातीय कर्मोंका रहना न रहनेके बराबर ही है।

इस प्रकार कर्मसे मुक्त हुआ आत्मा कर्मका फिर आश्रवादि होनेका कुछ भी निमित्त न होनेसे कर्मोंसे सदैव अलिप्त रहता है। वह अपने परमात्मस्वरूपमें सदैव लीन रहता है।

तपस्या, श्रुत तथा व्रतोंका विवरण

'तवसुदवदवं चेदा झाणरहधुरंधरो हवे'

—तप, श्रुत और व्रतका पालन करनेवाला आत्मा ही ध्यानरूपी रथपर आरूढ़ हो सकता है। ध्यानसे ही जीवका अन्तिम साध्य मोक्ष प्राप्त होता है; इसलिये मोक्षका साधन ध्यान और ध्यानके साधन तप, श्रुत, व्रत हैं।

(१) अनशन, (२) अवमौदर्य, (३) वृत्ति-परिसंख्यान, (४) रसपरित्याग, (५) विविक्तशय्यासन और (६) कायक्लेश—ये छः बाह्य तप हैं। और (१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्त्य, (४) स्वाध्याय, (५) व्युत्सर्ग और (६) ध्यान—ये छः अन्तरङ्ग तप हैं। केवल शरीरको कृश करना ही तपका मुख्य हेतु नहीं है; राग, द्वेष और मोहको कम करना ही उसका प्रमुख हेतु है।

श्रुत कहते हैं शास्त्रोंके स्वाध्यायको। ज्ञानीका ही तप सफल होता है। अज्ञानपूर्वक तप सच्चा तप नहीं कहलाता।

व्रत नाम है संयमका। इन्द्रियोंके विषयमें यथेच्छ प्रवृत्तिको अव्रत कहते हैं और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना ही व्रत या संयम है।

मन्त्र-जपके प्रकार

ध्यान करते समय ध्येयका जो नामोच्चार किया जाता है, उसको मन्त्रजप कहते हैं। आत्माका ध्येय तो एक परमात्मा ही है। उस लक्ष्यबिन्दुको सामने रखकर नाम-जप करनेमें कोई आपत्ति नहीं है। परमात्मामें अनन्त गुण होनेसे उन गुणोंके चिन्तनरूप मन्त्रजपके भी अनेक प्रकार हो सकते हैं। जगत्में मङ्गलरूप, लोकोत्तम और शरण्यभूत पञ्चपरमेष्ठी ही होनेसे पञ्चणमोकार मन्त्र ही मन्त्र-जपका मुख्य प्रकार है।

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, 'णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं'

—यह (३५ अक्षरका) पञ्चणमोकार महामन्त्र है। इस मन्त्र-जपसे जीवके सब दुःख-पाप दूर होते हैं और आत्मा परमात्मा हो जाता है। इसी मन्त्रको संक्षिप्त करनेसे छः अक्षरका 'अरिहंत सिद्ध', पाँच अक्षरोंका अ-सि-आ-उ-सा, चार अक्षरोंका 'अरिहंत'; दो अक्षरोंका 'सिद्ध' और एकाक्षरी मन्त्र 'ॐ' इत्यादि अनेक प्रकार बन सकते हैं।

ध्यान—ध्यानका सच्चा ध्येय तो परमात्मा ही है; लेकिन जबतक आत्मदर्शन नहीं होता, तबतक मनको एकाग्र करनेके लिये पञ्चपरमेष्ठियोंका आदर्श रखना चाहिये। पञ्चपरमेष्ठी ये हैं—

(१) अर्हंत परमेष्ठी—जिसने चार घातीय कर्मोंका नाश कर दिया है, और इससे जिसको अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य—ये अनन्तचतुष्टय प्राप्त हुए हैं, परम औदारिक शरीरमें रहनेवाला वह शुद्ध परमात्मा अर्हंत कहलाता है।

(२) सिद्ध परमेष्ठी—जिसने आठों कर्मोंका और शरीरादि नोकर्मका पूर्णतया नाश कर दिया है, जो लोकाकाशके अग्रभागमें सिद्धशिलापर विराजमान है, जिसने अपना अन्तिम साध्य प्राप्त कर लिया है, ऐसा परमात्मा सिद्ध परमेष्ठी कहलाता है।

(३) आचार्य–ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य–इन पाँच आचारोंमें जो अपनेको और इतर मुनियोंको लीन करते हैं, जो मुनिकुलोंके गुरु हैं और उनको प्रायश्चित्तादि दण्ड देनेका जिनको अधिकार है, उनको आचार्य कहते हैं।

(४) उपाध्याय–जो रत्नत्रयमें लीन होकर सदैव धर्मोपदेश देनेमें तत्पर रहते हैं, ऐसे विशेष प्रतिभासम्पन्न मुनिको उपाध्याय कहते हैं।

(५) साधु परमेष्ठी–जो अपना आत्महित साधता है, उसको साधु कहते हैं। आरम्भ-परिग्रहसे रहित होकर, सदैव आत्मध्यान और शास्त्र-स्वाध्यायमें लीन होकर मोक्षमार्गका जो साधन करता है, वह साधु है।

परमध्यान–उपर्युक्त प्रकारसे पञ्चपरमेष्ठीका ध्यान करते-करते जो आत्मध्यानमें लीन हो जाता है, जहाँ मैं ध्याता हूँ, और यह मेरा ध्येय है ऐसा भेद न रहकर निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है, जब मन-वचन-कायकी सब चेष्टाएँ बंद होकर आत्मा आत्मरूपमें लीन हो जाता है, तब उसको शुद्ध आत्मध्यान या परमध्यान कहते हैं।

शुक्लध्यान–शुक्लध्यानके चार भेद हैं—

(१) पृथक्त्ववितर्कवीचार—

विशेष तर्कणाको वितर्क और अर्थ (ध्येय पदार्थ), व्यञ्जन (ध्यानके मन्त्रजपके शब्द) तथा योग (मन-वचन-काययोग)–इनकी संक्रान्ति (पलटने) को विचार कहते हैं। जिसमें गुण, पर्याय, द्रव्य–ऐसे भिन्न-भिन्न अर्थोंका ध्यान होता है, उसको पृथक्त्व-वितर्क कहते हैं। यहाँ तीनों योग रहते हैं। यह ध्यान ८, ९, १०, ११–इन चार गुणस्थानोंमें होता है।

(२) एकत्ववितर्क–

द्रव्य, गुण और पर्याय–इनमेंसे किसी एकका जहाँपर ध्यान होता है और जहाँ तीनों योगोंमेंसे किसी एक योगद्वारा आत्मप्रदेश-परिस्पन्दन होता है, उसको एकत्ववितर्क कहते हैं। यहाँ विचार (अर्थ-व्यञ्जन-योगकी संक्रान्ति) नहीं रहता। यह ध्यान बारहवें गुणस्थानमें होता है।

(३) सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाति–

जिसमें पादका विहार (पैरोंसे गमन) न होकर पद्मासन या खड्गासनसे विहार होता है, उस शरीरक्रियाको सूक्ष्मक्रिया कहते हैं। उसका प्रतिपात (विनाश) नहीं होता। ऐसा केवल सूक्ष्मकाययोग ही जहाँ रहता है, जहाँ वितर्क-विचारादि सब विकल्पोंका अभाव होकर शुद्ध परमध्यानकी प्राप्ति होती है, वह सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपातिनामक तीसरा शुक्लध्यान है। यह १३वें गुणस्थानमें होता है।

(४) व्युपरतक्रियानिवर्ति—

योगका पूर्ण अभाव होनेसे जो आत्मस्थिरता और विशुद्धि होती है, जिसमें विहाररूप सूक्ष्म क्रिया भी बंद हो जाती है, उसको व्युपरतक्रियानिवर्तिनामक चौथा शुक्लध्यान कहते हैं। यह ध्यान अयोगी परमात्मा—१४ वें गुणस्थानवालेको होता है।

पञ्चमहाकल्याणिक—

देवोंद्वारा जो उत्सव मनाया जाता है, उसको कल्याणिक कहते हैं। तीर्थङ्कर भगवान्‌के गर्भमें आनेसे लेकर मोक्षपदमें जानेतक अर्थात् उनके गर्भ, जन्म, तप, केवल, मोक्ष—इन पाँच प्रसंगोंको लेकर उत्सव मनाया जाता है। इस प्रकार कल्याणिकके ५ भेद माने गये हैं—

(१) गर्भकल्याणिक–

तीर्थङ्कर भगवान्‌के गर्भमें आनेसे छः मास पूर्व इन्द्र कुबेरको नीचे भेजते हैं। वह छः महीनेतक रोज रत्नवृष्टि करता है, तथा तीर्थङ्करके माता-पिताकी यथायोग्य सेवा करता है। माताको १६ स्वप्न दीख पड़ते हैं—जिनमें वह क्रमशः (१) हाथी, (२) बैल, (३) सिंह, (४) स्नान करनेवाली लक्ष्मी, (५) पुष्पमाला, (६) पूर्णिमाका चन्द्र, (७) सूर्य, (८) दो सुवर्णकलश, (९) दो मत्स्य, (१०) सरोवरके कमल, (११) समुद्र, (१२) सिंहासन, (१३) देव-विमान, (१४) नागेन्द्रभवन, (१५) रत्नराशि और (१६) अग्निशिखा-को देखती है। इनका फल तीर्थङ्करके पिता यह बतलाते हैं कि तुम्हारे गर्भमें त्रैलोक्यभूषण ऐसा भव्य पुरुष आनेवाला है, जिसका यश सुनकर सबको आनन्द होगा।

(२) जन्मकल्याणिक—

तीर्थङ्करका जन्म होते ही त्रिभुवनमें सब जीवोंको सुख मालूम होता है। इन्द्रादि देव तीर्थङ्कर भगवान्‌को मेरु-पर्वतपर ले जाकर वहाँ उनका जन्माभिषेक-महोत्सव करते हैं और कुबेरादि देव बालकुमार होकर तीर्थङ्करकी सेवामें तत्पर रहते हैं। तीर्थङ्करको जन्मसे ही (१) मतिज्ञान, (२) श्रुतज्ञान और (३) अवधिज्ञान—ये तीनों ज्ञान रहते हैं।

(३) तपकल्याणिक—

तरुण अवस्थामें श्रावकव्रतका ग्रहण कर यथायोग्य राज्यादिका भोग भोगकर संसारसे उदासीन होकर जिन-दीक्षा ग्रहण करते हैं । आरम्भ और परिग्रहका त्यागकर मुनिके २८ मूलगुण धारण करते हैं । पञ्चमुष्टिकेशलोच करते हैं और उग्रध्यानरूप तप करते हैं ।

(४) केवलकल्याणिक—

तप करते-करते जब चार घातीय कर्मोंका नाश हो जाता है, तब भगवान्‌को केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है । इन्द्र समवशरणकी रचना करता है, जिसमें बारह प्रकारकी सभा बैठती है । उन सबको भगवान् दिव्य ध्वनिद्वारा उपदेश करते हैं । भगवान्‌का विहार भव्य जीवोंकी पुण्य-वर्गणा-वश होता है ।

(५) मोक्षकल्याणिक—

जब आठों कर्मोंका नाश होकर उनका शरीर कपूरकी तरह विलयको प्राप्त हो जाता (उड़ जाता) है, नख और केशमात्र शेष रहते हैं, तब देव उनसे मायामय शरीर निर्माण-कर उसका हवन करते हैं और उस भूमिको पवित्र समझते हैं ।

महापुरुषोंके सम्बन्धसे भूमि और काल भी पवित्र माने जाते हैं । जिस क्षेत्रपर उनके गर्भ, जन्म, मोक्ष आदि होते हैं, वह भूमि पवित्र मानी जाती है और जिस-जिस तिथिको ये सब होते हैं, वे तिथियाँ भी पवित्र मानी जाती हैं ।

इन महापुरुषोंका स्मरण संसारको होता रहे, इसी हेतुसे ये उत्सव मनाये जाते हैं ।

इस प्रकार जैन-सम्प्रदायके साधनोंका संक्षेपमें वर्णन किया गया । विषय गहन और विस्तृत होनेसे केवल उद्देश्यरूपसे या नामनिर्देशरूपसे ही सब विषयोंका अति संक्षेपसे वर्णन करना पड़ा है । इन सबका विस्तृत ज्ञान प्राप्त करनेके लिये जैनशास्त्रोंको देखना चाहिये, जिससे मालूम होगा कि जैनागम कितना अपार, कितना गहन और कितना सूक्ष्मतत्त्वनिर्देशक है ।

छद्मस्थ जीवोंका ज्ञान अपूर्ण तथा सदोष होता है, इसलिये सम्भव है कि एक अज्ञानीद्वारा लिखे गये इस लेखमें कुछ त्रुटियाँ अवश्य रह गयी हों, जिनको कि विज्ञ पाठक शास्त्राधारसे शुद्ध कर लेंगे—ऐसी आशा है ।

जीवन-सिद्धिका मार्ग

(लेखक—श्रीजयभगवानजी जैन, बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

जीवनकी विकटता

जीवन सुनहरे प्रभातके साथ उठता है । अरुण सूर्यके साथ उभरता है । उसके तेजके साथ खिलखिलाता है । उसकी गतिके साथ दौड़ता-भागता है । उसकी सन्ध्याकी छायाके साथ लंबा होता है और उसकी अस्तव्यस्तताके साथ निश्चेष्ट हो सो जाता है ।

सुबह होती है, शाम होती है ।
उम्र यों ही तमाम होती है ॥

तो क्या श्रम और विश्राम ही जीवन है ? काम और अर्थ ही उद्देश्य है ? साँझ-सबेरवाला ही लोक है ।

यदि यों ही श्रम और विश्रामका सिलसिला जारी रहता, यदि यों ही काम और अर्थका रंग जमा रहता तो क्या ही अच्छा था ! जीवन और जगत् कभी प्रश्नके विषय न बनते । परन्तु जीवन इतनी सीधी-सादी चीज़ नहीं । माना कि इसमें सुस्वप्न हैं, कामनाएँ हैं, आशाएँ हैं, उमंगें हैं; यह अत्यन्त रोचक, अत्यन्त प्रेरक है; जी चाहता है कि इनके आलोकमें सदा जीवित रहा जाय । परन्तु इन्हींके साथ इसमें कैसे-कैसे दुःस्वप्न हैं, असफलताएँ हैं, निराशाएँ हैं, विषाद हैं । वे कितने कटु और घिनौने हैं, जी चाहता है कि इनके आलोकसे भागकर कहीं चले जायँ ।

कितना खेद है कि जीवनको कामना मिली पर सिद्धि न मिली । इस सिद्धिके लिये यह कितना आतुर है । इसके लिये यह कैसी-कैसी बाधाओंमेंसे गुजरता है । कैसी-कैसी वेदना, विपदा, आघात-प्रघात सहन करता है । परन्तु सिद्धि-का कहीं पता नहीं चलता ! यदि भाग्यवश कहीं सिद्धि हाथ भी आयी तो वह कितनी क्षणस्थायिनी है, कितनी दुःख-दायिनी है । वह प्राप्तिकालमें आकुलतासे अनुरञ्जित है, रक्षाकालमें चिन्तासे संयुक्त है और भोगकालमें क्षीणता

और शोकसे ग्रस्त है। उसका आदि, मध्य और अन्त—तीनों ही दुःखसे भरे हैं। इस सिद्धिमें सदा अपूर्णताका भाव बसा है। यह सब कुछ प्राप्त कर लेनेपर भी रङ्क है, रिक्त है, वाञ्छायुक्त है। यह सारी जिंदगी दुरंगी है। इसकी सुन्दरतामें कुरूपता बसी है। इसके सुखमें दुःख रहता है। इसकी हँसीमें रोना है। इसके लालित्यमें भयानकता है। इसकी आसक्तिमें अरुचि है। इसके योगमें वियोग है। विकासमें ह्रास है। बहारमें खिजाँ है, यौवनमें जरा है। यहाँ हर फूलमें शूल है। इतना ही नहीं, यह समस्त ललाम-लीला, यह सारा उमंगभरा जीवन, यह सम्पूर्ण साँझ-सबेरे-वाला लोक मृत्युसे व्याप्त है।

जीवनके मूल प्रश्न

क्या यही लोक है, जिसमें कामनाका तिरस्कार है, आशाका अनादर है और पुरुषार्थकी विफलता है? क्या यही जीवन है, जहाँ हजार प्रयत्न करनेपर भी सन्तुष्टिका लाभ नहीं और हजार रोक-थाम करनेपर भी अनिष्ट अनिवार्य है? क्या यही उद्देश्य है कि वेदनासे सदा तड़पा करो और अन्तमें क्षीण होते-होते मृत्युके मुँहमें चले जाओ? क्या इसीके लिये चाह और वेदना है? क्या इसीके लिये उद्यम और पुरुषार्थ है? क्या इसीके लिये सङ्घर्ष और प्राणोंकी आहुति है?

नहीं, यह मनचाहा जीवन नहीं। यह तो उस जीवन-की पुकार है, अनुसन्धान है, तलाश है। यह तो उसतक पहुँचनेका उद्यम है, उसे पानेका प्रयोग है। इसीलिये यह जीवन असन्तुष्ट और अशान्त बना है। उद्यमी और पुरुषार्थी बना है। अस्थिर और गतिमान् बना है। यह कहीं तृप्त नहीं, शान्त नहीं, स्थिर नहीं!

यदि ऐसा है तो यह अपने पुरुषार्थमें सफलीभूत क्यों नहीं होता? यह पुरुषार्थ करते हुए भी अपूर्ण क्यों है? आशाहत क्यों है? खेदखिन्न क्यों है?

इसका कारण पुरुषार्थकी कमी नहीं, बल्कि सद्लक्ष्य, सद्ज्ञान और सदाचारकी कमी है। इसका समस्त पुरुषार्थ भूल-भ्रान्तिसे ढका है। अज्ञानसे आच्छादित है। मोहसे ग्रस्त है। इसे पता नहीं कि जिस चीजकी इसमें भावना बसी है वह क्या है, कैसी है और कहाँ है। इसे पता नहीं कि उसे पानेका क्या साधन है, उसे सिद्ध करनेका क्या मार्ग है! इसलिये यह जीवनको उस ओर नहीं ले जा रहा है, जिस ओर यह जाना चाहता है। यह उस चीजकी प्राप्तिमें नहीं लगा है, जिसे यह प्राप्त करना चाहता है। यह केवल परम्परागत मार्गका अनुयायी बना है। मोहकी गाँठको और भी उलझा देनेवाले उन रूढ़िक पदार्थोंका साधक बना है, जिन्हें सिद्ध करते-करते यह इतना अभ्यस्त हो गया है कि वे इसका जीवन ही बन गये हैं।

इस भूल, अज्ञान और मोहके कारण यद्यपि इस जीवने अपने वास्तविक जीवनको भुला दिया है, उसे बंदी बनाकर अन्धकूपमें डाल दिया है, परन्तु उसने इसे नहीं भुलाया। वह सदा इसके साथ है। वह घनाच्छादित सूर्यके समान अन्तर्गुहामेंसे ही फूट-फूटकर अपना आलोक देता रहता है। इसके सुखप्रोंमें बैठकर, इसकी आशाओंमें आविष्ट होकर, इसकी भावनाओंमें भरकर अपना परिचय देता रहता है। वह वेदनामयी भाषामें पुकारता रहता है 'मैं यह जीवन नहीं हूँ। मैं इससे भिन्न हूँ। और हूँ। तत् हूँ। परे हूँ। दूर हूँ। अंदर हूँ।' इसी प्रतीतिसे प्रेरित हुआ जीव बार-बार प्राणोंकी आहुति देता है। बार-बार मरता और जीता है। बार-बार पुतलेको घड़ता है, बार-बार इसे रक्त कान्तिवाले मादक रससे भरता है। बार-बार इसके द्वारोंसे झलकाता है। परन्तु बार-बार इसी नाम-रूप-कर्मात्मक जगत्को अपने सामने पाता है, जिससे यह चिरपरिचित है। बार-बार उसीको देख इसे विश्वास हो जाता है, निश्चय हो जाता है, कि यही तो है जिसकी इसे चाह है। यही तो है जो इसका उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त और कोई जीवन नहीं, कोई उद्देश्य नहीं, कोई लोक नहीं। परन्तु ज्यों ही यह धारणा धरकर यह नाम-रूप-कर्मात्मक जीवन-में प्रवेश करता है, इसे फिर वही वाञ्छा, वही वेदना, वही दुःख आ घेरते हैं। फिर वही विफलताएँ, वही निराशाएँ, वही अपूर्णताएँ आ उपस्थित होती हैं। फिर वही भय, फिर वही शङ्का, फिर वही प्रश्न उठने शुरू होते हैं। क्या दुखी जीवन ही जीवन है? क्या मरणशील जीवन ही जीवन है? यदि नहीं तो जीवन क्या है? उद्देश्य क्या है? फिर वही तर्क-वितर्क, फिर वही मीमांसा शुरू हो जाती है।

प्रश्न हल करनेके विफल साधन

जीवने इन प्रश्नोंको हल करनेके लिये मतिज्ञानसे बहुत तरह काम लिया। उसके विश्वस्त साधनोंपर—इन्द्रिय, मन और बुद्धिपर बहुत तरह विश्वास किया। इन्हें अनेक तरहसे घुमा-फिराकर जाननेकी कोशिश की। परन्तु इन्होंने हमेशा एक ही उत्तर दिया। लौकिक जीवन ही जीवन है। शरीर ही आत्मा है।

भोग-रस ही सुख है, धन-धान्य ही सम्पत्ति है। नाम ही वैभव है। रूप ही सुन्दरता है। शरीरबल ही बल है। सन्तति ही अमरता है। मान-यश ही जीवन है। कीर्ति ही पुण्य है। इन्हें ही बनाये रखने, इन्हें ही सुदृढ़ और बलवान् बनाने, इन्हें ही सौम्य-सुन्दर करनेका प्रयत्न करना चाहिये; इसीमें भलाई है। प्राकृतिक नियमानुसार कर्म करते हुए भोग-रस लेना ही जीवनमार्ग है। प्रवृत्ति ही जीवनमार्ग है। सुख-दुःख स्वयं कोई चीज नहीं, ये सब बाह्य जगत्‌के आधीन हैं। बाह्य जगत्‌की कल्पनापर निर्भर हैं। जगत्‌को दुःखदायी कल्पना करनेसे दुःख और सुखदायी कल्पना करनेसे सुख होता है। इसलिये जगत्‌के दुःखदायी पहलूको भुलाने और उसके सुखदायी पहलूको परिपुष्ट करनेकी जरूरत है।

इस तथ्यको ही तथ्य मान जीवने इसे अनेक प्रकारसे स्वीकार करनेकी कोशिश की। बुद्धिके सुझाये हुए अनेकों मार्गोंसे इसे सिद्ध करनेकी चेष्टा की। अज्ञानमार्गको मार्ग बनाया। उद्योगमार्गका आश्रय लिया। कर्ममार्गको ग्रहण किया। यान्त्रिक मार्गको अपनाया। विज्ञानमार्गको धारण किया। शिल्पकलामार्गपर चला। संघटनमार्गपर आरूढ़ हुआ। नीतिमार्गका अवलम्बन लिया। परन्तु इसके दुःखका अन्त न हुआ। प्रश्न ज्यों-का-त्यों बना ही रहा—'जीवन क्या है?'

प्रश्न हल करनेका वास्तविक साधन

इतना होनेपर जीवको निश्चय हुआ कि सांसारिक जीवन इष्ट जीवन नहीं, यह जगत् इष्ट लोक नहीं। प्रचलित मार्ग सिद्धिमार्ग नहीं। बाह्य बुद्धिज्ञान यथार्थ साधन नहीं। जीवन-उद्देश्य, जीवन-लोक, जीवन-सुख-दुःख, जीवन-शुद्धिका मार्ग बाह्य जगत्‌के आश्रित नहीं। बाह्य जगत्‌की शक्तियोंको भुलाकर, उन्हें खुश करके, उनपर विजय करके या उन्हें व्यवस्थित करके जीवनकी सिद्धि नहीं हो सकती, सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जीवन कोई और ही चीज़ है। इसके जाननेका साधन भी और ही है। बाह्य बुद्धिज्ञान इसके लिये पर्याप्त नहीं।

यह जाननेके लिये कि जीवन क्या है, यह जानना होगा कि जीव क्या होना चाहता है और क्या होनेसे डरता है। इसका निर्णय अन्तर्ज्ञानके द्वारा हो सकता है। उस ज्ञानके द्वारा जो अन्तर्गुहाका प्रकाशक है। उस ज्ञानद्वारा जो अन्तर्लोकमें बैठी हुई सत्ताको देख सकता है। उसकी वेदनामयी अनक्षरी भाषाको सुन सकता है। उसके भावनामय अर्थको समझ सकता है। उस ज्ञानके द्वारा जो सहजसिद्ध है, स्वाश्रित है, प्रत्यक्ष है। जिसे अन्तर्ज्ञान होनेके कारण मनोवैज्ञानिक intuition कहते हैं। जिसे अन्तर्ध्वनि सुननेके कारण अध्यात्मवादी श्रुतज्ञान कहते हैं। जिसकी अनुभूति 'श्रुति' नामसे प्रसिद्ध है।

इस ज्ञानको उपयोगमें लानेके लिये साधकको शान्त-चित्त होना होगा। अपनेको समस्त विकल्पों और दुविधाओंसे पृथक् करना पड़ेगा। निष्पक्ष एकटक हो पूछना होगा 'जीवन क्या चाहता है?' फिर निरक्षरी अन्तर्ध्वनिको सुनना होगा।

फिर जीवन क्या है ?

जीव जीवन चाहता है। ऐसा जीवन जो निरा अमृतमय हो, मरणशील न हो। जो स्वाधीन हो। किसी तरह भी पराधीन न हो। जो घनिष्ठ हो! आसक्त हो। किसी तरह भी जुदा न हो। जो निकटतम हो, अभ्यन्तर हो, लय हो। तनिक भी दूर न हो, परे न हो। जो परिशुद्ध हो, निर्मल हो, तनिक भी दोषयुक्त न हो। जो सचेत हो, जाग्रत् हो, ज्योतिष्मान्—जाज्वल्यमान हो। तनिक भी जडता, मन्दता, अन्धकार जिसमें न हो। जो सुन्दर और मधुर हो, ललाम और अभिराम हो, स्वयं अपनी लीलामें लय हो। जो सम्पूर्ण हो, परिपूर्ण हो, जिसमें कोई भी वाञ्छा न हो। जो सर्वभू हो, अनन्त हो। जो सत्य हो, शाश्वत हो। जो सबमें हो, सब उसमें हों, पर वह अपने सिवा कुछ भी न हो। वह वह ही वह हो।

यह है जीवका इष्ट जीवन। इसे पाना है जीवका अन्तिम उद्देश्य, इसके प्रति कभी भय पैदा नहीं होता, कभी शङ्का पैदा नहीं होती, कभी प्रश्न पैदा नहीं होता। प्रश्न उसीके प्रति पैदा होता है, जो अनिष्ट है, भयोत्पादक है—जैसे दुःख और मृत्यु; परन्तु इष्टके प्रति कभी प्रश्न पैदा नहीं होता, कभी शङ्का नहीं उठती कि जीवन सुखी क्यों है, जीवन अमर क्यों है। इसका कारण यही है कि इष्ट जीवन आत्माका धर्म है—उसका वास्तविक स्वभाव है। आत्मा उसे निज स्वरूप मान स्वीकार करता है—सदा उसकी प्राप्तिकी भावना करता है। यह विवादका विषय नहीं। समस्याका विषय नहीं। यह भक्तिका विषय है। आसक्तिका विषय है। सिद्धिका विषय है।

यह इष्ट जीवन अलौकिक है, अद्भुत और अनुपम है। इसे आँखने कभी देखा नहीं, कानने कभी सुना नहीं, हाथने कभी छुआ नहीं, शारीरिक पुरुषार्थने कभी सिद्ध किया नहीं। यह शरीरसे, इन्द्रियोंसे, मनसे, वाणीसे दूर है, परे

है; अतः इसकी प्रतीति सदा दूरकी होती है। नेति-नेतिके द्वारा इसका विवेचन होता है, तत् शब्दद्वारा इसका सङ्केत होता है।

जीवन साध्य है

यह जीवन अन्तरात्माकी वस्तु है। यह उसमें वैसे ही निहित है, ओतप्रोत है, जैसे अनगढ़ पाषाणमें मूर्ति, बिखरी रेखाओंमें चित्र, मूक तारोंमें राग और बेखिली भावनामें काव्य। ये भाव जबतक अभिव्यक्त नहीं होते, दिखायी नहीं देते, सोये पड़े रहते हैं, तबतक बाहरसे देखनेवालोंको ऐसे मालूम होते हैं कि यह भिन्न हैं, इससे दूर हैं, महान् हैं। इनकी पाषाणसे, रेखासे, तारसे, भावनासे क्या तुलना, क्या सम्बन्ध। ये बिल्कुल तुच्छ हैं, हीन हैं, क्षुद्र हैं। ऐसे-ऐसे उसपर हजार न्योछावर हो सकते हैं। वह दुर्लभ है, कष्टसाध्य है, अप्राप्य है।

परन्तु वे इससे इतने भिन्न नहीं, इतने दूर नहीं कि वे इसमें आ ही न सकें, समा ही सकें। उनकी विभिन्नता जरूर है; परन्तु वह वास्तविक विभिन्नता नहीं, केवल अव्यवस्थाकी विभिन्नता है। उनकी दूरी क्षेत्रकी दूरी नहीं, केवल अवस्थाकी दूरी है। यदि विधिवत् पुरुषार्थ किया जाय तो यह अव्यवस्था दूर होकर वे भाव इसीमें सिद्ध हो सकते हैं।

जब पाषाण उत्कीर्ण हो जाता है, वह पाषाण नहीं रहता। वह मूर्ति बन जाता है। वह कितना माननीय और आदरणीय है। जब रेखाएँ सुव्यवस्थित हो जाती हैं, वे रेखाएँ नहीं रहतीं, वे चित्र बन जाती हैं। वे कितनी रोचक और मनोरञ्जक हैं। जब तार झंकारने लगता है, वह तार नहीं रहता, वह राग बन जाता है। वह कितना मधुर और सुन्दर है। और जब भावना मुखरित हो उठती है, वह भावना नहीं रहती, वह काव्य बन जाता है। साक्षात् भाव बन जाता है। वह कितना महान् और स्फूर्तिमान् है!

इस पाषाण और मूर्तिमें, इस रेखा और चित्रमें, इस तार और रागमें इस भावना और काव्यमें कितना अन्तर है? बहुत बड़ा अन्तर है। दोनोंके बीच अलक्ष्यता, मूर्च्छा और अव्यवस्थाका मरुस्थल है। जो अपनी अटललक्ष्यता, ज्ञान और पुरुषार्थसे इस दूरीको लाँघकर इस सिरेको उस सिरेसे मिला सकता है, वह निस्सन्देह एक कुशल कलाकार है। वह भूरि प्रशंसा और आदरका पात्र है। भगोड़ी लक्ष्मी उसके चरणोंको चूमती है और घातक काल स्वयं उसकी कीर्तिका रक्षक बनता है।

जीवन भी एक कला है। जबतक इष्ट जीवनका भाव इसमें अभिव्यक्त नहीं होता, यह बाहरसे देखनेवालोंको अत्यन्त भिन्न, अत्यन्त दूर, अत्यन्त अप्राप्य मालूम होता रहता है।

परन्तु वास्तवमें इष्ट जीवन आत्मासे भिन्न नहीं है। यह तो उसका स्वभाव है। धर्म है। स्वरूप है। इनकी विभिन्नता वास्तविक विभिन्नता नहीं है, केवल अवस्थाकी विभिन्नता है। यह मूर्च्छित है, वह जाग्रत् है। यह भावनामयी है, वह भावमय है। इनकी दूरी क्षेत्रकी दूरी नहीं है, केवल अव्यवस्थाकी दूरी है।

जब आत्मामें इस अलौकिक जीवनकी भावना मूर्तिमान् हो जाती है, चित्रित हो जाती है, साक्षात् भाव बन जाती है, तब आत्मा आत्मा नहीं रहता, यह परमात्मा हो जाता है। यह ब्रह्म नहीं रहता, यह परब्रह्म बन जाता है। यह पुरुष नहीं रहता, यह पुरुषोत्तम बन जाता है।

इस आत्मा और परमात्मामें कितना अन्तर है? बहुत बड़ा अन्तर है। दोनोंके बीच भूल, भ्रान्ति-मिथ्यात्व, अविद्या, मोह-तृष्णाका सागर लहरा रहा है। जो अपने ध्रुव लक्ष्य, सद्ज्ञान और पुरुषार्थ-बलसे इस दूरीको लाँघकर इस सिरेको उस सिरेसे मिला देता है, मर्त्यको अमृतसे मिला देता है, वह निःसन्देह सर्वोत्कृष्ट कलाकार है। वह संसार-सेतु है। वह तीर्थङ्कर है। वह लोकतिलक है। वह जगद्वन्द्य है। काल उसका द्वारपाल है। इन्द्र, चन्द्र उसके चारण हैं। लक्ष्मी, सरस्वती और शक्ति उसकी उपासक हैं।

यह भूल, अज्ञान और मोह ही जीवनके अभ्युदयमें सबसे बड़ी रुकावटें हैं। इनके आवेशमें कुछ-का-कुछ दिखायी देता है। कहीं-का-कहीं चला जाना होता है। जो अनात्म है, असत्य है, पर है, बाह्य है, वह आत्म, सत् और स्व दिखायी देता है और जो वास्तवमें आत्म, सत्य और स्व है, वह असत्य, मिथ्या और तुच्छ दिखायी देता है। जो दुःख और मृत्युका मार्ग है वह सुख और अमृतका मार्ग, और जो वास्तवमें सुख और अमृतका मार्ग है वह दुःख और मृत्युका मार्ग दिखायी देता है। यही विपरीत दर्शन है।

यह भूल, अज्ञान और मोह ही संसार-दुःख और मृत्युके कारण हैं। यही जीवनके महान् शत्रु हैं। इनकी विजय ही विजय है। जिसने इन्हें जीत लिया, उसने दुःख-शोकको जीत

लिया, जन्म-मरणको जीत लिया, लोक-परलोकको जीत लिया, इनका विजेता ही वास्तवमें जिन है, जिनेश्वर है, अर्हत् है।

आत्मसिद्धिका मार्ग

भूलका अन्त, मिथ्या धारणाका अन्त उसके पीछे-पीछे चलनेसे नहीं होता, न उसके भुलानेसे होता है और न उससे मुँह छिपानेसे होता है। वह मरीचिका है, आगे ही आगे चलती रहती है। वह छाया है, पीछे-ही-पीछे चलती रहती है। वह सब ओरसे घेरे हुए है, जहाँ जाओ वह साथ-साथ लगी हुई है। उसका अन्त दायें-बायें चलनेसे भी नहीं होता। उसका अन्त तो जहाँ हो वहींसे, उसी स्थानमें होकर उसका सामना करनेसे होता है।

अज्ञानका अन्त उसकी मानी हुई बातोंको माननेसे नहीं होता, न संशयमें पड़े रहनेसे होता है, न अनिश्चित मति बने रहनेसे होता है। उसका अन्त तो उसके मन्तव्योंको, उसके ज्ञातव्योंको स्पष्ट और साक्षात् करनेसे होता है—उनमें सत्य-असत्य, हित-अहित, निज-परका विवेक करनेसे होता है।

मोहका अन्त परम्परागत भावोंमें पड़े रहनेसे नहीं होता-न उनकी सिद्धि-वृद्धि करनेसे होता है। न उनकी तृष्णा, और वासनाको हृदयमें बसानेसे होता है। मोहका अन्त मुग्धकार भावोंकी मूढ़ता देखने, उनकी निन्दा, आलोचना और प्रायश्चित्त करनेसे होता है। तृष्णा-ग्रन्थियोंको शिथिल करनेसे होता है। वासनाके त्यागसे होता है। यह त्याग धर्म-कर्मका विधान करनेसे नहीं होता। दण्ड दण्डका विधान करनेसे होता है। मन, वचन, कायको गुप्त करनेसे होता है। उनकी गतिका निरोध और संवरण करनेसे होता है। और उन्हें अहिंसामय बनानेसे होता है।

इस तरह भव-कारणोंका अन्त प्रवृत्तिमार्गसे नहीं होता, निवृत्तिमार्गसे होता है। संवरमार्गसे होता है। अहिंसामार्गसे होता है।

परन्तु आत्मसिद्धिका मार्ग केवल निषेध, संवर और संन्यासरूप नहीं है। यह विधिरूप भी है। निषेध, संवर और संन्यास आत्मसाधनाकी पहली सीढ़ी है, साधककी पाद-पीठिका है। इसमें अभ्यस्त होनेसे आत्मा सिद्धिमार्गपर आरूढ़ रहनेमें समर्थ हो जाता है। वह स्थिर, उज्ज्वल और शान्त हो जाता है। अबाध और निर्विघ्न हो जाता है। परन्तु इतना मात्र होकर रह जानेसे काम नहीं चलता। मिथ्यात्व, अज्ञान और मोहका समूल नाश नहीं हो जाता। वे अनादि कालसे अभ्यासमें आनेके कारण अन्तश्चेतनाकी गहराईमें पैठ गये हैं। वे किसी भी समय अङ्कुरित हो उठते हैं। वे निष्कारण ही आत्माको उद्विग्न, भ्रान्त और अशान्त बना देते हैं। जबतक उनके गुप्त संस्कारोंका समूल उच्छेद नहीं हो जाता, संसार-चक्रका अन्त नहीं होता।

इन संस्कारोंको निर्मूल करनेके लिये निषेधके साथ विधिको जोड़ना होगा। प्रमाद छोड़कर सदा सावधान और जागरूक रहना होगा। समस्त परम्परागत भावों, संज्ञाओं और वृत्तियोंसे अपनेको पृथक् करना होगा। इन्द्रिय और मनको बाहरसे हटा अंदर ले जाना होगा। अपनेमें ही आपको लाना होगा। ध्यानस्थ होना होगा।

अंदर बैठकर निर्वात होकर ज्ञानदीपक जगाना होगा। ज्ञान-प्रकाशको उसीके देखनेमें लगाना होगा, जिसके लिये यह सब देखना-जानना है, ढूँढ़ना-भालना है। उसीकी भावनाओंको सुनना और समझना होगा, जो वेदनामयी निरक्षरी भाषामें निरन्तर गाती रहती है कि 'मैं अजर-अमर हूँ। तैजस और ज्योतिष्मान् हूँ। सुन्दर और मधुर हूँ। सत्य, परिपूर्ण और महान् हूँ।'

इस अन्तर्ध्वनिके सामने समस्त लक्ष्योंको त्यागकर इसी भावनामय जीवनको आत्मउद्देश्य बनाना होगा। इसे ध्रुव-समान दृष्टिमें समाना होगा। आत्माको निश्चयपूर्वक विश्वास कराना होगा—'सोऽहम्' 'सोऽहम्', मैं वही हूँ, मैं वही हूँ।

समस्त विज्ञानोंको छोड़ ज्ञान-उपयोगको इसी अमृतमय जीवनमें लगाना होगा। इसी जीवनको विशद और साक्षात् करना होगा। अंदर-ही-अंदर देखना और जानना होगा—'सोऽहम्', 'सोऽहम्'। समस्त रूढ़िक भावों और वृत्तियोंसे हटाकर ममत्वको इसी लक्ष्यमें आसक्त करना होगा। इसीके पीछे चलना होगा। इसीके समता-रसमें भीगना होगा, सराबोर हो जाना होगा। निरन्तर अनुभव करना होगा 'सोऽहम्', 'सोऽहम्'।

संक्षेपतः यह मार्ग आत्मश्रद्धा, आत्मबोध, आत्मचर्याका मार्ग है।[1] सत्य दर्शन, सत्य ज्ञान, सत्य वृत्तिका मार्ग है।[2] सत्य-पारमिता, प्रज्ञा-पारमिता, शील-पारमिताका मार्ग है। सत्यदर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्रका मार्ग है।[3]

१. प्रश्न० १। १०; ५। ३; मुण्डक० ३। १। ५; १। २। ११; कैवल्य० १। ३; लाठीसंहिता अध्याय ३।

२. रत्नकाण्ड, श्रावकाचार ॥ ३ ॥

३. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र १। १

यह है वह विधि-निषेधात्मक सिद्धिमार्ग, जो गहरे-से-गहरे बैठे हुए संस्कारोंको जीर्ण कर देता है, विध्वंस कर देता है। इनसे ढकी हुई आत्मशक्तियोंको मुक्त कर देता है। उन्हें जाग्रत् और सचेत बना देता है। भावनामयी आत्माको भावनाके गह्वरसे निकाल साक्षात् भावात्मा बना देता है।

यह मार्ग बहुत कठिन है। अनेक परिषहोंसे सङ्कीर्ण है। इस पथके अनुयायीको अनेकों प्राकृतिक मानुषिक विपदाओं और क्रूरताओंको सहन करना पड़ता है। अनेकों शारीरिक और मानसिक बाधाओंको झेलना होता है। इसके लिये अदमनीय उत्साह, दृढ़ सत्याग्रह और अटल साहसकी जरूरत है। इतना ही नहीं, यह मार्ग लंबा भी बहुत है। इसके लिये दीर्घ पुरुषार्थकी, श्रेणीबद्ध अभ्यासकी, निरन्तर चलते रहनेकी जरूरत है। सोते-जागते, चलते-फिरते, खाते-पीते, उठते-बैठते—हर समय आत्मलक्षी, आत्मज्ञानी, आत्मवृत्ति होनेकी आवश्यकता है। सङ्कल्प है तो 'सोऽहम्', विचार है तो 'सोऽहम्', आलाप है तो 'सोऽहम्', आचार है तो 'सोऽहम्'। यहाँतक कि यह मार्ग जीवनमें उतर जाय, साक्षात् जीवन बन जाय, यहाँतक कि 'वह' और 'मैं' का अन्तर भी विलय हो जाय। आत्मा निरहङ्कार बन जाय, केवल वही वह रह जाय।

यह सिद्धिमार्ग किसी बाह्य विधि-विधान, क्रियाकाण्ड, परिग्रह-आडम्बरमें नहीं रहता। यह किसी भाषा, वाक्य या ग्रन्थमें नहीं रहता। यह किसी सामाजिक प्रथा, संस्था या व्यवस्थामें नहीं रहता। यह किसी पूजा-वन्दना, स्तुति-प्रार्थनामें नहीं रहता। यह साध्यके अनुरूप ही अलौकिक और गूढ़ है। यह साध्यके साथ ही अन्तरात्मामें रहता है। उसके उद्देश्यबल, ज्ञानबल और पुरुषार्थबलमें रहता है। यह त्रिशक्ति ही संसारकी साधक है। यह त्रिशक्ति ही मोक्षकी साधक है। भेद केवल इनके उपयोगका है, इनकी गतिका है। यदि इन शक्तियोंको बाहरसे हटा अन्तर्मुखी बना दिया जाय, इन्हें परसिद्धिकी बजाय आत्मसिद्धिमें लगा दिया जाय, इन्हें बाह्य उद्देश्य, बाह्य ज्ञान, बाह्य पुरुषार्थसे बदलकर आत्म-उद्देश्य, आत्मज्ञान, आत्मपुरुषार्थमें तबदील कर दिया जाय, तो यह त्रिशक्ति जीवनको बजाय इस पारके उस पार ले जानेवाली हो जाती है। बजाय संसारके मोक्षकी साधक बन जाती है। बजाय मृत्युके अमृतकी साधक हो जाती है!

यह त्रिशक्ति आत्मामें ही रहती है, आत्मरूप ही है। अतः वस्तुतः आत्मा ही साधक है, साधन है और साध्य है। आत्मा ही पथिक है, पंथ है और इष्टपद है।

यह त्रिशक्ति एकतामें रहकर ही सिद्धिकी साधक है, अन्यथा नहीं। जैसे इनकी बाह्यमुखी एकता संसारकी साधक है, वैसे ही इनकी अन्तर्मुखी एकता मोक्षकी साधक है। जैसे संसारमें किसी भी पदार्थकी सिद्धि केवल उसकी कामना करनेसे नहीं होती, केवल उसका बोध करनेसे नहीं होती, बल्कि कामना और बोधके साथ पुरुषार्थ जोड़नेसे होती है, ऐसे ही परमात्मपदकी सिद्धि केवल उसमें श्रद्धा रखनेसे, केवल उसे जान लेनेसे नहीं होती, बल्कि आत्मश्रद्धा, आत्मज्ञानके साथ आत्मपुरुषार्थके जोड़ लेनेसे होती है।

वास्तवमें जो परमात्मपदको अपना उद्देश्य बनाता हुआ आत्मज्ञानसे उसे देखता और जानता हुआ आत्मपुरुषार्थसे उसकी ओर विचरता है, वही सत्य है, मार्ग है, जीवन है। वही धर्म है, धर्ममूर्ति है, धर्मतीर्थ है, धर्म-अवतार है।

इस तरह विचरते हुए जिसके समस्त संशयोंका उच्छेद हो गया है, जिसकी समस्त ग्रन्थियाँ शिथिल हो गयी हैं, समस्त तृष्णाएँ शान्त हो गयी हैं, समस्त उद्योग बंद हो गये हैं। जो आत्मलक्षी है, आत्मज्ञानी है, निरहङ्कार है। जिसने अपनी आशा अपनेहीमें लगा ली है, अपनी दुनिया अपनेमें ही बसा ली है, अपनी ममता अपनेमें ही जमा ली है। वही कृतकृत्य है, अचल है, ईश है। उसके लिये काँच और काञ्चन क्या? शत्रु और मित्र क्या? स्तुति और निन्दा क्या? योग और वियोग क्या? जन्म और मरण क्या? दुःख और शोक क्या? वह सूर्यके समान तेजस्वी है, वायुके समान स्वतन्त्र है, आकाशके समान निर्लेप है। मृत्यु उसके लिये मृत्यु नहीं, वह मृत्युका मृत्यु है, वह मोक्षका द्वार है, वह महोत्सव है।

यह सिद्धिमार्ग वेषधारीका मार्ग नहीं, तथागतका मार्ग है। मूढ़का मार्ग नहीं, सन्मतिका मार्ग है। यह निर्बलका मार्ग नहीं, वीरका मार्ग है।

जरथुस्त्रधर्मकी साधना

(निःस्वार्थ-सेवा)

(लेखक—श्रीफीरोज कावसजी दावर एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

जरथुस्त्रीय उपासनाका साधन बहुत व्यापक और जटिल भी है। कोई श्वेत पगड़ीवाला पारसी पुरोहित ही जो इस उपासनाके रहस्योंमें विधिपूर्वक दीक्षित हुआ हो, वही अधिकारके साथ इस विषयमें कुछ कह सकता है। मैं तो एक सामान्य मनुष्य हूँ; इसलिये इस उपासनाके गभीर रहस्योंके विषयमें कुछ कहनेका साहस न करके, केवल निःस्वार्थ सेवा-साधनके विषयमें ही कुछ कहूँगा। क्योंकि निःस्वार्थ सेवा जरथुस्त्र-सम्प्रदायका हृद्गत ही है। हमारे धर्मका सर्वोत्तम प्रतीक वह कमल है, जिसमेंसे एक देवता उदय हो रहे हैं। यह कमल श्वेत है, जो जरथुस्त्रीय सम्प्रदायकी पवित्रताका चिह्न है। यही हमारे पुरोहितों और हमारे धार्मिक अथवा अंशतः धार्मिक कृत्योंमें भाग लेनेवाले लोगोंका वर्ण है। यह कमल पङ्कसे उत्पन्न हुआ पङ्कज है, पर उसमें अभी कोई कलङ्क नहीं लगा है। जरथुस्त्र-धर्मको माननेवाला सच्चा अनुयायी सांसारिक जीवन व्यतीत करता है; पर इसके लोभ-मोह उसे अपना शिकार नहीं बना सकते, न उसपर अपना कीचड़ ही उछाल सकते हैं, न उसे राग-द्वेषके द्वन्द्व-सङ्घर्षसे विचलित ही कर सकते हैं। कमलकी निष्कलङ्कतासे ही दिव्य देवभावका उदय होता-सा प्रतीत होता है, जैसा कि हिंदू-कलाकी कुछ कृतियोंमें देख पड़ता है; ऐसे ही निर्मल हृदयमें, जो हो संसारमें पर संसारका न हो, अहुरमज़द निवास करते हैं। जरथुस्त्र-धर्मको माननेवाला पवित्रात्मा पुरुष इस प्रकार एक कमल है, मकड़ा नहीं जो अपनी कामनाओंके जालमें स्वयं केन्द्र बना दैवात् पास आनेवाली मक्खियोंकी घातमें लगा रहता है।

हमारे धर्मका चिह्न संन्यासका गेरुआ वस्त्र नहीं, बल्कि सेवाकी 'कुष्ती' (*विशुद्ध मेखला*) है। *संन्यासधर्मका हमलोग* आदर करते हैं, पर अपने धर्मकी भावनाके अनुसार निष्काम कर्म और अहैतुक परोपकारके जीवनको अधिक पसंद करते हैं। हमलोग अपनी सब कर्मशक्तियोंको ईश्वरमें ही नहीं गड़ा देते, न दुनियाकी ओर अपनी पीठ फेर देते हैं; बल्कि हमलोग उस ईश्वरका अनुसन्धान करते हैं जो उन पतित-पीड़ित असंख्य मनुष्योंके हृदयोंमें निवास करता है जिन्हें सहायताकी आवश्यकता है। हम जानते हैं कि संसार भ्रमका एक चक्कर है; पर हम इस भ्रमके मूलमें जो सत्य है, उसके अभिमुख होते हैं। जो मनुष्य संसारको केवल कल्पित या प्रातिभासिक क्षणिक दृश्यमात्र समझता है, उसे ऐसे संसारकी सेवा करनेमें कभी उत्साह नहीं हो सकता। उत्साह तभी होगा, जब उसे यह विश्वास होगा कि जीवन मिथ्या नहीं, इसका कुछ अर्थ है, कुछ अभिप्राय है। अतः श्रीमत् शङ्कराचार्यके 'केवलाद्वैत' की अपेक्षा श्रीमद्रामानुजाचार्यका 'विशिष्टाद्वैत' जरथुस्त्रके अनुयायियोंको अधिक आकर्षक और प्रेरक प्रतीत होता है। 'स्वामी रामतीर्थके ग्रन्थ' की भूमिकामें रेवरेंड सी. एफ्. ऐंड्रूज इस 'केवलाद्वैत' सिद्धान्तके विषयमें कहते हैं कि यह तो जीवनकी महान् समस्याका एक अवैध और बहुत सस्ता-सा समाधान (illegitimate short cut) है। जगद्रहित ईश्वरकी भावना किसी कदर भावमय स्थितिकी ही भावना है। भगवान् हैं भावमय, पर जब हमारे हृदय भक्तिमें लीन होते और हमारी प्राणेन्द्रियक्रियाएँ विश्वमानवकी सेवामें लग जाती हैं, तब वे शक्ति और प्राणेन्द्रियक्रियाके रूपमें प्रकट होते हैं। जरथुस्त्र-सम्प्रदायने मानव-जातिकी सेवाका व्रत लेकर अपनी रक्षा कर ली है। वह एक साथ दो काम करता है, मनुष्य और ईश्वर दोनोंके ही प्रति एक साथ ही अपने कर्तव्यका पालन करता है। जरथुस्त्रको माननेवाला पुरुष मनुष्यकी जो सेवा करता है, वही भगवान्की पूजा हो जाती है।

किसी महान् पारमार्थिक जीवनके लिये अपने स्वजनोंका त्याग करना, जीवनके सुख-साधनों और भरे-पूरे घरके आनन्दको लात मार देना बड़े भारी आत्मनिग्रहका काम है। पर इससे भी अधिक आत्मसंयमकी आवश्यकता होती है, सबके बीचमें बैठकर ईश्वरकी ओर अपना मन एकाग्र करनेमें—जहाँ सब तरफ सब प्रकारके ऐसे-ऐसे प्रलोभन हैं जो बड़े-बड़े साधु-महात्माओंको भी डिगा देनेका भय दिखाते हैं। यह है सबसे कठिन काम, पर असम्भव नहीं—जैसा कि राजा जनककी कथासे मालूम होता है। एक बार राजा जनकने कुछ आदमियोंके सिरपर जलसे लबालब भरा हुआ एक-एक घड़ा रखवाया और उन्हें शहरके बाजारमें घूम-फिर आनेकी आज्ञा दी। बाजारमें बड़ा मेला था और ढोल और नगारे बड़े जोर-जोरसे बजाये जा रहे थे और इन्हें यह आज्ञा हुई कि घड़ेका

पानी छलके नहीं, उसमेंसे एक बूँद भी नीचे न गिरे, जिससे गिरेगा उसका सिर काट लिया जायगा। ये लोग घड़े सिरपर रक्खे, बाजारमें घूमे; पर सिर कटनेके भयसे इनके मनकी इतनी एकाग्रता हो गयी थी कि इन्हें रास्तेमें न कहीं कोई बाजे सुनायी दिये, न इनका किसी ओर ध्यान गया; न किसीके घड़ेसे एक बूँद पानी नीचे गिरा। इसी प्रकार हमलोगोंमें जो साधु प्रकृतिके लोग हैं, वे इस जीवनयात्रामें मार्ग चलते हुए दीन-दुखियोंकी सहायता करते चलते हैं पर दिन-दिन बढ़नेवाले प्रलोभनोंसे नहीं विचलित होते।

सेवाका यह उपदेश सीधा-सादा-सा होनेपर भी इसके लिये यह तो आवश्यक होता ही है कि सेवा करनेवाला पुरुष, प्रथमतः, विशुद्ध और विनम्र हो। जिस पुरुषको अपनी शक्तियोंका अभिमान है और जो अपनी प्रतिष्ठाको सदा बनाये रहनेकी चिन्तामें व्यग्र रहता है, वह अपनेसे बड़ेके सिवा और किसीकी सेवा करनेका अधिकारी नहीं है। बड़ेकी सेवा भी वह आर्थिक लाभके लिये ही कर सकता है। गर्वका सिर ऊँचा ही होता है, पर प्रायः इसे नीचा ही देखना पड़ता है; नम्रता नमा करती है और दीनजन-सेवाके कार्योंमें दीनवत्सल भगवान्‌की देखा करती है। सेवाधिकारकी दूसरी आवश्यकता है प्रेमगद्गद हृदय। प्रेमसे ही तो माता अपने शिशुकी सेवा करती है और प्रेमसे ही पुत्र-पुत्री अपने वृद्ध माता-पिताकी सेवा करते हैं, चाहे माता-पिताके पास उन्हें देनेके लिये अब कुछ भी न रहा हो। प्रेमसे ही सेवा हो सकती है। प्रेमकी उत्पत्ति होती है अहङ्कारकी लीनतामें और उसका लय होता है सेवा और आत्मदानमें। परन्तु किसीका प्रेम अपने परिवारमें ही बँधा रह सकता है—ऐसे प्रेमको स्वार्थपरतासे कुछ अधिक नहीं माना जा सकता। यहींसे धर्मकी प्रवृत्ति आगेको बढ़ती है और यह अनुभव होता है कि भक्ति जितनी ही गाढ़ी होती है, प्रेमका क्षेत्र भी उतना ही विस्तृत होता है। तब देश और धर्मके भेद भी भूल जाते हैं और साधु, संत, सिद्ध, महात्मा मनुष्यमात्रमें उसी प्रभुके दर्शन करते हैं और विश्वबन्धुसे छोटी किसी चीजसे सन्तुष्ट नहीं होते।

संसारके कल्याण-साधनमें परस्परकी सेवा अनिवार्य है, क्योंकि कोई अंश अपने अंशीसे अलग नहीं रह सकता। यदि एक अंश दूसरे अंशसे और सब अंश अपने पूर्ण अंशीसे पृथक् हो जायँ तो सम्पूर्ण कुछ रह ही नहीं जाता और अंश भी परस्पर सहयोगके अभावसे नष्ट हो जाते हैं। यदि एकत्व ही जीवनका साध्य है तो सेवा और सहायता ही इसके साधन हैं और विशुद्ध निःस्वार्थ परोपकारका एक छोटा-सा भी काम भगवान्‌की नित्य अर्चाका ही एक कृत्य है। इस सेवाभावका जगत्‌में प्रचार हो, सब लोग सुखी हों, यही जरथुस्त्र-धर्मकी साधना है। सीधी-सी बात है, पर किसी कविने कहा है कि 'इतने रास्ते चक्कर-पर-चक्कर काटते हुए! इतनी जातियाँ और इतने सम्प्रदाय! भला, इन सबका क्या काम था?—जब कि जगत् जो कुछ चाहता है, वह इतना ही कि सदय हो दया करो, और कुछ नहीं!'

मृत्यु बाघिनकी तरह पकड़कर ले जाती है

सुप्तं व्याघ्रं महौघो वा मृत्युरादाय गच्छति। संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम्॥
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति। इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत्कृताकृतम्॥
एवमीहासमायुक्तं मृत्युरादाय गच्छति। कृतानां फलमप्राप्तं कार्याणां कर्मसंगिनाम्॥

जलका वेग जैसे सोते हुए बाघको बहाकर ले जाता है, वैसे ही काल नाना प्रकारके मनोरथ बाँधते हुए और कामनाओंसे अतृप्त हुए पुरुषको घसीटकर ले जाता है। भेंड़के बच्चेको जैसे बाघिन उठाकर ले जाती है, ऐसे ही मृत्यु पकड़कर ले जाती है। पुरुष यह विचारता होता है कि मैंने यह कार्य कर लिया, यह कार्य करनेको बाकी है, इस कामको आधा कर लिया है, अभी यह आधा और बाकी है, परन्तु इतनेमें ही मृत्यु उसके किसी कामका विचार न कर उसकी इच्छाओंके पूर्ण हुए बिना ही पकड़ ले जाती है। (महा० शान्ति० २७७ अ० १८ से २० श्लोक)

जरथुस्त्र-धर्मकी अग्नि-उपासना

(लेखक—श्रीनरीमान सोराबजी गोलवाला)

गूश्ता ये मन्ता अपेम्
अहूम्विश् विद्वाओ अहूरा ।
एरेजुखधाई वचंघहाम्
क्षयन्नो हितवा वसा
ध्वा आश्ना सुखा मज्दा
वंघहाऊ वीदाता राज्याओ ।*
(गाथा ३१—१९)

पारसी जरथुस्त्र-धर्मकी समस्त क्रियाओंमें अग्निका बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है । सांसारिक व्यवहारोंमें भी सर्वत्र अग्निकी ही प्रधानता है । देशका व्यापार अग्निसे ही चल रहा है । रेलगाड़ी और मिलें—ये सब अग्निसे ही चलती हैं । यह अग्नि प्रकृतिकी बहुमूल्य भेंट है । वृक्ष और लता आदिके उगने और बढ़नेमें अग्नि बहुत शक्ति प्रदान करता है । धातुओंको पिघलानेवाला अग्नि ही है । ज्वालामुखी और भूकम्प—ये भी अग्निकी ही क्रियाएँ हैं । हमारी मानवजातिमें भी यही अग्नि काम कर रहा है । सभी प्राणियोंकी उत्पत्तिमें अग्निका हाथ रहता है । अग्नि बुझ जाय, तो हमारा जीवन समाप्त हो जाय । सारी सृष्टि अग्निसे चल रही है । इसके प्रताप और लाभके कारण ही पारसी जातिने अग्निको सबसे श्रेष्ठ पद प्रदान किया है । बड़े सम्मान और भक्तिभावके साथ पारसी लोग उसे प्रज्वलित रखते हैं । वे विशेष प्रकारके भवन निर्माणकर अग्निको उनमें स्थापित करते हैं । इस प्रकारके भवन अग्नि-मन्दिर कहलाते हैं । अग्निके द्वारा ही संसारमें तन्मय होनेके लिये याचना करते हैं ।

अग्निकी महत्ता दिखलाते हुए यज्ञश्नेके ४३ वें अध्यायके चौथे वाक्यमें शुद्ध चित्तकी शक्तिके लिये याचना की गयी है । जैसे—

अत ध्वा मंगृहाई तखमेम्चा स्पेन्तेम मज्दा
ह्वत् ता जस्ता या तू हपती अवाओ
माओ दाओ अपीश द्रेगवाईत अवाऊनए चा
ध्वाहा गरेमा आश्ना अवा-अओजंघहो
ह्वत् मोई वंघहेऊश हचे जिमत मनंघहा
(४३ । ४)

विद्वद्वर श्रीयतीन्द्रमोहन चटर्जी एम० ए० ने अवस्ताके इस पद्यका इस प्रकार अनुवाद किया है—'I thought you to be the seed of holiness, O Mazda, since Thine are those arms with which you give protection and by which you give blessing both to the good and to the bad. And that which will lend strength to my conscience, is your glowing fire glorious in virtue.'

'हे मज़्द, मैंने तुझे पवित्रताके आदिकारणके रूपमें पहचाना, क्योंकि यह तुम्हारी ही शक्ति है जो आश्रय प्रदान करती है, और इसीके द्वारा भले बुरेका कल्याण होता है । और तुम्हारी यह पुण्यके प्रतापसे प्रज्वलित अग्नि ही हमारी अन्तरात्माको शक्ति प्रदान करेगी ।'

बन्दीदाद नामक पारसियोंकी दूसरी पुस्तकमें लिखा है कि 'हे प्रभु ! क्या अग्नि मनुष्यको मारता है ?' तब होरमज़्दे (प्रभु) ने कहा कि, अग्नि मनुष्यको मारता नहीं । अस्तो विधोतु देव (यम देवता) उसको बाँधते हैं और (मरुत्) उसे बाँधकर ले जाते हैं । अग्नि उस मनुष्यकी हड्डियों तथा दिलकी गरमीको जलाता है । वहाँसे वह आगे जाता है और तकदीरसे वह नीचे जाता है । (बन्दीदाद ५)

यज़श्नेमें विभिन्न प्रकारके अग्निका वर्णन आता है । १७ वें प्रकरणमें सब अग्नियोंकी आराधना इस प्रकार की गयी है—

बेरेज़ी सवंघह नामक अग्निका हम स्तवन करते हैं ।
उर्वाज़ीश्त ,, ,, ,, ,, ,,
वाजिश्त नामक अग्निका हम स्तवन करते हैं ।
स्पेनिश्त ,, ,, ,, ,, ,,
नेरियोसंघ ,, ,, ,, ,, ,,

तथा अहुरमज्दका उत्पन्न किया हुआ और अहुरमज्दके द्वारा समस्त वस्तुओंको पवित्र करनेवाला जो अग्नि सब गृहोंका गृहस्वामी है और अशोईका सरदार है, उसका अन्य अग्नियोंके साथ हम स्तवन करते हैं । (यज़श्ने १७)

* हे मज़्द, अपने उद्दीप्त प्रकाशके द्वारा उस वीरको सत्यमें अवस्थित करो, जो बुद्धिमान् है और आत्मज्ञानके साथ सदाचारका श्रवण और मनन करता हुआ वाक्संयमी हो गया है तथा वाणीके द्वारा सत्यके प्रकाशनमें समर्थ है ।

हे अग्नि, तुम अहुरमज्दकी निशानी हो। तुम दादार (प्रभु) की सृष्टिकी वृद्धि करनेवाले हो। हे अहुरमज्दके अग्नि, तुम्हारे अनेकों नामोंमेंसे एक नाम 'वाजिश्त' है। हे प्रभु, हम इस नामके द्वारा तुम्हें प्राप्त करें। (यज्ञने ३६)

अग्निकी ऐसी महिमा है, ऐसा उच्च स्थान इसको प्रदान किया गया है। तो फिर इसकी उत्पत्ति कैसे हुई, यह पहले अस्तित्वमें कैसे आया—इसका अन्वेषण करके इसके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसकी आलोचना की जायगी।

अग्निकी उत्पत्ति (प्राचीन कालमें)

प्राचीन कालमें आजसे दस हजार वर्षसे भी अधिक पहले ईरानमें महान् पारसी आर्यन् राजा राज्य करते थे। इन आर्यन् राजाओंका पहला वंश 'पेशदादीअन' नामका था। इस वंशका सबसे पहला बादशाह 'गयोमर्द' था। उसका पुत्र स्यामक लड़ाईमें मारा गया। उसके वियोगमें गयोमर्दकी मृत्यु हो गयी। इसके बाद हुशंगनामक बादशाह गद्दीपर बैठा। गयोमर्दके समयमें अग्नि-जैसी वस्तुका पता न था।

बादशाह हुशंगको शिकारका बड़ा शौक था। शाहनामेका रचयिता कवि फिरदौसी कहता है कि एक दिन बादशाह हुशंग अपने आदमियोंके साथ पहाड़ीकी ओर शिकारके लिये जा रहा था। इतनेमें उसे दूरसे लंबी, काले रंगकी और जल्दी-जल्दी दौड़ती हुई कोई वस्तु दिखायी दी। उस वस्तुके सिरपर दो आँखें रक्तके चश्मेके समान थीं। उसके मुँहसे निकलती हुई भापके कारण दुनियामें अँधेरा छाया था। यह एक बड़ा भारी अजदहा (सर्प) था। बादशाहने एक बड़ा पत्थर उठाकर उसे अपनी सारी शक्ति लगाकर सर्पकी ओर फेंका। वह पत्थर अजदहाके सिरपर लगा और वह चूर-चूर हो गया। वह पत्थर उसके सिरपर लगनेके बाद पासके दूसरे पत्थरसे टकरा गया और टकराते ही उसमें चकमक (अग्नि) पैदा होनेके कारण पासकी घास जल उठी। हुशंग और उसके साथी इस नयी जातिके तेजको आगे आता देखकर उसे लेने गये और उससे जल गये। यह तेज क्या है, इसका भान होते ही बादशाहने उसे और भी अधिक प्रज्वलित किया और उसका नाम 'आतिश' या अग्नि रक्खा।

इस प्रकार अकस्मात् अग्निका आविष्कार हुआ। बादशाहने इसके लिये विशेष भवन बनाया और उसमें उसकी स्थापना की। उसके पीछेके बादशाहोंने भी उसकी उसी प्रकार रक्षा की—अग्निको प्रज्वलित रक्खा। हुशंगके पीछे गद्दीपर बैठनेवाले बादशाह तेरमुरस्पेने अग्निकी महत्ता बढ़ायी, और अपने देशमें तीन आतिशकदेह (अग्नि-मन्दिर) बनवाये, और उनका नाम 'स्पेनिश्त', 'वाज़िश्त' और 'बेरेजंघह' अग्नि रक्खा।

इसके बाद बादशाह जमशेदने 'अनुनफशोइवर्ग' के नामसे अग्निकी स्थापना की। बादशाह लोहराश्पने 'नओ बहार' के नामसे आतिशकदेह (अग्नि-मन्दिर) स्थापित किया।

पारसियोंके महान् पैगम्बर महात्मा जरथुस्त्रने (आजसे ६००० वर्षसे भी पूर्व) अपनी हथेलीसे आग निकालकर मस्त हुए मोबेदों (ब्राह्मणों) को होशमें लाकर जश्न (यज्ञ) किया और 'आज़रे बूरजीन मेहर' के नामसे अग्निकी स्थापना की।

पैगम्बरके बाद पाँच शताब्दियाँ बीत गयीं। ईरानके सबसे अन्तिम सासान वंशके अर्दशीर बाबेकरने नये सिरेसे बादशाहत स्थापित की और नया शहर बसाया, तथा 'आतिश बेहराम' बनवाया। इस वंशके महान् बादशाह नौशीरवानने अग्निका महत्त्व बढ़ाया और 'आज़र गोशीद' नामसे अग्निकी स्थापना की।

इस सासान वंशके अन्तिम बादशाह यज़्दगर्दके बाद पारसी शाहनशाहत ही नष्ट हो गयी। मुसल्मान ईरानपर चढ़ आये। ईरानी और मुसल्मानोंके बीच युद्ध हुआ। ईरानी पारसी हार गये और मुसल्मान ईरानके अधिकारी हो गये। पारसियोंका धर्म और अग्नि दोनों सङ्कटमें आ पड़े। इस अग्निको बचाने और धर्मकी रक्षा करनेके लिये पारसियोंने अपने प्यारे वतन (मातृभूमि) को छोड़ दिया और वे बहुत बड़ी संख्यामें हिन्दुस्तानमें आये। इस देशमें पारसियोंको आश्रय मिला। (इस आश्रयको प्राप्त करनेके सम्बन्धमें बहुत जानने योग्य इतिहास है। उसे किसी दूसरे समय प्रस्तुत करूँगा।)

पारसी लोग हिन्दुस्तानमें आये। वे आज तेरह सौ वर्षसे हिन्दुस्तानमें बसे हुए हैं और हिन्दुस्तानको अपनी मातृभूमि बना लिया है। इस प्यारी मातृभूमिके लिये उन्होंने अपना तन-मन-धन प्रदान कर दिया है। कला-कौशल और व्यवसायमें सर जमशेदजी ताताका नाम आज खूब प्रसिद्ध है। राजनीतिमें देशके महान् दादा देशभक्त

दादाभाई नौरोजीका नाम प्रत्येक हिन्दुस्तानी जानता है। स्वराज्यकी घोषणा करनेवालोंमें दादाभाई पहले आदमी थे। जात-पाँतके भेदको छोड़कर सारे हिन्दुस्तानमें महान् दान करनेवाले पारसी लोग ही हैं।

पारसी लोगोंने इस देशमें अपने धर्मकी भलीभाँति रक्षा की है। गुजरातके बड़े शहरोंमें जहाँ-जहाँ पारसियोंकी अच्छी बस्ती है, वहाँ-वहाँ पारसियोंने अग्नि-मन्दिर बनवाये हैं और अग्निकी स्थापना करके सारे देशमें अग्निकी महत्ता बढ़ायी है।

अग्नि-मन्दिरोंमें जो अग्नि प्रज्वलित किया जाता है, उसके लिये कोयलेका प्रयोग नहीं होता। धर्मगुरु पृथक्-पृथक् अग्नियोंके साथ एक अग्निकी स्थापना करते हैं। एक-दूसरेके साथ अग्निको मिलाते समय गन्धकका एक टुकड़ा रुईके साथ सुलगाते हैं, और उसकी ज्योतिसे दूसरेको, उससे तीसरेको, चौथेको इसी प्रकार अग्निका निर्माण करते जाते हैं। अन्तमें सब ज्योतियोंमें अग्नि पवित्र हो जाता है, तब धर्मगुरु उस अन्तिम अग्निकी स्थापना करते हैं।

अग्नि कोई मूलतत्त्व नहीं है, परन्तु यह नूरी चीज़ है। इसका धूमिल प्रकाश सबसे सुन्दर आत्माकी दृष्टिमें आनेवाली नौकाके समान है। 'सीक्रेट डॉक्ट्रिन' नामक पुस्तकमें अग्निकी महिमाका वर्णन इस प्रकार किया गया है कि 'खनिज पदार्थ और वनस्पतिमें बड़ा अन्तर है। उदाहरणार्थ, दीपके दीवटमें कोई आकर्षण नहीं होता, परन्तु उसके प्रज्वलित करते ही उसमें आकर्षण बढ़ता है। परन्तु इस आकर्षणके लिये तेलकी आवश्यकता पड़ती है। ईथर अग्नि है। ईथरका सबसे हल्का हिस्सा जो जलता है, वह इससे ही बना है।

हमें दिखलायी देनेवाली सृष्टिमें यही एक तत्त्व है जो सब प्रकारकी सजीव वस्तुओंके आकारकी क्रियाशक्तिके रूपसे व्याप्त है। इसीके कारण प्रकाश, उष्णता, मरण और जीवन आदि होते हैं।

ईथरका सबसे स्वच्छ रूप अग्नि है। इसी कारण उसका प्राकृतिक रूप नहीं बतलाया जा सकता। परन्तु वह सबसे स्वच्छ ईथरके साथ अभेदरूपसे रहता हुआ सृष्टिमें सर्वत्र मालूम पड़ता है।

अग्नि दो प्रकारका होता है—पहला निराकार या अदृश्य अग्नि, जो मध्यबिन्दुमें स्थित होकर आत्मसूर्यमें छिपा हुआ है; दूसरा प्रकट जागतिक अग्नि, जो सृष्टि और सूर्यमें सप्तरूपोंमें रहता है।

प्रभु अहुरमज़्द अग्निमय शरीरवाले हैं। व्यक्त जगत्के परे सर्वैकात्म्यरूपमें अग्निमय प्राणवाले ईश्वर हैं। इस संसारमें वह मध्यबिन्दुमें प्रतीत होनेवाले आत्मिक सूर्य तथा सृष्टिके आत्माके रूपमें तथा जगत्के स्रष्टा ईश्वरके रूपमें परिगणित होते हैं। हमारी पृथ्वीके भीतर, बाहर और ऊपर अग्निमय आत्मा विद्यमान है, जिसमें हवा यानी सूक्ष्म अग्नि, जल यानी द्रव अग्नि और पृथ्वी यानी स्थूल अग्निका आविर्भाव होता है।

पारसी जरथुस्त्रियोंका आतिशबेहराम

पारसी जरथुस्त्रियोंने अपने अग्नि-मन्दिरमें एक विशेष अग्निको स्थापित किया है, वह मन्दिर 'आतिशबेहराम' के नामसे कहलाता है। इसके गर्भगृहमें संगमरमरकी वेदीके ऊपर एक चाँदी या पीतलके आफरगान्या (एक प्रकारके अग्निपात्र) में पवित्र अग्निको प्रतिष्ठित किया जाता है। इस अग्निमें रात-दिन चन्दन जलाया जाता है। इससे एक सुन्दर बोध मिलता है। चन्दनका जलना और सुगन्धका फैलना स्वर्गकी ओर जानेवाले मार्गको दिखलाकर, जहाँ ईश्वरका निवासस्थान है और जहाँ ईश्वरीय अग्नि सृष्टिके व्यवहारको चालू रखनेके लिये प्रज्वलित रहता है, उस लोककी ओर भक्ति करनेवाले आत्माका ध्यान ऊँचा उठाता है। अग्नि प्रज्वलित होता है और उसका तेज ऊपर चढ़ता है। यह मानो जीवनका महान् प्रकाश है और जुदा पड़े हुए आत्माके चिह्नको प्रदर्शित करता है। जिस खण्डमें अग्नि सदा प्रज्वलित रहता है, वह सृष्टिकर्ताका सुन्दर नमूना अशोईकी शिक्षापर है और अन्धकारको दूर करनेवाला तथा मनुष्यके आन्तरिक नित्यजीवनको उच्च स्थान प्रदान करनेवाला है। उस खण्डके आकाशके ऊपर निराकार (अदृष्ट) प्रभुकी दृष्टिमें पड़नेवाली ज्योतिको आशो अहुरमज़्दकी बन्दगी करनेवाले अपना सिर समर्पण करते हैं। अग्नि ईश्वरका पुत्र है। वह इस भौतिक जगत्का स्रष्टा है। और अपने पिता अहुरमज़्दका प्रतिनिधि तथा अनन्त सुखका स्वामी है। वह मनुष्योंका कल्याण करनेवाला तथा सृष्टिका प्रकाश और जीवन है।

आज तो गुलशन अवनत दशामें है। ऐसे समयमें भी अग्निमें अपने प्रभुका अंश देखनेके लिये सारे पारसी अपने अन्तःकरणके उद्गारोंको प्रकाशित करते हैं। पैगम्बर जरथुस्त्रके अनुयायी मानते हैं कि उनके ये पैगम्बर स्वर्गीय प्रकाशके प्रकाशक थे और प्रकाश (Light) उनका

पैगाम (सन्देश) था। सब तत्त्वोंमें अग्नि ही एक ऐसा तत्त्व है जो सदा आकाशकी ओर संकेत करता है। और जो बिहिश्त (स्वर्ग) से अग्नि लाया था, उसने भौतिक जगत्‌में नीति और गुप्तज्ञानके अन्धकार (अज्ञान) को दूर किया।

पारसीलोग जब एक नया अग्नि-मन्दिर बनवाते हैं तब उसमें सब जगहोंके, समस्त कारीगरोंके और समस्त वर्णोंके लोगोंके यहाँसे अग्नि एकत्रित करते हैं। इसके लिये महीनों पहलेसे तैयारी होती है। देशके बादशाहके घरका अग्नि लिया जाता है, भिक्षुकके घरका अग्नि लिया जाता है। उसके पश्चात् राजगीर, लोहार, बढ़ई, कुँभार और सुनारके घरसे, और अन्तमें शूद्रके घरसे भी अग्नि लिया जाता है। इन सबको एकत्र किया जाता है। फिर बिजली गिरनेपर जो जंगलके पेड़ जल उठते हैं, वहाँका अग्नि भी लिया जाता है। मृतककी जलती चिताका अग्नि भी लिया जाता है। इस प्रकार १६ जातिके अग्नियोंको इकट्ठा करके अनुष्ठान किया जाता है और विभिन्न ज्योतियोंसे छनकर अन्तमें जो पवित्र अग्नि रहता है, उसकी पवित्र क्रियाओंके द्वारा स्थापना की जाती है। इस प्रकार पारसीलोगोंके अग्निमन्दिरमें बादशाहसे लेकर भिखारीतकके घरका अग्नि बरता जाता है। और ये सब १६ अग्नि क्रियाओंके द्वारा एक बनते हैं। इससे एक यह अति सुन्दर बोध प्राप्त होता है कि जगत्‌में एक जीवन अनेकों आकारोंमें छिपा रहता है। अतएव केवल एक ही जीवनकी आराधना करनी चाहिये और वह अहुरमज़्दकी, ईश्वरकी। ईश्वर ही एक महान् जीवन है।

अन्तमें, पारसी जरदोश्ती धर्ममें जो अग्निकी स्तुति की गयी है, वह अवस्ताके अनुसार यहाँ प्रस्तुत की जाती है। यह सारी स्तुति अवस्तामें 'आतिश निआएश' नामसे प्रसिद्ध है। प्रत्येक जरदोश्ती अग्निमन्दिरमें अग्निके सम्मुख खड़ा होकर अग्निके ऊपर चन्दनका हवन करते हुए कहता है—

नेमसे ते आतर्श मज़दाओ अहुरहे हुधाओ मज़िश्त यज़त पनामे यज़दान अहुरमज़्द खोदारा अवजूनी गोरजे खारेह अवजयाद। आतश बेहराम आदर फरा ॥ १ ॥

उस मोई उज़ारेष्वा अहुरा आर्महती तेबीषीम् दस्वा स्पेनिश्ता मइन्यू मज़दा बंधहुया ज़वो-आदा अषा हजो एमवत बोहू मनंघहा फेसेरतूम ॥ २ ॥

यस्नेम्च वह्मेम्च हुवेरतीम्च उश्तवेरतीम्च वन्त-वेरतीम्च आथ्रीनामी तव् आतश पुथ्र अहुरहे मज़दाओ यस्न्यो अहि वहम्यो यस्न्यो बुदाओ वहम्यो न्मानाहु मध्याकनाम। उश्त बुयात अहमाई नहेरे यसे ध्वा बाव फ्रायज़हते अएसो जस्तो बेरसो जस्तो गओ जस्तो हावनोजस्तो ॥ ३ ॥

दाईत्यो अशेस्से बुयाओ, दाईत्यो बओईधि बुयाओ, दाइत्यो पिध्वि बुयाओ, दाईत्यो उपसयने बुयाओ, पेरनायुश हरेथ्रे बुयाओ, दहमुश हरेथ्रे बुयाओ, आतर्श पुथ्र अहुरहे मज़दाओ ॥ ४ ॥

सओचे बुये अहम्य न्माने, मतसओचे बुये अहम्य न्माने, रओयहि बुये अहम्य न्माने, बख्थे बुये अहम्य न्माने, देरेंगमचित् अईपि बरवानेम्, उपसूरान् फसेकिरतीम् हव सूयाओ बंधहुयाओ फ्रशो—केरतोईत् ॥ ५ ॥

दायाओ मे, आतर्श पुथ्र अहुरहे मज़दाओ, आसु खाथ्रेम्, आसु आईतीम्, आसु बतीम्, पोठरु खाथ्रेम्, पोठरु आइतीम्, पोठरु जितीम्, मस्तीम स्पानो, धविब्रेम हिचवाम् उश्ने उषि, खतूम पस्चयेच्च, मसित मज़ाओब्रेम् अपईरि—आथ्रेम् नाइरयांम् पस्चयेत हांम वरेतीम ॥ ६ ॥

भावार्थ—

हे अहुरमज़्दके अग्नि, तुम कल्याण प्रदान करनेवाले और उपकार करनेवाले हो; तुम्हें नमस्कार हो।

दादार अहुरमज़्द समस्त सृष्टिका स्वामी है, वृद्धि करनेवाला है। उसके नामसे मैं यह स्तुति करता हूँ। परमश्रेष्ठ अग्नि आतिश बेहरामका प्रताप बढ़े ॥ १ ॥

अत्यन्त वृद्धि करनेवाले और स्तवनका सुन्दर फल प्रदान करनेवाले दिव्य अहुरमज़्द, तुम मुझे पवित्र करो। दुष्ट कर्मोंसे दूर रक्खो। मेरी नम्रताके लिये मुझे शक्ति प्रदान करो। मेरी मङ्गलकामनाओंके बदले मुझे सरदारी दो ॥ २ ॥

अहुरमज़्दकी ओरसे सब वस्तुओंको पवित्र करनेवाले अग्निदेव! तुम्हारे उत्सव, तुम्हारी आराधना, तुम्हारे समर्पण, स्वास्थ्य प्रदान करनेवाले समर्पण, मैत्रीपूर्ण समर्पणकी मैं स्तुति करता हूँ। हे अग्नि! तुम पूजनीय हो, तुम आराधना करने योग्य हो। जो मनुष्य हाथमें ऐसम् लेकर, हाथमें बरसम् लेकर, हाथमें जुल्थम् लेकर, हाथमें हाओम् लेकर तुम्हारी सदा पूजा करता है, उस मनुष्यको प्रतिष्ठा और सुख प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

हे अग्नि, इस समय तुम कल्याणप्रद हो जाओ। हमारे ज्ञानमें कल्याणप्रद हो। भोजनमें कल्याणप्रद हो, तुम समिधामें निवास करो, भोजनमें निवास करो और हमारा मंगल करो ॥४॥

हे अग्नि! सुदीर्घकालतक, राह-बाटमें, इस घरमें तुम सदा प्रज्वलित रहना, देदीप्यमान रहना और वर्द्धित होते रहना ॥ ५ ॥

हे पवित्र अग्नि, मुझे तुम दीर्घजीवन दो, पूर्ण सुख प्रदान करो, पूर्ण पोषण प्रदान करो। स्थूलताको नष्ट करो, तीव्र वाणी प्रदान करो, मुझे प्रवीणता और बुद्धि प्रदान करो। मुझे ऐसा पौरुष प्रदान करो जो सदा बढ़ता रहे, घटे नहीं ॥ ६ ॥

वेदसे कामना-साधन

(लेखक—पं० श्रीगोपालचन्द्रजी मिश्र गौड़ वेदशास्त्री, वेदरत्न)

वेद हिंदू-धर्मका आधार-ग्रन्थ है। आस्तिक दर्शन इसीके वाक्योंके आधारपर अपनी-अपनी विचारशैली-द्वारा भिन्न-भिन्न तत्त्वोंका उपदेश देते हैं। हमारे पुरातन वैदिक ऋषियोंके चमत्कार पुराणादिमें वर्णित हैं। इनकी लोकोत्तर अद्भुत शक्तियोंको देखकर आधुनिक संसार इन गाथाओंको 'कपोलकल्पना' कहनेपर उद्यत हो जाता है। हमारे धर्मके आधारस्तम्भ वेदको समस्त जागतिक विद्वानोंने सकल संसारका पुरातन ग्रन्थ स्वीकार किया है। वेदोंसे पूर्वका वा तत्समकालीन ग्रन्थ अभीतक उपलब्ध नहीं हुआ है। प्राचीन महर्षि वेदके द्वारा ही लोकोत्तर अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त कर पाये थे; इसीलिये तो 'नान्यद् ब्राह्मणस्य कदाचिद्धनार्जनक्रिया, 'वेदाभ्यास और वैदिक उपासनाओंके अलावा ब्राह्मणके लिये धन कमानेकी कोई जरूरत नहीं है, ऐसा कहा गया है। अतः पुराणोक्त महर्षियोंकी गाथाओंको 'कपोलकल्पित' बताना स्वकीय वेद-महत्त्वकी अनभिज्ञताका सूचक है।

मानव-संहितामें ऋषियोंद्वारा प्रश्न हुआ है कि 'भगवन्! अपने धर्मपालनमें तत्पर मनसा, वाचा, कर्मणा हिंसारहित वृत्तिवाले ब्राह्मणोंपर काल अपना हाथ चलानेमें कैसे समर्थ होता है? इस प्रश्नका उत्तर क्या ही सुन्दर दिया गया है—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥

(मनुसंहिता ५। ४)

मनु भगवान्ने मृत्युके आनेका सर्वप्रथम कारण वेदोंके अनभ्यासको बताया है। पाठकोंके मनमें बड़ा आश्चर्य होगा कि वेदमें ऐसी कौन-सी करामात है, जिससे काल भी उसका अभ्यास करनेवालेका कुछ नहीं कर पाता। पाठकोंको विश्वास रखना चाहिये कि वेद ऐसी-ऐसी करामातोंका खजाना है, जिनका किसी औरके द्वारा मिलना दुर्लभ है। यद्यपि वेदका मुख्य प्रयोजन अक्षय्य स्वर्ग (मोक्ष)की प्राप्ति है, तथापि उसमें सांसारिक जनोंके मनोरथ पूर्ण करनेके भी बहुत-से साधन बताये गये हैं, जिनसे ऐहिक तथा पारमार्थिक उभयलोकसिद्धि प्राप्त होती है।

पाठकोंको प्रसिद्ध नीलसूक्तके कतिपय मन्त्रोंके कुछ साधन दिग्दर्शनार्थ नीचे बतलाये जाते हैं—

भूतादिनिवारण

नीचे लिखे मन्त्रसे सरसोंके दाने अभिमन्त्रित करके आविष्ट पुरुषपर डाले तो ब्रह्मराक्षस-भूत-प्रेत-पिशाचादिसे मुक्ति हो जाती है। मन्त्र—

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्। अहीँश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परासुव।

(शु० य० १६। ५)

निर्विघ्न गमन

कहीं जाता हुआ मनुष्य उपर्युक्त मन्त्रको जपे तो वह कुशलपूर्वक चला जाता है।

बालशान्ति

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकम्मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्। मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः॥

(शु० य० १६। १५)

इस मन्त्रसे तिलकी १०,००० आहुति देनेसे बालक नीरोग रहता है तथा परिवारमें शान्ति रहती है।

रोगनाशन

नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च नमः किंशिलाय च

क्षयणाय च नमः कपर्दिने च पुलस्तये च नम इरिण्याय च प्रपथ्याय च। (शु० य० १६ । ४२)

इस मन्त्रसे ८०० बार कलशस्थित जलका अभिमन्त्रण कर उससे रोगीका अभिषेक करे तो वह रोगमुक्त हो जाता है।

द्रव्यप्राप्ति

'नमो वः किरिकेभ्यो०' (शु० य० १६ । ४६) मन्त्रसे तिलकी १०,००० आहुति दे तो धन मिलता है।

जलवृष्टि

'असौ य' (शु० य० १६ । ६-७) इन दोनों मन्त्रोंसे सत्तू और जलका ही सेवन करता हुआ, गुड़ और दूधमें बेतसकी समिधाओंको भिगोकर हवन करे तो श्रीसूर्य-नारायण भगवान् पानी बरसाते हैं।

पाठकोंके दिग्दर्शनार्थ कुछ प्रयोग बताये गये हैं। प्रयोगोंकी सिद्धि गुरुद्वारा वैदिक दीक्षासे दीक्षित होकर अधिकारसिद्धिके कर्म करनेसे होती है। दीक्षाके अलावा मन्त्रोंके ऋषि, छन्द, देवता एवं उच्चारण-प्रकार जानना भी अत्यावश्यक है। भगवान् कात्यायनने कहा है—

एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवति। अथान्तरा वृक्षं वाऽऽपद्यते स्थाणुं वर्च्छति प्रमीयते वा पापीयान् भवति।

'जो ऋषि-छन्द-देवतादिके ज्ञानके बिना पढ़ता है, पढ़ाता है, जपता है, हवन करता है, कराता है, उसका वेद निर्बल और निस्तत्त्व हो जाता है। वह पुरुष नरक जाता है या सूखा पेड़ होता है या अकालमृत्युसे मरता है।'

अथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवत्।

जो 'इन्हें जानकर कर्म करता है, वह फलको प्राप्त करता है।' अतः साधकजनोंके लिये वैदिक गुरूपदिष्ट मार्गसे साधन करना विशेष लाभदायक है।

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें उपासना

(लेखक—पं० श्रीनारायणजी शास्त्री तर्क-वेदान्त-मीमांसा-सांख्यतीर्थ)

विश्वात्मानं विधिज्ञा निजगुणनियतैः कर्मभिर्यं यजन्ति
ध्यायन्ति ज्ञाननिष्ठा दहरहृदयगं व्यापि यस्य स्वरूपम्।
यत्संश्लेषैककामा विदधति नवधा यत्पदाम्भोजभक्तिं
मुक्तिं मुक्तेर्गरिष्ठां स दिशतु भगवान् स्वामिनारायणो नः॥

वेदान्तके भिन्न-भिन्न सिद्धान्तोंमें ज्ञान, भक्ति तथा उपासनाके स्वरूपोंमें न्यूनाधिक भेद अवश्य स्वीकार किया गया है; परन्तु विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तके अनुसार विचार करनेसे इस भेदके लिये कोई अवकाश नहीं देख पड़ता। तात्पर्य यह है कि ज्ञान, भक्ति, उपासनाके स्वरूपमें सामान्यतः भेद होनेपर भी उपनिषदोंमें श्रूयमाण ज्ञान, भक्ति और उपासनाके स्वरूपमें कोई भेद नहीं है। उपनिषदोंमें इन तीनों शब्दोंका प्रयोग एक ही अर्थमें हुआ है और उसीको ब्रह्मविद्या कहा गया है। उपनिषदोंके उपासना-प्रकरणमें 'विदि' और 'उपासि' धातुका प्रयोग एक दूसरेके अर्थमें किया हुआ स्पष्ट ही देख पड़ता है; कहीं प्रकरणका आरम्भ 'विदि' धातुसे करके उपसंहार 'उपासि' धातुसे तो कहीं उपक्रम 'उपासि' धातुसे और उपसंहार 'विदि' धातुसे किया गया है। उदाहरणार्थ, छान्दोग्योपनिषद्के अध्याय ४, खण्ड १ में—

यस्त्वेतद् यश्च वेद स मयैतदुक्तः।

इस स्थलमें 'विदि'से उपक्रम हुआ है और—

अथो नु म एतं भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से।

—इस प्रकार 'उपासि' से उपसंहार हुआ है। इसी प्रकार 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत'में 'उपासि' धातुसे उपक्रम होता है और—

भाति तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद।

—यहाँ 'विदि' धातुमें उपसंहार होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञान और उपासना समानार्थक हैं। इसी प्रकार 'भक्ति' और 'सेवा' शब्द भी 'उपासना'के ही पर्याय हैं। 'सेवा भक्तिरुपासितिः' यह विद्वानोंकी उक्ति भी सेवा, भक्ति एवं उपासनाके समानार्थक होनेका प्रमाण है। तात्पर्य, ज्ञान, भक्ति, उपासना, सेवा—ये चारों ही शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं।

इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि कुछ लोगोंका यह कहना कि भक्ति, सेवा, उपासना आदि वैदिक

नहीं बल्कि पौराणिक हैं और इन्हें वैष्णवोंने चलाया है, कुतर्कमात्र ही है। उपासनामें भी मूल प्रमाण वेदोपनिषद् ही हैं और तन्मूलकतया स्मृति, इतिहास, पुराण एवं शिष्टाचार भी प्रमाण हैं।

'उपासना' शब्दका अर्थ

'उपासना' शब्द 'उप'पूर्वक 'आस्' धातुसे बना है। इसका अर्थ है परमात्माके समीप रहना। परमात्माका सामीप्य होनेसे यह देश-कालादिसे अनवच्छिन्न होना ही चाहिये। अर्थात् तैलधारावत् अविच्छिन्न दर्शनसमानाकार परमप्रेमरूप स्मृतिसन्तानात्मक वृत्तिविशेष ही भगवदुपासना है। यह उपासना मनुष्यमात्रकी मुक्तिका असाधारण उपाय है और उपाय ही नहीं, स्वयं मुक्ति भी है। शास्त्रोपदेशजन्य ज्ञान और नवधा भक्ति—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो
मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

—इस श्रुतिसिद्ध दर्शनरूप उपासनाके साधन हैं। श्रुति-स्मृतियोंने इसी उपासनाको वेदन, दर्शन, ध्यान, ध्रुवा स्मृति, भक्ति आदि शब्दोंसे सूचित किया है। जैसे—

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', 'आत्मानं लोकमुपासीत', 'तमेवैकं जानथ अन्या वाचो विमुञ्चथ', 'ध्रुवा स्मृतिः', 'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः',

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

'भक्त्या त्वनन्यया शक्यः', 'भक्त्या मामभिजानाति'

इत्यादि।

इस तरह सामान्य-विशेषन्यायसे ज्ञान-भक्ति-ध्यानादि शब्दोंका अखण्ड तैलधारावत् अविच्छिन्न स्मृतिसन्ततिरूप परमप्रेमस्वरूप भगवद्विषयक उपासनामें ही स्वरसतः पर्यवसान होता है।

अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा-
क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति।

—इस श्रुतिमें कहे हुए तत्क्रतु-न्यायसे उपासना यादृश-रूप-गुणविशिष्ट स्वरूपकी की जाती है, उपासनाका विषय तादृशरूप-गुणविशिष्ट स्वरूपकी ही प्राप्ति करा सकती है। अतः श्रुतिनिर्दिष्ट गुणगण-विशिष्ट भगवान्‌की ही उपासना करनी चाहिये। इसीसे मनुष्य त्रिविध तापसे मुक्त होकर स्वस्वरूपाविर्भावपूर्वक पूर्णब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति कर सकता है।

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें उपनिषत्प्रतिपाद्य श्रीस्वामिनारायण-भगवदुपासन ही मुख्यतः मुक्तिका परम सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें असाधारण कारण माना गया है। यही परमात्मोपासन नहीं, प्रत्युत यह भगवदुपासन स्वयं भी निरतिशय परमानन्दस्वरूप होनेसे मुक्तिरूप ही है। भगवान् श्रीस्वामिनारायण अपनी 'शिक्षापत्री'में कहते हैं—

मतं विशिष्टाद्वैतं मे गोलोको धाम चेप्सितम्।
तत्र ब्रह्मात्मना कृष्णसेवा मुक्तिश्च गम्यताम्॥

'विशिष्टाद्वैत मेरा सिद्धान्त है, गोलोक मेरा अभीष्ट धाम है और ब्रह्मरूपसे श्रीकृष्णकी सेवा और मुक्ति ही मेरा परम लक्ष्य है।'

उन्हींके श्रीमुखसे निःसृत 'श्रीमुखास्निधु' (वचनामृत) में कहा है कि 'भगवान्‌के स्वरूपमें मनकी अखण्ड (तैलधारावदविच्छिन्न) वृत्ति रखना, इससे कोई साधन कठिन नहीं है। और जिस मनुष्यके मनकी वृत्ति भगवान्‌के स्वरूपमें अखण्ड रहती है, उसको उससे अधिक प्राप्ति शास्त्रमें कही नहीं है; क्योंकि भगवन्मूर्ति चिन्तामणितुल्य है। जैसे चिन्तामणि जिस पुरुषके हाथमें हो, वह पुरुष जिस-जिस पदार्थका चिन्तन करता है वह-वह पदार्थ उस पुरुषको अवश्य तुरंत ही प्राप्त होता है।'—इत्यादि। (वचनामृत, प्रथम प्रकरण, १) परन्तु 'जिस मनुष्यके अनेक जन्मके सुकृत उदित होते हैं, उसी मनुष्यके मनकी वृत्ति भगवान्‌के स्वरूपमें अखण्ड रहती है; दूसरेके लिये तो भगवान्‌में अखण्ड वृत्ति रखना महादुर्लभ है।' (वचनामृत, मध्य प्रकरण, ३६) भगवत्प्रीतिका लक्षण बतलाते हैं—'भगवान्‌में प्रीति तो उसीकी सच्ची है, जिसकी भगवान्‌को छोड़कर अन्य पदार्थमें प्रीति ही न हो।' (वचनामृत, मध्य प्रकरण, ५६) इस वचनसे—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

—इस श्रुतिप्रतिपादित परमप्रेमरूपताको सूचित किया। भगवत्स्वरूपके विषयमें कहते हैं—'ऐसे जो श्रीकृष्ण भगवान् हैं, वे प्रकृति-पुरुषरूप अपनी शक्तिसे विशिष्ट होते हुए प्रत्येक जीवके अंदर अन्तर्यामिस्वरूपसे विद्यमान हैं।'

(वचनामृत, प्रथम प्रकरण, १३) इस वचनसे उपास्य-स्वरूपका अन्तर्यामित्व तथा कर्मफलदातृत्वरूप असाधारण गुणयोग दिखलाया, जो भगवान्‌को छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं है। उपास्य-स्वरूपका आगे और वर्णन करते हैं—'अक्षर धाममें श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम नारायण सदा विराजमान हैं'''''वह पुरुषोत्तम नारायण सबके स्वामी हैं और अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डके राजाधिराज हैं।' (वचनामृत, प्रथम प्रकरण, २३) इस वचनसे 'जन्माद्यस्य यतः', 'यतो वा इमानि भूतानि' इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित परमात्माका जगज्जन्मादि-कारणस्वरूप सम्पूर्ण ऐश्वर्य बतलाया। 'एवं भगवान् तथा भगवान्‌के भक्त सदा साकार ही हैं।' (वचनामृत, प्रथम प्रकरण, ३३)—इससे भगवान् तथा भगवान्‌के भक्त मुक्तोंकी सदा दिव्य साकारता बतलायी, जिसका 'षोडशावर्षो पुरुषः', 'आप्रणखात्सर्व एव सुपर्णः', 'यथा कप्यासपुण्डरीकम-क्षिणी,' 'महारजतं वासः' इत्यादि श्रुतियोंमें वर्णन है। 'शास्त्रमें भगवान्‌को जो अरूप और निर्गुण कहा है, वह तो मायिक रूप तथा गुणका निषेध करनेके लिये कहा है। परन्तु भगवान् तो नित्य दिव्यमूर्ति हैं और अनन्तकल्याण-गुणयुक्त हैं।' इस प्रकार उपास्य परमात्मस्वरूपका वर्णन 'श्रीमुखास्निधु' अर्थात् 'वचनामृत'में बहुत प्रकारसे किया गया है। यहाँ केवल दिग्दर्शनमात्र कराया है।

श्रीशिक्षापत्रीमें भी—

स श्रीकृष्णः परं ब्रह्म भगवान् पुरुषोत्तमः।
उपास्य इष्टदेवो नः सर्वाविर्भावकारणम्॥

—इस वचनसे सर्वाविर्भावके कारणस्वरूप अक्षराधिपति परब्रह्म पुरुषोत्तमकी ही उपास्यता बतलाते हैं और 'न तु जीवा मृदेवाद्या भक्ता ब्रह्मविदोऽपि च' इस वाक्यसे भगवान्‌को छोड़ अन्य सबकी अनुपास्यता। श्रीनित्यानन्द-मुनिविरचित 'श्रीहरिदिग्विजय' ग्रन्थमें उपास्य-स्वरूपका इस प्रकार निरूपण है—

सर्वज्ञं सर्वशक्तिं च परं ब्रह्म परात्परम्।
सर्वान्तरात्मा भगवान् स एव पुरुषोत्तमः॥
श्रुता सर्वशरीरस्थ तस्य सर्वान्तरात्मता।
ज्ञानशक्त्यादिकल्याणगुणश्रुत्यनुसारतः॥
पाङ्क्त्ययोगमाश्रित्य स्मर्यते भगवानिति।
परो यदेष पुरुषात् क्षराच्च त्वक्षरादपि॥

अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परात्पर जो परब्रह्म हैं, वही सबके अन्तरात्मा भगवान् श्रीपुरुषोत्तम हैं। वे ज्ञान, शक्ति आदि कल्याणगुणगणविशिष्ट हैं और सब शरीरोंमें अन्तरात्मारूपसे अवस्थित हैं। पङ्क्तुपैश्वर्ययोगसे वे भगवान् कहाते हैं, वे क्षरपुरुष और अक्षरब्रह्म दोनोंके परे हैं।

इन भगवान्‌की प्रीतिके विषयमें इसी ग्रन्थमें आगे जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट होता है कि इन नित्य स्वभावसिद्ध अपार आनन्दस्वरूप भगवान्‌की जो भक्ति है, वह ज्ञानकी पराकाष्ठा है। भक्तिको जो ज्ञानका अङ्ग बतलाते हैं, वे इसके तत्त्वको नहीं जानते—'ज्ञानाङ्गतां वदेद्यस्तु भक्तेः स तु न तत्त्ववित्।' अतः श्रीस्वामि-नारायणसम्प्रदायमें भगवद्भक्ति या उपासनाका बहुत ऊँचा स्थान है। श्रीशाण्डिल्यसूत्रपर जो श्रीनित्यानन्द-विरचित भाष्य है, उसमें उपास्यस्वरूपका बहुत सुन्दर मनोहर वर्णन करके उपासनाका यह लक्षण किया है कि ऐसे जो कारुण्य, सौशील्य, वात्सल्य, औदार्य तथा ऐश्वर्यके पारावार, प्रणतोंके आर्तिनाशन, भक्तवात्सल्यैकजलधि, अनन्तैश्वर्यमहाविभूति, ब्रह्मभूतानन्तकोटिमुक्तोपासित जिनके चरण-कमल हैं, जो कोटिकन्दर्पलावण्यस्वरूप और नवीन-नीरदश्यामलतनु हैं, विविध विचित्र वस्त्राभूषणभूषित हैं, जिनके पूर्ण शारद-चन्द्रवदनका मन्द हास्य अत्यन्त मनोहर है, अनेक कोटि सूर्येन्दुओंके भी युगपत् प्रकाशसे अधिक समुज्ज्वल जिनकी कान्ति है, श्रीदाम-नन्दादि पार्षद जिनका यशोगान करते रहते हैं, चक्रादि आत्मीय आयुध जिनकी चरणसेवामें लगे हैं, उन अखिल निगमसंस्तुत दिव्यचरित भगवान् पुरुषोत्तमकी महिमाको जानकर उनसे जो अनन्य प्रेम करना है, वही पराभक्ति और वही सच्ची उपासना है।

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें सर्वाविर्भावकारण अक्षराधि-पति पुरुषोत्तमरूपसे श्रीस्वामिनारायण भगवान्‌की उपासना की जाती है और सम्प्रदायके सभी निष्ठावान् पुरुष इस प्रकार श्रीस्वामिनारायणके रूपमें श्रीपुरुषोत्तमकी उपासना कर अपनी ऐहिक तथा पारलौकिक परम सिद्धि प्राप्त करते हैं।

श्रीस्वामिनारायणके मतानुसार साधन

(लेखक—वेदान्ततीर्थ सांख्ययोगरत्न पं० श्रीश्वेतवैकुण्ठ शास्त्री)

सब दार्शनिकोंकी भाँति श्रीस्वामिनारायण भगवान्‌ने भी स्वस्वरूपाविर्भावपूर्वक ब्रह्मप्राप्तिके कुछ साधन निश्चित किये हैं, जिनका विवरण इस लेखमें दिया जायगा।

योगशास्त्रके 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि' इन साधनोंमें शौचसे लेकर स्वाध्यायपर्यन्त मोक्षके साक्षात् साधन नहीं हैं, बल्कि चित्तशुद्धिद्वारा ईश्वर-प्रणिधानके साधक साधन हैं; मोक्षका साक्षात् साधन तो ईश्वरप्रणिधान ही है। 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः' भी चित्तशुद्धि-द्वारा ही मोक्षके साधक होनेसे, मोक्षके प्रत्यक्ष नहीं बल्कि अप्रत्यक्ष साधन हैं।

मोक्षरूप साध्यका स्वरूप 'स्वस्वरूपाविर्भावपूर्वक ब्रह्मप्राप्ति' है। स्वस्वरूपाविर्भावका अभिप्राय यह कि जीवात्माका अपना जो मूलभूत स्वरूप है अर्थात्—

अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्साऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः।

—उस स्वरूपका आविर्भाव। और तब मायाके अष्टावरण—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

—से रहित दिव्यलोक या अक्षरधाममें भगवान्‌की प्राप्ति, यही मुक्तिका स्वरूप है। यही बात इन श्रुतिवचनोंसे प्रतिपन्न होती है—

'परं ज्योतीरूपं सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।', 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति', 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।'
—इत्यादि।

अर्थात् प्राकृत गुणोंसे मुक्त होकर स्वस्वरूपमें स्थित हो भगवान्‌को प्राप्त करना ही परममोक्ष है।

इस सम्बन्धमें एक बार मुक्तस्वरूप श्रीमुक्तानन्दस्वामी-ने श्रीस्वामिनारायण भगवान्‌से प्रश्न किया, 'भगवन्! अक्षर-धाममें भगवान्‌के भक्त भगवान्‌की जिस सेवामें रत होते हैं, वह किन साधनोंसे प्राप्त होती है?' इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् स्वामिनारायणने सोलह साधनोंका निर्देश किया—(१) श्रद्धा, (२) स्वधर्म, (३) वैराग्य, (४) इन्द्रिय-निग्रह, (५) अहिंसा, (६) ब्रह्मचर्य, (७) साधुसमागम, (८) आत्मनिष्ठा, (९) भगवन्माहात्म्यज्ञानसे युक्त भगवद्भक्ति, (१०) सन्तोष, (११) अदम्भित्व, (१२) दया, (१३) तप, (१४) अपनी अपेक्षा गुणोंमें बड़े जो भगवद्भक्त हों उनमें गुरुभाव रखना, (१५) जो समकक्षाके भगवद्भक्त हों उनमें मित्रभाव रखना और (१६) जो अपनेसे कनिष्ठ हों उनमें शिष्यभाव रखकर उनका हित करना। भगवान्‌के ऐकान्तिक भक्त इन साधनोंके द्वारा अक्षरधाममें भगवान्‌की सेवा लाभ करते हैं। योगादि शास्त्रों-ने जो साधन बताये हैं, वे इन सोलह साधनोंमें सर्वथा आ ही जाते हैं।

(१) श्रद्धा—कठोपनिषद्‌की नाचिकेत-कथा प्रसिद्ध है। नचिकेताके पिता वाजश्रवाने यज्ञफलकी इच्छासे विश्व-जित् यज्ञ किया और दक्षिणामें सब धन दान कर दिया। अपने पिताको इस प्रकार ऋत्विजोंके हाथ धन और गौओं-को दान करते देखकर नचिकेताके हृदयमें श्रद्धाका आवेश हुआ और उसने पितासे पूछा, 'मुझे आप किसको दान करेंगे?' वाजश्रवाने कहा, 'मृत्युको!' और सचमुच ही उन्होंने अपने पुत्र नचिकेताको मृत्युको दान कर दिया। नचिकेता-पर मृत्युदेव प्रसन्न हुए और उसका उत्तम आदर-सत्कार करके उससे उन्होंने तीन वर माँगनेको कहा। नचिकेताने जो तीसरा वर माँगा, वह यह था कि देहादिसे अतिरिक्त जो आत्मा है उसकी विद्या मुझे दीजिये। मृत्युने बालकको यह राज्य देते हैं, यह भोग देते हैं—इत्यादि अनेक प्रलोभन दिये; पर बालकने एक न सुनी और आत्मविद्याका जो वर उसने माँगा था, उसीको पूरा करनेका आग्रह करने लगा; क्योंकि वह श्रद्धासे आविष्ट था। उसकी ऐसी अटल श्रद्धा देखकर मृत्युदेवने उसे वह विद्या बतायी, जिसका माहात्म्य स्वयं श्रुति ही इस प्रकार वर्णन करती है—

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते॥
तदानन्त्याय कल्पते।

अर्थात् जो कोई इस परमगुह्य ज्ञानको ब्राह्मणोंकी सभा-में अथवा श्राद्ध-प्रसङ्गमें सुनाता है, उसका यह कृत्य आनन्त्य-को अर्थात् अनन्त ब्रह्मको प्राप्त करानेवाला होता है। श्रद्धा-

का यह फल है। भगवान् श्रीकृष्ण भी गीतामें कहते हैं—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(२) स्वधर्म—अपने-अपने वर्ण और आश्रमका धर्म पालन करना, परधर्मका आचरण न करना और पाषण्ड-मतको भी न मानना। इस विषयमें श्रीस्वामिनारायणका स्पष्ट आदेश है—

स्ववर्णाश्रमधर्मो यः स हातव्यो न केनचित्।
परधर्मो न चाचर्यो न च पाषण्डकल्पितः॥

गीतामें भी भगवान्‌का वचन है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

(३) वैराग्य—स्वामिनारायणने वैराग्यका यह लक्षण किया है—

वैराग्यं ज्ञेयमप्रीतिः श्रीकृष्णेतरवस्तुषु।

अर्थात् भगवान्‌के अतिरिक्त अन्य पदार्थोंमें अप्रीति अर्थात् अनुरागका न होना ही वैराग्य है। जहाँतक विषयोंमें प्रीति है, वहाँतक ईश्वरप्रणिधान नहीं होता। इसलिये वैराग्य आवश्यक है।

(४) इन्द्रियनिग्रह—इस विषयमें स्वामिनारायणका यह आदेश है—

सर्वेन्द्रियाणि जेयानि रसना तु विशेषतः।

अर्थात् सब इन्द्रियोंका जय करे, पर रसनाका विशेष रूपसे। श्रीमद्भागवतमें इन्द्रियोंका विषयोंकी ओर दौड़ना ही बन्ध और इन्द्रियोंका संयम ही मोक्ष कहा गया है—

बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषां च संयमः।

(५) अहिंसा—श्रीस्वामिनारायणने अपने आश्रित सत्संगियोंको स्पष्ट ही आदेश दिया है कि किसी भी प्राणीकी हिंसा न करें; जूँ, खटमल आदिको भी जान-बूझकर न मारें—

कस्यापि प्राणिनो हिंसा नैव कार्यात्र मामकैः।
सूक्ष्मयूकामत्कुणादेरपि बुद्धया कदाचन॥

(६) ब्रह्मचर्य—ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचर्य तो सबसे पहले आवश्यक है। 'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति' यह श्रुति है। कारण, ब्रह्मचर्यके बिना सदुपदेशका यथार्थ बोध हो ही नहीं सकता।

'अथ यदाह यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवेच्छ-त्यात्मानमनुविन्दते।'

इस श्रुतिमें यज्ञको ब्रह्मचर्य ही कहा है। ब्रह्मचर्यके बिना यज्ञकी सिद्धि नहीं होती। देवपक्षसे इन्द्र और असुर-पक्षसे विरोचन बत्तीस-बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य पालन करके तब आत्माको जाननेके लिये प्रजापतिके पास गये थे। प्रजापतिने आत्मविद्याका जो प्रथम उपदेश दिया, उसे सुनकर इन्द्र और विरोचन लौट गये। विरोचन उतनेसे ही सन्तुष्ट होकर फिर प्रजापतिके पास नहीं आया। पर इन्द्रका उतनेसे सन्तोष नहीं हुआ। वह प्रजापतिके पास लौट आये। तब प्रजापतिने उन्हें फिर बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्यव्रतसे रहनेको कहा। उसके बाद आत्मविद्याका पुनः उपदेश दिया। फिर भी समाधान नहीं हुआ। तब बत्तीस वर्ष फिर ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक रहनेके पश्चात् पुनः उपदेश दिया। पर इससे भी पूरा काम नहीं हुआ। तब ५ वर्ष और ब्रह्मचर्य-पालन करके इन्द्र प्रजापतिके पास रहे। इस प्रकार १०१ वर्ष ब्रह्मचर्य-पालन करनेके बाद इन्द्रको आत्मज्ञान हुआ। इसलिये ब्रह्मचर्यको साधनोंमें सबसे बलवत्तर साधन जानना चाहिये।

(७) साधुसमागम—श्रीमद्भागवतमें यह प्रतिपादन हुआ है कि ज्ञानियोंको भी अपनी आसक्तिका पाश बड़ा ही कठिन मालूम होता है, पर साधुसमागममें यही आसक्ति खुला हुआ मोक्षका द्वार बन जाती है—

प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम्॥

(८) आत्मनिष्ठा—श्रीस्वामिनारायण आत्माका स्वरूप इस प्रकार बतलाते हैं—

हृत्स्थोऽणुसूक्ष्मश्चिद्रूपो ज्ञाता व्याप्याखिलां तनुम्।
ज्ञानशक्त्या स्थितो जीवो ज्ञेयोऽच्छेद्यादिलक्षणः॥

अर्थात् जीव हृदयमें स्थित है, अणु-सदृश सूक्ष्म है, चिद्रूप है, ज्ञाता है और अपनी ज्ञानशक्तिसे समग्र शरीरको व्याप कर रहता है। उसे अच्छेद्यादि लक्षणोंसे युक्त अर्थात् अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य, अजर, अमर, अशोक, सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प जानना चाहिये। अपने आपको इस प्रकार निश्चयपूर्वक जानना ही आत्मनिष्ठा है। आत्मस्वरूपके विषयमें यह श्रुति है—

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

(९) माहात्म्यज्ञानयुक्त भगवद्भक्ति—'माहात्म्यज्ञान-युग्भूरिस्नेहो भक्तिश्च माधवे ।' भगवान्‌के प्रति माहात्म्य और ज्ञानसे युक्त स्नेह ही भक्ति है ।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

—यह नवधा साधन-भक्ति है । दसवीं भक्ति प्रेमलक्षणा है, जिसमें भक्त और भगवान्‌के बीच कोई व्यवधान नहीं रहता । माहात्म्यज्ञानसे ही भक्तिका उद्रेक होता है ।

(१०) सन्तोष—भागवतपुराणका वचन है—

पण्डिता बहवो राजन् बहुज्ञाः संशयच्छिदः ।
सदसस्पतयोऽप्येके ह्यसन्तोषात्पतन्त्यधः ॥

'कितने पण्डित, बहुज्ञ, संशयका छेदन करनेवाले, सदसस्पति होकर भी असन्तोषसे अधःपतित हो जाते हैं ।' सन्तोषके बिना आत्मोन्नतिका साधन हो ही नहीं सकता ।

यदृच्छयोपपन्नेन सन्तोषो मुक्तये स्मृतः ।

'जिस किसी भी अवस्थामें सन्तुष्ट रहना मुक्तिका कारण हो जाता है ।'

(११) अदम्भित्व—दम्भका सर्वथा त्याग ।

(१२) दया—दयाभावसे भगवान् प्रसन्न होते हैं । श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

दयया सर्वभूतेषु सन्तुष्ट्या येन केनचित् ।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः ॥

'प्राणिमात्रपर दया करने, जो कुछ मिले उससे सन्तुष्ट रहने और सब इन्द्रियोंके शान्त-दान्त होनेसे भगवान् तुरंत प्रसन्न होते हैं ।'

(१३) तप—आत्मचिन्तनकी पात्रता चित्तशुद्धिके बिना नहीं होती और चित्तशुद्धि तपके बिना नहीं होती । इसलिये तप आवश्यक है ।

(१४) अपनेसे गुणोंमें बड़े जो भगवद्भक्त हैं, उनमें गुरुभाव रखनेसे उनकी किञ्चित् कृपा भी महत्कल्याण करनेमें समर्थ होती है ।

(१५) अपनी समकक्षाके भगवद्भक्तोंमें मित्रभाव रखना, अपने समान या अपनेसे भी अधिक उनकी आत्मोन्नतिकी कामना करना भी महान् कल्याणकारी है ।

(१६) अपनेसे जो कनिष्ठ हैं, उन्हें सहायताके पात्र जानकर उनका हित करना, भगवान्‌के मार्गमें उन्हें आगे बढ़ाना भगवान्‌को ही प्रसन्न करना है ।

इन सोलह साधनोंको जो लोग श्रद्धा-भक्तिके साथ सानन्द करते हैं, उन्हें यहाँ भी वही आनन्द प्राप्त होता है जो भगवद्धाममें पहुँचे हुए मुक्त पुरुषोंको होता है । करके देखनेसे यह आप ही प्रत्यक्ष हो सकता है ।

थियासफीकी साधना

(लेखक—श्रीहीरेन्द्रनाथ दत्त, एम्० ए०, बी०एल्०, वेदान्तरत्न)

श्री'कल्याण'-सम्पादकका अनुरोध है कि इस साधनाङ्कमें मैं थियासफीकी साधनाके सम्बन्धमें कुछ लिखूँ । मैं यह बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि हिंदूधर्म, बौद्धधर्म, पारसीधर्म अथवा ईसाईधर्मके समान थियासफी कोई धर्मसम्प्रदाय नहीं है । थियासफीको धर्मका विशुद्ध गणित कहा गया है, और यही उसका यथार्थ वर्णन है । सब धर्मोंके पीछे और परे वह हुआ करता है । जिस पुरातन ज्ञानको उपनिषद्‌में ब्रह्मविद्या कहा जाता है, जो पराविद्या होनेसे पुरातन वेदान्तसे अभिन्न है, उसीको आधुनिक जगत्‌में थियासफीका उद्‌घोष करनेवाली देवी श्रीमती एच्० पी० ब्लावेट्स्कीने समस्त मानव-ज्ञानका आदि और अन्त माना है । अब यह देखें कि इस थियासफीका साधनाके सम्बन्धमें क्या कहना है ।

प्रथमतः थियासफीमें जीव या व्यष्टिपुरुषमात्रको भगवदंश (गीताके शब्दोंमें 'ममैवांशः'), विश्वार्चिका एक स्फुलिङ्ग, अमृतसिन्धुका एक तरङ्ग कहकर, इस प्रकार 'तत्त्वमसि', 'सोऽहम्' आदि वेदान्त-महावाक्योंका समर्थन किया गया है । जीव और ब्रह्म इस प्रकार एक ही हैं; दोनोंकी एक ही सत्-चित्-आनन्दस्वरूप त्रिविध सत्ता है । अन्तर केवल इतना ही है कि ब्रह्म सुव्यक्त सच्चिदानन्द, शक्ति-ज्ञान-आनन्दकी महामहिम त्रिमूर्ति हैं (जैसा कि थियासफीकी परिभाषामें कहा जाता है), और जीव अव्यक्त सच्चिदानन्द है—उसमें ये तीनों भाव अभी अव्यक्त हैं । इसलिये थियासफी जीवको 'ब्रह्मभूय' कहती है अर्थात् विकासक्रमसे जीव किसी दिन ईश्वरके पूर्ण साधर्म्यको प्राप्त

होगा और यह कहेगा कि 'मैं और मेरा पिता दोनों एक हैं।' यह सिद्धि किस प्रकार होगी ? जीवके अंदर सुप्त ये तीन भाव—शक्ति, ज्ञान और आनन्द किस प्रकार जाग्रत् और व्यक्त होंगे ? यह कार्य साधनासे होगा।

थियासफीका यह सिद्धान्त है कि जीव-बीज प्रकृतिकी योनिमें बोये जाते हैं—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।

अशक्तिकी अवस्थामें इनका वपन होता है, जिसमें ये एक दिन शक्ति-सम्पन्न होकर उठें, और छोटे-छोटे बीजोंसे बड़े-बड़े सुदृढ़ वृक्ष बनें अथवा टिमटिमाती हुई चिनगारियाँ जलती-धधकती हुई ज्वालाएँ बनकर फैलें।

इसीको सिद्ध करनेके लिये जीवको मानो एक बड़ी लंबी यात्रा करने भेज दिया गया;

तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।

'ब्रह्मचक्रमें हंसको (थियासफीमें उसे Monad कहते हैं) भ्रमण करना पड़ता है।' इस चक्रके दो अर्द्धभाग हैं, जिनका विचार आगे करेंगे। इनमेंसे एक प्रवृत्तिमार्ग है और दूसरा निवृत्तिमार्ग।

हंसने पहले खनिज धातु-जगत्में प्रवेश किया और कई जन्म उस योनिके बिताकर वह वनस्पति बना। वनस्पति-योनिसे मरकर और उस जगत्को पीछे छोड़कर वह पशु बना। फिर काल प्राप्त होनेपर पशु-जीवनसे मरकर वह मानुषी-तनुमें प्रविष्ट हुआ।

एक प्राचीन हिंदू-ग्रन्थमें विकासकी इन अवस्थाओंका प्रायः पूर्ण वर्णन देखकर बड़ा कुतूहल होता है। इसमें यह कहा गया है कि धातुयोनिमें जीवको बराबर २० लाख बार जन्म लेना पड़ता है, तब वह वनस्पति-सृष्टिमें आता है। वनस्पति-योनिमें उसे ९ लाख जन्म लेने पड़ते हैं, इतनी ही बार सरी-सृपयोनिमें, १० लाख बार पक्षियोनिमें, ३० लाख बार पशु-योनिमें और चार लाख बार वानरयोनिमें, इतनी योनियोंमें इतनी बार भ्रमण करके अन्तमें वह मनुष्य-योनिको प्राप्त होता है।

मनुष्य होनेपर वह पहले असभ्य और पीछे धीरे-धीरे सभ्य होता है। इस समय जगत्में जो मनुष्य हैं, उनमेंसे अधिकांश 'सभ्य' पदवीको प्राप्त हैं; पर मनुष्य 'अभी अपूर्ण है, गर्भस्थ अर्भक-सा विद्रूप, अकृत, अधूरा और असिद्ध है।' (सर आलीवर लाज) अर्थात् अभी वह प्रवृत्तिमार्गपर चल रहा है—जो कुछ मिलता है, उसे लेता हुआ आगे बढ़ रहा है। इसके बाद उसे कोना काटकर निवृत्तिमार्गपर आना होगा; इस मार्गमें आगे बढ़नेका साधन जो कुछ है, उसे देना है, त्याग करते हुए आगे बढ़ना है। अब वह समय आ गया है, जब जीवको साधनका आश्रय करके साधन-क्रमसे इस तरह चलना होगा कि 'उसका नवीन जन्म हो, ऊपरसे जन्म हो।' भारतवर्षमें द्विजन्मा पुरुषको ब्राह्मण कहते हैं। बृहद्विष्णु-पुराणमें कहा है कि लाखों जन्म भटक कर अन्तमें जीव ब्राह्मणत्वको प्राप्त होता है। ब्राह्मणको यथाकाल साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न होकर अधिकारी बनना चाहिये। यह साधन-चतुष्टय है—विवेक, वैराग्य, षट्-सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व। इन साधनोंसे सम्पन्न होनेपर दीक्षाका अधिकार प्राप्त होता है और यथाकाल उसे दीक्षा मिलती है। वेदान्तके अनुरूप ही थियासफीमें चार प्रकारके दीक्षित माने गये हैं। श्रीमत् शङ्कराचार्य इन्हीं चारोंको कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस कहते हैं। बौद्धमतमें इन्हीं चारको स्रोत आपन्न सकृतागामी, अनागामी और अर्हत् कहते हैं। अर्हत् या परमहंस उस अधिकारीको कहते हैं, जिसे चतुर्थ दीक्षा प्राप्त हो चुकी हो। इसके बाद जो दीक्षा है, वह दीक्षितको दीक्षितपदसे उठाकर सिद्ध पदपर बैठाती है। इन्हीं सिद्ध पुरुषोंको इस देशके लोग ऋषि कहते हैं।

ऋषि जब छठी दीक्षा लेता है, तब वह महर्षि होता है और महर्षि सातवीं दीक्षा लेकर परमर्षि होता है। थियासफी-में इन्हींको चोहान और महाचोहान कहते हैं। इस प्रकार जीव जो अज्ञानमें जन्म लेकर यात्रा आरम्भ करता है, वह साधनमार्गसे सर्वज्ञताको प्राप्त होता है।

परन्तु यहीं साधना समाप्त नहीं होती। अब उसे इस समतल उपत्यकाको छोड़कर ऊँचे ढलुए पर्वतके शिखरपर चढ़ना है—लौकिक विकाससे अलौकिक विकासको प्राप्त होना है। मौलाना रूमी इसी बातकी ओर अपने इन अर्थपूर्ण शब्दोंद्वारा सङ्केत करते हैं—'अबकी बार मैं मनुष्यभावसे मर जाऊँगा, जिसमें देवताके पंख मेरे शरीरमें निकल आवें।' अर्थात् वह महापुरुष मैं बनूँ जिसे उपनिषद् स्वराट्, विराट् कहते हैं, जो इस अनन्त आकाशमें धूलिकणोंके समान बिखरे हुए असंख्य ब्रह्माण्डोंमेंसे किसी एक ब्रह्माण्डका राजत्व या आधिपत्य करते हैं। इन्हींको थियासफीमें बोलर लोगस (Bolar Logos) कहते हैं। पर इतनेसे

क्या जीव अपनी परागतिको पहुँचा ? नहीं, अभी नहीं। मौलाना रूमी कहते हैं—

'एक बार, फिर, मैं उठकर देवोंके ऊपर पहुँचूँगा। मैं वह बनूँगा, जो कल्पनामें नहीं समाता। वह जो कुछ है, उसके पास मैं लौट जाऊँगा।'

कहाँ लौटोगे ? लौटेंगे वहाँ जो हमारा 'अस्ता' है, जो वेदवाणीमें स्वस्थान या निजधाम है।

'महामहिमाके हम नीचे बरसनेवाले बादल भगवान्‌से ही यहाँ आते हैं। वही हमारा धाम है।' कहना नहीं होगा कि यह निजधाम भगवान्‌से भिन्न नहीं है।

इसीको वेदान्तमें ब्रह्मसायुज्य कहते हैं। 'ब्रह्म होकर वह ब्रह्मको प्राप्त होता है।' (बृहदा० ४।४।६) अब वह कम-से-कम इतना तो कह सकता है कि 'अब समाप्ति हुई।' यही दिव्य भवितव्यता है—जीवके लिये थियासफी जिसका मार्ग निर्देश करती है।

थियासफ़ीकी उपासना-पद्धति

(लेखक—रायबहादुर पंडित बैजनाथजी, बी०ए०, एफ़्० टी० एस्०)

इस उपासनामें ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग आदि सबका समावेश है। इसके असल आचार्य जीवन्मुक्त महात्मा हैं, जो जगत्‌में प्रकट नहीं हैं। साधकका बहुत कालतक उनसे स्थूल जगत्‌में परिचय नहीं होता। वह सुषुप्तिमें उनसे उपदेश पाता है। थियासफ़ी केवल ब्रह्मज्ञान है। मनुष्य विकासक्रमसे उच्चतर अवस्थाको प्राप्त होता जाता है, अन्तमें देवत्वको और उससे भी उच्चतर पदको प्राप्त होगा। उसे अपने विकासमें शीघ्रता करनी है तो अपनेमें नैतिक गुणोंका, योगके यम-नियमादिकोंका, वेदान्तके साधन-चतुष्टयोंका, समझ-बूझकर अभ्यासद्वारा विकास करना चाहिये। और सम्प्रदायोंसे भेद केवल इतना है कि जहाँ और सम्प्रदायोंमें साधक अपनी साधना केवल अपने आत्म-कल्याणके लिये ही करता है, थियासफ़ीमें साधक इन साधनाओंको इसलिये करता है कि इनसे वह विशेष योग्यता और पवित्रता प्राप्त कर जगत्‌की विशेष सेवा कर सके। यहाँ साधक अपने मोक्षकी चिन्ता न कर जगत्-कल्याणके लिये, दूसरोंकी सेवाके लिये, दूसरोंको मार्ग चलनेमें सहायता देनेके लिये, आरम्भसे प्रयत्न करता है। हाँ, यह सही है कि आरम्भमें यह बहुत थोड़ी सेवा कर सकेगा; पर परकल्याण ही उसका परम धर्म है। और सम्प्रदायोंमें साधनाद्वारा शक्ति पाकर, यदि साधन-चतुष्टय न सध चुका हो तो, उस शक्तिको स्वार्थकी ओर खर्च करके गिर पड़ना सम्भव है। यहाँ जबतक पवित्रता न आ जाय, साधकको कोई ऐसी शक्ति नहीं दी जाती जिसका दुरुपयोग हो सके। आजकल अंग्रेज़ीमें बहुत-सी पुस्तकें ऐसी छपती हैं, जिनमें दूसरोंपर अपनी इच्छाशक्तिद्वारा प्रभाव डालना बताया जाता है। यह वाममार्ग गिरनेका रास्ता है। थियासफ़ीमें किसीकी इच्छापर प्रभाव नहीं डाला जा सकता, किसीपर ऐसा प्रभाव नहीं डाला जाता कि वह अमुक विचार करे। उसे आशीर्वाद दिया जाता है, उसका कल्याण मनाया जाता है, उसके विचारार्थ उसके मनमें विचार उत्पन्न किये जाते हैं, पर उसकी इच्छाशक्तिको सदैव स्वतन्त्र छोड़ दिया जाता है, जिसमें वह चाहे जैसा अपना निर्णय करे। थियासफ़िस्ट साधककी यह आकाङ्क्षा रहती है कि वह अपनी साधनामें सिद्ध होकर जगत्‌के दूसरे लोगोंको मार्ग चलनेमें सहायक हो। इसलिये पहले वह अपने मन, विचार, मनके भाव, कर्म और स्थूल शरीरके संयममें लगता है। समझ-बूझकर अच्छे-अच्छे सद्गुणोंका मनन और निदिध्यासन कर वह उनको अपने अंदर अभ्यासद्वारा बढ़ाता है। अपने आहार-विहारको सात्त्विक बनाकर अपने कोशोंको शुद्ध करता है। अपनी चेतनाको शरीरसे भिन्न कर ऊँचा चढ़ाने, अपने आपको कारणशरीरस्थ जीवात्मा जानकर शरीरकी इन्द्रियोंका निग्रह करने, और पीछे यदि हो सके तो, अपनेको सबमें देखने और सबको अपने अंदर देखनेका प्रयत्न करता है। (देखो भगवद्गीता अध्याय ६, श्लोक २९।) इस साधकको ऐसा वाक्संयम भी करना चाहिये कि वह केवल सत्य, प्रिय, हितकारी और अनुद्वेगकर वाक्य ही बोले। ऐसा साधक अपनी चेतना ईश्वरसे मिलानेका प्रयत्न करता है। थोड़ी देरके लिये अपनेको भूलकर उस ऊँची ईश्वरमय चेतनामें स्थित होना चाहता है। वह अपने ध्यानमें जगत्‌को, जाने हुए दुखियोंको और सबको उनके कल्याणके आशीर्वाद भेजता है।

प्रत्येक सौरमण्डल एक विश्व है। कितने विश्व हैं और कितने ब्रह्मा, विष्णु और शिवादि हैं—इनकी गिनती नहीं है, यह देवीभागवतका कहना है। थियासफ़ीका भी यही कहना है। इसलिये सौरमण्डलमें वर्तमान या व्याप्त, उसको चलानेवाली शक्ति ही हमारा ईश्वर है। उसमें और परब्रह्ममें कितना अन्तर है, इसका विचार मनुष्यकी बुद्धिसे परे है। उपासना इस सौरमण्डलव्याप्त ईश्वरकी ही हम कर सकते हैं। उसकी सत्ता सर्वत्र कार्य करती है। सारे सौरमण्डलमें वह सर्वशक्तिमान् और सबका ज्ञान रखनेवाला है। सबकी सच्ची आर्त हृदयकी पुकार उसके पास पहुँचती है, और वह उसका उत्तर देता है। पर जैसे सकाम भक्ति गौण है, वैसे ही ईश्वरसे अपनी नीची इच्छाओंकी पूर्तिके लिये प्रार्थना करना हलकी बात है।

जब साधन-चतुष्टय कुछ सध चुकते हैं और साधकमें कुछ योग्यता आ जाती है और जनसेवाके कारण साधकका पुण्यसञ्चय हो जाता है तो ब्रह्मनिष्ठ अदृश्य गुरु उसे अपना परीक्ष्यमाण शिष्य बनाते हैं। सूक्ष्म प्रकृतिको उस शिष्यकी प्रतिमूर्ति बनाकर अपने यहाँ रखते हैं। शिष्यके प्रत्येक भावसे यह मूर्ति प्रभावित होगी और दिन-रात्रिमें एक बार देख लेनेसे शिष्यके मनके भावोंका दिनभरका पूरा-पूरा हाल गुरुको ज्ञात हो जायगा। गुरु शिष्यके ऊँचे कोषोंपर अपना प्रभाव भी डालता रहता है। जब शिष्यकी परीक्षा करते रहनेसे ज्ञात होता है कि शिष्यमें काफी सात्त्विकता और पवित्रता आ गयी है, तब गुरुदेव उस शिष्यको अपना स्वीकृत शिष्य बनाते हैं।

स्वीकार कर लेनेसे गुरुदेव और शिष्यमें ऐसी एकता और घनिष्ठता हो जाती है कि उसकी कल्पना नहीं हो सकती। अब गुरुदेवकी सब शक्तियाँ शिष्यपर आप-से-आप कार्य करती हैं। शिष्यके सब विचार गुरुदेवके मनमें पहुँच जाते हैं। यदि अपवित्र विचार शिष्यके मनमें आयें तो गुरुदेवको थोड़ी देरके लिये दोनोंके बीचमें परदा डाल देना पड़ता है। गुरुदेव अपनी शक्ति शिष्यके द्वारा दूसरोंके कल्याणार्थ भेजते हैं। इस पदमें शिष्य और गुरुदेवका अवर्णनीय ऐक्य हो जाता है। जबतक शिष्यको दूसरोंका हितचिन्तन करते रहने, दूसरोंको अपना ध्यान और शक्ति देने, कल्याणकारी विचार और आशीर्वाद सब मनुष्योंमें वितरण करनेकी आदत न पड़े, तबतक वह शिष्य स्वीकृत नहीं होता। स्वीकृतिके आरम्भमें शिष्यको ऐसा भान होता है कि मुखमेंसे बहुत-सी शक्तिका प्रवाह किया जाता है। पीछेसे मंद प्रवाह सदैव होता रहता है और विशेष प्रसङ्ग-पर विशेष प्रवाह होता है। इसके पश्चात् साधन-चतुष्टयके अभ्यासमें काफी उन्नति हो चुकनेपर प्रथम दीक्षा होती है, जो भगवान् सनत्कुमारकी आज्ञासे दूसरे महात्मा देते हैं। तब शिष्य इन महात्माओंके सङ्घका एक अदना सदस्य बनता है। इसको बौद्ध-साहित्यमें स्रोतआपत्ति और संन्यासादि उप-निषदोंमें कुटीचक कहते हैं। इसके परे तीन और दीक्षाएँ होती हैं, जिन्हें सकृदागामी या बहूदक, अनागामी या हंस और अर्हत् या परमहंस कहते हैं। इनके वर्णन करने-की यहाँ आवश्यकता नहीं है। इसके परे अशेख या तुरीया-तीत अथवा जीवन्मुक्त महात्माका पद है।

अर्हत्पदप्राप्त व्यक्ति भी शिष्य ग्रहण नहीं कर सकता, केवल अशेख या जीवन्मुक्त महात्मा ही गुरु बन सकते हैं। श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराणमें वर्णित मरु और देवापि दो महात्मा इस संस्थाके मूल सञ्चालक और गुरु हैं। इनके सिवा जीसस इत्यादि और महात्मा भी इस पदके हैं। भगवान् अगस्त्य इनसे भी ऊँचे हैं। ये सब स्थूलशरीर-धारी हैं। कोई-कोई और भी स्थूलशरीर रखते हैं, पर कई केवल सूक्ष्मशरीर ही रखते हैं और काम पड़नेपर स्थूल आकृति बना सकते हैं।

अदृश्य सहायक

इन महात्माओंको सब लोकोंमें कार्य करना पड़ता है। सब शिक्षित व्यक्ति सोनेपर अपने स्थूलशरीरसे निकलकर सूक्ष्मशरीरद्वारा भुवर्लोकमें कार्य कर सकते हैं; पर उसका ज्ञान न होनेसे वे प्रायः अपने दिनके विचार लेकर ही उनकी उधेड़-बुन करते रहते हैं। वे चाहें तो उस भुवर्लोकमें परसेवाका बहुत सा कार्य कर सकते हैं। ऐसे प्रयत्न करने-वालेको आरम्भमें ऐसा भान हो सकता है कि मैं हवामें उड़ रहा हूँ या पानीमें तैरता हूँ या रेल या मोटरमें जा रहा हूँ। यदि वह अमुक व्यक्तिको अमुक प्रकारकी सहायता देनेका विचार कर सोवे तो वह उस प्रकारकी सहायता अवश्य देगा, चाहे उसे जगनेपर उसकी स्मृति रहे या न रहे। कई लोग इस प्रकारका कार्य करते हैं। किसी-किसीको उसकी स्मृति भी रहती है। कभी-कभी एक ही कार्यमें दो-तीन व्यक्ति शामिल हो जाते हैं और जगनेपर दोनों-तीनों अपनी-अपनी स्मृति मिलानेपर सब मिलती हुई पाते हैं। भुवर्लोकके कार्यका अनुभव जगनेपर स्वप्नके रूपमें याद पड़ता है, पर उसमें हमारा मगज़ अपने विचार भी भर देता है। इस कारण दोनोंको अलग-अलग कर लेना सीख लेना चाहिये।

सूफ़ियोंका साधना-मार्ग *

(लेखक—डा० एम्० हाफ़िज़ सैयद मुहम्मद, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, डी० लिट्०)

वेदान्तके सिद्धान्तोंके अनुरूप सूफ़ीमतके सिद्धान्तोंमें भी ब्रह्मकी अनुभूति साधकोंके हृदयमें अन्तःपक्षसे मानी गयी है। कर्मकाण्ड और आचारकी विशिष्टताका उतना अधिक महत्त्व नहीं है, जितना हृदयकी अनुभूतिसे आत्मसमर्पणका है। किन्तु यह कहना कि सूफ़ीमतमें साधना-पक्षका अभाव है, सत्यसे दूर होगा। वह साधना-पक्ष क्या है? ब्रह्मकी अनुभूतिके लिये किन अवस्थाओंमें होकर जाना पड़ता है, इसपर हम प्रकाश डालनेकी चेष्टा करेंगे। पहले हम सूफ़ीमतके अनुसार ब्रह्म (ज़ाते वहत) की भावनापर विचार करते हैं।

सूफ़ीमतका ब्रह्म वेदान्तके ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। जिस प्रकार वेदान्तका ब्रह्म एक है, उसके अतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता नहीं है (एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति), उसी प्रकार सूफ़ीमतमें भी ब्रह्म एक है—वह 'हस्तिए मुतलक़' है। वह किसी भी रूप या आकारसे रहित है। वह सर्वव्यापी है, किन्तु किसी वस्तुविशेषमें केन्द्रीभूत नहीं है। वह अगोचर और अज्ञेय है, वह असीम है। उसमें कोई परिवर्तन और विनाश नहीं है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी सत्य नहीं है। अतः वह एकान्तरूपसे एक ही है, और अन्य कोई सत्ता उसके समकक्ष नहीं है। ऐसी परिस्थितिमें ब्रह्मका जो ज्ञान होता है, वह किसी भौतिक साधनसे न होकर आत्मानुभूतिसे ही होता है। हम ब्रह्मके अनन्त गुणोंको जानकर ही उसके सम्बन्धमें अपनी कल्पना कर सकते हैं। उसके बिम्बमें ही हम उसके लोकोत्तर रूपका अनुमान कर सकते हैं। इस रूपकी भावना, जो केवल 'एक' के रूपमें समझी गयी है, सूफ़ीमतमें 'ज़ात' संज्ञासे अभिहित है। इस ज़ातका परिचय उसकी 'सिफ़त' में है। यह 'सिफ़त' ज़ातकी वह शक्ति है, जिससे वह सृष्टिकी रचना करता है। सृष्टिकी अनन्त रूपवाली समस्त सामग्री है 'सिफ़त', जिसके द्वारा हम 'ज़ात' की शक्तिमत्ताका परिचय प्राप्त कर सकते हैं। इसे हम वेदान्तमें 'मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनाभिव्यक्तस्वरूपात्' के रूपमें मान सकते हैं। तुलसीके शब्दोंमें 'यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलम्' की भावना भी यही है। इतना होते हुए भी सिफ़त ज़ातसे किसी प्रकार भी भिन्न नहीं है, किन्तु 'सिफ़त' ही 'ज़ात' नहीं है। सिफ़तके अनेक रूप भिन्न होते हुए भी एक हैं। हम 'सिफ़त' को ज़ातसे उद्भूत गुण मान सकते हैं। जिस प्रकार किसी सुगन्धित पुष्पकी सुगन्धि पुष्पसे उद्भूत होते हुए भी पुष्प नहीं है, यद्यपि हम सुगन्धि और पुष्पको किसी प्रकार विभाजित नहीं कर सकते—फूलकी भावनाहीमें सुगन्धि है और सुगन्धिकी भावनामें ही पुष्पका परिचय है; किन्तु यह सब विज्ञान किसी प्रकार भी ज़ातको सीमाबद्ध नहीं कर सकता। कबीरने इसी भावनामें सगुणवादका विरोध करते हुए लिखा था—

जाके मुख माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप।
पुहुप बास तें पातरा, ऐसा तत्व अनूप॥

इस प्रकार हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि ब्रह्म या ज़ातका अस्तित्व हमें केवल उसकी सिफ़त या सृष्टि करनेवाली शक्तिसे ही ज्ञात होता है। यदि उसकी 'सिफ़त' हमारे समक्ष न हो तो हम उसकी वास्तविक अनुभूतिसे वञ्चित रहेंगे। हम सिफ़तको ज़ातका एक 'प्रकट रूप' या 'अभिव्यक्ति' मानते हैं।

क़ुरानशरीफ़के शब्दोंमें आत्मा या 'रूह' 'अमरे रब' या ब्रह्मकी अनुज्ञा है। हदीसमें लिखा हुआ है कि ज़ाते वहतने (अथवा निर्गुण ब्रह्मने) आत्माको अपने रूपके अनुसार ही उत्पन्न किया है। किन्तु इसलिये कि ब्रह्मका कोई रूप नहीं है, आत्माका भी रूप नहीं हो सकता। जिस प्रकार हम ब्रह्मकी सत्यताका परिचय परोक्ष रूपमें ही प्राप्त कर सकते हैं, उसके किसी विशिष्ट आकारसे परिचित नहीं हो सकते, उसी प्रकार हम आत्माके भी किसी रूपको नहीं जान सकते, क्योंकि उसका कोई रूप या आकार नहीं है। यह आत्मा एक है। जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंमें किसी प्रकारकी भिन्नता नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्मसे उत्पन्न जीवात्माओंमें भी किसी प्रकारकी भिन्नता नहीं हो सकती। प्रत्येक किरणमें जिस प्रकार सूर्य दिखलायी दे सकता है (यद्यपि सम्पूर्ण सूर्य वहाँ नहीं है), उसी प्रकार प्रत्येक आत्मामें ब्रह्मका रूप प्रतिबिम्बित होता है। संक्षेपमें हम कह सकते हैं कि आत्मा वह दर्पण है, जिसमें ब्रह्म प्रतिबिम्बित होता है।

* इस लेखके लिखनेमें मुझे अपने परम मित्र प्रो० श्रीरामकुमार वर्मा, एम्० ए०से विशेष सहायता मिली है, जिसके लिये मैं उनका

हमारे सामने अब यह प्रश्न उठता है कि इस सृष्टिका रहस्य क्या है? क़ुरानशरीफ़के अनुसार 'मा खलक़तल् इन्स व जिन्न इल्ला ले आबदून' (मैंने नहीं पैदा किया मनुष्य और देवताओंको—सिवा इबादतके लिये) में ही सृष्टि-निर्माणका रहस्य है। अर्थात् खुदाने अपनी शक्तिसे जिस सृष्टिका विधान किया है, उसके लिये स्वानुभूतिके अतिरिक्त और कौन मार्ग हो सकता है? जो सृष्टि ब्रह्ममय है, उसका स्वधर्म ही ब्रह्मकी उपासना होना चाहिये। यही सिद्धान्त क़ुरानशरीफ़का है। यदि ध्यानसे देखा जाय तो सृष्टि-निर्माणके इस रहस्यमें ही उपासनामार्ग छिपा हुआ है। खुदा या ब्रह्मकी इबादतका तात्पर्य ही एक निश्चित साधनामें है। अतः सूफ़ीमतमें सिद्धिके अन्तर्गत ही साधनाका मार्ग व्यञ्जित है। यह साधना दो रूप ग्रहण करती है—एक तो साधारण और दूसरा विशिष्ट। साधारण मार्गमें तो कुछ ही सिद्धान्त हैं, जो विधि और निषेधके अन्तर्गत हैं। करणीय और अकरणीयकी आज्ञाओंमें ही इस मार्गकी रूप-रेखा है। अवामिर (विधि) और नवाही (निषेध) का ही विधान इस साधारण साधनापक्षमें है। यह मनुष्यमात्रके साधारण धार्मिक जीवनके लिये आवश्यक है। कोई भी मनुष्य अपने अस्तित्वको तभी सफल मान सकता है, जब वह इन विधि और निषेधमय आदेशोंके अनुसार अपने जीवनको सुचारुरूपसे सञ्चालित कर सके। इस प्रकारके जीवनमें संयम (रियाज़त) की बड़ी आवश्यकता मानी गयी है। साथ ही आध्यात्मिकताके लिये जीवनको अधिक-से-अधिक अलौकिक सत्ताके समीप लानेकी आवश्यकता है। इसके लिये ही 'नमाज' की आयोजना है। दिनके पाँच भागोंमें अपनेको ईश्वरके सम्पर्कमें लानेके लिये 'नमाज़' का विधान रक्खा गया है। यह आचरण उन लोगोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है जो संसारमें जीवन व्यतीत करते हुए ईश्वरीय सत्ताकी ओर आकर्षित हैं। अर्थात् इस प्रकारके व्यक्तियोंके जीवनमें सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकारके पक्ष हैं; किन्तु मनुष्योंमें एक वर्ग ऐसा भी है, जो केवल आध्यात्मिक पक्षमें ही सन्तोष मानता है। उसके लिये लौकिक पक्षका कोई मूल्य नहीं है। उसे संसारमें कोई भी वस्तु ऐसी नहीं दीख पड़ती, जो उसे स्थायी सुख और शान्ति दे सके। वे इस संसारको क्षणभङ्गुर मानते हैं, इसके सुखोंको मृगतृष्णा और इसकी आशाओंको इन्द्रधनुषकी भाँति आधारहीन समझते हैं। उनके लिये संसारका अस्तित्व वास्तविक नहीं है। अतः लौकिक पक्ष उनके सामने कोई महत्त्व नहीं रखता। वे एकमात्र अलौकिक या आध्यात्मिक पक्षकी सार्थकता ही मानते हैं और इसीमें उन्हें परम सुख और आनन्दकी चरम प्राप्ति होती है। यह अलौकिक या आध्यात्मिक पक्ष ईश्वरके जप (ज़िक्र) या स्मरणमें ही माना जाता है। यह स्मरण दो प्रकारसे मान्य है—

१. ईश्वरके नाम और उसके गुणोंका जाप इस प्रकार हो कि उससे समस्त जीवन ओतप्रोत हो जाय। शरीरके प्रत्येक भागमें उसी अलौकिक सत्यका सञ्चार हो।*

२. साधक ईश्वरीय तत्त्वका चिन्तन दार्शनिक रूपसे करे। वह आत्मा और परमात्माके पारस्परिक सम्बन्धपर विचार करे और दोनोंके स्वरूपनिर्धारणमें लीन हो।

इन दो विभागोंपर हम विस्तारसे विचार करेंगे। इनके अन्तर्गत जपके अनेक रूप हैं। मनुष्यकी जितनी साँसें हैं, उतने ही अधिक साधनाके मार्ग हैं, किन्तु हम क्षेपमें कुछ ही मार्गोंका निर्देश करेंगे।

तवज्जह (ध्यान)—इस साधनामें (मुर्शिद) गुरु शिष्य (मुरीद) को अपने सामने घुटने मोड़कर बैठावे और स्वयं भी उसके सामने इस प्रकार बैठे। फिर हृदयको समस्त भावनाओंसे रहित एवं एकाग्र करके अल्लाहका नाम १०१ साँसमें अनुमानसे शिष्यके हृदयपर अनुलेखित करे और यह विचार करे कि अल्लाहके नामका प्रभाव मेरी ओरसे शिष्यके हृदयकी ओर प्रेरित हो रहा है। इस प्रकार एक या अनेक प्रयोगोंमें शिष्यके हृदयमें आलोक छा जायगा और उसके हृदयमें जागृति इस प्रकार हो जायगी कि वह उपासनाका पूर्ण अधिकारी बन सकेगा।

ज़िक्र जेहर—इस साधनाका सम्बन्ध 'चिश्तिया वंश' से है[1] और यह साधना अधिकतर गोपनीय रक्खी जाती है। इसे तहज्जुदके बाद ही व्यक्त कर सकते हैं। उसकी प्रार्थना यह है—'या अल्लाह, पाक कर मेरे दिलको अपने ग़ैरसे और रोशन कर मेरे दिलको अपने पहचानके नूरसे हमेशा या अल्लाह, या अल्लाह, या अल्लाह।' इस साधनाका यह ढंग है—साधक आलती-पालथी मारकर बैठे और दाहिने तथा बायें पैरके

* हठयोगमें इसी स्थितिको 'अजपा जाप' कहते हैं।

१. सूफ़ीमतके सिद्धान्त चार वर्ग (स्कूल) के हैं—चिश्तिया, क़ादरिया, सुहरवर्दिया और नक़्शबंदिया।

२. एक प्रकारकी नमाज, जो रातके बारह बजेके बाद पढ़ी जाती है।

अँगूठे और उसके बराबरवाली अँगुलीसे पाँवके घुटनेकी जड़में नीचेकी तरफ़ 'रगे कीमास' को पकड़े (रगे कीमासका सम्बन्ध हृदयसे है, उसे दबानेसे हृदयमें उष्णता उत्पन्न होती है)। बैठनेमें कमरको सीधा रखना चाहिये और मुख पश्चिमकी ओर हो। दोनों हाथ जानुओंपर रक्खे और 'बिसमिल्ला' कहकर तीन बार कलमा 'ला इलाह इल्लिल्लाह' पढ़े, इसके बाद जानुओंकी ओर इतना सिर झुकाये कि माथा घुटनेके पास पहुँच जावे और वहींसे मधुर स्वरसे 'ला इलाह' का आरम्भ करके सिरको दाहिने घुटनेके ऊपरसे लाते हुए दायें कंधेतक फिराता हुआ लाये और साँसको इतना रोके कि जितनी देरमें तीन ज़रबें (अल्लाहके नामका उच्चारण) लग सकती हैं। इसके बाद सिरको कुछ पीठकी ओर टेढ़ा करके ध्यान करे कि ईश्वरके अतिरिक्त जितने सङ्कल्प-विकल्प हैं, वे सब मैंने पीठके पीछे डाल दिये। इसके बाद सिरको बायीं तरफ़की छातीकी ओर झुकाकर, जहाँ हृदयका स्थान है, 'इल्लिल्लाह' कहे और यह विचार करे कि मैंने ईश्वरीय प्रेम-को हृदयमें भर लिया। ला इलाहको 'ज़िक्रे नफ़ी' और इल्लिल्लाहको 'ज़िक्रे इसबात' कहते हैं। 'नफ़ी' के वक़्त आँखें खुली रहनी चाहिये और 'इसबात' के समय बंद।

तिके पासे अनफ़ास—इस साधनाके अनेक रूप हैं, जिनमें केवल दो द्रष्टव्य हैं। पहला नफ़ी या इसबात का पासे अनफ़ास अर्थात् जब भीतरका साँस जाय तो ला इलाह कहे और जब बाहरका साँस आये तो इल्लिल्लाह कहे। लिफ़्ज़ साँससे यह उच्चारण हो, यहाँतक कि समीप बैठे हुए व्यक्तिको भी यह ज्ञात न हो सके। (यह समस्त साधना करते समय प्रत्येक साँसमें दृष्टि नाभिपर रहे और मुख बंद रहे)।

हब्से दम—यह साधना समानरूपसे सभी सूफ़ियोंमें मान्य है, विशेषकर चिश्ती और क़ादरी इस साधनके विशेष पक्षमें हैं। नक़्शबंदी इसे परमावश्यक तो नहीं मानते, तथापि वे इनकी उपयोगितामें विश्वास रखते हैं। यह साँसका अभ्यास है (हठयोगके प्राणायामका रूप भी इसी प्रकार है)। मानसिक उन्नतिके साथ यह शारीरिक उन्नतिका भी मूल-मन्त्र है। इसके अभ्यासका ढंग यह है कि नाक और मुँह बंद करके साँसके रोकनेकी शक्ति बढ़ायी जावे।

शग़्ले नसीर—यह ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्तीका विशेष साधन है। इससे मानसिक व्याधियाँ दूर होती हैं। इसका प्रकार यह है कि सायं-प्रातः अपने जानुओंपर बैठकर मनको एकाग्र कर दोनों आँखोंकी दृष्टि नासिकाके अग्रभागपर जमावे और निर्निमेष होकर देखे। इस दृष्टिमें अपरिमित ज्योतिका अनुमान करे। प्रारम्भमें नेत्रमें पीड़ा हो सकती है, किन्तु अन्तमें अभ्याससे साधना सरल हो जायगी।

शग़्ले महमूदा—इस साधनामें दृष्टिको भौंहोंके बीचमें जमाना चाहिये। यद्यपि यह साधना पहले कठिन जान पड़ती है, किन्तु इससे हृदय चैतन्य हो जाता है। पतञ्जलिके योगसूत्रमें त्रिकुटीका विधान इसी प्रकारका है।

मुराक़बए अहदीयत—इसके अनेक रूप हैं; किन्तु सबसे सरल रूप यह है कि आँख, नाक, कान, मुखको हाथकी उँगलियोंसे बंद करके साँसको नाभिसे खींचे और मस्तकतक ले जावे। वहाँ उसे रोककर शक्तिके अनुसार कुम्भक करे। जब साँसको नाभिके नीचेसे ऊपर ले जाने लगे तो वह 'अल्लाह' का उच्चारण करे और जब साँसको मस्तिष्कमें स्थापित करे तो 'हू' कहे। 'हू' कहते समय आँखको हृदयकी ओर स्थिर करे। जब कुम्भकमें साँसकी शक्ति घटने लगे तो उसे नाकके मार्गसे निकाल दे और इसीका पुनः अभ्यास करे। यह पहले एक या दो बारसे प्रारम्भकर अन्तमें बहुत देरतक बढ़ायी जा सकती है।

शग़्ले सौते सरमदी—इस साधनामें आँख, नाक, कान और मुखको बंद कर ऊँचे स्थानसे नीचे स्थानको गिरने-वाली जलधाराके शब्दका अनुमान करे। इस अनुमानके साथ 'इस्मे ज़ात' (ईश्वरके नाम) पर ध्यान रक्खे। क्रमशः यह अनुमान सत्यमें परिणत हो जायगा और वह आध्यात्मिक नाद सुन पड़ेगा, जो प्रत्येक साधकका आदर्श है। (योग-शास्त्रमें इसके समान ही अनहद नादकी व्यवस्था है।)

*मुराक़बा**—यह एक विशेष साधना है जो अनुमानकी शक्ति बढ़ाने और किसी वस्तुविशेषके रूपको हृदयङ्गम करनेके लिये की जाती है। हर मुराक़बेमें जानुओंपर बैठना, गर्दन झुकाना, आँखें बंद कर ध्यान करना आवश्यक है। अनेक मुराक़बोंमेंसे नीचे एक मुराक़बेका वर्णन किया जाता है। उससे अन्य मुराक़बोंका अनुमान किया जा सकता है।

मुराक़बा इस्मे ज़ात—इसका यह ढंग है कि वज़ू करके (जलसे स्वच्छ होकर) पश्चिमकी ओर बैठ जाय और बिस्मिल्ला पढ़कर गर्दन झुकाकर इस्मे ज़ातका ध्यान करे,

* अरबी ज़बानमें रक़ब गर्दनको कहते हैं। मुराक़बा गर्दन झुकाकर किया जाता है, इसलिये इसका नाम मुराक़बा रक्खा गया है।

यानी 'इस्मे अल्लाह' पर एकाग्रचित्त हो। इससे इन्द्रियकी चञ्चलता नष्ट होगी। यदि सांसारिक सम्बन्धकी ओर चित्त दौड़े तो अपने गुरुकी ओर ध्यान एकाग्र करे। प्रारम्भमें इस अभ्यासके करनेमें कठिनाई होगी, किन्तु वह अभ्याससे धीरे-धीरे दूर हो जायगी और मन शान्त हो जायगा।

अन्तमें यह कहा जा सकता है कि सूफ़ीमतके चार वर्गोंके अनुसार (जिनका निर्देश ऊपर हो चुका है) साधनाके अनेक रूप माने गये हैं, किन्तु यहाँ हमने मुख्य-मुख्य साधनाओंका निर्देश किया है, जो सभी वर्गोंमें मान्य हैं। इन साधनाओंपर दृष्टि डालकर सरलतासे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सूफ़ीमतका साधना-मार्ग हिंदूधर्मके साधना-मार्गके कितने अनुरूप है। यह तो दोनों धर्मोंका दृष्टिकोण है कि बिना तपस्या और साधनाके सांसारिक आकर्षण और मोह नष्ट नहीं हो सकते और आत्माकी अनन्त ज्योतिकी किरण दृष्टिगत नहीं होती, जिसके प्रकाशमें साधक अपना साम्य परमात्मासे कर सकता है। आत्माकी शक्तिको विकसित कर उसे ईश्वरीय ज्योतिसे विभूषित करना ही इन साधनाओंका उद्देश्य है।

सूफ़ियोंकी साधना

(लेखक—श्रीचन्द्रबलिजी पाण्डेय, एम्० ए०)

प्रेम-प्रतीकके सहारे चलनेवाले सूफ़ियोंकी साधनाके सम्बन्धमें ध्यान देनेकी बात यह है कि उनमेंसे कुछ तो इस्लामके विधि-विधानोंको मानते हुए प्रेमके मैदानमें उतरते हैं तो कुछ सीधे प्रेमके अखाड़ेमें आ धमकते हैं और इस्लामकी साधनाको अनिवार्य नहीं समझते। जो इस्लामको लिये दिये आगे बढ़ते हैं, उनकी इस्लाममें पूरी प्रतिष्ठा होती है और वे देखने भी पूज्य दृष्टिसे जाते हैं। पर जो इस्लामकी उपेक्षा कर अपना आसन जमाते हैं, उन्हें इस्लाममें जगह नहीं मिलती और फलतः उन्हें बेशरा, ज़िन्दीक़ या आज़ादके कटु नामसे याद किया जाता है। आज़ाद सूफ़ियोंकी साधनाके विषयमें कुछ विशेषरूपसे कहनेकी आवश्यकता नहीं दिखायी देती। अन्य सूफ़ियोंके साथ उनका भी उल्लेख होता रहेगा। एक बात और। बाशरा सूफ़ियोंके बारेमें भी कभी यह न सोचना चाहिये कि सचमुच उनकी निष्ठा इस्लाम ही है। नहीं, कदापि नहीं। उनका पक्ष केवल इतना ही है कि सभी विधि-विधानोंमें दैवी और अन्तिम होनेके कारण इस्लाम ही श्रेष्ठ है। इस्लामके अनुष्ठानसे सिद्धिकी प्राप्ति शीघ्र ही हो जाती है। बस, इसके आगे इस्लामके लिये और कोई आग्रह नहीं।

सूफ़ी वस्तुतः मधुकरी वृत्तिके जीव होते हैं। उनकी आँखें सदा खुली रहती हैं। जहाँ कहीं वे जाते हैं, अपने कामकी बातें छाँट लेते हैं। रस लेते और सीठीको छोड़ देते हैं। इसलिये उनकी साधनामें भी नाना प्रकारके रंगोंकी समायी हो जाती है और वह भी उन्हींकी भाँति बहुरंगी हो जाती है। पर यहाँ उन रंगोंकी सुनवायी न होगी। मूल सिद्धान्तोंके सम्बन्धमें ही कुछ निवेदन कर दिया जायगा। हाँ, प्रसङ्गवश इतना अवश्य बता दिया जायगा कि भारतकी रसीली और उपजाऊ भूमिमें कौन-सा ऐसा गहरा रंग मिला जो उनकी साधनामें घर कर गया और फलतः आज भी चारों ओर किसी-न-किसी रूपमें बना ही है।

यों तो सूफ़ीमतके उदयमें भी आर्यसंस्कृतिका हाथ कहा जाता है, पर उसको माननेके लिये बहुतसे लोग तैयार नहीं हैं। पर इतना तो निर्विवाद है और सभी विद्वानोंने एक स्वरसे घोषित भी कर दिया है कि बादके तसव्वुफ़पर भारतका प्रभाव है। भारतने कब और किस प्रकार तसव्वुफ़को अनुप्राणित किया, यह इतिहासका विषय है और कालकी कठोरता एवं अपनी अवहेलनाके कारण आज खोजका विषय बन गया है। अतएव इसे यहीं छोड़ इतना और जान लीजिये कि हमारी योग-साधनासे सूफ़ी बराबर प्रभावित होते रहे हैं और मलिक मुहम्मद जायसी आदि सूफ़ी कवियोंने तो हठयोगकी चर्चा भी खूब की है। उनका कहना है—

> नवो खंड नव पौरी, ओ तहँ बज्र-केवार।
> चारि बसेरे सौ चढ़ै, सत सौं उतरै पार॥
>
> (पद्मावत पृ० १९)

जायसीका प्रकृत कथन उनकी साधनाका परिचायक है। पर यह निश्चितरूपसे नहीं कहा जा सकता कि उनकी यह

१. सभी अवतरण 'जायसी-ग्रन्थावली', द्वितीय संस्करण (नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी, सन् १९३५ ई०) से लिये गये हैं।

साधना इस्लामी है अथवा हठयोगी। उन्होंने अन्यत्र 'अखरावट' में (पृ० ३५६) इसीको इस रूपमें व्यक्त किया है—

'बाँक चढ़ाव, सात खँड ऊँचा, चारि बसेरे जाइ पहूँचा।'

खण्डों[1] की बात अभी अलग रखिये। 'चार बसेरो' से जायसीका तात्पर्य क्या है? हम-आप तो अपनी-अपनी रुचिके अनुसार इसका अर्थ अलग-अलग लगा लेंगे। यदि आप ध्यान, धारणा, प्रत्याहार और समाधिका नाम लेंगे तो हम मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षाका। यदि आप यम, नियम, आसन और प्राणायामका उल्लेख करेंगे तो हम जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयका। सारांश यह कि सब लोग अपनी-अपनी साधनाके अनुसार इसका अर्थ करेंगे। पर क्या आप जानते हैं कि स्वयं 'जायसी'-सा इस्लामी सूफ़ी इसका अर्थ क्या करेगा। सुनिये। उसीका कहना है—

ना नमाज है दीनक खूनी, पढ़े नमाज सोइ बड़गुनी।
कही तरीकत चिस्ती पीरू, उघरित अमरफ औ जहँगीरू॥
.....
राह हकीकत पैठ न चूकी, पैठि मारफत मार बुड़की।
ढूँढि उठे हद मानिक मोती, जहँ समाइ जोति महँ जोती॥
(अखरावट, पृ० ३६३)

अस्तु, परमज्योतिमें समा जानेके लिये ज्योतिको 'नमाज़','तरीक़त','हक़ीक़त' और 'मारफ़त' का अनुष्ठान करना चाहिये। 'नमाज़' के प्रसंगमें ध्यान देनेकी बात यह है कि मलिक मुहम्मद जायसीने इस्लामके पञ्चस्तम्भोंमेंसे केवल 'सलात' याने नमाज़को लिया है। शेष चारको छोड़ क्यों दिया? क्या सूफ़ीसाधनामें सौम, ज़कात, हज और तौहीदका कोई स्थान नहीं? नहीं, ऐसी बात नहीं है। तौहीदका संकेत तो 'जाइ समाइ जोति महँ जोती' में कर दिया है। रही सौम, ज़कात और हजकी बात। सो उसके विषयमें वहीं आगे चलकर स्पष्ट कह दिया है कि—

साँची राह सरीअत, जेहि बिस्वास न होइ।
पाँव राखि तेहि सीढ़ी, निभरम पहुँचै साइ॥
(अखरावट, पृ० ३६३)

अतएव मानना पड़ता है कि सूफ़ीसाधनाके 'चार बसेरे' शरीअत, तरीक़त, हक़ीक़त और मारफ़त है। शरीअतके भीतर रोज़ा, नमाज़, ज़कात और हज—सभी आ जाते हैं। रोज़ा और नमाज़का अरबी नाम सौम और सलात है। इन साधनचतुष्टयोंमें तौहीदकी गणना नहीं की जा सकती। तौहीद साधन नहीं प्रत्युत साध्य है। इसी तौहीदकी प्राप्तिके लिये अन्य साधनाएँ की जाती हैं।

साधनचतुष्टयोंमें 'हज' और 'ज़कात' एक ढंगके हैं तो रोज़ा और नमाज़ दूसरे ढंगके। सूफ़ियोंके विषयमें यह कहना ठीक नहीं कि वे हज और ज़कातको विशेष महत्त्व नहीं देते। सच पूछिये तो सूफ़ी 'हज' और 'ज़कात' की संकीर्णताको दूरकर उन्हें तीर्थ और दानका व्यापक रूप दे देते हैं और 'मक्का' एवं 'मुसल्लिम' के आगे भी परमात्माका प्रसार देखते हैं। रोज़ा और नमाज़को भी सूफ़ी तप और ध्यानके रूपमें लेते हैं और स्वभावतः उनके भी क्षेत्रको व्यापक बना देते हैं। उनकी दृष्टिमें अधिक-से-अधिक रोज़ा रखना और अधिक-से-अधिक नमाज़ पढ़ना और भी अधिक मङ्गलप्रद है। निदान हमें मानना पड़ता है कि साधनाके क्षेत्रमें सूफ़ी सलात, ज़कात, सौम और हजको उपलक्षण अथवा संकेतमात्र समझते हैं। इतना तो हर एक मुसल्लिमको करना चाहिये। यदि इससे अधिक करे तो और भी अच्छा है।

अब तौहीदकी बात आयी। तौहीदकी सिद्धिके लिये सालिकको क्या करना चाहिये? हमें तौहीदकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? कहनेकी बात नहीं कि यहींसे सूफ़ियोंकी सच्ची और निजी साधनाका आरम्भ होता है। यहींसे पीरी-मुरीदी चलती है और यहींसे मोमिन और मुरीदमें भेद उत्पन्न होता है। सूफ़ियोंके नाना सम्प्रदायोंकी छान-बीन हमारे किस कामकी। हमारे लिये तो इतना ही पर्याप्त है कि सभी एक मतसे 'तरीक़त' के क़ायल हैं और आग्रहके साथ कहते हैं—

जेइ पावा गुरु मीठ सो सुख मारग महँ चलै।
सुख अनंद भा डीठ, मुहमद' सागी पोढ़ तेहि॥
(अखरावट, पृ० ३६३)

१. जायसीने सात खण्डोंकी व्याख्या 'अखरावट' में कर दी है, जो हठयोगियोंसे कुछ भिन्न है। शेष दो खण्ड 'अर्श' और 'कुर्सी' कहे जा सकते हैं।

२. 'तरीक़त' में ज़िक्र, फ़िक्र और 'समा' का सम्पादन किया जाता है। ज़िक्रको 'सुमिरन', फ़िक्रको चिन्तन और समाको संकीर्तन कहा जा सकता है। संगीतप्रधान होनेके कारण कुछ सम्प्रदाय समाको अच्छा नहीं समझते।

४. सूफ़ी चार लोकोंकी भी कल्पना करते हैं—जो क्रमशः नासूत, मलकूत, जबरूत और लाहूतके नामसे ख्यात हैं। इन्हें हम नर-लोक, देवलोक, ऐश्वर्यलोक और ब्रह्मलोक कह सकते हैं।

पोढ़ साथी मिल गया तो 'बाँक चढ़ाव'का पक्का रास्ता मिल गया। तो क्या अब कोई डर नहीं रहा? नहीं, ऐसी बात नहीं है। अभी तो शैतानका सामना करना है। यदि सच्चे गुरुका साथ छूट गया और बीच मार्गमें शैतानने गुमराह कर दिया तो फिर फिसलकर चकनाचूर होनेके सिवा और क्या हाथ लगा। अतएव जबतक हक़ीक़तका यथार्थ बोध न हो जाय तबतक अपने गुरुका पीछा नहीं छोड़ना चाहिये और उनके सिखावनपर उचित ध्यान देकर अपने शत्रुओंका नाश करना चाहिये। जब नफ्सका सिक्का उठ गया और हक़का सच्चा बोध हो गया तब और आगे बढ़नेके लिये कुछ ऐसा तत्पर अनुष्ठान करना चाहिये कि 'मारफ़त' की स्थिति आ जाय। 'मारिफ़' की प्राप्तिसे होगा यह कि किसी शैतानकी दाल अब न गलेगी। 'मारफ़त' की दशामें पहुँच जानेपर पता चलेगा कि उसका साध्य कहीं और नहीं था। वह तो उसीमें छिपा क्या, खुद वही था। अब उसे 'अनल्हक़' का भान होगा और वह ब्रह्मविहारमें मग्न होगा। अब उसे 'तौहीद' का सच्चा आनन्द मिलेगा। किन्तु इस्लामकी रक्षा और दीनकी प्रतिष्ठा चाहनेवाला 'अनल्हक़'की घोषणा न कर स्वतः इस्लामके सभी अङ्गोंका पालन करेगा और 'परगट लोकचार कहु बाता, गुपुत प्रेम मन जासौं राता' को चरितार्थ करेगा। पर जो इस्लामका भक्त नहीं, केवल प्रेमका पुजारी और ज्ञानका प्रचारक है, वह स्पष्ट-रूपमें उसकी घोषणा करेगा और फिर किसी क्रियाकलापके फेरमें न पड़ेगा। मुल्ला और काज़ी उसे ज़िन्दीक़ कहेंगे। प्राणदण्डके विधानसे वह तिल भी न डरेगा और शौकसे सूलीके तख्तेपर परम प्रियका आलिङ्गन कर उसीमें मग्न हो जायगा। उसकी सच्ची साधना सफल हो जायगी और उसके आलोकसे लोकका उद्धार होगा, हठ और पाखण्डकी एक भी न चलेगी।

इस्लाम धर्मकी कुछ बातें और शिया-सुन्नियोंका भेद

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंह जी, एम्० ए०)

हज़रत मुहम्मदको अपने समयकी अरबमें प्रचलित 'बुत्-परस्ती' खटकने लगी और उन्होंने 'खुदा-परस्ती' का प्रचार करना निश्चय किया। बहुत दिनोंतक मक्काके समीप हारापर्वतकी एक गुफामें एकान्तवासके अनन्तर उन्होंने अपनी स्त्रीसे सूचित किया कि फ़रिश्ता जिबराइल उनके पास यह समाचार लाये थे कि खुदाने मुहम्मदको अपना पैग़म्बर नियत किया है। मुहम्मद अपठित थे और कुरानके वाक्य उनके मुखसे आवेशकी अवस्थाओंमें निकले कहे जाते हैं। क़ुरानका मुख्य आशय खुदाकी एकता है। कहते हैं—खुदा एक है और उसके सिवा कोई दूसरा नहीं। मुहम्मद उसके पैग़म्बर हैं। कलमा या इस्लामधर्मकी गायत्रीका यही अर्थ है। इस्लामके मुख्य अङ्ग ६ प्रकारके ईमान (सिद्धान्त) और ४ प्रकारके दीन (कर्मकाण्ड) हैं। ईमानमें खुदा, उनके पैग़म्बर, उनके फ़रिश्ते, कुरान, खुदाकी सर्वशक्तिमत्ता तथा मृत्युके पश्चात् न्यायके दिनमें विश्वास करना है। दीनके अङ्ग नमाज़, रोज़ा, ज़कात और हज हैं।

हमलोग एकान्तमें स्वस्थचित्त बैठकर सन्ध्योपासन करते हैं, ईसाई घुटने टेककर भगवच्चिन्तन करते हैं और यहूदी खड़े होकर प्रार्थना करते हैं; पर मुसल्मानोंकी पाँच वक्तकी नमाज़ (प्रार्थना) का ढंग निराला ही है। चटाई अथवा दरी (जा-नमाज़) पर ही प्रार्थना हो सकती है और नमाज़के अवसरपर उपासकका मुख मक्केकी ओर होना चाहिये। शारीरिक शुद्धिके बिना नमाज़ स्वीकृत नहीं होती। मैथुन इत्यादि अवस्थाओंके उपरान्त स्नानसे ही शुद्धि होती है। अन्यथा हाथ-पैर और मुखको धोनेसे काम चल जाता है। जलके अभावमें बालूसे काम चल सकता है। नमाज़के समय उषाकाल, मध्याह्नके उपरान्त, मध्याह्न तथा सायङ्कालके मध्यमें, सूर्यास्तके कुछ बाद और सोनेके पूर्व हैं। ठीक इन समयोंपर मस्जिदकी मीनारोंसे इमाम लोग 'अल्लाहो अकबर' के नारे लगाते हैं। नमाज़को स्त्री नहीं सुन सकती। नमाज़में आठ प्रकारसे उठना-बैठना पड़ता है, प्रार्थनाएँ छोटी होती हैं और अरबी भाषामें पढ़ी जाती हैं। वे कई बार दुहरायी जाती हैं। प्रत्येक प्रार्थनाको रकोह कहते हैं। प्रत्येक शुक्रवारको मध्याह्नके उपरान्तकी नमाज़ सामूहिक होती है।

इस्लामी संवत्सर (हिजरी) का प्रारम्भ रमज़ान मासमें होता है और महीने चान्द्रमास होते हैं। उनके नाम मुहर्रम, सफ़र, रबीउल अव्वल, रबी उस्सानी, जमादुल अव्वल,

जमादुस्सानी, रजब, शाबान, रमज़ान, शव्वाल, ज़िलक़दः और ज़िलहिज्जः हैं। रमज़ानके महीनेभर प्रतिदिन व्रत रक्खा जाता है, जिसे 'रोज़ा' कहते हैं। रोज़ा रखनेमें सूर्योदयसे कुछ पहलेतक भोजन कर लेते हैं, फिर दिनमें न कुछ खाते न पीते हैं। सूर्यास्तके उपरान्त फिर भोजन करते हैं। रमज़ानके अन्तिम शुक्रवारको अलूविदा (विदाई) कहते हैं और मासिक व्रतकी समाप्तिपर द्वितीयाके चन्द्रदर्शनपर ईद-उल्-फ़ित्र मनायी जाती है। मुसल्मान लोग शङ्करजीके भालपर स्थित चन्द्रहीको अपने प्रत्यक्ष देव मानते हैं।

ज़कात अथवा दानमें अपनी आयका चालीसवाँ भाग व्यय कर देना चाहिये। किसी माँगनेवाले (साएल) को कटुवचन कहना मना है।

प्रत्येक मुसल्मानको जीवनमें एक बार मक्का नगरमें स्थित काबेके मन्दिरकी यात्रा करना आवश्यक है। मुहम्मदके पूर्व काबेके स्थानपर एक विशाल मन्दिर (शिवालय ?) था, जिसे बिहिश्त (स्वर्ग) मन्दिर (बैतुल मामूर) की नकल मानते थे। वर्तमान काबेमें एक काला पत्थर है, जिसकी परिक्रमा करते हैं और जिसे चूमते हैं। कहते हैं यह स्वर्गसे आया है और पृथ्वीपर खुदाके दाहिने हाथके सदृश है। इस पाषाण-प्रतीकके कारण मक्का परम पवित्र माना जाता है और इसकी सीमाके भीतर जीववध वर्जित है। हज (काबेकी यात्रा) करनेवाले हाजी कहलाते हैं। यात्राके समय वे मक्कामें मुण्डन कराते हैं और सादा श्वेत बिना सिला (कफ़नका) कपड़ा पहनते हैं। वहाँके ज़मज़मनामक कूपका जल गङ्गाजलके समान पवित्र माना जाता है।

इसलोगोंकी वैतरणी नदीके स्थानपर मुसल्मानोंमें दोज़ख (नरककुण्ड) है, जिसपर सरातनामक बालसे भी महीन पुल बँधा माना जाता है। इस पुलको पापी नहीं पार कर सकते। पुलके पार बिहिश्त (स्वर्ग) है—जहाँ पानी, दूध, शहद तथा शराबकी नहरें बहती हैं। स्वर्गमें मुश्क (कस्तूरी) की बनी ७२ हूरें (सुन्दरियाँ) और ७०,००० गिलमा (सुन्दर बालक सेवक) प्रत्येक पुण्यात्माको मिलते हैं। क़यामतकी कल्पना हमारे प्रलयसे मिलती है। उसीके बाद प्रत्येक क़ब्रसे मुर्दे उठ खड़े होंगे और उनके पुण्य-पापका न्याय होगा !!

इस्लामधर्ममें प्रत्येक मुसल्मान समान पद रखता है। धार्मिक बातोंमें ऊँच-नीचका कोई भेद नहीं। इसी कारण इसे परम प्रजासत्तात्मक (most democratic) धर्म कहते हैं। इस्लामधर्मका नेता ख़लीफ़ा कहा जाता है। वही धर्मगुरु तथा राजा होता था। सन् १९२४ ई० में ख़िलाफ़त (ख़लीफ़ाके पद) का अन्त हो गया, तबसे कोई ख़लीफ़ा नहीं है। उस साल तुर्कीके सुल्तान ख़लीफ़ा थे। उनके पदच्युत होनेपर यह पद ही उठा दिया गया। इस ख़िलाफ़तके मसलेको लेकर बार-बार रक्तकी नदियाँ बही हैं। शिया-सुन्नी-सम्प्रदायोंका कट्टर विरोध भी इसी ख़िलाफ़तसे सम्बद्ध है।

मुहम्मदके मरनेपर कुछ मुसल्मानोंका मत था कि उनके उत्तराधिकारी (ख़लीफ़ा) उनके वंशज ही हों और कुछका कहना था कि सबसे योग्य पुरुष ख़लीफ़ा हो, जिसे जनता चुने। पूर्व-मतवाले शिया कहलाये और पर-मतवाले सुन्नी। सुन्नियोंकी बात रही। और मुहम्मदसाहबके चचेरे भाई अलीके होते हुए भी अबूबकर ख़लीफ़ा चुने गये। अबूबकरके बाद उमर और उनके बाद उस्मान ख़लीफ़ा हुए। उस्मानके मरनेपर उपर्युक्त अली (जो हज़रत मुहम्मदके दामाद भी थे) ख़लीफ़ा चुने गये। लेकिन शाम (Syria) के गवर्नर मावियाने (जो ख़लीफ़ा पदका दावा कर रहे थे) अलीको नमाज़के समय मरवा डाला। अलीके बाद उनके बड़े लड़के हसन ख़लीफ़ा चुने गये, पर मावियाने उनको भी विष दिलवाकर मरवा डाला। हसनके मरनेपर कूफ़ानामक नगरके निवासियोंके आग्रहसे हसनके भाई हुसेन ख़लीफ़ा नियुक्त होनेके लिये कूफ़ाको चले। पर कर्बलाके मैदानमें ७२ साथियोंके साथ हज़रत हुसेन मावियाके पुत्र यज़ीदकी सेनाद्वारा मार डाले गये। इसी कर्बलाकी हत्याका स्मारक मुहर्रमका त्योहार है। हुसेनका घोड़ा ज़ुलजिनाह था, जो आजकल दुलदुलके नामसे निकाला जाता है। ताज़िया हज़रत हुसेनकी क़ब्रका स्मारक है। इस अवसरपर (यह मुख्यतः शिया लोगोंका त्योहार है) लोग हरे तथा काले कपड़े पहनते हैं। हरे वस्त्र हज़रत हसनको विष देनेकी याद दिलाते हैं। और काले वस्त्र हज़रत हुसेनकी मृत्युपर शोक प्रकट करते हैं। प्रत्येक शहरमें उस स्थानको जहाँ ताज़िये दफ़नाये जाते हैं, कर्बलाके युद्धकी यादगारमें कर्बला कहते हैं।

हुसेनकी मृत्युके पश्चात् मावियाका पुत्र यज़ीद ख़लीफ़ा माना गया, पर शियालोग उसको नहीं मानते। वे हज़रत मुहम्मदके वंशज अलीको ही अपना पहला इमाम मानते हैं। अलीके बाद हसन और उनके बाद हसनके भाई हुसेनको

मानते हैं। हुसेनके बाद क्रमशः वंशपरम्परासे ज़ैनुल् आबदीन अल् बाकिर, अल् जाफ़र, मूसा क़ाज़िम, अल्रीदा, तक़ी, नक़ी, असकरीनामक इमाम हुए। ये सब अली और उनके लड़के हसन तथा हुसेनकी तरह मारे गये। अन्तिम बारहवें इमाम अलमेहदी हुए, जिनके लिये कहा जाता है कि वे जीवित होते हुए भी लुप्त हैं। कालान्तरमें हज़रत ईसाके साथ प्रकट होकर जगत्भरको इस्लामधर्ममें दीक्षित करेंगे। शिया सदा अपने इमामोंकी अपमृत्युका शोक मनाते रहते हैं। वे लोग बड़े भावपूर्ण रूपसे मातम करते हैं और सुन्नियोंसे यज़ीदके अनुयायी होनेके कारण बुरा मानते हैं। यही नहीं, शियालोग अलीके पूर्ववाले ख़लीफ़ा अबूबकर, उमर और उस्मानसे चिढ़ते हैं और उनके विरुद्ध शापवत् 'तबर्रा' पढ़ते हैं। इसके जवाबमें सुन्नीलोग इन तीनों ख़लीफ़ाओंका गुणगान 'मदेसहाबा' पढ़कर करते हैं।

यज़ीद उमैय्यद घरानेके थे, अतः उनके बादवाले शामवासी ख़लीफ़ा (जिन्हें केवल सुन्नी मानते थे) उमैय्यद कहलाये। कालान्तरमें अब्बासी ख़लीफ़ाओंने बग़दादको अपनी राजधानी बनाया और ग्यारहवीं सदीसे बग़दादके ध्वस्त होनेपर तुर्क ख़लीफ़ा कुस्तुन्तुनियामें रहने लगे। इस समय यह पद उठ गया है।

सद्गुरु कबीर साहबकी सहज साधना

(लेखक—श्रीधर्माधिकारी महन्त श्रीविचारदासजी साहब शास्त्री)

परमतत्त्वकी प्राप्तिके लिये मनको स्थिर करना होता है, जो साधनाके बिना नहीं होता। मनकी स्थिरताके अनेक साधनोंमें 'सुरति-योग' सबसे श्रेष्ठ और सरल है। सद्गुरु कबीरसाहबने इसीको 'सहज समाधि' कहा है।

सहज समाधी उन्मनि जाने, सहज मिलै रघुराई।
जहँ-जहँ देखूँ तहँ-तहँ साईं, मन मानिक बेध्या हीरा।
परम तत्त्व यह गुरुसे पावै, कह उपदेस कबीरा।
(कबीरसाहबका बीजक)

सुरति सारे संसारका द्वार है। प्रशान्त निजात्म-महासागरमें अनादि वासना-वायुके झकोरोंसे उत्पन्न हुई स्फूर्ति-तरङ्गें सारे संसारके दृश्योंको सामने ला देती हैं; इस कारण यह भी कह सकते हैं कि सुरति ही संसार है और उसका निरोध ही संसारकी निवृत्ति है। मन सदैव सुरतिके पीछे चला करता है; क्योंकि सुरतिके होनेसे ही अनेक सङ्कल्प-विकल्प खड़े होते हैं। अतः जबतक सुरतिका निरोध न हो, तबतक मनका निरोध असम्भव है।

मन-मतंग माने नहीं, चले सुरति के साथ।
दीन महावत क्या करै, अंकुस नाहीं हाथ॥
(कबीरसाहबका बीजक)

शरीरमें धरती और आकाशके विशेष स्थान हैं। उन दोनोंसे परे सुरति-कमल है। गुरुकी बतायी हुई युक्तिसे वहाँ सुरतिको लगानेसे वह स्थिर हो जाती है। उसके स्थिर होनेसे मन भी निश्चल हो जाता है और मनके निश्चल होनेसे स्वरूपका साक्षात्कार होता है। इस बातका सद्गुरु कबीर-साहबने सांकेतिक भाषामें इस प्रकार वर्णन किया है—

धरती अकासके ऊपरे, योजन अष्ट प्रमान।
तहाँ सुरति कै राखिये, देह धरे नहि आन॥
सुरति फँसी संसारमें, तातें परि गयो दूर।
सुरति बाँधि सुस्थिर करो, आठौं पहर हजूर॥
डारी आई अधरसे, अधर हि दरसन होय।
कायासे न्यारा रहै, हंस कहावै सोय॥

इस सुरतिकी धारणाके लिये किसी भी मुद्राविशेषकी अथवा आसनविशेषकी आवश्यकता नहीं है। सहजभावसे यह धारणा की जा सकती है। जैसा कि इस 'शब्द'में कहा है—

संतो सहज समाधि भली है।
जबसे दया भई सतगुरुकी, सुरति न अनत चली है॥टेक॥
जहँ-जहँ जाऊँ सोइ परिकरमा, जो कछु करौं सो पूजा।
पर बनखंड एक सम देखौं, भाव मिटावौं दूजा॥ १॥
शब्द निरन्तर मनुवा राचा, मलिन वासना त्यागी।
जागत-सोवत, ऊठत-बैठत, ऐसी तारी लागी॥ २॥
आँख न मूँदूँ, कान न रूँधूँ, काया-कष्ट न धारूँ।
उर्ध्व नैनन साहेब देखूँ, सुंदर बदन निहारूँ॥ ३॥
कहहिं कबीर यह उन्मनि रहनी, सो परगट कहि गाई।
दुख-सुखके बह पर परम पद, सो पद है सुखदाई॥ ४॥

विशेष क्या, बैठे-बैठे और सोते-सोते भी सुरतिको निज लक्ष्यमें लगाया जा सकता है—

बैठे, सूते, पड़े उतान, कहहिं कबीर हम वही ठिकान।

संत पलटूसाहेबने भी उक्त सुरति-योगके विषयमें निम्नलिखित कुण्डलिया कहा है।

कमठ-दृष्टि जो लावई, सो ध्यानी परमान॥
सो ध्यानी परमान, सुरतिसे अंडा सेवै।
आप रहे जल माहिं, सूंवमें अंडा देवै॥
जस पनिहारी कलस धरि, मारगमें आवै।
कर छोड़े, मुख बचन, सुरति कलसामें लावै॥
फनि मनि धरइ उतारि, आप चरनेको जावै।
वह नहीं गाफिल पड़ै, सुरति मनि माहिं रहावै॥
पलटू कारज सब करै, सुरति रहै अलगान।
कमठ-दृष्टि जो लावई, सो ध्यानी परमान॥

सद्गुरु कबीरसाहेबकी वाणीमें इस सुरतियोगका विशेष वर्णन है। अधिक जाननेकी इच्छावालोंको उनकी वाणीका परिशीलन करना चाहिये।

कबीर साहबकी 'भावभगति' का रहस्य

(लेखक—पं० श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

कबीर साहबने भक्तिको परमार्थका मुख्य साधन मानकर, उसे अत्यन्त कठिन भी बतलाया है। उनका कहना है कि 'रामकी भगति' 'दुहेली' अर्थात् दुःसाध्य कार्य है, वह कायरोंके वशकी बात नहीं; वह एक प्रकारसे तलवारकी धारके समान तीखी है, जिसपर चढ़कर तनिक भी हिल डुल जानेसे कटनेका भय बना रहता है; अथवा वह आगकी एक ऐसी लपट है जिसमें कूद पड़नेवाले ही अपनेको बचा पाते हैं, उससे खिलवाड़ करनेवाले बिना जले नहीं रह सकते। भक्तिका द्वार इसी कारण राईके दशमांशके जितना 'सकड़ा' या तंग है, जिसमें प्रवेश करना भी हमारे मनरूपी मत्त-गजेन्द्रके लिये एक असम्भव-सी बात होगी। अतएव जिस प्रकार कोई अपनी आँखोंमें काजल देने मात्रसे ही उनमें वह 'चाह' नहीं ला सकता जिससे मनोमोहकता भी आ जाय, उसी प्रकार भक्तिके नाना भाव अथवा विविध विधियोंके होते हुए भी सबके लिये उस भेद या रहस्यका पा सकना दुर्लभ है जिसके द्वारा 'श्रीहरि' से मिलानेवाले हृदयकी उपलब्धि हुआ करती है। उस रहस्यके ज्ञान बिना हमारा मन बाहरसे स्वच्छ होनेपर भी वास्तवमें मैला ही बना रह जाता है और कपट वहाँसे निर्मूल वा निर्बीज नहीं हो पाता। केवल नेत्रोंके बकवत् उज्ज्वल और निर्दोष दीख पड़नेसे हृदयमें 'विडाल' के रहते सच्ची भक्तिकी सम्भावना किसी प्रकार भी नहीं की जा सकती। कबीर साहब उस रहस्यका नाम 'भाव' अथवा 'भेद' निर्दिष्ट करते हैं और अपनी भक्तिसाधनाको भी उसीके अनुसार 'भावभगति' कहा करते हैं। उनका कहना है कि हरिके साथ 'गठजोरा' यथार्थमें भावभगतिके द्वारा ही सम्भव हो सकता है; क्योंकि उसके बिना 'राम' एकमात्र एवं सर्वघटव्यापी होते हुए भी हमारे लिये सदा दूरस्थ बने रहते हैं।

परन्तु भावभगति और राम—ये दोनों वस्तुएँ एक ही भाँति 'निराली' वा अनुपम हैं, अतएव 'कथणी बदणी' के 'जंजाल' द्वारा इनका यथार्थ वर्णन कभी नहीं किया जा सकता। भावभगति कहने-सुननेमात्रकी बात नहीं, वह केवल अनुभवगम्य साधना है। उसके लिये सर्वप्रथम सद्गुरुकी वह कृपा अपेक्षित है, जिससे उस अनन्तको प्रत्यक्ष करनेके साधनस्वरूप हमें अनन्त नेत्रोंकी उपलब्धि हो जाय; हमें उस सच्चे शूरका वह शब्दबाण लग जाय, जिसके मर्मस्थल-तक पहुँचते ही सारा भेद आप-से-आप खुल सके और सारे शरीरमें एक प्रकारकी ज्वाला व्याप्त होकर हमें निस्तब्ध कर दे; अथवा उसके एक ही प्रसङ्गमें हमारे ऊपर प्रेम-वारिदकी वह वृष्टि हो पड़े जिससे हमारे अङ्ग-प्रत्यङ्गके भीगनेकी कौन कहे, अन्तरात्मातक सराबोर होकर नितान्त निर्मल हो जाय। तभी हमारे भीतर वह बलवती अभिलाषा भी जागृत होगी, जो 'विरह-भुवंगम' का रूप धारण कर हमारे कलेजेमें 'घाव' करने लगती है और शरीरके रग रग रबाबकी ताँत बनकर झंकृत हो उठते हैं; अथवा जिसके प्रभावमें आकर हम अपने शरीरको दीपक बना और उसमें रक्तका तेल डाल एवं प्राणोंकी बत्ती डाल उसके द्वारा अपने प्रियतमका मुख देखनेके लिये अत्यन्त आतुर हो जाते हैं। भेदको समझने और हृदयङ्गम कर लेनेवालेपर ही ऐसी 'बला' आती है। यह जिज्ञासा जिस किसीके भी अंदर जगी, उसे दिन-रात चैन नहीं; वह नित्यशः अपने ही मनके साथ

अविश्रान्तरूपसे बिना किसी हथियारकी सहायताके भी संग्राम करनेको विवश हो जाता है।

भावभगतिके लिये दूसरी परम आवश्यक बात अपने मनका यत्नपूर्वक वशमें लाना है, क्योंकि बिना मनकी शुद्धिके 'हरि' की प्राप्ति नहीं हो सकती। हमें सबसे पहले उस मनकी खोज करनी चाहिये, जिसमें सम्पूर्ण भौतिक सम्बन्धोंका परित्याग कर अन्तमें प्रवेश किया जाता है। कबीरसाहबका कहना है कि उस मनके रहस्यको बड़े-बड़े भक्तों और साधकोंतकने नहीं जान पाया; वह 'अकल निरंजन' वा निर्मल मन अपने तनके भीतर ही वर्तमान है, किन्तु उसकी प्राप्ति विरले पुरुष कर पाते हैं। सच्ची बात तो यह है कि जबतक हमारे मनमें किसी प्रकारका विकार भरा है, तबतक हमारे लिये आवागमनसे मुक्त होना बहुत दूरकी बात है और मनके निर्विकार हो जानेपर उसका 'निर्मल' में प्रवेश आप-से-आप हो जाता है। मनको जीवधर्मानुसार अपनी राह जाने देना ठीक नहीं; इसे तकलीके सूतकी भाँति सदा बार-बार उलटते रहनेकी आवश्यकता है। इस मदोन्मत्तको इधर-उधर भागता देख अङ्कुश दे-देकर अपनी ओर फेरते रहना चाहिये, ताकि मार-पीटकर किसी प्रकार यह घटके भीतर ही घिर जा सके। मनको मैदेकी भाँति नन्हा-नन्हा करके पीसते रहना भी आवश्यक है; इसे 'बिस्मिल' वा विनष्ट कर इन्द्रियसे नितान्त अदृश्यतक बना देना है। किन्तु सदा ध्यान रहे कि हमारा मन मृतक हो जानेपर भी बहुधा विश्वासयोग्य नहीं हो पाता; इसमें विकार-की वायुके पुनः लगते ही एक बार फिर जी उठनेकी शक्ति बनी रहती है। जब अनेक उपायोंद्वारा हमारा मन किसी प्रकार निश्चल हो जाता है, तभी हमें वह पूर्ण सिद्धि प्राप्त होती है और हमारा सारा शरीर कसौटीपर बार-बार कसे गये सोनेकी भाँति शुद्ध हो पाता है। मनके ऊपर सफलता-पूर्वक विजय प्राप्त कर लेनेकी पहचान उसका एक स्वच्छ दर्पणकी भाँति प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेमें पूर्णरूपेण समर्थ हो जाना है।

परन्तु जिस भाव अथवा भेदका प्रतिबिम्ब ग्रहण करना है, उसका वास्तविक रूप क्या है? और उसका अनुभव प्राप्त करनेके लिये किन उपायोंका प्रयोग आवश्यक है? कबीर-साहबका कहना है कि वह वस्तु एक रहस्यमय 'कुल' है, जिसका शाश्वत होनेके कारण आजतक मरना वा जीनातक कभी नहीं हुआ, जो अग्नि-पवनादि पञ्च तत्त्वोंके 'मेला' वा चपल बुद्धिके 'खेला'से भी परे रहा करता है, जो सब किसीके लिये अन्तिम लक्ष्य है और जिसे हमारा सतगुरु 'आपा' अथवा 'ब्रह्म' कहकर निर्दिष्ट किया करता है। इसकी प्राप्तिके लिये की जानेवाली साधनाको, इसी कारण, 'आत्म-साधन' वा 'ब्रह्मविचार' भी कहते हैं। वही अगोचर वस्तु बहुधा 'रामनाम'से भी अभिहित होती है, जिस कारण उक्त क्रियाका एक अन्य नाम 'रामनामसिधि जोग' भी है। उसकी पूरी प्यास मिटानेके लिये ओस चाटनेसे काम नहीं चलता, समुद्रमें डुबकी लगानी पड़ती है। उसे हम भौतिक पञ्चतत्त्वोंसे सम्बन्ध-विच्छेद करनेपर ही प्राप्त कर सकते हैं—अर्थात् जब पृथ्वीका गुण पानीमें चला जाता है, पानी तेजमें मिल जाता है, तेज पवनसे मिलता है और पवन शब्दके साथ लीन होकर शून्यमें प्रवेश कर जाता है। उस समय सारी वस्तुएँ, एक ही स्वर्णके बने किन्तु तापे जानेपर पुनः गलकर एक हो जानेवाले भिन्न-भिन्न प्रकारके गहनोंकी भाँति, एकरूप हो जाती हैं। भावका अनुभव पूर्ण हो जानेपर भी कुछ ऐसी ही स्थिति होती है।

कबीर साहबने उक्त भावनामक वस्तुको 'षट्चक्रकी कनक-कोठड़ी' में निहित बतलाया है और कहा है कि इसे पानेके लिये उसमें पड़े तालेको 'जुगति'की कुंजीसे क्रमशः खोलना चाहिये। उलटे पवनद्वारा षट्चक्रवेधन होनेपर, 'ससहर' व 'सूर' अथवा इड़ा और पिङ्गलानामक दो प्रसिद्ध नाड़ियोंकी पहुँचके भी दूर हमें अपने मेरुदण्डका वह सिरा मिलता है, जहाँ मनके 'सुन्नि'में प्रवेश कर स्थिर होते ही, बिना किसी पुष्पके अस्तित्वके भी, सारा आकाश पुष्पित हो उठता है और 'परमजोति'के प्रकाशमें अनन्त तारों और बिजलीकी चमकका-सा अनुभव होने लगता है। तभी हमें 'अनहद'का शब्द भी सुन पड़ता है और 'सतगुरु'की कृपा-द्वारा, इस प्रकार 'सम्पुट'के खुल जाते ही, 'सुरति' सुखमें समा जाती है तथा 'आपा' आपमें लीन हो जाता है। इसी क्रियाको 'हद'को छोड़कर 'बेहद'में जाना, 'घट'में ही 'औघट'का प्राप्त करना वा 'सुन्नि' में अपना स्नान करना भी उन्होंने बतलाया है। वे कहते हैं कि उस समय हमारा मन 'उन्मन' अथवा उपर्युक्त निर्मल मनसे लग जाता है और दोनों, नमक और पानीकी भाँति घुल-मिलकर, एक हो जाते हैं। जिस प्रकार पानीसे बर्फ बना करती है और बर्फसे फिर पानीमें परिवर्तित होते ही ज्यों-की-त्यों रह जाती है, उसी प्रकार ये दोनों भी उस अवस्थाको प्राप्त हो जाते

हैं; जो स्वयं अनुभवीके भी वर्णनके बाहरकी बात है। अतएव 'गगनमण्डल'में विलीन होकर वह बहुत कुछ सोच-विचार करनेपर भी केवल इतना ही निश्चय कर पाता है कि वास्तवमें मैंने कुछ भी नहीं किया, कहीं गया वा कहीं-से आया भी नहीं, सदा जहाँ-का-तहाँ अपनी जगहपर ही बना हुआ हूँ। भावका इस प्रकार अनुभव करानेवाली 'जुगति' ही भावभगतिकी भी युक्ति है।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त प्रकाशको ही कबीर साहबने 'अनन्त' वा 'पारब्रह्म'का तेज कहा है और उसे, असंख्य सूर्योंके समान प्रखर बतलाते हुए भी, स्निग्ध चन्द्रिकाकी भाँति शीतल भी माना है। उस निराकार दृश्यका वर्णन क्या किया जाय, उसे देखते ही बनता है; वह कहनेकी वस्तु नहीं। वहाँ पहुँचनेपर साधकको किसी प्रकारकी चिन्ता क्या, कल्पनातक नहीं सताती और उसका मन एक प्रकारसे 'बिन मन-सा'वा अमनस्क हो जाता है। पूरेका परिचय हो जानेसे 'दृष्टि' ही पूरी हो जाती है। 'आतम-राम' 'प्रेमभगति'के 'हिंडोलने' पर निरन्तर झूलता है और 'अमृतरस'का पान करता हुआ शाश्वत आनन्दका अनुभव भी करने लगता है। इस 'करणी' द्वारा कर्मका नाश होकर पाप एवं पुण्य-इन दोनोंका भ्रम भी नष्ट हो जाता है। ममता और अभिमान 'ब्रह्माग्नि'में जलकर भस्म हो जाते हैं, मोहका ताप लुप्त हो जाता है और वासना घुलकर अङ्कुर-बीजके साथ नितान्त निर्मूल हो जाती है। अब हमारा मन भीतर-ही-भीतर 'मान जाता' है। 'घटकी जोति'से ही सारा जगत् प्रकाशमय दीखता है और हम, गुफामें बैठकर भी, सब कुछ देखने-सुनने लगते हैं। हृदयमें, उस समय, एक अनुपम शान्ति आ विराजती है; मनका भ्रम मनसे ही दूर हो जाता है और 'सहजरूप हरि' की लीला प्रत्यक्ष हो जाती है। अब किसी प्रकारके 'मैं, तैं' वा 'तैं, मैं'का चिह्नतक नहीं रहता और सब कहीं आप-ही-आपका अनुभव होने लगता है। यही अवस्था 'अखण्डित राम'के 'आतमलीन' हो जाने-की है, जिसे कबीरसाहबने दूसरे शब्दोंमें 'सहजसमाधि'का भी नाम दिया है।

भावभगतिकी साधना उक्त प्रकारकी अवस्थाका आत्मसाधनद्वारा अनुभव करनेपर ही आरम्भ होती है; अतएव उसके वर्णनके सम्बन्धमें नवधा भक्तिके भिन्न-भिन्न साधारण प्रकारोंका, एक प्रकारसे, प्रसङ्ग ही नहीं आता। इसमें 'श्रवण'की यह विशेषता है कि 'सबद' सुनते ही जी 'निकलने'-सा लगता है और सारी 'देह' भूल जाती है; 'कीर्तन'में ज्यों-ज्यों 'हरिगुण'के 'सँभालने'की चेष्टा की जाती है, त्यों-त्यों 'तीर'-सा लगता है; 'स्मरण' एवं 'वन्दन' में क्रमशः—

'मेरा मन सुमिरै रामकू, मेरा मन रामहिं आहि।'

तथा—

'अब मन रामहिं ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि।'

—की दशाका अनुभव होता है; 'पादसेवन'में 'चर कँवल मन माँनियाँ'की स्थिति ऐसी हो जाती है कि हम सुख एवं दुःख दोनोंको बिल्कुल भूल जाते हैं और वैसी 'सेवा' करने लगते हैं, जिसके बिना 'रहा नहीं जाता'। 'अर्चन'में—

'माहैं पाती, माहैं जल, माहैं पूजणहार।'

—होनेसे कुछ अवस्था ही विचित्र-सी रहती है; अतएव 'साच सीलका चौका' देकर हमें आरतीके समय अपने प्राणोंको ही 'तेजपुञ्ज'के निकट 'उतार' देना पड़ता है। 'दास्य'में तो—

'पाछै रामकी जेवड़ी, जित खैंचै तित जाउँ।'

—की अवस्था है ही, अतएव कबीरसाहब कहते हैं कि—

मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाईं, तन मन धन मेरा रामजीके ताईं।
आनि कबीर हाटि उतारा, सोइ गाहक, सोइ बेचनहारा॥

'सख्य'में 'सो दोसत किया अलेख'की स्थिति है, अतएव 'अंक भरे भरि भेंटना' हुआ करता है; और 'आत्मनिवेदन' में तो कहना ही क्या है—भेदके दूर होते ही 'सब दसा' भूल जाती है और ऐसा अनुभव होता है कि—

'पाला गलि पाँणी भया ढुलि मिलिया उस कूलि।'

फिर तो,

हेरत हेरत हे सखी, रह्या कबीर हिराइ।
बूँद समानी समुदमें, सो कत हेरी जाइ॥

—की अनिर्वचनीय समस्या उपस्थित हो आती है और अन्तमें—

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तेरा।
तेरा तुझको सौंपते, क्या लागै मेरा॥

—कहकर ही मौन धारण करना पड़ता है। भावभगतिका उपदेश देते हुए अपनी 'रमैणी'के अन्तमें कबीरसाहब कहते हैं—

भावभगति बिसवास बिन कटै न संसै सूल।
कहै कबीर हरिभगति बिन मुकति नहीं रे मूल॥

प्रेमकी अनोखी छवि

स्याम तोरी मुरली नेकु बजाऊँ ।

जोइ जोइ तान भरो मुरलीमें सोइ सोइ गाइ सुनाऊँ ।

हमरी बिंदिया तुमही लगावौ मैं सिर मुकुट धराऊँ ॥

हमरे भूषन तुम सब पहिरौ मैं तुम्हरे सब पाऊँ ।

तुम्हरे सिर माखनकी मटुकी मैं मिलि ग्वाल लुटाऊँ ॥

तुम दधि बेंचन जाहु बृंदावन मैं मग रोकन आऊँ ।

सूरस्याम तुम बनो राधिका मैं नँदलाल कहाऊँ ॥

—सूरदासजी

श्रीदादूदयालके मतानुसार साधन

(लेखक—पु० श्रीहरिनारायणजी, बी० ए०, 'विद्याभूषण')

राजपूतानेके प्रसिद्ध सिद्ध महात्माओंमें श्रीदादूदयालजी बहुत ही महिमान्वित और सम्मान्य संत हो गये हैं। १४वीं, १५वीं और १६वीं शताब्दी तथा पीछेतक भारतवर्षमें, उस धर्मघातक विपरीत मुसलमानी राज्यमें—गोरखनाथ, कबीर, रामानन्द, नामदेव, रैदास, नानक, गोविन्दसिंह, मीराबाई, पीपा, धना, रामचरण, श्यामचरण, हरदास, जगजीवन, पलटूदास, दरियासाहिब इत्यादि अनेकों महान् आत्माएँ अवतीर्ण हुईं और धर्मकी रक्षा तथा प्रजाजनोंमें सत्यका प्रचार करके उन्होंने धर्म और देशको बचाया।

दादूदयालका जन्म संवत् १६०१ में अहमदाबादमें नागर ब्राह्मणके घर होना दादूपन्थी मानते हैं। बचपनमें ही भगवान्‌ने इनको कृपा करके दिव्यज्ञान प्रदान किया था। कुछ वर्षों बाद ये साँभर आये। वहाँ आठ-दस वर्ष रहकर ज्ञानप्रचार करते हुए आँबेर आये। यहींसे अकबर बादशाहसे फतहपुर सीकरी जाकर मिले! आँबेर दस-बारह वर्ष रहकर अन्य स्थानोंमें पर्यटन और ज्ञान-भक्तिका प्रचार करते रहे। अन्तमें १६५९ में नरायणे (जयपुरसे अनुमान १६ कोस) खंगारोत कछवाहा-शासकोंके स्थानमें आ विराजे। और यहीं इनके शरीरका अवसान हुआ। इनके दो पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। बड़े—गरीबदासजी, जो बड़े ही महात्मा और गान्धर्वविद्यामें अत्यन्त निपुण थे, और जहाँगीर बादशाहने भी जिनके गानके चमत्कारको देखा था, उत्तराधिकारी हुए। यही स्थान दादूपंथका प्रधान पीठस्थान माना जाता है। प्रतिवर्ष फाल्गुनमें मेला-उत्सव होता है। यहाँ मन्दिर और बहुत-से स्थानादि बने हुए हैं। इसी प्रकार साँभर, आँबेर, पंजाब, मारवाड़ आदिमें अनेकों स्थान और शिष्यों तथा थाभा-यतियोंके स्थान भी बने हुए हैं। राजपूताना, पंजाब, गुजरात आदिमें दादूदयालका प्रभाव और इस पन्थका प्रचार अधिक रहा है। वैसे तो थोड़े-बहुत दादूपन्थी हर जगह मिलते हैं।

दादूजीके १५२ शिष्य हुए। उनके अंदरसे १०० तो तप और त्याग धारण कर विचर गये, उनके पीछे कोई शिष्यतक नहीं रहा। परन्तु ५२ शिष्य बड़े सिद्ध और ज्ञानी थे। वे बहुत-से स्थान और शिष्य छोड़ गये। इनमें आधेसे भी अधिक अति विख्यात हुए हैं। गरीबदास, रज्जबदास, बड़े सुन्दरदास, माधोदास, टीलादास, बनवारीदास, जगन्नाथ-दास, बखना, गोपालदास, जनगोपाल, दयालदास, मङ्गसी-दास, तेजानन्द, मोहनदास, चतरदास, प्रागदास, सुन्दरदास, छोटा, बूसर, साधूराम, चतुर्भुजदास, नरायणदास, चरणदास, जग्गा, जयमल चौहाण, जयमल कछवाहा, मनमालीदास, मोहन दफतरी, चतुरदास, संतदास, मोहनदास मेवाड़ा, नागर निज़ाम, जगजीवण इत्यादि बहुत नामी हुए हैं। अनेकोंने अपने गुरु दादूदयालके मतानुसार वाणियाँ भी रची हैं। उनमेंसे बहुत-सी मिलती भी हैं। रज्जब, सुन्दर, जग-जीवण, गरीबदास, जनगोपाल, प्रागदास, जगन्नाथ, बखना इत्यादिकी रचनाएँ सुन्दर और सारभरी हैं।

दादूदयालकी वाणीके दो विभाग हैं। एक साखी जिसमें दोहा, सोरठा वा कहीं-कहीं चौपाई या और कोई छोटा छन्द है। दूसरा पद या भजन, जो कई रागोंमें हैं। सारी वाणी लगभग सात हजार अनुष्टुप्छन्दके बतायी जाती है। साखियाँ सैंतीस अङ्गोंमें ढाई हजारके ऊपर हैं, और पद २७ रागोंमें ४ सौसे कुछ अधिक हैं। इस वाणीमें ज्ञान, भक्ति और वैराग्यमें ब्रह्मज्ञानका सार-रसामृत भरा हुआ है। वाणी कोमल, मधुर, सरल सुन्दर भाषामें है, जिसके पढ़नेसे निरञ्जन निराकारका उच्च ज्ञान और ध्यान सहज ही प्राप्त होता है। कहा है—

(१) 'दादूदयाल दिनकर दुती (जिन) बिमल बृष्टि बाणी करी॥'

ग्यान, भक्ति, बैराग्य भाग बहुभेद बतायो।
कोटि ग्रंथको मंथ पंथ संक्षेप लखायो॥
बिशुद्ध बुद्धि अबिरुद्ध सुद्धि सर्बज्ञ उजागर।
परमानंद प्रकास नाम निगरंद महाधर॥
बरण बूंद साखी सखिन, पद सलिता सागर हरी।
दादूदयाल दिनकर दुती, बिमल बृष्टि बाणी करी॥ १॥

(२) 'भक्ति पुहुप, बैराग्य फल ब्रह्म बीज जगँनाथ मँणि॥'

(३) या बाणी सुनि ग्यान है, याही तैं बैराग।
या सुनि भजन भगती बढ़ै, या सुनि माया त्याग॥ १५॥
या बाणी पढ़ि प्रेम है, या पढ़ि प्रीति अपार।
या पढ़ि निश्चय नाम की, या पढ़ि प्राण अधार॥ १६॥
या बाणी कूँ खोजताँ, क्षमा, सील, संतोष।
याहि बिचारत बुद्धि है, या धारत जिव मोष॥ १७॥

आदि निरंजन, अंत निरंजन, मध्य निरंजन, आदू ।
कहि 'जगजीवन' अलख निरंजन, तहाँ बसै गुर दादू ॥ १८ ॥
अबिचल मंत्र जपै निसबासर, अबिचल आरति गावै ।
अबिचल इष्ट रहै सिर ऊपरि, अबिचल ही पद पावै ॥ १९ ॥

(४) पार उतारणहारजी, गुरु दादू आया ।
जीवन के उद्धार कूँ, हरि आप पठाया ॥ २ ॥
राम नाम उपदेश दे, भ्रम दूर उठाया ।
ग्यान भक्ति बैराग हू, यह तीन दृढाया ॥ ३ ॥
बिमुख जीव सनमुख किये, हरिपंथ चलाया ।
झूँठ क्रिया सब छाँडि कै, प्रभु सत्य बताया ॥ ४ ॥
... ...

दयावंत दुख मेटना, सुखदायक माया ।
सीलवंत साचे मते, संतोष गहाया ॥ ८ ॥
.....

अति गंभीर समुद्र ज्यों, तरुबर ज्यों छाया ।
बानी बरसै मेघ ज्यौं, आनंद बढ़ाया ॥ १० ॥
.....

पवन जिसा सब सारखा, को रंक न राया ।
ब्योम जिसा हिरदै बड़ा, कहुँ पार न पाया ॥ १६ ॥
टेक जिसी प्रहलाद है, ध्रुव ज्यों मन लाया ।
ग्यान गह्यौ सुखदेव ज्यौं, परब्रह्म दिखाया ॥ १७ ॥
जोग जुगति गोरख ज्यौं, धंधा सुरझाया ।
हद छाँडि बेहद मैं, अनहद बजाया ॥ १८ ॥
जैसा नाम कबीरजो, यों साधु कहाया ।
आदि अंत लौं आइ कै, रमि राम समाया ॥ १९ ॥
.....

नमस्कार गुरुदेव कूँ, जिन बंदि छुड़ाया ।
दादू दीनदयाल का सुंदर जस गाया ॥ २१ ॥

(५) पंच सहस्र आ रसाल बाणी, अगम अनुभव संचही ।
भक्ति, ग्यान, बैराग्य पूरण, श्री नमामि दादूदयालु ही ॥ १ ॥

(६) यों जीवनमुक्ति ऐसी दशा, ग्यान भक्ति बैराग बल ।
कहै बालकराम अंमृत बचन, सुख मुख श्रीभागेत फल ॥ १ ॥

उपर्युक्त कथन और अवतरणोंसे दादूजीके मत, साधन और सिद्धान्तोंका कुछ दिग्दर्शन होता है । उनकी वाणी (साखी और पद) में ज्ञान, भक्ति और वैराग्यका प्रतिपादन हुआ है । इन तीनों आध्यात्मिक प्रकरणों या विषयोंसे उनका वचनामृत ओतप्रोत है । वेदान्तके सिद्धान्तोंसे उनके उपदेश बहुत अनुकूल मिलते-जुलते हैं, परन्तु उनके उस वेदान्तमें भक्ति भरी हुई है; वह शुष्क नहीं है, 'सूखी शिला' नहीं है । उसके ज्ञानसे वैराग्य उत्पन्न होता है—और वैराग्य-त्याग ही परमात्माकी प्राप्तिका प्रधान साधन है । इस प्रकार दादूजीका उपदेश बहुत आनन्दकारी और आत्मामें दिव्य प्रकाशको शीघ्र देनेवाला है । दादूदयालजीकी वाणी आदिसे अन्ततक ज्ञानभरे उपदेशों और उनके सच्चे और सारभरे अनुभवोंसे परिपूर्ण है । विशेषता यह है कि साधारण लोकभाषामें गम्भीर अध्यात्म-ज्ञानको ऐसा दरसाया है कि ज्ञानका प्यासा पुरुष उसको सहज ही समझकर तृप्त हो जाता है, और उसके चित्तकी वृत्ति संसारके विषयादिसे उपरत होकर ऊपरकी ओर पहुँचने लगती है । वाणीके श्रवण और पठनसे हृदयमें ऐसे मधुर रसका सञ्चार होने लग जाता है कि मानो स्वर्गमें प्राप्य अमृतकी धारा ही बहने लग गयी हो । उस वचनामृतका ऐसा ऊँचा और सुन्दर प्रभाव पड़ जाता है कि प्रेमानन्दसे पढ़ने या सुननेवाले जिज्ञासुको ब्रह्मानन्द और तत्त्वज्ञानका आस्वादन और रसाभास होने लग जाता है । यह अनुभव सच्चे महात्माओंके वचन, उपदेश, सत्सङ्ग और सेवासे होता ही है । भगवान्‌की कृपासे, प्रारब्ध अच्छा हो तो, उसकी भक्ति और ज्ञान ऐसी वाणीसे मिल जाते हैं । दादू-दयालकी वाणी ऐसी ही तत्काल चमत्कार दिखानेवाली है ।

दादूदयालके सिद्धान्त और उपदेश उनके अनुभव-सिद्ध साधनोंके सार और फल हैं । वे जो कुछ विचारते थे, जो कुछ करते थे, या कहते थे, सब उनके मन, वचन और कर्मका साधन ही था । अतः उनके साधनोंको उनके सिद्धान्तों या उपदेशोंसे पृथक् समझना या बतलाना एक निराला-सा काम उठाना है । इसलिये हम साधन और सिद्धान्तको एकरूप ही समझेंगे । तथा प्रसङ्गवश उनके मत या मतानुयायी साधुओंकी कोई-कोई बात भी कह देंगे ।

(१) दादूजीका मत अद्वैत ब्रह्मज्ञान है, परन्तु उसके साथ प्रेम और भक्ति (या इश्क-मुहब्बत) तथा पराभक्ति जुड़ी हुई है । वे निराकार, निरञ्जन, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ चेतन ब्रह्मको ही मानते थे । और उसीका ध्यान, स्मरण और चिन्तन हृदयमें, अपने आत्मामें ही करते थे । साकार-उपासना उनका ध्येय नहीं । भगवान्‌का नामोच्चारण, जप और रटन, भक्ति और ध्यान ज्ञानपूर्वक

करना उनका मुख्य और प्रथम साधन था। 'राम' नामसे उसी ब्रह्मका नाम अभिप्रेत है। नामका माहात्म्य और साधन अन्य साधनोंसे ऊपर और सिद्धिदाता माना गया है। कहा है—

दादू अविचलमंत्र, अमरमंत्र, अखैमंत्र, अभैमंत्र, राममंत्र निजसार।
सजीवनमंत्र, सबीरजमंत्र, सुंदरमंत्र, सिरोमणिमंत्र, निर्मलमंत्र निराकार॥
अलखमंत्र, अकलमंत्र, अगाधमंत्र, अपारमंत्र, अनंतमंत्ररामा।
नूरमंत्र, तेजमंत्र, जोतिमंत्र, प्रकासमंत्र, परममंत्र पाया, उपदेस दया
(दादू गुर राया)॥
(साखी १५५। गुरुदेवकौ अंग)

इस ज्ञानमय भक्तिमय ज्ञान, पराभक्ति, विहित पूजा, अध्यात्मतत्त्वमय जप और ज्ञान-ध्यानका आस्वादन और अनुभव गुरुकृपासे उन्हीं ज्ञानके प्यासों—सच्चे जिज्ञासुओंको हो सकता है जिनके हृदयोंमें वैसी लगन भगवान्‌ने दी है, जिनके पूर्वजन्मके अर्जित सत्संस्कार इस जीवनमें प्रारब्ध-रूपसे प्रकट होकर फल देते हैं। अब यहाँ हम दादूदयालके साधन, उपासन, सदुपदेश आदिका कुछ दिग्दर्शन करा देते हैं।

(१) दादूदयालका परमसाधन निराकार निरञ्जन परमात्मा परमपुरुष अलख, अभेव, निर्मल, अगोचर ब्रह्म है। परन्तु यह साधन भक्ति और प्रेमके सहित है। यथा—

(क) निर्मलतत, निर्मलतत, निर्मलतत ऐसा।
निर्गुण निज निधि निरंजन जैसा है तैसा॥ टेक॥
उतपति आकार नाँहीं, जीव नाँहीं काया।
काल नाँहीं, कर्म नाँहीं, रहिता रामराया॥ १॥
सीत नाँहीं, घाम नाँहीं, धूप नाँहीं छाया।
बाव नाँहीं, बरण नाँहीं, मोह नाँहीं माया॥ २॥
धरणी-आकास अगम, चंद सूर नाँहीं।
रजनी निसि दिवस नाँहीं, पवनौं नहिं जाहीं॥ ३॥
कृत्तिम घट कला नाँहीं, सकल रहित सोई।
दादू निज अगम निगम, दूजा नहिं कोई॥ ४॥
(पद ९५—राग मालीगौड़)

(ख) सब देखणहारा जगतका, अंतरि पूरे साखि।
दादू सावति सो सही, दूजा और न राखि॥
(अंग ३५। २)

(ग) 'दादू भगति निरंजन रामकी, अविचल अविनासी।
सदा सजीवनि आतमा, सहजै परकासी॥'
(२८। १३ तथा अंग ४। २४४)

(घ) 'दादू जैसा निर्गुण राम है, तैसी भगति निरंजन जाँणि।'
(अंग ४। २४७)

(ङ) 'दादू जैसा राम अपार है, तैसी भगति अगाध।'
(अंग ४। २४५)

'साँई सरीखा सुमरण कीजे, साँई सरीखा गावै।
साँई सरीखी सेवा कीजे, सब सकेत सुख पावै॥'
(अंग ४। २५१)

(च) 'दादू खोजि तहाँ पिव पाइये, जहँ चंद न ऊगै सूर।
निरंतर निरधार है, तेज रह्या भरपूर॥'
(अंग ४। १९)

'दादू खोजि तहाँ पिव पाइये, तहँ निन जिम्या गुण गाइ।
तहँ आदि पुरष अलेख है, सहजैं रह्या समाइ॥'
(अंग ४। २०)

'दादू खोजि तहाँ पिव पाइये, जहँ अजरा अमर उमंग।
जरा मरण भौ भाजसी, राखै अपणै संग॥'
(अंग ४। २१)

(२) परमात्मा किसी स्थानविशेष वा आकार-विशेषमें नहीं है, वह तो सर्वव्यापक है तथा हृदय—अन्तरात्मामें—घटहीमें विराजता है। यथा—

(क) 'पूरा देखौं पीवकौं बाहर भीतरि सोई'।
(अंग ४। ७५)

'हूँ तो देखौं पीवकौं, सबमैं रह्या समाइ'।
(अंग ४। ७६।)

दादू देखौं पीवकौं, दूसर देखौं नाहिं।
सबै दिसा गै साधि करि, पाया घटही माँहिं'॥
(अंग ४। ७४)

(ख) दादू काया अंतरि पाइया, निरंतर निरधार।
सहजैं आप लखाइया, ऐसा समरथ सार॥
(अंग ४। ११)

दादू काया अंतरि पाइया, त्रिकुटी कंवर तीर।
सहजैं आप लखाइया, व्याप्या सकल सरीर॥
(अंग ४। १०)

दादू काया अंतरि पाइया, अनहद बैन बजाइ।
सहजैं आप लखाइया, सून्य मँडलमें जाइ॥
(अंग ४। १२)

दादू काया अंतरि पाइया, सब देवनका देव।
सहजैं आप लखाइया, ऐसा अलख अभेव॥
(अंग ४। १३)

(ग) 'चिंतामणि चितमें मित्या' (अङ्ग ४ । २६)
'तहँ अंतरजामी आप।' (अंग ४ । २८)

(घ) दादू मुझही माँहे मैं बसूँ, मैं मेरा घर-बार।
मुझही माँहे मैं रहूँ, आप कहै करतार॥
(अंग ४ । २१०)

(ङ) सेवा अंदरकी—

'उर अंतरि करि सेव'। (अंग ४ । २५५)
दादू भीतरि पैसि करि, घटके जड़े कपाट।
साँईकी सेवा करै, दादू अविगति घाट॥
(अंग ४ । २५६)
पूजणहार पासि है, देही माँहे देव॥ (अंग ४।२५८)
दादू रमिता रामसौं, खेलै अंतरि माँहिं।
उलट समाना आपमैं, सो सुख कतहूँ नाहिं॥
(अंग ४ । २५९)
आतम माँहे राम है, पूजा ताकी होइ। (अंग ४ । २६२)

इस अंतरके भावकी पूजाकी सौंज-सामग्री इत्यादि—

'सत्य राम; आत्मा वैदुर्गो, सुबुद्धि भूमि, सन्तोष स्थान, मूलमन्त्र, मन माला, गुरु तिलक, सत्य संजम, शील शुच्या, ध्यान धोवती, काया कलस, प्रेमजल, मनसा मन्दिर, निरञ्जन देव, आत्मा पाती, पुहुप प्रीति, चेतना चन्दन, नवधा नांव, भाव पूजा, मति पात्र, सहज समर्पण, शब्द घण्टा, आनन्द आरती, दया प्रसाद, तीर्थ सतसङ्ग, दान उपदेश, व्रत सुमिरण, अजपा जाप, अनभै आचार, फल दरसन,'''''अंतरिगति पूजा सति सौंज दादू वर्तते॥'
(अंग ४ । २६८)

भगति भगति सब कोइ कहै, भगति न जाणै कोइ।
दादू भगति भगवंतकी, देह निरंतर होइ॥
(अंग ४ । २८०)

(३) रामनाम-स्मरण—भक्तिभाव सच्चे हृदयसे लौ लगाकर करना, यह दादूदयालका परम ज्ञान-साधन था। और ज्ञान, भक्ति, वैराग्य—ये तीनों पराभक्तिमय ज्ञानसे पूर्ण विरक्तताके साथ उनके साधनके प्रधान लक्ष्य रहे और ये ही उनकी महान् वाणी (ग्रन्थ) में वर्णित और प्रतिपादित हैं। दादूदयालके वचनामृतमें नामके सम्बन्धमें बहुत ही महत्त्वकी बात आयी है, जिनको जिज्ञासु पाठक पढ़-सुनकर विचार सकते हैं। यथा—

एकै अक्षर पीवका, सोई सत करि जाँणि।
रामनाम सतगुर कह्या, दादू सो परवाँणि॥
(अंग २ । २)
दादू नींका नाँव है, हरि हिरदै न बिसारि।
मूरति मन माँहे बसै, साँसै सास सँभारि॥
(अंग २ । ५)
साँसै सास सँभालताँ, इक दिन मिलिहै आइ।
सुमिरण पैंडा सहजका सतगुर दिया बताइ॥
(अंग २ । ६)
और आरँभ सब छाड़ि दे, रामनाम ल्यो लाई।
(अंग २ । ८)
एक महूरत मन रहै, नाँव निरंजन पास।
दादू तबही देखताँ सकल करमका नास॥
(अंग २ । १२)
एक रामके नाँव बिन जिवकी जलनि न जाइ।
दादू केते पचि मुए, करि करि बहुत उपाइ॥
(अंग २ । १५)
दादू सिरजनहारके केते नाँव अनंत।
चिति आवै सो लीजिए, यौं साधू सुमिरैं संत॥
(अंग २ । २३)
(दादू) निमष न न्यारा कीजिये, अंतर थै उरि नाम।
कोटि पतित पावन भये केवल कहताँ राम॥
(अंग २ । २६)
दादू दुखिया तब लगै, जब लग नाँव न लेहि।
तब ही पावन परम सुख, मेरा जीवन येहि॥
(अंग २ । ३२)
(दादू) निसदिन सदा सरीर मैं, हरि चिंतन दिन जाइ।
प्रेम मगन लैलीन मन, अंतरगति ल्यौ लाइ॥
(अंग २ । ४१)
(दादू) राम कहे सब रहति है, जीव ब्रह्म कीकार।
राम कहे बिन जात है, रे मन हो हुसियार॥ (,, ५०)
दादू सब जग बिष भरया, निर्बिष बिरला कोइ।
सोई निर्बिष होइगा, जाके नाँव निरंजन होइ॥ (,, ९३)
ब्रह्म भगति जब ऊपजै, तब माया भगति बिलाइ।
दादू निर्मल मल गया, ज्यूँ रबि तिमिर नसाइ॥ (,, ९५)
नाँव सपीड़ा लीजिये, प्रेम भगति गुण गाइ।
दादू सुमिरण प्रीति सौं, हेत सहित ल्यौ लाइ॥ (,, ७३)

और नाम-स्मरणकी महिमा यहाँतक है कि अष्टसिद्धि, नवनिधि आदि हाज़िर खड़ी रहें, और सकल पदार्थ हस्तगत हो जायँ। यथा—

हिरदै राम रहै जा जनके, ताकौं ऊणा कौण कहै।
अठसिधि नौनिधि ताकै आगै, सनमुख सदा रहै॥
(अंग २। १०५)

संगहि लागा सब फिरै राम नाम के साथ।
चिंतामणि हिरदै बसै, तौ सकल पदारथ साथ॥ (,, १०८)

यह दादूदयालके साधनका संक्षेपमें वर्णन हुआ। इसीको अन्य साधनोंका आदिम आधार समझना चाहिये। संयम, योगसाधन, तितिक्षा, सन्तोष, दयाधर्म आदिके दयालजी मूर्तिमान् अवतार ही रहे हैं। तभी तो वे 'दयाल' कहलाये। साधनोंमें बहुत करारे साधक थे। साँभरमें वे सरके अंदरकी छत्रीमें जाकर तप किया करते थे। और सर भरा होता तब, अपनी योगशक्तिकी खेचरीमुद्रासे सरके जलके ऊपर होकर वैसे ही जाया करते जैसे पृथ्वीपर चलते थे। ऐसे चमत्कारोंने ही उनकी विभूतिका वहाँ अधिक प्रकाश किया, यद्यपि ये चमत्कार आवश्यकताके समय स्वयं ही हो जाया करते थे। साँभरके क़ाज़ीकी कथा प्रसिद्ध ही है। अनेक दीनों, गरीबों और बीमारोंको सहायता देना तो उनका विशेष कर्तव्य था ही।

परन्तु परमसाधन दादूजीका स्थूलशरीरकी स्थूल जिह्वासे वा हाथमें भाला लेकर करने तथा मन, बुद्धि और कहीं लगी रखनेका नहीं है; यह साधन वृत्तियोंको अन्तर्मुखी करके चर्मदृष्टिसे ऊँचे उठकर आत्मदृष्टिके साथ करना होता है। आत्मदृष्टिका साधन परिपक्व हो जानेपर, गुरुकी कृपासे, और अपने तपोबल और प्रारब्धके सत्फलोंसे, ब्रह्मदृष्टि होने लगती है। वह अवस्था ब्राह्मीभूत अवस्था है, तब जीव-ब्रह्म एक हो जाते हैं। इसीको अपरोक्षानुभूति कहते हैं। दादूजीने बताया है कि—

चर्मदृष्टि देखै बहुत, आतमदृष्टी एक।
ब्रह्मदृष्टि परचै भया, तब दादू बैठा देख॥
(अंग ४। १५७)

और वस्तुतः साधनके प्रभावसे यही नेत्र अंदर देखनेके अभ्यासमें रत हो जाते हैं, तब शनैः-शनैः ज्ञानप्रकाशसे आत्मदर्शन होकर ब्रह्ममें लीनताकी अवस्था मिल जाती है। यही इस मनुष्यजन्मका परमफल और सौभाग्य है। कहा है—

येई नैनाँ देहके, येई आतम होइ।
येई नैनाँ ब्रह्मके, दादू परटै दोइ॥
(अंग ४। १५८)

पर आतम सौं आतमा, ज्यौं पाणी मैं लूँण।
दादू तन मन एकरस, तब दूजा कहिये कूँण॥
(अंग ४। १६६)

फिर कहते हैं और अपने साधनका अनुभव बताते हैं—

अंतरिगति हरि हरि करै, तब मुखकी हाजति नाहि।
सहजैं धुनि लागी रहै, दादू मनही माँहि॥
(अंग ४। १७१)

(दादू) सबद अनाहद हम सुन्याँ, नखसिख सकल सरीर।
सब घट हरि हरि होत है, सहजैं ही मन थीर॥
(अंग ४। १७४)

फिर क्या हो जाता है, सो बताते हैं—

(दादू) सेवग सौंईका भया, तब सेवग का सब कोइ।
सेवग सौंईं कौं मिल्या, तब सौंईं सरीखा होइ॥
(अंग ४। १८५)

जहाँ राम तहाँ मन गया, मन तहाँ नैनाँ जाइ।
जहाँ नैनाँ तहाँ आतमा, दादू सहजि समाइ॥
(अंग ४। २०३)

परचै पीवै रामरस, सो अबिनासी अंग।
काल मीच लागै नहीं, दादू साँईं संग॥
(अंग ४। ३४३)

परचै पीवै रामरस, जुगि जुगि अस्थिर होइ।
दादू अबिचल आतमा, काल न लागै कोइ॥
(अंग ४। ३४२)

दादू सुख मेरे साँइयाँ, मंगल अति आनंद।
दादू सज्जन सब मिले, जब मेटे परमानंद॥
(अंग ८। १९)

परन्तु यह ब्रह्मप्राप्ति, यह परमात्मदर्शन, यह परमगति कब प्राप्त हो सकती है, जब यह जीवधारी अपने आपेको मारे, स्वार्थ और विषयलोलुपताका त्याग करे, एक परमात्म-साधनहीमें लवलीन रहे; अन्यथा इसकी प्राप्ति कठिन ही नहीं, असम्भव ही है। कहा है—

(दादू) तन मनके गुण छाँडि सब, जब होहि निनारा।
तब अपने नैनहुँ देखिये परगट पिव प्यारा॥
(अंग ९। ११)

(दादू) जे साहिब कौं भावै नहीं, सो जीव न कीजे रे।
परिहरि विषै विकार सब, अमृत रस पीजे रे॥
(अंग ९। ४)

लाँडै सुरति सरीर कौं, तेजपुंज मैं जाइ।
दादू ऐसैं मिलि रहै, ज्यों जल जलहि समाइ॥
(अंग ७। ३५)

पद २०६। (पृ० ४४५) राग रामकली।

निकट निरंजन देखिहौं, छिन दूर न जाई।
बाहरि भीतरि एकसा, सब रह्या समाई॥ टेक॥
सतगुरु भेद लखाइया, तब पूरा पाया।
नैनन ही निरखूँ सदा, घरि सहजैं आया॥ १॥
पूंर सी परचा भया, पूरी मति जागी।
जीव जाँनि जीवनि मिल्या, ऐसैं बड़भागी॥ २॥
रांम रांम मैं रमि रह्या, सो जीवनि मेरा।
जीव पीव न्यारा नहीं, सब संग बसेरा॥ ३॥
सुंदर सा सहजैं रहै, घटि अंतरजामी।
दादू साईं देखिहौं, सारौं संमि स्वामी॥ ४॥

देखिये कैसा अनुभववर्णन है। यह दादूजीके सच्चे साधनका प्रकाश है। वे जैसा देखते थे, जैसा पाते थे, जैसा जान लेते थे, वैसा ही अपने निज ज्ञान और अनुभवसे कहते थे। वे महात्मा तत्त्वानुसन्धान, अन्तर्ध्यान, आत्मदर्शनसे ही कथन करते थे। पुस्तकोंके अवलोकनसे, अवतरण या प्रमाण छाँटकर या लेकर नहीं कहते थे। शास्त्रश्रवण वे अवश्य करते थे, शास्त्र वे जानते थे, परन्तु उनके या अपने आत्मसाधनका सच्चा पालन। उसमें जैसा भी उनको दिखायी देता था, सिद्ध होता था, जँचता था, वही कहते थे। रहस्यवाद (mysticism), वेदान्तप्रक्रिया, ज्ञान-विज्ञानशैली इत्यादि उनसे कुछ दूर या छिपे नहीं थे। परन्तु उनका वचन स्वात्मारामदर्शनका निदर्शन ही था। उनका साधन बहुत ऊँचा था। वे योगारूढ और ज्ञानगरिष्ठ महात्मा थे। अतः परमात्मज्ञानध्यानके प्रेमी जन उनके वचनामृतको पूर्ण भाव, भक्ति और समादर तथा गहरी दृष्टिसे देखें तो बहुत ही उत्तम सारभरे पदार्थोंकी प्राप्ति हो। उनके प्रधान शिष्य तथा अनेक प्रशिष्यादि जीवन्मुक्त और कृतकृत्य ही हो गये थे।

देखिये कितनी अच्छी और सच्ची बातें अपने साधनके फलस्वरूप इन पदोंमें कही हैं—

पद २५। राग गौड़ी। (पृ० ३६७)

जियरा मेरे सुमिरि सार, काम क्रोध मद तजि विकार॥ टेक॥
तूँ जिनि भूलै मन गँवार, सिर मार न लीजै माँनिहार॥ १॥
सुणि समझायो बार बार, अजहुँ न चेतै हो हुस्यार॥ २॥
करि तैसैं भव तरिये पार, दादू इबर्थ यही विचार॥ ३॥

पद २४। राग गौड़ी। (पृ० ३६६)

कैसे जीविंगे रे, सांई संग न पास।
चंचल मन निहचल नहीं, निसदिन फिरै उदास॥ टेक॥
नेह नहीं रे रांमका, प्रीति नहीं परकास।
साहिबका सुमिरण नहीं, कौन मिलनकी आस॥ १॥
जिस देखे तूँ फूलिया रे, पाँणी पिंड बधाँणा मास।
सो भी जल बलि जावगा, झूँठा सब विलास॥ २॥
तो जीवीजै जीवणाँ, सुमिरै सासौं सास।
दादू परगट पिव मिलै, (ता) अंतरि होइ उजास॥ ३॥

देखिये, साधनके फलका ऐसा निश्चय उन महात्माजीका था कि निरन्तर सच्चे मन और भावनासे परमात्माका हृदयस्थलमें स्मरण करनेसे वे प्रकट होकर प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि अंदर आत्मामें ऐसा ही प्रकाश (उजियाला) होता है, जिसमें वह परमात्मा दिखायी देते हैं। रहस्यवाद, गुह्य अध्यात्मविद्या (mysticism) पर लिखनेवाले हमारे देशके या अन्य देशके विद्वानोंने इस सिद्धान्तका वर्णन यही किया है कि इसका साधक इस मंजिलतक पहुँच जाता है कि वह परमात्माको भक्ति और ज्ञानके साधनसे देखता है और परमात्मा उसे देखता है—'अरस-परस हम दोउ मिलै' इत्यादि। यही महान् ज्ञानकी अवस्था है, और मानी जाती है। सच तो यह है कि प्रभु अपने प्यारे भक्त या साधकपर दया-मया करते हैं तो ऐसा ही फल देकर निहाल कर देते हैं। वह तो 'हाजिराँ हुजूर' 'नाजिराँ भरपूर' है। और 'जीव ब्रह्म द्वै नाहिं' यह प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाता है। यह तो प्रधान और प्रथम साधन-सिद्धान्त हुआ।

(२) दूसरा साधन-सिद्धान्त दादूदयालका यह था कि उस एक निराकार, निरञ्जन परमात्मदेवसे पृथक् और कुछ रूप, आकार, प्रकार या विधि-विधानका ध्यान-ज्ञान-साधन अपेक्षित नहीं। जब उस एकहीको ध्याया, उसीको पाया तो सब कुछ जाना और सब कुछ पा लिया। वृथा इधर-उधर मन डुलाना, विस्तार और आडम्बर करना या उठाना अनावश्यक है। एक अटल सिद्धान्त यह है—

दादू जब लग जीविये, सुमिरण संगति साध॥
दादू साधू राम बिन दूजा सब अपराध।
(अंग १५। १२९)

और दादूजीके स्वमतानुसार (जो कबीरजी, रैदासजी आदि महात्माओंका-सा है) किसी प्रकारका भेदभाव—हिंदू-मुसलमान, राम-रहीम आदिका भेदभाव कुछ भी प्रयोजन नहीं रखता। जब सभी एक परमात्माके सिरजे हुए हैं, परमात्मा एकरस सबमें व्यापक है, परमात्माके निकट सब बराबर हैं, फिर मनुष्य ऊँच-नीच, हलका-भारी, छोटा-बड़ा आदि क्यों विचारे और क्यों देखे या समझे ? केवल भगवान्‌का ज्ञान-ध्यान, गुरु और साधु-संतोंका सत्सङ्ग और राम-नामका तन-मनसे स्मरण करना—बस, यही तत्त्वसार और केवल यही सदा जीवनका कर्तव्य है। और सब बखेड़े, झंझट, बन्धन—यहाँतक कि वे सब अपराध हैं ! कितना ज़बरदस्त, ऊँचा, विलक्षण सिद्धान्त है !

कहा है—

(क) आन तैं चित्त निवारिया रे, मोहि एकै सेती काज रे।
अनत गये दुख ऊपजै, मोहि एकहि सेती राज रे॥
सोई सौं सहजै रमौं रे, और नहीं आन देव रे।
तहाँ मन बिलँबिया, जहाँ अलख अभेव रे॥
(पद ९ । पृ० ३६०)

दादू ताहि न भावै आन, राम बिनाँ सह मृतक समान।
(पद १० । पृ० ३६१)

दादू द्वै पख दूरि करि, निर्पख निर्मल नींव।
आपा मेटै, हरि भजै, ताकी मैं बलि जींव॥
(अंग २६ । ६४)

(ख) अलख देव अंतरि बसै, दूजी जागह जाइ॥
(अंग १३ । १३९)

पूजनहारे पासि है, देही माँहै देव।
दादू ताकौं छाडि करि, बाहरि माँडी सेव॥
(अंग १३ । १४८)

(दादू) निराकार मन सुरतिसौं, प्रेम प्रीति सौं सेव।
जै पूजै आकार कौं, तो साधू परतखि देव॥
(अंग १५ । २)

पद ३११ । राग सोरठा । (पृष्ठ ४९०—स्पष्टसिद्धान्त)—

सोई देव पूजौं, जे टाँची नाँहि घड़िया॥
सरब काल माँही औतरिया॥ टेक॥
... ...
ये पूजा मेरे मन मानैं, जिहिं बिधि होइ सु दादू न जानैं॥ ४॥

पद १९७ । राग रामकली । (पृष्ठ ४४१—स्पष्टसिद्धान्त)—

साँचा राम न जाँणैं रे, सब झूँठ बखाणैं रे॥ टेक॥
झूँठे देवा झूँठी सेवा, झूँठा करै पसारा।
झूँठी पूजा, झूँठी पाती, झूँठा पूजणहारा॥ १॥
झूँठा पाक करै रे प्राँणी, झूँठा भोग लगावै।
झूँठा आटा षटदा देवै, झूँठा थाल बजावै॥ २॥
... ... ॥३॥ और ॥४॥

(ग)—अपना मत पन्थोंके सम्बन्धमें बताते हैं—(स्पष्ट-सिद्धान्तकथन)—

पद १९८ । राग रामकली । (पृष्ठ ४४१)—

मैं पंथी एक अपारका, मन और न भावै।
सोई पंथ पावै पीवका, जाहि आप लखावै॥ टेक॥
को पंथी हिंदू तुरक के, को काहू राता।
को पंथी सोफी सेवड़े, को सिंन्यासी माता॥ १॥
को पंथी जोगी जंगमा, को सकति-पंथ ध्यावै।
को पंथी कमडे कापड़ी, को बहुत मनावै॥ २॥
को पंथी काहू के चलै, मैं और न जानूँ।
दादू जिन जग सिरजिया, ताहीको मानूँ॥ ३॥
दादू हिंदू तुरक का, द्वै पख पंथ निवारि।
संगति साँचे साधकी साँईको सँभारि॥
(अंग १६ । ५१)

(दादू) हिंदू लागे देहुरे, मुसलमान मसीति।
हम लागे एक अलेख सौं, सदा निरंतर प्रीति॥
(अंग १८ । ५२)

पद ३४७ । राग बिलावल । (पृष्ठ ५०७)—

मूलहि सींचि बधे ज्यूँ बेला, सो तत तरुवर गहै अकेला॥टेक॥
... ...
तीरथ बरत न पूजै आसा, बनखँडि जाहिं रहै उदासा।
यूँ तप करि करि देह जलावै, मर्मत डोलैं जन्म गमावै॥ ३॥
... ...
तब दादू परम गति पावै, सो निज मूरति माहि लखावै॥ ४॥

नाँ घरि रह्या न बनि गया, नाँ कुछ किया कलेस।
दादू मन ही मन मिल्या, सतगुरके उपदेस॥
(अंग १ । ७४)

(दादू) यहु मसीति यहु देहुरा, सतगुर दिया दिखाइ।
भीतरि सेवा बंदिगी, बाहरि काहे जाइ॥
(अंग १ । ७५)

(दादू) मंझे चेला मंझि गुर, मंझे ही उपदेस।
बाहरि ढूँढै बावरे, जटा बधाये केस॥
(अंग १ । ७६)

मनका मस्तक मूँडिये, काम क्रोधके केस।
दादू विषै विकार सब, सतगुरके उपदेस॥
(अंग १ । ७७)

(ङ)—(दादू) मन माला तहँ फेरिये, (जहँ) दिवस न परसै रात।
तहाँ गुरु बाणी दिया, सहजै जपिये तात॥
(अंग १ । ६६)

(दादू) मन माला तहँ फेरिये जहँ प्रीतम बैठे पास।
आगम गुरु थैं हि गम भया, पाया नूर निवास॥
(अंग १ । ६७)

(दादू) मन माला तहँ फेरिये, (जहँ) आपै एक अनंत।
सहजै सो सतगुर मिल्या, जुगि जुगि फाग बसंत॥
(अंग १ । ६८)

(दादू) सतगुर माला मन दिया, पवन सुरति सूँ पोइ।
बिन हाथों निस दिन जपै, परम जाप यूँ होइ॥
(अंग १ । ६९)

दादू मन फकीर भाँहे हुवा, भीतरि लीया भेष।
सबद गहे गुरदेवका, माँगै भीख अलेष॥
(अंग १ । ७०)

(च)—उपर्युक्त प्रमाणोंसे, जो खास दादूजीके वचन हैं, दादूजीके साधन और सिद्धान्त स्पष्ट ज्ञात होते हैं। उनका परमत यह रहा है—

आपा मेटै, हरि भजै, तन मन तजै विकार।
निरवैरी सब जीव सौं, दादू यहु मत सार॥
(अंग २९ । २)

(छ)—वे तो एक परमात्माको ही आत्मा और आत्माको ही परमात्मा मानते हुए सारे भेदभावको निर्मूल, निरर्थक, असत्य और हानिकारक समझे हुए थे। कहा है—

निरवैरी सब जीव सौं, संतजन सोई।
दादू एकै आतमा, बैरी नहिं कोई॥
(अंग २९ । ४)

सब हम देख्या सोधि करि, दूजा नाँहीं आन।
सब घट एकै आतमा, क्या हिंदू मुसलमान॥
(अंग २९ । ६)

काहि कौं दुख दीजिये, साँई है सब माँहिं।
दादू एकै आतमा, दूजा कोई नाँहिं॥
(अंग २९ । १३)

आतम देव अराधिये, विरोधिये नहिं कोई।
आपै सुख पाइये, विरोधै दुख होई॥
(अंग २९ । २६)

इस प्रकार संक्षेपसे*—अति संक्षेपसे—दादूदयालके सत्साधनके सत्सिद्धान्तोंका दिग्दर्शन किया गया। विषय महान् है, गहन है, रहस्यमय है। न समय है और न स्थान है कि सारा और विस्तृत कहा जाय। इति शम्।

एक ही शत्रु है

एकः शत्रुर्न द्वितीयोऽस्ति शत्रुरज्ञानतुल्यः पुरुषस्य राजन्।
येनावृतः कुरुते संप्रयुक्तो घोराणि कर्माणि सुदारुणानि॥

हे राजन्! इस जगत्में पुरुषका एक ही शत्रु है, उसके समान कोई दूसरा शत्रु नहीं है, वह शत्रु अज्ञान है, मनुष्य इस अज्ञानसे घिरकर दारुण कर्म करने लगता है। (महा० शान्ति० २९७ । २८)

* इस लेखमें पं० चन्द्रिकाप्रसादजीद्वारा संपादित 'दादूवाणी', साधु रामदयालजीद्वारा लिखित 'दादूसार', पं० तारादत्तजी गैरोलाद्वारा लिखित 'साम्स आफ दादू' (Psalms of Dadu), बा० क्षितिमोहन सेनद्वारा लिखित 'दादू' (बंगभाषा) इत्यादिसे सहायता ली गयी है। तदर्थ उन सबको धन्यवाद है। —लेखक

प्रेम-साधन

(लेखक—श्रीमन्निजानन्दसम्प्रदायाचार्यपीठाधीश्वर धर्मधुरीण आचार्य श्रीघनीदासजी महाराज 'सद्धर्मरत')

सर्वनियन्ता, सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, पूर्णातिपूर्ण, सच्चिदानन्द-स्वरूप, अविनाशी, एकरस जो ब्रह्म है, उसकी प्राप्ति ही चरम साध्य और परम पुरुषार्थ है—इस विषयमें कोई मतभेद नहीं हो सकता। आस्तिक जगत्के सभी प्राचीन-अर्वाचीन आचार्योंने इसी सिद्धान्तको सामने रखकर ब्रह्म-प्राप्तिके अलौकिक ज्ञान और लोकोत्तर पथका प्रदर्शन कराया है।

सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा पूर्णातिपूर्ण, सर्वशक्तिमान् और सर्वेश्वर होनेके कारण सर्वथा निरपेक्ष हैं। परन्तु भगवद्भक्त सदासे ही यह मानते आये हैं कि 'भक्तिप्रियो माधवः'—भगवान्को भक्ति प्यारी है। 'न मे भक्तः प्रणश्यति', 'मामेकं शरणं व्रज' इत्यादि भगवद्वचनोंने इस धारणाको और भी सुदृढ़ बना दिया है। इसलिये इस मान्यताकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इसी प्रकार वेदान्तवादियोंका यह डिण्डिम-घोष है कि

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'

'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'

अर्थात् ज्ञानको छोड़ ब्रह्मप्राप्तिका अन्य कोई मार्ग ही नहीं है। यह भी श्रुतिसम्मत होनेसे उपेक्ष्य नहीं हो सकता।

भक्तिसे भगवत्प्राप्तिको सभीने माना है। ज्ञान भी चिद्रूप होनेसे भगवद्धर्म ही है, अतः उससे भी भगवत्प्राप्ति युक्तियुक्त और सङ्गत है। परन्तु निजानन्दसम्प्रदाय इन दोनों मार्गोंके परे एक तीसरे ही मार्गका निर्देश करता है। उस मार्गका नाम है 'प्रेम'। इस सम्प्रदायकी यह मान्यता है कि निर्विशेष सच्चिदानन्द ब्रह्मको प्रेम जितना सीधा स्पर्श करता है, उतना साधनसापेक्ष भक्ति और ज्ञान नहीं करते। भक्ति और ज्ञान मनुष्यको क्रमसे परमात्माकी ओर ले जाते हैं। पर प्रेमसे तो तत्काल ही चुम्बकके आकर्षणकी तरह जीवात्मा परमात्माकी ओर खिंच आता है। श्रीप्राणनाथ प्रभु कहते हैं—

'पंथ हो कोटि कल्प, प्रेम पहुँचावे मीनें पलक।'

भक्ति प्रभुको सब कुछ समर्पित कर देना सिखाती है, ज्ञान ब्रह्मका स्वरूप समझा देता है, तो प्रेम तन्मय बना देता है। ज्ञानकी दृष्टिमें 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' है; भक्तके लिये भक्ति और भगवान्के सिवा बाकी सब तुच्छ है, और प्रेमी प्रेममें 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' देखता है। प्रेम-जगत्में प्रेमके सिवा अन्य कोई सृष्टि ही नहीं है। भक्त और ज्ञानी भगवान्के अतिरिक्त अन्यमें आसक्ति नहीं रखते, पर प्रेमीकी दृष्टिमें भगवान्के सिवा और कुछ है ही नहीं।

है ग़लत गर गुमानमें कुछ है।
तुझ सिवा भी जहानमें कुछ है॥

अर्थात् प्रेमीके ख्यालमें प्रियतमके सिवा यदि और भी कुछ है तो उसका प्रेम ही ग़लत है। बात बिल्कुल ठीक है। जिसने 'इश्क हक़ीक़ी' अख्तियार किया है, उसकी दृष्टिमें 'इश्क मजाज़ी' कैसे रह सकता है? जब आँखें खुल गयीं, तब सपना कैसे टिक सकता है? प्रेमीकी आँखोंमें तो सदा प्रियतम प्रभु ही रहते हैं। इन दोनोंके बीच तीसरे-को अवकाश ही कहाँ?

हिजाबे रुख यार भी आये थे,
खुली आँख तो कोई पर्दा न देखा।

प्रेममें दुनियाका पर्दा कब रह सकता है? यह दुनियाके परेकी चीज है, वहाँ दुनिया कहाँ? पर यह प्रेमका पंथ है बड़ा कठिन!

इब्तिदाहीमें मर गये सब यार,
इश्ककी कौन इन्तिहा लाया?

इस मार्गका आरम्भ तो है, पर इसका कोई अन्त नहीं। इसपर पैर रखते ही सर्वस्व बलिदान करना पड़ता है। यही कारण है कि सब लोग इस मार्गपर नहीं चल सकते। कहा है—

नवधासे न्यारो कह्यो, चौदह भुवनमें नाहिं।
सो प्रेम कहाँसे पाइये, जो बसत गोपिकन माहिं॥

प्रेमको तो यथार्थरूपमें व्रजसुन्दरियोंने ही जाना और अपनाया था। प्रेमके बलसे ही वे गोवत्सपदवत् भवसागरको तरकर श्रीकृष्ण परमात्माको प्राप्त हुईं। पर आज भी इस प्रेमके प्यालेको कोई पी ले तो भगवान् उसके लिये दुर्लभ नहीं। परन्तु—

यह तो गति है अटपटी, झटपट लखै न कोइ।
जो मनकी खटपट मिटै, चटपट दर्शन होइ॥

प्रेमकी गति है बड़ी विकट, पर फल भी है वैसा ही महान् और अपूर्व! इसीलिये महात्माओंने इसका विशेष महत्त्व गाया है।

जब प्रतिपदामें द्वितीयाके चन्द्रका दर्शन होता है, तब उसकी सूक्ष्म कलाको दिखानेमें शाखाचन्द्रन्यायसे काम लेना पड़ता है अर्थात् वृक्षकी किसी शाखाकी ओर अङ्गुलि-निर्देश करके यह बतलाना पड़ता है कि देखो उस शाखाको, उसीके ऊपर चन्द्रमा है। जिसको इस तरह दिखाया जाता है, उसकी दृष्टि इससे उस तरफ बँध जाती है और उसे चन्द्र-दर्शन हो जाता है। इसी प्रकार हमारे पूर्वाचार्योंने ब्रह्म-दर्शनके लिये अपनी अन्तर्दृष्टिसे भक्ति-ज्ञानादि अनेक सङ्केत निर्माण किये। जो जिस सङ्केतका आश्रय करके लाभान्वित होता है, वह उसी सङ्केतको सुगम और उत्तम बतलावे—यह स्वाभाविक ही है। परन्तु जिस प्रकार चन्द्र-दर्शन करानेमें चन्द्रकान्त मणि* सब सङ्केतोंकी अपेक्षा उत्तम है, क्योंकि वह द्रष्टाकी दृष्टिको सीधे चन्द्रबिम्बमें जोड़ देती है, उसी प्रकार ब्रह्मरूप चन्द्रका दर्शन करानेमें, वृत्तिको सीधे ब्रह्मस्वरूपके साथ जोड़ देनेमें यदि कोई निरपेक्ष वस्तु है तो वह प्रेम है। चन्द्र और चन्द्रकान्त मणिमें तो परस्पर अन्तर भी है; पर प्रेम और परमात्मामें कोई अन्तर नहीं, दोनों स्वरूपतः एक ही हैं। आनन्दघन ब्रह्म शक्तिमान् है तो प्रेम उसकी अभिन्न शक्ति है। शक्ति और शक्तिमान्में कभी भेद नहीं होता। अर्थात् जिसने प्रेमको पा लिया, उसने प्रियतमको भी पा लिया। वह प्रेमी अपने प्रेमास्पद भगवान्को छोड़कर और किसीको न देखता है, न सुनता है और न जानता ही है।

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति।
(छान्दोग्य० ७। २४। १)

उसकी दृष्टिमें दूसरा कुछ रह ही नहीं जाता, तब अन्य किसको जाने? प्रेमी परमात्मामें मिलकर एकरूप हो जाता है।

वेदान्तमें ब्रह्मको अस्ति, भाति और प्रिय-धर्मावच्छिन्न माना है—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥

'अस्ति, भाति, प्रिय, रूप और नाम—ये अंशपञ्चक कहाते हैं। इनमें प्रथम तीन ब्रह्मरूप हैं और शेष दो जगद्रूप।' अस्तिसे 'सत्', भातिसे 'चित्' और प्रियसे 'आनन्द'—इस प्रकार सच्चिदानन्दस्वरूपकी अर्थसङ्गति है। तैत्तिरीयोप-निषद्में ब्रह्मरूप पक्षीका वर्णन करते हुए 'आनन्द आत्मा' कहकर आनन्दको ब्रह्मका आत्मा कहा गया है। जब ब्रह्मका मुख्य रूप प्रिय अर्थात् आनन्द है और जब प्रियके भावको ही प्रेम कहते हैं, तब तो प्रेमकी सर्वोत्तमता स्वतः-सिद्ध ही है। आनन्दके निरूपणमें भी 'तस्य प्रियमेव शिरः' (तैत्तिरीय-श्रुति) कहकर ब्रह्मके प्रियस्वरूपको सर्वोत्तम अङ्ग—सिर कहा है। तब इससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दघन परमात्माका यदि कोई महान् धर्म है तो वह प्रेम ही है। जो महान् है, प्रिय है, वही सर्वाभिलषित है। उसीके लिये जीवात्मा कहाँ-कहाँ भटकता है, कहाँ-कहाँकी खाक छानता फिरता है।

जीवात्मा सच्चित्स्वरूप होनेसे सत् और चित् तो है ही; अपनी पूर्णताके लिये यदि किसी वस्तुकी उसे अपेक्षा है तो वह है आनन्द। यही कारण है कि ज्ञानी-अज्ञानी सभी आनन्दको ही ढूँढ़ा करते हैं। माताके स्तनसे बिछुड़ा हुआ बच्चा जिस प्रकार हाथकी उँगली, अँगूठे और पैरके अँगूठेमें भी और कभी दूसरोंकी उँगलियोंमें भी स्तनकी कल्पना करके पान करनेकी चेष्टा करता और आनन्द मानता है, अथवा गौके स्तनसे अलग हुआ बछड़ा गौके चाहे जिस अङ्गसे दूध पीनेकी चेष्टा करता है और उसे छोड़ता नहीं, उसी प्रकार यह जीवात्मा परमात्माके प्रेमसे बिछुड़ा हुआ जहाँ-तहाँ उसीके आस्वादनके आनन्दको ढूँढ़ता-फिरता है, बाह्य विषयोंमें उसीकी कल्पना करता और उसीमें आनन्द मान लेता है। परन्तु कल्पित स्तनोंमें जैसे दूध नहीं होता, वैसे ही इन विषयोंमें आनन्दका वह आस्वादन नहीं होता। वह कैसे प्राप्त हो?

यदि इसे प्रेम मिल जाय, प्रेमास्पद मिल जायँ, तो पुनः

---

* बंद मकानमें किसी छिद्रके द्वारा जब प्रकाश आता है तो प्रकाशके असरेणु, जिस ओरसे प्रकाश आता है उसी ओरसे, कतार बाँधे चले आते हुए नजर आते हैं। इसी प्रकार चन्द्रको देखकर चन्द्रकान्त मणिसे चन्द्रतक प्रकाशके असरेणुओंकी कतार बँध जाती है और इसलिये इसके सहारे तुरंत चन्द्रदर्शन हो जाता है। चन्द्रकान्त मणिसे यह प्रकाश सूर्यास्तके बाद ही प्रकट होता है, दिनमें नहीं होता। —लेखक

यह आनन्दी हो जाय। 'रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' (श्रुति)। इस प्रेमरूप रसको पाकर ही जीवात्मा आनन्दी होता है, 'तृप्तो भवति'—तृप्त हो जाता है। 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।' ब्रह्मके इस प्रेमानन्दको पाकर वह फिर किसी भयको नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत 'आनन्दघन एवास्मि'—अपनेको आनन्दस्वरूप ही अनुभव करता है। इस प्रेम-प्यालेको पीनेके बाद और कुछ पीना शेष नहीं रहता। इसीको भक्तिशास्त्रोंने परा, प्रेम-लक्षणा, फल-रूपा भक्ति आदि कहकर वर्णित किया है। वेदान्तके मतसे जीवन्मुक्तिकी यही चरमावस्था है। इस्लाममें इसीको 'इश्क हक़ीक़ी' कहते हैं। इस प्रकार अनेक नामोंसे सर्वत्र वर्णित यह प्रेम सब नाम-रूपोंके परे है। यह तो गूँगेका गुड़ है। जाग्रत् आत्माकी यह दिव्य ऊर्मि है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'—जिस प्रेमस्वरूपको न पाकर मनसहित वाणी लौट आती है, उसका वर्णन कौन कर सकता है? वस्तुतः प्रेम वर्णनकी वस्तु नहीं है, केवल आत्मैकवेद्य आनन्द है।

प्रेम परमात्माका महान् धर्म है। उसे पानेके लिये तत्स्वरूपी ही बनना पड़ता है। प्रेम परमात्माका वह दामन है, जिसे पकड़ते ही सब उलझनें सुलझ जाती हैं और अनुपम आनन्दका अनुभव होने लगता है। फिर कुछ करना बाकी नहीं रहता।

श्रीराधावल्लभीय सम्प्रदायमें साधन

(लेखक—श्रीहित रणछोड़लालजी गोस्वामी)

सब सों हित निष्काम मत वृंदाबन बिश्राम।
(श्री)राधावल्लभलाल को हृदय ध्यान, मुख नाम॥

एक समय समर्थ पण्डित, शास्त्रवेत्ता, दिग्विजयी विद्वान् ओड़छानिवासी राजगुरु श्रीमुमुख गुरु (व्यासजी) ने आचार्य श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजीसे प्रश्न किया कि 'हे प्रभो! प्राणिमात्रके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये? अपना मत कौन-सा रखना चाहिये? विश्रान्तिका स्थान कौन-सा है? हृदयमें ध्यान किसका धरना चाहिये? और नाम-स्मरण किसका करना चाहिये?' इन पाँच प्रश्नोंके उत्तरमें आचार्य-श्रीने उपर्युक्त दोहा कहा था, जिसमें उन्होंने अपने मतका—जिसे सिद्धाद्वैतमत कहते हैं—दिग्दर्शन कराया है और भक्ति-मार्गका सर्वोत्तम कल्याणकारी रहस्य भी बतलाया है। उपर्युक्त दोहेकी रसिक भक्तोंके लिये अपनी बुद्धिके अनुसार टीका की जाती है। दोहेका प्रथम वाक्य है—

'सब सों हित'

सिद्धाद्वैतमतमें ब्रह्मके साथ जीवका अंशांशिभाव सम्बन्ध माना गया है। गीताजीमें भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

ब्रह्म हमारे लिये पितारूप हैं और हम सभी उनकी सन्तान हैं। संसारके सभी प्राणी ब्रह्मके अंशरूप होनेके नाते हमारे भाई-बहिन हैं—ऐसी भावना करके उन सबसे प्रीति करनी चाहिये। प्राणिमात्रकी तो बात ही क्या, प्रत्येक वस्तुके प्रति ब्रह्मभाव अथवा ब्रह्मदृष्टि रखना—यही सिद्धाद्वैतसिद्धान्त-का परम रहस्य है। जबतक दुनियाके समस्त व्यवहार इस सिद्धान्तपर प्रतिष्ठित नहीं होंगे, तबतक संसारमें अर्थका अनर्थ ही होता रहेगा। केवल मनुष्य-प्राणीके अंदर ही आत्माका निवास है, अन्य जीवोंमें नहीं—एक ओर जिस प्रकार यह सिद्धान्त झूठा है, उसी प्रकार दूसरी ओर जगत् मिथ्या है, भ्रमरूप है—ऐसा मानना भी भ्रान्तिसे पूर्ण है। निखिल जगत् सत्य है—ब्रह्मका कार्य है, अतएव ब्रह्मरूप ही है—यह वैदिक सिद्धान्त है। यह अखिल नाम-रूपात्मक जगत् आत्मा ही है। प्रभु ही जगत्‌को उत्पन्न करते हैं और स्वयं जगत्‌के रूपमें उत्पन्न होते हैं। विश्वात्मा भगवान् ही विश्वका रक्षण करते हैं और विश्वके रूपमें वही रक्षित होते हैं। वही संहार करते हैं और अपने ही विश्वरूपका संहार करते हैं। श्रुति भगवती कहती है—

'आत्मैव तदिदं सर्वम्।'
'तदिदं ब्रह्मैव।'
'स सर्वं भवति।'
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'

उपर्युक्त श्रुतियोंके अनुसार सारे जगत्‌को ब्रह्मरूप मानना ही वास्तविक सिद्धान्त है। जैसे मकड़ी अपने मुखमेंसे जाल निकालती है और उसीपर खेलती है, उसी प्रकार ब्रह्मने भी अपनेमेंसे ही इस जगत्‌को उत्पन्न किया है। इस प्रकार इस

विश्वका सिरजनहार भी वही है और सृष्टि भी वह स्वयं ही है। रक्षण करनेवाला भी वह है, और रक्षणीय भी वही है।

जगत् ब्रह्मरूप होते हुए भी त्रिगुणात्मक है। जगत्में उसके नियन्तारूप ब्रह्मा, विष्णु, महेश प्रभृति देवताओंका तथा चिदचिद्रूप जीवों एवं अचिद्रूप समस्त जड पदार्थोंका समावेश होता है। इसी कारण जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं। सद्रूप ब्रह्मका कार्य भी सत् ही होना चाहिये। जगत् वस्तुतः ब्रह्मरूप है और अनन्तमूर्ति ईश्वरसे व्याप्त है। अतः समस्त भूतोंको ईश्वरका ही रूप मानकर उनके हितमें रत रहना चाहिये। गीताजी भी हमें 'सर्वभूतहिते रताः' रहनेकी ही आज्ञा देती हैं। अन्यत्र भी भक्तोंका लक्षण कहते हुए भगवान् यही कहते हैं कि भक्तको समस्त भूतोंके प्रति द्वेषरहित, सबका मित्र और दयालु होना चाहिये—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।

अन्यत्र भी कहा है—

वैष्णवानां त्रयं कर्म सर्वजीवहिते रताः।
श्रीगोविन्दे परा भक्तिस्तदीयानां समर्चनम्॥

वैष्णवोंके तीन कर्तव्य हैं—सारे जीवोंके हितमें रत रहना, श्रीगोविन्दभगवान्में पराभक्ति करना और भगवदीय भक्तोंकी सेवा करना। श्रीबिहारिनदासजीने भी इसी भावका एक पद गाया है—

अब हौं कामों बैर करौं।
कहत पुकारत प्रभु निज मुखतें, घट-घट हौं बिहरौं॥
.....
प्रानी मात्र समान त्रिलोकी भक्तन अधिक डरौं।
बिहारिनदास हरिदास-कृपाबल नित निर्भय बिचरौं॥

प्रभुके नाते सर्वप्राणियोंके प्रति ममता रखना सीखिये। ऐसा करनेसे उनकी ओरका भय निवृत्त हो जाता है। सभी प्राणी प्रभुके अंश हैं, ऐसा समझकर उनसे प्रेम करना ही कर्तव्य है। ज्यों-ज्यों उनसे प्रेम बढ़ेगा, त्यों-ही-त्यों उन्हें मारने अथवा कष्ट पहुँचानेकी वृत्ति नष्ट होगी।

'निष्काम मत'

आचार्यश्रीके दोहेका दूसरा पद है 'निष्काम मत'। मनुष्यको चाहिये कि फल और आसक्तिका त्याग कर भगवान्की आज्ञाके अनुसार उन्हींके लिये कर्म करता रहे। ऐसा करनेसे उसके लिये कर्म बन्धनकारक नहीं होंगे। कर्म स्वरूपतः बन्धनकारक नहीं होते; उनमें जो हमारा राग-द्वेष होता है, वही बन्धनकारक होता है। फल और आसक्तिको त्याग करके कर्म करनेवालेमें राग-द्वेष नहीं होता, इसीलिये उसे कर्म बाँधते नहीं। गीताजीमें श्रीभगवान्का वाक्य है—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते॥

'हे अर्जुन! जो पुरुष न तो किसीसे द्वेष करता है और न किसी वस्तुकी आकाङ्क्षा करता है, उस निष्काम कर्मयोगी भक्तको सदा संन्यासी ही समझना चाहिये। क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित हुआ पुरुष सुखपूर्वक संसाररूपी बन्धनसे मुक्त हो जाता है।'

भगवान् फिर कहते हैं—

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥
गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥

'जो पुरुष बिना प्रयत्नके मिले हुए पदार्थोंसे सन्तोष कर लेता है, सुख-दुःखसे परे हो गया है एवं ईर्ष्यासे रहित है, तथा जो सफलता और असफलतामें समान बुद्धि रखता है, वह कर्म करके भी उससे बँधता नहीं। तथा जो पुरुष सङ्गरहित अतएव मुक्त है, जिसका चित्त प्रभुके ज्ञानमें स्थिर हो गया है, तथा जिसके समस्त कर्म भगवान्के आज्ञानुसार भगवद्भजन अथवा भगवत्सेवारूपी यज्ञके लिये होते हैं, उसके समग्र कर्म नष्ट हो जाते हैं अर्थात् फल उत्पन्न नहीं करते।'

भगवान्की आज्ञासे भगवान्के लिये कर्म करनेवालेमें अहङ्कार भी नहींके बराबर ही हो जाता है। ऐसे निष्काम भक्त व्यवहारके समय भी भगवान्के शरण होकर भगवान्का भजन करते हुए उन्हींके आज्ञानुसार तथा उन्हींकी प्रीतिके लिये सब प्रकारके कर्म करते हैं। ऐसे पुरुषोंका सांसारिक वस्तुओंके प्रति राग अथवा द्वेष हो ही कैसे सकता है? ऐसे भक्त जन्मरूपी बन्धनसे छुड़ानेवाले मोक्षतककी इच्छा नहीं करते, सांसारिक पदार्थोंकी तो बात ही क्या है। श्रीमद्भागवतमें उद्धवजीके प्रति श्रीमुखका वाक्य है—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

अर्थात् मेरे भक्त लोग मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य (भगवद्धाममें निवास), सार्ष्टि (भगवान्के समान ऐश्वर्य),

सामीप्य (भगवान्‌के समीप रहना) अथवा सायुज्य (भगवान्‌में लीन हो जानारूप) मुक्तिको देनेपर भी नहीं लेते ।

ऐसे निष्काम भक्तोंके लक्षण दासधर्मका आचरण करनेवालोंमें ही पाये जाते हैं । भगवान्‌की राजीमें राजी होना—उनके सुखमें ही सुख मानना (तत्सुखसुखित्वम्)—यही दासधर्म है । भगवान् अन्यत्र भी कहते हैं—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥

'जिसने अपने आपको मेरे अर्पण कर दिया है, वह मुझको छोड़कर न ब्रह्माके पदको चाहेगा, न इन्द्रासनकी इच्छा करेगा, न चक्रवर्ती-पदकी अभिलाषा करेगा और न पातालके राज्यकी कामना करेगा, न योगकी सिद्धियाँ चाहेगा और न जन्म-मरणसे रहित मोक्षपदकी ही अभिलाषा करेगा ।'

किसी भक्तने कहा है—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुरतु मे राधापदाब्जच्छटा
वैकुण्ठे नरकेऽथवा मम गतिर्नान्यास्तु राधां विना ।
राधाकेलिकथासुधाम्बुधिमहावीचीभिरान्दोलितं
कालिन्दीतटकुञ्जमन्दिरवरालिन्दं मनो विन्दतु ॥

'जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंमें श्रीराधिकाके चरणकमलोंकी छवि मेरे सामने नाचती रहे; श्रीराधिकाको छोड़कर वैकुण्ठमें अथवा नरकमें—कहीं भी मेरा दूसरा आश्रय न हो; मेरा मन श्रीराधिकाजीकी दिव्य लीला-कथारूपी सुधासमुद्रकी लहरोंमें झूलता हुआ श्रीयमुनाजीके तटवर्ती कुञ्जमन्दिरके सुन्दर अलिन्दपर सदा विहार करता रहे ।'

'वृंदावन विश्राम'

तीसरा उपदेश है 'वृन्दावनमें वास करना ।' श्रीवृन्दावन श्रीराधाकृष्णका निजधाम होनेके नाते भक्तोंको अत्यन्त प्रिय है । पुष्कर, प्रयाग, काशी आदिकी 'तीर्थ' संज्ञा है; परन्तु श्रीवृन्दावन तो श्रीराधा-कृष्णका नित्यधाम अर्थात् लीला-निकेतन है । प्रकृतिमण्डलसे परे अक्षरब्रह्मके मध्य श्रीगोलोकधाम है, जो वेद-पुराणादिमें प्रसिद्ध है । उसको कितने ही व्यापिवैकुण्ठ भी कहते हैं । वही गोलोक श्रीवृन्दावनके नामसे इस भूमण्डलमें अवतीर्ण हुआ है । गङ्गाजीके आधिभौतिक जलप्रवाहके अंदर जैसे वे अपने मूर्तिमान् आधिदैविक रूपमें विराजती हैं—जिसे उनका कोई कृपापात्र भक्त ही, जिसकी उक्त दोनों स्वरूपोंमें भेदबुद्धि नहीं है, भक्तिकी आर्द्र दशामें दर्शन कर पाता है, उसी प्रकार अक्षरब्रह्मके अंदर श्रीवृन्दावनधाममें परब्रह्म श्रीराधाकृष्ण अपने लीलासहचरोंके साथ नित्य विराजमान रहते हैं और अपने कृपापात्र रसिक भक्तजनोंको भक्तिकी आर्द्र दशामें अपने उस दिव्य स्वरूपका दर्शन कराते हैं । वह वृन्दावन समस्त लोकोंका आदि है, अनादि है, सनातन है, चिद्घन है । महारसनायक श्रीप्रियाप्रियतम नित्य किशोर द्विभुज गौरश्यामरूपमें वहाँ विहार करते हैं । वे सर्वोपरि हैं, आदि-अनादि हैं । विष्णु आदि सब अवतार उनकी फल-पुष्प-शाखाएँ हैं । उस वृन्दावनकी महिमामें गर्गसंहितामें निम्नलिखित कथा मिलती है—

भगवान् श्रीकृष्णने प्रयागनामक तीर्थको, जहाँ गङ्गा-यमुनाका सङ्गम होता है, सब तीर्थोंका राजा बनाकर तथा तीर्थराजकी पदवीसे विभूषित कर भूतलपर भेजा । भूमण्डलके सभी तीर्थ मूर्तिमान् होकर प्रयागराजको भेंट प्रदान करने आये, केवल व्रजमण्डल या वृन्दावन नहीं आया । इसपर प्रयागराज कुपित हुए और उन्होंने श्रीकृष्णके पास आकर वृन्दावनकी शिकायत की । तब भगवान्‌ने प्रयागराजको सान्त्वना देते हुए कहा कि 'हमने तुम्हें तीर्थोंका राजा बनाया है, कुछ अपने घरका राजा नहीं बनाया ।' भगवान्‌के ये वचन सुनकर प्रयागराज बड़े प्रसन्न हुए और क्रोधरहित होकर अपने स्थानको चले गये ।

श्रीवृन्दावनधामकी ऐसी अलौकिक महिमा है । इस समय भी भगवान् अपने कृपापात्र जनोंको इस महिमाका अनुभव कराते हैं । श्रीव्रजलालजी गोस्वामीने अपने सेवा-विचारनामक ग्रन्थमें लिखा है—

आलीभिर्ललितादिभिः परिवृता श्रीराधिका स्वामिनं
यत्रानन्दयति प्रियैः स्वचरितैः शृङ्गारलीलामयैः ।
सर्वर्तुप्रभवं सुखं च सततं वर्धेत यत्रालयं
तद्वृन्दाविपिनं विहाय मतिमानन्यत्र किं गच्छति ॥

अर्थात् श्रीराधिका अपनी ललितादि सखियोंसे परिवेष्टित होकर जहाँ अपने शृङ्गारलीलामय प्रिय चरित्रोंके द्वारा अपने प्रियतमको आनन्दित करती रहती हैं, जहाँ सभी ऋतुओंका सुख प्रलयपर्यन्त सदा बना रहता है, उस वृन्दावनको छोड़कर कौन ऐसा बुद्धिमान् होगा जो किसी दूसरे स्थानमें जायगा ?

---

१ मकानके बाहरी द्वारके आगेका चबूतरा या छज्जा ।

'हृदयध्यान'

अब श्रीराधावल्लभलालके ध्यानकी बात कहते हैं। इसके पहले श्रीराधावल्लभलाल क्या और कैसे हैं, यह समझ लेनेकी आवश्यकता है। संसारके समस्त पदार्थोंके बल और सत्ताको यदि एकत्र कर लिया जाय, तो वह एकत्रित बल और सत्ता भगवान् श्रीराधावल्लभलालके बल और सत्तारूपी अनन्त सागरके एक क्षुद्र-से-क्षुद्र कणके भी बराबर नहीं होते। वस्तुतः समस्त बल और सत्ताके स्रोत श्रीराधावल्लभलालजी ही हैं। वे भगवान् ही सब सुखोंके मूल हैं। वे ही सबके उपादान और निमित्त कारण हैं, अखिल ब्रह्माण्डके स्वामी हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड, पञ्च महाभूत, सूर्य, चन्द्र, तारागण, समस्त देवी-देवता और सब प्रकारकी ऋद्धि-सिद्धि उन्हींकी सत्ता-स्फूर्तिसे स्थित और उन्हींके अधीन हैं। इस प्रकार सबके नियन्ता एवं समस्त ऐश्वर्य, बल एवं सुखके पूर्णतम और अनन्त आकर होनेपर भी वे अत्यन्त दयालु और परम भक्तवत्सल हैं। वे भक्ताधीन हैं, दयाके निधान हैं। जो उन्हें प्रेमपूर्वक भजता है, बदलेमें वे भी उसे उसी प्रकार भजते हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है कि जिसपर प्रभु प्रसन्न होते हैं, उसे सारा संसार नमन करता है। वे सर्वशक्तिमान हैं। वे 'कर्तु-अकर्तु-अन्यथाकर्तुं समर्थ' हैं। वे असम्भवको भी सम्भव कर सकते हैं। वे समस्त भूतोंके आत्मा, अन्तर्यामी एवं सर्वव्यापक हैं। वे ब्रह्मके भी अधिष्ठान अर्थात् मूल हैं। गीतामें भगवान् अपने श्रीमुखसे कहते हैं कि 'मैं ब्रह्मका, अव्यय मोक्षपदका, सनातन धर्मका और दुःखरहित सुखका आधार हूँ'—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

प्रकृति श्रीहरिकी एक शक्ति है। सर्व जीव श्रीहरिके अंश हैं। श्रीहरि आनन्दके भंडार हैं, रसके समुद्र हैं, प्रेमकी खान हैं। वे माया, बुद्धि, मन इत्यादिके परे हैं। उनकी कलाको ब्रह्मा-विष्णु-महेशादि भी नहीं पहुँच सकते। वे सर्वोपरि हैं। वेद, स्मृति, पुराण तथा दर्शनादि शास्त्रोंसे भी प्रभुकी महिमा जानी नहीं जा सकती। वे विश्वात्मा, विश्ववन्द्य हैं। देवाधिदेव श्रीराधावल्लभलालकी लीलाका कौन वर्णन कर सकता है? संसारमें चर-अचररूप कोई ऐसा पदार्थ नहीं है, जो प्रभुसे शून्य हो। ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त जितने भी पदार्थ इस लोकमें अथवा अन्य लोकोंमें हैं, उन सबके रूपमें वे ही लीला कर रहे हैं। वे ही सृष्टिके कर्ता, भर्ता (पालनकर्ता) और संहर्ता (संहार करनेवाले) हैं। आदि, अन्त और मध्यमें श्रीहरि ही हैं। वे ही परम देवता हैं। वे ही परम पद हैं। वे ही परम मोक्ष हैं। उनकी महिमा अनन्त है। वे श्रीराधारमण हैं, श्रीराधाजीके अधीन हैं। मुरलीको धारण करते हैं। अष्ट सखियोंद्वारा परिसेवित हैं। नित्यकिशोर, निकुञ्ज-नायक, रसिकविहारी, नटनागर हैं। श्रीरंगीलालजी गोस्वामीने कहा है—

स्वीयानन्दप्रपूर्णं विमलरसमयं नित्यविज्ञानरूपं
सद्भ्यं सर्वस्वं विबुधगणवरैः शङ्करायैरगम्यम्।
वेदान्तस्यान्तगूढं निखिलभुवनसंसृष्टिरक्षान्तलक्ष्यं
श्रीराधावल्लभाख्यं मम मनसि परं ब्रह्म संस्फूर्तिमीयात्॥

'जो निजानन्द अर्थात् स्वरूपानन्दसे परिपूर्ण हैं, विशुद्ध रसमय हैं, नित्यविज्ञानरूप हैं, संतोंद्वारा वन्दनीय हैं तथा सबको आनन्द देनेवाले हैं, शङ्करादि श्रेष्ठ देवगणोंकी भी जहाँ पहुँच नहीं है, जो वेदान्तके हृदयमें छिपे हुए हैं तथा अखिल विश्वकी उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाले हैं, वे श्रीराधावल्लभ नामसे विख्यात परब्रह्म परमात्मा मेरे चित्तमें प्रकाशित हों।'

अब उन श्रीराधावल्लभलालके ध्यानकी बात कही जाती है। भगवत्प्राप्तिके साधनोंमें ध्यानकी सर्वत्र आवश्यकता है। गीतादि ग्रन्थोंमें तथा योगशास्त्र एवं भक्तिशास्त्रमें भी ध्यानकी आवश्यकता बतलायी गयी है। परन्तु आजकल साधकोंमें ध्यान बहुत कम लोग करते हैं, यह बात विचारणीय है। ध्यानमें अभ्यासकी आवश्यकता है। ध्यान अभ्याससे ही होता है। मनको भगवान्‌के चरणोंमें एकाग्र करनेका अभ्यास करना चाहिये। दृढ़ निश्चयपूर्वक ध्यानका अभ्यास करनेसे उसमें अवश्य उत्तरोत्तर सफलता मिलती है। संसारका चित्र हृदयसे निकालने और उसके स्थानमें भगवान्‌की सगुण मूर्ति स्थापित करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। मनद्वारा भगवान्‌का स्वरूप स्थिर हो जानेपर मनको उसके अंदर इस प्रकार अविचलभावसे स्थिर कर देना चाहिये कि भगवान्‌के अतिरिक्त संसारका अथवा अपना बिल्कुल भान न रहे। जबतक ध्यानकी ऐसी गाढ़ स्थिति न हो जाय, तबतक अभ्यास छोड़े नहीं। ध्यान लग जानेपर तो उसमें ऐसा आनन्द आने लगेगा कि फिर छोड़नेसे भी नहीं छूटेगा। ऐसी स्थिति हो जानेपर चित्तमें अपूर्व शान्तिका अनुभव होगा और हर्षका पार नहीं रहेगा। एक इष्टमूर्तिके सिवा

और सबका अभाव हो जाना चाहिये। यही सर्वोत्तम ध्यान है। इस प्रकारका ध्यान ही सब साधनोंका फल है। सेवा, भजन, कीर्तन आदि जो कुछ भी किया जाता है, ध्यानके लिये ही किया जाता है। भगवान् मेरे सेव्य हैं और मैं उनका सेवक हूँ—ऐसा भाव स्थिर कर अविच्छिन्नरूपसे संसार और अपनेको भुलाकर मनसे उनकी सेवा होती रहनी चाहिये। इसीको मानसिक सेवा अथवा सर्वोपरि ध्यान कहते हैं। इस प्रकार अटल भावसे प्रभुमें वृत्तियोंका स्थिर हो जाना ही सबसे बड़ा लाभ है। जिस भाग्यवान् पुरुषकी ऐसी स्थिति हो जाती है, उसकी अपनी मुक्तिकी तो बात ही क्या है, वह दूसरोंको भी मुक्त कर सकता है। भक्तिमार्गमें भी ध्यानकी ही प्रधानता है। भगवान्‌ने गीताजीमें जहाँ-जहाँ भक्तिकी महिमा कही है, वहाँ-वहाँ ध्यानका बड़ा महत्त्व दिखलाया है। भगवान् कहते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

'सब प्रकारके योगियोंमें जो मुझमें चित्तको निवेशित कर श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करता है, वह सबसे अधिक युक्त है।'

'मुख नाम'

ऐहिक और पारलौकिक कल्याण चाहनेवाले सभी मनुष्योंको नित्य श्रीहरिका भजन करना चाहिये। परन्तु बड़े आश्चर्यका विषय है कि विद्वान् मनुष्य ऐसा जानते और समझते हुए भी प्रभुको नहीं भजते। नित्य निरन्तर प्रभुका अनन्य भजन होना ही शरणागतिका प्रधान लक्षण है। जो कोई किसी फलकी कामनासे भजन-स्मरण करता है, उसका अधम भाव समझा जाता है। जो भजन भजनके लिये ही होता है, वही सर्वोत्तम है। जिस तरह जीवनधारणके लिये श्वास लेना अत्यावश्यक एवं स्वाभाविक है, उसी तरह भजन-कीर्तन भी हमारे लिये आवश्यक और स्वाभाविक बन जाना चाहिये। रसिकशिरोमणि श्रीसेवकजी कहते हैं—

यह जु परयो मोहि सहज सुभाव। श्रीहरिवंश नाम रस चाव॥

वेद भी कहता है—

'यो यदंशः स तं भजेत्'

अर्थात् जो जिसका अंश है, उसे उसका भजन करना चाहिये। जीव परमात्माका अंश है, इसलिये उसे परमेश्वरकी भक्ति करनी ही चाहिये। सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते—सब समय श्वास-प्रश्वासकी क्रियाके समान भजन-स्मरण होता ही रहना चाहिये। भजनमें एक क्षणका भी विराम उचित नहीं है। एक क्षणके लिये भी भगवन्नामका विस्मरण होनेपर साधकपर असुरका आवेश हो जाता है, ऐसा पण्डितजन कहते हैं। शास्त्रोंमें श्रीहरिनामका माहात्म्य इतना अधिक कहा गया है कि उसका अन्त नहीं है। कलियुगमें तो भगवान्‌का नाम ही कल्याणकारक है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥

अर्थात् सत्ययुगमें भगवान् नारायणका ध्यान करनेसे, त्रेतामें यज्ञके द्वारा उनकी आराधना करनेसे और द्वापरमें उनकी सेवा-पूजा करनेसे जो फल मिलता है, कलियुगमें भगवान्‌के नाम-कीर्तनसे वही फल प्राप्त होता है।

भजनका अभ्यास ऐसा दृढ़ होना चाहिये कि यदि किसी कारणसे कभी नामका विस्मरण हो जाय, तो ऐसी व्याकुलता हो कि जिसके कारण हमारा दम घुटने लगे—'तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।' (नारदभक्तिसूत्र)

भजनमें दूसरी आवश्यक बात है अनन्यता। अपने प्रभुके सिवा दूसरेके अस्तित्वकी कल्पना भी चित्तमें न आवे, इसीका नाम है अनन्य भजन। इस प्रकार अनन्य चित्तसे भजन करनेवालेके लिये, भगवान् कहते हैं कि मैं सुलभ हो जाता हूँ। गीताजीमें श्रीमुखका वचन है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

इस प्रकारके भक्त किसी भी लोभसे क्षणमात्रके लिये भी भजनका त्याग नहीं करते और अपने इष्टके सिवा दूसरेका भजन नहीं करते। (अपूर्ण)

श्रीरामस्नेही-सम्प्रदायकी उपासना-पद्धति

(लेखक—दैवज्ञप्रवर स्वामी श्रीमनोरथरामजी रामस्नेही शास्त्री, साहित्यभूषण)

भक्तिके पथको सुगम और प्रशस्त करनेके लिये महाप्रभु स्वामी श्रीरामचरणजी महाराजने शाहपुरामें श्रीराम-स्नेही-सम्प्रदायकी स्थापना की, साथ-ही-साथ भक्तियोगके प्रतिपादनार्थ स्वकीय अनुभवयुक्त वाणीद्वारा दोहा-चौपाइयों-में 'शब्दप्रकाश' नामक ग्रन्थका निर्माण किया तथा उसपर ब्रह्म रामकी उपासना-विधि बतलायी, जिनके ध्यानमें शङ्कर तथा शेषजी सदा लीन रहते हैं तथा जिनके नामकी महिमा महर्षि अगस्त्यजीने अगस्त्यसंहितामें सुतीक्ष्णजीके प्रति इस प्रकार वर्णन की है—

सप्तकोटिमहामन्त्राश्चित्तविभ्रमकारकाः ।
एक एव परो मन्त्रो राम इत्यक्षरद्वयम् ॥

अर्थात् महामन्त्र तो सात करोड़ हैं, परन्तु वे चित्तमें [यह मन्त्र श्रेष्ठ है या वह—इस प्रकारका] विभ्रम उत्पन्न करनेवाले हैं। 'राम' यह दो अक्षरोंका महामन्त्र ही सबसे श्रेष्ठ है। इसी प्रकार अथर्ववेदके रामरहस्योपनिषद्में भी कहा है—

एतेषु चैव सर्वेषु तत्त्वं च ब्रह्म तारकम् ।
राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः ॥
राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्म तारकम् ॥

अर्थात् समस्त धर्मग्रन्थोंका तत्त्व तारक ब्रह्म ही है। और वह तारक ब्रह्म राम है। राम ही परब्रह्म है, राम ही परम तप है और राम ही परम तत्त्व है।

इस प्रकार परब्रह्म रामकी महिमासे धर्मग्रन्थ भरे पड़े हैं। यहाँ अधिक वचनोंका उल्लेख करना सम्भव नहीं है। इसलिये अब हम परब्रह्म रामकी उपासना-पद्धतिरूप 'शब्द-प्रकाश'नामक ग्रन्थके मूल वचनोंको ही उद्धृत कर लेख समाप्त करेंगे। उस ग्रन्थमें महाप्रभु स्वामी श्रीरामचरण-जी महाराजने परब्रह्म रामकी उपासना-पद्धति इस प्रकार बतायी है—

रामनाम तारक मंत्र, सुमरे संकर सेस ।
रामचरण साचा गुरु देवै यह उपदेस ॥ १ ॥
सतगुरु बकसै रामनाम, सिर धरै विस्वास ।
रामचरण निसिदिन रटै तो निस्चय होय प्रकास ॥ २ ॥

अब मुनियो सब साधु सुजाना । रामभजन का करूँ बखाना ॥
प्रथम नाम सतगुरु से पाया । श्रवणा सुनके नेह उपजाया ॥ १ ॥
पुनि रसना की श्रद्धा जागी । राम रटन निसिबासर लागी ॥
दूजी आसा सकल बुहारी । (तब) राम नाम मैं सुरत ठहारी ॥ २ ॥
पद्मासन निस्चल मन कीया । नासा निरत धार घर लीया ॥
स्वास उस्वास धुनी लगाई । आरत करके बिरह जगाई ॥ ३ ॥
रसना अग्र खुली इक सीरा । परथम वाको पय सो नीरा ॥
रटतां रटतां भयो मिठास । हर्ष भयो आयो विस्वास ॥ ४ ॥
कई दिवस रसना रस गटक्यो । पीछे सब्द कंठमें अटक्यो ॥
कंठ स्थान बहुत कठिनाई । मुख सूँ बचन न बोल्यो जाई ॥ ५ ॥
खान पान पै रुचि नहीं थोरी । मारग रुक्यो जाय कह बोरी ॥
छीन सरीर त्वचा सकुचानी । नीली नस दीसै झलकानी ॥ ६ ॥
पीरो बदन नेतरों लाली । मुकुर ज्योति ज्यों दिपै कपाली ॥
चक्र कमलकी सूँ थरहरि । छाती कँपै स्वास नहिं आवै ॥ ७ ॥
ऐसी बिधि बिरही की होई । बिरह जान जै सतगुरु सोई ॥
एक दिवस ऐसी बन आई । सब्द सरक गयो हिरदय माई ॥ ८ ॥
परम सुरत हिरदै परकासा । ज्यूँ रवि कीन्हों तम को नासा ॥
सहजै सुमिरन हिरदै होई । बाहिर भेद न जानै कोई ॥ ९ ॥
सोवत जागत डोरी लागी । बन बस्ती की संका भागी ॥
रसना जपा अजप्पा पाया । बाहिर साधन सकल बिलाया ॥ १० ॥
जाग्यो प्रेम नेम रह्यो नाहीं । घट घट राम धाम घट माहीं ॥
घर अस्थान पाय बिश्रामा । सब्द किया जाय नाभि मुकामा ॥ ११ ॥
नाभि कमल में सब्द गुँजारै । सो सै नाभी मंगल उचारै ॥
रोम रोम झुणकार झुणकै । जैसे अंतर तौंत झुणकै ॥ १२ ॥
माया अन्दर इहाँ बिलाया । ररंकार इक गगन सिधाया ॥
पस्चिम दिसा मेरु की घाटी । बीमें गाँठ घोर सैं फाटी ॥ १३ ॥
त्रिकुटी संगम किया सनाना । जाय चढ्या चौथे अस्थाना ॥
जहाँ निरंजन तख्त बिराजै । ज्योति प्रकास अनंत रवि राजै ॥ १४ ॥
अनहद नाद गिणत नहिं आवै । भाँति भाँति की राग उपावै ॥
सबै सुषुम्ना नीर पुँहारा । सून्य सिखर का यह बिवहारा ॥ १५ ॥
झरै षणांग मोती-सा ढलकै । जाकी ज्योति अरुन-सी झलकै ॥
सागर जहाँ बिना घर भरिया । हंसा बास तास सब करिया ॥ १६ ॥
सुखमण मोती कर आहारा । निज हंसा का यह ही चारा ॥
सुन सायर हंसा का बासा । सतसागर सुख भया उदासा ॥ १७ ॥

दरिया सुखको अंत न आवै । छीलर काल बाज झपटावै ॥
सुखसागर मिल सुख पद पाया । सो सन्दौं में कह समझाया ॥१८॥
बिन देख्यौं परतीत न आवै । तासूँ कैसे भेद बतावै ॥
अर्ध उर्ध कमला जहाँ फूल्या । भँवर रूप होय हंसा झूल्या ॥१९॥
भँवर गुँजार गगन गिरणाया । होय मस्त अलि तहाँ लुभाया ॥
ऐसो पद विरला जन पावै । सो भवसागर नाहीं आवै ॥२०॥
राम रट्यौंका यह परकासा । मिल्या ब्रह्मपद भव भया नासा॥
रामचरण कोइ राम रटेगा । सो जन यही धाम लहेगा ॥२१॥
रामनाम निसिबासर गासी । सो नर भवसागर तिर जासी ॥
रामनाम बिन आन उपाई । ज्यूँ दूल्याँ का खेल कराई ॥२२॥
बालक बेरू मँदिर बणाया । तामें बस कूने सुख पाया ॥
रामभजन बिन खाली करणी । ज्यूँ बिन बीज सुवारी धरणी ॥२३॥
राम बीज साधन हरु हाँकै । तो रामचरण खेती फल पाकै ॥२४॥

वरणि कह्यो संछेप मे दरिया के सो पार ।
निज परमी या धामकूँ (सो) कीज्यो संत बिचार ॥ १ ॥

रामचरण रट रामनाम पाया ब्रह्म बिलास ।
ई साधन कोइ लागसी (जाके) होसी सब्द प्रकास ॥ २ ॥

—इत्यादि । इन वचनोंका अर्थ भलीभाँति समझकर जो बुद्धिमान् पुरुष उपर्युक्त उपासना-पद्धतिके अनुसार परम पुनीत भक्तियोगकी साधना करेंगे, वे निश्चय ही मायाके समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर संसारसागरको गोपदकी तरह अनायास पार कर जायँगे और परब्रह्म श्रीरामरूप होकर उनकी सायुज्य-मुक्तिको प्राप्त करेंगे । फिर उनको श्रुतिके 'न च पुनरावर्तते, न च पुनरावर्तते' इस वचनके अनुसार कभी भी संसार-चक्रमें फँसकर जन्म-मरणादिके कष्टोंका अनुभव नहीं करना पड़ेगा। यद्यपि 'शब्दप्रकाश' में ईश्वरोपासना-का विस्तार बहुत है और ग्रन्थका अर्थ समझाना भी आवश्यक था, परन्तु विस्तारभयसे इस लेखको यहीं समाप्त किया जाता है । श्रीरामस्नेही-सम्प्रदायकी उपासना-पद्धतिका संक्षिप्त स्वरूप यही है ।

विजयकृष्ण-कुलदानन्दकी नाम-साधना

(लेखक —श्रीनरेश ब्रह्मचारी)

युगप्रवर्तक विजयकृष्ण-कुलदानन्दकी 'नाम-साधना' जगद्वासियोंकी एक अमूल्य सम्पद् है । यह नवीन नहीं, अति प्राचीन है । स्वयं श्रीभगवान् नारायण इस साधनाके प्रवर्तक हैं । श्रीभगवान् विष्णुके नाभि-कमलसे उत्पन्न होकर ब्रह्माजीने जो साधन किया था, 'तपस्तप' वाणी श्रवणकर उन्होंने जिस प्रकारसे तत्त्व जाननेके लिये चेष्टा की थी, यह वही साधना है । देवादिदेव महादेव, देवर्षि नारद, दत्तात्रेय, वसिष्ठ, ध्रुव, प्रह्लाद आदि महायोगीश्वर तथा ऋषि-मुनिगणोंने श्रीभगवान् नारायणद्वारा प्रवर्तित इस अपरूप 'नाम-साधन'-द्वारा ही 'उनको' प्राप्त किया था । यह साधन आदिवैदिक किन्तु गुरुमुखी है; 'श्रीमद्भागवत', 'श्रीमद्भगवद्गीता' आदि शास्त्र-ग्रन्थोंमें अति संक्षेपसे इसका उल्लेखमात्र है, पद्धति कहीं लिखी नहीं है । अनादि कालसे यह 'नाम-साधन' अति गोप्यरूपसे गुरुपरम्परया चला आ रहा है । चिरकालसे यह मुनि-ऋषियोंके अंदर हिमालयमें ही था । कलिपावनावतार भगवान् श्रीगौराङ्ग महाप्रभुने वङ्गदेश-नवद्वीपमें अवतीर्ण होकर कृपापूर्वक यह असाधारण शक्ति-समन्वित 'नाम-साधन' जीव-जगत्के परम कल्याणके हेतु अपने कतिपय अन्तरङ्ग शिष्योंको दान किया था । नानक, कबीर, तुलसीदास प्रभृति महापुरुषोंने इस 'नाम-साधन' प्रणालीका अवलम्बन करके सिद्धि लाभ की थी । उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यभागमें जब धर्मकी ग्लानि उपस्थित हुई थी, स्वेच्छाचार और व्यभिचारसे देश म्लान हो पड़ा था, साम्प्रदायिकताकी सङ्कीर्णतामें पड़कर समग्र मानव-जातिके भीतर जब एक तुमुल द्वन्द्व आ उपस्थित हुआ था, तब एक शुभ क्षणमें नदिया-शान्तिपुरके गौराङ्गदेवको लानेवाले ठाकुर, महाविष्णुके अवतार, श्रीअद्वैतप्रभुके वंशमें आविर्भूत अतिमानव विजय-कृष्णने हिमालय मानस-सरोवर (स्कन्दपुराणान्तर्गत मानस-सरोवर) के वासी महायोगी परमहंस ब्रह्मानन्दजीसे गया-आकाशगङ्गा पहाड़में यह अप्राकृत शक्तियुक्त 'नाम-साधन' प्राप्त किया था एवं थोड़े ही समयके भीतर साधनामें सिद्धि-लाभ करके भारतमें सर्वत्र तथा दूर सागरपारके नाना जाति और सम्प्रदायोंके साधारण मानव-समुदायको ही नहीं, वरं महात्मा महापुरुषोंको भी इस 'नाम-साधना'का दान करके जीव-जगत्को कृतार्थ और धन्य किया था ।

इस अजपा 'नाम-साधना' का वैशिष्ट्य

असामान्य शक्तिसम्पन्न महापुरुष गोस्वामी विजयकृष्ण-

जीने अपने अन्तरङ्ग, नित्यसङ्गी, प्रिय शिष्य, नैष्ठिक ब्रह्मचारी कुलदानन्दको अपनी विशेष शक्तिसे शक्तिमान् बनाकर यह अनुपम 'नाम-साधन' प्रार्थियोंको दान करनेका आदेश किया था। हिंदू, मुसलमान, क्रिस्तान और विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों-के अनेकानेक व्यक्तियोंने इस 'नाम-साधना' का आश्रय लेकर आत्माका परम कल्याण-साधन कर उन्नतिके सर्वोच्च शिखरपर आरोहण किया है। यह 'नाम-साधन' अजपा है, गुरुमुखसे ग्रहण करना पड़ता है। इस साधनाका विशेषत्व है 'श्वास-प्रश्वाससे नाम-जप'। साधन-कौशल गुरुसे सीखना ही विधि है, भाषामें लेखनीद्वारा समझाना असम्भव एवं निषिद्ध है। धर्म-पिपासुजनोंके अल्पाधिक ज्ञान और धारणाके लिये जहाँतक प्रकाश करना सम्भव है, उतना ही समझानेका प्रयास किया जा सकता है।

श्वास-प्रश्वाससे 'नाम-साधन' का वैज्ञानिक रहस्य

इस साधनके क्रिया-रहस्य बड़े ही चमत्कृतिजनक हैं और देह-तत्त्वसमन्वित तथा मनोविज्ञानसम्मत हैं। श्वास-प्रश्वास ही देहका प्राण है। प्राणके रहनेसे आत्माका निवास है। देहके साथ आत्मा विशेष सम्बन्धसे जड़ित है। आत्मामें ही मन है। श्वास-प्रश्वासके साथ मनका विशेष सम्बन्ध है। आत्मा परमात्माका अंश—परमात्मा है। कारण, भगवान्‌का अर्थ है—सर्वैश्वर्यशाली अर्थात् 'सम्पूर्ण'; और सम्पूर्णका अंश नहीं होता। महासमुद्रका जल भी जल है, एक बूँद जल भी जल ही है। एक बूँद जल जिन वस्तुओंकी समष्टि है, महा-समुद्रके जलमें भी वे ही सब पदार्थ वर्तमान हैं। इस भावसे परमात्माका अंश आत्मा पूर्ण है—परमात्मा ही है। यह जो जीवात्मा है, वह संस्काराच्छन्न है। इस संस्काराच्छन्न आत्माके संस्कारोंका पिण्ड ही देह है। देहका प्रत्येक अणु-परमाणु—रस, रक्त, मास, मेद आदि समस्त ही संस्कारानुयायी और संस्कारमय हैं। श्वास-प्रश्वास इस देहका शोधन करते हैं। श्वास जिसे हमलोग ग्रहण करते हैं, जो विशुद्ध वायु है, जिसमें 'आक्सीजन' (Oxygen) अधिक रहता है, फेफड़ों (Lungs) में जाकर रक्तको 'आक्सीजिनेटेड' (Oxygenated) करता है और साथ ही तुरंत शरीरकी एक-एक शिरामें जाकर ७२ हजार नाड़ियोंमें घूमकर रक्त शोधनानन्तर देहका जितना मल (Carbon-di-oxide) है, उसे लेकर प्रश्वासरूपसे बाहर चला आता है। यही श्वास-प्रश्वासका काम है। रक्तकी क्रिया स्थूलतः देहके ऊपर एवं सूक्ष्मतः मनके ऊपर होती है। रक्तके अनुसार शरीर और मन बनता है। रक्त गरम होनेसे मन भी विकृत हो जाता है। रक्त जितना ही शुद्ध होता है, मन भी उतना ही शुद्ध और पवित्र होता है। इस प्रकार देहके साथ मनका सम्बन्ध है। इस श्वास-प्रश्वासके साथ 'श्री-भगवान्‌के नाम' का योग करना पड़ता है। 'नाम' का श्वासके साथ परिचय कराकर उसे सङ्ग लगा देनेसे 'नाम' श्वासके साथ जाकर ७२ हजार नाड़ियोंमें पूर्वोक्त प्रणालीसे घूमकर, रक्तको पवित्र करके प्रश्वासके साथ लौट आता है। श्वास रक्तको शुद्ध करता और नाम उसे परम पवित्र करता है। इस शुद्ध, पवित्र और नाममय रक्तकी क्रिया मनके ऊपर होकर मनको शुद्ध, सात्त्विक, पवित्र और 'नाममय' करती है। इस प्रकार अभ्यासद्वारा श्वास-प्रश्वासके साथ मनकी मित्रता हो जानेके कारण नाम-प्रेमी मन 'नाम' सहित क्रमशः स्वभावतः श्वास-प्रश्वासमें निविष्ट होता है। इस प्रकारसे श्वास-प्रश्वाससे युक्त होकर 'नाम' अपने-आप चलता रहता है। साधकको उस समय 'नाम' का जप नहीं करना पड़ता, 'नाम' का जप स्वभावतः आप ही होता रहता है। यही 'अजपा' साधन है। उपर्युक्त प्रणालीके अनुसार साधनद्वारा संस्कारमय देह और मन तथा संस्काराच्छन्न आत्मा क्रमशः श्रीभगवन्नाममय होकर 'अहं'-संस्कारसे मुक्त हो जाते हैं।

इस अजपा-साधनका लक्ष्य और ध्यान

इस साधनमें पृथक् ध्यान-विधि नहीं है। ध्यानकी कोई विशेष मूर्ति इस साधन-पद्धतिमें नहीं है। इस अजपा-साधनका लक्ष्य स्वयं श्रीभगवान् हैं। 'भग' का अर्थ है ऐश्वर्य। भगवान् षडैश्वर्यपूर्ण हैं अर्थात् जिनमें समस्त ऐश्वर्य पूर्णरूपसे स्थित है, वे ही श्रीभगवान् हैं। पराशान्ति-लाभ ही जीवोंका उद्देश्य है। अभाव ही दुःख है—अशान्ति है। 'सम्पूर्ण' को पाये बिना अभाव नहीं मिट सकता। यह 'सम्पूर्ण' श्रीभगवच्चरण-प्राप्ति है, वही पूर्ण शान्ति या परा शान्ति है। उनका रूप ही है सर्वैश्वर्य। 'सर्व' के बाद फिर रूप और क्या बच रहा, परन्तु साधारण जीवकी अनुभूति जीवश्रेष्ठ मनुष्यतक ही है। अतः मानवरूपमें दर्शन न देनेसे उनका अनुमान या धारणा करना जीवके लिये असम्भव, साध्यातीत है। निर्गुण निराकारका भजन नहीं हो सकता। इसलिये रूपका आश्रय करना पड़ता है। वे अनन्त हैं, उनके रूप भी अनन्त हैं। उनका कोई एक रूप नहीं है। किस रूपका आश्रय करना

होगा, यह स्थिर करना कठिन है। वे किस रूपमें कब दर्शन देंगे, यह कौन कह सकता है? इस कारण इस साधनमें रूप या मूर्तिका ध्यान नहीं है। अतः 'नाम' का आश्रय करना ही सहज उपाय है। 'नाम' का आश्रय करनेसे 'नाम' में ही 'नामी' अर्थात् श्रीभगवान्‌का सन्धान मिलता है—रूप-दर्शन होता है। 'नाम' हीमें 'नामी' का रूप रहता है। 'नाम' ही 'नामी' का रूप या मूर्ति है। 'नाम', 'नामी' एक हैं। 'नाम'-साधनकालमें श्रीभगवान् कृपापूर्वक अपनी अनन्त विभूतियों—अनन्त रूपोंमेंसे जिस रूपमें दर्शन दें, उसीका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पूजन-प्रणमन करना होता है। आसक्त या आबद्ध नहीं होना चाहिये — धैर्यके साथ 'नाम'-साधन-पथ अवलम्बन करके अग्रसर होना चाहिये। 'नाम'-साधन करते रहना चाहिये। अन्यथा लक्ष्यपर पहुँचनेमें विलम्ब हो सकता है।

अजपा-साधक प्रथमतः श्वास-प्रश्वासमें 'नाम'-जपका अभ्यास करता है। साधनकी अवस्थामें साधकको कभी-कभी नाममें अरुचि पैदा हो जाती है, 'नाम' नीरस—शुष्क प्रतीत होता है। नाम-जप ही इस रोगकी ओषधि है। जैसे पित्त रोगकी ओषधि मिश्री है, पित्तदोषसे विकृत जीभको आरम्भमें मिश्री भी कड़वी ही लगती है, फिर भी मिश्री ही खानी पड़ती है, पीछे ज्यों-ज्यों पित्तदोषका नाश होता है त्यों-त्यों क्रमशः वह मीठी लगने लगती है; वैसे ही नाममें अरुचि होनेपर प्रयत्नपूर्वक 'नाम'-जप ही करते रहनेसे क्रमशः 'नाम' अच्छा लगने लगता है—'नाम'में रुचि होती है और 'नाम' सरस-मधुर प्रतीत होता है। इस प्रकार श्वास-प्रश्वासके साथ 'नाम'-जप करते-करते 'नाम' श्वास-प्रश्वासके साथ घुल-मिल जाता है। तब श्वास-प्रश्वास 'नाम' छोड़कर और काम कर ही नहीं सकते। 'नाम' के लिये भी श्वास-प्रश्वासका सङ्ग त्याग करना सम्भव नहीं होता। उस समय श्वास-प्रश्वास ही 'नाम' और 'नाम' ही श्वास-प्रश्वास हो जाता है। 'मैं 'नाम'-जप कर रहा हूँ', यह अनुभव या बोध भी नहीं रहता। श्वास-प्रश्वास चलनेसे 'नाम' चलता रहता है। इस प्रणालीके अनुसार 'नाम'-जपका अभ्यास करनेसे प्राणायामकी क्रिया अपने-आप होती रहती है। क्रमशः मनका चाञ्चल्य नष्ट हो जाता है, चित्त-वृत्तिका निरोध होकर मन स्थिर हो जाता है। मन स्थिर होनेसे श्वास-प्रश्वास भी स्थिर होकर कुम्भक हो जाता है। क्रमशः 'नाम'-जप बंद होता है। फिर 'नाम' और नहीं चलता—'नाम'-जप नहीं होता। साधक उस समय 'नाम'-दर्शन करता है। इस तरह 'नाम-धारणा' 'नाम-ध्यान' में पर्यवसित होती है। यह कुम्भक स्थायी—पक्का होनेसे क्रमशः संस्कारमुक्त होकर अन्नमय आदि पञ्चकोषोंके भेदके बाद 'नाममय हम' और 'नाममय नामी' का भिन्न बोध रहनेतक सविकल्प और अभिन्न होनेपर 'नामी' अर्थात् श्रीभगवान्‌की सम्पूर्ण शरणागति होनेपर निर्विकल्प-समाधि या पराशान्ति प्राप्त होती है। यही वैष्णवोंका श्रीभगवान्‌के श्रीचरणोंमें आत्मसमर्पण, योगियोंकी निर्विकल्प समाधि और बौद्धोंका निर्वाण है। किन्तु इन सबका मूल है श्रीभगवान्‌की कृपा। कातरभावसे उनकी ओर ताकते हुए उनके भुवन-मङ्गल जग-पावन 'नाम' को श्रद्धापूर्वक लेते रहनेका प्रयत्न करना चाहिये—उनसे प्रेम करना चाहिये।

इस अजपा 'नाम'-साधनाका अवलम्बन करके तपस्या करनेसे सर्वप्रथम आत्माका संस्कार-आवरण कभी कभी भगवत्-कृपासे हट जाता है एवं महापुरुष और देव-देवियोंके दर्शन होते हैं। परन्तु इससे हृदयका कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। कुल-देवता अथवा साधक जिन देवतासे प्रेम करता है, उन्हींका पहले-पहल प्रकाश होता है। अनन्तर साधनके उत्कर्षके साथ-साथ वेद-पुराणादि समस्त शास्त्र कैसे बने हैं, सृष्टि किस तरहसे हुई है—इत्यादि रहस्य प्रकट होते हैं और धीरे-धीरे आत्मा माया या संस्कारसे मुक्त हो जाता है। समस्त 'नामी'मय, 'ब्रह्म'मय हो जाता है। क्रमशः भगवल्लीलाके दर्शन होते हैं। साधक और सिद्धकी इन सब अवस्थाओंको भाषामें व्यक्त करना असम्भव है। आर्य ऋषिगण इसीको 'अवाङ्मनसगोचर' कह गये हैं। बुद्धदेवकी भाषामें यही 'अचिन्तेयानि' और 'अचिन्ति-तव्यानि' है अर्थात् जो चिन्ताका विषय नहीं है—जिसका चिन्तन किया नहीं जा सकता। श्रीभगवान् ही चरम लक्ष्य हैं।

इस 'नाम-योग' के साथ 'हठयोगादि' का सम्बन्ध-निर्णय

श्वास-प्रश्वासकी क्रिया फेफड़े, हृदय तथा समस्त रक्त-वाहिनी नाड़ियोंके अंदर रक्तके ऊपर होती है और इससे शरीरके प्रत्येक अणु-परमाणुमें भी इसकी क्रिया होती है। गुरूपदिष्ट प्रणालीके अनुसार इस आशुफलप्रद श्वास-प्रश्वास-

प्रयुक्त 'नामयोग' के अभ्याससे क्रमशः हठयोग तथा राजयोगादि सब प्रकारकी योगक्रियाएँ स्वभावतः होती हैं और क्रियाका फल भी देख पड़ता है। कुछ साधारण नियमोंका पालन करके प्रक्रियाके अनुसार यह नाम-साधन करनेसे ब्रह्मचर्य-साधनादि अति सहजमें सध जाते हैं। कठोर ब्रह्मचर्य-व्रतादि साधनका कोई प्रयोजन नहीं होता। किसी प्रकारकी हठयौगिक सहजोली-वज्रोली आदि मुद्राओंकी किञ्चिन्मात्र सहायता बिना ही इस 'नाम'-साधनके द्वारा सुषुम्नापथ अति अल्पायाससे परिष्कृत होकर साधक ऊर्ध्वरेता हो सकता है। सुप्त कुलकुण्डलिनी-शक्तिको जागरित करके, षट्चक्र भेदकर आज्ञाचक्रस्थ पुरुषके साथ योग करानेकी इसमें अमोघ शक्ति है। यह प्रकृति-पुरुषयोग होनेसे शक्तिमान् 'नाम'योगी उसी 'नाम' का आश्रय करके ही श्रीभगवान्‌के स्थान महाशून्यस्थित सहस्रारमें उनके श्रीचरणको प्राप्त करते हैं।

शरीर नीरोग तथा स्वस्थ रखनेके लिये एवं इस 'नाम'-साधनाके सहायकस्वरूप एक प्रकारके गुरुमुखी प्राणायाम और आसन, कुम्भक, त्राटक (पञ्चभूतमें दृष्टि-साधन) प्रभृति कई प्रकारकी योगक्रियाएँ साधककी अवस्था और प्रयोजनके अनुसार श्रीविजयकृष्ण-कुलदानन्द दान कर गये हैं।

नाम-साधकोंके प्रति अमूल्य उपदेश

गोस्वामी विजयकृष्णजीने बङ्गदेशान्तर्गत ढाका-गेंडारिया आश्रमस्थित अपने साधन-कुटीरकी दीवारपर 'नाम' साधनके समय 'नाम' में रुचि उत्पन्न करनेमें सहायक जो अनेक उपदेश लिख रक्खे थे, वे नीचे दिये जाते हैं*—

'ऐसा दिन नहीं रहेगा।'

(१) अपनी बड़ाई मत करो। (२) दूसरोंकी निन्दा मत करो। (३) अहिंसा परमो धर्मः (अहिंसा परम धर्म है)। (४) सब जीवोंपर दया करो। (५) शास्त्र और महापुरुषोंपर विश्वास करो। (६) शास्त्र और महापुरुषोंके आचारके साथ जिसका मेल न हो, उस कामको विषवत् त्याग दो। (७) नाहङ्कारात् परो रिपुः। (अहङ्कारसे बढ़कर शत्रु नहीं है।)

सत्यरक्षा और वीर्यधारणके विषयमें गोस्वामी विजयकृष्णजीने साधकोंको विशेषरूपसे सावधान किया है। वीर्यधारण शरीर-रक्षाके विषयमें जैसा सर्वप्रधान कारण है, सत्य भी आत्मरक्षाके लिये वैसे ही अत्यावश्यक है।

शम, सन्तोष, विचार और सत्सङ्गकी आवश्यकता

(१) मनकी साम्यावस्थाको ही 'शम' कहते हैं। (२) सर्वदा सर्व विषयमें सन्तुष्ट रहना ही 'सन्तोष' है। (३) सदा सब अवस्थाओंमें अच्छे-बुरे, सत्-असत्का विचार करना ही प्रकृत विचार है। श्रीभगवान्‌को लक्ष्य करके जो कुछ भी किया जाता है वही सत् है, उसके अतिरिक्त सब असत् है। (४) श्रीभगवान् ही सत् तथा श्रीभगवत्सङ्ग ही सत्सङ्ग है। भगवदाश्रित साधु-सज्जनोंका सङ्ग भी सत्सङ्ग है। सद्ग्रन्थ और शास्त्रादिका पाठ भी सत्सङ्ग है। इस तरहसे ऋषियोंका ही सङ्ग होता है।

इन नियमोंके साथ-साथ और भी चार नियम पालन करनेका उपदेश श्रीविजयकृष्ण-कुलदानन्द दे गये हैं—स्वाध्याय, तपस्या, शौच और दान।

(१) स्वाध्याय केवल अध्ययन नहीं, गुरुदत्त इष्ट मन्त्र या नामका श्वास-प्रश्वाससे जप करना—यही यथार्थ स्वाध्याय है। (२) सब अवस्थाओंमें धैर्यके साथ 'नाम'-साधनमें बार-बार चेष्टा करना ही तपस्या है। (३) शुचि अर्थात् सर्वावस्थामें बाह्य तथा अभ्यन्तर पवित्रता। शरीर और मनको निर्मल, पवित्र रखना ही शौच है। शरीर पवित्र न रहनेसे अन्तःशुद्धि नहीं होती। चित्त शुद्ध न होनेसे 'नाम' में यथार्थ रुचि—श्रीभगवान्‌में श्रद्धा-भक्ति कुछ नहीं होती। (४) प्रतिदिन कुछ-न-कुछ दान करना चाहिये। दया-सहानुभूतिसे ही दान होता है। किसी तरहसे दूसरेके क्लेशोंको दूर करना ही दान है। प्रतिदिन कम-से-कम मीठी बातका ही दान करना चाहिये। ये सभी नियम 'नाम' में रुचि होनेके लिये हैं। 'नाम'में रुचि हो जानेसे और कुछ भी आवश्यक नहीं होता। श्वास-प्रश्वासमें 'नाम'-जप ही एकमात्र सहज तथा सर्वोत्कृष्ट उपाय है।

* श्रीमद् ब्रह्मचारी कुलदानन्द श्रीद्वारा विरचित श्रीश्रीसद्गुरु-सङ्ग (पाँच खण्डमें सम्पूर्ण बँगला ग्रन्थ) का हिन्दी-अनुवाद प्रथम खण्ड द्रष्टव्य। प्राप्तिस्थान—श्रीगौराङ्ग-सुन्दर ता २० नं० महर्षि देवेन्द्रनाथ रोड, कलकत्ता, या 'तारा प्रिंटिङ्ग वर्क्स', बनारस। श्रीव्योमकेशकुमार वि. ए. लिखित बँगला ग्रन्थ 'सद्गुरुसङ्ग कुलदानन्द' और 'Brahmachari Kuladananda', Vol. 1 in English by Benimadhav Barua, M. A., D. Litt. (London), Professor Calcutta University भी पढ़ सकते हैं। प्राप्तिस्थान वही।

इस साधनकी दीक्षा ग्रहण करनेवालोंको कुछ निषेधोंका वर्जन करना पड़ता है। मांस, अंडा, प्याज, उच्छिष्ट और मादक वस्तुका सम्पूर्णरूपसे त्याग करना आवश्यक है।

एक मासमें सिद्धि-लाभ करनेका उपाय-निर्देश

इस अजपा नामसाधनद्वारा एक मासमें सिद्धि पानेकी एक प्रणाली गोस्वामी विजयकृष्णजीने निर्देश की है। श्रीश्रीसद्गुरुसङ्ग (प्रथम खण्ड) में लिखा है—वे कहते हैं कि—'एक मास काल-व्यवस्थानुरूप नियममें रहकर निर्दिष्ट प्रणालीके अनुसार कोई साधन करे तो अवश्य ही उसे सिद्धि प्राप्त हो जाय। यदि किसीको यह आशङ्का अथवा आक्षेप हो कि सिद्धि प्राप्त होनेके पहले ही शरीर छूट जायगा तो, उसकी इच्छा होनेसे, वह सहजमें ही एक महीनेतक नियमोंकी रक्षा करके इस प्रणालीसे साधन कर सकता है; सिद्धि अवश्य हो जायगी।

नियम ये हैं—

(१) लोक-सङ्ग त्याग दे। विशेषरूपसे स्त्रियोंका दर्शन, स्पर्श, उनके सम्बन्धमें कुछ भी श्रवण और चिन्तन आदि सम्पूर्णरूपसे वर्जनीय है।

(२) एकान्तमें बहुत ही शुचि-शुद्धभावसे दिनमें एक बार ही अपने हाथसे रसोई बनाकर आतप (बिना उबले हुए चावलों) का भात खाना चाहिये।

(३) शयन-त्याग। बहुत ही अवसाद होनेपर जरूरत हो तो हाथका ही तकिया लगाकर भूमिपर शयन करे।

इन बाहरी नियमोंका पालन करनेके साथ-साथ निर्दिष्ट रीतिसे मुद्रा-बन्ध करे और रात-दिन सिद्धासनसे बैठकर प्राणायाम तथा कुम्भकके साथ प्रणालीके अनुसार 'नाम'-साधन करे। कम-से-कम तीन दिन भी यदि कोई यह साधन कर लेगा तो ऐसी कोई विशिष्ट अवस्था प्राप्त हो जायगी जो औरोंको दुर्लभ है।

यह साधन असाम्प्रदायिक है

श्रीविजयकृष्ण-कुलदानन्दकी 'नाम-साधना' किसी दल या सम्प्रदायविशेषमें आबद्ध नहीं है। हिंदू, बौद्ध, जैन, मुसलमान, ईसाई, पारसी—सभी जाति, सभी धर्म एवं सभी सम्प्रदायके लोग अपनी-अपनी कुल-क्रमागत रीति-नीति, आचार-व्यवहार रखते हुए इस अजपा 'नाम'-साधन-पथका अवलम्बन करके अनायास अग्रसर हो सकते हैं, कोई बाधा नहीं। इसलिये किसी धर्म या सम्प्रदायके साथ इस साधन तथा इसके साधकका कोई विरोध नहीं है। सब हमारे ही भगवान्‌का नाम-साधन कर रहे हैं, यह जानकर सब सम्प्रदायों तथा धर्मोंके लोगोंका ही आदर करना चाहिये; इस साधनकी यही विधि है। श्रीविजयकृष्ण-कुलदानन्दकी 'नाम-साधना' परम औदार्यपूर्ण है।

श्रीविजयकृष्ण वैष्णव थे, परन्तु आधुनिक सम्प्रदायभुक्त वैष्णव नहीं। सनकादि ऋषि जो वैष्णव थे, विजयकृष्ण भी वही आदि सनातन वैष्णव थे। भगवान् श्रीगौराङ्ग महाप्रभु जो वैष्णव थे, विजयकृष्ण भी वही वैष्णव थे। श्रीगौराङ्गने जिस प्रकारसे ईश्वरपुरीजीसे दीक्षा ग्रहणकर तथा केशव भारतीजीसे संन्यास लेकर भी आदिवैष्णव-धर्मका पालन किया था, विजयकृष्णजीने भी वैसे ही मानससरोवरनिवासी परमहंस ब्रह्मानन्दजीसे साधन-दीक्षा ग्रहण करके स्वामी हरिहरानन्द सरस्वतीजीसे संन्यास लेकर सनातन वैष्णव-धर्मका ही पालन तथा पुनः प्रवर्तन किया। उनके संन्यास-आश्रमका नाम स्वामी अच्युतानन्द सरस्वती है, परन्तु जगत्‌में वे गोस्वामी विजयकृष्णके नामसे ही सुपरिचित हैं। मूलतः आदिवैष्णव-धर्म ही विश्वमें एकमात्र धर्म है। सब धर्म-सम्प्रदायोंके धर्म आदि-वैष्णव-धर्मके अन्तर्गत हैं। कुछ साधारण बाहरी नियमोंके भेदाभेदसे ही सम्प्रदायकी सृष्टि हुई है। मूल साधन, चरम साधन श्रीभगवन्नामका सर्वत्र सब सम्प्रदायोंमें एक है। केवल प्रकार और प्रणालीका पार्थक्य है। पृथिवीके सब साधनोंके लक्ष्य सर्वैश्वर्यमय सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् हैं। श्रीविजयकृष्ण-कुलदानन्दके साधन—अजपा-साधनका विशेषत्व 'अप्राकृत शक्तियुक्त नाम' का श्वास-प्रश्वाससे जप करना है। इस साधनके साथ मुसलमान, क्रिस्तान, नानक, बुद्धदेवकी साधन-प्रणालीका अनेकांशमें सादृश्य देख पड़ता है। क्रिस्तानोंके साधनमें 'Breathe the Name of God'—यह उपदेश मिलता है। बौद्ध धर्म-शास्त्रके त्रिपिटक, विशुद्धिमार्ग आदि ग्रन्थोंमें 'कायगता-सति' या देहतत्त्वका अवलम्बन कर साधनप्रणालीमें 'आनापानासति' या श्वास-प्रश्वासमें मनःसंयोग करके साधन करनेका प्रशस्त उल्लेख है। बुद्धदेवने इस साधन-सम्बन्धमें उपदेशके आरम्भमें और अन्तमें कहा है—'एकायनो अयं भिक्खवे निब्बा नस्स·····सच्छि किरियाय, यदिदं चत्तारो सति पट्ठानो।' इत्यादि, अर्थात् निर्वाणलाभके लिये

यही एकमात्र पथ है। किन्तु पार्थक्य यह है कि विदर्शन-भावनाकी जगह विजयकृष्ण-कुलदानन्दके साधनमें प्रारम्भसे ही गुरुदत्त अप्राकृतशक्तियुक्त नाम-जप किया जाता है।

सिक्खोंके भक्ति-ग्रन्थ 'सुखमणि'में 'नानक सो सेवक श्वास-श्वास समारै।' अर्थात् नानक कहते हैं कि वही सेवक हैं, जो श्रीभगवान्‌को प्रति श्वास-प्रश्वासमें स्मरण करते हैं। 'श्वासि-ग्रासि हरिनाम समाल' अर्थात् प्रतिश्वास एवं प्रतिग्रासके साथ हरिनाम स्मरण रखना—इत्यादि वचनों-द्वारा श्वासके साथ नाम-जप करनेकी विधि नानक-पंथियोंमें भी देख पड़ती है। मुसलमान फकीरोंमें भी श्वासके साथ नाम-जप करना देखा गया है।

इस साधनामें गुरु-निष्ठा

'नाम'-दाताके प्रति विश्वास न होनेसे दाताकी दी हुई वस्तु—'नाम'—में श्रद्धा एवं निष्ठा होनी कठिन है। गुरुसे शिष्य जितना प्रेम करेगा, गुरुकी दी हुई वस्तु—'नाम'के प्रति उसका उतना ही प्रेम होगा। सद्गुरु ही भगवान्, भगवान् ही सद्गुरु हैं। यह सद्गुरु-शक्ति समस्त विश्वमें व्याप्त है, किन्तु सर्वत्र प्रकाशित नहीं है। जिसमें प्रकाश है, वही सद्गुरु है; जिसका जो गुरु है, उसका वही सद्गुरु है। गुरुनिष्ठा ही 'नाम'में निष्ठा या 'नामी'में निष्ठा है।

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि॥

गुरुदत्त 'नाम' का श्वास-प्रश्वाससे जप करना ही विजय-कृष्णकुलदानन्दकी 'नाम-साधना' है।

उदासीन-सम्प्रदायका साधन-विधान

(लेखक—श्रीमत् परमहंसपरिव्राजकाचार्य उदासीनवर्य श्रीपण्डित स्वामी हरिनामदासजी महाराज)

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना।
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम्॥
(श्रीमद्भा० ३।२५।१८)

'यह पुरुष ज्ञान, वैराग्य और भक्तिसे युक्त अन्तःकरणके द्वारा अपनेको उदासीन देखता है और प्रकृतिकी शक्तिको क्षीण हुई देखता है।'

उदासीन-सम्प्रदायमें इसी लक्ष्यको सामने रखकर ध्यान-समाधि लगाते हैं। उदासीन-सम्प्रदायकी साधना तीन प्रकारकी है—वाचिक, मानसिक और कायिक।

वाचिक साधना वह है, जो वाणीसे की जाती है अर्थात् जनसाधारणके सामने की जाती है। इसका उपयोग जनताको ईश्वरके ध्यानमें लगाना है।

वाणीको मौन करके जो साधना मनके द्वारा की जाती है अर्थात् जिसके द्वारा जनताका ध्यान ईश्वरकी ओर आकर्षण किया जाता है, उसे मानसिक साधना कहते हैं।

स्वयं समाधि लगाकर और जनतासे लगवाकर जो साधना की जाती है, उसे कायिक साधना कहते हैं।

साधनाके और भी दो भेद हैं। एक साधना वह है जो अपने-आप करनेके लिये होती है और दूसरी वह जो जन-समुदायसे करानेके लिये होती है। जो साधना अपने लिये की जाती है, उसे स्वयं-साधना कहते हैं और जो जनसमुदायके लिये की जाती है, उसे परसाधना कहते हैं। दोनोंमें ईश्वर-चिन्तन होता है। अपने लिये साधना करनेमें अपने-आपको लाभ होता है और दूसरोंके लिये करनेमें दूसरोंका लाभ है। जो साधन उदासीनभावसे अकेले बैठकर किया जाता है, उसे सत्य-साधन कहते हैं और जिसे उदासीन सबके लिये मिलकर अथवा अकेले ही करें, उसे धर्म-साधन कहते हैं। अथवा सत्य वस्तुकी उपासना (भक्ति, ज्ञान, वैराग्य) का नाम ही सत्य-साधन है और दृढ प्रतिज्ञापूर्वक धर्मका पालन करना ही धर्म-साधन है।

इनके अतिरिक्त साधनका एक प्रकार और है, जो शारीरिक कष्टके साथ किया जाता है। उसे तप-साधन कहते हैं। उक्त साधनाओंमेंसे किसी साधनामें निरन्तर लगे रहना भी तप है। इस साधनके द्वारा मनचाहा फल मिलता है।

साधनका लौकिक फल शारीरिक सुख है और पारमार्थिक फल ज्ञानकी प्राप्ति है। तभी नारदजीके पूछनेपर यमराजने कहा कि उदासीन नरकमें नहीं जाते—

ज्ञानवन्तो द्विजा ये च ये च विद्यापरङ्गताः ।
उदासीना न गच्छन्ति स्वाम्यर्थे च हता नराः ॥
(वाराहपुराण, नाचिकेतास्यान अ० २०७)

अर्थात् ज्ञानवान् ब्राह्मण, विद्याके पार पहुँचे हुए लोग, उदासीन तथा स्वामीके निमित्त प्राणत्याग करनेवाले नरकमें नहीं जाते ।

उपर्युक्त साधनोंका ज्ञान गुरुके उपदेश तथा सत्सङ्गसे प्राप्त होता है, तथा उदासीन संतोंकी सेवा करनेसे भी उसकी उपलब्धि होती है । तीर्थाटनसे अर्थात् तीर्थोंमें जो महात्मा रहते हैं, उनके सत्सङ्गसे भी महान् लाभ होता है और देश-कालका ज्ञान होकर अनुभव बढ़ता है । सत्सङ्गी पुरुषोंको सदाचारसे रहना पड़ता है—जिससे शरीर और मनकी शक्ति बढ़ती है, वीर्यकी स्थिरता होती है, ज्ञानके साथ-साथ प्रेमकी मात्रा भी बढ़ती है और साधक सांसारिक विषयोंसे उदासीन होकर आत्मज्ञानमें रत हो जाता है । यही मोक्षका साधन है अर्थात् उदासीन लोग इसी साधनसे मोक्षकी प्राप्ति मानते हैं । लौकिक और पारमार्थिक दोनों प्रकारकी उन्नति इस साधनसे हो सकती है । इस साधनके द्वारा मनुष्य दूसरोंको भी मोक्षके मार्गमें लगा सकता है । इन साधनोंसे कई उदासीन योगाभ्यासी हो जाते हैं, जिससे जीवितावस्थामें ही चित्तकी स्थिरता हो जाती है । प्राण रोकनेसे योगाभ्यासी सिद्ध हो जाता है—जिससे वह शारीरिक बल, धन, विद्या, बुद्धि आदिसे सम्पन्न होकर भी संसारमें जलमें कमलकी भाँति निर्लेप रहता है तथा औरोंको भी उपर्युक्त गुणोंसे सम्पन्न करता है और अन्तमें मोक्षको प्राप्तकर जन्म-मरणसे रहित हो जाता है ।

इस प्रकार उदासीन-सम्प्रदायमें साधनाका विधान सृष्टिके आदिसे (जबसे उदासीन-सम्प्रदाय चला है) बराबर चला आ रहा है । उदासीन-सम्प्रदाय सनातनधर्मी होनेके कारण पञ्चदेवोपासक है; अतः किसी भी देवताकी उपासनासे उसका विरोध नहीं है । यही वेदानुकूल सनातनधर्मका पक्का सिद्धान्त है ।

उदासीनोंमें हंस, परमहंस, कुटीचक और बहूदक—ये चार श्रेणियाँ होती हैं ।

(१) हंस उसे कहते हैं, जो षट्शास्त्रोंका अभ्यास स्वयं करता है तथा दूसरोंको कराता है और उनके सिद्धान्तोंको समझकर भीतर ब्रह्मका अनुभव करनेकी चेष्टा करता है ।

(२) परमहंस उसे कहते हैं, जो मरणपर्यन्त शास्त्रोंका चिन्तन और आत्माका अनुभव करनेमें लगा रहता है और धारणाकी परिपक्वतामें शरीर छोड़ता है ।

(३) कुटीचक उसे कहते हैं जो व्यावहारिक एवं पारमार्थिक दोनों प्रकारका ज्ञान रखता है, नीतिशास्त्रमें कुशल होता है और स्थानधारी होता है ।

(४) बहूदक उसे कहते हैं जो शास्त्रोंका पूर्ण ज्ञाता होकर प्रश्नोत्तरके द्वारा जनतामें धर्मका प्रचार करता है, शास्त्रार्थमें कुशल होता है और मण्डली लेकर या अकेले ही देश-देशान्तरमें भ्रमण करता हुआ धर्मकी सेवा करता है ।

इनके अतिरिक्त उदासीनोंकी एक पाँचवीं श्रेणी भी होती है—जिन्हें 'आतुर' कहते हैं । जनताको दुखी देखकर जो आत्मज्ञानका उपदेश देता है, वही आतुर उदासीन है ।

उदासीनोंमें कायिक, वाचिक एवं मानसिक—तीनों प्रकारके दण्डको ग्रहण करनेवाला ही त्रिदण्डी कहलाता है तथा इनमेंसे किसी एक दण्डको स्वीकार करनेवाला एक-दण्डी कहलाता है । उदासीन-सम्प्रदायमें काष्ठदण्ड धारण करनेका नियम नहीं है । कहा भी है—

वाग्दण्डः कायदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः ।
यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी उदासिनाम् ॥
(अनुभवसहानुभूति अ० २)

दूसरेके पुण्यको कौन ग्रहण करता है ?

आक्रुश्यमानो नाक्रुश्येन्मन्युरेनं तितिक्षतः । आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विन्दति ॥

किसी मनुष्यके निन्दा करनेपर भी जो उसकी निन्दा नहीं करता है और उसकी निन्दाको सह लेता है, वह पुरुष निन्दा करनेवाले पुरुषको भस्म कर डालता है और उसके पुण्यको अपने आप ग्रहण कर लेता है ।

(महा० शान्ति० २९९ । १६)

वैष्णवोंकी द्वादशशुद्धि

भगवान्‌के मन्दिरकी यात्रा करनेसे, उनकी उत्सवमूर्तिका अनुगमन करनेसे तथा प्रेमपूर्वक प्रदक्षिणा करनेसे दोनों चरणोंकी शुद्धि होती है। भगवान्‌की पूजाके लिये पत्र, पुष्प, गन्ध आदिका संग्रह करना दोनों हाथोंकी सर्वश्रेष्ठ शुद्धि है। भगवान्‌के नाम और गुणोंका प्रेमपूर्वक कीर्तन करना वाणीकी शुद्धि है। भगवान्‌की लीला-कथा आदिका श्रवण दोनों कानोंकी शुद्धि है और उनके उत्सवका दर्शन नेत्रोंकी शुद्धि है। भगवान्‌के सामने झुकना तथा उनके चरणोदक, निर्माल्य आदिका धारण करना सिरकी शुद्धि है। भगवान्‌के प्रसादस्वरूप निर्माल्य, पुष्प, गन्ध आदिको सूँघना दोनों नाकोंकी शुद्धि है। भगवान्‌के प्रसादस्वरूप जो कुछ होता है, वह तीनों लोकोंको शुद्ध कर सकता है। ललाटमें गदा, सिरमें धनुष और बाण, हृदयमें नन्दक, दोनों हाथोंमें शङ्ख, चक्र चिह्नित करके जो निवास करता है वह कभी अशुद्ध नहीं होता, उसकी कभी दुर्गति नहीं होती। इस द्वादशशुद्धिको जानकर जो इसका अनुष्ठान करते हैं, उन्हें भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त होती है।

स्वरोदय-साधन

(लेखक—पं० श्रीविश्वान्तजी वेदालङ्कार, साहित्यमनीषी)

हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंने मनुष्यमात्रके कल्याणार्थ जिन-जिन आश्चर्यजनक और चमत्कारपूर्ण नानाविध शास्त्रोंकी शोध की थी, उनमेंसे एक 'स्वरोदय-विज्ञान' भी है। यह ठीक है कि अन्य शास्त्रोंकी तरह यह भी आजकल लुप्तप्राय हो चुका है, तथापि खोज करनेपर कहीं-न-कहीं इसके विशेषज्ञ मिलते अवश्य हैं। इस शास्त्रके सर्वथा पूर्ण ज्ञाता तो मिलने कठिन हैं, ऐसा हमारा अनुमान है; तथापि जो कुछ उपलब्ध हुआ है, उसपरसे भी इस शास्त्रका बहुत कुछ पुनरुद्धार हो सकता है—ऐसी हमारी मान्यता है। सिर्फ कुछ लोग इस ओर अपना ध्यान आकर्षित करते हुए शोध करनेका प्रयत्न करें तो बहुत सम्भव है कि हम इस शास्त्रको फिर नये सिरेसे जीता-जागता देख सकें। हमें स्वयं इस सम्बन्धमें जो कुछ पता चला है, उसका सार यहाँपर रखनेका प्रयत्न किया है। यदि यह पाठकोंको रुचिकर और लाभप्रद हुआ तथा शोधकोंके लिये कुछ अंशोंमें मार्गदर्शक हुआ तो हम अपना प्रयत्न सफल समझेंगे।

स्वरोदय-विज्ञान अर्थात् श्वासोच्छ्वासकी गतिका ज्ञान

स्वरोदय-विज्ञानका आधार प्रत्येक मनुष्यके नसकोरों (नथुनों)से चलते हुए श्वास-प्रश्वासकी गतिपर ही है। यों तो यह बात बड़ी साधारण-सी प्रतीत होती है; परन्तु इस श्वास-प्रश्वासकी गति कितनी रहस्यपूर्ण और आश्चर्यजनक है—इस बातका पता उस समय चलता है, जब कि हम स्वरोदय-विज्ञानकी मददसे उस ओर लक्ष्य देना शुरू करते हैं। श्वासोच्छ्वासकी शक्ति और सामर्थ्य देखकर किसीको भी आश्चर्य हुए बिना नहीं रह सकता। हमारी प्रत्येक क्रिया तथा तज्जन्य सुख-दुःखादि द्वन्द्व, शारीरिक और मानसिक कष्ट, रोग-व्याधि आदि तमाम प्रकारकी आपत्तियाँ इनसे प्रभावित हैं। ये इनके आने-जानेका हर समय बिना विलम्बके निर्देश करते रहते हैं। इनकी मददसे दुःख दूर किये जा सकते हैं और मनचाहे सुख प्राप्त किये जा सकते हैं। संक्षेपमें मनुष्यके इस शरीर-रूपी रथके सञ्चालनके ये ही सूत्रधार हैं।

श्वास-प्रश्वाससे आयुका सम्बन्ध

साधारणतया मनुष्य प्रति मिनट १३से१५ श्वास-प्रश्वास करता है। इस प्रकार एक रात-दिनमें यानी पूरे २४ घण्टोंमें उनकी संख्या २१६०० तक पहुँचती है। यह संख्या प्रति मिनट जिस प्राणीकी जितनी कम होगी, उसकी उतनी ही आयु अपेक्षाकृत ज्यादा होगी। भिन्न-भिन्न प्राणियोंकी आयु तथा प्रति मिनट श्वासोच्छ्वासकी संख्याकी तुलना करनेसे यह बात स्वयमेव स्पष्ट हो जाती है। कहनेका अभिप्राय यह है कि श्वास-प्रश्वासकी संख्यापर काबू रखनेसे आयु बढ़ायी जा सकती है।

स्वर तथा उसका उदय

यह शायद बहुत थोड़ोंको पता होगा कि हमारे शरीरमें रात-दिन अव्याहत गतिसे चलनेवाला श्वास-प्रश्वास एक ही

साथ एक ही समयमें नासिकाके दोनों नसकोरोंसे नहीं चला करता। वह क्रमशः निश्चित समयानुसार अलग-अलग दोनों नसकोरोंसे चला करता है। एक नसकोरेका निश्चित समय पूरा हो जानेपर वह दूसरेमें जाता है। श्वास-प्रश्वासकी इस गतिका नाम स्वर है तथा उस गतिका एक नसकोरेसे दूसरेमें जाना उसका उदय कहलाता है।

हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंने स्वरोदयकी इस प्रक्रियाका निश्चित रूपसे पता लगाकर उससे किस तरह लाभ उठाये जा सकते हैं, तथा उससे लाभ उठानेके लिये कौन-कौन-से कार्य कब और कैसे करने चाहिये—इन सब विषयोंका निश्चय किया था। तदनुसार हम इस लेखमें खास तौरपर स्वरोंके चलनेके नियम, उन्हें जाननेकी विधि, उनके चलनेकी अवधि, उनके बदलनेकी रीति, उनसे सम्बन्धित पञ्चतत्त्व, कौन-कौन-से कार्य कब करने चाहिये, पुरुष और स्त्रीके स्वरोंमें कोई भेद है या नहीं तथा सुख-दुःख, रोग, आपत्तियाँ, कष्ट, प्रश्नोत्तरी एवं भविष्यज्ञान आदि विषयोंपर संक्षेपसे विचार करनेका प्रयत्न करेंगे।

(१) स्वर चलनेके नियम।

साधारणतया स्वर चलनेका नियम यह है कि शुक्लपक्षकी १, २, ३; ७, ८, ९; १३, १४, १५—इन तिथियोंमें सूर्योदयसे लेकर अमुक निश्चित समयतक वाम नासिकासे, और इसी प्रकार ४, ५, ६; १०, ११, १२—इन ६ तिथियोंमें दक्षिण नासिकासे श्वास चलना चाहिये। और कृष्णपक्षकी १, २, ३; ७, ८, ९; १३, १४, १५—इन तिथियोंमें सूर्योदयसे लेकर अमुक निश्चित समयतक दक्षिण नासिकासे और इसी प्रकार ४, ५, ६; १०, ११, १२—इन ६ तिथियोंमें वाम नासिकासे श्वास चलना चाहिये।

(२) श्वास जाननेकी विधि।

किस समय किस नासिकासे श्वास चल रहा है, यह जानना अत्यन्त सुगम है। उसे जाननेके लिये प्रथम किसी एक नसकोरेको बंद करके दूसरेसे साधारण जोरसे दो-चार बार श्वासोच्छ्वास करना चाहिये। फिर इसी तरह उसको बंद करके दूसरेसे करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे जिस नसकोरेसे श्वासोच्छ्वास करते हुए कुछ रुकावट-सी प्रतीत होती हो उसे बंद तथा दूसरेको खुला समझना चाहिये और उसीसे साँस चल रही है, ऐसा मानना चाहिये।

(३) प्रत्येक नासिकासे श्वासोच्छ्वास होनेकी अवधि

प्रत्येक नासिका-रन्ध्रमें स्वरोदय होनेके बाद वह साधारणतया २½ घड़ीतक विद्यमान रहता है। २½ घड़ी (घटिका) का एक घंटा होता है। अर्थात् जब-जब श्वासोच्छ्वास बदलकर एक नसकोरेसे दूसरेमें जायगा तब वह उसमें लगातार १ घण्टेतक रहेगा और इतनी अवधितक उसीसे चलता रहेगा।

(४) श्वासोच्छ्वासको बदलनेकी रीति।

जब कभी किसी विशेष प्रयोजनवश इच्छानुसार नासिकाका श्वासोच्छ्वास बदलना हो तो उसके लिये सबसे सरल विधि यह है कि कुछ देरके लिये जिस ओरके नसकोरेसे श्वास चल रहा हो, उस ओरकी करवटसे लेट जाओ। थोड़ी देरमें स्वयमेव श्वासोच्छ्वास बदल जायगा। अर्थात् वाम नासिकासे श्वास चलाना हो तो दक्षिण करवटसे लेटना चाहिये और दक्षिण नासिकासे श्वास चलाना हो तो बायें करवटसे लेटना चाहिये।

(५) पञ्चतत्त्व।

स्वरोदयके ज्ञानके साथ साथ पञ्चतत्त्वका ज्ञान होना अनिवार्य है। पञ्चतत्त्वके ज्ञानके बिना स्वरोदयकी बहुत-सी प्रक्रियाएँ पूर्णरूपसे न तो सिद्ध ही हो सकती हैं और न उनका पता ही चल सकता है। स्वरोदयके साथ-ही-साथ पञ्चतत्त्वोंका भी उदय हुआ करता है, यह बात खास ध्यान देने योग्य है। और इसीलिये पञ्चतत्त्वोंका स्वरोदयके साथ किस तरहसे उदय होता है और उन्हें कैसे जाना जाता है, इस विषयका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये यहाँ कुछ प्रक्रियाएँ दी जाती हैं।

पञ्चतत्त्वोंका परिचय तथा ध्यान करनेकी विधियाँ।

योगियोंने ध्यानादि विशेष कार्यसाधनके लिये हमारे शरीरमें अनेक चक्रोंकी कल्पना की है। उन चक्रोंका विशेष उल्लेख पाठकोंको अन्यत्र मिल सकता है, अतः विस्तारभयसे हम यहाँ आवश्यक बातोंका ही संक्षेपसे उल्लेख करेंगे।

(१) पृथिवीतत्त्व—शरीरमें इस तत्त्वका निवास 'मूलाधारचक्र' (Pelvic Plexus) में है। और यह चक्र शरीरमें योनि (गुदा)के पास सीवनीमें सुषुम्णाके

मुखसे संलग्न है। सुषुम्णा यहीं प्रारम्भ होती है। प्रत्येक चक्रका आकार कमलके फूलका-सा होता है। यह चक्र 'भूः' लोकका प्रतिनिधि है। पृथिवीतत्त्वका ध्यान इसी चक्रमें किया जाता है।

पृथिवीतत्त्वका रंग पीला और आकृति चतुष्कोण होती है। इसका गुण गन्ध है और तदर्थ ज्ञानेन्द्रिय नासिका तथा कर्मेन्द्रिय गुदा है। शरीरमें पाण्डु, कमला आदि रोग इसी तत्त्वके विकारसे पैदा होते हैं। भय आदि मानसिक विकारोंमें इसी तत्त्वकी प्रधानता होती है। पृथिवीतत्त्व-जन्य विकार मूलाधारचक्रमें ध्यान स्थिर करनेसे स्वयमेव शान्त हो जाते हैं।

ध्यान-विधि—एक प्रहर रात रह जानेपर शान्त स्थलमें पवित्र आसनपर दोनों पैरोंको पीछेकी ओर मोड़कर उनपर बैठ जाय। दोनों हाथ उलटे करके घुटनोंपर ऐसे रक्खे कि जिससे अँगुलियोंकी नोकें पेटकी ओर रहें। तब नासाग्रदृष्टि रखते हुए मूलाधारचक्रमें—

लं-बीजां धरणीं ध्यायेच्चतुरस्रां सुपीतभाम्।
सुगन्धस्वर्णवर्णत्वमारोग्यं देहलाघवम्॥

अर्थात् 'लं' बीजवाली, चौकोन, पीली पृथिवीका ध्यान करे। इस प्रकार करनेसे नासिका सुगन्धसे भर जायगी और शरीर स्वर्णके समान कान्तिवाला हो जायगा। ध्यान करते हुए पृथिवीके उपर्युक्त तमाम गुणोंको प्रत्यक्ष करनेका प्रयत्न करना चाहिये और 'लं' बीजका जाप करते रहना चाहिये।

(२) जलतत्त्व—यह तत्त्व शरीरस्थ स्वाधिष्ठानचक्र (Hypogastric Plexus) में है। यह चक्र पेड़ू अर्थात् लिङ्ग (जननेन्द्रिय)के मूलमें स्थित है। यह चक्र शरीरमें 'भुवः' लोकका प्रतिनिधि है और उसमें जलतत्त्वका निवास है।

जलतत्त्वका रङ्ग श्वेत और आकृति अर्धचन्द्राकार होती है। इसका गुण रस है और कटु, तिक्त, अम्ल, कषाय आदि तमाम रसास्वाद इसी तत्त्वकी बजहसे होते हैं। इसकी ज्ञानेन्द्रिय जीभ और कर्मेन्द्रिय लिङ्ग है। मोहादि विकार इसी तत्त्वके परिणाम हैं।

ध्यान-विधि—पृथिवी-तत्त्वकी ध्यान-विधिमें प्रदर्शित आसनमें बैठकर—

वं-बीजं वारुणं ध्यायेदर्धचन्द्रं शशिप्रभम्।
क्षुत्पिपासासहिष्णुत्वं जलमध्येषु मज्जनम्॥

अर्थात् 'वं' बीजवाले, अर्धचन्द्राकार चन्द्रमाकी तरह कान्तिवाले जलतत्त्वका उक्त चक्रमें ध्यान करे। इससे भूख-प्यास मिटकर सहनशक्ति पैदा होगी और जलमें अव्याहत गति हो जायगी।

(३) तेज या अग्नितत्त्व—शरीरमें इसका निवासस्थान 'मणिपूरचक्र' (Epigastric Plexus) है। यह चक्र नाभिमें स्थित है और 'स्वः'लोकका प्रतिनिधि है।

अग्नितत्त्वका रंग लाल तथा गुण 'रूप' है। इसकी आकृति त्रिकोण है। इसकी ज्ञानेन्द्रिय आँख और कर्मेन्द्रिय पैर हैं। क्रोधादि विकार तथा सृजन आदिमें इस तत्त्वकी प्रधानता होती है। इस तत्त्वकी सिद्धिसे अपचनादि पेटके विकार दूर हो जाते हैं और कुण्डलिनीका जागरण सरल हो जाता है।

ध्यान-विधि—उपर्युक्त आसनमें बैठकर—

रं-बीजं शिखिनं ध्यायेत् त्रिकोणमरुणप्रभम्।
बह्वन्नपानभोक्तृत्वमातपाग्निसहिष्णुता॥

'रं' बीजवाले, त्रिकोण और अग्निके समान लाल प्रभावाले अग्निका उक्त चक्रमें ध्यान करे। तत्त्व सिद्ध होनेपर अत्यन्त अन्न ग्रहण करनेकी शक्ति, अत्यन्त पीनेकी शक्ति तथा धूप और अग्निके सहन करनेकी शक्ति आ जाती है।

(४) वायुतत्त्व—यह तत्त्व 'अनाहतचक्र' (Cardiac Plexus) में स्थित है। यह चक्र हृदयप्रदेशमें स्थित है और 'महः' लोकका प्रतिनिधि है।

वायुतत्त्वका रंग हरा और आकृति षट्कोण तथा गोल दोनों ही तरहकी मानी गयी है। इसका गुण स्पर्श है तथा ज्ञानेन्द्रिय त्वचा और कर्मेन्द्रिय हाथ हैं। वायु, दमा आदि रोग इसी तत्त्वके विकारसे पैदा होते हैं।

ध्यान-विधि—उसी पूर्वोक्त आसनमें स्थित होकर—

यं-बीजं पवनं ध्यायेद्वर्तुलं श्यामलप्रभम्।
आकाशगमनाद्यञ्च पक्षिवद्गमनं तथा॥

अर्थात् 'यं' बीजवाले, गोलाकार तथा हरी प्रभावाले वायुतत्त्वका उक्त चक्रमें ध्यान करे। इससे आकाशगमन तथा पक्षियोंकी तरह उड़ना आदि सिद्ध होता है।

(५) आकाशतत्त्व—यह तत्त्व 'विशुद्धचक्र' (Carotid Plexus) में स्थित है। इसका स्थान कण्ठ (गला) है। यह चक्र 'जनः' लोकका प्रतिनिधि है।

आकाशतत्त्वका रंग नीला और आकृति अंडेकी तरह लम्बा-गोल है। कोई इसे निराकार भी मानते हैं। इसका गुण शब्द और ज्ञानेन्द्रिय कान तथा कर्मेन्द्रिय वाणी है।

ध्यान-विधि—उसी तरह आसनस्थ होकर—

हं-बीजं गगनं ध्यायेन्निराकारं बहुप्रभम्।
ज्ञानं त्रिकालविषयमैश्वर्यमणिमादिकम्॥

अर्थात् 'हं' बीजका जाप करते हुए निराकार चित्र-विचित्र रंगवाले आकाशका ध्यान करे। इससे तीनों कालोंका ज्ञान, ऐश्वर्य तथा अणिमादि अष्टसिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

इस प्रकार इन उक्त तरीकोंसे सतत नित्यप्रति छः मासतक अभ्यास करते रहनेसे तत्त्व सिद्ध हो जाते हैं। फिर तत्त्वको पहचानना अत्यन्त आसान हो जाता है। इस ध्यानविधिके अतिरिक्त भी कुछ और तत्त्व पहचाननेके विशेष छः तरीके हैं, जिनका संक्षिप्त निर्देश आगे देते हैं।

कुछ विशेष प्रकार।

तत्त्वोंके सम्बन्धमें एक विशेष बात जो कि सर्वदा स्मरण रहनी चाहिये, वह यह है कि स्वरके साथ तत्त्व भी कायम—विद्यमान रहते हैं। और जबतक स्वर एक नसकोरेमें चलता रहता है, तबतक पाँचों स्वर क्रमशः एक-एक बार उदय होकर अपनी-अपनी अवधितक विद्यमान रहनेके पश्चात् अस्त हो जाते हैं।

(१) श्वासकी गति—प्रत्येक तत्त्वके उदयमें नसकोरेसे चलते हुए श्वासकी गति बदलती रहती है और वह इस प्रकार है—

मध्ये पृथ्वी ह्यधश्चापश्चोर्ध्वं वहति चानलः।
तिर्यग्वायुप्रचारश्च नभो वहति संक्रमे॥

अर्थात् यदि नसकोरेके मध्यमें श्वास चल रहा हो तो पृथिवीतत्त्वका, यदि नीचेकी ओरसे चल रहा हो तो जलतत्त्वका, यदि ऊपरकी ओरसे चल रहा हो तो अग्नितत्त्वका, यदि तिरछा अर्थात् एक ओर चल रहा हो तो वायुतत्त्वका, और यदि घूम-घूमकर भँवरकी तरह चल रहा हो तो आकाशतत्त्वका उदय समझना चाहिये।

(२) आकार—प्रत्येक तत्त्वकी अपनी-अपनी विशेष आकृतियाँ हैं, जिनसे कि वे आसानीसे पहचाने जा सकते हैं। यथा—

चतुरस्रं चार्द्धचन्द्रं त्रिकोणं वर्तुलं स्मृतम्।
बिन्दुभिस्तु नभो ज्ञेयमाकारैस्तत्त्वलक्षणम्॥

किसी एक निर्मल दर्पणको लेकर उसपर जोरसे श्वास छोड़नेपर यदि चौकोन आकृति बने तो पृथिवीतत्त्वका, अर्धचन्द्राकार बने तो जलतत्त्वका, त्रिकोण बने तो अग्नितत्त्वका, लम्बा-गोल आकृति बने तो वायुतत्त्वका और बिन्दु-बिन्दु-से दिखायी दें तो आकाशतत्त्वका उदय हुआ समझना चाहिये।

(३) स्थान—जैसा कि ऊपर बता आये हैं, प्रत्येक तत्त्व शरीरमें विद्यमान भिन्न-भिन्न चक्रोंमें स्थित है। इन स्थानोंमें ध्यानपूर्वक देखनेसे उस समय जो तत्त्व उदय होकर विद्यमान होगा, उसका शरीरपर विशेष प्रभाव हुआ होगा।

(४) रंग—प्रत्येक तत्त्वका अपना-अपना खास रंग होता है। और जब-जब वह तत्त्व उदय होता है, तब-तब उस रंगका विशेष प्रभाव रहता है। तत्त्वोंके रंग तथा उसे देखनेकी रीति इस प्रकार हैं—

आपः श्वेताः क्षितिः पीता रक्तवर्णो हुताशनः।
मारुतो नीलजीमूत आकाशो भूरिवर्णकः॥

दोनों हाथोंके दोनों अँगूठोंसे दोनों कानोंके छिद्र, दोनों अनामिकाओंसे दोनों आँखें, दोनों मध्यमाओंसे दोनों नथुने तथा दोनों तर्जनियों एवं कनिष्ठाओंसे मुख बंद करके यदि पीला रंग नजर आये तो पृथ्वीतत्त्वकी, श्वेत रंग नजर आये तो जलतत्त्वकी, लाल रंग नजर आये तो अग्नितत्त्वकी, हरा या बादलका-सा काला रंग नजर आये तो वायुतत्त्वकी और रंग-बिरंगा रंग दिखायी दे तो आकाशतत्त्वकी उपस्थिति समझनी चाहिये।

(५) प्रमाण (लंबाईका माप)—प्रत्येक तत्त्वके उदय होनेपर जिस तरह श्वासकी गतिमें फरक पड़ जाता है, उसी तरह श्वासका प्रमाण भी बदल जाता है। तत्त्वोंके प्रमाण तथा उनको मापनेकी विधि इस प्रकार हैं—

अष्टाङ्गुलं वहेद्वायुरनलं चतुरङ्गुलम्।
द्वादशाङ्गुलमाहेयं षोडशाङ्गुलवारुणम्॥

बारीक पींजी हुई रूई अथवा किसी गत्तेपर अत्यन्त बारीक धूल लेकर उसे जिस नथुनेसे साँस चल रही हो, उसके पास धीरे-धीरे ले जाओ। जहाँपर पहले-पहले थोड़ी-थोड़ी रूई हिलने लगे या धूल उड़ने लगे वहाँ ठहर जाओ और उस दूरीको मापो। यदि वह दूरी १२ अंगुल है तो

पृथ्वीतत्त्वकी, १६ अंगुल है तो जलतत्त्वकी, ४ अंगुल है तो अग्नितत्त्वकी, ८ अंगुल है तो वायुतत्त्वकी और २० अंगुल है तो आकाशतत्त्वकी उपस्थिति समझनी चाहिये।

(६) स्वाद—प्रत्येक तत्त्वका अपना-अपना विशेष स्वाद होता है। यह स्वाद उस-उस तत्त्वकी उपस्थितिमें जीवद्वारा अनुभव किया जा सकता है। यथा—

माहेयं मधुरं स्वादु कषायं जलमेव च।
तिक्तं तेजो वायुरम्ल आकाशः कटुकस्तथा॥

अर्थात् यदि मुखमें मीठा स्वाद जान पड़े तो पृथ्वी-तत्त्वकी, कसैला स्वाद जान पड़े तो जलतत्त्वकी, कड़वा स्वाद जान पड़े तो अग्नितत्त्वकी, खट्टा स्वाद जान पड़े तो वायुतत्त्वकी और तीखा स्वाद जान पड़े तो आकाशतत्त्वकी उपस्थिति जाननी चाहिये।

(६) तत्त्वोंकी अवधि

प्रत्येक तत्त्व उदय होकर कितनी देरतक विद्यमान रहता है, इसकी अवधि इस प्रकार है—

उदय होकर विद्यमान रहनेकी अवधि—

तत्त्वका नाम	पल	मिनट
१. पृथ्वी	५०	२०
२. जल	४०	१६
३. तेज (अग्नि)	३०	१२
४. वायु	२०	८
५. आकाश	१०	४
सर्वयोग	१५०(२½ घड़ी)	६०(१घंटा)

ऊपर दिये गये पल, मिनट आदिका पैमाना इस प्रकार है—

६ श्वासोच्छ्वास= १ पल = २४ सैकंड
६० पल = १ घटिका (घड़ी) = २४ मिनट
२½ घटिका = १ घंटा = ६० मिनट
६० घटिका = १ रात-दिन (अहोरात्र) = २४ घंटे

तत्त्वोंके सम्बन्धमें अबतक जो कुछ वर्णन किया गया है उसका आसानीसे ख्याल आ सके, एतदर्थ हम नीचे तत्त्व-दर्शक तालिका देते हैं।

तत्त्व-दर्शक तालिका

तत्त्वका नाम	स्थान	आकृति	गुण	रंग	स्वाद	बीज	श्वासकी गति	श्वासका प्रमाण	समय पल	समय मिनट
१. पृथ्वी	मूलाधारचक्र	चतुष्कोण	गन्ध	पीला	मधुर	लं	नसकोरेके मध्य भागमें	१२ अंगुल	५०	२०
२. जल	स्वाधिष्ठानचक्र	अर्धचन्द्राकार	रस	श्वेत	कसैला	वं	नसकोरेके निचले भागमें	१६ अंगुल	४०	१६
३. तेज	मणिपूरचक्र	त्रिकोण	रूप	लाल	तीखा	रं	नसकोरेके ऊपरके भागमें	४ अंगुल	३०	१२
४. वायु	अनाहतचक्र	षट्कोण और गोल	स्पर्श	हरा या मेघवर्ण	खट्टा	यं	नसकोरेके एक किनारे	८ अंगुल	२०	८
५. आकाश	विशुद्ध-चक्र	अण्डाकार गोल या बिन्दु-बिन्दु	शब्द	रंग-बिरंगा	कड़वा	हं	आवर्त	२० अंगुल	१०	४

स्वर तथा कार्य

हम जो कुछ आवश्यक कार्य करते हैं, उनमें प्रायः आज-कल चाहिये उतनी सफलता प्राप्त नहीं होती। यदि वे कार्य अमुक निश्चित स्वरकी उपस्थितिमें किये जायँ तो पूर्णतया उनमें सफलता हासिल होती है। स्वरोदयशास्त्रका यह विभाग सर्वसाधारणके लिये बहुत ही उपयोगी है।

हमारा स्वर मुख्यतया वाम तथा दक्षिण नथुनोंसे ही चला करता है, पर कभी-कभी वह सुषुम्णासे भी चलता है। अतः हमारे तमाम कार्य इन तीन विभागोंमें बाँटे गये हैं। प्रत्येक स्वरके साथ तत्त्वोंका गाढ़ सम्बन्ध है, यह हम पहले देख आये हैं। अतः अमुक कार्यके लिये जहाँ अमुक स्वर चाहिये, वहाँ उस स्वरके साथ अमुक निश्चित तत्त्व भी होना चाहिये। अन्यथा कभी-कभी कार्यमें सफलता प्राप्त होनेके बदले उलटा ही परिणाम होता है। तथापि इस सम्बन्धमें

साधारण नियम यह है कि प्रायः तमाम स्थिर व अच्छे कार्य पृथ्वी और जलतत्त्वकी उपस्थितिमें ही करने चाहिये। अब हम आगे एक कोष्ठक देते हैं, जिससे पता चलेगा कि किन-किन कार्योंके लिये कौनसे स्वर, तत्त्व तथा वार होने चाहिये। विस्तारभयसे यहाँपर सिर्फ कार्योंके नाम ही गिनाये गये हैं।

कार्यका नाम	स्वरका नाम	तत्त्वका नाम	वार
१. शान्तिकर्म	वाम स्वर	पृथ्वी, जल या दोनों	सोम, बुध, गुरु या शुक्र
२. पौष्टिक कर्म	,,	,,	,,
३. मैत्रीकरण	,,	,,	,,
४. प्रभुदर्शन	,,	,,	,,
५. योगाभ्यास	,,	,,	,,
६. दिव्यौषधिसेवन	,,	,,	,,
७. रसायनकर्म	,,	,,	,,
८. आभूषण पहनना	,,	,,	,,
९. नवीन वस्त्र पहनना	,,	,,	,,
१०. विवाह	,,	,,	,,
११. दान	,,	,,	,,
१२. आश्रम-प्रवेश	,,	,,	,,
१३. मकान बनवाना	,,	,,	,,
१४. जलाशय	,,	,,	,,
१५. बाग-बगीचा लगवाना	,,	,,	,,
१६. यज्ञ	,,	,,	,,
१७. बन्धु, बान्धव, मित्रादिसे मिलना	,,	,,	,,
१८. ग्राम या शहर बसाना	,,	,,	,,
१९. दूरगमन; यदि दक्षिण या पश्चिम दिशामें जाना हो तो	,,	,,	,,
२०. पानी पीना, पेशाब जाना	,,	,,	,,
२१. कठिन और क्रूर क्रिया	दक्षिण स्वर	,,	मङ्गल, शनि या रवि
२२. शस्त्राभ्यास	,,	,,	,,
२३. शास्त्राभ्यास, दीक्षा आदि	दक्षिण स्वर	पृथ्वी, जल या दोनों	मंगल, शनि या रवि
२४. सङ्गीत	,,	,,	,,
२५. सवारी	,,	,,	,,
२६. व्यायाम	,,	,,	,,
२७. नौकारोहण	,,	,,	,,
२८. यन्त्र, तन्त्ररचना	,,	,,	,,
२९. पहाड़ वा किलेपर चढ़ना	,,	,,	,,
३०. विषय-भोग	,,	,,	,,
३१. युद्ध	,,	,,	,,
३२. पशु-पक्षीका क्रय-विक्रय	,,	,,	,,
३३. काटना-छाँटना	,,	,,	,,
३४. कठोर यौगिक साधना	,,	,,	,,
३५. राजदर्शन	,,	,,	,,
३६. विवाद	,,	,,	,,
३७. किसीके समीप जाना	,,	,,	,,
३८. स्नान	,,	,,	,,
३९. भोजन	,,	,,	,,
४०. पत्रादि लेखनकार्य	,,	,,	,,
४१. ध्यान-धारणा आदि परमात्म-चिन्तन-सम्बन्धी कार्य	सुषुम्णा	×	×

ऊपरकी तालिका अत्यन्त संक्षिप्त है। उसमें सिर्फ कार्योंके नामोंका ही निर्देश किया गया है, उनका विस्तार करने जायँ तो एक खासी पुस्तक तैयार हो जाती है। अतः इतनेसे ही आशा है पाठक सन्तोष मानकर क्षमा प्रदान करेंगे।

ऊपर जो-जो कार्य दक्षिण स्वर तथा पृथ्वी या जल-तत्त्वकी उपस्थितिमें करने योग्य बताये गये हैं, वे बजाय पृथ्वी या जलतत्त्वके अग्नि और वायुतत्त्वकी उपस्थितिमें भी किये जा सकते हैं—ऐसा भी एक पक्ष है। परन्तु सुषुम्णाकी उपस्थितिमें उपरिनिर्दिष्ट कार्य भूलकर भी नहीं करने चाहिये, अन्यथा विपरीत फल होगा।

कुछ कार्योंकी विशेष विधियाँ

हम नीचे दो-चार कार्योंकी विशेष विधियाँ देते हैं। आशा है, उनसे सर्वसाधारण जनताको विशेष लाभ पहुँचेगा और स्वरोदयशास्त्रकी महत्ता ज्ञात हो सकेगी।

(१) कार्यसिद्धिकरण

जब कभी किसीसे कोई मनमाना कार्य करवाना हो या किसीको अपने पक्षमें मनवा लेना हो या कोई भी ऐसा अभीष्ट कार्य सिद्ध करना हो, तो जानेके समय जिस ओरकी साँस चल रही हो उसी ओरका पैर प्रथम उठाकर उससे प्रयाण शुरू करना चाहिए; परन्तु निकलनेके समय सिर्फ पृथ्वी या जलतत्त्व या दोनोंका सङ्गम ही होना चाहिये। फिर जहाँ जाना हो, वहाँ पहुँचकर जिससे काम लेना हो, उसे उस समय अपना जिस ओरका श्वास चल रहा हो, उस ओर रखकर बातचीत प्रारम्भ करनी चाहिये। आपको आश्चर्य होगा कि आपका यदि विरोधी भी हुआ तब भी आपके इच्छानुसार कार्य करेगा। यह विधि एक उत्तम वशीकरण है, इस विधिका निम्नलिखित कार्योंमें उपयोग करनेसे मनमानी सफलता हासिल होती है—

(१) नौकरीकी उम्मेदवारीके लिये जाना, (२) मुकदमेमें वादी, प्रतिवादी या साक्षीके तौरपर जाना, (३) अपने स्वामी, अफसर, हाकिम आदिके पास मुलाकात आदिके लिये जाना—इत्यादि।

(२) गर्भाधान

आगे कुछ संक्षिप्त विधियाँ देते हैं जिससे वन्ध्याको सन्तति होना, इच्छानुसार पुत्र-पुत्रीका उत्पन्न होना आदि कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं।

(क) पुत्र उत्पन्न करना—साधारणतया स्त्रीके ऋतुमती होनेके चौथे दिनसे लेकर १६ वें दिनतकका समय गर्भाधानके लिये उत्तम समझा जाता है। परन्तु इसमें भी गर्भाधानके लिये उत्तरोत्तर दिन उत्कृष्ट माने जाते हैं और प्रथम ३ रातें, अष्टमी, एकादशी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावास्या सर्वथा वर्ज्य हैं।

पुत्र तथा पुत्रीके गर्भाधानके लिये रात्रिके साथ-साथ स्वर और तत्त्व विशेषरूपसे मुख्य हैं। अतः पुत्रकी इच्छा रखनेवालेको नीचे दिये गये कोष्ठकमेंसे कोई-सी रात्रि पसंद करके जब पुरुषकी दक्षिण नासिका और स्त्रीकी वाम नासिका चल रही हो तथा पृथ्वीतत्त्व या पृथ्वी-जलका संयोग हो, तब गर्भाधान करना चाहिये। पुत्र उत्पन्न करनेकी रातें तथा उनका फल इस प्रकार हैं—

१.	ऋतुस्रावसे लेकर		४थी	रात्रिमें	गर्भ	रहनेसे	अल्पायु तथा दरिद्री पुत्र	पैदा	होता है
२.	,,	,,	६ठी	,,	,,	,,	साधारण आयुवाला पुत्र	,,	,,
३.	,,	,,	८वीं	,,	,,	,,	ऐश्वर्यशाली पुत्र	,,	,,
४.	,,	,,	१०वीं	,,	,,	,,	चतुर पुत्र	,,	,,
५.	,,	,,	१२वीं	,,	,,	,,	उत्तम पुत्र	,,	,,
६.	,,	,,	१४वीं	,,	,,	,,	उत्तम गुणसम्पन्न पुत्र	,,	,,
७.	,,	,,	१६वीं	,,	,,	,,	सर्वगुणसम्पन्न पुत्र	,,	,,

(ख) पुत्री उत्पन्न करना—पुत्री पैदा करनेके लिये नीचे दी गयी किसी रात्रिमें जब कि पुरुषकी वाम नासिका और स्त्रीकी दक्षिण नासिका चल रही हो तथा जलतत्त्व या पृथ्वी-जलका संयोग हो, तब गर्भाधान करनेसे कन्या उत्पन्न होती है। रातों तथा रातोंका फल इस प्रकार है—

१.	ऋतुस्रावसे लेकर		५वीं	रात्रिमें	गर्भ	रहनेसे	उत्पन्न	कन्या	पुत्रवती	होती है
२.	,,	,,	७वीं	,,	,,	,,	,,	,,	वन्ध्या	,,
३.	,,	,,	९वीं	,,	,,	,,	,,	,,	ऐश्वर्यवती	,,
४.	,,	,,	११वीं	,,	,,	,,	,,	,,	दुश्चरित्रा	,,
५.	,,	,,	१३वीं	,,	,,	,,	,,	,,	वर्णसङ्कर सन्तति उत्पन्न करनेवाली होती है	
६.	,,	,,	१५वीं	,,	,,	,,	,,	,,	सौभाग्यवती, राजपत्नी	होती है

(३) वन्ध्याके सन्तति

चाहे दिन हो या रात, अगर सुषुम्णा नाडी चलने लगे अथवा सूर्यनाडी (दक्षिण स्वर) चल रही हो और अग्नि-तत्त्वका उदय हुआ हो तो गर्भाधान करनेसे वन्ध्या भी सन्तानवती हो जाती है।

(४) भाग्योदय

जिनको अपना भाग्योदय करनेकी अभिलाषा हो, उन्हें निम्नलिखित कुछ नियम पालन करने चाहिये। इन नियमोंके अनुसार चलनेसे बुरे दिन खुद-बखुद दूर भाग जाते हैं।

(क) रोज कम-से-कम आध घंटा सूर्योदयसे पूर्व उठना चाहिये।

(ख) सबेरे उठनेके समय बिस्तरेपर आँखें खुलते ही जिस ओरकी नाकसे साँस चल रही हो, उस ओरका हाथ मुखपर फेरकर बैठ जाय। तब खाटसे उतरते हुए उसी ओरका पैर पहले-पहल जमीनपर रखकर उतरे। इस प्रकार नित्यप्रति आचरण करनेवाला सर्वदा सुखी बना रहता है।

(५) आग बुझाना

पाठकोंको यह पढ़कर आश्चर्य होगा कि स्वरकी मददसे बड़ी-बड़ी आग भी आसानीसे बुझायी जा सकती है। स्वरकी मददसे आग बुझानेका तरीका इस प्रकार है—

कहींपर भी आग लगनेपर जिस ओर पवनकी गतिसे आग बढ़ रही हो, उस ओर पानीका पात्र लेकर खड़ा हो जाय; फिर जिस नथुनेसे साँस चल रही हो, उससे श्वास अंदर खींचते हुए उसी नथुनेसे थोड़ा-सा पानी पीये। तब उस जलपात्रमेंसे अञ्जलिमें ७ रत्ती पानी लेकर आगपर छिड़के। थोड़ी ही देरमें आग आगे न बढ़ती हुई वहीं बुझ जायगी।

मृत्यु, रोग तथा आपत्तिका पूर्वज्ञान तथा उपाय।

यह पहले बता आये हैं कि स्वरके चलनेका समय तथा दिन निश्चित हैं। परन्तु जब कभी कोई शुभ-अशुभ परिणाम होनेवाला होता है तो स्वरके समय तथा दिनमें परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन दो तरहसे होता है। (१) उलटा स्वर चलना अर्थात् जिस दिन वाम स्वर चलना चाहिये, उस दिन दक्षिण चले और जिस दिन दक्षिण चलना चाहिये, उस दिन वाम चले। (२) इसी प्रकार जितने समयतक वाम और दक्षिण स्वर चलने चाहिये, उतनी देर-तक वे न चलकर निश्चित समयकी अपेक्षा कम या ज्यादा देरतक चलें।

उक्त परिवर्तनोंके शुभाशुभ फल

(क) दिनोंमें परिवर्तन—

(१) यदि शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको वाम स्वर न चल-कर दक्षिण चले तो पूर्णिमातक गर्मीसे कोई रोग होगा या कलह वा हानिकी सम्भावना होगी।

(२) इसी प्रकार यदि कृष्णपक्षकी प्रतिपदाको दक्षिण स्वर न चलकर वाम चले तो अमावास्यातक सरदीसे रोग या हानि आदि कष्टोंकी सम्भावना होगी।

(३) यदि इसी प्रकार लगातार दो पक्षतक उलटे स्वर चलते रहें तो अपनेपर विशेष आपत्ति आनेकी या प्रियजन-की भारी बीमारीकी अथवा उसकी मृत्युकी सम्भावना होगी।

(४) यदि तीन पक्ष लगातार ऐसा होता रहे तो अपनी मृत्युको निकट समझना चाहिये।

(५) यदि सिर्फ ३ दिन ऐसा हो तो कलह या रोगकी सम्भावना होगी।

(६) यदि लगातार एक मास वाम स्वर विपरीत चले तो महारोगकी सम्भावना होगी।

(ख) समयमें परिवर्तन—

यदि स्वरके समयमें परिवर्तन यानी घट-बढ़ हो तो उससे निम्नलिखित शुभाशुभ फल होते हैं। सदा शुभ फल वाम स्वरके परिवर्तनसे तथा अशुभ फल दोनों स्वरोंके परिवर्तनसे हुआ करते हैं, यह बात खास ध्यानमें रखने योग्य है।

शुभ फल

१. चन्द्रस्वर लगातार ४ घड़ी चले तो किसी अचिन्त्य वस्तुकी प्राप्ति होगी।
२. ,, ,, ८ ,, ,, सुखादिकी प्राप्ति होती है।
३. ,, ,, १४ ,, ,, प्रेम, मैत्री आदि प्राप्त होते हैं।
४. ,, ,, एक अहोरात्र चलता रहे तो ऐश्वर्य, वैभव आदिकी प्राप्ति होती है।

५. यदि २ दिनतक आधे-आधे प्रहर दोनों स्वर चलते रहें तो यश और सौभाग्यकी वृद्धि होती है।
६. यदि दिनमें चन्द्र और रातमें सूर्यस्वर कायम चलते रहे तो १२० वर्षकी आयु होती है।
७. यदि ४, ८, १२ या २० दिनतक रात-दिन चन्द्रस्वर चलता रहे तो बड़ी आयु तथा ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं।

अशुभ फल

वामस्वर—यदि वाम स्वर लगातार १० घड़ी चलता रहे तो शरीरमें कष्ट होता है।
,, ,, ,, १२ घड़ी चलता रहे तो अनेक शत्रु पैदा होते हैं।
,, ,, ,, ३, २ या १ दिन चलता रहे तो रोग होते हैं।
,, ,, ,, ५ दिनतक चलता रहे तो उद्वेग पैदा होता है।
,, ,, ,, १ मासतक चलता रहे तो धनका नाश होता है।

सूर्यस्वर—यदि दक्षिण स्वर लगातार ४ घड़ीतक चलता रहे तो कुछ बिगाड़ या वस्तुहानि होती है।
,, ,, ,, ,, २ घड़ीतक चलता रहे तो सज्जनसे द्वेष होता है।
,, ,, ,, ,, २१ घड़ीतक चलता रहे तो सज्जनका विनाश होता है।
,, ,, ,, ,, रात-दिन चलता रहे तो आयु क्षीण होकर मृत्यु होती है।

मृत्युका ज्ञान

स्वरकी सहायतासे शेष आयु या मृत्युका समय जाननेके बहुत-से तरीके हैं, जिनका संक्षेपसे निर्देश इस प्रकार है—

१. यदि ८ प्रहरतक दक्षिण स्वर बिना बदले चलता रहे तो ३ वर्षके बाद मृत्यु होती है।
२. ,, १६ ,, २ वर्षके ,, ,, ,,
३. ,, ३ दिन ३ रात १ वर्षके ,, ,, ,,
४. ,, दिनमें सूर्यस्वर और रातमें चन्द्रस्वर एक मासतक लगातार चलते रहें तो ६ मासमें मृत्यु होती है।
५. ,, २० अहोरात्र सिर्फ दक्षिण स्वर चले तो ३ मासमें मृत्यु होती है।
६. ,, ५ घड़ी सुषुम्णा चलकर न बदले तो उसी समय मृत्यु हो जाती है।
७. जो व्यक्ति अपनी नाक नहीं देख सकता, वह ३ दिनमें मर जाता है।
८. स्नानके बाद जिसके हृदय, पैर और कपाल सूख जाते हैं, वह ३ मासमें मर जाता है।
९. बिना कारणके मोटा आदमी पतला हो जाय या पतला मोटा हो जाय तो १ मासमें मृत्यु होती है।

इसी प्रकार अन्य भी बहुतसे तरीके हैं जिनसे मृत्युका पहलेसे पता चल जाता है परन्तु वे विस्तारभयसे यहाँपर नहीं दिये गये। इस विषयमें एक बात और भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि उपर्युक्त सब-के-सब चिह्न हरेकमें प्रकट नहीं होते। इनमेंसे कोई किसीमें तो कोई किसीमें, इस प्रकार प्रकट होते हैं। परन्तु निम्नलिखित दो चिह्न तो हरेकमें प्रकट होते हैं।

(१) दाहिने हाथकी मुट्ठी बाँधकर नाकके ठीक सीधमें कपालपर रखकर नीचेकी ओर उसी हाथकी कोहनीतक देखनेसे हाथ बहुत ही पतला नजर आता है। अब इस प्रकार देखनेसे जिस रोज हाथकी कलाई नजर न आये और हाथसे मुट्ठी अलग प्रतीत होने लगे, उस दिनसे सिर्फ ६ मास आयु शेष रह गयी है—ऐसा निःसन्देह समझना चाहिये।

(२) आँखें बंद करके अँगुलीसे आँखका एक किनारा दबानेसे आँखके भीतर चमकता हुआ तारा नजर आयगा। जिस दिन यह तारा दीखना बंद हो जाय, उस दिनसे सिर्फ १० दिनमें मृत्यु हो जाती है।

रोगका ज्ञान तथा प्रतीकार

नासिकाके स्वर निश्चित तिथि और समयके अनुसार न चलें तब शरीरमें रोग उत्पन्न होते हैं, इस सम्बन्धमें कुछ निश्चित बातें हम ऊपर दे आये हैं। उनके अनुसार जब शरीरमें गलतीसे रोग हो जायँ तो स्वरोंको ठीक-ठीक चलानेसे वे रोग दूर हो जाते हैं। इस सम्बन्धमें कुछ रोग तथा उनके निश्चित उपाय नीचे दिये जाते हैं।

(१) बुखार—जब शरीरमें हरारत प्रतीत हो, तब जो स्वर चल रहा हो, उसे जितने दिन शरीर पूर्णरूपसे स्वस्थ न प्रतीत हो, उतने दिन बंद रखना चाहिये। नथुनोंमें नरम रूई रख देनेसे अभीष्ट स्वर बंद किया जा सकता है।

(२) सिरदर्द–सिरदर्द मालूम होते ही सीधा लेटकर दोनों हाथोंको नीचेकी ओर लंबा फैला दे। फिर किसीसे दोनों हाथोंकी कोहनियोंको रस्सीसे जोरसे बँधवा ले। ऐसा करनेसे ५–७ मिनटमें तमाम दर्द काफूर हो जायगा। दर्द मिटनेपर रस्सी खोल दे।

यदि आधासीसी हो तो उस हालतमें जिस ओरका सिर दुखता हो, सिर्फ उसी ओरका हाथ बाँधना चाहिये। उस हालतमें दोनों हाथ बाँधनेकी जरूरत नहीं। यदि दूसरे दिन फिर आधासीसीका दर्द मालूम हो और पहले दिन जो स्वर चल रहा था, वही दूसरे रोज भी चलता हो तो हाथ बाँधनेके साथ-साथ वह स्वर भी बंद कर देना चाहिये।

(३) अजीर्ण या बदहजमी–जिन्हें कायम बदहजमी रहती हो, उन्हें चाहिये कि वे सर्वदा दक्षिण स्वरकी उपस्थितिमें भोजन किया करें। इस प्रकार करनेसे धीरे-धीरे पहलेका अजीर्ण मिट जायगा तथा पाचनशक्ति बढ़नेसे खाया हुआ तमाम अन्न पूर्णरूपसे पचता रहेगा। भोजनके पश्चात् १५-२० मिनट बायीं करवट लेटते रहनेसे विशेष जल्दी लाभ हो सकता है।

पुराना अपचन मिटानेके लिये एक और भी उपाय है। वह यह है कि रोज १०-१५ मिनट पद्मासनसे बैठकर नाभिपर दृष्टि स्थिर करनेसे सिर्फ एक ही सप्ताहमें अपचनकी शिकायत दूर हो जाती है।

(४) हिलते दाँत बंद करना–जिनके दाँत हिलते रहते हों या दुःखते रहते हों, उन्हें चाहिये कि वे शौच तथा पेशाबके समय अपने दाँतोंको जोरसे दबाये रक्खें। ऐसा करनेसे दाँतोंकी शिकायत दूर हो जाती है।

(५) अन्य दर्द–छाती, पीठ, कमर, पेट आदि कहींपर भी एकदम दर्द उठनेपर जो स्वर चलता हो, उसे सहसा पूर्ण बंद कर देनेसे कैसा भी दर्द होगा फौरन शान्त हो जायगा।

(६) दमा–जब दमेका दौरा शुरू होने लगे, और साँस फूलने लगे तब जो स्वर चल रहा हो, उसे एकदम बंद कर दे। इससे १०-१५ मिनटमें ही आराम होता हुआ नजर आयेगा। इस रोगका जड़से नाश करनेके लिये लगातार एक मासतक चलते हुए स्वरको बंद करके दूसरा चलानेका अभ्यास नित्यप्रति जितना ज्यादा हो सके उतना करते रहनेसे दमा नष्ट हो जाता है। इस सम्बन्धमें जितना भी अधिक स्वर बदलनेका अभ्यास किया जायगा, उतना अधिक और शीघ्र लाभ हो सकेगा।

कुछ अन्य उपयोगी उपचार

(१) परिश्रमसे उत्पन्न थकावट दूर करनेके लिये या धूपकी गरमीसे शान्त होनेके लिये थोड़ी देरतक दाहिनी करवटसे लेटनेसे थकावट या गरमी दूर हो जाती है।

(२) रोज खाना खानेके बाद लकड़ीकी कंघीसे बाल सँवारनेसे सिरके रोग तथा वायुरोग मिटते हैं और बाल जल्दी नहीं पकते।

(३) रोज आध घंटा पद्मासनसे बैठकर दाँतोंकी जड़में जीभका अग्रभाग जमाये रखनेसे कोई भी रोग नहीं होता और स्वास्थ्य उत्तम बना रहता है।

(४) रोज आध घंटा सिद्धासनसे बैठकर नाभिपर दृष्टि जमानेसे स्वप्नदोष सर्वथा नष्ट हो जाता है। ६ मासतक लगातार इस तरह अभ्यास करनेसे भयङ्कर-से-भयङ्कर स्वप्न-दोष भी सर्वथा दूर हो जाता है।

(५) सबेरे आँखें खुलते ही जिस ओरका स्वर चल रहा हो, उस ओरकी हथेली मुखपर रखकर उसी ओरका पैर प्रथम जमीनपर रखनेसे इच्छासिद्धि होती है।

(६) जिन्हें विशेष अजीर्ण रहता हो, वे सवेरे कुछ भी खानेसे पूर्व पानके पत्तेमें १० तक काली मिर्चें धीरे-धीरे चबाते हुए खायँ। १५-२० रोज इस प्रकार करनेसे अजीर्ण सर्वथा दूर हो जाता है।

(७) खून साफ करनेकी विधि—यदि किसी कारण खून बिगड़ गया हो और शरीरमें खूनके विकारसे फोड़ा-फुंसी निकल आये हों तो कुछ दिन नियमपूर्वक शीतली कुम्भक करनेसे रक्त साफ होकर चर्मरोग नष्ट हो जाते हैं।

(८) जवानी टिकाये रखनेका उपाय—इसके लिये इच्छा-नुसार स्वर बदलनेका अभ्यास करना चाहिये। दिनमें जब भी समय मिले, जो स्वर चल रहा हो उसे फौरन बदलनेका प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकार दिनमें कई बार स्वर बदलते रहनेसे चिरयौवन प्राप्त होता है। इस क्रियाके साथ-साथ यदि प्रातः-सायं विपरीतकरणी मुद्रा भी की जाय तो अकथनीय लाभ होता है।

(९) दीर्घायु प्राप्त करनेका उपाय—प्रायः साँसकी साधारण गतिका प्रमाण बाहर जाते हुए १२ अंगुल

होता है तथा अंदर आते हुए १० अंगुल होता है। श्वास-को एक बार अंदर जाकर बाहर आनेतक साधारण अवस्था-में कुल ४ सेकंड लगते हैं। इस समय तथा गतिके प्रमाण को कम करनेसे मनुष्य दीर्घायु हो सकता है। धातुदौर्बल्य आदि बीमारीवालेकी साँसकी गतिका प्रमाण अधिक तथा समय कम लगता है। मनुष्यकी भिन्न-भिन्न क्रियाओंमें उसकी साँसकी गतिका प्रमाण कितना हुआ करता है, वह नीचे दिया है—

१. गाते हुए श्वासकी गतिका प्रमाण १६ अंगुल होता है।
२. खाते हुए ,, ,, ,, २० ,, ,, ।
३. चलते हुए ,, ,, ,, २४ ,, ,, ।
४. सोते हुए ,, ,, ,, ३० ,, ,, ।
५. मैथुन करते हुए ,, ,, ,, ३६ ,, ,, ।
६. व्यायामादि कठिन परिश्रम करते हुए श्वासकी गति-का प्रमाण इन सबसे ज्यादा बढ़ा हुआ होता है। जो मनुष्य श्वासकी उक्त स्वाभाविक गतिके प्रमाणको जितना-जितना घटा सकता है, वह उतना अपनी आयुको बढ़ाता जाता है। इस विषयकी विशेष तालिका नीचे देते हैं—

१. श्वासकी स्वाभाविक गति जो १२ अंगुलसे घटाकर ११ तक लाता है, उसके प्राण स्थिर हो जाते हैं।
२. ,, ,, ,, ,, ,, १० ,, ,, उसे महा आनन्द प्राप्त होता है।
३. ,, ,, ,, ,, ,, ९ ,, ,, उसमें कवित्वशक्ति आती है।
४. ,, ,, ,, ,, ,, ८ ,, ,, उसे वाक्सिद्धि होती है।
५. ,, ,, ,, ,, ,, ७ ,, ,, उसे दूरदृष्टि प्राप्त होती है।
६. ,, ,, ,, ,, ,, ६ ,, ,, वह आकाशमें उड़ सकता है।
७. ,, ,, ,, ,, ,, ५ ,, ,, उसमें प्रचण्ड वेग आता है।
८. ,, ,, ,, ,, ,, ४ ,, ,, उसे सब सिद्धियाँ प्राप्त होती है।
९. ,, ,, ,, ,, ,, ३ ,, ,, उसे नवनिधियाँ प्राप्त होती है।
१०. ,, ,, ,, ,, ,, २ ,, ,, वह अनेक रूप धारण कर सकता है।
११. ,, ,, ,, ,, ,, १ ,, ,, वह अदृश्य हो सकता है।
१२. ,, ,, ,, ,, ,, प्राणकी गतिका प्रमाण सिर्फ नखाग्र-जितना रह जाता है, उसे यमराज भी नहीं खा सकता अर्थात् वह अमर बन जाता है।

स्त्री और स्वरोदयशास्त्र

कुछ लोगोंके मनमें साधारणतया यह शङ्का पैदा हो सकती है कि स्वरोदय-विज्ञानके विधान स्त्री-पुरुष दोनोंके लिये समानरूपसे हैं या अलग-अलग। इस शङ्काके उठनेका मूल कारण यह है कि स्त्री पुरुषका वामाङ्ग समझी जाती है और उसमें वामाङ्ग प्रधान भी रहता है।

शरीरकी रचनाकी दृष्टिसे चाहे स्त्री पुरुषसे भिन्न हो, परन्तु स्वर-विज्ञानकी दृष्टिसे स्त्री-पुरुष दोनोंके लिये स्वर-सम्बन्धी तमाम नियम समानरूपसे ही लागू होते हैं। अर्थात् उपर्युक्त तमाम वर्णन स्त्री-पुरुषके लिये एक-सा ही समझना चाहिये। स्त्री-पुरुषका भेद स्वरकी दृष्टिसे नहीं है, अपितु अमुक शारीरिक रचनाकी वजहसे ही—ऐसा समझकर सब कार्य करने चाहिये।

इस सृष्टिमें परमात्माने पुरुषको सूर्यका प्रतिनिधि तथा स्त्रीको चन्द्रका प्रतिनिधि बनाया है। अतः पुरुषमें सूर्यप्रधान गुण रहते हैं तथा स्त्रीमें चन्द्रप्रधान। स्वरोदयविज्ञानकी दृष्टिसे इसे हम यों कह सकते हैं कि जब पुरुषकी चन्द्रनाडी चल रही होती है, तब उसमें सूर्यप्रधान गुणोंका प्राबल्य चन्द्रनाडीके प्रभावसे कुछ हलका (mild) हो जाता है। परन्तु जब सूर्य-नाडी चलने लगती है, तब उन्हें पूर्ण बल प्राप्त होनेसे वे उग्र स्वरूप (aggressive form) को प्राप्त करते हैं। ठीक इसी प्रकार स्त्रीकी नाडियोंका हाल है। जब स्त्री-की चन्द्रनाडी चल रही हो, तब समझना चाहिये कि उसमें स्त्रीत्वके गुण पूर्ण अवस्थामें पहुँचे हुए हैं। और जब उसकी सूर्यनाडी चल रही हो, तब समझना चाहिये कि उसके स्त्री-सुलभ गुण कुछ कुछ मन्द अवस्थामें हैं। स्वरज्ञोंने इन्हीं बातोंके आधारपर स्त्री-पुरुषके लिये करनेयोग्य बहुतसे कार्यों-का निश्चय किया है—यथा पुत्र-पुत्रीका इच्छानुसार पैदा करना, गर्भधारण न करना इत्यादि। अस्तु, इस संक्षिप्त

विवेचनका अभिप्राय पाठकोंके लक्ष्यमें आ गया होगा—ऐसी आशा है।

प्रश्नोत्तरी

स्वरकी मददसे प्रश्नोंके उत्तर देना बहुत कुछ अभ्यास-पर निर्भर रहता है। प्रश्न बहुत प्रकारके हो सकते हैं; अतः उन सब तरहके प्रश्नोंका सङ्ग्रह करना कठिन है; तथापि साधारणतया प्रश्नोंके जवाब स्वरोदय-विज्ञानकी मददसे कैसे दिये जा सकते हैं, इस सम्बन्धमें थोड़ी-सी चर्चा करेंगे। प्रश्नोंके जवाब देते हुए स्वर तथा तत्त्वका ख्याल रखना नितान्त आवश्यक है। स्वर तथा तत्त्व ठीक-ठीक मालूम करके जवाब देनेसे उत्तर कभी भी गलत नहीं होंगे।

(१) कार्यके शुभाशुभ फलसम्बन्धी प्रश्न

अमुक कार्यका फल कैसा होगा, ऐसा प्रश्न किया जाय तो—

(क) प्रश्न करते समय यदि पृथ्वी और जलतत्त्वका संयोग या दोनोंमेंसे कोई हो और चन्द्रस्वर चल रहा हो तो उत्तर देने चाहिये कि जो कार्य प्रश्नकर्ता सोच रहा है, वह सफल होगा। परन्तु यदि अग्नि, वायु और आकाश-तत्त्वोंमेंसे कोई हो तो कार्य विफल होगा—ऐसा समझना चाहिये।

(ख) यदि प्रश्नकर्ता उत्तरदाताके दाहिनी ओर आकर बैठकर प्रश्न करे और उस समय उत्तरदाताका चन्द्रस्वर चल रहा हो तो कार्यसिद्धि नहीं होगी।

(ग) परन्तु यदि वामस्वर चल रहा हो और प्रश्नकर्ता भी उसी ओर बैठा हो तो कार्यसिद्धि होगी।

(घ) चन्द्रस्वर चल रहा हो और प्रश्नकर्ता ऊपरसे, सामनेसे या बाँयीं ओरसे प्रश्न करे तो कार्यसिद्धि होगी।

(ङ) प्रश्नकर्ता बायीं ओरसे आकर दाँयीं ओर बैठकर प्रश्न करे और बायाँ स्वर चल रहा हो तो कार्यविनाश समझना चाहिये।

ऊपर जो उत्तर दिये हैं, वे उत्तरदाताके वामस्वर चलते हुए किये जानेवाले प्रश्नोंके हैं। यदि उत्तरदाताका दक्षिण स्वर चल रहा हो तो प्रश्नोंके जवाब देते हुए जहाँ-जहाँ वाम है वहाँ दक्षिण समझकर तदनुसार वही-के-वही जवाब देने चाहिये। इस सम्बन्धमें निम्नलिखित नियम सर्वदा याद रखना चाहिये—

प्रश्नकर्ता जिस ओर आ रहा हो, उसी ओरका उत्तर-दाताका स्वर चल रहा हो तो कार्यसिद्धि समझनी चाहिये; परन्तु पृथिवी या जलतत्त्व होने आवश्यक हैं।

(२) रोगी-सम्बन्धी प्रश्नोत्तर

(क) बायीं ओरसे रोगीके सम्बन्धमें प्रश्न करे और उत्तरदाताका सूर्यस्वर चल रहा हो तो रोगी नहीं बचेगा, ऐसा समझना चाहिये।

(ख) वाम स्वरमें बाँयीं ओरसे ही प्रश्न किया गया हो और पृथिवीतत्त्व हो तो एक मासमें रोगी ठीक हो जायगा, ऐसा समझना चाहिये।।

(ग) सुषुम्णामें स्वर हो तथा गुरुवार हो और वायु-तत्त्व हो तो रोगी मरेगा नहीं। परन्तु शनिवार और आकाश-तत्त्व हो तो उसी रोगसे मर जायगा।

(३) गर्भसम्बन्धी प्रश्न

(क) अमुक स्त्रीके गर्भ रहा है या नहीं, ऐसा प्रश्न बंद स्वरकी ओरसे किया जाय तो गर्भ है—ऐसा समझना चाहिये, अन्यथा नहीं।

(ख) गर्भमें लड़का है या लड़की, इस प्रश्नके जवाबमें प्रश्नकर्ताका यदि बायाँ स्वर चल रहा हो और अपना दक्षिण तो लड़का होकर मर जायगा—ऐसा कहे।

(ग) यदि दोनोंहीके दक्षिण स्वर हो तो लड़का होगा और आनन्द-मङ्गल होगा।

(घ) प्रश्नकर्ताका दक्षिण स्वर हो तथा उत्तरदाताका वाम, तो लड़की होकर मर जायगी।

(ङ) यदि दोनोंका बायाँ स्वर हो तो लड़की होकर जीयेगी।

(च) यदि सुषुम्णामें प्रश्न किया जाय तो गर्भपात होकर माताको कष्ट होगा।

(छ) यदि गर्भसम्बन्धी प्रश्नके समय आकाशतत्त्व होगा तो भी गर्भपात होगा।

(४) प्रवास या परदेशके सम्बन्धमें प्रश्न

क. प्रश्न करते समय पृथिवी-तत्त्व हो तो प्रवासमें कुशलता।
ख. ,, ,, जल ,, रास्तेमें पानीमें बाढ़।

ग. प्रश्न करते समय अग्नि-तत्त्व हो तो प्रवासमें कष्ट।
घ. ,, ,, वायु ,, प्रवासी आगे चला गया है, ऐसा समझे।
ङ. ,, ,, आकाश ,, ,, रोगी हो गया है, ,, ,,।
च. ,, ,, सुषुम्णा और पृथ्वीतत्त्व तथा आकाशका संयोग हो तो प्रवासी मर जायगा।
छ. ,, ,, पृथ्वीतत्त्व हो तो परदेशमें स्थिर है, ऐसा समझे।
ज. ,, ,, जल ,, ,, ,, सुखी है ,, ,,
झ. ,, ,, अग्नि ,, ,, ,, रोगादि कष्टोंसे मुक्त समझे।
ञ. ,, ,, वायु ,, ,, ,, अपने स्थानपर न होता हुआ अन्यत्र गया हुआ है, ऐसा समझे।
ट. ,, ,, आकाश ,, ,, ,, मृत्यु हो गयी है, ऐसा जाने।

(५) युद्धमें गये हुएके सम्बन्धमें प्रश्न

क. यदि पूर्णस्वरसे आकर पूर्णमें पूछे अर्थात् प्रश्नकर्त्ता और उत्तरदाताके स्वर एक हों तो युद्धमें गये हुएकी कुशल जाने।
ख. यदि पृथ्वी-तत्त्व हो तो पेटमें घाव लगा है, ऐसा जाने।
ग. ,, जल ,, ,, पैरमें ,, ,, ,,।
घ. ,, अग्नि ,, ,, छातीमें ,, ,, ,,।
ङ. ,, वायु ,, ,, जाँघमें ,, ,, ,,।
च. ,, आकाश ,, ,, मस्तकमें ,, ,, ,,।
छ. ,, सुषुम्णामें स्वर हो तो मृत्यु या कैद ,, ,,।

यहाँ ऊपर कुछ प्रश्न तथा उनके जवाब देनेके तरीके बताये गये हैं। इस सम्बन्धमें विज्ञ पाठक विस्तारसे स्वयमेव प्रयत्न करके जान सकते हैं। अनुभव उन्हें विशेष विज्ञ बना सकेगा। अस्तु,

स्वरोदय-विज्ञानके सम्बन्धमें बहुत ही संक्षेपसे उपर्युक्त विवरण तैयार किया गया है। इसका विस्तार तथा बहुत-सी अन्य बातें इस लेखमें दी नहीं जा सकती थीं, यह पाठक समझ सकते हैं। अतएव जिज्ञासु विज्ञ पाठक हमें हमारी इस विवशताके लिये क्षमा करेंगे।

सर्वोत्तम साधन—जनसेवा

(लेखक—पं० श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयी)

भगवत्प्राप्तिके अनेक साधन हैं—कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रपत्ति आदि। परन्तु सर्वोत्तम साधन जनसेवा है। दीन-दुखियोंकी सेवा भगवत्प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन है। श्रीमद्भागवतमें स्थान-स्थानपर इसका उल्लेख है और श्रीनाभादासजीने 'भक्त-माल'में अनेक ऐसे भक्तोंके चरित्र दिये हैं, जो जनसेवामें ही लगे रहते थे, इसीको भगवत्प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन समझते थे और जो इसीके द्वारा कृतकृत्य हुए।

इसमें किसी प्रमाणकी जरूरत नहीं है। आपकी आत्मा ही गवाही देगी। जब आप किसी दुःखी जीवकी कुछ मदद करते हैं, तब आपकी आत्मा प्रसन्न होती है और ऐसा लगता है कि मेरे इस कामसे भगवान् प्रसन्न हो रहे हैं।

जनतामें जनार्दनका वास है। चलती-फिरती नारायणकी मूर्तियोंकी अर्चनाका महत्त्व बहुत बढ़कर है। निष्कामभाव-से, भगवत्प्राप्तिका साधन मानकर यदि जनताकी सेवा की जाय—दीन-दुखियोंके दुःख-दर्दमें मदद की जाय—तो भगवान्‌की प्रसन्नताका वह सबसे बड़ा कारण होगा।

आजकल लोग जो जनसेवाका काम करते हैं, उसमें निष्काम मनोवृत्ति नहीं रहती। कुछ-न-कुछ स्वार्थ रहता है। राजनीतिक उत्कर्षकी भावना प्रधानतासे दिखायी देने लगी है। यह सब सकाम कर्म-प्रवृत्ति है। इसीको निष्कामभावसे किया जाय, तो यह सेवा निर्वाणप्राप्तिका प्रबलतम साधन है।

भारतीय संत-समाजका इस युगमें अभीतक इस साधन-की ओर कम ध्यान गया है। आशा है, इसपर विचार किया जायगा।

आरोग्य-साधन

(लेखक—राजज्यो० पं० श्रीमुकुन्दवल्लभजी मिश्र ज्यौतिषाचार्य)

आरोग्यं भास्करादिच्छेत्.....। (श्रीमद्भागवत)

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती व्यख्यन्महिषो दिवम्। (ऋ० १०।१८९)

इस ऊपरके वेदमन्त्रमें स्पष्ट कहा है कि भगवान् सूर्यकी रोचमाना दीप्ति अर्थात् सुन्दर प्रभा शरीरके मध्यमें मुख्य प्राणरूप होकर रहती है। इससे सिद्ध है कि शरीरका स्वस्थ, नीरोग, दीर्घजीवी होना भगवान् सूर्यकी कृपापर निर्भर है; क्योंकि सूर्यकिरणोंके द्वारा ही सारे जगत्में प्राणतत्त्वका सञ्चार होता है। प्रश्नोपनिषद्में लिखा है—

यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। (१।८)

अर्थात् जब आदित्य प्रकाशमान होता है, तब वह समस्त प्राणोंको अपनी किरणोंमें रखता है।

इसमें भी एक रहस्य है। वह यह कि प्रातःकालकी सूर्य-किरणोंमें अस्वस्थताका नाश करनेकी जो अद्भुत शक्ति है, वह मध्याह्न तथा सायाह्नकी सूर्य रश्मियोंमें नहीं है।

उद्यन्नादित्यरश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशः। (अथर्व० ९।८)

वेद भगवान् कहते हैं कि प्रातःकालकी आदित्य-किरणोंसे अनेक व्याधियोंका नाश होता है। सूर्यरश्मियोंमें विष दूर करनेकी भी शक्ति है। 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' —स्वस्थ शरीरसे ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं। एतदर्थ आरोग्यके इच्छुक साधकोंको भगवान् सूर्यकी शरणमें रहना अत्यावश्यक है। सूर्यकी किरणोंमें व्याप्त प्राणोंको पोषण करनेवाली महती शक्तिका निम्नलिखित सहज साधनसे आकर्षण करके साधक स्वस्थ, नीरोग और दीर्घजीवी होकर अन्तमें दिव्य प्रकाशको प्राप्त करके परमपदको भी प्राप्त कर सकता है। आलस्य या अविश्वासके वश होकर इस साधनको न करना एक प्रकारसे आत्मोन्नतिसे विमुख रहना है।

साधन—प्रातःकाल सन्ध्या-वन्दनादिसे निवृत्त होकर पहले प्रहरमें, जबतक सूर्यकी धूप विशेष तेज न हो, तबतक एकान्तमें केवल एक वस्त्र पहनकर और मस्तक, हृदय, उदर आदि प्रायः सभी अङ्ग खुले रखकर पूर्वाभिमुख भगवान् सूर्यके प्रकाशमें खड़ा हो जाय। तदनन्तर हाथ जोड़, नेत्र बंद करके जगच्चक्षु भगवान् भास्करका ध्यान करे। तद्यथा—

पद्मासनः पद्मकरो द्विबाहुः
पद्मद्युतिः सप्ततुरङ्गवाहनः।
दिवाकरो लोकगुरुः किरीटी
मयि प्रसादं विदधातु देवः॥

यदि किसी साधकको नेत्रभान्त्यादि दोष हों तो वह ध्यानके बाद नेत्रोपनिषद्का पाठ भी कर लेवे। तदनन्तर वाल्मीकिरामायणोक्त आर्ष आदित्यहृदयका पाठ तथा 'ॐ ह्रीं हंसः' इस बीजमन्त्रका कम-से-कम पाँच माला जप करके मनमें दृढ धारणा करे कि जो सूर्य-किरणें हमारे शरीरपर पड़ रही हैं और जो हमारे चारों ओर फैल रही हैं, उन सबमें रहनेवाली आरोग्यदा प्राणशक्ति मेरे शरीरके रोम-रोममें प्रवेश कर रही है। नित्य नियमपूर्वक दस मिनटसे बीस मिनटतक इस प्रकार करे। साथ ही घंटा-रण-रणत् स्वरसे ॐकारका उच्चारण ब्रह्मरन्ध्रतक पहुचाना चाहिये। ऐसा करनेसे अनोखा आनन्द तथा दिव्य स्फूर्तियुक्त तेज मिलेगा। यदि किसी श्रद्धालु साधकको कष्टसाध्य अथवा असाध्य उरुक्षत, राजयक्ष्मा अथवा कुष्ठादि रोग अत्यन्त कष्ट दे रहे हों तो उन्हें चाहिये कि उपर्युक्त साधनके साथ-साथ निम्नलिखित काम्य व्रतका भी करे। ऐसा करनेपर मेरा विश्वास है कि निश्चय ही इच्छानुसार लाभ होगा। यह व्रत गुरु-शुक्रास्तादि दोषसे रहित मार्गशीर्ष शुक्लपक्षसे प्रारम्भ करना चाहिये।

व्रती साधकको चाहिये कि रविवारको सूर्योदयसे ५ घड़ी पूर्व उठकर शौचशुद्धिके बाद ताजे या भिगोये हुए अपामार्ग (ओंगा-पुठकंडा) की दाँतनसे मुखशुद्धि करे। तदनन्तर स्नानादि नित्यकर्मसे निवृत्त होकर उपर्युक्त साधन करके भगवान् सूर्यके सम्मुख (चान्द्रमानसे) मार्गशीर्ष हो तो पहले दिनके तोड़े हुए और भगवान्को समर्पण किये हुए केवल तुलसीके तीन पत्रमात्र, पौषमें ३ पल गोघृत, माघमें ३ मुट्ठी तिल, फाल्गुनमें ३ पल गौका दही, चैत्रमें ३ पल गौका दूध, वैशाखमें सवत्सा गौका बदरीफलप्रमाण

(बेर-जितना) गोबर, ज्येष्ठमें ३ अञ्जलि गंगाजल (अभावमें भगवान्‌का चरणामृत), आषाढ़में ३ दाने काली मिर्च, श्रावणमें ३ पल जौका सत्तू, भाद्रपदमें सवत्सा गौका ३ चुल्लू गोमूत्र, आश्विनमें ३ पलमात्र चीनी तथा कार्तिकमें ३ पल* हविष्य भक्षण करे।

ऊपर जो द्वादश मासोंके रविवारोंकी भक्ष्य वस्तुएँ लिखी हैं, उनके अतिरिक्त अन्य वस्तु उस दिन मुखमें न डाले। भक्ष्य पदार्थके भक्षण करनेके अनन्तर आचमन करके मुख-शुद्धि अवश्य करे। जहाँ केवल जलमात्रका ही वचन है, वहाँ आचमनकी आवश्यकता नहीं है। व्रती साधक उस दिन मौनधारणपूर्वक मनमें उपर्युक्त बीजमन्त्रका स्मरण करता हुआ एकान्तसेवन करे और सुबह, दुपहर तथा सन्ध्याके समय रोली, पुष्प और चावलोंसे युक्त जलका अर्घ्य भी अवश्य दे। रात्रिको महामहिम श्रीमदमृतवागभवाचार्य-कृत आत्मविद्यादि सच्छास्त्राध्ययनसे अपनी आत्माको पवित्र करके जमीनपर या काठके तख्ते अथवा चौकीपर पूर्वकी ओर सिर करके सोवे।

साधको! इस रविव्रतसे स्वास्थ्यमें जो वर्णनातीत लाभ होता देखा गया है, वह किसी भी मानवीय औषधसे शतांशमें भी नहीं होता—ऐसा मेरा अनुभव है। यदि कोई साधक इस व्रतको बारह सालतक विश्वासपूर्वक करे तो पूर्णकाम होकर ब्रह्मरूप हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं। यहाँ तो केवल दृढ़ श्रद्धा-भक्तिकी आवश्यकता है। कहाँतक लिखा जाय, कुछ समयतक विधिवत् इस साधनके करनेसे भगवान् भास्करकी कृपाका अद्भुत फल अपने-आप ही प्रत्यक्ष हो जायगा।

स्मरण रहे कि सूर्यके सामने मल-मूत्रका त्याग करना सभीके लिये, खास करके सूर्योपासकके लिये तो सर्वथा निषिद्ध है। रविवारको तैल, स्त्री-संसर्ग तथा नमकीन पदार्थका त्याग करना साधारण रविव्रत कहाता है।

साधनाका मथितार्थ—सेवा

(लेखक—पं० श्रीधर्मदेवजी शास्त्री, दर्शनकेसरी, दर्शनभूषण, सांख्य-योग-वेदान्त-न्याय-तीर्थ)

मनुष्यका परम लक्ष्य है भगवत्प्राप्ति अथवा भगवत्स्वरूपप्राप्ति। सब साधन—योग, तप, ध्यान आदि—उसी लक्ष्यतक पहुँचानेके लिये हैं। साधन स्वयं लक्ष्य नहीं होता, वह तो साध्यप्राप्तिका उपाय भर होता है। भगवान्‌का दर्शन करना कौन नहीं चाहता? भगवान्‌को प्राप्त करनेका अर्थ है पूर्णत्वकी प्राप्ति—उपनिषद्‌के शब्दोंमें 'भूमत्वरूपाधिगति।' विद्या, बल, ऐश्वर्य और आनन्द आदिमें निरपेक्ष स्थितितक पहुँचनेकी इच्छा मानवमात्रकी है। मनुष्यकी इच्छाओंको हम मुख्यतया तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—

१—'मा न भूवं भूयासम्'—अमर जीवन अर्थात् सत्ताकी पूर्णता।

२—मैं सबसे अधिक ज्ञानी बनूँ अर्थात् चितिकी पूर्णता।

३—दुःखके लेशसे भी असंस्पृष्ट सुखप्राप्ति अर्थात् आनन्दकी पूर्णता।

इस प्रकार मनुष्यकी इच्छा है कि वह सच्चिदानन्द बने। सभी मनुष्य, चाहे वे परमात्माको मानते हों अथवा नहीं, उक्त तीन पूर्णताओंको किसी-न-किसी रूपमें चाहते हैं। मनुष्यकी यह प्रकृति है, न चाहते हुए भी वह इससे प्रेरित हो रहा है। 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।' (गीता)

इस प्रकार मनुष्य अपने चरम लक्ष्यको प्राप्त करनेके लिये ही सब कुछ कर रहा है। यह साधना मनुष्य एक ही जन्ममें पूरी नहीं कर पाता—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।' (गीता) अनेक जन्मोंकी सिद्धिके अनन्तर मनुष्य उसे प्राप्त करता है। यदि कोई मनुष्य शरीरको साधनाका साधन न समझकर अपने लक्ष्यको भूल जाय तो वह कोल्हूके बैलकी भाँति अनेक जन्मोंमें भी वहीं-का-वहीं रहेगा। इसलिये अनुभवी महात्माओंने साधकोंको साधनाके साधन और स्वरूप समझाये हैं, जिसमें उनपर आचरण करके कोई भी अपना लक्ष्य प्राप्त कर ले। अनुभवियोंके अनुभव-प्रयोगकी दशाएँ विविध हों, तब भी उनका परीक्षाप्रकार अथवा मथितार्थ एक ही है। और वह है नरके रूपमें नारायणकी सेवा। जिस प्रकार विविध श्रेणियोंमें विषय और पढ़ाईका भेद होता है अथवा एक भी श्रेणीके विद्यार्थियोंको

* एक पल=३ तोले ४ माशेका होता है।

भिन्न-भिन्न अध्यापक अपने ही ढंगसे पढ़ाता है, पर सब अध्ययन-अध्यापनका मथितार्थ एक है, और वह है अक्षर-ज्ञान अथवा व्यवहार-ज्ञान; इसी प्रकार साधनाके रूपमें भी अधिकारिभेद अथवा प्रयोग-भेदसे भेद हो सकता है, परन्तु सबका मथितार्थ है भेदमें अभेदका साक्षात्कार । यह साक्षात्कार भी मानसिक चेष्टामात्र नहीं, अपितु मानव-जीवनका नया कायाकल्प है ।

× × ×

तुम अपने प्राणस्वरूप भगवान्‌का साक्षात्कार करना चाहते हो ? सचमुच तुम्हारी यह हार्दिक अभिलाषा है ? यदि हाँ, तो आओ मेरे साथ चलो । देखो, मैं तुम्हें इस जनाक्रान्त स्थानसे दूर ले जाऊँगा । क्या पूछते हो, कहाँ ले जाओगे ? तुम चले चलो मेरे पीछे-पीछे । लो, यहाँ बाज़ारके चौकमें बड़े-बड़े आलीशान भव्य प्रासाद हैं । पक्की सड़क है । प्रकृतिपर विजय पानेवाले मानवने यहाँ रात्रिको भी बिजलीके प्रकाशसे दिन बना दिया है । इधरसे उधर मोटरें, ट्राम और अन्य विविध यान धनी-मानी व्यक्तियोंको लेकर आ-जा रहे हैं । मैं यहाँ तुम्हें रोकना नहीं चाहता । यहाँ ब्रह्मका अविकृत रूप नहीं दीखेगा, यहाँ उसका मकान नहीं । उच्च अट्टालिकाओंमें वह नहीं मिलेगा । उसे आरामके लिये फ़ुरसत कहाँ ?

जहाँतक तुम्हारी आँखोंको चौंधिया देनेवाली वस्तुएँ दीखें, वहाँतक समझ लेना यहाँ तुम्हारा गन्तव्य नहीं मिलेगा । लो, अब शहरके उस हिस्सेमें आ पहुँचे, जहाँ मानवताकी उपेक्षाने मूर्तरूप धारण कर लिया है । यहाँ रोशनीका कोई इन्तज़ाम नहीं । एक छोटी-सी फूसकी झोंपड़ीमें, जिसमें मुश्किलसे दो चारपाइयाँ आ सकती हैं, छः बच्चोंकी माँ अपने पतिकी इन्तज़ारमें बच्चोंको सान्त्वना दे रही है । घर और उसके रहनेवाले मैले और दुर्गन्धसे युक्त हैं । यहाँ तुम नाकपर कपड़ा न रक्खो ।

तुम्हें तो भगवान्‌के दर्शन करने हैं न ? तो ज़रा अंदर चलो, यहाँ प्रभु मिलेंगे । जहाँ मानवताको ठोकरें पड़ती हैं, जहाँ निर्धनता नग्न ताण्डव करती है, जहाँ भूख और नंगापन साम्राज्य बनाकर रहते हैं, वहाँ तुम्हारा प्रियतम रहता है और मिलता है—दरिद्र, भूखे, नंगे और असहायके शरीरमें लड़खड़ाता हुआ । तुम यदि भगवान्‌को कुछ खिलाना पसंद करते हो तो दरिद्रको नारायण समझकर खिलाओ । यदि तुम भगवान्‌पर वस्त्र चढ़ाना चाहते हो तो ग़रीबकी झोंपड़ीमें जाकर श्रद्धापूर्वक दरिद्रनारायणके चरणोंमें वस्त्रोंकी भेंट चढ़ाओ ।

यदि तुमने साधना की है तो यहाँ उसकी परीक्षा होती है । यह परीक्षा-केन्द्र है । यह साधना-परीक्षा-मन्दिर है । यदि तुम इसमें शत प्रतिशत अङ्क प्राप्त करना चाहते हो तो दरिद्रोंमें, पतितोंमें, भूखों और नंगोंमें तन्मय होकर उनके सेवक बन जाओ । और तुम्हारी परीक्षा पूरी तब होगी जब उस पतितको, निर्धनको, ग़रीबको भगवान्‌के रूपमें स्वयं ही नहीं देखोगे, संसारको दिखा दोगे; जब वह पतित न रहेगा, निर्धन न रहेगा, भूखा और नंगा न रहेगा । यह है भगवान्‌के साक्षात्कारका प्रकार । इसीका नाम है सेवा । ऋग्वेदमें इसीको कहा है—

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा ।

भगवान्‌का यह व्रत है कि उन्होंने अपना घर पतितोंको—जनताको बनाया है । इन्हींको नर-नारायण कहते हैं ।

क्या कहते हो—यह कठिन है ? नहीं, यह तो सबसे सरल मार्ग है । इसका आनन्द भुक्तभोगी ही जानते हैं । स्वयं दरिद्रताको अपनानेमें कितना आनन्द है ? लाखों रुपये कमाकर दरिद्रनारायणके चरणोंमें भेंट चढ़ा देनेमें क्या अनिर्वचनीय आनन्द है—यह तो दूसरेके बतानेकी बात नहीं । 'यूँगे'की रसनाके सदृश अमीचंद बतावे किसे कि हमने क्या रस उड़ाया ?—यह उक्ति उसके मुँहसे निकलेगी जो इस मार्गका पथिक होगा ।

'अज्ञा सखायः सख्यानि जानते ।' (ऋग्वेद)

× × ×

कुछ दिन पहलेकी बात है, हमारे पड़ोसमें एक मोटर-ड्राइवर रहता था । एक दिन सुबह ही मैंने देखा वह अपनी मोटरको साफ़ कर रहा है । मैंने सोचा मोटरमें कुछ ख़राबी आ गयी होगी । दोपहरको जब मैं उधरसे गुज़रा, तब भी सफ़ाई ही हो रही थी ।

क्यों साहब, क्या कर रहे हो ? 'साफ़ कर रहा हूँ ।' शाम-को फिर वही सफ़ाई । 'आखिर, भाई, कर क्या रहे हो ?' 'सफ़ाई ।' उत्तर मिला ।

लगातार कई दिनोंतक यह सफ़ाई होती रही । जब मैंने देखा कि इसकी तो कहीं समाप्ति नहीं, तब मैं

यह कह ही बैठा 'आप मोटरको साफ़ ही करते रहते हैं कि कभी चलाते भी हैं ?'

'यदि चलायेंगे तो मोटर खराब हो जायगी, साहब !' 'तो इसकी अच्छाईका कैसे पता चलेगा ?'

'मैं तो चलानेके लिये सफ़ाई नहीं करता, सफ़ाई सफ़ाईके लिये करता हूँ।' वे बोले। 'तब तो फिर आपका स्थान भूलोकमें नहीं, या तो देवलोकमें अथवा आगरेमें या बरेलीमें।'

× × ×

साधनाका भी उद्देश्य है नर-नारायणके साथ तन्मयताकी तैयारी। इसीको 'आत्मदर्शन' कहते हैं।

जबतक कहीं भी पाप, अनाचार, भूख, नंगापन, दरिद्रता, निरक्षरता, अन्याय और विषमता है, तबतक साधककी साधना चलती ही रहती है, वह अपूर्ण ही है। जो नर-नारायणसे प्रेम नहीं करते, उनका अपमान करते हैं, वे साधनासे कोसों दूर हैं। भगवान्‌के शब्द हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। (गीता)

अर्थात् वे मनुष्य मूढ़ हैं, जो मनुष्यके शरीरमें दृष्टिगोचर होनेवाले (नर-नारायण) मेरा अपमान करते हैं। सेवा ही साधनाका मथितार्थ है और भगवत्प्राप्तिका सुपरीक्षित राजमार्ग है। कलिकालमें तो यह भगवत्प्राप्तिका अनुपम साधन है।

आजकी साधना

(लेखक—बाबा राघवदासजी)

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।'
—गीता

मनुष्यका शरीर और आत्मा—ये दोनों अलग-अलग होते हुए भी जीवन-कालमें एक-दूसरेसे इतने अभिन्न रहते हैं कि इनको दो कहनेमें संकोच होता है। शरीरके स्थूल, सूक्ष्म, कारण या महाकारण—कितने भी भेद किये जायँ, तो भी अजर-अमर आत्मासे उनका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि साधारण मनुष्य अपने चर्म-चक्षुओंसे उनको आत्मासे अलग देखनेमें असमर्थ ही रहता है। आत्माके बारेमें हमारे उपनिषदों और स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने जो कुछ प्रतिपादन किया है, वह संसारके लिये एक अमूल्य देन है। उससे अधिक आत्माके विषयमें कोई क्या कह सकता है? परन्तु शरीरके सम्बन्धमें लोग नित्य नये-नये विचार करते रहते हैं। वर्तमान संसारमें तो शरीरको लेकर नाना प्रकारके विचार हो रहे हैं। आजकल हमलोग जितने 'वाद' या 'इज्म' की बातें पढ़ते-सुनते हैं, वे सब शरीरके सम्बन्धमें किये गये विचार ही तो हैं। 'शरीर' शब्दसे जिस प्रकार आयुर्वेदशास्त्रकथित शरीरका बोध होता है, उसी प्रकार उससे राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अथवा साहित्यिक शरीरका भी बोध होता है। चूँकि आजकल इस भौतिक संसारमें सर्वत्र राजनीतिका ही बोलबाला है, इसलिये हम यहाँ राजनैतिक दृष्टिकोणसे ही शरीर तथा साधनाका यत्किञ्चित् विचार करें तो अनुचित न होगा।

राजनीतिमें आजकल शरीरकी रक्षा तथा विनाशके लिये जितना विचार किया जाता है, उतना शायद ही किसी दूसरे शास्त्रमें किया जाता होगा। वर्तमान महायुद्ध इसका एक सुन्दर उदाहरण है। इन दिनों संसारके बड़े-बड़े आला-दिमाग इसी योजनाके अनुसन्धानमें लगे हुए हैं कि कम-से-कम समयमें लाखों आबाल-वृद्ध नर-नारियोंके शरीर किस प्रकार नष्ट किये जा सकते हैं। इसी तरह दूसरी ओर संसारके अच्छे-अच्छे मस्तिष्क छल-कपट और कूटनीतिके द्वारा अरबोंका व्यापार करके अपने-अपने देशके करोड़ों भाई-बहिनोंके शरीरको किस प्रकार पाला-पोसा जा सकता है, इसका उपाय सोचनेमें लगे हैं। इन परस्परविरोधी उद्योगोंमें मानव-शरीरकी विडम्बना भरी है या स्तुति, यही समझमें नहीं आता।

मनुष्य-शरीरकी जो यह दुर्गति या अन्धपूजा हो रही है, उसे देखकर मनमें यह भाव आता है कि यदि इन दोनोंके बीचका कोई रास्ता—मध्यम मार्ग निकल आता तो उससे जगत्‌का वास्तविक कल्याण होता। यहीं 'साधना' का प्रश्न उपस्थित होता है। संसारके सभी संतोंने—चाहे वे हिंदू हों अथवा बौद्ध, सिक्ख हों या ईसाई, पारसी हों या मुसलमान—एक स्वरसे साधनापर जो विशेष जोर दिया है, वह इसलिये नहीं कि वे इन बड़ी-बड़ी बातोंका प्रचार करके अपनेको पुजावें; बल्कि उनका उद्देश्य यह रहा है कि मानव-शरीरकी अवहेलना तथा उपासनाके कारण

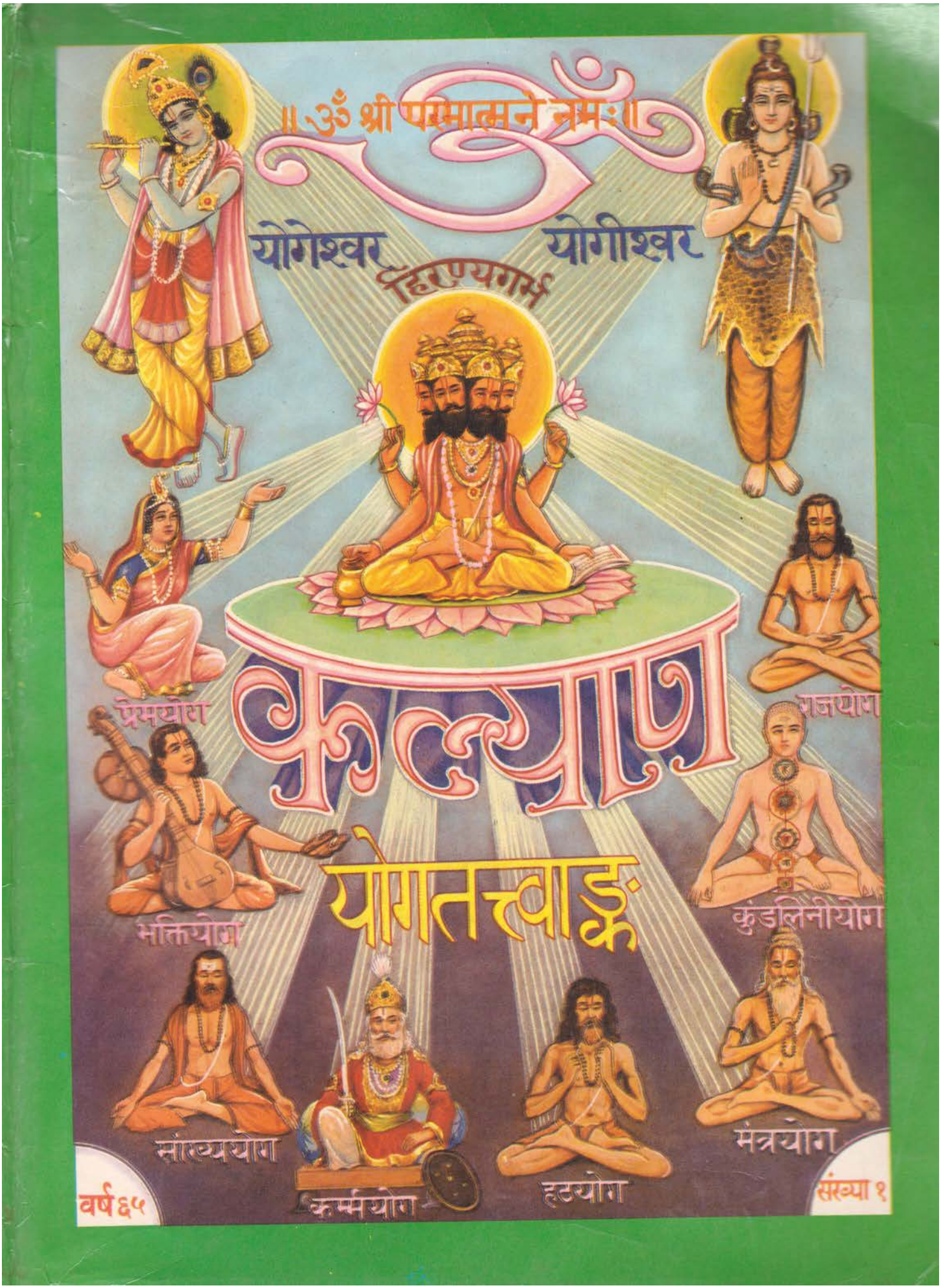
॥ ॐ श्री परमात्मने नमः ॥
योगेश्वर
हिरण्यगर्भ
योगीश्वर
कल्याण
योगतत्त्वाङ्क
प्रेमयोग
राजयोग
भक्तियोग
कुंडलिनीयोग
सांख्ययोग
कर्मयोग
हठयोग
मंत्रयोग
वर्ष ६५
संख्या १

'योगतत्त्वाङ्क'की विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी योगचर्या	१
मङ्गल-स्तवन—	
२-मङ्गल-कामना	२
३-शुभाशंसा और योग-साधना	३
४-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णका संस्तवन	६
५-योगीश्वर शिवमें अनन्य भक्ति-भाव	७
६-महर्षि वसिष्ठजीको नमस्कार	८
७-महायोगी पतञ्जलिको प्रणाम	८
८-भगवती महायोगमायाकी स्तुति	९
प्रसाद-आशीर्वाद—	
९-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके योगविषयक उपदेश ·	१०
१०-पातञ्जलयोगदर्शन	१७
११-योगीश्वर भगवान् शिवके योगोपदेश	२७
१२-महर्षि वसिष्ठकी योग-धारणा	२८
१३-भगवत्पाद आदिशंकराचार्यकी योग-मीमांसा (श्रीसुब्रह्मण्य शर्मा)	२९
१४-अव्यभिचार भक्तियोग (ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)	३१
१५-कर्मयोग और ज्ञानयोग (अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजका सदुपदेश)	३५
१६-योग और धर्माचरण (अनन्तश्रीविभूषित पूर्वाम्नाय गोवर्धन-पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीनिरंजनदेवतीर्थजी महाराज)	३७
१७-सिद्ध पुरुषकी स्थिति	३८
१८-पूज्य देवराहा बाबाके कल्याणकारी उपदेश ··	३९
१९-योगसाधनाकी उपादेयता (अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नायस्थ शृङ्गेरी शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज)	४२
२०-ऋजु-योगकी साधन-प्रक्रिया (ब्रह्मलीन श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)	४४
२१-योग-तत्त्व-रहस्य-मीमांसा (स्वामी श्रीनिश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज)	४७
२२-अध्यात्मपथका उत्तम साधन—योग (अनन्त-श्रीविभूषित ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशी (सुमेरु) पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीशंकरानन्द सरस्वतीजी महाराज)	५०
२३-दर्शनोंके परिप्रेक्ष्यमें योगका स्वरूप और महत्त्व (दण्डी स्वामी श्री १०८ श्रीविपिनचन्द्रानन्द सरस्वतीजी महाराज, 'जज स्वामी')	५२
२४-श्रीशंकराचार्यजीका अद्वैत सम्प्रदाय और उनकी साधनामें योगकी प्रधानता (अनन्तश्रीविभूषित तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीजयेन्द्रसरस्वतीजी महाराज)	५५
२५-अष्टाङ्ग-योग (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	५७
२६-भक्तियोगका वैशिष्ट्य (अनन्तश्रीविभूषित श्रीमद्विष्णुस्वामिमतानुयायि श्रीगोपाल वैष्णव-पीठाधीश्वर श्री १०८ श्रीविट्ठलेशजी महाराज)	६२
२७-भगवन्नामसे प्रेम करो [कविता] (दूलनदास)	६४
२८-मनको वश करनेके कुछ यौगिक साधन (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)	६५
२९-योग-तत्त्व-मीमांसा (श्रीसम्प्रदायाचार्य श्रीभाष्यभगवद्विषय उभयसिंहासनाधिपति विश्वाचार्य श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज 'तर्कशिरोमणि')	७१
३०-अनासक्तियोग [कविता] (स्व० पं० श्रीराम-नारायणदत्तजी पाण्डेय, शास्त्री)	७२
३१-योगः कर्मसु कौशलम् (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)	७३
३२-परो हि योगो मनसः समाधिः (जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य गोस्वामी श्रीललितकृष्णजी महाराज)	७७
३३-नाथसम्प्रदायमें योगसाधना (गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज)	७८

विषय	पृष्ठ-संख्या
३४-केशिध्वज जनककी योगसमीक्षा (पद्मभूषण आचार्य पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय)	८०
३५-जागो [कविता] (धरनीदास)	८३
योग-तत्त्व-विमर्श—	
३६-योगका वास्तविक स्वरूप	८४
३७-योगविद्या (स्वामी श्रीविज्ञानानन्दजी सरस्वती)	८७
३८-योगकी कुछ आवश्यक बातें	९१
३९-योग क्या है ? (श्रीभूपेन्द्रनाथजी सान्याल)	९२
४०-योग और उसके विभिन्न दृष्टिकोण (स्वामी श्रीज्योतिर्मयानन्दजी महाराज) [अनु०—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	९६
४१-योगकी उपादेयता (स्वामी श्रीओंकारानन्दजी सरस्वती महाराज)	१०१
४२-भारतीय संस्कृतिकी एक समृद्ध सम्पत्ति—योग (डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज)	१०३
४३-संसारमें कैसे रहना चाहिये [कविता] (चरनदास)	१०४
४४-योगमाया	१०५
४५-योगज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ (श्रीहरिलाल भोगीलाल त्रिवेदी, वैद्य)	१०६
४६-योग-साधनाके विघ्न और उन्हें दूर करनेके उपाय (पं० श्रीकमलाकान्तजी त्रिवेदी)	११०
४७-योगसे प्राप्त होनेवाली अपरा एवं परा सिद्धियाँ (वेदान्तभूषण पं० श्रीबदरीदासजी पुरोहित) ...	११२
४८-भोगमें योग (काव्यतीर्थ पं० श्रीकृष्णदत्तजी शास्त्री)	११८
४९-योगका महत्त्व (प्रो० डॉ० श्रीसीतारामजी झा 'श्याम' एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्)	१२०
५०-योगसाधनामें प्रणवोपासना (श्रीगंगारामजी शास्त्री)	१२२
५१-गुरु-तत्त्व-साधना (पं० श्रीरामनारायणजी झा, ज्योतिषाचार्य, ज्योतिष-तीर्थ, साहित्यकेसरी, साहित्यशास्त्री)	१२५
५२-शुद्धस्वरूप [कविता] (भीखा साहब)	१२७
५३-गुरु-तत्त्व-विचार	१२८
५४-ब्रह्मचारीजीकी दो बातें (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)	१२९
योगके विविध रूप—	
५५-योगके मुख्य सिद्धान्त	१३१
५६-विरक्त [कविता] (श्रीपंन्यासजी महाराज विजयमाणिक्यरुचिजी यति 'मानिक')	१३२
५७-अष्टाङ्ग-योग (अनन्तश्री स्वामी श्रीमाधवाश्रमजी महाराज, 'शुकदेव स्वामीजी')	१३३
५८-योगचतुष्टय—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग एवं राजयोग (श्रीएकान्तवासी महात्मा)	१३५
५९-संसार-योग (पं० श्रीलक्ष्मणनारायणजी गर्दे)	१४०
६०-शरणागतियोगमें समस्त योगोंका समन्वय (स्वामी श्रीपरमहंसजी महाराज)	१४२
६१-ध्यान [कविता] (श्रीनारायण स्वामी)	१४४
६२-प्रेमयोग	१४५
६३-चित्तकी दशाएँ	१४९
६४-जपयोग (बालयोगी श्रीबालस्वामीजी महाराज (श्री न० रा० निगुडकर) के अनुभवयुक्त विचार)	१५०
६५-मन्त्रयोग-साधना (कविराज पं० श्रीसीता-रामजी शास्त्री 'श्रीविद्याभास्कर')	१५४
६६-मत्युञ्जय-योग	१६०
६७-समाधियोग (श्रीश्रीधर मजूमदार, एम्० ए०)	१६१
६८-नादानुसंधान और लययोग (महामण्डलेश्वर योगिराज १००८ श्रीबर्फानीबाबाजी महाराज) [प्रेषक—श्रीगंगारामजी शास्त्री]	१६५
६९-तारकयोगका रहस्य (आचार्य श्रीधनीदासजी महाराज)	१६८
७०-विश्व-कल्याण-योग (श्रीअनन्तशंकरजी कोल्हटकर बी० ए०)	१६९
७१-क्रियायोगका स्वरूप	१७०
७२-शिक्षाकी दृष्टिसे अष्टाङ्गयोगका महत्त्व (डॉ० श्रीभीष्मदत्तजी शर्मा)	१७२
७३-संत-मतमें सुरत-शब्दयोगकी महत्ता (स्वामी श्रीअच्युतानन्दजी महाराज)	१७५
७४-नामसंकीर्तन-योग (श्रीश्रीधरविनायकजी माण्डवगणे)	१७७

विषय	पृष्ठ-संख्या
७५-व्यक्तियोग ·····	१७८
७६-प्रेमयोग और भावतत्त्व (डॉ० श्रीभवदेवजी झा, एम्० ए० (द्वय), पी-एच्० डी०) ·····	१८०
७७-व्रजगोपियोंकी योगधारणा (श्रीप्रेमनारायणजी त्रिपाठी 'प्रेम') ·····	१८१
७८-जडयोग (श्री 'माधव') ·····	१८२
७९-पातिव्रतयोग (पं० श्रीप्रेमवल्लभजी त्रिपाठी)	१८६
८०-सबसे उत्तम और अन्तिम साधन—बुद्धियोग (श्रीतपोवनस्वामीजी महाराज) ·····	१८९
८१-पूर्ण योग (स्वामी श्रीमित्रसेनजी) ·····	१९३
८२-समत्वं योग उच्यते (सरस्वतीपुत्र श्रीगोपालजी)	१९४
८३-निष्काम-कर्मयोग (श्रीरामकृष्णजी मिश्र, पी०सी०एस्०, अपर आयुक्त 'प्रशासन') ·····	१९७
८४-तिब्बती योग 'लुङ्गोम' एवं आकाश-सञ्चरण-विद्या (श्रीब्रह्मानन्दजी द्विवेदी 'आनन्द') ···	२०१
८५-बिरले योगी [कविता] (स्व० योगिवर्य महात्मा श्रीचिदानन्दजी यति) ·····	२०२
भारतीय वाङ्मयमें योग—	
८६-वेदमें योगविद्या (श्रीजगन्नाथजी वेदालंकार)	२०३
८७-योगोपनिषदोंमें योग-निरूपण (पं० श्रीबटुकनाथजी शर्मा, एम्० ए०, साहित्याचार्य) ·····	२०५
८८-सिद्ध योगी [कविता] (श्रीजगदीशजी झा 'विमल')	२१०
८९-ईशावास्य और इसका कर्मयोग (पं० श्रीलाल-बिहारीजी मिश्र) ·····	२११
९०-तन्त्रमें योग (श्रीअटलबिहारीजी घोष) ····	२१६
९१-शांकरवेदान्तमें योगका महत्त्व (श्रीवेदान्ती स्वामीजी) ·····	२२०
९२-सच्चे गुरुदेव [कविता] (श्रीसुन्दरदासजी) ·	२२१
९३-योगवासिष्ठमें योग (प्रो० डॉ० श्रीभीखनलालजी आत्रेय, एम्० ए०, डी० लिट्०) ·····	२२२
९४-प्राणब्रह्म (योगी श्रीनारायणस्वामीजी महाराज)	२२६
९५-अमर भये [कविता] (स्व० योगिवर्य श्रीआनन्दघनजी 'यति') [प्रेषक—श्रीपंन्यासजी महाराज रीविरैंड] ·····	२२९
९६-श्रीमद्भागवतके योगका वैलक्षण्य (श्रीचतुर्भुजजी तोषनीवाल) ·····	२३०
९७-श्रीमद्भगवद्गीतामें योगका स्वरूप (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ·····	२३३
९८-याद रखो ·····	२३६
९९-चरकसंहितामें योगदर्शन ·····	२३७
१००-स्मृति-वाङ्मयमें योग-निरूपण (डॉ० श्रीबसन्तबल्लभजी भट्ट, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ·····	२४२
१०१-सूर्यविज्ञान (महामहोपाध्याय आचार्य (पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०) ·····	२४७
१०२-मेस्मेरिज्म, हिपनॉटिज्म और योग-विद्या (डॉ० श्रीदुर्गाशंकरजी नागर) ·····	२५४
१०३-ज्योतिष-शास्त्र और योग ·····	२५८
१०४-महाभारतमें योगकी महिमा और स्वरूप (मानसमर्मज्ञ पं० श्रीसच्चिदानन्ददासजी रामायणी) ·····	२६०
१०५-समर्थ रामदास स्वामीके दासबोधके अन्तर्गत योगदर्शन (श्री ग० नी० पुरंदरे, बी० ए०, बी०एस्-सी०, एल्-एल्० बी०) ·····	२६२
१०६-मानसका भक्तियोग (डॉ० श्रीमिथिलाप्रसादजी त्रिपाठी, वैष्णवभूषण, डी० लिट्०)	२६५
१०७-भारतके योग-सम्प्रदाय (डॉ० श्रीशिवशङ्करजी अवस्थी) ·····	२६८
१०८-भगवन्नाम और जपयोग (डॉ० श्रीराकेश-मणिजी त्रिपाठी, एम्० ए०, पी-एच्०डी०)	२७१
१०९-व्याकरणमें योग (आचार्य पं० श्रीआद्याचरणजी झा) ·····	२७४
११०-'योग' जीवनका एक नया अर्थ (डॉ० श्रीराजेन्द्ररंजनजी चतुर्वेदी, डी० लिट्०)	२७५
१११-भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम् (म० म० डॉ० श्रीभागीरथप्रसादजी त्रिपाठी, 'वागीश शास्त्री') ·····	२७६
११२-वियोग (आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी)	२७८

विषय	पृष्ठ-संख्या
विभिन्न धर्म एवं सम्प्रदायोंमें योग-साधना—	
११३-श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें योग-विद्याका स्थान (शास्त्री श्रीमाधवप्रियदासजी वेदान्ताचार्य)	२७९
११४-बौद्धधर्ममें योगकी महत्ता (प्रो० श्रीलालमोहरजी उपाध्याय, एम्० ए०)	२८१
११५-जैनधर्ममें योगविद्या (मुनि श्रीहिमांशुविजयजी न्यायसाहित्यतीर्थ)	२८३
११६-श्रीरामकृष्णकी साधना-पद्धति (डॉ० श्रीसुरेशचन्द्रजी शर्मा)	२८५
११७-सूफी-सम्प्रदायमें हठयोग (डॉ० श्रीरामस्वरूपजी आर्य, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	२८७
११८-दिव्य जीवनका योग [श्रीअरविन्दके पूर्णयोगका विहङ्गम परिचय] (श्रीदेवदत्तजी)	२८९
११९-ईसाई-धर्ममें योगका स्थान (रेवेरेंड एड्विन ग्रीब्ज)	२९२
१२०-जरथोस्ती धर्ममें तीन मार्ग (श्रीएरच जहाँगीर तारापोरवाला)	२९४
१२१-शाक्तागमोंमें योग (श्रीवल्लभदासजी बिन्नानी 'व्रजेश')	२९६
योगसे स्वास्थ्य-लाभ—	
१२२-मुख्य आसन और उनसे लाभ (स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी)	२९७
१२३-यौगिक व्यायाम एवं कुछ सामान्य नियम	३०१
१२४-उदर-सम्बन्धी यौगिक व्यायाम (राजरत्न प्रो० श्रीमाणिकरावजी)	३१०
१२५-उदर-सम्बन्धी आसन और उनसे लाभ	३१५
१२६-कुछ उपयोगी बन्ध एवं मुद्राएँ	३२५
१२७-प्राणायाम और उससे लाभ (कविराज श्रीदाऊदयालजी गुप्त)	३२९
१२८-प्राणायामकी महत्ता और उसका प्रभाव (स्वामी श्रीकुवलयानन्दजी कैवल्यधाम)	३३३
१२९-योगासन और व्याययाममें अन्तर (डॉ० श्री आर० सी० वर्मा)	३३७
१३०-रोगोंका यौगिक निदान एवं चिकित्सा (श्रीसोमचैतन्यजी श्रीवास्तव)	३३८
१३१-योगसाधनाका प्राण ब्रह्मचर्य	३४२
१३२-स्वर-विज्ञान और बिना औषध रोगनाशके उपाय (परिव्राजकाचार्य परमहंस श्रीमत्स्वामी (श्रीनिगमानन्दजी सरस्वती)	३४४
१३३-हठयोगके षट्कर्म (श्रीकमलाप्रसाद सिंह)	३४८
१३४-कर्मयोग [कविता] (कविसम्राट् पं० श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध')	३५४
योगाचार्य और उनकी योगचर्या—	
१३५-योगमूर्ति योगीश्वर भगवान् शिव	३५५
१३६-महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण	३५६
१३७-योगके आदिप्रवर्तक भगवान् हिरण्यगर्भ	३५७
१३८-सनकादि योगीश्वर	३६०
१३९-महायोगी महर्षि मार्कण्डेय	३६०
१४०-योग-वेदान्तके उपदेष्टा महर्षि वसिष्ठ	३६२
१४१-योगशास्त्रके प्रवर्तक महर्षि पतञ्जलि	३६३
१४२-योगके परम आचार्य ऋषिवर घेरण्ड	३६४
१४३-योगशक्ति-स्वरूपा सती माता	३६५
१४४-परमयोगी जगद्गुरु श्रीआदिशंकराचार्यजी	३६७
१४५-योगिराज श्रीगोरखनाथ	३६८
१४६-बिश्नोई-मतके मूल आचार्य सिद्धेश्वर जाम्भोजी (श्रीमाँगीलाल बिश्नोई 'अज्ञात')	३६९
१४७-दक्षिणके महायोगी संत तिरुमूलर (डॉ० श्रीमती राधाकृष्णमूर्ति)	३७०
१४८-महात्मा जरथुस्त्र	३७१
१४९-सौराष्ट्रकी योग-विभूति—महात्मा मस्तरामजी (डॉ० श्रीकमलपुंजाणी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	३७२
१५०-मिथिलाके सिद्ध योगी परमहंस श्रीलक्ष्मीनाथ गोस्वामी (आचार्य डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र)	३७३
१५१-श्रीअच्युतमुनिजी	३७४
१५२-कर्म, ज्ञान और भक्तिकी त्रिवेणी—स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज	३७५

विषय	पृष्ठ-संख्या
१५३-ज्ञानयोगी स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज	३७७
१५४-योगी गुरु परमहंस श्रीमत्स्वामी निगमानन्दजी सरस्वतीदेव (श्रीदुर्योधन प्रधानजी)	३७९
१५५-स्वामी श्रीमहेश्वरानन्दजी सरस्वती महाराज ...	३८०
१५६-वाराणसीके हरिहरबाबा [प्रेषक—आचार्य श्रीबलरामजी शास्त्री, एम्० ए०)	३८१
१५७-योगिराज श्रीदेवराहाबाबाजी [प्रेषक—श्रीमदनजी शर्मा 'शास्त्री')	३८२
१५८-महात्मा ईसा	३८३
१५९-ब्रह्मलीन श्रद्धेय महर्षि मेँहीं परमहंसजी महाराज (श्रीघनश्यामलालदासजी)	३८४
१६०-बाबा किनाराम अघोरी	३८५
१६१-योगी चमत्कारिक शक्ति रखते हैं (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ..	३८६

विषय	पृष्ठ-संख्या
योगसे भगवत्प्राप्ति—	
१६२-भगवत्प्राप्तिमें ध्यानयोगकी महिमा	३८८
१६३-मनपर विश्वास न करो !	३९४
१६४-योगसे भगवत्साक्षात्कार (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	३९५
१६५-योगिराजके प्रति [कविता] (श्रीसरयूप्रसादजी शास्त्री 'द्विजेन्द्र')	३९८
१६६-योगसे भगवत्प्राप्ति (पं० श्रीमाधव बालशास्त्री दातार)	३९९
१६७-योग और भगवान्	४००
१६८-गो-सेवासे तत्क्षण योगसिद्धि	४०२
१६९-योग-साधनाका मुख्य लक्ष्य—धर्म-संस्थापन एवं विश्वकल्याण	४०३
१७०-नम्र निवेदन और क्षमा-प्रार्थना	४०६

गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित पुस्तकोंकी सूची (विशेषाङ्क-पृष्ठ ४०८के बाद)

१-नियमावली	१	५-श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी पुस्तकें	६
२-श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत एवं महाभारत	३	६-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी पुस्तकें	७
३-श्रीतुलसीसाहित्य	४	७-स्वामी श्रीरामसुखदासजीकी पुस्तकें	७
४-बालोपयोगी पुस्तकें	५	8- English Publications	8

(बहुरंगे चित्र)

१-योग और योग-साधना	आवरण-पृष्ठ	५-जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति	१४९
२-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके विविध रूप	१	६-जडयोग	१८४
३-अष्टाङ्ग योग	५७	७-समदर्शी योगी	१९६
४-सप्त ज्ञानभूमिका	१०६	८-अस कहि जोग अगिनि तनु जारा	३६५
		९-भक्तियोगी-ज्ञानयोगी	३८८

(सादे चित्र)

१-स्वामी श्रीविशुद्धानन्द परमहंसजी	२४९	(१३) सर्वाङ्गासन, (१४) अर्ध-मत्स्येन्द्रासन, (१५) अर्धमत्स्येन्द्रासन	३०५
२-यौगिक व्यायाम एवं कुछ सामान्य नियम—			
क-(१) स्वस्तिकासन, (२) समासन, (३) पद्मासन, (४) सिद्धासन, (५) खड़े होकर उड्डीयान, (६) बैठकर उड्डीयान, (७) नौलि (मध्यम), (८) दक्षिणनौलि	३०३	ग-(१६) विपरीतकरणी, (१७) हलासन (प्रथमावस्था), (१८) हलासन (चतुर्थावस्था), (१९) पश्चिमतानासन, (२०) भुजङ्गासन, (२१) अर्धशलभासन, (२२) शलभासन	३०६
ख-(९) वामनौलि, (१०) सिंहासन, (११) वज्रासन, (१२) शीर्षासन,		घ-(२३) सुप्तवज्रासन, (२४) धनुरासन,	

विषय	पृष्ठ-संख्या
(२५) योगमुद्रा, (२६) मयूरासन, (२७) मत्स्यासन, (२८) शवासन	३०७
३-उदर-सम्बन्धी यौगिक व्यायाम—कुल १८ चित्र	३११-३१३
४-उदर-सम्बन्धी आसन और उनसे लाभ—	
क-(१) सोड्डीयान पद्मासन, (२) बद्ध-पद्मासन, (३) बद्धासन, (४) वक्र-बद्धासन, (५) अर्धगर्भासन, (६) गर्भासन, (७) एकपादकंधरासन, (८) लोलासन, (९) भूनमनपद्मासन, (१०) कर्णस्पृष्टजानुपद्मासन, (११) पार्श्व-भूनमनासन, (१२) एकपादपश्चिमतानासन	३१६
ख-(१३) ऊर्ध्वहस्तपश्चिमतानासन, (१४) विस्तृतपाद भूनमनासन, (१५) विस्तृतपाद पार्श्वभूनमनासन, (१६) विस्तृतपाद हस्तपार्श्वचालनासन, (१७) पृष्ठासन, (१८) उत्थित पृष्ठासन, (१९) मत्स्यासन, (२०) द्विपादचक्रासन, (२१) उत्थितद्विपादासन, (२२) उत्थित एकैकपादासन	३१८
ग-(२३) उत्थितहस्त मेरुदण्डासन, (२४) शीर्षबद्धहस्त मेरुदण्डासन, (२५) जानुस्पृष्टभाल मेरुदण्डासन, (२६) उत्थितहस्तपाद मेरुदण्डासन, (२७) उत्थितपाद मेरुदण्डासन, (२८) भालस्पृष्टद्विजानु मेरुदण्डासन, (२९) पादपार्श्वचालनासन, (३०) भूस्पृष्टपाद सर्वाङ्गासन, (३१) विपरीत दण्डासन, (३२) उत्थित समकोणासन	३१९
घ-(३३) उत्थितैकपाद भुजंगासन, (३४) भुजंगासन, (३५) सरलहस्त भुजंगासन, (३६) नौकासन, (३७) दोलासन, (३८) शलभासन, (३९) पार्श्वासन, (४०) नासिकास्पृष्टजानु पार्श्वासन, (४१) धनुरासन, (४२) पार्श्वचलित धनुरासन	३२१
ङ-(४३) आकर्णधनुरासन, (४४) चतुष्पादासन, (४५) मयूरासन, (४६) शीर्षबद्धहस्त हलासन, (४७) शीर्षस्पृष्टपद हलासन, (४८) प्रसृत-हस्त वृश्चिकासन, (४९) वलितपाद सर्वांगासन, (५०) विवृत्तत्रिकासन, (५१) प्रसृतहस्त विवृत्तत्रिकासन, (५२) शीर्षबद्धहस्त विवृत्तत्रिकासन, (५३) ऊर्ध्वहस्त जानुभालासन, (५४) भूस्पृष्टहस्त जानुभालासन	३२२
च-(५५) पृष्ठबद्धहस्त जानुभालासन, (५६) ऊर्ध्वस्थित पृष्ठवक्रासन, (५७) शुण्डासन, (५८) अर्धचक्रासन, (५९) चक्रासन, (६०) भूस्पृष्टहस्त वृक्षासन, (६१) पृष्ठवलित वृक्षासन, (६२) पार्श्ववलित वृक्षासन, (६३) पार्श्वपृष्ठवलित वृक्षासन, (६४) मध्यम नौलि, (६५) दक्षिण नौलि, (६६) वाम नौलि	३२४
५-श्रीअच्युतमुनिजी	३७४
६-कर्म, ज्ञान और भक्तिकी त्रिवेणी—स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज	३७५
७-ज्ञानयोगी स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज	३७७
८-योगी गुरु परमहंस श्रीमत्स्वामी निगमानन्दजी सरस्वतीदेव	३७९
९-स्वामी श्रीमहेश्वरानन्दजी सरस्वती महाराज	३८०
१०-योगिराज श्रीदेवगाहाबाबाजी	३८२

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

कल्याण

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो योगेश्वरैरपि दुरत्ययययोगमायः।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीशस्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः॥

वर्ष ६५ | गोरखपुर, सौर चैत्र, वि॰सं॰ २०४८, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१६, अप्रैल १९९१ ई॰ | संख्या १ | पूर्ण संख्या ७७०

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी योगचर्या

यानीह विश्वविलयोद्भववृत्तिहेतुः
कर्माण्यनन्यविषयाणि हरिश्चकार।
यस्त्वङ्ग गायति शृणोत्यनुमोदते वा
भक्तिर्भवेद् भगवति ह्यपवर्गमार्गे॥

(श्रीमद्भा॰ २।७।४५)

(श्रीशुकदेवजी कहते हैं—) भगवान् श्रीकृष्णने जो लीलाएँ की हैं, उन्हें दूसरा कोई नहीं कर सकता। परीक्षित्! वे विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके परम कारण हैं। जो उनकी लीलाओंका गान, श्रवण और गान-श्रवण करनेवालोंका अनुमोदन करता है, उसे मोक्षके अधीश्वर भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें परम प्रेममयी भक्ति प्राप्त हो जाती है।

मङ्गल-कामना

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म पुरुषोत्तम सब प्रकारसे सदा-सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत् भी उस परब्रह्मसे पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तमसे ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्मकी पूर्णतासे जगत् पूर्ण होनेपर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्णमेंसे पूर्णको निकाल लेनेपर भी वह पूर्ण ही बच रहता है।

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै ॥

हे परमात्मन्! आप हम गुरु-शिष्य दोनोंकी साथ-साथ सब प्रकारसे रक्षा करें, हम दोनोंका आप साथ-साथ समुचितरूपसे पालन-पोषण करें, हम दोनों साथ-ही-साथ सब प्रकारसे बल प्राप्त करें, हम दोनोंकी अध्ययन की हुई विद्या तेजपूर्ण हो—कहीं किसीसे हम विद्यामें परास्त न हों और हम दोनों जीवनभर परस्पर स्नेह-सूत्रसे बँधे रहें, हमारे अंदर परस्पर कभी द्वेष न हो।

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु ॥

हे परमात्मन्! मेरे सारे अङ्ग—वाणी, नेत्र-श्रोत्र आदि सभी कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राणसमूह, शारीरिक और मानसिक शक्ति तथा ओज—सब पुष्टि एवं वृद्धिको प्राप्त हों। उपनिषदोंमें सर्वरूप ब्रह्मका जो स्वरूप वर्णित है, उसे मैं कभी अस्वीकार न करूँ और वह ब्रह्म भी मेरा कभी प्रत्याख्यान न करे। मुझे सदा अपनाये रखे। मेरे साथ ब्रह्मका और ब्रह्मके साथ मेरा नित्य सम्बन्ध बना रहे। उपनिषदोंमें जिन धर्मोंका प्रतिपादन किया गया है, वे सारे धर्म, उपनिषदोंके एकमात्र लक्ष्य परब्रह्म परमात्मामें निरन्तर लगे हुए मुझ साधकमें सदा प्रकाशित रहें, मुझमें नित्य-निरन्तर बने रहें।

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥ ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

(इस शान्तिपाठमें सब प्रकारके विघ्नोंकी शान्तिके लिये परमात्मासे प्रार्थना की गयी है।) प्रार्थनाका भाव यह है कि 'हे सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन्! मेरी वाणी मनमें स्थित हो जाय और मन वाणीमें स्थित हो जाय, अर्थात् मेरे मन-वाणी दोनों एक हो जायँ। ऐसा न हो कि मैं वाणीसे एक पाठ पढ़ता रहूँ और मन दूसरा ही चिन्तन करता रहे, या मनमें दूसरा ही भाव रहे और वाणीद्वारा दूसरा प्रकट करूँ। मेरे संकल्प और वचन दोनों विशुद्ध होकर एक हो जायँ। हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर! आप मेरे लिये प्रकट हो जाइये—अपनी योगमायाका पर्दा मेरे सामनेसे हटा लीजिये। (इस प्रकार परमात्मासे प्रार्थना करके अब उपासक अपने मन और वाणीसे कहता है कि) हे मन और वाणी! तुम दोनों मेरे लिये वेदविषयक ज्ञानकी प्राप्ति करानेवाले बनो, तुम्हारी सहायतासे मैं वेदविषयक ज्ञान प्राप्त कर सकूँ। मेरा गुरुमुखसे सुना हुआ और अनुभवमें आया हुआ ज्ञान मेरा त्याग न करे अर्थात् वह सर्वदा मुझे स्मरण रहे—मैं उसे कभी न भूलूँ। मेरी इच्छा है कि अपने अध्ययनद्वारा मैं दिन और रात एक कर दूँ। अर्थात् रात-दिन निरन्तर ब्रह्मविद्याका पठन और चिन्तन ही करता रहूँ। मेरे समयका एक क्षण भी व्यर्थ न बीते। मैं अपनी वाणीसे सदा ऐसे ही शब्दोंका उच्चारण करूँगा, जो सर्वथा उत्तम हों, जिनमें किसी प्रकारका दोष न हो, तथा जो कुछ बोलूँगा, सर्वथा सत्य बोलूँगा—जैसा देखा, सुना और समझा हुआ भाव है, ठीक वही भाव वाणीद्वारा प्रकट करूँगा। उसमें किसी प्रकारका छल नहीं करूँगा। (इस प्रकार अपने मन और वाणीको दृढ़ बनाकर अब पुनः परमात्मासे प्रार्थना करता है—) वे परब्रह्म परमात्मा मेरी रक्षा करें। वे परमेश्वर मुझे ब्रह्मविद्या सिखानेवाले आचार्यकी रक्षा करें। वे रक्षा करें मेरी और मेरे आचार्यकी, जिससे मेरे अध्ययनमें किसी प्रकारका विघ्न उपस्थित न हो। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—सभी प्रकारके तापोंकी शान्ति हो।

शुभाशंसा और योग-साधना

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत ॥

सबको उत्पन्न करनेवाले परमात्मा पहले हमारे मन और बुद्धिकी वृत्तियोंको तत्त्वकी प्राप्तिके लिये अपने दिव्य स्वरूपमें लगायें और अग्नि आदि इन्द्रियाभिमानी देवताओंकी जो विषयोंको प्रकाशित करनेकी सामर्थ्य है, उसे दृष्टिमें रखते हुए बाह्य विषयोंसे लौटाकर हमारी इन्द्रियोंमें स्थिरतापूर्वक स्थापित कर दें, जिससे हमारी इन्द्रियोंका प्रकाश बाहर न जाकर बुद्धि और मनकी स्थिरतामें सहायक हो।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । सुवर्गेयाय शक्त्या ॥

हम लोग सबको उत्पन्न करनेवाले परमदेव परमेश्वरकी आराधनारूप यज्ञमें लगे हुए मनके द्वारा परमानन्दकी प्राप्तिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्न करें। अर्थात् हमारा मन निरन्तर भगवान्‌की आराधनामें लगा रहे और हम भगवत्प्राप्तिजनित परमानन्दकी अनुभूतिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्नशील रहें।

युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥

वे सबको उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर मन और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंको, जो स्वर्ग आदि लोकोंमें और आकाशमें विचरनेवाले तथा बृहत् प्रकाश फैलानेवाले हैं, हमारे मन और बुद्धिसे संयुक्त करके हमें प्रकाश प्रदान करनेके लिये प्रेरणा करें, ताकि हम उन परमेश्वरका साक्षात् करनेके लिये ध्यान करनेमें समर्थ हो सकें। हमारे मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रकाश फैला रहे। निद्रा, आलस्य और अकर्मण्यता आदि दोष हमारे ध्यानमें विघ्न न कर सकें।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
विं होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥

जिन परब्रह्म परमात्मामें श्रेष्ठ बुद्धिवाले ब्राह्मणादि अधिकारी मनुष्य अपने मनको लगाते हैं तथा अपनी सब प्रकारकी बुद्धि-वृत्तियोंको भी नियुक्त करते हैं, जिन्होंने अग्निहोत्र आदि समस्त शुभ कर्मोंका विधान किया है, जो समस्त जगत्‌के विचारोंको जाननेवाले और एक अद्वितीय हैं, उन सबसे महान्, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सबके उत्पादक परमदेव परमेश्वरकी अवश्य ही हमें भूरि-भूरि स्तुति करनी चाहिये।

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥

हे मन और बुद्धि ! मैं तुम दोनोंके स्वामी और समस्त जगत्‌के आदि कारण परब्रह्म परमात्माको बार-बार नमस्कार करके विनयपूर्वक उनकी शरणमें जाकर उनमें संलग्न होता हूँ। मेरे द्वारा जो उन परमेश्वरकी महिमाका वर्णन किया गया है, वह विद्वान् पुरुषकी कीर्तिके समान समस्त जगत्‌में व्याप्त हो जाय। उसे अविनाशी परमात्माके वे सभी लाड़िले, जो दिव्य लोकमें निवास करते हैं, भलीभाँति सुनें।

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते ।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः ॥

जिस स्थितिमें अग्नि प्रकट करनेके लिये अरणियोंद्वारा मन्थन करनेकी भाँति, अग्निस्थानीय परमात्माको प्राप्त करनेके लिये शरीरको नीचेकी अरणि और ॐकारको ऊपरकी अरणि बनाकर उसका जप और उसके अर्थरूप परमात्माका निरन्तर चिन्तनरूप मन्थन किया जाता है, जहाँ प्राणवायुका विधिपूर्वक भलीभाँति निरोध किया जाता है, जहाँ आनन्दरूप सोमरस अधिकतासे प्रकट होता है, उस ध्यानावस्थामें मनुष्यका मन सर्वथा विशुद्ध हो जाता है।

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम् ।
तत्र योनिं कृणवसे न हि ते पूर्वमक्षिपत् ॥

हे साधक ! सम्पूर्ण जगत्‌के उत्पादक सर्वान्तर्यामी परमेश्वरकी प्रेरणासे अर्थात् पहले बताये हुए प्रकारसे परमात्माकी स्तुति करके उनसे अनुमति प्राप्तकर तुम्हें उन सबके आदि परब्रह्म परमात्माकी ही सेवा (समाराधना) करनी चाहिये। उन परमेश्वरमें ही आश्रय प्राप्त करना चाहिये—उन्हींकी शरण ग्रहण करके उन्हींमें अपने-आपको विलीन कर देना चाहिये। यों करनेसे तुम्हारे पहले किये हुए समस्त सञ्चित कर्म विघ्नकारक नहीं होंगे—बन्धनरूप नहीं होंगे।

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥

जो ध्यानयोगका साधन करे, उस बुद्धिमान् साधकको चाहिये कि ध्यानके समय जब आसन जमाकर सुखपूर्वक बैठे, उस समय अपने सिर, गले और छातीको ऊँचा उठाये रखे, इधर-उधर न झुकने दे तथा शरीरको सीधा और स्थिर रखे। क्योंकि शरीरको सीधा और स्थिर रखे बिना तथा सिर, गला और वक्षःस्थल ऊँचा किये बिना आलस्य, निद्रा और विक्षेपरूप विघ्न आ जाते हैं। अतः इन विघ्नोंसे बचनेके लिये उपर्युक्त प्रकारसे ही बैठना चाहिये। इसके बाद समस्त इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर उनका मनके द्वारा हृदयमें निरोध कर लेना चाहिये। फिर ॐकाररूप नौकाका आश्रय लेकर अर्थात् ॐकारका जप और उसके वाच्य परब्रह्म परमात्माका ध्यान करके समस्त भयानक प्रवाहोंको पार कर लेना चाहिये। भाव यह है कि नाना योनियोंमें ले जानेवाली जितनी वासनाएँ हैं, वे सब जन्म-मृत्युरूप भय देनेवाले स्रोत (प्रवाह) हैं। इन सबका त्याग करके सदाके लिये अमरपदको प्राप्त कर लेना चाहिये।

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥

बुद्धिमान् साधकको चाहिये कि वह इस योग-साधनाके लिये आहार-विहार आदि समस्त चेष्टाओंको यथायोग्य करता रहे, उन्हें ध्यानयोगके लिये उपयोगी बना ले तथा योगशास्त्रकी विधिके अनुसार प्राणायाम करते-करते जब प्राण अत्यन्त सूक्ष्म हो जाय, तब नासिकाद्वारा उसे बाहर निकाल दे। इसके बाद जैसे दुष्ट घोड़ोंसे जुते हुए रथको सुचतुर सारथि बड़ी सावधानीसे चलाकर अपने गन्तव्य स्थानपर ले जाता है, उसी प्रकार साधकको चाहिये कि बड़ी सावधानीके साथ अपने मनको वशमें रखे, जिससे योगसाधनामें किसी प्रकारका विघ्न न आये और वह परमात्माकी प्राप्तिरूप लक्ष्यपर पहुँच जाय।

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥

(इस मन्त्रमें ध्यानयोगके उपयुक्त स्थानका वर्णन है।) भाव यह है कि ध्यानयोगका साधन करनेवाले साधकको ऐसे स्थानमें अपना आसन लगाना चाहिये,जहाँकी भूमि समतल हो—ऊँची-नीची, टेढ़ी-मेढ़ी न हो, जो सब प्रकारसे शुद्ध हो, जहाँपर कूड़ा-करकट,मैला आदि न हो, झाड़-बुहारकर साफ किया हो और स्वभावसे भी पवित्र हो—जैसे कोई देवालय, तीर्थस्थान आदि; जहाँ कंकड़, बालू न हों और अग्नि या धूपकी गर्मी भी न हो, जहाँ कोई मनमें विक्षेप करनेवाला शब्द न होता हो—कोलाहलका सर्वथा अभाव हो, यथावश्यक जल प्राप्त हो सके, किंतु ऐसा जलाशय न हो, जहाँ बहुत लोग आते-जाते हों एवं जहाँ शरीर-रक्षाके लिये उपयुक्त आश्रय हो परंतु ऐसा न हो, जहाँ धर्मशाला आदिकी भाँति बहुत लोग ठहरते हों, तात्पर्य यह कि इन सब विचारोंके अनुसार जो सर्वथा अनुकूल हो और जहाँका दृश्य नेत्रोंको पीड़ा पहुँचानेवाला—भयानक न हो, ऐसे गुफा आदि वायुशून्य एकान्त स्थानमें पहले बताये हुए प्रकारसे आसन लगाकर अपने मनको परमात्मामें लगानेका अभ्यास करना चाहिये।

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥

जब साधक परमब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये ध्यानयोगका साधन आरम्भ करता है, तब उसको अपने सामने कभी कुहरेके सदृश रूप दीखता है, कभी धूआँ-सा दिखायी देता है, कभी सूर्यके समान प्रकाश सर्वत्र परिपूर्ण दीखता है, कभी निःशब्द वायुकी भाँति निराकार रूप अनुभवमें आता है, कभी अग्निके सदृश तेज दीख पड़ता है, कभी जुगनूके सदृश टिमटिमाहट-सी प्रतीत होती है, कभी बिजलीकी-सी चकाचौंध पैदा करनेवाली दीप्ति दृष्टिगोचर होती है, कभी स्फटिकमणिके सदृश उज्ज्वल रूप देखनेमें आता है और कभी चन्द्रमाकी भाँति शीतल प्रकाश सर्वत्र फैला हुआ दिखायी देता है। ये सब तथा और भी अनेक दृश्य योग-साधनकी उन्नतिके द्योतक हैं। इनसे यह बात समझमें आती है कि साधकका ध्यान ठीक हो रहा है।

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥

ध्यानयोगका साधन करते-करते जब पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश— इन पाँच महाभूतोंका उत्थान हो जाता है, अर्थात् जब साधकका इन पाँचों महाभूतोंपर अधिकार हो जाता है और इन पाँचों महाभूतोंसे सम्बन्ध रखनेवाली योगविषयक पाँचों सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं, उस समय योगाग्निमय शरीरको प्राप्त कर लेनेवाले उस योगीके शरीरमें न तो रोग होता है, न बुढ़ापा आता है और न उसकी मृत्यु ही होती है। अभिप्राय यह कि उसकी इच्छाके बिना उसके शरीरका नाश नहीं हो सकता।

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥

भूतोंपर विजय प्राप्त कर लेनेवाले ध्यानयोगीमें पूर्वोक्त शक्तियोंके सिवा और भी शक्तियाँ आ जाती हैं। उदाहरणतः उसका शरीर हल्का हो जाता है, शरीरमें भारीपन या आलस्यका भाव नहीं रहता। वह सदा ही नीरोग रहता है। उसे कभी कोई रोग नहीं होता। भौतिक पदार्थोंमें उसकी आसक्ति नष्ट हो जाती है। कोई भी भौतिक पदार्थ सामने आनेपर उसके मन और इन्द्रियोंका उसकी ओर आकर्षण नहीं होता। उसके शरीरका वर्ण उज्ज्वल हो जाता है। स्वर अत्यन्त मधुर और स्पष्ट हो जाता है। शरीरमेंसे बहुत अच्छी गन्ध निकलकर सब ओर फैल जाती है। मल और मूत्र बहुत ही स्वल्प मात्रामें होने लगते हैं। ये सब योगमार्गकी प्रारम्भिक सिद्धियाँ हैं—ऐसा योगी लोग कहते हैं।

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः॥

जिस प्रकार कोई तेजोमय रत्न मिट्टीसे लिप्त रहनेके कारण छिपा रहता है, अपने वास्तविक रूपमें प्रकट नहीं होता, परंतु वही जब मिट्टी आदिको हटाकर धो-पोंछकर साफ कर लिया जाता है तब अपने यथार्थ रूपमें चमकने लगता है, उसी प्रकार इस जीवात्माका वास्तविक स्वरूप अत्यन्त स्वच्छ होनेपर भी अनन्त जन्मोंमें किये हुए कर्मोंके संस्कारोंसे मलिन हो जानेके कारण प्रत्यक्ष प्रकट नहीं होता, परंतु जब मनुष्य ध्यानयोगके साधनद्वारा समस्त मलोंको धोकर आत्माके यथार्थ स्वरूपको भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लेता है, तब वह असङ्ग हो जाता है। अर्थात् उसका जो जड-पदार्थोंके साथ संयोग हो रहा था, उसका नाश होकर वह कैवल्य-अवस्थाको प्राप्त हो जाता है तथा उसके सब प्रकारके दुःखोंका अन्त होकर वह सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है। उसका मनुष्य-जन्म सार्थक हो जाता है।

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

फिर जब वह योगी इसी स्थितिमें दीपकके सदृश निर्मल प्रकाशमय पूर्वोक्त आत्मतत्त्वके द्वारा ब्रह्मतत्त्वको भलीभाँति देख लेता है—अर्थात् उन परब्रह्म परमात्माको प्रत्यक्ष कर लेता है, तब उन जन्मादि समस्त विकारोंसे रहित, अचल और निश्चित तथा समस्त तत्त्वोंसे असङ्ग—सर्वथा विशुद्ध परमदेव परमात्माको तत्त्वसे जानकर सब प्रकारके बन्धनोंसे सदाके लिये छूट जाता है।

एष ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥

निश्चय ही ये पूर्वोक्त परमदेव ब्रह्म समस्त दिशा और अवान्तर दिशाओंमें व्याप्त हैं अर्थात् सर्वत्र परिपूर्ण हैं। जगत्‌में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ वे न हों। वे ही प्रसिद्ध परब्रह्म परमात्मा सबसे पहले हिरण्यगर्भरूपमें प्रकट हुए थे। वे ही इस ब्रह्माण्डरूप गर्भमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं। वे ही इस समय जगत्‌के रूपमें प्रकट हैं और भविष्यमें अर्थात् प्रलयके बाद सृष्टिकालमें पुनः प्रकट होनेवाले हैं। वे समस्त जीवोंके भीतर अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं तथा सब ओर मुखवाले अर्थात् सबको सब ओरसे देखनेवाले हैं।

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥

जो सर्वशक्तिमान् पूर्ण ब्रह्म परमदेव अग्निमें हैं, जो जलमें हैं, जो समस्त लोकोंमें अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हो रहे हैं, जो ओषधियोंमें हैं और जो वनस्पतियोंमें हैं, अर्थात् जो सर्वत्र परिपूर्ण हैं, उन परमदेव परमात्माको नमस्कार है ! नमस्कार है !!

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णका संस्तवन

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥

प्रभो ! आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं। आप इस जगत्‌के परम आश्रय और जाननेवाले तथा जानने योग्य और परमधाम हैं। हे अनन्तरूप ! आपसे यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥

(हे हरे !) आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा तथा प्रजाके स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्माके भी पिता हैं। आपके लिये हजारों बार नमस्कार, नमस्कार होवे, आपके लिये फिर भी बारंबार नमस्कार, नमस्कार होवे।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥

हे अनन्त सामर्थ्यवाले प्रभो ! आपके लिये आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार होवे। हे सर्वात्मन् ! आपके लिये सब ओरसे ही नमस्कार होवे, क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप सब संसारको व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥

हे विश्वेश्वर ! आप इस चराचर जगत्‌के पिता और गुरुसे भी बड़े गुरु एवं अति पूजनीय हैं। हे अतिशय प्रभाववाले ! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है फिर अधिक कैसे होवे ?

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥

इससे हे प्रभो ! मैं शरीरको अच्छी प्रकार आपके चरणोंमें निवेदित कर और प्रणाम करके स्तुति करने योग्य आप ईश्वरको प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ। हे देव ! पिता जैसे पुत्रके और सखा जैसे सखाके तथा पति जैसे प्रियतमा पत्नीके अपराधको सहन कर लेते हैं, वैसे ही आप भी मेरे अपराधको सहन करने योग्य हैं।

योगीश्वर शिवमें अनन्य भक्ति-भाव

पशुपतिवचनाद् भवामि सद्यः कृमिरथवा तरुरप्यनेकशाखः ।
अपशुपतिवरप्रसादजा मे त्रिभुवनराज्यविभूतिरप्यनिष्टा ॥

(उपमन्यु कहते हैं—) मैं भगवान् पशुपतिके कहनेसे तत्काल प्रसन्नतापूर्वक कीट अथवा अनेक शाखाओंसे युक्त वृक्ष भी हो सकता हूँ, परंतु भगवान् शिवसे भिन्न दूसरे किसीके वर-प्रसादसे मुझे त्रिभुवनका राज्यवैभव प्राप्त हो रहा हो तो वह भी अभीष्ट नहीं है।

जन्म श्वपाकमध्येऽपि मेऽस्तु हरचरणवन्दनरतस्य ।
मा वानीश्वरभक्तो भवानि भवनेऽपि शक्रस्य ॥

यदि मुझे भगवान् शङ्करके चरणारविन्दोंकी वन्दनामें तत्पर रहनेका अवसर मिले तो मेरा जन्म चाण्डालोंमें भी हो जाय तो यह मुझे सहर्ष स्वीकार है, परंतु भगवान् शिवकी अनन्यभक्तिसे रहित होकर मैं इन्द्रके भवनमें भी स्थान पाना नहीं चाहता।

वाय्वम्बुभुजोऽपि सतो नरस्य दुःखक्षयः कुतस्तस्य ।
भवति हि सुरासुरगुरौ यस्य न विश्वेश्वरे भक्तिः ॥

कोई जल या हवा पीकर ही रहनेवाला क्यों न हो, जिसकी सुरासुर-गुरु भगवान् विश्वनाथमें भक्ति न हो, उसके दुःखोंका नाश कैसे हो सकता है ?

अलमन्याभिस्तेषां कथाभिरप्यन्यधर्मयुक्ताभिः ।
येषां न क्षणमपि रुचितो हरचरणस्मरणविच्छेदः ॥

जिन्हें क्षणभरके लिये भी भगवान् शिवके चरणारविन्दोंके स्मरणका वियोग अच्छा नहीं लगता, उन पुरुषोंके लिये अन्यान्य धर्मोंसे युक्त दूसरी-दूसरी सारी कथाएँ व्यर्थ हैं।

हरचरणनिरतमतिना भवितव्यमनार्जवं युगं प्राप्य ।
संसारभयं न भवति हरभक्तिरसायनं पीत्वा ॥

कुटिल कलिकालको पाकर सभी पुरुषोंको अपना मन भगवान् शङ्करके चरणारविन्दोंके चिन्तनमें लगा देना चाहिये। शिव-भक्तिरूपी रसायनके पी लेनेपर संसाररूपी रोगका भय नहीं रह जाता है।

दिवसं दिवसार्धं वा मुहूर्तं वा क्षणं लवम् ।
न ह्यलब्धप्रसादस्य भक्तिर्भवति शङ्करे ॥

जिसपर भगवान् शिवकी कृपा नहीं है, उस मनुष्यकी एक दिन, आधे दिन, एक मुहूर्त, एक क्षण या एक लवके लिये भी भगवान् शङ्करमें भक्ति नहीं होती है।

न नाकपृष्ठं न च देवराज्यं न ब्रह्मलोकं न च निष्कलत्वम् ।
न सर्वकामानखिलान् वृणोमि हरस्य दासत्वमहं वृणोमि ॥

न तो मैं स्वर्गलोक चाहता हूँ, न देवताओंका राज्य पानेकी अभिलाषा रखता हूँ। न ब्रह्मलोककी इच्छा करता हूँ और न निर्गुण ब्रह्मका सायुज्य ही प्राप्त करना चाहता हूँ। भूमण्डलकी समस्त कामनाओंको भी पानेकी मेरी इच्छा नहीं है। मैं तो केवल भगवान् शिवकी दासताका ही वरण करता हूँ।

यावच्छशाङ्कधवलामलबद्धमौलिर्न प्रीयते पशुपतिर्भगवान् ममेशः ।
तावज्जरामरणजन्मशताभिधातैर्दुःखानि देहविहितानि समुद्वहामि ॥

जिनके मस्तकपर अर्द्धचन्द्रमय उज्ज्वल एवं निर्मल मुकुट बँधा हुआ है, वे मेरे स्वामी भगवान् पशुपति जबतक प्रसन्न नहीं होते हैं, तबतक मैं जरा-मृत्यु और जन्मके सैकड़ों आघातोंसे प्राप्त होनेवाले दैहिक दुःखोंका भार ढोता रहूँगा।

दिवसकरशशाङ्कवह्निदीप्तं त्रिभुवनसारमसारमाद्यमेकम् ।
अजरममरमप्रसाद्य रुद्रं जगति पुमानिह को लभते शान्तिम् ॥

जो अपने नेत्रभूत सूर्य, चन्द्रमा और अग्निकी प्रभासे उद्भासित होते हैं, त्रिभुवनके साररूप हैं, जिनसे बढ़कर सारतत्त्व दूसरा नहीं है, जो जगत्के आदिकारण, अद्वितीय तथा अजर-अमर हैं, उन भगवान् रुद्रको भक्तिभावसे प्रसन्न किये बिना कौन पुरुष इस संसारमें शान्ति पा सकता है।

यदि नाम जन्म भूयो भवति मदीयैः पुनर्दोषैः ।
तस्मिंस्तस्मिञ्जन्मनि भवे भवेन्मेऽक्षया भक्तिः ॥

यदि मेरे दोषोंसे मुझे बारंबार इस जगत्में जन्म लेना पड़े तो मेरी यही इच्छा है कि उस-उस प्रत्येक जन्ममें भगवान् शिवमें अक्षय भक्ति हो।

महर्षि वसिष्ठजीको नमस्कार

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं श्रीवसिष्ठं नताः स्म ॥

'जो ब्रह्मानन्दस्वरूप अथवा ज्ञानोपदेशद्वारा ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति करानेवाले, परम सुखद, अद्वितीय ज्ञानमूर्ति, द्वन्द्वोंसे रहित, आकाश-सदृश निर्मल, 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त-महावाक्योंके लक्ष्यार्थरूप, एक, नित्य, निर्मल, निश्चल, सम्पूर्ण बुद्धि-वृत्तियोंके साक्षी, समस्त भावोंसे परे तथा तीनों गुणोंसे रहित हैं, उन परब्रह्मस्वरूप श्रीवसिष्ठजीको हम नमस्कार करते हैं।'

महायोगी पतञ्जलिको प्रणाम

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन । योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥

'मैं उन मुनियोंमें श्रेष्ठ पतञ्जलिको हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने योगसे अन्तःकरणके, पद (व्याकरण-महाभाष्य) से वाणीके और वैद्यक (चरकग्रन्थके द्वारा) से शरीरके मलको दूर किया (धोया) है।

जयन्ति वाचः फणिभर्तुरान्तरस्फुरत्तमस्तोमनिशाकरत्विषः । विभाव्यमानाः सततं मनांसि याः सतां सदानन्दमयानि कुर्वते ॥

'जो अन्तःकरणके अज्ञानमय अन्धकारका निवारण करनेके लिये चन्द्रमाकी किरणोंके समान प्रकाशित हो रही हैं तथा निरन्तर अनुशीलन करनेपर जो साधु पुरुषोंके मनको सदा आनन्दमय करती रहती हैं, शेषावतार महर्षि पतञ्जलिकी वे वाणियाँ सर्वोपरि विराजमान हैं।'

पतञ्जलिमुनेरुक्तिः काप्यपूर्वा जयत्यसौ । पुंप्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यथा ॥

'महर्षि पतञ्जलिकी योगदर्शनरूप ऐसी अपूर्व वाणीकी जय हो, जिसके द्वारा पुरुष और प्रकृतिके वियोगको भी योग कहा गया है।'

रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि । संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि ॥
जासु पतित पावन बड़ बाना । गावहिं कबि श्रुति संत पुराना ॥
ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई । राम भजे गति केहि नहिं पाई ॥

भगवती महायोगमायाकी स्तुति

ब्रह्मोवाच

त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कारः स्वरात्मिका ॥
सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता । अर्धमात्रास्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः ॥
त्वमेव संध्या सावित्री त्वं देवि जननी परा । त्वयैतद्धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत् ॥
त्वयैतत्पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा । विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने ॥
तथा संहृतिरूपान्ते जगतोऽस्य जगन्मये । महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः ॥
महामोहा च भवती महादेवी महासुरी । प्रकृतिस्त्वं च सर्वस्य गुणत्रयविभाविनी ॥
कालरात्रिर्महारात्रिर्मोहरात्रिश्च दारुणा । त्वं श्रीस्त्वमीश्वरी त्वं ह्रीस्त्वं बुद्धिर्बोधलक्षणा ॥
लज्जा पुष्टिस्तथा तुष्टिस्त्वं शान्तिः क्षान्तिरेव च । खड्गिनी शूलिनी घोरा गदिनी चक्रिणी तथा ॥
शङ्खिनी चापिनी बाणभुशुण्डीपरिघायुधा । सौम्या सौम्यतराशेषसौम्येभ्यस्त्वतिसुन्दरी ॥
परापराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी । यच्च किंचित्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके ॥
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा । यया त्वया जगत्स्रष्टा जगत्पात्यत्ति यो जगत् ॥
सोऽपि निद्रावशं नीतः कस्त्वां स्तोतुमिहेश्वरः । विष्णुः शरीरग्रहणमहमीशान एव च ॥
कारितास्ते यतोऽतस्त्वां कः स्तोतुं शक्तिमान् भवेत् । सा त्वमित्थं प्रभावैः स्वैरुदारैर्देवि संस्तुता ॥

ब्रह्माजीने भगवती योगमायाका स्तवन करते हुए कहा—'देवि ! तुम्हीं स्वाहा, तुम्हीं स्वधा और तुम्हीं वषट्कार हो। स्वर भी तुम्हारे ही स्वरूप हैं। तुम्हीं जीवनदायिनी सुधा हो। नित्य अक्षर प्रणवमें अकार, उकार, मकार— इन तीन मात्राओंके रूपमें तुम्हीं स्थित हो तथा इन तीन मात्राओंके अतिरिक्त जो विन्दुरूपा नित्य अर्धमात्रा है, जिसका विशेष रूपसे उच्चारण नहीं किया जा सकता, वह भी तुम्हीं हो। देवि ! तुम्हीं संध्या, सावित्री तथा परम जननी हो। देवि ! तुम्हीं इस विश्व-ब्रह्माण्डको धारण करती हो। तुमसे ही इस जगत्की सृष्टि होती है। तुम्हींसे इसका पालन होता है और सदा तुम्हीं कल्पके अन्तमें सबको अपना ग्रास बना लेती हो। जगन्मयी देवि ! इस जगत्की उत्पत्तिके समय तुम सृष्टिरूपा हो, पालन-कालमें स्थितिरूपा हो तथा कल्पान्तके समय संहाररूप धारण करनेवाली हो। तुम्हीं महाविद्या, महामाया, महामेधा, महास्मृति, महामोहरूपा, महादेवी और महासुरी हो। तुम्हीं तीनों गुणोंको उत्पन्न करनेवाली सबकी प्रकृति हो। भयंकर कालरात्रि, महारात्रि और मोहरात्रि भी तुम्हीं हो। तुम्हीं श्री, तुम्हीं ईश्वरी, तुम्हीं ह्री और तुम्हीं बोधस्वरूपा बुद्धि हो। लज्जा, पुष्टि, तुष्टि, शान्ति और क्षमा भी तुम्हीं हो। तुम खड्गधारिणी, शूलधारिणी, घोररूपा तथा गदा, चक्र, शङ्ख और धनुष धारण करनेवाली हो। बाण, भुशुण्डी और परिघ—ये भी तुम्हारे अस्त्र हैं। तुम सौम्य और सौम्यतर हो—इतना ही नहीं, जितने भी सौम्य एवं सुन्दर पदार्थ हैं, उन सबकी अपेक्षा तुम अत्यधिक सुन्दरी हो। पर और अपर—सबसे परे रहनेवाली परमेश्वरी तुम्हीं हो। सर्वस्वरूपे देवि ! कहीं भी सत्-असत्रूप जो कुछ वस्तुएँ हैं और उन सबकी जो शक्ति है, वह तुम्हीं हो। ऐसी अवस्थामें तुम्हारी स्तुति क्या हो सकती है ? जो इस जगत्की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं, उन भगवान्को भी जब तुमने निद्राके अधीन कर दिया है, तब तुम्हारी स्तुति करनेमें यहाँ कौन समर्थ हो सकता है ? मुझको, भगवान् शङ्करको तथा भगवान् विष्णुको भी तुमने ही शरीर धारण कराया है, अतः तुम्हारी स्तुति करनेकी शक्ति किसमें है ? देवि ! तुम तो अपने इन उदार प्रभावोंसे ही प्रशंसित हो।'

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः । सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥

इस सम्पूर्ण विश्वके चराचर प्राणी सुखी तथा नीरोग हों, सभी कल्याणको प्राप्त करें और कोई दुःखी न रहे।

प्रसाद-आशीर्वाद

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके योगविषयक उपदेश

स्थितप्रज्ञ योगीके लक्षण

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

(२।५५)

(भगवान् श्रीकृष्णने कहा—) हे अर्जुन! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(२।५६-५७)

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है। जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(२।५८—६१)

और कछुआ जैसे सब ओरसे अपने अङ्गोंको समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सब प्रकारसे हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर है (ऐसा समझना चाहिये)। इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परंतु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है। हे अर्जुन! आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं। इसलिये साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यानमें बैठे, क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(२।६२-६३)

विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़भावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

(२।६४)

परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

(२।६५-६६)

अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न-चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है। न जीते हुए मन और इन्द्रियोंवाले पुरुषमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्यके अन्तःकरणमें भावना भी नहीं होती तथा भावनाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्यको सुख कैसे मिल सकता है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(२।६७-६८)

क्योंकि जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है। इसलिये हे महाबाहो! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

(२।६९-७०)

सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये जो रात्रिके समान है, उस नित्य ज्ञानस्वरूप परमानन्दकी प्राप्तिमें स्थितप्रज्ञ योगी जागता है और जिस नाशवान् सांसारिक सुखकी प्राप्तिमें सब प्राणी जागते हैं, परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रिके समान है। जैसे नाना नदियोंके जल जब सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं।

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

(२।७१-७२)

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहङ्काररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्तिको प्राप्त है। हे अर्जुन! यह ब्रह्मको प्राप्त पुरुषकी स्थिति है, इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता और अन्तकालमें भी इस ब्राह्मी स्थितिमें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

(५।७)

जिसका मन अपने वशमें है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरणवाला है और सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मरूप परमात्मा ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥

(५।१०-११)

जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता। कर्मयोगी ममत्वबुद्धि-रहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको

त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥

(५।१२-१३)

कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकामपुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है। अन्तःकरण जिसके वशमें है, ऐसा सांख्ययोगका आचरण करनेवाला पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नवद्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

(५।१७)

जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

(५।२०-२१)

जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है। बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरण-वाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है, तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

(५।२२-२३)

जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता। जो साधक इस मनुष्यशरीरमें, शरीरका नाश होनेसे पहले-पहले ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, वही पुरुष योगी है और वही सुखी है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

(५।२४)

जो पुरुष अन्तरात्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(५।२७—२९)

बाहरके विषय-भोगोंको न चिन्तन करता हुआ बाहर ही निकालकर और नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थित करके तथा नासिकामें विचरनेवाले प्राण और अपानवायुको सम करके, जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जीती हुई हैं—ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि इच्छा, भय और क्रोधसे रहित हो गया है, वह सदा मुक्त ही है। मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।

योगीकी योग-साधनाका स्वरूप

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥
सुहन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥

सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं, अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है, ऐसे कहा जाता है। सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है। (६।७—९)

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥

मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें रखनेवाला, आशारहित और संग्रहरहित योगी अकेला ही एकान्त स्थानमें स्थित होकर आत्माको निरन्तर परमात्मामें लगावे। शुद्ध भूमिमें, जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा है और न बहुत नीचा, ऐसे अपने आसनको स्थिर स्थापन करके उस आसनपर बैठकर चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥

काया, सिर और गलेको समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर, अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे। (६।१३-१४)

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

वशमें किये हुए मनवाला योगी इस प्रकार आत्माको निरन्तर मुझ परमेश्वरके स्वरूपमें लगाता हुआ मुझमें रहनेवाली परमानन्दकी पराकाष्ठारूप शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! यह योग न तो बहुत खानेवालेका न बिलकुल न खानेवालेका, न बहुत शयन करनेके स्वभाववालेका और न सदा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है। (६।१५-१६)

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥

दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है। अत्यन्त वशमें किया हुआ चित्त जिस कालमें परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित हो जाता है, उस कालमें सम्पूर्ण भोगोंसे स्पृहारहित पुरुष योगयुक्त है, ऐसा कहा जाता है। (६।१७-१८)

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥

(६।१९-२०)

जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें स्थित दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा परमात्माके ध्यानमें लगे हुए योगीके

जीते हुए चित्तकी कही गयी है। योगके अभ्याससे निरुद्ध चित्त जिस अवस्थामें उपराम हो जाता है और जिस अवस्थामें परमात्माके ध्यानसे शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा परमात्माको साक्षात् करता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही संतुष्ट रहता है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(६।२१-२२)

इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है; उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं। परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्मप्राप्ति-रूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥

(६।२३-२४)

जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये। वह योग न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है। संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे त्याग कर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(६।२५-२६)

क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे। यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

(६।२७-२८)

क्योंकि जिसका मन भलीप्रकार शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ एकीभाव हुए योगीको उत्तम आनन्द प्राप्त होता है। वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(६।२९-३०)

सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखता है। जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६।३१-३२)

जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है।

हे अर्जुन ! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(६।४६-४७)

योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है और सकामकर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है; इससे हे अर्जुन ! तू योगी हो। सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(१८।५१—५३)

विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हल्का, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहङ्कार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला, ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्द ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(१८।५४—५६)

फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी परा भक्तिको प्राप्त हो जाता है। उस परा भक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है; तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है। मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।

अनन्य चित्तवाले योगीको भगवान् तत्काल प्राप्त हो जाते हैं

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(९।२२)

जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(१०।९—११)

निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप

योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। हे अर्जुन ! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(११।५५)

हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है—वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(१२।२)

मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(१२।६-७)

परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगाने वाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८।१४)

हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्य-चित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(९।२६-२७)

जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ। हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(९।२८-२९)

इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा। मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(९।३२—३४)

हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरी शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं। फिर इसमें तो कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन मेरी शरण होकर परम गतिको प्राप्त होते हैं। इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन

कर। मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८।६४—६६)

सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा। हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है। सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।

पातञ्जलयोगदर्शन

(१) समाधिपाद

अथ योगानुशासनम्॥ १॥

अब परम्पराप्राप्त योगविषयक शास्त्र प्रारम्भ किया जाता है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥ २॥

चित्तकी वृत्तियोंको रोकना योग है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥ ३॥

जब चित्तकी वृत्तियोंका निरोध हो जाता है, तब द्रष्टाकी (शुद्ध परमात्म-) स्वरूपमें अवस्थिति होती है।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र॥ ४॥

दूसरी अर्थात् निरोधसे भिन्न व्युत्थान-अवस्थामें द्रष्टाकी वृत्तियोंके समानरूपता होती है अर्थात् द्रष्टा वृत्तियोंके समान रूपवाला प्रतीत होता है।

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः॥ ५॥

वृत्तियाँ पाँच प्रकारकी होती हैं—क्लिष्ट अर्थात् राग-द्वेषादि क्लेशोंकी हेतु और अक्लिष्ट अर्थात् राग-द्वेषादि क्लेशोंकी नाश करनेवाली।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः॥ ६॥

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति—ये पाँच प्रकारकी वृत्तियाँ हैं।

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि॥ ७॥

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम-भेदसे तीन प्रकारकी प्रमाण-वृत्ति है।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्॥ ८॥

विपर्यय मिथ्या-ज्ञान है, जो उस पदार्थके रूपमें प्रतिष्ठित नहीं है।

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः॥ ९॥

शब्दसे उत्पन्न जो ज्ञान, उसके पीछे चलनेका जिसका स्वभाव हो और जो वस्तुकी सत्ताकी अपेक्षा न रखता हो इस प्रकारका ज्ञान विकल्प कहलाता है।

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा॥ १०॥

(जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थाकी वृत्तियोंके) अभावकी प्रतीतिको आश्रय करनेवाली वृत्ति निद्रा है।

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः॥ ११॥

अनुभव किये हुए विषयका फिर चित्तमें आरोहपूर्वक उससे अधिक नहीं, किंतु तन्मात्रविषयक ज्ञान होना स्मृति है।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥ १२॥

अभ्यास और वैराग्यसे उन वृत्तियोंका निरोध होता है।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः॥ १३॥

उनमेंसे चित्तकी स्थितिके विषयमें यत्न करना अभ्यास है।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः॥ १४॥

किंतु वह पूर्वोक्त अभ्यास दीर्घकालपर्यन्त निरन्तर व्यवधानरहित ठीक-ठीक श्रद्धा, वीर्य, भक्तिपूर्वक अनुष्ठान किया हुआ दृढ़ अवस्थावाला हो जाता है।

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥ १५॥

दृष्ट और आनुश्रविक विषयोंमें जिसको तृष्णा नहीं रही है, उसका वैराग्य वशीकार नामवाला अर्थात् अपर-वैराग्य है।

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

विवेकख्यातिद्वारा गुणोंसे तृष्णारहित हो जाना पर-वैराग्य है।

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥ १७ ॥

वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता नामक स्वरूपोंके सम्बन्धसे जो चित्तकी वृत्तियोंका निरोध है, वह सम्प्रज्ञात-समाधि कहलाता है अर्थात् वितर्कके सम्बन्धसे जो समाधि होती है, उसका नाम वितर्कानुगत, विचारके सम्बन्धसे विचारानुगत, आनन्दके सम्बन्धसे आनन्दानुगत और अस्मिताके सम्बन्धसे होनेवाली समाधिका नाम अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि है।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

सर्ववृत्तियोंके निरोधका कारण जो पर-वैराग्य है, उसके पुनः-पुनः अनुष्ठानरूप अभ्याससे जो उसके संस्कार शेष रह जाते हैं, वह असम्प्रज्ञात-समाधि है।

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

विदेह और प्रकृतिलयोंको जन्मसे ही असम्प्रज्ञात-समाधिकी प्रतीति होती है।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

दूसरे योगी जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं हैं, उनको श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक असम्प्रज्ञात-समाधि सिद्ध होती है।

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

तीव्र संवेग और अधिमात्र उपायवाले योगियोंको समाधि-लाभ शीघ्रतम होता है।

मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

मृदु, मध्य, अधिमात्र—ये तीन भेद होनेसे मृदु तीव्र संवेगवालों और मध्य तीव्र संवेगवालोंके समाधि-लाभसे भी अधिमात्र तीव्र संवेगवालोंको समाधिलाभमें विशेषता है।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

अथवा ईश्वर-प्रणिधानसे शीघ्रतम समाधि-लाभ होता है।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

क्लेश, कर्म, कर्मोंके फल और वासनाओंसे असम्बद्ध, अन्य पुरुषोंसे विशेष (विभिन्न उत्कृष्ट) चेतन ईश्वर है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

उस पूर्वोक्त ईश्वरमें सर्वज्ञताका बीज अतिशय (बढ़ती) रहित है।

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

वह ईश्वर पूर्व उत्पन्न हुए ब्रह्मादिकोंका भी गुरु है, क्योंकि वह कालसे परिच्छिन्न (परिमित) नहीं है।

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

उस ईश्वरका बोधक शब्द ओ३म् है।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

उस ओ३म् शब्दका जप और उसके अर्थभूत ईश्वरका ध्यान करना (पुनः-पुनः चिन्तन करना) ईश्वर-प्रणिधान है।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

उस ईश्वर-प्रणिधानसे प्रत्यक्चेतनाका ज्ञान भी होता है और अन्तरायों (विघ्नों) का अभाव होता है।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध-भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व—ये चित्तके नौ विक्षेप (योगके) विघ्न हैं।

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास-प्रश्वास—ये विक्षेपोंके साथ होनेवाले हैं अर्थात् उनके होनेसे ये पाँच प्रतिबन्ध भी हो जाते हैं।

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

उन पूर्वोक्त विक्षेप तथा उपविक्षेपोंको दूर करनेके लिये एकतत्त्वका अभ्यास करना चाहिये अर्थात् किसी अभिमत एक-तत्त्वद्वारा चित्तकी स्थितिके लिये यत्न करना चाहिये।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य-विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

सुखी-दुःखी, पुण्यात्मा और पापियोंके विषयमें यथाक्रम मित्रता, दया, हर्ष और उपेक्षाकी भावनाके अनुष्ठानसे चित्त प्रसन्न और निर्मल होता है।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

अथवा कोष्ठस्थित (कोठामें रहनेवाली) वायुको नासिकापुटद्वारा (प्रयत्नविशेषसे) बाहर फेंकने और बाहर रोकने—दोनोंसे मनकी स्थितिको सम्पादन करे।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी ॥ ३५ ॥

अथवा (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द) विषयोंवाली प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मनकी स्थितिको बाँधनेवाली होती है।

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

अथवा शोकरहित प्रकाशवाली प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मनकी स्थितिको बाँधनेवाली होती है।

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

अथवा रागरहित योगी-गणके चित्तविषयक संयम करनेवाला (आलम्बनवाला) चित्त मनकी स्थितिको बाँधनेवाला होता है।

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

अथवा स्वप्नज्ञान और निद्राज्ञानको आश्रय करनेवाला चित्त मनकी स्थितिको बाँधनेवाला होता है।

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

अथवा जो जिसको अभिमत (इष्ट) हो, उसके ध्यानसे मनकी स्थिति बँध जाती है।

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

पूर्वोक्त उपायोंसे स्थित हुए चित्तका सूक्ष्म पदार्थोंमें परमाणुपर्यन्त और महान् पदार्थोंमें परम-महान् (आकाश) पर्यन्त वशीकार हो जाता है।

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

राजस, तामस-वृत्तिरहित स्वच्छ चित्तकी उत्तम जातीय (अति निर्मल) मणिके समान ग्रहीता (अस्मिता), ग्रहण (इन्द्रियाँ), ग्राह्य (स्थूल तथा सूक्ष्म विषयों)में स्थित होकर उनके तन्मय हो जाना (उनके स्वरूपको प्राप्त हो जाना) समापत्ति (तद्रूप होना) है।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

उन समापत्तियोंमेंसे शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पों (भेदों) से मिली हुई (अर्थात् इन तीनों भिन्न-भिन्न पदार्थोंका अभेदरूपसे जिसमें भान होता है) सवितर्क समापत्ति होती है।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

स्मृतिके शुद्ध हो जानेपर (अर्थात् आगम-अनुमानके कारणीभूत शब्द-संकेत स्मरणके निवृत्त होनेसे) अर्थमात्र-सी भासनेवाली अपने (ग्रहण आकार ज्ञानात्मक) रूपसे रहित (चित्तवृत्ति) निर्वितर्क समापत्ति है।

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥

इस सवितर्क और निर्वितर्क समापत्तिके निरूपणसे ही सविचार और निर्विचार समापत्तियाँ सूक्ष्म विषयमें व्याख्यान की हुई समझनी चाहिये।

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

सूक्ष्मविषयता अलिङ्ग-प्रकृतिपर्यन्त है।

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

ये पूर्वोक्त चारों समापत्तियाँ ही सबीज समाधि कहलाती हैं।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

निर्विचार समाधिकी वैशारद्य (प्रवीणता) होनेपर अध्यात्म (प्रज्ञा) की निर्मलता होती है।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

अध्यात्म-प्रसादके लाभ होनेपर जो प्रज्ञा (समाधिजन्य बुद्धि) उत्पन्न होती है, उसका नाम ऋतम्भरा प्रज्ञा (सचाईको धारण करनेवाली अविद्यादिसे रहित बुद्धि) है।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥

आगम और अनुमानकी प्रज्ञासे ऋतम्भरा प्रज्ञाका विषय अलग है, विशेषरूपसे अर्थका साक्षात्कार करनेसे।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

उस ऋतम्भरा प्रज्ञासे उत्पन्न होनेवाला संस्कार अन्य सब व्युत्थानके संस्कारोंका बाधक (रोकनेवाला) होता है।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

पर-वैराग्यद्वारा उस ऋतम्भरा-प्रज्ञा-जन्य संस्कारके भी निरोध हो जानेपर पुरातन-नूतन सब संस्कारोंके निरोध हो जानेसे निर्बीज-समाधि होती है।

(२) साधनपाद

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग है।

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

समाधिकी भावनाके लिये और क्लेशोंके तनूकरणके लिये (क्षीण करनेके लिये) क्रियायोग है।

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ ३ ॥

अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश क्लेश हैं। ये पाँचों बाधनारूप पीड़ाको उत्पन्न करते हैं और चित्तमें वर्तमान रहते हुए संस्काररूप गुणोंके परिणामको दृढ़ करते हैं, इसलिये क्लेश नामसे कहे गये हैं। ये पाँचों विपर्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान ही हैं, क्योंकि उन सबका कारण अविद्या ही है।

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार-अवस्थावाले अस्मिता आदि क्लेशोंका अविद्या क्षेत्र है।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

अनित्यमें नित्य, अपवित्रमें पवित्र, दुःखमें सुख और अनात्मामें आत्माका ज्ञान अविद्या है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

दृक्शक्ति और दर्शनशक्तिका एक स्वरूप-जैसा भान होना अस्मिता (क्लेश) है।

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

सुख-भोगके पीछे जो चित्तमें उसके भोगकी इच्छा रहती है, वह राग है।

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

दुःखके अनुभवके पीछे जो घृणाकी वासना चित्तमें रहती है, उसको द्वेष कहते हैं।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

(जो मरनेका भय हर एक प्राणीमें) स्वभावतः बह रहा है और विद्वानोंके लिये भी ऐसा ही प्रसिद्ध है (जैसा कि मूर्खोंके लिये) वह अभिनिवेश क्लेश है।

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

वे पूर्वोक्त पाँच क्लेश, जो क्रियायोगसे सूक्ष्म और प्रसंख्यान अग्निसे दग्धबीजरूप हो गये हैं, असम्प्रज्ञातसमाधिद्वारा चित्तके अपने कारणमें लीन होनेसे निवृत्त करने योग्य हैं।

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

क्लेशोंकी स्थूल वृत्तियाँ, जो क्रियायोगसे तनु (क्षीण) कर दी गयी हैं, प्रसंख्यान (विवेक-ख्याति)-संज्ञक ध्यानसे त्यागने योग्य हैं। (जबतक कि वे सूक्ष्म होकर दग्ध बीजके सदृश न हो जायँ।)

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

क्लेश जिसकी जड़ है, ऐसी कर्मोंकी वासना वर्तमान और अगले जन्मोंमें भोगने योग्य है।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

अविद्या आदि क्लेशोंकी जड़के होते हुए उस (कर्माशय) का फल जाति, आयु और भोग होते हैं।

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

वे (जाति, आयु और भोग) सुख-दुःखरूपी फलके देनेवाले होते हैं, क्योंकि उनके कारण पुण्य और पाप हैं।

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

क्योंकि (विषय-सुखके भोगकालमें भी) परिणाम-दुःख, ताप-दुःख और संस्कार-दुःख बना रहता है और गुणोंके स्वभावमें भी विरोध है, इसलिये विवेकी पुरुषके लिये सब कुछ (सुख भी जो विषय-जन्य है) दुःख ही है।

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

आनेवाले दुःख हेय (त्यागने योग्य) हैं।

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

द्रष्टा और दृश्यका संयोग 'हेयहेतु' (दुःखका कारण) है।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है, भूत और इन्द्रिय जिसका स्वरूप है, भोग और अपवर्ग जिसका प्रयोजन है, वह दृश्य है।

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रा लिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

गुणोंकी चार अवस्थाएँ (परिणाम) हैं। विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

द्रष्टा जो देखनेकी शक्तिमात्र है, निर्विकार होता हुआ भी चित्तकी वृत्तियोंके अनुसार देखनेवाला है।

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

उस पुरुषके लिये ही (यह सारा) दृश्यका स्वरूप है।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया है उसके लिये यह दृश्य नष्ट हुआ भी नष्ट नहीं होता है, क्योंकि वह दूसरे पुरुषोंके साथ साझेकी वस्तु है।

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

स्व-शक्ति और स्वामी-शक्ति-संज्ञक स्वरूपकी उपलब्धिका जो कारण है वह (दृश्य-द्रष्टृका स्व-स्वामिभाव) संयोग है। अर्थात् स्व-शक्ति और स्वामी-शक्तिके स्वरूपकी उपलब्धि (दृश्य-द्रष्टृके स्व-स्वामिभाव) संयोगके वियोगका कारण है।

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

इस अदर्शनरूपी संयोगका कारण अविद्या है।

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

उसके (अविद्याके) अभावसे (अदर्शनरूपी) संयोगका अभाव 'हान' है। वह चिति-शक्तिका कैवल्य है।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

शुद्ध विवेकख्याति हानका उपाय है।

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

उस निर्मल विवेकख्यातिवाले योगीकी सात प्रकारकी सबसे ऊँची अवस्थावाली प्रज्ञा होती है।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

योगके अङ्गोंके अनुष्ठानसे अशुद्धिके नाश होनेपर ज्ञानका प्रकाश विवेकख्यातिपर्यन्त हो जाता है।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—(ये) आठ योगके अङ्ग हैं।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यम हैं।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

जाति देश, काल और समयकी हदसे रहित सर्वभूमियोंमें पालन करने योग्य यम महाव्रत कहलाते हैं।

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय (और) ईश्वर-प्रणिधान नियम हैं।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

वितर्कोंद्वारा यम और नियमोंका बाध होनेपर प्रतिपक्षका चिन्तन करना चाहिये।

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

यम-नियमोंके विरोधी हिंसा आदि वितर्क कहलाते हैं। (वे तीन प्रकारके होते हैं) स्वयं किये हुए, दूसरोंसे कराये हुए और अनुमोदन किये हुए। उनके कारण लोभ, मोह और क्रोध होते हैं। वे मृदु, मध्य और अधिमात्रावाले होते हैं। ये सब दुःख और अज्ञानरूपी अपरिमित फलोंको देनेवाले हैं। इस प्रकार प्रतिपक्षकी भावना करे।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

अहिंसाकी दृढ़ स्थिति हो जानेपर उस (अहिंसक योगी) के निकट सब प्राणियोंका वैर छूट जाता है।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

सत्यमें दृढ़ स्थिति हो जानेपर क्रिया फलका आश्रय बनती है।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

अस्तेयकी दृढ़ स्थिति होनेपर सब रत्नोंकी प्राप्ति होती है।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

ब्रह्मचर्यकी दृढ़ स्थिति होनेपर वीर्यका लाभ होता है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ३९ ॥

अपरिग्रहकी स्थिरतामें जन्मके कैसेपनका (पूर्वजन्म कैसे हुए थे) इस बातका साक्षात् होता है।

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

शौचसे अपने अङ्गोंसे घृणा और दूसरोंसे संसर्गका

अभाव होता है।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

चित्तकी शुद्धि, मनकी स्वच्छता, एकाग्रता, इन्द्रियोंका जीतना और आत्मदर्शनकी योग्यता आभ्यन्तर शौचकी सिद्धिसे प्राप्त होती है।

संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥

संतोषसे अनुत्तम सुख प्राप्त होता है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

तपसे अशुद्धिके क्षयके होनेसे शरीर और इन्द्रियोंकी शुद्धि होती है।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥

स्वाध्यायसे इष्टदेवताका साक्षात् होता है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

समाधिकी सिद्धि ईश्वर-प्रणिधानसे होती है।

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

जो स्थिर और सुखदायी हो वह आसन है।

प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

(आसन) प्रयत्नकी शिथिलता और आनन्त्यमें समापत्तिद्वारा सिद्ध होता है।

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

आसनकी सिद्धिसे द्वन्द्वोंकी चोट नहीं लगती।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

आसनके स्थिर होनेपर श्वास-प्रश्वासकी गतिका रोकना प्राणायाम है।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

(यह प्राणायाम) बाह्य-वृत्ति, आभ्यन्तर-वृत्ति और स्तम्भ-वृत्ति (तीन प्रकारका होता है) देश, काल और संख्यासे देखा हुआ (नापा हुआ) लम्बा और हलका होता है।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

बाहर-अंदरके विषयको फेंकनेवाला अर्थात् आलोचना करनेवाला चौथा प्राणायाम है।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

उससे प्रकाशका आवरण (विवेक-ज्ञानका पर्दा) क्षीण हो जाता है।

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

और धारणाओंमें मनकी योग्यता होती है।

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

इन्द्रियोंका अपने विषयोंके साथ सम्बन्ध न होनेपर चित्तके स्वरूपका अनुकरण (नकल)-जैसा करना प्रत्याहार है।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

उस प्रत्याहारसे इन्द्रियोंका उत्कृष्ट वशीकार होता है।

(३) विभूतिपाद

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

चित्तका वृत्तिमात्रसे किसी स्थानविशेषमें बाँधना 'धारणा' कहलाता है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

उसमें वृत्तिका एक-सा (घटोऽयं घटोऽयम् आदि) बना रहना ध्यान है।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

वह ध्यान ही समाधि कहलाता है, जब उसमें केवल ध्येय अर्थमात्रसे भासता है और उसका (ध्यानका) स्वरूप शून्य-जैसा हो जाता है।

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

तीनों (धारणा, ध्यान और समाधि) का एक विषयमें होना संयम कहलाता है।

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

उस (संयम) के जयसे समाधि-प्रज्ञाका प्रकाश होता है।

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

उस संयमका भूमियोंमें विनियोग करना चाहिये।

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

पहलोंकी अपेक्षासे तीनों (धारणा, ध्यान और समाधि) अन्तरङ्ग हैं।

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

वह धारणा, ध्यान तथा समाधि भी असम्प्रज्ञात-समाधिका बाहरका अङ्ग है।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षण-चित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

व्युत्थानके संस्कारका दबना, निरोधके संस्कारका प्रकट होना, यह जो निरोधकालमें होनेवाले चित्तका दोनों संस्कारोंमें अनुगत होना है, यह निरोध-परिणाम कहा जाता है।

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

निरोध-संस्कारसे चित्तकी शान्त-प्रवाहवाली गति होती है।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि-परिणामः ॥ ११ ॥

चित्त (धर्मी) के सर्वार्थता और एकाग्रतारूप धर्मोंका (क्रमसे) नाश होना और प्रकट होना चित्तका समाधि-अवस्थामें परिणाम है।

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता-परिणामः ॥ १२ ॥

तब फिर समान वृत्तियोंका शान्त और उदय होना चित्तका एकाग्रता-परिणाम है।

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

चित्तके परिणामसे ही भूतों और इन्द्रियोंमें धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणाम व्याख्या किये गये जानने चाहिये।

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

(उन परिणामोंके) अतीत, वर्तमान और भविष्यत् धर्मोंमें अनुगत धर्मी है।

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

क्रमोंका भेद परिणामके भेदमें हेतु है।

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

तीनों परिणामोंमें संयम करनेसे भूत और भविष्यत्का ज्ञान होता है।

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभाग-संयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

शब्द, अर्थ और ज्ञानके परस्परके अध्याससे अभेद भासना होता है। उनके विभागमें संयम करनेसे सब प्राणियोंके शब्दका ज्ञान होता है।

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

संस्कारके साक्षात् करनेसे पूर्वजन्मका ज्ञान होता है।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

दूसरेके चित्तकी वृत्तिके साक्षात् करनेसे दूसरेके चित्तका ज्ञान होता है।

न च तत् सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ २० ॥

पर वह (दूसरेका चित्त) अपने विषयसहित साक्षात् नहीं होता, क्योंकि वह (विषयसहित चित्त) उसका (संयमका) विषय नहीं है।

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशा-सम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ २१ ॥

अपने शरीरके रूपमें संयम करनेसे रूपकी ग्राह्य-शक्ति रुक जाती है। इससे दूसरेकी आँखोंके प्रकाशसे योगीके शरीरका संनिकर्ष न होनेके कारण योगीके शरीरका अन्तर्धान (छिप जाना) हो जाता है।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञान-मरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

कर्म सोपक्रम और निरुपक्रम दो प्रकारके होते हैं। उनमें संयम करनेसे मृत्युका ज्ञान होता है अथवा अरिष्टोंसे मृत्युका ज्ञान होता है।

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

मैत्री आदिमें संयम करनेसे मैत्री आदि बल प्राप्त होता है।

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

हाथी आदिके बलोंमें संयम करनेसे हाथी आदिके बल प्राप्त होते हैं।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्ट-ज्ञानम् ॥ २५ ॥

प्रवृत्तिके प्रकाश डालनेसे सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तुका ज्ञान होता है।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥

सूर्यमें संयम करनेसे भुवनका ज्ञान होता है।

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

चन्द्रमामें संयम करनेसे ताराओंके व्यूहका ज्ञान होता है।

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

ध्रुवमें संयम करनेसे ताराओंकी गतिका ज्ञान होता है।

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

नाभि-चक्रमें संयम करनेसे शरीरके व्यूहका ज्ञान होता है।

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

कण्ठ-कूपमें संयम करनेसे क्षुधा और पिपासा (भूख-प्यास)-की निवृत्ति होती है।

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

कूर्म-नाडीमें संयम करनेसे स्थिरता होती है।

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

मूर्धाकी ज्योतिमें संयम करनेसे सिद्धोंका दर्शन होता है।

प्रातिभाद् वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

अथवा प्रातिभ-ज्ञानसे योगी सब कुछ जान लेता है।

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

हृदयमें संयम करनेसे चित्तका ज्ञान होता है।

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थान्यस्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

चित्त और पुरुष जो परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, इन दोनोंकी प्रतीतियोंका अभेद भोग है। उनमेंसे परार्थ-प्रतीतिसे भिन्न जो स्वार्थ-प्रतीति है, उसमें संयम करनेसे पुरुषका ज्ञान होता है अर्थात् पुरुष-विषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है।

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

उस स्वार्थ-संयमके अभ्याससे प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्ता-ज्ञान उत्पन्न होता है।

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

वे उपर्युक्त छः सिद्धियाँ समाधि (पुरुष-दर्शन) में विघ्न हैं, व्युत्थानमें सिद्धियाँ हैं।

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

बन्धके कारणके शिथिल करनेसे और घूमनेके मार्गके जाननेसे चित्त (सूक्ष्म शरीर) का दूसरेके शरीरमें आवेश होता है।

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

(संयमद्वारा) उदानके जीतनेसे जल, कीचड़, काँटों आदिमें असङ्ग रहना और ऊर्ध्व गति होती है।

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

(संयमद्वारा) समानके जीतनेसे योगीका दीप्तिमान् होना होता है।

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

श्रोत्र और आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे दिव्य श्रोत्र होता है।

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ४२ ॥

शरीर और आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे और हलके रूई आदिमें समापत्ति करनेसे आकाश-गमन-सिद्धि प्राप्त होती है।

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

शरीरसे बाहर कल्पना न की हुई वृत्ति महाविदेहा है, उससे प्रकाशके आवरणका नाश होता है।

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥ ४४ ॥

पाँचों भूतोंके स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्वमें संयम करनेसे भूतोंका जय होता है।

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

उस भूतजयसे अणिमा आदि आठ सिद्धियोंका प्रादुर्भाव और कायसम्पत् होती है तथा उन पाँचों भूतोंके धर्मोंसे रुकावट नहीं होती।

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥ ४६ ॥

रूप, लावण्य, बल, वज्रकी-सी बनावट कायसम्पत् (शरीरकी सम्पदा) कहलाती है।

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्वमें संयम करनेसे इन्द्रिय-जय होता है।

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥

इन्द्रियजयसे मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानका जय होता है।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

चित्त और पुरुषके भेद जाननेवालेको सारे भावोंका मालिक होना और सर्वज्ञ होना प्राप्त होता है।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

विवेक-ख्यातिसे भी वैराग्य होनेपर दोषोंके बीज-क्षय होनेपर कैवल्य होता है।

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्ट-प्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥

स्थानवालोंके आदर-भाव करनेपर लगाव एवं घमंड नहीं करना चाहिये, क्योंकि (इसमें) फिर अनिष्टके प्रसङ्गका भय है।

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ॥

क्षण और उसके क्रमोंमें संयम करनेसे विवेकज-ज्ञान उत्पन्न होता है।

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

एक दूसरेसे जाति, लक्षण और देशसे भेदका निश्चय न होनेसे दो तुल्य वस्तुओंका निश्चय विवेकज-ज्ञानसे होता है।

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

बिना निमित्तके अपनी प्रभासे स्वयं उत्पन्न होनेवाला, सबको विषय करनेवाला, सब प्रकारसे विषय करनेवाला, बिना क्रमके एक साथ ज्ञानको विवेकज-ज्ञान कहते हैं।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ ५५ ॥

चित्त और पुरुषकी समान शुद्धि होनेपर कैवल्य होता है।

(४) कैवल्यपाद

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधिसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धियाँ हैं।

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

एक जातिसे दूसरी जातिमें बदल जाना प्रकृतियोंके भरनेसे होता है।

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

धर्मादि निमित्त प्रकृतियोंका प्रेरक नहीं होता है, किंतु उससे किसानके सदृश रुकावट दूर होती है।

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

अस्मितामात्रसे निर्माण-चित्त होते हैं।

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

प्रवृत्तिके भेदोंमें एक चित्त अनेकोंका प्रेरनेवाला होता है।

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

उन पाँच प्रकारके जन्म, ओषधि आदिसे उत्पन्न हुए पाँचों निर्माण-सिद्ध-चित्तोंमेंसे समाधिसे उत्पन्न होनेवाला चित्त वासनाओंसे रहित होता है।

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

योगीका कर्म अशुक्लाकृष्ण (न शुक्ल न कृष्ण अर्थात् निष्काम) होता है, दूसरोंका तीन प्रकारका (पाप, पुण्य और पाप-पुण्य-मिश्रित) होता है।

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

उन तीन प्रकारके कर्मोंसे उनके फलके अनुकूल ही वासनाओंकी अभिव्यक्ति (प्रादुर्भाव) होती है।

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कार-योरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

जाति, देश और कालकृत व्यवधानवाली वासनाओंका भी व्यवधान नहीं होता, क्योंकि स्मृति और संस्कार एकरूप (समानविषयक) होते हैं।

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

उन वासनाओंको आशिष् (अपने कल्याणकी इच्छा) के नित्य होनेसे अनादित्व भी है।

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनसे वासनाओंके संगृहीत होनेसे इनके (हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनके) अभावसे उन (वासनाओं) का अभाव होता है।

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

अतीत और अनागत स्वरूपसे रहते हैं, क्योंकि धर्मोंका कालसे भेद होता है।

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

वे धर्म प्रकट और सूक्ष्म गुणस्वरूप हैं।

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

परिणामके एक होनेसे वस्तुकी एकता होती है।

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥

वस्तुके एक होनेपर भी चित्तके भेदसे उन दोनों (चित्त और वस्तु) का अलग-अलग मार्ग है।

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

ग्राह्य-वस्तु एक चित्तके अधीन नहीं है, क्योंकि वह (वस्तु) बिना प्रमाण (चित्त) के उस समय क्या होगी ?

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

चित्तको वस्तुके जाननेमें उसके उपराग (विषयका चित्तमें प्रतिबिम्ब पड़ना) की अपेक्षा होती है, इसलिये उसको (चित्तको) वस्तु ज्ञात और अज्ञात होती है।

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

चित्तका स्वामी पुरुष परिणामी नहीं है, इसलिये चित्तकी वृत्तियाँ उसे सदा ज्ञात रहती हैं।

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

चित्त स्वप्रकाश नहीं है, क्योंकि वह दृश्य है।

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

और एक समयमें दोनों विषय और चित्तका ज्ञान नहीं हो सकता।

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥ २१ ॥

यदि पहले चित्तको दूसरे चित्तका दृश्य माना जाय तो चित्त (ज्ञान) के चित्त (ज्ञान) का अनवस्था दोष होगा और स्मृतियोंका संकर भी हो जायगा।

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

पुरुषको, जो क्रिया अथवा परिणामरहित है, स्वप्रतिबिम्बित चित्तके आकारकी प्राप्ति होनेपर अपने विषयभूत चित्तका ज्ञान होता है।

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

द्रष्टा और दृश्यसे रँगा हुआ चित्त सारे अर्थोंवाला होता है।

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

चित्त अनगिनत वासनाओंसे चित्रित हुआ भी परार्थ है, क्योंकि वह संहत्यकारी है।

विशेषदर्शिनः आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

विवेकख्यातिद्वारा पुरुष और चित्तमें भेदके देखनेवालेकी आत्मभावकी भावना निवृत्त हो जाती है।

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

विशेषदर्शनके उदय होनेपर विशेषदर्शीका चित्त विवेक-मार्ग-संचारी होकर कैवल्यके अभिमुख होता है।

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

उस विवेक-ज्ञानके बीच-बीचमें अन्य व्युत्थानकी वृत्तियाँ (भी) पूर्वके (व्युत्थानके) संस्कारोंसे उदय होती रहती हैं।

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

उन (व्युत्थानके संस्कारों) की निवृत्ति क्लेशोंकी निवृत्तिके तुल्य कही गयी जानना चाहिये।

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २९ ॥

जो योगी प्रसंख्यान-ज्ञानसे भी विरक्त है उसको निरन्तर विवेकख्यातिके उदय होनेसे धर्ममेघ समाधि होती है।

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

उस धर्ममेघ समाधिसे क्लेश और कर्मोंकी निवृत्ति होती है।

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

तब सब क्लेशकर्मोंके क्षय-कालमें सर्व आवरणरूप मलोंसे रहित होकर चित्तरूप प्रकाशके अनन्त होनेसे ज्ञेय पदार्थ अल्प हो जाता है।

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

तब कृतार्थ हुए गुणोंके परिणामके क्रमकी समाप्ति हो जाती है।

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

प्रतिक्षण होनेवाली परिणामकी समाप्तिपर जानी जानेवाली (गुणोंकी अवस्थाविशेषका नाम) क्रम है।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति ॥ ३४ ॥

पुरुषार्थसे शून्य हुए गुणोंका अपने कारणमें लीन हो जाना कैवल्य है अथवा चिति-शक्तिका अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाना कैवल्य है।

योगीश्वर भगवान् शिवके योगोपदेश

श्रीशिवगीतामें भगवान् शङ्करने सीता-विरहमें कर्षित श्रीरामको योगज्ञानका दिव्य उपदेश प्रदान किया है। श्रीराम जब सर्वथा निराश हो गये, तब महर्षि अगस्त्यके आदेशानुसार उन्होंने योगीश्वर भगवान् शङ्करकी तीव्र आराधना की। आशुतोष भगवान् शिव शीघ्र ही उनके सामने आविर्भूत हो गये और उनका श्रीरामके साथ वार्तालाप प्रारम्भ हुआ। उसी वार्तालापके मध्य श्रीरामने उनसे पूछा—

कथं भगवतो ज्ञानं शुद्धं मर्त्यस्य जायते।
तत्रोपायं हर ब्रूहि मयि तेऽनुग्रहो यदि॥

'हे भगवन्! मनुष्यको सर्वक्लेशापहारी दिव्य ज्ञान किस योगादि साधनसे प्राप्त होता है? यदि आपकी मुझपर थोड़ी भी कृपा हो तो इसे बतलानेका कष्ट करें।' इसपर भगवान् शङ्करने कहा—

विरज्य सर्वभूतेभ्य आविरिञ्चपदादपि।
घृणां वितत्य सर्वत्र पुत्रमित्रादिकेष्वपि॥
श्रद्धालुर्मुक्तिमार्गेषु वेदान्तज्ञानलिप्सया।
उपायनकरो भूत्वा गुरुं ब्रह्मविदं व्रजेत्॥

(श्रीराम!) सामान्य स्त्री-पुत्रादिकोंकी तो बात ही क्या, दिव्य स्वर्गसे लेकर ब्रह्मलोकतकके अलौकिक भोगोंसे भी अत्यन्त घृणाका भाव रखकर विरक्त हो साधकको योग-वेदान्तका आश्रय लेकर सर्वोपरि कैवल्य-मार्गकी ओर श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त होना चाहिये तथा उसके लिये ब्रह्मज्ञानमें निपुण ब्रह्मनिष्ठ महायोगेश्वर गुरुका आश्रय ग्रहण करना चाहिये। (और उनके पास ठहरकर सेवा-शुश्रूषासे उन्हें प्रसन्न करना चाहिये तथा समस्त वेदान्त-साहित्यका श्रवण-मनन करते हुए आत्मस्वरूपका ध्यान-चिन्तन एवं निदिध्यासन करना चाहिये।)

निर्मोहो निरहङ्कारः समः सङ्गविवर्जितः।
सदा शान्त्यादियुक्तः सन्नात्मन्यात्मानमीक्षते।
यत्सदा ध्यानयोगेन तन्निदिध्यासनं स्मृतम्॥

योगयुक्त साधक मोह-ममता, अहङ्कार एवं समान बुद्धिवाला होकर, सभी आसक्तियोंसे दूर रहते हुए एकाकी होकर साधना प्रारम्भ करे। फिर साधक शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा एवं समाधान—इन षट् सम्पत्तियोंसे युक्त होकर निरन्तर एकमात्र आत्मा-परमात्माके अवलोकनका ही प्रयत्न करता रहे—अपनी आत्माके द्वारा परमात्माके अवलोकनका अभ्यास करता रहे। अनवरत परमात्माके ध्यानमें लीन होना ही योगादि शास्त्र-ग्रन्थोंमें निदिध्यासन कहा गया है।

निर्मोहो निरहङ्कारो निर्लेपः सङ्गवर्जितः।
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
यः पश्यन्संचरत्येष जीवन्मुक्तोऽभिधीयते॥

योगाभ्यास एवं ज्ञान-बलके द्वारा मोह (अज्ञान), अहङ्कार, आसक्ति एवं जनसमूहका परित्यागकर एकान्तमें ध्यानके द्वारा समस्त प्राणियोंमें अपनेको और समस्त प्राणियोंको अपनेमें देखनेवाला, जो सभी कार्योंको करता है, वह शीघ्र ही जीवन्मुक्ति तत्पश्चात् विदेह-मुक्ति और मोक्षका भी लाभ कर लेता है।

अहिर्निर्मोचनी यद्वद्दृष्टः पूर्वं भयप्रदा।
ततोऽस्य न भयं किञ्चित्तद्वद्दृष्टुरयं जनः॥

जैसे रज्जु या साँपकी केंचुलको सर्प मानकर अज्ञानीजन भयभीत होते हैं और पुनः ध्यानसे देखनेपर उन्हें रज्जु या केंचुल समझकर निर्भय हो जाते हैं, उसी प्रकार अतत्त्वदर्शीके लिये यह संसार भयानक है। किंतु परमात्माको जान लेनेपर यह संसार तिरोहित हो जाता है और भगवान्‌का ही स्वरूप सामने दीखता है, जिससे योगी सर्वथा निर्भय हो जाता है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य वशं गताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम्॥

योग-साधनाके द्वारा जब साधकके हृदयमें स्थित भगवान्‌का साक्षात्कार हो जाता है, तब भ्रान्तिसे उत्पन्न असत्संसारके किसी भी पदार्थके प्रति उसकी कामना नहीं रह जाती और उसकी मन, बुद्धि आदि सभी इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं। तत्पश्चात् मरणशील मनुष्य योगसिद्ध होकर जरा-मृत्यु आदि दोषोंसे मुक्त हो जाता है और सर्वथा अजर-अमर हो जाता है। इतना ही सभी योगादि शास्त्रों एवं साधनाओंका परम एवं चरम फल है।

महर्षि वसिष्ठकी योग-धारणा

[दीर्घकालीन योगाभ्यासकी आवश्यकता]

महर्षि वसिष्ठने भगवान् श्रीरामको जो योगका उपदेश किया था, वह सभी योगशास्त्रोंमें अद्वितीय है। उसका संग्रह महर्षि वाल्मीकिने 'महारामायण' नामसे किया और वही 'योगवासिष्ठ'के नामसे प्रसिद्ध हुआ। वैसे इस ग्रन्थमें आद्योपान्त योग-ज्ञानके सभी अङ्गोंपर विस्तारसे प्रकाश डाला गया है और अत्यन्त सूक्ष्म विचार भी हुआ है, किंतु उपशम-प्रकरणमें योगकी विशेष बातोंका वर्णन किया गया है। योग-ज्ञानके सम्बन्धमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा साधकोंके लिये विशेष उपादेय होनेसे आचार्य मधुसूदन सरस्वतीने श्रीमद्भगवद्गीताकी गूढार्थदीपिका टीकामें तथा अन्य टीकाकारोंने भी अत्यन्त श्रद्धासे इन स्थलोंका उल्लेख किया है। योगसारसर्वस्वभूत होनेसे कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण श्लोकोंको यहाँपर दिया जा रहा है—

यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः।
न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति॥
यावन्न तत्त्वविज्ञानं तावच्चित्तशमः कुतः।
यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम्॥
यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः।
यावन्न तत्त्वसम्प्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः॥
तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च।
मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः॥
तस्माद्राघव यत्नेन पौरुषेण विवेकिना।
भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेतत्समाश्रयेत्॥

(श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन!) जबतक मन विलीन नहीं होता, तबतक वासनाका सर्वथा विनाश नहीं होता और जबतक वासना विनष्ट नहीं होती, तबतक चित्त शान्त नहीं होता। जबतक परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तबतक चित्तको शान्ति कहाँ और जबतक चित्तकी शान्ति नहीं होती, तबतक परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जबतक वासनाका सर्वथा नाश नहीं होगा, तबतक तत्त्वज्ञान कहाँसे होगा और जबतक तत्त्व-ज्ञान नहीं होता, तबतक वासनाका सर्वथा विनाश नहीं होगा। इसलिये (१) परमात्माका यथार्थ ज्ञान, (२) मनोनाश और (३) वासनाक्षय—ये तीनों ही एक दूसरेके कारण हैं। ये दुःसाध्य हैं, किंतु असाध्य नहीं। विशेष प्रयत्न करनेसे ये तीनों कार्य सिद्ध हो सकते हैं। श्रीराम! विवेकसे युक्त पौरुष-प्रयत्नसे भोगेच्छाका दूरसे ही परित्याग करके इन तीनोंका अवलम्बन करना चाहिये।

सर्वथा ते समं यावन्न स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहुः।
तावन्न पदसम्प्राप्तिर्भवत्यपि समाशतैः॥
वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते।
समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदा मुने॥

यदि उपर्युक्त तीनों उपायोंका एक साथ प्रयत्नपूर्वक भलीप्रकार अभ्यास न किया जाय तो सैकड़ों वर्षोंतक भी परमपदकी प्राप्ति सम्भव नहीं। किंतु महाबुद्धिमान् श्रीराम! वासनाक्षय, परमात्माका यथार्थ ज्ञान और मनोनाश—इन तीनोंका एक साथ दीर्घकालतक प्रयत्नपूर्वक अभ्यास किया जाय तो ये परम-पदरूप फल देते हैं।

जन्मान्तरशताभ्यस्ता राम संसारसंस्थितिः।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित्॥
गच्छन्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रंस्तिष्ठञ्जाग्रत्स्वपंस्तथा।
श्रेयसे परमायास्य त्रयस्याभ्यासवान् भव॥

श्रीराम! यह संसारकी स्थिति सैकड़ों जन्म-जन्मान्तरोंसे मनुष्योंके द्वारा अभ्यस्त है, अतः चिरकालतक योगाभ्यास किये बिना वह किसी तरह नष्ट नहीं हो सकती। इसलिये चलते-फिरते, श्रवण करते, स्पर्श करते, सूँघते, खड़े रहते, जागते, सोते—सभी अवस्थाओंमें परम कल्याणके लिये इन तीनोंके अभ्यासमें लग जाना चाहिये।

वासनासम्परित्यागसमं प्राणनिरोधनम्।
विदुस्तत्त्वविदस्तस्मात्तदाप्येवं समाहरेत्॥
प्राणायामचिराभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया।
आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते॥

तत्त्वज्ञोंका मत है कि वासनाओंके परित्यागके समान ही प्राणायाम भी एक उपाय है, इसलिये वासना-परित्यागके साथ-साथ प्राण-निरोधका भी अभ्यास करना आवश्यक है। चिरकालतक प्राणायामके अभ्याससे, योगाभ्यासमें कुशल

गुरुद्वारा बतायी हुई युक्तिसे, स्वस्तिक आदि आसनोंकी सिद्धिसे और उचित भोजनसे प्राण-स्पन्दनका निरोध हो जाता है।

न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम्॥
अङ्कुशेन विना मत्तं यथा दुष्टं मतङ्गजम्।
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च॥
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्।
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल॥

जिस प्रकार मदमत्त हाथी अङ्कुशके बिना दूसरे उपायसे वशमें नहीं होता, उसी प्रकार पवित्र युक्तिके बिना मन वशमें नहीं होता। अध्यात्म-विद्याकी प्राप्ति, साधु-संगति, वासनाका सर्वथा परित्याग और प्राणस्पन्दनका निरोध—ये ही युक्तियाँ चित्तपर विजय पानेके लिये निश्चितरूपसे दृढ़ उपाय हैं। (इनसे तत्काल ही चित्तपर विजय प्राप्त हो जाती है और साधकको परमतत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है।)

भगवत्पाद आदिशंकराचार्यकी योग-मीमांसा

(श्रीसुब्रह्मण्य शर्मा)

भगवत्पाद आदिशंकराचार्यके वेदान्त-सिद्धान्तमें योगका कहाँ क्या उपयोग है, इस विषयमें विद्वानोंमें गहरा मतभेद है। कुछ लोगोंका यह ध्यान है कि योग तो श्रीशंकरकी वेदान्त-प्रणालीका प्राण ही है, और कुछ इसके सर्वथा विपरीत यह समझते हैं कि योग या योगकी गुप्त बातोंसे आचार्यका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। इस लेखमें इसी विषयपर विचार किया जायगा।

श्रीशांकर-अद्वैतमें योग देखनेवाले बार-बार यह कहा करते हैं कि अद्वैतकी सिद्धि बिना निर्विकल्प समाधिके हो ही नहीं सकती। आचार्यकृत विवेकचूडामणि-जैसे प्रकरण-ग्रन्थोंसे वे अपने मतकी पुष्टि करते हैं। प्रस्थानत्रयके भाष्योंसे यह बात पूर्णरूपसे प्रमाणित होती है कि आचार्य अपने इस तर्कसिद्ध और अखण्डनीय सिद्धान्तको कहीं भी छोड़नेको तैयार नहीं हैं कि आत्मा और अनात्माके 'इतरेतराध्यास' से उत्पन्न हुआ बन्ध ज्ञानसे ही छूटता है और किसी भी उपायसे नहीं। इसके लिये बृहदारण्यकभाष्यसे एक अवतरण दिया जाता है। प्रसङ्ग है—'**आत्मन्येवोपासीत**' आदि वाक्य 'अपूर्वविधि' बतलाते हैं या क्या हैं, इसकी चर्चाका। यहाँ श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

न च 'आत्मन्येवोपासीत' इत्यपूर्वविधिः। कस्मात्? आत्मस्वरूपकथनानात्मप्रतिषेधवाक्यजनितविज्ञान-व्यतिरेकेणार्थान्तरस्य कर्तव्यस्य मानसस्य बाह्यस्य वाभावात्।

अर्थात् 'यह अपूर्वविधि नहीं है, क्योंकि वाक्यसे आत्मविज्ञान होने और अनात्माका निरास होनेपर कुछ भी मानस या बाह्य कर्म नहीं रह जाता।' इस सिद्धान्तके विरोध-पक्षकी सब बातोंको काटकर आचार्य योगपक्षसे आनेवाली शंकाका निरास करते हुए उसका इस प्रकार समाधान करते हैं—

'निरोधस्तर्ह्यर्थान्तरमिति चेत्। चित्तवृत्तिनिरोधस्य वेदवाक्यजनितात्मविज्ञानादर्थान्तरत्वात्। तन्त्रान्तरेषु च कर्तव्यतयावगतत्वाद्विधेयत्वमिति चेत्, न, मोक्षसाधनत्वेनानवगमात्। न हि वेदान्तेषु ब्रह्मात्मविज्ञानादन्यत्परमपुरुषार्थसाधनत्वेनावगम्यते। 'आत्मानमेवावेत्तस्मात्तत्सर्वमभवत्', 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति', 'आचार्यवान् पुरुषो वेद', 'तस्य तावदेव चिरम्', 'अभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद' इत्येवमादिश्रुतिशतेभ्यः।'

अर्थात् 'यह कहा जा सकता है कि निरोध तो इस ज्ञानसे भिन्न उपाय है। पर चित्तवृत्तिनिरोध वह आत्मज्ञान नहीं है जो वेदवाक्यसे होता है। यह चित्तवृत्तिनिरोध अन्य तन्त्रोंमें भी बताया है (जैसे सांख्य और योगमें)। इसलिये यहाँ भी उसका विधान हो सकता है, ऐसी आशंका हो तो यही उत्तर है कि ऐसा नहीं हो सकता। वेदान्तश्रुतिमें ब्रह्मात्मज्ञानसे अन्य और कोई परम पुरुषार्थ-साधन नहीं बताया है। 'वह अपने आपको जानता था इसलिये उससे सब कुछ हुआ', 'ब्रह्मविद् ही परम पदको पाता है', 'जो परब्रह्मको निश्चयसे जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है,' 'जो आचार्यवान् होता है वह उसे जानता है', 'तभीतक उसे प्रतीक्षा करनी होती है,' 'जो यह जानता है वह निर्भय ब्रह्म होता है' इत्यादि शत-शत श्रुतिवाक्योंसे यह सिद्ध है।' (बृहदारण्यक० १।४।७)

यह अवतरण स्फटिक-सा स्वच्छ है। इससे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य आत्मज्ञान और मुक्तिके बीचमें और कोई तीसरी चीज न आने देंगे।

तथापि योग या ध्यानका महत्त्व भी आचार्यके शिक्षा-सम्प्रदायमें कम नहीं है। जो लोग शुष्क बौद्धिक खेलको ही मुक्तिका एकमात्र द्वार समझे बैठे हैं, उन्हें आचार्यपादसे उतनी ही निराशा होगी जितनी कि उन लोगोंको जो योगके स्तुति-स्तोत्र गाते फिरते हैं। आत्मज्ञान ही मुक्तिका प्रत्यक्ष साधन है, चित्तवृत्तिनिरोधरूप योगको आचार्य आत्मज्ञानका-सा महत्त्व नहीं प्रदान करते, इतनी ही बात है, अन्यथा मनः-संयमरूप प्रारम्भिक साधनके तौरपर उसको भी आचार्य उपयोगी बतलाते हैं। इस विषयमें आचार्य इस प्रकार कथन करते हैं—

(१) योगोऽप्यणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलः स्मर्यमाणो न शक्यते साहसमात्रेण प्रत्याख्यातुम्। श्रुतिश्च योगमाहात्म्यं प्रख्यापयति।

अर्थात् योग भी जैसा कि स्मृतिने कहा है, अणिमादि ऐश्वर्यका देनेवाला है, इसलिये यह कहकर कि यह कुछ नहीं है, इसका तिरस्कार नहीं किया जा सकता। श्रुतिने भी योगकी महिमा गायी है। (ब्रह्मसूत्र-भाष्य १।३।३३)

(२) येन त्वंशेन न विरुद्ध्यते तेनेष्टमेव सांख्य-योगस्मृत्योः सावकाशत्वम्।

अर्थात् जितने अंशमें सांख्ययोग स्मृतियोंका वेदान्तसे विरोध नहीं है, उतने अंशमें उनका ग्रहण इष्ट है। (ब्रह्मसूत्र-भाष्य २।१।३)

(३) सम्यग्दर्शननिष्ठानां संन्यासिनां सद्योमुक्तिरुक्ता। ····अथेदानीं ध्यानयोगं सम्यग्दर्शनस्यान्तरङ्गं वक्ष्यामीति तस्य सूत्रस्थानीयान् श्लोकानुपदिशति स्म।

अर्थात् सम्यग्दर्शननिष्ठ जो संन्यासी हैं उनके लिये सद्यो (तत्काल)-मुक्ति कही गयी है। अब सम्यग्दर्शनके साधनरूप ध्यानयोगका विवरण करते हुए सूत्रस्थानीय श्लोक उपदेशसे कहते हैं। (भगवद्गीताभाष्य ५।२७)

अब माण्डूक्य-कारिकाके भाष्यसे एक अवतरण और देते हैं जिससे आचार्यका मत इस विषयमें और भी स्पष्ट हो जायगा—

'येषां पुनर्ब्रह्मस्वरूपव्यतिरेकेण रज्जुसर्पवत्कल्पितमेव मन इन्द्रियादि च न परमार्थतो विद्यते तेषां ब्रह्म-स्वरूपाणामभयं मोक्षाख्या चाक्षया शान्तिः स्वभावत एव सिद्धा नान्यायत्ता नोपचारः कथञ्चनेत्यवोचाम। ये त्वतोऽन्ये योगिनो मार्गगा हीनमध्यमदृष्टयो मनोऽन्यदात्मव्यतिरिक्त-मात्मसम्बन्धि पश्यन्ति तेषामात्मसत्यानुबोधरहितानां मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वेषां योगिनाम्। किं च दुःखक्षयोऽपि। न ह्यात्मसम्बन्धिनि मनसि प्रचलिते दुःखक्षयोऽस्त्यविवेकिनाम्। किं चात्मप्रबोधोऽपि मनोनिग्रहायत्त एव तथाक्षयापि मोक्षाख्या शान्तिस्तेषां मनोनिग्रहायत्तैव।'

'जिनके मन, इन्द्रियादि रज्जु-सर्पवत् केवल कल्पित हैं, परमार्थतः ब्रह्मस्वरूपके अतिरिक्त हैं ही नहीं, जो ब्रह्मस्वरूप हो गये हैं उनके लिये अभय और मोक्ष नामकी अक्षय शान्ति एक ऐसी स्थिति है जो उनका स्वभाव ही है, उसके लिये उन्हें अन्य किसी सहारेकी आवश्यकता नहीं और इसलिये हमने कहा कि उन्हें बन्धनसे मुक्त होनेके लिये कुछ भी नहीं करना है। परंतु जो इनसे भिन्न योगी हैं और आत्मानुसंधानके मार्गपर चल रहे हैं, जो हीन मध्यम दृष्टिसे मनको आत्मासे अलग आत्माका सम्बन्धी जानते हैं, ऐसे आत्मसत्यके अनुबोधसे रहित सब योगियोंका अभय मनोनिग्रहके ही अधीन है। उनका दुःखक्षय भी मनोनिरोधपर ही अवलम्बित है। आत्माका सम्बन्धी (और आत्मासे अलग) ऐसा जो मन है उसके क्षुब्ध होनेसे जो दुःख होता है अविवेकियोंके उस दुःखका (मनोनिग्रहके बिना) क्षय नहीं हो सकता। इसी प्रकार इनकी अक्षया शान्ति भी जिसे मुक्ति कहते हैं, मनोनिग्रहपर ही अवलम्बित है।'

अब यह बात स्पष्ट हो गयी होगी कि आचार्यने मुमुक्षुओंकी तीन कक्षाएँ की हैं। पहली कक्षा उन लोगोंकी है जिन्हें योग या अन्य किसी भी साधनाके सहारेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि उनका अन्तःकरण शुद्ध निर्मल सत्त्व है और उन्हें गुरुद्वारा उपदिष्ट होते ही अद्वितीय ब्रह्मका बोध हो जाता है। मध्यम और हीन दृष्टिवाले जो साधक हैं और जिनकी संख्या ही अधिक होती है उनके लिये योग और कर्मयोग भी नितान्त आवश्यक हैं और योगमें जो मनोनिग्रहका अभ्यासक्रम है वह उनके लिये अनिवार्य है। आचार्यके भिन्न-भिन्न भाष्योंमें, विशेषकर श्रीमद्भगवद्गीताके भाष्यमें इतस्ततः योगकी जो बातें

मिलती हैं उन्हें तो हमारे ही जैसे सामान्य मुमुक्षुओंके लिये श्रीआचार्यचरणने दया करके कहा है, क्योंकि हमलोग परम ज्ञानके उस उच्चतम शिखरतक दुर्लभ परमहंसोंके समान उड़कर जा नहीं सकते और इसलिये हमें तो कर्मयोग और भक्तियोगके मार्गसे ही क्रमशः ऊपर उठना होगा, तब किसी दीर्घकालके बाद ब्रह्मनिष्ठके उस महाप्रासादका प्रवेशद्वार भी कभी मिलेगा।

अव्यभिचार भक्तियोग

(ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

प्रत्यक्चैतन्याभिन्न भगवान्‌को अव्यभिचार भक्तियोगसे सेवन करनेवाले सात्त्विक, राजस, तामसगुणोंका उल्लङ्घन करके ब्रह्म-भावको प्राप्त होते हैं। गुणमय संसारसे छूटनेका एकमात्र यही सुन्दर उपाय है। वेदान्तोंका श्रवण, मनन करनेपर जिस प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्मतत्त्वका निश्चय होता है, उसीका निरन्तर निदिध्यासन करनेसे उसीका साक्षात्कार होता है। रज्जु आदि अधिष्ठानके साक्षात्कारसे उसमें कल्पित सर्प, धारा, माला आदिका जैसे अभाव हो जाता है, वैसे ही निर्विकार सर्वाधिष्ठान चिदात्मतत्त्वका साक्षात्कार होनेसे उसमें कल्पित गुणमय प्रपञ्चका आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। इसी कारण **'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।'** यहाँपर अव्यभिचार भक्तियोगसे शुद्ध परब्रह्मका निदिध्यासन या ज्ञानाभ्यास ही लिया जाता है। यद्यपि भक्तिका ज्ञान या निदिध्यासन अर्थ पक्षपातयुक्त-सा प्रतीत होता है तथापि 'स्व-स्वरूपानुसंधान' को भक्ति कहा है। विचार करनेसे यह ठीक भी मालूम पड़ता है। विषयाकारको भजन करनेवाला ज्ञान, भक्ति शब्दसे कहा जा सकता है। **'विषयाकारं भजतीति भक्तिः।'** इसके अतिरिक्त **'भज सेवायाम्'** धातुसे भक्ति शब्दकी सिद्धि होती है—**'भजनं भक्तिः।'** भजन अर्थात् सेवनको ही भक्ति कहा जाता है। सेवा यद्यपि शरीर, इन्द्रिय, बुद्धिसे की गयी कायिकी, ऐन्द्रियिकी, मानसी-भेदसे अनेक हैं तथापि मुख्य सेवा मानसी ही है। मानसी सेवा ही सर्वश्रेष्ठ है। महानुभावोंने भी कहा है—

कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।
चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा॥

अर्थात् प्राणीको सदा श्रीकृष्ण-सेवा करनी चाहिये। सेवामें भी मानसी सेवा ही सर्वोत्कृष्ट सेवा है। चित्तकी कृष्णोन्मुखता या कृष्णमें तन्मयता ही सेवा है। मानसी सेवाकी सिद्धिके लिये ही तनुजा और वित्तजा सेवा करनी चाहिये। अर्थात् कायिकी, वाचिकी आदि सेवा करते-करते अन्तमें मानसी सेवाकी योग्यता प्राप्त होती है। 'विजातीय प्रत्यय-निरासपूर्वक सेव्याकाराकारित मानसीवृत्तिप्रवाह' ही मानसी सेवा है। जिस प्रकार समुद्रोन्मुखी गङ्गाका अखण्ड प्रवाह चलता है, उसी प्रकार भगवदुन्मुखी मानसी वृत्तियोंका प्रवाह चलना ही भगवान्‌की मानसी सेवा है। जैसे सगुण, साकार सच्चिदानन्द भगवान्‌के आकारसे आकारित वृत्तिका प्रवाह होता है, वैसा ही वेदान्तवेद्य निर्गुण, निराकार, निर्विकार, अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य भगवान्‌की स्वरूपविषयिणी वृत्तियोंका भी प्रवाह होता है। निर्विकार परब्रह्माकार मानस-प्रवाह ही भक्ति, भजन या सेवा है और वही भगवान्‌का प्रापक होनेसे या एकाग्रता होनेसे योग भी है। जब वह बीच-बीचमें भगवान्‌से हटकर बाह्य प्रपञ्चोंसे जुड़ जाता है, तब व्यभिचारी कहा जाता है। अतः अन्य सम्बन्ध-विवर्जित, निर्विशेष भगवान्‌के आकारसे आकारित अविच्छिन्न मानस वृत्ति-प्रवाह ही अव्यभिचार भक्तियोग है, वही ज्ञानाभ्यास और वही निदिध्यासन है।

इस अव्यभिचार भक्तियोगसे भगवान्‌का सेवन करनेसे साक्षात्कारद्वारा अति शीघ्र ही गुणमय प्रपञ्चका बोध हो जाता है। ज्ञान चतुर्थी भक्ति है। अतः भगवान्‌के आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चार भक्त होते हैं—**'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।'** ज्ञानी ज्ञानसे ही भगवान्‌का भजन या सेवन करता है। ज्ञानी भगवान्‌का अत्यन्त प्रिय भक्त है। यद्यपि भगवान्‌के भजन करनेवाले सभी भगवान्‌के प्रिय एवं उदार हैं तथापि ज्ञानी तो एकमात्र भगवान्‌में ही भक्ति करता है, क्योंकि उसकी दृष्टिमें भगवान्‌से भिन्न दूसरी दृष्टि रहती ही नहीं। अतएव ज्ञानीको भगवान् एक क्षणके लिये भी

अदृश्य नहीं होते और भगवान्‌को ज्ञानी नहीं अदृश्य होता। ज्ञानी भगवान्‌का साक्षात् अन्तरात्मा होता है—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।'** प्रथम सूक्ष्मतत्त्वमें मनकी स्थिति असम्भव है, अतः विराट् हिरण्यगर्भादि तत्त्वोंमें मनको स्थित करके फिर क्रमेण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सगुणमें स्थिति-सम्पादन करते हुए निर्गुण-निराकार, निर्विशेष ब्रह्ममें स्थिति सम्पन्न होती है। स्थूल आलम्बनोंका अपोहन करते हुए सूक्ष्म आलम्बनोंमें चित्तकी एकाग्रता करते हुए अन्तमें चित्त अत्यन्त निरालम्बन बनाया जा सकता है। श्रीकपिलदेवजीने भी निर्गुण, निर्विकार ब्रह्ममें स्थितिके लिये भगवान्‌की मधुर, मनोहर, मङ्गलमयी, सगुण, साकार सच्चिदानन्दमयी मूर्तिका ध्यान बतलाया है। प्रथम अस्त्र-शस्त्र, भूषण, वसनादिसे सुसज्जित मूर्तिका ध्यान कहा है, फिर अस्त्र-शस्त्ररहित केवल श्रीअङ्गका ध्यान करना बतलाया है। एक-एक अङ्गका ध्यान और उसके सौन्दर्य, माधुर्य एवं महिमाओंका प्रेमपूर्वक चिन्तन बतलाया है। फिर श्रीचरणारविन्दकी नखमणिचन्द्रिका या अमृतमय मुखचन्द्रके सौन्दर्य-माधुर्यमें मनकी तल्लीनता कही गयी है। परम पवित्रता, अद्भुत महिमा, लोकोत्तर सौन्दर्य-माधुर्यके चिन्तनसे भावुकका मन प्रेमोन्मादमें विभोर हो जाता है। प्रेममें जैसे अङ्ग एवं वागादि इन्द्रियोंमें शैथिल्य होता है, वैसे ही मनमें भी शैथिल्य आता है, जिससे कि वह ध्येय-स्वरूपको भी ग्रहण करनेमें असमर्थ हो जाता है। जब मन सब दृश्योंसे रहित हो जाता है, यहाँतक कि ध्येय-स्वरूपसे भी शून्य हो जाता है, तब ध्येयके अभावमें ध्येयाकार वृत्तिरूप ध्यान और ध्यानका आश्रयरूप ध्याता भी नहीं उपलब्ध होता। उस समय ध्याता-ध्यान-ध्येयके बाधके अवधि एवं साक्षिरूपसे भगवान्‌का प्राकट्य होता है। अर्थात् भावुकोंका मन आकर्षण करनेके लिये ही भगवान् ध्येयरूपसे प्रकट होते हैं। उसे आकर्षित करके फिर वही भगवान् ध्येयातीत अग्राह्य-रूपमें प्रकट होते हैं। यों भी भगवान्‌में ही चित्त लगाकर भगवत्परायण होकर सर्वभावसे जो भगवान्‌को भजते हैं, भगवान् उनके ऊपर कृपा करके उन्हें बुद्धियोग प्रदान करते हैं। उनके हृदयमें तेजोमय ज्ञानदीपका प्रकाश करके अज्ञानान्धकार दूर कर देते हैं—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः॥
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

यद्यपि वेदान्तवेद्य परमतत्त्व अत्यन्त अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य है तथापि भगवान्‌के भक्त निश्चिन्त रहते हैं। वे जानते हैं कि हमें निरन्तर प्रभुके पाद-पङ्कजमें आत्मसमर्पण करके प्रभुका भजन ही करना चाहिये। यदि प्रभु अपने निर्गुण, निराकार, निर्विकार स्वरूपका साक्षात् कराना आवश्यक समझेंगे तो जिस किसी तरह साक्षात्कार करा देंगे। अत्यन्त बधिरके लिये शब्द एवं जन्मान्धको रूप वैसे ही दुर्ग्राह्य हैं, जैसे अज्ञानीको ब्रह्म दुर्ग्राह्य है। परंतु भगवान् श्रोत्र और नेत्रका निर्माण करके दुर्ग्राह्य शब्द और रूपको सुग्राह्य एवं सुज्ञेय बना देते हैं। उन भगवान्‌को अत्यन्त अचिन्त्य एवं दुर्ज्ञेय अपने निराकार रूपका साक्षात्कार करा देनेमें कोई भी कठिनाई नहीं पड़ती। अतः पूर्ण विश्वास, आशा किये भगवान्‌के पाद-पङ्कजका अव्यभिचार भक्तियोगसे सेवन करनेवालेको दुर्गमसे दुर्गम सभी तत्त्व प्राप्त हो जाते हैं। फिर गुणोंका उल्लङ्घन भी उनके लिये सुगम हो जाता है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

श्रीमुखकी भी उक्ति है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

अर्थात् अमृत, अव्यय, शाश्वतधर्म एवं ऐकान्तिक सुखस्वरूप ब्रह्मकी मैं ही प्रतिष्ठा हूँ। मुझे भजनेसे गुणोंका अतिक्रमण बड़ी सरलतासे हो सकता है। **'अहं'** पदका अर्थ प्रत्यगात्मा है। भावार्थ यह हुआ कि जैसे महाकाश ही घटाकाशके रूपमें प्रतिष्ठित होता है, वैसे ही मैं प्रत्यगात्मा ही परब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ। अर्थात् परमात्मा ही प्रत्यगात्मा-रूपमें प्रतिष्ठित होता है। अतः जैसे घटाकाश महाकाशसे अभिन्न ही है, उसी तरह प्रत्यगात्मा परमात्म-स्वरूप ही है। परमात्मा प्रत्यगात्मा (अन्तरात्मा) रूपसे प्रतिष्ठित होते हैं। प्रत्यगात्मा परमात्माकी प्रतिष्ठा है। अथवा **'अहं'** पदका अर्थ प्रत्यक्चैतन्याभिन्न, मायातीत, अदृश्य, अग्राह्य, अलक्षण, निर्विकल्प, निर्विशेष शुद्ध परमात्मा है जैसा कि **'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना'**, **'ये त्वक्षरमनिर्देश्यं'**, **'ते प्राप्नुवन्ति मामेव'** इत्यादि स्थलोंमें विवक्षित है। ब्रह्मपदका अर्थ

मायाविशिष्ट सविशेष सविकल्प ब्रह्म है। इस तरह भावार्थ यह हुआ कि सविकल्प ब्रह्मकी मैं निर्विकल्प ब्रह्म प्रतिष्ठा हूँ। निर्विकल्प ब्रह्ममें सविकल्प ब्रह्म प्रतिष्ठित कल्पित है। मुझे सेवन करनेसे सविकल्प प्रपञ्चका लङ्घन बड़ी सरलतासे हो सकता है। अथवा 'ब्रह्म' पदका निर्गुण निराकार, निर्विकार ब्रह्म अर्थ है और '**अहं**' पदका सगुण, साकार, ब्रह्म (श्रीकृष्ण) है। अभिप्राय यह है कि मैं सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ। यहाँ '**राहोः शिरः**' के समान सम्बन्धार्थी षष्ठी अभेदमें ही है। अर्थात् जैसे व्यापक, अव्यक्त अग्नि दहन, प्रकाशन, पाचनादि कार्य करनेके लिये घृत-वर्त्तिकादिके सम्बन्धसे व्यक्त साकार अग्निके रूपमें प्रतिष्ठित—प्रवृत्त होता है वैसे ही निर्गुण, निराकार, निर्विकार, अव्यक्त ब्रह्म भक्तानुग्रहादि कार्य करनेके लिये अपनी अचिन्त्य दिव्यलीलाशक्तिसे सगुण, साकार व्यक्तरूपमें प्रतिष्ठित होता है। इसीलिये सगुण ब्रह्म ही निर्गुण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा है। अतः मेरा आराधन करनेसे ही गुणोल्लङ्घन आदि भक्तानुग्रह सिद्ध होता है। कुछ लोगोंका कहना है कि सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा अर्थात् आधार है। जैसे आतप (घाम) की प्रतिष्ठा, उद्गम-स्थान या आधार सूर्य है, सूर्यसे ही निकलकर सूर्यके सहारे ही आतप रहता है, वैसे ही सगुण, साकार श्रीकृष्णचन्द्रकी मधुर मूर्ति ही निर्गुण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा या आधार है। सूर्यस्थानीय श्रीकृष्ण हैं, आतप-स्थानीय निर्गुण ब्रह्म है। '**अनादि मत्परं ब्रह्म**' इस वचनमें भी ब्रह्मको '**अनादि**' और '**मत्परं**' कहा गया है। यहाँ '**मत्परं**' का अर्थ यह है कि '**अहं श्रीकृष्णः पर उत्कृष्टो यस्मात्तन्मत्परम्।**' मैं श्रीकृष्ण ही हूँ पर—उत्कृष्ट जिससे, निर्गुण ब्रह्मसे उत्कृष्ट मैं सगुण ब्रह्म हूँ। इसीलिये उन लोगोंका मत है कि औपनिषद ब्रह्मात्मदर्शियोंका ब्रह्म आतपके समान है और भक्तोंका भगवान् सूर्यस्थानीय है। परंतु उनका यह कथन श्रुति-सूत्रोंके विरुद्ध है। वेद, वेदान्त, ब्रह्मसूत्र आदि सभी शास्त्रोंका परम तात्पर्य ब्रह्ममें ही है। '**ब्रह्मविदाप्नोति परम्**', '**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**', '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' इत्यादि वाक्योंमें सर्वत्र ब्रह्मका ही विचार चलता है। श्रीकृष्ण वैदिक औपनिषद परब्रह्मसे भिन्न होते तब तो उनमें वेदवेद्यता नहीं सिद्ध होती जो कि '**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**' इत्यादि वचनोंसे भगवान्ने स्वीकार की है। अतएव '**अनादि मत्परं ब्रह्म**' यहाँ भी '**मत्परं**' ऐसा पदच्छेद न करके '**अनादिमत्परं ब्रह्म**' ऐसा पदच्छेद करना युक्त है, जिसका सारांश यह है कि ब्रह्म अनादिमान् एवं पर अर्थात् सर्वोत्कृष्ट है। ब्रह्म-पर्यवसायी प्रकरणको विच्छिन्न करके अन्य वर्णनका प्रसङ्ग लाना अप्राकृत-प्रक्रिया है एवं ब्रह्मज्ञानकी प्रशंसाके प्रसङ्गमें उसे किसीसे भी अपकृष्ट कहना सर्वथा विचारशून्यता है।

श्रीमद्भागवतमें भी सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदरहित, स्वप्रकाश, नित्य विज्ञानको ही तत्त्व कहा है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

'अद्वय-ज्ञानको ही तत्त्वविद् लोग तत्त्व कहते हैं, उसीको ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् कहा जाता है।' कुछ लोगोंका कहना है कि यहाँ ब्रह्मसे परमात्मामें और उससे भगवान्में उत्कर्ष विवक्षित है। यदुकुलभूषण श्रीकृष्णकी सभामें बैठे हुए यादवोंने आकाश-मार्गसे आते हुए देवर्षि श्रीनारदजीको प्रथम केवल तेजःपुञ्ज ही समझा। कुछ समीप आनेपर कोई देहधारी समझा और अधिक समीप होनेपर पुरुष एवं सर्वथा सांनिध्यमें श्रीनारद समझा—

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा
ततः शरीरीति विभावितकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति
क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥

ठीक उसी तरह तत्त्वसे अति दूर स्थित अधिकारीको प्रथम केवल चिन्मात्र ब्रह्मका बोध होता है, कुछ सामीप्य होनेपर योगियोंको कतिपय गुण-विशिष्ट परमात्मा, सर्वथा सांनिध्य होनेपर अनन्त कल्याण-गुणगण-विशिष्ट भगवान्के रूपमें तत्त्वका उपलम्भ होता है। इन्हीं लोगोंमें ही मनमानी कल्पना करनेवाले कुछ लोग श्रीकृष्णको आदित्यस्थानीय और ब्रह्मको प्रकाशस्थानीय मानते हैं। कुछ श्रीवृषभानुकिशोरीके नख-मणि-प्रकाश या नूपुर-प्रकाशको ही औपनिषद परब्रह्म कहते हैं। परंतु वैदिकोंकी दृष्टिमें तो वेदोंका महान् तात्पर्य ब्रह्ममें ही है और वही सब तरहसे सर्वोत्कृष्ट है।

संकोचका कारण न होनेसे वृद्ध्यर्थक '**बृहि**' धातुसे निष्पन्न 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ निरतिशय बृहत्तम तत्त्व होता है।

जो देश-काल-वस्तु-परिच्छेदवाला हो वह तो परिच्छिन्न होनेके कारण क्षुद्र ही है, निरतिशय बृहत् नहीं। यदि जड हो तो भी दृश्य होनेसे अल्प और मर्त्य होगा। अतः अनन्त स्वप्रकाश, सदानन्द तत्त्व ही '**ब्रह्म**' पदका अर्थ होता है और वही भूमा अमृत है। उससे भिन्न सभीको अल्प और मर्त्य ही समझना चाहिये। फिर अनन्त पदके साथ पठित '**ब्रह्म**' शब्दका सुतरां यही अर्थ है। उसमें अतिशयताकी कल्पना निर्मूल है। किसी राजाने ऐसी कहानी सुननी चाही कि जिसका अन्त ही न हो। एक चतुरने सुनाना आरम्भ किया—'राजन्! एक वृक्ष था, उसकी अनन्त शाखाएँ थीं, उन शाखाओंमें अनन्त उपशाखाएँ थीं, उपशाखाओंमें भी अनन्त पल्लव थे और उनपर अनन्त पक्षी बैठे थे। कुछ कालमें एक पक्षी उड़ा 'फुर्'। राजाने कहा आगे कहिये, इसपर उसने कहा—दूसरा उड़ा 'फुर्'। तब राजाने कहा और आगे कहिये, तब उस चतुरने कहा कि पहले पक्षियोंका उड़ना पूरा हो तब आगे बढ़ूँ।' यहाँ एक-एक पक्षीका उड़ना समाप्त ही नहीं हो सकता। इसी तरह कल्पनाओंका अन्त ही नहीं है। अतः एक शब्दमें यही कहा जाता है कि अतिशयताकी कल्पना करते-करते वाचस्पति तथा प्रजापतिकी भी मति जब विरत हो जाय और जिससे आगे कभी भी कोई कल्पना कर ही न सके तब उसी अनन्त, अखण्ड, स्वप्रकाश, परमानन्दघन भगवान्‌को वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं। उसीका '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' इत्यादि व्याससूत्रोंसे विचार किया गया है।

प्रकाशकी अपेक्षा आदित्यमें जिस अतिशयताकी कल्पना की जाती है उससे भी अनन्तकोटि-गुणित अतिशयताकी कल्पनाके पश्चात् जिस अन्तिम निरतिशय, सर्व-बृहत् पदार्थकी सिद्धि हो, उसमें भी देश, काल, वस्तुके परिच्छेदोंको मिटाकर परिच्छिन्न या एकदेशिता आदि दूषणोंका अत्यन्ताभाव-सम्पादन करे, तब उसे ब्रह्म शब्दका अर्थ जानना चाहिये। इसीको '**तत्त्व**' कहा जाता है। इसका ही लक्षण है—'**तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।**' इसीका नाम ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् है। लक्षणके भेदसे लक्ष्य-भेद हो सकता है, नाम-भेदसे नहीं। जैसे कम्बुग्रीवादिमत्त्व घटका एक लक्षण है अतएव घट, कुम्भ, कलशादि नामसे उसका भेद नहीं है। हाँ, ब्रह्म अनेक हैं—कार्यब्रह्म, कारणब्रह्म, कार्यकारणातीत ब्रह्म। ऐसी स्थितिमें यह हो सकता है कि कार्यकारणातीत वेदान्तवेद्य शुद्ध ब्रह्मरूप भगवान्‌के प्रकाश-स्थानमें कार्यब्रह्म या कारणब्रह्म हो। प्रायः यह भी कहा जाता है कि निर्गुणब्रह्म भगवान्‌का धाम है। यद्यपि धाम शब्द ऐसे स्थलोंमें स्वरूपभूत आत्मज्योतिका ही बोधक होता है—'**परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।**' 'हे नाथ! आप परमात्मा हैं, परम प्रकाश (परम ज्योति) और परम पवित्र हैं।' तथापि कुछ अविवेकियोंकी यही अटल धारणा है कि धामका अर्थ निवासस्थान ही होता है। अस्तु, वे लोग अव्यक्तरूप कारण-ब्रह्मको ही वेदान्तवेद्य ब्रह्म मान बैठते हैं। कार्यकारणातीत तत्त्वतक उनकी दृष्टि जाती ही नहीं। इस कारण यदि ब्रह्मको धाम भी मान लें तो भी सिद्धान्तमें कोई बाधा नहीं पड़ती। यह भेद वेदान्तियोंको इष्ट ही है कि स्थूल कार्य-ब्रह्मके ऊपर सूक्ष्म कार्यरूप ब्रह्म, उसके ऊपर कारणब्रह्म और इस अव्यक्त कारणब्रह्मके ऊपर कार्यकारणातीत शुद्ध ब्रह्म स्थित है। यह अन्तिम तत्त्व ही अद्वितीय अनन्त शुद्ध बोधरूप है। इसका ही विवर्त समस्त चराचर प्रपञ्च है। यदि सर्वाधिष्ठान होनेके कारण इसे सर्वनिवासस्थान भी कहें तो भी कोई हानि नहीं। इसी अंशका स्पष्टीकरण भागवतके इन पद्योंमें किया गया है—

ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा॥

एक अद्वितीय नित्य बोध ही भ्रान्तजनोंको अविद्या-प्रत्युपस्थापित बहिर्मुख इन्द्रियाँ तथा मन-बुद्धि आदिद्वारा शब्दादि-धर्मक प्रपञ्चरूपसे भासित होता है। श्रीमद्भागवतने भी श्रीकृष्णको परब्रह्म ही कहा है—

अहो भाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

अतः पूर्वोक्त अर्थ ही श्रेष्ठ है और वही अव्यभिचार भक्तियोग है।

कर्मयोग और ज्ञानयोग

(अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजका सदुपदेश)

[वर्तमान समयमें गीताके 'कर्मयोग तथा ज्ञानयोग' की बड़ी चर्चा रहती है। इन शब्दोंका अनधिकारियोंद्वारा प्रचुर मात्रामें दुरुपयोग एवं मिथ्या अर्थ भी किया गया है। श्रीजगद्गुरुजीने 'कर्म-ज्ञानके सम्बन्ध'में सार-रूपसे विवेचन करते हुए बतलाया है कि इनमें परस्पर साध्य-साधन-भाव- लक्ष्य-सम्बन्ध है। जब शास्त्रप्रेरित पुरुषद्वारा परमेश्वरार्पित निष्काम कर्मानुष्ठान-द्वारा ज्ञान-प्रतिबन्धक महापापके होते हुए भी श्रवणादिमें रुचि होती है तभी आत्मज्ञानेच्छा उत्पन्न होती है। इच्छा और रुचिका भेद वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि क्षीर-प्रिय पुरुषको दुग्धपानेच्छा होते हुए भी पित्तरोग-दूषित होनेसे मुखमें रुचि नहीं होती। इसी प्रकार ज्ञानद्वारा अज्ञान-निवृत्ति होते हुए भी ज्ञान-साधनमें रुचिजनक होनेसे परस्पर कर्म भी ज्ञान-साधन-भावको प्राप्त होता है। इस प्रकार अज्ञान-निवृत्ति ज्ञानसे, ज्ञानप्राप्ति शुद्ध-बुद्धिसे, बुद्धि-शुद्धयर्थ परमेश्वरार्पित नित्य-नैमित्तिक कर्मकी अपेक्षा होती है, अन्यकी नहीं। प्रस्तुत लेखमें यही विषय वर्णित है।]

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवत्प्रोक्त दो निष्ठाएँ हैं—एक कर्मनिष्ठा और दूसरी ज्ञाननिष्ठा। इनमें सांख्योंके लिये ज्ञानयोग और योगियोंके लिये कर्मयोग बतलाया गया है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

परंतु आगे चलकर श्रीभगवान् यह भी कहते हैं कि पण्डितलोग सांख्य और योग पृथक् नहीं मानते—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

यहाँपर संशय होता है कि क्या दोनों निष्ठाएँ परस्परानपेक्ष स्वतन्त्ररूपसे परमपदकी प्राप्तिके हेतु हैं अथवा सम्बन्धित होकर। इस विषयको समझनेके लिये पहले बन्ध और मोक्षका स्वरूप जानना आवश्यक है। तत्त्वदर्शियोंके विचारका क्रम यह है कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तापत्रयसे संतप्त विश्वको निरीक्षण कर यह विचार होता है कि आत्माको यह दुःख स्वाभाविक है अथवा नैमित्तिक? यदि स्वाभाविक है तो **'स्वभावस्यानपायित्वात्'**—इस न्यायसे दुःखसे मोक्ष होना असम्भव है तब फिर उसके लिये साधनानुष्ठान ही व्यर्थ हो जायगा, जो कि सभी मोक्षवादियोंको अनिष्ट है और यदि दुःख नैमित्तिक है तो **'निमित्तापाये नैमित्तिकापायः'**—इस न्यायसे निमित्त दूर होनेसे तन्निमित्तक दुःख भी दूर हो सकता है। इस विचारसे निश्चय होता है कि आत्माको दुःख होना देहपरिग्रहपूर्वक है, अर्थात् दुःखका रूप देहमें 'अहं-मम-' भाव है। जैसा कि छान्दोग्य-श्रुतिमें कहा गया है—

न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।

सुषुप्तिमें शरीराभिमान न रहनेसे दुःख नहीं रहता, जाग्रत्स्वप्नमें शरीराध्यास होते ही दुःखका अनुभव होता है। यदि कहा जाय कि मृत्युसे शरीरकी निवृत्ति होनेपर दुःख निवृत्त हो जायगा, तो इसका उत्तर यह है कि अध्यासकालमें अनुष्ठित पुण्य और पापरूप कर्मसे अदृष्टद्वारा पुनः शरीरपरिग्रह जो कि दुःखका निमित्त है, पुण्य-पापरूप क्रिया **'क्रियावेशात् कर्ता स्यात्'** कर्तृभावपूर्वक होनेसे जबतक मैं कर्ता हूँ यह भाव रहेगा, तबतक पुण्य-पापरूप क्रिया अनिवार्य होकर अदृष्टद्वारा शरीरपरिग्रहका निमित्त बनती ही रहेगी। कर्तृभावमें हेतु राग-द्वेष हैं, राग-द्वेषका हेतु शोभनाशोभनाध्यास सर्वलोक-साक्षिक है। शोभनाशोभनाध्यासमें हेतु प्रकृतिसे आविर्भूत द्वैत वस्तु है।

लोकमें यह बात प्रसिद्ध है कि सम्राट् स्वप्नमें निद्रादोषसे स्वरूपविस्मृतिद्वारा भिक्षुक होकर दीन तथा दुःखी होता है। अतएव तत्त्ववित्सिद्धान्त है कि—

'अविद्याऽस्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः।'

जब पूर्वोक्त विचारसे बन्ध अविद्याकृत सिद्ध हुआ, तब सुगमतासे ही यह समझा जा सकता है कि तमः-प्रकाशवत् अविद्याकी निवृत्ति तद्विरुद्ध ज्ञानसे ही हो सकती है—

ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते।

इस प्रकार ज्ञाननिष्ठा साक्षात् मोक्षप्रद है।

तब फिर यह प्रश्न होता है कि कर्मनिष्ठाका श्रेयोमार्गमें क्या उपयोग है? इसका उत्तर वेदान्तशास्त्रमें इस प्रकार है—ज्ञानकाण्डका कर्मकाण्डके साथ साध्य-साधनभाव-लक्षण-

सम्बन्ध है, अर्थात् ज्ञान साध्य है और कर्म साधन है। इसमें शास्त्रसम्मत दो पक्ष हैं—एक तो यह कि पुरुषके सांसारिक कर्म ज्ञानके साधन होते हैं—**यस्यैते चत्वारिंशत्संस्काराः स ब्राह्मणः सायुज्यं सलोकता····।**' चालीस संस्कारोंके संक्षेपसे नाम ये हैं—

(१) गर्भाधान, (२) पुंसवन, (३) सीमन्त, (४) जातकर्म, (५) नामकरण, (६) अन्नप्राशन, (७) मुण्डन, (८) उपनयन, (९-१२) चार वेदव्रत, (१३) स्नान, (१४) सहधर्मचारिणसंग, (१५-१९) पञ्च महायज्ञ, (२०-२६) सप्त पाकयज्ञ, (२७-३३) सप्त हविर्यज्ञ, (३४-४०) सप्त सोमयज्ञ। इन चालीस संस्कारोंसे संस्कृत पुरुष प्रमाण-योग्यताको प्राप्त हो जाता है। द्वितीय पक्ष यह है कि शास्त्रीय कर्मानुष्ठानसे अधिकारी पुरुषको विविदिषा—ज्ञानेच्छा उत्पन्न होती है—'**तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।**'इन दोनों पक्षोंमें कुछ अवान्तर भेद इस प्रकार है, जैसे बुभुक्षा (भोजनेच्छा) अन्नादि-साधन-सम्पादित कराकर तृप्तिपर्यन्त सफल होती है, ठीक वैसे ही विविदिषा (आत्मज्ञानेच्छा) आत्मदर्शनके साधन गुरूपसत्ति, श्रवण-मननादि सम्पादित कराकर पर्यवसायिनी होती है। चित्तसंस्कृति ज्ञानमें प्रतिबन्धक पापका नाश कर समाप्त हो जाती है। बोधके साधन अग्रिम प्रयत्नद्वारा सम्पादित किये जाते हैं। वर्णाश्रमधर्म-प्रतिपादक शास्त्रसे प्रेरित अधिकारी शास्त्रकी आज्ञाके उल्लङ्घनमें नरक-पातादिका भय देख जिन शास्त्रीय कर्मोंका अनुष्ठान करता है वे कर्म संस्कारक कहे जाते हैं। '**तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति**' इत्यादि शास्त्रसे प्रेरित पुरुष बोधकी इच्छासे ऐहिकामुष्मिक भोगेच्छा- त्यागपूर्वक जिन कर्मोंको अन्तर्यामीके पाद-पङ्कजमें समर्पण करता है, वे कर्म विविदिषाजनक होते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि ईश्वरार्पित कर्म वेदनेच्छाके जनक होते हैं। इसी अभिप्रायके ये भगवद्वाक्य हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

विविदिषा-पक्षमें यह संशय होता है कि इच्छा विषय-सौन्दर्य-ज्ञानजन्य होती है, यही शुद्ध बुद्धिवालेको '**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**', '**रसो वै सः**'—इस श्रुतिप्रमाणसे जब ब्रह्मका सौन्दर्य अवगत होता है, तभी वेदनेच्छा हो सकती है। इसमें शास्त्रीय कर्मको साधन मानना अयुक्त है। इसका समाधान इस प्रकार है—यद्यपि श्रुतिवाक्यद्वारा ब्रह्मवेदनकी सौन्दर्यावगति होते ही इच्छा तो उत्पन्न हो ही जाती है, तथापि ब्रह्मवेदनमें रुचि बिना निष्काम कर्मानुष्ठानके नहीं हो सकती। इच्छा और रुचिका भेद इस प्रकार है—जैसे क्षीरप्रिय पुरुषको दुग्धपानेच्छा होते हुए भी पित्तरोग-दूषित होनेसे मुखमें रुचि नहीं होती, क्योंकि इच्छासे प्रेरित दुग्धको मुखमें जाते ही पित्तजन्य अरुचिके कारण थूककर त्याग देता है। तब निपुण वैद्यके पित्तशामक औषधोपचारसे रुचि उत्पन्न हो जाती है। ठीक इसी प्रकार निःशेष दुःखाभावोपलक्षित निरतिशयानन्द-स्वरूप ब्रह्मावगतिकी इच्छा श्रुतिवाक्यद्वारा होनेपर भी महापापके प्रतिबन्धसे वेदन-साधन-श्रवणादिमें रुचिका अभाव रहता है। जैसा कि पुराण-वचन है—'**महापापवतां नृणां ज्ञानयज्ञो न रोचते। प्रत्युत ज्ञानयज्ञस्तु प्रद्वेष्यो भासते स्वतः॥**' तब दृष्टान्तोक्त-प्रकारवत् परमेश्वरार्पित कर्मद्वारा ज्ञानप्रतिबन्धक महापापके नाश होते ही श्रवणादिमें रुचि हो जाती है। इस प्रकार ज्ञानद्वारा अज्ञाननिवृत्ति होते हुए भी ज्ञानसाधनमें रुचिजनक होनेसे परम्परागत कर्म भी ज्ञान साधन-भावको प्राप्त होते हैं, इस तरह सर्वानर्थमूल अज्ञानकी निवृत्तिमें ज्ञानसे अन्य कुछ भी अपेक्षित नहीं है। ज्ञानोत्पत्तिमें विवेक, वैराग्य, शमादि षट् सम्पत्ति, मुमुक्षुता, श्रवण, मनन, ध्यानसे अन्य कुछ अपेक्षित नहीं है। विवेक, शमादिकी उत्पत्तिके लिये बुद्धिशुद्धि अत्यपेक्षित है। बुद्धिशुद्ध्यर्थ परमेश्वरार्पित नित्य-नैमित्तिकादि कर्मसे अन्य कुछ अपेक्षित नहीं है। इस प्रकार कर्म और ज्ञानका सम्बन्ध शास्त्रसम्मत है। अतएव भगवत्स्मरण भी यही है—

'**योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये**', '**आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते**', '**यज्ञो दानं०।**'

योग और धर्माचरण

(अनन्तश्रीविभूषित पूर्वाम्नाय गोवर्धन-पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीनिरंजनदेवतीर्थजी महाराज)

वेदोंसे लेकर सभी पुराण, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, योगशास्त्र, इतिहास, काव्य, नाटक, कोष, नीतिग्रन्थ यहाँतक कि सूर, तुलसी आदि संतोंके काव्योंमें किंबहुना समस्त भारतीय वाङ्मयमें धर्मको ही विश्वका धारक, पालक एवं संचालक माना गया है और यह धर्म ही भारतीय साहित्य एवं भारतकी जनताका प्राण रहा है, जैसा कि भगवान् मनुने कहा है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात् 'इस भारत देशमें ही उत्पन्न हुए शुद्ध धर्मवक्ता अग्रजन्मा ब्राह्मणके द्वारा पृथ्वीके सम्पूर्ण मानव अपने-अपने धर्म, सदाचार एवं कर्तव्यताकी शिक्षा ग्रहण करें।'

योग भी धर्मका एक अङ्ग है—'**अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्**०' (याज्ञ० स्मृति)। महाभारतके विषयमें कहा गया है कि यह धर्मशास्त्र, योगशास्त्र, मोक्षशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र आदि सब कुछ है। सर्वशास्त्रमयी श्रीमद्भगवद्गीतामें जिसके अन्तमें '**योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्**' कहकर योगशास्त्र कहनेकी प्रतिज्ञा की गयी है, वह महाभारतका ही सार भाग है। उसका पहला शब्द धर्म ही है, '**धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे**०।' और स्वयं भगवान् उसमें अपनेको धर्मरक्षक तथा साक्षात् धर्मके रूपमें स्थित होनेका परिचय देते हैं—'**धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।**' अर्जुन भी उन्हें शाश्वतधर्मगोप्ता कहकर धर्महीन, कुलच्छेदी व्यक्तियोंको अनियतकालतक नरकमें रहनेकी बात कहते हैं—

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥

(गीता १।४४)

और भगवान् अत्यल्प भी शुद्ध धर्मके आचरणको महान् भयसे त्राण करनेवाला बतलाते हैं—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

गीतावक्ताकी दृष्टिमें सबसे महान् धर्म है वर्णधर्म। इसलिये भगवान् कहते हैं—'**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।**' यही बात गीतामें शब्दान्तरसे अनेक बार आयी है। स्वयं भगवान् यही कहते हैं कि संसारके संचालनके लिये मैंने ही चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि कर्तव्यता या धर्मोंके विभाजनके साथ ही की है। अतः अपने वर्ण-धर्मको हीन या अशोभन या कुछ कष्टकर देखकर भी अपने वर्णको छोड़कर अपनेसे ऊँचे ब्राह्मणादिके धर्मको नहीं ग्रहण करना चाहिये—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

(१८।४८)

शास्त्रोंके सभी वचन प्रायः पुरुषार्थपरक हैं और उनमें भी विशेषकर धर्म एवं मोक्षके पक्षधर हैं। इसलिये योगकी सार्थकता भी धर्मकी रक्षामें ही है। किंतु आज अनधिकारी, यज्ञोपवीतादिसे रहित व्यक्ति तथा विधर्मी—ईसाई, यहूदी, म्लेच्छादिको तथा रजस्वलादि स्त्रियोंको भी वेद पढ़ाते देखे जाते हैं। आजके महाविद्यालय आदि प्रायः धर्म, सदाचार और चरित्रादिका कोई भी ध्यान न रखकर अविद्या, अधर्म एवं अनाचार आदिके प्रचारक हो रहे हैं। विशेषतः सहशिक्षा अग्निमें आहुतिका कार्य कर रही है। इसीके परिणाम-स्वरूप बड़े-बड़े विद्यालयों आदिमें अनाचारका नग्न ताण्डव और भयंकर उत्पात हो रहा है। वेदादिशास्त्रोंका स्वाध्याय तो अत्यन्त शुद्ध एवं पवित्र भावसे होना चाहिये। ऐसा लगता है कि इन्हीं व्यापक दुश्चरित्रताओं और स्वार्थपूर्ण नीतियोंके कारण तथा धर्म और सदाचारके नियमोंका पालन न करनेके कारण आज विश्वके देशोंमें भयंकर एवं अद्भुत विनाशकारी युद्ध चल रहा है और भीषण विनाशके बादल छाये हुए हैं।

धर्मके बिना राजनीति विधवा, योग कुयोग और ज्ञान कुज्ञान ही कहा गया है। इसलिये ऐसे अध्ययन, अध्यापन, परिवेश, भौतिकता और कुयोगसे बचना ही श्रेयस्कर है। व्यास, वाल्मीकि, पाणिनि, कालिदास, तुलसीदास आदिने किन्हीं ऐसे विद्यालयमें शिक्षा नहीं पायी थी। भगवान्‌की उदारता और धर्म एवं सदाचारकी रक्षाका दरवाजा अब भी खुला है। उन्हींकी कृपासे सच्चा तत्त्वज्ञान और विशुद्ध बोधकी प्राप्ति होती है, वे जिसपर कृपा करते हैं उसके हृदयमें साक्षात् सरस्वती प्रकट हो जाती हैं—***सारद दारुनारि सम स्वामी।***

रामु सूत्रधर अंतरजामी ।। जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी । कबि उर अजिर नचावहिं बानी ।। और उसीका ज्ञान शुद्ध एवं निर्मल होता है।

जिस ज्ञानमें लेशमात्र भी स्वार्थ एवं छल प्रविष्ट है, उसका अपना कल्याण भी सम्भव नहीं है, दूसरेका श्रेय क्या होगा ? प्रायः अनधिकृत व्यक्ति अच्छे पदपर आसीन होता है तो वह ईश्वरकी बात, शास्त्रकी बात नहीं मानता और मनमाना शास्त्रके वचनोंमें हेर-फेर करता है। यह परम्परा बहुत पहलेसे चली आ रही है, वाल्मीकीय रामायणमें भगवान् रामने जाबालिको ऐसा ही व्यक्ति कहा है और महर्षि मनुने भी कहा है कि सभी शब्दोंके अर्थ प्रायः सीमित और नियमित ही होते हैं तथा प्रसंगके अनुसार प्रायः उनका एक ही अर्थ होता है, किंतु धर्मका अतिक्रमण करनेवाले उसे चुराकर दूसरा नवीन मनोऽनुकूल अर्थ बतलाते हैं, वास्तवमें वे सबसे बड़े चोर हैं, वे लोगोंको भ्रान्तिमें डालना चाहते हैं—

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ।।

(मनु० ४ । २५६)

ऐसे लोगोंकी भी कुछ दिन चल जाती है, उन्नति भी हो जाती है, किंतु अन्तमें दुष्परिणाम ही होता है, जैसा कि मनुने कहा है—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ।।

(मनु० ४ । १७४)

क्योंकि अधर्म तत्क्षण अपना रूप या परिणाम नहीं दिखाता, कुछ दिन वह अपनेको आवृत कर देता है। जब पापका घड़ा भर जाता है, तब नाश कर डालता है—

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ।।

(मनु० ४ । १७२)

इसलिये सामान्य स्वार्थके लिये विश्वरक्षक तथा व्यापक धर्मका नाश नहीं करना चाहिये। अतः योगीको धर्मको मुख्य मानकर योगानुष्ठान करना चाहिये। प्रायः जो योगके यम-नियमादि साधन हैं वे ही मनु, याज्ञवल्क्यादि धर्मशास्त्रकारोंकी दृष्टिमें दश-लक्षणात्मक धर्म हैं। यह धर्म पालन करनेपर उसकी रक्षा करता है तथा वञ्चना एवं विनाश करनेपर विनाश करता है—**'धर्मो रक्षति रक्षितः ।'**

अतः योगीको धर्मको नष्टकर योगका अनुष्ठान नहीं करना चाहिये। अपितु भगवान्‌के परम प्रिय धर्मका योगादिके आश्रयसे संवर्धन और संरक्षण करना चाहिये, क्योंकि भगवान् साक्षात् धर्मके लिये ही अवतीर्ण होते हैं—

'धर्मार्थं जन्म यद्धरेः ।'

सिद्ध पुरुषकी स्थिति

ना काहू से दुष्टता ना काहू से रोच ।।
ना काहू से रोच दोऊ को इक-रस जाना ।
बैर भाव सब तजा रूप अपना पहिचाना ।।
जो कंचन सो काँच दोऊ की आसा त्यागी ।
हारि जीत कछु नाहिं प्रीति इक हरि से लागी ।।
दुख सुख संपति बिपति भाव ना यहु से दूजा ।
जो बाम्हन सो सुपच दृष्टि सम सब की पूजा ।।
ना जियने की खुसी है पलटू मुए न सोच ।
ना काहू से दुष्टता ना काहू से रोच ।।

—श्रीपलटू

पूज्य श्रीदेवराहा बाबाके कल्याणकारी उपदेश

परमात्मा विशुद्ध सत्त्वरूप है और वह दोष-पापोंसे सर्वथा मुक्त है—'**शुद्धमपापविद्धम्।**' उससे पूर्व-स्थितिको अव्यक्त कहा है—'**तदव्यक्तमाह हि**'। चेतनस्वरूपमें वह ज्योतियोंका ज्योति है—'**तच्छुभ्रज्योतिषां ज्योतिः।**' आनन्द भी उसीका स्वरूप है जो इष्ट पदार्थके प्राप्त होनेपर उद्भूत होता है।

श्वेताश्वतर-उपनिषद्में आता है—'**नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।**' अर्थात् नित्य-सत्-स्वरूप, यावत्प्राणियोंका चैतन्य और उनका कामप्रद आनन्दमय परमतत्त्व है।

चित्-स्वरूपमें वह सब प्राणियोंके हृदयमें अवस्थित है—'**ईश्वरः सर्वभूतानां हृदयेष्ववतिष्ठति।**' वह चित् ही मनोमय है, अमृतमय है और हिरण्मय है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें भी वह चेतन-रूपसे अवस्थित रहता है तथा उससे भी परे है। श्रुति कहती है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्॥

वह परमात्मा विभिन्न वृत्तियोंसे अलग-अलग भासता है। योगवार्तिकमें लिखा है—

प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव च।
प्रमार्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम्॥
प्रतिबिम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते।

अर्थात् शुद्ध चेतनको प्रमाता, वृत्तिको प्रमाण और चेतनमें अर्थाकार-वृत्तियोंका प्रतिबिम्ब प्रमा कहा जाता है। इन प्रतिबिम्बित वृत्तियोंके विषयको मेय अर्थात् प्रमेय कहते हैं।

भक्ति और वेदान्त-सम्प्रदायमें चित्का स्वरूप

भक्ति-समुदायोंमें जो चित्-शक्तिका प्रतिपादन वेदान्त-सम्प्रदायके प्रतिपादनसे आपाततः भिन्न प्रतीत होता है, विचार करनेपर भिन्नताका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। वस्तुतः सभी सम्प्रदायोंके अनुसार साधकको अविच्छिन्न तैलधाराके समान अपनी सम्पूर्ण मनोवृत्तियोंको परमतत्त्वमें लगाना होता है। भक्तिकी दृष्टिसे भगवान्की तीन शक्तियाँ हैं—स्वरूप-शक्ति, मायाशक्ति और जीवशक्ति। स्वरूप-शक्ति ही चित्-शक्ति या अन्तरङ्गा-शक्ति कहलाती है, जिसके आश्रयसे परमतत्त्व लीला-विलास करता है। यह शक्ति देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि आदिसे विलक्षण है। वह नित्य अचिन्त्य, अव्यक्त और निर्विकार तथा इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी आश्रयभूता है। पुंस्त्व-दृष्टिसे उसे चित् और स्त्रीत्व-दृष्टिसे चिति कहते हैं। यह सम्पूर्ण लीला इसी शक्तिका विलास है। इसीको संधिनी, संवित् और ह्लादिनी आदि नामोंसे अभिहित किया जाता है। आनन्द ह्लादिनी-शक्तिका ही विलास है, जो देहाध्यासके कारण जीव-संज्ञा धारण कर लेती है। योगवासिष्ठमें चित्का अधिष्ठान आकाश कहा गया है और उपाधिसे उसके तीन नाम हैं—चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाश। चित्ताकाशमें योगीकी स्थिति रहती है, चिदाकाशमें ज्ञानीकी और महाकाशमें सारे प्रपञ्चकी। परंतु इन सबके मूलमें एक ही तत्त्व है। वैशेषिककारने तो आत्माको आकाशवत् ही बताया है, '**विभुवान् महानाकाशस्तथा चात्मा।**' गीतामें भी कहा गया है—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥
(१३।३२)

आकाश अनन्त, ज्योतिःस्वरूप और व्यापक है—'**आ समन्तात् काशते इत्याकाशः।**' प्रपञ्चमें व्याप्त आकाशको भूताकाश भी कहते हैं, जब उससे भूतावरण हट जाता है तो वही चित्ताकाश कहलाता है और जब चित्ताकाशसे पूर्णतया आवरण हट जाता है तो वही चिदाकाश हो जाता है। उपासना अथवा योग-साधनासे भूताकाशका अतिक्रमण कर चित्ताकाशमें स्थित हुआ योगी अनेक विभूतियोंका साक्षात्कार करता है और भक्त भगवत्-लीलाओंका। परंतु इस स्थितिमें भी संस्कार बने रहते हैं, जो गुणोंका संघात है। भूताकाशका विशुद्ध भेद-भाव तो समाप्त हो जाता है, परंतु संस्कारवश भेदाभेद-भावकी स्थिति बनी रहती है। गुणोंका आवरण हट जानेसे ज्ञाननिष्ठा या ब्रह्मनिष्ठा होती है—वही चिदाकाश है। जहाँ एकान्ततः अभेद-भाव है। चित्-प्राप्तिके लिये भूताकाशका आवरण-भङ्ग करना होगा। उसके लिये अनेक उपाय बताये गये हैं, जिनमें प्रमुख दो हैं—भक्ति और योग।

भक्तिमें भावकी प्रवणता अपेक्षित है और योगमें इन्द्रियनिग्रह-द्वारा चित्तशुद्धि। भूताकाशमें इन्द्रियोंका ही साम्राज्य है, उसे पार करके दिव्यचक्षुकी प्राप्ति चित्ताकाशमें होती है जो योगीका दर्शन है। उससे आगे शब्दब्रह्मकी प्रतिष्ठा है,जहाँ चिन्मय दर्शन होता है और जिसके लिये दिव्य विज्ञानचक्षु अपेक्षित है। वहाँ कोई आवरण नहीं है।

भक्ति-सम्प्रदाय और अभेद-दर्शन

भक्ति सम्प्रदायकी साधनाद्वारा अव्यय-तत्त्वकी अनुभूतिके सम्बन्धमें विशिष्टाद्वैत-दर्शनकी मान्यताके अनुसार ईश्वरको चित् और अचित्-विशिष्ट माना गया है। स्वरूपसे चित् अनादि, निरञ्जन और असम्पृक्त है, परंतु कर्म-संस्कारोंके आवरणके कारण वह अपने स्वरूपको भूला हुआ है। वह आवरण अविद्या तथा मायाका है। भगवद्भक्तिसे वह आवरण छूट जाता है, क्योंकि चित्त सब ओरसे हटकर भगवान्‌में लग जाता है। यह भी चित्तवृत्तियोंका निरोध ही है। इससे द्रष्टा और दृश्यका अभिमान समाप्त हो जाता है और भगवदाकार-वृत्ति हो जाती है। परंतु भक्तिका मार्ग इतना सरल नहीं है, जितना सामान्यतः समझा जाता है। श्रद्धा एवं विश्वासके साथ इसमें पूर्ण समर्पण करना होता है। देखा जाय तो ज्ञानीको भी भक्तिका अवलम्बन लेना पड़ता है। शरणागतिके कारण भक्तिका मार्ग सरल हो जाता है; क्योंकि वहाँ इष्ट अथवा गुरुका आधार बना रहता है और सारा विश्व ही तद्रूप दिखायी देता है। इसलिये भक्ति भी ज्ञानका साधन ही है, परंतु भक्तके लिये भक्ति साध्य ही है—साधन नहीं, क्योंकि उसका लक्ष्य परमानन्दोपलब्धि है—आत्मानन्द या चिदानन्द नहीं। इस प्रकार योगनिष्ठा एक स्वतन्त्र साधना है।

चित्-तत्त्वके दर्शनमें ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्गके समान ही योग-मार्गकी भी स्वतन्त्र महत्ता एवं उपयोगिता है। योगमार्गके बहिरङ्गोंका भक्ति और ज्ञान दोनों मार्गोंमें अवलम्बन करना आवश्यक है, इसलिये योग जहाँ अपने अन्तरङ्ग-स्वरूपसे चित्-तत्त्वके दर्शनका स्वतन्त्र साधन है, वहीं अपने बहिरङ्गद्वारा ज्ञान और भक्तिमार्गका एक प्रकारसे पूरक भी है। यही कारण है कि सभी शास्त्रोंमें बराबर योगकी चर्चा मिलती है। हिरण्यगर्भ योगके प्रवर्तक माने जाते हैं—

इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत्।

(श्रीमद्भा० ५।१९।१३)

हिरण्यगर्भ ही समस्त ब्रह्माण्डको धारण करनेवाले हैं।

श्वेताश्वतर-उपनिषद्के दूसरे अध्यायमें, कठोपनिषद्के द्वितीय अध्यायके तृतीय वल्लीमें तथा गीताके षष्ठ अध्यायमें योगकी महिमाका विशेष वर्णन हुआ है।

मैत्रायणीय उपनिषद्में स्पष्ट कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

चञ्चलता मनका स्वभाव है, इसलिये उसकी वृत्तियोंका निरोध करनेके लिये योगी प्रत्याहारद्वारा मनको हृदयमें स्थित करता है, जिससे प्राणोंमें भी स्थैर्य आ जाता है। फिर एक मुख्य नाडीसे उसे ब्रह्मरन्ध्रमें ले जाकर चिदाकाशतक पहुँचाता है। उपनिषदोंमें इस प्रक्रियाका स्पष्ट उल्लेख है—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-
स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या
उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति॥

(छान्दोग्य० ८।६।६)

योगशिखोपनिषद्के छठे अध्यायमें मनके रहस्योंपर बड़े विस्तारसे विचार किया गया है—

चित्ते चलति संसारो निश्चलं मोक्ष उच्यते।
तस्माच्चित्तं स्थिरीकुर्यात् प्रज्ञया परया विधे॥
मनोहं गगनाकारं मनोहं सर्वतोमुखम्।
मनोहं सर्वमात्मा च न मनः केवलः परः॥
मनसा मन आलोक्य वृत्तिशून्यं यदा भवेत्।
ततः परं परब्रह्म दृश्यते च सुदुर्लभम्॥

गीताकारने मनको वशमें करनेके लिये अभ्यास और वैराग्यके आश्रय लेनेका उपदेश दिया है। योग मनको वशमें करनेका उत्तम साधन है। इसलिये संतोंने योगको भक्तिका अभिन्न अङ्ग माना है। मनका निरोध किये बिना ज्ञान-गुहामें प्रवेश एवं भगवदाकार-वृत्ति असम्भव है। आत्मतत्त्व यद्यपि मनसे अतीत है, परंतु मनका चरम साध्य आत्मतत्त्वमें विलय ही है। इसलिये भौतिक सुखोपलब्धिसे कभी भी मनको सच्ची तृप्ति नहीं हो सकती। स्थायी आनन्दकी प्राप्तिके लिये उसे अन्तर्मुख होना चाहिये, क्योंकि हृदय-गुहा आनन्दका स्थान

है। विवेकख्याति चित्तनिरोधका फल है।

योगविद्या पराविद्या है

योगविद्या मुण्डकोपनिषद्में वर्णित दो प्रमुखतम विद्याओंमेंसे पराविद्याके रूपमें मान्य है। इसकी प्राप्ति भगवत्कृपा, संतकृपा, शास्त्रालोडन तथा गुरुकी कृपासे ही सम्भव है।

योगविद्या और गुरुतत्त्व—योगविद्याकी महनीयता तथा उपादेयता और इससे प्राप्तव्य लक्ष्यकी प्राप्ति तभी सम्भव है जब अधिकारी गुरुद्वारा इसे आत्मसात् किया जाय। इसीलिये गुरु-तत्त्वका निरूपण सभी शास्त्रोंमें हुआ है।

यह गुरु-तत्त्व बड़ा ही विचित्र और रहस्यमय है। इस तत्त्वकी कृपासे लोक और परलोक दोनों ही प्राप्त हो सकते हैं। योगकी सहजावस्था भी गुरुकृपा-साध्य है—

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना॥

शास्त्रोंमें गुरुतत्त्वको ईश्वरतत्त्वसे भी बढ़कर बताया गया है। परंतु शिष्यके साधन और अधिकारके अनुसार ही गुरु-कृपाकी उपलब्धि होती है। गुरुतत्त्व और भगवत्तत्त्व एक ही तत्त्वके दो रूप हैं। भगवत्तत्त्वको अविद्या-मायाके अधिष्ठातृरूपमें तथा गुरुतत्त्वको विद्या-मायाके अधिष्ठातृ-रूपमें देखनेकी परम्परा है। भगवत्तत्त्व जगन्नियन्ता है—कर्मोंके अनुसार ही जीवको भोग प्रदान करता है, परंतु गुरुतत्त्व असीम दया और करुणाका सागर है। उसकी कृपा अहैतुकी है। इसीलिये उसकी शक्ति भी अचिन्त्य है। वह कर्तु-मकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ है।

भगवान्ने श्रीमद्भागवतमें स्वयं कहा है कि—

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥

सद्गुरु पुण्यसे ही प्राप्त होते हैं—योग-ज्ञानकी प्राप्तिमें सद्गुरुका अन्वेषण और उनकी शरणागति आवश्यक है, किंतु उनकी प्राप्ति प्रयत्नसाध्य नहीं है। जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंसे ही गुरुकी प्राप्ति होती है। पहले तो सद्गुरुकी प्राप्ति ही कठिन है, फिर यदि प्राप्ति हो भी जाय तो गुरुमें पूर्ण श्रद्धाभाव होना कठिन है और यदि श्रद्धा-भाव भी उत्पन्न हो जाय तो गुरु-कृपा होनी कठिन है। विद्या-गुरु और दीक्षा-गुरु तो बहुत मिल सकते हैं, परंतु सद्गुरु पुण्यकर्मोंसे ही मिल पाते हैं। सद्गुरुका लक्षण विवेकचूडामणिमें इस प्रकार वर्णित है—

श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः।
ब्रह्मण्युपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः॥
अहैतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम्।

अर्थात् 'गुरु श्रोत्रिय, निष्पाप, कामनारहित, ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये। जो ईंधनरहित अग्निके समान शान्त हो, अकारण दयासिन्धु हो तथा शरणागतबन्धु हो।'

गुरु-तत्त्वकी सम्पूर्ण शक्ति गुरु-मन्त्रमें निहित है। गुरु-प्रदत्त बीज मन्त्र शिष्यके हृदयमें अनन्त प्रकाश प्रज्वलित कर देता है, यूँ तो सभी मन्त्र प्रणवके स्वरूप हैं, परंतु गुरु-प्रदत्त मन्त्र एक अलौकिक शक्तिसे परिपूर्ण होता है, जिससे विशुद्ध प्रणवरूपा ध्वनि निर्गत होती है, जो अधिकारीको चैतन्य-स्वरूपमें प्रतिष्ठित कर देती है। गुरु-मन्त्रके शब्दोंका स्वरूप शुद्ध और सात्त्विक होता है। उसके उच्चारण-मननमात्रसे ही शरीरस्थ मलिन शब्दविकार स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं। चिन्मय मन्त्र चित्-शक्तिका ही केन्द्र होता है, जिससे विशुद्ध चैतन्य-प्रवाह प्रवाहित होता है। मानव-मनको अन्तर्मुखी कर उसे चिद्रूप शुद्ध शब्दकी उपलब्धि करना ही गुरु-मन्त्रका उद्देश्य है। जिस प्रकार काष्ठमें निहित अग्निका साक्षात्कार संघर्षसे होता है—उसी प्रकार मन्त्रद्वारा हृदयसे ब्रह्माग्निका साक्षात्कार होता है।

सद्गुरु शिष्यको जिस मन्त्रकी दीक्षा देता है, उस मन्त्रका जप योगविद्याकी उपलब्धि तथा परम लक्ष्यकी प्राप्तिमें अत्यन्त सहायक होता है। प्रारम्भमें मन्त्र-जपमें चित्तकी वह एकाग्रता नहीं होती जो वास्तवमें उसके लिये अपेक्षित है, किंतु उससे जपकर्ताको हताश या उद्विग्न नहीं होना चाहिये, क्योंकि एकाग्रता अभ्यासजन्य है। धीरे-धीरे ही एकाग्रता होती है। विचारके साथ अभ्यास करते-करते एकाग्रता होने लगती है।

चित् और चित्तका अन्योन्य-सम्बन्ध—महर्षि पतञ्जलिने चित्तवृत्तिके निरोधको योग कहकर उसे ही चित्के अपने विशुद्ध स्वरूपमें अवस्थितरूपसे होनेको कैवल्यका साधन कहा है। चित् और चित्त ये दोनों शब्दोंके एक ही मूल धातुसे निष्पन्न होनेके कारण यह जिज्ञासा स्वभावतः होती है कि चित् और चित्त ये दोनों शब्द एक अर्थके बोधक हैं या

भिन्न अर्थोंकि ? सब कुछ चित्का ही व्यापार है अतः चित्तको चित्से सर्वात्मना भिन्नरूपमें नहीं देखा जा सकता। उपनिषदादिमें इस विषयको इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्योऽभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

(श्वेता० ४। ६-७)

विद्यासे युक्त ईश्वर और अविद्या—मायासे युक्त जीव दो साथ रहनेवाले मित्र पक्षी हैं। दोनों ही त्रिगुणात्मक माया अथवा प्रकृति-रूप वृक्षका आलिङ्गन किये हुए हैं। उनमेंसे एक तो अर्थात् जीव-रूपी पक्षी उस वृक्षके फलों (योगरूपी) का उपयोग करता है और दूसरा केवल साक्षीरूपमें रहता है। गुरुकृपासे योगयुक्त होकर जीवरूपी पक्षी अपनी भूलको समझ लेता है और अपने साथी ईश्वरकी महिमासे प्रेरणा ग्रहण करके अपने शोकका निवारण करता है। यही चित्के स्वरूपका रहस्य है।

(दिव्य-दर्शनसे)

योगसाधनाकी उपादेयता

(अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नायस्थ शृङ्गेरी शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज)

भारतके छः आस्तिक दर्शनोंमेंसे योगदर्शन भी एक है। इस दर्शनके प्रवर्तक महर्षि पतञ्जलि हैं। उनका यह योगदर्शन समाधि, साधन, विभूति तथा कैवल्य नामके चार पादोंमें विभक्त है। वैसे तो उपनिषदोंमें भी योगके अनेक प्रसंग हैं। यथा—'**तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।**' अर्थात् योग वही है जहाँ इन्द्रियाँ स्थिर-रूपसे साधकके वशमें हो जाती हैं, किंतु इस विषयको एक स्वतन्त्र दर्शनके रूपमें उपनिबद्ध करनेका श्रेय महर्षि पतञ्जलिको ही प्राप्त है। इसमें किसीको भी कोई संदेह नहीं है। 'योग' शब्द मुख्य-रूपसे चित्तवृत्तियोंको निरुद्ध करनेके अर्थमें प्रसिद्ध है, जैसा कि महर्षि पतञ्जलिके सूत्र '**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' में कहा गया है यद्यपि वायुके समान चित्तका सर्वथा निरोध करना अत्यन्त दुष्कर है, तथापि बार-बार अभ्यास करने एवं वैराग्यके आश्रय लेनेसे वह भी सम्भव हो जाता है। जैसा कि '**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः**' इत्यादि सूत्रोंमें कहा गया है। यही अभिप्राय गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे '**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते**' इत्यादि वचनोंमें अभिव्यक्त किया है।

अभ्यास वह वस्तु है जो चित्तको विषयोंसे बार-बार हटाकर शान्त और स्थिर करता है। इसके अनुष्ठानद्वारा चित्त स्थिर हो जाता है। और वैराग्य वह वस्तु है जिसके द्वारा साधक इहलौकिक स्रक्, चन्दन, वनिता आदि भोगोंमें तथा पारलौकिक स्वर्गीय दिव्य भोगोंके द्वारा तनिक भी आकृष्ट न होकर उन्हें वमन या उपान्तके समान घृणित भावनासे देखता है[१]।

इसे ही आदिशंकराचार्यने इस प्रकार कहा है—वैराग्य वह वस्तु है, जिसके द्वारा विषयोंकी बातें देखने या सुननेपर उनमें उपान्तके समान घृणा हो जाती है, यह घृणा अपने शरीरसे लेकर स्वर्ग तथा ब्रह्मलोकतकके भोग्य पदार्थोंमें समानरूपसे रहती है—

तद्वैराग्यं जुगुप्सा या दर्शनश्रवणादिभिः।
देहादिब्रह्मपर्यन्ते ह्यनित्ये भोगवस्तुनि॥

जबतक मन थोड़ा भी विषयोंकी ओर प्रवृत्त होता है, तबतक ठीक-ठीक ईश्वरका तथा संत-महात्माओंका ध्यान नहीं होता, उनकी ओर योग-साधनाकी प्रवृत्ति नहीं होती और इससे समाधि प्राप्त करनेमें सफलता नहीं होती। इसलिये विषयोंकी ओरसे पूर्ण विरक्ति अत्यन्त एवं सर्वाधिक आवश्यक है। ऐसे तो योगसाधन अनेक हैं जो फलप्राप्तिमें विलम्बको सहन नहीं कर सकते। इसलिये वे लोग साधनोंका परित्याग भी कर देते

१-महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजीने भी ठीक यही बात लिखी है—

रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥

अर्थात् भाग्यशाली रामभक्त वैराग्यके द्वारा सम्पूर्ण लक्ष्मीके विलासका उपान्त या वमन किये पदार्थकी तरह तुरंत ही परित्याग कर देते हैं।

हैं। यह उचित नहीं है। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—

'स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।'

अर्थात् 'योगसाधकको बिना व्याकुल हुए अनिर्विण्ण-भावसे श्रद्धापूर्वक योगका अभ्यास करते रहना चाहिये, उकताकर छोड़ नहीं देना चाहिये।'

इससे यह सूचित होता है कि योगाभ्यासशील व्यक्तिके लिये एक तरफ तो बिना विरक्त हुए श्रद्धापूर्वक सतत रूपसे योगका अभ्यास या अनुष्ठान आवश्यक है और दूसरी ओर विषयोंसे वैराग्य भी। इसके लिये योग-साधनामें अटल विश्वास अर्थात् 'फल प्राप्त होगा'—ऐसा मनमें सदा निश्चय रहना चाहिये[१]। 'अबतक तो मुझे कोई फल नहीं मिला तो क्या मैं इसे छोड़ दूँ'—इस प्रकारकी भावनाका त्यागकर उत्तरोत्तर श्रद्धा-वृद्धिपूर्वक उसमें लगे रहना साधनामें अनिर्वेद कहा जाता है। ऐसा करनेपर साधकको योगानुष्ठानके द्वारा अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त महर्षि पतञ्जलिने अपने योगदर्शनमें साधकके लिये दूसरी बात यह आवश्यक बतायी है कि मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा—इन चार भावनाओंमेंसे क्रमशः अपने सहयोगी साधकोंसे मैत्री, विषयी एवं दुःख-प्राप्त जीवोंपर करुणा, विशेष समृद्धिशाली या योग-प्राप्त व्यक्तियोंमें मुदिता-भाव तथा अपनेसे द्वेष रखनेवालोंमें उपेक्षाकी भावना रखनी चाहिये न कि वैरकी भावना[२]। ऐसी भावनाओंसे योगीका हृदय सर्वथा निर्मल और शान्त हो जाता है। इस प्रकारकी साधना करते हुए साधकको कोई विशेष सिद्धिकी प्राप्ति कर लेनेपर अपनी योग-साधनाका परित्याग नहीं कर देना चाहिये। अर्थात् उसे भोगी नहीं बनना चाहिये। इसीलिये महर्षि पतञ्जलिने यह सूत्र लिखा है—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्।

(योग० ३। ५१)

अर्थात् कोई विशेष सिद्धि मिल जानेपर साधकको आसक्तिमें नहीं पड़ना चाहिये और मनमें किसी प्रकारका अभिमान नहीं आने देना चाहिये। देवता, देवी, अप्सरा, विद्याधर अर्थात् किसी भी देव-सुखोंमें आसक्त नहीं होना चाहिये। ये लोग योगीको स्वर्ग आदि लोकोंमें ले जानेके लिये निमन्त्रित करते हैं। इसलिये वहाँ इसे बहुत महत्त्व देखकर अपने मनमें आश्चर्य, विस्मय या अहंकार उत्पन्न नहीं होने देना चाहिये और न उनमें आसक्त होना चाहिये। ऐसा होनेपर साधक पुनः संसृति-चक्रमें पड़कर नरक-पथगामी बन सकता है। यही पूर्वोक्त सूक्तका अभिप्राय है। तभी साधकको समाधि-प्राप्तिपर्यन्त अनुष्ठानमें प्रवर्तित होकर पूर्ण सिद्धि अर्थात् कैवल्यतककी प्राप्ति हो जाती है। यही योगीका परम लक्ष्य है। इसलिये योगदर्शन सभी दर्शनोंमें श्रेष्ठ है।

यद्यपि वेदान्तदर्शनमें भगवान् वेदव्यासने **'एतेन योगः प्रत्युक्तः'** इस सूत्रके द्वारा योगशास्त्रके मूल सिद्धान्तका खण्डन किया है—ऐसा आपाततः प्रतीत होता है, किंतु उनका वहाँ तात्पर्य केवल विश्व-सृष्टिमें अचेतन प्रकृतिका मूल कारण माना जाना और अनेक पुरुषोंका होना—इतने मात्रका ही खण्डन किया गया है; जो सांख्यका भी मूल सिद्धान्त है। क्योंकि इससे श्रुतिका प्रत्यक्ष विरोध है। भगवान् व्यासका तात्पर्य यम-नियमोंके द्वारा प्राप्त होनेवाली समाधि या विभूतियोंकी प्राप्तिका खण्डन इष्ट नहीं है। यह बात भगवान् शंकराचार्यजीके ब्रह्मसूत्रके भाष्यके अवलोकनसे सर्वथा सुस्पष्ट हो जाती है। यह बात इसलिये भी सिद्ध हो जाती है कि भगवान् व्यासने योगदर्शनपर व्यासभाष्य नामक एक स्वयंका भाष्य लिखा है। साथ ही उन्होंने लिङ्ग-पुराण, शिवपुराण आदिमें सम्पूर्ण योगदर्शनका पद्यबद्ध अनुवाद-सा किया है। इस प्रकार सर्वथा उपादेय इस योगदर्शन-शास्त्रके अवलोकन तथा उसके अभ्यास एवं अनुष्ठानके द्वारा सभी आस्तिकजन कृतार्थ हों, यही हमारी शुभकामना है।

१-गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने इस बातको *'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। बिनु हरि भजन न भव भय नासा'* के द्वारा कहा है। अर्थात् बिना अटल विश्वासके इन्द्रियजयरूपी योगसाधनामें सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

२-भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें इस बातपर बल देते हुए कहा है—

'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।' तथा—

'निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥'

ऋजु-योगकी साधन-प्रक्रिया

(ब्रह्मलीन श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

भक्त्या पुमाञ्जातविराग ऐन्द्रियाद्
दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया ।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः ॥

(श्रीमद्भा० ३ । २५ । २६)

'भगवत्कथा-श्रवणसे मनुष्यको भक्ति उत्पन्न होती है, भक्ति हो जानेपर देखे हुए और स्वर्गादि सुने हुए जितने इन्द्रियजन्य सुख हैं, उनमें वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। ऐसा योगयुक्त पुरुष आत्मसाधनके उद्योगमें तत्पर होकर ऋजु-योग-मार्गोंसे प्रभु-प्राप्तिके लिये यत्न करता रहता है।'

संसारमें आसक्त हुआ मन जिसके द्वारा परमात्मामें जोड़ा जाय, उसीका नाम योग है। अतः प्रभु-प्राप्तिके जितने साधन हैं सभी योग हैं। राजयोग, हठयोग, सुरतिशब्दयोग, कर्मयोग, क्रियायोग, सांख्ययोग आदि अनेकों योग हैं। जो जिस योगका अधिकारी होता है, उसके लिये वही योग उपयुक्त भी होता है। एक भक्तियोग ही ऐसा है जिसमें सबके लिये अवसर है। भक्तियोग या भक्तिमार्गमें किसीके लिये निषेध नहीं, वह राज-पथ है। अंधा भी आँखें बंद करके सहज ही चला जा सकता है, किंतु उसके लिये भी एक योग्यताकी आवश्यकता है—

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनानन्दाश्रुकलया ..... ॥

जिसका हृदय स्वाभाविक ही कोमल न हो, जिसे भगवद्गुण-श्रवण-स्मरणसे रोमाञ्च न होता हो, जिसकी आँखें आनन्दाश्रु न बहाती हों, वह भक्तिका यथार्थ अधिकारी नहीं। इसीलिये भक्तिके दो भेद हैं—स्वाभाविकी और वैधी। जैसे प्यासा बिना पानीके रह ही न सके, जैसे अग्नि लगी देखकर स्वाभाविक ही मनुष्य उससे दूर भागता है, ऐसे ही विषयोंसे स्वाभाविक विराग होकर प्रभु-प्राप्तिकी स्वाभाविक इच्छा होना स्वाभाविकी भक्ति है। और शास्त्रोंमें भक्तिका माहात्म्य सुनकर भक्ति करना यह वैधी भक्ति है। किंतु हमारी इन झूठी आँखोंमें न तो कभी आनन्दाश्रु ही आते हैं, न यह वज्र-जैसा हृदय ही पसीजता है, फिर हम-ऐसे मूढ़मति पुरुषोंके लिये भी कोई मार्ग है क्या ? शास्त्रकारोंने हम-जैसे अल्पज्ञ पुरुषोंके लिये भी उपाय बताये हैं। भक्तिमार्ग बड़ा विशद है। उसके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, वन्दन, पादसेवन, सख्य, दास्य, अर्चन और आत्मनिवेदन—ये नौ अङ्ग हैं। दास्य, सख्य, वात्सल्य, शान्त और मधुर—ये पाँच भाव हैं। और भी अनेकों अनुभाव-विभावोंसे भक्तिमार्ग सुविस्तृत है। इसी भक्तिसागरको मथकर इसका अल्पीभाव बनाकर हम सर्वसाधारण लोगोंके लिये मनीषियोंने ऋजु-योग-जैसे मार्ग बताये हैं। ऋजु-योग भक्तियोगके ही अन्तर्गत है। इसमें मृदुता और सरलता ही एक आवश्यक वस्तु है। हमारे जीवनमें पग-पगपर बनावट है। यह बनावट किसी तरहसे मिट जाय तो वह प्यारे प्रभु अपने-आप ही हमें हृदयसे चिपटा लें। छोटा निष्कपट सरल शिशु कभी किसीसे यह नहीं कहता कि तुम मुझसे प्यार करो। किंतु उसकी सरलता, मृदुता और निष्कपट चेष्टाको देखकर चित्त बिना प्यार किये रह ही नहीं सकता। यदि इसी तरह हमारे जीवनमेंसे यह कपट-छल निकल जायँ तो भगवान् प्रेम करनेको विवश हो जायँगे। कपट-छल उन्हें अच्छा नहीं लगता—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥

किंतु कपट-छल जीवनमेंसे जाय कैसे ? वह ऋजु-योगके ही द्वारा सुगमता और सरलतासे जा सकता है। ऋजु-योगकी नींव श्रद्धाके ऊपर है। पूरी न हो, स्वाभाविकी न हो, थोड़ी ही सही, सुनकर ही सही, हठपूर्वक ही हो, शास्त्र-वाक्योंमें और गुरुवाक्योंमें श्रद्धा होनी चाहिये। थोड़ी भी श्रद्धा होनेसे इस मार्गमें आनेपर धीरे-धीरे श्रद्धा स्वतः ही बढ़ जाती है। जो वेद, शास्त्र और गुरुवाक्योंकी निन्दा करता है, उन्हें ढोंग समझता है, वह तो इधर प्रवृत्त ही नहीं होगा। यदि अणुमात्र श्रद्धासे या वैसे ही शुरू कर देनेपर जो बढ़ता है, वह तो बढ़ता ही जाता है—'**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥**'

ऋजु-योगके चार अङ्ग हैं—सत्सङ्ग, भगवत्कथा-श्रवण, कीर्तन और जप। इन चारोंके ही द्वारा मनुष्य परमपदतक पहुँच सकता है। इन्हींका नाम ऋजु-योग है, इसमें सभी श्रेणीके स्त्री-पुरुषोंका अधिकार है। सभी इस सरल

सुगम संक्षिप्त मार्गसे अपने गन्तव्य मार्गतक पहुँच सकते हैं। बहुत संक्षेपमें इन चारोंपर यहाँ विचार करनेका प्रयत्न किया गया है—

१-सत्सङ्ग—ऋजु-योगकी सर्वप्रथम सीढ़ी है सत्सङ्ग। भगवान् कपिलने अपनी माता देवहूतिको ऋजु-योगका उपदेश देते हुए आरम्भमें ही कहा है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

अन्तःकरणको और बाह्य करणोंको आनन्दित करनेवाली कमनीय कथाएँ साधु पुरुषोंके सत्सङ्गमें ही सुननेको मिल सकती हैं। उन कथाओंके श्रवणसे अति शीघ्र ही परमार्थ-स्वरूप प्रभुकी प्राप्तिके विषयमें प्रथम श्रद्धा होती है, श्रद्धा होनेपर रति होती है और रति होनेपर भक्ति प्राप्त होती हैं। सत्सङ्गके बिना इस मार्गमें जाना ही नहीं हो सकता। सत्सङ्गतिकी महिमा तो शास्त्रोंमें भरी पड़ी है, किंतु विचारणीय यह है कि हम मन्दमतियोंको यह निर्णय कैसे हो कि यह साधु है। शास्त्रोंमें तितिक्षु, करुणायुक्त, सर्वप्राणियोंके मित्र, निर्वैर, शान्त, निरन्तर भक्ति करनेवाले वीतरागी, गृहत्यागी, भगवत्कथा सुननेवाले आदि बहुत-से गुण साधुओंके बताये गये हैं, साथ ही जो निरन्तर भगवद्भजन, भगवत्कथा-श्रवण और भगवन्नाम-जपमें लगे रहते हैं, जिनका कोई भी समय व्यर्थकी बातोंमें न जाय, जो अपने शरीरके सुखोंके लिये चिन्ता न करते हों, यदि उन्हें कोई चिन्ता हो भी तो केवल दूसरोंके दुःखोंकी चिन्ता हो। श्रीमद्भागवतमें एक जगह लिखा है—

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥

समदर्शी साधु लोगोंके दुःखोंको देखकर दुखी होते हैं। इस अखिल ब्रह्माण्डमें व्याप्त उस अखिलेश्वर जनतारूपी जनार्दनकी सेवा करनेके निमित्त दुःख भोगना ही उनकी परम आराधना है। जिनकी सभी चेष्टाएँ प्रेमपूर्ण हों और जिनके शारीरिक काम यदि हों भी तो वे परोपकारके लिये हों। बस उन्हींको साधु समझकर उनकी सङ्गतिमें रहना चाहिये। साधु दूसरोंकी निन्दा न करेगा, न दूसरोंके दोषोंका वर्णन ही करेगा। उसकी सभी क्रियाएँ प्रेममयी होंगी और वह दूसरोंके गुणोंको ग्रहण करनेमें सर्वदा तत्पर रहेगा। राजर्षि भर्तृहरिने संतकी कैसी सुन्दर सर्वाङ्गीण व्याख्या की है। वे कहते हैं—

मनसि वचसि काये प्रेमपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥

अर्थात् 'जिनका मन प्रेमपीयूषसे परिप्लावित हो, जिनकी वाणी प्रेममयी, मधुमयी हो, जिनके शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी चेष्टाओंसे प्रेम प्रकट होता हो और जो अपने उपकारोंकी बाढ़से त्रिभुवनको बहाते-से रहते हों तथा दूसरोंके अणुमात्र गुणको पर्वतके समान बनाकर अपने हृदयमें विकसित करते रहते हों ऐसे संत इस धराधामपर कितने हैं?' यदि सौभाग्यसे ऐसे संत मिल जायँ और ढूँढ़नेपर मिल ही जाते हैं तो उनका सङ्ग निरन्तर करना चाहिये।

२-भगवत्कथा-श्रवण—ऋजु-योगकी दूसरी सीढ़ी है भगवत्कथा-श्रवण। इच्छापूर्वक, अनिच्छापूर्वक जैसे भी बने वैसे ही कथा सुननी चाहिये। भगवत्कथा-श्रवणका व्यसन लग जाना चाहिये। अफीम-जैसी कड़वी चीजको स्वादसे, स्वेच्छासे पहले-ही-पहले कोई नहीं खाता। खाते-खाते जब आदत पड़ जाती है, तब फिर बिना उसके रहा ही नहीं जाता। वैसे ही भगवत्कथा हमारे शरीरका मुख्य अङ्ग बन जाय। यह कभी मत सोचिये कि बिना मनके कथा सुननेसे क्या लाभ? इसी बातको लक्ष्य करके भगवान् कपिल कह रहे हैं—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचि-
न्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥

'जिन्होंने सब कार्य मेरे ही अर्पण कर दिये हैं और जिन्हें मुझे ही पानेकी इच्छा है, वे मुझसे एकात्म होनेकी अर्थात् मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते, क्योंकि वे तो मेरे पाद-पद्मोंकी सेवामें संलग्न हैं। वे परस्परमें बैठकर हठपूर्वक भी मन न लगता हो तो भी एक दूसरेको आपसमें मेरे गुणोंको सुनाते रहते हैं और सुनते रहते हैं।'

भगवत्कथाओंमें सुनते-सुनते रस आने लगता है। छोटा बच्चा पहले बे-मनसे माताके हठपूर्वक खिलानेपर अन्न खाता है, खाते-खाते अभ्यास हो जाता है। फिर रुचि भी बढ़ने लगती है, तदनन्तर वह उसमें ऐसा तल्लीन हो जाता है कि बिना अन्न खाये उसे चैन ही नहीं पड़ता, जी तड़फड़ाने लगता है। इसी प्रकार हठपूर्वक कथा सुनते-सुनते सुननेका अभ्यास होगा फिर रुचि भी बढ़ने लगेगी। अन्तमें तो व्यक्ति उसीमें तल्लीन हो जाता है। कथा सुने बिना कल ही न पड़ेगी।

३-कीर्तन—तीसरी सीढ़ी है भगवन्नाम-कीर्तन। जैसे बने तैसे गाकर, रोकर, जोर-जोरसे, धीरे-धीरे, सबके साथ मिलकर, अकेलेमें, बैठकर, खड़े होकर, तालस्वरसे, बिना तालके गा-गाकर अथवा बाजोंके तालस्वरके सहित भगवन्नामोंका और भगवद्गुणोंका कीर्तन करना चाहिये। वैसे तो कीर्तन सभी युगोंमें सर्वश्रेष्ठ साधन है, किंतु कलियुगमें तो कीर्तनके सिवा कोई गति ही नहीं। भगवान् व्यासदेव कहते हैं—

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्।

अर्थात् 'केवल श्रीकृष्णकीर्तनसे ही मनुष्य इस घोर कलिकालमें परमपदको प्राप्त कर सकता है।' कीर्तनके विषयमें विशेष बतानेकी आवश्यकता नहीं। शास्त्रोंमें इसकी अनन्त महिमा है।

४-जप—ऋजु-योगकी चौथी सीढ़ी है जप। जप वेदमन्त्रोंका तथा पौराणिक मन्त्रोंका भी होता है। उनकी शास्त्रोंमें अनेक विधियाँ हैं। विधिपूर्वक करनेसे उनका प्रत्यक्ष फल मिलता है। इसलिये महादेवजीने जोर देकर पार्वतीजीसे तीन बार कहा है—

जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्वरानने।

'हे वरानने ! मैं तीन बार प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, जपसे सिद्धि होती है, होती है, होती है।'

किंतु वैदिक मन्त्रोंके जपकी विधिको द्विजेतर मनुष्य नहीं कर सकते। द्विजोंमें भी पढ़े-लिखे और संस्कृत पुरुष ही कर सकते हैं, किंतु भगवन्नाम-जपमें किसी प्रकारकी विधि नहीं। यह जप तो सब विधि-निषेधोंसे परे हैं। चाहे जो हो, स्त्री, शूद्र, अन्त्यज, चाण्डाल कोई हो, किसी भी अवस्थामें हो, किसी भी देशमें कहीं हो, हर समय इसका जप कर सकता है। और श्रद्धापूर्वक भगवन्नाम-जपसे वही फल मिल जाता है जो अन्य वैदिक मन्त्रोंसे मिलता है। इससे सरल कोई मार्ग ही नहीं।

इस प्रकार ऋजु-योगके ये चार अङ्ग हैं। यदि आप राजयोग नहीं कर सकते, हठयोगके लायक आपका शरीर नहीं है, यदि आप प्राणोंको दसवें द्वारमें ले जाकर समाधि नहीं लगा सकते, यदि आप भगवद्विग्रहकी षोडशोपचार रीतिसे पूजा करनेमें भी असमर्थ हैं तो आप मनसे, बे-मनसे जैसे भी बने, भगवान्‌के नामोंका जप कीजिये। श्रीरामायण, भागवत और महाभारतकी कथा सुनिये, साधु पुरुषोंका सङ्ग कीजिये और भगवन्नाम तथा गुणोंका कीर्तन कीजिये। आप सभी योगियोंसे बढ़ जायँगे तथा निर्वाणपदको भी पार कर जायँगे। शास्त्रोंमें इसे ऋजु-योग, संक्षिप्तयोग, सरलयोग या मृदुयोग कहा गया है।

यह बात नहीं कि ये चारों अङ्ग ही हों और बिना चारोंके किये सिद्धिलाभ होती ही न हो। ये चारों स्वतन्त्र भी हैं। केवल कथा ही श्रवण करते रहें और कुछ भी मत करें, निरन्तर भगवल्लीलाओंका श्रवण और उनका मनन करते रहें, आप परम पदको प्राप्त कर लेंगे। और किसी भी साधनकी आवश्यकता नहीं। महाराज परीक्षित् इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। केवल कथा-श्रवणसे ही वे सर्वसङ्गविनिर्मुक्त हो गये।

केवल सत्सङ्ग ही करते रहें, साधु पुरुषोंकी सेवा करें, उनके वचनामृतोंको सुनें, उनकी सब प्रकारसे शुश्रूषा करें, आपको परमयोगियोंकी स्थिति प्राप्त हो जायगी। बहुत-से यातुधान, खग, मृग, स्त्री, शूद्र मात्र सत्सङ्गके आश्रयसे ही इस संसाररूपी घोर सागरको तर गये। केवल सत्सङ्ग ही सभी साधनोंका फल दे देता है।

'सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्।'

केवल कीर्तनको ही अपने जीवनका एकमात्र साधन बना लें। उठते-बैठते सर्वदा हरिकीर्तन करते रहें तो उसीसे प्रभुप्राप्ति होगी, इसमें संदेह करना व्यर्थ है। देवर्षि नारदादि इसके साक्षी हैं।

इसी प्रकार केवल जपसे ही परम समाधि लगती है और सिद्धि प्राप्त होती है। वाल्मीकिजी तो उलटा नाम जपकर ही सिद्ध हो गये। इसलिये ये चारों मिला लिये जायँ तब तो एक हैं, और अलग कर दिये जायँ तो स्वतन्त्र हैं, इसीलिये

सर्वप्रथम जो श्लोक दिया है, उसमें '**ऋजुभिर्योगमार्गैः**' ऐसा बहुवचन है, ये चारों ही ऋजु-योग हैं। चारों ही स्वतन्त्र हैं और एक भी हैं। सर्व-साधारणकी एकमें निष्ठा होनी कठिन है, अतः हमारे लिये सुगमता यही है कि कुछ काल जप करें, कुछ काल कीर्तन करें और कुछ काल सत्सङ्गमें बैठकर भगवत्कथा-श्रवण करें। जो व्यक्ति इस ऋजु-योगका आचरण करेंगे, वे सभी संसारी तापोंसे छूट जायँगे। वे इस संसारसागरको गौके खुरकी भाँति बात-की-बातमें लाँघ जायँगे।

योग-तत्त्व-रहस्य-मीमांसा

(स्वामी श्रीनिश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज)

योग-तत्त्व

ब्रह्मका जगत्‌को नित्य योग प्राप्त होनेके कारण ब्रह्म 'योगस्वरूप' है। प्रत्येक अंशको अंशीका योग नित्य सुलभ होता है। घटाकाशको महाकाशका, जल-तरङ्गको जलका और जलचन्द्रको नभचन्द्रका योग नित्य सुलभ है। ब्रह्म अंशी और जीव अंश है, इस प्रकार भी ब्रह्म 'योग' है। अंश जीवको अंशी ब्रह्मका नित्य योग प्राप्त है। '**योगः समाधिः**' (योगभाष्य १। १) के अनुसार 'योग'शब्द समाधिके अर्थमें प्रयुक्त होता है। जिसमें चित्तको समाहित किया जाय, वह 'समाधि' है।

स्वतःसिद्ध ब्रह्म जहाँ योग है, वहाँ ब्रह्मोपलब्धिमें साक्षात् अथवा परम्परासे जिसका उपयोग हो, वह योग है। ब्रह्मोपलब्धिमें साक्षात् उपयोगी होनेसे ब्रह्मात्मैक्य-बोध योग है। भगवद्भक्ति, अष्टाङ्गयोग, कर्मयोगादि ब्रह्मोपलब्धिमें परम्परासे उपयोगी होनेसे योग हैं। सम्पूर्ण भगवद्गीता योग-शास्त्र है। शीत, उष्ण, सुख-दुःख, सिद्धि-असिद्धि आदि द्वन्द्वोंमें समत्व या समभाव होना या रखना योग है। द्रष्टा-दृश्यके आविद्यक (आध्यासिक) संयोगकी विवेक-ख्यातिसे निवृत्ति हो जानेपर समत्वकी पूर्णता मानी जाती है। तभी दुःखसंयोग-वियोगरूप योग पूर्णतः चरितार्थ होता है।

'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' (योगदर्शन १। २) के अनुसार चित्तवृत्तिनिरोध इसलिये योग कहने योग्य है, क्योंकि प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति नामक पाँचों प्रकारकी वृत्तियोंके निरुद्ध हो जानेपर (असम्प्रज्ञात समाधि सध जानेपर) द्रष्टा वृत्तिसारूप्य-विनिर्मुक्त होकर स्वरूपस्थिति लाभ करता है। व्युत्थानदशामें वृत्तियोंकी विद्यमानता रहनेपर भी विवेकख्यातिके बलपर गुणमयभावोंके अनुरूप आत्मभावका उदय न होनेसे वृत्तिसारूप्यके अभावमें स्वरूपस्थिति बनी रहती है। इसी अभिप्रायसे विवेकख्यातिको योग मानना उपयुक्त है। वेदान्तमें जीव और शिवकी एकताकी संवित् समाधि है—

समाधिः संविदुत्पत्तिः परजीवैकतां प्रति।

(अन्नपूर्णोपनिषद् ५। ७५)

स्वरूपोपलब्धिमें परम्परासे उपयोगी होनेके कारण योगाङ्गोंको 'योग' कहा गया है।

विवेकख्याति जहाँ योग है, वहाँ योगका फल भी। पातञ्जलयोगसूत्र-भाष्यविवरणकार भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य महाराजके अनुसार दुःख-प्रचुर संसार 'हेय' (त्याज्य) है। अविद्यानिमित्तसे होनेवाला द्रष्टा-दृश्यका संयोग 'हेयहेतु' है। संयोगकी आत्यन्तिक उपरामता 'हान' है। कैवल्यरूप हान ही योगशास्त्रका फल, साध्य अथवा प्रयोजन है। अविप्लव (अविकम्प) विवेकख्याति 'हानोपाय' है। जैसे भैषज्यका आरोग्य ही फल है, आरोग्यका भैषज्य ही साधन है, वैसे ही विवेकख्यातिका हान ही फल है और विवेकख्याति ही हानका साधन है। कैवल्यके प्रति विवेकख्याति उपाय है। विवेकख्यातिके प्रति योग उपाय है। योग (समाधि) के प्रति योगाङ्ग उपाय है। यथार्थबोध ही विवेकख्याति है—

'**भूतार्थावगतिश्च विवेकख्यातिः**'

(योगसूत्रभाष्यविवरण १। १)

भूतार्थावगतिके लिये चित्तकी एकाग्रता अपेक्षित है—

'**यस्त्वेकाग्रे चेतसि स भूतमर्थं प्रद्योतयति**'

(योगभाष्य १। १)

'योग' समाधि है। समाधि चित्तका सार्वभौम धर्म है। चित्तके तुल्यप्रत्ययप्रवाहका नाम एकाग्र है। प्रत्ययशून्य चित्तका नाम निरुद्ध है। समाधिमें कैवल्यरूप 'हान'की विद्यमानता है। '**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**' (योगसूत्र

१।३), '**स्वरूपप्रतिष्ठा च चितिशक्तेः कैवल्यम्**' (योगसूत्र ४।३४)। निर्बीज समाधिके द्वारा कैवल्योपलब्धिमें योगसूत्रोंका तात्पर्य संनिहित है।

अविद्यानिवृत्तिके द्वारसे ख्याति ही कैवल्यमें साधन है, क्योंकि अविद्या-निमित्तक ही बन्ध है—'**ख्यातिरेव साधनमविद्यानिवृत्तिद्वारेण। अविद्यानिमित्तो हि बन्धः।' एकमेव दर्शनम्, ख्यातिरेव दर्शनम्,** (विवरण-भाष्य) '**बुद्धिवृत्तिरेव दर्शनम्**' (विवरण० पृ० १४)।

योगसूत्रोंके अनुशीलनसे अविद्यानिवृत्तिका ही पोषण होता है, न कि 'जगन्मिथ्यात्वका', ऐसा मानना उपयुक्त नहीं। अविद्या और प्रकृतिकी एकरूपता है। प्रपञ्च प्रकृतिका परिणाम है। अविद्यानिवृत्तिसे जगत्की निवृत्ति सर्वथा सङ्गत है। द्रष्टा शुद्ध चिन्मात्र है। वह व्यवहारदशामें वृत्तिसारूप्य लाभ करता है। दृश्य परार्थ (पुरुषके लिये) है। कृतार्थके प्रति नष्ट (अदृश्य, निवृत्त) होनेपर भी अकृतार्थोंके प्रति भोग अथवा अपवर्ग देनेके लिये प्रस्तुत प्रकृति अनष्ट रहती है। प्रकृति स्वशक्ति है। पुरुष स्वामिशक्ति है। दोनोंकी उपलब्धिका हेतु संयोग है। संयोगका हेतु अविद्या है। जैसे वेदान्तमें पुरुष और अविद्याका संयोग भी अविद्यानिमित्तक ही है, वैसे ही योगमतमें असङ्ग स्वप्रकाश पुरुषका प्रकृतिके साथ संयोग भी प्रकृति-निमित्तक ही है। इस प्रकार प्रकृति और अविद्याकी एकरूपता है। अविप्लव विवेकख्याति प्रकृतिसहित अविद्याको नष्ट करके पुरुषको कृतार्थ करनेवाली है। विशुद्धसत्त्व विवेकख्याति है। मलिन सत्त्व अविद्या है। त्रिगुण प्रकृति है—

'**कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।**'

(योगसूत्र २।२२)

इस सूत्रमें जगन्मिथ्यात्वका प्रतिपादन है। इस रहस्यका प्रकाश सूत-संहिताके तात्पर्यदीपिकाके यज्ञवैभवखण्ड अष्टमाध्यायविवरणमें माधव नामक विद्वान्ने सिद्ध किया है—'व्यवहारदशामें प्रकृति-प्राकृत-लक्षण, प्रपञ्चका सत्यत्व और आत्मनानात्वका प्रतिपादन योगादिसम्मत है। कैवल्यदशामें स्वरूपस्फूर्ति ही सम्भव है, न कि भेदभाव। आत्माके यथार्थ ज्ञानसे (प्रकृति-पुरुष-विवेकख्यातिसे) कैवल्य सम्भव है। विवेकख्यातिके उत्तरकालमें जगत् सर्वथा अस्फुरित भी रहे और सत्य भी सिद्ध हो ले, ऐसा कथमपि सम्भव नहीं। क्योंकि मेय (ज्ञेय) की सिद्धि मान (ज्ञान) के अधीन होती है, अतः आत्मयाथात्म्यज्ञानसे जगत् निवृत्त (बाधित) हो ही जाता है। जगत् ही नहीं, आत्मनानात्व और जीवेश्वर-भेद भी मुक्तिमें भासित न होनेसे मिथ्या ही मान्य है—'**आत्मनानात्वस्य जीवेश्वरभेदस्य च मुक्तावनवभातत्वेनैव प्रपञ्चवन्मिथ्यात्वम्।**'

योग-रहस्य

अपान और प्राण, रज और रेतस्, सूर्य और चन्द्र तथा जीवात्मा और परमात्मारूप द्वन्द्वसमूहका जो संयोगरूप ऐक्य है, वह योग कहा जाता है—

योऽपानप्राणयोरैक्यं स्वरजोरेतसोस्तथा।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः।
एवं द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते॥

(योगशिखोपनिषद् १।६८)

मुख और नासिकाके द्वारा वायुका बाहर निकलना प्राणकी गति है। वायुका अधोगमन अपानकी गति है। अपानमें प्राणका सङ्गम पूरक है। प्राणमें अपानका सङ्गम रेचक है। प्राणापानकी गतिका स्तम्भन कुम्भक है। वामस्वर इडा है, उसे चन्द्रनाडी कहते हैं। दक्षिणस्वर पिङ्गला है, उसे सूर्यनाडी कहते हैं। उसके मध्यमें सुषुम्ना है। मुद्राबन्ध-विशेषके द्वारा मनसहित प्राणसंयमसे सूर्य-चन्द्रका ऐक्य होता है।

इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना नाभिमण्डले।
मुद्राबन्धविशेषेण वायुमूर्ध्वं च कारयेत्॥

(वराहोपनिषद् ५।६६।६७)

नेत्रका अनुग्राहक सूर्य है। सूर्य आत्मा है। मनका अनुग्राहक चन्द्रमा है। मन चन्द्रमा है। चन्द्ररूप मनको सूर्यरूप नेत्रमें और सूर्यरूप आत्माको चन्द्ररूप मनमें मिलानेपर प्रवृत्तिमार्गकी सिद्धि होती है। सूर्यरूप नेत्रको चन्द्ररूप मनमें और चन्द्ररूप मनको सूर्यरूप आत्मामें रमानेपर निवृत्तिमार्गकी सिद्धि होती है। जाग्रत्में सूर्यमें चन्द्र और चन्द्रमें सूर्यका योग होनेसे प्रवृत्ति है। मनोराज्य और स्वप्न जाग्रत्-सुषुप्तिके मध्यकी स्थिति (अवस्था) है। उसमें सूर्यरूप नेत्रका चन्द्ररूप मनमें और चन्द्ररूप मनका सूर्यरूप आत्मामें

योग होता है। द्वैतकी प्रतीति बनी रहती है। सुषुप्तिमें सावरण या सबीज द्वैत होता है। द्वैतकी प्रतीति नहीं होती। समाधिमें सूर्यरूप नेत्रका मनरूप चन्द्रमें और चन्द्ररूप मनका आदित्यरूप आत्मामें लय होता है। प्रपञ्चकी निरावरण-निवृत्ति होती है। **'आदित्या ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा'** (प्रश्नोपनिषद् १। ५)—'निःसंदेह सूर्य प्राण है और चन्द्रमा रयि है'—इस श्रुतिके अनुसार प्राण और अपानके ऐक्यसे सूर्य और चन्द्रका भी ऐक्य सध जाता है। योगवासिष्ठके अनुसार सूर्यात्मक 'प्राण' परमात्मा है। सोमात्मक 'अपान' जीवात्मा है। पूरक, कुम्भक और रेचकके द्वारा परमात्माकी आत्मासे और आत्माकी परमात्मासे एकता होती है। सूर्य उग्र होनेसे रेतः-प्रधान है। सोम सौम्य होनेसे रजः-प्रधान है। प्राणापानके द्वारा सूर्य-चन्द्रका सङ्गम होनेपर रेत और रजका भी सङ्गम सध जाता है। इस प्रकार प्राणापानके ऐक्यसे सूर्य-चन्द्र, जीव-शिव और रेत-रजका संयोगरूप योग सध जाता है। तत्त्ववेत्ता धारणाके द्वारा इस योगसे लाभान्वित होते हैं।

वायुके निर्गमन और आगमनके साथ **'हंसः'** और **'सोऽहम्'** मन्त्रकी विभागपूर्वक धारणा करनेसे जहाँ मन्त्रयोगकी सिद्धि होती है, वहाँ प्राणापानका ऐक्य भी सध जाता है। इस प्रकार प्राणापानका ऐक्य मन्त्रयोगके अन्तर्गत है। प्रत्येक जन्तुके शरीरमें योनिरूप महाक्षेत्रमें जपाबन्धूक-तुल्य रक्त रजका निवास है, वही देवी-तत्त्व है। शुक्ल शुक्र (रेत) शिवतत्त्व है। रज-रेतका योग 'राजयोग' है। हंस मन्त्रके हकारके द्वारा सूर्यका और सकारके द्वारा चन्द्रका बोध होता है। सूर्य और चन्द्रका योग हठयोग कहा जाता है। जीव (क्षेत्रज्ञ) और शिवका ऐक्य होनेपर चित्त विलयको प्राप्त होता है। पवन (प्राण) स्थिर होता है, इसीको 'लययोग' कहते हैं। मन्त्र, लय, हठ और राजयोग एक महायोगके ही चार प्रकार हैं—

मन्त्रो लयो हठो राजयोगोऽन्तर्भूमिकाः क्रमात्॥
एक एव चतुर्धायं महायोगोऽभिधीयते।

(योगशिखोपनिषद् १। १२९, १३०)

योग-मीमांसा

योगदर्शनमें अष्टाङ्गयोगका वर्णन है। यम, नियम और आसनसे त्वङ्मांसशोणितास्थिस्नायुमज्जामय षाट्कौशिक स्थूल शरीररूप अन्नमयकोशसहित इन्द्रियोंका शोधन होता है। शौच आदि स्थूल शरीरके शोधक हैं, यह तथ्य प्रसिद्ध ही है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये पाँच 'नियम' हैं। स्थूल शरीरसहित पञ्चकर्मेन्द्रियोंका शोधन पञ्च यमके पालनसे होता है और पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंका शोधन पञ्च नियमके सेवनसे होता है। आसनके द्वारा मुख्यरूपसे कार्य-करणसंघातात्मक स्थूल शरीरका शोधन होता है। प्राणायामके द्वारा प्राणमय कोशका शोधन होता है। प्रत्याहार और धारणाके द्वारा मनोमयकोशका शोधन होता है। ध्यानके द्वारा विज्ञानमय-कोशका शोधन होता है। समाधिके द्वारा आनन्दमयकोश (कारणभेद) का शोधन होता है। इस प्रकार अष्टाङ्गयोगके द्वारा पञ्चकोशोंका शोधन हो जानेपर अध्यात्मज्ञानके द्वारा इनके अनात्मत्व (मिथ्यात्व) का स्फुट अनुभव होता है।

अयोगियोंका शरीर द्वन्द्वस्पर्शी होता है। योगहीन ज्ञानियोंको द्वन्द्वोंसे असङ्ग रहना पड़ता है। योगियोंका शरीर द्वन्द्वस्पर्शी नहीं होता। सर्वद्वन्द्वोंसे अतीत योगाग्निदग्ध ब्राह्मीतनुमें आत्माकी असङ्गता निरावरण स्फुरित होती है। ब्रह्मलोकमें योगाग्निदग्ध देह सुलभ होनेके कारण छाया और आतपतुल्य देह और आत्माका विमल विवेक सुलभ होता है—

'छायातपयोरिव ब्रह्मलोके' (कठोपनिषद् २। ३। ५)

देहके पाँच दोष होते हैं—१-काम, २-क्रोध, ३-निःश्वास, ४-भय और ५-निद्रा। निःसंकल्पताके द्वारा कामका वारण होता है। क्षमाके द्वारा क्रोधका वारण होता है। लघ्वाहारके द्वारा निःश्वासका वारण होता है। अप्रमत्तताके (देख, सुन, सम्हलकर उठने, बैठने, चलने आदिके) द्वारा भयका वारण होता है। तत्त्वसेवन (तत्त्वचिन्तन, समाधि, सत्त्वसेवन) से निद्राका वारण होता है। कहा भी है—

देहस्य पञ्च दोषा भवन्ति कामक्रोधनिःश्वासभयनिद्राः।
तन्निरासस्तु निःसंकल्पक्षमालघ्वाहाराप्रमादतातत्त्वसेवनम्॥

(मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १। २)

भूशुद्धि, भूतशुद्धि, अङ्गन्यास, करन्यास, महायज्ञ और यज्ञोंके द्वारा सप्तधातुमय शरीरका शोधन होता है। शीतली

आदि प्राणायामके द्वारा शरीरको शीतल और गर्म करनेसे भी शरीरका शोधन होता है। खेचरी आदि मुद्राओंके द्वारा क्षुधा, तृषा, आलस्य, मृत्युकी निवृत्ति और योगनिद्राकी समुपलब्धि होती है। खेचरी आदि मुद्रा और नाडी-शोधनादि आजकल दुरूह हैं। गुरुगम्य यह विद्या लुप्तप्राय है। मनमाना योगाभ्यास करने और करानेसे साधकको लाभके बदले हानि ही होती दीखती है।

ऐसी स्थितिमें ईश्वरप्रणिधान और स्वाधिकारानुसार तत्परतापूर्वक अधिकाधिक नामजप, लय-विक्षेपसे सुदूर रखनेवाला युक्ताहार-विहार और व्यवहारसे देहेन्द्रियादिका शोधन सुगम है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(गीता ६। १७)

उपनिषदोंमें कठोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, योगशिखोपनिषद्, योगकुण्डल्युपनिषद्, योगतत्त्वोपनिषद्, योगचूडामण्युपनिषद्, योगराजोपनिषद्, जाबालदर्शनोपनिषद्, त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, वराहोपनिषद्, मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, अमृतनादोपनिषद्, नादबिन्दूपनिषद्, तेजोबिन्दूपनिषद्, ध्यानबिन्दूपनिषद्, शाण्डिल्योपनिषद्, अन्नपूर्णोपनिषद् और शिवोपनिषद् आदि योगके स्वरूप, प्रभेद, प्रभाव, योगपरम्परा और योगाङ्गोंकी परिभाषादिका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करनेवाली है। योगाङ्गोंमें समाधि मुख्य योग है। उसीके द्वारा कैवल्यसिद्धि सम्भव है। कैवल्यदशामें जीवेश्वरादिभेद और जगद्विभ्रम विगलित हो जाता है। यही औपनिषदयोग और योगदर्शनका हृदय है—

यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति।
एवंभूतः परेणासौ तदा भवति केवलः॥

(श्रीजाबालदर्शनोपनिषद् १०। ११)

इस योग-साधनाके द्वारा समाधिमें प्रविष्ट योगीको जिस परमानन्दकी उपलब्धि होती है, उसका वाणीके द्वारा वर्णन किसी प्रकार सम्भव नहीं है। उसे कोई समाधिस्थ होकर ही जान सकता है—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

(मैत्रायण्युपनिषद् ४। ९)

अध्यात्मपथका उत्तम साधन—योग

(अनन्तश्रीविभूषित ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशी (सुमेरु) पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीशंकरानन्द सरस्वतीजी महाराज)

भारतीय अध्यात्मपरम्परा एवं संस्कृत वाङ्मयके आस्तिक दर्शनोंमें योगका स्थान अप्रतिमरूपसे स्वीकार किया गया है। मनुष्य-शरीरका परम प्रयोजन सकल दुःखनिवृत्ति एवं परमानन्दकी प्राप्ति है। केनोपनिषद्में स्पष्टरूपसे स्वीकार किया गया है कि '**इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः**' अर्थात् इस मानव-शरीरमें यदि परमतत्त्वका बोध हो गया तो मानव-शरीर सार्थक हो गया अन्यथा मानो महान् विनाश या सर्वनाश हो गया। ऐसा होनेपर चौरासी लक्षयोनियोंके चक्रमें पुनः जाना पड़ेगा।

परमतत्त्वबोधके लिये योग उत्तम साधन है। भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमद्भागवतमहापुराणके एकादश स्कन्धमें कहते हैं—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

अर्थात् मानवके परम कल्याण (मुक्ति) के लिये मैंने ज्ञान और कर्म एवं भक्ति नामक तीन योगोंका कथन किया है।

कठोपनिषद्में भी योगकी परमोपादेयताका वर्णन इस प्रकार मिलता है—'**अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति**' (१। २। १२)। '**आत्मनि चित्तस्य समाधानमध्यात्मयोगः, तस्य लाभेन धीरो योगी हर्षशोकौ जहाति**'—भाव यह कि समाहित-चित्त धीर पुरुष योगके द्वारा स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूपका साक्षात्कार कर हर्ष-शोकरूप प्रपञ्चका त्याग करता है—मुक्त हो जाता है। इस प्रकार अध्यात्मपथमें योगके बिना प्रवेश परम दुर्लभ है।

योगस्वरूप-विवेचन

मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग एवं राजयोग-भेदसे योगके विविध भेद हैं। मन्त्रयोगसे महाभावसमाधि, हठयोगसे

महाबोधसमाधि, लययोगसे महालयरूपी समाधिका उदय होता है। ये तीनों राजयोगके साधन हैं। पातञ्जलयोगदर्शनमें वर्णित योग राजयोग है।

योगका अर्थ

योजन, योग, समाधि आदि शब्द योगके पर्याय हैं। वसिष्ठजीने योगवासिष्ठमें चित्तवृत्तिनिरोधको योगका स्वरूप बतलाया है—

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव।
योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥

'हे राघव ! चित्त-नाशके केवल दो मार्ग हैं—योग और ज्ञान। चित्त-वृत्तिके निरोधको योग और आत्मतत्त्वके सम्यक् अवेक्षणको ज्ञान कहते हैं। भगवान् पतञ्जलिने योगका लक्षण करते हुए कहा है—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'**

चित्तकी क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध नामक पाँच अवस्थाएँ होती हैं। अन्तिम दो—एकाग्र और निरुद्ध अवस्थाएँ योगकी हैं।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'— इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए नागोजि भट्ट लिखते हैं—**'चित्तस्यान्तःकरणस्य वक्ष्यमाणा या वृत्तयस्तासां निरोधो निवर्तनं योग इत्यर्थः। वृत्तिनिवर्तनं च जीवनयोनिप्रयत्नवदतीन्द्रियो यत्नविशेषं चित्तनिग्रहरूपो वृत्तिविलयहेतुः। चित्तवृत्तिसंस्कारशेषावस्था वा···· न तु वृत्त्यभाव एव, वक्ष्यमाणसंस्कारजनकत्वानुपपत्तेः।**

अर्थात् अन्तःकरणकी वृत्तियोंका लय योग है और वह सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात-भेदसे दो प्रकारका है। **'सम्यग्ज्ञायते साक्षात्क्रियते ध्येयतत्त्वमस्मिन्निति सम्प्रज्ञातः।'** ध्येयतत्त्वका समीचीनतया साक्षात्कार जिस समाधिमें हो वह सम्प्रज्ञात है। सम्प्रज्ञात समाधि सबीज समाधि तथा सविकल्प समाधि आदि नामोंसे भी व्यवहृत होती है। दूसरे शब्दोंमें ध्येय-साक्षात्काराख्य-फलोपहितचित्तवृत्ति-निरोधरूप चित्तकी अवस्था-विशेषका नाम सम्प्रज्ञात योग है।

चित्तकी पाँच अवस्थाओंमेंसे एकाग्रावस्थामें सम्प्रज्ञात योग होता है। योगदर्शनके सिद्धान्तानुसार चित्त स्वतः सर्वार्थग्रहणक्षम एवं विभु होता है। तथापि तमोगुणसे आवृत होनेसे सदा समस्त वस्तुओंके साक्षात्कारमें समर्थ नहीं होता। एकाग्रावस्थामें तमोरजके क्षीण होनेके कारण सत्त्वमात्रके उद्रेकसे चित्त वस्तु-साक्षात्कार करनेमें समर्थ हो जाता है—योगसारमें विज्ञानभिक्षु लिखते हैं—**'चित्तं हि स्वत एव सर्वार्थग्रहणक्षमं विभु च भवति।'**

असम्प्रज्ञात समाधि, निर्बीज समाधि तथा निर्विकल्प समाधि ये समानार्थक शब्द हैं। चित्तकी निरुद्धावस्थामें समस्त वृत्तियोंके निरोध हो जानेपर, संस्कारमात्र शेष रहनेपर चित्तकी पञ्चमावस्थामें असम्प्रज्ञात समाधिकी स्थिति आती है—इसी बातको भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—**'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।'**

तात्पर्य यह कि परवैराग्यपूर्वक जब समस्त वृत्तियोंके निरोध हो जानेपर चित्त संस्कारमात्र अवशिष्ट रहता है तो इस अवस्थाको असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

अध्यात्मपथानुयायियोंको यह बात अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये कि योगसे श्रेष्ठ परमात्मप्राप्तिपूर्वक जीवन्मुक्तिमें सहायक प्रायः अन्य कोई विशिष्ट साधन नहीं है। अध्यात्मविद्यामें योग शरीर है, भक्ति प्राण है और ज्ञान आत्मा है। शरीरमें ही प्राण एवं आत्माकी अभिव्यक्ति या उपलब्धि होती है। चित्तादिका मल योग-साधनके बिना कथमपि निवृत्त नहीं हो सकता और जबतक मलादि निवृत्त नहीं होंगे, तबतक भक्ति आदिकी उपलब्धि सर्वथा असम्भव है। अतः कल्याण-प्रेप्सुजनोंको किसी वास्तविक योगी गुरुका सांनिध्य-लाभ कर साधनतत्पर होना चाहिये।

दूसरे किसीमें भी ममता न रहकर एक भगवान्‌में जो अनन्य ममता होती है, उसीको प्रेम कहते हैं। इसी प्रेमको भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव और नारद आदिने भक्ति बतलाया है।—नारदपाञ्चरात्र

जो किसी प्रकारके भयमें पड़ा हुआ है, जो मेरा भक्त है, जो कहीं आश्रय न मिलनेसे आर्त हो रहा है, जो हीन दशाको प्राप्त है, जो अपने प्राण बचाना चाहता है, ऐसे किसीको मैं कदापि नहीं त्याग सकता, इसमें मेरे प्राण भले ही चले जायँ। यह मेरा नित्य-व्रत है।—धर्मराज श्रीयुधिष्ठिर

दर्शनोंके परिप्रेक्ष्यमें योगका स्वरूप और महत्त्व

(दण्डी स्वामी श्री१०८ श्रीविपिनचन्द्रानन्द सरस्वतीजी महाराज, 'जज स्वामी')

(१) योग और योगाङ्ग—जीव और शिवका मिलना योग है। शिव और शक्तिका मिलना योग है। भक्त और भगवान्‌का मिलना योग है। वृत्तिका भगवदाकार होना योग है। वृत्तिका आत्माकार होना योग है। ऐसा होनेपर भी वृत्तिका विषयाकार होना भोग है। योगदर्शनके अनुसार योगके आठ अङ्ग हैं—(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान और (८) समाधि। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१-यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं। (योगसूत्र २।३०, विष्णुपुराण ६।७।३६)। देहेन्द्रियोंमें वैराग्यको यम कहा गया है—

'देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः'

(त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् २८)।

२-नियम—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये पाँच नियम हैं। (योगसूत्र २।३२, वि०पु० ६।७।३७)। परम तत्त्वमें सतत अनुरक्ति नियम है—

'अनुरक्तिः परे तत्त्वे सततं नियमः स्मृतः'

(त्रि० ब्रा० २९)।

३-आसन—ध्यानाभ्यासके उपयुक्त स्थिर और सुखदायी सिद्ध, पद्म, सिंह और भद्रादि आसन हैं। द्वन्द्व-सहिष्णुता, प्राणायामकी योग्यता और अनात्मवस्तुओंमें उदासीनता आसन-सिद्धिके फल हैं—**'ततो द्वन्द्वानभिघातः'** (योग०सू० २।४८), **'सर्ववस्तुन्युदासीनभावमासनमुत्तमम्'** (त्रि०ब्रा०२९)।

४-प्राणायाम—श्वास-प्रश्वासकी गतिका विच्छेद (रोकना) प्राणायाम है। **'तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गति-विच्छेदः प्राणायामः'** (यो०सू०२।४९)। बाह्यवृत्ति (रेचक), आभ्यन्तरवृत्ति (पूरक) और स्तम्भवृत्ति (कुम्भक)-भेदसे प्राणायाम तीन प्रकारका होता है। (यो०सू०२।५०)। जैसे वायुयोगसे आग राख आदि आवरणसे रहित होकर प्रज्वलित होती है, वैसे ही प्राणायामके योगसे ज्ञान आच्छादक तमसे रहित (अनभिभूत) होकर अविप्लव-विवेक-ख्यातिके अभिमुख होता है। नाडी-शोधनमें प्राणायामका मुख्य उपयोग है। यम, नियम जिसके जीवनमें प्रतिष्ठित हैं, आसन जिसका सुस्थिर है, नाडी जिसकी शुद्ध है उसका प्राणायाममें प्रशस्त अधिकार है—**'यमनियमाभ्यां संयुक्तः पुरुषः प्राणायामं चरेत् तेन नाड्यः शुद्धा भवन्ति।'** (शाण्डिल्योपनिषद् ३), **'यमैश्च नियमैश्चैव आसनैश्च सुसंयतः। नाडीशुद्धिं च कृत्वादौ प्राणायामं समाचरेत्॥'** (त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् ५३)। यम, नियम, आसनके द्वारा आंशिक नाडीशोधनके अनन्तर प्राणायाम प्रारम्भ करना चाहिये। प्राणायामसे नाडियोंकी विशेष शुद्धि होती है।

५-प्रत्याहार—चित्तका अन्तर्मुख होना प्रत्याहार है। इन्द्रियोंका अपने विषयोंके साथ सम्बन्ध न होनेपर चित्तके रूपका अनुकरण-जैसा करना प्रत्याहार है। **'चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारस्तु सत्तम।'** (त्रि०ब्रा० ३०), **'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः'** (यो० सू० २।५४)।

६-धारणा—चित्तको एकदेश (स्थान) पर स्थिर रखना धारणा है—**'चित्तस्य निश्चलीभावो धारणा धारणं विदुः'** (त्रि० ब्रा० ३१), **'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'** (यो० सू० ३।१)।

७-ध्यान—धारणाके विषयमें चित्तवृत्तिकी एकतानता ध्यान है (यो०सू० ३।२)।

८-समाधि—ध्यानकी सम्यक्-विस्मृति समाधि है—**'ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक्समाधिरभिधीयते'** (त्रि०ब्रा०३२)। अभिप्राय यह है कि ध्येयमात्रकी स्फूर्ति और चित्तविस्मृतिका नाम समाधि है—**'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः'** (यो०सू० ३।३)।

(२) लोकव्यवहारमें योग—व्यवहार हो या परमार्थ मनकी एकाग्रता, तन्मयता, समवधानता सर्वत्र अपेक्षित है। योगिराज दत्तात्रेयजी महाराजने कर्तव्यपालनमें तन्मयताकी शिक्षा बाण बनानेवालेसे ली। अहिंसा, सत्यादि पञ्च यमोंकी जिसके जीवनमें प्रतिष्ठा न हो और शौच, संतोषादि पञ्चनियमोंसे जो सुदूर हो, वह लोकमें निन्दित होता है और उसकी आत्मा भी उसे कोसती है। जिसकी वागादि कर्मेन्द्रियाँ अचञ्चल हों, श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ संयत हों, सिद्ध-पद्म, सुखादि आसनोंका आलम्बन लेकर जो बैठनेमें समर्थ हो, प्राणापानादि जिसके

संयत हों, इन्द्रियाँ जिसकी अन्तर्मुख हों, चित्त जिसका केन्द्रित हो तथा ध्येयप्रवण और ध्येयमात्र होनेमें समर्थ हो, वही लोकमें चरमोत्कर्ष प्राप्त करनेमें समर्थ होता है।

(३) दर्शन-संदर्भमें योग—चार्वाकमतमें अभीष्ट विषयका अभीष्ट इन्द्रियके साथ अभीष्ट संयोग सुखद होनेसे योग है। बौद्धदर्शनमें सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-सङ्कल्प, सम्यक्-वचन, कर्मान्त (पञ्चशील, दशशील), सम्यक्-आजीव, सम्यक्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति तथा सम्यक्-समाधि—ये अष्टाङ्ग मार्ग हैं। इनमें पञ्चशील पञ्च 'यम'-तुल्य है। सम्यक्-आजीव 'नियम'-तुल्य है। सम्यक्-व्यायाम 'आसन' और 'प्राणायाम'-तुल्य है। सम्यक्-वचन 'प्रत्याहार'-तुल्य है। सम्यक्-सङ्कल्प 'धारणा'-तुल्य है। सम्यक्-दृष्टि 'ध्यान'-तुल्य है। माध्यमिक (शून्यवाद), योगाचार (क्षणिक विज्ञानवाद), सौत्रान्तिक (बाह्यानुमेयवाद) और वैभाषिक (बाह्य प्रत्यक्षवाद)—इन चारों प्रकारके बौद्धोंके मतमें रागादि ज्ञानकी परम्परारूपी वासनाका उच्छेद अभीष्ट है—

रागादिज्ञानसंतानवासनोच्छेदसम्भवा ।
चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता ॥

(विवेक-विलास ८। २७४)

रागादिकी निवृत्तिके लिये योगालम्बन परमावश्यक है। वेदान्तियोंका विज्ञान (विज्ञानमय) विज्ञानवादी बौद्धोंका आत्मा है। वही लौकिक-पारलौकिक सभी कर्मोंका निर्वाह करता है। कर्म विज्ञानपूर्वक होता है। विज्ञानवान् कर्ता होता है। विज्ञानमयका आत्मा (हृदय) योग है। **'योग आत्मा'** (तैत्तिरीयोपनिषद् २। ५। १)। युक्ति (समाधान) योग है। युक्त (समाहित) यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ होता है।

जैनमतमें सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चरित्र—ये त्रिरत्ननामक मोक्षमार्ग हैं। **'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'** (तत्त्वाधिगम-सूत्र १। १)। इसमें सम्यक्-चरित्रका अर्थ है—पापके सम्बन्धका सर्वथा त्याग। अहिंसादि पञ्च यम सम्यक्-चरित्रके भेद हैं। अहिंसादि प्रत्येक व्रतकी पाँच-पाँच भावनाएँ हैं। इस प्रकार जैनमतमें योगाङ्गोंका विशेष महत्त्व है।

वैशेषिक-दर्शनमें आत्मस्वरूपमें स्थित निष्क्रिय और निर्दुःख-मनःस्थिति योग है। प्रकारान्तरसे चित्तनिरोध योग है। अथवा सुख-दुःखके आरम्भसे रहित आत्मस्वरूपमें ध्यानमग्न मनकी दुःखाभावके उपयुक्त स्थिति योग है। अथवा सुख-दुःखके आरम्भसे रहित आत्मस्वरूपमें स्थित मनके योगसे जिस अवस्थामें देह-विशिष्ट आत्माको दुःख नहीं होता, वह योग है। अथवा योगाभ्यासके अनन्तर क्रियाशून्य प्राणरूप आत्मामें मनःस्थितिके प्रभावसे देहावच्छिन्न आत्माकी दुःखरहित स्थिति योग है—**'तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः स योगः'** (५। २। १६)।

न्यायशास्त्रमें योगदर्शनके अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशरूप पञ्चविध क्लेशोंका राग, द्वेष और मोहके रूपमें वर्णन किया गया है। आत्मसाक्षात्कारसे इनकी निवृत्ति होती है। ध्यानकी परिपक्वता आत्मसाक्षात्कारमें हेतु है—

'ध्यायिनो ध्यानपरिपाकवशात् साक्षात्कृतात्मनः।'

(तर्कभाषा)

पूर्वसञ्चित धर्माधर्मकी योगालम्बनसे जानकारी प्राप्त कर योगबलसे कायव्यूहकी रचनाकर शुभाशुभ कर्मोंका फलोपभोग मोक्षमें अविलम्ब हेतु है—

पूर्वोपात्तं च धर्माधर्मप्रचयं योगर्द्धिप्रभावाद्विदित्वा समाहृत्य युञ्जानस्य पूर्वकर्मनिवृत्तौ····।' (तर्कभाषा)

इस प्रकार न्यायशास्त्रमें योगका अत्यन्त महत्त्व है।

सांख्यसूत्रमें योगियोंके अतीत, अनागत और व्यवहित वस्तुके प्रत्यक्षका वर्णन किया गया है। योगियोंका प्रत्यक्ष बाह्य प्रत्यक्षसे भिन्न होता है। उन्हें अतीत और अनागतरूप लीन और अतीन्द्रिय पदार्थका भी बुद्धिवृत्तिरूप विज्ञानसे संनिकर्ष प्राप्त होता है—

'योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः' (१। ९०)

'लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः'। (१। ९१)

आत्म-श्रवणके बाद मनन, निदिध्यासन (ध्यान), अन्तराय ध्वंसके लिये मान्य है। यद्यपि पुरुष असङ्ग है तथापि अविवेकवश जपा-स्फटिकके तुल्य उसमें बुद्धिधर्मोंका उपराग होता है। उपरागका अर्थ है वृत्तिसारूप्य। वृत्तिरूप विक्षेप और वृत्तिशून्य संस्काररूपमें अवशिष्ट चित्तरूप बिम्बका निरोध होनेपर प्रतिबिम्बात्मक उपरागका भी निरोध होता है। इसके लिये ध्यान, धारणा, प्रत्याहार, प्राणायाम, आसन, अभ्यास,

वैराग्यादि अपेक्षित हैं।

सांख्यकारिका (६४)के अनुसार पुनः-पुनः तत्त्वचिन्तन निदिध्यासन है। निदिध्यासनरूप अभ्याससे अनात्मवस्तुओंमें अहंता-ममताकी निवृत्तिरूप कैवल्यज्ञान उत्पन्न होता है—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्याद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥

योगदर्शनके अनुसार चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग (समाधि)से वृत्ति-सारूप्य भङ्ग होनेपर द्रष्टाकी स्वरूपस्थिति होती है। यद्यपि वृत्तिदशामें भी द्रष्टा वृत्तिके उपरागसे रहित ही होता है, परंतु इस तथ्यकी अनुभूति समाधिजन्य विवेक-ख्यातिसे ही सम्भव है। विवेकख्यातिमें प्रतिबन्धक्षय और वृत्तिसारूप्यकी निवृत्तिके लिये योगालम्बन अपेक्षित है।

पूर्वमीमांसाके अनुसार अनुष्ठानसे (प्रयोगसे) सम्बद्ध (समवेत) द्रव्य, देवतादि-रूप अर्थके स्मारक मन्त्र होते हैं। **'मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम्'** इस नियमविधिके अनुसार अर्थस्मरणरूप दृष्टफल प्रकारान्तर (ब्राह्मणवाक्यों) से करना उचित नहीं है। **'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट् करिष्यन्'** (ऐतरेय ब्राह्मण० ११।८।१)। **'सन्ध्यां मनसा ध्यायेत्'** (ऐ० ब्रा० ३।८।१)।

—आदि श्रुतियोंके अनुसार देवताका ध्यान कर्तव्य है। देवताके स्मरणसे द्रव्यशुद्धि कर्तव्य है। शुद्ध द्रव्य अभिमत देवताके प्रति समर्पित होता है। देवतोद्देश्यसे समर्पित द्रव्य अभ्युदय-निःश्रेयसकी सिद्धिमें परम्परासे हेतु है—

इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयप्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन॥

(श्लोकवार्तिक)

—के अनुसार वेदान्तविचारसे आत्मप्रबोध होता है।

युक्तस्य ब्रह्मचर्याद्यैरङ्गैः शमदमादिभिः।
कुर्वाणस्यात्ममीमांसां वेदान्तोक्तेन वर्त्मना।
मुक्तिः सम्पद्यते सद्यो नित्यानन्दप्रकाशिनी॥

(मीमांसामानमेयोदय, प्रमेय २७, २८)

—के अनुसार ब्रह्मचर्य, शमादिसम्पन्न साधक वेदान्त-मार्गसे आत्मविचारके द्वारा मोक्षलाभ करता है। इस प्रकार ध्यान, शम, दम, ब्रह्मचर्यादिरूप योगाङ्ग मीमांसकोंके मतमें अभ्युदय और निःश्रेयसमें परमोपयोगी हैं।

उत्तरमीमांसा (वेदान्त-दर्शन)के अनुसार योगदर्शनमें सांख्योक्त पदार्थोंकी गणनाको छोड़कर जो अष्टाङ्गयोगका वर्णन है, वह वेदान्त (उपनिषद्) सम्मत होनेसे ग्राह्य है।

'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृहदा० २।४।५)—इस श्रुतिमें निदिध्यासन विहित है। वार्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्यके अनुसार—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥

(बृहदा० भाष्यवार्तिक श्लोक १०८३)

—श्रुतिवाक्योंद्वारा आत्मस्वरूपका श्रवण कर अनेक युक्ति, अनुमान और उपपत्तियोंके द्वारा उस स्वरूपका निरन्तर ध्यान करना चाहिये। ब्रह्मात्मतत्त्वका ध्यान विहित है। श्रुतिके अनुसार मैं वह चिन्मात्र ब्रह्म ही हूँ—ऐसा चिन्तन ध्यान है।

'सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते।'

(त्रि० ब्रा० ३१)

'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्' (श्वेता० २।८)

'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्'

(कठ०२।६।१८)

'विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्'

(कठ०२।६।१८)

'अथ तत्त्वदर्शनोपायो योगः'

(योगशास्त्र)

'वक्षःस्थल, ग्रीवा और सिर—ये तीन जिसमें उन्नत रखे जाते हैं, उस त्रिरुन्नत शरीरको समान-भावसे रखकर योगका अभ्यास करे', 'उस स्थिर इन्द्रिय-धारणको ही योग कहते हैं', 'इस ब्रह्मविद्या और सम्पूर्ण योगविधिको पाकर नचिकेता ब्रह्मभावको प्राप्त हो गया', 'तत्त्वदर्शनका साधन योग है' आदि श्रुति-स्मृतियोंके द्वारा समर्थित योग तत्त्वज्ञान और तत्त्वनिष्ठाके लिये परमोपयोगी है। सगुण-निर्गुणोपासना सविकल्प-निर्विकल्प समाधिके क्रमसे मोक्षोपयोगी है।

४-शांकर वेदान्तमें योगका स्वरूप और महत्त्व— शांकर वेदान्तमें सम्यग्दर्शननिष्ठारूप योगका फल मोक्ष है। मोक्षमें प्रतिबन्धक मल-विक्षेपके वारणके लिये निदिध्यासन (ध्यान) रूप योगकी आवश्यकता है। उससे चित्त निर्मल

और शान्त होता है। निर्मल और शान्त चित्तको विशुद्ध कहते हैं। ध्यानयोगके प्रत्याहारादि अन्तरङ्ग और कर्मासक्ति, फलासक्ति, अहकृतिको शिथिल कर धृत्युत्साहपूर्वक भगवदर्थ स्वधर्मपालन बहिरङ्ग साधन हैं। इस प्रकार धर्मानुष्ठानसे वैराग्य, वैराग्यसे योगाभ्यास, योगाभ्याससे एकाग्रता, एकाग्रतासे ज्ञाननिष्ठा और ज्ञाननिष्ठासे मोक्ष यह क्रम शांकर-प्रस्थानमें मान्य है। यथा—

'ज्ञाननिष्ठालक्षणः स संन्यासः कर्मयोगोपायो योगः'

(गीता ४। १, शांकरभाष्य)

'न हि अस्य सम्यग्दर्शननिष्ठालक्षणस्य मोक्षाख्यं फलं व्येति'

(गीता ४। १, शांकरभाष्य)

भगवत्पाद शंकराचार्य ऐसा मानते हैं कि अत्यन्त वैराग्यवान् समाधिलाभ करता है। समाहित ही दृढ़ बोध-लाभ करता है। दृढ़ बोधसे ही भवबन्धनकी निवृत्ति होती है। मुक्तात्माको नित्य सुखानुभूति होती है—

अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः समाहितस्यैव दृढप्रबोधः।
प्रबुद्धतत्त्वस्य हि बन्धमुक्तिर्मुक्तात्मनो नित्यसुखानुभूतिः॥

(विवेकचूडामणि ३७६)

साथ ही समाधिद्वारा चित्त निश्चल और ज्ञाननेत्र विकसित होता है। आत्मदर्शन स्फुट सम्भव है। श्रुत पदार्थ नेत्रोंमें अनुभूत होनेपर उसके विषयमें कोई संदेह नहीं रह जाता।

समाधिना साधु विनिश्चलात्मना पश्यात्मतत्त्वं स्फुटबोधचक्षुषा।
निःसंशयं सम्यगवेक्षितश्चेच्छ्रुतः पदार्थो न पुनर्विकल्पते॥

(विवेकचूडामणि ४७४)

श्रीशंकराचार्यजीका अद्वैत सम्प्रदाय और उनकी साधनामें योगकी प्रधानता

(अनन्तश्रीविभूषित तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीजयेन्द्रसरस्वतीजी महाराज)

श्रीशंकराचार्यजीके अद्वैतसिद्धान्तका सारसंग्रह है—**'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।'** आचार्यके कथनका भाव यह है कि भारतवर्षके अनन्तकोटि ग्रन्थोंमें विस्तारसे जिन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन हुआ है, उनका सारांश यह है कि केवल परमात्मा ही त्रिकालाबाधित सत्य है, मायामय विश्व क्षणभङ्गुर एवं मिथ्या है और विविध प्रकारके जीव भी एक तत्त्वघनीभूत परमात्मा या ब्रह्म ही है। इस शांकर सिद्धान्तकी प्रमुख विशेषता है कि यह महान् परमात्माके उच्छ्वास-स्वरूप वेदोंके शिखाभूत ईशावास्य, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ईश, केन और कठ आदि उपनिषदोंसे प्रतिपादित है, उसी प्रकार इसके अधिगमनका मार्ग भी उन्हींसे विशदीकृत है। यही गीतामें भी भगवान्‌के द्वारा स्वयं उपदिष्ट है तथा भगवान् वेदव्यासमुनिके द्वारा ब्रह्मसूत्र या वेदान्त-दर्शनमें सूत्र-रूपसे उपदिष्ट है। वही भगवान् आद्य शंकराचार्यद्वारा स्वकीय भाष्यग्रन्थों तथा अन्य विवरण-स्तोत्र आदि ग्रन्थोंमें सुप्रतिष्ठित, उपबृंहित तथा विस्तारसे प्रतिपादित हुआ है। यही कारण है कि यह अद्वैत सिद्धान्त शांकर-सम्प्रदायके नामसे भी संसारमें प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदायकी मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

ब्रह्म—जो अनादि, अनन्त, नित्य एक ही वस्तु,निस्संग, निर्गुण, निष्क्रिय, अद्वितीय, अपरिच्छिन्न, परिपूर्ण, सत्, चित्, आनन्दात्मक है, वही एकमात्र पारमार्थिक सत्य है तथा 'ब्रह्म' के नामसे व्यवहृत होता है।

माया—इसीसे अनादि-सम्बन्धयुक्ता, त्रिगुणात्मिका, अनिर्वचनीया, कार्यानुमेया, जडात्मिका, महाद्भुता जो शक्ति है, वही माया है। इसके दो रूप होते हैं—एक व्यापक, जिसका नाम माया है तथा दूसरा व्याप्य, जिसका नाम है अविद्या। इसीका अपर नाम है अन्तःकरण। मायाकी दो शक्तियाँ हैं—आवरणशक्ति तथा विक्षेपशक्ति।

ईश्वर—स्वयंप्रकाश शुद्धचैतन्य परंब्रह्म जब शुद्धसत्त्व-प्रधानभूत मायामें प्रतिबिम्बित होता है, तब सर्वशक्त परमेश्वर बन जाता है। तमोगुणात्मक आवरण-शक्तिसे चैतन्यके आवृत हो जानेपर रजोगुणात्मिका विक्षेपशक्ति विजृम्भित हो उठती है। उस आत्मा यानी शुद्ध चैतन्यसे आकाश उत्पन्न होता है तथा उससे वायु आदि क्रमसे आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त, जड-चेतनात्मक असंख्य जीवगणोपेत स्थूल, सूक्ष्म, कारणात्मक त्रिविध

शरीरमय जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्त्यात्मक त्रिविध अवस्थासंयुक्त पञ्चकोशात्मक चतुर्योनिमय अनिर्वचनीय प्रपञ्चके रूपमें मायाका परिणाम होता है। यह परिणाम शुद्ध चैतन्यका विवर्त होता है। यानी यह सब प्रपञ्च एकमात्र शुद्धचैतन्यमें अधिष्ठित यानी कल्पित तथा भ्रमात्मक होता है।

जीव—मलिन सत्त्वप्रधानभूत अविद्यात्मक अन्तः-करणमें शुद्धचैतन्यका जो प्रतिबिम्ब होता है, वही जीवत्व प्राप्त करता है। यह भी अनादि है। आवरण-शक्तिसे आवृत हो जानेसे शुद्ध वस्तुका ज्ञान नहीं होता। सत्तारूपमें भी नहीं समझ पड़ता। अन्तःकरण तथा जीवके अन्योन्याध्यासकी प्रबलतासे (अयो दहतिकी भाँति) एकका धर्म दूसरेके जैसा प्रतीत होता है।

जगत्—ब्रह्मज्ञानात्मक विद्याप्राप्तितक अविद्याकल्पित जगत्का सत्यत्व प्रतीत होता ही रहेगा। ज्ञानके प्राप्त होते-होते जगत् अस्तमित हो जायगा, जगत्की यही स्थिति व्यावहारिक सत्ता कहलाती है। इससे देह-इन्द्रियादिके अध्याससे जीवमें कर्तृत्वबुद्धि सुदृढ़ होती है। तदनुसार इष्ट-अनिष्टात्मक फलभोक्तृत्व भी सुदृढ़ अनुभूत होता है। परंतु सम्पूर्ण निस्संग शुद्ध चेतनात्मकता जीवकी कैसे उचित सिद्ध होगी ?

समुचित और सङ्गत बात तो यह है कि अन्तःकरण जड है और जड तत्त्वका कर्तृत्व कभी सम्भव नहीं है। इधर आत्मा असंग है, अतः उसका जड-तत्त्वोंसे सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है।

इसी बातको उपनिषदोंने भी योगका आशय लेकर दूसरे प्रकारसे समझाया है। उनका कथन है कि प्राणीका मन ही बन्धन या मोक्ष दोनोंका कारण बनता है—**'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।'** जगत्की व्यक्तताका मूल कारण है मन। अतः जब मनका नाश हो जाता है तब तत्कल्पित बन्ध एवं उसके मूल कारण जगत्की भी निवृत्ति हो जाती है। मनका विनाश कैसे होता है, जैसे सोनेमें मन रहता है, पर मनका भान नहीं होता। परंतु जाग्रत्में मनकी ज्ञान, इच्छा, क्रियात्मक शक्तियोंका कार्यान्वित हो जानेका अनुभव होता ही है। ऐसा होनेपर मन (अन्तःकरण) रहता है—ऐसा समझा जाता है। स्वप्नमें तो स्थूल शरीर-कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियोंका लय हो जाता है, परंतु किस प्रकार इनके सब व्यापार होते रहते हैं ? अन्तःकरणमात्रसे जब गहरी नींदमें पड़ जाते हैं, तब अन्तःकरणका भी लय होता है। अतः किसी भी तरह मन आदिके व्यापार नहीं रहते। किंचिदपि ज्ञान नहीं रहता। जाग उठनेपर 'सुखसे सो गया, कुछ भी न समझ पाया'—ऐसा सुखका स्मरण तथा उसके अनुभवका अज्ञान दोनों समझे जाते हैं। स्मरणके उपादान मन एवं बुद्धिके अनुभव हैं। जब मन शुद्ध चैतन्यमें लीन हो जाता है, तब उसकी पुनरुत्पत्ति नहीं हो पाती और वह नित्य-निरन्तर सुखस्वरूप हो जाता है। यही शुद्ध चैतन्यात्मकता है। शुद्ध चैतन्यात्मकता पानेका कौन-सा उपाय है ? यही है कि—

अन्तःकरण अविद्याका परिणाम (सत्त्वगुण-प्रधान) है, अतः उसे व्यावहारिक सत्योंसे वियुक्त कर चैतन्य-स्वरूपके ध्यानको प्रवृत्त करना चाहिये। इसकी आधारभूत श्रेणी चारों सोपानोंसे परिष्कृत है। ये हैं विवेक, वैराग्य, शम-दमादि षट्-सम्पत्ति एवं मुमुक्षुता। यदि साधक इन्हें सिद्ध कर सद्गुरुके उपदेशके आधारपर ब्रह्माभिन्नत्वको जानकर श्रवण-मनन-निदिध्यासन—इन तीनोंसे निर्विकल्पक समाधिमें लीन हो जाय और निर्विकल्पक समाधिके चारों विघ्नोंको दूर करके उसीमें स्थिरता पा जाय तो अखण्डाकार-वृत्ति भी ईंधनहीन अग्निके समान स्वयं शान्त हो जायगी। किसी प्रकारकी वृत्तिका भान न होनेसे मनका सर्वथा लय हो जायगा। स्वयं सिद्ध ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति हो जायगी।

योगदर्शनमें भी इन सभी बातोंको **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** अर्थात् इन्हीं साधनोंके द्वारा द्रष्टाके अपने स्वरूपमें अर्थात् ब्रह्मरूपमें स्थित हो जानेकी पद्धति विस्तारसे समझायी गयी है और उन साधनोंसे साक्षात् ब्रह्मके समान ही सर्वज्ञता, परितृप्ति, अनन्तशक्तिमत्ता, शुद्धबुद्धता और परमानन्दता परिपूर्णतः प्राप्त हो जाती है।

दुःखोंकी प्राप्तिसे जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी स्पृहा जिसके मनसे चली गयी है, तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं वही मुनि स्थिरबुद्धि कहलाता है।—श्रीमद्भगवद्गीता

अष्टाङ्ग-योग

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

अनेकों व्यक्ति ध्यान करने और समाधि लगानेकी चेष्टा करते हैं, परंतु उन्हें सफलता नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि समाधिकी सिद्धिके लिये यम-नियमोंके पालनकी विशेष आवश्यकता है। यम-नियमोंके पालन किये बिना ध्यान और समाधिका सिद्ध होना अत्यन्त कठिन है। झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचारकी वृत्तियोंके नष्ट हुए बिना चित्तका एकाग्र होना कठिन है और चित्त एकाग्र हुए बिना ध्यान और समाधि नहीं हो सकते। यों तो समाधिकी इच्छावाले पुरुषोंको योगके आठों ही अङ्गोंका साधन करना चाहिये, किंतु यम और नियमोंका पालन तो अवश्यमेव करना चाहिये। जैसे नींवके बिना मकान नहीं ठहर सकता, ऐसे ही यम-नियमोंके पालन किये बिना ध्यान और समाधिका सिद्ध होना असम्भव-सा है। यम-नियमोंमें भी जो पुरुष यमोंका पालन न करके केवल नियमोंका पालन करना चाहता है, उससे नियमोंका पालन भी अच्छी प्रकार नहीं हो सकता।

यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥

(मनुस्मृति ४। २०४)

'बुद्धिमान् पुरुष नित्य-निरन्तर यमोंका पालन करता हुआ ही नियमोंका पालन करे, केवल नियमोंका नहीं। जो यमोंका पालन न करके, केवल नियमोंका करता है वह साधन-पथसे गिर जाता है।' इनका साधन किये बिना ध्यान और समाधिकी सिद्धि होनी कठिन है। अतः योगकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुषको यम-नियमोंका साधन अवश्यमेव करना चाहिये। इनके पालनसे चोरी, जारी, झूठ, कपट आदि दुराचारोंका और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणोंका नाश होकर अन्तःकरणकी पवित्रता होती है और उसमें उत्तम गुणोंका समावेश होकर इष्टदेवताके दर्शन एवं आत्माका साक्षात्कार भी; साधक जो चाहता है वही हो सकता है। परंतु यम-नियमोंके पालन किये बिना ध्यान और समाधिकी बात तो दूर रही अच्छी प्रकारसे प्राणायामका होना भी कठिन है।

बहुत-से लोग प्राणायामके लिये यत्न करते हैं, किंतु सफलता नहीं पाते। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुण एवं झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचार एवं प्राणायाम-विषयक क्रियाके ज्ञानका अभाव ही इस सफलतामें प्रधान बाधक है। यम-नियमोंका पालन करनेसे उपर्युक्त दुराचार और दुर्गुणोंका नाश हो जाता है। अतएव प्राणायामका साधन करनेवालेको भी प्रथम यम-नियमोंका पालन करना चाहिये। उपर्युक्त दुर्गुण और दुराचार सभी साधनोंमें बाधक हैं। इसलिये ध्यान और समाधिकी इच्छा करनेवाले साधकोंको दोषोंका नाश करनेके लिये प्रथम यम-नियमोंका पालन करके ही योगके अन्य अङ्गोंका अनुष्ठान करना चाहिये। जो पुरुष योगके आठों अङ्गोंका अच्छी प्रकारसे साधन कर लेता है, उसका अन्तःकरण पवित्र होनेपर ज्ञानकी अपार दीप्ति हो जाती है, जिससे उसको इच्छानुसार सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं और सिद्धियाँ न चाहनेवाला पुरुष तो क्लेश और कर्मोंसे छूटकर आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर सकता है।

योगके आठ अङ्ग ये हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। (योगदर्शन २। २९)

'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं।' इन आठ अङ्गोंकी दो भूमिकाएँ हैं—(१) बहिरङ्ग, (२) अन्तरङ्ग। ऊपर बतलाये हुए आठ अङ्गोंमेंसे पहले पाँचको बहिरङ्ग कहते हैं, क्योंकि उनका विशेषतया बाहरकी क्रियाओंसे ही सम्बन्ध है। शेष तीन अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरङ्ग हैं। इसका सम्बन्ध केवल अन्तःकरणसे होनेके कारण इनको अन्तरङ्ग कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने एक साथ इन तीनोंको 'संयम' भी कहा है—'**त्रयमेकत्र संयमः।**' (३। ४)

अब इन आठों अङ्गोंका संक्षिप्त विवेचन किया जाता है।

१-यम

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। (योगदर्शन २। ३०)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँचोंका नाम यम है।'

(क) किसी भूत-प्राणीको या अपनेको[1] भी मन, वाणी, शरीरद्वारा कभी किसी प्रकार, किञ्चिन्मात्र भी कष्ट न पहुँचानेका नाम अहिंसा है।

(ख) अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जैसा निश्चय किया हो, हितकी भावनासे, कपटरहित प्रिय शब्दोंमें वैसा-का-वैसा ही प्रकट करनेका नाम सत्य है।

(ग) मन, वाणी, शरीरद्वारा किसी प्रकारके भी किसीके स्वत्व (हक) को न चुराना, न लेना और न छीनना अस्तेय है।

(घ) मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले काम-विकारके सर्वथा अभावका नाम ब्रह्मचर्य है।

(ङ) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि किसी भी भोगसामग्रीका संग्रह न करना अपरिग्रह है।

इन पाँचों यमोंका सब जाति, सब देश और सब कालमें पालन होनेसे एवं किसी भी निमित्तसे इनके विपरीत हिंसादि दोषोंके न घटनेसे इनकी संज्ञा 'महाव्रत' हो जाती है।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।

(योगदर्शन २।३१)

'जाति, देश, काल और निमित्तसे अनवच्छिन्न यमका सार्वभौम पालन महाव्रत होता है।' सार्वभौमके निम्नलिखित प्रकार हैं—

मनुष्य और मनुष्येतर स्थावर-जङ्गम प्राणी, हिन्दू-मुसलमान, सनातनी-असनातनी आदि भेदोंसे किसीके साथ भी यमोंके पालनमें भेद न करना 'जातिगत सार्वभौम' महाव्रत है।

भिन्न-भिन्न खण्डों, देशों, प्रान्तों, ग्रामों, स्थानों एवं तीर्थ-अतीर्थ आदिके भेदसे यमके पालनमें किसी प्रकारका भेद न रखनेसे वह 'देशगत सार्वभौम' महाव्रत होता है।

वर्ष, मास, पक्ष, सप्ताह, दिवस, मुहूर्त, नक्षत्र एवं पर्व-अपर्व आदिके भेदोंसे यमके पालनमें किसी प्रकार भी भेद न रखना 'कालगत सार्वभौम' महाव्रत कहलाता है।

यज्ञ, देव-पूजन, श्राद्ध, दान, विवाह, न्यायालय, क्रय-विक्रय, आजीविका आदिके भेदोंसे यमके पालनमें किसी प्रकारका भेद न रखना 'समय (निमित्त) गत सार्वभौम' महाव्रत है। तात्पर्य यह है कि किसी देश अथवा कालमें, किसी जीवके साथ, किसी भी निमित्तसे, हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदिका आचरण न करना तथा परिग्रह आदि न रखना 'सार्वभौम महाव्रत' है।

२-नियम

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

(योगदर्शन २।३२)

'पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्राणिधान—ये पाँच नियम हैं।'

(क) पवित्रता दो प्रकारकी होती है—(१) बाहरी और (२) भीतरी। जल-मिट्टीसे शरीरकी, स्वार्थ-त्यागसे व्यवहार और आचरणकी तथा न्यायोपार्जित द्रव्यसे प्राप्त सात्त्विक पदार्थोंके पवित्रतापूर्वक सेवनसे आहारकी, यह बाहरी पवित्रता है। अहंता, ममता, राग-द्वेष, ईर्ष्या, भय और काम-क्रोधादि भीतरी दुर्गुणोंके त्यागसे भीतरी पवित्रता होती है।

(ख) सुख-दुःख, लाभ-हानि, यश-अपयश, सिद्धि-असिद्धि, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदिके प्राप्त होनेपर सदा-सर्वदा संतुष्ट—प्रसन्नचित्त रहनेका नाम संतोष है।

(ग) मन और इन्द्रियोंके संयमरूप धर्म-पालन करनेके लिये कष्ट सहनेका और तितिक्षा एवं व्रतादिका नाम तप है।

(घ) कल्याणप्रद शास्त्रोंका अध्ययन और इष्टदेवके नामका जप तथा स्तोत्रादि पठन-पाठन एवं गुणानुवाद करनेका नाम स्वाध्याय है।

(ङ) ईश्वरकी भक्ति अर्थात् मन-वाणी और शरीरद्वारा ईश्वरके लिये, ईश्वरके अनुकूल ही चेष्टा करनेका नाम ईश्वर-प्रणिधान है।

उपर्युक्त यम और नियमोंके पालनमें बाधक हिंसा आदि विपरीत वृत्तियोंके नाशके लिये महर्षि पतञ्जलि उपाय बतलाते हैं—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।

(योगदर्शन २।३३)

१-स्वधर्मरक्षा, परोपकार, ईश्वरभक्ति आदि सत्कार्योंमें कष्ट सहन करना तो योगकी सिद्धिमें सहायक है, यहाँ केवल अशास्त्रीय, अनुचित कष्ट पहुँचानेका निषेध है।

हिंसादि वितर्कोंसे बाधा होनेपर प्रतिपक्षका चिन्तन करना चाहिये।

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोध-मोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्।

(योगदर्शन २। ३४)

कृत, कारित और अनुमोदित-भेदसे, लोभ, क्रोध और मोहके हेतुसे मृदु, मध्य और अधिमात्रस्वरूपसे ये हिंसादि वितर्क अनन्त दुःख और अज्ञानरूपी फलके देनेवाले हैं—ऐसी भावनाका नाम 'प्रतिपक्षभावना' है।

अर्थात् हिंसादि दोष, अनन्त दुःख और अनन्त अज्ञानरूप फलके देनेवाले हैं, इस प्रकारकी बारंबार भावना करनेका नाम 'प्रतिपक्षभावना' है।

हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, भोगपदार्थोंका संग्रह, अपवित्रता और असंतोषकी वृत्ति एवं तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधानके विरोधकी वृत्ति इनका नाम वितर्क है।

उपर्युक्त हिंसादिको मन, वाणी, शरीरद्वारा स्वयं करनेका नाम 'कृत', दूसरोंके द्वारा करवानेका नाम 'कारित' और अन्योंद्वारा किये जानेवाले हिंसादि दोषोंके समर्थन, अनुमोदन या उनमें सम्मतिका नाम 'अनुमोदित' है। उपर्युक्त तीनों प्रकारके हिंसादि समस्त दोषोंके होनेमें लोभ, क्रोध और मोह—ये तीन हेतु हैं। तीनों प्रकारके दोष तीन हेतुओंसे बननेवाले होनेके कारण नौ तरहके हो जाते हैं। आसक्ति या कामनासे उत्पन्न होनेवाले हिंसा, असत्यादि दोषोंमें लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, वैरादिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंमें क्रोध और मूढ़ता, विपरीत-बुद्धि आदिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंमें मोह हेतु होता है। ये नौ प्रकारके दोष मृदु, मध्य और अधिमात्रके भेदसे सत्ताईस प्रकारके हो जाते हैं। अत्यन्त अल्पका नाम मृदु, बीचकी मात्राका नाम मध्य और अधिक मात्रामें यानी पूर्णरूपसे होनेवाले हिंसादि दोषका स्वरूप अधिमात्र कहा जाता है।

यम-नियमोंके पालनका महान् फल

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।

(योगदर्शन २। ३५)

अहिंसारूपी महाव्रतके पूर्ण पालन होनेपर उस योगीके समीप दूसरे (स्वाभाविक वैर रखनेवाले) प्राणी भी वैरका अर्थात् हिंसावृत्तिका त्याग कर देते हैं।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

(योगदर्शन २। ३६)

सत्यके अच्छी प्रकार पालनसे उस सत्यवादीकी वाणी सफल हो जाती है, अर्थात् वह जो कुछ कहता है वही सत्य हो जाता है।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।

(योगदर्शन २। ३७)

चोरीकी वृत्तिका सर्वथा त्याग हो जानेपर उसे सब रत्नोंकी उपस्थिति हो जाती है, अर्थात् समस्त रत्न उसके दृष्टिगोचर हो जाते हैं और समस्त जनता उसका पूर्णरूपसे विश्वास करने लग जाती है।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।

(योगदर्शन २। ३८)

ब्रह्मचर्यका अच्छी प्रकारसे पालन होनेपर शरीर, मन और इन्द्रियोंमें अत्यन्त सामर्थ्यकी प्राप्ति हो जाती है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।

(योगदर्शन २। ३९)

अपरिग्रहके स्थिर होनेपर यानी विषय-भोग-पदार्थोंके संग्रहका भलीभाँति त्याग होनेपर, वैराग्य और उपरति होकर मनका संयम होता है और मनःसंयमसे भूत, भविष्यत्, वर्तमान जन्मोंका और उनके कारणोंका ज्ञान हो जाता है।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।

(योगदर्शन २। ४०)

पूर्णतया बाहरकी पवित्रतासे अपने अङ्गोंमें घृणा और अन्य मनुष्योंके संसर्गका अभाव हो जाता है। क्योंकि दूसरे शरीरोंमें अरुचि हो जानेसे उनका संसर्ग नहीं किया जाता।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।

(योगदर्शन २। ४१)

अन्तःकरणकी पवित्रतासे मनकी प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियोंपर विजय और आत्माके साक्षात् दर्शन करनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है।

संतोषादनुत्तमसुखलाभः। (योगदर्शन २। ४२)

संतोषसे सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ।

(योगदर्शन २ । ४३)

तपसे मलदोष अर्थात् पापोंका नाश हो जानेपर अणिमादि अष्ट कायाकी सिद्धियाँ और दूरसे देखना-सुनना आदि इन्द्रियोंकी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ।

(योगदर्शन २ । ४४)

अपने इष्टदेवके नामका जप एवं स्वरूप, गुण, प्रभाव और महिमा आदिके पठन-पाठन, श्रवण-मननरूप स्वाध्यायसे इष्टदेवका साक्षात् दर्शन हो जाता है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।

(योगदर्शन २ । ४५)

ईश्वरप्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि होती है।

३-आसन और आसनसिद्धिका फल

आसन अनेकों प्रकारके हैं। उनमेंसे आत्मसंयम चाहनेवाले पुरुषके लिये सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन—ये तीन बहुत उपयोगी माने गये हैं। इनमेंसे कोई-सा भी आसन हो, परंतु मेरुदण्ड, मस्तक और ग्रीवाको सीधा अवश्य रखना चाहिये और दृष्टि नासिकाग्रपर अथवा भृकुटीमें रखनी चाहिये। आलस्य न सतावे तो आँखें मूँदकर भी बैठ सकते हैं। जिस आसनसे जो पुरुष सुखपूर्वक दीर्घकालतक बैठ सके, वही उसके लिये उत्तम आसन है।

स्थिरसुखमासनम् ।

(योगदर्शन २ । ४६)

सुखपूर्वक स्थिरतासे बहुत कालतक बैठनेका नाम आसन है।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ।

(योगदर्शन २ । ४७)

शरीरकी स्वाभाविक चेष्टाके शिथिल करनेपर अर्थात् इनसे उपराम होनेपर अथवा अनन्त परमात्मामें मनके तन्मय होनेपर आसनकी सिद्धि होती है। कम-से-कम एक पहर यानी तीन घंटेतक एक आसनसे सुखपूर्वक स्थिर और अचल-भावसे बैठनेको आसनसिद्धि कहते हैं।

ततो द्वन्द्वानभिघातः ।

(योगदर्शन २ । ४८)

आसनोंकी सिद्धिसे (शरीर पूर्णरूपसे संयत हो जानेके कारण) शीतोष्णादि द्वन्द्व बाधा नहीं करते।

४-प्राणायाम

अब संक्षेपमें प्राणायामकी क्रियाका उल्लेख किया जाता है। असलमें प्राणायामका विषय अनुभवी योगियोंके पास रहकर ही उनसे सीखना चाहिये, नहीं तो इससे शारीरिक हानि भी हो सकती है।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।

(योगदर्शन २ । ४९)

आसनके सिद्ध हो जानेपर श्वास और प्रश्वासकी गतिके अवरोध हो जानेका नाम प्राणायाम है। बाहरी वायुका भीतर प्रवेश करना श्वास है और भीतरकी वायुका बाहर निकलना प्रश्वास है, इन दोनोंके रुकनेका नाम प्राणायाम है।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।

(योगदर्शन २ । ५०)

देश, काल और संख्या (मात्रा) के सम्बन्धसे बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्तिवाले—ये तीनों प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं।

भीतरके श्वासको बाहर निकालकर बाहर ही रोक रखना 'बाह्यकुम्भक' कहलाता है। इसकी विधि यह है कि आठ प्रणव (ॐ) से रेचक करके, सोलहसे बाह्य कुम्भक करना और फिर चारसे पूरक करना—इस प्रकारसे रेचक-पूरकके सहित बाहर कुम्भक करनेका नाम बाह्यवृत्ति-प्राणायाम है।

बाहरके श्वासको भीतर खींचकर भीतर रोकनेको 'आभ्यन्तर कुम्भक' कहते हैं। इसकी विधि यह है कि चार प्रणवसे पूरक करके सोलहसे आभ्यन्तर कुम्भक करे, फिर आठसे रेचक करे। इस प्रकार पूरक-रेचकके सहित भीतर कुम्भक करनेका नाम आभ्यन्तरवृत्ति-प्राणायाम है।

बाहर या भीतर जहाँ कहीं भी सुखपूर्वक प्राणोंके रोकनेका नाम स्तम्भवृत्ति-प्राणायाम है। अथवा चार प्रणवसे पूरक करके आठसे रेचक करे, इस प्रकार पूरक-रेचक करते-करते सुखपूर्वक जहाँ कहीं प्राणोंको रोकनेका नाम स्तम्भवृत्ति-प्राणायाम है।

इनके और भी बहुतसे भेद हैं। जितनी संख्या और

जितना काल पूरकमें लगाया जाय, उतनी संख्या और काल रेचक तथा कुम्भकमें भी लगा सकते हैं।

प्राणवायुका नाभि, हृदय, कण्ठ या नासिकाके भीतरके भागतकका नाम 'आभ्यन्तर' देश है और नासिकापुटसे वायुका बाहर सोलह अङ्गुलतक 'बाह्य देश' है। जो साधक पूरक प्राणायाम करते समय नाभितक श्वासको खींचता है, वह सोलह अङ्गुलतक बाहर फेंके, जो हृदयतक अंदर खींचता है, वह बारह अङ्गुलतक बाहर फेंके, जो कण्ठतक श्वासको खींचता है, वह आठ अङ्गुल बाहर निकाले और जो नासिकाके अंदर ऊपरी अन्तिम भागतक ही श्वास खींचता है, वह चार अङ्गुल बाहरतक श्वास फेंके। इनमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तरवालेको 'सूक्ष्म' और पूर्व-पूर्ववालेको 'दीर्घ' समझना चाहिये।

प्राणायाममें संख्या और कालका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण इनके नियममें व्यतिक्रम नहीं होना चाहिये।

जैसे चार प्रणवसे पूरक करते समय एक सेकंड समय लगा तो सोलह प्रणवसे कुम्भक करते समय चार सेकंड और आठ प्रणवसे रेचक करते समय दो सेकंड समय लगना चाहिये। मन्त्रकी गणनाका नाम 'संख्या' या 'मात्रा' है, उसमें लगनेवाले समयका नाम 'काल' है। यदि सुखपूर्वक हो सके तो साधक ऊपर बताये काल और मात्राको दूनी, तिगुनी, चौगुनी या जितनी चाहे यथासाध्य बढ़ा सकता है। काल और मात्राकी अधिकता एवं न्यूनतासे भी प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होता है।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।

(योगदर्शन २। ५१)

बाह्य और भीतरके विषयोंके त्यागसे होनेवाला जो 'केवल' कुम्भक होता है, उसका नाम चतुर्थ प्राणायाम है।

शब्द-स्पर्शादि जो इन्द्रियोंके बाहरी विषय हैं और संकल्प-विकल्पादि जो अन्तःकरणके विषय हैं, उनके त्यागसे—उनकी उपेक्षा करनेपर अर्थात् विषयोंका चिन्तन न करनेपर प्राणोंकी गतिका जो स्वतः ही अवरोध होता है, उसका नाम 'चतुर्थ प्राणायाम' है। पूर्वसूत्रमें बतलाये हुए प्राणायामोंमें, प्राणोंके निरोधसे मनका संयम है और यहाँ मन और इन्द्रियोंके संयमसे प्राणोंका संयम है। यहाँ प्राणोंके रुकनेका कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं है—जहाँ कहीं भी रुक सकते हैं तथा काल और संख्याका भी विधान नहीं है।

प्राणायामका फल

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

(योगदर्शन २। ५२)

उस प्राणायामके सिद्ध होनेपर विवेकज्ञानको आवृत करनेवाले पाप और अज्ञानका क्षय हो जाता है।

धारणासु च योग्यता मनसः।

(योगदर्शन २। ५३)

तथा प्राणायामकी सिद्धिसे मन स्थिर होकर, उसकी धारणाओंके योग्य सामर्थ्य हो जाती है।

५-प्रत्याहार और उसका फल

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

(योगदर्शन २। ५४)

अपने-अपने विषयोंके सङ्गसे रहित होनेपर, इन्द्रियोंका चित्तके-से रूपमें अवस्थित हो जाना 'प्रत्याहार' है।

प्रत्याहारके सिद्ध होनेपर प्रत्याहारके समय साधकको बाह्यज्ञान नहीं रहता। व्यवहारके समय बाह्यज्ञान होता है। क्योंकि व्यवहारके समय साधक शरीरयात्राके हेतुसे प्रत्याहारको काममें नहीं लाता।

अन्य किसी साधनसे यदि मनका निरोध हो जाता है, तो इन्द्रियोंका निरोधरूप प्रत्याहार अपने आप ही उसके अन्तर्गत आ जाता है।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्।

(योगदर्शन २। ५५)

उस प्रत्याहारसे इन्द्रियाँ अत्यन्त वशमें हो जाती हैं, अर्थात् इन्द्रियोंपर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है।

६-धारणा

योगके आठ अङ्गोंमें पाँच बहिरङ्ग साधनोंका वर्णन हुआ। अब शेष तीन अन्तरङ्ग साधनोंका वर्णन किया जाता है। इनमें प्रथम धारणाका लक्षण बतलाया जाता है, क्योंकि धारणासे ध्यान और समाधि होती हैं। यह योगका छठा अङ्ग है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

(योगदर्शन ३। १)

चित्तको किसी एक देशविशेषमें स्थिर करनेका नाम धारणा है। अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म या बाह्य-आभ्यन्तर, किसी एक ध्येय स्थानमें चित्तको बाँध देना, स्थिर कर देना अर्थात् लगा देना 'धारणा' कहलाता है।

७-ध्यान

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (योगदर्शन ३। २)

उस पूर्वोक्त ध्येय वस्तुमें चित्तवृत्तिकी एकतानताका नाम ध्यान है। अर्थात् चित्तवृत्तिका गङ्गाके प्रवाहकी भाँति या तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे निरन्तर ध्येयवस्तुमें ही अनवरत लगा रहना 'ध्यान' कहलाता है।

८-समाधि

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

(यो० ३। ३)

वह ध्यान ही 'समाधि' हो जाता है, जिस समय केवल ध्येय स्वरूपका (ही) भान होता है और अपने स्वरूपके भानका अभाव-सा रहता है। ध्यान करते-करते जब योगीका चित्त ध्येयाकारको प्राप्त हो जाता है और वह स्वयं भी ध्येयमें तन्मय-सा बन जाता है, ध्येयसे भिन्न अपने आपका ज्ञान उसे नहीं-सा रह जाता है, उस स्थितिका नाम समाधि है। ध्यानमें ध्याता, ध्यान, ध्येय यह त्रिपुटी रहती है। समाधिमें केवल अर्थमात्र वस्तु यानी ध्येयवस्तु ही रहती है, अर्थात् ध्याता, ध्यान, ध्येय—इन तीनोंकी एकता-सी हो जाती है।

ऐसी समाधि जब स्थूल पदार्थमें होती है, तब उसे 'निर्वितर्क' कहते हैं और सूक्ष्म पदार्थमें होती है तब उसे 'निर्विचार' कहते हैं। यह समाधि सांसारिक पदार्थोंमें होनेसे तो सिद्धिप्रद होती है, जो कि अध्यात्मविषयमें हानिकर है और यही समाधि ईश्वरविषयक होनेसे मुक्ति प्रदान करती है। इसलिये कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको अपने इष्टदेव परमात्माके स्वरूपमें ही समाधि लगानी चाहिये। इसमें परिपक्वता होनेपर अर्थात् उपर्युक्त योगके आठों अङ्गोंके भलीभाँति अनुष्ठानसे मल और आवरणादि दोषोंके क्षय होनेपर, विवेकख्यातिपर्यन्त ज्ञानकी दीप्ति होती है[१] और उस विवेकख्यातिसे अविद्याका नाश होकर कैवल्यपदकी प्राप्ति याने आत्म-साक्षात्कार हो जाता है।

भक्तियोगका वैशिष्ट्य

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीमद्विष्णुस्वामिमतानुयायि श्रीगोपालवैष्णवपीठाधीश्वर श्री १०८ श्रीविट्ठलेशजी महाराज)

जीवात्मा एवं परमात्मा दोनों चैतन्यस्वरूप हैं। उनका परस्पर अंश-अंशीभाव-सम्बन्ध होता है। दोनोंके बीचमें मायारूपी जवनिका (चिक) पड़ जानेके कारण जीव भेददर्शी होकर विचित्र कर्मोंद्वारा विचित्र योनियोंमें जन्म-मरणरूपी संसार-बन्धनसे बँधकर कर्मानुसार सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान आदि परिणामोंको भोगता हुआ जगत्में भटकता फिरता है। अतः आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक—इन तीन प्रकारके तापोंसे संतप्त जीवोंके कल्याणार्थ परम दयालु योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णजीने श्रीमद्भगवद्गीतामें जीवात्मा-परमात्माको एक करानेवाले 'योग' का उपदेश दिया है। योगको परिभाषित करते हुए कहा गया है कि योग इस संसार-सागरसे मुक्ति दिलानेवाली एक युक्ति-विशेष है। अर्थात् इस योगशास्त्रमें भव-बन्धनसे मुक्ति दिलानेवाले एवं आत्मतत्त्वका परमात्मतत्त्वसे ऐक्यभाव उत्पन्न करनेवाले साधनोंका वर्णन है। आत्माके परमात्मासे योग होनेसे ही यह शास्त्र योग कहलाता है।

संसारोत्तारणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः॥

(योगवासिष्ठ)

भगवत्परायणता ही योग है, वह भी कर्मयोगसे शुद्धान्तःकरण होकर ज्ञानयोगकी भूमिकापर आरूढ़ हो भक्तियोगसे भगवान्को प्राप्त करनेपर ही सिद्ध होता है। कर्म, ज्ञान, भक्ति—ये तीन ही उपाय मानव-कल्याणके लिये भगवान्ने उद्धवजीको बताये थे।

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कर्हिचित्॥

(श्रीमद्भा०)

योग शब्दके मुख्यतया तीन अर्थ होते हैं। प्रथम उपाय,

१-योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः। (योग० २। २८)

दूसरा चित्तवृत्तियोंका निरोध और तीसरा समाधि। साधक यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—इन आठ अङ्गोंके सेवनसे चित्त शुद्ध होकर निश्चल भावको प्राप्त होता है। तभी बिम्ब-प्रतिबिम्बकी तरह जीव-ब्रह्म एक प्रतीत होते हैं।

शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धियाँ अपने-अपने विषयोंको ग्रहण करनेमें लगे रहते हैं, इसी कारण भगवत्साक्षात्कार असम्भव है। अतः विषय-प्रवणा इन्द्रियोंको भगवत्प्रवण बनानेके लिये योगका उपदेश है।

जप-तप-स्वाध्याय, दान, यज्ञ-प्रभृति जितने साधन हैं, वे सभी मनके निग्रह किये बिना इष्ट-प्रदान करनेमें असमर्थ होते हैं। भागवतका कहना है—

सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः।

शुद्ध मन स्वतः भगवन्नाम, लीला, गुणोंके श्रवणमात्रसे भगवान्‌की ओर सम्मुख हो जाता है और संसारोन्मुख चित्तकी वृत्तियाँ सिमिट कर भगवान्‌की ओर अग्रसर हो जाती हैं। यही भगवद्भावापत्तिरूपा समाधि कहलाती है।

जबतक आत्मतत्त्वके ज्ञानसे अज्ञानका नाश नहीं होता है, तबतक सांसारिक कामनाओंके बीजोंका समूल नाश नहीं हो पाता। अतः संसारके उच्छेदनके लिये कामका नाश करना अभीष्ट है। उसके नाशका उपाय निष्कामकर्मनिष्ठा है, उपेय ज्ञान-निष्ठा है। विषयासक्ति बन्धनका हेतु है और भगवदासक्ति मोक्षका कारण है। इसलिये विषयोंकी आशा छोड़कर भगवदासक्ति प्राप्त करनेके लिये मनको नियन्त्रित करना अभीष्ट है।

वह मन चञ्चल स्वभावका होता है, उसको एकाग्र करनेके लिये अभ्यास और वैराग्यरूपी दृढ़ हाथोंकी आवश्यकता होती है। साधक उन्हींके द्वारा दुर्दम्य मनरूपी घोड़ेको पकड़ पाता है। उसको पकड़कर भगवन्मार्गकी ओर दौड़ाना ही भक्तियोग है। इस मार्गसे चलनेपर भगवत्प्राप्ति सुगमतासे होती है।

भगवदेकतानता (तन्मयता) रूपी निदिध्यासन ही राजयोग कहलाता है, उसके साधन भी अनेक हैं, जैसे क्रियायोग, कर्मयोग, हठयोग, मन्त्रयोग, ज्ञानयोग, अद्वैतयोग, ब्रह्मयोग, शिवयोग, सिद्धियोग, लययोग, ध्यानयोग और प्रेमभक्तियोग।

उपर्युक्त सभी साधन साधारण-विशेष-भावसे अष्टाङ्गयोगपर निर्भर हैं। यम-नियमके पालन करनेसे आसन सिद्ध होनेपर प्राणायामद्वारा सर्वेन्द्रियोंको वशमें करके अपने चित्तकी शुद्धिके लिये शरीरके भीतर स्थित सप्तपुरियों, गङ्गादि नदियों तथा क्षमा, सत्य, तप आदि आध्यात्मिक तीर्थोंका सेवन करना चाहिये। इससे चित्त शुद्ध होकर लक्ष्यकी ओर अग्रसर होता है।

'मनःपूतं समाचरेत्' इस सिद्धान्तके अनुसार शुद्ध-चित्त होकर जो कुछ किया जाय वह शीघ्र फलदायक होता है। अतः मानसिक शुद्धिके लिये योगका अभ्यास अत्यावश्यक है। उसमें प्राणायाम ही परम बल है। इसके नियमित अभ्याससे प्राणका संचारी मार्ग प्रशस्त होकर जीवात्माको परमात्माके निकट पहुँचानेमें समर्थ होता है। प्राणके अधीन मन, मनके अधीन इन्द्रियाँ हैं और मनरूपी लगामसे दस इन्द्रियरूपी घोड़ोंको वशमें करनेमें बुद्धिरूपी सारथि सक्षम होता है। अतः प्राणायामके बिना उत्तरोत्तर भूमिकापर आरूढ़ होना कठिन होता है। इसलिये मन-रूपी दुर्दम्य घोड़ेको निग्रह करनेके लिये यौगिक क्रियाका उपदेश है। यह योग-क्रिया अव्यक्तोपासना करनेवालोंके लिये उपादेय है। अव्यक्तोपासना कष्ट-साध्य होती है। भक्तियोगमें भी शुद्ध मनकी परमावश्यकता है अन्यथा जप, तप, सेवा-पूजा, ध्यान आदिमें मन नहीं लगेगा।

सभी कर्मोंको निष्काम-भावसे भगवत्समर्पित करनेपर कर्म-संज्ञा नष्ट हो जाती है और वे अर्पित कर्म भगवद्धर्म कहलाते हैं, जो बन्धक न होकर मोचक हो जाते हैं।

भगवद्भक्तियोगसे स्वर्ग-अपवर्ग आदि सकल पुरुषार्थोंकी प्राप्ति हो सकती है। भक्तियोगमें दूसरे साधनोंकी विशेष अपेक्षा नहीं होती है, किंतु अन्य प्रायः सभी साधनोंमें भक्तिकी अपेक्षा रहती है। वह भक्तियोग सर्वतन्त्र, सर्वसुकर होकर भी सर्वदुष्कर है। बिना गुरु-गोविन्दकी कृपाके उसमें अधिकार पाना कठिन है। अतः भगवत्प्रसाद पानेके लिये सद्गुरुका आश्रयण अभीष्ट है, जिसके सदुपदेशसे चित्तकी वृत्तियोंका निरोधकर भगवान्‌में मन-इन्द्रियोंको लवलीन

करनेकी शक्ति प्राप्त होती है।

श्रद्धा-भक्तिसे मन लगाकर भगवत्सेवन, श्रवण, कीर्तनादि करनेवाला भक्तियोगी सर्वश्रेष्ठ भक्त है, इसीलिये भगवान् कहते हैं कि—**'मच्चित्तः सततं भव'**, **'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि'** (गीता १८।५७,५८)। इससे सिद्ध होता है कि भगवान्‌में चित्तको एकाग्र करना ही योग है। उससे भगवत्प्रसाद सिद्ध होनेपर योगी सभी दुर्गम मार्गोंको पार कर जाता है।

ऐहिक-पारलौकिक वैभवोंकी तृष्णाका परित्याग कर निरन्तर बिना व्यवधानके भगवान् श्रीकृष्णका अम्बरीष नृपकी तरह सर्वेन्द्रियोंसे मनसे सेवन करनेसे घरमें रहकर भी भगवत्प्राप्ति-रूप मोक्ष प्राप्त हो सकता है **'गृहाश्रमः किं न करोत्यवद्यम्'** (श्रीमद्भा० ५।१।१७)। शम-दम-साधन-सम्पत्तिके बिना भक्तियोग दुर्लभ है। **'अव्यावृतभजनाद्वा'** इस सूत्रके अनुसार **'गृहे स्थित्वा भजेत् कृष्णम्'**, **'अव्यावृतो भजेत् कृष्णम्'** इन श्रीमदाचार्यके वचनोंसे घरमें गृहस्थोचित क्रियासे निवृत्त होकर भजन करे। श्रवण-कीर्तन-स्मरण करते हुए दिन यापन करे।

योगाभ्यासी ज्योतिःस्वरूप भगवद्धाममें लीन हो जाता है, यही विदेह कैवल्य कहलाता है। किंतु प्रेमी भक्तयोगी तो उस तेजपुञ्जमें भगवत्स्वरूपके सौन्दर्य-माधुर्य-सौकुमार्य आदि गुणगणोंका आनन्द अनुभव करता है।

सारांश यह है कि अष्टाङ्गयोगकी क्रिया भक्तियोगमें विशेष उपादेय नहीं। भक्तियोगमें साधनभक्ति-(नवधा भक्ति-)के द्वारा मन-इन्द्रियोंको निरुद्ध कर फलरूपा प्रेमाभक्तिसे भगवदानन्दका अनुभव करना ही फलादेश है। प्रेमाभक्तिकी सिद्धि होनेपर भक्तियोगी पुरुष दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, स्वरूपासक्ति, नामासक्ति श्रवणासक्ति, ध्यानासक्ति, स्मरणासक्ति आदिमेंसे अपनी रुचिके अनुसार भगवदासक्ति-रूपी समाधि सिद्ध कर भगवान्‌में लवलीन हो जाते हैं। उनको इस लोक-परलोकके सुखोंकी आकाङ्क्षा ही नहीं होती। पुनः मोक्ष भी नहीं चाहते इसमें क्या कहना ?

न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥

(श्रीमद्भा० १०।८७।२१)

कुछ प्रेमी भक्त ऐसे होते हैं जो आपकी लीला-कथाओंको छोड़कर मोक्षकी अभिलाषा नहीं करते, स्वर्ग आदिकी तो बात ही क्या है। वे आपके चरणकमलोंके प्रेमी परमहंसोंके सत्संगमें, जहाँ आपकी कथा होती है, इतना सुख मानते हैं कि उसके लिये इस जीवनमें प्राप्त अपनी घर-गृहस्थीका भी परित्याग कर देते हैं।

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

(श्रीमद्भा० ३।२९।१३)

कुछ भक्त मेरी सेवाको छोड़कर दिये जानेपर भी अन्य मोक्ष आदि नहीं लेते।

नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविद्रुतम्।

(श्रीमद्भा० ९।४।६७)

मेरे अनन्य प्रेमी भक्त सेवासे ही अपनेको परिपूर्ण—कृतकृत्य मानते हैं। मेरी सेवाके फलस्वरूप जब उन्हें सालोक्य-सारूप्य आदि मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं, तब वे उन्हें भी स्वीकार करना नहीं चाहते, फिर समयके फेरसे नष्ट हो जानेवाली वस्तुओंकी तो बात ही क्या है।

भगवन्नामसे प्रेम करो

दूलन चरनन लागि रहु, नामकी करत पुकार।
भक्ति सुधारस पेट भरु, का दहुँ लिखा लिलार॥
जग रहु जगतें अलग रहु, जोग जुगतिकी रीति।
दूलन हिरदे नाम तें, लाइ रहौ दृढ़ प्रीति॥

—दूलनदास

मनको वश करनेके कुछ यौगिक साधन

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥

(गीता ६ । ३६)

भगवान् कहते हैं—'जिनका मन वशमें नहीं है, उनके लिये योगका प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, यह मेरा मत है, परंतु मनको वशमें किये हुए प्रयत्नशील पुरुष साधनद्वारा योग प्राप्त कर सकते हैं।'

भगवान् श्रीकृष्ण महाराजके इन वचनोंके अनुसार यह सिद्ध होता है कि मनको वश किये बिना परमात्माकी प्राप्तिरूप योग दुष्प्राप्य है। यदि कोई ऐसा चाहे कि मन तो अपनी इच्छानुसार निरङ्कुश होकर विषयवाटिकामें स्वच्छन्द विचरण किया करे और परमात्माके दर्शन अपने-आप ही हो जायँ, तो यह उसकी भूल है।

दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और आनन्दमय परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवालेको मन वशमें करना ही पड़ेगा, इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है। परंतु मन स्वभावसे ही बड़ा चञ्चल और बलवान् है, इसे वशमें करना कोई साधारण बात नहीं। सारे साधन इसीको वश करनेके लिये किये जाते हैं, इसपर विजय मिलते ही मानो विश्वपर विजय मिल जाती है। भगवान् शंकराचार्यने कहा है—'**जितं जगत् केन मनो हि येन।**' 'जगत्को किसने जीता?—जिसने मनको जीत लिया।' अर्जुनने भी मनको वशमें करना कठिन समझकर कातर शब्दोंमें भगवान्से यही कहा था—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

(गीता ६ । ३४)

'हे भगवन्! यह मन बड़ा ही चञ्चल, हठीला, दृढ़ और बलवान् है, इसे रोकना मैं तो वायुके रोकनेके समान अत्यन्त दुष्कर समझता हूँ।'

इससे किसीको यह न समझ लेना चाहिये कि जो बात अर्जुनके लिये इतनी कठिन थी, वह हमलोगोंके लिये कैसे सम्भव होगी। मनको जीतना कठिन अवश्य है, भगवान्ने इस बातको स्वीकार किया, पर साथ ही उपाय भी बतला दिया—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

(गीता ६ । ३५)

भगवान्ने कहा—'अर्जुन! इसमें कोई संदेह नहीं कि इस चञ्चल मनका निग्रह करना बड़ा ही कठिन है, परंतु अभ्यास और वैराग्यसे यह वशमें हो सकता है।' इससे यह सिद्ध हो गया कि मनका वशमें करना कठिन भले ही हो, पर असम्भव नहीं, और इसके वश किये बिना दुःखोंकी निवृत्ति नहीं। अतएव इसे वश करना ही चाहिये। इसके लिये सबसे पहले इसका साधारण स्वरूप और स्वभाव जाननेकी आवश्यकता है।

मनका स्वरूप

मन क्या पदार्थ है? यह आत्म और अनात्म-पदार्थके बीचमें रहनेवाली एक विलक्षण वस्तु है। यह स्वयं अनात्म और जड है, किंतु बन्ध और मोक्ष इसीके अधीन हैं—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

बस, मन ही जगत् है, मन नहीं तो जगत् नहीं। मन विकारी है, इसका कार्य संकल्प-विकल्प करना है। यह जिस पदार्थको भलीभाँति ग्रहण करता है, स्वयं भी तदाकार बन जाता है। यह रागके साथ ही चलता है, सारे अनर्थोंकी उत्पत्ति रागसे होती है, राग न हो तो मन प्रपञ्चोंकी ओर न जाय। किसी भी विषयमें गुण और सौन्दर्य देखकर उसमें राग होता है, इसीसे मन उस विषयमें प्रवृत्त होता है। परंतु जिस विषयमें इसे दुःख और दोष दीख पड़ते हैं, उससे इसका द्वेष हो जाता है, फिर यह उसमें प्रवृत्त नहीं होता, यदि कभी भूलकर प्रवृत्त हो भी जाता है तो उसमें अवगुण देखकर द्वेषसे तत्काल लौट आता है। वास्तवमें द्वेषवाले विषयमें भी इसकी प्रवृत्ति रागसे ही होती है। साधारणतया यही मनका स्वरूप और स्वभाव है। अब सोचना यह है कि यह वशमें क्योंकर हो। इसके लिये उपाय भगवान्ने बतला दिया है—अभ्यास और वैराग्य। यही उपाय योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिने बतलाया है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।

(समाधिपाद १२)

'अभ्यास और वैराग्यसे ही चित्तका निरोध होता है', अतएव अब इसी अभ्यास और वैराग्यपर विचार करना चाहिये।

मनको वशमें करनेके साधन

(१) भोगोंमें वैराग्य

जबतक संसारकी वस्तुएँ सुन्दर और सुखप्रद मालूम होती हैं, तभीतक मन उनमें जाता है, यदि यही सब पदार्थ दोषयुक्त और दुःखप्रद दीखने लगें (जैसे कि वास्तवमें ये हैं) तो मन कदापि इनमें नहीं लगेगा। यदि कभी इनकी ओर गया भी तो उसी समय वापस लौट आयेगा, इसलिये संसारके सारे पदार्थोंमें (चाहे वे ऐहलौकिक हों या पारलौकिक) दुःख और दोषकी प्रत्यक्ष भावना करनी चाहिये। ऐसा दृढ़ प्रयत्न करना चाहिये कि इन पदार्थोंमें केवल दोष और दुःख ही भरे हुए हैं। रमणीय और सुखरूप दीखनेवाली वस्तुमें ही मन लगता है। यदि यह रमणीयता और सुखरूपता विषयोंसे हटकर परमात्मामें दिखायी देने लगे (जैसा कि वास्तवमें है) तो यही मन तुरंत विषयोंसे हटकर परमात्मामें लग जाय। यही वैराग्यका साधन है और वैराग्य ही मन जीतनेका एक उत्तम उपाय है। सच्चा वैराग्य तो संसारके इस दीखनेवाले स्वरूपका सर्वथा अभाव और उसकी जगह परमात्माका नित्यभाव प्रतीत होनेमें है। परंतु आरम्भमें नये साधकको मन वश करनेके लिये इस लोक और परलोकके समस्त पदार्थोंमें दोष और दुःख देखना चाहिये, जिससे मनका अनुराग उनसे हटे।

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

(गीता १३।८)

'इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें वैराग्य, अहङ्कारका त्याग, (इस शरीरमें) जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग (आदि) दुःख और दोष देखने चाहिये।' इस प्रकार वैराग्यकी भावनासे मन वशमें हो सकता है।

(२) नियमसे रहना

मनको वश करनेमें नियमानुवर्तितासे बड़ी सहायता मिलती है। सारे काम ठीक समयपर नियमानुसार होने चाहिये। प्रातःकाल बिछौनेसे उठकर रातको सोनेतक दिनभरके कार्योंकी एक ऐसी नियमित दिनचर्या बना लेनी चाहिये, जिससे जिस समय जो कार्य करना हो, मन अपने-आप स्वभावसे ही उस समय उसी कार्यमें लग जाय। संसार-साधनमें तो नियमानुवर्तितासे लाभ होता ही है, परमार्थमें भी इससे बड़ा लाभ होता है। अपने जिस इष्ट स्वरूपके ध्यानके लिये प्रतिदिन जिस स्थानपर, जिस आसनपर, जिस आसनसे, जिस समय और जितने समय बैठा जाय उसमें किसी दिन भी व्यतिक्रम नहीं होना चाहिये। पाँच मिनटका भी नियमित ध्यान अनियमित अधिक समयके ध्यानसे उत्तम है। आज दस मिनट बैठे, कल आध घंटे, परसों बिलकुल लाँघा, इस प्रकारके साधनसे साधकको सिद्धि कठिनतासे मिलती है। जब पाँच मिनटका ध्यान नियमसे होने लगे, तब दस मिनटका करे, परंतु दस मिनटका करनेके बाद किसी दिन भी नौ मिनट न होना चाहिये। इसी प्रकार स्थान, आसन, समय, इष्ट और मन्त्रका बार-बार परिवर्तन नहीं करना चाहिये। इस तरहकी नियमानुवर्तितासे भी मन स्थिर होता है। नियमोंका पालन खाने, पीने, पहनने, सोने और व्यवहार करने—सभीमें होना चाहिये। नियम अपनी अवस्थाके अनुकूल शास्त्रसम्मत बना लेने चाहिये।

(३) मनकी क्रियाओंपर विचार

मनके प्रत्येक कार्यपर विचार करना चाहिये। प्रतिदिन रातको सोनेसे पूर्व दिनभरके मनके कार्योंपर विचार करना उचित है। यद्यपि मनकी सारी उधेड़-बुनका स्मरण होना बड़ा कठिन है, परंतु जितनी याद रहे उतनी ही बातोंपर विचार कर जो-जो संकल्प सात्त्विक मालूम दें, उनके लिये मनकी सराहना करना और जो-जो संकल्प राजसिक और तामसिक मालूम पड़ें, उनके लिये मनको धिक्कारना चाहिये। प्रतिदिन इस प्रकारके अभ्याससे मनपर सत्कार्य करनेके और असत्कार्य छोड़नेके संस्कार जमने लगेंगे, जिससे कुछ ही समयमें मन बुराइयोंसे बचकर भले-भले कार्योंमें लग जायगा। मन जब पहले भले कार्यवाला होगा, तब उसे वश करनेमें सुगमता होगी। कुसंगमें पड़ा हुआ बालक जबतक कुसंग नहीं छोड़ता, तबतक उसे कुसंगियोंसे बुरी सलाह मिलती रहती है, इससे उसका वशमें होना कठिन रहता है। पर जब कुसंग छूट जाता

है, तब उसे बुरी सलाह नहीं मिल सकती, दिन-रात घरमें उसको माता-पिताके सदुपदेश मिलते हैं, वह भली-भली बातें सुनता है। तब फिर उसके सुधरकर माता-पिताके आज्ञाकारी होनेमें विलम्ब नहीं होता। इसी तरह यदि विषय-चिन्तन करनेवाले मनको कोई एक साथ ही सर्वथा विषयरहित करना चाहे तो वह नहीं कर सकता। पहले मनको बुरे चिन्तनसे बचाना चाहिये, जब वह परमात्म-सम्बन्धी शुभ चिन्तन करने लगेगा, तब उसको वश करनेमें कोई कठिनाई नहीं होगी।

(४) मनके कहनेमें न चलना

मनके कहनेमें नहीं चलना चाहिये। जबतक यह मन वशमें नहीं हो जाता, तबतक इसे अपना परम शत्रु मानना चाहिये। यद्यपि यह बड़ा बलवान् है, कई बार इससे हारना होगा, पर साहस नहीं छोड़ना चाहिये। जो हिम्मत नहीं हारता, वह एक दिन मनको अवश्य जीत लेता है। इससे लड़नेमें एक विचित्रता है। यदि दृढ़तासे लड़ा जाय तो लड़नेवालेका बल दिनोंदिन बढ़ता है और इसका क्रमशः घटने लगता है, इसलिये इससे लड़नेवाला एक-न-एक दिन इसपर अवश्य ही विजयी होता है। अतएव इसकी हाँ-में-हाँ न मिलाकर प्रत्येक कार्य खूब सावधानीसे बर्तना चाहिये। यह मन बड़ा ही चतुर है। कभी डरावेगा, कभी फुसलावेगा, कभी लालच देगा, बड़े-बड़े अनोखे रंग दिखलावेगा, परंतु कभी इसके धोखेमें न आना चाहिये। भूलकर भी इसका विश्वास न करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे इसकी हिम्मत टूट जायगी, लड़ने और धोखा देनेकी आदत छूट जायगी। अन्तमें यह आज्ञा देनेवाला न रहकर सीधा-सादा आज्ञा-पालन करनेवाला विश्वासी सेवक बन जायगा।

मन लोभी, मन लालची, मन चंचल, मन चौर।
मनके मत चलिये नहीं, पलक पलक मन और॥

(५) मनको सत्कार्यमें संलग्न रखना

मन कभी निकम्मा नहीं रह सकता, कुछ-न-कुछ काम इसको मिलना ही चाहिये, अतएव इसे निरन्तर काममें लगाये रखना चाहिये। निकम्मा रहनेसे ही इसे बुरी बातें सूझा करती हैं, अतएव जबतक नींद न आवे, तबतक सुन्दर माङ्गलिक कार्योंमें इसे लगाये रखना चाहिये। जाग्रत्-समयके सत्कार्योंके चित्र ही स्वप्नमें भी दिखायी देंगे।

(६) मनको परमात्मामें लगाना

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(गीता ६। २६)

'यह चञ्चल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ दौड़कर जाय, वहाँ-वहाँसे हटाकर बारंबार इसे परमात्मामें ही लगाना चाहिये।'

मनको वशमें करनेका उपाय प्रारम्भ करनेपर पहले-पहले तो यह इतना जोर दिखलाता है—अपनी चञ्चलता और शक्तिमत्तासे ऐसी पछाड़ लगाता है कि नया साधक घबड़ा उठता है, उसके हृदयमें निराशा-सी छा जाती है, परंतु ऐसी अवस्थामें धैर्य रखना चाहिये। मनका तो ऐसा स्वभाव ही है और हमें इसपर विजय पाना है, तब घबड़ानेसे थोड़े ही काम चलेगा। मुस्तैदीसे सामना करना चाहिये। आज न हुआ तो क्या, कभी-न-कभी तो वशमें होगा ही। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

(गीता ६। २५)

'धीरे-धीरे अभ्यास करता हुआ उपरामताको प्राप्त हो धैर्ययुक्त बुद्धिसे मनको परमात्मामें स्थिर करके और किसी भी विचारको मनमें न आने दे।'

इस प्रकारकी दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि किसी प्रकारका भी वृथा चिन्तन या मिथ्या संकल्पोंको मनमें नहीं आने दिया जायगा। बड़ी चेष्टा, बड़ी दृढ़ता रखनेपर भी मन साधककी चेष्टाओंको कई बार व्यर्थ कर देता है, साधक तो समझता है कि मैं ध्यान कर रहा हूँ, पर मनदेवता संकल्प-विकल्पोंकी पूजामें लग जाते हैं। जब साधक मनकी ओर देखता है तो उसे आश्चर्य होता है कि यह क्या हुआ। इतने नये-नये संकल्प—जिनकी भावना भी नहीं की गयी थी—कहाँसे आ गये? बात यह होती है कि साधक जब मनको निर्विषय करना चाहता है, तब संसारके नित्य अभ्यस्त विषयोंसे मनको फुरसत मिल जाती है, उधर परमात्मामें लगनेका इस समयतक उसे पूरा अभ्यास नहीं होता। इसलिये फुरसत पाते

ही वह उन पुराने दृश्योंको (जो संस्काररूपसे उसपर अङ्कित हो रहे हैं) सिनेमाके फिल्मकी भाँति क्षण-क्षणमें एकके बाद एक उलटने लग जाता है। इसीसे उस समय ऐसे संकल्प मनमें उठते हुए मालूम होते हैं जो संसारका काम करते समय याद भी नहीं आते थे। मनकी ऐसी प्रबलता देखकर साधक स्तम्भित-सा रह जाता है, पर कोई चिन्ता नहीं। जब अभ्यासका बल बढ़ेगा, तब उसको संसारसे फुरसत मिलते ही तुरंत परमात्मामें लग जायगा। अभ्यास दृढ़ होनेपर तो यह परमात्माके ध्यानसे हटाये जानेपर भी न हटेगा। मन चाहता है सुख। जबतक इसे वहाँ सुख नहीं मिलता—विषयोंमें सुख दीखता है, तबतक यह विषयोंमें रमता है। जब अभ्याससे विषयोंमें दुःख और परमात्मामें परम सुख प्रतीत होने लगेगा, तब यह स्वयं ही विषयोंको छोड़कर परमात्माकी ओर दौड़ेगा, परंतु जबतक ऐसा न हो तबतक निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिये।

(७) एकतत्त्वका अभ्यास करना

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः। (समाधिपाद ३२)

चित्तका विक्षेप दूर करनेके लिये शास्त्रनिर्दिष्ट अभिमत एकतत्त्वका अभ्यास करना चाहिये। एकतत्त्वके अभ्यासका अर्थ ऐसा भी हो सकता है कि किसी एक वस्तुकी या किसी मूर्तिविशेषकी तरफ एकदृष्टिसे देखते रहना। जबतक आँखोंकी पलक न पड़े या आँखोंमें जल न आ जाय, तबतक उस एक ही चिह्नकी तरफ देखते रहना चाहिये। चिह्न धीरे-धीरे छोटा करते रहना चाहिये। अन्तमें उस चिह्नको बिलकुल ही हटा देना चाहिये। **'दृष्टिः स्थिरा यत्र विनावलोकनम्'**—अवलोकन न करनेपर भी दृष्टि स्थिर रहे। ऐसा हो जानेपर चित्तविक्षेप नहीं रहता। इस प्रकार प्रतिदिन आध-आध घंटे भी अभ्यास किया जाय तो मनके स्थिर होनेमें अच्छी सफलता मिल सकती है। इसी प्रकार दोनों भ्रुवोंके बीचमें दृष्टि जमाकर जबतक आँखोंमें जल न आ जाय, तबतक देखते रहनेका अभ्यास किया जाता है। इससे भी मन निश्चल होता है, इसीको त्राटक कहते हैं।

(८) नाभि या नासिकाग्रमें दृष्टि स्थापन करना

नित्य नियमपूर्वक पद्मासन या सुखासनसे सीधा बैठकर नाभिमें दृष्टि जमाकर जबतक पलक न पड़े तबतक एक-मनसे देखते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे शीघ्र ही मन स्थिर होता है। इसी प्रकार नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर बैठनेसे भी चित्त निश्चल हो जाता है। इससे ज्योतिके दर्शन भी होते हैं।

(९) शब्द-श्रवण करना

कानोंमें अँगुली देकर शब्द सुननेका अभ्यास किया जाता है। इसमें पहले भँवरोंके गुंजार अथवा प्रातःकालीन पक्षियोंके चुँचुहाने-जैसा शब्द सुनायी देता है, फिर क्रमशः, घुँघुरू, शङ्ख, घण्टा, ताल, मुरली, भेरी, मृदङ्ग, नफीरी और सिंहगर्जनके सदृश शब्द सुनायी देते हैं। इस प्रकार दस प्रकारके शब्द सुनायी देने लगनेके बाद दिव्य 'ॐ' शब्दका श्रवण होता है, जिससे साधक समाधिको प्राप्त हो जाता है। यह भी मनके निश्चल करनेका उत्तम साधन है।

(१०) ध्यान या मानसपूजा

सब जगह भगवान्‌के किसी नामको लिखा हुआ समझकर बारंबार उस नामके ध्यानमें मन लगाना चाहिये अथवा भगवान्‌के किसी स्वरूपविशेषकी अन्तरिक्षमें मनसे कल्पना कर उसकी पूजा करनी चाहिये। पहले भगवान्‌की मूर्तिके एक-एक अवयवका अलग-अलग ध्यान कर फिर दृढ़ताके साथ सम्पूर्ण विग्रहका ध्यान करना चाहिये। उसीमें मनको अच्छी तरह स्थिर कर देना चाहिये। मूर्तिके ध्यानमें इतना तन्मय हो जाना चाहिये कि संसारका भान ही न रहे। फिर कल्पना-प्रसूत सामग्रियोंसे भगवान्‌की मानसिक पूजा करनी चाहिये। प्रेमपूर्वक की हुई नियमित भगवदुपासनासे मनको निश्चल करनेमें बड़ी सहायता मिल सकती है।

(११) मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षाका व्यवहार

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलि मनोनिग्रहका एक उपाय यह भी बतलाते हैं—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

(समाधिपाद ३३)

'सुखी मनुष्योंसे प्रेम, दुखियोंके प्रति दया, पुण्यात्माओंके प्रति प्रसन्नता और पापियोंके प्रति उदासीनताकी भावनासे चित्त प्रसन्न होता है।'

(क) जगत्‌के सारे सुखी जीवोंके साथ प्रेम करनेसे

चित्तका ईर्ष्यामल दूर होता है, डाहकी आग बुझ जाती है। संसारमें लोग अपनेको और अपने आत्मीय स्वजनोंको सुखी देखकर प्रसन्न होते हैं, क्योंकि वे उन लोगोंको अपने प्राणोंके समान प्रिय समझते हैं। यदि यही प्रिय भाव सारे संसारके सुखियोंके प्रति अर्पित कर दिया जाय तो कितने आनन्दका कारण हो! दूसरेको सुखी देखकर जलन पैदा करनेवाली वृत्तिका नाश हो जाय।

(ख) दुःखी प्राणियोंके प्रति दया करनेसे पर-अपकाररूप चित्त-मल नष्ट होता है। मनुष्य अपने कष्टोंको दूर करनेके लिये किसीसे भी पूछनेकी आवश्यकता नहीं समझता, भविष्यमें कष्ट होनेकी सम्भावना होते ही पहलेसे उसे निवारण करनेकी चेष्टा करने लगता है। यदि ऐसा ही भाव जगत्‌के सारे दुःखी जीवोंके साथ हो जाय तो अनेक लोगोंके दुःख दूर हो सकते हैं। दुःखपीड़ित लोगोंके दुःख दूर करनेके लिये अपना सर्वस्व न्योछावर कर देनेकी प्रबल भावनासे मन सदा ही प्रफुल्लित रह सकता है।

(ग) धार्मिकोंको देखकर हर्षित होनेसे दोषारोप नामक मनका असूया-मल नष्ट होता है, साथ ही धार्मिक पुरुषकी भाँति चित्तमें धार्मिक वृत्ति जाग्रत् हो उठती है। असूयाके नाशसे चित्त शान्त होता है।

(घ) पापियोंके प्रति उपेक्षा करनेसे चित्तका क्रोधरूप मल नष्ट होता है। पापोंका चिन्तन न होनेसे उनके संस्कार अन्तःकरणपर नहीं पड़ते। किसीसे भी घृणा नहीं होती। इससे चित्त शान्त रहता है।

इस प्रकार इन चारों भावोंके बारंबार अनुशीलनसे चित्तकी राजस, तामस वृत्तियाँ नष्ट होकर सात्त्विक वृत्तिका उदय होता है और उससे चित्त प्रसन्न होकर शीघ्र ही एकाग्रता लाभ कर सकता है।

(१२) सद्ग्रन्थोंका अध्ययन

भगवान्‌के परम रहस्यसम्बन्धी परमार्थ-ग्रन्थोंके पठन-पाठनसे भी चित्त स्थिर होता है। एकान्तमें बैठकर उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, रामायण आदि ग्रन्थोंका अर्थसहित अनुशीलन करनेसे वृत्तियाँ तदाकार बन जाती हैं। इससे मन स्थिर हो जाता है।

(१३) प्राणायाम

समाधिसे भी मन रुकता है। समाधि अनेक तरहकी होती है। प्राणायाम समाधिके साधनोंका एक मुख्य अङ्ग है। योगदर्शनमें कहा गया है—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।

(समाधिपाद ३४)

नासिकाके छेदोंसे अन्तरकी वायुको बाहर निकालना प्रच्छर्दन कहलाता है और प्राणवायुकी गति रोक देनेको विधारण कहते हैं। इन दोनों उपायोंसे भी चित्त स्थिर होता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने भी कहा है—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥

(४।२९)

'कई अपानवायुमें प्राणवायुका हवन करते हैं, कई प्राणवायुमें अपानवायुका हवन करते हैं और कई प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणायाम किया करते हैं।'

इसी तरह योगसम्बन्धी ग्रन्थोंके अतिरिक्त महाभारत, श्रीमद्भागवत और उपनिषदोंमें भी प्राणायामका यथेष्ट वर्णन है। श्वास-प्रश्वासकी गतिको रोकनेका नाम ही प्राणायाम है। मनु महाराजने कहा है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

'अग्निसे तपाये जानेपर जैसे धातुका मल जल जाता है, उसी प्रकार प्राणवायुके निग्रहसे इन्द्रियोंके सारे दोष दग्ध हो जाते हैं।'

प्राणायाम मनको रोकनेका एक बहुत ही उत्तम साधन है।

(१४) श्वासके द्वारा नाम-जप

मनको रोककर परमात्मामें लगानेका एक अत्यन्त सुलभ और आशङ्कारहित उपाय और है, जिसका अनुष्ठान सभी कर सकते हैं। वह है आने-जानेवाले श्वास-प्रश्वासकी गतिपर ध्यान रखकर श्वासके द्वारा श्रीभगवान्‌के नामका जप करना। यह अभ्यास बैठते-उठते, चलते-फिरते, सोते-खाते हर समय, प्रत्येक अवस्थामें किया जा सकता है। इसमें श्वास जोर-जोरसे लेनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं। श्वासकी साधारण चालके साथ-ही-साथ नामका जप किया जा सकता है। इसमें लक्ष्य

रखनेसे ही मन रुककर नामका जप हो सकता है। श्वासके द्वारा नामका जप करते समय चित्तमें इतनी प्रसन्नता होनी चाहिये कि मानो मन आनन्दसे उछला पड़ता हो। आनन्दरससे छका हुआ अन्तःकरणरूपी पात्र मानो छलका पड़ता हो। यदि इतने आनन्दका अनुभव न हो तो आनन्दकी भावना ही करनी चाहिये। इसीके साथ भगवान्‌को अपने अत्यन्त समीप जानकर उनके स्वरूपका ध्यान करना चाहिये, मानो उनके समीप होनेका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है। इस भावसे संसारकी सुध भुलाकर मनको परमात्मामें लगाना चाहिये।

(१५) ईश्वर-शरणागति

ईश्वर-प्रणिधानसे भी मन वशमें होता है, अनन्य भक्तिसे परमात्माके शरण होना ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है। 'ईश्वर' शब्दसे यहाँपर परमात्मा और उनके भक्त दोनों ही समझे जा सकते हैं। **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति', 'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्', 'तन्मयाः'**—इन श्रुति और भक्तिशास्त्रके सिद्धान्त-वचनोंसे भगवान्, ज्ञानी और भक्तोंकी एकता सिद्ध होती है। श्रीभगवान् और उनके भक्तोंके प्रभाव और चरित्रके चिन्तनमात्रसे चित्त आनन्दसे भर जाता है। संसारका बन्धन मानो अपने-आप टूटने लगता है। अतएव भक्तोंका संग करने, उनके उपदेशोंके अनुसार चलने और भक्तोंकी कृपाको ही भगवत्प्राप्तिका प्रधान उपाय समझनेसे भी मनपर विजय प्राप्त की जा सकती है। भगवान् और सच्चे भक्तोंकी कृपासे सब कुछ हो सकता है।

(१६) मनके कार्योंको देखना

मनको वशमें करनेका एक बड़ा उत्तम साधन है 'मनसे अलग होकर निरन्तर मनके कार्योंको देखते रहना।' जबतक हम मनके साथ मिले हुए हैं, तभीतक मनमें इतनी चञ्चलता है। जिस समय हम मनके द्रष्टा बन जाते हैं, उसी समय मनकी चञ्चलता मिट जाती है। वास्तवमें तो मनसे हम सर्वथा भिन्न ही हैं। किस समय मनमें क्या संकल्प होता है, इसका पूरा पता हमें रहता है। आँखको आँख नहीं देख सकती। इस न्यायसे मनकी बातोंको जो जानता या देखता है वह मनसे सर्वथा भिन्न है, भिन्न होते हुए भी वह अपनेको मनके साथ मिला लेता है, इसीसे उसका जोर पाकर मनकी उद्दण्डता बढ़ जाती है। यदि साधक अपनेको निरन्तर अलग रखकर मनकी क्रियाओंका द्रष्टा बनकर देखनेका अभ्यास करे तो मन बहुत ही शीघ्र संकल्परहित हो सकता है।

(१७) भगवन्नामकीर्तन

मग्न होकर उच्च स्वरसे परमात्माका नाम और गुण-कीर्तन करनेसे भी मन परमात्मामें स्थिर हो सकता है। भगवान् चैतन्यदेवने तो मनको निरुद्धकर परमात्मामें लगानेका यही परम साधन बतलाया है। भक्त जब अपने प्रभुका नामकीर्तन करते-करते गद्‌गद-कण्ठ, रोमाञ्चित और अश्रुपूर्ण-लोचन होकर प्रेमावेशमें अपने-आपको सर्वथा भुलाकर केवल प्रेमी परमात्माके रूपमें तन्मयता प्राप्त कर लेता है, तब भला मनको जीतनेमें और कौन-सी बात बच रहती है। अतएव प्रेमपूर्वक परमात्माका नामकीर्तन करना मनपर विजय पानेका एक अत्युत्तम साधन है।

इस प्रकारसे मनको रोककर परमात्मामें लगानेके अनेक साधन और युक्तियाँ हैं। इनमेंसे या अन्य किसी भी युक्तिसे किसी प्रकारसे भी मनको विषयोंसे हटाकर परमात्मामें लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये। मनके स्थिर किये बिना अन्य कोई भी अवलम्बन नहीं। जैसे चञ्चल जलमें रूप विकृत दीख पड़ता है, उसी प्रकार चञ्चल चित्तमें आत्माका यथार्थ स्वरूप प्रतिबिम्बित नहीं होता। परंतु जैसे स्थिर जलमें प्रतिबिम्ब जैसा होता है वैसा ही दीखता है, इसी प्रकार केवल स्थिर मनसे ही आत्माका यथार्थ स्वरूप स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है। अतएव प्राणपणसे मनको स्थिर करनेका प्रयत्न करना चाहिये। अबतक जो इस मनको स्थिर कर सके हैं, वे ही उस श्यामसुन्दरके नित्यप्रसन्न नवीन-नील-नीरद प्रफुल्ल मुखारविन्दका दर्शन कर अपना जन्म और जीवन सफल कर सके हैं। जिसने एक बार भी उस 'अनूपरूप-शिरोमणि' के दर्शनका संयोग प्राप्त कर लिया, वही धन्य हो गया। उसके लिये उस सुखके सामने और सारे सुख फीके पड़ गये! उस लाभके सामने और सारे लाभ नीचे हो गये!

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

'जिस लाभको पा लेनेपर उससे अधिक और कोई-सा लाभ भी नहीं जँचता।' यही योगसाधनका चरम फल है अथवा यही परम योग है।

योग-तत्त्व-मीमांसा

(श्रीसम्प्रदायाचार्य श्रीभाष्यभगवद्विषय उभयसिंहासनाधिपति विश्वाचार्य श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज 'तर्कशिरोमणि')

'योग' भारतीय सनातन धर्म-दर्शन एवं संस्कृतिका अभिन्न अङ्ग है। इसका मूल रूप वैदिक संहिताओंमें सूत्ररूपमें उपनिबद्ध है। योगके बीजका वर्णन कृष्णयजुर्वेदकी 'काठक' शाखामें इस प्रकार उपलब्ध है—**'पूर्णो वै प्रजापतिः समृद्धिभिः। ऊनो व्यृद्धिभिः। पूर्णः पुरुषः कामैः। ऊनः समृद्धिभिः।'** प्रजापति समृद्धियोंसे पूर्ण है। परंतु वह व्यृद्धियों (असमृद्धियों) से ऊन (हीन) है, इसके विपरीत पुरुष (जीव) कामनाओंसे परिपूर्ण है, परंतु समृद्धियोंसे हीन है। पुरुषकी यह समृद्धियोंसे हीनता एवं परमात्माकी समृद्धियोंसे पूर्णता ही योगका बीज बनी है। कारण कि अभावकी पूर्तिके लिये प्राणीकी स्वभावतः प्रवृत्ति है। जिसके पास धन नहीं है, वह धनार्जन करके धनाभावको नष्ट करना चाहता है। जिसके पास ज्ञान नहीं है, वह ज्ञानार्जन करके ज्ञानाभावको नष्ट करना चाहता है। इसी प्रकार अल्पायु जीव दीर्घायु, शक्तिहीन जीव शक्तिमान्, दुःखी जीव आनन्दवान् होनेकी कामना करता है। जीवमें इन सभी वस्तुओंका अभाव है, परंतु परमात्मामें ये सभी वस्तुएँ पूर्णरूपसे विद्यमान हैं। परमात्माकी आयु अनन्त है। अर्थात् वह अनादि-अनन्त है। उसकी शक्ति अनन्त है। वह विश्वकर्मा है। वह अनन्तानन्त शक्तियोंका घन है। उसका ज्ञान अनन्त है। वह सर्वज्ञ है। उसके बल-ऐश्वर्य आदि सब अनन्त हैं। इस कारण उसके पास पहुँचकर, उनसे मिलकर उन अभिलषित वस्तुओंको प्राप्त करनेकी लालसा मनुष्यके हृदयमें निसर्गसे उठती है। यह जो उनके पास पहुँचनेकी लालसा है, उसके पूर्ण करनेके उपायको 'उपासना' कहते हैं। अर्थात् परमात्माके समीप जाने अथवा उसके सामीप्यलाभको प्राप्त करनेके उपायको उपासना कहते हैं, यही योग है। इसका आरण्यक और उपनिषद्-भागमें 'भक्ति' भी नामान्तर है। महापुरुषोंके मतमें सर्वोच्च जीवन-विज्ञानके अनुसार मानवका अनन्त शाश्वत जीवन वही है कि जिसमें सर्वतोव्यापी पूर्ण सत्ताके साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध बना रहे। यही शाश्वत जीवन परमात्माके अनुभवका जीवन है। परमात्माके अनुभवका यही रहस्य है कि उनके साथ सदैव सम्बन्ध अविच्छिन्न बना रहे। ऐसा सम्बन्ध ही योग कहलाता है। इसका ही अपर नाम उपासना अर्थात् सामीप्य है। यह नवधा भक्तिसे भिन्न है।

इस उपर्युक्त योगतत्त्वका वर्णन महापुरुषोंने प्रकारान्तरसे इस प्रकार किया है—उनका अनुभव इस प्रकार है—मनुष्यमें वह योग्यता है कि सर्वशक्तिमान्‌से वह अपने आत्माका सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। इस तत्त्वके यथार्थ समझने एवं करनेपर नरसे नारायण हो सकता है। अर्थात् नारायण-सम हो जाता है। नारायण-सम होते ही वह यह अनुभव करने लगता है कि वह सभी दिव्य शक्तियोंका केन्द्र बन गया है। वह स्वयं महान् शक्तिमान् है। उस समय प्रकृतिके सभी पदार्थ उसकी आज्ञासे काम करने लगते हैं। केवल प्राकृत सुख एवं केवल प्राकृत विज्ञान मनुष्यका परम मङ्गल नहीं है, परंतु पूर्ण मङ्गलमय परमात्माके साथ सतत सामीप्यका लाभ ही परम मङ्गल है। दूसरे शब्दोंमें जीवनका परम लक्ष्य वही श्रेष्ठतर कर्म है, जिसके द्वारा मानवीय सत्ता व्यापक भगवत्सत्ताके साथ एकीभावको प्राप्त हो जाय। मनुष्यमें सामर्थ्य है कि वह अपना सम्बन्ध भगवान्‌की अलौकिक शक्तिके साथ कर सकता है। इस प्रकारका सम्बन्ध एक बार भी हो जाय और इसका रहस्य भी समझमें आ जाय तो मनुष्य पुनः मायाका दास नहीं बना रह सकता, वह भगवद्दास हो जाता है। वह स्वयं प्रभु-समान बन जाता है। उस समय मनुष्यके अनुभवमें आ जाता है कि सब शक्तियोंका आकर अपने भीतर ही विद्यमान है, उसमें सर्वशक्तिमान्‌की उपासनासे सभी शक्तियोंका प्राकट्य हो जाता है और वे सभी शक्तियाँ उसकी आज्ञासे काम करने लगती हैं। परंतु परमात्मा अव्यक्त होनेसे इन्द्रियातीत हैं। हमारे दृष्टिगोचर नहीं होते, अर्थात् हमको दीखते नहीं हैं। जीवपर प्रकृतिका आवरण होनेसे वह उससे बहुत दूर स्थित-जैसा है। उसके पास यकायक कैसे जाया जाय। अर्थात् प्रकृतिपरायण मानव-चित्त यकायक अधिकारयुक्त नहीं हो सकता, इसका समाधान योगके द्वारा होता है। चित्तवृत्ति-निरोधद्वारा आत्मसाक्षात्कारके लिये निर्दिष्ट क्रियाओंका नाम योग है। इस योगके चार पर्व हैं। उनके नाम हैं—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग एवं राजयोग। इनमें मन्त्रयोग स्थूल, हठयोग सूक्ष्म, लययोग

सूक्ष्मतर एवं राजयोग सूक्ष्मतम है। अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। इन चारोंका स्वरूप अति संक्षेपमें इस प्रकार है—

शब्द (मन्त्र एवं अर्थ), मूर्ति—इन दोनोंके अवलम्बनसे जो योग साधा जाता है वह मन्त्रयोग है। जिन क्रियाओंसे चित्तवृत्तिका निरोध किया जाता है वह हठयोग है। पुरुषमें प्रकृतिका लय लययोग है। जो अन्तःकरण (बुद्धि)-के द्वारा साधा जाता है वह राजयोग है। योगोंमें श्रेष्ठ होनेके कारण इसको राजयोग कहते हैं। राजयोगमें बुद्धिसे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाओंका अधिक सम्बन्ध है। लययोगमें मानस-क्रियाका आधिक्य है। हठयोगमें वायुजय-क्रियाका आधिक्य है और मन्त्रयोगमें ब्रह्मचर्य-रक्षा और रेतोधारणपर विशेष आग्रह है। इनका विशेष विवरण तो योगकी मूल संहिताओंमें ही देखना आवश्यक है।

अनासक्तियोग

(स्व० पं० श्रीरामनारायणदत्तजी पाण्डेय, शास्त्री)

(१)

अलकें किसी मंजु सुहागिनकी जिसे नागिन-सी डँस जातीं नहीं।
लड़ चञ्चल आँखें सुदूरहीसे उर-भौनमें आग लगातीं नहीं॥
अधरोंकी कभी वह हाला जिसे मधु-प्याला बनी ललचाती नहीं।
परवाह उसे भवकूपकी क्या जिसे रूपकी ज्वाला जलाती नहीं॥

(२)

कहाँ दौड़ पड़ा दृग मूँद अरे! रसबूँदकी चाहमें प्यासा यहाँ।
दम घूँटता एक ही घूँट पिये चला खेलने प्राणका पाँसा यहाँ॥
भरा कंचनका घड़ा है विषसे खड़ा तू लिये कैसी दुराशा यहाँ।
यह जिंदगी ही मिट जाती, नहीं बुझ पाती किसीकी पिपासा यहाँ॥

(३)

कहीं क्रीडनके लिये नीड बना, कहीं डोल हिंडोल रहे अगमें।
धन, यौवन, रूप, सनेह सुधा—सभी मोहक साज सजा मगमें॥
जरा होश सँभालके आगे बढ़ो, पड़ जाय न बेड़ी कहीं पगमें।
तुम्हें बाँधनेके लिये चित्त-विहंगम! जाल अनेकों बिछे जगमें॥

(४)

अभिमान तुझे जिस आयुका है उसे एक ही झोंकमें वायु उड़ाता।
नवयौवनकी मदिरा भी अरे! बली काल अकालहीमें ढुलकाता॥
फिर वैभव-भोगकी बात ही क्या, क्षणमें जो प्रभात-सा है मिट जाता।
यह सारा प्रपञ्च ही है सपना, अपना कहके किसे नेह लगाता॥

(५)

जलती जो सदा ही सनेहसे है उससे करनेको सनेह चलो नहीं।
गति एककी देख विवेक करो, फँस मोहके फंदमें यों फिसलो नहीं॥
रसपानके लोभमें जान गवाँ अनजान-से हा! अपनेको छलो नहीं।
उस दाहक सुन्दरता पै अरे बन बावले प्रेमी पतंग! जलो नहीं॥

(६)

कभी मर्म न जाना उपासनाका, किये वासनाको तू प्रपंचित ही रहा।
पथ मुक्तिका भूला, बँधा मुकुलोंमें, न चेत अभी तुझे किञ्चित् भी रहा॥
कमलालयमें भी सदा करता कमलोंके परागको संचित ही रहा।
कमलेशमें राग हुआ नहिं हा! रसलोभी मलिन्द! तू वंचित ही रहा॥

(७)

कलगानपै मोहित होकर जो अलियोंसे नहीं तुम नेह लगाते।
मधु सौरभ पुण्य पराग सभी निज हाथसे साथ ही यों न गँवाते॥
लगे दाग नहीं यदि होते, तुम्हें अनुरागसे देव भी माथ चढ़ाते।
निज भूलपै रोकर फूल! नहीं तुम धूलमें यों अपनेको मिलाते॥

योगः कर्मसु कौशलम्

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीता समतामें ही साधनकी पूर्णता मानती है। यदि समता आ जाय तो सिद्ध पुरुषोंके सब लक्षण अपने-आप आ जाते हैं। यदि किसी साधकमें अन्य लक्षण तो हैं, पर समता नहीं है तो उसका साधन पूर्ण नहीं है। इसलिये गीतामें जहाँ-जहाँ सिद्धोंके लक्षण आये हैं, वहाँ-वहाँ समताकी मुख्यता आयी है। तात्पर्य है कि समता ही गीताका ध्येय है।

गीताका उपदेश दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे आरम्भ होता है। उपदेशके आरम्भमें भगवान्‌ने ग्यारहवें श्लोकसे तीसवें श्लोकतक शरीरी-शरीर, सत्-असत्, नित्य-अनित्य विवेकका वर्णन किया। फिर इकतीसवेंसे अड़तीसवें श्लोकतक क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करनेकी आवश्यकताका वर्णन करके उनतालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।

(२।३९)

'यह (अड़तीसवें श्लोकमें वर्णित[1]) समता पहले सांख्ययोगमें कही गयी, अब तू इसको योगके विषयमें सुन।'

यहाँ पहली बार 'बुद्धि' शब्दका प्रयोग हुआ है। इससे पहले कहीं 'बुद्धि' शब्द नहीं आया। उनतालीसवें श्लोकसे जो प्रकरण आरम्भ हुआ है, उसमें 'समता' को ही कहीं 'बुद्धि' शब्दसे (२।३९, ४९—५१), कहीं 'योग' शब्दसे (२।४८, ५०, ५३) और कहीं 'बुद्धियोग' शब्दसे (२।४९) कहा गया है। अड़तालीसवें श्लोकमें भगवान् 'योग'की परिभाषा बताते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(२।४८)

'हे धनंजय! तू आसक्तिका त्याग करके सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको कर; क्योंकि समताको ही योग कहा जाता है।'

इसके बाद पचासवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

'बुद्धि (समता)से युक्त मनुष्य वर्तमानमें ही पुण्य और पाप दोनोंसे रहित (निर्लिप्त) हो जाता है। अतः तू योग (समता)में लग जा; क्योंकि योग ही कर्मोंमें कुशलता है।'

इस श्लोकमें आये '**योगः कर्मसु कौशलम्**' पदोंपर विचार करें तो इनके दो अर्थ लिये जा सकते हैं—

(१) '**कर्मसु कौशलं योगः**' अर्थात् कर्मोंमें कुशलता ही योग है।

(२) '**कर्मसु योगः कौशलम्**' अर्थात् कर्मोंमें योग ही कुशलता है।

अगर पहला अर्थ लिया जाय कि 'कर्मोंमें कुशलता ही योग है' तो जो बड़ी कुशलतासे, सावधानीसे चोरी, ठगी आदि कर्म करता है, उसका कर्म 'योग' हो जायगा! परंतु ऐसा मानना उचित नहीं है और यहाँ निषिद्ध कर्मोंका प्रसंग भी नहीं है। अगर यहाँ शुभ-कर्मोंको ही कुशलतापूर्वक करनेका नाम योग मानें तो मनुष्य कुशलतापूर्वक, साङ्गोपाङ्ग किये हुए शुभ-कर्मोंके फलसे बँध जायगा—'**फले सक्तो निबध्यते**' (गीता ५।१२); अतः उसकी स्थिति समतामें नहीं रहेगी और उसके दुःखोंका नाश नहीं होगा।

शास्त्रमें आया है—'**कर्मणा बध्यते जन्तुः**' 'कर्मोंसे मनुष्य बँध जाता है।' अतः जो कर्म स्वभावसे ही मनुष्यको बाँधनेवाले हैं, वे ही मुक्ति देनेवाले हो जायँ—यही वस्तुतः कर्मोंमें कुशलता है। मुक्ति योग (समता)से होती है, कर्मोंमें कुशलतासे नहीं। कर्म कितने ही बढ़िया हों, उनका आरम्भ तथा अन्त होता है और उनके फलका भी संयोग तथा वियोग होता है। जिसका आरम्भ और अन्त, संयोग और वियोग होता है, उसके द्वारा मुक्तिकी प्राप्ति कैसे होगी? नाशवान्‌के द्वारा अविनाशीकी प्राप्ति कैसे होगी? अतः महत्त्व योगका है, कर्मोंका नहीं।

१-सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ (२।३८)
'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके फिर युद्धमें लग जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको प्राप्त नहीं होगा।'

अगर उपर्युक्त अर्थ ही ठीक माना जाय तो भी 'कुशलता' के अन्तर्गत समता, निष्कामभावको ही लेना पड़ेगा अर्थात् कर्मोंमें कुशलता ही योग है तो 'कुशलता' क्या है ? इसके उत्तरमें यह कहना ही पड़ेगा कि योग (समता) ही कुशलता है। ऐसी स्थितिमें 'कर्मोंमें योग ही कुशलता है' ऐसा सीधा अर्थ क्यों न ले लिया जाय ? जब उपर्युक्त पदोंमें 'योग' शब्द आया ही है, तो फिर 'कुशलता'का अर्थ योग लेनेकी जरूरत ही नहीं है।

अगर प्रकरणपर विचार करें तो योग (समता) का ही प्रकरण चल रहा है, कर्मोंकी कुशलताका नहीं। भगवान् **'समत्वं योग उच्यते'** (२।४८) कहकर योगकी परिभाषा भी बता चुके हैं। अतः इस प्रकरणमें योग ही विधेय है, कर्मोंमें कुशलता विधेय नहीं है। योग ही कर्मोंमें कुशलता है अर्थात् कर्मोंको करते हुए हृदयमें समता रहे, राग-द्वेष न रहें—यही कर्मोंमें कुशलता है। इसलिये **'योगः कर्मसु कौशलम्'**—यह योगकी परिभाषा नहीं है; किंतु योगकी महिमा है।

इसी (पचासवें) श्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्‌ने कहा है कि समतासे युक्त मनुष्य पुण्य और पाप दोनोंसे रहित हो जाता है। यदि मनुष्य पुण्य और पाप दोनोंसे रहित हो जाय तो फिर कौन-सा कर्म कुशलतासे किया जायगा ?

गीतामें 'कुशल' शब्दका प्रयोग अठारहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें भी हुआ है—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥

'जो अकुशल कर्मसे द्वेष नहीं करता और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता, वह त्यागी, बुद्धिमान्, संदेहरहित और अपने स्वरूपमें स्थित है।'

यहाँ 'अकुशल कर्म' के अन्तर्गत सकामभावसे किये जानेवाले और शास्त्रनिषिद्ध कर्म आते हैं तथा 'कुशल कर्म' के अन्तर्गत निष्कामभावसे किये जानेवाले शास्त्रविहित कर्म आते हैं। अकुशल और कुशल कर्मोंका तो आदि-अन्त होता है, पर योग (समता) का आदि-अन्त नहीं होता। बाँधनेवाले राग-द्वेष ही हैं, कुशल-अकुशल कर्म नहीं। अतः रागपूर्वक किये गये कर्म कितने ही श्रेष्ठ क्यों न हों, वे बाँधनेवाले ही हैं; क्योंकि उन कर्मोंसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति भी हो जाय तो भी वहाँसे लौटकर पीछे आना पड़ता है—**'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।'** (गीता ८।१६)। इसलिये जो मनुष्य अकुशल कर्मका त्याग द्वेषपूर्वक नहीं करता और कुशल कर्मका आचरण रागपूर्वक नहीं करता, वही वास्तवमें त्यागी, बुद्धिमान्, संदेहरहित और अपने स्वरूपमें स्थित है[2]।

उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध हुआ कि **'योगः कर्मसु कौशलम्'** पदोंका अर्थ 'कर्मोंमें कुशलता ही योग है'—ऐसा न मानकर 'कर्मोंमें योग ही कुशलता है'—ऐसा ही मानना चाहिये। अब 'योग' क्या है—इसपर विचार किया जाता है।

गीतामें 'योग' शब्दके तीन अर्थ हैं—(१) समता; जैसे—**'समत्वं योग उच्यते'** (२।४८); (२) सामर्थ्य, ऐश्वर्य, प्रभाव; जैसे—**'पश्य मे योगमैश्वरम्'** (९।५); और (३) समाधि; जैसे—**'यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया'** (६।२०)। यद्यपि गीतामें 'योग' का अर्थ मुख्यतासे 'समता' ही है, तथापि 'योग' शब्दके अन्तर्गत तीनों ही अर्थ लेने चाहिये।

पातञ्जलयोगदर्शनमें चित्तवृत्तियोंके निरोधको 'योग' कहा गया है—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** (१।२)। इस योगके परिणामस्वरूप द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थिति हो जाती है—**'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** (१।३)। इस प्रकार पातञ्जल-योगदर्शनमें योगका जो परिणाम बताया गया है, उसीको गीता 'योग' कहती है[3]। तात्पर्य है कि गीता चित्तवृत्तियोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक स्वतःसिद्ध सम-स्वरूपमें स्वाभाविक

२- दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते। गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः॥ (श्रीमद्भा० ११।७।११)

'जो मनुष्य अनुकूलता-प्रतिकूलतारूप द्वन्द्वोंसे ऊँचा उठ जाता है, वह शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका त्याग करता है, पर द्वेषबुद्धिसे नहीं और शास्त्रविहित कर्मोंको करता है, पर गुणबुद्धिसे अर्थात् रागपूर्वक नहीं। जैसे घुटनोंके बलपर चलनेवाले बच्चेकी निवृत्ति और प्रवृत्ति राग-द्वेषपूर्वक नहीं होती, ऐसे ही उभयातीत मनुष्यकी निवृत्ति और प्रवृत्ति भी राग-द्वेषपूर्वक नहीं होती। (बच्चेमें तो अज्ञता रहती है, पर राग-द्वेषसे रहित मनुष्यमें विज्ञता रहती है।)

३-'समत्वं योग उच्यते' (२।४८) 'समताको ही योग कहा जाता है' और 'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्' (६।२३) 'जिसमें दुःखोंके संयोगका वियोग है, उसको योग नामसे जानना चाहिये'—ये दोनों ही भगवान्‌की दृष्टिमें 'योग' की परिभाषाएँ हैं।

स्थितिको 'योग' कहती है। इस समतामें स्थित होनेपर फिर कभी इससे वियोग अर्थात् व्युत्थान नहीं होता, इसलिये इसको 'नित्ययोग' कहते हैं। चित्त-वृत्तियोंका निरोध होनेपर तो 'निर्विकल्प-अवस्था' होती है। पर समतामें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव होनेपर 'निर्विकल्प बोध' होता है। निर्विकल्प बोध अवस्था नहीं है, प्रत्युत सम्पूर्ण अवस्थाओंसे अतीत तथा उनका प्रकाशक एवं सम्पूर्ण योग-साधनोंका फल है। इस प्रकार गीताका योग पातञ्जलयोगदर्शनके योगसे बहुत विलक्षण है।

परमात्मा सम हैं—**'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** (गीता ५। १९)। जीव परमात्माका अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७); अतः समरूप परमात्माके साथ जीवका सम्बन्ध अर्थात् योग नित्य है। इस स्वतःसिद्ध नित्ययोगका ही नाम 'योग' है, यह नित्ययोग सब देशमें है, सब कालमें है, सब क्रियाओंमें है, सब वस्तुओंमें है, सब व्यक्तियोंमें है, सब अवस्थाओंमें है, सब परिस्थितियोंमें है, सब घटनाओंमें है। तात्पर्य है कि इस नित्ययोगका कभी वियोग हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं। परंतु असत् (शरीर)के साथ अपना सम्बन्ध मान लेनेसे इस नित्ययोगका अनुभव नहीं होता। दुःखरूप असत्के साथ माने हुए संयोगका वियोग (सम्बन्ध-विच्छेद) होते ही इस नित्ययोगका अनुभव हो जाता है—**'तं विद्याद्दुःखसंयोग-वियोगं योगसंज्ञितम्'** (गीता ६। २३)। यही गीताका मुख्य योग है और इसी योगका अनुभव करनेके लिये गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग आदि साधनोंका वर्णन किया है। परंतु इन साधनोंको योग तभी कहा जायगा, जब असत्से सम्बन्ध-विच्छेद और परमात्माके साथ नित्य सम्बन्धका अनुभव होगा।

पातञ्जलयोगदर्शनके योगका अधिकारी वह है, जो मूढ़ और क्षिप्त वृत्तिवाला नहीं है, प्रत्युत विक्षिप्त वृत्तिवाला है। परंतु भगवान्की प्राप्ति चाहनेवाले सब-के-सब मनुष्य गीताके योगके अधिकारी हैं। इतना ही नहीं, जो मनुष्य भोग और संग्रहको महत्त्व न देकर इस योगको ही महत्त्व देता है और इसको प्राप्त करना चाहता है—ऐसा योगका जिज्ञासु भी वेदोंमें वर्णित सकामकर्मोंका अतिक्रमण कर जाता है—

'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥'

(गीता ६। ४४)।

इस योग (समता) की महिमा भगवान्ने दूसरे अध्यायके उनतालीसवें-चालीसवें श्लोकोंमें चार प्रकारसे कही है—

(१) **'कर्मबन्धं प्रहास्यसि'**—समताके द्वारा मनुष्य कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

(२) **'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'**—इसके आरम्भका भी नाश नहीं होता।

(३) **'प्रत्यवायो न विद्यते'**—इसके अनुष्ठानका उलटा फल भी नहीं होता।

(४) **'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'**—इसका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान जन्म-मरणरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है।

यद्यपि पहली बातके अन्तर्गत ही शेष तीनों बातें आ जाती हैं, तथापि सबमें थोड़ा अन्तर है; जैसे—

(१) भगवान् पहले सामान्य रीतिसे कहते हैं कि समतासे युक्त मनुष्य कर्मबन्धनसे छूट जाता है। बन्धनका कारण गुणोंका संग अर्थात् प्रकृतिसे माना हुआ सम्बन्ध है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३। २१)। समता आनेसे प्रकृतिका सम्बन्ध नहीं रहता; अतः मनुष्य कर्मबन्धनसे छूट जाता है। जैसे संसारमें अनेक शुभाशुभ कर्म होते रहते हैं, पर वे कर्म हमें बाँधते नहीं; क्योंकि उन कर्मोंसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं होता, ऐसे ही समतायुक्त मनुष्यका अपने कर्मोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

(२) समताका केवल आरम्भ हो जाय अर्थात् समताको प्राप्त करनेका उद्देश्य, जिज्ञासा हो जाय तो इस आरम्भका भी कभी नाश नहीं होता। कारण कि अविनाशीका उद्देश्य भी अविनाशी ही होता है, जबकि नाशवान्का उद्देश्य भी नाशवान् ही होता है। नाशवान्का उद्देश्य तो नाश (पतन) करता है, पर समताका उद्देश्य कल्याण ही करता है—

'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते'

(गीता ६। ४४)

(३) समताके अनुष्ठानका उलटा फल नहीं होता। सकामभावसे किये जानेवाले कर्ममें अगर मन्त्रोच्चारण, अनुष्ठान-विधि आदिकी कोई त्रुटि हो जाय तो उसका उलटा

फल हो जाता है[४]। परंतु जितनी समता अनुष्ठानमें (जीवनमें) आ गयी है, उसमें अगर व्यवहार आदिकी कोई भूल हो जाय, सावधानीमें कोई कमी रह जाय तो उसका उलटा फल (बन्धन) नहीं होता। जैसे कोई हमारे यहाँ नौकरी करता है और अँधेरेमें लालटेन जलाते समय कभी उसके हाथसे लालटेन गिरकर टूट जाय तो हम उसपर नाराज होते हैं; परंतु उस समय जो हमारा मित्र है, हमारेसे कुछ चाहता नहीं, उसके हाथसे लालटेन गिरकर टूट जाय तो हम उसपर नाराज नहीं होते, प्रत्युत कहते हैं कि हमारे हाथसे भी वस्तु टूट जाती है, तुम्हारे हाथसे वस्तु टूट गयी तो चिन्ताकी क्या बात है ? अतः जो सकामभावसे कर्म करता है, उसके कर्मका तो उलटा फल हो सकता है, पर जो किसी प्रकारका फल चाहता ही नहीं, उसके अनुष्ठानका उलटा फल कैसे हो सकता है ?

(४) समताका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान हो जाय, थोड़ा-सा भी समताका भाव बन जाय तो वह जन्म-मरणरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है अर्थात् कल्याण कर देता है। जैसे सकाम कर्म फल देकर नष्ट हो जाता है, ऐसे यह थोड़ी-सी भी समता फल देकर नष्ट नहीं होती, प्रत्युत इसका उपयोग केवल कल्याणमें ही होता है। यज्ञ, दान, तप आदि शुभ-कर्म यदि सकाम-भावसे किये जायँ तो उनका नाशवान् फल (धन-सम्पत्ति एवं स्वर्गादिकी प्राप्ति) होता है और यदि निष्कामभावसे किये जायँ तो उनका अविनाशी फल (मोक्ष) होता है। इस प्रकार यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्मोंके तो दो-दो फल हो सकते हैं, पर समताका एक ही फल—कल्याण होता है। जैसे कोई मुसाफिर चलते-चलते रास्तेमें रुक जाय अथवा सो जाय तो वह जहाँसे चला था, वहाँ पुनः लौटकर चला नहीं जाता, प्रत्युत जहाँतक वह पहुँच गया, वहाँतकका रास्ता तो कट ही गया। ऐसे ही जितनी समता जीवनमें आ गयी, उसका नाश योगभ्रष्ट होनेपर भी नहीं होता अर्थात् स्वर्गादि लोकोंमें बहुत वर्षोंतक सुख भोगनेपर अथवा मृत्युलोकमें श्रीमानोंके घरमें सुख भोगनेपर भी उस समताका नाश नहीं होता (गीता ६।४१—४४)।

उपसंहार

समताकी प्राप्तिके लिये बुद्धिकी स्थिरता बहुत आवश्यक है। पातञ्जलयोगदर्शनमें तो मनकी स्थिरता (वृत्तिनिरोध) को महत्त्व दिया गया है, पर गीता बुद्धिकी स्थिरता (उद्देश्यकी दृढ़ता) को ही महत्त्व देती है (२।५५—६८)। कारण कि कल्याणप्राप्तिमें मनकी स्थिरताका उतना महत्त्व नहीं है, जितना बुद्धिकी स्थिरताका महत्त्व है। मनकी स्थिरतासे लौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, पर बुद्धिकी स्थिरतासे लौकिक सिद्धियाँ प्राप्त न होकर पारमार्थिक सिद्धि (कल्याणप्राप्ति) होती है। कर्मयोगमें बुद्धिकी स्थिरता ही मुख्य है[५]। अगर मनकी स्थिरता होगी तो कर्मयोगी कर्तव्य-कर्म कैसे करेगा ? कारण कि मन स्थिर होनेपर बाहरी क्रियाएँ रुक जाती हैं। भगवान् भी योग (समता) में स्थित होकर कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं—**'योगस्थः कुरु कर्माणि'** (२।४८)। तात्पर्य है कि कर्मोंका महत्त्व नहीं है, प्रत्युत योग (समता) का ही महत्त्व है। अतः कर्मोंमें योग ही कुशलता है।

४-ऐसी कथा आती है कि त्वष्टाने इन्द्रका वध करनेवाले पुत्रकी इच्छासे एक यज्ञ किया। उस यज्ञमें ऋषियोंने 'इन्द्रशत्रु विवर्धस्व' इस मन्त्रके साथ हवन किया। 'इन्द्रशत्रु' शब्दमें यदि षष्ठीतत्पुरुष-समास हो तो इसका अर्थ होगा—'इन्द्रस्य शत्रुः' (इन्द्रका शत्रु); और यदि बहुव्रीहि समास हो तो इसका अर्थ होगा—'इन्द्रः शत्रुर्यस्य' (जिसका शत्रु इन्द्र है)। समासमें भेद होनेसे स्वरमें भी भेद हो जाता है। अतः षष्ठीतत्पुरुष समासवाले 'इन्द्रशत्रु' शब्दका उच्चारण अन्त्योदात्त होगा अर्थात् अन्तिम अक्षर 'त्रु' का उच्चारण उदात्त स्वरसे होगा, और बहुव्रीहिसमासवाले 'इन्द्रशत्रु' शब्दका उच्चारण आद्योदात्त होगा अर्थात् प्रथम अक्षर 'इ' का उच्चारण उदात्त स्वरसे होगा। ऋषियोंका उद्देश्य तो षष्ठीतत्पुरुष-समासवाले 'इन्द्रशत्रु' शब्दका अन्त्योदात्त उच्चारण करना था; परंतु उन्होंने उसका आद्योदात्त उच्चारण कर दिया। इस प्रकार (दोनों समासोंका अर्थ एक होनेपर भी) स्वरभेद हो जानेसे मन्त्रोच्चारणका उलटा फल हो गया, जिससे इन्द्र ही त्वष्टाके पुत्र (वृत्रासुर) का वध करनेवाला हो गया। इसलिये कहा गया है—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥ (पाणिनीयशिक्षा)

५-व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ (गीता २।४१)

'हे कुरुनन्दन ! इस समबुद्धिकी प्राप्तिके विषयमें व्यवसायात्मिका बुद्धि एक ही होती है। अव्यवसायी मनुष्योंकी बुद्धियाँ अनन्त और बहुशाखाओंवाली ही होती हैं।'

परो हि योगो मनसः समाधिः

(जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य गोस्वामी श्रीललितकृष्णजी महाराज)

मनकी समाधि-स्वरूपता ही परम योग है, यही योगका परम लक्ष्य है। 'स्व' का स्वकीयसे जुड़ना ही योग शब्दका रूढ़ अर्थ है। 'मैं' तथा 'मेरा'—यह अभिमान ही मानस रोग है, इनसे मनमें काम, क्रोध, लोभ आदि मल आते हैं, जिससे मन मलिन हो जाता है। मलिन-मन जीवात्मा अपनी वास्तविकता खो बैठता है, उसका स्वरूप विकृत हो जाता है। इस विकृतिको दूर करनेके लिये ही योगकी आवश्यकता होती है। विकृति नष्ट हो जाय, मन अविकृत हो जाय तो जीवात्मा भी अविकृत हो जाय। अविकृतता ही जीवका स्वरूप है, इसे ही भागवतमें परम लक्ष्य—मुक्ति कहा गया है—

'मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ॥'

अर्थात् अन्यथा विकृत-रूपको छोड़कर स्वरूपमें व्यवस्थित हो जाना ही मुक्ति है। सुख-दुःख, मानापमान आदि द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियाँ ही मनको मलिन करती हैं, उनमें समत्वका बोध हो जाना ही समाधिका फल है। समाधि-स्थितिमें समाधान और समाप्ति होती है, समका आधान अर्थात् स्थापन, स्थैर्य, स्वस्थता, एकनिष्ठता, शान्ति, संतोष एवं भगवान्‌के गुणोंके चिन्तनकी अर्हता प्राप्त होती है। समाधान वस्तुतः समत्वका आधान है, हमारे अन्तःकरणरूपी गर्भमें समत्वका विक्षेप होता है। **'समत्वं योग उच्यते'**—में इसीका उल्लेख है। समत्वकी प्राप्ति समाप्ति है जो निष्पन्नता, पूर्ति, अन्त आदि अर्थोंका द्योतक है। इस अवस्थामें जीवात्माकी आधियोंका अन्त हो जाता है, वह स्वतःमें निष्पन्न और पूर्ण हो जाता है।

पातञ्जलयोगके अन्तिम सूत्रमें समस्त पुरुषार्थोंकी वृत्तियोंका भगवद्गुणोंमें प्रतिप्रसव अर्थात् आधान होना या चितिशक्तिकी स्वरूप-प्रतिष्ठाको कैवल्य कहा गया है[1]। चित्त और पुरुष दोनोंमें समत्व आनेपर ही निर्मलता होती है, तभी कैवल्य-स्थिति होती है, **'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्'** इस योगसूत्रका यही लक्ष्य है।

महामुनि श्रीशुकदेवने राजा परीक्षित्‌को कैवल्य-प्राप्तिके लिये ध्यानका परामर्श दिया और ज्ञानयोगी एवं भक्तियोगीके लिये पृथक्-पृथक् ध्यानकी विधि भी बतलायी। ज्ञानयोगीको आसन, आहार, श्वास और आसक्तिको संयमित करना चाहिये, तभी वह विराट् पुरुषकी धारणामें निष्ठ होकर ध्यान कर सकेगा। किंतु भक्तियोगमें हृदयावकाशमें भगवान्‌की सगुण मूर्तिको स्थापित कर एकाग्र होकर उपासनामें संलग्न होनेसे ध्यान बनता है। इसे उपनिषदोंमें दहरोपासना कहा गया है। भागवत (१०।८७।१८)की वेदस्तुतिके **'हृदयमारुणयो दहरम्'** स्तुति-वाक्यमें दहरोपासनाको आरुणिने श्रीनिम्बार्ककी उपासना-पद्धति बतलाया है। ऐसे ही महानुभावोंका उल्लेख श्रीशुकदेवजी **'केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।'** (श्रीमद्भा० २।२।८) इत्यादिमें करते हुए भक्तियोगकी ध्यान-पद्धतिको किन्हीं विशिष्ट आचार्यका मत बतलाते हैं।

योगदर्शनमें इसे 'ईश्वरप्रणिधान' अर्थात् भगवद्भक्ति कहा गया है और इससे समाधि-सिद्धि और मुक्ति बतलायी गयी है।

भक्तियोगमें भगवत्स्वरूप और भगवान्‌के गुणोंका स्मरण करते हुए ध्यानका विधान है, जिससे विशोका ज्योतिष्मती मानस-प्रवृत्ति बनती है, एकमात्र ध्येय भगवान्‌का ही प्रकाश रहता है, उपासक अपनेपनके आभाससे शून्य आत्मविभोर हो जाता है और निर्विचार-समाधिमें लीन हो जाता है। योगदर्शनके **'स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का'** (१।४३)—इस सूत्रमें यही कहा गया है।

निर्विचार-समाधिमें समस्त दुःखोंकी निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि अन्तःकरण आनन्दमय हो जाता है—**'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः'** (१।४१) योगसूत्रका ऐसा ही मत है।

'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।'—इस गीतोक्त भगवदीय वचनका भी यही तात्पर्य है।

ऐसी समाहित-चित्त-स्थितिमें ऋतम्भरा प्रज्ञाका उदय होता है, वही समाधान है। **'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'** (योग सू

१-पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति। (योग० ४।३४)

१।४८)। इस स्थितिमें एकमात्र सत्यस्वरूप भगवान्‌का ध्यान ही अवशिष्ट रहता है। योगसूत्रके व्यासभाष्यकी कारिका कहती है—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥

अर्थात् 'आगम, अनुमान और ध्यानके अभ्याससे ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रकट होती है, यही उत्तम योग है।'

वाचस्पतिमिश्रके विचारानुसार आगमका अर्थ है वेदविहित भगवद्गुण-श्रवण, अनुमानका अर्थ है उन्हींका मनन और तदनुसार स्वरूप-ध्यानसे भगवद्-रस प्रकट होता है। इसे ही निदिध्यासन कहते हैं।

भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यने आह्लादिनी श्रीराधाका स्मरण और आनन्दमय श्रीकृष्णके ध्यानका विधान हृदयावकाशमें बतलाया है। उन्होंने इन्हींकी लीलाओंका श्रवण, मनन और ध्यान करते हुए रसानुभूति करनेका भक्तोंको परामर्श दिया है।

योगदर्शन-भाष्यमें व्यासजी कहते हैं—**'समाधिप्रज्ञा-प्रतिलम्भे योगिनः प्रज्ञाकृतः संस्कारो नवो नवो जायते।'** अर्थात् निर्विचार-समाधिसे प्रकट ऋतम्भरा प्रज्ञामें भक्तियोगीको प्रज्ञाकृत संस्कारसे नित्य नया रसानुभाव होता है। यही वैष्णवोंका परमयोग है। गीतोक्त पूर्णप्रज्ञाप्रतिष्ठाका भी यही तात्पर्य है।

रसोपासक श्रीनिम्बार्कानुयायी श्रीभट्ट, हरिव्यास, हरिदास एवं राधाचरणानन्योपासक हितहरिवंश आदि इसी परमयोगमें निमग्न रहते थे।

नाथसम्प्रदायमें योगसाधना

(गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज)

नाथयोगविद्या शिवविद्या अथवा महायोगविद्या है। इस साधनाकी आधारशिला स्वसंवेद्य अलख निरञ्जनतत्त्वका पिण्ड और ब्रह्माण्डके सामरस्यके स्तरपर अन्तर्बाह्य साक्षात्कार है। इसके सम्बन्धमें भगवान् योगिराजराजेश्वर शिवने आदिशक्ति महामाया पार्वतीजीसे कहा है—**'शिवविद्या महाविद्या गुप्ता चाग्रे महेश्वरी।'** (शिवसंहिता ५।२४८)

इस योगमार्गमें अद्वैतसे परे परमेश्वर परमशिव ही नाथदेवताके रूपमें परम उपास्य हैं। निराकार, निर्विकार, निर्मल ज्योति ही इस योगमार्गमें परम प्राप्तव्य है। तत्त्वतः परमशिव ही इस योगमार्गमें परम ध्येय हैं, जिनके सांनिध्यमें योगसाधना करते हुए साधक अपने सच्चिदानन्दस्वरूपमें अभिव्यक्त एवं चिदानन्दायित हो उठता है।

नाथसम्प्रदायमें योगसाधनाके द्वारा अमृतत्व-प्राप्ति और मृत्यु-विजयरूप फलसिद्धिको ही योगपुरुषार्थ कहा गया है। हठयोगप्रदीपिकाके मङ्गलाचरणमें उसके प्रणेताने कहा है—

अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः।
पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम्॥

(हठयोगप्रदीपिका ४।१३)

इस योगसाधनाकी पृष्ठभूमि वेदातीत स्वसंवेद्य अलख निरञ्जनतत्त्वकी अन्तरनुभूति है। 'गोरखबानी' में संगृहीत लघुकाय रचना 'सिष्टपुराण' में गोरखनाथजीने साधनाके स्वरूप-निदर्शनमें कहा है—

अपर उपरांति सिद्धि नाहीं। अभय उपरांति रतन नाहीं॥
ध्यान उपरांति ग्रंथ नाहीं। काया उपरांति रतन नाहीं॥
सच उपरांति सास्त्र नाहीं। अघोर उपरांति मंत्र नाहीं॥
निरंजन उपरांति ध्यान नाहीं॥'

—'इस योगमार्गमें काया ही योगसाधनाका महान् क्षेत्र है। अमरकायत्व ही सर्वश्रेष्ठ योगसिद्धि है। अभयपदकी प्राप्ति ही परम सिद्धि है। इष्टदेवका ध्यान ही ग्रन्थ है। शरीर ही सर्वश्रेष्ठ रत्न है। सत्य ही सर्वश्रेष्ठ शास्त्र है। अघोर (शिव) मन्त्र ही सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है और निरञ्जनका ध्यान ही सर्वश्रेष्ठ ध्यान है।'

इस निरञ्जन परमेश्वरकी उपासना ही नाथयोगसाधनाका फल अथवा स्वारस्य है। महायोगी गोरखनाथजीने निरञ्जन-तत्त्वका निरूपण करते हुए कहा है—

उदै न अस्त रात न दिन सरबे चराचर भाव न भिन्न।
सोई निरंजन डाल न मूल, सर्वव्यापीक सुषमन अस्थूल॥

(गोरखबानी सबदी)

इस योगसाधनाका मूल स्रोत क्षीरसागरके तटपर सप्त (सौम्य) शृंगपर महायोगेश्वर शिवद्वारा भगवती पार्वतीके प्रति

उपदिष्ट महायोगज्ञान है, जिसका श्रवण कर योगेन्द्र मत्स्येन्द्रने उस योगज्ञानके ग्रहण और प्रचारके लिये साक्षात् गोरक्षरूपमें अभिव्यक्त शिव-महायोगी गोरखनाथको उचित सत्पात्र स्वीकार किया था। इस तरह नव नाथसिद्ध—चौरंगीनाथ, भर्तृहरिनाथ, गहिनीनाथ, सत्यनाथ, जालन्धरनाथ, कृष्णपाद, गोपीचन्द आदिके द्वारा इस साधन-प्रक्रियाने पोषण प्राप्त किया। यह साधना, योगदर्शन, शिवविद्या अथवा प्राण-साधनाकी सनातन साधन-प्रक्रिया है। यह अनादि, अखण्ड और त्रिकालव्यापी है। यह मार्ग सर्वसिद्धिप्रद और मायाजालको छिन्न-भिन्न करनेवाला है। इस साधनाके फल-स्वरूप अविद्या-अन्धकारमें दिग्भ्रमित जीवात्मा साधक भवबन्धनसे मुक्त होकर नाथयोग-मार्गमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

सर्वसिद्धिकरो मार्गो मायाजालनिकृन्तनम्।
बद्धा येन विमुच्यन्ते नाथमार्गमतःपरम्॥

(योगबीज ६। ७)

महायोगी गोरखनाथजीने अमूल, अम्लान, औत्तर, स्पन्दास्पन्द, परिस्पन्द, महोत्पल, भवभयहर, मुक्तिसोपान-संज्ञक, गुह्यसे गुह्य अद्वयतत्त्व द्वैताद्वैतविलक्षण परमतत्त्वका प्रकाशन कर योगसाधकोंको योगामृतसंजीवनी प्रदान की—

जयत्यमूलमम्लानमौत्तरं तत्त्वमद्वयम्।
स्पन्दास्पन्दपरिस्पन्दमहोत्पलम्॥
भवभयहरं नृणां मुक्तिसोपानसंज्ञकम्।
गुह्याद् गुह्यतरं गुह्यं गोरक्षेण प्रकाशितम्॥

(महार्थमंजरी ८८, ८२)

इस मार्गका साधक प्रायः सभी सामान्य दशाओंसे भिन्न एवं अत्यन्त शान्त होता है। योगकी दृष्टि प्राप्त हो जानेपर वह स्वयंको विराट् पुरुषके रूपमें अनुभव करता है। वह विभिन्न स्वरूपोंमें अभिव्यक्त परमात्माको और समस्त लोकोंको अपने भीतर प्रत्यक्ष देखता है। इस तरह वह ब्रह्माण्डदर्शनका आनन्दोपभोग करता है। वह अपने व्यष्टिपिण्डमें सभीको एकात्मभूत समझता है। यही नाथयोग-साधनाका एक विशिष्टतत्त्व है।

इस साधनामार्गमें गुरुकृपाका महत्त्व अत्यधिक है। वस्तुतः निरञ्जनपदकी प्राप्ति करानेमें गुरुकृपादृष्टि एक अमोघ साधन है—

नमः शिवाय गुरवे नादबिन्दुकलात्मने।
निरञ्जनपदं याति नित्यं यत्र परायणः॥

(हठयोगप्रदीपिका ४। १)

महायोगी गोरखनाथजीने गुरुको भी स्वानन्दविग्रह कहा है। सद्गुरुकी करुणाके बिना योगसाधक सांसारिक विषय-जंजालसे छुटकारा नहीं पा सकता और न उसे तत्त्वका दर्शन ही हो सकता है। उसे सहजावस्था—स्वरूपस्थितिकी प्राप्ति भी दुर्लभ हो जाती है। गुरुकी कृपासे ही हरिपद—निरञ्जनपदकी प्राप्ति होती है। योगिराज भर्तृहरिका कथन है—

गुरू सूँ ग्यान, ग्यान सु बुधि भई। बुधि सूँ अकल प्रकासी।
भनत भरथरी हरिपद परस्या सहज भया अबिनासी॥

(नाथसिद्धोंकी बानियाँ ६७९)

इस योगसाधनामें शिवशक्तिका अभेद-दर्शन उपलब्ध होता है। जिस तरह चन्द्र और चन्द्रिकामें अभिन्नता होती है, उसी तरह शिव और शक्तिमें भी परस्पर अभेद है। अन्य योगसाधनाओंके समान ही जीवात्मा और परमात्माका तादात्म्य ही इस नाथयोगसाधनागत समाधिका भी परम फल है। इसके द्वारा समस्त द्वन्द्वोंका अन्त होकर साधक एकात्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है। इसीका दूसरा नाम हठयोग भी है।

जबतक योगी अथवा अध्यात्मविज्ञानीकी परमात्म-स्वरूपमें स्थिति और सम्पूर्ण निष्ठा नहीं हो जाती, तबतक जन्म-मरणका दुःख नहीं छूट सकता। यह निर्विवाद है कि इस विश्व-प्रपञ्चकी गत्यात्मकताके मूल कारणके रूपमें कोई स्वयं सत्य, स्वयं प्रकाशित सत्ता है, जो हमारी इन्द्रिय, मन-बुद्धिसे परे, अतीन्द्रिय, अतिमानसिक और अतिबौद्धिक स्तरपर अभिव्यक्त है। अतः जो पद अनिर्वचनीय है, उसका वर्णन किस तरह किया जाय। जो अचिन्त्य है, उसका चिन्तन किस तरह किया जाय।

जो शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होता है, वही आत्माको आत्मामें देखता है और वही सबका आत्मरूप होता है।—उपनिषद्

केशिध्वज जनककी योगसमीक्षा

(पद्मभूषण आचार्य पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय)

मिथिलाके शासक राजा अपने आध्यात्मिक वैदुष्य तथा अध्यात्म-तत्त्वके वेत्ताओंको आश्रयदानके कारण प्राचीन भारतमें अत्यन्त विख्यात थे, केवल पिता (निमि) के शरीरके अवशेषसे जन्म लेनेके कारण 'जनक', बिना देहसे उत्पन्न होनेके कारण 'विदेह' तथा मन्थनसे उत्पन्न होनेके कारण 'मिथि' कहलाये। वे उनके व्यक्तिगत अभिधान नहीं थे। अतः यह देश मिथिला तथा सभी राजा मैथिल, जनक और विदेह कहलाने लगे। श्रीमद्भागवतके नवम स्कन्धके त्रयोदश अध्यायमें इस वंशका प्रामाणिक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। भागवत तथा विष्णुपुराणमें केशिध्वज जनकका संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

महारानी सीताके पिता सीरध्वज जनकके पौत्र धर्मध्वज जनकके दो पुत्र थे—अमितध्वज तथा कृतध्वज। कृतध्वजके पुत्र थे केशिध्वज जनक और अमितध्वजके खाण्डिक्य जनक। खाण्डिक्य जनक कर्ममार्गमें अत्यन्त निपुण थे और केशिध्वज अध्यात्मविद्याके विशेषज्ञ थे। ये दोनों परस्पर एक-दूसरेको पराजित करनेमें लगे रहते थे। कालक्रमसे केशिध्वजने खाण्डिक्यको राज्यसे च्युत कर दिया और स्वयं राज्यके शासक बन गये। फलतः पराजित होनेके कारण खाण्डिक्यको जनकपुर छोड़ना पड़ा और उन्होंने अपने परिवार तथा परामर्शदाता पुरोहितके साथ जंगलका आश्रय लिया। पराजयसे उनके हृदयको बड़ी चोट लगी और अपने उस वनवासमें अपना एकाकी जीवन व्यतीत करने लगे।

समयने पलटा खाया। विजेता ही विजित व्यक्तिके सामने दीन-हीन-भावसे जिज्ञासुकी मुद्रामें एक दिन स्वयं पहुँचा। पहले तो खाण्डिक्यको अपने पुरातन शत्रुसे बड़ा भय उत्पन्न हुआ, परंतु थोड़ी ही देरमें वह भाव बदल गया, जब जिज्ञासाका प्रसंग छिड़ा। एक विचित्र घटना घटी थी। राज्यसिंहासन प्राप्तकर केशिध्वजने एक विशाल यज्ञका आयोजन किया, परंतु कुछ ही दिनोंमें उनकी धर्मधेनुको जंगलमें एक सिंहने मार डाला। विशाल यज्ञके भंग होनेका दुर्योग आ गया। इसीके प्रायश्चित्तके लिये केशिध्वज कर्मकाण्डके मर्मज्ञ खाण्डिक्य जनकके पास पहुँचे और जिज्ञासाका विधिवत् समाधान होनेपर वे राजधानी लौटे, यज्ञकी यथाविधि पूर्ति हुई। ब्राह्मण याज्ञिकोंकी अर्चना करनेपर भी अपने गुरु-ऋणसे उऋण न होनेपर उनका चित्त शान्त न हुआ। उन्होंने उपदेशके लिये पहले खाण्डिक्यको बहुत-सा धन देना चाहा, परंतु उसे अस्वीकार कर उन्होंने केशिध्वजसे योग-साधनाके आध्यात्मिक तत्त्वकी शिक्षाके लिये प्रार्थना की और इसी प्रसंगमें यह महनीय योग-चिन्तन उपन्यस्त है। विष्णुपुराणके षष्ठ अंशके छठे अध्यायमें इसका विस्तृत विवरण दिया गया है। उसीके आधारपर महायोगी केशिध्वजद्वारा उपदिष्ट यह आध्यात्मिक उपदेश संक्षेपमें दिया जा रहा है—

परमात्माकी प्राप्तिके निमित्त मनुष्योंको दो नेत्र दिये गये हैं। इनमें एक है स्वाध्याय (शास्त्रोंका विधिवत् अध्ययन एवं मनन) तथा दूसरा है योग। इनमेंसे प्रथम सिद्धान्त-पक्ष है और दूसरा व्यवहार-पक्ष। स्वाध्यायसे योगका और योगसे स्वाध्यायका आश्रय लेकर परमतत्त्वकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार स्वाध्याय और योगरूप सम्पत्तिसे परमात्मा प्रकाशित (ज्ञानके विषय) होते हैं—

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमावसेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

(वि० पु० ६।६।२)

जीवको अनेक सहस्रों जन्मोंतक सांसारिक भोगोंमें पड़े रहनेके कारण वासनारूपी धूलिसे आच्छादित होना पड़ता है। जैसे भौतिक धूलिको हटानेके लिये जगत्में जलकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार इस वासना-जन्य धूलिके अपाकरणके लिये ज्ञानरूपी जलकी आवश्यकता होती है। तभी यह धूलि हट सकती है। धूलि हट जानेके बाद संसारपथके पथिकका मोहरूपी काम शान्त हो जाता है। फलतः प्रथम स्वाध्यायके द्वारा ज्ञानका सम्पादन करना चाहिये। जीवको शान्तिकी प्राप्तिके लिये मनको वशमें करना चाहिये। क्योंकि मन ही मनुष्योंके बन्ध तथा मोक्षका कारण होता है। विषयोंके साथ आसक्ति रखनेवाला मन बन्धका कारण बनता है और विषयोंसे रहित होनेवाला मन मोक्षका कारण बनता है। फलतः इस

मनको अपने वशमें रखनेकी नितान्त आवश्यकता है और मनको वशमें रखनेके लिये विवेकज्ञानसे सम्पन्न होना साधकका परम कर्तव्य है। जिस प्रकार अयस्कान्तमणि (चुम्बक) अपनी शक्तिसे लोहेको खींचकर अपनेमें संयुक्त कर देती है, उसी प्रकार ब्रह्मचिन्तन करनेवाले मुनिको परमात्मा स्वभावसे ही स्वरूपमें लीन कर देते हैं। ब्रह्मके साथ जीवका संयोग ही योग कहलाता है। विष्णुपुराणमें यही योगका लक्षण दिया गया है—

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते॥

(६।७।३१)

मनकी एक सामान्य गति है लौकिक पदार्थोंमें सर्वदा भ्रमण करते रहना। परंतु मनकी एक विशिष्ट गति होती है जो यम, नियम, प्राणायाम आदिके द्वारा उसे वशमें रखती है और यह स्थिति आत्मज्ञानके प्रयत्नभूत इन पदार्थोंके द्वारा आविर्भूत होती है। ऐसे गतिसम्पन्न मनको ब्रह्मके साथ संयुक्त करनेकी जो विधि है वही योग नामसे व्यवहृत की जाती है। पातञ्जलयोगसे इस योग (ब्रह्मयोग) की भिन्नता स्पष्टतः प्रतीत होती है। जहाँ पातञ्जलयोग चित्तवृत्तिके निरोधको योग कहता है, वहीं **'युजिर् योगे'** धातुसे सम्पन्न योग शब्दका प्रयोग ब्रह्मके साथ मनको संयुक्त करनेकी क्रियाके लिये करता है। इस प्रकारके विशिष्ट धर्मसे युक्त होनेसे, मुक्तिकी अभिलाषासे सम्पन्न (मुमुक्षु) व्यक्ति योगी कहा जाता है। योगी अवस्था-भेदसे दो प्रकारके होते हैं। योगके आरम्भ करनेपर वह 'युञ्जान' (योगारूढ़) कहा जाता है और परब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर वह 'विनिष्पन्न'-समाधि कहा जाता है।

योगयुक् प्रथमं योगी युञ्जानो ह्यभिधीयते।
विनिष्पन्नसमाधिस्तु परं ब्रह्मोपलब्धिमान्॥

(वि० पु० ६।७।३३)

चित्तको ब्रह्ममें निश्चित रूपसे लीन करनेके लिये साधकको यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहारका आश्रय करनेका व्यवस्थित विधान किया गया है। यम, नियम तथा आसनके वर्णनमें विशेष नवीनता नहीं है, परंतु प्राणायाम तथा प्रत्याहारका विशिष्ट विवरण दिया गया है। प्राणायाम दो प्रकारका बतलाया गया है— सबीज तथा निर्बीज। सबीज प्राणायाम ध्यान तथा मन्त्र-पाठ आदि आलम्बनोंसे युक्त होता है, परंतु निर्बीज प्राणायाममें इन आलम्बनोंका अभाव रहता है और इसीलिये वह 'निरालम्ब' कहलाता है। जब योगी सबीज प्राणायामका आरम्भ करता है, तब उसका आलम्बन भगवान् अनन्तका हिरण्यगर्भ आदि स्थूल रूप होता है। इसके अनन्तर योगी प्रत्याहारका अभ्यास करता है। रूप, रस आदि विषयोंमें अनुरक्त होनेवाली इन्द्रियोंको चित्तका अनुगामिनी बनाना ही प्रत्याहारकी संज्ञा पाता है। इन्द्रियोंको योगके निमित्त अपने वशमें रखनेकी नितान्त आवश्यकता होती है और यह कार्य प्रत्याहारके द्वारा सिद्ध होता है। प्रत्याहारमें दो पद हैं—'प्रति' तथा 'आहार'। 'आहार' का अर्थ इन्द्रियोंको तत्-तत् विषयोंमें लगाना है। यह कार्य तो सामान्यतः सदा ही होता रहता है। 'प्रति' का अर्थ उलट देना है। फलतः 'प्रत्याहार'-का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ होता है, विषयोंसे इन्द्रियोंका प्रत्यावर्तन करना—हटा लेना। प्राणायामके द्वारा प्राण या श्वास-प्रक्रियाको वशमें किया जाता है तथा प्रत्याहारके द्वारा इन्द्रियोंको वशमें किया जाता है। फलतः इन दोनों व्यापारोंसे चित्त अपने शुभ आश्रय अर्थात् ब्रह्ममें स्थित किया जाता है। तब साधकको योगकी साधनामें सफलताकी प्राप्ति होती है।

प्राणायामेन पवने प्रत्याहारेण चेन्द्रिये।
वशीकृते ततः कुर्यात् स्थितं चेतः शुभाश्रये॥

(वि० पु० ६।७।४५)

चित्तका आश्रय-तत्त्व

चित्तके आश्रय-तत्त्व अनेक प्रकारके हो सकते हैं। इस प्रसंगमें ब्रह्मके भेद, त्रिविध भावना तथा विष्णुके स्वरूप आदिका विवरण विष्णुपुराणमें विस्तारसे दिया गया है। चित्तका मुख्य आश्रय ब्रह्म है, जो स्वभावसे दो प्रकारका होता है—मूर्त तथा अमूर्त अथवा पर एवं अपर। योगकी भावना तीन प्रकारकी होती है—कर्मभावना, ब्रह्मभावना तथा उभयात्मिका भावना। देवताओंसे लेकर स्थावर तथा जङ्गमपर्यन्त समस्त प्राणी कर्मभावनासे युक्त होते हैं। सनक, सनन्दन आदि मुनिगण ब्रह्मभावनासे युक्त होते हैं। स्वरूपविषयक बोध एवं स्वर्गादिविषयक अधिकारसे युक्त हिरण्यगर्भ आदिमें ब्रह्म-कर्ममयी उभयात्मिका भावना रहती है। जबतक प्राणियोंमें विशेष ज्ञानके कारणभूत कर्म क्षीण नहीं

होते, तबतक अहंकार आदि भेदके कारण मनुष्योंकी भिन्न दृष्टि बनी रहती है और ब्रह्म तथा जगत्‌की भिन्नता उन्हें प्रतीत होती है तथा अभेद-ज्ञान उन्हें नहीं होता। ब्रह्मकी उपलब्धि होनेपर साधकको अभेद-ज्ञानकी प्राप्ति होती है। ब्रह्मज्ञानका स्वरूप बड़ा ही विलक्षण है। जिसमें सम्पूर्ण भेद शान्त हो जाते हैं। जो सत्तामात्र होकर वाणीके अगोचर होता है, जो आत्मसंवेद्य होता है अर्थात् स्वयं ही अनुभव करने योग्य होता है, वही ज्ञान ब्रह्मज्ञानकी संज्ञा प्राप्त करता है—

प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्॥

(वि० पु० ६।७।५३)

वही ब्रह्मज्ञान विष्णुका 'अरूप' नामक परमरूप है, जो उसके विश्वरूपसे विलक्षण होता है—

तद्य विष्णोः परं रूपमरूपाख्यमनुत्तमम्।
विश्वस्वरूपवैरूप्यलक्षणं परमात्मनः॥

(वि० पु० ६।७।५४)

विष्णुका द्विविध रूप

भगवान् विष्णुके दो रूप होते हैं—पर (अमूर्त) रूप तथा अपर (मूर्त) रूप। पररूपका चिन्तन आरम्भमें योगीके द्वारा करना बड़ा दुष्कर होता है, इसीलिये उसे अपर रूप—मूर्तरूपके चिन्तनका उपदेश दिया गया है। मूर्तरूपके भीतर जगत्‌का समस्त प्रपञ्च वर्तमान रहता है। यह भगवान्‌का स्थूल रूप होता है, जिसका ध्यान अधिक क्लेशके बिना भी योगके द्वारा प्राप्त होता है और इसीलिये प्रथमतः इसके ध्यानकी शिक्षा सौकर्यके कारण दी गयी है। इस स्थूल (मूर्त) रूपके भीतर देवतासे लेकर क्षुद्रजीवकी सृष्टितक समग्र जगत् विद्यमान रहता है। हिरण्यगर्भ, भगवान् वासुदेव, प्रजापति, मरुत्, सूर्य, चन्द्र आदि समस्त देवयोनियों, मनुष्य, पशु आदि भूत, प्रधानसे लेकर पञ्चतन्मात्रा, पञ्चमहाभूत आदि समस्त पदार्थ इसी मूर्तरूपके अन्तर्गत होते हैं। इसीका नाम विश्व है—

एतत् सर्वमिदं विश्वं जगदेतच्चराचरम्।
परब्रह्मस्वरूपस्य विष्णोः शक्तिसमन्वितम्॥

(वि० पु० ६।७।६०)

विष्णुकी तीन शक्तियाँ यहाँ निर्दिष्ट की गयी हैं—

१-***पराशक्ति***—विष्णुकी स्वरूप-शक्ति।

२-***अपराशक्ति***—क्षेत्रज्ञरूपिणी।

३-***कर्मशक्ति***—अविद्यारूपिणी।

क्षेत्रज्ञ शक्ति अविद्याशक्तिके द्वारा आवृत होनेके कारण नाना प्रकारके क्लेशोंको प्राप्त करती है तथा इस विशाल विश्वके प्राणियोंमें वह तारतम्यसे दृष्टिगोचर होती है। वह कहीं न्यूनतासे आविर्भूत होती है और कहीं अधिकतासे विद्यमान रहती है। वह शक्ति तारतम्य-भावसे रहती है। जड पदार्थोंमें वह नितान्त न्यून रहती है। जागतिक पदार्थोंमें चैतन्यका जितना अधिक विकास होता जाता है, वह अधिक अंशोंसे उनमें निवास करती है। जड पदार्थोंकी अपेक्षा वृक्ष-पर्वतादि स्थावरोंमें, स्थावरोंसे अधिक सर्पादि जङ्गम पदार्थोंमें और उनसे अधिक पक्षियोंमें वह रहती है।

पशु-पक्षियोंकी अपेक्षा मनुष्य उस शक्तिसे अधिक प्रभावित होता है। उसके आगे वह गन्धर्वादि देवगणोंमें, तत्पश्चात् इन्द्र, प्रजापति एवं हिरण्यगर्भमें वह क्षेत्रज्ञ शक्ति क्रमशः अपने परिमाणके प्रकाशको अधिकतासे उत्पन्न करती है। पराशक्ति भगवान् विष्णुके स्वरूपकी आधायिका शक्ति है। इन समग्र शक्तियोंके आधारभूत स्वयं भगवान् विष्णु हैं। उनमें चित्तको स्थिर करना चाहिये, इसीको शुद्ध धारणा कहा गया है—

तस्मात् समस्तशक्तीनामाधारे तत्र चेतसः।
कुर्वीत संस्थितिं सा तु विज्ञेया शुद्धधारणा॥

(वि० पु० ६।७।७५)

मूर्तरूपके ध्यानके ऊपर चित्तकी स्थिरता प्राप्त होनेपर ही साधकको अमूर्त-रूपके ध्यानमें योग्यता प्राप्त होती है। विष्णुका अवयव-सम्पन्न मूर्तरूप नाना आभूषणों तथा अलंकारोंसे उद्दीप्त तथा देदीप्यमान रहता है। इन आभूषण आदिसे संयुक्त भगवद्रूपका वर्णन विष्णुपुराणमें बड़ी कमनीय भाषामें किया गया है (वि० पु० ६।७।८०—८५)। ध्यातव्य है कि यह पुराण विष्णुके चतुर्भुजरूप तथा अष्टभुजरूप दो प्रकारके रूपोंका संकेत करता है। चतुर्भुजमूर्तिके ध्यानमें चारों हाथोंमें क्रमशः शङ्ख-चक्र-गदा तथा पद्मकी भावना करनेका निर्देश किया गया है। अष्टभुज-रूपके ध्यानमें हाथोंमें शार्ङ्गधनुष, शङ्ख, गदा, खड्ग, चक्र,

अक्षमाला, वरदमुद्रा तथा अभयमुद्रा धारण करनेका विधान है। पुराणका उपदेश है कि भगवान्‌के मूर्तरूपके ध्यानमें साधकको क्रमशः विकास करते रहना चाहिये। प्रथम तो प्रत्येक अङ्गमें आभूषण आदिसे शोभित समग्र मूर्तिका ध्यान निर्दिष्ट है। इस स्वरूपके ध्यानान्तर स्फटिकमाला तथा यज्ञोपवीतधारी रूपका चिन्तन विहित है। इस धारणाके स्थिर होनेपर किरीट, कुण्डल आदि आभूषणोंसे रहित रूपका स्मरण करे। तदनन्तर प्रधान अवयवविशिष्ट भगवान्‌का हृदयसे चिन्तन करे। इसके पीछे अवयवोंसे दृष्टि हटाकर केवल अवयवीका ही ध्यान करना चाहिये। यही विष्णुपुराणका निर्देश है।

धारणाका वर्णन ऊपर किया गया है। योग-साधनाके अवशिष्ट दोनों अङ्गोंका वर्णन क्रमशः यहाँ दिया जा रहा है। ध्यानका स्वरूप इस प्रकार है—

तद्रूपप्रत्यया चैका संततिश्चान्यनिःस्पृहा।
तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप॥

(वि० पु० ६।७।९१)

जिसमें परमेश्वरके रूपकी ही प्रतीति होती है, विषयान्तरकी स्पृहा नहीं रहती, चिन्तनकी एक अनवरत धारा जो प्रवाहित होती रहती है, उसे ही ध्यान कहते हैं। यम-नियमादि छः अङ्गोंके द्वारा यह ध्यान निष्पन्न होता है। इसके अनन्तर समाधिका आविर्भाव होता है—

तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्।
मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते॥

(वि० पु० ६।७।९२)

परमतत्त्वके रूप-चिन्तनमें तीन प्रकारकी कल्पना रहती है। ध्याता—ध्यान करनेवाला, ध्येय—ध्यानके द्वारा प्राप्तव्य वस्तु तथा ध्यान—ध्याता तथा ध्येय—इन दोनोंको एक सूत्रमें लाकर कार्य सिद्ध करनेवाला साधन। उस ध्येय पदार्थका ही मनके द्वारा ध्यानसे सिद्ध होनेवाले स्वरूप-ग्रहणका साधन जो ऊपर निर्दिष्ट त्रिविध कल्पनासे विरहित होता है, समाधि कहलाता है। फलतः समाधिसे होनेवाला भगवान्‌का साक्षात्कार-रूप-विज्ञान ही परब्रह्मतक पहुँचानेवाला होता है। समग्र भावनाओंसे रहित एकमात्र आत्मा ही प्रापणीय (प्राप्त करने योग्य) तत्त्व है। क्षेत्रज्ञ—कर्ता ज्ञानरूपी करणसे मुक्तिरूपी कार्यको सिद्ध कर लेता है तथा अपने प्रयत्नमें सर्वथा कृतकृत्य होनेपर वह निवृत्त हो जाता है—

क्षेत्रज्ञः करणी ज्ञानं करणं तस्य तेन तत्।
निष्पाद्य मुक्तिकार्यं वै कृतकृत्यो निवर्तते॥

(वि० पु० ६।७।९४)

निष्कर्ष है कि अज्ञान ही जीव तथा परब्रह्ममें भेद करनेवाला है। उसकी सत्ता रहनेपर जीव अपनेको परब्रह्मसे भिन्न समझता है। परंतु इस योग-साधनाके बलपर परतत्त्वका सम्पूर्ण ज्ञान हो जानेपर दोनोंमें अभेद-बुद्धि उत्पन्न होती है और अध्यात्मशास्त्रके द्वारा निर्णीत तथा उपदिष्ट यही परम तत्त्व है।

विष्णुपुराणके अनुसार यह परमतत्त्व विष्णु भगवान् ही हैं। वही श्रवणयोग्य तत्त्व हैं। उनसे अतिरिक्त कोई तत्त्व न ध्यातव्य है और न श्रोतव्य। विष्णुपुराणका तत्त्वपोषण इस अभिराम पद्यमें अङ्कित है—

यज्ञैर्यज्ञविदो यजन्ति सततं यज्ञेश्वरं कर्मिणो
यं वै ब्रह्ममयं परावरमयं ध्यायन्ति च ज्ञानिनः।
यं सञ्चिन्त्य न जायते न म्रियते नो वर्धते हीयते
नैवासन्न च सद् भवत्यति ततः किं वा हरेः श्रूयताम्॥

(वि० पु० ६।८।५७)

जागो !

मौत महा उत्कंठ चढ़े नहिं सूझत अन्ध अभागहु रे।
चित चेतु गँवार बिकार तजो जब खेत पड़े कित भागहु रे॥
जिन बुंद बिकार सुधार कियो तन ज्ञान दियो पगु ता गहु रे।
'धरनी' अपने अपने पहरे उठि जागहु जागहु जागहु रे॥

—धरनीदास

ॐ योग-तत्त्व-विमर्श

योगका वास्तविक स्वरूप

सामान्यतया योगका अर्थ है स्थूलतासे सूक्ष्मताकी ओर जाना अर्थात् बाहरसे अन्तर्मुख होना। चित्तकी वृत्तियोंद्वारा हम स्थूलताकी ओर जाते हैं, अर्थात् बहिर्मुख होते हैं। (आत्मतत्त्वसे प्रकाशित चित्त अहंकाररूप वृत्तिद्वारा, अहंकार इन्द्रियों और तन्मात्राओंरूप वृत्तियोंद्वारा, तन्मात्राएँ सूक्ष्म और स्थूलभूत और इन्द्रियाँ विषयोंकी वृत्तियोंद्वारा बहिर्मुख हो रही हैं।) जितनी वृत्तियाँ बहिर्मुख होती जायँगी,उतनी ही उनमें रज और तमकी मात्रा बढ़ती जायगी और उसके विपरीत वृत्तियाँ जितनी अन्तर्मुख होती जायँगी, उतना ही रज और तमके तिरोभावपूर्वक सत्त्वका प्रकाश बढ़ता जायगा। जब कोई भी वृत्ति न रहे तब शुद्ध परमात्मस्वरूप शेष रह जाता है।

योगके तीन अन्तर्विभाग—योगके मुख्य तीन अन्तर्विभाग किये जा सकते हैं—ज्ञानयोग, उपासनायोग और कर्मयोग।

ज्ञानयोग—भौतिक पदार्थोंका जान लेना अर्थात् सांसारिक ज्ञान और विज्ञान ज्ञानयोग नहीं है। बल्कि तीनों गुणों और उनसे बने हुए सारे पदार्थोंसे परे अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म और कारण-शरीर तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण-जगत् अथवा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोष अथवा शरीर, इन्द्रियों, मन, अहंकार और चित्तसे परे गुणातीत शुद्ध परमात्मतत्त्वको जिसके द्वारा इन सबमें ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रिया हो रही है, संशय, विपर्ययरहित पूर्णरूपसे जान लेना ज्ञानयोग है। यह ज्ञान केवल पुस्तकोंके पढ़ लेनेसे या शब्दोंद्वारा सुन लेनेमात्रसे ही नहीं प्राप्त हो सकता। उसके लिये उपासनायोगकी आवश्यकता होती है।

उपासनायोग—एक प्रत्ययका प्रवाह करना अर्थात् चित्तकी वृत्तियोंको सब ओरसे हटाकर केवल एक लक्ष्यपर ठहरानेका नाम उपासना है। किसी सांसारिक विषयकी प्राप्तिके लिये इस प्रकार एक प्रत्ययका प्रवाह करना उपासना कहा जा सकता है, उपासनायोग नहीं। यह उपासनायोग तभी कहलायेगा, जब इसका मुख्य लक्ष्य केवल शुद्ध परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति हो। इसको स्पष्ट शब्दोंमें यों समझना चाहिये कि जिस प्रकार जलके सर्वत्र भूमिमें व्यापक रहते हुए भी उसकी शुद्ध धाराको किसी स्थानविशेषसे खोदनेपर निकाला जा सकता है, उसी प्रकार परमात्म-तत्त्वके सर्वत्र व्याप्त रहते हुए भी उसके शुद्ध स्वरूपको किसी स्थान-विशेषद्वारा अन्तर्मुख होकर प्राप्त किया जा सकता है। यह जो चित्तको किसी विशेष ध्येय (विषय-लक्ष्य) पर ठहराकर शुद्ध परमात्मस्वरूपको प्राप्त करनेका यत्न किया जाता है, यही उपासनायोग है। इस एकाग्रतारूप उपासनाको सम्प्रज्ञात-समाधि तथा सम्प्रज्ञात-योग कहते हैं। इसके पश्चात् जो सर्ववृत्तियोंके निरोध होनेपर शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति है, वह ज्ञानयोग है। इसीको असम्प्रज्ञात-समाधि तथा असम्प्रज्ञातयोग कहते हैं। इसके लिये किसी एकान्त निर्विघ्न शुद्ध स्थानमें सिर, गर्दन और कमरको सीधा एक रेखामें रखते हुए किसी स्थिर सुख-आसनसे बैठना, प्राणोंकी गतिको धीमा करना और इन्द्रियोंको बाहरके विषयोंसे हटाकर चित्तके साथ अन्तर्मुख करना आवश्यक है। फिर यह देखना होगा कि अन्तर्मुख होनेके लिये किस स्थानको लक्ष्य बनाया जाय। वैसे तो परमात्मा सर्वत्र व्यापक हैं, किंतु उनके शुद्ध स्वरूपतक पहुँचनेके लिये अपने ही शरीरमें किसी स्थानको लक्ष्य बनानेमें सुगमता रहती है। इसमें पाँच विषयवती प्रवृत्तिके स्थान हैं। अर्थात् नासिकाका अग्रभाग गन्धका, जिह्वाका अग्रभाग रसका, तालु रूपका, जिह्वाका मध्यभाग स्पर्शका और जिह्वाका मूलभाग शब्दका स्थान है।

इनसे भी अधिक प्रभावशाली 'विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति'के सुषुम्ना नाडीमें विद्यमान मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रारचक्र हैं। सुषुम्ना, जो गुदाके निकटसे मेरुदण्डके भीतर होती हुई

मस्तिष्कके ऊपरतक चली गयी है, सर्वश्रेष्ठ नाडी है। यह सत्त्वप्रधान, प्रकाशमय और अद्‌भुत शक्तिवाली है। यही सूक्ष्मशरीर, सूक्ष्मप्राणों तथा अन्य सब शक्तियोंका स्थान है। इसमें बहुत-से सूक्ष्म शक्तियोंके केन्द्र हैं जिनमें अन्य सूक्ष्म नाडियाँ मिलती हैं। इन शक्तियोंके केन्द्रोंको पद्म, कमल तथा चक्र कहते हैं। उनमें उपर्युक्त सात मुख्य हैं। उनमें भी मणिपूरक, अनाहत, आज्ञा और सहस्रार विशेष महत्त्वके हैं। किसके लिये, ध्यानके वास्ते कौन-सा स्थान अधिक उपयोगी हो सकता है, यह इस मार्गके अनुभवी ही बतला सकते हैं।

जिस प्रकार तली-तोड़ कुएँके खोदते समय कई प्रकारकी मिट्टीकी तहें तथा अन्य अद्‌भुत वस्तुएँ निकलती हैं ऐसा ही ध्यान-अवस्थामें होता है। यहाँ भी स्थूलभूत, सूक्ष्मभूत अहंकार और अस्मिता (आत्मासे प्रकाशित चित्त)—ये चार प्रकारकी तीनों गुणोंकी तहें आती हैं। जब स्थूलभूत अवस्था-उनसे सम्बन्ध रखनेवाले विषय सामने आयें, उसको वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि[1], जब सूक्ष्मभूत अथवा उनसे सम्बन्धित विषय उपस्थित हों उसको विचारानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि, जब इन दोनों विषयोंसे परे केवल 'अहमस्मि वृत्ति' रह जाय उसको आनन्दानुगत और जब उससे भी परे केवल 'अस्मि' वृत्ति रह जाय, उसको अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि कहा जाता है।

जिस प्रकार सारी मिट्टीकी तहोंके समाप्त होनेपर जलको रेतसे अलग किया जाता है, इसी प्रकार गुणोंकी इन चारों तहोंके पश्चात् जब आत्माको चित्तसे अलग साक्षात् किया जाता है, तब उसको विवेक-ख्याति कहते हैं। उसके पश्चात् शुद्ध परमात्मस्वरूप शेष रह जाता है जो समाधि, असम्प्रज्ञात-योग या ज्ञानयोग कहलाता है। अतः उपासनायोगद्वारा ही ज्ञानयोगकी प्राप्ति हो सकती है। परंतु यह उपासनायोग भी बिना कर्मयोगके नहीं साधा जा सकता।

कर्मयोग—कोल्हूके बैलके सदृश कामोंमें लगे रहनेका नाम कर्मयोग नहीं है। शरीर, इन्द्रियों, धन, सम्पत्ति आदि सारे साधनों, उनसे होनेवाले कर्तव्यरूप सारे कर्मोंको तथा उनके फलोंको भी ईश्वरको समर्पण करते हुए अनासक्त निष्काम-भावसे व्यवहार करनेका नाम कर्मयोग है। जिस प्रकार मञ्चपर आया हुआ एक्टर अपने पार्टको भलीभाँति करता हुआ अंदर इसका कोई भी प्रभाव अपने हृदयपर नहीं होने देता है, इसी प्रकार कर्मयोगी ईश्वरकी ओरसे आये हुए सारे कर्तव्योंको भलीभाँति करता हुआ भी अंदरसे अलिप्त रहता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

(गीता ५। १०—१२)

अर्थात् कर्मोंको ईश्वरके समर्पण करके और आसक्तिको छोड़कर जो कर्म करता है वह जलमें पद्मपत्रके सदृश पापसे लिप्त नहीं होता। योगी फलकी कामना और कर्तापनके अभिमानको छोड़कर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये केवल शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धिसे काम करते हैं। योगी कर्मके फलको त्यागकर परमात्मप्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त करते हैं। अयोगी कामनाके अधीन होकर फलमें आसक्त हुआ बँधता है। योगदर्शन (४। ७)में कहा गया है—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।

अर्थात् योगीके कर्म न पुण्यरूप होते हैं न पापरूप, क्योंकि वह कर्तव्यरूप कर्मोंको ईश्वर-समर्पण करके फलोंका त्याग कर निष्काम-भावसे करता है। पापकर्म तो वह कभी करता ही नहीं; क्योंकि वे उसके लिये सर्वदा त्याज्य हैं। दूसरे साधारण मनुष्योंका कर्म पाप, पुण्य और पुण्य-पापमिश्रित तीन प्रकारका होता है।

उपासनामें जब चित्तकी वृत्तियोंको एक लक्ष्यविशेषपर ठहरानेका यत्न किया जाता है, तब मन अन्य विषयोंमें राग होनेके कारण उनकी ओर दौड़ता है। विषयोंमें राग सकाम कर्मोंसे होता है। इसलिये विषयोंसे वैराग्य प्राप्त करनेके लिये

१-पहली दो भूमियों—वितर्कानुगत और विचारानुगतमें गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द—इन पाँचों विषयोंमें प्रायः रूप और शब्द ही समक्ष आते हैं, क्योंकि रूपको ग्रहण करनेवाली नेत्र-इन्द्रिय और शब्दको ग्रहण करनेवाली श्रोत्र-इन्द्रिय हर समय काम करती रहती है। इसलिये सुगमताके कारण कई आचार्य रूप या शब्दको ही ध्येय बनाकर ध्यान आरम्भ करना बतलाते हैं।

कर्मोंमें निष्कामता होना आवश्यक है। अर्थात् पापरूप अधर्म कर्म तो त्याज्य होते ही हैं, पुण्यरूप धर्म अर्थात् कर्तव्यकर्मोंको भी उनके फलोंकी इच्छाको छोड़कर निष्काम-भावसे करना चाहिये। इसलिये उपासनायोग बिना कर्मयोगकी सहायताके नहीं सिद्ध हो सकता। किंतु ये निष्कामताके भाव भी ध्यानद्वारा ही परिपक्व हो सकते हैं। अर्थात् कर्मयोगकी सिद्धि भी उपासनायोगकी सहायतासे ही हो सकती है। इसलिये जिस प्रकार संसारकी कोई भी वस्तु सत्त्व, रजस् और तमस्के सम्मिश्रणके बिना अपना अस्तित्व नहीं रख सकती, केवल इतना भेद होता है कि कहीं सत्त्वकी प्रधानता होती है, कहीं रजकी और कहीं तमकी, इसी प्रकार इन तीनों योगोंमें भी तमरूप उपासनायोग चित्तको एक लक्ष्यपर ठहरानेवाला, रजरूप निष्काम कर्मयोग और सत्त्वरूप ज्ञानयोग—ये तीनों किसी-न-किसी अंशमें बने ही रहते हैं। यह अवश्य होता है कि कहीं उपासनाकी प्रधानता होती है, कहीं कर्मकी और कहीं ज्ञानकी।

तीनों योगोंके दो मुख्य भेद—सांख्य और योग

इन तीनों योगोंके दो मुख्य भेद सांख्य और योग नामसे किये गये हैं। जहाँ भक्तियोग और कर्मयोगपर अधिक जोर दिया गया हो, वह योगनिष्ठा कहलाती है और जहाँ ज्ञानको प्रधानता दी जाती है वह सांख्यनिष्ठा।

रूपकद्वारा योगका स्वरूप

योगका दार्शनिक महत्त्व बतलाकर अब एक रोचक रूपकद्वारा उसके अष्टाङ्ग-स्वरूपको दिखलानेका यत्न किया जाता है—चित्त और पुरुषका जो अनादि स्वस्वामि-भाव-सम्बन्ध चला आ रहा है, उसके अनुसार 'स्व'-रूप चित्तको अश्व और स्वामीरूप पुरुषको सवार समझना चाहिये। इस अश्वका मुख्य प्रयोजन अपने स्वामीको भोग (इष्ट) रूप मार्गको पूरा कराकर अपवर्गरूप लक्ष्यतक पहुँचा देना है। यह मार्ग एक पक्की सड़कवाला चार भागोंमें विभक्त है—पहला स्थूलभूत, दूसरा सूक्ष्मभूतोंसे तन्मात्राओंतक, तीसरा अहंकार और चौथा अस्मिता। अन्तिम किनारेपर भेदज्ञानरूपी एक अश्वशाला है। यहाँ इस घोड़ेको छोड़ देना पड़ता है और अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग परमात्मस्वरूप एक विशाल सुन्दर राजभवन है, जहाँ इस सवारको पहुँचा देना घोड़ेका मुख्य उद्देश्य है। सकाम कर्मरूप असावधानीसे पुरुष घोड़ेकी पीठपरसे नीचे गिरकर बाग पकड़े हुए घोड़ेके इच्छानुसार असमर्थतासे उसके पीछे घूम रहा है। इस अश्वकी असंख्य चालें हैं, जो वृत्तियाँ कहलाती हैं। ये दो प्रकारकी हैं—एक क्लिष्ट, जो पुरुषके लिये अहितकारी है। दूसरी अक्लिष्ट, जो पुरुषके लिये हितकर है। वह पाँच अवस्थाओंमें रहती है—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनमें पहली तीन अवस्थाएँ पुरुषके प्रतिकूल हैं, केवल अन्तिम दो अनुकूल हैं। यह घोड़ा पहली तीन अवस्थाओंमें अपनी अनन्त क्लिष्ट चालोंसे संसाररूपी घोर भयङ्कर वनमें विषय-वासनारूप हरियालीकी ओर भाग रहा है और सवार जन्म, आयु और भोग (अनिष्ट)-रूपी नदी-नालों, खाई-खंदक, काँटों और पत्थरोंमें असमर्थतासे घसिटता हुआ उसके पीछे चला जा रहा है और सुख-दुःखरूपी चोटोंसे पीड़ित हो रहा है। एक अपरिमित समयसे उस अवस्थामें रहते हुए पुरुष अपने वास्तविक स्वरूपको सर्वथा भूल गया है और घोड़ेके साथ एकात्मभाव करके उसके ही विषयोंको अपना मानने लगा है। ईश्वर-अनुग्रहसे जब अध्यात्मविषयक सत्-शास्त्रों और निःस्वार्थ आप्तकाम योगी गुरुओंके उपदेशसे उसको अपने और इस घोड़ेके वास्तविक स्वरूपका तथा अपने अन्तिम लक्ष्यका पता लगता है, तब वह यम-नियमके साधनोंसे घोड़ेकी क्लिष्ट चालोंको अक्लिष्ट बनाता है। आसनका सहारा लेकर घोड़ेकी रकाबपर पैर रखनेका यत्न करता है। प्राणायामकी सहायतासे रकाबपर पैर जमानेमें समर्थ होता है। प्रत्याहारद्वारा वशीकार करके उसकी पीठपर सवार होनेमें सफलता प्राप्त करता है। भोग (इष्ट)-रूपी पक्की सड़ककी ओर घोड़ेका मुख फेरना धारणा है। घोड़ेको उस ओर चलाना आरम्भ कर देना ध्यान है और सड़कके निकट पहुँच जाना समाधि है। वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता अनुगतरूप एकाग्रताकी अवस्थाओंसे क्रमानुसार भोगरूपी मार्गके स्थूल, सूक्ष्म, अहंकार और अस्मितारूपी भागोंको समाप्त करता है, विवेक ख्यातिद्वारा घोड़ेको अश्वशालामें छोड़कर सर्ववृत्तिनिरोध अपवर्ग नामक शुद्ध परमात्मस्वरूपरूपी विशाल राजभवनमें पहुँचता है।

दूसरे मनोरञ्जक उदाहरणद्वारा योगका स्वरूप

सिनेमाके साधारण श्वेत रंगकी चादर (पर्दा)के समान सत्त्वचित्त (जिसमें सत्त्व-ही-सत्त्व है, रज क्रियामात्र और तम उस क्रियाको रोकनेमात्र है।) का स्वरूप समझना चाहिये। यह विद्युत्के सदृश आत्मा (चेतन-तत्त्व) के ज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशित हो रहा है। भेद केवल इतना है कि विद्युत् जड होनेके कारण स्वयं सिनेमाके पर्देका देखनेवाला नहीं है। उसको दूसरे चेतन-पुरुष देखते हैं। आत्मा ज्ञान-स्वरूप होनेसे अपने ज्ञानके प्रकाशमें जो कुछ चित्तमें हो रहा है, उसका द्रष्टा है।

यहाँ चित्तरूपी पर्दा कुछ रज और तमकी अधिकताका मैल लिये हुए एक दूसरे अहंकाररूप पर्देके स्वरूपमें प्रकट हो रहा है। यह अहंकाररूपी पर्दा रज और तमकी अधिकताका मैल लिये हुए तन्मात्राओंसे लेकर सूक्ष्म भूतोंरूपी पर्देके स्वरूपमें प्रकट हो रहा है। सूक्ष्म भूतोंरूपी पर्दा कुछ रज और तमकी अधिकताको लिये हुए पाँच स्थूलभूतों-रूपी पर्देके स्वरूपमें प्रकट हो रहा है। इस पर्देपर विषय-वासनाओंसे युक्त अनन्त वृत्तियाँ सिनेमाके चित्रोंके सदृश घूम रही हैं। चित्तरूपी पर्देमें आत्माके ज्ञानका प्रकाश पड़ रहा है। इसलिये अपने ज्ञानके प्रकाशमें जो-जो रूप यह पर्दा धारण करता है, उसका स्वयमेव ही आत्माको ज्ञान रहता है और अपने ज्ञानस्वरूपमें सर्वथा अवस्थित रहते हुए भी चित्तरूपी पर्देका द्रष्टा होनेके कारण जैसा आकार यह पर्दा धारण करता है वैसा ही वह प्रतीत होता है।

अष्टाङ्गयोग

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं, इनमेंसे प्रथम पाँच बहिरङ्ग तथा अन्तिम तीन अन्तरङ्ग साधन कहे गये हैं। बहिरङ्ग साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहारकी सहायतासे, अन्तरङ्ग साधन धारणा, ध्यान और समाधिद्वारा चित्तकी वृत्तिरूपी चित्रोंका वास्तविक स्वरूप साक्षात्कार होता है। वितर्कानुगत समाधिद्वारा चित्रोंका स्थूलस्वरूप तथा पाँच स्थूल भूतोंवाली चित्तकी अवस्थाका वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। विचारानुगत समाधिद्वारा वृत्तिरूप चित्रोंके सूक्ष्मस्वरूप तथा चित्तरूपी पर्देकी सूक्ष्म भूतोंसे तन्मात्रातककी अवस्थाका ज्ञान प्राप्त होता है। इससे ऊपर आनन्दानुगत समाधिद्वारा चित्तकी अहंकाररूप अवस्थाका साक्षात्कार होता है। अस्मितानुगत समाधिद्वारा अस्मिता (आत्मासे प्रकाशित चित्त) के स्वरूपका ज्ञान प्राप्त होता है। विवेकख्यातिद्वारा आत्मारूपी विद्युत् और चित्तरूपी पर्देमें भेद-ज्ञान प्राप्त होता है। पर वैराग्यद्वारा इससे भी परे होकर आत्मारूपी विद्युत्की अपने वास्तविक परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति होती है।

योगविद्या

(स्वामी श्रीविज्ञानानन्दजी सरस्वती)

योगविद्या भारतवर्षकी अमूल्य सम्पत्ति है, जो सुदूर अतीत कालसे अविच्छिन्न रूपमें गुरुपरम्परापूर्वक चली आ रही है। युग-युगसे चला आया यह योग वस्तुतः भारतीय ऋषि-मुनि तथा यति-योगियोंका अध्यवसाय एवं साधनालब्ध अन्तर्जगत्का महत्त्वपूर्ण अन्तर्विज्ञान है। इसी योग-समाधिके द्वारा वैदिक कालमें कितने ही ब्रह्मोपासक मन्त्रद्रष्टा ऋषि बन गये। वेदकी ऋचाएँ ही इसका प्रबल साक्ष्य हैं। वेदोंमें ऐसे अनेक मन्त्र आते हैं जो योगका ही प्रतिपादन करते हैं, यथा—ऋ०१०।१७७।३, १०।१३।१, ५।८१।१, अथर्व० १९।८।२। इसलिये **'ऋषिदर्शनात्'** के आधारपर जो मन्त्रद्रष्टा है वही ऋषि है। मन्त्रोंका दर्शन बिना योग-समाधिके नहीं हो सकता और न अनुभूत ही हो सकता है। अतः अतीन्द्रिय-दर्शन समाधिनिष्ठ योगियोंको होता है, अयोगियोंको नहीं। याज्ञवल्क्यस्मृतिमें कहा गया है—**'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।'** जिस योगसाधनाके द्वारा आत्म-दर्शन या ब्रह्मसाक्षात्कार हो वही परम धर्म है।

इस योगविद्याका वेद, उपनिषद्,दर्शन, पुराण तथा स्मृति आदि आर्ष ग्रन्थोंमें जहाँ-तहाँ पुष्कल-रूपमें वर्णन मिलता है। ऋषियोंद्वारा अनेक योगपरक उपनिषदोंका भी उद्भावन हुआ है। योगतत्त्वोपनिषद्, योगशिखोपनिषद्, योगचूडामण्युपनिषद्,

योगकुण्डल्युपनिषद्, महोपनिषद्, शाण्डिल्योपनिषद् और ध्यानबिन्दु आदि प्रमुख योग-उपनिषदें हैं।

इसके साथ ही योगाचार्य महर्षि पतञ्जलिने सम्पूर्ण योगके रहस्योंको अपने योगदर्शनमें सूत्रोंके रूपमें उपनिबद्ध किया। पतञ्जलिने योगको दार्शनिक रूप देते समय स्वतन्त्र रूप देते हुए भी कपिल मुनिप्रणीत सांख्यशास्त्रके अनुकूल बनाया है अर्थात् सेश्वर सांख्य ही बना डाला है। इसलिये ब्रह्मसूत्र (२।१।३) में बादरायणने '**एतेन योगः प्रत्युक्तः।**'—इस सूत्रसे जो योगका खण्डन किया है, वह वस्तुतः योगमें आया हुआ द्वैतपरक सृष्टिमूलक सांख्य-सिद्धान्तका ही खण्डन किया है, वेदानुकूल योगके उपयोगी साधनोंका नहीं। योग तो बादरायणको भी अभीष्ट ही था।

योग क्या है ?

'योग' शब्द'**युज समाधौ**' धातुसे बनता है। इसका अर्थ है समाधि। '**युजिर् योगे**' धातुसे भी योग शब्द बनता है, इसका अर्थ है जुड़ना अर्थात् जीवात्माका परमात्माके साथ मिल जाना—एक हो जाना। प्रायः हठयोगी तथा कुछ अन्य योगी भी योगका अर्थ यही लेते हैं। परंतु ऐसा स्थूल अर्थ लेना उचित प्रतीत नहीं होता। कारण यह है कि जीवात्मा और परमात्मा पृथक् वस्तु नहीं है, किंतु चेतनत्वेन एक ही है। भेद तो अविद्याजन्य है अतः औपाधिक है। भेद दर्शानेवाली अविद्याकी योगसमाधिके द्वारा निवृत्ति हो जानेपर चेतनमें भेद नहीं रह जाता। चेतन एक ही रह जाता है, जैसे घटाकाश और मठाकाशकी उपाधिरूप घट और मठ नष्ट हो जानेपर एक महाकाश ही शेष रह जाता है। अतः जीवत्व-भावका विलोप करके ब्रह्मभावमें स्थित हो जाना ही योग है। इसीको जीवात्मा और परमात्मा मिलकर एक हो जाना कहा गया है। योगाङ्गोंका अभ्यास करते हुए चित्तवृत्ति-निरोधपूर्वक असम्प्रज्ञात समाधि-भूमिकामें पहुँचकर अपने चैतन्य-स्वरूप या ब्रह्मस्वरूपमें स्थित हो जाना ही योग है।

योगके अधिकारी और साधना

पतञ्जलिकृत योग-दर्शन तीन योगाधिकारियोंको लक्ष्यमें रखकर प्रवृत्त होता है—कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। तीनोंके लिये भिन्न-भिन्न साधन बताये गये हैं। उनका क्रमपूर्वक वर्णन इस प्रकार है—

१-कनिष्ठ अधिकारी

कनिष्ठ योगाधिकारियोंके लिये अष्टाङ्गयोग बताया गया है। अष्टाङ्गयोग कहनेसे योगशास्त्रमें कथित आठ योगके अङ्गोंको ही समझा जाता है। यथा—'**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि॥**' (योग० २।२९) यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं। इस अष्टाङ्ग-योगके द्वारा प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—इन पाँच चित्तकी वृत्तियोंको निरोध करके योग-समाधिमें प्रवेश करना होता है और सम्प्रज्ञात-समाधिकी अन्तिम भूमिकामें पहुँचकर आत्मदर्शन या ब्रह्मसाक्षात्कार करना होता है। फिर असम्प्रज्ञात-समाधिके द्वारा स्वरूपावस्थितिको प्राप्त कर लेना चाहिये। वही कैवल्य मोक्ष है।

कनिष्ठ अधिकारीके लिये अष्टाङ्गयोगका विधान इसलिये किया गया है कि वे प्रारम्भिक योगी होते हैं। अर्थात् इसी जन्मसे योगका आरम्भ करनेवाले साधक होते हैं। इसलिये उन्हें प्रारम्भिक योगाङ्गोंका अभ्यास करते हुए समाधिकी ओर अग्रसर होना होता है, परंतु मध्यम और उत्तम योगी जिनकी योग-साधना सम्यक्रूपसे पूर्ण सिद्धितक नहीं पहुँची होती है, उनके लिये यम-नियमादिक साधनाओंको विशेष महत्त्व नहीं दिया है। क्योंकि वे उन प्रारम्भिक योगाङ्गोंका अभ्यास करते आये हैं। अतः उनके लिये भिन्न-भिन्न योगका विधान किया है।

२-मध्यम अधिकारी

मध्यम अधिकारी वे हैं जो पूर्वजन्मोंमें मोक्ष-साधन आदि करते आ रहे हैं। विवेक-ख्याति प्राप्त न होनेके कारण मोक्ष प्राप्त नहीं कर सके हैं। इस जन्ममें पुनः योग-साधनामें प्रवृत्त होनेपर योगके प्रारम्भिक साधनोंका विशेष रूपसे अभ्यासकी आवश्यकता नहीं होती। पूर्वजन्मोंके अनुभूत ज्ञान साथ ले आते हैं, इसलिये वे साधन अनायास होने लगते हैं। अतः इस मध्यम अधिकारी योगीके लिये केवल क्रियायोगके द्वारा ही समाधि-अवस्थाकी प्राप्ति हो सकती है और अन्तमें कैवल्य-मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं। क्रियायोगके विषयमें योगसूत्रकार पतञ्जलिने लिखा है—'**तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।**' (योग० २।१) 'तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये तीनों क्रियायोग हैं।'

सब प्रकारके द्वन्द्वोंको सहन करना ही तप है। उसके पश्चात् स्वाध्यायका अभ्यास भी आवश्यक है। स्वाध्यायका तात्पर्य यह है कि मोक्षशास्त्र अर्थात् ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी ग्रन्थोंका अध्ययन और प्रणव आदि मन्त्रोंका अनुष्ठानपूर्वक जपादि करना। इससे साधनामें रुचि बढ़नेके साथ-साथ मार्ग-दर्शन भी होता जाता है। इसके बाद आता है ईश्वर-प्रणिधान। ईश्वरप्रणिधानका अभिप्राय है ईश्वरकी उपासना-विशेष, जिसमें भक्तिभाव प्रधानरूपमें रहता है। ईश्वर-प्रणिधानसे अविद्याजन्य क्लेशोंकी क्षीणता तथा समाधिसिद्धि होती है। इसलिये योगसूत्रमें कहा भी है—**'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्'** (योग० २।४५) ईश्वरप्रणिधान-रूप ईश्वरोपासनासे इष्टदेवका दर्शन तथा परमेश्वरका साक्षात्कार हो जाता है। कारण यह है कि ईश्वरके ध्यान-चिन्तनादिसे योगसाधनामें आनेवाले कषायादि समस्त विघ्न दूर हो जाते हैं और शीघ्र समाधिकी प्राप्ति हो जाती है। प्रतिबन्धक समस्त बाधाओंके दूर हो जानेपर समाधिमें परमेश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन होनेमें कोई विलम्ब नहीं होता और एक बार ईश्वर-दर्शन हो जानेपर मोक्षके लिये फिर कोई प्रतिबन्धक नहीं बन सकता, यदि योगी ऋद्धि-सिद्धियोंके पीछे न पड़े तो। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस क्रियायोगके द्वारा भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

३-उत्तम अधिकारी

उत्तम अधिकारी भी पूर्ण सिद्धिको न प्राप्त किये हुए योगी ही होते हैं। उनके लिये भी यम-नियमादिक बहिरङ्ग साधनोंका विशेष महत्त्व नहीं है। उत्तम अधिकारीके लिये योगसूत्र-कारने साधन बताया है अभ्यास तथा वैराग्य। यथा—**'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'** (योग० १।१२) चित्तवृत्तियोंका निरोध अभ्यास और वैराग्यसे होता है। वृत्तिनिरोध होनेसे समाधि-प्राप्ति और समाधि-प्राप्ति होनेपर स्वरूपावस्थिति होती है।

पहले हम वैराग्यके विषयमें विचार करते हैं। वैराग्य मुख्यतः दो हैं—अपर वैराग्य और परम वैराग्य। अपर वैराग्यके चार अवान्तर भेद हैं—यतमान वैराग्य, व्यतिरेक वैराग्य, एकेन्द्रिय वैराग्य और वशीकार वैराग्य। इनमेंसे अन्तिम वशीकार वैराग्य ही योगमें उत्कर्ष लानेवाला होता है, शेष उसके पूरक मात्र हैं। अपर वैराग्य दृढ़भूत हो जानेपर परम वैराग्यका उदय होता है। परम वैराग्यका तात्पर्य है विवेक-ख्याति या पुरुषख्याति-अवस्थासे भी उपरत हो जाना। इसीको परम वैराग्य कहते हैं। इस प्रकारसे अपर वैराग्य और परम वैराग्यके साथ-साथ अभ्यास भी जारी रखना चाहिये। अभ्यासका तात्पर्य बताते हुए सूत्रकारने लिखा है—**'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः'** (योग० १।१३) पूर्वोक्त परम और अपर दोनों वैराग्योंसे चित्तवृत्तियोंका निरोध करते हुए आत्मस्थिति या स्वरूपावस्थितिकी प्राप्तिके लिये पुनः-पुनः प्रयत्नशील होना अभ्यास है। इस अभ्यासकी परिपक्वता—अन्तरङ्ग साधना - धारणा, ध्यान और समाधिसे होती है।

ध्यानका अभ्यास करते समय जब चित्त ध्येयाकारके रूपमें परिणत हो जाता हो, उसके अपने स्वरूपका भी अभाव-सा हो जाय और सिवा ध्येयके अन्य किसी वस्तुकी प्रतीति न हो, तब उसी ध्यानकी अवस्थाको समाधि कहा जाता है। अर्थात् ध्यानकी परिपक्व अवस्थाका नाम ही समाधि है।

धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनोंको संयम भी कहते हैं। यथा—**'त्रयमेकत्र संयमः'** (योग० ३।४) किसी एक ही ध्येय वस्तुमें धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनोंके ही एक साथ होनेसे उसे संयम कहते हैं। इस संयम-साधनसे अनेकों ऋद्धि-सिद्धि आदिकी प्राप्ति होती है, जो योगदर्शनके विभूतिपादमें बहु चर्चित है।

अब समाधिके विषयमें किञ्चित् विचार किया जाय, समाधि मुख्यतः दो हैं—सम्प्रज्ञात-समाधि और असम्प्रज्ञात-समाधि। सम्प्रज्ञात-समाधिके पुनः चार अवान्तर भेद हैं—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत-समाधि। इनमेंसे वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात-समाधिके भी दो भेद हैं—सवितर्क और निर्वितर्क। विचारानुगत सम्प्रज्ञात-समाधिके भी दो भेद और हैं—सविचार और निर्विचार-समाधि। अग्रिम आनन्दानुगत और अस्मितानुगत-समाधिका कोई भेद नहीं है। इस सम्प्रज्ञात-समाधिको ही सबीज समाधि भी कहते हैं। इसके पश्चात् असम्प्रज्ञात-समाधि प्रारम्भ होती है, जो योगकी चरम अवस्था-विशेष है। इसे निर्बीज समाधि कहते हैं। क्योंकि इस समाधि-भूमिकामें कोई भी कर्मबीज नहीं रह जाता है।

प्रारम्भिक समाधि है वितर्कानुगत समाधि। इस

वितर्कानुगत समाधिके द्वारा स्थूल जगत्के सम्पूर्ण पदार्थोंका साक्षात्कार करना होता है। इसमें शब्द, अर्थ और ज्ञानपूर्वक जो समाधि होती है, वह सवितर्क समाधि है और शब्दार्थ-ज्ञानसे रहित जो समाधि होती है, वह निर्वितर्क समाधि है। स्थूल जगत्के सम्पूर्ण तत्त्वोंको साक्षात्कार कर लेनेपर सूक्ष्म आलम्बनीयविषयक विचारानुगत सम्प्रज्ञात-समाधिकी स्थिति आती है। इस सूक्ष्मविषयक समाधि-भूमिकामें सूक्ष्म जगत्के सारे ही सूक्ष्म और दिव्य तत्त्वोंका साक्षात्कार करना होता है। इसमें भी शब्दार्थ-ज्ञानसहित जो समाधि होती है,वह सविचार समाधि है और बादमें जो शब्दार्थ-ज्ञानसे रहित समाधि होती है, वह निर्विचार समाधिके नामसे कही जाती है। इसमें ऊहापोह, तर्क-वितर्क सब समाप्त हो जाते हैं। इसके पश्चात् आनन्दानुगत समाधि आती है। इस आनन्दानुगत समाधि-भूमिकामें स्थूल-सूक्ष्म तत्त्वोंके साक्षात्कारजन्य तृप्तिसे उत्पन्न हुए आनन्दको आलम्बन किया जाता है। आनन्दको आलम्बन करनेके कारण इसे आनन्दानुगत-समाधि कहते हैं। आनन्द-भूमिकाके पश्चात् अस्मितानुगत-समाधि होने लगती है। अस्मिताका अभिप्राय है—**'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता'** (योग० २।६) दृक्शक्ति आत्मा और दर्शन-शक्ति चित्त (बुद्धि)—इन दोनोंका एक रूप-सा हो जाना अस्मिता है। उस अस्मिताको आलम्बन करके जो समाधि लगायी जाती है, वह अस्मिता-समाधि है। अस्मिता-समाधिमें प्रौढ़ता आ जानेपर भव्य आत्मदर्शन हो जाता है। आत्मा यद्यपि असंग और निरवयव तत्त्व है फिर भी उसका दर्शन या साक्षात्कार अवश्य हो जाता है। जैसे राहुका कोई रूप न होनेपर भी ग्रहणके कालमें चन्द्रमाके साथ राहुका भी दर्शन हो जाता है, वैसे ही निर्गुण-निराकार चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वका भी चित्त या बुद्धिके साथ योगज प्रत्यक्ष हो जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। आत्म-दर्शनके कालमें प्रकृति-पुरुष या आत्मा-अनात्माके पृथक् करनेवाले विवेक-ज्ञानको विवेकख्याति या पुरुषख्यातिके नामसे कहते हैं और उस ख्यातिसे भी उपरत हो जाना परम वैराग्य है। परम वैराग्यमें परिपक्वता आनेपर धर्ममेघ नामकी समाधि उत्पन्न होती है, जो मोक्षरूप अमृतको वर्षानेवाली है। यह योगकी नितान्त उच्चतम अवस्था है।

उक्त समाधिकी दीर्घकालिक स्थिरता आनेपर आत्मा अपने स्व-स्वरूपमें रहने लगता है। जैसे योग-भाष्यमें व्यासने कहा है—**'स्वरूपमात्रज्योतिरमलकेवली पुरुषः इति।'** अर्थात् स्वरूपावस्थितिके कालमें पुरुष-आत्मा विशुद्ध निर्मल तथा स्वयंप्रकाश-स्वरूप चैतन्य-ज्योति बनकर केवल रूपमें भासित होता है। उस कालमें सारे क्लेश-कर्मादि दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है। इसलिये योग-सूत्रकारने कहा है—**'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।'** (योग० ४।३४) जिनका पुरुष-आत्माके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा, ऐसे गुणोंका अपने कारणोंमें लीन हो जाना उनका कैवल्य है और द्रष्टा-आत्माका अपने चेतन मात्रस्वरूपमें अर्थात् ब्रह्म-स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाना स्वरूप-स्थिति या मोक्ष है। इस प्रकार आत्मस्थितिको प्राप्त करनेवाले योगी जबतक संसारमें जीवित रहते हैं, जीवन्मुक्त पुरुष कहलाते हैं, शरीर छूटनेके पश्चात् सदाके लिये मुक्त हो जाते हैं। अर्थात् **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'**—हो जाता है। जैसे सांख्य-दर्शन (५।११६)में कहा है—**'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता'**—समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष-दशामें पुरुष-आत्मा ब्रह्मस्वरूपमें स्थित हो जाता है। वैसे मुक्त पुरुष पुनः संसारागमन नहीं करते। भाष्यकार व्यासने भी कहा है—**'क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति। कस्मात्? यस्माद्विपर्ययो भवस्य कारणम्। न हि क्षीणविपर्ययः कश्चित् केनचित् क्वचिज्जातो दृश्यते इति।'** अर्थात् क्लेश-कर्मादि निवृत्त हो जानेपर जीता ही योगी मुक्त हो जाता है, क्योंकि मिथ्याज्ञान ही जन्म-मरणका कारण है। नष्ट अज्ञानवाला कोई भी योगी या ज्ञानी पुरुष किसी हेतुसे कहीं भी उत्पन्न हुआ नहीं देखा गया है। अर्थात् उनका पुनः संसारमें जन्म नहीं होता, सदाके लिये वह मुक्त हो जाता है।

गीताका कर्मयोगी फल और आसक्तिको त्यागकर भगवान्की आज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्व-बुद्धिसे शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म करता हुआ उन कर्मोंद्वारा भगवान्की भक्ति करता है (देखिये गीता २।४७से५१; ३।७, १९, ३०; ४।१४; ५।१०; ६।१; ८।७; ९।२७-२८; १२।६; १०।११; १८।६, ९, ४६, ५६, ५७ आदि)।

योगकी कुछ आवश्यक बातें

त्रियोग—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग।

योगचतुष्टय—हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग और राजयोग।

द्विविधा निष्ठा—सांख्ययोग और कर्मयोग।

द्विविधा प्रकृति—परा और अपरा।

त्रिविध पुरुष—क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम (जगत्, जीव और भगवान्)।

वेदान्तके चार महावाक्य—अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म और अयमात्मा ब्रह्म।

सप्तज्ञानभूमिका—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी और तुर्यगा।

साधनचतुष्टय—नित्यानित्यवस्तुविवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान) और मुमुक्षुत्व।

त्रिविध नरकद्वार—काम, क्रोध और लोभ।

त्रिविध ज्ञानद्वार—श्रद्धा, तत्परता और इन्द्रियसंयम।

भक्तिके चार महावाक्य—कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्, मत्तः परतरं नान्यत्, ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् और मामेकं शरणं व्रज।

द्विविधा भक्ति—अपरा या गौणी, परा या रागानुगा।

नवधा भक्ति—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन।

पञ्चभाव—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर।

अष्ट सात्त्विक भाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय।

प्रेमकी तीन अवस्थाएँ—पूर्वराग, मिलन और वियोग।

त्रिविध विरह—भूत, वर्तमान और भावी।

विरहकी दस दशाएँ—चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु।

चतुर्विध भाव—भावोदय, भावसन्धि, भावशाबल्य और भावशान्ति।

द्विविध महाभाव—रूढ और अधिरूढ।

द्विविध अधिरूढ महाभाव—मोदन और मादन या मोहन।

आसन—चौरासी या एक सौ आठ। प्रधान दो—पद्मासन और स्वस्तिकासन।

मुद्रा और बन्ध—ये अनेक हैं, परंतु पचीस मुख्य हैं। उनके नाम हैं—महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयानबन्ध, जालन्धर-बन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालनी, तडागी, माण्डवी, शाम्भवी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी, भुजङ्गिनी और पाँच धारणाएँ (पार्थिव, आम्भसी, वैश्वानरी, वायवी और आकाशी)।

षट्कर्म—धौति, गजकरणी, वस्ति, नौलि, नेति और कपालभाति। कोई-कोई त्राटकसमेत सात मानते हैं।

प्राणायाम—पूरक, कुम्भक और रेचक।

चतुर्विध पातञ्जलोक्त प्राणायाम—आभ्यन्तर, बाह्य और दो प्रकारके केवल प्राणायाम।

अष्टविध प्राणायाम—सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा और प्लाविनी। कुछ लोग अनुलोम-विलोमको जोड़कर नौ प्रकार मानते हैं।

दैनिक श्वास—२१६००।

योगसाधनमें तीन प्रधान नाडियाँ—इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना।

दस वायु—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय।

योगके षट्चक्र—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा।

योगके सप्तचक्र—उपर्युक्त छः और सातवाँ सहस्रार।

योगके नौ चक्र—उपर्युक्त सात और आठवाँ तालुमें ललनाचक्र और नवाँ ब्रह्मरन्ध्रमें गुरुचक्र।

षोडश आधार—१-दाहिने पैरका अँगूठा, २-गुल्फ, ३-गुदा, ४-लिङ्ग, ५-नाभि, ६-हृदय, ७-कण्ठकूप, ८-तालुमूल, ९-जिह्वामूल, १०-दन्तमूल, ११-नासिकाग्र, १२-भ्रूमध्य, १३-नेत्रमण्डल, १४-ललाट, १५-मस्तक और १६-सहस्रार।

तीन ग्रन्थि—ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि।

त्रिमार्ग—पिपीलिका-मार्ग, दार्दुर-मार्ग और

विहङ्गम-मार्ग।

त्रिशक्ति—ऊर्ध्वशक्ति (कण्ठमें), अधःशक्ति (गुदामें) और मध्यशक्ति (नाभिमें)।

पञ्चभूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश।

पञ्चाकाश—आकाश, महाकाश, पराकाश, तत्त्वाकाश और सूर्याकाश।

वर्ण—पचास ('अ' से 'ह' तक)।

त्रिविध मन्त्र—पुँ, स्त्री, क्लीब।

चतुर्विध वाणी—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी।

योगके आठ अङ्ग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

नियम—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान।

संयम—धारणा, ध्यान और समाधि।

क्रियायोग—तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान।

द्विविध ध्यान—भेदभावसे और अभेदभावसे।

द्विविध समाधि—सम्प्रज्ञात या सबीज और असम्प्रज्ञात या निर्बीज।

सम्प्रज्ञात समाधिके चार भेद—वितर्कानुगम, विचारानुगम, आनन्दानुगम और अस्मितानुगम।

असम्प्रज्ञातके दो भेद—भवप्रत्यय, उपायप्रत्यय।

पञ्चवृत्ति—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

पञ्चक्लेश—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।

सप्तसाधन—शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्लिप्तता।

योगके विघ्न—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, विषय-तृष्णा, भ्रान्ति, फलमें संदेह, चित्तकी अस्थिरता, दुःख, मनकी खराबी, देहकी चञ्चलता, अनियमित श्वास-प्रश्वास, अनियमित और उत्तेजक आहार, अनियमित निद्रा, ब्रह्मचर्यका नाश, नकली गुरुका शिष्यत्व, सच्चे गुरुका अपमान, भगवान्‌में अविश्वास, सिद्धियोंकी चाह, अल्प सिद्धिमें ही पूर्ण सफलता मानना, विषयानन्द, पूजा करवाना, गुरु बनना और दम्भ करना।

अष्ट महासिद्धि—अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और यत्रकामावसायित्व। कुछ लोग इनमें 'गरिमा' जोड़कर इनकी संख्या ९ कर देते हैं।

चतुर्विध साधक—मृदु, मध्य, अधिमात्र और अधिमात्रतम।

चार अवस्थाएँ—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया।

योग क्या है ?

(श्रीभूपेन्द्रनाथजी सान्याल)

प्राचीन भारतमें जितने मुमुक्षु-सम्प्रदाय थे, उनमें जो लोग तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान-रूप क्रियायोगके द्वारा आत्मसाक्षात्कार करते थे, उन्हीं लोगोंका सम्प्रदाय योग-सम्प्रदाय कहलाता था। इस योगके पुरातन या आदिम वक्ता हिरण्यगर्भ ब्रह्मा अथवा शङ्कर हैं। समस्त दर्शनशास्त्रोंमें योगदर्शन ही प्राचीनतम दर्शन है। प्राचीन मुनि पतञ्जलि इस योगदर्शनके रचयिता हैं। इस योगके द्वारा समस्त तत्त्वोंका ज्ञान जिस प्रकार सूक्ष्मतम रूपमें परिस्फुटित होता है, उस प्रकार अन्य किसी साधनाके द्वारा सम्भव नहीं। क्योंकि चित्तको संयत करनेपर जो एकाग्रता प्राप्त होती है, उस एकाग्रताका अभाव होनेपर हम जागतिक किसी पदार्थ या विषयका भी ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। और जिस समय चित्त विषयासक्ति प्रभृति अवैराग्यके द्वारा अभिभूत नहीं होता, उस समय वह जिस एकाग्र भूमिपर आरोहण करता है, उसके द्वारा निरोधरूप परमोपशान्ति नित्य प्रतिष्ठित होती है। इसके समान श्रेष्ठ बल और कुछ भी नहीं हो सकता। आत्मसाक्षात्कार-प्राप्ति ही साधनाका चरम उद्देश्य है, क्योंकि उसके अतिरिक्त दुःखनिवृत्तिका कोई दूसरा सुगम पथ नहीं है। **'अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्'**—योगके द्वारा आत्मदर्शन प्राप्त करना ही परम धर्म है। हमारे समस्त दुःखभोगका मूल चित्तका स्पन्दन ही है। चित्तके स्पन्दनकी निवृत्ति होनेपर दुःखकी निवृत्ति हो जाती है, अन्यथा लाख विचार करें,

आलोचना करें या श्रवण करें, उससे कुछ भी नहीं हो सकता। हमारे देशकी या अन्य देशोंकी भी समस्त साधनाओंमें जो प्रणालियाँ बतलायी गयी हैं, उनमें चित्तको न्यूनाधिक मात्रामें निरुद्ध करनेका उपदेश सब सम्प्रदायोंमें प्रचलित है, ऐसा देखा जाता है। वास्तवमें चित्तको स्थिर किये बिना कोई दुःखसे मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। इसीलिये चित्तका चरम स्थैर्य जो समाधि है, उसके द्वारा त्रिताप-ज्वालाकी एकदम निवृत्ति हो जाती है। इन्द्रियजनित हमारा जो ज्ञान है, वह शुद्ध ज्ञान नहीं है, क्योंकि विक्षिप्त चित्तमें जो ज्ञान प्राप्त होता है, उस ज्ञानसे आत्मदर्शन नहीं होता। समाधिजनित ज्ञानके बिना कोई आत्मज्ञान अथवा आत्मसाक्षात्कार नहीं प्राप्त कर सकता। कठोपनिषद्में कहा है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

'जो व्यक्ति पापसे निवृत्त नहीं हुआ है, अथवा जो केवल इन्द्रियपरायण है एवं जो असमाहित अर्थात् एकाग्रतारहित, चञ्चलचित्त है—वह कभी आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता, अथवा जो व्यक्ति अशान्त मनवाला है अर्थात् फल-कामनामें आसक्त चित्तवाला है, वह केवल विचारके द्वारा आत्माको नहीं प्राप्त कर सकता।'

उपनिषद्में आत्माकी प्राप्तिके विषयमें कहा है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

'समस्त भूतोंके अंदर आत्म-चैतन्य गुप्तरूपसे निहित है, यह सबके सामने प्रकाशित नहीं होता। किंतु ध्यान-निश्चला सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा सूक्ष्मदर्शियोंको यह आत्मा दिखायी देता है अर्थात् वह उनके सामने प्रकट होता है।'

आत्मदर्शन करनेके लिये बुद्धिको अत्यन्त सूक्ष्म करना होता है। साधारणतः विषयव्यापारसंलग्न चित्त अत्यन्त स्थूल अर्थात् चञ्चल होता है। उस स्थूल चित्तमें सूक्ष्मतम आत्मदर्शन होना असम्भव है। इसीलिये चित्तको स्थिर करते-करते उसे इतना स्थिर कर देना होता है कि उसका सारा स्पन्दन शान्त हो जाय। इस अवस्थाका वर्णन उपनिषद्में इस प्रकार मिलता है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

जिस अवस्थामें पञ्चज्ञानेन्द्रिय मनके साथ स्थित रहते हैं अर्थात् इन्द्रियाँ बहिर्विषयका त्यागकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं और बुद्धि भी चञ्चल नहीं रहती अर्थात् विषय-चिन्तनका दाग उसमें नहीं लगता, योगी उस इन्द्रिय-मनोबुद्धिकी स्थिरताको आत्मज्ञान प्राप्त करनेकी श्रेष्ठ साधना कहते हैं। उसी स्थिर इन्द्रिय धारणाको (अर्थात् इन्द्रियोंकी निश्चलताको) योगी लोग योगके नामसे पुकारते हैं। चूँकि योग हित और अहित दोनोंका कारण होता है, इसलिये इस बातके लिये सावधान रहना चाहिये कि चित्तकी परम स्थिरता प्राप्त होनेके पहले प्रमाद न आ जाय। अर्थात् उस समयमें योगीको अनेक विभूतियाँ प्राप्त होती हैं, अगर वह प्रमादवश उनमें आसक्त हो गया तो समस्त अभ्यासका परिश्रम नष्ट हो जायगा। ध्यान देनेकी बात है कि जिस वस्तुके प्रति चित्तका आकर्षण होता है उसी वस्तुकी ओर चित्तकी स्वाभाविक गति होती है। चित्त जब बार-बार उस वस्तुका भोग करता है, तब उसमें तदनुरूप संस्कार उत्पन्न होते हैं, संस्कारसे वासनाका उदय होता है, वासना बढ़ते-बढ़ते इस विराट् संसारकी रचना कर बैठती है। यदि उन सब वासनाओं और भोगादिके परिणाम—नीरसताका विचार किया जाय तो उन सब वस्तुओंको पानेका आग्रह मनमें फिर नहीं आ सकता। जबतक वस्तुके लिये चित्तमें आग्रह रहता है, तबतक उस चित्तको मलयुक्त कहा जाता है और वह समल चित्त भगवच्चिन्तनका बाधक है, इसीसे सब कालमें साधकोंने भगवद्भावनाके विरोधी विषय-वासनाको हेय कहा है।

हमारे अंदर वैराग्यबुद्धिका उदय क्यों नहीं होता? वैराग्यके प्राप्त होनेपर विषयकी ओर चित्त आकृष्ट नहीं होता और मन सहज ही स्थिर होकर आत्मानुसंधानमें प्रवृत्त हो सकता है। वैराग्य अनायास नहीं आता, यह समझनेपर ही विषयके प्रति प्रतिकूल भावका पोषण किया जा सकता है, ऐसा नहीं है। अन्तःकरणके अंदर जो अंश चित्तके नामसे प्रसिद्ध है, उसमें जीवके जन्म-जन्मान्तरके संस्कार एकत्रित रहते हैं, जबतक यह चित्त क्षीण नहीं होता, तबतक अनादि

संसार-वासना क्षयको प्राप्त नहीं होती। हजारों-लाखों जन्मोंके संस्कारोंसे चित्त भरा हुआ होता है, इसलिये चित्तको जीतना सहज काम नहीं है। चित्तके मूल कारण दो हैं—

'हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः।'

'चित्तके अंदर वृत्तिप्रवाहके केवल दो हेतु हैं। एक तो है वासना अर्थात् भावनामय संस्कार और दूसरा है प्राणप्रवाह।' प्राणके अंदर वासनाका बीज और संस्कार ग्रथित रहते हैं। प्राणके स्पन्दनसे मन स्पन्दित होनेपर वृत्तिप्रवाहरूप उत्ताल तरङ्गमाला उठना आरम्भ करती है। इसीलिये प्राण और मनके स्पन्दनका नाश करनेकी व्यवस्था योगशास्त्रमें बार-बार दी गयी है। निरन्तर नाड़ियोंसे होकर प्राणधारा जीवशरीरमें प्रवाहित हो रही है और वही श्वासके रूपमें स्थूलतः दिखायी देती है। यह श्वास ही जीवका जीवन है। परंतु श्वासकी इस प्रकारकी गतिको योगी लोग संसार-वासनाका मूल कारण समझते हैं। इसीलिये योगियोंके किसी-किसी सम्प्रदायने ऐसी चेष्टा की कि श्वासका ही निरोध किया जाय। क्योंकि—

'पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते।'

'प्राणवायु स्थिर होनेपर मन स्थिर हो जाता है।' अवश्य ही मन स्थिर होनेपर प्राण भी स्थिर होता है। इसीलिये योगियोंमें एक सम्प्रदायने प्राणका और दूसरे सम्प्रदायने मनका निरोध करनेकी ओर विशेष ध्यान दिया है।

इन्द्रियविकारादि दोषसमूह प्राणनिग्रहके द्वारा दूर होते हैं, यह बात महर्षि मनुके उपदेशमें भी देखी जाती है।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

'अग्निके द्वारा उत्तप्त होनेपर धातुके मल जिस प्रकार जल जाते हैं, उसी प्रकार प्राणवायुके निग्रहके द्वारा इन्द्रियोंके भी समस्त दोष दग्ध हो जाते हैं।'

योगदर्शनमें लिखा है—महामोहमय इन्द्रजालके द्वारा जब प्रकाशशील सत्त्व ढक जाता है, तब अन्य गुण कार्यशील होकर जीवको अकार्यमें नियुक्त करते हैं। उस प्रकाशको ढकनेवाले कर्म प्राणायामके द्वारा नष्ट होते हैं—**'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।'** जबतक रज-तमके कार्य चलते रहते हैं, तबतक बुद्धिका विकार नष्ट नहीं होता। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशादि पञ्च क्लेश कार्यकारण-स्रोतको उत्पन्न कर कर्मविपाककी सृष्टि करते हैं। इसी कारण समाधि-साधनद्वारा बुद्धि स्थिर करने और सब 'क्लेश' क्षीण करनेके लिये योगी क्रियायोगका अनुष्ठान करते हैं। क्योंकि जबतक सब 'क्लेश' क्षीण नहीं हो जाते, तबतक वे अप्रसवधर्मा नहीं होते। 'क्लेश' की प्रबल अवस्था रहनेपर अशुद्धि दूर नहीं होती। परंतु क्रियायोग (प्राणायामादि क्रिया) के द्वारा अशुद्धि नष्ट हो जाती है। अशुद्धि दूर होनेपर सब क्लेश भी क्षीण हो जाते हैं। सब क्लेशोंके क्षीण हुए बिना अशुद्ध वृत्तियोंको नष्ट करना सम्भव नहीं होता। अशुद्ध वृत्तियोंकी प्रबल अवस्थामें उनको कोई सँभाल नहीं सकता। पहले ऐसी चेष्टा करनेकी आवश्यकता है जिससे सब 'क्लेश' क्षीण हो जायँ। क्लेश-समूहके क्षीण हो जानेपर 'ऋतम्भरा प्रज्ञा'का उदय होता है और ऐसी 'प्रज्ञा' के द्वारा 'क्लेश'-समूह अप्रसवधर्मा हो जाता है। क्लेशसमूहकी फिर वृत्ति उत्पन्न नहीं होती। इसीलिये वसिष्ठदेवने कहा है—

दुःसहा राम संसारविषवेगविषूचिका।
योगगारुडमन्त्रेण पावनेनोपशाम्यति॥

'हे राम! यह संसाररूपी विषवेगविषूचिका अत्यन्त दुःसह है। केवल परमपावन योगाभ्यासरूप गारुड-मन्त्रके द्वारा ही उसका उपशमन किया जा सकता है।'

साधारणतः हमारा चित्त जब संसारमुखी (जैसा अधिकांश लोगोंका होता है) होता है, तब श्वास भी बाहरकी ओर विचरण करता है। इस श्वासकी गतिकी ओर योगियोंने ध्यान दिया है। जब श्वास हमारी बायीं अथवा दाहिनी नासिकासे चलता है, तब संसार-वासना स्पन्दित होती है। सब जीवोंका श्वासप्रवाह इन्हीं दो नासापुटोंसे प्रवाहित होता है, अतएव संसार-वासना किसी तरह निवृत्त नहीं होती। इसी कारण योगियोंने ऐसी चेष्टा की है कि श्वास बाहरकी ओर गमनागमन न करे। बाहरकी ओर गमनागमन करनेका पथ इडा और पिङ्गला नाडी हैं। साधारणतः अज्ञानीकी ज्ञाननाडी—सुषुम्ना-पथ बंद रहता है। योगी इसीलिये इडा और पिङ्गला नाडीका द्वार बंद करके सुषुम्नामार्गसे प्राणको चलानेकी चेष्टा करते हैं, अन्यथा मनुष्यके अंदर वास्तविक ज्ञानका उदय होना सम्भव नही। हमें समस्त ज्ञान नाडी-पथसे होता है। ब्रह्म-ज्ञान भी नाडी-पथसे होता है, वह ब्रह्मज्ञानप्रवाहिका नाडी

सुषुम्ना है। उसीसे प्राणको चलाना होगा। योग-शास्त्रमें कहा है—

विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते।
सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः॥
मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते।
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी॥

'विधिवत् प्राणसंयमके द्वारा नाडीचक्रके विशुद्ध होनेपर सुषुम्नाका मुख खुल जाता है और उसके अंदर प्राणवायु सहज ही प्रवेश कर जाता है। मध्यनाडी अर्थात् सुषुम्नाके अंदर प्राणवायु संचालित होनेपर मनको जो स्थिर-भाव प्राप्त होता है, उसी स्थिरावस्थाका नाम 'उन्मनी' अवस्था है।'

इस उन्मनी-अवस्थाको प्राप्त योगी देवताओंके भी पूजनीय होते हैं। इस योगाभ्यासके द्वारा कालको भी ठगा जा सकता है। बोधसारग्रन्थमें लिखा है—

गोरक्षचर्पटिप्राया हठयोगप्रसादतः।
वञ्चयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति हि॥

'गोरक्षनाथ, चर्पटि प्रभृति योगी हठयोगके अनुष्ठानके द्वारा सिद्धि प्राप्तकर, मृत्युको ठगकर ब्रह्माण्डमें विचरण करते हैं।'

बहुतसे लोग हठयोगसे घृणा करते हैं और राजयोगका विशेष आदर करते हैं। परंतु योगशास्त्रमें कहा है—हठयोगके बिना राजयोग और राजयोगके बिना हठयोग किसीको भी वास्तविक सिद्धि नहीं दे सकता।

वास्तवमें सब योगोंके अंदर एक प्रकारकी एकता है और परस्पर सापेक्षता है। जो इस बातको नहीं समझते वे योगी नहीं हैं। बोधसारग्रन्थमें लिखा है—

लये मन्त्रे हठे राज्ञि भक्तौ साङ्ख्ये हरेर्मते।
मतैक्यमस्ति सर्वेषां ये बुधा मोक्षमार्गगाः॥

'लययोग, मन्त्रयोग, हठयोग, राजयोग, सांख्ययोग और भक्तियोग—इन सब योगोंके अंदर मतैक्य है। जो मोक्षमार्गगामी हैं, उन सब बुधोंने देखा है कि सबका उद्देश्य मोक्षप्राप्ति है।'

हठिनामधिकस्त्वेकः प्राणायामपरिश्रमः।
प्राणायामे मनःस्थैर्यं स तु कस्य न सम्मतः॥

'हठयोगियोंका मुख्य साधन है श्रमसाध्य प्राणायाम—यह अन्यान्य योगियोंकी साधनासे अधिक है। परंतु वह प्राणायाम सिद्ध हो जानेपर चित्त स्थिर हो जाता है, यह कौन स्वीकार नहीं करेगा ?'

योगदर्शनमें भी लिखा है कि प्राणायामके द्वारा '**धारणासु च योग्यता मनसः**'—मनको धारणाविषयक योग्यता प्राप्त होती है।

प्राणकी क्रिया है निःश्वास और अपानकी क्रिया है प्रश्वास। इस निःश्वास-प्रश्वासकी गति रुद्ध होनेका नाम है कुम्भक। इस प्रकार निगृहीत प्राणवायुमें समस्त इन्द्रियाँ लीन हो जाती हैं। प्राणायाम अन्य प्रकारका भी है, जिसमें जबर्दस्ती वायुको रोकना नहीं पड़ता, बल्कि प्राणापानको दीर्घ करके निरन्तर ग्रहण करने और त्यागनेका जो कौशल है, उस कौशलका अभ्यास करते-करते अपने-आप वायु रुद्ध हो जाता है। इसका नाम 'केवल कुम्भक' है—

'रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद् वायुधारणम्।'

प्राणायाम-साधनका यह एक अत्यन्त आश्चर्यजनक फल है। जो विधिवत् प्राणायामका अभ्यास करते हैं उनके श्वासकी ऊर्ध्व-अधः-गतिका शेष हो जाता है। प्राण उस समय सुषुम्नाके मध्यसे होकर मस्तकमें जाकर स्थिर हो जाता है। प्राणायामके द्वारा जब सुषुम्नामें प्राणकी गति होती है तब 'सहजावस्था' प्राप्त होती है और उसके बाद निर्विकार-स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। इसीलिये योगियोंने चित्तस्थितिके लिये प्राणायामको सर्वश्रेष्ठ उपाय बतलाया है।

योगी गोरक्षनाथजीका कहना है कि जितने दिनोंतक प्राणवायु सुषुम्नामें प्रवेश नहीं करता, उतने दिनोंतक मौखिक ज्ञानकी बात कहना दम्भ और मिथ्या प्रलापमात्र है—

यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे
यावद्विन्दुर्न भवति दृढः प्राणवातप्रबन्धात्।
यावद्ध्यानं सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः॥

सुषुम्नाके अंदर प्राणवेग संचारित होनेपर मन शून्यके अंदर प्रविष्ट हो जाता है अर्थात् निरालम्ब होकर स्थिर हो जाता है, उस समय योगीके सब कर्म निर्मूल हो जाते हैं। यद्यपि सुषुम्नाके अंदर प्राणकी स्थिति नित्य है, तथापि इडा-पिङ्गलाके अंदर जो प्राणका प्रवाह चल रहा है, वह बंद हुए बिना उसका

अनुभव नहीं होता, इसीलिये इडा-पिङ्गलाके प्रवाहका अवरोध करनेकी आवश्यकता है। योगी गोरखनाथने कहा है—

सुषुम्नायां सदैवायं वहेत् प्राणसमीरणः।
एतद्विज्ञानमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

'यह प्राणवायु सुषुम्ना नाडीमें सर्वदा ही प्रवाहित होता है। परंतु जो योगी इसे जान जाते हैं, वे समस्त पापोंसे मुक्त हो जाते हैं।'

प्राणकी चञ्चलताके कारण ही जीव संसारचक्रमें परिभ्रमण करता है, अतएव सब प्रकारसे इस प्राणको ही स्थिर करना आवश्यक है। प्राण स्थिर हो जानेपर कामादि रिपुगण फिर नाडियोंको दूषित नहीं कर पाते। पहले कहा गया है कि हमें समस्त ज्ञान नाडीद्वारा ही होता है, अर्थात् मनमें कोई विचार (अच्छा या बुरा) आनेके पहले नाडी-प्रवाहिकाके अंदर कम्पन होता है और वही संकल्प-विकल्प आदिके रूपमें ऊपर उठता है—उस अवस्थाको ही मन कहते हैं। अतएव नाडीका शोधन आवश्यक है। गोरखनाथजी इसीसे कहते हैं—

तेन संसारचक्रेऽस्मिन् भ्रमतीत्येव सर्वदा।
तदर्थं ये प्रवर्तन्ते योगिनः प्राणधारणे॥
तत एवाखिला नाडी निरुद्धा चाष्टवेष्टनम्।
इयं कुण्डलिनी शक्ती रन्ध्रं त्यजति नान्यथा॥

'प्राणवायुके कारण ही जीवसमूह इस संसार-चक्रमें निरन्तर भ्रमण करता है। योगी लोग दीर्घ जीवन प्राप्त करनेके लिये इस वायुको स्थिर करते हैं। इसके अभ्याससे नाडियाँ पुनः कामादि अष्ट दोषसे दूषित नहीं हो पातीं। नाडी विशुद्ध हो जानेपर कुण्डलिनी-शक्ति अपने रन्ध्रको छोड़ देती है, अन्यथा नहीं छोड़ती।' वह रन्ध्र मूलाधारसे लेकर ब्रह्मरन्ध्रतक विद्यमान है। योगसाधनके बलसे कुण्डलिनी-शक्ति सुषुम्ना-विवरसे होकर ब्रह्मरन्ध्रमें जाकर जब स्थित होती है, तब शिव-शक्तिसंयोगरूप परमयोग प्राप्त होता है।

मूलाधारसे सहस्रारपर्यन्त जानेके पथमें छः पद्म हैं, इनमेंसे प्रत्येकके ध्यानसे अतुल फल प्राप्त हो सकता है। आज्ञाचक्रके ध्यानके द्वारा योगीके समस्त कर्मबन्धन नष्ट हो सकते हैं। केवल यही नहीं, योगशास्त्रमें कहा गया है कि—

यक्षराक्षसगन्धर्वा अप्सरोगणकिन्नराः।
सेवन्ते चरणं तस्य सर्वे तस्य वशानुगाः॥

'जो इस आज्ञाचक्रका ध्यान कर सकता है, उस साधकके चरणयुगलकी यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा और किन्नर अनवरत सेवा करते हैं और वे सब उस साधकके वशमें रहते हैं।'

योग और उसके विभिन्न दृष्टिकोण

(स्वामी श्रीज्योतिर्मयानन्दजी महाराज)

क्या आपने कभी यह सोचा है कि जब आपकी सभी अभिलाषाएँ पूर्ण हो जायँगी तो आप कैसा अनुभव करेंगे? उस समय किस सीमातक आपका मस्तिष्क संकल्पोंसे युक्त, संकल्पमुक्त अथवा मिश्रित स्थितिमें रहेगा?

आप क्षण-क्षण, दिन-दिन यह सोचते जाते हैं कि मेरी कितनी प्रगति हुई और कितनी होनी चाहिये। यद्यपि आपकी ये मान्यताएँ भी प्रतिक्षण बदलती जाती हैं, इतनेपर भी आप यह नहीं समझ पाते हैं कि 'आपका वास्तविक स्वरूप क्या है?' आप अपने मनमें यह सोचते हैं कि 'मेरा जीवन सदा असफल रहा है और मैं किसी भी मार्गमें सफलता नहीं प्राप्त कर सकता।'

थोड़ेसे परिवर्तनके बाद फिर आप यह सोचते हैं कि जैसा पहले सोचते रहे वैसे आप सर्वथा नगण्य नहीं हैं। फिर आप यह देखते हैं कि आपने इतनी शक्ति अर्जित कर ली है कि आप प्राप्त हुए तथा प्राप्त होनेवाले विघ्नोंपर विजय प्राप्त कर सकते हैं। आप असम्भव और सम्भव वस्तुओंको अच्छी तरह समझ सकते हैं। इसपर आप देखेंगे कि आपके हृदयके अन्तर्गत ही असीम दुर्लभ पदार्थों तथा सीमाओंको प्राप्त करनेकी शक्ति संनिहित है।

योगके बारेमें अभीतक बहुत कुछ कहा जा चुका है। कुछ लोग शारीरिक आसनों एवं प्राणायामों तथा कुछ न्यौली आदि शरीरकी सञ्चालन-प्रक्रियाओंको योग समझते हैं और

कुछ लोग महत् आश्चर्यजनक सिद्धियोंकी उपलब्धिको और कुछ लोग शारीरिक बल तथा मनोबल बढ़ानेको भी योग मानते हैं। किंतु योग इसकी अपेक्षा भी कुछ और अधिक है। इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि योगके विविध प्रायोगिक स्वरूपोंको समझा जाय और उसके द्वारा कौन-कौन-सी वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं, यह भी जाना जाय।

वस्तुतः योग एक संस्कृत शब्द है, जिसका भाव यह है कि जो आप अपनेको समझते हैं उससे आप सर्वथा भिन्न हैं। तत्त्वतः जो आप हैं, उससे संयुक्त करनेवाली साधनाका नाम योग है। आप सम्पूर्ण विश्वकी मूल शक्ति हैं न कि इस सीमित शरीरमें रहनेवाले सामान्य व्यक्ति। अपने हृदयके एकान्त मूल भागमें जो स्थित है, वही आप हैं। जैसे एक जीवनीशक्ति (जीवात्मा) शरीरमें रहकर हाथ, पैर, आँख-कान तथा अस्थि, मज्जा, मांस आदिमें व्याप्त होकर उनका सञ्चालन करती है, उसी प्रकार एक महान् शक्ति सम्पूर्ण विश्वके विभक्त स्वर्ग-पृथ्वी आदि लोकोंका तथा समस्त प्राणियोंका विधिवत् सञ्चालन करती है, यह समझनेमें कठिनाई नहीं होनी चाहिये। विश्वके सभी धर्मोंने उस तत्त्वको विभिन्न भाषा एवं शैलियोंमें समझानेका प्रयास किया है। बाइबिलके अनुसार 'परमात्माने मनुष्यको अपने ही आकार-प्रकारके अनुरूप निर्मित किया, स्वर्गका साम्राज्य उसके हृदयमें ही है।' मुसलमानोंके पवित्र ग्रन्थ कुरानकी यह घोषणा है कि 'मनुष्य परमात्माकी ही एक ज्योतिर्मय किरण है', उपनिषदें भी **'तत्त्वमसि'** अर्थात् 'तुम वही परमात्मा हो'—यह कहकर इसी तथ्यको प्रतिपादित करती हैं। यही विश्वके सभी धर्मोंकी आधारभूत मान्यता है।

ईसामसीह, गौतम बुद्ध, राम, कृष्ण, मूसा और मोहम्मद आदि सभीने मस्तिष्ककी संकीर्णतासे ऊपर उठकर उदार एवं गम्भीर चिन्तनका और समस्त विश्वके साथ आत्मभाव करनेका निर्देश दिया है और इस प्रकार सभी प्राणियों तथा परमात्माके साथ तादात्म्य संस्थापित करनेका उपदेश दिया है। यही योगका मुख्य लक्ष्य है, यही अर्थात् आत्मा या परमात्माका साक्षात्कार ही मनुष्यके जीवनका मूल लक्ष्य है। दर्शनशास्त्रोंकी जो योग-पद्धति है, वह एक ऐसे सामान्य मार्गका निर्धारण करती है कि वह व्यक्ति अपने बौद्धिक या आत्मज्ञानके प्रकाशसे सम्बद्ध हुआ है या नहीं। योग ध्यान-समाधिकी ओर बढ़नेके लिये यम-नियमोंका निर्देश करता है। जिनके द्वारा मनुष्य आत्मसाक्षात्कार करनेमें सक्षम होता है। यह योग-दर्शनकी वह प्रणाली है, जो अभ्यास तथा उसके मूल सिद्धान्तोंको भी उन्नत करती है।

जब हम यहाँ योगकी इस प्रकार चर्चा करते हैं तो वहाँ हमारा तात्पर्य आत्म-प्राप्तिके क्रमिक विकासके साधनोंसे रहता है। इससे भिन्न योग सार्वभौम सत्ताकी ओर केन्द्रित करता है। दोनों प्रकारके योगोंका स्पष्ट अन्तर अब हमें मुख्य योग-सरणिके अनुसरणकी ओर प्रवृत्त करता है।

सार्वभौम योग

योगके अनेक पहलू हैं। सार्वभौम योग मूलतः योगको समझनेकी प्रेरणा देता है। जो सब प्रकारसे इसे सम्यक्रूपेण परिपूर्ण करता है और जो परमात्मासे सम्यक्-रूपसे सर्वथा एकात्मभावके रूपमें संयुक्त कर देता है। एक साधक या योगी व्यक्तिको परमात्मासे एकात्मभाव अवश्य स्थापित करना चाहिये अथवा व्यक्तित्वको सभी स्तरोंपर बुद्धि, संवेग, इच्छा एवं क्रियाओंसे तारतम्य स्थापित किये रहना चाहिये। जीवनमें सफलता प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको चारों दिशाओंमें एक संतुलित एवं व्यापक दृष्टिकोणसे अग्रसर होना चाहिये। असंतुलित यात्रा-क्रम किसी भी दिशामें सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

इसलिये सार्वभौम योग मनुष्यके जो चार स्वरूप होते हैं उनके कारणभूत चार योगोंका सम्मिलित रूप उपस्थित करता है। इनमेंसे ज्ञानयोग (या बुद्धियोग) अनुमान या बुद्धिके अत्यन्त सूक्ष्म रहस्योंको प्रकट करता है और दूसरा भक्तियोग (या उपासना-पद्धति) मनुष्यके भावोंको उत्तेजित करता है और मनुष्यके व्यक्तित्व एवं साधनामें शक्तिका सञ्चार करता है (और वह ज्ञानयोगकी ओर विशेष प्रेरणा देता है)। तीसरा राजयोग (या ध्यान या समाधिकी पद्धति) मनुष्यकी इच्छा-शक्तिको दृढ़ बनाता है और उसके मन या चित्तवृत्तियोंको नियन्त्रित करनेमें सशक्त बनाता है और चौथा कर्मयोग (अर्थात् क्रिया करनेकी विधि) मनुष्यके अन्तर्हृदयमें निहित गूढ़ शक्तियों और उनके रहस्योंको उद्घाटित करता है और वह उसके मनः-शक्तिको बढ़ाता है तथा दिन-प्रति-दिन कर्तव्य-कर्मके रहस्योंको जानते हुए उसकी कार्यकुशलताको बढ़ाता है

(इस प्रकार यह योग भी ज्ञानयोगकी ओर प्रवृत्त करता है)।

सार्वभौम या सम्पूर्ण योग इन चारों योगों—ज्ञानयोग (बुद्धियोग), भक्तियोग, राजयोग एवं कर्मयोगको एकमें बाँधता है और इसीके साथ-साथ जो शेष अनेक प्रकीर्ण योग हैं, उन्हें भी वह समेट लेता है और इन सबको मिलाकर आत्म-साक्षात्कार या भगवत्प्राप्तिकी ओर उन्मुख या प्रवृत्त होता है। इससे भिन्न कोई अकेला सामान्य योग मनुष्यको किसी एक रास्तेपर अथवा असंतुलित रूपसे आगेकी ओर बढ़ाता है और जो अकेले किसी लक्ष्यको पूर्णरूपसे प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता है। किंतु सम्पूर्ण या सार्वभौम-योग साधकके लक्ष्यको प्राप्त करनेमें एक सुरक्षित और सुनिश्चित दिशाको प्राप्त कराता हुआ उसे महान् लक्ष्यको प्राप्त करानेमें पूर्ण समर्थ होता है।

योगविद्याका आविर्भाव कब हुआ ?

इतिहासकी दृष्टिसे यह निश्चय करना अत्यन्त कठिन है कि विश्वमें योगविद्याका आविर्भाव कब और कहाँसे हुआ। वेदोंमें योगका उल्लेख प्राप्त है, इसलिये योग निश्चय ही बहुत प्राचीन कालसे चला आ रहा है। योगविद्याके प्रारम्भिक कालसे उस समयका तात्पर्य नहीं है कि इसका अध्ययन-अध्यापन कबसे प्रारम्भ हुआ, बल्कि इसका तात्पर्य है चित्तकी वृत्तियोंका निरोध और आत्मसंयमका व्यावहारिक अभ्यास कबसे प्रारम्भ हुआ ? यही देखना है।

आइजक न्यूटनने गुरुत्वाकर्षणके सिद्धान्तका आविष्कार मात्र किया था न कि वह उसका प्रयोक्ता भी था। ठीक इसी प्रकार योगके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये कि उसके आविष्कारक और प्रचारक दूसरे लोग थे, किंतु ठीक-ठीक उसे प्रयोगमें लाकर उसका उपयोग कर सिद्धि प्राप्त करनेवाले योगी-जन दूसरे थे। इसलिये यह प्रश्न कि योगका आविर्भाव कब हुआ और किसने किया, यह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि योग-साधना एवं बुद्धिके रहस्योंको उद्घाटित कर आत्माके स्वरूपका साक्षात्कार कब और किसके द्वारा हुआ ? यह प्रश्न महत्त्वका है। बस इतना जान लेना पर्याप्त है कि योग कई हजार वर्षोंसे संसारमें अपना कार्य कर रहा है। इसने विश्वके सभी धर्मोंको अनुप्राणित किया और मनुष्यको आत्मबल प्राप्त कराकर परमोन्नति प्राप्त करनेकी दिशामें अग्रसर किया। इस प्रकारकी यौगिक क्रान्तियाँ समय-समयपर बार-बार होती रही हैं।

यह अत्यन्त युक्तियुक्त एवं तर्कपूर्ण बात है कि अत्यन्त प्राचीन कालमें ईसाने तत्त्वका साक्षात्कारकर अपने विचारोंको धर्मके रूपमें प्रचारित-प्रसारित किया[१]। ईसाके 'पर्वतपरके उपदेश' जो अहिंसा, निश्चलता, सरलता, आत्मानुसंधान या आत्मानुभवसे सम्बन्धित थे, वे योगविद्यासे प्रभावित थे। विश्वके सभी धर्म अपने मूलमें एक ही तत्त्वको सँजोये हुए हैं। संसारके भीषण क्लेशोंसे मुक्त होनेके लिये योगका आश्रयण ही मुख्य है, उसके लिये हिन्दू, ईसाई, मुसलमान आदि विभिन्न धर्मोंकि दीक्षाओंकी आवश्यकता नहीं। योगके सहारे आप अपने अन्तर्हृदयके रहस्योंको जान सकते हैं और आप देखेंगे कि सभी धर्मोंका मूल उसीमें संनिहित है। सभी धर्म अपने मूलमें एक हैं और वे सब-के-सब वही हैं।

योगधर्म या दर्शन ?

अबतक हमलोगोंने योगके धर्मके साथ तथा दर्शनके साथ सम्बन्धोंकी समीक्षा की है। अब यह निश्चय समझ लेना चाहिये कि योग इन दोनोंसे भिन्न है। विश्वास तथा आस्थाकी दृष्टिसे यह धर्म नहीं कहा जा सकता। आप किसी भी धर्मके व्यक्ति हो सकते हैं और ऐसा होते हुए भी योगके अत्यन्त प्रेमी बन सकते हैं। वास्तवमें योग एक सार्वभौम विश्व-धर्म है। योगकी दृष्टिमें धर्म एक विज्ञान है। यह ईसाके हजारों वर्ष पूर्व भारतमें विकसित हो चुका था। यही प्राचीन योग-प्रणाली सम्पूर्ण धार्मिक क्रान्तियोंकी जननी रही है और सभी आध्यात्मिक एवं धार्मिक भावनाओंको प्रेरणा देती रही है। इसलिये यदि आप योगका अध्ययन करते हैं तो आप अपने धर्मका ही अध्ययन करते हैं और अपनी आस्था तथा धार्मिक भावनाओंको दृढ़ करते हैं तथा अपने धर्मग्रन्थोंका तात्त्विक रहस्य उस योगके द्वारा स्पष्टरूपसे समझ सकते हैं।

१-ध्यान रखना चाहिये कि भारतीय मत इससे सर्वथा भिन्न है। भारतीय परम्पराके अनुसार सृष्टि प्रायः दो अरब वर्ष पुरानी है और इसके पूर्व भी विभिन्न कल्पोंकी सृष्टियाँ रही हैं, इसीलिये वेदोंके समान ही योगविद्या भी नित्य एवं अनादि सिद्ध मान्य है।

इसी तरह योग शिक्षाकी दृष्टिमें कोई दर्शन नहीं है। यह मानवीय बुद्धिके करामातोंसे बाँधा नहीं गया है और मानवीय बुद्धिके आधारपर टिका भी नहीं है। यह संत-महात्माओंके अनुसंधानोंकी आधारभित्तिपर स्थित है। जिन ऋषियोंने साक्षात् भगवान्‌को प्राप्त कर लिया था या आत्माका दर्शन कर लिया था, यह उनके द्वारा प्रदिष्ट विधियोंका निदर्शन है और आध्यात्मिक आचार-प्रणालीका क्रमिक दर्शन कराता है तथा साधकको अन्तिम लक्ष्यतक पहुँचा देनेमें समर्थ होता है। इस प्रकार व्यावहारिक रूपमें योग एक दीक्षात्मक दर्शन एवं सार्वभौम धर्मका प्रतीक है।

बुद्धियोगका स्वरूप

ज्ञानयोग या बुद्धियोग धर्मकी स्पष्ट एवं सरल व्याख्या करता है, जो अन्ततोगत्वा बुद्धिको प्रेरणात्मक तीव्र संवेगके रूपमें परिणत कर देता है। ज्ञानयोगका लक्ष्य अपने वास्तविक सत्यस्वरूपको समझनेमें पूर्ण सहयोग प्रदान करता है। वास्तविक स्वरूप क्या है ? तथा वास्तविक संसार क्या है ? ईश्वर क्या है ? और दैवी शक्ति या देव-तत्त्व क्या है ? ये सब योगके दार्शनिक पहलू हैं। यह आपको इतना बुद्धिमान्, नम्र और सावधान बनाता है, जिससे आप विपरीत परिस्थितियोंमें घबड़ाते नहीं हैं या दुविधापूर्ण स्थितियोंमें किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं होते।

भक्तियोगका स्वरूप

भक्तियोग भगवान्‌के प्रेमको प्राप्त करनेका मार्ग है। संसारके अधिकांश धर्म भगवान्‌के प्रति प्रेमको अत्यधिक महत्त्व देते हैं। सभी धर्मोंमें प्रत्येक व्यक्तिको भगवान्‌के प्रति श्रद्धा-भक्ति एवं प्रेम करनेका उपदेश दिया गया है तथा परिपूर्ण आत्मसमर्पणके द्वारा एक अद्भुत आनन्दकी अनुभूति करनेका भी उपदेश दिया गया है। योगमार्गमें भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌की भक्ति और प्रेम-प्राप्तिका मार्ग प्रशस्त किया गया है। आप केवल ईश्वरसे इसलिये प्रेम नहीं करते हैं कि आप अत्यन्त भयभीत हैं या किसी कष्टमें पड़कर उद्विग्न हो गये हैं। भगवान्‌के गूढ़ रहस्योंको युक्ति, तर्क तथा वैज्ञानिक प्रक्रियाके अनुसार अध्ययन करने तथा हृदयङ्गम करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

ध्यानयोग (राजयोग)—मनको एकाग्र करनेकी कला

जब आप विषम समस्याओंसे घिर जाते हैं, तब यह आपके लिये सोचना आवश्यक हो जाता है कि आप अपने मस्तिष्कको किस प्रकार बिलकुल शान्त कर उस समस्यासे मुक्त होनेका उपाय सोच सकते हैं और कैसे मुक्त हो सकते हैं। यदि आप इसमें समर्थ हो जाते हैं तो आप किसी भी समस्याका समाधान करने या हल निकालनेमें सक्षम हो जाते हैं। दूसरी ओर यदि आप मनको एकाग्र नियन्त्रित कर उस समस्याका हल नहीं ढूँढ़ पाते तो विषम परिस्थितियोंसे मुक्त होनेमें भी असमर्थ होते हैं। मनोविज्ञानके वैज्ञानिक तथा मनको ही सब कुछ माननेवाले योगी मस्तिष्कके अन्तर्गत ही एक दूसरी समानान्तर वस्तुका अन्वेषण करते हैं, जिसके आश्रयसे मनुष्य स्वयं अपने मन और हृदयसे ऊपर उठ सकता है। योग-विज्ञान इस परतत्त्वको मनुष्यके शरीरके अंदर ही स्थित मानता है जो राजयोगका मुख्य विषय है।

राजयोग पाश्चात्त्य जगत्‌में मनके गूढ़ तत्त्वोंके अध्ययनके रूपमें बहुत प्रसिद्ध रहा है। इसीके सहारे साधक मनके रहस्योंको विश्लेषित करते हुए आत्म-साक्षात्कारतक पहुँच जाता है। यह मनोविज्ञानके क्षेत्रमें आपको एक गहरी अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है। राजयोगका अभ्यासी अपने मनके रहस्योंको जाननेमें पूर्ण समर्थ हो जाता है। वह साधक मन तथा इन्द्रियोंके नियन्त्रण करनेकी कला या युक्तियाँ जान जाता है। वह निराशाके विचारोंको आशायुक्त या नास्तिक भावनाको आस्तिकतामें परिणत करनेमें समर्थ हो जाता है। नियन्त्रित मन और वासनाओंके दमनपूर्वक वह किसी भी दुर्लभ परतत्त्वको प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकता है।

आप कह सकते हैं कि 'मेरा योगमें कोई आकर्षण नहीं है।' आप यह भी सोच सकते हैं कि 'मेरे पास सभी आनन्द और उपभोगकी वस्तुएँ हैं तो मुझे योगकी आवश्यकता क्या है ? और मनोनियन्त्रण तथा इन्द्रिय-निग्रहकी आवश्यकता भी क्या है ? और हमारे पास बहुत-सी बुरी आदतें या दुष्प्रवृत्तियाँ भी हैं, जिनका परित्याग सम्भव नहीं तथा मेरे मस्तिष्कमें बहुत-सी धन, सुख-भोग तथा शत्रु-नाश आदिकी विषय-वासनाएँ भी भरी पड़ी हैं।'

सच्ची बात यह है कि आप सब कुछ चाहते हैं—धन, यश, व्यापारमें सफलता आदि। किंतु आध्यात्मिक प्रकाशकी प्राप्तिमें कुछ हदतक मनको नियन्त्रित करना परमावश्यक होता है। यश, धन तथा सफलता-प्राप्तिके लिये भी मनको नियन्त्रित कर उनके उपायोंको प्राप्त करनेमें लगाना पड़ता है। यह सही बात है कि आपको जब अधिक आनन्दकी प्राप्ति होती है तो कुछ अच्छे गुण आते हैं और बुरे दोष अपने-आप दूर हो जाते हैं। आपको इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती है और इधर आपके सारे दोष गुणोंमें परिवर्तित होकर योग-साधनाके उपयुक्त बन जाते हैं। योगका थोड़ा अभ्यास करनेपर आपके अन्तर्गत कौन-से उपादेय गुण और हेय दोष हैं उन्हें जाननेमें एवं तत्काल निर्णय करनेमें आप समर्थ हो जाते हैं। योगाभ्यासमें इस बातकी आवश्यकता भी नहीं पड़ती कि इसमें स्त्री, पुत्र, धन आदि सांसारिक परिस्थितियोंका परित्याग ही करना पड़े। मस्तिष्कके सभी दरवाजे या खिड़कियोंको सर्वथा बंद कर देनेकी भी आवश्यकता नहीं होती।

संसारकी जितनी भी ध्वनियाँ या उनका अपना स्वरूप है उसे नष्ट कर या सर्वथा दूर कर देनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। वे अपनी जगह पड़ी रहें कोई बात नहीं। आप अत्यन्त व्यस्त जीवनमें भी अपने मनको नियन्त्रित या किसी एक स्थानपर केन्द्रित कर सकते हैं। आप अत्यन्त दुरूह परिस्थितियोंमें भी आन्तरिक शान्ति प्राप्त कर सकते हैं या मनको एकाग्र कर सकते हैं। योग ही एक ऐसी वस्तु है जो आपके मनको नियन्त्रित करनेकी कला बताता या शिक्षा देता है। आप क्या कर रहे हैं और कहाँ हैं,यह कोई बात नहीं है, यह चिन्ताका विषय नहीं है।

कर्मयोगका स्वरूप या स्वस्वरूपके परिवर्तनका प्रयत्न

'कर्मयोग' इस शब्दका प्रयोग बुद्धियोगके लिये किया गया है। यह सोचना बहुत कठिन है कि कोई घटना सहसा घटित हो जायगी। मनके रहस्योंके गम्भीर अध्ययनसे यह पता चलता है कि विश्वके धरातलपर कोई घटना घटित होती है वह अकारण नहीं है, बल्कि एक महती शक्तिके नियन्त्रित ध्यान और संकल्पका ही परिणाम है। जब आप इस योग-साधनामें आगे बढ़ते हैं तो आप देखेंगे कि आपकी वर्तमान मानसिक स्थिति विगत सभी घटनाचक्रोंके परिणामस्वरूप एक निश्चित बिन्दुपर पहुँचती है।

मनुष्यके जीवनकी प्रत्येक घटना-चक्रमें आयी हुई प्रत्येक परिस्थिति किसी विगत कर्मका परिणाम है और वह कर्म-विपाकके विशिष्ट सिद्धान्तको निश्चित करता है। यह कोई एक ऐसी सामान्य घटना नहीं है जिसकी सर्वथा उपेक्षा कर दी जाय। इसलिये आपको अपने कष्टोंके लिये संसारपर या अपने परिवारपर दोषारोपणकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि व्यक्ति अपने कर्मोंका ही फल भोगता है। आप अपने प्रासाद (महल)के निर्माण करनेवाले शिल्पी स्वयमेव ही हैं। आप विश्वास कीजिये कि आप अपने मनको किसी अभिमत वस्तुपर नियन्त्रित कर सकते हैं और पुनः उसे किसी संत या भगवान्‌की ओर प्रवृत्त कर सकते हैं। इस प्रकार आप कर्म, योग या ध्यानके आश्रयसे अपनी सारी विपरीत परिस्थितियोंको अत्यन्त अनुकूल रमणीय स्थितिमें परिवर्तित करनेमें समर्थ हैं। यही योगकी चतुर्थ श्रेणी कर्मयोगका क्षेत्र है।

कर्मयोग किसी विशिष्ट लक्ष्यको लक्षित कर प्रवृत्त होता है। कर्म ही शनैः-शनैः योगका रूप धारण करता है और पुनः यह क्रमशः भक्तियोग और ज्ञानयोगके रूपमें वृद्धिङ्गत होता हुआ निर्विकल्प समाधि—ईश्वरप्राप्ति या स्वरूपावस्थितितक पहुँच जाता है। एकान्त या अत्यन्त संन्यासीका जीवन व्यतीत करनेकी अपेक्षा यह अधिक उत्तम होगा कि आप नियमित रूपसे अपने दैनन्दिन क्रिया-कलापोंका कर्मयोगके रूपमें सम्पादन करें। तब आप देखेंगे कि संसार कष्टका स्थान नहीं है, किंतु आपके लिये आनन्दानुभवका स्थान बन जायगा और आप अपने जीवनमें पर्याप्त ऊपर उठ जायँगे। तब आप यह देखेंगे कि यह विश्व आपकी आध्यात्मिक साधनामें एक परोपकारी वस्तु बन जायगा और पुनः सम्पूर्ण विश्व आनन्दमय परमात्माके रूपमें ही दीखने लग जायगा।

अन्य प्रकीर्ण योग

जपयोग—इसमें श्रद्धा-भक्तिके साथ भगवन्नाम या तान्त्रिक मन्त्रोंके बार-बार जपका विधान है। इसमें कभी वैदिक सूक्तोंके साथ ही तान्त्रिक मन्त्रोंके साथ कोई प्रार्थना या स्तुति भी की जाती है। यह भक्तियोगका ही एक अङ्ग है।

हठयोग—यह मनोविज्ञान तथा शारीरिक व्यायामसे

सम्बन्धित योग है, जिसमें शरीरके विभिन्न अङ्गोंको विशिष्ट नियमोंसे संचालन करना पड़ता है। इसमें अनेक प्रकारके आसन, प्राणायाम तथा नेति, धौति, वस्ति आदि कर्मोंका अभ्यास करना पड़ता है। यह राजयोगमें प्रवेश करनेका प्रारम्भिक आधारभूत योग है।

कुण्डलिनी-योग—यह गुप्त रहस्य या दिव्य ज्ञानको प्रदर्शित करनेवाला योग है, जिसे कुण्डलिनीयोग या शक्तियोग भी कहते हैं। यह कुण्डलिनीशक्ति छः चक्रोंका आश्रय लेकर प्रत्येक प्राणीके हृदयनलिकाके अन्तर्गत निवास करती है। यह बात कोई महत्त्व नहीं रखती कि आप किस प्रकारकी साधना कर रहे हैं, कुण्डलिनी-शक्ति आपको सभी प्रकारके मार्गोंमें सहायता प्रदान करेगी, यह एक तापमापक यन्त्रकी तरह शरीरमें स्थित होकर आपकी साधनाकी प्रगतिको सूचित करती है।

नादयोग—यह एक विशेष प्रकारका योग है, जिसमें साधक रहस्य-पूर्वक ध्वनियोंको ध्यानसे सुनता रहता है। इस साधनाका साधक योगी अपने कानोंके भीतर अत्यन्त ध्यानसे हृदयसे उद्भूत होनेवाली ध्वनियोंको श्रवण करता है। जब साधक इस प्रकारकी विभिन्न ध्वनियोंको सुननेका अभ्यस्त हो जाता है तो उसकी स्थिति ध्यान एवं समाधिमें प्रवेश करनेके योग्य हो जाती है।

क्रियायोग—इस योग-पद्धतिमें शास्त्रोंके अध्ययन और उनके अनुसार श्रद्धापूर्वक कर्म करते हुए प्रगाढ़ भक्ति-भावनाको उन्नत करनेका यत्न किया जाता है। यह हृदयको शुद्ध कर देता है और तत्पश्चात् साधक किसी भी महान् योगमें सिद्धि प्राप्त करनेकी योग्यता प्राप्त कर लेता है। क्रियायोगके विशेष परिचयके लिये पद्मपुराणका क्रियायोग सार-खण्ड विशेष सहायक है।

आप योगी अवश्य बनिये

आप अपने प्रत्येक दिनके जीवनमें थोड़ा-थोड़ा समय देकर ज्ञानार्जन, भक्ति, ध्यान और कुछ कर्मानुष्ठानका भी संतुलित भावसे अभ्यास करें। उपरिनिर्दिष्ट बड़े तथा छोटे सभी योगोंका आप अपने प्रत्येक दिनके जीवनमें सम्मिलित रूपसे थोड़ा-थोड़ा अवश्य अभ्यास करते रहें। इस प्रकार धीरे-धीरे आप सार्वभौम-योग—सम्पूर्ण योग या सम्यक्-योगका अभ्यास करने लग जायँगे। योग आपके शरीरकी शोभाको बढ़ा देगा एवं दैवी गुणोंसे आपके व्यक्तित्वका विकास करेगा और भावी सफलताओं तथा दिव्य ज्ञान-ज्योतिकी प्राप्तिके लिये दृढ़ आधार बन जायगा। भगवान्‌का पूर्ण कृपा-प्रसाद आपको प्राप्त हो।

(अनु०—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

योगकी उपादेयता

(स्वामी श्रीओंकारानन्दजी सरस्वती महाराज)

असंख्य प्राणियोंके भवसागरसे पार करने-हेतु महर्षि पतञ्जलिने योगका निरूपण किया है। कुछ लोगोंका विश्वास है कि हिरण्यगर्भरचित योगसूत्र जो अब लुप्त हो गये हैं, उन्हींके आधारपर योगसूत्रकी रचना हुई । महर्षि पतञ्जलिने अष्टाङ्गयोगका प्रतिपादन किया, जो 'यम-नियम-आसन-प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि' के रूपमें गृहीत है। विवेकमार्तण्ड (१।६) में भी इसीका अनुमोदन किया गया है, जो षडङ्गभूत है।

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट्॥

भारतीय वाङ्मयमें योगपर बृहत् चिन्तन प्रस्तुत किया गया है, जिसके आधारपर साधक अपनी साधनाका दिशा-निर्देश प्राप्त करते हैं। सृष्टिका स्वरूप दो पदार्थोंपर आधारित है 'योग और भोग' । इन्हीं दोनोंमें सब कुछ अन्तर्भूत है। दोनोंका फल भी सुनिश्चित है। भोग बन्धन और योग मुक्ति प्रदान करता है। यह भी निर्विवाद है कि बन्धन किसीको स्वीकार्य नहीं, परंतु प्रमाद जीवकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। बिना परिश्रमके वस्तु सहज ग्राह्य समझकर उसमें सुखकी अनुभूति-मात्र मृगमरीचिका बनकर रह जाती है। योगी योगके बिना रोगी ही रहता है, परंतु योगी भोगी होते हुए भी संसारीकी भाँति भले ही दिखायी देता हो, किंतु जितेन्द्रिय और योग-तत्त्वज्ञ होनेसे संसारीकी तरह बन्धनको प्राप्त नहीं होता—जीवन्मुक्त रहता है।

क्षणभङ्गुर संसारमें प्राणी किसी-न-किसी योगका आधार

लेकर विचरण कर रहा है। जबतक वह प्रभुप्रदत्त विवेकको जाग्रत् कर स्वयंको विज्ञ महापुरुषोंके अमृतोपदेशोंसे जोड़ (योग) नहीं लेता, तबतक उसे निःश्रेयसके मार्गका निर्धारण करनेमें कठिनताका अनुभव होता रहेगा।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

(६।४६)

अर्जुन! तू योगी बन जा। क्योंकि तपस्वियों, ज्ञानियों और सकामकर्ममें निरत जनों—इन सभीसे योगी श्रेष्ठ है।

श्रीमद्भागवत महापुराणमें अपने सखा उद्धवको उपदेश देते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं—

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः॥

(११।१५।१)

'प्रिय उद्धव! जब योगी इन्द्रिय-प्राण और मनको वशमें करके अपना चित्त मुझमें लगाकर मेरी धारणा करने लगता है, तब उसके सामने बहुत-सी सिद्धियाँ उपस्थित हो जाती हैं।' इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि योगके द्वारा सभी सिद्धियाँ (अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशिता, वशिता, कामावसायिता नामकी अष्टसिद्धियाँ एवं अतीत-अनागत ज्ञान, पूर्वजातिज्ञान, दूर-श्रवण, पशु-पक्षियों आदिकी बोलीका ज्ञान आदि अन्य सिद्धियाँ भी) स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। किंतु योगकी चरम उपलब्धि मात्र सिद्धि-प्राप्तिके संकुचित प्रकोष्ठको अधिगत करना नहीं, वरन् आत्मज्ञान और आत्मबलकी प्राप्ति है।

योग हमारे ऋषियों, महर्षियों, तपस्वियोंकी अनुभूत साधनाका वैचारिक आदर्श है। योगीके लिये भौतिक और पारलौकिक पदार्थ सहज प्राप्य हैं। उसकी शक्ति असीमित होती है। वह ब्रह्माण्ड-स्थित सचराचर जगत्‌को अपने विशाल हृदयाकाशमें समाहित देखता है। उसके अन्तःकरणका भक्तियोग उस स्थितिको प्राप्त कर लेता है, जिसमें वह स्वयं आनन्दित होकर कह उठता है—***'सीय राममय सब जग जानी।'*** योगद्वारा अन्तःकरणमें छुपी असीम शक्ति प्रत्यक्ष हो उठती है और वह शक्ति चिरन्तन देदीप्यमान प्रकाश-पुञ्ज बनकर विश्वको जीने-जागने तथा सद्-व्यवहार-सम्पन्न करनेतककी योग्यता प्रदान करनेमें सक्षम हो जाती है। उत्तरगीता (२।१०)में योगके माहात्म्यके विषयमें इस प्रकार कहा गया है—

मुहूर्तमपि योगश्चेन्नासाग्रे मनसा सह।
सर्वं तरति पाप्मानं तस्य जन्मशतार्जितम्॥

'जो साधक योग-साधनामें स्थित होकर मनको एकाग्र करके क्षणमात्रके लिये भी अपनी दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर स्थित कर लेता है, वह अपने सैकड़ों जन्मोंके लिये पापसे छुटकारा पा जाता है।'

ध्यानयोगके विषयमें 'विवेकमार्तण्ड' ग्रन्थमें लिखा है—चाहे कोई हजारों अश्वमेध और वाजपेय यज्ञोंका अनुष्ठान करे, पर जो फल विशुद्ध ध्यान एवं समाधि-योगके द्वारा प्राप्त होता है, वह इन यज्ञोंसे नहीं होता—

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
एकस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

योगकी विभिन्न पद्धतियों एवं उपासनाकी अनेकानेक विधियोंका प्रमुख लक्ष्य चित्तको राग-द्वेषादि मलसे रहितकर उसमें सत्त्वगुणका उद्रेक करके वृत्तियोंको निर्मलता प्रदान करना है। योग स्वरूप-बोधसे स्वरूपोपलब्धितककी यात्रा है। अन्तश्चेतनाकी जागृतिका योग एक अन्यतम साधन है।

चरित्र-निर्माणमें योगका जो महत्त्व है वह भी स्पष्ट है। मानवमें निहित सात्त्विक तत्त्व जब योग-साधनाद्वारा जाग्रत् हो उठते हैं, तब मानव मानवीय गुणोंसे मण्डित हो जाता है। क्षमा, दया, करुणा, ज्ञान, दर्शन और वैराग्यकी अभिवृद्धि ही चरित्र-निर्माणकी भित्तियाँ हैं।

'नास्ति योगात्परं बलम्।' 'नास्ति योगात् परो बन्धुः' — जैसे वचन भी प्रसिद्ध ही हैं। भगवान् शिवका कथन है कि योगमार्गसे उत्तम कोई मार्ग श्रेष्ठ नहीं—

योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ।
शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा॥

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ५।२१)

महान् योगिराज शिवस्वरूप गोरक्षनाथ अपने गोरक्षशतक (५) में योगसाधनाके विषयमें कहते हैं—

एतद् विमुक्तिसोपानमेतत् कालस्य वञ्चनम्।
यद् व्यावृतं मनो भोगादासक्तं परमात्मनि॥

'यह मुक्ति-प्राप्तिका सोपान है, इससे कालजयी होना सम्भव है। इस योग-ज्ञानके द्वारा मन विषयभोगोंके रसास्वादनसे निवृत्त होकर भगवच्चिन्तनमें लग जाता है।'

कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, हठयोग, प्राणयोग, बुद्धियोग, भावनायोग आदि अनेक प्रकारके योगोंका विवेचन शास्त्रोंमें किया गया है, अमनस्कयोगमें योगाभ्यासके विषयमें कहा गया है—

विविक्तदेशे सुखसंनिविष्टः
समासने किंचिदुपेत्य पश्चात्।
बाहुप्रमाणं स्थिरदृक् स्थिराङ्ग-
श्चिन्ताविहीनोऽभ्यसनं कुरुष्व॥
एवमभ्यसतो योगं मनो भवति सुस्थिरम्।
वायुवाक्कायदृष्टीनां स्थिरता च तथा तथा॥

(१।१६-१७)

सब प्रकारकी चिन्ताओंसे रहित हो एकान्त स्थानमें सम आसनपर कुछ पीछेकी ओर झुककर तनकर स्थिर अङ्गसे सुखपूर्वक बैठकर एक हाथपर्यन्त दृष्टि स्थिरकर योगका अभ्यास करो। ऐसा अभ्यास करते-करते मन स्थिर होता है, वायु (प्राण) वाणी और दृष्टिमें भी स्थिरता आ जाती है और फिर इस प्रकारके अभ्याससे परमतत्त्वका बोध हो जाता है। जब योगीकी भावना पञ्चमहाभूतोंसे निर्मित शरीरके विषयसे ऊपर उठ जाती है, तब उसको बाहर और भीतर सर्वत्र परमतत्त्वका ही स्फुरण होने लगता है और अखण्ड आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार सर्वविध कल्याणकारक योगमार्गका आश्रय ग्रहण करना चाहिये।

भारतीय संस्कृतिकी एक समृद्ध सम्पत्ति—योग

(डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज)

मानव-जीवनका सर्वोत्तम पुरुषार्थ है भगवत्साक्षात्कार। यद्यपि श्रीभगवान् अव्यक्त[1] और अदृश्य हैं तथापि भक्तिपूर्वक ध्यान करनेवाले भाग्यशाली महानुभावोंको वे अपना दर्शन देकर अवश्य ही कृतार्थ कर देते हैं[2]। अतएव वे न केवल अदृश्य हैं अपितु व्यक्तरूप भी हैं। यह ध्यान वैदिक वाङ्मयमें उपदिष्ट योगके छः अङ्गोंमेंसे तीसरा है—

'तथा तत्प्रयोगकल्पः। प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं धारणा तर्कः समाधिरित्युच्यते योगः।'

(मैत्रायणीसंहिता ६।१८)

यहाँ ध्यानके अनन्तर धारणाका उल्लेख है और महर्षि पतञ्जलिके अनुसार धारणाके पश्चात् ध्यान होता है।

साधक जब अपने चित्तकी वृत्तिको प्रयत्नपूर्वक अपने आराध्य प्रभुके रूपके चिन्तनमें लगा देता है, तब वह स्थिति 'योग' कहलाती है—

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते॥

(विष्णुपुराण ६।७।३१)

इस प्रकारका ध्यान-योग संध्योपासनाके समय सुकर है। जितनी बार संध्योपासना होगी, (प्रातः, मध्याह्न और सायम्) उतनी बार ध्यान भी हो जायगा।

कोई-कोई साधक अपने मनोमन्दिरमें विराजमान प्रादेशमात्र आकारवाले, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज भगवान्‌का धारणा-विधिसे स्मरण करते रहते हैं—

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे
प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्ख-
गदाधरं धारणया स्मरन्ति॥

(श्रीमद्भा० २।२।८)

जब साधकके चित्तकी उसके चलते-फिरते, उठते-बैठते अथवा कोई और काम करते समय भी भगवदाकारमयी वृत्ति

१-तदव्यक्तमाह हि। (ब्रह्मसूत्र ३।२।२३)

२-अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। (ब्रह्मसूत्र ३।२।२४)

बनी रहे, तब वह धारणा परिपक्व मानी जाती है—

व्रजतस्तिष्ठतोऽन्यद् वा स्वेच्छया कर्म कुर्वतः।
नापयाति यदा चित्तात् सिद्धां मन्येत तां तदा॥

(विष्णुपुराण ६।७।८७)

धारणामें जागतिक व्यवहार चलता रहता है और चित्त-वृत्ति भगवन्मयी भी बनी रहती है। किंतु जब साधककी चित्तवृत्ति सम्पूर्ण भावसे ऐसी भगवदाकारवती हो जाय कि अन्य किसी वस्तुका भान ही न रहे, तब वह स्थिति समाधि कहलाती है। सुनीति-नन्दन राजकुमार ध्रुवने देवर्षि नारदके उपदेशसे चित्तकी ऐसी समाधिमती एकाग्रता प्राप्त कर ली थी।

समाहितः पर्यचरदृष्यादेशेन पूरुषम्॥

(श्रीमद्भा० ४।८।७१)

ध्यायन् भगवतो रूपं नाद्राक्षीत् किंचनापरम्॥

(श्रीमद्भा० ४।८।७७)

ऐसे एकान्त ध्यानकी ओर संकेत करते हुए पूर्वाचार्योंने साधकोंको सावधान करते हुए श्रीभगवद्ध्यानमय योगके अभ्यास करनेकी ओर दत्तचित्त किया है। दिग्दर्शनार्थ—

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥

(मुण्डकोपनिषद् ३।१।८)

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥

(श्रीमद्भा० १।२।१४)

'ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः।'

(श्रीमद्भा० १२।१३।१)

अर्थात् ज्ञानकी निर्मलताके कारण शुद्ध चित्तवाला ध्यानाभ्यासी साधक भगवान्‌का दर्शन कर लेता है। एकाग्र मनसे प्रतिदिन भगवान्‌के नाम और गुणोंका श्रवण तथा कीर्तन करना चाहिये एवम् उनका ध्यान और पूजन भी करना चाहिये।

योगी लोग ध्यानके द्वारा श्रीभगवान्‌का दर्शन कर लेते हैं। योग भारतीय संस्कृतिकी एक समृद्ध सम्पत्ति है।

योगका वैविध्य

श्रीभगवान्‌ने उद्धवजीको तीन योगोंका उपदेश दिया था। वे हैं ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। अष्टाङ्गयोगको मिलाकर चार योग हो जाते हैं। 'योग-प्रदीप'में राजयोग, अष्टाङ्गयोग, हठयोग, लययोग, ध्यानयोग, भक्तियोग, नामयोग, क्रियायोग, भेषजयोग, मन्त्रयोग, कर्मयोग और ज्ञानयोगका उल्लेख करते हुए योगको बारह प्रकारका माना गया है।

भक्तियोगकी श्रेष्ठता

प्राचीन ग्रन्थोंमें योगके अनेक प्रकारोंका उल्लेख हुआ है अतएव रुचिभेदसे उन योगोंके अनुगामी भी अनेक प्रकारके हैं। भगवान् श्रीकृष्णका यह मन्तव्य है कि सभी प्रकारके योगियोंमें जो श्रद्धापूर्वक मुझमें मन लगाकर मेरा भजन करता है, वही सर्वोत्तम योगी है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६।४७)

संसारमें कैसे रहना चाहिये

जग माहीं ऐसो रहो, ज्यों अम्बुज सर माहिं।
रहै नीरके आसरे, पै जल छूवत नाहिं॥
जग माहीं ऐसे रहो, ज्यों जिह्वा मुख माहिं।
घीव घना भच्छन करै, तौ भी चिकनी नाहिं॥
ऐसा हो जो साध हो, लिये रहै वैराग।
चरनकमलमें चित धरै, जगमें रहै न पाग॥

—चरनदास

योगमाया

श्रीयोगमाया वह अद्भुत तत्त्व है जिसके कारण निर्गुण-निराकार परब्रह्म कल्याणगुणगणाकर मूर्तिमान् बन जाते हैं। यद्यपि इन दोनों—शक्ति तथा शक्तिमान्में कोई भेद नहीं है तथापि भक्तोंसे आराधित शक्तिमान् जिस प्रकार श्रीराम-कृष्णादि अनेक रूपोंमें दर्शन देते हैं, उसी प्रकार ऋषि-मुनि-संस्तुता शक्ति भी श्रीदुर्गा, देवी, काली आदि नानाविध रूपोंमें प्रकट होती हैं। भावके तारतम्यके अनुसार ही शास्त्रमें, उपासनाविधिमें व्यावहारिक भेद दृष्टिगोचर होता है, जैसे किसी भावुक भक्तको अघटनघटनापटीयसी शक्तिदेवीकी अपार महिमाके सम्मुख ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी गौण प्रतीत होते हैं तो किसी दूसरे भक्तको शक्ति शक्तिमान्के अधीन विदित होती हैं। परमार्थतः दोनों एक ही वस्तु हैं।

शास्त्रमें इन महाप्रभावा योगमायाका वर्णन अनेक स्थलोंपर उपलब्ध है। वेदके एक मन्त्रमें शक्ति-शक्तिमान्को भाई-बहिन मानकर उनका आह्वान किया गया है—

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व ·····।

(शुक्लयजु० ३। ५७)

'अम्बिका बहिनके साथ हे रुद्र ! यह आपका भाग है, इसे पाइये।'

मार्कण्डेयपुराण तथा देवीभागवत इन जगज्जननीके सर्वोपरि माहात्म्यका वर्णन कर ही रहे हैं। श्रीमद्भागवतमें वह ब्रह्मके परिपूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्रजीकी अनुजा कही गयी हैं— **अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजा।**

'भगवान् श्रीविष्णुकी छोटी बहिन अष्टमहाभुजा आयुध लिये दिखायी दीं।' इन्हीं योगमायाने श्रीमन्नारायणके आदेशके अनुसार गर्भसङ्कर्षण नामक त्रिलोकीमें अश्रुतपूर्व चमत्कार किया था और अजा होकर भी यशोदामाताकी गर्भशय्यामें शयन किया था—

या योगमायाजनि नन्दजायया।

योगमायाकी इच्छासे ही वसुदेवजीके कारागृहके निरीक्षक द्वारपाल निद्राभिभूत हो गये थे।

तया हतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु
द्वाःस्थेषु पौरेष्वथ शायितेष्वपि।

इन्हींके साहाय्यसे भगवान् श्रीकृष्णने रास नामक लोकोत्तर विस्मय कार्य किया था। **योगमायामुपाश्रितः।**

सगुण ब्रह्मका जो सर्वातिशायी ऐश्वर्य है, वह सब योगमायाका प्रभाव है। सनकादि नित्यमुक्त ब्रह्मर्षियोंके वैकुण्ठाधिष्ठान श्रीविष्णुभगवान्के साथ संलापमें भगवान्का जो विशेषण है, उससे यही बात सिद्ध होती है—

ते योगमाययारब्धपारमेष्ठ्यमहोदयम्।
प्रोचुः प्राञ्जलयो विप्राः प्रहृष्टाः क्षुभितत्वचः॥

(श्रीमद्भा० ३। १६। १५)

'योगमायासे जिनके परमैश्वर्यका महोदय प्रकट हुआ, उन परमेश्वरसे वे आनन्दित-पुलकित ब्राह्मण हाथ जोड़कर बोले।'

योगियोंके योगप्रभावको भी योगमाया कहा जा सकता है। किंतु प्रस्तुत प्रसङ्गमें वह अभीष्ट नहीं है, क्योंकि बद्ध मनुष्यकी अपेक्षा मुक्त योगीका ऐश्वर्य यद्यपि निरवग्रह हो सकता है और शास्त्रमें ऐसा कहा भी गया है तथापि परमात्माके साथ तुलना करनेमें वह सावग्रह ही ठहरता है। योगदर्शनके मतानुसार समाधिके अनन्तर अन्यान्य विभूतियोंके अतिरिक्त योगियोंको सर्वज्ञत्व नामकी सिद्धिकी प्राप्ति हुआ करती है।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।

'प्रकृति और पुरुषके भेदका यथार्थ ज्ञान जिसको हो गया वह सब भावोंका अधिष्ठाता और सर्वज्ञ हो जाता है।' यह सर्वज्ञत्व तथा सर्वभावाधिष्ठातृत्व अवश्यमेव आपेक्षिक है। साधारण संसारी जीवकी अपेक्षा योगी सर्वज्ञ है ही, किंतु उसमें निरतिशय सर्वज्ञबीज नहीं है, वह तो नित्यसिद्ध परमपिताका ही सहज गुण है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।

'वहाँ सर्वोपरि सर्वज्ञताका बीज है।' इसी प्रकार योगीको प्रकृतिपर विजय प्राप्त हो जाती है। किंतु वह जगत्की सृष्टि-स्थिति-प्रलय नहीं कर सकता। वेदान्तशास्त्रका—**जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च।**'—यह सूत्र इस विषयमें प्रमाण है। विश्वव्यापार तो भगवान्की ही योगमायाका विलास है।

योगज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ

(श्रीहरिलाल भोगीलाल त्रिवेदी, वैद्य)

प्राचीन कालमें अनेकों महर्षियोंने अध्यात्मबलको प्राप्तकर परम प्राप्तव्य वस्तुका लाभकर जिस सर्वोत्कृष्ट स्थितिके भोक्ता बननेका सौभाग्य प्राप्त किया था, उस स्थितिको पानेके लिये जिसके हृदयमें प्रयत्नशील होनेकी उत्कट इच्छा जाग्रत् हुई है, उसी मनुष्यमें मनुष्यत्व है। अन्यथा केवल मनुष्य-देह धारण करनेसे ही वास्तविक मनुष्यत्व नहीं आता। परंतु परम दयामय देवेशने मनुष्यको जो-जो उत्तम साधन प्रदान किये हैं, उन-उन साधनोंकी सर्वोत्तम शुद्धि करते हुए मनुष्यत्वकी अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ गुणयुक्त देवत्व और उससे भी उच्चतम ईशत्वको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करनेवाला वीर साधक ही मनुष्य नाम पानेके योग्य है।

इस जगत्का प्रत्येक अणु—सजीव या निर्जीव प्रतिक्षण उत्तरोत्तर शुद्ध होकर विकासमार्गमें गतिशील हो रहा है। इसीके अनुसार मानव प्राणीके भीतर भी अन्तिम सर्वोत्कृष्ट स्थिति—मुक्तिस्थिति प्राप्त करनेकी अभिलाषा ज्ञात या अज्ञातभावसे रहती ही है। भगवती श्रुति कहती हैं—**'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'** इससे यह सिद्ध है कि ज्ञान प्राप्त हुए बिना मोक्षाभिलाषीकी मुक्त होनेकी आशा निरर्थक है। वह ज्ञान क्या है, यह जानना चाहिये। इस जगत्में दीखनेवाली प्रत्येक लौकिक विद्या दुःखोंकी आत्यन्तिकी निवृत्ति और सुखकी परावधिकी प्राप्ति करवानेमें सर्वथा असमर्थ है। यह बात बुद्धिमानोंके लिये सुस्पष्ट है। तब वह ऐसी कौन-सी विद्या है जिसके द्वारा मनुष्य कर्तव्य, ज्ञातव्य और प्राप्तव्यकी परमोत्तम सिद्धिको साधकर कृतकृत्य हो सकता है? इस विश्वमें आविष्कृत तथा अन्वेषित समस्त विद्याओंमें केवल ब्रह्मविद्या ही सर्वोपरि है और उसीकी सहायतासे मनुष्य मनुष्यत्वसे देवत्व और देवत्वसे आगे जाकर ईशत्वमें स्थित हो सकता है।

यथार्थतः उन्नतिपथमें शीघ्र अग्रसर होनेकी इच्छा करनेवाले व्यक्तिको अपने स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण इस देहचतुष्टय तथा मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार—इस अन्तःकरण-चतुष्टयको शुद्ध करना परमावश्यक है। शुद्धि होनेपर ही सत्य वस्तुका यथार्थ ज्ञान हो सकता है और सत्य ज्ञान होनेपर ही कर्तव्यकी परावधि प्राप्त होती है। जबतक यह स्थिति प्राप्त नहीं होती, तबतक बार-बार इस दृश्य-प्रपञ्चमें प्रवेशकर नाना प्रकारके अनुभव करने पड़ते हैं अर्थात् तबतक जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति नहीं मिलती। जो महापुरुष मुमुक्षुपदमें स्थित हैं और जिनके अंदर तीव्र मोक्षाभिलाषाका उद्भव हुआ है, उनके लिये परम पूज्य महर्षियोंके पवित्र चरण-चिह्नोंका अनुसरण करना और उनकी आज्ञाके अनुसार कर्तव्य-कर्मोंको सम्पन्न करनेके लिये कटिबद्ध होना बहुत ही आवश्यक है।

मोक्षप्राप्तिके उपयोगी दो मार्ग हैं—योगविद्या और वेदान्तशास्त्र। श्रीयोगवासिष्ठ महारामायणमें स्पष्ट लिखा है—

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव।
योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥
असाध्यः कस्यचिद्योगो कस्यचिद् ज्ञाननिश्चयः।
प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमेश्वरः॥

करोड़ों वर्षोंमें तय होने योग्य लंबा रास्ता किस प्रकार सहज हो सकता है, यह बतलाना योगका कार्य है। जिनको मुक्त होनेकी तीव्र इच्छा है उनको निकटका मार्ग बताना योगका उद्देश्य है। जिस मार्गसे चलनेपर बहुत ही थोड़े समयमें परमपद प्राप्त होता है अर्थात् सामान्य मनुष्यको जिस वस्तुकी प्राप्तिमें करोड़ों वर्ष लगाने पड़ते हैं, उस वस्तुकी प्राप्ति एक ही जन्ममें सिद्ध महात्मा कर सकते हैं, वही मार्ग योगमार्ग है। आत्मतत्त्वकी अनन्त अपार शक्तियोंका अटूट धाराबद्ध प्रवाह बहा देनेका प्रधान मार्ग ही योगप्रणाली है। परम तत्त्वके चैतन्यसागरमेंसे अनन्त सामर्थ्य प्राप्त करनेकी कला ही योगविद्या है। इस कलाको हस्तगत करनेपर इस विश्वमें कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता और इसी कारणसे योगतत्त्वविद् महापुरुष कहते हैं कि योगविद्या ही सब विद्याओंकी परम एवं चरम अवधि है।

योगविद्या-तत्त्वका सत्य ज्ञान प्राप्त करनेके लिये साधकको श्रीसद्गुरुका आश्रय लेना अनिवार्य है; क्योंकि वेदान्तशास्त्रके सिद्धान्तको सत्यरूपमें केवल सद्गुरु ही समझा सकते हैं, उनकी सहायताके बिना केवल मिथ्या भ्रान्तिमें पड़कर मनुष्य अवनतिको प्राप्त हो सकता है। इसी कारण

दीर्घदर्शी तत्त्वज्ञानसम्पन्न शास्त्रकारोंने भी आज्ञा दी है—

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।'

(मुण्डकोपनिषद्)

—इस सूत्रके समर्थनमें परमपूज्य आचार्यचूडामणि श्रीशंकरभगवान् भी कहते हैं—

'गुरुमेवाचार्यं शमदमादिसम्पन्नमभिगच्छेत्। शास्त्रज्ञोऽपि स्वातन्त्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यात्।'

अर्थात् 'शम-दमादिसम्पन्न गुरुके समीप जाना चाहिये। शास्त्रका ज्ञान होनेपर भी ब्रह्मज्ञानकी मनमानी खोज नहीं करनी चाहिये।' लौकिक विद्याकी सिद्धिके लिये भी जब गुरुकी आवश्यकता पड़ती है, तब ब्रह्मविद्याकी सिद्धिके लिये तो सद्गुरुकी निरतिशय आवश्यकता है, यह सुस्पष्ट है। क्योंकि जिसको जिस वस्तुका अधिकार प्राप्त होता है, उसीके लिये वह प्राप्त हुआ पदार्थ हितकारक होता है। अनधिकारी वेदान्तज्ञानके मार्मिक रहस्यपूर्ण हेतुको नहीं समझ सकता, इसीलिये ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सद्गुरुकी आवश्यकता हमारे सारे शास्त्र मुक्तकण्ठसे स्वीकार करते हैं।

जब वेदान्तप्रदेशमें विचरण करनेका समय आता है, तब ब्रह्मज्ञान, तत्त्वज्ञान आदि शब्दोंसे ज्ञानको समझाना सहज होता है। ज्ञान और उस ज्ञानसे विभूषित महापुरुषोंकी अन्तर्बाह्य स्थितिके स्वरूपको समझनेमें सरलता हो, इसीलिये ज्ञानकी सात भूमिकाओंका वर्णन किया गया है। वे सात भूमिकाएँ इस प्रकार हैं—

भूमयः सप्त तद्वत्स्युर्ज्ञानस्योक्ता महर्षिभिः।
शुभेच्छा ननु तत्राद्या ज्ञानभूमिः प्रकीर्तिता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यादसंसक्तिश्च पञ्चमी।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी चाथ तुर्यगा॥

(वेदान्तसिद्धान्तादर्श)

महर्षियोंने ज्ञानकी सात भूमिकाएँ कही हैं—(१) शुभेच्छा, (२) विचारणा, (३) तनुमानसा, (४) सत्त्वापत्ति, (५) असंसक्ति, (६) पदार्थाभावनी और (७) तुर्यगा। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

***१-शुभेच्छा*—नित्यानित्यवस्तुविवेकादिपुरःसरा फलपर्यवसायिनी मोक्षेच्छा शुभेच्छा।**

अर्थात् 'नित्यानित्यवस्तुविवेक-वैराग्यादिके द्वारा सिद्ध हुई फलमें पर्यवसित होनेवाली मोक्षकी इच्छा अर्थात् विविदिषा, मुमुक्षुता, मोक्षके लिये आतुर इच्छा ही शुभेच्छा है।'

'मैं मूढ़ होकर ही क्यों स्थित रहूँ, मैं शास्त्रों और सत्पुरुषोंके द्वारा जानकर तत्त्वका साक्षात्कार करूँगा'—इस प्रकार वैराग्यपूर्वक केवल मोक्षकी इच्छा होनेको ज्ञानीजनोंने शुभेच्छा कहा है।

***२-विचारणा*—गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारात्मक-श्रवणमननात्मिका वृत्तिः सुविचारणा।**

'श्रीसद्गुरुके समीप वेदान्तवाक्यके श्रवण-मनन करनेवाली जो अन्तःकरणकी वृत्ति है, वह सुविचारणा कहलाती है।'

योगवासिष्ठमें यह बताया गया है कि शास्त्रोंके अध्ययन, मनन और सत्पुरुषोंके सङ्ग तथा विवेक-वैराग्यके अभ्यासपूर्वक सदाचारमें प्रवृत्त होना—यह विचारणा नामकी भूमिका है—

शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥

सत्पुरुषोंके सङ्ग-सेवा एवं आज्ञापालनसे, सत्-शास्त्रोंके अध्ययन-मननसे तथा दैवी सम्पदारूप सद्गुण-सदाचारके सेवनसे उत्पन्न हुआ विवेक (विवेचन) ही विचारणा है। भाव यह है कि सत्-असत् और नित्य-अनित्य वस्तुके विवेचनका नाम ही विवेक है, सब अवस्थाओंमें और प्रत्येक वस्तुमें प्रतिक्षण आत्मा और अनात्माका विश्लेषण करते-करते यह विवेक सिद्ध होता है। विवेकके द्वारा असत् और अनित्यसे आसक्ति हट जाती है, इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें कामना और आसक्तिका न रहना ही वैराग्य है। इस प्रकार विवेक-वैराग्य हो जानेपर साधकका चित्त निर्मल हो जाता है और वह नित्य परमात्माके स्वरूपके चिन्तनमें ही लगा रहता है।

***३-तनुमानसा*—निदिध्यासनाभ्यासेन मनस एकाग्रतया सूक्ष्मवस्तुग्रहणयोग्यता तनुमानसा।**

'निदिध्यासन (ध्यान और उपासनाके अभ्यास) से मानसिक एकाग्रता प्राप्त होती है, उसके द्वारा जो सूक्ष्म वस्तुके ग्रहण करनेकी सामर्थ्य (योग्यता) प्राप्त होती है उसे

तनुमानसा कहते हैं।'

सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका चिन्तन करते-करते उस परमात्मामें तन्मय हो जाना तथा अत्यन्त वैराग्य और उपरतिके कारण परमात्माके ध्यानमें ही नित्य स्थित रहनेसे मनका विशुद्ध होकर सूक्ष्म हो जाना ही तनुमानसा नामकी तीसरी भूमिका है, अतः इसे निदिध्यासन भूमिका भी कहा जा सकता है।

उपर्युक्त तीन भूमिकाएँ जाग्रत् भूमिकाएँ कहलाती हैं। क्योंकि इनमें जीव और ब्रह्मका भेद स्पष्ट ज्ञात होता है। इनमें स्थित व्यक्ति साधक माना जाता है, ज्ञानी नहीं। क्योंकि—

एतस्मिन्नवस्थात्रये ज्ञानोत्पादनयोग्यतामात्रं सम्पद्यते न च ज्ञानमुत्पद्यते।

—'इन तीनों अवस्थाओंमें तत्त्वज्ञानके प्राप्तिकी योग्यता प्राप्त होती है, ब्रह्मज्ञान नहीं प्राप्त होता', अर्थात् इन तीन भूमिकाओंमें विचरता हुआ पुरुष ब्रह्ममें अभेद-भावको प्राप्त नहीं होता। परंतु ज्ञानकी प्राप्तिके लिये इनकी पहले अत्यन्त आवश्यकता होनेके कारण इनकी गणना अज्ञानकी भूमिकामें न होकर ज्ञानकी भूमिकामें ही होती है।

ज्ञानभूमिकात्वं तु ज्ञानेतरकर्माद्यनधिकारित्वे सति ज्ञानस्यैवाधिकारित्वात्।

इन तीन भूमिकाओंमें स्थित पुरुष ज्ञानसे इतर कर्मादिका अधिकारी नहीं होता, प्रत्युत केवल ज्ञान-तत्त्वज्ञानका ही अधिकारी होता है।

***४-सत्त्वापत्ति*—निर्विकल्पब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारः सत्त्वापत्तिः।**

संशयविपर्ययरहित ब्रह्म और आत्माके तादात्म्य अर्थात् ब्रह्मस्वरूपैकात्मत्वका अपरोक्ष अनुभव ही सत्त्वापत्ति नामकी चतुर्थ भूमिका है। यह सिद्धावस्था है। इस भूमिकामें स्थित महापुरुषको **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** का वास्तविक अनुभव हो जाता है। इसीको श्रीमद्भगवद्गीतामें निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति कहा गया है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

(५।२४)

'जो पुरुष आत्मामें ही सुखी है, आत्मामें ही रमण करता है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवान् है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त मैं ही ब्रह्म हूँ, इस प्रकार अनुभव करनेवाला ज्ञानयोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।' ऐसी स्थितिमें उसका इस शरीर और संसारसे कुछ सम्बन्ध नहीं रहता। ब्रह्मवेत्ता पुरुषके अन्तःकरणमें शरीर और अन्तःकरणके सहित यह संसार स्वप्नवत् प्रतीत होता है। श्रीयाज्ञवल्क्यजी, राजा अश्वपति और राजा जनक आदि इस चौथी भूमिकामें पहुँचे हुए माने गये हैं। यद्यपि इस दशाको प्राप्त पुरुषको जगत्का भान होता है और शरीर तथा अन्तःकरणद्वारा सभी क्रियाएँ सावधानीके साथ होती हैं तथापि मायावश जीव जिस जगत्को सत्यस्वरूप देखता है, उस जगत्के मिथ्यात्वका उसे यथार्थ अनुभव हो गया है। यह भूमिका स्वप्न कहलाती है।

***५-असंसक्ति*—सविकल्पकसमाध्यभ्यासेन निरुद्धे मनसि निर्विकल्पकसमाध्यवस्थासंसक्तिः।**

'सविकल्पक समाधिके अभ्यासके द्वारा मानसिक वृत्तियोंके निरोधसे जो निर्विकल्पक समाधिकी अवस्था होती है, वही असंसक्ति कहलाती है।' इसे सुषुप्तिभूमिका भी कहते हैं, क्योंकि इस भूमिकामें सुषुप्ति-अवस्थाके समान ब्रह्मसे अभेद-भाव प्राप्त हो जाता है। यह जगत्प्रपञ्चको भूला रहता है, परंतु समयपर स्वयं ही उठता है और किसीके पूछनेपर उपदेश करता है तथा देहनिर्वाहकी क्रिया भी करता है।

अस्यामवस्थायां योगी स्वयमेव व्युत्तिष्ठते।

परम वैराग्य और परम उपरतिके कारण उस ब्रह्म-प्राप्त ज्ञानी महात्माका इस संसार और शरीरसे अत्यन्त सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, इसलिये इस पाँचवीं भूमिकाको असंसक्ति कहा गया है। ऐसे पुरुषका संसारसे कोई प्रयत्न नहीं रहता। अतः वह कर्म करने या न करनेके लिये बाध्य नहीं है। श्रीजडभरतजी इस पाँचवीं भूमिकामें स्थित माने जा सकते हैं।

***६-पदार्थाभावनी*—असंसक्तिभूमिकाभ्यासपाटवाच्चिरं प्रपञ्चापरिस्फूर्त्यवस्था पदार्थाभावनी।**

'असंसक्ति नामक पाँचवीं भूमिकाके परिपाकसे प्राप्त पटुताके कारण दीर्घकालतक प्रपञ्चके स्फुरणका अभाव पदार्थाभावनी भूमिका कहलाती है।' पाँचवीं भूमिकामें विश्वप्रपञ्चका विस्मरण अल्पकालतक ही रहता है और छठी

भूमिकामें यह स्थिति दीर्घकालपर्यन्त रह सकती है। इन दोनों भूमिकाओंमें केवल समयका ही भेद होता है। इस भूमिकाको गाढ़ सुषुप्तिके नामसे पुकारते हैं। इस भूमिकामें स्थित महापुरुष देहनिर्वाहादि क्रिया भी स्वतः व्युत्थित दशामें आकर नहीं करता, परंतु—

'अस्यामवस्थायां परप्रयत्नेन योगी व्युत्तिष्ठते।'

'अन्यके द्वारा व्युत्थान पाकर वह क्रिया करता है।' दूसरा कोई मुखमें ग्रास दे देता है तो दाँत और जीभसे खानेकी क्रिया हो जाती है, इत्यादि।

जब ब्रह्मप्राप्त पुरुष छठी भूमिकामें प्रवेश करता है, तब उसकी नित्य-समाधि रहती है, इसके कारण उसके द्वारा कोई भी क्रिया नहीं होती। उसके अन्तःकरणमें शरीर और संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंका अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है। उसे संसारका और शरीरके बाहर-भीतरका बिलकुल ज्ञान नहीं रहता, केवल श्वास आते-जाते हैं, इसलिये इस भूमिकाको 'पदार्थाभावनी' कहते हैं। जैसे गाढ़ सुषुप्तिमें स्थित पुरुषको बाहर-भीतरके पदार्थोंका ज्ञान बिलकुल नहीं रहता, वैसे ही इसको भी ज्ञान नहीं रहता। अतः पुरुषकी अवस्थाको 'गाढ़ सुषुप्ति-अवस्था' भी कहा जा सकता है। किंतु गाढ़ सुषुप्तिमें स्थित पुरुषके तो मन-बुद्धि अज्ञानके कारण मायामें विलीन हो जाते हैं। अतः उसकी स्थिति तमोगुणमयी है, पर इस ज्ञानी महापुरुषके मन-बुद्धि ब्रह्ममें तद्रूप हो जाते हैं। अतः इसकी अवस्था गुणातीत है। इस समाधिस्थ ज्ञानी महात्मा पुरुषकी व्युत्थानावस्था दूसरोंके बारंबार प्रयत्न करनेपर होती है, अपने-आप नहीं। उस व्युत्थानावस्थामें वह जिज्ञासुके प्रश्न करनेपर पूर्वके अभ्यासके कारण ब्रह्म-विषयक तत्त्व-रहस्यको बतला सकता है। इसी कारण ऐसे पुरुषको 'ब्रह्मविद्वरीयान्' कहते हैं। श्रीऋषभदेवजी इस छठी भूमिकामें स्थित माने जा सकते हैं।

६-*तुरीया-तुयर्गा*—ब्रह्माध्यानावस्थस्य पुनः पदार्थान्तरापरिस्फूर्तिस्तुरीया।

'ब्रह्मचिन्तनमें निमग्न इस महापुरुषको पुनः किसी भी समय किसी भी अन्य पदार्थकी परिस्फूर्तिका न होना, यही ज्ञानकी सप्तम भूमिका तुरीया कहलाती है।' इस स्थितिको प्राप्त महात्मा स्वेच्छापूर्वक या परेच्छापूर्वक व्युत्थानको प्राप्त ही नहीं होता, केवल एक ही स्थिति—ब्रह्मीभूत-स्थितिमें ही सदा रमण करता है।

अस्यामवस्थायां योगी न स्वतो नापि परकीयप्रयत्नेन व्युत्तिष्ठते केवलं ब्रह्मीभूत एव भवति।

छठी भूमिकाके पश्चात् सातवीं भूमिका स्वतः ही हो जाती है। उस ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महात्मा पुरुषके हृदयमें संसार और शरीरके बाहर-भीतरके लौकिक ज्ञानका अत्यन्त अभाव हो जाता है। क्योंकि उसके मन-बुद्धि ब्रह्ममें तद्रूप हो जाते हैं, इस कारण उसकी व्युत्थानावस्था तो न स्वतः होती है और न दूसरोंके द्वारा प्रयत्न किये जानेपर ही होती है। जैसे मुर्दा जगानेपर भी नहीं जाग सकता, वैसे ही यह मुर्देकी भाँति हो जाता है, अन्तर इतना ही रहता है कि मुर्देमें प्राण नहीं रहते और इसमें प्राण रहते हैं तथा श्वास लेता रहता है। ऐसे पुरुषका संसारमें जीवन-निर्वाह दूसरे लोगोंके द्वारा केवल उसके प्रारब्धके संस्कारोंके कारण ही होता रहता है। वह प्रकृति और उसके कार्य सत्त्व, रज, तम तीनों गुणोंसे और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंसे अतीत होकर ब्रह्ममें विलीन रहता है, इसलिये यह उसके अन्तःकरणकी अवस्था 'तुर्यगा या तुरीया' भूमिका कही जाती है।

उपर्युक्त महात्मा पुरुष उस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको नित्य ही प्राप्त है। अतः उसके मन-बुद्धिमें भी संसारका अत्यन्त अभाव है। इसलिये ऐसे पुरुषको 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' कहते हैं।

इस प्रकार ज्ञानकी सात भूमिकाओंमें प्रथम तीन भूमिकाएँ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये योग्यता प्राप्त करनेके निमित्त बनायी गयी हैं। चौथीसे सातवीं भूमिकातक ज्ञानकी दशा है और यह उत्तरोत्तर उन्नत दशाकी भूमिका है। चतुर्थ भूमिकामें ही तत्त्वज्ञानका यथार्थ प्रादुर्भाव हो जाता है और वही तत्त्वज्ञान अन्तिम चारों भूमिकाओंमें स्थित रहता है। व्युत्थान-दशाके तारतम्यसे इनमें भेद माना गया है।

शास्त्र कहता है—**'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।'** अतः ब्रह्मके जाननेवालोंको ज्ञानी, तत्त्वज्ञानी, आत्मज्ञानीकी संज्ञासे शास्त्रोंने स्थान-स्थानपर उल्लेख किया है—

एताः सत्त्वापत्त्याद्याश्चतस्रो भूमिका एव ब्रह्मविद्-ब्रह्मविद्वरब्रह्मविद्वरीयो ब्रह्मविद्वरिष्ठेत्येतैर्नामभिर्यथाक्रमेण पूर्वं व्याख्याताः।

'इस प्रकार सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी और तुरीया—इन चार भूमिकाओंमें स्थित महात्मा क्रमशः ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहलाता है।'

ब्रह्मविद्वरिष्ठ महापुरुषसे वार्तालाप न होनेपर भी उसके दर्शन और चिन्तनसे ही मनुष्यके चित्तस्थ मल-विक्षेपका तथा आवरणका नाश हो जाता है। फलतः उसकी वृत्ति परमात्माकी ओर आकृष्ट हो जाती है और उसका सर्वथा कल्याण हो जाता है।

योग-साधनाके विघ्न और उन्हें दूर करनेके उपाय

(पं० श्रीकमलाकान्तजी त्रिवेदी)

समाधौ क्रियमाणे तु विघ्नान्यायान्ति वै बलात्।

'समाधिकालमें विघ्न बलपूर्वक आने लगते हैं।' योगीको चाहिये कि उन विघ्नोंका धीरे-धीरे त्याग करे। भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें कहा है—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शना-लब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।

(समाधिपाद ३०)

'व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व—यह नौ चित्तके विक्षेप हैं, यही अन्तराय (विघ्न) कहलाते हैं।' ये अन्तराय क्या हैं और किस प्रकार इनसे छुटकारा मिलता है, इस बातको योगमार्गमें प्रवेश करनेके पहले जानना आवश्यक है।

शरीरको धारण करनेमें समर्थ होनेके कारण धातु नामको प्राप्त हुए वात, पित्त और कफकी न्यूनाधिकता, खाये तथा पिये हुए आहार-पदार्थोंके परिणामस्वरूप रसकी न्यूनाधिकता और मनसहित एकादश इन्द्रियोंके बलकी न्यूनाधिकताको व्याधि अथवा रोग कहते हैं। व्याधि होनेपर चित्तवृत्ति उसमें अथवा उसे दूर करनेके उपायोंमें लगी रहती है। इससे वह योगमें प्रवृत्त नहीं हो सकती। इसी कारण व्याधिकी गणना योगके विघ्नोंमें होती है।

अजीर्ण, नींदकी खुमारी, अति परिश्रम प्रभृतिसे ब्रह्माकार-वृत्तिका अभाव हो जाता है। अजीर्ण आदि लयके कारणरूप विघ्नोंके निवारण करनेके लिये पथ्य और लघु भोजन करनेसे तथा प्रत्येक व्यवहारमें युक्ति एवं नियमके अनुसार चलनेसे और उत्थानके प्रयत्नद्वारा चित्तको जाग्रत् करनेसे ये विघ्न दूर होते हैं। इस विषयमें श्रीकृष्ण भगवान्‌ने भी अर्जुनके प्रति कहा है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥

(गीता ६। १६)

'हे अर्जुन! जो अधिक भोजन करता है, जो बिलकुल बिना खाये रहता है, जो बहुत सोता है तथा जो बहुत जागता है, उसके लिये योग नहीं है।' बल्कि—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(गीता ६। १७)

'जो नियमपूर्वक भोजन करता, नियमित विहार करता तथा कर्म करनेमें भी नियमपूर्वक रहता है तथा जिसका जागना और सोना भी नियमपूर्वक होता है, उसके लिये योग दुःखका नाश करनेवाला होता है।'

योगसाधनकी इच्छा होनेपर देश-कालादिकी विपरीतताकी कल्पना करके योग-साधनकी प्रवृत्तिमें जो चित्तकी असमर्थता होती है उसे स्त्यान कहते हैं। देश-कालादिकी कल्पित विपरीतताको दूर करनेमें सामर्थ्यरहित चित्तकी यह अयोग्यता भी योगमें प्रवृत्त होने नहीं देती। इसलिये यह भी योगमें विघ्नरूप है।

'यह वस्तु ऐसी ही है या अन्य प्रकारकी है!' इस प्रकारका परस्परविरोधी और उभयकोटिको विषय करनेवाला विज्ञान संशय कहलाता है।' 'योग होता है या नहीं?' 'गुरु और शास्त्र, योग और योगसाधनकी जो महिमा वर्णन करते हैं वह सत्य है या असत्य?' 'योगका फल कैवल्य होता है या दूसरा कुछ?' 'ईश्वर-प्रणिधानसे समाधिलाभ तथा कैवल्य-प्राप्ति सिद्ध होती है या नहीं?' 'योगका परिणाम कैवल्य सत्य है या यह कल्पनामात्र है?'—इस प्रकारके अनेकों विरोधी तथा उभयकोटिको विषय करनेवाले ज्ञानको

संशयरूप समझना चाहिये। इस प्रकारके संशय मनुष्यको कभी भी योगमें निश्चलतापूर्वक प्रवृत्त नहीं होने देते। अतः ये योगके प्रबल विरोधी हैं। अतद्रूप-प्रतिष्ठत्व अर्थात् अपने वास्तविक रूपमें स्थिर न होनेसे संशय और भ्रान्तिदर्शनके अभेद होनेपर भी उभयकोटिके स्पर्श और अस्पर्शरूप अवान्तरभेद कहनेकी इच्छासे ही उनका भेद कहा जाता है। इसलिये संशयका नाशकर भ्रान्तिदर्शनमें भी श्रीसद्गुरुके वचन और शास्त्रप्रमाणमें श्रद्धा रखनी चाहिये।

समाधि-साधनमें प्रयत्न न करना अथवा उसमें उदासीनता रखना प्रमाद कहलाता है।

कफादिके द्वारा शरीरके भारी होने तथा तमोगुणके द्वारा चित्तके भारी होनेसे भी योग-साधनमें प्रवृत्ति नहीं होती, इसे ही आलस्य कहते हैं।

विषयके समीप रहनेसे विषय-स्थित दोषोंके अत्यन्त विस्मरणद्वारा विषयभोगकी चित्तमें जो तीव्र इच्छा (तृष्णा) होती है उसे अविरति अथवा अवैराग्य कहते हैं।

विषय-तृष्णा योगकी प्रबल विरोधिनी है। क्योंकि वह वृत्तिको अन्तर्मुखी नहीं होने देती। यदि कदाचित् अति यत्नपूर्वक वृत्ति अन्तर्मुखी होती भी है तो फिर अल्प समयमें ही विषयोंके स्फुरणद्वारा चित्तको क्षुब्ध करके उसे बहिर्मुख कर देती है। स्मृति भी यही कहती है—

निःसङ्गता मुक्तिपदं यतीनां
सङ्गादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः।
आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः
सङ्गेन योगी किमुताल्पसिद्धिः॥

'यतियोंका संगरहित रहना मुक्तिका स्थान है, संगसे सारे दोष उत्पन्न होते हैं। योगारूढ़ भी संगसे अधोगतिको प्राप्त होते हैं, फिर अल्प सिद्धिवाला अपक्व योगी यदि संगसे अधोगतिको प्राप्त हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या?'

विषय-तृष्णामें दोषदृष्टि करनेसे यह विघ्न दूर होता है। जिस प्रकार लड्डूमें विष डाला गया है—यह बात जान लेनेपर भूखा भी उसे खानेकी इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार शास्त्रोंका अध्ययन और सद्गुरुके उपदेशके द्वारा विषयोंमें दोषदृष्टि होनेपर उनके भोगनेकी इच्छा नहीं होती।

सद्गुरु तथा योगशास्त्रोंके द्वारा उपदिष्ट योगसाधनमें असाधनत्वबुद्धिको भ्रान्तिदर्शन या विपर्ययज्ञान कहते हैं। यह भ्रान्तिदर्शन भी विपरीत ज्ञान तथा विपरीत प्रवृत्तिके कारण साधकको योगमें प्रवृत्त नहीं होने देता। अतः इसकी गणना योगके विघ्नोंमें होती है।

मधुमती आदि समाधिकी भूमिकाओंमें किसी भी भूमिकाका अभ्यास करते रहनेपर भी किसी कारणसे उसका प्राप्त न होना अलब्धभूमिकत्व कहलाता है। अलब्धभूमिकत्व भी साधकके चित्तको असंतोषके द्वारा बहिर्मुख रखनेके कारण योगमें विघ्नरूप है।

मधुमती आदि योगकी भूमिकाओंमें किसी भूमिकाकी प्राप्ति होनेपर भी विस्मय अथवा कर्तव्यके विस्मरण या ज्ञानके द्वारा उसमें चित्तको सुस्थिर न करना अनवस्थितत्व कहलाता है। योगकी किसी भूमिकाके प्राप्त होनेपर, इसीसे भलीभाँति स्थिरता हुई है, किसी कारणसे ऐसा मान लिया जाय और उससे आगेकी सुस्थिरताके लिये प्रयत्न नहीं किया जाय तो उसको उत्तर भूमिकाकी प्राप्ति तो होती ही नहीं, साथ ही उस भूमिकासे भी वह भ्रष्ट हो जाता है। अतः प्राप्त हुई योगभूमिकामें अपने चित्तको सुस्थिर करनेके लिये साधकको प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा प्रयत्न न करनेसे उस भूमिकामें चित्तकी अस्थिरता रहती है, और वह भी योगमें प्रतिबन्धक होती है।

चित्तको विक्षिप्त करनेवाले ये नौ योग-मल योगके विघ्न कहलाते हैं। संशय और भ्रान्तिदर्शनरूप वृत्तियाँ भी वृत्तिनिरोधरूप योगकी विरोधिनी हैं और व्याधि आदि वृत्ति न होनेपर भी वृत्तियोंके साहचर्यसे योगमें बाधक हैं।

केवल ये नौ ही योगके विघ्न नहीं हैं, बल्कि चित्तके विक्षेप करनेवाले इन विघ्नोंके साथ दुःखादि अन्य विघ्न भी हैं। भगवान् पतञ्जलि उनका भी नाश करनेके लिये कहते हैं—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।

(समाधि० ३२)

उस विक्षेप तथा उसके साथ होनेवाले दुःखादिकी निवृत्तिके लिये एकतत्त्वका अभ्यास करना चाहिये। इसी प्रकार योगवासिष्ठमें भी कहा है—

तावन्निशीथवेताला वल्गन्ति हृदि वासनाः।
एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः॥

'जबतक एकतत्त्वके दृढ़ अभ्याससे मनको पूर्णरूपसे जीत नहीं लिया जाता, तबतक अर्धरात्रिमें नृत्य करनेवाले वेतालोंके समान वासनाएँ हृदयमें नृत्य करती रहती हैं।'

इस प्रकार अनेक विघ्न योगीके समाधिमें विघ्नरूपसे आते हैं, अतएव उनको हटानेका धीरे-धीरे यत्न करना चाहिये।

इस विषयका एक दृष्टान्त है। एक चरवाहेको रखवाली करनेके लिये दी हुई एक बछिया जंगलमें भटकती है और भटकनेकी आदत सीखती है। पीछे जब वह गाभिन हो जाती है तब कुछ खिलानेका लालच देकर उसे लोग घर ले आते हैं। पर उसको भटकना छोड़कर घरपर रहना अच्छा नहीं लगता और मौका पाकर वह फिर निकल जाती है। पीछे फिर पकड़कर लायी जाती है। ऐसा करते-करते जब वह ब्याती है, तब अपने बछड़ेके प्रेमपाशमें ऐसी बँध जाती है कि फिर लाठीसे मारकर बाहर निकालनेपर भी नहीं निकलती। इसी प्रकार बुद्धिरूपी बछिया संसाररूपी जंगलमें भटकती है और विषयभोगरूपी कुटेव सीखती है। पीछे पुण्योदय होनेपर जब वह मुमुक्षारूप गर्भ धारण करती है तब योगद्वारा बुद्धिको स्थिर करनेका प्रयत्न होता है तथा ध्यानादि क्रियाओंके द्वारा उसे प्राप्त होता है तथापि भटकनेकी आदत होनेके कारण मौका मिलते ही बुद्धि चलायमान हो जाती है। परंतु बुद्धिको जब समाधिद्वारा ज्ञानरूपी वत्स उत्पन्न होता है, तब उसके प्रेममें निमग्न होकर वह किसी भी दुःखरूपी प्रहारसे घबराकर घर नहीं छोड़ती अर्थात् कभी बहिर्मुख नहीं होती। इस प्रकार दोषोंको निवृत्तकर निरोधप्रयत्नके द्वारा निश्चय किया हुआ चित्त स्वाभाविक चञ्चलतासे विषयाभिमुख होकर बाहर जाय तो उसे फिर निरोधप्रयत्नसे ब्रह्ममें लगाये। इस प्रकार ब्रह्ममें एक हुआ चित्त लय तथा स्तब्ध-अवस्थामें नहीं जाता, शब्दादि विषयाकार-वृत्तिका अनुभव नहीं करता तथा रसका भी आस्वादन नहीं करता। यह निवात-प्रदेशमें दीपशिखाके समान अचल होकर किसी भी विषयके आकारको न धारण कर केवल ब्रह्माकार होता है। यह अद्वैतभावनारूप निर्विकल्प समाधि है। यह अद्वैतभावनारूप वृत्ति भी केवल शुद्ध सात्त्विक होनेपर ब्रह्मका अनुभव कर स्वयं लीन हो जाती है। इसलिये योगाभ्यास करनेवालेको इन सब विघ्नोंके दूर करनेके लिये प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिये। क्योंकि **'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'**—श्रेयस्कर कार्यमें अनेकों विघ्न आते हैं, यह प्राकृतिक नियम है। इसलिये विघ्न करनेवाले उपकरणोंमें लोभवश न फँसकर उनसे सदा सचेत रहना चाहिये।

योगसे प्राप्त होनेवाली अपरा एवं परा सिद्धियाँ

(वेदान्तभूषण पं० श्रीबदरीदासजी पुरोहित)

सर्वथा सिद्धिविहीन व्यक्तिकी कहीं कोई प्रतिष्ठा नहीं होती और विशेष सिद्धियोंके स्वाभाविक निधान होनेके कारण परमेश्वर सर्वसमर्थ एवं शक्तिमान् होता है और उसकी सर्वत्र पूजा-प्रतिष्ठा होती है। अतः उच्चकोटिका ज्ञान-विज्ञान, जीवन्मुक्ति एवं दिव्य शक्ति आदिकी सिद्धियाँ सबको अभीष्ट होती हैं। अणिमादि अष्टविध सिद्धियाँ तो प्रसिद्ध ही हैं। ये सिद्धियाँ यदि अहङ्कार आदिको जन्म देती हैं और साधक अपनी प्रतिष्ठाके लिये इनका चमत्कार आदिके रूपमें प्रदर्शन करता है तो ये ही सिद्धियाँ उसके मोक्ष आदि परा सिद्धियोंकी प्राप्तिमें अन्तराय बन जाती हैं, उसके पतनका कारण बन जाती हैं, साथ ही इन सिद्धियोंकी शक्ति भी नष्ट हो जाती है। अतः सिद्धिप्राप्त साधकको इनका उपयोग यदि आवश्यक हो तो यथासम्भव परोपकारके कार्यों तथा जीवमात्रके कल्याणके लिये करना चाहिये और इन्हें सर्वथा गुप्त रखते हुए निरभिमानपूर्वक आगेकी साधना करते रहना चाहिये।

शरीरमें इन्द्रियों तथा चित्तमें विलक्षण परिणाम उत्पन्न होने अर्थात् इनकी प्रकृतिमें विलक्षण परिवर्तन होनेको सिद्धि कहते हैं। सिद्धियोंके पाँच भेदसे पाँच प्रकारके सिद्ध पुरुष भी माने जाते हैं। इनके निमित्त पाँच हैं—जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधि। वे सिद्धियाँ जिनकी उत्पत्तिमें केवल जन्म ही निमित्त है, जन्मजा सिद्धि है। जैसे पक्षियों आदिका आकाशमें उड़ना अथवा कपिल आदि महर्षियोंमें उनके पूर्वजन्मके पुण्योंके प्रभावसे जन्मसे ही सांसिद्धिक ज्ञानका उत्पन्न होना। पारे आदि रसायनोंके उपयोगसे शरीरमें विलक्षण परिणाम उत्पन्न करना ओषधिजा सिद्धि है। मन्त्रद्वारा प्राप्त सिद्धि मन्त्रजा सिद्धि है, जैसे स्वाध्यायद्वारा इष्टदेवताका

मिलना। तपसे अशुद्धिके दूर हो जानेपर शरीर और इन्द्रियोंकी सिद्धि होती है, यह तपोजा सिद्धि है। योगाभ्यासद्वारा समाधि-प्राप्त सिद्धि समाधिजा सिद्धि है।

इनमेंसे यहाँपर योग एवं तपके प्रभावसे प्राप्त होनेवाली मुख्य सिद्धियोंका ही विशेष उल्लेख किया जाता है। मोक्षरूपी परमसिद्धिकी प्राप्ति निर्बीज समाधिका फल है, परंतु सब प्रकारकी दिव्य ऐश्वर्यरूपी नाना प्रकारकी अपरा सिद्धियाँ सम्प्रज्ञात समाधिसे ही सम्बन्ध रखती हैं। योगाभ्यास करनेवाले योगी महात्माओंको जो योगकी विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उनका संक्षिप्त परिचय महर्षि पतञ्जलिके योगदर्शनके आधारपर यहाँ दिया जा रहा है—

पहली सिद्धि

व्युत्थान-संस्कारोंका लय होकर जो निरोध-संस्कारोंका प्रकट होना है तथा निरोधके क्षणमें जो चित्तका धर्मीरूपमें दोनोंके साथ अन्वय है उसे 'निरोध परिणाम-सिद्धि'कहते हैं। निरोध-संस्कारसे अन्तःकरणकी शान्ति प्रवाहित होती है। नानाविषयोंके संस्कारसे जो अन्तःकरणकी चञ्चलता होती है, उस 'सर्वार्थता'का क्षय और एकाग्रताका उदय ही अन्तःकरणमें समाधिका परिणाम है। तब 'शान्तप्रत्यय' अर्थात् एकाग्रता-परिणाममें सिद्धिकी इच्छा रखनेवाले योगीका अन्तःकरण तरङ्गरहित जलाशयके समान वृत्तियोंकी सर्वार्थताओंसे रहित होकर शान्त हो जाता है, इसी अवस्थाका नाम 'शान्तप्रत्यय' है, और उदितप्रत्यय, अर्थात् शान्तप्रत्ययके साथ ही सिद्धियोंकी इच्छाजनित वासनाबीजके वेगसे सिद्धिके उन्मुख योगीका अन्तःकरण रहता है, इसी अवस्थाका नाम 'उदितप्रत्यय' है। इन दोनों प्रत्ययोंकी समानतारूप चित्तकी जो स्थिति है वही 'एकाग्रतापरिणाम' है। इससे स्थूल, सूक्ष्मभूत और इन्द्रियोंमें भी 'धर्मपरिणाम', 'लक्षणपरिणाम' और 'अवस्थापरिणाम' वर्णित किये गये हैं ऐसा समझना चाहिये। पृथ्वीरूप धर्मीका जो घटरूप विकार है उसको 'धर्मपरिणाम' कहते हैं। घटका जो अनागत लक्षणके त्यागपूर्वक वर्तमान लक्षणवाला हो जाना घटरूप धर्मका 'लक्षणपरिणाम' है और वर्तमान लक्षणवाले घटका जो नयापन तथा क्षण-क्षणमें पुरातनपन है उसको 'अवस्था-परिणाम' कहते हैं। इन तीनों परिणामोंका इन्द्रियोंमें भी इस प्रकार विचार किया जाता है—जैसे इन्द्रियोंका जो नील-पीतादि विषयोंका ज्ञान है वही उनका 'धर्मपरिणाम' है, नीलादि ज्ञानका जो वर्तमान लक्षणवाला हो जाना है उसीका नाम 'लक्षणपरिणाम' है। वर्तमान दशामें जो स्पष्टपन या अस्पष्टपन है उसका नाम 'अवस्थापरिणाम' है। शान्त—अतीत, उदित—वर्तमान और अव्यपदेश्य—भविष्यत्, जो धर्म हैं उनमें अनुगत होनेवाला 'धर्मी' है। परिणामोंके भेदमें क्रमोंका भेद कारणरूप है। क्रमके अदल-बदलसे ही परिणामोंका परिवर्तन होता है, जैसे प्रथम मिट्टीके परमाणु होते हैं, पुनः उनसे मिट्टीका पिण्ड बनता है, फिर मिट्टीके पिण्डसे घट बनता है। घट फूटकर कपाल हो जाता है, कपालसे ठीकरे हो जाते हैं, फिर ठीकरे परमाणुमें परिणत होते हुए मिट्टीके रूपको ही धारण कर लेते हैं। ठीक वैसे ही अन्तःकरणकी पूर्ववृत्ति उत्तर-वृत्तिका पूर्वकारण होती हुई क्रमके अनुसार धर्मान्तर-परिणाम करती है। प्रकृतिके सब तरङ्गोंका परिवर्तन और अन्तःकरणमें सुख-दुःख आदि धर्मोंका परिवर्तन—ये सब इसी क्रम-नियमके ऊपर निर्भर हैं। अतएव धर्म, लक्षण और अवस्था नामक तीनों परिणामोंमें संयम करनेसे योगीको भूत और भविष्यत्का ज्ञान होता है।

दूसरी सिद्धि

शब्द, अर्थ और ज्ञानके एक दूसरेमें मिले रहनेसे संकर अर्थात् घनिष्ठ मेल है, उनके विभागोंमें संयम करनेपर 'सब प्राणियोंकी वाणी' का ज्ञान होता है।

तीसरी सिद्धि

संस्कारोंके प्रत्यक्ष होनेसे योगीको पूर्वजन्मका ज्ञान होता है। जैसे मनुष्यके छायारूप चिह्नको यन्त्रद्वारा धारण करनेकी शक्ति उत्पन्न करके वैज्ञानिकगण फोटोग्राफमें मनुष्यमूर्तिको यथावत् प्रकाशित कर देते हैं, वैसे ही संस्कारोंमें संयम करनेसे संस्कारके कारणरूप कर्मोंका यथावत् ज्ञान योगीको हो सकता है।

चौथी सिद्धि

ज्ञानमें संयम करनेपर दूसरेके चित्तका ज्ञान होता है। जिस अन्तःकरणमें जैसा गुण-परिणाम रहता है, वैसी ही उस अन्तःकरणसे सम्बन्धयुक्त ज्ञानकी स्थिति होती है। अतः यदि किसी जीवविशेषके अन्तःकरणका हाल जानना हो तो उसके

ज्ञानकी पर्यालोचना करके उस जीवके मनका सब हाल जान सकते हैं।

पाँचवीं सिद्धि

कायागत रूपमें संयम करनेसे उसकी ग्राह्य शक्तिका स्तम्भ हो जाता है; और शक्तिस्तम्भ होनेसे दूसरेके नेत्रके प्रकाशका योगीके शरीरके साथ संयोग नहीं होता, तब योगीके शरीरका अन्तर्धान हो जाता है। जैसे रूपविषयक संयम करनेसे योगीके शरीरके रूपको कोई नहीं देख सकता, उसी प्रकार शब्दादि पाँचोंके विषयमें संयम करनेसे योगीके शरीरके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धको पासमें रहा हुआ पुरुष भी नहीं जान सकता।

छठी सिद्धि

सोपक्रम—जो कर्म शीघ्र फलदायक हो जाता है उस शीघ्र कार्यकारी कर्मकी अवस्थाका नाम 'सोपक्रम' है, जैसे जलसे भीगे हुए वस्त्रको निचोड़कर सुखा देनेसे वस्त्र शीघ्र सूख जाता है तथा निरुपक्रम—कर्म-विपाककी मन्दताके कारण विलम्बसे फलदायक कर्मकी अवस्थाका नाम 'निरुपक्रम' है, जैसे बिना निचोड़ा पिण्डीकृत वस्त्र बहुत कालमें सूखता है। इन दो प्रकारके कर्मोंमें जो योगी संयम करता है उसको मृत्युका ज्ञान हो जाता है। अथवा त्रिविध अरिष्टोंसे मृत्युका ज्ञान होता है।

सातवीं सिद्धि

मैत्री, मुदिता, करुणा और उपेक्षा आदिमें संयम करनेसे तत्सम्बन्धी बलकी प्राप्ति होती है। मैत्रीबल, करुणाबल, मुदिताबल और उपेक्षाबलकी प्राप्ति करके योगी पूर्ण मनोबल अर्थात् आत्मबल प्राप्त करता है। जो शक्ति अन्तःकरणको इन्द्रियोंमें गिरने न देकर नियमितरूपसे आत्मस्वरूपकी ओर खींचती रहती है उसीको 'आत्मबल' या तेज कहते हैं।

आठवीं सिद्धि

बलमें संयम करनेसे योगीको हस्तीके-से बलादि प्राप्त हो सकते हैं। बल दो प्रकारका है—एक आत्मबल, दूसरा शारीरिक बल। प्रकृतिके विभिन्न होनेसे बलमें स्वतन्त्रता है, जैसे सिंहबल, गजबल, बलशाली खेचर पक्षियोंका बल और बलशाली जलचरोंका बल। जिस प्रकारके बलकी आवश्यकता हो उसी प्रकारके बलशाली जीवोंके बलमें संयम करनेसे योगीको उसी प्रकारके बलकी प्राप्ति हुआ करती है।

नवीं सिद्धि

ज्योतिष्मती प्रकृतिके प्रकाशको सूक्ष्मादि वस्तुओंमें न्यस्त करके उनपर संयम करनेसे योगीको सूक्ष्म, गुप्त और दूरस्थ पदार्थोंका ज्ञान होता है। लययोगी अपने अन्तर्राज्यमें शरीरके द्विदलस्थानमें शुद्ध तेजपूर्ण बिन्दुका दर्शन करता है। वह ज्योतिष्मती प्रवृत्ति बिन्दुरूपसे आविर्भूत होकर जब स्थिर होने लगती है, तब वही बिन्दुध्यानकी अवस्था है। उसी बिन्दुके विस्तारसे योगी संयमशक्तिकी सहायता और ज्योतिष्मती प्रकृतिकी सहयोगितासे अनेक गुप्त विषय और जलमग्न या पृथ्वीगर्भस्थित समस्त द्रव्यसमूहके देखनेमें समर्थ हो सकता है।

दसवीं सिद्धि

सूर्यनारायणमें संयम करनेसे योगीको यथाक्रम स्थूल और सूक्ष्मलोकोंका ज्ञान हो जाता है। स्थूल लोक प्रधानतः यही मृत्युलोक है और विविध स्वर्ग तथा सप्त पाताल—ये सूक्ष्म लोक कहलाते हैं। अन्यान्य निकटस्थ ब्रह्माण्डोंका ज्ञानलाभ करना भी सूक्ष्म लोकसे सम्बन्धयुक्त ज्ञान है।

ग्यारहवीं सिद्धि

चन्द्रमामें संयम करनेसे नक्षत्रव्यूहका ज्ञान होता है। ज्योतिषका सिद्धान्त है कि जितने ग्रह हैं उन सबमें चन्द्र एक राशिपर सबसे बहुत ही कम समयतक रहता है। इससे प्रत्येक ताराव्यूहरूपी राशिकी आकर्षण-विकर्षण शक्तिके साथ चन्द्रका अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः उसी शक्तिके अवलम्बनसे नक्षत्रोंका पता लगानेमें चन्द्रकी सहायता सुविधाजनक है।

बारहवीं सिद्धि

ध्रुवमें संयम करनेसे ताराओंकी गतिका पूर्ण ज्ञान होता है। ध्रुवलोक हमारे सौर्य जगत्से इतना दूरवर्ती है कि उस दूरताके कारण हमलोग उसको स्थिर ही देख रहे हैं। जैसे दूरवर्ती देशमें स्थित किसी अग्निशिखाको उसके स्वभावसे ही चञ्चल होनेपर भी हम एक अचञ्चल ज्योतिर्मय रूपवाली देखते हैं, वैसे ही ध्रुवके चलने-फिरनेपर भी उसके चलनेका

हमारे लोकसे कोई सम्बन्ध न रहनेके कारण और परस्परमें अगणित दूरत्व होनेसे हमलोग ध्रुवको अचञ्चल ध्रुव ही निश्चय करते हैं।

तेरहवीं सिद्धि

नाभिचक्रमें संयम करनेपर योगीको शरीरके समुदायका ज्ञान होता है। शरीरके सात स्थानोंमें सात कमल अर्थात् चक्र हैं, जिनमें छः चक्रोंमें साधन करके सिद्धि प्राप्त होनेपर सातवें चक्रमें पहुँचनेसे मुक्ति प्राप्त होती है। षट्चक्रोंमेंसे नाभिके पास स्थित जो तीसरा चक्र है, उसमें संयम करनेसे शरीरमें किस प्रकारका पदार्थ किस प्रकारसे है; वात, पित्त और कफ—ये तीन दोष किस रीतिसे हैं; चर्म, रुधिर, मांस, नख, हाड़, चर्बी और वीर्य—ये सात धातुएँ किस प्रकारसे हैं, नाड़ी आदि कैसी-कैसी हैं—इन सबका ज्ञान हो जाता है।

चौदहवीं सिद्धि

कण्ठके कूपमें संयम करनेसे भूख और प्यास निवृत्त हो जाती है। मुखके भीतर उदरमें वायु और आहार आदि जानेके लिये जो कण्ठछिद्र है, उसीको 'कण्ठकूप' कहते हैं। यहींपर पाँचवाँ चक्र स्थित है। इसीसे क्षुत्पिपासाकी क्रियाका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

पंद्रहवीं सिद्धि

कूर्मनाड़ीमें संयम करनेसे स्थिरता होती है। पूर्वोक्त कण्ठकूपमें कच्छप आकृतिकी एक नाड़ी है, उसको कूर्मनाड़ी कहते हैं। उस नाड़ीसे शरीरकी गतिका विशेष सम्बन्ध है। इसीसे यहाँ संयम करनेपर शरीर स्थिरताको प्राप्त हो जाता है। जैसे सर्प अथवा गोह अपने-अपने बिलमें जाकर चञ्चलता और क्रूरताको त्याग देते हैं, वैसे ही योगीका मन इस कूर्मनाड़ीमें प्रवेश करते ही अपनी स्वाभाविक चञ्चलताका त्याग कर देता है।

सोलहवीं सिद्धि

कपालकी ज्योतिमें संयम करनेसे योगीको सिद्धगणोंके दर्शन होते हैं। मस्तकके भीतर कपालके नीचे एक छिद्र है, उसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। उस ब्रह्मरन्ध्रमें मन ले जानेसे एक ज्योतिका प्रकाश नजर आता है, उसमें संयम करनेसे योगीको सिद्ध और महात्माओंके दर्शन होते हैं। जीवकोटिसे उपराम होकर सृष्टिके कल्याणार्थ ऐसी शक्तियोंको धारण करके एक लोकसे लोकान्तरमें विचरण करनेवालोंको ही सिद्ध या महात्मा कहा जाता है, जो चतुर्दश भुवनोंमें ही विराजते हैं।

सत्रहवीं सिद्धि

प्रातिभमें संयम करनेसे योगीको सम्पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। योगसाधन करते-करते योगियोंको एक तेजोमय तारा ध्यानावस्थामें दिखलायी पड़ता है, उसी तारेका नाम 'प्रातिभ' है। चञ्चलबुद्धि मनुष्य उस तारेका दर्शन नहीं कर सकते। योगीकी बुद्धि जब शुद्ध होकर ठहरने लगती है, तभी उस भाग्यवान् योगीको 'प्रातिभ' के दर्शन होते हैं। इसी प्रातिभको स्थिर कर उसमें संयम करनेसे योगी ज्ञान-राज्यकी सब सिद्धियोंको प्राप्त कर सकता है।

अठारहवीं सिद्धि

हृदयमें संयम करनेसे योगीको चित्तका ज्ञान होता है। चतुर्थ चक्रका नाम हृत्कमल है। इससे अन्तःकरणका एक विलक्षण सम्बन्ध है। चित्तमें नये और पुराने सब प्रकारके संस्कार रहते हैं, चित्तके नचानेसे ही मन नाचता है। चित्तका पूर्ण स्वरूप महामायाकी मायासे जीवपर प्रकट नहीं होता है। जब योगी हृत्कमलमें संयम करता है, तब वह अपने चित्तका पूर्ण ज्ञाता बन जाता है।

उन्नीसवीं सिद्धि

बुद्धि पुरुषसे अत्यन्त पृथक् है। इन दोनोंके अभिन्न ज्ञानसे भोगकी उत्पत्ति होती है। बुद्धि परार्थ है, उससे भिन्न स्वार्थ है। उसमें अर्थात् अहंकारशून्य चित्प्रतिबिम्बमें संयम करनेसे पुरुषका ज्ञान होता है। बुद्धि-पुरुषका जो परस्पर प्रतिबिम्ब-सम्बन्धसे अभेद-ज्ञान है, वही पुरुषनिष्ठ भोग कहलाता है। बुद्धि दृश्य होनेसे उसका यह भोगरूप प्रत्यय परार्थ यानी पुरुषके लिये ही है। इस परार्थसे अन्य जो स्वार्थ प्रत्यय है यानी जो बुद्धिप्रतिबिम्बित चित्सत्ताको अवलम्बन करके चिन्मात्ररूप है, उसमें संयम करनेसे योगीको नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव पुरुषका ज्ञान हो जाता है। बुद्धिके मलिनभावसे रहित शुद्धभावमय, जैव अहंकारसे शून्य, आत्मज्ञानसे भरी हुई जो चिद्भावकी दशा है उसीको जानकर उसमें जब योगी संयम करता है, तब उसको पुरुषके स्वरूपका

बोध हो जाता है। इस परा सिद्धिके पानेपर योगीको प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता नामक षट्सिद्धियोंकी प्राप्ति हो जाती है।

षट्सिद्धियोंका फल—'प्रातिभ सिद्धि'से योगीको अतीत, अनागत, विप्रकृष्ट और सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, 'श्रावणसिद्धि'से योगीको दिव्य श्रवणज्ञानकी पूर्णता यानी प्रणवध्वनिका अनुभव होता है। 'वेदनसिद्धि'से योगीको दिव्यस्पर्शज्ञानकी पूर्णता होती है। 'आदर्शसिद्धि'से दिव्य दर्शनकी पूर्णता, 'आस्वादसिद्धि'से दिव्य रसज्ञानकी पूर्णता और 'वार्तासिद्धि'से दिव्य गन्धज्ञानकी पूर्णता स्वतः प्राप्त हो जाती है। ये सब समाधिमें विघ्नकारक हैं, परंतु व्युत्थानदशाके लिये सिद्धियाँ हैं।

बीसवीं सिद्धि

बन्धनका जो कारण है उसके शिथिल हो जानेसे और संयमद्वारा चित्तकी प्रवेश-निर्गममार्गनाड़ीके ज्ञानसे चित्त दूसरे शरीरमें प्रवेश कर सकता है। चञ्चलताको प्राप्त हुए अस्थिर मनका शरीरमें द्वन्द्व तथा आसक्तिजन्य बन्धन है, समाधिप्राप्तिसे क्रमशः स्थूल शरीरसे सूक्ष्म शरीरका यह बन्धन शिथिल हो जाता है। संयमकी सहायतासे चित्तके गमनागमनमार्गीय नाड़ीज्ञानसे स्वतः सूक्ष्म शरीरको कहीं पहुँचा देनेका नाम प्रवेश-क्रिया है और पुनः उस सूक्ष्म शरीरको ले आनेका नाम निर्गम-क्रिया है। इन दोनोंका जब योगीको बोध हो जाता है तब योगी जब चाहे तब अपने शरीरसे निकलकर दूसरेके शरीरमें प्रवेश कर सकता है। इसीका नाम 'परकाया-प्रवेश' है।

इक्कीसवीं सिद्धि

उदानवायुके जीतनेसे जल, कीचड़ और कण्टक आदि पदार्थोंका योगीको स्पर्श नहीं होता और मृत्यु भी वशीभूत हो जाती है। ऊर्ध्वगमनकारी कण्ठसे लेकर सिरतक व्यापक जो वायु है वही 'उदानवायु' कहलाता है। यह ऊर्ध्वगमनकारी होनेसे उसमें संयम करनेवाले योगीका शरीर जल, पङ्क और कण्टक आदिसे नष्ट नहीं होता। उदानवायुसे सब स्नायुओंकी क्रियाएँ नियमित रहती हैं। मस्तिष्कका स्वास्थ्य ठीक रहकर चेतनकी क्रिया बनी रहती है। इसके अतिरिक्त उदानवायुसे प्राणमय कोशसहित 'सूक्ष्म शरीर'पर आधिपत्य बना रहता है। अतएव उदानवायुके जयसे योगी इच्छानुसार शरीरसे प्राणोत्क्रमणरूप इच्छामृत्युको प्राप्त कर सकता है। जैसे भीष्म पितामहने उत्तरायण सूर्य आनेपर ही देहत्याग किया था।

बाईसवीं सिद्धि

समानवायुको वश करनेसे योगीका शरीर ज्योतिर्मय हो जाता है। नाभिके चारों ओर दूरतक व्यापक रहकर समताको प्राप्त हुआ जो वायु जीवनी-क्रियाको साम्यावस्थामें रखता है, उस वायुको 'समानवायु' कहते हैं। इस शरीरकी समानताका इस वायुसे प्रधान सम्बन्ध है। शारीरिक तेजशक्ति ही जीवनी-क्रियाको साम्यावस्थामें रखती है। इसीलिये समानवायुको संयमसे जीत लेनेसे योगी तेजःपुञ्ज हो जाता है।

तेईसवीं सिद्धि

कर्ण-इन्द्रिय और आकाशके आश्रयाश्रयिरूप सम्बन्धमें संयम करनेसे योगी दिव्यश्रवणको प्राप्त होता है। समस्त श्रोत्र और शब्दोंका आधार आकाश है। जबतक कानके साथ आकाशका सम्बन्ध रखा जाता है, तबतक शब्द सुनायी पड़ते हैं, अन्यथा नहीं। इससे कान और आकाशका जो आश्रयाश्रयिरूप सम्बन्ध है, उसमें संयम करनेसे योगी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म छिपे हुएसे अति छिपे हुए, दूरवर्ती-से-दूरवर्ती और नाना प्रकारके दिव्य शब्दोंको श्रवण कर सकता है।

चौबीसवीं सिद्धि

शरीर और आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे और लघु यानी हलकी रुई-जैसे पदार्थकी धारणासे आकाशमें गमन हो सकता है। आकाश और शरीरका व्यापक और व्याप्यरूपसे सम्बन्ध है। आकाश सब भूतोंसे हलका है और सर्वव्यापी है, इसलिये योगी जब आकाश और शरीरके सम्बन्धमें संयम करता है और उस समय लघुताके विचारसे रुई आदि हलके-से-हलके पदार्थोंकी धारणा भी रखता है, तब इस क्रियासे उसमें हलकेपनकी सिद्धि हो जाती है।

पचीसवीं सिद्धि

शरीरसे बाहर जो मनकी स्वाभाविक वृत्ति है उसका नाम 'महाविदेह' धारणा है, उसके द्वारा प्रकाशके आवरणका नाश हो जाता है। स्थूल शरीरसे बाहर शरीरके आश्रयीकी अपेक्षा न रखनेवाली जो मनकी वृत्ति है उसे 'महाविदेह' कहते हैं।

उसीसे ही अहंकारका वेग दूर होता है। उस वृत्तिमें जो योगी संयम करता है, उससे प्रकाशका ढकना दूर हो जाता है। जबतक शरीरका अहंकार रहता है, तबतक मनकी बाह्यवृत्ति रहती है, परंतु जब शारीरिक अहंकारको त्यागकर स्वतन्त्र-भावसे मनकी वृत्ति बाहर रहती है, तभी योगीका अन्तःकरण मलरहित और निःसङ्ग रहता है। शरीरसे लगी हुई मनकी जो बाहरी वृत्ति है उसका नाम 'कल्पिता' है। परंतु शरीरकी अपेक्षा न रखकर देहाध्याससे रहित जो मनकी स्वाभाविकी और निराश्रयी बाहरी वृत्ति है वही अकल्पित है। कल्पितको छोड़कर अकल्पित जो महाविदेहवृत्तिका साधन किया जाता है, उसके सिद्ध होनेपर प्रकाशस्वरूप बुद्धिका पूर्ण विकास हो जाता है। तब अहंकारसे उत्पन्न हुए क्लेश, कर्म और कर्मफल—इनके सम्बन्धसे साधक मुक्त हो जाता है तथा रज-तमका आवरण हट जाता है, जिससे योगी अपने अन्तःकरणको यथेच्छ ले जानेकी सिद्धिको प्राप्त करता है।

छब्बीसवीं सिद्धि

पञ्चतत्त्वोंके स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व—ये पाँच अवस्थाविशेष हैं, इनमें संयम करनेसे भूतोंपर जयलाभ होता है। भूतोंकी 'स्थूल-अवस्था' वह है जो दृष्टिगोचर हुआ करती है। 'स्वरूपावस्था' वह है जो स्थूलमें गुणरूपसे अदृष्ट हो। जैसे तेजमें उष्णता है। 'सूक्ष्मावस्था' तन्मात्राओंकी है। 'अन्वयावस्था' व्यापक सत्त्व, रज और तमोगुणकी है और पञ्चम 'अर्थवत्त्वावस्था' फलदायक होती है। जब योगी पञ्चभूतोंकी इन अवस्थाओंमें संयमद्वारा उनको जय कर लेता है तब प्रकृति अपने-आप उस योगीके अधीन हो जाती है। जैसे गौ अपने-आप ही बच्चेको दूध पिलाया करती है, वैसे ही पञ्चभूतके जयसे प्रकृति वशीभूत हो जानेपर वह प्रकृति माता अपने-आप ही उस योगीकी सेवामें तत्पर हो जाती है।

अष्ट सिद्धियाँ—भूतजयानन्तर अणिमादि 'अष्ट सिद्धि', सिद्धियोंका प्रकाश, शरीर-सम्बन्धी सब सम्पत्तियोंकी प्राप्ति और शरीरके रूपादि धर्मोंका अनभिघात होता है। अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व और ईशित्व—ये अष्ट सिद्धियाँ हैं। जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको सूक्ष्म अणुसे भी सूक्ष्मतर कर लेता है तब उसे 'अणिमासिद्धि' कहते हैं। 'लघिमासिद्धि' उसको कहते हैं कि जब योगी इच्छा करते ही अपने स्थूल शरीरको हलकेसे भी हलका कर सके और आकाशके अवलम्बनसे जहाँ चाहे वहीं जा सके। 'महिमासिद्धि' वह है कि जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको चाहे जितना बढ़ा सके। 'गरिमासिद्धि' वह कहलाती है कि जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको चाहे जितना भारी-से-भारी कर सके। 'प्राप्तिसिद्धि' वह कहलाती है कि जब योगी इच्छा करते ही एक लोकसे लोकान्तरमें यानी किसी ग्रह, उपग्रह, सूर्य या किसी महासूर्यमें जहाँ चाहे वहीं पहुँच सके। 'प्राकाम्यसिद्धि' वह है कि जब योगी जिस किसी पदार्थकी इच्छा करे तभी वह पदार्थ उसको प्राप्त हो जाय, अर्थात् त्रिलोकमें उसको अप्राप्त कोई भी पदार्थ न रहे। 'वशित्वसिद्धि' वह कहलाती है कि जिससे योगीके वशमें समस्त पञ्चभूत और सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ आ जाते हैं। और वह जैसे चाहता है वैसे ही पञ्चभूतोंसे काम ले सकता है। वह स्वयं किसीके भी वशमें नहीं होता। 'ईशित्वसिद्धि' उसको कहते हैं कि जब योगी भूत और भौतिक पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेकी शक्तिको प्राप्त हो जाता है, यदि वह नवीन सृष्टिको करना चाहे तो वह भी आंशिकरूपसे कर सकता है। ये ही अष्ट सिद्धियाँ हैं। इन सिद्धियोंके साथ-साथ योगीको रूप, लावण्य, बल और वज्रतुल्य दृढ़ता—ये सब कायसम्पत्तियाँ भी मिल जाती हैं।

सत्ताईसवीं सिद्धि

ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व नामक इन्द्रियोंकी पाँच वृत्तियोंमें संयम करनेसे इन्द्रियोंका जय होता है। सामान्य और विशेषरूपसे शब्दादि जितने विषय हैं वे सब बाहरी विषय ग्राह्य कहलाते हैं, उन ग्रहण करनेयोग्य विषयोंमें जो इन्द्रियोंकी वृत्ति जाती है उस वृत्तिको 'ग्रहण' कहते हैं। किसी रीतिसे बिना विचारे विषय जब अकस्मात् गृहीत हो जाते हैं, तब मनका उसमें प्रथम विचार ही 'स्वरूपवृत्ति' है। उस अवस्थामें जो अहङ्कारका सम्बन्ध रहता है, वह अहङ्कारमिश्रित भाव ही 'अस्मितावृत्ति' कहा जाता है। फिर बुद्धिद्वारा उस स्वरूपके विचारको यानी जब बुद्धि सत्यासत्य, सामान्य और विशेषका विचार करने लगती है तब उस वृत्तिको 'अन्वय' कहते हैं। नाना विषयोंको प्रकाश करनेवाली, स्थितिशील,

अहङ्कारके साथ सब इन्द्रियोंमें व्यापक, बहकी हुई जो वृत्ति है वही पञ्चम 'अर्थवत्त्ववृत्ति' कहलाती है। इन इन्द्रियोंकी पाँचों वृत्तियोंमें संयम करके इन्हें अपने अधीन कर लेनेसे इन्द्रियगणका पूर्ण जय होता है।

इन्द्रियजयका फल—इन्द्रियजयके अनन्तर मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानजयकी सिद्धियाँ योगीको स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। मनकी गतिके समान शरीरकी उत्तम गतिकी प्राप्तिको 'मनोजवित्व' कहते हैं, अर्थात् मनकी तरह शीघ्र ही अनेक योजनव्यवहित देशमें गमन करनेकी शरीरमें सामर्थ्य होनेका नाम 'मनोजवित्व' है। शरीरके सम्बन्धको त्यागकर जो इन्द्रियोंकी वृत्तिका प्राप्त करना है उसे 'विकरणभाव' कहते हैं, अर्थात् जिस देश, काल या विषयोंमें अभिलाषा हो, शरीरके बिना ही चक्षुरादि इन्द्रियोंसे गति प्राप्त होनेका नाम 'विकरणभाव' है। प्रकृतिके विकारोंके मूल कारणको जय करनेका नाम 'प्रधानजयत्व' है, जिससे सर्ववशित्व प्राप्त होता है। ये सिद्धियाँ स्वतः मिलती हैं।

अट्ठाईसवीं सिद्धि

बुद्धि और पुरुषमें पार्थक्य-ज्ञानसम्पन्न योगीको सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व प्राप्त होता है। जब अन्तःकरणकी ऐसी निर्मल अवस्था होती है, तब अपने-आप परमात्माका शुद्ध प्रकाश उसमें प्रकाशित होने लगता है, जिससे योगीको बुद्धिरूप दृश्य और पुरुषरूप द्रष्टामें जो तात्त्विक भेद है वह स्पष्ट अनुभव होने लगता है और ऐसी परिस्थितिमें योगी अखिल भावोंका स्वामी और सकल विषयोंका ज्ञाता बन जाता है।

उनतीसवीं सिद्धि

जितने कालमें एक परमाणु पलटा खाता है उसको क्षण कहते हैं और उसके अविच्छिन्न प्रवाहको क्रम कहते हैं। उनमें संयम करनेसे विवेक यानी अनुभवसिद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है। भौतिक पदार्थके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भागको 'परमाणु' कहते हैं। जिस कालसे कम भागमें काल विभक्त न हो सके, उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म कालभागको 'क्षण' कहते हैं। उन परमाणुओंकी गति अर्थात् प्रवाहका जो रूप है उसको 'क्रम' कहते हैं। क्रम क्षणसे ही जाना जाता है। भूत क्षणका परिणाम वर्तमान क्षण है। वर्तमान क्षणका परिणाम भविष्यत् क्षण होगा। इस प्रकार समस्त ब्रह्माण्डोंकी सृष्टिक्रिया एक ही क्षणका परिणाम है। इस योगबुद्धिसे क्षण और क्रममें संयम करके उनका साक्षात् ज्ञानलाभ करनेसे अभ्रान्त और पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति होती है। तब योगी जिस विषयको देखता है, उसका ही यथार्थ पूर्णरूप देख लेता है। यही योगीकी त्रिकालदर्शी अवस्था है।

परा सिद्धि

उपर्युक्त अपरा सिद्धियोंकी प्राप्तिके अनन्तर योगीको विवेकाख्यातिजनित वैराग्यके कारण दोषोंके बीज-नाश हो जानेपर 'कैवल्यकी प्राप्ति' होती है। सिद्धियाँ दो प्रकारकी हैं, एक परा और अन्य अपरा। विषयसम्बन्धी सब प्रकारकी उत्तम, मध्यम और अधम सिद्धियाँ 'अपरा सिद्धि' कहलाती हैं। ये सिद्धियाँ मुमुक्षु योगीके लिये हेय हैं। इनके सिवा जो स्व-स्वरूपके अनुभवकी उपयोगी सिद्धियाँ हैं वे योगिराजके लिये उपादेय 'परा सिद्धियाँ' हैं।

भोगमें योग

(काव्यतीर्थ पं० श्रीकृष्णदत्तजी शास्त्री)

योग विषय अनन्त तथा असीम है। सभी आचार्योंने इसकी पृथक्-पृथक् परिभाषाएँ की हैं। योग-जैसे गहन और दुरूह विषयमें पूर्वाचार्योंके अनेक मत होना स्वाभाविक है। जो विषय गूढ़ और जटिल होता है उसका अनेक प्रकारसे समीक्षण किया जाना भी एक प्रकारसे उसके महत्त्वका सूचक है। 'योग' शब्द प्रसङ्गाधीन अनेक अर्थोंमें पाया जाता है। अतः उसका सांकेतिक अर्थ करना उचित नहीं। कोई योगका अर्थ समाधि करता है तो किसीके मतमें अष्टाङ्गयोगद्वारा चित्तवृत्तिका निरोध करना ही योग है। कुछ लोग योगका अर्थ सहकार करते हैं तो किसीके मतमें 'योग' नाम दो भावोंके संयोग या मिलापका है। गवेषणापूर्वक निरीक्षण करनेसे पता चलता है कि योगका अर्थ 'त्याग' करना ही उचित है। वह चाहे किसी अभिप्रेत—अभीष्टके मिलापके लिये हो या स्वतन्त्र हो किंतु योगका अर्थ 'त्याग' करना युक्ति एवं हेतुपूर्ण

है। लोकमें भी योगका अर्थ त्याग ही देखा जाता है। जैसे अमुक मनुष्य योगी हो गया, अमुकने तो मानो संसारसे योग ही ले लिया हो, ऐसा लोग कहते हैं। संन्यासयोग, सांख्ययोग, निष्काम कर्मयोग आदि शब्दोंसे ऐसी प्रतीति होती है कि योग शब्द त्यागमात्रमें पर्यवसित है। क्योंकि एकके त्याग बिना दूसरेका मिलन नहीं होगा। वस्तुतः 'योग' है क्या पदार्थ ? उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है और उसके लिये क्या करना होगा ? यह एक जटिल और गम्भीर प्रश्न है। इस विषयमें विद्वानोंने अनेक उपाय बताये हैं—जैसे अष्टाङ्गयोग, हठयोग, राजयोग, भक्तियोग, प्रेमयोग, ध्यानयोग, संन्यासयोग, सांख्ययोग, समाधियोग, क्रियायोग आदि। परंतु ध्येय सबका एक है, वह है—'ऐहिक पदार्थोंके प्रति अनासक्ति-पूर्वक ब्रह्मसाक्षात्कार किंवा तत्प्राप्ति।' अतः सिद्ध होता है कि योगाभिप्रेत परीक्षाका परीक्ष्य विषय अनासक्ति और फल ब्रह्मप्राप्ति है। अनासक्तिको वासनात्याग भी कहते हैं। ऐहिक वासनाका सम्यक् लय करना योगका काम है। वासना किंवा आसक्ति-त्याग दो प्रकारसे किया जा सकता है। किसी प्रेय पदार्थका स्वरूपसे त्याग और कामना तथा वासना-त्याग। इस विश्वकी विचित्रता और व्यापकताको देखते हुए यथार्थ त्याग कामना और वासनाद्वारा ही हो सकता है। यदि हठयोगद्वारा जंगलमें जाकर या अन्य क्रियाओंद्वारा संसारका स्वरूपसे त्याग किया भी जाय तो पूर्ण त्याग नहीं बन सकता। किसी-न-किसी रूपमें संसारका अस्तित्व बना ही रहेगा। कदाचित् बाह्य जगत्का त्याग किया भी तो आन्तरिक जगत्का त्याग न होगा। पाञ्चभौतिक शरीरद्वारा ही पञ्चभूतोंका त्याग नहीं हो सकता। शरीरके रहते हुए शरीरका स्वरूप-त्याग नहीं बन सकता, अतः वासनात्यागको ही यथार्थ मानना चाहिये।

वासनात्यागके लिये जंगलमें जानेकी या अमुक क्रिया करनेकी आवश्यकता नहीं, उसके लिये तो ब्रह्मज्ञ गुरुद्वारा आत्म-परमात्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्तकर अन्तःकरण-वृत्त्यवच्छिन्न वासनाका त्याग करना होगा। संघर्षमय जीवनकी चञ्चलताको नष्टकर समताके साम्राज्यमें विचरना होगा। '**समत्वं योग उच्यते**'का पालन करना होगा, ऐहिक ऐश्वर्योंको पाकर भी पद्मपत्रवत् निर्लिप्त रहना होगा, जीते हुए मुरदा बनना पड़ेगा, सच्चा जनक—विदेह बनना होगा, तभी भोगमें योगका आनन्द प्राप्त होगा, गृहमें जंगलसे अधिक मङ्गलमय जीवन व्यतीत होगा। इसीका नाम योग है। हठयोगद्वारा किसी वृत्तिको समूल नष्ट करना या किसी वृत्तिविशेषकी उत्पत्तिके पूर्व ही उसका नाश कर देना वास्तविक योग नहीं। दमनका नाम यथार्थ त्याग नहीं, बल्कि वह त्यागका उपहासमात्र है। त्यागशक्तिकी दुर्बलताका परिचय देना तो एक प्रकारसे योगकी अवज्ञा करनेके बराबर है।

जैसे किसी प्रकार प्रश्न-पत्रोंको प्राप्त कर लेना, किसीसे पूछ लेना अथवा आत्मघातका भय दिखाकर परीक्षा पास कर लेनेको 'उत्तीर्ण' होना नहीं कह सकते, इसी प्रकार जन्मसे ही दूर रहकर हठयोगद्वारा वृत्तियोंका दमनकर वासना-लय या आसक्ति-त्याग प्राप्त करना योगीका काम नहीं। योगी तो वही है जो विश्ववैभव-सरोवरमें खड़ा होकर भी अपनेको सूखा रख सके, उसकी तरङ्गोंका रंग न चढ़ने दे, विषयद्वन्द्वमें भी निर्द्वन्द्व रहे। निर्वात दीपकी भाँति चित्तको निश्चल और मनको एकाग्र रखे। विषयरसको नीरस बना दे। किसीने कहा भी है—

ईंधन बिहूनी आग राखिबेको जतन कहा,
ईंधनमें आग राखे वाहीको जतन है।
इन्द्री गलित करै, कहौ कौन साधपनो,
इन्द्री बलित बाँधे सोई साधपन है॥
'अक्षर अनन्य' बिन बिषय पाए त्याग कहाँ,
पाय करै त्याग सोई बैराग मन है।
घर छोड़ बन जोग माँडनको निहोरो कहा,
घरहीमें जोग माँडे सोई गुरुजन है॥

वास्तवमें योगविषयक 'अक्षर अनन्य' कविके उपर्युक्त पद्यका भाव अक्षरशः सत्य है। जब सम्भावना ही नहीं, तब त्याग किसका? बलात् इन्द्रियोंका दमन करना तो योगकी विडम्बना है। तृणके अभावमें अग्निका रखना, 'अग्निकी यथार्थ रक्षा' नहीं है। तृणसमूहके होते हुए अग्निको सुरक्षित रखनेका नाम ही रक्षा है। कमल जलमें वास करता है किंतु जलमें लिप्त नहीं रहता। जो गृहमें रहकर भी गृहमें लिप्त नहीं, उसमें आसक्त नहीं,वही सच्चा योगी है। किसीने सत्य कहा है—

पंकज ज्यों जल माँहि बसै, तो पै भिन्न रहै, जल परस न लावे।
हंस बसै सर माँहि सदा, पै छीर भखै नीरहि बिलगावे॥

व्यूह-समूह बसै जिमि ध्यानी, पै ध्यान धरै, नहिं चित्त डिगावे ।
भोग न बाधि सकै तिमि योगै,जो भोगमें योग समाधि लगावे ॥

शुद्धान्तःकरण और सात्त्विक अन्नभोगीके चित्तमें कभी विक्षेप उत्पन्न नहीं होता तब बाधा कैसी ? वह चाहे जिस आश्रममें बसे, किसीसे कम नहीं। चित्त-वृत्तिके निरोधका नाम समाधि है, वह चाहे किसी प्रकार क्यों न प्राप्त हो। मानसिक वेगोंके शान्त होते ही '**नोद्विजते न च द्वेष्टि योगी विगतकल्मषः**' हुआ नहीं कि वही सच्चा योगी हो गया।

यदि हमें भोगमें योग साधना है तो सबसे प्रथम आचार-विचारोंको शुद्ध और परिमित करना होगा। तभी अन्तःकरण-वृत्त्यवच्छिन्न इस प्रपञ्चमय प्राणीको योगी बना सकेंगे। जहाँतक चित्तकी चञ्चलता और विक्षेपका नाश नहीं, वहाँतक योग (त्याग) प्राप्त नहीं होता और त्याग बिना ब्रह्मसाक्षात्कार कैसा ? अतः स्थिर धारणा प्राप्त करनी होगी। स्थिरता तो समतामें है। तराजूके किसी पलड़ेमें यदि बोझ कम-ज्यादा होगा तो स्थिरता नहीं प्राप्त हो सकती। बस, यही दशा योगीकी है। मनकी तरङ्गोंका रंग किसी तरफ चढ़ जाने दिया या उसकी परवा न की तो फिर स्थिरता कहाँ ? चित्तवृत्तिमें विक्षेपका प्रवेश हुआ नहीं कि बस, किया-कराया सब धूल। अतः यदि भोगमें योग प्राप्त करना है तो चित्तमें विक्षेपका प्रवेश मत होने दो, मनके विकारोंको नष्ट करो, कल्पनाको मिटा दो, उदासीनताका सेवन सीखो, जंगलमें नहीं किंतु घरमें ही सच्चे जनक—विदेह बनो। कौन कहता है कि भोगमें योग नहीं हो सकता ? निर्लेप होते ही सब ऋद्धि-सिद्धि आपकी दासी हो जायँगी। तृष्णा आपके आगे हाथ जोड़े खड़ी रहेगी। संतोष आपका मित्र होगा, फिर भय किसका ? कल्पना-कालका अभाव हुआ कि आप अजर-अमर योगी हो गये—'***जलमें न्हाइये, कोरे रहिये, अन्तरमें कीजे बास।***' अब शेष क्या रहा ? विशुद्धान्तःकरण मनुष्यको कुछ भी दुर्लभ नहीं—

विक्षेपकल्पनातीतः समचित्तो विचारधीः ।
भोगे योगं न जानाति स योगी किं करिष्यति ॥

कल्पना, काल एवं विक्षेपरूप शत्रुको जीतनेवाला, शान्तिके साम्राज्यमें स्थिरचित्त हो निश्चिन्त विचरनेवाला यदि भोगमें योग नहीं साध सकता तो वह योगी होकर ही क्या करेगा ? अरे, बन्धन तो वासनामें है, जब वासनाका लय हो गया, तब जाग्रदवस्था होते कितनी देर लगती है और वासनारहित योगी सदा ही जीवन्मुक्त है, उसे भोग-बन्धन कैसे हो सकता है।

वासनालिङ्गसम्बद्धो जीवः संसृतिहेतुकः ।
वासनालिङ्गनिर्लिप्तो योगी जाग्रदवस्थकः ॥

योगका महत्त्व

(प्रो० डॉ० श्रीसीतारामजी झा 'श्याम' एम्० ए०, पी-एच्०डी०, डी० लिट्०)

योग जीवनको सार्थक बनानेवाले साधनोंमें उत्तम साधन है। इसका महत्त्व तो इसीसे जाना जा सकता है कि यह मनुष्यको सभी प्रकारके आवरणों और विक्षेपोंसे सदाके लिये मुक्त करता हुआ ऐसा विशुद्ध अन्तःकरणवाला बना देता है कि परमात्मासे उसका अभिन्न सम्बन्ध अपने-आप स्थापित हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता (५।७) में भगवान् श्रीकृष्णका कथन है—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

अर्थात् 'योगसे युक्त, विशुद्ध अन्तःकरणवाला विजितात्मा—शरीरजयी, जितेन्द्रिय और सब भूतोंमें अपने आत्माको देखनेवाला यथार्थ ज्ञानी हो जाता है। इस प्रकार स्थित हुआ पुरुष लोकसंग्रहके लिये कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता अर्थात् कर्मोंसे नहीं बँधता।'

वस्तुतः योग तनको सुगठित, मनको नियन्त्रित और आत्माको उद्भासित करता है। यह सभी अभ्युत्थानोंका सबसे मुख्य आधार एवं सारस्वत उपलब्धिका अक्षुण्ण स्रोत है। इसके नियमित अभ्याससे मनुष्यके सारे संशय दूर हो जाते हैं। फिर तो वह जीवनके चरम लक्ष्यको ही प्राप्त कर लेता है—अपनी ऊँचाईके चरम बिन्दुपर पहुँचकर योग आत्मा और परमात्माके मिलनका अप्रतिम माध्यम बन जाता है।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥

(कठोपनिषद् २।३।१५)

योगाभ्याससे जब साधकके हृदयकी अहंता-ममतारूप समस्त ग्रन्थियाँ भलीभाँति कट जाती हैं, उसके सब प्रकारके संशय सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और उसे यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि 'परमेश्वर अवश्य हैं और वे निश्चय ही मिलते हैं', तब वह इस शरीरमें रहते हुए ही परमात्माका साक्षात्कार करके अमर हो जाता है। वह स्वरूपावस्थाको प्राप्त कर लेता है।

तत्त्वदर्शी महर्षियोंने परमात्माकी प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय 'ध्यान' अर्थात् 'योग' ही बताया है—

ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥

(श्वेता० उप० १।१४)

योगके महत्त्वपर प्रकाश डालते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजीको यही समझाया था कि—प्रिय उद्धव! मैंने ही वेदोंमें एवं अन्यत्र भी मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये अधिकारिभेदसे तीन प्रकारके योगों—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगका उपदेश किया है। मनुष्यके परम कल्याणके लिये इनके अतिरिक्त और कोई उपाय कहीं नहीं है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।६)

यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है कि मन ही बन्धन और मोक्षका मूल कारण है—'**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।**' ऐसी स्थितिमें आवश्यकता है मनको अनुरूपता प्रदान करनेकी, जिससे भटकावकी स्थिति उत्पन्न ही न हो। तात्पर्य यह कि योग-साधनाद्वारा मनको निरन्तर ईश्वरोन्मुख करनेका ही प्रयत्न वाञ्छनीय है।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या।

(शुक्लयजुर्वेदसंहिता ११।२)

योगका यह वैशिष्ट्य है कि उसकी साधनाकी ज्योतिमें आत्मतत्त्वद्वारा परब्रह्म परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है, फिर तो उसके सामने किसी प्रकारके बन्धनके रहनेका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। जिस प्रकार कोई तेजोमय रत्न मिट्टीसे लिप्त रहनेके कारण छिपा रहता है, अपने असली रूपमें प्रकट नहीं होता, परंतु वही जब मिट्टी आदिको हटाकर धो-पोंछकर साफ कर लिया जाता है, तब अपने असली रूपमें चमकने लगता है, उसी प्रकार इस जीवात्माका वास्तविक स्वरूप अत्यन्त जन्मोंमें किये हुए कर्मोंके संस्कारोंसे मलिन हो जानेके कारण प्रत्यक्ष प्रकट नहीं होता, परंतु जब मनुष्य ध्यानयोगके साधनद्वारा समस्त मलोंको धोकर आत्माके यथार्थ स्वरूपको भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लेता है, तब वह असङ्ग हो जाता है। अर्थात् उसका जो जड पदार्थोंके साथ संयोग हो रहा था, उसका नाश होकर वह कैवल्य-अवस्थाको प्राप्त हो जाता है तथा उसके सब प्रकारके दुःखोंका अन्त होकर वह सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है। उसका मनुष्य-जन्म सार्थक हो जाता है। उस स्थितिमें वह योगी दीपकके सदृश निर्मल प्रकाशमय आत्मतत्त्वके द्वारा ब्रह्मतत्त्वको भलीभाँति देख लेता है। तब उन जन्मादि समस्त विकारोंसे रहित, अचल और निश्चित तथा समस्त तत्त्वोंसे असङ्ग—सर्वथा विशुद्ध परमदेव परमात्माको तत्त्वसे जानकर सब प्रकारके बन्धनोंसे सदाके लिये छूट जाता है—

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् २।१५)

निस्संदेह योगयुक्त होते ही इन्द्रियाँ सही रूपमें विकसित होने लगती हैं—इन्द्रियोंको जड़तासे ऊपर उठानेवाला अनुपम तत्त्व योग ही है। भारतीय चिकित्साशास्त्रमें भी यही सिद्धान्त निरूपित है—

सेन्द्रियचेतनद्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्।

(आचार्य चरक)

तत्त्वतः योगाभ्याससे एक साथ अनेक लाभ होते हैं। यथा—आलस्य-त्याग आत्मबल-विस्तार, भय-संशय-निवारण, उत्साहवृद्धि, स्वास्थ्यलाभ, बौद्धिक विकास, आध्यात्मिक उन्नयन आदि। योग एक व्यवहार-परक विद्या है। इसलिये साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी इसके अभ्याससे असाधारण लाभ उठा सकता है।

अनेक योगासन ऐसे हैं, जिन्हें अति सरलतासे अपनाकर शारीरिक एवं मानसिक शक्तियोंका विकास किया जा सकता है। केवल प्राणायाम करनेसे शरीरमें अतीव स्फूर्ति आ जाती है और मन भी हल्का तथा प्रसन्न रहता है। इतना होनेसे ही

बहुमुखी विकासका द्वार खुलने लगता है, क्योंकि शरीर और मनके स्वस्थ रहनेपर मनुष्य असम्भव-से-असम्भव कार्योंको भी सम्पन्न कर लेता है।

इसी प्रकार अनेक बन्ध, मुद्राएँ तथा नेति-वस्ति आदि षट्कर्मोंकी प्रक्रियाएँ भी योग-साधनामें पर्याप्त सहायक होती हैं। इनके सम्यक् अभ्यासके लिये किसी सुयोग्य अनुभवी गुरुका आश्रयण लेना चाहिये।

संसारको भयङ्कर रोगोंसे मुक्त करना अथवा उनसे बचे रहनेका मार्ग-दर्शन करना योगविद्याकी महान् देन है। आज भी अनेक चिकित्सा-केन्द्रोंमें विभिन्न प्राणायामादि योगाभ्यासों-द्वारा विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक रोगोंकी चिकित्सा की जाती है।

योगके सम्यक् अभ्याससे तो रोग और जरा-जन्य क्लेशका परिहार होता ही है, साधकको इच्छामृत्युकी शक्ति भी प्राप्त हो जाती है—

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।

(श्वेता० २।१२)

अर्थात् 'योगाग्निमय शरीरको प्राप्त कर लेनेवाले उस योगीके शरीरमें न तो रोग होता है, न बुढ़ापा आता है और न उसकी मृत्यु ही होती है।'

यह योगका ही प्रभाव है कि मनुष्यका शरीर कालके निकषपर खरा उतरकर तप्त कञ्चनकी भाँति दमकता रहता है और प्राणवायुपर अधिकार कर लेनेसे उसका मन भी सदाके लिये परिशुद्ध हो जाता है—

मनोऽचिरात् स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम्॥

(श्रीमद्भा० ३।२८।१०)

इस प्रकार मनुष्यके सर्वाङ्गीण विकासमें योगकी भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। यह योग-तत्त्व चरित्र-निर्माण, चिकित्सा-विधान, सामाजिक उत्थान, राष्ट्रोन्नयन एवं विश्व-कल्याणकी भावनाको विकसित करनेसे लेकर परमात्म-साक्षात्कार तकका अप्रतिम साधन है।

योगसाधनामें प्रणवोपासना

(श्रीगंगारामजी शास्त्री)

अष्टाङ्गयोगमें बताये हुए यम-नियमोंका पालन करते हुए आसनकी दृढ़ता प्राप्त हो जानेपर प्राणायामका अभ्यास किया जाता है। प्राणायामके दो प्रकार बताये गये हैं—अगर्भ प्राणायाम और सगर्भ प्राणायाम। केवल श्वास-प्रश्वासकी साधनाका अभ्यास अगर्भ प्राणायाम कहा जाता है। जहाँ श्वासोच्छ्वास-क्रियाके साथ पूरक, रेचक और कुम्भक करते समय मात्राकी गणना किसी मन्त्र-विशेषके साथ की जाती है, उसे सगर्भ प्राणायाम कहा जाता है। गुरूपदिष्ट मार्गके अनुसार इसके लिये सामान्यतया किसी बीजमन्त्रका ही उच्चारण किया जाता है। साधक अपने-अपने इष्टदेवके बीज-मन्त्रका इस प्रकार उच्चारण करते हैं कि उसकी ध्वनि श्वास-प्रश्वासके साथ इस प्रकार एकाकार हो जाती है कि पास बैठे हुए व्यक्तिको भी यह पता नहीं चलता कि इस प्राणायाम-क्रियाके साथ किसी मन्त्रका जप भी चल रहा है। जहाँ किसी विशेष प्रणालीका अनुसरण आवश्यक न हो वहाँ प्रायः सभी साधक जप-ध्यानसहित सगर्भ प्राणायाममें ओंकारका ही जप करते हैं, क्योंकि नादसे प्रथम व्यक्त ध्वनिके रूपमें ओंकारका ही प्राकट्य हुआ। इसीलिये इसे '**श्रुतिगिरामाद्यम्**', '**श्रुतिमौलि-मृग्यम्**' और '**जगत्कारणम्**' कहा गया है। योगसाधना करनेवालेके लिये कहा गया है—

परानन्दमयं नित्यं चैतन्यैकगुणात्मकम्।
आत्माभेदस्थितं योगी प्रणवं भावयेत् सदा॥

(शारदातिलक २५।५४)

इसका भाव यह है कि योगी परानन्दमय अपनी आत्मासे अभिन्न समझता हुआ ही उस प्रणवका ध्यान करे।

यहाँ प्रणवको आत्माके साथ अभेदरूपसे स्थित कहा गया है। जहाँ गति होती है, वहाँ शब्दकी किसी-न-किसी प्रकारकी व्यक्त अथवा अव्यक्त ध्वनि अवश्य रहती है। हम जो श्वासोच्छ्वास लेते हैं, उसमें भी गति रहती है। इस क्रियासे जो अस्पष्ट ध्वनि निकलती है, उसे नाद कहा जाता है।

विज्ञानके अनुसार हृदयके द्वारा फेफड़ोंमें रक्तके आवागमनकी क्रियासे जो ध्वनि स्टेथस्कोपके द्वारा सुनी जाती है, उससे यह नाद भिन्न है। इसके सुननेकी क्रिया भी विशेष योगाभ्याससे ही प्राप्त होती है। इस श्वासोच्छ्वास-क्रियामें जो ध्वनि निकलती है, वह 'ह'-'स' ध्वनियोंसे साम्य रखती है। नासिका-मार्गसे जब इन ध्वनियोंका निकलना सतत चलता रहता है तो इसीको अजपा-जप कहा जाता है। हृदयसे उत्थित होनेवाले उस नादको भी अनाहतनाद कहते हैं। इस प्रकार अनाहतनादके साथ 'ह' कार और 'स' कारकी ध्वनि निरन्तर चलती रहती है। 'ह' के साथ अनुनासिक ध्वनि तथा 'स' कारके मिलनेसे '**हंसः**' मन्त्र बनता है।—

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।
हंस हंसेति मन्त्रोऽयं जीवो जपति सर्वदा॥

(योगशिख०)

'ह' के साथ अनुस्वार और 'स' के साथ विसर्ग मिलकर यह '**हंसः**' मन्त्र बनता है। योगकी विशेष क्रियाके द्वारा इसमें पूर्वापर-विपर्यय होकर '**सः**'+'**अहम्**' इस प्रकार '**सोऽहम्**' बनता है। बिन्दुको पुरुष और विसर्गको प्रकृति माना जाता है। इसलिये '**हं**' को पुरुष और '**सः**' को प्रकृति कहा गया है। '**हंसः**' से '**सोऽहम्**' की इस क्रियाके सम्बन्धमें शारदातिलकमें बताया गया है—

पुरुषं स्वाश्रयं मत्वा प्रकृतिर्नित्यमास्थिता॥
यदा तद्भावमाप्नोति तदा सोऽहमयं भवेत्।

(२५।५२-५३)

प्रकृति सदा पुरुषको आश्रय करके रहती है, इसलिये प्रकृति जब अपने आश्रयसे तद्भावपूर्ण हो जाती है तो यही '**हंसः**' मन्त्र '**सोऽहम्**' बन जाता है। इस '**सोऽहम्**' में व्यञ्जन 'ह' कार और सकारका लोप होकर केवल '**ओम्**' रह जाता है, जो ओंकार, प्रणव, उद्गीथ, तार आदि नामोंसे प्रसिद्ध है। इस प्रकार ओंकार और आत्माकी एकरूपता सिद्ध होती है। '**अव रक्षणे**' धातुसे ओम्‌की सिद्धि मानें तो प्राणन-क्रियाके द्वारा यह शरीरसे आत्माका रक्षक है। '**प्राणान् अवति प्रकाशेन नवीकरोति इति प्रणवः**'—इस प्रकार भी प्राणन-क्रियाके आश्रयसे जो इसे सतत नवीन करता रहता है वही प्रणव है।

समस्त और व्यस्तके क्रमसे ओंकारका उच्चारण दो प्रकारसे होता है। ओंकारमें तीन वर्ण हैं—अकार, उकार और मकार। इन तीनोंको मिलाकर ओम् बनता है। यह इसका समस्त रूप है। इसके उच्चारणके भी तीन प्रकार हैं—'**ओमोमोम्**'इस प्रकार निरन्तर उच्चारणको ह्रस्व कहा गया है। **ओम् ओम् ओम्** इस प्रकार स्फुट उच्चारणको दीर्घ कहा जाता है। **ओ३म् ओ३म् ओ३म्** इस प्रकार ओंका जहाँ प्लुत उच्चाण होता है उसे प्लुत कहा जाता है। ओंकारके उच्चारणका फल इस प्रकार बताया गया है—

यदि ह्रस्वा भवति सर्वं पाप्मानं दहत्यमृतत्वं च गच्छति।
यदि दीर्घा भवति महतीं श्रियमाप्नोत्यमृतत्वं च गच्छति।
यदि प्लुता भवति ज्ञानवान् भवत्यमृतत्वं च गच्छति।

(नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् ३)

'ओंकारका जो ह्रस्व उच्चारण करता है, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं, और वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। ओंकारके दीर्घ उच्चारणसे जप करनेपर अत्यन्त लक्ष्मीवान्—धन-धान्य-वैभव-सम्पन्न हो जाता है और अमृतत्वको प्राप्त करता है। प्लुत उच्चारण करनेसे ज्ञानी होता है और अमृतत्व प्राप्त करता है।' योगसाधना करनेवालेको जब ओंकारका समस्त क्रमसे उच्चारण करनेका अच्छा अभ्यास हो जाता है तो आगे उसे व्यस्तक्रमसे उच्चारण करनेकी विधि बतायी जाती है। अकार, उकार, मकार और तुरीया मात्रा इस प्रकार व्यस्तक्रमसे इसमें तीन मात्रा और चतुर्थ अनुस्वारको आधी मात्रा मानकर सार्धत्रय मात्रात्मक कहा जाता है।

ध्यानबिन्दूपनिषद्‌में ओंकारके उच्चारणका फल इस प्रकार बताया गया है—

ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घः सम्पत्प्रदोऽव्ययः।
अर्धमात्रासमायुक्तः प्रणवो मोक्षदायकः॥

'ह्रस्व उच्चारणसे पापका नाश होता है, दीर्घ उच्चारण करनेसे यह अक्षय सम्पत्तिको प्रदान करता है तथा अर्धमात्रासहित उच्चारण करनेसे मोक्ष प्राप्त होता है।'

ओंकारके व्यस्त उच्चारणमें अकारकी ध्वनि मूलाधारसे उत्थित होकर मणिपूरमें नाभिपर्यन्त व्याप्त होकर रुद्रग्रन्थिका भेदन करती है। नाभिसे ऊपर हृदयसे विशुद्धि-चक्रतक उकारकी ध्वनि व्याप्त होकर विष्णु-ग्रन्थिका भेदन होता है।

मकारकी ध्वनि कण्ठदेशसे आज्ञाचक्रतक व्याप्त होकर ब्रह्मग्रन्थिका भेदन होता है। इसके पश्चात् जिसे तुरीया मात्रा अथवा अर्धमात्रा कहा गया है, उसकी सूक्ष्म ध्वनियोंसे आत्मसाक्षात्कारकी अवस्था आती है। योगतत्त्वोपनिषद् (१३८-१३९) में कहा गया है—

अकारे रेचितं पद्ममुकारेणैव भिद्यते।
मकारे लभते नादमर्धमात्रा तु निश्चला॥

'अकारसे स्फुट होनेवाले हृत्पद्मका उकारसे भेदन होता है। मकारसे नादसिद्धि प्राप्त होती है और अर्धमात्रासे निश्चलावस्था प्राप्त होती है।' प्रणवकी इस अर्धमात्राके सम्बन्धमें कहा गया है—

शिखा तु दीपसंकाशा तस्मिन्नुपरि वर्तते।
अर्धमात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता॥

(ब्रह्मविद्योपनिषद् ९)

'जिस प्रकार दीपककी ज्वाला होती है, उसी प्रकार अर्धमात्रा प्रणवके ऊपर स्थित है। इसका उच्चारण तार स्वरके रूपमें किया जाता है, इसीलिये इसे तार भी कहा जाता है।' इसके उच्चारणके सम्बन्धमें संकेत किया गया है—

कांस्यघण्टानिनादस्तु यथा लीयति शान्तये।
ओंकारस्तु तथा योज्यः शान्तये सर्वमिच्छता॥

(ब्रह्मविद्यो॰ १२)

'जिस प्रकार काँसेके घंटाकी ध्वनि धीरे-धीरे कम होकर विलीन हो जाती है, उसी प्रकार सभी प्रकारकी कामनापूर्तिके लिये ओंकारका प्रयोग करना चाहिये।' इसी प्रकार ध्यानबिन्दूपनिषद् (१८) में भी कहा गया है—

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्।
अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित्॥

'तेलकी अविच्छिन्न न टूटनेवाली धाराके समान अथवा काँसेकी घण्टाकी निरन्तर ध्वनिके समान प्रणवका अग्र—तुरीय मात्रा अवाच्य कही जाती है।' उसकी केवल आज्ञाचक्रसे ऊपर जाकर ध्वनि ही व्याप्त होती है। इसके सम्बन्धमें शिवमहिम्नःस्तोत्रमें बताया गया है—

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा-
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः
समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम्॥

इसकी मधुसूदनी टीकामें बताया गया है कि ओंकार शिवका ही स्वरूप है। जिस प्रकार शिव सर्वात्मक हैं, उसी प्रकार ओंकार समस्त पद है, जिस प्रकार शिव भिन्नतया प्रतीयमान आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रूपमें व्याप्त हैं, तीनों वेद; तीनों वृत्तियाँ—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति; तीनों विश्व—विश्व, तेजस्, प्राज्ञ; तीनों लोक— भूः, भुवः, स्वः; तीनों देवता—ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर सभी शिवके व्यस्त रूप हैं। उसी प्रकार ओंकारके अकारसे जाग्रदवस्था, ऋग्वेद, भूलोक और ब्रह्माका बोध होता है। उकारसे यजुर्वेद, स्वप्नावस्था, भुवर्लोक और विष्णुका बोध होता है। मकारसे सामवेद, सुषुप्तावस्था, स्वर्लोक और महेश्वरका बोध होता है। इस प्रकार अकार, उकार, मकारयुक्त ओंकारके उच्चारणसे आपकी ही स्तुति होती है। इन तीनों अवस्थाओंसे परे सम्पूर्ण विकारसे रहित आपका जो तेजोमय रूप है, उसका बोधक ओंकारकी तुरीया मात्रा है। इस प्रकार तीन मात्रासे स्थूल, सूक्ष्म और कारणभूत प्रपञ्चका समावेश हो जाता है। इन सबसे विलक्षण जो चैतन्यात्मा निर्विकार है, उसका बोध करानेवाली प्रणवकी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम होनेवाली ध्वनियाँ हैं, जिन्हें अर्धमात्रा कहा जाता है। अर्धमात्रा कहनेसे उपाधिरहित चैतन्यमात्रका बोध होता है। ओम्के उच्चारणमें जहाँ तार-स्वरसे कांस्यघण्टानिनादके समान ध्वनिको दीर्घसे दीर्घतर किया जाता है, उसीको अणु-ध्वनियाँ कहा गया है। इन ध्वनियोंको कहीं नाद, बिन्दु, कला और कलातीत नाम दिये गये हैं तो कहीं इसे अ,उ,म, नाद, बिन्दु, कला, कलातीत और तत्पर इस प्रकार आठ भेद किये गये हैं। अमृतनादोपनिषद् (४) में इसके उच्चारणके विषयमें इस प्रकार संकेत किया गया है—

मात्रालिंगपदं त्यक्त्वा शब्दव्यञ्जनवर्जितम्।
अस्वरेण मकारेण पदं सूक्ष्मं हि गच्छति॥

'जिसका कोई वाचक नहीं ऐसी मात्रा, लिंग, पद, शब्द और व्यञ्जनसे रहित स्वररहित मकार ही अर्धमात्रा है, जिसके अणु, अणुतर और अणुतम ध्वनियोंसे अवरुद्ध होकर उस नादबिन्दुकलातीत चैतन्यका आभास होता है।'

योगीको चाहिये कि वह आत्मामें अभेद-रूपसे प्रतिष्ठित

परानन्दरूप नित्य और एकमात्र चैतन्यगुणात्मक प्रणवकी भावना करे। वृत्तिको अन्तर्मुखी करना ही भावना कहा जाता है। इसके लिये कठोपनिषद (२। १। १)में कहा गया है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयं भू-
स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

'परमात्माने इन्द्रियोंको बहिर्मुखी बनाया है, इसलिये हमारी वृत्ति बाहरी वस्तुओंकी ओर ही रहती है, अन्तरात्माकी ओर नहीं। कोई अमृतत्वकी इच्छावाला विद्वान् ज्ञानी या धीर पुरुष ही अपनी सभी इन्द्रियोंको अन्तर्मुख कर उस परमात्माका दर्शन करनेमें समर्थ होता है। आवृत्तचक्षु साधक योगकी विशेष क्रियासे सम्पन्न होकर ही अन्तर्मुखी वृत्ति करके अन्तरात्माके दर्शन कर पाता है।

योगी आत्मनिष्ठ होकर ही उस प्रणव-स्वरूप आनन्दरसके एकमात्र समुद्र आत्माको जान सकता है, जो स्वगुणसंवेद्य है, वाणीसे परे है, '**नामात्रे विद्यते गतिः**' और '**वचसामगम्यम्**', '**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**' इन वेदवाक्योंके अनुसार जो वेदवाणीसे भी अगम्य है। इसलिये कहा गया है—

आम्नायवाचामतिदूरमाद्यं वेद्यं स्वसंवेद्यगुणेन सन्तः।
आत्मानमानन्दरसैकसिन्धुं पश्यन्ति तारात्मकमात्मनिष्ठाः।
(शा० ति० २५। ५५)

तार-ध्वनिके सात भेद बताये गये हैं, जिनके नाम—अ, उ, म, नाद, बिन्दु, शक्ति और शान्ता कला हैं।

शाक्त सिद्धान्तके अनुसार बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिका, नाद आदि ये सूक्ष्म-ध्वनियाँ नवधा मानी गयी हैं।

आज्ञाचक्रसे ऊपर बिन्दु सूक्ष्मतर होकर अर्धचन्द्रमें बदल जाता है। इसके उच्चारणका मात्राकाल एक चौथाई माना गया है। उसके पश्चात् मात्राका अष्टम भाग रोधिनीका माना गया है। सामान्य साधक अभ्यास करके यहींतक बढ़ पाते हैं। जिन्हें केवलीकुम्भक और बन्धत्रयका अच्छा अभ्यास हो वे ही इस साधकोंके मार्गकी रोधिकाको पार कर आगे बढ़ पाते हैं। उसके लिये गीतामें वर्णित '**नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्**' की स्थितिमें आना होता है। इसे पार कर लेनेपर ही योगी पातञ्जल-योगमें वर्णित पञ्चभूतजयका अधिकारी हो सकता है, पर यह अवस्था पूर्वजन्मके संस्कार, निरन्तर साधना और गुरुकी कृपासे ही प्राप्त होती है।

गुरु-तत्त्व-साधना

(पं० श्रीरामनारायणजी झा, ज्योतिषाचार्य, ज्योतिष-तीर्थ, साहित्यकेसरी, साहित्यशास्त्री)

इस असार संसारमें मानवशरीर धारण करनेवालोंको दुरवगाह भवसिन्धुसे पार उतरनेके लिये एक श्रीमद्गुरुपदाम्बुज-नौकाको छोड़ दूसरा उपाय नहीं है, यही सब विद्वानोंका सिद्धान्त है। परंतु श्रीमद्गुरुदेवका अर्चनादि नहीं जाननेसे गुरु-तत्त्वका पूरा पता लगना असम्भव दीख पड़ता है। श्रीमद्गुरुदेवका नाम प्रायः सब जानते ही हैं, परंतु बहुत-से लोग अर्चनादि नहीं जानते। उन लोगोंके उपकारार्थ इस विषयपर हम तन्त्रानुसार कुछ संग्रहकर यथामति पाठकोंके सामने उपस्थित करना आवश्यक समझते हैं। साधक ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर रातका वस्त्र छोड़, शुद्ध वस्त्र पहनकर और सब तरहसे शुद्ध होकर तथा स्वस्तिकासन करके शिरःस्थ सहस्रदलकमलकर्णिकामें परम शिवरूप गुरुदेवका ध्यान करें। यथा—मूलाधारमें चतुर्दलकमलकी कर्णिकापर स्थित जो स्वयम्भूलिङ्ग है, उसमें सार्धत्रिवलयाकार असंख्य विद्युत्कान्तिवाली, विसतन्तुसदृश सूक्ष्मा, इडा, पिङ्गला नाडीके मध्य स्थित जो सुषुम्ना नाडी है उसके मध्यमें मुख की हुई कुण्डलिनी है। उसको '**हंसः**' मन्त्रसे जगाकर फिर '**हंसः**' मन्त्रका जप करें। इस विषयमें अनन्तफल तन्त्रमें लिखा है—

हंसात्मिकां भगवतीं जीवो जपति सर्वदा।
हङ्कारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः॥
अस्याः सम्बोधमात्रेण जीवन्मुक्तो भवेन्नरः।

फिर उस स्थानसे उठाकर स्वाधिष्ठानचक्र तथा मणिपूरकचक्रको सुषुम्ना नाडीद्वारा भेदनकर और अनाहतचक्रमें जीवात्माके साथ संयोगकर, फिर सुषुम्ना नाडीद्वारा विशुद्धचक्र और आज्ञाचक्रको भेदनकर शिरःस्थ

सहस्रदलकमलकर्णिकामें परमशिवरूप गुरुदेवसे संयोग कराकर उन जीवात्मा, परमशिव और कुण्डिलनी—इन तीनोंको एक समझकर चन्द्रमण्डलसे स्रवित सुधारसपानसे आनन्दोन्मत्त सदाशिवरूपी श्रीमद्गुरुदेवका ध्यान करना चाहिये। यथा—

स्वमूर्द्धनि सहस्रारपङ्कजासीनमव्ययम्।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं शरच्चन्द्रनिभाननम्॥
प्रफुल्लेन्दीवराकारनेत्रद्वयविराजितम्।
शुक्लाम्बरधरं शुक्लगन्धमाल्यानुलेपनम्॥
विभूषितं श्वेतमाल्यैर्वराभयकरद्वयम्।
वामाङ्गगतया शक्त्या सहितं स्वप्रकाशया॥
सुरक्तोत्पलधारिण्या ज्ञानैर्मुदितमानसम्।
शिवेनैक्यं समुन्नीय ध्यायेत् परगुरुं धिया॥

अपने मस्तकके बीच सहस्रदलकमलमें बैठे हुए अविनाशी, स्वच्छ स्फटिक मणिके सदृश कान्तिवाले, शरत्कालीन चन्द्रमाके समान मुखवाले, विकसित कमलके समान विशाल नेत्रवाले, श्वेत वस्त्र धारण करनेवाले, श्वेत गन्ध तथा श्वेत पुष्पकी मालाको धारण करनेवाले, श्वेत चन्दन धारण करनेवाले, दोनों हाथोंमें वराभयमुद्रा धारण करनेवाले तथा वामाङ्गमें लाल कमल धारण किये हुए अपने तेजसे प्रकाशित स्वशक्तिसे युक्त होकर ज्ञानसे प्रसन्न चित्तवाले अपने परम गुरुदेवको सदाशिवके साथ ऐक्य समझकर ध्यान करना चाहिये।

स्त्रीगुरुपक्षमें—

सहस्रारे महापद्मे किञ्जल्कगणशोभिते।
प्रफुल्लपद्मपत्राक्षीं घनपीनपयोधराम्॥
प्रसन्नवदनां क्षीणमध्यां ध्यायेच्छिवां गुरुम्।
पद्मरागसमाभासां रक्तवस्त्रसुशोभिताम्॥
रक्तकङ्कणपाणिं च रक्तनूपुरशोभिताम्।
स्थलपद्मप्रतीकाशपाददद्वन्द्वसुशोभिताम्॥
शरदिन्दुप्रतीकाशरत्नोद्भासितकुण्डलाम्।
स्वनाथवामभागस्थां वराभयकराम्बुजाम्॥

अपने सिरके बीच जो किञ्जल्कसे शोभित सहस्रपत्रवाला महाकमल है उसमें विकसित कमलपत्रके समान सुन्दर आँखवाली, निविड़ मांसल स्तनवाली, प्रसन्न मुखवाली, कृश कटिवाली, पद्मरागमणिके समान सुन्दर कान्तिवाली, रक्तवस्त्र धारण करनेवाली, रक्तवर्ण दोनों हाथोंमें पद्मरागमणिखचित कङ्कणको धारण करनेवाली, रक्तवर्ण दोनों चरणोंमें रक्तनूपुरको धारण करनेवाली, स्थलकमलके समान चरणवाली, शरत्कालीन चन्द्रमाके समान मणिके प्रकाशसे प्रकाशयुक्त कुण्डलवाली, हाथोंमें वराभयमुद्रा धारण करनेवाली, अपने स्वामीके वामाङ्गमें विलसित होनेवाली जो महाशक्तिरूपा गुरु है उसको शिरःस्थ सहस्रदलकमलकर्णिकामें ध्यानकर अधोलिखितानुसार उसकी मानसिक मुद्रात्मिका पूजा करनी चाहिये।

लं पृथ्वीतत्त्वात्मकं गन्धं गुरवे समर्पयामि नमः।

दोनों हाथोंके कनिष्ठ और अङ्गुष्ठकी संयोगात्मक मुद्रासे गन्ध अर्पण करना चाहिये।

हुं आकाशतत्त्वात्मकं पुष्पं गुरवे समर्पयामि नमः।

दोनों हाथोंके अङ्गुष्ठ और तर्जनीकी संयोगात्मक मुद्रासे पुष्प अर्पण करना चाहिये।

यं वायुतत्त्वात्मकं धूपं गुरवे समर्पयामि नमः।

दोनों हाथोंके ऊर्ध्वमुख तर्जनी और अङ्गुष्ठकी संयोगात्मक मुद्रासे धूप अर्पण करना चाहिये।

इं वह्नितत्त्वात्मकं दीपं गुरवे समर्पयामि नमः।

दोनों हाथोंके मध्यमा और अङ्गुष्ठकी संयोगात्मक-मुद्रासे दीप अर्पण करना चाहिये।

वं अमृततत्त्वात्मकं नैवेद्यं गुरुवे समर्पयामि नमः।

दोनों हाथोंके अनामिका और अङ्गुष्ठकी संयोगात्मक मुद्रासे नैवेद्य अर्पण करना चाहिये। उसके बाद प्राणायामत्रय अधोलिखितानुसार करना चाहिये—

प्रथम प्राणायाम

'ओं' इस मन्त्रसे वा 'ऐं' इस मन्त्रसे ही प्राणायामत्रय सम्पन्न होता है। दाहिने हाथके अङ्गुष्ठसे दक्षिण नासापुटको दबाकर वाम नासापुटसे चार वा सोलह बार मन्त्र जपता हुआ श्वास खींचकर नाभिमें गुरुदेवका ध्यान करता हुआ पूरक नामक प्राणायाम करे। फिर दक्षिण अनामिकासे वाम नासापुटको दबाकर सोलह वा चौंसठ बार मन्त्र जपकर तथा वायुको स्तम्भितकर हृदयमें गुरुदेवका ध्यान करते हुए कुम्भक नामक प्राणायाम करे। फिर दक्षिण नासापुटसे दक्षिणाङ्गुष्ठ

हटाकर आठ वा बत्तीस बार मन्त्र जपता हुआ तथा मस्तकमें गुरुदेवका ध्यान करता हुआ श्वास निकालकर रेचक नामक प्राणायाम करे।

द्वितीय प्रकार

पूर्वोक्त प्राणायामका उलटा ही द्वितीय प्राणायाम होता है। दक्षिणानामिकासे वाम नासापुटको दबाकर दक्षिण नासापुटसे चार वा सोलह बार मन्त्र जपता हुआ नाभिमें गुरुदेवका ध्यान करते हुए श्वास खींचकर पूरक नामक प्राणायाम करे। फिर दक्षिणाङ्गुष्ठसे दक्षिण नासापुटको दबाकर सोलह वा चौंसठ बार मन्त्र जप करते हुए वायुको स्तम्भितकर हृदयमें गुरुदेवका ध्यान करते हुए कुम्भक नामक प्राणायाम करे। फिर वाम नासापुटसे दक्षिण अनामिकाको हटाकर आठ वा बत्तीस बार मन्त्र जपते हुए तथा मस्तकमें गुरुदेवका ध्यान करते हुए श्वास निकाल रेचक नामक प्राणायाम करे। प्रथम प्रकार ही तृतीय प्रकारका प्राणायाम होता है। प्रतिपादित प्राणायामत्रय करके फिर मालाका यथाविधि संस्कार कर—

क्लीं माले माले महामाले सर्वसिद्धिस्वरूपिणि।
चतुर्वर्गस्त्वयि न्यस्तस्तस्मान्मे सिद्धिदा भव ओं कामेश्वर्यै नमः॥

—इस मन्त्रसे अक्षतादि लेकर पूजा करके 'ऐं' इस गुरु-मन्त्रका अष्टोत्तरशत वा अष्टाधिकसहस्र जपकर—

ओं त्वं माले सर्वदेवानां पूजिता शुभदा मता।
शुभं कुरुष्व मे भद्रे यशो वीर्यं च धेहि मे॥

—इस मन्त्रसे मालाको प्रणामकर मस्तकपर रखे। इसके बाद पुरुष गुरुदेवके पक्षमें—

ओं गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम्।
सिद्धिर्भवतु मे देव त्वत्प्रसादान्महेश्वर॥

अष्टोत्तरशतं वा अष्टाधिकसहस्रसंख्यकं तेजोरूप 'ऐं' इति गुरुमन्त्रजपमहं गुरवे समर्पयामि नमः।

—इससे गुरुदेवके दाहिने हाथमें समर्पण करे।

स्त्रीगुरुपक्षमें—

ओं गुह्यातिगुह्यगोप्त्री त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम्।
सिद्धिर्भवतु मे देवि त्वत्प्रसादान्महेश्वरि॥

अष्टोत्तरशतं वा अष्टाधिकसहस्रसंख्यकं तेजोरूप 'ऐं' इति गुरुमन्त्रजपमहं गुरवे समर्पयामि नमः।

—इससे गुरुदेवके वाम हस्तमें अर्पण करे। उसके बाद—

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

—इन तीनों मन्त्रोंसे—

स्त्रीगुरुपक्षमें—

नमस्ते देवदेवेशि नमस्ते हरपूजिते।
ब्रह्मविद्यास्वरूपायै तस्यै नित्यं नमो नमः॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
उन्मीलितं यया चक्षुस्तस्यै नित्यं नमो नमः॥

—इन दोनों मन्त्रोंसे शिरःस्थ सहस्रदल-कमलकर्णिकागत परम गुरुदेवको प्रणामकर तथा उनसे आज्ञा लेकर सांसारिक कार्यमें लगना चाहिये।

शुद्धस्वरूप

मन तुम लागहु सुद्ध सरूपे॥ टेक॥
तन मन धन न्यौछावरि बारो बेगि तजो भव कूपे॥
सतगुरु कृपा तहाँ लै लावो जहाँ छाँह नहिं धूपे।
पइया करम ध्यान सों फटको जोग जुगति करि सूपे॥
निर्मल भयो ज्ञान उँजियारो गूँग भयो लखि चूपे।
भीखा दिब्य दृष्टि सों देखत सोहे बोलत मूँ पै॥

—भीखा साहब

गुरु-तत्त्व-विचार

संसारका कोई भी कार्य अनुभवी गुरु या जानकार पथप्रदर्शकके बिना सहज ही सफल नहीं होता। केवल पुस्तकें पढ़नेसे काम नहीं चलता, जो मनुष्य उस कामको करके सफल हो चुका हो, उसकी सलाह आवश्यक होती है और कठिन कार्य हो तो कुछ दिन उसके पास रहकर विनय और सेवासे उसे प्रसन्न रखते हुए उससे सीखना पड़ता है। जब लौकिक कार्योंका यह हाल है तब आध्यात्मिक साधनमें तो गुरुकी बड़ी ही आवश्यकता है। वहाँ तो पद-पदपर गिरनेका डर है। इसलिये प्रत्येक साधकको अनुभवी गुरुके शरण होकर अध्यात्मसाधना करनी चाहिये। भारतीय साधनामें गुरुपरम्परा और गुरुकुलोंका बहुत ऊँचा स्थान है, क्योंकि गुरुके बिना ज्ञान नहीं होता। गुरु ही आँखें खोलकर, हाथमें मसाल लेकर विघ्नोंसे बचाकर शिष्यको लक्ष्यस्थानतक सुखसे पहुँचाता है। गुरु और ईश्वरमें कोई भेद नहीं, प्रत्युत शिष्यके लिये तो गुरु ईश्वरसे भी बढ़कर है। यही गुरु-तत्त्व है।

परंतु आजकल सच्चे गुरु प्रायः नहीं मिलते। वास्तवमें गुरु सदा ही मुश्किलसे मिलते थे। फिर आजकल तो बहुतसे लोभी-लालची और कामी-कपटी लोग गुरु बन गये हैं, इसलिये गुरुवेश कलङ्कित-सा हो गया है। अतः बहुत ही सावधानीसे गुरु बनाना चाहिये। गुरुमें इतने गुण अवश्य होने चाहिये—

'स्वभाव शुद्ध हो, जितेन्द्रिय हो, धनका लालच जिसे हो ही नहीं, वेद-शास्त्रोंका ज्ञाता हो, सत्यतत्त्वको पा चुका हो, परोपकारी हो, दयालु हो, नित्य जप-तपादि साधनोंको स्वयं (चाहे लोक-संग्रहार्थ ही) करता हो, सत्यवादी हो, शान्तिप्रिय हो, योगविद्यामें निपुण हो, जिसमें शिष्यके पापनाश करनेकी शक्ति हो, जो भगवान्‌का भक्त हो, स्त्रियोंमें अनासक्त हो, क्षमावान् हो, धैर्यशाली हो, चतुर हो, अव्यसनी हो, प्रियभाषी हो, निष्कपट हो, निर्भय हो, पापोंसे बिलकुल परे हो, सदाचारी हो, सादगीसे रहता हो, धर्मप्रेमी हो, जीवमात्रका सुहृद् हो और शिष्यको पुत्रसे बढ़कर प्यार करता हो।'

जिनमें ये गुण न हों और निम्नलिखित अवगुण हों, उन्हें गुरु नहीं बनाना चाहिये—

'जो संस्कारहीन हो, वेद-शास्त्रोंको जानता-मानता न हो, कामिनी-काञ्चनमें आसक्त हो, लोभी हो, मान, यश और पूजा चाहता हो, वैदिक और स्मार्त कर्मोंको न करता हो, क्रोधी हो, शुष्क या कटुभाषण करता हो, असत्य बोलता हो, निर्दयी हो, पढ़ाकर पैसा लेता हो, कपटी हो, शिष्यके धनकी ओर दृष्टि रखता हो, मत्सर करता हो, नशेबाज, जुआरी या अन्य किसी प्रकारका व्यसनी हो, कृपण हो, दुष्टबुद्धि हो, बाहरी चमत्कार दिखलाकर लोगोंका चित्त हरता हो, नास्तिक हो, ईश्वर और गुरुकी निन्दा करता हो, अभिमानी हो, बुरी सङ्गतिमें रहता हो, भीरु हो, पातकी हो, देवता, अग्नि और गुरुमें श्रद्धा न रखता हो, संध्या-तर्पण, पूजा और मन्त्र आदिके ज्ञानसे रहित हो, आलसी हो, विलासी हो, धर्महीन हो, संन्यासी होकर त्यागी न हो और गृहस्थ होकर गृहिणीरहित हो, शक्तिहीन हो और वृषलीपति हो।'

स्त्रियोंको किसी भी अन्य पुरुषसे दीक्षित होनेकी या किसी परपुरुषको गुरु बनानेकी आवश्यकता नहीं है। सिद्धमन्त्र स्वामी अपनी पत्नीको दीक्षा दे सकता है। दीक्षा न दे तो भी पति उसका परम गुरु ही है। विधवा स्त्री केवल श्रीपरमात्माको ही गुरु समझकर उन्हींका सेवन करे।

जो धन और कामिनीका लोभी मालूम हो, ऐसे गुरुसे तो सदा दूर ही रहना चाहिये।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि आजकल सद्गुरु हैं ही नहीं, उत्कट इच्छा और सच्ची चाह होनेपर संसारसागरसे तारनेवाले सद्गुरु अवश्य ही मिलते हैं। यदि किसी कारणवश गुरुरूपमें श्रद्धा नहीं टिकती हो तो सर्वान्तर्यामी परमात्मप्रभु परमेश्वरको (शिव, राम, कृष्ण, हनुमान् आदि स्वरूपोंमें) परम गुरु मानकर शास्त्रसम्मत साधना करनी चाहिये।

'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।'

कामना भोगसे कभी शान्त नहीं होती, घी डालनेपर अग्निके समान वह अधिकाधिक बढ़ती ही रहती है।—मनुस्मृति

ब्रह्मचारीजीकी दो बातें

(श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

स्व०श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी मेरे समवयस्क थे, वे वाराणसीमें संस्कृत पढ़ने आये थे। मेरे घर प्रायः नित्य ही आते थे। हम दोनोंमें गहरी छनती भी थी। मुझे उनके हाथका बनाया भोजन बहुत अच्छा लगता था, यद्यपि हम दोनोंके छात्र-जीवनके कारण ऐसा अवसर कम मिलता था कि साथ भोजन करें। उन दिनों वे 'ब्रह्मचारी' विशेषणका उपयोग करते थे और मुझसे धार्मिक विषयोंमें इतना आगे बढ़ जाते थे कि मेरे लिये वहाँतक उनके साथ चलना कठिन था और आगे चलकर तो वे इतना आगे बढ़ गये थे कि उनका साथ ही छूट गया था। पर उनकी एक बात याद रही—आदमीमें श्रद्धा हो या विश्वास न भी हो पर प्राचीन पवित्र स्थानोंके दर्शनसे अन्तश्चक्षु अवश्य खुलता है चाहे क्षणिक ही हो, ज्ञान हो जाता है।

इसी सिलसिलेमें हम पहले भारतके सबसे पुराने, अभीतक जीवित स्थान—काशीमें स्थित जंगमवाड़ी मठ गये थे। यह तो ताम्रपत्रसे ही सिद्ध है कि काशी-नरेश महाराजा श्रीजयेन्द्रदेवजीने शिवयोगी मल्लिकार्जुन जंगमको मठ बनानेके लिये भूमि दी थी, जिसपर मठ बना। वाड़ीका अर्थ बाग होता है। जंगमवाड़ीमें स्थापित शङ्करका एक लिङ्ग है। इस स्थानकी ऐतिहासिक महिमा है। यह सिद्ध स्थान तपस्याके योग्य है।

दूसरा स्थान है शतशिवा। बंगालीटोला मुहल्लेमें महाकालीकी एक जाग्रत् तथा सद्यः फल देनेवाली प्रतिमा प्रतिष्ठित है। कहा जाता है कि यह सौ शवोंपर स्थापित है। पर गङ्गाजीका तट वहाँ शायद हजारों वर्ष पहले रहा हो—गङ्गाजीने महाकाल—काशीनगरीका तट पर्याप्त दूरीपर छोड़ा है, इसका एक सत्य प्रमाण है। ब्रह्मचारीजी कहते थे कि काशीकी वर्तमान नगरी यद्यपि संसारमें सबसे पुरानी नगरी है तथापि अब जो पुराना नगर है, वह भी एक प्रकारसे नया मानना चाहिये। इसके गर्भमें महान् तपस्वी अब भी तपस्या कर रहे हैं। उसका प्रमाण कुछ वर्ष पूर्व मिला था।

काशीसे पाँच मील दूर शिवपुरके पास एक वकीलने एक जमीन खरीदी। वे नींव डालनेके लिये उसकी खोदाई करा रहे थे। यकायक एक खोखला गड्ढा निकल आया और उसमें देखते हैं कि भालूके समान काले बालोंसे ढके एक कृशकाय महात्मा ध्यानस्थ बैठे हैं। उनकी आँख खुली। उन्हें जैसे आश्चर्य हुआ—'क्या है ?' मालिक हाथ जोड़कर खड़े हो गये, उन्होंने महात्मासे क्षमा माँगी। महात्माने केवल इतना ही कहा—'अच्छा, ध्यान खुला है तो जरा गङ्गाजल पिला दो।' भूमि-स्वामीके पास मोटर थी नहीं। टेम्पोका युग नहीं था। रिक्शा भी नहीं था। एक इक्कासे गङ्गाजीसे जल लानेमें तीन घंटे लग गये। जब सिद्धके सम्मुख जल प्रस्तुत किया गया तो उन्होंने पूछा—'इतनी देर क्यों लगी ?'

'महाराज ! चार-पाँच मील आने-जानेमें समय लग गया।' सिद्धने विस्मयसे पूछा—'गङ्गा इतनी दूर चली गयीं ? अच्छा, जैसे यह स्थान ढका था वैसे ही ढक दो।' स्थान ढक दिया गया। भूस्वामीने वह स्थान सदाके लिये छोड़ दिया। बहुत पूछनेपर भी बतलाया नहीं कि वह स्थान कहाँ है। उन्हें भय था कि महात्मा शाप न दे दे। हमने उनसे सम्पर्क करनेकी चेष्टा की। वे दिवङ्गत हो चुके थे।

ब्रह्मचारीजीका कथन बिलकुल सत्य है कि काशी महाश्मशान है। पता नहीं कितने संत-महात्मा बैठे हुए हैं। यह भी प्रकट है कि गङ्गाजी बहुत दूर चली गयी हैं। ऐसे महात्मा पृथ्वीतलमें काशीमें हैं, इसका मुझे प्रत्यक्ष प्रमाण मिला। बड़े भाग्यसे ऐसे अवसर मिलते हैं और जरा भी भूल होनेपर सर्वनाश भी हो जाता है।

(२)

ब्रह्मचारीजीकी दूसरी बात थी—जिह्वा ही शरीरका सबसे महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इसीसे जीवन बनता और बिगड़ता है। यों तो दोहा प्रसिद्ध है—

जिह्वा ऐसी बावरी, कह गई अकास पतार।
आप तो कह भीतर गयी, जूती खात कपार॥

—पर प्रभुदत्तजीका तात्पर्य इससे भिन्न था। वे कहते थे कि कलियुग ईसासे लगभग ३१०२ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ। उसीसे अनुमान लग जाता है कि महाभारत कब हुआ, उसीके बाद कलियुग आया। कलियुग लौहयुग कहलाता है। इसमें लोहेकी प्रधानता रहेगी—लोहा संघर्ष, युद्ध, विपत्तिद्वारा

घातक है। अतएव लोहासे बचनेका एकमात्र उपाय है जिह्वापर नियन्त्रण। कलासे ही कलि बना है। कला शिव-शक्तिकी अभिव्यक्ति है। शिव-शक्तिकी ६४ कला बतायी गयी है। इसमें जगत्का सब व्यापार आ जाता है। जन्मसे मृत्युतक जितने भी गुण हैं, अंश—उपयोग हैं, सब इस ६४ कलाके अन्तर्गत हैं। रामानुजने जिन छः वेदाचार्योंका उल्लेख किया है, सभी इसी ६४ कलाकी सिद्धिसे शिवत्वकी प्राप्तिकी बात कहते हैं, वे षडाचार्य हैं—भारुचि, टङ्क, बोधायन, गुहदेव तथा द्राविड़ाचार्य आदि। इनके ग्रन्थ उपलब्ध हैं या नहीं, मैं नहीं जानता। होंगे तभी तो भगवान् रामानुजाचार्यने उनका स्मरण किया है। मैंने जिज्ञासा की कि जिह्वाका विषयके साथ यह कलाका विषय कैसे छिड़ गया? तो उत्तर मिला कि कलाका अर्थ जिह्वा है। जो इस अर्थको जानते हैं वे जिह्वाके द्वारा ६४ कलाओंपर विजय प्राप्त कर शिवमय, विष्णुमय हो जाते हैं। विष्णुकी षोडश कला, लक्ष्मीकी कला, ब्रह्मा तथा शङ्करकी—सबकी १६-१६ कलाएँ मिलकर शिवतत्त्वकी ६४ कला होती है। उसपर अधिकार पानेके लिये जिह्वाका सहारा लेना पड़ेगा। हृदयसे नाम जपनेसे तथा जिह्वापर पूरी तरह नियन्त्रण रखनेसे ही सिद्धि होती है। जिह्वा ही कहती है—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवाय केन क्व च सम्प्रतिष्ठा।

(श्वेता० अ०१, मन्त्र १)

'हम किससे उत्पन्न हैं, कौन हमें जीवित रखता है। अन्तमें मरनेके बाद हमारी पूर्णतः स्थिति क्या है?'

इसका उत्तर केवल पढ़नेसे नहीं होगा। आज तो केवल इन्द्रिय-सुखके लिये कलियुगमें लोग पागल हो रहे हैं। लोहेका उपयोग, अस्त्र, शस्त्र, विज्ञान—सबका केवल एक ही लक्ष्य है इन्द्रिय-सुख। जिसके लिये भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा था—

इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।

(गीता ३।७)

तो फिर जिह्वा क्या करेगी? ब्रह्मचारीजी कहते थे कि जीभ ही तो सब उत्पात मचाये है। लेकिन ब्रह्मचारीजी जिस जिह्वाका उपयोग करना या कराना चाहते थे आज उसे आसानीसे दिमागमें ले आना भी कठिन है। हठयोग-प्रदीपिका (१३।३७)में इसका जो उत्तर है वह कितने लोगोंकी समझमें आयेगा। लिखा है कि—

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्।

यानी जिह्वाको तीनों नाड़ियों—इडा, पिंगला और सुषुम्नाके मार्गसे कपाल-गह्वरमें लगाना चाहिये। इसे खेचरी मुद्रा भी कहेंगे। सर्पकी तरह जीभको उलटकर कण्ठके तलवेमें लगाना चाहिये, जिससे अमृत भी झरता मिलेगा और ध्यानस्थ होकर ज्ञान भी प्राप्त हो जायगा। हठयोग-प्रदीपिकामें 'कला' का उपयोग जिह्वाके लिये हुआ है। अब यह प्रकट है कि कला—६४ कला—कलियुग तथा कला—जिह्वाका घनिष्ठ सम्बन्ध है। हो सकता है यह अभ्यास सबके बूतेका न हो, हरेक अभ्यास कठिन होता है, पर क्या आजके युगमें इतना भी नहीं कर सकते कि अपनी जिह्वाका दुरुपयोग न करें, कम-से-कम बोले, अधिक-से-अधिक जप करे, प्रभुके नामका अधिकतम उपयोग करे। योगकी यह प्रथम सीढ़ी होगी। काश, हम इस सीढ़ीपर पहला पग रख पाते। इसीसे कहते हैं कि (कला) कलिमें कला—जिह्वा सबसे महत्त्वपूर्ण है।

ब्रह्मचारीजी इस गुणकी जीती-जागती मूर्ति थे—

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति। स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति॥ तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥

संक्षेपमें ब्रह्मचारी पृथ्वी और आकाशको धारण करनेवाला देवता है, दोनोंमें कुछ खोज रहा है। वह अपने तपसे आचार्य तथा राष्ट्रको पूर्ण करता है। उसीसे ब्राह्मण उत्पन्न होता है, ज्येष्ठ ब्रह्मज्ञान पैदा होता है और देवगण उसके लिये अमृत लेकर पधारते हैं।

गीताका सांख्ययोगी, मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं, ऐसे समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अनन्यभावसे निरन्तर स्थित रहता है (देखिये गीता ३।२८; ५।८-९, १३; ६।३१; १३।२९-३०; १४।१९-२०; १८।१७, ४९से ५५ आदि)।

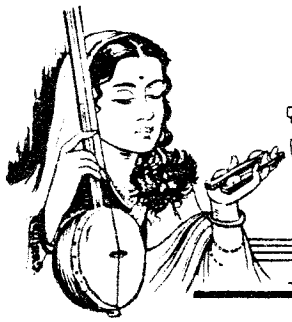

योगके विविध रूप

योगके मुख्य सिद्धान्त

वेद तीन काण्डोंमें विभक्त है—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। वेदके कर्मकाण्डके अनुसार कर्म-सुकौशलको योग कहते हैं। वेदके उपासनाकाण्डके अनुसार चित्तवृत्ति-निरोधको और वेदके ज्ञानकाण्डके अनुसार जीवात्मा और परमात्माके एकीकरणको योग कहते हैं। कर्मकाण्डका अन्तिम लक्ष्य निष्काम होकर कर्म करना है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसका विस्तृत वर्णन किया गया है। कर्म करते हुए कर्मबन्धनसे मुक्त होना ही उसका स्वरूप है। उपासनाकाण्डका अन्तिम लक्ष्य अन्तःकरणकी वृत्तियोंको साधनके द्वारा निरुद्ध कर परमात्माके स्वरूपका अनुभव करना है। तरङ्गरहित जलाशयमें जैसा मनुष्य अपना मुख देख लेता है, चित्तकी वृत्तियाँ निरुद्ध होते ही दृश्य-प्रपञ्चके द्रष्टा परमात्माका स्वरूप वैसा ही अन्तःकरणमें दिखायी देने लगता है। इस विज्ञानका विस्तृत वर्णन योगदर्शनके सूत्रोंमें पाया जाता है। ज्ञानकाण्डका अन्तिम लक्ष्य अविद्याजनित अज्ञानको विद्याकी कृपासे दूरकर आत्मज्ञान प्राप्त करते हुए परमात्मा और जीवात्माके भेदका जो मिथ्या ज्ञान है, उसको हटाकर जीवात्मा और परमात्माकी अद्वैतसिद्धि करना है। इसका विस्तृत वर्णन उपनिषदों और वेदान्तादि शास्त्रोंमें मिलता है। यही वेदके तीनों काण्डोंके अनुसार योगके सिद्धान्तोंका रहस्य है। वस्तुतः इन तीनोंके द्वारा एक ही अवस्थाकी प्राप्ति होती है।

श्रीभगवान्‌की सांनिध्यप्राप्तिके साधनोंको उपासना कहते हैं। उपासनाका प्राण भक्ति है और कलेवर योग है। शरीरमें प्राणके न रहनेसे जैसे शरीरकी कुछ भी उपयोगिता नहीं रहती, वैसे ही भगवद्भक्तिहीन योग नटका खिलवाड़ हो जाता है। शरीरके अभावमें प्राणके रहनेका कोई स्थान ही नहीं रहता। इस दशामें प्राणका अस्तित्व ही सम्भव नहीं रहता। इसी विज्ञानके अनुसार भक्ति और योगका उपासनाकाण्डके सब साधनोंमें अन्योन्याश्रय बना रहना स्वाभाविक है। योगतत्त्ववेत्ता पूज्यपाद महर्षियोंने योगसाधनकी चार स्वतन्त्र शैलियोंका उपदेश दिया है और योगमार्गसे भगवद्राज्यमें पहुँचनेके लिये आठ सोपान बताये हैं। योगसाधन-शैलियोंके चार नाम हैं—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। योगके आठ सोपानोंके नाम इस प्रकार हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। त्रिकालदर्शी और स्थूल तथा सूक्ष्म राज्यको हस्तामलकवत् देखनेवाले महर्षियोंने योगविज्ञानको इन चार श्रेणियों और आठ सोपानोंमें विभक्त करके ऐसा बताया है कि साधनमार्गके सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग इनमें आ जाते हैं।

मन्त्रयोगका सिद्धान्त यह है कि यह संसार नाम-रूपात्मक है। नाम और रूपसे ही जीव अविद्यामें फँसकर जकड़ा रहता है। मनुष्य जिस भूमिपर गिरता है, उसीके अवलम्बनसे उठ सकता है। अतः नाम और रूपके अवलम्बनसे ही जब वह फँसता है, तो नाम और रूपके ही अवलम्बनसे मुक्त भी हो सकता है। मन्त्रयोगके ज्ञाता पूज्यपाद आचार्योंने मन्त्रयोगके साधनोंको सोलह भागोंमें विभक्त किया है। जैसे दिक्‌शुद्धि, स्थानशुद्धि, मन्त्रजप, स्तुति, न्यास आदि। मन्त्रयोगके ध्यानको स्थूल ध्यान कहते हैं। यह ध्यान पञ्च सगुणोपासना और अवतारोपासनाके अनुसार कई प्रकारका होता है। मन्त्रयोगकी समाधिको महाभाव-समाधि कहते हैं।

हठयोगका सिद्धान्त यह है कि स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर एक ही भावमें गुम्फित है और एकका प्रभाव दूसरेपर पूरा बना रहता है। स्थूल शरीरको अपने अधीनकर सूक्ष्म शरीरको अधीन करते हुए योगकी प्राप्ति करनेको हठयोग कहते हैं। योगनिष्णात आचार्योंने हठयोगको सात अङ्गोंमें विभक्त किया है। यथा—नेति, धौति आदि षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि। हठयोगके ध्यानको ज्योतिर्ध्यान कहते

हैं और प्राणके निरोधसे होनेवाली हठयोगकी समाधि महाबोध-समाधि कहलाती है।

लययोगका सिद्धान्त यह है कि ब्रह्माण्डकी प्रतिकृति मानवपिण्ड है। ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिका विलास जैसा ब्रह्माण्ड है, वैसा मानवपिण्ड भी है। ग्रह, नक्षत्र, चतुर्दश भुवन आदिके पीठ मानवपिण्डमें भी हैं। पञ्चकोशोंका आवरण शिथिल होनेपर पिण्ड जहाँ चाहे, उसी लोकमें अपना सम्बन्ध स्थापन कर सकता है। इसी विज्ञानके अनुसार मनुष्यपिण्डके आधारपद्ममें कुलकुण्डलिनी नामक ब्रह्मशक्ति प्रसुप्त रहकर अविद्याके प्रभावसे सृष्टिक्रिया किया करती है। रजोवीर्यजनित बैजी सृष्टि उसका साक्षात् फल है। मनुष्यशरीरस्थ सप्तम चक्र मस्तकमें स्थित सहस्रदलमें जिस योगद्वारा कुलकुण्डलिनी-शक्तिको ले जाकर ब्रह्मरूपी सदाशिवके साथ मिला दिया जाता है, उस शिवमें शक्तिका लय कर मुक्ति प्राप्त करनेके साधनका नाम लययोग है। लययोगके आठ अङ्ग हैं। लययोगके ध्यानको बिन्दुध्यान और लययोगकी समाधिको महालय-समाधि कहते हैं।

राजयोग अन्य तीन योगोंकी चरम सीमा है। उसका सिद्धान्त यह है कि मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कारसे संवलित अन्तःकरण ही जीवके बन्धनका कारण और मुक्तिका भी कारण है। जैसे,अशुद्ध मन जीवको नीचे गिराता है और शुद्ध मन ऊपर उठाता है, वैसे ही इन्द्रियपरायण बुद्धि जीवको बन्धनमें जकड़ती है और ब्रह्मपरायण बुद्धि जीवको मुक्तिभूमिमें पहुँचा देती है। अतः शुद्ध बुद्धिकी सहायतासे तत्त्वज्ञान-लाभ करके अन्तमें राजयोगी जीव और ब्रह्मके अभेदका कारण समझकर ज्ञानसे अज्ञानका नाश करता हुआ जीव और ब्रह्मकी अद्वैतसिद्धिके द्वारा मुक्त हो जाता है। राजयोगसाधनके सोलह अङ्ग हैं। राजयोगके ध्यानको ब्रह्मध्यान कहते हैं और राजयोगकी समाधि निर्विकल्प-समाधि कहलाती है, जिसका फल जीवन्मुक्ति है।

इन चार योगशैलियोंके मूलमें भगवद्भक्तियुक्त अष्टाङ्ग-योगका साधनक्रम विद्यमान है। अष्टाङ्गयोगके आठों अङ्ग ब्रह्मरूपी सर्वोच्च सौध-शिखर (छत) पर चढ़नेके लिये आठ सोपान (सीढ़ियाँ) रूप हैं। इनका संक्षिप्त विज्ञान यह है कि बहिरिन्द्रियोंपर आधिपत्य जमानेके साधनोंको यम कहते हैं। अन्तरिन्द्रियोंपर आधिपत्य जमानेके साधनोंको नियम कहते हैं। स्थूल शरीरको योगके उपयोगी बनानेके साधनोंको आसन कहते हैं। शरीरस्थ प्राणको योगोपयोगी बनानेके साधनोंको प्राणायाम कहते हैं। ये चारों साधन बहिरङ्गके हैं। बहिर्मुख मनको अन्तर्मुख करनेके साधनोंको प्रत्याहार कहते हैं। प्रत्याहारसे ही अन्तरङ्गका साधन प्रारम्भ होता है। अन्तर्जगत्में ले जाकर मनको एक स्थानमें ठहरानेके साधनोंको धारणा कहते हैं। अन्तर्जगत्में ठहरनेका अभ्यास प्राप्त करते हुए अपने इष्टदेव, चाहे सगुणभावमय रूप हो, चाहे ज्योतिर्मय रूप हो, चाहे बिन्दुमय रूप हो, चाहे निर्गुण सच्चिदानन्दमय रूप हो, जिसका जैसा अधिकार हो, उसी इष्टदेवको केवल ध्येय बनाकर जगत्के भूल जानेको ध्यान कहते हैं। परमात्मामें अपने जीवभावके मिला देनेको समाधि कहते हैं। वह समाधि सविकल्प और निर्विकल्प दो भागोंमें विभक्त है। निर्विकल्प - समाधि ही सब साधनोंका अन्तिम लक्ष्य है। यही सर्वजीव - हितकारी सब सम्प्रदायोंके अनुयायियों, सब प्रकारके उपासकों और सब प्रकारके साधकोंके लिये परम हितकर योगका संक्षिप्त विज्ञान है।

विरक्त

(श्रीपंन्यासजी महाराज विजयमाणिक्यरुचिजी यति 'मानिक')

सत्यव्रत धार मन मोहते निवार कर, गिरिकी गुहामें तन तपते तपायेंगे।
दया दिल लायेंगे औ जीव न सतायेंगे औ, दीन न दबायेंगे न काया कलपायेंगे॥
'मानिक' की जोत ईश जोतमें जुटायेंगे औ, आनन्द बढ़ायेंगे अनन्त सुख पायेंगे।
दुनियामें फेर कभी आयेंगे न जायेंगे न, कर्मको खपायेंगे अमरपद पायेंगे॥

अष्टाङ्ग-योग

(अनन्तश्री स्वामी श्रीमाधवाश्रमजी महाराज, 'शुकदेव स्वामीजी')

योगशास्त्रके प्रणेता भगवान् पतञ्जलिने समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य—इन चार पादोंमें सूत्रात्मक-पद्धतिमें योगशास्त्रका प्रणयन किया है। प्रथम पादमें मुख्य रूपसे चित्तवृत्ति-निरोधात्मक समाधिका तथा अभ्यास-वैराग्यरूप और उसके साधनका निरूपण है। द्वितीयपादमें समाधिकी सिद्धिके लिये अष्टाङ्ग-योग, तृतीयपादमें योग-विभूति तथा चतुर्थपादमें कैवल्य या स्वरूप-प्रतिष्ठाकी स्थितिका वर्णन हुआ है।

योगकी सिद्धिके लिये अष्टाङ्ग-योगका पालन करना अत्यावश्यक है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं। प्रकृतमें इनका संक्षेपमें वर्णन किया जा रहा है—

यम

'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।'

(पा० यो० सा० ३०)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम कहलाते हैं।

अहिंसा—**'प्राणवियोगानुकूलव्यापारो हिंसा तदभावोऽहिंसा'** के अनुसार प्राणवियोगजनक व्यापार हिंसा है, एतादृश व्यापाराभाव अहिंसा है। अथवा **'अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः'** (पा० यो० सा० ३५) अहिंसाकी स्थिति होनेपर उस योगीके सांनिध्यमें जन्मजात सर्प और नकुलका स्वाभाविक वैर-त्याग हो जाता है, यह अहिंसाका स्वरूप और फल है।

सत्य—**'वाङ्मनसयोर्याथार्थ्यम्'** (भोजवृत्ति) **'वाचा यथा वस्तुकथनं सत्यशब्दाभिधेयम्'** (भाष्यकार भगवान् शंकराचार्य) वाणी, मन, कर्म, वचनसे जो यथार्थ वर्णन किया जाय अथवा शास्त्रीय सिद्धान्तकी रक्षाके लिये जो कहा जाय वह सत्य है। अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, दर्श-पौर्णमास आदि यज्ञोंका फल स्वर्ग है अथवा क्रिया (यज्ञ) रूपी धर्मका फल स्वर्ग है। जो सत्यप्रतिष्ठ है, उस योगीको स्वर्गादिरूपी फलकी प्राप्ति हो जाती है। **'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'** (पा० यो० सा० ३६)। यहाँ उस योगीका संकल्प सिद्ध हो जाता है और वाणी सिद्ध हो जाती है।

अस्तेय—दूसरोंके धनका अपहरण न करना अस्तेय कहा जाता है **'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्'** (पा० यो० सा० ३७), सम्पूर्ण दिशाओंमें भ्रमण करनेवाले योगीको अस्तेयकी प्रतिष्ठा होनेपर सम्पूर्ण ईप्सित (इच्छित) वस्तुओंकी प्राप्ति हो जाती है।

ब्रह्मचर्य—जननेन्द्रियके नियन्त्रण करनेको ब्रह्मचर्य कहा जाता है। जो साधक इस सूत्रका स्मरण करके साधनामें रत रहता है, उसे निम्नलिखित फलकी प्राप्ति होती है—

'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।'

(पा० यो० सा० ३०)

ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठासे वीर्य-लाभ होता है। वीर्य शब्द शक्ति-विशेषका वाचक भी है, जैसे वीर्यलाभ होनेपर अणिमादि शक्तियोंके साथ योगी शिष्योंको ज्ञानादि भी हृदयङ्गम करानेकी सामर्थ्य प्राप्त करता है।

अपरिग्रह—**'भोगसाधनानामनङ्गीकारः'** (भोजवृत्ति) भोग्य वस्तुओंका संग्रह न करना अथवा **'मा गृधः कस्य स्विद् धनम्'** (ई० उ० १) इस वचनके आधारपर किसीके धनकी आकाङ्क्षा न करनेका भी अपरिग्रहमें ही पर्यवसान है, एतावता यह भी अपरिग्रह ही कहा जा सकता है। **'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः'** (पा० यो० सा० ३९) साधकको अपने पूर्वजन्मों, वर्तमान जन्मका एवं भविष्यके बोधके अतिरिक्त दूसरोंके भी सभी जन्मोंका बोध हो जाता है, यह अपरिग्रहका फल है।

नियम

नियम पाँच कहे गये हैं— शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—**'शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि नियमाः'** पा० यो० २।३२)।

शौच—शौच दो प्रकारका होता है—बाह्य और आभ्यन्तर। मिट्टी और जलसे शरीरका प्रक्षालन करना बाह्य शौच कहा जाता है। गोमूत्र, गोमयादिके प्राशन तथा मैत्री आदि भावनासे अन्तःकरणके दोष—राग-द्वेषादिकी निवृत्ति होती है। इसे आभ्यन्तर शौच कहा गया है—**'शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा**

परैरसंसर्गः' (पा० यो० सा० ४०)। बाह्याभ्यन्तर शौचका फल सौमनस्य और सौमनस्यका फल एकाग्रतापूर्वक इन्द्रियविजय और आत्मदर्शनकी योग्यता प्राप्त करना है।

संतोष—'**संतोषादनुत्तमसुखलाभः**' (पा० यो० सा० ४२)। प्राप्त वस्तुसे अधिककी अभिलाषा न करना संतोष कहा गया है। संतोषसे लोकोत्तर सुखकी प्राप्ति होती है। यही इसका फल है।

तप—द्वन्द्व सहन करना, भूख-प्यास, ठंडी-गरमीको अप्रतिकारपूर्वक सहन करना, कृच्छ्र-चान्द्रायणादि एवं एकादशी आदि व्रत करना यही तप कहा जाता है।

'**कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।**'

(पा० यो० सा० ४३)

तपसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म पाप नष्ट होनेसे इन्द्रियोंमें सूक्ष्म वस्तुको दूर देशमें भी सुनने और देखनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है।

स्वाध्याय—'**स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः**' (पा० यो० सा० ४४) अधिकारानुसार प्रणव-जप, वेद, पुराण, स्मृतियोंका अध्ययन, भगवन्नाम-जपादि स्वाध्याय कहलाता है। इष्टदेवका साक्षाद्दर्शन होना स्वाध्यायका फल है।

ईश्वरप्रणिधान—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

(श्रीमद्भा० ११। २। ३६)

शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियों तथा बुद्धि-स्वभावादिसे किया गया कर्म फलाभिसन्धिवर्जित यद्वा ईश्वरार्पण-बुद्धिसे किया गया कर्म ही ईश्वर-प्रणिधान है। समाधिकी सिद्धि ही इसका फल है—'**समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।**' (पा० यो० सा० ४५)

आसन

'**तत्र स्थिरसुखमासनम्**' (पा० यो० सा० ४६) जिस मुद्रामें साधक स्थिरतासे (देरतक) सुखपूर्वक दृढ़ होकर बैठ सके वही आसन है। जैसे पद्मासन, सिद्धासन आदि। इसमें हाथ-पैर आदि अवयवोंको कष्टरहित सुखपूर्वक रखा जाता है। आसनकी सिद्धि हो जानेपर शीतोष्णादि प्रतीत नहीं होते।

प्राणायाम

'**तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।**'

(पा० यो० सा० ४९)

आसन स्थिर हो जानेपर, श्वास और प्रश्वास—इन दोनोंका विच्छेद हो जानेपर गतिका विच्छेद करना ही प्राणायाम है। प्राणायामके तीन भेद हैं—रेचक, पूरक और कुम्भक। प्राणायामका अभ्यास करनेसे साधकके क्लेश, कर्मोंके फल और समस्त दोष-पाप नष्ट होकर चित्तका शब्दादि विषयोंसे सम्बन्ध छूट जाता है।

प्रत्याहार

'**स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः**' (पा० यो० सा० ५४) इन्द्रियोंका अपने विषयोंसे विमुख होकर चित्तके स्वरूपका अनुकरण करना प्रत्याहार कहलाता है। इन्द्रियोंको रोकनेवाला चित्त ही है। चित्तके रुकनेसे ये सभी इन्द्रियाँ भी अवरुद्ध हो जाती हैं। उक्त पाँचों उपाय योगके बहिरङ्ग साधन हैं, क्योंकि चित्तको स्थिर करनेके बाद ही समाधितक पहुँचा जा सकता है।

धारणा

'**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा**' (पा० यो० विभूति० १) नाभिचक्र, नासाग्र, हृदयपुण्डरीक आदि स्थलोंमें चित्तको एकाग्र कर लेना ही धारणा है। भगवान्‌के श्रीचरणारविन्दकी नखमणि - चन्द्रिकासे लेकर शिखापर्यन्त स्वरूपका चिन्तन करना बहिरङ्ग धारणा है।

ध्यान

'**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्**' (पा० यो० विभूति० २) धारणामें किसी देशमें चित्तकी वृत्ति एक स्थानपर स्थिर की जाती है। जब वह वृत्ति समानप्रवाहरूपसे अविच्छिन्न तैलधारावत् प्रवाहित होती रहे, मध्यमें कोई दूसरी वृत्ति न आये तो उसीको ध्यान कहते हैं। धारणा और ध्यानमें केवल यही अन्तर है कि धारणा विच्छिन्न अर्थात् भिन्न-भिन्न देशमें होती है और ध्यान अविच्छिन्न तैल-धाराकी भाँति होता है।

समाधि

'**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः**' (पा० यो० विभूति० ३) ध्यान जब ध्येय वस्तुके आकारमें हो जाय

और ध्यान तथा ध्याता दोनों न रहें तो उसे समाधि कहते हैं। ध्यानावस्थामें ध्यानरूपी क्रिया, ध्यान करनेवाले साधक एवं ध्येय वस्तुकी भी प्रतीति होती है, किंतु अभ्यास बढ़नेपर जब ध्यान, ध्याता और ध्येय—ये तीनों एकाकार होकर ध्येयके रूपमें प्रतीत होने लगें तो उस अवस्थाका नाम समाधि है। समाधिका परम प्रयोजन कैवल्य प्राप्त करना है।

योगचतुष्टय—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग एवं राजयोग

(श्रीएकान्तवासी महात्मा)

(१) मन्त्रयोग

योगसाधनका रहस्य दर्शनोंमें महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शनमें, महर्षि भरद्वाजकृत कर्ममीमांसादर्शनमें और मन्त्रयोगसंहिता, हठयोगसंहिता, लययोगसंहिता, राजयोगसंहिता तथा पुराणोंमें और तन्त्रोंमें विस्तृतरूपसे वर्णित है। योगसाधनकी चार अलग-अलग शैलियाँ हैं। उनमें मन्त्रयोग प्रथम है। उसके देवर्षि नारद, पुलस्त्य, गर्ग, वाल्मीकि, भृगु, बृहस्पति आदि प्रमुख आचार्य हुए हैं।

मन्त्रयोगका सिद्धान्त यह है कि परमात्मासे भाव, भावसे नाम-रूप और उसका विकार तथा विलासमय यह संसार है। इसलिये जिस क्रमके अनुसार सृष्टि हुई है, उसके विपरीत मार्गसे ही लय होगा, यह निश्चय है। अर्थात् परमात्मासे भाव और भावसे नाम-रूपद्वारा जब सृष्टि हुई है, जिससे समस्त जीव संसार-बन्धनमें आ गये हैं, तो यदि मुक्तिलाभ करना हो तो प्रथम नाम-रूपका आश्रय लेकर नाम-रूपसे भावमें और भावसे भावग्राही परमात्मामें चित्तवृत्तिका लय होनेपर ही मुक्ति होगी। इसलिये नारदादि महर्षियोंने नाम और रूपके अवलम्बनसे साधनकी विधियाँ बतलायी हैं, इसीका नाम मन्त्रयोग है। यथा योगशास्त्रमें—

नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात्।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः॥
तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते।
उत्तिष्ठति जनः सर्वोऽध्यक्षेणैतत्समीक्ष्यते॥
नामरूपात्मकैर्भावैर्बध्यन्ते निखिला जनाः।
अविद्याग्रसिताश्चैव तादृक्प्रकृतिवैभवात्॥
आत्मनः सूक्ष्मप्रकृतिं प्रवृत्तिं चानुसृत्य वै।
नामरूपात्मनोः शब्दभावयोरवलम्बनात्॥

'सृष्टि नाम-रूपात्मक होनेके कारण नाम-रूपके अवलम्बनसे ही साधक सृष्टिके बन्धनसे अतीत होकर मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। जिस भूमिपर मनुष्य गिरता है, उसी भूमिके अवलम्बनसे वह पुनः उठ सकता है—यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है। नाम-रूपात्मक विषय जीवको बन्धनयुक्त करते हैं, नाम-रूपात्मक प्रकृति-वैभवसे जीव अविद्याग्रस्त हुए रहते हैं, अतः अपनी-अपनी सूक्ष्म प्रकृति और प्रवृत्तिकी गतिके अनुसार नाममय शब्द तथा भावमय रूपके अवलम्बनसे जो योगसाधन किया जाय, उसको मन्त्रयोग कहते हैं।' मन्त्रयोगका विस्तार और महिमा सबसे अधिक है। सनातन वैदिक मूर्तिपूजा और पीठ-विज्ञान मन्त्रयोगके अनुसार ही सिद्ध होते हैं। मन्त्रयोग-साधन-प्रणालीके अनेक अङ्ग हैं। उनमेंसे मन्त्रयोगके ग्रन्थोंमें निम्नलिखित सोलह अङ्ग मुख्य बतलाये हैं—

भवन्ति मन्त्रयोगस्य षोडशाङ्गानि निश्चितम्।
यथा सुधांशोर्जायन्ते कलाः षोडश शोभनाः॥
भक्तिः शुद्धिश्चासनं च पञ्चाङ्गस्यापि सेवनम्।
आचारधारणे दिव्यदेशसेवनमित्यपि॥
प्राणक्रिया तथा मुद्रा तर्पणं हवनं बलिः।
यागो जपस्तथा ध्यानं समाधिश्चेति षोडश॥

'चन्द्रकी सोलह कलाओंकी तरह मन्त्रयोग भी सोलह अङ्गोंसे पूर्ण है। ये सोलह अङ्ग इस प्रकार हैं—भक्ति, शुद्धि, आसन, पञ्चाङ्गसेवन, आचार, धारणा, दिव्यदेशसेवन, प्राणक्रिया, मुद्रा, तर्पण, हवन, बलि, याग, जप, ध्यान और समाधि।' नाना शास्त्रोंमें इन सोलह अङ्गोंका विस्तृत वर्णन पाया जाता है। भक्तिका विस्तार तो सभी भक्तिशास्त्रोंमें पाया जाता है। शुद्धिके अनेक भेद हैं। यथा—किस दिशामें मुख करके साधन करना चाहिये, यह दिक्शुद्धि है। कैसे स्थानमें बैठकर साधन करना चाहिये, यह स्थानशुद्धि है। स्नानादि-

द्वारा शरीरशुद्धि और प्राणायामादिद्वारा मनःशुद्धि होती है। कैसे आसनपर बैठना चाहिये—जैसे कि चैलासन, मृगचर्मासन, कुशासनादि, यह आसन-शुद्धि है। अपने इष्टकी गीता, सहस्रनाम, स्तव, कवच और हृदय—ये पाँचों पञ्चाङ्ग कहलाते हैं। आचारके तन्त्र और पुराणोंमें अनेक भेद कहे गये हैं। मनको बाहर मूर्ति आदिमें लगानेसे अथवा शरीरके भीतर स्थानविशेषोंमें मनके स्थिर रखनेको धारणा कहते हैं। जिन सोलह प्रकारके स्थानोंमें पीठ बनाकर पूजा की जाती है, उनको दिव्यदेश कहते हैं। यथा—मूर्धास्थान, हृदयस्थान, नाभिस्थान, घट, पट, पाषाणादिकी मूर्तियाँ, स्थण्डिल, यन्त्र आदि। मन्त्र -शास्त्रमें प्राणायामोंके अतिरिक्त शरीरके नाना स्थानोंमें प्राणको ले जाकर साधन करनेकी आज्ञा है। ये सब साधन प्राणक्रिया कहलाते हैं। न्यास आदि इसीके अन्तर्गत हैं। मन्त्रयोगमें अपने-अपने इष्टदेवके प्रसन्न करनेकी जो चेष्टाएँ हैं, वे मुद्रा कहलाती हैं, यथा—शङ्खमुद्रा, योनिमुद्रा आदि। पदार्थविशेषद्वारा इष्टदेवका तर्पण किया जाता है। अग्निमें आहुति देनेको हवन कहते हैं, बलि तीन प्रकारकी होती है—यथा आत्मबलि अहङ्कारादिकी, इन्द्रियोंकी बलि तथा काम-क्रोधादिकी बलि। अन्तर्याग और बहिर्याग-भेदसे याग दो प्रकारके होते हैं। अपने इष्टके नामके जपको जप कहते हैं। जप भी वाचनिक, उपांशु और मानसिक-भेदसे तीन प्रकारका होता है। इष्टके रूपमें ध्यानको मनके द्वारा करनेसे जो साधन होता है, उसको 'ध्यान' कहते हैं। इष्टके रूपका ध्यान करते-करते अपनेको भूल जानेसे जो एक अवस्था होती है, उसे मन्त्रयोगमें 'महाभावसमाधि' कहते हैं। यही मन्त्रयोगसमाधि है।

(२) हठयोग

जैसे मन्त्रयोगके साधनोंमें नाम-रूपके अवलम्बनसे साधनकी विशेषता है, उसी प्रकार केवल स्थूलशरीरके अधिक अवलम्बनसे चित्तवृत्तिनिरोध करके योगसाधनकी प्रणाली हठयोगमें चलायी गयी है। महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इस प्रकारसे श्रीभगवान्‌के निकट पहुँचनेके लिये साधनके आठ सोपान बतलाये गये हैं। ये उत्तरोत्तर एक दूसरेसे ऊँचे हैं। बहिरिन्द्रियोंपर प्रभाव रखनेको 'यम' कहते हैं। अन्तरिन्द्रियोंपर प्रभाव रखनेको 'नियम' कहते हैं। योगसाधनके लायक शरीर बनानेको 'आसन' कहते हैं। प्राण और अपान वायुपर प्रभाव डालकर उनको योगसाधनोपयोगी बनानेको 'प्राणायाम' कहते हैं। मनको बाहरसे खींचकर भीतरकी ओर लानेको 'प्रत्याहार' कहते हैं। भीतरमें मनको ठहरा रखनेको 'धारणा' कहते हैं। इष्टरूपी ध्येयमें मनके लगा रखनेको 'ध्यान' कहते हैं और इष्टमें मनको लीन करके अपनेको भूल जानेको 'समाधि' कहते हैं। यही 'अष्टाङ्गयोग'-का सार है। इनमेंसे चार अङ्ग बाहरके हैं और चार अङ्ग भीतरके हैं। इन आठोंका बहुत कुछ विस्तार है। उन विस्तारोंमेंसे मन्त्र, हठ, लय और राज—इन चार श्रेणीके साधनोंमें इन आठों अङ्गोंमेंसे किसीमें किसी अङ्गपर अधिक ध्यान दिया है और किसी-किसी साधनमें किसी-किसी दूसरे अङ्गपर विशेष ध्यान दिया है। शास्त्रोंमें कहा गया है कि महर्षि मार्कण्डेय, भरद्वाज, मरीचि, जैमिनि, पाराशर, भृगु, विश्वामित्र आदिकी कृपासे इस कल्पमें हठयोगका विस्तार हुआ है। जब देखा जाता है कि सूक्ष्मशरीरके तीव्र संस्कारसे उत्पन्न हुए कर्मोंके भोगका आश्रयरूपी स्थूलशरीर बनता है, अर्थात् सूक्ष्मशरीरके भावके अनुरूप ही स्थूलशरीरका संघटन होता है तथा सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीर एक ही सम्बन्धयुक्त होकर रहते हैं, तब इसमें क्या बाधा है कि स्थूलशरीरके कार्योंके द्वारा सूक्ष्मशरीरपर आधिपत्य नहीं किया जा सकता? फलतः अधिकारिविशेषके लिये स्थूलशरीरप्रधान योग-क्रियाओंका आविष्कार योगशास्त्रमें किया गया है, जिनके द्वारा साधक प्रथम अवस्थामें स्थूलशरीरकी क्रियाओंका साधन करता हुआ उसपर सम्पूर्ण आधिपत्य कर लेता है और क्रमशः उस शक्तिको अन्तर्मुख करके उसके द्वारा सूक्ष्मशरीरको वशमें लाकर चित्तवृत्तिनिरोधके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार करनेमें समर्थ होता है। इसी योगप्रणालीको हठयोग कहते हैं।

मन्त्रयोगमें जिस प्रकार भावपूर्ण स्थूल ध्यानकी विधि है, हठयोगमें वैसे ही ज्योतिःकल्पनारूप ज्योतिर्ध्यान करनेकी विधि रखी गयी है। अन्तर्जगत्‌के पवित्र भावोंको आश्रय करके जिस प्रकार नाना देव-देवियोंके ध्यानके लिये मन्त्रयोगमें उपदेश है, उसी प्रकार परमात्माको सब ज्योतियोंका ज्योतिःस्वरूप जानकर उनके ज्योतिर्मय रूपकी कल्पना करके

ध्यानका अभ्यास करनेकी व्यवस्था हठयोगमें है। मन्त्रयोग-समाधिमें नाम-रूपोंकी सहायतासे समाधि-लाभ करनेकी साधन-प्रणाली वर्णित है और हठयोगमें वायुनिरोधके द्वारा मनका निरोध करके समाधिलाभ करनेकी विधि है। मन्त्रयोग-समाधिको 'महाभाव' और हठयोग-समाधिको 'महाबोध'-समाधि कहा जाता है।

षट्कर्मासनमुद्राः प्रत्याहारश्च प्राणसंयामः।
ध्यानसमाधी सप्तैवाङ्गानि स्युर्हठस्य योगस्य॥

'षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि—हठयोगके ये सात अङ्ग हैं।' इन सब अङ्गोंके क्रमानुसार साधनद्वारा क्या-क्या फलप्राप्ति होती है, उसका योगशास्त्रमें वर्णन है—

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद् दृढम्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता॥
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात् प्रत्यक्षमात्मनः।
समाधिना त्वलिप्तत्वं मुक्तिश्चैव न संशयः॥

'षट्कर्मद्वारा शरीरशोधन, आसनके द्वारा दृढ़ता, मुद्राके द्वारा स्थिरता, प्रत्याहारसे धीरता, प्राणायाम-साधनद्वारा लाघव, ध्यानद्वारा आत्माका प्रत्यक्ष और समाधिद्वारा निर्लिप्तता तथा मुक्तिलाभ अवश्य होता है।' इन सब मानसिक और आध्यात्मिक लाभोंके सिवा हठयोगके प्रत्येक अङ्ग और उपाङ्गके साधनद्वारा शारीरिक स्वास्थ्यविषयक भी विशेष लाभ होता है, जो योगिराज श्रीगुरुदेवसे जानने योग्य है। धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक और कपालभाति—ये छहों क्रियाएँ षट्कर्मकी कहलाती हैं। हठयोगके अनुसार बैठकर साधन करनेके कुल तैंतीस आसन माने गये हैं। उनकी क्रियाएँ अलग-अलग हैं। हठयोगके अनुसार आठ प्रकारके प्राणायामकी क्रिया कही गयी है। उनके नाम सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली हैं। इसी प्रकार हठयोगमें पचीस मुद्रा-साधनकी विधि पायी जाती है। ये सब मुद्राएँ वायु और मनको स्थिर करनेवाली होती हैं। प्रत्याहारमें भी ये मुद्राएँ मदद करती हैं तथा ध्यानसिद्धि और समाधि देनेमें भी मदद करती हैं, जो हठयोगका अन्तिम साधन है।

(३) लययोग

अङ्गिरा, याज्ञवल्क्य, कपिल, पतञ्जलि, वसिष्ठ, कश्यप और वेदव्यास आदि पूज्यचरण महर्षियोंकी कृपासे परम मङ्गलकारी तथा मन-वाणीसे अगोचर ब्रह्मपद-प्राप्तिके कारणभूत लययोगका सिद्धान्त संसारमें प्रकट हुआ है।

प्रकृति-पुरुषके शृङ्गारसे उत्पन्न हुए ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों एक ही हैं। समष्टि और व्यष्टि-सम्बन्धसे ब्रह्माण्ड और पिण्ड एकत्व-सम्बन्धसे युक्त हैं। अतः ऋषि, देवता, पितर, ग्रह, नक्षत्र, राशि, प्रकृति, पुरुष सबका स्थान समानरूपसे ब्रह्माण्ड और पिण्डमें है। पिण्डज्ञानसे ब्रह्माण्ड-ज्ञान हो सकता है। श्रीगुरूपदेशद्वारा शक्तिसहित पिण्डका ज्ञान लाभ करनेके अनन्तर सुकौशलपूर्ण क्रियाद्वारा प्रकृतिको पुरुषमें लय करनेसे लययोग कहलाता है। पुरुषका स्थान सहस्रारमें है और कुलकुण्डलिनी नाम्नी महाशक्ति आधारपद्ममें प्रसुप्त हो रही है। उसके सुप्त रहनेसे ही बहिर्मुखी सृष्टिक्रिया होती है। योगाङ्गद्वारा उसको जाग्रत् करके पुरुषके पास ले जाकर लय कर देनेपर योगी कृतकृत्य होता है, इसीका नाम 'लययोग' है।

योगशास्त्रमें इसके नौ अङ्ग बतलाये गये हैं। यथा—

अङ्गानि लययोगस्य नवैवेति पुराविदः।
यमश्च नियमश्चैव स्थूलसूक्ष्मक्रिये तथा॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं चापि लयक्रिया।
समाधिश्च नवाङ्गानि लययोगस्य निश्चितम्॥
स्थूलदेहप्रधाना वै क्रिया स्थूलाभिधीयते।
वायुप्रधाना सूक्ष्मा स्याद्ध्यानं बिन्दुमयं भवेत्॥
ध्यानमेतद्धि परमं लययोगसहायकम्।
लययोगानुकूला हि सूक्ष्मा या लभ्यते क्रिया॥
जीवन्मुक्तोपदेशेन प्रोक्ता सा हि लयक्रिया।
लयक्रियासाधनेन सुप्ता सा कुलकुण्डली॥
प्रबुद्ध्य तस्मिन् पुरुषे लीयते नात्र संशयः।
शिवत्वमाप्नोति तदा साहाय्यादस्य साधकः॥
लयक्रियायाः संसिद्धौ लयबोधः प्रजायते।
समाधिर्येन निरतः कृतकृत्यो हि साधकः॥

'योगतत्त्वज्ञ महर्षियोंने लययोगके नौ अङ्ग वर्णन किये हैं—यम, नियम, स्थूल क्रिया, सूक्ष्म क्रिया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, लयक्रिया और समाधि। स्थूलशरीरप्रधान

क्रियाको 'स्थूल क्रिया' और वायुप्रधान क्रियाको 'सूक्ष्म क्रिया' कहते हैं। बिन्दुमय प्रकृति-पुरुषात्मक ध्यानको 'बिन्दुध्यान' कहते हैं। यह ध्यान लययोगका परम सहायक है। लययोगानुकूल अति सूक्ष्म सर्वोत्तम क्रिया जो केवल जीवन्मुक्त योगियोंके उपदेशसे ही प्राप्त होती है, वह 'लयक्रिया' कहलाती है। लयक्रियाओंके साधनद्वारा प्रसुप्त कुलकुण्डलिनीनामक महाशक्ति प्रबुद्ध होकर ब्रह्ममें लीन होती है। इनकी सहायतासे जीव शिवत्वको प्राप्त होता है। लयक्रियाकी सिद्धिसे महालयरूपी समाधिकी उपलब्धि होती है, जिससे साधक कृतकृत्य हो जाता है।'

बहिरिन्द्रियोंको वशमें लानेके साधनको 'यम' कहते हैं। अन्तरिन्द्रियोंको वशमें लानेके साधनको 'नियम' कहते हैं। हठयोगकी तरह तैंतीस आसनोंमेंसे कुछ आसनोंका साधन, पचीस मुद्राओंमेंसे कुछ थोड़ी-सी मुद्राओंका साधन—ये सब लययोगकी 'स्थूल क्रिया' कहलाती हैं। इसी प्रकार हठयोगके आठ प्राणायामोंमेंसे थोड़े-से प्राणायाम और स्वरोदय आदिकी क्रियाएँ लययोगके अनुसार 'सूक्ष्म क्रिया' कहलाती हैं। स्वरोदयके द्वारा बहुत-सी सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। लययोगका पञ्चम साधन प्रत्याहार है, जो केवल मनकी सहायतासे किया जाता है। प्रत्याहारकी सिद्धि प्रारम्भ होते ही योगी नादका सुनना प्रारम्भ कर देता है। लययोगके आठवें अङ्गमें योगी शरीरके अंदरके षट्चक्रोंको जानता और उनकी सहायतासे साधनका अभ्यास करता है। योगाचारियोंका मत है कि मेरुदण्डके नीचेसे लेकर मस्तकके ऊपरतक सात ऐसे स्थान हैं, जिनकी सहायतासे योगी प्रकृति-शक्तिको नीचेसे ले जाकर सातवें सहस्रदलके स्थानमें शिव-शक्तिका संयोग करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इस चक्रकी क्रियाके पूर्ण होनेपर मुक्तिकी प्राप्ति होती है। यह साधन धारणा-साधनसे प्रारम्भ होकर समाधि-सिद्धितक सहायता करता है। लययोगके ध्यानका नाम 'बिन्दुध्यान' है। इस प्रकारसे योगी साधन करते-करते प्रकृतिके सूक्ष्मरूपका बिन्दुरूपमें दर्शन करता है। उसीका ध्यान बढ़ाते-बढ़ाते और उसके साथ लययोगकी कुछ और भी लयक्रिया जो गुरुमुखसे प्राप्त होती है, उसका साधन करते-करते योगी अन्तिम क्रिया समाधिकी प्राप्ति कर लेता है। लययोगकी समाधिका नाम महालय है।

मन्त्रयोगमें जैसे रूपकल्पनाद्वारा ध्यान किया जाता है, हठयोगमें जैसे भगवान्‌का ज्योतिःकल्पनाद्वारा ध्यान किया जाता है, लययोगमें वैसी कल्पना नहीं की जाती। लययोगका योगी योगसाधनके द्वारा अन्तर्जगत्‌में एक अलौकिक बिन्दुका दर्शन करता है। उसीको स्थिर रखकर उसीमें परमात्माके ध्यान करनेको 'बिन्दुध्यान' कहते हैं। यह लययोगकी विशेषता है। लययोगकी दूसरी विशेषता यह है कि लययोगी यदि चाहे तो सारे ब्रह्माण्डको अपने शरीरमें देख सकता है; क्योंकि लययोगसिद्धान्तके अनुसार समष्टिरूपी ब्रह्माण्डका व्यष्टिरूपी मनुष्यपिण्ड साक्षात् प्रतिबिम्बस्वरूप है। लययोगकी सहायतासे ही प्राचीन कालके पूज्यपाद महर्षिगण इस मृत्यु-लोकमें बैठकर सारे ब्रह्माण्डका पता लगा सकते थे।

(४) राजयोग

सब योगसाधनोंका राजा होनेसे इसको राजयोग कहते हैं। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है—'**राजत्वात् सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः।**' राजयोगके लक्षणके विषयमें और उसके साधन-क्रमके विषयमें शास्त्रोंमें कहा गया है कि—

सृष्टिस्थितिविनाशानां हेतुता मनसि स्थिता।
तत्सहायात् साध्यते यो राजयोग इति स्मृतः॥
अन्तःकरणभेदास्तु मनो बुद्धिरहङ्कृतिः।
चित्तं चेति विनिर्दिष्टाश्चत्वारो योगपारगैः॥
तदन्तःकरणं दृश्यमात्मा द्रष्टा निगद्यते।
विश्वमेतत्तयोः कार्यकारणत्वं सनातनम्॥

'सृष्टि, स्थिति और लयका कारण अन्तःकरण ही है, उसकी सहायतासे जिसका साधन किया जाता है, उसको राजयोग कहते हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये अन्तःकरणके चार भेद हैं। अन्तःकरण दृश्य और आत्मा द्रष्टा है। अन्तःकरणरूपी दृश्यसे जगद्रूपी कार्य दृश्यका कार्य-कारण-सम्बन्ध है। दृश्यसे द्रष्टाका सम्बन्ध स्थापित होनेपर सृष्टि होती है। चित्तवृत्तिका चाञ्चल्य ही इसका कारण है। वृत्तिजयपूर्वक स्व-स्वरूपका प्रकाश करना राजयोग कहलाता है। राजयोगसाधनमें विचारबुद्धिका प्राधान्य रहता है। विचार-शक्तिकी पूर्णताद्वारा राजयोगका साधन होता है। राजयोगके ध्यानको 'ब्रह्मध्यान' कहते हैं। राजयोगकी समाधिको 'निर्विकल्प-समाधि' कहते हैं। राजयोगसे सिद्धि-

प्राप्त महात्माका नाम 'जीवन्मुक्त' है। महाभाव (मन्त्रयोगकी समाधि)-प्राप्त योगी, महाबोध (हठयोगकी समाधि)-प्राप्त योगी तथा महालय (लययोगकी समाधि)-प्राप्त योगी तत्त्वज्ञानकी सहायतासे राजयोग-भूमिमें अग्रसर होते हैं। राजयोग सब योगसाधनोंमें श्रेष्ठ है और साधनकी चरम सीमा है, इस कारण इसको राजयोग कहते हैं।

राजयोगके साधनोंको भी शास्त्रोंमें सोलह अङ्गोंमें विभक्त करके वर्णन किया गया है। वे इस प्रकार हैं—

कलाषोडशकोपेतराजयोगस्य षोडश।
सप्त चाङ्गानि विद्यन्ते सप्तज्ञानानुसारतः॥
विचारमुख्यं तज्ज्ञेयं साधनं बहु तस्य च।
धारणाङ्गे द्विधा ज्ञेये ब्रह्मप्रकृतिभेदतः॥
ध्यानस्य त्रीणि चाङ्गानि विदुः पूर्वे महर्षयः।
ब्रह्मध्यानं विराड्ध्यानं चेशध्यानं यथाक्रमम्॥
ब्रह्मध्याने समाप्यन्ते ध्यानान्यन्यानि निश्चितम्।
चत्वार्यङ्गानि जायन्ते समाधेरिति योगिनः॥
सविचारं द्विधाभूतं निर्विचारं तथा पुनः।
इत्थं संसाधनं राजयोगस्याङ्गानि षोडश॥
कृतकृत्यो भवत्यासु राजयोगपरो नरः।
मन्त्रे हठे लये चैव सिद्धिमासाद्य यत्नतः।
पूर्णाधिकारमाप्नोति राजयोगपरो नरः॥

राजयोगके अङ्ग—'षोडशकलासे पूर्ण राजयोगके षोडश अङ्ग हैं। सप्त-ज्ञान-भूमिकाओंके अनुसार सात अङ्ग हैं। ये सब विचारप्रधान हैं। इनके साधन अनेक प्रकारके हैं। धारणाके अङ्ग दो हैं—एक प्रकृतिधारणा और दूसरी ब्रह्मधारणा। ध्यानके अङ्ग तीन हैं—विराट्-ध्यान, ईशध्यान और ब्रह्मध्यान। ब्रह्मध्यानमें ही सबकी परिसमाप्ति है और समाधिके चार अङ्ग हैं—दो सविचार और दो निर्विचार। इस प्रकारसे राजयोगके षोडश अङ्गोंके साधनद्वारा राजयोगी कृतकृत्य होता है। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग—इन तीनोंमें सिद्धिलाभके अनन्तर अथवा किसी एकमें सिद्धिलाभ करनेके अनन्तर साधकको राजयोगका पूर्णाधिकार प्राप्त होता है।'

राजयोगसंहिताके अनुसार—

साधनं राजयोगस्य धारणाध्यानभूमितः।
आरभ्यते समाधिर्हि साधनं तस्य मुख्यतः॥
समाधिभूमौ प्रथमं वितर्कः किल जायते।
ततो विचार आनन्दानुगता तत्परा मता॥
अस्मितानुगता नाम ततोऽवस्था प्रजायते॥
विशेषलिङ्गं त्वविशेषलिङ्गं
लिङ्गं तथालिङ्गमिति प्रभेदान्।
वदन्ति दृश्यस्य समाधिभूमि-
विवेचनायां पटवो मुनीन्द्राः॥
हेया अलिङ्गपर्यन्ता ब्रह्माहमिति या मतिः।
निर्विकल्पे समाधौ हि न सा तिष्ठति निश्चितम्॥
द्वैतभावास्तु निखिला विकल्पश्च तथा पुनः।
क्षीयन्ते यत्र सा ज्ञेया तुरीयेति दशा बुधैः॥
समाधिसाधनं शास्त्राभ्यासतो न हि लभ्यते।
गुरोर्विज्ञाततत्त्वात्तु प्राप्तुं शक्यमिति ध्रुवम्॥

'इसका साधन प्रथमावस्थामें धारणा और ध्यानभूमिसे प्रारम्भ होता है और राजयोगकी साधनभूमि प्रधानतः समाधिभूमि ही है। समाधिभूमिमें पहले वितर्क रहता है तदनन्तर अग्रसर होनेपर विचार रहता है। उससे आगेकी अवस्थाका नाम आनन्दानुगत अवस्था है और उससे आगेकी अवस्थाका नाम अस्मितानुगत अवस्था है। विशेषलिङ्ग, अविशेषलिङ्ग, लिङ्ग और अलिङ्ग—ये चार भेद दृश्यके हैं। अलिङ्गतक त्यागने योग्य हैं। 'मैं ब्रह्म हूँ', यह भाव भी निर्विकल्प-समाधिमें नहीं रहता। कोई द्वैतभाव अथवा कोई विकल्प जब शेष न रहे, वही तुरीयावस्था है। समाधिभूमिका साधनक्रम शास्त्रमें ज्ञात नहीं हो सकता। जिनको अपरोक्षानुभूति हुई है, ऐसे जीवन्मुक्त गुरु ही उसका भेद बतला सकते हैं।'

राजयोगके साधन-क्रमकी समालोचना करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि प्रथम परम भाग्यवान् राजयोगी दर्शनोक्त सप्तज्ञानभूमियोंको, एकके बाद दूसरीको इस तरह क्रमशः अतिक्रम करता हुआ, जैसे मनुष्य सोपानद्वारा छतपर चढ़ जाता है, उसी प्रकार सप्तज्ञानभूमियोंका रहस्य समझ जाता है। यही राजयोगोक्त सोलह अङ्गोंमेंसे प्रथम सप्ताङ्गका साधन-क्रम है। उसके अनन्तर वह सौभाग्यवान् योगी सत् और चित्-भावपूर्ण प्रकृति-पुरुषात्मक दो राज्यके दर्शन करके उनकी धारणासे अनन्तरूपमय प्रपञ्चकी विस्मृति-सम्पादन करनेमें

समर्थ होता है। यही राजयोगके अष्टम और नवम अङ्गका साधन-क्रम है। उसके अनन्तर वह योगिराज परिणामशील प्रकृतिके स्वरूपको सम्पूर्णरूपसे जानकर ब्रह्म, ईश या विराट्रूपमें अद्वितीय ब्रह्मसत्ताका दर्शन करके ध्यानभूमिकी पराकाष्ठामें पहुँच जाता है। यही राजयोगोक्त सोलह अङ्गोंमेंसे दशम, एकादश और द्वादश अङ्गका साधन-क्रम है। उसके अनन्तर वह परम भाग्यवान् योगाचार्य यथाक्रम वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत—इन चारों आत्मज्ञानयुक्त (ये चारों समाधिकी दशा पूर्वकथित मन्त्र-हठ-लययोगोक्त महाभाव, महाबोध, महालय-समाधिसे विभिन्न हैं।) समाधि-दशाओंको अतिक्रमण करते हुए स्व-स्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। इसी दशाको जीवन्मुक्त-दशा कहते हैं। यही सब प्रकारके योग-साधनोंका अन्तिम लक्ष्य है। यही उपासना-राज्यकी परिधि है और यही वेदान्तका चरम सिद्धान्त है।

संसार-योग

(पं० श्रीलक्ष्मणनारायणजी गर्दे)

संसार जैसा कुछ दिखायी देता है वैसा नहीं है, यह है आनन्दमय, दिखायी देता है दुःखमय। यही तो माया है और यह माया हमारे एक-एक रग और रेशेमें फैली हुई है। इसी कारणसे संसारकी प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक सम्बन्ध, प्रत्येक घटना जैसी है वैसी नहीं दिखायी देती, कुछ भिन्न ही प्रकारकी दिखायी देती है। हमारा शरीर पञ्चमहाभूतोंसे बना है और पञ्चमहाभूतोंका अंश है। पर दिखायी ऐसे देता है मानो पञ्चमहाभूत कोई दूसरी चीज है और यह शरीर कोई दूसरी चीज। इस पञ्चमहाभूतात्मक शरीरको जैसा हम समझते हैं वैसा नहीं है, इसका कोई भी भाग इन पञ्चमहाभूतोंसे पृथक् नहीं है। हमारे शरीरमें जो आकाश है, वह ऊपरके महाकाशसे सदा मिला हुआ है। हमारे शरीरमें जो पृथ्वीका अंश है, वह सदा संसारभरकी पृथ्वीसे अभिन्नतया मिला हुआ है। यह शरीर जिस पृथ्वीपर है उस पृथ्वीसे एक क्षणके लिये भी कभी पृथक् नहीं हो सकता। योगियोंके शरीर पृथ्वीसे अलग होते हैं, पर जिस अवस्थामें होते हैं उस अवस्थामें यह पृथ्वी भी अपने पार्थिवरूपसे अलग होती है। हमें जल दिखायी देता है पृथ्वीमें, पर वास्तवमें पृथ्वी जलमें है और जल अग्निके भीतर है जो एक असम्भव बात मालूम होती है। इसी प्रकार अग्नि वायुके भीतर है और वायु आकाशके भीतर। हमें घटमें घटकी मिट्टी आकाशको घेरे हुई दिखायी देती है, पर यथार्थमें आकाश घटको घेरे हुए है, यह लम्बी-चौड़ी सम्पूर्ण पृथ्वी एक महान् जलार्णवके बीचमें मिट्टीके एक लोंदेके समान कही गयी है। यह महान् जलार्णव अग्निके, उससे भी बड़े आग्नेयार्णवके भीतर एक सरोवर-सा है और यह आग्नेयार्णव उससे भी कई गुना बड़े वायव्य महार्णवके भीतर है और यह वायव्य महार्णव उससे अनन्तगुण महान् आकाशार्णवके भीतर है। यह आकाशार्णव अविद्या नाम्नी त्रिगुणात्मिका अपरा प्रकृतिके भीतर है और यह अपरा प्रकृति परा प्रकृतिके भीतर है और यह परा प्रकृति परमात्माके भीतर है। परमात्मा सारे संसारको घेरे हुए हैं, इनके भीतर वे सब महार्णव हैं और इन सबसे घिरा हुआ हमारा यह संसार है। यह भगवान्से घिरा हुआ है, इसका एक-एक अणु भगवान्से घिरा हुआ है और भगवान् आनन्दमय हैं। इसलिये यह संसार आनन्दमयके सिवा और कुछ नहीं हो सकता।

पर यह दिखायी देता है दुःखमय ! इसका कारण क्या है ? इसका कारण है माया अर्थात् हमारा अज्ञान—हमारा यह न देख पाना कि यह संसार आनन्दमय भगवान्के भीतर है। जैसे समुद्रके भीतर मछली हो और वह जलके लिये छटपटाये, वैसी ही अवस्था हमलोगोंकी है कि आनन्द-महार्णवके भीतर रहते हुए भी हमलोग आनन्दके लिये छटपटा रहे हैं ! आखिर यह अज्ञान भी कहाँसे आया ? इसका उत्तर यही है कि यह हमारे अंदरसे आया। सर्वव्यापक भगवान्में जो-जो कुछ है उस-उसमें भी स्वभावतः ही वह चैतन्य है जिसमें एक होते हुए भी बहु होनेकी शक्ति है और पूर्णसे पृथक् होकर पृथक्रूपसे बहु होनेकी जो इच्छा है उस इच्छासे चैतन्यका वह अंश मनसे घिर जाता है। यह जो घिर जाना है इसीको अहंकार कहते हैं। अहंकार और ममकाररूपमें जब यह प्रकट

होता है तब चैतन्यका वह अपृथक् होनेपर भी पृथक् बना हुआ अंश बद्ध-जीव हो जाता है। उस बद्धतासे अपना वास्तविक स्वरूप वह भूल जाता है। आत्मस्वरूपकी इस विस्मृतिके कारण वह बाह्य स्वरूप—सारे संसार और संसारके प्रत्येक पदार्थको इसी आत्मविस्मृतिके पैमानेसे देखता है और उसे तब संसार जैसा कुछ वास्तवमें है वैसा नहीं दिखायी देता—आनन्दमय संसार उसे दुःखमय दिखायी देता है और इस दुःखमय संसारमें वह आनन्दको ढूँढ़ता है। अपने-आपको जो भूला हुआ है वह दूसरेको कैसे पहचान सकता है और जो चीज वह चाहता है, जिसकी खोजमें वह भटकता है,वह भी उसे ऐसे भटकनेसे कैसे मिल सकती है ?

संसारमें जितने उद्योग हो रहे हैं वे सब आनन्दकी खोजके ही उद्योग हैं, चाहे वह बच्चोंका स्कूलोंमें पढ़ना हो या मैदानमें खेलना, युवकोंका ब्याह रचना हो या संतानकी आशा करना, धन कमाना हो या नाम कमाना, साँप, बिच्छू और सिंह-व्याघ्रसे डरना हो या उन्हें मार डालनेकी फिक्र करना, मृत्युसे भागना हो या मृत्युके वश होना, युद्ध-हारना हो या युद्ध-जीतना, राज्यक्रान्ति हो या परराष्ट्रपर आक्रमण करना, व्यापारकी दूकान हो अथवा कल-कारखाना। ये सब बद्ध जीवोंके आनन्दकी खोजके उद्योग हैं। ये उद्योग अच्छे-बुरे कुछ नहीं हैं, इनसे यदि आनन्द मिल जाय तो अच्छे हैं, न मिले तो बुरे हैं। पर जबतक आत्मविस्मृति बनी हुई है, हम अपने-आपको भूले हुए हैं, तबतक पहचान भी भूले हुए हैं, रास्ता भी भूले हुए हैं और इसलिये फल भी भूला हुआ ही होता है। इसीलिये यह देखा जाता है कि आत्मविस्मृत कोई भी मनुष्य संसारमें सुखी नहीं हुआ। ऐसे सब प्राणियोंके जीवनोंका अन्तिम अनुभव यही रहा कि जीवन व्यर्थ ही बीता, आनन्दकी खोजमें कहाँ-कहाँ भटके, पर आनन्द मिला नहीं, उलटे दुःख ही बढ़ता गया। इसीलिये यह कहा जाता है कि संसार दुःखमय है, पर दुःखमय है पूर्णसे पृथक् होनेके कारण—पूर्णसे वियोग होनेके कारण। बंद कोठरीमें, अखिल वायुमण्डलसे पृथक् होते ही, जैसे हमारे प्राण घबराने लगते हैं वैसे ही पूर्ण जो श्रीभगवान् हैं उनसे पृथक् होते ही सर्वाङ्ग दुःखसे व्याप्त हो जाता है। पूर्णसे अपूर्णका यह वियोग है—संसारका सारा दुःख विरह-दुःख है। संसारका प्रत्येक दुःखी प्राणी विरही है, चाहे उसके दुःखका कोई भी प्रकार हो। प्रत्येक दुःख भगवान्‌का विरह है।

आत्मविस्मृतिके जीवनमें कुछ समयके लिये जो सुख मिलता है जिससे कभी-कभी मनुष्य उद्धत और उन्मत्त भी हो जाते हैं वह तो दुःखका बड़ा ही भयङ्कर स्वरूप है। उससे अच्छी दशा उन लोगोंकी है जो बेचारे दुःखी हैं, क्योंकि वे उन्मत्त नहीं हैं और संसारको दुःखमय ही मानकर संसार-स्वामीकी कुछ सुध लेते हैं। पर इनसे भी अच्छे सम्भवतः वे लोग हैं जो संसारके दुःखमात्रको भगवान्‌के विरहका दुःख मानते हैं, क्योंकि सच्ची बात यही है कि संसारमें जो दुःख है वह भगवान्‌का विरह ही है। विरही सदा अपने प्रियतमका चिन्तन करता रहता है और चिन्तन ही अपूर्णके पूर्णसे मिलनका मार्ग है।

यह दुःखमय संसार अपने दुःखसे यही सूचित करता है कि वह आनन्दमय भगवान्‌की ओर जा रहा है और यही कारण है कि यह विश्वजननी अपने उन्हीं सुपुत्रोंको धन्य मानती है जो इस संसारमें उत्पन्न होकर भगवत्साक्षात्कार करके इस संसारका दुःख हरते हैं और इसीलिये ऐसे महात्मा **'सर्वभूतहिते रताः'** कहाते हैं। भूतमात्रका कल्याण यही है कि भगवान्‌से जो उसका वियोग हो गया है सो फिर भगवान्‌से योग हो जाय। संसारका सबसे बड़ा कल्याण यही है। जो लोग देशसेवा या संसारसेवा करना चाहते हों वे भगवान्‌से योग करके सबके वियोग-दुःखको दूर करनेका परम्परासे सिद्ध, मुनि-महात्माओंका जो योग चला आया है उसमें युक्त हों। अन्य सब उद्योग, जिनमें अपने स्वरूपकी पहचान नहीं और इस कारण संसारके रूपकी भी पहचान नहीं, केवल दुःखके ही साधन हैं।

संसार भगवान्‌का कर्म है। कर्म नाम ही संसारका है। कर्म कहते हैं विसर्गको अर्थात् सृष्टि रचनेको—अपना संकल्प मूर्तिमान् करनेको और उस मूर्तिमें आत्मस्वरूप डालनेको। मूर्ति कर्म है और उस मूर्तिको चैतन्य करना उस कर्मकी परिसमाप्ति है—

'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥'

यह परिसमाप्ति यही है कि श्रीभगवान्‌के संकल्पसे जो चैतन्यांश निकलकर कामवशात् अहंभावसे बद्ध होकर

मूर्तिमान् हुआ वह अपने अंशरूपको जानकर अपने पूर्णरूपके साथ योगयुक्त हो। इस प्रकार यह संसाररूप कर्म—व्यष्टिशः और समष्टिशः—भगवत्संकल्पका मूर्तिमान् रूप है और इसकी परिसमाप्ति श्रीभगवान्‌के साथ इसका योग है। यह योग समस्त विश्व-ब्रह्माण्डमें व्याप्त होकर उसको घेरे हुए है। श्रीभगवान्‌की निजसत्तामें तो नित्ययोग है ही, किसी समय भी वियोग नहीं, पर कर्मसत्तामें आत्मविस्मृतिसे जो वियोग हुआ है, उसीसे संसार आनन्दमय होकर भी दुःखमय प्रतीत हो रहा है—नित्ययोगके भीतर ही यह विरह-दुःख है। संसारके प्राणिमात्रका दुःख इसी दुःखका अंश है। आत्मविस्मृतिके नष्ट होते ही संसार भगवान्‌से नित्ययुक्त है ही।

आत्मविस्मृतिकी अवस्थामें संसार दुःखमय है। आत्मस्मृति (कल्पना नहीं) के होते ही संसार आनन्दमय है, क्योंकि श्रीभगवान्‌के साथ संसारका नित्ययोग प्रकट हो गया। इसी योगके लिये नानाविध भावोंसे संसार तरस रहा है।

शरणागतियोगमें समस्त योगोंका समन्वय

(स्वामी श्रीपरमहंसजी महाराज)

भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यकी सिद्धिके लिये वेद-शास्त्रों और अनुभवसिद्ध महात्माओंने अधिकारिभेदके अनुसार कर्मयोग, सांख्ययोग, अष्टाङ्गयोग, हठयोग, राजयोग, मृत्युञ्जययोग, प्रेमभक्तियोग, पाशुपतयोग, ध्यानयोग, क्रियायोग, लययोग, मन्त्रयोग, जपयोग, बुद्धियोग, महाभावयोग और पूर्णयोग इत्यादि अनेकानेक उपाय और साधन बतलाये हैं, वे सभी अपने-अपने सन्मार्गमें महत्त्वपूर्ण तथा प्रधान हैं, परंतु विचार करनेपर उन समस्त योगोंका पर्यवसान शरणागतियोगमें होनेसे शरणागतिके समान अन्य कोई सरल सुगम एवं सुखसाध्य साधन नहीं प्रतीत होता। इस योगमें समस्त योगोंका समन्वय है।

शरण, प्रपन्न, अनन्यभक्ति, अव्यभिचारी भक्ति, अवलम्बन, निर्भरता, प्रपत्ति, आत्मसमर्पण, दासभाव, गोपीभाव इत्यादि शब्द प्रायः एक शरणागतिके ही द्योतक हैं। साधारणतया शरणागतिका अर्थ मन-वाणी और शरीरसे अपने-आपको भगवान्‌के अर्पण कर देना है। '**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।**' अर्थात् 'हे प्रभो ! मैं आपका शिष्य—दास हूँ, आपके शरणागत हूँ, मुझे उपदेश दीजिये।' अर्जुनद्वारा केवल इतना कहनेपर भगवान् उसे अद्भुत गीता-शास्त्रका उपदेश करते हैं।

भगवान् भी यही कहते हैं कि जो एक बार भी शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मुझसे रक्षाकी प्रार्थना करता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ। यह मेरा सदाके लिये व्रत है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा० रा०, युद्ध० १८।३३)

वास्तवमें यही वचन शरणागतिका मूलमन्त्र माना जाता है। श्रीरामचरितमानस तो शरणागतिपरक ही है। उपर्युक्त आशयको लेकर ही महात्मा तुलसीदासजीने रामचरितमानसमें अनेक स्थलोंपर शरणागतिके आदर्शको प्रस्तुत किया है। यहाँ महात्मा भरतजीके कुछ वचनोंको दिया जा रहा है—

कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनामु किहें अपनाए॥

(मानस २।२९९।२-३)

परमात्माको सर्वसमर्थ और सर्वश्रेष्ठ मानकर उनके प्रति अपनेको समर्पित कर देना प्रपत्ति है। परमात्माके सिवा किसीका कभी भी किसी कालमें कुछ भी सम्बन्ध—सहारा न मानकर लज्जा, भय, मान, बड़ाई, अभिमान, अहंता, ममता, कामना, दम्भ आदिका परित्यागकर केवल भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, अनन्त गुणोंके अपार समुद्र, सर्वाधिपति, ऐश्वर्य, माधुर्य, धर्म-शौर्य, ज्ञान, वैराग्य, यश, श्री आदिके भण्डार, क्लेश, कर्म-संशय और भ्रमका सर्वथा नाश करनेवाले परमप्रेमी, परमसुहृद्, परम आत्मीय, परमगुरु और परम महेश्वर हैं—ऐसा दृढ़ विश्वास करना चाहिये और उन्हें करुणावरुणालय समझकर अपनेको सर्वथा निराश्रय, निरवलम्ब, निर्बुद्धि, निर्बल, दीन, निःसत्त्व और दास मानते हुए अतिशय श्रद्धा, भक्ति, शक्ति और अनन्यप्रेमपूर्वक निरन्तर

भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, स्वरूपका चित्तसे चिन्तन, बुद्धिसे सब कुछ एक नारायण हैं—ऐसा निश्चय, प्राणोंसे नित्य-निरन्तर भगवन्नाम-जप, कानोंसे भगवत्कथाका श्रद्धापूर्वक श्रवण, नेत्रोंसे भगवद्विग्रहकी झाँकीका दर्शन, वाणीसे नित्य-निरन्तर भगवन्नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभावका संकीर्तन, हाथोंसे भगवान्‌की मधुर मनोहर सुन्दर घनश्यामकी मूर्तिका पूजन, पैरोंसे भगवद्धाम, भगवत्तीर्थ भगवान्‌के मन्दिरोंमें दर्शनार्थ गमन और शरीरसे भगवान्‌की सेवा एवं साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करना— यही अनन्य शरणागति-योग है।

साधक अपने दोषोंको देखकर दीनतापूर्वक भगवान्‌को सर्वगुणाकर मानकर जब उनकी शरण लेता है और अपने-आपको उनके प्रति समर्पण कर देता है तो उसका शरणागति-सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है और पुनः उसके जीव-स्वभाववाले दुर्गुण दूर होकर भगवान्‌की कृपासे उसमें सभी संतों और भक्तोंके गुण अपने-आप बहुत तेजीसे प्रविष्ट होने लगते हैं। भगवान् कहते हैं—मेरा आश्रय लेनेवालेको किसी प्रकार कोई हानि नहीं होती और वह शीघ्र परम धर्मात्मा एवं संत बनकर मुझे भी सर्वदाके लिये प्राप्त कर लेता है—

'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।'

ब्रह्माण्ड तथा पद्मपुराणादिमें शरणागतिके छः भेद बताये गये हैं—

(१) अनुकूलताका संकल्प, (२) प्रतिकूलताकी भावनाका परित्याग, (३) सर्वशक्तिमान् होनेसे वे शरणागत मेरी रक्षा अवश्य करनेमें समर्थ हैं—इसका दृढ़ विश्वास, (४) मैंने उन्हें अपने रक्षकके रूपमें वरण कर लिया है—ऐसी दृढ़ भावना, (५) अपनेको उनके चरणोंमें डाल देना तथा (६) कार्पण्य—अहंकारका परित्याग एवं दीनताका भाव ग्रहण करना।

शरणागत भक्त मन, वचन तथा शरीरसे भगवन्नामरूप, गुण और लीलाओंका चिन्तन, भगवल्लीला एवं नामका गुण-गान और भगवदाज्ञानुसार स्ववर्णाश्रमोचित नियत कर्मोंको निःस्वार्थभावसे भगवान्‌के लिये करता रहता है, यही मन, वाणी तथा शरीरसे भगवदर्पण होना है।

वह प्रत्येक विधानमें भगवान्‌की दयाका दर्शन करता रहता है। भगवान् दया और न्यायके सागर हैं, वही मेरे प्रेमी और सच्चे सुहृद् हैं। उन्होंने मेरे वास्तविक कल्याणके लिये मुझे सुख-दुःख प्रदान किया है, ऐसा मानकर मृत्युको भी भगवान्‌का पुरस्कार मानता है, तनिक भी घबराता नहीं, अपना मन निरन्तर भगवान्‌की मूर्ति, नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभाव, रहस्य तथा तत्त्व-चिन्तनमें लगाये रहता है।

भगवान् समस्त सद्गुणोंके आकर या अमृतसमुद्र हैं, उनमें दया, क्षमा, शान्ति, समता, सरलता, उदारता, वात्सल्य, पवित्रता, माधुर्य, औदार्य, सौन्दर्य, अनन्तता, व्यापकता, सच्चिदानन्दघनता अपरिसीम—पूर्ण भरी है। वे षडैश्वर्यसंयुक्त हैं, समस्त जगत्‌के जीवोंमें जो सद्भाव, भक्ति, श्रद्धा, दया और प्रेम दिखायी दे रहा है, वह सब मिलकर प्रेममय दयासागरकी दया तथा प्रेमके एक बूँदके बराबर भी नहीं है। विश्वका तेज और ज्ञान एकत्रित किया जाय तो भी उस तेजमय ज्ञानस्वरूप परमात्माके तेज तथा ज्ञानके एक बूँदके समान नहीं है। इस प्रकार मनसे भगवत्तत्त्वका अनुचिन्तन करना ही मनका अर्पण करना है, मनसे पूर्णतः शरणागति होना है।

भगवन्नाम, रूप, गुण, लीलाओंके प्रतिपादन करनेवाले सत्-शास्त्रों, पुराणों, गीता, रामायणादिका प्रपठन करना, स्वाध्याय कहलाता है। नित्य-निरन्तर नियम तथा सत्प्रेमसे भगवन्नाम, गुण-रूप, प्रेम और महिमाका विस्तारपूर्वक प्रपठन तथा भगवन्नामका वाणीद्वारा संकीर्तन करना वाणीको भगवदर्पण करना है।

भगवान्‌की इच्छा, भगवदाज्ञा, वेद-शास्त्रोक्त ऋषि-मुनियोंकी संस्कृति तथा सत्य नीतिके अनुसार केवल परमात्माके ही लिये कर्तव्यकर्मोंका आचरण करना—शरीरको भगवदर्पण करना कहलाता है। प्रेमी भक्त अपने प्रियतम प्रेमास्पदके लिये ही सम्पूर्ण कर्म करता है।

ऐसी स्थितिमें कर्म बन्धन-रूप नहीं होगा, क्योंकि जब मनुष्य कर्मोंमें ममता, आसक्ति, अहंता और फलकी कामना रखता है, तब वह कर्म बन्धनकारक होते हैं, अतः कर्मफल भोगनेके लिये पुनर्जन्म लेना पड़ता है। अतएव समस्त जगत् परमात्माका है, समस्त पदार्थोंके स्वामी भगवान् हैं, मैं स्वयं भी परमात्माका हूँ, मेरे द्वारा जो कुछ भी यज्ञ, दान, तप, व्रत, सेवा, पूजा, ब्रह्मचर्य आदि कर्म होते हैं, वे सब परमात्माके ही

हैं। ऐसा भाव रखना चाहिये।

मन-वचन तथा शरीरसे भगवदर्पण होनेसे, शरणागतको कोई भय, चिन्ता, अभाव, उत्तरदायित्व और दुर्गति इत्यादि दुःख-दोष नहीं रहता। क्योंकि मनुष्यको बाँधनेवाला 'मैं' और 'मेरा' है। भगवच्छरणागत होनेपर 'मैं-मेरे'के बन्धनसे दास मुक्त हो जाता है। बस, केवल एक तू ही तू और सब कुछ तेरा ही है—यह भावना शरणागतियोग है, यही अर्पण है, यही अर्पण सिद्ध है, यही मुक्ति है।

भगवान् स्वयं अपनी अभय शरणकी प्रतिमा तथा शरणागतके बन्धन, चिन्ता, दुःख, अभावसे निर्भय होनेके लिये कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८।६६)

अर्थात् सम्पूर्ण धर्मों, कर्तव्यकर्मों, फल-कामनाओं, अहंता-ममताओं और मोहासक्तियोंको त्यागकर केवल एकमात्र समस्त योगों, सम्पूर्ण क्रिया और मुक्ति-साधनोंमें परम श्रेष्ठ मेरी शरणागति-योगको अपना लेना सर्वोत्तम योग है।

वास्तवमें भगवत्-शरणागतको अपने स्वार्थ एवं उद्धार होनेसे मतलब ही क्या? वह तो अपने-आपको मन-वचन-तनसहित उनके चरणोंमें समर्पित कर, सर्वथा निश्चिन्त हो जाता है, समस्त कर्मोंको भगवत्समर्पण कर, सब कुछ प्रभुका समझकर जीवन, मन, वचन और तनकी ममता, अहंता, आसक्ति, अभिमान, कामनाओंका सर्वथा त्यागकर भगवान्‌की शरणके अतिरिक्त किसीसे भी प्रयोजन नहीं रखता है। भगवान्‌को परम प्राप्य, परमगति, परमाधार, परमप्रिय, परम हितैषी, परम प्रभु, परम सुहृद्, परम आत्मीय, परम स्वामी, संरक्षक, कर्ता-भर्ता समझकर बैठते-उठते, खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-जागते और हर प्रकारसे परम श्रद्धासे, अनन्य चित्तसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌को भजता रहता है। उसका समस्त भार तो भगवान् अपने जिम्मे ले लेते हैं।

इस मार्गपर चलनेवाले भक्तके कामना, वासना, इच्छा, तृष्णा, स्पृहा, आसक्ति-मोहादि दुर्गुण और दुराचार स्वतः नष्ट हो जाते हैं। दैवी सम्पदाका विकास और आसुरी सम्पदाका नाश होनेमें भगवान्‌की दया ही प्रधान हेतु है। मन-वाणी तथा शरीरको सर्वाङ्गभावसे शरणागति-योगकी प्राप्ति नहीं हुई है तो समझना होगा कि अभीतक मनमें कहीं 'मैं-मेरा' इस प्रकारकी इच्छा-कामना छिपी हुई है। इसे दूर करनेके लिये परमात्मासे बार-बार प्रार्थना करनी चाहिये कि उसकी सभी इन्द्रियाँ प्रभु-कार्यमें ही लगी रहें—

जिह्वे कीर्तय केशवं मुररिपुं चेतो भज श्रीधरं
पाणिद्वन्द्व समर्चयाच्युतकथां श्रोत्रद्वय त्वं शृणु।
कृष्णं लोकय लोचनद्वय हरेर्गच्छाङ्घ्रियुग्मालयं
जिघ्र घ्राण मुकुन्दपादतुलसीं मूर्द्धन् नमाधोक्षजम्॥

'हे जिह्वे! केशव-नामका संकीर्तन कर। हे चित्त! मुरारि-माधवका चिन्तन कर। हाथो! श्रीधरकी सेवा-पूजा करो। कानो! तुम अच्युत भगवान्‌की ही कथा श्रवण करो। नेत्रो! भगवान् श्रीराम-श्रीकृष्ण-श्रीशिव, श्रीभगवती माँकी मनोहर मधुर-सुन्दर छबिका दर्शन करो। चरणयुगलो! भगवद्धाम तीर्थोंमें सदा भ्रमण करते रहो। नासिके! तुम मुकुन्दके चरणोंपर चढ़ी तुलसीदलका सुवास लिया करो और मस्तक! भगवान् अधोक्षजके समक्ष झुककर साष्टाङ्ग प्रणाम किया कर। यही सर्वाङ्ग उपासना समस्त योगोंका समन्वय—शरणागति-योग है।

ध्यान

करु मन नंदनँदनको ध्यान।
यहि अवसर तोहिं फिर न मिलैगो, मेरौ कह्यौ अब मान॥
घूँघरवारी अलकैं मुखपै, कुण्डल झलकत कान।
नारायन अलसाने नैना, झूमत रूपनिधान॥

—श्रीनारायण स्वामी

प्रेमयोग

(१)

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकामें थे। व्रजगोपियोंकी बात छिड़ते ही विह्वल हो उठते थे। पटरानियोंको इससे बहुत ईर्ष्या होती थी। इनकी ईर्ष्या भङ्ग करनेके लिये भगवान्‌ने एक लीलाका अभिनय किया। भगवान् बीमार हो गये। बीमारी भी कठिन थी। वैद्यजीने ओषधिकी व्यवस्था की, अनुपान बतलाया 'चरणरज'। यह अनुपान कौन देता है ? चरणरजके लिये सभीसे पूछा गया। रुक्मिणी, सत्यभामा आदि सभी महिषियोंने नरकके डरसे चरणरज देनेकी बातपर मुख मोड़ लिया। श्रीकृष्णको चरणरज देनेका दुःसाहस कौन करता। देवर्षि नारदजीको विश्वके सभी देवी-देवताओंके पास भेजा गया। परंतु किसकी हिम्मत थी जो ऐसा दुःसाहस करे। नारदजी म्लानमुख खाली हाथ लौट आये। भगवान्‌ने कहा—'एक बार व्रज जाकर तो शेष चेष्टा कर देखो।' नारदजीको बात बहुत नहीं भायी। परंतु भगवान्‌का कहना था, व्रज जाना ही पड़ा। नारदजी हमारे श्यामसुन्दरके पाससे आये हैं, सुनकर पगली श्रीराधाजीके साथ व्रजाङ्गनाएँ बासी मुँह ही दौड़ीं प्राणनाथकी कुशल पूछनेके लिये। नारदजीने श्रीकृष्णकी बीमारीकी बात सुनायी। गोपियोंके प्राण सूख गये। उन्होंने कहा—

'क्यों, क्या वहाँ कोई वैद्य नहीं है ?'

'वैद्य भी हैं, दवा भी तैयार है, परंतु अनुपान नहीं मिलता'—नारदजीने कहा।

'ऐसा क्या अनुपान है ?'

'अनुपान बहुत ही दुर्लभ है, तमाम जगत्‌में चक्कर लगा आया। है सभीके पास, पर कोई भी देना नहीं चाहता या दे नहीं सकता।'

'कहिये, कहिये भगवन्! क्या वह अनुपान हमलोगोंके पास भी है ? होगा तो हम जरूर ही देंगी'—व्रजगोपियोंने व्याकुल होकर कहा।

'तुम नहीं दे सकोगी।'

'उनको नहीं दे सकेंगी, ऐसी हमारे पास कोई वस्तु कैसे रह सकती है ?'

'अच्छा! क्या श्रीकृष्णको अपने चरणोंकी धूल दे सकोगी ? इसी अनुपानके साथ दवा देनेसे उनका रोग नष्ट होगा।'

'यह कौन-सी बड़ी कठिन बात हुई ? लो, हम पैर बढ़ाये देती हैं, जितनी चाहिये चरणधूलि अभी ले जाओ'—गोपियोंने सरल हृदय और उत्साहसे कहा।

'अरी, करती क्या हो ? क्या तुम यह नहीं जानती कि श्रीकृष्ण 'भगवान्' हैं, भगवान्‌को चरणधूलि दे रही हो ? वे जगत्‌पति हैं, क्या तुम्हें नरकका भय नहीं है ?' नारदने आश्चर्यचकित होकर कहा।

'नारदजी! हमारे मुक्ति-भुक्ति, स्वर्ग-नरक, जीवन-मरण, सुख-दुःख, हँसी-रुलाई सब एक श्रीकृष्ण ही हैं। अनन्त नरकमें जाकर भी यदि हम श्यामसुन्दरकी देहको पुनः स्वस्थ और सबल पा सकें, तो हम ऐसे मनचाहे नरकका तो नित्य ही भजन करें। जानते नहीं नारदजी! हमारे लिये श्यामसुन्दरने अघासुर, नरकासुर आदिको तो पहलेसे ही मार रखा है। हम न पाप जानती हैं और न नरक मानती हैं। हम तो जानती हैं मात्र हमारे श्यामसुन्दरके सुखको—लीला-विलासको। तुम्हारे सारे पापों और नरकोंको हमलोगोंने इस लीला-विलासके अंदर बदनमें मल लिया है। इसीसे तो हम जल-मर रही हैं। यह मरना ही हमारा जीवन है।'

नारदका वक्षःस्थल पवित्र प्रेमधारासे धुल गया, नारदजीने श्रीश्रीराधारानीके चरणोंकी रज लेकर थोड़ी-सी तो अपने सब अङ्गोंमें लगायी और शेष बची हुईकी पोटली बाँध ली विश्वेश्वरकी ऐश्वर्य-व्याधिके विनाशके लिये। गोपीपदरजके स्पर्शसे परमोज्ज्वलतनु होकर जब नारदजी चरणधूलिकी पोटलीको मस्तकपर रखे द्वारकामें पधारे, तब वहाँ आनन्दकी लहर बह चली। चरणरजके अनुपानसे श्रीकृष्णने औषध ली और सहज ही निरामय हो गये। महर्षियोंका मान भङ्ग हो गया, उन्होंने आज प्रत्यक्ष प्रमाणसे गोपीप्रेमकी अपार अतलस्पर्शी गम्भीरता और मधुरिमाको देख लिया। और श्रीकृष्ण गोपियोंकी बात छिड़ते ही क्यों तन-मनकी सुधि भूल जाते हैं, इसका रहस्य भी उनकी समझमें आ गया। धन्य प्रेमयोग।

(२)

एक समय श्रीधाम—द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी रात्रिकालमें श्रीरुक्मिणी, सत्यभामा-प्रभृति-प्रधाना षोडश राजमहिषियोंके मध्य शयन कर रहे थे। स्वप्नावस्थामें आप अकस्मात् 'हा राधे! हा राधे!' उच्चारण करते हुए क्रन्दन करने लगे। जब अन्य किसी प्रकार प्रभुका क्रन्दन नहीं रुका तो बाध्य होकर महारानी श्रीरुक्मिणीदेवीने अपने प्राणवल्लभको चरण-संवाहनपूर्वक जागृत किया। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र निद्राभङ्ग होनेपर किंचित् लज्जित हुए और उन्होंने अति चतुराईसे अपना भाव गोपन कर लिया और पुनः निद्रित हो गये। परंतु इसका रहस्य जाननेके लिये महारानियोंके हृदयमें अत्यन्त व्यग्रता उत्पन्न हुई। सब परस्पर कहने लगीं—'देखो, हम सब सोलह सहस्र महिषी हैं और कुल, शील, रूप एवं गुणमें कोई भी अन्य किसी रमणीसे न्यून नहीं है, तथापि हमारे प्राणवल्लभ किसी अन्य रमणीके लिये इतने व्याकुल हैं, यह तो बड़े ही विस्मयकी बात है, रात्रिमें स्वप्नावस्थामें भी जिस रमणीके लिये प्रभु इतने व्याकुल होते हैं वह रमणी भी, न मालूम कितनी रूप-गुणवती होगी? इसपर श्रीरुक्मिणीदेवी कहने लगीं—'हमने सुना है कि वृन्दावनमें राधा नामकी एक गोपकुमारी है, हमारे प्राणेश्वर उसके प्रति अत्यन्त आकृष्ट हैं, इसीलिये रूपलावण्यवैदग्ध्य-पुञ्ज नयनाभिराम श्रीप्राणनाथ हम सबके द्वारा परिसेवित होकर भी उस सर्वचित्ताकर्षक चित्ताकर्षणीके अलौकिक गुणग्राम भूल नहीं सके हैं।' श्रीसत्यभामादेवी कहने लगीं—'सब ठीक ही है, तो भी वह एक गोपकन्याके सिवा तो कुछ नहीं, फिर उसके प्रति हमारे प्राणकान्त इतने आसक्त क्यों हैं? अस्तु, जो कुछ भी क्यों न हो, हमारी सम्मतिमें तो इस सम्बन्धमें रोहिणीमातासे पूछनेपर ही इसका ठीक-ठीक पता लग सकेगा, क्योंकि उन्होंने स्वयं वृन्दावनमें वास किया है और उस समयकी सम्पूर्ण घटनाओंको वे भलीभाँति जानती हैं।' यह प्रस्ताव सबको रुचा। रात्रि बीती, प्रातःकाल हुआ। श्रीकृष्णचन्द्र प्रातःकृत्य समापन करके राजसभाको पधारे और यथासमय पुनः अन्तःपुर पधारकर स्नानादि-समाधानपूर्वक भोजन करने बैठे। राजभोग सम्मुख आकर उपस्थित हुए, उद्धवादि सखावृन्दसहित प्रभुने भोजन किया और आचमन करके किञ्चित् विश्रामपूर्वक पुनः राजसभाको गमन किया। अवसर पाकर महारानियोंने श्रीरोहिणीदेवीको पूर्वरात्रिकी घटना सुनाकर उनसे व्रजवृत्तान्त पूछा। माताजी कहने लगीं—'प्यारी पुत्रियो! यद्यपि मैं व्रजलीलाकी सम्पूर्ण घटनाएँ जानती हूँ, किंतु माता होकर पुत्रकी गुप्त लीलाओंका रहस्य किस प्रकार कह सकती हूँ? यदि राम-कृष्ण यह कथा सुन लें तो फिर लज्जाकी सीमा न रहेगी।' इसपर महिषीगण कहने लगीं—'माताजी! जिस किसी प्रकारसे भी हो सके, हमें व्रजलीलाकी कथा तो आपको अवश्य ही सुनानी होगी।' माताजीने कहा—'तब एक उपाय करो, सुभद्राको द्वारपर पहरेके लिये बैठा दो; कह दो, किसीको अंदर न आने दे, फिर मैं निःसंकोच तुम्हारे निकट व्रजलीलाका वर्णन करूँगी!' माताजीने यह कहकर सुभद्राकी ओर देखा और कहा—'सुभद्रे! यदि राम-कृष्ण आयें तो उन्हें भी कदापि भीतर मत आने देना।' माताजीका आदेश-पालन किया गया। सुभद्रा 'जो आज्ञा' कहकर द्वार-रक्षा करने लगीं। महिषीवृन्द माताजीको चारों ओरसे घेरकर बैठ गयीं और माताजीने सुमधुर व्रजलीलाका वर्णन करना आरम्भ किया।

इधर राजसभामें राम-कृष्ण दोनों भाई चञ्चल हो उठे। जब किसी प्रकार भी राजसभामें नहीं ठहर सके तो उत्कण्ठित-चित्त होकर अन्तःपुरकी ओर चल पड़े। आकर देखते हैं कि सुभद्रादेवी द्वारपर खड़ी हैं। उन्होंने सुभद्रादेवीसे पूछा—'तुम आज यहाँ क्यों खड़ी हो? द्वार छोड़ दो, हमलोग भीतर जायँ।' सुभद्रादेवीने कहा—'रोहिणी माँने इस समय तुम्हारा अन्तःपुरमें प्रवेश करना निषेध कर रखा है, अतः तुमलोग अभी भीतर नहीं जा सकोगे।' यह सुनकर जब दोनों भाई आश्चर्यान्वित होकर इस निषेधका कारण ढूँढ़ने लगे तो माताजीकी वह रहस्यपूर्ण व्रजलीलात्मक वार्ता उन्हें सुनायी दी। यह वार्ता श्रीवृन्दावनचन्द्रकी परमकल्याणमय, परमपावन, अद्भुत मङ्गलरासविहारात्मक थी। सुनते-सुनते दोनों भाइयोंके मङ्गल श्रीअङ्गोंमें अद्भुत प्रेम-विकारके लक्षण दिखायी देने लगे। क्रमशः दोनों ही प्रेमानन्दमें विह्वल हो गये। अविश्रान्त प्रेमाश्रुकी मन्दाकिनीधारा प्रवाहित होकर दोनोंके गण्डस्थल एवं वक्षःस्थलको प्लावित करने लगी। यह देखकर सुभद्रादेवी भी एक अनिर्वचनीय महाभावावस्थाको प्राप्त हो गयीं। जिस समय

माताजी स्वामिनी श्रीवृन्दावनेश्वरीजीकी अद्भुत प्रेमवैचित्र्या-वस्थाका वर्णन करने लगीं, उस समय श्रीबलरामजी किसी प्रकार भी धैर्य धारण न कर सके। उनके धैर्यका बाँध टूट गया, श्रीअङ्गमें इस प्रकार महाभावका प्रकाश हुआ कि उनके श्रीहस्त-पद संकुचित होने लगे और जब माताजी निभृत निगूढ़- विलास वर्णन करने लगीं,तब तो श्रीकृष्णचन्द्रजीकी भी यही अवस्था हुई। दोनों भाइयोंकी यह अद्भुत अवस्था देखकर सुभद्रादेवीकी भी यही अवस्था हो गयी। तीनों मङ्गलस्वरूप ही महाभावस्वरूपिणी स्वामिनी श्रीवृन्दावनेश्वरीजीके अपार महाभावसिन्धुमें निमज्जित होकर ऐसी स्वसंवेद्यावस्थाको प्राप्त हो गये कि वे लोगोंके देखनेमें निश्चल स्थावर प्रतिमूर्तिस्वरूप परिलक्षित होने लगे। निश्चल निर्वाक् स्पन्दरहित महाभावा-वस्था ! अतिशय मनोऽभिनिवेशपूर्वक दर्शन करनेपर भी श्रीहस्तपादावयव किञ्चित् भी परिलक्षित नहीं हो सकते थे। आयुधराज श्रीसुदर्शनजीने भी विगलित होकर लम्बिताकार धारण कर लिया।

इसी समय स्वच्छन्दगति देवर्षि नारदजी भगवद्दर्शनके अभिप्रायसे श्रीधाम-द्वारकामें आ उपस्थित हुए। उन्होंने राजसभामें जाकर सुना कि राम-कृष्ण दोनों भाई अन्तःपुर पधारे हैं। देवर्षिजीकी सर्वत्र अबाधगति तो है ही, अन्तःपुरके द्वारपर जाकर उन्हें जो अद्भुत दर्शन हुए, उससे देवर्षिजी स्तम्भित हो गये। इस प्रकारका दर्शन उन्होंने पूर्वमें कभी नहीं किया था। निज प्राणनाथकी ऐसी अद्भुत अवस्थाके कारणका विचार करते हुए प्रेमविवश स्तम्भ-भावको प्राप्त होकर देवर्षिजी भी वहीं चुपचाप खड़े रह गये। कुछ ही क्षण पश्चात् जब माताजीने पुनः किसी एक रसान्तरका प्रसंग उठाया, तब उन सबको पूर्ववत् स्वास्थ्यलाभ हुआ। सिद्धान्ततः रसान्तरद्वारा रसापत्तिका विदूरित होना सङ्गत ही है। इसी अवसरपर महाभावविस्मित देवर्षि नारदजीने बहुविध स्तव—स्तुति करना आरम्भ कर दिया। करुणावरुणालय श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रने देवर्षिद्वारा स्तुत होकर प्रसन्नतापूर्वक कहा—'देवर्षे ! आज बड़े ही आनन्दका अवसर है। कहिये, मैं आपका क्या प्रीति सम्पादन करूँ ?' देवर्षिजीने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'प्रभो ! वर्तमानमें यहाँपर उपस्थित होकर आप सबका जो एक अदृष्टाश्रुतपूर्व महाभावावेश परिलक्षित हुआ है, स्वरूपतः वह क्या पदार्थ है और किस प्रकार उस महावस्थाका प्राकट्य हुआ ? कृपया सविशेष उल्लेख करके दासको कृतार्थ कीजिये। सर्वप्रथम तो सेवामें यही एकान्त निवेदन है।' भक्तवत्सल श्रीभगवान् अमन्दहास्यचन्द्रिकापरिशोभित सुन्दर श्रीवदनचन्द्रमासे देवर्षि नारदजीके सर्वात्माको आप्यायित करते हुए इस प्रकार वचनामृत वर्षण करने लगे—'देवर्षे ! प्रातः तथा मध्याह्न-कृत्यसमापनपूर्वक जिस समय हम दोनों भाई राजसभामें समासीन थे, उसी समय महिषीगणके द्वारा पूछे जानेपर माता रोहिणीदेवीने महाचित्ताकर्षिणी अपार माधुर्यमयी व्रजलीला-कथाकी अवतारणा की। महामाधुर्यशिखरिणी व्रज-लीलावार्ताका ऐसा प्रभाव है कि हम जहाँ और जिस अवस्थामें भी हों, हमें वहींसे और उसी अवस्थामें ही आकर्षण करके वह कथास्थलपर खींच लाता है। हम दोनों भाई ऐसे ही आकर्षित होकर यहाँ उपस्थित हुए और देखा कि सुभद्राजी द्वारपालिकारूपमें द्वारपर खड़ी हैं। उत्कण्ठावश अन्तःप्रवेशकाम हम दोनों श्रीसुभद्राद्वारा रोके जानेपर प्रवेशनिषेधका कारण ढूँढ़ते रहे, उसी समय श्रीमाताजीके मुखारविन्दविगलित अत्यद्भुत व्रजलीलामाधुरीने कर्णगत होकर हमारे हृदय विगलित कर दिये। तत्पश्चात् जो अवस्था हुई उसका तो आपने प्रत्यक्ष दर्शन किया ही है। मेरी प्राणेश्वरी महाभावरूपिणी श्रीस्वामिनीजीके महाभावकर्तृक सम्पूर्ण भावसे ग्रसित होनेके कारण हम आपका पधारना भी नहीं जान सके।' इतना कहकर भगवान्ने जब देवर्षिजीसे पुनः वरग्रहणका अनुरोध किया तो देवर्षिजी प्रार्थना करने लगे, 'भगवन् ! मैं और किसी वरका प्रार्थी नहीं हूँ। निजजनोंके सर्वाभीष्टप्रदाता चरणयुगलमें केवल यही प्रार्थना है कि आप चारोंकी जो एक अत्यद्भुत महाभावा वेशमूर्ति मैंने प्रत्यक्ष दर्शन की है, वही भुवनमङ्गल चारों स्वरूप जनसाधारणके नयनगोचरीभूत होकर सर्वदा इस पृथिवीतलपर विराजमान रहें। माया-संनिपातमें ग्रस्त जीवसमूह एवं तद्दर्शनविरहकातर भक्तजनके लिये वह महासंजीवनी रसायन स्वरूपचतुष्टय सर्वोत्कर्षतासहित जययुक्त होवें।' करुणायतन भक्तवाञ्छापूर्णकारी श्रीभगवान्ने कहा—'देवर्षे ! इस विषयमें मैं पूर्वसे ही अपने दो और परमभक्तोंके प्रति भी आपके प्रार्थनानुरूप ही वचनबद्ध हूँ—एक भक्तचूडामणि महाराज इन्द्रद्युम्न और द्वितीय परमभक्ति-

स्वरूपिणी श्रीविमलादेवी। निखिलप्राणिकल्याणहित भक्तचूडामणि महाराज इन्द्रद्युम्नकी घोरतर तपस्यासे प्रसन्न होकर मैं नीलाचल-क्षेत्रमें दारुब्रह्मस्वरूपमें अवतीर्ण होकर जनसाधारणको दर्शन देनेका वर प्रदान कर चुका हूँ तथा महाविद्यास्वरूपिणी श्रीविमलादेवीद्वारा अनुष्ठित महातपस्यासे प्रसन्न होकर उनकी प्राणिमात्रको बिना विचार किये महाप्रसाद वितरण करनेकी प्रतिज्ञाको उक्त स्वरूपसे ही पूर्ण करनेकी स्वीकृति दे चुका हूँ। अतएव इन तीनों उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये हम चारों इसी स्वरूपमें आगामी कलियुगमें लवणसमुद्र-तटवर्ती नीलाचल-क्षेत्रमें अवतीर्ण होकर प्रकाशमान रहेंगे।' सर्व-जीवकल्याणव्रत देवर्षि श्रीनारदजीने मनोवाञ्छित वर प्राप्त करके प्रभुचरणारविन्दमें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और मधुर वीणासे करुणावारिधि श्रीप्रभुके अमृतमय नामगुणमाधुरीका गान करते-करते यदृच्छागमन किया। श्रीराम-कृष्णने भी माताजीके कथञ्चित् संकोचकी आशंका करके उस स्थानसे प्रस्थान किया। ये ही मूर्तिचतुष्टय श्रीकृष्ण, बलराम, सुभद्रा एवं सुदर्शनरूपसे श्रीनीलाचलक्षेत्रको विभूषित करके अद्यापि विराजमान हैं।

(३)

एक बार श्रीराधाजी अपनी सखियोंसहित सिद्धाश्रम नामक तीर्थमें स्नान करने गयीं। उसी तीर्थमें भगवान् श्रीकृष्ण भी अपनी सोलह हजार रानियों और रुक्मिणी, सत्यभामा आदि आठों पटरानियोंसहित पधारे। भगवान्की रानियाँ और पटरानियाँ भगवान्के श्रीमुखसे सदा ही श्रीराधाजी एवं श्रीगोपियोंके प्रेमकी प्रशंसा सुनती थीं। आज शुभ अवसर जानकर भगवान्की महिषियोंने श्रीराधाजीसे मिलनेकी इच्छा की और भगवान्की आज्ञा लेकर उनके साथ सब श्रीराधाजीसे मिलने गयीं। श्रीराधाजीको समस्त सखियोंसमेत भगवान्के दर्शनसे बड़ा ही सुख मिला। पश्चात् श्रीराधाजीने भगवान्की समस्त पटरानियोंका बड़ा ही सत्कार किया। बातचीतमें उन्होंने कहा—'बहिनो ! चन्द्रमा एक होता है परंतु चकोर अनेक होते हैं, सूर्य एक होता है परंतु नेत्र अनेक होते हैं। इसी प्रकार हमारे प्रियतम भगवान् श्रीकृष्ण एक हैं और हम उनकी भक्त अनेक हैं'—

चन्द्रो यथैको बहवश्चकोराः
सूर्यो यथैको बहवो दृशः स्युः।
श्रीकृष्णचन्द्रो भगवांस्तथैको
भक्ता भगिन्यो बहवो वयं च॥

श्रीराधाजीके शील, स्वरूप, सौन्दर्य, गुण और व्यवहारका महिषियोंपर बड़ा ही प्रभाव पड़ा। वे आग्रह करके श्रीराधाजीको अपने स्थानपर लायीं और उनका यथासाध्य सबने बड़ा ही सत्कार किया। भोजनादिके उपरान्त रातको श्रीराधाजीको भगवान्की आज्ञासे श्रीरुक्मिणीजीने स्वयं दूध पिलाया। अनेक प्रकार प्रेमसंलाप होनेके अनन्तर श्रीराधाजी अपने स्थान पधार गयीं। भगवान् अपने शयनागारमें लेटे हुए थे। श्रीरुक्मिणीजी नित्यनियमानुसार वहाँ जाकर भगवान्के चरण दबाने बैठीं। चरणोंके दर्शन करते ही वह आश्चर्यमें डूब गयीं। उन्होंने देखा—भगवान्की तमाम चरणस्थलीपर फफोले पड़ रहे हैं। श्रीरुक्मिणीने अपनी संगिनी सब रानियोंको बुलाकर भगवान्के चरण दिखाये। सभी चकित और स्तम्भित हो गयीं। भगवान्से पूछनेकी हिम्मत किसीकी नहीं। तब श्रीभगवान्ने आँखें खोलकर सब रानियोंके वहाँ जमा होने और यों चकित रह जानेका कारण पूछा। श्रीरुक्मिणीजीने बड़ी ही नम्रताके साथ पैरके तलुओंमें फफोलोंकी बात कहकर भगवान्से ऐसा होनेका कारण पूछा। भगवान्ने पहले तो बातको टाल दिया, परंतु बहुत आग्रह करनेपर उन्होंने कहा—'देखो—तुम लोगोंने श्रीराधाजीको जो दूध पिलाया था, वह गरम अधिक था। इसीलिये मेरे पैरमें फफोले पड़ गये।' रानियोंकी समझमें यह बात नहीं आयी। उन्होंने पूछा—'दूध यदि गरम था तो उससे श्रीमतीजीका मुँह जलता, आपके पैरके फफोलोंसे उसका क्या सम्बन्ध ?' भगवान्ने मुस्कराते हुए कहा—श्रीराधाजीके हृदयकी बात ही निराली है—

श्रीराधिकाया हृदयारविन्दे
पादारविन्दं हि विराजते मे।
अहर्निशं प्रश्रयपाशबद्धं
लवं लवार्धं न चलत्यतीव॥
अद्योष्णदुग्धप्रतिपानतोऽङ्घ्रा-
वुच्छालकास्ते मम प्रोच्छलन्ति।
मन्दोष्णमेवं हि न दत्तमस्यै
युष्माभिरुष्णं तु पयः प्रदत्तम्॥

'श्रीराधिकाजीके हृदयकमलमें मेरे चरणकमल दिन-रात प्रेमपाशमें बँधे विराजते हैं, एक क्षण या अर्ध क्षणको भी उस बन्धनसे छूटकर वे वहाँसे नहीं हट सकते। तुमने दूध जरा ठंडा करके नहीं दिया, बहुत गरम दे दिया और श्रीराधाजी उसे तुम्हारा दिया हुआ जानकर पी गयीं। दूध हृदयमें गया और मेरे चरण उससे जल गये, इसीसे फफोले पड़ गये।'

भगवान्‌के वचन सुनकर श्रीरुक्मिणीजी, सत्यभामाजी आदि सभी महारानियोंको बड़ा ही आश्चर्य हुआ और वे श्रीराधाजीके प्रेमके सामने अपने प्रेमको बहुत ही तुच्छ मानने लगीं।

चित्तकी दशाएँ

संसारदशा - जाग्रत्-अवस्था

चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम ही योग है। जब मनुष्य योगदर्शनके नियमोंके अनुसार ऐसी साधना कर लेता है कि जिससे चित्त पुरुषकी इच्छाके अनुसार किसी स्थानमें रोकनेसे वहींपर स्थिर रह जाय, बलात्कारसे विषयान्तरपर धावन न करे, उस साधनाका नाम योग है। अतएव योगकी पूर्व अवस्था जाननेके लिये यह संसार-अवस्थाका प्रथम चित्र है।

इस चित्रमें चित्तकी जो दशा दिखायी गयी है, वह सर्वसाधारण मनुष्यके चित्तकी है। यह मनुष्यकी जाग्रत्-अवस्था है। हृदयदेशमें जो सूर्यके आकारके समान आकार है, वह चित्त है। जिस प्रकार उदयकालमें सूर्यकी किरणें एक साथ ही सम्पूर्ण संसारको स्पर्श कर लेती हैं और सब प्राणी दिनका अनुभव कर लेते हैं, उसी प्रकार चित्तकी वृत्तियाँ शरीरके सब अङ्गोंपर व्याप्ति कर लेती हैं, शरीर जाग्रत्-अवस्थामें आ जाता है। एवं शरीरमें रहनेवाली इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करने लगती हैं—नेत्र देखने लगता है, कान सुनने लगता है, रसना रसका अनुभव करने लगती है इत्यादि। उसी प्रकार कर्मेन्द्रियाँ भी अपने-अपने कार्यमें तत्पर हो जाती हैं। यह चित्तकी जाग्रत्-अवस्था है। इसके द्वारा जीवात्मा संसारकी सब स्थूल वस्तुओंका अनुभव कर रहा है। यह एक मनुष्यका आकार है। वह एक राजाका चित्र है, उसके आसपास उसका परिवार दिखाया गया है और उसके अतिरिक्त उसकी सब सम्पत्तियाँ तथा अन्य-अन्य संसारकी वस्तुएँ हैं, जिनका अनुभव एवं उपयोग वह कर रहा है। इसी प्रकार मनुष्यको अपनी जाग्रत्-अवस्थाका अनुभव होता है। यह चित्तकी बाह्य वृत्ति है।

वासनामय जगत्—स्वप्नावस्था

यह चित्तकी दूसरी अवस्था है। दिनकी अवधि पूरी होनेपर आयी। सूर्यनारायण अस्ताचलपर जा रहे हैं। उनकी संसारव्यापिनी वे सब किरणें अब संसारको छोड़कर सूर्यके बिम्बमें लय हो रही हैं। जिस सूर्यके सामने दिनमें देखा नहीं जा सकता था, अब उसीको मनुष्य आँख फाड़-फाड़कर देख रहे हैं। एक साधारण गोल अङ्गार-पिण्डके समान भगवान् सूर्यदेव दिखायी दे रहे हैं, उसी प्रकार जाग्रत्-अवस्थाकी अवधि पूरी हो गयी है। दिनके विविध कार्योंके अनुष्ठानकी थकावट और आहारकी मादकताने इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको खींचना आरम्भ कर दिया है और सब अङ्ग शिथिल होते जा रहे हैं, मानो जाग्रत्-अवस्थाका संसार निद्राके अन्धकारमें लीन होता जा रहा है, नेत्र आदि सब इन्द्रियोंके द्वारोंपर निद्राके परदे पड़ते जा रहे है, होते-होते सब जाग्रत्-संसार लुप्त हो गया और पुरुष-शरीर काष्ठवत् अवस्थित हुआ शय्यापर पड़ा हुआ है।

वर्तमान फोटो यन्त्रके काँचके समान पुरुषकी सब इन्द्रियाँ जाग्रत्-अवस्थामें अपने-अपने विषयोंकी छायाको लेकर अन्तःकरणके पटलमें छाप देती हैं। अब वह सब अनुभूत विषयोंकी छाया अन्तःकरणमें है। वे विषय जो जाग्रत्-अवस्थामें जहाँ थे, वहीं रह गये हैं, केवल उनकी छाया मात्र अन्तःकरणदेशमें है। इसी छायाको वासना कहते हैं। इस वासनासे स्वप्नावस्थामें जिन विषयोंका प्राणी अनुभव कर रहा है, यह उसका वासनामय जाग्रत् है। उस अवस्थामें भी वह जाग्रत्के समान संसारके सुख-दुःखोंका अनुभव कर रहा है। यह चित्तकी वासनामयी अन्तर्वृत्ति है। जिस प्रकार जाग्रत्-अवस्थामें नाना व्यवसायोंमें चित्त व्यापृत रहता है, उसी प्रकार स्वप्नावस्थामें भी विविध व्यापारोंमें ग्रस्त रहता है। किसी प्रकार भी विश्राम नहीं है। ये दोनों ही जीवके कर्मानुसार भोगके कारण हैं।

जगत्का अभाव—सुषुप्ति-अवस्था

यह चित्तकी तीसरी अवस्था है। जब मनुष्यके आहार-विहारके अतिशयसे निद्रामें ही गाढ़ता आ जाती है, उस समय वह सुषुप्ति-अवस्था कहलाती है। इसमें जो जाग्रत्-अवस्थाके अनुभवोंसे स्वप्नावस्थामें वासनाएँ थीं, वे भी सब निद्राकी गाढ़ताके कारण विलुप्त हो गयी हैं। जैसे गाढ़ अँधियारी रात्रिमें सब जगत् अन्धकारमें विलुप्तप्राय हो जाता है, उसी प्रकार इस सुषुप्ति-अवस्थामें भी सब वासनाओंका अविद्यामें लय हो जाता है। देखिये, चित्रके अन्तःकरणदेशको कोई आकार नहीं दिखाता है। यह अन्तःकरणकी वह अवस्था है, जिसमें स्थूल या सूक्ष्म कोई-सा भी भोग नहीं है। केवल आत्माका सुखस्वरूप ही शेष रह जाता है। यह संसारकी ही तीसरी अवस्था होनेपर भी आत्मावबोधकी सुखावस्थाका नमूना है, किंतु अस्थायी है और तमोऽभिभूत है। जब मनुष्यकी योग-सिद्धि हो जाती है और समाधिसे चित्त एकाग्र हो जाता है, उस समय वह आत्मस्वरूपके सुखका ही अनुभव करता है, संसारके सुख-दुःखोंसे अतीत हो जाता है। योगदर्शनमें इसे ही स्वरूपावस्थिति कहा गया है।

जपयोग

(बालयोगी श्रीबालस्वामीजी महाराज (श्री न० रा० निगुडकर) के अनुभवयुक्त विचार)

योग क्या है ?

'योग' शब्दके अनेक अर्थ हैं, पर मुख्य अर्थ दो हैं—एक 'जोड़ना' और दूसरा 'उपाय'। योगसाधनके द्वारा साधकका मन अन्तर्यामीके साथ जोड़ा जाता है। साध्य एक होनेपर भी उसे सिद्ध करनेके अधिकार-भेदसे अनेकानेक साधन होते हैं, यही तो हिन्दूधर्मकी विशेषता है। ऐसे सब साधनोंका सामान्य नाम 'योग' है और फिर प्रकार-भेदसूचक शब्द लगाकर अमुक योग कहा जाता है, जैसे—कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, हठयोग, नादयोग, लययोग, जपयोग इत्यादि। अर्थात् जिस-जिस उपायसे चित्तका स्वस्वरूपके साथ योग होता है उसको योग ही कहते हैं। योगशास्त्रमें ऐसे अनेक योग हैं। उन्हींमें एक जपयोग है।

बन्ध-मोक्ष

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
चित्ते चलति संसारो निश्चले मोक्ष उच्यते॥

'मनुष्यका मन ही मनुष्यके बन्ध और मोक्षका वास्तविक कारण है। चित्तके चलाये संसार है और अचल किये मोक्ष है।'

श्रीमद्भगवद्गीताके १६ वें अध्यायमें जो आसुरी सम्पत्ति कही गयी है, उससे जब मनुष्यका मन युक्त होता है तब वह बन्धनका कारण बन जाता है और जब वही मन दैवी सम्पत्तिसे युक्त होता है, तब वह मोक्षका कारण बन जाता है। पूर्ववासनाबलसे चित्त चञ्चल होता है और वह आत्मस्वरूपमें विचित्र संसारचित्र भासित करता है। यह चञ्चल चित्त ही संसार बनता है और द्रष्टा उस दृश्यपर मोहित हो निज स्वरूप भूल जाता है और जीवदशा तथा तदानुषङ्गिक दुःखोंको भोगता रहता है। जबतक चित्त चञ्चल रहता है, तबतक सच्चे सुखका लाभ उसे नहीं होता और आवागमनके चक्रमें भटकता रहता है। परंतु जब चित्त स्वस्वरूपमें स्थिर होता है, तब उसे निजानन्द प्राप्त होता है और वह कृतार्थ होता है। ग्रन्थप्रामाण्य और अनुभवप्रामाण्यसे यह बात प्रत्यक्ष होती है। परमार्थसाधनके जितने भी उपाय हैं उनमें प्रधान हेतु चित्तकी स्थिरता ही है। इस मुख्य हेतुका यदि ध्यान न रहे तो कोई भी साधन हो वह विफल है। श्रुतियोंमें चित्त-स्थैर्यके अनेक उपाय बताये गये हैं और उनके अनुसार अनुभवी महात्माओंने अनेक साधन निर्माण किये हैं। जपयोग भी ऐसा ही एक शास्त्रोक्त और अनुभवसिद्ध साधन है।

वेदशास्त्र-प्रमाण

हमारे धर्मका मुख्य प्रमाण वेद है (मनु० २। ६)। इस विषयमें कोई मतभेद नहीं। और वैदिक धर्मका मुख्य लक्षण 'यज्ञ' है यह भी स्पष्ट है। वैदिक वाङ्मय यज्ञमय है और अपने इस देशमें कोई समय ऐसा था जब सर्वत्र यज्ञ-ही-यज्ञ हुआ करते थे। महाभारतसे यह जान पड़ता है कि चारों वर्णोंके लिये भिन्न-भिन्न यज्ञ थे। (शान्तिपर्व, अ० २३८। ३१)।

पीछे यज्ञोंमें हिंसा बहुत बढ़ गयी, तब श्रौत यज्ञोंके स्थानमें स्मार्त यज्ञ उत्पन्न हुए। त्रिसुपर्णमें यज्ञके सम्बन्धमें एक

आध्यात्मिक कूट है, उसे देखनेसे यह मालूम हो जाता है कि किस प्रकार यह परिवर्तन किया गया। महाभारतमें अनेक स्थलोंपर द्रव्यमय हिंसाप्रधान यज्ञोंकी निन्दा की गयी है। पुराणोंने तो हिंसा उठानेमें बहुत बड़ा काम किया है। फिर भगवान् बुद्धदेव, भगवान् जिनदेव और भगवान् शंकराचार्यने हिंसात्मक यज्ञोंका विरोध ही किया। भगवान् श्रीकृष्णकी शिक्षा तो यज्ञके विषयमें यही थी कि—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।

(गीता ४। ३३)

अर्थात् द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। इन यज्ञोंमें भी भगवान्‌ने 'जपयज्ञ' को ही अपनी विभूति बताया है (गीता १०। २५)। जपयज्ञ सबके लिये सुगम है, इस समयके लिये तो बड़े ही कामका है। यह यज्ञ है भी ऐसा कि इसमें कोई खर्च नहीं और चाहे जब यह किया भी जा सकता है। वैदिक धर्मानुष्ठानका जो कुछ फल है, वह इस यज्ञसे प्राप्त हो—यह तो कालक्रमसे ही प्राप्त है। इसी जपयज्ञको जपयोग कहते हैं।

वैदिक युगमें जपयज्ञका स्वरूप 'स्वाध्याय' था। वेदाज्ञा है कि 'स्वाध्यायके विषयमें प्रमाद न करो।' 'सतत स्वाध्याय करो।' स्वाध्यायका अर्थ है वेदाध्ययन। यह स्वाध्याय द्विजातिमात्रके लिये था। गुरुमुखसे वेदाध्ययन करके पीछे उसका पारायण करना, वेदमन्त्रोंका जप करना मुख्य तप था। बहुत कालतक ऐसा ही था। पीछे शाखा-प्रशाखाओंका बहुत विस्तार होनेसे अपनी शाखाका अध्ययन ही 'स्वाध्याय' कहा जाने लगा। तथापि स्वाध्यायरूप जप-तप चलता ही था। इस विषयके पृथक् ग्रन्थ थे और उनमें जपके सम्बन्धमें नियम थे। महर्षि शौनकका 'ऋग्विधान' ऐसा ही ग्रन्थ है। रामायणकालमें भी स्वाध्यायकी यह परिपाटी थी। **'तपःस्वाध्यायनिरतम्'** यह वचन श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणमें आरम्भमें ही आता है। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्र वनवास करते हुए यजुर्वेदका स्वाध्याय करते थे, इस बातका स्पष्ट उल्लेख है। महाभारतके समयमें भी यह परिपाटी थी, पर यहींसे स्वाध्यायरूप जप-तप उत्तरोत्तर घटता दिखायी देता है। इसके पश्चात् बड़ा परिवर्तन हुआ है। यज्ञ-यागादि उठ गये, भक्तिमार्ग बढ़ा और तीर्थक्षेत्रों और देवमन्दिरोंके उत्सव बढ़ने लगे। वैदिक मन्त्र पिछड़ गये, पौराणिक मन्त्र-तन्त्र आगे बढ़े—देशभरमें इन्हींका प्रचार हुआ। साध्य तो वही था जो पहले था, पर बाह्य साधन बदल गये। इस समय वैदिक देवताओं, यज्ञों और वेदमन्त्रोंके स्थानमें पौराणिक देवता, अवतार, देवप्रतिमा, देवालय, तीर्थक्षेत्र और उनके उत्सव, गीतासहस्रनामादिकोंके पाठ, पौराणिक मन्त्रोंके जप और भगवन्नामस्मरण ही प्रतिष्ठित हैं। यह केवल बाह्यरूपमें भेद है, साध्य तो सदासे एक ही चला आता है।

भगवान् मनु जपयज्ञका माहात्म्य बतलाते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

(मनुस्मृति २। ८५-८६)

दर्श-पौर्णमासरूप कर्मयज्ञोंकी अपेक्षा जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है। उपांशुजप सौगुना और मानसजप सहस्रगुना श्रेष्ठ है। कर्मयज्ञ (दर्श-पौर्णमास) ये जो चार पाकयज्ञ हैं—वैश्वदेव, बलिकर्म, नित्य श्राद्ध और अतिथिपूजन-वे जपयज्ञके सोलहवें अंशके बराबर भी नहीं हैं।

प्रणव और गायत्री

महर्षि पतञ्जलिने अपने योगसूत्रोंमें मन्त्रसिद्धि मानी है और यह कहा है कि इष्टमन्त्रके जपसे इष्टदेवके दर्शन होते हैं। प्रणव मुख्य मन्त्र है और उसके अर्थकी भावना करते हुए उसका जप करनेसे सिद्धि प्राप्त होती है। प्रणवजपका श्रेष्ठत्व भगवान् मनुने भी कथन किया है। कारण, प्रणव वेदोंका मूल है। श्रुतिमें भी प्रणवकी महिमा गायी गयी है।

प्रणवके बाद बड़े महत्त्वका मन्त्र गायत्री है। यह वैदिक मन्त्र है और सबने इसकी महिमा गायी है। यह सब सिद्धियोंका देनेवाला है और द्विजातिमात्रको इसका अधिकार है।

पौराणिक मन्त्र

इसके बाद भिन्न-भिन्न देवताओंके मन्त्र आते हैं और इन्हींका आजकल विशेष प्रचार है, कारण, इनका उच्चारण सुगम है और इनका अर्थ भी जल्दी समझमें आता है, नियमोंकी कोई विशेष कड़ाई नहीं है, चाहे जब, चाहे जहाँ जप किया जा सकता है। इन्हीं कारणोंसे इनका विशेष प्रचार हुआ है और हो रहा है।

इन प्रमाणोंसे यह स्पष्ट हुआ कि मन्त्रजप या जपयोग सर्वमान्य है और केवल मन्त्रजपसे सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और सर्वधर्मानुष्ठानका फल मिलता है। यह ऐसा साधन है कि इसमें कोई कठिनाई नहीं, कोई खर्च नहीं, कोई आयास नहीं, कोई कठोर नियम नहीं।

नामस्मरण और मन्त्रजप

नामस्मरण और मन्त्रजप भिन्न-भिन्न दो साधन हैं, एक नहीं। बहुतोंको तो यह भी मालूम नहीं है कि नामस्मरण क्या होता है। नामका केवल उच्चारण करनेसे नामकी पवित्रताके कारण फल तो अवश्य होता है, परंतु बहुत ऊँचा नहीं, पर नामका यथार्थ स्मरण होनेके लिये मानसिक क्रिया आवश्यक है। जिस किसी देवताका नाम हो, नामके लेते ही उन देवताका रूप मानस-चक्षुके सामने खड़ा हो जाना चाहिये, उनके गुण-कर्मोंका स्मरण होना चाहिये, भक्तोंके लिये उन्होंने क्या-क्या किया यह मालूम होना चाहिये और भगवान्‌का सर्वोत्तमत्व और अपना अत्यन्त क्षुद्रत्व ध्यानमें आना चाहिये और उनके अपार दया-प्रेमसे गद्‌गद होकर उनके स्वरूपमें मिलनेका प्रयत्न होना चाहिये। ऐसा नामस्मरण श्रेष्ठ है। शास्त्रों और साधु-संतोंने ऐसे ही नामस्मरणकी महिमा गायी है, इसीसे कहा गया है—

राम नाम सब कोइ कहे, ठग ठाकुर अरु चौर।
तारे ध्रुव प्रह्लादको, वहै नाम कछु और॥

नामस्मरणमें विशेष नियम तो नहीं है, पर जो दस नामापराध हैं वे न होने चाहिये, तभी नामस्मरण पूर्ण फलप्रद होता है।

राम नाम सब कोइ कहे, दश रित कहे न कोय।
एक बार दश रित कहे, कोटि यज्ञ फल होय॥

इस दोहेमें जिन्हें दश रित कहा है, वे ही दस नामापराध हैं, जिनसे नामस्मरण 'रित' (रिक्त) होना चाहिये। ये नामापराध हैं—(१) निन्दा, (२) आसुरी प्रकृतिवालेको नाममहिमा बतलाना, (३) हरि-हरमें भेददृष्टि रखना, (४) वेदोंपर विश्वास न रखना, (५) शास्त्रोंपर अविश्वास, (६) गुरुपर अविश्वास, (७) नाममहिमाको असत् जानना, (८) नामके भरोसे निषिद्ध कर्म करना, (९) नामके भरोसे विहित कर्म न करना और (१०) भगवन्नामके साथ अन्य साधनोंकी तुलना करना। इन दसका परहेज रखा जाय तो नामजपसे शीघ्र परम सिद्धि प्राप्त होती है, इसमें कोई संदेह नहीं।

नामस्मरणके अलावा मन्त्र-जप कुछ और है। जप मन्त्रका ही होना युक्त है। केवल भगवान्‌के नाम अथवा ***'रघुपति राघव राजा राम'*** इत्यादि धुनोंका स्मरण या कीर्तन हो सकता है पर उसे जप-यज्ञ कहना ठीक नहीं। मन्त्रोंकी रचना विशिष्ट पद्धतिसे मन्त्रशक्तिके विशेषज्ञ अनुभवी महात्माओंद्वारा की हुई होती है। उनका अर्थ गहन होता है और मन्त्रशास्त्रके नियमोंके अनुसार ही अक्षर जोड़कर मन्त्र बनाये जाते हैं और ये मन्त्र परम्परया जपके कारणसे सिद्ध और अमोघ फलदायक होते हैं। ऐसे मन्त्रोंको साम्प्रदायिक रीतिसे ग्रहण करके विशेष पद्धतिसे उनका जप करना होता है। पुस्तकोंमें मन्त्रोंको पढ़ लेनेमात्रसे कोई विशेष लाभ नहीं होता।

कुछ लोग पुस्तकोंमें कोई मन्त्र पढ़कर कुछ दिन उसका जप करते हैं, कुछ लाभ होता न देख फिर उसे छोड़ देते हैं तब कोई दूसरा मन्त्र जपते हैं और इसी तरह नये-नये मन्त्र जपते और निराश होते हैं। कुछ लोग कई मन्त्र एक साथ ही जपते हैं, पर किसी एकसे भी उन्हें कोई लाभ नहीं होता। कुछ लोग माला जपनेको ही मन्त्रजप समझते हैं और कोई बड़ी-सी माला लेकर यन्त्रवत् घुमाया करते हैं, और समझते यह हैं कि हमने इतनी संख्या जप किया। पर इतने जपका फल पूछिये तो वह नहींके बराबर होता है। परमार्थका साधन इस प्रकार नहीं हुआ करता।

माला तो करमें फिरे, जीभ फिरे मुँहमाँहि।
मनीराम चहुँदिस फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं॥

संतोंकी यह बात साधकोंको ध्यानमें रखनी चाहिये।

मन्त्रजपमें मालाका महत्त्व अधिक नहीं है। स्मरण दिलाना और जपसंख्याका मालूम होना—ये दो काम मालाके हैं और माला स्वयं पवित्र भी है, इसलिये भक्त लोग उसे धारण करते हैं। पर भोले लोग मालाको अपने सम्प्रदायका चिह्न और पापनाशका साधन जानकर धारण करते हैं। कविवर मोरोपन्त तो कहते हैं कि 'मन बन्धन तोड़कर परधन और कामिनीकी ओर भागनेवाला पशु है। इसके गलेमें विवेकके रससे वैराग्यका काष्ठ बाँध देना चाहिये।'

दीक्षा

पूर्वमें यह कहा जा चुका है कि मन्त्रजप यज्ञ है और वह ईश्वरकी विभूति है। यज्ञका अधिकार दीक्षाविधिसे ही प्राप्त होता है, यह वैदिक नियम है। संहिताब्राह्मणमें इस विषयके वचन हैं। इसलिये किसी अधिकारी पुरुषसे ही मन्त्रकी दीक्षा लेकर तब जप करना चाहिये। श्रद्धालु साधक ऐसा ही करते हैं। गायत्रीमन्त्र दीक्षाविधिसे ही लिया जाता है और उस विधिको व्रतबन्ध कहते हैं। शैव, वैष्णवादि सम्प्रदायोंमें दीक्षाविधि चलती ही है। बहुत-से लोग दीक्षा लेना-देना नहीं मानते, पर यह उनकी भूल है। कुछ लोगोंकी तो यह हालत होती है कि मन्त्र जपते हैं किसी देवताका और ध्यान करते हैं किसी दूसरे ही देवताका। इससे सिद्धि कैसे मिले ? भगवान् यद्यपि एक हैं तो भी उनके अभिव्यक्त रूप तो भिन्न-भिन्न हैं। अपनी अभिरुचिके अनुसार परंतु शास्त्रविधिको बिना छोड़े किसी भी मार्गका अवलम्बन करनेसे शीघ्र फल-प्राप्ति होती है। इसलिये मन्त्र दीक्षाविधिसे ही लेना चाहिये। जिसने स्वयं दीक्षाविधिसे मन्त्र लिया हो और जपा हो उससे मन्त्र लेनेमें कोई हर्ज नहीं है। दीक्षाविधिके लिये शुभ समय, शुभ स्थान और चित्तमें उत्साह होनेकी बड़ी आवश्यकता है। मन्त्र ले चुकनेपर फिर एक दिन भी मन्त्र-जापके बिना खाली न जाय।

जप-विधि

श्रीगुरुसे मन्त्रदीक्षा लेकर साधन-मन्त्रका जप आरम्भ करे। जिनके लिये सुभीता हो, वे किसी एकान्त पवित्र स्थानमें, नदी-किनारे अथवा शिवालयमें जप करें। जिनके ऐसा सुभीता न हो वे अपने घरमें ही जपके लिये कोई पवित्र स्थान बना लें। इस स्थानमें देवताओं, तीर्थों और साधु-महात्माओंके चित्र रखें, उन्हें फूल-माला चढ़ावें, धूप दें। स्वयं स्नान करके भस्म-चन्दन लगाकर चैलाजिन-कुशोत्तर आसन बिछाकर पूर्व या उत्तर दिशाकी ओर मुख करके कन्धेपर उपवस्त्र धारण किये, इष्टदेव और गुरुका स्मरण करते हुए आसनपर बैठें। जो नित्य कर्म करनेवाले हैं, वे पहले संध्यावन्दन कर लें तब प्रातःकालमें सूर्यनारायणको नमस्कार करें, पश्चात् देवपूजन करके नित्य-पाठ कर लें। जो संध्या आदि करना नहीं जानते[१] वे पहले गङ्गा, नर्मदा आदि नामोंसे शरीरपर जलसे मार्जन करें, तब एकाग्रचित्त हो, भगवान् सूर्यका ध्यान करके उन्हें नमस्कार करें, अनन्तर अपने इष्टदेवका ध्यान करके गुरुमन्त्रसे सब उपचार उन्हें अर्पण करें। फिर स्तोत्रपाठादि करके आसनपर बैठें। आसन स्वस्तिक, पद्म अथवा सिद्ध इनमेंसे कोई भी हो दृष्टिको नासाग्र करके प्राणायाम करें। अनन्तर थोड़ी देर सावकाश पूरक और रेचक करें। इसके बाद माला हाथमें लेकर जप आरम्भ करें। मेरु-मणिका उल्लङ्घन न करें। अपनी सुविधा देखकर जपसंख्या निश्चित कर लें और प्रतिदिन उतनी संख्या पूरी करें और वह जप अपने इष्टदेवको अर्पण करें। इसके पश्चात् अपने इष्टदेवके पुराण और उपदेशसे कुछ पढ़ लें। श्रीरामके भक्त हों तो श्रीअध्यात्म-रामायण, श्रीरामगीता और श्रीरामचरितमानस। श्रीकृष्णके भक्त हों तो श्रीमद्भागवत और श्रीगीता पढ़ें। अनन्तर तीर्थप्रसाद लेकर उठें। इस क्रमसे श्रद्धापूर्वक कोई साधना करे तो वह कृतार्थ हो जायगा। यह सब तर्कसे नहीं, करके देखनेसे ही कोई भी जान सकता है। उसका चित्त आनन्दसे भर जायगा। पाप, ताप, दैन्य सब नष्ट हो जायगा। ईश्वर-स्वरूपमें चिरविश्रान्ति प्राप्त होगी। सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान स्फुरित होने लगेगा और शक्ति भी प्राप्त होगी। प्रत्येक देवताके सहस्रनाम हैं, प्रत्येकके अपने उपदेश हैं, भक्त इनका उपयोग करे। प्रातःकाल गीता आदिसे कोई श्लोक पढ़कर दिनभर उसका मनन करे। सायंकालमें पञ्चोपचार-पूजा आदि होनेके बाद जप करके सहस्र नाममेंसे कोई नाम ध्यानमें लाकर उसके अर्थका विचार करते हुए सो जाय। इससे शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है।

(क्रमशः)

संसारमें संग ही प्रधान है, जैसा संग होता है, वैसी ही बुद्धि बन जाती है। कुसंगसे बड़े-बड़े देवता और ऋषियोंका पतन हो गया है और सत्संगसे अनेक पतित भी पूजनीय हो गये हैं, अतएव सदा सत्संग करते रहो।—एक अरण्यवासी महात्मा

१-द्विजोंको संध्या जाननी और करनी ही चाहिये।

मन्त्रयोग-साधना

(कविराज पं० श्रीसीतारामजी शास्त्री 'श्रीविद्याभास्कर')

भारतीय संस्कृतिके विशाल साहित्य-सिन्धुके मन्थनसे समुद्भूत आध्यात्मिक साधना-सुधा ही अजर-अमर कर देने-वाली वास्तविक सुधा है। इस पीयूष-रससे परिप्लुत गम्भीर चिन्तनकी परिणतिका सुधा-स्रोत 'योग' नामसे परिलक्षित होता है।

योग-मार्गकी विविध विधाओंमें मुख्यतः चार प्रकारके योगोंकी प्रधानता है—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। इनमें कुछका वर्णन निम्न प्रकार है—

हठयोग—हठपूर्वक नेति, धौति, आसनादिके द्वारा शारीरिक क्षमतामें वृद्धि होती है एवं यत्किंचित् स्वास्थ्य-लाभकी दिशामें उपलब्धियाँ भी दृष्टिगोचर होती हैं, मानसिक या आध्यात्मिक लाभ प्रायः सामान्य रहता है। इसकी कठिन साधना-प्रक्रियाओंका सम्पादन अनुभवी योगी गुरुके निर्देशनमें किया जाना परमावश्यक है, क्योंकि किंचिन्मात्र भी असावधानीसे विपरीत फलकी आशङ्का बनी रहती है।

लययोग—योगतारावलीमें लययोगकी साधनाके सवा लाख भेद-प्रभेद वर्णित हैं, उनमें नादानुसंधान-समाधि ही मान्यतम लययोगोंमें सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। इसका निरन्तर अजस्र रूपसे अभ्यास सापेक्ष है, न्यूनतम कालका भी व्यवधान होनेसे यथार्थ फलकी प्राप्ति दुष्कर हो जाती है। अतः सांसारिक कर्मोंमें व्यापृत जन-मानसके लिये यह विशेष उपयोगी सिद्ध नहीं होता।

मन्त्रयोग—परमशिवप्रोक्त तन्त्र-आगमोंकी साधना-विधिका नाम मन्त्रयोग है। भारतीय दर्शनोंने निगम (वेद), आगम (तन्त्र) को ही स्वतः परम प्रमाण माना है। ईश्वरके निःश्वासभूत होनेसे **'वेदाः प्रमाणम्'** और शिवप्रोक्त होनेसे **'आगमाः प्रमाणम्'** इस प्रकारसे कहा गया है। आगम शब्दका अर्थ है—**'आगच्छति बुद्धिमारोहति यस्मादभ्युदयनिः-श्रेयसोपायः स आगमः।'** जिसके द्वारा इहलौकिक और पारलौकिक कल्याणकारी उपायोंका यथार्थ ज्ञान हो वह आगम शब्दसे निरूपित होता है। तन्त्र शब्द भी आगम अर्थका ही वाचक है, इसका शब्दार्थ इस प्रकार किया गया है—

तनोति विपुलानर्थांस्तत्त्वमन्त्रसमाश्रितान्।
त्राणं च कुरुते पुंसां तेन तन्त्रमिति स्मृतम्॥

मन्त्र तत्त्वोंका विस्तृत विवेचन एवं उसके तात्पर्यार्थ-साधना-प्रक्रियाका पूर्णरूपसे विपुल प्रतिपादन करता है तथा मानव-जातिका सभी प्रकारके भयोंसे परित्राण करता है, अतः उसकी तन्त्र-संज्ञा होती है।

तन्त्रागमके विशाल साहित्यकी रहस्यमयी साधना-विधिका नाम ही मन्त्रयोग है।

मन्त्र और मन्त्रशक्ति

मननात् त्रायत इति मन्त्रः, मननत्राणधर्माणो मन्त्राः। मनको मननीय शक्ति प्रदान (एकाग्र) करके जपके द्वारा समस्त भयोंका विनाश करके पूर्ण रक्षा करनेवाले शब्दोंको मन्त्र कहा जाता है। मन्-त्र—ये दो शब्द इसमें है। 'मन्' शब्दसे मनको एकाग्र करना, 'त्र' शब्दसे त्राण (रक्षा) करना जिनका धर्म है और जपसे जो अभीष्ट फल प्रदान करे, वे मन्त्र कहे जाते हैं।

जैसे वेदान्तका सिद्धान्त है कि **'जीवो ब्रह्मैव नापरः'**-'जीव ही ब्रह्म है दूसरा नहीं।' उसी प्रकार तन्त्र-आगमोंका सिद्धान्त है—**'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्'**—आनन्द ही ब्रह्मका रूप है, **'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्'** आदि श्रुतियाँ भी इसी आगम-सिद्धान्तका प्रतिपादन करती हैं। परमानन्दघन परात्पर परमेश्वर पूर्ण ब्रह्मने अपनी अमोघ संकल्प (इच्छा) शक्तिसे **'एकोऽहं बहु स्याम्'**—मैं अकेला हूँ बहुत हो जाऊँ, इस विचित्र विश्वकी रचना करके इसीमें प्रवेश किया—**'तत् सृष्ट्वा तदनु प्राविशत्'**। इसी तरह तन्त्र-आगमोंके भी दार्शनिक सिद्धान्त हैं। यहाँ ब्रह्मका शिव नामसे व्यपदेश किया गया है। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् भगवान् परमशिव संसाररूपी क्रीडा करनेके लिये अपनी सर्वज्ञता और सर्वकर्तृताशक्तिको संकुचित करके मनुष्य-देहका आश्रयण करता है—**'मनुष्यदेहमाश्रित्य छन्नास्ते परमेश्वराः'**—मनुष्य-देहमें प्रच्छन्नरूपसे परमेश्वर ही विद्यमान है, यही गीता-शास्त्र भी कहता है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

(९।११)

यह चराचरात्मक समस्त विश्व उसकी क्रीडा है, केवल लीलामात्र है—'**क्रीडात्वेनाखिलं जगत्**', '**लीलामात्रं तु केवलम्**।' अतः यहाँ सिद्ध होता है कि वह परमशिव अपनी सर्वज्ञता एवं सर्वकर्तृता-शक्तिको संकुचित करके मनुष्यदेहमें अल्पज्ञता और अल्पकर्तृता धारण करके क्रीडा कर रहा है। जब वह अपनी शक्तिको संकुचित करता है, तब सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि सांसारिक धर्मोंसे अभिभूत हो जाता है। इसीसे आधि-व्याधि, शोक-संताप, दीनता-हीनता, दरिद्रता, अहन्ता-ममता, संकल्प-विकल्प आदि आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक संतापोंसे संतप्त—दुःखित हो भय-विह्वल होकर इनसे मुक्ति चाहता है। बस इसीके लिये शास्त्रोंमें एवं शास्त्रतत्त्वज्ञ योगीन्द्र, मुनीन्द्र, सिद्ध महात्माओंने विविध प्रकारकी साधना-उपासनाओंके विविध विधानोंका प्रतिपादन किया है। श्रीशिव-निर्मित तन्त्र-आगम-शास्त्रोंमें स्वात्मबोध एवं स्वरूप-ज्ञान तथा सांसारिक भयङ्कर संतापोंकी निवृत्तिके लिये मन्त्र-साधनाको ही सर्वोत्तम मान्यता दी गयी है। तन्त्रागमके गम्भीर सिद्धान्तोंके तात्त्विक एवं विवेचनात्मक ग्रन्थ 'महार्थमञ्जरी'में मन्त्रस्वरूपका सुन्दर संकलन किया गया है—

मननमयी निजविभवे निजसंकोचभये त्राणमयी।
कवलितविश्वविकल्पा अनुभूतिः कापि मन्त्रशब्दार्थः ॥

सर्वज्ञता-सर्वकर्तृता-शक्ति-सम्पन्न अपने विभव (ऐश्वर्य) का बोध कराना तथा अल्पज्ञता एवं अल्पकर्तृतारूपी संकुचित शक्तिसे समुत्पन्न दीनता, हीनता, दरिद्रता आदि सांसारिक संतापोंसे मुक्त करना और कुत्सित वासनाओंके संकल्प-विकल्पोंका 'ग्रास' (विनाश) करके 'शिवोऽहं' की भावनासे भावित अनुभूति होना ही मन्त्र-शब्दका तात्पर्यार्थ, स्वरूप या प्रयोजन है। इसी भावको और स्पष्ट किया गया है—

मोचयन्ति च संसाराद्योजयन्ति परे शिवे।
मननत्राणधर्मित्वात्तेन मन्त्रा इति स्मृताः ॥

नेत्र-तन्त्रमें बहुत विस्तारसे मन्त्रके तात्त्विक रहस्योंका विवेचन किया गया है। सात करोड़ मन्त्र शिवके मुखसे विनिर्गत हुए हैं—'**सप्तकोटिमहामन्त्राः शिववक्त्राद्विनिर्गताः**।' वर्णमालाके 'अ' से लेकर 'क्ष' तक पचास अक्षरोंको 'मातृका' कहते हैं। इन मातृका-वर्णोंसे ही समस्त मन्त्रोंका निर्माण हुआ है। मातृका शब्दका अर्थ है माता या जननी। अतः समस्त वाङ्मयकी यह जननी है। ये समस्त मन्त्र वर्णात्मक हैं और मन्त्र शक्ति-स्वरूप हैं। यह मातृकाकी ही शक्ति है और वह शक्ति शिवकी है, अतः समस्त मन्त्र साक्षात् शिवशक्ति-स्वरूप हैं। यही भगवान् शङ्कर पार्वतीसे कहते हैं—

सर्वे वर्णात्मका मन्त्रास्ते च शक्त्यात्मकाः प्रिये।
शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका ॥

मन्त्र अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न होते हैं, इनके सामर्थ्यकी इयत्ताका निर्धारण नहीं किया जा सकता। इसीलिये कहा गया है—'**मन्त्राणामचिन्त्यशक्तिता**' (परशुरामकल्पसूत्र), '**अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधिप्रभावः**।' इन्हीं मन्त्रात्मक वर्णोंसे ही समस्त विश्वका सृजन हुआ है—'**वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे इति श्रुतिः**।' आगम-दर्शनकी मूल भित्ति शिवादि-क्षिति-पर्यन्त छत्तीस तत्त्वोंपर आधारित है। ये तत्त्व मातृकाके छत्तीस अक्षरोंपर आधारित हैं। इन्हीं तत्त्वोंसे दृश्यमान समस्त चराचरात्मक विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और लय आदि होते हैं। अतः मन्त्रात्मक अक्षरोंको शब्दब्रह्म कहा जाता है। संसारका व्यवहार भी शब्दोंके द्वारा ही होता है, इसलिये शब्द-शक्ति सर्वोपरि मानी गयी है। भगवान् परमशिवने इन्हीं शब्दोंसे विचित्र चमत्कारपूर्ण समस्त अभीष्ट प्रदान करनेवाले मन्त्रोंकी रचना करके समस्त सांसारिक जीवोंपर कारुण्य-पूर्ण अनुग्रह किया। इन मन्त्रोंकी साधनासे सम्पूर्ण अभीष्टोंकी सिद्धि सरलतासे की जा सकती है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—'***मंत्र महामनि बिषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के ॥***' यहाँतक कि इनसे भाग्य भी बदल जाता है। इनकी साधना विधिवत् शास्त्रानुमोदित करनी चाहिये।

तन्त्रोंमें मन्त्रोंके स्वरूपका विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। उसमें तीन जातियाँ एवं चार प्रकार मुख्य हैं। इनका 'शारदातिलक' तन्त्रमें इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है—

पुंस्त्रीनपुंसकात्मनो मन्त्राः सर्वे समीरिताः।
मन्त्राः पुंदेवता ज्ञेया विद्या स्त्री देवता स्मृता ॥

पुरुष, स्त्री और नपुंसक—ये तीन जातियाँ मन्त्रोंकी मानी

गयी हैं। मन्त्र पुरुष—देवतात्मक होते हैं एवं महाविद्या, श्रीविद्या आदि विद्याओंके मन्त्र स्त्री-देवतात्मक कहे जाते हैं। इनके चार प्रकार नित्यातन्त्रमें इस प्रकार वर्णित हैं—

मन्त्रा एकाक्षराः पिण्डाः कर्तर्यो द्व्यक्षरा मताः।
वर्णत्रयं समारभ्य नववर्णावधिबीजकाः॥
ततो दशार्णमारभ्य यावद्विंशतिमन्त्रकाः।
अत ऊर्ध्वं गता मालास्तासु भेदो न विद्यते॥

'एक अक्षरवाले मन्त्रकी 'पिण्ड' संज्ञा है, एवं दो अक्षरकी 'कर्तरी', तीन अक्षरसे नौ अक्षरतकके मन्त्रोंको 'बीज' मन्त्र कहा जाता है, दस अक्षरसे बीस अक्षरतक 'मन्त्र' नाम होता है। बीस अक्षरसे अधिक संख्यावाले मन्त्रोंको 'माला' मन्त्र कहते हैं।'

साधकके नामके साथ इन मन्त्रोंके मित्र, शत्रु, साध्य, सिद्ध, सुसिद्ध आदि सम्बन्ध होते हैं। अतः मेलापक-प्रक्रियासे विचार करके मन्त्र ग्रहण करनेसे ही अभीष्ट-सिद्धि होती है। कामना-परक मन्त्रोंका अविचारित रूपसे अनुष्ठान करना विपरीत फलदायक भी हो सकता है। अतः **'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'**—इस गीतोक्त वचनके अनुसार शास्त्रोंके प्रमाणसे कर्तव्याकर्तव्य निर्धारण करना आवश्यक है। अतः मन्त्र-साधना तन्त्रशास्त्रप्रतिपादित विधानानुसार करनेसे ही ऐहिक और पारलौकिक अभीष्ट-सिद्धि होती है।

तन्त्रशास्त्रमें कुछ मन्त्र, विद्याएँ कलियुगमें सिद्ध मानी गयी हैं, वे सबके लिये उपयोगी हैं, उनमें सिद्धारि आदि मेलापक विचार आवश्यक नहीं हैं।

मन्त्र-साधन-प्रक्रिया

तन्त्र-आगम-शास्त्रमें वर्णित लक्षणोंसे युक्त गुरुसे विधिवत् मन्त्र-दीक्षा-ग्रहण करना चाहिये। उस मन्त्रको अपने इष्टदेवका स्वरूप ही मानना चाहिये। देवताओंका स्वरूप मन्त्रात्मक ही होता है। **'मन्त्रा वर्णात्मकाः सर्वे सर्वे वर्णाः शिवात्मकाः।'** श्रीगुरु-मुखारविन्दसे निःसृत मन्त्ररूप इष्टदेवको स्वकीय कर्णोंके द्वारा हृदय-प्रदेशमें विराजमान करके निरन्तर उसकी परिचर्यामें संलग्न हो जाना चाहिये। इस साधनाके तीन अङ्ग मुख्य हैं—नित्यकर्म, नैमित्तिककर्म और काम्यकर्म।

नित्यकर्म—नित्यकर्ममें प्रातः स्मरण, शौच, दन्तधावन, स्नान, संध्या, पूजा, स्तोत्रपाठ आदिका विधान शास्त्रसे या गुरुसे सम्यक् प्रकारसे जानकर उसका सम्पादन करना चाहिये। प्रातःकालसे रात्रिमें शयनपर्यन्त सभी क्रियाएँ विधिपूर्वक सम्पन्न होनी चाहिये, नित्यकर्मोंका पालन करना मन्त्र-साधकके लिये परमावश्यक है। नित्यकर्मका लोप होनेसे प्रत्यवाय होता है, अतः प्रायश्चित्तका विधान है। मनुष्य स्वभाव-सुलभ प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटवादि दोषोंसे यदि नित्यकर्म लोप हो जाय तो प्रायश्चित्त करना परमावश्यक है। वैदिक विधानोंके अनुसार मन्त्रयोगमें चान्द्रायण व्रतादिकोंकी तरह कठोर विधान नहीं है, केवल कर्मवैगुण्यके अनुसार लाघव-गौरव देखकर मूल मन्त्र-जप-संख्याका ही न्यूनाधिक रूपसे सरल विधान है। जैसे संध्यालोप होनेसे मूल मन्त्रका शत-संख्यात्मक एक माला तथा नैमित्तिक कर्मलोपमें सहस्र संख्यात्मक दस मालाका विधान है।

नैमित्तिककर्म—यह कर्म विशेष पर्वोंपर किया जाता है। परशुराम-कल्पसूत्रमें पाँच मुख्य पर्व माने गये हैं, पञ्चपर्वोंमें विशेषार्चा हैं। रात्रिव्यापिनी कृष्णाष्टमी, कृष्ण-चतुर्दशी, अमावास्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति—इन पञ्च पर्वोंपर दिनमें व्रत रखकर रात्रिमें विशेष पूजा-सामग्रीसे अर्चन करनेका विधान है एवं गुरुका जन्मदिन, व्याप्तिदिन, स्वविद्याग्रहण-दिन, पुष्यार्क, नवरात्र आदि पर्वोंपर अपनी शक्तिके अनुसार व्रतपूर्वक यथाविभव विशेष उत्सवका आयोजन करना चाहिये। इस नित्य और नैमित्तिककर्म करनेवाले साधकके सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं।

काम्यकर्म—काम्यकर्म उसे कहते हैं जो विशेष कामना-पूर्तिके लिये किया जाता है। अपने मूल मन्त्रका पञ्चाङ्ग-पुरश्चरण करनेपर जब मन्त्र-चैतन्यका लक्षण उत्पन्न हो जाय तो भिन्न-भिन्न कामनाओंके लिये पृथक्-पृथक् वस्तुओंसे होम करनेका विधान शास्त्रोंमें वर्णित है, उन-उन वस्तुओंसे होम करनेसे तत्-तत् कामनाएँ पूर्ण होती हैं। परंतु काम्यकर्म करनेका शास्त्रोंमें निषेध ही किया गया है—

शुभं वाप्यशुभं वापि काम्यं कर्म करोति यः।
तस्यारित्वं व्रजेन्मन्त्रस्तस्मान्न तत्परो भवेत्॥

अर्थात् 'शुभ या अशुभ अभिचारादि—काम्य कर्म जो करता है, उसके लिये वही मन्त्र शत्रु-भावापन्न हो जाता है। इसलिये काम्यकर्ममें तत्पर नहीं होना चाहिये।' कोई

अत्यावश्यक कार्य हो तो उसके लिये कदाचित् कर लेनेका विधान है। अपने मन्त्रका नित्य-नैमित्तिक कर्म करनेमात्रसे साधकका जिसमें कल्याण निहित है, उसे मन्त्रका अधिष्ठाता देवता स्वयं सम्पादन करता रहता है। अपने इष्टदेवके सर्वात्मना-समर्पण—शरणागत होकर देवता-प्रीत्यर्थ कर्म करनेसे सभी मनोरथ पूर्ण होते हैं, ऐसा शास्त्रमें लिखा गया है—

निष्कामो देवतां नित्यं योऽर्चयेद् भक्तिनिर्भरः।
तामेव चिन्तयन्नास्ते यथाशक्ति मनुं जपन्॥
सैव तस्यैहिकं भारं वहेन्मुक्तिं च साधयेत्।
सदा संनिहिता तस्य सर्वं च कथयेत सा॥
वात्सल्यसहिता धेनुर्यथा वत्समनुव्रजेत्।
तथानुगच्छेत् सा देवी स्वं भक्तं शरणागतम्॥

निष्काम भक्तिभावसहित जो इष्ट देवताका अर्चन करता है और निरन्तर उसका ही चिन्तन करता हुआ यथाशक्ति मन्त्रका जप करता है, उसके सांसारिक जितने कार्य हैं, उन सबका वहन भगवती स्वयं करती हैं और अन्तमें मोक्ष-प्रदान भी कर देती हैं। इतना ही नहीं, सदा उसके संनिहित रहती हैं और सब कुछ बताती रहती हैं। वात्सल्यभावसे युक्त होकर जैसे धेनु अपने बछड़ेके पीछे रहती है, उसी तरह वह वात्सल्यमयी माता भगवती शरणागत भक्तके कल्याण करनेमें निरन्तर तत्पर रहती है। इसलिये गीतामें भी लिखा है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(२।४०)

निष्काम कर्म करनेवालेका कभी क्रम-भङ्ग नहीं होता और कोई निषिद्ध कर्मकी सम्भावना भी नहीं रहती। निष्कामकर्मका स्वल्परूप आचरण करनेसे महाभयसे परित्राण होता है। अतः मन्त्र-चैतन्यके लिये पुरश्चरणादि अनुष्ठानके बाद मन्त्र-सिद्धि हो जानेपर ऐहिक और पारलौकिक समस्त कार्य स्वयं सिद्ध होते रहते हैं।

मन्त्रसिद्धिके लिये पञ्चाङ्ग-पुरश्चरण अत्यावश्यक है एवं अन्य प्रकारसे ग्रहण आदिमें संक्षेप-पुरश्चरणोंका भी शास्त्रमें विधान किया गया है तथा ओषधियों आदिके प्रयोगसे भी सरलतासे मन्त्र-सिद्धि हो जाती है। पुरश्चरण नहीं करनेसे मन्त्र सिद्धिप्रद नहीं होता, लिखा है—

जीवहीनो यथा देहः सर्वकर्मसु न क्षमः।
पुरश्चरणहीनोऽपि तथा मन्त्रो न सिद्धिदः॥

जैसे जीवहीन देह कोई कर्म करनेमें समर्थ नहीं होता, वैसे ही पुरश्चरणके बिना मन्त्र सिद्धिदायक नहीं होता, अतः भोग एवं मोक्ष दोनों चाहनेवाले साधकको पुरश्चरण करना अनिवार्य है। कुछ महाविद्याएँ श्रीविद्या आदिमें पुरश्चरण आवश्यक नहीं है। क्योंकि ये विद्याएँ मोक्ष-प्रधान होती हैं, भोगोंकी इनमें अप्रधानता होती है—'**भोगा भवन्ति चेद् भवन्तु मा भवन्ति मा भवन्तु।**' भोगोंकी प्राप्ति होनी ठीक है, न हो तो उनके लिये विशेष अभिलाषा नहीं होती। वैराग्यवान् साधक इन महाविद्याओंका अनुष्ठान मोक्षैकमात्र-प्राप्तिके लिये करते हैं। अन्य मन्त्रोंका पुरश्चरण तो परमावश्यक है। पुरश्चरण करनेपर भी मन्त्रसिद्धिके लक्षण उत्पन्न न हों तो द्रावण-बोधनादि मन्त्रके संस्कार करने चाहिये। इनसे मन्त्र सिद्धि देनेवाला हो जाता है।

द्रावणं बोधनं वश्यं पीडनं पोषशोषणम्।
दाहनं च बुधः कुर्यात्ततः सिद्धो भवेन्मनुः॥

इन संस्कारोंके करनेपर भी यदि मन्त्र-सिद्धि न हो तो उस मन्त्रका परित्याग कर देना चाहिये, ऐसा शास्त्रोंका मत है। महाविद्याओंके परित्यागका विधान नहीं है।

मन्त्रसिद्धिके लक्षण

तन्त्रान्तरोंमें मन्त्रसिद्धिके तीन प्रकारके लक्षण बताये गये हैं—उत्तम, मध्यम और अधम।

उत्तम लक्षण—'मनोरथानामक्लेशः सिद्धेरुत्तमलक्षणम्'—बिना क्लेशके सभी मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं। (साधना करनेवालोंके शुभ भाव, पवित्र विचार, सत्संकल्प और श्रेष्ठ मनोरथ होते हैं।) अतः सिद्ध हुए मन्त्रके द्वारा सदिच्छा पूर्ण हो जाती है एवं अकाल मृत्युका भय दूर हो जाता है। देवताके दर्शन होते हैं एवं और भी अनेक प्रकारकी यौगिक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

मध्यम लक्षण—'ख्यातिर्वाहनभूषादिलाभः सुचिरजीवनम्'—यश, वाहन, भूषण, आरोग्य, रोगविषापहरण-शक्ति, पाण्डित्य, कवित्व, वैराग्य, मुमुक्षुत्व, सर्ववश्यता, त्यागभावना, अष्टाङ्गादि योगोंका अभ्यास, भोगोंकी नगण्य

इच्छा, समस्त प्राणियोंमें दयाभाव, सर्वज्ञतादि गुणोंका उदय आदि मध्यम सिद्धिके लक्षण हैं।

अधम लक्षण—ख्याति, वाहन, भूषण आदि वैभवकी प्राप्ति तथा धन, पुत्र, दारादि लोकैश्वर्यकी प्राप्ति—ये मन्त्र-सिद्धिके अधम लक्षण हैं। यह साधककी प्रथम भूमिका है।

स्वल्प सिद्धियोंसे सावधानी

मन्त्रयोग-साधनमें तत्पर साधकको मन्त्रप्रभावजन्य कुछ स्वतः स्वल्प सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, किंतु वे परम सिद्धिमें बाधक होती हैं। '**अष्टाविंशतिधा शक्तिः**', '**नवधा तुष्टिः**', '**अष्टधा सिद्धिः**'—ये तीन प्रकारके अङ्कुश परम सिद्धिके अवरोधक होते हैं।

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वाङ्कुशस्त्रिविधः॥

ऊह—उपदेशके बिना ही अपेक्षित अर्थका ज्ञान होना ऊह-सिद्धि कही जाती है।

शब्दसिद्धि—प्रासङ्गिक शब्द-श्रवणमात्रसे मुख्य अर्थका बोध शब्दसिद्धि कही जाती है।

अध्ययन-सिद्धि—गुरुके साधारण उपदेशसे शास्त्रोंका बोध होना अध्ययन-सिद्धि है।

दुःख-विघात-सिद्धि—आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक—इन तीन प्रकारके दुःखोंका विघात होना दुःख-विघात-सिद्धि है।

सुहृत्प्राप्ति-सिद्धि—किसी विशिष्ट व्यक्तिके सम्पर्कसे अर्थ-प्राप्ति होना सुहृत्प्राप्ति-सिद्धि है।

दान—विद्वान्, तपस्वी, सिद्धोंके द्वारा प्राप्त अलौकिक क्रियाओंका ज्ञान दान-सिद्धि है।

योगशास्त्रानुसार ये आठ सिद्धियाँ लोकमें तो सिद्धि-रूप हैं, परंतु साधना-मार्गमें अग्रसर होनेमें अवरोधक होती हैं—'**ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।**'

अतः इन स्वल्प सिद्धियोंके जालमें न पड़कर सावधान होकर अपनी साधनाको आगे बढ़ाते रहना ही मुख्य-सिद्धि है। मन्त्रयोगमें मानसिक जपमें निरन्तर संलग्न रहना ही मुख्य भूमिका है।

'**जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः।**

इस प्रकार मन्त्रयोगमें अध्यवसाय-सम्पन्न साधक अनवरत साधनामें संलग्न होनेपर जब पूर्ण सिद्धिका अधिकारी बन जाता है, तब उसका मध्यम-धाममें प्रवेश होता है।

मध्यम धाम-प्रवेश

इस समय साधकका चित्त ही मन्त्र बन जाता है। प्रारम्भिक साधना-कालमें वाचिक, उपांशु,मानसिक जपकी स्थिति रहती है। इस अवस्थामें चित्त ही मन्त्र हो जाता है। '**चित्तं मन्त्रः।**'शिवसूत्रमें इसका विशद विवेचन है। इस अवस्थामें मानसिक जपसे ऊपर उठकर स्वयं अपने-आप चैतन्य सत्ताके सम्पर्कसे चित्तमें जप होने लग जाता है। अब साधकको नाना प्रकारके चमत्कारिक अनुभव होते हैं और उस अद्वैत तत्त्वकी गंध आने लग जाती है।'**शिवोऽहं**' की भावना विकासोन्मुख होने लगती है। यह सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व शिवत्व-प्राप्तिका द्वार है—'**शैवीमुखमिहोच्यते।**' अपना लक्ष्य सामने दिखायी देने लग जाता है। द्वारमें प्रवेश करनेके बाद जैसे भवनके अन्तरालमें जानेका मार्ग सुगम हो जाता है, वैसे ही शिवत्व-प्राप्तिकी सिद्धावस्था भी सुलभ हो जाती है। तन्त्रशास्त्रके विशिष्ट ज्ञाता महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराजजीने भी अपने तन्त्रशास्त्र-सम्बन्धी प्रायः समस्त निबन्धोंमें इस स्थितिका बहुधा उल्लेख किया है। तन्त्रागम-साहित्यमें भी विविध तन्त्रोंमें विविध प्रकारसे विस्तृत विवेचन मिलता है।

शिवत्व-प्राप्ति

तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनाम्॥
तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जनाः।
सहाराधकचित्तेन तेन ते शिवधर्मिणः॥

(स्पन्दकारिका २६-२७)

पूर्वोक्त स्थिति प्राप्त होनेपर सर्वज्ञतादि बलसे युक्त मन्त्र साधकके अधिकारमें आ जाते हैं, जैसे देहधारी अपने कर-चरणादि इन्द्रियोंका स्वेच्छासे संचालन कर सकता है, उसी प्रकार मन्त्र भी उसकी इच्छाके अनुसार कार्य करनेमें लग जाते हैं, इस प्रकार चित्तमें मन्त्रका निरन्तर मनन करते रहनेसे वे शान्त-रूप निरञ्जन शिवधर्मी मन्त्र साधकको शिवत्व प्रदान करके आराधकके चित्तके साथ वहींपर लीन हो जाते हैं।

मन्त्रयोग—साधना करनेवालोंकी तीन प्रकारकी

स्थितियोंका विभिन्न तन्त्र-आगमोंमें विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। यथा साधक, सिद्धि, सिद्ध। इन्हींका रूप द्वैत, द्वैताद्वैत, अद्वैत एवं भेद-भेदाभेद, अभेद है। प्रारम्भमें साधकका द्वैत-भाव या भेदभाव रहता है, जैसे पूज्य और पूजक, मैं पूजा करनेवाला हूँ और इष्टदेव पूज्य हैं। इसीको द्वैतभाव कहते हैं। तदनन्तर पूर्वोक्त साधनाके अनुसार सिद्धि-लाभ करता है और तब मानसिक पूजा जिसे अन्तर्याग कहते हैं, साधक इसमें एकनिष्ठ हो जाता है। अब उसे बाहरमें इष्ट देवताका पूजन गौण हो जाता है और पूजामें समर्पण की जानेवाली सभी सामग्री हृदयस्थित देवताको मानसिक कल्याणके द्वारा समर्पण करता है। यही द्वैताद्वैत—भेदाभेदकी स्थिति है। इस स्थितिमें लौकिक वैभवकी कामनाओंके प्रलोभनमें न पड़कर उस परमतत्त्वकी प्राप्तिके लिये जागरूक होकर दृढ़ निष्ठा, अदम्य उत्साहसे अनवरत अभ्याससे भावना-दार्ढ्यकी स्थितिको प्राप्त कर लेता है और इसी समय कुण्डलिनीके जागरणका अनुभव एवं षट्चक्र-भेदन होता है तथा आज्ञाचक्रस्थित तृतीय नेत्र खुल जाता है। अब मन्त्र-साधक **'शिवोऽहं'** की भावनासे भावित हो जाता है और उसमें अन्तःकरण तदाकाराकारित होकर सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व आदि लक्षण प्रस्फुटित होने लगते हैं, इसीको शिवत्व-प्राप्ति कहते हैं, जैसा कि इस सूत्रमें वर्णित है **'शिवतुल्यो जायते।'** यही सिद्धावस्था है, इसे ही अद्वैतसिद्धि या अभेदभाव कहते हैं।

स्वच्छन्द तन्त्र, मृगेन्द्रागम, मालिनीविजयोत्तर, त्रैपुर-सिद्धान्त, शिवसूत्र, शक्तिसूत्र, त्रिकमत, प्रत्यभिज्ञा-दर्शन आदि ग्रन्थोंमें इसके विभिन्न रूप—मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर; पशुप्रमाता, प्रमाता, पतिप्रमाता; चित्त, चिति, चैतन्य; सकल, विज्ञानाकल, प्रलयाकल; नर, शक्ति, शिव; इदन्ता, अहन्ता, पूर्णाहन्ता; आणव, शाक्त, शाम्भव आदि मन्त्रयोगकी त्रिपुटीके सूक्ष्म-सूक्ष्मतम रहस्योंका विस्तृत विवेचन समुपलब्ध होता है। इन समस्त तन्त्रशास्त्रोंका लक्ष्य एक ही है। केवल साधना-सरणिमें कुछ प्रकारान्तर परिलक्षित होता है। कुछ तन्त्रोंमें विस्तार और कुछमें सामान्य संग्रह है, इसलिये एक तन्त्रकी पद्धतिका आश्रय लेकर साधना करनेसे अन्य तन्त्रोंमें विहित जो क्रियाएँ हैं, वे भी समस्त पूर्ण हो जाती हैं। गुरुबोधित मार्ग ही सर्वथा अनुकरणीय है—

क्वचित्तन्त्रेषु विस्तारः क्वचित्तन्त्रेषु संग्रहः।
एकं तन्त्रं समाश्रित्य सम्यक् कर्मकृतं तथा॥
सर्वं तेन कृतं राम एतद्य गुरुमार्गतः।

(त्रिपुरारहस्य)

मन्त्र-साधनाकी अनुभूतिपूर्वक इस क्रमिक विकाससे इसी जन्ममें ही जीवन्मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः।

(स्पन्दका०)

'चिदानन्दलाभे देहादिषु चैत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्य-प्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः।' इस प्रकारसे परात्रिंशिका-शक्तिसूत्र आदि ग्रन्थोंमें जीवन्मुक्तिका विशेषरूपसे वर्णन है, क्योंकि तन्त्र-आगमोंमें जीवन्मुक्ति मोक्षरूपमें मानी गयी है।

मन्त्रयोगका परम आदर्श

करुणामयी, कल्याणमयी पराम्बा भगवती श्रीजगज्जननी श्रीललिता त्रिपुरसुन्दरीके जीवोंके आधि-व्याधि, शोक-संताप, दीनता-हीनता, दरिद्रता आदि दुःखको दूर करनेके लिये प्रार्थना करनेपर समस्त विद्याओंके अधिपति, सम्पूर्ण प्राणियोंके स्वामी भगवान् परमशिवने तन्त्र-आगमशास्त्रको प्रकट किया, इसमें मन्त्रशक्तिकी प्रधानता है। इसके द्वारा साधक अपने वाञ्छित कामनाओंको स्वल्प-कालमें ही प्राप्त कर सकता है।

वैदिक याग और उपनिषदोंकी विद्याओंके साथ तान्त्रिक याग एवं विद्याओंकी समानता परिलक्षित होती है। केवल प्रक्रियागत भेद ही भाषित होता है। मूलतः कोई भेद नहीं है। विशेषकर कलियुगमें तन्त्र-विधानानुसार साधना करनेसे शीघ्र सिद्धि होती है। इन तन्त्र-शास्त्रोंमें वाम और दक्षिण दो मार्ग हैं। वाममार्गमें पञ्चमकारोंका विधान है। इसका कोई धीर-वीर इन्द्रियोंपर संयम रखनेवाला ही अधिकारी होता है। किञ्चित् भी असावधानी होनेसे पतन हो जाता है। सिद्धियोंके प्रलोभनसे इस मार्गमें प्रवृत्त होना भयप्रद है। दक्षिणमार्ग निर्भय एवं निष्कण्टक है। भगवान् आद्य शंकराचार्यने भी दक्षिण मार्गका ही समर्थन करके 'सौन्दर्यलहरी', 'प्रपञ्चसारतन्त्र' आदि ग्रन्थोंकी रचना की है और वर्तमानमें तन्त्र-मार्गमें शांकर सम्प्रदाय ही अविच्छिन्न-रूपसे चला आ रहा है। उच्चकोटिके तन्त्रविदोंका प्रधान उद्देश्य अद्वैत-तत्त्वकी प्राप्ति ही है। अद्वैत-सिद्धि मन्त्रयोगसे शीघ्र प्राप्त होती है, इसीलिये अद्वैत-

मतके आचार्य शंकरने इसका प्रचार-प्रसार किया। श्रीमद्भागवत (११।३।४७)में भी लिखा है—

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्॥

'जो शीघ्र हृदय-ग्रन्थिका भेदन चाहता है, वह तान्त्रिक विधिसे केशवका अर्चन करे।' 'केशव' शब्द यहाँपर उपलक्षण है। शिव, शक्ति, सूर्य, गणेश आदि देवताओंका भी पूजन विहित है।

वर्तमानमें प्रचलित प्रायः सभी यज्ञानुष्ठान-पद्धतियाँ तन्त्रशास्त्रसे अनुप्राणित हैं। तन्त्रोंमें स्त्री, शूद्र आदि भी साधनाके अधिकारी माने गये हैं। इसमें जाति और धर्मपर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। साधनाकी प्रवृत्तिवाले सभी समुदायके लोगोंके लिये इसका द्वार खुला है। स्त्री जातिके लिये तो विशेष सुविधा प्रदान की गयी है। साधनामें सरलता एवं अनुभूति होना तन्त्रशास्त्रकी अपनी विशेषता है। मन्त्रयोगके साधकोंका जीवन मन्त्रमय हो जाता है। सभी कार्य उनके मन्त्रपूर्वक होते हैं, इससे शनैः-शनैः साधकमें दिव्य गुणोंका संचार होने लगता है। पाशविक प्रवृत्तियाँ नष्ट होने लगती हैं। सदाचार और सद्विचारके द्वारा आनन्दमय आदर्श जीवन-यात्रा सम्पन्न होती है।

मृत्युञ्जय-योग

जिस प्रकार अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने गीताका उपदेश किया था, उसी प्रकार श्रीद्वारकापुरीमें उद्धवजीको भी उपदेश प्रदान किया। उक्त उपदेशमें कर्म, ज्ञान, भक्ति, योग आदि अनेक विषयोंकी भगवान्‌ने बड़ी ही विशद व्याख्या की है। अन्तमें योगका उपदेश हो जानेके बाद उद्धवने भगवान्‌से कहा कि 'प्रभो! मेरी समझमें आपकी यह योगचर्या साधारण लोगोंके लिये दुःसाध्य है, अतएव आप कृपापूर्वक कोई ऐसा उपाय बतलाइये जिससे सब लोग सहज ही सफल हो सकें।' तब भगवान्‌ने उद्धवको भागवत-धर्म बतलाया और उसकी प्रशंसामें कहा कि 'अब मैं तुम्हें मङ्गलमय धर्म बतलाता हूँ, जिसका श्रद्धापूर्वक आचरण करनेसे मनुष्य दुर्जय मृत्युको जीत लेता है। यानी जन्म-मरणके चक्रसे सदाके लिये छूटकर भगवान्‌को पा जाता है। इसीलिये इसका नाम मृत्युञ्जय-योग है।' भगवान्‌ने कहा—

मनके द्वारा निरन्तर मेरा विचार और चित्तके द्वारा निरन्तर मेरा चिन्तन करनेसे आत्मा और मनका मेरे ही धर्ममें अनुराग हो जाता है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि शनैः-शनैः मेरा स्मरण बढ़ाता हुआ ही सब कर्मोंको मेरे लिये ही करे। जहाँ मेरे भक्त साधुजन रहते हों उन पवित्र स्थानोंमें रहे और देवता, असुर तथा मनुष्योंमेंसे जो मेरे अनन्य भक्त हो चुके हैं, उनके आचरणोंका अनुकरण करे। अलग या सबके साथ मिलकर प्रचलित पर्व, यात्रा आदिमें महोत्सव करे। यथाशक्ति ठाट-बाटसे गान-वाद्य, कीर्तन आदि करे-कराये। निर्मल-चित्त होकर सब प्राणियोंमें और अपने-आपमें बाहर-भीतर सब जगह आकाशके समान सर्वत्र मुझ परमात्माको व्याप्त देखे। इस प्रकार ज्ञानदृष्टिसे जो सब प्राणियोंको मेरा ही रूप मानकर सबका सत्कार करता है तथा ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और ब्राह्मण भक्त, सूर्य और चिनगारी, दयालु और क्रूर, सबमें समान दृष्टि रखता है, वही मेरे मनसे पण्डित है। बारंबार बहुत दिनोंतक सब प्राणियोंमें मेरी भावना करनेसे मनुष्यके चित्तसे स्पर्धा, असूया, तिरस्कार और अहंकार आदि दोष दूर हो जाते हैं। अपनी दिल्लगी उड़ानेवाले घरके लोगोंको 'मैं उत्तम हूँ, यह नीच है'—इस प्रकारकी देहदृष्टिको और लोकलाजको छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधेतकको पृथ्वीपर गिरकर भगवद्भावसे साष्टाङ्ग प्रणाम करे।

जबतक सब प्राणियोंमें मेरा स्वरूप न दीखे, तबतक उक्त प्रकारसे मन-वाणी और शरीरके व्यवहारोंद्वारा मेरी उपासना करता रहे। इस तरह सर्वत्र परमात्म-बुद्धि करनेसे उसे सब कुछ ब्रह्ममय दीखने लगता है। ऐसी दृष्टि हो जानेपर जब समस्त संशयोंका सर्वथा नाश हो जाय, तब उसे कर्मोंसे उपराम हो जाना चाहिये। अथवा वह उपराम हो जाता है। हे उद्धव! मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे और चेष्टाओंसे सब प्राणियोंमें मुझको देखना ही मेरे मतमें सब प्रकारके मेरी प्राप्तिके साधनोंमें सर्वोत्तम साधन है। हे उद्धव! एक बार निश्चयपूर्वक आरम्भ करनेके बाद फिर मेरा यह निष्काम धर्म किसी प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे अणुमात्र भी

ध्वंस नहीं होता। क्योंकि निर्गुण होनेके कारण मैंने ही इसको पूर्णरूपसे निश्चित किया है। हे संत! भय, शोक आदि कारणोंसे भागने, चिल्लाने आदि व्यर्थके प्रयासोंको भी यदि निष्काम-बुद्धिसे मुझ परमात्माके अर्पण कर दे तो वह भी परम धर्म हो जाता है। इस असत् और विनाशी मनुष्य-शरीरके द्वारा इसी जन्ममें मुझ सत्य और अमर परमात्माको प्राप्त कर लेनेमें ही बुद्धिमानोंकी बुद्धिमानी और चतुरोंकी चतुराई है।

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति माऽमृतम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। २२)

अतएव जो मनुष्य भगवान्‌की प्राप्तिके लिये कोई यत्न न करके केवल विषयभोगोंमें ही लगे हुए हैं, वे श्रीभगवान्‌के मतमें न तो बुद्धिमान् हैं और न मनीषी ही हैं।

समाधियोग

(श्रीश्रीधर मजूमदार एम्० ए०)

उपनिषदोंके द्रष्टा ऋषियोंने ध्यानबलसे अपने अतीन्द्रिय ज्ञानद्वारा इस बातको अवगत किया कि बाहरी समस्त चराचर जगत्‌के एकमात्र कारण अनन्त चेतन ब्रह्मके दो रूप हैं—एक व्यक्त रूप और दूसरी वह आभ्यन्तर चेतना जो बाह्य व्यक्त जगत्‌को अनुप्राणित करती है, सत्तास्फूर्ति देती है। पहला रूप इन्द्रियगोचर है और बाह्य प्रपञ्च (Phenomenon) कहलाता है और दूसरा अतीन्द्रिय है और प्रत्यक्-चैतन्य (Noumenon) कहलाता है। बाह्य प्रपञ्च परिणामी है और प्रत्यक्-चैतन्य अपरिणामी है। 'ये सब दृश्य पदार्थ विनाशी हैं, अन्तरात्मा अविनाशी कहलाता है। निर्विशेष निरञ्जन परब्रह्म अक्षर है।' (योगशिखोपनिषद् ३। १६)।

जहाँ बाह्य प्रपञ्च है वहाँ प्रत्यक्-चैतन्य भी है। दूधमें मक्खनकी भाँति प्रत्यक्-चैतन्य बाह्य प्रपञ्चमें सर्वत्र-सर्वदा व्याप्त है, किंतु प्रत्यक्-चेतनके सर्वांशमें सर्वदा बाह्य प्रपञ्च नहीं है। दूधके अणु-अणुमें मक्खन है, किंतु जबतक दूध मथा नहीं जायगा, तबतक उसमें मक्खन दृष्टिगोचर नहीं होगा। इसी प्रकार समाधिका आश्रय लिये बिना प्रत्यक्-चैतन्यका साक्षात्कार नहीं होता। जाग्रत्-अवस्थामें क्षिप्त मनको इन्द्रियोंके द्वारा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दके रूपमें बाह्य प्रपञ्चका प्रत्यक्ष होता है, उस समय प्रत्यक्-चैतन्य अन्तर्हित रहता है। किंतु प्रत्यक्-चैतन्यका साक्षात्कार इन्द्रियोंके निरोधसे अर्थात् निरुद्ध मनके द्वारा समाधि-अवस्थामें सच्चिदानन्दरूपमें होता है, उस समय इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं और बाह्य प्रपञ्च तिरोहित हो जाता है।

'जब मनुष्य परमात्माको परमार्थतः देख लेता है, तब अखिल दृश्य जगत् विलीन हो जाता है।' (जाबाल-दर्शनोपनिषद् १०। १२)।

इस प्रकार एक समयमें ब्रह्मके एक रूपका ही साक्षात्कार होता है। आत्मदर्शी मुनि ब्रह्मके अविनाशी प्रत्यक्-चैतन्यस्वरूपका ही वरण करते हैं और परिणामी दृश्य स्वरूपका अपलाप करते हैं।

हमें दृश्य प्रपञ्चकी प्रतीति इन्द्रियोंके द्वारा होती है, किंतु ये इन्द्रियाँ अर्थात् चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा मनके सहयोग बिना व्यापार नहीं करतीं। उदाहरणतः यदि हमारा मन किसी दूसरे विचारमें संलग्न हो तो हमारे नेत्र खुले रहनेपर भी तथा किसी खास वस्तुपर हमारी दृष्टि जमी रहनेपर भी हमें उस वस्तुका प्रत्यक्ष नहीं होता। यही स्थिति दूसरी इन्द्रियों—श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचाकी है। इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका अनुसंधान करनेके अतिरिक्त मन प्राक्तन संस्कारोंकी ही आवृत्ति करता हुआ अथवा आगे मिलनेवाले पदार्थोंकी चिन्ता करता हुआ क्षिप्त अवस्थामें रह सकता है। चित्तकी वृत्तियोंका निरोध कर देनेसे, अर्थात् मनको सब प्रकारके संकल्पोंसे सर्वथा शून्य कर देनेसे—इसीको चित्तकी निरुद्ध अथवा समाहित अवस्था कहते हैं—सारी इन्द्रियाँ निर्व्यापार हो जाती हैं, जिससे बाह्य प्रपञ्चका दीखना बंद हो जाता है। परिणामी बाह्य प्रपञ्चके अदृश्य हो जानेपर उससे इतर अविनाशी प्रत्यक्-चैतन्यकी उपलब्धि होती है। अर्थात् बाह्य आवरणके दृष्टिके सामनेसे हट जानेपर भीतरकी सार वस्तु प्रकट हो जाती है।

'चित्तके (बाह्य विषयोंका अनुसंधान करते समय) चञ्चल होनेपर संसारका भान होता है। मनका निश्चल होना ही

मुक्ति है। अतः हे विश्वके नियन्ता ! परम तत्त्वके ज्ञानसे ही मनको स्थिर करना चाहिये।' (योगशिखोपनिषद्में महेश्वरका ब्रह्माके प्रति उपदेश ६। ५८)।

'चञ्चलतासे शून्य मन अमर कहलाता है, वही तप है और उसीको मोक्ष कहते हैं—यह शास्त्रोंका सिद्धान्त है।'

सब प्रकारके संकल्पोंसे सर्वथा शून्य हो जानेका नाम ही 'समाधि' है, जिस समाधिमें मन सर्वथा निश्चल हो जाता है और जीवात्मा तथा परमात्माका भेद मिट जाता है। जीवात्माका प्रत्यक्-चैतन्यमें, सर्वव्यापी अन्तरात्मामें, ब्रह्मके अतीन्द्रिय रूपमें स्थित होना ही समाधि है। जीवात्माके अंदर यह प्रत्यक्-चैतन्य अथवा परमात्मा, जिसे निर्विकल्प परम अहम् भी कहते हैं, क्षुद्र अहं-प्रत्ययसे आच्छन्न रहता है, जो देहाभिमानका कारण है। इस क्षुद्र अहंबुद्धिके निवृत्त हो जानेपर अथवा चूर्ण हो जानेपर प्रत्यक्-चैतन्य अथवा निर्विकल्प 'परम अहम्'का उदय होता है। अतः समाधि-लाभके लिये क्षुद्र अहंबुद्धिकी निवृत्ति आवश्यक है। दूसरे शब्दोंमें क्षुद्र अहंबुद्धिकी निवृत्ति ही समाधि है, जिस समाधिमें हृदयकी गाँठ खुल जाती है और चित्तका विस्तार होकर उसे पूर्णताकी अवस्था प्राप्त हो जाती है।

'जीवात्मा और परमात्माकी एकताके ज्ञानके उदयको ही 'समाधि' कहते हैं।' (जाबालदर्शनोपनिषद् १०। १ और अन्नपूर्णोपनिषद् ५। ७५)।

'जीवात्माकी परमात्माके साथ एकता ही, जिसमें संकल्पकी सारी क्रिया ही नष्ट हो जाती है, 'समाधि' कहलाती है।' (सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् १६)।

'मुनियोंके द्वारा साधित समाधि उस संकल्पशून्य अवस्थाका नाम है जिसमें न तो मनकी क्रिया है और न बुद्धिका व्यापार है, जो आत्मज्ञानकी अवस्था है और जिसमें उस (प्रत्यक्-चैतन्य) के अतिरिक्त सबका बाध है।' (मुक्तिकोपनिषद् २। ५५)।

'ब्रह्माकारवृत्तिके द्वारा अथवा सर्वसंकल्पनिवृत्तिके द्वारा चित्तकी वृत्तियोंको सर्वथा भूल जानेका नाम ही 'समाधि' है।' (तेजोबिन्दूपनिषद् १। ३७)।

'हे ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण ! 'समाधि' शब्द उस संशयरहित मानसिक पूर्णताका वाचक है, जिसमें आसक्तिका सर्वथा अभाव है और जिसमें सदसद्विवेक भी नहीं है।' (अन्नपूर्णोपनिषद् १। ५०)।

जीवात्मा परमात्मरूप महासागरके वक्षःस्थलपर नृत्य करते हुए एक तरङ्गके समान है। तरङ्गके पीछे समुद्ररूप महान् आधार है। इसी प्रकार जीवात्माके पीछे परमात्मारूप महान् आधार है। वासना अथवा उससे उत्पन्न होनेवाली अहंबुद्धि ही तरङ्गकी सत्ताको अक्षुण्ण रखती है। जिस क्षण वासना नष्ट हो जाती है और उसके साथ ही अहंप्रत्यय भी निवृत्त हो जाता है, उसी क्षण तरङ्ग विलीन होकर सागरमें मिल जाती है, अर्थात् जीवात्मा परमात्मामें प्रवेश कर उसके साथ एकीभावको प्राप्त हो जाता है।

समाधिसिद्धि तथा मोक्षके लिये आवश्यकता है मनको निरुद्ध करनेकी, वासनाशून्य करनेकी अर्थात् सर्वथा संकल्पशून्य होनेकी। इस संकल्पशून्यताको ही जीवात्माकी प्रत्यक्-चैतन्यमें, सर्वव्यापक अन्तरात्मामें, ब्रह्मके अतीन्द्रिय भावमें स्थिति कहते हैं।

'प्रत्येक वस्तुको ब्रह्मसे अभिन्न देखना ही ज्ञान है, मनको निर्विषय करना ही परमात्माका ध्यान है, मनोमलके नाशको ही स्नान कहते हैं और इन्द्रियनिग्रहका नाम ही शौच है।' (स्कन्दोपनिषद् ११ और मैत्रेय्युपनिषद् २। २)।

'जब निश्चल मनके द्वारा क्षिप्त मनकी चिकित्सा करनेसे मनकी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं तभी सुदुर्लभ परब्रह्मका साक्षात्कार होता है।' (योगशिखोपनिषद् ६। ६२)। 'जिस क्षण हृदयमें भरी हुई सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, उसी क्षण यह मरणधर्मा मनुष्य अमृतत्व लाभ कर लेता है और इसी जीवनमें ब्रह्मानन्दका आस्वादन करता है।' (बृहदारण्यकोपनिषद् ४। ४। ७)।

'जब इस क्षिप्त मनको संकल्पाभावके शस्त्रसे शान्त कर दिया जाता है तभी (और उससे पूर्व नहीं) समग्र सर्वगत निर्विशेष ब्रह्मका साक्षात्कार होता है।' (महोपनिषद् ४। ९१)।

'जिस भाग्यवान् पुरुषकी आत्मामें रति हो गयी है, जिसका मन पूर्ण और शुद्ध है और जिसे अनुत्तम विश्राम प्राप्त हो गया है, उसके लिये इस संसारमें कोई भी कामनाकी वस्तु नहीं रह जाती।' (महोपनिषद् २। ४७)।

'जो चित्त आत्मा (परमात्मा) में निवेशित हो गया है

और जिसके सारे मल समाधिके द्वारा धुल गये हैं, उसके आनन्दका वाणीद्वारा वर्णन नहीं हो सकता, केवल अन्तःकरणद्वारा अनुभव हो सकता है।' (मैत्र्युपनिषद्)।

'जीवात्मा और परमात्माकी एकताकी अवस्था जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप त्रिपुटीका अभाव है, जो परमानन्दरूपा है और शुद्ध चैतन्यात्मिका है, वही समाधि है।' (शाण्डिल्योपनिषद् १।११)।

उपनिषदों तथा पातञ्जल योगसूत्रमें समाधिकी अवस्था प्राप्त करने अर्थात् मनको निरुद्ध अथवा सब प्रकारके संकल्पोंसे सर्वथा शून्य करनेकी अनेक विधियाँ बतायी गयी हैं। परंतु मेरी समझसे उन सबमें श्रेष्ठ तथा सुगम विधि है प्रत्यक्-चैतन्य, निर्विकल्प ब्रह्म, परमात्मा अथवा सर्वव्यापी अन्तरात्माको सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण करने अथवा उनके अंदर आत्मनिक्षेप करनेकी मन-ही-मन भावना और अभ्यास करना। स्मरण रहे कि प्रत्यक्-चैतन्य, निर्विकल्प ब्रह्म, परमात्मा और सर्वव्यापी अन्तरात्मा आदि सारे शब्द ब्रह्मके अतीन्द्रिय रूपका ही लक्ष्य कराते हैं। इस पूर्ण समर्पणकी साधनामें तीव्र भक्ति और श्रेष्ठ ज्ञान दोनों मिले हुए रहते हैं। पूर्ण समर्पणकी भावना तीव्र भक्तियोगसे ही उत्पन्न होती है और सर्वव्यापी अन्तरात्माके अंदर आत्म-निक्षेप इस श्रेष्ठ ज्ञानसे होता है कि यह सर्वव्यापी अन्तरात्मा, जो अमृतत्वका कारण है, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पञ्चमहाभूतों अर्थात् इन्द्रियगोचर बाह्य प्रपञ्चके पीछे छिपा रहता है। 'यह आत्मा ही इन सबके भीतर चल रहा है। इस आत्माकी ही उपासना करो, जो अनन्त तथा जन्म, मृत्यु, भय एवं शोकसे रहित है।' (सुबालोपनिषद् ५।१)।

जीवात्माको परमात्माके शरणापन्न कर देनेकी मन-ही-मन भावना करनी चाहिये। परंतु यह अहंबुद्धि ही जीवात्माको परिच्छिन्न एवं परमात्मासे पृथक् बना रखती है। अतः जीवात्माको परमात्माके अर्पण कर देनेका अर्थ है अहंबुद्धिको सर्वव्यापी अन्तरात्मा अर्थात् निर्विकल्प परम अहम्के अर्पण कर देना। इसके लिये व्यष्टि बुद्धिको भावना एवं ध्यानरूप अभ्याससे समष्टिबुद्धि अर्थात् समष्टि अहङ्कारके रूपमें परिणत करना होगा, इससे सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होगी। यह समष्टिमें फैली हुई बुद्धि परिपक्व होनेपर शुद्ध अहंकारके निर्विकल्प परम अहम्के रूपमें बदल जाती है। इस अवस्थामें मनकी क्रिया सर्वथा निरुद्ध हो जाती है और क्षुद्र अहंबुद्धि निर्विकल्प ब्रह्ममें विलीन हो जाती है। इससे असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है, जिसमें जीवात्मा निर्विकल्प ब्रह्मके साथ एकात्मताको प्राप्त हो जाता है।

'हे पद्मसम्भव ! इस परम तत्त्वकी उपलब्धि भक्तिके द्वारा चित्तके अन्तर्लीन होनेसे होती है। भावनामात्र ही इस स्थितिका कारण है।' (योगशिखोपनिषद्—महेश्वरका ब्रह्माके प्रति उपदेश ३।२३)।

'चित्तवृत्तिका अहङ्कारशून्य होकर ब्रह्माकार बन जाना ही सम्प्रज्ञात समाधिका स्वरूप है। यह स्थिति ध्यानके परिपक्व अभ्याससे सिद्ध होती है।' (मुक्तिकोपनिषद्२।५१)।

'चित्तकी प्रशान्त वृत्ति, जो ब्रह्मानन्दको देनेवाली है, असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। यह अवस्था योगियोंको अतिशय प्रिय है।' (मुक्तिकोपनिषद् २।५२)।

जब चित्त अपनी चैत्य-दशा अर्थात् विषयचिन्तनसे मुक्त हो जाता है, तब इस प्रकारके क्षीणचित्त पुरुषोंकी स्थितिको बाह्यप्रतीतिशून्यता अथवा कलनाशून्यता कहते हैं। यह एक प्रकारकी जाग्रत्-अवस्थामें सुषुप्ति है।

'हे निदाघ ! यह जाग्रत्-अवस्थाकी सुषुप्ति अभ्यास-साध्य है। यही जब प्रौढ़ हो जाती है, तब इसे तत्त्ववेत्ता पुरुष तुरीयावस्था अथवा समाधि-अवस्था कहते हैं।' (अन्नपूर्णोपनिषद्—महर्षि ऋभुका अपने शिष्य निदाघके प्रति उपदेश २।१२, १३)।

'मैं केवल सत्तारूप हूँ, मैं क्षुद्र अहंबुद्धिसे शून्य परम अहम् हूँ। मेरा स्वरूप बाह्य प्रपञ्चसे विरहित है, मैं चिदाकाशमय हूँ।' (तेजोबिन्दूपनिषद् ३।३)।

यह आगे बताया जायगा कि अहंबुद्धिसे विशिष्ट परमात्मा ही जीवात्मा बना हुआ है, जिस प्रकार तरङ्ग वायुजन्य आन्दोलनसे विशिष्ट समुद्रके अतिरिक्त कुछ नहीं है। जीवात्माकी परमात्माके प्रति आत्मसमर्पण-बुद्धि उसके अहंकारका नाश कर देती है और उसे समाधि अथवा तुरीय अवस्थाको पहुँचा देती है जहाँ पहुँचकर वह अपने असली तेजोमय स्वरूपको प्राप्त हो जाता है ।

'केवल सद्भावकी भावना दृढ़ हो जानेसे वासना

(अहंबुद्धि) का लय हो जाता है। वासनाका निःशेषरूपसे क्षय ही मोक्ष है और उसीको जीवन्मुक्ति भी कहते हैं।' (अध्यात्मोपनिषद् १३)।

'इस गुणसमाहार (बाह्य प्रपञ्च) को आत्मासे भिन्न देखनेवाले तत्त्वदर्शी पुरुषकी आन्तरिक शान्तिसे उत्पन्न स्थितिका नाम समाधि है।' (अन्नपूर्णोपनिषद् १।२९)।

पातञ्जलयोगसूत्रकी समीक्षा करनेसे हम इसी सिद्धान्तपर पहुँचते हैं। वहाँ भी इस बातकी ओर संकेत किया गया है कि चित्तकी चञ्चलता अथवा क्षुद्र अहंबुद्धि ही जीवात्माको परमात्मासे अलग रखती है, परंतु ज्यों ही यह अहंकार अथवा भेदबुद्धि निवृत्त हो जाती है त्यों ही जीवात्मा अपने असली तेजोमय रूपको प्राप्त होकर परमात्माके साथ एक हो जाता है। जब चित्त अपनी चित्तताको भूलकर ध्येयाकार बन जाता है, उस अवस्थाको 'समाधि' कहते हैं। पातञ्जलयोगसूत्रमें भी अहंकारके नाशका सर्वोत्तम उपाय अपरिच्छिन्न निर्विकल्प ब्रह्मके प्रति आत्मसमर्पणबुद्धिपूर्वक कायिक, वाचिक, मानसिक सब प्रकारकी क्रियाके त्यागका अभ्यास कहा गया है। दृश्य प्रपञ्चकी आड़में छिपे हुए निर्विकल्प ब्रह्मका साक्षात्कार करनेमें जब इन्द्रियाँ अपनेको असमर्थ अनुभव करती हैं, तब इस प्रकारकी निष्क्रियता एवं समर्पणका अभ्यास होता है। इस अभ्याससे उस क्रियाके अनुकूल आसन अपने-आप लग जाता है और साधक धीरे-धीरे शीत-उष्ण, सुख-दुःख, सत्-असत् आदि द्वन्द्वोंके अभिघातसे मुक्त हो जाता है, साथ ही प्राणोंकी क्रिया भी अपने-आप बंद हो जाती है और प्राणायाम सध जाता है, जिससे आत्म-साक्षात्कारका अवरोधक अहङ्कारका पर्दा हट जाता है।

चित्तवृत्तिका निरोध ही योग है—'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।**' (पातञ्जलयोगसूत्र, समाधिपाद २)।

तब द्रष्टा अपने असली स्वरूपमें स्थित होता है—'**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।**' (पा० यो० समाधि० ३)।

चित्तको किसी देश-विदेशमें बाँध देना 'धारणा' है—'**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।**' (पा० यो० विभूति० १)।

इस प्रकारकी एकाग्रताके द्वारा वृत्तिके अखण्ड प्रवाहका नाम 'ध्यान' है—'**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।**' (पा० यो० विभूति० २)।

ध्यानके स्थिर हो जानेपर मन ध्येयाकार बन जाता है और अपने स्वरूपको भूल जाता है। इस अवस्थाको 'समाधि' कहते हैं—'**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।**' (पा० यो० विभूति० ३)। 'ईश्वरको सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण कर देनेसे समाधि-सिद्धि होती है। '**समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।**' (पा० यो० साधन० ४५)।

सब प्रकारके प्रयत्नोंको शिथिल कर देनेसे तथा अनन्त परमात्माको आत्मसमर्पण करनेसे ध्यानोपयोगी सरल आसन लग जाता है। '**प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।**' (पा० यो० साधन० ४७)।

इसके अनन्तर द्वन्द्वोंमें समभाव हो जाता है—'**ततो द्वन्द्वानभिघातः।**' (पा० यो० साधन० ४८)।

ऐसा होनेपर श्वास-प्रश्वासकी गति रुककर प्राणायाम लग जाता है—'**तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।**' (पा० यो० साधन० ४९)।

तब (आत्माके) प्रकाशका अवरोधक आवरण क्षीण हो जाता है—'**ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।**' (पा० यो० साधन० ५२)।

उस अनन्त (परमात्मा) में निरतिशय सर्वज्ञताका बीज रहता है—'**तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।**' (पा० यो० समाधि० २५)।

उसके (सर्वव्यापी अन्तरात्माको आत्मसमर्पण करनेके) बाद सारे विघ्न हट जाते हैं और प्रत्यक्चेतनकी उपलब्धि हो जाती है—'**ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।**' (पा० यो० समाधि० २९)।

तुम परमेश्वर और भोग दोनोंकी सेवा नहीं कर सकते। विषय न बटोरो। कलके लिये चिन्ता न करो। कल अपनी चिन्ता आप करेगा।—ईसामसीह

सदा स्मरण करने योग्य तो एक ही वस्तु है। सदा सर्वदा सर्वत्र श्रीकृष्णके सुन्दर नामोंके स्मरणमात्रसे ही प्राणिमात्रका कल्याण हो सकता है।—श्रीचैतन्य महाप्रभु

नादानुसंधान और लययोग

(महामण्डलेश्वर योगिराज १००८ श्रीबर्फानीबाबाजी महाराज)

नादानुसंधान लययोगका एक विशेष प्रकार ही है। हठयोगप्रदीपिका (४। ६६) में कहा गया है—

श्रीआदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयन्ति। नादानुसंधानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम्॥

'आदिनाथ भगवान् शिवने लययोगसाधनके सवा करोड़ प्रकारोंका वर्णन किया है। उन सभी लययोगके प्रकारोंमें मैं केवल नादानुसंधानको ही मुख्य मानता हूँ।'

जिसे राजयोगकी साधना करनी हो, योगिराज बनना हो, उसे सावधान चित्तसे मनको स्थिर करके, बाहरी और भीतरी विषयोंका चिन्तन त्यागकर नादका ही अनुसंधान करना चाहिये—

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता॥

(हठयोगप्र० ४। ९३)

नादयोगकी साधना करनेके पूर्व यह जान लेना भी आवश्यक है कि यह नाद क्या है। जिस प्रकार अर्थ-जगत्की चार अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया, उसी प्रकार शब्द-जगत्की चार अवस्थाएँ होती हैं, जिन्हें परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी कहा जाता है। ऋग्वेदमें वाणीके इन चारों भेदोंका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

(ऋग्वेद १। १६४। ४५)

सायणभाष्यमें बताया गया है—

'परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीति चत्वारीति एकैव नादात्मिका वाक् मूलाधारादुदिता सती परेत्युच्यते। नादस्य च सूक्ष्मत्वेन दुर्निरूपत्वात् सैव हृदयगामिनी पश्यन्तीत्युच्यते योगिभिर्द्रष्टुं शक्यत्वात्। सैव बुद्धिं गता विवक्षां प्राप्ता मध्यमेत्युच्यते, मध्ये हृदयाख्ये उदीयमानत्वात् मध्यमा। अथ यदा सैव वक्त्रे स्थिता तालोष्ठादिव्यापारेण बहिर्निर्गच्छति तदा वैखरीत्युच्यते एवं चत्वारि वाचः पदानि परिमितानि मनीषिणो मनसः स्वामिनः स्वाधीनमनस्का ब्राह्मणाः वाच्यस्य शब्दब्रह्मणोऽधिगन्तारो योगिनः परादि चत्वारि पदानि विदुर्जानन्ति। तेषु मध्ये त्रीणि परादीनि गुहागुहायां निहिता निहितानि हृदये हृदयान्तर्वर्तित्वात्। तुरीयं तु पदं वैखरीसंज्ञकं मनुष्याः सर्वे वदन्ति।'

'वाणीके चार पद हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। एक ही नादात्मक वाणी मूलाधारसे उदित होनेपर परा कही जाती है। नादकी सूक्ष्मताके कारण उसका निरूपण कठिन होनेसे वही नाद जब हृदयमें उत्थित होता है तो उसे योगी देख सकते हैं, इसलिये उसे पश्यन्ती कहते हैं। उसीके बुद्धिगम्य होनेपर बोलनेकी इच्छासे मध्यमा कहते हैं। हृदयके मध्यमें उदय होनेके कारण इसका मध्यमा नाम है। वही वाणी मुखमें स्थित होकर जब तालु-ओष्ठ आदिके द्वारा उच्चरित होती है, तब उसे वैखरी कहते हैं। इस प्रकार वाणीके चार पद हैं। नादब्रह्मके साधक मनीषी योगी वाणीके इन चारों पदोंको जानते हैं। पर सभी जनसाधारण इनमेंसे केवल वैखरी वाणी ही बोलते हैं।'

वरिवस्यारहस्यमें श्रीभास्करायने इसीको अधिक विस्तारसे स्पष्ट किया है। यहाँ इतना ही जान लेना आवश्यक है कि परमशिवमें जब किंचित् स्फुरणा होती है, जिसे स्पन्द, स्फोट, रव अथवा नाद कहा जाता है तो मूलाधारसे परा वाक्-शक्ति ही विमर्श-रूपमें प्रकट होती है। विमर्शशक्तिका इच्छा-रूप ही पश्यन्ती कहा जाता है। वही ज्ञानशक्तिके रूपमें मध्यमा और क्रियाशक्तिके रूपमें वैखरी कही जाती है। योगिनीहृदयमें बताया गया है—

आत्मनः स्फुरणं पश्येद् यदा सा परमा कला।
अम्बिका रूपमापन्ना परा वाक् समुदीरिता॥
इच्छाशक्तिस्तदा सेयं पश्यन्ती वपुषा स्थिता।
ज्ञानशक्तिस्तथा ज्येष्ठा मध्यमावागुदीरिता॥
क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं वैखरी विश्वविग्रहा।

इसका अर्थ ऊपर आ गया है। प्रयोगसारके अनुसार—

सोऽन्तरात्मा तदा देवी नादात्मा नदते स्वयम्।
यथासंस्थानभेदेन स भूयो वर्णतां गतः॥
वायुना प्रेर्यमाणोऽसौ पिण्डाद् व्यक्तिं प्रयास्यति।

अन्तरात्मा-रूप वह देवी शक्तिरूपा नादात्माके रूपमें

स्वयं शब्दमयी बन जाती है। वही नाद संस्थान-भेदसे वर्णरूपमें परिवर्तित होकर वायुसे प्रेरित होकर पिण्डमें उच्चरित होता है। प्रपञ्चसारतन्त्र (२।४३) में कहा गया है—

मूलाधारात् प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः
पश्चात् पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ्मध्यमाख्यः।
वक्त्रे वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्ना-
बद्धस्तस्माद्भवति पवनप्रेरितो वर्णसंघः॥

इसकी टीकामें श्रीपद्मपादाचार्यने बताया है कि चैतन्याभिविशिष्ट प्रकाशिका माया ही निष्पन्दा परावाक् है। कामकलाविलासकी चिद्वल्ली व्याख्यामें सुभगोदयवासनाका संदर्भ देते हुए बताया गया है—

परा भूर्जन्म पश्यन्ती वल्लीगुच्छसमुद्भवा।
मध्यमा सौरभा वैखर्यक्षमाला जयत्यसौ॥

परा वाक् बीज-रूपा है, उससे वल्ली-वेल ही पश्यन्ती है और गुच्छोंके सौरभसे युक्त मध्यमा है। वैखरी ही अक्षमाला है। अक्षमालासे यहाँ अकारसे लेकर क्षकारपर्यन्त पचास मातृका वर्णोंको जानना चाहिये।

नादसाधनाके द्वारा साधक अपनी वृत्तिको अन्तर्मुखी करनेका अभ्यास करता हुआ इसी परा वाग्रूपा चिच्छक्तिका अनुभव करता है। नादपर जिसने अधिकार कर लिया उसे इस संसारमें कुछ भी कार्य शेष नहीं रह जाता; क्योंकि यह माना जाता है कि यह सम्पूर्ण जगत् नादाधीन है—

नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात् पदाद्वचः।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत्॥

हम यदि किसी नदीके उद्गमपर जाना चाहें तो पहिले उसके प्रवाहके मार्गका जान लेना आवश्यक होता है, इसलिये नादके भी इस मार्गको जानकर हम उसके उद्गमतक पहुँच सकते हैं। वर्णकी अभिव्यक्तिका क्रम इस प्रकार बताया गया है—

आत्मा विवक्षमाणोऽयं मनः प्रेरयते मनः।
देहस्थं वह्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
ब्रह्मग्रन्थिस्थितः सोऽथ क्रमादूर्ध्वपथे चरन्।
नाभिहृत्कण्ठमूर्धास्येष्वाविर्भावयति ध्वनिम्॥
नादोऽतिसूक्ष्मो सूक्ष्मश्च पुष्टोऽपुष्टश्च कृत्रिमः।
इति पञ्चाभिधां धत्ते पञ्चस्थानस्थितः क्रमात्॥

बोलनेकी इच्छासे आत्मा मनको प्रेरित करता है। मन देहस्थ अग्निको उत्तेजित करता है, वह अग्नि देहस्थ पवनको प्रेरित करता है, जिससे मणिपूरमें स्थित अग्निसे पश्यन्ती और वहाँसे हृद्गत मध्यमा, वहाँसे कण्ठ, मूर्धा और मुखसे होकर वैखरी वाणीकी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार इस नादके स्थान-भेदसे पाँच प्रकार हो जाते हैं जिन्हें अतिसूक्ष्म, सूक्ष्म, पुष्ट, अपुष्ट और कृत्रिम कहा जाता है। नाद नाम पड़नेका कारण यह है कि यह अग्नि और पवनके संयोगसे उत्थित होता है—

नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः।
जातः प्राणाग्निसंयोगात् तेन नादोऽभिधीयते॥

नकार प्राण वायुको और दकार अग्निको कहते हैं इसीलिये इसका नाम नाद कहा जाता है। नादसाधनकी क्रिया शारदातिलक (२५।४५—४७) के अनुसार इस प्रकार है—

अङ्गुलीभिर्दृढं बद्ध्वा करणानि समाहितः।
अङ्गुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां विलोचने॥
नासारन्ध्रे मध्यमाभ्यामन्याभिर्वदनं दृढम्।
बद्ध्वात्मप्राणमनसामेकत्वं समनुस्मरन्॥
धारयेन्मरुतं सम्यग्योगोऽयं योगिवल्लभः।
नादः संजायते तस्य क्रमादभ्यसतः शनैः॥

'समाहित-चित्त होकर अङ्गुलियोंसे इन्द्रियोंको दृढ़तासे बाँधे। दोनों हाथोंके दोनों अँगूठोंसे कानके छेद बंद करे। दोनों तर्जनी अङ्गुलियोंसे दोनों नेत्र बंद करे। मध्यमा अङ्गुलियोंसे दोनों नाकके छेद बंद करे। दोनों अनामिका ऊपरके ओष्ठपर और दोनों कनिष्ठिका अधरोष्ठपर रखकर मुख अच्छी तरह बंद कर ले। फिर ऐसा ध्यान करे कि मेरा आत्मा प्राण और मन एकाकार हो गये हैं। इस प्रकार पवनके स्थिर होनेसे मनकी स्थिरता होनेपर धीरे-धीरे क्रमशः इस अभ्यासको धैर्यके साथ करते रहनेपर नाद सुनायी देने लगता है।' हठयोगप्रदीपिका (४।६८) के अनुसार यह नाद सुषुम्नापथमें सुनायी देता है—

श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम्।
शुद्धसुषुम्णासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः॥

वगलामुखी-रहस्यमें भी बताया गया है कि योनिमुद्राका निरन्तर अभ्यास करनेवाले योगीका सुषुम्नामें प्राण-संचार होने

लगता है, उसीसे आनन्दजनक नाद सहसा उत्पन्न हो जाता है। मूलाधारसे लेकर सहस्रारपर्यन्त सुषुम्नापथमें शुद्ध स्फटिकके समान नादस्वरूप चैतन्यका ध्यान करना चाहिये। हंस मन्त्रका अभ्यास करना चाहिये।

मन्त्रके दो प्रकार बताये गये हैं—वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। स्फुट उच्चारण किये जानेवाले सभी मन्त्र वर्णात्मक हैं। नाद ही ध्वन्यात्मक मन्त्र कहा जाता है, जिसके लिये कहा गया है—'**नास्ति नादात्परो मन्त्रः।**' नादसे बढ़कर कोई मन्त्र नहीं है। नाद-साधनाकी दूसरी सरल विधि इस प्रकार बतायी गयी है कि कान बंद करनेके लिये दो गुटका बनाये। एक रत्ती कस्तूरी, दो रत्ती जायफल, तीन रत्ती जावित्री और छः रत्ती लौंग लेकर इन सबको चूर्ण करके जामुनके छोटे फलके बराबर दो गोलियाँ बना ले। उन्हें रेशमी वस्त्रमें लपेटकर कानोंमें लगाकर सूर्योदयसे पूर्व उठकर प्रातःकृत्यसे निवृत्त हो स्वस्थ मनसे अभ्यास करे। अभ्यास-कालमें प्रारम्भमें कठिनाईका अनुभव होता है। प्रारम्भमें शरीरमें किसी-किसी साधकको चींटी-सी रेंगती प्रतीत होती है तो किसीको मिर्चके समान जलनका अनुभव होता है। दूसरी अवस्थामें शरीर टूटने-सा लगता है, अङ्गोंमें ऐंठन होने लगती है। तीसरी अवस्थामें अत्यन्त थकानका अनुभव होता है। चतुर्थ अवस्थामें सिर काँपने लगता है। पाँचवीं स्थितिमें तालुसे लार-सी टपकने लगती है। छठी अवस्थामें मूर्धासे लम्बिका-मार्गसे अमृतस्राव होता है जिसे पानकर योगी अत्यन्त तृप्तिका अनुभव करता है। सप्तम अवस्थामें गूढ़ रहस्य प्रकट होने लगते हैं। अष्टम स्थितिमें परावाक्का साक्षात्कार होता है। नवम अवस्थामें दिव्य देह, नेत्रोंकी निर्मलता और दिव्य दर्शन होते हैं। दशमावस्थामें योगी परब्रह्मका साक्षात्कार कर परब्रह्मका अनुभव करने लगता है।

नाद-श्रवणके क्रममें भी दस प्रकारके नाद क्रमानुसार सुनायी पड़ते हैं—

प्रथम ध्वनि भौंरेके गुंजार और कलकण्ठी नारियोंके गीतके समान सुनायी पड़ती है, दूसरी ध्वनि बाँसुरीके स्वर और कांस्यपात्रकी ध्वनिके समान सुनायी देती है। फिर क्रमसे घण्टानाद, मेघगर्जन, समुद्रगर्जनकी ध्वनि आदि सुनायी पड़ती है।

दस ध्वनियोंका दूसरा प्रकार इस प्रकार सुननेमें आता है—प्रथम चिण् शब्द, द्वितीय चिण्चिण शब्द, तृतीय चिरचिर शब्द, चतुर्थ घरघराहटका शब्द, पाँचवाँ इससे कुछ ऊँचा घर्घर शब्द, छठा मृदङ्गकी ध्वनि, सप्तम सूक्ष्मनाद, अष्टम वंशीके स्वर, नवम मधुर ध्वनि और दशम नगाड़ेका-सा शब्द सुनायी देता है।

प्रयोगसारमें नादसिद्धिके पूर्वकी दस अवस्था इस प्रकार बतायी गयी है—१-कम्प, २-रोमोद्गम, ३-आनन्द, ४-विमलता, ५-स्थिरता, ६-स्फूर्ति—अङ्गोंमें लाघव, ७-प्रकाश, ८-वैदुष्य, विद्वत्ता—सर्वज्ञता, ९-अद्वैत-भाव—द्वैत-भावनाका मिटना और १०-आत्मसाक्षात्कार।

इस प्रकार नाद-साधनाके सिद्ध हो जानेपर योगीको जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं वे इस प्रकार हैं—१-भूत, भविष्य, वर्तमानका ज्ञान, त्रिकालदर्शी होना, २-ऋतम्भरा प्रज्ञा, ३-मनकी बात जान लेना, ४-इच्छानुसार प्राणको रोक लेना, ५-शरीरकी सम्पूर्ण नाडियोंपर अधिकार, ६-वाणीकी सिद्धि, शापानुग्रहमें समर्थ होना, जो कह दे वही हो जाना, ७-चिरायु होना, ८-इन्द्रजाल और प्रकृतिके अन्तरालके अज्ञात रहस्योंका ज्ञान, ९-कायाकल्प, परकायप्रवेशकी सामर्थ्य, १०-आत्माका प्रकाश—ये दस लक्षण प्रकट होनेपर यह समझना चाहिये कि नादसिद्धि प्राप्त हो गयी है।

योगसाधनाके दो प्रयोजन होते हैं— सिद्धियाँ प्राप्त करना और मोक्ष प्राप्त करना। नाद-साधनासे सिद्धियाँ तो प्राप्त होती ही हैं, योगी इसी जन्ममें जीवन्मुक्तकी अवस्था भी प्राप्त कर लेता है।

नादसाधनाका अभ्यास अत्यन्त जटिल प्रक्रिया है, इसलिये इसे किसी अच्छे गुरुकी देख-रेखमें ही करना चाहिये। कभी-कभी अधिक उष्मा बढ़ जानेसे अथवा शक्तिसे अधिक प्राण-निरोधकी क्रिया करनेसे मस्तिष्कमें विकृति भी आ सकती है। नाद सुननेका अभ्यास प्रथम दाहिने कानसे ही किया जाता है। हठयोग प्रदीपिकामें नादश्रवणकी चार अवस्थाएँ तथा कुछ अन्य स्थितियोंका भी वर्णन किया गया है, विस्तारभयसे यहाँ उन सबका उल्लेख करना सम्भव नहीं, जिज्ञासु किसी अच्छे मार्गदर्शकसे उनका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। [प्रेषक—श्रीगंगारामजी शास्त्री]

तारकयोगका रहस्य

(आचार्य श्रीधनीदासजी महाराज)

'योग' विषय गूढ़ तथा व्यापक होनेसे योग-शब्दाभिप्रेत सभी तत्त्वोंका परिचय संक्षेपमें नहीं दिया जा सकता। आजकल 'योग' शब्द इतना व्यापक हो गया है कि उसके वाच्यार्थकी नियत प्रतीतिका पतातक नहीं। फिर भी साधारणतया 'योग'का अर्थ किसी अभीष्ट वस्तुके लिये 'अन्तःकरण-पूर्वक तत्पर होना' मान लें तो अनुचित न होगा। कारण, योगान्तर्गत जितनी भी क्रियाएँ हैं, वे सब किसी अभीष्ट-प्राप्ति या मिलापके लिये ही की जाती हैं, वे चाहे किसी रूपमें क्यों न हों। लोकमें भी किसी अभीष्ट वस्तुके मिलापको 'योग' और अलग होनेको 'वियोग' कहते हैं। किसी वस्तुके साथ अन्य पदार्थके सहकारको भी योग कहा जाता है। यद्यपि महर्षि पतञ्जलि 'योग'का अर्थ **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** कहकर चित्तवृत्तिका निरोध बताते हैं तथापि चित्तके निरोधमात्रसे योगका अर्थ पर्यवसित नहीं होता। व्यासभाष्यमें 'योग'का अर्थ समाधि किया गया है। पर समाधि भी किसी परीप्सित अर्थके लिये ही होती है। इस प्रकार प्रसङ्गानुसार 'योग'के अनेक अर्थ हो सकते हैं। फिर भी 'योग' शब्दसे उसी क्रिया-कलापको ग्रहण करना होगा, जो किसी अलौकिक अथवा लोकोत्तर अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिये किया जाता हो। ऐसी वस्तु ब्रह्मसाक्षात्कार किंवा परमात्मप्राप्तिके अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकती। अतः मानना होगा कि ब्रह्मप्राप्तिके मार्गका नाम 'योग' है, वह चाहे किसी प्रकारका क्यों न हो। ब्रह्मप्राप्ति मन्त्र-तन्त्र, जप-योग, समाधि-साधना आदि अनेक प्रकारसे मानी गयी है। अतएव अनेक प्रकारके योगोंका उल्लेख पाया जाता है। जिसे जिस योगद्वारा अभीष्ट वस्तु प्राप्त हुई, उसने उसीको सर्वोत्तम समझकर उपदेश किया। इस प्रकार योगको अनन्त नाम-रूप प्राप्त हो गये। इन सबमें कौन-सा योग श्रेष्ठ है, यह कहना कठिन है। परंतु अनुभव और उदाहरणोंद्वारा प्रत्येक प्राणी अपने विचारोंको सर्व-साधारणके समक्ष रखनेका अधिकारी है। निजानन्दसम्प्रदाय (प्रणामी-धर्म) के आदिसंस्थापक सद्गुरु श्रीदेवचन्द्रजी तथा प्राणनाथ प्रभुने अपने सिद्धान्तोंमें जिस योगको माना है उसका संक्षिप्त रूप यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है--

आपने एक अपूर्व और अद्वितीय ज्ञानका अन्वेषण किया है, जिसे तारकयोग किंवा तारकप्रेमयोग कहते हैं। तारकयोगमें अन्य योगोंकी भाँति विशेष क्रिया-कलापोंकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, अधिकारी पात्र योग्य होना चाहिये। बस, जिस प्रकार एक दीपसे अन्य दीपोंका संयोग होते ही सभी दीप तत्काल एक कालावच्छेदेन तत्समान प्रकाशयुक्त होते चले जाते हैं और प्रथम दीपको किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता, उसी प्रकार तारकयोगद्वारा प्रत्येक योग्य अधिकारीको, बिना क्रम, समान शक्ति प्राप्त होते देर नहीं लगती और ब्रह्मसाक्षात्कारके योग्य प्राणी बन जाता है। जैसे दीप अन्य दीपको समान प्रकाश प्रदानकर घट-पट आदिका बोधक बना देता है, वैसे ही तारकयोगद्वारा तत्काल समान शक्तिसम्पन्न योगी माया-ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपका ज्ञाता हो ब्रह्मानन्दका अनुभव करने लग जाता है। अतः दीपवत् गुण होनेसे इसे 'दीपकज्ञान' नामसे भी पुकारते हैं। इस विषयमें तत्काल समान शक्तिप्राप्त शिष्योंद्वारा कही हुई साखी भी पायी जाती है। यथा—

गुरु कंचन, गुरु पारस, गुरु चंदन परमान।
तुम सदगुरु दीपक भये, गुरु कियो जुं आपु समान॥
दीपक ज्ञान हाथ कर दीन्हो। छीर नीरको निरनय कीन्हो॥

तारकयोग कहिये या दीपकज्ञान, तात्पर्य दोनोंका एक है। इस नश्वर जगत्से बिना श्रम तारनेवाला होनेके कारण 'तारतम' ज्ञान भी इसीका नाम है। तारकयोग-शक्तिसम्पन्न योगीको गर्भ-जन्म, जरा-मरण आदि सांसारिक भय नहीं रहते—

गर्भजन्मजरामरणसंसारमहद्भयात् संतारयति तस्मात् तारकम्।

(अद्वयतारकोपनिषद्)

संसारजन्य कर्म, क्लेश, विपाक, जन्म-मरण आदि यावद् दुःखपरम्परासे तारनेके कारण ही 'तारक' नाम अन्वर्थक है। इस तारतम्यके रहस्यमय योगको प्राप्तकर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है, उसे कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहता, वह जीवन्मुक्तदशामें विचरने लगा तो फिर बाकी क्या रहा। **'मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति'**—उसकी कौन कहे, वह तो

विश्वको पावन करने लगा, अब उसके दर्शन और परमात्माके दर्शनमें अन्तर नहीं रहा—'**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**' वह ब्रह्मतुल्य हो गया।

'तस्मादन्तर्दृष्ट्या तारक एवानुसंधेयः।'

(अद्वयतारकोपनिषद्)

इसलिये विज्ञजनोंको आत्मदृष्टिद्वारा तारकयोगका अनुसंधान करना चाहिये, इस प्रकारकी आज्ञा श्रुति प्रदान करती है। इस बातका अनुमोदन स्मृति भी मुक्तकण्ठसे करती है। यथा—

'गुरुर्विश्वेश्वरः साक्षात् तारकं ब्रह्म निश्चितम्।'

इस तारकज्ञानके प्रदान करनेवाले गुरुको साक्षात् ईश्वरस्वरूप समझना चाहिये और तारकज्ञानयोग निश्चय ब्रह्मस्वरूप है। जो तारकयोग प्रदान कर अन्यको भी अपने समान शक्तिसम्पन्न बना देता है, वह ईश्वरस्वरूप तो है ही, इसमें संदेह क्या ? महर्षि पतञ्जलि भी अपने योगदर्शनके एक सूत्रमें 'तारकयोग' की अपूर्वता और विशेषता स्वीकार करते हैं। यथा—

तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।

(योग० ३। ५४)

'विवेकद्वारा प्राप्त किया गया 'तारकयोगज्ञान' बिना क्रम सब विषयोंको प्रकाशित करता है' अर्थात् जैसे अन्य विद्या या योग क्रमशः धीरे-धीरे प्राप्त होते हैं, ऐसा तारकयोगमें नहीं। यह तो एक कालावच्छेदेन अतीत-अनागत समस्त प्रपञ्चका प्रकाशक होते हुए ब्रह्मसाक्षात्कार करानेवाला है। इसलिये इसे 'तारक'नामसे पुकारते हैं।

यह योग क्या है और इसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है, यह द्रष्टव्य है। तारकयोग एक मन्त्रविशेषद्वारा प्राप्त ज्ञानको कहते हैं, जिसमें ब्रह्मसाक्षात्कारका भेद बताया गया है। इसे परा ब्रह्मविद्या भी कहते हैं। इसका मुख्य साधन प्रेम है। जहाँतक सच्चा प्रेम उत्पन्न नहीं होता,वहाँतक तारकयोग सिद्ध नहीं होता। इसका बल प्रेम बिना प्रकट नहीं होता। अन्य क्रियाओंद्वारा सहायता मिलती है, परंतु इसका प्राण तो प्रेम ही है। प्रेमपुट लगते ही तारकज्ञान अपूर्व योगको प्राप्त हो जाता है। प्रेममें दबाव न सही किंतु आकर्षण है। भयङ्करता नहीं किंतु तल्लीनता है, अभिमान नहीं किंतु अपनापन है, नैराश्य नहीं अपितु विश्वास है। अतएव 'तारकयोग' प्राप्त करनेके लिये प्रधान साधनभूत सच्चा प्रेम ही माना गया है। प्रेमद्वारा इसे प्राप्त करते विलम्ब नहीं। इस योगमें एक अपूर्व विशेषता यह है कि इसका सम्यक् ज्ञान होते ही मनुष्य पद्मपलाशवत् निर्लिप्त होकर निर्भय विचरने लग जाता है और सच्चिदानन्दके ज्ञानका अनुभवी होकर किसी प्रकारके विक्षेपको प्राप्त नहीं होता—

इतहीं बैठे घर जागे धाम। पूरन मनोरथ हुए सब काम॥

इस विनश्वर विश्वमें बैठा हुआ भी वह अपनेको ब्रह्मधाममें मानता है और पूर्णकाम होकर जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

विश्व-कल्याण-योग

(श्रीअनन्तशङ्करजी कोल्हटकर बी० ए०)

'**योगीश्वरं याज्ञवल्क्यम्**' कहकर जिनका अनुस्मरण ब्रह्मयज्ञके समय हम करते हैं, उन मुनि याज्ञवल्क्यका आदेश है—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।

मानवमात्रका परम धर्म यही है कि योगसाधनासे आत्म-दर्शन करे। श्रुति माता भी कहती हैं—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।' परंतु, परम कठिन योग-साधनका अनुष्ठान करना तथा सिद्धियोंके मोहसे अपने-आपको बचाकर, अन्तिम सफलता प्राप्त करना बड़ा ही दुस्तर है।

हमारा एकमात्र सहारा इसमें—भगवत्-शरणागति है। परमात्मा कहीं दूर तो नहीं हैं ! हमारे हृन्मन्दिरमें ही विराजते हैं। सरलचित्तसे उन्हें पुकारो। उन्हींके बताये पथसे चलो।

मन और इन्द्रियोंका संयम करो। आत्म-तत्त्व एक ही है—ऐसी समबुद्धि धारण करो। भूतमात्रके हित-साधनमें प्रयत्नशील रहो और निश्चय रखो, तुम मुझे ही प्राप्त होगे, यही विश्व-कल्याण-योग है।

क्रियायोगका स्वरूप

योगदर्शनमें समाधिसिद्धिका एक मुख्य साधन 'ईश्वरप्रणिधान' माना गया है[१] और ईश्वरप्रणिधान क्रियायोगका एक प्रधान अङ्ग है। यह समाधि ही असम्प्रज्ञात योग या सम्पूर्ण योगके नामसे योगशास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। भगवान् पतञ्जलिने तप (भगवान्‌की सेवाके लिये कष्ट सहना), स्वाध्याय (इष्ट देवताके नाम, मन्त्र, स्तोत्र और चरित्रोंका श्रवण, मनन, ध्यान आदि) तथा ईश्वरप्रणिधान (आराधन करते हुए अपने सारे कर्मों, कर्मफलों तथा अपने-आपको भी भगवान्‌के समर्पण कर देना) को क्रियायोग माना है[२]।

क्रियायोगपर पद्मपुराणका 'क्रियायोगसार' नामक एक स्वतन्त्र खण्ड है। इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्ध तथा अध्यात्मरामायण एवं अन्य पुराणोंमें भी बार-बार क्रियायोगका वर्णन हुआ है। इन सभी प्रकरणोंमें क्रिया-योगको प्रायः भक्तियोग या ईश्वरनिमित्तक कर्मयोग ही कहा गया है। क्रियायोगमें भगवान्‌के आराधना-विषयक पञ्चोपचारोंसे लेकर १०८ राजोपचारोंतक भगवदर्चाका साङ्गोपाङ्ग वर्णन हुआ है। इसलिये पद्मपुराणमें क्रियायोगके सारभूत निर्णयके विषयमें कहा गया है कि साङ्गोपाङ्ग क्रियायोगकी साधनामें गङ्गादि पुण्यतोया नदियोंका दर्शन, नामस्मरण, मार्जन, अवगाहन, भगवान् विष्णुकी पूजा, दानकर्म, ब्राह्मण एवं भक्तोंकी पूजा, एकादशी आदि व्रतोंका अनुष्ठान, धात्री-पिप्पल आदि देववृक्षों एवं तुलसीका पूजन, अतिथि आदिमें विष्णु-भक्तकी भावना रखकर उनका सत्कार तथा अर्चन आदि श्रद्धा-भक्तिसे किया जाता है। ये सब क्रियायोगके अङ्ग-उपाङ्ग हैं—

गङ्गाश्रीविष्णुपूजा च दानानि द्विजसत्तम।
ब्राह्मणानां तथा भक्तिर्भक्तिरेकादशीव्रते॥
धात्रीतुलस्योर्भक्तिश्च तथा चातिथिपूजनम्।
क्रियायोगाङ्गभूतानि प्रोक्तानीति समासतः॥

(पद्म० क्रिया० ३।४-५)

वैसे क्रियायोगका मुख्य अङ्ग है 'भगवान्‌की नाना उपचारोंसे अष्टयामोंमें बार-बार आराधना करना।' यह योग वैष्णव-समाजमें विशेषरूपसे समादृत है। शास्त्रोंमें क्रियायोगका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्णन किया गया है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि क्रियायोग (पूजा-पद्धति) के द्वारा भगवान्‌की आराधना परम कल्याणकारक है। इस क्रियायोगके आदि उपदेष्टा भगवान् नारायण हैं, फिर ब्रह्मा, भृगु आदिसे यह परम्परा लोकमें प्रसृत होती गयी। भगवान् शङ्करने माता पार्वतीको भी क्रियायोगका उपदेश दिया था। यह क्रियायोग सभी वर्णाश्रमोंके लिये प्रशस्त है। स्त्री-शूद्रादिके लिये भी यह श्रेष्ठ साधना-पद्धति है। भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवको इस योगका उपदेश करते हुए कहा था—

'प्रिय उद्धव! इस क्रियायोग (कर्मकाण्ड) का बहुत विस्तार है, तथापि मेरी पूजाकी तीन विधियाँ हैं—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्रित। साधकको इन तीनोंमेंसे जो अनुकूल एवं सुविधाजनक हो, उसका आश्रय लेकर अपने कल्याणका प्रयत्न करना चाहिये। साधकको चाहिये कि अधिकारानुसार शास्त्रोक्त विधिसे यज्ञोपवीत-संस्कारद्वारा संस्कृत होकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पूजन-सामग्रियोंसे मूर्तिमें, वेदीमें, अग्निमें, सूर्यमें, जलमें, हृदयमें अथवा ब्राह्मणमें मेरी ही भावना कर पूजा करे। प्रातः शौच-स्नान-संध्यावन्दनादिसे निवृत्त होनेपर पूजन करना चाहिये। मेरी मूर्ति आठ प्रकारकी है—पत्थरकी, लकड़ीकी, धातुकी, मिट्टी और चन्दनादिकी, चित्रमयी, बालुकामयी, मनोमयी और मणिमयी। प्रतिमा भी चल-अचल-भेदसे दो प्रकारकी होती है। अचल प्रतिमामें आवाहन-विसर्जन नहीं होता। सकाम भाव तथा निष्काम-भाव—इन दोनों भावोंसे भक्त मेरी उपासना करते हैं। हृदयमयी मूर्तिमें केवल भावनाद्वारा ही पूजन किया जाता है।' भगवान्‌का कथन है कि यदि कोई बिना भक्तिभावके श्रद्धा-विहीन होकर मुझे सब कुछ अर्पण कर देता है तो भी मैं उससे संतुष्ट नहीं होता, परंतु कोई श्रद्धापूर्वक केवल जल भी अर्पण करता है तो मैं पूर्ण प्रसन्न हो जाता हूँ। फिर यदि कोई

१-समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् (यो० सू० २।४५)।

२-तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। (यो० सू० २।१)।

श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गन्ध-पुष्प-धूप-दीपादि उपचारोंके समर्पण-पूर्वक मेरी आराधना करता है तो कहना ही क्या ?—

भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते।
गन्धो धूपः सुमनसो दीपोऽन्नाद्यं च किं पुनः॥

(श्रीमद्भा० ११।२७।१८)

उपासक भगवान्‌की आराधनाके लिये पूजासम्भार लेकर कुशासनपर पूर्व या उत्तराभिमुख होकर बैठ जाय। विधिपूर्वक अङ्ग-न्यास एवं करन्यास कर जलपूर्ण कलशकी गन्ध-पुष्पादि-से पूजा करे। अपने ऊपर अभिमन्त्रित जल छिड़के। तदनन्तर पाद्य, अर्घ्य एवं आचमनीयके लिये तीन पात्रोंमें जल भरकर रख ले, उनमें पूजा-पद्धतिके अनुसार पृथक्-पृथक् गन्ध-पुष्पादि सामग्री छोड़े। तीनों पात्रोंके जलको क्रमशः हृदयमन्त्र-शिरोमन्त्र और शिखामन्त्रसे तथा अन्तमें गायत्रीसे तीनोंको, अभिमन्त्रित करे। इसके बाद प्राणायाम तथा हृदयकमलमें भगवान्‌का ध्यान करे। तदनन्तर मानसी पूजा करे। पुनः तन्मय होकर मेरा आवाहन कर प्रतिमामें स्थापना करे। फिर अङ्ग-न्यास कर पूजा करे। पाद्य, अर्घ्यादि उपचार समर्पित करे। सुदर्शनचक्र, पाञ्चजन्य शङ्ख, कौमोदकी गदा, खड्ग, बाण, धनुष, हल, मूसल—इन आठ आयुधोंकी पूजा आठ दिशाओंमें करे। कौस्तुभमणि, वैजयन्तीमाला तथा श्रीवत्सचिह्नकी पूजा वक्षःस्थलपर यथास्थान करे। नन्द, सुनन्द, प्रचण्ड, चण्ड, महाबल, बल, कुमुद और कुमुदेक्षण—इन आठ पार्षदोंकी आठ दिशाओंमें गरुडके सामने; दुर्गा, विनायक, व्यास और विष्वक्सेनकी चारों कोनोंमें स्थापना कर पूजा करे। बायीं ओर गुरुकी और यथाक्रम पूर्वादि दिशाओंमें इन्द्रादि लोकपालोंकी पूजा करे।

भगवान्‌की विशेष पूजामें यदि सम्भव हो तो चन्दनादिसे सुवासित जलसे '**स्वर्णोधर्मः**०'[३] '**जितं ते पुण्डरीकाक्ष**०'[४] तथा पुरुषसूक्त[५] आदि वैदिक सूक्तोंसे स्नानाभिषेक करे। यज्ञोपवीत, चन्दन, आभूषण, माला, वस्त्रादि अलङ्करणोंसे भगवान्‌को अलङ्कृत करे। विविध व्यञ्जनोंका नैवेद्य लगाये। पञ्चामृत आदि अर्पित करे।

इष्टदेवताके मन्त्रादिसे हवन और भगवत्स्वरूप मूल मन्त्र '**ॐ नमो नारायणाय**' का जप भी करना चाहिये। अन्तमें नीराजन पुष्पाञ्जलि समर्पित करे तथा भगवान्‌के स्तोत्रों, चरित्रों एवं लीला-कथाओंका गान करे। भगवान्‌की कथाओंका स्वयं श्रवण करे, दूसरोंको श्रवण कराये तथा सांसारिक प्रपञ्चको भूलता हुआ भगवान्‌में तन्मय रहे। अन्तमें दण्डवत् प्रणामकर भगवान्‌के चरणकमलोंमें अपना सिर रखकर दोनों हाथोंसे चरण पकड़कर इस प्रकार प्रार्थना करे—'भगवन्! इस संसार-सागरमें मैं डूब रहा हूँ। मृत्युरूप मगर मेरा पीछा कर रहा है। मैं डरकर आपकी शरणमें आया हूँ। प्रभो! आप मेरी रक्षा कीजिये'—

'प्रपन्नं पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहार्णवात्॥'

—ऐसी प्रार्थना कर मुझे समर्पित पुष्प, पुष्पमाला आदि आदरके साथ ग्रहणकर सिरपर धारण करे, उसे मेरा दिया हुआ प्रसाद ही समझना चाहिये।

'उद्धवजी! प्रतिमा आदिमें जब जहाँ श्रद्धा हो, तब तहाँ मेरी पूजा करनी चाहिये, क्योंकि मैं सर्वात्मा हूँ और समस्त प्राणियोंमें तथा अपने हृदयमें भी स्थित हूँ। इस प्रकारके क्रियायोगद्वारा जो मेरी पूजा करता है, वह इस लोक और परलोकमें मुझसे अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करता है। जो निष्कामभावसे मेरी पूजा करता है, उसे मेरा भक्तियोग प्राप्त हो जाता है और उस निरपेक्ष भक्तियोगके द्वारा वह स्वयं मुझे प्राप्त कर लेता है।' इस क्रियायोगमें भगवान्‌की आराधनामें मन्दिर-निर्माण, प्रतिमा-स्थापन, फूल आदिके बगीचे

३-यजुर्वेद १८।५०, स्वर्णघर्मानुवाक।

४-पुराणोंकी महापुरुषविद्या चौदह श्लोकोंका एक दिव्य स्तोत्र है, यह महाभारतमें भी प्राप्त होता है। इसमें नारायणकी स्तुतिपूर्वक उन्हें परम आराध्य मानकर उनकी शरणमें जानेपर दिव्य ज्ञानप्राप्तिसे संसारसे निस्तार होनेकी बात प्रधानरूपसे वर्णित है। श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धके १६वें अध्यायमें देवर्षि नारदने राजर्षि चित्रकेतुको महापुरुषविद्याका उपदेश दिया था, जिसके प्रभावसे चित्रकेतुको भगवान्‌के दिव्य दर्शन हुए और उनकी कृपासे विद्याधरत्व प्राप्त हुआ। इस महापुरुषविद्याका प्रारम्भ—

जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन। सुब्रह्मण्य नमस्तेऽस्तु महापुरुषपूर्वज॥ —से हुआ है।

५-यजुर्वेदके ३१वें अध्यायके प्रारम्भिक सोलह मन्त्र। यह सूक्त प्रायः सभी संहिताओंमें पढ़ा गया है।

लगवाना, रथयात्रा आदि उत्सवोंकी सम्यक् व्यवस्था करना, मन्दिर आदिके लिये भूमि-दान करना आदि सभी पुण्य-कर्म सम्मिलित हैं। तात्पर्य यह है कि क्रियायोगमें सभी कार्य भगवदुद्देश्यसे तथा भगवदर्पणबुद्धिसे किये जाते हैं। ऐसा साधक शीघ्र ही भगवान्‌के कृपा-प्रसादसे उनके सायुज्यको प्राप्त कर लेता है और उसका जीवन कृतकृत्य हो जाता है।

शिक्षाकी दृष्टिसे अष्टाङ्गयोगका महत्त्व

(डॉ॰ श्रीभीष्मदत्तजी शर्मा)

महर्षि पतञ्जलि-प्रणीत योगदर्शन साधकों, भक्तों और उपासकोंके लिये परम उपयोगी शास्त्र है। इसमें अन्य दर्शनोंकी भाँति खण्डन-मण्डन न करके सरलतापूर्वक संयमित जीवनपद्धतिपर प्रकाश डाला गया है। इसीलिये आजके युगमें न केवल आध्यात्मिक अथवा धार्मिक क्षेत्रमें योगदर्शनके महत्त्वको स्वीकार किया गया है, वरन् शिक्षाके क्षेत्रमें भी इसका महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

शिक्षाका जीवनसे गहरा सम्बन्ध है। जीवनका आधार शिक्षा ही है। किसी व्यक्तिके जीवनमें जैसी शिक्षा होती है, वैसा ही उसके जीवनका निर्माण होता है। धार्मिक शिक्षासे धार्मिक जीवनका और भौतिक शिक्षासे भौतिक जीवनका निर्माण होता है। अतः सदैव श्रेष्ठ शिक्षाको जीवनमें उत्तम माना गया है।

भारतवर्ष धर्म, संस्कृति, अध्यात्म और शिक्षाके क्षेत्रमें प्राचीन कालसे ही अग्रगण्य रहा है। यहाँकी आध्यात्मिक शिक्षाने विश्वको समानता, स्वतन्त्रता तथा भ्रातृत्वका दर्शन प्रदान कर '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' की भावनाका प्रचार-प्रसार किया है। यह विडम्बना ही है कि आज भारतमें धार्मिक, आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षाका प्रायः लोप होता जा रहा है। महर्षि मनु, वाल्मीकि, व्यास, शंकर, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ, तुलसी और सूरदास आदि प्राचीन विद्वानों एवं संत-महात्माओंसे लेकर स्वामी विवेकानन्द, टैगोर, अरविन्द और गाँधीजी आदि सभी विचारकोंने शिक्षाको परिभाषित करते हुए कहा कि इसके द्वारा बालकका न केवल शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और सामाजिक विकास होता है, वरन् आध्यात्मिक, धार्मिक और नैतिक विकास भी होता है। वस्तुतः ऐसा होनेपर ही सर्वाङ्गीण विकासकी प्रक्रिया पूर्ण होती है। अतः आज शिक्षा-प्रणालीको इस प्रकार तैयार करनेकी आवश्यकता है, जिससे विद्यार्थियोंका वास्तविक समग्र विकास हो सके। इस दृष्टिसे शिक्षाके क्षेत्रमें योगके समाहितचित्तताकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

यद्यपि समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद तथा कैवल्यपाद नामसे चार पादोंमें विभक्त पातञ्जलयोगदर्शनमें समग्र जीवनपद्धतिका चिन्तन हुआ है तथापि साधनपादमें प्रतिपादित अष्टाङ्गयोगमें ही इस शास्त्रका सम्पूर्ण सार-सर्वस्व निहित है। समस्त योगसाधना इसी अष्टाङ्गयोगपर आधारित है। निर्मल विवेक-ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय बतलाते हुए योग-सम्बन्धी आठ अङ्गोंके अनुष्ठानपर इस शास्त्रमें बल देना इसी ओर संकेत करता है कि मानव-जीवनमें इहलौकिक एवं पारलौकिक कल्याणके लिये यम-नियमादि अष्टाङ्गयोगकी साधना परम उपादेय है। आत्मसाक्षात्कार सम्पूर्ण योगसाधनाका चरम फल है। उचित शिक्षाद्वारा इसी आत्म-साक्षात्कारको प्राप्त करके मानव कृतकृत्य हो जाता है। आजकी शिक्षा प्रणालीमें इनकी उपादेयताको स्वीकार करते हुए योगको शिक्षाके विभिन्न स्तरोंके पाठ्यक्रमोंमें सम्मिलित करनेकी आवश्यकता है, किंतु योगाभ्यासमें केवल विभिन्न प्रकारके आसनोंका अभ्यास करना ही आज प्रचलित होनेके कारण इसका पूर्ण रहस्य अज्ञात ही बना रहता है और योग केवल ऐसा शारीरिक व्यायाममात्र बनकर रह गया है, जिसका उद्देश्य या तो शरीरको स्वस्थ रखना अथवा अनेक प्रकारके रोगोंसे मुक्ति प्राप्त करना है, किंतु वस्तुस्थिति यह नहीं है। यह तो योगका गौण उद्देश्य है। योगका मुख्य उद्देश्य है—ईश्वर-प्राप्ति। योगाभ्यास करनेसे यदि किसीको भगवद्भक्ति नहीं हुई तो उसका प्रयास व्यर्थ है। विद्यार्थी तथा अध्यापकके लिये योगकी उपादेयता इतनी अधिक है कि इसके अभावमें आजकी शिक्षामें नैतिक मूल्योंका निरन्तर ह्रास हो रहा है।

अतः शिक्षाके क्षेत्रमें योगके समावेशको परम आवश्यक मानते हुए उसके आठों अङ्गोंका यहाँ संक्षेपमें शैक्षिक महत्त्वाङ्कन किया जा रहा है—

यम

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं। इन पाँचों यमोंकी आजकी शिक्षामें महती आवश्यकता है। आज छात्रोंके जीवनमें जो अव्यवस्था, कुण्ठा, हिंसा, अनुशासनहीनता, उपेक्षा, निराशा, असंयम, अशान्ति और छल-कपट आदि दुर्गुण बढ़ते जा रहे हैं, उसके मूलमें योगके इस प्रथम अङ्ग 'यम' को छात्रोंद्वारा अपने आचरणमें न लाना ही है। आजकी शिक्षामें छात्रोंको संयमी बनानेका प्रयास न होनेसे ही युवकोंमें धर्म, संस्कृति और अध्यात्मसे हटनेकी प्रवृत्ति बलवती होती जा रही है। आज शिक्षामें प्रत्येक स्तरपर पाठ्यक्रममें इन पाँचों यमोंको छात्रों तथा अध्यापकोंके जीवनमें धारण करानेका प्रावधान होना चाहिये। समुचित दिशामें व्यवहार-परिवर्तन करनेका शिक्षाका कार्य तभी पूर्ण होगा, जब छात्र और अध्यापक दोनों ही अहिंसक, सत्यवादी, ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले तथा अपरिग्रही होंगे।

नियम

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (शरणागति)—ये पाँच नियम हैं। शौचका अर्थ है—बाह्य और आभ्यन्तर-शुद्धि। जल-मिट्टी आदिसे बाह्य शुद्धि और जप-तप तथा पवित्र विचारोंसे आन्तरिक शुद्धि होती है। आजकल लोग मल-त्यागके पश्चात् साबुनसे हाथ धोकर शुद्धि मान लेते हैं, किंतु यह उचित नहीं है। बिना जल-मिट्टीके शुद्धि नहीं होती। आज शौचाचारकी व्यवस्था दिन-प्रति-दिन शिथिल होती जा रही है। छात्रोंका आहार-व्यवहार और विचार दूषित होना आजकी शिक्षाका अभिशाप बन गया है। अतः शौच-पालनकी ओर छात्रोंको प्रेरित करनेकी बड़ी आवश्यकता है। भारतीय दर्शन मानव-जीवनमें संतोषको अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानता है, किंतु पाश्चात्त्य दर्शन ठीक इसके विपरीत असंतोषको उन्नतिका कारण मानता है। अतः आजकी शिक्षा भी छात्रों और अध्यापकों तथा समाजमें असंतोषको बढ़ा रही है। छात्रोंमें व्याप्त असंतोषकी अभिव्यक्ति समय-समयपर अनेक प्रकारके आन्दोलनके रूपमें होती रहती है। ऐसी परिस्थितिमें छात्रोंद्वारा संतोष-नियमका पालन करनेसे शिक्षा-जगत्में व्याप्त अशान्तिके शमनमें सहायता मिल सकती है।

तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधानका मानव-जीवनमें विशेषरूपसे छात्रोंके लिये अत्यधिक महत्त्व है। सत्कर्मके लिये कष्ट सहन करने, सद्ग्रन्थोंके अध्ययन करने तथा ईश्वरके प्रति समर्पित हो जानेसे ही अच्छे मानवका निर्माण हो सकता है। आजकी शिक्षाका भी उद्देश्य है—अच्छे मानवका निर्माण। छात्रोंको ऊँचा उठनेके लिये कठोर परिश्रमी, अध्ययनशील और ईश्वर-भक्त बननेकी प्रेरणा इन तीनों साधनोंसे लेनी चाहिये।

आसन

आसनका अर्थ है बैठना। परमात्मामें मन लगानेके लिये निश्चलभावसे सुखपूर्वक बैठनेको आसन कहते हैं। आजकल अनेक प्रकारके योगासनोंके प्रशिक्षणका प्रचलन बढ़ता जा रहा है, किंतु योगके नामपर केवल विभिन्न प्रकारके योगासनों, व्यायामोंका प्रशिक्षणमात्र ही दिया जाता है। स्कूलों-कालेजों और विश्वविद्यालयोंमें योगके नामसे जो कोर्स चल रहे हैं, उनमें भी प्रायः विभिन्न प्रकारके योगासनोंपर ही बल दिया जाता है। किंतु महर्षि पतञ्जलिके अनुसार यम-नियमकी सिद्धि होनेपर ही आसनकी स्थिति है। बिना यम-नियमके आसनकी साधना करना व्यर्थ है। यम-नियमरहित आसनका अभ्यास शारीरिक व्यायाममात्र ही है। उससे किसी प्रकारका आध्यात्मिक लाभ नहीं हो सकता है। परमात्मामें मन लगानेके लिये आसनका अभ्यास किया जाता है, न कि केवल स्वास्थ्य-लाभके लिये।

यदि शिक्षणको प्रभावशाली बनाना है तो हमें छात्रोंको आसन-सम्बन्धी जानकारियोंसे अवगत कराना चाहिये। इसके अतिरिक्त छात्रोंके जीवनमें ऐसी पद्धतिका भी विकास करना चाहिये, जिससे वे प्रतिदिन कुछ समय परमात्मामें मन लगानेके लिये अपनी सुविधानुसार आसनका अभ्यास करते रहें और साथ ही पद्मासन, हलासन, मयूरासन आदि विभिन्न प्रकारके योगासनोंका अभ्यास करानेसे भी छात्रोंके जीवनमें सदाचार, संयम, अनुशासन तथा अच्छे संस्कारोंका विकास हो सकता है।

प्राणायाम

यम, नियम तथा आसनकी सिद्धि होनेके पश्चात् योगका चतुर्थ साधन है 'प्राणायाम।' प्राणायामका अर्थ प्राण (श्वास-प्रश्वास) का व्यायाम है। जिस प्रकार शरीरको स्वस्थ एवं हृष्ट-पुष्ट रखनेके लिये व्यायाम किया जाता है, उसी प्रकार श्वास-प्रश्वासकी क्रियाद्वारा हृदयको हृष्ट-पुष्ट एवं स्वस्थ रखनेके लिये प्राणायाम किया जाता है। इससे आन्तरिक शुद्धि होती है। अतः प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठानके प्रारम्भमें आचमन और प्राणायामका विधान है।

जिस प्रकार शारीरिक अनुशासनके लिये यम, नियम और आसनका अभ्यास आवश्यक है, उसी प्रकार मानसिक अनुशासनके लिये प्राणायामकी आवश्यकता है। आजकल स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयोंमें छात्रोंको योग-प्रशिक्षणके समय प्राणायामका अभ्यास कराना इसलिये आवश्यक है, क्योंकि छात्रोंके जीवनमें व्याप्त अशान्तिको दूर करनेमें इससे सहायता मिलेगी। जब प्रत्येक विद्यार्थी नित्य-प्रति प्राणायाम करनेका अभ्यास करेगा तो उसके मनकी चञ्चलता धीरे-धीरे दूर हो जायगी तथा उसके स्वभावमें स्थिरता आ जायगी। साथ ही अध्ययनके समय उसके मनकी धारणाशक्ति भी बढ़ जायगी और ज्ञानोपार्जनमें भी अभीष्ट सफलता मिलने लगेगी।

प्रत्याहार

यम-नियम और आसनको सिद्ध करते हुए जब साधक प्राणायामका अभ्यास करता रहता है तो उसकी इन्द्रियाँ तो शुद्ध हो जाती हैं किंतु मन तथा इन्द्रियोंकी बाह्य वृत्तियाँ इधर-उधर दौड़ती रहती हैं, जिससे ध्येयमें मन नहीं लग पाता है। अतः उक्त वृत्तियोंको सांसारिक विषयोंसे वापिस लाकर अपने वशमें करते हुए चित्तको ध्येयमें लगानेसे ही योग सिद्ध होता है। किसी भी प्रकारकी साधनाके लिये वस्तुतः न केवल मनको वशमें करना आवश्यक है, वरन् इन्द्रियोंको वशमें करना भी आवश्यक है। जितेन्द्रिय व्यक्ति ही जीवनमें सुखी रहता है। विषयलोलुप इन्द्रियाँ मनुष्यकी शत्रु होती हैं और वशमें होनेपर वे ही मित्र हो जाती हैं। आजकल अश्लील साहित्य, चलचित्र, दूरदर्शन तथा दूषित वातावरणके कारण छात्रोंके जीवनमें इन्द्रियोंकी विषयलोलुपता बढ़ती जा रही है। फलतः वह दिन-प्रति-दिन नैतिक मर्यादाओंसे दूर होकर अपराधी-सा बनता जा रहा है। इसीलिये आजके शिक्षा-मन्दिरोंमें सर्वत्र अशान्ति, कलह, विद्रोह, हिंसा और अनाचार आदिका ताण्डव नृत्य हो रहा है। ऐसे विकट समयमें छात्रोंके जीवनमें नैतिक मूल्योंके विकासके लिये उनकी इन्द्रियलोलुपताको दूर करना आवश्यक है। इस कारण जब छात्र पाठ याद करने बैठते हैं तो उन्हें पाठ याद नहीं होता। इन सभी दोषोंका निवारण 'प्रत्याहार'के प्रशिक्षणसे हो सकता है। अतः छात्रोंको योगासनकी शिक्षाके समय प्रत्याहारका अभ्यास भी कराया जाना चाहिये।

धारणा-ध्यान-समाधि

यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार—ये पाँच योगके बहिरङ्ग-साधन हैं। इनके सिद्ध होनेपर अन्तरङ्ग-साधनोंका अभ्यास कराया जाता है। अन्तरङ्ग-साधनोंमें पहला साधन है धारणा, दूसरा साधन है ध्यान और तीसरा साधन है समाधि। शरीरके बाहर या भीतर कहीं भी किसी एक स्थानमें चित्तको ठहराना 'धारणा' है। जिस ध्येय वस्तुमें चित्तको लगाया जाय, उसीमें चित्तकी वृत्तिका एकतार चलना 'ध्यान' है। योगका अन्तिम साधन 'समाधि' है। इसमें मनकी पूर्ण एकाग्रता होती है। ध्याता, ध्यान और ध्येय—ये तीनों इसमें एक हो जाते हैं। इन तीनों साधनोंका किसी एक ध्येय पदार्थमें होना 'संयम' कहलाता है (योग० ३।४)। संयमकी सिद्धि होनेपर योगीको बुद्धिका प्रकाश प्राप्त हो जाता है। योगीकी यह बुद्धि ऋतम्भरा प्रज्ञा कहलाती है। इसके द्वारा उसे वस्तुके स्वरूपका यथार्थ एवं पूर्ण ज्ञान होता है। यही योग-साधनाकी पराकाष्ठा है।

शिक्षाके क्षेत्रमें धारणा, ध्यान और समाधिका अत्यन्त महत्त्व है। प्राचीन कालमें गुरु अपने शिष्योंको इन तीनोंका विशेष प्रशिक्षण देते थे, जिससे उन्हें परिपूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति होती थी। आध्यात्मिक, धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रमें उनकी उपलब्धि अतुलनीय होती थी। वस्तुतः धारणा, ध्यान और समाधिके बिना यथार्थ ज्ञानका प्राप्त होना कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव है। कोई भी साधना इन तीनोंके बिना अधूरी है। शिक्षा प्राप्त करना भी एक साधना है। इसके लिये भी चित्तकी एकाग्रता आवश्यक है। आजकल विद्यार्थियोंकी प्रायः यह

शिकायत रहती है कि उनका मन पढ़ाईमें नहीं लगता है। जब वे किसी विषयका अध्ययन करने बैठते हैं तो उनका मन अन्यत्र चला जाता है। उन्हें पाठ ठीक याद नहीं हो पाता। अतः वे परीक्षामें उत्तीर्ण होनेमें कठिनाईका अनुभव करनेके कारण अनुचित साधनोंका प्रयोग करते हैं। साक्षात्कारके समय यथावत् ज्ञानका प्रस्तुतीकरण न करना, प्रश्नोंका ठीक उत्तर न दे पाना, किसी विषयपर ठीक-ठीक विचार प्रकट न कर पाना, पाठ याद करते-करते सिरमें दर्द हो जाना और समयपर याद किये हुएको भूल जाना आदि दोष आज छात्रोंमें बढ़ते जा रहे हैं। इन सबका कारण है चित्तकी एकाग्रताका अभाव। चित्तकी एकतानताके लिये आवश्यक है कि शिक्षा-प्रणालीमें धारणा, ध्यान और समाधिका ज्ञान कराया जाय। इससे उन्हें मेधावी और योग्य नागरिक बनाया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षाके क्षेत्रमें योग-प्रशिक्षणका तभी पूर्ण लाभ उठाया जा सकता है जब उसके आठों अङ्ग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिका परम्पराप्राप्त प्रशिक्षण दिया जाय।

संत-मतमें सुरत-शब्दयोगकी महत्ता

(स्वामी श्रीअच्युतानन्दजी महाराज)

संत-मतकी साधनामें सुरत-शब्दयोग अथवा नादानु-संधान प्रभु-प्राप्तिका सर्वोत्तम और अन्तिम साधन है। सुरतको अन्तर्नादमें जोड़नेकी क्रियाको सुरत-शब्दयोग कहते हैं। मानस-जप, मानस-ध्यान—इन दोनों स्थूल सगुण उपासनाओंके बाद दृष्टियोग करनेपर जो ज्योतिर्मय बिन्दु उदित होता है, उस बिन्दुपर ही अन्तर्नाद ग्रहण होता है। मनोनिग्रहके लिये नादानुसंधान सर्वोत्कृष्ट यौगिक क्रिया है। उपनिषत्कारने कहा है—

सदा नादानुसंधानात् संक्षीणा वासना तु या॥
निरञ्जने विलीयेते मनोवायू न संशयः।

(नादबिन्दूपनिषद् ४९-५०)

अर्थात् नादके सतत अभ्याससे वासना क्षीण हो जाती है और मन तथा प्राणवायु निरञ्जन (निर्माया) में लय हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है।

नाद ग्रहण करनेपर मन विषयकी चाहना नहीं करता। इसके सम्बन्धमें उपनिषद्का वचन द्रष्टव्य है—

मकरन्दं पिबन् भृंगो गन्धान् नापेक्षते यथा।
नादासक्तं सदा चित्तं विषयं न हि काङ्क्षति॥
बद्धः सुनादगन्धेन सद्यः संत्यक्तचापलः।

(नादबिन्दूपनिषद् ४२-४३)

अर्थात् 'जिस प्रकार मधुमक्खी मधुको पीती हुई उसकी सुगंधकी चिन्ता नहीं करती, उसी प्रकार चित्त जो सर्वदा नादमें लीन रहता है, विषयकी चाह नहीं करता, क्योंकि वह नादकी मिठासमें वशीभूत है तथा अपनी चञ्चल प्रकृतिको त्याग चुका है।'

नादका अभ्यास करनेपर मनको इतना आनन्द प्राप्त होता है कि वह विषयरूप विषको भूल जाता है—

नादग्रहणतश्चित्तमन्तरङ्गभुजङ्गमः॥
विस्मृत्य विश्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति।

(नादबिन्दूपनिषद् ४३-४४)

अर्थात् 'नाग-रूप चित्त नादका अभ्यास करते-करते पूर्णरूपसे उसमें लीन हो जाता है और सभी विषयोंको भूलकर नादमें अपनेको एकाग्र करता है।'

संत कबीर साहबने नादानुसंधानको सहज योग कहा है। मनको वशमें करनेके लिये अन्तर्नादकी खोज आवश्यक है—

सबद खोजि मन बस करै, सहज जोग है येहि।
सत्त सब्द निज सार है, यह तो झूठी देहि॥

शब्द-साधना करके जो अपनी चेतन-धारको समेट पाते हैं, उनका शरीर प्राण रहते हुए भी मृतकवत् हो जाता है, ऐसे साधक फिर आवागमनके चक्रमें नहीं पड़ते। लेकिन जो शब्द-साधना हीन हैं, वे संसारमें भूले रहते हैं और बारंबार जनमते-मरते हैं। गुरु नानकसाहबकी वाणीमें इसकी पुष्टि पायी जाती है—

सबदि मरै तो मरि रहै, फिरि मरै न दूजी बार।
सबदै ही ते पाइऐ, हरि नामे लगै पिआरु॥
बिनु सबदै जग भूला फिरै, मरि जनमै बारोबार।

शब्द-साधनासे सारी इन्द्रियाँ विषय-विमुख हो शिथिल हो जाती हैं, मन गल जाता है और सभी सांसारिक आशाएँ मिट जाती हैं। संत चरणदासजी महाराजने बड़ा ही उत्तम कहा है—

'जबसे अनहद घोर सुनी, इन्द्री थकित गलित मन हूआ,
आशा सकल भुनी'

सुरत-शब्दयोगको संतोंने मीन-मार्ग कहा है। जैसे छोटी मछली नदीके बहावके प्रतिकूल जलके सहारे चलती है, उसी प्रकार साधक सुरत-शब्दके सहारे सृष्टि-प्रवाहके प्रतिकूल चलकर परम प्रभु परमात्माको पाता है। वह शब्द-प्रवाह भी ऊपरसे नीचेकी ओर है। लेकिन जो शब्दको ग्रहण करते हैं, वे शब्दके उद्गमकी ओर आकृष्ट होते हैं, क्योंकि शब्दमें अपने उद्गम-स्थानकी ओर खींचनेका स्वाभाविक गुण है। जो शब्द जहाँसे आता है, वह अपने उद्गम-स्थानका गुण भी साथ लिये रहता है और जो उसे ग्रहण कर पाते हैं, उन्हें वह शब्द अपने गुणसे संयुक्त कर देता है।

सृष्टिके आदिमें परमात्माकी इच्छा हुई कि **'एकोऽहं बहु स्याम्'** अर्थात् मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ। इच्छासे कम्प हुआ। कम्पका सहचर शब्द भी अवश्य हुआ। उसी आदि शब्दको ऋषियोंने ओ३म्, स्फोट, उद्गीथ, प्रणव, ध्वनि, ब्रह्मनाद आदि शब्दोंसे कहा और संतोंने अपनी वाणीमें उसे सार-शब्द, सत्तनाम, सत्तशब्द, आदिनाम, रामनाम कहा है। यह आदिनाम परम प्रभु परमात्मासे हुआ, इसलिये इसमें परमात्मातक पहुँचनेकी शक्ति है। जो इसे ग्रहण करते हैं, वे ईश्वरीय गुणके ग्राही हो जाते हैं अर्थात् उनमें ईश्वरत्व आ जाता है। इसलिये संतोंने शब्द-साधना वा सुरत-शब्दयोगको विशेष महत्ता दी है। इसके सम्बन्धमें कबीर साहबने बहुत ही अच्छा कहा है—

आदिनाम पारस अहै, मन है मैला लोह।
परसत ही कंचन भया, छूटा बंधन मोह॥

वह आदिशब्द किसी अङ्ग-प्रत्यङ्ग वा अन्य किसी पदार्थमें ठोकर लगनेसे नहीं उत्पन्न होता, प्रत्युत वह स्वाभाविक ही सबके अन्तःस्थलमें सदा ध्वनित होता रहता है। इसीलिये उसे अनाहत शब्द कहा गया है। आहत शब्द किसी-न-किसी वस्तुमें ठोकर लगने वा कम्पन होनेसे उत्पन्न होता है। लेकिन अनाहत शब्द परम प्रभु परमात्मासे ही उत्थित है। संत कबीर साहबने इसके सम्बन्धमें कहा है—

सब्द सब्द सब कोइ कहै, वो तो सब्द बिदेह।
जिभ्या पर आवै नहीं, निरखि परखि करि लेह॥

संतोंने सार-शब्द अर्थात् आदिनामको ही ग्रहण करनेका संकेत किया है, क्योंकि उसको ग्रहण करनेपर परमात्माकी प्राप्ति होती है।

आदिनाम निर्गुण और सर्वव्यापक है। इसीलिये संतोंने इसे निर्गुण रामनाम भी कहा है। यह आदिनाम साधकको साधनाके प्रथम सोपानमें प्राप्य नहीं है। स्थूल-मण्डलका केन्द्रीय शब्द ग्रहण करके फिर सूक्ष्म-मण्डलके केन्द्रीय शब्दको ग्रहण करते हुए कारण-मण्डलके केन्द्रीय शब्दको ग्रहण कर महाकारण-मण्डलके केन्द्रपर जो शब्द ग्रहण होगा, वही सार-शब्द है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण-मण्डलतक त्रयगुण (सत्त्व, रज, तम) का विस्तार है। इसलिये इन मण्डलोंके शब्द सगुण-ही-सगुण होंगे। इन चतुर्मण्डलोंके परे जो नाद ग्रहण होगा, वही निर्गुण रामनाम है।

शब्द-साधनाके पूर्व बिन्दु-ध्यान आवश्यक है। दृष्टियोग करनेपर जो ज्योतिर्मय बिन्दु उदित होता है, उसपर नाद स्वाभाविक ही स्थित रहता है, इसीलिये जो दृष्टियोग करके बिन्दुको प्राप्त करते हैं, उनको अन्तर्नाद सहज ही प्राप्त होता है। योगशिखोपनिषद्में इसका वर्णन बहुत उत्तम ढंगसे हुआ है—

'बिन्दुपीठं विनिर्भिद्य नादलिङ्गमुपस्थितम्।'

अर्थात् 'बिन्दु-पीठका भेदन करके नादलिङ्ग उपस्थित होता है।' ज्योतिर्मय बिन्दु सूक्ष्म होता है। किसी भी अक्षरके लिखनेके पूर्व बिन्दु बनता है, तभी वह अक्षर लिखा जाता है। ध्यानबिन्दूपनिषद् (श्लोक २)में बिन्दुको बीजाक्षर कहा है, जिसपर नाद स्थित रहता है—

बीजाक्षरं परं बिन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम्।
सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्॥

अर्थात् परम बिन्दु ही बीजाक्षर है, उसके ऊपर नाद है। नाद जब अक्षर(अविनाशी) ब्रह्ममें लय हो जाता है, तो निःशब्द परम पद कहलाता है।

संत पलटू साहबने भी कहा है कि जो बहिर्वृत्तिको

त्यागकर अन्तर्मुखताका साधन करते हैं, वे ज्योतिर्मय बिन्दुको पाते हैं, जिसपर नाद-ध्वनि हो रही है—

बिन्दुमें नादका मेला, उलटिके खेल यह खेला।
बिन्दुमें तहँ नाद बोलै रैन दिवस सुहावनं॥

परमाराध्य श्रीसद्गुरु महाराज (पूज्यपाद महर्षि मेँहीं परमहंसजी महाराज) की भी वाणीमें आया है—

धर कर बिन्दु सुनो अनहद ध्वनि।
बिबिध भाँतिकी होती पुनि पुनि॥

यों प्रकृति भी संकेत करती है कि ज्योतिके बाद शब्द अवश्य होता है। जैसे आकाशमें जब बादल टकराते हैं तो प्रथम बिजलीकी छटक होती है, उसके बाद ठनकेकी भी आवाज होती है। उसी तरह साधक जब साधना करके प्रकाश-मण्डलमें पहुँचते हैं, तो वहाँ उन्हें शब्द भी अवश्य मिलता है। इसीलिये गुरु नानकसाहबने कहा है कि सुषुम्नामें शून्यका ध्यान करके शब्द ग्रहण करना चाहिये—

सुखमन कै घरि राग सुनि सुन मंडल लिव लाइ।
अकथ कथा बिचारिअै मनसा मनहि समाइ॥

आदिनाद ही सृष्टिका मूल कारण अर्थात् बीज है। यदि शब्द न रहे तो सृष्टि नहीं रहेगी। अन्तर्नादका सुनना बाह्यकानसे नहीं हो सकता है, क्योंकि यह नाद अत्यन्त सूक्ष्म होता है जो अन्तर्हृदयमें ही प्रकाशित होता है।

इसीको उलटा नाम भी कहा गया है। इसलिये कि इसका प्रवाह ब्रह्माण्डसे पिण्डकी ओर अर्थात् ऊपरसे नीचेकी ओर है। जपकालमें वर्णात्मक नामका जब उच्चारण होता है तो यह नीचेसे अर्थात् नाभिसे प्रवाहित होकर मुखसे निकलता है। इसीलिये इसे सीधा और ध्वन्यात्मक रामनामको उलटा कहा है। वर्णात्मक नाम सगुण होता है। लेकिन ध्वन्यात्मक नाम अर्थात् आदिनाम निर्गुण होता है। इसी अनुपम और गुण-निधान निर्गुण रामनामकी वन्दना गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने रामचरितमानसके बालकाण्डमें की है—

बंदउँ नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥
बिधि हरि हरमय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो॥
(१९। १-२)

गोस्वामीजीने इस निर्गुण रामनामको ब्रह्मा, विष्णु और महेश तथा वेदका प्राण अर्थात् ओंकार कहा है। सुरत-शब्दयोगकी साधनाद्वारा साधक मायाके सारे आवरणों—अन्धकार, प्रकाश और शब्द अथवा स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण और कैवल्यको पारकर परम प्रभु परमात्मासे एकताका बोध कर पायेंगे। इसके लिये सच्चे शब्दाभ्यासी सदाचारी सद्गुरुसे तथा शास्त्रोंसे सद्युक्ति प्राप्त करनी चाहिये।

नामसंकीर्तन-योग

(श्रीश्रीधरविनायकजी माण्डवगणे)

मनीं ईश्वराचे चरण। सर्वभावें त्यास शरण॥
योजे ऐसे अन्तःकरण। योग म्हणावे त्याळा॥
(यथार्थदीपिका)

'मनमें ईश्वरके चरण हों, सब प्रकारसे चित्त उन्हींके शरण हो, ऐसा अन्तःकरण हो जाय, इसीका नाम योग है।'

योगाभ्यासकी जो आवश्यकता होती है वह मनोनाश करके चित्तको ऐसा बना लेनेके लिये होती है। जिस योगके अभ्याससे यह काम बनता है,उसे राजयोग कहते हैं। राजयोग जिस क्रमसे प्राप्त होता है, उसमें तीन 'क्रम-भूमिकाएँ' हैं, जिन्हें हठ, लय और मन्त्रयोग कहते हैं। इस क्रमसे चित्त चिन्मय तो हो जाता है, पर इसमें केवल व्यतिरेकज्ञान रहता है अर्थात् उससे जीवन्मुक्त-अवस्था नहीं प्राप्त होती। जीवन्मुक्त होनेके लिये अन्वय-ज्ञान आवश्यक होता है।

यावन्नानात्मधीः पुंसो न निवर्तेत युक्तिभिः।
जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा॥
(श्रीमद्भागवत)

'जबतक पुरुषकी नानात्मधी-युक्तियोंसे निवृत्ति नहीं होती, तबतक वह अज्ञ जागता हुआ भी सोता है, जैसे कोई मनुष्य सोते हुए जागता है।' इसके लिये कर्मयोगकी आवश्यकता होती है। **'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'**के अनुसार 'काम्यत्याग' और तत्पश्चात् 'सर्वकर्मफलत्याग' अर्थात् ईश्वरार्पण-कर्मके योगसे जब साधक त्यक्तकाम-संन्यासी हो जाता है, तब वह भागवतधर्मका अधिकारी होता है। ईश्वरभक्तिके अतिरिक्त जिसके और कोई

भी इच्छा नहीं होती, उसके सब कर्म ईश्वरार्पित हो जाते हैं। 'निर्हेतुक-निरहङ्कार होनेमात्रसे ही ब्रह्मार्पण हो जाता है', जैसा कि रंगनाथ स्वामीने कहा है। इससे अन्तःकरण शुद्ध होता है और ईश्वरभक्ति अङ्कुरित होती है। इसके अनन्तर कीर्तनमें रुचि होती है और नवविध भक्तियोगसे तत्त्वजिज्ञासा उत्पन्न होकर श्रीगुरुजनका अधिकार प्राप्त होता है। श्रीगुरुका स्वरूप बतलाते हैं—

शब्दज्ञाने पारंगत। जो ब्रह्मानन्दे सदा डुल्लत।
शिष्य प्रबोधनी समर्थ। तो मूर्तिमंत स्वरूप माझें॥

(एकनाथी भागवत)

अर्थात् श्रीगुरु, जो शब्दज्ञानमें पारङ्गत हैं तथा ब्रह्मानन्दमें सदा झूमते रहते हैं और जो शिष्यको प्रबुद्ध करनेमें समर्थ होते हैं, वह भगवान्‌के ही मूर्तिमान् रूप हैं। ऐसे गुरुकी शरणमें जाकर ज्ञान प्राप्त करना होता है। ग्रन्थोंके अध्ययनसे केवल रुचि होती है। यथार्थ ज्ञान श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुसे ही प्राप्त होता है।

युगधर्मके अनुसार इस कलियुगमें 'नाम-संकीर्तन' ही मुख्य साधन है—

तात्काल जावया देहाभिमान। अखंड माझें नामस्मरण॥
गीत नृत्य हरिकीर्तन। सर्व भूतीं समान मद्भाव॥

(एकनाथी भागवत)

'देहाभिमानके शीघ्र छूटनेके लिये भगवान्‌का अखण्ड नामस्मरण, गीत-नृत्य, हरिकीर्तन और सब प्राणियोंमें समान भगवद्भाव ही साधन है।'

हरिकीर्तनसे ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र तीनों ही ग्रन्थियोंका भेदन होकर आत्मस्वरूपका बोध होता है। भगवान् वेदव्यासने महाभारत, वेदान्त-सूत्र और अष्टादश पुराण रचे, पर उन्हें उनसे शान्ति नहीं प्राप्त हुई। तब भगवन्नाम-कीर्तनरत वीणाधारी श्रीनारदसे उन्होंने शान्तिका मार्ग पूछा। देवर्षिने **'अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः'** कहकर भक्तिके सूत्र बताये और ऐसा ग्रन्थ रचनेको कहा,जिसमें श्रीहरिका गुणकीर्तन हो। तब वेदव्यासने वह ग्रन्थ 'श्रीमद्भागवत' लिखा। वेदव्यासके पुत्र सिद्ध योगी श्रीशुकाचार्य कहते हैं—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्यैव पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥

'सब शास्त्रोंका आलोडन करके बार-बार जो विचार किया, उससे यही निष्कर्ष निकला कि सदा नारायणका ही ध्यान करते रहना चाहिये।'

श्रीतुकाराम महाराज कहते है—'कीर्तनसे काया ब्रह्मभूत हो जाती है और ऐसा महद्भाग्य उदय होता है कि भगवान् भी भक्तके ऋणी हो जाते हैं।' इसलिये कीर्तन-योगकी महिमा बड़ी विलक्षण है।

व्यक्तियोग

संसारमें जो असंख्य आत्मा नामरूपसे व्यक्त हुए हैं, वे परमात्माकी असंख्य सत्ताएँ हैं। एक ही परमात्मसत्ताके ये असंख्य भेद हैं, यद्यपि एक ही परमात्मसत्ताके अन्तर्गत होनेसे वे एक दूसरेसे पृथक् नहीं। इनके असंख्य ज्ञान हैं, यद्यपि एक ही परमात्मज्ञानके अंश होनेसे वे एक दूसरेसे पृथक् नहीं। इनके असंख्य आनन्द हैं, यद्यपि एक ही परमानन्दके आस्वाद होनेसे वे एक दूसरेसे पृथक् नहीं। ये जो सत्ता, ज्ञान और आनन्दके भेद नामरूपात्मक जगत्‌में नाम-रूपसे व्यक्त हुए हैं सो उस सत्ता, ज्ञान और आनन्दको व्यक्त करनेके लिये ही हो सकते हैं, अव्यक्तके व्यक्त होनेमें व्यक्त होनेकी इच्छाके सिवा और कोई कारण नहीं हो सकता। इसलिये संसारमें जितने नाम-रूप व्यक्त हुए हैं, उनके पीछे परमात्माकी एक-एक सत्ता, ज्ञान और आनन्द अव्यक्त है। एक-एक अव्यक्त सत्ता, ज्ञान और आनन्दस्वरूप एक-एक आत्माका ही यह व्यक्त रूप है, जो हम संसारमें देखते हैं। संसारमें सब रूप एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं, इसका कारण यह है कि इन रूपोंके पीछे भिन्न-भिन्न आत्मा अपने सच्चिदानन्दस्वरूपके भिन्न-भिन्न प्रकारोंके साथ है। संसारमें जो कोई व्यक्त हुआ, उसका हेतु अपनी सत्ता, ज्ञान और आनन्दको व्यक्त करना है। जन्म-जन्मान्तरसे व्यक्त करनेका यह काम होता चला आया है। परमात्मा अपनी सत्ता, ज्ञान और आनन्द अनन्तकोटि विश्वब्रह्माण्डरूपमें व्यक्त करते हैं। वैसे ही उसीके अंश

असंख्य आत्मा एक-एक व्यष्टिमें अपनी सत्ता व्यक्त करते हैं। **'एकोऽहं बहु स्याम्'**—यह जो मूल संकल्प है वही अनन्तविध होकर व्यक्त होने लगता है। अपने-आपको व्यक्त करनेका यह जो कर्म है, इसकी परिसमाप्ति अपने अंशाकी सम्पूर्ण सत्ता, ज्ञान और आनन्दके प्रकट करनेमें ही हो सकती है। इसलिये जिस शरीरमें आत्माकी पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाती है वह मुक्त हो जाता है। इसका अर्थ यही है कि यह सृष्टिकर्म परमात्माके अपने-आपको व्यक्त करनेका कर्म है और इस कर्मके अंशस्वरूप असंख्य आत्माओंका अपने-अपने असंख्य शरीर-निर्माण करनेका कर्म भी अपने-आपको ही व्यक्त करनेका कर्म है। भगवत्संकल्पके अनुसार भगवान्‌के सत्-चित्-आनन्दस्वरूपका पूर्णतया व्यक्त हो जाना जैसे भगवत्संकल्पकी पूर्ति और तत्संकल्पगत भगवत्कर्मकी परिसमाप्ति है, वैसे ही प्रत्येक आत्माका परमात्मसंकल्पके अंशस्वरूप जो संकल्प है; उसके अनुसार उसका अपने विशिष्ट सच्चिदानन्दस्वरूपका पूर्णतया व्यक्त करना ही उस संकल्पकी पूर्ति अर्थात् उसे व्यक्त करनेके कर्मकी परिसमाप्ति है। संसारमें जितने व्यक्त रूप हैं, वे रूप ही हैं, आत्मा नहीं, पर हैं वे आत्माके रूप, इतनी बात सत्य है। पर आत्माके भी वे पूर्ण अभिव्यक्ति करनेवाले रूप नहीं हैं। पूर्ण अभिव्यक्ति जिस आत्माकी हो जाती है, उसका कर्म पूर्ण हो गया। आत्माका किसी रूपमें व्यक्त होना ही केवल कर्म नहीं—कर्म है आत्मसत्ताको पूर्णरूपसे व्यक्त करना, एक जन्ममें न हो तो दो जन्ममें, दस जन्ममें। जन्मका हेतु आत्माको ही व्यक्त करना है। आत्माका यह व्यक्तियोग है।

परंतु जबतक आत्माकी ही स्मृति नहीं है, देहात्मबुद्धि है और विषय ही परमधाम है, तबतक यह व्यक्तियोग केवल आकाशकुसुम है। इसलिये पहले आत्माको जानना चाहिये। श्रीगुरुकृपाके बिना आत्मस्वरूप नहीं पहचाना जाता, ऐसा सुना है। और श्रीगुरु सत्सङ्गके बिना नहीं मिलते और सत्सङ्ग श्रीहरिकृपा बिना नहीं मिलता। इसलिये भगवान्‌की भक्तिसे सत्सङ्ग लाभकर श्रीगुरुरूप भगवान्‌से आत्मस्वरूपमें स्थित होनेका योग जानना चाहिये। विषयोंके सब बन्धनोंसे मुक्त होनेपर ही अपने-आपको जाननेकी आशा की जा सकती है। भगवद्भक्तिसे यह सब सुगम हो जाता है। मुक्त मनुष्यके जो कर्म होते हैं, वे आत्मस्वरूपको ही व्यक्त करनेवाले होते हैं।

मुक्त पुरुषके शरीर और कर्म ही आत्माकी अभिव्यक्ति हैं। संसारमें देखने योग्य रूप, सुनने योग्य वाणी, स्पर्श करने योग्य शरीर, समझने और हृदयमें धारण करने योग्य प्रत्येक बात मुक्त पुरुषकी ही होती है। कारण, मुक्त पुरुषकी ये सब बातें आत्माकी अभिव्यक्ति होती हैं। इसीलिये ऐसे पुरुषोंके दर्शन करनेकी इच्छा होती है और उनके दर्शन-स्पर्शनसे अद्भुत सुख होता है। उनका उठना-बैठना, चलना-फिरना, हँसना-खेलना भी देखने योग्य होता है। इसीलिये अर्जुन श्रीकृष्णसे पूछते हैं कि वह कैसे बोलते हैं, कैसे बैठते हैं, कैसे चलते हैं, यह भी बताइये। जितने मुक्त पुरुष हैं वे सब दर्शनीय हैं, वे सभी दुःख हर लेते हैं, क्योंकि उनके रूप और कर्म आत्माके होते हैं। पर सब मुक्त पुरुषोंके रूप और कर्म एक-से नहीं होते—एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न होते हैं। किसीका श्रीरूपसौन्दर्य श्रीउमामहेशके समान होता है, किसीका श्रीशिवके समान होता है, किसीका श्रीरामके समान, किसीका श्रीबुद्धदेवके समान, किसीका श्रीकृष्णके समान, किसीका श्रीलक्ष्मीके समान, किसीका श्रीसरस्वतीके समान, किसीका श्रीबालकृष्णके समान; कितने नाम गिनावें, अनन्त नाम हैं—उनके अनन्त रूप हैं—सब दर्शनीय और वन्दनीय ! कारण, भगवान् अनन्त हैं, उनके अनन्त नाम हैं, अनेक रूप हैं। अनन्त जो आत्मा हैं, वे ही परमात्माकी अनन्त सत्ताएँ हैं और ये अनन्त सत्ताएँ अनन्त रूप धारण करती हैं। इससे यह बात भी स्पष्ट होती है कि प्रत्येक मनुष्यको निजात्मस्वरूपकी जो अभिव्यक्ति करनी है, वह अन्य सब सच्चिदानन्द सत्ताओंसे रूपतः और कर्मतः भिन्न है। संसारमें जो अनन्त रूप हैं, वे इन्हींके हैं—पर जो रूप और कर्मबद्ध हैं, वे आत्माकी अभिव्यक्ति नहीं—अहङ्कारकी अभिव्यक्ति हैं। जो आत्मा मुक्त हैं, उन्हींके रूप और कर्म आत्माकी अभिव्यक्ति हैं और प्रत्येक आत्माका मूल हेतु संसारमें अपने अनन्तके साथ युक्त सच्चिदानन्दस्वरूपको व्यक्त करना है। हमलोग जो बद्ध हैं, उनका हेतु भी मुक्त होकर अपने नित्ययुक्त सच्चिदानन्दको पाकर उसे व्यक्त करना है। इसी व्यक्तियोगके लिये नर-तन ही एकमात्र साधन है। इसी तनमें यह व्यक्त करना है—प्रत्येक व्यक्तिको व्यक्त करना है। यही व्यक्तियोग है।

प्रेमयोग और भावतत्त्व

(डॉ० श्रीभवदेवजी झा, एम्० ए० (द्वय), पी-एच्०डी०)

योगकी विशेषता विशुद्ध प्रेममें ही है। यह प्रेम वर्णनातीत होता है—'**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।**' जीव स्वभावतः किसी वस्तुकी अपेक्षा न करके जब आनन्द-सागरमें मग्न होना चाहता है और जब अपने प्रेमास्पदके लिये व्याकुल हो उठता है, तभी सच्चे प्रेमका उदय होता है। इस प्रेमका उदय हो जाना प्रेमयोग कहलाता है। प्रेममें इन्द्रिय-सुखकी इच्छाओंका नितान्त अभाव रहता है। विशुद्ध प्रेम इन्द्रिय और उनके धर्मोंसे परेकी वस्तु है। प्रेमको रागके नामसे भी जाना जाता है। इसके तीन भेद माने गये हैं—पूर्वराग, मिलन और विरह। इस सम्बन्धमें आठ विकारोंकी चर्चा रागमार्गके उपासक वैष्णवोंने की है। वे इस प्रकार हैं—स्तम्भ, कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभङ्ग, पुलक और प्रलय। प्रेमके लिये इन भावोंको 'सात्त्विक विकार' कहा गया है। चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु—ये विरहकी दस दशाएँ हैं।

अनुरागको शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति नित्य वर्धमान कहा गया है। अनुराग जब बढ़ते-बढ़ते अपनी अन्तिम सीमातक पहुँच जाता है तो उसे भाव कहते हैं। भावकी अन्तिम परिणतिको ही महाभाव कहते हैं। महाभावके भी दो भेद बताये गये हैं—१-रूढ़ महाभाव तथा २-अधिरूढ़ महाभाव। अधिरूढ़ महाभावके भी दो रूप हैं—मोहन (मोदन) और मादन। मादन महाभाव ही मोहनके रूपमें परिणत होकर दिव्योन्मादको प्रकट करता है। दिव्योन्माद ही प्रेमयोगकी अन्तिम अवस्थाको प्रकट करता है। यह दिव्योन्मादका महाभाव राधिकाजीके शरीरमें सम्यक्‌रूपसे उत्पन्न हुआ था।

भावोंकी चार दशाएँ मानी गयी हैं—(१) भावोदय, (२) भाव-सन्धि, (३) भावशाबल्य तथा (४) भावशान्ति।

किसी कारण-विशेषसे उत्पन्न होनेवाले भावको हम भावोदय कहते हैं। उदाहरणके लिये संध्या होते ही गोपियोंके हृदयमें श्रीकृष्णके आगमनका भावोदय होना। हृदयमें दो प्रकारके भावोंका मिल जाना ही भाव-सन्धि है। जैसे प्रवासी पतिके रुग्णावस्थामें घर लौटनेपर उसकी पत्नीके हृदयमें हर्ष और विषाद—दो प्रकारके भावोंका संयोग हो जाता है। अनेक प्रकारके भावोंका जब प्रेमीके हृदयमें उदय हो जाता है तो उस स्थितिको भावशाबल्य कहते हैं। इसी प्रकार जब इष्ट वस्तुके प्राप्त हो जानेपर जो एक अनिर्वचनीय संतुष्टि मिलती है, उसे ही भावशान्तिके नामसे जाना जाता है। जैसे रासलीलाके समय सहसा श्रीकृष्णके अन्तर्धान हो जानेपर जब वे गोपियोंको अकस्मात् मिल गये, उस समय जो उनका अदर्शनरूप व्याकुलतामय विरहभाव था, वह पूर्णतः शान्त हो गया।

प्रेमयोगियोंने भावतत्त्वकी विशद चर्चा करते हुए व्यभिचारी भावोंका भी वर्णन किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, तम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जाड्य, व्रीडा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा और बोध। इनका वैष्णव ग्रन्थोंमें विशद विवरण प्राप्त होता है।

विशुद्ध प्रेमयोगकी दशा बड़ी विलक्षण होती है। जब एक बार अपने प्रियतमसे लगन लग जाती है और जब वह हृदयमें बस जाता है तो नित्य-निरन्तर उसीके भाव प्रेमीके मनको बाँधे रहते हैं। फिर तो सभी प्रकारके भाव और सात्त्विक विकार एवं विरह-दशाएँ स्वतः उदित होने लगती हैं।

प्रेमीको अपने प्रेमास्पदके विरहमें रोने-धोनेके अतिरिक्त कुछ सुहाता ही नहीं। महाप्रभु चैतन्यदेव भी अपने श्यामसुन्दरके विरहमें रोते-रोते यही कहा करते थे—

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्‌गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

अर्थात् 'हे प्रभो! तुम्हारा नाम लेते-लेते कब मेरे दोनों नेत्रोंसे अश्रुधारा बह चलेगी? कब हम गद्‌गदकण्ठसे तुम्हारा प्यारा नाम रटते हुए पुलकित हो उठेंगे?'

वस्तुतः श्रीचैतन्यमहाप्रभुने तो नाम-संकीर्तनके साथ अपनी सारी साध पूरी कर ली और प्रेमतत्त्वके सभी भावों और विभिन्न स्थितियोंके साथ ही अखण्ड प्रेमानन्द भी प्राप्त कर लिया।

प्रेमीके विरहमें ही उसके प्रेमकी परिपक्वता होती है। विरह प्रेमकी जाग्रत्-गति है और सुषुप्ति मिलन है। विरहके बिना प्रेमका असली स्वाद कहाँ ? अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके विरहमें तड़पनेवाली गोपियोंकी दशापर जरा विचार करें, जो प्रेम-बावरी बनकर कहती हैं—

बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब वै लता लगति तन सीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं॥
बृथा बहति जमुना, खग बोलत बृथा कमल-फूलनि अलि गुंजैं।

परमज्ञानी उद्धवजीने अपने निर्गुण ज्ञानकी गठरी प्रेमयोगिनी—गोपिकाओंके समक्ष खोल तो दी, पर उनका विरह-विषमज्वर शान्त होनेके बदले और भड़क उठा। उनके विरहका संक्रामक रोग उद्धवपर भी सवार हो गया।

विरह तो परमात्माकी एक विलक्षण देन है, जो किसी विरले भाग्यवान् कृपापात्रको ही प्राप्त हो पाता है। एक कविने तभी तो कहा है—

जिसपर तुम हो रीझते, क्या देते यदुवीर।
रोना-धोना सिसकना, आहोंकी जागीर॥

सचमुच विरह तो एक अनोखी जागीर है, जो किसी भाग्यशालीको ही नसीब होती है। सच्चा प्रेमी अपने प्रेमास्पदको पाकर उतना संतुष्ट नहीं होता, जितना उसके वियोग-विछोहमें आँसू बहाकर होता है।

विशुद्ध भगवत्प्रेमकी विरहाग्निमें तो सारे जप-तप ईंधन बनकर राख हो जाते हैं। विरही उस विरहानलमें जलकर ऐसा राख बन जाता है कि उसे मौत भी नहीं ढूँढ़ पाती। इसीलिये तो कबीरने कहा—

बिरह अगिन तनमें तपै, अंग सबै अकुलाय।
घट सूना जिय पीव महँ, मौत ढूँढ़ फिरि जाय॥

ऋषियोंने अनेकानेक योग-साधनोंका मार्ग प्रशस्त किया, किंतु नटनागरके प्रेममें अपनी सुध-बुध खो बैठनेवाली गोपियोंके प्रेमके समक्ष उन्हें भी लज्जित होना पड़ा। चरनदासने तो विरहकी महिमाके सामने सारे योग, जप, तप तथा ध्यानको भी नगण्य माना है—

पी पी कहते दिन गया, नैन गयी पिय ध्यान।
विरहिन के सहजै सधै भगति जोग तप ज्ञान॥

व्रजगोपियोंकी योगधारणा

(श्रीप्रेमनारायणजी त्रिपाठी 'प्रेम')

भगवान् श्रीकृष्णके वियोगमें गोपियोंको अधीर जानकर भक्तप्रवर उद्धव भगवान्‌की आज्ञासे उन्हें समझा-बुझाकर आश्वासन देनेके लिये व्रज जाते हैं और वहाँ गोपियोंको ज्ञान-वैराग्यका उपदेश देते हैं। उधर गोपियोंपर इसका विपरीत ही प्रभाव पड़ता है। वे अपने प्यारे मनमोहनको जीवन्मुक्त पुरुषके ब्रह्मदर्शनकी भाँति सर्वत्र देख रही हैं। उन्हें जड-चेतन-पृथ्वीकी समग्र वस्तुओंमें प्यारे श्रीकृष्णके दर्शन हो रहे हैं। अपने शरीरमें ही सब कुछ देखनेवाली तथा प्यारे मदनमोहनके साथ सदा क्रीडा करनेवाली एक गोपी कहती है—

हौं ही व्रज वृन्दावन मोहीमें बसत सदा,
जमुनातरंग स्यामरंग अवलीनकी।
चहुँ ओर सुंदर सघन बन देखियतु,
कुंजनमें सुनियत गुंजन अलीनकी॥
बंसीवट तट नटनागर नटतु मोमें,
रासके बिलासकी मधुर धुनि बीनकी।
भरि रही झनक भनक ताल तानिकी,
तनक तनक तामें झनक चूरीनकी॥

(महाकवि देव)

उस गोपीको यकायक प्यारे प्रभुकी रासक्रीडाकी सुधि हो आती है। वह मानो उसीमें प्रभुके साथ नृत्य करके 'तनक-तनक तामें' झनक चूरीनकी' सुन-सुनकर पागल हो उठती है। उसके रोमाञ्च हो जाता है। गद्‌गदकण्ठसे लीलामयकी लीलाका वर्णन करती-करती वह आप-ही-आप आनन्दाम्बुनिधिमें गोते खाने लगती है। इसी बीच दूसरी गोपी उद्धव महाराजसे कहती है—

निसिदिन स्त्रौननि पियूष सौ पियत रहैं,
छाय रह्यौ नाद बाँसुरीके सुरग्रामकौ।
तरनितनूजा तीर बन कुंज बीथिनमें,
जहाँ-तहाँ देखती हैं रूप छबिधामकौ॥
'कवि मतिराम' होत ह्याँ तौ ना हिये तैं नैकु,

सुख प्रेमगातको परस अभिरामकौ।
ऊधौ! तुम कहत वियोग तजि जोग करौ,
जोग तब करैं जो वियोग होय स्यामकौ॥

(महाकवि मतिराम)

अबकी बार यह गोपी श्याममय होकर उछल पड़ती है। उद्धवजीको डाँट बता-बताकर कहती है—महाराज! यहाँ तो हमें जहाँ-तहाँ सर्वत्र ही प्यारे श्रीकृष्णके दर्शन मिल रहे हैं। उनके अमृतमय वंशीनादसे हमारे कान भरे जा रहे हैं। यमुनाके तीर कुञ्जमें—वनमें, प्रत्येक स्थलमें वह मनोहर छबि दिखायी दे रही है। अतएव हे उद्धवजी! आप जो हमें श्रीकृष्णप्राप्तिके लिये योग-समाधि सिखाने आये हैं, वह तो व्यर्थ ही है। कारण, हमारे प्यारे कन्हैयाका तो हमसे पलभरको कभी वियोग ही नहीं है। वे तो हमारे साथ हमें यहीं दीख रहे हैं। इतना सुनकर तीसरी गोपी आगे बढ़कर कहने लगी—उद्धवजी!—

प्राननिके प्यारे तनतापके हरनिहारे,
नंदके दुलारे ब्रजबारे उमहत हैं।
कहैं 'पदुमाकर' उरझे उर अंतर यों,
अंतर चहे हू तैं न अंतर चहत हैं॥
नैननि बसे हैं अंग-अंग हुलसे हैं, रोम
रोमनि लसे हैं निकसे हैं को कहत हैं।
ऊधौ! वै गोबिन्द मथुरामें कोई और, इहाँ
मेरे तो गोबिन्द मोहि मोहि में रहत हैं॥

(महाकवि पद्माकर)

यह तो इतनी मगन है कि उद्धवजीको भी चक्करमें डाल देती है। कहती है—'उद्धव महाराज! मेरी आँखोंमें वे बसे हैं। मेरे हृदयमें वे समा गये हैं। दूरी चाहनेपर भी दूर नहीं हो सकते, ऐसे लीन हैं। कौन कहता है कि वे कहीं अन्यत्र जाकर बस गये हैं? हे उद्धवजी! तुम्हारे मथुराजीमें वास करनेवाले श्रीकृष्ण कोई और ही होंगे! मेरे प्यारे कृष्ण-गोविन्द तो मेरे रोम-रोममें समाकर यहीं रम रहे हैं।'

धन्य है प्रेम! विमुग्धकारी लीलाधारीकी छबि जब इस प्रकार किसी योगीके हृदयकमलमें वास करने लग जाती है, तब क्यों न वह ***'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई'*** बन जाय। धन्य है अलखनिरञ्जन, संतनसुखदाता, लीलानागर प्रभु श्रीकृष्णको और उनकी प्रेममयी गोपरमणियोंको!

जडयोग

(श्री 'माधव')

चेतन और जड, विद्या और अविद्या, प्रकाश और अन्धकार, गुण और दोषसे पूर्ण यह विचित्र सृष्टि रचकर प्रभुने मनुष्यको विवेक तथा बुद्धि दी, जिसके सहारे वह जड, अविद्या, अन्धकार और दोषका परित्यागकर चेतन, विद्या, प्रकाश और गुणका आश्रय लिये रहे और अपने सत्यस्वरूपको जानते हुए परमात्म-पथमें उत्साह और उल्लासके साथ चलता रहे। मनुष्यके विवेक और बुद्धिमें जबतक परमात्माका प्रकाश जगमगाता रहता है, तबतक वह अपने उद्देश्य-पथपर निश्चल-रूपसे चलता रहता है। शुद्ध बुद्धिका लक्षण यह है कि उसमें परमात्माका आश्रय, भगवान्‌का भरोसा अक्षुण्णरूपसे बना रहता है। शुद्ध बुद्धि जगत्‌को न देखकर जगत्‌के स्वामीको देखती है। उसे प्रपञ्चका आवरण ढक नहीं सकता, मायाकी मोहिनी उसे मुग्ध नहीं कर सकती, क्योंकि उसे परमात्माका प्रकाश, मायापतिका बल प्राप्त है। प्रपञ्चको वेधकर, ससीमको चीरकर शुद्ध बुद्धिकी विशुभ्र किरणें अविच्छिन्नरूपसे परमात्मपदमें प्रवाहित होती रहती हैं। शुद्ध बुद्धि हरिके सिवा किसीका वरण ही नहीं करती, किसीकी ओर देखती ही नहीं, कुछ स्वीकार ही नहीं करती। शुद्ध बुद्धिका यह स्वाभाविक स्वरूप है।

बुद्धिकी यह स्वाभाविकता तभीतक अक्षुण्ण रहती है, जबतक मनुष्य सतत सतर्क एवं सावधान होकर, अहर्निश भीतरसे जागरूक होकर, प्रभुके स्मरण, चिन्तन, ध्यानका सहारा लेकर सदा-सदैव अपने उद्देश्यका ध्यान रखता है। और उसकी प्राप्तिके लिये सब समय तत्पर रहता है। उद्देश्यका विस्मरण ही सारी विपत्तिका मूल है। जहाँ उद्देश्य एक क्षणके लिये भी बिसरा कि प्रपञ्चके लुभावने पर्दे आँखोंपर, बुद्धिपर पड़े और पर्दा पड़ते ही जो साधना ईश्वरोन्मुखी होकर अनन्य-एकान्तरूपसे प्रभुकी खोजमें थी, वही जगत्‌की पूजा-अर्चा

करने लगती है और बुद्धि धीरे-धीरे शैतानके हाथकी कठपुतली हो जाती है। बुद्धि अपना प्रकाश खो देती है, मनकी लगाम ढीली पड़ जाती है, इन्द्रियाँ विषयोंके मोहक रूपपर आसक्त हो जाती हैं और सबसे भयावह परिणाम इसका यह होता है कि बुद्धिके दोषसे असत्‌में सद्बुद्धि, अपवित्रमें पवित्रबुद्धि, असुखमें सुखबुद्धि और अनित्यमें नित्यबुद्धि हो जाती है। इस कारण मनुष्य स्वभावतः असत्, असुख, अपवित्र और अनित्यकी आराधना करने लगता है। क्योंकि उनके रूपपर आकर्षणका जो सुवर्णमय आवरण पड़ा हुआ है, वही उसे उसके सत्य रूपको देखने नहीं देता। इसे ही हमारे ऋषियोंने 'प्रज्ञापराध' कहा है।

असत्, अनित्य, असुख और अपवित्रकी आराधनामें भला सुख कैसे प्राप्त हो ? मनुष्य तो आशामें, प्रतीक्षामें इस विश्वासमें कि कहीं अदृश्यके गर्भमें सुखकी राशि छिपी पड़ी है, जिसे समय कभी-न-कभी लावेगा ही और हम उस सुखको आज न सही, कल भोगेंगे ही—बस, इसी मृगतृष्णामें वहाँ सुख खोज रहा है, जहाँ सुखका लेश भी नहीं। वहाँ शान्ति पाना चाहता है, जहाँ अशान्तिकी महावह्नि धाँय-धाँय कर धधक रही है। मृगजलसे किसकी कब प्यास बुझी ? परंतु इन नादान मृगोंकी आँखें भी कौन खोले ? जिस क्षण हम जगत्‌के वास्तविक स्वरूपको समझ लेंगे, उसी क्षण हमारी आँखें सदाके लिये इससे फिर जायँगी। मृगशिशुको जलती दुपहरीमें लू और लपटोंमें पानीकी खोजमें व्याकुल दौड़ते हुए देखकर किसे दया नहीं आती ? उस नादान मृगछौनेको कोई लाख समझावे, उसे मरनेसे कोई लाख बचानेकी चेष्टा करे; परंतु उसकी बुद्धिमें जो विभ्रम हो गया है, उसके कारण वह तो आगसे ही प्यास बुझानेपर तुला हुआ है और उसे बचानेका हमारा जो भी प्रयत्न होगा, उसे अहितकारी समझकर वह और भी जी छोड़कर लू और लपटोंमें ही भागेगा। यह नहीं कि उसे लूकी लपटें सताती नहीं, जलाती नहीं। वह जितना ही बढ़ता है उतना ही जलता है, परंतु आगे जो जलकी लहरोंका समुद्र लहरा रहा है, उसे पिये बिना कैसे लौटे ? असत्‌में सद्बुद्धिका परिणाम भीषण ज्वाला, दारुण विपत्ति ही है। महाप्रभुने इसे ही 'विषभक्षण' कहा है।

अनादिकालसे ऋषि-मुनि पहाड़की चोटीपर खड़े होकर डंकेकी चोट कहते आये हैं कि जिस जगत्‌के रूपपर तुम मुग्ध हो उसका एक बार भी तो घूँघट उठाकर मुख देख लो ! आवरणपर प्राण गँवाना कहाँकी बुद्धिमानी है ? जिस क्षण इस जगत्‌को सच्चे रूपमें देख लोगे, उसी क्षण इसका नक्शा ही बदल जायगा और उसी क्षण तुम्हारा जलना-तपना भी सदाके लिये मिट जायगा। भवतापसे तुम मुक्त हो जाओगे। परंतु हमारी दशा तो ठीक उस मृगछौनेकी-सी है जो लू-लपटोंमें झुलसता हुआ भी सुख-जलकी आशा और तृष्णामें बुरी तरह भागा जा रहा है। ऋषि-मुनियोंके इन उपदेशोंको हम सुनते-पढ़ते हैं, परंतु भीतर ऐसा भासता है— अरे ! ये हमें संसारसे अलग करने और हमारा सुख छीननेपर तुले हुए हैं। इन्हें संसार-सुखका क्या पता। इन्होंने तो जंगलों-पहाड़ोंकी हवा खायी। ये तो हमें संसारसे अलग रहकर एकान्त-सेवनका उपदेश देंगे ही, परंतु हम भला ऐसे मूर्ख थोड़े हैं कि सामनेके लहराते हुए संसार-सुखकी अनन्त अपार राशिको ठुकरा दें।

'रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्।

संसारके सुख और भोगकी प्राप्तिके लिये हम आज विनाश—सर्वनाशके पथपर सरपट भागे जा रहे हैं। संग्रह-परिग्रहका भूत सिरपर सवार है और हमने जगत्-पिशाचसे ग्रस्त होकर बुद्धिभ्रंशके कारण पदार्थोंमें सुख मान रखा है। अमुक वस्तुको जुटाओ, उसमें सुखकी प्राप्ति होगी, इस वस्तुका संग्रह करो, उससे सुखका अमृत झरेगा। यह जुटाओ, वह जुटाओ, इसका संग्रह करो, उसका परिग्रह करो—बस अब क्या, अब तो एक क्षणमें अभी सुख बरसनेहीवाला है। एक पग आगे बढ़ाया कि सुखका लहराता हुआ समुद्र चरणोंमें लोटेगा। कैसी शीतल लहरें आ रही हैं। यह सुखद शीतल स्पर्श। इस ओरसे सुखकी बाढ़ उमड़ी आ रही होगी—हम जी भरकर सुख लूटेंगे। अपने तो लूटेंगे ही, अपने बाल-बच्चोंके लिये भी सुखका संग्रह कर जायँगे। उनके लिये सुखकी इतनी सामग्रियाँ इकट्ठी कर जायँगे कि वे सुखमें डूबे ही रहेंगे, कभी सुखका अभाव होगा ही नहीं। बस क्या है—यह जमा करो, उसे जुटाओ, यह बनवाओ, यह तैयार करो, इसे मारो, उसे मिटाओ—हम अपने सुखका एक भी बाधक नहीं रहने देंगे और उसकी जितनी भी साधक सामग्रियाँ

होंगी, उन सबका संग्रह कर लेंगे—फिर भय काहेका, चिन्ता किस बातकी ?

विनाशके पथपर द्रुतगतिसे दौड़नेवालोंमें एक बड़ी विकट प्रतियोगिता, एक विचित्र होड़-सी लगी हुई है ! हम अपने सर्वनाशकी सारी सामग्री जुटाकर ही संतुष्ट नहीं होते। हम देखते हैं कि हमसे आगे दौड़नेवालेके पास अधिक सामग्री है, अधिक परिग्रह है—जिसे हम वैभव-ऐश्वर्य कहते हैं, सुखके बहुत अधिक साधन और सामान विद्यमान हैं—फिर क्यों न हम उन साधनोंको भी इकट्ठा कर लें, क्यों न जीवनका 'सदुपयोग' और 'सद्व्यय' कर लें। अपने लिये सभी सामान इकट्ठा कर लिया तो क्या हुआ—बाल-बच्चोंके सुखका कोष कभी खाली न पड़ने पावे, यह देखना भी तो हमारा ही कर्तव्य है। कोई भी अपनी स्थितिसे—चाहे वह कितनी भी ऐश्वर्यमयी क्यों न हो—संतुष्ट नहीं है। जिसके पास महल-अटारी है, वह ऐसे ही दस-बीस और चाहता है—वह भी यदि हो गया तो इच्छा और तृष्णा फिर असंख्य-गुना बढ़ी और फिर !! तृष्णाका भी कहीं ओर-छोर है ? मरीचिकाकी भी कहीं 'इति' है ? जिसके पास मोटर है वह हवाई जहाजके लिये तड़प रहा है, जिसके पास हवाई जहाज है वह साम्राज्य स्थापित करनेकी ज्वालामें झुलस रहा है, जिसे साम्राज्य है वह संसारपर अपना एकच्छत्र शासन चाहता है !!! इसी वृत्तिका नाम जड-उपासना है।

जड-उपासना, शिवको छोड़कर शवकी आराधना पाश्चात्त्य संस्कृतिके विष-वृक्षका फल है। आज तो समस्त संसार इस ज्वालामें झुलस रहा है और लोग इसे सुखका सुन्दर अमृत-निर्झर मानकर इसमें आकण्ठ डूबे हुए हैं। जड सभ्यताने आत्माके स्थानपर शरीरकी, परमात्माके स्थानपर जगत्की, आत्मकल्याणके स्थानपर सर्वनाशकी और विश्व-कल्याणके स्थानपर संहारकी प्रतिष्ठा की है। सब अपनी ही ऐश्वर्यवृद्धिमें व्यस्त हैं—मानो किसीको दूसरेकी ओर देखने, उसके सुख-दुःख सुननेका कोई अवकाश ही नहीं है। दूसरेको गिराकर, जगत्के सभी प्राणियोंको मिटाकर उसकी छातीपर हम अपने ऐश्वर्यका महल खड़ा करना चाहते हैं। ऊँचे-ऊँचे भव्य महलोंके पड़ोसमें टूटी-फूटी झोपड़ियाँ; विलास, वैभव और नाच-रंगके पास ही भीषण दरिद्रताका करुण आर्त-चीत्कार, मोटरोंकी धूलमें गड़े हुए कंगाल नर-नारियोंके करुण कङ्कालं, तोप, मशीनगन और हवाई जहाजोंकी अग्नि-वर्षामें पति और पुत्रको खोकर, तड़पती हुई विधवा और अनाथिनीका हृदयवेधक हाहाकार, प्रभुओंका दीन-हीन किसानोंपर रौरव अत्याचार, धनमदमें झूमते हुए, वेश्या और वारुणीमें डूबे हुए बाबुओं और मालिकोंके प्रमत्त अट्टहासके साथ दाने-दानेके लिये तरसते हुए, लज्जा ढकनेभरके वस्त्रके लिये बिलखते हुए लाखों नर-नारियोंका गगनभेदी करुण-क्रन्दन—इस पाश्चात्त्य संस्कृतिके विष-फल हैं। पुरुषोंमें व्यभिचार और स्त्रियोंमें वेश्यापन—इस सभ्यताका आदर्श है। समस्त प्रकारके संयम-नियम हटाकर, सब तरहके बन्धन और मर्यादाको तोड़कर विलासिता, व्यसन, पापाचार, सुखसम्भोगमें आत्मविस्मृत रहना, यही आधुनिक जड सभ्यताका पुण्य-फल है। और आश्चर्य तो यह है कि इसे ही हम मान रहे हैं—उन्नति, विकास, सुधार और सुख-वृद्धि ! पुरुषोंके हिस्से नृशंसता और स्त्रियोंके हिस्से उच्छृङ्खलता और स्वेच्छाचारिता पड़ी है। सिनेमा-थियेटरोंमें रूपका जाल बिछाकर, नग्न सौन्दर्यकी वारुणी पिलाकर क्वारी लड़कियाँ और मिसें अपने कला-ज्ञानका बहुत सुन्दर परिचय दे रही हैं। पुरुष अपनी माँ-बहिनोंपर भी पापपूर्ण दृष्टि डालते हुए संकोच नहीं करता। पुरुष नारीको अपने विलास-भोगकी सामग्री समझे हुए हैं और नारी अपने रूप-सौन्दर्यके बलपर पुरुषोंको पतनके गह्वरमें गिरानेकी वस्तु। एक ओर वैभव-ऐश्वर्यका प्रमत्त अट्टहास है, दूसरी ओर दरिद्रता, नग्नता, अपमान और प्रताड़नाका नग्न नृत्य !!

पाप, अत्याचार, उत्पीडन और उच्छृङ्खलताका संसारकी छातीपर जब ताण्डवनृत्य होने लगता है और इसके कारण जब विषमता और विरोधकी विभीषिका विश्वको जलाने लगती है—संसारमें हाहाकारका दारुण चीत्कार होने लगता है, तब भगवान् शङ्करका क्रोधस्फीत तीसरा नयन खुलता है, जिससे अग्निकी धारा-सी फूट पड़ती है और जिसमें पड़कर सारी विषमता, सारा विरोध, सारे पाप-ताप-अत्याचार भस्म हो जाते हैं। मानवताके इस विध्वंसमें भी प्रभुका कल्याण-भाव ही है और वे मन्द-मन्द मुसका रहे हैं। इस विध्वंस-लीलाके अनन्तर नवीन सृष्टि, नवीन रचना होती है, जिसमें पुनः शुद्ध

प्रज्ञा और निर्मल विवेकका अवतार होता है।

चरकसंहिताके 'विमानस्थानम्'-प्रकरणके तृतीय अध्यायमें जनपदध्वंसनका वर्णन आया है। एक समय भगवान् पुनर्वसु आत्रेयने अपने शिष्य अग्निवेशसे कहा कि नक्षत्र, ग्रह, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, पवन और दिशाओंकी प्रकृतिमें विकृति आयी-सी मालूम होती है। मालूम होता है, थोड़े दिनों बाद ही पृथ्वी और औषधोंका गुण जाता रहेगा और इस कारण लोग नित्यरोगी हो जायँगे, इसके फलस्वरूप जनपदका उद्ध्वंसन उपस्थित होगा।

मनुष्यकी प्रकृतिमें विभिन्नता होनेपर भी उनके अंदर कुछ समानता है और उस समानताके कारण ही समान कालमें समस्त व्याधियाँ उपस्थित होकर जनपदका नाश करती हैं। उल्कापात, निर्घात और भूकम्प इसके लक्षण हैं। गुरुकी भविष्यवाणी सुनकर शिष्यको बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने प्रश्न किया—ऐसी विकृति और तज्जन्य जनपदध्वंस क्यों उपस्थित होता है?

इसका उत्तर भगवान् आत्रेय देते हैं— वायु आदिमें जो वैगुण्य उपस्थित होता है उसका कारण अधर्म है। पूर्वकृत असत् कर्म ही उसके कारण हैं। उस अधर्म और असत् कर्मका घर है प्रज्ञापराध—बुद्धिका दोष। जब देश, नगर और जनपदके अध्यक्ष धर्मका परित्याग कर अधर्मपथसे प्रजा-पालन करते हैं, तब उनके आश्रित-उपाश्रित, पुरवासी, जनपदवासी और व्यवहारोपजीवी (वकील, मुख्तार) उस अधर्मकी वृद्धि करते हैं। उस अधर्मके उत्पन्न होनेसे धर्म अन्तर्हित हो जाता है। उसके बाद उन सब धर्मविहीन लोगोंको देवता छोड़ देते हैं। इस तरह मनुष्यके धर्मविहीन, अधर्मपरायण और देवताओंद्वारा परित्यक्त होनेके कारण सब ऋतुएँ विकृत हो जाती हैं। अतएव देवता यथासमय वर्षा नहीं करते, अथवा विकृतरूपमें करते हैं। वायु सम्यग्रूपमें नहीं प्रवाहित होता, भूमि विकृत हो जाती है, पानी सूख जाता है, औषध अपना स्वभाव छोड़कर विकृत हो जाते हैं। अन्तमें समाज उस वायु, जल, भूमि और औषधके स्पर्श, पान और भोजनके कारण ध्वंसको प्राप्त होता है। युद्धके कारण भी मनुष्यका ध्वंस होता है, किंतु उस युद्धका मूल भी अधर्म ही है। मनुष्योंमें लोभ, क्रोध, रोष और अभिमान अत्यन्त बढ़ जानेसे वे दुर्बलोंका अपमान करके आत्मीय स्वजन और दूसरोंका नाश करनेके लिये एक-दूसरेपर शस्त्रद्वारा आक्रमण करते हैं। अधर्म अभिशापका भी कारण है। धर्मविहीन मनुष्य धर्मभ्रष्ट होकर गुरु, वृद्ध, सिद्ध, ऋषि और पूज्योंका अपमान करके अहित साधन करते हैं। फिर वे सब लोग गुरु आदिके अभिशापसे भस्म हो जाते हैं।

ऐसे संकटकालमें बचनेका क्या उपाय है? किस तरह इस ध्वंससे त्राण मिले? भगवान् आत्रेय इस महामारीसे बचनेका उपाय इस प्रकार बतलाते हैं—

सत्यं भूते दया दानं बलयो देवतार्चनम्।
सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मनः॥
हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम्।
सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम्॥
शङ्क्या धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम्।
धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसम्मतैः॥
इत्येतद् भेषजं प्रोक्तमायुषः परिपालनम्।
येषां न नियतो मृत्युस्तस्मिन् काले सुदारुणे॥

ऐसे सुदारुण जनपदध्वंसकालमें इन दवाओंसे ही रक्षा हो सकती है—सत्याचरण, सब भूतोंके प्रति दया, दान, बलि, देवार्चन, सद्वृत्तका अनुष्ठान, आत्मगुप्ति (मन्त्रोंद्वारा आत्मरक्षा), पुण्यवान् जनपदसमूहका उपसेवन (अर्थात् देशपरिवर्तन), ब्रह्मचर्यपालन, ब्रह्मचारियोंके आश्रयमें रहना, धर्मशास्त्र तथा जितात्मा महर्षियोंका आज्ञापालन और वृद्धजनपूजित धार्मिक और सात्त्विक लोगोंका सहवास।

आज संसारमें युद्धके बादल मँडरा रहे हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रके, एक देश दूसरे देशके सर्वनाशकी तदबीरें सोच रहा है और उसके लिये विषैली गैसों, नये-नये प्रकारके हवाई जहाजों, मशीनगनों तथा तोपोंका आविष्कार बड़ी तत्परतासे हो रहा है। अधर्म, पापाचार, विध्वंस, स्वेच्छाचारिता, अदूरदर्शिताका भीषण उत्पात सर्वत्र हो रहा है। क्या इनसे भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं? क्या इस जनपदध्वंस-प्रक्रियामें हम देवताओंके विरुद्ध असुरोंका ही साथ देते रहेंगे? अथवा दैवी सम्पत्तिकी अभिवृद्धि कर पुनः रामराज्यकी स्थापनामें सहायक होंगे?

पातिव्रतयोग

(पं० श्रीप्रेमवल्लभजी त्रिपाठी)

अनादि संसृतिपारावारमें मायानिर्मित सुख-दुःख-मोहात्मक प्रपञ्चके बन्धनसे परवश हुआ जीव तबतक स्वतन्त्र और अनन्त सुखी कदापि नहीं हो सकता, जबतक कि वह अनन्तकोटिब्रह्माण्डाधीश्वर, निराकार, निर्विकार परब्रह्मका साक्षात्कार न कर ले। उसके साक्षात्कारके लिये यज्ञ, तपस्या, दान, यम, नियम, स्वाध्यायादि अनेक उपायोंमें योग एक सर्वश्रेष्ठ उपाय है। धर्मशास्त्रके उपदेशक-शिरोमणि योगिराज श्रीयाज्ञवल्क्यजी आत्मसाक्षात्कार करनेके लिये अनेकानेक धर्मोंका निरूपण करते हुए योगमार्गद्वारा आत्मसाक्षात्कार करना परमधर्म बतलाकर योगकी सर्वश्रेष्ठता प्रदर्शित करते हैं—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।

—तत्तद् अधिकारियोंकी तत्तद् भावनानुसार वेदशास्त्रोंमें योगके नाना प्रकारके भेद वर्णित किये गये हैं। अतः प्रत्येक पुरुष अपने-अपने वर्ण, आश्रम और भावानुकूल अधिकारोंके अनुसार योगका आश्रय लेकर उस परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

स्त्रियोंके लिये इसी परमपदको प्राप्त करनेका एकमात्र साधन 'पातिव्रत' (योग) है। वास्तवमें पातिव्रत योग ही है। विचार करनेपर पता लगता है कि योग और पातिव्रतमें तथा उनकी साधनप्रणालीमें किञ्चित् भी अन्तर नहीं है। क्योंकि **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'**—चित्तकी चञ्चल वृत्तियोंको असन्मार्ग (विषयों) से हटाकर भगवान्‌की किसी सगुण या निर्गुण मूर्तिमें उसे स्थिर करना ही योग है। तब क्या चित्तवृत्तिसहित बहिर्मुख इन्द्रियोंको असन्मार्गसे हटाकर अपने पतिदेवमें ही स्थिर करना, यह स्त्रियोंका पातिव्रतयोग नहीं है ?

जिस तरह यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारादि-द्वारा चित्तको भगवत्परतन्त्र रखना ही पुरुषोंके योगका साधन कहा गया है, इसी तरह पतिके ही निमित्त अपनी सब कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाएँ करते हुए सर्वथा पतिके परतन्त्र रहना ही स्त्रियोंके पातिव्रतयोगका परमसाधन बतलाया गया है। भगवान् मनुने स्पष्ट निर्देश दिया है कि स्त्री अपनी बाल्यावस्थामें पिताके अधीन, युवावस्थामें पतिके अधीन, पतिके दिवङ्गत हो जानेपर अपने पुत्रादिके अधीन रहे। पूर्ण स्वतन्त्र कभी न रहे—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम्॥

(मनु० ५। १४८)

अतएव स्त्रीकी स्वतन्त्रताका सर्वथा ही निषेध किया गया है—

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित् कार्यं गृहेष्वपि॥

(मनु० ५। १४७)

अर्थात् 'स्त्री बालिका हो या युवती अथवा वृद्धा—उसे पूर्ण स्वतन्त्रतापूर्वक बिना घरवालोंकी अनुमतिके कोई भी महत्त्वका कार्य नहीं करना चाहिये।'

पुरुषोंके लिये साकार तथा निराकार-भेदसे दो तरहकी ईश्वरीय उपासना कही गयी है, किंतु स्त्रियोंके लिये स्वतन्त्र रीतिसे इस उपासनाकी आज्ञा न देकर केवल एक पातिव्रतरूप सगुणोपासना ही वेद-शास्त्रोंमें कही गयी है। यद्यपि गार्गी, मैत्रेयी आदि विदुषी स्त्रियोंने भी ज्ञानमार्गद्वारा निर्गुण ब्रह्मकी और गोपियाँ, मीराबाई प्रभृति स्त्रियोंने भक्ति-मार्गका अवलम्बन ले सगुण ब्रह्मकी उपासना करके पुरुषोंके समान स्वतन्त्र रीतिसे आत्म-साक्षात्कार किया, परंतु ये सब ज्ञानाधिकार और भक्त्यधिकार असाधारण कोटिके हैं। गार्गी, मैत्रेयी, गोपीजन, मीरा प्रभृति स्त्रियाँ साधारण कोटिकी नहीं थीं। इनमें कोई तो श्रुति और कोई देवियाँ और कोई ऋषिका थीं, जिन्होंने किसी कारणवश ही स्त्री-शरीर ग्रहण किया था। अतः उनके लिये ही यह असाधारण धर्म सम्भव था, स्त्रीजाति-मात्रके लिये नहीं। इस दृष्टिसे गार्गी, मैत्रेयी प्रभृति स्त्रियाँ स्त्री-जातिकी आदर्श नहीं हो सकतीं। स्त्रियोंके आदर्श अरुन्धती, अनसूया, सीता, सावित्री, गान्धारी आदि हैं, जिन्होंने अपने पति भगवान्‌को ही स्वात्म-समर्पण करके, उपास्य-उपासकभावसे आजन्म उन्हींकी सेवामें रहकर, अप्रतिहत शक्तिको पाकर उस परमपदको प्राप्त किया।

यह सर्वथा निर्विवाद है कि अष्टाङ्गयोगके सिद्ध होनेसे बहुकालमें पुरुषको जो शक्ति प्राप्त होती है, उसी शक्तिको स्त्री

अपने पातिव्रतयोगसे अल्पकालमें सहज ही प्राप्त कर लेती है। इस पातिव्रतयोगकी शक्तिका दिग्दर्शन संक्षेपमें कराया जाता है—

(क) जब महाभारतके युद्धमें धृतराष्ट्रके पुत्रोंमें केवल एक दुर्योधनके शेष रह जानेपर वीर भीमसेनने दुर्योधनको भी मारनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली, तब दुर्योधन अपनी जीवन-आशाको छोड़कर अपनी माताके अन्तिम दर्शन करके रोने लगा। तब पतिव्रताशिरोमणि माता गान्धारीने उसके अमर होनेका उपाय उसे सूचित करानेके लिये धर्मराज युधिष्ठिरके पास भेजा तो धर्मराजने उसे यही उपदेश दिया कि 'भाई ! तू सर्वाङ्ग-नग्न होकर अपनी माताके अभिमुख जा और यदि वह तुझे एक बार अपनी दृष्टिसे देख ले तो फिर तुझे ऐसे हजारों भीमसेन भी नहीं मार सकते।'

धर्मराजके इस उपदेशके अनुसार जब दुर्योधन नग्न होकर माताके पास जाने लगा, तब पाण्डवप्राण श्रीकृष्णजीने अपने किये हुए कार्यको निष्फल समझकर, उसको अपनी योगमायासे समझाकर, पत्तोंकी लँगोटी पहनाकर गान्धारीके पास भेजा। माता गान्धारीने पूछा कि 'पुत्र ! धर्मराजने तुम्हें जैसा उपदेश दिया, क्या तुम ठीक उसी तरह यहाँ आये हो ?' भगवन्मायावञ्चित हतभाग्य दुर्योधनके मुखसे निकल पड़ा कि हाँ, ठीक वैसे ही आया हूँ। तब माताने अपनी आँखोंकी पट्टीको खोलकर जब उसे देखा तो उसे वञ्चित समझकर अपनी पातिव्रतशक्तिसे सब वृत्तान्त जानकर कहा कि—

मार्गे त्वया सम्मिलितोऽधुना किं
कृष्णः किमूचे वचनं वदस्व।

'हे पुत्र ! मार्गमें क्या तुम्हें श्रीकृष्ण मिले ? और उन्होंने तुमसे क्या कहा, (सो) कहो।' आँखोंपर पट्टी बँधी रखनेवाली माताकी इस प्रकारकी अद्भुत ज्ञानशक्तिको देखकर जब दुर्योधनने चकित होकर इस शक्तिकी प्राप्तिका कारण पूछा तो पतिव्रता गान्धारीने कहा—

योगेन शक्तिः प्रभवेन्नराणां
पातिव्रतेनापि कुलाङ्गनानाम्।

अर्थात् 'पुरुषोंको योगसे शक्ति प्राप्त होती है और कुलाङ्गनाओंको अपने पातिव्रतसे।' ओह ! कैसा पातिव्रतयोग कि गान्धारीने तत्काल अतीव कुपित होकर उन परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णको भी शाप दे दिया कि—

कृष्ण त्वया मे निहताश्च पुत्रा
नश्यन्तु ते यादवयूथसङ्घाः।

'हे कृष्ण ! तुमने मेरे पुत्रोंका नाश किया, अतः इसी तरह तुम्हारे यादवगण भी सब नष्ट हो जायँ।'

क्या स्त्रीके पातिव्रतकी यह शक्ति पुरुषके उस अष्टाङ्गयोगशक्तिसे कुछ कम है कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि, स्थिति और संहार करनेवाले—कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथाकर्तुम् समर्थ श्रीकृष्ण भी—

अस्यास्तु शापं पतिदेवताया
न चान्यथा कर्तुमधीश्वरोऽभूत्।

—इस पतिव्रताके शापको अन्यथा करनेके लिये समर्थ न हो सके।

(ख) चक्रवर्ती महाराजा भोज एक दिन प्रजाकी स्थिति देखनेके लिये रात्रिके समय अपने नगरमें घूम रहे थे, तब उन्होंने किसी मकानकी खिड़कीसे अंदर देखा कि एक स्त्री अपने पति भगवान्‌की पादसेवा कर रही है। निद्रावश होनेसे पति उसके घुटनेपर ही सिर रखकर सो गया था। उसी कमरेके एक दूसरे कोनेमें उनका छोटा-सा बच्चा सोया था। बीचमें एक अग्निकुण्ड था, जिसमें अग्निकी प्रचण्ड ज्वालाएँ लहलहा रही थीं। उसी समय सोया हुआ बच्चा उठकर चिल्लाता हुआ उस अग्निकी ओर आने लगा। माता यह सब देख रही थी, किंतु उसने अपने घुटनेपर सोये हुए पतिदेवको जगानेसे अपने पातिव्रतके नियममें बाधा समझकर, पुत्रकी प्राणरक्षा न कर उसकी उपेक्षा ही कर दी। बहुत छोटा और अनभिज्ञ होनेके कारण वह बालक उस अग्निमें गिर गया।

इधर महाराज भोज निश्चय ही कर चुके थे कि बच्चा अवश्य भस्म हो जायगा, किंतु उस पतिव्रताके शापसे भयभीत हुई अग्नि चन्दनके पङ्कके समान शीतल बन गयी। उस पतिव्रता स्त्रीके पातिव्रतयोगकी अतर्क्य सिद्धि-शक्तिसे चकित होकर कविराज महाराज भोजने—

'हुताशनश्चन्दनपङ्कशीतलः।'

—यह श्लोकका चतुर्थ चरण बनाकर शेष तीन पादोंकी पूर्तिके लिये कविचक्रवर्ती श्रीकालिदासजीको आज्ञा दी। उन्होंने अपनी अलौकिक बुद्धिद्वारा उसी घटनाके अनुरूप

समस्यापूर्ति कर दी—

सुतं पतन्तं प्रसमीक्ष्य पावके
न बोधयामास पतिं पतिव्रता।
पतिव्रताशापभयेन पीडितो
हुताशनश्चन्दनपङ्कशीतलः ॥

'शिशुको अग्निमें गिरते देखकर पतिव्रता पत्नीने अपने पतिको जगानेका प्रयत्न नहीं किया। इधर अग्नि उसके इस पातिव्रतसे प्रभावित होकर और शापसे भयभीत होकर चन्दनके पङ्कके समान शीतल हो गयी।'

क्या स्त्रियोंका यह पातिव्रतयोग पुरुषोंके उस अष्टाङ्गयोगसे कम है? इसीलिये तो वैदिक-स्मार्त-धर्म-प्रवर्तक, धर्मशास्त्रके आदि उपदेष्टा आदि राजा भगवान् मनुजी इस पातिव्रतकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ॥

(मनु० ५। १५५)

अर्थात् 'स्त्रियोंके लिये अलग यज्ञ, व्रत, उपवास नहीं है। केवल एक पतिकी सेवा करनेसे वे परमपदको प्राप्त होकर देवताओंद्वारा पूजित होती हैं।'

वास्तवमें इसी एक सहज उपायसे जिस स्त्रीने इस पातिव्रतयोगको प्राप्त कर लिया, फिर उसके लिये कौन-सा कर्तव्य शेष रह गया? वह तो फिर अपने मनुष्यभावको ही त्यागकर, देवभावको प्राप्त होकर जगत्पूज्या लक्ष्मी बन जाती है।

सम्पूर्ण वेद, शास्त्र उसकी क्या ही अच्छी स्तुति गा रहे हैं—

यस्य भार्या शुचिर्दक्षा भर्तारमनुगामिनी।
नित्यं मधुरवक्त्री च सा रमा न रमा रमा ॥

इसका भाव यह है कि 'जिस पुरुषकी पत्नी बाहर-भीतरसे सर्वथा पवित्र, कुशल, पतिका अनुसरण करनेवाली तथा निरन्तर मधुर भाषण करनेवाली हो, वही स्त्री सच्ची लक्ष्मी है और दूसरी कोई नहीं।'

इस पातिव्रतयोगकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है—जिसके प्रतापसे इस भारतवर्षमें ऐसे वीर पैदा हुए जिनके मन इन लौकिक विषयोंसे मुग्ध न होकर अपने लक्ष्यसे किञ्चिन्मात्र भी विचलित नहीं हो सकते थे। महाराज श्रीरामचन्द्रजीने एक समय श्रीलक्ष्मणजीके ब्रह्मचर्यकी परीक्षाके लिये उनसे प्रश्न किया कि 'लक्ष्मण!

पुष्पं दृष्ट्वा फलं दृष्ट्वा दृष्ट्वा यौषितयौवनम्।
त्रीणि रत्नानि दृष्ट्वैव कस्य नोच्चलते मनः ॥

'सुन्दर पुष्प, फल और स्त्रीका यौवन—इन तीन रत्नोंको देखकर किसका मन विचलित नहीं होता?' (क्या नीतिका यह वचन मिथ्या हो सकता है जो तुम अपनेको अखण्ड ब्रह्मचारी समझते हो?) वीर लक्ष्मणने तत्काल इसका उत्तर देते हुए कहा कि—

पिता यस्य शुचिर्भूतो माता यस्य पतिव्रता।
ताभ्यां यः सूनुरुत्पन्नस्तस्य नोच्चलते मनः ॥

'जिसके पिता पवित्र आचरणवाले हों और माता पतिव्रता हो, उनके रज-वीर्यसे उत्पन्न हुए पुत्रका मन चलायमान नहीं हो सकता।'

यही योग और पातिव्रत तो इस भारतवर्षकी अलौकिक सम्पत्ति हैं, जिनके प्रतापसे यहाँके स्त्री-पुरुषोंने क्षणभङ्गुर, सांसारिक आधिभौतिक विषयोंका उपभोग न करके आध्यात्मिक विषयोंकी ही खोजमें अपना तन, मन, धन समर्पण करके उस अखण्ड पदको पहुँचकर **'दिवौकसां मूर्धनि तैः कृतं पदम्'** उस देवपदको भी ठुकरा दिया।

धन्य है भारतभूमिको, जिसमें जन्म लेनेवाले स्त्री-पुरुष पातिव्रत और योगको ही अपनी सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति समझकर उसके द्वारा इस मनुष्यदेहको सफल करके इसको इतना पवित्र कर देते हैं कि स्वर्गलोकनिवासी समस्त देवगण भी इस भारतभूमिके लिये तरस-तरसकर मुक्तकण्ठसे हम भारतवासियोंकी उत्तम महिमा गाया करते हैं—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ॥

(श्रीमद्भा० ५। १९। २१)

धन्य! जिसके प्रतापसे यहाँकी स्त्रियोंके उदरसे ऐसे योगिराज उत्पन्न हुए कि जिन्होंने यहाँकी स्त्रियोंका नाम वीरजननी धराकर भूमण्डलमें यह घोषणा कर दी कि—

नारी नारी मत कहो नारी नरकी खान।
नारीसे सुत ऊपजे ध्रुव प्रह्लाद समान॥

कितने खेदकी बात है और कैसा दुर्भाग्य है कि इसी पातिव्रतयोगको आज हमारी माताओं, बहिनों और कन्याओंने सुधार, स्वातन्त्र्य तथा उन्नतिके नामपर विकृत करना प्रारम्भ कर दिया है!

सबसे उत्तम और अन्तिम साधन—बुद्धियोग

(श्रीतपोवनस्वामीजी महाराज)

परमात्माकी प्राप्तिका उपाय ही योग कहलाता है। यह योग साक्षात् और परम्परासे ईश्वर-प्राप्तिका साधन होनेके कारण फल तथा साधनरूपसे दो प्रकारका है। परमात्मप्राप्तिका साक्षात् साधन बुद्धियोग ही है, अतः वह उत्तम और अन्तिम योग है। परम पुरुषार्थरूप भगवान्‌की प्राप्ति एकमात्र ज्ञानसे ही हो सकती है। यह श्रुतियों और स्मृतियोंकी एक स्वरसे घोषणा है—

ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति (मु० उ०)।

अर्थात् ब्रह्मको जाननेवाला नित्यमुक्त ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

(श्वेता० उ०)

'आत्माको परमात्मासे अभिन्न जानना ही मोक्षका साक्षात् साधन है, परमात्मप्राप्तिरूप परम पुरुषार्थके लिये इसके अतिरिक्त और कोई साधन है ही नहीं।'

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

अर्थात् 'जिन अधिकारियोंका आत्मविषयक अज्ञान ज्ञानसे नष्ट हो जाता है, उनका वह ज्ञान सूर्यके समान उस वेदान्तप्रसिद्ध परम तत्त्वको प्रकाशित कर देता है।'

'आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर ज्ञानी पुरुष तत्काल ही आत्माकी स्वरूपभूत निरतिशय शान्तिको प्राप्त कर लेता है।'

यदि यह कर्ता-भोक्तारूप दुःखमय संसार रज्जुमें सर्प और शुक्तिमें रजतकी प्रतीति होनेके समान अज्ञान-जन्य ही माना जाता है तो अवश्य इसकी निवृत्ति केवल ज्ञानसे ही हो सकती है। भक्ति, ध्यान अथवा कर्म उस ज्ञानके प्रापक साधन हैं।

मिथ्या ज्ञानसे प्राप्त हुई सुदृढ़ भेद-बुद्धि ही सारे अनर्थोंकी जड़ है। महान् व्यामोहके कारण देह आदिमें प्रकट हुई आत्मबुद्धिके द्वारा जबतक 'मैं कर्ता हूँ', 'भोक्ता हूँ', 'दुर्बल हूँ', 'उन्नत हूँ', 'सुखी हूँ', 'दुःखी हूँ', 'यह सब कुछ मेरा ही है' तथा विधि-निषेध, पुण्य-पाप और इहलोक-परलोक इत्यादि व्यवहार होते रहते हैं, तबतक इसी व्यवहारमें बँधे रहनेके कारण जन्म-मृत्युरूप संसार-समुद्रसे जीवका लेशमात्र भी छुटकारा नहीं हो सकता। और इसीलिये प्रिय-अप्रिय विषयोंकी वेदनासे चित्त चिन्तित रहनेके कारण वह जीव अत्यन्त व्याकुल रहा करता है। जबतक शरीर धारण करना पड़ता है। तबतक स्वप्नमें भी लेशमात्र भी शान्तिका अनुभव नहीं हो सकता—यह निश्चित बात है।

देहधारी होना ही दुःखका मूल है, उस समय जो कभी क्षणिक सुखका अनुभव होता है वह भी दुःखोंसे सम्बन्ध रखनेके कारण दुःख ही है। अतः सम्पूर्ण दुःखोंका मूलभूत जो शरीरग्रहण है, उसका अभाव हो जाना ही परम पुरुषार्थरूप मोक्ष है—यह अनेकों दार्शनिकोंका सिद्धान्त है। इसी आशयका बोधक भगवान् गौतमका न्यायसूत्र भी है—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।

इसका तात्पर्य यह है कि भ्रान्तिरूप मिथ्या ज्ञानसे पहले राग-द्वेष आदि चित्तके दोष प्रकट होते हैं, उनसे धर्माधर्ममें प्रवृत्ति होती है, धर्माधर्ममें प्रवृत्ति होनेसे ही देव, मनुष्य और तिर्यग् आदि योनियोंमें जन्म होता है, फिर उससे दुःख होता है। इस प्रकार यहाँ क्रमशः उत्तरोत्तर भावोंमें पूर्व-पूर्व भाव कारण होते हैं। अतः इसी क्रमसे मूलहेतु मिथ्या ज्ञानके नाश होनेपर उसके कार्यभूत रागादि दोषोंकी निवृत्ति होती है, दोषनिवृत्ति होनेपर धर्माधर्मकी प्रवृत्ति नहीं होती, प्रवृत्तिका अभाव होनेसे किसी योनिमें शरीर ग्रहण नहीं करना पड़ता और शरीरके न होनेसे सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है।

ऐसी स्थितिमें सभी विचारकोंका मत यही है कि 'समस्त दुःखोंका एकमात्र कारण मिथ्या ज्ञान ही है।' उस मिथ्या ज्ञानकी निवृत्ति कैसे होगी और उसकी निवृत्ति हो जानेपर नित्य-निरतिशय आनन्दस्वरूप अपने आत्मभूत परमात्मामें स्थिति किस प्रकार हो सकती है? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर भगवान् भाष्यकार यह सूत्रभूत वाक्य कहते हैं—

मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद् भवति।

ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान हुए बिना इस जन्म, जरा, मृत्यु और दुःखरूप अज्ञान-जन्य संसारका विनाश सौ करोड़ कल्पोंमें भी किसी तरह नहीं हो सकता। इससे बढ़कर बुद्धियोगका माहात्म्य क्या कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त जबतक ईश और ईशितव्यका भेद बना हुआ है अर्थात् 'मैं नियम्य हूँ और ईश्वर मेरा नियामक है' इस प्रकार जीव और ईश्वरमें भेदकी कल्पना है तथा ऐसा होनेके कारण ही हाथमें तलवार उठाये हुए स्वामीके सामने सेवककी भाँति पुरुषका जीवन जबतक भयपूर्ण और पराधीन है, तबतक उसे स्वतन्त्रता कैसे प्राप्त हो सकती है? तथा स्वतन्त्र हुए बिना सुखकी वार्ता भी कैसे की जा सकती है? स्वतन्त्रताके द्वारा ही कृतार्थ हो जानेके कारण जीवको सुख मिलता है—यह सभीका मत है। बड़े खेदकी बात है कि अपनेसे भिन्न नियामक और फलदाता ईश्वरकी कल्पना करके उसके अधीन हो उससे डरते हुए पण्डित पुरुष भी मोहित और दुखी हो रहे हैं! जबतक सम्यक्-रूपसे विचारके द्वारा परमार्थतत्त्वका निश्चय नहीं होता, तबतक अपनेको नियम्य मानकर अपनेसे भिन्न नियामककी अज्ञान-जन्य कल्पना अवश्य ही होगी। अतः परमार्थतत्त्वस्वरूप परब्रह्मका ज्ञान ही नियम्य-नियामकभावसे उसमें आरोपित की हुई अनर्थकी कारणभूत जीव-ईश्वरभेदकल्पनाका नाशक है, इसलिये तत्त्वज्ञान ही सब साधनोंमें उत्तम और विशेष है। जैसा कि सुरेश्वराचार्यने कहा है—

ईशेशितव्यसम्बन्धः प्रत्यगज्ञानहेतुजः।
सम्यग्ज्ञाने तमोध्वस्तावीश्वराणामपीश्वरः॥

अर्थात् अपने आत्माके परम तत्त्वको न जाननेसे ही नियम्य-नियामकभावकी उत्पत्ति होती है। विचारजन्य सम्यक्-ज्ञानके द्वारा अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर तो यह संसारी जीव हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरोंका भी ईश्वर हो जाता है।

जीव, ईश्वर, जगत् इत्यादि नाना प्रकारकी कल्पनाएँ माया-मोहके ही कारण स्फुरित होती हैं। तत्त्वज्ञानसे माया-मोहकी निवृत्ति हो जानेपर वैसी भेद-कल्पनाएँ नहीं हो सकतीं। उस समय स्वयं ब्रह्मभावको प्राप्त होकर पुरुष नित्य-मुक्त शुद्धस्वरूप अपनी महिमामें विराजमान होता है।

इस प्रकार भेद-कल्पना और उससे प्राप्त होनेवाले संसाररूप अनर्थकी परम्पराके एकमात्र बीज महामोहका अत्यन्त विनाश करके नित्यानन्दस्वरूप परमात्माके साथ एकताकी प्राप्ति करानेका साधन बुद्धियोग ही है। अन्य भक्तियोग, राजयोग, कर्मयोग, लययोग, जपयोग, क्रियायोग और हठयोग आदि जो विविध योग हैं, वे भी क्रम-क्रमसे भगवत्प्राप्तिके लिये परम उपयोगी हैं। उनमें भी भक्तियोग सबसे प्रधान है, क्योंकि वह अन्य योगोंकी अपेक्षा शीघ्र ही बुद्धियोगको उत्पन्न करता है।

गौणी भक्ति और परा भक्तिके भेदसे भक्ति दो प्रकारकी है। यदि परा भक्ति नित्य-निरतिशय निर्विकल्पाद्वैतरूपिणी और भेदकी गन्धसे रहित हो तो वह पूर्वोक्त अद्वैत-ज्ञानरूपा ही है, अतः उसकी मोक्षके प्रति साक्षात् साधनता निषिद्ध नहीं है। इसलिये यहाँ बुद्धियोगके साधन-रूपसे गौणी भक्ति ही विवक्षित है। श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें न्याययुक्त अनेकों श्लोकोंद्वारा उन-उन स्थलोंपर भक्तिके सर्वोत्तम माहात्म्यका वर्णन किया गया है। भागवत-प्रसिद्ध नवधा भक्तिके द्वारा अपनेको प्रिय लगनेवाले भगवान्के किसी भी रूपसे उनकी उपासना करनेवाले पुरुष भगवत्कृपासे अपने पाप और चित्तमलके नाश हो जानेपर विशुद्धचित्त होकर शीघ्र ही भगवान्के पारमार्थिक निरुपाधिक तत्त्वको जाननेमें समर्थ होते हैं। भक्तोंके मार्गमें जो-जो विघ्न आते हैं, उन सबको दूर करके भक्तवत्सल भगवान् सदा ही अपने भक्तोंका पालन करते हैं, अतः राजयोग आदिसे भक्तियोगका माहात्म्य अवश्य ही विशेष है। क्योंकि भगवान्की यह प्रतिज्ञा है—

'न मे भक्तः प्रणश्यति॥'

'मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता।' इस विषयपर लेखकद्वारा निर्मित बदरीशस्तोत्रमें विचार किया गया है—

भक्तिर्यदीयसगुणात्मनि शीघ्रशुद्धे
चित्तस्य साधनमतस्तदुपार्जनीयम्।
भक्तो न नश्यति यतोऽवति तं विपद्भ्यो
भक्तप्रियस्तमनिशं स्मर बद्रिकेशम्॥

अर्थात् 'भगवान्‌के सगुण-साकार स्वरूपमें की हुई भक्ति अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक चित्तशुद्धिका कारण होती है, अतः सभी मुमुक्षुओंको चाहिये कि निरन्तर उस भक्तिका उपार्जन करें। क्योंकि परमेश्वरके चरणोंमें जिसने सर्वथा अपना चित्त समर्पण कर दिया है, उसका कभी नाश नहीं होता। जो भक्तवत्सल भगवान् इहलोक और परलोक दोनोंको विनष्ट करनेवाली सभी आपदाओंसे अपने भक्तकी सदा ही रक्षा करते हैं, उन ऐसे माहात्म्यवाले बदरीनाथजीका हे मन! तू निरन्तर स्मरण कर।'

इसके अतिरिक्त जिस प्रकार भगवान् अभक्तोंको बन्धनका हेतुभूत अज्ञान देते हैं, उसी प्रकार वे ही भक्तोंको चित्तशुद्धिपूर्वक ज्ञान भी देते हैं। अतः तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌की प्रसन्नताके सिवा और कोई भी उपाय नहीं है। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०। १०-११)

'मुझमें सदा चित्त लगाये रहनेके कारण जो लोग अनन्य प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं, उन्हें मैं शीघ्र ही परम तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझ नित्यानन्दैकरस निर्विशेष अद्वय परब्रह्मको प्राप्त कर लेते हैं। उन भक्तोंपर ही दया करके मैं प्रत्यगात्मारूपसे उनके अन्तःकरणमें रहता हुआ अत्यन्त प्रकाशमय ज्ञानात्मक प्रदीपसे उनके अज्ञान-जन्य आवरणको नष्ट कर देता हूँ।'

तथा जबतक चित्त पापकलापोंसे कलुषित है, तबतक उसमें शुद्धता और शुद्धतासे होनेवाले आत्मप्रकाशकी लेशमात्र भी सम्भावना नहीं है। कीचड़से मलिन हुए जलमें जिस प्रकार सूर्यमण्डलका प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं दीखता, उसी प्रकार पापकलुषित हृदयमें आत्मप्रतिबिम्ब तनिक भी स्फुरित नहीं होता। परंतु कीचड़ धो देनेसे निर्मल हुए चित्तमें सहज ही आप-ही-आप आत्मतत्त्व प्रकाशित होने लगता है।

धर्माधर्मकी मर्यादाके व्यवस्थापक और धर्माधर्मके फलदाता सर्वनियामक परमेश्वरकी प्रसन्नताके साथ ही होनेवाली करुणाके बिना किसीके भी पाप-समूहका नाश नहीं हो सकता। अतः भगवान्‌के अनुग्रहका एकमात्र हेतु उनकी भक्ति ही अन्य सभी कल्याण-साधक योगोंसे श्रेष्ठ है— इसमें कहना ही क्या है? इसीलिये श्रीमद्भागवतमें कहा है—

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते॥

'भगवान्‌की अनन्य भक्ति करनेसे जिसका चित्त निर्मल हो गया है और चित्तशुद्धि हो जानेसे ही जिसकी विषयोंमें लेशमात्र भी आसक्ति नहीं है, ऐसे पुरुषको ही भगवान्‌के पारमार्थिक स्वरूपका ज्ञान हो सकता है, अन्य किसी साधनसे किसी प्रकार नहीं हो सकता।'

निष्कर्षस्वरूप यह कहा जा सकता है कि 'अनन्यचित्तसे अभ्यास किया हुआ भक्तियोग परम पुरुषार्थकी साधनभूत अद्वैत-बुद्धिका उत्पादक होता है और अनायास ही शीघ्रतापूर्वक फलयोग (बुद्धियोग) का अप्रतिबन्धकभावसे साधक होता है, इसलिये वही सब साधनोंमें परम उत्तम है।'

इसके बाद यम-नियम आदि आठ अङ्गोंसे युक्त, चित्तवृत्तिका निरोधरूप फलवाला राजयोग भी सम्यग्रूपसे आत्मज्ञानका उपयोगी है, इसलिये वह भी उत्तम साधन है।

चित्तशुद्धि होनेके अनन्तर एकाग्रमनसे अखण्ड अपरिच्छिन्न आत्माका निरन्तर चिन्तन करनेवाला पुरुष अपरोक्षभावसे आत्माका अनुभव करता है।

आत्मामें चित्तकी समाधि ही अध्यात्मयोग कहलाता है, उसकी प्राप्ति हो जानेसे बुद्धिमान् पुरुष स्वयंप्रकाश आत्माका साक्षात् अनुभव करके हर्ष और शोक आदिसे रहित हो जाता है।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥

(गीता ६। १३,१५)

अर्थात् 'शरीर, मस्तक और ग्रीवा—इन्हें इस प्रकार

धारण करे,जिससे ये सम एवं अचञ्चल हों और स्थाणु-(ठूँठ पेड़-) की भाँति स्थिर होकर नेत्रोंसे अपनी नासिकाके केवल अग्रभागको देखता हुआ अन्य दिशाओंकी ओर दृष्टि न ले जाकर आत्म-भावनामें संलग्न हो चुपचाप बैठा रहे। योगनिष्ठ पुरुष इस प्रकार एकाग्र-चित्तसे निरन्तर आत्माका अनुसंधान करता हुआ, मुझमें स्थित हो जाना ही जिसका स्वरूप है ऐसी नित्य-निरतिशय परमकैवल्यरूपिणी शान्तिको प्राप्त कर लेता है।'

ऐसी अनेकों श्रुतियाँ और स्मृतियाँ तत्त्वदर्शनके उपाय-रूपसे राजयोगका वर्णन करती हैं। यह योग केवल अद्वैत विज्ञानको ही नहीं, सगुण भक्तिको भी चित्तकी एकाग्रताका सम्पादन करता हुआ सुदृढ़ करता है। इसी आशयका समर्थक शाण्डिल्यसूत्र भी है—

'योगस्तूभयार्थमपेक्षणात् ....'

अर्थात् 'भक्ति और ज्ञान दोनों ही चित्तवृत्तिकी स्थिरताकी अपेक्षा रखते हैं, अतः योग इन दोनोंका निमित्त एवं सहायक होता है।'

जिस प्रकार राजयोग भक्तिका उपकारक है, उसी प्रकार भक्ति भी योगके लिये उपयोगिनी है। अतः इन दोनोंमें परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव-सम्बन्ध है।

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा', **'तस्य वाचकः प्रणवः'**, **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'**—इन पातञ्जलयोग-दर्शनके सूत्रोंका भी यही भाव है कि परमेश्वरमें किये जानेवाले कायिक, वाचिक और मानसिक प्रणिधान—भक्तिविशेषसे संतुष्ट होकर ईश्वर अपने भक्तपर अनुग्रह करते हैं, अतः पाप आदि कारणोंसे होनेवाले विघ्न और प्रतिबन्धकोंके अभाव हो जानेसे उस भक्तको थोड़े ही समयमें समाधि और उसके फलकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। उस ईश्वरका वाचक नाम प्रणव-ॐकार है। प्रणव-मन्त्रका जप और प्रणव-प्रतिपाद्य ईश्वरका चिन्तन ही पूर्वोक्त प्रणिधान (भक्ति) है।

इस प्रकार प्रणव-जप और प्रणवके अर्थभूत परमात्माका भलीभाँति चिन्तन करनेसे अवश्य ही चित्त एकाग्र होता है। तदनन्तर बुद्धिमें स्पष्टरूपसे परमात्मा प्रकाशित होते हैं, अर्थात् परम तत्त्वज्ञानका उद्गम होता है—यह इन तीनों सूत्रोंका सम्मिलित अर्थ है।

इस विवेचनके अनुसार यद्यपि राजयोग और भक्ति-योग परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव-सम्बन्धसे युक्त होनेके कारण कुछ शास्त्रकारोंद्वारा तुल्यप्रधान बतलाये गये हैं, तथापि यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार आदिके द्वारा समाधिलाभ करना अत्यन्त कठिन, दुष्कर, परिश्रमसाध्य तथा अनेक विघ्नोंके कारण विषम कार्य है। अतः भक्तिमार्गपर चलना ही अत्यन्त सरल, सुकर तथा परिश्रम एवं विघ्नोंसे रहित है। इसलिये भक्तियोग ही शीघ्र फलदायक उत्तम साधन है। यही उन महात्मा विद्वानोंका भी सिद्धान्त है, जिन्होंने अनेकों साधनोंका अनुष्ठान स्वयं किया है। इस विषयमें व्यासजीके निम्नाङ्कित वचन ध्यान देने योग्य हैं—

यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना।
तत्फलं लभते सम्यक् कलौ केशवकीर्तनात्॥

'अन्य युगोंमें तपस्या, योग और समाधिसे भी जो फल प्राप्त नहीं होता, वही फल कलियुगमें मनुष्य केवल भगवान्‌का नाम-कीर्तन करनेसे पा लेता है।'

इस प्रकार यहाँ भक्तियोगकी प्रधानता होनेपर भी चित्त-वृत्तिनिरोधके विषयमें राजयोगका माहात्म्य निषिद्ध नहीं है। सिद्ध योगियोंकी सहायतासे प्राणायाम और प्रत्याहारादि योग-साधनोंका परिशीलन तथा उसके द्वारा समाधिसम्पादन भी कल्याणपदपर आरूढ़ होनेका उपाय होनेके कारण प्रशंसनीय ही है। दुःखके साथ कहना पड़ता है कि जो लोग योगकला-निष्णात सिद्ध-महात्माओंकी सहायताके बिना ही अपनी धृष्टताके कारण केवल पुस्तकोंकी सहायतासे प्राणायामादि योगमार्गपर चलते हैं, वे महान् अनर्थके गड्ढेमें गिरते हैं। उनके इस दुःसाहस और विपरीत बुद्धिपर आश्चर्य होता है।

पूर्वोक्तरूपसे राजयोग और भक्तियोग परस्पर उपकार्य-उपकारकभावसे सम्बद्ध होनेपर भी दोनों ही ज्ञानयोगके उपकारक होते हैं और अद्वैतबुद्धि (ज्ञान) योग किसी अन्यका अङ्गभूत होकर उपकारक नहीं है, अतः वही ईश्वरप्राप्तिका प्रयोजक उत्तम और अन्तिम योग है।

अपने-अपने वर्ण और आश्रमके लिये विहित सभी कर्मोंका ईश्वरार्पणबुद्धिसे अनुष्ठान करनारूप जो निष्काम कर्मयोग है वह भी रागादि दोषोंको दूर करके चित्त-शुद्धिके

द्वारा ज्ञानयोगका साधक होता है, अतः वह भी आदरणीय ही है। इस कर्मयोगका स्वरूप और माहात्म्य श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत आदि प्रामाणिक ग्रन्थोंमें विस्तारके साथ उपलब्ध होता है। कुछ प्राचीन कर्मठों और किन्हीं-किन्हीं आधुनिकोंकी भी यह सम्मति है कि 'कर्मयोग ही अन्य सभी साधनयोगोंसे श्रेष्ठ है, अतः उसीका सबको अनुष्ठान करना चाहिये।'

इनके अतिरिक्त अन्य जो क्रियायोग, जपयोग, हठयोग, लययोग आदि हैं, वे सभी परम्परासे बुद्धियोगके लिये उपयोगी होनेके कारण आदरणीय हैं और मुमुक्षुओंको उनका भी अनुष्ठान करना चाहिये।

इन सभी योगोंका मूल कारण क्या है, जिसके प्रभावसे उन-उन योगोंमें पुरुषोंकी प्रवृत्ति होती है और क्रमशः बुद्धियोग-सम्पादनके द्वारा परम कैवल्यकी प्राप्ति होती है? इसके उत्तरमें कहा जा सकता है कि सभी योगोंका मूल कारण साधु-संग है। साधु-संग ही सभी योगोंका मूलभूत योग है, इसलिये उसे मूलयोग कहा गया है। इस प्रकार सत्संगयोग परम्परासे परम बुद्धियोगका भी कारण है, अतः वही परमसे भी परमयोग है, उसकी उत्कृष्टताका अनुमान कोई भी नहीं कर सकता। अतः समस्त कल्याणों और सभी योगोंका आदिकारण सत्संग ही है। संसाररोगसे पीड़ित हुए मनुष्योंके लिये सत्संग ही सबसे उत्तम ओषधि है। भव-तापसे संतप्त पुरुषोंके लिये सत्संग ही सबसे बढ़कर सहारा है। संसार-सागरमें डूबते हुए लोगोंको सत्संग ही पार लगानेवाला उपाय है।

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २६। ३२)

'जिस प्रकार पानीमें डूबते हुए प्राणियोंके लिये सुदृढ़ नौका ही एकमात्र सहारा है, उसी प्रकार भयङ्कर संसार-समुद्रमें डूबते-उतराते हुए अत्यन्त दीन-दुःखी मनुष्योंके लिये अत्यन्त शान्त ब्रह्मवेत्ता साधु ही सबसे बड़े सहारे हैं।'

पूर्ण योग

(स्वामी श्रीमित्रसेनजी)

'योग'का अर्थ संयोग, मिलन या मेल है। दोका अथवा बहुतोंका एकमें मिल जाना योग है। यह योगसिद्धि वियोगमें होती है। परंतु वियोगसे योगमें आना तो फिर वियोगमें जानेके लिये ही है। ऐसा वियोग और योग अर्थात् योग-वियोग ही संसारी जीवन है, जिसमें देश-कालका अधिकार बना रहता है। ईश्वरी-जीवनमें पूर्ण योग भी है और पूर्ण वियोग भी। इस जीवनमें आना-जाना अथवा कोई परिवर्तन नहीं है, सभी रूप और सभी अवस्थामें यह योग है। यह निश्चित ही है कि ईश्वरीय सत्तासे रहित कोई भी सत्ता नहीं है। परंतु जिसमें यह धारणा और ज्ञान है कि सब विस्तार एक ईश्वरमें ही योग पा रहा है, वह तो अपने जीवनके समस्त विस्तारसे अपने प्रभुमें समाया ही है। उसका संसारी जीवन भी ईश्वरीय जीवन ही है। इस अवस्थाको प्रकट करनेके लिये नदी-सागरका दृष्टान्त प्रसिद्ध है। नदी अपने समुद्रमें पूर्ण योग प्राप्तकर अपने रूप और नामको समुद्रमें मिला रही है। समुद्रमें योग पाकर उसका रूप और नाम समुद्री सत्तामें समा जाता है और जो नदी अपने समुद्रमें योग नहीं पाती, वह अपने रूप तथा नामसे अभावमें आ जाती है। मानो अणुका अपने विभुमें योग पाना ही उसकी सत्ताका सत्यतामें बना रहना है।

अब नदीके इस पूर्ण योगपर विचार कीजिये। वह जिस पर्वतसे निकली है, उसका जो जन्म-स्थान है, वहींसे वह अपने समुद्रमें योग पा रही है। यह स्थिति मध्यकी है, उसकी अविच्छिन्न धारा उद्गमस्थानसे लेकर समुद्रपर्यन्त समुद्रसे सदा युक्त ही है। आदि, मध्य, अन्त किसी भी अवस्थामें वह योगशून्य नहीं है। यही उसका पूर्ण योग है।

इसी प्रकार साधक भी अपने पूर्णरूपमें और सभी अवस्थाओंमें अपने प्रभुमें पूर्ण योग पा रहा है। इसमें स्थूल या सूक्ष्मका भेद ही क्या है? जैसे संसारी दृष्टि अपने सम्मुख जो कुछ है—सब देख रही है, वैसे ही इसमें ईश्वरी सत्ताका देखना है। इसमें अपना देखना सबमें समाया ही है और ऐसी दृष्टि-द्वारा पूर्ण योग ही है। ऐसी स्थूल दृष्टिमें सूक्ष्म दृष्टि भी समायी ही है। पूर्ण आनन्द, पूर्ण उल्लास, पूर्ण उमंग सब पूर्ण-ही-पूर्ण है।

पूर्ण योगका अभिप्राय यह है कि मानो सभी रूपों, सभी

नामों और सभी अवस्थाओंमें अपने प्रभुजी अपना योग-ही-योग दे रहे हैं। किसी भी रूप, नाम या अवस्थामें तनिक-सी भी कुछ ग्लानि या शंका मनमें आ जाय तो समझना चाहिये कि यही योगसे हीनता है। परंतु यह ग्लानि, शंका या नहींका बर्ताव भी अपने प्रभुजीका ही पूर्ण दान है। यह भी पूर्ण योगकी पूर्ति और दृढ़तारूप ही है।

हिरण्यकशिपु श्रीप्रह्लादजीकी भक्तिमें अवरोध करनेवाले होकर भी अवरोधक नहीं थे, वरं उनकी गहरी दृढ़ताका कारण भी प्रभुकी प्रेरणा ही है। यह भी संसारी वियोगकी अवस्थासे पूर्णयोगकी सिद्धिमें पहुँचनेका एक पूर्ण साधन ही है। अपनी प्यारी वस्तुको छीननेवाला ही उस वस्तुमें प्रीति बढ़ानेवाला है।

कृष्णसमीपी पांडवा गले हिमाचल जाय।
कृष्णाबिरहिनी गोपियाँ मुक्तिधाम लिया पाय॥

पाण्डवोंका योग बाहरी योग था और गोपियोंका योग बाहरीसे भीतरी योगमें समाकर पूर्ण योग सिद्ध हो गया था। इसी प्रकार सभी योग पूर्ण योगमें समाये हैं।

समत्वं योग उच्यते

(सरस्वतीपुत्र श्रीगोपालजी)

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् आसक्तिको त्यागकर समत्वबुद्धिसे कर्म करनेके लिये आज्ञा देते हुए कहते हैं कि हे धनंजय! आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंका आचरण कर। यह समत्वभाव (जो कुछ भी कर्म किया जाय उसके पूर्ण होने और न होनेमें तथा उसके फलमें समभाव रहनेका नाम समत्व है) ही योग नामसे कहा जाता है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २।४८)

यहाँ भगवान्‌ने अर्जुनको कर्मयोगके आचरणकी जो प्रक्रिया बतायी है, उसके अनुसार उनका कहना है कि जब कर्मयोगका साधक अपने द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका त्याग कर देता है, तब उसमें स्वतः ही राग-द्वेष तथा हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंका अभाव हो जाता है। अपनी इस स्थितिपर पहुँचकर ही उसका सिद्धि और असिद्धिमें समानभाव हो जाता है, अर्थात् कर्मकी पूर्णता तथा अपूर्णतामें और अनुकूल तथा प्रतिकूल परिणाममें न वह हर्षित होता है और न शोक करता है। गीतामें ही ज्ञानयोगकी स्थितिका निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥

(५।२०)

यहाँ भगवान्‌ने यह स्पष्ट किया है कि ज्ञानयोगीकी स्थितिमें समभाव हो जानेके कारण उसकी किसी भी वस्तुमें लेशमात्र भी आसक्ति नहीं रहती। इसलिये वह अनुकूलकी प्राप्तिमें न तो हर्षित होता है और न कभी प्रतिकूलकी प्राप्तिमें उद्विग्न। इसी कारण उसके राग-द्वेष आदि सभी दोष समाप्त हो जाते हैं। ज्ञानी भक्तमें भी हर्ष-शोकादि विकारोंका सर्वथा अभाव रहता है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।

(१२।१७)

मूल तात्पर्य है कि जब मनुष्यमें फलासक्ति अथवा आसक्तिके त्याग-जैसा गुण विद्यमान हो जाता है तो फिर उसमें समभावका आना स्वाभाविक है, क्योंकि आसक्तिके त्यागका और समताका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये दोनों ही परस्पर एक दूसरेके सहायक हैं, अतः भगवान् श्रीकृष्णने गीता (२।४८) में सिद्धि तथा असिद्धिमें सम होकर कर्म करनेके लिये कहा है। यहाँ जिज्ञासा हो सकती है कि जब समत्वको ही योग नामसे कहा गया है तो फिर योगमें स्थित होनेके लिये अलगसे कहनेका क्या तात्पर्य है, क्योंकि सिद्धि और असिद्धिमें सम होकर कर्म करनेके अन्तर्गत ही योगमें स्थित होनेकी बात आ जाती है।

इस सम्बन्धमें बात कुछ ऐसी है कि कर्मयोगीकी अवधि है—समभावका स्थिर हो जाना। इसलिये भगवान्‌ने यहाँ यह भाव दर्शाते हुए कि योगमें स्थित होकर कर्म कर अर्थात् अर्जुन! तुझे केवल सिद्धि और असिद्धिमें ही समभाव नहीं रखना है, किंतु प्रत्येक क्रियाको सम्पादित करते समय किसी

भी पदार्थमें तथा किसी भी कर्ममें या उसके फल अथवा किसी प्राणीमें नित्य ही समभावसे स्थित रहना चाहिये। इसलिये भगवान् श्रीकृष्णने यहाँ योगकी परिभाषामें उसका अर्थ स्पष्ट किया है कि समताका नाम ही योग है तथा किसी भी साधनके द्वारा समत्वको प्राप्त कर लेना ही योगी बनना है। भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञानियोंके समत्वभाव और उनकी महिमाको इस प्रकार बताते हैं—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(गीता ५।१९)

अर्थात् जिनका मन समत्वभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है (वे जीते हुए ही संसारसे मुक्त हैं) क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम हैं, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित हैं। इसलिये समता परमपिता परमेश्वरका साक्षात् स्वरूप है।

रामचरितमानसके अयोध्याकाण्डमें श्रीराम-सीताको जमीनपर सोते हुए देखकर निषाद जब बहुत दुःखी हुआ तो लक्ष्मणजीने उससे श्रीरामके सम्बन्धमें कहा—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल बिकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥

(रा० च० मा० २।९३।७-८)

यहाँ भी तुलसीदासजीने रामकी भेदशून्य स्थिति बतायी है। यानी राम 'सम' हैं। उधर गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।

सभी प्राणियोंपर मेरी समान कृपा-दृष्टि है। न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय। कहनेका तात्पर्य यह है कि समता ही साधककी पूर्णता या पराकाष्ठा है। समभाव या समता आ जानेपर अन्य श्रेष्ठ गुण भी उसमें स्वतः ही आ जाते हैं। समता जीवका स्वाभाविक गुण है, जिसे गीतामें योग नामकी संज्ञा दी गयी है, जिस योगका स्वल्प मात्र साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

(गीता २।४०)

जन्म-मृत्युका भय उनको ही होता है जिनका मन समत्व-रूप परमेश्वरमें स्थित नहीं है। किंतु जो उस समत्व-रूप परमपिता परमेश्वरमें स्थित हैं, उनके लिये तो भगवान् घोषणा करते हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२।७)

ऐसे प्रेमी भक्तोंका शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-सागरसे उद्धार करनेवाला होता हूँ। सांख्ययोगमें श्रीकृष्ण कहते हैं—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

(गीता २।५३)

जब तेरी बुद्धि अनेक प्रकारके सिद्धान्तोंको सुननेसे विचलित हुई परमात्माके स्वरूपमें अचल और स्थिर ठहर जायगी, तब तू समत्वरूपयोगको प्राप्त होगा अर्थात् परमात्मासे तेरा नित्य संयोग हो जायगा। मनुष्य या जीवका प्रकृतिके साथ जो संयोग है, वह अनित्य है और परमात्माके साथ जो संयोग है वह नित्य है, प्रकृतिके साथ संयोगमें विषमता है जिसे मनुष्य स्वयं पैदा करता है, जो कृत्रिम तथा नाशवान् है किंतु दूसरी ओर मनुष्यका परमात्माके साथ संयोग अविनाशी है। इसके बीजका कभी नाश नहीं होता। जन्म-जन्मान्तर यह संयोग बना रहता है। **'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'** (गीता २।४०) तथा फिर वह आगेके जन्ममें भी अनायास ही समत्व-बुद्धियोगके संस्कारोंको प्राप्त हो जाता है—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।

(गीता ६।४३)

आत्माका स्वभाव समता तथा परमेश्वरकी प्राप्ति है। परमात्माको प्राप्त हुए कर्मयोगी, भक्तियोगी तथा ज्ञानयोगीमें समता या समत्व-भाव ही एक असाधारण लक्षण बताया गया है। बिना समत्व या समताके न साधन ही पूर्ण है और न सिद्धि ही। सिद्ध पुरुषमें समत्व नहीं तो वह सिद्ध कैसा ? ज्ञानमार्गमें भी ऐसे समभाव रखनेवाले साधक मोक्षके अधिकारी होते हैं। **'समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥'** (गीता २।१५) अर्थात् जिस धीर पुरुषमें विषयोंके संयोग-वियोगसे राग-द्वेष और हर्ष-शोकादि नहीं उत्पन्न होते हैं, वह परमात्माकी

प्राप्तिका पात्र बन जाता है। इसलिये परमेश्वरका संयोग ही सत्य है, क्योंकि वे नित्य सर्वत्र व्याप्त हैं और संसार तो मायामय है। सत्‌का कोई अभाव नहीं है तथा असत्‌का कुछ अस्तित्व नहीं है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (२।१६)

फिर किसी भी कार्यका आरम्भ होता है और समाप्ति भी होती है। कर्मफलका संयोग और वियोग दोनों ही निश्चित हैं, पर जीवात्मा ज्यों-का-त्यों ही रहता है। योगीका समताके साथ जो संयोग है, वही नित्ययोग है। भगवान्‌ने गीता (१२।२०) में बताया है कि इस धर्ममय अमृतको निष्काम-भावसे सेवन करनेवाला मुझे अतिशय प्रिय है। गीता(१४।२४-२५) में गुणातीत पुरुषके लक्षणोंको प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि योगी निरन्तर आत्मभावमें स्थित दुःख-सुखमें, मिट्टी-पत्थर और स्वर्णमें, प्रिय तथा अप्रियमें, अपनी निन्दा-स्तुतिमें, मान-अपमानमें, शत्रु और मित्र—सबमें समभाव रखता है। गीता (६।७—९) में एक सिद्ध कर्मयोगीकी भी यही स्थिति बताते हुए उसमें समत्व-भाव बताया गया है।

रामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें तुलसीदासजी कहते हैं—

निंदा स्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रान प्रिय गुन मंदिर सुख पुंज॥

(रा० च० मा० ७।३८)

बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥

(रा० च० मा० ७।४६।५-६)

भगवान्‌ने गीता (१२।१८-१९)में एक सिद्ध भक्तके लक्षणोंसे समता बताते हुए '**समः शत्रौ च मित्रे···· प्रियो नरः**' यही संदेश दिया है। छठे अध्यायके श्लोक सातसे नौमें पदार्थ आदिमें समभाव रखनेवाले एक सिद्ध कर्मयोगीकी स्थिति इस प्रकार बतायी गयी है—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

गीतामें इस प्रकारके समत्वभावके उदाहरण भरे पड़े हैं। तत्त्वज्ञानीकी स्थिति बताते हुए (५।१८में) कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समान-रूपसे एक परमात्माका ही दर्शन करते हैं। व्यावहारिक दृष्टिसे इन पाँचों प्राणियोंमें विषमता अनिवार्य है। एक योगीकी स्थिति बताते हुए (६।३२में) कहा गया है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

जैसे मनुष्य अपने सारे अङ्गोंमें अपनी आत्माको समभावसे देखता है, वैसे ही जो योगी अपने ही समान सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है,वह सुख और दुःखको भी सम देखता है और वही योगी परम श्रेष्ठ है। भाव यह है कि सर्वत्र आत्मदृष्टि हो जानेके कारण समस्त विराट् विश्व उसका स्वरूप बन जाता है।

इस समत्वभावसे जो सर्वत्र समदृष्टि रखता है, उसका दृष्टिकोण समष्टिरूप समस्त विश्वमें समभाव है।

अन्तःकरण तथा परमात्मतत्त्व अथवा साधक या सिद्धके दृष्टिकोणसे समत्व (समता) को साधनरूपा और साध्यरूपा संज्ञा दी जाती है। जैसे साधन-रूपा (साधककी समता) के अन्तर्गत कर्मयोगी सिद्धि और असिद्धिमें सम रहकर कर्म करता है—'**सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा**' (गीता २।४८)। इसी प्रकार ज्ञानयोगी सत्-असत्‌का विवेक होनेके कारण सत्-स्वरूपमें स्थित हुआ सदा ही सम रहता है, क्योंकि असत् कभी नित्य नहीं है, जैसे (गीता २।१५-१६)। इसी तरह भक्तियोगीमें भी समभावका दृष्टिकोण भक्तिके द्वारा आ जाता है, जैसे (गीता १२।१३)। मूल बात यह है कि जबतक विनाशी पदार्थोंका महत्त्व अन्तःकरणमें बना रहता है, तबतक स्वतःसिद्ध समताका अनुभव या आभास नहीं हो सकता है, किंतु इसके विपरीत इस महत्त्वके हटते ही समताका प्रादुर्भाव हो जाता है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह कभी असत्‌को महत्त्व न दे, जिससे विषमता उत्पन्न होती है। इसके

विपरीत समताके साथ मनुष्यका नित्ययोग है।

साध्यारूपा समता या सिद्धिके समत्व (समता) के अन्तर्गत कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोगके साधकमें समता स्वतः ही रहती है। साधकमें साधनरूपा समता होनेपर अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख, मान-अपमान, शीत-उष्ण आदिका प्रभाव पड़ता है और उनसे विचलित भी होता रहता है, किंतु जब साधकमें साध्यारूपा समता आ जाती है तो उसे अनुकूल और प्रतिकूलका ज्ञान होता तो है, पर उसका उसपर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता और न ही वह उनसे विचलित होता है। भगवान् श्रीकृष्ण इस स्थितिको दर्शाते हुए कहते हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(६।२२)

अर्थात्'जिस लाभको प्राप्त होकर उससे दूसरा कुछ भी अधिक लाभ नहीं मानता है और जिस अवस्थामें स्थित हुआ योगी बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं होता है।' अतः साध्यारूपा समताके प्राप्त होनेपर स्वतः ही समता आ जाती है। समत्वभाव (समता) में स्थित हुआ पुरुष जिसे गीतामें **'समत्वं योग उच्यते'** कहा गया है, अपनी जीवित-अवस्थामें ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(गीता ५।१९)

इस प्रकार भगवद्गीतामें सम-अवस्थामें रहनेकी स्थितिको योग कहा गया है और इसकी गीतामें बार-बार महत्ता प्रदिष्ट हुई है। यह एक प्रकारकी सिद्धावस्था है और भगवत्प्राप्त पुरुषका लक्षण है।

निष्काम-कर्मयोग

(श्रीरामकृष्णजी मिश्र, पी० सी० एस्०, अपर आयुक्त 'प्रशासन')

मानवके आधिभौतिक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक तापोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिके निमित्त विश्वमें योगविषयक अनेक ग्रन्थ निर्मित हुए हैं, जिनके सम्यक् अनुशीलन-हेतु अत्यधिक समय, धन, परिश्रम एवं शक्तिकी आवश्यकता है। किंतु श्रीमद्भगवद्गीता भगवान्की साक्षात् संक्षिप्त एवं सारगर्भित योगयुक्त वाणी[1] है, जबकि अन्यान्य धर्मग्रन्थोंमें ईश्वरकी वाणी मनुष्यतक पहुँचनेमें किसी-न-किसी माध्यमका आश्रय लिया गया है तथा सम्प्रेषणमें अन्तराल भी हुआ है । गीताके अठारह अध्यायोंमें मुख्य अठारह योगोंके अन्तर्गत बुद्धियोग, ध्यानयोग आदि अनेक भेद हैं, किंतु वे सब मुख्यरूपसे ज्ञान, भक्ति एवं कर्म—इन तीन योगोंमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। आदि-शंकराचार्य ज्ञानयोगको; रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य तथा निम्बार्काचार्य भक्तियोगको और लोकमान्य तिलक आदि महानुभाव कर्मयोगको गीताका मुख्य उपदेश मानते हैं। महात्मा गाँधी अनासक्तियोगके नामसे भक्ति एवं शरणागति-युक्त कर्मयोगको ही प्रधानता देते हैं। वास्तविकता यह है कि गीतामें भक्तियोगको अन्तर्निहित करते हुए केवल दो ही निष्ठाएँ—१-ज्ञानयोग तथा २-कर्मयोग विवेचित की गयी हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें निष्कामयोगके लिये कर्मयोग, योग, नैष्कर्म्य, मदर्थकर्म, तदर्थकर्म, मत्कर्म, समत्वयोग तथा बुद्धियोग आदि शब्द व्यवहृत हैं। यद्यपि श्रीमद्भगवद्गीतामें इस रूपमें यह शब्द कहीं भी प्रयुक्त नहीं है तथापि कामनारहित कर्तव्यकर्मके लिये कर्मयोगके स्थानपर लोकमें निष्काम-कर्मयोग शब्द ही अधिक प्रचलित है। प्रायः सभी टीकाकारगण गीताके द्वितीय अध्यायके बुद्धियोगको निष्काम-कर्मयोगका ही पर्याय मानते हैं। यह निष्काम-कर्मयोग आत्म-साक्षात्कारमें विशेष सहायक माना गया है।

आत्म-साक्षात्कारके दो मार्ग—जगत्में अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार आचरण करनेके लिये गीतामें दो प्रकारकी निष्ठाएँ बतायी गयी हैं। उनमेंसे ज्ञानयोग ज्ञानियोंके

१-'योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयम्।, (गीता १८।७५)

लिये तथा कर्मयोग कर्मयोगियोंके लिये हैं। ज्ञानयोग निवृत्ति तथा कर्मयोग प्रवृत्तिमार्ग है।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(गीता ३। ३)

ज्ञानयोग—निष्काम-कर्मयोगको समझनेके लिये ज्ञानयोगके स्वरूपको समझना पर्याप्त सहायक होगा। त्रिगुणात्मिका मायासे उत्पन्न गुण ही गुणोंमें वर्तते हैं, ऐसा समझकर मन, इन्द्रियों तथा शरीरसे होनेवाली समस्त क्रियाओंमें कर्तृत्वके अभिमानसे रहित होकर सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एक ही भावसे स्थित होनेका नाम ज्ञानयोग है। इसीको गीतामें सांख्ययोग, संन्यास तथा कर्मसंन्यास आदि नामोंसे भी कहा गया है। इस योगमें योगी अपनी आत्माका अवलोकन करते हुए परम संतुष्ट रहता है। इस प्रकार उसके लिये कोई कर्तव्य-कर्म शेष नहीं रहता। इस विषयमें तत्त्वज्ञानी याज्ञवल्क्यद्वारा अपनी पत्नी मैत्रेयीको दिये गये ज्ञानका उपदेश द्रष्टव्य है—

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

(बृहदारण्यकोपनिषद् ४। ५। ६)

श्रीमद्भगवद्गीता और मुण्डकोपनिषद्में भी कहा गया है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

(गीता ३। १७)

तथा—

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

(गीता २। ५५)

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मुण्डकोप० २। २। ८)

ज्ञानयोग एवं कर्मयोगकी एकता—ज्ञानयोग तथा निष्काम-कर्मयोग साधन-शैलीमें भिन्न-भिन्न होते हुए भी परम तत्त्वकी प्राप्तिमें एक ही हैं और दोनों ही परम कल्याणकारक हैं। परमात्म-तत्त्व-प्राप्तिरूप फल एक ही होनेके कारण दोनोंको एक ही बताया गया है, लेकिन श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार ज्ञानयोगकी अपेक्षा निष्काम-कर्मयोग अधिक श्रेयस्कर है।

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥

(गीता ५। ४, २)

ज्ञानयोगसहित अन्य योगोंकी अपेक्षा निष्काम-कर्मयोगके अधिक ग्राह्य होनेके कुछ कारण निम्नाङ्कित हैं—

१-निष्काम-कर्मयोग प्रवृत्तिमें निवृत्तिमार्गकी पुष्टि करता है।

यह गृहस्थ-आश्रमका विशिष्ट योग है। मनुष्य गृहस्थ-आश्रममें रहकर अपने कर्तव्यकर्मोंका पालन करते हुए तथा आश्रमका बिना त्याग किये हुए इस योगके माध्यमसे परमतत्त्वकी प्राप्तिमें समर्थ हो सकता है। भगवान्ने गीतामें सूर्य, मनु, इक्ष्वाकु तथा जनक आदि गृहस्थ राजर्षियोंका नाम उद्धृत करते हुए इङ्गित किया है कि कल्पके प्रारम्भमें प्रवृत्ति-मार्गियोंने इस विद्याको जानकर तथा इसके द्वारा निर्दिष्ट मार्गपर आचरण करके सुगमतापूर्वक परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति की थी (गीता ४। १-२, ३। २०)।

२-निष्काम-कर्मयोगके आश्रयके बिना ज्ञानयोग भी सरलतासे नहीं प्राप्त किया जा सकता। इसी उद्देश्यसे श्रीमद्भगवद्गीतामें निष्काम-कर्मयोगके बिना ज्ञानयोगकी प्राप्ति भी दुःखपूर्वक होनी बतायी गयी है—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ५। ६)

३-इस योगका आचरण अन्य योगोंकी अपेक्षा अत्यन्त सुगम तथा व्यावहारिक है। समस्त अवस्थाओं, जातियों, धर्मों एवं सम्प्रदायोंमें इस निष्काम-कर्मयोगका आचरण निर्भयतापूर्वक किया जा सकता है। निष्काम भावनासे किये जानेके कारण इसमें किसी प्रत्यवाय या विपरीत दण्डका भी भय नहीं रहता। अतः यह सब प्रकारसे उपयोगी तथा सुरक्षित योग है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(गीता २। ४०)

४-कर्मके विषयमें अर्जुनके मोहित हो जानेसे ही श्रीमद्भगवद्गीताका उपदेश दिये जानेकी आवश्यकता हुई थी।

वह अनुयायीको अरण्यमें चला जाना नहीं सिखाता, अपितु कर्मसे विरत हो रहे अर्जुनको अपने धर्मसे सम्बन्धित युद्ध-कर्मकी ओर ही प्रेरित करता है। यह संसार भी एक युद्ध है, जिसमें निष्काम-कर्मयोगके माध्यमसे कर्म करते हुए परम पदकी प्राप्ति कराना ही गीताका मुख्य उद्देश्य है।

५-तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके पश्चात् यद्यपि ज्ञानयोगीको कर्म करना आवश्यक नहीं है तथापि लोक-संग्रह एवं लोकशिक्षाके लिये आदर्श स्थापनके लिये वह कर्मोंमें प्रवृत्त रहता है। इसी उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये गीतामें स्वयं ब्रह्मा तथा भगवान्‌के द्वारा कर्मोंमें प्रवृत्त रहनेको वरीयता दी गयी है। आदिशंकराचार्य प्रभृति ज्ञानी तथा महात्मा गाँधी, श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका-सदृश महात्मागण लोकशिक्षाके कार्यसे अलग नहीं हुए, क्योंकि लोककल्याण ही उनका एकमात्र उद्देश्य था[२]।

कर्मका स्वरूप

निष्काम-कर्मयोगमें कर्म ही वह कार्यकारी उपादान है, जिसपर इस योगका भव्य प्रासाद निर्मित होता है। यद्यपि कर्मोंकी गति अत्यन्त गहन तथा कठिन है तथापि गीतामें विभिन्न संदर्भोंमें कर्मोंकी निम्न कोटियाँ निर्दिष्ट हैं—

(१) कर्म	अकर्म	विकर्म
(२) सात्त्विक	राजस	तामस
(३) शारीरिक	मानसिक	वाचिक
(४) इष्ट	अनिष्ट	मिश्रित
(५) शुभ	अशुभ	शुभाशुभ
(६) सञ्चित	प्रारब्ध	क्रियमाण

मानसिक भावना ही क्रियाओंके कर्म, अकर्म तथा विकर्म बनानेमें मूल हेतु है। कर्मका स्वरूप एक दीखनेपर भी मानसिक भावनामें अन्तर होनेके कारण उनके स्वरूप तथा परिणामोंमें भी अन्तर आ जाता है। कोई भी क्रिया साधारण कामना रहनेसे कर्म, किसीको अनिष्ट पहुँचानेकी भावना होनेसे विकर्म तथा कामनारहित होनेसे अकर्म या निष्कामकर्म बन जाती है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

(मैत्रायण्युपनिषद् ४। ११)

श्रीमद्भगवद्गीतामें कर्मकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥

(गीता ५। ११, १८। १५)

इसका तात्पर्य यह है कि शरीर, मन और इन्द्रियोंद्वारा की जानेवाली प्रत्येक चेष्टा, व्यापार या हलचलका नाम कर्म है। इस परिभाषामें कर्मकी परिधि इतनी अधिक व्यापक है कि देहधारियोंके द्वारा किसी कालमें सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग किया जाना कदापि सम्भव नहीं है। यथा—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥

(गीता ३। ५, १८। ११)

योगः कर्मसु कौशलम्

चूँकि देहधारियोंके द्वारा समस्त कर्मोंका त्याग असम्भव है, अतः निष्काम-कर्मयोग कर्मकी ऐसी युक्ति प्रतिपादित करता है, जिससे शरीर-यात्रा भी चलती रहे तथा इस निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे बन्धन भी न हो। कर्मोंको करनेकी इसी कुशलताका नाम निष्काम-कर्मयोग है—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

(गीता २। ५०)

अब प्रश्न यह उठता है कि कर्मोंको करनेमें वह कौशल या युक्ति क्या है, जिससे प्रवृत्तिमार्गमें रहते हुए भी निवृत्तिमार्गका फल या परमतत्त्वकी प्राप्ति हो जाय। अर्थात् कर्मोंको भुने चनेके समान अङ्कुरणरहित या बन्धनमुक्त कैसे बनाया जाय? निष्काम-कर्मयोगकी इस तकनीककी निम्नाङ्कित विशेषताएँ हैं—

२-नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन। न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ (गीता ३। १८, २२)

(१) केवल नियत कर्मका विधान—मीमांसकोंके अनुसार कर्मके दो प्रकार हैं—(१) विहित-कर्म, (२) निषिद्धकर्म। पुनः वेदों एवं शास्त्रोंद्वारा निर्धारित विहित कर्मोंकी भी चार श्रेणियाँ हैं—(१) नित्य, (२) नैमित्तिक, (३) काम्य और (४) प्रायश्चित्त। निष्काम-कर्मयोगमें निषिद्धकर्म (चोरी, व्यभिचार, असत्य, कपट एवं हिंसा आदि) तथा काम्यकर्म (स्त्री, पुत्र, धन तथा यश आदिकी प्राप्ति हेतु कर्म) सर्वथा त्याज्य हैं। नित्य, नैमित्तिक एवं प्रायश्चित्त-सम्बन्धी समस्त विहित कर्मोंको एक व्यक्तिद्वारा किया जाना सम्भव नहीं है। अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार निर्धारित कर्म तथा यज्ञ, दान और तपको नियत कर्म, सहज कर्म या स्वाभाविक कर्म कहा गया है। इहलोक तथा परलोकके सम्पूर्ण भोगोंकी कामनाका सर्वथा त्याग करते हुए श्रद्धा एवं उत्साहपूर्वक इन्हीं नियत कर्मोंका किया जाना इस योगमें अपेक्षित है—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्मज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

(गीता ३। ८, १८। ४५, १६। २४, १८। ५)

(२) फलेच्छाका अभाव—इस योगमें कर्तव्यकर्मोंका किया जाना मानवका स्वाभाविक धर्म है, किंतु उनमें फल-प्राप्तिकी कामना कदापि नहीं होनी चाहिये। परिश्रम, श्रद्धा एवं निष्ठापूर्वक किये गये कर्मका फल तो अच्छा ही होगा। इसी भावनाको दृष्टिगत रखते हुए निम्नाङ्कित श्लोक निष्काम-कर्मयोगका चतुःसूत्री श्लोक कहा गया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २। ४७)

इसके अतिरिक्त अन्य श्लोक भी द्रष्टव्य हैं—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

(गीता ४। २०, २। ५१, ५। १२, ६। १)

(३) आसक्तिका अभाव—विषयोंका ध्यान करते हुए पुरुषके लिये आसक्ति ही वह प्रथम सीढ़ी है, जिसपर आरूढ़ होकर मानव पतनोन्मुख होकर नष्ट हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें उसके पतनका क्रम यह है कि प्रायः सामान्य व्यक्तिको विषयोंका चिन्तन करते-करते उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, जिससे उनकी कामना उत्पन्न होती है। कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे अविवेक या मूढ़भाव उत्पन्न होता है, जिससे स्मरण-शक्ति भ्रमित हो जाती है। स्मृतिके भ्रमित होनेसे बुद्धिका नाश होता है तथा अन्ततः वह पुरुष अपने साधनसे पतित होकर नष्ट हो जाता है। (गीता २। ६२-६३)।

अतः कर्तव्य कर्मोंमें किंचिन्मात्र भी आसक्ति नहीं होनी चाहिये। आसक्ति ही कर्मबन्धनका हेतु है, जो परमतत्त्वकी प्राप्तिमें त्याज्य है। (गीता ४। २३)।

(४) समत्व-बुद्धि—जिस प्रकार समुद्रमें विभिन्न नदियोंके जल प्रवेश करते हैं, लेकिन उसमें कोई विशेष हलचल उपस्थित नहीं होती, उसी प्रकार इस जगत्में रहते हुए निष्काम-कर्मयोगीके मनमें सिद्धि-असिद्धि, जय-पराजय, सुख-दुःख तथा लाभ-हानि आदि द्वन्द्वोंमें भी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। यही समत्व निष्काम-कर्मयोग या समत्व नामक बुद्धियोग है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(२। ४८)

(५) सर्वत्र समान व्यवहार—जिस प्रकार मनुष्य अपने शरीरके समस्त अङ्गों—सिर, मुँह, मस्तिष्क, गुदा तथा

उपस्थके विभिन्न कर्मोंको जानते हुए भी उनके सुख-दुःखमें समान व्यवहार करता है, उसी प्रकार निष्काम-कर्मयोगी भी समस्त प्राणियोंमें ब्रह्म-सत्ताका दर्शन करता हुआ उनसे यथोचित व्यवहार करता है तथा किसीसे द्वेष नहीं करता। (गीता ५। १८, ६। ९, ३०)।

(६) काम्य संकल्पोंका भी त्याग—इस योगके अनुयायीके लिये केवल काम्य कर्मोंका ही नहीं, अपितु समस्त काम्य संकल्पोंका भी परित्याग कल्याणकारी है, क्योंकि जब बीजरूप संकल्प[3] ही नहीं होगा तो काम्य कर्मरूप वृक्षकी भी उत्पत्ति नहीं होगी तथा परमतत्त्वकी प्राप्तिमें प्रारम्भसे ही कोई व्यवधान भी नहीं होगा—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

(४। १९)

(७) कर्मोंको भगवान्‌के लिये अर्पण करना तथा शरणागति-भाव—इस योगमें समस्त कर्मोंको भगवान्‌के ही अर्पण किया जाना अपेक्षित है। समस्त कर्म पूर्ण शरणागति तथा समर्पण-भावसे करने चाहिये ताकि उन कर्मोंको करनेसे किसी प्रकारका कोई बन्धन न रहे—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता ९। २७, ४। २४, १८। ६५-६६)

इस प्रकार निष्काम-कर्मयोग मानवकी शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक प्रकृतिके सर्वथा अनुकूल है। उससे स्वार्थ तथा परमार्थ, व्यक्ति तथा समाज, इहलोक एवं परलोक सभीका कल्याण-साधन होता है। वैयक्तिक कामनासे रहित होकर विश्वात्माकी कामनासे कर्म करना ही ईश्वरसे तादात्म्य स्थापित करना है। हर प्रकार समझानेके बाद अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको यही उपदेश दिया था कि वह सभी धर्मोंको छोड़कर केवल उनकी शरणमें आ जाय। वे स्वयं उसे समस्त पापोंसे मुक्त कर देंगे। अतः निष्काम-कर्मयोगका भी प्रयोजन मानवका दैवी रूपान्तर करके ईश्वरके कार्यका साधन बनाते हुए समग्र विश्वके वास्तविक कल्याणका मार्ग प्रशस्त करना है।

तिब्बती योग 'लुङ्गोम' एवं आकाश-सञ्चरण-विद्या

(श्रीब्रह्मानन्दजी द्विवेदी 'आनन्द')

'लुङ्गोम' तिब्बतकी असामान्य गति एवं आकाशोड्डयन-की विशिष्ट साधना है। वस्तुतः यह एक विशिष्ट प्राणायाम-पद्धति है। इस साधनामें प्रायः विभिन्न सिद्धियाँ अन्तर्भुक्त हैं। इसके अन्तर्गत प्राणायामको मनकी एकाग्रताके साथ संयुक्त किया जाता है। इसके द्वारा साधक सैकड़ों मीलकी दूरी स्वल्प कालमें ही तय कर सकता है। तिब्बतके साधकोंमें यह प्रक्रिया बहुत अधिक प्रचलित थी। ग्यारहवीं सदीके संत कवि मिलारेस्पाके लामा गुरु, स्वयं मिलारेस्पा एवं गुरुभ्राता 'त्रपा' आकाशमें घोड़ेसे भी अधिक तीव्र गतिसे उड़ा करते थे। मिलारेस्पाने स्वयं कहा है कि मैंने एक बार अत्यधिक सुदीर्घ मार्ग जो कि महीनोंमें पार हो पाता, स्वल्प कालमें पार कर लिया। अलेक्जेन्ड्रा डेविड नीलने इस प्रकारके तीन लुङ्गोम साधकोंको आकाशमें उड़ते हुए स्वयं देखा था।

लुङ्गोमकी साधनामें शरीरकी सहनशक्तिमें अत्यधिक वृद्धिका अभ्यास किया जाता है। इस प्रक्रियाके सिद्ध होनेपर साधक अनवरत अनेक दिन अहोरात्र तबतक चलते रहते हैं,

---

३-यद्यपि मनुके अनुसार कोई भी कार्य बिना संकल्पके प्रारम्भ ही नहीं हो सकता है तथापि मनुष्य जो भी यज्ञ या कार्य करता है, उसके पहले संकल्पका विधान है। संकल्प कर्मका कारण होता है। यदि वह शुभ हो तो अत्यन्त कल्याणकारी है।

संकल्पमूलाः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः। व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्। यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥ (मनु० २। ३-४)

जबतक कि वे अपने निर्दिष्ट स्थलतक नहीं पहुँच जाते। त्शांग प्रान्तका शालूगोम्पा इस साधना-प्रशिक्षणका प्रमुख केन्द्र रहा है। इसके अतिरिक्त भी इसके अनेक केन्द्र हैं।

भारतीय योगशास्त्र भी इस साधनाकी झलक देता है। इसके अनुसार शरीरमें भू-तत्त्व एवं जल-तत्त्वकी मात्रा घटाकर अग्नि एवं वायु-तत्त्वके अंशकी अत्यधिक वृद्धि कर दी जाती है। परिणामतः शरीर अत्यधिक हलका हो जानेके कारण साधक आकाशमें सैकड़ों मील प्रति घंटेकी गतिसे गमन कर सकता है।

इस साधन-प्रक्रियामें किसी अनुभवी गुरुके निर्देशानुसार शिष्यको प्राणायामका अभ्यास करना पड़ता है। फिर साधकको दौड़नेका अभ्यास करना पड़ता है। फिर वह गुरूपदिष्ट मन्त्र-विशेषका कुछ कालतक जप एवं ध्यान करता है। आकाशगमनके समय इसी मन्त्रका साधकको जप करना पड़ता है। इस तारतम्यमें प्रत्येक पद मन्त्र एवं प्राणायामके समपर पड़ना चाहिये। साधकको अपनी दृष्टि गन्तव्य स्थानपर केन्द्रित रखनी चाहिये। सामान्यतः गुरु अपने शिष्यको किसी आकाशके तारेपर अपनी दृष्टि केन्द्रित रखकर यात्रा करनेका उपदेश देते हैं। दीर्घाभ्यासोपरान्त प्रगाढ़ सुषुप्ति एवं योगनिद्रामें सिद्धि प्राप्त कर लेनेपर तारेके अस्त हो जानेपर भी साधक—यात्रीके चक्षु उस तारेमें ही केन्द्रित रहते हैं और उसका ध्यान-प्रवाह भंग नहीं हो पाता। दीर्घाभ्यासके अनन्तर साधकके पैर पृथ्वीका संस्पर्श छोड़ देते हैं और वह वायुमण्डलमें तैरने लगता है। यह एक ऐसी योगनिद्रा है, जिसमें साधकको अपने शरीरका भार अनुभूत ही नहीं होता, क्योंकि वह अत्यधिक हलका हो जाता है!

उपर्युक्त साधनाका अभ्यास संध्याके समय, चाँदनीमें किसी समतल भूमिवाले लंबे-चौड़े रेगिस्तानी मैदानों आदिमें किया जाता है। आरम्भिक साधक दोपहर, तृतीय प्रहर, अरण्य, उपत्यका एवं पहाड़के व्यवधानोंपर विजय नहीं कर पाते और इसी प्रकार तारोंके अस्त हो जानेपर अग्रवर्ती यात्रा भी नहीं कर पाते, वे मार्गमें ही रुक जाते हैं, किंतु अनुभवी गुरुओंके लिये ये व्यवधान भी कोई अर्थ नहीं रखते। कथासरित्सागरकी प्रारम्भिक कथाओंमें इस प्रकार आकाश-गमनकी यात्राओंका कई स्थानोंपर उल्लेख हुआ है। पुराणोंमें भी पादुकासिद्धि, लेपसिद्धि आदिके द्वारा आकाशगमनकी अनेकों कथाएँ मिलती हैं। अतः इस विषयमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये।

बिरले योगी

(स्व० योगिवर्य महात्मा श्रीचिदानन्दजी यति)

अवधु निरपक्ष बिरला कोई, देख्या जग बहु जोई—
सम रस भाव भला चित जाके थाप उथापन होई।
अविनाशीके घरकी बाताँ जानेंगे नर सोई॥ अवधु०॥
राव रंकमें भेद न जाने कनक उपल सम लेखे।
नारि नागिनीको नहिं परिचय ते शिवमन्दिर देखे॥ अवधु०॥
निन्दा-स्तुति श्रवण सुनीने हर्ष शोक नवी आणे।
ते जगमें योगीसर पूरा नित चढ़ते गुण ठाणे॥ अवधु०॥
चन्द्र समान सौम्यता जाकी सागर जेम गँभीरा।
अप्रमतें भारंड परैं नित सुर गिरि सम शुचि धीरा॥ अवधु०॥
पंकज नाम धराय पंक सुं रहत कमल जिम न्यारा।
'चिदानन्द' ऐसा जन उत्तम सो साहेबका प्यारा॥ अवधु०॥

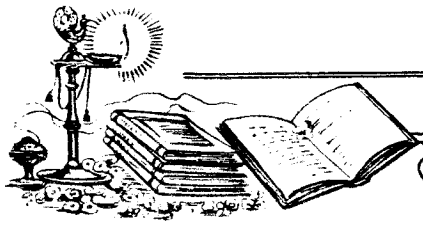

भारतीय वाङ्मयमें योग

वेदमें योगविद्या

(श्रीजगन्नाथजी वेदालंकार)

सभी धर्म-कर्म, योग, ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति आदि सत्कर्म वेदोंद्वारा निर्दिष्ट हैं और उनसे ही निःसृत माने गये हैं, यहाँतक कि भविष्यमें होनेवाले ज्ञान-विज्ञान तथा कला-साहित्य आदिका भी वेदोंमें उत्स प्राप्त है—

'भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥'

(मनु० १२।९७)

यहाँ संक्षेपमें योगमूलक कुछ वैदिक मन्त्रोंका निर्देश किया जा रहा है। योग शब्दका अर्थ है जोड़ना अथवा युक्त करना, समाहित अथवा एकाग्र होना। अपने आत्माको परमात्माके साथ युक्त करना ही योग है और जिस साधनसे इस प्रकारका योग एवं सायुज्य प्राप्त होता है, वह भी योग कहलाता है। योगभाष्यके रचयिता महर्षि व्यास कहते हैं कि पूर्ण एकाग्रतासे परमात्मामें समाहित हो जाना, समाधिकी अवस्था प्राप्त कर लेना भी योग है। अर्थात् 'योग' शब्द साधन और साध्य दोनोंका वाचक है।

ऋग्वेदके एक मन्त्रमें यह शब्द इन्हीं अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है—

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति ॥

(१।१८।७)

अर्थात् जिन (इन्द्राग्नि) देवताके बिना प्रकाशपूर्ण ज्ञानीका जीवन-यज्ञ भी सफल नहीं होता, उसीमें ज्ञानियोंको अपनी बुद्धियों और कर्मोंका योग करना चाहिये, उसी देवमें उन्हें अपनी बुद्धियों और कर्मोंको अनन्यरूपसे एकाग्र करना चाहिये। उनकी बुद्धि उस देवके साथ तदाकार हो जाती है और वह उनके कर्मोंमें भी ओतप्रोत हो जाता है। अपनी सभी क्रियाओं और चेष्टाओंमें भी उनका चित्त उसके साथ जुड़ा रहता है।

योगके इस प्रधान लक्षणका प्रतिपादन यजुर्वेदके ११ वें अध्यायके प्रथम पाँच मन्त्रोंमें अत्यन्त स्पष्ट और सरल शब्दोंमें किया गया है। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याऽभरत्॥

सबको उत्पन्न करनेवाले परमात्मा पहले हमारे मन और बुद्धिकी वृत्तियोंको तत्त्वकी प्राप्तिके लिये अपने दिव्य स्वरूपमें लगायें और अग्नि आदि इन्द्रियाभिमानी देवताओंकी जो विषयोंको प्रकाशित करनेकी सामर्थ्य है, उसे दृष्टिमें रखते हुए बाह्य विषयोंसे लौटाकर हमारी इन्द्रियोंमें स्थिरतापूर्वक स्थापित कर दें, जिससे हमारी इन्द्रियोंका प्रकाश बाहर न जाकर बुद्धि और मनकी स्थिरतामें सहायक हो।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
स्वर्ग्याय शक्त्या॥

हम लोग सबको उत्पन्न करनेवाले परमदेव परमेश्वरकी आराधनारूप यज्ञमें लगे हुए मनके द्वारा परमानन्दकी प्राप्तिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्न करें। अर्थात् हमारा मन निरन्तर भगवान्‌की आराधनामें लगा रहे और हम भगवत्प्राप्तिजनित अनुभूतिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्नशील रहें।

युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्र सुवाति तान्॥

वे सबको उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर मन और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंको जो स्वर्ग आदि लोकोंमें, आकाशमें विचरनेवाले तथा बड़ा भारी प्रकाश फैलानेवाले हैं, हमारे मन और बुद्धिसे संयुक्त करके हमें प्रकाश प्रदान करनेके लिये प्रेरणा करें, ताकि हम उन परमेश्वरका साक्षात् करनेके लिये ध्यान करनेमें समर्थ हों। हमारे मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रकाश फैला रहे। निद्रा, आलस्य और अकर्मण्यता आदि दोष हमारे ध्यानमें विघ्न न करें।

इसी प्रकार ऋग्वेदमें कहा गया है—

यूयं तत् सत्यशवस आविष्कर्त महित्वना ।
विध्यता विद्युता रक्षः ॥
गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम् ।
ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि ॥

(१ । ८६ । ९-१०)

—इन मन्त्रोंमें गौतम ऋषि मरुद्-देवताओंका आवाहन कर उनसे ज्योति-प्राप्तिकी प्रार्थना करते हैं—'हे सत्यके बलसे सम्पन्न मरुतो ! तुम्हारी महिमासे वह परमतत्त्व हमारे सामने प्रकाशित हो जाय। विद्युत्के सदृश अपने प्रकाशसे राक्षसका विनाश कर डालो। हृदयगुहामें निहित अन्धकारको छिन्न-भिन्न कर दो, वह अन्धकार सत्यकी ज्योतिकी बाढ़में डूबकर तिरोहित हो जाय। हमारी अभीष्ट ज्योतिको प्रकट कर दो।'

यहाँ मरुद्देवताओंसे योगपरक अर्थ करनेमें पञ्च प्राण—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यानका भी ग्रहण हो सकता है। इनपर पूर्ण प्रभुत्वकी प्राप्तिसे योगाभ्यासीको शक्तिके आरोहण और अवरोहणका अनुभव और परम तत्त्वका साक्षात्कार प्राप्त होता है। साक्षात्कारसे जिस ज्योतिके दर्शन होते हैं, वही योगीका अभीष्ट ध्येय है।

अथर्ववेदके एक मन्त्रमें राजयोगकी प्राणायाम-प्रणालीसे होनेवाले शक्तिके आरोहणका वर्णन प्रतीकात्मक भाषामें किया गया है—

पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम् ।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम् ॥

(४ । १४ । ३)

—इस मन्त्रमें पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ क्रमशः अन्न, प्राण और मनकी भूमिकाओंके प्रतीक हैं और स्वर्ज्योति मनसे परे स्थित, वाङ्मनस-अगोचर विज्ञानमय भूमिकाका प्रतीक है। प्राणायामसे सिद्धिप्राप्त साधक कहता है कि मैंने पृथ्वीके तलसे अन्तरिक्षमें आरोहण किया, अन्तरिक्षसे द्युलोकमें और आनन्दमय द्युलोकके स्तरसे आरोहण करके मैं स्वर्लोकके ज्योतिर्मय धाममें पहुँच गया। पातञ्जलयोगदर्शनके अनुसार ये भूमिकाएँ विक्षिप्त, सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात और कैवल्य भूमिकाएँ कहलाती हैं।

चेतनाके उत्तरोत्तर आरोहणके क्रममें योगीको जो अनुभूतियाँ होती हैं, उनका वेदोंमें अनेकत्र वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥

(अथर्व० १० । २ । ३१)

—इस मन्त्रमें यह कहा गया है कि 'आठ चक्रों और नौ द्वारोंसे युक्त हमारी यह देहपुरी एक अपराजेय देवनगरी है। इसमें एक हिरण्मय कोश है, जो ज्योति और आनन्दसे परिपूर्ण है।'

वैदिक योगसाधनाका ध्येय है आत्माका परमात्माके साथ ऐक्य। उसके लिये साधककी अभीप्सा निम्नलिखित मन्त्रमें सुन्दर ढंगसे व्यक्त की गयी है—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम् ।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥

(ऋ० ८ । ४४ । २३)

अर्थात् 'हे अग्निदेव ! यदि मैं तू अर्थात् सर्वसमृद्धि-सम्पन्न हो जाऊँ या तू मैं हो जाय तो मेरे लिये तेरे सभी आशीर्वाद सत्य सिद्ध हो जायँ।'

इस प्रकार यहाँ वेदमन्त्रोंके आधारपर योग-सम्बन्धी कुछ रहस्यात्मक तत्त्व संक्षेपमें निर्दिष्ट किये गये हैं। प्राचीन या अर्वाचीन सभी योगमार्ग वेदमूलक ही हैं। वेदोंमें योगके मूलभूत सूत्र शिवसंकल्प-सूक्तमें भी सरल रूपमें सबके कल्याणके लिये निर्दिष्ट हुए हैं। इस सूक्तके उपदेशोंके आधारपर प्राणिमात्रके प्रति मैत्री-भावना और समदृष्टिका अभ्यास करना चाहिये। यह अभ्यास सिद्ध हो जानेपर अपने हृदयके सभी भावोंको भगवान्की ओर ही प्रेरित करे, सभी सांसारिक सम्बन्धों और अलौकिक सम्बन्धोंको भगवान्के साथ ही जोड़ दे। अनेकों वेदमन्त्रोंमें[१] यह उपदेश दिया गया है कि हमें माता-पिता, पुत्र, मित्र, कलत्र, बन्धु-बान्धव आदि सभी सम्बन्ध अपने सच्चे और अनन्य बन्धु भगवान्के साथ ही जोड़ने चाहिये, संसारी जनोंके साथ नहीं। सांसारिक आसक्तियोंको दूर करने और भगवान्में परम अनुरक्ति और

१-ऋ० ७ । ३२ । १९, ८ । ९८ । ११, ६ । १ । ५, १० । ४३ । १, ९ । ६१ । ४, १० । १८६ । २; सामवेद ११७० ।

रति उत्पन्न करनेका इससे सरल और सरस मार्ग अन्य कोई नहीं है। हृदयके सभी भावों और निखिल कामनाओंको भगवान्‌की ओर मोड़ देनेसे ही उनके साथ सारूप्य, साधर्म्य, सायुज्य और ऐकात्म्य सहजतया प्राप्त हो सकता है, जैसा कि भागवतमें स्पष्टरूपसे प्रतिपादित किया गया है—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया।
स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद् वापि याति तत्तत्सरूपताम्॥
कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः।
याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसंत्यजन्॥

(१०।२९।१५, ११।९।२२-२३)

'काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य और सौहार्दके भावों एवं वृत्तियोंको जो लोग नित्य-निरन्तर भगवान्‌के साथ ही जोड़े रहते हैं, वे उनके साथ सहज ही तन्मयता प्राप्त कर लेते हैं।

यदि प्राणी स्नेहसे, द्वेषसे अथवा भयसे भी अपना मन एकाग्र-रूपसे किसीमें लगा दे तो उसे उसी वस्तुका स्वरूप प्राप्त हो जाता है, जैसे भृङ्गी (भ्रमर) एक कीड़ेको ले जाकर दीवारमें अपने रहनेके स्थानमें बंद कर देता है और वह कीड़ा भयसे उसीका चिन्तन करते-करते अपने पहले शरीरका त्याग किये बिना ही उसी चिन्तन किये गये रूपको प्राप्त कर लेता है—तद्रूप हो जाता है।'

धन्य हैं वे, जो इस प्रकारकी अनन्य एकाग्रताका आश्रयकर भगवान्‌के साथ तन्मयता प्राप्त कर लेते हैं।

योगोपनिषदोंमें योग-निरूपण

(पं० श्रीवटुकनाथजी शर्मा एम्० ए०, साहित्याचार्य)

योग हिन्दू-जातिकी सबसे प्राचीन तथा सबसे समीचीन सम्पत्ति है। यही एक ऐसी विद्या है जिसमें वाद-विवादको कहीं स्थान नहीं, यही वह एक कला है जिसकी साधनासे अनेक लोग अजर-अमर होकर देह रहते ही सिद्ध-पदवीको पा गये। यह सर्वसम्मत अविसंवादि सिद्धान्त है कि योग ही सर्वोत्तम मोक्षोपाय है। भवतापतापित जीवोंको सर्वसंतापहर भगवान्‌से मिलानेमें योग अपनी बहिन भक्तिका प्रधान सहायक है। जिसको अन्तर्दृष्टि नहीं, उसके लिये शास्त्र भारभूत है। यह अन्तर्दृष्टि बिना योगके सम्भव नहीं। अतः इसमें संदेह नहीं कि भारतीय तत्त्वज्ञानके कोशको पानेके लिये योगकी कुंजी पाना परमावश्यक है।

वेदबाह्य बौद्ध, जैन आदि भी योगपर उतनी ही आस्था रखते हैं, जितनी श्रद्धा वेदसम्मत-मतानुयायी सामान्य धार्मिक जनता रखती है। अनेक विलक्षण आचारसम्पन्न साधकगण भी योगको ही परमालम्बन मानते थे। हिन्दुओंके नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें भी योगके कितने अङ्ग—आसन, प्राणायाम आदि—व्याप्त देखे जाते हैं। यह एक बड़ी विशिष्ट बात है कि योगका यह प्राधान्य प्राचीनतम कालसे चला आया है।

वेद ही संसारभरके प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। वेदके दो विभाग हैं—मन्त्र और ब्राह्मण—'**मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः।**' मन्त्रोंके संग्रहका नाम संहिता है। मन्त्रोंके विनियोग आदि विषयोंको बतलानेवाला ग्रन्थ ब्राह्मण कहा जाता है। ब्राह्मणोंका अन्तिम भाग बहुधा आरण्यक होता है। आरण्यकोंका अन्तिम अंश बहुधा उपनिषद् होता है। यही कारण है कि उपनिषद् वेदान्त कहे जाते हैं। उपनिषद्का अर्थ है 'रहस्य', 'गुप्त उपदेश'। वेदका सारभूत विषय जो परम अधिकारप्राप्त शिष्योंको ही बताया जाता था, वही उपनिषदोंमें भरा हुआ है। ऐसा माना जाता है कि वेदकी जितनी शाखाएँ थीं उतनी ही संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदें भी थीं। ऋग्वेदकी इक्कीस, यजुर्वेदकी एक सौ नौ, सामवेदकी एक हजार तथा अथर्ववेदकी पचास शाखाएँ थीं। सब मिलाकर ११८० शाखाएँ थीं। अतः इतनी ही उपनिषदें भी होनी चाहिये। किंतु संहिता, ब्राह्मणोंके साथ-साथ बहुत-सी उपनिषदें भी लुप्त हो गयीं।

उपनिषद्-साहित्यमें कठ, मुण्डक, श्वेताश्वतर तथा बृहदारण्यक आदि उपनिषदोंमें योगकी पर्याप्त चर्चा है, किंतु केवल योगसे ही विशेष सम्बन्ध रखनेवाली बीस उपनिषदोंका संग्रह 'योगोपनिषद्-संग्रह'के नामसे प्रकाशित है। साथ ही योगराजोपनिषद् भी योगका आर्ष ग्रन्थ है। यहाँ इन्हें आधार मानकर औपनिषद-योगका संक्षेपमें वर्णन किया जा रहा है—

१-अद्वयतारकोपनिषद्—इसमें लक्ष्यत्रयके अनुसंधानद्वारा तारकयोगका साधन कहा गया है।

२-अमृतनादोपनिषद्—इसमें षडङ्गयोगका वर्णन है, जो इस प्रकार है—

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते॥

'प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि—यह षडङ्गयोग कहलाता है।'

३-अमृतबिन्दूपनिषद्—मन ही बन्धनका कारण है।

बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

'विषयासक्त मन बन्धका और निर्विषय मन मुक्तिका कारण है।'

निरस्तविषयासङ्गं संनिरुद्धं मनो हृदि।
यदा यात्यात्मनोऽभावं तदा तत्परमं पदम्॥

'विषयासक्तिसे मुक्त और हृदयमें निरुद्ध मन जब अपने अभावको प्राप्त होता है तब परमपद प्राप्त होता है।'

तावदेव निरोद्धव्यं यावद् हृदिगतं क्षयम्।
एतज्ज्ञानं च ध्यानं च शेषो न्यायस्य विस्तरः॥

'तभीतक हृदयमें मनका निरोध करना चाहिये जबतक उसका क्षय न हो जाय। इसीको ज्ञान और ध्यान कहते हैं, बाकी सब न्यायका विस्तार है।'

इसके अनन्तर इस उपनिषद्में ज्ञानका स्वरूप तथा ध्यानका प्रकार कहा गया है।

४-क्षुरिकोपनिषद्—इसमें प्रसिद्ध षडङ्ग—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—संक्षेपसे कहे गये हैं। **'आसनमवस्थितः'** परिभाषित कहकर किया है, किसी आसन-विशेषका नाम नहीं दिया गया है।

५-तेजोबिन्दूपनिषद्—यह कुछ बड़ी उपनिषद् है। इसमें छः अध्याय हैं। प्रथम अध्यायमें परब्रह्म-स्वरूप तथा परब्रह्मावगतिसाधन पञ्चदशाङ्गयोग कहा गया है। पञ्चदश अङ्ग ये हैं—

'यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूल-बन्ध, देहसाम्य, दृक्स्थिति, प्राणसंयमन, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि—ये अङ्ग क्रमसे बताये हैं। यम आदिका स्वरूप भी भिन्न ही प्रकारसे कहा गया है। उदाहरणार्थ यमका लक्षण देते हैं—

सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।
यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः॥

'यह सब ब्रह्म है, इस ज्ञानसे इन्द्रियोंका संयम करना ही यम कहलाता है। इसीका बारंबार अभ्यास करना चाहिये।'

द्वितीय अध्यायमें अखण्डैकरसत्व तथा चिन्मात्रत्व भावनाद्वारा सबका एकरूप प्रतिपादित किया गया है। तृतीयाध्यायमें ब्रह्मानुभवका वर्णन है। चतुर्थ अध्यायमें जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति आदिका वर्णन है। बाकीके तीन अध्यायोंमें वेदान्तप्रतिपाद्य तत् पदार्थ और त्वं पदार्थके अभेदका निरूपण है।

६-त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्—इसमें पहले सृष्टिक्रम दिखाया गया है। तदनन्तर योगके दो प्रकार कहे गये हैं—कर्मयोग तथा ज्ञानयोग।

कर्म कर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु।
बन्धनं मनसो नित्यं कर्मयोगः स उच्यते॥

'विहित कर्मोंमें इस बुद्धिका होना कि यह कर्तव्यकर्म है, मनका ऐसा नित्य बन्धन कर्मयोग है।'

यत्तु चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि बन्धनम्।
ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः॥

'और श्रेयोऽर्थ चित्तका सदा बद्ध रहना ज्ञानयोग है, ऐसा समझना चाहिये। यह ज्ञानयोग सब सिद्धियोंका देनेवाला और मङ्गलकारक है।'

इसके अनन्तर निर्विशेष ब्रह्मज्ञानोपाय अष्टाङ्गयोग कहा है। ये वे ही अष्टाङ्गयोग हैं जो महर्षि पतञ्जलिप्रोक्त है। जैसे—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

७-दर्शनोपनिषद्—इस उपनिषदमें सांकृति नामक शिष्य अपने गुरु दत्तात्रेयसे पूछते हैं और वे अष्टाङ्गयोगका वर्णन करते हैं। अष्टाङ्गयोग पूर्वोक्त ही है। इसके अनन्तर देहका वर्णन है। नाडी, वायु, नाडीके देवता, नाडियोंमें संवत्सरात्मप्राणसूर्यसंचार अन्तस्तीर्थ आदिका बहुत उत्तम वर्णन है। प्राणायामादि सब अङ्गोंका भी बहुत अच्छा प्रतिपादन है। यह योगोपनिषदोंमें एक उत्तम उपनिषद् है।

८-ध्यानबिन्दूपनिषद्—पहले ब्रह्मध्यानयोग (प्रणव-

ध्यान, सविशेष ब्रह्मध्यान त्रिमूर्तिध्यानद्वारा) प्रतिपादित है। षडङ्गयोग इसके अनन्तर कहा गया है। आसन चार ही कहे गये हैं—सिंह, पद्म, भद्र तथा सिद्ध। अन्तमें नादानुसंधानद्वारा आत्मदर्शन बतलाया गया है।

९-नादबिन्दूपनिषद्—इसमें प्रणवोपासना तथा नादानुसंधान कहा गया है।

१०-पाशुपतब्रह्मोपनिषद्—इसमें ज्ञानयोग प्रतिपादित है। परमात्माकी हंसत्वेन भावना, अन्तर्याग, ज्ञानयज्ञरूप अश्वमेध इत्यादि अनेक विषय हैं।

११-ब्रह्मविद्योपनिषद्—प्रणवकी चारों मात्राओंका वर्णन देकर सुषुम्नाके विषयमें यों कहा है—

पद्मसूत्रनिभा सूक्ष्मा शिखाभा दृश्यते परा।
सा नाडी सूर्यसंकाशा सूर्यं भित्त्वा तथा परम्॥
द्विसप्ततिसहस्राणि नाडीर्भित्त्वा च मूर्धनि।
वरदा सर्वभूतानां सर्वं व्याप्यैव तिष्ठति॥

'मृणाल-तन्तुके समान सूक्ष्म और ज्वाला-सी उज्ज्वल और सूर्यसदृश प्रकाशमान वह परानाडी सूर्यको भेदकर परमको प्राप्त होती है और मूर्धामें बहत्तर हजार नाडियोंको भेदकर सबको व्याप्तकर रहती है।'

नादके द्वारा मोक्षप्राप्ति, जीवस्वरूपनिरूपण, हंसविद्या, हंसयोगीके द्वारा अनुसंधेय आत्मस्वरूप इत्यादि अनेक विषय इसमें प्रतिपादित हैं।

१२-मण्डलब्राह्मणोपनिषद्—पहले-पहल अष्टाङ्ग-योग कहा है। चार यम कहे गये हैं—'**शीतोष्णाहार-निद्राविजयः, सर्वदा शान्तिः, निश्चलत्वम्, विषयेन्द्रिय-निग्रहश्चैते यमाः।**' तदनन्तर नव नियम हैं—'**गुरुभक्तिः, सत्यमार्गानुरक्तिः, सुखागतवस्त्वनुभवश्च तद्वस्त्वनुभवेन तुष्टिः, निःसङ्गता, एकान्तवासः, मनोनिवृत्तिः, फलानभिलाषः, वैराग्यभावश्च नियमाः।**'

योगके विषयमें कहा गया है—

तद्योगं द्विविधं विद्धि पूर्वोत्तरविधानतः।
पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरम्॥

'वह योग पूर्वोत्तर विधानसे दो प्रकारका है, पूर्वमें करनेका तारकयोग और बादका अमनस्कयोग है।' तारक भी द्विविध है, मूर्ति तारक और अमूर्ति तारक। जो इन्द्रियान्त है वह मूर्तितारक है, जो भ्रूयुगातीत है वह अमूर्ति तारक है। दोनोंका ही मनोयोगसे अभ्यास करना चाहिये।

तालुमूलोर्ध्वभागे महज्ज्योतिर्विद्यते, तद्दर्शनाद-णिमादिसिद्धिः।

'तालुमूलके ऊर्ध्व भागमें महज्ज्योति है। उसके दर्शनसे अणिमादि सिद्धि प्राप्त होती है।'

१३-महावाक्योपनिषद्—इस छोटेसे उपनिषद्में हंसविद्या कही गयी है। पर यहाँ कुछ विशेष है। तदनुसार—

'काण्डान्तरमें जो ज्योतिर्मण्डलस्वरूप आदित्य है वही विद्या है, अन्य कोई नहीं, '**असौ आदित्यो ब्रह्म**' यही आदित्य ब्रह्म है, जिसका '**हंसः सोऽहम्**' इस अजपा-मन्त्रसे निर्देश किया जाता है। प्राणापानकी अनुलोम और प्रतिलोम-गतिसे वह विद्या जानी जाती है, दीर्घकालके अभ्याससे वह विद्या लाभकर जब त्रिवृत् आत्मा ब्रह्मका ध्यान किया जाता है तब सच्चिदानन्द परमात्मा आविर्भूत होते हैं।'

१४-योगकुण्डल्युपनिषद्—

हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तद्द्वावपि विनश्यतः॥
तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा।
मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः॥

'चित्तके दो हेतु हैं, वासना और प्राण। इनमेंसे किसी एकके नष्ट होनेसे दोनोंका नाश होता है। इनमेंसे पहले सदा प्राणको ही जय करना चाहिये, तब मिताहार होकर आसन साधे और फिर शक्तिचालन करे।'

—इस सिद्धान्तको कहकर आसन प्राणायामादिद्वारा कुण्डलिनीयोग कहा गया है। द्वितीय अध्यायमें खेचरी विद्याकी सिद्धि मन्त्रद्वारा तथा प्रसिद्ध अभ्यासद्वारा कही गयी है। तृतीय अध्यायमें ब्रह्मस्वरूप, जीवस्वरूप, मुक्तिस्वरूप आदि कथित हैं।

१५-योगचूडामण्युपनिषद्—चक्र, नाडी, वायु आदिका तत्त्व बतलाते हुए षडङ्गयोग इसमें कहा गया है। तदनन्तर प्रणवाभ्यास प्रतिपादित है। प्रणवाभ्यास करनेवालेको भी प्राणजय करना आवश्यक है, अतः नाडीशोधनादिद्वारा प्राणायाम पुनः कहा गया है।

१६-योगतत्त्वोपनिषद्—मोक्ष-प्राप्तिके लिये ज्ञान तथा

योग दोनों आवश्यक हैं।

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम्।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि॥

'योगके बिना ज्ञान ध्रुव मोक्षका देनेवाला भला कैसे हो सकता है? उसी प्रकार ज्ञानहीन योग भी मोक्षकर्ममें असमर्थ है।'

योग चार हैं—मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग। इस उपनिषद्में प्रसिद्ध अष्टाङ्गयोगका सविस्तर वर्णन है।

१७-योगशिखोपनिषद्—यह उपनिषद् बड़े महत्त्वका है। विषय तो वही है, जो योगतत्त्वोपनिषद्में कहा गया है, किंतु यहाँ बड़े विस्तारसे तथा प्रकारान्तरसे वही विषय कहा गया है। कुछ बातें उससे भिन्न भी हैं। वहाँ चारों योग स्वतन्त्ररूपेण कहे गये हैं। यहाँ वे क्रमिक-भूमिका माने गये हैं—

मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात्॥
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते।

'मन्त्र, लय, हठ और राज—ये चार योग यथाक्रम चार भूमिकाएँ हैं। चारों मिलकर यह एक ही चतुर्विध योग है, जिसे महायोग कहते हैं।'

इतना ही नहीं, उनके स्वरूप भी कुछ भिन्न प्रकारसे कहे गये हैं। उदाहरणार्थ राजयोग लीजिये—

'रजसो रेतसो योगाद् राजयोग इति स्मृतः।'

'रज और रेतके योगसे राजयोग होता है॥'

योगका सामान्य स्वरूप इस प्रकार है—

'प्राणापानसमायोगो ज्ञेयं योगचतुष्टयम्।'

'प्राणापानको समान करना योगचतुष्टय कहा गया है।' यह उपनिषद् योगदृष्ट्या सचमुच बड़े कामका है।

१८-वराहोपनिषद्—इसमें पाँच अध्याय हैं। चार अध्यायोंमें ज्ञान प्रतिपादित है। पञ्चम अध्यायमें योग कहा गया है। तीन योग हैं—लय, मन्त्र तथा हठ। हठयोगके आठ अङ्ग हैं। यम दस, नियम दस और आसन ग्यारह कहे गये हैं। अन्तमें योगके कुछ विशेष प्रकार दिये गये हैं, जैसे कालवञ्चनोपायभूतयोग, कायदार्ढ्यबलादिसाधनके योग, सम्पुटयोग आदि।

१९-शाण्डिल्योपनिषद्—इसमें महर्षि अथर्वा शाण्डिल्यसे अष्टाङ्गयोग कहते हैं। यम दस, नियम दस, आसन आठ, प्राणायामके तीन प्रकार, प्रत्याहार पाँच, धारणा पाँच, ध्यान दो कहे गये हैं। द्वितीय-तृतीय अध्याय बहुत छोटे-छोटे हैं। इनमें ब्रह्मस्वरूप कहा गया है। अन्तमें दत्तात्रेयका माहात्म्य प्रतिपादित है।

२०-हंसोपनिषद्—इसमें हंसविद्या संक्षेपसे प्रतिपादित है। अजपा-जप, नादानुसंधान आदि तदुपायत्वेन कहे गये हैं।

२१-योगराजोपनिषद्—चार योग हैं—मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग तथा हठयोग। इन चारों योगोंमें आसन, प्राणायाम, ध्यान तथा समाधि सम्मत हैं। लययोगके प्रसङ्गमें नव चक्रोंका वर्णन दिया गया है।

यह इक्कीस योगोपनिषदोंका सारांश है। इनमें योगके प्रायः सभी विषय आ गये हैं। परवर्ती ग्रन्थोंमें इन उपनिषदोंकी सामग्री ले ली गयी है। गोरक्ष आदि सिद्धोंके ग्रन्थोंमें इन उपनिषदोंके श्लोक प्रायः ज्यों-के-त्यों प्राप्त होते हैं। जो लोग कहते हैं कि योगके अङ्ग आठसे छः इन सिद्धोंने किये हैं, उन्हें इन उपनिषदोंको देखना चाहिये। जो लोग इन उपनिषदोंको पीछेके कालका मानते हैं, उनकी युक्तियाँ भी अल्पप्राण ही हैं। तथापि हम आगे यह दिखानेका प्रयत्न करते हैं कि जिन्हें विद्वज्जन प्राचीनतम मानते हैं, उनमें भी योगका विषय अच्छी तरह आया हुआ है।

योग शब्दके इस पारिभाषिक अर्थमें प्रयुक्त होनेके बहुत पूर्वसे योगाभ्यास भारतके लोगोंको अच्छी तरहसे ज्ञात था। यद्यपि युज धातुका प्रयोग मनस् शब्दके साथ तथा ऐसे ही अर्थमें ऋग्वेदमें भी मिलता है, तथापि बिलकुल स्पष्टरूपसे कठोपनिषद्में योग शब्दका प्रयोग हुआ है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

(अध्याय २, वल्ली ३। १०-११)

'जब पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ मनसहित आत्मामें स्थिर होकर बैठती हैं, बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती, तब उस अवस्थाको परमा गति कहते हैं। उसी स्थिर इन्द्रिय-धारणाको योग कहते हैं। उस अवस्थामें साधक प्रमादरहित होता है। उत्पत्ति और

नाश योग ही है।'

उपनिषदोंमें योग 'अध्यात्मयोग' कहा गया है। संहिता-ब्राह्मणोंमें योग अनेक क्रियाकलापोंके साथ मिला हुआ मिलता है तथा सिद्धियाँ ही उसकी बहुशः लक्ष्य थीं। बहुत सम्भव है मोक्षप्राप्तिके लिये जब इसका प्रयोग होने लगा तब इसको अध्यात्मयोग कहने लगे।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥

(कठोपनिषद् १।२।१२)

'वह देव अर्थात् आत्मा जो इतना तेजस्वी है कि देख नहीं सकते, जो गूढ़-गहन स्थानमें प्रवेश किये हुए है, गुहामें बैठा हुआ और गह्वरमें रहनेवाला है उसको अध्यात्मयोगाधिगमके द्वारा जानकर धीर पुरुष हर्ष और शोकको त्याग देता है।'

योग शब्दका प्रयोग दर्शनविशेषके लिये होता है या क्रियात्मकयोगके लिये होता है। उपनिषदोंमें दोनों अर्थोंमें योग शब्द प्रयुक्त मिलता है। ऊपरके दोनों कठोपनिषद्के मन्त्र ही इसके उदाहरण हैं। योगदर्शनके-से मत प्राचीन उपनिषदोंमें भी अनेक स्थलोंपर मिलते हैं। कठ, मुण्डक, छान्दोग्य आदि उपनिषदोंमें इसे स्वयं देखा जा सकता है। क्रियात्मकयोगके भी रूप, प्रकार, भेद आदि प्राचीन उपनिषदोंमें भी मिलते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद्के द्वितीय अध्यायमें षडङ्गयोगका वर्णन स्पष्ट ही दीख पड़ता है। जो लोग योगका षडङ्गत्व मात्र नाथसम्प्रदायका ही अङ्ग मानते हैं उन्हें यह उपनिषद् अपने मतके पलटनेमें बहुत कुछ सहायता देगा।

श्वेताश्वतरके कुछ वाक्य नीचे दिये जाते हैं—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥
प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं
विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः॥

(२।८-९)

ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्।

(१।१४)

'शरीरको त्रिरुन्नत अर्थात् छाती, गर्दन और सिर उन्नत, और सम करके, मनसहित इन्द्रियोंको हृदयमें नियतकर ब्रह्मरूप नौकासे विद्वान् सब भयानक प्रवाहोंको तर जाय। इस शरीरमें प्राणोंका अच्छी तरह निरोध करके युक्तचेष्ट हो और प्राणके क्षीण होनेपर नासिकाद्वारोंसे श्वास छोड़े और इन दुष्ट घोड़ोंकी लगाम मनको विद्वान् अप्रमत्त होकर धारण करे। ध्यानरूप मन्थनसे अत्यन्त गूढ-सा जो आत्मा है उसे देखे।'

श्वेताश्वतरमें योग विस्तारसे कहा गया है। उसमें यजुर्वेदसंहिता आदिमें आये कुछ योगविषयक मन्त्रोंका पूरा भाष्य-सा दिखायी पड़ता है। आसनोंका विस्तृत वर्णन इन उपनिषदोंमें नहीं मिलता। जैसे श्रीमद्भगवद्गीतामें **'समं कायशिरोग्रीवम्'** मिलता है वैसा ही यहाँ दिखायी पड़ता है। ध्यानादिके लिये सिद्धासन तथा पद्मासनको छोड़ अन्य आसन अनुपयुक्त और अनावश्यक माने गये हैं। गोरक्षनाथने गोरक्षपद्धतिमें इसी हेतु ये ही दो आसन बतलाये हैं।

वैदिक ग्रन्थोंमें प्राणविद्याका बड़ा ऊँचा स्थान है। उपनिषदोंमें भी प्राणोपासना अनेक भावनाओंके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारसे कही गयी है। प्रत्यक्ष सम्बन्ध योगसे प्राणोंका प्राणायामके सम्बन्धमें है। प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी उपनिषद् मोक्षके दो उपाय बताते हैं—मनोजय तथा प्राणजय। मनोजय वासनाओंके क्षीण होनेसे होता है, किंतु प्राणजय हो जानेसे मनोजय अनायास सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि योगमें प्राणजयपर इतना जोर दिया जाता है। प्राणजय प्राणायामद्वारा होता है। अतएव प्राणायामका इतना प्राधान्य है। कठोपनिषद् (२।२।३) में यों कहा गया है—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥

(२।२।३)

'जो प्राणको ऊपर भेजता है और अपानको फेंकता है उस मध्यमें रहनेवाले वामनको विश्वेदेवगण भजते हैं।'

मुण्डकोपनिषद्में एक वाक्य यों मिलता है—

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥
(३।१।९)

'प्रजाओंके प्राणसह सम्पूर्ण चित्तमें वह आत्मा व्याप्त है और विशुद्धचित्तमें ही विशेषरूपसे प्रकट होता है।'

समाधिका वर्णन भी अनेक स्थलोंमें मिलता है। श्वेताश्वतर (२।१४-१५) में इस प्रकार वर्णन है—

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं
तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥
यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

'जिस प्रकार कोई तेजोमय बिम्ब धूलसे धूसरित हुआ हो और पीछे स्वच्छ करनेपर वही चमकने लगता है, उसी प्रकार उस आत्मतत्त्वको देखकर देही एकावस्थाको प्राप्त होकर कृतार्थ और वीतशोक होता है। परंतु जब देही आत्मतत्त्वसे ब्रह्मतत्त्वको परप्रकाशक दीपकी रीतिसे देखता है तब वह आत्मदेवको अज, ध्रुव, सर्वतत्त्वविशुद्ध जानकर सब पाशोंसे मुक्त हो जाता है।'

ऊपर संक्षेपमें यह दिखानेका प्रयत्न किया गया है कि प्राचीन उपनिषदोंमें भी योगके प्रत्येक अङ्गका विवरण मिलता है। वास्तविक बात तो यह है कि लगभग सभी उपनिषदोंमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे थोड़ा अथवा अधिक योग अवश्य ही आया है। उपनिषद् हमारे मोक्षशास्त्रके परमाधार हैं। मोक्ष अतीन्द्रिय ज्ञानके बिना उपहासास्पद है। अतीन्द्रिय ज्ञान बिना योगके साध्य नहीं। अतः उपनिषदोंसे योगका एक प्रकारसे अविनाभूत सम्बन्ध है। औपनिषदिक योग बड़े ही महत्त्वका विषय है। एक ओर तो संहिताओंमें आया हुआ निगूढ़रूप योग है, दूसरी ओर भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय, धर्म तथा मतानुरूप विकसित योग है। औपनिषदिक योग ही आगे-पीछेकी कुंजी है, योगका इतना भारी किला इसी **औपनिषदिक** योगकी नींवपर खड़ा है। उपनिषद् वेदान्त है—वेदका सर्वस्वसारभूत निचोड़ है। इनको श्रद्धासे समझनेका उद्योग करना चाहिये।

सिद्ध योगी

(१)
मोह ममतासे रहता दूर,
क्षणिक कायाकी माया नहीं।
छोह है छातीमें भरपूर,
जीवमें जीवन-समता सही ॥

(२)
भरा रहता है सेवाका भाव,
विश्वका सच्चा सेवक वही।
कभी बिचलित क्या करता उसे,
अतुल बल प्रभुता पथसे कहीं ॥

(३)
उसे उसका ही रहता ध्यान,
सृष्टि जिसकी मायासे हुई।
भोगसे रखता उसको दूर,
योगकी शक्ति अनूठी नई ॥

(४)
योगसे पावन निर्मल ज्ञान,
समझमें आती बातें सही।
कभी छल कलुष क्रोध अभिमान,
छोभ-छाया छू सकती नहीं ॥

(५)
साधनाका वह सच्चा कोष,
पूर्ण कर पाता जीवन-यज्ञ।
अमर यश जगमें होते व्याप्त,
समझ सकते क्या उसको अज्ञ ॥

(६)
सिद्ध योगी कहते हैं उसे,
सिद्धियाँ रहतीं जिसके पास।
स्वर्ग-सुखकी न हृदयमें चाह,
प्रलय ताण्डवका जिसे न त्रास ॥

—जगदीश झा 'विमल'

ईशावास्य और इसका कर्मयोग

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

पूर्ण ग्रन्थ

उपनिषदोंकी गणनाका जब अवसर आता है, तब ईशावास्यका नाम सबसे पहले लिया जाता है[1]। शुक्ल यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायका नाम ईशावास्य-उपनिषद् है। इसमें कुल अठारह मन्त्र हैं। इस तरह कलेवरकी दृष्टिसे यह बहुत छोटी उपनिषद् है, किंतु तत्त्वकी दृष्टिसे यह महान्-से-महान् है; क्योंकि इसमें थोड़ेमें अध्यात्मकी मूल बातें कह दी गयी हैं। इस तरह गागरमें सागर भरनेकी कहावत यहाँ चरितार्थ हो गयी है।

ईशावास्यमें दो मार्गोंका प्रतिपादन

शास्त्रने मानव-जीवनकी सार्थकताके लिये दो मार्ग बताये हैं। पहला है कर्ममार्ग और दूसरा है ज्ञानमार्ग[2]। ईशावास्यमें भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिये इन दोनों मार्गोंका भिन्न-भिन्न रूपसे प्रतिपादन हुआ है। किंतु हुआ है इतने रहस्यात्मक ढंगसे कि सरसरी दृष्टिसे इसकी प्रतीति नहीं होती। यही तो इसकी सूत्रात्मकता है।

पहले और दूसरे मन्त्रमें कर्मयोगका प्रतिपादन हुआ है। नवें, दसवें और ग्यारहवें मन्त्रमें इस कर्मकी उपासनाके साथ अबाधित अपेक्षा बतायी गयी है। इस तरह पाँच मन्त्रोंमें कर्मयोगका यहाँ साङ्गोपाङ्ग निरूपण सम्भव हो सका है।

पहला मन्त्र कर्म और संन्यास—इन दोनोंका प्रतिपादन करता है। अवशिष्ट मन्त्र संन्यासमार्गका प्रतिपादन करते हैं। इस तरह ईशावास्य छोटा किंतु पूर्ण ग्रन्थ है।

वेदार्थ-ज्ञानके लिये परम्परा अपेक्षित

जब हम गुरुपरम्पराके बिना ईशावास्यका पाठ करने लगते हैं, तब हमें इन दोनों मार्गोंके नाम इसमें दिखायी नहीं देते। अतः इस प्रश्नका उठना स्वाभाविक है कि 'ईशावास्यमें उपर्युक्त दो मार्गोंका प्रतिपादन हुआ है। इस कथनमें प्रमाण क्या है ?' सच पूछा जाय तो इससे मिलता-जुलता प्रश्न सभी उपनिषदोंपर लागू होता है। कहा गया है कि 'उपनिषद् जिस तत्त्वको समझाना चाहती थी, उसे समझा नहीं पायी है।'

बात यह है कि उपनिषदोंका समझ सकना उतना सरल नहीं है, क्योंकि इनमें ब्रह्म-जैसे अप्राकृतिक तत्त्वोंका निरूपण हुआ है। अतः उपनिषदोंका नाम 'रहस्य' भी है। आजसे चालीस वर्ष पहलेतक 'वज्रसूचिकोपनिषद्'का रहस्य विवादका विषय बना हुआ था। उपनिषदोंके ज्ञानके लिये गुरुपरम्पराकी अपेक्षा होती है। स्वयं श्रुतिने कहा है—'**आचार्याद्धैव विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापत्।**' यह सही है कि यह परम्परा आज उच्छिन्न-सी हो गयी है। फिर भी परम्परा-प्राप्त आलेखोंका अभी उच्छेद नहीं हुआ है। इनके आधारपर उपनिषदोंके अर्थ समझनेका प्रयास होना चाहिये। 'वज्रसूची'का जटिल अभिप्राय समझनेमें आलेख ही काम आये थे। इन आलेखोंमें इतिहास और पुराणके नाम पहले आते हैं—'**इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्।**' कोरी बुद्धिके बलसे लक्ष्यतक नहीं पहुँचा जा सकता। यहाँ देवीभागवतके आधारपर ईशावास्यके '**कुर्वन्नेवेह कर्माणि०**' मन्त्रकी आंशिक व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है। परम्पराकी सहायतासे रहस्य किस तरह हृदयङ्गम हो जाता है, इसका एक और निदर्शन इससे प्राप्त हो जायगा।

ज्ञातव्य तीन सिद्धान्त

पहले सूत्ररूपमें कुछ सिद्धान्तोंसे परिचित हो लेना अपेक्षित है। वे सिद्धान्त हैं—

१-कर्मसे अज्ञानका नाश असम्भव है।

२-कर्म और ज्ञानका समुच्चय नहीं हो सकता।

३-कर्म और उपासनाका समुच्चय अतीव अपेक्षित है।

कर्मसे अज्ञानका नाश असम्भव

देवीभागवतमें आद्याशक्तिने देवताओंको उपदेश दिया है—'संसारकी जड़ अज्ञान है[3] और इस अज्ञानका नाश करना

१-ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः । ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा ॥ (मुक्ति० उप० १ । ३०)

२-द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः । प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च विभावितः ॥ (महा० शा० २४१ । ६)

३-अज्ञानमेव मूलं स्यात्। (दे० भा० ७ । ३४ । ६)

ही जीवनका लक्ष्य है[४]।' ऐसा सुनकर देवताओंके मनमें जिज्ञासा उठी कि जब जीवनका एकमात्र उद्देश्य है—'अज्ञानका नाश करना' तब वह कौन-सा साधन है, जिससे इस अज्ञानका नाश किया जाय ?

तब जगदम्बाने बताया—'अज्ञानके नाशका एकमात्र साधन है— ज्ञान।' ज्ञानसे ही अज्ञानका नाश हो सकता है। इसके लिये और कोई साधन नहीं है—

'अज्ञाननाशने शक्ता विद्यैव तु पटीयसी।'

(दे० भा० ७। ३४। ५)

कर्मसे अज्ञानका नाश तो बिलकुल सम्भव ही नहीं है। जैसे कोई अन्धकारसे अन्धकारको मिटानेका प्रयास करे तो उसका प्रयास निष्फल होगा, वैसे कर्मसे अज्ञान मिटानेका प्रयास व्यर्थ है। क्योंकि कर्म अज्ञानसे जन्य है, अतः अज्ञानरूप ही है—

'अज्ञानजन्यकर्मणोऽप्यज्ञानरूपत्वात्।'

(टीका, दे० भा० ७। ३४। ५)

अज्ञानको अज्ञानसे वैसे ही नहीं मिटाया जा सकता, जैसे अन्धकारसे अन्धकार नहीं मिटाया जा सकता। जैसे अन्धकारसे जन्य भीतिसे अन्धकारका मिटा पाना अशक्य है, वैसे अज्ञानसे जन्य कर्मसे अज्ञानका मिटा पाना अशक्य है। अतः जगदम्बाने चेतावनी दी है कि 'कर्मके द्वारा अज्ञानको नष्ट करनेकी आशा कभी मत करना'—

प्रत्युताशाऽज्ञाननाशे कर्मणा नैव भाव्यताम्।

(दे० भा० ७। ३४। ९)

इस तरह सिद्ध होता है कि अज्ञानका नाश ज्ञानसे ही होता है, कर्मसे नहीं। जीवनकी सार्थकताके लिये कर्मकी आशा छोड़कर अज्ञानके नाशके लिये ज्ञानका ही सहारा ले।

कर्म और ज्ञानका समुच्चय नहीं

जो लोग केवल अपनी बुद्धिके बलपर ईशावास्यको समझनेका प्रयास करते हैं, वे **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि०'** मन्त्रको पढ़कर असमंजसमें पड़ जाते हैं। जगदम्बाकी उपर्युक्त बात इनकी बुद्धिमें उतर नहीं पाती। क्योंकि यह श्रुति जीवनपर्यन्त कर्म करनेका आदेश दे रही है, कर्म छोड़नेका नहीं। यदि जीते-जी कर्म छोड़कर संन्यासमार्गका आश्रयण कर लिया जायगा तो इस श्रुतिका विरोध स्पष्ट है। क्योंकि तब जीवन-पर्यन्त कर्म तो कर नहीं पाया। जगदम्बाके उपर्युक्त आदेशकी बोधिका बहुत-सी श्रुतियाँ हैं—

(क) ज्ञानादेव हि कैवल्यम्।

(ख) तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

श्रुतियाँ परस्पर विरुद्ध बात तो कह ही नहीं सकतीं। अतः दोनों प्रकारकी श्रुतियोंका समन्वय तो होना ही चाहिये। ऐसी स्थितिमें कोरी बुद्धि यही निर्णय दे सकती है कि 'कर्म और ज्ञानका समुच्चय मान लिया जाय। ज्ञान अज्ञानका नाश करेगा और कर्म इस काममें ज्ञानकी सहायता पहुँचाता रहेगा।' इस तरह दोनों प्रकारकी श्रुतियोंका समन्वय हो जाता है। इस समुच्चयवादका जगदम्बाने पहले तो अनुवाद किया है और इसके बाद खण्डन कर दिया है। अनुवाद है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणीत्यतः कर्माप्यावश्यकम्।
ज्ञानादेव कैवल्यमतः स्यात् तत्समुच्चयः।
सहायतां व्रजेत् कर्म ज्ञानस्य हितकारि च॥
इति केचिद् वदन्त्यत्र····।

(दे० भा० ७। ३४। ११-१२)

कर्म और ज्ञानका समुच्चय असम्भव

अन्तमें पराम्बा इस समुच्चयवादका खण्डन कर देती हैं। हेतु देती हैं—

'असम्भवाद् यौगपद्यं न सम्भवि।'

अर्थात् कर्म और ज्ञानका समुच्चय सम्भव ही नहीं है। उदाहरण देती हैं—जैसे अन्धकार और प्रकाश—**'तमः-प्रकाशयोर्यद्वत्'** (दे० भा० ७। ३४। १४) जैसे अन्धकार और प्रकाशका एक साथ रह सकना असम्भव है, वैसे कर्म और ज्ञानका एक साथ रहना असम्भव है। जो अन्धकार सूर्यके उगते ही अस्तित्वहीन हो जाता है, वह उसका साथ ही कैसे कर सकता है। फिर सहयोगकी बात ही दूर पड़ जाती है। इसी तरह ज्ञानके उदय होते ही जब अज्ञान रहता ही नहीं, तब वह ज्ञानका साथ और सहयोग कैसे कर सकेगा ?

कोरी बुद्धि कितनी एकाङ्ग होती है, यह बात इस

४-एतद् द्विजन्मसाफल्यं यदज्ञानस्य नाशनम्। (दे० भा० ७। ३४। ७)

दृष्टान्तसे स्पष्ट हो जाती है। दोनों श्रुतियोंके विरोधको हटानेके लिये इसे कर्म और ज्ञानका समुच्चय तो दीख गया, किंतु यह नहीं दीख सका कि यह बात सम्भव ही नहीं है !

मार्ग-भेद होनेसे विरोध नहीं

पराम्बाने '**कुर्वन्नेवेह**०' मन्त्रसे प्रतिपादित कर्ममार्गसे पृथक् संन्यासमार्गका अस्तित्व बताकर सूचित कर दिया कि कोरी बुद्धि झूठे ही असमंजसके जालमें पड़ गयी थी और झूठे ही छूटनेके लिये हाथ-पैर पटक रही थी। क्योंकि जो मनुष्य अभिमानसे ग्रस्त हैं, वे जीवनभर कर्म करते रहें और जो इससे मुक्त हो गये हैं, वे ज्ञानमें लग जायँ। ऐसी व्यवस्था हो जानेपर जब विरोध ही नहीं रहता, तब उसके परिहारके लिये उलझन-भरा प्रयास कैसा ?

परम्परा-प्राप्त भाष्यसे सिद्धान्त-बोध

आलेखोंमें इतिहास और पुराणके बाद हम शांकर-भाष्यको रख सकते हैं; क्योंकि आचार्यका यह अर्थ परम्परासे प्राप्त है। आचार्य शंकरने 'ईशावास्य'को गोविन्दपादसे पढ़ा था। गोविन्दपादने गौड़पादसे, गौड़पादने शुकदेवसे, शुकदेवने व्याससे, व्यासने पराशरसे, पराशरने शक्तिसे, शक्तिने वसिष्ठसे, वसिष्ठने ब्रह्मासे और ब्रह्माने नारायणसे यह विद्या प्राप्त की थी[५]।

यदि परम्परा-प्राप्त इस भाष्यके माध्यमसे 'ईशावास्य' लगाया जाय, तो प्रारम्भमें ही ज्ञात हो जाता है कि '**कुर्वन्नेवेह**०' मन्त्र संसारी लोगोंके लिये कर्मयोगका विधान करता है और प्रायः अवशिष्ट मन्त्र संन्यासयोगका। केवल इतना-सा सिद्धान्त जान लेनेपर न तो विरोधकी गुंजाइश होती है और न परिहारकी।

कर्मयोग

अब देखना है कि ईशावास्यके केवल एक मन्त्रने 'कर्मयोग'-जैसे बृहद् विषयको कैसे प्रतिपादित किया है।

किसी सूत्रकी व्याख्याके लिये आवश्यक होता है कि पूर्वसूत्रमें कहे गये साकाङ्क्ष विषयोंकी उत्तरसूत्रमें अनुवृत्ति कर ली जाय। गागरमें सागर भरनेका यह एक आवश्यक उपाय है।

'**कुर्वन्नेवेह**०' मन्त्र 'ईशावास्य-उपनिषद्'का दूसरा मन्त्र है। इससे पहला मन्त्र है '**ईशा वास्यमिदं**०।' इसलिये ईशावास्य मन्त्रमें कहे गये साकाङ्क्ष विषयोंकी '**कुर्वन्नेवेह**०' मन्त्रमें अनुवृत्ति होती है। अतः आवश्यक है कि हम पहले ईशावास्य-मन्त्रके अर्थसे परिचित हो लें।

समुद्र और तरंगके दृष्टान्तसे इस मन्त्रका अर्थ सरलतासे समझमें आ जाता है। समुद्र जब प्रेमका खेल खेलना चाहता है[६], तब अपनेको अनगिनत तरंगों, बर्फ, फेन और बुलबुलोंके रूपमें परिणत कर लेता है। समुद्रसे तरंग आदिका यह भेद केवल आभासित होता है। समुद्रमें और इनमें केवल नाम और रूपका ही भेद होता है, वास्तविक नहीं। क्योंकि तरंग आदिके बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, अगल-बगल सर्वत्र जलसमूह-रूप समुद्र अनुस्यूत रहता है। समुद्रसे भिन्न उसकी सत्ता ही नहीं होती। जब उसकी नाम और रूप-रूपी दोनों उपाधियाँ मिट जाती हैं, तब वह समुद्र-रूप हो जाता है।

जब यह खेल प्रेम-मूलक है, तब सबका सबसे प्रेम होना ही चाहिये। यदि एक तरंग दूसरी तरंगसे प्रेम करती है तो वह खेलको पूर्णता ही प्रदान करती है, किंतु प्रेमके नामपर आसक्ति नहीं होनी चाहिये। आसक्ति तो एकमात्र समुद्रसे ही होनी चाहिये। क्योंकि सबका चिर सम्बन्ध समुद्रसे ही है। एक तरंगका दूसरे बर्फ आदिके साथ जो सम्बन्ध है, वह तो क्षणिक है। अभी है, किंतु दूसरे ही क्षण वह समाप्त हो जानेवाला है। ऐसी स्थितिमें एक तरंग यदि दूसरी तरंगपर आसक्त हो जाती है और क्षणमें होनेवाले अनिवार्य विछोहसे पागल बन जाती है, तो यह तरंगकी घोर नासमझी, कृतघ्नता, असफलता और गिरावट मानी जायगी। इस तरंगकी सत्ता न तो किसी अन्य तरंगसे प्राप्त हुई है, न बर्फसे और न बुलबुलेसे ही। तरंगकी सत्ता समुद्रसे है, अतः समुद्रकी है और समुद्रके

५- नारायणं पद्मभुवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च। व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्॥ श्रीशंकराचार्यम्·····।

६(क) यस्मात् प्रेमानन्दात् नित्यानन्दोऽयं लोकः प्रकटितो भवति। (साम० र० उ०)

(ख) लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्। (ब्र० सू० १।२)

लिये है। तरंगको गले लगानेके लिये ही समुद्रने नाम-रूपका चोला पहनाकर उसे अपनेसे अलग किया है। इन दोनोंका सम्बन्ध अमर है। ऐसी स्थितिमें तरंग यदि समुद्रके अमर प्रेमको ठुकराकर दूसरी तरंग या बर्फपर आसक्त हो जाय तो क्या यह तरंगकी कृतघ्नता नहीं है ? नासमझी इसलिये है कि जो समुद्रकी वस्तु है, उसे अपनी समझ बैठी। असफल इसलिये है कि असीम आनन्दको उल्लसित करनेके लिये प्रियतमने जो प्रेमका खेल प्रारम्भ किया था, उससे बेचारी वञ्चित रह गयी और अन्ततोगत्वा नरककी घोर गहराईमें डाल दी गयी। स्वयं ईशावास्यने कहा है—ऐसे लोगोंको संतापसे भरी योनियों और घोर नरकमें डाल दिया जाता है[७]। आसक्तिका यह कैसा भयानक परिणाम निकला।

इस सम्भावित दुःस्थितिसे बचानेके लिये यदि कोई महापुरुष दया कर तरंग आदिको सावधान कर दे, तो यह उनकी अहैतुकी कृपा ही मानी जायगी। संत तरंग आदिको सचेत करते हुए कहते हैं—

(जगत्याम्)—इस समुद्री दुनियामें **(यत्किं च जगत्)** जो कुछ तरंग, बर्फ, फेन और बुदबुद आदि वस्तुओंका समूह है, **(इदं सर्वम्)** यह सब **(ईशा वास्यम्)** समुद्रसे आच्छादित है। अर्थात् तरंग, बर्फ आदिके नाम-रूप-रूपी उपाधिको हटाकर उनमें वास्तविक समुद्र-रूपको देखो। ऐसी दृष्टि बन जानेपर तुम्हारा ओझल प्रियतम तुम्हारे सामने आ जायगा। यह भी समझमें आ जायगा कि ये बर्फ आदि सारी अभिव्यक्तियाँ उसीकी हैं, तुममेंसे किसीकी नहीं। इससे आसक्तिके मूल जो मोह, ममता आदि हैं, उनका परित्याग हो जायगा और प्रियतमके साथ अमर सम्बन्ध कायम हो जायगा। इस तरह **(तेन सह)** अपने प्रियतमके साथ अमर सम्बन्ध स्थापित कर **(त्यक्तेन)** त्याग-भावसे अर्थात् तरंग आदिमें मिथ्या ममता आदिका त्यागकर **(भुञ्जीथाः)** प्रेमके रसका उपभोग करो। उन नाम-रूपोंसे भी प्रेम करो, क्योंकि वे भी प्रियतम-रूप ही हैं। किंतु उनमें **(मा गृधः)** आसक्त मत होना। क्योंकि **(धनम्)** तरंग, बर्फ आदि सम्पत्ति **(कस्य स्वित्)** तरंग आदिरूपमें अभिव्यक्तिकी कामना करनेवाले समुद्रकी है। तुममेंसे किसीने इन्हें नहीं अभिव्यक्त किया है। फिर इनमें 'मेरा' यह भाव लाना झूठ है न ? मिथ्या आसक्ति छोड़ो।

जैसे किसी कृपालु महापुरुषने उपर्युक्त उपदेश देकर तरंग आदिका कल्याण चाहा है, वैसे परमकारुणिक श्रुति हमें सावधान करती है—

(मानवो !) **(जगत्याम्)** सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें **(यत् किं च जगत्)** जो कुछ स्थावर-जंगम है, **(इदं सर्वम्)** यह सब **(ईशा वास्यम्)** ईश्वरसे आच्छादित है। अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन-धान्य आदिसे नाम और रूप-रूपी उपाधिको हटाकर सबमें अनुस्यूत अपने प्रियतम ईश्वरके रूपको निहारो। ऐसी दृष्टि बन जानेपर तुम्हारा छिपा प्रियतम तुम्हारे सामने आ जाता है। यह भी समझमें आ जाता है कि ये स्त्री, पुत्र आदि पदार्थ परमेश्वर ही हैं, परमेश्वरके ही हैं और परमेश्वरके लिये हैं। इस दृष्टिकी प्राप्तिसे आसक्तिके मूल मोह-ममता आदिका त्याग हो जाता है। इसके अतिरिक्त परमेश्वरके साथ जो तुम्हारा अमर सम्बन्ध है, वह भी याद आता रहेगा। इस तरह **(तेन सह)** अपने प्रियतमके साथ **(त्यक्तेन)** त्याग-भावसे अर्थात् स्त्री-पुत्र आदिमें मिथ्या ममता आदिका त्यागकर **(भुञ्जीथाः)** अमर प्रेम-रसका उपभोग करो। उन नाम-रूपोंसे भी प्रेम तो करना ही है, क्योंकि वे भी प्रियतम-रूप ही हैं। किंतु याद रखना **(मा गृधः)** उनमें आसक्त मत होना। क्योंकि **(धनं कस्य स्वित्)** स्थावर-जङ्गमरूप सम्पत्ति परमेश्वरकी है। **(सृष्ट्यर्थं कामयते इति कः)** इस व्युत्पत्तिसे 'क' का अर्थ 'परमेश्वर' होता है। इनमेंसे किसी सम्पत्तिको तुमने तो बनाया नहीं है। फिर तुम ही बताओ कि **(धनं कस्य स्वित्)** यह सम्पत्ति तुममेंसे किसकी है ? जब तुम्हारी नहीं, तो इसमें तुम्हारी ममता कैसी ? यह पहला मन्त्र है। इसके बादका मन्त्र है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

इस तरह चेतावनी देकर भगवती श्रुति मनुष्यके अभिमानसे ग्रस्त व्यक्तिको कर्मयोगके मार्गपर चलनेकी सीख

७-असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः। ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥(ई० उप० ३)

देती है। कहती है (**इह**) मायाके द्वारा सजायी गयी इस रंगस्थलीमें (**कर्माणि कुर्वन् एव**) पात्रोचित भूमिका निभाते हुए ही (**शतं समाः जिजीविषेत्**) पूरे समयतक जीनेकी इच्छा करे। (**एवम्**) परमेश्वरको निरन्तर स्मरण करते रहनेसे, ममता-मोहका त्याग करनेसे, कर्मफलको भगवान्‌के अर्पण कर देनेसे (**कर्म**) तुमसे किये जानेवाले कर्म (**त्वयि नरे**) तुममें (**न लिप्यते**) नहीं लिप्त होंगे। (**इतः अन्यथा नास्ति**) तुम मनुष्यत्वके अभिमानसे ग्रस्त हो, इसलिये इससे भिन्न और कोई मार्ग तुम्हारे लिये नहीं है।

इस श्रुतिमें दो बातें कही गयी हैं—

(१) यदि सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करो, तो कर्म करते हुए ही जीना चाहो।

(२) कर्मलिप्त न हो, इसके लिये सावधान, किंतु कर्मका लेप कैसे न हो, यह बात इस श्रुतिमें नहीं बतायी गयी है। क्योंकि ये बातें पहली श्रुतिमें आ गयी हैं, जिनकी यहाँ आवृत्ति की गयी है। '**एवम्**' पद उसी अनुवृत्तिका सूचक है।

पहले मन्त्रमें निम्नलिखित विषय आ चुके हैं—

(१) समस्त जड-चेतनमें ईश्वरको देखे।

(२) समस्त नाम-रूप ईश्वरद्वारा अभिव्यक्त है। अतः सब कुछ ईश्वरका है, जीवका कुछ नहीं है।

(३) अतः मिथ्या ममता-मोह न करे।

(४) निरन्तर ईश्वरका स्मरण करते हुए, यह समझते हुए कि यह मेरे साथ है, उसीके लिये कर्म करे।

(५) सबको ईश्वरको समर्पण कर दे।

(६) प्रेम सबसे करे, किंतु आसक्तिसे बचे।

(७) निरन्तर प्रभुके प्रेम-रसका आस्वादन करता रहे।

(८) धर्मशास्त्रसे विहित कर्म ही करे।

—इन सभी तथ्योंकी पूर्व मन्त्रसे '**कुर्वन्नेव**०' श्रुतिमें अनुवृत्ति होती है।

विकर्म और अकर्मका भी ग्रहण

गागरमें सागर भरनेका एक उपाय और है। उसका नाम है—'उपलक्षण'। प्रस्तुत श्रुतिमें '**कर्माणि**' पद आया है। यह उपलक्षण है। इसलिये 'कर्म' शब्दसे 'विकर्म' और 'अकर्म' का भी ग्रहण हो जाता है।आचार्य शंकरने अपने गीता-भाष्यमें उपलक्षणका यह प्रकार अपनाया है। गीतामें '**गहना कर्मणो गतिः**' (४। १७) इस वचनमें केवल '**कर्मणः**' पद पढ़ा गया है। आचार्यने इसी उपलक्षणके बलसे अपेक्षित 'विकर्म' और 'अकर्म'का भी ग्रहण कर लिया है—'**कर्मण इति उपलक्षणार्थं कर्मादीनाम्—कर्माकर्मविकर्मणाम्।**' (शां० भा०)।

तात्पर्य है कि 'कर्म'की तरह हमें 'विकर्म' और 'अकर्म'को भी जानना चाहिये और इनमेंसे कर्मका ग्रहण और 'विकर्म' तथा 'अकर्म' का त्याग करना चाहिये। यह बात श्रुतिने '**एव**' पदसे व्यक्त की है। 'कर्म ही करना चाहिये' कहनेसे अर्थ निकल आता है कि 'कर्म' करना चाहिये और विकर्म और अकर्म नहीं करना चाहिये।

'कर्म' आदिके अर्थ

कर्म आदिके दो प्रकारके अर्थ होते हैं—एक लौकिक, दूसरा वैदिक। श्रीमद्भागवतमें बताया गया है कि कर्म आदिके सम्बन्धमें हम लौकिक पद्धतिको न अपनाकर वैदिक पद्धति ही अपनायें—

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः।

अर्थात् कर्म, अकर्म और विकर्मका स्वरूप-निरूपण हमें वेदके आधारपर ही करना चाहिये, लोकके आधारपर नहीं। यही बात भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कही है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

(१६। २४)

जिज्ञासा होती है कि ये प्रमाण तो स्मृति-ग्रन्थोंके हुए, क्या प्रस्तुत उपनिषद्‌में भी इसपर कोई प्रकाश डाला गया है? जब सूत्र-रूपसे कर्मयोगके अन्य तथ्य कह दिये गये तो इस श्रुतिमें यह तथ्य भी कहीं-न-कहीं कहा गया होगा।

इस जिज्ञासाकी पूर्ति भी 'ईशावास्य' मन्त्रसे सम्भव है। इसके लिये '**ईशा**' पदका पर्याय (**वेदेन**) करना चाहिये, क्योंकि वेद ईश्वरस्वरूप होता है[८]। और वेदके शब्दोंसे ही

८(क) स्वयं वेदने अपनेको ईश्वर-स्वरूप बताया है—'ब्रह्म स्वयम्भूः' (तै० आ०)। (ख) पुराण और इतिहासने इस तथ्यको दुहराया है—

१-वेदः नारायणः स्वयम् (बृ० ना० पु० ४। १७)।

२-वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्। (महा० भा०)।

सृष्टिकी रचना होती है[९]।

कर्म और उपासनाका समुच्चय

'**कुर्वन्नेवेह कर्माणि**०' में '**तेन (सह) भुञ्जीथाः**' इस अंशकी अनुवृत्तिसे यह तात्पर्य निकलता है कि भगवान्‌को साथ रखकर उनके प्रेमका आस्वाद लेते हुए कर्म करना चाहिये। इस तरह कर्म और उपासनाके समुच्चयका प्रतिपादन हो गया है। फिर भी ईशावास्यमें कर्म और उपासनाके समुच्चयको अत्यावश्यक समझकर वहाँ तीन मन्त्रोंमें इसका विस्तारसे निरूपण किया गया है। यहाँ केवल पहला मन्त्र दिया गया है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया ँ रताः॥

इसका तात्पर्य है कि जो लोग कर्म (अविद्या) की उपासना करते हैं, वे अज्ञानस्वरूप घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो लोग उपासना (विद्या) में रत हैं मानो और अन्धकारमें प्रवेश करते हैं।

तन्त्रमें योग

(श्रीअटलबिहारीजी घोष)

भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय अपने-अपने मार्गके अनुसार 'योग' शब्दका अर्थ करते हैं। वेदान्त-पक्षका कहना है कि 'जीव और आत्माके मिलनका नाम योग है। प्रत्यभिज्ञा-पक्षके मतानुसार शिव और आत्माके अभेद-ज्ञानका नाम योग है। भेदवादियोंके मतमें पुराण-पुरुषका ज्ञान ही योग है। आगमवादी कहते हैं कि शिव और शक्तिका अभेद-ज्ञान ही योग है। योगाभ्यास करनेके लिये दीक्षा अवश्य ग्रहण करनी चाहिये। दीक्षानिर्दिष्ट अपनी ब्रह्ममूर्तिकी उपासनासे सिद्धि प्राप्त करनेपर योगमार्गमें प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त करता है। कौल कहते हैं कि शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर एवं गाणपत्यादि मन्त्रोंके द्वारा चित्त विशुद्ध होनेपर कौल-ज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्रकाशित होता है। कुलार्णवतन्त्रके द्वितीय उल्लासमें लिखा है—

शैववैष्णवदौर्गार्कगाणपत्यादिकैः क्रमात्।
मन्त्रैर्विशुद्धचित्तस्य कौलज्ञानं प्रकाशते॥

उक्त तन्त्रमें और भी कहा गया है कि मनुष्य चार श्रेणियोंमें विभक्त है तथा प्रत्येक श्रेणीके मनुष्य अपने अधिकार-भेदसे परमपदार्थको भिन्न-भिन्न रूपमें देखा करते हैं।

अग्नौ तिष्ठति विप्राणां हृदि देवो मनीषिणाम्।
प्रतिमास्वप्रबुद्धानां सर्वत्र विदितात्मनाम्॥

अर्थात् क्रिया-काण्डमें अनुरक्त ब्राह्मण उनको (परमात्माको) अग्निमें देखा करते हैं। मनीषी अपने हृदयमें उनका अनुभव करते हैं। जो अप्रबुद्ध हैं, वे प्रतिमामें उन्हें देख पाते हैं और जो आत्मज्ञानी हैं, वे सर्वत्र और सर्वदा उस परम पदार्थको देखा करते हैं।

योगसाधनका उद्देश्य यही शेषोक्त अवस्था प्राप्त करना है। इसके लिये सबसे प्रथम कर्तव्य है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन षट् रिपुओंका नाश करना। स्त्री-भोगादिकी जो अभिलाषा है, वही काम है। प्राणियोंको पीड़ा पहुँचानेका नाम है क्रोध। धनादिकी अतिशय आकाङ्क्षाका नाम है लोभ। तत्त्वज्ञानका अभाव ही मोह है। मैं सुखी हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं धनवान् हूँ, इस प्रकारके गर्वको मद कहते हैं और दूसरेका सौभाग्य देखकर जो दुःख होता है, उसका नाम मत्सर है। ये ही शत्रु हैं, क्योंकि ये ही सब दुःखोंके कारण हैं और ये ही आत्मस्वरूपका विचार करनेमें बाधा पहुँचाते हैं। इनका दमन करनेके लिये योगके अष्टाङ्गोंमें यम, नियम,

---

श्रवणके बाद मनन अपेक्षित है। ब्रह्मका स्वरूप सत्, चित् और आनन्द होता है। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।' (बृ० उ० ३।९।२८)। चित्का अर्थ है—ज्ञान। अतः ब्रह्म जैसे नित्य सत्-रूप और आनन्दरूप है, वैसे नित्य ज्ञानरूप भी है। ज्ञानमें शब्दके अनुवेद्यका होना आवश्यक रहता है। नित्य ज्ञानके लिये नित्य शब्दका भी अनुवेद्य होना चाहिये। इस तरह नित्य शब्द, नित्य अर्थ और नित्यसम्बन्धवाला वेद ब्रह्मरूप सिद्ध हो जाता है।

९-वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे। (मनु० १।२१)

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिका अभ्यास करना होगा।

यम शब्दका अर्थ है उपरति अर्थात् काम आदिसे निवृत्ति। यह दस प्रकारका है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, कृपा, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच।

अहिंसाका अर्थ है—किसी कर्मके द्वारा और मनके द्वारा किसी प्रकारसे किसी प्राणीको क्लेश न पहुँचाना। सत्य शब्दका अर्थ है—जैसा सुना हो और जैसा देखा हो, वैसा ही कहना। अस्तेय शब्दका अर्थ है—दूसरेका तुच्छसे भी तुच्छ तृण आदि भी ग्रहण न करना। ब्रह्मचर्य शब्दका अर्थ है—आठों प्रकारके मैथुनका परित्याग करना। इस अष्टविध मैथुनका वर्णन शास्त्रमें इस प्रकार आया है—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥

—बुरी भावनासे स्त्रीका स्मरण, कथन, स्त्रीके साथ खेलना, स्त्रीको देखना, छिपकर बातें करना, पानेका सङ्कल्प करना, पानेकी चेष्टा करना और सहवास करना।

कृपा शब्दका अर्थ है—प्राणिमात्रकी दुःखनिवृत्तिकी चेष्टा। आर्जव शब्दका अर्थ इस प्रकार वर्णित है—

व्यवहारेषु सर्वेषु मनोवाक्कायकर्मभिः।
सर्वेषामपि कौटिल्यराहित्यमार्जवं भवेत्॥

अर्थात् समस्त प्राणियोंके साथ मन, वाणी और शरीरके द्वारा जो व्यवहार किया जाता है, उसमें कुटिलताके अभावका नाम आर्जव है। क्षमा शब्दसे अपकार करनेवालेके प्रति मित्रवत् व्यवहार समझना चाहिये। इष्टवस्तुकी अप्राप्तिमें जो दुश्चिन्ता उत्पन्न होती है, उस दुश्चिन्ताका अभाव ही धृति है। शरीर धारण करनेमात्रके लिये जो भोजन है उसका नाम मिताहार है। जिसके द्वारा चित्त निर्मल होता है, उस पवित्रताका नाम शौच है। यहाँपर यह समझना चाहिये कि धृति इन दस प्रकारके सभी साधनोंमें रहेगी। अहिंसा और ब्रह्मचर्यके द्वारा कामपर, कृपा और क्षमाके द्वारा क्रोधपर, अस्तेय, सत्य और आर्जवके द्वारा लोभपर, मिताहार और शौचके द्वारा मोहपर, क्षमा और आजर्वके द्वारा मदपर और अहिंसा, कृपा, आर्जव तथा क्षमाके द्वारा मत्सरपर विजय प्राप्त होती है।

योगका द्वितीय अङ्ग नियम भी दस प्रकारका है, जैसे—तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, देवपूजा, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप और होम।

कृच्छ्रादि व्रतोंके आचरणका नाम तप है। इष्टतर वस्तुकी भी अभिलाषा न होनेका नाम संतोष है। श्रुतिप्रतिपाद्य अर्थमें परलोकके अस्तित्वमें जो विश्वास है वही आस्तिक्य है। यथाविहित अनिन्द्य उपायसे कमाये हुए धनको शक्तिके अनुसार देव, पितर और मनुष्योंके उद्देश्यसे बाँटना दान कहलाता है। अपनी ब्रह्ममूर्तिकी उपासना देवपूजा है। उपनिषद् आदि मोक्षशास्त्रोंके सुननेका नाम सिद्धान्तश्रवण है। कुत्सित आचरणके कारण मनमें जो कष्ट होता है उसका नाम ह्री है। मति शब्दका अर्थ है मनन अर्थात् विविध युक्ति-प्रमाणोंकी सहायतासे सुने हुए अर्थका अनुशीलन। यहाँपर जप शब्दसे इष्टमन्त्रका जप समझना चाहिये। इसके द्वारा चित्तशुद्धि होती है। अग्निहोत्रादि होमका नाम होम है।

आसन अनेक प्रकारके हैं। इनकी कोई संख्या नहीं है। परंतु साधारणतः चौरासी प्रकारके आसनोंकी बात कही गयी है। उनमें पाँच आसन शास्त्रोंमें प्रधान बताये गये हैं। इन पाँचोंके नाम हैं—पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, वज्रासन और वीरासन।

१-पद्मासन—बायीं जाँघपर दाहिना पैर और दाहिनी जाँघपर बायाँ पैर रखकर, पीछेकी ओरसे दोनों हाथ ले आकर दाहिने हाथसे दाहिना अँगूठा और बायें हाथसे बायाँ अँगूठा पकड़ना होता है। इसको बद्ध पद्मासन कहते हैं। मुक्त पद्मासनमें इस प्रकार अँगूठा पकड़नेका नियम नहीं।

२-स्वस्तिकासन—दाहिने घुटने और जङ्घाके बीचमें बायें पैरका तलवा और बायें घुटने तथा जङ्घाके मध्यमें दाहिने पैरके तलवेको रखकर, शरीर सीधा करके बैठना होता है अर्थात् मेरुदण्ड और शिरोभागको एक सीधमें करना होता है। इसको स्वस्तिकासन कहते हैं।

३-भद्रासन—सीयनके दोनों ओर दोनों एड़ियोंको ठहराकर, अण्डकोषके नीचे दोनों हाथोंसे एड़ियों और पैरोंको पकड़कर स्थिर, निश्चल-भावसे बैठा जाता है, इसीको भद्रासन कहते हैं।

४-वज्रासन—दोनों जाँघोंके ऊपर दोनों पैरोंको रखकर, घुटनोंके ऊपर दोनों हाथोंकी हथेली रखकर निश्चलरूपमें

बैठनेको वज्रासन कहते हैं।

५-वीरासन—एक पैरसे दोनों अण्डकोषोंको दबाकर दूसरे पैरको दूसरी जाँघके ऊपर रखकर सरलभावसे बैठनेको वीरासन कहते हैं।

आसन लगानेपर जब श्रम दूर हो जाय तब प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये। जिस आसनमें साधकको कोई क्लेश न हो और सुखपूर्वक बैठ सके, वही आसन लगाकर प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये। प्राणायाम दो प्रकारका है—निगर्भ और सगर्भ। ध्यान और मानस-जप करते हुए प्राणायाम-साधनका नाम सगर्भ प्राणायाम है। बीज उच्चारण न करके जो प्राणायाम किया जाता है उसका नाम निगर्भ प्राणायाम है। इडा नाडीसे अर्थात् बायें नथुनेसे षोडश-मात्रा वायु आकर्षण करनेका नाम पूरक, चौंसठ मात्रा वायु धारण करनेका नाम कुम्भक, बत्तीस मात्रामें पिङ्गलासे अर्थात् दाहिने नथुनेसे वायु त्याग करनेका नाम रेचक है। प्राणायाममें तीन प्रकारकी अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्थामें पसीना निकलता है, उसे अधम अवस्था कहते हैं। मध्यम अवस्थामें साधककी देह काँपती है और प्राणायामकी उत्तम अवस्थामें साधक भूमि छोड़ सकता है। इस प्राणायाममें सिद्ध होनेपर साधक प्रत्याहारका अधिकारी होता है। प्रत्याहार शब्दका अर्थ है इधर-उधर दौड़नेवाली सब इन्द्रियोंको इन्द्रियग्राह्य विषयोंसे निवृत्त करना। अँगुली, एड़ीसे आरम्भ करके सहस्रारपद्मके नीचे रहे हुए द्वादशदल कमलतक सोलह स्थानोंमें प्राणवायुको धारण करनेका नाम धारणा है। प्रत्याहार और धारणाका अभ्यास गुरुके उपदेशके अनुसार ही करना चाहिये। गुरु शिष्यको योग्यताके अनुसार इनकी विधि निर्दिष्ट करते हैं।

एकाग्रचित्त होकर अपने अभीष्ट देवता या स्वकीया ब्रह्ममूर्तिके चिन्तन करनेका नाम ध्यान है। निरन्तर जीवात्मा और परमात्माके ऐक्यचिन्तनको समाधि कहते हैं।

जीवदेहमात्र ही शिवशक्त्यात्मक या अग्नीषोमात्मक अथवा शुक्रशोणितात्मक है और वह ९६ अंगुल लम्बी है अर्थात् साधककी अपनी अँगुलियोंसे ९६ अंगुल है। पायु और जननेन्द्रियके मध्यके स्थानको कन्द या मूलाधार कहते हैं। इस मूलाधारसे असंख्य नाडियोंकी उत्पत्ति हुई है। उनमें तीन प्रधान हैं, उन तीनोंका नाम है—इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना।

इडा बायीं ओर है, पिङ्गला दाहिनी ओर है और सुषुम्ना मेरुदण्डके मध्य भागमें है। सुषुम्नाके भीतर एक और नाडी है, उसे चित्रा कहते हैं। चित्राके अन्तर्भागको ब्रह्मनाडी कहते हैं। मूलाधारमें जो एक अत्यन्त सुन्दर ज्योतिर्मय त्रिकोण है, वहींपर कुण्डलिनी अर्थात् जीवशक्ति साढ़े तीन चक्करके रूपमें सोयी हुई सर्पिणीकी तरह रहती है। मूलाधारके ऊपर लिङ्गमूलमें जो चक्र है उसका नाम स्वाधिष्ठानचक्र है। उसके ऊपर नाभिके मूलदेशमें सुषुम्नानाडीसे सम्बद्ध जो चक्र है, उसे मणिपूरचक्र कहते हैं। हृदयस्थानमें जो एक चक्र है, उसको अनाहतचक्र कहते हैं, कण्ठदेशमें जो चक्र है, उसका नाम विशुद्धिचक्र है और भ्रूमध्यमें जो चक्र है उसको आज्ञाचक्र कहते हैं। इसी स्थानपर गुरुकी आज्ञाका सञ्चार होता है, इसीसे इसका नाम आज्ञाचक्र है। साधक कुण्डलिनी-शक्तिको इन समस्त चक्रोंका भेदन करता हुआ मूलाधारसे द्वादशदलचक्रके ऊपरमें शिवस्थानमें ले जाता है और शिवशक्ति-सामरस्यरूप अतुल आनन्दका भोग करता है। षट्चक्रनिरूपण, त्रिपुरासार-समुच्चय, गन्धर्वतन्त्र प्रभृति ग्रन्थोंमें इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। महाकालोक्त 'पादुकापञ्चकम्' स्तोत्रमें पूर्वोक्त द्वादशदलपद्मका विशेष विवरण है। योगसाधनाका उद्देश्य यही है कि गुरु, मन्त्र, यन्त्र, देवता और साधककी एकताकी उपलब्धि हो और क्रमशः अद्वैतभावकी प्राप्ति हो। उस अवस्थाकी प्राप्ति होनेपर सिद्धयोगी परमानन्द नित्यचैतन्यैक-गुणात्मक आत्माभेदस्थित प्रणवके या हींकारके चिन्तनमें मग्न होते हैं। उस समय वे मन, वाणी तथा वेदवाक्यसे अतीत स्वसंवेद्य आनन्द-रससागर तारात्मक वस्तुकी उपलब्धि करते हैं।

अद्वैतलाभके पूर्वकी अवस्थामें जो ध्यान शारदातिलकमें बतलाया गया है, वह इस प्रकार है—

सत्यं मानविवर्जितं श्रुतिगिरामाद्यं जगत्कारणं
व्याप्तं स्थावरजङ्गमं मुनिवरैर्ध्यातं निरुद्धेन्द्रियैः।
अर्काग्नीन्दुमयं शताक्षरवपुस्तारात्मकं सन्ततं
नित्यानन्दगुणालयं गुणपरं वन्दामहे तन्महः॥

(२३। ३७)

विचार करके देखनेपर मालूम होगा कि तन्त्रकथित

मार्गका और श्रुतिकथित मार्गका गन्तव्य स्थान एक ही है। इसीलिये श्रुति और आगमका भेद वाक्यगत है, वस्तुगत नहीं। उद्धृत श्लोककी व्याख्या कोई-कोई इस प्रकार करते हैं—

'अरूपस्य ब्रह्मणो भावनरूपं ध्यानमेतत्। सत्यम्, असत्यव्यावृत्तिरूपम्; 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतेः। मानविवर्जितम्, प्रमाणागोचरीकृतम्; 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेः। श्रुतिगिरामाद्याम्, वेदप्रवक्तृ 'शास्त्रयोनित्वात्' इति बादरायणिसूत्रणात्। जगत्कारणम्; 'जन्माद्यस्य' इति सूत्रणात्। व्याप्तस्थावरजङ्गमम्; 'सहस्रशीर्षा' इत्यादि श्रुतेः। मुनिवरैर्नारदादिभिः। अर्काग्नीन्दुमयमिति गायत्र्यादिदेवताक्रमेण। यद्वा अर्को विष्णुः अग्नी रुद्र इन्दुर्ब्रह्मा तन्मयम्। तत उत्पन्नत्वात्। यद्वा ओंकाररूपत्वं वक्ष्यति। एतेनाकारोकारमकारात्मकत्वेनाग्नीन्द्वर्करूपत्वं शताक्षरवपुरिति। शताक्षरैः परं महः प्रतिपाद्यते। प्रतिपाद्य-प्रतिपादकयोरभेदात् शास्त्रयोनित्वेन कार्यकारणाभेदाद्वा शब्दब्रह्मरूपत्वाद्वा तथोक्तिः; यद्वा यतः अर्काग्नीन्दुरूपत्वम् अत एव शताक्षरवपुरिति हेतुहेतुमद्भावेन योजना। नित्यानन्दचित्त्वं तत्स्वरूपमेव। तदालयत्वं च भगवत उपचारात्। गुणेभ्यः सत्त्वरजस्तमोभ्यः परं तद्रहितम् तद्वेदशिरसि प्रसिद्धम्। महः नित्यं प्रकाशकत्वान्मह इव। एते च सर्वे शब्दास्तस्य वस्तुनो लक्षका एव न वाचकाः। एतेषां शब्दानामेकार्थत्वम् अपर्यायत्वेऽपि अतद्व्यावृत्त्यर्थतया न पौनरुक्त्यम्।'

फिर, उपर्युक्त श्लोककी व्याख्या इस प्रकार भी की जाती है—

महस्तेजोरूपा कुण्डलिनी उच्यते। सत्यं नित्यत्वात्तस्याः; 'नित्या शक्तिः परादेवी' इत्युक्तेः। मानमियत्ता तद्वर्जिता; 'सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा विभुः'; इत्युक्तेः। व्याप्तस्थावरजङ्गमा; 'सर्वगा विश्वरूपिणी दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना' इत्युक्तेः। निरुद्धेन्द्रियैर्मुनिवरैर्ध्याता; 'योगिध्येया च सर्वदा' इत्युक्तेः। 'योगिनां हृदयाम्भोजे नृत्यन्ती नित्यमञ्जसा' इत्यपि। अर्काग्नीन्दुरूपा; 'त्रिधामजननी देवी' इत्युक्तेः। 'सोमसूर्याग्निरूपा च' इत्युक्तेश्च। शताक्षरवपुः; 'विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मन्त्रमयं जगत्' इत्युक्तेः। तारात्मकम्;

तन्मध्ये चिन्तयेद्देवीमृज्वाकारां तडित्प्रभाम्।
ओङ्काररूपिणीं ज्योत्स्नामात्मरूपां शुभोदयाम्॥

—इत्युक्तेः। नित्यानन्दगुणालया 'नित्यानन्दगुणोदया' इत्युक्तेः। गुणपरा; गुणरूपा परा च, 'शक्तिः कुण्डलिनी गुणत्रयवपुर्विद्युल्लतासंनिभा' इत्युक्तेः। 'परापरविभागेन परशक्तिरियं मता' इत्युक्तेश्च।

उक्त श्लोकमें **'शताक्षरवपुः'** शब्दका अर्थ शताक्षरमन्त्र है। यह (१) त्रिष्टुप्, (२) गायत्री और (३) अनुष्टुप्—इन तीन मन्त्रोंके संयोगसे बनता है।

उद्धृत श्लोककी जो व्याख्या दी गयी है वह महामति सर्वशास्त्रविशारद राघवभट्टकृत है। उससे यह मालूम होता है कि कोई मन्त्र किसी निर्दिष्ट देवताका नहीं है। जिस समय साधकसे मन्त्र, देवता और गुरुके साथ ऐक्य-भावना करनेके लिये कहा जाता है, उस समय साधक जिस इष्ट देवताका साधन करता है, वही एकमात्र परम देवता है, यह समझना भूल है। भगवत्पाद शंकराचार्यने स्वरचित प्रपञ्चसारतन्त्रमें हल्लेख्या बीजके सम्बन्धमें कहा है—

यां ज्ञात्वा सकलमपास्य कर्मबन्धं
तद्विष्णोः परमं पदं प्रयाति लोकः।
तामेतां त्रिजगति जन्तुजीवभूतां
हल्लेख्यां जपत च नित्यमर्चयीत॥

—इससे स्पष्ट मालूम होता है कि शक्तिबीज-साधनके द्वारा भी विष्णुपद प्राप्त किया जाता है। पहले ही कहा गया है कि साधकके उपास्य या इष्ट देवता उसकी गुरुनिर्दिष्ट ब्रह्ममूर्तिमात्र है। अपने इष्टकी मूर्तिका अवलम्बन करके ही परम पदार्थमें लीन हुआ जा सकता है। शाक्ततन्त्रमें शक्तिको प्रधानता दी जाती है, इसीसे 'ह्रीं' कार बीज और कुण्डलिनी-शक्तिकी आराधनाको प्रधानता दी जाती है। शैवतन्त्रमें 'ओंकार' और शिवको प्रधानता दी जाती है। इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं। शिव और शक्तिके परस्पर-सम्बन्धको 'अविनाभाव' बतलाया जाता है। जिन्होंने इस 'अविनाभाव' की उपलब्धि की है, वे ही जीवन्मुक्त हैं।

उपसंहारमें यह कहना आवश्यक है कि इसके अतिरिक्त और जो कुछ करनेकी आवश्यकता है, वह गुरुसे ही जाना जा सकता है। शास्त्रोंमें कहा गया है—

'गुरूपदेशतो ज्ञेयं न ज्ञेयं शास्त्रकोटिभिः।'

यह कहनेका मतलब यही है कि केवल शास्त्रवचनके आधारपर यदि योगसाधना की जाय तो साधकको समय-समयपर विशेषरूपसे विपद्ग्रस्त होना पड़ता है। गुरु शिष्यका अधिकार समझकर पग-पगपर उसे उपदेश देते हैं। यहाँतक देखा गया है कि प्राणायामसाधन करते समय भी कोई पथप्रदर्शक न होनेपर साधकको विपद्ग्रस्त होना पड़ा है। इन सब कारणोंसे जो विषय गुरुसे ही सीखने योग्य है, उसका उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है।

शांकरवेदान्तमें योगका महत्त्व

(श्रीवेदान्ती स्वामीजी)

योगदर्शनके अनुसार 'योग' शब्दसे निर्विकल्प-समाधि ही अभिप्रेत है, अन्य कुछ नहीं। इसे प्रायः सभी व्याख्याता मानते हैं—

'योग असम्प्रज्ञातसमाधिः।'

(व्यासभाष्य)

प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र आदि सभी प्रमाणों, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं एवं इसके विपरीत संकल्प, विकल्प आदि सभी वृत्तियोंको निरुद्ध कर एकमात्र तुरीय अवस्थामें स्थित होना ही योग है। इसे जैन, बौद्ध, सूफी आदि अन्य योग-साधक भी स्वीकार करते हैं। इसे ही निर्विकल्प समाधि कहा गया है। इसीमें परमात्माका साक्षात्कार भी होता है, जैसा कि महर्षि पतञ्जलिका कथन है—

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।'

(योग० १। ३)

अद्वैत वेदान्तमें योगकी प्रधानता है। आसन, प्रत्याहार, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि—ये असम्प्रज्ञात योगके मुख्य अङ्ग हैं। विजातीय वृत्तियोंके तिरस्कारपूर्वक सजातीय वृत्तिका सहज प्रवाह ध्यान है। **'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'** तथा **'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता'**—आदिके अनुसार ध्यानकी परिपक्वावस्था ही समाधि है। समाधिसे सञ्चित पुण्यापुण्य अपरिमित कर्म इस ध्यानद्वारा नष्ट हो जाते हैं।

धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः।
वर्षत्येष यतो धर्मामृतधारां सहस्रशः॥

(पञ्चदशी)

'परमश्रेष्ठ योगवेत्तागण धर्मकी अमृतमयी धाराकी निरन्तर वर्षा करनेके कारण समाधिको धर्ममेघ कहते हैं।' योग-दर्शनमें कहा गया है कि जो योगी प्रसंख्यान-ज्ञानसे भी विरक्त है उसको निरन्तर विवेक-ख्यातिके उदय होनेसे धर्ममेघ-समाधि होती है—**'प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः'** (४। २९)। ज्ञानसे केवल भ्रान्तिकी निवृत्ति होती है, पर ब्रह्माकाराकारिता-वृत्तिकी गाढ़ता योगके बिना सम्भव नहीं है। योगजन्य साक्षात्कारका विषय होनेसे ब्रह्मानन्द योगानन्दको प्राप्त होता है, वही निरुपाधिक होनेसे निजानन्द है और उसीको गौण-मिथ्या-मुख्यात्मके विवेचनद्वारा आत्मानन्द कहते हैं।

वस्तुतः आत्मबोध होनेपर भी आत्मनिष्ठताके अभावमें व्यक्ति जीवन्मुक्तके आनन्दसे वञ्चित रह जाता है। आत्मनिष्ठता ध्यानसे प्राप्त होती है। क्रमशः प्रत्ययैकतानतारूप ध्यानसे वासनाका क्षय भी शनैः-शनैः हो जाता है—

यदा यदा प्रत्यगवस्थितं मनः
तदा तदा मुञ्चति बाह्यवासना।

यम-नियमादिके पालनसे योगसाधनस्वरूप ध्यानकी योग्यता प्राप्त होती है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय अथवा ध्याता, ध्यान, ध्येयकी त्रिपुटीयुक्त सविकल्प-समाधि एवं त्रिपुटीरहित ध्येयैकगोचर समाधि निर्विकल्प है। विज्ञानमय ध्याता मनोमय ध्यानका विषय है। ध्याता, ध्यान, ध्येयके अभावमें निवातदीपवत् चित्त समाधिस्थ कहा जाता है। इस योग-समाधिके आश्रयसे अन्तःकरणके समस्त मलोंका अपनयन हो जाता है।

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं लभेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

(मैत्रायणी-उपनिषद् ४। ९)

आत्मामें योगाभ्याससे शुद्ध हुए चित्तको निवेशित करनेके उपरान्त साधकको अलभ्य सुखकी प्राप्ति होती है। जिस कालमें द्वैतकी प्रतीति नहीं होती एवं विक्षेप निद्रा आदिका भी अभाव होता है, उस समय समाधिके दिव्य सुखका अनुभव होता है। उसी अवस्थाको ब्रह्मानन्द कहा जाता है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥

(गीता ६। २७)

योगाभ्याससे मन प्रशान्त हो जाता है। इस प्रकार कल्मषरहित योगी उत्तम सुख प्राप्त करता है। वह अवस्था-विशेष या समाधिके अभ्यासद्वारा परिशुद्ध अन्तःकरणसे स्वप्रकाश-स्वरूप चैतन्यको देखता हुआ अपनेमें संतुष्ट रहता है। आत्मतत्त्वमें स्थित हुआ (आत्मनिष्ठ) महान् दुःखोंसे विचलित नहीं होता है। किसी परिस्थितिके आनेपर वह घबड़ाता नहीं है। ऐसी ही स्थितिमें ब्रह्माकारावृत्ति स्थिर हो जाती है।

वेदान्त आदि दर्शनशास्त्रोंमें जहाँ विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति तथा मुमुक्षुत्व आदि ज्ञानके साधन कहे गये हैं, वहीं श्रवण, मनन, निदिध्यासनको ज्ञानका हेतु बतलाया गया है।

श्रवणादित्रयं तद्वत्तत्त्वमिथ्याविवेचनम्।
पुनर्ग्रन्थेरनुदयो बोधस्यैते त्रयो मताः॥

(पञ्चदशी)

ग्रन्थिस्वरूप वासनाओंका पुनः उदय न होना ही ज्ञानका फल है। अर्थात् कूटस्थके साथ अहङ्कारादि तादात्म्य-वृत्तिका उदय न होना यह ज्ञानका फल है। निदिध्यासन-समाधिके अभ्याससे वृत्ति जब गाढ़ हो जाती है, तब **'तादात्म्याध्यास'**-रूप ग्रन्थिका उदय नहीं होता है। योगसे प्राप्त ब्रह्मज्ञानके द्वारा भ्रान्तिकी निवृत्ति होती है। ऐसी स्थितिमें चिज्जड-ग्रन्थिका उदय नहीं होता है। ध्यान-योगमें ब्रह्माकार-वृत्ति रहती है। यहाँ ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटी नहीं है। ब्रह्माकार-वृत्तिका यह वैशिष्ट्य है कि लक्ष्यकी आवृत्ति भी होती है तथा ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटी भी नहीं रहती ज्ञानप्राप्तिके बाद भी योगकी आवश्यकता रहती है, क्योंकि ज्ञान होनेपर ज्ञाननिष्ठाकी प्राप्ति योगके बिना नहीं हो सकती। अतः योगका महत्त्व योगज्ञान-निष्ठा ही है।

ज्ञान होनेपर केवल भ्रान्तिकी निवृत्ति होती है, वासनाका क्षय नहीं होता। अतः अन्तःकरणकी विशुद्ध प्रशान्त एवं विक्षेपशून्यावस्था योगाभ्यासके बिना नहीं होती है। अद्वैत-ज्ञानमें चित्तवृत्तियोंका निषेध होता है।

मन-बुद्धि आदि सूक्ष्म एवं स्थूल नाम-रूप सकल प्रपञ्चका निषेध करनेपर निषेधरहित निर्विशेषवृत्तिको ब्रह्माकार-वृत्ति कहते हैं; यह कर्ताका बाध करके उत्पन्न होती है अतः कर्तृजन्य नहीं है।

आनन्दको भी त्यागकर आत्मस्थिति प्राप्त करनेको निर्विकल्प समाधि कहते हैं। यदि समाधि ज्ञान है तो उत्थानको अज्ञान मानना पड़ेगा। ज्ञान होनेपर भी विक्षेप दूर नहीं होता, क्योंकि ज्ञान तो केवल अज्ञान दूर करता है। अतः विक्षेप-निवृत्तिके लिये योगकी नितान्त आवश्यकता है।

सच्चे गुरुदेव

काहू सौं न रोष तोष काहू सौं न राग दोष,
काहू सौं न बैरभाव काहू की न घात है।
काहू सौं न बकवाद काहू सौं नहीं बिषाद,
काहू सौं न संग न तौ कोउ पक्षपात है॥
काहू सौं न दुष्ट बैन काहू सौं न लैन दैन,
ब्रह्म को बिचार कछु और न सुहात है।
सुन्दर कहत सोई ईसनि कौ महाईस,
'सोई गुरुदेव जाकै दूसरी न बात है'॥

—श्रीसुन्दरदासजी

योगवासिष्ठमें योग

(प्रो॰ डॉ॰ श्रीभीखनलालजी आत्रेय, एम्॰ ए॰, डी॰ लिट्॰)

श्रीयोगवासिष्ठ महारामायण भारतवर्षके आध्यात्मिक ग्रन्थोंमें बहुत उच्च कोटिका ग्रन्थ है। इसमें वसिष्ठ ऋषिद्वारा श्रीरामचन्द्रको किये हुए आध्यात्मिक उपदेशका बहुत सरस भाषामें वर्णन है, इसके दार्शनिक सिद्धान्त बहुत सूक्ष्म और गहन हैं। अद्वैत वेदान्तके अनेक लेखकोंने इन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया है और कुछ विद्वानोंने इसके बहुत-से स्थलोंसे चुनकर कुछ श्लोकोंका संग्रह करके उन संग्रहोंको उपनिषदोंके नामसे प्रकाशित किया है। महा-उपनिषद्, अन्नपूर्णा-उपनिषद् और अक्षि-उपनिषद्के तो प्रायः सभी श्लोक योगवासिष्ठसे ही संगृहीत हैं।

'योग' शब्दका अर्थ

योगवासिष्ठमें योग शब्दका अर्थ है—संसारसागरसे पार होनेकी युक्ति (निर्वा॰पू॰ १३। ३)।

योगका आदर्श

योगद्वारा मनुष्य अपने यथार्थ स्वरूप सच्चिदानन्दका अनुभव कर लेता है। योगका ध्येय वह तुरीय नामक परम आत्मामें स्थिति है, जिसमें जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति किसीका भी अनुभव न हो और न इनके आगामी अनुभवका बीज भी रहे तथा जिसमें परम आनन्दका निरन्तर अनुभव होता रहे।

योगके तीन प्रभेद

(१) एक तत्त्वकी दृढ़ भावना, (२) मनकी शान्ति और (३) प्राणोंके स्पन्दनका निरोध—ये तीन योगके प्रभेद हैं। इन तीनोंमेंसे किसी एकपर चलनेसे तीनोंकी ही सिद्धि हो जाती है। इन तीनोंमें मनको शान्त कर लेना सबसे सरल है। यद्यपि किसीको ज्ञानका अभ्यास, किसीको प्राण-निरोध और किसीको मनका शान्त करना सरल होता है तो भी योग-वासिष्ठकार कहते हैं कि प्राणोंके निरोधकी अपेक्षा मनको शान्त करना अथवा तत्त्वका दृढ़ अभ्यास करना अधिक सरल है (निर्वा॰ पू॰ १३। ८)। इसलिये इस ग्रन्थमें इन दो भेदोंका ही बहुधा उल्लेख हुआ है।

१-एक तत्त्वका दृढ़ अभ्यास

एक तत्त्वकी दृढ़ भावनासे मन शान्त होकर आत्मामें विलीन हो जाता है और प्राणोंका स्पन्दन स्वयं ही रुक जाता है (निर्वा॰ पू॰ ६८। ४८)। एक तत्त्वका दृढ़ अभ्यास तीन प्रकारसे किया जाता है—

१. ब्रह्मभावना—पहले विचारद्वारा यह निश्चय हो जाना चाहिये कि संसारभरमें केवल एक ही अनन्त आत्मतत्त्व है और सब पदार्थ उसी तत्त्वके नाना नाम-रूप हैं। तब मनको तन्मय करनेका प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकारका ब्रह्माभ्यास करनेसे मन ब्रह्माकार होकर विलीन हो जाता है और प्राणोंकी गति भी स्वयं ही अवरुद्ध हो जाती है, क्योंकि यह नियम है कि जो जिस विषयकी दृढ़ भावना करता है वह तद्रूप हो जाता है।

२. अभाव-भावना—अभाव-भावनाका अर्थ है, पदार्थोंको अत्यन्त असत् समझकर उनके पारमार्थिक अभावकी दृढ़ भावना करना। जबकि ब्रह्म (आत्मा)के अतिरिक्त इस जगत्में और कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं और सब दृश्य पदार्थ वस्तुतः ब्रह्म ही हैं, तब उनको नाना नाम-रूपवाले और भिन्न सत्तावाले समझना केवल भ्रम है। इस बातको भलीभाँति समझकर यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये कि पदार्थ हैं ही नहीं, केवल सर्वत्र ब्रह्म-ही-ब्रह्म है। इस निश्चयके अभ्यासका नाम ब्रह्मभावना है। ऐसा करनेसे मन शान्त हो जाता है और अहंभाव तथा जगत्का अनुभव—दोनोंका लोप होकर आत्मभावमें स्थिति हो जाती है (स्थिति-प्रकरण)।

३. केवलीभाव—केवलीभाव उस निश्चयके अभ्यासका नाम है जिसमें केवल एक आत्मतत्त्वकी स्थिति मानी जाय और समस्त दृश्य पदार्थोंके असत्य होनेकी दृढ़ भावना होनेके कारण अपने द्रष्टा होनेको भी असत् समझा जाय और अपने उस आत्मस्वरूपमें स्थिति हो जाय जिसमें द्वैतका कोई भान नहीं है (स्थिति॰ ४। ५३)।

२-मनोलय

योगवासिष्ठके अनुसार मन ही संसारका उत्पन्न करनेवाला और चलानेवाला है। मनके शान्त हो जानेपर जीवनमें परमशान्ति आ जाती है और संसारका अनुभव क्षीण हो जाता है। मनके शान्त हो जानेपर जीव ब्रह्मत्वको प्राप्त हो जाता है और प्राणोंका स्पन्दन भी रुक जाता है। मन

संसाररूपी मायाचक्रकी नाभि (केन्द्रबिन्दु) है। इस नाभिको बल और बुद्धिद्वारा घूमनेसे रोक लेनेपर संसारचक्रकी गति भी अवरुद्ध हो जाती है। मनको जीत लेनेपर सब कुछ जीत लिया जाता है। मनके नाश होनेपर संसारका इस प्रकार लय हो जाता है जैसे कि घटके नाश होनेपर घटाकाश नष्ट हो जाता है। चित्तके लीन हो जानेपर द्वैत और अद्वैत दोनोंकी भावनाओंका लय होकर परम शान्त आत्मतत्त्वका ही अनुभव शेष रह जाता है। संसाररूपी दुःखसे मुक्त होनेका उपाय केवल मनको निग्रह करना है। इसी युक्तिद्वारा मनुष्यको परम शान्तिका अनुभव होता है। बिना इस युक्तिके शुभगति प्राप्त नहीं होती।

मन ही स्थूल होकर परिमित जीव हो जाता है और मन सूक्ष्म और विस्तृत होकर ब्रह्म हो जाता है। जिन कारणोंद्वारा मन स्थूलताको प्राप्त होकर दुःख भोगता है, वे ये हैं—अनात्म वस्तुमें आत्मभाव, स्थूल देहमें आस्था, स्त्री, पुत्र और कुटुम्बसे ममता, मेरा-तेरापन, बुढ़ापे और मौतसे भय, संसारसे सुखकी आशा, किसी वस्तुकी प्राप्ति और किसीके त्यागका यत्न, भोगोंकी तृष्णा और विषयोंके भोगोंमें फँसना आदि (उप० प्रक० ५०। ५७—६३)।

मन सूक्ष्म होकर जिन कारणोंसे ब्रह्मभावको प्राप्त होता है, वे ये हैं—भोगोंमें सुखकी कल्पनाको छोड़कर सांसारिक वासनाओंको त्यागकर परम शुद्ध आत्मतत्त्वकी ओर प्रवृत्त होना, मनकी असत्ता और आत्माकी सत्तापर बार-बार विचार करना, संसारके पदार्थोंकी असत्ताका दृढ़ निश्चय हो जाना, परम तत्त्वके चित् सामान्य रूपमें स्थिर होना आदि।

मनको शान्त करनेके उपाय

बिना उचित युक्तिके मनको जीतना कठिन है (उप० प्रक० ९१। ३४)। जो लोग ठीक युक्तियोंको छोड़कर हठपूर्वक मनको जीतना चाहते हैं, उनको अनेक क्लेश और भय प्राप्त होते हैं। (उप० प्रक० ९१। ४०)। मनको शान्त करनेकी अनेक रीतियाँ हैं, उनमेंसे कुछका उल्लेख यहाँ किया जाता है—

१. ज्ञानयुक्ति—ज्ञानद्वारा मनका निरोध करना आँख मींचने या फूलको मसल देनेसे भी सरल है। इसमें जरा भी कष्ट नहीं होता (निर्वा० पू० १११। ३१)। मनकी सत्ता ही अज्ञानके कारणसे है और वह ज्ञानद्वारा इस प्रकार सरलतासे नष्ट की जा सकती है जैसे कि रस्सीमें साँपकी सत्ता और मरुभूमिमें मृगतृष्णाके जलकी सत्ता। जो वस्तु अज्ञानजन्य है, वह ज्ञानद्वारा तुरंत नष्ट हो जाती है। सत्यका ज्ञान होनेपर यह भलीभाँति निश्चित हो जाता है कि वस्तुतः आत्माके अतिरिक्त और कोई पदार्थ नहीं है और मन भी असत् है।

२. संकल्पत्याग—संकल्प मनका बन्धन है और संकल्पका अभाव मनकी मुक्ति है। संकल्प न रहनेपर मनका नाश हो जाता है और मुक्तिका उदय होता है। संकल्पके शान्त होनेपर संसारका सब दुःख मूलसहित नष्ट हो जाता है।

३. भोगोंसे विरक्ति—जबतक संसारका नाश करनेवाले भोगोंसे विरक्ति उदित नहीं होता, तबतक दुःखोंपर विजय पानेवाली परम निवृत्तिका अनुभव नहीं होता (५। २४। ३७-३८)। संसाररूपी गड्ढेमें पड़े हुए लोग तभीतक दुःखोंमें भ्रमण करते हैं, जबतक उनको विषयोंसे वैराग्य नहीं होता (५। २४। ४३)। विषयोंसे विरक्ति होनेसे मन सूक्ष्म होकर आत्मभावको प्राप्त होता है।

४. वासनात्याग—चित्त (मन)का असली रूप वासना है। वासना (इच्छा) और मन पर्यायवाची शब्द हैं। वह मनुष्य जिसकी सम्पूर्ण वासनाएँ क्षीण हो गयी हों, जीवन्मुक्त हो जाता है। बन्धनमें पड़े हुए लोगोंको उस अवस्थाका अनुभव नहीं होता (३। २२। ८)। वासनात्यागकी सरल युक्ति यह है कि पहले तामसी वासनाओंका परित्याग करके मनमें मैत्री आदिकी शुद्ध वासनाओंको रखे, उनके अनुसार व्यवहार करता हुआ फिर उनको भी मनसे निकालकर सब वासनाओंसे रहित होकर केवल एक चिन्मात्रावस्थाको प्राप्त होनेकी वासनाको मनमें रहने दे (स्थिति० प्रक० ५७। २१)। तब मन और बुद्धिसहित उस वासनाका भी त्याग करके जो अवस्था शेष रहे उसके ध्यानमें स्थिर रहे। इस प्रकार जिस वासनाद्वारा दूसरी वासनाओंका त्याग किया जाय, उस अहंभावको भी त्याग देना चाहिये। उस ज्ञानवान् पुरुषके मनमें, जिसने कि इस भावनासे कि 'सब कुछ ब्रह्म ही है' अपना अज्ञान नष्ट कर लिया है, कभी वासनाका उदय नहीं होता। जिस प्रकार दीपकसे अँधेरा दूर होकर प्रकाशका उदय हो जाता है, उसी प्रकार परमार्थके ज्ञानसे वासना समूल नष्ट

होकर शान्तिका अनुभव होता है।

५. अहंभावका नाश—अहंभावके दृढ़ होनेपर ही संसारका भ्रम उदित होता है और अहंभावके क्षीण होनेपर उस स्वभावमें स्थिति हो जाती है, जिसमें कि निरन्तर शान्ति ही है। अहंभावरूपी मेघके क्षीण होनेसे चिदाकाशके निर्मल हो जानेपर ही आत्मानुभवरूपी सूर्यका प्रचण्ड प्रकाश होता है। यह सब संसार इन्द्रजालकी भाँति मिथ्या है, इसलिये इसमें राग रखनेसे क्या और द्वेष करनेसे क्या ? इस प्रकार विचार करते रहनेसे अहंभाव नहीं रहता। जब यह ज्ञान होकर कि मैं ही सारा जगत् हूँ और यहाँपर कोई वस्तु भी त्यागने अथवा प्राप्त करने योग्य नहीं है, चित्तमें समताका प्रकाश हो जाय, तब अहंभावकी वृद्धि नहीं होती (स्थिति० ३३।४६)।

६. असङ्गका अभाव—जिसके हृदयमें संसारकी वस्तुओंके साथ संग है, वही मनुष्य संसारसागरमें डूबा हुआ है और जिसका मन संगसे रहित है वही संसारसे मुक्त है। संगरहित पुरुष वह है जो न कर्मोंके त्यागसे प्रसन्न होता है और न कर्मोंमें अनुरक्त होता है, जो किसी भी कर्मका फल नहीं चाहता और जो सब अवस्थाओंमें समान रहता है। यहाँ सब कुछ आत्मा ही है—किस वस्तुका त्याग करूँ और किसका ग्रहण—इस भावका नाम असंग है। जीवन्मुक्तिमें यही दशा होती है (उप० प्रक० ६८।४)।

७. कर्तृत्वभावका त्याग—जब स्पन्दनात्मक कर्म क्षीण हो जाता है तो मन भी क्षीण हो जाता है। जैसे अग्नि और उष्णताकी सदा एकता है, वैसे ही मन और कर्मकी सदा एकता है। दोनोंमेंसे एकका नाश होनेसे दोनोंका ही नाश हो जाता है। कर्मका बीज (कारण) आत्माके अज्ञानसे उत्पन्न हुआ संकल्प है। संकल्प करना ही बन्धनका कारण है, इसलिये उसका सर्वथा परित्याग करना चाहिये। संवेदन और संवेद्य दोनोंको छोड़कर वासनारहित शान्त होकर रहनेका नाम कर्मत्याग है।

८. सर्वत्याग—जबतक सब कुछ नहीं त्यागा जाता, तबतक आत्मलाभ नहीं होता। सब अवस्थाओंका परित्याग करनेपर जो शेष रहता है, वही आत्मा है (५।५८।४४)। शुद्ध सर्वत्यागको सर्वदुःखोंका अन्त करनेवाली चिन्तामणि समझना चाहिये, शुद्ध बुद्धिसे उसीकी साधना करनी चाहिये। जो सब कुछ है, जिससे सब कुछ है और जो सबका कारण है, उसीमें सबका त्याग कर देनेसे सर्वत्यागकी सिद्धि होती है। तीनों कालमें रहनेवाला जगज्जाल जिसने अपने भीतर इस प्रकार देख लिया है जैसे कि मोतीके भीतर तागा, उसने सब कुछ त्याग दिया। जिसने बुद्धिद्वारा सब शङ्काओं, सब इच्छाओं और सब निश्चयोंका त्याग कर दिया है वह महात्यागी कहलाता है।

९. समाधिका अभ्यास—यदि निर्विकल्प समाधिमें स्थिति हो जाय तो अक्षय और निर्मल सुषुप्तिके समान आत्म-पदकी प्राप्ति हो जाती है। समाधि चुपचाप रहनेका नाम नहीं है। सब आशाओंरूपी तृणोंको भस्म करनेवाली तत्त्वज्ञानरूपी अग्निका नाम समाधि है (५।६२।८)। समाधि उस प्रज्ञाका नाम है जिसमें चित्त स्थिर हो, नित्य तृप्ति हो और पदार्थोंके असली रूपका ज्ञान हो। विषयोंके प्रति किसी प्रकारकी भी तृष्णा न रहनेका नाम समाधि है।

१०. लयक्रिया—देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और क्षेत्रज्ञ—जिन-जिन तत्त्वोंसे उत्पन्न होते हैं उनको जानकर उनमें इनको लय करनेका यत्न करना चाहिये। इस रीतिसे पहले अपने आपको विराट्में स्थित करे, फिर अव्याकृतमें और फिर परम कारणमें। शरीरके पार्थिव भाग मांसादिका पृथ्वीतत्त्वमें विचारद्वारा लय करे, रक्तादिका जलमें, तैजस भागका अग्निमें, वायव्य भागका वायुमें और आकाशीय भागका आकाशमें। इसी प्रकार एक-एक इन्द्रियको उसके कारण तत्त्वमें लय करे—श्रोत्रको दिक्में, त्वक्को वायुमें, चक्षुको सूर्यमें, जिह्वाको जलमें, घ्राणको पृथ्वीमें, पैरोंको विष्णुमें, पायुको मित्रमें, उपस्थको कश्यपमें, मनको चन्द्रमामें, बुद्धिको ब्रह्मामें—इस प्रकार समस्त देहको उसके कारण—तत्त्वोंमें लय करके अपने आपको विराट् समझे। अब पृथ्वी-तत्त्वको जलमें, जलको अग्निमें, अग्निको वायुमें, वायुको आकाशमें और आकाशको महाकाशमें जो कि सबका उत्पत्ति-कारण है, लय करे। वहाँपर योगी लिङ्ग-शरीरद्वारा क्षणभर स्थित होकर और ब्रह्माण्डके बाहर दृष्टि फैलाकर यह अनुभव करे कि मैं आत्मा हूँ। लिङ्ग-शरीरको सूक्ष्म अव्याकृतमें जो कि ब्रह्मासे पूर्वकी अवस्थाका नाम है, लीन करना चाहिये। यह वह तत्त्व है जिसमें नाम-रूपका त्याग करके जगत् स्थित रहता है। कोई इसको प्रकृति कहते हैं, कोई माया और कोई परमाणुसमूह,

कोई तर्कसे भ्रान्त चित्तवाले इसको अविद्या कहते हैं। उसमें सब पदार्थ लय होकर अव्यक्तरूपसे वर्तमान रहते हैं। इन तीनों अवस्थाओं-(स्थूल, सूक्ष्म और कारण-)के परे भी एक अव्यय चतुर्थ पद है। उसकी प्राप्तिके लिये उसका ध्यान करके कारण-शरीरका उसमें लय करना चाहिये। (निर्वा० पू० १२८। २१—२५)।

३-प्राण-निरोध

जैसे पंखेका हिलना बंद होते ही हवाका चलना बंद हो जाता है, उसी प्रकार प्राणोंकी गति रुक जानेपर मन भी शान्त हो जाता है।

प्राणका स्पन्दन रुकनेसे मन शान्त हो जाता है और मनके शान्त हो जानेपर संसारका लय हो जाता है। (५। ७८। १५-१६)।

प्राण-निरोधके उपाय

प्राण क्या है? प्राणोंकी प्रगति किस प्रकार होती है? और प्राणायाम कैसे किया जाता है—इन विषयोंकी चर्चा योगवासिष्ठमें खूब विस्तारसे की गयी है। यहाँपर संक्षेपमें केवल उन उपायोंकी गणनामात्र की जा रही है जिनसे कि योगवासिष्ठानुसार प्राणका स्पन्दन रुक जाता है। वे इस प्रकार हैं—वैराग्य, परम कारणका ध्यान, व्यसनक्षय, निरोधकी विशेष युक्ति, परमार्थज्ञान, शास्त्र और सज्जनोंका संग, वैराग्य और अभ्यास, सांसारिक प्रवृत्तियोंसे मनको हटाना, इच्छित वस्तुका ध्यान, एक तत्त्वका अभ्यास, दुःख हरनेवाले पूरकादि (पूरक, कुम्भक और रेचक) प्राणायामोंका गहरा अभ्यास, एकान्तमें ध्यान, ॐकारका उच्चारण करते-करते शब्द-तत्त्वकी भावना, संविद्को सुषुप्तिमें लाना, रेचकके अभ्याससे प्राणको आकाशपर्यन्त विस्तृत करना, पूरकके अभ्याससे मेरुके समान स्थिर हो जाना, कुम्भकके अभ्याससे प्राणका स्तम्भित करना, तालुमूलपर स्थित घण्टीको जिह्वासे यत्नपूर्वक दबाकर ऊर्ध्वरन्ध्रमें प्राण ले जाना, संवित्को शून्य आकाशमें, जहाँपर कोई कलना नहीं है, ले जाकर शान्त करना, नासाग्रसे द्वादशाङ्गुलपर बाहर शुद्ध आकाशमें संवित्को लीन करना, भ्रुवोंके मध्यमें दृष्टि लीन करके शुद्ध चेतनमें स्थित होना, ऊर्ध्वरन्ध्रमें प्राण ले जाकर तालुसे बारह अंगुल ऊपर प्राणको शान्त करना, जिसमें ज्ञानका उदय हो जाय, ठीक उसी समय उसमें दृढ़ भावसे निश्चित होना और किसी भी विकल्पसे विचलित न होना, चिरकालतक जिस पदार्थकी वासना रही हो, उसकी शून्य भावनासे मनको वासनारहित करके क्षीण करना और शुद्ध संवित्में ध्यान लगाना। इनके सिवा प्राणनिरोधकी और भी अनेक युक्तियाँ हैं जो नाना देशोंमें प्रचलित हैं और अनेक गुरुओंद्वारा बतायी गयी हैं। इस प्रकार प्राण-निरोधके अभ्याससे प्राणका लय होनेपर मनकी क्रिया शान्त हो जाती है और निर्वाणपद ही शेष रह जाता है।

प्राणविद्याके अतिरिक्त योगवासिष्ठमें कुण्डलिनी-विद्याका भी विस्तारपूर्वक वर्णन है। कुण्डलिनी-विद्याका ज्ञान होनेपर कुण्डलिनी-शक्तिको जाग्रत् करके उसके द्वारा योगी अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

योगकी सात भूमिकाएँ

संसारके अनुभवसे मुक्ति पाने और परमानन्दका अनुभव प्राप्त करनेके योग नामक मार्गकी योगवासिष्ठके अनुसार सात भूमिकाएँ हैं। जो जीव प्रयत्नशील होते हैं, वे उन सबको थोड़े ही समयमें पार कर लेते हैं और जो अधिक प्रयत्नशील नहीं होते, उनको जन्म-जन्मान्तर लग जाते हैं। इन भूमिकाओंका वर्णन योगवासिष्ठमें कई स्थानोंपर आया है। एक स्थानपर ज्ञानकी सात भूमिकाओंका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार आया है—१-शुभेच्छा, २-विचारणा, ३-तनुमानसा, ४-सत्त्वापत्ति, ५-असंसक्ति, ६-पदार्थाभावनी और ७-तुर्यगा। इन सातोंके अन्तमें मुक्ति है जिसको प्राप्त कर लेनेपर कोई दुःख नहीं रहता।

१. शुभेच्छा—संसारसे वैराग्य हो जानेपर जब मनुष्य अपनेको अज्ञानी समझकर शास्त्र और सज्जनोंकी संगति करके सत्यका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, उस अवस्थाका नाम शुभेच्छा है।

२. विचारणा—शास्त्र और सज्जनोंके सम्पर्कसे और वैराग्य तथा अभ्याससे सदाचारमें जब प्रवृत्ति होती है, उस अवस्थाका नाम विचारणा है।

३. तनुमानसा—शुभेच्छा और विचारणाके अभ्याससे इन्द्रियोंके विषयोंमें असक्तता होनेसे मनके सूक्ष्म हो जानेका नाम तनुमानसा है।

४. सत्त्वापत्ति—पूर्व तीनों भूमिकाओंके अभ्याससे

और चित्तके विषयोंसे पूर्णतया विरक्त हो जानेपर सत्य आत्मामें स्थित हो जानेका नाम सत्त्वापत्ति है।

५. असंसक्ति—चारों भूमिकाओंके परिपक्व हो जानेपर जब पूर्णतया मनमें असक्ति उत्पन्न हो जाती है और आत्म-तत्त्वमें दृढ़ स्थिति प्राप्त हो जाती है तो उस अवस्थाका नाम असंसक्ति है।

६. पदार्थाभावनी—पूर्वके पाँचों भूमिकाओंके अभ्याससे और आत्मामें निश्चल स्थिति हो जानेसे जब आन्तर और बाह्य वस्तुओंके अभावकी दृढ़ भावना हो जाती है, उस स्थितिका नाम पदार्थाभावनी है। इसकी सिद्धि तब होती है, जबकि परमात्माकी सत्ता और पदार्थोंकी असत्ताका बहुत समयतक यत्नपूर्वक अभ्यास किया जाय।

७. तुर्यगा—पूर्वकी छः भूमिकाओंके अभ्याससे और पदार्थोंका अनुभव न होनेसे अपने असली स्वरूपमें निरन्तर स्थित रहनेका नाम तुर्यगा है। जीवन्मुक्त लोगोंको इस अवस्थाका अनुभव होता है। विदेहमुक्ति इस अवस्थासे परे है।

योगवासिष्ठ बड़ा विशाल ग्रन्थ है और इसमें प्राधान्येन प्राणोंके नियमनके द्वारा धारणा, ध्यान तथा निर्विकल्प समाधिकी स्थितिमें आत्माको परमात्माके एकात्मभावसे प्राप्तिका सम्यक् विधान वर्णित है या ज्ञानद्वारा वासनाके क्षयके क्रमसे मनके आत्मामें लय हो जानेपर स्वयमेव प्राणोंका नियमन निर्विकल्प समाधिकी प्राप्ति निर्दिष्ट है। इसलिये योगवासिष्ठमें ज्ञान या योग दोनों मार्गोंसे ब्रह्मप्राप्ति अभीष्ट है और महर्षिके उपदेश करते ही किशोर राम पूर्ण समाधिस्थ हो जाते हैं और फिर महर्षि उन्हें जाग्रत् कर उनके विश्वामित्रके साथ यज्ञरक्षार्थ गमन, सीतापरिणय, रावण-वध आदि भविष्यके कर्मोंको निर्दिष्ट करते हैं। इस प्रकार बराबर वे योग और ज्ञानमें निरत होकर आदर्श मर्यादापुरुषोत्तमके रूपमें स्थित होते हैं। इसी प्रकार योगवासिष्ठमें जनक आदि राजर्षि महर्षियोंके भी समाधिस्थ होकर विश्वमें विशिष्ट सफलता प्राप्त करने और अन्तमें मोक्ष प्राप्त करनेके उपाख्यान वर्णित हैं। यहाँ संकेत रूपमें उसके संक्षिप्त साधनोंका ही दिग्दर्शन किया गया है। उसके पूर्ण लाभके लिये समग्र ग्रन्थका अवलोकन और मनन करना चाहिये।

प्राणब्रह्म

(योगी श्रीनारायणस्वामीजी महाराज)

श्रीमद्भगवद्गीताके माहात्म्यमें लिखा है कि प्राणायाम-परायण पुरुषके इस लोकके तो क्या पूर्वजन्मोंके भी किये पाप नहीं रहते। तब भला प्राणायाम प्राप्त करनेकी इच्छा किसे न होगी ? जिधर देखिये उधर ही सब प्राणायामके लिये उत्सुक दिखायी देते हैं, किंतु प्राणायाम क्या है, यह पहले समझ लेना चाहिये। आजकल तो लोग 'प्राण' का भी अर्थ न समझनेके कारण श्वासकी द्रुत आदि गतियोंके प्रसारपर ही योग-सिद्धियोंकी आशा करते हुए ठगे-से जा रहे हैं। यदि 'प्राण' शब्दकी समुचित व्याख्या कर दी जाय तो 'प्राणायाम' कठिन नहीं रह जाता।

भगवान् पिप्पलादसे एक शिष्य प्रश्न करता है—'**कुत एष प्राणो जायते**' महाराज ! यह प्राण कहाँसे पैदा होता है ? ऋषि उत्तर देते हैं—'**आत्मन एव प्राणो जायते**' आत्मासे ही प्राण उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि प्राणका जो महत्त्व महर्षि पिप्पलाद समझे हुए थे वह अप्रमेय था। प्राणका इतिहास वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है कि सबसे प्रथम प्रजापतिने 'रयि' एवं 'प्राण' को उत्पन्न किया। सूर्य ही प्राण है एवं चन्द्रमा ही रयि (भोग्यान्न) है। उन्होंने सब कुछ मूर्त एवं अमूर्तको प्राणरूपी सूर्यके तेजका भक्ष्य बताया है । कहा है—

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते।

(प्रश्नोप० १।५)

अर्थात् 'वह ही यह प्राण सर्वगत अग्निरूप उदय होता है।'

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मान-मन्विष्यादित्यमभिजयन्त एतद्वै प्राणानामायतनमेत-दमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष···· निरोधः॥ (प्रश्नोप० १।१०)।

अर्थात् 'जो तपसे, ब्रह्मचर्यसे, श्रद्धा एवं विद्याद्वारा आत्माको खोजकर सूर्यलोकको प्राप्त होते हैं, वे पुनः जन्म नहीं

धारण करते। कारण यह कि वह सूर्य ही प्राणोंका आश्रय है, वही मोक्ष है, वही अभय पद है। इसलिये कर्म करनेवालोंको यह परमाश्रय मिला हुआ है।' इस ऋचाका अर्थ यही है कि प्राण ही सूर्यका रूप है। अपने रूपको सूर्य जब खींच लेता है, तब प्राणी रूप आदि गुणविशिष्टोंसे हीन होकर मुक्त हो जाता है। कारण, प्राण ही शरीरबन्धनमें मुख्य है। अतः प्राणोंका आश्रय सूर्य इनको खींचकर प्राणीको मुक्त कर देता है।

उपनिषदोंकी प्रख्यात कथा है कि एक बार शरीरके समस्त अभिमानी देवताओंने अपने-अपने वश की हुई इन्द्रियोंद्वारा विचार कराया कि हम सबमें श्रेष्ठ कौन है! आकाश, वायु, अग्नि, पृथ्वी, वाणी, मन, चक्षु, श्रोत्र—इन सभीने ही अपने-अपने माहात्म्यका वर्णन किया एवं कहा कि हम ही इस शरीरको धारण किये हुए हैं। तब प्राणने उनसे कहा—**'मा मोहमापद्यथ।'** अरे मूर्खो! अज्ञानको प्राप्त मत हो, मैं ही इस आत्माके लिये पाँच रूपसे विभाजित होकर शरीरको धारण कर रहा हूँ। उन सबने विश्वास नहीं किया, तब प्राण अभिमानसे शरीरको छोड़नेके तुल्य होने लगा। उसके छोड़नेसे पहले ही सब नष्ट-से होने लगे एवं विनयकर उसे स्थिर किया। प्राणके स्थिर होनेपर पुनः सब ऐसे ही स्थिर हो गये जैसे मधुमक्खियोंकी रानीके उड़नेपर सब मक्खियाँ उड़ जाती हैं एवं बैठनेपर बैठ जाती हैं। इस प्रकार हारकर मन, श्रोत्र आदि इन्द्रियोंने प्राणकी स्तुति की।

प्राणकी महिमाका वर्णन करते हुए ऋषियोंने लिखा है—

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत्। (प्रश्न० २। ५)

'यही प्राण अग्निरूपसे तपता है, सूर्य, मेघ, इन्द्र, वायु, पृथ्वी, रयि (चन्द्रमा वा भोग्य) यही है, सत् एवं असत् भी यही है एवं यही अमृत है।'

इस मन्त्रका प्रत्यक्ष आदेश है कि यद्यपि वेदान्तसूत्र **'नैकस्मिन्नसम्भवात्'** के अनुसार दो विरोधी गुणोंका एक जगह होना असम्भव है तथापि प्राणमें सत् एवं असत् दोनों संज्ञाओंका अस्तित्व है। यह प्राण अनुपम है। कहा है कि जैसे रथके पहियेमें 'अरे' लगे रहते हैं, इसी प्रकार प्राणमें सब कुछ ऋक्, यजु, साम, यज्ञ, क्षत्र एवं ब्रह्म आदि हैं। यह प्राण ही विराट्रूप होकर गर्भमें रहता है, उत्पन्न होता है एवं अन्य प्राणोंसे स्थित रहता है, देवादिको बलि प्राण ही पहुँचाता है, प्राण ही इन्द्र है, तेजस्वी होनेके कारण प्राण ही रुद्र है, यही रक्षक है, यही सूर्यका रूप धारण किये हुए आकाशमें विचरता है, यही नक्षत्रोंका पति है, यह प्राण ही मेघरूप होकर वर्षा करता है एवं प्रजाके प्राणोंकी रक्षा करता है।

प्रश्नोपनिषद्में प्राणको व्रात्य कहा है। व्रात्य शब्दका अर्थ है जो स्वतः शुद्ध हो, जिससे परे कोई न हो, आगे कहा है—

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि नः॥

(२। १३)

यह सब प्राणके वशमें है और स्वर्गमें जो कुछ है, वह भी हे प्राण! तेरे वशमें है। हे प्राण! माताके समान पुत्रोंका पालन कर। लक्ष्मी एवं सरस्वती अथवा श्री एवं प्रज्ञाको हमें दे।'

प्राणके विषयमें कहा है कि जैसे सम्राट् अपने अधीन राजाओंको छोटे-छोटे राज्योंका शासन बाँट देता है, इसी प्रकार यह प्राण दूसरे प्राणोंको अलग-अलग उपदेश देता है। औपनिषद विषयमें अपान आदि चार वायु भी प्राणके नामसे ही पुकारे जाते हैं। वहाँ लिखा है—**'मुखनासिकाभ्यां प्राणः'**—मुख एवं नाकमें प्राणवायु रहता है। इस प्राणको सप्तार्चिष कहा है, क्योंकि दो कान, दो नेत्र, दो नासिकारन्ध्र एवं एक मुख—ये सात प्राणके अग्निस्वरूपकी ज्योतियाँ कही जाती हैं।

मृत्युके समय पुरुष जिस प्रकारके प्राणकी चिन्तना करता है, उस चिन्तनाके विषय—प्राणको ही प्राप्त करता है। इस प्राणको जो जानता है उसकी प्रजा (संतान) नष्ट नहीं होती, वह अमर हो जाता है! लिखा है—

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते॥

(प्रश्नोप० ३। १२)

'प्राणकी उत्पत्ति, प्राण कैसे शरीरमें आता है, शरीरमें कहाँ रहता है, उसका पाँच प्रकारका व्यापकत्व एवं उसके अध्यात्मको जाननेसे मोक्ष हो जाता है।'

इसी प्राणके नियन्त्रणका नाम प्राणायाम है। प्राणायामकी अति सरल विधि यह है—सप्त व्याहृति (१-भूः, २-भुवः, ३-स्वः, ४-महः, ५-जनः, ६-तपः और ७-सत्यम्)-सहित

गायत्रीमन्त्रको मनसे चिन्तन करता हुआ नेत्रोंको बंद करके पूरक करे एवं इसके उपरान्त उपर्युक्त मन्त्रकी तीन आवृत्ति करता हुआ कुम्भक करे, पश्चात् एक बार स्मरण करता हुआ रेचक करके श्वासको बाहर निकाल दे। किन्हीं-किन्हीं आचार्योंका मत है कि सप्त व्याहृतिका प्रथम तो अर्थ समझना कठिन है, पुनः सात प्रकारका ध्यान असम्भव होनेके कारण अर्थसहित प्रणवका जाप करनेसे ही प्राणायाम-सिद्धि हो जाती है। योगसूत्रमें भी लिखा है—**'तस्य वाचकः प्रणवः'—'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** इत्यादि। अतः सर्वसुगम प्राणायाम प्रणवके द्वारा ही होता है। प्रणवकी एक संख्या निश्चित कर उससे पूरक करे, उससे तीन गुना जपता हुआ कुम्भक करे एवं फिर उतना ही रेचक करे। केवल इसी अभ्यासकी उत्तरोत्तर वृद्धि करनेसे यम, नियम, आसन, धारणा, ध्यान स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं एवं पश्चात् प्राणोंको जीतनेसे समाधि भी प्राप्त हो जाती है, हृत्कमलका विकास होना आरम्भ हो जाता है एवं परम ज्योतिके दर्शन इसी शरीरसे प्राप्त हो जाते हैं। यह सुख अवर्ण्य है।

प्राणपूजा स्वात्मपूजा है, अतः परमात्माकी एवं चेतनकी पूजा है, इस पूजामें तनिक-सा मन लगानेवाला भी इस संसारजालके जडवादमें मोहित नहीं हो सकता। प्राणवायु ही पञ्चमहावायुओंमें मुख्य है, अतः मुक्तिका कारण है। वैदिक ब्राह्मणग्रन्थोंमें लिखा है—**'मौनी प्राणायामत्रयं कुर्यात्'**—मौन होकर तीन प्राणायाम करे। इस विषयमें कुछ मतभेद है। किन्हीं विद्वान् आचार्योंका कथन है कि सूक्ष्म प्राण, प्राण एवं महाप्राण—इन तीनोंका आलोडन ही प्राणायामत्रय कहा जाता है।

प्राणायामके विषयमें अधिकारकी कोई ख्यात भूमिका नहीं है। प्रत्येक प्राणी प्राणायामसरोवरमें स्नान करता हुआ अपनेको धन्य बना सकता है। किसी ऋतु-विशेषकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, अजपा-गायत्रीके साथ जो प्राणायामका विधान है वह क्लिष्टतासे भरा हुआ है।

केवल सात्त्विक श्रद्धामयी वृत्ति ही प्राणायाममें सफलताकी कुंजी हो जाती है।

शुद्ध एवं युक्त आसनपर स्थित होकर ही प्राणका व्यवहार करना उचित है, अन्यथा रोगादि होनेका भय हो जाता है। इस प्राणायामकी आसन-विधिपर किसीने कहा है—

तन डिढ मन डिढ बचन डिढ और आसन डिढ होय।
गुरू कहै सुण चेलक्या मरै तो सही पिण बूढो नी होय॥

प्राणायाम करनेवालोंमें ईश्वरभक्त एवं सो भी सगुणोपासक श्रद्धालु पुरुष बहुत जल्दी सिद्धि प्राप्त करते हैं। कौतुक समझकर करनेवालोंको प्राणायाम इतना सुखद नहीं होता। वस्तुतः प्राणकी महत्ता एवं उसकी रक्षा करना मनुष्य नहीं जानते; यही कारण है कि संसारमें चक्कर खाते हुए फिरते हैं। प्राणके महत्त्वका दिग्दर्शन कराते हुए पिप्पलादने भरद्वाज-पुत्र सुकेशा ऋषिसे कहा कि ये प्राण आदि जिससे उत्पन्न हुए हैं वह इसी शरीरमें अङ्गुष्ठमात्र होकर हृत्कमलमें निवास करता है।

सृष्टिविषयमें उसने विचार किया कि मैं किसके आविर्भावपर अपना आविर्भाव करूँगा एवं किसमें स्थिति करूँगा, सबका आश्रय तो मैं हूँ, मेरा आश्रय क्या होगा, तब उसने प्राणकी उत्पत्ति की। प्राणसे श्रद्धा उत्पन्न की। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, दसों इन्द्रियाँ, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म एवं लोकप्रसिद्ध नामादि रचे।

इन सब रचित प्राणियोंमें व्याप्त प्राण उसी महाप्राणके आश्रित हैं। जैसे चलती हुई समुद्रगामिनी नदियाँ समुद्रको प्राप्त होकर नाम-रूपादि गुणविशिष्टोंसे अस्तित्वहीन हो जाती हैं, केवल 'समुद्र' ऐसा नाम रह जाता है, इसी प्रकार उस महाप्राण समुद्रपुरुषमें परायण ये प्राणसरिताएँ उस पुरुषको पाकर नाम-रूपसे परे हो जाती हैं एवं तब महाप्राण ऐसा नाम ही रह जाता है, इस महाप्राणको एवं इसके महत्त्वको जो जानता है वह अमर हो जाता है। 'रथके पहियेके अरेके समान प्राणमें सब कुछ व्याप्त है' उसी प्रकार यह प्राण वा महाप्राण उस परमपुरुष ईश्वररूपी पहियेमें अरेकी भाँति स्थित है, उसे जाननेसे मृत्युका भय नहीं रहता।

प्राणायामपरायण पुरुषको यह प्रकरण अवश्य देखना चाहिये। प्राणायाममें प्रणवका जो स्थान है वह श्लाघ्य एवं स्पृहणीय है, वह स्थान किसी अक्षर वा बीजमन्त्रको नहीं मिला। प्रणवकी— ॐकी तीन मात्राएँ हैं। यह अ, उ, म् वा (ओ३म्) ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि भेदोंके अनुसार त्रिमात्र है। अतः प्राणायामपरायण पुरुष यदि एक मात्रावाले प्रणवका

ध्यान करता है (वा 'अ' अक्षरकी उपासना करता है) तो वह निश्चय करके ज्ञान प्राप्त कर लेता है एवं मृत्युके उपरान्त तुरंत ही संसारमें मानुषी जन्म धारण करता है, पूर्व-संस्कारोंसे उसकी बुद्धि प्राणायामपरक विषयोंमें ही प्रवृत्त होती है। उसे ऋग्वेदके मन्त्रोंद्वारा मनुष्ययोनि मिलती है एवं संस्कारवश होकर वह पुरुष तपस्या तथा ब्रह्मचर्यसे श्रद्धापूर्ण होकर ऐश्वर्यका अनुभव करता है।

यदि कोई दो मात्रावाले प्रणवसे ('अ', 'उ'—इन दो अक्षरोंवाली मात्राओंसे) मनमें प्रणवको धारण करता है तो वह यजुर्वेदके मन्त्रोंसे अन्तरिक्षमें चन्द्रलोकको प्राप्त होता है। वह वहाँ ऐश्वर्यभोग करके पुण्य क्षीण होनेपर फिर इस लोकमें जन्म लेकर कैवल्यपद प्राप्त कर लेता है।

किंतु जो पुरुष तीन मात्रावाले पूर्ण प्रणव 'ॐ' इस अक्षरसे उस परमपुरुषकी प्राणायामपरायण होकर उपासना करता है वह तेजःस्वरूप सूर्यमें निवास करता है और जैसे साँप पुरानी केंचुली (त्वचा) से स्वतः मुक्त हो जाता है, इसी प्रकार वह पापसे मुक्त हो जाता है एवं सामवेदके मन्त्रोंसे ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लेता है। पश्चात् इस परमसे भी परम उत्कृष्ट अर्थात् शरीररूपी नगरके राजासे भी श्रेष्ठ पुरुष परमात्माको देख लेता है। क्योंकि ॐकारकी पृथक्-पृथक् तीन मात्राएँ मनुष्यको संसारमें फँसानेवाली ही हैं। ये आवागमनसे रहित नहीं कर सकतीं (तीनों मिलकर करती हैं, अलग-अलग एक-एक मात्रा आवागमनके बन्धनको नष्ट नहीं कर सकतीं) किंतु केवल उपासनासे ही काम नहीं चलता, वहाँ यथायोग्य विचार कर लेनेपर बाहरी एवं भीतरीके बीचकी क्रियाओंमें बुद्धिसे युक्त वा परिपूर्ण होकर एक दूसरेके आश्रित एवं एक होकर ये भक्तकी रक्षा करती हैं एवं इस प्रकार वह त्रिमात्रसाधक अपने पथसे नहीं डिगता; किंतु निर्दिष्ट लक्ष्यको प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार वह साधक ऋग्वेदसे मनुष्यलोकको, यजुर्वेदसे चन्द्रलोकको ले जाया जाता है, किंतु जो साधक ऋषियोंके जाने हुए सामवेदके मन्त्रोंसे ब्रह्मलोकको ले जाया जाता है ऐसा विद्वान् साधक प्रणवप्राणायामके द्वारा ही जरा अर्थात् वृद्धावस्थासे रहित हो जाता है, मृत्युसे रहित हो जाता है (मृत्युसे रहितका तात्पर्य यह है कि यद्यपि शरीरका नाश होता है, किंतु ज्ञान एवं स्वप्रकाशविभूतिकी विस्मृति नहीं होती) एवं भयसे रहित होकर शान्तिको पाता हुआ परमपुरुषको प्राप्त होकर उसीमें लीन हो जाता है।

उस प्राणब्रह्मके विषयमें श्रुतिका भी यही कथन है—

एतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद। नातः परमस्तीति।

अमर भये

(स्व० योगिवर्य श्रीआनन्दघनजी 'यति')

अब हम अमर भये न मरेंगे।
या कारन मिथ्यात दियो तज क्योंकर देह धरेंगे॥
राग द्वेष जग बन्ध करत हैं इनको नाश करेंगे।
मर्‌यो अनन्त काल ते प्राणी सो हम काल हरेंगे॥
देह विनाशी, हूँ अविनाशी, अपनी गति पकरेंगे।
नाशी जासी, हम थिर वासी, चोखे ह्वै निखरेंगे॥
मर्‌यो अनन्त बार बिन समझ्यो, अब सुख-दुख बिसरेंगे।
'आनँदघन' निपट निकट अक्षर दो नहि समरे सो मरेंगे॥

प्रेषक—पंन्यासजी महाराज रीविरैंड

श्रीमद्भागवतके योगका वैलक्षण्य

(श्रीचतुर्भुजजी तोषनीवाल)

श्रीमद्भागवतमें 'योग' का अत्यन्त वैज्ञानिक रीतिसे विवेचन किया गया है। योग और धर्म—ये दोनों ही पुरुष-प्रयत्न - साध्य हैं। इसीलिये शास्त्रोंमें इन्हें बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग साधनके नामसे कहा गया है। धर्मका साधन अनुष्ठानप्रवण बुद्धिके द्वारा होता है, जब कि योगका साधन शान्ति-प्रवण बुद्धिके द्वारा होता है। अतः जिनकी प्रवणता अर्थात् रुझान कर्मकी ओर है उनके लिये धर्मका विधान है और जिनका रुझान शान्ति एवं समाधिकी ओर है उनके लिये योगाभ्यासका विधान है।

विषयके सम्यक् ज्ञानहेतु श्रीमद्भागवतके एतद्विषयक निम्न कतिपय श्लोकोंका तात्पर्य समझना सहायक होगा—

परमात्मा और आत्माकी एकता ही समस्त श्रुतियोंका प्रतिपाद्य विषय है और इसका सम्यक् अनुभव ही योगियोंका सर्वोच्च ध्येय है। अतः जिनकी बुद्धि योगमें निपुण हो गयी है, उन साधकोंका सर्वभावेन एक ही परम पुरुषार्थ बन जाता है कि वे सर्वत्र एवं सर्वदा परमात्मा एवं आत्माकी एकताका दर्शन करें—

एतावानेव मनुजैर्योगनैपुणबुद्धिभिः।
स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत्परात्मैकदर्शनम्॥

(श्रीमद्भा० ६। १६। ६३)

किंतु भक्तिमार्गके आचार्योंने '**परात्मैकदर्शनम्**'का अर्थ किया है—सर्वत्र, सर्ववस्तुमें एक श्रीभगवान्‌का ही दर्शन होना।

परम योगेश्वरों—सनकादिकोंने योगका केवल इतना ही स्वरूप बतलाया है कि मनको सब ओरसे खींचकर साक्षात् श्रीभगवान्‌में प्रविष्ट करा दिया जाय।

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा॥

(११। १३। १४)

समग्र योगका उद्देश्य बताते हुए श्रीमद्भागवतमें भगवान् कपिलदेवजीका वचन है कि समग्र प्रकृति और प्राकृत जगत्‌से अनासक्ति ही मनको अन्तर्मुखी बनानेमें मुख्य हेतु सिद्ध होती है।

एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः।
युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसङ्गस्तु कृत्स्नशः॥

(३। ३२। २७)

भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रिय भक्त उद्धवको कहते हैं—(इसलिये) हे उद्धव! अपनी वृत्तियोंको मुझमें तन्मय करते हुए अपनी पूरी इच्छा-शक्तिद्वारा मनको वशमें कर लो और मुझमें नित्य युक्त हो जाओ। सारी योगसाधनाका इतना ही सार-तत्त्व है।

तस्मात् सर्वात्मना तात निगृहाण मनो धिया।
मय्यावेशितया युक्त एतावान् योगसंग्रहः॥

(११। २३। ६१)

मनुष्य-जन्मका सर्वश्रेष्ठ लाभ यही है कि सांख्य (आत्मा-अनात्मा-विवेक), अष्टाङ्गयोग अथवा निष्ठापूर्वक स्वधर्माचरणद्वारा अन्तकालमें भी श्रीभगवान्‌की अखण्ड स्मृति बनी रहे।

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः॥

(२। १। ६)

भागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्राप्तिके साधनरूपमें भक्तियोगकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। ६—८)

मनुष्योंका आत्यन्तिक कल्याण करनेके हेतु अधिकारिभेदसे मैंने तीन प्रकारके योगोंका विधान किया है—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। जिन्होंने कर्मोंसे विरक्त होकर कर्मफलका त्याग कर दिया है, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं। इसके विपरीत जिनको कर्मोंसे वैराग्य नहीं हुआ है, वे कर्मयोगके अधिकारी हैं। किंतु जो व्यक्ति न तो अति विरक्त

है, न अति आसक्त ही है तथा जिन्हें यदृच्छया अर्थात् कर्मफलवशात् अथवा भगवत्कृपाहेतु मेरी लीला-कथामें श्रद्धा हो गयी है, वे भक्तियोगके अधिकारी हैं।

इस प्रकार भक्तियोगके द्वारा मेरा निरन्तर भजन करनेसे मैं साधकके हृदयमें आकर बैठ जाता हूँ और तब उसके हृदयकी सारी वासनाएँ अपने संस्कारोंके साथ सहज ही नष्ट हो जाती हैं। इसी सिद्धान्तको स्पष्ट करते हुए श्रीभगवान्‌ने फिर कहा है—

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।३१)

अतः मेरे भक्तके लिये ज्ञान और वैराग्यकी प्राप्ति उसके आत्यन्तिक कल्याण-साधनमें विशेष अपेक्षा नहीं रखती है। उसका कल्याण तो प्रायः मेरी भक्तिके द्वारा ही हो जाता है।

महर्षि पतञ्जलिने योगकी परिभाषामें कहा है—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'** 'योगके अष्टाङ्गों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिका सद्गुरुके निर्देशनमें दृढ़ संकल्पके साथ अनुशीलन करनेसे ही चञ्चल चित्तकी समस्त वृत्तियोंका निरोध सम्भव हो पाता है, जो अत्यन्त कष्टसाध्य है। श्रीभगवान्‌ने भी गीताके छठे अध्यायमें (श्लोक ३५) स्वीकार किया है कि चञ्चल मनका निग्रह तीव्र वैराग्य एवं अभ्यासके बलपर ही शनैः-शनैः सम्भव है। निर्विकल्प समाधि सिद्ध हुए बिना परमात्मैक्य-प्राप्ति सम्भव नहीं होती। इसमें भी एक साधनोंके अनुष्ठान-कालमें फलस्वरूप प्राप्त होनेवाली सिद्धियोंके रूपमें विपत्ति उपस्थित होती है। इन चमत्कारपूर्ण सिद्धियोंके प्रलोभनमें फँस जानेपर तो सारा श्रम ही निष्फल हो जाता है, कारण कि सिद्धियाँ तो भगवत्प्राप्तिमें अन्तराय ही हैं। (भा० ११।१५।३३)

अतः साधारण मनुष्य भी सुगमतासे भगवत्प्राप्ति कर सके, इसी उद्देश्यसे कारुण्यवश श्रीमद्भागवतका प्राकट्य हुआ है। श्रीमद्भागवतके मङ्गलाचरणके वस्तुनिर्देशात्मक (द्वितीय) श्लोकमें ही स्पष्ट घोषणा कर दी गयी—**'सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्'** अर्थात् श्रीग्रन्थके श्रवणकी इच्छामात्रसे ही अधिकारी साधकोंके हृदयमें श्रीभगवान् तत्क्षण बंदी हो जाते हैं। बन गया न काम? जिन चित्तवृत्तियोंको सांसारिक काम्य वस्तुओंकी दिशामें दौड़नेसे रोकने-हेतु योगके अष्टाङ्गोंका सम्यक् अनुष्ठान आवश्यक है, उसी उद्देश्यकी प्राप्तिहेतु श्रीमद्भागवत एक अभिनव सरल उपाय बता रहा है। चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेका प्रयत्न न करके केवल उनकी दिशा श्रीभगवान्‌की ओर मोड़ दें। यह दिशा-परिवर्तन भी एक अत्यन्त सरल साधन भक्तियोगसे ही सम्पन्न हो जाता है। इस सर्वोत्तम किंतु सरल साधन निर्गुण अथवा गुणातीत भक्तिका वर्णन करते हुए भगवान् कपिल माता देवहूतिसे कह रहे हैं—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥

(श्रीमद्भा० ३।२९।११-१२)

इस निर्गुण अर्थात् गुणातीत भक्तिका प्रादुर्भाव भी कितना सरल एवं विलक्षण है। श्रीभगवान्‌के गुणानुवादके श्रवणमात्रसे ही गुणातीत भक्तिदेवीका प्राकट्य हो जाता है, इसमें अन्य कुछ करना-धरना नहीं पड़ता। न समाधि लगानी पड़ती है, न पूजा-उपासना करनी पड़ती है। केवल श्रीभगवान्‌का गुणानुवाद सुना और मनकी गति श्रीभगवान्‌की ओर बहने लगी। किस भगवान्‌की ओर? बाहरके भगवान् नहीं—**'मयि सर्वगुहाशये'** अर्थात् जो भगवान् सबके हृदयमें विराजमान हैं, उनकी ओर। इस भक्तिमें दो बातें विशेष हैं—एक 'अहैतुकी' और दूसरी 'अव्यवहिता'। अहैतुकी भक्ति उसे कहते हैं, जो किसी बाह्य प्रेरणासे अथवा किसी प्रयोजनकी पूर्तिहेतु न की गयी हो। 'अव्यवहिता' का तात्पर्य है—लगातार धाराप्रवाह गतिवाली।

श्रीभगवान्‌के गुणानुवाद-श्रवणके साथ-साथ यदि उनके दिव्य माधुर्यमय रूपका वर्णन भी श्रवण किया जाय तो फिर मणि-काञ्चन-संयोगका फल देगा। नैर्गुण्यमें परिनिष्ठित, आत्माराम, निर्ग्रन्थ महायोगी श्रीशुकदेवजीने भी जब भागवतान्तर्गत भगवान् श्रीकृष्णके 'दयालुता' प्रकाशक **'अहो बकी यं०'** श्लोक और माधुर्यप्रकाशक **'बर्हापीडं नटवरवपुः०'** श्लोक-पाठ सुना तो वे उन श्लोकोंमें वर्णित अद्भुत अप्रतिम किशोरस्वरूपकी लीलाओंको सम्पूर्णतया

श्रवण करनेके लिये उत्सुक हो गये और अपने निर्विकल्प-समाधिका त्याग करके उस अद्भुत श्रीग्रन्थ, जिसके ये श्लोक थे, का अध्ययन करने-हेतु महर्षि व्यासके पास दौड़े गये। एक दिन जिस सर्वभूतहृदय बालक शुकके पीछे पुत्र-स्नेहकातर व्यासजी दौड़ रहे थे, आज इस श्रीमद्भागवतरूपी रत्नके लोभसे वही बालक उनके पीछे पड़ा हुआ था। लीला-श्रवणसे समाधित्यागका इससे उत्कृष्ट उदाहरण मिलना दुष्कर है।

आवागमन-चक्रसे छूटकर अभयपदके इच्छुक मोक्षकामी मनुष्यका परम कर्तव्य यही है कि वह सर्वात्मा, सर्वनियन्ता, सर्वदुःखहारी श्रीभगवान्‌के विषयमें ही श्रवण करे, उन्हींका कीर्तन एवं स्मरण करे। परम भक्तिमती कुन्तीदेवी भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करती हुई कहती हैं कि जो मनुष्य श्रीभगवान्‌के चरित्रोंका श्रवण, गायन, कीर्तन, स्मरण करते हुए आनन्दित होते रहते हैं, वे अविलम्ब उनके भवप्रवाहनाशक चरणकमलोंका दर्शन कर लेते हैं (श्रीमद्भा० १।८।३६)। अतः हे श्रीकृष्ण! जैसे गङ्गाकी अखण्ड जलधारा समुद्रमें गिरती रहती है, उसी प्रकार मेरी बुद्धि सब प्रकारके विषयोंसे सिमटकर निरन्तर केवल आपसे ही प्रेम करती रहे (श्रीमद्भा० १।८।४२)। राजा परीक्षित्‌ने भी श्रीमद्भागवतका केवल श्रवण करके ही परम गति पायी। ऐसे मनुष्य, दैत्य, पशु आदि विभिन्न योनिगत जीवोंके जिनमें योग, विद्या, तप, स्वाध्याय आदिका नितान्त अभाव था, किंतु जो केवल श्रवण-कीर्तन-स्मरणके बलसे परमगतिको प्राप्त हो गये, दृष्टान्तोंसे श्रीमद्भागवत भरा पड़ा है। अतः दुःसाध्य योगचर्याका सम्यक् अनुष्ठान करनेमें असमर्थ साधारण जीवोंको निराश होनेका कोई कारण नहीं है। वेद-स्तुतिमें तो इसे पूर्णतया स्पष्ट कर दिया गया है—

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि
यन्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः॥

(श्रीमद्भा० १०।८७।२३)

श्रुतियाँ कहती हैं—'बड़े-बड़े विचारशील योगी-यति अपने प्राण-मन और इन्द्रियोंको वशमें करके दृढ़ योगाभ्यासके द्वारा हृदयमें आपकी उपासना करते हैं। किंतु आश्चर्य यह है कि उन्हें जिस पदकी प्राप्ति होती है, उसी पदकी प्राप्ति उन शत्रुओंको भी हो जाती है, जो आपका वैरभावसे स्मरण करते हैं। कहाँतक कहें, भगवन्! वे स्त्रियाँ, जो अज्ञानवश, केवल काम-भावसे आपकी शेषनागके समान मोटी, लम्बी तथा सुकुमार भुजाओंपर आसक्त रहती हैं, उन्हें भी वही परमपद मिलता है जो हम श्रुतियोंको भी प्राप्त होता है। यद्यपि हम सदा-सर्वदा एकरस अनुभव करती हुई आपके चरणकमलोंका मकरन्द-पान करती रहती हैं।'

भक्तिसाधनाको योगसाधनासे समानता ही नहीं, वरन् सुगमताहेतु वरीयता प्राप्त है। विस्तार-भयसे इसकी पुष्टिमें श्रीमद्भागवतसे अधिक उद्धरण नहीं दिये जा रहे हैं। जिन साधकोंको इस विषयमें रुचि हो, उन्हें श्रीमद्भागवतके निम्न प्रसङ्ग इस दृष्टिसे अध्ययन करनेपर अपूर्व आनन्दकी प्राप्ति होगी—सम्पूर्ण वेणुगीत एवं रास-पञ्चाध्यायी, दशम स्कन्धके ९।९ से ११; १२।१२, ३९; ८२।४०; ८३।३, षष्ठ स्कन्धका ३।३९, एकादश स्कन्धके १९।२० से २४; २।१२, ३९-४०; ३।२७; ११।२३—२५, द्वादश स्कन्धके १३।१८, २३; ३।४६—५२; ६।२से ६ इत्यादि।

श्रीमद्भगवद्गीताके श्रीकृष्णको 'महायोगेश्वर' पदवीसे ही सम्बोधित किया गया है, किंतु श्रीमद्भागवतके श्रीकृष्णको तो 'योगेश्वरेश्वर' पदवी प्रदत्त हुई है (श्रीमद्भा० १०।२९।१६, १०।६९।१९, ११।१२।१६)। योगेश्वरेश्वरका अर्थ है समस्त योगेश्वरोंके भी ईश्वर अर्थात् नियन्ता, सर्वोपरि। अतः योगके विषयमें भगवान् श्रीकृष्णके वचन अन्तिम हैं।

अतः हम सब भी प्रेमसे भगवान्‌के गोप-सखाओंके साथ मिलकर इस प्रकारकी भक्तिपूर्ण प्रार्थना करें—

मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु॥
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया।
मङ्गलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे॥

(श्रीमद्भा० १०।४७।६६-६७)

हमारे मनकी समस्त वृत्तियाँ श्रीकृष्णकी ओर प्रवाहित

होकर उन्हींके चरणकमलोंका आश्रय लें। हमारी वाणी उनके नामोच्चारण तथा शरीर उनको सतत प्रणाम करनेमें ही लगे रहें। भगवदिच्छासे या कर्मोंके फलस्वरूप हमें जिस-किसी योनिमें जन्म लेना पड़े, हम वहाँ शुभ आचरण, दान आदि सत्कर्म करें, किंतु उसका फल केवल यही मिले कि भगवान् श्रीकृष्णमें हमारी प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। महाभावावस्थागता गोपियोंकी आश्वासनवाणी '**तव कथामृतं····श्रवणमङ्गलम्।**' की हमें सदा स्मृति बनी रहे।

श्रीमद्भगवद्गीतामें योगका स्वरूप

(पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

यद्यपि भारतवर्षमें सभी भाषाओंमें योग-साहित्यपर अपार सामग्री है और केवल योगपर ही विभिन्न भाषाओंमें अनेकों ग्रन्थ निर्मित हुए हैं, जिनकी विस्तृत सूची आफ्रेक्ट तथा कुन्हन राजा और बी० राघवन आदिके कैटेलग्स कैटेलग्रम (बृहत् संस्कृत ग्रन्थ-सूची) आदिमें देखी जा सकती है। वेद, उपनिषद्, आरण्यक, ब्राह्मण-ग्रन्थ, इतिहास-पुराण सभी योगकी व्याख्या एवं विवरण प्रस्तुत करते हैं। योगवासिष्ठमें योगपर बत्तीस हजार (३२०००) श्लोक हैं। महर्षि पतञ्जलिके योग-दर्शनपर भी अनेकों व्याख्याएँ, भाष्य, विवरण आदि हैं। ये सभी योगके प्रशंसापरक और परमात्म-प्राप्तिमें अत्यन्त सहायक हैं। किंतु श्रीमद्भगवद्गीता स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे कथित होनेके कारण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योग-शक्तिसे युक्त है। यह कल्याणप्रद और मध्यम आकारका अत्यन्त पवित्र एवं प्रभावशाली ग्रन्थ है। इसके श्लोक बड़े सुन्दर, भव्य, अनेक अलंकारोंसे युक्त और रमणीयतम हैं। थोड़ी भी संस्कृत भाषा जाननेवाला इसे सरलतासे समझ सकता है। इसे पढ़नेमें उसे बहुत आनन्द प्राप्त होता है और पद-पदपर योगके द्वारा भगवत्साक्षात्कारका ही आनन्द प्राप्त होता दीखता है।

महाभारतमें एक जगह कहा गया है कि 'योगके द्वारा सारी सिद्धियों, समस्त योगोंके फल और भगवान्‌को भी तत्काल प्राप्त किया जा सकता है, किंतु यज्ञ तथा दान आदिके द्वारा योगजनित सिद्धियाँ कभी प्राप्त नहीं की जा सकतीं—

योगेनाप्नोति ताः सर्वाः नान्यैर्योगगतिं व्रजेत्।

यही बात गीताके आठवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भी कही गयी है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

अर्थात् 'वेद, यज्ञ, तप और दान आदिके द्वारा जो भी फल प्राप्त होता है अथवा शास्त्रोंमें कहा गया है, उन सबको प्राप्त कर उनसे आगे जाकर योगी सर्वोच्च पदको प्राप्त कर लेता है।'

इसी प्रकार छठे अध्यायके अन्तमें भी कहा गया है कि योगी तपस्वी, कर्मकाण्डी और शास्त्रज्ञानी आदि सभीसे बड़ा है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

इस प्रकार भगवद्गीतामें तथा अन्य शास्त्रोंमें योगकी सर्वाधिक महिमा निर्दिष्ट है। योगमें हिन्दू, ईसाई, जैन, बौद्ध, सिक्ख और मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर आदिका भेद-भाव भी नहीं है। इसमें विविध प्रकारके इष्ट देवताओंकी भी विभिन्नता नहीं है। योगी सर्वत्र सबमें परमात्माको देखता है। उसे राम, कृष्ण आदि सभी अवतार ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, कुबेर, वरुण, वायु, अग्नि, पृथ्वी आदि और समस्त संसारके मनुष्य, भूत, पितर तथा पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, गुल्म आदिमें भी भगवान्‌का ही रूप दिखायी देता है। योगी सबमें एक ही पूर्ण ब्रह्म परमात्माको देखता है। इससे उसके हृदयमें तत्काल शान्ति उदय होती है। किंतु करना क्या होता है कि काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, मान, प्रतिष्ठा, दम्भ, हिंसा, उद्वेग, हर्ष, किसी प्राणिपदार्थमें आसक्ति और समस्त विषयोंके रसतकका परित्याग कर अर्थात् संसारके सभी दोषोंका परित्याग कर मनको सम्यक् ज्ञानमें प्रतिष्ठित करके एक सम-अवस्थाको प्राप्त करना होता है। इसीका नाम कषायोंका परिपाक है। जबतक ऐसा नहीं हो जाता, तबतक

भगवान्‌का सम्यक् या परिपूर्ण साक्षात्कार नहीं हो सकता। यही बात स्वयं भगवान् विष्णुने नारदको कही थी कि 'मैं अविपक्वकषायवाले कुयोगी पुरुषोंको तत्काल दृष्टिगत नहीं होता—

अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्।

इसलिये बार-बार कामादि दोष एवं मल आदि कषायोंको दूर करते हुए परमात्म-साक्षात्कारके लिये उद्योग करना पड़ता है। यही बात सम्पूर्ण योगवासिष्ठमें विस्तारसे समझायी गयी है।

भगवद्गीतामें दूसरेसे आठवें अध्यायतक इस योगकी विशेष चर्चा है। इसका मुख्य प्रसंग दूसरे अध्यायके ३९ वें श्लोकसे प्रारम्भ होता है। जहाँ भगवान् कहते हैं—'यहाँतक तो सांख्यकी चर्चा हुई, अब योगकी बात सुनो, जिस यौगिक बुद्धिसे युक्त होकर तुम समस्त कर्मबन्धनोंको काट डालोगे।' इस योगमार्गमें किये गये अभ्यास-क्रमका उच्छेद नहीं होता अर्थात् अन्य पुण्योंके समान इसका फल नष्ट नहीं होता और इसमें प्रत्यवाय, पाप आदि भी नहीं होते। इसका थोड़ा-सा भी आचरण महान् भय और संकटको दूर कर देता है।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(२।४०)

इस योगप्रक्रियामें केवल एक ही निश्चयात्मिका बुद्धि रहती है कि एक ही परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है। उसकी शरणागति, ध्यान, स्मरणसे सारा क्लेश नष्ट होगा और पूरी शान्ति प्राप्त हो जायगी। समस्त प्राणिपदार्थ एवं क्रियाएँ भी और कुछ नहीं केवल उसीके ही स्वरूप हैं। अतः सभी प्राणि-पदार्थ मायिक हैं। सुख, दुःख, सिद्धियाँ एवं असिद्धियाँ भी मायिक हैं। इनमें कोई सार नहीं है। इसलिये इनकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हर्ष-विषाद आदिसे तनिक भी विचलित नहीं होना चाहिये। इस प्रकार जब साधककी बुद्धि परमात्मामें ही समाहित होकर स्थित हो जाती है तब वही 'योग' नामसे व्यपदिष्ट होता है—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(२।४८)

इस योगके सामने अन्य सभी कर्म तुच्छ हैं। अतः समस्त फलोंकी आशाका परित्यागकर केवल कर्तव्य-बुद्धिसे मात्र श्रेष्ठ कर्मोंका ही आचरण करना चाहिये। योगी व्यक्तिके पुण्य एवं पाप सभी नष्ट हो जाते हैं। इसलिये वह कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाता है और सारी कामनाओंका परित्यागकर सर्वथा प्रसन्न हो जाता है। वह केवल अपनी आत्माको देखता हुआ परमात्मभावसे संतुष्ट हो जाता है। उसे भारी-से-भारी क्लेशसे भी उद्वेग नहीं होता और संसारके राजपाट या किसी भी अन्य सुखकी स्पृहा नहीं होती। भय, क्रोध एवं आसक्तिसे वह सर्वथा शून्य होता है। उसकी दृष्टि एकमात्र परमात्मापर लगी रहती है। इससे भोग-पदार्थोंकी इच्छाकी तो बात ही क्या, उधर लेशमात्र भी उसका रहा-सहा रस भी समाप्त हो जाता है। यह योगके द्वारा परमात्माके दर्शनका परम फल है—

रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(२।५९)

—वैसे इस योग-सिद्धिमें विद्वान् लोगोंको भी कई जन्म लग जाते हैं। क्योंकि इन्द्रियाँ बड़ी बलवती होती हैं और वे ज्ञानी पुरुषोंको भी विजयके प्रयत्न करनेपर भी अलग-अलग अपने प्रभावसे मनको खींचकर परमार्थसे भ्रष्ट कर देती हैं। विषयोंके सांनिध्यसे उनका चिन्तन होता है और उनकी ओर आसक्ति होती है। उसमें बाधा पड़नेपर क्रोध भी होता है। इस प्रकार राग और क्रोधके कारण मोहमें पड़कर आगे-पीछेके सभी साधन भूल जाते हैं। फिर बुद्धि सर्वथा नष्ट हो जाती है और इससे साधक परमार्थ-प्राप्तिसे वञ्चित हो जाता है और एक प्रकारसे उसका सर्वनाश हो जाता है। इसलिये योग-साधकको सर्वथा आसक्ति और विषयोंके प्रभावसे बचकर अपने उद्धारका प्रयत्न करना चाहिये। जो ऐसा नहीं करता वह अपना अधःपतन करानेवाला स्वयं शत्रु है। योगी व्यक्ति विषयोंको तथा संसारको असत्य तथा क्षणभङ्गुर समझकर संसारमें केवल भगवान्‌की भावना एवं ध्यान करता हुआ परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है। जो ऐसा नहीं करता, वह विषयोंकी अग्निमें झुलसता हुआ अशान्त रहता है, ऐसे अशान्त व्यक्तिको सुख कहाँ? इधर योगी व्यक्ति भगवान्‌के ध्यानसे सुखी रहता है। जो सारी कामनाओंका परित्यागकर स्पृहारहित होकर शारीरिक नित्य-कर्मोंका आचरण करता है, जिसके मनमें अहंकार, मोह और ममता नहीं है तथा वह भगवान्‌को

ही सब कुछ मानता है, उसे सम्यक् शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

गीताके छठे अध्यायमें योगारुरुक्षु, योगारूढ और योगसिद्ध—इन तीन प्रकारकी योग-अवस्थाओंकी विवेचना हुई है। जो योगमार्गपर आरूढ होना चाहता है, उसके लिये फलाशा त्यागकर अपने वर्ण, आश्रम और परिस्थितियोंके अनुसार धर्मका ही आचरण करना चाहिये, ऐसा बतलाया गया है। ऐसा आचरण कर मनुष्य योगारूढ़ हो जाता है। जब साधक योगारूढ हो जाता है तब उसके लिये परम योग-सिद्धिकी प्राप्तिके निमित्त विशिष्ट देवी-देवताओंके ध्यानपूर्वक निर्बीज-समाधिकी स्थिति प्राप्त करनेका विधान है। क्योंकि— **'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।'** ऐसा कहा गया है। ऐसी अवस्थामें वह भगवान्‌की ही चर्चा करता है और एकान्त स्थानमें बैठकर निश्चल दीपशिखाकी भाँति स्थित हो अपने चित्तको भगवान्‌के भजनमें लगा देता है। वह लेशमात्र भी भगवान्‌से पृथक् नहीं होता—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥

(६।१९)

योगीको पवित्र एवं एकान्त—नदीके तीर, बिल्व या पीपलके वृक्षके नीचे, अरण्य-प्रान्तमें या किसी गुफा अथवा देवालयमें जहाँ मन भगवान्‌की ओर विशेष आकृष्ट हो सके ऐसे स्थानमें कुश, मृगचर्म, कम्बल या मुलायम वस्त्रके आसनपर सीधे बैठकर योग-साधना करनी चाहिये। सर्वप्रथम वह समस्त संकल्पों और उससे उत्पन्न होनेवाले कामनाओंका निःशेष रूपसे परित्याग कर दे और मनको सर्वथा चिन्तनसे मुक्त कर दे। मनके शुद्ध हो जानेपर भगवान् हृदयमें अपने-आप आ जाते हैं। यदि मन कहीं किसी बाहरी वस्तुका चिन्तन करनेकी ओर दौड़े, तो उसे वहाँसे खींचकर पुनः हृदयस्थ परमात्मामें लगाना चाहिये। जब मन अभीष्ट वस्तुका चिन्तन नहीं करता और उसके हृदयमेंसे सदैव रजोगुण, तमोगुण सभी भाव विलय हो जाते हैं, तब योगीके हृदयमें परम शान्ति आ विराजती है और वह परम सुखी हो जाता है। फिर अज्ञान नष्ट होकर विशुद्ध विज्ञान चमक उठता है, जिससे हृदयके भीतर तथा बाहर परमात्माका चिन्तन होने लगता है। उसकी दृष्टि सब जगह समान हो जाती है। यथा—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(६।२९)

इस प्रकार जो समस्त प्राणियों तथा आकाश, पाताल, समुद्र, नदी, पर्वत आदिमें सर्वत्र एक परमात्माको देखता है, भला उसकी दृष्टिसे परमात्मा या परमात्माकी दृष्टिसे वह कैसे ओझल हो सकता है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(६।३०)

जो समभावमें स्थित होकर राग-द्वेषादिसे शून्य पूरे विश्वमें अपने आत्माके समान ही सबके सुख-दुःखकी भावना करता है और सर्वत्र परमात्माको निरन्तर देखता है, वही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध योगी है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६।३२)

भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने योगके तत्त्वको परम पवित्र संन्याससे भी अधिक श्रेष्ठ माना है। यदि कोई संन्यासी योगका साधक नहीं है, तो उसे सिद्धि बड़ी कठिनाईसे प्राप्त हो सकेगी और अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ेगा। परंतु विशुद्ध योगका साधक अनायास विशुद्ध ज्ञानके द्वारा भगवान्‌को अतिशीघ्र ही प्राप्त कर लेता है—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥

(५।६)

क्योंकि योग-साधनासे योगीकी आत्मा निर्मल दर्पणकी भाँति स्वच्छ, ज्ञानके प्रकाशसे पूर्ण हो जाती है, जिससे योगी सर्वथा स्ववश एवं जितेन्द्रिय हो जाता है। वह सब प्राणियोंमें अपने आत्माको देखते हुए उनमें सर्वत्र अनुस्यूत हो जाता है, फलतः उसे कोई पाप-ताप स्पर्श भी नहीं कर पाते—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

(५।७)

योगी बाह्य पदार्थोंके प्रभावसे सर्वथा असंस्पृष्ट रहता है। उसे योगके द्वारा आत्मामें जो सुख, शान्तिकी उपलब्धि होती है, उसका वर्णन नहीं हो सकता। उसकी आत्मा ब्रह्म-साक्षात्कारसे सम्पन्न होकर एवं ब्रह्मयोगसे परिपूर्ण होकर अक्षय आनन्दको प्राप्त करती है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

(५।२१)

मनुष्य सर्वाधिक बुद्धिमान् प्राणी कहा जाता है। पर बुद्धिका सबसे बड़ा चमत्कार यही है कि वह इस मायामय एवं मिथ्या संसारमें सत्य एवं सच्चिदानन्दतत्त्व परमात्माका दर्शन प्राप्त कर ले अन्यथा उसे अनन्तकोटि योनियोंमें सुख-दुःखके चक्करमें निरन्तर भटकते रहना पड़ेगा। व्यास, वाल्मीकि, वसिष्ठ, नारद, पतञ्जलि, याज्ञवल्क्य आदि सभी महर्षियोंने भगवान्‌की कृपासे ही उनका साक्षात्कार किया और अपने-अपने योग-शास्त्रोंमें केवल भगवान्‌को ही महत्त्व दिया। वे राज-पाट, धन-दौलत, ऐश्वर्य-भोग एवं विश्वकी सम्पूर्ण सुख-समृद्धियोंके प्रति तनिक भी आकृष्ट नहीं हुए। सुदूर तपोवनमें रहकर शुद्धतम बुद्धिद्वारा योगसिद्धिको प्राप्त कर वे एक क्षणके लिये भी भगवच्चिन्तन या भगवद्दर्शनसे अलग नहीं होते थे। वे प्रायः अजर, अमर एवं अन्य सभी आधियों-व्याधियोंसे मुक्त भी थे। देवर्षि नारदने भागवतकी रचनाके पूर्व व्यासदेवको यही समझाया था। उनके वचन बड़े महत्त्वके थे, जो मूलतः इस प्रकार हैं—

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो
न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं
कालेन सर्वत्र गभीररंहसा॥

अर्थात् कामोपभोग आदि सुख कालयोगसे स्वर्ग, नरक तथा पाताल आदिमें सर्वत्र वैसे ही प्राप्त होते हैं, जैसे दुःख बिना बुलाये ही आ जाते हैं—स्वाभाविक ही प्राप्त होते हैं, पर उनसे कोई लाभ न होकर अशान्ति ही बढ़ती है और भयंकर-से-भयंकर क्लेशोंकी प्राप्ति होती है। इसलिये बुद्धिमान् और विद्वान् व्यक्तिका एकमात्र यही कर्तव्य है कि समस्त प्रयत्नोंके द्वारा सम्पूर्ण शक्ति लगाकर योगाभ्यासद्वारा शीघ्र-से-शीघ्र परम तत्त्व परमात्माका सम्यक् साक्षात्कार अवश्य कर ले और जबतक ऐसा न हो जाय, तबतक अन्य कुछ भी कार्य न करे। यहाँतक कि विश्राम भी न करे।

परमात्मा करुणा, सुख, शान्ति, ज्ञान, बल और आनन्दका अक्षय-कोष है। अतः कृपापूर्वक वह अपनेको प्राप्त कराकर जीवात्माका परम कल्याण करना ही चाहता है। इसलिये उसकी प्राप्तिमें विलम्बकी शङ्का ही कहाँ है? भगवद्गीता तथा सभी योगशास्त्रों और इतिहास-पुराणादि शुद्ध भारतीय वाङ्मयका भी यही उपदेश है—

वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ।
आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥

(हरिवंश०, भविष्य० १३२।९५)

एहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।

समूची गीतामें एकमात्र भगवान् ही प्रतिपाद्य तथा प्रत्येक शब्दमें शुद्धरूपसे व्याप्त हैं। बस, आवश्यकता है उसमें गम्भीर अवगाहन करनेकी, उससे तत्काल भगवद्दर्शन सुलभ हो सकता है।

याद रखो

१- किसीको नीचा दिखानेकी चाह या चेष्टा न करो, किसीकी अवनति या पतनमें प्रसन्न न होओ, न किसीकी अवनति या पतन चाहो ही। किसीकी निन्दा-चुगली, दोष-प्रकाशन न करो।

२- मान-प्रतिष्ठाके लिये त्यागका स्वाँग मत धारण करो। सच्चा त्याग करो। त्यागमें भाव प्रधान है, बाहरी क्रिया नहीं।

३- मौन-साधन करो—परंतु याद रखो, असली मौन तो मनका है। मनमें विषय-चिन्तन बंद हो जाना चाहिये।

४- गिरे हुए, रोगी, प्रलोभनमें पड़े हुए, अपराधी, विपत्तिग्रस्त और अपमानित नर-नारियोंके साथ कभी दुर्व्यवहार मत करो। उनसे सहानुभूतिका बर्ताव करो। उन्हें सच्चा सुखी बनानेकी चेष्टा करो।

चरकसंहितामें योगदर्शन

प्राचीन ऋषि-महर्षि महात्यागी, महायोगी एवं उपासनाबलसे त्रिकालज्ञ थे। उन्होंने जिन ग्रन्थोंका निर्माण किया है, उनमें कल्याणकारी भगवदीय तत्त्व और आत्म-विश्लेषणके सभी रहस्य प्रकट करनेके प्रयत्न किये थे। इसीलिये विविध ऋषियोंद्वारा दृष्ट वैदिक सूक्तों, वेदाङ्गों तथा दर्शन-शास्त्रोंमें योगशक्ति ही मुख्यरूपसे वर्णित हुई है। मनुष्यके शारीरिक लाभ तथा रोगादिके अपाकरणके लिये उन्हीं ऋषियोंने आयुर्वेदशास्त्रका भी निर्माण किया, जिनमें चरक, सुश्रुत, वाग्भट, शार्ङ्गधर आदि आचार्योंकी संहिताएँ अत्यन्त प्राचीन हैं। माधवनिदान तथा भावप्रकाश आदि ग्रन्थ उन्हींपर आधृत हैं। इन सभीमें योगविद्याका भी वर्णन हुआ है, किंतु इन सबका मूल चरकसंहिता मानी गयी है जो महर्षि पतञ्जलिकी रचनाके रूपमें मान्य है। इसमें मनुष्यके अन्तर्हृदयमें स्थित विविध प्रकारके भावों तथा आत्मा-परमात्मापर पर्याप्त विचार किया गया है। उनके पूरे भावको वर्णित करना शक्य नहीं है, केवल संक्षेपमें यहाँ चरकस्थ योगका वर्णन किया गया है।

चित्तवृत्तियोंका निरुद्ध हो जाना ही योग है। अर्थात् योगावस्थामें चित्त विषयोंसे हट जाता है और अपने कारण आत्मा-परमात्मामें लीन हो जाता है। जब चित्तवृत्तियोंका निरोध हो जाता है, तब आत्माकी अपने स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। योग-दर्शनमें योगकी यही व्याख्या दी गयी है।। आयुर्वेदके महान् ऋषि भी योगके इन सिद्धान्तोंको मानते थे। चरक-संहिताके प्रारम्भमें आयुर्वेद-दीपिकाकार चक्रपाणिदत्त महोदयने कहा है कि आयुर्वेदके उपदेष्टा भगवान् चरक और योगदर्शनके आद्य आचार्य भगवान् पतञ्जलि एक ही व्यक्तिके दो नाम हैं[1]। अस्तु, चरकसंहितामें अनेक स्थलपर योगकी व्याख्या, योगकी सिद्धियोंका विवरण, योगियोंकी चर्या, हठयोगके सिद्धान्त—वमन, विरेचन, वस्ति आदिका वर्णन होना स्वाभाविक ही है। अतः योग और आयुर्वेदके सिद्धान्तोंका मूल प्रयोजन प्रायः समान ही है और दोनों शास्त्रोंमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

चरकसंहितामें योगकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि आत्माको मन और इन्द्रियोंके साथ विषयोंके सम्पर्कसे सुःख-दुःख होते हैं। जब मन आत्मामें स्थिर हो जाता है, तब सुख-दुःखकी अनुभूति नहीं होती, मनके आत्मा-परमात्मामें लीन हो जानेकी अवस्थाको योगियोंने योग कहा है[2]।

मन और आत्माका सतत सम्पर्क रहता है—मोक्ष होनेपर ही आत्माको मनसे छुटकारा मिल सकता है, यही बात भगवान् चरकने भी कही है। आत्मा जब एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें प्रवेश करनेके लिये जाता है, तब वह अपने साथ किये हुए कर्मके फल, मन-बुद्धि-अहंकार, सूक्ष्म इन्द्रियाँ, सूक्ष्म भूत आदि घटकोंको ले जाता है, योगी लोग यह देखते हैं। सामान्य मनुष्योंको यह अनुभव नहीं हो पाता[3]।

मन आत्माके समान व्यापक नहीं है फिर भी अपनी चञ्चलताके कारण व्यापक प्रतीत होता है, इन्द्रिय-मन और आत्माका परस्पर सम्बन्ध होनेके कारण आत्माको सुख-दुःखकी अनुभूति होती है।

भगवान् चरकने इन्द्रिय-विजयको आरोग्यका प्रमुख कारण बतलाया है, उनका कथन है कि मानसिक वेगोंको

१- पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः। मनोवाक्कायदोषाणां हर्त्रेऽहिपतये नमः॥
(चरक-सूत्र १ ।१ पर चक्रपाणि)

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन। योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥
(योगवार्तिक विज्ञानभिक्षु)

२- आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां संनिकर्षात् प्रवर्तते। सुखं दुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे॥
निवर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते। सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः॥
(चरक-शारीर १। ४४)

३- अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः। न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहंकारविकारदोषैः॥
(चरक-शा० २। ३६)

रोकनेसे व्यक्ति पापमुक्त होकर पुण्यशाली बनता है और शीघ्र ही धर्म-अर्थ और कामको प्राप्त करता है।

मनका प्रवेश जहाँ-जहाँ होता है, वहाँ-वहाँ सुख-दुःखकी अनुभूति होती है और जहाँ मनका प्रवेश नहीं होता, वहाँ सुख-दुःखकी अनुभूति नहीं होती। मनका प्रवेश सम्पूर्ण शरीरमें है, अतः शरीर दुःखका अधिष्ठान माना गया है। केश, लोम, नखाग्रमें मनका प्रवेश नहीं होता, अतः वहाँ-वहाँ दुःखकी अनुभूति नहीं होती। अतः यह स्पष्ट है कि मनका कोई एक विशिष्ट निर्धारित स्थान नहीं है।

आयुर्वेदके अनुसार इन्द्रियसहित शरीर और मन वेदनाका अधिष्ठान माना गया है। योगमें और मोक्षमें सभी वेदनाओंका नाश हो जाता है। मोक्ष प्राप्त होनेपर सभी प्रकारकी (शारीरिक-मानसिक-ऐन्द्रियिक) वेदनाओंका नाश हो जाता है, अतः योग मोक्षका प्रवर्तक है[1]। योग स्वयं मोक्ष नहीं है, अपितु योगकी उपासनासे मोक्षकी प्राप्ति होती है। योग-प्रवृत्तिसे शारीरिक, मानसिक आरोग्य तो प्राप्त होता ही है, साथ-ही-साथ समाहित-चित्तताकी भी प्राप्ति हो जाती है।

चित्तकी अवस्थाएँ

महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनमें सत्त्व, रज और तमोगुणके परिणामस्वरूप चित्तकी पाँच अवस्थाएँ बतलायी हैं— (१) मूढ़, (२) क्षिप्त, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र तथा (५) निरुद्ध। जगत्‌में जो कुछ भी दृश्यमान है अर्थात् जो कुछ भी देखा जाय, सुना जाय, सोचा जाय, इनके आधारपर हमारा आभ्यन्तर चित्त प्रतिक्षण कार्यरत रहता है, यह सारा संसार मनुष्य-मनका मूर्तस्वरूप है। मनुष्यके चिन्तन-मननके परिणामस्वरूप बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कार — रोगोंकी चिकित्सा, ओषधियोंका संशोधन, ग्रहों-उपग्रहोंके परिभ्रमण आदिका ज्ञान हुआ है। दार्शनिक दृष्टिसे विचार करें तो यह चित्त क्षण-क्षणपर सत्त्व-रज और तमोगुणसे युक्त होता रहता है। कभी वह सात्त्विक, कभी रजोगुणी तो कभी तमोगुणयुक्त होता है, तीनों अवस्थाओंमें चित्तमें विभिन्न गुणधर्म होते हैं। चरकसंहिता शारीर-स्थान अध्याय ४ में चित्तके गुणधर्मों एवं प्रकृतियोंका विस्तृत विवेचन किया गया है। वह प्रकरण भारतीय मनोविज्ञानका मूर्धन्य अंश है। चरकमुनिद्वारा विवृत यह मनोविज्ञान उस समय जितना महत्त्वपूर्ण था आज भी उतना ही महत्त्व रखता है।

आज मानवमें रजोगुण और तमोगुणकी वृद्धि हो रही है और सत्त्वगुणका पूर्णतः ह्रास होता चला आ रहा है। परिणाम-स्वरूप लोभ, ईर्ष्या, घृणा, आलस्य, द्वेष, भय, हिंसा, असत्य, क्रोध, असंतोष, अशान्ति आदि दानवीय गुणोंमें अधिक मात्रामें वृद्धि होती चली जा रही है। मनुष्य अपनी शान्ति, मानवता, श्रद्धा, संतोष, प्रेम, विश्वास,प्रसन्नता, सुख, दया, दानशीलता, उत्साह, ज्ञान, उदारता, धैर्य तथा चैतन्य आदि जो सात्त्विक गुण हैं, उन्हें प्रतिदिन भूलता चला जा रहा है। वह केवल भौतिक ही बनता जा रहा है, वास्तवमें यह उसकी प्रगति नहीं है, प्रत्युत यह मानव-जातिका आत्मघात है। वास्तविक सुख प्रेम, शान्ति, दया, करुणा एवं संतोषमें है। भगवान् चरकने शारीर-स्थान-४ में मानव-मनके गुणधर्मोंका जो सुन्दर विवरण प्रस्तुत किया है, वह सनातन सत्य है, दुनियामें जहाँ अधिक समृद्धि है, वहाँ अधिकाधिक आक्रोश, द्वेष-ईर्ष्या तथा स्पर्धा भी अत्यधिक है।

चरकमें मनका लक्षण

ज्ञानका होना अथवा न होना ही मनका लक्षण है। आत्मा, इन्द्रिय और विषयोंका मनसे सम्पर्क होनेसे विषयका ज्ञान होता है और मनका सम्पर्क नहीं होनेसे विषयका ज्ञान नहीं होता[2]। अर्थात् ज्ञानोत्पत्ति-प्रक्रियामें मन सेतुका कार्य करता है, मनका इन्द्रियोंके साथ सम्पर्क होते ही इन्द्रियाँ विषयोंको ग्रहण करती हैं। वैशेषिक दर्शनमें भी मनकी सिद्धिके लिये ऐसे ही विचार मिलते हैं।[3]

१- वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः। केशलोमनखाग्रान्नमलद्रवगुणैर्विना॥
योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामावर्तनम्। मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः॥ (चरक-शारीर १।४३-४४)

२- लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च। सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां संनिकर्षे न वर्तते॥
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सांनिध्यात्तु प्रवर्तते॥ (चरक-शारीर १।५)

३- आत्मेन्द्रियार्थे संनिकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्। (वै० द० ३।२।१)

मनके कार्य

वैसे तो मन अचेतन है, अतः उसमें क्रिया सम्भावित नहीं है तथापि आत्माके साथ सम्पर्क होनेसे मनमें क्रियाका अध्यास माना गया है, (वास्तवमें क्रियाएँ आत्माकी ही हैं) मनको अति चञ्चल तथा गतिशील कहा गया है। मन शरीर तथा इन्द्रियोंपर सतत नियन्त्रण रखता है, अतः मनुष्य कभी भी शान्तिका अनुभव नहीं कर पाता, सतत क्रियाशील रहता है। भगवान् चरकने मनके प्रमुख कार्य इस प्रकार गिनाये हैं—इन्द्रियोंके साथ सम्पर्क करके विषयोंको ग्रहण करना, इन्द्रियों तथा शरीरको नियन्त्रित रखना, अपने-आपको नियन्त्रित रखना, विचारना, ध्यान करना, चिन्तन-मनन करना आदि[1]। मन अपना कार्य पूरा करता है, बादमें बुद्धि प्रवृत्त करती है, तत्पश्चात् शरीर अपना कार्य प्रारम्भ करता है। भगवान्ने मनके कार्य प्राकृत और विकृत—दो प्रकारके बतलाये हैं। सत्त्वसार पुरुषके जो-जो लक्षण हैं, वे सब प्राकृत मनके ही कार्य हैं तथा विकृत मनके काम, क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या, लोभ, मद, मोह, भय, चिन्ता आदि विकार हैं, वे ही मानस रोगके कारण भी हैं[2]।

मोक्षका मार्ग

भगवान् पतञ्जलिने योगको मोक्षका मार्ग कहा है तथा चित्तवृत्तियोंके निरोधको योग बतलाया है और चित्तवृत्तियोंके निरोधके लिये उन्होंने अष्टाङ्गयोगका उपदेश दिया है। आयुर्वेदके ऋषियोंने भी प्रायः इन्हीं सिद्धान्तोंद्वारा शारीरिक एवं मानसिक रोगोंकी चिकित्साका निर्देश दिया है। योगके उपदेशोंको धारण करनेसे मनुष्यको मोक्षकी प्राप्ति होती है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—ये योगमार्गके अष्टाङ्ग—उत्तरोत्तर आठ सोपान हैं।

भगवान् चरकद्वारा प्रबोधित मोक्षमार्ग

अष्टाङ्गयोगके पालनमें जिस प्रकारका पवित्र आचरण करनेपर मोक्षकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकारके आचरणोंसे मोक्ष-प्राप्तिका विवरण भगवान् चरकने भी दिया है। आयुर्वेदके स्वस्थवृत्तमें तथा दैव-व्यपाश्रय-चिकित्सामें ये बातें विस्तारसे निर्दिष्ट हैं।

चरकसंहितामें कहा गया है कि 'सज्जनोंकी सेवा करना, दुर्जनोंका त्याग करना, शास्त्रोपदिष्ट व्रत, उपवास तथा पवित्र नियमोंका पालन करना, धर्मशास्त्रका निरन्तर अभ्यास करते रहना, आत्मज्ञानमें रुचि रखना, एकान्तप्रियता, विषयोंमें अनासक्ति, मोक्षप्राप्तिके लिये सतत यत्न करते रहना, धैर्य धारण करना, नूतन कर्मोंद्वारा फल-प्राप्ति-रूपी बन्धनमें न फँसना, किये हुए कर्मोंका क्षय करनेका उपाय करना, कर्म निष्काम भावसे (अहंकाररहित) करना, पुनर्जन्मका भय रखना, मन-बुद्धिको आत्मा—ईश्वरमें जोड़ना— यही मोक्षका सरलतम मार्ग है[3]। गीतामें भी मोक्षका मार्ग इसी प्रकारका बतलाया गया है[4]। उपर्युक्त आचरणमें योगके उपदिष्ट अष्टाङ्गोंका समावेश हो जाता है।

चरकसंहिता, चिकित्सास्थानके रसायन-सेवनके प्रकरणमें कहा गया है कि निम्नलिखित गुणोंवाला मनुष्य यदि रसायन-सेवन नहीं करता तो भी उसे रसायन-सेवनके सभी गुण प्राप्त हो जाते हैं। यथा—मातृकाओंके साथ भगवान् शिवके पूजन, विष्णुसहस्रनामके पाठ, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, गङ्गा और इष्टदेवता आदिकी उपासना, माता-पिता, गुरुओंकी भक्तिपूर्वक सेवा, ब्रह्मचर्यादिके नियमतः पालन,

---

१-चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च। यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥
इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसस्त्वस्य निग्रहः। ऊहो विचारश्च ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते॥
(च० शा० १। ७-८)

२-चरक, विमान(५। २। १)।

३-सतामुपासनं सम्यगसतां परिवर्जनम्। व्रतचर्योपवासश्च नियमाश्च पृथग्विधाः॥
धारणं धर्मशास्त्राणां विज्ञानं विजने रतिः। विषयेष्वरतिर्मोक्षे व्यवसायः परा धृतिः॥
कर्मणामसमारम्भः कृतानां च परिक्षयः। नैष्कर्म्यमनहंकारः संयोगे भयदर्शनम्॥
मनोबुद्धिसमाधानमर्थतत्त्वपरीक्षणम्। तत्त्वं स्मृतेरुपस्थानात् सर्वमेतत्प्रवर्तते॥ (चरक-शारीर १। ४७)

४-गीता १५। १—४

जप, होम, वेदोंके श्रवण तथा संतोंके दर्शनसे सभी प्रकारके विषम ज्वरोंसे मुक्ति हो जाती है। ग्राम, नगर एवं जनपद आदिके विध्वंसक रोगोंके शमनके लिये सत्य, दया, देवतार्चन, धर्मशास्त्रोंका श्रवण आदिका भी उपदेश भगवान् चरकने किया है। उनके मूल वचन इस प्रकार हैं—

सोमं सानुचरं देवं समातृगणमीश्वरम्।
पूजयन् प्रयतः शीघ्रं मुच्यते विषमज्वरात्॥
विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम्।
स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वान् व्यपोहति॥
ब्रह्माणमश्विनाविन्द्रं हुतभक्षं हिमाचलम्।
गङ्गां मरुद्गणांश्चेष्टान् पूजयन् जयति ज्वरान्॥
भक्त्या मातुः पितुश्चैव गुरूणां पूजनेन च।
ब्रह्मचर्येण तपसा सत्येन नियमेन च॥
जपहोमप्रदानेन वेदानां श्रवणेन च।
ज्वराद्विमुच्यते शीघ्रं साधूनां दर्शनेन च॥

(चरक-चि० ३। १९६—२००)

सत्यं भूते दया दानं बलयो देवतार्चनम्।
सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मनः॥
हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम्।
सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम्॥
संकथा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम्।
धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसम्मतैः॥

(चरक० निदा० ३। १६-१९)

स्वस्थवृत्तके प्रकरणमें कई स्थलपर योगके इस राजमार्गका विवरण मिलता है।

अभ्यास और वैराग्य

प्रत्येक जीवधारीमें परमात्मा अंश-रूपमें विराजमान हैं। प्राणीके हृदयमें उनका निवास है, इसलिये उनके नाम-गुणोंका मन एवं वचनद्वारा कीर्तन तथा श्रवण करनेसे और शास्त्रोंके अनुशीलनसे एवं पवित्र कर्मोंके आचरणके अभ्याससे, परमात्माके गुणोंको चित्तमें स्थिर करनेसे और मनको विषयोंमें न भटकने देनेसे, साथ ही आत्म-तत्त्वका चिन्तन करते रहनेसे अर्थात् आत्मा पञ्चभूतोंसे भिन्न है, शरीरका नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता, वह शाश्वत सभी प्राणीमें विराजमान है—इस प्रकार सर्वदा चिन्तन-मनन करते रहनेसे साधकमें लेशमात्र भी कर्तापनका अहंकार नहीं रहता, उसे सर्वत्र परमात्मा ही दिखायी देते हैं। ऐसा व्यक्ति जो भी कार्य करता है, वह उसमें अपनेको निमित्त मात्र समझता है, इसीमें परमात्माकी प्रसन्नता बढ़ती है।

इच्छाओंका नाश (इच्छात्याग) ही वैराग्य है। विषयोंका चिन्तन तथा मनन दुःखका कारण है, अतः उन्हें चित्तमेंसे निकाल देना चाहिये। सुखी मनुष्योंसे मैत्री-भावना, दुःखी मनुष्योंसे करुणा तथा पुण्यात्माओंसे मुदिता-प्रसन्नताकी भावना तथा पापियोंमें उपेक्षा-भाव बर्तना चाहिये। इससे चित्तका मल दूर होता है और मन निर्मल बनता है, यह बात चरकसंहिता और योगदर्शन दोनोंमें ही कही गयी है[1]। भगवान् चरकने तो कहा है कि इच्छाएँ ही दुःख और दुःखका कारण हैं। इच्छाओंका त्याग ही दुःखनिवृत्तिका मार्ग है। जिस प्रकार रेशमका कीड़ा अपने-आपको स्वयं फँसाता और नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार विषयोंमें फँसा मनुष्य स्वयंको नष्ट करता है। निष्कामभावसे (अहंकारका त्यागकर) कर्म करनेसे कर्मका बन्धन नहीं होता[2]।

योगदर्शनमें वर्णित योगकी अष्टसिद्धियाँ

योगकी प्रक्रियामें जैसे-जैसे साधक अपनी साधनामें आगे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसे दिव्य शक्तियों एवं सिद्धियोंकी उपलब्धि होने लगती है, उनमें आठ मुख्य सिद्धियाँ यें हैं—

१-अणिमा — अणु-समान सूक्ष्मरूप धारण कर लेना, २-लघिमा—शरीरको फूल-सदृश हलका बनाना, ३-महिमा—शरीरको बड़ा बना लेना, ४-गरिमा—शरीरको

१-मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। (यो० द० १।३३)
मैत्री कारुण्यमार्तेषु शक्ये प्रीतिरुपेक्षणम्। प्रकृतिस्थेषु भूतेषु वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधा॥ (च०-सू० ९। १९)

२-उपधा हि परो हेतुर्दुःखदुःखाश्रयप्रदः। त्यागः सर्वोपधानां च सर्वदुःखव्यपोहकः॥
कोषकारो यथा ह्यशूनुपादते वधप्रदान्। उपादत्ते तथार्थेभ्यस्तृष्णामज्ञः सदातुरः॥
यस्त्वग्निकल्पानर्थान् ज्ञो ज्ञात्वा तेभ्यो निवर्तते। अनारम्भादसंयोगात्तदुःखं नोपतिष्ठते॥ (चरक-शारीर १। ३१)

भारी बना लेना, ५-प्राप्ति— संकल्प-बलसे पदार्थोंको प्राप्त कर लेना, ६-प्राकाम्य—इच्छापूर्ति कर लेना, ७-वशित्व—पदार्थों और प्राणियोंको वशमें कर लेना और ८-ईशित्व—प्राणी और पदार्थोंपर शासन-शक्ति जमा लेना। इन आठ सिद्धियोंके अतिरिक्त मनोजवित्व, अप्रतिहत-गतित्व, दूरश्रवण, पशु-पक्षी आदिकी बोलीका ज्ञान आदि अनेक शक्तियाँ भी उसे प्राप्त हो जाती हैं।

चरकसंहितोक्त सिद्धियाँ

भगवान् चरकने यह निर्दिष्ट किया है कि शुद्ध सत्त्व समाधिसे योगियोंको जो अष्टविध ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है, वह इस प्रकार है—

१-आवेश—सूक्ष्म शरीरद्वारा दूसरे शरीरमें प्रवेश करना, २-छन्दतः क्रिया—प्राणी-पदार्थोंको वशमें कर लेना, ३-चेतस-ज्ञान—दूसरोंके विचारको जान लेना, ४-इष्टतः दृष्टि—इच्छानुसार देखना, ५-इष्टतः श्रौत — इच्छानुसार सुनना, ६-इष्टतः स्मृति — इच्छानुसार स्मरण करना, जन्मान्तरोंका स्मरण करना, ७-इष्टतः कान्ति — इच्छानुसार स्वरूप धारण कर लेना और ८-इष्टतः अदर्शन — इच्छानुसार अदृश्य होना[1]।

हठयोगके सिद्धान्त

स्वास्थ्य-रक्षणमें हठयोगकी क्रियाएँ बहुत ही सहायक हैं। हठयोगके आसन तथा धौति, वस्ति, नेति आदि षट्कर्म भी आयुर्वेदके पञ्चकर्मके जनक हैं।

हठयोगका महत्त्वपूर्ण अङ्ग आसन है। आसनोंकी संख्या ८४ बतायी गयी है। आसनोंके माध्यमसे स्वास्थ्य-रक्षा की जा सकती है तथा अङ्गकी स्थूलता दूर की जा सकती है। पवनमुक्तासन, वीरासन, वज्रासन, धनुरासन, मत्स्येन्द्रासन आदि आसनोंसे वातदोष; भुजंगासन, शलभासन एवं वस्ति (कर्म) से पित्तदोष तथा गजकरणी, धौति (कर्म) नेति (कर्म) से कफ-सम्बन्धी दोषोंके अपाकरणमें सहायता प्राप्त होती है।

इसी प्रकार शवासन, प्राणायाम, शीर्षासनसे हृदय; शीर्षासन, सूत्रनेति (क्रिया) त्राटकसे नेत्र; जलनेति (वमन) सूत्रनेति (क्रिया) से नासिका; प्राणायाम, सूर्यनमस्कारसे फुसफुस; मत्स्येन्द्रासनसे प्लीहा; भुजंगासनसे वृक; पद्मासन, वज्रासन आदिसे अंडकोष; मयूरासन, हलासनसे आँत; योगमुद्रा, शीर्षासन, मत्स्यासन आदिसे मस्तिष्क आदि शरीरके विभिन्न अवयवोंके विकार दूर होते हैं।

हठयोगके 'षट्कर्म' तथा आयुर्वेदके पञ्चकर्म

आयुर्वेद-संहिताओंमें वर्णित पञ्चकर्म हठयोगके षट्कर्मोंसे मिलते-जुलते हैं। भगवान् चरकने १-वमन, २-विरेचन, ३-वस्ति, ४-धूमपान, ५-नस्य (सुश्रुत-रक्तमोक्षण) —इन्हें पञ्चकर्म कहा है। हठयोग-प्रदीपिकामें धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभातिको षट्कर्म कहा गया है। इन षट्कर्म और पञ्चकर्मके उद्देश्य तो प्रायः एक ही हैं। त्रिदोषके वैषम्यको सम-अवस्थाओंमें लानेके लिये ही इन कर्मोंका प्रयोग किया जाता है तथा इन कर्मोंसे अनेक रोगोंका शमन होता है।

योगदर्शन और आयुर्वेद—ये दोनों ही वेदोंके व्याख्यान हैं और वेदोंका तात्पर्य परमात्माको जाननेमें है। योग-साधनामें चित्तकी वृत्तियोंको भगवदाकार करनेका उपदेश है तथा आयुर्वेदमें भी शरीर एवं मनके सभी विकारोंको दूरकर स्वच्छ एवं निर्मल अन्तःकरणमें भगवद्दर्शन करनेका निर्देश दिया गया है। मूलतः सभी विद्याएँ, सभी शास्त्र भगवान्‌को ही प्राप्त करानेवाले हैं।

[संकलनकर्ता—डॉ० श्री आर० वाई० शास्त्री, साहित्याचार्य]

उपवास, अल्प भोजन, आजीविकाका नियम, रस-त्याग, सर्दी-गर्मीका समभावसे सहन करना और स्थिर आसनसे रहना—यह छः प्रकारका बाह्य तप है और प्रायश्चित्त, ध्यान, सेवा, विनय, शरीरोत्सर्ग और स्वाध्याय—यह छः प्रकारका आभ्यन्तर तप है।—महावीर तीर्थङ्कर

१- आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया। दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम्॥

(चरक-शारीर १। ४५)

स्मृति-वाङ्मयमें योग-निरूपण

(डॉ० श्रीबसन्तबल्लभजी भट्ट, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

'स्मृति' शब्द सामान्य स्मरण, चिन्तन, ध्यान और धर्मशास्त्र-ग्रन्थोंका भी वाचक है। ये धर्मशास्त्र मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, वसिष्ठ, गौतम, पराशर, आपस्तम्ब, दक्ष, हारीत, शाण्डिल्य, भरद्वाज तथा विश्वामित्र आदि महान् वेदवेत्ता, धर्मपरायण, अध्यात्मतत्त्वमें पारङ्गत और योगज्ञान-सम्पन्न ऋषि-महर्षियोंके द्वारा श्रुतियोंके आधारपर ही निर्मित हुए हैं। ये ऋषि वेदमन्त्रोंके द्रष्टा भी थे और योग-विद्यामें निष्णात, भूत, भविष्य तथा वर्तमान—तीनों कालोंके ज्ञानसे संयुक्त, अतीन्द्रिय, व्यवहित, सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्म-अनात्म पदार्थोंके ज्ञान और भगवत्साक्षात्कारसे भी सम्पन्न थे। ध्यान-योगके अद्भुत प्रभावसे सम्पन्न होकर इन ऋषियोंने अतिनिगूढ़ परमात्म-शक्तिका दर्शनकर महामेधा, महाविद्या तथा महास्मृतिसे सम्पन्न होकर लोककल्याणार्थ जिन ग्रन्थोंका प्रणयन किया वे सभी, उन-उन महर्षियोंके नामसे प्रसिद्ध हुए और वे ही स्मृतिशास्त्र कहलाये। जैसे राजर्षि मनुविरचित मनुस्मृति, महर्षि याज्ञवल्क्यविरचित याज्ञवल्क्यस्मृति आदि। वास्तवमें ये स्मृति-ग्रन्थ विश्वके शाश्वत संविधान हैं। श्रुतियोंकी तरह ही इनका भी प्रबल प्रामाण्य है।

स्मृतियोंका विशाल साहित्य है। निबन्ध ग्रन्थोंके अनुसार इनकी संख्या प्रायः दो सौके आस-पास हैं, किंतु उनमेंसे ७० स्मृतियाँ विशेष प्रसिद्ध हैं और प्रायः प्रकाशित भी हो चुकी हैं। प्राचीन भारतमें इन्हीं स्मृतियोंके आधारपर व्यवहार आदि सभी धर्मकार्योंका निर्णय होता था। इन्हींके वचनोंको लेकर स्मृति-चन्द्रिका (देवन्न भट्ट), स्मृतितत्त्व (रघुनन्दन भट्ट), स्मृति-कौस्तुभ (अनन्तदेव), कृत्यकल्पतरु (लक्ष्मीधर भट्ट), चतुर्वर्गचिन्तामणि (हेमाद्रि), वीरमित्रोदय (वीरमिश्र), निर्णयसिन्धु (कमलाकर भट्ट) तथा धर्मसिन्धु (काशीनाथ उपाध्याय) आदि अतिश्रेष्ठ निबन्ध-ग्रन्थोंका निर्माण हुआ।

स्मृतियोंका प्रतिपाद्य विषय

स्मृतियाँ प्रत्येक स्त्री-पुरुष, परिवार, वर्ण, आश्रम, व्यापार, व्यवहार, राज्य-संचालन तथा विश्व-संचालनके लिये सदा मार्गदर्शक रही हैं और जबतक इनका समादर रहा, तबतक विश्वमें प्रायः कोई क्लेश भी नहीं रहा, क्योंकि ये स्मृतियाँ योग-प्रतिभा और ईश्वरके श्वास-प्रश्वासस्वरूप वेदज्ञानसे समर्थित थीं। स्मृतियोंमें मुख्यरूपसे सम्पूर्ण मानव-जातिके प्रातःकालके उत्थानसे लेकर शयन, स्वप्न और पुनः जागरणतक तथा प्राणीके गर्भमें प्रवेश या गर्भाधानकालसे अन्त्येष्टिपर्यन्त और परलोकसे लेकर पुनर्जन्मतकके विधान दिये गये हैं। मुख्यरूपसे ब्राह्ममुहूर्तमें जागरण, दुःस्वप्नादि दोषोंकी निवृत्तिके लिये प्रातःकालिक भगवत्स्मरण, मङ्गलपाठ, माङ्गलिक पदार्थोंका दर्शन, शौच, स्नान, संध्या, देवर्षि-पितृतर्पण, देवाराधन, स्वाध्याय, पञ्चमहायज्ञोंका सम्पादन, बलिवैश्वदेव, भोजन, योग-क्षेमके लिये स्ववर्णाश्रमोचित अध्ययनादि षट्कर्म, कृषि-व्यापार आदिके उपाय, पुनः सायंकालीन संध्या, सत्सङ्ग, देवाराधन, रात्रि-भोजन एवं शयनके पूर्वके कृत्य एवं विधि-विधान विस्तारसे निर्दिष्ट हैं। इन नित्य कृत्योंके अतिरिक्त गर्भाधान, सीमन्त, पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, विद्यारम्भ, यज्ञोपवीत, वेदारम्भ, वेदव्रतोंके पालनपूर्वक वेदस्नान, समावर्तनपूर्वक स्नातक बनकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश तथा गृहस्थ-धर्मका पालन, तदनन्तर वानप्रस्थ एवं संन्यासादि आश्रमोंके नियम-धर्मोंका साङ्गोपाङ्ग प्रतिपादन हुआ है। साथ ही अज्ञान एवं ज्ञानमें हुए पातकों एवं उपपातकोंके निवारणार्थ विस्तारसे प्रायश्चित्तकी विधियाँ भी निर्दिष्ट हैं। इसलिये ये स्मृतियाँ प्रत्येक मनुष्यके लिये सर्वाधिक कल्याणकारिणी और इनके अनुसार आचरण करनेपर स्वर्ग एवं मोक्ष भी प्रदान करानेवाली हैं।

स्मृतियों और योगका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध

वैसे तो संध्या आदि कृत्योंके प्रसङ्गोंमें प्रायः सभी स्मृतियोंमें प्राणायाम, ध्यान आदि योगसम्बन्धी मुख्य प्रकरण आये हैं, किंतु कुछ स्मृतियोंमें योगके सभी अङ्गोंपर प्रकाश डाला गया है और कुछ स्मृतियोंका एकमात्र उद्देश्य ही योग-सिद्धि है, जैसे बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति आदि। मनुस्मृतिमें प्रायः सर्वत्र योगको ही मुख्य तत्त्व मानकर अन्य धर्मोंका विश्लेषण हुआ है। मनुका दशाङ्गधर्म योगके प्रकरणके बीचमें

निर्दिष्ट हुआ है। इसी बातको ध्यानमें रखकर महर्षि याज्ञवल्क्यने अपने मुख्य धर्मशास्त्र याज्ञवल्क्यस्मृतिके प्रारम्भमें ही धर्मकी परिभाषा बतलाते हुए योगके द्वारा आत्मदर्शन अथवा भगवत्प्राप्तिको ही परम धर्म माना है—

'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥'

(१।८)

विचार करनेपर यही बात सभी वेदादि शास्त्रों, पुराणेतिहास-ग्रन्थों, धर्मशास्त्रों तथा सभी योगशास्त्रोंसे भी प्रमाणित होती है कि भगवत्प्राप्ति ही सर्वोपरि योग है। इसी विषयको लेकर सभी स्मृतियोंमें पर्याप्त विचार किया गया है। यहाँ योगविषयक कुछ प्रमुख स्मृतियोंके योगसम्बन्धी मुख्य प्रकरणोंको आधार मानकर उनके विविध पक्षोंको संक्षेपमें प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१) दक्षस्मृतिमें योग

प्रजापति दक्षने सृष्टिके आरम्भमें प्रजाके कल्याणके लिये सदाचार आदि सभी नियमोंसे सम्पन्न एक स्मृतिकी रचना की, जो दक्ष-स्मृतिके नामसे प्रसिद्ध हुई। उनकी पुत्री महायोगिनी सतीने शिव-वियोगमें योगाग्निसे ही अपने शरीरको दग्धकर पुनः पार्वती-रूपमें योगीश्वर शिवको प्राप्त किया। दक्ष भगवान् शिवके ससुर बने। इससे महाराज जनककी तरह इनकी भी योगैकप्राणता स्वयं सिद्ध है। उन्होंने अपनी स्मृतिके अन्तमें योगतत्त्वपर स्पष्ट रूपसे प्रकाश डाला है और उसके सभी स्वरूपोंपर विचार किया है, जो संक्षिप्त होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है। योग-निरूपणकी प्रस्तावनामें वे कहते हैं—

लोको वशीकृतो येन येन चात्मा वशीकृतः।
इन्द्रियार्थो जितो येन तं योगं प्रब्रवीम्यहम्॥

(दक्ष० ७।१)

इसका भाव यह है कि योगसे मनुष्य सम्पूर्ण लोकको वशमें कर सकता है और बिना योगशक्तिके वह किसीको भी पूर्ण वशमें नहीं कर सकता। बिना योगके व्यवहार-ज्ञान भी नहीं होता। केवल योग ही एकमात्र ऐसा साधन है, जिससे मनुष्य स्वयंको भी वशमें कर सकता है। इन्द्रियोंको निवृत्त करनेकी क्षमता भी योगमें ही है, अन्यथा प्रमाथी स्वभाववाली इन्द्रियाँ किसी भी उपायसे वशमें नहीं हो सकतीं।

प्रजापति दक्षने अपनी स्मृतिमें पातञ्जलयोगके अष्टाङ्गसे प्रायः सर्वथा भिन्न षडङ्गयोगका उपदेश किया है, जो प्रायः कई उपनिषदोंमें भी उपदिष्ट है। दक्षद्वारा उपदिष्ट छः अङ्ग हैं—प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा, तर्क एवं समाधि।

योगके अत्यन्त सूक्ष्म और सारस्वरूपपर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि किसीके अरण्यसेवन, अनेक प्रकारके ग्रन्थोंके स्वाध्याय, अति शारीरिक क्लेश, विविध प्रकारके यज्ञ, विभिन्न प्रकारके हठयोग, आसन, नासिकाग्रदृष्टि, विशेष प्रकारके शारीरिक शुद्धियोंके व्यसन, मौन-धारण, अनेक प्रकारके मन्त्रोंके जप तथा पुण्यानुष्ठानों और सांसारिक कार्योंसे भी योगसिद्धि नहीं होती, किंतु किसी पवित्र सात्त्विक पदार्थ अथवा अभीष्ट देवता आदिमें तीव्र ध्यानके अभ्यास और उन साधनोंमें गुरुके उपदेशद्वारा दृढ़ निष्ठा तथा बार-बार संसारकी निस्सारताको ध्यानमें रखते हुए तीव्र वैराग्यके आशयसे ही पूर्णयोगकी सिद्धि होती है—

अभियोगात् तथाभ्यासात् तस्मिन्नेव तु निश्चयात्।
पुनः पुनश्च निर्वेदाद्योगः सिद्ध्यति नान्यथा॥

(दक्ष० ७।६)

सम्पूर्ण प्राणियोंमें और सर्वत्र एक परमात्माकी विशुद्ध दृष्टि तथा यथासाध्य सभी प्रकारकी पवित्रतासे पूर्णयोगकी सिद्धि होती है, अन्य किसीसे नहीं। जो व्यक्ति शरीरसे भिन्न केवल आत्मतत्त्वका ही चिन्तन, अवलोकन करते हुए आत्मनिष्ठ बना रहता है और आत्मदृष्टिसे सबके साथ सम-व्यवहार करता है, उसीको योग सिद्ध हो सकता है, अन्य किसीको नहीं। जो सोते-जागते, स्वप्नादिमें एक वृत्तिसे ही भगवद्ध्यानमें रत रहता है, वही ब्रह्मवादियोंमें परम योगी है। जो एक आत्मासे भिन्न विश्वमें कुछ भी नहीं देखता, वही योगी ब्रह्मीभूत होकर कृतकृत्य हो जाता है, ऐसा दक्षका अपना अभिमत है—

य आत्मव्यतिरेकेण द्वितीयं नैव पश्यति।
ब्रह्मीभूतः स विज्ञेयो दक्षपक्ष उदाहृतः॥

(दक्ष० ७।११)

(२) बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृतिका योग-विधान

महर्षि याज्ञवल्क्यने सूर्यकी आराधनाकर वाजसनेयि-संहिता या माध्यन्दिनसंहिता या शुक्लयजुर्वेदको प्राप्त किया था। शतपथ-ब्राह्मण भी उन्हींके द्वारा दृष्ट है। शतपथ-ब्राह्मणके

आरण्यकभाग (बृहदारण्यक) में राजर्षि जनकके दरबारमें कहोढ़ आदि विद्वानोंके साथ महायोगी याज्ञवल्क्यका ब्रह्मज्ञानसम्बन्धी शास्त्रार्थ विस्तारसे प्रतिपादित है। शिक्षाके ग्रन्थोंमें उनके द्वारा रचित याज्ञवल्क्य-शिक्षा अत्यन्त प्रसिद्ध है। उन्होंने ही लोकोपकारकी दृष्टिसे अपने योगज्ञानसे तीन स्मृतियोंकी रचना की, जो बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति, ब्रह्मोक्त योगियाज्ञवल्क्यसंहिता तथा याज्ञवल्क्यस्मृतिके नामसे प्रसिद्ध हैं। इन तीनोंमें परस्पर साम्य होते हुए भी याज्ञवल्क्यस्मृतिका विशेष प्रचार-प्रसार है। ब्रह्मोक्त योगि-याज्ञवल्क्यसंहिताके वचन प्रायः उनकी दो स्मृतियोंमें समाहित हो गये हैं । यहाँ क्रमशः बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृतिके योगसार-सम्बन्धी वचनोंका संक्षिप्त विवरण उपस्थापित किया जाता है।

महर्षिने अपने बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृतिमें पहले मन्त्रयोग, प्राणायाम, ध्यान, गायत्रीजपकी विस्तृत विधि, गायत्री-मन्त्रका भाष्य तथा प्रणवके भी भाष्यका विस्तारसे विवेचन किया है और अन्तिम ग्यारहवें-बारहवें अध्यायमें योग एवं वेदान्तका विवरण उपस्थित किया है। आचार्यकी मान्यता है कि अन्य सभी धर्म दोषयुक्त एवं पुनर्जन्म आदिको देनेवाले हैं, किंतु योग थोड़ा भी अभ्यस्त होनेपर परब्रह्मके साक्षात्कारपूर्वक मोक्षको प्रदान करनेवाला है। जिस व्यक्तिने योगका अभ्यास नहीं किया, वह चाहे जितना भी अध्ययन-अध्यापन करता रहे और अहर्निश प्रवचन भी करता रहे, उससे उसे आत्मतुष्टि या परमात्मप्राप्तिकी सम्भावना नहीं है, वह उसका प्रलापमात्र है। इसलिये मुख्य योगशास्त्रोंका अध्ययन कर बुद्धिमान् मनुष्यको योगपरायण होना चाहिये। अन्यथा जैसे पंख होनेपर पक्षी अपने घोंसलेको छोड़ देते हैं, उसी प्रकार अयोगी या ब्रह्मसाक्षात्काररहित व्यक्तिको मरते समय वेद भी छोड़कर किनारे हो जाते हैं—

छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः ॥

(बृहद्यो० ११।२०)

समस्त वेद ओंकारमें ही प्रतिष्ठित हैं, उसके जप-ध्यानसे भी परमात्माका साक्षात्कार होता है। कोई भी विद्वान् केवल विद्या या तपस्यासे मुक्त नहीं हो सकता, जिसमें सदाचार एवं योगकी प्रतिष्ठा हो, वही मुक्तिको प्राप्त होता है। वैसे समस्त प्राणी बुद्धिमान् हैं, उनमें भी मनुष्योंकी बुद्धि सबसे अधिक है, मनुष्योंमें भी जो साङ्गोपाङ्ग वेदादिके ज्ञाता हैं वे अधिक श्रेष्ठ हैं और उनमें भी वे श्रेष्ठ हैं जो अध्ययनके अनुसार आचरण करनेवाले हैं और सबसे श्रेष्ठ वे ही हैं जो योगद्वारा परमात्मज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार परमात्मज्ञानके द्वारा परमात्मप्राप्तिसे बढ़कर और कोई बड़ा लाभ नहीं है। इसीलिये महर्षि ऐसे परमात्मप्राप्त व्यक्तिको वेदसमूहके ज्ञाताओंसे भी श्रेष्ठ मानते हैं—

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्रं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥

(बृहद्यो० ११।३८)

अतः सम्पूर्ण विश्वके नित्य एकमात्र प्रशास्ता, अतिसूक्ष्म होनेके कारण किसीको भी भासित नहीं होनेवाले और केवल योगके द्वारा समाधिमें ही सम्यक्-रूपसे प्राप्त होनेवाले, प्रतप्त स्वर्णके समान हिरण्मय आभायुक्त परमात्मतत्त्व ही ध्येय, ज्ञेय एवं प्राप्य हैं। जैसे भी हो उन्हें शीघ्र प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। संक्षेपमें महर्षि योगियाज्ञवल्क्यके ज्ञानयोग एवं ध्यानयोगका यही सारांश है।

(३) याज्ञवल्क्यस्मृतिमें योग

स्मृति-वाङ्मयमें याज्ञवल्क्यस्मृतिकी सर्वाधिक महिमा है। महर्षिने यद्यपि यज्ञ, दान, स्वाध्याय, सदाचार, अहिंसा आदि सभी धर्मोंकी स्थान-स्थानपर प्रशंसा की है और उनका आचरण आवश्यक बतलाया है, पर अपनी स्मृतिके आरम्भमें ही उन्होंने योगसाधनाके द्वारा परिपूर्ण रूपसे परमात्म-साक्षात्कारको ही मुख्य ध्येय बताया है। महर्षिका तात्पर्य है कि अन्य धर्मोंका समादर करते हुए योगके आश्रयणसे परमात्म-तत्त्वका दर्शन करना चाहिये, यही परम धर्म है—

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥

(याज्ञ० १।१।८)

वास्तवमें यही सभी उपनिषदों, इतिहास-पुराणों और ऋषियों, मुनियों तथा संतोंके सभी उपदेशोंका सारांश है। आचार्य विज्ञानेश्वरने इस श्लोककी व्याख्यामें कहा है कि बाह्य वृत्तियों एवं सभी इन्द्रियोंपर निग्रह प्राप्तकर पूर्णरूपसे अन्तर्मुख होकर हृदयमें स्थित परमात्माको देखना या देखते रहना ही

सर्वोपरि धर्म है और यह जिस किसी देश-काल या अत्यन्त इष्ट आत्मामें या शुद्ध परमात्माके अवलोकनमें जहाँ विशेष आकर्षण हो वहाँ भी किया जा सकता है। इसमें अन्य धर्मोंकी तरह विशेष देश-कालकी शुद्धिका नियम नहीं है, यह योगका वैशिष्ट्य है।

वैसे तो इस स्मृतिके आचार, व्यवहार, राजधर्म एवं प्रायश्चित्तादि—सभी प्रकरणोंमें सदा अप्रमत्त रहने आदिके नियमोंमें योग ही समाविष्ट है तथापि इसके तृतीय अध्यायमें योगके द्वारा परमात्म-प्राप्तिकी जो प्रतिज्ञा प्रारम्भमें की गयी, उसका सम्यक् विधान निर्दिष्ट किया गया है। महर्षिका कथन है कि चित्तकी वृत्तियोंका सम्यक् निरोधकर ध्यानयोगके द्वारा सूक्ष्म आत्माको अपने हृदयके अन्तर्गत परमात्मामें अवस्थित देखना चाहिये—

'ध्यानयोगेन सम्पश्येत् सूक्ष्म आत्मात्मनि स्थितः ॥'

(३।४।६४)

इसके लिये वेदान्त या आत्मतत्त्वज्ञानका बार-बार श्रवण, मनन, चिन्तन और समाहित होकर ध्यान करना चाहिये। सारांश यह है कि क्षेत्रज्ञके अन्तर्गत परमात्माको स्थित देखना चाहिये। पुनः इसके अधिक सूक्ष्म स्वरूपको स्पष्ट करते हुए महर्षि बतलाते हैं कि मनुष्यके हृदयके अन्तर्गत एक नाडीकन्द है, जहाँसे हिताहितसंज्ञक बहत्तर हजार छोटी-बड़ी नाडियाँ निकलकर मनुष्यके सम्पूर्ण शरीरमें मन, प्राण, रक्त आदिका संचार करती हैं। उस नाडीकन्दके अन्तर्गत चन्द्रमाके समान एक तेजोमय मण्डल है, जिसके अन्तर्गत सूक्ष्म जीवात्मा निर्वात दीपशिखाके समान स्थित होकर सबका संचालन करता है। उस प्रकाशमय ज्योति-पुञ्जका योगीको निरन्तर ध्यान करना चाहिये। इससे धीरे-धीरे धारणा, ध्यान एवं समाधिकी सिद्धि हो जाती है। योग-साधनाद्वारा उसके साक्षात्कार सम्पन्न हो जानेपर जीव क्रमशः जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति और कैवल्य प्राप्तकर सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है और उसका संसारमें पुनः आगमन नहीं होता—

द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयादभिनिःसृताः।
हिताहिता नाम नाड्यस्तासां मध्ये शशिप्रभम्॥
मण्डलं तस्य मध्यस्थ आत्मा दीप इवाचलः।
स ज्ञेयस्तं विदित्वेह पुनराजायते न तु॥

(याज्ञ० ३।४।१०८-१०९)

महर्षि याज्ञवल्क्यने योग-साधनाके शारीरिक प्रकारका भी उल्लेख किया है, तदनुसार किसी एकान्त एवं पवित्र स्थानमें कुश, मृगचर्म और उसके ऊपर वस्त्र बिछाकर बद्धपद्मासन लगाकर बैठना चाहिये। ठुड्डीको कण्ठकूपमें स्थिरकर, जिह्वाको उलटकर तालुमें स्थित कर ले तथा ओठोंको बंद कर ले। दाँतोंका परस्पर स्पर्श न करे। इस प्रकार निश्चल बैठकर पैंतालीस बार चुटकी लगानेतक साधकको पूरक, कुम्भक एवं रेचक प्राणायामोंका अभ्यास करना चाहिये। सम्पूर्ण इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे सर्वथा मुक्तकर चित्तको कहीं भी अन्यत्र नहीं जाने देना चाहिये, इससे वह धारणा एवं ध्यान करनेमें सक्षम हो जाता है। साधकको अपने चित्तको शुद्ध आत्मामें स्थित करना चाहिये और हृदयमें दीपशिखाके तुल्य स्थित भगवान्‌का निश्चलरूपसे ध्यान करना चाहिये।

ध्यान एवं समाधिके सिद्ध हो जानेपर साधक—योगी अन्तर्ध्यानसिद्धि, अतीन्द्रिय एवं पूर्वजन्मोंकी स्मृति प्राप्त कर लेता है। उसका शरीर कमनीय हो जाता है और उसकी दृष्टि अतीत, अनागत एवं अतीन्द्रिय, सूक्ष्म, व्यवहित, दूरस्थ एवं दिव्य अलौकिक शक्तियोंको भी देखनेमें समर्थ हो जाती है, वह दूरश्रवण एवं देवता आदिके भी निर्देशोंको समझनेमें तथा अपने शरीरको छोड़कर दूसरेके शरीरमें भी प्रवेश करनेमें समर्थ हो जाता है। ये सभी योगसिद्धिके लक्षण हैं। जब साधकका योग एवं शरीर सिद्ध हो जाता है तो वह फिर देहपातके बाद सर्वथा मुक्त हो जाता है और उसे पुनः शरीर धारण करनेकी आवश्यकता नहीं रहती—

'सिद्धे योगे त्यजन् देहममृतत्वाय कल्पते॥'

(याज्ञ० ३।४।२०३)

(४) मनुस्मृतिमें योग-निरूपण

मनुस्मृति आदिराज स्वायम्भुव मनुकी रचना है। इन्हींसे समस्त मानव या स्त्री-पुरुष-संयुक्त—मानवी सृष्टि हुई है। इसीलिये प्रायः सभी भाषाओंके मनुष्य-वाची शब्द मैन, मनुज, मानव आदि मनु शब्दसे ही प्रभावित हैं। आदिकालसे ही महाराज मनुद्वारा निर्दिष्ट मानवधर्मशास्त्र—मनुस्मृति ही विश्वके सच्चे संविधान और सभी धर्म-कर्मोंके निर्णयके लिये सर्वोपरि मान्य है। सभी निबन्धकारों एवं स्मृतिकारोंकी महाराज मनुकी योगज दृष्टिसे उत्पन्न मनुस्मृतिपर अपार श्रद्धा है। वेदोंमें

भी अनेक स्थलोंपर इनका उल्लेख है—

'मनुर्वै यत्किंचिदवदत् तद्भेषजं भेषजतायाः'

अर्थात् महाराज मनुके निर्देश भेषजता अथवा चिकित्सा-विज्ञानकी भी चिकित्साके रूपमें मान्य हैं। तात्पर्य यह है कि मनुके वचन ही सर्वोपरि कल्याणकारी हैं। इसीलिये सर्वज्ञ ऋषियोंने इन्हें अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, प्राण अथवा साक्षात्परमात्माके रूपमें देखा था—

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥

(मनु० १२। १२३)

स्वयं मनुस्मृतिमें ही महर्षि भृगुने इन्हें सर्वज्ञानमय कहा है—

यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥

(मनु० २। ७)

अर्थात् उन्हें पर, अवर एवं शब्द—तीनों ब्रह्मोंका पूर्ण साक्षात्कार था।

मनुस्मृतिमें बारह अध्याय हैं। यद्यपि उनके आचार, व्यवहार, राजधर्म, स्त्रीधर्म एवं आपद्धर्म आदिमें योग अनुस्यूत है तथापि दो-तीन स्थानोंमें उन्होंने इसकी विशेष चर्चा की है। छठे अध्यायमें वानप्रस्थ एवं संन्यासी-धर्मप्रकरणमें मुख्य-रूपसे योगकी ही चर्चा हुई है। मनुने इन्द्रिय-निग्रहको ही प्रधान योग कहा है। यदि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ वशमें हो गयीं तो चित्तकी सभी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं और शुद्ध निर्मल हृदयमें भगवान्‌का साक्षात्कार हो जाता है। किंतु पर्याप्त ज्ञान और वैराग्यके अभावमें इन्द्रियोंका संग्रह सम्भव नहीं होता, इसलिये साधकको दूरतक दृष्टि ले जानी चाहिये। सभी लोगोंके शरीरमें अनेक प्रकारकी आधियाँ-व्याधियाँ, विपत्तियाँ प्रत्यक्ष देखनेमें आती हैं, जिनका कोई प्रतीकार सम्भव नहीं दिखायी देता। प्राणी माताके गर्भमें भी अपार यातना सहन करता है और नारकीय यातनाएँ भी असत्य नहीं हैं, शास्त्र एवं योगज ज्ञानसे यह सब प्रत्यक्ष सिद्ध है। इन सब बातोंका जितना ही ध्यानसे चिन्तन किया जाता है, उतना ही वैराग्य तीव्र और ज्ञान भी सुदृढ़ होता जाता है। इस प्रकारकी सूक्ष्म दृष्टि प्राप्तकर योगद्वारा आत्माको ही देखनेका प्रयत्न करना चाहिये—

'सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः।'

(मनु० ६। ६५)

राजर्षि मनुके अनुसार प्राणोंका नियमन मुख्य योग है, क्योंकि प्राणायामके द्वारा मन नियन्त्रित हो जाता है और सारी इन्द्रियाँ भी वशीभूत हो जाती हैं। अतः गायत्रीसहित तीन प्राणायाम करनेपर पापकी अपार राशि दग्ध हो जाती है और साधकका महान् तप या योग सिद्ध हो जाता है। जैसे सुवर्णादि धातुओंको अग्निमें तपाये जानेपर उनके सारे मल दूर हो जाते हैं, वैसे ही प्राणोंके निगृहीत करते ही इन्द्रियोंके सारे दोष जलकर भस्म हो जाते हैं। इस प्रकार साधकको प्राणायामोंके द्वारा शारीरिक दोषोंको नष्टकर, धारणाके द्वारा पूर्वजन्मार्जित तथा वर्तमानतकके सारे पापोंको दूर कर देना चाहिये तथा प्रत्याहारके द्वारा संयोग या संसर्ग प्राप्त होनेपर भी उनसे दूर रहकर नवीन दोष या किल्बिष उत्पन्न नहीं होने देना चाहिये और अधिक देरतक धारणा-ध्यान-सम्पन्न हो जानेपर, योगीके अन्तःकरणके सर्वथा शुद्ध हो जानेपर जो जीवके शेष बचे दुर्गुण होते हैं, वे सब नष्ट होकर ऐश्वर अर्थात् ईश्वरके सभी गुण उसे प्राप्त हो जाते हैं—

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥

(मनु० ६। ७२)

इस प्रकार उस योगीकी सम्यक् ब्रह्मदृष्टि सम्पन्न हो जाती है और उसे सम्पूर्ण विश्वमें केवल एकमात्र शुद्ध परमात्माका ही निरन्तर दर्शन होने लगता है तथा ज्ञानके द्वारा उसकी कभी विस्मृति नहीं होती और न संसार ही कभी उसे पुनः इस रूपमें दिखलायी पड़ता है। सर्वत्र सम्यक् ब्रह्मदृष्टि-सम्पन्न योगी अपने आगे-पीछेके कर्मोंके बन्धनमें नहीं फँसता, क्योंकि यज्ञ, तप आदि कर्म तथा उसके फल भी उसे ब्रह्मरूपमें दिखलायी पड़ते हैं, किंतु यदि ऐसी दृष्टि नहीं हो पाती और संसार इसी भिन्न रूपमें दीखता रहता है तो फिर वह संसारमें गिर सकता है। इसलिये सम्यक् ब्रह्मज्ञान और निरन्तर एकाकार भगवद्दृष्टि ही सर्वोपरि उपलब्धि है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥

(मनु० ६। ७४)

इन्हीं सब बातोंको महाराज मनुने अपनी स्मृतिके अन्तमें भी निरूपित करते हुए कहा है कि सभीको यह बात कदापि नहीं भूलनी चाहिये कि परमात्मा ही समस्त विश्वका एकमात्र सच्चा नियामक है। वही सबको निरन्तर नियमित करता है और अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे अणु-अणुमें व्याप्त है। वह योग, धारणा-ध्यान, समाधि और स्वप्नयुक्त तुरीया आदि अवस्थाओंमें भी उदयकालीन आदित्यकी ज्योतिके समान हिरण्यवर्ण, दीप्तिमयी रक्तिमायुक्त तेजोमय रूपमें प्रतिभासित होता है, उस परम पुरुष परमात्माको सभी योग-साधनाओंके द्वारा अवश्य ही सभी अवस्थामें जानते रहना चाहिये, यही बुद्धिमान् साधकका सर्वोपरि धर्म है—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥

इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमात्माको और परमात्मामें ही सम्पूर्ण प्राणियोंको तथा अपनेको भी देखना चाहिये। इसी प्रकार सभी प्राणियोंमें समदृष्टि रखनेवाला योगी साम्राज्य, श्रेष्ठ स्वाराज्य या आत्माके राज्य और कभी क्षीण न होनेवाली एवं स्वभावतः जो सबको प्राप्त है, उस ब्रह्मस्थितिको अनायास ही प्राप्त कर लेता है—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥

(मनु० १२। ९१, १२५)

(क्रमशः)

सूर्यविज्ञान

(महामहोपाध्याय आचार्य पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०)

(क) उपक्रम

बहुत दिनों पहलेकी बात है। जिस दिन महापुरुष परमहंस श्रीविशुद्धानन्दजी महाराजका पता लगा था, तब उनके सम्बन्धमें बहुत-सी अलौकिक शक्तिकी बातें सुनी थीं। बातें इतनी असाधारण थीं कि उनपर सहसा कोई भी विश्वास नहीं कर सकता। अवश्य ही '**अचिन्त्यमहिमानः खलु योगिनः**'—इस शास्त्रवाक्यपर मैं विश्वास करता था और देश-विदेशके प्राचीन तथा नवीन युगोंमें विभिन्न सम्प्रदायोंके जिन विभूतिसम्पन्न योगी और सिद्ध महात्माओंकी कथाएँ ग्रन्थोंमें पढ़ता था, उसके जीवनमें संघटित अनेकों अलौकिक घटनाओंपर भी मेरा विश्वास था। तथापि आज भी हमलोगोंके बीचमें ऐसे कोई योगी महात्मा विद्यमान हैं, यह बात प्रत्यक्षदर्शीके मुखसे सुनकर भी ठीक-ठीक हृदयङ्गम नहीं कर पाता था। इसीलिये एक दिन संदेह-नाश तथा औत्सुक्यकी निवृत्तिके लिये महापुरुषके दर्शनार्थ मैं गया।

उस समय संध्या समीपप्राय थी, सूर्यास्तमें कुछ ही काल अवशिष्ट था। मैंने जाकर देखा, बहुसंख्यक भक्तों और दर्शकोंसे घिरे हुए एक पृथक् आसनपर एक सौम्यमूर्ति महापुरुष व्याघ्र-चर्मपर विराजमान हैं। उनके सुन्दर लम्बी दाढ़ी है, चमकते हुए विशाल नेत्र हैं, पकी हुई उम्र है, गलेमें सफेद जनेऊ है, शरीरपर काषायवस्त्र हैं और चरणोंमें भक्तोंके चढ़ाये हुए पुष्प तथा पुष्पमालाओंके ढेर लगे हैं। पास ही एक स्वच्छ काश्मीरोपलसे बना हुआ गोल यन्त्रविशेष पड़ा है। महात्मा उस समय योगविद्या और प्राचीन आर्षविज्ञानके गूढ़तम रहस्योंकी, उपदेशके बहाने साधारणरूपमें व्याख्या कर रहे थे। कुछ समयतक उनका उपदेश सुननेपर जान पड़ा कि इनमें अनन्यसाधारण विशेषता है। क्योंकि उनकी प्रत्येक बातपर इतना जोर था, मानो वे अपनी अनुभवसिद्ध बात कह रहे हैं, केवल शास्त्रवचनोंकी आवृत्तिमात्र नहीं। इतना ही नहीं, वे प्रसङ्गपर ऐसा भी कहते जाते थे कि शास्त्रकी सभी बातें सत्य हैं, आवश्यकता पड़नेपर किसी भी समय योग्य अधिकारीको मैं दिखला भी सकता हूँ। उस समय 'जात्यन्तर-परिणाम' का विषय चल रहा था। वे समझा रहे थे कि जगत्में सर्वत्र ही सत्तामात्ररूपसे सूक्ष्मभावसे सभी पदार्थ विद्यमान रहते हैं। परंतु जिसकी मात्रा अधिक प्रस्फुटित होती है, वही अभिव्यक्त और इन्द्रियगोचर होता है, जिसका ऐसा नहीं होता,

वह अभिव्यक्त नहीं होता—नहीं हो सकता। अतएव इनकी व्यञ्जनाका कौशल जान लेनेपर जिस किसी भी स्थानसे किसी भी वस्तुका आविर्भाव किया जा सकता है। अभ्यासयोग और साधनाका यही मूल रहस्य है। हम व्यवहार-जगत्में जिस पदार्थको जिस रूपमें पहचानते हैं—वह उसकी आपेक्षिक सत्ता है, वह केवल, हम जिस रूपमें पहचानते हैं, वही है यह बात किसीको नहीं समझनी चाहिये। लोहेका टुकड़ा केवल लोहा ही है सो बात नहीं है, उसमें सारी प्रकृति अव्यक्तरूपमें निहित है, परंतु लौहभावकी प्रधानतासे अन्यान्य समस्त भाव उसमें विलीन होकर अदृश्य हो रहे हैं। किसी भी विलीन भावको (जैसे सोना) प्रबुद्ध करके उसकी मात्रा बढ़ा दी जाय तो पूर्वभाव स्वभावतः ही अव्यक्त हो जायगा और वह सुवर्णादि प्रबुद्धभाव प्रबल हो जानेसे वह वस्तु फिर उसी नाम तथा रूपमें परिचित होगी। सर्वत्र ऐसा ही समझना चाहिये। वस्तुतः लोहा सोना नहीं हुआ—वह अव्यक्त हो गया और सुवर्णभाव अव्यक्तताको हटाकर प्रकाशित हो गया। आपात-दृष्टिसे यही समझमें आवेगा कि लोहा ही सोना हो गया है—परंतु वास्तवमें ऐसा नहीं है। कहना नहीं होगा कि यही योगशास्त्रका 'जात्यन्तरपरिणाम' है। पतञ्जलिजी कहते हैं कि प्रकृतिके आपूरणसे 'जात्यन्तरपरिणाम' होता है, एकजातीय वस्तु अन्यजातीय वस्तुमें परिणत होती है—**'जात्यन्तर-परिणामः प्रकृत्यापूरात्'**। यह कैसे होता है, सो भी योग-शास्त्रमें बतलाया गया है।

कुछ देरतक जिज्ञासुरूपसे मेरे पूछताछ करनेपर उन्होंने मुझसे कहा—'तुम्हें यह करके दिखाता हूँ।' इतना कहकर उन्होंने आसनपरसे एक गुलाबका फूल हाथमें लेकर मुझसे पूछा—'बोलो, इसको किस रूपमें बदल दिया जाय?' वहाँ जवाफूल नहीं था, इसीसे मैंने उसको जवाफूल बना देनेके लिये उनसे कहा। उन्होंने मेरी बात स्वीकार कर ली और बायें हाथमें गुलाबका फूल लेकर दाहिने हाथसे उस स्फटिकयन्त्रके द्वारा उसपर विकीर्ण सूर्यरश्मिको संहत करने लगे। क्रमशः मैंने देखा, उसमें एक स्थूल परिवर्तन हो रहा है। पहले एक लाल आभा प्रस्फुटित हुई, धीरे-धीरे तमाम गुलाबका फूल विलीन होकर अव्यक्त हो गया और उसकी जगह एक ताजा हालका खिला हुआ झूमका जवा प्रकट हो गया। कौतूहलवश इस जवापुष्पको मैं अपने घर ले आया था।

स्वामीजीने कहा—'इसी प्रकार समस्त जगत्में प्रकृतिका खेल हो रहा है, जो इस खेलके तत्त्वको कुछ समझते हैं, वही ज्ञानी हैं। अज्ञानी इस खेलसे मोहित होकर आत्मविस्मृत हो जाता है। योगके बिना इस ज्ञान या विज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। इसी प्रकार विज्ञानके बिना वास्तविक योगपदपर आरोहण नहीं किया जा सकता।'

मैंने पूछा—'तब तो योगीके लिये सभी कुछ सम्भव है?' उन्होंने कहा—'निश्चय ही है, जो यथार्थ योगी हैं, उनकी सामर्थ्यकी कोई इयत्ता नहीं है, क्या हो सकता है और क्या नहीं, इसकी कोई निर्दिष्ट सीमा-रेखा नहीं है। परमेश्वर ही तो आदर्श योगी हैं, उनके सिवा महाशक्तिका पूरा पता और किसीको प्राप्त नहीं है, न प्राप्त हो ही सकता है। जो निर्मल होकर परमेश्वरकी शक्तिके साथ जितना युक्त हो सकते हैं, उनमें उतनी ही ऐसी शक्तिकी स्फूर्ति होती है। यह युक्त होना एक दिनमें नहीं होता, क्रमशः होता है। इसीलिये शुद्धिके तारतम्यके अनुसार शक्तिका स्फुरण भी न्यूनाधिक होता है। शुद्धि या पवित्रता जब सम्यक्प्रकारसे सिद्ध हो जाती है, तब ईश्वर-सायुज्यकी प्राप्ति होती है। तब योगीकी शक्तिकी कोई सीमा नहीं रहती। उसके लिये असम्भव भी सम्भव हो जाता है। अघटनघटनापटीयसी माया उसकी इच्छाको उत्पन्न होते ही पूर्ण कर दिया करती है।'

मैंने पूछा—'इस फूलका परिवर्तन आपने योगबलसे किया या और किसी उपायसे?' स्वामीजी बोले—'उपायमात्र ही तो योग है। दो वस्तुओंको एकत्र करनेको ही तो योग कहा जाता है। अवश्य ही यथार्थ योग इससे पृथक् है। अभी मैंने यह पुष्प सूर्यविज्ञानद्वारा बनाया है। योगबल या शुद्ध इच्छा-शक्तिसे भी सृष्टि आदि सब कार्य हो सकते हैं, परंतु इच्छा-शक्तिका प्रयोग न करके विज्ञानकौशलसे भी सृष्ट्यादि कार्य किये जा सकते हैं।' मैंने पूछा—'सूर्यविज्ञान क्या है?' उन्होंने कहा—'सूर्य ही जगत्का प्रसविता है। जो पुरुष सूर्यकी रश्मि अथवा वर्णमालाको भलीभाँति पहचान गया है और वर्णोंको शोधित करके परस्पर मिश्रित करना सीख गया है, वह सहज ही सभी पदार्थोंका संघटन या विघटन कर सकता है। वह देखता है कि सभी पदार्थोंका मूल बीज इस

रश्मिमालाके विभिन्न प्रकार—संयोगसे ही उत्पन्न होता है। वर्णभेदसे और विभिन्न वर्णोंके संयोगभेदसे विभिन्न पद उत्पन्न होते हैं, वैसे ही रश्मिभेद और विभिन्न रश्मियोंके मिश्रणभेदसे जगत्‌के नाना पदार्थ उत्पन्न होते हैं। अवश्य ही यह स्थूल-दृष्टिमें बीज-सृष्टिका एक रहस्य है। सूक्ष्मदृष्टिमें अव्यक्त गर्भमें बीज ही रहता है। बीज न होता तो इस प्रकार संस्थानभेदजनक रश्मिविशेषके संयोग-वियोग-विशेषसे और इच्छाशक्ति या सत्यसंकल्पके प्रभावसे भी सृष्टि होनेकी सम्भावना नहीं रहती। इसीलिये योग और विज्ञानके एक होनेपर भी, एक प्रकारसे दोनोंका किञ्चित् पृथक्‌रूपमें व्यवहार होता है। रश्मियोंको शुद्धरूपसे पहचानकर उनकी योजना करना ही सूर्यविज्ञानका प्रतिपाद्य विषय है। जो ऐसा कर सकते हैं, वे सभी स्थूल और सूक्ष्म कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। सुख-दुःख, पाप-पुण्य, काम-क्रोध-लोभ, प्रीति, भक्ति आदि सभी चैतसिक वृत्तियाँ और संस्कार भी रश्मियोंके संयोगसे ही उत्पन्न होते हैं। स्थूल वस्तुके लिये तो कुछ कहना ही नहीं है। अतएव जो इस योजन और वियोजनकी प्रणालीको जानते हैं, वे सभी कुछ कर सकते हैं— निर्माण भी कर सकते हैं और संहार भी, परिवर्तनकी तो कोई बात ही नहीं। यही सूर्यविज्ञान है।'

मैंने पूछा—'आपको यह कहाँसे मिला ? मैंने तो कहीं भी इस विज्ञानका नाम नहीं सुना।' उन्होंने हँसकर कहा—'तुमलोग बच्चे हो, तुम लोगोंका ज्ञान ही कितना है ? यह विज्ञान भारतकी ही वस्तु है—उच्च कोटिके ऋषिगण इसको जानते थे और उपयुक्त क्षेत्रमें इसका प्रयोग किया करते थे। अब भी इस विज्ञानके पारदर्शी आचार्य अवश्य ही वर्तमान हैं। वे हिमालय और तिब्बतमें गुप्तरूपसे रहते हैं। मैंने स्वयं तिब्बतके उपान्तभागमें ज्ञानगंज नामक बड़े भारी योगाश्रममें रहकर एक योगी और विज्ञानवित् महापुरुषसे दीर्घकालतक कठोर साधना करके इस विद्याको तथा ऐसी ही और भी अनेकों लुप्त विद्याओंको सीखा है। यह अत्यन्त ही जटिल और दुर्गम विषय है—इसका दायित्व भी अत्यन्त अधिक है। इसीलिये आचार्यगण सहसा किसीको यह विषय नहीं सिखाते।'

मैंने पूछा—'क्या इस प्रकारकी और भी विद्याएँ हैं ?' उन्होंने कहा—'हैं नहीं तो क्या ? चन्द्रविज्ञान, नक्षत्रविज्ञान, वायुविज्ञान, क्षणविज्ञान, शब्दविज्ञान, मनोविज्ञान इत्यादि बहुत विद्याएँ हैं। केवल नाम सुनकर ही तुम क्या समझोगे ? तुमलोगोंने शास्त्रोंमें जिन विद्याओंके नाममात्र सुने हैं, वे और उनके अतिरिक्त और भी न मालूम कितना क्या है ?'

इस प्रकार बातें होते-होते संध्या हो चली। पास ही घड़ी रखी थी, महापुरुषने देखा, अब समय नहीं है, वे तुरंत नित्यक्रियाके लिये उठ खड़े हुए और क्रियागृहमें प्रविष्ट हो गये। हम सब लोग अपने-अपने स्थानोंको लौट आये।

इसके बाद मैं प्रायः प्रतिदिन ही उनके पास जाता और उनका सङ्ग करता। इस प्रकार क्रमशः अन्तरङ्गता बढ़ गयी। क्रमशः नाना प्रकारकी अलौकिक बातें मैं प्रत्यक्ष देखने लगा। कितनी देखी, उनकी संख्या बतलाना कठिन है। दूरसे, नजदीकसे, स्थूलरूपसे, सूक्ष्मरूपसे, भौतिक जगत्‌में, दिव्य जगत्‌में—यहाँतक कि आत्मिक जगत्‌में भी—मैं उनकी असंख्य प्रकारकी लोकोत्तर शक्तिके खेलको देख-देखकर स्तम्भित होने लगा।

(ख) परमहंसजीकी कुछ बातें

स्वामी श्रीविशुद्धानन्द परमहंसजीने बंगालके बर्दवान जिलेके बंडूल नामक गाँवके प्रसिद्ध चट्टोपाध्यायवंशमें जन्म

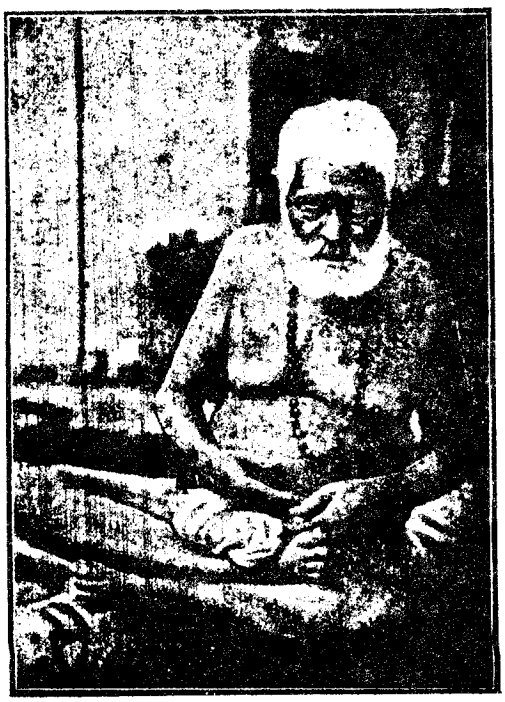

ग्रहण किया था। इनके पिताका नाम अखिलचन्द्र चट्टोपाध्याय

एवं माताका नाम राजराजेश्वरीदेवी था। लड़कपनमें ही इनके जीवनमें बहुत-सी अलौकिक घटनाएँ हुई थीं। चरित्रबल, धैर्य, अध्यवसाय, मानसिक संयम एवं भगवान्‌पर निर्भरता आदि सद्गुणोंके कारण छोटी उम्रमें ये अपने समवयस्क बालकोंमें विशिष्ट बन गये थे। आप लड़कपनमें खेलनेके बहाने भगवान्‌की और देवताओंकी पूजा करते, और मौका मिलते ही निर्जन तथा एकान्त स्थानमें जाकर ध्यानस्थ हो जाना आपको बहुत अच्छा लगता। वाक्‌सिद्धि और अन्यान्य अनेकों प्रकारके ऐश्वर्य बहुत बार इनकी बिना जानकारीमें ही लड़कपनमें इनके चरित्रमें देखे जाते थे। एक बार खेलमें ये मिट्टीके शिवजी बनाकर उनकी पूजा कर रहे थे, उसी समय इनके एक साथीने अशिष्ट आचरण करके पूजामें विघ्न किया, जिससे इनके चित्तमें क्रोध आ गया और अनजानमें ही अकस्मात् इनके मुँहसे निकल गया कि 'शिवजीका अपमान करनेके कारण शिवजीका साँप तुम्हें डसेगा।' वास्तवमें यही हुआ। उसको साँपने डस लिया, परंतु पीछेसे डसे हुए अङ्गपर इनके हाथ फेरते-फेरते देहसे विषकी क्रिया दूर हो गयी और बालक जी उठा।

एक बार इनकी पूजनीया माताजीको हैजा हो गया। चिकित्सकोंने उनके जीवनकी आशा छोड़ दी। ये शिशुपनसे ही असाधारण मातृभक्त थे। स्नेहमयी जननीके परलोक-गमनकी आशङ्कासे बालकका हृदय आच्छन्न हो गया। ये अपने गृहदेवता श्रीश्यामसुन्दरसे माताकी जीवन-रक्षाके लिये प्रार्थना करने लगे। परंतु निरन्तर प्रार्थना करनेपर भी माताकी अवस्था क्रमशः बिगड़ती गयी। तब तो ये रूठकर एक लोहेकी सांबल हाथमें लेकर गोशालाके ऊपरके मचानपर चढ़कर वहीं छिप गये। इन्होंने मनमें संकल्प कर लिया कि यदि श्यामसुन्दर मेरी माताके प्राणोंकी रक्षा नहीं करेंगे तो मैं इस लोहेकी छड़से उनकी मूर्तिको तोड़-फोड़ डालूँगा। भगवान्‌पर अत्यन्त निर्भरता तथा विश्वास होनेके कारण ही बालकके कोमल हृदयमें ऐसा मान पैदा हो गया था। कहना नहीं होगा कि श्यामसुन्दरने अपने इस मानी भक्तको मना लिया। उस अवसरपर इनकी माताजीके प्राण बड़ी ही अलौकिक रीतिसे बच गये।

इस प्रकारकी घटनाएँ इनके बाल्यजीवनमें अनेकों हुईं। छोटी ही उम्रमें इन्हें नाना प्रकारके देवताओंके दर्शन होने लगे। कई बार तो उनके साथ इनकी बातचीत भी होती। उपनयन-संस्कारके बाद इस अवस्थाका विशेष विकास हुआ था। यह सब पूर्वजन्मकी तपस्याका फल था, इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है। परंतु जिस घटनाने इनके जीवनको पलट दिया और इनके असाधारण योगशक्ति तथा ज्ञान-विज्ञानप्राप्तिके अधिकारकी सूचना हुई, वह घटना इनकी किशोरावस्थामें हुई थी। किसी पागल कुत्तेके काट खानेसे इन्हें जलान्तक रोग हो गया था और बहुत तरहके इलाज करनेपर भी अच्छे होनेकी कोई आशा नहीं रह गयी थी। ऐसी अवस्थामें ये भीषण यन्त्रणा भोगते हुए मौतकी बाट देख रहे थे। इसी समय एक महापुरुषने अपने योगबलसे बहुत ही थोड़े समयमें इन्हें आसन्न-मृत्युके मुँहसे बचा लिया। इन महापुरुषका नाम श्रीश्रीनिमानन्द परमहंस था। ये यहाँ किसी निर्दिष्ट आश्रममें नहीं रहते थे। अधिकांश समय हिमालयके ज्ञानगंज नामक विराट् योगाश्रममें ही निवास करते थे। इनकी उम्र इतनी अधिक थी कि आजकलके समयमें साधारण मनुष्य उसपर विश्वास करना नहीं चाहेंगे। कुछ दिनोंके बाद यही महात्मा इन्हें अलौकिक उपायोंसे अपने साथ आकाशमार्गके द्वारा बंगालसे बहुत दूर हिमालयमें ले गये और मानसरोवरके समीप अपने गुरुदेवके चरणोंमें उपस्थित कर दिया। मानसरोवरके समीप निवास करनेवाले श्रीनिमानन्दजीके गुरु हजारसे भी अधिक वर्षोंकी उम्र होनेपर भी आजतक स्थूल शरीरसे विद्यमान हैं। इन्होंने बालकको यथाविधि शक्तिसंचारपूर्वक दीक्षा देकर योगशिक्षा और ब्रह्मचर्यव्रत-पालनके लिये ज्ञानगंज आश्रममें भेज दिया। इस विराट् आश्रममें योगशिक्षाके साथ-ही-साथ नाना प्रकारके प्राकृतिक विज्ञानशिक्षाकी भी व्यवस्था है। 'विज्ञान' शब्दसे साधारणतः हम जो कुछ समझते हैं और जिसका समुन्नत रूप आजकल पाश्चात्त्य जगत्‌में दिखायी पड़ता है, ज्ञानगंज आश्रमका विज्ञान ठीक उसी प्रकारका नहीं है। यहाँ वे विज्ञान हैं जो प्राचीन कालके ऋषियोंको अवगत थे और आवश्यक होनेपर जिनके द्वारा वे अनेकों प्रकारके कार्य-साधन करते थे। ज्ञानगंज आश्रममें श्रीमत् श्यामानन्द परमहंस नामक एक महापुरुष इस विज्ञान-विभागके अधिष्ठाता थे। बाबाजीने महायोगी श्रीभृगुराम परमहंसदेवसे योगके समस्त

अङ्गोंका और विज्ञानविद् श्रीश्यामानन्द परमहंससे प्राकृतिक विज्ञानका रहस्य प्राप्तकर यथासमय ब्रह्मचर्य-व्रतका उद्यापन किया था। ब्रह्मचर्य-अवस्थाके बाद दण्डी और संन्यासी-अवस्थामें तत्तत् साधनभूमिके अनुसार सब साधनोंका अभ्यास करके और नियमपूर्वक परीक्षामें उत्तीर्ण होकर गुरुदेवकी आज्ञासे आपने पुनः लोकालयमें लौटकर जीवोंके कल्याण-साधनका व्रत लिया। दीर्घसमयतक लगातार ज्ञानगंज आश्रममें रहनेके बाद आपने भारतवर्षके बहुत-से तीर्थोंमें पर्यटन किया। यह लम्बी कथा है, यहाँ विस्तारकी आवश्यकता नहीं। यहाँ आकर तीर्थस्वामी-अवस्थामें आपने बर्दवान जिलेके गुष्कारा नामक गाँवमें निवास किया। तदनन्तर अपने गाँव बंडूलमें एक आश्रम बनाया और वहाँ इनके गुरुप्रदत्त शिवलिङ्गकी बंडूलेश्वरके नामसे स्थापना की गयी। इसके अनन्तर बर्दवान, काशी, झालदा, पुरीधाम और कलकत्ता आदि स्थानोंमें भी उन-उन प्रदेशोंके भक्त और साधकोंकी साधनसुकरताके लिये आश्रमोंकी स्थापना की गयी।

परमहंसदेव साधारणतः अशिक्षित और अर्धशिक्षित समाजमें 'गन्धबाबा'के नामसे विख्यात थे। जिनका इनसे बहुत दिनोंका परिचय है वे जानते हैं कि इनके शरीरसे कैसी एक अपूर्व दिव्य गन्ध सदा निकलती रहती थी। यह मूलतः विशुद्ध पद्मगन्धके समान होनेपर भी मर्त्यलोकमें इस गन्धकी कोई उपमा नहीं है। इसी गन्धसे इनके अनजानमें वायु और भावोंके स्पन्दनानुसार कभी चन्दन, कभी खस, कभी गुलाब और कभी अन्य किसी प्रकारकी दिव्य गन्धका आविर्भाव हो जाया करता। ब्रह्मचर्यके परिणामस्वरूप देहके सम्यक् प्रकारसे शुद्ध होनेपर शरीरसे इस प्रकारकी दिव्य गन्ध स्वाभाविक ही निकला करती है। पहले परमहंसदेव जहाँ बैठते, वहाँसे बहुत दूरतक—यहाँतक कि सारे आश्रममें उनके शरीरकी सुबास फैली रहती थी।

इनकी योगशक्ति और विज्ञानशक्तिका वर्णन करना असम्भव है। जिनका इनके साथ थोड़ा-बहुत अन्तरङ्ग सम्बन्ध हुआ है, वे हजारों प्रकारसे इनके अलौकिक ज्ञान, विभूति, करुणा और वात्सल्यगुणोंसे परिचित हैं। इस निबन्धके लेखकने इनसे बहुत दूर रहकर और इनके निकट बैठकर जिन लोकातीत कार्योंको अपनी आँखोंसे देखा है, उनको एक-एक करके लिखनेसे साधारण पाठक उनमेंसे किसीको भी सम्भव नहीं मानेंगे और सहसा उनपर विश्वास करनेमें भी समर्थ नहीं होंगे। ये सारी बातें इतनी अधिक संख्यामें और इतने विचित्र ढंगसे इनके जीवनमें प्रकट हुई हैं कि धीरजके साथ विचार करनेपर अत्यन्त कठोर शुष्क नास्तिक-हृदयमें भी भगवान्‌की मङ्गलमय विभूति और अहैतुकी अपार करुणापर विश्वास हुए बिना नहीं रह सकता। परंतु इन सब व्यक्तिगत बातोंको लेकर लोगोंके सामने प्रकट होना अशोभन मालूम होता है, इसीलिये विशेष विवरण न देकर थोड़ेसेमें कुछ खास-खास बातें लिखी जाती हैं।

परमहंसदेव अपने मस्तकके भीतर शालग्राम और शिवलिङ्गको धारण किये रहते हैं। साथ ही वहाँ १०८ स्फटिक मणियोंकी एक माला भी है। पूजा आदिके समय उक्त शालग्राम और शिवलिङ्गको मुख आदि द्वारोंसे बाहर निकालकर यथाविधि पूजा कर चुकनेपर पुनः यथास्थान उन्हें रख देते हैं। एक बार एक भक्त जमाये हुए पारेसे बना हुआ एक शिवलिङ्ग लाये और उसे बाबाको दिखलाया। बाबाने कहा—'तुम कहो तो मैं इस पारदसे बने हुए शिवलिङ्गको निगल जाऊँ।' शिष्य घबरा उठे। लगभग एक पाव पारा खा लेनेपर कहीं ऐसा न हो कि बाबाका शरीर न रहे। उनको यह डर हो गया। इसीलिये वे इधर-उधर ताकने लगे। आखिर अन्यान्य गुरुभाइयोंके उत्साह दिलानेपर वे राजी हो गये। तब परमहंसजीने सबके सामने उस शिवलिङ्गको मुखमें लेकर मस्तकपर चढ़ा लिया और उसे वहीं स्थापन कर दिया। फिर एक बार उन्होंने इस पारेके शिवलिङ्गको भी मुखसे निकालकर उसकी पूजा-अर्चना करनेके बाद पुनः मस्तकमें चढ़ा लिया था।

इनके शरीरमें इतना अधिक तेज है और बिजलीकी इतनी अधिक क्रिया होती है कि मच्छर, मधुमक्खी, हड्डे, भँवरे आदि जीव दंशन करते ही उसी क्षण मरकर राख हो जाते हैं। अवश्य ही दंशन न करें, हिंसाभाव न दिखलावें तो उनकी कोई हानि नहीं होती। हिंसा करनेपर उसकी प्रतिक्रिया उसी समय होती है। मामूली कीड़ोंकी तो बात ही क्या है, बाबाके शरीरको डसना चाहनेवाले साँप भी उसी क्षण मर जाते हैं। ऐसी घटनाएँ बहुत बार देखी गयी हैं। इस तीक्ष्ण तडित् (बिजली) के प्रभावसे ही बाबा यदि सिंह-बाघोंकी ओर कहीं ताक लेते हैं तो

वे भी उसी क्षण सिर झुकाकर मृदु बन जाते हैं[1]।

परमहंसदेवके शरीरमें बहुत-से स्फटिक-गोलक (Crystal balls) हैं। तीव्र योगक्रियाके प्रभावसे जब शरीरमें बहुत अधिक गरमी बढ़ती है, तब इन स्निग्ध वस्तुओंके संसर्गसे वह बहुत कुछ शान्त हो जाती है। इन स्फटिकोंके अतिरिक्त मोती, हीरा आदि वस्तुएँ भी इनके देहके अंदर स्थानविशेषमें रक्षित हैं। शीतके समय शरीरके संकोच होनेके कारण कभी-कभी दो-एक स्फटिक अपने-आप ही लोमकूपके द्वारा शरीरसे बाहर निकल पड़ते हैं। कई बार प्रसङ्गवश वे स्वयं ही किसी तत्त्वकी व्याख्या करते समय देहसे स्फटिक निकालकर दिखाया करते हैं। रोमछिद्रोंसे स्फटिकोंके बाहर निकलते समय न तो किसी प्रकारका कष्ट होता है और न खून ही निकलता है। शरीरसे निकलते ही स्फटिकोंमें अति पवित्र दिव्य गन्ध आती है। आप शरीरके अंदर भी एक जगहसे दूसरी जगह स्फटिकादिको ले जाते हैं। साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है, देहतत्त्वके पण्डित भी अपने अपूर्व ज्ञानसे इस बातको नहीं समझ सकते कि यह सब कैसे होता है। योगीकी देह बाह्यदृष्टिसे साधारण देहकी तरह प्रतीत होनेपर भी उसमें निश्चय ही एक अचिन्त्य वैशिष्ट्य रहता है। एक बार परमहंसदेवने अपने विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको एक-दूसरेसे अलग करके दिखलाया था और आश्चर्य यह कि उसी समय वे अदृश्यरूपसे शून्यमेंसे बोलते हुए शिष्यको समझा भी रहे थे। फिर किसी अपूर्व शक्तिके प्रभावसे वे सब अलग-अलग हुए अङ्ग-प्रत्यङ्ग पुनः अपने-आप ही परस्पर जुड़ गये और शरीर पूर्वपरिचित आकारमें प्रकट हो गया।

एक दिन कुछ जिज्ञासु भक्तोंको आपने अपने हाथका एक परत चमड़ा अलग करके फिर उसे हाथसे ज्यों-का-त्यों लगाकर समझाया था कि पाश्चात्त्य शारीर-विज्ञानियोंकी लौकिक विद्याके द्वारा योगियोंके स्वरूपका निरूपण सम्भव नहीं है। एक बार आपका शरीर नवजात शिशुके आकारमें बदल गया था। इसको कई लोगोंने अपनी आँखों देखा था। इस लेखकको एक दिन आप पुराणवर्णित श्रीविष्णु भगवान्‌के नाभिकमलसे ब्रह्माजीके उत्पन्न होनेकी बात समझाते हुए कहने लगे कि 'पुराणोंका यह वर्णन 'रूपक' नहीं है, किंतु अक्षर-अक्षर सत्य है। कुण्डलिनी-शक्तिका विकास होनेपर जब योगके अन्तराकाशमें परमादित्यस्वरूप ज्योतिर्मय तेजपुञ्जका उदय होता है, तब सूर्योदयके समय कमलकी भाँति उसका नाभिकमल अपने-आप ही प्रस्फुटित हो जाता है। जो वास्तवमें योगी हैं, उनको ऐसा अवश्य होता है। हाँ, परंतु जो नाभिधौति आदि दुरूह क्रियाओंमें पूर्णरूपसे निष्णात नहीं हैं, उनके कमलका विकास नहीं हो सकता।' इतना कहकर वे फिर बोले कि 'साधारण बद्ध जीवोंकी नाभिमें ग्रन्थि लगी है, इस ग्रन्थिका मोचन न होनेतक ऊर्ध्वरति असम्भव है।' इसके बाद दोनों हाथोंसे नाभिप्रदेशके दो-चार बार संचालन करते ही नाभिप्रदेश एक गड़हेके रूपमें परिणत हो गया। उपस्थित भक्तगण यह देखकर चकित हो गये। क्रमशः उस गड़हेमेंसे एक अति सुन्दर नालका आविर्भाव हुआ और उसके ऊपर अत्यन्त लावण्ययुक्त दिव्य कमल दिखलायी पड़ा। हालके खिले हुए कमलकी पवित्र गन्धसे सारा घर और आँगन सुगन्धित हो उठा। यहाँतक कि उस समय जो लोग दर्शनके लिये बाहरसे आ रहे थे उनको भी घरमें प्रवेश करनेके पूर्वसे ही सुगन्धि आने लगी। कुछ क्षणोंके बाद नाभिको हिलाते ही कमल नालसहित संकुचित होकर भीतर प्रवेश करके अदृश्य हो गया।

परमहंसदेवकी शक्तिकी तुलना नहीं है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। मनुष्यकी शक्ति कहाँतक विकसित हो सकती है, इस बातको परमहंसजीके साथ अन्तरङ्गभावसे परिचित होनेपर ही जाना जा सकता है। उनके वस्तुनिर्माणकी बात कहनेकी तो विशेष आवश्यकता ही नहीं है। कारण, इस बातको तो बहुत लोग जानते हैं। हमारे अपने घरमें अत्यन्त कठिन रोगके समय, उनको किसी तरहकी खबर न देनेपर भी, बहुत बार उन्होंने स्थूल या सूक्ष्म शरीरसे आविर्भूत होकर

१-इस प्रसङ्गमें यह उल्लेख करना अप्रासङ्गिक नहीं होगा कि बाबाजी जब गुप्कारामें रहते थे, तब कई विषधर सर्पोंको अपने साथ रखते थे। गरमीके दिनोंमें क्रियाके समय साँपोंको शरीरपर लपेटे रहते थे, जिससे इनका शरीर ठंडा रहता था। फिर झालदामें रहनेके समय कुछ दिन बाघ आपके पास रहे थे। भीषण हिंस्र जीव होनेपर भी बाघ आपके समीप शान्त और स्थिरभावसे ही रहते थे। जाड़ेके दिनोंमें रातको कई बार आप बाघसे लिपटे रहते थे, जिससे शरीर खूब गरम रहता था।

रोगीको उपदेश दिया है और औषध देकर भी अथवा न देकर भी तत्काल ही उसे रोगमुक्त कर दिया है। पाँच-सात मील दूरसे क्षणभरमें आविर्भूत होकर स्थूल और पञ्चभूतात्मक औषध प्रदान करना आदि कार्य साधारण बुद्धिके अगोचर हैं। कभी-कभी तो ऐसी घटना हुई है कि एक सेकंड असावधानी की जाती तो भयङ्कर परिणाम हो जाता, परंतु उस एक सेकंडके बीतते-बीतते ही उन्होंने आविर्भूत होकर अपनी मङ्गलमयी रक्षाशक्तिका प्रयोग किया। ऐसी अनेकों घटनाएँ हैं, परंतु यहाँ उनके प्रकट करनेकी आवश्यकता नहीं है।

एक बार मेरी जपकी माला टूट गयी। मैं उसको ठीक शास्त्रीय ढंगसे गूँथ देनेके लिये बिखरे हुए रुद्राक्षके दाने और थोड़े-से रेशमको लेकर बाबाके पास पहुँचा और उनसे मैंने प्रार्थना की। उन्होंने रुद्राक्षके दानोंको और रेशमको गोमुखीमें रखकर उसे अपनी मुट्ठीमें भींच लिया। फिर दो-तीन बार उसपर हाथ फिराकर गोमुखी मुझे दे दी। ऐसा करनेमें तीन-चार सेकंडसे अधिक समय नहीं लगा था। मैं गोमुखीसे निकालकर देखता हूँ तो माला बड़ी सुन्दरतासे गुँथी हुई है। यहाँतक कि सुमेरुतक विधिपूर्वक लगा है। गाँठें भी शास्त्रीय प्रक्रियाके अनुसार ही लगी हैं। पूछनेपर उन्होंने कहा कि 'यह वायुविज्ञानका कार्य है। जिसको तुमलोग अल्पसमय कहते हो, वह वास्तवमें अल्प नहीं है। सूक्ष्म स्तरमें चले जानेपर उसीमें दीर्घकालका भी कार्य हो सकता है।'

परमहंसदेवमें ऐश्वर्य और माधुर्य इन दोनों भावोंका अत्यन्त अपूर्व सम्मिश्रण है। योग अथवा विज्ञान किसी भी दिशामें उनकी शक्तिकी सीमा नहीं बाँधी जा सकती। इसके सिवा योगज्योतिष, देवज्योतिष, स्वरोदय आदि विद्याओंपर पूर्ण अधिकार होनेके कारण वे योग और विज्ञानकी शक्तिके बिना ही एक प्रकारसे सर्वज्ञानशक्तिपर अधिकार किये हुए हैं। परंतु इतनी शक्तियोंके होते हुए भी उनमें जिस अपूर्व संयम और माधुर्यगुणका विकास देखा जाता है, वह अतुलनीय है। ज्ञानका विकास होनेपर पराभक्ति और प्रेमकी गम्भीरतामें द्रुतिमय रसतत्त्वका आविर्भाव होता है, उससे करुणा, स्नेह, वात्सल्य आदि दिव्य गुणोंकी स्फूर्ति होकर अपने-आप ही कार्य होता रहता है। कर्तव्यनिष्ठा, संयमशीलता, उद्यम, अध्यवसाय, गुरुभक्ति और निर्भरता आदि गुणोंके समन्वयसे उनका जीवन योगमार्गमें अप्रविष्ट साधारण मनुष्यके लिये भी आदर्श है।

परमहंसजीका प्रधान उपदेश यह है कि 'प्रेमके बिना भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती, शुद्धा भक्तिकी परिणतिसे ही प्रेमका उदय होता है। जिस भक्तिकी दृष्टि स्वार्थसाधनकी ओर है, जिसकी जड़में कामनाका बीज है वह कभी प्रेमके रूपमें परिणत नहीं होती। वस्तुतः उसको भक्ति कहना ही उचित नहीं है। ऐसी भक्तिसे तो यथासम्भव दूर रहना ही साधकका कर्तव्य है। शुद्धा भक्तिके उदयके लिये ज्ञानका विकास आवश्यक है। केवल ग्रन्थोंके अध्ययनसे जिस ज्ञानकी प्राप्ति होती है, वह तो शुष्क ज्ञान है। उसे असली ज्ञान नहीं कहना चाहिये। यथार्थ ज्ञानका उद्भव चित्तशुद्धि हुए बिना नहीं होता और चित्तशुद्धि कर्मसापेक्ष है। अतएव यथाविधि सद्गुरुके आदेशको सिर चढ़ाकर उनके दिखलाये हुए मार्गसे निष्ठा, संयम और श्रद्धाके साथ अपने चरित्रबलको पवित्र बनाये रखते हुए जो अग्रसर हो सकता है, उसको अवश्य ही असली ज्ञान प्राप्त होता है। इस कर्मको ही योगीगण योग कहते हैं, इसके विपरीत अन्य कर्मोंको योग नहीं कहा जाता और वे चित्तशुद्धिमें सहायक भी नहीं होते। अतएव नीति और चरित्रशुद्धिकी ओर लक्ष्य रखकर सद्गुरुके उपदिष्ट मार्गसे निरन्तर योगाभ्यासरूप दीर्घकालव्यापी कर्म कर सकनेपर ही चित्तशुद्धि और आत्मज्ञानका विकास होता है। तब हृदय-ग्रन्थि खुल जाती है, समस्त संशय छूट जाते हैं और जन्म-जन्मान्तरकी संचित कर्मराशिका क्षय हो जाता है। इस अवस्थामें अविद्याकी आंशिक निवृत्तिके कारण उसीके अनुसार आत्मशक्तिका स्फुरण आरम्भ होता है। यही योग-विभूतिकी सूचना है। इसके बाद परमात्माके अहैतुक नित्य आकर्षणके प्रभावसे विशुद्ध जीव क्रमशः आगे बढ़ता हुआ उनके निकट पहुँचता रहता है और परम मङ्गलमय ऐश्वरिक विभूतिका आस्वादन प्राप्त करता है। ज्ञानका परिपाक अथवा भक्तिका विकास इस एक ही भूमिके नामान्तर हैं। इसके बाद आत्मसमर्पणके पूर्ण होते ही प्रेमका आविर्भाव होता है। इसीसे भगवत्प्राप्तिकी सूचना है। पूर्ण साधनमार्गके किसी भी अंशकी उपेक्षा करनेसे काम नहीं चलता। अवस्था और अधिकारभेदसे सभीकी उपकारिता है। अतएव साधनामात्रका ही मूलमन्त्र कर्म है।

कर्म या पुरुषार्थका आश्रय लेनेपर दैवबल अपने-आप ही आ जाता है। तब फिर भगवान्‌के अनुग्रहके लिये प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। अवश्य ही पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मके फलसे किसी-किसीके प्रथम अवस्थामें ही उन्नत-भावका विकास देखनेमें आता है। परंतु इससे सिद्धान्तमें कोई व्यतिक्रम नहीं होता। इतनी बात याद रखनी चाहिये कि भगवान्‌की इच्छा ही मूल है। अतएव कर्मको मूल बतलानेपर भी प्रकारान्तरसे कर्मके मूलमें भी उन्हींका अनुग्रह होता है, परंतु अज्ञान-अवस्थामें अनुग्रहकी अनुभूति नहीं होती, इसलिये आत्माभिमान प्रबल रहता है, अतएव कर्मके भावको ही प्रबल मानकर चलना पड़ता है। ज्ञानका उदय होनेपर यह बात समझमें आ जाती है कि समस्त विश्व ही उनकी लीला है। अर्थात् उनकी इच्छाशक्तिका खेल है। जीव केवल इस अभिनयका एक निष्क्रिय द्रष्टामात्र है।' (क्रमशः)

मेस्मेरिज्म, हिपनॉटिज्म और योग-विद्या

(डॉ० श्रीदुर्गाशंकरजी नागर)

मेस्मेरिज्मका इतिहास

मेस्मेरिज्मके तत्त्वज्ञानसे हमारे भारतीय ऋषि-महर्षि अपरिचित नहीं थे। पातञ्जलयोगदर्शनके प्रथम सूत्रमें ही यह बतलाया गया है—'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**' अर्थात् चित्त-वृत्तियोंके निरोधका नाम ही योग है। मनका स्थिर करना ही इस शक्तिका मूल है। मेस्मेरिज्म और हिपनॉटिज्म भी मनकी एकाग्रताके प्रतीक हैं और एकाग्रतासे ही सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। मेस्मेरिज्म विद्याको दो भागोंमें विभक्त किया गया है—एक रोगनिवारण और दूसरा दिव्य ज्ञान। दोनोंका एक दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध है।

मनुष्यकी जिस शक्तिसे मेस्मेरिज्म क्रिया उत्पन्न की जाती है उसे 'इच्छाशक्ति' (Will-power) कहते हैं। वेदमें मनकी अपूर्व शक्तिका वर्णन है। मनःसंयम करनेका अभ्यास करना या एकाग्रताका अभ्यास करना ही मनोयोग है।

मेस्मेरिज्म विद्याके जन्मदाता आस्ट्रियाके मेस्मर (सन् १७३४ ई०) नामक चिकित्साशास्त्री थे। उन्होंने रोगोंके निवारणके लिये यूरोपमें इस विद्याका प्रचार-प्रसार किया। इन्हींके नामपर इस विद्याका 'मेस्मेरिज्म' नाम प्रचलित हुआ।

मेस्मरकी मृत्युके बाद जर्मनी, फ्रांस तथा इंग्लैंड और विश्वके अन्य देशोंमें भी इस विद्याका खूब प्रचार होता रहा और अमेरिकामें तो इसका और भी अधिक प्रचार हुआ। बादमें क्लोरोफार्मके आविष्कार होनेसे मेस्मेरिज्मका प्रचार कुछ कम हो गया।

ई० सन् १८४१ में मेनचेस्टरके प्रसिद्ध डॉक्टर ब्रेडने मेस्मेरिज्मके सिद्धान्तोंका अध्ययन किया और सिद्ध किया कि मेस्मरका अदृश्य शक्तिके प्रवाह (Animal Magnetism) का सिद्धान्त कल्पना मात्र है। डॉक्टर ब्रेडका अनुभव यह हुआ कि दूसरोंको प्रभावित करना या कृत्रिम निद्रामें लाना सूचनाशक्तिपर निर्भर है। किसी मनुष्यकी कोई चमकीली वस्तुपर दृष्टि जमवाकर नेत्रोंके मज्जातन्तुओंमें थकान ला देनेकी क्रियासे स्वाभाविक निद्राके समान तन्द्रा उत्पन्न होती है। इस कृत्रिम निद्राका नाम हिपनॉसिस है। इसी नामके आधारपर हिपनॉटिज्म शब्द प्रचलित हुआ।

मेस्मेरिज्म और हिपनॉटिज्ममें भेद

मेस्मेरिज्म और हिपनॉटिज्ममें अन्तर यह है कि मेस्मेरिज्ममें हाथ फेरकर और दृष्टि स्थिर करके निद्रा उत्पन्न की जाती है और हिपनॉटिज्ममें सूचना देकर किसी चमकीली वस्तुपर पात्रकी दृष्टि सधाकर कृत्रिम निद्रा लायी जाती है।

मेस्मेरिक और हिपनॉटिक अवस्थाका विवेचन

कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं कि रात्रिको नींदमें ही उठकर विविध कार्य करते हैं—पत्र लिखते हैं—लेख लिखते हैं और प्रातःकाल जाग्रत् होनेपर लेखादि तैयार देखकर आश्चर्य करते हैं कि यह कार्य किसने किया। उनको इस बातका ज्ञान नहीं रहता कि यह कार्य उन्हींका किया हुआ है। इस स्थितिको स्वाप्निक अवस्था कहते हैं। मेस्मेरिक और हिपनॉटिक अवस्थामें बहिर्मन सो जाता है और अन्तर्मन जाग्रत् रहता है। अन्तर्मनपर कृत सूचनासे वह अत्यधिक प्रभावित होता है और अन्तर्मन ही सब कुछ करता है।

हिपनॉटिक अवस्थामें पात्रको कहा जाय कि तू कुत्ता है तो वह भौंकने लगता है और कुत्तेकी-सी चेष्टा करता है। उसे

घॉसलेट सुँघाकर कहा जाय कि यह गुलाबका इत्र है तो वह बड़े प्रेमसे सूँघता है। उसे आँखें खोलनेकी आज्ञा दी जाय और सूचना दी जाय कि देखो, तुम्हारे सम्मुख समुद्र है, तुम इसमें तैर सकते हो तो वह कपड़े उतारकर तैरने लगता है। हिपनॉटिज्ममें आज्ञा या सूचना देकर ज्ञानेन्द्रियोंको भ्रममें डाल सकते हैं। विरोधी सूचना देकर विविध व्यसन, मानसिक रोग, दुराचार आदिको दूर कर सकते हैं।

मेस्मेरिक सुषुप्ति-अवस्था जब किसी सन्धिवातके रोगीमें उत्पन्न हो जाती है जो जाग्रत्-अवस्थामें जरा भी हाथ-पैर नहीं हिला सकता और उसे उस अवस्थामें जोरदार सूचना दी जाय कि तुमको बिलकुल दर्द नहीं होगा, तुम अपने पैर अच्छी तरह हिला सकते हो, तो जाग्रत् होनेपर वह अपने पैर इसी तरह हिला सकेगा। जाग्रत् होनेपर उसको कोई पीड़ा नहीं मालूम होगी। इसी प्रकार चित्तभ्रम, उन्मादवायु, मज्जाविकार, वातविकार, अर्धाङ्गवायु, हिस्टीरिया, न्यूरस्थेनिया, उन्निद्ररोग, मस्तिष्ककी निर्बलता, पेटके विकार, सन्धिवात, भिन्न-भिन्न प्रकारके दर्द, सामान्य ज्वर और सिरदर्द आदि रोग मेस्मेरिज्मसे दूर किये जा सकते हैं।

मेस्मेरिज्मकी छः अवस्थाएँ होती हैं—१-तन्द्रा, २-निद्रा, ३-प्रगाढ़ सुषुप्ति, ४-अनुवृत्ति, ५-दिव्य दृष्टि और ६-प्रत्यग्दृष्टि (अन्तर्दृष्टि)।

साधारण पात्र तीन अवस्थाओंसे अधिक प्रभावित नहीं होते। कोई-कोई उत्तम पात्र चौथी या पाँचवीं अवस्थामें चले जाते हैं और छठी अवस्था तो किसी विरलेमें ही उत्पन्न होती है।

मेस्मेरिज्म और समाधि

पाँचवीं और छठी अवस्था उत्पन्न होनेपर पात्रको दूरदर्शन और दूरश्रवण होने लगता है। वह भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालका उत्तर दे सकता है, यह समाधि-अवस्था ही है। मेस्मेरिज्मकी इस अन्तर्दृष्टिकी अवस्थामें पहुँचनेपर पात्रके मनका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। रोग-निवारण एवं चमत्कारोंके साथ ही यह विद्या योगाभ्यासका भी दिग्दर्शन कराती है। यदि कोई मनुष्य दूसरोंपर प्रयोग न करके अपने प्राणपर ही प्रयोग करता रहे तो समाधितक पहुँचकर आत्मानुभव कर सकता है। योगके द्वारा इससे अधिक एवं शीघ्र अलौकिक अनुभूति होती है।

मेस्मेरिज्म और प्राणतत्त्व

योगशास्त्रमें प्रसिद्ध प्राण और मेस्मेरिज्म—ये दोनों तत्त्व एक ही हैं, इसलिये मेस्मेरिज्म विद्याको हम प्राण-विनिमयके नामसे कह सकते हैं। प्राण ही शरीरका जीवभूत आधार है। प्राणमें विकृति होनेसे ही रोगादि दोष शरीरमें उत्पन्न होते हैं और प्राणकी शुद्धि ही बल, पराक्रम और शरीरके आरोग्यका आधार है।

प्राण-विनिमय (मेस्मेरिज्म)-से विकृत प्राणको दूर करके शुद्ध प्राणका संचार किया जाता है। जिस मनुष्यका मन पवित्र हो और शरीर स्वस्थ हो वह दूसरोंमें शुद्ध प्राणका संचार कर सकता है। किसी मलिन शरीर और अशुद्ध विचारकी वृत्तिवाले मनुष्यके स्पर्शसे अपने प्राणकी शुद्धता नष्ट होती है। इसीलिये उनका स्पर्श होनेपर स्नानका विधान है। जड और चेतन सब पदार्थोंमेंसे प्राणकी छाया निरन्तर निकला करती है। अतः दूसरोंके पहने हुए वस्त्र, उपयोगमें लायी हुई वस्तुएँ, उच्छिष्ट अन्न-जल आदि भी नहीं ग्रहण करना चाहिये। छूत-छात और भक्ष्याभक्ष्यका विचार इसी सिद्धान्तपर अवलम्बित है। मेस्मेरिज्मका योगशास्त्र, तन्त्रशास्त्र और स्वरशास्त्रसे घनिष्ठतम सम्बन्ध है।

पुराने समयके महापुरुषों तथा देवताओंके चित्र और मूर्तियोंके अवलोकन करनेसे ज्ञात होता है कि हरेकके मस्तकके चारों ओर एक गोलाकार आलोक बना हुआ है। संस्कृतमें इसे तेजस् कहते हैं और अंग्रेजीमें औरा।

हमारे शरीरमेंसे विद्युत्प्रवाह निकलता रहता है और हाथोंकी अंगुलियोंके अग्रभाग तथा नेत्रोंके छोरसे विशेषरूपसे निकलता है। इसीलिये मेस्मेरिज्ममें वेधक दृष्टि और हस्तसंचालन (मार्जन) पर विशेष जोर दिया गया है।

१-लौहचुम्बक (Magnet), २-क्रिस्टल (Crystal), ३-फूल तथा ४-मनुष्यके हाथ और चेहरेसे जो तेजस् निकलता है, उसे ऑडिलिक फोर्स (Odylic force) कहते हैं।

मेस्मेरिक और हिपनॉटिक शक्तिके विकास करनेके नियम

१-आत्मविश्वास, २-दृढ़ संकल्प-बल, ३-परमार्थबुद्धि,

४-वेधक दृष्टि, ५-स्वस्थ शरीर, ६-धैर्य और दृढ़ता, ७-शुद्ध आहार-विहार और ८-शान्त चित्त।

मेस्मेरिज्म और हिपनॉटिज्ममें सिद्धहस्त होनेके लिये उपर्युक्त गुण प्रयोगकर्तामें अवश्य होने चाहिये। बिना आत्मविश्वास और दृढ़ संकल्प-बलके किसी भी कार्यमें सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

आकर्षणशक्ति बढ़ानेका साधन

प्रातःकाल जितना जल्दी हो सके, दृष्टिसाधनका अभ्यास एकान्त कमरेमें अकेले करना चाहिये। शालग्राम, शिवलिङ्ग अथवा दीपककी ज्योतिपर ध्यान और नासिकाग्र अथवा त्रिपुटीदेशमें त्राटक करनेका विधान योगशास्त्रमें बतलाया गया है। दीपककी ज्योतिपर या नासिकाग्रपर दृष्टि स्थिर करनेसे नेत्रविकारवाले व्यक्तियोंको हानि पहुँचती है। शालग्राम और शिवलिङ्गपर त्राटक करनेसे नेत्रज्योति बढ़ती है। इस बातका सदा ध्यान रहे कि दो फुटसे अधिक दूरी न हो और अभ्यास शनैः-शनैः बढ़ाया जाय, एकदम नहीं।

दर्पणत्राटकका अभ्यास

दीवालपर दर्पणको टाँग दिया जाय। उसके मध्यभागमें चवन्नी बराबर सफेद कागज काटकर चिपका दें। दर्पणसे डेढ़ फुट दूरीपर पट्टे या कुर्सीपर स्थिरतासे बैठ जाइये। आँखोंको न अधिक तानना चाहिये और न दृष्टिको ही नीचे गिराना चाहिये। दर्पणके कागजपर दृष्टिको स्थिरकर पलकोंको हिलने नहीं देना चाहिये। एक दृष्टिसे टकटकी बाँधकर देखते रहना चाहिये, वृत्तिको इस तरह स्थिर करना चाहिये कि आपका प्रतिबिम्ब काँचमें न दीखने पावे। प्रथम दिन एक मिनट, दूसरे दिन दो मिनट इस प्रकार कम-से-कम दस-पंद्रह मिनटसे आध घंटेतक अभ्यास बढ़ा सकते हैं। आँखोंको कष्ट मालूम हो तो एक दिनका विश्राम देकर पुनः अभ्यास किया जा सकता है। अभ्यासके बाद नेत्रोंको ठंडे जलसे अच्छी तरह धो डालें। इस अभ्याससे निर्बल नेत्र सबल होंगे और आकर्षणबल बढ़ेगा। त्राटकके अभ्यासके समय इस प्रकारका बार-बार चिन्तन करना चाहिये कि—

'मेरे नेत्रोंके ज्ञानतन्तु बलवान् हो रहे हैं। मेरे नेत्र आकर्षक और प्रभावशाली हो रहे हैं। मैं निर्भय हूँ। मैं सिर ऊँचा करके सबके सम्मुख देख सकता हूँ। मेरी मनःशक्ति प्रबल है।'

दीर्घ श्वास-प्रश्वासका अभ्यास

प्रातःकाल वायुसेवनके लिये जंगलमें किसी ऊँचे टीलेपर या स्थानपर सरलतासे सिर और छाती सीधी करके सुखासनसे मेरुदण्डको सीधा करके बैठ जाइये। मुख बंद करके नासिकासे गहरा श्वास लेकर कुछ देर फेफड़ोंमें कुम्भक कर शनैः-शनैः प्रश्वासद्वारा खींची हुई वायुको बाहर निकालिये। पुनः इसी प्रकार दस-बीस बार कीजिये और यहाँतक अभ्यास बढ़ाइये कि कम-से-कम सौ बार इस श्वासोच्छ्वासक्रियाको आसानीसे कर सकें। पूरक, कुम्भक और रेचक करते समय निम्न विचारोंपर मनन करें—

'मैं सूर्य भगवान्‌से प्राणशक्तिको श्वसनक्रियाद्वारा शरीरमें खींच रहा हूँ। सूर्यकिरणोंद्वारा प्राणशक्ति मेरे रोम-रोममें प्रविष्ट होकर मुझे बल, उत्साह, जीवनशक्ति और आरोग्य प्रदान कर रही है। मेरे शरीरसे विद्युत्-प्रवाह, प्रकाश और किरण निकल रहे हैं। मैं सूर्यके सदृश तेजस्वी बन रहा हूँ।'

मार्जन करनेकी रीति

मनुष्यके शरीरपर हाथ फेरकर रोग दूर करनेकी प्रथा प्राचीन कालसे चली आ रही है। अपनी शक्तिको दूसरेमें प्रवेश करनेकी क्रियाको मार्जनक्रिया अथवा पास करना कहते हैं। मार्जन दो प्रकारके होते हैं—विधानमार्जन और विसर्जनमार्जन।

हाथोंकी दोनों हथेलियोंको जोरसे रगड़ें जबतक कि वे गर्म न हो जायँ। फिर हाथोंको आगे-पीछे खूब हिलाइये और हाथोंकी मुट्ठियोंको खूब जोरसे बंद करें और खोलें। अब दोनों हाथोंकी हथेलियोंको और अंगुलियोंको मिलाकर तथा अँगूठोंको दूर रखकर एक तकिया रखकर कल्पना करें कि यह मनुष्य है। धीरे-धीरे कपाल, छाती, पेटपरसे उतारते ले जायँ और पैरतक ले जाकर एक तरफ झटक दें। (पास स्त्रीके बायीं ओर और पुरुषके दाहिनी ओर देना चाहिये)। इस तरह हाथोंको झिड़क देना चाहिये कि मानो किसी दूषित द्रव्यको शरीरसे निकालकर बाहर फेंक रहे हों। शरीरसे हाथ चार इंच दूरीपर रखना चाहिये। सिरसे पैरतक एक बार ऐसा करना एक

मार्जन कहलाता है। दूसरा मार्जन प्रारम्भ करते समय हाथोंको झटकनेके बाद तत्काल मुट्ठियाँ बंद करके रोगीके सिरपरसे ले जाना चाहिये और फिर उसी रीतिसे पास देना चाहिये। इस प्रकार पंद्रह मिनटसे आध घंटेतक रोग दूर करनेका अभ्यास कर लेना चाहिये।

कुछ दिनोंके अभ्याससे अभ्यासमें सफलता प्राप्त होनेपर मेस्मेरिज्मसे रोगीकी चिकित्सा की जा सकती है।

मेस्मेरिज्मका प्रयोग

प्रथम विधि

जिस मनुष्य या रोगीपर मेस्मेरिज्म करना हो उसको एक कुर्सीपर बिठा दें। दूसरी कुर्सी उसके सम्मुख एक फुटकी दूरीपर रखकर प्रयोगकर्ता बैठ जाय। जिस पात्रपर प्रयोग किया जाय उसके दाहिने हाथकी अँगुलियोंको अपने बायें हाथसे पकड़कर नजरसे नजर मिलाये और दृढ़ संकल्प करे कि पात्रको निद्रा आ रही है। उसे कहा जाय कि वह टकटकी बाँधकर एक दृष्टिसे पलकोंको बिना झपकाये प्रयोगकर्ताके नेत्रोंकी तरफ देखता रहे। थोड़ी देर बाद जब आँखोंको खुला रखना पात्रके लिये असम्भव हो जाय तब उसे आँखें बंद करनेकी आज्ञा दी जाय। प्रयोगकर्ता पात्रको समझा दे कि जब आँखें भारी होकर बंद होने लगें तब बंद कर ले और स्वस्थतासे सो जाय। पात्रको यह भी समझा दे कि उसपर मार्जन करके शक्तिपात किया जायगा।

इस प्रकार करनेपर थोड़ी देर बाद पात्रकी आँखें भारी हो जायँगी और उसे ऊँघ आने लगेगी। इस समय प्रयोगकर्ताको हाथ धीरेसे छोड़कर विधान-मार्जन देना आरम्भ करना चाहिये। दस-पंद्रह मिनट मार्जन देनेसे पात्र गहरी नींदमें चला जायगा।

मेस्मेरिक अवस्थाकी परीक्षा

जिसपर मेस्मेरिज्म किया गया हो उस पात्रका हाथ ऊँचा उठाकर तुरंत छोड़ दे। यदि लकड़ीके समान एकदम गिर पड़े तो जानो कि उसपर मेस्मेरिज्मका प्रयोग हो गया है। उसकी आँखोंकी पलकें खोलकर देखे। यदि नेत्र ऊपर चढ़े हुए हैं, सफेद दीखने लगे हैं और बीचका तारा घूमने लगे तो समझो कि प्रभाव हो गया है।

यदि पात्र रोगी हो तो जिस अङ्गमें रोग हो उस स्थानपर पाँच-सात मार्जन करके सूचना देनी चाहिये कि तुम्हारे जाग्रत् होनेपर सब दर्द दूर हो जायगा। यदि विश्वदृष्टि उत्पन्न करनी हो तो किसी वस्तुको मुट्ठीमें बंद करके उसके कपालपर हाथको रखकर कहे कि तुम सूक्ष्म शरीरसे मेरे हाथकी वस्तु देख सकते हो—बतला सकते हो। जब वह बतला दे तो कमरेकी अन्य चीजोंके सम्बन्धमें उससे पूछे। फिर अन्य स्थानोंमें भेजकर वहाँके समाचार प्राप्त करे। फिर विसर्जन-मार्जन अर्थात् उलटे पैरसे सिरकी ओरसे कर दे या जोरसे ताली बजाकर जाग्रत् कर दे। मार्जन करनेके बाद हाथोंको ठंडे जलसे अच्छी तरहसे धो डालना चाहिये। मार्जन देते समय हाथ-पैरको धोना नहीं चाहिये।

द्वितीय विधि

पात्रको बिस्तरपर शरीर शिथिल करके लेट जाने दे। सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग ढीले छोड़नेको कहे। फिर नाकसे श्वास-प्रश्वास करनेको कहे और सिरसे छातीतक मार्जन करता रहे, दस-पंद्रह मिनटमें ही वह मेस्मेरिक निद्रामें चला जायगा।

हिपनॉटिज्म

पात्रको सीधा खड़े होनेको कहे। उसे सारे शरीरको बिलकुल शिथिल करनेको कहे। उसके पीछे खड़े होकर दोनों हाथोंको कंधोंपर रख दे और दृष्टिको मस्तकके निचले भागपर गर्दनके ऊपर स्थिर करे। पात्रको समझा दे कि पीछे गिरना मालूम हो तो वह रोकनेका प्रयत्न करे। उसे सँभालकर नीचे लिटा दिया जायगा। अब धीरे-धीरे मृदु और प्रभावशाली भाषामें कहे—'महाशय ! तुम गिर रहे हो, गिर रहे हो—पीछे गिर रहे हो—बड़े जोरोंसे पीछेकी तरफ खिंचे चले आ रहे हो, जब मैं अपने हाथोंको तुम्हारे कंधोंसे अलग कर लूँगा, तुरत ही तुम गिर जाओगे। गिर जाओगे—अवश्य गिर जाओ—गिर जाओ—भयभीत मत होओ।'

इस प्रयोगसे पात्र पीछे गिर जायगा। उसे सँभालकर नीचे लिटा दे। इसी प्रकार उसके आगे खड़े होकर अपनी एक अँगुलीपर उसकी दृष्टि जमवाकर तुम आगे झुक रहे हो—आगे झुक रहे हो, यह सूचना बार-बार देकर आगेकी ओर गिरा सकते हैं। इसी प्रकारके अनेकों प्रयोग अपनी इच्छा-शक्तिके आधारपर किये जा सकते हैं।

डॉक्टर ब्रेडका तरीका

किसी चमकीली वस्तुको पात्रकी आँखोंसे जरा ऊपर मस्तकके पास ले जाकर उसे उसपर दृष्टि स्थिर करनेको कहे और कहे कि तुम्हारी आँखें अब भारी हो रही हैं—बहुत भारी हो रही हैं। अब तुम आँखें बंद कर लोगे, आँखें बंद कर लो। अब तुम आँखें नहीं खोल सकते, नहीं खोल सकते—चाहे जितना प्रयत्न करो। सो जाओ, सो जाओ—सो जाओ, गहरी नींदमें चले जाओ—गाढ़ निद्रामें चले जाओ—प्रगाढ़ निद्रा आ रही है—शान्त और मीठी नींद आ रही है। इस प्रकार हिपनॉटिक निद्रा-अवस्थामें आनेपर आप दुर्गुण, दुर्व्यसन, सिरदर्द या अन्य बीमारी या कुटेव तथा अनेक मानसिक रोगोंको हिपनॉटिज्मसे दूर कर सकते हैं।

मनुष्य स्वार्थको भूलकर मानवजातिके हितार्थ जितना अधिक इन शक्तियोंका सदुपयोग करेगा, उतनी ही उसकी आत्मिकशक्ति बढ़ेगी। यह सदा स्मरण रखे कि विश्वशक्तिका मूल वही अनन्य-शक्ति है जो सर्वशक्ति और सत्ताका उद्गम है। स्मरण रखें कि सब उस अनन्त शक्तिके अंश हैं। अपने मन और शरीरको शुद्ध करके अपनी अन्तरात्माका उस परम पिता परमात्माके साथ, जो सबके हृदयगुहाके अन्तस्तल-प्रदेशमें विराजमान है, सम्बन्ध स्थापित करे। वही सर्वयथार्थ शक्तिका स्थान है।

नेत्र बंद कर लें, अपने भीतर गहरे उतरें, बाहरकी स्थितिको शनैः-शनैः भूल जायँ। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, अजर, अमर, नित्यशुद्ध, सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप नारायणका ध्यान करें। अत्यन्त गहरेमें चले जाइये जहाँ आनन्दमय प्रकाशके दर्शन होने लगेंगे। यह प्रकाश सारे विश्वका जीवन है। इस प्रकाशसे जीवन-बल-तेज-आरोग्य-दायक शक्ति एवं अनन्त शान्ति प्राप्त होगी। सभी भारतीय शास्त्र अन्तरात्माकी ओर अभिमुख होनेको ही योगकला कहते हैं।

ज्योतिष-शास्त्र और योग

ज्योतिष-शास्त्र एवं योग-शास्त्रका परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। त्रिकालज्ञ महर्षियोंने दुर्लभ योगसाधना एवं योगविज्ञानको सुलभ बनानेकी दृष्टिसे भूत-भविष्यके विज्ञापक ज्योतिष-शास्त्रका निर्माण किया था। ध्यान-समाधिके द्वारा बड़ी कठिनतासे भूत-भविष्यका ज्ञान होता है, किंतु उन्हीं दिव्य शक्ति-सम्पन्न देवता एवं ऋषियोंके द्वारा प्रणीत ज्योतिष-विद्या तथा उनके द्वारा अनुभूत प्रयोगोंको एवं उनके कृपाप्रसूत ज्ञानको सामान्य व्यक्ति भी श्रद्धापूर्वक अध्ययनकर और विश्वासके द्वारा मनन कर भूत-भविष्यका ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जिन भूत-भविष्यकी बातोंका ज्ञान सिद्ध योगी ध्यान-समाधिके माध्यमसे करता है, दैवज्ञ उन्हीं बातोंको ज्योतिषके ज्ञानसे जान जाता है[1]। ज्योतिष-विज्ञानका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। सिद्धान्त, संहिता, होरा—ये तीन इसके प्रमुख स्कन्ध माने गये हैं। इसके साथ ही प्रश्न, शकुन, यात्रा-विज्ञान, देश-कालका ज्ञान, ग्रह-नक्षत्रोंकी स्थितियाँ, भूगर्भ-सम्बन्धी वस्तुओंका ज्ञान आदि सभी बातें इसीकी सीमामें अन्तर्निहित हैं। ज्योतिषके सम्यक् अध्ययनसे व्यक्ति पृथ्वी तथा पृथ्वीतलके अंदरकी वस्तुएँ तथा सुदूर अन्तरिक्षस्थ तारागणों या ज्योतिश्चक्रकी स्थिति, दैवी-भौम आदि उत्पातोंकी जानकारी तथा सुदूर व्यक्तिकी स्थिति और स्वप्न, शकुन, अङ्गस्फुरण और किसी तिथि, नक्षत्र, योग, करण आदिमें प्रारम्भ किये जानेवाले कार्योंका शुभाशुभ फल भी जान जाता है और इसके परिणाम प्रायः रात-दिन एवं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि सभी अवस्थाओंमें घटित होते रहते हैं। अतः ज्योतिष-विद्याका जानना अत्यन्त आवश्यक है। इतना ही नहीं, इस विद्यामें श्रद्धा रखनेसे आस्तिक्य-भाव होनेके कारण उन ऋषियों तथा भगवान्‌की भी कृपा हो जाती है।

वैसे तो ज्योतिष-विद्याके सभी अङ्गोंमें योग ही सर्वत्र

१-सेन्टपीटर्सरीजेटने अपने ग्रन्थ 'इन्टरनेशनल थीजरस' में भविष्यकी स्थितियोंको जाननेके लिये प्रायः तीन सौ प्रकारकी वैज्ञानिक एवं दिव्य विद्याओंका उल्लेख किया है, जिनमें सम्पूर्ण विश्वके ज्ञान-विज्ञानकी शाखाओंका संकलन है, किंतु उन सभीमें योग एवं ज्योतिष-विद्या—ये दो प्रमुख हैं, इन दोनोंके अन्तर्गत वे सभी विद्याएँ समन्वित हो जाती हैं।

व्याप्त है तथापि पञ्चाङ्गमें आयुष्मान्, प्रीति, ब्रह्म, शिव, प्रजापति, व्यतीपात आदि योग तथा फिर धूम्र, वज्र, कालदण्डादि योग एवं विभिन्न नक्षत्रादिके संयोगसे बननेवाले अमृतसिद्धि, सर्वार्थसिद्धि, सर्वदोषविनाशक रवियोग, स्थायी योग और जन्मकुण्डली आदिमें पञ्चमहापुरुष-योग, विविध प्रकारके वाणी, केदार, एकावली, माला, पारिजात, गजकेसरी, राजयोग आदि भाग्यसूचक योग एवं द्वादश भावोंसे उत्पन्न होनेवाले हरिहर-ब्रह्मयोग आदि जितने भी योग हैं, जो ज्ञान-विज्ञानकी किसी अन्य शाखामें नहीं मिलते, ये सभी अद्भुत रूपसे भूत-भविष्यका ज्ञान करानेवाले हैं। इन सब बातोंकी सम्यक् जानकारीके लिये ज्योतिष-शास्त्रका ज्ञान रखना आवश्यक है। द्वादश राशियों तथा लग्न आदिसे भी भविष्यका विचार किया जाता है। ये राशियाँ आकाशमें स्थित होनेके साथ ही मनुष्यके शरीरमें भी स्थित होती हैं। इसी प्रकार ग्रहोंके भी दशा-अन्तर्दशाके ज्ञानसे दैवी उपासनाओं, रत्नधारण तथा ओषधिस्नानके द्वारा उनके दुष्प्रभावोंसे मुक्त हुआ जा सकता है।

ज्योतिष-विद्याकी विभिन्न शाखाओंमें स्वप्न-विचार, अङ्गस्फुरण, पल्लीपतन, यात्रा आदिके शकुन पशु-पक्षियोंकी विभिन्न प्रकारकी बोलियों तथा दर्शनसे भविष्यका ज्ञान होता है। इसके साथ ही स्थिर फलोंके निर्देशक जन्माङ्ग-विचार, प्रश्नकुण्डली, ग्रहोंकी दशा-अन्तर्दशाओंका विवरण, ग्रह-गोचरज्योतिष तथा वर्षफल आदि अनेक भविष्य ज्ञानके हेतु होते हैं। इन सबके साथ ही अशुभ फलों तथा अशुभ फलादेशोंकी शान्तिके लिये जप, होम, पूजा-पाठ, हवन-दान, ओषधि-स्नान, रत्नधारण आदिका विधान भी ज्योतिष-ग्रन्थोंमें विस्तारसे निर्दिष्ट है। इन सबका तात्पर्य योग-समाधि एवं अत्यन्त समाहित-भावसे जीवात्माका परमात्माके साथ सम्पर्क करनेमें है। इसीलिये बृहत्पराशर आदि ग्रन्थोंमें बुध, गुरु, शुक्रादिकी दशाओंमें अशुभ फलोंके निवारणके लिये **'तद्दोषशान्त्यर्थं विष्णुसाहस्रकं जपेत्, शिवसाहस्रकं जपेत्, दुर्गादेवीजपं चरेत्, मृत्युञ्जयजपं चरेत्'** आदि विविध देवताओंकी आराधनाका निर्देश किया गया है। यहाँ विष्णु, शिवादि नामान्तर केवल तात्कालिक फलादेशके लिये हैं, क्योंकि ग्रहोंके दैवत, अधिदैवत, प्रत्यधिदैवत भावोंके द्वारा मूल परम दैवत, परब्रह्म परमात्मातक पहुँचनेमें शीघ्रता होती है।

इस तरह ज्योतिष-विद्याके सभी विभाग प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूपसे मूलतः योगसे ही सम्बद्ध हैं। भविष्य जाननेकी भाषा दैवज्ञता कहलाती है। सम्यक् भविष्य-ज्ञानके लिये योग एवं ज्योतिषकी जानकारी आवश्यक है। योगके द्वारा समाधि लगाकर तथा ज्योतिषके द्वारा ग्रह-नक्षत्रादिके विविध संयोगोंके फलादेशोंसे भूत-भविष्यका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ज्योतिषमें न केवल ग्रह-नक्षत्रादिके संयोगोंसे अपितु प्रकृति एवं अन्य जीव-जन्तुओं तथा पशु-पक्षियोंकी बोलियों एवं उनके दर्शनसे भी भूत-भविष्यके ज्ञानकी विधियोंका विस्तारसे विवेचन हुआ है। कौआ, क्षेमकरी तथा नीलकण्ठ आदि पक्षियोंका प्रकृतिसे सीधा सम्बन्ध होता है और निश्छल, निष्कपट होनेके कारण वे अपनी आत्मासे सीधे सम्बद्ध होते हैं तथा भविष्यके ज्ञानको लक्षणोंसे सूचित करते हैं। कपट एवं वासना-जालके कारण मनुष्यका वह ज्ञान तिरोहित रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अङ्ग-स्फुरण, शकुन, स्वप्नादिके द्वारा योगसे सम्बद्ध प्रकृति देवी प्राणीको शुभाशुभ फलकी बातें सूचित करना चाहती है, किंतु अहंकारग्रस्त होनेसे तथा प्रमादके कारण मनुष्य इन बातोंको ठीक-ठीक नहीं समझ पाता और कदाचित् जानकर भी उपेक्षा करता है, फलतः उसका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इसके लिये आवश्यक है कि ज्योतिष-शास्त्रमें निर्दिष्ट इन सभी प्रकरणोंका ध्यानसे तन्मयतापूर्वक अध्ययन-मनन किया जाय। इसीमें कल्याण है। इसीलिये योगज-दृष्टिसम्पन्न ऋषियोंने ज्योतिष-शास्त्रमें इन सभी बातोंका समन्वय किया था। आचार्य वराहमिहिरने अपने बृहत्संहितामें कहा है कि राजाओंको तो सबसे अधिक महत्त्व ज्योतिर्वेत्ताको ही देना चाहिये, क्योंकि वह ज्योतिषके ज्ञानसे त्रिकालज्ञ होता है, इसीलिये दैवज्ञ भी कहलाता है।

सद्योवृष्ट एव अनेक दैवी एवं भौम शुभ योगों तथा अशुभ योगोंके यौगिक लक्षण जिनमें गन्धर्वनगरदर्शन, उल्कापात, ग्रहण, चन्द्र-सूर्य-दर्शन आदि विशेष हैं, ये सभी विषय ज्योतिषके अन्तर्गत हैं तथा शुभाशुभ भविष्यके ज्ञापक हैं। सभी शास्त्रोंमें गौका स्वप्नमें दर्शन अत्यन्त शुभ बताया

गया है। क्योंकि वह सभी धर्म-दर्शन एवं पुरुषार्थोंकी मूल तथा विशुद्ध सत्त्व-सम्पन्न है, इसलिये यात्रा आदिमें भी गौ तथा मृगसमूह आदिका दर्शन मङ्गलजनक है। इसी प्रकार ब्राह्मणों एवं संत-महात्माओंका दर्शन तथा उनके आशीर्वाद-शाप आदि भी प्रत्यक्ष-फलदायक माने गये हैं। ये सब बातें न केवल ज्योतिष-शास्त्रमें ही वर्णित हैं, अपितु रामायण तथा पुराणेतिहास-ग्रन्थों एवं योगशास्त्रमें भी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूपसे स्थान-स्थानपर उल्लिखित हैं।

जिज्ञासु पुरुषको समग्र ज्योतिष-शास्त्रका अध्ययन कर अपने वास्तविक कल्याणके समयका ज्ञान करना चाहिये। इसके अध्ययनसे व्यक्तिके जन्मसमयसे निर्मित होनेवाले ग्रह-नक्षत्रोंके संयोगसे तथा जन्माङ्गके द्वादश भावोंसे भूत-भविष्यका ज्ञान तथा अशुभ समयोंकी शान्तिके उपाय भी ज्ञात होते हैं। जन्म-लग्नसे शरीरके लक्षण, प्रकृति, स्वभाव, आकृति एवं आयुका परिज्ञान होता है। द्वितीय धन-स्थानसे कुटुम्ब, वाणी और आर्थिक स्थितिका ज्ञान होता है, तृतीय स्थानसे भाई-बन्धु, शक्ति तथा भाग्यका भी अवबोध होता है। चतुर्थ स्थानसे माता, मित्र, गृह, क्षेत्र तथा अन्य सुख-संयोगोंका पता चलता है। इसी प्रकार पञ्चम स्थानसे विद्या, बुद्धि, संतान; षष्ठस्थानसे शत्रु, ऋण, रोगादि; सप्तम स्थानसे यात्रा, संतान, कलत्र और अन्य सौख्य पदार्थोंका ज्ञान होता है। इसी प्रकार अष्टम स्थानसे आयु, नवम स्थानसे भाग्य एवं धर्म-कर्मका आचरण, दशम स्थानसे पद-प्रतिष्ठा, स्थिर कार्य-कलाप, पिता आदि, एकादश-स्थानसे विविध प्रकारके आयस्रोत और अन्तिम द्वादश स्थानसे व्यय, अनेक जन्मों, परलोक तथा मोक्षकी स्थितिका भी ज्ञान होता है।

इस प्रकार यहाँ संक्षेपमें योग एवं ज्योतिषके विषयमें लिखा गया है। ज्योतिष एवं योगशास्त्रके सम्यक् सम्बन्धके परिज्ञानके लिये योगशास्त्रका अध्ययन एवं ज्योतिष-शास्त्रके विविध प्रकारके योगों और प्रतिक्षण घटित होनेवाले दैव, भौम और शारीरिक लक्षणोंसे प्रकट होनेवाले निर्देशोंको समझना चाहिये। इसीके साथ ही प्रश्न-विज्ञानके प्रश्नभूषण, षट्पञ्चाशिका आदि ग्रन्थोंके अध्ययन तथा देवताके स्मरणपूर्वक भविष्यका ज्ञान कर तद्वत् आचरण करना चाहिये। भगवान् तो सबके अन्तर्बाह्यमें विद्यमान हैं। उनके शरणागत होनेसे वे सभी सूचनाएँ देते हैं, वे महायोगेश्वर हैं, सभी कुछ करनेमें समर्थ हैं, उनकी कृपाका आश्रय लेकर ज्योतिष-शास्त्र आदिसे लाभ उठाना चाहिये।

महाभारतमें योगकी महिमा और स्वरूप

(मानसमर्मज्ञ पं० श्रीसच्चिदानन्ददासजी रामायणी)

योग यथार्थतः एक दर्शन है, वैदिक षड्दर्शनोंमें इसकी गणना होती है। इसका उद्देश्य स्वरूपस्थितिकी प्राप्ति है। हमारे जीवनका प्रारम्भ प्रायः बहिर्मुखी प्रवृत्तिसे ही होता है, उस प्रवृत्तिको बदलकर अन्तर्मुखी कर लेना ही मूलतः यौगिक प्रक्रिया है। योगका तात्पर्य जोड़से है अर्थात् आत्माका परमात्मासे मिलनका नाम योग है। यह सम्भव भी तभी हो सकता है जब बहिर्मुखी चित्तवृत्तिका पूर्णतः निरोध हो।

जो लोग सम्यक्रूपेण यौगिक क्रियाओंका अभ्यास करते हैं, उनमें अनेक प्रकारकी विलक्षण शक्तियाँ आ जाती हैं। उसे ही विभूति या सिद्धि कहते हैं। व्यक्तिगत विकास और उन्नतिकी दृष्टिसे तो योगका महत्त्व प्रकट ही है, योगसे सब प्रकारकी शारीरिक और मानसिक शक्तियोंकी वृद्धि भी इच्छानुसार हो सकती है। यहाँतक कि योगसे प्रकृति और उसके विकारोंको यथार्थ-रूपमें देखनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है।

परमभागवत नैष्ठिक ब्रह्मचारी बालयोगी श्रीशुकदेवजीसे महर्षि वेदव्यासजीने महाभारतमें विस्तारपूर्वक यौगिक महिमाका निरूपण किया है। भगवान् व्यासदेवने प्रायः सभी पुराणों, लघु एवं बृहद् व्यास-स्मृतियों और महाभारतके प्रायः सभी पर्वोंमें अनेक ऋषियोंके मतसे योगका अनेक प्रकारसे वर्णन किया है और उनका पातञ्जलयोगदर्शनपर भी व्यासभाष्य प्रसिद्ध है। अतः उन्हें योगैकप्राण कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा। यहाँ केवल महाभारत-शान्ति-पर्व-मोक्षधर्मके योगनिरूपणके एक अंशका संक्षेपमें विचार किया जा रहा है जो इस प्रकार है—पूर्णरूपेण योगक्रिया सम्पन्न करनेहेतु योगके सहायक द्वादश भेदोंका वर्णन करते हुए भगवान्

वेदव्यासजीका कथन है कि—

छिन्नदोषो मुनिर्योगान् युक्तो युञ्जीत द्वादश।
देशकर्मानुरागार्थानुपायापायनिश्चयैः ॥
चक्षुराहारसंहारैर्मनसा दर्शनेन च।

(महा०, शा० २३६। ३-४)

अर्थात् समाहित-चित्त मुनिको चाहिये कि वह हृदयके रागादि दोषोंको नष्ट करके योगमें सहायता पहुँचानेवाले देश, कर्म, अनुराग, अर्थ, उपाय, अपाय, निश्चय, चक्षुष्, आहार, संहार, मन और दर्शन—इन बारह योगोंके आश्रयसे ध्यानयोगका अभ्यास करे।

ध्यानयोगके साधकको ऐसे स्थानपर आसन लगाना चाहिये, जो समतल और पवित्र हो। निर्जन वन, गुफा या ऐसा ही कोई एकान्त स्थान ही ध्यानके लिये उपयोगी होता है। ऐसे स्थानपर आसन लगानेको देशयोग कहते हैं। आहार-विहार, चेष्टा, सोना और जागना—ये सब परिमित और नियमानुकूल होने चाहिये। यही कर्मनामक योग है। परमात्मा एवं उसकी प्राप्तिके साधनोंमें तीव्र अनुराग रखना अनुरागयोग कहलाता है। केवल आवश्यक सामग्रीको ही रखना अर्थयोग है। ध्यानोपयोगी आसनसे बैठना उपाययोग है। संसारके विषयों और सगे-सम्बन्धियोंसे आसक्ति तथा ममता हटा लेनेको अपाययोग कहते हैं। गुरु और वेदशास्त्रके वचनोंपर विश्वास रखनेका नाम निश्चययोग है। चक्षुको नासिकाके अग्रभागपर स्थिर करना चक्षुर्योग है। शुद्ध और सात्त्विक भोजनका नाम है आहारयोग। विषयोंकी ओर होनेवाली मन-इन्द्रियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको रोकना संहारयोग कहलाता है। मनको संकल्प-विकल्पसे रहित करके एकाग्र करना मनोयोग है। जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि होनेके समय महान् दुःख और दोषोंका वैराग्यपूर्वक दर्शन करना दर्शनयोग है। जिसे योगके द्वारा सिद्धि प्राप्त करनी हो, उसे इन बारह योगोंका अवश्य अवलम्बन करना चाहिये।

श्रीकृष्णद्वैपायन भगवान् श्रीवेदव्यासजीने योगका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति ही कहा है। योगके उपयोगी देश, कालको तथा कर्मानुष्ठानमें सहायक वस्तुओंको भी भगवत्प्राप्तिमें योगात्मक सहयोग प्रदान करनेके कारण योग ही कहा गया है और इनका भी आश्रय और संयोग अवश्य लेना चाहिये। वे कहते हैं कि इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी वृत्तियोंको जगत्से मोड़कर सर्वव्यापी परमात्माके साथ उनकी एकता स्थापित करना ही सर्वोत्तम ज्ञान है। इस उच्च स्थितिको प्राप्त करनेके लिये साधकको सब ओरसे मनको हटाकर शम-दमादि साधनोंसे सम्पन्न होकर आत्मतत्त्वका चिन्तन करते हुए एकमात्र परमात्मामें ही अपनेको समाहित करना चाहिये।

योगतत्त्वका आश्रय लेनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह विषयभोगोंसे दूर रहे। योगसाधनामें अग्रसर होनेपर मोह-भ्रम और आवर्त आदि अनेकों विघ्न आते रहते हैं। फिर सुगन्ध आती है और दिव्य शब्दोंके श्रवण एवं दिव्य रूपोंका साक्षात्कार भी होता है। नाना प्रकारके अद्भुत रस और स्पर्शका अनुभव होने लगता है। इच्छानुकूल सर्दी, गर्मी प्राप्त होती है तथा वायुस्वरूप होकर नभोमण्डलमें चलने-फिरनेकी क्षमता आ जाती है, प्रतिभा बढ़ जाती है और दिव्य भोग भी अपने-आप उपस्थित हो जाते हैं।

इन सब सिद्धियोंको योगबलसे प्राप्त करके भी तत्त्ववेत्ता योगीको चाहिये कि उनका अत्यधिक आदर न करे, क्योंकि ये सब यौगिक विघ्न हैं। अतः मनको उनकी ओरसे मोड़कर परमात्मामें ही एकाग्र करे—

प्रमोहो भ्रम आवर्तो घ्राणं श्रवणदर्शने।
अद्भुतानि रसस्पर्शे शीतोष्णे मारुताकृतिः ॥
प्रतिभामुपसर्गांश्चाप्युपसंगृह्य योगतः।
तांस्तत्त्वविदनादृत्य आत्मन्येव निवर्तयेत् ॥

(महा०, शा० २४०। २३-२४)

ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले यौगिक साधनोंके उपयोग-कालमें भिन्न-भिन्न प्रकारके दृश्य दृष्टिगोचर होनेका वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद्में भी इस प्रकार प्राप्त होता है—

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥

(श्वेता० २। ११)

तात्पर्य यह कि योगाभ्यास आरम्भ करनेपर पहले अनुभव होनेवाले कुहरे, धूम, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत, विद्युत्, स्फटिकमणि और चन्द्रमादि अनेक दृश्य योगीके समक्ष दिखलायी पड़ते हैं। ये सब लक्षण ब्रह्मप्राप्ति करानेवाले योगके प्रारम्भिक अवस्थामें प्रकट होते हैं।

योगसाधनामें किसी वर्ण-विशेषका ही रहना आवश्यक नहीं है, कोई क्यों न हो, वह योगका आश्रय ले सकता है। भगवान् वेदव्यासने महाभारतमें इसका स्पष्ट निर्देश किया है—

अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकाङ्क्षिणी।
तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम्॥

(महा०, शा० २४०। ३४)

भाव यह कि कोई नीच वर्णका पुरुष और स्त्री ही क्यों न हो, यदि उनके मनमें धर्मसम्पादनकी अभिलाषा है तो इस योगमार्गका सेवन करनेसे उन्हें भी परमगतिकी प्राप्ति हो सकती है।

योग-साधनाके सिद्ध हो जानेपर योगी परमात्माका आत्मासे अनुभव करता है। इस भगवत्प्राप्ति और परमात्म-प्राप्तिकी बात वेदव्यासजीने इस प्रकार बतलायी है—

अजं पुराणमजरं सनातनं यदिन्द्रियैरुपलभेत निश्चलैः।
अणोरणीयो महतो महत्तरं तदात्मना पश्यति मुक्तमात्मवान्॥

(महा०, शा० २४०। ३५)

तात्पर्य यह है कि जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है वही योगी, निश्चल मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा जिसकी उपलब्धि होती है, उस अजन्मा, पुरातन, अजर, सनातन, नित्यमुक्त, अणुसे भी अणु और महान्‌से भी महान् परमात्माका आत्मासे अनुभव करता है।

इस प्रकार भगवान् श्रीव्यासदेवके इन योगोपदेशोंका मन-ही-मन विचार करके एवं इसे भलीभाँति समझते हुए इसके अनुसार जो आचरण करते हैं, वे मनीषी पुरुष ब्रह्माजीकी समताको प्राप्त करके प्रलयकालपर्यन्त ब्रह्मलोकमें उनके साथ रहकर अन्तमें उन्हींके साथ मुक्त हो जाते हैं। (महा०, शा० २४०। ३६)।

समर्थ रामदास स्वामीके दासबोधके अन्तर्गत योगदर्शन

(श्री ग० नी० पुरंदरे, बी० ए०, बी० एस्० सी०, एल्-एल्० बी०)

समर्थ श्रीरामदास स्वामी छत्रपति शिवाजी महाराजके गुरु थे। एक श्लोकमें कहा गया है—वे शुकदेव मुनिके समान विरक्त, योगेश्वर श्रीवसिष्ठजीके समान ब्रह्मज्ञानी तथा कवि वाल्मीकिके समान पूज्य एवं मान्य थे। दिव्यशक्तिसम्पन्न स्वामी रामदासजी कर्मयोगी, बाल-ब्रह्मचारी, कुशल राजनीतिज्ञ तथा महान् श्रीरामभक्त थे। उन्होंने संसारका त्याग कर दिया था। अखिल भारतकी आसेतु हिमाचलकी तीर्थयात्रा कर, स्थान-स्थानपर अनेक मठोंकी स्थापना की थी। मूलतः वे सिद्ध योगी एवं हठयोगी थे। उनका दैनिक कार्यक्रम युक्ताहार-विहार-जैसा था। सूर्य-नमस्कार, भगवद्भजन, मन्त्रजप और समाधिका अभ्यास करना उनका दैनन्दिन नियम था। वे बड़े ज्ञानी थे। वेद-वेदान्त तथा उपनिषद्‌का उन्हें गहन अध्ययन था। वे श्रीरामभक्तिके महान् प्रचारक तथा श्रीहनुमान्‌जीके अनन्य उपासक थे। उनका ध्येय वाक्य—'**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**' था। '**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**'—इस श्रुति-वचनपर उनकी अटूट श्रद्धा थी। उन्होंने प्रसङ्गानुसार अनेक चमत्कार भी दिखलाये थे, मृत व्यक्तिको सजीव—सचेतन किया था। स्वामी रामदासजीने श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन प्राप्त किया था।

उन्होंने 'दासबोध' नामक एक पारमार्थिक ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ महाराष्ट्र, कर्नाटकमें अनेक स्थलोंपर दैनिक पाठ-पूजामें स्थान प्राप्त कर चुका है। इस ग्रन्थमे उनके तात्त्विक उपदेशोंका सार है। यह ग्रन्थ आध्यात्मिक, व्यावहारिक और योगमार्गपर आधृत है। इस ग्रन्थमें अनेक पारमार्थिक विषयोंका विवेचन किया गया है। जैसे शुद्ध ज्ञान, आत्मस्थिति, सायुज्य-मुक्ति, मोक्षप्राप्ति, शुद्धस्वरूप, विदेह-स्थिति, तादात्म्य, ब्रह्मज्ञान, मायोद्‌भव, पञ्चमहाभूत, आत्मप्रतीति, परमार्थ, पिण्ड और ब्रह्माण्ड, देहभाव-निरूपण, नवविधा भक्ति, देहशोधन, विवेक-वैराग्य, आत्मनिवेदन, प्रकृति-पुरुष, अजपा-जप-निरूपण, साधन-चतुष्टय तथा आत्मानुभव। यहाँ कुछ विषयोंका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

ब्रह्म—आदिमें ब्रह्म अकेला ही था। ब्रह्म मूलतः एक तथा निराकार-निर्गुण था। बादमें उसने इच्छा की—'मैं बहुविध हो जाऊँ' '**एकोऽहं बहु स्याम्**' इस प्रकार मायाका उद्‌भव हुआ। उनकी इच्छाकी पूर्ति होनेपर ब्रह्माण्डकी निर्मिति

हुई। यह माया त्रिगुणात्मिका बनी और तदनुकूल बहुविध सृष्टि बनी। '**अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते**' गीतामें भगवान्‌ने यही तत्त्व स्पष्ट किया है।

ब्रह्म और माया—ब्रह्म और माया—इन दोनोंमें मूलभेद इस प्रकार है—ब्रह्म निर्गुण-निराकार, माया सगुण-साकार, ब्रह्म अनादि एवं निर्विकार है तथा माया विकारयुक्त है। ब्रह्म नामातीत होते हुए भी उसके अनेक नाम-रूप हैं, जैसे निजानन्द, अच्युत, अनन्त, नादरूप, ज्योतीरूप, चैतन्यरूप, सत्तारूप और साक्षीरूप आदि भी हैं।

मायाको दृश्य, सोपाधि, मिथ्या, परिमेय, विनाशी तथा सगुण बताया है और ब्रह्मको अदृश्य, निरुपाधि, सत्य, अपरिमेय, अविनाशी तथा निर्गुण। माया पाञ्चभौतिक है और ब्रह्म शाश्वत, माया असार है और ब्रह्म सार, माया क्षणिक है और ब्रह्म नैरन्तर्य। माया मूलतः ब्रह्ममें पूर्णतया अन्तःस्थ निर्गुण थी। ब्रह्मसे वह समुद्‌भूत होकर सगुण बनी। प्रथम वह आकाश बनी। आकाश यानी अवकाश, उसमें स्पन्दन हुआ, स्पन्दनसे वायु निर्मित हुआ, वायुमें घर्षण उत्पन्न हुआ और उससे अग्नि उत्पन्न हुआ, अग्निसे जल तथा जलसे सृष्टिका उद्‌भव हुआ। प्रत्येक सृष्ट पदार्थमें परमात्मा स्थित रहता है, इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

ईश्वरः **सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।**

सृष्टि—ब्रह्माण्ड उत्पन्न होनेके पूर्व मूलमें माया त्रिगुणात्मिका बनी थी। तमोगुणसे पञ्चमहाभूतोंकी निर्मिति हुई। जो जड और कठिन है वह पृथ्वीका रूप है तथा जो मृदु और प्रवाही है वह अप्‌तत्त्वका रूप है। जो उष्ण और प्रकाशी है वह तेजस्तत्त्वका रूप है तथा जिसमें चैतन्य और चाञ्चल्य है वह वायु-तत्त्वका रूप है। शून्यत्व आकाशतत्त्वका रूप है। ब्रह्माण्डके ऊपर मूलमें माया सूक्ष्म-रूप है। सृष्टिमें प्रथम जलचर निर्मित हुए, तत्पश्चात् खेचर (पक्षी) और तत्पश्चात् भूचर निर्मित हुए।

मनुष्यका देह चतुर्विध है—स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण। यह शरीर स्थूल है। मनुष्यकी वासना, कामना और कल्पना सूक्ष्मदेहकी है। बुद्धि कारण-देह है तथा महावाक्यका ज्ञान महाकारण देह है। महावाक्य यानी जीवात्मा परमात्माका अंश है, इस विषयपर चारों वेदोंकी मतैक्यता है—

***ऋग्वेद*—अहं ब्रह्माऽस्मि।**

***यजुर्वेद*—सोऽहम्।**

***सामवेद*—तत्त्वमसि।**

***अथर्ववेद*—प्रज्ञानं ब्रह्म।**

स्थूल देह जैसे पञ्चभूतात्मक है, वैसे ही सूक्ष्म देह भी पञ्चभूतात्मक है। इसको निम्नलिखित कोष्ठकमें स्पष्ट किया गया है—

आकाश	वायु	तेज	अप् (जल)	पृथ्वी
काम	चलन	क्षुधा	शुक्र	अस्थि
क्रोध	वलन	तृषा	शोणित	मांस
शोक	प्रसारण	आलस्य	लाला (लार)	त्वचा
मोह	निरोध	दीप्ति	मूत्र	नाडी
भय	आकुञ्चन	शुष्कता	स्वेद	रोम

नाथाचार्य गोरक्षनाथजीने अपने सिद्धसिद्धान्त-पद्धति नामक ग्रन्थमें सूक्ष्मदेहके तत्त्वोंका ऐसा ही विवरण किया है। वह ग्रन्थ गोरक्षोपनिषद् नामसे भी विश्रुत है।

दासबोधमें सिद्ध पुरुषके लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं—(१) स्वरूपानुसंधान, (२) अन्तर्बाह्य-समाधान, (३) दृढ़ अभ्यास, (४) षड्-रिपुओंके ऊपर विजय-प्राप्ति, (५) विश्वात्मक बुद्धि, (६) जीवन्मुक्तावस्था, (७) भूत-भविष्यज्ञान, (८) अन्तर्ज्ञान, (९) परचित्तज्ञान, (१०) अतिमानवत्व और (११) चमत्कार-कर्तृत्व।

मूल मायाके पर्याय-शब्द शिवशक्ति, जगदीश्वरी, प्रकृति, परमेश्वरी, गुणेश्वरी, गुणक्षोभिणी हैं। जब गुणेश्वरी गुणक्षोभिणी बन जाती है, तब वह त्रिगुणात्मिका महत्तत्त्वरूपिणी बुद्धि बन जाती है। अद्वैत-सिद्धान्तमें ब्रह्म सत्य, माया मिथ्या, ब्रह्म निर्गुण, माया सगुण कही गयी है। योगशास्त्रमें इस द्वन्द्वका नाम शिवशक्ति है। परमेश्वरको प्रकृति-पुरुष समझा गया है तथा दासबोधमें उसको अर्धनारी-नरेश्वर कहा गया है। ये दोनों एकत्र वास करते हैं और परस्पर भिन्न हैं, जैसे चन्द्र और चन्द्रिकामें भेद नहीं है, उसी प्रकार शिव और शक्ति—इन

दोनोंमें कुछ भेद नहीं है। योगशास्त्रका यह सिद्धान्त अद्वैत-सिद्धान्तसे भिन्न है। शक्ति ही ईश्वरी तथा परमेश्वरी है। योगशास्त्रमें शक्तिकी उपासनापर प्रबल बल दिया गया है।

मानव-मात्रके चार शरीर होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा महाकारण। मानव-शरीरकी चार अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न, निद्रा और तुरीया।

सूक्ष्मदेहके तत्त्व

पञ्चमहाभूत	आकाशका अन्तःकरण-पञ्चक	वायुका प्राणपञ्चक	तेजका ज्ञानेन्द्रिय-पञ्चक	अप् (जल) का कर्मेन्द्रिय-पञ्चक	पृथ्वीका विषय-पञ्चक
आकाश	अन्तर्भ्रमण प्रथम स्फुरण	व्यान सर्वांशमें	श्रवण	वाचा	शब्द
वायु	मनः-संकल्प	समान नाभिस्थान	त्वचा	हस्त	स्पर्श
तेज	बुद्धि निश्चयात्मिका	उदान कण्ठ	चक्षु	पाद	रूप
अप् (जल)	चित्त-चिन्तन	अपान गुदास्थान	जिह्वा	शिश्न	रस
पृथ्वी	अहंकार	प्राण मुख और मस्तक	घ्राण	गुदा मलोत्सर्ग	गंध

पिण्ड और ब्रह्माण्ड—जिस प्रकार जीवात्मा परमात्माका अंश है, उसी प्रकार पिण्ड ब्रह्माण्डका अतीव सूक्ष्म अंश है। ब्रह्माण्डमें जो कुछ विद्यमान है, वह अत्यन्त सूक्ष्मरूपमें पिण्डमें भी रहता है।

विवेक-वैराग्य—जो विवेकसे वैराग्यको ग्रहण करता है, उसकी संज्ञा विवेक-वैराग्य है। संसारमें रहकर जो परमार्थ करता है, वह विवेक-विरक्त—जीवन्मुक्त है। जो दृश्यको आभास और सूक्ष्मको सत्य समझता है, जो जड जगत्को आभास समझता है, जो उन्मनी-अवस्था पाता है, जो निजानन्दका अनुभव करता है, वह जीवन्मुक्त अनासक्त कर्मयोगी है। उसके प्रधान गुण ऋजुत्व, त्याग, युक्ताहार-विहार, वीतरागत्व आदि हैं। विवेकहीन मनुष्य पशु है। सत्कर्मका फल कभी-न-कभी मिल जाता है यह वह समझ चुका है। वह आत्मामें परम संतुष्ट होनेके कारण दूसरी किसी वस्तुकी वाञ्छा नहीं करता। श्रीमद्भगवद्गीतामें बार-बार इसी बातको कहा गया है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।

अजपाजप-मन्त्र—दासबोधमें अजपाजप-मन्त्रका निर्देश भी है। यह जप मुखसे नहीं केवल भावनासे—मनसे किया जाता है। यह श्वास-प्रश्वासरूप हंस गायत्रीका जप है। यह 'सोऽहं'की साधना है।

शक्तिपातयोग—सद्गुरु अपने शिष्यको केवल स्पर्शसे, दृक्से और मानससे अनुगृहीत कर सकता है और उनके अनुग्रहसे शिष्य गुरुके समान बन जाता है। अतः गुरुकी विलक्षण महिमा बतलायी गयी है।

समर्थ रामदास स्वामीके अनेक शिष्य थे। कल्याण स्वामी, उद्धव स्वामी, दत्तात्रेय स्वामी, वेण्णाबाई, अक्का बाई आदि। सब शिष्य प्रगल्भ और योगीजन थे। छत्रपति शिवाजी इनके परम अनुगृहीत शिष्य थे और इनके आशीर्वादसे तथा इनके निर्देशनमें रहकर ही उन्होंने भारतमें प्राचीन संस्कृति तथा

धर्मके पुनः स्थापनका प्रयत्न किया और मराठा-धार्मिक राज्यकी नींव डाली। इसमें समर्थ गुरुकी ही मूल प्रेरणा थी। उनके ज्ञान तथा योगकी बातें दासबोधमें संगृहीत हैं और उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टिसे तात्कालिक तथा भविष्यकी बातें भी देख ली थीं, जिनका उन्होंने दासबोधमें कलियुगके वर्णनमें अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है। पाठकोंको उनके अमृतमय उपदेशोंके स्वाध्याय एवं मननसे पूर्ण लाभ उठानेका प्रयत्न करना चाहिये।

मानसका भक्तियोग

(डॉ० श्रीमिथिलाप्रसादजी त्रिपाठी, वैष्णवभूषण, डी० लिट्०)

महात्मा तुलसीदासने अपने सम्पूर्ण साहित्यमें भगवत्प्राप्तिके मुख्य हेतुओंमें योग, ध्यान और तल्लीनताको ही प्रधान कारण माना है। ऐसे तो विनयपत्रिका, वैराग्यसंदीपनी, रामाज्ञाप्रश्न, कवितावली आदिमें भी योगपर प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है, पर मानसमें उन्होंने योगकी सुस्पष्ट महिमा वर्णित की है। वे कहते हैं कि संसारमें प्रायः सभी लोग मोहरूपी रात्रिमें सोकर मिथ्या स्वप्नोंमें ही भूले-भटके हैं और अपने जीवनको नष्ट करते हैं। केवल योगी जन ही प्रपञ्चसे अलग होकर केवल परमात्मामें लीन हो सच्चे आनन्दका अनुभव करते हैं और उनका ही जीवन अभिनन्दनीय है—

मोह निसाँ सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥
एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥

किंतु मोहरूपी रात्रिसे जागनेका उपाय क्या है? और योगियोंका योग क्या है? इस सम्बन्धमें वे स्पष्ट कहते हैं कि उपांशु या मानस मन्त्रके रूपमें अहंकार या राम-नामका जप ही उनका मुख्य साधन होता है—

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी॥

× × ×

सुक सनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनिबर बिग्यान बिसारद॥

भगवान् शङ्कर सच्चे एवं महान् योगेश्वर हैं, किंतु सभी शास्त्रोंके अनुसार उनका योगसार-सर्वस्व श्रीराम-नाम ही है। जैसे—

तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती॥

× × ×

नाम प्रसाद संभु अबिनासी। साजु अमंगल मंगल रासी॥

प्रायः ध्रुव, प्रह्लाद, शुक, सनकादि, नारद आदि योगियोंको सभी सिद्धियाँ रामनाम-रूप भक्तियोगके प्रसादसे प्राप्त थीं और वे राम-नामको ही योगसार-सर्वस्व मानते हैं; उनका कहना है कि इसी नामयोगका आश्रय न लेनेके कारण सबके हृदयमें स्थित परमात्मा स्थित रहनेपर भी सभी प्राणी दुःखी रहते हैं, किंतु नामका आश्रय लेकर यदि उन्हें वे बुलाते हैं या उनकी शरणमें जाते हैं तो वे साधकका सम्पूर्ण क्लेश दूर कर देते हैं—

ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी॥
अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥
नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥

(बाल० २२। ६—८)

वैसे ध्यान देनेपर मानसमें पद-पदपर योगकी महिमा ही गायी गयी है। वह चाहे कर्मयोग हो, चाहे ज्ञानयोग हो, चाहे भक्तियोग हो। प्रत्येक व्यक्तिको अपने कल्याणके लिये भगवत्प्राप्तिके इन साधनोंकी निष्ठापूर्वक उपासना करनी चाहिये; क्योंकि योग जीवको भगवान्‌से जोड़ देनेकी विद्या है। संसारमें आना एक संयोग है, यहाँ भौतिक वस्तुओंसे जुड़ना भी एक योग-विप्रयोग है, तो इन्हें छोड़कर सर्वशक्तिमान्‌से जुड़ना तो सुयोग ही है। संसारको भ्रम मानकर उसे भूलकर या छोड़कर भगवान्‌का हो जाना—उन्हें पा जाना ही भक्तियोग कहलाता है।

तुलसीदर्शन भक्तियोगका ही दार्शनिक विस्तार है। यों तो श्रीरामचरितमानसमें सर्वत्र ही परम पवित्र भक्तियोगका वर्णन हुआ है, किंतु यहाँ संक्षेपमें अरण्यकाण्डमें वर्णित भक्तियोगकी चर्चा की गयी है। मानसका अरण्यकाण्ड भगवान् श्रीरामका उदरभाग है, इसीमें ऋषि-मुनियों एवं शूर्पणखा, खर-दूषण आदिके प्रसंग भी हैं। शूर्पणखाके आनेके पूर्व तथा ऋषि-दर्शन-वन्दनके बाद प्रभुसे लक्ष्मणद्वारा पूछे गये प्रश्न भक्तियोगके उत्तरके लिये ही थे—

सुर नर मुनि सचराचर साईं। मैं पूछउँ निज प्रभुकी नाईं॥

मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरन रज सेवा॥
कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया॥
ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहहु समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥

श्रीलक्ष्मणजीने भगवान् श्रीरामजीसे ज्ञान-विराग (उपास्य-स्वरूप), भक्ति (फलस्वरूप), माया (विरोधस्वरूप), ईश्वर (परस्वरूप) और जीव (स्वस्वरूप) के विषयमें जिज्ञासा की, इन सभीका समाधान भगवान्‌ने भक्तियोगके रूपमें किया है।

प्रश्नमें ***'कहहु'*** और ***'समुझाइ कहहु'*** दो प्रकारसे पूछा गया है। ज्ञान और वैराग्यके लिये ***'कहहु'*** का प्रयोग हुआ है तथा ***'समुझाइ कहहु'*** के लिये दो बातें कही हैं— ***'सब तजि करौं चरन रज सेवा'*** को समझाकर कहने-हेतु पूछा गया है। ज्ञान एवं विरागकी बात पूछनेके ठीक बाद ही दूसरी बार ***'कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया।'*** पूछा गया है। अब ईश्वर-जीव-विषयक तथा भेद-विषयक बातें इसलिये समझानेको कहा, क्योंकि शोक, मोह और भ्रान्तिको दूर करनेके लिये ज्ञान और वैराग्यकी आवश्यकता है। बिना इनके दूर हुए भक्ति होना सम्भव नहीं।

'चरन रज सेवा', ***'कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया'*** और ***'जाते होइ चरन रति'*** यह तीनों बातें एक पक्षकी ही हैं। तुलसीने भक्तिके दो पक्ष बताये हैं—

कै तोहि लागहिं राम प्रिय कै तू प्रभु प्रिय होहि।
दुइ में रुचै जो सुगम सो कीबे तुलसी तोहि॥

(दोहावली ७८)

अर्थात् या तो (१) राम अपनेको प्यारे लगें अथवा (२) रामको हम प्रिय लगने लगें। यह दोनों भक्ति भक्तियोगसे ही सम्भव हैं। लक्ष्मणजीके प्रश्नमें दोनों बातें हैं। ***'चरन रज सेवा'*** और ***'जाते होइ चरन रति'*** दोनों अपनेको राम प्रिय लगें यह पक्ष है, परंतु ***'कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया'*** यह रामको प्रिय लगनेकी बात पूछी है। भगवान्‌ने उत्तरमें मायाका परिचय साधारण शब्दोंमें संक्षिप्तरूपसे दिया—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निजबल ताकें॥

'अहंकार' और तज्जन्य जागतिक सम्बन्ध ही माया है और इसीने समग्र जीवको वशमें कर रखा है। संसारमें द्वन्द्व उत्तम और मध्यम पुरुषमें ही रहता है। उत्तम पुरुषका अहंकार और मध्यम पुरुषका अहंकार ही साद्यन्त संसारमें व्याप्त है। यही 'अविद्या' है जो 'भव-कूप'में डाले रखती है, जनन-मरणके बन्धनमें पड़ी रहती है एवं अतिशय दुःखरूपिणी है। इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ जो भी जागतिक पदार्थ है सब माया ही है, यही विद्या है, क्योंकि सृष्टि यही करती है। त्रिगुण इसके वशीभूत है। यह माया भी प्रभुकी प्रेरणासे ही क्रिया-शक्तिरूपा होकर सिसृक्षा-प्रधान हो जाती है। यही 'उद्भव-स्थिति-संहारकारिणी' है। तुलसीने स्पष्ट शब्दोंमें लिख दिया है कि—

भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥

'ज्ञानवानहम्', **'ज्ञातो मया'** 'मैं ज्ञानवान् हूँ' अथवा 'मैं जानता हूँ' इस प्रकारका मान जहाँ नहीं होता है, सर्वत्र व्यापक ब्रह्मकी सत्ता जो स्वीकार करता है वही वैरागी है। वह सिद्धियों और त्रिगुणोत्पादिकाओंको तिनकेके समान त्याग देता है—

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥
कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥

माया क्या है? ईश्वर क्या है? स्वयं क्या है? यह न जाननेवाला ही जीव कहा जाता है तथा बन्धन और मोक्षको देनेवाला, मायाको प्रेरित करनेवाला तथा सबसे परे रहनेवाला ही ईश्वर कहलाता है।

धर्माचरणके सदसद्विवेकके दृढ़ हो जानेसे वैराग्य उत्पन्न होता है और योगाचरण ज्ञानकारक है। यह ज्ञान ही मोक्ष देता है। परंतु भक्ति वह है जिससे भगवान् द्रवित होते हैं। अर्थात् धर्माचरण, वैराग्य, योग और ज्ञान तथा मोक्षसे पृथक् भक्तिद्वारा भी ज्ञानादि मिलते हैं।

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥

× × ×

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥

भगवान्‌को द्रवित करनेवाली भक्ति ही है। यही भक्तको

सुखदायक होती है। यह स्वतन्त्र और अनन्याश्रित होती है, ज्ञान-विज्ञान इसीके अधीन रहते हैं। यह भक्ति तभी मिलती है जब संत-कृपा होती है। अनुकूल (प्रसन्न) हुए संतोंकी कृपासे अनुपम और सुखमूलक भक्ति मिल जाती है।

जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि अधीन ग्यान बिग्याना॥
भगति तात अनुपम सुख मूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥

यह भक्ति सरल साधनोंसे ही प्राप्त हो जाती है। प्रारम्भमें विप्रोंके चरणोंमें प्रीति करके श्रुतिके नियमोंके अनुसार स्वधर्माचरण करना चाहिये। इस प्रकार विषयोंसे वैराग्य हो जाता है। इसके अनन्तर ही भगवद्धर्ममें अनुराग पैदा होता है।

भगति कि साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥

भागवत-धर्मका आचरण करनेसे ही नवधा भक्ति दृढ़ हो जाती है और प्रभु-लीलामें रति बढ़ जाती है। श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धका दूसरा अध्याय भागवत-धर्मोंका ही निरूपण करता है। भक्त साधक प्रभुको ही सब कुछ सौंप देता है—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

यहाँ श्रीरामने कहा है कि भक्ति ही ऐसी है जिसके वे वशीभूत हो जाते हैं—

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥

प्रभुलीलामें रति होनेपर भक्त संत-चरणोंमें बहुत प्रेम करने लगता है। मन, वाणी और कर्मसे दृढ़ नियमपूर्वक भजन करने लगता है। मेरे गुणोंका गान करते हुए शरीरमें पुलक, रोमाञ्च होने लगता है। वाणी गद्गद हो जाती है, आँखोंसे अविरल अश्रुप्रवाह शुरू हो जाते हैं। कामादिक मद, दम्भ नष्ट हो जाते हैं, तब श्रीरामजीका निवास उसके हृदयमें हो जाता है।

संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। नाथ निरंतर बस मैं ताकें॥

भक्त सेवामें ही दृढ़ भावना रखता है, भगवान्‌को ही गुरु, पिता, माता, भाई, स्वामी सब कुछ मान लेता है। मनसा, वाचा, कर्मणा भगवान्‌को ही मानता है और निष्काम भजन करता रहता है, ऐसे भक्तोंके हृदयरूपी कमलमें ही श्रीरामका निवास होता है, यही भक्तियोग है।

योगद्वारा अन्तःकरणकी वृत्तियों और इन्द्रियोंको संयमित करके ज्योति या भगवत्स्वरूपका ध्यान किया जाता है, परंतु भक्तियोगमें निरन्तर भगवद्गुणोंका गायन-मनन, चिन्तन करनेसे सभी अन्तर्वृत्तियाँ भगवन्मय हो जाती हैं तथा अहर्निश भगवच्चिन्तन होता रहता है। संसारके सम्बन्ध भूलकर भक्त भगवन्मय हो जाता है और तभी भगवान् उसके हृदयमें निवास करने लगते हैं। यह भक्तियोग संसार-कूपमें पड़े हुए प्राणियोंके निकलनेका साधन है। इससे जीवकी सद्गति होती है। श्रीलक्ष्मणजीने संक्षेपमें जब यह भक्तियोग सुना तो वे प्रभुके चरणोंमें गिर पड़े और उन्होंने परमानन्द प्राप्त किया।

भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरननहि सिरु नावा॥

जीवके लिये भगवत्प्रेमावलम्बन ही यथार्थ योग है तथा भगवत्प्रेमकी प्रधानता ही यथार्थमें ज्ञान है, नहीं तो जहाँ भगवान्‌की भक्तिका प्राधान्य नहीं है, वहाँ योग कुयोग है एवं ज्ञान अज्ञान ही माना गया है। यथा—

जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम पेम परधानू॥

जब शान्त और सतोगुणी होकर चित्त आत्मामें लग जाता है, तब धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यकी प्राप्ति आप ही हो जाती है और जब वही शरीर तथा घर आदि मिथ्या पदार्थोंमें लगकर प्रबल रजोगुणी और विषयोंका अनुरागी बन जाता है तब अधर्म, अज्ञान, विषय-लोलुपता और अनैश्वर्यता छा जाती है।—श्रीमद्भागवत

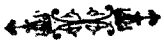

भारतके योग-सम्प्रदाय

(डॉ० श्रीशिवशङ्करजी अवस्थी)

योगरन्धितकर्माणो हृदि योगविभाविते।
योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोऽस्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा० ८।३।२७)

'योगके द्वारा कर्म, कर्म-वासना और कर्मफलको भस्म करके योगी लोग योगसे विशुद्ध अपने हृदयमें जिन योगेश्वर भगवान्‌का दर्शन करते हैं, उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ।'

१-संसारमें योगके आविर्भावका इतिहास

सृष्टिके आदिमें नारायण नामक हिरण्यगर्भ ब्रह्माने एक ही अव्यय योगका उपदेश सबसे पहले सनकादिकोंको, पश्चात् विवस्वान् (सूर्य) को दिया था। समाहित अन्तःकरण एवं व्युत्थित चित्तवाले दो प्रकारके अधिकारियोंके भेदसे यह योग, जिसका फल ब्रह्मप्राप्ति था, दो शाखाओंमें विभक्त हो गया। एक ब्रह्मयोग और दूसरा कर्मयोग। शुद्ध अन्तःकरण होनेसे ब्रह्मयोगपरायण सनकादि ऋषि निवृत्तिमार्गी हुए। यह परम्परा सनक, सनन्दन, सनातन, कपिल, आसुरि, वोढु और पञ्चशिख आदिको तथा नारद-शुकादिकोंकी थी। यह ब्रह्मयोग लोगोंके बीचमें सांख्ययोग, ज्ञानयोग, अध्यात्मयोग—इन अन्य नामोंसे प्रसिद्ध हुआ। यह सम्प्रदाय श्रमण-मार्गकी संज्ञासे भी जाना जाता था।

दूसरी परम्परा विवस्वान् (सूर्य) की है। विवस्वान्‌ने मनुको, मनुने इक्ष्वाकुको, इक्ष्वाकुने राजर्षियों एवं प्रजाओंको योगका उपदेश दिया (गीता ४।१—३)। इस परम्पराका उल्लेख छान्दोग्योपनिषद्‌में भी सुलभ है। यथा—

तद् ह एतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः। (८।१५।१)

इसपर शंकराचार्यने लिखा है—

ब्रह्मा हिरण्यगर्भो विराजे प्रजापतये उवाच। सोऽपि मनवे मनुरिक्ष्वाक्वादिभ्यः प्रजाभ्यः प्रोवाच।

इसके अतिरिक्त—

ब्रह्मा हिरण्यगर्भः परमेश्वरो वा तद्द्वारेण प्रजापतये कश्यपायोवाच। असावपि मनवे स्वपुत्राय। मनुः प्रजाभ्यः। (छान्दोग्योपनिषद् भाष्य ८।१५।१)

व्युत्थित अन्तःकरण होनेसे उस प्रकारके अधिकारी लोकशासन करनेवाले सृष्टिचक्रप्रवर्तनमें परायण, आहिताग्नि, राजर्षि मनु आदिकोंकी परम्परा कर्मयोगसे सम्बद्ध हुई।

अन्य कात्यायन[1], गौतम, गार्ग्य, आवट्यायन प्रभृति, जैगीषव्य[2], असित, देवल, केशिध्वज, खाण्डिक्य जनकादि अपर लोग, भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत, बाद्धलि, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर, पञ्चाधिकरण, पतञ्जलि, वार्षगण्य, कौण्डिन्य और मूकादि मुनि तथा इतर भृगु, वसिष्ठ, कराल-जनक, पराशर, याज्ञवल्क्यादि उस एक ही योगको जानकर गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए यथासमय शुद्धान्तःकरण होनेसे संन्यासी हुए।

२-एकमात्र अव्ययोगका स्वरूप

ब्रह्म अर्थात् अन्तर्यामीमें समस्त कर्मोंको समर्पित करके निरपेक्ष-भावसे भगवदर्थ कार्य करनेवाला व्यक्ति पाप और पुण्यसे वैसे ही लिप्त नहीं होता, जैसे कमलका पत्ता पानी पड़नेपर उससे लिप्त नहीं होता।

इस प्रकार जो लोग फलासंगरहित होकर केवल लोक-संग्रहके लिये कर्म करते हैं, वे कर्मयोगी हैं और प्रवृत्तिमार्गमें आरूढ़ हैं। दोनों मार्ग मोक्षको प्राप्त करानेवाले हैं।

३-साधनरूप अन्य योग

यह सनातन अव्ययोग सुलभ नहीं है। क्योंकि—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।

१-महाभारत, शान्तिपर्व।

२- एतानुत्पाद्य पुत्रांस्तु प्रजासंतानकारणात्। कश्यपः पुत्रकामस्तु चचार सुमहत्तपः॥
तस्यैवं तपतोऽत्यर्थं प्रादुर्भूतौ सुताविमौ। वत्सरश्चासितश्चैव तावुभौ ब्रह्मवादिनौ॥
असितस्यैकपर्णायां ब्रह्मिष्ठः समपद्यत। नाम्ना वै देवलः पुत्रो योगाचार्यो महातपाः॥
(कूर्मपुराण १९।१-२, ५)

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

(कठोपनिषद् २।१।१)

समस्त जन संसारमें स्वभावतः बहिर्मुख ही उत्पन्न होते हैं। उनमें कोई विरला योगी ही अमृतत्वकी कामनासे अन्तर्मुख होकर प्रत्यगात्माको देखता है। इसलिये उक्त योगके साधनभूत अन्य योग प्रचलित हुए। उनमें महामति पतञ्जलिद्वारा अनुशासित दर्शनमें अष्टाङ्गयोग, तपोयोग, स्वाध्याययोग और ईश्वर-प्रणिधानयोग अच्छी तरह उपदिष्ट हुआ है। तपसे हठयोग, स्वाध्यायसे मन्त्रयोग और ईश्वर-प्रणिधानसे भक्तियोग जाना जाता है।

व्यासभाष्यमें समाधिको योग कहा गया है। भोजवृत्तिमें भी लिखा है—'**योगो युक्तिः समाधानम्, युज समाधाविति।**' प्रस्तुत दर्शनके आधारपर 'योग' शब्द '**युज समाधौ**' धातुसे ही निष्पन्न होता है, '**युजिर् योगे**' से नहीं, ऐसा तत्त्ववैशारदीमें भी कहा गया है।

वियोगका तात्पर्य है—चितिशक्ति (पुरुष) का स्वरूपमें प्रतिष्ठित होना ही योगका फल है। स्वरूपको ढकनेवाले जो अविद्यादिक विकार हैं तथा उनका आधारभूत जो चित्त या व्यष्टि प्रकृति है, उसके प्रलीन हो जानेपर उसमें विद्यमान क्लेश-बीज दग्ध हो जाते हैं और वह सर्वकर्तृत्वाभिमानके निवृत्त हो जानेसे अपने कारण अव्यक्त या समष्टि प्रकृतिमें लीन हो जाती है। अथवा आत्मा या पुरुषके समान शुद्ध रूपमें वर्तमान होती है और तब उपचरित भोगोंके अभावसे शुद्ध होकर पुरुष, स्वरूपमात्र ज्योति अमल और केवली-व्यष्टि प्रकृतिसे वियुक्त हो जाता है। योगदर्शनमें कहा है—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्। (३।१।५५)

योग या समाधिके द्वारा चित्तसत्त्वका दग्ध-क्लेश-बीज होनेसे कर्तृत्वाभिमान निवृत्त होना ही उसकी शुद्धि है और पुरुष तो प्रकृत्या निःसङ्ग है, चित्तसत्त्वके सङ्गसे उसमें औपचारिक भोगोंका प्रादुर्भाव होता है। जब योगद्वारा सत्त्व शुद्ध हो जाता है तो औपचारिक भोगोंका पुरुषमें अभाव हो जाता है, यही पुरुषकी शुद्धि है। तब शुद्ध सत्त्व रहे या न रहे पुरुषके कैवल्यमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, यही पतञ्जलिका आशय है।

४-अस्पर्श-योग

गौडपादाचार्यने कहा है—

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥

(गौडपादकारिका ३।४९)

समस्त सम्बन्धोंके स्पर्शसे रहित होनेके कारण उपनिषदोंमें प्रतिपादित अस्पर्श-योग वेदान्तविहित विज्ञानसे रहित योगकर्मीकी वाणियोंको कठिनतासे प्राप्त होता है। भयसे वर्जित होनेपर भी इस योगको आत्मनाश-रूप माननेवाले अविवेकी इससे भयभीत होते हैं।

उक्त कारिकासे सूचित योग भी वियोग-रूप ही है। इसका स्वरूप वहीं इस प्रकारसे उपन्यस्त है—

सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः ॥

(गौ०कारिका, तृतीय प्रक० ३७)

वह सभी प्रकारके वागादि व्यवहारसे रहित, चिन्तनादि मनोव्यापारसे परे, अत्यन्त प्रशान्त, नित्य प्रकाशात्मक अचल और अभय समाधिरूप है।

सम्पूर्ण शब्द स्मृतिसे परे, समस्त विचारोंसे '**स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्**' इस गीतोक्त नीतिसे समग्र विषयोंसे वियुक्त हो जानेपर मनकी अमनीभाव दशामें प्रशान्त कल्लोलवाले सागरके सदृश निखिल अज्ञानरूप, अन्धकारको ध्वस्त करनेवाली प्रभासे भास्वर, सुषुम्ना नाड़ीमें प्राण और अपान प्रवाहके सम हो जानेपर स्वर्ण-स्तम्भके समान विद्यमान, निमेष और उन्मेषसे वर्जित, निर्वात-निष्कम्प दीपशिखाकार योगी जिससे अभय हो जाता है, वह समाधि अस्पर्श-योग है।

५-शब्दपूर्वयोग

यह योग व्याकरण-दर्शनमें प्रसिद्ध है। ओङ्कारका जप और तेजका ध्यान ही इसका आशय जान पड़ता है। वाक्यपदीय (व्याकरण-दर्शन) ब्रह्मकाण्डकी वृत्तिमें लिखा है—

इस लोकमें दो प्रकारके शब्द सुने जाते हैं। एक नित्य तथा दूसरा कार्यरूप अनित्य। जो शब्द सुना जाता है या उच्चरित होता है, वह लोक-व्यवहारके लिये प्रवृत्त वैखरी-रूप कार्यात्मक अनित्य है। पश्यन्ती-रूप शब्द ब्रह्मात्मक बिम्बके ही वर्ण, पद और वाक्य प्रतिबिम्ब हैं। पश्यन्तीरूप नित्य

शब्दात्मा समस्त साध्य-साधनात्मक पद और पदार्थ-भेद-रूप व्यवहारका उपादान कारण है। अकार-ककारादि क्रमका वहाँ उपसंहार हो जाता है। समस्त कर्मोंका आश्रय, सुख-दुःखका अधिष्ठान, सर्वगामी, घटके अंदर रखे हुए दीपकके प्रकाशकी भाँति भोगायतन शरीरमात्रका प्रकाशक समग्र वर्ण, पद और वाक्यात्मक मूर्तियों तथा पदार्थोंकी अक्षय प्रकृति पर्जन्य (मेघ) के सदृश दावाग्निके समान प्रसव (उत्पत्ति) और उच्छेदशक्तिसे युक्त, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिशाली महान् शब्दवृषभ (शब्दब्रह्म), उच्चारण करनेवाले जनोंके हृदयमें विद्यमान रहता है। वाग्योगवेत्तागण उसीके साथ सायुज्यकी कामना करते हैं। कहा भी है—

अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।
प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते॥

(वाक्यपदीय, ब्र० का० १२२, पुण्य सं०)

शब्द पूर्वयोगसे युक्त योगी जैसे लिपिके चिह्न अक्षरों—अकारादिकोंके निमित्त बनते हैं, वैसे ही जिस प्रकाशमें (अभिन्न दर्पण-रूप ब्रह्ममें) नित्य शब्दकी अभिव्यञ्जक तीनों वैखर्यादि वाणियोंको प्रतिबिम्बके समान देखता है—

यत्र वाचो निमित्तानि चिह्नानीवाक्षरस्मृतेः।
शब्दपूर्वेण योगेन भासन्ते प्रतिबिम्बवत्॥

(वा०प०ब्र०काण्ड)

यहीं क्रमसंहारयोगकी भी चर्चा आयी है, जो शब्द पूर्वयोगका साधक है। भर्तृहरि लिखते हैं—

शब्दस्वरूपके साथ अभेद समझनेवाला व्यक्ति क्रमसंहारद्वारा शब्दपूर्वयोगको उपलब्ध करता है। साधु शब्दोंके प्रयोगसे उसके अन्तःकरणमें पहलेसे ही धर्मविशेष अभिव्यक्त हो चुका है, ऐसा योगी शब्द-तत्त्व-स्वरूप महानात्माके साथ ऐक्यलाभ करता हुआ वैकरण्यको[1] प्राप्त करता है।

६-राजयोग

'**राजविद्या राजगुह्यम्**' इस गीतोक्त वचनसे इस योगकी सूचना मिलती है। पतञ्जलिके योगका नाम 'राजयोग' है। इसमें 'ध्यानयोग' ही मुख्य है, जिसमें जन्मान्तरमें सिद्ध साधकोंके लिये चित्तवृत्तियोंका निरोध एवं सामान्य साधकोंके लिये यम-नियम आदिसे स्पष्ट किया गया है। इस विषयपर इसी अङ्कमें अन्य स्थानोंपर विवेचन किया गया है।

७-हठयोग

'तप' शब्दके द्वारा पातञ्जलदर्शनमें 'हठ' शब्दकी सूचना मिलती है। इसके अतिरिक्त '**ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्**' (योग० २।५२)—इस सूत्रके भाष्य '**तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य**' के पञ्चशिखाचार्योक्त प्रमाणसे प्राणायाम ही परम तप है, यह जाना जाता है। हठयोगमें प्राणायाम ही आधारभूत है—

हठिनामधिकस्त्वेकः प्राणायामपरिश्रमः।
प्राणायामे मनः स्थैर्यं स तु कस्य न सम्मतः॥

और इस हठयोगके दो भेद हैं—(१) मार्कण्डेय हठयोग और (२) नाथपंथी हठयोग। इस हठयोग-विद्याके घेरण्डसंहिता, गोरक्षसंहिता आदि ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं, जिनके स्वाध्याय आदिसे एवं किसी योगीके सहयोगसे नेति, धौति, वस्ति, नौली, गजकरणी आदिकी साधना एवं अन्य यौगिक नियमोंके पालनसे योग-समाधि सिद्ध की जा सकती है।

८-लययोग

यह योग नादयोगके नामसे भी कहा जाता है। दक्षिण कर्णमें अनाहत नादको साधक सुनता है। अभ्यास करनेपर क्रमशः घण्टा-वादन, मेघ-गर्जन एवं ताल-वादन आदिके दस प्रकारके नाद सुनायी पड़ते हैं। अन्तिम नाद ओङ्कार है, उसीमें मनका लय करना चाहिये, तभी स्वरूपस्थिति प्राप्त होती है।

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय वैष्णवीम्।
शृणुयाद् दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा॥

(नादबिन्दूपनिषद्)

इन्द्रियाणां मनोनाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः॥

(हठयोगप्र० ४।२९)

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम्।
पश्चाद् विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत्॥

१-वैकरण्यके विषयमें 'पाशुपतसूत्र' नामक ग्रन्थमें सूत्र पठित है—'विकरणः' (२५)। कौण्डिन्यकृत पञ्चार्थभाष्यमें इसकी व्याख्या दी गयी है—'करणप्रतिषेधात् कार्यप्रतिषेधः कृतो भवति। कस्मात्? विशिष्टत्वात् ग्राहकत्वात् सूक्ष्मत्वाच्च कारणानाम्। तस्माद्विकरण इति कैवल्यम्।

कर्पूरमनले यद्वत् सैन्धवं सलिले यथा।
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते॥

(ह० प्र० ४। ८३,५९)

कुछ लोग इस योगको प्रस्तुत रूपमें समझते हैं— शरीरमें मेरुदण्डके नीचे मूलाधारके नामसे प्रसिद्ध एक कन्द है। बहत्तर हजार नाडियाँ उससे निकलकर सम्पूर्ण देहमें व्याप्त रहती हैं। उनमें इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना नामक तीन नाडियाँ मुख्य हैं। मेरुदण्डके वाम भागमें चन्द्ररूपिणी इडाका, दक्षिण भागमें सूर्यरूपिणी पिङ्गलाका और मध्य छिद्रमें सुषुम्नाका मार्ग है। भ्रूमध्यमें सङ्गम प्राप्त करके ये नाडियाँ सिरमें ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त जाती हैं। मूलाधारमें महाशक्ति कुलकुण्डलिनी सोती रहती है। ध्यान और जपसे उसे जगाकर सहस्रार-चक्रमें विराजमान परमेश्वरमें लीन करना ही लययोग या कुण्डलिनी-योग है।

लयक्रियासाधनेन सुप्ता सा कुलकुण्डली।
प्रबुद्ध्य तस्मिन् पुरुषे लीयते नात्र संशयः॥
शिवत्वमाप्नोति तया साहाय्यादस्य साधकः।

९-मन्त्रयोग और भक्तियोग

भगवन्नाम आदिका जप भगवच्चरित्र एवं भगवान्‌के द्वारा कहे गये गीता, उपनिषद् आदिका अध्ययन 'स्वाध्याय' शब्दसे निर्दिष्ट हुआ है। उक्त स्वाध्यायसे सभी प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। और भी कहा है—

नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात्।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः॥

(मन्त्रयोगसंहिता)

यह सृष्टि नाम-रूपात्मक है, अतः उसी नामका एवं भगवद्रूपका आलम्बन लेकर साधक बन्धनसे मुक्त होकर मुक्ति-लाभ करता है। पातञ्जलयोगदर्शनमें भक्तियोग ईश्वरप्रणिधानके नामसे कहा गया है। इससे शरणागतियोग अथवा प्रपत्तियोग लक्षित होता है।

फल न चाहते हुए कार्यरत रहना यही फल-संन्यासका तात्पर्य है। शरणागति या प्रपत्ति अनुरक्तिके बिना सम्भव नहीं।

१०-शिवयोग और पाशुपतयोग

इस सम्बन्धमें स्कन्दपुराण, शिवपुराण, लिङ्गपुराण, सर्वदर्शन-संग्रह आदि तथा काश्मीरी शैव-दर्शनके ग्रन्थोंमें निर्दिष्ट गम्भीर शिवात्मज्ञानके साधनों, शिवयोगीके चरित्रों, पाशुपत-सूत्र एवं नकुलीश पाशुपत-दर्शन एवं वेदान्तके श्रीकरभाष्य और श्रीकण्ठीय भाष्यका अध्ययन करना चाहिये।

इसी प्रकार जैन, बौद्ध, ईसाई, सूफी, पारसी, इस्लाम आदि धर्मोंमें भी योगके विविध स्वरूपोंपर विस्तारसे वर्णन मिलता है। इसी अङ्कमें विभिन्न स्थानोंपर कुछ योगोंपर निबन्ध प्रकाशित हैं। उन्हें वहीं देखकर समझनेका यत्न करना चाहिये।

भगवन्नाम और जपयोग

(डॉ० श्रीराकेशमणिजी त्रिपाठी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

शास्त्रोंमें प्रणवको एकाक्षर ब्रह्म कहा गया है। प्राणी जिन शब्दोंका उच्चारण करता है, वे उसी क्षण अपने विशिष्ट ध्वनि-संकेतोंको प्रवर्तित करते हुए तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं, किंतु वे ही यदि भगवान्‌के नाम या भगवान्‌की स्तुति आदिसे सम्पन्न हों तो उनका प्रभाव चिरस्थायी हो सकता है। मन्त्ररूपमें शब्दोंकी अद्भुत सामर्थ्य आज भी श्रद्धावान् साधकों, भक्तों आदिके द्वारा देखी जाती है। परंतु जीवनको धन्य तथा कल्याणकारी बनानेवाले शब्द वही हैं, जो जगन्नियन्ता श्रीहरिकी प्राप्तिमें सहायक हो सकें; क्योंकि मानव-जीवनका चरम एवं परम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति ही है। ऐसे शब्द भगवान्‌के दिव्य एवं पावन नाम हैं।

योग-विषयक ग्रन्थोंमें योगकी विविध परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं, जिनपर विचार करनेपर यही सिद्ध होता है कि जिस साधनाके द्वारा जीव अपना सम्बन्ध ईश्वरसे स्थापित कर उन्हें प्राप्त करता है, वही योग है। शास्त्रोंके अनुसार योगकी सार्थकता यही है कि काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर— इन षड्रिपुओंपर विजय प्राप्त कर ली जाय अथवा पाँचों इन्द्रिय और मन— ये छः वशमें हो जायँ। ऐसा होनेपर भी यदि उन नियमोंके द्वारा भगवान्‌के ध्यान-चिन्तन आदिकी प्राप्ति नहीं होती तो वह योग केवल परिश्रममात्र ही सिद्ध हुआ—

षड्वर्गसंयमैकान्ताः सर्वा नियमचोदनाः ।
तदन्ता यदि नो योगानावहेयुः श्रमावहाः ॥

(श्रीमद्भा० ७ । १५ । २८)

संतोंकी दृष्टिमें सभी दोषोंका उन्मूलन कर तत्काल भगवदुन्मुख करनेवाला भगवत्प्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ साधन भगवन्नाम है। यह समस्त योग-साधनाओंका सारतत्त्व है। इसका जप सभी प्रकारसे कल्याण करनेवाला है।

अग्निपुराणमें जपकी परिभाषा देते हुए कहा गया है कि जपमें 'ज' अक्षर जन्मविच्छेदक तथा 'प' अक्षर पापनाशक है। तात्पर्य यह कि जप करनेसे पापोंका नाश होता है तथा पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता—

जकारो जन्मविच्छेदः पकारः पापनाशकः ।
तस्माज्जप इति प्रोक्तो जन्मपापविनाशकः ॥

नित्य जपनीय एक सर्वशक्तिमान् सर्वनियन्ता ईश्वर ही कल्पनानुरूप अनेक देव-रूपोंमें व्याप्त दिखायी पड़ते हैं। **'सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति'** (ऋग्वेद १० । ११४ । ५), **'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'** (ऋग्वेद ६ । ४७ । १८) एवं **'स वरुणः ···· मध्यतो दिवम्'** (अथर्ववेद १३ । ३ । १३) आदिके अनुसार वह अद्वितीय तत्त्व, सत्य पदार्थ एक ही है। निरुक्त दैवतकाण्ड (यास्क) के अनुसार इस जगत्के मूलमें एक महत्त्वशालिनी शक्ति विद्यमान है, जो निरतिशय ऐश्वर्यशालिनी होनेसे ईश्वर कहलाती है, उसी एक देवता (दिव्यतत्त्व) की बहुत रूपोंमें स्तुति की जाती है—

महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते ।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ।

(७ । ४ । ८-९)

परंतु भगवती श्रुतिके अनुसार ईश्वरके विविध नामों, रूपोंका पर्यवसान 'ॐ' में है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपाँसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥

(कठोपनिषद् २ । १५)

अर्थात् सभी वेद जिस पदका मनन करते हैं, सभी तपस्वी जिसकी चर्चा करते हैं, जिसकी इच्छासे ही ब्रह्मचर्यादि व्रतोंका पालन किया करते हैं, उस पदको मैं तुमसे संक्षेपमें कहता हूँ—वह 'ॐ' है। इस ॐके जपका निर्देश योगाचार्य महर्षि पतञ्जलि भी अपने 'योगदर्शन' के **'तस्य वाचकः प्रणवः** (१ । २७) एवं **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** आदि सूत्रोंसे निर्दिष्ट करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार जो पुरुष 'ॐ' ऐसे इस एक अक्षररूप ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थ-स्वरूप परमात्माका चिन्तन करता हुआ—शरीरको त्यागकर परलोक जाता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

(८ । १३)

'ॐ' साक्षात् परमात्माका ही स्वरूप है। भगवान् श्रीकृष्णने गीता (१० । २५) में **'गिरामस्म्येकमक्षरम्'** कहकर इसे सुस्पष्ट किया है। इसी जपयोगकी महत्ताको **'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'** से निर्दिष्ट करते हुए वे उसे अपनी विभूति बतलाते हैं। इस 'ॐ'के जपयोगकी साधनाका विवेचन प्रायः सभी उपनिषदों एवं अन्य आध्यात्मिक योगसाधनात्मक ग्रन्थोंमें किया गया है। मुण्डकोपनिषद्में कहा गया है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

(२ । २ । ४)

अर्थात् प्रणवको धनुष एवं आत्माको तीर बनाकर ब्रह्मरूपी लक्ष्यको प्रमादरहित होकर वेधना चाहिये। जिस प्रकार तीर अपने लक्ष्यके साथ तन्मय हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी ब्रह्मके साथ तन्मय हो जाता है। इस प्रकार पूर्ण तन्मयतापूर्वक किया जानेवाला प्रणवका जपयोग साधकको ईश्वर-सांनिध्य प्रदान करनेवाला है।

जपयोगकी साधनाके लिये योग-ग्रन्थोंमें अनेक विशिष्ट विधान बतलाये गये हैं। परंतु आजकल जप-विधिका पालन करना अशक्य-सा है, इसलिये हरि-नाम—भगवन्नाम-जप करना विशेष सुगम और कल्याणकारी है, क्योंकि इसके लिये किसी विशिष्ट विधानकी आवश्यकता नहीं बतलायी गयी है।

यह मानसिक, वाचिक, उपांशु[1] किसी भी रूपमें किये जानेपर भगवत्प्राप्तिमें सहायक हो जाता है। इस नानाविध आधि-व्याधि-संकुल कलिकालमें हरिनाम-जपके अतिरिक्त संसार-सागरसे पार होनेका अन्य कोई साधन नहीं है। भगवान् वेदव्यास कहते हैं—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(बृ० ना० पु० ३८। १२७)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजके विचारमें अच्छे भावसे, बुरे भावसे, क्रोध अथवा आलस्यसे किसी भी प्रकार भगवन्नामका जप करनेसे व्यक्तिको दसों दिशाओंमें कल्याण-ही-कल्याण प्राप्त होता है। यह कल्पवृक्षस्वरूप भगवन्नाम स्मरण करनेसे ही संसारके सब जंजालोंको नष्ट कर देनेवाला है। यह कलिकालमें मनोवाञ्छित फलोंको देनेवाला, परलोकका परम हितैषी एवं इस संसारमें व्यक्तिका माता-पिताके समान सब प्रकारसे पालन एवं रक्षण करनेवाला है—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

(मानस १। २८। १)

तथा—

नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥
राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता॥

(मानस १। २७। ५-६)

इस भगवन्नाम-जपयोगके आध्यात्मिक एवं लौकिक पक्षका सुन्दर समन्वय करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि ब्रह्माजीके बनाये हुए इस प्रपञ्चात्मक दृश्यजगत्‌से भलीभाँति छूटे हुए वैराग्यवान् मुक्त योगी पुरुष इस नामको ही जीभसे जपते हुए तत्त्वज्ञानरूप दिनमें जागते हैं। और नाम तथा रूपसे रहित अनुपम, अनिर्वचनीय, अनामय ब्रह्मसुखका अनुभव करते हैं। जो परमात्माके गूढ़ रहस्यको जानना चाहते हैं, वे भगवन्नामका जिह्वाद्वारा जप करके उसे जान लेते हैं। लौकिक सिद्धियोंके आकाङ्क्षी साधक लययोगद्वारा भगवन्नाम जपकर अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त कर सिद्ध हो जाया करते हैं। इसी प्रकार जब संकटसे घबराये हुए आर्तभक्त नामजप करते हैं तो उनके बड़े-बड़े संकट मिट जाते हैं और वे सुखी हो जाते हैं—

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी॥
ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा॥
जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीहँ जपि जानहि तेऊ॥
साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥
जपहिं नाम जनु आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥

(मानस १। २२। १-५)

इस भगवन्नाम-जपकी महिमा अनन्त है। इस जपके प्रसादसे शिवजी अविनाशी हैं एवं अमङ्गल वेशवाले होनेपर भी मङ्गलकी राशि हैं। परम योगी शुकदेवजी, सनकादि सिद्धगण, मुनिजन एवं समस्त योगिजन इस दिव्य नाम-जपके प्रसादसे ही ब्रह्मानन्दका भोग करते हैं। भक्तशिरोमणि श्रीनारदजी, भक्त प्रह्लाद, ध्रुव, अम्बरीष, परम भागवत श्रीहनुमान्‌जी, अजामिल, गणिका, गीध, केवट, भीलनी शबरी—सभीने इस भगवन्नामजपके द्वारा भगवत्प्राप्ति की है। मध्यकालीन भक्त एवं संत-कवि सूर, तुलसी, कबीर, दादू, नानक, रैदास, पीपा, सुन्दरदास, मीराबाई, सहजोबाई आदि संतोंने इसी जपयोगकी साधना करके सम्पूर्ण संसारको विश्वकल्याणका संदेश दिया है। सच ही है—जिस भगवन्नामका मात्र उलटा जप करनेसे क्रूरकर्मा दस्यु रत्नाकर महर्षि वाल्मीकि बन सकते हैं, उस हितकारी एवं परमात्म-प्राप्तिमें सहायक भगवन्नामका आश्रय ग्रहण करना सभीके लिये परम कल्याणकारी है।

१-मनुस्मृति (२। ८५) के अनुसार विधियज्ञकी अपेक्षा वाचिक जपका प्रभाव दस गुना, उपांशु-जपका सौ गुना एवं मानसिक जपका प्रभाव हजार गुना होता है— विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः। उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

स्पष्ट उच्चारणपूर्वक किया जानेवाला जप वाचिक, जिसे समीपस्थ व्यक्ति भी न सुन सके केवल होठ ही हिलते हों वह उपांशु एवं जिसको मनमें जपा जाय वह मानसिक जप कहलाता है।

व्याकरणमें योग

(आचार्य पं० श्रीआद्याचरणजी झा)

महर्षि पाणिनिके धातुपाठमें तीन 'युज' धातु हैं। दिवादिगणके 'युज' धातुका अर्थ 'समाधि', रुधादिगणके 'युज' धातुका अर्थ 'संयोग' तथा चुरादिगणके 'युज' धातुका अर्थ 'संयमन' है।

उपर्युक्त तीनों 'युज' धातुका अर्थ साक्षात् तथा परम्परया 'समाधि'—मनःसंयोग या मनोनिरोध है। **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'**—यह भगवान् पतञ्जलिके सूत्रमें समाधि-अर्थमें अन्तर्निहित है। रुधादिगणस्थ 'युज' धातुका संयोग-अर्थ श्रीमद्भगवद्गीताके **'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्'** से सिद्ध है।

योगके अनेक अङ्ग हैं, किंतु पतञ्जलिके अनुसार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ अङ्ग प्रमुख हैं तथा सभी प्रकारके योगों—कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, हठयोग आदिमें इनका उपयोग होता है।

भगवान् पतञ्जलिका व्याकरण महाभाष्यद्वारा प्रतिपादित नियम ही व्याकरणशास्त्रीय चरम सिद्धान्त माना गया है। वे ही पतञ्जलि अपने 'पातञ्जल योगदर्शन' में **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** को योग शब्दका सारभूत अर्थ बतलाते हैं। चित्तवृत्तिको कर्ममें, भक्तिमें, ज्ञानमें, चिन्तनमें, प्राणायाममें, पठन-पाठनमें, हठमें, ईश्वर-चिन्तनमें जहाँ-कहीं भी एकाग्रतासे संलग्न किया जाता है, उसे कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि कहते हैं। योगवित्, योगवित्तम, अन्वययोग, व्यतिरेकयोग, राजयोग, मोक्षसंन्यास-योग शब्द भी इसी योगसे निर्मित हैं।

यह 'योग' ईश्वर, जीव और प्रकृतिकी पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार करता है। वेदमें ईश्वरको **'वाचि व्याहृतायाम्'** (यजुर्वेद ८। ५४) कहा गया है। इस तरह ईश्वररूपी वाच्यके वाचक **'भूर्भुवः स्वः'** हैं। यहाँ **'भू सत्तायाम्'** धातुसे भूः अर्थात् सत् **'भुवः अवचिन्तने'** धातुसे 'भुवः' अर्थात् 'चित्' तथा 'स्वः' अर्थात् आनन्द—इस तरह यह व्यवहार-त्रितय 'भूर्भुवः स्वः' सच्चिदानन्द है, यही गूढ़ रहस्य है।

व्याकरणशास्त्रका गूढ़तम तत्त्व 'स्फोट' शब्द है, जिसे मध्यमा नादव्यङ्ग्य कहते हैं। अर्थकी स्फुट—स्पष्ट प्रतीति वहीं होती है, वहीं 'स्फोट' वैखरी-ध्वनिमें सर्वजनसंवेद्य हो जाता है। परा, पश्यन्ती—ये दोनों वाक् तो योगियोंके द्वारा ही गम्य हैं। वहाँतक पहुँचनेके लिये भी एकमात्र योग ही साधन है।

चार प्रकारकी वाणीका वर्णन वेदोंमें भी आया है। वह मन्त्र इस प्रकार है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

(ऋग्वेद १। १६४। ४५)

आचार्य सायणने इस मन्त्रके वेदपरक, यज्ञपरक, व्याकरणपरक, पशु-पक्षी एवं सर्पादिके वाणीपरक अर्थ करनेके बाद योग एवं कुण्डलिनीपरक अर्थ भी किये हैं, जिसका संक्षिप्त भाव इस प्रकार है—

'चत्वारि वाक्' इस पदकी व्याख्या करते हुए आचार्य सायण कहते हैं कि मान्त्रिक लोग वाणीको परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—इन चार सूक्ष्म भागोंमें विभक्त करते हैं यद्यपि मूलतः यह वाक् एक ही है। इनमें आकाशस्वरूपिणी परा वाणी वह है जो अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे मूलाधारसे उठकर नाद-रूपसे नाभितक व्याप्त रहती है और यह मूल परा वाणी नादरूप होनेसे तथा अत्यन्त सूक्ष्मरूप होनेसे दुर्निरूपिणी कही गयी है अर्थात् इसका किसी प्रकार वर्णन नहीं हो सकता है। पर यही वाणी नाभिसे उठकर हृदयकी ओर चलती है तो योगियोंके द्वारा दृष्ट होती है अर्थात् अनुमित होने लगती है, अतः पश्यन्ती कही जाती है। फिर वह बुद्धि-रूपमें व्याप्त होकर 'अब मैं इसे इस प्रकार कहूँगा'—ऐसा सोचे जानेके कारण मध्यम स्थिति एवं मध्यम स्थानमें आकर मध्यमा नामसे व्यवहृत होती है। चूँकि मध्य हृदयमें यह प्रकट होती है, इसलिये भी इसका नाम मध्यमा है। इससे ऊपर उठकर जब वही वाणी बाहर कण्ठ, तालु और ओष्ठ आदिके द्वारा सुस्पष्ट-रूपसे उच्चरित होती है तो वैखरी नामसे अभिव्यक्त होती है। इन वाणियोंके सूक्ष्मतम रहस्यको योगीजन ही जानते हैं। भगवान्‌ने गीतामें भी इसी बातको कहा है—

'यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।'

(१५। ११)

व्याकरण, आगम तथा सभी दर्शन शास्त्रोंके भी मूलभूत ये चारों प्रकारके वाक् 'कुण्डलिनी-तत्त्व'के आधारपर ही आधृत हैं। शास्त्रका वचन है—

'मूलाधारात् कुण्डलिनीमुत्थाय सुषुम्नामार्गेण हृदयस्थजीवात्मना सह संयोज्य कण्ठदेशेन मस्तकान्तःस्थिते सहस्रारकमले परमशिवे (परब्रह्मणि) संयोजयेत्, तदैवामृतक्षरणं जायते।' (तन्त्रसार)

इसका भाव है कि कुण्डलिनीको मूलाधारसे उठाकर सुषुम्नाके मार्गसे ले जाते हुए हृदयस्थ आत्माके साथ संयुक्त कर कण्ठदेशसे होते हुए शिरोभागमें स्थित सहस्रारकमलमें परमशिव परमात्मा (जो व्याकरणका शब्दब्रह्म अर्थात् ओंकार है)-से जोड़ दे, उसी समय अमृतका क्षरण होता है। इससे साधकको अमरत्व प्राप्त होता है और परा वाणीका रहस्य भी अवगत हो जाता है।

'योग' जीवनका एक नया अर्थ

(डॉ० श्रीराजेन्द्ररंजनजी चतुर्वेदी, डी० लिट्०)

मनुष्यके रूपमें प्रकृतिके क्रम-विकासकी अभिव्यक्ति होती है। जडतत्त्वसे प्राण और फिर प्राणसे मन और मनसे परे विज्ञान और फिर सच्चिदानन्दकी पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। योग उस दिशामें मानवताको ले जानेवाला एक प्रशस्त मार्ग है। योगमार्ग इतिहासकी बीती हुई बात नहीं है, वह उससे अधिक भविष्यकालकी बात है। विश्वके अनेक देशोंमें भारतके योगका संदेश पहुँचा है तो उन देशोंमें योगके प्रति अभूतपूर्व आकर्षण पैदा हुआ है। अवश्य ही योग-साधना वैयक्तिक है, परंतु उसका परिणाम सार्वजनिक होगा; क्योंकि मनुष्यके पूर्ण विकासका यह मार्ग मनोमय मनुष्यको अतिमानसिक या आध्यात्मिक मनुष्यतक उठानेका मार्ग है। महर्षि अरविन्दके शब्दोंमें कहें तो 'योग'का उद्देश्य है पृथ्वीपर अतिमानसिक चेतनाको उतार लाना, उसे यहाँ स्थापित करना, अतिमानसिक चेतनाकी सहायतासे व्यक्ति और समष्टिके आन्तरिक और बाह्य जीवनको व्यवस्थित—शासित करके एक नवीन जातिकी सृष्टि करना। निश्चित ही मनुष्यका यह स्वरूप चेतनाके स्तरपर अधिक विकसित होगा।

पूर्ण विकसित चेतना विद्यमान तो पहलेसे ही है, किंतु सामान्यतया अविकसित मन उच्चतर मानसकी चेतनाकी उपस्थितिका अनुभव नहीं कर सकता। जो ज्ञानी, तत्त्वदर्शी, भक्त, योगी और साधक हुए हैं, उन्होंने उसकी अनुभूति की थी और हम उसी अनुभूतिका सूत्र पकड़कर योगमार्गपर आगे बढ़ सकते हैं। उन तत्त्वदर्शियोंकी आध्यात्मिक अनुभूति जीवनका सत्य है और जो जीवन हमारे चारों ओर बिखरा हुआ है, उसके पीछे वह अन्तःसलिला गङ्गाकी तरह विद्यमान है। वह अनुभूति आत्मान्वेषण तथा विश्वान्वेषणका एक उच्चतम क्षेत्र है। यह अनुभूति केवल एक शक्तिका बोधमात्र नहीं है, अपितु उस शक्तिको—आन्तरिक शक्तिको ग्रहण करना है जो मनको बदल सकती है, उसकी शक्तियोंको विकसित कर सकती है, मनुष्य-स्वभावको बदल सकती है तथा शारीरिक क्रियाओंपर नियन्त्रण कर सकती है।

चेतनाकी इस शक्तिकी सही पहचानके लिये 'यूरोपीय मनोविज्ञान'का मार्ग पर्याप्त और सर्वथा परिपूर्ण नहीं है। योगके द्वारा मनकी विविध क्रियाओं, अवस्थाओं, स्तरों और विस्तारको अधिक स्पष्टरूपमें जाना-समझा जा सकता है। मनुष्यकी चेतनाका आज जो विकसित रूप है, चेतनाका विस्तार उससे आगे और बहुत आगे भी है, यह बात हमें योग बतलाता है। अतिमानसिक शक्ति हमारे मन, प्राण और शरीरको रूपान्तरित कर सकती है। अतिमानस सच्चिदानन्दकी आत्मज्ञान और विश्वज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति है। आत्म और विश्वके बीच जो सीधा प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, योगसे उस सम्बन्धको प्रत्यक्ष करना सम्भव है।

माण्डूक्य उपनिषद्में जिसे विश्व, तैजस और प्राज्ञ कहा है, वह बाह्य चेतना, आन्तरिक चेतना और अति चेतना है। मनुष्यकी सामान्य चेतनामें केवल बाह्य ही जागरित है, आन्तरिक सत्ताका धुँधला-सा बोध स्वप्नोंमें होता है। उपनिषदोंमें मन, प्राण और अन्न; सूक्ष्म, स्थूल और कारण तथा जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्तिका विवेचन करते हुए आन्तरिक सत्ताका जो उद्घाटन किया है, यूरोपीय मनोवैज्ञानिक 'परामनोविज्ञान'-जैसी विधाके द्वारा वहाँ पहुँचनेका प्रयास कर

रहे हैं। भारतीय योगने तो विश्व, विश्वात्मा और विश्वप्रकृतिकी चेतनाको आत्म-चेतनासे सम्बद्ध देख लिया था। चेतनाका वह स्तर जो भौतिक रूपसे अपना प्रभाव प्रकट करता है, जो विचारको प्रेरित कर सकता है, वह विराट् चेतना जहाँ शरीर बहुत छोटी, आश्रित और अन्तर्विष्ट वस्तु होती है, 'योग' चेतनाकी उसी विराट् अनुभूतिकी खोज करता है तथा मानवजातिका गुणात्मक परिवर्तन भी कर सकता है, इसमें संदेह नहीं। भौतिक विज्ञानके विकासको योग-चेतनाके नियन्त्रणमें होना चाहिये, यह विश्व-कल्याणका मार्ग है और यही जीवनका नया अर्थ है।

भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम्

(म० म० डॉ० श्रीभागीरथप्रसादजी त्रिपाठी, 'वागीश शास्त्री')

यह संसार दो तत्त्वोंसे निर्मित है—जड तथा चेतन, असत् एवं सत्, अज्ञान और ज्ञान अथवा स्थूल और सूक्ष्म। आद्य शंकराचार्य ब्रह्मसूत्रके शांकर-भाष्यमें प्रतिपादित करते हैं—**'सत्यानृते मिथुनीकृत्य नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः'**—सत्य और असत्य परस्पर मिलकर संसारके स्वाभाविक व्यवहारका निर्वाह करते हैं।

जो वस्तु उत्पन्न होकर अस्तित्व रखती है, उसमें परिवर्तन या परिणाम अवश्य होता है। परिवर्तन होनेके कारण ही किसी व्यक्ति या पदार्थमें वृद्धि तथा विकास होता है; किंतु किसी पदार्थमें होनेवाली यह वृद्धि एक निश्चित बिन्दुतक जाकर रुक जाती है और उसमें वहींसे क्षीणता प्रारम्भ होने लगती है। जब यह क्षीणता अपनी पराकाष्ठापर पहुँच जाती है, तब उस वस्तु या व्यक्तिका अभाव हो जाता है। इसी अभावको व्यावहारिक भाषामें विनाश कहते हैं। परिवर्तन आदि उक्त विकारोंको षड्भाव-विकार कहते हैं। ये जड, असत् अथवा स्थूल पदार्थोंमें होते हैं। यह संसार (ब्रह्माण्ड) तथा प्रत्येक प्राणीका शरीर (पिण्ड) जड, असत् अथवा स्थूल होनेके कारण परिवर्तनशील (उत्पत्ति-विनाशशील) अथवा विकारयुक्त है।

यह सम्पूर्ण जगत् (ब्रह्माण्ड) तथा प्राणिजगत् (पिण्ड) जो जड होनेपर भी स्पन्दनशील और गतिशील दृष्टिगोचर हो रहा है, इसका कारण है असीमित चेतन-तत्त्वकी संनिधिका प्रभाव। उस परम चेतन-तत्त्वने इस ब्रह्माण्डकी रचना की और फिर उसके अंदर प्रविष्ट हो गया। अतः उस परम चेतन-तत्त्वसे प्रेरित होकर ही इस जड-तत्त्वमें स्पन्दन होता है और स्पन्दनक्रिया होनेके कारण ही उक्त छः क्रियाविकार होते हैं।

लोहेके कणोंको चुम्बकके सामने ले जाइये। उनमें हलचल मच जायगी। उन लौहकणोंमें हलचल थी नहीं, फिर आ कहाँसे गयी? किंतु ज्यों ही आप उन लौहकणोंको चुम्बककी शक्तिसीमासे परे हटा लेते हैं, पुनः वे निःस्पन्द हो जाते हैं। आप पुनः उन्हें चुम्बककी शक्तिसीमाकी परिधिमें रख देते हैं, तो या तो वे नर्तन करने लगते हैं या फिर उसमें आत्मसात् होना चाहते हैं।

असीमित शक्ति अथवा चेतन-तत्त्वके आगार उस परमतत्त्वकी शक्तिसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जिस प्रकार आकृष्ट है, बँधा है और नर्तन कर रहा है, स्पन्दित हो रहा है उसी प्रकार पिण्ड भी उस परम तत्त्वकी प्रतिनिधि शक्तिके कारण स्फुरित हो रहा है। उत्पत्ति, सत्ता, परिणाम, वृद्धि, क्षीणता तथा विनाशकी अवधि ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनोंकी निश्चित है। ब्रह्माण्डकी यह अवधि पिण्डकी अपेक्षा अधिक लम्बी है। इसलिये ये पिण्ड अन्य पिण्डोंके प्रतिदिन होनेवाले विलयनोंकी भाँति ब्रह्माण्डोंका विलयन नहीं देख पाते हैं। पर उनकी भी आयु-सीमा निश्चित है। वहाँ वह बिन्दु है, जहाँसे क्षरण या क्षीणता प्रारम्भ होती है और अन्तमें शक्ति समाप्त हो जानेके कारण इनको निःस्पन्द हो जाना है। यह जड-तत्त्व केवल उपकरण है चेतन-तत्त्वका। वह चेतन-तत्त्व ही सत् (अपरिवर्तनशील) चित्—चेतनाशील तथा आनन्दमय है।

इस जड या स्थूल तत्त्वको प्रकृति तथा चेतन-तत्त्वको पुरुष भी कहते हैं। प्रकृतिमें विकृति होती है। वह पुरुषको रिझानेके लिये स्पन्दनशील होती रहती है। पर अन्तमें उसमें समाहित होनेपर वह परा प्रकृतिमें अवस्थित हो जाती है।

अव्यक्तसे व्यक्त—इस परा प्रकृतिको 'अव्यक्त' कहते हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके रूपमें व्यक्त होनेपर यह अव्यक्त प्रकृति त्रिगुणात्मिका (व्यक्त) बन जाती है। वस्तुतः इसी त्रिगुणात्मिका शक्तिका नाम प्रकृति है, क्योंकि विकृति

इसीमें होनी है, 'अव्यक्त' में नहीं। यह 'अव्यक्त' प्रकृति उस परम शक्तिशाली सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म परम चेतनके सहकारसे स्पन्दित होती है और त्रिगुणात्मक होकर हमारी अनुभूतिमें आनेवाले सूक्ष्मतम तत्त्व आकाशको उत्पन्न करती है। पुनः आकाशसे वायु, वायुसे तेजोमय अग्नि और अग्निसे रसयुक्त जल और जलसे गन्धादियुक्त पृथ्वीकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह संसार अव्यक्त या शून्यसे उत्पन्न हुआ है। इसकी विपरीत क्रियासे पृथ्वी वृष्टि आदिसे जलमय और फिर सूर्यकी किरणोंसे जल सूखकर केवल तेजोमय हो जाता है और वह तेज पुनः वायु बनकर और आधार न पाकर धीरे-धीरे आकाशका रूप धारण कर लेता है। आकाश शब्द-गुणसे शून्य होकर अव्यक्त या मूल प्रकृतिमें लीन हो जाता है। इसे ही सर्ग या प्रतिसर्ग, उद्भव या आप्यय अथवा सृष्टि एवं प्रलय संज्ञासे अभिहित किया गया है।

जीवात्माकी व्यग्रता—उस परम चेतनके प्रतिनिधि चेतन आत्माकी संनिधिके कारण पिण्ड प्रकृति (शरीर) उस प्रकार स्पन्दित है, जिस प्रकार परमचेतनके कारण ब्रह्माण्ड स्पन्दित है। यह प्रतिनिधि चेतन आत्मा यद्यपि सत्-चित्-आनन्दमय है तथापि प्रकृतिके प्रतिनिधिभूत देहका आश्रय लेनेके कारण, प्रकृतिके विकृतिमय चौबीस तत्त्वोंसे घिरा रहनेसे प्रकृतिकी विकृतियोंको अपनेमें प्रतिबिम्बित पाकर अपनेको स्वयं विकारोंसे युक्त समझने लगता है। इस प्रकार जब उसका आनन्दमय स्वरूप बाधित होने लगता है, तब उसकी व्याकुलता बढ़ने लगती है। वह अपने आनन्दमय स्वरूपमें अवस्थित होनेके लिये व्यग्र होने लगता है।

आनन्दमय स्वरूपमें स्थित होनेका उपाय— योग

अपने इस आनन्दमय स्वरूपमें स्थित रहनेके लिये अर्थात् प्रकृतिकी विकृतियोंको अपनेमें आरोपित करनेसे बचनेके लिये अथवा प्रकृतिमें विकृतियोंको न होने देनेके लिये तत्त्ववेत्ता अनादिकालसे उपाय करते चले आ रहे हैं।

इस विकृतिशील देह-पिण्डमें स्थूल-रूपसे जल (कफ), अग्नि (पित्त) तथा वायु-तत्त्व (वात) यदि समान अवस्थामें रहते हैं तो यह विकारी देह दीर्घकालतक विकारोंसे रहित रह सकता है। आयुर्वेदशास्त्रका आविर्भाव उक्त तीनों विकारोंको समानावस्थामें ला देनेके लिये हुआ। ताकि जीवात्मा अपने आनन्दमय स्वरूपमें सदा अवस्थित रह सके। किंतु विकृतियोंकी पराकाष्ठा होनेपर आयुर्वेदकी सहायतासे भी धर्मके साधन—इस शरीरकी रक्षा नहीं की जा सकती। परंतु योगमार्गका अवलम्बन कर मानव-शरीरको सिद्धदेहके रूपमें परिवर्तित कर अजर-अमर बनाया जा सकता है और साधक चिरयोगाभ्याससे अपने आनन्दमय स्वरूपमें अवस्थित हो सकता है।

योगकी दीर्घ परम्परा—योगकी दो मुख्य शाखाएँ हैं—हठयोग तथा राजयोग । हठयोगका आश्रय लेकर व्यक्ति अपनेको शारीरिक विकृतियोंसे मुक्त रख सकता है। किंतु राजयोगकी सहायतासे शरीर तथा अन्तःकरण—इन दोनोंके विकारोंसे परे रहकर अपने आनन्दमय स्वरूपमें स्थित रह सकता है। राजयोग समन्वयात्मक योग है। इसे 'अष्टाङ्गयोग' के नामसे भी जाना जाता है। योगविद्याकी अतिदीर्घ परम्परा रही है। योगशास्त्रके आदिवक्ता 'हिरण्यगर्भ' माने गये हैं—

'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।'

भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रकृतिकी विकृतियोंपर विजय प्राप्त करनेके साधन योगशास्त्रको अनादि-कालसे प्रवृत्त बताया है। उन्होंने अर्जुनसे कहा कि इस 'योगशास्त्र' का उपदेश मैंने ही सबसे पहले सृष्टिके प्रकाशक सूर्यको दिया था। सूर्यने मनुको और मनुने अपने पुत्र इक्ष्वाकुको तथा इक्ष्वाकुने राजर्षियोंको इसका उपदेश दिया। इस प्रकार यह योगकी परम्परा क्रमशः सभी सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी राजाओंमें चली आयी और जनक आदि राजा राजर्षि नामसे अलङ्कृत होते थे। इसी तरह महर्षि दत्तात्रेय, महर्षि मार्कण्डेय, महर्षि घेरण्ड आदिकी भी अनेक योगपद्धतियाँ हैं।

विकृतियोंसे मुक्ति—योगारुरुक्षु व्यक्ति प्रकृति (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, चित्त, बुद्धि) रूपी घोड़ेको विकृतियों (शारीरिक, ऐन्द्रियिक, मानसिक, चैत्तिक तथा बौद्धिक रोगों) से दूर रखनेके लिये योगासनोंका आश्रय लेता है। भगवान् श्रीकृष्णने गीता (६। ५)-में अर्जुनसे स्पष्ट कह दिया कि मैं मानव-प्रकृतिकी विकृतियोंसे मुक्त होनेके साधन बतलाता हूँ। विकृतियोंसे अपनेको मुक्त रखना प्रत्येक मानवका आवश्यक कर्तव्य है। जीवात्माको स्वयं प्रकृतिके

क्लेशोंमें नहीं फँसना चाहिये।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

पूर्वजन्मकी वासना और संस्कारोंके कारण संचित कर्मोंके रूपमें मनुष्य इस जन्ममें भले ही प्रारब्धके अनुसार चल रहा हो, पर इस समय जो कर्म वह कर रहा है, वह भविष्यमें संचित कर्मके रूपमें परिवर्तित हो जायगा और प्रारब्ध बन जायगा। वर्तमानके अधिकांश कर्म कर्ताके अधीन हैं। इस शुभ अवसरको खोकर आत्मोद्धारके लिये प्रयत्न न करना वस्तुतः आत्मघात-सा ही है।

स्थूल अथवा जड प्रकृतिको अनुकूल, साधनायोग्य बनानेके लिये साधकका उपयुक्त आहार-विहार करना सफलताकी दिशामें उन्मुख होना है। उचित आहार-विहारके साथ योगसाधना करनेपर वह क्लेशोंको दूर करेगी। यदि आहार-विहारके द्वारा प्रकृतिको अनुकूल न बनाया गया तो योगसाधना क्लेशोंको हटा नहीं सकेगी—(गीता ६। १७)।

योगसाधना—परम औषध

वह परम चेतन सम्पूर्ण द्वन्द्वों (राग-द्वेष, शत्रुता-मित्रता आदि) से परे है, उसमें परम शान्तिका सागर हिलोरें ले रहा है। जब आप योगसाधनाद्वारा अनुकूल बनाये गये शरीर और इन्द्रियोंको अन्तःकरणमें समर्पित कर देते हैं, तब उस परम चेतनकी शान्तिकी कुछ झलक दिखायी देने लगती है। जब अन्तःकरणको आत्मामें समर्पित कर दिया जाता है, तब व्यक्तिको शाश्वत शान्तिका दर्शन होने लगता है और जब आत्माको परमात्मा (परम चेतन) में समर्पित कर दिया जाता है, तब पराशान्ति प्राप्त हो जाती है। योगकी ये तीन भूमिकाएँ हैं। शान्तिका अर्थ है—सम्पूर्ण क्लेशोंसे सर्वथा मुक्ति। अपनी इसी जीवितावस्थामें जो व्यक्ति पूर्ण शान्ति प्राप्त कर लेता है, उसे 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है। इसीलिये योगकी उपादेयताके विषयमें स्कन्दमहापुराणमें कहा गया है कि 'संसारके क्लेशोंसे संतप्त प्राणियोंके लिये योगकी साधना ही परमौषध है'—

'भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम्।'

वियोग

(आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी)

'सङ्गमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः।' प्रेम और ममत्वका ऐसा जोड़ा है कि ये कभी अलग नहीं किये जा सकते। जहाँ प्रेम है वहाँ ममत्व है। जो जिससे प्रेम करता है, उसे अपना ही बनाकर रखना चाहता है। यदि वह उसे अपना नहीं बना पाता तो कलपता है, रोता है। उसका कलपना-रोना ममताकी मात्रा बढ़नेसे होता है। वह आये और गये, उनके आनेमें संयोग, जानेमें वियोग है। दोके मिलनको संयोग अथवा योग कहते हैं—**'संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।'** किंतु उक्त योगकी विशेषता विशुद्ध प्रेममें ही है और वह अनिर्वचनीय है—**'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।'** वियोगीके हृदयकी कसक, मधुर स्मृतिकी रूपरेखा और तन्मयताकी झलक 'गोपिकागीत'में है—**'त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते।'**

प्रेमयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, लययोग, हठयोग आदि सभी योगोंके सम्पुटसे 'वियोग' रस परिपक्व होकर सिद्ध होता है—***'ऊधौ मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।'***

जहाँ संयोगमें मनकी प्रफुल्लता और आनन्द है, वहाँ वियोगमें प्राणोंकी विकलता, तन्मयता, उत्सुकता एवं दुःखदायिनी मधुर स्मृतिमें अकथनीय आह्लाद है। प्रेमके शुद्ध स्वरूपका प्रतिबिम्ब विरहीके विकल हृदयपटलपर रहता है—

परिपुष्टे परिपुष्टं क्षीणे क्षीणं समे समं चैव। माधव तस्या अङ्गं तवैव स्नेहेन घटितमिव॥

प्रेमी अपने प्यारे प्रभुको कभी भी भुला नहीं सकता। प्रेमकी अटूट धाराकी लहर वियोगीके निर्मल हृदय-सरोवरमें सदा लहराती रहती है—

क्वचित् क्वचिदयं यातु स्थातुं प्रेमवशंवदः। न विस्मरति तत्रापि राजीवं भ्रमरो हृदि॥

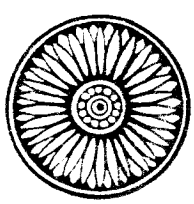

विभिन्न धर्म एवं सम्प्रदायोंमें योग-साधना

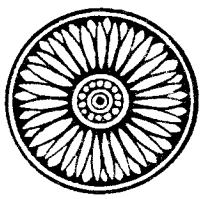

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें योग-विद्याका स्थान

(शास्त्री श्रीमाधवप्रियदासजी वेदान्ताचार्य)

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदाय भक्तियोग-प्रधान सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदायकी दृष्टिसे योगका अर्थ है भगवान्‌के स्वरूपमें चित्तकी वृत्तियोंका लय हो जाना। आचार्य स्वामिनारायण कहते हैं—

'भगवान्‌के स्वरूपमें तैलधारावत् अविच्छिन्न अखण्ड-वृत्ति रखना सबसे कठिन साधन है। जिस मनुष्यके मनकी वृत्ति भगवान्‌के स्वरूपमें अखण्ड रहने लगती है, उसके लिये इससे अधिक कोई प्राप्ति भी शास्त्रमें नहीं कही है; क्योंकि भगवान्‌की मूर्ति चिन्तामणि-तुल्य है। जिस पुरुषको चिन्तामणि मिल जाती है, उसको सभी सम्पत्तियाँ मिल जाती हैं।' (वचनामृतम् भाग १)।

जैसे लोभीका धनमें, कामी पुरुषका स्त्रीमें प्रवेश होता है, वैसे ही सच्चे साधक भक्तकी मनोवृत्तियाँ भी भगवत्स्वरूपमें लीन हो जाती हैं।

भगवान् स्वामिनारायण स्वयं अनेक योग-कलाओंके स्वामी और अलौकिक योगशक्तियोंसे सम्पन्न थे। ग्यारह वर्षकी छोटी आयुमें उन्होंने गृहत्याग किया था। सात वर्षतक हिमालय आदि पर्वतों एवं बीहड़ वनोंमें घूमते-फिरते उन्होंने पूरे भारतवर्षमें भ्रमण किया था। तप एवं तीर्थाटन करते हुए उनकी कई बड़े-बड़े योगियोंसे भेंट हुई थी। हिमालयके बहुत बड़े सिद्धयोगी स्वामी श्रीगोपालयोगीसे उन्होंने अष्टाङ्गयोगकी सम्पूर्ण शिक्षा पायी थी।

यद्यपि भगवान् स्वामिनारायणको हठयोगकी सारी कलाएँ सहज सिद्ध थीं फिर भी उन्होंने सामान्य जनसमाजको लक्ष्यमें रखकर राजयोगपर विशेष बल दिया। हठयोगकी प्रक्रियामें प्रथम प्राणोंका लय होता है। बादमें चित्तका लय होता है, जब कि राजयोगमें प्राणोंको लीन किये बिना भी चित्तकी वृत्तियोंका लय होता है और चित्तकी लीनता होनेपर प्राण आप-ही-आप स्थिरताको प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् श्रीस्वामिनारायण कहते हैं—

प्राण रूंधि समाधिमां जाय, हठयोग तेने कहेवाय।
प्राण रुंध्या विना हरि ध्यान, जन प्रेमी प्रेमातुरवान्॥
हरिमूर्ति समाधिमां देखे, राजयोग मुनी तेने लेखे।
एतो उत्तम योग छे जाणो हठयोग थी अधिक प्रमाणो॥

(हरिलीलामृतम्)

इन दोनों योगोंके विषयमें आचार्यका कहना है कि 'तप, निवृत्तिधर्म एवं वैराग्यसे युक्त जो योगाभ्यास करता है अर्थात् हठयोगका अभ्यास करता है, उसके इन्द्रियोंकी शक्तियोंमें अद्भुत वृद्धि होती है, उसे कई प्रकारकी सिद्धियाँ मिलती हैं। उसको शुकदेवजी-जैसी सिद्ध-दशा प्राप्त होती है। जो प्रवृत्तिमार्गमें रहकर योगाभ्यास करता है अर्थात् राजयोगका अभ्यास करता है, उसके अन्तरमें महाराज जनकजीकी तरह सिर्फ ज्ञानकी वृद्धि होती है लेकिन नारद, सनक, शुक-जैसी सिद्ध-दशा नहीं मिलती।' (ग०म०२०)।

योगी यदि सावधान न रहा तो वह अपने लक्ष्यसे भटक जाता है। अपने शरीरको हजारों सालतक टिकाये रखना, पानीमें चलना, हवामें तैरना, अणिमादि अनेक दुर्लभ सिद्धियोंके स्वामी होना या अनेक आश्चर्यकारी शक्तियोंको प्राप्त करना योगका लक्ष्य नहीं है। योगका सर्वोत्तम लक्ष्य तो है भगवत्स्वरूपमें लीन होना। लेकिन हठयोगकी साधना करते-करते जब सिद्धियाँ सामने आती हैं तो योगी इनके मोहमें फँस जाता है। चमत्कारोंके चक्करमें पड़कर अपने ध्येयको भूल जाता है। इसीलिये तो भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजीसे श्रीमद्भागवत (११।१५।३३) में कहते हैं—

अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम्।
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः॥

उत्तम योगके अनुष्ठानद्वारा मेरे स्वरूपमें लीन होनेवाले योगीके लिये सुविज्ञ पुरुषोंने ये सभी सिद्धियाँ अन्तराय-रूपमें कही हैं। क्योंकि इन सिद्धियोंके चक्करमें योगीके समयका व्यर्थ दुरुपयोग ही होता है।

योग-सिद्धिके उपाय

भगवान् स्वामिनारायणने उत्तम राजयोगकी सफल-सिद्धिके लिये साधनाकी प्रक्रियाके कुछ उपाय बताये हैं, जो योग-साधकके लिये उपयोगी हैं। वे इस प्रकार हैं—

पूर्ण योग-सिद्धिके लिये हमारे जीवनमें यम एवं नियमोंका अनुष्ठान परमावश्यक है। साथ-ही-साथ आसन सिद्ध करना भी आवश्यक है। कुछ मात्रामें प्राणायामके अभ्याससे प्राणोंकी गतिमें समत्व लाना भी जरूरी है।

जिसका आहार विकृत होता है, उसके प्राण भी विकृत एवं कुपित हो जाते हैं। जिनके प्राण विकृत हैं, उनका मन कभी एकाग्र नहीं होता। इसलिये प्राणोंकी स्थिरताके लिये आहारकी शुद्धि परम आवश्यक होती है।

प्रत्याहार—प्रत्याहार योगका महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। बिना प्रत्याहारके धारणा, ध्यान एवं समाधि नहीं हो पाते। प्रत्याहारका अर्थ है चित्तकी वृत्तियोंको विषयोंकी ओरसे हटाकर परमात्मसम्मुख करना। विषयोंमेंसे मनको हटाना बड़ा दुष्कर है। लेकिन विषयोंमें दोष-दर्शन, विनाशित्वदर्शन एवं तुच्छत्वके दर्शनसे विषयोंका मोह छूट जाता है। जो साधक परमात्माकी अलौकिक महिमा एवं उनके निरवधिक आनन्दरूपका चिन्तन करता है, उसको प्रत्याहार बिना प्रयास सिद्ध होता है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(२।५९)

'निराहारी पुरुषके विषय तो छूट जाते हैं, लेकिन विषयोंकी वासना तो ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। वह वासना तो परम आनन्द एवं परमरसस्वरूप भगवान्‌के दर्शनसे ही छूटती है।'

धारणा—वैराग्य एवं भगवान्‌के माहात्म्यज्ञानके बलसे प्रत्याहार सिद्ध करके अर्थात् मनको विषयोंमेंसे हटाकर परमात्माके दिव्य-मङ्गल श्रीविग्रहमें स्थिर करनेका, एकाग्र करनेका अभ्यास करना चाहिये। इसीको धारणा कहते हैं। शुकदेवजी महाराज परीक्षित्‌से कहते हैं—

मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद् धिया।

(श्रीमद्भा० २।१।१८)

'सांसारिक विषय एवं व्यवहारोंसे मनको हटाकर शुभ तत्त्वमें उसकी धारणा करनी चाहिये।'

हमारी धारणा एवं ध्यानके मूल ध्येय तत्त्व सर्वकारणके कारण नारायण हैं। वही सबसे श्रेष्ठ मङ्गलकारी भी हैं। अतः अनन्त शुभगुणोंके भण्डार भगवान् नारायणका दिव्य मङ्गल-विग्रह ही हमारे ध्यान एवं धारणाका अवलम्बन हो सकता है। भगवान् व्यास भी कहते हैं—**'ध्येयो नारायणो हरिः'**—सर्वदुःखोंको हरनेवाले नारायण ही ध्येय हैं।

भगवान् नारायणके दो रूप हैं—व्यक्त एवं अव्यक्त। अन्तर्यामी एवं व्यापकरूपसे वे अव्यक्त हैं। भगवान्‌का यह अव्यक्त स्वरूप हमारे इन्द्रियों एवं अन्तःकरणसे अगोचर होनेके कारण वह हमारी धारणाका स्पष्ट अवलम्बन नहीं बन सकता। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(१२।५)

'भगवान्‌के अव्यक्त रूपमें आसक्त चित्तवाले पुरुषोंको धारणामें अत्यधिक कष्ट होता है, क्योंकि परिमित शक्तियुक्त शरीरधारी लोगोंके लिये अव्यक्त तत्त्वका मार्ग दुःसाध्य है।'

इसलिये ध्येयतत्त्वके रूपमें भगवान्‌का व्यक्त रूप विशेष सुगम है। नारायणका व्यक्त रूप तीन प्रकारका माना गया है—पररूप, अर्चारूप एवं अवतार-रूप।

यद्यपि भगवान्‌का अपने दिव्य अक्षर धाममें विराजमान पररूप व्यक्त होनेसे ध्येय है, किंतु वह दिव्य मङ्गल-स्वरूप मायिक जगत्‌में रहनेवालोंके लिये तो अगोचरप्राय ही है। अतः हमारे ध्यान एवं धारणाके अवलम्बन तो भगवान्‌के अवतारस्वरूप एवं अर्चास्वरूप ही हो सकते हैं। इसीलिये भगवान् स्वामिनारायण कहते हैं—

कृष्णस्तदवताराश्च ध्येयाः तत्प्रतिमापि च।
न तु जीवा नृदेवाद्या भक्ता ब्रह्मविदोऽपि च॥

(शिक्षापत्री श्लोक० ११५)

भगवान् श्रीकृष्ण एवं उनके अवतार ध्यान करने योग्य हैं। उनकी प्रतिमा भी ध्यान करने योग्य है। अतः उनका ध्यान करें।

धारणाका श्रेष्ठ साधन मानसी पूजा—भगवान् स्वामिनारायणने धारणाकी सिद्धिके लिये मानसी पूजाकी शिक्षा दी है; मानसी पूजा ध्यानका प्रारम्भिक रूप है। मनको वश करनेमें मानसी पूजा बड़ी उपयोगी सिद्ध होती है। मानसी पूजाका अर्थ है मानस उपचारोंसे भगवान्का पूजन। मन बड़ा चञ्चल है, वह किसीकी पकड़में नहीं आता।

मन संकल्प-विकल्प-रूप होनेसे मनकी विचार-शृङ्खलाको आप बिलकुल बंद नहीं कर सकते, लेकिन उस विचारधाराकी दिशाको बदल अवश्य सकते हैं। भगवान् स्वामिनारायणने मनको मारनेकी नहीं, किंतु मनको मोड़नेकी शिक्षा दी है। जैसे-जैसे मन परमात्माके परमानन्दका अनुभव करने लगता है, वैसे-वैसे उसका विषयोंके प्रति जो राग है, वह समाप्त होने लगता है। तब उसकी वृत्ति भगवद्विषयक हो जाती है और इस तरह उसका सच्चा कल्याण हो जाता है।

मानसी पूजा दिनमें पाँच बार होती है—प्रातः, मध्याह्न, अपराह्न, सायंकाल एवं रात्रि। प्रातःकालीन मानसी पूजामें भगवान्को जगाया जाता है एवं श्रेष्ठ प्रसाधनोंसे स्नान, शृङ्गार नीराजनादि होता है। मध्याह्नकालीन पूजामें मानस-सामग्रीसे भगवान्को भोग लगाया जाता है। अपराह्नमें भगवान्की स्नान-लीला एवं वनविहारादि लीलाओंका चिन्तन होता है और भगवान्को फल एवं फूल अर्पित किये जाते हैं। सायंकालमें भगवान्को सायंकालीन भोग अर्पित किये जाते हैं। सायं-नीराजन होता है। श्रेष्ठतम नृत्य, गीत, कीर्तन आदिका निवेदन किया जाता है। रातकी मानसी पूजामें भगवान्को शयन करवाया जाता है।

नियमितरूपसे मानसी पूजा करनेसे भगवत्स्वरूपमें मनकी धारणा सिद्ध होने लगती है और यही धारणा ध्यानमें परिणत हो जाती है।

ध्यान—ध्यानका अर्थ है भगवत्स्वरूपका तैलधारावत् अखण्डचिन्तन। स्वामिनारायण-सम्प्रदायमें ध्यानके चार भेद माने गये हैं। सलील ध्यान, सपार्षद ध्यान, साङ्ग ध्यान और उपाङ्ग ध्यान।

सलील ध्यानमें भगवान् एवं उनके अवतारोंकी दिव्य मानुषी लीलाओंका चिन्तन होता है। सपार्षद ध्यानमें दिव्य पार्षद एवं सेवकोंके साथ भगवान्का ध्यान किया जाता है। उपाङ्ग ध्यानमें वस्त्र-आभूषणोंके साथ भगवान्के दिव्य-मङ्गल श्रीविग्रहका ध्यान किया जाता है। साङ्ग ध्यानमें भगवान्के श्रीविग्रहमें विद्यमान श्रीवत्सादि दिव्य चिह्नोंका ध्यान होता है।

समाधि—उत्कृष्ट अनुरागवान् चित्त ध्यान करते-करते भगवत्स्वरूपमें पूर्णरूपेण लीन हो जाता है। लीनताकी यह एक ऐसी अवस्था है, जहाँपर न ध्यान करनेवाला बचता है न ध्यानका साधन मन। ये दोनों भगवत्स्वरूपमें इतने डूब जाते हैं कि उनका अलग अस्तित्व दिखायी ही नहीं देता। यही समाधिकी श्रेष्ठ दशा है। इसीको प्रेमाद्वैत भी कहा जाता है। व्रजकी गोपियाँ, शुकदेवजी महाराज, मीराबाई, सूरदास, नरसी मेहता आदिको ऐसी समाधि सहज सिद्ध थी। ध्यानमें भगवान्के प्रति पूर्ण अनुराग एवं अहोभाव होना चाहिये। इन दोनोंके प्रभावसे चित्तका लय सहजतासे होता है। अनुराग एवं अहोभाव—इन दोनोंका उदय भगवान्के माहात्म्य-ज्ञानसे होता है। माहात्म्यज्ञानका उदय भगवान्के परम ऐकान्तिक संतोंके समागमसे होता है और बिना सत्संगके ध्यान एवं समाधि भी सिद्ध नहीं होते हैं।

बौद्धधर्ममें योगकी महत्ता

(प्रो० श्रीलालमोहरजी उपाध्याय, एम्० ए०)

भगवान् बुद्धने साधनाके जो आठ मार्ग बताये हैं, उनमें एक मार्ग 'सम्यक्-समाधि' भी है। यौगिक क्रियाओंके आदर्श भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न हैं। उपनिषदोंमें इसे ब्रह्मके साथ योग अथवा ब्रह्मके साथ साक्षात्कारके रूपमें प्रतिपादित किया गया है। महर्षि पतञ्जलिके योगदर्शनमें योग सत्यका अन्तर्निरीक्षण है। बौद्धधर्म बोधिसत्त्वकी प्राप्ति अथवा जगत्की निःसारताका द्योतक है।

पतञ्जलिने चित्तवृत्तिके निरोधको योग कहा है। यहाँ

योगका अर्थ 'समाधि' ही होता है। चित्तवृत्तिके निरोधद्वारा योग सम्पन्न होता है। चित्तवृत्तिके निरोधके सम्पन्न हो जानेपर व्यक्ति मुक्त हो जाता है। यही कैवल्यकी अवस्था है। पतञ्जलिकी ही तरह भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें चित्तवृत्ति या मनकी स्थिरताके लिये अभ्यास और वैराग्यको आवश्यक बताया है।

बुद्ध एक यथार्थ सत्ताके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार उच्चतम श्रेणीके चिन्तनका नाम 'ध्यान' है। बौद्धधर्ममें प्रार्थना-उपासनाका स्थान इसी ध्याननें ले लिया है। 'ध्यान'की चार सीढ़ियाँ हैं—पहली सीढ़ी प्रसन्नता एवं आह्लाद है, जिसकी प्राप्ति एकान्त-सेवासे होती है। इस एकान्तताके साथ-साथ अन्तर्दृष्टि, चिन्तन, गूढ़ विचार एवं जिज्ञासाका विकास होता है एवं साधकको इन्द्रियभोगके बन्धन आदिसे मुक्ति मिलती है। दूसरी सीढ़ी उल्लास एवं चाञ्चल्यराहित्यकी है। तीसरी सीढ़ी वासनाओं एवं पक्षपातोंका अभाव है, जहाँ आत्ममोह सर्वथा समाप्त हो जाता है। चौथी सीढ़ी आत्मसंयम एवं पूर्ण शान्त मुद्राकी है, जिसमें न कोई चिन्ता है और न आह्लाद, क्योंकि जो आह्लाद एवं चिन्ताको उत्पन्न करते हैं, उन्हें एक ओर छोड़ दिया जाता है अर्थात् आह्लाद एवं विषाद—इन दोनोंकी मध्यवर्ती सम-अवस्थामें रहनेका प्रयत्न किया जाता है। यही योगरूप है।

बौद्धदर्शनके अनुसार ध्यानमें मनको सभी विद्यमान वस्तुओंके साथ समतामें लानेका एक सतत प्रयास करना है। बौद्ध-संघके सदस्योंके दैनिक जीवनका मुख्य भाग ध्यानका अभ्यास करना है। शरीरको वशमें करना, ज्ञान-प्राप्तिकी पूर्व भूमिका है। बौद्धधर्मके ध्यान एवं योग-सम्बन्धी दोनों ही सिद्धान्त इस बातपर बल देते हैं कि मानसिक प्रशिक्षणके लिये शारीरिक एवं स्वास्थ्य-सम्बन्धी अवस्थाओंका अनुकूल होना आवश्यक है।

बुद्ध 'प्रज्ञा' को सर्वोत्तम स्थान प्रदान करते हैं। उनका कहना है कि 'प्रज्ञा' बिना प्रेम और परोपकार-भावके सम्भव नहीं है और यदि ऐसा हो भी तो वह प्रज्ञा-स्थिति नहीं होती। जीवनमें सदाचारका अत्यन्त महत्त्व है। यदि जीवनमें सदाचारका अभाव है तो ध्यानकी कोई सार्थकता नहीं। बौद्धधर्मके अनुसार मानसिक अवस्थाओंका नियन्त्रण होनेपर जब इन्द्रियोंके अनुभव समाप्त होकर उसके परे हो जाते हैं तो 'प्रज्ञा' (प्रज्ञा-पारमिता) प्रकट हो जाती है।

गौतम बुद्धकी 'सम्यक्-समाधि' जीवनके दुःखमय संसारको समाप्त करनेका सबसे कठिन मार्ग है। भोगविलास तथा भौतिकतासे ग्रस्त होनेके कारण व्यक्तिका जीवन दुःखमय है, क्योंकि भौतिक वस्तुओंका कोई अन्त नहीं है। वस्तुओंका आकर्षण प्रायः समाप्त नहीं होता। व्यक्ति जितना ही पाता है उतना ही पानेका प्रयास करता है। जब उसमें असफलता मिलती है तो वह दुःखी होता है। ध्यान और योग तभी जीवनके लिये उपयोगी हैं जब भोग-विलाससे अपनेको दूर रखा जाय। इस प्रकार बौद्धदर्शनका यह योग गीताके निष्काम-कर्मको ही प्रतिपादित करता है।

बौद्धधर्म मूलतः प्रेमका धर्म है। मानवीय सहृदयतामें विश्वासका धर्म है। इन तत्त्वोंका विकास तभी होगा, जब जीवनकी मूल चेतनाका स्तर शुद्ध चेतनाकी स्थिति प्राप्त कर सकेगा। शुद्ध चेतना इन्द्रियोंके निग्रह और संयमसे होती है। संयम ध्यानसे तथा ध्यानकी स्थिति और ध्यानमें उस प्रज्ञाकी अनुभूतिका साक्षात्कार होता है जो प्रेम और परमार्थके उदात्त तत्त्वोंको जाग्रत् करता है। तत्त्वावबोध या अखण्ड समाधिमें महात्मा बुद्धको जो कुछ भी अनुभव हुआ वह तुरीयावस्था है। तुरीयावस्थाको ही बौद्धदर्शनमें विशुद्ध प्रज्ञाकी स्थिति माना गया है।

आजकी प्रासङ्गिकतामें जब बौद्धधर्मके ध्यानकी प्रासङ्गिकतापर विचार करते हैं तो इस प्रज्ञा-स्थितिका विशुद्ध लाभ होनेकी पूरी सम्भावना सुस्पष्ट दीखती है। बौद्धाचार्य नागार्जुन जिस स्थिति और सुखको अनिर्वचनीयकी संज्ञा देते हैं, वह भी एक प्रकारसे तुरीयावस्था—ध्यानकी ही स्थिति है।

ध्यानका प्रयोग बौद्धधर्ममें संसारसे विरक्तिके लिये किया गया है, किंतु ध्यानके द्वारा प्राप्त शुद्ध चेतनासे जीवनको समरस रूपमें जीनेकी शक्ति भी आती है। तुरीयावस्था-ध्यानमें जीवन-पलायन नहीं है, वरन् जीवनको सार्थक रूपमें जीनेकी प्रज्ञा है।

इस प्रकार अधिकांश बातोंमें जैन-बौद्ध और पतञ्जलि, मार्कण्डेय आदिके योग भी निर्बीज समाधितक पहुँचते हैं और एक ही ढंगकी साधना और सिद्धावस्था तथा शान्ति, प्रेमके

रूपमें परिणत होते दीखते हैं। कपिल, आसुरि, स्यूमरश्मि, गौतम आदिके भाव भी अहिंसासे आरम्भ होकर समाधितक एक ही रूपमें पहुँचते हैं। इस योगमें सूफी, ईसाई और यहूदी तथा पारसियों आदिका कोई मतभेद नहीं दिखायी देता। सभी धर्मोंमें समस्त प्राणियोंके प्रति प्रेमभावना, धारणा, ध्यान और लययोगके द्वारा समाधिमें पहुँचनेकी एक ही प्रक्रिया दीखती है। वास्तवमें योग एक ऐसा धर्म है जिसमें कोई विवादका अवसर नहीं दिखायी पड़ता। इसलिये यह संसारके सभी धर्मोंमें व्याप्त है। बौद्धधर्मकी सभी शाखाओंमें प्रायः योग ही प्राधान्येन अनुप्राणित है।

जैनधर्ममें योगविद्या

(मुनि श्रीहिमांशुविजयजी न्यायसाहित्यतीर्थ)

भारतीय दर्शन-परम्परामें वैदिक, बौद्ध और जैन—ये तीन मुख्य दर्शन हैं। ये तीनों दर्शन आत्मा, पुण्य-पाप, परलोक और मोक्ष—इन तत्त्वोंको मानते हैं, इसीलिये ये आस्तिक दर्शन हैं। इस लेखमें जैनदृष्टिसे योगके विषयमें कुछ विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

'योग' शब्द 'युज' धातुसे बना है। संस्कृतमें 'युज' धातु तीन हैं। एकका अर्थ है जोड़ना और दूसरेका है 'समाधि' तथा तीसरेका 'संयमन।' इनमेंसे 'जोड़नेके अर्थवाले' युज धातुको जैनाचार्योंने प्रस्तुत योगार्थमें स्वीकार किया है।

मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुध्यते।

(श्रीयशोविजयकृता द्वात्रिंशिका १०।१)

मुक्खेण जोयणाओ जोगो।

(श्रीहरिभद्रसूरिकृता योगविंशिका १)

तात्पर्य यह कि जिन-जिन साधनोंसे आत्माकी शुद्धि और मोक्षका योग होता है, उन सब साधनोंको योग कह सकते हैं।

पातञ्जल योगदर्शनमें योगका लक्षण **'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः'** कहा गया है। इसी लक्षणको श्रीयशोविजयजीने इस प्रकार और भी विशद किया है—

'समितिगुप्तिधारणं धर्मव्यापारत्वमेव योगत्वम्।'

(पातञ्जलयोगदर्शनवृत्ति)

यतः समितिगुप्तीनां प्रपञ्चो योग उत्तमः।

(योगभेदद्वात्रिंशिका ३०)

अर्थात् मन, वचन, शरीरादिको संयत करनेवाला धर्मव्यापार ही योग है, क्योंकि यही आत्माको उसके साध्य-मोक्षके साथ जोड़ता है।

योगका शुद्ध अङ्ग

सामान्यतः सभी धार्मिक अनुष्ठान योगके अङ्ग हैं तथापि विशेषरूपसे तो मोक्षप्राप्तिके समीपतमवर्ति पूर्वकालका ध्यान ही अव्यवहित उत्कृष्ट योग है। आचार्य भगवान् श्रीहरिभद्र सूरिने 'योगदृष्टिसमुच्चय'में कहा है—

अतस्तु योगो योगानां योगः पर उदाहृतः।
मोक्षयोजनभावेन सर्वसंन्यासलक्षणः॥

केवल उन ज्ञानी योगियोंको जिन्हें जीवन्मुक्त कहते हैं, मोक्षस्थिति प्राप्त करनेके पूर्व मन, वाणी और शरीरकी समस्त क्रियाओंका निरोध[1] (संक्षय) करना पड़ता है, सभी बाह्य पदार्थोंका त्याग अर्थात् सर्वसंन्यास करना पड़ता है। मोक्ष प्राप्त करनेमें जब अ इ उ ऋ ऌ पञ्चह्रस्वाक्षर उच्चार-प्रमित-काल शेष रहता है उस समयका जो शुक्ल ध्यान[2] है वही सच्चा मोक्षसाधन अर्थात् योग है[3]। इस अवस्थामें स्थित योगी ही सच्चा शुद्ध योगी है। उसके संकल्प-विकल्प विलीन हो जाते हैं। उसके विचारोंका रज, तम या सत्त्वगुणसे भी स्पर्श नहीं होता। अति अल्प समयमें ही शुक्ल ध्यानके द्वारा वह मुक्त हो जाता है। मुक्तको ही सिद्ध कहते हैं। यहाँ सम्पूर्ण कृतकृत्यता हो जाती है।

१-तत्रानिवृत्तिशब्दान्तं समुच्छिन्नक्रियात्मकम्। चतुर्थं भवति ध्यानमयोगिपरमेष्ठिनः॥
समुच्छिन्ना क्रिया यत्र सूक्ष्मयोगात्मिकापि च। समुच्छिन्नक्रियं प्रोक्तं तद्द्वारं मुक्तिवेश्मनः॥ (गुणस्थान क्रमारोह)

२-अथायोगिगुणस्थाने तिष्ठतोऽस्य जिनेशितुः। लघुपञ्चाक्षरोच्चारप्रमितैव स्थितिर्भवेत्॥

३-मन, वाणी और शरीरकी वृत्तियोंको भी जैनपरिभाषामें 'योग' कहते हैं—'कायवाङ्मनःकर्मयोगः' (तत्त्वार्थसूत्र ६।१)। इसी अर्थसे परकोटिको प्राप्त शुद्ध योगीको 'अयोगी' कहा है। 'अयोगी योगानां योगः पर उदाहृतः' यह भी इसी दृष्टिसे कहा गया है।

योगकी विशेष व्याख्या

जैन आगमोंमें योगका अर्थ मुख्यतया 'ध्यान' लिखा है। ध्यान मूलतः चार प्रकारका है— (१) आर्त, (२) रौद्र, (३) धर्म और (४) शुक्ल। इनमें आदिके दो ध्यान तम और रजोगुणविशिष्ट होनेके कारण योगमें अनुपयुक्त और प्रत्यूहकारी हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान योगोपयोगी हैं। इनमें भी शुक्लध्यान अत्यन्त परिशुद्ध और अव्यवहित मोक्षसाधन है। इसके द्वारा दुःखरूप काष्ठके सहस्रों अरण्य क्षणमात्रमें सर्वथा भस्म हो जाते हैं। इस विषयमें समाधिशतक, ध्यानशतक, ध्यानविचार, ध्यानदीपिका, आवश्यक निर्युक्ति, अध्यात्मकल्पद्रुमटीका प्रभृति अनेक ग्रन्थ हैं।

त्रिविध योग

किसी भी वस्तुकी प्राप्तिके लिये उसपर अटल श्रद्धा होनी चाहिये। योगके लिये जो कुछ आवश्यक है उसपर तथा जो पूर्णयोगी हैं उनपर परीक्षापूर्वक श्रद्धा रखना योगका आवश्यक अङ्ग है। इसको जैनदर्शनमें 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं— **'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।'** (तत्त्वार्थसूत्र १।२)। केवल विश्वास रखकर बैठे रहनेसे कुछ नहीं होता। विश्वासके साथ सम्प्रदायका रहस्यज्ञान भी परिपूर्ण रीतिसे होना चाहिये, इसको 'सम्यक्श्रुत' होना कहते हैं। विश्वास और ज्ञान तो है, पर यदि चरित्रशुद्धि नहीं है—राग, द्वेष-मोहादिसे आत्मा व्याप्त है तो करोड़ों वर्षोंमें भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये 'सम्यक्-चरित्र' होना चाहिये। यह ज्ञानदर्शन चरित्रात्मक 'त्रिविध योग' है। इसके पालनसे योग परिपुष्ट होता है और आत्माका आध्यात्मिक उत्कर्ष होता जाता है। योगकी पूर्णता ही मोक्षप्राप्ति कराती है। वैदिक दर्शनोंमें जैसे ब्रह्मसूत्र, गौतमसूत्र, कणादसूत्र आदि मौलिक ग्रन्थ हैं, वैसे ही जैनदर्शनमें उमास्वातिकृत 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' है, उसका प्रथम सूत्र इसी त्रिविध योगके विषयमें है—**'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।'** इसी सूत्रपर आगे सम्पूर्ण ग्रन्थ है, जिसे 'मोक्षशास्त्र' भी कहते हैं।

चौदह गुणस्थान

जब आत्मा विकासकी दिशामें प्रयाण करता है, तबसे मोक्ष प्राप्त होनेकी अवस्थातककी योग्यताके चौदह गुण जैन-आगमोंमें बताये हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) सास्वादन, (३) मिश्र, (४) सम्यग्दर्शन, (५) देशविरति, (६) प्रमत्त-श्रमणत्व, (७) अप्रमत्तश्रमणत्व, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्ति, (१०) सूक्ष्म लोभ, (११) उपशान्तमोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोगी केवली और (१४) अयोगी केवली। पातञ्जलयोगकी आठ भूमिकाओंमें प्रथम भूमिका यम है। इस 'यम' से भी पूर्व सूक्ष्मरीत्या योगकी जो भूमिकाएँ होती हैं वे भी इन चौदह गुणस्थानोंमेंसे पूर्वके चार गुणस्थानोंमें परिगणित हुई हैं। 'गुणस्थानक्रमारोह' तथा 'कर्मग्रन्थ', 'कर्मप्रकृति' और 'गोमटसार' आदि ग्रन्थोंमें इस विषयका सूक्ष्म विवेचन है।

अष्ट दृष्टि

आचार्य हरिभद्र सूरिने योगकी आठ दृष्टियाँ बतायी हैं—

मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा परा।
नामानि योगदृष्टीनां ..... ॥

पातञ्जलयोगके जो आठ अङ्ग हैं, उनसे इन दृष्टियोंका सादृश्य है।

पञ्चविध योग

अर्वाचीन जैनन्याय-योग-साहित्यके अग्रणी उपाध्याय श्रीयशोविजयजीने पाँच प्रकारका एक अवान्तर योग भी बताया है—

अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
योगः पञ्चविधः प्रोक्तः योगमार्गविशारदैः॥

(योगभेदद्वात्रिंशिका)

योगभेदद्वात्रिंशिकाके अतिरिक्त 'जैन दृष्टियोग' नामक गुजराती ग्रन्थमें भी इन पाँचों भेदोंका विशद विवेचन है।

त्रिविध योग

एक त्रिविध योग और है जो श्रीहरिभद्रयशोविजय आदिके ग्रन्थोंमें मिलता है—

इच्छां शास्त्रं च सामर्थ्यमाश्रित्य त्रिविधोऽप्ययम्।
गीयते योगशास्त्रज्ञैर्निर्व्याजं यो विधीयते॥

अष्टविध योग

महर्षि पतञ्जलि योगविद्याके महाप्राज्ञ आचार्य हुए। उन्होंने योगदर्शनमें योगके जो अङ्ग, लक्षण, परिभाषा तथा

प्रकारादि कहे हैं, उन्हें अनेक धर्मोंके विद्वानोंने माना और अपनाया है। पीछेके योगसाहित्यपर उन्हींके सूत्रोंकी गहरी छाप लगी हुई है। जैनाचार्योंने भी अपनी संस्कृतिके अनुकूल योगसूत्रोक्त नाम, भेद, स्वरूप आदि ग्रहण किये हैं। आचार्य श्रीहेमचन्द्र सूरिकृत योगशास्त्रमें पातञ्जलयोग-दर्शनके यम-नियमादि अङ्गोंको ही क्रमसे गृहस्थधर्म, साधु-धर्म आदि कहा है। श्रीयशोविजयजीने भी आठ अङ्गोंका उल्लेख किया है। जैनयोगी श्रीआनन्दघनने भी अपने पदोंमें आठों अङ्गोंका वर्णन किया है।

प्राणायाम

पतञ्जलि प्रभृति योगाचार्योंने प्राणायामको योगका चौथा आवश्यक अङ्ग माना है। परंतु जैनाचार्योंने इसे आवश्यक नहीं माना है। श्रीहेमचन्द्र प्रभृति विद्वानोंने तो इसका निषेध भी किया है—

तन्नाप्नोति मनः स्वास्थ्यं प्राणायामैः कदर्थितम्।
प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्याच्चित्तविप्लवः॥

(हैमयोगशास्त्र)

प्राणायाम हठयोग है और हठयोगको जैनाचार्योंने योगमार्गमें अनावश्यक माना है। हरिभद्र सूरिने कहा है कि ध्यानमें बलात्कारसे श्वासोच्छ्वासका निरोध नहीं करना चाहिये। पातञ्जलयोगसूत्रकी वृत्तिमें **'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य'** (योगसूत्र १।३४)—इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए श्रीयशोविजयजी लिखते हैं—

अनैकान्तिकमेतत्। प्रसह्य ताभ्यां मनोव्याकुली-भावात्। ऊसासं ण णिरुं भइ।' (आवश्यकनिर्युक्ति)

तथा—

इत्यादिपारमर्षेण तन्निषेधाच्च।

तात्पर्य यह है कि किसी साधकको इससे लाभ हो तो वह प्राणायाम करे, इसमें कोई निषेध नहीं है, परंतु सबके लिये प्राणायामको आवश्यक अङ्ग जैन आचार्य नहीं मानते।

त्रिविध आत्मा

यों तो चैतन्यादि गुणोपेतत्वेन आत्मा एक ही लक्षणका है, परंतु तद्गताभावोंके तारतम्यसे जैन विद्वानोंने तीन प्रकारका आत्मा माना है—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा। तीनोंके लक्षण इस प्रकार हैं—

आत्मबुद्धिः शरीरादौ यस्य स्यादात्मविभ्रमात्।
बहिरात्मा स विज्ञेयो मोहनिद्रास्तचेतनः॥
बहिर्भावानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः।
सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञैर्विभ्रमध्वान्तभास्करैः॥
निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः।
निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा परमात्मेति वर्णितः॥

शरीर-धनादि बाह्य पदार्थोंमें मूढ़ होकर उन्हींमें जो आत्मबुद्धि धारण करता है, वह रजस्तमोगुणी बहिरात्मा है।' आत्मामें ही जो आत्मभाव धारण करता और यम-नियमादिको समझता और करता है वह अन्तरात्मा है। मोहादि कर्ममलोंको सर्वथा धोकर जो मुक्तपदको प्राप्त होता है वह परमात्मा है। उसी परमात्मपदको प्राप्त करनेका साधन योग कहलाता है।

श्रीरामकृष्णकी साधना-पद्धति

(डॉ० श्रीसुरेशचन्द्रजी शर्मा)

योगीके नेत्र—एक दिन श्रीरामकृष्ण परमहंसजीने अपने भक्त महेन्द्रनाथ गुप्तसे कहा—'क्या तुम ऐसा चित्र ला सकते हो जिसमें अपने अंडोंको सेते हुए पक्षीकी आँखें दिखायी देती हों।' श्रीमहेन्द्रनाथने कहा—'यदि कहीं मिला तो लानेकी कोशिश करूँगा।' पुनः उन्होंने कहा—'योगीकी आँखें कैसी होती हैं, जानते हो ? नहीं, तो आज जान लो कि योगीके नेत्र वैसे ही होते हैं, जैसे अंडा सेते हुए पक्षीके। अंडा सेते समय पक्षीका पूरा मन अंडोंकी तरफ ही हो जाता है। यही बात एक सच्चे योग-साधकके सम्बन्धमें भी है।' श्रीरामकृष्ण सभी साधकोंको ऐसा ही अन्तर्मुखी जीवन बनानेका उपदेश देते थे।

व्याकुलता—श्रीरामकृष्णदेव कहते थे कि साधनामें सबसे पहली बात है—'ईश्वर-प्राप्तिके लिये सच्ची व्याकुलता।' यदि हमारे भीतर व्याकुलता है तो समझो कि

हमें योगकी कुंजी प्राप्त हो गयी। योग-साधनामें व्याकुलताकी ऐसी बात है जो हमें चैनसे बैठने नहीं देती । जितने भी साधन हैं, वे हमारे द्वारा स्वतः ही होते जाते हैं। और यदि साधनमें सिद्धि नहीं मिलती तो उससे 'ईश्वर-निर्भरता' हमारे जीवनमें आ जाती है। और यदि यह व्याकुलता नहीं है तो फिर हम चाहे जो भी साधन करें, उसमें सहजता नहीं रहती। थोड़े ही समयमें हम उन साधनाओंसे ऊब जाते हैं, हमारे जीवनमें भटकाव आ सकता है तथा हम अपने पथ और लक्ष्यको छोड़ भी सकते हैं।

व्याकुलता बिना ईश्वरके दर्शन नहीं होते। भक्तोंसे वे बार-बार कहते थे कि काम और काञ्चन ही संसार है। ईश्वर-दर्शनमें ये दो बाधाएँ हैं। जीव मानो एक लोहेका टुकड़ा है और ईश्वर एक चुम्बक है। जीवमें लोहेके समान ही चुम्बक ईश्वरके प्रति सहज आकर्षण है, परंतु सांसारिक आसक्तियोंके सुख-भोगने उसे दबा रखा है। अतः इसे छोड़ना होगा।

नित्यानित्य-विवेक—आसक्तिरूप बाधाको दूर करनेके लिये श्रीरामकृष्ण साधकोंको नित्य-अनित्यका विचार करते रहनेका परामर्श देते थे। ईश्वर ही एकमात्र नित्य है और सब कुछ अनित्य। मानव-जीवनका लक्ष्य संसार-सुख कदापि नहीं हो सकता। जगत्‌में कुछ भी स्थायी नहीं है, सब कुछ परिवर्तनशील है। ईश्वर-दर्शन ही जीवनका एकमात्र लक्ष्य है। ऐसा करनेसे मनुष्यका विवेक जाग्रत् हो जाता है और उसमें ईश्वर-दर्शनकी तीव्र इच्छा उत्पन्न हो जाती है। गृहस्थ साधकोंको वे सर्वस्व-त्यागकी बात न कहकर विवेकपूर्ण एवं मर्यादित जीवन जीते हुए साधना करनेका उपदेश देते थे।

साधु-संग—साधकोंको वे साधु-संग करनेके लिये बहुत प्रेरित करते थे। वे कहते थे—'देखो रे! काम-काञ्चनका रोग लगा ही है, इसलिये साधु-संग करना चाहिये।' साधु भक्तोंको देखकर ईश्वरकी याद आती है और संसारकी विस्मृति होने लगती है। जिन्होंने सांसारिक आसक्तिका त्याग किया है तथा जो ईश्वर-प्राप्तिके लिये व्याकुल हैं, वे ही साधु हैं।

निर्जनवास और प्रार्थना—इसके साथ ही वे भक्तोंको निर्जनवास करने और व्याकुल होकर प्रार्थना करनेका साधन बतलाते थे। उनका कहना था कि संसारी लोगोंके साथ अधिक रहोगे तो फँसते ही जाओगे, निकलना मुश्किल हो जायगा। इसलिये बीच-बीचमें निर्जनवास करना चाहिये और उनको पुकारना चाहिये। संसाररूपी समुद्रमें काम-क्रोधरूपी बहुतसे घड़ियाल हैं। इसलिये पहले शरीरमें विवेक-वैराग्यकी हल्दी लगा लो और फिर संसारमें रहो। हल्दीकी गंधसे वे तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेंगे। एकान्तमें रहकर कुछ विवेक प्राप्त कर लो, वैराग्य लाओ। संसार एक कटहलके समान है। काटोगे तो उसका दूध हाथोंमें लग जायगा। इसलिये पहले अनासक्तिका तेल मलो और फिर संसाररूपी कटहलको काटो। प्रेमपूर्वक विश्वाससे ईश्वरकी प्रार्थना करो। वे तुम्हारी करुण प्रार्थनाको अवश्य सुनेंगे। मनमें ही सारा बन्धन है। इस मनको भटकने न दो। उसे साधनापूर्वक ईश्वरकी ओर लगाये रखो।

नाम-जप और ईश्वर-गुणगान—वे कहते थे कि संसार अथवा निर्जनमें ईश्वरका नाम लेने, उनका ध्यान करने तथा उनके लीला-चरित्रोंका गुणगान करनेसे आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है। उनका कहना था कि साधक स्वयंको कभी दुर्बल न समझे। साधकको स्वयंमें तथा अपने ईश्वर (इष्ट) में दृढ़ विश्वास रखना चाहिये। उनकी कृपापर निर्भर रहनेसे साधकमें बल आ जाता है। वे कहते थे कि लंका पार करनेके लिये स्वयं रामको सेतुका निर्माण करना पड़ा था, परंतु उनके भक्त हनुमान् 'जय श्रीराम' कहकर सागरको लाँघ गये। समुद्रमें जब मछुए मछली पकड़ने जाते हैं तो साथमें एक दिशा-बोध करानेवाला 'कम्पास' ले जाते हैं। 'कम्पास' की सुई उनको उत्तर-दक्षिण बतलाती रहती है। ठीक उसी प्रकार इस संसार-समुद्रमें नाम-जप, ध्यान, प्रार्थना साधकके लिये दिशाबोधक कम्पासका काम करेंगे और उस दिशामें यदि प्रयत्नपूर्वक आगे बढ़ते रहें तो शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति हो जायगी।

सांसारिक कर्तव्य और साधना—साधकको जगत्‌के कर्तव्योंका पालन करना चाहिये, परंतु अपना ममत्व केवल ईश्वरमें ही रखना चाहिये। वे कहते थे कि भगवान्‌से अपना सम्बन्ध जोड़ लो और उनपर निर्भरता लाओ तथा सभी काम उन्हींके मानकर साधना करते रहो। तुम्हारे कल्याणके सभी सुयोग वे स्वयं जुटा देंगे।

तीर्थ-भ्रमण—परमहंसदेव कहते थे कि तीर्थस्थलों और मन्दिरोंको देखकर, अवतारोंके चित्र देखकर, गङ्गाके दर्शनकर, कथा सुनकर, भक्ति-संगीत सुनकर साधकके मनमें एक सात्त्विक उद्दीपना उद्दीप्त होती है और साधकका जीवन सबल, सरस बना रहता है तथा साधनामें ऊब नहीं आती। इसी प्रकार निरन्तर प्रयत्नपूर्वक आसक्तिरहित साधनाका अभ्यास करते-करते अन्तमें साधकको स्वरूपावस्थितितककी प्राप्ति हो जाती है और फिर कुछ प्राप्त-प्राप्तव्य, ज्ञात-ज्ञातव्य शेष नहीं रह जाता।

सूफी-सम्प्रदायमें हठयोग

(डॉ० श्रीरामस्वरूपजी आर्य, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

सूफी-सम्प्रदायमें हठयोगका विशेष महत्त्व है। राजयोग अर्थात् ईश्वर-प्राप्तितक पहुँचनेमें इसे परम सहायक माना गया है। 'सिद्धसिद्धान्त-पद्धति' में 'ह' का अर्थ सूर्य तथा 'ठ' का अर्थ चन्द्र बतलाया गया है। इस प्रकार सूर्य और चन्द्रके योगको हठयोग कहते हैं।

हकारः कथितः सूर्यः ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते॥

—इस श्लोकके सूर्य तथा चन्द्र शब्दोंकी व्याख्या विभिन्न प्रकारसे की गयी है। एक व्याख्याके अनुसार सूर्यसे तात्पर्य प्राणवायु तथा चन्द्रका अपान वायुसे है। अतः प्राणायामद्वारा उक्त दोनों प्रकारकी वायुका निरोध हठयोग है। दूसरे मतके अनुसार सूर्य इडा तथा चन्द्र पिङ्गला नाडियोंका प्रतीक है। इसपर नियन्त्रण करके सुषुम्ना-मार्गसे प्राणवायुको संचरित करना हठयोग कहलाता है। सूर्य और चन्द्रमाको नामान्तरसे गङ्गा-यमुना भी कहा गया है, जो क्रमशः इडा और पिङ्गलाके प्रतीक हैं।

सूफी-सम्प्रदायके सुमेरु-मणि मलिक मुहम्मद जायसी-द्वारा रचित 'पद्मावत' यद्यपि एक प्रेम-काव्य है तथापि उसमें हठयोगका सम्यक् प्रतिपादन हुआ है। नागमती-पद्मावती-विवादके प्रसङ्गमें राजा रत्नसेन उन्हें समझाता है—

तुम्ह गंगा जमुना दुइ नारी लिखा मुहम्मद जोग।
सेव करहु मिलि दूनहुँ औ मानहु सुख भोग॥

(पद्मावत, दोहा ४५)

सूफी कवि उसमानके अनुसार जबतक उस परम तत्त्वका ध्यान नहीं किया जाता, तबतक उसके दर्शन नहीं हो सकते। उस परम रूपका प्रतिबिम्ब हृदयमें ही है। उसके बिना तो संसारमें जीवन ही नहीं है। गुरुके वचनोंको अञ्जनके रूपमें आँखोंमें आँज लो, हृदयरूपी दर्पणको माँज लो, सांसारिक माया-जालको भस्म कर दो, तभी उस परम तत्त्वके प्रतिबिम्बके दर्शन हो सकेंगे—

जौलौं ध्यान धरै नहिं कोई। तौलौं दरस न प्रापत होई॥
घटमें परम रूप परछाहीं। जा बिनु जग महँ जीवन नाहीं॥
गुरू वचन चषु अंजन देहु। हिया मुकुर मजन करि लेहु॥
माया जारि भसम कै डारौ। परम रूप प्रतिबिंब निहारौ॥

(चित्रावली, पृष्ठ ९१)

संत नूर मुहम्मद उस परम ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये अहं-भावके त्यागको आवश्यक मानते हैं। वे कहते हैं कि योगसाधक निजको भुलाकर ध्यानमग्न हो तपस्या करे, अभिमान त्यागकर हृदयसे समर्पण करे तथा एकाकी रहकर स्नेह-गुरुका शिष्यत्व ग्रहण कर अपने अन्तःकरणको निर्मल करे, तभी सोलह कलाओंवाले सूर्यका उदय होगा—

जब लगि है आपा महँ कोई। तब लगि ताको दरस न होई॥
ध्यान लगावै करै तपस्या। तजै दर्प, चित देइ नमस्या॥
ध्यान दिये नित्त रहै अकेला। होइ सनेह गुरूपका चेला॥
अन्तःकरन करै निरमला। उबै तबै रवि सोरह कला॥

(अनुराग बाँसुरी, पृ० १४)

मलिक मुहम्मद जायसीने भी परम प्रभुसे एकत्व-प्राप्ति-हेतु द्वैत-भाव त्यागनेकी बात कही है—

एकहिं तें दुइ होइ, दुइ सों राज न चलि सकै।
बीच तें आपुहि खोइ, मुहमद एकहि होइ रहु॥

(अखरावट, सोरठा १५)

पद्मावतमें नव इन्द्रिय-द्वारोंके साथ दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्रका भी विस्तृत वर्णन मिलता है। पद्मावतीके प्रेममें अनुरक्त योगी रतनसेनको साक्षात् भगवान् शिव इस प्रकार उपदेश देते हैं—

गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया। पुरुष देखु ओही कै छाया॥
पाइय नाहिं जूझ हठि कीन्हे। जेइ पावा तेइ आपुहि चीन्हे॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मझिआरा। औ तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा॥
दसवँ दुआर गुपुत एक ताका। अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँका॥
भेदै जाइ सोइ वहि घाटी। जो लहि भेद चढ़ै होइ चाँटी॥
गढ़ तर कुंड सुरंग तेहि माहाँ। तेहि मँह पंथ कहौं तोहि पाहाँ॥
चोर बैठ जस सेंध सँवारी। जुआ पैंत जस लाव जुआरी॥
जस मरजिया समुद धँस, हाथ आव तब सीप।
ढूँढ़ि लेइ सरग-दुआरी चढ़ै सो सिंहल दीप॥

(पद्मावत, दोहा २१५)

यहाँ सिंहलद्वीपकी तुलना शरीरसे की गयी है, जिसमें नव इन्द्रिय-द्वार हैं। दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र गुप्त है, जिसकी चढ़ाई अगम्य है। उसको वही भेद पाता है, जो उसका रहस्य प्राप्त करके उसपर पिपीलिका-गति (चींटीकी चाल) से चढ़ता है। गढ़के नीचे एक कुण्ड (कुण्डलिनीका स्थान) है। उसीसे गढ़के ऊपर जानेका मार्ग है। जैसे चोर सावधानीपूर्वक सेंध लगाता है, जुआरी दाँव लगाता है, गोताखोर सागरमें डुबकी लगाता है, उसी प्रकार साधकको भी ब्रह्मरन्ध्रतक पहुँचनेके लिये एकाग्रचित्त होना पड़ता है।

जायसीने सिंहलद्वीपके वर्णनमें सात खण्डोंकी चढ़ाईका वर्णन किया है। ये सात खण्ड शरीरस्थ सात चक्र हैं। उस 'सरग-पंथ' पर पैर बढ़ाकर जीते-जी कोई नहीं लौटा—

कहौं सो तोहि सिंहलगढ़, हैं खंड सात चढ़ाव।
फिरा न कोई जियत जिउ, सरग-पंथ देइ पाँव॥

(पद्मावत, दोहा २१४)

हठयोगके काय-साधनमें कठोर साधनाओंके क्रममें गगन-दृष्टि अथवा उलटी दृष्टिका भी उल्लेख किया गया है। जायसीने दशम द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) को ताड़के सदृश ऊँचा बताया है। वे कहते हैं कि जो दृष्टिको उलट कर देखता है, वही उसे सम्यक् रूपेण देख पाता है। वहाँ वही पहुँच पाता है, जो साँसको रोककर (प्राणायाम साधकर) जाता है—

दसवँ दुआर ताल कै लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा॥
जाइ सो तहाँ साँस मन बँधी। जस धँसि लीन्ह कान्ह कालिंदी॥

(पद्मावत, दोहा २१६। १-२)

ज्ञानका उदय होनेपर साधककी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है और वह आत्म-चिन्तनमें लीन हो जाता है।

छान्दोग्योपनिषद्के अनुसार—'**अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति।**' अर्थात् उस ब्रह्मकी इस नगरीमें एक सूक्ष्म कमलाकार-स्थान है, उसके भीतर जो छोटा-सा आकाश है, उसमें जो है, उसे उसका अन्वेषण करना चाहिये और उसीकी जिज्ञासा करनी चाहिये। जायसीका वर्णन भी प्रायः इससे मिलता-जुलता है। उनके विचारमें साढ़े तीन हाथका यह शरीर-रूपी सरोवर है। उसीमें हृदयरूपी कमल विद्यमान है। वह नेत्रोंके समीप है, किंतु हाथोंकी पहुँचसे दूर है—

अहुठ हाथ तन सरवर हिया कँवल तेहि माँह।
नैनन्हि जानहु निअरें कह पहुँचत अवगाह॥

(पद्मावत, दोहा १२१)

सूफी-साधनाके अनुसार लक्ष्यकी प्राप्तिके मार्गमें चार पड़ावोंका उल्लेख मिलता है। ये चार पड़ाव हैं—(१) नासूत, (२) मलकूत, (३) जबरूत और (४) लाहूत। जायसीने 'चारि बसेरे' द्वारा इनकी ओर संकेत किया है—

नवौं खंड नव पौरी औ तहँ वज्र केवार।
चारि बसेरे सों चढ़ै सत सों उतरै पार॥

(पद्मावत, दोहा ४१)

वे इन्हें ही '***करम धरम सत नेम***' से भी स्पष्ट करते हैं—

दस महँ एक जाइ कोइ, करम धरम सत नेम।

(पद्मावत, दोहा १४८)

सूफी-साधनाका चरम लक्ष्य है मोक्षकी प्राप्ति। जहाँ सदैव सुखका वास है, जहाँ मृत्युका भय नहीं रहता। महान् साधक ही इसे प्राप्त करते हैं—

तेहि पावा उत्तिम कैलासू। जहाँ न मीचु सदा सुखवासू।

(पद्मावत, दोहा १४६। ६)

जायसी आगे कहते हैं कि प्रभु-प्रेमके मार्गमें जबतक कोई स्वयंको चून (चक्कीमें पिसे आटे)के समान नहीं बना लेता, तबतक रंगमें चमक नहीं आ सकती। ठीक उसी प्रकार जैसे पानमें सुपारी और कत्था डाल दिया जाय, किंतु जबतक उसमें चूना नहीं पड़ता तबतक रंग नहीं रचता—

पान सुपारी खैर जिमि मेरइ करै चकचून।

तब लगि रंग न राचै, जब लगि होइ न चून॥

(पद्मावत, दोहा ३०८)

सूफी-सम्प्रदायमें आत्मलयको 'फना' तथा ईश्वरीय व्यक्तित्वकी प्राप्तिको 'बका' कहा गया है। ये दोनों अभाव और भावरूप एक ही अवस्थाके दो स्वरूप हैं। अपना वास्तविक परिचय प्राप्त होनेपर यह आत्मा मौन-रूप हो जाता है। यह मौनरूपता ही अभाव है। साथ ही वह एक ऐसा यन्त्र-रूप धारण कर लेती है, जिसका निनादी वही परम रूप है, जिसमें लीन होनेपर वह मौन-रूप हो गयी है। यह भावरूपताकी उच्च स्थिति है। इसे 'पुराने लोय' (अनुभवी साधक) ही जानते हैं—

'ताल् कल्ल' दोऊ कहै, ब्यौरा बूझे कोय।
एक 'बका' एक 'फना' है, पेम पुराने लोय॥

(शाह बरकतुल्ला—प्रेम प्रकाश, पृष्ठ २९)

दिव्य जीवनका योग

[श्रीअरविन्दके पूर्णयोगका विहङ्गम परिचय]

(श्रीदेवदत्तजी)

श्रीअरविन्दने योगको समग्र अर्थमें लिया है। उनके लिये सम्पूर्ण जीवन ही योग है। जीवन और जगत् किसी मिथ्या या अनित्यकी अभिव्यक्ति नहीं, परात्परका ही अभिव्यक्त स्वरूप है।

यहींपर परात्परकी जिज्ञासा प्रारम्भ होती है। श्रीअरविन्द यह बताते हैं कि पृथ्वी और मानव अन्धकारके किसी निरुद्देश्य बन्धनमें नहीं जकड़े हैं जिससे मुक्त होना ही परम पुरुषार्थ हो बल्कि इस जडत्वके सचेत होनेकी प्रक्रियामें प्रकृतिने अपने विकासके वर्तमान स्तरपर उस सचेत सत्ताको अभिव्यक्त किया है जो मध्यवर्ती है। उसका आवरण तो जडका है, व्यवहारकी इन्द्रियाँ उसके अधिकारमें नहीं हैं, किंतु आत्माके स्तरपर वह अभीप्सु है कि आत्मज्ञानकी डोर पकड़कर दिव्यत्वकी ओर पग बढ़ा सके? यही अभीप्सा उत्क्रान्तिकी जननी है। यही मानवको चुनावका अधिकार देती है कि आत्मज्ञानके बिना क्या वह संतुष्ट हो सकता है? अभीप्सा ही वह गुण है जिसके आधारपर मानव सचेतन रूपसे दिव्यत्वकी दिशाका चुनाव करता है, उसकी ओर कदम बढ़ाता है और प्रारम्भ होती है योगकी साधना।

श्रीअरविन्द योगके साधन बताते हुए कहते हैं कि आत्मामें स्थित भगवान् ही साधकके गुरु हैं। आत्मा ही शास्त्र है और अनन्ततक यात्रा ही पाथेय है। भगवान्‌के प्रति समर्पण ही वह कुंजी है जिससे साधककी अभीप्सा भगवान्‌की इच्छाशक्तिको जीवनमें उतारनेका मार्ग खोलती है। एकमेवाद्वितीयम्‌का लीलासहचर बनना ही जहाँ सार्थकता है, वहाँ साधकका व्यक्तिगत मोक्ष बहुत पीछे छूट जाता है।

इन सभी सत्योंके साथ तादात्म्यके लिये मनुष्यको भगवान्‌ने चुनावकी शक्ति दी है। मानव-देहमें ही आकर चेतनाने सभी क्षेत्रोंमें विवेकके आधारपर चुनावकी क्षमता पायी है और उसे अधिकार भी है कि वह इसका उपयोग इन्द्रियोंके साथ उपादानोंके सम्बन्धको जोड़नेमें लगाये अथवा भगवान्‌के साथ लगाये। अभीप्सा तब प्रारम्भ होती है जब भगवान्‌की प्राप्ति और जीवनमें अभिव्यक्ति ही रसका एकमेव स्रोत बच जाय, बाकी सभी सूख जाय। फिर अभीप्सा योगपथका पाथेय बनकर चेतनाका मार्गदर्शन करती है कि वह भगवत्कृपाको ही देखे, सुने और चुने।

इस अभीप्साका सम्बल लेकर प्रथम पग उठाते ही प्रारम्भ होता है भगवान्‌के प्रति समर्पण। कोटि-कोटि योनियोंसे विकासके पथपर चलती हुई चेतना मानवदेहमें पहुँचते-पहुँचते उनके संस्कारोंको भी साथ लाती है और मानवदेह पाशविक शक्तियोंके अधीन होनेके कारण ये संस्कार ही अहंकारके रूपमें अपनेको अभिव्यक्त करते हैं। सामान्य जीवन जीनेवालोंके लिये यह तत्त्व इसलिये उपयोगी है कि वह उन्हें केन्द्रित रखता है, किंतु योग-पथपर केन्द्र जब भागवत-चेतना हो जाती है तो यह अहंकार मार्गकी बाधा बनकर खड़ा होता है। अतः अहंका समर्पण पूर्णयोगकी साधनामें महत्त्वपूर्ण बन जाता है। पूर्णयोगमें पूर्णसमर्पणका अर्थ है अपनी सत्ताके प्रत्येक भागसे अहंकी ग्रन्थिको काट डालना और उसे मुक्त कर पूर्णरूपेण भगवान्‌को समर्पित कर देना। यह समर्पण

किसी एक स्तर या सत्ताके विशेष भागमें होनेसे आगेका मार्ग नहीं मिलता। इसे मन, प्राण, शरीर—इनके प्रत्येक भागको समर्पित करना होगा और इनकी प्रणालीको दिव्य जीवनकी प्रणालीमें परिवर्तित करना होगा। अकुण्ठ-समर्पण और अन्तिम रूपसे अपनी चेतनाके सर्वोच्च शिखरसे लेकर अचेतनाके सारे कलुष, देहके कोषोंमें छिपी सारी पशुता सभीको भगवान्‌को समर्पित करना होगा।

आत्मार्पणके लिये प्रणिपात, समस्त सत्ताका उद्‌घाटन और प्रभुका अकुण्ठ प्रेमाश्रय—ये सहायक सोपान हैं, जो चेतनाके परिवर्तनमें परम सहायक हैं। इस कार्यमें अनेक जीवन भी लग सकते हैं और एक क्षणमें भी यह सिद्ध हो सकता है, किंतु इस क्षणका चुनाव भगवान् करते हैं, साधक नहीं। साधकको अनन्त कालतक प्रतीक्षाके लिये तैयार होना होगा। श्रीमाँने इस पथके विषयमें स्पष्ट किया है—इस पथपर चलनेके लिये तुम्हारे पास होनी चाहिये आतङ्करहित वीरता, भय नामक जो हीन, तुच्छ, घृण्य वृत्ति है, उसके कारण तुम्हें कभी पीठ नहीं दिखानी चाहिये।

तुम्हारे अंदर होना चाहिये दुर्दमनीय साहस, पूर्ण निष्ठा, ऐसा सर्वाङ्गपूर्ण आत्मदान जिसमें तुम हिसाब-किताब नहीं लगाते या मोल-भाव नहीं करते, तुम पानेकी भावनाका साथ नहीं देते, सुरक्षित रखे जानेके उद्देश्यसे अपनेको अर्पित नहीं करते, तुम ऐसी श्रद्धा नहीं रखते जिसे प्रमाणकी आवश्यकता हो। बस यही इस पथपर अग्रसर होनेके लिये अनिवार्य है। केवल यही समस्त विपत्तियोंसे तुम्हारी रक्षा कर सकती है।

सच्ची अभीप्सा, समर्पण और परित्याग—ये त्रिविध कवच साधकको आवश्यक हैं। इस आधारके निर्माणमें चाहे जितना समय लगे, चाहे जो समस्याएँ आयें, किंतु इनके बिना श्रीअरविन्दके पूर्णयोगकी साधना और रूपान्तरको लक्ष्य बनाकर दिव्य जीवनके हेतु किये गये सारे प्रयास निष्फल ही होंगे।

विचारोंकी चञ्चलता साधकोंके लिये आवेगोंके समान ही कष्ट देती है, अतः मनको उनसे निर्लिप्त रख उनका निरीक्षण करना और इस सत्यका साक्षात्कार करके कि विचार मनमें पैदा नहीं होते, बल्कि बाहरसे आते हैं, उनका उचित उपयोग करते हुए उनसे व्यवहार करना मानसिक आधारको साधनाके लिये तैयार करनेमें सहायक हैं।

श्रीअरविन्दका योग चेतनाको मनसे उठाकर अतिमनमें प्रतिष्ठित करना चाहता है। अतः इसे मानसिक स्तरकी सारी सिद्धियों और सम्पदाओंको अपना लक्ष्य नहीं मानना होगा। चेतनाके विकासके साथ जैसे चेतनाके आधार अर्थात् शरीरका विकास होता है, उसी तरह मनका भी विकास होता है और मानव-शरीरमें निवास करनेवाली चेतनामें प्रायः यह क्षमता सहज हो जाती है कि वह आत्माकी कल्पना कर सके। मनुष्येतर प्राणियोंके मनके विकासकी स्थितिमें आत्माके ज्ञान या कल्पनाका प्रायः प्रश्न ही नहीं उठता। आत्माके विषयमें कल्पनाकी क्षमता ही मनको संकल्पकी शक्ति देती है। आत्मज्ञानके लक्ष्यका चुनाव, आत्माकी प्राप्तिहेतु संकल्प ही साधकको साधनाकी क्षमता प्रदान करता है।

यही संकल्प जब भगवान्‌के प्रति निष्ठामें विकसित होता है तो श्रद्धा, निष्ठा और समर्पणमय अन्तःकरणका प्रादुर्भाव होता है, जहाँ परमाशक्ति अदिति अपना निवास बनाकर साधकको संचालित कर सके।

साधनाके इस अधिष्ठानसे साधना जिस लक्ष्यके लिये आगे बढ़ती है, वह लक्ष्य है अतिमानस। यह लक्ष्य इतना व्यापक है कि श्रीअरविन्दके योगको अतिमानसिक योग भी कहा जाता है। अतिमानस उत्क्रान्ति या विकासकी प्रक्रियामें अवतरित होनेवाला वह तत्त्व है जो मनसे उत्पन्न होनेवाली सारी समस्याओंका समाधान है। किंतु आज आत्माके प्रकाशके कारण हम उसका झलक मात्र प्राप्त कर सकते हैं। जैसे लाखों वर्ष पूर्व कुछ बंदर एकत्र होकर सोचते हैं कि मानव क्या-क्या कर सकता है, तो उनकी कल्पना मानसिक जगत्‌के निर्माणसे एकदम भिन्न होती, उसी प्रकार मानव भी अतिमानसिक चेतनाकी कल्पना नहीं कर सकता। वहीं भागवत प्रकृतिकी पूर्ण चेतना अवस्थित है, जिसमें विभाजन और अज्ञानके लिये कोई स्थान नहीं रह सकता। वह है पूर्ण ज्योति जो सच्चिदानन्दके आलोकसे प्रकाशित है। पशुत्व और विकासके सभी संस्कार उससे छूट गये हैं। वह ज्ञान तादात्म्यसे प्राप्त करता है। उसकी देह अतिमानसिक स्थितिमें वह दिव्यत्व प्राप्त कर लेती है, जहाँ जरा और मरण छूट जाते हैं, किंतु देह बंदीगृह नहीं होती। भगवान्‌की लीलामें इसका

परिवर्तन सचेत-रूपसे सम्भव होता है।

श्रीअरविन्दके योगमें यह ज्ञान भी स्पष्ट है कि अतिमानस अगला कदम है, किंतु अन्तिम नहीं है। अतिमानसमें भी चार सोपान हैं—१-सरभा, २-सरस्वती, ३-इला और ४-दक्षिणा। नित्य लीलामय सच्चिदानन्द तो इन सबमें लीलाओंका प्रकाश करते हुए भी और आगे हैं।

लक्ष्यका ज्ञान या ज्ञानकी कल्पना पानेके बाद साधकको स्पष्ट होना चाहिये कि वह कहाँ है। आत्म-प्रवञ्चना और साधना दोनों विपरीत तत्त्व हैं। योग जीवनसे ही प्रारम्भ करना होगा, कुछ घंटे जप-तप, ध्यान और बाकी समय अहंकारकी गतिविधियोंमें डूबे रहना अर्थात् जीवनको भगवान्‌से बचाये रखना, श्रीअरविन्दके योगमें काम नहीं आता। जीवनका सच्चा उद्देश्य है भगवान्‌के लिये जीवन-यापन, सत्य और अन्तरात्माके लिये जीवन-यापन। यथार्थ सचाई है कि भगवान्‌के लिये जीवन अर्पितकर इसे भागवतजीवन बनाना, बदलेमें उनसे कभी भी लाभकी आशा नहीं करनी चाहिये।

भागवत-जीवनका आधार है मन। यही वह इन्द्रिय है, जहाँसे भगवान्‌की ओर सबसे अधिक सचेत और अन्य इन्द्रियोंपर संयम और रूपान्तरकी साधना हो सकती है। अतः इसके विकास और दिव्य होनेके साथ-साथ न केवल इन्द्रियोंपर प्रभाव पड़ेगा बल्कि अवचेतन और अचेतनतामें जहाँ भगवान्‌के प्रभावका विस्तार होगा, वहीं भूततत्त्वकी मूलाधार चेतना भी परिवर्तित होगी। इस परिवर्तनका प्रभाव है मनका उत्तरोत्तर आरोहण।

साधककी सत्ताके प्रत्येक स्तर भौतिक, प्राणिक एवं मानसिक सभी स्तरोंकी परस्पर सम्बन्ध चेतनाके कारण जब साधक मनसे उठकर उच्चतर मनमें प्रतिष्ठित होता है तो वह वृत्तियों और आवेशोंसे अलग होकर विशुद्ध ज्ञानके प्रभावसे जीवनको संचालित करना प्रारम्भ कर देता है, वह साक्षी भी होता है और भोक्ता भी। वह मन, प्राण, अन्नके कोषोंका स्वामी हो जाता है।

फिर आरोहण होता है प्रकाशित मनमें। साधनाके इस स्तरपर मन अज्ञानसे विभाजित ज्ञान और फिर अखण्ड ज्ञानकी ओर नहीं जाता, बल्कि वह ज्ञानको चेतनाके स्तरपर ही प्राप्त कर लेता है। सत्य उसके लिये मूर्त है, आविष्कारकी आवश्यकता नहीं है। प्रकृति यहाँ दिव्य हो उठती है। अवचेतन तथा अचेतनतक दिव्य ज्योतिसे उद्भासित हो उठते हैं।

इसके बाद मनका विकास होता है सम्बोधि मानसमें, जहाँसे सच्चिदानन्दकी झलक चेतनामें कौंध उठती है। मन विश्वमानससे एकाकार हो उठता है, भगवदानन्दका स्वाद मन चख लेता है। प्रकृतिकी निश्चेतनामें भी अनन्तका ज्ञान प्रेम रिसने लगता है और साधनाकी यात्रा अज्ञानसे ज्ञानकी ओर नहीं बल्कि ज्ञानसे विज्ञानकी ओर प्रयाण करती है।

इस प्रयाणका अगला कदम है अधिमानस जो वर्तमानमें विकसित हो रहे विश्वको धारण करता है। इसीसे दिव्यत्व इस परार्धमें शतधा विभक्त रहता है। यहीं एकत्व बहुत्वमें बदल जाता है फिर भी सामञ्जस्य बना रहता है। यहाँ पूर्णता प्रकट हो जाती है, विश्वका विज्ञान साधकको करतलगत हो जाता है। साधना देहके कोषोंमें भी भागवत-रूपान्तर प्रारम्भ होनेकी आशा जगाती है। यहींपर मृत्यु, अज्ञान तथा अन्धकारपर विजयका मार्ग खुलता है और वह सब कुछ सम्भव दिखायी देने लगता है जो अतिमानसमें है अर्थात् मृत्युपर विजय, सचेत रूपसे दिव्य देहमें परिवर्तनकी क्षमता, सच्चिदानन्दका सृष्टिमें यन्त्र बननेकी क्षमता और दिव्य जीवनका देहजीवनमें पूर्णावतरण।

चक्रोंका उद्‌घाटन पूर्णयोगमें अवतरण करती हुई भगवत्-शक्तिसे होता है और अतिमानसिक चेतना अभीतक शरीरमें अवस्थित नहीं है, अतः सहस्रारचक्रका उद्‌घाटन अधिमानसिक चेतनाकी प्राप्तिमें स्वयं होता है। इस प्रक्रियामें इन चक्रोंमें दिव्य चेतनाके अवतरणकी ही प्रधानता है।

संक्षेपमें श्री अरविन्द-योगका लक्ष्य जडका दिव्य जीवनमें रूपान्तरण है तथा परा और अपरा प्रकृतिके भेदको समाप्त कर दिव्य प्रकृति, दिव्य मन और दिव्य जीवनकी प्रतिष्ठा प्राप्त करना है।

वेदोंके प्रवचनसे, अच्छी धारणासे और बहुत शास्त्रोंके ज्ञानसे ही परमात्मा नहीं मिलता, वह जिसपर कृपा करता है, उसीके सामने अपना रूप प्रकट करता है।—उपनिषद्

ईसाई-धर्ममें योगका स्थान

(रेवरेंड एड्विन ग्रीब्ज)

'योग' शब्दका प्रचलित अर्थ ईश्वरके साथ एकता प्राप्त करना ही नहीं है, अपितु उससे उन साधनोंका भी बोध होता है जो उक्त ध्येयकी प्राप्तिमें उपयोगी माने जाते हैं।

परमात्माके साथ एकता करनेके कई अर्थ हो सकते हैं और विचारकके मनमें परमात्माका जो स्वरूप होगा, उसीके अनुसार उसकी एकताका स्वरूप भी होगा।

कुछ लोगोंके मतमें 'एकता' का अर्थ लीन हो जाना है अर्थात् वह अवस्था जिसमें अपना कोई भिन्नत्व रह ही नहीं जाता, वह उस परमात्माका ही एक अङ्ग बन जाता है जिसमें वह लीन हो जाता है—वह परमात्मासे अभिन्न ही नहीं हो जाता बल्कि उसके साथ ऐसा घुल-मिल जाता है कि फिर उसका पृथक् अस्तित्व ढूँढ़नेपर भी ध्यानमें नहीं आता। इसे हम एकताकी पराकाष्ठा कह सकते हैं। इससे नीचे उतरकर लोगोंने एकताकी कई श्रेणियाँ मानी हैं। परंतु कदाचित् उन सभी श्रेणियोंमें योग करनेवालेकी पृथक् सत्ता किसी-न-किसी अंशमें अवश्य रह जाती है—वहाँ एकताका स्वरूप अभिन्नता न होकर अविसंवाद अथवा मेल ही होता है। एकताका अर्थ है परमात्माके साथ एकमन हो जाना—परमात्माके संकल्पके साथ अपने संकल्पको मिला देना। साधक परमात्माकी प्रभुता और सुहृदताको समझकर अपनी दृष्टिको बदलनेकी, अपने भावको परिवर्तित करनेकी तथा अपनी निजी कल्पनाओं और जनसमाजकी युक्तियों और योजनाओंको परित्यागकर, जिनका साधारण जनता अनुगमन करती है, परमात्माके संकल्पों और अभिसन्धिका अनुसरण करनेकी चेष्टा करता है। हम परमात्माके संकल्पोंके अनुसरण करनेकी बात हेतुपूर्वक कह रहे हैं, न केवल किसी मत-विशेषका उपन्यास कर रहे हैं, न किसी ऐसे सिद्धान्त-वाक्यको दोहरा रहे हैं जिसका अर्थ तो हम न जानते हों और केवल इसलिये ठीक समझते हों कि वह भगवद्वाक्य है। एकताका अर्थ है परमात्माके प्रति इस प्रकार प्रेमपूर्वक आत्मसमर्पण करना कि जिससे हमारा चित्त उनकी दिव्य ज्योतिसे जगमगा उठे, हम हृदयसे वही चाहें जो उन्हें प्रिय हो और प्रतिदिन हर घड़ी अपना आचरण एवं व्यवहार ऐसा प्रशस्त एवं परिष्कृत बनानेकी चेष्टा करें कि जिससे मनुष्यका मनुष्यके साथ कैसा बर्ताव होना चाहिये, इसका ईश्वरीय आदर्श हमारे सामने मूर्तिमान् होकर खड़ा हो जाय।

एक सच्चे ईसाईका अपने भगवान्के साथ किस प्रकारका सम्बन्ध होना चाहिये, इस विषयमें ईसामसीहके उपदेशोंका स्थूल आशय स्पष्ट ही है। स्वयं उनका अपने परमपिताके साथ जो सम्बन्ध है, उसमें कई बातें बिलकुल निराली हैं, जिनके कारण उस सम्बन्धके स्वरूप और लक्षणोंके निर्देश करनेमें बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ता है। जहाँ हमारे प्रभुने 'मैं और मेरे पिता एक ही हैं।' (I and my Father are one.) इस प्रकारके वाक्य कहे हैं, वहाँ तो यह कठिनाई और भी सुस्पष्ट हो जाती है, एक तरफ तो उनका सम्बन्ध हमें इतना घनिष्ठ प्रतीत होता है कि उसे समझानेके लिये हमें मानव-जगत्में कोई उदाहरण ढूँढ़नेपर भी नहीं मिलता। किन्हीं दो मनुष्योंमें मन और हृदयकी कैसी ही एकता, अभिन्नता क्यों न हो, वह उसकी तुलनामें नहीं ठहर सकती। दूसरी ओर हम उपर्युक्त वाक्यका अद्वैतपरक अर्थ भी नहीं कर सकते, क्योंकि उस हालतमें 'मैं और मेरे पिता' इस प्रकारका द्वैत नहीं रह सकता। यह एक ऐसा सम्बन्ध है जिसका निर्देश हो सकता है अर्थात् अद्वैत नहीं है, दोनोंमें घनिष्ठ संयोग है, किंतु सर्वथा अभेद नहीं।

अब रही परमात्माके साथ हमारे सम्बन्धकी बात, इस विषयमें ईसामसीहका सिद्धान्त सुतरां स्पष्ट है। बाइबिलमें एक भी वाक्य ऐसा नहीं मिलेगा जिसमें अस्पष्टरूपसे भी यह संकेत किया गया हो कि ईसाइयोंका ध्येय परमात्मामें मिल जाना है। बाइबिलमें एकताका जो वर्णन मिलता है उसका अर्थ है परमात्माकी इच्छाको जीवनका संचालक एवं पथप्रदर्शक मानना, अपने-आपको ईश्वरके मन तथा अभिसंधिमें मिला देना और मनमें इस बातका निश्चय रखना कि मनुष्यका परम ध्येय यही है और उसीमें आनन्दित होना। महात्मा पॉलके पत्रोंमें इस प्रकारके वाक्य मिलते हैं जिनका भाव है—मैं जीता हूँ पर अब मैं नहीं, मेरे अंदर ईसामसीह जीते हैं। (I live and yet no longer I, but christ liveth in me.) परंतु इस प्रकारके वाक्यका सम्भवतः कोई भी इससे

अधिक अर्थ नहीं लगायेगा कि यह कहनेवाला पुरुष ईसामसीहको अपना गुरु मानकर उनकी सर्वतोभावेन वश्यता स्वीकार करता है, अपनेको ईसामसीहके संचालनमें रखकर उन्हींसे शक्तिसंचार, योगक्षेम एवं अनुग्रहकी आशा रखता है। उसीके आगे ये शब्द मिलते हैं—'और अब जो जीवन इस शरीरमें है वह उन्हीं ईश-पुत्रमें विश्वासका जीवन है, जिन्होंने मुझे प्यार किया और मेरे लिये अपने-आपको दे दिया।' 'and that life which I now live in the flesh, I live in faith, The faith which is in the son of God, who loved me and gave Himself for'. रहस्यवादियों (Mystics) में कुछ लोग अवश्य ऐसे मिलते हैं जो परमात्मामें लीन हो जानेको ही ईसाईजीवनका एकमात्र परमपुरुषार्थ मानते हैं। परंतु यह सिद्धान्त अपवादस्वरूप ही है, बहुसंख्यक ईसाई स्त्री-पुरुषोंके साधारण विचार इस प्रकारके नहीं हैं। एक ईसाईके जीवनकी चरितार्थता परमात्माके साथ एक हो जानेमें नहीं है, बल्कि उनके साथ पूर्ण साहचर्यमें है।

प्रस्तुत लेखके आलोच्य विषयका दूसरा अंश है 'वे साधन जिनके द्वारा ईश्वरका साहचर्य प्राप्त हो सके।' इस सम्बन्धमें लोगोंने समय-समयपर कई तरहके विचार प्रकट किये हैं, परंतु इस विषयमें कोई ऐसा सिद्धान्त सामने नहीं रखा जा सकता जो सर्वमान्य हो।

अधिक ध्यान देनेयोग्य बात तो यह है कि बाइबिलमें प्रभुका जो जीवनवृत्तान्त तथा उपदेशोंका संग्रह है, उसमें ऐसी किसी बातका उल्लेख बहुत ही कम है जिसका योगसम्बन्धी साधनाओंसे निकट सम्बन्ध हो। उपदेश-कार्य आरम्भ करते समय ईसामसीहने चालीस दिनका उपवास किया था, ऐसा वर्णन मिलता है, किंतु उन्होंने इस तपको किसी साधनके रूपमें किया हो ऐसा नहीं मालूम होता, बल्कि कुछ समयतक वे अकेले जंगलमें रहे थे और वहाँ वे अपने भावी उपदेश-कार्यको सोचनेमें इतने तल्लीन हुए कि उन्हें खाने-पीनेकी सुध भी न रही। एकाध जगह अवश्य 'प्रार्थना और उपवास' का उल्लेख आता है और ऐसा भी वर्णन मिलता है कि प्रभु कभी-कभी एकान्तमें बैठकर प्रार्थना तथा ध्यानके लिये समय निकाला करते थे, परंतु साधारण तौरपर हमारे प्रभुके जीवनमें तथा उनके उपदेशोंमें योग-साधनाकी आवश्यकताके सम्बन्धमें एक भी प्रमाण नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि वे सादा एवं साधारण मनुष्योंका-सा जीवन व्यतीत करते थे तथा सामान्य कोटिके स्त्री-पुरुषोंसे निःसंकोच होकर मिलते थे, यहाँतक कि उन्हें सामाजिक उत्सवोंमें भी सम्मिलित होनेमें किसी प्रकारका संकोच नहीं होता था। उनकी दृष्टिमें ध्यान कोई बाह्य साधन नहीं है, अपितु मनकी वृत्तिको अनवरतरूपसे भगवान्‌की ओर लगानेका नाम है जिससे कि जीवनमें अव्यक्त जगत्‌के सनातन सत्य तत्त्वोंकी संनिधिका अनुभव होने लगे। 'वसुन्धरा भगवान्‌की है और भगवान्‌की साङ्गता है।' भगवान्‌ने मनुष्यके ही उपयोग एवं भोगके लिये सारे भौतिक पदार्थोंकी रचना की है। इसलिये उनका परित्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है केवल इस बातको ध्यानमें रखनेकी कि कहीं ये पदार्थ हमारे सिरपर सवार होकर हमें अपने अधीन एवं वशवर्ती न कर लें, हमें अपना गुलाम न बना लें। मनुष्यको चाहिये कि वह वस्तुओंका यथार्थ मूल्य आँकना, उनके गुण-दोषोंका विवेचन करना सीखे, आध्यात्मिक एवं सनातन तत्त्वोंका आधिभौतिक एवं जागतिक तत्त्वोंके द्वारा पराभव न होने दे। प्रार्थना, निर्भयता, वश्यता, (ईश्वर एवं मनुष्यमात्रके प्रति) प्रेम—ये ही योगसाधनाएँ हैं, जिन्हें ईसामसीहने परमात्माके अधिकाधिक साहचर्यमें सहायक बताया है।

प्रभु ईसामसीहके कालसे लेकर अबतक ईसाइयोंने जिन-जिन योगसाधनाओंका अभ्यास किया है उनकी कथा बहुत लंबी-चौड़ी और वैचित्र्यपूर्ण है। ईस्वी सन्‌की प्रारम्भिक शताब्दियोंमें उपवासादि कठोर व्रतचर्याओंको कई लोग बहुत उपयोगी मानते थे और उसके बाद भी भिन्न-भिन्न युगोंमें कुछ सम्प्रदायोंकी ऐसी ही धारणा रही है। परंतु इस प्रकारकी धारणा अधिकसंख्यक ईसाइयोंमें न तो सर्वमान्य ही रही है, न सामान्य ही। ईसाइयोंको बराबर चेतावनी दी जाती रही है कि वे भोगविलासकी ओर अग्रसर न हों, इन्द्रियोंके दास न बनें। उन्हें यह भी शिक्षा दी जाती रही है कि वे अपनी सम्पत्ति और अपनी सारी शक्तियोंको परमात्माकी सौंपी हुई पवित्र धरोहर समझें, उनका विवेकपूर्वक उपयोग करें और उदारतापूर्वक उनका दूसरोंको भी उपभोग एवं उपयोग करने दें। उनको इस सम्बन्धमें सतर्क रहनेका उपदेश दिया जाता रहा है कि भौतिक

सुख उनकी आध्यात्मिक दृष्टिको आवृत न कर दें, वे लोग इस जगत्‌को सराय-सा समझकर उसमें मुसाफिरोंकी तरह रहें तथा इस बातको सदा स्मरण रखें कि हमारा वास्तविक और सनातन घर आगे है, किंतु साथ-ही-साथ जो ईश्वरप्रदत्त वस्तुएँ हमें रास्तेमें पड़ी हुई मिलें उनका धर्माविरुद्ध उपभोग भी करते रहें।

कदाचित् योगका सर्वसुलभ रूप उपवास है। रोमन कैथॅलिक तथा प्रॉटेस्टंट दोनों मतोंके अनेक अनुयायी उपवासको बहुत अधिक उपयोगी मानते हैं और खास-खास अवसरोंपर अवश्य उपोषित रहते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो नियमितरूपसे उपवास तो नहीं रखते, किंतु उसे आत्मोन्नतिका एक वास्तवमें उपयोगी साधन अवश्य स्वीकार करते हैं। वे यह समझते हैं कि ऐसे समयमें जब भौतिक सुखोंकी आत्मापर विजय होती दीखती है, उपवाससे मनुष्यको बड़ा साहस एवं बल मिलता है। इस वर्गके लोग उपवासको प्रायश्चित्तके रूपमें न देखकर आत्मोन्नतिका एक उपकारी साधन मानते हैं और यह समझते हैं कि उपवास जीवनमें आत्माके प्रभुत्वका द्योतक है और इस बातको भी सूचित करता है कि हम भौतिक जगत्‌के आधिपत्यको स्वीकार करनेके लिये तैयार नहीं हैं।

ईसाईधर्मका क्षेत्र बहुत व्यापक है, उसके अंदर ईसाई-जीवनकी अभिव्यक्तिके भिन्न-भिन्न स्वरूपों तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके अनुभवोंके लिये गुंजाइश है। सबसे मुख्य बात तो है ईश्वरके सम्बन्धमें क्रमशः अधिकाधिक जानना और उन्हें जानकर उनसे प्रीति करना, उनपर भरोसा करना और उनकी इच्छाके अनुकूल आचरण करना। ईश्वरको जाननेका उपाय है ईसामसीहकी शरणमें आना और उन्हींको एकमात्र गति मानना और प्रार्थना, निर्भरता तथा वश्यताके द्वारा जीवनकी पूर्णताको प्राप्त करना।

जरथोस्ती धर्ममें तीन मार्ग

(श्रीएरच जहाँगीर तारापोरवाला)

ईश्वर-प्राप्तिके लिये सभी धर्मोंमें तीन मार्ग दिखलाये गये हैं—ज्ञान, भक्ति और कर्म। इन तीनों योगमार्गोंके साधनसे मुक्ति मिलती है, ऐसा शास्त्रोंका वचन है। हिन्दूशास्त्रोंमें इन तीनोंका बहुत स्पष्ट और सविस्तर वर्णन है, दूसरे धर्मोंमें भी न्यूनाधिक रूपसे ये तीनों स्पष्ट प्राप्त होते हैं। कदाचित् 'योग' शब्दके अभावके कारण हम लोग सरलतापूर्वक यह बात न समझ सकें, परंतु मूल वस्तु तो यही है कि मुक्तिका मार्ग तीन प्रकारका है और प्रत्येक व्यक्तिके स्वभावके अनुसार इन तीनोंमेंसे एक उसके अनुकूल होता है।

जरथोस्ती धर्ममें भी इन तीनों मार्गोंका उल्लेख है। दुर्भाग्यवश जरथोस्ती धार्मिक साहित्य थोड़ा-बहुत ही आज उपलब्ध है, उसमें यह बात इतनी सरलतासे नहीं प्राप्त हो सकती है तो भी मननपूर्वक अध्ययन करनेसे और दूसरे धर्मोंके साथ तुलना करनेसे यह मूल सत्य प्राप्त हो सकता है। सौभाग्यवश जरथोस्ती धर्मके मूलस्थापक ऋषि जरथुस्त्रके कुछ मूल श्लोक अभीतक सुरक्षित हैं और वे ही धर्मकी भित्तिस्वरूप माने जाते हैं। वे मूल श्लोक जरथुस्त्रकी 'गाथा' के नामसे विख्यात हैं और पाँच विभागोंमें बँटे हुए हैं। उन पाँचोंमेंसे प्रथम गाथा सर्वश्रेष्ठ गिनी जाती है और उसका नाम 'अहुन व इति गाथा' है। सम्पूर्ण गाथाके २३८ श्लोकोंमेंसे इस प्रथम गाथामें १०० श्लोक आ गये हैं। इस 'अहुन व इति गाथा' नामका मूल अहुन-वर [अहुन-वइर्य] शब्द है,जो जरथोस्ती धर्मका मूल मन्त्र माना जाता है और जिसके लिये इन शास्त्रोंमें कहा गया है कि सृष्टि पैदा करनेसे पूर्व स्वयं ईश्वरने इसका उच्चारण किया था और इसीमेंसे सृष्टि उत्पन्न हुई है। जरथुस्त्रकी 'अहुन व इति गाथा'को इस 'अहुन-वइर्य'की टीका समझें तो कोई भूल नहीं है।

दूसरी बातोंको अलग रखकर यदि केवल अहुनवरके गूढ़ अर्थका मनन किया जाय तो इसीमेंसे योगके तीनों मार्ग निकल आते हैं। इन तीनों मार्गोंको पीछेसे गाथामें विशेष विस्तारसे समझाया गया है। अहुनवरका रहस्य बहुत ही गहन है और उसका ज्यों-ज्यों मनन किया जाता है, त्यों-ही-त्यों उसका अधिकाधिक आध्यात्मिक रहस्य प्रकट होता रहता है और इसी कारणवश हमारे शास्त्रोंमें कहा गया है कि 'अहुनम्-वइरीम् तनूम् पाइति' अर्थात् 'अहुन-वइर्य' तनका (आत्माका) रक्षण करता है।

अहुनवरके अनेक अनुवाद हो चुके हैं। इसपर प्राचीन अवेस्ता साहित्यमें भी एक टीका लिखी हुई है। इसके अतिरिक्त सासानी कालमें[1] इस मन्त्रका पहेलवी भाषामें अनुवाद हुआ था, उसमें इस मन्त्रमें समाये हुए तीन नामोंकी ओर संकेत किया गया है। ये तीन नाम 'अमर-पवित्र-शक्ति' (अमेषा-स्पेन्ता) के हैं और ये ही तीनों मार्गोंका सूचन करते हैं।

सर्वप्रथम 'अहुनवर' इस मन्त्रको देखें। इस मन्त्रमें तीन पंक्तियाँ हैं जो प्रत्येक एक-एक वाक्य हैं और प्रत्येकमें एक महान् सत्य समाहित है।

(१) यथा अहू वइर्या अथा रतुश अषात्-चित् ह चा।

(२) वङ्ह हेउश् दज्दा मनङ्ह हो श्योथननाम् अङ्ह हेउश् मज्दाइ।

(३) क्षथ्रमे-चा अहुराइ आ यिम् द्रिगुन्यो ददत् वास्तारेम्॥

इनका अनुवाद इस प्रकार है—

(१) जैसे राजा सर्वोपरि (है) उसी प्रकार ऋषि (भी) अपने अषके कारण (हैं)।

(२) 'वोहु-मनो'का पुरस्कार जीवनके प्रभुके कार्य करनेवालोंको (मिलता है)।

(३) ईश्वरका 'क्षथ्र' उसको (मिलता है) जो लाचारोंका रक्षक बनता है।

१-प्रथम सत्य यह है कि राजा अथवा इस स्थूल भुवनका जो अधिपति है, उसके ही समान उतना ही महान् ऋषि भी गिना जाय। दूसरे शब्दोंमें कहें तो जिस प्रकार राजाका बड़प्पन इस खाकी जहान्में है, इसी प्रकार ऋषिका बड़प्पन आत्मिक जगत्पर है। किस कारणसे ऐसा है ? केवल 'अष'के ही कारण। अब इस 'अष'को हमलोग जरा गम्भीरता-पूर्वक समझें। जरथोस्तियोंमें बोलचालमें 'अषोई' शब्दका व्यवहार होता है और उसका अर्थ साधारणतः पवित्रता होता है। परंतु एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि ज्यों-ज्यों हम प्राचीन समयकी ओर लक्ष्य करते हुए इसके अर्थको देखते जाते हैं त्यों-ही-त्यों वह अधिकाधिक गहरा होता जाता है। वास्तवमें इसका अर्थ अत्यन्त ही गहन है। अवेस्ताका यह 'अष' शब्द वेदका 'ऋत' शब्द है। यह बात भाषाशास्त्रसे सिद्ध हो चुकी है[2]। जिस प्रकार ऋत शब्दका वेदमें प्रयोग हुआ है, उसी प्रकार हमारे शास्त्रोंमें अषका उपयोग हुआ है। जिस प्रकार देवता ऋतके अधिपति माने जाते हैं, उसी प्रकार हमारे यजद (देवता) 'अषके सरदार' हैं। ईश्वरको प्राप्त करनेका एकमात्र मार्ग है 'अष हे पन्ताओ' **(ऋतस्य पन्थाः)**।

एक स्थानपर स्पष्ट लिखा हुआ है कि 'सर्वोत्तम अषकी सहायतासे, सर्वश्रेष्ठ अषकी सहायतासे हे ईश्वर ! हम तुझको देखें, तेरे पास पहुँचें, तेरे साथ मिल जायँ। यह अष (ऋत) जरथुस्त्रके धर्मका मूल आधार है और इस ऋतको जो समझता है उसको हमारे यहाँ रतु (ऋषि) के नामसे कहते हैं। यह ज्ञानमार्ग है। रतु अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानप्राप्त पुरुष। और ऐसे 'रतुओंके रतु' जगद्गुरु जरथुस्त्र हैं। जिस प्रकार गीतामें कहा गया है कि **'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'** उसी प्रकार यह अषका मार्ग (ज्ञानमार्ग) इस जरथोस्ती धर्मका मार्ग है।

२-परंतु बिना भक्तिके केवल ज्ञान मनुष्यको अहङ्कारके गड्ढेमें ढकेल देता है और इसलिये उस अहङ्कारको जीतनेके लिये प्रेम-भक्तिकी आवश्यकता है। उस भक्तिका एक स्वरूप (या सर्वोत्तम स्वरूप) सम्पूर्ण कर्म ईश्वरके प्रति समर्पण करना है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९। २७)

इसी प्रकार अहुनवरमें भी कहा गया है कि मनुष्यको 'जीवनके प्रभुका कार्य करनेवाला' बनना चाहिये और ऐसा करनेसे 'वोहु-मनो' (अच्छे मन) का पुरस्कार उसे प्राप्त होता है। 'वोहु-मनो' (अच्छा मन) मनकी विशुद्धि प्रदर्शित करता है। मनमेंसे अहङ्कार (मैं-तूँका भाव) दूर करनेके लिये 'वोहु-मनो' प्रकट होता है और उसके होनेपर सब जीवोंके प्रति प्रेमका उद्भव होता है। 'वोहु-मनो' प्रेमशक्ति प्रकट करता है और वह प्रेम केवल मनुष्योंके लिये ही नहीं, प्रत्युत सारे जीवोंके लिये है। 'वोहु-मनो' प्राणिमात्रके अधिष्ठाता हैं, खास करके गौ—पशु-रक्षा उनका प्रधान कर्तव्य माना जाता है।

३-उपर्युक्त ज्ञान तथा भक्ति दोनों मार्ग तो मनुष्यकी

१- ई०स० २२८—६५१ तक।

२-'अष'का एक रूप 'अर्त' भी है। वह 'ऋत' के साथ मिलता है, यह तो स्पष्ट ही है।

अपनी सिद्धिके काम आते हैं। दोनों साधनोंसे मनुष्य अपना जीवन सार्थक कर सकता है, परंतु फिर भी पूर्ण मोक्ष तो उसे नहीं प्राप्त होता। पूर्ण मोक्षकी प्राप्तिके लिये तो ईश्वर (अहुरमजद)का सम्पूर्ण प्रभाव प्राप्त करना चाहिये। उसकी समानता प्राप्त करनी चाहिये। इसके लिये अहुरमजदका क्षथ्र (क्षत्र) साधन करना चाहिये। यह साधना गरीब, लाचारोंका रक्षक बननेसे प्राप्त होती है। इसमें कर्ममार्ग स्पष्ट दिखायी देता है। हमारा धर्म इस मार्गपर विशेष जोर देता है और आज भी जरथोस्ती लोग (पारसी जाति) कर्म-योगमें आगे बढ़े हुए दिखायी देते हैं।

इस प्रकार ईश्वर-प्राप्तिके तीनों मार्ग—ज्ञान, भक्ति और कर्मका समानतापूर्वक साधन करनेसे ही मनुष्य मोक्षका अधिकारी बनता है, ऐसी अहुनवरकी शिक्षा है। इसी कारणसे यह मन्त्र परम पवित्र माना जाता है। ईश्वरने सृष्टिरचनासे पूर्व ही यह मन्त्र उच्चारण किया, ऐसा कहा जाता है अर्थात् इन नियमोंके आधारपर सृष्टिकी उत्पत्ति हुई और उनकी प्रगतिके लिये ये ही तीनों मार्ग नियत हुए।

एक जगह ऐसा लिखा है कि यदि कोई मनुष्य अहुनवरके मन्त्रका शुद्ध उच्चारण करके पाठ करे और उसका भावार्थ सम्पूर्णरूपसे समझे तो उसे दूसरे सब मन्त्रोंके पाठ करनेके समान ही पुण्यप्राप्ति हो। जिस प्रकारकी त्रिविध योगसाधना इस मन्त्रमें समाहित है उसे देखते हुए इस कथनमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है।

शाक्तागमोंमें योग

(श्रीवल्लभदासजी बिन्नानी 'व्रजेश')

शक्तिकी उपासना करनेवालोंको शाक्त और उनके धर्म या मतको शाक्तमत कहा जाता है। इस मतमें सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी चिच्छक्तिको शक्तिके नामसे अभिहित किया गया है। इनकी काली, षोडशी, ललिता, भुवनेश्वरी, तारा आदि दशमहाविद्या एवं सीता, सावित्री, गायत्री आदि रूपोंमें भी उपासना की जाती है। शक्तिकी उपासना कई प्रकारसे होती है, इनमें अहिंसात्मक पद्धति, जिसमें किसी तामसी या अपवित्र वस्तुओंका प्रयोग नहीं होता, सर्वोत्तम है। जैसे सीता, राधा, ललिता आदिकी उपासना सर्वोत्तम पवित्र भावना एवं शुद्ध पदार्थोंसे होती है। इसी पद्धतिसे काली, तारा, त्रिपुरा आदिकी उपासना भी विशेष फलवती होती है। यह अहिंसात्मक पद्धति समयाचारके नामसे प्रसिद्ध है। वैष्णवोंकी शक्ति-उपासना-पद्धति भी श्रेष्ठ है। इन्हीं दोनोंका अनुसरण करना चाहिये। इसके विपरीत भावसे शक्ति-उपासना करनेपर भयंकर हानि होती है।

योगमार्गमें शक्ति-उपासना कुण्डलिनी-जागरणके नामसे प्रसिद्ध है। इसमें शिव-शक्तिका अद्भुत सामरस्य होता है। कुण्डलिनीको ही महाशक्ति, महादेवी माना गया है। यह जाग्रत् होनेपर ऋतम्भरा शक्ति या दिव्य ज्ञानको प्रकट कर देती है। उसकी दिव्य क्रीडा साधकको दिव्य ज्ञानसे सम्पन्न कर देती है और लोकोत्तर दिव्य आनन्द प्रदान करती है। देवी-देवताओंके सभी निर्देश परोक्षपूर्ण होते हैं और वे साधककी बड़े प्रयत्नसे सँभाल करते हैं। कुण्डलिनीकी सात्त्विक उपासना-विधि शारदातिलक, रुद्रयामलतन्त्र आदिमें दी गयी है। कुण्डलिनी-शतनाम, सहस्रनाम, स्तोत्र, कवच आदिके पाठसे साधक देवताओंके समान बन जाता है। विशेष उपासनाकी जानकारीके लिये उन ग्रन्थोंको देखना चाहिये और तदनुसार ही सात्त्विक एवं विनीतभावसे शक्ति-उपासनारूप योग-साधनमें प्रवृत्त होना चाहिये। कारुण्यका आधिक्य होनेसे माता अति शीघ्र ही पुत्रवत् साधकों एवं भक्तोंका परम कल्याण कर देती हैं।

वह परब्रह्म सबके मुखरूप, मस्तकरूप तथा ग्रीवारूप है, वह प्राणिमात्रकी हृदयरूपी गुहामें रहता है। वह सब वस्तुओंमें व्याप्त है, सबकी समृद्धिका दाता है।—उपनिषद्

उस परमपुरुष परमात्माको कुछ लोग विशुद्ध सूक्ष्म बुद्धिसे, कुछ ध्यानके द्वारा हृदयमें, कुछ ज्ञानयोगके द्वारा और कुछ लोग निष्कामकर्मयोगके द्वारा देखते हैं।—श्रीमद्भगवद्गीता

मुख्य आसन और उनसे लाभ

(स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी)

आर्य महर्षियोंने मानवके कल्याणके लिये अधिकारिभेदसे ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, मन्त्रयोग, राजयोग, हठयोग, लययोग प्रभृति अनेक मार्ग प्रवर्तित किये हैं। इन सब मार्गोंमें हठयोगके आसनादि साधनोंका किसी-न-किसी रूपमें प्रयोग करना ही पड़ता है। अतएव हठयोग सब प्रकारके योगोंका सहयोगी है। हठयोगके चार अङ्ग हैं—आसन, प्राणायाम, मुद्रा और नादानुसंधान। आसन ही प्रथम अङ्ग है। इसके अनेक प्रकार हैं। आसनोंके अभ्याससे नाडीसमूहकी मृदुता, सहनशीलताकी वृद्धि, शरीरकी लघुता, मनकी एकाग्रता और प्राणतत्त्वका ऊर्ध्वगमन होता है तथा शरीरके अनेक रोगोंकी निवृत्ति होती है।

विभिन्न आसनोंके विभिन्न परिणाम होते हैं। साधककी प्रकृतिके अनुसार उसके लिये जो आसन अनुकूल हो, उसे मुख्य और दूसरोंको गौण जानना चाहिये। मुख्य आसनोंका अभ्यास तो सदाके लिये किया जाता है, परंतु गौण आसन मलादि दोषोंकी निवृत्तिके लिये किसी अवधिविशेषतक ही किये जाते हैं। आसनोंसे जहाँतक रोग-निवृत्तिका सम्बन्ध है वहाँतक बाल, वृद्ध, युवा, स्त्री-पुरुष सभी इनके अधिकारी हैं। परंतु यदि प्राणायाम आदिके द्वारा राजयोगमें प्रवेश करना हो तो वैसी स्थितिमें आसनके अधिकारी केवल मुमुक्षु ही हो सकते हैं। प्रथम कोटिके अधिकारीकी अपेक्षा मुमुक्षुको आसनोंके अभ्यासमें अधिक दृढ़ता तथा नियमबद्धताका पालन करना पड़ता है।

योगाभ्यास एकान्त और पवित्र स्थानोंमें करना चाहिये, जहाँ किन्हीं जीव-जन्तुओंका उपद्रव तथा कोलाहल न हो। योगाभ्यासके समय प्रबल वायुके झोंकेसे बचना चाहिये और निश्चल मनसे पहले आसनकी क्रिया करनी चाहिये। आसनोंके अनेक प्रकार हैं, परंतु यहाँ शास्त्रानुसार कुछ अत्यन्त उपयोगी आसनोंका वर्णन किया जाता है।

१-सिद्धासन—८४ आसनोंमें सिद्धासन सर्वोत्तम माना जाता है। योनिस्थान (गुदा और मूत्रेन्द्रियके मध्यभाग) में वाम पादको एड़ीको रखे और दाहिने पादको इस प्रकार सावधानीसे मूत्रेन्द्रियपर रखे कि मूत्रेन्द्रिय और वृषणको बाधा न पहुँचे और दोनों पैरोंके अग्रभाग जानु और ऊरुके मध्यमें रखे। इसे ही सिद्धासन कहते हैं। इस आसनका अभ्यास करते समय हनु (ठोढी) को कण्ठके नीचेके भागमें लगाये। इसे जालन्धरबन्ध कहते हैं। गुदाके ऊपर आधारचक्रसे अपानतत्त्वका आकर्षण करे—इसे मूलबन्धकी क्रिया कहते हैं। दृष्टि भ्रू-स्थानमें रखे, परंतु सातका अभ्यास एक घंटेसे अधिक बढ़नेपर ही इस अभ्यासको करे, अन्यथा दृष्टि निश्चित हो जायगी। दोनों हाथोंको सीधा जानुओंपर रखे। परंतु तर्जनीको मोड़कर अंगुष्ठमूलमें लगाये, शेष तीन अंगुलियोंको भी थोड़ा मोड़ दे। इससे प्राणतत्त्व हाथोंसे बाहर नहीं जा सकेगा।

प्राणायामादि अन्य साधनोंका अभ्यास न करके भी साधक यदि बारह वर्षतक नियमपूर्वक आत्मानुसंधानके साथ मौन रहकर सिद्धासनका अभ्यास करे तो वह चित्तवृत्ति-निरोधरूप योगसिद्धि प्राप्त कर सकता है। प्रातः-सायं दोनों कालमें इस आसनका साधन किया जा सकता है और बढ़ाते-बढ़ाते एक वर्षमें बारह घंटेतक लगातार बैठनेका अभ्यास हो जाता है। इस आसनपर बैठनेपर सुषुम्ना नाडी स्वभावतः सीधी रहती है और प्राणायामकी क्रिया नियमित हो जाती है और नाडी-मलका शोधन होता है। प्राणतत्त्व सहज ही ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होने लगता है, जिससे मनके निरोधमें सफलता मिलती है।

इस आसनसे सूक्ष्मकोष और हृदयको बलवान् बनाते हुए स्वयं ही श्वासोच्छ्वासकी क्रिया दीर्घ होने लगती है और आन्तरशक्ति भी वृद्धिको प्राप्त होती है। पाचनक्रिया नियमित हो जाती है और कास, श्वास, प्रतिश्याय (जुकाम), हृदयरोग, प्लीहावृद्धिजनित ज्वर, जीर्ण ज्वर, अजीर्ण, अतिसार, प्रवाहिका (पेचिश), स्त्रीरोग, शुक्रविकार तथा वातमूत्र मूत्रकृच्छ्र आदि रोग नष्ट हो जाते हैं। संन्यासियों और त्यागियोंके लिये यह आसन बहुत ही कल्याणकारक है।

२-गुप्तासन—जिस साधकका वृषणस्थान दोषपूर्ण हो, जिसे कटिवात या भगंदर रोग हो और इस कारण जो सिद्धासन न कर सके, उसके लिये गुप्तासन बहुत ही उपयोगी होता है। इसके गुण सिद्धासनके समान ही होते हैं। क्रिया इस प्रकार है—लिङ्गके ऊपर वाम पादके गुल्फको रखे और उसके ऊपर दक्षिण गुल्फको रखकर स्थिर बैठ जाय। पादके अग्रभाग, ठोडी, दृष्टि, हाथ आदि अङ्गोंको सिद्धासनके ही अनुसार रखे। इसे ही गुप्तासन कहते हैं। दाहिने पैरको स्वाधिष्ठानचक्रपर रखनेसे उड्डीयानबन्ध हो जाता है और उड्डीयानबन्धका साधन सिद्धासनकी अपेक्षा गुप्तासनमें कहीं अधिक अनुकूल होता है। परंतु आधारचक्रपर बाहरसे दबाव न पड़नेके कारण सुषुम्नाके नीचेके भागका जहाँसे कुण्डलिनीशक्ति ऊपर उठती है, शोधन नहीं होता। सिद्धासनके अन्य सभी फल इस आसनद्वारा प्राप्त होते हैं।

३-मुक्तासन—दक्षिण और वाम दोनों पैरोंकी एड़ियोंको मिलाकर वृषण और गुदाके मध्यमें रखे और दृष्टि, जालन्धरबन्ध, हाथोंकी स्थिति आदि सिद्धासनके समान ही रखे। यही मुक्तासन कहलाता है। इस आसनका अभ्यास करते समय प्रारम्भमें पैरोंकी नसें खिंचती हैं और पैर भलीभाँति जमीनपर नहीं बैठते। परंतु थोड़े दिनोंके अभ्याससे यह कठिनाई दूर हो जाती है। मुक्तासनका अभ्यास कर लेनेके बाद सिंहासन, भद्रासन और पश्चिमतानासनके अभ्यासमें सरलता होती है। इस आसनसे नाड़ियाँ मुलायम होती हैं। मूलबन्धके प्रारम्भिक साधनमें यह आसन बहुत हितकर होता है।

४-भद्रासन—योनिस्थानके दोनों ओर दोनों पैरोंकी एड़ियोंको रखे, दक्षिण भागमें दक्षिण एड़ी और वाम भागमें वाम एड़ी, यही भद्रासन है। मुक्तासनमें पैरोंका अग्रभाग आगे रहता है परंतु इस आसनमें वह पीछेकी ओर मुड़ा रहता है। इस आसनको गोरक्षासन भी कहते हैं। इस आसनमें स्थित होकर दोनों हाथोंसे पीठकी ओर निकले हुए पैरोंके अग्रभागको पकड़े और दृष्टि नासिकाके अग्रभागपर रखे।

इस आसनसे पैरोंकी नसें शीघ्र मुलायम हो जाती हैं और मूलबन्ध सहज ही लग जाता है। इसके अभ्याससे मलावरोधसे उत्पन्न व्याधियाँ तथा वातव्याधि दूर होती है। आम, कफ और मेदवृद्धिके रोगियोंको भी इससे बहुत लाभ होता है। अपान-तत्त्वको ऊर्ध्वगामी बनानेमें भी यह आसन सहायक होता है।

५-सिंहासन—योनिस्थानमें दक्षिण तरफ वाम गुल्फको रखे और उसके ऊपर वाम पार्श्वमें दक्षिण गुल्फको रखे, दोनों हाथोंकी अँगुलियोंको फैलाकर घुटनेपर रखे और मुख खुला रखे। दृष्टि भ्रूमध्यमें रखे। इसे सिंहासन कहते हैं।

इस आसनके अभ्याससे उपर्युक्त तीनों बन्धोंकी सहज ही सिद्धि होती है। जालन्धरबन्ध बिगड़नेपर इस आसनका अभ्यास बहुत ही हितकर होता है। नाड़ियोंको मुलायम करके कुण्डलिनीके जाग्रत् करनेमें यह आसन सहायता पहुँचाता है। शरीरके ज्ञानतन्तुको बलवान् करता है, उदरवातका शमन करता है। इससे आन्त्रकी निर्बलता दूर होती है, पाचनशक्ति बलवान् होती है और मलावरोधजनित रोग दूर होते हैं।

६-स्वस्तिकासन—दोनों ओरके जानु और जंघाके बीचमें दोनों पादतलोंको रखकर स्थिर बैठनेको स्वस्तिकासन कहते हैं। इस आसनमें बायाँ पैर नीचे रखे और दाहिना पैर ऊपर। शारीरिक अस्वस्थतामें दूसरे आसनोंके अनुपयोगी होनेपर यही आसन लाभप्रद होता है। निर्बल मनुष्य इस आसनपर अधिक देरतक आसानीसे बैठ सकता है।

७-पद्मासन—पहले बायीं जाँघके ऊपर दाहिने पैरको रखे, फिर बायें पैरको दाहिनी जाँघपर रखे। यही पद्मासन है। परंतु प्राचीन सम्प्रदायके अनुसार पहले बायाँ पैर रखे और उसके ऊपर दाहिना पैर रखे। इन दोनोंमेंसे अपनी प्रकृतिके अनुसार जैसा ठीक हो वैसा करे। दोनों एड़ियोंको नाभिके दोनों पार्श्वोंमें अच्छी रीतिसे लगा ले और दोनों जानु जमीनसे लगे रहें तथा पृष्ठभागसे दोनों हाथोंको ले जाकर बायें हाथसे बायें पैरके अँगूठेको और दाहिने हाथसे दाहिने पैरके अँगूठेको पकड़े। जालन्धरबन्ध लगाकर दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर रखे।

इस आसनके अभ्यासके साथ जिह्वाग्रको उलटकर जिह्वामूलमें ले जाय, इससे खेचरीमुद्रा सिद्ध होती है तथा मूलबन्ध भी स्वभावतः ही लग जाता है, और आधारचक्रका शान्तिपूर्वक संकोच-विकास करते हुए अपानतत्त्वको ऊपर आकर्षित करनेसे वह दृढ़ हो जाता है। इससे कुण्डलिनीशक्ति जाग्रत् होती है।

इस आसनसे सुषुम्ना नाडी सीधी रहती है, फुफ्फुसोंकी

श्वासोच्छ्वासक्रिया नियमित रीतिसे होने लगती है। इसी कारण प्राणायामके अभ्यासमें अन्य आसनोंकी अपेक्षा यह आसन श्रेष्ठ माना जाता है। इसके अभ्याससे हृदय और फुफ्फुसकी निर्बलता, उदररोग, मलावरोधजनित रोग, रक्त-विकार, चर्मरोग, कटिवात, उदरवात, गृध्रसी, आमवात, कास, श्वास, जीर्णज्वर, यकृत्-विकृति, प्लीहा-विकृति आदि रोग दूर होते हैं। इस आसनके अभ्यासमें अधिक चलना हानिकर होता है।

८-कुक्कुटासन—पद्मासन लगाकर दोनों हाथोंको घुटनों और जंघाओंके मध्यसे नीचेकी ओर निकालकर जमीनपर रखे और हाथोंके दोनों तलोंके आधारपर पद्मासन लगे हुए शरीरको ऊपर उठाये। इस कुक्कुटके समान स्थितिको ही कुक्कुटासन कहते हैं।

अन्त्रकी निर्बलताके कारण दुष्ट अपान वायु जो अन्त्रमें उत्पन्न होकर उदरको फुलाता और मलावरोध करके स्वप्नदोष कराता है, उसकी उत्पत्ति इस आसनके अभ्याससे रुक जाती है। लघु अन्त्र बलवान् हो जाते हैं, बृहद् अन्त्रमें भी मलको शीघ्र गति मिलती है। बाहुकी नसें और मांसग्रन्थि दृढ़ होती हैं। सुषुम्नाका मुख खुल जाता है और अपानतत्त्व ऊर्ध्वगमन करने लगता है।

९-पश्चिमतानासन—दोनों पैरोंको दण्डके समान सीधा फैला दे और दोनों एड़ियोंको एक साथ मिला ले। फिर दोनों हाथोंकी तर्जनीके द्वारा पैरोंके अँगूठोंको पकड़कर ललाटको घुटनोंपर रखे। घुटनोंको जमीनसे उठने न दे। इस आसनके अभ्यासमें पहले पैरोंको फैलाकर हाथको लम्बा करके शरीरको बार-बार पैरोंकी ओर झुकाना पड़ता है। प्रतिदिन आधा घंटा अभ्यास करनेसे आठ-दस दिनोंमें आसन लग जाता है। पीछे धीरे-धीरे इस आसनकी अवधिको बढ़ाना चाहिये।

इस आसनसे नसें मलरहित होकर मृदु बनती हैं, जठराग्नि प्रदीप्त होती है। कफ, आम और मेद जल जाता है। नौलिक्रिया करनेमें बहुत सहायता मिलती है। मन्दाग्नि, मलावरोध, अजीर्ण, उदररोग, कृमिविकार, प्रतिश्याय, वातविकार आदि रोग इससे दूर होते हैं। इसके अभ्याससे सुषुम्ना नाडीमेंसे प्राणतत्त्व मस्तिष्कमें पीछेकी ओरसे आने लगता है। यही पश्चिममार्गगमन कहलाता है और इसी कारण इसे पश्चिमतानासन कहते हैं। सिद्धासन, पद्मासनादि आसनोंमें पूर्व-पश्चिम दोनों मार्गोंपर समान असर पड़ता है। भ्रूमध्यसे होकर प्राणतत्त्वके ऊर्ध्व सहस्रदलकमलमें गति करनेको पूर्वमार्ग कहते हैं। दोनों मार्गोंकी अपेक्षा एक ही मार्गपर सारी शक्तिका प्रयोग होनेसे सफलता शीघ्र मिलती है। इसी कारण यह आसन योगमार्गमें बहुत ही लाभदायक माना जाता है।

१०-मयूरासन—दोनों हाथोंके तलोंको एक साथ जमीनपर रखे और दोनों कूर्पर (केहुनी) को नाभिके पास लगाकर दण्डके समान शरीरको धारणकर ऊपर उठा ले, इस आसनको मयूरासन कहते हैं। अन्य आसनोंके अभ्याससे नाड़ी-समूहके मुलायम होनेपर ही इस आसनका अभ्यास करना चाहिये। अन्त्रके कठोर होनेपर मयूरासनका अभ्यास करनेसे उदरमें दर्द होने लगता है और वह बढ़कर अन्त्रमें शोथ उत्पन्न करके नाना रोगोंको पैदा करता है।

इस आसनसे गुल्म, उदररोग, त्वचादोष, कटिवात, कफवृद्धि, कास, श्वास आदि रोग दूर होते हैं। वस्तिक्रिया करनेके पूर्व पाँच-सात मिनटतक इस आसनका कर लेना बहुत ही हितकर होता है।

११-शीर्षासन—पहले जमीनपर एक मुलायम गोल लपेटा हुआ वस्त्र रखकर उसपर अपने मस्तकको रखे, फिर दोनों हाथोंके तलोंको मस्तकके पीछे लगाकर शरीरको उलटा ऊपर उठाकर सीधा खड़ा कर दे। इसे शीर्षासन कहते हैं। इसमें सिर नीचे और पैर ऊपर होता है, अतः इसे विपरीत-करणीमुद्रा भी कहते हैं। कोई-कोई शीर्षासनको कपाली नामसे भी पुकारते हैं। इस आसनको पहले एक-दो मिनट करे, फिर बढ़ाते-बढ़ाते एक घंटातक कर ले। जिस साधकके शरीरमें त्रिधातु सम हो, जो बलवान् और युवा हो, उसके लिये शास्त्रकारोंने इस आसनका अभ्यास बढ़ाकर तीन घंटेतक करनेको लिखा है। परंतु यह अवधि जिज्ञासुओंके लिये ही है। आरोग्यता प्राप्त करनेके लिये एक घंटेसे अधिक यह आसन करना ठीक नहीं होता।

इस आसनमें पैरोंकी ओरसे रक्तका प्रवाह मस्तिष्ककी ओर होने लगता है। इसलिये इस आसनकी क्रिया समाप्त होनेपर आध घंटेतक शवासन करना चाहिये, जिससे रक्तकी गति सम हो जायगी। इस प्रकारके रक्तके आवागमनसे

रक्ताभिसरणकी क्रिया बलवान् होती है। मलदोष नष्ट होता है, प्राणतत्त्व सुषुम्नाके द्वारा मूलाधारचक्रकी ओर जानेके लिये प्रयत्न करता है और पुनः रक्ताभिसरणके द्वारा मस्तिष्कमें जानेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार बिना प्राणायामके ही कुण्डलिनीशक्ति जाग्रत् हो जाती है। नाद जोरसे उठने लगता है और मनको एकाग्रता प्राप्त होती है।

इस आसनका तीन घंटेतक नियमपूर्वक छः मासपर्यन्त अभ्यास करनेसे वात, पित्त और कफदोषसे उत्पन्न सब रोग, ज्वर, कास, श्वास, उदररोग, कटिवात, अर्धाङ्ग, ऊरुस्तम्भ, वृषणवृद्धि, नाडीव्रण, भगंदर, कुष्ठ, पाण्डु, कामला, प्रमेह, अन्त्रवृद्धि आदि रोग दूर हो जाते हैं। परंतु इस आसनका अभ्यास करते हुए घी और दूधका पर्याप्त सेवन करना चाहिये, अन्यथा इस विपरीतकरणी-मुद्रासे विपरीत ही फलकी प्राप्ति होती है।

जिनका मस्तिष्क निर्बल और उष्ण रहता है, नेत्र सदा लाल रहते हैं, जिन्हें उरःक्षत, क्षय, हृदयकी गतिवृद्धि, नवज्वर, श्वास-रोगका तीक्ष्ण प्रकोप, ऊर्ध्व रक्त-पित्त, वमन, हिक्का, उन्माद, निद्रानाश आदि रोग हों, उन्हें शीर्षासन बहुत ही हानिकर होता है। शीर्षासनका अभ्यास प्रातःकाल भोजन करनेके पहले ही करना चाहिये। भोजनके पश्चात् या रात्रिमें इसका अभ्यास करना हानिकर होता है। प्रातःकाल भी एक समय दो बार अभ्यास नहीं करना चाहिये। इस आसनमें मस्तिष्क बहुत तप जाता है, इसलिये सात्त्विक आहारद्वारा मस्तिष्ककी उष्णताको दूर करना चाहिये। इस आसनके करनेके बाद आधे घंटेतक विश्राम करना चाहिये। तुरंत ही मुख-हाथ धोना, शीतल जलसे स्नान करना, खुली वायुमें घूमना बहुत ही हानिकारक होता है। केवल शवासनमें लेटकर नादानुसंधान करना चाहिये। शौच जानेके पहले और स्नानके बाद शीर्षासन नहीं करना चाहिये। प्राणायामके अभ्यासके बाद भी शीर्षासन हानिकर होता है। हाँ, शीर्षासनके पहले अन्य आसनोंका अभ्यास किया जा सकता है।

शीर्षासनके अभ्यासमें यदि उष्णताकी वृद्धि होकर ताप आ जाय, तो अभ्यास बंद करके केवल दूध और घीका सेवन करे, और कुछ न खाय। ओषधिका सेवन नहीं करना चाहिये। क्योंकि ज्वरकी ओषधि यकृत् और हृदयकी क्रियाको शिथिल करती है तथा रक्त-संचयको दूर करनेमें बाधा डालती है। इसमें शवासन लगाना या शरीरको शिथिल करके आराम-कुर्सीपर पड़े रहना अधिक लाभदायक होता है। ऐसे तापके समय भोजन करनेसे वह कुपित होकर विशेष संकटमय हो जाता है।

इस आसनका अभ्यास करते समय बार-बार मस्तकका ऊपर उठाना भी बहुत हानिकर होता है, क्योंकि इससे कभी मस्तिष्ककी शिराओंके फट जानेका भय रहता है। शिराओंके फटनेसे मृत्युतककी आशङ्का हो जाती है। अतः सिरमें रक्तके संचित हो जानेपर ऐसी कोई भी क्रिया नहीं करनी चाहिये जो मस्तिष्ककी शिराको आघात पहुँचाये।

यदि कोई बूढ़ा जिज्ञासु भी शीर्षासनका नियमपूर्वक अभ्यास करे तो एक वर्षके बाद उसके सिरके सफेद बाल काले होने लगेंगे। शारीरिक निर्बलता दूर होने लगेगी, शरीर नीरोग और तेजस्वी हो उठेगा। जो साधक प्राणायामका अधिकारी न हो वह यदि शीर्षासनका नियमित अभ्यास करे तो वह भी सहज ही राजयोगमें प्रवेश कर सकेगा।

इस आसनसे स्वभावतः ही तीनों बन्ध लग जाते हैं, अपानतत्त्व पश्चिममार्गसे मस्तिष्कमें गमन करने लगता है।

१२-मत्स्येन्द्रासन—बायीं जंघाके मूलमें दाहिने पैरको रखे। दाहिनी एड़ीको नाभिस्थानमें या उससे कुछ दाहिनी ओर लगाये। पैरका अग्रभाग जंघापर रखे। पीछे पीठकी ओरसे बायें हाथको लाकर एड़ीसे तीन इंच आगे ऊपरकी ओर पकड़े। हाथका अँगूठा जानुकी ओर रहेगा और कनिष्ठिका एड़ीकी ओर रहेगी। पीछे बायें पैरको दक्षिण जानुसे आगे बाहर निकाले। तब बायें पैरका घुटना हृदयके समीप खड़ा-सा प्रतीत होगा तथा बायें पैरके तलका अग्रभाग थोड़ा-सा दाहिने घुटनेके नीचे लगता रहेगा। मुखको दाहिनी ओर फिरा ले और दृष्टिको भ्रूमध्यमें स्थिर रखे। इस आसनको मत्स्येन्द्रपीठ कहते हैं।

इस आसनका दूसरे प्रकारसे भी अभ्यास किया जाता है। पहले दाहिनी जंघापर बायें पैरके अग्रभागको रखे। पीछे दाहिने हाथको पीठकी ओरसे निकालकर उससे बायें पैरको ऊपरसे पकड़े। पीछे दाहिने पैरको बायें घुटनेसे बाहर निकाले

और बायें हाथको दाहिने पैरके पीछेसे निकालकर दाहिने पैरके अँगूठेको पकड़े। मुखको बायीं ओर घुमा ले, दृष्टि भ्रूमध्यमें रखे। इसकी सारी क्रियाएँ पहली रीतिके विपरीत होती हैं।

उपर्युक्त दोनों रीतियोंसे समान समयतक अभ्यास करे। केवल एक ही रीतिसे अभ्यास करना हानिकर होता है। पश्चिमतान, मयूरासन आदि आसनोंसे नाडी-समूहको मुलायम बनानेके बाद इस आसनका अभ्यास करना चाहिये। इसका अभ्यास बहुत कठिन है, परंतु फल भी बहुत ही दिव्य होता है। प्रातः-सायं एक-एक घंटेतक नित्य अभ्यास करनेसे एक ही वर्षमें नाडियोंके सम्पूर्ण मलदोष और त्रिधातुजनित सारे रोग जलकर भस्म हो जाते हैं और दसवें समुद्रनादके खुल जानेसे मनोवृत्ति एकाग्र हो जाती है। इस आसनके अभ्याससे बिना प्राणायामके ही कुण्डलिनी जाग्रत् हो उठती है और जठराग्नि प्रदीप्त होती है। अन्त्र, पार्श्वभाग और मूत्राशयका संकोच होता है और ज्ञानतन्तु अधिकाधिक बलवान् होने लगते हैं। इससे अतिसार, ग्रहणी, मलावरोध, रक्तविकार, कृमि, श्वास, कास, वातरोग, मेदवृद्धि, अन्त्रवृद्धि तथा रस-रक्तादि सप्त धातुओंकी विक्रिया दूर होकर स्वास्थ्यकी प्राप्ति होती है।

३०-शवासन—भूमिपर शवके समान चित लेटे रहना, दोनों पैरोंके अग्रभागको मिलाकर ऊपर रखना, पैरकी अँगुलियोंको ऊपर सीधा रखना और हाथोंको सीधा पैरोंकी ओर बढ़ाकर छोड़ देना तथा सारे अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको शिथिल कर देना शवासन कहलाता है।

आसन अथवा प्राणायामके पश्चात् नाडियोंके क्षोभको शमन करके शान्त करनेके लिये इस आसनका उपयोग होता है। साधकको प्रतिदिन अभ्यासके पश्चात् शवासनके द्वारा आधा घंटा विश्राम करना चाहिये। शवासनमें नसें सीधी रहती हैं और रक्ताभिसरणक्रिया प्रकृतिके अनुकूल होने लगती है। प्राणतत्त्व मस्तिष्ककी ओर गति करने लगता है, जिससे मन शान्त हो जाता है।

यौगिक व्यायाम एवं कुछ सामान्य नियम

[मुख्य योगासन]

१-स्वस्तिकासन—बायाँ पाँव बायीं जंघाकी ओर फेरकर एड़ीको सीवनीकी दायीं ओर इस प्रकारसे रखे कि बायें पाँवकी तली दायीं जाँघके साथ लगी रहे। पश्चात् दायाँ पाँव दायीं जंघाकी ओर फेरकर एड़ीको सीवनीकी बायीं ओर इस प्रकारसे रखे कि दायें पाँवकी तली बायीं जाँघके साथ लगी रहे। दायें पाँवकी अँगुलियाँ बायीं जंघा तथा पिंडलीके बीच अच्छी प्रकारसे डाल दे । उसी प्रकार बायें पाँवोंकी अंगुलियाँ दायीं जंघा तथा पिंडलीके बीच अच्छी प्रकारसे डाल दे। हाथोंको उलट कर घुटनोंपर रखे। अथवा ज्ञानमुद्रा करे, जिसकी विधि इस प्रकार है—दोनों हाथोंकी कलाईको दोनों घुटनोंपर रखकर तर्जनी अर्थात् अँगूठेके पासकी अंगुली तथा अँगूठेको एक दूसरेकी ओर फेरकर दोनोंके सिरे आपसमें मिला दे और शेष अँगुलियाँ सीधी फैलाकर रखे। अथवा बायाँ हाथ एड़ियोंके ऊपर सीधा रखकर उसी प्रकार दायाँ हाथ उसके ऊपर रखे। आँखें बंद कर ले अथवा यदि नासाग्रदृष्टिका अभ्यास करना हो तो नासिकाके अग्रभागपर दृष्टिको स्थिर करे और यदि भ्रूमध्यदृष्टिका अभ्यास करना हो तो भ्रूमध्यमें दृष्टिको स्थिर करे। इसका नाम स्वस्तिकासन है। इस आसनकी विधिमें दायें पाँवके स्थानपर बायें पाँवका तथा बायें पाँवके स्थानपर दायें पाँवका उपयोग भी किया जाता है।

२-समासन—बायाँ पाँव बायीं जंघाकी ओर ले जाकर उसकी एड़ी उपस्थेन्द्रियके ऊपर अर्थात् जंघास्थिपर रखे। पश्चात् दायाँ पाँव दायीं जंघाकी ओर ले जाकर उसकी एड़ी बायें पाँवकी एड़ीके ऊपर जंघास्थिके साथ इस प्रकार लगाकर रखे कि बायें पाँवकी अँगुलियाँ दायें पाँवकी पिंडली तथा जंघाके बीच आ जायँ, पश्चात् उसी प्रकार दायें पाँवकी अँगुलियाँ बायें पाँवकी पिंडली तथा जंघाके बीच डाले। हाथ और नेत्र स्वस्तिकासनके समान रखे। इस आसनमें भी दायें-बायें पाँवका हेर-फेर किया जा सकता है।

३-पद्मासन—दायाँ पाँव दायीं जंघाकी ओर ले जाकर उसको इस प्रकार दायीं जंघापर रखे कि उसकी एड़ी पेटके बायें भागके मध्य कोनेको स्पर्श करे। उसी प्रकार बायें पाँवको

उसीकी जंघाकी ओर ले जाकर उसकी एड़ीको दायीं जंघापर इस प्रकारसे रखे कि पेटके दायें भागके निचले कोनेको स्पर्श करे। इसको पदबन्ध कहते हैं। पश्चात् हाथोंको स्वस्तिकासनके समान एड़ियोंपर सीधे रखने, नासाग्रदृष्टि करने, ठोड़ीको छातीके ऊपरके हिस्सेमें दबाकर जालन्धरबन्ध करने तथा गुदाका संकोचकर मूलबन्ध करनेसे पद्मासन होता है।

४-सिद्धासन—बायाँ पाँव उसकी जंघाकी ओर ले जाकर एड़ीको सीवनी अर्थात् गुदा और उपस्थेन्द्रियके बीच इस प्रकारसे दबाकर रखे कि बायें पाँवका तल दायें पाँवकी जंघाको स्पर्श करे। इसी प्रकार दायाँ पाँव उसी जंघाकी ओर ले जाकर एड़ीको जंघास्थि अर्थात् उपस्थेन्द्रियके ऊपर इस प्रकारसे दबाकर रखे कि दायें पाँवकी अँगुलियाँ बायें पाँवकी पिंडली तथा जंघाके बीच आ जायँ। पश्चात् उसी प्रकार बायें पाँवकी अँगुलियाँ दायें पाँवकी पिंडली तथा जंघाके बीच अच्छी प्रकार डाले और उपस्थेन्द्रिय तथा अण्डकोशोंको दायें पाँवके नीचे ठीक प्रकारसे रखे। ज्ञानमुद्रा तथा जालन्धरबन्ध करे, भ्रूमध्यदृष्टि रखे। इसका नाम सिद्धासन है।

५-उड्डीयान (खड़े होकर)—दोनों पाँवोंके बीच अन्तर छोड़कर खड़ा हो जाय, थोड़ा-सा आगे झुके और घुटनोंको भी थोड़ा टेढ़ा करे, हाथ जाँघोंपर रखे, पेटकी (स्नायुओं) नसोंको अच्छी प्रकार अंदर सिकोड़कर पूर्ण रेचक करे अर्थात् सब श्वासको पूर्णतया बाहर निकाल दे तथा बाह्य कुम्भक करे अर्थात् श्वासको अंदर मत ले। अब ऐसी अवस्थामें ही जिस प्रकार श्वास लेते समय पसलियाँ ऊपर उठती हैं तथा पेटकी (स्नायु) नसें शिथिल पड़ जाती हैं, उसी प्रकार श्वास अंदर न लेते हुए पसलियोंको ऊपर उठाये तथा पेटकी (स्नायुओं) नसोंको ढीला छोड़ दे। ऐसी अवस्थामें पेट अंदरकी ओर सिकुड़कर गोलाकार हो जायगा। यही खड़े होकर उड्डीयान करनेकी विधि है।

६-उड्डीयान (बैठकर)—पद्मासनमें बताये-अनुसार पदबन्ध करे तथा हाथ घुटनोंपर रखकर थोड़ा आगे झुके और पेटके स्नायुओंको अंदर सिकोड़कर पूर्ण रेचक करे तथा पश्चात् बाह्य कुम्भक करे और इसके पश्चात् श्वास अंदर न लेते हुए अंदर लेनेके समान ही पसलियोंको ऊपर उठाये और पेटके स्नायुओंको ढीला छोड़े। ऐसी अवस्थामें उड्डीयानके समान पेट अंदरकी ओर सिकुड़कर गोलाकार हो जायगा। यह बैठकर उड्डीयान करनेकी विधि है।

७-नौलि (मध्यम)—खड़े होकर उड्डीयानकी अवस्थामें ही तत्काल जंघास्थिके ऊपरी भागको (पेटके निचले हिस्सेको) नीचे दबानेवाला तथा आगे ले जानेवाला इस प्रकारका धक्का दे कि जिससे पेटके आस-पासके स्नायु अंदर सिकुड़कर मध्यके स्नायु अर्थात् नल बाहर निकल आयें, इसी समय हाथोंसे घुटनोंपर जोर डाले। ऐसी अवस्थामें पेटके मध्यके स्नायु अर्थात् नल इकट्ठे होकर आस-पासके स्नायुओंसे अलग हुए दीखेंगे, इसीका नाम मध्यम नौलि है।

८-दक्षिणनौलि—मध्यम नौलिकी अवस्थामें ही सब शरीरको दायीं ओर अधिक परिमाणमें आगे फेर दायें हाथसे दायीं जंघापर अधिक जोर डाले तथा उसी समय पेटके बायें भागको ढीला छोड़े। ऐसा करनेसे पेटका दायाँ स्नायु अर्थात् नल सिकुड़कर आगे तथा दायीं ओरके कोनेमें चला जायगा तथा पेटका बायाँ स्नायु अर्थात् नल ढीला पड़ जायगा। इसीको दक्षिणनौलि कहते हैं।

९-वामनौलि—मध्यम नौलिकी अवस्थामें ही सारे शरीरको बायीं ओर अधिक परिमाणमें आगे फेरकर बायें हाथसे बायीं जंघापर अधिक जोर डाले तथा उसी समय पेटके दायें भागको ढीला छोड़े, ऐसा करनेसे पेटका बायाँ स्नायु अर्थात् नल सिकुड़कर आगे तथा बायीं तरफके कोनेमें चला जायगा और पेटका दायाँ स्नायु ढीला पड़ जायगा। इसका नाम वामनौलि है।

१०-सिंहासन—पाँवोंको लंबा करके एक दूसरेसे मिलाकर बैठे। बायाँ पाँव उसी जंघाकी ओर फेरकर दायें नितम्बके नीचे इस प्रकारसे रखे कि उसका तला ऊपरकी ओर रहे। इसी प्रकार दायाँ पाँव उसी जंघाकी ओर फेरकर बायें पाँवके नितम्बके नीचे इस प्रकारसे रखे कि उसका तला ऊपरकी ओर रहे। इतना हो जानेपर आपको यह प्रतीत होगा कि हम पाँवोंकी एड़ियोंके ऊपर बैठे हैं। हाथोंकी अँगुलियाँ लंबी तथा फैलाकर घुटनोंपर उलटी रखे और सब शरीरका भार हाथोंपर जोर देकर घुटनोंपर डाले तथा सिंहके समान मुखको खूब फाड़कर जीभको जितना भी बाहर निकाल सके निकाले। भ्रूमध्यदृष्टि तथा जालन्धरबन्ध करे। इसका नाम

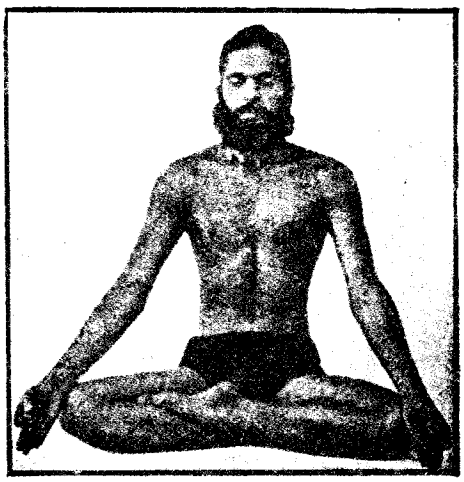

(१) स्वस्तिकासन

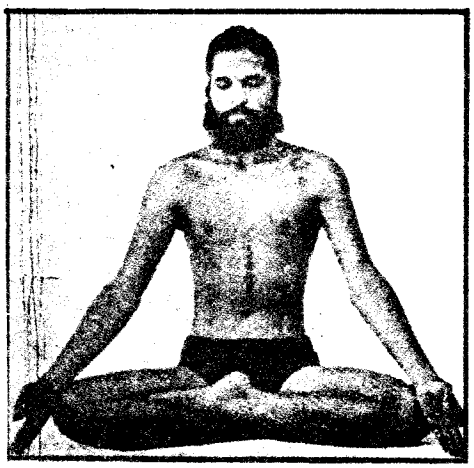

(२) समासन

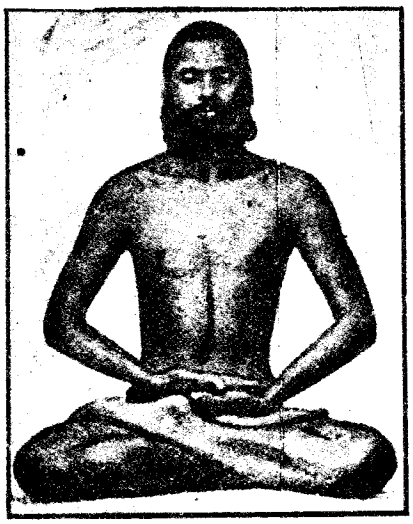

(३) पद्मासन

(४) सिद्धासन

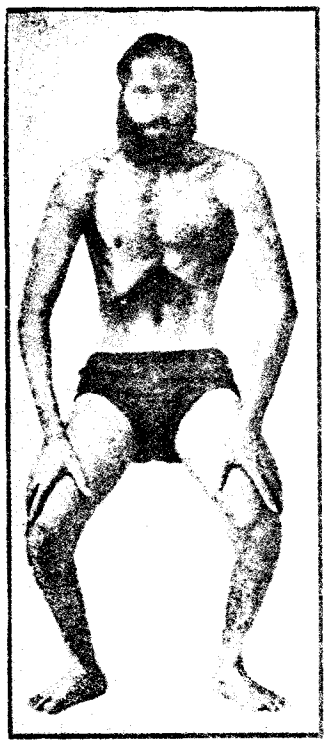

(५) खड़े होकर उड्डीयान

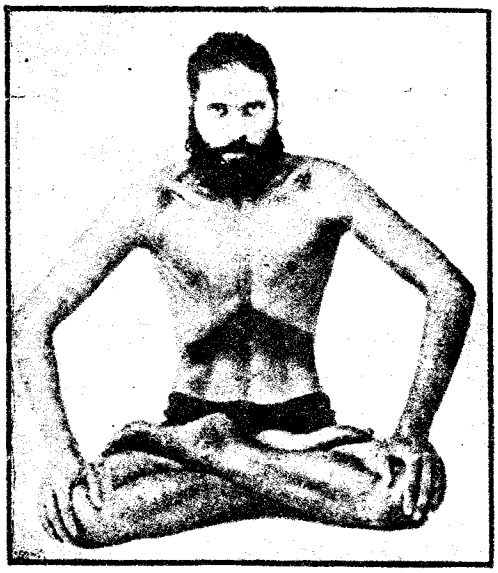

(६) बैठकर उड्डीयान

(७) नौलि (मध्यम)

(८) दक्षिणनौलि

सिंहासन है। इस आसनमें पाँवका अदल-बदल भी किया जा सकता है।

११-वज्रासन—पाँवोंको लंबाकर परस्पर मिलाकर बैठे, पश्चात् दोनों पाँवोंको घुटनोंमें फिराकर नितम्बके दोनों ओर इस प्रकारसे लगाकर रखे कि उनकी तलियाँ ऊपरकी ओर रहें। पश्चात् घुटनोंको एक दूसरेके समीप ले जाकर उनपर हाथोंको उलटा करके रखे। आँखें बंद कर ले। इसे वज्रासन कहते हैं।

१२-शीर्षासन—दोनों पाँवोंको अँगुलियोंके भार भूमिपर टेककर उनकी एड़ियोंके ऊपर नितम्बोंको रख दे तथा घुटने टेककर बैठ जाय। अब दायें हाथकी अँगुलियाँ बायें हाथकी अंगुलियोंमें डालकर अंगुलिबन्ध करे और अंगुलिबन्धको 'शीर्ष' की कल्पना कर दोनों हाथोंके मध्य साठ अंशका कोण बनाये, अंगुलिबन्धके बिलकुल सामने सिरके ऊर्ध्व भागके पिछले हिस्सेको टेके। अब घुटनोंको ऊपर उठाते हुए पाँवोंकी अँगुलियों और जाँघोंको शरीरके पास ले जाय। पश्चात् पाँवोंको जंघाओंके साथ लगाकर तथा जंघाओंको पेट और छातीके साथ लगाकर सब शरीरको सिरके भार उठाये। अब जंघाओंको ऊपर उठाकर सिरसे लेकर जाँघोंतक सब शरीरको एक सीधमें ले आये। अब पाँवोंको ऊँचा करे तथा सारे शरीरको लंबी रेखामें सीधा ले जाय। यही शीर्षासन कहलाता है।

१३-सर्वाङ्गासन—चित लेट जाय तथा हाथोंको शरीरके साथ लगाकर लंबा रखे। पाँवोंको तीस अंशका कोण बननेतक ऊपर उठाये। ऐसी स्थितिमें कुछ क्षण रुककर पाँवोंको फिर उठाये और साठ अंशका कोण बनाये। फिर कुछ क्षण रुककर और ऊपर उठाये तथा नब्बे अंशका कोण बनाये। पुनः रुककर धीरे-धीरे बाहु तथा कोहनियोंका सहारा लेकर सिरके अतिरिक्त बाकी सब शरीरको लंबी सीधमें खड़ा रहनेतक ऊपर उठाये। अब कोहनीपर्यन्त हाथोंको ऊपर उठाये तथा पीठकी ओरसे सहारा देकर उनको सारे शरीरका आधार बनाये। इसे सर्वाङ्गासन कहते हैं।

१४-१५-अर्धमत्स्येन्द्रासन—पाँवोंको परस्पर मिलाकर तथा लंबा करके बैठे। दायाँ पाँव घुटनोंमें मोड़कर उसकी एड़ी सीवनीके बीच लगाकर रखे, अब बायें पाँवको घुटनेमें मोड़कर दायें पाँवकी जंघाके साथ बाहरकी ओर खड़ा रखे। शरीरको बायीं ओर फिराये तथा दायें हाथको बायें घुटनेके बाहरसे ले जाकर उससे बायें पाँवको पकड़े। अब शरीरको और अधिक बायीं ओर फिराये तथा सिरको भी ठोड़ीके बायें कंधेपर आनेतक बायीं ओर ले जाय और बायाँ हाथ पीठके पीछेसे ले जाकर उससे दायीं जंघाको पकड़े। यह चित्र-संख्या १४ में दर्शाये-अनुसार अर्धमत्स्येन्द्रासनकी विधि है। यही आसन दायें पाँव तथा दायें हाथका काम बायें पाँव तथा बायें हाथसे लेनेपर और बायें पाँव तथा बायें हाथका काम दायें पाँव तथा दायें हाथसे लेनेपर चित्र-संख्या १५ में दर्शाये-अनुसार बन जाता है।

१६-विपरीतकरणी—चित लेट जाय। हाथोंको शरीरके साथ लंबा करके रखे। पाँवोंद्वारा तीस अंशका कोण बननेतक उन्हें ऊपर उठाये। कुछ क्षण रुककर पुनः ऊपर उठाये तथा साठ अंशका कोण बनाये। फिर कुछ देर रुककर और ऊपर उठाये तथा अस्सी अंशका कोण बनाये और इसी अवस्थामें रुक जाय। इसको अर्धविपरीतकरणी कहते हैं।

अब बाहु तथा कोहनियोंकी सहायतासे शरीरके निचले भागको ऊपर उठाये और नितम्बोंके नीचे हाथोंको लगाकर उनका आधार बनाये। यह क्रिया विपरीतकरणी कहलाती है।

१७-१८-हलासन—हाथोंको शरीरके साथ लंबा करके चित लेट जाय। पाँवोंको तीस अंशका कोण बनाकर ऊपर उठाये, कुछ क्षण रुककर और ऊपर उठाये तथा साठ अंशका कोण बनने दे। पुनः रुककर और ऊपर उठाकर नब्बे अंशका कोण बनने दे और रुक जाय। यह अर्धहलासन हुआ। अब चित्र-संख्या १७ में दर्शाये-अनुसार पाँवोंको सिरकी ओर अधिक झुकाकर उनकी अँगुलियाँ सिरके पीछे जमीनपर टिका दे (यह हलासनकी प्रथमावस्था है)। कुछ देर रुककर अब पाँवोंकी अँगुलियाँ सिरसे और दूर ले जाय (यह हलासनकी द्वितीयावस्था है)। फिर रुककर धीरे-धीरे पाँवकी अँगुलियाँ सिरसे जहाँतक हो सके वहाँतक दूर ले जाय। (यह हलासनकी तृतीयावस्था है)। थोड़ी देर रुक जाय, अब दोनों हाथोंको सिरकी ओर फिराकर अंगुलिबन्ध करे तथा सिरके पिछले भागके साथ लगा दे। अब इसके पश्चात् चित्र-संख्या १८ में दर्शाये-अनुसार पाँवोंकी अँगुलियाँ जितनी भी पीछे

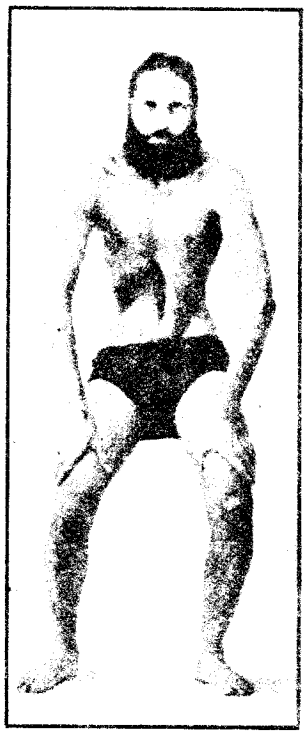

(९) वामनौलि

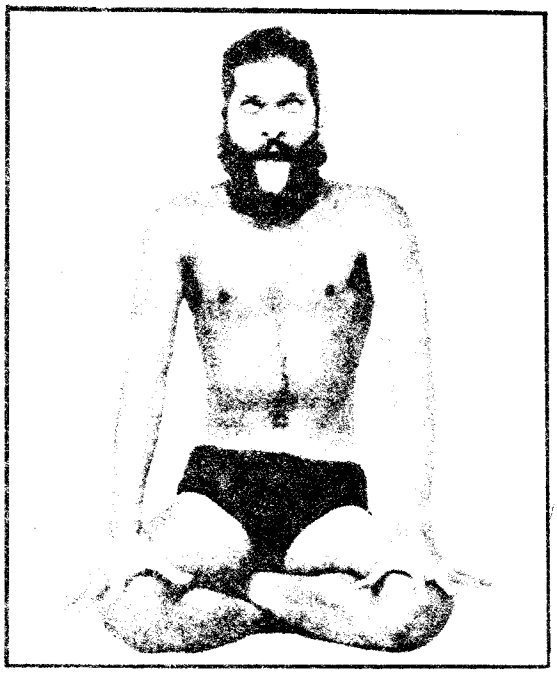

(१०) सिंहासन

(११) वज्रासन

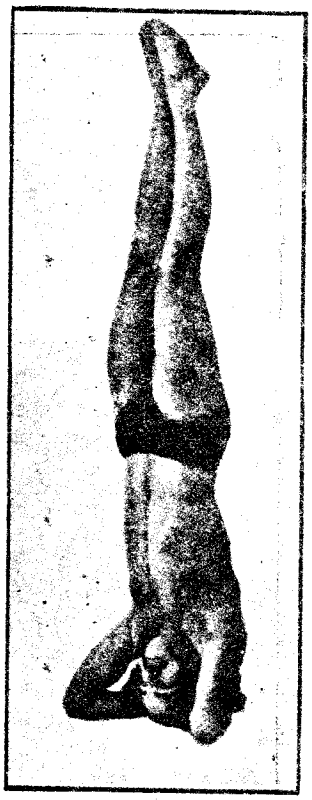

(१२) शीर्षासन

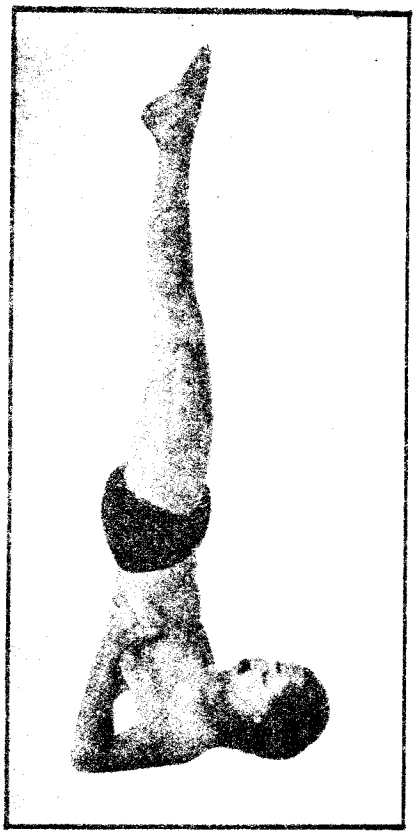

(१३) सर्वाङ्गासन

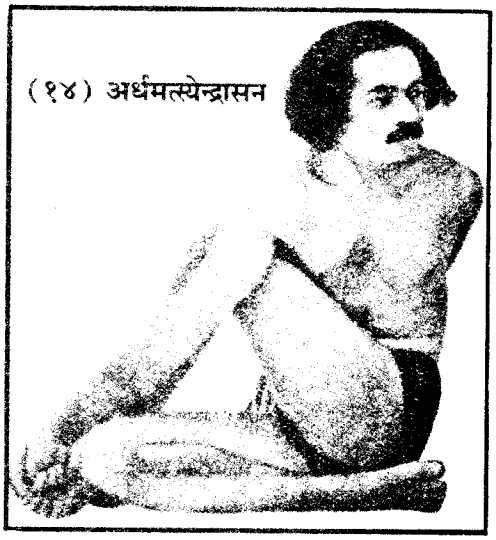

(१४) अर्धमत्स्येन्द्रासन

(१५) अर्धमत्स्येन्द्रासन

(१६) विपरीतकरणी

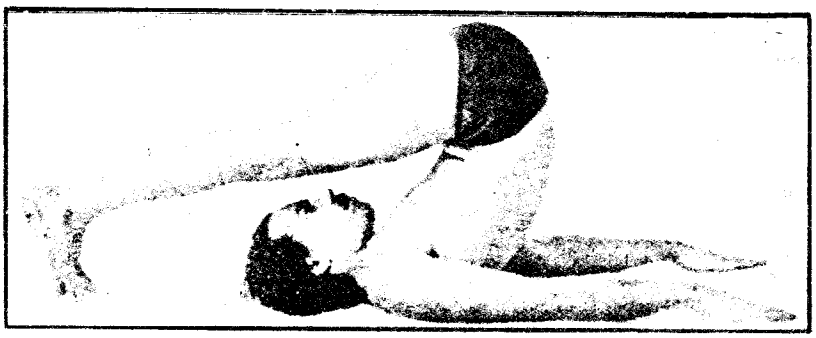

(१७) हलासन (प्रथमावस्था)

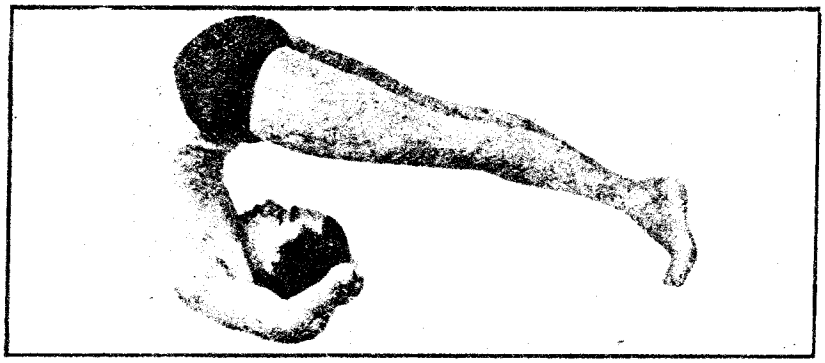

(१८) हलासन (चतुर्थावस्था)

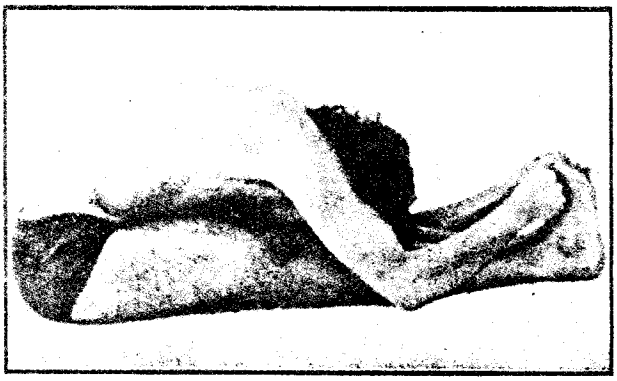

(१९) पश्चिमतानासन

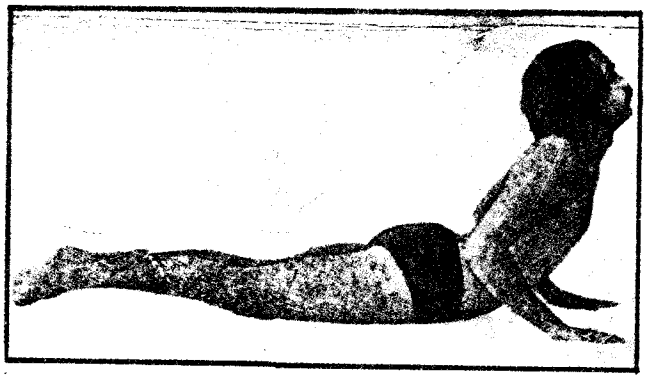

(२०) भुजङ्गासन

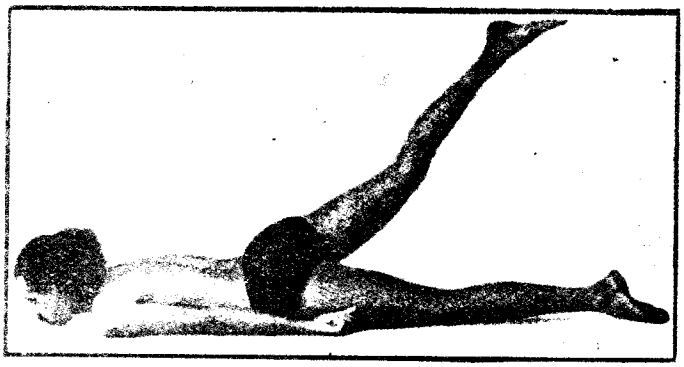

(२१) अर्धशलभासन

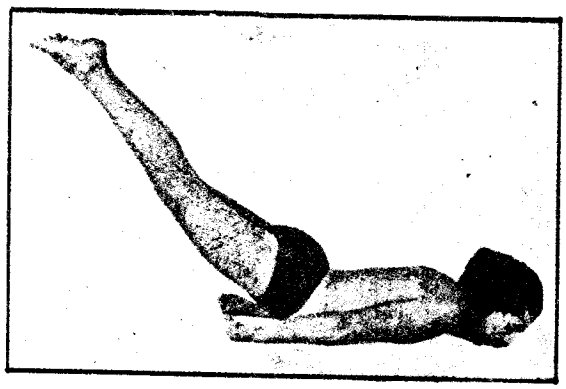

(२२) शलभासन

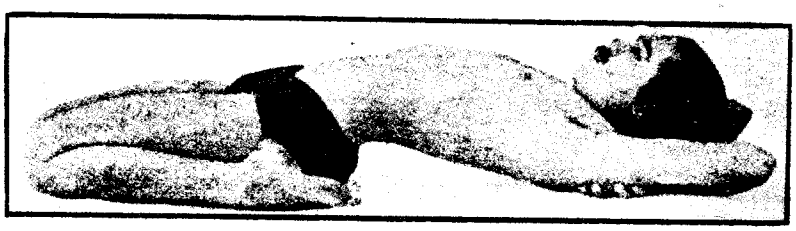

(२३) सुप्तवज्रासन

(२५) योगमुद्रा

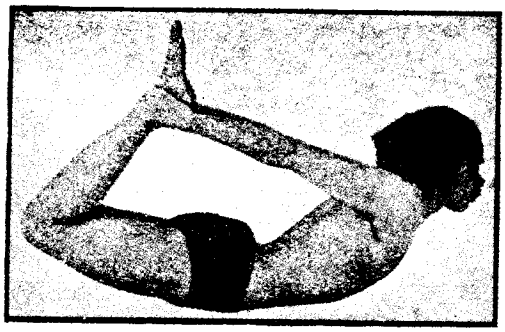

(२४) धनुरासन

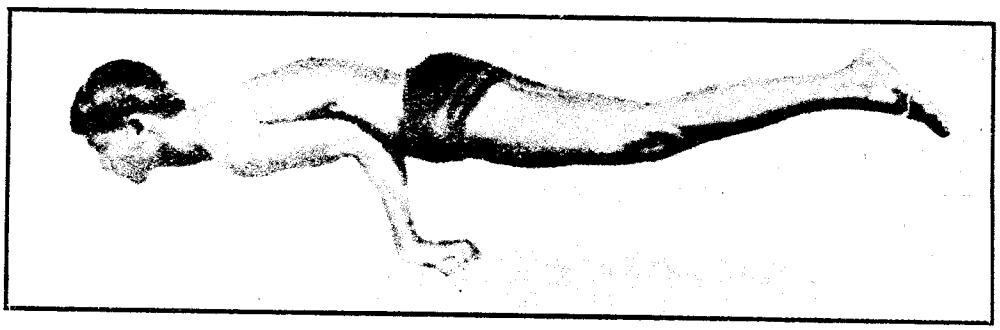

(२६) मयूरासन

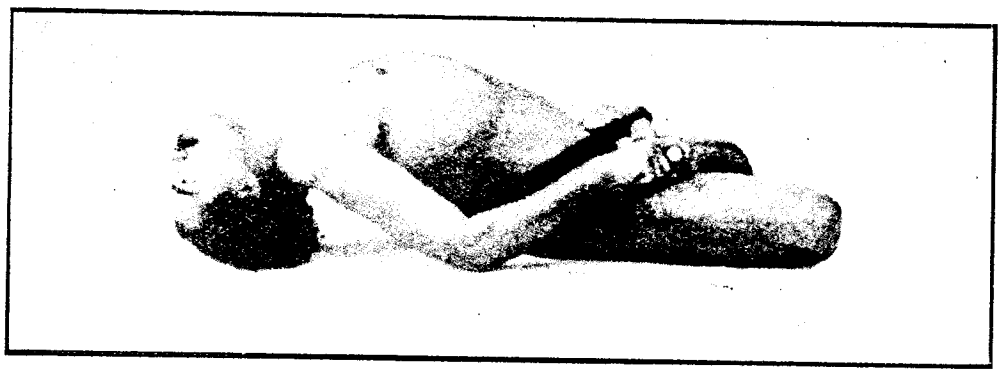

(२७) मत्स्यासन

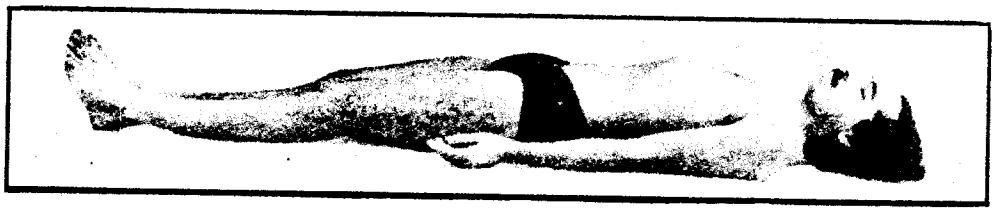

(२८) शवासन

सरका सके, सरकाये (यह हलासनकी चतुर्थावस्था है)। ऐसी स्थितिमें थोड़ी देर रुककर पुनः यथावत् स्थितिमें आ जाय, यह हलासनकी चतुर्विध प्रक्रिया है।

१९-पश्चिमतानासन—पाँवोंको लंबा करके आपसमें मिलाकर बैठे। तर्जनी अँगुलीको टेढ़ा करके दायीं अँगुलीसे दायें पाँवका तथा बायीं अँगुलीसे बायें पाँवका अँगूठा पकड़े। शरीरको आगे झुकाकर मस्तकको पाँवोंके साथ लगा दे। यह पश्चिमतानासन कहलाता है।

२०-भुजंगासन—पेटके बल सोकर माथेको भूमिपर लगा दे। दोनों हाथोंकी तलियोंको छातीके दोनों ओर भूमिपर टेक दे। अब सिरको जहाँतक हो सके धीरे-धीरे पीछे ले जाय, पश्चात् छातीको धीरे-धीरे ऊपर उठाये तथा इसी प्रकार पेटको भी शनैः-शनैः ऊपर उठाये। इसे भुजंगासन कहते हैं।

२१-२२-अर्धशलभासन-शलभासन—पेटके बल लेटकर ठोड़ीको जमीनपर लगा दे। हाथोंको शरीरके साथ लंबे तथा उलटे करके मुट्ठियाँ बंद कर ले। श्वासको पूर्णतया अंदर लेकर अर्थात् पूरक करके कुम्भक करे। दायाँ पाँव पीछेसे ऊपर उठाकर पैंतालीस अंशका कोण बनाये। पुनः उसे नीचे ले आकर पूर्वके समान रख दे। इसी प्रकार बायाँ पाँव ऊपर उठाये तथा पहले पाँवके समान पैंतालीस अंशतक ऊँचा ले जाय। पुनः पूर्ववत् नीचे ले जाय। इसे अर्धशलभासन कहते हैं। यह शलभासनका बनाया हुआ सुगम प्रकार है। अर्धशलभासनके समान पूरक-कुम्भकतककी क्रियाएँ यथावत् रूपमें सम्पन्न कर शरीरको कड़ा करके तथा बाहुओंपर भार डालकर दोनों पाँवोंको पीछेसे जहाँतक हो सके उठाये। इसे शलभासन कहते हैं।

२३-सुप्तवज्रासन—पाँवोंको लंबा करके परस्पर मिलाकर बैठे। दोनों पाँवोंको घुटनोंमें मोड़कर तलियोंको ऊपर करके नितम्बके दोनों ओर लगाकर रखे, घुटने एक दूसरेके समीप ले जाय और ऐसी अवस्थामें ही चित लेट जाय। पश्चात् दोनों हाथोंके प्रकोष्ठों (कोहनीतकके भागों)को एक दूसरेपर रखकर उनको सिरके नीचे इस प्रकारसे रखे कि वे सिरका सिरहाना बन जायँ। पश्चात् हाथोंसे एक दूसरे कंधेको पकड़ ले। आँखें बंद कर ले। यही सुप्तवज्रासन है। सुप्तवज्रासन वज्रासनकी अगली सीढ़ी है।

२४-धनुरासन—पेटके बल लेटकर ठोड़ीको जमीनपर टेक दे। हाथोंको शरीरके साथ लंबा करके रखे। सिरको ऊपर उठाये तथा पाँवोंको घुटनोंकी ओर फेरकर उनके गिट्टोंको हाथोंसे पकड़ ले और शरीरका सारा भार पेटपर डालकर छाती और जाँघोंके पिछले भागको ऊपर उठाकर ताने। यही धनुरासनकी विधि है।

२५-योगमुद्रा—पद्मासनमें दर्शाये-अनुसार पदबन्ध करे। हाथोंको पीठके पीछे ले जाकर बायें हाथसे दायें हाथकी कलाईको पकड़ ले और शरीरको आगे झुकाकर पेटके अंदर एड़ियोंको दबाते हुए सिरको जमीनपर लगा दे। इसे योगमुद्रा कहते हैं।

२६-मयूरासन—घुटने टेककर तथा उनमें पर्याप्त अन्तर छोड़कर बैठे। दोनों हाथोंको कोहनीतक मिलाकर उनकी तलियाँ इस प्रकारसे भूमिपर टेके कि अँगुलियाँ पाँवोंकी ओर रहें। अब जुड़ी हुई दोनों कोहनियोंपर पेटके बिचले हिस्सेके मध्य भागको टेके तथा शरीरको लंबा करके कोहनियोंके ऊपर इस प्रकारसे तोले कि वह भूमिके समान अन्तरपर रहे। इसका नाम मयूरासन है।

२७-मत्स्यासन—पद्मासनके समान पदबन्ध करके चित लेट जाय। सिर तथा पीठको पीछेसे टेढ़ा करके पृष्ठवंश (रीढ़की हड्डी) को कमानके सदृश बनाये तथा तर्जनीको टेढ़ा करके दोनों हाथोंसे दोनों पाँवोंके अँगूठेको पकड़े। इसे मत्स्यासन कहते हैं।

२८-शवासन—चित लेट जाय। हाथ शरीरके साथ लंबे रखे। आँखें बंद कर ले तथा शरीरकी सम्पूर्ण नसों (स्नायुओं) को ढीला छोड़ दे। इसे शवासन कहते हैं।

यौगिक अभ्यास-सम्बन्धी कुछ सामान्य नियम

जिनके कानमें, आँखमें तथा (हृदय निर्बल होनेके कारण) छातीमें पीड़ा होती हो, उनको शीर्षासन नहीं करना चाहिये। जिनकी नाक सदा कफसे बंद रहती हो, उनको शीर्षासन तथा सर्वाङ्गासन अत्यन्त सावधानतापूर्वक करने चाहिये। जिनका पचनेन्द्रिय अर्थात् मेदा बहुत कमजोर हो तथा जिनकी तिल्ली (प्लीहा) बहुत बढ़ गयी हो, उनको भुजङ्गासन, शलभासन तथा धनुरासन नहीं करने चाहिये।

जिनको कब्ज अर्थात् मलबद्धताकी शिकायत रहती हो,उनको योगमुद्रा तथा पश्चिमतान बहुत देरतक करना उचित नहीं। साधारण हृदयकी निर्बलतावालोंको उड्डीयान, नौलि तथा कपालभाति नहीं करनी चाहिये। जिनके फेफड़े निर्बल हों, उनको कपालभाति, भस्त्रिका तथा उज्जायी कुम्भक करना उचित नहीं। किंतु केवल रेचक तथा पूरक उज्जायी करनेमें कुछ हानि नहीं। जिनके रक्तका दबाव सदा १५० से अधिक अथवा १०० से कम रहता हो,उन्हें अपने भरोसे अर्थात् बिना किसी योगानुभवीसे परामर्श लिये किसी प्रकारका भी यौगिक व्यायाम नहीं करना चाहिये।

बहुत दिनोंतक रोगग्रस्त रहनेके पश्चात् शरीरमें पुनः अभ्यास करने योग्य पर्याप्त शक्ति आ जानेपर ही अभ्यास आरम्भ करना चाहिये। ऐसे अवसरपर अर्थात् अभ्यास आरम्भ करनेसे पहले अभ्याससे किसी प्रकारके दुष्परिणामकी सम्भावना न रहे, इसलिये एक सप्ताहपर्यन्त प्रतिदिन (सुगमतासे जितना भी दूर जाया जा सके) भ्रमण करते रहनेसे पुनः अभ्यास आरम्भ करनेमें बहुत सुगमता होगी।

भोजनके बाद तथा दूध-पानी आदि पेय पदार्थोंके पर्याप्त सेवनके बाद यौगिक व्यायाम नहीं करने चाहिये।

योगाभ्यास स्वच्छ हवावाले एवं पवित्र किसी भी स्थानमें किया जा सकता है। इस विषयमें केवल इतनी सावधानी रखनी चाहिये कि वायुका झोंका शरीरपर न लगने पाये।

योगाभ्यासी सज्जनको अभ्यासके समय अपने मापकी एक दरी ले लेना उचित है। आरोग्यकी दृष्टिसे यह उचित होगा कि प्रतिदिन धोये हुए खद्दरका एक कपड़ा उस दरीपर बिछा दिया जाय। यदि जमीन स्वच्छ तथा न बहुत ठंडी न बहुत गरम हो तो ऐसी अवस्थामें बिना दरीके भी अभ्यास किया जा सकता है।

उड्डीयान, नौलि, कपालभाति अथवा भस्त्रिका तथा उज्जायी प्राणायाम प्रातःकाल करने चाहिये। जिनको कोष्ठबद्धता अर्थात् कब्जकी शिकायत हो वे उड्डीयान तथा नौलि शौच होनेसे पहले कर सकते हैं। नौलि करनेसे पहले पाँचसे लेकर दस छटाँकतक गरम पानीमें पाँचसे दस रत्तीतक सेंधा नमक डालकर पी लेनेसे शौच शीघ्र होनेमें बहुत सहायता मिलती है।

कपालभाति, भस्त्रिका तथा उज्जायी करनेसे पहले शौचादिसे तो निवृत्त हो ही जाना चाहिये, किंतु यदि हो सके तो स्नान भी पहले ही कर लेना चाहिये। कपालभाति, भस्त्रिका तथा उज्जायी—इन तीनोंका अभ्यास पद्मासन अथवा सिद्धासनपर बैठकर करनेसे बहुत सुगमता होती है। इन दोनोंमेंसे भी कपालभाति तथा भस्त्रिकाके लिये तो पद्मासन ही अधिक लाभदायक है। प्रातःकालकी अपेक्षा सायंकालमें शरीरके स्नायु अधिक नरम होते हैं, अतः सायंकालमें आसन करनेमें अधिक सुगमता रहती है। योगमुद्रा, उज्जायी तथा कपालभाति अथवा भस्त्रिकाको सायंकाल भी किया जा सकता है।

सायं तथा प्रातः दोनों समयमें अभ्यासका क्रम इस प्रकारसे रखना चाहिये—सबसे प्रथम आसन तथा योगमुद्रा, तत्पश्चात् बन्ध तथा क्रिया और अन्तमें प्राणायाम। कपालभातिको प्राणायामका ही भाग समझना चाहिये। योगाभ्यासीको जो पदार्थ अपने स्वास्थ्यके अनुकूल हों, उनके ही सेवनका नियम रखना चाहिये। कभी आवश्यकतासे अधिक खाना उचित नहीं। प्रत्येक ग्रास अच्छी प्रकारसे चबा-चबाकर खाना चाहिये। इससे ग्रासके अंदर उचित परिमाणमें मुखकी लार मिल जानेसे भोजन पचनेमें बहुत सुगमता होती है। जिनकी पाचनशक्ति अच्छी न हो, उनको सदा हलके पदार्थ ही खानेका नियम रखना चाहिये और केवल दो ही समय भोजन करना चाहिये। यदि एक ही समय भोजन किया जाय तो और भी अच्छा हो। दूसरे समयके भोजनके स्थानपर पचनेमें हलका दुग्धादि अल्पाहार करना चाहिये। अग्निमान्द्य, कोष्ठबद्धता तथा मूत्राम्लका रोग होनेपर किसी प्रकारकी भी दाल नहीं खानी चाहिये और आलू, बैगन आदिका भी सेवन नहीं करना चाहिये। भोजन करनेके आधे घंटे पश्चात् जल पीना सब प्रकारकी प्रकृतिवालोंको अनुकूल पड़ता है। जिनकी पाचनशक्ति ठीक है वे यदि भोजन करते समय भी जल पी लें तो कुछ हानि नहीं। मदिरा, चाय, काफी एवं तंबाकू-जैसे उत्तेजक पदार्थोंका सर्वथा सेवन न करना ही उत्तम है।

बारह वर्षसे नीचेके बालक-बालिकाओंको प्रारम्भमें भुजङ्गासन, अर्धशलभासन, धनुरासन, पश्चिमतानासन, हलासन तथा योगमुद्राका विशेषरूपसे अभ्यास करना चाहिये।

उदर-सम्बन्धी यौगिक व्यायाम

(राजरत्न प्रो० श्रीमाणिकरावजी)

भारतीय शास्त्रोंमें तथा लोकपरम्पराओंके अनुसार रोग मनुष्यके पूर्वजनित कर्मोंके परिपाकस्वरूप होते हैं और उनके संकेत जन्मकुण्डलीकी ग्रह-दशा, ग्रहोंकी स्थिति और गोचरफलसे भी प्राप्त होते हैं। ये बातें योगियोंको स्वप्नादि या अङ्गस्फुरण आदि दुःशकुनोंसे सूचित होती हैं। प्रायः इनमें अनियमित आहार-विहार ही हेतु बनते हैं। सर्वप्रथम उनसे प्रतिश्याय, मन्दाग्नि, उदरशूल, अतिसार आदि उदरव्याधियाँ उत्पन्न होती हैं और उनके अधिक दिन रह जानेपर स्थिर व्याधियाँ हो जाती हैं, जो शरीरको क्षीण करती हुई मन, बुद्धि, धारणाशक्ति और आत्माको भी दुःखित करती हैं और समयपर समुचित उपाय न किया जाय तो आयु भी घटने लगती है। इसलिये समुचित आहार-विहार, जप-तप आदि अनुष्ठान, मणि, मन्त्र, सामान्य ओषधि-सेवन तथा जलवायु-परिवर्तनके द्वारा आरम्भमें ही उसे रोक लेना चाहिये और किसी भी व्याधिकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि बढ़ जानेपर वे दुश्चिकित्स्य हो जाती हैं। यदि आरम्भमें ही उपवास तथा अन्य सामान्य योगासनोंका सहारा लिया जाय तो ये तत्काल शान्त हो जाती हैं। इसलिये एकादशी आदि उपवासके योगसम्मत नियम शास्त्रकारोंने पहलेसे ही निर्धारित कर रखे हैं। उपवासादि धर्म-कर्म न करनेसे आज व्याधियाँ विश्वमें अत्यधिक रूपमें व्याप्त हो गयी हैं, जिनमें अनुचित आहार-विहारसे उत्पन्न उदर-विकार ही सबका मूल होते हैं। यहाँ उनके उपशमनके लिये सर्वसामान्यके उपयोगी कुछ यौगिक व्यायामोंका वर्णन किया जा रहा है। इनके यथोचित यथासमय अभ्याससे व्यक्ति रोगमुक्त होकर स्वस्थ एवं सबल हो जाता है।

व्यायामके भेद

उदर-सम्बन्धी व्यायामोंकी अनेक विधियाँ हैं। उनमेंसे कुछ मुख्य विधियाँ यहाँपर दी जा रही हैं—

(१) भूमिपर स्वच्छ आसन फैलाकर उसपर बैठ जाय और घुटनोंको सामने करके पैरोंके तलवोंको पीछे ले जाकर चित्र (१)के अनुसार आसन लगाकर और घुटनोंको एक दूसरेसे मिलाये। दोनों हाथ घुटनोंके दोनों ओर, हाथकी अंगुलियोंको मिलाकर जमीनपर सीधा रखे, छातीको उभारे और पूर्ण श्वास लेकर छातीको धीरे-धीरे नीचे उतारकर जाँघोंसे मिलाये और नाक जमीनमें लगाये। इस समय हाथ केहुनियोंके आगे मुड़े हुए हों। पार्श्वभाग पैरके तलवोंसे हिलने न पायें। इतना करके फिर धीरे-धीरे पूर्ववत् हो जाय। यह एक डंड हुआ।

(२) प्रथम विधिके समान आसन लगानेपर दोनों हाथ घुटनोंके समीप न रखकर कमरपर पीछे रखे और दाहिने हाथके पंजेसे बायें हाथका पंजा पकड़कर छाती ऊपरकी ओर करे। फिर छातीको धीरे-धीरे घुटनोंसे और नाकको जमीनसे लगानेका अभ्यास करे। इतना करके फिर धीर-धीरे पूर्व-स्थितिमें आ जाय।

(३) सामने पैर फैलाकर और जहाँतक हो सके उन्हें चौड़ा और सीधा रखकर बैठे। दोनों हाथोंसे पैरोंके अँगूठोंको पकड़े, अनन्तर घुटनोंको बिना टेढ़ा किये कमरसे झुककर नाक जमीनसे लगानेका यत्न करे। ऐसा करते हुए हाथोंको केहुनियोंसे मोड़े। तब धीरे-धीरे पुनः पूर्व-स्थितिमें आये।

(४) प्रथम विधिके अनुसार बैठकर पहले दायाँ पैर वहाँसे निकालकर बायीं ओर बायें पैरकी जाँघसे समकोण मिलाकर सीधा रखे। हाथ पहलेकी ही स्थितिमें रहें। फिर उस पैरको पहलेकी स्थितिमें लाकर रखे और एक डंड करे अर्थात् प्रथम विधिमें जो दूसरी स्थिति है, उसमें आ जाय। इसके बाद दायें पैरकी तरह अब बायाँ पैर चटसे निकालकर दायीं ओर दायें पैरसे समकोण मिलाकर सीधा रखे। अनन्तर फिर पहलेकी स्थितिमें ले आये। यह अभ्यास कई बार करे।

(५) चौथी विधिकी ही सब क्रिया करे, पर हाथ घुटनोंकी ओर न रखकर जिस ओर पैर फैलाया हो, उस ओर घुमाकर सीधा करे और छातीको आगेकी ओर झुकाते हुए हाथोंको पाँवके आगे जितना बढ़ा सके, बढ़ाये और सिरको घुटनोंपर रखे। इस तरह दोनों तरफकी क्रिया करे।

(६) तीसरी विधिमें बताये-अनुसार पैर चौड़े फैलाकर सीधा बैठे। अनन्तर पूर्ण श्वास लेते हुए हाथोंको कंधोंकी

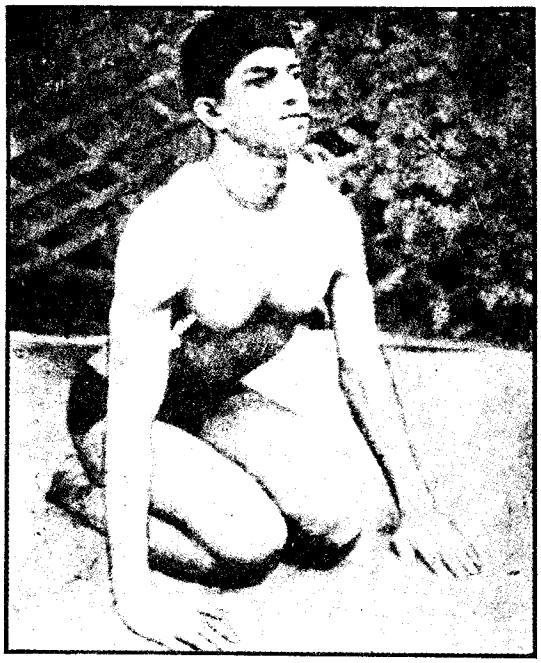

प्रकार १] [चित्र नं० १

प्रकार ३] [चित्र नं० ३

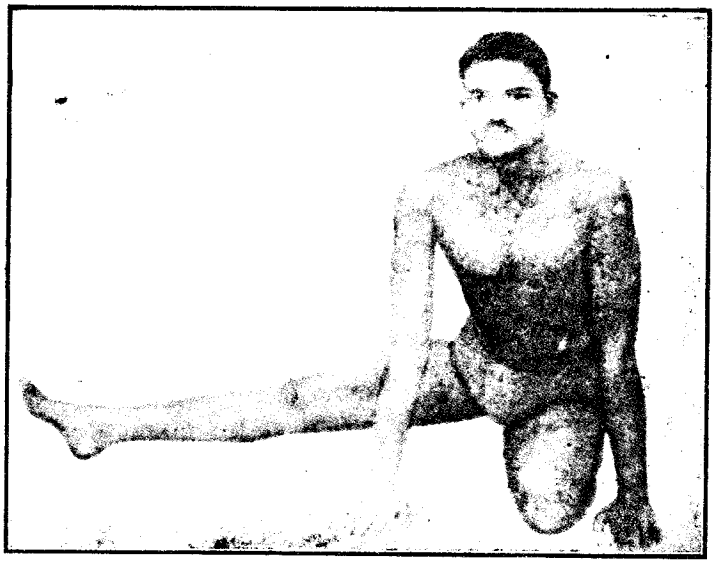

प्रकार ४] [चित्र नं० ४

प्रकार २] [चित्र नं० २

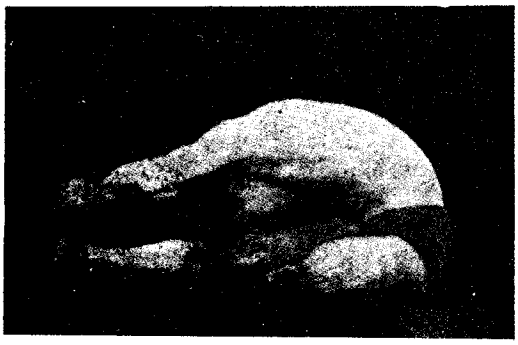

प्रकार ५] [चित्र नं० ५

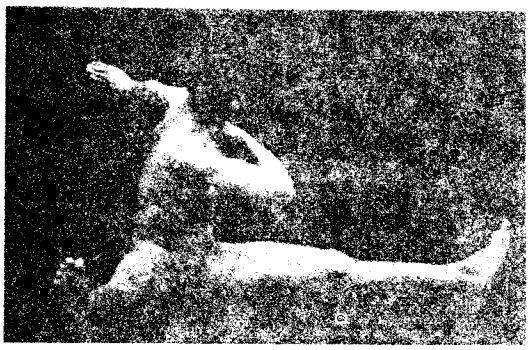

प्रकार ६] [चित्र नं० ६

प्रकार ७] [चित्र नं० ७

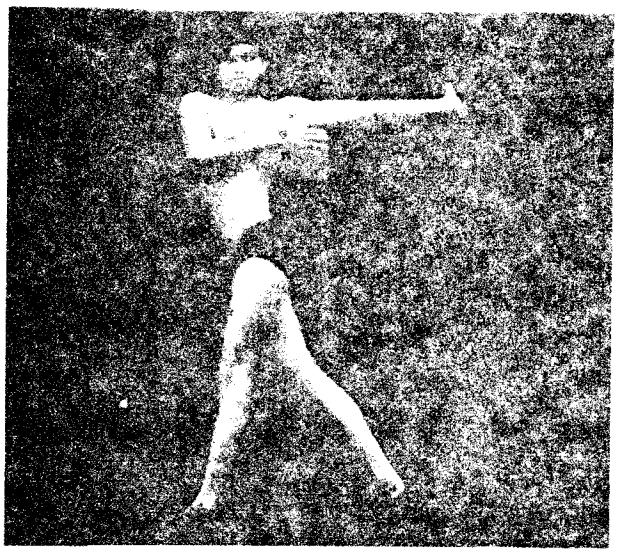

प्रकार ७] [चित्र नं० ८

प्रकार ८] [चित्र नं० ९

प्रकार ९] [चित्र नं० १०

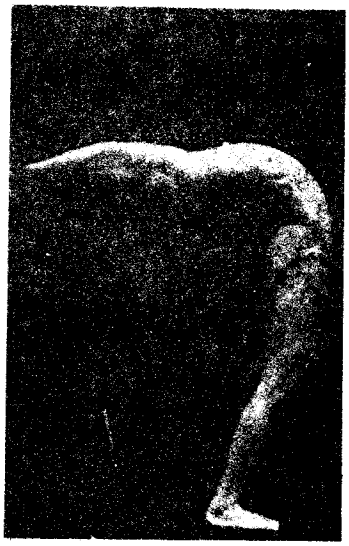

प्रकार १०] [चित्र नं० ११

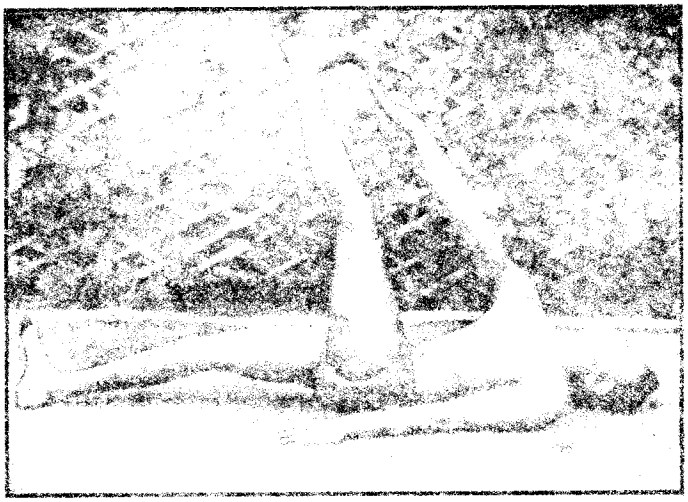

प्रकार ११] [चित्र नं० १२

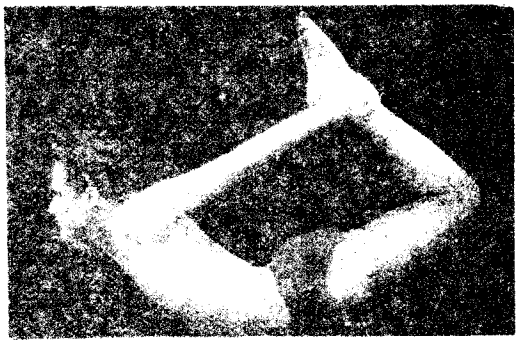

प्रकार १२] [चित्र नं० १३

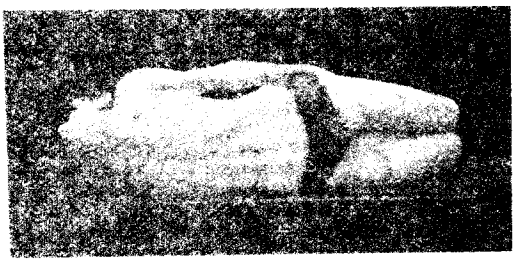

प्रकार १३] [चित्र नं० १४

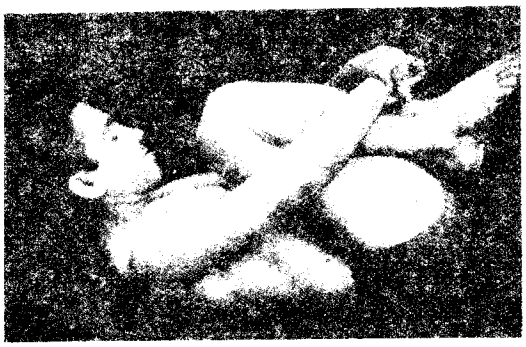

प्रकार १३] [चित्र नं० १५

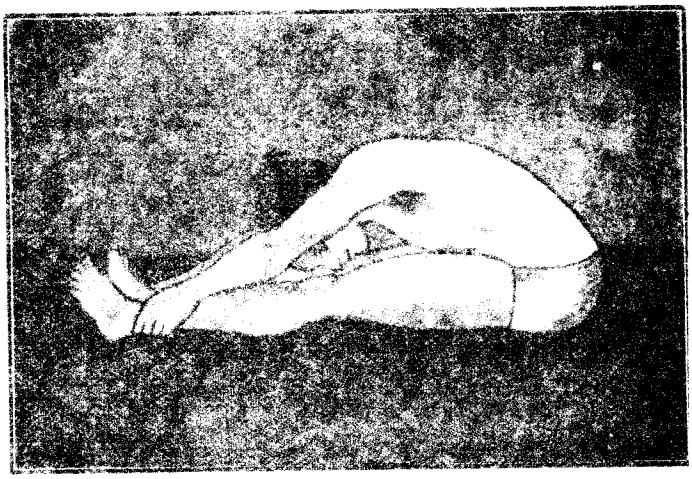

प्रकार १४] [चित्र नं० १७

प्रकार १३] [चित्र नं० १६

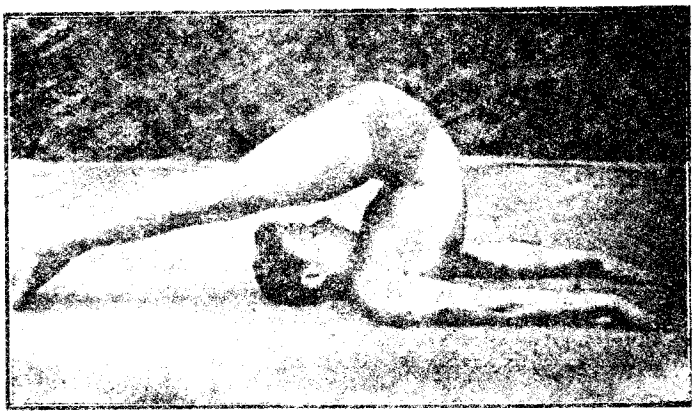

प्रकार १५] [चित्र नं० १८

सीधमें सीधा करे और हाथोंके साथ दायीं ओर शरीरको घुमाये, इतना घुमाये कि पेटको मुड़नेकी वेदना हो। शरीरका घुमाना हो चुकनेपर, जिस ओर हाथ मुड़े हैं, उसी ओर जमीनपर हाथ टेककर जोर दे। यह करते हुए पैर बिलकुल न हिलें, ज्यों-के-त्यों रहें। इसके अनन्तर हाथ निकालकर शरीरको बायीं ओर इतना घुमाये कि पेटमें मुड़नेकी वेदना हो और जमीनपर हाथ टेककर जोर दे। ऐसा कई बार करे।

(७) पैर चौड़े रखकर सीधा खड़ा रहे। दोनों पैरोंके बीच डेढ़ फुट फासला हो। पूर्ण श्वसन करते हुए दोनों हाथ कंधोंसे सीधी रेखामें ताने (चित्र नं० ७)। अनन्तर कटिके ऊपरका अङ्ग दाहिनी ओर इस तरह घुमाये कि दाहिना हाथ बायीं ओर कंधेकी सीधी रेखामें आ जाय, और बायाँ हाथ केहुनीसे मोड़कर (समकोण करके) पंजा दाहिने कंधेमें लगाये (चित्र नं० ८)। केहुनी कंधेकी रेखामें हो। तब फिर पहलेकी तरह सब अङ्ग करके बायीं ओर घुमाये।

(८) सातवें प्रकारमें कहे-अनुसार खड़े होकर हाथोंको ऊपर सीधा खड़ा करे। अनन्तर पूर्ण श्वसन करते हुए धीरे-धीरे पहले दायीं ओर झुककर दाहिने पाँवके पास जमीनपर हाथ रखे (चित्र नं० ९) और बायाँ हाथ ऊपर वैसे ही खड़ा रखे। घुटनोंके जोड़ न हिलें। इतना करके पूर्व-स्थितिमें आकर यही क्रिया दूसरी तरफसे करे।

(९) हाथोंको ऊपर खड़ा रखकर सीधा खड़ा रहे। तब हाथ नीचे सीधे सामने लाकर आगेकी ओर कमरके बल झुककर सिरको घुटनोंके बीचमें लानेका यत्न करे और हाथोंसे जमीन छुए, ऐसा करते हुए घुटने न झुकें। फिर पूर्व-स्थितिमें आ जाय। ऐसा दस-बारह बार करे।

(१०) आठवीं विधिमें कहे-अनुसार हाथ सिरके ऊपर सीधे रखकर खड़ा रहे, फिर शरीरको कमरके बल झुकाकर अपने भरसक पीछेकी ओर ले जाय। हाथोंको भी साथ ही पीछे ले जाय (चित्र नं० ११)। इस प्रकार आठ-दस बार करे।

(११) दरीपर सीधा चित लेट जाय। हाथ दोनों ओर सीधे—सीधा रखे। पूर्ण श्वसन करते हुए बायाँ पैर और दाहिना हाथ एक साथ उठाकर पेटकी मध्य रेखामें ले आये और (चित्र नं० १२ के अनुसार) हाथसे पैरको स्पर्श करे। अनन्तर पुनः पूर्वस्थितिमें आकर दायाँ पैर और बायाँ हाथ उठाकर वैसी ही क्रिया करे। ऐसा करते हुए घुटने टेढ़े न होने पायें।

(१२) चित न लेटकर पेटके बल लेटे और पीछेकी ओरसे घुटनोंको झुकाकर उनके टखने दोनों हाथोंके पंजोंसे पकड़े (चित्र नं० १३)। इस समय गर्दन और छाती इतनी ऊपर उठी रहे कि शरीर धनुषाकार हो जाय, इससे पेटके नल तन जायँगे। इसी स्थितिमें दोनों ओर आधे-आध लोटे (चित्र नं० १४)। ध्यान रहे कि इस समय शरीरमें किसी प्रकारका झटका न लगे।

(१३) सीधा चित लेटे। घुटना और जाँघ दोनोंको झुकाकर दोनों हाथोंसे (दाहिने हाथके पंजेसे बायें हाथकी कलाईको) घुटनोंके समीप पकड़े। इस समय पार्श्वभाग उठा हुआ हो (चित्र नं० १५)। अनन्तर चित्र नं० १६ की स्थितिमें आ जाय।

(१४) ग्यारहवीं विधिके अनुसार चित लेटे। हाथोंके अँगूठोंको मिलाकर दोनों हाथ सिरकी ओर सीधे रखे। अनन्तर धीरे-धीरे श्वास लेते हुए घुटनोंको बिना झुकाये और शरीरको बिना झटका दिये उठे तथा हाथ वैसे ही लाकर पैरोंके पंजे छुए (चित्र नं १७) फिर कमरके बल झुककर घुटनोंको बिना मोड़े, घुटनोंमें नाक लगाये। ऐसा करते हुए पैरोंको जमीनसे न उठाये और न किसी प्रकार ऊपर-नीचे करे। इतना कर चुकनेपर अङ्गमें झटका दिये बिना पूर्वस्थितिमें आ जाय।

(१५) सीधा चित लेटे। हाथ-पैर एक दिशामें सीधा रखे। पैरोंको घुटनोंपर मोड़े बिना सीधे ऊपर उठाये और धीरे-धीरे सिरकी ओर इतना ले जाय कि पेट मुड़े और सिरकी ओर जमीनमें लगे (चित्र नं० १८)। ऐसा करते हुए हाथ अपनी जगहसे न हिलें। फिर जितनी धीमी गतिसे पैर ऊपर लाये हों उतनी ही धीमी गतिसे उन्हें पूर्वस्थितिमें ले आवें।

विरागकी प्राप्तिसे ही मनुष्य विरक्त होता है, विरक्त होनेपर ज्ञान होता है, तभी उसका जन्म-क्षय होता है, तभी उसे ब्रह्मचर्यका फल मिलता है, तब उसका कर्तव्य समाप्त हो जाता है, फिर उसे यहाँ आकर जन्म नहीं लेना पड़ता।

—भगवान् बुद्धदेव

उदर-सम्बन्धी आसन और उनसे लाभ

१-सोड्डीयान पद्मासन—यह आसन योगासनोंमें अत्यन्त प्रसिद्ध है। चित्रके अनुसार पद्मासन लगाकर (दायाँ पैर घुटनेसे घुमाकर बायें ऊरुपर और बायाँ पैर दायें ऊरुपर घुमाकर रखे और एड़ियाँ ऊरुमूलमें आकर लगें) बैठे और हथेलियोंको घुटनोंपर रखे। अनन्तर पूर्ण उच्छ्वास करके, खाली पेटकी स्थितिमें पेटको बार-बार अंदर-बाहर करे। दम पूरा हो तब पुनः श्वास लेकर उच्छ्वास करे और पेटको पूर्ववत् अंदर-बाहर करे। इससे पेटका बढ़ा हुआ मेद समाप्त हो जाता है, यकृत-प्लीहादिके विकार दूर होते हैं, पेटके प्रायः सब रोग इसी एक आसनके नित्याभ्याससे अच्छे हो जाते हैं।

२-बद्धपद्मासन—पद्मासन लगाकर बैठे और पीछेसे दायें हाथसे दायें पैरका अँगूठा और बायें हाथसे बायें पैरका अँगूठा पकड़े। आरम्भमें यह कठिन है, पीछे अभ्याससे सध जाता है। इससे पीठमें कूबड़ निकालकर बैठनेकी बुरी आदत छूट जाती है, कमरके दोष दूर होते हैं, पेट पचकता है और श्वासोच्छ्वास सरल होकर आरोग्य और आयुकी वृद्धि होती है। इस आसनको करते समय मेरुदण्ड सीधा रखना चाहिये और बिना जलपान किये इस आसनका अभ्यास प्रातःकाल करनेसे अत्यधिक लाभ होता है।

३-बद्धासन—पाँवोंको मिलाकर नितम्बपर बैठे और दोनों हाथ टाँगोंके नीचे डालकर पाँवोंके पंजोंको दोनों हाथोंकी पकड़से पकड़कर यथासम्भव नितम्बके समीप खींचे और सीधे बैठे। इससे पेट, कमर और प्रकोष्ठके स्नायु तनकर विकाररहित और बलवान् होते हैं।

४-वक्रबद्धासन—बद्धासनके समान ही करके एक ओर लेट जाय और दोनों घुटनोंके बीचका अन्तर बढ़ाये। फिर दूसरी ओर लेटे। इससे पेट, ऊरु और कमर विकाररहित और बलवान् बनते हैं।

५-अर्धगर्भासन—पद्मासन लगाकर दोनों हाथ टाँगोंके नीचेसे बाहर निकालकर आगे बढ़ाये। इससे पेटके स्नायु बलवान् होते हैं और उदरवात नष्ट होता है।

६-गर्भासन—अर्धगर्भासन ही करे, पर इस अन्तरके साथ कि हाथ केहुनियोंसे घुमाकर मुट्ठियोंको कानोंके समीप रखे। इससे पेटके स्नायु, ऊरुमूल, कमर, यकृत्, प्लीहा, हृदय, छाती आदि अङ्ग विकाररहित होते है।

७-एकपादकन्धरासन—एक पैर नीचे घुटनेसे घुमाकर रखे और दूसरा गर्दनपर रखकर दोनों हाथोंसे पकड़ रखे। गर्दन और दृष्टि सीधी रखे। एक बार एक पैर ऐसा करके दूसरी बार दूसरा पैर ऐसा करे। इससे गर्भासनके सब लाभ होते हैं और साथ ही गर्दन, ऊरु और पेटके विकार दूर होते हैं। अन्त्रवृद्धि (हर्निया) और अपेंडिस-जैसे प्राणघातक रोग भी इस आसनके अभ्याससे नष्ट होते हैं।

८-लोलासन—पाँवोंको जुटाकर नितम्बपर बैठे और सामने हथेलियोंको टेककर सारा शरीर चित्रानुसार ऊपर उठाकर हाथोंपर तौले। इससे एकपादकन्धरासनके सब लाभ होकर हाथके पंजे, कलाई और भुजदण्ड बलवान् होते हैं।

९-भूनमनपद्मासन—पद्मासन करके पीठपर हाथ बाँधे सीधे बैठे और फिर सामने झुककर भूमिमें सिर लगाये। इस प्रकार पुनः-पुनः सीधे होकर पुनः-पुनः झुके। इससे कमर मजबूत होती है और बढ़ा हुआ पेट पचकता है। इसे 'योगमुद्रा' भी कहते हैं।

१०-कर्णस्पृष्टजानुपद्मासन—ऊपर कहे-अनुसार पद्मासनसे बैठ दायें घुटनेमें दायाँ और बायाँ कान लगाये और फिर बायें घुटनेमें बायाँ और दायाँ कान लगाये। इससे पीठ, पेट, पसली और गर्दन विकाररहित होते हैं।

११-पार्श्वभूनमनासन—पैरोंके पंजोंके पृष्ठभाग जमीनमें टिकाकर घुटनोंको मिलाये। अनन्तर एक तरफ भरसक झुककर दोनों हाथोंके तलवे पास जमीनमें टिकाकर दोनों हाथोंके बीच जमीनमें सिर टिकाये। इसी प्रकार दूसरी बगल करे। इस आसनसे पसलियोंके निचले हिस्से तथा पेट और पीठके नल निर्दोष होते हैं।

१२-एकपादपश्चिमतानासन—एक पैर घुटनेसे पूरा घुमाकर और दूसरा सामने फैलाकर बैठे तथा फैलाये हुए पैरका अँगूठा दोनों हाथोंसे पकड़कर सिर घुटनोंमें लगाये। पैर बदलकर फिर ऐसा ही करे। इससे पेट, पीठ, कमर और टाँगें निर्दोष होती हैं।

१-सोड्डीयान पद्मासन

२-बद्धपद्मासन

३-बद्धासन

४-वक्रबद्धासन

५-अर्धगर्भासन

६-गर्भासन

७-एकपादकन्धरासन

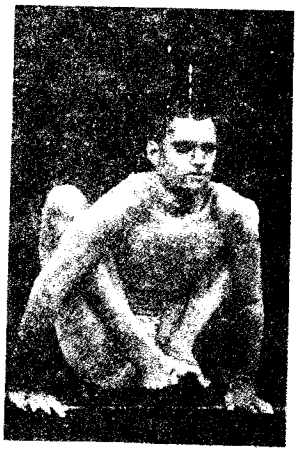

८-लोलासन

९-भूनमनपद्मासन

१०-कर्णस्पृष्टजानुपद्मासन

११-पार्श्वभूनमनासन

१२-एकपादपश्चिमतानासन

१३-ऊर्ध्वहस्तपश्चिमतानासन—जुटे हुए दोनों पैर सामने फैलाकर बैठे और सिर घुटनोंमें लगाये और बायाँ हाथ सामने तथा दायाँ पीछे फैलाकर दोनों हाथ यथाशक्य ऊपर करे। फिर हाथ बदलकर ऐसा ही करे। इससे उपर्युक्त आसनोंके लाभ होनेके अतिरिक्त छाती और बाहुमूल दृढ़ होते हैं।

१४-विस्तृतपाद भूनमनासन—बैठकर पैर भरसक दूर फैलाये। अनन्तर पैरोंके अँगूठे हाथोंसे पकड़कर सिर भूमिमें टिकाये। इससे ऊरु और जंघाप्रदेश तन जाते हैं तथा टाँगें, कमर, पीठ और पेट निर्दोष होकर वीर्य स्थिर होता है।

१५-विस्तृतपाद पार्श्वभूनमनासन—पूर्ववत् पैर फैलाकर बैठे। अनन्तर एक पैरके पार्श्वमें हथेलियोंको भूमिमें टिकाकर, दोनों हाथोंके बीचो-बीच, धरतीपर सिर रखे। इसी प्रकार दूसरे पार्श्वमें करे। इससे दोनों पसली, छाती, पेट, कमर और बाहु दोषरहित होते हैं।

१६-विस्तृतपाद हस्तपार्श्वचालनासन—पूर्ववत् पैर फैलाकर शरीरके एक-एक पार्श्वसे, एक साथ दोनों हाथ भरसक चारों ओर घुमाये। इससे बाहु, पेट, कमर, फेफड़े और हृदय निर्दोष होते हैं।

१७-पृष्ठासन—पीठके बल लेटकर घुटनोंको मोड़कर छातीमें लगाये और पैरोंके टखनोंके पास हाथोंकी पकड़ बाँधकर, आगे-पीछे झोंका खाकर, बैठा-जैसा हो जाय और फिर पीठके बल लेट जाय। इससे कमर निर्दोष होकर पीठ और पेटके शूल, मोच आदि दुरुस्त होते हैं तथा बढ़ा हुआ पेट बहुत कुछ पचकता है।

१८-उत्थितपृष्ठासन—पद्मासन लगाकर पीठके बल लेटे। हाथोंको कमरकी दोनों तरफ सीधे फैलाकर भूमिपर चित रखे और पद्मासनकी बैठक तथा सिर भरसक ऊपर उठाये। इससे मुख्यतः छाती और पेटको हितकर व्यायाम मिलता है।

१९-मत्स्यासन—पद्मासन लगाकर पीठके बल लेटे। पैरोंके अँगूठे हाथोंसे पकड़े। ऊरु भूमिपर अच्छी तरहसे टिकाये। अनन्तर इस रीतिसे कि छाती भरसक ऊपर उठे और पीठके नीचेका अङ्ग पोला हो, सिरपर भार डालकर सिर नीचेसे कमरकी ओर ले जाय। दृष्टि बिलकुल सामने रखे (चित्र देखिये)। इससे ऊरु, कमर, मेरुदण्ड, गर्दन, छाती तथा पेट विकाररहित होते हैं और आयु बढ़ती है।

२०-द्विपादचक्रासन—हाथोंके पंजे नितम्बके नीचे रख पीठके बल लेटे और एक पैर घुटनेमें मोड़कर घुटनेको पेटके पास लाकर तथा दूसरा पैर जरा ऊपर उठाकर बिलकुल सीधा रखे और साइकलपर जैसे पैर चलाते हैं वैसे चलाये। इससे नितम्ब, कमर, पेट और टाँगें निर्दोष होकर वीर्य शुद्ध, पुष्ट तथा स्थिर होता है।

२१-उत्थित द्विपादासन—पीठके बल लेटकर दोनों पैर ४५ डिग्रीतक ऊपर उठाकर, जमीनसे बिना लगे धीरे-धीरे ऊपर-नीचे करे। इससे पेटके स्नायु मजबूत होते हैं और मलोत्सर्गक्रिया ठीक होती है।

२२-उत्थित एकैकपादासन—पीठके बल लेटकर दोनों पैर (एक पैर २० डिग्रीमें और दूसरा ४५ डिग्रीमें) अधरमें रखकर जमीनसे बेलाग ऊपर-नीचे करे। इससे कमरके स्नायु बहुत मजबूत होते हैं, मलोत्सर्गक्रिया ठीक होती है तथा वीर्य शुद्ध और स्थिर होता है। स्वप्नदोष नहीं होता।

२३-उत्थितहस्त मेरुदण्डासन—हाथ-पैर एक रेखामें सीधे फैलाकर पीठके बल लेटे। अनन्तर दोनों हाथ उठाकर पैरोंकी ओर ले जाय। इस प्रकार पुनः-पुनः पीठके बल लेटकर पुनः-पुनः उठे। इससे कमर, छाती, रीढ़ और पेट निर्दोष होते हैं।

२४-शीर्षबद्धहस्त मेरुदण्डासन—पूर्ववत् सर्वथा पीठके बल लेटकर सिरके पीछे हाथ बाँधे, कमरसे शरीर ऊपर उठाये। पैर न उठें। इससे पेट, छाती, गर्दन, पीठ और रीढ़के दोष दूर होते हैं।

२५-जानुस्पृष्टभाल मेरुदण्डासन—उपर्युक्त आसन करके घुटना मोड़कर, बारी-बारी, धीरे-धीरे भालमें लगाये। नीचेका पैर भूमिपर टिका सीधा रहे। इससे यकृत्, प्लीहा, फेफड़े आदि नीरोग होकर पेट, गर्दन, कमर, रीढ़ तथा ऊरु बलवान् और निर्विकार होते हैं।

२६-उत्थितहस्तपाद मेरुदण्डासन—पूर्ववत् पीठके बल लेटकर हाथ-पैर दोनों एक साथ ऊपर उठाये और पुनः पूर्ववत् एक रेखामें ले आये। चार-पाँच बार ऐसा करे। इससे पेट, छाती, कमर और ऊरु दोषरहित होते हैं।

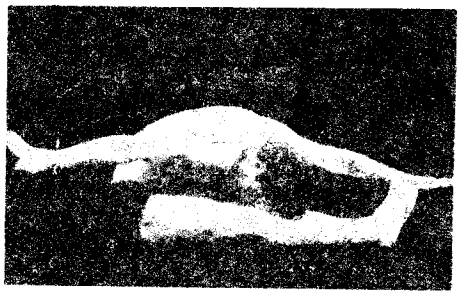

१३-ऊर्ध्वहस्तपश्चिमतानासन

१४-विस्तृतपाद धूनमनासन

१५-विस्तृतपाद पार्श्वधूनमनासन

१६-विस्तृतपाद हस्तपार्श्वखोलनासन

१७-पृष्ठासन

१८-उत्थितपृष्ठासन

१९-मत्स्यासन

२०-द्विपादचक्रासन

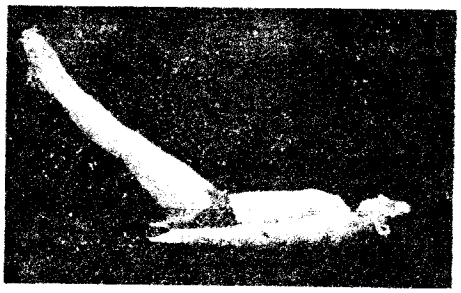

२१-उत्थित द्विपादासन

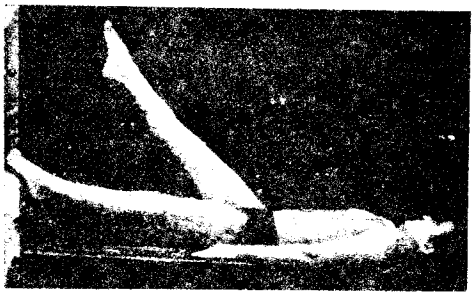

२२-उत्थित एकैकपादासन

२३-उत्थितहस्त मेरुदण्डासन

२४-शीर्षबद्धहस्त मेरुदण्डासन

२५-भालस्पृष्टजानु मेरुदण्डासन

२६-उत्थितहस्तपाद मेरुदण्डासन

२७-उत्थितपाद मेरुदण्डासन

२८-भालस्पृष्टद्विजानु मेरुदण्डासन

२९-पादपार्श्वालम्बासन

३०-भूस्पृष्टपाद सर्वाङ्गासन

३१-विपरीत दण्डासन

३२-उत्थित समकोणासन

२७-उत्थितपाद मेरुदण्डासन—पैर सामने फैलाकर हाथोंको कुहुनियोंके बल खड़े उठाये। अनन्तर पैर ४५ डिग्रीतक ऊपर उठाकर ऊपर-नीचे करे। इससे कमर, रीढ़ और पेट निर्दोष होते हैं।

२८-भालस्पृष्टद्विजानु मेरुदण्डासन—ऊपर कहे-अनुसार ही करे, पर इसके अतिरिक्त सिर दोनों घुटनोंमें लगाये। इससे पेट, पीठ, छाती, रीढ़, गर्दन और कमरके सब विकार दूर होते हैं।

२९-पादपार्श्वचालनासन—पीठके बल सीधा लेट जाय। सिरके दोनों ओर एक रेखामें हाथ फैलाये। हाथके तलवे जमीनपर टिकाये। अनन्तर पैरोंको कमरसे उठाकर समकोण रखे और उसी स्थितिमें पहले बायें और पीछे दायें पार्श्वमें ले जाय। हाथ न उठे। इससे कमर और पेटकी अँतड़ियाँ शुद्ध होती हैं, स्नायु मजबूत होते हैं, मलोत्सर्गक्रिया ठीक होती है और फेफड़े सुधरते हैं।

३०-भूस्पृष्टपाद सर्वाङ्गासन—पीठके बल लेटकर पैरोंको ऊपर उठा भरसक सिरके सामने सीधे फैलाकर भूमिपर टिकाये। पीठको दोनों हाथोंका सहारा दे। इससे पेट, पीठ, रीढ़, कमर, वीर्याशय, पैर और गर्दनके सब दोष दूर होते हैं, स्वप्नदोष नहीं होता। आयु बढ़ती है।

३१-विपरीत दण्डासन—यह उलटा डंड है। पहले सामने पैर फैलाकर और हाथ पीछे टिकाकर बैठे। कमरसे एक बित्ता फासलेपर, पीछेकी ओर, हाथोंके तलवे भूमिपर उलटी ओरसे टिके हुए हों। अनन्तर कमरको एकदम ऊपर उठाकर और पैरोंके तलवे भूमिपर टिकाकर दण्डवत् सीधा हो। इस प्रकार चार-पाँच बार नीचे-ऊपर हो। इससे पेट और टाँगें दुरुस्त होती हैं।

३२-उत्थित समकोणासन—सामने पैर फैलाकर नितम्बपर सीधे बैठ और पाँवसहित समूचा शरीर हाथोंपर समकोण उठाकर तोल रखे। कुछ देर इस स्थितिमें रहकर फिर नीचे बैठे और फिर शरीर ऊपर उठाकर तोले। इससे पेटके स्नायु बहुत बलवान् और कंधे तथा बाहु बहुत पुष्ट होते हैं।

३३-उत्थितैकपाद भुजङ्गासन—पेटके बल लेटकर हाथ छातीके दोनों ओरसे केहुनियोंमेंसे घुमाकर भूमिपर टिकाये। भुजङ्गकी तरह छाती ऊपर उठाकर दृष्टि सामने रखे और एक पैर भूमिपर टिका रखकर, दूसरा पैर घुटनेको बिना मोड़े, भरसक ऊपर उठाये। इस प्रकार चारों-बारीसे पैरोंको नीचे-ऊपर करे। इससे कटिदोष और यकृत् प्लीहादिके विकार दूर होते हैं।

३४-भुजङ्गासन—पैरोंके पंजे उलटी ओरसे जमीनपर टिकाकर और हाथोंको भी भूमिपर जरा पीछे रखकर धड़का कमरसे भरसक भुजङ्गाकार पुनः-पुनः नीचे-ऊपर करे। इससे पेट, छाती, कमर, ऊरु, मेरुदण्ड आदि दोषरहित होते हैं।

३५-सरलहस्त भुजङ्गासन—हाथोंको जमीनपर सीधे रखकर और पैरोंको पीछेकी ओर ले जाकर दोनों हाथोंके बीच कमर आ जाय इस रीतिसे कमर झुकाकर छाती और गर्दन भरसक ऊपर उठाकर, सीधे आकाशकी ओर देखे। इससे पेटकी चरबी निकल जाती है और पेट, कमर तथा गर्दनके सब विकार दूर होते हैं।

३६-नौकासन—पेटके बल लेटकर और दोनों पैर भरसक ऊपर उठाकर नीचे-ऊपर करे। दोनों हाथ नितम्बपर नीचेकी ओर बँधे रखे। इससे हृदय, फेफड़े, छाती, मेरुदण्ड, ऊरु, टाँगें, गर्दन और पेट निर्दोष होते हैं।

३७-दोलासन—हाथ-पैर फैलाकर पेटके बल सीधे लेटे। हाथ-पैर भरसक ऊपर उठाकर शरीर ऐसा बना ले जैसी झोली हो। कुछ देर उसी स्थितिमें रहकर पुनः सीधा हो और पुनः वही क्रिया करे। इससे पेट, कमर, छाती, पीठ, रीढ़, ऊरु और बाहुमूल तनकर विकाररहित होते हैं।

३८-शलभासन—हाथ कमरके दोनों ओर रखकर पेटके बल सीधे लेटे, ठोड़ी जमीनपर टिकाये और कमरसे दोनों पैर भरसक ऊपर उठा रखे। पश्चात् पैरोंको नीचे लाकर पुनः ऊपर उठाये। इससे पेट, छाती, गर्दन और पैरोंके विकार दूर होंगे।

३९-पार्श्वासन—इसे बगलमार डंड भी कहते हैं। डंडके समान पहले कमर ऊँची रखकर दोनों हाथों और दोनों पैरोंके बीच एक-एक हाथका फासला रखे। अनन्तर शरीर जमीनमें बिना टिकाये, एक तरफसे सारा शरीर नीचे लाकर, सिरको जरा दूसरी ओर झुकाये। इसी प्रकार दूसरी तरफसे भी करे। इससे यकृत्-प्लीहादिके दोष नष्ट होते हैं।

४०-नासिकास्पृष्टजानु पार्श्वासन—ऊपर कहे-

३३-उत्थितैकपाद भुजङ्गासन

३४-भुजङ्गासन

३५-सलभासन भुजङ्गासन

३६-नौकासन

३७-दोलासन

३८-शलभासन

३९-पार्श्वासन

४०-नासिकास्पृष्टजानु पार्श्वासन

४१-धनुरासन

४२-पार्श्वचलित धनुरासन

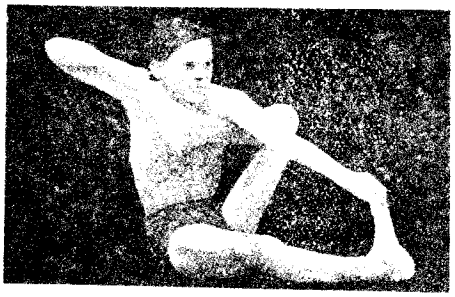

४३-आकर्णधनुरासन

४९-वलितपाद सर्वाङ्गासन

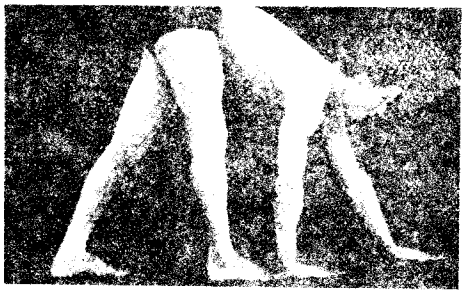

४४-चतुष्पादासन

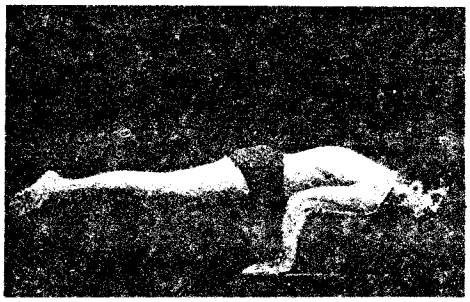

४५-मयूरासन

४७-शीर्षस्पृष्टपदा हलासन

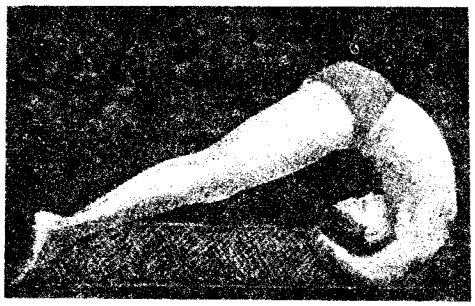

४६-शीर्षबद्धहस्त हलासन

५०-विवृतत्रिकोणासन

४८-प्रसृतहस्त वृश्चिकासन

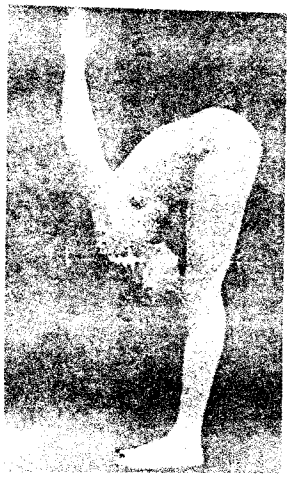

५१-प्रसृतहस्त विवृतत्रिकोणासन ५२-शीर्षबद्धहस्त [illegible] ५३-कर्णधनुरासन ५४-चतुष्पादासन

अनुसार, पर घुटनेको मोड़कर उसमें ललाट या नाक लगाये। एक तरफसे करके दूसरी तरफसे भी करे। इससे पेट, छाती, गर्दन आदि निर्दोष होते हैं।

४१-धनुरासन—पेटके बल लेटकर पीछेसे पैरोंके टखने पकड़कर खिंची कमानके समान बने। घुटने शुरू-शुरूमें नहीं जुटेंगे, इसलिये पहले घुटनोंको दूर रखकर ही यह आसन करना चाहिये। पीछे घुटने जोड़कर किया जा सकेगा। इससे पेट, कमर, रीढ़, छाती, गर्दन तथा ऊरुप्रदेश तनकर शुद्ध और बलवान् होते हैं।

४२-पार्श्वचलित धनुरासन—धनुरासनकी स्थितिमें ही दोनों ओर बार-बार लटकना। इससे बढ़ा हुआ पेट पचकता है।

४३-आकर्णधनुरासन—दोनों पैर फैलाकर बैठे। दायें हाथसे बायें पैरका और बायें हाथसे दायें पैरका अँगूठा पकड़कर, बायें पैरका अँगूठा दायें कानतक ले जाय। कुछ देर इसी स्थितिमें रहकर दायें पैरका अँगूठा बायें कानतक ले जाय। इससे पेट, पीठ और छातीके रोग दूर होते हैं।

४४-चतुष्पादासन—बंदरकी तरह हाथ-पैर सीधे रखकर चतुष्पाद होकर चले। नित्य पाँच मिनट ऐसा करनेसे कोष्ठकी बद्धता नष्ट होती है। पशुओंके जो मलोत्सर्गकी कोई शिकायत नहीं रहती, इसका कारण उनकी यही नैसर्गिक स्थिति है।

४५-मयूरासन—पहले पैरोंके अग्रभागोंपर, दोनों घुटने एक हाथके फासलेपर जमीनपर टिकाकर बैठे। अनन्तर हथेलियोंको जमीनपर टिकाकर केहुनियोंतक दोनों हाथ जुटाकर, केहुनियोंको नाभिसे जरा नीचे लगाये और पैर उठाकर सारा शरीर केहुनियोंपर तौले। शुरू-शुरूमें यह तौल रखना बहुत कठिन होगा, पर पीछे अभ्याससे सध जायगा। इससे कैसा भी अग्निमान्द्य हो नष्ट हो जाता है। भूख लगती है और मलोत्सर्गकी भी कोई शिकायत नहीं रहती।

४६-शीर्षबद्धहस्त हलासन—पीठके बल लेटे, तब दोनों पैर उठाकर भरसक सिरके पीछे ले जाकर जमीनपर टिकाये। हाथ सिरपर बँधे रखे। इससे गर्दन, पीठ और पेटके सब विकार नष्ट होकर आयु बढ़ती है।

४७-शीर्षस्पृष्टपद्म हलासन—उपर्युक्त स्थितिमें, पर पद्मासन लगाकर घुटने भरसक ऊपर लाकर और मोड़कर सिरपर रखे। यह बहुत कठिन आसन है। इससे गले और छातीके सब रोग दूर होते हैं, कमर निर्दोष होती है और आयु भी बढ़ती है।

४८-प्रसृतहस्त वृश्चिकासन—जमीनपर पेटके बल लेटकर दोनों पैर भरसक ऊपर लाकर और मोड़कर सिरपर रखे। यह आसन बहुत कठिन है। इससे गले, छाती और कमरके सब रोग दूर होते हैं और आयु बढ़ती है।

४९-वलितपाद सर्वाङ्गासन—सारा शरीर पीछेसे गर्दनतक ऊपर उठाये। पीठको दोनों हाथोंका सहारा देकर पैरोंको भरसक घुमा ले। इससे गर्दन, छाती, कमर, पेट और हृदय शुद्ध तथा बलवान् बनते हैं। आयु-वृद्धि होती है।

५०-विवृत्तत्रिकासन—दोनों पाँवोंके बीच एक हाथका फासला रखकर खड़ा रहे और केहुनियोंसे मुड़े हुए दोनों हाथ कमरके दोनों ओरसे एक साथ आगे-पीछे घुमाये। इससे कमर और पेट शुद्ध होते हैं।

५१-प्रसृतहस्त विवृत्तत्रिकासन—ऊपर कहे-अनुसार ही पैर फैलाये हुए दोनों हाथ शरीरके दोनों ओरसे भरसक पीछेकी ओर मोड़े।

५२-शीर्षबद्धहस्त विवृत्तत्रिकासन—ऊपरकी तरह ही, पर सिरके पीछे हाथ बाँधे, कमरके ऊपरका भाग दोनों ओरसे घुमाये।

५३-ऊर्ध्वहस्त जानुभालासन—पाँव जोड़कर सीधा खड़ा रहे और घुटनोंको बिना झुकाये घुटनोंमें ललाट लगाये और दोनों जुटे हुए हाथ पीछेसे सिरकी ओर भरसक ले जाय।

५४-भूस्पृष्टहस्त जानुभालासन—खड़े होकर और कमरसे झुककर दोनों हथेलियाँ जुटे हुए पैरोंकी दोनों ओर भूमिपर टिकाये और घुटनोंको बिना झुकाये, सिर घुटनोंमें लगाये। इससे टाँगें, कमर, पीठ और ऊरु विकाररहित होते हैं।

५५-पृष्ठबद्धहस्त जानुभालासन—कमरपर पूर्ववत् हाथ जुटे हुए हों और सिर घुटनोंमें लगे। इससे भी पैर, कमर और पीठ विकाररहित होते हैं।

५६-ऊर्ध्वस्थित पृष्ठवक्रासन—उपर्युक्त स्थितिमें ही, ऊपर उठकर पीछेकी ओर भरसक झोंका खाय। इस प्रकार आगे-पीछे झोंका ले। इससे पेट, पीठ, छाती, कमर, गर्दन, पैर आदिके विकार दूर होते हैं।

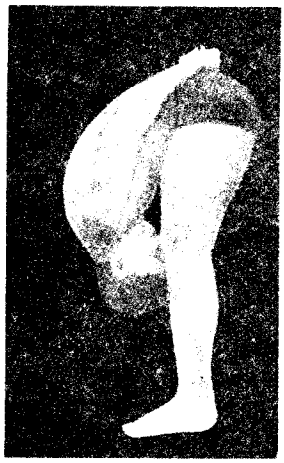

५५-पृष्ठबद्धहस्त जानुभालासन

५६-ऊर्ध्वस्थित पृष्ठवक्रासन

५७-शुण्डासन

५८-अर्धचक्रासन

५९-चक्रासन

६०-भूस्पृष्टहस्त वृक्षासन

६१-पृष्ठवलित वृक्षासन

६२-पार्श्ववलित वृक्षासन

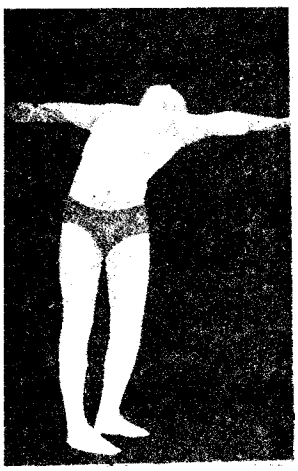

६३-पार्श्वपृष्ठवलित वृक्षासन

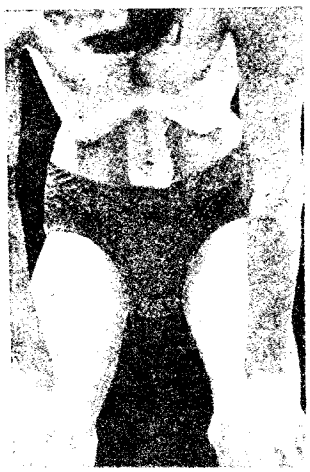

६४-मध्यम नौलि

६५-दक्षिण नौलि

६६-वाम नौलि

५७-**शुण्डासन**—सीधा खड़ा रहे और दोनों हाथ जोड़े हाथीकी सूँड़के समान दोनों पैरोंके बीच भरसक ले जाय। इससे पेट, पीठ, छाती, कटि, ग्रीवा और पैरोंके विकार दूर होते हैं।

५८-**अर्धचक्रासन**—उपर्युक्त स्थितिमें ही हाथ ऊपर उठाकर, कमरसे झुककर, उन्हें भरसक पीछे ले जाय। इसी प्रकार हाथोंको शुण्डासनवत् फिर सामने लाकर पैरोंके बीच ले आये और ऊँचा करके फिर पीछे ले जाय। इससे कमरका विकार दूर होता है और पेट साफ होता है।

५९-**चक्रासन**—अर्धचक्रासनकी स्थितिमें ही पीछे जमीनतक झोंका देकर हाथ जमीनपर टिकाये और दोनों पैरोंको छूकर शरीरको एक पूरा चक्र बना दे। आसन कठिन है। इससे कमरका विकार दूर और पेट साफ होता है।

६०-**भूस्पृष्टहस्त वृक्षासन**—दोनों पाँवोंके बीच दो हाथोंका फासला रखे। सामनेसे एक हाथ झुकाकर पैरमें लगाये और दूसरा हाथ ऊपर सिरकी ओर ले जाकर उसकी ओर देखे। इसी प्रकार दूसरी तरफसे करे। इससे कमर, पेट, टाँगें और पसलियाँ शुद्ध होती हैं।

६१-**पृष्ठवलित वृक्षासन**—दोनों हाथ दो तरफ फैलाकर एक तरफसे ही शरीरको मोड़कर पीछेकी ओर झुके। इसी प्रकार दूसरी तरफसे शरीरको मोड़कर पीछेकी ओर झुके। इससे भी उपर्युक्त लाभ होते हैं।

६२-**पार्श्ववलित वृक्षासन**—सिरपर सीधे हाथ जोड़कर खड़ा रहे और दायें-बायें यथाशक्य झुके। इससे कमर और पसलियाँ शुद्ध होती हैं।

६३-**पार्श्वपृष्ठवलित वृक्षासन**—पीछेकी ओर झोंकसे एक हाथ जमीनमें लगानेका प्रयास करना और दूसरा हाथ ऊपर रखना। इसी प्रकार फिर हाथ बदलकर करना। इससे भी उपर्युक्त लाभ होते हैं।

६४-**मध्यम नौलि**—कमरसे झुककर दोनों घुटनोंपर दोनों हाथ रख, पेट अंदरकी ओर खींचकर, पीठके नल नीचे ढकेले माफिक करनेसे पेटके नल आप ही आगेको आते हैं। स्थूल शरीरसे, बिना पेटको पचकाये, यह क्रिया नहीं बन सकती। पेट पचकानेके लिये 'उड्डीयान' नितान्त आवश्यक है।

६५-**दक्षिण नौलि**—आगे आये हुए पेटके नल बायीं ओरका पेट अंदर खींचकर दायीं ओर ले जाय और तुरंत—

६६-**वाम नौलि**—दायीं ओरका पेट अंदर खींचकर वे ही नल दायीं ओरसे बायीं ओर ले आये। इस प्रकार पेटके नल दायीं ओरसे बायीं ओर कुछ देर एक-रंग चलाये जैसे मन्थनमें मथनी चलायी जाती है। इसी प्रकार फिर बायीं ओरसे दायीं ओर चलाये। जो नौलि करना जानता है उसे पेटका कोई रोग कभी नहीं हो सकता और जो रोग पहलेसे हों वे भी दो-चार महीनोंमें ही इससे बिना औषधके दूर हो जाते हैं। यह पूर्ण आनुभविक सत्य है।

कुछ उपयोगी बन्ध एवं मुद्राएँ

योग-साधनामें बन्धों एवं मुद्राओंका विशेषरूपसे उल्लेख आया है। इनमेंसे कुछ उपयोगी बन्धों एवं मुद्राओंका यहाँ संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

बन्ध

१-**मूलबन्ध**—मूल गुदा एवं लिङ्ग-स्थानके रन्ध्रको बंद करनेका नाम मूलबन्ध है। वाम पादकी एड़ीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें दृढ़ लगाकर गुदाको सिकोड़कर योनिस्थान अर्थात् गुदा और लिङ्ग एवं कन्दके बीचके भागको दृढ़तापूर्वक संकोचनद्वारा अधोगत अपानवायुको बलके साथ धीरे-धीरे ऊपरकी ओर खींचनेको मूलबन्ध कहते हैं। सिद्धासनके साथ यह बन्ध अच्छा लगता है। अन्य आसनोंके साथ एड़ीको सीवनीपर बिना लगाये हुए भी मूलबन्ध लगाया जा सकता है।

फल—इससे अपानवायुका ऊर्ध्व-गमन होकर प्राणके साथ एकता होती है। कुण्डलिनी-शक्ति सीधी होकर ऊपरकी ओर चढ़ती है। कोष्ठबद्ध दूर करने, जठराग्निको प्रदीप्त करने और वीर्यको ऊर्ध्वरेतस् बनानेमें यह बन्ध अति उत्तम है। साधकोंको न केवल भजनके अवसरपर किंतु हर समय मूल-

बन्धको लगाये रखनेका अभ्यास करना चाहिये।

२-उड्डीयान-बन्ध—दोनों जानुओंको मोड़कर पैरोंके तलुओंको परस्पर भिड़ाकर पेटके नाभिसे नीचे और ऊपरके आठ अंगुल हिस्सेको बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड (रीढ़की हड्डीसे) ऐसा लगा दे जिससे कि पेटके स्थानपर गड्ढा-सा दीखने लगे। पेटको अंदरकी ओर जितना अधिक खींचा जायगा, उतना ही अच्छा होगा। इसमें प्राण पक्षीके सदृश सुषुम्नाकी ओर उड़ने लगता है, इसलिये यह बन्ध उड्डीयान कहलाता है। इसे पैरोंके तलुओंको बिना भिड़ाये हुए भी किया जा सकता है।

फल—प्राण और वीर्यका ऊपरकी ओर दौड़ना, मन्दाग्नि-का नाश, क्षुधाकी वृद्धि, जठराग्निका प्रदीप्त और फेफड़ेका शक्तिशाली होना है।

३-जालन्धर-बन्ध—कण्ठको सिकोड़कर ठोढ़ीको दृढ़तापूर्वक कण्ठकूपमें इस प्रकार स्थापित करे कि हृदयसे ठोडीका अन्तर केवल चार अंगुलका रहे, सीना आगेकी ओर तना रहे। यह बन्ध कण्ठस्थानके नाड़ी-जालके समूहको बाँधे रखता है, इसलिये इसका नाम जालन्धर-बन्ध है।

फल—कण्ठका सुरीला, मधुर और आकर्षक होना, कण्ठके संकोचद्वारा इडा, पिङ्गला नाडियोंके बंद होनेपर प्राणका सुषुम्नामें प्रवेश करना है।

लगभग सभी आसन, मुद्राएँ और प्राणायाम मूलबन्ध और उड्डीयान-बन्धके साथ किये जाते हैं। राजयोगमें ध्यानावस्थामें जालन्धर-बन्ध लगानेकी बहुत कम आवश्यकता होती है।

४-महाबन्ध—महाबन्धकी दो विधियोंमें पहली विधि इस प्रकार है— बायें पैरकी एड़ीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें जमाकर बायीं जंघाके ऊपर दाहिने पैरको रख, समसूत्रमें हो, वाम अथवा जिस नासारन्ध्रसे वायु चल रहा हो उससे ही पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगाये। फिर मूलद्वारसे वायुका ऊपरकी ओर आकर्षण करके मूलबन्ध लगाये। मनको मध्य नाड़ीमें लगाये हुए यथाशक्ति कुम्भक करे। तत्पश्चात् पूरकके विपरीतवाली नासिकासे धीरे-धीरे रेचन करे। इस प्रकार दोनों नासिकासे अनुलोम-विलोम-रीतिसे समान प्राणायाम करे। तथा दूसरी विधि इस प्रकार है—पद्म अथवा सिद्धासनसे बैठ, योनि और गुह्यप्रदेश सिकोड़, अपानवायुको ऊर्ध्वगामी कर, नाभिस्थ समान-वायुके साथ मिलाकर और हृदयस्थ प्राणवायुको अधोमुख करके प्राण और अपानवायुओंके साथ नाभिस्थलपर दृढ़रूपसे कुम्भक करे।

फल—प्राणका ऊर्ध्वगामी होना—वीर्यकी शुद्धि, इडा, पिङ्गला और सुषुम्नाका सङ्गम प्राप्त होना, बलकी वृद्धि आदि है।

५-महावेध—यह दो प्रकारसे किया जाता है, इसकी पहली विधि इस प्रकार है—महाबन्धकी प्रथम विधिके अनुसार मूलबन्धपूर्वक कुम्भक करके दोनों हाथोंको हथेली भूमिमें दृढ़ स्थिर करके, हाथोंके बल ऊपर उठकर दोनों नितम्बोंको शनैः-शनैः ताड़ना दे और ऐसा ध्यान करे कि प्राण इडा, पिङ्गलाको छोड़कर कुण्डलिनी-शक्तिको जगाता हुआ सुषुम्नामें प्रवेश कर रहा है। तत्पश्चात् वायुको शनैः-शनैः महाबन्धकी विधिके अनुसार रेचन करे तथा दूसरी विधि इस प्रकार है—मूलबन्धके साथ पद्मासनसे बैठे, अपान और प्राणवायुको नाभिस्थानपर एक करके (मिलाकर) दोनों हाथोंको तानकर नितम्बोंसे मिलते हुए भूमिपर जमाकर नितम्बको आसनसहित उठा-उठाकर भूमिपर ताड़ित करते रहें।

फल—कुण्डलिनी-शक्तिका जाग्रत् होना, प्राणका सुषुम्नामें प्रवेश करना है। महाबन्ध, महावेध और महामुद्रा—तीनोंको मिलाकर करना अधिक फलदायक है।

मुद्रा

१-खेचरी मुद्रा—जीभको ऊपरकी ओर उलटी ले जाकर तालु-कुहर (जीभके ऊपर तालुके बीचका गढ़ा) में लगाये रखनेका नाम खेचरी-मुद्रा है। इसके निमित्त जिह्वाको बढ़ानेके तीन साधन किये जाते हैं—छेदन, चालन और दोहन।

(१) छेदन—जीभके नीचेके भागमें सूताकारवाली एक नाड़ी नीचेवाले दाँतोंकी जड़के साथ जीभको खींचे रखती है। इसलिये जीभको ऊपर चढ़ाना कठिन होता है। प्रथम इस नाड़ीके दाँतोंके निकटवाले एक ही स्थानपर स्फटिक (बिल्लौर) का धारवाला टुकड़ा प्रतिदिन प्रातःकाल चार-पाँच बार फेरते रहें। कुछ दिनोंतक ऐसा करनेके पश्चात् वह नाड़ी उस स्थानमें पूर्ण कट जायगी। इसी प्रकार क्रमशः उससे ऊपर-ऊपर एक-एक स्थानको जिह्वामूलतक काटते चले

जायँ। स्फटिक फेरनेके पश्चात् माजूफलका कपड़छान चूर्ण (टेरिन ऐसिड) जीभके ऊपर-नीचे तथा दाँतोंपर मलें और उन सब स्थानोंसे दूषित पानी निकलने दें। माजूफल-चूर्णके अभावमें अकरकरा, नून, हरीतकी और कत्थेका चूर्ण छेदन किये हुए स्थानपर लगाये। यह छेदन-विधि सबसे सुगम है और इससे किसी प्रकारकी हानि पहुँचनेकी सम्भावना नहीं है, यद्यपि इसमें समय अधिक लगेगा। साधारणतया छेदनका कार्य किसी धातुके तीक्ष्ण यन्त्रसे प्रति आठवें दिन उस शिराको बालके बराबर छेदकर घावपर कत्था और हरड़का चूर्ण लगाकर करते हैं। इसके छेदनके लिये नाखून काटनेवाला-जैसा एक तीक्ष्ण यन्त्र और खाल छीलनेके लिये एक दूसरे यन्त्रकी आवश्यकता होती है, जिससे कटा हुआ भाग फिर न जुड़ने पावे। इसमें नाड़ीके सम्पूर्ण अंशके एक साथ कट जानेसे वाक् तथा आस्वादन-शक्तिके नष्ट हो जानेका भय रहता है। इसलिये इसे किसी अभिज्ञ पुरुषकी सहायतासे करना चाहिये। छेदनकी आवश्यकता केवल उनको होती है, जिनकी जीभ और यह नाड़ी मोटी होती है। जिनकी जीभ लंबी और यह नाड़ी पतली होती है, उन्हें छेदनकी अधिक आवश्यकता नहीं है।

(२-३) चालन व दोहन—अँगूठे और तर्जनी अँगुलीसे अथवा बारीक वस्त्रसे जीभको पकड़कर चारों तरफ उलट-फेरकर हिलाने और खींचनेको चालन कहते हैं। मक्खन अथवा घी लगाकर दोनों हाथोंकी अँगुलियोंसे जीभका गायके स्तनदोहन-जैसे पुनः-पुनः धीरे-धीरे आकर्षण करनेकी क्रियाका नाम दोहन है।

निरन्तर अभ्यास करते रहनेसे अन्तिम अवस्थामें जीभ इतनी लम्बी हो सकती है कि नासिकाके ऊपर भ्रूमध्यतक पहुँच जाय। इस मुद्राका बड़ा महत्त्व बतलाया गया है, इससे ध्यानकी अवस्था परिपक्व करनेमें बड़ी सहायता मिलती है। जिह्वाओंके भी नाना प्रकारके भेद देखनेमें आये हैं। किसी जिह्वामें सूताकार नाड़ीके स्थानमें मोटा मांस होता है, जिसके काटनेमें अधिक कठिनाई होती है। किसी-किसी जिह्वामें न यह नाड़ी होती है, न मांस। उसमें छेदनकी आवश्यकता नहीं है। केवल चालन एवं दोहन होना चाहिये।

२-महामुद्रा—इसकी पहली विधि इस प्रकार है—मूलबन्ध लगाकर बायें पैरकी एड़ीसे सीवन (गुदा और अण्डकोषके मध्यका चार अँगुल स्थान) दबाये और दाहिने पैरको फैलाकर उसकी अँगुलियोंको दोनों हाथोंसे पकड़े। पाँच घर्षण करके बायीं नासिकासे पूरक करे और जालन्धर-बन्ध लगाये। फिर जालन्धर-बन्ध खोलकर दाहिनी नासिकासे रेचक करे। यह वामाङ्गकी मुद्रा समाप्त हुई। इसी प्रकार दक्षिणाङ्गमें इस मुद्राको करना चाहिये तथा दूसरी विधि इस प्रकार है—बायें पैरकी एड़ीको सीवन (गुदा और उपस्थके मध्यके चार अङ्गुल-भाग) में बलपूर्वक जमाकर दायें पैरको लम्बा फैलाये। फिर शनैः-शनैः पूरकके साथ मूल तथा जालन्धर-बन्ध लगाते हुए दायें पैरका अँगूठा पकड़कर मस्तकको दायें पैरके घुटनेपर जमाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। कुम्भकके समय पूरक की हुई वायुको कोष्ठमें शनैः-शनैः फुलावे और ऐसी भावना करे कि प्राण कुण्डलिनीको जाग्रत् करके सुषुम्नामें प्रवेश कर रहा है, तत्पश्चात् मस्तकको घुटनेसे शनैः-शनैः रेचक करते हुए उठाकर यथास्थितिमें बैठ जाय। इसी प्रकार दूसरे अङ्गसे करना चाहिये। प्राणायामकी संख्या एवं समय बढ़ाता रहे।

फल—मन्दाग्नि, अजीर्ण आदि उदरके रोगों तथा प्रमेहका नाश, क्षुधाकी वृद्धि और कुण्डलिनीका जाग्रत् होना है।

३-अश्विनी-मुद्रा—सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर योनिमण्डलको अश्वके सदृश पुनः-पुनः सिकोड़ना अश्विनीमुद्रा कहलाती है।

फल—यह मुद्रा प्राणके उत्थान और कुण्डलिनी-शक्तिके जाग्रत् करनेमें सहायक होती है। अपानवायुको शुद्ध और वीर्यवाही स्नायुओंको मजबूत करती है।

४-शक्तिचालिनी-मुद्रा—सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर हाथोंकी हथेलियाँ पृथ्वीपर जमा दे। बीस-पचीस बार शनैः-शनैः दोनों नितम्बोंको पृथ्वीसे उठा-उठाकर ताड़न करे। तत्पश्चात् मूलबन्ध लगाकर दोनों नासिकाओंसे अथवा वामसे अथवा जो स्वर चल रहा हो उस नासिकासे पूरक करके प्राणवायुको अपानवायुसे संयुक्त करके जालन्धर-बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। कुम्भकके समय अश्विनीमुद्रा करे अर्थात् गुह्य-प्रदेशका आकर्षण-विकर्षण करता रहे। तत्पश्चात् जालन्धर-बन्ध खोलकर यदि दोनों नासिकापुटसे पूरक किया हो तो दोनोंसे अथवा पूरकसे विपरीत

नासिकापुटसे रेचक करे और निर्विकार होकर एकाग्रतापूर्वक बैठ जाय।

घेरण्डसंहितामें इस मुद्राको करने समय कटिसूत्र-कर चौड़ा, चार अङ्गुल लंबा, कोमल, श्वेत और सूक्ष्म वस्त्र नाभिपर कटिसूत्रसे बाँधकर सारे शरीरपर भस्म मलकर करना बतलाया है।

फल—सर्वरोग-नाशक और स्वास्थ्यवर्धक होनेके अतिरिक्त कुण्डलिनी-शक्तिको जाग्रत् करनेमें अत्यन्त सहायक है। इससे साधक अवश्य लाभ प्राप्त करे।

५-योनिमुद्रा—सिद्धासनसे बैठ सम-सूत्र हो षण्मुखी मुद्रा लगाकर अर्थात् दोनों अँगूठोंसे दोनों कानोंको, दोनों तर्जनियोंसे दोनों नेत्रोंको, दोनों मध्यमाओंसे नासिकाके छिद्रोंको बंद करके और दोनों अनामिका एवं कनिष्ठिकाओंको दोनों ओठोंके पास रखकर काकी मुद्राद्वारा अर्थात् जिह्वाको कौएकी चोंचके सदृश बनाकर उसके द्वारा प्राणवायुको खींचकर अधोगत अपानवायुके साथ मिलाये। तत्पश्चात् ओ३मका जाप करता हुआ ऐसी भावना करे कि उसकी ध्वनिके साथ परस्पर मिली हुई वायु कुण्डलिनीको जाग्रत् करके षट्चक्रोंका भेदन करते हुए सहस्रदल-कमलमें जा रही है। इससे अन्तर्ज्योतिका साक्षात्कार होता है।

६-योगमुद्रा—मूलबन्धके साथ पद्मासनसे बैठकर प्रथम दोनों नासिकापुटोंसे पूरक करके जालन्धरबन्ध लगाये, तत्पश्चात् दोनों हाथोंको पीठके पीछे ले जाकर बायें हाथसे दायें हाथकी और दायें हाथसे बायें हाथकी कलाईको पकड़े, शरीरको आगे झुकाकर घुटनेके अगल-बगलमें पृथ्वीको दबाते हुए सिरको जमीनपर लगा दे। इस प्रकार यथाशक्ति कुम्भक करनेके पश्चात् सिरको उठाकर जालन्धर-बन्ध खोलकर दोनों नासिकाओंसे रेचन करे।

फल—पेटके रोगोंको दूर करने और कुण्डलिनी-शक्तिको जाग्रत् करनेमें सहायक होती है।

७-शाम्भवी मुद्रा—मूल और उड्डीयानबन्धके साथ सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर नासिकाके अग्रभाग अथवा भ्रूमध्यमें दृष्टिको स्थिर करके ध्यान जमाना शाम्भवी मुद्रा कहलाती है।

८-तड़ागी मुद्रा—तड़ाग (तालाब) के सदृश कोष्ठको वायुसे भरनेको तड़ागी मुद्रा कहते हैं। शवासनसे चित लेटकर जिस नासिकाका स्वर चल रहा हो, उससे पूरक करके तालाबके समान पेटको फैलाकर वायुसे भर ले। तत्पश्चात् कुम्भक करते हुए वायुको पेटमें इस प्रकार हिलावे जिस प्रकार तालाबका जल हिलता है। कुम्भकके पश्चात् सावधानीसे वायुका शनैः-शनैः रेचन कर दे, इससे पेटके सर्वरोग समूल नष्ट होते हैं।

९-विपरीतकरणीमुद्रा—शीर्षासन-कपालासन—पहिले जमीनपर मुलायम गोल लपेटा हुआ वस्त्र रखकर उसपर अपने मस्तकको रखे फिर दोनों हाथोंके तलोंको मस्तकके पीछे लगाकर शरीरको उलटा ऊपर उठाकर सीधा खड़ा कर दे। थोड़े ही प्रयत्नसे मूल और उड्डीयान स्वयं लग जाता है। यह मुद्रा पद्मासनके साथ भी की जा सकती है। इसको ऊर्ध्व-पद्मासन कहते हैं। आरम्भमें इसको दीवारके सहारे करनेमें आसानी होगी।

फल—वीर्यरक्षा, मस्तिष्क, नेत्र, हृदय तथा जठराग्निका बलवान् होना, प्राणकी गति स्थिर और शान्त होना, कब्ज, जुकाम, सिरदर्द आदिका दूर होना, रक्तका शुद्ध होना और कफके विकारका दूर होना है।

१०-उन्मनी मुद्रा—किसी सुख-आसनसे बैठकर आधी खुली हुई और आधी बंद आँखोंसे नासिकाके अग्रभागपर एकटकी लगाकर देखते रहना यह उन्मनी मुद्रा कहलाती है। इससे मन एकाग्र होता है।

जिनके राग, भय और क्रोधका नाश हो गया है और जो वेदके तत्त्वको समझ गये हैं ऐसे ही मननशील मुनिगण कल्पनासे और समस्त प्रपञ्चोंसे रहित अद्वय आत्माका दर्शन पाते हैं।—उपनिषद्

भगवान् श्रीविष्णुको प्रसन्न करना वास्तवमें बहुत कठिन कार्य नहीं है, क्योंकि वह सब भूतप्राणियोंका आत्मा और सर्वव्यापी है।—प्रह्लाद

प्राणायाम और उससे लाभ

(कविराज श्रीदाऊदयालजी गुप्त)

प्राणायामसे मनुष्य स्वस्थ एवं नीरोग रहकर दीर्घायु तथा मन और शक्तियोंपर विजय प्राप्त कर सकता है। मनका प्राणसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनको रोकना अति कठिन है, पर प्राणके निरोध तथा वशीकारसे मनका निरोध एवं वशीकार सुगम हो जाता है, इसलिये प्राणायाम योगका आवश्यक साधन है। प्राणायाम सब दोषोंका नाशक है। जैसे अग्निके संयोगसे धातुओंके मल नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही इन्द्रियोंके समस्त दोष भी प्राणके नियमनसे नष्ट हो जाते हैं। चित्तकी वृत्तियाँ दोषोंसे ही विक्षिप्त होती हैं। प्राणायाम अन्तर्बाह्य सभी दोषोंको दूर करके चित्तको एकाग्र करनेमें समर्थ होता है।

प्राणायाम शरीरमें स्थित वायुओं-प्राणोंको नियन्त्रित करनेमें हितकर है। मनुष्य-शरीरमें वृत्तिके कार्य-भेदसे प्राणको मुख्यतया दस भिन्न-भिन्न नामोंसे विभक्त किया गया है। शरीरमें पाँच प्रधान प्राण—वायु हैं—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। पाँच ही उपवायु भी हैं—नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय। हृदयमें प्राण, गुदामें अपान, नाभिमें समान, कण्ठमें उदान और सम्पूर्ण शरीरमें व्यान-वायुकी स्थिति है। जो वायु जिस स्थानमें रहती है, वह उस स्थानका पूर्णरूपसे नियन्त्रण करती है। पाँच उपवायुओंमें नागका कार्य उद्गार (छींक आदि लाना) और कूर्मका उन्मीलन अथवा पलकोंको बंद करना है। कृकर क्षुधा-तृष्णादिमें और देवदत्त निद्रा-तन्द्रामें सहायक होता है। धनञ्जय वायु पोषणादि कार्य करते हुए सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त है।

शरीरमें बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं। उनमें बहत्तर प्रधान हैं और उनमें भी इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी नामकी दस विशेष नाड़ियाँ हैं। इन दसोंके केन्द्र-स्थानको नाड़ियोंका महाचक्र कहा जाता है। इन नाड़ियोंमें इडा बायीं ओर, पिंगला दायीं ओर तथा सुषुम्ना इन दोनोंके मध्यमें रहती है। बायें नेत्रमें गान्धारी, दायें नेत्रमें हस्तिजिह्वाका स्थान है। पूषा दायें कानमें और यशस्विनी बायें कानमें स्थित है। अलम्बुषा मुखमें, कुहू उपस्थमें और शंखिनी मूल (गुह्य) स्थानमें रहती है। इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियोंकी स्थिति प्राणमार्गमें है, ये प्राणायामकी प्रक्रियामें पूर्णरूपसे सहायक होती हैं। जीवात्मा शरीरकी सभी नाड़ियोंमें व्याप्त रहता हुआ भ्रमण करता है।

योगिजन प्राणायामका अभ्यास आरोग्यवृद्धि, मानसिक विकास, आत्मिक प्रगति और अनेक प्रकारकी आध्यात्मिक उन्नतिके लिये तो करते ही हैं, उससे मनोनिग्रह भी होता है। षट्चक्रों, सूक्ष्म ग्रन्थियों और उपत्यकाओंका जागरण होनेसे शरीरमें दिव्यताका समावेश होने लगता है। प्राणायामसे भूख-प्याससपर विजय और गर्मी-सर्दीपर नियन्त्रण होता है। परकाय-प्रवेश, आकाश-गमन, जलपर चलने, अग्निकी ज्वालाओंके मध्यसे निकलने तथा पूर्णतम सिद्धि प्राप्त करनेमें प्राणायामपूर्वक ध्यान-समाधिका प्रभाव स्पष्ट है।

प्राणायामकी प्रक्रियाद्वारा वायुतत्त्वसे विपुल शक्ति ग्रहण की जा सकती है। अनेक लोगोंकी मान्यता है कि वायुमें ऐसे सूक्ष्म जीवाणु भी होते हैं, जो दीर्घश्वासके समय शरीरमें प्रविष्ट होकर वहीं रह जाते हैं और वायुसे नाइट्रोजन खींचकर प्रोटीनके रूपमें परिवर्तित कर देते हैं। उनके अनुसार वायुके स्वस्थ वातावरणमें समाविष्ट वे जीवाणु ही प्राण हैं। कुछ अन्य मतमें श्वासके द्वारा जीवाणु ही ग्रहण नहीं होते, वरन् वायुमें स्थित कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, कैल्शियम, मैग्नेशियम, पोटाशियम, सोडियम, फासफोरस, सल्फर, लौह, आयोडीन, क्लोरीन और सिल्कमके सूक्ष्म परमाणुओंके रूपमें उपयोगी खनिजों और रसायनोंकी तन्मात्राओंको भी ग्रहण करते हैं, जिनके द्वारा हमारे शरीरका पूर्ण पोषण होता है। उनके अनुसार उक्त शरीरोपयोगी द्रव्योंको ही प्राण समझना चाहिये।

अनेक वैज्ञानिक नलिकाविहीन अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंके हारमोनको ही प्राणशक्ति मानते हैं। इनसे भिन्न वैज्ञानिकोंके मतमें प्राणायाम गहरे और लम्बे श्वासका व्यायाममात्र है, जिसके द्वारा विपुल आक्सीजन शोषित होती है। हमारे आचार्योंने प्राणको आक्सीजन, जीवाणु या रसायन नहीं माना है, क्योंकि उनके मतमें मनुष्य भौतिक, रासायनिक तत्त्वोंका पुतला मात्र न होकर मन, बुद्धि और चेतनायुक्त पञ्च भूतोंका संघात है। इस प्रकार प्राण विश्वव्यापी चेतन-शक्ति-विशेष है।

वेदोंने प्राणोंको मूल चेतना कहा है। अथर्ववेदके अनुसार प्राण ही विराट् और सबका प्रेरक है, इसलिये सभी प्राणायामके द्वारा उसकी उपासना करते हैं। वही सूर्य, चन्द्रमा, प्रजापति और सभी शक्तियोंका संचालक है। वही बल, वीर्य, उत्साह, प्रतिभा, तेज आदि सद्गुण और आयु है। प्राणके बिना जीवन नहीं रहता। बृहदारण्यक-उपनिषद्के अनुसार भी प्राण ही बल, अमृत, आयु तथा जीवन है। प्राणायामसे शरीरका कल्प (कायाकल्प) होकर उसके सभी विकार और मलिनता आदि दूर होकर तेजस्विताका समावेश होने लगता है। ऐसा मनुष्य मृत्युको जीत लेता है अर्थात् वह तभी मरता है, जब उसकी इच्छा होती है।

प्राणके विभिन्न भेद—

कुछ लोग प्राणको तीन प्रकारका मानते हैं—मन्द, मध्यम और गहन। जिन व्यक्तियोंमें मन्द प्राण होता है—उनके विचार टूटे-फूटे और अस्पष्ट होते हैं तथा शरीर भी निर्बल और रोगग्रस्त होता है। मन्द प्राणवाले व्यक्तियोंके मन-बुद्धि और शरीरमें सामान्यता होती है। वे किसीको अधिक प्रभावित करनेमें असमर्थ रहते हैं। इसके विपरीत गहन प्राणवाले व्यक्ति उत्कृष्ट विचारोंके होते हैं। उनका शरीर, मन, बुद्धि सभी कुछ स्वस्थ, सबल और तेजोयुक्त होता है। उनके व्यक्तित्वसे सभी प्रभावित होते हैं और अनुयायी बन जाते हैं। यह असम्भव नहीं है कि प्राणकी मन्दता या मध्यमताको बदला न जा सके। प्राणायामकी विभिन्न प्रक्रियाओं और उसके दीर्घकालीन अभ्याससे यह सब सम्भव है। प्राणकी गति अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी होती है। जब बाह्य प्राणका प्राणमय शरीर या ज्ञानेन्द्रियके द्वारा आकर्षण किया जाता है, तब बाहरसे खींचा हुआ नवीन प्राण शरीरमें प्रविष्ट होता है। वह उसकी अन्तर्मुखी गति है। वही प्राण जब निःश्वास आदिके द्वारा कर्मेन्द्रियके मार्गसे बाहर निकलता है, तब उसकी गति बहिर्मुखी कहलाती है। ज्ञानेन्द्रियद्वारा उसके अन्तर्मुखी प्रवाहका और कर्मेन्द्रियद्वारा बहिर्मुखी प्रवाहका सम्पादन होता है। अन्तर्मुखी प्रवाह सुषुम्नामें पहुँचता है और नाड़ी-केन्द्रोंमें संचित रहता है। जैसे ग्रहण किये गये अन्नका सार भाग शरीरमें रक्षित रहता है और निःसार भाग निःश्वासादिके द्वारा बाहर हो जाता है, वैसे ही प्राणका सार भाग प्राणमय शरीरमें एकत्र होता है, निःसार भाग निःश्वासादिके द्वारा बाहर हो जाता है। इन गतियोंमें गड़बड़ी होनेसे ही शरीर और मनकी अवस्थामें परिवर्तन आ जाता है, जिसे प्राणायामके द्वारा नियमित करना सहज कार्य है।

प्राणायामके रोगनाशक प्रभाव—

अनेक उपनिषदोंमें प्राणायामके रोगनाशक प्रभावोंपर प्रकाश डाला गया है। प्राणायामके अभ्याससे सभी रोग दूर हो जाते हैं। योगचूडामणि उपनिषद्में वर्णन आता है कि प्राणायामसे हिक्का, कास, श्वासरोग, सिर, नेत्र और कानकी वेदना तथा वायुके विकार नष्ट हो जाते हैं। अमृतनादोपनिषद्में प्राणायामके साधकको मृत्युसे परे कहा गया है। योगकुण्डल्युपनिषद्का कथन है कि उज्जायी प्राणायाम मस्तककी उष्णता, कण्ठमें स्थित कफ तथा अन्यान्य रोगोंको दूर करता है। शीतली प्राणायाम गुल्म, प्लीहा, पित्त, ज्वर, तृषादि विकारोंको दूर करता है। भस्त्रिका प्राणायाम कण्ठके दाहको दूर कर अग्नि बढ़ाता है, कुण्डलिनी जगाता है, पाप नष्ट करता है।

प्राणायामके अभ्यासका भेद—

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्में वर्णन है कि प्राणायामका साधक वायुजित्, इन्द्रियजित्, अल्पाहारी, स्वल्प निद्रावाला, तेजस्वी और शक्तिमान् होता है। नाभि-केन्द्रमें प्राणके धारणसे कुक्षिके रोगोंका नाश हो जाता है। लघु, मध्यम और दीर्घके भेदसे भी प्राणायामके तीन भेद होते हैं। लघु प्राणायामसे स्वेद, मध्यमसे कम्प और दीर्घसे विषादि दोष दूर होते हैं। इनके द्वारा प्राण वशमें हो जाते हैं। योगदर्शनके अनुसार प्राणायामकी तीन वृत्तियाँ होती हैं—बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्ति। देश, काल और संख्याके अनुसार उसे लंबा या हलका किया जा सकता है। श्वासको बाहर निकालकर वहीं रोके रखना और ध्यान रखना कि बाहर कितने समयतक ठहरता है, बाह्यवृत्ति है। इसमें वायुको रेचक करके बाहर रोकते हैं, इसलिये इसे रेचक भी कहते हैं।

स्वस्थ पुरुष सामान्यतः प्रति मिनट पंद्रह बार श्वास लेता है। उसे नियमित और स्वाभाविक रखनेसे ही मनुष्य अनेक प्रकारके दुर्विचारोंसे बचा रह सकता है। प्राणवायुका इस प्रकार नियमित और स्वाभाविक रहना अभ्यासकी ही दृढ़तापर

निर्भर है।

योगिजनोंने रेचक, पूरक और कुम्भकके भेदसे जो प्राणायाम कहे हैं, उन सबमें अधिक प्रभावशाली कुम्भक माना जाता है। कुम्भक दो प्रकारका होता है—बाह्य और आभ्यन्तर। कुम्भकके जो आठ प्रमुख भेद हैं, उनके नाम हैं—१-सहित, २-सूर्यभेदी, ३-उज्जायी, ४-शीतली, ५-भस्त्रिका, ६-भ्रामरी, ७-मूर्छा और ८-केवली। यदि इनका सम्यक् अभ्यास सिद्ध हो जाय तो फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। यहाँ संक्षेपमें इनका वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है—

१-सहित कुम्भक—रेचक और पूरकके साथ कुम्भक प्राणायामका अभ्यास सहित 'कुम्भक' कहा जाता है। रेचक-पूरकका अभ्यास सिद्ध होनेपर कुम्भकके सिद्ध होनेमें कठिनाई नहीं होती। प्रारम्भमें बायीं नासासे पूरक, फिर कुम्भक और फिर दायीं नासासे रेचक करे। इसके बाद दायीं नासासे पूरक-कुम्भक और बायीं नासासे रेचक करे। इस अनुलोम-विलोमके अभ्याससे शरीरकी सभी नाड़ियोंका शोधन हो जाता है और वायुकी गति नियमित हो जाती है। जब इसका ठीक तरह अभ्यास हो जाता है, तब नासाके छिद्रोंको ढकनेके लिये अँगुलियाँ लगाना अपेक्षित नहीं रहता, उस स्थितिमें केवल कुम्भक ही किया जा सकता है। जबतक ऐसा न हो, तबतक बायीं नासाको कनिष्ठिका और अनामिकासे तथा दायीं नासाको अँगूठा मात्रसे ढकना चाहिये। प्राणायामके साथ प्रणवके जपका प्रभाव भी दूरगामी होता है। जो श्वास-प्रश्वास-क्रिया मन्त्रजपके साथ की जाती है, उसे 'सगर्भ कुम्भक' कहते हैं और बिना मन्त्रजपके की जानेवाली क्रिया 'निगर्भ कुम्भक' है।

२-सूर्यभेदी कुम्भक—योगशास्त्रोंमें सूर्यभेदी कुम्भकका निर्देश करते हुए कहा गया है कि सूर्यनाड़ी—दायीं नासाके श्वासको यथाशक्ति खींचकर भीतर भरे और जालन्धरबन्धके साथ कुम्भक करे। जबतक पैरसे केशपर्यन्त पसीना न आ जाय, तबतक कुम्भकके द्वारा वायु धारण किये रहे और फिर बायीं नासासे उसे धीरे-धीरे निकाल दे। जालन्धरबन्धमें कण्ठका संकोच कर ठोडी हृदयमें लगाया जाता है। सूर्यभेदी कुम्भकका अभ्यास इस प्रकार कर सकते हैं कि किसी सरल आसनमें बैठकर दायीं नासासे धीरे-धीरे श्वास खींचे, श्वास खींचनेमें दसतक गिनती गिने और गर्दनको आगेकी ओर इतना झुकाये कि ठोडी हृदयपर जा लगे। ऐसा करनेसे कण्ठ संकुचित हो जायगा, बीसतक गिनती गिने, फिर दसतक गिनते हुए श्वास दायीं नासासे बाहर निकाले। धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ानेसे शरीरसे पसीना निकलने लगेगा। इससे शरीरकी सभी नाड़ियोंका शोधन होता है। यह वातदोषों और कृमिजन्य विकारोंको नष्ट करती है, इससे जराका नाश होता है, मृत्युका भय मिट जाता है। इसके अभ्याससे प्राण सुषुम्नामें रहता है। इससे शरीरके पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश-तत्त्व सम-अवस्थामें आ जाते हैं।

३-उज्जायी कुम्भक—उज्जायी कुम्भकका अभ्यास सभी लोग आसानीसे कर सकते हैं। इसकी विधि यह है कि आसन लगाकर बैठे और दोनों नासा-छिद्रोंसे धीरे-धीरे वायु भीतर खींचे। इस तरह वायु खींचकर और भीतरी वायुको हृदय और कण्ठसे खींचकर मुखमें रोके। मुखका प्रक्षालन कर कुम्भक किये रहे। जालन्धरबन्ध भी लगाये। इससे क्रूर वायु, अतिसम्बन्धी रोग, श्वास, कास, क्षय, ज्वर, प्लीहा तथा अपस्मार आदि रोग नष्ट होते हैं। पुराणोंके प्रमेह-रोगमें भी यह प्राणायाम लाभकारी है। आन्तरिक वायु हृदय और कण्ठसे खींचनेकी विधि कठिन है, पर अभ्याससे यह सरल हो जाती है। नये साधकोंको आन्तरिक वायु न खींचते हुए इसका अभ्यास करना चाहिये। इसकी दूसरी विधि यह भी है कि मुख बंद कर दोनों नासा-छिद्रोंसे श्वास इस तरह खींचे कि वह शब्द करता हुआ हृदयसे कण्ठपर्यन्त आ जाय। इसमें भी गर्दन झुकाकर जालन्धरबन्ध करना चाहिये। बायीं नासासे वायु बाहर निकाले। यह अभ्यास चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-लेटते भी किया जाता है। इससे मस्तिष्ककी उष्णता दूर होकर शान्ति आती है। विचार-शक्ति दृढ़ होती है। कण्ठका कफ दूर होनेसे श्वास, कास, गलेकी खरखराहट, स्वरभङ्ग आदिमें लाभ होता है। इससे पुरुषत्ववृद्धि भी होती है।

४-शीतली कुम्भक—शीतली कुम्भक प्राणायामके अभ्यासमें मुखको बंद करके होठोंको इस प्रकार संकुचित किया जाता है कि उनका आकार पक्षीकी चोंचके समान दिखायी दे और होठोंके मध्यमें जीभको इस प्रकार लगा लिया

जाता है कि उनके द्वारा जानेवाली वायु छन-छन कर प्रविष्ट हो सके। सरल आसनसे बैठकर इसका अभ्यास किया जाता है। बाहरसे खींची गयी वायुको उदरमें भरकर कुछ समयतक रोककर दोनों नासाछिद्रोंसे बाहर निकाले। देरतक वायु भरनेकी क्रियाको अभ्याससे सिद्ध किया जाता है। इस कुम्भक प्राणायामके सिद्ध होनेपर शरीर स्वस्थ और रोगरहित हो जाता है। उदररोग नष्ट हो जाते हैं। अजीर्ण, उदरशूल, गुल्म आदिका इसके अभ्याससे शमन होता है। पित्तके विकार और पित्तज्वर नष्ट होते हैं। शरीरकी कान्ति बढ़ती है।

५-भस्त्रिका कुम्भक—यह बड़ा महत्त्वपूर्ण प्राणायाम है। सभी योगाचार्योंने इसका वर्णन किया है। इसमें बाहरी वायुको नासिकाके द्वारा लोहारकी धौंकनीके समान खींचकर उदरतक भरा जाता है। इस प्रकार प्राणायाममें पद्मासन लगाकर बैठे; गर्दन, कमर, मेरुदण्ड एक सीधमें रहें। तब मुखको बंदकर भीतर भरी वायु नासिकासे बाहर निकाले। फिर शब्द करते हुए वायु इस प्रकार खींचे कि कण्ठ-तालु और कपाल तथा हृदयको उसके स्पर्शका अनुभव हो। कुछ देर भीतर वायु रोककर बाहर निकाले। भीतर वायुके भरनेपर उसे धीरे-धीरे चलानेका अभ्यास करना चाहिये। इसमें दायीं नासासे वायु खींचकर पूरक करे और बायीं नासासे रेचककी विधिसे निकाले। इस क्रियामें आन्तरिक कुम्भक किया जाता है, बाहरी कुम्भक न करे। धीरे-धीरे श्वासकी गति बढ़नेपर यह लोहारकी धौंकनीके समान हो जाती है। इसलिये इसका नाम भस्त्रिका है। इसमें रेचक, पूरक दोनोंके वेगकी समानताका ध्यान रखना चाहिये। जितनी देरतक सुखपूर्वक हो सके, फेफड़ेको बाहरी वायुसे रहित करे। इससे श्वास-प्रश्वासकी स्वाभाविक स्थिति हो जाती है। भस्त्रिका कुम्भक तीन बार करे, जाड़ेकी ऋतुमें तीन बार और गर्मीकी ऋतुमें एक बार करे, क्योंकि इससे उष्णता बढ़ती है। यह प्राणायाम फुफ्फुसोंको शक्ति देता है, क्षयरोगका नाश करता है।

६-भ्रामरी कुम्भक—भ्रामरी कुम्भक प्राणायामका अभ्यास सरल है। इसके द्वारा कण्ठ और कानोंके अनेक रोग दूर होते हैं। श्रवणशक्तिको रोकनेमें इसका उल्लेखनीय उपयोग है। योगशास्त्रियोंने इसके अभ्यासका समय अर्धरात्रिको बताया है। घेरण्डसंहिताके अनुसार आधी रात बीत जानेपर जब किसी जीव-जन्तुका भी शब्द सुनायी न दे तब एकान्त स्थानमें जाकर इसका अभ्यास करना चाहिये। कानोंको अपने दोनों हाथोंसे बंद कर पूरकद्वारा बाह्य वायुको खींचकर रोके तो कानोंमें अनेक प्रकारके शब्द सुनायी देने लगेंगे। संहिताकारके अनुसार पहले झींगुरका शब्द, उसके बाद वंशीध्वनि फिर उत्तरोत्तर मेघगर्जन, बाजोंके बजनेकी झर्झर-ध्वनि, भौंरोंका गुंजन, घंटा-घड़ियाल, तुरही, भेरी, मृदंग, दुन्दुभी आदिका नाद सुनायी देता है। इन शब्दोंके श्रवणकी सिद्धि होनेपर अन्तमें अनाहत शब्द अपने अस्तित्वको मनमें विलीन कर एक प्रकारकी अद्भुत शान्ति उत्पन्न करनेमें समर्थ है। भ्रामरी कुम्भक प्राणायामके अभ्यासके लिये चित्तको एकाग्र और शान्तकर बैठना चाहिये। नेत्र बंदकर कानोंके छिद्रोंको रोक ले, जिससे बाहरका शब्द भीतर न प्रविष्ट हो। यदि कानके निचले लवको अंगुलीसे कानकी ओर दाब लिया जाय तो भी छिद्र आसानीसे बंद हो जाता है। अब नासिकासे धीरे-धीरे गहरा श्वास खींचकर उसे भीतर रोके, कुछ सेकेंड बाद बाहर निकाल दे। बार-बार करनेसे शब्द-श्रवणकी शक्ति बढ़ने लगती है। इसकी विधि यह भी है कि कानोंको बंदकर श्वास खींचे और कुम्भकके समय गलेसे गुंजनकी ध्वनि करते हुए ही श्वासको बाहर निकाल दे। इस पूरी क्रियामें मुखका बंद रहना आवश्यक है। चित्तको गुंजनकी ध्वनिपर केन्द्रित रखे, इस विधिसे भौंरोंके गूँजने-जैसी ध्वनि सुनायी देती है।

७-मूर्च्छा कुम्भक—मूर्च्छाका तात्पर्य है चैतन्यराहित्य। इस कुम्भक प्राणायामके द्वारा मनको विषय-विशेषमें विलीन कर दिया जाता है। इससे उसे बाह्य विषयोंका ज्ञान नहीं रहता। मुखके द्वारा साँस भीतर खींचे। पक्षीकी चोंच-जैसा आकार बना लिया जाता है। जिह्वाके द्वारा बाहरी वायु भीतर खींचा जाता है। वायुको यथासमय भीतर रोककर मन आत्मतत्त्वमें लीन किया जाता है। इस प्राणायामके अभ्याससे भोग और योग दोनोंकी सिद्धि होती है। पुरुष-रोगोंके रोगी इससे यथाशीघ्र स्वास्थ्यलाभ करते हैं। धातुरोग, प्रमेह, नपुंसकत्व आदि इससे ठीक होते हैं। भौंहोंके मध्य आज्ञाचक्रमें मनको तल्लीनकर परमात्म-चिन्तन करनेमें सुगमता होती है।

८-केवली कुम्भक—केवली कुम्भक प्राणायाममें दोनों

नासा-छिद्रोंसे वायु भीतर खींचकर उसे रोका जाता है, जितने समयतक रोकनेकी सामर्थ्य हो, उतनी देरतक वायुको रोकना चाहिये, फिर बाहर निकाल देना चाहिये। सबेरे, दोपहर, शामको और रातमें इसका अभ्यास किया जाता है। इस अभ्यासको तीन घंटेके अन्तरसे दिन-रातमें आठ बार भी किया जा सकता है। इसमें अजपागायत्रीका भी जप हो सकता है। श्वास-प्रश्वासमें 'ह' और 'स' की ध्वनि ही 'हंस'-मन्त्ररूप अजपागायत्रीका जप है। इससे प्राणकी गति नियन्त्रित रहती है। केवली कुम्भक प्राणायामसे शरीर स्वस्थ रहता है, आत्मानन्दकी प्राप्ति होती है। इससे साधककी इच्छित कामना सिद्ध होती है, क्योंकि प्राणशक्ति वशमें रहनेसे मनपर नियन्त्रण रहता है और साधक मोक्षानन्द प्राप्त करता है।

प्राणायामकी महत्ता और उसका प्रभाव

(स्वामी श्रीकुवलयानन्दजी कैवल्यधाम)

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति।
आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्यत्कर्म न सम्मतम्॥

'कुछ योगाचार्योंको प्राणायामके सिवा कोई दूसरा मलशोधक साधन अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि उनके मतमें प्राणायामसे ही शरीरके सारे मल सूख जाते हैं।'

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

(पा० यो० सू० २।५२)

'इससे (प्राणायामके साधनसे) ज्ञानरूप प्रकाशको रोक रखनेवाला आवरण नष्ट हो जाता है।'

तपो न परं प्राणायामात्, ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य। (व्यासभाष्य) 'प्राणायामसे बढ़कर कोई दूसरा तप नहीं है। इससे सारे मल धुल जाते हैं और ज्ञानरूप दीपशिखा प्रदीप्त हो जाती है।'

योगसाधनाके आठ अङ्ग हैं, जिनमें प्राणायाम चौथा सोपान है। आसन इसके पहले आता है और प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि पीछे। योगका उद्देश्य है शारीरिक एवं मानसिक समता* स्थापित करना, जिससे आत्मा शरीर और मनके दासत्वसे छूटकर अपनी अपरिच्छिन्न आनन्दमयी स्थितिको प्राप्त हो जाय। आसन शारीरिक क्रिया है और प्रत्याहार, धारणा आदि मानसिक साधन हैं। प्राणायामकी क्रिया उक्त दोनों प्रकारके साधनोंके बीचका साधन है। यह शारीरिक भी है और मानसिक भी, क्योंकि इससे शरीर और मन दोनोंका निग्रह होता है।

योगसाधनामें प्राणायामका विशेष महत्त्व है। शारीरिक दृष्टिसे प्राचीन कालके योगियोंने प्राणायामको इतना गौरव दिया है कि उनमेंसे कुछ लोगोंके मतमें तो शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये तथा उसमें जितने प्रकारके मल इकट्ठे हो सकते हैं उनको निकाल बाहर करनेके लिये किसी और मलशोधक क्रियाकी आवश्यकता ही नहीं है। उनके मतमें योगसाधनाके लिये जिस शारीरिक समताकी आवश्यकता है वह अकेले प्राणायामसे ही स्थापित हो सकती है। यदि प्राणायामपर आधुनिक दृष्टिसे विचार किया जाय तो हमें पता लगेगा कि प्राणायामसे हमारा सारा शरीर ओजस्वी हो सकता है और इस प्रकार हम शारीरिक समता प्राप्त करने तथा उसे कायम रखनेमें समर्थ हो सकते हैं। मानसिक समता स्थापित करनेमें भी प्राणायामको सहायक माना गया है। आधुनिक मानस-शास्त्रकोविदोंका मत है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, शोक, अनुताप आदि मनोविकार ही मानसिक शान्तिको भङ्ग करनेमें प्रबल हेतु हैं। ये विकार हमारे मनके उस स्तरमें उत्पन्न होते हैं जहाँ चेतनता अथवा ज्ञान अर्धजाग्रत् रहता है। प्राणायामके द्वारा हमारे मस्तिष्कके स्नायुजालपर तथा हमारे मनके बोधपूर्वक व्यापारोंपर ही हमारा अधिकार नहीं हो जाता, बल्कि उससे उपर्युक्त स्तरके भी द्वार खुल जाते हैं, जहाँ हमारा ज्ञान अर्धजाग्रत् रहता है, और उस स्तरपर हमारा अधिकार हो जाता है। यही कारण है कि प्राणायामका साधक अपने मनोविकारोंको दबाकर मानसिक

* श्रीमद्भगवद्गीतामें इस शारीरिक एवं मानसिक समताके लिये 'साम्य' एवं 'समता' शब्दोंका प्रयोग किया गया है। उदाहरणतः—
'योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।' (६।३३)
—यहाँ 'योग' और 'साम्य'-ये दो शब्द स्पष्टरूपसे पातञ्जलयोगकी ही ओर संकेत करते हैं।

समता स्थापित करनेमें समर्थ होता है। ऊपरके उद्धरणोंमें इस मानसिक साम्यमें हलचल पैदा करनेवाले कारणोंको 'मल' कहा गया है, क्योंकि वे प्रकाश्यरूप आत्माको आच्छन्न कर देते हैं। इन मनोमलोंको धोने तथा आत्माको अपने निज स्वरूपमें स्थित करनेके लिये भगवान् पतञ्जलिने प्राणायामको ही साधन बतलाया है और भाष्यकार व्यासजीने भी उनका समर्थन किया है।

प्राणायामकी प्रक्रिया

शारीरिक दृष्टिसे प्राणायाममें केवल श्वासोपयोगी अङ्गोंका ही संचालन एवं व्यापार होता है। प्राणायामका अर्थ है श्वासकी गतिको कुछ कालके लिये रोक लेना। साधारण स्थितिमें श्वासोंकी चाल दस प्रकारकी होती है—पहले श्वासका भीतर जाना, फिर रुकना, फिर बाहर निकलना; फिर रुकना, फिर भीतर जाना, फिर रुकना, फिर बाहर निकलना इत्यादि। प्राणायाममें श्वास लेनेका यह सामान्य क्रम टूट जाता है। श्वास (वायुके भीतर जानेकी क्रिया) और प्रश्वास (बाहर जानेकी क्रिया) दोनों ही गहरे और लम्बे होते हैं और श्वासोंका विराम अर्थात् रुकना तो इतनी अधिक देरतक होता है कि उसके सामने सामान्य स्थितिमें हम जितने कालतक रुकते हैं वह तो नहींके समान और नगण्य ही है। योगकी भाषामें श्वास खींचनेको 'पूरक', बाहर निकालनेको 'रेचक' और रोक रखनेको 'कुम्भक' कहते हैं। प्राणायाम कई प्रकारके होते हैं और जितने प्रकारके प्राणायाम हैं,उन सबमें पूरक, रेचक और कुम्भक भी भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। पूरक नासिकासे करनेमें हम दाहिने छिद्रका अथवा बायेंका अथवा दोनोंका ही उपयोग कर सकते हैं। रेचक दोनों नासारन्ध्रोंसे अथवा एकसे ही करना चाहिये। कुम्भक पूरकके भी पीछे हो सकता है और रेचकके भी, अथवा दोनोंके ही पीछे न हो तो भी कोई आपत्ति नहीं। पूरक, कुम्भक और रेचकके इन्हीं भेदोंको लेकर प्राणायामके अनेक प्रकार हो गये हैं।

पूरक, कुम्भक और रेचक कितनी-कितनी देरतक होना चाहिये, इसका भी हिसाब रखा गया है। यह आवश्यक माना गया है कि जितनी देरतक पूरक किया जाय उससे चौगुना समय कुम्भकमें लगाना चाहिये और दूना समय रेचकमें अथवा दूसरा हिसाब यह है कि जितना समय पूरकमें लगाया जाय उससे दूना कुम्भकमें और उतना ही रेचकमें लगाया जाय। प्राणायामकी सामान्य प्रक्रियाका दिग्दर्शन कराकर अब हम प्राणायामसम्बन्धी उन खास बातोंपर विचार करेंगे जिनसे हम यह समझ सकेंगे कि प्राणायामका हमारे शरीरपर कैसा प्रभाव पड़ता है।

पूरक करते समय जब कि साँस अधिक-से-अधिक गहराईके साथ भीतर खींची जाती है तथा कुम्भकके समय भी, जिसमें बहुधा साँसको भीतर रोकना होता है, आगेकी पेटकी नसोंको सिकोड़कर रखा जाता है। उन्हें कभी फुलाकर आगेकी ओर नहीं बढ़ाया जाता। रेचक भी जिसमें साँसको अधिक-से-अधिक गहराईके साथ बाहर निकालना होता है, पेट और छातीको जोरसे सिकोड़नेसे ही बनता है। कुम्भक करते समय मूलबन्ध साधनेके लिये तो गुदाको सिकोड़ना पड़ता है और उड्डीयानबन्धके लिये पेटको भीतरकी ओर खींचा जाता है तथा जालन्धरबन्धके लिये ठोडीसे छातीको दबाया जाता है। प्राणायामके अभ्यासके लिये कोई-सा उपयुक्त आसन चुन लिया जाता है जिसमें सुखपूर्वक पालथी मारी जा सके और मेरुदण्ड सीधा रह सके।

एक विशेष प्रकारका प्राणायाम होता है जिसे भस्त्रिका प्राणायाम कहते हैं। उसके दो भाग होते हैं, जिनमेंसे दूसरे भागकी प्रक्रिया वही है जो ऊपर कही गयी है। पहले भागमें साँसको जल्दी-जल्दी बाहर निकालना होता है, यहाँतक कि एक मिनटमें २४० साँस बाहर आ जाते हैं। योगमें एक श्वासकी क्रिया होती है जिसे कपालभाति कहते हैं। भस्त्रिकाके पहले भागमें ठीक वैसी ही क्रिया की जाती है।

प्राणायामका शरीरपर प्रभाव

सामान्य शरीरविज्ञानमें मानवशरीरके अंदर काम करनेवाले भिन्न-भिन्न अङ्गसमूह हैं। इन अङ्गसमूहोंमें प्रधान ये हैं—स्नायुजाल (Nervous system), ग्रन्थिसमूह (Glandular system), श्वासोपयोगी अङ्गसमूह (Pespiratory system) रक्तवाह, अङ्गसमूह (Circulatory system) और आहारका परिपाक करनेवाला अङ्गसमूह (Digestive system)। इन सभीपर प्राणायामका गहरा प्रभाव पड़ता है। मलको बाहर निकालनेवाले अङ्गोंमें हम देखते हैं कि आँतें और गुर्दा तो पेटके अंदर हैं और फेफड़े

छातीके अंदर। साधारण तौरपर साँस लेनेमें उदरकी मांसपेशियाँ क्रमशः ऊपर और नीचेकी ओर जाती हैं, जिससे आँतों और गुर्देमें भी निरन्तर हलचल और हलकी-हलकी मालिश होती रहती है। प्राणायाममें पूरक एवं रेचक तथा कुम्भक करते समय यह हलचल और मालिश और भी स्पष्टरूपसे होने लगती है। इससे यदि कहीं रक्त जमा हो गया हो तो इस हलचलके कारण उसपर जोर पड़नेसे वह हट सकता है। यही नहीं, आँतों और गुर्देके व्यापारको नियन्त्रणमें रखनेवाले स्नायु और मांसपेशियाँ भी सुदृढ़ हो जाती हैं। इस प्रकार आँतों और गुर्देको प्राणायाम करते समय ही नहीं, बल्कि शेष समयमें भी लाभ पहुँचता है। स्नायु और मांसपेशियाँ जो एक बार मजबूत हो जाती हैं, वे फिर चिरकालतक मजबूत ही बनी रहती हैं और प्राणायामसे अधिक स्वस्थ हो जानेपर आँतें और गुर्दे अपना कार्य और भी सफलताके साथ करने लगते हैं।

यही हाल फेफड़ोंका है। श्वासकी क्रिया ठीक तरहसे चलती रहे, इसके लिये आवश्यकता है श्वासोपयोगी मांसपेशियोंके सुदृढ़ होनेकी और फेफड़ोंके लचकदार होनेकी। शारीरिक दृष्टिसे प्राणायामके द्वारा इन मांसपेशियों और फेफड़ोंका संस्कार होता है। और कार्बनडाई आक्साइड नामक दूषित गैसका भी भलीभाँति निराकरण हो जाता है। इस प्रकार प्राणायाम आँतों, गुर्दे तथा फेफड़ोंके लिये, जो शरीरसे मलको निकाल बाहर करनेके तीन प्रधान अङ्ग हैं, बड़ी मूल्यवान् कसरत है।

आहारका परिपाक करनेवाले और रस बनानेवाले अङ्गोंपर भी प्राणायामका अच्छा असर पड़ता है। अन्न-जलके परिपाकमें आमाशय, उसके पृष्ठभागमें स्थित Pancreas नामक ग्रन्थि और यकृत् मुख्यरूपसे कार्य करते हैं। और प्राणायाममें इन सबकी कसरत होती है। क्योंकि प्राणायाममें उदर और वक्षःस्थलके बीचका स्नायु, जिसे अंग्रेजीमें Diaphragm कहते हैं और पेटकी मांसपेशियाँ, ये दोनों ही बारी-बारीसे खूब सिकुड़ते हैं और फिर ढीले पड़ जाते हैं, जिससे उपर्युक्त पाकोपयोगी अङ्गोंकी एक प्रकारसे मालिश हो जाती है। जिन्हें अग्निमान्द्य और बद्धकोष्ठताकी शिकायत रहती है, उनमेंसे अधिक लोगोंके जिगरमें सदा ही रक्त जमा रहता है और फलतः उसकी क्रिया दोषयुक्त होती है। इस रक्तसंचयको हटानेके लिये प्राणायाम एक उत्तम साधन है।

किसी भी मनुष्यके स्वास्थ्यके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसकी नाड़ियोंमें प्रवाहित होनेवाले रक्तको ऑक्सिजन प्रचुर मात्रामें मिलता रहे। योगशास्त्रमें बतायी हुई पद्धतिके अनुसार प्राणायाम करनेसे रक्तको जितना अधिक ऑक्सिजन मिल सकता है, उतना अन्य किसी व्यायामसे नहीं मिल सकता। इसका कारण यह नहीं कि प्राणायाम करते समय मनुष्य बहुत-सा ऑक्सिजन पचा लेता है, बल्कि उसके श्वासोपयोगी अङ्गसमूहका अच्छा व्यायाम हो जाता है।

जो लोग अपने श्वासकी क्रियाको ठीक करनेके लिये किसी प्रकारका अभ्यास नहीं करते, वे अपने फेफड़ोंके कुछ अंशोंसे ही साँस लेते हैं, शेष अंश निकम्मे रहते हैं। इस प्रकार निकम्मे रहनेवाले अंश बहुधा फेफड़ोंके अग्रभाग होते हैं। इन अग्रभागोंमें ही जो निकम्मे रहते हैं और जिनमें वायुका संचार अच्छी तरहसे नहीं होता, राजयक्ष्माके भयङ्कर कीटाणु बहुधा आश्रय पाकर बढ़ जाते हैं। यदि प्राणायामके द्वारा फेफड़ोंके प्रत्येक अंशसे काम लिया जाने लगे और उनका प्रत्येक छिद्र दिनमें कई बार शुद्ध हवासे धुल जाया करे तो फिर इन कीटाणुओंका आक्रमण असम्भव हो जायगा और श्वास-सम्बन्धी इन भयंकर रोगोंसे बचा जा सकता है।

प्राणायामके कारण पाकोपयोगी, श्वासोपयोगी एवं मलको बाहर निकालनेवाले अङ्गोंकी क्रिया ठीक होनेसे रक्त अच्छा बना रहेगा। यही रक्त विभक्त होकर शरीरके भिन्न-भिन्न अङ्गोंमें पहुँच जायगा। यह कार्य रक्तवाहक अङ्गोंका खासकर हृदयका है। रक्तसंचारसे सम्बन्ध रखनेवाला प्रधान अङ्ग हृदय है और प्राणायामके द्वारा उसके अधिक स्वस्थ हो जानेसे समस्त रक्तवाहक अङ्ग अच्छी तरहसे काम करने लगते हैं।

परंतु बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। भस्त्रिका प्राणायाममें, खासकर उस हिस्सेमें जो कपालभातिसे मिलता-जुलता है, वायवीय स्पन्दन प्रारम्भ होकर मानव-शरीरके प्रायः प्रत्येक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अङ्गको, यहाँतक कि नाड़ियों एवं सूक्ष्म शिराओंतकको हिला देते हैं। इस प्रकार प्राणायामसे सारे रक्तवाहक अङ्गसमूहकी कसरत एवं मालिश हो जाती है और वह ठीक तरहसे काम करनेके योग्य बन जाता है।

रक्तकी उत्तमता और उसके समस्त स्नायुओं और ग्रन्थियोंमें उचित मात्रामें विभक्त होनेपर ही इनकी स्वस्थता निर्भर है। प्राणायाममें विशेषकर भस्त्रिका प्राणायाममें रक्तकी गति बहुत तेज हो जाती है और रक्त भी उत्तम हो जाता है। इस प्रकार प्राणायामसे Endocrine ग्रन्थिसमूहको भी उत्तम और पहलेकी अपेक्षा प्रचुर रक्त मिलने लगता है, जिससे वे पहलेकी अपेक्षा अधिक स्वस्थ हो जाती हैं। इसी रीतिसे हम मस्तिष्क, मेरुदण्ड और इनकी नाड़ियों तथा अन्य सम्बन्धित नाड़ियोंको स्वस्थ बना सकते हैं।

सभी शरीरविज्ञानविशारदोंका इस विषयमें एक मत है कि साँस लेते समय मस्तिष्कमेंसे दूषित रक्त प्रवाहित होता है और शुद्ध रक्त उसमें संचरित होता है। यदि साँस गहरी हो तो दूषित रक्त एक साथ बह निकलता है और हृदयसे जो शुद्ध रक्त वहाँ आता है वह और भी सुन्दर आने लगे। प्राणायामकी यह विधि है कि उसमें साँस गहरे-से-गहरा लिया जाय, इसका परिणाम यह होता है कि मस्तिष्कसे सारा दूषित रक्त बह जाता है और हृदयका शुद्ध रक्त उसे अधिक मात्रामें मिलता है। योग उड्डीयानबन्धको हमारे सामने प्रस्तुत कर इस स्थितिको और भी स्पष्ट कर देनेकी चेष्टा करता है। इस उड्डीयानबन्धसे हमें इतना अधिक शुद्ध रक्त मिलता है, जितना किसी श्वास-सम्बन्धी व्यायामसे हमें नहीं मिल सकता। प्राणायामसे जो हमें तुरंत बल और नवीनता प्राप्त होती है उसका यही वैज्ञानिक कारण है।

मेरुदण्ड एवं उससे सम्बन्धित स्नायुओंके सम्बन्धमें हम देखते हैं कि इन अङ्गोंके चारों ओर रक्तकी गति साधारणतया मन्द होती है। प्राणायामसे इन अङ्गोंमें रक्तकी गति बढ़ जाती है और इस प्रकार इन अङ्गोंको स्वस्थ रखनेमें प्राणायाम सहायक होता है।

योगमें कुम्भक करते समय मूल, उड्डीयान और जालन्धर—तीन प्रकारके बन्ध करनेका उपदेश दिया गया है। इन बन्धोंका एक कालमें अभ्यास करनेसे पृष्ठवंशका, जिसके अंदर मेरुदण्ड स्थित है तथा तत्सम्बन्धित स्नायुओंका उत्तम रीतिसे व्यायाम हो जाता है। इन बन्धोंके करनेसे पृष्ठवंशको यथास्थान रखनेवाली मांसपेशियाँ, जिनमें तत्सम्बन्धित स्नायु भी रहते हैं, क्रमशः फैलती हैं और फिर सिमट जाती हैं, जिससे इन पेशियों तथा मेरुदण्ड एवं तत्सम्बन्धित स्नायुओंमें रक्तकी गति बढ़ जाती है। बन्ध यदि न किये जायँ तो भी प्राणायामकी सामान्य प्रक्रिया ही ऐसी है कि उससे पृष्ठवंशपर ऊपरकी ओर हलका-सा खिंचाव पड़ता है, जिससे मेरुदण्ड तथा तत्सम्बन्धित स्नायुओंको स्वस्थ रखनेमें सहायता मिलती है।

स्नायुजालके स्वास्थ्यपर अच्छा प्रभाव डालनेके लिये तो सबसे उत्तम प्राणायाम भस्त्रिका है। इस प्राणायाममें श्वासकी गति तेज होनेसे शरीरके प्रत्येक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अङ्गकी मालिश हो जाती है और इसका स्नायुजालपर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है।

निष्कर्षरूपमें कहा जा सकता है कि प्राणायाम हमारे शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये सर्वोत्तम व्यायाम है। इसीलिये भारतके प्राचीन योगाचार्य प्राणायामको शरीरकी प्रत्येक आभ्यन्तर क्रियाको स्वस्थ रखनेका एकमात्र साधन मानते थे। उनमेंसे कुछ तो प्राणायामको शरीरका स्वास्थ्य ठीक रखनेमें इतना सहायक मानते हैं कि वे इसके लिये अन्य किसी साधनकी आवश्यकता ही नहीं समझते। प्राणायामसे शरीरकी आभ्यन्तर क्रियाओंका नियन्त्रण ही नहीं होता, अपितु इस शरीरयन्त्रको जीवन देनेवाले प्रत्येक व्यापारपर अधिकार हो जाता है।

श्वाससम्बन्धी व्यायामोंसे श्वासोपयोगी अङ्गसमूहको तो लाभ होता ही है, किंतु उनका असली महत्त्व तो इस बातको लेकर है कि उनसे अन्य अङ्गसमूहोंको भी, खासकर स्नायुजालको विशेष लाभ पहुँचता है।

आध्यात्मिक शास्त्रोंके श्रवण, भगवान्‌के नाम-कीर्तन, मनकी सरलता, सत्पुरुषोंका समागम, देहाभिमानके त्यागका अभ्यास—इन भागवत-धर्मोंके आचरणसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, फिर वह अनायास ही भगवान्‌में आसक्त हो जाता है।—श्रीमद्भागवत

योगासन और व्यायाममें अन्तर

(डॉ० श्री आर० सी० वर्मा)

प्रायः सामान्य लोग योगासनोंको शारीरिक व्यायामका ही एक अङ्ग मानते हैं और उन्हें शरीरको पुष्ट करनेका साधनमात्र समझते हैं, किंतु योगासन और व्यायामके परिणाममें पर्याप्त अन्तर दीखता है।

योगासन मानसिक और शारीरिक विकास करते हैं, इनसे मानसिक और शारीरिक स्थिरता प्राप्त होती है। परंतु व्यायामसे केवल शरीरके विशेष अङ्गोंका ही विकास होता है और व्यायामके अभ्यासके व्यतिक्रमसे विपरीत परिणाम भी प्राप्त होते हैं। आसनोंके अभ्याससे सम्पूर्ण मस्तिष्कके केन्द्र (हायर एन्ड लोवर सेन्टर्स आफ ब्रेन) का उपयोग तल्लीनता और एकाग्रताके लिये किया जाता है। आसन धीरे-धीरे बड़ी सावधानीसे ध्यानपूर्वक, बिना झटकेके कम-से-कम शक्तिका उपयोग करते हुए किये जाते हैं और उनके अभ्यासके द्वारा पूर्ण एकाग्रताके लिये प्रयत्न किया जाता है। चित्तकी यही एकाग्रता प्राणायाम, धारणा एवं ध्यानको दृढ़ करती हुई समाधिके द्वारा सहज स्वरूपावस्थातक पहुँचा देती है। व्यायाममें मस्तिष्कके सूक्ष्म केन्द्र (हायर सेन्टर्स) निरुपयोगी रहते हैं, व्यायाम जल्दी-जल्दी झटकेके साथ बार-बार किये जाते हैं और उनमें शक्तिका उपयोग भी अधिक होता है तथा स्थितिके अनेक आवर्तन होते हैं। व्यायाममें यद्यपि बलवृद्धि तथा स्वास्थ्य दृढ़ होता है, किंतु चित्त एकाग्र तथा सात्त्विकताकी ओर उन्मुख न होकर संसारकी ओर प्रवृत्त होता है। इसके विपरीत योगासनोंसे शरीर-स्वास्थ्यके साथ-ही-साथ साधककी प्रवृत्ति भी अन्तर्मुखी हो जाती है।

आसनोंका अभ्यास करनेके पहले शरीर और मनकी शुद्धि बहुत आवश्यक है, शरीरको शौच-स्नान आदिसे शुद्ध और स्फूर्तिमय किया जाता है। आसनोंका अभ्यास करते समय शरीरके भीतर होनेवाली गतिविधियोंपर ध्यान एकाग्र किया जाता है, इससे मनको स्थिर और निर्दोष बनानेमें बड़ी सहायता मिलती है। इसके विपरीत व्यायामके लिये शरीरकी शुद्धिपर विशेष बल नहीं दिया जाता। मन और ध्यानकी स्थिरता और एकाग्रताके अभावमें भी व्यायामोंका अभ्यास किया जाता है। शरीर स्वचालित यन्त्रकी भाँति व्यायाममें तत्पर रहता है।

योगासनोंके अभ्याससे शरीरमें लोच बढ़ती है। शरीरकी ग्रन्थियों और जोड़ोंमें विशेष गतिशीलता आती है, मांसपेशियोंका विकास आवश्यकतासे अधिक नहीं होता है, न उनमें ऐसी विशेष ताकत आती है और न मजबूती ही, जिससे कि शरीरका विकास अवरुद्ध हो जाय, परंतु व्यायामसे शरीरमें कठोरता बढ़ती है, कड़ापन आता है, शरीरके जोड़ोंकी स्वाभाविक गतिशीलतामें क्षीणता उत्पन्न होती है, शरीरकी मांसपेशियाँ अधिक परिपक्व और कठोर होती हैं तथा मानसिक शक्तिके स्थानपर विशेषरूपसे शरीरका बल अधिक बढ़ता है।

योगासनोंके द्वारा शरीरमें प्राण-शक्तिका संचय होता है। शरीरमें स्फूर्ति बढ़ती है, ओज एवं कान्तिकी अभिवृद्धि होती है। दैनिक कार्योंको पूरा करनेमें शरीर स्वस्थ और समर्थ होता है, आलस्य दूर होता है। किंतु व्यायाममें प्राणशक्तिकी विशेष अभिवृद्धि न होकर ह्रासकी सम्भावना रहती है, जिससे शरीरमें शैथिल्य आ जाता है और बहुत देरतक विश्राम करनेकी इच्छा होती है, आलस्य बढ़ता है।

आसनोंका अभ्यास करनेवालोंके लिये यह आवश्यक है कि उनका आहार अल्प एवं सात्त्विक हो; क्योंकि सात्त्विक आहार-विहारसे योगसाधनामें विशेष लाभ होता है। योगासनोंका अभ्यास बालक, युवक, प्रौढ़ और वृद्ध सभी कर सकते हैं। किंतु व्यायाममें शक्तिकी अधिक अपेक्षा होनेसे विशेषरूपसे युवक ही कर सकते हैं। चूँकि व्यायाममें शारीरिक पुष्टतापर अधिक ध्यान दिया जाता है, अतः भोज्य पदार्थोंका कोई विशेष विधि-निषेध नहीं देखा जाता।

योगासनोंके अभ्यासके बाद शान्ति, संतोष तथा सुखका अनुभव होने लगता है और साधककी आध्यात्मिक शक्ति बढ़ती है। हृदयमें उच्च रक्तचाप और फेफड़ों आदिकी गतिमें संतुलन, समभाव प्राप्त होता है। प्रचुर मात्रामें प्राणवायुकी प्राप्ति होती है। इन योगासनोंके अभ्यासके लिये न किन्हीं बाह्य साधनोंकी विशेष आवश्यकता होती है और न अर्थकी अपेक्षा होती है। अतः ये सबके लिये सुलभ हैं, इसके विपरीत व्यायाममें शारीरिक परिश्रम अधिक होता है। अतः शैथिल्य आने लगता है, व्यायामके द्वारा हृदय और फेफड़ोंकी गतिमें तथा रक्तकी गतिमें असंतुलन-सा प्रतीत होता है। प्राणवायुकी

क्षीणता बढ़ती है और व्यायाम करनेवाला हाँफने लगता है। भारतीय पद्धतिके व्यायामोंमें तो कम पर अन्य पाश्चात्त्य पद्धतिके व्यायामोंमें बाह्य साधन आवश्यक होते हैं। वे अर्थसाध्य भी होते हैं। संगीत आदिकी धुनोंपर किये जानेवाले व्यायामोंसे लाभकी अपेक्षा हानिकी ही अधिक सम्भावना रहती है।

भारतीय योगपद्धतिका लक्ष्य चित्तकी वृत्तियोंको सर्वथा निरुद्धकर साधकको परमात्मलाभकी स्थितिमें पहुँचाना है। इस साधना-मार्गमें आसनोंके माध्यमसे स्थैर्य प्राप्त कर, प्राणायामसे प्राणशक्तिका नियमन कर इष्टकी धारणापूर्वक ध्यान-समाधिमें स्थित होना और अन्तमें सहजावस्था-प्राप्तितकका क्रम निर्दिष्ट है। इस क्रम-मार्गमें योगासन ही मूलभूत साधन है। केवल शारीरिक शक्तिकी अभिवृद्धिमें सहयोगी व्यायामोंका इस साधनापद्धतिमें कोई विशिष्ट स्थान नहीं है।

कल्याणकारी साधकको यथासाध्य अपनी प्रकृति एवं शारीरिक क्षमताके आधारपर किसी योग्य कर्मठ सिद्ध योगसाधकका आश्रयण लेकर योगासनोंके अभ्यासपूर्वक स्वाभीष्टदेवका निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये।

रोगोंका यौगिक निदान एवं चिकित्सा

(श्रीसोमचैतन्यजी श्रीवास्तव)

आरोग्य मनुष्य-जीवनमें प्राप्तव्य चारों पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका मूल है। योग-साधनामें भी व्याधिको योगका सर्वप्रमुख विघ्न माना गया है। अतएव लौकिक या अलौकिक पुरुषार्थके सम्पादनमें समर्थ बने रहनेके लिये आरोग्यवान्—आधि-व्याधिशून्य बने रहना अत्यन्त आवश्यक है। आयुर्वेदके अनुसार स्वस्थ पुरुषका लक्षण है आत्मा, मन एवं इन्द्रियोंके प्रसन्न रहनेके साथ-साथ शरीरस्थित दोष—अग्नि, धातु, मल एवं क्रियाओंका सम-अवस्थामें रहना।

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

समत्व ही योगका एवं सृष्टिव्यवस्थाका मूल आधार है। विषमतासे ही विकारकी उत्पत्ति होती है। सूक्ष्मदृष्टि रखनेवाले ऋषि एवं योगिगण केवल शारीरिक रोग एवं बाह्य वैषम्यपर ही नहीं, अपितु इनके उत्पादक सूक्ष्म शरीरके वैषम्यको भी दृष्टिमें रखते थे तथा उस विषमताको भी उत्पन्न करनेवाले कारणोंको दूरकर शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक तीनों प्रकारके स्वास्थ्य-लाभका उपदेश देते रहे हैं। स्वास्थ्यके विकार कर्मदोष, दुर्वृत्त, प्रज्ञाविकार, रजोगुण एवं तमोगुणका प्रभाव, शरीरगत पञ्चभूतोंमेंसे किन्हींका क्षय, श्वास-प्रक्रियामें विपर्यय, वातादिदोषोंकी वृद्धि, अपथ्य-भोजन आदि कारणोंसे होते हैं। आयुर्वेदिक दृष्टिसे व्यक्ति या जनपदमें होनेवाले व्याधि—दुःखका कारण प्रज्ञाविकार है। बुद्धि शरीर-सत्ताकी संचालिका है। बुद्धिमें लोभ, मोह, क्रोध, अभिमान आदिकी उत्पत्ति होनेसे व्यक्ति अधर्माचरण करने लगता है। अतः उस अधर्माचरणके फलस्वरूप नाना प्रकारकी व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनसे सभी व्यक्ति दुःखी होते हैं। व्यक्तिगत अधर्माचरणका फल व्यक्तिको व्याधिके रूपमें मिलता है एवं समूहरूपमें किये गये अधर्मका फल जाति, समुदाय, ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र एवं विश्वको व्यापक व्याधियों एवं अन्य उपद्रवोंके रूपमें मिलता है। मनुष्य मन्द, मध्य, तीव्र मात्रामें जैसी भावनासे जिन-जिन अङ्गोंसे दुष्टाचरण करता है या करवाता है, उसी मात्रामें उसी भावनाके अनुकूल उन-उन अङ्गोंमें उसे दुःखोंकी प्राप्ति होती है, यह दुःख इस जन्ममें अनुष्ठित या पूर्वजन्ममें कृत दोनों प्रकारके कर्मोंके फलके रूपमें प्राप्त होता है। भगवान् मनुने दुराचारको सततव्याधि, अल्पायु एवं दुःखका कारण माना है तथा जडत्व, मूकत्व, अन्धत्व, वधिरत्व, विकृत आकृति आदिको कर्मविशेषका दुष्परिणाम कहा है। उनका यह भी कहना है कि असत्यवादी, हिंसाप्रेमी एवं निन्दित कर्मका आचरण करनेवाले अधार्मिक जन कभी सुखी नहीं रहते। स्वाध्यायका परित्याग कर ज्ञानानुकूल आचरण न करनेसे, सदाचारका त्याग करनेसे, आलस्य एवं प्रमादयुक्त रहनेसे तथा अन्न-दोषके कारण मृत्यु प्राणियोंका संहार करती है।

अतएव सुखी एवं स्वस्थ रहनेके लिये यह आवश्यक है

कि बुद्धिको दोषोंके मूलकारण लोभ, मोह, क्रोधसे रहित बनाया जाय। शास्त्राभ्यास, गायत्रीजप एवं ब्रह्म-ध्यानके द्वारा बुद्धिको निर्मल, पवित्र एवं ज्ञानयुक्त बनाया जाय। बुद्धिके पवित्र एवं सत्यज्ञानयुक्त होनेपर आचरण भी ज्ञानानुकूल, उत्तम, शास्त्रानुमोदित एवं पवित्र ही होगा। कर्मको ही दुःखका हेतु जानकर धर्मशास्त्रोंमें सदाचार एवं दुराचारकी—उत्तम कर्म एवं निन्दित कर्मकी विस्तारपूर्वक विवेचना की गयी है तथा सुखप्राप्तिके हेतु सदैव शास्त्रविहित मङ्गलकर्मोंको ही अनुष्ठित करनेका उपदेश दिया गया है। मनुष्योंको तीव्र दुःख देनेवाले निन्दित कर्मोंका स्पष्ट ज्ञान हो, इसीलिये विस्तारके साथ महापातकों एवं उपपातकोंकी गणना की गयी है तथा भूलकर भी इन पाप-कर्मोंका चिन्तन और अनुष्ठान न करनेका विधान किया गया है। यहाँतक कि इन पापकर्म करनेवालोंके संसर्गसे भी बचनेका उपदेश दिया गया है। यदि कभी प्रमादसे निन्दित आचरण हो भी जाय तो उसके प्रभावसे मुक्त होनेके लिये तथा उक्त पापकर्मजनित संस्कारोंको दूर करनेके लिये तत्काल प्रायश्चित्त कर्म करनेका विधान किया गया है। इन्द्रियभोगोंमें अधिक प्रसक्तिको भी मनुने प्रायश्चित्तके योग्य कर्म माना है—

अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः॥

(११।४४)

अतः व्याधि आदिके दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिये यह आवश्यक है कि आसक्ति एवं फलाकाङ्क्षाका त्यागकर सदैव शास्त्रविहित कर्म किये जायँ। योगियोंके कर्म सदैव शुभाशुभकी वासना, फलकी कामना एवं आसक्तिसे रहित होते हैं, अतएव वे कर्माशयसे रहित होनेके कारण भविष्यमें सुख-दुःखरूप फलको उत्पन्न नहीं करते। पातञ्जल योगसूत्रमें योगियोंके कर्मको अशुक्ल-अकृष्ण कहा गया है। इसके साथ ही शास्त्राभ्यास, सत्सङ्ग, श्रवण एवं मननके द्वारा सम्यग्दृष्टि प्राप्त करनी चाहिये, जिससे संसारमें पाप-कर्मके फलस्वरूप नाना प्रकारके रोगों एवं दुःखोंसे पीड़ित प्राणियोंको दुःखकर पापकर्मकी चेष्टा एवं वासनासे विरक्त रखा जा सके।

दार्शनिक दृष्टिसे विचार करनेपर व्याधि एवं दुःखोंका कारण रजोगुण एवं तमोगुण है। सत्त्वगुणका स्वभाव ज्ञान, प्रकाश, लघुता एवं आमय (रोग) रहित होता है। अतः योगी सत्त्वगुणमें स्थित होकर ही व्याधि एवं अन्य त्रिविध तापों तथा योगविघ्नोंपर विजय प्राप्त करता है। तमोगुणका दमन रजोगुणात्मक ध्यानसे एवं रजोगुणका शमन सत्त्वगुणात्मक ध्यानसे होता है।

वराहोपनिषद्ने पञ्चभूतोंकी दृष्टिसे जीवनका वर्णन किया है तथा देह-क्षयका निवारण करनेके लिये 'भूतधारणा' की विधिका उपदेश दिया है। इस उपनिषद्का कहना है कि इस पाञ्चभौतिक शरीरमें काठिन्य पृथ्वीका, द्रवत्व जलका, तेज एवं दीपन अग्निका, गति एवं प्रसार वायुका और सत्त्व आकाशका गुण है। पृथ्वीतत्त्वके क्षीण होनेपर शरीरके मांस आदि कठिन अंश क्षीण हो जाते हैं एवं शरीरपर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। जलतत्त्व क्षीण होनेपर शुष्कता आती है एवं केश सफेद हो जाते हैं। अग्नितत्त्वके क्षीण होनेपर क्षुधा और कान्तिका नाश हो जाता है। वायुतत्त्वके क्षीण होनेपर शरीरमें वेपथु (कम्पन) होता है तथा आकाश-तत्त्वके क्षीण होनेपर मृत्यु हो जाती है। भूत-धारणाका अभ्यास करनेपर प्रत्येक भूतके सूक्ष्म अंश शरीरमें निवास करते हैं, जिससे शरीर सदैव स्वस्थ वलीपलितरहित तथा तेज, शक्ति, पुष्टि, कान्ति एवं सत्त्वसे युक्त रहता है। पञ्चभूतोंकी धारणा सभी प्राचीन योग-विधियोंका आवश्यक अङ्ग थी।

इस विश्वके स्रष्टा एवं नियन्ता ईश्वर स्वयं इस पिण्डरूप लघु ब्रह्माण्डके हृदयमें अन्तर्यामी-रूपसे अवस्थित होकर इसे नियन्त्रित कर रहे हैं। शरीरके विभिन्न अङ्गोंमें तथा मन, प्राण एवं इन्द्रियोंमें भी तत्तत् स्थानों एवं उनकी शक्तियोंके स्वामी देवगण उन-उन स्थानोंमें निवास करते हुए सतत अप्रमत्त रहकर अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। अतएव स्वस्थ एवं सुखी रहनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य सृष्टिमें सभीके साथ आत्मभाव स्थापित करे तथा परब्रह्म एवं देवोंकी विशेषरूपसे आराधना करे। इसके लिये उसे ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ एवं भूतयज्ञ—इन पाँच महायज्ञोंका नित्य अनुष्ठान करना चाहिये। राजर्षि मनुका कथन है कि जो लोग मङ्गलाचारसे युक्त हैं, जिनका चित्त, बुद्धि और आचार शुद्ध एवं पवित्र है, जो नित्य ओंकार या महाव्याहृतिपूर्वक गायत्री आदि मन्त्रोंका जप करनेवाले हैं तथा नित्य होमकर्म-द्वारा देवताओंको प्रसन्न करनेवाले हैं, उन्हें कभी कोई रोग,

विपत्ति आदि विघ्न नहीं होते—

मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम्।
जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते॥

(मनु० ४। १४६)

हठयोगके अनुसार भौतिक शरीरके दोषोंको दूर करनेके लिये एवं स्वस्थ बने रहनेके लिये षट्कर्म, आसन, प्राणायाम, मुद्रा, धारणा एवं ध्यानका आलम्बन लेना चाहिये। षट्कर्मका उपयोग प्रवृद्ध कफ-दोषको दूर करके वात, पित्त एवं कफ—इन तीनों दोषोंको समभावमें स्थापित करनेके लिये होता है। यदि कफ-दोष बढ़ा न हो तो, जिस अङ्गमें विकार या अशक्ति प्रतीत हो, उसी अङ्गको बलवान् बनाने या उक्त अङ्गसे विकारको दूर करनेके लिये षट्कर्मोंमेंसे यथावश्यक दो या तीन या चार कर्मोंका अभ्यास करना चाहिये। धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलिक एवं कपालभाति—इन छः क्रियाओंको षट्कर्म कहते हैं। धौति कर्म कण्ठसे आमाशयतकके मार्गको स्वच्छ करके सभी प्रकारके कफ-रोगोंका नाश कर देता है। यह विशेषरूपसे कफप्रधान कास, श्वास, प्लीहा एवं कुष्ठरोगमें लाभकारी है। वस्ति-कर्मद्वारा गुदामार्ग एवं छोटी आँतके निचले हिस्सेकी सफाई हो जाती है। इससे अपानवायु एवं मलान्त्रके विकारसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंका शमन हो जाता है। आँतोंकी गर्मी शान्त होती है, कोष्ठबद्धता दूर होती है। आँतोंमें स्थित—संचित दोष नष्ट होते हैं। जठराग्निकी वृद्धि होती है। अनेक उदररोग नष्ट होते हैं। वस्तिकर्म करनेसे वात-पित्त एवं कफसे उत्पन्न अनेक रोग तथा गुल्म, प्लीहा और जलोदर दूर होते हैं। नेतिकर्म नासिकामार्गको स्वच्छ कर कपाल-शोधनका कार्य करता है। यह विशेषरूपसे नेत्रोंको उत्तम दृष्टि प्रदान करता है और गलेसे ऊपर होनेवाले दाँत, मुख, जिह्वा, कर्ण एवं शिरोरोगोंको नष्ट करता है। त्राटक-कर्मद्वारा नेत्रोंके अनेक रोग नष्ट होते हैं एवं तन्द्रा, आलस्य आदि दोष नष्ट होते हैं। उदर-रोग एवं अन्य सभी दोषोंका नाश करनेके लिये नेति प्रमुख है। यह मन्दाग्निको नष्टकर जठराग्निकी वृद्धि करता है तथा भुक्तान्नको सुन्दर प्रकारसे पचानेकी शक्ति प्रदान करता है। इसका अभ्यास करनेसे वातादि दोषोंका शमन होनेसे चित्त सदा प्रसन्न रहता है। कपालभाति विशेषरूपसे कफ-दोषका शोषण करनेवाली है। षट्कर्मोंका अभ्यास करनेसे जब शरीरान्तर्गत कफ-दोष—मलादिक क्षीण हो जाते हैं, तब प्राणायामका अभ्यास करनेसे अधिक शीघ्र सफलता मिलती है।

जिन्हें पित्तकी अधिक शिकायत रहती है, उनके लिये गजकर्णी या कुंजल-क्रिया लाभदायक रहती है। इस क्रियामें प्रातःकाल शौचादिसे निवृत्त होनेके बाद पर्याप्त मात्रामें नमकमिश्रित कुनकुना जल पीकर फिर वमन कर दिया जाता है। इससे आमाशयस्थ पित्तका शोधन होता है। जिन्हें मन्दाग्निकी शिकायत है या जिनका स्वास्थ्य उत्तम भोजन करनेपर भी सुधरता नहीं है, उन्हें अग्निसार नामक क्रियाका अभ्यास करना चाहिये। इस क्रियामें नाभिग्रन्थिको बार-बार मेरु-पृष्ठमें लगाना होता है। एक सौ बार लगा सकनेका अभ्यास हो जानेपर समझना चाहिये कि इस क्रियामें परिपक्वता प्राप्त हो गयी है, यह सभी प्रकारके उदर-रोगोंको दूर करनेमें सहायक है।

आसनका अभ्यास शरीरसे जडता, आलस्य एवं चञ्चलताको दूर कर सम्पूर्ण स्नायु-संस्थान एवं प्रत्येक अङ्गको पुष्ट बनानेके लिये होता है। इसके अभ्याससे शरीरके अङ्गोंके सभी भागोंमें एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाड़ियोंमें रक्त पहुँचता है, सभी ग्रन्थियाँ सुचारुरूपसे कार्य करती हैं। स्नायु-संस्थान बलवान् हो जानेपर साधक काम, क्रोध, भय आदिके आवेगोंको सहनेमें समर्थ होता है। वह मानस-रोगी नहीं बनता। शरीरका स्वास्थ्य मस्तिष्क, मेरुदण्ड, स्नायु-संस्थान हृदय एवं फेफड़े तथा उदरके बलवान् होनेपर निर्भर है। अतः आसनोंका चुनाव इनपर पड़नेवाले प्रभावोंको दृष्टिमें रखकर करना चाहिये। जिसका जो अङ्ग कमजोर हो उसे सार्वाङ्गिक व्यायामके आसनोंका अभ्यास करनेके साथ-साथ उन दुर्बल अङ्गोंको पुष्ट करनेवाले आसनोंका अभ्यास विशेषरूपसे करना चाहिये। ध्यानके उपयोगी पद्मासन आदिको सर्वरोगनाशक इसलिये कहा जाता है कि इन आसनोंसे ध्यान या जपमें बैठनेपर शरीरमें साम्यभाव, निश्चलता, शान्ति आदि गुण आ जाते हैं, जो भौतिक स्तरपर सत्त्वगुणकी वृद्धि करनेमें सहायक होते हैं। आरोग्यकी दृष्टिसे किये जानेवाले आसनोंमें पश्चिमोत्तान, मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, सर्वाङ्ग, मयूर, भुजंग, शलभ, धनु, कुक्कुट, आकर्षणधनु एवं पद्म-आसन मुख्य हैं।

आसनोंको शनैः-शनैः किया जाय, जिससे अङ्गों एवं

नाड़ियोंमें तनाव, स्थिरता, संतुलन, सहनशीलता एवं शिथिलता आ सके। अपनी पूर्ववत् स्थितिमें भी धीरे-धीरे ही आना चाहिये। जो अङ्ग रोगी हो, उस अङ्गपर बोझ डालनेवाले आसनोंका अभ्यास अधिक नहीं करना चाहिये। जैसे जिनके पेटमें घाव है या जो स्त्रियाँ मासिक-धर्मसे युक्त हैं, उन्हें उन दिनों पेटके आसन नहीं करने चाहिये। जिस आसनका प्रभाव जिस ग्लैंड्स या नाड़ी-चक्रपर पड़ता है—आसन करते समय वहीं ध्यान केन्द्रित करना चाहिये तथा गायत्री आदि मन्त्रोंका या तेज, बल, शक्ति देनेवाले मन्त्रोंका यथाशक्ति स्मरण करना चाहिये। एक आसनके बाद उसका प्रतियोगी आसन भी करना चाहिये। यथा—पश्चिमोत्तान आसनका प्रतियोगी भुजंगासन और शलभासन है। हस्तपादासनका प्रतियोगी चक्रासन है। सर्वाङ्गासनका अभ्यास आवश्यक है। सूर्यनमस्कारको अन्य आसनोंके अभ्यासके पूर्व कर लेना लाभकारी है।

प्राणायामका अभ्यास शरीरस्थ सभी दोषोंका निराकरण कर प्राणमयकोष एवं सूक्ष्म शरीरको नीरोग तथा पुष्ट बनाता है। नाड़ी-शोधनका अभ्यास करनेके बाद ही कुम्भक प्राणायामोंका अभ्यास करना चाहिये। प्राणायामके सभी अभ्यास युक्तिपूर्वक शनैः-शनैः ही करने चाहिये तथा भस्त्रिका प्राणायामको छोड़कर सभी शेष प्राणायामोंमें रेचक एवं पूरक, दोनोंकी क्रियाएँ बहुत धीरे-धीरे करनी चाहिये। प्रत्येक कुम्भककी अपनी-अपनी दोषनाशक विशेष शक्ति है। अतः प्रवृद्ध दोषका विचार करके ही उसके दोषनाशक कुम्भकका अभ्यास करना चाहिये। सूर्यभेद प्राणायाम पित्तवर्धक, जरादोषनाशक, वातहर, कपालदोष एवं कृमिदोषको नष्ट करनेवाला है। उज्जायी कफ-रोग, क्रूरवायु, अजीर्ण, जलोदर, आमवात, क्षय, कास, ज्वर एवं प्लीहाको नष्ट करता है। स्वास्थ्य एवं पुष्टिकी प्राप्तिके लिये उज्जायी प्राणायामका विशेष रूपसे अभ्यास करना चाहिये। शीतली प्राणायाम अजीर्ण, कफ, पित्त, तृषा, गुल्म, प्लीहा एवं ज्वरको नष्ट करता है। भस्त्रिका प्राणायाम वात-पित्त-कफ-हर, शरीराग्निवर्धक एवं सर्वरोगहर है। व्यवहारमें संध्योपासनाके उपरान्त एवं जपसे पूर्व नाड़ी-शोधन, उज्जायी एवं भस्त्रिका प्राणायामका नित्य अभ्यास करनेका प्रचलन है।

रोग-निवारणके लिये स्वर-योगका आश्रय भी लिया जाता है। नीरोगताके लिये भोजन सदा दाहिना स्वर (श्वास) चलनेपर करना चाहिये। वामस्वर शीतल एवं दक्षिणस्वर उष्ण माना जाता है। इसके अनुसार ही वात एवं कफ-प्रधान रोगोंमें दक्षिण नासिकासे श्वासको चलाया जाता है एवं पित्तप्रधान रोगमें वाम-स्वरसे श्वासको चलाया जाता है। सामान्य नियम यह है कि रोगके प्रारम्भकालमें जिस नासिकासे श्वास चल रहा होता है, उसे बंद करके दूसरी नासिकासे श्वास रोग-शमन होनेतक चलाया जाता है। इस स्वर-परिवर्तनसे प्रवृद्ध दोषका संशमन हो जाता है। स्वरयोगकी जानकारीके लिये शिव-स्वरोदय एवं स्वर-चिन्तामणि नामक ग्रन्थोंका अवलोकन करना चाहिये।

मुद्राओंके अभ्यासमें महामुद्रा, विपरीतकरणी, खेचरी, मूलबन्ध, उड्डीयानबन्ध एवं जालन्धरबन्ध मुख्य हैं। महामुद्रा क्षय, कुष्ठ, आवर्त, गुल्म, अजीर्ण आदि रोगों एवं सभी दोषोंको नष्ट करती है। इसके अभ्याससे पाचन-शक्तिकी प्रचण्ड वृद्धि होकर विषको भी पचानेकी क्षमता प्राप्त होती है। महामुद्राके साथ महाबन्ध एवं महावेधका भी अभ्यास किया जाता है। इन तीनोंके अभ्याससे वृद्धत्व दूर होता है एवं अनेक शारीरिक सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है। खेचरी मुद्राके अभ्याससे शरीरमें अमृतत्व-धर्मकी वृद्धि होती है। सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है। शरीरकी सोमकलाका विकास होता है तथा देह-क्षयकी प्रक्रिया रुक जाती है। उड्डीयानका अभ्यास उदर एवं नाभिसे नीचे स्थित अङ्गोंके रोगोंको दूरकर पुरुषत्वकी अभिवृद्धि करता है। जननाङ्ग एवं प्रजननाङ्गके रोगोंसे पीड़ित नर-नारियोंको उड्डीयानबन्धका विशेष अभ्यास करना चाहिये। जालन्धरबन्धसे कण्ठ-रोगों एवं शिरोरोगोंका नाश होता है तथा मूलबन्धका अभ्यास गुदा एवं जननेन्द्रियपर,प्राण एवं अपानपर नियन्त्रण प्रदान करता है। उड्डीयान एवं जालन्धरबन्धका अभ्यास तो प्राणायामके समय ही किया जाता है, परंतु मूलबन्धका अभ्यास सतत करना चाहिये। विपरीतकरणी मुद्राका ठीक-ठीक अभ्यास वलीपलितको दूर कर युवावस्था प्रदान करता है।

उपर्युक्त मुद्राओंके अतिरिक्त घेरण्डसंहिताप्रोक्त कुछ अन्य मुद्राओंका अभ्यास भी रोगनाश, वलीपलितविनाश एवं

स्वास्थ्य-लाभके लिये उपयोगी है। इनमेंसे नभोमुद्रा एवं माण्डूकीमुद्रा तालुस्थित अमृतपानमें सहायक होनेके कारण सभी रोगोंका नाश करनेवाली है। आश्विनी मुद्रा गुह्यरोगोंका नाश करनेवाली, अकालमृत्युको दूर करनेवाली तथा बल एवं पुष्टिको प्रदान करनेवाली है। पाशिनी मुद्रासे बल एवं पुष्टिकी प्राप्ति होती है। तड़ागी मुद्रा एवं भुजंगिनी मुद्रा—ये दोनों ही उदरके अजीर्णादि रोगोंको नष्टकर दीर्घ जीवन प्रदान करती हैं।

रोगोंको दूर करनेमें ध्यान अथवा चिन्तनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। ध्यानसे शरीर, प्राण, मन, हृदय एवं बुद्धिमें शान्ति, पवित्रता एवं निर्मलता आती है। 'सदा प्राणिमात्रके कल्याणका विचार करनेसे एवं सभी सुखी हों, नीरोग हों, शान्त हों'—इस प्रकारकी भावनाओंकी तरंगोंको सभी दिशाओंमें प्रसारित करनेसे स्वयंको सुख तथा शान्तिकी प्राप्ति होती है। व्यक्ति जैसा चिन्तन करता है, प्रायः वह वैसा बन जाता है। 'मैं नीरोग हूँ, स्वस्थ हूँ'—ऐसा चिन्तन निरन्तर दृढ़तापूर्वक करते रहनेसे आरोग्य बना रहता है। इसे आत्मसम्मोहन 'ऑटो सजेशन' की विधि कहते हैं। इसी प्रकार प्रबल संकल्पशक्तिके द्वारा अपने या दूसरेके रोगोंको भी दूर किया जाता है। रोगनिवारणके लिये प्रमुख बात यह है कि रोग होनेपर उसका चिन्तन ही न करे, उसकी परवाह ही न करे। रोगका चिन्तन करनेसे रोग बद्धमूल हो जाता है एवं व्यक्तिका मनोबल दुर्बल हो जाता है। मानसिक रोगोंका संकल्पशक्ति एवं प्रज्ञाबलसे निवारण करना चाहिये एवं शारीरिक रोगोंका औषधोंसे। इन रोगोंके उन्मूलनमें यौगिक साधनोंका अद्भुत योगदान रहा है।

शारीरिक एवं मानसिक रोगोंसे मुक्ति चाहनेवालोंको योग-क्रियाओंका अभ्यास करनेके साथ-साथ रोगोत्पादक सभी मूल कारणोंका त्याग करना चाहिये तथा अपने लिये अनुकूल एवं चिकित्साशास्त्रद्वारा निर्दिष्ट सात्त्विक पथ्य, सदाचार एवं सत्कर्मका सेवन करना चाहिये। यथासम्भव अनिष्ट-चिन्तनसे बचना चाहिये तथा चित्तको राग-द्वेष-मोहादि दोषोंसे दूर करना चाहिये। सम्पूर्ण दुःखोंका मूल कारण तमोगुणजनित अज्ञान, लोभ, क्रोध तथा मोह है। त्रिगुणके प्रभाव तथा अज्ञानके बन्धनसे मुक्त होनेका एकमात्र उपाय योग है तथा योग-बलसे भी बड़ी शक्ति है भगवान्‌की अनुग्रह शक्ति।

अतएव अहंता-ममताका त्याग करके भगवच्चरणोंका एकमात्र आश्रय लेकर योगसाधना करनेसे शारीरिक व्याधिके साथ-साथ त्रिविध ताप एवं भवव्याधि भी कट जाती है। और ऐसा साधक पूर्णतम आनन्दको प्राप्त करनेमें सर्वथा समर्थ हो जाता है।

योगसाधनाका प्राण ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य अथवा इन्द्रियनिग्रह योगसाधनाका अपर पर्याय या प्राण है। विवेकके साम्राज्यमें अथवा साधना-क्षेत्रमें इसीका नाम प्रथम आता है। ब्रह्म या भगवान्‌की प्राप्तिकी ओर चलनेसे ही इसका नाम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचारी अमर होता है और उसे ही भगवत्प्राप्ति होती है। अतः भगवद्दर्शन या स्वरूपस्थितितक विशुद्ध ब्रह्मचर्यका पालन आवश्यक है। ब्रह्मचर्याश्रम सबसे प्रथम एवं सभी आश्रमोंकी आधारभित्ति भी माना गया है। पूर्ण ब्रह्मचर्यकी सिद्धि तभी है जब ईश्वरका साक्षात्कार हो जाय—

'परं दृष्ट्वा निवर्तते।' (गीता)

काम और उसके साधनभूत स्त्री आदि इसमें सर्वाधिक बाधक तत्त्व हैं। कामका मूल संकल्प है। महाभारत शान्तिपर्वके मङ्कि-आख्यानमें महर्षि मङ्कि कामसे कहते हैं—हे काम! मैं तुम्हारा मूल जानता हूँ। तुम संकल्पसे ही उत्पन्न होते हो। अब मैं संकल्प ही नहीं करूँगा, तब तुम उत्पन्न कहाँसे होगे?—

काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।
संकल्पं न करिष्यामि ततस्त्वं न भविष्यसि॥

कामने शिव-विजयके लिये जब अपनी मायाका विस्तार किया, तब विवेककी सेना भाग खड़ी हुई। वहाँ ब्रह्मचर्यको ही विवेककी सेनाका प्रधान सेनापति कहा गया है—

ब्रह्मचर्ज ब्रत संजम नाना। धीरज धरम ग्यान बिग्याना॥
सदाचार जप जोग बिरागा। सभय बिबेक कटकु सबु भागा॥

(मानस)

ब्रह्मचर्यके आठ अङ्ग हैं—स्त्रियोंके दर्शनसे दूर रहना, उनके स्पर्शसे बचना, उन्हें स्मरण न करना, उनसे कभी सरस

वार्तालाप न करना, उनसे मनोविनोद न करना, उनके विषयमें ध्यानपूर्वक चिन्तन न करना, एकान्तमें न मिलना और उनसे शारीरिक सम्बन्ध स्थापित न करना। इसके विपरीत भगवान्‌से सभी प्रकारका सम्पर्क स्थापित करना ही सभी दृष्टियोंसे हितकर है।

ब्रह्मचर्यकी महिमापर श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणादिमें पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। वैदिक साहित्यमें ब्रह्मचर्यका अद्भुत महत्त्व दृष्टिगत होता है। ऋग्वेदमें दो सूक्त तथा अथर्ववेदके ग्यारहवें काण्डका पाँचवाँ सूक्त ब्रह्मचर्य-सूक्त है। इसमें अनेक मन्त्रोंमें ब्रह्मचारीकी अद्भुत महिमा है। वहाँ ब्रह्मचर्यको ही जगत् एवं विश्व-सञ्चालन कार्यका आधार माना गया है—

'ब्रह्मचारी···· स दाधार पृथिवीं दिवं च।'

(अथर्व० ११।५।१)

इसी सूक्तके पाँचवें मन्त्रमें ब्रह्मचारीको राजासे भी श्रेष्ठ कहा गया है। राजा ब्रह्मचर्यके द्वारा राष्ट्रका संरक्षण-संवर्धन करता है और ब्रह्मचर्यसे देवोंने अमरत्व प्राप्त कर मृत्युको जीत लिया है—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत॥

(११।५।१७—१९)

शतपथब्राह्मण (११।३।३) तथा गोपथब्राह्मण (२।६) ब्रह्मचारी ब्राह्मण ही हैं। इनमें बतलाया गया है कि ब्रह्मने मृत्युके हाथ सारी प्रजाको दे दिया, किंतु एक ब्रह्मचारीको नहीं दिया—

'ब्रह्म वै मृत्यवे प्रजाः प्रायच्छत्, तस्मै ब्रह्मचारिणमेव न प्रायच्छत्।'

(शतपथब्रा० ११।३।३।१, गोपथ०)

ब्रह्मचारीको निरालस्य तथा नृत्य-गीतादिका परित्यागी होना चाहिये—

'न गायनो न नर्तनो न सरणः।'

(गोपथ० २।७)

छान्दोग्य० (२।२३।१) में ब्रह्मचारीको अमर कहा गया है—**'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।'** इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद्‌में ब्रह्मचर्यसे भगवत्प्राप्ति एवं परमात्म-साक्षात्कार होनेकी स्थिति स्पष्ट है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

योगदर्शनमें ब्रह्मचर्यसे समस्त सिद्धियोंकी प्राप्तिकी बात कही गयी है। योगवार्तिककार श्रीविज्ञानभिक्षुने इसकी अत्यन्त विस्तृत व्याख्या की है। वाचस्पति मिश्रने केवल ब्रह्मचर्यसे अणिमा, महिमा आदि सिद्धियों एवं तारादि अष्टसिद्धियोंके मिलनेकी बात लिखी है—

'अणिमादीनुपचिनोति, सिद्धश्च तारादिभिरष्टाभिः सिद्धिभिरूहाद्यपर नामभिरुपेतः।'

(तत्त्ववैशारदीव्याख्या-योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३८)

इसी प्रकार सांख्यकारिका २३के माठरभाष्यमें ब्रह्मचर्य शब्दकी सर्वोत्तम व्याख्या मिलती है।

ब्रह्मचर्य-महिमा एवं उसकी उपयोगिताका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। हरिवंशपुराण, पद्मपुराण, स्कन्दपुराण, श्रीमद्भागवत, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत आदिके अतिरिक्त विविध स्मृतियों, नीतिग्रन्थों तथा भावप्रकाश, अष्टाङ्गहृदय आदि आयुर्वेद-ग्रन्थोंमें भी ब्रह्मचर्यकी महिमापर अनेकों वचन मिलते हैं। पाश्चात्त्य साहित्यमें कई जगह तथा विशेष रूपसे श्री वी० ए० स्मिथके 'इनसाईक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एंड एथिक्स' आदिमें भी इसके महत्त्वको प्रदर्शित करनेवाले कई उदाहरण हैं। मनुष्यके दैनिक जीवनमें भी इसका महत्त्व सर्वविदित है। अतः योगसाधकोंको एवं सर्व-साधारणको इस ब्रह्मचर्यका पालनकर आत्मकल्याण एवं परमात्म-साक्षात्कारकी दिशामें अग्रसर होना चाहिये।

संतोष हुए बिना कामनाका नाश नहीं होता और कामना रहते कभी स्वप्नमें भी सुख नहीं हो सकता, कामना श्रीरामके भजन बिना नहीं मिटती।—गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी

मनके अहंकारको छोड़कर ऐसी जबान बोलनी चाहिये, जिससे दूसरोंको भी शान्ति पहुँचे और अपनेको भी शान्ति मिले।—संत कबीर जी

स्वर-विज्ञान और बिना औषध रोगनाशके उपाय

(परिव्राजकाचार्य परमहंस श्रीमत्स्वामी निरञ्जनन्दजी सरस्वती)

विश्वपिता विधाताने मनुष्यके जन्मके समयमें ही देहके साथ एक ऐसा आश्चर्यजनक कौशलपूर्ण अपूर्व उपाय रच दिया है, जिसे जान लेनेपर सांसारिक, वैषयिक किसी भी कार्यमें असफलताका दुःख नहीं हो सकता। हम इस अपूर्व कौशलको नहीं जानते, इसी कारण हमारा कार्य असफल हो जाता है, आशा भङ्ग हो जाती है, हमें मनस्ताप और रोग भोगना पड़ता है। यह विषय जिस शास्त्रमें है, उसे स्वरोदय-शास्त्र कहते हैं। यह स्वरशास्त्र जैसा दुर्लभ है, स्वरज्ञ गुरुका भी उतना ही अभाव है। स्वरशास्त्र प्रत्यक्ष फल देनेवाला है। मुझे पद-पदपर इसका प्रत्यक्ष फल देखकर आश्चर्यचकित होना पड़ा है। समग्र स्वरशास्त्रको ठीक-ठीक लिपिबद्ध करना बिलकुल असम्भव है। केवल साधकोंके कामकी कुछ बातें यहाँ संक्षेपमें दी जा रही हैं।

स्वरशास्त्र समझनेके लिये श्वास-प्रश्वासकी गतिके सम्बन्धमें सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

कायानगरमध्ये तु मारुतः क्षितिपालकः।

'देहरूपी नगरमें वायु राजाके समान है।' प्राणवायु 'निःश्वास' और 'प्रश्वास'—इन दो नामोंसे पुकारा जाता है। वायु ग्रहण करनेका नाम 'निःश्वास' और वायुके परित्याग करनेका नाम 'प्रश्वास' है। जीवके जन्मसे मृत्युके अन्तिम क्षणतक निरन्तर श्वास-प्रश्वासकी क्रिया होती रहती है। यह निःश्वास नासिकाके दोनों छेदोंसे एक ही समय एक साथ समानरूपसे नहीं चला करता, कभी बायें और कभी दाहिने पुटसे चलता है। कभी-कभी एकाध घड़ीतक एक ही समय दोनों नाकोंसे समानभावसे श्वास प्रवाहित होता है।

बायें नासापुटके श्वासको इडामें चलना, दाहिनी नासिकाके श्वासको पिंगलामें चलना और दोनों पुटोंसे एक समान चलनेपर उसे सुषुम्नामें चलना कहते हैं। एक नासापुटको दबाकर दूसरेके द्वारा श्वासको बाहर निकालनेपर यह साफ मालूम हो जाता है कि एक नासिकासे सरलतापूर्वक श्वास-प्रवाह चल रहा है और दूसरा नासापुट मानो बंद है, अर्थात् उससे दूसरी नासिकाकी तरह सरलतापूर्वक श्वास बाहर नहीं निकलता। जिस नासिकासे सरलतापूर्वक श्वास बाहर निकलता हो, उस समय उसी नासिकाका श्वास कहना चाहिये। किस नासिकासे श्वास बाहर निकल रहा है, इसको पाठक उपर्युक्त प्रकारसे समझ सकते हैं। क्रमशः अभ्यास होनेपर बहुत आसानीसे मालूम होने लगता है कि किस नासिकासे निःश्वास प्रवाहित होता है। प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्योदयके समयसे ढाई-ढाई घड़ीके हिसाबसे एक-एक नासिकासे श्वास चलता है। इस प्रकार रात-दिनमें बारह बार बायीं और बारह बार दाहिनी नासिकासे क्रमानुसार श्वास चलता है। किस दिन किस नासिकासे पहले श्वास-क्रिया होती है, इसका एक निर्दिष्ट नियम है। यथा—

आदौ चन्द्रः सिते पक्षे भास्करस्तु सितेतरे।
प्रतिपत्तो दिनान्याहुस्त्रीणि त्रीणि क्रमोदये॥

(पवनविजयस्वरोदय)

शुक्लपक्षकी प्रतिपदा तिथिसे तीन-तीन दिनकी बारीसे चन्द्र अर्थात् बायीं नासिकासे तथा कृष्णपक्षकी प्रतिपदा तिथिसे तीन-तीन दिनकी बारीसे सूर्यनाडी अर्थात् दाहिनी नासिकासे पहले श्वास प्रवाहित होता है। अर्थात् शुक्लपक्षकी प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा—इन नौ दिनोंमें प्रातःकाल सूर्योदयके समय पहले बायीं नासिकासे तथा चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, दशमी, एकादशी, द्वादशी—इन छः दिनोंको प्रातःकाल पहले दाहिनी नासिकासे श्वास चलना आरम्भ होता है और वह ढाई घड़ीतक रहता है। उसके बाद दूसरी नासिकासे श्वास जारी होता है। कृष्णपक्षकी प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, अमावास्या—इन नौ दिनोंमें सूर्योदयके समय पहले दाहिनी नासिकासे तथा चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, दशमी, एकादशी, द्वादशी—इन छः दिनोंमें सूर्यके उदयकालमें पहले बायीं नासिकासे श्वास आरम्भ होता है और ढाई घड़ीके बाद दूसरी नासिकासे चलता है। इस प्रकार नियमपूर्वक ढाई-ढाई घड़ीतक एक-एक नासिकासे श्वास चलता है। यही मनुष्य-जीवनमें श्वासकी गतिका स्वाभाविक नियम है।

वहेत्तावद् घटीमध्ये पञ्चतत्त्वानि निर्दिशेत्। (स्वरशास्त्र)

प्रतिदिन रात-दिनकी ६० घड़ियोंमें ढाई-ढाई घड़ीके हिसाबसे एक-एक नासिकासे निर्दिष्ट क्रमसे श्वास चलनेके समय क्रमशः पञ्चतत्त्वोंका उदय होता है। इस श्वास-प्रश्वासकी गतिको समझकर कार्य करनेपर शरीर स्वस्थ रहता है और मनुष्य दीर्घजीवी होता है, फलस्वरूप सांसारिक, वैषयिक—सब कार्योंमें सफलता मिलनेके कारण सुखपूर्वक संसार-यात्रा पूरी होती है।

वाम नासिकाका श्वासफल

जिस समय इडा नाडीसे अर्थात् बायीं नासिकासे श्वास चलता हो, उस समय स्थिर कर्मोंको करना चाहिये। जैसे—अलंकारधारण, दूरकी यात्रा, आश्रममें प्रवेश, राजमन्दिर तथा महल बनाना एवं द्रव्यादिका ग्रहण करना। तालाब, कुआँ आदि जलाशय तथा देवस्तम्भ आदिकी प्रतिष्ठा करना। इसी समय यात्रा, दान, विवाह, नया कपड़ा पहनना, शान्तिकर्म, पौष्टिक कर्म, दिव्यौषधसेवन, रसायनकार्य, प्रभुदर्शन, मित्रता-स्थापन एवं बाहर जाना आदि शुभ कार्य करने चाहिये। बायीं नाकसे श्वास चलनेके समय शुभ कार्य करनेपर उन सब कार्योंमें सिद्धि मिलती है। परंतु वायु, अग्नि और आकाश-तत्त्वके उदयके समय उक्त कार्य नहीं करने चाहिये।

दक्षिण नासिकाका श्वासफल

जिस समय पिंगला नाडी अर्थात् दाहिनी नाकसे श्वास चलता हो, उस समय कठिन कर्म करने चाहिये। जैसे—कठिन क्रूर विद्याका अध्ययन और अध्यापन, स्त्रीसंसर्ग, नौकादि आरोहण, तान्त्रिकमतानुसार वीरमन्त्रादिसम्मत उपासना, वैरीको दण्ड, शस्त्राभ्यास, गमन, पशुविक्रय, ईंट, पत्थर, काठ तथा रत्नादिका घिसना और छीलना, संगीत-अभ्यास, यन्त्र-तन्त्र बनाना, किले और पहाड़पर चढ़ना, हाथी-घोड़ा तथा रथ आदिकी सवारी सीखना, व्यायाम, षट्कर्मसाधन, यक्षिणी-बेताल तथा भूतादिसाधन, औषध-सेवन, लिपि-लेखन, दान, क्रय-विक्रय, युद्ध, भोग, राजदर्शन, स्नानाहार आदि।

सुषुम्नाका श्वासफल

दोनों नाकोंसे श्वास चलनेके समय किसी प्रकारका शुभ या अशुभ कार्य नहीं करना चाहिये। उस समय कोई भी काम करनेसे वह निष्फल होगा। उस समय योगाभ्यास और ध्यान-धारणादिके द्वारा केवल भगवान्‌को स्मरण करना उचित है। सुषुम्ना नाडीसे श्वास चलनेके समय किसीको भी शाप या वरप्रदान करनेपर वह सफल होता है।

श्वास-प्रश्वासकी गति जानकर, तत्त्वज्ञानके अनुसार, तिथि-नक्षत्रके अनुसार, ठीक-ठीक नियमपूर्वक सब कर्मोंको करनेपर आशाभङ्गजनित मनस्ताप आदि नहीं भोगना पड़ता।

रोगोत्पत्तिका पूर्ण ज्ञान और उसका प्रतिकार

प्रतिपदा आदि तिथियोंको यदि निश्चित नियमके विरुद्ध श्वास चले तो समझना चाहिये कि निस्संदेह कुछ अमङ्गल होगा। जैसे, शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको सबेरे नींद टूटनेपर सूर्योदयके समय पहले यदि दाहिनी नाकसे श्वास चलना आरम्भ हो तो उस दिनसे पूर्णिमातकके बीच गर्मीके कारण कोई पीड़ा होगी और कृष्णपक्षकी प्रतिपदा तिथिको सूर्योदयके समय पहले बायीं नाकसे श्वास चलना आरम्भ हो तो उस दिनसे अमावास्यातकके अंदर कफ या सर्दीके कारण कोई पीड़ा होगी, इसमें संदेह नहीं।

दो पखवाड़ोंतक इसी प्रकार विपरीत ढंगसे सूर्योदयके समय निःश्वास चलता रहे तो किसी आत्मीय स्वजनको भारी बीमारी होगी अथवा मृत्यु होगी या और किसी प्रकारकी विपत्ति आयेगी। तीन पखवाड़ोंसे ऊपर लगातार गड़बड़ होनेपर निश्चय ही अपनी मृत्यु हो जायगी।

शुक्ल अथवा कृष्णपक्षकी प्रतिपदाके दिन प्रातःकाल यदि इस प्रकार विपरीत ढंगसे निःश्वास चलनेका पता लग जाय तो उस नासिकाको कई दिनोंतक बंद रखनेसे रोग उत्पन्न होनेकी सम्भावना नहीं रहती। उस नासिकाको इस तरह बंद रखना चाहिये, जिसमें उससे निःश्वास न चले। इस प्रकार कुछ दिनोंतक दिन-रात निरन्तर (स्नान और भोजनका समय छोड़कर) नाक बंद रखनेसे उक्त तिथियोंके भीतर बिलकुल ही कोई रोग नहीं होगा।

यदि असावधानीके कारण निःश्वासमें गड़बड़ीसे कोई रोग उत्पन्न हो जाय तो जबतक रोग दूर न हो जाय, तबतक ऐसा करना चाहिये कि जिससे शुक्लपक्षमें दाहिनी और कृष्णपक्षमें बायीं नासिकासे श्वास न चले। ऐसा करनेसे रोग शीघ्र दूर हो जायगा। और यदि कोई भारी रोग होनेकी

सम्भावना होगी तो वह भारी न होकर बहुत सामान्य रूपमें होगा और फिर थोड़े ही दिनोंमें दूर हो जायगा। ऐसा करनेसे न तो रोगजनित कष्ट भोगना पड़ेगा और न चिकित्सकको धन ही देना पड़ेगा।

नासिका बंद करनेका नियम

नाकके छेदमें घुस सके इतनी-सी पुरानी साफ रूई लेकर उसकी गोल पोटली-सी बना ले और उसे साफ बारीक कपड़ेसे लपेटकर सी ले। फिर इस पोटलीको नाकके छिद्रमें घुसाकर छिद्रको इस प्रकार बंद कर दे जिसमें उस नाकसे श्वास-प्रश्वासका कार्य बिलकुल ही न हो। जिन लोगोंको कोई शिरोरोग है अथवा जिनका मस्तक दुर्बल हो, उन्हें रूईसे नाक बंद न कर, सिर्फ साफ पतले कपड़ेकी पोटली बनाकर उसीसे नाक बंद करनी चाहिये।

किसी भी कारणसे हो, जितने क्षण या जितने दिन नासिका बंद रखनेकी आवश्यकता हो उतने क्षण या उतने दिनोंतक अधिक परिश्रमका कार्य, धूमपान, जोरसे चिल्लाना, दौड़ना आदि नहीं करना चाहिये। जब जिस-किसी कारणसे नाक बंद रखनेकी आवश्यकता हो, तभी इन नियमोंका पालन अवश्य करना चाहिये। नयी अथवा बिना साफ की हुई मैली रूई नाकमें कभी नहीं डालनी चाहिये।

निःश्वास बदलनेका तरीका

कार्यभेदसे तथा अन्यान्य अनेक कारणोंसे एक नासिकासे दूसरी नासिकामें वायुकी गति बदलनेकी भी आवश्यकता हुआ करती है। कार्यके अनुकूल नासिकासे श्वास चलना आरम्भ होनेतक, उस कार्यको न करके चुपचाप बैठे रहना किसीके लिये भी सम्भव नहीं। अतएव अपनी इच्छानुसार श्वासकी गति बदलनेकी क्रिया सीख लेना नितान्त आवश्यक है। इसकी क्रिया अत्यन्त सहज है, सामान्य चेष्टासे ही श्वासकी गति बदली जा सकती है

जिस नासिकासे श्वास चलता हो, उसके विपरीत दूसरी नासिकाको अँगूठेसे दबा देना चाहिये और जिससे श्वास चलता हो उसके द्वारा वायु खींचना चाहिये। फिर उसको दबाकर दूसरी नासिकासे वायुको निकालना चाहिये। कुछ देरतक इसी तरह एकसे श्वास लेकर दूसरीसे निकालते रहनेसे अवश्य श्वासकी गति बदल जायगी। जिस नासिकासे श्वास चलता हो उसी करवट सोकर यह क्रिया करनेसे बहुत जल्द श्वासकी गति बदल जाती है और दूसरी नासिकासे श्वास प्रवाहित होने लगता है। इस क्रियाके बिना भी जिस नाकसे श्वास चलता है, केवल उस करवट कुछ समयतक सोये रहनेसे भी श्वासकी गति पलट जाती है।

इस लेखमें जहाँ-जहाँ निःश्वास बदलनेकी बात लिखी जायगी, वहाँ-वहाँ पाठकोंको इसी कौशलसे श्वासकी गति बदलनेकी बात समझनी चाहिये। जो अपनी इच्छानुसार वायुको रोक सकता है और निकाल सकता है वही पवनपर विजय प्राप्त करता है।

बिना औषधके रोगनिवारण

अनियमित क्रियाके कारण जिस तरह मानव-देहमें रोग उत्पन्न होते हैं, उसी तरह औषधके बिना ही भीतरी क्रियाओंके द्वारा नीरोग होनेके उपाय भगवान्‌के बनाये हुए हैं। हमलोग उस भगवत्प्रदत्त सहज कौशलको नहीं जानते, इसी कारण दीर्घकालतक रोगका दुःख भोगते हैं। यहाँ रोगोंके निदानके लिये स्वरशास्त्रोक्त कुछ यौगिक उपायोंका उल्लेख किया गया है। इनके प्रयोगसे विशेष लाभ हो सकता है—

ज्वर—ज्वरका आक्रमण होनेपर अथवा आक्रमणकी आशङ्का होनेपर जिस नासिकासे श्वास चलता हो, उस नासिकाको बंद कर देना चाहिये। जबतक ज्वर न उतरे और शरीर स्वस्थ न हो जाय, तबतक उस नासिकाको बंद ही रखना चाहिये। ऐसा करनेसे दस-पंद्रह दिनोंमें उतरनेवाला ज्वर पाँच ही सात दिनोंमें अवश्य ही उतर जायगा। ज्वरकालमें मन-ही-मन सदा चाँदीके समान श्वेत वर्णका ध्यान करनेसे और भी शीघ्र लाभ होता है।

सिन्दुवारकी जड़ रोगीके हाथमें बाँध देनेसे सब प्रकारके ज्वर निश्चय ही दूर हो जाते हैं।

अँतरिया ज्वर—श्वेत अपराजिता अथवा पलाशके कुछ पत्तोंको हाथसे मलकर, कपड़ेसे लपेटकर एक पोटली बना लेनी चाहिये और जिस दिन ज्वरकी बारी हो उस दिन सबेरेसे ही उसे सूँघते रहना चाहिये। अँतरिया ज्वर बंद हो जायगा।

सिरदर्द—सिरदर्द होनेपर दोनों हाथोंकी केहुनीके ऊपर धोतीके किनारे अथवा रस्सीसे खूब कसकर बाँध देना

चाहिये। इससे पाँच-सात मिनटमें ही सिरदर्द जाता रहेगा। केहुनीपर इतने जोरसे बाँधना चाहिये कि रोगीको हाथमें अत्यन्त दर्द मालूम हो। सिरदर्द अच्छा होते ही बाँहें खोल देनी चाहिये।

एक दूसरे प्रकारका सिरदर्द होता है, जिसे साधारणतः 'अधकपाली' या 'आधासीसी' कहते हैं। कपालके मध्यसे बायीं या दाहिनी ओर आधे कपाल और मस्तकमें अत्यन्त पीड़ा मालूम होती है। प्रायः यह पीड़ा सूर्योदयके समय आरम्भ होती है और दिन चढ़नेके साथ-साथ यह भी बढ़ती जाती है। दोपहरके बाद घटनी शुरू होती है और शामतक प्रायः नहीं ही रहती। इस रोगका आक्रमण होनेपर जिस तरफके कपालमें दर्द हो, ऊपर लिखे-अनुसार उसी तरफकी केहुनीके ऊपर जोरसे रस्सी बाँध देनी चाहिये। थोड़ी ही देरमें दर्द शान्त हो जायगा और रोग जाता रहेगा। दूसरे दिन यदि फिर दर्द शुरू हो और रोज एक ही नासिकासे श्वास चलते समय शुरू होता हो तो सिरदर्द मालूम होते ही उस नाकको बंद कर देना चाहिये और हाथको भी बाँध रखना चाहिये। 'अधकपाली' सिरदर्दमें इस क्रियासे होनेवाले आश्चर्यजनक फलको देखकर आप चकित रह जायँगे।

शिरःपीडा—शिरःपीडाग्रस्त रोगीको प्रातःकाल शय्यासे उठते ही नासापुटसे शीतल जल पीना चाहिये। इससे मस्तिष्क शीतल रहेगा, सिर भारी नहीं होगा और सर्दी नहीं लगेगी। यह क्रिया विशेष कठिन भी नहीं है। एक बरतनमें ठंडा जल भरकर उसमें नाक डुबाकर धीरे-धीरे गलेके भीतर जल खींचना चाहिये। क्रमशः अभ्याससे यह क्रिया सहज हो जायगी। शिरःपीडा होनेपर चिकित्सक रोगीके आरोग्य होनेकी आशा छोड़ देता है, रोगीको भी भीषण कष्ट होता है, परंतु इस उपायसे काम लेनेपर निश्चय ही आशातीत लाभ पहुँचेगा।

उदरामय, अजीर्णादि—भोजन, जलपान आदि जब जो कुछ खाना हो वह दाहिनी नाकसे श्वास चलते समय खाना चाहिये। प्रतिदिन इस नियमसे आहार करनेसे वह बहुत आसानीसे पच जायगा और कभी अजीर्णका रोग नहीं होगा। जो लोग इस रोगसे कष्ट पा रहे हैं, वे भी यदि इस नियमके अनुसार रोज भोजन करें तो खायी हुई चीज पच जायगी और धीरे-धीरे उनका रोग दूर हो जायगा। भोजनके बाद थोड़ी देर बायीं करवट सोना चाहिये। जिन्हें समय न हो उन्हें ऐसा उपाय करना चाहिये कि जिससे भोजनके बाद दस-पंद्रह मिनटतक दाहिनी नाकसे श्वास चले। अर्थात् पूर्वोक्त नियमके अनुसार रूईद्वारा बायीं नाक बंद कर देनी चाहिये। गुरुपाक (भारी) भोजन होनेपर भी इस नियमसे वह शीघ्र पच जाता है।

स्थिरताके साथ बैठकर एकटक नाभिमण्डलमें दृष्टि जमाकर नाभिकन्दका ध्यान करनेसे एक सप्ताहमें उदरामय रोग दूर हो जाता है।

श्वास रोककर नाभिको खींचकर नाभिकी ग्रन्थिको एक सौ बार मेरुदण्डसे मिलानेसे आमादि उदरामयजनित सब तरहकी पीड़ाएँ दूर हो जाती हैं और जठराग्नि तथा पाचनशक्ति बढ़ जाती है।

प्लीहा—रातको बिछौनेपर सोकर और सबेरे शय्या-त्यागके समय हाथ और पैरोंको सिकोड़कर छोड़ देना चाहिये। फिर कभी इस करवट कभी उस करवट टेढ़ा-मेढ़ा शरीर करके सारे शरीरको सिकोड़ना और फैलाना चाहिये। प्रतिदिन चार-पाँच मिनट ऐसा करनेसे प्लीहा-यकृत् (तिल्ली, लीवर) रोग दूर हो जायगा। सर्वदा इसका अभ्यास करनेसे प्लीहा-यकृत् रोगकी पीड़ा कभी नहीं भोगनी पड़ेगी।

दन्तरोग—प्रतिदिन जितनी बार मल-मूत्रका त्याग करे, उतनी बार दाँतोंकी दोनों पंक्तियोंको मिलाकर जरा जोरसे दबाये रखे। जबतक मल या मूत्र निकलता रहे तबतक दाँतोंसे दाँत मिलाकर इस प्रकार दबाये रहना चाहिये। दो-चार दिन ऐसा करनेसे कमजोर दाँतोंकी जड़ मजबूत हो जायगी। सदा इसका अभ्यास करनेसे दन्तमूल दृढ़ हो जाता है और दाँत दीर्घ कालतक काम देते हैं तथा दाँतोंमें किसी प्रकारकी बीमारी होनेका कोई डर नहीं रहता।

स्नायविक वेदना—छाती,पीठ या बगलमें—चाहे जिस स्थानमें स्नायविक वेदना या अन्य किसी प्रकारकी वेदना हो, वेदना मालूम होते ही जिस नासिकासे श्वास चलता हो उसे बंद कर देना चाहिये, दो-चार मिनट बाद अवश्य ही वेदना शान्त हो जायगी।

दमा या श्वासरोग—जब दमेका जोरका दौरा हो तब जिस नासिकासे निःश्वास चलता हो, उसे बंद करके दूसरी

नासिकासे श्वास चला देना चाहिये। दस-पंद्रह मिनटमें दमेका जोर कम हो जायगा। प्रतिदिन इस प्रकार करनेसे महीनेभरमें पीड़ा शान्त हो जायगी। दिनमें जितने ही अधिक समयतक यह क्रिया की जायगी, उतना ही शीघ्र यह रोग दूर होगा। दमाके समान कष्टदायक कोई रोग नहीं, दमाका जोर होनेपर यह क्रिया करनेसे बिना किसी दवाके बीमारी अच्छी हो जाती है।

वात—प्रतिदिन भोजनके बाद कंघीसे सिर वाहना चाहिये। कंघी इस प्रकार चलानी चाहिये जिसमें उसके काँटे सिरको स्पर्श करें। उसके बाद वीरासन लगाकर अर्थात् दोनों पैर पीछेकी ओर मोड़कर उनके ऊपर दबाकर १५ मिनट बैठना चाहिये। प्रतिदिन दोनों समय भोजनके बाद इस प्रकार बैठनेसे कितना भी पुराना वात क्यों न हो निश्चय ही अच्छा हो जायगा। अगर स्वस्थ आदमी इस नियमका पालन करे तो उसके वातरोग होनेकी कोई आशङ्का नहीं रहेगी। कहना न होगा कि रबड़की कंघीका व्यवहार नहीं करना चाहिये।

नेत्ररोग—प्रतिदिन सबेरे बिछौनेसे उठते ही सबसे पहले मुँहमें जितना पानी भरा जा सके, उतना भरकर दूसरे जलसे आँखोंको बीस बार झपटा मारकर धोना चाहिये।

प्रतिदिन दोनों समय भोजनके बाद हाथ-मुँह धोते समय कम-से-कम सात बार आँखोंमें जलका झपटा देना चाहिये।

जितनी बार मुँहमें जल डाले, उतनी बार आँख और मुँहको धोना न भूले।

प्रतिदिन स्नानके वक्त तेल मालिश करते समय सबसे पहले दोनों पैरोंके अँगूठोंके नखोंको तेलसे भर देना चाहिये और फिर तेल लगाना चाहिये।

ये कुछ नियम नेत्रोंके लिये विशेष लाभदायक हैं। इनसे दृष्टिशक्ति सतेज होती है, आँखें स्निग्ध रहती हैं और आँखोंमें कोई बीमारी होनेकी सम्भावना नहीं रहती। नेत्र मनुष्यके परमधन हैं। अतएव प्रतिदिन नियम-पालनमें कभी आलस्य नहीं करना चाहिये। (क्रमशः)

हठयोगके षट्कर्म

(श्रीकमलाप्रसाद सिंह)

इस परिदृश्यमान चराचर विश्वप्रपञ्चका उपादान कारण प्रकृति है। मूल प्रकृति त्रिगुणात्मक होनेसे प्राणिमात्रके शरीर वात, पित्त, कफ—इन त्रिधातुओंके नाना प्रकारके रूपान्तरोंके सम्मिश्रण हैं। अतः अनेक शरीर वातप्रधान, अनेक पित्तप्रधान और अनेक कफप्रधान होते हैं। वातप्रधान शरीरोंमें आहार-विहारके दोषसे तथा देश-कालादि हेतुसे प्रायः वातवृद्धि हो जाती है। पित्तप्रधान शरीरोंमें पित्तविकृति और कफोल्वण-शरीरोंमें प्रायः कफ-प्रकोप हो जाता है। कफ-धातुके विकृत होनेपर दूषित श्लेष्म, आमवृद्धि या मेदका संग्रह हो जाता है। पश्चात् इन मलोंके प्रकुपित होनेसे नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होने लगते हैं। इन व्याधियोंको उत्पन्न न होने देनेके लिये और हो गये तो उन्हें दूर करके पुनः देहको पूर्ववत् स्वस्थ बनानेके लिये जैसे आयुर्वेदके प्राचीन आचार्योंने स्नेहपान, स्वेदन, वमन, विरेचन और वस्ति—ये पञ्चकर्म कहे हैं, वैसे ही हठयोगके प्रवर्तक महर्षियोंने साधकोंके कफप्रधान शरीरकी शुद्धिके लिये षट्कर्म निश्चित किये हैं। ये षट्कर्म सब साधकोंको करने ही चाहिये, ऐसा आग्रह नहीं है।

हठयोगके ग्रन्थोंमें षट्कर्मके कर्तव्याकर्तव्यपर विचार किया गया है। हठयोगके षट्कर्मसे जो लाभ होते हैं वे प्राणायामसे भी प्राप्त होते हैं। अन्तर केवल समयका है। परंतु जिस घरमें गंदगी इतनी फैल गयी हो कि साधारण झाड़ूसे न हटायी जा सके, उसमें कुदाल और टोकरीकी आवश्यकता आ पड़ेगी । इसी प्रकार शरीरके एकत्रित मलको शीघ्र हटानेके लिये षट्कर्मकी आवश्यकता है। इसी कारण—

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट् कर्माणि समाचरेत्।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् जिस पुरुषके मेद और श्लेष्मा अधिक हों वह पुरुष प्राणायामसे पहले इन छः कर्मोंको करे और इनके न होनेसे दोषोंकी समानताके कारण न करे। इतना ही नहीं, योगीन्द्र स्वात्माराम आगे चलकर षट्कर्मोंको 'घटशोधनकारकम्' अर्थात् देहको शुद्ध करनेवाले और 'विचित्रगुणसंधायि' अर्थात् विचित्र गुणोंका संधान करनेवाले भी कहते हैं।

यह बात सत्य है कि षट्कर्मोंके बिना ही पहले योगसाधन किया जाता था। समय और अनुभवने दिखाया कि प्राणायामसे जितने समयमें मल दूर किया जाता था, उससे कम समयमें षट्कर्मोंद्वारा मल दूर किया जा सकता है। इन कर्मोंकी उन्नति होती गयी। और छःसे ये कर्म दस हो गये। पीछे गुरुपरम्परासे प्राप्त गुप्तविद्या लुप्त होने लगी। तब तो ये कर्म पूरे जाँचे हुए षट्कर्मतक ही परिमित रह गये। इन षट्कर्मोंसे लाभ है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। यह बात दूसरी है कि सबकी इधर प्रवृत्ति न हो और सब इन्हें न कर सकते हों।

एक बात और है। वर्तमान समयमें अनेक योगाभ्यासी मूल उद्देश्यको न समझनेके कारण शरीरमें त्रिधातु सम होनेपर भी नित्य षट्कर्म करते रहते हैं और अपने शिष्योंको भी जीवनपर्यन्त नियमित रीतिसे करते रहनेका उपदेश देते हैं। यदि शरीरशुद्धिके लिये अथवा इन क्रियाओंपर अपना अधिकार रखनेके लिये प्रारम्भमें सिखाया जाय तो कोई आपत्ति नहीं। कारण, भविष्यमें कदाचित् देश-कालपरिवर्तन, प्रमाद या आहार-विहारमें भूलसे वातादि धातु विकृत हो जायँ तो शीघ्र क्रियाद्वारा उनका शमन किया जा सकता है। परंतु आवश्यकता न होनेपर भी नित्य करते रहनेसे समयका अपव्यय, शारीरिक निर्बलता और मानसिक प्रगतिमें शिथिलता आ जाती है। चरणदासने इसपर तर्क-वितर्क किये बिना ही अपना अन्तिम निर्णय इस प्रकार दे दिया है—

पहले ये सब साधिये, काया होवे शुद्धि।
रोग न लागे देहको उज्ज्वल होवे बुद्धि॥

षट्कर्मके नाम

'हठयोगप्रदीपिका' ग्रन्थके कर्ता स्वात्माराम योगीने १-धौति, २-वस्ति, ३-नेति, ४-नौलि, ५-कपालभाति और ६-त्राटकको षट्कर्म कहा है। आगे चलकर गजकरणीका भी वर्णन किया है। परंतु 'भक्तिसागर' ग्रन्थके रचयिता चरणदासजीने १-नेति, २-धौति, ३-वस्ति, ४-गजकर्म, ५-न्योली और ६-त्राटकको षट्कर्म कहा है। फिर १-कपालभाति, २-धौंकनी, ३-बाघी और ४-शंखपषाल—इन चार कर्मोंका नाम लेकर उन्हें षट्कर्मोंके अन्तर्गत कर दिया है। दोनोंमें गजकर्म और कपालभातिको षट्कर्मके अंदर रखनेमें अन्तर पड़ता है। चूँकि ये षट्कर्मके शाखामात्र हैं, अतएव इस विभेदका कोई वास्तविक अर्थ नहीं होता।

नियम

षट्कर्म-साधकको हठयोगमें दर्शाये हुए स्थान, भोजन, आचार-विचार आदि नियमोंको मानना परमावश्यक है। यहाँ यही कहा जा सकता है कि स्थान रमणीक और निरापद, भोजन सात्त्विक तथा परिमित होना चाहिये। एकान्तसेवन, कम बोलना, वैराग्य, साहस इत्यादि बातें आचार-विचारसे समझनी चाहिये।

नौलि, नौलिक, नलक्रिया या न्योली

अमन्दावर्त्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् कन्धोंको नवाये हुए अत्यन्त वेगके साथ, जलभ्रमरके समान अपनी तुन्दको दक्षिण-वाम भागोंसे भ्रमानेको सिद्धोंने नौलि-कर्म कहा है।

न्योली पद्मासन सों करे। दोनों पग घुटनोंपर धरे॥
पेट रु पीठ बराबर होय। दहने बायें नलै बिलोय॥
जो गुरु करके ताहि दिखावे। न्योली कर्म सुगम करि पावे॥

(भक्तिसागर)

वास्तवमें दायें-बायें घुमानेका रहस्य किताबोंसे पढ़कर मालूम करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। पद्मासन (सिद्धासन या उत्कटासन) लगाकर, जब शौच-स्नान, प्रातः-सन्ध्या आदिसे निवृत्त हो लिये हों और पेट साफ तथा हलका हो गया हो, तब रेचक कर वायुको बाहर रोक बिना देह हिलाये, केवल मनोबलसे पेटको दायेंसे बायें और बायेंसे दायें चलाना सोचे और तदनुकूल प्रयास करे। इसी प्रकार सायं-प्रातः स्वेद आने पर्यन्त प्रतिदिन अभ्यास करते-करते पेटकी स्थूलता जाती रहती है। तदनन्तर यह सोचना चाहिये कि दोनों कुक्षियाँ दब गयीं और बीचमें दोनों ओरसे दो नल जुटकर मूलाधारसे हृदयतक एक गोलाकार खम्भ खड़ा हो गया। यही खम्भा जब बँध जाय तब नौलि सुगम हो जाती है। मनोबल और प्रयासपूर्वक अभ्यास बढ़ानेसे दायें-बायें घूमने लगती है। इसी चलानेमें छातीके समीप, कण्ठपर और ललाटपर भी नाडियोंका द्वन्द्व मालूम पड़ता है। एक बार

न्योली चल जानेपर चलती रहती है। पहले-पहल चलनेके समय दस्त ढीला होता है। जिसका पेट हलका है तथा जो प्रयासपूर्वक अभ्यास करता है उसको एक महीनेके भीतर ही न्योली सिद्ध हो जायगी।

इस क्रियाका आरम्भ करनेसे पहले पश्चिमतानासन और और मयूरासनका थोड़ा अभ्यास कर लिया हो तो यह क्रिया शीघ्र सिद्ध हो जाती है। जबतक आँत पीठके अवयवोंसे भलीभाँति पृथक् न हो तबतक आँत उठानेकी क्रिया सावधानीके साथ करे, अन्यथा आँतें निर्बल हो जायँगी। किसी-किसी समय आघात पहुँचकर उदर रोग, शोथ, आमवात, कटिवात, गृध्रसी, कुब्जवात, शुक्रदोष या अन्य कोई रोग हो जाता है। अतः इस क्रियाको शान्तिपूर्वक करना चाहिये। अँतड़ीमें शोथ, क्षतादि दोष या पित्तप्रकोपजनित अतिसारप्रवाहिका (पेचिश), संग्रहणी आदि रोगोंमें नौलि-क्रिया हानिकारक है।

मैल पेटमें रहन न पावे। अपान वायु तासों वश आवे॥
तापतिली अरु गोला शूल। रहन न पावैं नेक न मूल॥
और उदरके रोग कहावें। सो भी वे रहने नहिं पावैं॥

(भक्तिसागर)

मन्दाग्निसंदीपनपाचनादि संधापिकानन्दकरी सदैव।
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः॥

(हठयोगप्रदीपिका)

यह नौलि मन्दाग्निका भली प्रकार दीपन और अन्नादिका पाचन और सर्वदा आनन्द करती है तथा समस्त वात आदि दोष और रोगका शोषण करती है। यह नौलि हठयोगकी सारी क्रियाओंमें उत्तम है।

अँतड़ियोंके नौलिके वश होनेसे पाचन और मलका बाहर होना स्वाभाविक है। नौलि करते समय साँसकी क्रिया तो रुक ही जाती है। नौलि कर चुकनेपर कण्ठके समीप एक सुन्दर अकथनीय स्वाद मिलता है। यह हठयोगकी सारी क्रियाओंसे श्रेष्ठ इसलिये है कि नौलि जान जानेपर तीनों बन्ध सुगम हो जाते हैं। अतएव यह प्राणायामकी सीढ़ी है। धौति, वस्तिमें भी नौलिकी आवश्यकता होती है। शंखपषाली क्रियामें भी, जिसमें मुखसे जल ले अँतड़ियोंमें घुमाते हुए पायु-द्वारा ठीक उसी प्रकार निकाल दिया जाता है जैसे शंखमें एक ओरसे जल देनेपर घूमकर जल दूसरी राहसे निकल जाता है, नौलि सहायक है।

वस्तिकर्म

वस्ति मूलाधारके समीप है। रंग लाल है और इसके देवता गणेश हैं। वस्तिको साफ करनेवाले कर्मको 'वस्तिकर्म' कहते हैं। 'योगसार' पुस्तकमें पुराने गुड़ ,त्रिफला और चीतेकी छालके रससे बनी गोली देकर अपानवायुको वश करनेको कहा है। फिर वस्तिकर्मका अभ्यास करना कहा है।

वस्तिकर्म दो प्रकारका है। १-पवनवस्ति, २-जलवस्ति। नौलिकर्मद्वारा अपानवायुको ऊपर खींच पुनः मयूरासनसे त्यागनेको 'वस्तिकर्म' कहते हैं। पवनवस्ति पूरी सध जानेपर जलवस्ति सुगम हो जाती है, क्योंकि जलको खींचनेका कारण पवन ही होता है। जब जलमें डूबे हुए पेटसे न्योली हो जाय तब नौलिसे जल ऊपर खिंच जायगा।

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात् क्षालनं वस्तिकर्म तत्॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् गुदाके मध्यमें छः अंगुल लंबी बाँसकी नलीको रखे जिसका छिद्र कनिष्ठिका अँगुलीके प्रवेश योग्य हो, उसे घी अथवा तेल लगाकर सावधानीके साथ चार अंगुल गुदामें प्रवेश करे और दो अंगुल बाहर रखे। पश्चात् बैठनेपर नाभितक जल आ जाय, इतने जलसे भरे हुए टबमें उत्कटासनसे बैठे अर्थात् दोनों पार्ष्णियों—पैरकी एड़ियोंको मिलाकर खड़ी रखकर उनपर अपने स्फिच (नितम्बों) को रखे और पैरोंके अग्रभागपर बैठे और उक्त आसनसे बैठकर आधाराकुञ्चन करे जिससे बृहद् अन्त्रमें अपने-आप जल चढ़ने लगेगा। बादमें भीतर प्रविष्ट हुए जलको नौलिक्रमसे चलाकर त्याग दे। इस जलके साथ अन्त्रस्थित मल, आँव, कृमि, अन्त्रोत्पन्न सेन्द्रियविष आदि बाहर निकल आते हैं। इस उदरके क्षालन (धोने) को वस्तिकर्म कहते हैं। धौति, वस्ति दोनों कर्म भोजनसे पूर्व ही करने चाहिये और इनके करनेके अनन्तर हलका भोजन शीघ्र कर लेना चाहिये, उसमें विलम्ब नहीं करना चाहिये। वस्तिक्रिया करनेसे जलका कुछ अंश बृहद् अन्त्रमें शेष रह जाता है, वह धीरे-धीरे मूत्रद्वारा बाहर आयेगा। यदि भोजन नहीं किया जायगा तो वह दूषित जल अन्त्रोंसे सम्बद्ध सूक्ष्म नाडियोंद्वारा शोषित होकर रक्तमें मिल

जायगा। कुछ लोग पहले मूलाधारसे प्राणवायुके आकर्षणका अभ्यास करके और जलमें स्थित होकर गुदामें नालप्रवेशके बिना ही वस्तिकर्मका अभ्यास करते हैं। उस प्रकार वस्तिकर्म करनेसे उदरमें प्रविष्ट हुआ सम्पूर्ण जल बाहर नहीं आ सकता और उसके न आनेसे धातुक्षय आदि नाना दोष होते हैं। इससे उस प्रकार वस्तिकर्म नहीं करना चाहिये, अन्यथा '**न्यस्तनालः**' (अपनी गुदामें नाल रखकर) ऐसा पद स्वात्माराम क्यों देते ? यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि छोटे-छोटे जलजन्तुओंका नलद्वारा पेटमें प्रविष्ट हो जानेका भय रहता है। अतएव नलके मुखपर महीन वस्त्र देकर आकुञ्चन करना चाहिये और जलको बाहर निकालनेके लिये खड़ा पश्चिमतान आसन करना चाहिये।

वस्तिकर्ममें मूलाधारके पीड़ित और प्रक्षालित होनेसे लिङ्ग और गुदाके रोगोंका नाश होना स्वाभाविक है।

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः।
वस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयन्ते सकलामयाः॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् वस्तिकर्मके प्रभावसे गुल्म, प्लीहा, उदर (जलोदर) और वात, पित्त, कफ इनके द्वन्द्व वा एकसे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण रोग नष्ट होते हैं।

धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं
दद्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम्।
अशेषदोषोपचयं निहन्या-
दभ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अभ्यास किया हुआ यह वस्तिकर्म साधकके सप्त धातुओं, दस इन्द्रियों और अन्तःकरणको प्रसन्न करता है। मुखपर सात्त्विक कान्ति छा जाती है। जठराग्नि उद्दीप्त होती है। वात, पित्त, कफ आदि दोषोंकी वृद्धि और न्यूनता दोनोंको नष्ट कर साम्यरूप आरोग्यताको प्राप्त करता है। एक बात इस सम्बन्धमें अवश्य ध्यान देनेकी है कि वस्तिक्रिया करनेवालोंको पहले नेति और धौतिक्रिया करनी ही चाहिये, जिसका वर्णन नीचे दिया जाता है। अन्य क्रियाओंके लिये ऐसा नियम नहीं है।

राजयक्ष्मा (क्षय), संग्रहणी, प्रवाहिका, अधोरक्तपित्त, भगंदर, मलाशय और गुदामें शोथ, संततज्वर, आन्त्रसंनिपात, आन्त्रशोथ, आन्त्रव्रण, कफवृद्धिजनित तीक्ष्ण श्वासप्रकोप इत्यादि रोगोंमें वस्तिक्रिया नहीं करनी चाहिये।

यह वस्तिक्रिया भी प्राणायामका अभ्यास चालू होनेके बाद नित्य करनेकी नहीं है। नित्य करनेसे आन्त्रशक्ति परावलम्बिनी और निर्बल हो जायगी, जिससे बिना वस्तिक्रियाके भविष्यमें मलशुद्धि नहीं होगी। जैसे तंबाकू और चायके व्यसनीको तंबाकू और चाय लिये बिना शौच नहीं होता, वैसे ही नित्य वस्तिकर्म अथवा षट्कर्म करनेवालेकी स्वाभाविक आन्तरिक शक्तिके बलसे शरीरशुद्धि नहीं होती।

धौतिकर्म

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम्।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत्॥
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत्।

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् चार अंगुल चौड़े और पंद्रह हाथ लंबे महीन वस्त्रको गरम जलमें भिगोकर थोड़ा निचोड़ ले। फिर गुरूपदिष्ट मार्गसे धीरे-धीरे प्रतिदिन एक-एक हाथ उत्तरोत्तर निगलनेका अभ्यास बढ़ाता जाय। आठ-दस दिनमें पूरी धोती निगलनेका अभ्यास हो सकता है। करीब एक हाथ कपड़ा बाहर रहने दिया जाय। मुखमें जो प्रान्त रहे उसे दाढ़ोंसे भली प्रकार दबा नौलिकर्म करे। फिर धीरे-धीरे वस्त्र निकाले। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि वस्त्र निगलनेके पहले पूरा जल पी लेना चाहिये। इससे कपड़ेके निगलनेमें सुभीता तथा कफ-पित्तका उसमें सटना आसान हो जाता है और कपड़ेको बाहर निकलनेमें भी सहायता मिलती है। धौतिको रोज स्वच्छ रखना चाहिये। अन्यथा धौतिमें लगे हुए दूषित कफरूप विजातीय द्रव्यके परमाणु पुनः दूसरे दिन भीतर जाकर हानि पहुँचायेंगे।

पाश्चात्त्योंने स्टॉमक ट्यूब बनाया है। कोई एक सवा हाथकी रबरकी नली रहती है, जिसका एक मुख खुला रहता है और दूसरे सिरेके कुछ ऊपर हटकर बगलमें एक छेद होता है। जल पीकर खुला सिरा ऊपर रखकर दूसरा सिरा निगला जाता है और जल रबरकी नलिकाद्वारा गिर जाता है।

चाहे किसी प्रकारकी धौति क्यों न हो, उससे कफ, पित्त और रंग-बिरंगे पदार्थ बाहर गिरते हैं। ऊपरकी नाडीमें रहा

हुआ एकाध अन्नका दाना भी गिरता है। दाँत खट्टा-सा हो जाता है। परंतु मन शान्त और प्रसन्न हो जाता है। वसन्त या ग्रीष्मकालमें इसका साधन अच्छा होता है।

घटिका, कण्ठनलिका या श्वासनलिकामें शोथ, शुष्क काश, हिक्का, वमन, आमाशयमें शोथ, ग्रहणी, तीक्ष्ण अतिसार, ऊर्ध्व रक्तपित्त (मुँहसे रक्त गिरना) इत्यादि कोई रोग हो तब धौतिक्रिया लाभदायक नहीं होती।

नेतिकर्म

नेति दो प्रकारकी होती है—जलनेति और सूत्रनेति। पहले जलनेति करनी चाहिये। प्रातःकाल दन्तधावनके पश्चात् जो साँस चलती हो, उसीसे चुल्लूमें जल ले और दूसरी साँस बंदकर जल नाकद्वारा खींचे। जल मुखमें चला जायगा। सिरके पिछले सारे हिस्सेमें, जहाँ मस्तिष्कका स्थान है, उस कर्मके प्रभावसे गुदगुदाहट और सनसनाहट या गिनगिनाहट पैदा होगी। अभ्यास बढ़नेपर आगे ऐसा नहीं होगा। कुछ लोग नासिकाके एक छिद्रसे जल खींचकर दूसरे छिद्रसे निकालनेकी क्रियाको 'जलनेति' कहते हैं। एक समयमें आध सेरसे एक सेरतक जल एक नासापुटसे चढ़ाकर दूसरे नासापुटसे निकाला जा सकता है। एक समय एक तरफसे जल चढ़ाकर दूसरे समय दूसरी तरफसे चढ़ाना चाहिये। जलनेतिसे नेत्रज्योति बलवान् होती है। स्कूल और कॉलेजके विद्यार्थियोंके लिये भी हितकर है। तीक्ष्ण नेत्ररोग, तीक्ष्ण अम्लपित्त और नये ज्वरमें जलनेति नहीं करनी चाहिये। अनेक मनुष्य रोज सुबह नासापुटसे जल पीते हैं। यह क्रिया हितकर नहीं है। कारण, जो दोष नासिकामें संचित होंगे वे आमाशयमें चले जायँगे। अतः उषापान तो मुँहसे ही करना चाहिये। जलनेतिके अनन्तर सूत्र लेना चाहिये। महीन सूतकी दस-पंद्रह तारकी एक हाथ लंबी बिना बटी डोर, जिसका छः-सात इंच लंबा एक प्रान्त बटकर क्रमशः पतला बना दिया गया हो, पिघले हुए मोमसे चिकना बनाकर जलमें भिगो लेना उचित है। फिर इस स्निग्ध भागको भी इस रीतिसे थोड़ा मोड़कर जिस छिद्रसे वायु चलती हो उस छिद्रमें लगाकर और नाकका दूसरा छेद अँगुलीसे बंदकर, खूब जोरसे बारंबार पूरक करनेसे सूतका भाग मुखमें आ जाता है। तब उसे तर्जनी और अङ्गुष्ठसे पकड़कर बाहर निकाल ले। पुनः नेतिको धोकर दूसरे छिद्रमें डालकर मुँहमेंसे निकाल ले। कुछ दिनके अभ्यासके बाद एक हाथसे सूतको मुखसे खींचकर और दूसरेसे नाकवाला प्रान्त पकड़कर धीरे-धीरे चालन करे। इस क्रियाको 'घर्षणनेति' कहते हैं। इस प्रकार नाकके दूसरे रन्ध्रसे भी , जब वायु उस रन्ध्रसे चल रहा हो, अभ्यास करे। इससे भीतर लगा हुआ कफ पृथक् होकर नेतिके साथ बाहर आ जाता है। नाकके एक छिद्रसे दूसरे छिद्रमें भी सूत चलाया जाता है, यद्यपि कुछ लोग इसे दोषयुक्त मानकर इसकी उपेक्षा करते हैं। उसका क्रम यह है कि सूत नाकके एक छिद्रसे पूरकद्वारा जब खींचा जाता है तो रेचक मुखद्वारा न कर दूसरे रन्ध्रद्वारा करना चाहिये। इस प्रकार सूत एक छिद्रसे दूसरे छिद्रमें आ जाता है। इस क्रियाके करनेमें किसी प्रकारका भय नहीं है। सध जानेपर तीसरे दिन करना चाहिये। जलनेति प्रतिदिन कर सकते हैं। नेति डालनेमें किसी-किसीको छींक आने लगती है, इसलिये एक-दो सेकंड श्वासोच्छ्वासकी क्रियाको बंद करके नेति डालनी चाहिये।

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च॥

(हठयोगप्रदीपिका)

'नेति कपालको शुद्ध करती है, दिव्य दृष्टि देती है। स्कन्ध, भुजा और सिरकी संधिके ऊपरके सारे रोगोंको नेति शीघ्र नष्ट करती है।'

त्राटककर्म

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्॥

(हठयोगप्रदीपिका)

'समाहित अर्थात् एकाग्रचित्त हुआ मनुष्य निश्चल दृष्टिसे सूक्ष्म लक्ष्यको अर्थात् लघु पदार्थको तबतक देखे, जबतक अश्रुपात न होवे। इसे मत्स्येन्द्र आदि आचार्योंने 'त्राटककर्म' कहा है।'

त्राटक कर्म टकटकी लागे। पलक-पलक सो मिलै न तागे॥
नैन उघारे ही नित रहै। होय दृष्टि फिर शुकदेव कहै॥
आँख उलटि त्रिपुटीमें आनो। यह भी त्राटक कर्म पिछानो॥
जैसे ध्यान नैनके होई। चरणदास पूरण हो सोई॥

सफेद दिवालपर सरसों-बराबर काला चिह्न दे उसीपर दृष्टि ठहराते-ठहराते चित्त समाहित और दृष्टि शक्तिसम्पन्न हो

जाती है। मैस्मेरिज्ममें जो शक्ति आ जाती है वही शक्ति त्राटकसे भी प्राप्य है।

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम्।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम्।

(हठयोगप्रदीपिका)

'त्राटक नेत्ररोगनाशक है। तन्द्रा-आलस्यादिको भीतर नहीं आने देता। त्राटककर्म संसारमें इस प्रकार गुप्त रखनेयोग्य है जैसे सुवर्णकी पेटी संसारमें गुप्त रखी जाती है।' क्योंकि—

'भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता।'

उपनिषदोंमें त्राटकके आन्तर, बाह्य और मध्य—इस प्रकार तीन भेद किये गये हैं। हठयोगके ग्रन्थोंमें प्रकार-भेद नहीं है।

पाश्चात्योंका अनुकरण करनेवाले कुछ लोग मद्यपान, मांसाहार तथा अम्ल-पदार्थादि अपथ्य-सेवन करते हुए भी 'मैस्मेरिज्म' विद्याकी सिद्धिके लिये त्राटक किया करते हैं। परंतु ऐसे लोगोंका अभ्यास पूर्ण नहीं होता। अनेकोंके नेत्र चले जाते हैं और अनेक पागल हो जाते हैं। जिन्होंने पथ्यका पालन किया है वही सिद्धि प्राप्त कर सके हैं।

यम-नियमपूर्वक आसनोंके अभ्याससे नाडीसमूह मृदु हो जानेपर ही त्राटक करना चाहिये। कठोर नाडियोंको आघात पहुँचते देरी नहीं लगती। त्राटकके जिज्ञासुओंको आसनोंके अभ्यासके परिपाककालमें नेत्रके व्यायामका अभ्यास करना विशेष लाभदायक है। प्रातःकालमें शान्तिपूर्वक दृष्टिको शनैः-शनैः बायें, दायें, नीचेकी ओर, ऊपरकी ओर चलानेकी क्रियाको नेत्रका व्यायाम कहते हैं। इस व्यायामसे नेत्रकी नसें दृढ़ होती हैं। इसके अनन्तर त्राटक करनेसे नेत्रको हानि पहुँचनेकी भीति कम हो जाती है।

त्राटकके अभ्याससे नेत्र और मस्तिष्कमें उष्णता बढ़ जाती है। अतः नित्य जलनेति करनी चाहिये तथा रोज सुबह त्रिफलाके जलसे अथवा गुलाबजलसे नेत्रोंको धोना चाहिये। भोजनमें पित्तवर्धक और मलावरोध (कब्ज) करनेवाले पदार्थोंका सेवन न करे। नेत्रमें आँसू आ जानेके बाद फिर उस दिन दूसरी बार त्राटक न करे। केवल एक ही बार प्रातःकालमें करे। वास्तवमें त्राटकका अनुकूल समय रात्रिके दोसे पाँच बजेतक है। शान्तिके समयमें चित्तकी एकाग्रता बहुत शीघ्र होने लगती है। एकाध वर्षपर्यन्त नियमितरूपसे त्राटक करनेसे साधकके संकल्प सिद्ध होने लगते हैं, दूसरे मनुष्योंके हृदयका भाव मालूम होने लगता है, सुदूर स्थानमें स्थित पदार्थ अथवा घटनाका सम्यक्प्रकारसे बोध हो जाता है।

गजकर्म या गजकरणी

गजकर्म यहि जानिये, पिये पेट भरि नीर।
फेरि युक्तिसों काढ़िये, रोग न होय शरीर॥

हाथी जैसे सूँडसे जल खींच फिर फेंक देता है, वैसे गजकर्ममें किया जाता है। अतः इसका नाम गजकर्म या गजकरणी हुआ। यह कर्म भोजनसे पहले करना चाहिये। विषयुक्त या दूषित भोजन करनेमें आ गया हो तो भोजनके पीछे भी किया जा सकता है। प्रतिदिन दन्तधावनके पश्चात् इच्छाभर जल पीकर अँगुली मुखमें दे उलटी कर दे। क्रमशः बढ़ा हुआ अभ्यास इच्छामात्रसे जल बाहर फेंक देगा। भीतर गये जलको न्योलीकर्मसे भ्रमाकर फेंकना और अच्छा होता है। जब जल स्वच्छ आ जाय तब जानना चाहिये कि अब मैल मुखकी राह नहीं है। पित्तप्रधान पुरुषोंके लिये यह क्रिया हितकर है।

कपालभातिकर्म

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससम्भ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् लोहकारकी भस्त्रा (भाथी) के समान अत्यन्त शीघ्रतासे क्रमशः रेचक-पूरक प्राणायामको शान्तिपूर्वक करना योगशास्त्रमें कफदोषका नाशक कहा गया है तथा यह क्रिया 'कपालभाति' नामसे विख्यात है।

जब सुषुम्नामेंसे अथवा फुफ्फुसमेंसे श्वासनलिकाद्वारा कफ बार-बार ऊपर आता हो अथवा प्रतिश्याय (जुकाम) हो गया हो तब सूत्रनेति और धौतिक्रियासे इच्छित शोधन नहीं होता। ऐसे समयपर यह कपालभाति लाभदायक है। इस क्रियासे फुफ्फुस और समस्त कफवहा नाडियोंमें इकट्ठा हुआ कफ कुछ जल जाता है और कुछ प्रस्वेदद्वारा बाहर निकल जाता है, जिससे फुफ्फुस-कोशोंकी शुद्धि होकर फुफ्फुस बलवान् होते हैं। साथ-साथ सुषुम्ना, मस्तिष्क और आमाशयकी शुद्धि होकर

पाचनशक्ति प्रदीप्त होती है। परंतु उरःक्षत, हृदयकी निर्बलता, वमनरोग, हुलास (उबाक), हिक्का, स्वरभङ्ग, मनकी भ्रमित अवस्था, तीक्ष्ण ज्वर, निद्रानाश, ऊर्ध्वरक्तपित्त, अम्लपित्त इत्यादि दोषोंके समय, यात्रामें और वर्षा हो रही हो, ऐसे समयपर इस क्रियाको न करे।

अजीर्ण, धूपमें भ्रमणसे पित्तवृद्धि, पित्तप्रकोपजन्य रोग, जीर्ण कफ-व्याधि, कृमि, रक्तविकार, आमवात, विषविकार और त्वचारोगादि व्याधियोंको दूर करनेके लिये यह क्रिया गुणकारी है। शरद् ऋतुमें स्वाभाविक पित्तवृद्धि होती रहती है। ऐसे समयपर आवश्यकतानुसार यह क्रिया की जा सकती है।

कर्मयोग

(कविसम्राट् पं० श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध')

(१)

नयन मनुजके सदा सफलता-मुख अवलोकें।
दोनों कर बन परम कान्त सुरतरु-फल लोकें॥
उसको बहती मिले मरु-अवनिमें रसधारा।
वह पाता ही रहे अमर पुरका सुख सारा॥
कैसे? किस साधनके किये? तो उत्तर होगा यही।
सब दिनों कर्मरत जो रहा सिद्धि पा सका है वही॥

(२)

उषा-रागको लसित कर्म-अनुराग बनाता।
कर्म-सूत्रमें बँधा दिवाकर है दिखलाता॥
रजनी-रंजन कर्म-कान्त बन है छवि पाता।
अवनीतलपर सरस सुधा-रस है बरसाता॥
है करती रहती विश्वको विदित कर्मकी माधुरी।
हो तारकावलीसे कलित प्रतिदिन रजनी सुन्दरी॥

(३)

परम पविहृदय मेरु प्रवाहित निर्झर द्वारा।
प्रस्तर-संकुल अवनि-मध्यगत सरिता-धारा॥
फलसे बिलसे बिटप रंग लातीं लतिकाएँ।
सौरभ भरे प्रसून विकच बनतीं कलिकाएँ॥
देती हैं भवको कर्मकी अनुपमताकी सूचना।
है कर्म परम पावन सरस सुन्दर भावोंसे सना॥

(४)

कैसे मिलते रत्न उदधि-मंथन क्यों होता।
कैसे कार्य-कलाप बीज फल-कृतिके बोता॥
कैसे जड़ता मध्य जीवनीधारा बहती।
कैसे बांछित-सिद्धि साधना-करमें रहती।
कैसे हो वारिद-वृन्द वर वारि बरस पाते कहीं।
जो कर्म न होता तो रसा सरसा हो पाती नहीं॥

(५)

गृहका त्याग न त्याग कर्मका है कहलाता।
बुरे भावका त्याग त्याग है माना जाता॥
किसी कालमें कर्मत्याग तब होगा कैसे।
बने रहेंगे जब दृगादि जैसे के तैसे॥
तबतक थीं बातें त्यागकी जबतक मल धोती नहीं।
भव-कर्मरता सब इन्द्रियाँ कर्मरहित होती नहीं॥

(६)

कर्महीनता मरण कर्म-कौशल है जीवन।
सौरभरहित सुमन समान है कर्महीन जन॥
तिमिर-भरित अपुनीत इन्द्रियोंका वर रवि है।
कर्म परम पाषाणभूत मानसका पवि है॥
है कर्म-त्यागकी रगोंमें परिपूरित निर्जीवता।
है कर्मयोगके सूत्रमें बँधी समस्त सजीवता॥

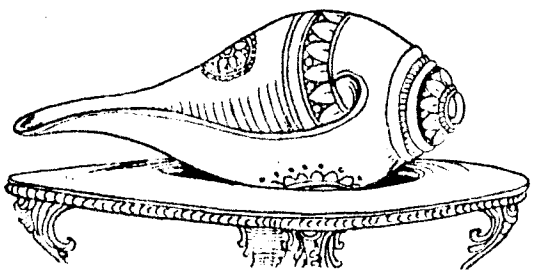

योगाचार्य और उनकी योगचर्या

योगमूर्ति योगीश्वर भगवान् शिव

प्राचीन कालसे ही योगियोंकी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ चलती आ रही हैं। जैसे मार्कण्डेययोग, पातञ्जलयोग, नाथयोग (हठयोग), मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग आदि। योगवासिष्ठ-जैसे प्राचीन योगवेदान्तके ग्रन्थमें भी हठयोग, लययोग, राजयोग आदिका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें अधिकांश योग-परम्पराएँ भगवान् शङ्करसे ही प्रारम्भ हुई हैं। गुरु गोरखनाथजीके सम्प्रदायके सिद्ध महात्मा अपने आद्याचार्यके रूपमें भगवान् शङ्करको ही आदिनाथके रूपमें प्रतिष्ठित कर उनकी आराधना करते हैं। भगवान् शङ्करके ध्यान-स्वरूपोंमें भी प्रायः उन्हें सर्वत्र योगमुद्रा, ज्ञानमुद्रा और पद्मासन आदिसे युक्त बतलाया गया है। वे प्रायः योग-समाधि एवं तपश्चर्यामें ही स्थित रहते हैं। श्रीमद्भागवतके चतुर्थ स्कन्धमें कहा गया है कि जब ब्रह्मादि देवगण भगवान् शङ्करके दर्शनोंके लिये उनके नित्यनिवास कैलास पर्वतपर स्थित वटवृक्षके नीचे, जिसे स्वयं महायोगमय और समस्त सिद्ध मुमुक्षुजनोंका आश्रयभूत निवास-स्थान कहा है, पहुँचे तो वहाँ उन सभीने उन्हें विचित्र योगमुद्रामें देखा, जिसका श्रीमद्भागवतकारने इस प्रकार वर्णन किया है—

कृत्वोरौ दक्षिणे सव्यं पादपद्मं च जानुनि।
बाहुं प्रकोष्ठेऽक्षमालामासीनं तर्कमुद्रया॥
तं ब्रह्मनिर्वाणसमाधिमाश्रितं
व्युपाश्रितं गिरिशं योगकक्षाम्।
सलोकपाला मुनयो मनूना-
माद्यं मनुं प्राञ्जलयः प्रणेमुः॥

(श्रीमद्भा० ४। ६। ३८-३९)

भगवान् शङ्कर अपना बायाँ चरण दायीं जाँघपर रखे थे। वे बायाँ हाथ बायें घुटनेपर रखे, कलाईमें रुद्राक्षकी माला डाले तर्कमुद्रासे विराजमान थे। वे योगपट्ट (काठकी बनी हुई टेकनी) का सहारा लिये एकाग्र-चित्तसे ब्रह्मानन्दका अनुभव कर रहे थे। लोकपालोंके सहित समस्त मुनियोंने मननशीलोंमें सर्वश्रेष्ठ भगवान् शङ्करको हाथ जोड़कर प्रणाम किया।

प्रायः इतिहास-पुराणोंमें सर्वाधिक योगसाधना और दीर्घकालीन समाधिके लिये भगवान् शङ्कर ही सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं, यह बात शिवपुराण, लिङ्गपुराणादिमें बार-बार कही गयी है। उन्हींके आधारपर गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने भगवान् शङ्करके स्व-स्वरूपमें स्थित होकर दीर्घकालतक समाधिमें स्थित होनेकी कई बार चर्चा की है। वे कहते हैं कि भगवान् शङ्करने अपने सहज-स्वरूपका स्मरण किया और उनकी तत्काल निर्विकल्प-समाधि अनन्तकालके लिये लग गयी—

संकर सहज सरूपु सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥

इसी प्रकार एक दूसरी जगह वे लिखते हैं कि भगवान् शङ्करको समाधि लगाये हुए पूरे दिव्य ८७ हजार वर्ष व्यतीत हो गये, तब उन्होंने अपनी सहज समाधिका परित्याग किया—

बीतें संबत सहस सतासी। तजी समाधि संभु अबिनासी॥

इस प्रकारकी अवस्था प्रायः अन्य देवता या सिद्ध मुनियोंकी कम ही देखी जाती है, पर भगवान् शङ्करकी यह सहजावस्था है।

भगवान् शङ्करके आगमों तथा पुराणोंमें अनेक शतनाम तथा सहस्रनाम भी प्राप्त होते हैं, जिनमें उनके प्रायः अधिकांश नाम योगसे ही सम्बद्ध हैं। यथा—सर्वयोगी, योगाध्यक्ष, सिद्धयोगी, सिद्धसाधक, मोक्षद्वार आदि। (महाभा०, अनु०, अ० १७का शिवसहस्रनाम)।

शास्त्रोंमें योगका परम फल ज्ञान बतलाया गया है और योग तथा ज्ञानको भी साक्षात् भगवान्‌का स्वरूप बतलाया गया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(श्रीमद्भा० १। २। ११)

'तत्त्ववेत्तालोग ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित अखण्ड अद्वितीय सच्चिदानन्दस्वरूप ज्ञानको ही तत्त्व कहते हैं। उसीको कोई ब्रह्म, कोई परमात्मा और कोई भगवान्‌के नामसे पुकारते हैं।'

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी स्पष्ट-रूपसे कहा गया है कि विशुद्ध ज्ञानके सदृश अन्य कोई भी कल्याणकारी पवित्र पदार्थ नहीं है और योगसिद्ध योगी इसे यथासमय अवश्य प्राप्त कर लेता है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(४।३८)

ज्ञानरूपी नौकाके सहारे संसारका सर्वाधिक पापी प्राणी भी पाप-तापसे मुक्त होकर परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार भगवान् शङ्कर विशुद्ध विज्ञानमय कैवल्य-स्वरूप और सभी विद्या एवं विज्ञानोंके मूल प्रवर्तक तथा परमकारण कहे गये हैं, अतः तीनों लोकोंमें वे परम गुरु भी हैं—

'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।'

'तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना॥'

इसीलिये आचार्य सायणने अपने सभी वेदोंके भाष्यमें एक ही श्लोकसे त्रिभुवनगुरु भगवान् शङ्करकी वन्दना की है और कहा है कि वेद जिनके निःश्वासभूत हैं और जो वेदोंके अनुसार ही नाम-रूप जगत्‌का विस्तार करते हैं तथा समस्त विद्याओंके मूलस्रोत विज्ञानमय हैं, उन भगवान् शङ्करकी मैं वन्दना करता हूँ—

यस्य निःश्वसितं वेदा···· विद्यातीर्थं महेश्वरम्।

इस प्रकार भगवान् शिव, भगवान् विष्णु,विशुद्ध विज्ञान और अखण्ड पूर्ण महायोग—ये सब एक ही आनन्दमय तत्त्वके भिन्न-भिन्न नाम-रूप हैं और साधनोंके द्वारा इनकी प्राप्तिमें परमतत्त्व, पराशान्ति, समाधिसिद्धि और कृतकृत्यता हो जाती है। अतः किसी भी प्रकार इनका समाश्रयण, ध्यान, प्रणिधान, निदिध्यासन आदि अवश्य करते रहना चाहिये।

महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण नारायणके षोडशकलायुक्त साक्षात् पूर्णावतार कहे गये हैं और उनके द्वारा महाभारत-युद्धके समय उपदिष्ट श्रीमद्भगवद्गीता शास्त्र सर्वोत्तम योगशास्त्र है। इसके अठारह अध्यायोंमें सांख्ययोग, कर्मयोग, ज्ञानकर्म-संन्यासयोग, कर्मसंन्यासयोग, आत्मसंयमयोग, ज्ञानविज्ञानयोग, अक्षरब्रह्मयोग, राजविद्याराजगुह्ययोग, विभूतियोग, विश्वरूपदर्शनयोग, भक्तियोग, क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विभागयोग, गुणत्रयविभागयोग, पुरुषोत्तमयोग तथा मोक्षसंन्यासयोग आदिके नामसे प्रायः सभी योगोंका कथन किया गया है और बीच-बीचमें ध्यानयोग, ज्ञानयोग, बुद्धियोग, ब्रह्मयोग आदि और भी अनेक योगोंकी चर्चा हुई है। वैसे भगवान् श्रीकृष्ण योगमायाका आश्रय लेकर सदा ही अचिन्त्य, अलौकिक और दिव्य लीलाएँ सम्पादित करते रहते हैं। भागवत आदिके अनुसार देवकीके गर्भसे प्रकट होनेके समय वे चतुर्भुज विष्णुरूपमें अवतीर्ण हुए और देवकी-वसुदेवकी प्रार्थनापर पुनः बालक-रूपमें परिणत हुए और नन्दके घर पहुँचानेकी बात भी उनसे कही। बादमें माता यशोदाको पुनः विश्वरूप दिखाया और अपने मुखमें ही सम्पूर्ण नक्षत्र-मण्डल, चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डलसहित समस्त विश्वको दिखाया। इसी प्रकार वत्सापहरणके समय ब्रह्माजीको, यमुनामें स्नान करते हुए अक्रूरजीको, युद्धक्षेत्रमें अर्जुनको तथा उससे पूर्व कौरवोंकी सभामें दुर्योधनादिको भी अपना विश्वरूप दिखलाया। रासलीलामें वे गोपियोंकी संख्याके अनुसार ही उतनी संख्यामें परिणत हो गये थे, साथ ही सोलह हजार रानियोंके घरमें भी उतने ही रूप धारणकर विराजित होते थे। यह सब उनकी दिव्य योग-शक्तिका ही प्रभाव था। इस बातको उन्होंने गीतामें स्वयं अपने मुखसे कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

श्रीमद्भागवतमें रास आदि प्रकरणोंमें बार-बार स्पष्टरूपसे कहा गया है कि उन्होंने योगमायाका आश्रय लेकर रास करनेका विचार किया—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(१०।२९।१)

—और दुर्गासप्तशतीमें भी योगमायाको भगवान्‌की योग-शक्ति और महामाया कहा गया है, जो तीनों लोकोंको उत्पन्न कर धारण किये रहती हैं और समस्त प्राणियोंको मोहमें भी डाले रहती हैं—**'महामाया हरेश्चैषा तया सम्मोह्यते जगत्।'**

योगेश्वर कृपालु भगवान् श्रीकृष्णका आविर्भाव लोककल्याणके लिये ही हुआ था और उनके द्वारा कथित गीताशास्त्र जो उनका ही दूसरा स्वरूप है और उनकी भास्वती भगवतीकी अनुकम्पासे प्रसूत सर्वाधिक चमत्कृत वस्तु है, वह समस्त अज्ञान एवं मोहपटलको ध्वस्त कर प्रतिपद अब भी उनका प्रत्यक्ष रूपसे दर्शन करानेमें सक्षम है। आवश्यकता है केवल अत्यन्त मनोयोगसे तल्लीन होकर उसके भावोंको हृदयङ्गम करनेकी। उनके केवल एक वचनको देखा जाय, जिसमें योगके सर्वाधिक गुह्यतम रहस्यको प्रकट करते हुए एक ही वाक्यमें उनके द्वारा कहा गया है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

(गीता २। ६९)

भाव यह है कि सामान्य जन जिस संसाररूपी दिनमें जागते हैं, उसे योगी रात समझकर, वहाँ केवल एकमात्र भगवान्‌को ही देखता है, संसारके किसी अन्य रूपको वह कभी नहीं देखता। उसके लिये भूत-भविष्य-वर्तमान, सत्ययुग, त्रेता, द्वापर आदि सदा ही केवल एक भगवान्‌के रूपमें ही रहता है और रहेगा। दूसरी ओर घोर संसारी प्राणियों, भौतिकवादियों, अज्ञानी जनोंके लिये जो परमात्मा किसी प्रकार अनुभूत, दृष्ट और ज्ञात नहीं होता, रात्रिके समान दुर्ज्ञेय लगता है, उसी परमात्माको अहर्निश देखता हुआ और परमानन्दको अनुभूत करता हुआ योगी सदा जाग्रत् और चैतन्य रहता है। अर्थात् योगीके लिये भगवान् तो नित्य दृष्टिगोचर हैं और संसार कभी नहीं। यही योगीकी स्थिति है। इस प्रकार योगात्मा भगवान् श्रीकृष्ण योग एवं योगीके सार-तत्त्वको इसी रूपमें प्रायः सर्वत्र बतलाते हुए अपनेको साधकके द्वारा तत्काल प्राप्त होनेका मार्ग निर्दिष्ट करते हैं, अतः वे योग-साधकोंसे कभी तिरोहित नहीं होते।

प्रायः गीताके ही भावोंको उन्होंने कुछ सरल और मधुरतम शब्दोंमें अपने भक्त उद्धवको भागवतके एकादश स्कन्धमें उपदिष्ट किया, जो भागवत ग्रन्थका सर्वोत्तम उत्कृष्ट अङ्ग है और गीताके अर्थोंसे ही अनुस्यूत है। इसी प्रकार महाभारतका अनुगीतापर्व भी पुनः अर्जुनको गीताका स्मरण दिलानेके लिये ही उपदिष्ट है।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके अमृतमय वचनों, अनेकों महत्त्वपूर्ण प्रसङ्गोंको जिनमें योगका ही मुख्यरूपसे उपदेश हुआ है, योगामृत-सार भी कहा जा सकता है। भगवान् व्यासदेवने हरिवंशसहित महाभारत और अष्टादश पुराणोंकी मुख्यरूपसे भगवान् श्रीकृष्णके चरित्र एवं उनकी योगचर्या तथा योगोपदेशके वचनोंके संग्रहकी दृष्टिसे रचना की थी।

इस प्रकार अपनी प्राप्तिके साधनभूत योगसारसर्वस्वको सर्वसामान्यको सुलभ करानेवाले योगमूर्ति पूर्णतम पुरुषोत्तमके पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्णको समस्त भावोंसे तीव्र संवेगके द्वारा, योगसाधनाद्वारा प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये और अपने जीवनको सफल बनाना चाहिये।

योगके आदिप्रवर्तक भगवान् हिरण्यगर्भ

पातञ्जलयोगदर्शनकी व्याख्याओंकी प्रस्तावनामें प्रायः सभी आचार्योंने एक स्वरसे कहा है कि योगमार्गके आदिप्रवर्तक एवं मूल योगसंहिताके आदि प्रवक्ता भगवान् हिरण्यगर्भ ही हैं और कोई दूसरा नहीं। महाभारत तथा याज्ञवल्क्यस्मृतिमें कुछ वचन इस प्रकार मिलते हैं—

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।

अर्थात् 'हिरण्यगर्भ ही योगके वक्ता हैं, इनसे पुरातन और कोई वक्ता नहीं है।'

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एष च्छन्दसि स्तुतः।
योगैः सम्पूज्यते नित्यं स च लोके विभुः स्मृतः॥

(महाभा०, शान्ति० ३४२। ९६)

'यह द्युतिमान् हिरण्यगर्भ वही है, जिनकी वेदमें स्तुति की गयी है। इनकी योगी लोग नित्य पूजा करते हैं और संसारमें इन्हें विभु कहा गया है।' इसी प्रकार—

हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः।
महानिति च योगेषु विरञ्चिरिति चाप्यजः॥

'इन हिरण्यगर्भ भगवान्‌को (समष्टि) बुद्धि कहते हैं, इन्हींको योगी लोग महान् तथा विरञ्चि और अज भी कहते हैं।' श्रीमद्भागवत (५।१९।१३) में कहा गया है—

इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं
हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत्।

'हे योगेश्वर! यह योगकौशल वही है, जिसे भगवान् हिरण्यगर्भने कहा था।'

उपर्युक्त सभी वचनोंका तात्पर्य यही है कि वेदोंमें जिनकी स्तुति की गयी है, जो योगिजनोंसे पूजित हैं, वेदोंमें जो विभु, विरञ्चि, अज, चतुर्मुख तथा जगदन्तरात्मा आदि शब्दवाच्य हैं, उन्हींसे सर्वप्रथम योगविद्या या पराविद्याका प्रादुर्भाव हुआ, अतः निर्विवाद-रूपसे भगवान् हिरण्यगर्भ ही योगके परम आचार्य हैं। सभी ऋषि, महर्षि, राजर्षि, देवता, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर एवं योगी महात्माजनोंने उनकी ही उपासना की है और उन्हींकी बातोंको अपने शास्त्रोंमें न्यूनाधिक रूपसे विस्तारित किया है; वैसे योगके आचार्योंमें कपिल, पञ्चशिख, वोढु, आसुरि, सनत्कुमार तथा सनत्सुजात आदि सिद्धविद्याधीश योगीश्वर भी हैं, तथापि ये भगवान् हिरण्यगर्भ कौन हैं? यह एक विचारणीय विषय है। इसका मूल कारण है 'हिरण्यगर्भ' शब्दके विभिन्न अर्थ और फिर कहीं इनके चरित्रका स्पष्ट उल्लेख न मिलना।

'हिरण्यगर्भ' शब्द प्रायः प्रजापति ब्रह्माजीके लिये और कई स्थानोंपर भगवान् विष्णु तथा सूर्यके लिये भी प्रयुक्त हुआ है। जहाँ हिरण्यगर्भ शब्दका ब्रह्मापरक अर्थ है, वहाँ मनुस्मृति आदिके **'तदण्डमभवद्धैमम्'**—इस वचनके अनुसार जलके सुवर्णवर्णके अण्डाकार-रूपमें विवर्तित होने और पुनः उसके दो खण्डों—द्यावा-पृथ्वीरूपमें विभक्त होने तथा उसके मध्यभागसे प्रजापति ब्रह्माके प्रसूत होनेके कारण उसकी सार्थकता होती है, किंतु मूल वैदिक संहिताओं तथा पुराणों आदिमें उस अण्डेके मूल कारण और नाभिपद्मसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्माजीके भी उद्भवकर्ता भगवान् विष्णुको हिरण्यगर्भ कहा गया है।

परम्परासे अनुसंधान करनेपर योगका मूल सम्बन्ध, विश्वके आदिप्रवर्तक परमात्मा भगवान् नारायणसे ही स्पष्ट-रूपसे दीखता है। इसलिये विष्णुसहस्रनाममें **'हिरण्यगर्भो भूगर्भो०'** के साथ-साथ **'योगो योगविदां नेता प्रधानपुरुषेश्वरः'** कहकर भगवान् विष्णुको ही उस जलरूप हिरण्यमय अण्डेके मूल होनेसे तथा साक्षात् योगमूर्ति होनेके कारण भी उन्हें ही योगरूप और हिरण्यगर्भ कहा गया है। अन्य सभी शास्त्रोंमें भी उन्हें ही योगिजनोंके द्वारा ध्येय, योगियोंके आदिगुरु, विशुद्ध योगात्मस्वरूप, योगमायाके स्वामी और योगनिद्राके आश्रयभूत भी कहा गया है—

'ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो०'
'योगिभिर्ध्यानगम्यम्'
'महामाया हरेश्चैषा तया सम्मोह्यते जगत्।'
'योगनिद्रां यदा विष्णुर्जगत्येकार्णवीकृते॥

प्रायः सभी शास्त्रोंमें एकमात्र नारायणको मूल योगाचार्य, समस्त योगियोंके गुरु, गुरुओंके गुरु और योगमार्गके द्वारा एकमात्र प्राप्यतत्त्व बतलाया गया है। योगके द्वारा समस्त कर्मबीजोंको नष्टकर और हृदयकी समस्त वृत्तियोंको योग-भावनासे योगाकार बनाकर योगीलोग एकमात्र उन्हींको देखते हैं और वे ही समस्त योगोंके द्वारा अधिगम्य भी कहे गये हैं। श्रीमद्भागवतमें गजेन्द्र-स्तुतिमें कहा गया है—

तमक्षरं ब्रह्म परं परेश-
मव्यक्तमाध्यात्मिकयोगगम्यम्।
अतीन्द्रियं सूक्ष्ममिवातिदूर-
मनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे॥

(८।३।२१)

'जो अविनाशी, सर्वशक्तिमान्, अव्यक्त, इन्द्रियातीत और अत्यन्त सूक्ष्म हैं, जो अत्यन्त निकट रहनेपर भी बहुत दूर जान पड़ते हैं, जो आध्यात्मिक योग अर्थात् ज्ञानयोग या भक्तियोगके द्वारा प्राप्त होते हैं—उन्हीं आदिपुरुष, अनन्त एवं परिपूर्ण परब्रह्म परमात्माकी मैं स्तुति करता हूँ।'

पुनः आगे कहा गया है—

योगरन्धितकर्माणो हृदि योगविभाविते।
योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोऽस्म्यहम्॥

(८।३।२७)

'योगीलोग योगके द्वारा कर्म, कर्म-वासना और कर्म-फलको भस्म करके अपने योगशुद्ध हृदयमें जिन योगेश्वर भगवान्‌का साक्षात्कार करते हैं—उन प्रभुको मैं नमस्कार

करता हूँ।'

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी उसके वक्ता साक्षात् नारायण भगवान् श्रीकृष्णने भी अपनेको ही योगमार्गका आदिप्रवर्तक बतलाया है। वहाँ चतुर्थ अध्यायके प्रथमसे लेकर छठे श्लोकतक इस रहस्यको स्पष्टरूपसे व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा है कि सर्वप्रथम इस मुख्य योगमार्गको मैंने ही भगवान् सूर्यदेवको बतलाया था और फिर उन्होंने अपने पुत्र वैवस्वत मनुको तथा फिर उन्होंने अपने पुत्र इक्ष्वाकुको बतलाया—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

इस प्रकार यह परम्परासे सूर्यवंशी आदि सभी राजर्षियोंको क्रमशः प्राप्त होता रहा। गीताकी 'गूढार्थदीपिका' नाम्नी टीकामें श्रीस्वामी मधुसूदन सरस्वतीजीने यह स्पष्ट किया है कि यहाँ वैवस्वत मनुका उल्लेख केवल संकेतात्मक है। यह बात नहीं है कि स्वायम्भुव मनुसे लेकर रैवत मन्वन्तरतकके राजर्षियों और योगियोंको यह योग ज्ञात नहीं हो सका, अपितु भगवान् नारायण—हिरण्यगर्भके द्वारा ब्रह्मा आदिकी परम्परासे स्वायम्भुवादि मनु आदि तक रही और फिर यह योग-परम्परा आगे भी प्राप्त होती चली गयी। वैवस्वतमनुका निर्देश केवल इस बातको द्योतित करनेके लिये कहा गया है कि इस योगविद्याकी परम्पराका उपदेश प्रत्येक मन्वन्तरके आदिमें साक्षात् नारायण भगवान् हिरण्यगर्भके द्वारा प्रजापतियों और मनुओंकी वंशपरम्परामें बहुत दूरतक चलता आता है और भगवान् नारायण ही इसके आदि उपदेष्टा होते हैं। साथ ही अन्य विशिष्ट योगिजन भी उन्हींकी कृपासे 'योगैकगम्य' उन्हें प्राप्त करते हैं। यदि कालके व्यवधानसे वह परम्परा उच्छिन्न होने लगती है और सामान्य जनता यहाँतक कि देवादि भी संकटमें पड़ जाते हैं तो पुनः वे ही कृपाकर किसी उपासकके द्वारा उस परम्पराको पुनर्जीवित करा देते हैं, जैसे उन्होंने द्वापरमें अपने प्रिय भक्त एवं योगी अर्जुनको पुनः उज्जीवित कराया था—

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

(गीता ४। ३)

वे बार-बार समझाते हुए अर्जुनको योगी बननेके लिये प्रेरित करते हैं— '**तस्माद्योगी भवार्जुन।**'

इस प्रकार सभी शास्त्रोंके अनुसार साक्षात् भगवान् नारायण समस्त योगमार्गोंके आदिप्रवर्तकके रूपमें सिद्ध होते हैं, क्योंकि ब्रह्माजीके भी हृदयमें प्रेरणाकर उनके मुखोंसे वेदादि सभी शास्त्रोंके उच्चारण एवं ज्ञान करानेवाले भी वे ही कहे गये हैं—

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यतः
स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम्॥

(श्रीमद्भा० २। ४। २२)

'जिन्होंने सृष्टिके समय ब्रह्माके हृदयमें पूर्वकल्पकी स्मृति जागरित करनेके लिये ज्ञानकी अधिष्ठात्री देवीको प्रेरित किया और वे अपने अङ्गोंके सहित वेदके रूपमें उनके मुखसे प्रकट हुईं, वे ज्ञानके मूलकारण भगवान् मुझपर कृपा करें, मेरे हृदयमें प्रकट हों।'

सभी योगशास्त्रियोंका भी प्रायः उपर्युक्त ही आशय है और वे 'हिरण्यगर्भ' शब्दसे उन्हीं परमात्माको व्यक्त करना चाहते हैं और योगशास्त्रका सार-सर्वस्व-तत्त्व प्रणव भी उन्हींका वाचक है। महर्षि पतञ्जलि महाराजने भी योगसूत्रमें कहा है—'**तस्य वाचकः प्रणवः।**' समस्त योग आदि साधनोंके द्वारा प्राप्य भी वे ही हैं और उन्हींकी प्राप्तिमें सभी प्राप्य तत्त्वोंकी प्राप्ति और परम नैष्ठिकी शान्तिकी भी प्राप्ति हो जाती है। वे अहैतुकी कृपाके कारण भक्तों और साधकोंके कल्याणके लिये अनेक अवतारोंको भी धारण करते हैं और योग-साधनके द्वारा अपने स्वरूपको प्राप्त कराकर विश्वका परम उपकार करते हैं। यहाँतक कि उनके चरित्रों और नामोंका श्रद्धापूर्वक गान करके भी साधक योगमार्गको प्राप्तकर उनके चरणोंतक पहुँच जाते हैं और कृतकृत्य हो जाते हैं।

मन, वाणी और कर्मसे प्राणिमात्रके साथ अद्रोह, सबपर कृपा और दान, यही साधु पुरुषोंका सनातन धर्म है।—महाभारत

सनकादि योगीश्वर

सृष्टिके प्रारम्भमें लोकपितामह ब्रह्माजीने विविध लोकोंको रचनेकी इच्छासे तपस्या की। स्रष्टाके उस अखण्ड तपसे प्रसन्न होकर विश्वाधार परम प्रभु नारायणने तप अर्थवाले 'सन' नामसे युक्त होकर ब्रह्माजीके मानस-पुत्रके रूपमें—सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चार निवृत्ति-परायण ऊर्ध्वरेता मुनियोंके रूपमें अवतार ग्रहण किया। ये प्राकट्यकालसे ही योगमार्गपरायण, ब्रह्मज्ञानी, नित्यसिद्ध, विरक्त और साक्षात् पूर्णतम परमात्माके अवतार हैं। ये चारों प्रायः एक ही साथ रहते हैं तथा एक ही साथ **'हरिः शरणम्'** का हरिनामकीर्तन करते हुए, लोककल्याण करते हुए सर्वत्र विचरण करते रहते हैं। इनकी अवस्था सदा पाँच वर्षकी ही रहती है। काम-रागादिसे सदा दूर रहनेके लिये इन्होंने योगमय शिशुका शरीर धारण कर रखा है और ये सदा योग एवं ब्रह्मज्ञानके प्रभावसे ब्रह्मानन्दमें लीन रहा करते हैं—

ब्रह्मानंद सदा लयलीना। देखत बालक बहु कालीना॥
रूप धरें जनु चारिउ बेदा। समदरसी मुनि बिगत बिभेदा॥

(रा० च० मा० ७। ३२। ४-५)

ये चारों कुमार सदा ही श्रीमद्भगवद्गीताके **'समत्वं योग उच्यते'**, **'पण्डिताः समदर्शिनः'**, **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** तथा **'येषां साम्ये स्थितं मनः'** इत्यादि नियमोंके मूर्तिमान् स्वरूप, भेददृष्टिसे शून्य केवल एक ब्रह्मदृष्टि होकर योगानन्दसे संतृप्त रहते हैं।

ये चारों कुमार न केवल योगमार्गके अपितु भक्तिमार्गके भी मुख्य आचार्य हैं। कुमारोंकी जन्मजात रुचि भगवान्‌के नाम तथा गुणका कीर्तन करने, भगवान्‌की लीलाओंका वर्णन करने एवं उन पावन लीलाओंको सुननेमें थी। भगवान्‌को छोड़कर एक क्षणके लिये भी उनका चित्त संसारके किसी विषयकी ओर जाता ही नहीं। ये चारों भगवान्‌के दिव्य गुण एवं मङ्गलमय चरित सुननेके लिये सदा उत्कण्ठित रहते हैं। स्वयं भी ये परस्पर एकको वक्ता बनाकर अन्य तीनों श्रोता बनकर सत्सङ्ग करते रहते हैं। ये पातालमें भगवान् शेष तथा कैलासमें भगवान् शङ्करजीके पास जा-जाकर उनके मुखसे भगवान्‌की लीलाओंका आस्वादन करते रहते हैं।

इनके उपदेशोंसे अनेकों व्यक्तियोंका कल्याण-साधन हुआ है। आदिराज महाराज पृथु, जिनके नामपर यह पृथ्वी है, को उन्होंने अद्भुत योगज्ञानका उपदेश दिया। महात्मा शुकदेव और भीष्मजीको इन्होंने अध्यात्मविद्याका सदुपदेश प्रदान किया। इन्होंने देवर्षि नारदजीकी शङ्काओंके उत्तरके रूपमें सम्पूर्ण नारदपुराणका वर्णन किया, जो राजयोग, मन्त्रयोग, लययोग तथा भक्तियोगसे परिपूर्ण है। इन्हींसे सम्पूर्ण भागवत-माहात्म्यका उपदेश नारदजीको प्राप्त हुआ। अनेक उपनिषदोंमें भी नारदजीके प्रश्न करनेपर कुमारोंने उन्हें योग, भक्ति एवं ब्रह्मज्ञानका रहस्य समझाया है।

इस प्रकार ज्ञान, योग, वैराग्य, नाम-जप एवं भगवच्चरित्र सुननेकी अबाध उत्कण्ठा और विश्वके कल्याणकी कामनाका आदर्श ही इन योगीश्वरोंका स्वरूप है। ये अजर-अमर हैं और अधिकारी भक्तों, साधु-संतों एवं साधकोंको आज भी दर्शन देकर कृतार्थ करते रहते हैं।

महायोगी महर्षि मार्कण्डेय

भृगुकुलमें उत्पन्न हुए महायोगी मार्कण्डेय महर्षि मृकण्डुके पुत्र हैं। यज्ञोपवीत-संस्कार हो जानेपर ये अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत धारणकर वेदाध्ययन करने लगे और वेद-पारङ्गत होकर तप, योग-साधना और स्वाध्यायमें लग गये। इन्होंने दस करोड़ वर्षकी दीर्घकालीन तपस्या एवं योगचर्याके द्वारा श्रीहरिकी आराधना करके दुर्जेय कालको भी जीत लिया। उनके इस प्रकार मृत्युको जीत लेनेपर ब्रह्मा, शिव, भृगु, दक्ष और नारदादिको बड़ा आश्चर्य हुआ। इस प्रकार नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत एवं योगमार्गका आश्रयण कर भगवान् अधोक्षजका ध्यान करते हुए महायोगीको छः मन्वन्तरका काल बीत गया। वैवस्वत नामके सातवें मन्वन्तरमें पुरन्दर नामके इन्द्रको उनकी यौगिक तपश्चर्यासे भय होने लगा कि कहीं ये मेरे ऐन्द्र-पदको छीन न लें, इसलिये उन्होंने मुनिको योगमार्गसे डिगानेके लिये गन्धर्व तथा अप्सराओंका सहयोग

लिया, किंतु वे निष्फल रहे। भगवान् नारायण प्रसन्न होकर वर देनेके लिये मुनिके पास आये और वर माँगनेके लिये कहा। इसपर गद्‌गद हो मार्कण्डेयजी बोले—'भगवन्! आपने कृपा करके मुझे अपने दर्शनसे कृतार्थ किया, इससे बढ़कर मैं कौन-सा वर आपसे माँगूँ? तथापि मेरी इच्छा है कि आपकी जिस मायासे यह सत्-वस्तु भेदयुक्त प्रतीत होती है, उस मायाको मैं देखना चाहता हूँ।' नर-नारायण 'तथास्तु' कहकर बदरिकाश्रम चले गये।

सहसा एक दिन ऋषिने देखा कि आकाशमण्डलमें काले-काले मेघ उमड़ आये हैं। थोड़ी ही देरमें मूसलाधार वर्षा शुरू हो गयी। प्रलयकालीन वर्षासे सर्वत्र पृथ्वी जलसे ढक गयी। चारों ओर जल-ही-जल हो गया। मार्कण्डेयजी उस महासमुद्रमें विक्षिप्त-से तैरने लगे। उस अनन्त महार्णवमें वे भयंकर जीव-जन्तुओंसे पीड़ित होने लगे। वायु और जलके थपेड़ोंसे उनका शरीर जर्जरित हो गया। उन्हें भूख-प्यास सताने लगी। इस प्रकार भगवान्‌की मायासे मोहित मार्कण्डेयजीको उस प्रलय-पयोधिमें दीर्घ समय व्यतीत हो गया। मायाके वशीभूत वे कुछ समझ ही नहीं पा रहे थे। जब उन्हें भगवान्‌का स्मरण हुआ, तो उसी समय उन्होंने देखा कि उस महाप्रलय-समुद्रमें एक महावटवृक्षके पत्तेके दोनेमें भगवान् बालमुकुन्द अपने हाथोंकी अँगुलियोंसे दाहिने चरणको पकड़कर उसके अँगूठेको मुखमें लिये चूस रहे हैं, उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ, वे उनकी स्तुति करने लगे—

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं शिरसा नमामि॥

—उन्हें गोदमें लेनेके लिये वे लालायित हो उठे और ज्यों ही उनके पासमें पहुँचे त्यों ही बालमुकुन्दके श्वास खींचते समय उनकी नासिकाके छिद्रसे उदरमें प्रविष्ट हो गये। भगवान्‌की लीलावश उन्हें उदरमें ही सारा ब्रह्माण्ड तथा अपना आश्रम आदि सभी कुछ दिखायी पड़ा। यह सब देखकर वे चकित हो गये, उन्होंने नेत्र बंद कर लिये। भगवान्‌की मायासे पुनः वे श्वासके साथ बाहर निकल पड़े और उसी प्रलय-पयोधिमें तैरने लगे। उन्हें वही वटवृक्ष और वही अद्‌भुत सौन्दर्यघन शिशु दिखलायी पड़े। अब मुनिने उन्हींसे इस आश्चर्यके विषयमें पूछना चाहा, परंतु लीलापुरुषोत्तम भगवान् बालमुकुन्द अन्तर्धान हो गये। उनके अन्तर्धान होते ही वह प्रलय-समुद्र भी क्षणभरमें विलीन हो गया और मुनिने देखा कि वे तो अपने आश्रमके पास ही पूर्ववत् स्थित हैं। उन्होंने मन-ही-मन भगवान् योगेश्वरकी मायाशक्तिको प्रणाम किया और पुनः भगवान्‌की भक्ति और तपश्चर्यामें लग गये।

महायोगी मार्कण्डेयपर भगवान् शङ्करकी अद्भुत कृपा थी। उन्होंने मृत्युञ्जय-स्तोत्रके पाठद्वारा भगवान् शङ्करको प्रसन्न कर कालपर विजय प्राप्त कर ली थी।

मार्कण्डेयजी भगवान्‌की कृपासे ब्रह्माजीकी आयुके बराबर दीर्घायु-प्राप्त पूर्ण सिद्ध महायोगी हैं। इसलिये दीर्घ आयुकी कामनाके लिये जन्मोत्सव—वर्धापन आदि संस्कारोंमें इनका विशेष पूजन होता है। योगियोंके अन्तर्गत उनका सम्प्रदाय 'मार्कण्डेयी योग' के नामसे विशेष रूपसे प्रसिद्ध है। मार्कण्डेयपुराणमें इनके द्वारा वर्णित योगका स्वरूप प्रायः ज्ञानयोगसे सम्बद्ध है और उसकी प्रक्रिया राजयोगसे मिलती है।

महामुनि मार्कण्डेयजीने हजार-हजार युगोंके अन्तमें होनेवाले अनेक महाप्रलयोंके दृश्य देखे हैं। जब यह संसार देवता, दानव तथा अन्तरिक्ष आदिसे शून्य हो जाता है, उस प्रलयकालमें केवल ये अपनी यौगिक साधनाके प्रभावसे ब्रह्माजीके पास रहकर उनकी उपासना करते हैं। इन्होंने तत्परतापूर्वक चित्तवृत्तियोंका निरोध करके ब्रह्माजीकी आराधना की है और घोर तपस्या एवं योग-साधनाद्वारा मरीचि आदि प्रजापतियोंको भी जीत लिया है। ये भगवान् नारायणके समीप रहनेवाले भक्तोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं। परलोकमें इनकी महिमाका सर्वत्र गान होता है। इन्होंने सर्वव्यापक परब्रह्मकी उपलब्धिके स्थानभूत हृदयकमलकी कर्णिकाका यौगिक कलासे अलौकिक उद्‌घाटन कर वैराग्य और अभ्याससे प्राप्त हुई दिव्य दृष्टिद्वारा भगवान्‌का अनेक बार साक्षात्कार किया है। इसलिये सबको मारनेवाली मृत्यु तथा शरीरको जर्जर बना देनेवाली जरा इनका स्पर्श नहीं करती। ऐसे अमर महायोगीजीकी जितनी महिमा गायी जाय वह कम ही है।

योग-वेदान्तके उपदेष्टा महर्षि वसिष्ठ

ब्रह्मशक्तिके मूर्तिमान्-स्वरूप तपोनिधि महर्षि वसिष्ठजीके कल्याणकारी दिव्य चरित्रों, उनकी योगचर्चाओं एवं सदुपदेशोंसे पुराणेतिहास तथा धर्मशास्त्रादि ग्रन्थ भरे पड़े हैं। पुराणोंमें इनके आविर्भावकी अनेक कथाएँ हैं। सृष्टिके आरम्भमें प्रथम कल्पमें ये ब्रह्माजीके मानस-पुत्रके रूपमें उद्भूत हुए। कहीं-कहीं ये मित्रावरुणके पुत्र मैत्रावारुणि तथा कहीं अग्निके पुत्र आग्नेय कहे गये हैं। कल्पभेदसे ये सभी बातें ठीक हैं। महर्षि वसिष्ठ सप्तर्षियोंमेंसे एक हैं और इनकी पत्नी अरुन्धतीदेवी पतिव्रताओंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, उनका इनसे कभी वियोग नहीं होता और सप्तर्षि-मण्डलमें वसिष्ठजीके साथ माता अरुन्धती भी नित्य विद्यमान रहती हैं।

सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीद्वारा यह ज्ञात होनेपर कि आगे चलकर सूर्यवंशमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम अवतरित होंगे, इन्होंने सूर्यवंशका पौरोहित्य कर्म करना स्वीकार कर लिया। जब कभी अनावृष्टि-अतिवृष्टि होती, तब ये अपने योगबलसे, तपोबलसे उसको दूर कर देते। निराश राजा भगीरथ आपकी ही कृपासे गङ्गाको लानेमें समर्थ हो सके। महाराज दिलीपके कोई संतान नहीं होती थी, आपने ही उन्हें संतान-प्राप्तिके लिये गो-सेवाका व्रत बतलाया था। राजा दशरथके पुत्रेष्टि-यज्ञ तथा भगवान् श्रीरामादिके अवतारोंमें आप सहयोगी बने थे।

महर्षि वसिष्ठजीका योगबल अत्यन्त अद्भुत था। एक दिन महातपस्वी एवं महान् शक्तिसम्पन्न महाराज विश्वामित्र ससैन्य इनके आश्रममें पधारे। महर्षिने ससैन्य इनका आतिथ्य किया। वहाँ 'सरला' गौका अद्भुत प्रभाव देखकर विश्वामित्रजी लोभमें आकर उसका अपहरण कर ले जानेकी चेष्टा करने लगे। पर तब भी ये शान्त बने रहे। इनकी आज्ञा पाकर 'सरला'ने अपने शरीरसे असंख्य खसों, शकों, पुलिन्दों तथा बर्बरोंको उत्पन्न किया, उन्होंने इनकी सेनाको ध्वस्त कर डाला। लज्जित होकर विश्वामित्रजी हिमालयपर जाकर घोर तपस्यामें लग गये। भगवान् शङ्कर एवं ब्रह्माजीके वरसे विश्वामित्रजीने दिव्य धनुर्वेद-विद्याके ज्ञानके साथ ही अद्भुत बल-पराक्रम और रौद्रास्त्र, आग्नेयास्त्र, पर्वतास्त्र तथा पर्जन्यास्त्र आदि अनेक अस्त्र-शस्त्रोंको प्राप्त किया।

विश्वामित्र ऐसी शक्ति प्राप्तकर वसिष्ठजीके आश्रममें आये और उत्पात करने लगे, किंतु वसिष्ठजीने क्षमाके मार्गका आश्रयणकर अपने योगबलसे अपने ब्रह्मदण्डको पृथ्वीपर गाड़ दिया, जिसपर विश्वामित्रजीके सभी अस्त्र-शस्त्र समा गये। तब वे क्षत्रियबलको धिक्कृत करते हुए कह उठे—

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम्।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे॥

अन्ततः लज्जित होकर ये ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेके लिये तपस्या करने लगे। एक बार विश्वामित्रजीने इनके सौ पुत्रोंका नाश कर डाला, तब भी इन्हें तनिक रोष न आया। क्योंकि महर्षि वसिष्ठजी क्षमा एवं तपकी प्रतिमूर्ति तो थे ही। एक दिन रात्रिमें छिपकर विश्वामित्र जब इनके अनिष्टकी इच्छासे इनके पास आये तो इन्हें अपनी पत्नीसे अपने तपकी प्रशंसा करते हुए सुनकर अत्यन्त पश्चात्ताप करने लगे और वे शस्त्र फेंककर महर्षिके चरणोंपर गिर पड़े। वसिष्ठजीने उन्हें क्षमा कर हृदयसे लगा लिया और 'ब्रह्मर्षि' स्वीकार किया।

इस प्रकार अपने घोर प्रतिद्वन्द्वीके साथ अपूर्व क्षमा एवं उपकारका भाव इनके अद्भुत योगज्ञानका ही प्रभाव था। इन्हीं सब पुण्यों एवं साधनाओंका प्रभाव था कि ये समस्त रघुकुलमें उत्पन्न रघु, दिलीप आदि धर्मात्मा राजाओंके कुलगुरु बने रहे और पूर्ण ब्रह्मके अवतार भगवान् श्रीराम तथा साक्षात् लक्ष्मीस्वरूपा भगवती सीता एवं उनके अंशभूत भाइयों तथा महाराज जनक-जैसे योगियोंके भी आराध्य बन गये। महर्षि वसिष्ठ मनुष्यों तथा सभी देवता, ऋषि-महर्षि एवं योगिजनोंके परम उपास्य हैं। अरुन्धतीके साथ सप्तर्षि-मण्डलमें स्थित होकर ये आज भी सारे जगत्के कल्याणमे लगे हुए हैं।

भगवान् श्रीरामको महर्षि वसिष्ठद्वारा उपदिष्ट 'योगवासिष्ठ' नामक ग्रन्थ योग-वेदान्तका विशिष्ट ग्रन्थ है। इसमें वैराग्य, मुमुक्षु-व्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम तथा निर्वाण—ये छः प्रकरण हैं। इस ग्रन्थमें प्रायः सर्वत्र ब्रह्मस्वरूपावस्थितिकी ही बातें वर्णित हैं और ज्ञानकी सात भूमिकाएँ विचाररूपमें निर्दिष्ट हैं तथा प्राणायाम आदि क्रियाओंको भी बार-बार सरल ढंगोंसे समझाकर साधकोंको

योगसिद्धितक पहुँचनेके लिये सुगम मार्ग बताया गया है। इस ग्रन्थकी यह विशेषता है कि इसके कई बार आलोडन-मनन करनेसे मनुष्यको सारी योग-सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं और वह ब्रह्मका साक्षात्कारतक करनेमें समर्थ हो जाता है।

महर्षि वसिष्ठजीके उपदेशोंका सार यह है कि हृदयसे वासनाजालके सर्वथा उच्छिन्न हो जानेपर प्राण अपने-आप नियमित और शान्त होकर समाधिकी ओर प्रवृत्त हो जाते हैं अथवा यदि विधिपूर्वक प्राणायाम किया जाय तो वासनाजाल क्षीण होकर समाधि तथा ब्रह्म-साक्षात्कारकी स्थिति होने लगती है। विचार और मननके द्वारा संसार ब्रह्मरूपमें परिवर्तित दिखायी देता है। यदि मन मनन करना छोड़ दे और मनोरथोंसे सर्वथा दूर हट जाय तो मोक्ष अपने-आप उपस्थित हो जाता है। मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन-मनन ही महान् क्लेश है। अतः आत्माके अवलोकनके लिये प्राणायाम और मनो-निरोधका आश्रय ग्रहणकर वासना-जालका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये।

योगशास्त्रके प्रवर्तक महर्षि पतञ्जलि

महर्षि पतञ्जलि योगदर्शनके आद्य प्रवर्तक हैं। इनका विस्तृत चरित्र 'पतञ्जलिचरित' तथा 'लघुमुनित्रिकल्पतरु' में प्राप्त होता है। ऋषियोंके नामोंके अन्तर्गत महर्षि पतञ्जलिका नाम भी बड़े आदरसे लिया जाता है। व्याकरणके ग्रन्थोंके अनुसार ये अपने पिताकी अञ्जलिमें अर्घ्यदान करते समय दिव्य रूपसे ऊर्ध्वलोकसे आ गिरे, अतः इनका नाम पतञ्जलि पड़ा। यह इनके योगके प्रभावका ही मूर्त रूप था। इनकी कृतियाँ यद्यपि अनेक हैं, पर योगदर्शन सबसे मुख्य है। योगका यह आधारभूत ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ सूत्रात्मक है। यह चार पादोंमें विभक्त है। प्रथम समाधिपादमें ५१, द्वितीय साधनपादमें ५५, तृतीय विभूतिपादमें ५५ तथा अन्तिम कैवल्यपादमें ३४—इस प्रकार कुल ११५ सूत्र हैं। व्याकरण महाभाष्य सबसे बड़ा ग्रन्थ है। वैदिक उपनिदानसूत्र तथा आयुर्वेदकी चरकसंहिता भी इन्हींकी रचनाके रूपमें विद्वत्परम्परामें मान्य है—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

इनके योगदर्शनमें स्वयं भगवान् वेदव्यासका भाष्य प्राप्त होता है, जो सांख्य-प्रवचन-भाष्यके नामसे प्रसिद्ध है। परवर्ती टीकाएँ तो अनेक हैं। जब भगवान् वेदव्यासजीको भाष्यसे संतोष नहीं हुआ तो उन्होंने पुराणोंमें भी इस योगका संनिवेश किया। लिङ्गादि पुराणोंमें योगदर्शनका पद्यबद्ध अनुवाद प्राप्त होता है। इससे इनकी योगाचार्यता और आदि प्रवक्ताके रूपमें प्रतिष्ठापित होना प्राचीन कालसे ही सर्वमान्य रहा है।

योगदर्शन अत्यन्त प्राचीन दर्शन है और इससे सभी प्रकारके आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक सिद्धियोंके लाभ प्राप्त होते हैं। साधक सरलतासे देवताओंका सांनिध्य प्राप्तकर उनसे पूरा लाभ उठा सकता है—

'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः'

(योग० सू० २। ४४)

साधक थोड़ी तन्मयतासे भी अपने सभी पूर्वजन्मों तथा आगे आनेवाली अवस्थाओं एवं मुक्तितकका ज्ञान प्राप्त कर लेता है—**'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः'** (योग० सू० २। ३९) और विधिपूर्वक साधनासे देवताओंके बीचमें विचरने तथा आकाशगमन आदिकी सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं। जाग्रत्-अवस्थाओंकी साधनाओंका स्वप्नादि-अवस्थाओंपर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। यदि शान्त मन और विवेकके द्वारा उन स्वप्नोंकी गुत्थियोंको समझ सकें अथवा स्वप्नमें दीखे हुए देवता-पितर, ऋषि-मुनि, संतों या देवियोंका श्रद्धापूर्वक ध्यान-आराधना करें तो वे उसे अपार सहायता पहुँचाते हैं और उसे सभी प्रकारका दिव्य ज्ञान और मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है—**'स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा'** (यो० सू० १। ३८)।

संक्षेपमें महर्षि पतञ्जलिने साधकको स्वरूपमें स्थिति होनेकी युक्ति बतलायी है और अन्तःसाक्ष्यसे अर्थात् उनके ग्रन्थोंके प्रमाणोंसे स्पष्ट होता है कि वे अजर-अमर और सभी सिद्धियोंसे समायुक्त थे। केवल लोकोपकारके लिये ही उन्होंने ग्रन्थका प्रणयन किया, जिससे व्यास, शुकदेव, गौडपादाचार्य और शंकराचार्य एवं अन्य आचार्य भी अत्यन्त प्रभावित हुए। आचार्य व्यासने पुराणोंके अतिरिक्त ब्रह्मसूत्रके चौथे अध्यायमें योगपादका संनिवेश किया है, जो योगदर्शनपर ही आधृत है।

जैसे '**स्थिरसुखमासनम्**' के स्थानपर '**आसीनः सम्भवात्**' आदि सूत्र ठीक उसी प्रक्रियामें सभी साधनोंको निर्दिष्ट करते हुए मोक्षतक ले जाते हैं, जिसपर शंकराचार्य आदिके विलक्षण भाष्य हैं।

महर्षि पतञ्जलिद्वारा निर्दिष्ट यम-नियमादि कोई एक भी साधन ठीक ढंगसे आरम्भ करनेपर भगवत्कृपासे योगकी स्वयं साधकमें प्रवृत्ति हो जाती है। योग-प्रवृत्तियोंके प्रथम लक्षणमें भगवान् पतञ्जलिने स्वयं ज्योतिष्मती, गन्धवती, स्पर्शवती, रूपवती एवं रसवती—इन पाँच योगप्रवृत्तियोंमेंसे किसी एकका लक्षण प्रकट हो जानेसे योगशक्तिमें उसके प्रवेशका लक्षण बतलाया तथा उसे सभी देवी-देवता, दिव्य पदार्थ, शास्त्र आदिके वचनोंमें, परलोकमें पूर्ण विश्वास हो जाता है। इससे उसका शीघ्र कल्याण हो जाता है। इसीलिये थोड़ा भी इस योगचर्यामें चलना महान् कल्याणकारी बतलाया गया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् योगेश्वरका कथन है—'**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥**' इस योगका प्रभाव भारत ही नहीं, सम्पूर्ण विश्वमें शनैः-शनैः प्रचलित हो गया, जिसका मूलतः श्रेय महर्षि पतञ्जलिको है। योगदर्शनमें कोई अनुचित तथा हानिकारक वस्तु है ही नहीं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, त्यागकी वृत्ति, पवित्रता, स्वाध्यायका अभ्यास तथा विश्वप्रेमकी बात सभी धर्मोंमें मिलती है और वही योगका प्रारम्भिक उपदेश है यह सभीको मान्य है। हम सभीका यह पुनीत कर्तव्य है कि महर्षि पतञ्जलिके बताये योगमार्गका आश्रयण कर हम अखण्ड शान्ति एवं परम आनन्द-प्राप्तिकी ओर अग्रसर हों। इसीमें मनुष्य-जन्मकी सच्ची सार्थकता है।

योगके परम आचार्य ऋषिवर घेरण्ड

योगाचार्योंकी परम्परामें घेरण्ड ऋषि अत्यन्त प्राचीन योगी माने गये हैं। चण्डकपालि नामक एक धर्मात्मा राजाके प्रश्न करनेपर उन्होंने ज्ञान-विज्ञानमिश्रित हठयोगशास्त्रका उन्हें उपदेश किया था। उनके उपदेशोंके ही संग्रहका नाम घेरण्डसंहिता है। यह योगशास्त्र मुख्यतः हठयोगविद्याका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके आरम्भमें ही इन ऋषिवर घेरण्डजीका कथन है कि सामान्य प्राणी घटी-यन्त्रकी भाँति अपने कर्मानुसार ऊर्ध्व एवं अधःलोकोंमें निरन्तर भ्रमण करता रहता है और उसे कहीं भी शान्ति नहीं मिलती, किंतु जब योगसाधनाके द्वारा वह कभी परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है, तब उसे सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-दर्शन प्राप्त होनेसे पराशान्ति-लक्षणा कैवल्यमुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

तथा योगं समासाद्य तत्त्वज्ञानं च लभ्यते॥

(घेरण्ड० १।५)

इसके लिये उसे हठयोगकी प्रक्रियाके अभ्यासद्वारा घटरूपी शरीरको शुद्ध करना पड़ता है। योगाभ्यासद्वारा इस घटकी शुद्धिके लिये उन्होंने सात मुख्य साधन बतलाये हैं—

शोधनं दृढता चैव स्थैर्यं धैर्यं च लाघवम्।
प्रत्यक्षं च निर्लिप्तं च घटस्थसप्तसाधनम्॥

(घेरण्ड० १।९)

१-शोधन—देहको शुद्ध करना, २-दृढ़ता, ३-स्थैर्य—एक-समान सदा देहका स्थिर रहना, ४-धैर्य—कभी घबड़ाना नहीं, ५-लाघव—हलकापन, ६-प्रत्यक्ष—आँख आदि इन्द्रियोंसे देखना, छूना आदि तथा ७-निर्लिप्त—आसक्तिरहित होना—ये सात साधन हैं।

इन सातोंकी सिद्धिके लिये भी वे पुनः सात प्रक्रियाएँ बतलाते हुए कहते हैं कि षट्कर्मों (धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक एवं कपालभाति) से शोधन, आसनसे दृढ़ता, मुद्रासे स्थिरता और प्रत्याहारके द्वारा धीरता होती है। प्राणायामसे लाघव और ध्यान तथा समाधिसे परमात्माका दर्शन होता है, पुनः इससे पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति होकर जीवन्मुक्ति या पूर्ण शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

अपने ग्रन्थमें आचार्य घेरण्ड इन्हीं षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायामकी विस्तृत विधि बताते हैं और उनकी दृष्टि योगभक्ति तथा वेदान्त-शास्त्रकी उपलब्धियोंका चरम फल—सर्वत्र भगवद्दर्शनमें पर्यवसित होती है। वे कहते हैं कि सिद्ध योगीको योग-सिद्धावस्थामें सम्पूर्ण विश्वमें और अपने शरीरके अंदर-बाहर सर्वत्र विष्णुका ही दर्शन होने लगता है। वस्तुतः जलमें, स्थलमें, पर्वतकी चोटियों तथा ज्वालामालाओंमें एवं सर्वत्र विष्णु ही व्याप्त हैं। अतः सम्पूर्ण

विश्वको ब्रह्ममय और उसे अपनी आत्मामें भी स्थित देखना चाहिये। यही आचार्य घेरण्डकी योगचर्याओं और योगोपदेशोंका सारांश है। उनके मूल वचन इस प्रकार हैं—

जले विष्णुः स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके।
ज्वालामालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत्॥
सर्वं ब्रह्म विजानीयात् सर्वं पश्यति चात्मनि॥

योगशक्ति-स्वरूपा सती माता

पतिव्रता स्त्रियोंमें सबसे पहले दक्ष-कन्या सतीका नाम लिया जाता है। वे साध्वी स्त्रियोंकी आदर्श हैं।

ब्रह्माजीके नौ मानसपुत्रोंमें प्रजापति दक्ष बहुत प्रसिद्ध हैं। इनकी उत्पत्ति ब्रह्माजीके दाहिने अँगूठेसे हुई थी। ब्रह्माजीके आदेशसे दक्षने आराधना करके भगवती सतीको पुत्रीरूपमें प्राप्त किया। सतीका हृदय बचपनसे ही भगवान् शङ्करकी ओर आकृष्ट था। वह नियमपूर्वक महादेवजीकी आराधना करने लगी। यहाँतक कि उसके मन-प्राण भगवान् शङ्करके लिये व्याकुल रहने लगे। सतीकी यह साधना आगे चलकर कठोर तपस्याके रूपमें परिणत हो गयी।

उधर ब्रह्मा आदि देवता भगवान् शङ्करके पास गये और उनसे असुर-विनाशक पुत्रकी प्राप्तिके लिये दक्षकन्या सतीके साथ विवाह करनेका अनुरोध करने लगे। शिवने 'तथास्तु' कहकर देवताओंको विदा कर दिया।

सतीकी अखण्ड तपस्या देखकर भगवान् शङ्कर प्रसन्न होकर प्रकट-रूपसे उसके पास आये और कहने लगे—'दक्षकुमारी! मैं तुम्हारी आराधनासे बहुत संतुष्ट हूँ। बताओ, किसलिये तुमने इस कठोर योग-साधनाका व्रत लिया है?'

सती बोलीं—देवाधिदेव! आप घट-घटवासी हैं, मेरी अभिलाषा आपसे छिपी नहीं है। आप स्वयं ही आज्ञा दें, मैं आपकी क्या सेवा करूँ? सतीका यह अलौकिक प्रेम देखकर भगवान् शङ्करने उसके अभीष्टको सहर्ष स्वीकृति दे दी और यथासमय दक्ष प्रजापतिने ब्रह्माजी आदि देवताओंके सांनिध्यमें समारोहपूर्वक सतीका विवाह शिवजीके साथ कर दिया।

विवाहके पश्चात् सती माता-पितासे विदा हो पतिके साथ कैलासधाम चली गयीं। सतीके तन-मन और प्राण केवल शिवकी आराधनामें लगे रहते थे। उनके पति, प्राणेश और देवता सब कुछ भगवान् शिव ही थे।

एक बार त्रेतायुग आनेपर पृथ्वीका भार उतारनेके लिये श्रीहरिने रघुवंशमें अवतार लिया था। उस समय वे पिताके वचनसे राज्य त्याग करके तापस-वेषमें दण्डकवनमें विचरण कर रहे थे। इसी समय रावणने मारीचको कपटमृग बनाकर भेजा था और सूने आश्रमसे सीताको हर लिया था एवं श्रीरामजी साधारण मनुष्यकी भाँति विरहसे व्याकुल होकर लक्ष्मणजीके साथ वनमें सीताकी खोज कर रहे थे।

इसी अवसरपर भगवान् शङ्कर सतीदेवीको साथ लिये अगस्त्यके आश्रमसे रामकथाका आनन्द लेकर कैलासको लौट रहे थे। उन्होंने अपने आराध्यदेव श्रीरघुनाथजीको प्रणाम किया। उन्हें प्रणाम करते देख माता सतीके मनमें संदेह उत्पन्न हो गया कि शङ्करजी तो देवोंके भी देव महादेव हैं फिर भी सांसारिक प्राणियोंकी भाँति स्त्रीके लिये व्याकुल रामको ये अपना परम आराध्य कैसे मान रहे हैं? राम परमदेव नहीं हो सकते। सतीके मनोभावोंको समझकर भगवान् शङ्करने उन्हें बहुत समझाया। किंतु वह उपदेश उनके मनमें नहीं बैठा, तब शङ्करजी बोले—'यदि ऐसा नहीं है तो परीक्षा करके देख लो।' भोली-भाली सतीपर भगवान्‌की योगमायाका प्रभाव पड़ चुका था। सतीने खूब सोच-समझकर सीताका रूप धारण किया और आगे बढ़कर उस मार्गपर चलने लगीं जिधरसे श्रीरामचन्द्रजी आ रहे थे। सर्वज्ञ श्रीरामचन्द्रजीने सारी बात जानकर सीतारूपिणी सतीको प्रणाम किया। अपना और अपने पिताका नाम बतलाया तथा हँसकर पूछा—'देवि! शिवजी कहाँ हैं? आप वनमें अकेली क्यों विचर रही हैं?' अब तो सतीजी संकोचमें पड़ गयीं। वे भयभीत होकर शङ्करजीके पास लौट चलीं। उनके हृदयमें बड़ी चिन्ता हो गयी थी, वे सोचने लगीं—'हाय! मैंने स्वामीका कहना नहीं माना, अपना अज्ञान श्रीरामचन्द्रजीपर आरोपित किया। अब मैं उनको क्या उत्तर दूँगी।'

फिर वे बारंबार श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें प्रणाम करके उस स्थानकी ओर चलीं जहाँ शिवजी उनकी प्रतीक्षामें बैठे थे। निकट जानेपर शिवजीने हँसकर कुशल-समाचार पूछा और

कहा—'सच-सच बताओ, किस प्रकार परीक्षा ली ?' सतीने श्रीरघुनाथजीके प्रभावको समझकर भयके मारे अपने सीतारूप-धारण करनेकी बात छिपा ली। शङ्करजीने ध्यान लगाकर,सतीने जो कुछ किया था, वह सब जान लिया। फिर उन्होंने श्रीरामजीकी मायाको मस्तक झुकाया।

'सतीने सीताका वेष बना लिया,' यह जानकर शिवजीके मनमें बड़ा विषाद हुआ। उन्होंने सोचा—'अब यदि मैं सतीसे पत्नीकी भाँति प्रीति करता हूँ तो भक्तिमार्गका लोप हो जाता है और बड़ा अन्याय होता है। सती परम पवित्र हैं, अतः इन्हें छोड़ते भी नहीं बनता और प्रेम करनेमें बड़ा पाप है।' महादेवजी प्रकटरूपसे कुछ नहीं कह सके, किंतु उनके हृदयमें बड़ा संताप था। तब उन्होंने श्रीरामको मन-ही-मन प्रणाम किया। भगवान्‌की याद आते ही उनके हृदयमें यह संकल्प उदित हुआ—***'एहिं तन सतिहि भेट मोहि नाहीं।'*** ऐसा निश्चय करके उन्होंने अखण्ड-समाधि लगा ली और सतीदेवीका परित्याग कर दिया। इसी बीच सतीके पिता दक्ष 'प्रजापति'के पदपर अभिषिक्त हुए। यह महान् अधिकार पाकर दक्षके हृदयमें बड़ा भारी अभिमान पैदा हो गया। उन्होंने ब्रह्मनिष्ठ महात्माओंको, जिनमें शङ्करजी भी थे, उपेक्षाकी दृष्टिसे देखना आरम्भ किया। यहाँतक कि शिवजीसे सम्बन्ध रखनेवाली अपनी पुत्री सतीके प्रति भी उनका भाव अच्छा नहीं रह गया। कुछ समय बाद एक बार प्रजापति दक्षने 'बृहस्पति-सव' नामक यज्ञका आयोजन किया। इस उत्सवमें प्रायः सभी ब्रह्मर्षि, देवर्षि, पितर, देवता आदि आमन्त्रित थे। सबने अपनी-अपनी पत्नीके साथ जाकर यज्ञोत्सवमें भाग लिया। सतीने देखा—कैलासशिखरके ऊपर आकाशमार्गसे विमानोंकी श्रेणियाँ चली जा रही हैं। उनमें देवता, यक्ष, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर, किन्नर आदि बैठे हैं। उनके साथ उनकी स्त्रियाँ भी हैं।

सतीने पूछा—'भगवन्! यह सब क्या है ? ये लोग कहाँ जा रहे हैं।' भगवान् शिवने मुसकराते हुए कहा—'तुम्हारे पिताके यहाँ बड़ा भारी यज्ञ हो रहा है। उसीमें ये लोग निमन्त्रित हैं।' पिताके यज्ञकी बात सुनकर सतीको कुछ हर्ष हुआ। उन्होंने सोचा—'यदि स्वामीकी आज्ञा हो तो यज्ञके ही बहाने कुछ दिन वहीं चलकर रहूँ।' यह विचारकर वे बोलीं—'देव ! पिताजीके घर यज्ञ हो रहा है तो उसमें मेरी अन्य बहनें भी अवश्य पधारेंगी। माता और पितासे मिले मुझे युग बीत गये। इस अवसरपर आपकी आज्ञा हो तो आप और मैं दोनों वहाँ चलें।'

शिवजी बोले—'यद्यपि वहाँ तुम्हारे माता-पिता हैं, परंतु बिना आमन्त्रणके वहाँ जाना ठीक नहीं है। यदि तुम मेरी बात न मानकर वहाँ जाओगी तो इसका परिणाम अच्छा न होगा।'

शङ्करजीने बहुत प्रकारसे समझाया-बुझाया, पर सतीका मन जानेको उद्यत था। तब महादेवजीने अपने प्रधान-प्रधान पार्षदोंको साथ देकर सतीको अकेली ही विदा कर दिया। सती पिताकी यज्ञशालामें पहुँचीं। किंतु वहाँ पिता-माताने सतीका किञ्चित् भी सत्कार नहीं किया, अपितु तिरस्कार ही किया। तब सतीको स्वामीकी कही हुई बातें याद आने लगीं।

उस यज्ञमें शिवजीके लिये कोई भाग न देखकर उनके मनमें बड़ा क्रोध हुआ। उनकी भौंहें तन गयीं, आँखें लाल हो गयीं और ऐसा जान पड़ा मानो वे सम्पूर्ण जगत्‌को भस्म कर डालेंगी। उन्होंने अनेक प्रकारसे पिताकी भर्त्सना की और शिवजीकी महत्ताका वर्णन करते हुए योगबलसे अपने शरीरको भस्म कर देना ठीक समझा।

यज्ञमण्डपमें देवी सती मौन हो उत्तरदिशामें योग-साधनामें बैठ गयीं। वे नेत्र बंद किये योगमार्गमें स्थित हो गयीं। पहले उन्होंने आसनको स्थिर किया, फिर प्राण और अपानवायुको एकरूप करके नाभिचक्रमें स्थापित किया। तदनन्तर उदानवायुको नाभि-चक्रसे धीरे-धीरे ऊपर उठाया और बुद्धिसहित हृदयमें स्थापित कर दिया, फिर हृदयस्थित वायुको वे कण्ठमार्गसे भृकुटियोंके बीच ले गयीं। उन्होंने अपने सम्पूर्ण अङ्गोंमें अग्नि और वायुकी धारणा की। इसके बाद वे अपने स्वामी जगद्गुरु भगवान् शिवके चरणारविन्द-मकरन्दका चिन्तन करने लगीं, उसके सिवा दूसरी वस्तुका उन्हें भान न रहा। उस समय उनका वह दिव्य देह, जो स्वभावसे ही निष्पाप था, तत्काल योगाग्निसे जलकर भस्म हो गया[१]।

१-ततः स्वभर्तुश्चरणाम्बुजासवं जगद्गुरोश्चिन्तयती न चापरम्। ददर्श देहो हतकल्मषः सती सद्यः प्रजज्वाल समाधिजाग्निना॥
(श्रीमद्भा० ४।४।२७)

इस प्रकार पतिप्राणा सतीकी ऐहलौकिक लीला पूर्ण हुई। उन्होंने जीवनभर सदा ही तन, मन, प्राणसे अपने पति भगवान् शिवकी सेवा और समाराधना की तथा अन्तमें भी उन्हींका चिन्तन करते-करते प्राण-त्याग किया। अन्त समय भी उन्होंने भगवान्‌से यही वर माँगा था कि 'प्रत्येक जन्ममें मेरा भगवान् शिवके ही चरणोंमें अनुराग हो।'[१] इसीलिये वे पुनः गिरिराज हिमालयके यहाँ पार्वतीके रूपमें प्रकट हुईं और भगवान् शङ्करको ही उन्होंने पतिरूपमें प्राप्त किया।

परमयोगी जगद्गुरु श्रीआदिशंकराचार्यजी

शङ्करावतार भगवान् श्रीशंकराचार्यके जन्म-समयके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद है। ईसासे पूर्व छठी शताब्दीसे लेकर नवीं शताब्दीपर्यन्त किसी भी समय इनका आविर्भाव हुआ था। कुछ विद्वानोंने यह प्रमाणित किया है कि आचार्यपादका जन्मसमय ईसासे लगभग चार सौ वर्ष पूर्व है। मठोंकी परम्परासे भी यही बात प्रमाणित होती है। केरल प्रदेशके पूर्णा नदीके तटवर्ती कालडी नामक गाँवमें बड़े विद्वान् और धर्मनिष्ठ ब्राह्मण श्रीशिवगुरुकी धर्मपत्नी श्रीसुभद्रामाताके गर्भसे वैशाख शुक्ल पञ्चमीके दिन इनका आविर्भाव हुआ था। इनके माता-पिता संतानहीन थे। उन्होंने बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे भगवान् शङ्करकी आराधना की। फलस्वरूप आशुतोष देवाधिदेव भगवान् शङ्कर प्रकट हुए और उन्हें एक सर्वगुणसम्पन्न पुत्ररत्न होनेका वरदान दिया। अन्ततः स्वयं भगवान् शङ्करको ही इन्होंने पुत्ररूपमें प्राप्त किया। नाम भी उनका शंकर ही रखा गया।

बालक शंकरके रूपमें कोई महान् विभूति अवतरित हुई है, इसका प्रमाण बचपनसे ही मिलने लगा। एक वर्षकी अवस्था होते-होते बालक शंकर अपनी मातृभाषामें अपने भाव प्रकट करने लगे और दो वर्षकी अवस्थामें मातासे पुराणादिकी कथा सुनकर कण्ठस्थ करने लगे। तीन वर्षकी अवस्थामें उनका चूडाकर्म करके उनके पिता स्वर्गवासी हो गये। पाँचवें वर्षमें यज्ञोपवीत करके उन्हें गुरुके घर पढ़नेके लिये भेजा गया और केवल सात वर्षकी अवस्थामें ही वे वेद, वेदान्त और वेदाङ्गोंका पूर्ण अध्ययन करके घर वापस आ गये। उनकी असाधारण प्रतिभा देखकर उनके गुरुजन दंग रह गये।

विद्याध्ययन समाप्त कर शंकरने संन्यास लेना चाहा, परंतु जब उन्होंने मातासे आज्ञा माँगी तो उन्होंने नहीं कर दी। शंकर माताके बड़े भक्त थे, उन्हें कष्ट देकर संन्यास लेना नहीं चाहते थे। एक दिन माताके साथ वे नदीमें स्नान करने गये। उन्हें एक मगरने पकड़ लिया। इस प्रकार पुत्रको संकटमें देख माताके होश उड़ गये। वह बेचैन होकर हाहाकार मचाने लगी। शंकरने मातासे कहा—'माँ! मुझे संन्यास लेनेकी यदि आज्ञा दे दो तो मगर मुझे छोड़ देगा।' माताने तुरंत आज्ञा दे दी और मगरने शंकरको छोड़ दिया। इस तरह माताकी आज्ञा प्राप्तकर वे आठ वर्षकी उम्रमें ही घरसे निकल पड़े। जाते समय माताकी इच्छाके अनुसार वह वचन दे गये कि तुम्हारी मृत्युके समय मैं घरपर उपस्थित रहूँगा।

घरसे चलकर शंकर नर्मदातटपर आये और वहाँ स्वामी गोविन्द भगवत्पादसे दीक्षा ली। गुरुने इनका नाम भगवत्पूज्य पादाचार्य रखा। इन्होंने गुरूपदिष्ट मार्गसे साधना आरम्भ कर दी और अल्पकालमें ही बहुत बड़े योगसिद्ध महात्मा हो गये। इनकी सिद्धिसे प्रसन्न होकर गुरुने इन्हें काशी जाकर वेदान्तसूत्रका भाष्य लिखनेकी आज्ञा दी और तदनुसार ये काशी आ गये। काशी आनेपर इनकी ख्याति बढ़ने लगी और लोग आकर्षित होकर इनका शिष्यत्व भी ग्रहण करने लगे। इनके सर्वप्रथम शिष्य सनन्दनके अवतार पद्मपादाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हुए। काशीमें शिष्योंको पढ़ानेके साथ-साथ ये ग्रन्थ भी लिखते जाते थे। कहते हैं, एक दिन भगवान् विश्वनाथने चाण्डालके रूपमें इन्हें दर्शन दिये। ये इन्हें पहचान गये और फिर उन्हें प्रणाम किया, तदनन्तर भगवान् शङ्करने इन्हें ब्रह्मसूत्रपर भाष्य लिखने और धर्मके प्रचार करनेका आदेश दिया। जब आप वेदान्तसूत्रपर भाष्य लिख चुके, तो एक दिन एक ब्राह्मणने गङ्गातटपर इनसे एक सूत्रका अर्थ पूछा। उस सूत्रपर ब्राह्मणके साथ इनका आठ दिनतक शास्त्रार्थ हुआ। पीछे इन्हें मालूम हुआ कि स्वयं भगवान् वेदव्यास ही ब्राह्मणके

१-सतीं मरत हरि सन बरु मागा। जनम जनम सिव पद अनुरागा॥ (श्रीरामचरितमानस)

रूपमें प्रकट होकर उनके साथ विवाद कर रहे हैं। तब इन्होंने उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और अपनी धृष्टताके लिये क्षमा माँगी। फिर भगवान् वेदव्यासने इन्हें अद्वैतवादका प्रचार करनेकी आज्ञा दी और इनकी सोलह वर्षकी आयु बत्तीस वर्षकी कर दी।

इसके बाद इन्होंने काशी, कुरुक्षेत्र, बदरिकाश्रम आदिकी यात्रा की, विभिन्न मतवादियोंको परास्त किया और बहुतसे ग्रन्थ लिखे। प्रयाग आकर कुमारिलभट्टसे उनके अन्तिम समयमें भेंट की और उनकी सलाहसे माहिष्मतीमें मण्डनमिश्रके पास जाकर शास्त्रार्थ किया। शास्त्रार्थमें मण्डनकी पत्नी भारती मध्यस्था थीं। अन्तमें मण्डनने शंकराचार्यका शिष्यत्व ग्रहण किया और उनका नाम सुरेश्वराचार्य पड़ा। तत्पश्चात् आचार्यने विभिन्न मठोंकी स्थापना की और उनके द्वारा औपनिषद सिद्धान्तकी शिक्षा-दीक्षा होने लगी।

एक बार एक कापालिकने आचार्यसे एकान्तमें प्रार्थना की कि 'आप तत्त्वज्ञ हैं, आपको शरीरका मोह नहीं, मैं एक ऐसी साधना कर रहा हूँ, जिसमें मुझे एक तत्त्वज्ञके सिरकी आवश्यकता है, यदि आप देना स्वीकार करें तो मेरा मनोरथ पूर्ण हो जाय।' आचार्यने कहा—'भाई! किसीको मालूम न होने पावे, मैं अभी समाधि लगा लेता हूँ, तुम सिर काट ले जाना।' आचार्यने समाधि लगायी और वह सिर काटनेवाला ही था कि पद्मपादाचार्यके इष्टदेव नृसिंह भगवान्ने ध्यान करते समय उन्हें सूचना दे दी और पद्मपादने आवेशमें आकर उसे मार डाला।

आचार्यने अनेकों मन्दिर बनवाये, अनेकोंको सन्मार्गमें लगाया और कुमार्गका खण्डन करके भगवान्के वास्तविक स्वरूपको प्रकट किया। इन्होंने मार्गमें सभी मतोंकी उपयोगिता यथास्थान स्वीकार की है और सभी साधनोंसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, ऐसा माना है। अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर ही वास्तविकताका बोध हो सकता है। अशुद्ध बुद्धि और मनके निश्चय एवं संकल्प भ्रमात्मक ही होते हैं, अतः इनके सिद्धान्तमें सच्चा ज्ञान प्राप्त करना ही परम कल्याण है और उसके लिये अपने धर्मानुसार कर्म, भक्ति अथवा और भी किसी मार्गसे अन्तःकरणको शुद्ध बनाते हुए वहाँतक पहुँचना चाहिये।

इनके बनाये हुए ग्रन्थोंकी बड़ी लंबी सूची है—ब्रह्मसूत्र शारीरक भाष्य, ईश, केन आदि उपनिषदोंके भाष्य, गीता, विष्णुसहस्रनामके भाष्य, ललितात्रिशती-भाष्य, पञ्चीकरण, आनन्दलहरी तथा विविध स्तोत्र-साहित्य इत्यादि। इनका सिद्धान्त अद्वैतवाद भी बड़ा ऊँचा तथा अधिकारी पुरुषोंके ही समझनेकी चीज है। भारतवर्षके सभी सम्प्रदाय इनके सिद्धान्तसे प्रभावित हैं। सभी विचारशीलोंने मुक्त स्वरसे इनके सिद्धान्तकी महत्ता गायी है। आज भी इनके अनुयायियोंमें बहुत-से सच्चे विरक्त योगी एवं ज्ञानी पाये जाते हैं।

योगिराज श्रीगोरखनाथ

एक बार गुरु मत्स्येन्द्रनाथ घूमते-घूमते अयोध्याके पास 'जयश्री' नामक नगरमें गये। वहाँ वह भिक्षा माँगते हुए एक ब्राह्मणके घर पहुँचे। ब्राह्मणीने बड़े आदरके साथ उनकी झोलीमें भिक्षा डाल दी। ब्राह्मणीके मुखपर पातिव्रतका अपूर्व तेज था। उसे देखकर मत्स्येन्द्रनाथको बड़ी प्रसन्नता हुई। परंतु साथ ही उन्हें उस सतीके चेहरेपर उदासीकी भी एक क्षीण रेखा दिखायी पड़ी। जब उन्होंने इसका कारण पूछा तो उस सतीने निस्संकोच-भावसे उत्तर दिया कि संतान न होनेसे संसार फीका जान पड़ता है। मत्स्येन्द्रनाथने तुरंत झोलीसे थोड़ी-सी भभूत निकाली और ब्राह्मणीके हाथपर उसे रखते हुए कहा—'इसे खा लो, तुम्हें पुत्र प्राप्त होगा।' इतना कह वे तो वहाँसे चले गये। इधर ब्राह्मणीकी एक पड़ोसिन स्त्रीने जब यह बात सुनी तो उसने कई तरहके डर दिखलाकर उसे भभूत खानेसे मना कर दिया। फलस्वरूप उसने भभूत एक गड्ढेमें फेंक दी। बारह वर्ष बाद मत्स्येन्द्रनाथ उधर पुनः वापस आये और उन्होंने उस घरके द्वारपर जाकर 'अलख' जगाया। ब्राह्मणीके बाहर आनेपर उन्होंने कहा कि अब तो तेरा बेटा बारह वर्षका हो गया होगा, देखूँ तो, वह कहाँ है? यह सुनते ही वह स्त्री घबरा गयी और उसने सब हाल कह दिया। मत्स्येन्द्रनाथ उसे साथ ले उस गड्ढेके पास गये और वहाँ 'अलख' शब्द किया। उसे सुनते ही बारह वर्षका एक तेजपुंज बालक वहाँ प्रकट हो गया और मत्स्येन्द्रनाथके चरणोंपर सिर रखकर प्रणाम करने लगा।

यही बालक आगे चलकर गोरक्षनाथके नामसे प्रसिद्ध हुआ। मत्स्येन्द्रनाथने उस समयसे बालकको साथ ही रखा और योगकी पूरी शिक्षा दी। गोरखनाथने गुरूपदिष्ट मार्गसे साधना पूरी की और स्वानुभवसे योगमार्गमें और भी उन्नति की। योगसाधन और वैराग्यमें वे गुरुसे भी आगे बढ़ गये। योगबलसे उन्होंने चिरञ्जीव-स्थितिको प्राप्त किया।

गोरखनाथके दो प्रधान शिष्य हुए—गैनीनाथ या गैबीनाथ और चर्पटीनाथ। इनके नाथ-सम्प्रदायमें निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर आदि और भी कई सिद्ध महात्मा हो गये हैं।

गोरखनाथ केवल योगी ही नहीं थे, वरं बड़े विद्वान् और कवि भी थे। उनके गोरक्षकल्प, गोरक्षसंहिता, गोरक्षसहस्रनाम, गोरक्षशतक, गोरक्षपिष्टिका, गोरक्षगीता तथा विवेकमार्तण्ड आदि अनेक ग्रन्थ संस्कृत-भाषामें मिलते हैं। हिन्दीमें भी उनकी बहुत-सी कविताएँ मिलती हैं।

महायोगी गोरखनाथने अपने ग्रन्थोंमें आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधिका सम्यक् प्रतिपादन किया है। विशेषरूपसे षडङ्ग-योग और उसके अन्तर्गत कुण्डलिनी-जागरण, मुद्रा-बन्ध, अभ्यास, आसन, प्राणायाम, षट्चक्रभेदन, नाडी-शोधन, नादानुसंधान तथा नाद-विन्दु-उपासनापर प्रकाश डाला है तथा शिवपद—अलख निरञ्जन, निष्कल शून्य पदकी प्राप्तिके साधनोंका विस्तारसे वर्णन किया है।

श्रीमत्स्येन्द्रनाथकी तरह श्रीगोरखनाथको भी नेपालके लोग बड़े आदरकी दृष्टिसे देखते हैं और इन्हें श्रीपशुपतिनाथजीका अवतार मानते हैं। गोरखनाथजीके शिष्य होनेके कारण ही नेपाली 'गोरखा' कहलाते हैं।

प्रायः सम्पूर्ण भारतमें नाथ सिद्ध योगी बाबा गोरखनाथजीके आश्रम, टीला आदि मिलते हैं। उनमेंसे गोरखपुर महासिद्ध हठयोगी बाबा गोरखनाथकी प्रसिद्ध तपःस्थली एवं साधना-स्थली रही है। आज भी उस स्थानपर योगसिद्ध बाबा गोरखनाथका एक विशाल एवं भव्य मन्दिर सुप्रतिष्ठित है।

बिश्नोई-मतके मूल आचार्य सिद्धेश्वर जाम्भोजी

(माँगीलाल बिश्नोई 'अज्ञात', एम्० ए०)

राजपूतानेके सिद्ध योगियोंमें जाम्भोजीका विशेष स्थान है। इनका जन्म सं० १५०८ भाद्रकृष्ण अष्टमीको पीपासर (जोधपुर) नामक स्थानमें हुआ। ये जन्मसे ही योगी थे और अपनी अलौकिक स्थितिमें मस्त रहते थे। इन्होंने वि० सं० १५४२ कार्तिक अमावास्याके दिन सम्भराथल नामक रेतके टीलेपर पवित्र मृत्तिका-कलशको स्थापित कर बिश्नोई (वैष्णव)-पन्थका प्रवर्तन किया। इस पन्थके माननेवाले पंजाब, राजस्थान आदि कई स्थानोंमें पाये जाते हैं। इस पन्थके भक्तोंकी यह आस्था है कि जाम्भोजी साक्षात् विष्णुके ही अवतार थे। ये प्रायः सत्ताईस वर्षतक किसीसे कुछ बोले नहीं, मौन-साधना करते रहे। बराबर गाय चरानेका पुण्यकर्म करते रहे। लोग समझते थे कि ये गूँगे हैं, परंतु वास्तवमें ये गूँगे नहीं थे। इनकी योगचर्या अत्यन्त विलक्षण थी। गाय चराते समय, मेवाड़के महाराणा दूदाजीको, जो राज्यसे निकाल दिये गये थे, एक लकड़ी देते हुए आशीर्वाद दिया कि 'तुम अपने राज्यमें वापस जाओ, तुम्हारा राज्य वापस मिल जायगा। इस लकड़ीको पवित्र स्थानमें सुरक्षित रखना।' कहते हैं इनकी वाणी सत्य हुई। सं० १५४२ में इनके पिता नागोरकी देवीकी पूजा एक ब्राह्मणसे इसलिये कराने लगे कि जाम्भोजीका गूँगापन दूर हो जाय। ब्राह्मणने बारह दीपक देवीके सामने जलाये। यहींपर जाम्भोजीने पहले-पहल ब्राह्मणको उपदेश दिया और दीपकोंको बुझाकर उनमें बिना बत्तीके जलसे दीपक जला दिया।

विचित्र यौगिक साधनाओंको सम्पन्न करते हुए तथा साधकोंका मार्ग-प्रदर्शन करते हुए और कल्याणकारी उपदेश देते हुए अन्तमें इन्होंने तालवा (बीकानेर) में समाधि ली थी।

जाम्भोजीद्वारा उपदिष्ट शिक्षा 'सबद वाणी' के नामसे जानी जाती है, जिसमें उनके श्रीमुखसे निःसृत १२० सबद संगृहीत हैं, उनमें योगका अनूठा निरूपण हुआ है।

जाम्भोजीने अपने सबदोंमें गोरखनाथजीको योगी गुरुके रूपमें 'अपार' की संज्ञासे अभिहित किया है—

मेरे गुरु जो दीन्हीं शिक्षा, सरब अलिंगण फेरी दीक्षा।

जुगाँ-जुगाँ को जोगी आयो, सतगुरु सिद्ध बतायो ॥

(सबद ९१-९२)

योगाङ्ग-प्रसङ्ग

जाम्भोजीके सबदोंमें यत्र-तत्र-सर्वत्र चित्तकी चञ्चलताको रोकनेके लिये अष्टाङ्गयोगका साङ्गोपाङ्ग उल्लेख मिलता है, जिसका अन्तिम उद्देश्य 'मोक्ष' है।

प्राणायाम—

'पूरक पूर पूर लै पौण। भूख नहीं अन्न जीमत कौण ॥'

(सबद ५१)

अर्थात् प्राण-अपानको प्राणायामके पूरकसे सुषुम्नामें स्थापित करनेसे भूख-प्यास नहीं लगती, अतः अन्न कौन खाये ? पुनश्च—

भाठी अंदर लोह तपीलो, तंतक सोना छड़ै कसारूँ ॥

(सबद ९८)

और—

बस कर पवणा, बस कर पाणी, बस कर हाट-पटणा दरवाजों।
दसे दवारे ताला कूँची, भीतर पोल बणाई ॥

(सबद ९९)

यहाँ शरीरको भट्टीमें प्राणायामरूपी अग्निसे मलरूपी लोहेको तपायमान करने एवं सुषुम्नामें प्राण-निरोधको सोना गढ़नेकी संज्ञा दी है। इसके साथ ही प्राणवायु, सहस्रारसे स्रावित अमृत एवं नौ द्वारोंको वशमें कर दसवें द्वारमें खेचरी मुद्रारूपी ताला लगानेको कहा है।

इसी प्रकार खेचरीमुद्रा, उन्मनीमुद्रा आदि मुद्राओंके साथ ही षट्चक्रवेधन एवं कुण्डलिनीके जागरणका भी वर्णन किया है। चित्तवृत्तिनिरोधको उन्होंने एक सुन्दर रूपकद्वारा इस प्रकार समझाया है—

ओउम् काया कंथा, मन जोगूँटो, सींगी श्वास, उश्वासूँ।
मन मृग राखले कर किरसावी, यों म्हे भया उदासूँ ॥
हम ही जोगी, हम ही सती, हम ही राखिबा चिहूँ।
पाँच पटण नव थानक साधले, आदिनाथ का भगहूँ ॥

(सबद ४७)

यहाँ शरीरको गुदड़ी, मनको कौपीन (लंगोट) एवं श्वास-प्रश्वासको प्राणायाम-निरोधजन्य सींगी बताया गया है। चञ्चल मनको चित्तवृत्तिके निरोधसे वशमें कर उपासनारूपी खेती करनेको कहा गया है।

जाम्भोजी महाराजने इस बातपर विशेष बल दिया कि भूलने योग्य छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेषको तुम्हारा मन चाहता है। इस प्रकार केवल बाह्य वेशजन्य साधुतासे क्या ? अतः अन्तःकरणको विवेक एवं वैराग्यसे युक्त कर मनको स्वच्छ करो—

देखत भूली को मन चैवे, भीतर कोरा, बाहर भेवै।

(सबद १०९)

उन्होंने नाम-जपको कल्याण-प्राप्तिका मार्ग बताते हुए कहा है—

ओउम् विष्णु विष्णु तूँ भण रे प्राणी पैंके लाख उपाजूँ।
रतन कया बैकुण्ठे बासो, तेरा जरा-मरण भय भाजूँ ॥

(सबद ११९)

अर्थात् हे प्राणी! श्रद्धापूर्वक तू नित्य 'ओ३म् विष्णु' मन्त्रका जप कर। कलियुगमें लाखों अन्य उपायोंसे केवल 'नाम-जप' ही भवसागर तरानेवाला है। इससे तुम्हारा जन्म-मरणरूपी भय नष्ट होकर वैकुण्ठवास होगा।

दक्षिणके महायोगी संत तिरुमूलर

(डॉ० श्रीमती राधाकृष्णमूर्ति)

दक्षिण भारतकी शैव संत-परम्परामें परम योगी संत तिरुमूलरका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वे ईसाकी छठी शताब्दीमें विद्यमान थे। उनकी अनुपम तमिल-कृति 'तिरुमन्दिरम्' (तिरुमन्त्रम्) आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्त्वोंसे ओतप्रोत एक बृहदाकार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अपने ग्रन्थमें उन्होंने अपनेको भगवान् नन्दीके सनक, सनातन आदि आठ शिष्योंकी परम्परामें माना है। वे तमिल-प्रदेशके आदिगुरु एवं दक्षिणके शैव-सिद्धान्तके प्रथम प्रतिपादक माने जाते हैं।

तमिल शैव-संतोंके जीवन-चरितके लेखक संत सेक्किलारने अपने 'पेरियपुराणम्' (बृहत्पुराण) में योगी तिरुमूलरके जीवनका वर्णन करते हुए कहा है कि 'तिरुमूलर'

कैलास-स्थित नन्दिकेश्वरकी कृपासे अनुगृहीत योगीश्वरोंमेंसे एक थे।' अष्ट सिद्धियोंको प्राप्त करनेके बाद वे अगस्त्य ऋषिके दर्शनार्थ दक्षिणकी ओर निकल पड़े। मार्गमें केदारनाथ, नेपालके पशुपतीश्वर, काशीके विश्वनाथ तथा श्रीपर्वत, विन्ध्यपर्वत, कालहस्ती आदि तीर्थोंमें स्थित शिवलिङ्गोंके दर्शन करते हुए वे काञ्चीनगरी और चिदम्बरम्से होकर तिरुवावडुतुरै नामक पुण्यक्षेत्र पहुँचे। वहाँके पशुपतीश्वरको देखकर उनका मन आनन्द-विभोर हो गया। उस दिव्य क्षेत्रको छोड़कर जब वे कावेरी नदीके तटपर जा रहे थे, तब उन्होंने एक करुणाजनक दृश्य देखा। वहाँ मार्गमें मूलन नामक एक ग्वाला सर्प-दंशसे मरा पड़ा था और उसकी अनाथ गायें रो रही थीं। परदुःखको मिटानेमें सदा तत्पर रहनेवाले उन योगीश्वरने निःसहाय गायोंके दुःखको दूर करनेके लिये अपनी योगशक्तिसे मूलनके मृत शरीरमें प्रवेश किया और उसी रूपमें गायोंको लेकर गाँव लौटे। दूसरे दिन उन्होंने अपने शरीरमें प्रवेश करना चाहा, परंतु जहाँ वे अपना शरीर छोड़ आये थे, वहाँसे वह अदृश्य हो गया था। इस घटनाको ईश्वरकी इच्छा समझकर वे मूलनके ही शरीरमें समाविष्ट रहकर तिरुवावडुतुरैके मन्दिरमें रहने लगे। यहीं रहकर वे शैवागमोंके गूढ़ तत्त्वोंको तमिल भाषामें पद्यबद्ध करने लगे। उनका मूल नाम 'सुन्दर' था, परंतु ग्वाले 'मूलन' के शरीरमें प्रवेश करनेके कारण वे 'तिरुमूलर' नामसे प्रसिद्ध हुए। इस घटनाका उल्लेख उन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थ 'तिरुमन्दिरम्'में किया है।

तीन हजार पद्योंसे युक्त और नौ तन्त्रों (अध्यायों) में विभाजित 'तिरुमन्दिरम्' दक्षिणके समस्त 'शैव-सिद्धान्त' वाङ्मयमें सर्वप्रथम और तमिल भाषाके द्वादश 'तिरुमुरै' ग्रन्थोंमें दशम ग्रन्थ माना जाता है। इसको 'तिरुमन्दिरमाला' भी कहते हैं। कहा जाता है कि महायोगी तिरुमूलरने तीन हजार वर्षोंतक कठोर तपस्या करते हुए प्रत्येक वर्षमें एक-एक पद्यकी रचना की थी। कारण , कासिक, वीर, सिद्धि, वातुल, व्यामल, कालोत्तर, सुप्रभेद और मुकुट—इन नौ शैवागमोंका प्रतिपादन तिरुमूलरने अपने इस ग्रन्थके नौ तन्त्रोंमें किया है।

गहन आत्म-चिन्तनसे अनुप्राणित इस ग्रन्थमें सर्वत्र शिव-शक्तिकी उपासनाका महत्त्व बताया गया है। उनका उपदेश है कि चाहे वैष्णव हो या शैव, ईश्वरके सामने सब समान हैं और विभिन्न मत या धर्म तो केवल साधनमात्र हैं।

परमात्मा शिव मुक्ति प्रदान करनेवाला ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानका प्रदाता वेदस्वरूप भी वही है। वही सृष्टिकर्ता है। वह सभी पाशोंसे विमुक्त है, विशुद्ध है और स्वयं ज्ञान-ज्योति है। वही सगुण रूपमें प्रकट होकर भक्तोंके लिये पूज्य बनता है। वह भक्तोंके लिये जलसे भी शीतल है। दुष्टोंके लिये अग्निसे भी तेज है। उमापतिका रूप धारण करके वह मन्दिरोंमें विराजमान होता है। उसकी कृपामयी दृष्टि अद्वितीय है। जब जीवात्मा और परमात्माका मिलन हो जाता है, तब सब पाश अपने-आप दूर हो जाते हैं।

प्रेम ही शिव है और समस्त ही शिव है। उनका यह अमर संदेश देश, काल, जाति-कुल आदिके भेदको पार करके मानवमात्रके लिये उपयोगी है।

अप्परस्वामी, तिरुज्ञान सम्बन्धर-जैसे परवर्ती संतोंके लिये उनकी अमृतोपम वाणी और उत्कृष्ट आध्यात्मिक विचार मार्गदर्शक सिद्ध हुए। दक्षिण भारतमें योगी, सिद्ध और संत तिरुमूलरके प्रति इतना पूज्यभाव प्रदर्शित किया गया है कि तिरुवावडुतुरै नामक पुण्य स्थलके शिवमन्दिरमें उनकी मूर्तिको प्रतिष्ठापित करके भक्तगण उनकी परमयोगी और गुरुरूपमें पूजा और आराधना करते हैं तथा उनके योगमय परम कल्याणकारी उपदेशोंसे लाभ उठाकर अपनेको कृतार्थ समझते हैं।

महात्मा जरथुस्त्र

महात्मा जरथुस्त्र पारसी धर्मके आदिसंस्थापक थे। पारसी धर्ममें इन्हें असाधारण देवातीत गुणसम्पन्न ईश्वरतुल्य व्यक्ति बतलाया गया है। ईसासे एक हजार वर्षपूर्व इनका जन्म माना जाता है। महात्मा जरथुस्त्र एकेश्वरवादी थे। जन्दाअवस्ता पारसियोंका आदि धर्मग्रन्थ है। पवित्र चिन्तन, पवित्र वाक्य और पवित्र कार्य—इन तीन नियमोंका ये दृढ़तासे पालन करते हैं।

सौराष्ट्रकी योग-विभूति—महात्मा मस्तरामजी

(डॉ० श्रीकमलपुंजाणी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

सौराष्ट्रकी धरती सदासे ही संत-महात्माओंकी सेवा-साधनासे परिपूर्ण रही है। ये सभी संत-भक्त योगकी अलौकिक शक्तिसे विभूषित थे। इसी परम्परामें भावनगरके ध्यानयोगी महात्मा मस्तरामजी भी अपने नामके अनुसार एक मस्तमौला सिद्ध पुरुष थे। उनका अपना कोई निश्चित निवास-स्थान नहीं था। नदीकी रेत या मरघटकी धूलिपर वे जितनी सहजतासे समाधिस्थ हो जाते थे, उतनी ही सरलतासे शहरके कोलाहलपूर्ण वातावरणमें भी आत्मलीन हो जाते।

महात्मा मस्तरामजी सादगी, संतोष और संयमकी जीवन्त मूर्ति थे। वे निर्लिप्त एवं निर्मोही संत थे। भावनगरमें लगभग सौ वर्ष पहले मस्तरामजी एक पीपलके पुराने पेड़की शीतल छायामें प्रायः पड़े रहते थे।

एक दिन महाराजा तख्तसिंहका रथ पीपलके पेड़के पाससे गुजरा। सहसा महाराजाकी दृष्टि ध्यानस्थ महात्मा मस्तरामजीपर पड़ी। वे रथसे नीचे उतर गये और संतके सम्मुख हाथ जोड़कर बोले—'महात्मन्! आप इस पेड़के नीचे क्यों रहते हैं? हमारे महलमें पधारिये। कभी हमें भी अपनी सेवाका अवसर दीजिये।'

'राजन्! हम साधु-संतोंको महलसे क्या मतलब ? यह पेड़ ही हमारा महल है।' इतना कहकर मस्तरामजी पुनः ध्यानस्थ हो गये।

महाराजा तख्तसिंहजी संतकी निर्लिप्ततासे बहुत प्रभावित हुए और उन्हें प्रणाम करके वे अपने राजमहलकी ओर चल पड़े।

× × ×

एक बार जाड़ेकी कड़ाकेकी सर्दीमें मस्तरामजी तालाबमें स्नान कर रहे थे। इसी समय महाराजा तख्तसिंहजी अपने दीवानके साथ प्रातःकालीन भ्रमणके लिये निकले। दो सिपाही भी उनके साथ आगे-पीछे चल रहे थे।

महाराजाको देखनेपर प्रतीत हुआ कि मस्तरामजीके हाथ-पैर ठंडके मारे काँप रहे हैं। उन्होंने तुरंत अपनी ऊनी शाल शरीरसे उतारकर सिपाहीको दी और कहा—'इसे चुपचाप महात्माजीके शरीरपर डाल दो।'

सिपाहीने मस्तरामजीके निकट पहुँचकर धीरेसे पीछेसे शाल उनके कंधेपर डाल दी, किंतु वह अपने-आप तुरंत नीचे सरक पड़ी। महाराजाने फिरसे सिपाहीको भेजा और शाल उठाकर महात्माजीको ओढ़ानेका आदेश दिया। सिपाहीने दूसरी बार सँभालकर मस्तरामजीके कंधेपर शाल डाल दी। मस्तरामजी निर्विकार-भावसे खड़े रहे। वह शाल पुनः धरतीपर गिर पड़ी।

महाराजाके संकेतसे सिपाहीने शालको पुनः उठाया और महात्माजीके शरीरपर लपेटनेकी कोशिश की, परंतु मस्तरामजी इधर-उधर देखे बिना चुपचाप वहाँसे चलने लगे और शाल वहीं पड़ी रही। उनकी विरक्ति और सुख-दुःख, शीत-उष्णादि द्वन्द्वोंको जीत लेनेकी शक्तिसे प्रभावित होकर महाराजाके मनमें इनके प्रति और अधिक आदर एवं श्रद्धा बढ़ गयी। ऐसी अनेकों घटनाएँ उनके योगमय जीवनमें देखी जाती थीं। इस प्रकारके प्रसंगोंकी चर्चा शनैः-शनैः सारे भावनगर तथा आस-पासके प्रदेशोंमें फैल गयी, किंतु उन्हें इस चर्चासे कोई लगाव नहीं था।

× × ×

महात्मा मस्तरामजी मानो सहनशीलताकी प्रतिमूर्ति ही थे। वे बाह्य विपत्तियों तथा विघ्नोंसे कभी विचलित नहीं हुए। उनके जीवन-चरित्रमें सहनशीलताके अनेक रोचक रम्य प्रसंग भरे पड़े हैं। एक प्रेरक प्रसंग उदाहरणार्थ यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

एक बार रातके समय महात्मा मस्तरामजी नदीकी रेतमें ध्यानस्थ मुद्रामें बैठे थे। इतनेमें कुछ मनचले युवक वहाँसे निकले और मस्तरामजीको देखकर आपसमें बातें करने लगे।

'अरे! यह तो वही साधु है, जिन्हें महाराजा तख्तसिंहजी अपना गुरु मानते हैं।' एक युवकने कहा।

'नहीं भाई! यह तो ढोंगी लगता है। देखो न, खा-पीकर कितना तगड़ा हो गया है।' दूसरे युवकने अपना मत व्यक्त किया।

'चलो, इसीसे पूछ लेते हैं' कहकर तीसरा युवक मस्तरामजीकी ओर मुड़ा। अन्य युवक भी उसके पीछे-पीछे

चलने लगे।

'साधु महाराज! आप महाराजा तख्तसिंहके गुरुदेव हैं?' युवकने मस्तरामजीके पास जाकर पूछा।

मस्तरामजीने कोई उत्तर नहीं दिया। वे ध्यानावस्थामें बैठे रहे। युवकने उनके कानोंके पास अपना मुँह ले जाकर फिरसे पूछा, किंतु उसे कोई जवाब नहीं मिला। तब युवक जोरसे चिल्लाया—'अरे ढोंगी! बोलते क्यों नहीं? क्या बहरे हो?' इतनेपर भी जब उनका ध्यान विचलित नहीं हुआ तो उनमेंसे एक युवकने एक जलता हुआ बड़ा अंगारा मस्तरामजीकी जाँघपर रख दिया। उसने सोचा कि अंगारेका स्पर्श होते ही साधुकी समाधि टूट जायगी, किंतु मस्तरामजी अविचलित ध्यान-मुद्रामें लीन रहे। इसपर युवकका मन आत्मग्लानिसे भर आया।

ऐसी अनेकों चमत्कारपूर्ण घटनाएँ मस्तरामजीके जीवनसे जुड़ी हुई कही-सुनी जाती हैं। अपनी चिर-साधनाके पश्चात् अन्तमें सं० १९५७ की कृष्णा एकादशीको भावनगरके बोटाद गाँवमें ये चिर-समाधिमें लीन हो गये। वास्तवमें एक सच्चे योगी एवं साधकके लिये प्रायः कुछ भी असम्भव नहीं होता, वह अपनी साधनाके बलपर ध्यान-समाधिके द्वारा भगवान्‌का साक्षात् करनेमें समर्थ हो जाता है।

मिथिलाके सिद्ध योगी परमहंस श्रीलक्ष्मीनाथ गोस्वामी

(आचार्य डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र)

परमहंस श्रीलक्ष्मीनाथ गोस्वामीका जन्म मिथिलाके एक अवदात ब्राह्मण-वंशमें विक्रमाब्द १८५० सन् १७९३ ई० में परसरमा गाँवमें हुआ था। पिता पं० श्रीबच्चाजी झा संस्कृतके अच्छे विद्वान् थे। बचपनसे ही उनके व्यवहारमें परिवार आदि सांसारिक जनोंके प्रति अनासक्तिका भाव देखकर पिताने उन्हें जयनगर पं० श्रीरत्तेजी झाके निकट पढ़नेके लिये भेज दिया। वहाँ उन्होंने व्याकरण, ज्योतिष, वेदान्त तथा तन्त्र-विद्याका गहन अध्ययन किया। घर वापस आनेपर उनकी इच्छाके प्रतिकूल भी माता-पिताने उनका विवाह कर दिया, किंतु सांसारिक बन्धनसे विमुक्त होनेके लिये और योग-सिद्धिकी प्रबल अभिलाषासे वे घर छोड़कर बाहर निकल गये तथा—

चलिये कन्त ओहि देश जहाँपर निज घर अपना।
पँच रँग महल देखि मत भूलहु यह सुख जानहु निसि सपना॥
यह संसार फूल सीमरके अंदर रुइया रे समना।
सुत बित नारि भवन कुल परिजन यह सब चमकत चारि दिना॥

—इन पंक्तियोंको लिखकर बिछावनपर छोड़ दिया और चुपचाप घरसे चल पड़े। कुछ दिनोंके बाद लोगोंने उन्हें सिंहेश्वर महादेवके मन्दिरमें ध्याननिमग्न देखा। घरवाले किसी तरह उन्हें समझाकर घर वापस ले आये। उनकी पत्नी बड़ी ही सती-साध्वी तपोनिष्ठ थी। उसकी सेवासे प्रसन्न हो इन्होंने उसे पुत्र-प्राप्तिका आशीर्वाद दिया और इनके आशीर्वादके प्रभावसे उसे यथासमय एक पुत्र प्राप्त हुआ। इसके बाद परमहंसजी पशुपतिनाथकी यात्रापर निकल पड़े। वहाँ गोरखनाथके शिष्य स्वामी लम्बनाथसे इन्होंने योगकी शिक्षा ली और कठिन साधनाकर पूर्ण सिद्धि प्राप्त की। वहाँसे वे पुनः मिथिला आये और घूम-घूमकर भागवत-धर्मका प्रचार किया। उसी प्रसङ्गमें एक दिन उन्होंने शकरपूरा राजघरानेके राय लक्ष्मीनारायण सिंहका आतिथ्य स्वीकार किया। निःसंतान होनेके कारण राय दम्पतिको अत्यन्त दुःखी देखकर गोस्वामीजीने पुत्ररत्न प्राप्त करनेका आशीर्वाद दिया। उनके आशीर्वादसे राय साहेबको दो पुत्र हुए। इस बातकी ख्याति चारों ओर फैल गयी और गोस्वामीजी एक सिद्ध पुरुषके रूपमें माने जाने लगे।

उनकी जीवनकालीन विभिन्न अलौकिक घटनाओंकी चर्चा आज भी मिथिलाञ्चलमें होती है। जैसे मृत गायको पुनर्जीवित करना, पादुका पहनकर विशाल नदीके प्रवाहमें चलकर उसे पार करना, आशीर्वादके अनुसार फल मिलना आदि।

गोस्वामीजीने श्रीमद्भागवतका गम्भीर स्वाध्याय किया था। उन्होंने व्रजभाषामें अनेक विशिष्ट रचनाएँ भी कीं, जिनमें—१-प्रश्नोत्तरीमाला, २-अकारादि दोहावली, ३-भाषा-तत्त्वबोध, ४-श्रीरामरत्नावली, ५-गुरुचौबिसी—ये पाँच ग्रन्थ 'विवेक-पञ्चरत्न' के नामसे प्रसिद्ध हैं।

प्रश्नोत्तरमाला श्रीशंकराचार्यके प्रश्नोत्तरात्मक संस्कृत ग्रन्थका अनुवाद है। गुरु-शिष्यके प्रश्नोत्तररूपमें ६४ दोहात्मक पद्योंकी इस रचनामें विशेषतः आध्यात्मिक विवेचन किया गया

है। यथा—

घोर नरक काको कहत? नरक आपनो देह।
जाकी तृष्णा क्षय भई, ताहि स्वर्ग सुख गेह॥
परम सुखी को होत है? जो नर मूढ़ सुजान।
सेवा काको कीजिये? देव वृद्ध गुरु ज्ञान॥
बन्ध्यो है को जगतमें? जाहि विषय अनुराग।
मुक्ति कौन को होत है? जाको विषय विराग॥

'अ' से 'क्ष' तक प्रत्येक वर्णसे आरम्भकर रचित ५४ दोहोंकी 'अकारादि दोहावली' में प्रत्येक दोहा उपदेशप्रद है। इनमें 'क-ख' का चमत्कार देखिये—

काया कामिनि काल-गति, कबहूँ लखी न जाय।
काहे कातर होत है, कृष्ण रिझाओ जाय॥
खेत खराबी करत क्यों, खबरदार ह्वै खोज।
खरचा खामिन्द देहिंगे जासे खाते रोज॥

श्रीशंकराचार्य-विरचित 'तत्त्वबोध' के अनुवादात्मक ९९ दोहे 'भाषा-तत्त्वबोध' में हैं, जिनमें अध्यात्मविद्याका तात्त्विक निरूपण किया गया है। 'श्रीरामरत्नावली'में श्रीराम-नामके महत्त्वका प्रतिपादन हुआ है। इसमें १११ दोहोंका संग्रह है। श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें यदु और ब्राह्मणके संवाद-रूपमें वर्णित २४ गुरुओंकी शिक्षाके आधारपर श्रीगोस्वामीजीने 'गुरुचौबिसी' की रचना की। इसमें छब्बीस दोहोंका संग्रह है। जिनमें पृथ्वी, वायु, आकाश, मृग आदि चौबीस गुरुओंसे प्राप्त शिक्षाका प्रतिपादन किया गया है।

'विवेक-पञ्चरत्न'के अतिरिक्त श्रीपरमहंसजीकी रचनाओंमें 'श्रीकृष्णरत्नावली', 'श्रीरामगीतावली', 'श्रीकृष्णगीतावली', आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णके रूप, गुण, धाम, ऐश्वर्य, माहात्म्य आदिका रोचक वर्णन है।

इस प्रकार गोस्वामी परमहंसजीने अपने उपदेशोंमें संसारकी नश्वरताको समझते हुए भगवान्‌की ओर उन्मुख होनेपर ही विशेष बल दिया है। वे इसके लिये विरागी या संन्यासी होना आवश्यक नहीं समझते थे। उनका मानना था कि संसारमें अनासक्त-भावसे रहते हुए अपने कर्तव्य कर्मोंको करते हुए भगवान्‌की विस्मृति न हो तो इससे शीघ्र ही परम कल्याण हो जाता है।

श्रीअच्युतमुनिजी

श्रीअच्युतमुनिजीका पंजाबी शरीर था। आप संस्कृतके उद्भट विद्वान् थे और पहले लाहौरमें अध्यापन-कार्य करते

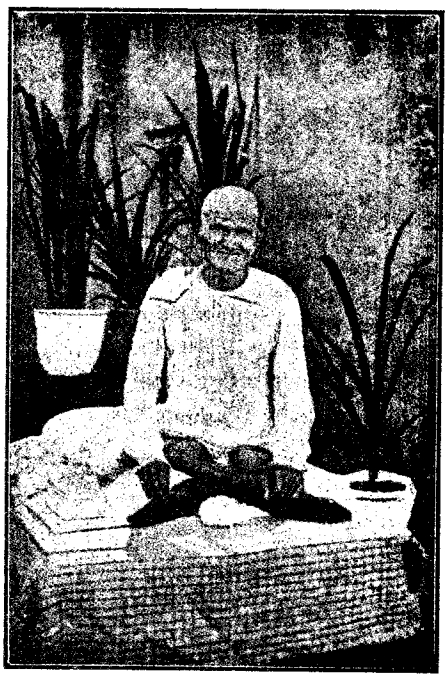

थे। आपने शास्त्रोंका बड़ा गहरा अध्ययन किया था। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र आदि ग्रन्थ तो आपको कण्ठस्थ हो गये थे। स्वभावसे ही आपके अंदर वैराग्यकी भावना वर्तमान थी। अध्यापन-कार्य करते समय भी आप प्रायः संसारसे निर्लिप्त रहा करते थे। आपका अधिकांश समय एकान्तमें, विशेषतः रावी नदीके तटपर बीता करता था। नाम-जपपर आपकी बड़ी श्रद्धा थी। आपने स्वयं एक बार कहा था कि ***'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'*** इस तारकमन्त्रका पाँच करोड़ जप मैंने उन्हीं दिनों किया था। आखिर आप सब कुछ छोड़-छाड़कर संन्यासी हो गये। बहुत दिनोंतक अनूपशहरके पास श्रीभृगुक्षेत्रमें रहे। वहाँ आप श्रीगङ्गाजीके बीच एक नावपर रहा करते। आपकी प्रकृति अत्यन्त सरल और स्वभाव बालकके समान था। आपका प्रेमभरा मृदु भाषण सुनकर कोई भी आदमी आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता था। आपकी विद्वत्तासे आकर्षित होकर बहुतसे लोग आपके पास सत्संग और शास्त्रचर्चाके लिये आया करते

थे। आप वेदान्तादि अत्यन्त गूढ़ विषयोंका विवेचन बड़ी गम्भीरता तथा सरलताके साथ किया करते थे। आपके द्वारा शिक्षाप्राप्त कितने ही महानुभाव आज सन्मार्गपर चलकर आपका गौरव बढ़ा रहे हैं।

आप कुछ समयतक काशीके समीप रामेश्वर नामक स्थानमें रहे और समय-समयपर अपने उपदेशोंसे लोगोंका कल्याण-साधन किया करते रहे। आपने १२ दिसम्बर, सन् १९३५को काशीधाममें भगवान् श्रीविश्वनाथके मन्दिरके सामने श्रीगौरीशंकरजी गोयनकाके मकानमें इहलीला समाप्त की।

कर्म, ज्ञान और भक्तिकी त्रिवेणी—स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज

अनन्तश्री स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजका जीवन कर्म, ज्ञान और भक्तियोगकी त्रिवेणीका एक संगम था। यद्यपि वे ज्ञानयोगी थे, परंतु उनके कार्यक्रमोंको देखते हुए ऐसा लगता था कि वे किसी कर्मयोगीसे कम नहीं हैं। उनकी भक्ति

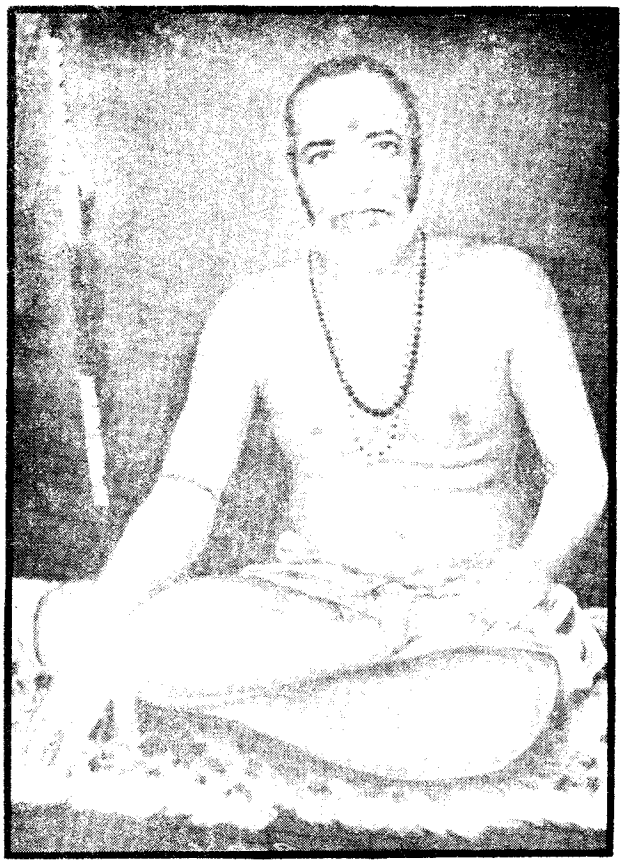

भी इतनी प्रगाढ़ थी, जिसकी तुलना किसी सामान्य भक्तसे नहीं की जा सकती। वे एक महान् योगी थे। उन्होंने प्रायः योगके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको धारण करते हुए सम्पूर्ण यौगिक साधनाओंको जीवनमें उतारा। हठयोग, राजयोग, लययोग एवं मन्त्रयोग आदिकी साधना उनके जीवनमें निरन्तर अपने क्रमानुसार चलती रहती थी, जिनका दिग्दर्शन उनकी दैनिक-चर्या एवं जीवनचर्यासे होता था। एक बार उनसे पूछनेपर कि 'महाराज ! आप नयी-नयी यौगिक क्रियाओंका अवलम्बन क्यों लेते हैं ?' तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'कुछ क्रियाएँ कौतूहलवश भी करता हूँ।' पर ऐसा लगता है कि उनके सम्पूर्ण कर्म लोक-संग्रहार्थ ही थे। कारण, वे शास्त्र-मर्यादित कर्मोंके सम्पादनमें पूर्ण तत्परताका निर्वाह करते थे।

वास्तवमें महाराजश्री जन्मतः स्वभावसे ही साधु और त्याग वैराग्यकी प्रतिमूर्ति थे। अपने जीवनमें उन्होंने गृहस्थीसे लेकर विरक्तितक जितना कार्य सम्पन्न किया, उतना कार्य अन्य कोई शायद ही कर सके। जीवनके पूर्वार्धमें उनके तीव्र त्याग और तपस्याकी प्रशस्ति तो सर्वविदित ही है, पर जीवनके उत्तरार्धमें लोकहितार्थ एवं धर्मकी रक्षाके लिये उनके द्वारा जो कार्य सम्पन्न हुए वे कम महत्त्वके नहीं। शास्त्रानुसार धर्मकी संस्थापना और उसकी रक्षा—यह महाराजके जीवनका सत्संकल्प था।

उनकी दिनचर्या अत्यन्त विलक्षण थी, जिसे उनके भक्तगण भी नहीं जान पाते थे। स्वामीजी प्रायः रात्रिमें एक बजे प्रतिदिन उठ जाते और तत्काल स्नान कर जप, ध्यान एवं समाधिमें बैठ जाते। साढ़े तीन बजेसे पाँच बजेतक प्रातः एकाकी भ्रमण—चार-पाँच मील पैदल घूमनेका कार्यक्रम चलता। भ्रमणके समय स्तोत्र-पाठ तथा जप चलता रहता। तदनन्तर प्रातः पाँच बजेसे आठ बजेतक अर्चन-पूजन एवं देवोपासनाका कार्यक्रम चलता। चातुर्मास्यके समय महाराजकी दिनचर्याका पूर्णावलोकन होता था। इन दिनों वे दो मास काशीमें ही निवास करते थे। प्रातः आठ बजेसे बारह बजेतक ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, गीता एवं अन्य सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय एवं उपदेश होता, जिसमें देशके विभिन्न क्षेत्रोंसे समागत संत-महात्मा, साधक एवं विद्वान् पधारकर उससे

लाभान्वित होते। वेदान्त, न्याय, सांख्य, मीमांसा तथा तन्त्रादि और वेद-वेदाङ्गोंसे सम्बद्ध भारतीय संस्कृतिका कोई भी प्राचीनतम ग्रन्थ जो दूसरी जगह समझनेमें कठिन होता, उसे लोग महाराजश्रीके सामने रखते, जिसके पढ़ानेमें महाराजको विशेष रुचि होती थी। वे अपनी पूजा एवं साधनाके अतिरिक्त अन्य कार्योंको करनेकी अपेक्षा स्वाध्याय एवं सत्सङ्गको प्राथमिकता देते। सायंकाल डेढ़ या दो घंटे कथा-सत्सङ्गका कार्यक्रम चलता।

स्वामीजी महाराजकी एक विशेषता थी कि स्वाध्याय एवं सत्सङ्गके समय वे समाधि-जैसी स्थितिमें इतने तल्लीन हो जाते थे कि सामने कौन आया और कौन गया, इसका उन्हें भान भी नहीं होता था। दिनमें प्रायः एकसे पाँच बजेतक महाराजकी एकान्त-साधना चलती। इस अन्तरालमें कुछ समय तो वे लेखन-कार्यमें बिताते थे, पर अधिकांश समय योगासन तथा यौगिक साधनाओंमें बीतता। योगासनोंके साथ-साथ लगभग तीन घंटे लगातार महाराजका शीर्षासनका कार्यक्रम चलता। शीर्षासनमें ही वे श्रीदुर्गासप्तशतीका पाठ तथा अधिकांश पूजा सम्पन्न करते।

एक बार प्रसंगवश उन्होंने यह बताया कि योगासन करते समय भगवदाराधन, पाठ और जप अवश्य करना चाहिये, तभी इसके सम्पादनकी सार्थकता है। उदाहरणरूपमें उन्होंने कहा कि समुद्रमें सीप खोजनेके लिये मछुवे भी प्राणायाम करते हैं तथा दूसरी ओर देवाराधन आदिके निमित्त भी प्राणायाम किया जाता है। इन दोनोंमें कितना अन्तर है। मात्र नश्वर शरीरकी रक्षाके लिये योगासन करना बुद्धिमत्ता नहीं है। शारीरिक स्वस्थता तो योगासन करनेपर प्राप्त होगी ही, किंतु योगासनका उद्देश्य तो देवाराधन ही होना चाहिये, जिससे आध्यात्मिक लाभ मिल सके और समयका पूर्ण सदुपयोग हो सके।

चौबीस घंटेमें एक बार सायंकाल पाँच बजे सूर्यास्तसे पूर्व महाराजकी नमक एवं चीनीसे रहित भिक्षा होती थी, जिसमें उपलब्ध होनेपर गो-दुग्ध भी स्वीकार करते थे। यह बात प्रसिद्ध थी कि महाराजको भिक्षा करनेमें समय नहीं लगता, केवल तीनसे पाँच मिनटमें ही भिक्षा हो जाती। जो कुछ समय लगता, वह भगवान्‌को भोग लगानेमें ही लगता। एक बारकी भिक्षाके अतिरिक्त अन्य किसी समय फल इत्यादि भी वे ग्रहण नहीं करते थे। चातुर्मास्यके दिनोंमें तो उन्हें प्रातःकालसे रात्रिके नौ बजेतक अन्न-जल लेनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। सभी कार्योंसे निवृत्त होकर रात्रिमें नौ बजेके बाद केवल फल और दूध भिक्षाके रूपमें ग्रहण करते। यह क्रम दो मासपर्यन्त प्रायः एक ही प्रकारसे चलता।

स्वामीजी महाराज नियमके अटल थे। प्रत्येक एकादशीको उनका निर्जल व्रत रहता। भीषण-से-भीषण गर्मीमें भी वे एकादशीको जल नहीं ग्रहण करते थे। कई बार पूर्वके दिनोंमें अपने तप और साधनाके क्रममें वे सात दिनतक श्रीमद्भागवतका सप्ताह पाठ करते और अन्तमें सातवें दिन दूधकी भिक्षा लेते। यह क्रम कई दिनों, कई महीनोंतक चलता रहता। तुलसीप्रसादमें महाराजकी अनन्य आस्था थी। एकादशीके निर्जल व्रतमें भी वे तुलसीदल ग्रहण करनेका निषेध नहीं करते थे।

महाराजके जीवनमें नियमकी प्रतिबद्धता थी। अधिक मात्रामें ज्वर आदिके रहनेपर भी वे प्रातः तीन बजेसे पूर्व उठकर एक बार स्नान कर अपनी साधनामें अवश्य बैठ जाते। भले ही अस्वस्थताके कारण कुछ क्षणोंके बाद उन्हें विश्राम करना पड़ता। जाड़े-गर्मी तथा बरसात सभी समय प्रायः वे एक चादर ओढ़कर ही सोते दिखायी पड़ते।

काशीमें महाराजकी अटूट श्रद्धा थी। वे यह मानते थे कि जन्म-जन्मान्तरकी साधनाओंके बाद भी त्याग, वैराग्य और तपसे साधन-सम्पन्न मुक्त योगियोंको जो वस्तु दुर्लभ है, वह मोक्ष-पद काशीमें शरीर त्यागनेमात्रसे सुलभ हो जाता है। इसलिये वे सदा काशीके लिये कहा करते—**'मङ्गलं मरणं यत्र'** अर्थात् जहाँका मरण भी मङ्गलमय है। इसलिये प्रारम्भसे ही उनका यह संकल्प था कि शरीर काशीमें ही त्यागना है। और अपने इस सत्संकल्पके अनुसार उन्होंने काशी-स्थित केदारघाटपर केदारेश्वर-मन्दिरके निकट गङ्गातटपर ७ फरवरी, १९८१ ई० तदनुसार माघ शुक्ला चतुर्दशी, रविवारको इस पार्थिव शरीरका परित्याग किया और वे पूर्ण ब्रह्ममें लीन हो गये।

महाराज सबके कल्याणके लिये शास्त्रको ही परम प्रमाण मानते थे, इसलिये उनके जीवनका लक्ष्य था शास्त्रीय

सिद्धान्तोंकी रक्षा और जीवनपर्यन्त निर्भीकतापूर्वक उन्होंने इसका निर्वाह भी किया। उनके जीवनमें ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग—इन तीनोंकी अजस्र धारा समानरूपसे प्रवाहित होती रही।

ज्ञानयोगी स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज

ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज (श्रीमदन-मोहनजी) स्थितप्रज्ञ और जीवन्मुक्त महात्मा थे। आत्माके ज्ञान-को प्राप्त करने और अविद्याके पापसे बचनेके लिये २० वर्षकी अवस्थामें घरसे चले गये और फैजाबादसे अपने पत्रमें अपने पिता तथा बाबाको लिखा····'मैं इस बातका दावा भी नहीं कर सकता कि मैं इसी जन्ममें उस मार्गको ढूँढ़ लूँगा, परंतु कम-से-कम नींव तो पड़ जानी चाहिये, आगे ईश्वरकी इच्छा

है·····प्रेम-स्वरूप परमात्मा मुझको अविद्याके बन्धनसे हटाकर विद्याके सूर्यमें लावें····अविद्यामें पड़े जीना भी मरेके समान है····संसारमें दुःखों एवं अविद्याको देखकर मेरा हृदय काँप जाता है और यही समझता है कि या तो शीघ्र ही ईश्वरकी शरणमें जाओ, नहीं तो कल्याण नहीं है। जंगलमें रूखी-सूखी रोटी खाकर जीवन बिता दूँगा····· मुझे मृत्यु स्वीकार है; परंतु अविद्यामें रहकर धनवान् होना स्वीकार नहीं है। उसी अविद्याको हटानेके उपायमें मैं अपने जीवनको व्यतीत करना चाहता हूँ।'

दृढनिश्चयी, ईश्वरकृपाप्राप्त, परम विरक्त मदनमोहन, कालान्तरमें अपने प्रयाससे श्रीस्वामी कृष्णबोधाश्रम हुए और उन्होंने अपने इसी जन्ममें अविद्याको हटाने और विद्याको प्राप्त करनेका लक्ष्य प्राप्त कर लिया। वे जीवन्मुक्त और स्थितप्रज्ञ महात्मा हो गये। बादमें उन्होंने श्रीज्योतिष्पीठके आचार्य-पदका गौरव बढ़ाया और अपने कल्याणके साथ सहस्रों मानवोंका कल्याण किया।

परब्रह्म परमात्माको जो महापुरुष प्रिय हैं, उसका लक्षण गीतामें स्वयं उन्होंने अपने श्रीमुखसे वर्णन किया है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(गीता १२। १३-१४)

ब्रह्मलीन जगद्गुरुजी ऐसे ही संत-कोटिके महापुरुष थे। वे एक महान् वीतराग, विवेकी, ब्रह्मनिष्ठ तथा ज्ञानयोगी तो थे ही, साथ ही सर्वभूतहितैषी होते हुए उनकी ब्रह्मात्म-दृष्टि थी। ध्यानयोगमें उनकी मुख्य निष्ठा थी। वे लगातार तीन घंटेसे छः घंटेतक ध्यानमें बैठे रहते। जिन लोगोंने उनका दर्शन किया, उनको मालूम है कि जब वे ध्यानमें बैठते तो उन्हें बाह्य जगत्का ध्यान नहीं रहता। ढोल-नगाड़े, गाजे-बाजे और सांसारिक शोर-गुल भी उनके ध्यानमें व्यवधान नहीं डाल पाते, कारण कि उन्हें इनका आभास ही नहीं होता। उनके ध्यानकी यह विशेषता थी कि बिना घड़ी देखे निर्धारित समयपर ध्यान पूरा हो जाता। उन्होंने दण्ड-संन्यास ले रखा था। वे प्रायः पैदल यात्राके अभ्यासी थे। गङ्गा-किनारे रहने और घूमनेका उनका अभ्यास था।

स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजका जन्म वि०-सं० १९४९ (ई० सन् १८९२) में मथुरा जिलान्तर्गत भाण्डीर-वनस्थ ग्राममें एक प्रतिष्ठित सनाढ्य ब्राह्मण पं० श्रीटीकारामजीके घरमें हुआ। आपने सेंटजांस कालेज

आगरामें उच्च शिक्षा प्राप्त की। संस्कृतका भी आपको प्रगाढ ज्ञान था। आप परम विरक्त तथा संसारसे विमुख थे। बाल्यावस्थासे ही संसारमें कोई रुचि नहीं थी। प्रारम्भसे ही ये स्वभावसे दयालु एवं परोपकारी थे। बीस वर्षकी अवस्थामें जुलाई १९१३ ई० के श्रावण मासमें आपने गृहका परित्याग कर दिया और गङ्गा-यमुना तथा सरयू आदि पवित्र नदियोंके तटपर एवं विभिन्न तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए आप सर्वप्रथम अयोध्या पहुँचे। १९१६ ई० में श्रीस्वामी चैतन्याश्रम महाराजसे दीक्षा ली और दण्ड ग्रहण किया। इस समय आपकी अवस्था चौबीस वर्षकी थी।

आपने आद्य श्रीशंकराचार्यजीके इस निर्देशको—'संन्यासीको चाहिये कि वह सदा घूमता रहे एवं धर्म-प्रचारमें निरत रहे' अक्षरशः अपने जीवनमें उतार लिया। फलतः आप अधिकांशतः गङ्गा-यमुनाके मध्य देशमें पैदल ही विचरण करते रहे। इन दिनों प्रायः आप गढ़मुक्तेश्वर एवं बागपत (मेरठ क्षेत्र) में ही विचरते हुए साधनारत रहे। इसी साधनाके मध्य आपने समस्त वेदान्त, धर्म-शास्त्रों, रामायण, महाभारत एवं अठारहों पुराणोंका गम्भीर अध्ययन किया तथा विशेष पारायण किये।

कठिन-से-कठिनतर व्रतोंका अनुष्ठान करते हुए गङ्गा-यमुनाके तटपर पैदल विचरते अपने धर्माचरणसे अनेक व्यक्तियोंको स्वधर्मनिष्ठ बनाते हुए, श्री १००८ स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराजने इस भारतवर्षकी पावन भूमिपर न जाने कितनी पैदल यात्राएँ की हैं। एक समय अल्पाहार, त्रिकाल-स्नान, गङ्गाजल-पानपूर्वक आप जप-यज्ञ एवं ध्यानमें तल्लीन रहते। दृष्टि सदा नीची रखते या आँख बंद कर लेते थे। शास्त्रका यह वचन है कि **'न नेत्रचपलो यतिः।'** संन्यासीको नेत्रोंको पृथ्वीकी ओर झुकाकर चलना चाहिये, इसे आपने अपने जीवनमें उतार रखा था। ये कभी भी न नगरकी भीड़भाड़के क्षेत्रमें प्रवेश करते, न किसी स्त्रीको देखते, न पैर ही छुआते थे। यदि कभी कोई स्त्री भूलसे चरण छू लेती तो तीन दिवसका कठोर व्रत, अन्न-जल-त्याग आदि विभिन्न कठिन व्रत धारण करते। स्वादके नामपर कुछ नहीं लेते। प्रातःकालके तीन बजेसे पुनः रात्रिके दस बजेतककी जिन्होंने आपकी दिनचर्या देखी है, उनका कहना है कि ध्यान, जप, अध्ययन, सत्संग, उपदेश, धर्म-प्रचार—इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रसंगको वहाँ स्थान नहीं।

'शिखा-सूत्र धारण करो', 'संध्या-वन्दन, बलिवैश्वदेव करो', 'अतिथि-सत्कार करो', 'भारतीय वेष-भूषा धारण करो', 'शास्त्रोंका अध्ययन करो', 'रामायणका पाठ करो', 'मादक द्रव्योंका सेवन न करो'—प्रायः इन्हीं बातोंपर आप अधिक जोर देते थे। आपकी दृष्टिमें थोड़ेसे भी धर्मके आचरणका बड़ा महत्त्व रहता। धनके सामने धर्मको आपने सदासे महत्त्व दिया। यही कारण है कि आपके कृपापात्रों, भक्तों—अनुयायियोंमें साधारण कोटिकी जनता ही अधिक है, जिनमें अनपढ़ किसान, जाट, गूजर, गरीब ब्राह्मण, छोटे-छोटे व्यापारी वैश्य, दफ्तरोंके साधारण कर्मचारीगण अधिक हैं। आप प्रायः कहा करते थे कि 'यह वर्ग ही समाजकी रीढ़ है, यदि यह 'शिखा-सूत्र'को धारण किये रहे, संध्या-वन्दनादि, नित्य-नैमित्तिक स्वकर्मोंमें वर्णाश्रमानुसार लगे रहे तो फिर संसारमें कलियुग लाख आये, कुछ बिगड़नेवाला नहीं।' अतः आपका अधिक-से-अधिक बल स्वधर्माचरणपर ही रहता था।

धर्मोपदेश

महाराजश्री स्वयं भी धर्मकी साक्षात् मूर्ति थे। कठोर-से-कठोर व्रतोंका आचरण करते-करते आपने तरुणावस्थामें ही सम्पूर्ण इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली। तंबाकू पीनेवालेके यहाँ आप भिक्षा पानेका सदैव निषेध करते थे। आप जीवनमें शौचाचारको प्रमुख स्थान देते थे। आपकी स्मरण-शक्ति अद्वितीय थी, जिसे एक बार देख लिया तथा परिचय हो गया, वह व्यक्ति यदि बीस वर्ष बाद भी मिला तो प्रथम परिचयमें ही उसकी कुशल-क्षेम स्वयं ही न पूछी तो बात ही क्या रही।

पाक-शुद्धि तथा आहार-शुद्धिको आप बहुत महत्त्व देते थे। उनका कहना था कि 'जैसा खाओगे अन्न वैसा बनेगा मन'—अतः जो भी जहाँ भी मिल जाय उसे जिस-तिस प्रकारसे खड़े-खड़े उलटा-सीधा खानेकी आप तीव्र भर्त्सना करते थे। आप कहते थे कि 'भक्ष्याभक्ष्य-विवेक'की आज सर्वाधिक आवश्यकता है, अभक्ष्य-भक्षण सब प्रकारकी बीमारियोंका मूल है, बाजारमें बने पदार्थोंके सेवनका आप निषेध करते थे। आपका कथन था कि 'शुद्ध-सात्त्विक पदार्थ अपने घरमें ही

चौका-आसन लगाकर मौन होकर अतिथि, गौ, श्वान, कौवा, पिपीलिका आदिका भाग निकाल कर पञ्चमहायज्ञ एवं बलिवैश्वदेव आदि करनेके उपरान्त ग्रहण करना चाहिये। ऐसा करनेपर ही मन शुद्ध बनेगा तथा शुद्ध विचार, शिव-संकल्प मनुष्यके हृदयमें आयेंगे और तभी परोपकार, दया, अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि धर्मके लक्षणोंका पालन करनेमें सक्षम हुआ जा सकेगा तथा सच्चरित्र बना जा सकेगा और तभी प्रत्येक व्यक्ति एवं समस्त समाज सुखी रह सकेगा, अन्यथा घावको न धोकर, केवल पट्टीको धोने-जैसा आपका प्रयास होगा। सच्चा सुख सदाचरणमें ही है जिसका मूल है शुद्ध आहार—सात्त्विक भोजन, भक्ष्याभक्ष्य-विवेक।'

उपर्युक्त विचारधाराको जीवनमें उतारनेकी प्रेरणा प्रदान करते हुए, आपने अहर्निश उत्तरी भारतकी अनेक तीर्थयात्राएँ पैदल गाँव-गाँव, नगर-नगर घूम-घूमकर सम्पन्न कीं। देशके एक छोरसे दूसरे छोरतक आपके त्याग, तपस्या-विद्वत्ता, सिद्धि एवं सादगीका वर्णन फैलने लगा।

सनातनधर्मके पुनःस्थापन एवं उसके प्रचार-प्रसारमें अनन्तश्री स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजके साथ आपका प्रगाढ़ स्नेह, सहयोग और सम्बन्ध था। उनके विशेष आग्रहपर ही इन्होंने ज्योतिष्पीठ बदरिकाश्रममें शंकराचार्य-पदको ग्रहण किया। इस पदको स्वीकार करनेके पूर्व इन्होंने स्पष्टरूपसे तीन शर्तें रख दी थीं—

(१) खादीके मोटे वस्त्रोंको छोड़कर कौशेय वस्त्र धारण नहीं करूँगा, (२) मिट्टीका कमण्डलु जो सदा साथ रहता है, उसे नहीं छोड़ूँगा तथा (३) सिंहासनपर बैठनेकी बाध्यता नहीं रहेगी और कभी भी किसी सामान्य आसनोंपर बैठ सकता हूँ।

इस प्रकार स्वामीजी महाराज त्याग और सरलताकी प्रतिमूर्ति थे। इनका जीवन सनातन जगत्के लिये अनुकरणीय तथा शिक्षाप्रद रहा है। ८१ वर्षकी अवस्थामें भाद्रशुक्ला त्रयोदशी, तदनुसार १० सितम्बर १९७३ ई० के सायंकालकी प्रदोष-वेलामें आप इस पाञ्चभौतिक शरीरको छोड़कर ब्रह्ममें लीन हो गये।

योगी गुरु परमहंस श्रीमत्स्वामी निगमानन्दजी सरस्वतीदेव

(श्रीदुर्योधन प्रधानजी)

परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमत्स्वामी निगमानन्दजी सरस्वतीदेवका जन्म अविभाजित बंगालके नदिया जिलेमें

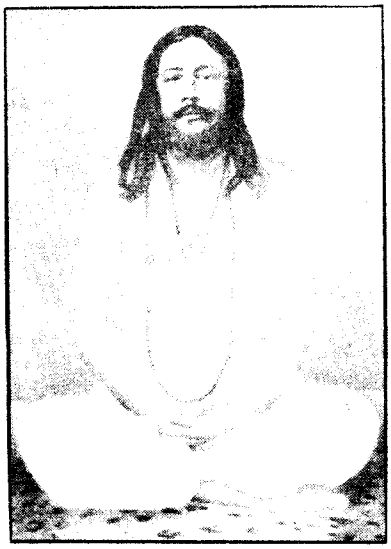

कुतुबपुर नामक एक छोटेसे गाँवमें सन् १८८० ई० के श्रावण पूर्णिमाके दिन हुआ था। उनके बचपनका नाम नलिनीकान्त था। पिता भुवनमोहन भट्टाचार्य और माता माणिक्यसुन्दरी-देवीकी वे प्रथम संतान थे। बालक नलिनीकान्त प्रारम्भमें नास्तिक थे, उन्हें ईश्वर, देवी-देवताओं और परलोकपर विश्वास नहीं था। परंतु उनके जीवनमें धीरे-धीरे ऐसी घटनाएँ होने लगीं कि उनकी योग-साधना एवं तत्त्व-विचारपर दृढ़ आस्था हो गयी और वे क्रम-क्रमसे अनेक यौगिक साधनाओंका अभ्यास करने लगे।

नलिनीकान्त जब मात्र बारह वर्षके थे, अचानक उनकी माँका स्वर्गवास हो गया, उसके बाद जब वे अठारह वर्षके थे तो उनकी प्रियतमा पत्नी देवी सुधांशुबालाका भी देहान्त हो गया। मृत्युके बाद देवीने उन्हें तीन बार छायामूर्तिमें दर्शन दिये और उन्हें विश्वास दिलाया कि परलोक सत्य है। उन्हीं देवीकी अशरीरी प्रेरणासे नलिनीकान्त परलोक-तत्त्वकी खोज करने लगे। पहले उन्होंने मद्रासमें महात्मा लेडविटरके सांनिध्यमें थियोसोफीकी शिक्षा ली। इसी बीच पूर्णानन्द सरस्वती नामक साधुसे उनकी भेंट हुई। उन्होंने इन्हें महाशक्तिकी साधनाकी प्रेरणा दी और किसी सच्चे सद्गुरुकी शरण लेनेको कहा।

अब नलिनीकान्त उपयुक्त गुरु प्राप्त करनेके लिये व्याकुल हो उठे। इस बीच एक अशरीरी महापुरुषने उनकी अर्ध-निद्रावस्थामें दर्शन देकर उन्हें महाशक्ति ताराका बधू-बीजमन्त्र प्रदान किया। वीरभूमि जिलेके तारापीठमें तत्कालीन महाभैरव-साधक वामाक्षेपाने महाशक्तिकी साधनामें उनकी सहायता की। फलस्वरूप मात्र एक ही रात्रिकी साधनामें उन्होंने महाशक्ति ताराका अपनी पत्नीके रूपमें दर्शन किया।

इसके बाद उन्होंने पुष्कर तीर्थके सावित्री-आश्रममें वेदान्ती साधु स्वामी श्रीसच्चिदानन्दजी सरस्वतीके सांनिध्यमें योग-ज्ञानकी साधना की। यहींपर संन्यासकी दीक्षा देकर गुरुने उनका नाम निगमानन्द रखा। यहींसे श्रीगुरुके निर्देशसे निगमानन्दजी आत्मतत्त्वकी जिज्ञासासे योगी गुरुकी खोजमें निकल पड़े। भ्रमण करते हुए वे अरुणाचल प्रदेशमें पहुँचे। वहाँ एक विजन-वन-क्षेत्रमें योगाचार्य स्वामी सुमेरुदासजीसे उनकी भेंट हुई। स्वामीजी उन्हें अपनी गुफामें ले गये और उन्हें योगकी शिक्षा देने लगे। निगमानन्द गुरुके निर्देशसे योग-साधनाके लिये लोक-समाजमें आये। उन्होंने मेदिनीपुर जिलेमें एक जमींदारके गृहमें रहकर योग-साधना आरम्भ की। सर्वप्रथम शरीरको साधनाके उपयोगी बनानेके लिये उन्होंने हठयोगकी षट्-साधनासे शरीर-शोधनका अभ्यास किया। उसके बाद उन्होंने 'लय' योगकी साधनासे अनेक दिव्य समाधिलाभोंको प्राप्त किया। पुनः उन्होंने ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने-हेतु प्रेमसिद्धा योगिनी माँ गौरादेवीसे प्रेमतत्त्वकी शिक्षा ली तथा भावसमाधिमें निमग्न हुए। इस प्रकार अनेक साधनाओंका अभ्यास करते हुए उन्होंने १९३५ ई० में महासमाधि ली। अनेक सारस्वत संघोंके द्वारा आज भी उनके उपदेशों और सिद्धान्तोंका प्रचार-प्रसार हो रहा है।

स्वामी श्रीमहेश्वरानन्दजी सरस्वती महाराज

काशी सुमेरुपीठाधीश्वर स्वामी श्रीमहेश्वरानन्द सरस्वतीजी पूर्वाश्रममें पं० महादेव शास्त्रीके नामसे विख्यात थे। न्याय,

व्याकरण, साहित्य, मीमांसा तथा वेदान्तादि शास्त्रोंके वे प्राचीन पद्धतिके निष्णात पण्डित थे। वे संयम, त्याग एवं वैराग्यकी प्रतिमूर्ति थे। उनके जीवनका एक ही लक्ष्य था कि छात्रों एवं बालकोंको संस्कृत-साहित्यका प्रौढ ज्ञान कराया जाय, जिससे उनमें भारतीय संस्कृतिके अमूल्य ग्रन्थोंके स्वाध्यायकी क्षमता आ सके और वे अपने जीवनको सार्थक बना सकें। ग्रन्थोंके गूढ़तम रहस्योंके उद्घाटन तथा उनके पठन-पाठनकी विलक्षण युक्तियाँ उन्हें प्राप्त थीं। पं० महामना मदनमोहन मालवीयजीने उनकी योग्यता एवं प्रखर बुद्धिका आकलन कर उन्हें हिन्दूविश्वविद्यालयमें संस्कृत-महाविद्यालयका अधिभार सौंपा। वहाँसे मुक्त होनेके पश्चात् उन्होंने स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजसे दण्ड-संन्यास ग्रहण किया तथा बादमें वे काशीस्थ सुमेरुपीठमें शंकराचार्यके पदपर भी अभिषिक्त किये गये। संन्यास ग्रहण करनेके बाद भी उनका अधिकांश समय सत्-शास्त्रोंके अध्ययन एवं अध्यापनमें ही बीता। देवोपासना, आराधना और जनता-जनार्दनमें सात्त्विक विचारोंका प्रचार-प्रसार ही उनकी मुख्य दैनिक चर्या थी। वे एक महान् योगी थे। काशीमें, आश्विन मासकी अमावास्याके दिन आजसे प्रायः १६ वर्ष पूर्व सन् १९७५ ई० में उन्होंने अपनी इहलौकिक लीला पूर्ण की।

वाराणसीके हरिहर बाबा

[योगी स्वामी श्रीहरिहरानन्दजी]

वाराणसी नगरीके दक्षिण भागमें गङ्गाके किनारे 'बनपुरवा'के पास काशीके प्रख्यात संत स्वामी श्रीवीतरागानन्दजी और योगी श्रीहरिहरानन्दजीका साथ बहुत दिनोंतक रहा। साथ रहनेपर भी दोनों संत एक-दूसरेके विषयमें कुछ कहने और कुछ सुननेके विरोधी ही रहे हैं। कुछ दिनोंके बाद योगी श्रीहरिहरानन्दजी वाराणसीके अस्सी-संगमपर रहने लगे थे, किंतु उसके पूर्व बहुत दिनोंतक 'काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय' के सामनेवाले गङ्गा-घाटपर भी नौकामें ही रहते रहे। इनकी प्रसिद्धि हरिहर बाबाके नामसे थी।

योगी स्वामी श्रीहरिहरानन्दजीके विषयमें काशीके वयोवृद्ध पण्डितों और संत-महात्माओंसे जो कुछ जानकारी मुझे उपलब्ध हुई, उसके आधारपर उनका जन्म जनपद छपरा, परगना गोवा, गाँव जाफरपुरामें हुआ था। इनके पिता सरयूपारीण ब्राह्मण थे। प्रारम्भमें श्रीहरिहरजीने पटनामें संस्कृतकी पढ़ाई प्रारम्भ की, किंतु वर्तमान शिक्षा-प्रणालीसे उनके मनमें अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न हुआ और वे उसे छोड़कर काशी आ गये। काशी पहुँचते ही उनके मनमें संसारके प्रति वैराग्य उत्पन्न होने लगा और वे काशीसे चलकर अयोध्यामें कुछ दिनों रहे, पुनः वाराणसी वापस आ गये। तबसे वे वाराणसीमें ही स्वामी श्रीवीतरागानन्दजीके पास बनपुरवाके समीप गङ्गाके किनारे रहने लगे।

यहाँ उन्होंने योग-साधनाके आश्रयसे त्याग-वृत्ति ग्रहण की। उनको न तो भोजनकी चिन्ता रहती और न वस्त्रकी ही आकाङ्क्षा। इस प्रकार अनासक्त-भावसे योग-साधनाका अभ्यास चलता रहा। वे दिन-दिनभर समाधिस्थ रहते। उनको समाधिस्थ देखकर कुछ भक्त उनके पासमें फल आदि रख देते थे। समाधि टूटनेपर वे अपनी आवश्यकतानुसार कुछ ग्रहण भी कर लेते थे। कई वर्षोंतक वे इसी प्रकार ध्यान-समाधि लगाते रहे।

कुछ दिनोंके बाद उनकी समाधि गङ्गाजीकी धारामें भी लगने लगी। सावन-भादोंकी गङ्गाकी भयानक बाढ़के समय योगी श्रीहरिहरानन्दजी बनपुरवासे आगे छोटे मीरजापुरके पास गङ्गाके किनारे पहुँच जाते और बीच गङ्गाकी धारामें पहुँचकर पद्मासन लगाकर पीठके बल लेट जाते और श्वास चढ़ाकर गङ्गाकी धारामें अपनेको छोड़ देते। गङ्गामैया उनको अपनी गोदीमें लेकर अपने प्रवाहके आधारपर लगभग चार मीलतक बहाकर काशीके राजघाटकी ओर वरुणा-गङ्गा-सङ्गमतक पहुँचा देतीं। वरुणा-गङ्गा-सङ्गमपर पहुँचकर वे आसनसे पृथक् होकर गङ्गाकी पूर्वी धारा या किनारेका सहारा लेकर पैदल चल पड़ते और चलते-चलते जहाँ कहीं रात हो जाती वहीं विश्राम कर लेते। कुछ देरतक विश्राम कर लेनेके बाद पुनः वहीं मीरजापुरके पास गङ्गाके पूर्वी किनारेपर पहुँच जाते।

गङ्गामें समाधि लगानेका यह क्रम उनका बहुत दिनोंतक चलता रहा। उनकी साधनाके उस कार्यक्रममें विचित्र बात यह होती थी कि उनके कई भक्त इनके भोजनकी चिन्ता करके उनके लिये फल-दूध लेकर गङ्गाके किनारे उनकी खोज भी करते रहते थे। उनके विश्राम-स्थलकी खोज करके उन्हें फल-दूध देनेका प्रयास भी करते थे। इतना ही नहीं, संत श्रीहरिहरानन्दजीके कुछ ऐसे भक्त भी थे जो उनके लिये कम्बल, वस्त्र भी ले जाते थे और रात्रिमें उनको ओढ़ा देते थे। त्यागी संत श्रीहरिहरानन्दजी उन कीमती कम्बलों और वस्त्रोंको वहीं-का-वहीं छोड़कर चल देते थे और जिस-किसीकी दृष्टि उनपर पड़ती, उसे उठा ले जाता या सुरक्षित कर देता था। किंतु योगी श्रीहरिहरानन्दजीको उनकी कोई चिन्ता न रहती थी।

योगी श्रीहरिहरानन्दजीका यह नियम बन गया था कि वह काशीपुरीकी सीमाके भीतर मल-मूत्रका त्याग नहीं करते थे। अतः उनको गङ्गाके पूर्वी किनारेका सहारा लेना ही पड़ता था। जब उनका शरीर कुछ शिथिल होने लगा तो भक्तोंने उनके लिये नौकाका प्रबन्ध कर दिया। स्वामी श्रीहरिहरानन्दजीके शिष्य नौकापर उनको गङ्गाके पूर्वी किनारेपर ले जाते, तब वे मल-मूत्रका त्याग करते थे।

बरसातकी भयानक बाढ़ या माघकी भयानक शीत या जेष्ठ मासकी चिलचिलाती धूपमें भी उनका नियम टूटने नहीं पाता। गङ्गाजीमें तथा ग्रीष्ममें गङ्गाकी तपती बालूमें समाधि लगानेके अतिरिक्त योगी श्रीहरिहरानन्दजी वर्षोंतक घंटों गङ्गामें (छातीभर पानीमें) खड़े रहकर जप भी करते रहे।

धीरे-धीरे उनकी योग-साधनाके अलौकिक प्रभावोंका वाराणसी तथा आस-पासमें अत्यन्त प्रचार-प्रसार हो गया; काशीमें पहुँचनेवाले तीर्थयात्री, पर्यटकगण और अनेक श्रद्धालु भक्त उनके दर्शनोंसे विचित्र शान्तिका अनुभव करते। महामना मालवीयजी तो उनके परम भक्त बन गये।

अपने जीवनकी अन्तिम साधनाओंमें प्रायः वे मौन ही रहते, बहुत कम बोलते थे। बहुत बुलानेपर 'राम राम' या 'शिव शिव' कह देते। उनसे एक भक्तने बहुत आग्रह करके पूछा—'स्वामीजी ! आपको सिद्धि कैसे मिली ? स्वामीजीका उत्तर था—'चाहना' चमरिया होऽव ओकरे चक्करमेंऽन पड़े तोऽसिद्ध अपने आप मिलि जात होऽ।' इसका तात्पर्य यह है कि भगवदासक्तिके अतिरिक्त अन्य कोई भी आसक्ति अत्यन्त दुःखदायी और बन्धनका मूलहेतु है। यदि उसका सर्वथा परित्याग कर दिया जाय तो शीघ्र ही परमसिद्धि या भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

जीवनभर अनवरत योग-साधना करते हुए तथा भक्तोंको सदुपदेश देते हुए संवत् २००६ आषाढ़ शुक्ला पञ्चमीको योगी श्रीहरिहरानन्दने अपने पाञ्चभौतिक शरीरको छोड़कर योगिगम्य परम शिवधामको प्राप्त किया।

(आचार्य श्रीबलरामजी शास्त्री, एम्० ए०)

योगिराज श्रीदेवराहाबाबाजी

वर्तमान शताब्दीके सिद्ध एवं प्रकट योगियोंकी श्रेणीमें ब्रह्मर्षि श्रीदेवराहाबाबाजी महाराजका स्थान अग्रणी है। वे योग-विज्ञान और उसकी कलाके गुह्य रहस्य और प्राविधिके विशेष सिद्धयोगी रूपमें विश्रुत थे। बाबाजी अपनी सहज समाधिमें त्रिकालदर्शी ईश्वरलीन महात्मा थे।

आजसे कई वर्ष पूर्व विशाल जटाजूटसे सुशोभित एक निर्वसन तपस्वी कर-कमलोंमें तुंबा लिये मइलग्राममें सरयू नदीके तटपर पधारे। वे किसीको निकट नहीं आने देते थे। वृक्षके तले या मैदानमें रहते, सरयू-जलका सेवन करते और विशेष आग्रहपर किन्हीं-किन्हीं श्रद्धालु भक्तोंसे प्राप्त गौका दूध सेवन कर लेते। रात्रिमें वहाँ उनके पास कोई नहीं जाता—ऐसा उनका नियम था। स्त्रियाँ दूरसे ही दर्शनकर वापस लौट जातीं। उन दिनों वे महात्मा विशेषतः मौन धारणकर तपस्यारत ही रहते थे, केवल कुछ इने-गिने भक्तोंको ही सत्संगका लाभ मिलता था।

क्षेत्रीय ग्रामीणोंने प्रार्थना की कि 'महाराज ! हमलोग अपनी गौओंके साथ कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे हैं, क्योंकि नदीके कटावसे जमीन धारामें चली गयी है। ऐसी कृपा करें जिससे सरयू मैया हमलोगोंकी जमीन वापस कर दें और दियरा पड़ जाय।' महात्माजीने उत्तर दिया—'बच्चा ! सरयू मैया तुमलोगोंपर अवश्य कृपा करेंगी, दियरा पड़ेगा, किंतु गो-चारणके लिये गोचर-भूमि छोड़नी पड़ेगी और मेरा मञ्च कटिपर्यन्त नदीकी धारामें रहेगा। स्थानीय भक्तोंने उस आदेशको मान लिया और वहीं मइलग्रामके दक्षिणी-पश्चिमी तटपर दियारेमें एक भव्य मञ्च बना, जहाँ महात्माजी विराजने लगे। तभीसे उनका नाम देवराहाबाबा या दियरहवा बाबा पड़ा।

सिरपर बड़ी-बड़ी जटाएँ, चेहरेपर घनी दाढ़ी-मूछें, उन्नत ललाट, चमकती आँखें, श्यामल वर्ण, मुखमण्डलपर परम शान्ति और सात्त्विकता, दुबली-पतली काया—यह थी बाबाकी बाह्य आकृति।

श्रीबाबाजीका दरबार सबके लिये सदैव खुला रहता था। धनी-निर्धन, बड़े-छोटेका भेद नहीं था। वे मुक्त-हृदयसे

सबको आशीर्वाद देते थे। हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, विद्वान्, अज्ञ तथा विशिष्ट पदाधिकारीसे लेकर सामान्य मजदूरतक दर्शनमें उपस्थित होते थे, किंतु सबके लिये एक ही प्रेमपूर्ण आशीर्वचन था 'दया'। आशीर्वादके साथ-साथ बाबा सबको प्रसाद दिलवाते थे। प्रसादमें प्रायः बताशे, सेव और मखाने हुआ करते थे।

बाबाको अनासक्त-भावसे मचानपर बैठे देखकर किसीको भी लग सकता था कि उन्हें दुनियासे कोई सरोकार नहीं। पर ऐसा नहीं था, वे अपने कल्याणमय आशीर्वाद तथा स्पन्दनोंसे मानवकी सुप्त चेतनाको जाग्रत् करनेका निरन्तर प्रयास किया करते थे। श्रीबाबाके शिष्योंकी संख्या सारे विश्वमें फैली हुई है, जिसमें सभी श्रेणीके धर्म-प्रेमी सम्मिलित हैं। गो तथा संतसेवी कई आश्रम भी पूज्य श्रीबाबाजीके सहयोगसे देशके भिन्न-भिन्न भागोंमें सुस्थापित हुए हैं। ब्रह्मलीन श्रीदेवराहाबाबाजी महाराजके जन्मकालसे लेकर सरयूतट-आश्रमपर विराजनेतककी अवधिमें घटित पूर्वचरित अज्ञात है। प्रमाणानुसार जन्मसिद्ध संत भी इस धरापर लोगोंके कल्याणार्थ आते हैं। पूज्य श्रीबाबाजीसे उनकी अवस्थाके बारेमें बहुतसे श्रद्धालु भक्तोंने जिज्ञासा की थी। महाराजका समाधान था—'बच्चा ! अनादिकालसे जीव-ब्रह्मका सम्बन्ध है—***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'*** तब इसकी अवस्था क्या ? अवस्था तो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण-शरीरकी होती है। योगियोंकी एक भिन्न अवस्था है, जिसे तुरीय कहते हैं। किंतु मेरी तो ब्रह्मलीन अवस्था है।'

बाबाके साथ चमत्कारोंकी अनेक गाथाएँ जुड़ी हैं। अपने इर्द-गिर्द उन्होंने किसी प्रकारका आडम्बर इकट्ठा नहीं किया, घास-फूसके निर्जन स्थानमें गङ्गा-यमुना और सरयूके किनारे काष्ठमञ्चपर वह इतने आनन्दसे रहे, जितने आनन्दसे कोई सम्राट् भी अपने महलमें नहीं रह पायेगा। जिन्हें एक बार भी योगसिद्ध पूज्य श्रीबाबाजीका दर्शन-लाभ हो जाता, उन्हें कुछ भी पाना शेष नहीं रहता।

गत १९ जून १९९०को योगिनी एकादशीके दिन महाराजश्रीका महाप्रयाण हो गया। श्रीमहाराजजीके आदेशानुसार उन्हें जलसमाधि दी गयी।

[प्रेषक—श्रीमदनजी शर्मा 'शास्त्री']

महात्मा ईसा

ईसामसीह ईसाई धर्मके आदि संस्थापक थे। इन्हें ईसाई लोग जगत्का त्राणकर्ता तथा ईश्वरका पुत्र मानते हैं। इनका जन्म-वृत्तान्त अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। इनकी माता मेरी कुमारी ही थी, जिसके गर्भसे इस पवित्रात्माने अवतार लिया।

बचपनसे ही ईसा बड़े प्रतिभासम्पन्न थे। धर्म-ग्रन्थोंके अध्ययन तथा ईश्वरप्राप्तिके साधनमें ही इनका सारा समय व्यतीत होता था। माता-पिताके प्रति इनकी अगाध भक्ति थी। इनके सत्तर शिष्य हुए, जिन्होंने इनके मतका प्रचार किया। दीक्षाके अनन्तर ईसा भगवत्प्राप्तिके हेतु जंगलमें जाकर एकान्तमें ध्यानमग्न रहने लगे। इस अवधिमें योगाभ्यास करते हुए इन्हें पापोंसे घोर संग्राम करना पड़ा, जिसमें ये अन्तमें विजयी हुए।

यहूदियोंसे मत-भेद होनेके कारण तथा उनके आक्रमणसे ऊबकर ये जेरुजेलम भाग गये, जहाँ गुप्तरूपसे इनपर वार किये गये। इन्होंने अन्धेको दृष्टि दी तथा वेश्याओं और पतितोंका उद्धार किया। एक दिन ईसाने यहूदियोंको स्पष्टरूपमें दम्भी कहा, जिसके परिणामस्वरूप वे लोग इन्हें मार डालनेकी मन्त्रणा करने लगे। उन लोगोंने इन्हें पकड़कर बंदी कर लिया। अन्तमें ईसाको काँटोंका मुकुट पहनाकर इन लोगोंने सूलीपर लटका दिया। ईसाके हाथ और पैरमें जब निर्दयता-पूर्वक कीलें ठोंकी जा रही थीं, उस समय भी ये हत्याकारियोंकी मुक्तिके लिये प्रार्थना कर रहे थे—'हे पिता ! इन्हें क्षमा कर दो, क्योंकि ये अबोध हैं।' मरते समय भी महात्मा ईसाके चेहरेपर प्रसन्नता खेलती रही और वे अखण्ड श्रद्धा और प्रेमके साथ परमात्माकी प्रार्थना कर रहे थे। महात्मा ईसाने अपने उपदेशोंमें सेवा, प्रेम, दया, सहानुभूति और सरलतापर बहुत अधिक जोर दिया है।

ब्रह्मलीन श्रद्धेय महर्षि मेँहीं परमहंसजी महाराज

(श्रीधनश्यामलालदासजी)

बिहार राज्यके पूर्णियाँ जनपदके भक्तयोगी महर्षि मेँहीं परमहंसजी महाराज श्रीरामानुग्रहलालदासजी जन्मजात योगी माने जाते हैं। जन्मसे ही आपमें योगीके चिह्न विद्यमान थे। शैशवावस्थासे ही आपके सिरमें सात जटाएँ थीं। वे प्रतिदिन कंघीसे सुलझा दिये जानेपर भी पुनः प्रातःकाल अनायास जटाएँ ही बन जाती थीं।

चार वर्षकी अवस्थामें ही जब आपकी माताजी जनकवती देवीका देहान्त हो गया, तब आपकी मातामही (नानी) ने ननिहालमें तीन वर्षोंतक आपका पालन-पोषण किया। प्राथमिक शिक्षा ग्राममें ही कैथी लिपिसे प्रारम्भ हुई, फिर भी अपनी दिव्य प्रतिभाके कारण अल्पकालमें ही नागरी लिपि (हिन्दी) भी सीख ली। फिर ग्यारह वर्षकी अवस्थामें पूर्णियाँके जिला-स्कूलमें प्रवेश कराया गया।

विद्याध्ययनकालमें आपकी अभिरुचि आध्यात्मिक ग्रन्थोंके अध्ययन और पूजा-ध्यानकी ओर अधिकाधिक बढ़ती गयी। तुलसीकृत रामायणको ये बड़े ही प्रेमभावसे पढ़ा करते थे।

४ जुलाई १९०४ ई० को आप प्रवेशिका-परीक्षा दे रहे थे। उस दिन अंग्रेजीकी परीक्षा थी । प्रश्नपत्रका प्रथम प्रश्न 'निर्माणकर्ता' शीर्षक पद्यसे लिखकर व्याख्या करना था।

उत्तरका थोड़ा अंश यों था— हम लोगोंका जीवन-मन्दिर अपने प्रतिदिनके सुकर्म वा कुकर्मरूपी ईंटोंसे बनता वा बिगड़ता है। जो जैसा कर्म करता है, उसका वैसा ही जीवन बनता है। इसलिये हम लोगोंको भगवद्भजनरूपी सर्वश्रेष्ठ ईंटोंसे अपने जीवन-मन्दिरकी दीवालका निर्माण करते जाना चाहिये····। समयकी सदुपयोगिता सत्कर्ममें है और ईश्वरभक्ति वा भजनसे श्रेष्ठतर और कोई भी सत्कर्म नहीं है।

इसी प्रकार अध्यात्मपूर्ण हृदयोद्गारोंको अभिव्यक्त करते हुए व्याख्याके अन्तमें आपने लिखा—

देह धरे कर यह फलु भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई॥

यह उत्तर लिखते-लिखते आप भाव-विह्वल हो अपने संवेगका संवरण न कर सके। जैसे नदीका बाँध टूटनेपर जलधारा अबाधगतिसे अग्रसर होती है, वैसे ही आप तीव्र और उत्कट आध्यात्मिक अन्तःप्रेरणासे प्रेरित हो विद्यालय (पूर्णियाँ) का परित्याग कर साधु-संतोंकी खोजमें निकल पड़े।

सत्रह वर्षकी अवस्थामें आप दरियापंथ साधुबाबा रामानन्द स्वामीसे दीक्षित होकर मानस-जप और मानस-ध्यान आदिका अभ्यास करने लगे। बादमें भागलपुरमें आपको परम संत बाबा देवी साहबजीका दिव्य दर्शन हुआ। उनके दर्शन और उपदेशोंसे आपको शान्ति और तृप्तिका बोध हुआ। आपकी सेवा-भक्तिसे प्रसन्न होकर सन् १९१४ ई० में बाबा देवी साहबने आपको नादानुसंधान-सुरत-शब्दयोगकी साधना बतलायी।

वे इन साधनाओंका नित्य नियमित अभ्यास बड़ी निष्ठासे वर्षों एकान्तमें करते रहे। सन् १९३३-३४में अठारह महीनेतक भागलपुरके कुप्पाघाटकी गङ्गा-पुलिनस्थ शान्त सुपावन गुहामें बैठकर आपने दृढ़ ध्यानाभ्यास किया और योगसिद्धि प्राप्त की। इसी पुण्य-स्थलने आज महर्षि मेँहीं आश्रम, कुप्पाघाटके नामसे तीर्थत्व प्राप्त कर लिया है। जहाँ अनेकों नर-नारी एकत्र होकर योग, ज्ञान और भक्तिकी मन्दाकिनीमें अवगाहन कर कल्याणपथके पथिक बन अपना मानव-जीवन कृतार्थ करते हैं। परमहंस मेँहीं महाराजका समय सं० १९४२ से सं० २०४३ तकका माना गया है।

आपने लोगोंके कल्याणके लिये अपनी योगमय साधनाओंके अनुभूत विषयोंको अनेक ग्रन्थोंके रूपमें भी उपनिबद्ध किया है। इनमें 'सत्सङ्ग-योग' मुख्य है। आपके उपदेशोंका सार यह है कि 'जितने तनधारी मनुष्य हैं, सभी प्रभु-भक्ति कर सकते हैं। माया-बद्ध जीव आवागमनके चक्रमें पड़ा रहता है। जीवके सब दुःखका कारण मायामें लिप्त रहना है। इससे छुटकारा पानेके लिये सर्वेश्वरकी भक्ति ही एकमात्र उपाय है।'

मानस-जप, मानस-ध्यान, दृष्टि-साधन और सुरत-शब्दयोगद्वारा सर्वेश्वरकी भक्ति करके अन्धकार, प्रकाश और शब्दके प्राकृतिक तीनों परदोंसे पार जाने और सर्वेश्वरसे एकताका ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पा लेनेका मनुष्यमात्र अधिकारी है। मानवका यह कर्तव्य है कि वह झूठ, चोरी, नशा, हिंसा तथा व्यभिचारसे सर्वथा दूर रहे, सदाचारकी

भित्तिपर ही साधना-भवनका निर्माण किया जा सकता है।

भिन्न-भिन्न काल तथा देशोंमें संतोंके प्रकट होनेके कारण तथा इनके भिन्न-भिन्न नामोंपर इनके अनुयायियोंद्वारा संतमतके भिन्न-भिन्न नामकरण होनेसे संतोंके मतमें पृथक्त्व ज्ञात होता है। परंतु यदि मोटी और बाहरी बातोंको तथा पंथाई-भावोंको हटाकर विचार किया जाय और संतोंके मूल एवं सार विचारोंको ग्रहण किया जाय, तो यही सिद्ध होगा कि सब संतोंका एक ही मत है और वह यही है कि परम प्रभु सर्वेश्वरके निज स्वरूपकी प्राप्तिके बिना परम कल्याण नहीं हो सकता।

इस प्रकार जैसे दूधमें घृत और माताके उपदेशमें संतानका हित भरा रहता है, वैसे ही परमहंसजी महाराजके ज्ञानोपदेशमें मानवका सर्वविध कल्याणकी भावना निहित है। आपके विचार, प्रचार और सिद्धान्तसे किसी भी धर्म, मजहब और सम्प्रदायके सार-सिद्धान्तका खण्डन नहीं होता, वरं आपका दृढ़ सिद्धान्त है कि सभी संत अपने उपदेशोंमें एक स्वरसे ध्यानाभ्यासद्वारा एकमात्र प्रभुकी प्राप्तिका मार्ग प्रशस्त करते हैं।

(शान्ति-संदेश)

बाबा किनाराम अघोरी

काशीसे कुछ दूर बाणगङ्गाके दक्षिण तटपर रामगढ़ नामका एक गाँव है। वहाँ विक्रम-संवत् १६८४ के चैत्रमें रघुवंशी क्षत्रिय अकबरके घरमें बाबा किनारामका जन्म हुआ। ये जन्मसे ही बड़े विरक्त, भगवद्भक्त एवं एकान्तप्रिय थे। पाँच वर्षकी अवस्थामें ही ये कंकड़-पत्थर इकट्ठे कर लेते और जल, पुष्प आदि चढ़ाकर उनकी पूजा करते और उनके पास घंटों अकेले बैठे 'हरे राम, सीताराम,राम राम' आदि मन्त्रोंका कीर्तन करते रहते।

नौ वर्षकी अवस्थामें ही इनका विवाह कर दिया गया। इस बन्धनसे इन्हें बड़ी चिन्ता हुई, परंतु धैर्य और उत्साहपूर्वक ये अपने साधनको क्रमशः बढ़ाते रहे। अब ये बहुत कम बोलते और प्रायः एकान्तमें ही रहते।

तेरह वर्षकी अवस्थामें इनके गौनेका दिन नियत हुआ। प्रातःकाल ही प्रस्थानका मुहूर्त था। रात्रिको ये सहसा कह उठे कि वह माई तो पिताके पास पहुँच चुकी। सम्बन्धियों तथा माता-पिताको यह बात बहुत बुरी लगी। उन्होंने इन्हें डाँट-डपट बतलायी, ये चुप हो रहे। सुबह लोग ज्यों ही सज-धजकर चलनेकी तैयारीमें ही थे कि इनकी ससुरालका नाई खबर लेकर आया कि 'कन्याका देहान्त हो गया। अरथी सैदपुर घाटपर लायी गयी है। मृतकके संस्कारके लिये आप लोग तुरंत चलिये।' ***तेरे मन कछु और है, कर्ताके कछु और।'*** सबके चेहरोंपर उदासी छा गयी, परंतु किनाराम अपनेको संसारके बन्धनसे मुक्त समझकर आनन्दसे मुस्कुरा उठे। अबतक जो लोग इन्हें पागल समझते थे,अब वचनसिद्ध संत समझने लगे। कुछ समय बाद इन्होंने वैराग्यके आवेशमें घरसे निकलकर बलियाके कारों नामक गाँवमें बाबा शिवारामजी वैष्णवकी सेवामें जाकर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया और फिर गुरुकी आज्ञासे घर लौट आये और अपना सारा समय ईश्वर-भजनमें बिताने लगे। इनकी यह हालत देखकर इनके माता-पिताने इनका दूसरा विवाह करनेका विचार किया। जब इन्हें इस बातका पता चला तो ये फिर चुपकेसे घरसे निकल पड़े और चारों धामों तथा अयोध्या, मथुरा आदि अनेक तीर्थोंका भ्रमण करके बहुत वर्षों बाद अपने गाँव लौटे। यहाँ आकर वे गाँवके दक्षिण, बाणगङ्गाके निकट जंगलमें एक वटवृक्षके नीचे अपना डेरा डालकर ईश्वर-भजन करने लगे।

भजनकी वृद्धिके साथ ही इनका तेज भी बढ़ता गया। साथ ही इनमें एक अजीब आकर्षण था, हजारों यात्री दूर-दूरसे इनके दर्शनार्थ आने लगे। यात्रियोंके लिये जलका कष्ट देखकर इन्होंने एक कुआँ बनवा दिया और उसके चारों ओर एक पक्का बरामदा बनवाया। बरामदेकी छतमें न मिहराब रखी और न कड़ियाँ ही चढ़ायीं, सिर्फ उपलोंसे उसे पटवा दिया। और कहा 'बाबा ! तू पक्का हो जा।' इनके कहनेमात्रकी देर थी कि सारी छत पक्की हो गयी। कहा जाता है कि कुएँपर मङ्गलवारको धरना देकर स्नान करने, निर्जल रहने और हवन करनेसे अनेकों तरहके ज्वर छूट जाते हैं। इस कुएँका नाम रामसागर है और इसके पास ही किनेश्वर महादेवका एक मन्दिर है।

अब तीसरी बार ये तीर्थयात्राको निकले। घूमते-घामते ये जूनागढ़ पहुँचे। वहाँके बादशाहने अपने राज्यके समस्त साधुओंसे कोई चमत्कार दिखानेको कहा—अन्यथा ठगनेके अपराधमें कैद करनेकी धमकी दी। जब कोई भी साधु किसी तरहकी अपनी अलौकिक शक्ति न दिखा सका तो सभीको कैदखानेमें डाल दिया गया। सिपाही किनारामजीको भी पकड़कर ले गये। वहाँ साधुओंको चक्की पीसते देखकर इन्होंने कहा कि 'तुम चक्की क्यों चलाते हो, छोड़ दो। यह माई अपने-आप ही चलेगी।' साधु छोड़कर अलग हो गये और चक्कियाँ पूर्ववत् चलती रहीं। यह खबर पाकर बादशाह किनारामजीके चरणोंपर गिर पड़ा और उनसे क्षमाकी प्रार्थना करने लगा। किनारामजीकी आज्ञासे सब साधु छोड़ दिये गये। बादशाहके बहुत आग्रह करनेपर इन्होंने एक पात्र देकर कहा कि जितने साधु यहाँ आवें, उन सबको यह पात्र भरकर खिचड़ी दी जाय। इसके बाद किनारामजी फिर अपनी यात्रापर निकल पड़े।

घूमते-घूमते ये गिरनार पहुँचे, वहाँ एक अघोरी सिद्ध महात्माके उपदेश सुनकर बड़े प्रभावित हुए और इन्होंने उनसे अघोरपन्थकी दीक्षा ले ली।

एक सौ अट्ठाईस वर्षकी अवस्थामें संवत् १८१२ में जब ये अपने गाँवको लौटे तो इन्हें अघोरी देखकर पहले तो गाँवके लोगोंने इनसे बड़ी घृणा की, परंतु इनकी बढ़ी हुई शक्तियोंको देखकर वे इनका पहलेसे भी अधिक सम्मान करने लगे। अघोरपन्थ स्वीकार करनेपर भी ये निरन्तर भगवन्नामोंका कीर्तन करते रहते थे।

अघोर-मतकी रामशाला काशी प्रान्तके रामगढ़ और टाँडामें है। जौनपुर जिलेमें भी कई जगह रामशालाएँ हैं, परंतु सबसे प्रधान रामगढ़वाली ही मानी जाती है। इस सम्प्रदायमें अबतक विजाराम, विश्रामराम आदि अनेकों सिद्ध हो चुके हैं।

बाबा किनारामके कई पद्यात्मक ग्रन्थ मिलते हैं। रामरसाल, रामगीता, रामचपेटा, राममङ्गल आदि ग्रन्थ वैष्णवमतके हैं। अघोरमतके ग्रन्थोंमें केवल 'विवेकसार' नामक ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध है।

इनके जीवनमें बहुतसे अलौकिक चमत्कारोंकी बातें मिलती हैं, जो अनहोनी बात नहीं है। कहते हैं, सं० १८२६ में एक सौ बयालीस वर्षकी अवस्थामें आपने जीवित समाधि ले ली।

योगी चमत्कारिक शक्ति रखते हैं

(डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

उत्तरप्रदेशके गाजीपुर जिलेमें मुरकुडा नामके गाँवमें शौच-संतोष और तपकी मूर्ति एक संत योगी भीखा साहब रहते थे। उनका मकान टूटा-फूटा था। दीवारेंतक पूरी नहीं बनी थीं। विवशता और निर्धनताकी मूर्ति भीखा साहब एक दिन प्रातःकाल घरके पास एक टूटी दीवारपर बैठकर दातून कर रहे थे। इतनेमें एक ग्रामीण व्यक्ति भागा-भागा उनके पास आया और बोला—'भीखा साहब! गजब हो गया। ऐसा आश्चर्य हो गया कि जो न मैंने सुना और न देखा ही। शेरपर सवार····।' इतना कहते-कहते व्यक्तिकी बोलती बंद हो गयी, वह बुरी तरह भयभीत हो गया था।

भीखा साहबने पूछा—कौन शेरपर सवार था? क्या दुर्गाकी तस्वीर तुमने देखी है या रातका कोई सपना? वह व्यक्ति इतना डरा हुआ था कि कुछ भी उच्चारण नहीं कर पा रहा था। योगी भीखा फिर पूछने लगे—'अरे भाई! विस्मयकी कौन-सी बात है? बोलो! क्यों घबड़ा रहे हो? क्या बात है?'

आपसे मिलने एक महात्मा शेरपर चढ़कर आ रहे हैं?

'ओफ! वह अवश्य कोई योगी महात्मा हैं। पहुँचे हुए सच्चे योगी ही इस प्रकारके दिव्य शक्तिसे सम्पन्न होते हैं। वे जो भी सवारी चाहें, अपने योगबलसे प्राप्त कर सकते हैं।' उन्हें अवश्य 'प्राप्ति' नामकी सिद्धि प्राप्त है।

आगन्तुकने विस्मयभरे स्वरमें प्रश्न किया, भीखा साहब! यह प्राप्ति क्या है?

योगी भीखा बोले— 'प्राप्ति' एक सिद्धिका नाम है, इसे प्राप्त कर लेनेपर योगी गुप्त-से-गुप्त वस्तुओंको प्राप्त कर लेते हैं। फिर विचार करने लगे—अवश्य ही उन्हें

'यथाकामावसायित्व' नामक सिद्धि भी प्राप्त हो गयी है, जिसके बलसे वे समूचे विश्वमें चाहे जहाँ पहुँच सकते हैं। वे मेरे यहाँ मुझसे मिलने आ रहे हैं तो मुझे उनका स्वागत करना चाहिये। लेकिन मेरे पास तो कोई सवारी ही नहीं है। क्या करूँ ? किस वाहनसे उनसे मिलने जाऊँ ?

वे सोचते रहे ! विचारोंकी उथल-पुथल मनमें समुद्रके तूफानकी तरह उठ रही थी। आखिरमें आगन्तुकसे बोले—योगीजीके स्वागतके लिये मुझे भी तुरंत चलना चाहिये, मेरे पास कोई सवारी नहीं है, जिसपर चढ़कर जाऊँ। अच्छा, चल दीवार ! तू ही चल। यह टूटी दीवार ही मेरी सवारी बने।'

सचमुच आश्चर्य ही हुआ। दीवार भीखा साहबको लेकर आगे बढ़ चली। अब एक ओर शेरपर चढ़े योगी आ रहे थे, तो दूसरी ओर भक्त भीखाजीकी दीवार चली आ रही थी। समीप आनेपर भीखाजी दीवारसे उतरे और दूसरे योगीको शेरसे उतारा। दोनों बड़े प्रेमसे मिले।

यह था दो पहुँचे हुए सच्चे योगियोंका चमत्कारी मिलन।

× × ×

काशीमें थियोसोफिकल सोसायटीका वार्षिक कन्वेंशन हो रहा था। उसमें प्रवचन करनेके लिये बड़े-बड़े विद्वान् और विचारक आये थे। बस, प्रतिभाओंका जमघट ही समझिये। विवेकवान् श्रोताओंका समुद्र ही उमड़ पड़ा था।

उसका एक कारण था कि प्रवक्ताके रूपमें प्रसिद्ध योगी श्रीकृष्णमूर्ति भी आनेवाले थे। उनको सोसायटीमें अवतारी पुरुष और युग-महात्मा भी माना जाता था।

दुर्भाग्य देखिये, कभी-कभी अच्छे कामोंमें विघ्न-बाधाएँ आकर खड़ी हो जाती हैं। समझमें नहीं आता कि ऐसी कठिनाइयाँ कब क्यों कहाँसे यकायक आकर खड़ी हो जाती हैं। उसी समय बारिश होने लगी। पहले लोगोंने समझा कि मामूली बूँदाबाँदी है, थोड़ी देरमें रुक जायगी। पर उस दिन तो गजब हो गया। बारिश थी कि रुकनेका नाम ही नहीं ले रही थी। शामियाने आदि सभी भीग गये। हवा जोरोंसे चली। मण्डप भी गिरने लगा। सब डावाँडोल हो गया।

इतनेमें एक अजीब घटना घटी। श्रीकृष्णमूर्ति आ गये। उनके आते ही सबने आश्चर्यसे देखा कि वातावरण फिर शान्त-सा हो गया। बारिश कम हो गयी। हवाएँ मौन और शामियाना कमर कसकर खड़ा हो गया। श्रोता फिर यथास्थान बैठ गये। श्रीकृष्णमूर्तिका उपदेश पूर्ण हुआ।

योगियोंके मुखसे परमात्मा ही बोलते हैं। उन्होंने यह चमत्कार किया था ! वास्तवमें सच्चे योगीमें अद्भुत दिव्य चमत्कारिक शक्तियाँ निवास करती हैं।

एक जिज्ञासुने प्रश्न किया—भगवन् ! योगकी सिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है ?

कृपामूर्ति श्रीकृष्णमूर्ति बोले—इस सम्बन्धमें मुझे पतञ्जलिके ये शब्द याद दिलाने हैं—**'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।'** (१।१४) अर्थात् यह जो योगका अभ्यास है, वह एक दिनमें सिद्ध करनेकी वस्तु नहीं है। जब उसे दीर्घकालतक निरन्तर श्रद्धा और पूरी निष्ठाके साथ किया जाय, तब इसमें दृढ़ स्थिति प्राप्त होती है। साथ ही इस बातका ध्यान रखना पड़ता है कि साधकका साहस एवं धैर्य टूट न जाय।

सचमुच सच्चे योगी,तपस्वी चमत्कारिक कार्योंको करनेकी शक्ति रखते हैं। महर्षि व्यास, योगी वसिष्ठ और तपस्वी विश्वामित्र आदि सब योगियोंके सम्बन्धमें ऐसी चमत्कारी बातें कही जाती हैं। योगी दुर्वासामें तो इतनी शक्ति थी कि उनसे बड़े-बड़े राजा काँपते थे। च्यवन ऋषिने अपने योगबलसे सभी देवोंके आसन हिला दिये थे। नारदजी योगबलसे एक स्थानसे दूसरे स्थानको प्रायः आकाशमार्गसे ही जाया करते हैं। योगसे जीवात्मा परमात्मासे मिलता है। योगीका आत्मा इतना उन्नत हो जाता है कि वह परमात्माके तादात्म्यको प्राप्त कर लेता है। सर्वशक्तिमान्‌से मिलन हो जानेपर इन चमत्कारिक सिद्धियोंका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। परम तत्त्वतक पहुँचनेके लिये सिद्धियों और चमत्कारोंमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये।

सूर्यकी किरणें सब जगह समान पड़नेपर भी जैसे जल और दर्पणमें प्रकाश अधिक दिखायी देता है, वैसे ही भगवान्‌का विकास सबके हृदयोंमें समानरूपसे होनेपर भी साधुके हृदयमें उसका विशेष प्रकाश होता है।

—रामकृष्ण परमहंस

योगसे भगवत्प्राप्ति

भगवत्प्राप्तिमें ध्यानयोगकी महिमा

'भगवत्प्राप्तिके साधन' और 'भगवत्प्राप्ति' दोनोंका ही नाम योग है। पहलेमें प्रभुसे मिलनेके उपाय होते हैं और दूसरेमें प्राप्ति—मिलन हो जाता है। उपाय वे ही लोग करते हैं जो भगवान्‌को मानते हैं और जीव-जीवनकी चरम-सिद्धिके लिये उनको प्राप्त करना परम आवश्यक समझते हैं। भगवान्‌को न माननेवाले लोग तो ऐसे योगको अनावश्यक और माननेवालोंको मूर्ख ही बतलाते हैं। अतएव भगवत्प्राप्तिके जितने साधन हैं वे सब भगवान्‌के माननेवालोंके लिये ही हैं। परंतु माननेवालोंमें भी लाभ वे ही उठा सकते हैं जो श्रद्धालु, सतत प्रयत्नशील और संयतेन्द्रिय होते हैं—जो सच्ची लगनसे बिना उकताये सदा सावधान और आलस्य-रहित रहकर नियमपूर्वक साधन करते हैं। आज किसीकी बात सुनकर उत्साह हुआ, कुछ करने लगे, दो-चार दिनके बाद जी ऊब गया, नियमोंको ढीला कर दिया और कुछ दिनों बाद साधन छोड़ बैठे, ऐसे लोगोंको लाभ नहीं होता और इस प्रकार बिना कुछ किये ही सब कुछ चाहनेवाले ऐसे लोग ही निष्फल होकर विद्रोही भी बन जाते हैं। अतएव साधकोंको चाहिये कि वे जिस ध्येयको प्राप्त करना चाहते हैं, उसीमें सच्ची लगनसे लग जायँ। दूसरी ओर ताकने-झाँकनेकी आवश्यकता ही न समझें। तभी उनको पद-पदपर सफलता होगी और ज्यों-ज्यों सफलता होगी, त्यों-ही-त्यों उनका उत्साह भी अधिक-से-अधिक बढ़ता जायगा। शीघ्रता करनी चाहिये, क्योंकि जीवन बहुत ही थोड़ा है।

सबसे पहली बात है मन लगानेकी। जो जिस वस्तुको परम आवश्यक मानकर उसे प्राप्त करना चाहता है, उसके चित्तसे उस वस्तुका चिन्तन स्वाभाविक ही बार-बार होता है। उसके चित्तमें अपने ध्येय पदार्थकी धारणा दृढ़ होती जाती है और आगे चलकर वही धारणा चित्तवृत्तियोंके सर्वथा ध्येयाकार बन जानेपर 'ध्यान'के रूपमें परिणत हो जाती है। जितने कालतक वृत्तियाँ ध्येयाकार रहती हैं, उतने कालकी स्थितिको ध्यान कहा जाता है। ध्यानकी बड़ी महिमा है, भगवान्‌ने श्रीमद्भागवतमें कहा है कि जो पुरुष विषयोंका निरन्तर ध्यान करता है उसका चित्त विषयोंमें फँस जाता है और जो मेरा ध्यान करता है वह मुझमें लीन हो जाता है। भक्तियोग, ज्ञानयोग, राजयोग, लययोग, मन्त्रयोग, हठयोग और निष्काम कर्मयोग किसी-न-किसी रूपमें सभी योगोंमें ध्यानकी आवश्यकता और उपयोगिता है। इस ध्यानसे ही भगवान्‌के स्वरूपमें समाधि और ध्यानसे ही भगवान्‌की प्राप्ति होती है।

योगदर्शनमें ध्यान अष्टाङ्गयोगोंमें सातवाँ है। पहले छहों साधन ध्यानमें सहायक हैं, बल्कि उनके करते-करते ही ध्यानकी योग्यता साधकको प्राप्त होती है, ऐसा भी कहा जा सकता है। अतएव सहायक साधनोंका अवश्य ही सम्पादन करना चाहिये। यहाँ संक्षेपमें ध्यानके सहायक कुछ भावों और कार्योंको लिखा जाता है।

गुरु और शास्त्रवचनोंमें प्रत्यक्षवत् विश्वास, साधनमें तत्परता, इन्द्रियों तथा मनको उनके इच्छित सांसारिक विषयोंसे हटाना, तन-मनसे अहिंसा, सत्य, चोरीका अभाव, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, भगवत्स्तुति-प्रार्थना, एकान्तवास, विषयोंसे विरक्ति, अनावश्यक वस्तुओंका सर्वथा त्याग, अन्न-वस्त्र, स्थान आदि आवश्यक वस्तुओंका भी यथासाध्य कम-से-कम संग्रह, अपने ध्येय-सम्बन्धी ग्रन्थोंके सिवा अन्य ग्रन्थोंका न सुनना, न पढ़ना; ध्येयके गुण, प्रभाव और रहस्यकी बातें सुनना, ध्येयके विरुद्ध कुछ भी न सुनना, न देखना और न करना, घर-परिवारमें ममताका त्याग करना, दुराग्रह न करना, अखबार न पढ़ना, दूरदर्शन तथा चल-चित्र आदि न देखना, सभा-समितियोंसे अलग रहना, प्रसिद्धिसे बचनेकी प्राणपणसे निर्दोष चेष्टा करना, परचर्चा न करना, परदोष न देखना, न चिन्तन करना, न कहना, मधुर-प्रिय बोलना, अनावश्यक न बोलना, यथासाध्य मौन रहना,

चित्तको विषाद, अहंकार, ईर्षा, द्वेष, आसक्ति, वैर, अभिमान, व्यर्थ चिन्तन आदि दुष्ट भावोंसे बचाना, मान-सम्मान तथा बड़ाई न चाहना, धन और स्त्रीके संगसे और इनके संगियोंसे भी यथासाध्य अलग रहना (इसी प्रकार स्त्री साधकोंको पुरुष-संसर्गसे अलग रहना चाहिये), ध्येयमें प्रीति उत्पन्न करनेवाले सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करना, अपने इष्टके नाम और मन्त्रका निरन्तर विधिपूर्वक सप्रेम जप करना, बार-बार इष्टके गुण, प्रभाव और रहस्यका चिन्तन करना, उनकी दयालुतापर विश्वास रखना, ध्येयकी प्राप्तिमें दृढ़ निश्चय रखना, साधनके स्थान, वस्त्र, आसन, माला, मूर्ति आदि सामग्रियोंको बिना नहाये न स्वयं स्पर्श करना और न दूसरेको—अपने घरके लोगों-तकको भी किसी भी हालतमें—नहानेपर भी स्पर्श न करने देना, परंतु अपनेको किसीसे ऊँचा न समझना, अभिमान या क्रोधका कभी अङ्कुर भी न आने देना, किसीके स्पर्शसे वे सामग्रियाँ अपवित्र होंगी ऐसा न मानकर साधनके वातावरणमें विकृति होगी ऐसा मानना और दूसरोंको नम्रता, प्रेम, आदर और विनयके साथ अपनी कमजोरी तथा साधनके नियम समझाकर साधनसम्बन्धी स्थान और सामग्री आदिसे उनको पृथक् रखना, न अधिक जागना, न ज्यादा सोना, न अधिक खाना, न निराहार रहना, नशीली चीजें बिलकुल न खाना, मांस-मद्यका सर्वथा त्याग करना, तंबाकू-गाँजा आदि न पीना, उत्तेजक तथा गरम चीजें न खाना, खट्टी चीजें और अधिक मीठा न खाना, उड़द, लाल मिर्च, सरसों, राई, लहसुन, प्याज, गरम मसाले और कटहल, गाजर आदि न खाना, बेल, संतरा, हरैं आदिका नियमित सेवन करना, हर किसीके हाथका और हर किसीका अन्न भी न खाना चाहिये। उपर्युक्त बातोंके सिवा नियत स्थानपर, नियत समय, नियत कालतक, नियत आसनपर, नियत आसनसे बैठकर, नियत संख्यामें, नियत इष्ट मन्त्रका जप करते हुए, नियत इष्टस्वरूपके ध्यानका प्रयत्न करना साधकके लिये परम आवश्यक है।

अवस्थाविशेषमें इन सब बातोंमें कुछ परिवर्तन या न्यूनाधिक करनेमें भी आपत्ति नहीं है। परंतु इनकी ओर ध्यान अवश्य रहे। ऐसा करनेसे ध्यान सुगमतासे और शीघ्र फलप्रद होता है।

ध्यानके अनेक प्रकार हैं, साधकको अपने-अपने अधिकार, रुचि और अभ्यासकी सुगमता देखकर किसी भी एक प्रकारसे अभ्यास करना चाहिये। परंतु मनमें इतना निश्चय रखना चाहिये कि सत्य तत्त्व परमात्मा एक ही है। वह एक ही अनेक रूपोंसे अपनेको धृत करवाते हैं। भक्त जिस रूपमें उन्हें पकड़ना चाहे, वे उसी रूपमें पकड़में आ जाते हैं। निर्गुण, निराकार, सगुण, साकार सभी उन्हींके रूप हैं। श्रीविष्णु, शिव, ब्रह्मा, सूर्य, गणेश, शक्ति, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि सभी वे एक ही हैं। मार्गके अनुभव भिन्न-भिन्न होते हुए भी सबके अन्तमें प्राप्त होनेवाला सत्य एक ही है। इसी सत्यके कोटिशः विविध प्रकाश हैं, हम किसी भी प्रकाशका अवलम्बन करके उस मूल प्रकाशको पा सकते हैं, क्योंकि ये सभी प्रकाश न्यूनाधिक शक्तिवाले दीखनेपर भी वस्तुतः उस मूलसत्यसे सर्वथा अभिन्न और सर्वथा पूर्ण ही हैं। वह स्वयं ही विभिन्न प्रकाशोंमें अवतीर्ण होकर अपनेको अपने ही सामने प्रकाशित कर रहे हैं। अतएव विभिन्न साधक उन एक अचिन्त्यशक्ति, अनन्तमहिम, अनन्तकल्याणगुणगण-समन्वित, सच्चिदानन्दघन, सर्वव्यापी, सर्वरूप, स्वप्रकाश, सर्वात्मा, सर्वद्रष्टा, अज, अविनाशी, सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, देशकालातीत, गुणातीत, सर्वसत्-लक्षणसम्पन्न, सदसत्सर्वगुणसम्पन्न, सर्वातीत, सर्वलोकमय और सर्वलोकमहेश्वर भगवान्‌के इस समग्र रूपको या परमभावको समझकर किसी भी भावसे उनका ध्यान करें, अन्तमें सबको वह एक ही नारायण प्राप्त होंगे, जिनकी प्राप्तिका और स्वरूपका वर्णन बुद्धि और मन-वाणीसे सर्वथा अगम्य है।

अतएव साधकोंको न तो अपना इष्टरूप छोड़ना चाहिये और न दूसरेके इष्टको नीचा या अल्प मानना चाहिये। इस प्रकारकी एकत्वबुद्धिसे ध्यानका अभ्यास करनेपर बहुत-से विघ्न सहज ही टल जाते हैं और शीघ्र ही परम सफलता प्राप्त हो सकती है।

ध्यान अभेद या भेद अथवा अद्वैत या द्वैत—इन दोनों भावोंसे किया जाता है। अभेदमें भगवान्‌के ध्यानके निर्गुण निराकार, सगुण निराकार, निर्गुण साकार और सगुण साकार ये चार भेद हैं। इसी प्रकार भेदमें भी भगवान्‌के ध्यानके निर्गुण निराकार, सगुण निराकार, निर्गुण साकार और सगुण साकार ये चार भेद हैं।

अद्वैत या अभेद

निर्गुण निराकार—अनिर्वचनीय अचिन्त्य अवाङ्-मनसगोचर निष्क्रिय शुद्ध ब्रह्म या शुद्ध आत्मा।

सगुण निराकार—अज अविनाशी सर्वलोकमहेश्वर मायापति सृष्टिकर्ता।

निर्गुण साकार—अज अविनाशी गुणातीत मायातीत दिव्य विग्रह भगवान्।

सगुण साकार—अज अविनाशी लीलाविहारी अपनी दिव्य प्रकृतिके साथ खेल करते हुए दिव्य विग्रह भगवान् या विराट् विश्वरूप परमात्मा।

द्वैत या भेद

निर्गुण निराकार—जीवोंपर दया करनेवाले सर्वशक्तिमान् न्यायकारी निर्गुण परमात्मा।

सगुण निराकार—जीव-जगत्का संचालन करनेवाले सर्वलोकमहेश्वर, विश्वरूप, विश्वकर्ता, विश्वभर्ता और विश्वसंचालक प्रभु।

निर्गुण साकार—भक्तोंकी सुधि लेनेके लिये माया-मनुष्यरूपधारी वस्तुतः स्वस्वरूपसे सर्वदा निर्गुण ईश्वर।

सगुण साकार—भक्तोंके साथ लीला करनेवाले समस्त गुणनिधि लीलामय भगवान्।

इनके फिर एक-एकके अनेक रूप हैं। इन सब रूपोंमें एक ही सत्य तत्त्व अनुस्यूत है और वह सबमें सब जगह सब ओरसे सब ही भाँति परिपूर्ण है। बुद्धिमान् भगवत्कृपापात्र साधक अपने-अपने भावोंके अनुसार सब रूपोंको किसी एक रूपमें पर्यवसित कर उसका ध्यान करता है। कोई-कोई अल्पमेधस् साधक अपने इष्टको भिन्न मानकर भी ध्यान करते हैं, परंतु उनका वह ध्येयतत्त्व अल्प और सीमित होनेके कारण उन्हें तात्कालिक फल भी अल्प और सीमित ही मिलता है। जो अल्प और सीमित है वही नाशवान् है, अतएव ऐसे साधक अविनाशी नित्यतत्त्वकी प्राप्तिसे दीर्घकालतक प्रायः वञ्चित ही रह जाते हैं। अवश्य ही यदि उनका इष्ट सात्त्विक हुआ तो उसकी कृपासे कालान्तरमें पुनः साधनमें प्रवृत्त होकर वे चरमतत्त्वकी प्राप्तिके अधिकारी हो जाते हैं, अतएव न करने-वालोंसे तो वे अल्पकी उपासना करनेवाले भी अच्छे ही हैं।

वास्तवमें भगवान्के स्वरूपके सम्बन्धमें कुछ भी लिखना अपनी अल्पज्ञताका परिचय देना मात्र ही है। भगवान्के तत्त्वको स्वयं भगवान् ही जानते हैं। यह कोई भी नहीं कह सकता कि भगवान् ऐसे ही हैं। बहुत दूरकी बात कहनेवाले महान् दार्शनिक भी बहुत इधरकी ही कहते हैं। अतएव किसीकी भी निन्दा न कर भगवान्के शास्त्रवर्णित और संतजनसेवित सभी स्वरूपोंको सम्मानकी दृष्टिसे देखना चाहिये। साधकका भाव ऊँचा होगा तो सर्वान्तर्यामी सर्वद्रष्टा सर्वेश्वर परिपूर्णतम भगवान् उसे अपना ही ध्यान समझेंगे और उसके फलस्वरूप अपने स्वरूपकी प्राप्ति भी उसे करा देंगे।

ध्यानके कुछ प्रकार या विधियाँ जाननेके पहले यह जान लेना आवश्यक है कि ध्यानयोगी साधकके लिये उपयुक्त स्थान, काल और आसन कौन-सा उत्तम है एवं उसे किस आसनसे बैठकर कितने समयतक ध्यानका अभ्यास करना चाहिये।

स्थान—एकान्त हो, पवित्र हो (जहाँ हिंसा, चोरी, मैथुन, छल आदि न होते हों) और जहाँ यज्ञ, तप, पूजन, भजन, स्वाध्याय, भगवच्चर्चा आदि होते हों, परंतु ध्यानके समय जहाँ कोई न हो, एकान्त नदीतट, देवमन्दिर हो, जहाँ शब्दादि न होते हों या उत्तम और सूक्ष्म शब्द होते हों, जो मनोरम और सुन्दर वायुसे सेवित हो, गीला या गरम न हो, जहाँ कंकड़ और गरम बालू न हो, सुपुष्प और धूपादिसे सुगन्धित हो, जहाँ भगवान्के सुन्दर चित्र लगे हों। ऐसा निर्जन स्थान न मिले तो अपने घरमें ही अलग स्वच्छ एकान्त-सा स्थान चुन लेना चाहिये।

काल—ध्यानके लिये सर्वोत्तम समय उषाकाल अथवा रात्रिका अन्तिम प्रहर है, उस समय स्वाभाविक ही बुद्धि सात्त्विक और संस्कारशून्य-सी रहती है। परंतु अन्य समय भी ध्यान किया जा सकता है। हाँ, भोजनके बाद तुरंत ही ध्यान करनेसे प्रायः ध्यान नहीं होता। भूखे पेट ध्यान अच्छा होता है।

आसन—आसन न अधिक ऊँचा हो, न अधिक नीचा हो, पहले कुशासन, उसपर मृगाजिन और उसपर शुद्ध वस्त्र बिछाना चाहिये। ऊनका या केवल नरम कुशोंका आसन भी बिछाया जा सकता है। ऐसे आसनपर पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके बैठना चाहिये।

स्वस्तिक और पद्मासन सबसे उत्तम आसन हैं। इन आसनोंमें कष्ट भी नहीं है और चित्त भी जल्दी समाहित होता है। बार-बार आसन बदलना ठीक नहीं, एक ही आसनसे निश्चल होकर बैठना चाहिये।

समय—प्रतिदिन तीन घंटे ध्यान किया जा सके तो बहुत उत्तम है, नहीं तो कम-से-कम एक घंटे तो ध्यानका अभ्यास अवश्य करना चाहिये। हो सके तो तीन बारमें तीन घंटे कर ले—प्रातःकाल, संध्यासमय और रातको।

ध्यानके समय शरीर, मस्तक और गलेको सीधा रखना चाहिये। रीढ़की हड्डी सीधी रहे। कुबड़ाकर न बैठे। जबतक वृत्ति सर्वथा ध्येयके आकारकी न बने, शरीरका बोध बना रहे और सांसारिक स्फुरणाएँ मनमें उठती रहें, तबतक इष्टमन्त्रका जप करता रहे और बारंबार चित्तको ध्येयमें लगानेकी चेष्टा करता रहे। लय (नींद), विक्षेप, कषाय, रसास्वाद, आलस्य, प्रमाद, दम्भ आदि दोषोंसे बचे रहनेके लिये भी प्रयत्नशील रहे। यह विधि नियमित ध्यानके लिये है। यों साधकको तो सभी समय, सभी क्रियाओंमें चित्तको संसारकी व्यर्थ स्फुरणाओंसे रहित करके अपने इष्टका चिन्तन और ध्यान करना चाहिये। ध्यानके समय आँखें मूँद लेनी चाहिये अथवा नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर रखनी चाहिये।

यहाँ अद्वैत-द्वैत दोनों प्रकारके ध्यानोंके कुछ प्रकारोंका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया जाता है।

अद्वैत (अभेद) ध्यान

१-आँखें मूँदकर या नासिकाके अग्रभागपर दृष्टिको स्थिररूपसे जमाकर साधक चित्तकी ओर देखे और उसमें जो कुछ भी वस्तु प्रतीत हो, उसीको कल्पनामात्र जानकर उसका त्याग कर दे। इस प्रकार चित्तमें स्फुरित प्रत्येक वस्तुका त्याग करते-करते शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी भी सत्ता न रहने दे। सबका अभाव करते-करते कुछ कालमें जब सारे दृश्य-पदार्थ चित्तवृत्तिसे निकल जाते हैं, तब सबके अभावका निश्चय करनेवाली वह एकमात्र वृत्ति रह जाती है, यही शुभ और शुद्ध वृत्ति है और सब दृश्यप्रपञ्चका अभाव करनेके बाद यह स्वयं भी शान्त हो जाती है। फिर त्याग, त्यागी या त्याज्य वस्तु कुछ भी नहीं रह जाता। इसके बाद जो कुछ बच रहता है वही चेतनघन परमात्मा है। वह असीम है, अनन्त है और उसीने सब द्रष्टा और भोक्ता वृत्तियोंको ग्रस लिया है। और अब वह उपाधिहीन अकेला ही सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है। यह 'सर्वत्र'-भाव भी उसीमें कल्पित है। वह तो वही है, उसका न कोई वर्णन कर सकता है और न चिन्तन! इस प्रकार विचारपूर्वक दृश्यप्रपञ्चका अभाव करके, अभाव करनेवाली वृत्तिका भी परमात्मामें लय कर देना चाहिये।

२-आँखें मूँदकर दसों इन्द्रियोंके कार्योंको रोककर साधक मनके द्वारा पुनः-पुनः परमात्माके स्वरूपका मनन करे। जो कुछ भी स्फुरणा मनमें आवे, उसीमें परमात्माका भाव करे, यों करते-करते स्फुरणाएँ बंद हो जायँगी। परंतु सावधान, एक भी स्फुरणा परमात्माके भावसे अछूती न रह जाय और केवल परमात्मा ही बच रहेंगे, उन परमात्माके साथ अपनी एकता कर दे। अर्थात् यदि चित्तमें यह वृत्ति जाग्रत् रहे कि मैं परमात्माका ध्यान कर रहा हूँ तो इस वृत्तिको भी छोड़ दे। यह वृत्ति जब एक परमात्माकी सर्वव्यापक सत्तामें मिल जायगी, तब केवल एक परमात्माका ही बोध रह जायगा।

३-आँखें मूँदकर या नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर ऐसा विचार करे कि जैसे कमरेमें रखे हुए घड़ेका आकाश कमरेसे भिन्न नहीं है और कमरेका आकाश जिस खुले आकाशमें मकान बना है, उससे अलग नहीं है; उस खुले आकाशमें ही सब कमरे बने हैं, उन्हींमेंके एक कमरेमें घड़ा है। अतएव सब जगह केवल वही एक आकाश है, कमरे और घड़ेकी उपाधिसे छोटे-बड़े अनेक आकाश दिखायी देते हैं। घड़ेका आकाश अपनी अल्प सीमाको त्यागकर महान् आकाशमें स्थित होकर, जो उसका वास्तविक नित्य स्वरूप है, यदि उस महान्‌की दृष्टिसे देखे तो उसको पता लगेगा कि सब कुछ उसीमें ही कल्पित और सब कुछमें सत्यरूपसे वही स्थित है। साथ ही कमरे या घड़ेका निर्माण जिस उपादान और निमित्त कारणसे हुआ है, उस उपादान और निमित्त कारणका भी कारण वही आकाश है। क्योंकि पञ्चभूतोंमें सबसे पहला आकाश ही है। इसी प्रकार व्यष्टि शरीरमेंसे अपने मैंपनको निकालकर विश्वरूप भगवान्‌की समष्टिमें स्थिर करे और समष्टिके नेत्रोंसे समस्त विश्वको अपने शरीरसहित उसीमें कल्पित देखे। जैसे यशोदाजीने भगवान्‌के मुखके अंदर विश्व और उस विश्वमें व्रजके एक ग्राममें नन्दजीका घर और उसमें

श्रीबालकृष्णको और हाथमें लकुटिया लिये अपनेको देखा था। इस प्रकार व्यष्टि अहंकारको समष्टिमें लय करके फिर उस समष्टिको भी अचिन्त्य परमात्मामें लय कर दे।

वस्तुतः जड, अनित्य, परिणामी, शून्य, विकारी और सीमित आकाशके साथ चेतन, नित्य, सदा एकरस सच्चिदानन्दघन निर्विकार और असीम पूर्ण परमात्माकी तुलना नहीं हो सकती। यह दृष्टान्त तो केवल समझनेके लिये ही है।

४-आँखें मूँदकर इस प्रकार विचार करे कि इस पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गादि समस्त भुवनोंमें जो कुछ देखने-सुनने या जाननेमें आता है, वह सब एकमात्र परमात्मा ही है। वे ही विश्वरूपमें प्रकाशित हो रहे हैं। यह समस्त जगत् उन्हींसे निकला है, उन्हींमें स्थित है और उन्हींमें लय हो जायगा। यह सृष्टि, स्थिति और संहारकी लीला उनके अपने ही अंदर उन्हींके द्वारा हो रही है। मैं भी उसी लीलाका एक खिलौना मात्र हूँ और जैसे सारी लीला वही हैं, वैसे ही यह खिलौना भी उनसे भिन्न नहीं है। इस प्रकार विचार करते-करते अपनेसहित संसार और संसारके पदार्थोंको एकमात्र परमात्माके स्वरूपमें लीन करके फिर ऐसा निश्चय करनेवाली बुद्धिको भी परमात्मामें विलीन कर दे।

५-आँखें मूँदकर या नासिकाग्रपर स्थिर-दृष्टि रखकर ऐसा निश्चय करे कि—सत्, चित् और आनन्दसे परिपूर्ण एक महान् समुद्र लहराता हुआ चला आ रहा है और मैं बैठा देख रहा हूँ। इतनेमें ही उसने आकर मुझको अपने अंदर ले लिया और मैं उसकी गहराईमें डूब गया तथा डूबते ही गलकर उसमें घुल-मिल गया। अब मेरा अलग अस्तित्व ही नहीं रहा। बस, अब केवल वह चेतन आनन्दका अथाह समुद्र ही रह गया। इस प्रकार अपनेको परमात्मामें विलीन करे।

६-आँखें मूँदकर या नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर ऐसा निश्चय करे कि मैं जो कुछ भी देख-सुन और जान रहा था, यह सब स्वप्न है। यह चन्द्र, सूर्य, दिशा, काल, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, दिन-रात, देश-वेश सब कुछ स्वप्नमें मेरे ही अंदर मेरे ही संकल्पके आधारपर स्थित थे। सब केवल मेरी ही कल्पना थी। अब मैं जग गया हूँ, तब ये सब कुछ नहीं रहे, मैं ही मैं बच रहा हूँ, वह मैं परमात्मासे भिन्न नहीं हूँ, परमात्मा ही अपने संकल्पसे यह 'मैं' बन रहे हैं। उनके सिवा मैं और मेरा स्वप्न यह कुछ भी नहीं है। इस प्रकार विचारद्वारा परमात्मामें चित्तको विलीन कर दे।

७-एकमात्र विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा ब्रह्म ही है। उनके सिवा न कोई वस्तु है और न कोई स्थान ही है, जिसमें कोई वस्तु रह सके। केवल एक वही परिपूर्ण है। उनका यह ज्ञान भी उन्हींको है। क्योंकि वे ज्ञानस्वरूप ही हैं। वे सनातन, निर्विकार, असीम, अपार, अनन्त, अकल और अनवेद्य हैं। सब कुछ उन्हींमें कल्पित है या वही सब कुछ हैं। वे ही सत् हैं, वे ही असत् हैं; वे सत् भी नहीं हैं, असत् भी नहीं हैं। वे आनन्दमय हैं, अवर्णनीय हैं, अचिन्त्य हैं, उनका यह अवर्णनीय आनन्दमय स्वरूप भी आनन्दमय है। यह आनन्दस्वरूप पूर्ण है, नित्य है, सनातन है, अज है, अविनाशी है, परम है, चरम है, सत् है, चेतन है, ज्ञानमय है, कूटस्थ है, अचल है, अमल है, अकल है, अनामय है, अनन्त है, शान्त है और आनन्दमय है। बस, वह आनन्द ही आनन्द है। आनन्दके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, जो है सो आनन्द ही है। इस प्रकार ब्रह्मके आनन्दमयत्वकी मूर्ति चित्तमें प्रकट करके अपनेको उसमें विलीन कर दे।

८-शरीरके सभी मर्मस्थानोंकी भिन्न-भिन्न नाडियोंके पृथक्-पृथक् स्थान और कौन-सा वायु कहाँ रहता है तथा क्या करता है, इस शरीरविज्ञानको क्रियारूपमें भलीभाँति जानकर तब आँखें मूँदकर ध्यानके लिये बैठे और ज्योतिर्मय, निर्मल, आकाशवत् सर्वव्यापी, दृढ़, अत्यन्त, अचल, नित्य, आदि-मध्य और अन्तरहित, स्थूल होते हुए भी सूक्ष्म, अवकाशरहित, स्पर्शरहित, चक्षुसे अगोचर, रस और गन्धहीन, अप्रमेय, अनुपम, आनन्दरूप, अजर, सत्य, सदसद्रूप, सर्वकारण, सर्वाधार, विश्वमूर्ति, अमूर्त, अज, अविनाशी, अप्रत्यक्ष और नित्य प्रत्यक्ष, अन्तरस्थ और बहिरस्थ, सब ओर मुख, सब ओर आँखें, सब ओर पैर, सब ओर सिर, सब ओर स्पर्शवाले सर्वव्यापी ब्रह्मका ध्यान करे और वह ब्रह्म मुझसे अभिन्न है, ऐसा अनुभव करे।

९-आँखें मूँदकर अपने अंदर इस प्रकार देखे कि कन्दसे निकले हुए बारह अंगुल नलीवाले चार अंगुल चौड़े, ऊर्ध्वमुख, केशरयुक्त, कर्णिकासमन्वित, प्राणायामद्वारा विकसित आठ दलवाले हृदयकमलपर सब प्राणियोंके हृदयमें

रहनेवाले, पुरुषोत्तम, देवपति, अच्युत, अजन्मा, अविनाशी, सृष्टिकर्ता, विभु, लक्ष्मीपति भगवान् विराजमान हैं। उनकी चारों भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म हैं, भगवान्‌के अङ्ग केयूर और कुण्डल तथा अन्य आभूषणोंसे सुशोभित हैं, उनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है। पद्मोदर-सदृश ओष्ठ हैं। प्रसन्नवदन हैं, मन्द-मन्द निर्मल हँसी हँस रहे हैं, विशुद्ध स्फटिकके समान वर्ण है, पीताम्बर धारण किये हुए हैं और अपने दिव्य प्रकाशसे प्रकाशित हो रहे हैं। इस प्रकार ध्यान करके यह देखे कि मैं उन्हींमें विलीन हो गया। वह परमात्मा मुझसे भिन्न नहीं रहे।

१०-आँखें मूँदकर भीतर इस प्रकार देखे कि प्रकृतिरूपी कर्णिकासे युक्त, अष्ट ऐश्वर्यरूपी दलोंसे शोभित, विद्यारूपी केशर और ज्ञानरूपी नलिकासे समन्वित, बृहत् कन्दसे संलग्न और प्राणायामद्वारा खिला हुआ हृदयमें एक कमल है। उस कमलमें सर्वत्र तेजोमय सर्वतोमुखी शिखाओंसे सुशोभित, जगत्‌के कारण ईश्वररूपी हव्यवाहन वैश्वानर महा अग्नि देहको चरणोंसे लेकर मस्तकतक तप्त करते हुए निर्वात दीपकी तरह निश्चल ज्योति-रूपसे विराजित हैं, उनकी उन ज्योतिर्मय लपटोंमें नीलपद्मके अंदर विद्युत्‌की लताकी भाँति दीप्तिमान पीतवर्ण, विश्वचराचरके कारणरूप वैश्वानररूपी अक्षर देवता परमात्मा स्थित हैं। वह परमात्मा ही मैं हूँ। इस प्रकार निश्चय करे और अपनेको उनमें विलीन कर दे।

११-आँखें मूँदकर अथवा अभ्यास हो जानेपर प्रत्यक्ष सूर्य-मण्डलमें देखे कि दिव्य रथके अंदर पद्मासनपर विश्वात्मा चतुर्मुख परम सुन्दर प्रफुल्ल कमलसदृश मुख-मण्डलवाले हिरण्यवर्ण पुरुष विराजित हैं, उनके केश, मूँछें और नख भी हिरण्यमय हैं। उनका दर्शन पापोंको नष्ट करनेवाला है, वे सब लोगोंको अभय देनेवाले हैं। उनके ललाटकी आभा पद्मके गर्भपत्रके समान लाल है। वे समस्त जगत्‌के प्रकाशक और सब लोगोंके अद्वितीय साक्षी हैं। मुनिजन उनका दर्शन और स्तवन कर रहे हैं। ऐसे भगवान् आदित्यका दर्शन करके यह निश्चय करे कि वह आदित्य मुझसे अभिन्न है। और इस निश्चयके साथ ही अपनेको उनमें चित्तवृत्तिके द्वारा विलीन कर दे।

१२-कर्णिका और केशरसे युक्त अष्टदल हृदय-कमलमें चन्द्रमण्डलके मध्य विराजित गर्भाकार भोक्तारूप अक्षर आत्माको देखे और ऐसा निश्चय करे कि उस आत्मामें मैं ही हूँ और वह आत्मारूप मैं अमृतवर्षा करनेवाली चन्द्रकिरणोंसे घिरा हुआ हूँ, सिरमें स्थित अधोमुखी षोडशदल कमलसे गल-गलकर अमृतकी धाराएँ हजारों प्रकारसे मेरे चारों ओर बह रही हैं। वह अव्यय परमात्मा परब्रह्म मैं ही हूँ।

द्वैत (भेद) ध्यान

योगीश्वर शिवका ध्यान

हिमालयके गौरीशंकर शिखरपर एकान्तमें भगवान् शिव ध्यानस्थ पद्मासनसे विराजित हैं, उनके शरीरके ऊपरका भाग निश्चल सीधा और समुन्नत है। दोनों कंधे बराबर हैं। वे दोनों हाथ अपनी गोदमें रखे हुए हैं, जान पड़ता है मानो कमल खिल गया है। जटाजूट जूड़ाके समान ऊँचा करके सर्पके द्वारा बाँधा हुआ है, दोनों कानोंमें रुद्राक्षमाला है, ओढ़ी हुई काली मृगछालाकी श्यामता नीलकण्ठकी प्रभासे और भी घनीभूत हो रही है। उनके तीनों नेत्र नासिकाके अग्रभागपर स्थिर हैं। नासिकाग्रपर स्थित नीचेकी ओर झुके हुए स्थिर और निःस्पन्द उनके नेत्रोंसे उज्ज्वल ज्योति निकलकर इधर-उधर छिटक रही है। उन्होंने समाधि-अवस्थामें देहके अंदर रहनेवाले वायु-समूहको निरुद्ध कर रखा है, जिसे देखकर जान पड़ता है मानो वे जलपूर्ण और आडम्बररहित बरसनेवाले बादल हैं अथवा तरङ्गहीन प्रशान्त महासागर हैं या निर्वात देशमें स्थित निष्कल ज्योतिर्मय दीपक हैं। ऐसे समाधिस्थित योगीश्वर भगवान् शङ्करका ध्यान करे।

पञ्चमुख महेश्वरका ध्यान

आँखें मूँदकर देखे कि सामने एक सुन्दर कमल है, उस कमलपर भगवान् महेश्वर विराजमान हैं। उनके शरीरकी कान्ति चाँदीके पहाड़के समान श्वेत और सुन्दर है, मस्तकपर चन्द्रमा विराजमान है, रत्नोंके समान उज्ज्वल सब अङ्ग हैं, एक हाथमें कुठार है और शेष तीन हाथोंमें क्रमशः मृगमुद्रा, वरमुद्रा और अभयमुद्रा धारण किये हैं। प्रसन्न पाँच मुख हैं और तीन नेत्र हैं। व्याघ्रका चर्म पहने हुए हैं, चारों ओर देवता स्तुति कर रहे हैं। यही भगवान् महेश जगत्‌के आदि बीजस्वरूप और सब भयोंका नाश करनेवाले हैं।

श्रीभुवनेश्वरी देवीका ध्यान

जिनकी प्रातःकालीन सूर्यकिरणके सदृश देहकान्ति है, जिनके ललाटपर अर्धचन्द्रमुकुट सुशोभित है, जिनका विशाल वक्षःस्थल है, जिनके तीन नेत्र हैं और जो मन्द-मन्द मुस्करा रही हैं, जिनके चारों हाथ, वरमुद्रा, अंकुश, पाश और अभयमुद्रासे शोभित हो रहे हैं, उन श्रीभुवनेश्वरी देवीका ध्यान करना चाहिये।

श्रीजगज्जननी उमाका ध्यान

जिनकी देहकान्ति स्वर्णके समान सुन्दर है, जिनके बायें हाथमें नीलपद्म है और दाहिने हाथमें अत्यन्त श्वेतवर्ण चामर है, उन उमा देवीका ध्यान करना चाहिये।

श्रीविष्णुभगवान्‌का ध्यान

आँखें मूँदकर देखे कि हृदयकमलपर या अपने सामने जमीनसे कुछ ऊँचेपर स्थित एक सहस्रदल-कमलपर भगवान् श्रीविष्णु सुशोभित हैं। आप सब अनुरूप अङ्गोंसे समन्वित हैं, अति शान्त, सुन्दर मुखारविन्द है, आपके विशाल और मनोहर चार लंबी भुजाएँ हैं, ग्रीवा अत्यन्त रमणीय और सुन्दर है, परम सुन्दर कपोल हैं, मुखमण्डल मनोहर मन्द मुसकानसे सुशोभित है। लाल-लाल होंठ और मनोहर नुकीली नासिका है। दोनों कानोंमें मकराकृति कुण्डल चमक रहे हैं। मनोहर सुन्दर चिबुक है। नेत्र कमलके समान विशाल और प्रफुल्लित हैं। मेघश्याम-शरीरपर सुवर्णवर्ण पीताम्बर शोभायमान है। लक्ष्मीजीके निवासस्थान वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है। हाथोंमें क्रमशः शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, हृदयमें सुन्दर तुलसीयुक्त वनमाला, रत्नहार, वैजयन्तीमाला और कौस्तुभमणि विभूषित हैं। चरणोंमें रत्नजड़ित बजनेवाले नूपुर हैं और मस्तकपर किरीटमुकुट देदीप्यमान है। ललाटपर मनोहर तिलक है, हाथोंमें रत्नोंके कड़े, कमरमें रत्नजटित करधनी, भुजाओंमें बाजूबंद और हाथकी अंगुलियोंमें रत्नकी अँगूठियाँ सुशोभित हैं। आपके घुँघराले केश बड़े ही मनोहर हैं। चारों ओर प्रकाश छा रहा है और उसमेंसे आनन्दका अपार सागर उमड़ रहा है।

शेषशायी विष्णुभगवान्‌का ध्यान

आँखें मूँदकर देखे कि हृदयदेशमें मानो क्षीर-समुद्र है और उसमें भगवान् अनन्त शेषजीकी कोमल शय्यापर शान्तस्वरूप भगवान् श्रीविष्णु लेटे हुए हैं। अत्यन्त सौम्य और प्रसन्न मुखमण्डल है। नील मेघके समान मनोहर नील वर्ण है। सभी अङ्ग परम सुन्दर हैं और विविध आभूषणोंसे विभूषित हैं। श्रीअङ्गसे दिव्य गन्ध निकल रही है, नाभिमेंसे कमल निकला है, उस कमलपर चतुर्मुख ब्रह्माजी विराजमान हैं। जगज्जननी लक्ष्मीजी बैठी हुई भगवान्‌की चरणसेवा कर रही हैं। ऐसे सम्पूर्ण लोकोंके स्वामीके चरणोंमें मैं प्रणाम करता हूँ और भगवान् प्रसन्न होकर मेरे मस्तकपर अपना वरद हस्त रखते हैं। असंख्य सूर्योंसे बढ़कर आपका प्रकाश, असंख्य चन्द्रमाओंसे बढ़कर शीतलता, असंख्य कामदेवोंको मोहित करनेवाला आपका सौन्दर्य, असंख्य अग्नियोंसे बढ़कर आपका तेज, असंख्य इन्द्र और कुबेरोंसे बढ़कर आपका ऐश्वर्य, असंख्य समुद्रोंसे बढ़कर आपका गाम्भीर्य, असंख्य हरिश्चन्द्र और कर्णसे बढ़कर आपका औदार्य, असंख्य पृथ्वी-मण्डलोंसे बढ़कर आपकी क्षमाशीलता, असंख्य जननियोंसे बढ़कर आपका वात्सल्य और असंख्य प्रियतमोंसे बढ़कर आपका माधुर्य है।(क्रमशः)

मनपर विश्वास न करो !

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

नित्यं ददाति कामस्यच्छिद्रं तमनु येऽरयः। योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली।

(श्रीमद्भा० ५।६।४)

जैसे व्यभिचारिणी स्त्री अपनेपर विश्वास रखनेवाले पतिको धोखा देती है, वैसे ही मन भी अपनेपर विश्वास रखनेवाले योगीको—अपने अंदर काम और उसके पीछे रहनेवाले क्रोध आदिको अवकाश देकर धोखा देता है।

योगसे भगवत्साक्षात्कार

(पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

सभी शास्त्रोंके अनुसार योगकी एक विशिष्ट सार्वभौम सत्ता है। वह या तो साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही है या उसके समकक्ष है। 'पातञ्जल योगदर्शन' के अनुसार चित्तकी सारी वृत्तियोंको निरुद्ध कर यहाँतक कि ऋतम्भरा प्रज्ञाको भी निरुद्ध करनेपर (योगकी अन्तिम भूमिका) जो निर्विकल्प-समाधि होती है, उसीका नाम योग है। इसीका दूसरा नाम 'निर्बीज-समाधि' भी है, यही चितिशक्ति भी है।

'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।'

(पातञ्जलयोग, कै० पा० ३४)

अर्थात् 'पुरुषार्थसे शून्य हुए गुणोंका अपने कारणमें लीन हो जाना कैवल्य है अथवा चितिशक्तिका अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाना ही कैवल्य है।'

श्री दुर्गासप्तशतीमें भी 'पराशक्ति' का नाम चितिशक्ति ही कहा गया है—

चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत्।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

यह भगवती चितिशक्ति नित्य ही सर्वत्र संसारमें व्याप्त है। यही संसारको उत्पन्न, पालित, संचालित एवं संहृत करती रहती है। सभी प्रकारसे इसीको प्रसन्न कर साधक अभीष्ट सिद्धियोंको प्राप्त कर लेता है, चाहे वह कर्मयोगके द्वारा प्राप्त करे अथवा ज्ञानयोगसे—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८। ४६)

इसीलिये भगवद्गीतामें 'योग क्या है?' इसके ज्ञानके विषयमें केवल तीव्र उत्कण्ठामात्र होनेपर भी साधकके लिये शब्द-ब्रह्मसे ऊपर उठ जानेकी बात कही गयी है—

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥

(गीता ६। ४४)

यहाँ शब्दब्रह्मका तात्पर्य समस्त वेदराशि और वाचिक शब्दोंके द्वारा प्रतिपाद्य लौकिक साहित्य भी है। योग शब्द वैसे **'युज समाधौ,' 'युज संयमने'** तथा **'युजिर् योगे'**—इन तीन धातुओंसे बनता है तथापि इसके सार्वभौम होनेसे इसमें आत्मा-परमात्माका योग, सम्पूर्ण विश्वके प्राणि-पदार्थोंका एकत्र संयोग, पूर्ण ब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति एवं विज्ञानघन ज्योतिःस्वरूप विशुद्ध आत्माके पूर्ण साक्षात्कार आदि अर्थ-संदर्भोंमें यह विशेषरूपसे प्रयुक्त होता है।

भारतमें योग-साहित्यपर अपार सामग्री है। योग-चूडामणि, कुलकुण्डलिनी, योगशिखोपनिषद्, अथर्वशीर्षोपनिषद् आदिमें एक क्षणके लिये भी योगमें चित्त लगानेको अर्थात् समाधि-अवस्थामें प्रविष्ट होनेकी स्थितिको सैकड़ों यज्ञोंके अनुष्ठान करनेके तुल्य फलवाला बतलाया गया है—

'क्षणमेकं क्रतुशतस्यापि।'

स्वयं योगदर्शनकारने इस समाधिको धर्मामृतधाराको प्रवाहित करनेवाले 'धर्ममहामेघ' की संज्ञा दी है—

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः। (योगदर्शन ४। २९)

इसी स्थितिको पैंगलोपनिषद् और पञ्चदशीमें भी स्पष्टतया इसी रूपमें संकेतित किया गया है—

ततोऽभ्यासपाटवात् सहस्रशः सदामृतधारा वर्षति ततो योगवित्तमाः समाधिं धर्ममेघं प्राहुः। (पैङ्गलोपनिषद् अ० ३)

भाव यह कि योगाभ्यासकी प्राप्तिके द्वारा यह समाधि हजारों धर्मरूपी धाराएँ प्रवाहित करती है। इसीलिये योगाचार्योंने इस समाधिको 'धर्ममेघ' कहा है। आचार्य विद्यारण्यकी पञ्चदशीमें भी यही बात कही गयी है—

अनादाविह संसारे सञ्चिताः कर्मकोटयः।
अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते॥
धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः *।

---

* इसी प्रकार सांख्यकारिका (२) के 'ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः' की चन्द्रिका, तत्त्वकौमुदी, माठरभाष्य, सारबोधिनी, तत्त्वविभाकर आदि व्याख्याओंमें तथा योगदर्शन (४। ७) के 'कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्' के व्यासभाष्य-शांकरविवरण, वाचस्पति, विज्ञानभिक्षु, भोजादि विवृति-वार्तिकोंमें धर्मके चार प्रकार बतलाये गये हैं। (१) कृष्णधर्म, (२) शुक्लकृष्णधर्म, (३) शुक्लधर्म, (४) अशुक्लाकृष्णधर्म। इनमें

वर्षत्येष यतो धर्मामृतधारा सहस्रशः ॥

(पञ्चदशी १ । ५९-६०)

योग-साधना सभी प्रकारके साधकके लिये कल्याणका साधन है। इसलिये मनीषियोंने विचारकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म कोटियोंकी परम्पराको पार करते हुए आत्मदर्शन अर्थात् भगवद्दर्शनकी ही सर्वविध श्रेष्ठता प्रतिपादित की है—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।

(याज्ञवल्क्यस्मृति १ । ७ तथा बृ० योगियाज्ञ० ११ । ३४)

यहाँ विद्वान् टीकाकारोंने 'आत्मदर्शन' का अर्थ स्पष्ट रूपसे परमात्मदर्शन ही किया है—

आराध्यते स्ववर्णोक्तधर्मानुष्ठानकारिणा ।
तस्मात् तत्प्राप्तये यत्नः कर्तव्यः पण्डितैर्नरैः ॥
तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानं च कर्म चोक्तं महामुने ।
अत्रात्मशब्देन परमात्मैव परिलक्षितः ॥

(अपरादित्यकृत अपरार्क-व्याख्या)

अर्थात् ऐसे सभी स्थलोंपर 'आत्मा' शब्दसे 'परमात्मा' ही परिलक्षित—परिगृहीत होता है। जीवात्मा यहाँ कदापि अभीष्ट नहीं है, क्योंकि वह तो बिना योग-समाधिके ही सबको सदा-सर्वत्र प्राप्त है। अतः—

'आत्मा वारे द्रष्टव्यः ।' (बृहदारण्यको०) तथा **'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'** आदि अधिकारों—प्रकरणोंको देखनेसे परमात्मदर्शनकी ही विधि बतलायी—अनुष्ठित की जाती है।

'तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति' से भी परमात्मा ही अभिप्रेत है। इसी भावकी पुष्टि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भी करते हैं—

तब मैं हृदयँ बिचारा जोग जग्य ब्रत दान ।
जा कहुँ करिअ सो पैहउँ धर्म न एहि सम आन ॥
जप तप नियम जोग निज धर्मा । श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा ॥
× × ×
सब साधन कर फल यह सुंदर ॥

—इस आत्मदर्शन-रूप परमात्मदर्शन या साक्षात्कार-प्राप्त विद्वान्को कई वेदज्ञ विद्वानोंके तुल्य बतलाया गया है। इसीलिये परमात्मप्रापक योगकी विशेषता स्थान-स्थानपर अत्यधिक रूपमें दृष्टिगत होती है। धर्मका सार योग है और अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, तप आदि यम-नियम, प्राणायामादि योगका भी सार-सर्वस्व गाढ़ सुस्थिर ध्यान किंवा समाधिद्वारा नित्य सर्वत्र भगवद्दर्शन या परमात्म-साक्षात्कार है, जिसे वेदान्तसार भी कहा जाता है। ऐसी स्थितिमें योगीका स्वतन्त्र मन जहाँ-जहाँ भी जाता है, वहाँ-वहाँ भगवान् ही दीखते हैं, संसार पुनः उसे नहीं दीखता। भक्त योगी प्रह्लादको ऐसा ही होता था।

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ।

(कुलार्णवतन्त्र)

अनेक जन्मोंकी साधनाके बाद सिद्ध गुरुकी कृपासे शास्त्रोंका तात्पर्य समझकर साधक प्रयत्नसे समस्त इन्द्रियोंको मनके साथ-साथ सर्वथा वशकर ऐसी समाधि या नित्य परमात्मदर्शनका प्रयत्न करता है। 'धर्ममेघसमाधि' से उसके प्राक्तन समस्त दुष्कृत-समूह नष्ट हो जाते हैं और दिव्य ज्ञान-ज्योति नित्य प्रज्वलित होने लगती है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।

(४ । ३६-३७)

योगीके पुण्य और पाप दोनों एक साथ ही समाप्त हो जाते हैं। अतः निरन्तर भगवद्दर्शनमें कोई बाधा नहीं होती, मात्र भगवान् ही उसके सामने शेष रह जाते हैं। इसीलिये भयंकर कर्मबन्धनसे मुक्ति एवं संसार-सागरसे संतरणका योग ही एकमात्र उपाय है—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥

(गीता २ । ५०)

दुरात्माओंके तामसी श्रद्धासे सम्पादित धर्म तो कृष्ण हैं, राजसी अश्वमेधादि याज्ञिक हिंसामयी क्रियाएँ शुक्ल-कृष्ण हैं। जप, स्वाध्यायादि धर्म शुक्ल हैं और ध्यान-समाधिजनित शुद्धतम धर्म अशुक्लाकृष्ण — दिव्य धर्म है—

गुणाहेतुका निजानन्दफलिका सम्प्रज्ञातसमाध्यादिरूपाक्रिया अशुक्लाकृष्णो धर्मः । (सारबोधिनी)

इस प्रकार यहाँ भी ध्यान-समाधिद्वारा किये जानेवाले परमात्मदर्शनको सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

तीव्र योगसाधनामें केवल भगवान् ही दृष्टिगत होते हैं। यह संसार बिलकुल तिरोहित हो जाता है—

एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥

अयोगियोंके एवं कुयोगियोंके लिये परमात्मा रात्रिके समान अन्धकारमय अज्ञातस्थितिमें रहता है, जबकि योगीके लिये संसार ही अज्ञात एवं शून्यवत् रहता है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

(गीता २। ६९)

जब नित्य-निरन्तर युगोंतक ऐसी समाधि या ऐसी यौगिक दृष्टि बनती है तो जीवन्मुक्त योगी सीधे भगवान्‌में प्रविष्ट कर जाता है—

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता १८। ५५)

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(११। ५४)

इसीको अनेक जन्मोंके द्वारा सिद्धिप्राप्त जीवन्मुक्त योगीके लिये परमोच्च पद-प्राप्तिकी बात कही गयी है—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

(गीता ६। ४५)

यह योगका वास्तविक चमत्कार है। जो इस बातको जान लेता है, वह संसारका सर्वाधिक बुद्धिमान् एवं कृतकृत्य व्यक्ति माना गया है—

एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥

(गीता १५। २०)

मानव-जीवनका सर्वोत्तम लक्ष्य पूर्णयोगकी प्राप्ति है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

(२। ५३)

अर्थात् समस्त शास्त्रोंके ज्ञानसे तथा शुद्ध बुद्धिद्वारा चिन्तनपूर्वक विप्रतिपन्न बुद्धि जब समाधि-अवस्थामें व्यवसायात्मिका रूपमें एक परमात्मामें अवस्थित हो जायगी तब पूर्णयोगकी प्राप्ति हो जायगी। श्रीभगवान्‌के इस कथनसे यह सुस्पष्ट है कि योगकी प्राप्तिमें समग्ररूपेण परमात्माकी प्राप्ति परिलक्षित है। किंतु यह योग असावधान, चञ्चलचित्त, प्रमाद, अहंकार आदि दोषोंसे ग्रस्त भोगलिप्सु व्यक्तियोंके लिये सर्वथा दुष्प्राप्य है—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।

(६। ३६)

अतः प्रयत्नशील योगाभ्यासी व्यक्तिको समस्त शास्त्रोंके ज्ञानद्वारा **'शास्त्रयोनित्वात्'**—इस ब्रह्मसूत्रमें निर्दिष्ट लक्षणोंसे युक्त होकर परमात्म-प्राप्तिके लिये पूर्ण प्रयत्नशील होना चाहिये।

यद्यपि मनुष्य चराचरके सभी प्राणियोंमें सर्वाधिक बुद्धिमान् है, वह परिश्रमपूर्वक अपने पूर्वजों, योगसिद्ध ऋषि-महर्षियोंद्वारा निर्दिष्ट तथा योग-साधनाओंसे प्राप्त भगवत्तत्त्व और ज्ञान-तत्त्वको अच्छी तरह जानकर उनकी साधना-विधि आदिको हृदयङ्गम कर लेता है, तथापि वह वासना, तृष्णा आदिपर पूर्ण विजय नहीं प्राप्त कर पाता। काम, क्रोध, लोभ, मोहासक्ति, अभिमान, दम्भ, छल, असत्य, ईर्ष्या, उद्वेग, हर्ष-विषाद एवं रसलोलुपताकी दृष्टि आदि हजारों दोषोंको जीतनेमें समर्थ नहीं हो पाता। वह भजन, कीर्तन आदिकी महत्ताको जानकर भी उसमें नहीं लग पाता। इस प्रकार अच्छी वस्तुओंको जानकर भी उनका आचरण करने एवं बुरी वस्तुओंके परित्यागमें वह योगाभ्यासके बिना असमर्थ रहता है। इसे अयोगित्व या कुयोगित्व कहा जाता है। अयोगी या कुयोगी पुरुषको भगवान्‌का दर्शन नहीं हो पाता—

अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्॥

(श्रीमद्भा० १। ६। २२)

इसीलिये योगसाधक शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदिसे सर्वथा दूर रहता है। उसकी इन्द्रियाँ संयत हो जाती हैं। इससे वह दीर्घकालतक योगसाधन एवं भगवद्भजन-रत रह सकता है। काम, क्रोध, लोभ एवं मोह आदि उसके पास भी नहीं फटकते। शील, विनय, करुणा, समता-मुदिता, सद्बुद्धि, शान्ति तथा सम्यक् ज्ञान उसके बाहर-भीतर सदैव व्याप्त रहते हैं। इस प्रकार वह योगसाधक प्रायः सभी दोषोंपर विजय प्राप्त करता हुआ सारे श्रेष्ठ सद्गुणोंका आकर बन जाता है।

इस प्रकारके योग-साधककी दृष्टिमें सूक्ष्मता आ जाती है। जिससे उसे भूत-भविष्यका ज्ञान होने लगता है। ऐसी स्थितिमें सिद्ध, संत, देवता, मुनि आदि भी उसकी सहायता

करने लग जाते हैं। उसे परमात्मतत्त्वका सम्यक् ज्ञान हो जाता है और तत्पश्चात् सम्पूर्ण विश्वमें सम्यक् ब्रह्मदृष्टि हो जानेपर जीवन्मुक्तिकी अवस्थाको प्राप्त कर वह सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है।

योगदर्शन एवं अन्य योगशास्त्रोंमें योगके दो मुख्य भेद बताये गये हैं। जो पूर्वजन्मसे अभ्यस्त होकर योगसाधनामें प्रवृत्त होते हैं, उनके लिये केवल चित्तमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं और संकल्प, विकल्प, पूर्वापरकी स्मृतियों, एवं विपर्यय-ज्ञान आदिको निरुद्ध कर समाधिमें स्थित होनेका विधान निर्दिष्ट है। दूसरे सामान्य साधकोंके लिये अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, आसनसिद्धि, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान आदिके दीर्घ अभ्यासद्वारा समाधि-प्राप्ति एवं भगवत्साक्षात्कार करनेका विधान है। 'योगवासिष्ठ' ग्रन्थमें प्रायः ३२ हजार श्लोकोंमें केवल ज्ञानके सूक्ष्म विवेचन एवं आत्मानुसंधानद्वारा परमात्म-साक्षात्कारका विधान निरूपित हुआ है। पूर्णयोगकी प्राप्ति और पूर्ण शान्ति, समता, अनुद्वेग तथा नित्य भगवद्भजन एवं साधनामें दृढ़ होनेकी लगन— इन सबमें एक-समान स्थिति होने एवं तदनुरूप आचरण करनेसे योगी कृतार्थ हो जाता है। इस प्रकार सभी शास्त्रोंमें चित्तवृत्तियोंके निरोध और सम्यक्-ब्रह्मदृष्टिपूर्वक पूर्ण शान्तिकी स्थितिके प्राप्त होनेको ही योग कहा गया है। इसीमें सर्वाधिक ज्ञान, दिव्य आनन्द एवं लोकोत्तर सुखोंकी स्थिति निर्दिष्ट है। इन्द्रियोंसे प्राप्त शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस आदि सुख अल्प अवधिमें ही दुःखके रूपमें परिणत हो जाते हैं, किंतु योगका सुख निरतिशय, सर्वाधिक दिव्य, अतीन्द्रिय एवं सर्वक्लेशापहारी होता है। इसे एक बार प्राप्त कर लेनेपर साधक फिर इससे कभी अलग नहीं होना चाहता। इसमें साधकको परमात्माका दिव्य संयोग प्राप्त होता है और वह उसे ही संसारका सबसे बड़ा लाभ मानकर उससे लेशमात्र भी विचलित नहीं होना चाहता। संसारके महान्-से-महान् क्लेश भी उसे उस श्रेष्ठ ध्यानयोगसे विचलित नहीं कर पाते। कहा भी गया है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६। २२)

इस प्रकार संसारके सारे क्लेशोंसे वियुक्त और भगवद्भावनासे संयुक्त होना ही योग है। इसे अवश्य जानना चाहिये और पूर्ण मनोयोगपूर्वक इस योगसाधनाका सम्यक् अभ्यास करना चाहिये। इसीसे भगवत्प्राप्ति एवं सर्वोपरि सुखोपलब्धि हो सकती है। मानव-जीवनकी सर्वोपरि सफलता भी इसीमें है। जगत्स्रष्टा ब्रह्मा वृक्ष, जलचर, सरीसृप, पशु-पक्षी आदिकी सृष्टि कर असंतुष्ट ही रहे, क्योंकि वे योगद्वारा परमात्म-साक्षात्कारमें सक्षम नहीं थे। अन्तमें उन्होंने मनुष्यकी रचनाकर जब यह देखा कि यह शास्त्रज्ञान एवं योगद्वारा भगवत्प्राप्ति करनेमें सक्षम है तो वे पूर्ण संतुष्ट हो गये—

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥

(श्रीमद्भा० ११। ९। २८)

अतः प्रत्येक मनुष्यको योगद्वारा भगवान्‌को प्राप्त कर अपनी मानवताको सार्थक बनाना चाहिये।

योगिराजके प्रति

योगिराज! तेरे दर्शनको, भक्त मानते हैं शुभ-स्वर्ग।
उसे परम पुरुषार्थ जान तव परम धाम चाहें बुधवर्ग॥
तेरे पदकी सेवा हे हर! मेरे पद-सेवक-संसर्ग।
हो 'द्विजेन्द्र' पर कृपा-दृष्टि वह, जिससे पावें हम अपवर्ग॥

—श्रीसरयूप्रसादजी शास्त्री 'द्विजेन्द्र'

योगसे भगवत्प्राप्ति

(पं० श्रीमाधव बालशास्त्री दातार)

श्रीकृष्णचन्द्रमें चित्त लगाना ही मुख्य योग है और 'योग' पदका यही मुख्य अर्थ है। पातञ्जलयोगसूत्रमें **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'** अर्थात् चित्तवृत्तियोंके निरोधको 'योग' कहा गया है। श्रीमद्भागवतमें स्वयं श्रीकृष्णने भी अपने प्रिय शिष्य उद्धवको योगका यही अर्थ समझाया है। 'योग' शब्दके जो अन्य अनेक अर्थ हैं, जैसे सन्नहन, उपाय, ध्यान, सङ्गति, युक्ति आदि वे सब भी चित्तवृत्तिके निरोधके बिना होनेवाले नहीं। इसलिये चित्तवृत्तिनिरोध 'योग' शब्दके सभी अर्थोंमें, मणिमाला या पुष्पमालामें सूत्रके समान अनुस्यूत है।

अब प्रश्न यह है कि यह चित्तवृत्तिनिरोध कैसे हो ? अनन्त जन्मोंसे विषयासक्त बना हुआ यह चित्त कहाँ और कैसे निरुद्ध हो सकता है ? प्रत्येक मनुष्य इस बातको जानता है कि विषयमात्र आपत्तियोंका घर है, फिर भी मनुष्य पशुवत् विषयोंके पीछे दिन-रात दौड़ा ही करता है, इसका कारण क्या है ?

उत्तर यह है कि मनुष्य जबतक देहपर आत्माध्यास करता रहेगा, तबतक उसका मन सत्त्वप्रधान होनेपर भी उस मनमें सकल दुःखोंका कारण जो रजोगुण है, बढ़ता ही रहेगा, यह नियम है। वही रजोगुण-प्रधान मन 'यही मेरा भोग्य है' ऐसा संकल्प करता है। उससे **'अहो रूपम्, अहो माधुर्यम्'** इत्याकार-गुणचिन्तन होता है। फलस्वरूप ऐसा भोगाभिनिवेश होता है कि उसका वेग सहा नहीं जाता, अति दुस्सह होता है। यह अवस्था अवश्य ही अविद्यामोहित विवेकहीन मनुष्योंकी ही होती है। रजोगुणके वेगसे मोहित अतएव अजितेन्द्रिय मनुष्य कामके वश हो जाता है। अतः कर्ममात्रको दुःखफलक जाननेपर भी विषय-भोगोंके उपायरूप कर्म ही किया करता है।

इसपर यह प्रश्न होता है कि अविद्यामोहसे बचनेका क्या उपाय है ? इसका उत्तर यह है कि आत्मा देहादिकोंसे भिन्न है, इसका शास्त्रीय ज्ञानपूर्वक विज्ञान होना चाहिये। यहाँ यह स्मरण रहे कि देहादिकोंसे आत्मा भिन्न है, यह ज्ञान होनेपर भी, पूर्वसंस्कारानुसार रजोगुण और उसके साथी तमोगुणसे चित्तको पुनः विक्षेप हुआ करता है। ऐसी अवस्थामें अनलस और सावधान होकर यह विचारे कि 'ये शब्द-स्पर्शादि विषय ही आजतक मुझे फँसाये हुए हैं और इन्होंने ही मुझे अनन्त योनियोंमें बड़ी निर्दयतासे घुमाया है, अब भी यदि मैं सावधान न हुआ तो आत्मसुखसे हाथ धोना पड़ेगा।'—विषयोंपर इस प्रकार दोषदृष्टि रखनेवाला साधक विषयोंमें आसक्त नहीं होता। विषयके चिन्तनसे होनेवाला विषयविषयक काम विषयनिष्ठ दोषदर्शनसे निवृत्त हो जाता है।

पर मन बड़ा चञ्चल है, उसका निग्रह वायुके निग्रहके समान अत्यन्त दुष्कर है, जैसा कि श्रीअर्जुनने गीतामें कहा है। इसपर प्रभुचरणोंका यही उत्तर है कि—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

अर्थात् मन अभ्यास और वैराग्यसे वशमें हो जाता है।

पर आलम्बरहित मन कैसे स्थिर होगा ? कोई-न-कोई आलम्बन तो अवश्य चाहिये। आलम्बन है सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र भगवान् श्रीकृष्णका चरणारविन्द—

संचिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम्।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम्॥

(श्रीमद्भा० ३।२८।२१)

'उत्तम प्रकारसे भगवान्‌के उस चरणकमलका ध्यान करे जो चरणकमल वज्र, अङ्कुश, ध्वजा और कमलके चिह्नोंसे युक्त है तथा जिसने अपने ऊँचे उठे हुए लाल-लाल नखोंकी ज्योत्स्नासे सत्पुरुषोंके हृदयके अन्धकारको दूर कर दिया है।'

यही आलम्बन है। इससे बढ़कर कोई आलम्बन नहीं। इसमें मनोनिरोध करना मनकी परमगति है।

पर मन यों ही किसीके वशमें नहीं होता, यह बहुत ही प्रबल है। श्रीमद्भागवतमें मनके बलकी यह प्रशंसा है कि—

मनोवशेऽन्ये ह्यभवन् स्म देवा
मनश्च नान्यस्य वशं समेति।
भीष्मो हि देवः सहसस्सहीयान्
युञ्ज्याद्वशे तं स हि देवदेवः॥

अर्थात् और सब देवता मनके वशमें हो गये, पर मन किसीके वशमें नहीं हुआ। यह ऐसा भीष्मदेव है, बलवानोंसे

भी बलवान् है, ऐसे मनको जो वशमें करता है, वह देवोंका देव है। यही बात भगवती श्रुतिने भी ठीक ऐसे ही कही है—

मनसो वशे सर्वमिदं बभूव
नान्यस्य मनो वशमन्वियाय।
भीष्मो ही देवः सहसस्सहीयान्।

तथापि शनैः-शनैः दीर्घकालतक निरन्तर सत्कारपूर्वक अभ्यास करनेसे तथा जितासन और जितश्वास होकर श्रीकृष्णचरणोंमें चित्त लगानेके अध्यवसायसे मन श्रीकृष्णचरणोंमें स्थिर हो सकता है।

तात्पर्य, शब्द-स्पर्शादि विषयोंका चिन्तन छोड़कर मनको श्रीकृष्णचिन्तनमें अभ्याससे स्थिर करना ही योग है। सनकादिकोंने इसी योगको कहा है, जैसा कि श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धावेश्यते यथा॥

'मेरे शिष्य सनकादिकोंने इसी योगको कहा है कि जिसमें मन सब तरफसे खींचकर मुझमें लगाया जाता है।' भगवत्प्राप्तिका यही योग है।

योग और भगवान्

यद्यपि मुण्डक, माण्डूक्य, योगशिख, योगकुण्डलिनी और योगतत्त्व आदि उपनिषदों, शिव, लिङ्ग, मार्कण्डेय, विष्णु, भागवत आदि सभी पुराणों, मनु, याज्ञवल्क्य आदि सभी स्मृतियों और भगवद्गीता, गणेशगीता, उत्तरगीता, अनुगीता, ईश्वरगीता, शिवगीता, सूर्यगीता , अष्टावक्रगीता, अवधूतगीता तथा महाभारतके अन्तर्गत वर्णित अनेक गीताओंमें प्रायः योगका ही वर्णन है तथापि सभी योगोंका एकमात्र लक्ष्य नारायणस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति ही है। वे ही परम शिव, सूर्य, शक्ति, गणेश आदि विविध देवताओं एवं योगियोंके नाम-रूपोंमें अभिव्यक्त हैं। इतना ही नहीं, अपितु विशुद्ध योग, अद्वैततत्त्वरूप निर्मल ज्ञान-विज्ञान, परमतत्त्व, निर्गुण-निराकार ब्रह्म, परमात्मा तथा विष्णु आदि नामोंसे वे ही अभिव्यक्त होते हैं।

वे ईश्वर सभी प्राणियोंके द्वारा एकमात्र प्राप्त हैं। श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि तत्त्ववेत्तालोग जिसे विशुद्ध परमतत्त्व, ज्ञानीलोग जिसे विशुद्ध अद्वैत-ज्ञान और वेदान्तीलोग ब्रह्म, योगीलोग परमात्मा और भक्तलोग भगवान् कहते हैं, वही सर्वोपरि तत्त्व है और वह एक ही है।

रुचिभेदके वैचित्र्यसे संसारके प्राणी उन्हें शिव, शक्ति, विष्णु, गणेश आदि रूपोंमें मानकर उनकी उपासना करते हैं। श्रीमद्भागवत (१।२।११)के अनुसार भी एक ही परमतत्त्व नानारूपोंमें भासित है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

भक्तोंने उन सर्वेश्वरको अनेक दिव्य अद्भुत अलौकिक चमत्कारोंका महासमुद्र बतलाया है—

दिव्याद्भुतचमत्कारलीलाकल्लोलवारिधिः।

वे अकारण-करुण एवं करुणाके अनन्त अगाध समुद्र हैं। उनकी ओर लेशमात्र भी प्रवृत्ति होनेपर और उनके गुणोंके प्रति आकर्षण होनेपर प्राणीका परम कल्याण होना आरम्भ हो जाता है। उनसे स्वल्प आत्मीयता हो जानेसे ही उनके सम्मुख शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध तथा मृदु, लवण, मधुर, अम्ल आदि सुखप्रद षट्रस एवं शृंगार, हास्य, वीर, करुण आदि नौ रस सर्वथा फीके लगने लगते हैं। विनयपत्रिका (१६९)में गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने लिखा है—

जो मोहि राम लागते मीठे।
तौ नवरस-षटरस-रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे॥

फिर ऐसे ही अनायास उपासककी प्रवृत्ति योगोन्मुख हो जाती है। वह अन्य वस्तुओंको देखना, उनकी चर्चा करना सर्वथा निरर्थक एवं निस्सार मानने लगता है। उसे केवल भगवच्चर्चा ही रुचिकर लगती है। उसे कहीं अन्य प्रसंगमें रस नहीं मिलता तथा भगवान्‌के ध्यान, चर्चा, गुणगान आदिसे उसकी तृप्ति भी नहीं होती—

राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥

इस प्रकार धीरे-धीरे उपासकमें सभी शास्त्रोक्त सद्गुण आने लगते हैं। उसकी शुद्ध आराधना एवं निष्कामभक्तिके फलस्वरूप उसे देवता, ऋषि-मुनियों आदिका सहयोग भी प्राप्त हो जाता है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।

शनैः-शनैः उस साधकका सर्वथा कल्याण हो जाता है। वैसे संसारके सभी आस्तिक-नास्तिक मनुष्य, पशु-पक्षी आदि प्राणि-वर्ग भी जाने-अनजानेमें अपनी आत्माके रूपमें उनकी ही उपासना करते हैं। परंतु यह वैध योग नहीं है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

(गीता ९ । २३)

क्योंकि जैन, बौद्ध, ईसाई, हिन्दू, मुसलमान जिस किसी भी नाम-रूपमें सर्वोपरि तत्त्वका स्मरण करते हैं, उसका वास्तविक स्वरूप जानना परमावश्यक है। उसका ठीक-ठीक साक्षात्कार सर्वोच्च योगके द्वारा ही सम्भव है। यही योगका लक्ष्य या परिणाम भी है। वही योग सच्चा योग है जो तीव्र संवेगसे अनुष्ठित होनेपर परमात्माकी प्राप्ति करा दे। जिस योग या ज्ञान आदि साधनसे परमात्मप्राप्ति न होकर सांसारिक लाभ प्राप्त हो, वह योग नहीं कुयोग है, ज्ञान नहीं अपितु अज्ञान है—

जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम पेम परधानू ॥

इसी प्रकारकी बात श्रीमद्भागवतमें भी सुस्पष्ट है—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥

वह निर्मल ज्ञान भी, जो मोक्षकी प्राप्तिका साक्षात् साधन है, यदि भगवान्‌की भक्तिसे रहित हो तो उसकी उतनी शोभा नहीं होती। फिर जो साधन और सिद्धि दोनों ही दशाओंमें सदा ही अमङ्गलरूप है, वह काम्य कर्म और जो भगवान्‌को अर्पण नहीं किया है ऐसा अहैतुक (निष्काम) कर्म भी कैसे सुशोभित हो सकता है।

सभी युगोंमें—सभी धर्मोंमें परमात्माकी प्राप्तिके लिये लोकोपकारदृष्ट्या अनेकों ग्रन्थ लिखे गये हैं। योग-साधनाके क्रममें समाधितक प्रायः सभीकी साधना समान है। परंतु निरीश्वरवादी दार्शनिक उसका अन्त शून्यमें मानते हैं, जो सर्वथा गलत है। वे शून्यको ही परमतत्त्व मानते हैं। जब कि स्फोटवाद और व्याकरण आदि सभी शास्त्रोंके अनुसार 'तत्त्व' शब्द परमात्माका ही वाचक है और वह परमात्मा निश्चय ही शुद्ध योगियोंपर अनुग्रह करता है। अतः योगसे भगवान्‌की प्राप्ति सर्वथा सुनिश्चित है। विश्वके सभी योग-शास्त्रोंमें सनातन वैदिक धर्मके योगशास्त्र एवं उसमें भी श्रीभगवान्‌के श्रीमुखसे उच्चरित 'गीता' सर्वाधिक उपयोगी एवं योग-साधकोंके लिये कल्पतरु है। योगदर्शन तथा भागवत आदिमें भी निर्विकल्प समाधिके अनन्तर पूर्णरूपसे भगवत्प्राप्तिकी बात निर्दिष्ट हुई है। जैसे ही योगके द्वारा साधकका मन रज-तमसे शून्य होकर विशुद्ध सत्त्व एवं योगयुक्त होता है, उसी समय समस्त कल्याणोंके आकर, निखिल सद्गुणोंके निधान भगवान् उसके बाहर-भीतर प्रत्यक्ष हो जाते हैं, इसे ही कुन्तीने बड़े मधुर शब्दोंमें कहा था—

अथवा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः ॥

अर्थात् जो समाधि-प्राप्त परमहंस निर्मल योगी-मुनियोंको भक्ति-सुख देनेके लिये उनके समक्ष अवतरित होता है, उसके स्वरूपको भला हम मूढ़ स्त्रियाँ कैसे समझें ? किंतु भगवान् तो शबरीके ऐसे ***'अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी ॥'*** आदि कहनेपर तत्काल कहते हैं—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता ॥

× × ×

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई ॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें ॥
जोगि बृंद दुर्लभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई ॥
मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा ॥

अर्थात् कुन्ती और शबरी आदिको भी योग-ध्यानसे ही भगवान्‌के सम्यक् दर्शन प्राप्त हुए, उन्होंने उनका प्रत्यक्ष दर्शन किया और सर्वथा कृतकृत्य हो गयीं।

इस प्रकार योगविद्या अत्यन्त सहज है और सभी उसके अधिकारी हैं और गीता-रामायणरूपी कल्पवृक्ष एवं भारतीय सत्साहित्यके आश्रयसे एक ही जन्ममें और कम समयमें पूर्ण भगवत्साक्षात्कारका आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। साधकके एक कदम चलनेपर भगवान् तीव्रतम गतिसे उसकी ओर चलकर उसका परम कल्याण कर देते हैं और निर्गुण-सगुण सभी रूपोंमें उसके सम्मुख अपना प्रभाव दिखलाकर उसे परमानन्दरससे परिप्लुत कर देते हैं, यही योगविद्याका चमत्कार है।

गो-सेवासे तत्क्षण योगसिद्धि

प्राचीन भारतीय इतिहास इस बातका साक्षी है कि अल्पकालिक गो-सेवासे ही भगवान् श्रीकृष्णको भगवत्ता, महर्षि गौतम, कपिल, च्यवन, सौभरि तथा महर्षि आपस्तम्ब आदिको परम सिद्धिकी प्राप्ति एवं महाराज दिलीपको रघु-जैसे चक्रवर्ती पुत्रकी और मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामको परब्रह्मत्वकी प्राप्ति हुई थी। इसीके आधारपर सम्पूर्ण विश्वमें गोत्रोंका प्रचलन भी हुआ। महर्षि च्यवन एवं आपस्तम्बने अपना मूल्य लगानेके समय स्वयंको सम्पूर्ण पृथ्वी तथा स्वर्गलोकके सम्पूर्ण साम्राज्यसे भी अधिक मूल्यवान् माना, किंतु जब तत्कालीन नरेशोंद्वारा उनके मूल्यके रूपमें एक गायको उपस्थित किया गया तो वे तत्काल प्रसन्न हो गये। अतः गो-सेवाका महत्त्व अत्यधिक है।

भगवान् महावीर एवं गौतम बुद्धने भी गो-सेवासे ही अहिंसा-धर्मको सिद्ध कर अपने महान् धर्मोंको सम्पूर्ण विश्वमें फैलाया था। योगसाधनके यम-नियमोंमें अहिंसा प्रथम है। उसकी सिद्धिके लिये दूसरे सभी सत्य, अस्तेय आदि साधन हैं। इस अहिंसाका सीधा सम्बन्ध गो-सेवासे ही है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने भी योगके सारभूत सर्वोत्तम लक्ष्य 'ज्ञानदीपक' की प्राप्तिके लिये सर्वप्रथम गायको ही सर्वोच्च साधन निरूपित किया है—

सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई॥
जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥
तेइ तृन हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई॥

—इसीका घृत योगज्ञान-दीपकका आधार बनता है। समस्त देवताओंको तृप्त करनेवाला मन्त्रपूत हविष्य गो-दुग्धसे ही तैयार होता है। वस्तुतः गाय तीनों लोकोंको पवित्र करती है। उसके शरीरमें तीनों लोकों, देवताओं और ऋषि-मुनियों-सहित सम्पूर्ण तीर्थोंकी भी स्थिति है। अतः उसकी सेवासे भला ऐसी कौन-सी सिद्धि है, जिसकी प्राप्ति न हो ?

बड़े खेदकी बात है कि समस्त धर्मों, पुण्यों, सुख-सम्पत्तिके भण्डार एवं योगके सर्वाधिक सरलतम सुखद साधनस्वरूप इस गो-माताका वर्तमानमें घोर तिरस्कार हो रहा है। इसके परिणाम-स्वरूप देशमें ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्वमें रक्तपात, हिंसा और उपद्रवादिकी भयावह स्थिति उत्पन्न हो गयी है।

वेदोंसे लेकर सभी पुराणों तथा अन्यान्य धर्मशास्त्रोंमें 'धर्म' को 'वृष'का ही रूप माना गया है। परंतु इसका वर्तमान राजनीतिमें कोई स्थान नहीं है। जबकि प्राचीन परम्पराके अनुसार धर्मके बिना राजनीति विधवा मानी गयी है। आज विश्वके समस्त राजनीतिज्ञ धर्मके वास्तविक स्वरूपको न समझकर दिशाविहीन, किंकर्तव्यविमूढ़, हतप्रभ एवं ज्ञान-बुद्धिसे शून्य होकर देश-प्रदेशकी जनभावनाओंके साथ जनताका और अपना भी अहित ही कर रहे हैं। निःसंदेह इसमें विश्वरूप-धर्म और विश्वधारिणी गोमाताकी उपेक्षाके साथ-साथ अनीश्वरवादिता एवं देवता आदिके प्रति अश्रद्धाका भाव ही प्रधान कारण है।

समस्त योगसाधनका फल षड्वर्ग-संयम, मन, बुद्धि एवं आत्माकी परिशुद्धि तथा नित्य पराशान्तिकी प्राप्ति ही कही गयी है और वह गोसेवासे शीघ्र एवं अनायास प्राप्त हो जाती है। शास्त्रोंका यह उद्घोष है कि गाय विशुद्ध एवं अक्षय लक्ष्मीको देनेवाली है। उससे विश्व कल्याण-मङ्गलोंसे सुरभित होता है। गौएँ वेद एवं शुद्ध ज्ञान-विज्ञानकी जननी हैं और पवित्रताओंकी मूलस्रोत और सीमा हैं—

नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च।
नमो ब्रह्मसुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः॥

भारतके ऋषि-मुनि सदासे सभी शास्त्रोंमें गो-सेवा तथा वृषभस्वरूप भगवान् धर्मका संरक्षण ही सार्वभौम सुख-शान्तिका सर्वाधिक सुगम एवं कल्याणकारी उपाय बतलाते रहे हैं। पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे इस बातको जीवनमें उतारकर गोमती-विद्या, गो-सावित्री-स्तोत्र तथा मानसके ज्ञान-दीपक आदि प्रसंगोंका ध्यानसे पठन-मनन कर स्वल्प गो-सेवाद्वारा भी इसका तत्क्षण अनुभव करते हुए अपनेको कृतार्थ करें।

योग-साधनाका मुख्य लक्ष्य—धर्म- संस्थापन एवं विश्वकल्याण

आज विश्व विनाशके कगारपर खड़ा है, भयंकर विश्वयुद्धकी विभीषिकाएँ मुँह बाये खड़ी हैं। अनेक अणु, हाइड्रोजन आदि महाविनाशक बम बनकर प्रहारके लिये तैयार हैं। इसका मूल कारण है विश्वके धारण एवं पालन करनेवाले धर्मका तिरस्कार और परम्परागत भारतीय संस्कृति एवं सदाचारकी परम्पराका उल्लङ्घन। पर यदि देखा जाय तो—**'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।' 'धर्मो धारयते प्रजाः।' 'धर्मो धारयते लोकान्।' 'धारणाद् धर्ममित्याहुः।' 'धर्मो रक्षति रक्षितः।'**—आदि वचनोंके आधारपर विशुद्ध धर्म ही विश्वका धारक है। संसार धर्मपर ही टिका है। किंतु आजका विश्व धर्म तथा ईश्वरका नाम लेना भी मूर्खताकी बात मानता है। ईश्वरको न मानना ही बुद्धिमान् होनेकी कसौटी एवं विद्वत्ताका सर्वोच्च प्रमाणपत्र माना जाता है। फलतः सर्वत्र अशान्ति एवं विद्वेषकी ज्वाला धधक रही है। रुपये, रूबल, येन, डालर आदिके नग्न ताण्डव-नृत्य और उनका अबाध आकर्षण तथा राजनीतिज्ञोंकी पाश्चात्त्य अनुकृतियोंकी विमर्शशून्य परम्परासे आज धर्म, अध्यात्म, योगसाधना एवं सद्विचारोंका महत्त्व नगण्य-सा रह गया है। यह स्थिति वस्तुतः चिन्तनीय है।

भारतके सभी शास्त्र डिण्डिमघोष करते हुए कहते हैं कि 'प्राणीका कल्याण परमात्माकी प्राप्तिसे होता है, धन एवं कामोपभोग-प्राप्तिसे कदापि नहीं।' अतः प्राचीन कालके राजा-महाराजा, राज-पाट एवं भोग-विलास आदिको छोड़कर पैसेको तुच्छ एवं हेय समझकर, वनोंमें आश्रम बनाकर साधु-संतों, ऋषि-मुनियोंके समाश्रयणसे भगवत्प्राप्तिके लिये योग-साधनामें रत होते थे। सार्वभौम शान्ति, दिव्य ज्ञान-विज्ञानकी प्राप्ति, उज्ज्वल आत्माके प्रकाश, अचल समाधि तथा निर्मल एवं धवल बुद्धि कामिनी-काञ्चनादिका सर्वथा दूरसे परित्याग कर विशुद्ध योग-साधनाके द्वारा ही प्राप्त होती है—

'समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।'

आज प्रायः सभी विद्या-संस्थान सदाचार या धर्मज्ञानके प्रति उदासीनसे दीखते हैं। जबकि व्यापक आकाश, वायुमण्डल, धूप और चाँदनी आदिके प्रदाताकी तरह विशुद्ध विद्याके अधिष्ठाता भगवान्‌का द्वार उनके लिये रात-दिन खुला हुआ है—पर उधर झाँकनेका किसीका मन नहीं होता। वास्तवमें धन और कामोपभोग योग, धर्म-सदाचार किमधिकम् समस्त विद्या-बुद्धिका वैसे ही सर्वथा विरोधी तत्त्व है, जैसे आतप हिमका, प्रकाश अन्धकारका, ज्ञान अज्ञानका और पुण्य पापका है। योग और भोग सर्वथा विजातीय हैं, पर आज केवल अर्थकरी विद्या पढ़ायी जाती है। महर्घताकी कोई सीमा नहीं है। इधर लोभ भी सुरसाकी तरह मुँह बाये खड़ा है। न्यायालयमें भी उत्कोच आदि अनैतिक व्यवहारोंका साम्राज्य छा गया है। राजनीतिपर असामाजिक तत्त्वोंका वर्चस्व बढ़ता जा रहा है। प्रायः विविध देशोंके अनेक राष्ट्राध्यक्ष कुछ ही वर्षों बाद मौतके घाट उतार दिये जाते हैं। यह सब योग, धर्म, ईश्वर एवं मानवीय जीवनके मूल्योंकी उपेक्षाका जीता-जागता दुष्परिणाम है।

जगत्‌के गुरुपदपर स्थित भारतने सृष्टिके प्रारम्भसे ही विश्वको त्याग एवं शान्तिका मार्ग दिखलाया था। ऋषियोंने अकिंचन बनकर कामिनी-काञ्चनका दूरसे परित्यागकर शुद्ध योग-साधना और धर्मके पालन तथा ईश्वर-दर्शनके द्वारा श्रद्धा-भक्तिके सहारे विश्वका परम कल्याण किया और उसे सुख-शान्तिका स्थान बनाया था। शास्त्र कहते हैं कि ज्ञान और परमात्मा श्रद्धा, योग, वैराग्यकी साधनाद्वारा ही प्राप्य हैं, धनद्वारा कदापि नहीं—

श्रद्धया धार्यते धर्मो नार्थस्य बहुराशिभिः।
निष्किञ्चना हि ऋषयो श्रद्धावन्तो दिवंगताः॥

तथा—

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है। अत्यल्प श्रद्धा शुद्ध रुचिपूर्वक योग-साधनासे भी वह तत्क्षण प्राप्य है। पर आज तो धन और लौकिक सुखकी ही आवश्यकता है, फिर उपरिनिर्दिष्ट दो विरोधी वस्तुएँ एक ही साथ कैसे प्राप्त हो सकती हैं?

'योग' क्या है? इसे जाननेकी तीव्र उत्कण्ठा होनेमात्रसे

समस्त विद्याओंसहित भगवान् प्राप्त हो जाते हैं तथा इसीसे पूर्णसुख एवं शान्तिकी भी प्राप्ति हो जाती है।

'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।'

बालक ध्रुव सर्वथा अबोध शिशु था। देवर्षि नारदद्वारा उपदिष्ट योग-साधनासे केवल एक सप्ताहमें ही उसे देवता, सिद्ध, मुनि, विद्याधर, यक्ष, किन्नर आदि अन्तरिक्षचारी दिव्य प्राणी, जो सर्वसामान्यको प्रायः नहीं दिखायी देते, स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लग गये थे। पुनः कुछ ही दिनोंमें साक्षात् भगवान् भी प्रकट हो गये। उसने किसी विद्यालयमें प्रवेश भी नहीं किया था। भगवान्‌को देखकर उसके हृदयमें उनकी स्तुति करनेकी उत्कण्ठा हुई। सर्वान्तर्यामी भगवान्‌ने यह जानकर अपने शङ्खके अग्रभागसे उसके कपोलका स्पर्श किया—**'पस्पर्श बालं कृपया कपोले'।** बस क्या था? क्षणभरमें बिजली-सी कौंधी और समस्त वेद-शास्त्र उसे सुस्पष्ट प्रतिभात होने लगे। उसने भगवान्‌की दिव्य स्तुति करते हुए कहा—'अरे यह क्या हो गया? यह मेरे अन्तर्हृदयकी सोयी हुई सारी विद्याएँ कैसे जाग पड़ीं? निश्चय ही निखिल शक्तियोंके एकमात्र केन्द्र जगदीश्वर प्रभु ही मेरे हृदयमें शङ्खके स्पर्शके द्वारा प्रविष्ट होकर यह चमत्कार प्रकट कर रहे हैं। मेरे हृदयमें अपूर्व प्रकाश हो रहा है। समस्त इन्द्रियाँ दिव्य शक्तिसे ओत-प्रोत हो गयीं एवं प्राण भी चमत्कृत हो उठे हैं। यह तो प्रभुका ही चमत्कार है।' वे अत्यन्त भक्ति-भावसे श्रीहरिकी स्तुति करने लगे—

योऽन्तःप्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥

(श्रीमद्भा० ४।९।६)

'प्रभो! आप सर्वशक्तिसम्पन्न हैं, आप ही मेरे अन्तःकरणमें प्रवेशकर अपने तेजसे मेरी इस सोयी हुई वाणीको सजीव करते हैं तथा हाथ, पैर, कान और त्वचा आदि अन्यान्य इन्द्रियों एवं प्राणोंको भी चेतनता देते हैं। मैं आप अन्तर्यामी भगवान्‌को प्रणाम करता हूँ।'

ध्रुवकी यह कथा सभी इतिहास-पुराणों, काव्य-साहित्य और प्रायः सूर, तुलसी आदिके साहित्यमें भी वर्णित है।

ध्रुवँ अबिचल कबहूँ न टरे।
ध्रुवँ सगलानि जपेउ हरिनाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ॥

अर्थात् ध्रुव भगवत्कृपासे यावज्जीवन सार्वभौम सम्राट् रहे और अन्तमें सर्वोच्च ध्रुवलोकको प्राप्त हुए। वहाँ वे स्थिर हैं। समस्त सप्तर्षिमण्डल उन्हींकी परिक्रमा करता है। पाँच वर्षकी आयुमें ही उन्हें सम्पूर्ण भूमण्डलका साम्राज्य, समस्त योगसिद्धियाँ एवं विद्याएँ भी प्राप्त हो गयीं। इसी प्रकारकी घटनाएँ प्रह्लाद, चन्द्रहास आदि बालकोंके साथ हुई हैं। योग एवं योगिलभ्य भगवान् सबके लिये एक समान हैं।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

भगवान् अपनी ओर एक पग भी चलनेपर समस्त चमत्कृत-सिद्धियों एवं देवता, सिद्ध, मुनियोंके साथ अपनी पूर्ण तीव्र गतिसे उसकी ओर चल देते हैं। गजेन्द्रने ग्राहग्रस्त होकर ज्यों ही उनकी प्रार्थना की, त्यों ही सर्वदेवमय भगवान् देवता, सिद्ध, मुनियोंके साथ वहाँ पहुँच गये—

एवं गजेन्द्रमुपवर्णितनिर्विशेषं
ब्रह्मादयो विविधलिङ्गभिदाभिमानाः।
नैते यदोपससृपुर्निखिलात्मकत्वात्
तत्राखिलामरमयो हरिराविरासीत्॥

(श्रीमद्भा० ८।३।३०)

(श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्!) 'गजेन्द्रने बिना किसी भेदभावके निर्विशेष रूपसे भगवान्‌की स्तुति की थी, इसलिये भिन्न-भिन्न नाम और रूपको अपना स्वरूप माननेवाले ब्रह्मा आदि देवता उसकी रक्षा करनेके लिये नहीं आये। उस समय सर्वात्मा होनेके कारण सर्वदेवस्वरूप स्वयं भगवान् श्रीहरि प्रकट हो गये।'

सर्वलोकाधिपति सर्वेश्वरेश्वर भगवान् श्रीहरिके प्रसन्न होनेपर भला संसारकी कौन-सी वस्तु अप्राप्य रह जायगी?

'तस्मिन् तुष्टे किमप्राप्यं जगतामीश्वरेश्वरे।'

भगवान् भक्तियोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि किसी भी योगसे अति शीघ्र प्राप्त होते हैं। वे परमानन्द-सुधासिन्धु हैं। उनकी ओर तनिक भी अग्रसर होनेपर भक्तको उनके दिव्यातिदिव्य चमत्कार एवं आनन्दका भान होने लगता है।

फिर वह राज्य, धन एवं सांसारिक आनन्दोंको तनिक भी नहीं देख सकता। क्योंकि ये लौकिक, मायिक, क्षणिक, सुखप्रद एवं क्षणान्तरमें घोर नरकादिप्रद दुःखदायी पदार्थ सर्वथा निस्सार हैं। जैसे अमृत-सरोवरको प्राप्तकर कोई भी बुद्धिमान् गंदे गड्ढेके जलको नहीं पी सकता, वैसे ही भगवद्रसरसिक तुच्छ कामिनी-काञ्चनके मायाजालमें लेशमात्र भी आबद्ध नहीं हो सकता। यहाँतक कि जैसे सभी ओरसे जलसे परिपूर्ण सरोवरको प्राप्तकर छोटे-छोटे ताल-तलैयोंकी अपेक्षा व्यक्ति नहीं करता, उसी प्रकार भगवदानन्द-सुधासिन्धुमें निमग्न प्राणीको सांसारिक भोगोंकी कोई भी अपेक्षा नहीं रह जाती।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

(गीता २। ४६)

रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥

धर्म भगवान्‌का हृदय एवं सर्वाधिक मुख्य अङ्ग है। जो उसकी रक्षाके लिये तनिक भी प्रयत्न करता है, उसे सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जो विश्वहितकी चिन्ता करता है, उसका जीवन योगमय एवं सार्थक हो जाता है। भगवान् इसीके लिये अवतार लेते हैं। वे कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४। ७-८)

यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः।
तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः॥

(श्रीमद्भा० ९। २४। ५६)

योगेश्वर श्रीभगवान् साक्षात् योग-विग्रह—'**योगो योगविदां नेता**' हैं। उनके प्रत्येक अङ्ग ही धर्ममय हैं। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, विश्वप्रेम, बाह्याभ्यन्तर-शुचि, दान, स्वाध्याय, संतोष, ईश्वरप्रणिधान, ध्यान, धारणा, समाधि—ये सब योगके भी अङ्ग हैं और धर्मके भी अङ्ग कहे गये हैं। इनकी साधना ही अपने-आपमें धर्मकी संस्थापना है। इसे सारे देवता, ऋषि-मुनि, स्थावर-जङ्गमात्मक प्राणी भी स्वीकार करते हैं और संसारके सभी धर्म और मजहब भी इसी एक धर्ममें ही आबद्ध हैं। इस प्रकार जितेन्द्रियता तथा अहिंसा-प्रेमके द्वारा प्राणियोंमें परस्पर सद्भावना हो जायगी। पूर्ण अहिंसासे सम्पूर्ण विश्वके समस्त प्राणियोंकी रक्षा होगी और सबपर ईश्वर-भावना हो जायगी, क्योंकि योगी सबकी शुभ कामना ही करता है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। २९-३०)

भाव यह है कि जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत संकल्पके आधारपर देखता है, वैसे ही वह पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्माके अन्तर्गत स्वप्नके आधारपर देखता है। जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही (व्यापक) देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है, क्योंकि वह मुझमें एकीभावसे स्थित है।

इस तरह यदि अधिकांश लोग कामनाओं और स्वार्थका परित्यागकर योगी बन जायँ या थोड़े लोग भी शुद्ध योग-साधना करने लग जायँ और योगकी पूर्ण जिज्ञासा हो जाय तो सभी अपने-आप अपने सामनेके विश्वको परमात्मा, संत, सहृदय और पूर्ण सुख, शान्ति, समृद्धिसे बना हुआ देखेंगे। इस प्रकार समग्र विश्वमें सर्वत्र शुद्ध धर्म, परस्पर प्रेम, सर्वत्र कल्याण-भावना, विश्व-बन्धुत्व और दिव्य आनन्दकी स्थापना हो जायगी। आशा है, पाठक इस विश्व-कल्याणरूपी यज्ञके सम्पादन और विशुद्ध योगकी साधनामें तथा स्वयं आत्मकल्याणमें विशेषरूपसे ध्यान देकर प्रयत्न करनेका कष्ट करेंगे।

मैं न राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग चाहता हूँ और न मोक्ष चाहता हूँ। मैं तो केवल दुःखमें पड़े हुए प्राणियोंके दुःखका नाश चाहता हूँ।—महाराज श्रीशिवि

नम्र निवेदन और क्षमा-प्रार्थना

भगवत्कृपासे इस वर्ष 'कल्याण'का विशेषाङ्क 'योगतत्त्वाङ्क' पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत है। पिछले कई वर्षोंसे प्रेमी पाठकोंका यह आग्रह था कि योग-सम्बन्धी सामग्रियाँ 'कल्याण'के विशेषाङ्क-रूपमें उपलब्ध करायी जायँ।

वास्तवमें 'योग' एक व्यापक शब्द है जिसका प्रयोग जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें होता है। व्यावहारिक बोलचालकी भाषामें 'प्रयोग, संयोग, वियोग, नियोग, अधियोग, अतियोग, सुयोग, उद्योग, अभियोग, प्रतियोग, उपयोग' आदि अनेक शब्द योगसे संश्लिष्ट हैं। इसी प्रकार विभिन्न शास्त्रोंमें—जैसे आयुर्वेदमें औषध-योजनाको योग तथा ज्योतिष शास्त्रमें ग्रहोंके योगको भी योग कहा जाता है, इसी प्रकार गणितशास्त्र आदिमें भी योग शब्दका प्रयोग होता आया है। इस तरह देखा जाय तो योगके बिना कोई शास्त्र नहीं है। योगकी व्यापकता यहाँतक है कि वियोग और संयोग—इन दोनोंमें इसकी आवश्यकता है। इस प्रकार भारतीय मनीषियोंने यह अनुभव किया कि योग मानव-जीवनका एक अविच्छिन्न अङ्ग है। योगकी व्यापकता देखते हुए विभिन्न विद्वानोंने योगके विभिन्न अर्थ किये हैं, पर यहाँ हमें योगका जो यथार्थ अर्थ समझना है वह है—'परमात्माके साथ युक्त हो जाना', 'भगवान्‌को यथार्थमें पा लेना', 'भगवत्प्रेम-रूप अथवा भगवद्रूप हो जाना'। यही जीवका परम ध्येय है। जीव जबतक इस स्थितिमें नहीं पहुँच जाता, तबतक न उसकी तृप्ति होती है और न उसे शान्ति मिलती है और उसका भटकना भी बंद नहीं होता। साथ ही पूर्ण और अखण्ड आनन्दरूप तत्त्वके संयोगकी प्राप्ति भी नहीं हो पाती। इस पूर्णके संयोगका नाम ही योग है। अथवा इसको पानेके लिये जीवका जो सावधान प्रयत्न है, उसका नाम भी योग है। इस प्रकार भगवत्प्राप्तिके साधन और भगवत्प्राप्ति—ये दोनों ही योग हैं। इस पूर्णकी प्राप्तिका प्रयत्न जिस क्रियाके साथ जुड़ता है वही योग बन जाता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, सांख्ययोग, राजयोग, मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग आदि इसीके नाम हैं। पर ये क्रियाएँ तभी योग बनती हैं जब भगवन्मुखी होती हैं। कर्म, ज्ञान, भक्ति, ध्यान, सांख्य, मन्त्र, लय या हठ आदिकी क्रिया यदि भगवदुन्मुखी नहीं है तो वह योग नहीं, कुयोग है, उससे प्रायः पतन ही होता है।

साधन-रूपमें योग, समाधि और एकाग्रता—ये तीनों शब्द प्रायः एक ही अर्थके प्रतिपादक हैं, परंतु समाधिकी सिद्धिके लिये यम-नियमोंके पालनकी विशेष आवश्यकता है। इसके बिना ध्यान और समाधिका सिद्ध होना अत्यन्त कठिन है। झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचारकी वृत्तियोंके नष्ट हुए बिना चित्तका एकाग्र होना कठिन है और चित्त एकाग्र हुए बिना ध्यान और समाधि नहीं हो सकते। वैसे तो संसारका कोई भी व्यावहारिक या पारमार्थिक कार्य चित्तकी एकाग्रताके बिना निष्पन्न नहीं हो सकता। यों तो समाधिकी इच्छावाले पुरुषोंको योगके आठों अङ्गोंका साधन करना चाहिये। किंतु यम और नियमोंका पालन तो अवश्यमेव करना चाहिये। जैसे नींवके बिना मकान नहीं ठहर सकता, वैसे ही यम-नियमोंके पालन किये बिना समाधि या ध्यानका सिद्ध होना असम्भव-सा है। महर्षि पतञ्जलिके अनुसार चित्तवृत्तिका निरोध करके स्वरूपमें प्रतिष्ठित होना योग है। **'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः', 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।'**

सांख्य-मतानुसार पुरुष-प्रकृतिका पृथक्त्व स्थापित कर दोनोंका वियोग करके पुरुषका स्वरूपमें अवस्थित होना योग है—**'पुंप्रकृत्योर्वियोगेऽपि योग इत्यभिधीयते।'**

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार सुख-दुःख, पाप-पुण्य, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे अतीत होकर समत्व प्राप्त करना योग है—**'समत्वं योग उच्यते।'** इसके साथ ही कर्मकी कुशलताको योग कहा गया है। जिस उपायसे कर्म सहज, सुन्दर, स्वाभाविक रूपमें सिद्ध हो सके, अर्थात् बन्धनका कारण न हो उसीका नाम योग है—**'योगः कर्मसु कौशलम्'।**

योगवासिष्ठमें योग शब्दका अर्थ है 'संसार-सागरसे पार होनेकी युक्ति'। योगद्वारा मनुष्य अपने असली स्वरूप सच्चिदानन्दका अनुभव कर लेता है। परम आत्मामें स्थिति होनेपर उसे परम आनन्दका अनुभव निरन्तर होता रहता है।

विभिन्न साधकोंकी रुचि एवं स्वभावके अनुसार अपने शास्त्रोंमें योगकी साधनप्रक्रियाको विभिन्न स्वरूपोंमें प्रस्तुत किया गया है। प्राचीन ग्रन्थोंमें हठयोग, लययोग और राजयोग आदि योगके अनेक भेद मिलते हैं। इनमें हठयोगी नेति, धौति, वस्ति, कपालभाति, आसन, मुद्रा, त्राटक, प्राणायाम आदि शारीरिक क्रियाओंकी ओर विशेष दृष्टि रखकर देहको स्वस्थ, बलिष्ठ और कार्यशील बनानेकी विशेष चेष्टा करते हैं। लययोगी समस्त कामना, वासना, आसक्ति तथा संकल्प-विकल्पके जालसे मुक्त होकर चित्तकी वृत्ति शून्य बनाकर शान्त-अवस्था प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं। उनका विश्वास है कि नित्य-सिद्ध, स्वयंप्रकाश आत्मतत्त्व शुद्ध और शान्त चित्तमें

स्वयं स्फुरित होता है। राजयोगी देहतत्त्व और मनस्तत्त्व तथा आत्मतत्त्वको सम्यक्‌रूपसे जानकर स्वरूपमें प्रतिष्ठित **'स्वे महिम्न्यवस्थितिः'** होकर इस देहराज्यके, जगद्‌ब्रह्माण्डके स्वामी बनकर भगवदिच्छामें अपनी इच्छाओंको मिलाते हुए मुक्त राजाके समान विराजित होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें योगको मुख्यतः तीन भागोंमें विभक्त किया गया है—कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग। कर्मयोगसे मलका नाश होता है, चित्तकी शुद्धि होती है और हाथोंमें कुशलता आती है। भक्तियोगसे विक्षेप दूर होता है और हृदयका विकास होता है। ज्ञानयोगसे अज्ञानका आवरण हटकर मनकी स्थिरता एवं एकाग्रता निष्पन्न होती है और आत्मज्ञानकी उपलब्धि होती है। ये तीनों ही भगवत्प्राप्तिके पूर्ण साधन हैं।

योगके इन विभिन्न स्वरूपोंमें किसी प्रकारका मतभेद एवं विरोध नहीं रहता, अपितु सामञ्जस्यकी स्थिति रहती है। ये सभी लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये एक दूसरेके सहायक होते हैं।

यौगिक क्रियाओंके अन्तर्गत समाधिकालमें कई प्रकारके विघ्न भी बलपूर्वक आने लगते हैं, जिनकी चर्चा महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनमें की है। व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व—ये नौ चित्तके विक्षेप हैं। यही अन्तराय (विघ्न) कहलाते हैं। ये अन्तराय क्या हैं और इनसे किस प्रकार छुटकारा मिलता है, इस बातको योगमार्गमें प्रवेश करनेसे पहले जानना आवश्यक है।

यौगिक क्रियाओंके निष्पन्न होनेपर तथा इन्द्रिय, अहंकार, मन आदिपर संयम करनेपर अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ और अनुभव प्राप्त होते हैं। अपने यहाँ अष्ट-महासिद्धियोंका विवरण मिलता है, जैसे—(१) अणिमा (अपनेको अणुके सदृश सूक्ष्म बना लेना), (२) महिमा (अपनेको पर्वतके समान विशालकाय बना लेना), (३) लघिमा (अपने शरीरको रूईके समान हलका बना लेना), (४) गरिमा (अपने शरीरको लोहेके पर्वत-जैसा भारी बना लेना), (५) प्राप्ति (चन्द्रमाको अँगुलीके अग्रभागसे छू लेना), (६) प्राकाम्य (सब प्रकारकी इच्छाओंका पूर्ण हो जाना), (७) ईशित्व (सृष्टि उत्पन्न करनेकी शक्ति), (८) वशित्व (सबपर शासन करने तथा पञ्चमहाभूतोंपर विजय प्राप्त कर लेनेकी शक्ति)।

परंतु ये सिद्धियाँ लक्ष्यपर पहुँचनेवाले योगीके लिये विघ्नरूप ही हैं। अतः परम उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये इन सिद्धियोंसे भी सावधान ही रहना चाहिये। अर्थात् इनमें फँसना नहीं चाहिये। पर वास्तवमें शास्त्रोक्त ये अष्ट महासिद्धियाँ तो आजकल प्राप्त होनी ही दूभर हो गयी हैं। इसके बदले कुछ स्वार्थी लोग 'योग' शब्दका दुरुपयोग करने लगे हैं। ऐन्द्रजालिक-कौशल (Magic) आदिको योगका अङ्ग माना जाने लगा। मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि क्रियाओंको योगके अन्तर्गत समझा जाने लगा है। जो लोग ताबीज, कवच आदिके द्वारा प्रारब्ध-फलके विपरीत वन्ध्याको पुत्र-प्राप्तिके लिये दवा देते हैं, रोगियोंका रोग दूर करनेकी बात करते हैं तथा योगीकी पोशाक—गेरुआ वस्त्र, विभूति आदि धारणकर अपना प्रभाव जमाकर छल-बल और कौशलसे दूसरोंको ठगते हैं, ऐसे लोग भी आजकल योगी कहे जाते हैं और समाजमें पूजित होते हैं, अतः ऐसे लोगोंसे अत्यन्त सावधान रहनेकी आवश्यकता है।

सच्चे और वास्तविक योगी देह, मन, प्राणको शुद्ध और शान्त करके मूलाधारसे कुण्डलिनीको जाग्रत् कर अपनी अन्तःशक्तिको प्रबुद्ध करते हुए सहस्रारमें स्थित सदाशिव परमात्मासे युक्त हो ज्योतिर्मय देहसे भगवान्‌के साथ आनन्दसमाधिमें विभोर रहते हैं। भगवान्‌की इच्छामें अपनी इच्छाओंको मिलाते हुए जगत्‌का कल्याण करना ही उनका मुख्य उद्देश्य होता है। योग-साधनाका सारतत्त्व यही है कि हमारे अंदर भगवान्‌की अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त प्रेम और शाश्वत आनन्दकी नित्य अनुभूति बनी रहे। हमारी कामना, वासना, आसक्ति, अज्ञानता, हमारे कुसंस्कार, स्वार्थ, आत्मसुखकी स्पृहा, अहंकार और प्रतिष्ठाका मोह उस भगवत्प्राप्तिकी साधनामें बाधा पहुँचाते हैं।

अतः हम जितना ही इन बाधाओंसे मुक्त होंगे, उतना ही हमारे भीतर भगवद्भाव प्रकाशित होगा और हम अपनी साधनामें सफल हो सकेंगे। इन्हीं सब दृष्टियोंसे सर्वसाधारण जनमानसको योगके सारभूत तत्त्वोंसे अवगत करानेके लिये इस वर्ष 'योगतत्त्वाङ्क' आपकी सेवामें प्रस्तुत किया जा रहा है। जिसमें मुख्यरूपसे योगका तात्त्विक विवेचन—योग क्या है ? वह कितने रूपोंमें विभक्त है ? उसकी साधन-प्रणाली क्या है ? किस प्रकार चित्तको शुद्ध एवं शान्त करके समाधि-योगके द्वारा परमात्म-साक्षात्कार किया जा सकता है ?—इन सबका विश्लेषण किया गया है; साथ ही इसमें विविध प्रकारके योगों, योगशास्त्रों तथा भारतीय वाङ्मयमें योगकी परम्पराके अनुसार योगसाधनाके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंपर पूर्ण प्रकाश डालनेका प्रयास किया गया है। प्राचीन कालसे अर्वाचीन समयतकके प्रायः प्रमुख योगसिद्ध महात्माओं एवं सत्पुरुषोंकी योगमय

जीवनचर्याओं और साधन-पद्धतियों एवं उपासना-प्रक्रियाओंको भी सचित्र एवं रोचक भाषा-शैलीमें प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया गया है।

इस वर्ष विशेषाङ्कके लिये लेख तो बहुत आये, परंतु 'योगतत्त्वाङ्क' की विषय-सूचीके अनुसार सीमित विषयोंपर ही अधिकतम लेख प्राप्त होते रहे, जिस कारण विषयकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण लेखोंका ही उपयोग अङ्कमें किया जा सका है। आजसे लगभग ५५ वर्ष पूर्व सन् १९३५ में 'कल्याण'के विशेषाङ्कके रूपमें 'योगाङ्क'का प्रकाशन हुआ था, उन दिनों 'कल्याण' की ग्राहक-संख्या सीमित होनेके कारण थोड़े लोग ही उससे लाभान्वित हो सके थे। योग-उपासनाके परम साधक, योगाचार्य, संत, महात्मा और गम्भीर विद्वान् जो उन दिनों उपलब्ध थे, वे आज नहीं रहे और जो आज उपलब्ध हैं, कदाचित् आगेके दिनोंमें उनका भी अभाव हो जाय, अतः विषयकी सर्वाङ्गीणतापर ध्यान रखते हुए जो महत्त्वपूर्ण लेख सम्प्रति प्राप्त हुए, उनसे अतिरिक्त विषयोंपर कतिपय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेख पूर्व-प्रकाशित योगाङ्कसे संगृहीत कर लिये गये हैं, जिससे हमारे पाठकोंको उन विशिष्ट विद्वानों, योगाचार्यों और संत-महात्माओंके विचारों और अनुभवोंका भी लाभ प्राप्त हो सके।

'योगतत्त्वाङ्क'की अधिकतम सामग्रीको विशेषाङ्कमें समाहित करनेकी दृष्टिसे हम यह चाहते थे कि इस वर्ष विशेषाङ्कको पृष्ठ-संख्या तथा चित्रोंकी संख्या बढ़ायी जाय, परंतु महँगाईकी अनवरत अप्रत्याशित वृद्धिके कारण यह सम्भव नहीं हो सका, बल्कि घाटेकी राशिको कम करनेकी दृष्टिसे न्यासमण्डलको 'कल्याण'के वार्षिक शुल्कमें वृद्धि भी करनी पड़ी है। इन सभी परिस्थितियोंके होते हुए भी भगवान् योगेश्वरकी कृपासे विशेषाङ्कमें यथासाध्य योगसे सम्बन्धित सम्पूर्ण सभी विषयोंके समायोजन करनेका प्रयास किया गया है। साथ ही विषय और सामग्रीकी अधिकताको ध्यानमें रखते हुए दूसरे और तीसरे मासका अङ्क भी परिशिष्टाङ्क-रूपमें विशेषाङ्कके साथ दिया जा रहा है।

अब हम सर्वप्रथम 'कल्याण'को अपनी गौरवमयी परम्परामें विकसित तथा प्रतिष्ठापित करनेवाले 'कल्याण'के आदिसम्पादक नित्यलीलालीन परमपूज्य भाईजी श्रीहनुमान-प्रसादजी पोद्दार तथा उनके समकालीन विद्वान् लेखकों (जो आज हमारे बीच नहीं हैं) के पादपद्मोंपर अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हैं, जिनकी शक्तिसे समन्वित होकर ही आज हम 'योगतत्त्वाङ्क'-जैसे साधनोपयोगी महत्त्वपूर्ण विशेषाङ्कको आप सब महानुभावोंके समक्ष प्रस्तुत करनेमें समर्थ हो सके हैं।

हम अपने उन सभी पूज्य आचार्यों, परम सम्मान्य परम हृदय संत-महात्माओं, आदरणीय विद्वान् लेखक महानुभावोंके श्रीचरणोंमें श्रद्धा-भक्तिसहित प्रणाम करते हैं, जिन्होंने विशेषाङ्कको पूर्णतामें किंचित् भी योगदान किया है। सद्विचारोंके प्रचार-प्रसारमें वे ही मुख्य निमित्त भी हैं, क्योंकि उन्हींके सद्भावपूर्ण उच्च विचारयुक्त लेखोंसे 'कल्याण' को सदा शक्तिस्रोत प्राप्त होता रहता है।

हम अपने विभागके तथा प्रेसके अपने उन सभी सम्मान्य साथी और सहयोगियोंके प्रति आभार प्रकट करते हैं, जिनके स्नेहभरे सहयोगसे यह पवित्र कार्य अबतक सम्पन्न हो सका है। हम अपनी त्रुटियों और व्यवहार-दोषके लिये इन सबसे क्षमाप्रार्थी हैं।

'योगतत्त्वाङ्क'के सम्पादनमें जिन योगाचार्यों, संतों और विद्वान् लेखकोंसे हमें सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ है, हम अपने मानस-पटलसे विस्मृत नहीं कर सकते। इस अङ्कके सम्पादनमें अपने सम्पादकीय विभागके वयोवृद्ध विद्वान् पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा तथा कुछ अन्य सहयोगियोंके अथक परिश्रमसे ही गम्भीर शास्त्रीय विषयोंका विवेचन करनेवाला यह 'विशेषाङ्क' इस रूपमें प्रस्तुत हो सका है। इसके सम्पादन, प्रूफ-संशोधन, चित्रनिर्माण आदि कार्योंमें जिन-जिन लोगोंसे हमें सहायता मिली है, वे सभी हमारे अपने हैं, उन्हें धन्यवाद देकर हम उनके महत्त्वको घटाना नहीं चाहते।

वास्तवमें 'कल्याण'का कार्य भगवान्‌का कार्य है। अपना कार्य भगवान् स्वयं करते हैं। हम तो केवल निमित्त मात्र हैं। इस बार 'योगतत्त्वाङ्क'के सम्पादनकार्यके अन्तर्गत योगेश्वर परमात्मप्रभुके चिन्तन, मनन एवं स्मरणका सौभाग्य निरन्तर प्राप्त होता रहा, यह हमारे लिये विशेष महत्त्वकी बात थी। हमें आशा है, इस विशेषाङ्कके पठन-पाठनसे हमारे सहृदय पाठकोंको भी इस पवित्र संयोगका लाभ अवश्य प्राप्त होगा।

अन्तमें हम अपनी त्रुटियोंके लिये आप सबसे क्षमा-प्रार्थना करते हुए दीनवत्सल अकारणकरुणावरुणालय योगेश्वर भगवान् आशुतोषके श्रीचरणोंमें नमन करते हुए यह प्रार्थना करते हैं—

कर्पूरगौरं करुणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्रहारम्।
सदा वसन्तं हृदयारविन्दे भवं भवानीसहितं नमामि॥

—राधेश्याम खेमका
सम्पादक

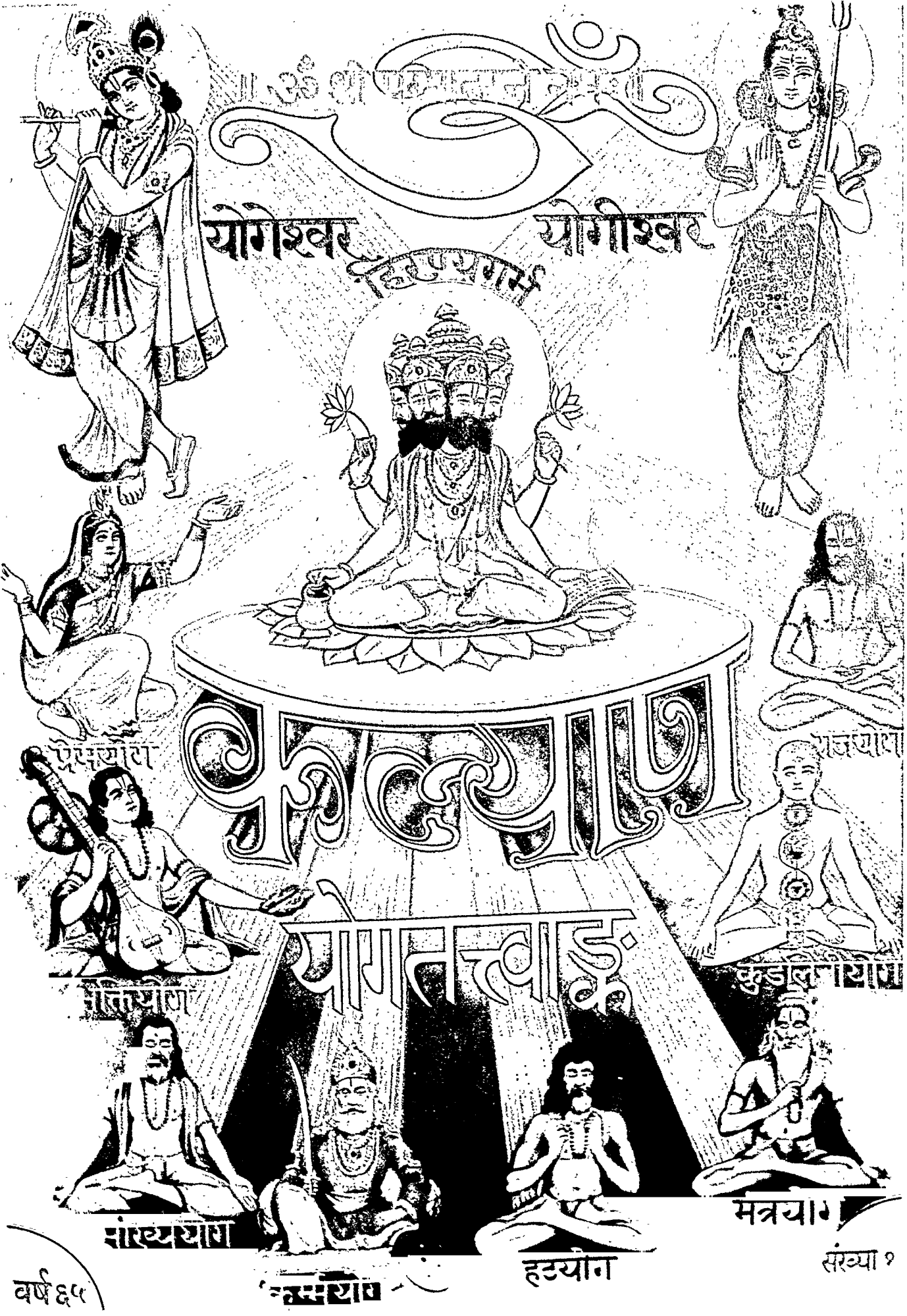
योगेश्वर
योगीश्वर
हठयोग
योगतत्त्वाङ्क
प्रेमयोग
राजयोग
भक्तियोग
कुण्डलीयोग
सांख्ययोग
मन्त्रयोग
हठयोग
संख्या १
वर्ष ६५

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय-जय, काल-विनाशिनि काली जय जय।
उमा-रमा-ब्रह्माणी जय जय, राधा-सीता-रुक्मिणि जय जय॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जय-जय दुर्गा, जय मा तारा। जय गणेश जय शुभ-आगारा॥
जयति शिवाशिव जानकिराम। गौरीशंकर सीताराम॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम। व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम॥

(संस्करण १,८०,०००)

योगसारसर्वस्व—भगवन्नाम

कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानाम्
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य।
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां
बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम॥

। भगवान्‌का मङ्गलमय राम-नाम, समस्त कल्याणोंका विशाल आकर, कलियुगके समस्त दोष-पापोंका करनेवाला, पवित्रसे पवित्र वस्तुओंको भी और अधिक पवित्र करनेवाला, मोक्ष या कैवल्यकी तत्काल कामनासे योग-साधनामें प्रवृत्त मुमुक्षुजनोंके लिये पाथेय (अक्षय सम्बल), श्रेष्ठ कविजनों एवं विद्वानोंकी लिये एकमात्र विश्राम-स्थान तथा समस्त सज्जनों (भक्तों एवं संतों)का एकमात्र प्राण है और धर्मरूपी वृक्षका उत्पत्तिकारक बीज भी है, वह (राम-नाम) आप सभीके सब प्रकारकी सुख-समृद्धि एवं का कारण बने।

ल्य
)
भारतमें ५५.०० रु०
विदेशमें ५ पौंड
अथवा ८ डालर

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

इस अङ्कका मूल्य
(डाक-व्ययसहित)
भारतमें ५५.०० रु०
विदेशमें ५ पौंड
अथवा ८ डालर

संस्थापक—ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदिसम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
रामदास जालान द्वारा गोविन्दभवन-कार्यालयके लिये गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित

'कल्याण'के सम्मान्य ग्राहकों और प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

१-'कल्याण'के ६५वें वर्ष (वि॰ संवत् २०४८) का यह विशेषाङ्क 'योगतत्त्वाङ्क' पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत है। इसमें ४०८ पृष्ठोंमें पाठ्यसामग्री और ८ पृष्ठोंमें विषय-सूची आदि है। कई बहुरंगे तथा सादे चित्र भी यथास्थान दिये गये हैं।

२-जिन ग्राहकोंसे शुल्क-राशि अग्रिम मनीआर्डरद्वारा प्राप्त हो चुकी है, उन्हें 'विशेषाङ्क' सौर वैशाख एवं सौर ज्येष्ठके अङ्कोंके सहित रजिस्ट्रीद्वारा भेजे जा रहे हैं तथा जिनसे शुल्क-राशि प्राप्त नहीं हुई है, उन्हें अङ्क बचनेपर ही ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार वी॰पी॰पी॰द्वारा भेजा जा सकेगा। रजिस्ट्रीकी अपेक्षा वी॰पी॰पी॰ द्वारा 'विशेषाङ्क' भेजनेमें डाकखर्च अधिक लगता है, अतः ग्राहक महानुभावोंसे विनम्र अनुरोध है कि वे वी॰पी॰पी॰ की प्रतीक्षा और अपेक्षा न करके अपने तथा 'कल्याण' के हितमें वार्षिक शुल्क-राशि कृपया मनीआर्डरद्वारा ही भेजें। 'कल्याण'का वार्षिक शुल्क डाकखर्चसहित ५५.०० (पचपन) रु॰ मात्र है, जो मात्र विशेषाङ्कका ही मूल्य है।

३-ग्राहक सज्जन कृपया मनीआर्डर-कूपनपर अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें। ग्राहक-संख्या या 'पुराना ग्राहक' न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिखा जा सकता है, जिससे आपकी सेवामें 'योगतत्त्वाङ्क' नयी ग्राहक-संख्याके क्रमसे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्याके क्रमसे इसकी वी॰पी॰पी॰ भी जा सकती है। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप शुल्क-राशि मनीआर्डरसे भेज दें और उसके यहाँ पहुँचनेके पहले ही इधरसे वी॰पी॰पी॰ भी चली जाय। ऐसी स्थितिमें आपसे प्रार्थना है कि आप कृपया वी॰पी॰पी॰ लौटायें नहीं, अपितु प्रयत्न करके किन्हीं अन्य सज्जनको 'नया ग्राहक' बनाकर वी॰पी॰पी॰ से भेजे गये 'कल्याण' अङ्क उन्हें दे दें और उनका नाम तथा पूरा पता सुस्पष्ट, सुवाच्य लिपिमें लिखकर हमारे कार्यालयको भेजनेका अनुग्रह करें। आपके इस कृपापूर्ण सहयोगसे आपका अपना 'कल्याण' व्यर्थ डाक-व्ययकी हानिसे बचेगा ही, इस प्रकार आप भी 'कल्याण'के पावन प्रचारमें सहायक एवं सहयोगी बनकर पुण्यके भागी होंगे।

४-विशेषाङ्क 'योगतत्त्वाङ्क'के साथमें सौर वैशाख एवं सौर ज्येष्ठ वि॰ सं॰ २०४८ का (दूसरा एवं तीसरा) अङ्क भी ग्राहकोंकी सेवामें (शीघ्र और सुरक्षित पहुँचानेकी दृष्टिसे) रजिस्टर्ड पोस्टसे भेजा जा रहा है। यद्यपि यथाशक्य तत्परता और शीघ्रता करनेपर भी सभी ग्राहकोंको अङ्क भेजनेमें अनुमानतः ६-७ सप्ताह तो लग ही सकते हैं, तथापि विशेषाङ्क ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार ही भेजनेकी प्रक्रिया होनेसे किन्हीं महानुभावोंको अङ्क कुछ विलम्बसे मिलें तो वे अपरिहार्य कारण समझकर कृपया हमें क्षमा करेंगे।

५-विशेषाङ्कके लिफाफे (रैपर) पर आपकी जो ग्राहक-संख्या लिखी गयी है, उसे आप कृपया पूर्ण सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री या वी॰पी॰पी॰ का नंबर भी नोट कर लेना चाहिये, जिससे आवश्यकतानुसार पत्राचारके समय उल्लेख किया जा सके। इससे कार्यकी सम्पन्नतामें शीघ्रता एवं सुविधा होगी तथा कार्यालयकी शक्ति और समय व्यर्थ नष्ट होनेसे बचेंगे।

६-'कल्याण'-व्यवस्था-विभाग एवं 'गीताप्रेस-पुस्तक-विक्रय-विभाग'को अलग-अलग समझकर सम्बन्धित पत्र, पार्सल, पैकेट, मनीआर्डर, बीमा आदि पृथक्-पृथक् पतोंपर भेजने चाहिये। पतेके स्थानपर केवल 'गोरखपुर' ही न लिखकर 'पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर'के साथ पिन २७३००५ भी अवश्य लिखना चाहिये।

व्यवस्थापक—'कल्याण'-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर, पिन-२७३००५

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस दोनों विश्व-साहित्यके अमूल्य ग्रन्थ-रत्न हैं। इनके पठन-पाठन एवं मननसे मनुष्य लोक-परलोक दोनोंमें अपना कल्याण-साधन कर सकता है। इनके स्वाध्यायमें वर्ण, आश्रम, जाति, अवस्था आदि कोई भी बाधक नहीं है। आजके समयमें इन दिव्य ग्रन्थोंके पाठ और प्रचारकी अत्यधिक आवश्यकता है। अतः धर्मपरायण जनताको इन कल्याणमय ग्रन्थोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं विचारोंसे अधिकाधिक लाभ पहुँचानेके सदुद्देश्यसे श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघकी स्थापना की गयी है। इसके सदस्योंकी संख्या इस समय लगभग बावन हजार है। इसमें श्रीगीताके छः प्रकारके और श्रीरामचरितमानसके तीन प्रकारके सदस्य बनाये गये हैं। इसके अतिरिक्त उपासना-विभागके अन्तर्गत नित्य इष्टदेवके नामका जप, ध्यान और मूर्तिकी पूजा अथवा मानसिक पूजा करनेवाले सदस्योंकी श्रेणी भी है। इन सभीको श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानसके नियमित अध्ययन तथा उपासनाकी सत्प्रेरणा दी जाती है। सदस्यताका कोई शुल्क नहीं है। इच्छुक सज्जन परिचय-पुस्तिका निःशुल्क मँगवाकर पूरी जानकारी प्राप्त करनेकी कृपा करें एवं श्रीगीताजी और श्रीरामचरितमानसके प्रचार-यज्ञमें सम्मिलित होकर अपने जीवनका कल्याणमय पथ प्रशस्त करें।

पत्र-व्यवहारका पता—मन्त्री, श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, *पत्रालय*—स्वर्गाश्रम—२४९३०४ (वाया-ऋषिकेश), *जनपद*—पौड़ी-गढ़वाल (उ० प्र०)

साधक-संघ

मानव-जीवनकी सर्वतोमुखी सफलता आत्म-विकासपर ही अवलम्बित है। आत्म-विकासके लिये जीवनमें सत्यता, सरलता, निष्कपटता, सदाचार, भगवत्परायणता आदि दैवी गुणोंका ग्रहण और असत्य, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, हिंसा आसुरी गुणोंका त्याग ही एकमात्र श्रेष्ठ और सरल उपाय है। मनुष्यमात्रको इस सत्यसे अवगत करानेके पावन लगभग ४३ वर्ष पूर्व 'साधक-संघ'की स्थापना की गयी थी। इसका सदस्यता-शुल्क नहीं है। सभी स्त्री-पुरुषोंको इसका सदस्य बनना चाहिये। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं। प्रत्येक सदस्यको एक 'साधक-दैनन्दिनी' एवं एक 'आवेदन-पत्र' भेजा जाता है, सदस्य बननेके इच्छुक भाई-(इधरमें डाक-खर्चमें विशेष वृद्धि हो जानेके कारण साधक-दैनन्दिनीका मूल्य १.०० रु० तथा डाकखर्च ०.५०) मात्र १.५० रु० डाकटिकट या मनीआर्डरद्वारा अग्रिम भेजकर उन्हें मँगवा लेना चाहिये। साधक उस दैनन्दिनीमें प्रतिदिन अपने नियम-पालनका विवरण लिखते हैं। विशेष जानकारीके लिये कृपया निःशुल्क नियमावली मँगवाइये।

पता—संयोजक, 'साधक-संघ' द्वारा—'कल्याण' सम्पादन-विभाग, *पत्रालय*—गीताप्रेस, *जनपद*—गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)

श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस दोनों मङ्गलमय एवं दिव्यतम ग्रन्थ हैं। इनमें मानवमात्रको अपनी समस्याओंका समाधान मिल जाता है तथा जीवनमें अपूर्व सुख-शान्तिका अनुभव होता है। प्रायः सम्पूर्ण विश्वमें इन अमूल्य ग्रन्थोंका समादर है और करोड़ों मनुष्योंने इनके अनुवादोंको भी पढ़कर अवर्णनीय लाभ उठाया है। इन ग्रन्थोंके प्रचारके द्वारा लोकमानसको अधिकाधिक परिष्कृत करनेकी दृष्टिसे श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानसकी परीक्षाओंका प्रबन्ध किया गया है। दोनों ग्रन्थोंकी परीक्षाओंमें बैठनेवाले लगभग पंद्रह हजार परीक्षार्थियोंके लिये ४०० (चार सौ) परीक्षा-केन्द्रोंकी व्यवस्था है। नियमावली मँगानेके लिये निम्नलिखित पतेपर पत्र-व्यवहार करें।

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, *पत्रालय*—स्वर्गाश्रम, पिन—२४९३०४ (वाया-ऋषिकेश), *जनपद*—पौड़ी-गढ़वाल (उ० प्र०)

'योगतत्त्वाङ्क'की विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी योगचर्या	१
मङ्गल-स्तवन—	
२-मङ्गल-कामना	२
३-शुभाशंसा और योग-साधना	३
४-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णका संस्तवन	६
५-योगीश्वर शिवमें अनन्य भक्ति-भाव	७
६-महर्षि वसिष्ठजीको नमस्कार	८
७-महायोगी पतञ्जलिको प्रणाम	८
८-भगवती महायोगमायाकी स्तुति	९
प्रसाद-आशीर्वाद—	
९-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके योगविषयक उपदेश ·	१०
१०-पातञ्जलयोगदर्शन	१७
११-योगीश्वर भगवान् शिवके योगोपदेश	२७
१२-महर्षि वसिष्ठकी योग-धारणा	२८
१३-भगवत्पाद आदिशंकराचार्यकी योग-मीमांसा (श्रीसुब्रह्मण्य शर्मा)	२९
१४-अव्यभिचार भक्तियोग (ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)	३१
१५-कर्मयोग और ज्ञानयोग (अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजका सदुपदेश)	३५
१६-योग और धर्माचरण (अनन्तश्रीविभूषित पूर्वाम्नाय गोवर्धन-पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीनिरंजनदेवतीर्थजी महाराज)	३७
१७-सिद्ध पुरुषकी स्थिति	३८
१८-पूज्य देवराहा बाबाके कल्याणकारी उपदेश ··	३९
१९-योगसाधनाकी उपादेयता (अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नायस्थ शृङ्गेरी शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज)	४२
२०-ऋजु-योगकी साधन-प्रक्रिया (ब्रह्मलीन श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)	४४
२१-योग-तत्त्व-रहस्य-मीमांसा (स्वामी श्रीनिश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज)	४७
२२-अध्यात्मपथका उत्तम साधन—योग (अनन्त-श्रीविभूषित ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशी (सुमेरु) पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीशंकरानन्द सरस्वतीजी महाराज)	५०
२३-दर्शनोंके परिप्रेक्ष्यमें योगका स्वरूप और महत्त्व (दण्डी स्वामी श्री १०८ श्रीविपिनचन्द्रानन्द सरस्वतीजी महाराज, 'जज स्वामी')	५२
२४-श्रीशंकराचार्यजीका अद्वैत सम्प्रदाय और उनकी साधनामें योगकी प्रधानता (अनन्तश्रीविभूषित तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीजयेन्द्रसरस्वतीजी महाराज)	५५
२५-अष्टाङ्ग-योग (ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	५७
२६-भक्तियोगका वैशिष्ट्य (अनन्तश्रीविभूषित श्रीमद्विष्णुस्वामिमतानुयायि श्रीगोपाल वैष्णव-पीठाधीश्वर श्री १०८ श्रीविट्ठलेशजी महाराज)	६२
२७-भगवन्नामसे प्रेम करो [कविता] (दूलनदास)	६४
२८-मनको वश करनेके कुछ यौगिक साधन (नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)	६५
२९-योग-तत्त्व-मीमांसा (श्रीसम्प्रदायाचार्य श्रीभाष्यभगवद्विषय उभयसिंहासनाधिपति विश्वाचार्य श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज 'तर्कशिरोमणि')	७१
३०-अनासक्तियोग [कविता] (स्व० पं० श्रीराम-नारायणदत्तजी पाण्डेय, शास्त्री)	७२
३१-योगः कर्मसु कौशलम् (श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)	७३
३२-परो हि योगो मनसः समाधिः (जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य गोस्वामी श्रीललितकृष्णजी महाराज)	७७
३३-नाथसम्प्रदायमें योगसाधना (गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज)	७८

विषय	पृष्ठ-संख्या
३४-केशिध्वज जनककी योगसमीक्षा (पद्मभूषण आचार्य पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय)	८०
३५-जागो [कविता] (धरनीदास)	८३
योग-तत्त्व-विमर्श—	
३६-योगका वास्तविक स्वरूप	८४
३७-योगविद्या (स्वामी श्रीविज्ञानानन्दजी सरस्वती)	८७
३८-योगकी कुछ आवश्यक बातें	९१
३९-योग क्या है ? (श्रीभूपेन्द्रनाथजी सान्याल)	९२
४०-योग और उसके विभिन्न दृष्टिकोण (स्वामी श्रीज्योतिर्मयानन्दजी महाराज) [अनु०—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	९६
४१-योगकी उपादेयता (स्वामी श्रीओंकारानन्दजी सरस्वती महाराज)	१०१
४२-भारतीय संस्कृतिकी एक समृद्ध सम्पत्ति—योग (डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज)	१०३
४३-संसारमें कैसे रहना चाहिये [कविता] (चरनदास)	१०४
४४-योगमाया	१०५
४५-योगज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ (श्रीहरिलाल भोगीलाल त्रिवेदी, वैद्य)	१०६
४६-योग-साधनाके विघ्न और उन्हें दूर करनेके उपाय (पं० श्रीकमलाकान्तजी त्रिवेदी)	११०
४७-योगसे प्राप्त होनेवाली अपरा एवं परा सिद्धियाँ (वेदान्तभूषण पं० श्रीबदरीदासजी पुरोहित) ...	११२
४८-भोगमें योग (काव्यतीर्थ पं० श्रीकृष्णदत्तजी शास्त्री)	११८
४९-योगका महत्त्व (प्रो० डॉ० श्रीसीतारामजी झा 'श्याम' एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्)	१२०
५०-योगसाधनामें प्रणवोपासना (श्रीगंगारामजी शास्त्री)	१२२
५१-गुरु-तत्त्व-साधना (पं० श्रीरामनारायणजी झा, ज्योतिषाचार्य, ज्योतिष-तीर्थ, साहित्यकेसरी, साहित्यशास्त्री)	१२५
५२-शुद्धस्वरूप [कविता] (भीखा साहब)	१२७
५३-गुरु-तत्त्व-विचार	१२८
५४-ब्रह्मचारीजीकी दो बातें (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)	१२९

विषय	पृष्ठ-संख्या
योगके विविध रूप—	
५५-योगके मुख्य सिद्धान्त	१३१
५६-विरक्त [कविता] (श्रीपंन्यासजी महाराज विजयमाणिक्यरुचिजी यति 'मानिक')	१३२
५७-अष्टाङ्ग-योग (अनन्तश्री स्वामी श्रीमाधवाश्रमजी महाराज, 'शुकदेव स्वामीजी')	१३३
५८-योगचतुष्टय—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग एवं राजयोग (श्रीएकान्तवासी महात्मा)	१३५
५९-संसार-योग (पं० श्रीलक्ष्मणनारायणजी गर्दे)	१४०
६०-शरणागतियोगमें समस्त योगोंका समन्वय (स्वामी श्रीपरमहंसजी महाराज)	१४२
६१-ध्यान [कविता] (श्रीनारायण स्वामी)	१४४
६२-प्रेमयोग	१४५
६३-चित्तकी दशाएँ	१४९
६४-जपयोग (बालयोगी श्रीबालस्वामीजी महाराज (श्री न० रा० निगुडकर) के अनुभवयुक्त विचार)	१५०
६५-मन्त्रयोग-साधना (कविराज पं० श्रीसीता-रामजी शास्त्री 'श्रीविद्याभास्कर')	१५४
६६-मत्युञ्जय-योग	१६०
६७-समाधियोग (श्रीश्रीधर मजूमदार, एम्० ए०)	१६१
६८-नादानुसंधान और लययोग (महामण्डलेश्वर योगिराज १००८ श्रीबर्फानीबाबाजी महाराज) [प्रेषक—श्रीगंगारामजी शास्त्री]	१६५
६९-तारकयोगका रहस्य (आचार्य श्रीधनीदासजी महाराज)	१६८
७०-विश्व-कल्याण-योग (श्रीअनन्तशंकरजी कोल्हटकर बी० ए०)	१६९
७१-क्रियायोगका स्वरूप	१७०
७२-शिक्षाकी दृष्टिसे अष्टाङ्गयोगका महत्त्व (डॉ० श्रीभीष्मदत्तजी शर्मा)	१७२
७३-संत-मतमें सुरत-शब्दयोगकी महत्ता (स्वामी श्रीअच्युतानन्दजी महाराज)	१७५
७४-नामसंकीर्तन-योग (श्रीश्रीधरविनायकजी माण्डवगणे)	१७७

विषय	पृष्ठ-संख्या
७५-व्यक्तियोग	१७८
७६-प्रेमयोग और भावतत्त्व (डॉ० श्रीभवदेवजी झा, एम्० ए० (द्वय), पी-एच्० डी०)	१८०
७७-व्रजगोपियोंकी योगधारणा (श्रीप्रेमनारायणजी त्रिपाठी 'प्रेम')	१८१
७८-जडयोग (श्री 'माधव')	१८२
७९-पातिव्रतयोग (पं० श्रीप्रेमवल्लभजी त्रिपाठी)	१८६
८०-सबसे उत्तम और अन्तिम साधन—बुद्धियोग (श्रीतपोवनस्वामीजी महाराज)	१८९
८१-पूर्ण योग (स्वामी श्रीमित्रसेनजी)	१९३
८२-समत्वं योग उच्यते (सरस्वतीपुत्र श्रीगोपालजी)	१९४
८३-निष्काम-कर्मयोग (श्रीरामकृष्णजी मिश्र, पी०सी०एस्०,अपर आयुक्त 'प्रशासन')	१९७
८४-तिब्बती योग 'लुङ्गगोम' एवं आकाश-सञ्चरण-विद्या (श्रीब्रह्मानन्दजी द्विवेदी 'आनन्द') ...	२०१
८५-बिरले योगी [कविता] (स्व० योगिवर्य महात्मा श्रीचिदानन्दजी यति)	२०२
भारतीय वाङ्मयमें योग—	
८६-वेदमें योगविद्या (श्रीजगन्नाथजी वेदालंकार)	२०३
८७-योगोपनिषदोंमें योग-निरूपण (पं० श्रीबटुकनाथजी शर्मा, एम्० ए०, साहित्याचार्य)	२०५
८८-सिद्ध योगी [कविता] (श्रीजगदीशजी झा 'विमल')	२१०
८९-ईशावास्य और इसका कर्मयोग (पं० श्रीलाल-बिहारीजी मिश्र)	२११
९०-तन्त्रमें योग (श्रीअटलबिहारीजी घोष)	२१६
९१-शांकरवेदान्तमें योगका महत्त्व (श्रीवेदान्ती स्वामीजी)	२२०
९२-सच्चे गुरुदेव [कविता] (श्रीसुन्दरदासजी) .	२२१
९३-योगवासिष्ठमें योग (प्रो० डॉ० श्रीभीखनलालजी आत्रेय, एम्० ए०, डी० लिट्०)	२२२
९४-प्राणब्रह्म (योगी श्रीनारायणस्वामीजी महाराज)	२२६
९५-अमर भये [कविता] (स्व० योगिवर्य श्रीआनन्दघनजी 'यति') [प्रेषक—श्रीपंन्यासजी महाराज रीविरैंड]	२२९

विषय	पृष्ठ-संख्या
९६-श्रीमद्भागवतके योगका वैलक्षण्य (श्रीचतुर्भुजजी तोषनीवाल)	२३०
९७-श्रीमद्भगवद्गीतामें योगका स्वरूप (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	२३३
९८-याद रखो	२३६
९९-चरकसंहितामें योगदर्शन	२३७
१००-स्मृति-वाङ्मयमें योग-निरूपण (डॉ० श्रीबसन्तबल्लभजी भट्ट, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	२४२
१०१-सूर्यविज्ञान (महामहोपाध्याय आचार्य (पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०)	२४७
१०२-मेस्मेरिज्म, हिपनॉटिज्म और योग-विद्या (डॉ० श्रीदुर्गाशंकरजी नागर)	२५४
१०३-ज्योतिष-शास्त्र और योग	२५८
१०४-महाभारतमें योगकी महिमा और स्वरूप (मानसमर्मज्ञ पं० श्रीसच्चिदानन्ददासजी रामायणी)	२६०
१०५-समर्थ रामदास स्वामीके दासबोधके अन्तर्गत योगदर्शन (श्री ग० नी० पुरंदरे, बी० ए०, बी०एस्-सी०, एल्-एल्० बी०)	२६२
१०६-मानसका भक्तियोग (डॉ० श्रीमिथिलाप्रसादजी त्रिपाठी, वैष्णवभूषण, डी० लिट्०)	२६५
१०७-भारतके योग-सम्प्रदाय (डॉ० श्रीशिवशङ्करजी अवस्थी)	२६८
१०८-भगवन्नाम और जपयोग (डॉ० श्रीराकेश-मणिजी त्रिपाठी, एम्० ए०, पी-एच्०डी०)	२७१
१०९-व्याकरणमें योग (आचार्य पं० श्रीआद्याचरणजी झा)	२७४
११०-'योग' जीवनका एक नया अर्थ (डॉ० श्रीराजेन्द्ररंजनजी चतुर्वेदी, डी० लिट्०)	२७५
१११-भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम् (म० म० डॉ० श्रीभागीरथप्रसादजी त्रिपाठी, 'वागीश शास्त्री')	२७६
११२-वियोग (आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी)	२७८

विषय	पृष्ठ-संख्या
विभिन्न धर्म एवं सम्प्रदायोंमें योग-साधना—	
११३-श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें योग-विद्याका स्थान (शास्त्री श्रीमाधवप्रियदासजी वेदान्ताचार्य)	२७९
११४-बौद्धधर्ममें योगकी महत्ता (प्रो० श्रीलालमोहरजी उपाध्याय, एम्० ए०)	२८१
११५-जैनधर्ममें योगविद्या (मुनि श्रीहिमांशुविजयजी न्यायसाहित्यतीर्थ)	२८३
११६-श्रीरामकृष्णकी साधना-पद्धति (डॉ० श्रीसुरेशचन्द्रजी शर्मा)	२८५
११७-सूफी-सम्प्रदायमें हठयोग (डॉ० श्रीरामस्वरूपजी आर्य, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	२८७
११८-दिव्य जीवनका योग [श्रीअरविन्दके पूर्णयोगका विहङ्गम परिचय] (श्रीदेवदत्तजी)	२८९
११९-ईसाई-धर्ममें योगका स्थान (रेवेरेंड एड्विन ग्रीव्ज)	२९२
१२०-जरथोस्ती धर्ममें तीन मार्ग (श्रीएरच जहाँगीर तारापोरवाला)	२९४
१२१-शाक्तागमोंमें योग (श्रीवल्लभदासजी बिन्नानी 'व्रजेश')	२९६
योगसे स्वास्थ्य-लाभ—	
१२२-मुख्य आसन और उनसे लाभ (स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी)	२९७
१२३-यौगिक व्यायाम एवं कुछ सामान्य नियम	३०१
१२४-उदर-सम्बन्धी यौगिक व्यायाम (राजरत्न प्रो० श्रीमाणिकरावजी)	३१०
१२५-उदर-सम्बन्धी आसन और उनसे लाभ	३१५
१२६-कुछ उपयोगी बन्ध एवं मुद्राएँ	३२५
१२७-प्राणायाम और उससे लाभ (कविराज श्रीदाऊदयालजी गुप्त)	३२९
१२८-प्राणायामकी महत्ता और उसका प्रभाव (स्वामी श्रीकुवलयानन्दजी कैवल्यधाम)	३३३
१२९-योगासन और व्यायाममें अन्तर (डॉ० श्री आर० सी० वर्मा)	३३७

विषय	पृष्ठ-संख्या
१३०-रोगोंका यौगिक निदान एवं चिकित्सा (श्रीसोमचैतन्यजी श्रीवास्तव)	३३८
१३१-योगसाधनाका प्राण ब्रह्मचर्य	३४२
१३२-स्वर-विज्ञान और बिना औषध रोगनाशके उपाय (परिव्राजकाचार्य परमहंस श्रीमत्स्वामी (श्रीनिगमानन्दजी सरस्वती)	३४४
१३३-हठयोगके षट्कर्म (श्रीकमलाप्रसाद सिंह)	३४८
१३४-कर्मयोग [कविता] (कविसम्राट् पं० श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध')	३५४
योगाचार्य और उनकी योगचर्या—	
१३५-योगमूर्ति योगीश्वर भगवान् शिव	३५५
१३६-महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण	३५६
१३७-योगके आदिप्रवर्तक भगवान् हिरण्यगर्भ	३५७
१३८-सनकादि योगीश्वर	३६०
१३९-महायोगी महर्षि मार्कण्डेय	३६०
१४०-योग-वेदान्तके उपदेष्टा महर्षि वसिष्ठ	३६२
१४१-योगशास्त्रके प्रवर्तक महर्षि पतञ्जलि	३६३
१४२-योगके परम आचार्य ऋषिवर घेरण्ड	३६४
१४३-योगशक्ति-स्वरूपा सती माता	३६५
१४४-परमयोगी जगद्गुरु श्रीआदिशंकराचार्यजी	३६७
१४५-योगिराज श्रीगोरखनाथ	३६८
१४६-बिश्नोई-मतके मूल आचार्य सिद्धेश्वर जाम्भोजी (श्रीमाँगीलाल बिश्नोई 'अज्ञात')	३६९
१४७-दक्षिणके महायोगी संत तिरुमूलर (डॉ० श्रीमती राधाकृष्णमूर्ति)	३७०
१४८-महात्मा जरथुस्त्र	३७१
१४९-सौराष्ट्रकी योग-विभूति—महात्मा मस्तरामजी (डॉ० श्रीकमलपुंजाणी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)	३७२
१५०-मिथिलाके सिद्ध योगी परमहंस श्रीलक्ष्मीनाथ गोस्वामी (आचार्य डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र)	३७३
१५१-श्रीअच्युतमुनिजी	३७४
१५२-कर्म, ज्ञान और भक्तिकी त्रिवेणी— स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज	३७५

विषय	पृष्ठ-संख्या
१५३-ज्ञानयोगी स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज	३७७
१५४-योगी गुरु परमहंस श्रीमत्स्वामी निगमानन्दजी सरस्वतीदेव (श्रीदुर्योधन प्रधानजी)	३७९
१५५-स्वामी श्रीमहेश्वरानन्दजी सरस्वती महाराज ...	३८०
१५६-वाराणसीके हरिहरबाबा [प्रेषक—आचार्य श्रीबलरामजी शास्त्री, एम्० ए०)	३८०
१५७-योगिराज श्रीदेवराहाबाबाजी [प्रेषक—श्रीमदनजी शर्मा 'शास्त्री')	३८१
१५८-महात्मा ईसा	३८२
१५९-ब्रह्मलीन श्रद्धेय महर्षि मेँहीं परमहंसजी महाराज (श्रीघनश्यामलालदासजी)	३८३
१६०-बाबा किनाराम अघोरी	३८४
१६१-योगी चमत्कारिक शक्ति रखते हैं (डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०) ..	३८५
१६२-भगवत्प्राप्तिमें ध्यानयोगकी महिमा	३८६
योगसे भगवत्प्राप्ति—	
१६२-भगवत्प्राप्तिमें ध्यानयोगकी महिमा	३८८
१६३-मनपर विश्वास न करो !	३९४
१६४-योगसे भगवत्साक्षात्कार (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	३९५
१६५-योगिराजके प्रति [कविता] (श्रीसरयूप्रसादजी शास्त्री 'द्विजेन्द्र')	३९८
१६६-योगसे भगवत्प्राप्ति (पं० श्रीमाधव बालशास्त्री दातार)	३९९
१६७-योग और भगवान्	४००
१६८-गो-सेवासे तत्क्षण योगसिद्धि	४०२
१६९-योग-साधनाका मुख्य लक्ष्य—धर्म-संस्थापन एवं विश्वकल्याण	४०३
१७०-नम्र निवेदन और क्षमा-प्रार्थना	४०६

गीताप्रेसद्वारा प्रकाशित पुस्तकोंकी सूची (विशेषाङ्क-पृष्ठ ४०८के बाद)

१-नियमावली	१
२-श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत एवं महाभारत	३
३-श्रीतुलसीसाहित्य	४
४-बालोपयोगी पुस्तकें	५
५-श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी पुस्तकें	६
६-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी पुस्तकें	७
७-स्वामी श्रीरामसुखदासजीकी पुस्तकें	७
8- English Publications	४

(बहुरंगे चित्र)

१-योग और योग-साधना	आवरण-पृष्ठ
२-योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके विविध रूप	१
३-अष्टाङ्ग योग	५७
४-सप्त ज्ञानभूमिका	१०६
५-जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति	१४९
६-जडयोग	१८४
७-समदर्शी योगी	१९६
८-अस कहि जोग अगिनि तनु जारा	३६५
९-भक्तियोगी-ज्ञानयोगी	३८८

(सादे चित्र)

१-स्वामी श्रीविशुद्धानन्द परमहंसजी	२४९
२-यौगिक व्यायाम एवं कुछ सामान्य नियम— क-(१) स्वस्तिकासन, (२) समासन, (३) पद्मासन, (४) सिद्धासन, (५) खड़े होकर उड्डीयान, (६) बैठकर उड्डीयान, (७) नौलि (मध्यम), (८) दक्षिणनौलि ख-(९) वामनौलि, (१०) सिंहासन, (११) वज्रासन, (१२) शीर्षासन,	३०३
(१३) सर्वाङ्गासन, (१४) अर्ध-मत्स्येन्द्रासन, (१५) अर्धमत्स्येन्द्रासन ग-(१६) विपरीतकरणी, (१७) हलासन (प्रथमावस्था), (१८) हलासन (चतुर्थावस्था), (१९) पश्चिमतानासन, (२०) भुजङ्गासन, (२१) अर्धशलभासन, (२२) शलभासन	३०५ ३०६
घ-(२३) सुप्तवज्रासन, (२४) धनुरासन,	

विषय	पृष्ठ-संख्या
(२५) योगमुद्रा, (२६) मयूरासन, (२७) मत्स्यासन, (२८) शवासन	३०७
३-उदर-सम्बन्धी यौगिक व्यायाम—कुल १८ चित्र	३११-३१३
४-उदर-सम्बन्धी आसन और उनसे लाभ—	
क-(१) सोड्डीयान पद्मासन, (२) बद्ध-पद्मासन, (३) बद्धासन, (४) वक्र-बद्धासन, (५) अर्धगर्भासन, (६) गर्भासन, (७) एकपादकंधरासन, (८) लोलासन, (९) भूनमनपद्मासन, (१०) कर्णस्पृष्टजानुपद्मासन, (११) पार्श्व-भूनमनासन, (१२) एकपादपश्चिमतानासन	३१६
ख-(१३) ऊर्ध्वहस्तपश्चिमतानासन, (१४) विस्तृतपाद भूनमनासन, (१५) विस्तृतपाद पार्श्वभूनमनासन, (१६) विस्तृतपाद हस्तपार्श्वचालनासन, (१७) पृष्ठासन, (१८) उत्थित पृष्ठासन, (१९) मत्स्यासन, (२०) द्विपादचक्रासन, (२१) उत्थितद्विपादासन, (२२) उत्थित एकैकपादासन	३१८
ग-(२३) उत्थितहस्त मेरुदण्डासन, (२४) शीर्षबद्धहस्त मेरुदण्डासन, (२५) जानुस्पृष्टभाल मेरुदण्डासन, (२६) उत्थितहस्तपाद मेरुदण्डासन, (२७) उत्थितपाद मेरुदण्डासन, (२८) भालस्पृष्टद्विजानु मेरुदण्डासन, (२९) पादपार्श्वचालनासन, (३०) भूस्पृष्टपाद सर्वाङ्गासन, (३१) विपरीत दण्डासन, (३२) उत्थित समकोणासन	३१९
घ-(३३) उत्थितैकपाद भुजंगासन, (३४) भुजंगासन, (३५) सरलहस्त भुजंगासन, (३६) नौकासन, (३७) दोलासन,	

विषय	पृष्ठ-संख्या
(३८) शलभासन, (३९) पार्श्वासन, (४०) नासिकास्पृष्टजानु पार्श्वासन, (४१) धनुरासन, (४२) पार्श्वचलित धनुरासन	३२१
ङ-(४३) आकर्णधनुरासन, (४४) चतुष्पादासन, (४५) मयूरासन, (४६) शीर्षबद्धहस्त हलासन, (४७) शीर्षस्पृष्टपद्म हलासन, (४८) प्रसृत-हस्त वृश्चिकासन, (४९) वलितपाद सर्वांगासन, (५०) विवृत्तत्रिकासन, (५१) प्रसृतहस्त विवृत्तत्रिकासन, (५२) शीर्षबद्धहस्त विवृत्तत्रिकासन, (५३) ऊर्ध्वहस्त जानुभालासन, (५४) भूस्पृष्टहस्त जानुभालासन	३२२
च-(५५) पृष्ठबद्धहस्त जानुभालासन, (५६) ऊर्ध्वस्थित पृष्ठवक्रासन, (५७) शुण्डासन, (५८) अर्धचक्रासन, (५९) चक्रासन, (६०) भूस्पृष्टहस्त वृक्षासन, (६१) पृष्ठवलित वृक्षासन, (६२) पार्श्ववलित वृक्षासन, (६३) पार्श्वपृष्ठवलित वृक्षासन, (६४) मध्यम नौलि, (६५) दक्षिण नौलि, (६६) वाम नौलि	३२४
५-श्रीअच्युतमुनिजी	३७४
६-कर्म, ज्ञान और भक्तिकी त्रिवेणी— स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज	३७५
७-ज्ञानयोगी स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज	३७७
८-योगी गुरु परमहंस श्रीमत्स्वामी निगमानन्दजी सरस्वतीदेव	३७९
९-स्वामी श्रीमहेश्वरानन्दजी सरस्वती महाराज	३८०
१०-योगिराज श्रीदेवराहाबाबाजी	३८२

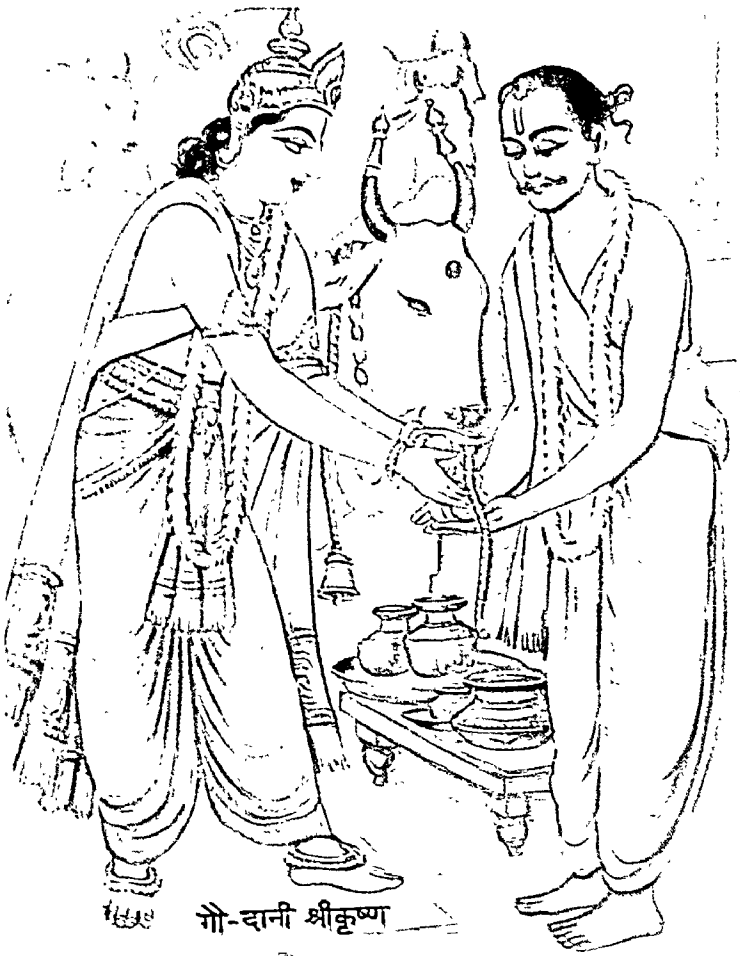

गौ-दानी श्रीकृष्ण

ध्यानपरायण श्रीकृष्ण

गीतावक्ता श्रीकृष्ण

जगद्गुरु श्रीकृष्ण

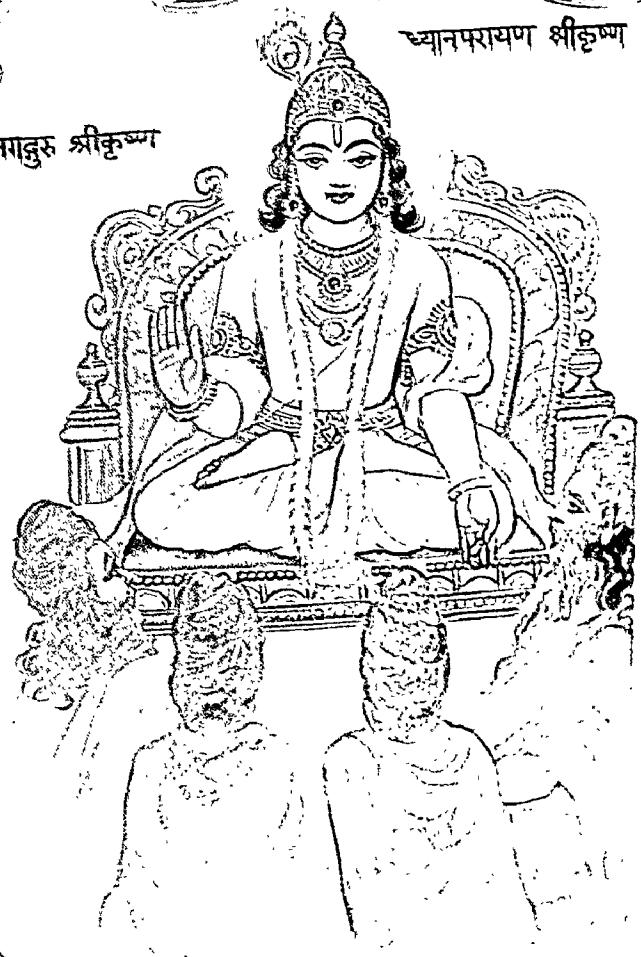

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके विविध रूप

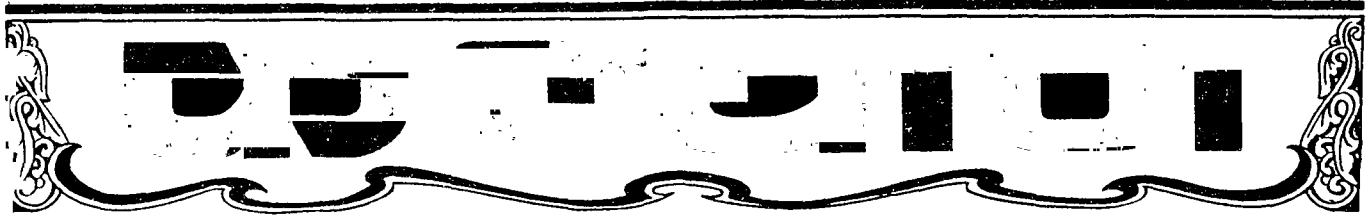

विश्वस्य यः स्थितिलयोद्भवहेतुराद्यो योगेश्वरैरपि दुरत्ययययोगमायः।
क्षेमं विधास्यति स नो भगवांस्त्र्यधीशस्तत्रास्मदीयविमृशेन कियानिहार्थः॥

वर्ष ६५ } गोरखपुर, सौर चैत्र, वि॰सं॰ २०४८, श्रीकृष्ण-सं॰ ५२१६, अप्रैल १९९१ ई॰ { संख्या १ / पूर्ण संख्या ७७०

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी योगचर्या

यानीह विश्वविलयोद्भववृत्तिहेतुः
कर्माण्यनन्यविषयाणि हरिश्चकार।
यस्त्वङ्ग गायति शृणोत्यनुमोदते वा
भक्तिर्भवेद् भगवति ह्यपवर्गमार्गे॥

(श्रीमद्भा॰ १०। ६९। ४५)

(श्रीशुकदेवजी कहते हैं—) भगवान् श्रीकृष्णने जो लीलाएँ की हैं, उन्हें दूसरा कोई नहीं कर सकता। परीक्षित्! वे विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके परम कारण हैं। जो उनकी लीलाओंका गान, श्रवण और गान-श्रवण करनेवालोंका अनुमोदन करता है, उसे मोक्षके मार्गस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें परम प्रेममयी भक्ति प्राप्त हो जाती है।

मङ्गल-कामना

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म पुरुषोत्तम सब प्रकारसे सदा-सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत् भी उस परब्रह्मसे पूर्ण ही है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तमसे ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्मकी पूर्णतासे जगत् पूर्ण होनेपर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्णमेंसे पूर्णको निकाल लेनेपर भी वह पूर्ण ही बच रहता है।

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै॥

हे परमात्मन्! आप हम गुरु-शिष्य दोनोंकी साथ-साथ सब प्रकारसे रक्षा करें, हम दोनोंका आप साथ-साथ समुचितरूपसे पालन-पोषण करें, हम दोनों साथ-ही-साथ सब प्रकारसे बल प्राप्त करें, हम दोनोंकी अध्ययन की हुई विद्या तेजपूर्ण हो—कहीं किसीसे हम विद्यामें परास्त न हों और हम दोनों जीवनभर परस्पर स्नेह-सूत्रसे बँधे रहें, हमारे अंदर परस्पर कभी द्वेष न हो।

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु॥

हे परमात्मन्! मेरे सारे अङ्ग—वाणी, नेत्र-श्रोत्र आदि सभी कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राणसमूह, शारीरिक और मानसिक शक्ति तथा ओज—सब पुष्टि एवं वृद्धिको प्राप्त हों। उपनिषदोंमें सर्वरूप ब्रह्मका जो स्वरूप वर्णित है, उसे मैं कभी अस्वीकार न करूँ और वह ब्रह्म भी मेरा कभी प्रत्याख्यान न करे। मुझे सदा अपनाये रखे। मेरे साथ ब्रह्मका और ब्रह्मके साथ मेरा नित्य सम्बन्ध बना रहे। उपनिषदोंमें जिन धर्मोंका प्रतिपादन किया गया है, वे सारे धर्म, उपनिषदोंके एकमात्र लक्ष्य परब्रह्म परमात्मामें निरन्तर लगे हुए मुझ साधकमें सदा प्रकाशित रहें, मुझमें नित्य-निरन्तर बने रहें।

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥ ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

(इस शान्तिपाठमें सब प्रकारके विघ्नोंकी शान्तिके लिये परमात्मासे प्रार्थना की गयी है।)प्रार्थनाका भाव यह है कि 'हे सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन्! मेरी वाणी मनमें स्थित हो जाय और मन वाणीमें स्थित हो जाय, अर्थात् मेरे मन-वाणी दोनों एक हो जायँ। ऐसा न हो कि मैं वाणीसे एक पाठ पढ़ता रहूँ और मन दूसरा ही चिन्तन करता रहे, या मनमें दूसरा ही भाव रहे और वाणीद्वारा दूसरा प्रकट करूँ। मेरे संकल्प और वचन दोनों विशुद्ध होकर एक हो जायँ। हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर! आप मेरे लिये प्रकट हो जाइये—अपनी योगमायाका पर्दा मेरे सामनेसे हटा लीजिये। (इस प्रकार परमात्मासे प्रार्थना करके अब उपासक अपने मन और वाणीसे कहता है कि) हे मन और वाणी! तुम दोनों मेरे लिये वेदविषयक ज्ञानकी प्राप्ति करानेवाले बनो, तुम्हारी सहायतासे मैं वेदविषयक ज्ञान प्राप्त कर सकूँ। मेरा गुरुमुखसे सुना हुआ और अनुभवमें आया हुआ ज्ञान मेरा त्याग न करे अर्थात् वह सर्वदा मुझे स्मरण रहे—मैं उसे कभी न भूलूँ। मेरी इच्छा है कि अपने अध्ययनद्वारा मैं दिन और रात एक कर दूँ। अर्थात् रात-दिन निरन्तर ब्रह्मविद्याका पठन और चिन्तन ही करता रहूँ। मेरे समयका एक क्षण भी व्यर्थ न बीते। मैं अपनी वाणीसे सदा ऐसे ही शब्दोंका उच्चारण करूँगा, जो सर्वथा उत्तम हों, जिनमें किसी प्रकारका दोष न हो, तथा जो कुछ बोलूँगा, सर्वथा सत्य बोलूँगा—जैसा देखा, सुना और समझा हुआ भाव है, ठीक वही भाव वाणीद्वारा प्रकट करूँगा। उसमें किसी प्रकारका छल नहीं करूँगा। (इस प्रकार अपने मन और वाणीको दृढ़ बनाकर अब पुनः परमात्मासे प्रार्थना करता है—) वे परब्रह्म परमात्मा मेरी रक्षा करें। वे परमेश्वर मुझे ब्रह्मविद्या सिखानेवाले आचार्यकी रक्षा करें। वे रक्षा करें मेरी और मेरे आचार्यकी, जिससे मेरे अध्ययनमें किसी प्रकारका विघ्न उपस्थित न हो। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—सभी प्रकारके तापोंकी शान्ति हो।

शुभाशंसा और योग-साधना

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत॥

सबको उत्पन्न करनेवाले परमात्मा पहले हमारे मन और बुद्धिकी वृत्तियोंको तत्त्वकी प्राप्तिके लिये अपने दिव्य स्वरूपमें लगायें और अग्नि आदि इन्द्रियाभिमानी देवताओंकी जो विषयोंको प्रकाशित करनेकी सामर्थ्य है, उसे दृष्टिमें रखते हुए बाह्य विषयोंसे लौटाकर हमारी इन्द्रियोंमें स्थिरतापूर्वक स्थापित कर दें, जिससे हमारी इन्द्रियोंका प्रकाश बाहर न जाकर बुद्धि और मनकी स्थिरतामें सहायक हो।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। सुवर्गेयाय शक्त्या॥

हम लोग सबको उत्पन्न करनेवाले परमदेव परमेश्वरकी आराधनारूप यज्ञमें लगे हुए मनके द्वारा परमानन्दकी प्राप्तिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्न करें। अर्थात् हमारा मन निरन्तर भगवान्‌की आराधनामें लगा रहे और हम भगवत्प्राप्तिजनित परमानन्दकी अनुभूतिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्नशील रहें।

युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥

वे सबको उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर मन और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंको, जो स्वर्ग आदि लोकोंमें और आकाशमें विचरनेवाले तथा बृहत् प्रकाश फैलानेवाले हैं, हमारे मन और बुद्धिसे संयुक्त करके हमें प्रकाश प्रदान करनेके लिये प्रेरणा करें, ताकि हम उन परमेश्वरका साक्षात् करनेके लिये ध्यान करनेमें समर्थ हो सकें। हमारे मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रकाश फैला रहे। निद्रा, आलस्य और अकर्मण्यता आदि दोष हमारे ध्यानमें विघ्न न कर सकें।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥

जिन परब्रह्म परमात्मामें श्रेष्ठ बुद्धिवाले ब्राह्मणादि अधिकारी मनुष्य अपने मनको लगाते हैं तथा अपनी सब प्रकारकी बुद्धि-वृत्तियोंको भी नियुक्त करते हैं, जिन्होंने अग्निहोत्र आदि समस्त शुभ कर्मोंका विधान किया है, जो समस्त जगत्‌के विचारोंको जाननेवाले और एक अद्वितीय हैं, उन सबसे महान्, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सबके उत्पादक परमदेव परमेश्वरकी अवश्य ही हमें भूरि-भूरि स्तुति करनी चाहिये।

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥

हे मन और बुद्धि! मैं तुम दोनोंके स्वामी और समस्त जगत्‌के आदि कारण परब्रह्म परमात्माको बार-बार नमस्कार करके विनयपूर्वक उनकी शरणमें जाकर उनमें संलग्न होता हूँ। मेरे द्वारा जो उन परमेश्वरकी महिमाका वर्णन किया गया है, वह विद्वान् पुरुषकी कीर्तिके समान समस्त जगत्‌में व्याप्त हो जाय। उसे अविनाशी परमात्माके वे सभी लाड़िले, जो दिव्य लोकमें निवास करते हैं, भलीभाँति सुनें।

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः॥

जिस स्थितिमें अग्नि प्रकट करनेके लिये अरणियोंद्वारा मन्थन करनेकी भाँति, अग्निस्थानीय परमात्माको प्राप्त करनेके लिये शरीरको नीचेकी अरणि और ॐकारको ऊपरकी अरणि बनाकर उसका जप और उसके अर्थरूप परमात्माका निरन्तर चिन्तनरूप मन्थन किया जाता है, जहाँ प्राणवायुका विधिपूर्वक भलीभाँति निरोध किया जाता है, जहाँ आनन्दरूप सोमरस अधिकतासे प्रकट होता है, उस ध्यानावस्थामें मनुष्यका मन सर्वथा विशुद्ध हो जाता है।

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम्।
तत्र योनिं कृणवसे न हि ते पूर्वमक्षिपत्॥

हे साधक ! सम्पूर्ण जगत्के उत्पादक सर्वान्तर्यामी परमेश्वरकी प्रेरणासे अर्थात् पहले बताये हुए प्रकारसे परमात्माकी स्तुति करके उनसे अनुमति प्राप्तकर तुम्हें उन सबके आदि परब्रह्म परमात्माकी ही सेवा (समाराधना) करनी चाहिये। उन परमेश्वरमें ही आश्रय प्राप्त करना चाहिये—उन्हींकी शरण ग्रहण करके उन्हींमें अपने-आपको विलीन कर देना चाहिये। यों करनेसे तुम्हारे पहले किये हुए समस्त सञ्चित कर्म विघ्नकारक नहीं होंगे—बन्धनरूप नहीं होंगे।

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥

जो ध्यानयोगका साधन करे, उस बुद्धिमान् साधकको चाहिये कि ध्यानके समय जब आसन जमाकर सुखपूर्वक बैठे, उस समय अपने सिर, गले और छातीको ऊँचा उठाये रखे, इधर-उधर न झुकने दे तथा शरीरको सीधा और स्थिर रखे। क्योंकि शरीरको सीधा और स्थिर रखे बिना तथा सिर, गला और वक्षःस्थल ऊँचा किये बिना आलस्य, निद्रा और विक्षेपरूप विघ्न आ जाते हैं। अतः इन विघ्नोंसे बचनेके लिये उपर्युक्त प्रकारसे ही बैठना चाहिये। इसके बाद समस्त इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर उनका मनके द्वारा हृदयमें निरोध कर लेना चाहिये। फिर ॐकाररूप नौकाका आश्रय लेकर अर्थात् ॐकारका जप और उसके वाच्य परब्रह्म परमात्माका ध्यान करके समस्त भयानक प्रवाहोंको पार कर लेना चाहिये। भाव यह है कि नाना योनियोंमें ले जानेवाली जितनी वासनाएँ हैं, वे सब जन्म-मृत्युरूप भय देनेवाले स्रोत (प्रवाह) हैं। इन सबका त्याग करके सदाके लिये अमरपदको प्राप्त कर लेना चाहिये।

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः॥

बुद्धिमान् साधकको चाहिये कि वह इस योग-साधनाके लिये आहार-विहार आदि समस्त चेष्टाओंको यथायोग्य करता रहे, उन्हें ध्यानयोगके लिये उपयोगी बना ले तथा योगशास्त्रकी विधिके अनुसार प्राणायाम करते-करते जब प्राण अत्यन्त सूक्ष्म हो जाय, तब नासिकाद्वारा उसे बाहर निकाल दे। इसके बाद जैसे दुष्ट घोड़ोंसे जुते हुए रथको सुचतुर सारथि बड़ी सावधानीसे चलाकर अपने गन्तव्य स्थानपर ले जाता है, उसी प्रकार साधकको चाहिये कि बड़ी सावधानीके साथ अपने मनको वशमें रखे, जिससे योगसाधनामें किसी प्रकारका विघ्न न आये और वह परमात्माकी प्राप्तिरूप लक्ष्यपर पहुँच जाय।

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥

(इस मन्त्रमें ध्यानयोगके उपयुक्त स्थानका वर्णन है।) भाव यह है कि ध्यानयोगका साधन करनेवाले साधकको ऐसे स्थानमें अपना आसन लगाना चाहिये,जहाँकी भूमि समतल हो—ऊँची-नीची, टेढ़ी-मेढ़ी न हो, जो सब प्रकारसे शुद्ध हो, जहाँपर कूड़ा-करकट,मैला आदि न हो, झाड़-बुहारकर साफ किया हो और स्वभावसे भी पवित्र हो—जैसे कोई देवालय, तीर्थस्थान आदि; जहाँ कंकड़, बालू न हों और अग्नि या धूपकी गर्मी भी न हो, जहाँ कोई मनमें विक्षेप करनेवाला शब्द न होता हो—कोलाहलका सर्वथा अभाव हो, यथावश्यक जल प्राप्त हो सके, किंतु ऐसा जलाशय न हो, जहाँ बहुत लोग आते-जाते हों एवं जहाँ शरीर-रक्षाके लिये उपयुक्त आश्रय हो परंतु ऐसा न हो, जहाँ धर्मशाला आदिकी भाँति बहुत लोग ठहरते हों, तात्पर्य यह कि इन सब विचारोंके अनुसार जो सर्वथा अनुकूल हो और जहाँका दृश्य नेत्रोंको पीड़ा पहुँचानेवाला—भयानक न हो, ऐसे गुफा आदि वायुशून्य एकान्त स्थानमें पहले बताये हुए प्रकारसे आसन लगाकर अपने मनको परमात्मामें लगानेका अभ्यास करना चाहिये।

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥

जब साधक परमब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये ध्यानयोगका साधन आरम्भ करता है, तब उसको अपने सामने कभी कुहरेके सदृश रूप दीखता है, कभी धूआँ-सा दिखायी देता है, कभी सूर्यके समान प्रकाश सर्वत्र परिपूर्ण दीखता है, कभी निःशब्द वायुकी भाँति निराकार रूप अनुभवमें आता है, कभी अग्निके सदृश तेज दीख पड़ता है, कभी जुगनूके सदृश टिमटिमाहट-सी प्रतीत होती है, कभी बिजलीकी-सी चकाचौंध पैदा करनेवाली दीप्ति दृष्टिगोचर होती है, कभी स्फटिकमणिके सदृश उज्ज्वल रूप देखनेमें आता है और कभी चन्द्रमाकी भाँति शीतल प्रकाश सर्वत्र फैला हुआ दिखायी देता है। ये सब तथा और भी अनेक दृश्य योग-साधनकी उन्नतिके द्योतक हैं। इनसे यह बात समझमें आती है कि साधकका ध्यान ठीक हो रहा है।

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥

ध्यानयोगका साधन करते-करते जब पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश— इन पाँच महाभूतोंका उत्थान हो जाता है, अर्थात् जब साधकका इन पाँचों महाभूतोंपर अधिकार हो जाता है और इन पाँचों महाभूतोंसे सम्बन्ध रखनेवाली योगविषयक पाँचों सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं, उस समय योगाग्निमय शरीरको प्राप्त कर लेनेवाले उस योगीके शरीरमें न तो रोग होता है, न बुढ़ापा आता है और न उसकी मृत्यु ही होती है। अभिप्राय यह कि उसकी इच्छाके बिना उसके शरीरका नाश नहीं हो सकता।

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥

भूतोंपर विजय प्राप्त कर लेनेवाले ध्यानयोगीमें पूर्वोक्त शक्तियोंके सिवा और भी शक्तियाँ आ जाती हैं। उदाहरणतः उसका शरीर हल्का हो जाता है, शरीरमें भारीपन या आलस्यका भाव नहीं रहता। वह सदा ही नीरोग रहता है। उसे कभी कोई रोग नहीं होता। भौतिक पदार्थोंमें उसकी आसक्ति नष्ट हो जाती है। कोई भी भौतिक पदार्थ सामने आनेपर उसके मन और इन्द्रियोंका उसकी ओर आकर्षण नहीं होता। उसके शरीरका वर्ण उज्ज्वल हो जाता है। स्वर अत्यन्त मधुर और स्पष्ट हो जाता है। शरीरमेंसे बहुत अच्छी गन्ध निकलकर सब ओर फैल जाती है। मल और मूत्र बहुत ही स्वल्प मात्रामें होने लगते हैं। ये सब योगमार्गकी प्रारम्भिक सिद्धियाँ हैं—ऐसा योगी लोग कहते हैं।

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः॥

जिस प्रकार कोई तेजोमय रत्न मिट्टीसे लिप्त रहनेके कारण छिपा रहता है, अपने वास्तविक रूपमें प्रकट नहीं होता, परंतु वही जब मिट्टी आदिको हटाकर धो-पोंछकर साफ कर लिया जाता है तब अपने यथार्थ रूपमें चमकने लगता है, उसी प्रकार इस जीवात्माका वास्तविक स्वरूप अत्यन्त स्वच्छ होनेपर भी अनन्त जन्मोंमें किये हुए कर्मोंके संस्कारोंसे मलिन हो जानेके कारण प्रत्यक्ष प्रकट नहीं होता, परंतु जब मनुष्य ध्यानयोगके साधनद्वारा समस्त मलोंको धोकर आत्माके यथार्थ स्वरूपको भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लेता है, तब वह असङ्ग हो जाता है। अर्थात् उसका जो जड-पदार्थोंके साथ संयोग हो रहा था, उसका नाश होकर वह कैवल्य-अवस्थाको प्राप्त हो जाता है तथा उसके सब प्रकारके दुःखोंका अन्त होकर वह सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है। उसका मनुष्य-जन्म सार्थक हो जाता है।

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

फिर जब वह योगी इसी स्थितिमें दीपकके सदृश निर्मल प्रकाशमय पूर्वोक्त आत्मतत्त्वके द्वारा ब्रह्मतत्त्वको भलीभाँति देख लेता है—अर्थात् उन परब्रह्म परमात्माको प्रत्यक्ष कर लेता है, तब उन जन्मादि समस्त विकारोंसे रहित, अचल और निश्चित तथा समस्त तत्त्वोंसे असङ्ग—सर्वथा विशुद्ध परमदेव परमात्माको तत्त्वसे जानकर सब प्रकारके बन्धनोंसे सदाके लिये छूट जाता है।

एष ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एवं जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥

निश्चय ही ये पूर्वोक्त परमदेव ब्रह्म समस्त दिशा और अवान्तर दिशाओंमें व्याप्त हैं अर्थात् सर्वत्र परिपूर्ण हैं। जगत्में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ वे न हों। वे ही प्रसिद्ध परब्रह्म परमात्मा सबसे पहले हिरण्यगर्भरूपमें प्रकट हुए थे। वे ही इस ब्रह्माण्डरूप गर्भमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं। वे ही इस समय जगत्के रूपमें प्रकट हैं और भविष्यमें अर्थात् प्रलयके बाद सृष्टिकालमें पुनः प्रकट होनेवाले हैं। वे समस्त जीवोंके भीतर अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं तथा सब ओर मुखवाले अर्थात् सबको सब ओरसे देखनेवाले हैं।

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः॥

जो सर्वशक्तिमान् पूर्ण ब्रह्म परमदेव अग्निमें हैं, जो जलमें हैं, जो समस्त लोकोंमें अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हो रहे हैं, जो ओषधियोंमें हैं और जो वनस्पतियोंमें हैं, अर्थात् जो सर्वत्र परिपूर्ण हैं, उन परमदेव परमात्माको नमस्कार है ! नमस्कार है !!

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णका संस्तवन

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥

प्रभो ! आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं। आप इस जगत्के परम आश्रय और जाननेवाले तथा जानने योग्य और परमधाम हैं। हे अनन्तरूप ! आपसे यह सब जगत् व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते॥

(हे हरे !) आप वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा तथा प्रजाके स्वामी ब्रह्मा और ब्रह्माके भी पिता हैं। आपके लिये हजारों बार नमस्कार, नमस्कार होवे, आपके लिये फिर भी बारंबार नमस्कार, नमस्कार होवे।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥

हे अनन्त सामर्थ्यवाले प्रभो ! आपके लिये आगेसे और पीछेसे भी नमस्कार होवे। हे सर्वात्मन् ! आपके लिये सब ओरसे ही नमस्कार होवे, क्योंकि अनन्त पराक्रमशाली आप सब संसारको व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप ही सर्वरूप हैं।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव॥

हे विश्वेश्वर ! आप इस चराचर जगत्के पिता और गुरुसे भी बड़े गुरु एवं अति पूजनीय हैं। हे अतिशय प्रभाववाले ! तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है फिर अधिक कैसे होवे ?

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्॥

इससे हे प्रभो ! मैं शरीरको अच्छी प्रकार आपके चरणोंमें निवेदित कर और प्रणाम करके स्तुति करने योग्य आप ईश्वरको प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करता हूँ। हे देव ! पिता जैसे पुत्रके और सखा जैसे सखाके तथा पति जैसे प्रियतमा पत्नीके अपराधको सहन कर लेते हैं, वैसे ही आप भी मेरे अपराधको सहन करने योग्य हैं।

योगीश्वर शिवमें अनन्य भक्ति-भाव

पशुपतिवचनाद् भवामि सद्यः कृमिरथवा तरुरप्यनेकशाखः ।
अपशुपतिवरप्रसादजा मे त्रिभुवनराज्यविभूतिरप्यनिष्टा ॥

(उपमन्यु कहते हैं—) मैं भगवान् पशुपतिके कहनेसे तत्काल प्रसन्नतापूर्वक कीट अथवा अनेक शाखाओंसे युक्त वृक्ष भी हो सकता हूँ, परंतु भगवान् शिवसे भिन्न दूसरे किसीके वर-प्रसादसे मुझे त्रिभुवनका राज्यवैभव प्राप्त हो रहा हो तो वह भी अभीष्ट नहीं है।

जन्म श्वपाकमध्येऽपि मेऽस्तु हरचरणवन्दनरतस्य ।
मा वानीश्वरभक्तो भवानि भवनेऽपि शक्रस्य ॥

यदि मुझे भगवान् शङ्करके चरणारविन्दोंकी वन्दनामें तत्पर रहनेका अवसर मिले तो मेरा जन्म चाण्डालोंमें भी हो जाय तो यह मुझे सहर्ष स्वीकार है, परंतु भगवान् शिवकी अनन्यभक्तिसे रहित होकर मैं इन्द्रके भवनमें भी स्थान पाना नहीं चाहता।

वाय्वम्बुभुजोऽपि सतो नरस्य दुःखक्षयः कुतस्तस्य ।
भवति हि सुरासुरगुरौ यस्य न विश्वेश्वरे भक्तिः ॥

कोई जल या हवा पीकर ही रहनेवाला क्यों न हो, जिसकी सुरासुर-गुरु भगवान् विश्वनाथमें भक्ति न हो, उसके दुःखोंका नाश कैसे हो सकता है ?

अलमन्याभिस्तेषां कथाभिरप्यन्यधर्मयुक्ताभिः ।
येषां न क्षणमपि रुचितो हरचरणस्मरणविच्छेदः ॥

जिन्हें क्षणभरके लिये भी भगवान् शिवके चरणारविन्दोंके स्मरणका वियोग अच्छा नहीं लगता, उन पुरुषोंके लिये अन्यान्य धर्मोंसे युक्त दूसरी-दूसरी सारी कथाएँ व्यर्थ हैं।

हरचरणनिरतमतिना भवितव्यमनार्जवं युगं प्राप्य ।
संसारभयं न भवति हरभक्तिरसायनं पीत्वा ॥

कुटिल कलिकालको पाकर सभी पुरुषोंको अपना मन भगवान् शङ्करके चरणारविन्दोंके चिन्तनमें लगा देना चाहिये। शिव-भक्तिरूपी रसायनके पी लेनेपर संसाररूपी रोगका भय नहीं रह जाता है।

दिवसं दिवसार्धं वा मुहूर्तं वा क्षणं लवम् ।
न ह्यलब्धप्रसादस्य भक्तिर्भवति शङ्करे ॥

जिसपर भगवान् शिवकी कृपा नहीं है, उस मनुष्यकी एक दिन, आधे दिन, एक मुहूर्त, एक क्षण या एक लवके लिये भी भगवान् शङ्करमें भक्ति नहीं होती है।

न नाकपृष्ठं न च देवराज्यं न ब्रह्मलोकं न च निष्कलत्वम् ।
न सर्वकामानखिलान् वृणोमि हरस्य दासत्वमहं वृणोमि ॥

न तो मैं स्वर्गलोक चाहता हूँ, न देवताओंका राज्य पानेकी अभिलाषा रखता हूँ। न ब्रह्मलोककी इच्छा करता हूँ और न निर्गुण ब्रह्मका सायुज्य ही प्राप्त करना चाहता हूँ। भूमण्डलकी समस्त कामनाओंको भी पानेकी मेरी इच्छा नहीं है। मैं तो केवल भगवान् शिवकी दासताका ही वरण करता हूँ।

यावच्छशाङ्कधवलामलबद्धमौलिर्न प्रीयते पशुपतिर्भगवान् ममेशः ।
तावज्जरामरणजन्मशताभिघातैर्दुःखानि देहविहितानि समुद्वहामि ॥

जिनके मस्तकपर अर्द्धचन्द्रमय उज्ज्वल एवं निर्मल मुकुट बँधा हुआ है, वे मेरे स्वामी भगवान् पशुपति जबतक प्रसन्न नहीं होते हैं, तबतक मैं जरा-मृत्यु और जन्मके सैकड़ों आघातोंसे प्राप्त होनेवाले दैहिक दुःखोंका भार ढोता रहूँगा।

दिवसकरशशाङ्कवह्निदीप्तं त्रिभुवनसारमसारमाद्यमेकम्।
अजरममरमप्रसाद्य रुद्रं जगति पुमानिह को लभते शान्तिम्॥

जो अपने नेत्रभूत सूर्य, चन्द्रमा और अग्निकी प्रभासे उद्भासित होते हैं, त्रिभुवनके साररूप हैं, जिनसे बढ़कर सारतत्त्व दूसरा नहीं है, जो जगत्के आदिकारण, अद्वितीय तथा अजर-अमर हैं, उन भगवान् रुद्रको भक्तिभावसे प्रसन्न किये बिना कौन पुरुष इस संसारमें शान्ति पा सकता है।

यदि नाम जन्म भूयो भवति मदीयैः पुनर्दोषैः।
तस्मिंस्तस्मिञ्जन्मनि भवे भवेन्मेऽक्षया भक्तिः॥

यदि मेरे दोषोंसे मुझे बारंबार इस जगत्में जन्म लेना पड़े तो मेरी यही इच्छा है कि उस-उस प्रत्येक जन्ममें भगवान् शिवमें अक्षय भक्ति हो।

महर्षि वसिष्ठजीको नमस्कार

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं श्रीवसिष्ठं नताः स्म॥

'जो ब्रह्मानन्दस्वरूप अथवा ज्ञानोपदेशद्वारा ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति करानेवाले, परम सुखद, अद्वितीय ज्ञानमूर्ति, द्वन्द्वोंसे रहित, आकाश-सदृश निर्मल, 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त-महावाक्योंके लक्ष्यार्थरूप, एक, नित्य, निर्मल, निश्चल, सम्पूर्ण बुद्धि-वृत्तियोंके साक्षी, समस्त भावोंसे परे तथा तीनों गुणोंसे रहित हैं, उन परब्रह्मस्वरूप श्रीवसिष्ठजीको हम नमस्कार करते हैं।'

महायोगी पतञ्जलिको प्रणाम

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन। योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

'मैं उन मुनियोंमें श्रेष्ठ पतञ्जलिको हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने योगसे अन्तःकरणके, पद (व्याकरण-महाभाष्य) से वाणीके और वैद्यक (चरकग्रन्थके द्वारा) से शरीरके मलको दूर किया (धोया) है।

जयन्ति वाचः फणिभर्तुरान्तरस्फुरत्तमस्तोमनिशाकरत्विषः। विभाव्यमानाः सततं मनांसि याः सतां सदानन्दमयानि कुर्वते॥

'जो अन्तःकरणके अज्ञानमय अन्धकारका निवारण करनेके लिये चन्द्रमाकी किरणोंके समान प्रकाशित हो रही हैं तथा निरन्तर अनुशीलन करनेपर जो साधु पुरुषोंके मनको सदा आनन्दमय करती रहती हैं, शेषावतार महर्षि पतञ्जलिकी वे वाणियाँ सर्वोपरि विराजमान हैं।'

पतञ्जलिमुनेरुक्तिः काप्यपूर्वा जयत्यसौ। पुंस्प्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यथा॥

'महर्षि पतञ्जलिकी योगदर्शनरूप ऐसी अपूर्व वाणीकी जय हो, जिसके द्वारा पुरुष और प्रकृतिके वियोगको भी योग कहा गया है।'

रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि। संतत सुनिअ राम गुन ग्रामहि॥
जासु पतित पावन बड़ बाना। गावहिं कबि श्रुति संत पुराना॥
ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। राम भजें गति केहिं नहिं पाई॥

भगवती महायोगमायाकी स्तुति

ब्रह्मोवाच

त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कारः स्वरात्मिका ॥
सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधा मात्रात्मिका स्थिता। अर्धमात्रास्थिता नित्या यानुच्चार्या विशेषतः ॥
त्वमेव संध्या सावित्री त्वं देवि जननी परा। त्वयैतद्धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत् ॥
त्वयैतत्पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा। विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने ॥
तथा संहृतिरूपान्ते जगतोऽस्य जगन्मये। महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः ॥
महामोहा च भवती महादेवी महासुरी। प्रकृतिस्त्वं च सर्वस्य गुणत्रयविभाविनी ॥
कालरात्रिर्महारात्रिर्मोहरात्रिश्च दारुणा। त्वं श्रीस्त्वमीश्वरी त्वं ह्रीस्त्वं बुद्धिर्बोधलक्षणा ॥
लज्जा पुष्टिस्तथा तुष्टिस्त्वं शान्तिः क्षान्तिरेव च। खड्गिनी शूलिनी घोरा गदिनी चक्रिणी तथा ॥
शङ्खिनी चापिनी बाणभुशुण्डीपरिघायुधा। सौम्या सौम्यतराशेषसौम्येभ्यस्त्वतिसुन्दरी ॥
परापराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी। यच्च किंचित्क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके ॥
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा। यया त्वया जगत्स्रष्टा जगत्पात्यत्ति यो जगत् ॥
सोऽपि निद्रावशं नीतः कस्त्वां स्तोतुमिहेश्वरः। विष्णुः शरीरग्रहणमहमीशान एव च ॥
कारितास्ते यतोऽतस्त्वां कः स्तोतुं शक्तिमान् भवेत्। सा त्वमित्थं प्रभावैः स्वैरुदारैर्देवि संस्तुता ॥

ब्रह्माजीने भगवती योगमायाका स्तवन करते हुए कहा—'देवि ! तुम्हीं स्वाहा, तुम्हीं स्वधा और तुम्हीं वषट्कार हो। स्वर भी तुम्हारे ही स्वरूप हैं। तुम्हीं जीवनदायिनी सुधा हो। नित्य अक्षर प्रणवमें अकार, उकार, मकार— इन तीन मात्राओंके रूपमें तुम्हीं स्थित हो तथा इन तीन मात्राओंके अतिरिक्त जो विन्दुरूपा नित्य अर्धमात्रा है, जिसका विशेष रूपसे उच्चारण नहीं किया जा सकता, वह भी तुम्हीं हो। देवि ! तुम्हीं संध्या, सावित्री तथा परम जननी हो। देवि ! तुम्हीं इस विश्व-ब्रह्माण्डको धारण करती हो। तुमसे ही इस जगत्की सृष्टि होती है। तुम्हींसे इसका पालन होता है और सदा तुम्हीं कल्पके अन्तमें सबको अपना ग्रास बना लेती हो। जगन्मयी देवि ! इस जगत्की उत्पत्तिके समय तुम सृष्टिरूपा हो, पालन-कालमें स्थितिरूपा हो तथा कल्पान्तके समय संहाररूप धारण करनेवाली हो। तुम्हीं महाविद्या, महामाया, महामेधा, महास्मृति, महामोहरूपा, महादेवी और महासुरी हो। तुम्हीं तीनों गुणोंको उत्पन्न करनेवाली सबकी प्रकृति हो। भयंकर कालरात्रि, महारात्रि और मोहरात्रि भी तुम्हीं हो। तुम्हीं श्री, तुम्हीं ईश्वरी, तुम्हीं ह्री और तुम्हीं बोधस्वरूपा बुद्धि हो। लज्जा, पुष्टि, तुष्टि, शान्ति और क्षमा भी तुम्हीं हो। तुम खड्गधारिणी, शूलधारिणी, घोररूपा तथा गदा, चक्र, शङ्ख और धनुष धारण करनेवाली हो। बाण, भुशुण्डी और परिघ—ये भी तुम्हारे अस्त्र हैं। तुम सौम्य और सौम्यतर हो—इतना ही नहीं, जितने भी सौम्य एवं सुन्दर पदार्थ हैं, उन सबकी अपेक्षा तुम अत्यधिक सुन्दरी हो। पर और अपर—सबसे परे रहनेवाली परमेश्वरी तुम्हीं हो। सर्वस्वरूपे देवि ! कहीं भी सत्-असत्रूप जो कुछ वस्तुएँ हैं और उन सबकी जो शक्ति है, वह तुम्हीं हो। ऐसी अवस्थामें तुम्हारी स्तुति क्या हो सकती है ? जो इस जगत्की सृष्टि, पालन और संहार करते हैं, उन भगवान्को भी जब तुमने निद्राके अधीन कर दिया है, तब तुम्हारी स्तुति करनेमें यहाँ कौन समर्थ हो सकता है ? मुझको, भगवान् शङ्करको तथा भगवान् विष्णुको भी तुमने ही शरीर धारण कराया है, अतः तुम्हारी स्तुति करनेकी शक्ति किसमें है ? देवि ! तुम तो अपने इन उदार प्रभावोंसे ही प्रशंसित हो।'

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥

इस सम्पूर्ण विश्वके चराचर प्राणी सुखी तथा नीरोग हों, सभी कल्याणको प्राप्त करें और कोई दुःखी न रहे।

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके योगविषयक उपदेश

स्थितप्रज्ञ योगीके लक्षण

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

(२।५५)

(भगवान् श्रीकृष्णने कहा—) हे अर्जुन! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित सम्पूर्ण कामनाओंको भलीभाँति त्याग देता है और आत्मासे आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, उस कालमें वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(२।५६-५७)

दुःखोंकी प्राप्ति होनेपर जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी प्राप्तिमें जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिरबुद्धि कहा जाता है। जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तुको प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥
यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥
तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(२।५८—६१)

और कछुआ जैसे सब ओरसे अपने अङ्गोंको समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंसे इन्द्रियोंको सब प्रकारसे हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर है (ऐसा समझना चाहिये)। इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण न करनेवाले पुरुषके भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परंतु उनमें रहनेवाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थितप्रज्ञ पुरुषकी तो आसक्ति भी परमात्माका साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है। हे अर्जुन! आसक्तिका नाश न होनेके कारण ये प्रमथनस्वभाववाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुषके मनको भी बलात्कारसे हर लेती हैं। इसलिये साधकको चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यानमें बैठे, क्योंकि जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर हो जाती है।

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

(२।६२-६३)

विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे अत्यन्त मूढ़भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़भावसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिका नाश हो जानेसे यह पुरुष अपनी स्थितिसे गिर जाता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

(२।६४)

परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तःकरणवाला साधक अपने वशमें की हुई, राग-द्वेषसे रहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंमें विचरण करता हुआ अन्तःकरणकी प्रसन्नताको प्राप्त होता है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥

(२।६५-६६)

अन्तःकरणकी प्रसन्नता होनेपर इसके सम्पूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है और उस प्रसन्न-चित्तवाले कर्मयोगीकी बुद्धि शीघ्र ही सब ओरसे हटकर एक परमात्मामें ही भलीभाँति स्थिर हो जाती है। न जीते हुए मन और इन्द्रियोंवाले पुरुषमें निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्यके अन्तःकरणमें भावना भी नहीं होती तथा भावनाहीन मनुष्यको शान्ति नहीं मिलती और शान्तिरहित मनुष्यको सुख कैसे मिल सकता है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥

(२।६७-६८)

क्योंकि जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायु हर लेती है, वैसे ही विषयोंमें विचरती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हर लेती है। इसलिये हे महाबाहो! जिस पुरुषकी इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके विषयोंसे सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसीकी बुद्धि स्थिर है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥

(२।६९-७०)

सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये जो रात्रिके समान है, उस नित्य ज्ञानस्वरूप परमानन्दकी प्राप्तिमें स्थितप्रज्ञ योगी जागता है और जिस नाशवान् सांसारिक सुखकी प्राप्तिमें सब प्राणी जागते हैं, परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले मुनिके लिये वह रात्रिके समान है। जैसे नाना नदियोंके जल जब सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं, वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुषमें किसी प्रकारका विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परम शान्तिको प्राप्त होता है, भोगोंको चाहनेवाला नहीं।

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

(२।७१-७२)

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओंको त्यागकर ममतारहित, अहङ्काररहित और स्पृहारहित हुआ विचरता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्तिको प्राप्त है। हे अर्जुन! यह ब्रह्मको प्राप्त पुरुषकी स्थिति है, इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता और अन्तकालमें भी इस ब्राह्मी स्थितिमें स्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त हो जाता है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

(५।७)

जिसका मन अपने वशमें है, जो जितेन्द्रिय एवं विशुद्ध अन्तःकरणवाला है और सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मरूप परमात्मा ही जिसका आत्मा है, ऐसा कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥

(५।१०-११)

जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मामें अर्पण करके और आसक्तिको त्यागकर कर्म करता है, वह पुरुष जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे लिप्त नहीं होता। कर्मयोगी ममत्वबुद्धि-रहित केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीरद्वारा भी आसक्तिको

त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्म करते हैं।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥

(५।१२-१३)

कर्मयोगी कर्मोंके फलका त्याग करके भगवत्प्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त होता है और सकामपुरुष कामनाकी प्रेरणासे फलमें आसक्त होकर बँधता है। अन्तःकरण जिसके वशमें है, ऐसा सांख्ययोगका आचरण करनेवाला पुरुष न करता हुआ और न करवाता हुआ ही नवद्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर आनन्दपूर्वक सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः॥

(५।१७)

जिनका मन तद्रूप हो रहा है, जिनकी बुद्धि तद्रूप हो रही है और सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही जिनकी निरन्तर एकीभावसे स्थिति है, ऐसे तत्परायण पुरुष ज्ञानके द्वारा पापरहित होकर अपुनरावृत्तिको अर्थात् परमगतिको प्राप्त होते हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः॥
बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

(५।२०-२१)

जो पुरुष प्रियको प्राप्त होकर हर्षित नहीं हो और अप्रियको प्राप्त होकर उद्विग्न न हो, वह स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है। बाहरके विषयोंमें आसक्तिरहित अन्तःकरण-वाला साधक आत्मामें स्थित जो ध्यानजनित सात्त्विक आनन्द है, उसको प्राप्त होता है, तदनन्तर वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके ध्यानरूप योगमें अभिन्नभावसे स्थित पुरुष अक्षय आनन्दका अनुभव करता है।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

(५।२२-२३)

जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता। जो साधक इस मनुष्यशरीरमें, शरीरका नाश होनेसे पहले-पहले ही काम-क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, वही पुरुष योगी है और वही सुखी है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥

(५।२४)

जो पुरुष अन्तरात्मामें ही सुखवाला है, आत्मामें ही रमण करनेवाला है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवाला है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त सांख्ययोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥
भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

(५।२७—२९)

बाहरके विषय-भोगोंको न चिन्तन करता हुआ बाहर ही निकालकर और नेत्रोंकी दृष्टिको भृकुटीके बीचमें स्थित करके तथा नासिकामें विचरनेवाले प्राण और अपानवायुको सम करके, जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जीती हुई हैं—ऐसा जो मोक्षपरायण मुनि इच्छा, भय और क्रोधसे रहित हो गया है, वह सदा मुक्त ही है। मेरा भक्त मुझको सब यज्ञ और तपोंका भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकोंके ईश्वरोंका भी ईश्वर तथा सम्पूर्ण भूत-प्राणियोंका सुहृद् अर्थात् स्वार्थरहित दयालु और प्रेमी, ऐसा तत्त्वसे जानकर शान्तिको प्राप्त होता है।

योगीकी योग-साधनाका स्वरूप

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

सरदी-गरमी और सुख-दुःखादिमें तथा मान और अपमानमें जिसके अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भलीभाँति शान्त हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मावाले पुरुषके ज्ञानमें सच्चिदानन्दघन परमात्मा सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं, अर्थात् उसके ज्ञानमें परमात्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं। जिसका अन्तःकरण ज्ञान-विज्ञानसे तृप्त है, जिसकी स्थिति विकाररहित है, जिसकी इन्द्रियाँ भलीभाँति जीती हुई हैं और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सुवर्ण समान हैं, वह योगी युक्त अर्थात् भगवत्प्राप्त है, ऐसे कहा जाता है। सुहृद्, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुगणोंमें, धर्मात्माओंमें और पापियोंमें भी समान भाव रखनेवाला अत्यन्त श्रेष्ठ है। (६।७—९)

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥

मन और इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें रखनेवाला, आशारहित और संग्रहरहित योगी अकेला ही एकान्त स्थानमें स्थित होकर आत्माको निरन्तर परमात्मामें लगावे। शुद्ध भूमिमें, जिसके ऊपर क्रमशः कुशा, मृगछाला और वस्त्र बिछे हैं, जो न बहुत ऊँचा है और न बहुत नीचा, ऐसे अपने आसनको स्थिर स्थापन करके उस आसनपर बैठकर चित्त और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको वशमें रखते हुए मनको एकाग्र करके अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥

काया, सिर और गलेको समान एवं अचल धारण करके और स्थिर होकर,अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित, भयरहित तथा भलीभाँति शान्त अन्तःकरणवाला सावधान योगी मनको रोककर मुझमें चित्तवाला और मेरे परायण होकर स्थित होवे। (६।१३-१४)

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥

वशमें किये हुए मनवाला योगी इस प्रकार आत्माको निरन्तर मुझ परमेश्वरके स्वरूपमें लगाता हुआ मुझमें रहनेवाली परमानन्दकी पराकाष्ठारूप शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! यह योग न तो बहुत खानेवालेका न बिलकुल न खानेवालेका, न बहुत शयन करनेके स्वभाववालेका और न सदा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है। (६।१५-१६)

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥
यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥

दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और यथायोग्य सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है। अत्यन्त वशमें किया हुआ चित्त जिस कालमें परमात्मामें ही भलीभाँति स्थित हो जाता है, उस कालमें सम्पूर्ण भोगोंसे स्पृहारहित पुरुष योगयुक्त है, ऐसा कहा जाता है। (६।१७-१८)

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥

(६।१९-२०)

जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें स्थित दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा परमात्माके ध्यानमें लगे हुए योगीके

जीते हुए चित्तकी कही गयी है। योगके अभ्याससे निरुद्ध चित्त जिस अवस्थामें उपराम हो जाता है और जिस अवस्थामें परमात्माके ध्यानसे शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा परमात्माको साक्षात् करता हुआ सच्चिदानन्दघन परमात्मामें ही संतुष्ट रहता है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(६।२१-२२)

इन्द्रियोंसे अतीत, केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करनेयोग्य जो अनन्त आनन्द है; उसको जिस अवस्थामें अनुभव करता है और जिस अवस्थामें स्थित यह योगी परमात्माके स्वरूपसे विचलित होता ही नहीं। परमात्माकी प्राप्तिरूप जिस लाभको प्राप्त होकर उससे अधिक दूसरा कुछ भी लाभ नहीं मानता और परमात्मप्राप्ति-रूप जिस अवस्थामें स्थित योगी बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥
संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः॥

(६।२३-२४)

जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है तथा जिसका नाम योग है, उसको जानना चाहिये। वह योग न उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्तसे निश्चयपूर्वक करना कर्तव्य है। संकल्पसे उत्पन्न होनेवाली सम्पूर्ण कामनाओंको निःशेषरूपसे त्याग कर और मनके द्वारा इन्द्रियोंके समुदायको सभी ओरसे भलीभाँति रोककर—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(६।२५-२६)

क्रम-क्रमसे अभ्यास करता हुआ उपरतिको प्राप्त हो तथा धैर्ययुक्त बुद्धिके द्वारा मनको परमात्मामें स्थित करके परमात्माके सिवा और कुछ भी चिन्तन न करे। यह स्थिर न रहनेवाला और चञ्चल मन जिस-जिस शब्दादि विषयके निमित्तसे संसारमें विचरता है, उस-उस विषयसे रोककर यानी हटाकर इसे बार-बार परमात्मामें ही निरुद्ध करे।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥
युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥

(६।२७-२८)

क्योंकि जिसका मन भलीप्रकार शान्त है, जो पापसे रहित है और जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मके साथ एकीभाव हुए योगीको उत्तम आनन्द प्राप्त होता है। वह पापरहित योगी इस प्रकार निरन्तर आत्माको परमात्मामें लगाता हुआ सुखपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिरूप अनन्त आनन्दका अनुभव करता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(६।२९-३०)

सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखता है। जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही व्यापक देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६।३१-३२)

जो पुरुष एकीभावमें स्थित होकर सम्पूर्ण भूतोंमें आत्मरूपसे स्थित मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेवको भजता है, वह योगी सब प्रकारसे बरतता हुआ भी मुझमें ही बरतता है।

हे अर्जुन ! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है, वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(६।४६-४७)

योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, शास्त्रज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ माना गया है और सकामकर्म करनेवालोंसे भी योगी श्रेष्ठ है; इससे हे अर्जुन ! तू योगी हो। सम्पूर्ण योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् योगी मुझमें लगे हुए अन्तरात्मासे मुझको निरन्तर भजता है, वह योगी मुझे परम श्रेष्ठ मान्य है।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(१८।५१—५३)

विशुद्ध बुद्धिसे युक्त तथा हल्का, सात्त्विक और नियमित भोजन करनेवाला, शब्दादि विषयोंका त्याग करके एकान्त और शुद्ध देशका सेवन करनेवाला, सात्त्विक धारणशक्तिके द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियोंका संयम करके मन, वाणी और शरीरको वशमें कर लेनेवाला, राग-द्वेषको सर्वथा नष्ट करके भलीभाँति दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेनेवाला तथा अहङ्कार, बल, घमंड, काम, क्रोध और परिग्रहका त्याग करके निरन्तर ध्यानयोगके परायण रहनेवाला, ममतारहित और शान्तियुक्त पुरुष सच्चिदानन्द ब्रह्ममें अभिन्नभावसे स्थित होनेका पात्र होता है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥

(१८।५४—५६)

फिर वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममें एकीभावसे स्थित, प्रसन्न मनवाला योगी न तो किसीके लिये शोक करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा ही करता है। ऐसा समस्त प्राणियोंमें समभाववाला योगी मेरी परा भक्तिको प्राप्त हो जाता है। उस परा भक्तिके द्वारा वह मुझ परमात्माको, मैं जो हूँ और जितना हूँ ठीक वैसा-का-वैसा तत्त्वसे जान लेता है; तथा उस भक्तिसे मुझको तत्त्वसे जानकर तत्काल ही मुझमें प्रविष्ट हो जाता है। मेरे परायण हुआ कर्मयोगी तो सम्पूर्ण कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे सनातन अविनाशी परमपदको प्राप्त हो जाता है।

अनन्य चित्तवाले योगीको भगवान् तत्काल प्राप्त हो जाते हैं

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

(९।२२)

जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(१०।९—११)

निरन्तर मुझमें मन लगानेवाले और मुझमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही निरन्तर संतुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं। उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप

योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं। हे अर्जुन ! उनके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये उनके अन्तःकरणमें स्थित हुआ मैं स्वयं ही उनके अज्ञानजनित अन्धकारको प्रकाशमय तत्त्वज्ञानरूप दीपकके द्वारा नष्ट कर देता हूँ।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

(११।५५)

हे अर्जुन ! जो पुरुष केवल मेरे ही लिये सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको करनेवाला है, मेरे परायण है, मेरा भक्त है, आसक्तिरहित है और सम्पूर्ण भूतप्राणियोंमें वैरभावसे रहित है—वह अनन्यभक्तियुक्त पुरुष मुझको ही प्राप्त होता है।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

(१२।२)

मुझमें मनको एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन-ध्यानमें लगे हुए जो भक्तजन अतिशय श्रेष्ठ श्रद्धासे युक्त होकर मुझ सगुणरूप परमेश्वरको भजते हैं, वे मुझको योगियोंमें अति उत्तम योगी मान्य हैं।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(१२।६-७)

परंतु जो मेरे परायण रहनेवाले भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मुझमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही अनन्य भक्तियोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, हे अर्जुन ! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

(८।१४)

हे अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्य-चित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(९।२६-२७)

जो कोई भक्त मेरे लिये प्रेमसे पत्र, पुष्प, फल, जल आदि अर्पण करता है, उस शुद्धबुद्धि निष्काम प्रेमी भक्तका प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादि मैं सगुणरूपसे प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ। हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

(९।२८-२९)

इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा। मैं सब भूतोंमें समभावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय है; परंतु जो भक्त मुझको प्रेमसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं भी उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

(९।३२—३४)

हे अर्जुन ! स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि—चाण्डालादि जो कोई भी हों, वे भी मेरी शरण होकर परमगतिको ही प्राप्त होते हैं। फिर इसमें तो कहना ही क्या है, जो पुण्यशील ब्राह्मण तथा राजर्षि भक्तजन मेरी शरण होकर परम गतिको प्राप्त होते हैं। इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्यशरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा ही भजन

कर। मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको प्रणाम कर। इस प्रकार आत्माको मुझमें नियुक्त करके मेरे परायण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(१८। ६४—६६)

सम्पूर्ण गोपनीयोंसे अति गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचनको तू फिर भी सुन। तू मेरा अतिशय प्रिय है, इससे यह परम हितकारक वचन मैं तुझसे कहूँगा। हे अर्जुन! तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको प्रणाम कर। ऐसा करनेसे तू मुझे ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अत्यन्त प्रिय है। सम्पूर्ण धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्तव्यकर्मोंको मुझमें त्यागकर तू केवल एक मुझ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार परमेश्वरकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।

पातञ्जलयोगदर्शन

(१) समाधिपाद

अथ योगानुशासनम्॥ १॥

अब परम्पराप्राप्त योगविषयक शास्त्र प्रारम्भ किया जाता है।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥ २॥

चित्तकी वृत्तियोंको रोकना योग है।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥ ३॥

जब चित्तकी वृत्तियोंका निरोध हो जाता है, तब द्रष्टाकी (शुद्ध परमात्म-) स्वरूपमें अवस्थिति होती है।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र॥ ४॥

दूसरी अर्थात् निरोधसे भिन्न व्युत्थान-अवस्थामें द्रष्टाकी वृत्तियोंके समानरूपता होती है अर्थात् द्रष्टा वृत्तियोंके समान रूपवाला प्रतीत होता है।

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः॥ ५॥

वृत्तियाँ पाँच प्रकारकी होती हैं—क्लिष्ट अर्थात् राग-द्वेषादि क्लेशोंकी हेतु और अक्लिष्ट अर्थात् राग-द्वेषादि क्लेशोंकी नाश करनेवाली।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः॥ ६॥

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति—ये पाँच प्रकारकी वृत्तियाँ हैं।

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि॥ ७॥

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम-भेदसे तीन प्रकारकी प्रमाण-वृत्ति है।

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्॥ ८॥

विपर्यय मिथ्या-ज्ञान है, जो उस पदार्थके रूपमें प्रतिष्ठित नहीं है।

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः॥ ९॥

शब्दसे उत्पन्न जो ज्ञान, उसके पीछे चलनेका जिसका स्वभाव हो और जो वस्तुकी सत्ताकी अपेक्षा न रखता हो इस प्रकारका ज्ञान विकल्प कहलाता है।

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा॥ १०॥

(जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थाकी वृत्तियोंके) अभावकी प्रतीतिको आश्रय करनेवाली वृत्ति निद्रा है।

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः॥ ११॥

अनुभव किये हुए विषयका फिर चित्तमें आरोहपूर्वक उससे अधिक नहीं, किंतु तन्मात्रविषयक ज्ञान होना स्मृति है।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥ १२॥

अभ्यास और वैराग्यसे उन वृत्तियोंका निरोध होता है।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः॥ १३॥

उनमेंसे चित्तकी स्थितिके विषयमें यत्न करना अभ्यास है।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः॥ १४॥

किंतु वह पूर्वोक्त अभ्यास दीर्घकालपर्यन्त निरन्तर व्यवधानरहित ठीक-ठीक श्रद्धा, वीर्य, भक्तिपूर्वक अनुष्ठान किया हुआ दृढ़ अवस्थावाला हो जाता है।

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥ १५॥

दृष्ट और आनुश्रविक विषयोंमें जिसको तृष्णा नहीं रही है, उसका वैराग्य वशीकार नामवाला अर्थात् अपर-वैराग्य है।

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

विवेकख्यातिद्वारा गुणोंसे तृष्णारहित हो जाना पर-वैराग्य है।

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥ १७ ॥

वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता नामक स्वरूपोंके सम्बन्धसे जो चित्तकी वृत्तियोंका निरोध है, वह सम्प्रज्ञात-समाधि कहलाता है अर्थात् वितर्कके सम्बन्धसे जो समाधि होती है, उसका नाम वितर्कानुगत, विचारके सम्बन्धसे विचारानुगत, आनन्दके सम्बन्धसे आनन्दानुगत और अस्मिताके सम्बन्धसे होनेवाली समाधिका नाम अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि है।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥

सर्ववृत्तियोंके निरोधका कारण जो पर-वैराग्य है, उसके पुनः-पुनः अनुष्ठानरूप अभ्याससे जो उसके संस्कार शेष रह जाते हैं, वह असम्प्रज्ञात-समाधि है।

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

विदेह और प्रकृतिलयोंको जन्मसे ही असम्प्रज्ञात-समाधिकी प्रतीति होती है।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

दूसरे योगी जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं हैं, उनको श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक असम्प्रज्ञात-समाधि सिद्ध होती है।

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

तीव्र संवेग और अधिमात्र उपायवाले योगियोंको समाधि-लाभ शीघ्रतम होता है।

मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

मृदु, मध्य, अधिमात्र—ये तीन भेद होनेसे मृदु तीव्र संवेगवालों और मध्य तीव्र संवेगवालोंके समाधि-लाभसे भी अधिमात्र तीव्र संवेगवालोंको समाधिलाभमें विशेषता है।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

अथवा ईश्वर-प्रणिधानसे शीघ्रतम समाधि-लाभ होता है।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

क्लेश, कर्म, कर्मोंके फल और वासनाओंसे असम्बद्ध, अन्य पुरुषोंसे विशेष (विभिन्न उत्कृष्ट) चेतन ईश्वर है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

उस पूर्वोक्त ईश्वरमें सर्वज्ञताका बीज अतिशय (बढ़ती) रहित है।

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

वह ईश्वर पूर्व उत्पन्न हुए ब्रह्मादिकोंका भी गुरु है, क्योंकि वह कालसे परिच्छिन्न (परिमित) नहीं है।

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

उस ईश्वरका बोधक शब्द ओ३म् है।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥ २८ ॥

उस ओ३म् शब्दका जप और उसके अर्थभूत ईश्वरका ध्यान करना (पुनः-पुनः चिन्तन करना) ईश्वर-प्रणिधान है।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

उस ईश्वर-प्रणिधानसे प्रत्यक्चेतनाका ज्ञान भी होता है और अन्तरायों (विघ्नों) का अभाव होता है।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व—ये चित्तके नौ विक्षेप (योगके) विघ्न हैं।

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास-प्रश्वास—ये विक्षेपोंके साथ होनेवाले हैं अर्थात् उनके होनेसे ये पाँच प्रतिबन्धक भी हो जाते हैं।

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

उन पूर्वोक्त विक्षेप तथा उपविक्षेपोंको दूर करनेके लिये एकतत्त्वका अभ्यास करना चाहिये अर्थात् किसी अभिमत एक-तत्त्वद्वारा चित्तकी स्थितिके लिये यत्न करना चाहिये।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

सुखी-दुःखी, पुण्यात्मा और पापियोंके विषयमें यथाक्रम मित्रता, दया, हर्ष और उपेक्षाकी भावनाके अनुष्ठानसे चित्त प्रसन्न और निर्मल होता है।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

अथवा कोष्ठस्थित (कोठामें रहनेवाली) वायुको नासिकापुटद्वारा (प्रयत्नविशेषसे) बाहर फेंकने और बाहर रोकने—दोनोंसे मनकी स्थितिको सम्पादन करे।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी ॥ ३५ ॥

अथवा (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द) विषयोंवाली प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मनकी स्थितिको बाँधनेवाली होती है।

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

अथवा शोकरहित प्रकाशवाली प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मनकी स्थितिको बाँधनेवाली होती है।

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

अथवा रागरहित योगी-गणके चित्तविषयक संयम करनेवाला (आलम्बनवाला) चित्त मनकी स्थितिको बाँधनेवाला होता है।

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

अथवा स्वप्नज्ञान और निद्राज्ञानको आश्रय करनेवाला चित्त मनकी स्थितिको बाँधनेवाला होता है।

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

अथवा जो जिसको अभिमत (इष्ट) हो, उसके ध्यानसे मनकी स्थिति बँध जाती है।

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

पूर्वोक्त उपायोंसे स्थित हुए चित्तका सूक्ष्म पदार्थोंमें परमाणुपर्यन्त और महान् पदार्थोंमें परम-महान् (आकाश) पर्यन्त वशीकार हो जाता है।

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

राजस, तामस-वृत्तिरहित स्वच्छ चित्तकी उत्तम जातीय (अति निर्मल) मणिके समान ग्रहीता (अस्मिता), ग्रहण (इन्द्रियाँ), ग्राह्य (स्थूल तथा सूक्ष्म विषयों)में स्थित होकर उनके तन्मय हो जाना (उनके स्वरूपको प्राप्त हो जाना) समापत्ति (तद्रूप होना) है।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

उन समापत्तियोंमेंसे शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पों (भेदों) से मिली हुई (अर्थात् इन तीनों भिन्न-भिन्न पदार्थोंका अभेदरूपसे जिसमें भान होता है) सवितर्क समापत्ति होती है।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

स्मृतिके शुद्ध हो जानेपर (अर्थात् आगम-अनुमानके कारणीभूत शब्द-संकेत स्मरणके निवृत्त होनेसे) अर्थमात्र-सी भासनेवाली अपने (ग्रहण आकार ज्ञानात्मक) रूपसे रहित (चित्तवृत्ति) निर्वितर्क समापत्ति है।

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥

इस सवितर्क और निर्वितर्क समापत्तिके निरूपणसे ही सविचार और निर्विचार समापत्तियाँ सूक्ष्म विषयमें व्याख्यान की हुई समझनी चाहिये।

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥

सूक्ष्मविषयता अलिङ्ग-प्रकृतिपर्यन्त है।

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

ये पूर्वोक्त चारों समापत्तियाँ ही सबीज समाधि कहलाती हैं।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

निर्विचार समाधिकी वैशारद्य (प्रवीणता) होनेपर अध्यात्म (प्रज्ञा) की निर्मलता होती है।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

अध्यात्म-प्रसादके लाभ होनेपर जो प्रज्ञा (समाधिजन्य बुद्धि) उत्पन्न होती है, उसका नाम ऋतम्भरा प्रज्ञा (सचाईको धारण करनेवाली अविद्यादिसे रहित बुद्धि) है।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥

आगम और अनुमानकी प्रज्ञासे ऋतम्भरा प्रज्ञाका विषय अलग है, विशेषरूपसे अर्थका साक्षात्कार करनेसे।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

उस ऋतम्भरा प्रज्ञासे उत्पन्न होनेवाला संस्कार अन्य सब व्युत्थानके संस्कारोंका बाधक (रोकनेवाला) होता है।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

पर-वैराग्यद्वारा उस ऋतम्भरा-प्रज्ञा-जन्य संस्कारके भी निरोध हो जानेपर पुरातन-नूतन सब संस्कारोंके निरोध हो जानेसे निर्बीज-समाधि होती है।

(२) साधनपाद

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग है।

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥

समाधिकी भावनाके लिये और क्लेशोंके तनूकरणके लिये (क्षीण करनेके लिये) क्रियायोग है।

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ ३ ॥

अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश क्लेश हैं। ये पाँचों बाधनारूप पीड़ाको उत्पन्न करते हैं और चित्तमें वर्तमान रहते हुए संस्काररूप गुणोंके परिणामको दृढ़ करते हैं, इसलिये क्लेश नामसे कहे गये हैं। ये पाँचों विपर्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान ही हैं, क्योंकि उन सबका कारण अविद्या ही है।

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार-अवस्थावाले अस्मिता आदि क्लेशोंका अविद्या क्षेत्र है।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

अनित्यमें नित्य, अपवित्रमें पवित्र, दुःखमें सुख और अनात्मामें आत्माका ज्ञान अविद्या है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

दृक्शक्ति और दर्शनशक्तिका एक स्वरूप-जैसा भान होना अस्मिता (क्लेश) है।

सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

सुख-भोगके पीछे जो चित्तमें उसके भोगकी इच्छा रहती है, वह राग है।

दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥

दुःखके अनुभवके पीछे जो घृणाकी वासना चित्तमें रहती है, उसको द्वेष कहते हैं।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

(जो मरनेका भय हर एक प्राणीमें) स्वभावतः बह रहा है और विद्वानोंके लिये भी ऐसा ही प्रसिद्ध है (जैसा कि मूर्खोंके लिये) वह अभिनिवेश क्लेश है।

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

वे पूर्वोक्त पाँच क्लेश, जो क्रियायोगसे सूक्ष्म और प्रसंख्यान अग्निसे दग्धबीजरूप हो गये हैं, असम्प्रज्ञात-समाधिद्वारा चित्तके अपने कारणमें लीन होनेसे निवृत्त करने योग्य हैं।

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

क्लेशोंकी स्थूल वृत्तियाँ, जो क्रियायोगसे तनु (क्षीण) कर दी गयी हैं, प्रसंख्यान (विवेक-ख्याति)-संज्ञक ध्यानसे त्यागने योग्य हैं। (जबतक कि वे सूक्ष्म होकर दग्ध बीजके सदृश न हो जायँ।)

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

क्लेश जिसकी जड़ है, ऐसी कर्मोंकी वासना वर्तमान और अगले जन्मोंमें भोगने योग्य है।

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

अविद्या आदि क्लेशोंकी जड़के होते हुए उस (कर्माशय) का फल जाति, आयु और भोग होते हैं।

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥

वे (जाति, आयु और भोग) सुख-दुःखरूपी फलके देनेवाले होते हैं, क्योंकि उनके कारण पुण्य और पाप हैं।

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

क्योंकि (विषय-सुखके भोगकालमें भी) परिणाम-दुःख, ताप-दुःख और संस्कार-दुःख बना रहता है और गुणोंके स्वभावमें भी विरोध है, इसलिये विवेकी पुरुषके लिये सब कुछ (सुख भी जो विषय-जन्य है) दुःख ही है।

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

आनेवाले दुःख हेय (त्यागने योग्य) हैं।

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

द्रष्टा और दृश्यका संयोग 'हेयहेतु' (दुःखका कारण) है।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है, भूत और इन्द्रिय जिसका स्वरूप है, भोग और अपवर्ग जिसका प्रयोजन है, वह दृश्य है।

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रा लिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

गुणोंकी चार अवस्थाएँ (परिणाम) हैं। विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

द्रष्टा जो देखनेकी शक्तिमात्र है, निर्विकार होता हुआ भी चित्तकी वृत्तियोंके अनुसार देखनेवाला है।

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

उस पुरुषके लिये ही (यह सारा) दृश्यका स्वरूप है।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया है उसके लिये यह दृश्य नष्ट हुआ भी नष्ट नहीं होता है, क्योंकि वह दूसरे पुरुषोंके साथ साझेकी वस्तु है।

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

स्व-शक्ति और स्वामी-शक्ति-संज्ञक स्वरूपकी उपलब्धिका जो कारण है वह (दृश्य-द्रष्टृका स्व-स्वामिभाव) संयोग है। अर्थात् स्व-शक्ति और स्वामी-शक्तिके स्वरूपकी उपलब्धि (दृश्य-द्रष्टृके स्व-स्वामिभाव) संयोगके वियोगका कारण है।

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

इस अदर्शनरूपी संयोगका कारण अविद्या है।

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

उसके (अविद्याके) अभावसे (अदर्शनरूपी) संयोगका अभाव 'हान' है। वह चिति-शक्तिका कैवल्य है।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

शुद्ध विवेकख्याति हानका उपाय है।

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

उस निर्मल विवेकख्यातिवाले योगीकी सात प्रकारकी सबसे ऊँची अवस्थावाली प्रज्ञा होती है।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

योगके अङ्गोंके अनुष्ठानसे अशुद्धिके नाश होनेपर ज्ञानका प्रकाश विवेकख्यातिपर्यन्त हो जाता है।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—(ये) आठ योगके अङ्ग हैं।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यम हैं।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

जाति देश, काल और समयकी हदसे रहित सर्वभूमियोंमें पालन करने योग्य यम महाव्रत कहलाते हैं।

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय (और) ईश्वर-प्रणिधान नियम हैं।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

वितर्कोंद्वारा यम और नियमोंका बाध होनेपर प्रतिपक्षका चिन्तन करना चाहिये।

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

यम-नियमोंके विरोधी हिंसा आदि वितर्क कहलाते हैं। (वे तीन प्रकारके होते हैं) स्वयं किये हुए, दूसरोंसे कराये हुए और अनुमोदन किये हुए। उनके कारण लोभ, मोह और क्रोध होते हैं। वे मृदु, मध्य और अधिमात्रावाले होते हैं। ये सब दुःख और अज्ञानरूपी अपरिमित फलोंको देनेवाले हैं। इस प्रकार प्रतिपक्षकी भावना करे।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

अहिंसाकी दृढ़ स्थिति हो जानेपर उस (अहिंसक योगी) के निकट सब प्राणियोंका वैर छूट जाता है।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

सत्यमें दृढ़ स्थिति हो जानेपर क्रिया फलका आश्रय बनती है।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

अस्तेयकी दृढ़ स्थिति होनेपर सब रत्नोंकी प्राप्ति होती है।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

ब्रह्मचर्यकी दृढ़ स्थिति होनेपर वीर्यका लाभ होता है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ३९ ॥

अपरिग्रहकी स्थिरतामें जन्मके कैसेपनका (पूर्वजन्म कैसे हुए थे) इस बातका साक्षात् होता है।

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

शौचसे अपने अङ्गोंसे घृणा और दूसरोंसे संसर्गका

अभाव होता है।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

चित्तकी शुद्धि, मनकी स्वच्छता, एकाग्रता, इन्द्रियोंका जीतना और आत्मदर्शनकी योग्यता आभ्यन्तर शौचकी सिद्धिसे प्राप्त होती है।

संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥

संतोषसे अनुत्तम सुख प्राप्त होता है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ ४३ ॥

तपसे अशुद्धिके क्षयके होनेसे शरीर और इन्द्रियोंकी शुद्धि होती है।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥

स्वाध्यायसे इष्टदेवताका साक्षात् होता है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

समाधिकी सिद्धि ईश्वर-प्रणिधानसे होती है।

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

जो स्थिर और सुखदायी हो वह आसन है।

प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

(आसन) प्रयत्नकी शिथिलता और आनन्त्यमें समापत्तिद्वारा सिद्ध होता है।

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

आसनकी सिद्धिसे द्वन्द्वोंकी चोट नहीं लगती।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

आसनके स्थिर होनेपर श्वास-प्रश्वासकी गतिका रोकना प्राणायाम है।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

(यह प्राणायाम) बाह्य-वृत्ति, आभ्यन्तर-वृत्ति और स्तम्भ-वृत्ति (तीन प्रकारका होता है) देश, काल और संख्यासे देखा हुआ (नापा हुआ) लम्बा और हलका होता है।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ॥ ५१ ॥

बाहर-अंदरके विषयको फेंकनेवाला अर्थात् आलोचना करनेवाला चौथा प्राणायाम है।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

उससे प्रकाशका आवरण (विवेक-ज्ञानका पर्दा) क्षीण हो जाता है।

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

और धारणाओंमें मनकी योग्यता होती है।

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

इन्द्रियोंका अपने विषयोंके साथ सम्बन्ध न होनेपर चित्तके स्वरूपका अनुकरण (नकल)-जैसा करना प्रत्याहार है।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

उस प्रत्याहारसे इन्द्रियोंका उत्कृष्ट वशीकार होता है।

(३) विभूतिपाद

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

चित्तका वृत्तिमात्रसे किसी स्थानविशेषमें बाँधना 'धारणा' कहलाता है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

उसमें वृत्तिका एक-सा (घटोऽयं घटोऽयम् आदि) बना रहना ध्यान है।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

वह ध्यान ही समाधि कहलाता है, जब उसमें केवल ध्येय अर्थमात्रसे भासता है और उसका (ध्यानका) स्वरूप शून्य-जैसा हो जाता है।

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

तीनों (धारणा, ध्यान और समाधि) का एक विषयमें होना संयम कहलाता है।

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

उस (संयम) के जयसे समाधि-प्रज्ञाका प्रकाश होता है।

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

उस संयमका भूमियोंमें विनियोग करना चाहिये।

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

पहलोंकी अपेक्षासे तीनों (धारणा, ध्यान और समाधि) अन्तरङ्ग हैं।

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

वह धारणा, ध्यान तथा समाधि भी असम्प्रज्ञात-समाधिका बाहरका अङ्ग है।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षण-चित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

व्युत्थानके संस्कारका दबना, निरोधके संस्कारका प्रकट होना, यह जो निरोधकालमें होनेवाले चित्तका दोनों संस्कारोंमें अनुगत होना है, यह निरोध-परिणाम कहा जाता है।

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

निरोध-संस्कारसे चित्तकी शान्त-प्रवाहवाली गति होती है।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि-परिणामः ॥ ११ ॥

चित्त (धर्मी) के सर्वार्थता और एकाग्रतारूप धर्मोंका (क्रमसे) नाश होना और प्रकट होना चित्तका समाधि-अवस्थामें परिणाम है।

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता-परिणामः ॥ १२ ॥

तब फिर समान वृत्तियोंका शान्त और उदय होना चित्तका एकाग्रता-परिणाम है।

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

चित्तके परिणामसे ही भूतों और इन्द्रियोंमें धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणाम व्याख्या किये गये जानने चाहिये।

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

(उन परिणामोंके) अतीत, वर्तमान और भविष्यत् धर्मोंमें अनुगत धर्मी है।

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

क्रमोंका भेद परिणामके भेदमें हेतु है।

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

तीनों परिणामोंमें संयम करनेसे भूत और भविष्यत्का ज्ञान होता है।

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभाग-संयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥

शब्द, अर्थ और ज्ञानके परस्परके अध्याससे अभेद भासना होता है। उनके विभागमें संयम करनेसे सब प्राणियोंके शब्दका ज्ञान होता है।

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

संस्कारके साक्षात् करनेसे पूर्वजन्मका ज्ञान होता है।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

दूसरेके चित्तकी वृत्तिके साक्षात् करनेसे दूसरेके चित्तका ज्ञान होता है।

न च तत् सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ २० ॥

पर वह (दूसरेका चित्त) अपने विषयसहित साक्षात् नहीं होता, क्योंकि वह (विषयसहित चित्त) उसका (संयमका) विषय नहीं है।

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशा-सम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ २१ ॥

अपने शरीरके रूपमें संयम करनेसे रूपकी ग्राह्य-शक्ति रुक जाती है। इससे दूसरेकी आँखोंके प्रकाशसे योगीके शरीरका संनिकर्ष न होनेके कारण योगीके शरीरका अन्तर्धान (छिप जाना) हो जाता है।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञान-मरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥

कर्म सोपक्रम और निरुपक्रम दो प्रकारके होते हैं। उनमें संयम करनेसे मृत्युका ज्ञान होता है अथवा अरिष्टोंसे मृत्युका ज्ञान होता है।

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

मैत्री आदिमें संयम करनेसे मैत्री आदि बल प्राप्त होता है।

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

हाथी आदिके बलोंमें संयम करनेसे हाथी आदिके बल प्राप्त होते हैं।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्ट-ज्ञानम् ॥ २५ ॥

प्रवृत्तिके प्रकाश डालनेसे सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तुका ज्ञान होता है।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥

सूर्यमें संयम करनेसे भुवनका ज्ञान होता है।

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

चन्द्रमामें संयम करनेसे ताराओंके व्यूहका ज्ञान होता है।

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

ध्रुवमें संयम करनेसे ताराओंकी गतिका ज्ञान होता है।

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

नाभि-चक्रमें संयम करनेसे शरीरके व्यूहका ज्ञान होता है।

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

कण्ठ-कूपमें संयम करनेसे क्षुधा और पिपासा (भूख-प्यास)-की निवृत्ति होती है।

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥

कूर्म-नाडीमें संयम करनेसे स्थिरता होती है।

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

मूर्धाकी ज्योतिमें संयम करनेसे सिद्धोंका दर्शन होता है।

प्रातिभाद् वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

अथवा प्रातिभ-ज्ञानसे योगी सब कुछ जान लेता है।

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

हृदयमें संयम करनेसे चित्तका ज्ञान होता है।

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थान्यस्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

चित्त और पुरुष जो परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं, इन दोनोंकी प्रतीतियोंका अभेद भोग है। उनमेंसे परार्थ-प्रतीतिसे भिन्न जो स्वार्थ-प्रतीति है, उसमें संयम करनेसे पुरुषका ज्ञान होता है अर्थात् पुरुष-विषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है।

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

उस स्वार्थ-संयमके अभ्याससे प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्ता-ज्ञान उत्पन्न होता है।

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

वे उपर्युक्त छः सिद्धियाँ समाधि (पुरुष-दर्शन) में विघ्न हैं, व्युत्थानमें सिद्धियाँ हैं।

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

बन्धके कारणके शिथिल करनेसे और घूमनेके मार्गके जाननेसे चित्त (सूक्ष्म शरीर) का दूसरेके शरीरमें आवेश होता है।

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

(संयमद्वारा) उदानके जीतनेसे जल, कीचड़, काँटों आदिमें असङ्ग रहना और ऊर्ध्व गति होती है।

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

(संयमद्वारा) समानके जीतनेसे योगीका दीप्तिमान् होना होता है।

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

श्रोत्र और आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे दिव्य श्रोत्र होता है।

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥ ४२ ॥

शरीर और आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे और हलके रूई आदिमें समापत्ति करनेसे आकाश-गमन-सिद्धि प्राप्त होती है।

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

शरीरसे बाहर कल्पना न की हुई वृत्ति महाविदेहा है, उससे प्रकाशके आवरणका नाश होता है।

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥ ४४ ॥

पाँचों भूतोंके स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्वमें संयम करनेसे भूतोंका जय होता है।

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

उस भूतजयसे अणिमा आदि आठ सिद्धियोंका प्रादुर्भाव और कायसम्पत् होती है तथा उन पाँचों भूतोंके धर्मोंसे रुकावट नहीं होती।

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥ ४६ ॥

रूप, लावण्य, बल, वज्रकी-सी बनावट कायसम्पत् (शरीरकी सम्पदा) कहलाती है।

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्वमें संयम करनेसे इन्द्रिय-जय होता है।

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥

इन्द्रियजयसे मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानका जय होता है।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥ ४९ ॥

चित्त और पुरुषके भेद जाननेवालेको सारे भावोंका मालिक होना और सर्वज्ञ होना प्राप्त होता है।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

विवेक-ख्यातिसे भी वैराग्य होनेपर दोषोंके बीज-क्षय होनेपर कैवल्य होता है।

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्ट-प्रसङ्गात् ॥ ५१ ॥

स्थानवालोंके आदर-भाव करनेपर लगाव एवं घमंड नहीं करना चाहिये, क्योंकि (इसमें) फिर अनिष्टके प्रसङ्गका भय है।

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५२ ॥

क्षण और उसके क्रमोंमें संयम करनेसे विवेकज-ज्ञान उत्पन्न होता है।

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

एक दूसरेसे जाति, लक्षण और देशसे भेदका निश्चय न होनेसे दो तुल्य वस्तुओंका निश्चय विवेकज-ज्ञानसे होता है।

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

बिना निमित्तके अपनी प्रभासे स्वयं उत्पन्न होनेवाला, सबको विषय करनेवाला, सब प्रकारसे विषय करनेवाला, बिना क्रमके एक साथ ज्ञानको विवेकज-ज्ञान कहते हैं।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥ ५५ ॥

चित्त और पुरुषकी समान शुद्धि होनेपर कैवल्य होता है।

(४) कैवल्यपाद

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधिसे उत्पन्न होनेवाली सिद्धियाँ हैं।

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥ २ ॥

एक जातिसे दूसरी जातिमें बदल जाना प्रकृतियोंके भरनेसे होता है।

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

धर्मादि निमित्त प्रकृतियोंका प्रेरक नहीं होता है, किंतु उससे किसानके सदृश रुकावट दूर होती है।

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

अस्मितामात्रसे निर्माण-चित्त होते हैं।

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

प्रवृत्तिके भेदोंमें एक चित्त अनेकोंका प्रेरनेवाला होता है।

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

उन पाँच प्रकारके जन्म, ओषधि आदिसे उत्पन्न हुए पाँचों निर्माण-सिद्ध-चित्तोंमेंसे समाधिसे उत्पन्न होनेवाला चित्त वासनाओंसे रहित होता है।

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

योगीका कर्म अशुक्लाकृष्ण (न शुक्ल न कृष्ण अर्थात् निष्काम) होता है, दूसरोंका तीन प्रकारका (पाप, पुण्य और पाप-पुण्य-मिश्रित) होता है।

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

उन तीन प्रकारके कर्मोंसे उनके फलके अनुकूल ही वासनाओंकी अभिव्यक्ति (प्रादुर्भाव) होती है।

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कार-योरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

जाति, देश और कालकृत व्यवधानवाली वासनाओंका भी व्यवधान नहीं होता, क्योंकि स्मृति और संस्कार एकरूप (समानविषयक) होते हैं।

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

उन वासनाओंको आशिष् (अपने कल्याणकी इच्छा) के नित्य होनेसे अनादित्व भी है।

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनसे वासनाओंके संगृहीत होनेसे इनके (हेतु, फल, आश्रय और आलम्बनके) अभावसे उन (वासनाओं) का अभाव होता है।

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

अतीत और अनागत स्वरूपसे रहते हैं, क्योंकि धर्मोंका कालसे भेद होता है।

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥

वे धर्म प्रकट और सूक्ष्म गुणस्वरूप हैं।

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

परिणामके एक होनेसे वस्तुकी एकता होती है।

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥ १५ ॥

वस्तुके एक होनेपर भी चित्तके भेदसे उन दोनों (चित्त और वस्तु) का अलग-अलग मार्ग है।

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

ग्राह्य-वस्तु एक चित्तके अधीन नहीं है, क्योंकि वह (वस्तु) बिना प्रमाण (चित्त) के उस समय क्या होगी ?

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

चित्तको वस्तुके जाननेमें उसके उपराग (विषयका चित्तमें प्रतिबिम्ब पड़ना) की अपेक्षा होती है, इसलिये उसको (चित्तको) वस्तु ज्ञात और अज्ञात होती है।

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

चित्तका स्वामी पुरुष परिणामी नहीं है, इसलिये चित्तकी वृत्तियाँ उसे सदा ज्ञात रहती हैं।

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १९ ॥

चित्त स्वप्रकाश नहीं है, क्योंकि वह दृश्य है।

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

और एक समयमें दोनों विषय और चित्तका ज्ञान नहीं हो सकता।

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च ॥ २१ ॥

यदि पहले चित्तको दूसरे चित्तका दृश्य माना जाय तो उ (ज्ञान) के चित्त (ज्ञान) का अनवस्था दोष होगा और स्मृति संकर भी हो जायगा।

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

पुरुषको, जो क्रिया अथवा परिणामरहित है, स्वप्रतिबिम्बित चित्तके आकारकी प्राप्ति होनेपर अपने विषयभूत चित्तका ज्ञान होता है।

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

द्रष्टा और दृश्यसे रँगा हुआ चित्त सारे अर्थोंवाला होता है।

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

चित्त अनगिनत वासनाओंसे चित्रित हुआ भी परार्थ है, क्योंकि वह संहत्यकारी है।

विशेषदर्शिनः आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

विवेकख्यातिद्वारा पुरुष और चित्तमें भेदके देखनेवालेकी आत्मभावकी भावना निवृत्त हो जाती है।

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥

विशेषदर्शनके उदय होनेपर विशेषदर्शीका चित्त विवेक-मार्ग-संचारी होकर कैवल्यके अभिमुख होता है।

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

उस विवेक-ज्ञानके बीच-बीचमें अन्य व्युत्थानकी वृत्तियाँ (भी) पूर्वके (व्युत्थानके) संस्कारोंसे उदय होती रहती हैं।

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

उन (व्युत्थानके संस्कारों) की निवृत्ति क्लेशोंकी निवृत्तिके तुल्य कही गयी जानना चाहिये।

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २९ ॥

जो योगी प्रसंख्यान-ज्ञानसे भी विरक्त है उसको निरन्तर विवेकख्यातिके उदय होनेसे धर्ममेघ समाधि होती है।

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

उस धर्ममेघ समाधिसे क्लेश और कर्मोंकी निवृत्ति होती है।

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

तब सब क्लेशकर्मोंके क्षय-कालमें सर्व आवरणरूप मलोंसे रहित होकर चित्तरूप प्रकाशके अनन्त होनेसे ज्ञेय पदार्थ अल्प हो जाता है।

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

तब कृतार्थ हुए गुणोंके परिणामके क्रमकी समाप्ति हो जाती है।

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

प्रतिक्षण होनेवाली परिणामकी समाप्तिपर जानी जानेवाली (गुणोंकी अवस्थाविशेषका नाम) क्रम है।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति ॥ ३४ ॥

पुरुषार्थसे शून्य हुए गुणोंका अपने कारणमें लीन हो जाना कैवल्य है अथवा चिति-शक्तिका अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाना कैवल्य है।

योगीश्वर भगवान् शिवके योगोपदेश

श्रीशिवगीतामें भगवान् शङ्करने सीता-विरहमें कर्षित श्रीरामको योगज्ञानका दिव्य उपदेश प्रदान किया है। श्रीराम जब सर्वथा निराश हो गये, तब महर्षि अगस्त्यके आदेशानुसार उन्होंने योगीश्वर भगवान् शङ्करकी तीव्र आराधना की। आशुतोष भगवान् शिव शीघ्र ही उनके सामने आविर्भूत हो गये और उनका श्रीरामके साथ वार्तालाप प्रारम्भ हुआ। उसी वार्तालापके मध्य श्रीरामने उनसे पूछा—

कथं भगवतो ज्ञानं शुद्धं मर्त्यस्य जायते।
तत्रोपायं हर ब्रूहि मयि तेऽनुग्रहो यदि॥

'हे भगवन्! मनुष्यको सर्वक्लेशापहारी दिव्य ज्ञान किस योगादि साधनसे प्राप्त होता है? यदि आपकी मुझपर थोड़ी भी कृपा हो तो इसे बतलानेका कष्ट करें।' इसपर भगवान् शङ्करने कहा—

विरज्य सर्वभूतेभ्य आविरिञ्चपदादपि।
घृणां वितत्य सर्वत्र पुत्रमित्रादिकेष्वपि॥
श्रद्धालुर्मुक्तिमार्गेषु वेदान्तज्ञानलिप्सया।
उपायनकरो भूत्वा गुरुं ब्रह्मविदं व्रजेत्॥

(श्रीराम!) सामान्य स्त्री-पुत्रादिकोंकी तो बात ही क्या, दिव्य स्वर्गसे लेकर ब्रह्मलोकतकके अलौकिक भोगोंसे भी अत्यन्त घृणाका भाव रखकर विरक्त हो साधकको योग-वेदान्तका आश्रय लेकर सर्वोपरि कैवल्य-मार्गकी ओर श्रद्धापूर्वक प्रवृत्त होना चाहिये तथा उसके लिये ब्रह्मज्ञानमें निपुण ब्रह्मनिष्ठ महायोगेश्वर गुरुका आश्रय ग्रहण करना चाहिये। (और उनके पास ठहरकर सेवा-शुश्रूषासे उन्हें प्रसन्न करना चाहिये तथा समस्त वेदान्त-साहित्यका श्रवण-मनन करते हुए आत्मस्वरूपका ध्यान-चिन्तन एवं निदिध्यासन करना चाहिये।)

निर्मोहो निरहङ्कारः समः सङ्गविवर्जितः।
सदा शान्त्यादियुक्तः सन्नात्मन्यात्मानमीक्षते।
यत्सदा ध्यानयोगेन तन्निदिध्यासनं स्मृतम्॥

योगयुक्त साधक मोह-ममता, अहङ्कार एवं समान बुद्धिवाला होकर, सभी आसक्तियोंसे दूर रहते हुए एकाकी होकर साधना प्रारम्भ करे। फिर साधक शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा एवं समाधान—इन षट् सम्पत्तियोंसे युक्त होकर निरन्तर एकमात्र आत्मा-परमात्माके अवलोकनका ही प्रयत्न करता रहे—अपनी आत्माके द्वारा परमात्माके अवलोकनका अभ्यास करता रहे। अनवरत परमात्माके ध्यानमें लीन होना ही योगादि शास्त्र-ग्रन्थोंमें निदिध्यासन कहा गया है।

निर्मोहो निरहङ्कारो निर्लेपः सङ्गवर्जितः।
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
यः पश्यन्संचरत्येष जीवन्मुक्तोऽभिधीयते॥

योगाभ्यास एवं ज्ञान-बलके द्वारा मोह (अज्ञान), अहङ्कार, आसक्ति एवं जनसमूहका परित्यागकर एकान्तमें ध्यानके द्वारा समस्त प्राणियोंमें अपनेको और समस्त प्राणियोंको अपनेमें देखनेवाला, जो सभी कार्योंको करता है, वह शीघ्र ही जीवन्मुक्ति तत्पश्चात् विदेह-मुक्ति और मोक्षका भी लाभ कर लेता है।

अहिर्निर्मोचनी यद्वद्दृष्टेः पूर्वं भयप्रदा।
ततोऽस्य न भयं किञ्चित्तद्वद्दृष्टुरयं जनः॥

जैसे रज्जु या साँपकी केंचुलको सर्प मानकर अज्ञानीजन भयभीत होते हैं और पुनः ध्यानसे देखनेपर उन्हें रज्जु या केंचुल समझकर निर्भय हो जाते हैं, उसी प्रकार अतत्त्वदर्शीके लिये यह संसार भयानक है। किंतु परमात्माको जान लेनेपर यह संसार तिरोहित हो जाता है और भगवान्‌का ही स्वरूप सामने दीखता है, जिससे योगी सर्वथा निर्भय हो जाता है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य वशं गताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावदनुशासनम्॥

योग-साधनाके द्वारा जब साधकके हृदयमें स्थित भगवान्‌का साक्षात्कार हो जाता है, तब भ्रान्तिसे उत्पन्न असत्संसारके किसी भी पदार्थके प्रति उसकी कामना नहीं रह जाती और उसकी मन, बुद्धि आदि सभी इन्द्रियाँ वशमें हो जाती हैं। तत्पश्चात् मरणशील मनुष्य योगसिद्ध होकर जरा-मृत्यु आदि दोषोंसे मुक्त हो जाता है और सर्वथा अजर-अमर हो जाता है। इतना ही सभी योगादि शास्त्रों एवं साधनाओंका परम एवं चरम फल है।

महर्षि वसिष्ठकी योग-धारणा

[दीर्घकालीन योगाभ्यासकी आवश्यकता]

महर्षि वसिष्ठने भगवान् श्रीरामको जो योगका उपदेश था, वह सभी योगशास्त्रोंमें अद्वितीय है। उसका संग्रह वाल्मीकिने 'महारामायण' नामसे किया और वही ासिष्ठ'के नामसे प्रसिद्ध हुआ। वैसे इस ग्रन्थमें पान्त योग-ज्ञानके सभी अङ्गोंपर विस्तारसे प्रकाश डाला है और अत्यन्त सूक्ष्म विचार भी हुआ है, किंतु म-प्रकरणमें योगकी विशेष बातोंका वर्णन किया गया ोग-ज्ञानके सम्बन्धमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा साधकोंके विशेष उपादेय होनेसे आचार्य मधुसूदन सरस्वतीने द्रगवद्गीताकी गूढार्थदीपिका टीकामें तथा अन्य टीकाकारोंने अत्यन्त श्रद्धासे इन स्थलोंका उल्लेख किया है। ारसर्वस्वभूत होनेसे कुछ विशेष महत्त्वपूर्ण श्लोकोंको र दिया जा रहा है—

यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः।
न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति॥
यावन्न तत्त्वविज्ञानं तावच्चित्तशमः कुतः।
यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम्॥
यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः।
यावन्न तत्त्वसम्प्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः॥
तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च।
मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः॥
तस्माद्राघव यत्नेन पौरुषेण विवेकिना।
भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेतत्समाश्रयेत्॥

(श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—रघुनन्दन!) जबतक मन ीन नहीं होता, तबतक वासनाका सर्वथा विनाश नहीं होता र जबतक वासना विनष्ट नहीं होती, तबतक चित्त शान्त ीं होता। जबतक परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं होता, ातक चित्तको शान्ति कहाँ और जबतक चित्तकी शान्ति नहीं ी, तबतक परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। ातक वासनाका सर्वथा नाश नहीं होगा, तबतक तत्त्वज्ञान हाँसे होगा और जबतक तत्त्व-ज्ञान नहीं होता, तबतक सनाका सर्वथा विनाश नहीं होगा। इसलिये (१) परमात्माका थार्थ ज्ञान, (२) मनोनाश और (३) वासनाक्षय—ये तीनों ही एक दूसरेके कारण हैं। ये दुःसाध्य हैं, किंतु असाध्य नहीं। विशेष प्रयत्न करनेसे ये तीनों कार्य सिद्ध हो सकते हैं। श्रीराम! विवेकसे युक्त पौरुष-प्रयत्नसे भोगेच्छाका दूरसे ही परित्याग करके इन तीनोंका अवलम्बन करना चाहिये।

सर्वथा ते समं यावन्न स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहुः।
तावन्न पदसम्प्राप्तिर्भवत्यपि समाशतैः॥
वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते।
समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदा मुने॥

यदि उपर्युक्त तीनों उपायोंका एक साथ प्रयत्नपूर्वक भलीप्रकार अभ्यास न किया जाय तो सैकड़ों वर्षोंतक भी परमपदकी प्राप्ति सम्भव नहीं। किंतु महाबुद्धिमान् श्रीराम! वासनाक्षय, परमात्माका यथार्थ ज्ञान और मनोनाश—इन तीनोंका एक साथ दीर्घकालतक प्रयत्नपूर्वक अभ्यास किया जाय तो ये परम-पदरूप फल देते हैं।

जन्मान्तरशताभ्यस्ता राम संसारसंस्थितिः।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित्॥
गच्छन्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रंस्तिष्ठञ्जाग्रत्स्वपंस्तथा।
श्रेयसे परमायास्य त्रयस्याभ्यासवान् भव॥

श्रीराम! यह संसारकी स्थिति सैकड़ों जन्म-जन्मान्तरोंसे मनुष्योंके द्वारा अभ्यस्त है, अतः चिरकालतक योगाभ्यास किये बिना वह किसी तरह नष्ट नहीं हो सकती। इसलिये चलते-फिरते, श्रवण करते, स्पर्श करते, सूँघते, खड़े रहते, जागते, सोते—सभी अवस्थाओंमें परम कल्याणके लिये इन तीनोंके अभ्यासमें लग जाना चाहिये।

वासनासम्परित्यागसमं प्राणनिरोधनम्।
विदुस्तत्त्वविदस्तस्मात्तदाप्येवं समाहरेत्॥
प्राणायामचिराभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया।
आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते॥

तत्त्वज्ञोंका मत है कि वासनाओंके परित्यागके समान ही प्राणायाम भी एक उपाय है, इसलिये वासना-परित्यागके साथ-साथ प्राण-निरोधका भी अभ्यास करना आवश्यक है। चिरकालतक प्राणायामके अभ्याससे, योगाभ्यासमें कुशल

रुद्वारा बतायी हुई युक्तिसे, स्वस्तिक आदि आसनोंकी सिद्धिसे और उचित भोजनसे प्राण-स्पन्दनका निरोध हो जाता है।

न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम्॥
अङ्कुशेन विना मत्तं यथा दुष्टं मतङ्गजम्।
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च॥
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्।
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल॥

जिस प्रकार मदमत्त हाथी अङ्कुशके बिना दूसरे उपायसे वशमें नहीं होता, उसी प्रकार पवित्र युक्तिके बिना मन वशमें नहीं होता। अध्यात्म-विद्याकी प्राप्ति, साधु-संगति, वासनाका सर्वथा परित्याग और प्राणस्पन्दनका निरोध—ये ही युक्तियाँ चित्तपर विजय पानेके लिये निश्चितरूपसे दृढ़ उपाय हैं। (इनसे तत्काल ही चित्तपर विजय प्राप्त हो जाती है और साधकको परमतत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है।)

भगवत्पाद आदिशंकराचार्यकी योग-मीमांसा

(श्रीसुब्रह्मण्य शर्मा)

भगवत्पाद आदिशंकराचार्यके वेदान्त-सिद्धान्तमें योगका कहाँ क्या उपयोग है, इस विषयमें विद्वानोंमें गहरा मतभेद है। कुछ लोगोंका यह ध्यान है कि योग तो श्रीशंकरकी वेदान्त-प्रणालीका प्राण ही है, और कुछ इसके सर्वथा विपरीत यह समझते हैं कि योग या योगकी गुप्त बातोंसे आचार्यका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। इस लेखमें इसी विषयपर विचार किया जायगा।

श्रीशांकर-अद्वैतमें योग देखनेवाले बार-बार यह कहा करते हैं कि अद्वैतकी सिद्धि बिना निर्विकल्प समाधिके हो ही नहीं सकती। आचार्यकृत विवेकचूडामणि-जैसे प्रकरण-ग्रन्थोंसे वे अपने मतकी पुष्टि करते हैं। प्रस्थानत्रयके भाष्योंसे यह बात पूर्णरूपसे प्रमाणित होती है कि आचार्य अपने इस तर्कसिद्ध और अखण्डनीय सिद्धान्तको कहीं भी छोड़नेको तैयार नहीं हैं कि आत्मा और अनात्माके 'इतरेतराध्यास' से उत्पन्न हुआ बन्ध ज्ञानसे ही छूटता है और किसी भी उपायसे नहीं। इसके लिये बृहदारण्यकभाष्यसे एक अवतरण दिया जाता है। प्रसङ्ग है—'**आत्मन्येवोपासीत**' आदि वाक्य 'अपूर्वविधि' बतलाते हैं या क्या हैं, इसकी चर्चाका। यहाँ श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

न च 'आत्मन्येवोपासीत' इत्यपूर्वविधिः। कस्मात्? आत्मस्वरूपकथनानात्मप्रतिषेधवाक्यजनितविज्ञान-व्यतिरेकेणार्थान्तरस्य कर्तव्यस्य मानसस्य बाह्यस्य वाभावात्।

अर्थात् 'यह अपूर्वविधि नहीं है, क्योंकि वाक्यसे आत्मविज्ञान होने और अनात्माका निरास होनेपर कुछ भी मानस या बाह्य कर्म नहीं रह जाता।' इस सिद्धान्तके विरोध-पक्षकी सब बातोंको काटकर आचार्य योगपक्षसे आनेवाली शंकाका निरास करते हुए उसका इस प्रकार समाधान करते हैं—

'निरोधस्तर्ह्यर्थान्तरमिति चेत्। चित्तवृत्तिनिरोधस्य वेद-वाक्यजनितात्मविज्ञानादर्थान्तरत्वात्। तन्त्रान्तरेषु च कर्तव्यतयावगतत्वाद्विधेयत्वमिति चेत्, न, मोक्षसाधन-त्वेनानवगमात्। न हि वेदान्तेषु ब्रह्मात्मविज्ञानादन्यत्परम-पुरुषार्थसाधनत्वेनावगम्यते। 'आत्मानमेवावेत्तस्मात्तत्सर्व-मभवत्', 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति', 'आचार्यवान् पुरुषो वेद', 'तस्य तावदेव चिरम्', 'अभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद' इत्येवमादिश्रुतिशतेभ्यः।'

अर्थात् 'यह कहा जा सकता है कि निरोध तो इस ज्ञानसे भिन्न उपाय है। पर चित्तवृत्तिनिरोध वह आत्मज्ञान नहीं है जो वेदवाक्यसे होता है। यह चित्तवृत्तिनिरोध अन्य तन्त्रोंमें भी बताया है (जैसे सांख्य और योगमें)। इसलिये यहाँ भी उसका विधान हो सकता है, ऐसी आशंका हो तो यही उत्तर है कि ऐसा नहीं हो सकता। वेदान्तश्रुतिमें ब्रह्मात्मज्ञानसे अन्य और कोई परम पुरुषार्थ-साधन नहीं बताया है। 'वह अपने आपको जानता था इसलिये उससे सब कुछ हुआ', 'ब्रह्मविद् ही परम पदको पाता है', 'जो परब्रह्मको निश्चयसे जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है,' 'जो आचार्यवान् होता है वह उसे जानता है', 'तभीतक उसे प्रतीक्षा करनी होती है,' 'जो यह जानता है वह निर्भय ब्रह्म होता है' इत्यादि शत-शत श्रुतिवाक्योंसे यह सिद्ध है।' (बृहदारण्यक० १।४।७)

यह अवतरण स्फटिक-सा स्वच्छ है। इससे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य आत्मज्ञान और मुक्तिके बीचमें और कोई तीसरी चीज न आने देंगे।

तथापि योग या ध्यानका महत्त्व भी आचार्यके शिक्षा-सम्प्रदायमें कम नहीं है। जो लोग शुष्क बौद्धिक खेलको ही मुक्तिका एकमात्र द्वार समझे बैठे हैं, उन्हें आचार्यपादसे उतनी ही निराशा होगी जितनी कि उन लोगोंको जो योगके स्तुति-स्तोत्र गाते फिरते हैं। आत्मज्ञान ही मुक्तिका प्रत्यक्ष साधन है, चित्तवृत्तिनिरोधरूप योगको आचार्य आत्मज्ञानका-सा महत्त्व नहीं प्रदान करते, इतनी ही बात है, अन्यथा मनः-संयमरूप प्रारम्भिक साधनके तौरपर उसको भी आचार्य उपयोगी बतलाते हैं। इस विषयमें आचार्य इस प्रकार कथन करते हैं—

(१) योगोऽप्यणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलः स्मर्यमाणो न शक्यते साहसमात्रेण प्रत्याख्यातुम्। श्रुतिश्च योगमाहात्म्यं ख्यापयति।

अर्थात् योग भी जैसा कि स्मृतिने कहा है, अणिमादि ऐश्वर्यका देनेवाला है, इसलिये यह कहकर कि यह कुछ नहीं है, इसका तिरस्कार नहीं किया जा सकता। श्रुतिने भी योगकी महिमा गायी है। (ब्रह्मसूत्र-भाष्य १। ३। ३३)

(२) येन त्वंशेन न विरुद्ध्यते तेनेष्टमेव सांख्य-योगस्मृत्योः सावकाशत्वम्।

अर्थात् जितने अंशमें सांख्ययोग स्मृतियोंका वेदान्तसे विरोध नहीं है, उतने अंशमें उनका ग्रहण इष्ट है। (ब्रह्मसूत्र-भाष्य २। १। ३)

(३) सम्यग्दर्शननिष्ठानां संन्यासिनां सद्योमुक्तिरुक्ता। ...अथेदानीं ध्यानयोगं सम्यग्दर्शनस्यान्तरङ्गं वक्ष्यामीति तस्य सूत्रस्थानीयान् श्लोकानुपदिशति स्म।

अर्थात् सम्यग्दर्शननिष्ठ जो संन्यासी हैं उनके लिये सद्यो (तत्काल)-मुक्ति कही गयी है। अब सम्यग्दर्शनके साधनरूप ध्यानयोगका विवरण करते हुए सूत्रस्थानीय श्लोक उपदेशसे कहते हैं। (भगवद्गीताभाष्य ५। २७)

अब माण्डूक्य-कारिकाके भाष्यसे एक अवतरण और देते हैं जिससे आचार्यका मत इस विषयमें और भी स्पष्ट हो जायगा—

'येषां पुनर्ब्रह्मस्वरूपव्यतिरेकेण रज्जुसर्पवत्कल्पितमेव मन इन्द्रियादि च न परमार्थतो विद्यते तेषां ब्रह्म-स्वरूपाणामभयं मोक्षाख्या चाक्षया शान्तिः स्वभावत एव सिद्धा नान्यायत्ता नोपचारः कथञ्चनेत्यवोचाम। ये त्वतोऽन्ये योगिनो मार्गगा हीनमध्यमदृष्टयो मनोऽन्यदात्मव्यतिरिक्त-मात्मसम्बन्धि पश्यन्ति तेषामात्मसत्यानुबोधरहितानां मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वेषां योगिनाम्। किं च दुःखक्षयोऽपि। न ह्यात्मसम्बन्धिनि मनसि प्रचलिते दुःखक्षयोऽस्त्यविवेकिनाम्। किं चात्मप्रबोधोऽपि मनोनिग्रहायत्त एव तथाक्षयापि मोक्षाख्या शान्तिस्तेषां मनोनिग्रहायत्तैव।'

'जिनके मन, इन्द्रियादि रज्जु-सर्पवत् केवल कल्पित हैं, परमार्थतः ब्रह्मस्वरूपके अतिरिक्त हैं ही नहीं, जो ब्रह्मस्वरूप हो गये हैं उनके लिये अभय और मोक्ष नामकी अक्षय शान्ति एक ऐसी स्थिति है जो उनका स्वभाव ही है, उसके लिये उन्हें अन्य किसी सहारेकी आवश्यकता नहीं और इसलिये हमने कहा कि उन्हें बन्धनसे मुक्त होनेके लिये कुछ भी नहीं करना है। परंतु जो इनसे भिन्न योगी हैं और आत्मानुसंधानके मार्गपर चल रहे हैं, जो हीन मध्यम दृष्टिसे मनको आत्मासे अलग आत्माका सम्बन्धी जानते हैं, ऐसे आत्मसत्यके अनुबोधसे रहित सब योगियोंका अभय मनोनिग्रहके ही अधीन है। उनका दुःखक्षय भी मनोनिरोधपर ही अवलम्बित है। आत्माका सम्बन्धी (और आत्मासे अलग) ऐसा जो मन है उसके क्षुब्ध होनेसे जो दुःख होता है अविवेकियोंके उस दुःखका (मनोनिग्रहके बिना) क्षय नहीं हो सकता। इसी प्रकार इनकी अक्षया शान्ति भी जिसे मुक्ति कहते हैं, मनोनिग्रहपर ही अवलम्बित है।'

अब यह बात स्पष्ट हो गयी होगी कि आचार्यने मुमुक्षुओंकी तीन कक्षाएँ की हैं। पहली कक्षा उन लोगोंकी है जिन्हें योग या अन्य किसी भी साधनाके सहारेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि उनका अन्तःकरण शुद्ध निर्मल सत्त्व है और उन्हें गुरुद्वारा उपदिष्ट होते ही अद्वितीय ब्रह्मका बोध हो जाता है। मध्यम और हीन दृष्टिवाले जो साधक हैं और जिनकी संख्या ही अधिक होती है उनके लिये योग और कर्मयोग भी नितान्त आवश्यक हैं और योगमें जो मनोनिग्रहका अभ्यासक्रम है वह उनके लिये अनिवार्य है। आचार्यके भिन्न-भिन्न भाष्योंमें, विशेषकर श्रीमद्भगवद्गीताके भाष्यमें इतस्ततः योगकी जो बातें

मिलती हैं उन्हें तो हमारे ही जैसे सामान्य मुमुक्षुओंके लिये श्रीआचार्यचरणने दया करके कहा है, क्योंकि हमलोग परम ज्ञानके उस उच्चतम शिखरतक दुर्लभ परमहंसोंके समान उड़कर जा नहीं सकते और इसलिये हमें तो कर्मयोग और भक्तियोगके मार्गसे ही क्रमशः ऊपर उठना होगा, तब किसी दीर्घकालके बाद ब्रह्मनिष्ठके उस महाप्रासादका प्रवेशद्वार भी कभी मिलेगा।

अव्यभिचार भक्तियोग

(ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

प्रत्यक्चैतन्याभिन्न भगवान्‌को अव्यभिचार भक्तियोगसे सेवन करनेवाले सात्त्विक, राजस, तामसगुणोंका उल्लङ्घन करके ब्रह्म-भावको प्राप्त होते हैं। गुणमय संसारसे छूटनेका एकमात्र यही सुन्दर उपाय है। वेदान्तोंका श्रवण, मनन करनेपर जिस प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्मतत्त्वका निश्चय होता है, उसीका निरन्तर निदिध्यासन करनेसे उसीका साक्षात्कार होता है। रज्जु आदि अधिष्ठानके साक्षात्कारसे उसमें कल्पित सर्प, धारा, माला आदिका जैसे अभाव हो जाता है, वैसे ही निर्विकार सर्वाधिष्ठान चिदात्मतत्त्वका साक्षात्कार होनेसे उसमें कल्पित गुणमय प्रपञ्चका आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। इसी कारण **'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।'** यहाँपर अव्यभिचार भक्तियोगसे शुद्ध परब्रह्मका निदिध्यासन या ज्ञानाभ्यास ही लिया जाता है। यद्यपि भक्तिका ज्ञान या निदिध्यासन अर्थ पक्षपातयुक्त-सा प्रतीत होता है तथापि 'स्व-स्वरूपानुसंधान' को भक्ति कहा है। विचार करनेसे यह ठीक भी मालूम पड़ता है। विषयाकारको भजन करनेवाला ज्ञान, भक्ति शब्दसे कहा जा सकता है। **'विषयाकारं भजतीति भक्तिः।'** इसके अतिरिक्त **'भज सेवायाम्'** धातुसे भक्ति शब्दकी सिद्धि होती है—**'भजनं भक्तिः।'** भजन अर्थात् सेवनको ही भक्ति कहा जाता है। सेवा यद्यपि शरीर, इन्द्रिय, बुद्धिसे की गयी कायिकी, ऐन्द्रियिकी, मानसी-भेदसे अनेक हैं तथापि मुख्य सेवा मानसी ही है। मानसी सेवा ही सर्वश्रेष्ठ है। महानुभावोंने भी कहा है—

कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता।
चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा॥

अर्थात् प्राणीको सदा श्रीकृष्ण-सेवा करनी चाहिये। सेवामें भी मानसी सेवा ही सर्वोत्कृष्ट सेवा है। चित्तकी कृष्णोन्मुखता या कृष्णमें तन्मयता ही सेवा है। मानसी सेवाकी सिद्धिके लिये ही तनुजा और वित्तजा सेवा करनी चाहिये। अर्थात् कायिकी, वाचिकी आदि सेवा करते-करते अन्तमें मानसी सेवाकी योग्यता प्राप्त होती है। 'विजातीय प्रत्यय-निरासपूर्वक सेव्याकाराकारित मानसीवृत्तिप्रवाह' ही मानसी सेवा है। जिस प्रकार समुद्रोन्मुखी गङ्गाका अखण्ड प्रवाह चलता है, उसी प्रकार भगवदुन्मुखी मानसी वृत्तियोंका प्रवाह चलना ही भगवान्‌की मानसी सेवा है। जैसे सगुण, साकार सच्चिदानन्द भगवान्‌के आकारसे आकारित वृत्तिका प्रवाह होता है, वैसा ही वेदान्तवेद्य निर्गुण, निराकार, निर्विकार, अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य भगवान्‌की स्वरूपविषयिणी वृत्तियोंका भी प्रवाह होता है। निर्विकार परब्रह्माकार मानस-प्रवाह ही भक्ति, भजन या सेवा है और वही भगवान्‌का प्रापक होनेसे या एकाग्रता होनेसे योग भी है। जब वह बीच-बीचमें भगवान्‌से हटकर बाह्य प्रपञ्चोंसे जुड़ जाता है, तब व्यभिचारी कहा जाता है। अतः अन्य सम्बन्ध-विवर्जित, निर्विशेष भगवान्‌के आकारसे आकारित अविच्छिन्न मानस वृत्ति-प्रवाह ही अव्यभिचार भक्तियोग है, वही ज्ञानाभ्यास और वही निदिध्यासन है।

इस अव्यभिचार भक्तियोगसे भगवान्‌का सेवन करनेसे साक्षात्कारद्वारा अति शीघ्र ही गुणमय प्रपञ्चका बोध हो जाता है। ज्ञान चतुर्थी भक्ति है। अतः भगवान्‌के आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—ये चार भक्त होते हैं—**'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।'** ज्ञानी ज्ञानसे ही भगवान्‌का भजन या सेवन करता है। ज्ञानी भगवान्‌का अत्यन्त प्रिय भक्त है। यद्यपि भगवान्‌के भजन करनेवाले सभी भगवान्‌के प्रिय एवं उदार हैं तथापि ज्ञानी तो एकमात्र भगवान्‌में ही भक्ति करता है, क्योंकि उसकी दृष्टिमें भगवान्‌से भिन्न दूसरी दृष्टि रहती ही नहीं। अतएव ज्ञानीको भगवान् एक क्षणके लिये भी

अदृश्य नहीं होते और भगवान्‌को ज्ञानी नहीं अदृश्य होता। ज्ञानी भगवान्‌का साक्षात् अन्तरात्मा होता है—**'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।'** प्रथम सूक्ष्मतत्त्वमें मनकी स्थिति असम्भव है, अतः विराट् हिरण्यगर्भादि तत्त्वोंमें मनको स्थित करके फिर क्रमेण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सगुणमें स्थिति-सम्पादन करते हुए निर्गुण-निराकार, निर्विशेष ब्रह्ममें स्थिति सम्पन्न होती है। स्थूल आलम्बनोंका अपोहन करते हुए सूक्ष्म आलम्बनोंमें चित्तकी एकाग्रता करते हुए अन्तमें चित्त अत्यन्त निरालम्बन बनाया जा सकता है। श्रीकपिलदेवजीने भी निर्गुण, निर्विकार ब्रह्ममें स्थितिके लिये भगवान्‌की मधुर, मनोहर, मङ्गलमयी, सगुण, साकार सच्चिदानन्दमयी मूर्तिका ध्यान बतलाया है। प्रथम अस्त्र-शस्त्र, भूषण, वसनादिसे सुसज्जित मूर्तिका ध्यान कहा है, फिर अस्त्र-शस्त्ररहित केवल श्रीअङ्गका ध्यान करना तलाया है। एक-एक अङ्गका ध्यान और उसके सौन्दर्य, धुर्य एवं महिमाओंका प्रेमपूर्वक चिन्तन बतलाया है। फिर चरणारविन्दकी नखमणिचन्द्रिका या अमृतमय मुखचन्द्रके न्दर्य-माधुर्यमें मनकी तल्लीनता कही गयी है। परम वत्रता, अद्भुत महिमा, लोकोत्तर सौन्दर्य-माधुर्यके चिन्तनसे वुकका मन प्रेमोन्मादमें विभोर हो जाता है। प्रेममें जैसे अङ्ग ं वागादि इन्द्रियोंमें शैथिल्य होता है, वैसे ही मनमें भी थिल्य आता है, जिससे कि वह ध्येय-स्वरूपको भी ग्रहण नेमें असमर्थ हो जाता है। जब मन सब दृश्योंसे रहित हो ता है, यहाँतक कि ध्येय-स्वरूपसे भी शून्य हो जाता है, तब यके अभावमें ध्येयाकार वृत्तिरूप ध्यान और ध्यानका श्रयरूप ध्याता भी नहीं उपलब्ध होता। उस समय ध्याता-ान-ध्येयके बाधके अवधि एवं साक्षिरूपसे भगवान्‌का कट्य होता है। अर्थात् भावुकोंका मन आकर्षण करनेके ये ही भगवान् ध्येयरूपसे प्रकट होते हैं। उसे आकर्षित के फिर वही भगवान् ध्येयातीत अग्राह्य-रूपमें प्रकट होते । यों भी भगवान्‌में ही चित्त लगाकर भगवत्परायण होकर भावसे जो भगवान्‌को भजते हैं, भगवान् उनके ऊपर कृपा के उन्हें बुद्धियोग प्रदान करते हैं। उनके हृदयमें तेजोमय दीपका प्रकाश करके अज्ञानान्धकार दूर कर देते हैं—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः॥
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

यद्यपि वेदान्तवेद्य परमतत्त्व अत्यन्त अदृश्य, अग्राह्य, अचिन्त्य है तथापि भगवान्‌के भक्त निश्चिन्त रहते हैं। वे जानते हैं कि हमें निरन्तर प्रभुके पाद-पङ्कजमें आत्मसमर्पण करके प्रभुका भजन ही करना चाहिये। यदि प्रभु अपने निर्गुण, निराकार, निर्विकार स्वरूपका साक्षात् कराना आवश्यक समझेंगे तो जिस किसी तरह साक्षात्कार करा देंगे। अत्यन्त बधिरके लिये शब्द एवं जन्मान्धको रूप वैसे ही दुर्ग्राह्य हैं, जैसे अज्ञानीको ब्रह्म दुर्ग्राह्य है। परंतु भगवान् श्रोत्र और नेत्रका निर्माण करके दुर्ग्राह्य शब्द और रूपको सुग्राह्य एवं सुज्ञेय बना देते हैं। उन भगवान्‌को अत्यन्त अचिन्त्य एवं दुर्ज्ञेय अपने निराकार रूपका साक्षात्कार करा देनेमें कोई भी कठिनाई नहीं पड़ती। अतः पूर्ण विश्वास, आशा किये भगवान्‌के पाद-पङ्कजका अव्यभिचार भक्तियोगसे सेवन करनेवालेको दुर्गमसे दुर्गम सभी तत्त्व प्राप्त हो जाते हैं। फिर गुणोंका उल्लङ्घन भी उनके लिये सुगम हो जाता है—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

श्रीमुखकी भी उक्ति है—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

अर्थात् अमृत, अव्यय, शाश्वतधर्म एवं ऐकान्तिक सुखस्वरूप ब्रह्मकी मैं ही प्रतिष्ठा हूँ। मुझे भजनेसे गुणोंका अतिक्रमण बड़ी सरलतासे हो सकता है। 'अहं' पदका अर्थ प्रत्यगात्मा है। भावार्थ यह हुआ कि जैसे महाकाश ही घटाकाशके रूपमें प्रतिष्ठित होता है, वैसे ही मैं प्रत्यगात्मा ही परब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ। अर्थात् परमात्मा ही प्रत्यगात्मा-रूपमें प्रतिष्ठित होता है। अतः जैसे घटाकाश महाकाशसे अभिन्न ही है, उसी तरह प्रत्यगात्मा परमात्म-स्वरूप ही है। परमात्मा प्रत्यगात्मा (अन्तरात्मा) रूपसे प्रतिष्ठित होते हैं। प्रत्यगात्मा परमात्माकी प्रतिष्ठा है। अथवा 'अहं' पदका अर्थ प्रत्यक्चैतन्याभिन्न, मायातीत, अदृश्य, अग्राह्य, अलक्षण, निर्विकल्प, निर्विशेष शुद्ध परमात्मा है जैसा कि **'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना'**, **'ये त्वक्षरमनिर्देश्यं'**, **'ते प्राप्नुवन्ति मामेव'** इत्यादि स्थलोंमें विवक्षित है। ब्रह्मपदका अर्थ

मायाविशिष्ट सविशेष सविकल्प ब्रह्म है। इस तरह भावार्थ यह हुआ कि सविकल्प ब्रह्मकी मैं निर्विकल्प ब्रह्म प्रतिष्ठा हूँ। निर्विकल्प ब्रह्ममें सविकल्प ब्रह्म प्रतिष्ठित कल्पित है। मुझे सेवन करनेसे सविकल्प प्रपञ्चका लङ्घन बड़ी सरलतासे हो सकता है। अथवा 'ब्रह्म' पदका निर्गुण निराकार, निर्विकार ब्रह्म अर्थ है और **'अहं'** पदका सगुण, साकार, ब्रह्म (श्रीकृष्ण) है। अभिप्राय यह है कि मैं सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ। यहाँ **'राहोः शिरः'** के समान सम्बन्धार्था षष्ठी अभेदमें ही है। अर्थात् जैसे व्यापक, अव्यक्त अग्नि दहन, प्रकाशन, पाचनादि कार्य करनेके लिये घृत-वर्त्तिकादिके सम्बन्धसे व्यक्त साकार अग्निके रूपमें प्रतिष्ठित—प्रवृत्त होता है वैसे ही निर्गुण, निराकार, निर्विकार, अव्यक्त ब्रह्म भक्तानुग्रहादि कार्य करनेके लिये अपनी अचिन्त्य दिव्यलीलाशक्तिसे सगुण, साकार व्यक्तरूपमें प्रतिष्ठित होता है। इसीलिये सगुण ब्रह्म ही निर्गुण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा है। अतः मेरा आराधन करनेसे ही गुणोल्लङ्घन आदि भक्तानुग्रह सिद्ध होता है। कुछ लोगोंका कहना है कि सगुण ब्रह्म निर्गुण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा अर्थात् आधार है। जैसे आतप (घाम) की प्रतिष्ठा, उद्गम-स्थान या आधार सूर्य है, सूर्यसे ही निकलकर सूर्यके सहारे ही आतप रहता है, वैसे ही सगुण, साकार श्रीकृष्णचन्द्रकी मधुर मूर्ति ही निर्गुण ब्रह्मकी प्रतिष्ठा या आधार है। सूर्यस्थानीय श्रीकृष्ण हैं, आतप-स्थानीय निर्गुण ब्रह्म है। **'अनादि मत्परं ब्रह्म'** इस वचनमें भी ब्रह्मको **'अनादि'** और **'मत्परं'** कहा गया है। यहाँ **'मत्परं'** का अर्थ यह है कि **'अहं श्रीकृष्णः पर उत्कृष्टो यस्मात्तन्मत्परम्।'** मैं श्रीकृष्ण ही हूँ पर—उत्कृष्ट जिससे, निर्गुण ब्रह्मसे उत्कृष्ट मैं सगुण ब्रह्म हूँ। इसीलिये उन लोगोंका मत है कि औपनिषद ब्रह्मात्मदर्शियोंका ब्रह्म आतपके समान है और भक्तोंका भगवान् सूर्यस्थानीय है। परंतु उनका यह कथन श्रुति-सूत्रोंके विरुद्ध है। वेद, वेदान्त, ब्रह्मसूत्र आदि सभी शास्त्रोंका परम तात्पर्य ब्रह्ममें ही है। **'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'**, **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**, **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** इत्यादि वाक्योंमें सर्वत्र ब्रह्मका ही विचार चलता है। श्रीकृष्ण वैदिक औपनिषद परब्रह्मसे भिन्न होते तब तो उनमें वेदवेद्यता नहीं सिद्ध होती जो कि **'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'** इत्यादि वचनोंसे भगवान्‌ने स्वीकार की है। अतएव **'अनादि मत्परं ब्रह्म'** यहाँ भी **'मत्परं'** ऐसा पदच्छेद न करके **'अनादिमत्परं ब्रह्म'** ऐसा पदच्छेद करना युक्त है, जिसका सारांश यह है कि ब्रह्म अनादिमान् एवं पर अर्थात् सर्वोत्कृष्ट है। ब्रह्म-पर्यवसायी प्रकरणको विच्छिन्न करके अन्य वर्णनका प्रसङ्ग लाना अप्राकृत-प्रक्रिया है एवं ब्रह्मज्ञानकी प्रशंसाके प्रसङ्गमें उसे किसीसे भी अपकृष्ट कहना सर्वथा विचारशून्यता है।

श्रीमद्भागवतमें भी सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदरहित, स्वप्रकाश, नित्य विज्ञानको ही तत्त्व कहा है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

'अद्वय-ज्ञानको ही तत्त्वविद् लोग तत्त्व कहते हैं, उसीको ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् कहा जाता है।' कुछ लोगोंका कहना है कि यहाँ ब्रह्मसे परमात्मामें और उससे भगवान्‌में उत्कर्ष विवक्षित है। यदुकुलभूषण श्रीकृष्णकी सभामें बैठे हुए यादवोंने आकाश-मार्गसे आते हुए देवर्षि श्रीनारदजीको प्रथम केवल तेजःपुञ्ज ही समझा। कुछ समीप आनेपर कोई देहधारी समझा और अधिक समीप होनेपर पुरुष एवं सर्वथा सांनिध्यमें श्रीनारद समझा—

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा
ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति
क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥

ठीक उसी तरह तत्त्वसे अति दूर स्थित अधिकारीको प्रथम केवल चिन्मात्र ब्रह्मका बोध होता है, कुछ सामीप्य होनेपर योगियोंको कतिपय गुण-विशिष्ट परमात्मा, सर्वथा सांनिध्य होनेपर अनन्त कल्याण-गुणगण-विशिष्ट भगवान्‌के रूपमें तत्त्वका उपलम्भ होता है। इन्हीं लोगोंमें ही मनमानी कल्पना करनेवाले कुछ लोग श्रीकृष्णको आदित्यस्थानीय और ब्रह्मको प्रकाशस्थानीय मानते हैं। कुछ श्रीवृषभानुकिशोरीके नख-मणि-प्रकाश या नूपुर-प्रकाशको ही औपनिषद परब्रह्म कहते हैं। परंतु वैदिकोंकी दृष्टिमें तो वेदोंका महान् तात्पर्य ब्रह्ममें ही है और वही सब तरहसे सर्वोत्कृष्ट है।

संकोचका कारण न होनेसे वृद्ध्यर्थक **'बृहि'** धातुसे निष्पन्न 'ब्रह्म' शब्दका अर्थ निरतिशय बृहत्तम तत्त्व होता है।

जो देश-काल-वस्तु-परिच्छेदवाला हो वह तो परिच्छिन्न होनेके कारण क्षुद्र ही है, निरतिशय बृहत् नहीं। यदि जड हो तो भी दृश्य होनेसे अल्प और मर्त्य होगा। अतः अनन्त स्वप्रकाश, सदानन्द तत्त्व ही '**ब्रह्म**' पदका अर्थ होता है और वही भूमा अमृत है। उससे भिन्न सभीको अल्प और मर्त्य ही समझना चाहिये। फिर अनन्त पदके साथ पठित '**ब्रह्म**' शब्दका सुतरां यही अर्थ है। उसमें अतिशयताकी कल्पना निर्मूल है। किसी राजाने ऐसी कहानी सुननी चाही कि जिसका अन्त ही न हो। एक चतुरने सुनाना आरम्भ किया—'राजन्! एक वृक्ष था, उसकी अनन्त शाखाएँ थीं, उन शाखाओंमें अनन्त उपशाखाएँ थीं, उपशाखाओंमें भी अनन्त पल्लव थे और उनपर अनन्त पक्षी बैठे थे। कुछ कालमें एक पक्षी उड़ा 'फुर्र'। राजाने कहा आगे कहिये, इसपर उसने कहा—दूसरा उड़ा 'फुर्र'। तब राजाने कहा और आगे कहिये, तब उस चतुरने कहा कि पहले पक्षियोंका उड़ना पूरा हो तब आगे बढ़ूँ।' यहाँ एक-एक पक्षीका उड़ना समाप्त ही नहीं हो सकता। इसी तरह कल्पनाओंका अन्त ही नहीं है। अतः एक शब्दमें यही कहा जाता है कि अतिशयताकी कल्पना करते-करते वाचस्पति तथा प्रजापतिकी भी मति जब विरत हो जाय और जिससे आगे कभी भी कोई कल्पना कर ही न सके तब उसी अनन्त, अखण्ड, स्वप्रकाश, परमानन्दघन भगवान्को वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं। उसीका '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' इत्यादि व्याससूत्रोंसे विचार किया गया है।

प्रकाशकी अपेक्षा आदित्यमें जिस अतिशयताकी कल्पना की जाती है उससे भी अनन्तकोटि-गुणित अतिशयताकी कल्पनाके पश्चात् जिस अन्तिम निरतिशय, सर्व-बृहत् पदार्थकी सिद्धि हो, उसमें भी देश, काल, वस्तुके परिच्छेदोंको मिटाकर परिच्छिन्न या एकदेशिता आदि दूषणोंका अत्यन्ताभाव-सम्पादन करे, तब उसे ब्रह्म शब्दका अर्थ जानना चाहिये। इसीको '**तत्त्व**' कहा जाता है। इसका ही लक्षण है—'**तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।**' इसीका नाम ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् है। लक्षणके भेदसे लक्ष्य-भेद हो सकता है, नाम-भेदसे नहीं। जैसे कम्बुग्रीवादिमत्त्व घटका एक लक्षण है अतएव घट, कुम्भ, कलशादि नामसे उसका भेद नहीं है। हाँ ब्रह्म अनेक हैं—कार्यब्रह्म, कारणब्रह्म, कार्यकारणातीत ब्रह्म ऐसी स्थितिमें यह हो सकता है कि कार्यकारणातीत वेदान्तवेद्य शुद्ध ब्रह्मरूप भगवान्के प्रकाश-स्थानमें कार्यब्रह्म य कारणब्रह्म हो। प्रायः यह भी कहा जाता है कि निर्गुणब्रह्म भगवान्का धाम है। यद्यपि धाम शब्द ऐसे स्थलोंमें स्वरूपभूत आत्मज्योतिका ही बोधक होता है—'**परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।**' 'हे नाथ! आप परमात्मा हैं, परम प्रकाश (परम ज्योति) और परम पवित्र हैं।' तथापि कुछ अविवेकियोंकी यही अटल धारणा है कि धामका अर्थ निवासस्थान ही होता है। अस्तु, वे लोग अव्यक्तरूप कारण-ब्रह्मको ही वेदान्तवेद्य ब्रह्म मान बैठते हैं। कार्यकारणातीत तत्त्वतक उनकी दृष्टि जाती ही नहीं। इस कारण यदि ब्रह्मको धाम भी मान लें तो भी सिद्धान्तमें कोई बाधा नहीं पड़ती। यह भेद वेदान्तियोंको इष्ट ही है कि स्थूल कार्य-ब्रह्मके ऊपर सूक्ष्म कार्यरूप ब्रह्म, उसके ऊपर कारणब्रह्म और इस अव्यक्त कारणब्रह्मके ऊपर कार्यकारणातीत शुद्ध ब्रह्म स्थित है। यह अन्तिम तत्त्व ही अद्वितीय अनन्त शुद्ध बोधरूप है। इसका ही विवर्त समस्त चराचर प्रपञ्च है। यदि सर्वाधिष्ठान होनेके कारण इसे सर्वनिवासस्थान भी कहें तो भी कोई हानि नहीं। इसी अंशका स्पष्टीकरण भागवतके इन पद्योंमें किया गया है—

ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा॥

एक अद्वितीय नित्य बोध ही भ्रान्तजनोंको अविद्या-प्रत्युपस्थापित बहिर्मुख इन्द्रियाँ तथा मन-बुद्धि आदिद्वारा शब्दादि-धर्मक प्रपञ्चरूपसे भासित होता है। श्रीमद्भागवतने भी श्रीकृष्णको परब्रह्म ही कहा है—

अहो भाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

अतः पूर्वोक्त अर्थ ही श्रेष्ठ है और वही अव्यभिचार भक्तियोग है।

जिसके चित्तसे राग-द्वेषका नाश हो गया है, वही ज्ञानी, गुणी, दानी और ध्यानी है।—गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी

कर्मयोग और ज्ञानयोग

(अनन्तश्रीविभूषित ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजका सदुपदेश)

[वर्तमान समयमें गीताके 'कर्मयोग तथा ज्ञानयोग' की बड़ी चर्चा रहती है। इन शब्दोंका अनधिकारियोंद्वारा प्रचुर मात्रामें दुरुपयोग एवं मिथ्या अर्थ भी किया गया है। श्रीजगद्गुरुजीने 'कर्म-ज्ञानके सम्बन्ध'में सार-रूपसे विवेचन करते हुए बतलाया है कि इनमें परस्पर साध्य-साधन-भाव- लक्ष्य-सम्बन्ध है। जब शास्त्रप्रेरित पुरुषद्वारा परमेश्वरार्पित निष्काम कर्मानुष्ठान-द्वारा ज्ञान-प्रतिबन्धक महापापके होते हुए भी श्रवणादिमें रुचि होती है तभी आत्मज्ञानेच्छा उत्पन्न होती है। इच्छा और रुचिका भेद वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि क्षीर-प्रिय पुरुषको दुग्धपानेच्छा होते हुए भी पित्तरोग-दूषित होनेसे मुखमें रुचि नहीं होती। इसी प्रकार ज्ञानद्वारा अज्ञान-निवृत्ति होते हुए भी ज्ञान-साधनमें रुचिजनक होनेसे परस्पर कर्म भी ज्ञान-साधन-भावको प्राप्त होता है। इस प्रकार अज्ञान-निवृत्ति ज्ञानसे, ज्ञानप्राप्ति शुद्ध-बुद्धिसे, बुद्धि-शुद्ध्यर्थ परमेश्वरार्पित नित्य-नैमित्तिक कर्मकी अपेक्षा होती है, अन्यकी नहीं। प्रस्तुत लेखमें यही विषय वर्णित है।]

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवत्प्रोक्त दो निष्ठाएँ हैं—एक कर्मनिष्ठा और दूसरी ज्ञाननिष्ठा। इनमें सांख्योंके लिये ज्ञानयोग और योगियोंके लिये कर्मयोग बतलाया गया है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

परंतु आगे चलकर श्रीभगवान् यह भी कहते हैं कि पण्डितलोग सांख्य और योग पृथक् नहीं मानते—

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

यहाँपर संशय होता है कि क्या दोनों निष्ठाएँ परस्परानपेक्ष स्वतन्त्ररूपसे परमपदकी प्राप्तिके हेतु हैं अथवा सम्बन्धित होकर। इस विषयको समझनेके लिये पहले बन्ध और मोक्षका स्वरूप जानना आवश्यक है। तत्त्वदर्शियोंके विचारका क्रम यह है कि आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तापत्रयसे संतप्त विश्वको निरीक्षण कर यह विचार होता है कि आत्माको यह दुःख स्वाभाविक है अथवा नैमित्तिक? यदि स्वाभाविक है तो **'स्वभावस्यानपायित्वात्'**—इस न्यायसे दुःखसे मोक्ष होना असम्भव है तब फिर उसके लिये साधनानुष्ठान ही व्यर्थ हो जायगा, जो कि सभी मोक्षवादियोंको अनिष्ट है और यदि दुःख नैमित्तिक है तो **'निमित्तापाये नैमित्तिकापायः'**—इस न्यायसे निमित्त दूर होनेसे तन्निमित्तक दुःख भी दूर हो सकता है। इस विचारसे निश्चय होता है कि आत्माको दुःख होना देहपरिग्रहपूर्वक है, अर्थात् दुःखका रूप देहमें 'अहं-मम-' भाव है। जैसा कि छान्दोग्य-श्रुतिमें कहा गया है—

न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः।

सुषुप्तिमें शरीराभिमान न रहनेसे दुःख नहीं रहता, जाग्रत्स्वप्नमें शरीराध्यास होते ही दुःखका अनुभव होता है। यदि कहा जाय कि मृत्युसे शरीरकी निवृत्ति होनेपर दुःख निवृत्त हो जायगा, तो इसका उत्तर यह है कि अध्यासकालमें अनुष्ठित पुण्य और पापरूप कर्मसे अदृष्टद्वारा पुनः शरीरपरिग्रह जो कि दुःखका निमित्त है, पुण्य-पापरूप क्रिया **'क्रियावेशात् कर्ता स्यात्'** कर्तृभावपूर्वक होनेसे जबतक मैं कर्ता हूँ यह भाव रहेगा, तबतक पुण्य-पापरूप क्रिया अनिवार्य होकर अदृष्टद्वारा शरीरपरिग्रहका निमित्त बनती ही रहेगी। कर्तृभावमें हेतु राग-द्वेष हैं, राग-द्वेषका हेतु शोभनाशोभनाध्यास सर्वलोक-साक्षिक है। शोभनाशोभनाध्यासमें हेतु प्रकृतिसे आविर्भूत द्वैत वस्तु है।

लोकमें यह बात प्रसिद्ध है कि सम्राट् स्वप्नमें निद्रादोषसे स्वरूपविस्मृतिद्वारा भिक्षुक होकर दीन तथा दुःखी होता है। अतएव तत्त्वविसिद्धान्त है कि—

'अविद्याऽस्तमयो मोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः।'

जब पूर्वोक्त विचारसे बन्ध अविद्याकृत सिद्ध हुआ, तब सुगमतासे ही यह समझा जा सकता है कि तमः-प्रकाशवत् अविद्याकी निवृत्ति तद्विरुद्ध ज्ञानसे ही हो सकती है—

ज्ञानादेव तु कैवल्यं प्राप्यते येन मुच्यते।

इस प्रकार ज्ञाननिष्ठा साक्षात् मोक्षप्रद है।

तब फिर यह प्रश्न होता है कि कर्मनिष्ठाका श्रेयोमार्गमें क्या उपयोग है? इसका उत्तर वेदान्तशास्त्रमें इस प्रकार है—ज्ञानकाण्डका कर्मकाण्डके साथ साध्य-साधनभाव-लक्षण-

सम्बन्ध है, अर्थात् ज्ञान साध्य है और कर्म साधन है। इसमें शास्त्रसम्मत दो पक्ष हैं—एक तो यह कि पुरुषके सांसारिक कर्म ज्ञानके साधन होते हैं—**यस्यैते चत्वारिंशत्संस्काराः स ब्राह्मणः सायुज्यं सलोकता····।**' चालीस संस्कारोंके संक्षेपसे नाम ये हैं—

(१) गर्भाधान, (२) पुंसवन, (३) सीमन्त, (४) जातकर्म, (५) नामकरण, (६) अन्नप्राशन, (७) मुण्डन, (८) उपनयन, (९-१२) चार वेदव्रत, (१३) स्नान, (१४) सहधर्मचारिणसंग, (१५-१९) पञ्च महायज्ञ, (२०-२६) सप्त पाकयज्ञ, (२७-३३) सप्त हविर्यज्ञ, (३४-४०) सप्त सोमयज्ञ। इन चालीस संस्कारोंसे संस्कृत पुरुष प्रमाण-योग्यताको प्राप्त हो जाता है। द्वितीय पक्ष यह है कि शास्त्रीय कर्मानुष्ठानसे अधिकारी पुरुषको विविदिषा—ज्ञानेच्छा उत्पन्न होती है—**'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।**'इन दोनों पक्षोंमें कुछ अवान्तर भेद इस प्रकार है, जैसे बुभुक्षा (भोजनेच्छा) अन्नादि-साधन-सम्पादित कराकर तृप्तिपर्यन्त सफल होती है, ठीक वैसे ही विविदिषा (आत्मज्ञानेच्छा) आत्मदर्शनके साधन गुरूपसत्ति, श्रवण-मननादि सम्पादित कराकर पर्यवसायिनी होती है। चित्तसंस्कृति ज्ञानमें प्रतिबन्धक पापका नाश कर समाप्त हो जाती है। बोधके साधन अग्रिम प्रयत्नद्वारा सम्पादित किये जाते हैं। वर्णाश्रमधर्म-प्रतिपादक शास्त्रसे प्रेरित अधिकारी शास्त्रकी आज्ञाके उल्लङ्घनमें नरक-पातादिका भय देख जिन शास्त्रीय कर्मोंका अनुष्ठान करता है वे कर्म संस्कारक कहे जाते हैं। **'तमेतं वेदानुवचनेन विविदिषन्ति'** इत्यादि शास्त्रसे प्रेरित पुरुष बोधकी इच्छासे ऐहिकामुष्मिक भोगेच्छा- त्यागपूर्वक जिन कर्मोंको अन्तर्यामीके पाद-पङ्कजमें समर्पण करता है, वे कर्म विविदिषाजनक होते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि ईश्वरार्पित कर्म वेदनेच्छाके जनक होते हैं। इसी अभिप्रायके ये भगवद्वाक्य हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

विविदिषा-पक्षमें यह संशय होता है कि इच्छा विषय-सौन्दर्य-ज्ञानजन्य होती है, यही शुद्ध बुद्धिवालेको **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'**, **'रसो वै सः'**—इस श्रुतिप्रमाणसे जब ब्रह्मका सौन्दर्य अवगत होता है, तभी वेदनेच्छा हो सकती है। इसमें शास्त्रीय कर्मको साधन मानना अयुक्त है। इसका समाधान इस प्रकार है—यद्यपि श्रुतिवाक्यद्वारा ब्रह्मवेदनकी सौन्दर्यावगति होते ही इच्छा तो उत्पन्न हो ही जाती है, तथापि ब्रह्मवेदनमें रुचि बिना निष्काम कर्मानुष्ठानके नहीं हो सकती। इच्छा और रुचिका भेद इस प्रकार है—जैसे क्षीरप्रिय पुरुषको दुग्धपानेच्छा होते हुए भी पित्तरोग-दूषित होनेसे मुखमें रुचि नहीं होती, क्योंकि इच्छासे प्रेरित दुग्धको मुखमें जाते ही पित्तजन्य अरुचिके कारण थूककर त्याग देता है। तब निपुण वैद्यके पित्तशामक औषधोपचारसे रुचि उत्पन्न हो जाती है। ठीक इसी प्रकार निःशेष दुःखाभावोपलक्षित निरतिशयानन्द-स्वरूप ब्रह्मावगतिकी इच्छा श्रुतिवाक्यद्वारा होनेपर भी महापापके प्रतिबन्धसे वेदन-साधन-श्रवणादिमें रुचिका अभाव रहता है। जैसा कि पुराण-वचन है—**'महापापवतां नृणां ज्ञानयज्ञो न रोचते। प्रत्युत ज्ञानयज्ञस्तु प्रद्वेष्यो भासते स्वतः॥**' तब दृष्टान्तोक्त-प्रकारवत् परमेश्वरार्पित कर्मद्वारा ज्ञानप्रतिबन्धक महापापके नाश होते ही श्रवणादिमें रुचि हो जाती है। इस प्रकार ज्ञानद्वारा अज्ञाननिवृत्ति होते हुए भी ज्ञानसाधनमें रुचिजनक होनेसे परम्परागत कर्म भी ज्ञान साधन-भावको प्राप्त होते हैं, इस तरह सर्वानर्थमूल अज्ञानकी निवृत्तिमें ज्ञानसे अन्य कुछ भी अपेक्षित नहीं है। ज्ञानोत्पत्तिमें विवेक, वैराग्य, शमादि षट् सम्पत्ति, मुमुक्षुता, श्रवण, मनन, ध्यानसे अन्य कुछ अपेक्षित नहीं है। विवेक, शमादिकी उत्पत्तिके लिये बुद्धिशुद्धि अत्यपेक्षित है। बुद्धिशुद्ध्यर्थ परमेश्वरार्पित नित्य-नैमित्तिकादि कर्मसे अन्य कुछ अपेक्षित नहीं है। इस प्रकार कर्म और ज्ञानका सम्बन्ध शास्त्रसम्मत है। अतएव भगवत्स्मरण भी यही है—

'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये', 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते', 'यज्ञो दानं०।'

योग और धर्माचरण

(अनन्तश्रीविभूषित पूर्वाम्नाय गोवर्धन-पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीनिरंजनदेवतीर्थजी महाराज)

वेदोंसे लेकर सभी पुराण, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, योगशास्त्र, इतिहास, काव्य, नाटक, कोष, नीतिग्रन्थ यहाँतक कि सूर, तुलसी आदि संतोंके काव्योंमें किंबहुना समस्त भारतीय वाङ्मयमें धर्मको ही विश्वका धारक, पालक एवं संचालक माना गया है और यह धर्म ही भारतीय साहित्य एवं भारतकी जनताका प्राण रहा है, जैसा कि भगवान् मनुने कहा है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात् 'इस भारत देशमें ही उत्पन्न हुए शुद्ध धर्मवक्ता अग्रजन्मा ब्राह्मणके द्वारा पृथ्वीके सम्पूर्ण मानव अपने-अपने धर्म, सदाचार एवं कर्तव्यताकी शिक्षा ग्रहण करें।'

योग भी धर्मका एक अङ्ग है—'**अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्**' (याज्ञ० स्मृति)। महाभारतके विषयमें कहा गया है कि यह धर्मशास्त्र, योगशास्त्र, मोक्षशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र आदि सब कुछ है। सर्वशास्त्रमयी श्रीमद्भगवद्गीतामें जिसके अन्तमें '**योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्**' कहकर योगशास्त्र कहनेकी प्रतिज्ञा की गयी है, वह महाभारतका ही सार भाग है। उसका पहला शब्द धर्म ही है, '**धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे०।**' और स्वयं भगवान् उसमें अपनेको धर्मरक्षक तथा साक्षात् धर्मके रूपमें स्थित होनेका परिचय देते हैं—'**धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।**' अर्जुन भी उन्हें शाश्वतधर्मगोप्ता कहकर धर्महीन, कुलच्छेदी व्यक्तियोंको अनियतकालतक नरकमें रहनेकी बात कहते हैं—

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥

(गीता १।४४)

और भगवान् अत्यल्प भी शुद्ध धर्मके आचरणको महान् भयसे त्राण करनेवाला बतलाते हैं—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

गीतावक्ताकी दृष्टिमें सबसे महान् धर्म है वर्णधर्म। इसलिये भगवान् कहते हैं—'**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।**' यही बात गीतामें शब्दान्तरसे अनेक बार आयी है। स्वयं भगवान् यही कहते हैं कि संसारके संचालनके लिये मैंने ही चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि कर्तव्यता या धर्मोंके विभाजनके साथ ही की है। अतः अपने वर्ण-धर्मको हीन या अशोभन या कुछ कष्टकर देखकर भी अपने वर्णको छोड़कर अपनेसे ऊँचे ब्राह्मणादिके धर्मको नहीं ग्रहण करना चाहिये—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥

(१८।४८)

शास्त्रोंके सभी वचन प्रायः पुरुषार्थपरक हैं और उनमें भी विशेषकर धर्म एवं मोक्षके पक्षधर हैं। इसलिये योगकी सार्थकता भी धर्मकी रक्षामें ही है। किंतु आज अनधिकारी, यज्ञोपवीतादिसे रहित व्यक्ति तथा विधर्मी—ईसाई, यहूदी, म्लेच्छादिको तथा रजस्वलादि स्त्रियोंको भी वेद पढ़ाते देखे जाते हैं। आजके महाविद्यालय आदि प्रायः धर्म, सदाचार और चरित्रादिका कोई भी ध्यान न रखकर अविद्या, अधर्म एवं अनाचार आदिके प्रचारक हो रहे हैं। विशेषतः सहशिक्षा अग्निमें आहुतिका कार्य कर रही है। इसीके परिणाम-स्वरूप बड़े-बड़े विद्यालयों आदिमें अनाचारका नग्न ताण्डव और भयंकर उत्पात हो रहा है। वेदादिशास्त्रोंका स्वाध्याय तो अत्यन्त शुद्ध एवं पवित्र भावसे होना चाहिये। ऐसा लगता है कि इन्हीं व्यापक दुश्चरित्रताओं और स्वार्थपूर्ण नीतियोंके कारण तथा धर्म और सदाचारके नियमोंका पालन न करनेके कारण आज विश्वके देशोंमें भयंकर एवं अद्भुत विनाशकारी युद्ध चल रहा है और भीषण विनाशके बादल छाये हुए हैं।

धर्मके बिना राजनीति विधवा, योग कुयोग और ज्ञान कुज्ञान ही कहा गया है। इसलिये ऐसे अध्ययन, अध्यापन, परिवेश, भौतिकता और कुयोगसे बचना ही श्रेयस्कर है। व्यास, वाल्मीकि, पाणिनि, कालिदास, तुलसीदास आदिने किन्हीं ऐसे विद्यालयमें शिक्षा नहीं पायी थी। भगवान्‌की उदारता और धर्म एवं सदाचारकी रक्षाका दरवाजा अब भी खुला है। उन्हींकी कृपासे सच्चा तत्त्वज्ञान और विशुद्ध बोधकी प्राप्ति होती है, वे जिसपर कृपा करते हैं उसके हृदयमें साक्षात् सरस्वती प्रकट हो जाती हैं—***सारद दारुनारि सम स्वामी।***

रामु सूत्रधर अंतरजामी ॥ जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी ॥ और उसीका ज्ञान शुद्ध एवं निर्मल होता है।

जिस ज्ञानमें लेशमात्र भी स्वार्थ एवं छल प्रविष्ट है, उसका अपना कल्याण भी सम्भव नहीं है, दूसरेका श्रेय क्या होगा ? प्रायः अनधिकृत व्यक्ति अच्छे पदपर आसीन होता है तो वह ईश्वरकी बात, शास्त्रकी बात नहीं मानता और मनमाना शास्त्रके वचनोंमें हेर-फेर करता है। यह परम्परा बहुत पहलेसे चली आ रही है, वाल्मीकीय रामायणमें भगवान् रामने जाबालिको ऐसा ही व्यक्ति कहा है और महर्षि मनुने भी कहा है कि सभी शब्दोंके अर्थ प्रायः सीमित और नियमित ही होते हैं तथा प्रसंगके अनुसार प्रायः उनका एक ही अर्थ होता है, किंतु धर्मका अतिक्रमण करनेवाले उसे चुराकर दूसरा नवीन मनोऽनुकूल अर्थ बतलाते हैं, वास्तवमें वे सबसे बड़े चोर हैं, वे लोगोंको भ्रान्तिमें डालना चाहते हैं—

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः॥

(मनु० ४। २५६)

ऐसे लोगोंकी भी कुछ दिन चल जाती है, उन्नति भी हो जाती है, किंतु अन्तमें दुष्परिणाम ही होता है, जैसा कि मनुने कहा है—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥

(मनु० ४। १७४)

क्योंकि अधर्म तत्क्षण अपना रूप या परिणाम नहीं दिखाता, कुछ दिन वह अपनेको आवृत कर देता है। जब पापका घड़ा भर जाता है, तब नाश कर डालता है—

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति॥

(मनु० ४। १७२)

इसलिये सामान्य स्वार्थके लिये विश्वरक्षक तथा व्यापक धर्मका नाश नहीं करना चाहिये। अतः योगीको धर्मको मुख्य मानकर योगानुष्ठान करना चाहिये। प्रायः जो योगके यम-नियमादि साधन हैं वे ही मनु, याज्ञवल्क्यादि धर्मशास्त्रकारोंकी दृष्टिमें दश-लक्षणात्मक धर्म हैं। यह धर्म पालन करनेपर उसकी रक्षा करता है तथा वञ्चना एवं विनाश करनेपर विनाश करता है—**'धर्मो रक्षति रक्षितः।'**

अतः योगीको धर्मको नष्टकर योगका अनुष्ठान नहीं करना चाहिये। अपितु भगवान्‌के परम प्रिय धर्मका योगादिके आश्रयसे संवर्धन और संरक्षण करना चाहिये, क्योंकि भगवान् साक्षात् धर्मके लिये ही अवतीर्ण होते हैं—

'धर्मार्थं जन्म यद्धरेः।'

सिद्ध पुरुषकी स्थिति

ना काहू से दुष्टता ना काहू से रोच॥
ना काहू से रोच दोऊ को इक-रस जाना।
बैर भाव सब तजा रूप अपना पहिचाना॥
जो कंचन सो काँच दोऊ की आसा त्यागी।
हारि जीत कछु नाहिं प्रीति इक हरि से लागी॥
दुख सुख संपति बिपति भाव ना यहु से दूजा।
जो बाम्हन सो सुपच दृष्टि सम सब की पूजा॥
ना जियने की खुसी है पलटू मुए न सोच।
ना काहू से दुष्टता ना काहू से रोच॥

—श्रीपलटू

पूज्य श्रीदेवराहा बाबाके कल्याणकारी उपदेश

परमात्मा विशुद्ध सत्त्वरूप है और वह दोष-पापोंसे सर्वथा मुक्त है—'**शुद्धमपापविद्धम्।**' उससे पूर्व-स्थितिको अव्यक्त कहा है—'**तदव्यक्तमाह हि**'। चेतनस्वरूपमें वह ज्योतियोंका ज्योति है—'**तच्छुभ्रज्योतिषां ज्योतिः।**' आनन्द भी उसीका स्वरूप है जो इष्ट पदार्थके प्राप्त होनेपर उद्भूत होता है।

श्वेताश्वतर-उपनिषद्में आता है—'**नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।**' अर्थात् नित्य-सत्-स्वरूप, यावत्प्राणियोंका चैतन्य और उनका कामप्रद आनन्दमय परमतत्त्व है।

चित्-स्वरूपमें वह सब प्राणियोंके हृदयमें अवस्थित है—'**ईश्वरः सर्वभूतानां हृदयेष्ववतिष्ठति।**' वह चित् ही मनोमय है, अमृतमय है और हिरण्मय है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें भी वह चेतन-रूपसे अवस्थित रहता है तथा उससे भी परे है। श्रुति कहती है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्॥

वह परमात्मा विभिन्न वृत्तियोंसे अलग-अलग भासता है। योगवार्तिकमें लिखा है—

प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव च।
प्रमार्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम्॥
प्रतिबिम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते।

अर्थात् शुद्ध चेतनको प्रमाता, वृत्तिको प्रमाण और चेतनमें अर्थाकार-वृत्तियोंका प्रतिबिम्ब प्रमा कहा जाता है। इन प्रतिबिम्बित वृत्तियोंके विषयको मेय अर्थात् प्रमेय कहते हैं।

भक्ति और वेदान्त-सम्प्रदायमें चित्का स्वरूप

भक्ति-समुदायोंमें जो चित्-शक्तिका प्रतिपादन वेदान्त-सम्प्रदायके प्रतिपादनसे आपाततः भिन्न प्रतीत होता है, विचार करनेपर भिन्नताका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। वस्तुतः सभी सम्प्रदायोंके अनुसार साधकको अविच्छिन्न तैलधाराके समान अपनी सम्पूर्ण मनोवृत्तियोंको परमतत्त्वमें लगाना होता है। भक्तिकी दृष्टिसे भगवान्की तीन शक्तियाँ हैं—स्वरूप-शक्ति, मायाशक्ति और जीवशक्ति। स्वरूप-शक्ति ही चित्-शक्ति या अन्तरङ्गा-शक्ति कहलाती है, जिसके आश्रयसे परमतत्त्व लीला-विलास करता है। यह शक्ति देह, इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि आदिसे विलक्षण है। वह नित्य अचिन्त्य, अव्यक्त और निर्विकार तथा इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डकी आश्रयभूता है। पुंस्त्व-दृष्टिसे उसे चित् और स्त्रीत्व-दृष्टिसे चिति कहते हैं। यह सम्पूर्ण लीला इसी शक्तिका विलास है। इसीको संधिनी, संवित् और ह्लादिनी आदि नामोंसे अभिहित किया जाता है। आनन्द ह्लादिनी-शक्तिका ही विलास है, जो देहाध्यासके कारण जीव-संज्ञा धारण कर लेती है। योगवासिष्ठमें चित्का अधिष्ठान आकाश कहा गया है और उपाधिसे उसके तीन नाम हैं—चित्ताकाश, चिदाकाश और महाकाश। चित्ताकाशमें योगीकी स्थिति रहती है, चिदाकाशमें ज्ञानीकी और महाकाशमें सारे प्रपञ्चकी। परंतु इन सबके मूलमें एक ही तत्त्व है। वैशेषिककारने तो आत्माको आकाशवत् ही बताया है, '**विभुवान् महानाकाशस्तथा चात्मा।**' गीतामें भी कहा गया है—

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते॥

(१३।३२)

आकाश अनन्त, ज्योतिःस्वरूप और व्यापक है—'**आ समन्तात् काशते इत्याकाशः।**' प्रपञ्चमें व्याप्त आकाशको भूताकाश भी कहते हैं, जब उससे भूतावरण हट जाता है तो वही चित्ताकाश कहलाता है और जब चित्ताकाशसे पूर्णतया आवरण हट जाता है तो वही चिदाकाश हो जाता है। उपासना अथवा योग-साधनासे भूताकाशका अतिक्रमण कर चित्ताकाशमें स्थित हुआ योगी अनेक विभूतियोंका साक्षात्कार करता है और भक्त भगवत्-लीलाओंका। परंतु इस स्थितिमें भी संस्कार बने रहते हैं, जो गुणोंका संघात है। भूताकाशका विशुद्ध भेद-भाव तो समाप्त हो जाता है, परंतु संस्कारवश भेदाभेद-भावकी स्थिति बनी रहती है। गुणोंका आवरण हट जानेसे ज्ञाननिष्ठा या ब्रह्मनिष्ठा होती है—वही चिदाकाश है। जहाँ एकान्ततः अभेद-भाव है। चित्-प्राप्तिके लिये भूताकाशका आवरण-भङ्ग करना होगा। उसके लिये अनेक उपाय बताये गये हैं, जिनमें प्रमुख दो हैं—भक्ति और योग।

भक्तिमें भावकी प्रवणता अपेक्षित है और योगमें इन्द्रियनिग्रह-द्वारा चित्तशुद्धि। भूताकाशमें इन्द्रियोंका ही साम्राज्य है, उसे पार करके दिव्यचक्षुकी प्राप्ति चित्ताकाशमें होती है जो योगीका दर्शन है। उससे आगे शब्दब्रह्मकी प्रतिष्ठा है,जहाँ चिन्मय दर्शन होता है और जिसके लिये दिव्य विज्ञानचक्षु अपेक्षित है। वहाँ कोई आवरण नहीं है।

भक्ति-सम्प्रदाय और अभेद-दर्शन

भक्ति सम्प्रदायकी साधनाद्वारा अव्यय-तत्त्वकी अनुभूतिके सम्बन्धमें विशिष्टाद्वैत-दर्शनकी मान्यताके अनुसार ईश्वरको चित् और अचित्-विशिष्ट माना गया है। स्वरूपसे चित् अनादि, निरञ्जन और असम्पृक्त है, परंतु कर्म-संस्कारोंके आवरणके कारण वह अपने स्वरूपको भूला हुआ है। वह आवरण अविद्या तथा मायाका है। भगवद्भक्तिसे वह आवरण [illegible] जाता है, क्योंकि चित्त सब ओरसे हटकर भगवान्‌में लग ता है। यह भी चित्तवृत्तियोंका निरोध ही है। इससे द्रष्टा और यका अभिमान समाप्त हो जाता है और भगवदाकार-वृत्ति जाती है। परंतु भक्तिका मार्ग इतना सरल नहीं है, जितना मान्यतः समझा जाता है। श्रद्धा एवं विश्वासके साथ इसमें ं समर्पण करना होता है। देखा जाय तो ज्ञानीको भी केका अवलम्बन लेना पड़ता है। शरणागतिके कारण केका मार्ग सरल हो जाता है; क्योंकि वहाँ इष्ट अथवा का आधार बना रहता है और सारा विश्व ही तद्रूप दिखायी ा है। इसलिये भक्ति भी ज्ञानका साधन ही है, परंतु भक्तके ये भक्ति साध्य ही है—साधन नहीं, क्योंकि उसका लक्ष्य मानन्दोपलब्धि है—आत्मानन्द या चिदानन्द नहीं। इस ार योगनिष्ठा एक स्वतन्त्र साधना है।

चित्-तत्त्वके दर्शनमें ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्गके समान योग-मार्गकी भी स्वतन्त्र महत्ता एवं उपयोगिता है। ामार्गके बहिरङ्गोंका भक्ति और ज्ञान दोनों मार्गोंमें वलम्बन करना आवश्यक है, इसलिये योग जहाँ अपने न्तरङ्ग-स्वरूपसे चित्-तत्त्वके दर्शनका स्वतन्त्र साधन है, वहीं अपने बहिरङ्गद्वारा ज्ञान और भक्तिमार्गका एक प्रकारसे पूरक भी है। यही कारण है कि सभी शास्त्रोंमें बराबर योगकी चर्चा मिलती है। हिरण्यगर्भ योगके प्रवर्तक माने जाते हैं—

इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत्।

(श्रीमद्भा० ५।१९।१३)

हिरण्यगर्भ ही समस्त ब्रह्माण्डको धारण करनेवाले हैं।

श्वेताश्वतर-उपनिषद्के दूसरे अध्यायमें, कठोपनिषद्के द्वितीय अध्यायके तृतीय वल्लीमें तथा गीताके षष्ठ अध्यायमें योगकी महिमाका विशेष वर्णन हुआ है।

मैत्रायणीय उपनिषद्में स्पष्ट कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

चञ्चलता मनका स्वभाव है, इसलिये उसकी वृत्तियोंका निरोध करनेके लिये योगी प्रत्याहारद्वारा मनको हृदयमें स्थित करता है, जिससे प्राणोंमें भी स्थैर्य आ जाता है। फिर एक मुख्य नाडीसे उसे ब्रह्मरन्ध्रमें ले जाकर चिदाकाशतक पहुँचाता है। उपनिषदोंमें इस प्रक्रियाका स्पष्ट उल्लेख है—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-
स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या
उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति॥

(छान्दोग्य० ८।६।६)

योगशिखोपनिषद्के छठे अध्यायमें मनके रहस्योंपर बड़े विस्तारसे विचार किया गया है—

चित्ते चलति संसारो निश्चलं मोक्ष उच्यते।
तस्माच्चित्तं स्थिरीकुर्यात् प्रज्ञया परया विधे॥
मनोहं गगनाकारं मनोहं सर्वतोमुखम्।
मनोहं सर्वमात्मा च न मनः केवलः परः॥
मनसा मन आलोक्य वृत्तिशून्यं यदा भवेत्।
ततः परं परब्रह्म दृश्यते च सुदुर्लभम्॥

गीताकारने मनको वशमें करनेके लिये अभ्यास और वैराग्यके आश्रय लेनेका उपदेश दिया है। योग मनको वशमें करनेका उत्तम साधन है। इसलिये संतोंने योगको भक्तिका अभिन्न अङ्ग माना है। मनका निरोध किये विना ज्ञान-गुहामें प्रवेश एवं भगवदाकार-वृत्ति असम्भव है। आत्मतत्त्व यद्यपि मनसे अतीत है, परंतु मनका चरम साध्य आत्मतत्त्वमें विलय ही है। इसलिये भौतिक सुखोपलब्धिसे कभी भी मनको सच्ची तृप्ति नहीं हो सकती। स्थायी आनन्दकी प्राप्तिके लिये उसे अन्तर्मुख होना चाहिये, क्योंकि हृदय-गुहा आनन्दका स्थान

है। विवेकख्याति चित्तनिरोधका फल है।

योगविद्या पराविद्या है

योगविद्या मुण्डकोपनिषद्में वर्णित दो प्रमुखतम विद्याओंमेंसे पराविद्याके रूपमें मान्य है। इसकी प्राप्ति भगवत्कृपा, संतकृपा, शास्त्रालोडन तथा गुरुकी कृपासे ही सम्भव है।

योगविद्या और गुरुतत्त्व—योगविद्याकी महनीयता तथा उपादेयता और इससे प्राप्तव्य लक्ष्यकी प्राप्ति तभी सम्भव है जब अधिकारी गुरुद्वारा इसे आत्मसात् किया जाय। इसीलिये गुरु-तत्त्वका निरूपण सभी शास्त्रोंमें हुआ है।

यह गुरु-तत्त्व बड़ा ही विचित्र और रहस्यमय है। इस तत्त्वकी कृपासे लोक और परलोक दोनों ही प्राप्त हो सकते हैं। योगकी सहजावस्था भी गुरुकृपा-साध्य है—

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना॥

शास्त्रोंमें गुरुतत्त्वको ईश्वरतत्त्वसे भी बढ़कर बताया गया है। परंतु शिष्यके साधन और अधिकारके अनुसार ही गुरु-कृपाकी उपलब्धि होती है। गुरुतत्त्व और भगवत्तत्त्व एक ही तत्त्वके दो रूप हैं। भगवत्तत्त्वको अविद्या-मायाके अधिष्ठातृरूपमें तथा गुरुतत्त्वको विद्या-मायाके अधिष्ठातृ-रूपमें देखनेकी परम्परा है। भगवत्तत्त्व जगन्नियन्ता है—कर्मोंके अनुसार ही जीवको भोग प्रदान करता है, परंतु गुरुतत्त्व असीम दया और करुणाका सागर है। उसकी कृपा अहैतुकी है। इसीलिये उसकी शक्ति भी अचिन्त्य है। वह कर्तु-मकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ है।

भगवान्ने श्रीमद्भागवतमें स्वयं कहा है कि—

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥

सद्गुरु पुण्यसे ही प्राप्त होते हैं—योग-ज्ञानकी प्राप्तिमें सद्गुरुका अन्वेषण और उनकी शरणागति आवश्यक है, किंतु उनकी प्राप्ति प्रयत्नसाध्य नहीं है। जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंसे ही गुरुकी प्राप्ति होती है। पहले तो सद्गुरुकी प्राप्ति ही कठिन है, फिर यदि प्राप्ति हो भी जाय तो गुरुमें पूर्ण श्रद्धाभाव होना कठिन है और यदि श्रद्धा-भाव भी उत्पन्न हो जाय तो गुरु-कृपा होनी कठिन है। विद्या-गुरु और दीक्षा-गुरु तो बहुत मिल सकते हैं, परंतु सद्गुरु पुण्यकर्मोंसे ही मिल पाते हैं। सद्गुरुका लक्षण विवेकचूडामणिमें इस प्रकार वर्णित है—

श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः।
ब्रह्मण्युपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः॥
अहैतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम्।

अर्थात् 'गुरु श्रोत्रिय, निष्पाप, कामनारहित, ब्रह्मवेत्ता और ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये। जो ईंधनरहित अग्निके समान शान्त हो, अकारण दयासिन्धु हो तथा शरणागतबन्धु हो।'

गुरु-तत्त्वकी सम्पूर्ण शक्ति गुरु-मन्त्रमें निहित है। गुरु-प्रदत्त बीज मन्त्र शिष्यके हृदयमें अनन्त प्रकाश प्रज्वलित कर देता है, यूँ तो सभी मन्त्र प्रणवके स्वरूप हैं, परंतु गुरु-प्रदत्त मन्त्र एक अलौकिक शक्तिसे परिपूर्ण होता है, जिससे विशुद्ध प्रणवरूपा ध्वनि निर्गत होती है, जो अधिकारीको चैतन्य-स्वरूपमें प्रतिष्ठित कर देती है। गुरु-मन्त्रके शब्दोंका स्वरूप शुद्ध और सात्त्विक होता है। उसके उच्चारण-मननमात्रसे ही शरीरस्थ मलिन शब्दविकार स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं। चिन्मय मन्त्र चित्-शक्तिका ही केन्द्र होता है, जिससे विशुद्ध चैतन्य-प्रवाह प्रवाहित होता है। मानव-मनको अन्तर्मुखी कर उसे चिद्रूप शुद्ध शब्दकी उपलब्धि करना ही गुरु-मन्त्रका उद्देश्य है। जिस प्रकार काष्ठमें निहित अग्निका साक्षात्कार संघर्षसे होता है—उसी प्रकार मन्त्रद्वारा हृदयसे ब्रह्माग्निका साक्षात्कार होता है।

सद्गुरु शिष्यको जिस मन्त्रकी दीक्षा देता है, उस मन्त्रका जप योगविद्याकी उपलब्धि तथा परम लक्ष्यकी प्राप्तिमें अत्यन्त सहायक होता है। प्रारम्भमें मन्त्र-जपमें चित्तकी वह एकाग्रता नहीं होती जो वास्तवमें उसके लिये अपेक्षित है, किंतु उससे जपकर्ताको हताश या उद्विग्न नहीं होना चाहिये, क्योंकि एकाग्रता अभ्यासजन्य है। धीरे-धीरे ही एकाग्रता होती है। विचारके साथ अभ्यास करते-करते एकाग्रता होने लगती है।

चित् और चित्तका अन्योन्य-सम्बन्ध—महर्षि पतञ्जलिने चित्तवृत्तिके निरोधको योग कहकर उसे ही चित्के अपने विशुद्ध स्वरूपमें अवस्थितरूपसे होनेको कैवल्यका साधन कहा है। चित् और चित्त ये दोनों शब्दोंके एक ही मूल धातुसे निष्पन्न होनेके कारण यह जिज्ञासा स्वभावतः होती है कि चित् और चित्त ये दोनों शब्द एक अर्थके बोधक हैं या

भिन्न अर्थोंके ? सब कुछ चित्‌का ही व्यापार है अतः चित्तको चित्‌से सर्वात्मना भिन्नरूपमें नहीं देखा जा सकता। उपनिषदादिमें इस विषयको इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

(श्वेता० ४। ६-७)

विद्यासे युक्त ईश्वर और अविद्या—मायासे युक्त जीव दो साथ रहनेवाले मित्र पक्षी हैं। दोनों ही त्रिगुणात्मक माया अथवा प्रकृति-रूप वृक्षका आलिङ्गन किये हुए हैं। उनमेंसे एक तो अर्थात् जीव-रूपी पक्षी उस वृक्षके फलों (योगरूपी) का उपयोग करता है और दूसरा केवल साक्षीरूपमें रहता है। गुरुकृपासे योगयुक्त होकर जीवरूपी पक्षी अपनी भूलको समझ लेता है और अपने साथी ईश्वरकी महिमासे प्रेरणा ग्रहण करके अपने शोकका निवारण करता है। यही चित्‌के स्वरूपका रहस्य है।

(दिव्य-दर्शनसे)

योगसाधनाकी उपादेयता

(अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नायस्थ शृङ्गेरी शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज)

भारतके छः आस्तिक दर्शनोंमेंसे योगदर्शन भी एक है। दर्शनके प्रवर्तक महर्षि पतञ्जलि हैं। उनका यह योगदर्शन धि, साधन, विभूति तथा कैवल्य नामके चार पादोंमें क्त है। वैसे तो उपनिषदोंमें भी योगके अनेक प्रसंग हैं। —**'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।'** ति योग वही है जहाँ इन्द्रियाँ स्थिर-रूपसे साधकके वशमें ाती हैं, किंतु इस विषयको एक स्वतन्त्र दर्शनके रूपमें बद्ध करनेका श्रेय महर्षि पतञ्जलिको ही प्राप्त है। इसमें ीको भी कोई संदेह नहीं है। 'योग' शब्द मुख्य-रूपसे वृत्तियोंको निरुद्ध करनेके अर्थमें प्रसिद्ध है, जैसा कि ई पतञ्जलिके सूत्र **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** में कहा गया द्यपि वायुके समान चित्तका सर्वथा निरोध करना न्त दुष्कर है, तथापि बार-बार अभ्यास करने एवं यके आश्रय लेनेसे वह भी सम्भव हो जाता है। जैसा **'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'** इत्यादि सूत्रोंमें कहा है। यही अभिप्राय गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे **यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'** इत्यादि वचनोंमें ाव्यक्त किया है।

अभ्यास वह वस्तु है जो चित्तको विषयोंसे बार-बार हटाकर शान्त और स्थिर करता है। इसके अनुष्ठानद्वारा चित्त स्थिर हो जाता है। और वैराग्य वह वस्तु है जिसके द्वारा साधक इहलौकिक स्रक्, चन्दन, वनिता आदि भोगोंमें तथा पारलौकिक स्वर्गीय दिव्य भोगोंके द्वारा तनिक भी आकृष्ट न होकर उन्हें वमन या उपान्तके समान घृणित भावनासे देखता है[१]।

इसे ही आदिशंकराचार्यने इस प्रकार कहा है—वैराग्य वह वस्तु है, जिसके द्वारा विषयोंकी बातें देखने या सुननेपर उनमें उपान्तके समान घृणा हो जाती है, यह घृणा अपने शरीरसे लेकर स्वर्ग तथा ब्रह्मलोकतकके भोग्य पदार्थोंमें समानरूपसे रहती है—

तद्वैराग्यं जुगुप्सा या दर्शनश्रवणादिभिः।
देहादिब्रह्मपर्यन्ते ह्यनित्ये भोगवस्तुनि॥

जबतक मन थोड़ा भी विषयोंकी ओर प्रवृत्त होता है, तबतक ठीक-ठीक ईश्वरका तथा संत-महात्माओंका ध्यान नहीं होता, उनकी ओर योग-साधनाकी प्रवृत्ति नहीं होती और इससे समाधि प्राप्त करनेमें सफलता नहीं होती। इसलिये विषयोंकी ओरसे पूर्ण विरक्ति अत्यन्त एवं सर्वाधिक आवश्यक है। ऐसे तो योगसाधन अनेक हैं जो फलप्राप्तिमें विलम्बको सहन नहीं कर सकते। इसलिये वे लोग साधनोंका परित्याग भी कर देते

---

[१] कवि गोस्वामी तुलसीदासजीने भी ठीक यही बात लिखी है—

रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥

र्थात् भाग्यशाली रामभक्त वैराग्यके द्वारा सम्पूर्ण लक्ष्मीके विलासका उपान्त या वमन किये पदार्थकी तरह दूरसे ही परित्याग कर देते हैं।

हैं। यह उचित नहीं है। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—

'स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।'

अर्थात् 'योगसाधकको बिना व्याकुल हुए अनिर्विण्ण-भावसे श्रद्धापूर्वक योगका अभ्यास करते रहना चाहिये, उकताकर छोड़ नहीं देना चाहिये।'

इससे यह सूचित होता है कि योगाभ्यासशील व्यक्तिके लिये एक तरफ तो बिना विरक्त हुए श्रद्धापूर्वक सतत रूपसे योगका अभ्यास या अनुष्ठान आवश्यक है और दूसरी ओर विषयोंसे वैराग्य भी। इसके लिये योग-साधनामें अटल विश्वास अर्थात् 'फल प्राप्त होगा'—ऐसा मनमें सदा निश्चय रहना चाहिये[1]। 'अबतक तो मुझे कोई फल नहीं मिला तो क्या मैं इसे छोड़ दूँ'—इस प्रकारकी भावनाका त्यागकर उत्तरोत्तर श्रद्धा-वृद्धिपूर्वक उसमें लगे रहना साधनामें अनिर्वेद कहा जाता है। ऐसा करनेपर साधकको योगानुष्ठानके द्वारा अवश्य सिद्धि प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त महर्षि पतञ्जलिने अपने योगदर्शनमें साधकके लिये दूसरी बात यह आवश्यक बतायी है कि मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा—इन चार भावनाओंमेंसे क्रमशः अपने सहयोगी साधकोंसे मैत्री, विषयी एवं दुःख-प्राप्त जीवोंपर करुणा, विशेष समृद्धिशाली या योग-प्राप्त व्यक्तियोंमें मुदिता-भाव तथा अपनेसे द्वेष रखनेवालोंमें उपेक्षाकी भावना रखनी चाहिये न कि वैरकी भावना[2]। ऐसी भावनाओंसे योगीका हृदय सर्वथा निर्मल और शान्त हो जाता है। इस प्रकारकी साधना करते हुए साधकको कोई विशेष सिद्धिकी प्राप्ति कर लेनेपर अपनी योग-साधनाका परित्याग नहीं कर देना चाहिये। अर्थात् उसे भोगी नहीं बनना चाहिये। इसीलिये महर्षि पतञ्जलिने यह सूत्र लिखा है—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्।

(योग० ३। ५१)

अर्थात् कोई विशेष सिद्धि मिल जानेपर साधकको आसक्तिमें नहीं पड़ना चाहिये और मनमें किसी प्रकारका अभिमान नहीं आने देना चाहिये। देवता, देवी, अप्सरा, विद्याधर अर्थात् किसी भी देव-सुखोंमें आसक्त नहीं होना चाहिये। ये लोग योगीको स्वर्ग आदि लोकोंमें ले जानेके लिये निमन्त्रित करते हैं। इसलिये वहाँ इसे बहुत महत्त्व देखकर अपने मनमें आश्चर्य, विस्मय या अहंकार उत्पन्न नहीं होने देना चाहिये और न उनमें आसक्त होना चाहिये। ऐसा होनेपर साधक पुनः संसृति-चक्रमें पड़कर नरक-पथगामी बन सकता है। यही पूर्वोक्त सूक्तका अभिप्राय है। तभी साधकको समाधि-प्राप्तिपर्यन्त अनुष्ठानमें प्रवर्तित होकर पूर्ण सिद्धि अर्थात् कैवल्यतककी प्राप्ति हो जाती है। यही योगीका परम लक्ष्य है। इसलिये योगदर्शन सभी दर्शनोंमें श्रेष्ठ है।

यद्यपि वेदान्तदर्शनमें भगवान् वेदव्यासने **'एतेन योगः प्रत्युक्तः'** इस सूत्रके द्वारा योगशास्त्रके मूल सिद्धान्तका खण्डन किया है—ऐसा आपाततः प्रतीत होता है, किंतु उनका वहाँ तात्पर्य केवल विश्व-सृष्टिमें अचेतन प्रकृतिका मूल कारण माना जाना और अनेक पुरुषोंका होना—इतने मात्रका ही खण्डन किया गया है; जो सांख्यका भी मूल सिद्धान्त है। क्योंकि इससे श्रुतिका प्रत्यक्ष विरोध है। भगवान् व्यासका तात्पर्य यम-नियमोंके द्वारा प्राप्त होनेवाली समाधि या विभूतियोंकी प्राप्तिका खण्डन इष्ट नहीं है। यह बात भगवान् शंकराचार्यजीके ब्रह्मसूत्रके भाष्यके अवलोकनसे सर्वथा सुस्पष्ट हो जाती है। यह बात इसलिये भी सिद्ध हो जाती है कि भगवान् व्यासने योगदर्शनपर व्यासभाष्य नामक एक स्वयंका भाष्य लिखा है। साथ ही उन्होंने लिङ्ग-पुराण, शिवपुराण आदिमें सम्पूर्ण योगदर्शनका पद्यबद्ध अनुवाद-सा किया है। इस प्रकार सर्वथा उपादेय इस योगदर्शन-शास्त्रके अवलोकन तथा उसके अभ्यास एवं अनुष्ठानके द्वारा सभी आस्तिकजन कृतार्थ हों, यही हमारी शुभकामना है।

१-गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने इस बातको *'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। बिनु हरि भजन न भव भय नासा'* के द्वारा कहा है। अर्थात् बिना अटल विश्वासके इन्द्रियजयरूपी योगसाधनामें सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

२-भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें इस बातपर बल देते हुए कहा है—

'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।' तथा—

'निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥'

ऋजु-योगकी साधन-प्रक्रिया

(ब्रह्मलीन श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

भक्त्या पुमाञ्जातविराग ऐन्द्रियाद्
दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया ।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २५ । २६)

'भगवत्कथा-श्रवणसे मनुष्यको भक्ति उत्पन्न होती है, भक्ति हो जानेपर देखे हुए और स्वर्गादि सुने हुए जितने इन्द्रियजन्य सुख हैं, उनमें वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। ऐसा योगयुक्त पुरुष आत्मसाधनके उद्योगमें तत्पर होकर ऋजु-योग-मार्गोंसे प्रभु-प्राप्तिके लिये यत्न करता रहता है।'

संसारमें आसक्त हुआ मन जिसके द्वारा परमात्मामें जोड़ा जाय, उसीका नाम योग है। अतः प्रभु-प्राप्तिके जितने साधन हैं सभी योग हैं। राजयोग, हठयोग, सुरतिशब्दयोग, कर्मयोग, क्रियायोग, सांख्ययोग आदि अनेकों योग हैं। जो जिस योगका अधिकारी होता है, उसके लिये वही योग उपयुक्त भी होता है। एक भक्तियोग ही ऐसा है जिसमें सबके लिये अवसर है। भक्तियोग या भक्तिमार्गमें किसीके लिये निषेध नहीं, वह राज-पथ है। अंधा भी आँखें बंद करके सहज ही चला जा सकता है, किंतु उसके लिये भी एक योग्यताकी आवश्यकता है—

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना।
विनानन्दाश्रुकलया ..... ॥

जिसका हृदय स्वाभाविक ही कोमल न हो, जिसे भगवद्गुण-श्रवण-स्मरणसे रोमाञ्च न होता हो, जिसकी आँखें आनन्दाश्रु न बहाती हों, वह भक्तिका यथार्थ अधिकारी नहीं। इसीलिये भक्तिके दो भेद हैं—स्वाभाविकी और वैधी। जैसे प्यासा बिना पानीके रह ही न सके, जैसे अग्नि लगी देखकर स्वाभाविक ही मनुष्य उससे दूर भागता है, ऐसे ही विषयोंसे स्वाभाविक विराग होकर प्रभु-प्राप्तिकी स्वाभाविक इच्छा होना स्वाभाविकी भक्ति है। और शास्त्रोंमें भक्तिका माहात्म्य सुनकर भक्ति करना यह वैधी भक्ति है। किंतु हमारी इन झूठी आँखोंमें न तो कभी आनन्दाश्रु ही आते हैं, न यह वज्र-जैसा हृदय ही पसीजता है, फिर हम-ऐसे मूढ़मति पुरुषोंके लिये भी कोई मार्ग है क्या ? शास्त्रकारोंने हम-जैसे अल्पज्ञ पुरुषोंके लिये भी उपाय बताये हैं। भक्तिमार्ग बड़ा विशद है। उसके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, वन्दन, पादसेवन, सख्य, दास्य, अर्चन और आत्मनिवेदन—ये नौ अङ्ग हैं। दास्य, सख्य, वात्सल्य, शान्त और मधुर—ये पाँच भाव हैं। और भी अनेकों अनुभाव-विभावोंसे भक्तिमार्ग सुविस्तृत है। इसी भक्तिसागरको मथकर इसका अल्पीभाव बनाकर हम सर्वसाधारण लोगोंके लिये मनीषियोंने ऋजु-योग-जैसे मार्ग बताये हैं। ऋजु-योग भक्तियोगके ही अन्तर्गत है। इसमें मृदुता और सरलता ही एक आवश्यक वस्तु है। हमारे जीवनमें पग-पगपर बनावट है। यह बनावट किसी तरहसे मिट जाय तो वह प्यारे प्रभु अपने-आप ही हमें हृदयसे चिपटा लें। छोटा निष्कपट सरल शिशु कभी किसीसे यह नहीं कहता कि तुम मुझसे प्यार करो। किंतु उसकी सरलता, मृदुता और निष्कपट चेष्टाको देखकर चित्त बिना प्यार किये रह ही नहीं सकता। यदि इसी तरह हमारे जीवनमेंसे यह कपट-छल निकल जायँ तो भगवान् प्रेम करनेको विवश हो जायँगे। कपट-छल उन्हें अच्छा नहीं लगता—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

किंतु कपट-छल जीवनमेंसे जाय कैसे? वह ऋजु-योगके ही द्वारा सुगमता और सरलतासे जा सकता है। ऋजु-योगकी नींव श्रद्धाके ऊपर है। पूरी न हो, स्वाभाविकी न हो, थोड़ी ही सही, सुनकर ही सही, हठपूर्वक ही हो, शास्त्र-वाक्योंमें और गुरुवाक्योंमें श्रद्धा होनी चाहिये। थोड़ी भी श्रद्धा होनेसे इस मार्गमें आनेपर धीरे-धीरे श्रद्धा स्वतः ही बढ़ जाती है। जो वेद, शास्त्र और गुरुवाक्योंकी निन्दा करता है, उन्हें ढोंग समझता है, वह तो इधर प्रवृत्त ही नहीं होगा। यदि अणुमात्र श्रद्धासे या वैसे ही शुरू कर देनेपर जो बढ़ता है, वह तो बढ़ता ही जाता है—***'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥'***

ऋजु-योगके चार अङ्ग हैं—सत्सङ्ग, भगवत्कथा-श्रवण, कीर्तन और जप। इन चारोंके ही द्वारा मनुष्य परमपदतक पहुँच सकता है। इन्हींका नाम ऋजु-योग है, इसमें सभी श्रेणीके स्त्री-पुरुषोंका अधिकार है। सभी इस सरल

सुगम संक्षिप्त मार्गसे अपने गन्तव्य मार्गतक पहुँच सकते हैं। बहुत संक्षेपमें इन चारोंपर यहाँ विचार करनेका प्रयत्न किया गया है—

१-सत्सङ्ग—ऋजु-योगकी सर्वप्रथम सीढ़ी है सत्सङ्ग। भगवान् कपिलने अपनी माता देवहूतिको ऋजु-योगका उपदेश देते हुए आरम्भमें ही कहा है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

अन्तःकरणको और बाह्य करणोंको आनन्दित करनेवाली कमनीय कथाएँ साधु पुरुषोंके सत्सङ्गमें ही सुननेको मिल सकती हैं। उन कथाओंके श्रवणसे अति शीघ्र ही परमार्थ-स्वरूप प्रभुकी प्राप्तिके विषयमें प्रथम श्रद्धा होती है, श्रद्धा होनेपर रति होती है और रति होनेपर भक्ति प्राप्त होती हैं। सत्सङ्गके बिना इस मार्गमें जाना ही नहीं हो सकता। सत्सङ्गतिकी महिमा तो शास्त्रोंमें भरी पड़ी है, किंतु विचारणीय यह है कि हम मन्दमतियोंको यह निर्णय कैसे हो कि यह साधु है। शास्त्रोंमें तितिक्षु, करुणायुक्त, सर्वप्राणियोंके मित्र, निर्वैर, शान्त, निरन्तर भक्ति करनेवाले वीतरागी, गृहत्यागी, भगवत्कथा सुननेवाले आदि बहुत-से गुण साधुओंके बताये गये हैं, साथ ही जो निरन्तर भगवद्भजन, भगवत्कथा-श्रवण और भगवन्नाम-जपमें लगे रहते हैं, जिनका कोई भी समय व्यर्थकी बातोंमें न जाय, जो अपने शरीरके सुखोंके लिये चिन्ता न करते हों, यदि उन्हें कोई चिन्ता हो भी तो केवल दूसरोंके दुःखोंकी चिन्ता हो। श्रीमद्भागवतमें एक जगह लिखा है—

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥

समदर्शी साधु लोगोंके दुःखोंको देखकर दुखी होते हैं। इस अखिल ब्रह्माण्डमें व्याप्त उस अखिलेश्वर जनतारूपी जनार्दनकी सेवा करनेके निमित्त दुःख भोगना ही उनकी परम आराधना है। जिनकी सभी चेष्टाएँ प्रेमपूर्ण हों और जिनके शारीरिक काम यदि हों भी तो वे परोपकारके लिये हों। बस उन्हींको साधु समझकर उनकी सङ्गतिमें रहना चाहिये। साधु दूसरोंकी निन्दा न करेगा, न दूसरोंके दोषोंका वर्णन ही करेगा। उसकी सभी क्रियाएँ प्रेममयी होंगी और वह दूसरोंके गुणोंको ग्रहण करनेमें सर्वदा तत्पर रहेगा। राजर्षि भर्तृहरिने संतकी कैसी सुन्दर सर्वाङ्गीण व्याख्या की है। वे कहते हैं—

मनसि वचसि काये प्रेमपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥

अर्थात् 'जिनका मन प्रेमपीयूषसे परिप्लावित हो, जिनकी वाणी प्रेममयी, मधुमयी हो, जिनके शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी चेष्टाओंसे प्रेम प्रकट होता हो और जो अपने उपकारोंकी बाढ़से त्रिभुवनको बहाते-से रहते हों तथा दूसरोंके अणुमात्र गुणको पर्वतके समान बनाकर अपने हृदयमें विकसित करते रहते हों ऐसे संत इस धराधामपर कितने हैं?' यदि सौभाग्यसे ऐसे संत मिल जायँ और ढूँढ़नेपर मिल ही जाते हैं तो उनका सङ्ग निरन्तर करना चाहिये।

२-भगवत्कथा-श्रवण—ऋजु-योगकी दूसरी सीढ़ी है भगवत्कथा-श्रवण। इच्छापूर्वक, अनिच्छापूर्वक जैसे भी बने वैसे ही कथा सुननी चाहिये। भगवत्कथा-श्रवणका व्यसन लग जाना चाहिये। अफीम-जैसी कड़वी चीजको स्वादसे, स्वेच्छासे पहले-ही-पहले कोई नहीं खाता। खाते-खाते जब आदत पड़ जाती है, तब फिर बिना उसके रहा ही नहीं जाता। वैसे ही भगवत्कथा हमारे शरीरका मुख्य अङ्ग बन जाय। यह कभी मत सोचिये कि बिना मनके कथा सुननेसे क्या लाभ? इसी बातको लक्ष्य करके भगवान् कपिल कह रहे हैं—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचि-
न्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥

'जिन्होंने सब कार्य मेरे ही अर्पण कर दिये हैं और जिन्हें मुझे ही पानेकी इच्छा है, वे मुझसे एकात्म होनेकी अर्थात् मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते, क्योंकि वे तो मेरे पाद-पद्मोंकी सेवामें संलग्न हैं। वे परस्परमें बैठकर हठपूर्वक भी मन न लगता हो तो भी एक दूसरेको आपसमें मेरे गुणोंको सुनाते रहते हैं और सुनते रहते हैं।'

भगवत्कथाओंमें सुनते-सुनते रस आने लगता है। छोटा बच्चा पहले बे-मनसे माताके हठपूर्वक खिलानेपर अन्न खाता है, खाते-खाते अभ्यास हो जाता है। फिर रुचि भी बढ़ने लगती है, तदनन्तर वह उसमें ऐसा तल्लीन हो जाता है कि बिना अन्न खाये उसे चैन ही नहीं पड़ता, जी तड़फड़ाने लगता है। इसी प्रकार हठपूर्वक कथा सुनते-सुनते सुननेका अभ्यास होगा फिर रुचि भी बढ़ने लगेगी। अन्तमें तो व्यक्ति उसीमें तल्लीन हो जाता है। कथा सुने बिना कल ही न पड़ेगी।

३-कीर्तन—तीसरी सीढ़ी है भगवन्नाम-कीर्तन। जैसे बने तैसे गाकर, रोकर, जोर-जोरसे, धीरे-धीरे, सबके साथ मिलकर, अकेलेमें, बैठकर, खड़े होकर, तालस्वरसे, बिना तालके गा-गाकर अथवा बाजोंके तालस्वरके सहित भगवन्नामोंका और भगवद्गुणोंका कीर्तन करना चाहिये। वैसे तो कीर्तन सभी युगोंमें सर्वश्रेष्ठ साधन है, किंतु कलियुगमें तो कीर्तनके सिवा कोई गति ही नहीं। भगवान् व्यासदेव कहते हैं—

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्।

अर्थात् 'केवल श्रीकृष्णकीर्तनसे ही मनुष्य इस घोर कलिकालमें परमपदको प्राप्त कर सकता है।' कीर्तनके विषयमें विशेष बतानेकी आवश्यकता नहीं। शास्त्रोंमें इसकी अनन्त महिमा है।

४-जप—ऋजु-योगकी चौथी सीढ़ी है जप। जप वेदमन्त्रोंका तथा पौराणिक मन्त्रोंका भी होता है। उनकी शास्त्रोंमें अनेक विधियाँ हैं। विधिपूर्वक करनेसे उनका प्रत्यक्ष फल मिलता है। इसलिये महादेवजीने जोर देकर पार्वतीजीसे तीन बार कहा है—

जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्वरानने।

'हे वरानने! मैं तीन बार प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, जपसे सिद्धि होती है, होती है, होती है।'

किंतु वैदिक मन्त्रोंके जपकी विधिको द्विजेतर मनुष्य नहीं कर सकते। द्विजोंमें भी पढ़े-लिखे और संस्कृत पुरुष ही कर सकते हैं, किंतु भगवन्नाम-जपमें किसी प्रकारकी विधि नहीं। यह जप तो सब विधि-निषेधोंसे परे हैं। चाहे जो हो, स्त्री, शूद्र, अन्त्यज, चाण्डाल कोई हो, किसी भी अवस्थामें हो, किसी भी देशमें कहीं हो, हर समय इसका जप कर सकता है। और श्रद्धापूर्वक भगवन्नाम-जपसे वही फल मिल जाता है जो अन्य वैदिक मन्त्रोंसे मिलता है। इससे सरल कोई मार्ग ही नहीं।

इस प्रकार ऋजु-योगके ये चार अङ्ग हैं। यदि आप राजयोग नहीं कर सकते, हठयोगके लायक आपका शरीर नहीं है, यदि आप प्राणोंको दसवें द्वारमें ले जाकर समाधि नहीं लगा सकते, यदि आप भगवद्विग्रहकी षोडशोपचार रीतिसे पूजा करनेमें भी असमर्थ हैं तो आप मनसे, बे-मनसे जैसे भी बने, भगवान्के नामोंका जप कीजिये। श्रीरामायण, भागवत और महाभारतकी कथा सुनिये, साधु पुरुषोंका सङ्ग कीजिये और भगवन्नाम तथा गुणोंका कीर्तन कीजिये। आप सभी योगियोंसे बढ़ जायँगे तथा निर्वाणपदको भी पार कर जायँगे। शास्त्रोंमें इसे ऋजु-योग, संक्षिप्तयोग, सरलयोग या मृदुयोग कहा गया है।

यह बात नहीं कि ये चारों अङ्ग ही हों और बिना चारोंके किये सिद्धिलाभ होती ही न हो। ये चारों स्वतन्त्र भी हैं। केवल कथा ही श्रवण करते रहें और कुछ भी मत करें, निरन्तर भगवल्लीलाओंका श्रवण और उनका मनन करते रहें, आप परम पदको प्राप्त कर लेंगे। और किसी भी साधनकी आवश्यकता नहीं। महाराज परीक्षित् इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। केवल कथा-श्रवणसे ही वे सर्वसङ्गविनिर्मुक्त हो गये।

केवल सत्सङ्ग ही करते रहें, साधु पुरुषोंकी सेवा करें, उनके वचनामृतोंको सुनें, उनकी सब प्रकारसे शुश्रूषा करें, आपको परमयोगियोंकी स्थिति प्राप्त हो जायगी। बहुत-से यातुधान, खग, मृग, स्त्री, शूद्र मात्र सत्सङ्गके आश्रयसे ही इस संसाररूपी घोर सागरको तर गये। केवल सत्सङ्ग ही सभी साधनोंका फल दे देता है।

'सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्।'

केवल कीर्तनको ही अपने जीवनका एकमात्र साधन बना लें। उठते-बैठते सर्वदा हरिकीर्तन करते रहें तो उसीसे प्रभुप्राप्ति होगी, इसमें संदेह करना व्यर्थ है। देवर्षि नारदादि इसके साक्षी हैं।

इसी प्रकार केवल जपसे ही परम समाधि लगती है और सिद्धि प्राप्त होती है। वाल्मीकिजी तो उलटा नाम जपकर ही सिद्ध हो गये। इसलिये ये चारों मिला लिये जायँ तब तो एक हैं, और अलग कर दिये जायँ तो स्वतन्त्र हैं, इसीलिये

सर्वप्रथम जो श्लोक दिया है, उसमें **'ऋजुभिर्योगमार्गैः'** ऐसा बहुवचन है, ये चारों ही ऋजु-योग हैं। चारों ही स्वतन्त्र हैं और एक भी हैं। सर्व-साधारणकी एकमें निष्ठा होनी कठिन है, अतः हमारे लिये सुगमता यही है कि कुछ काल जप करें, कुछ काल कीर्तन करें और कुछ काल सत्सङ्गमें बैठकर भगवत्कथा-श्रवण करें। जो व्यक्ति इस ऋजु-योगका आचरण करेंगे, वे सभी संसारी तापोंसे छूट जायँगे। वे इस संसारसागरको गौके खुरकी भाँति बात-की-बातमें लाँघ जायँगे।

योग-तत्त्व-रहस्य-मीमांसा

(स्वामी श्रीनिश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज)

योग-तत्त्व

ब्रह्मका जगत्‌को नित्य योग प्राप्त होनेके कारण ब्रह्म 'योगस्वरूप' है। प्रत्येक अंशको अंशीका योग नित्य सुलभ होता है। घटाकाशको महाकाशका, जल-तरङ्गको जलका और जलचन्द्रको नभचन्द्रका योग नित्य सुलभ है। ब्रह्म अंशी और जीव अंश है, इस प्रकार भी ब्रह्म 'योग' है। अंश जीवको अंशी ब्रह्मका नित्य योग प्राप्त है। **'योगः समाधिः'** (योगभाष्य १। १) के अनुसार 'योग'शब्द समाधिके अर्थमें प्रयुक्त होता है। जिसमें चित्तको समाहित किया जाय, वह 'समाधि' है।

स्वतःसिद्ध ब्रह्म जहाँ योग है, वहाँ ब्रह्मोपलब्धिमें साक्षात् अथवा परम्परासे जिसका उपयोग हो, वह योग है। ब्रह्मोपलब्धिमें साक्षात् उपयोगी होनेसे ब्रह्मात्मैक्य-बोध योग है। भगवद्भक्ति, अष्टाङ्गयोग, कर्मयोगादि ब्रह्मोपलब्धिमें परम्परासे उपयोगी होनेसे योग हैं। सम्पूर्ण भगवद्गीता योग-शास्त्र है। शीत, उष्ण, सुख-दुःख, सिद्धि-असिद्धि आदि द्वन्द्वोंमें समत्व या समभाव होना या रखना योग है। द्रष्टा-दृश्यके आविद्यक (आध्यासिक) संयोगकी विवेक-ख्यातिसे निवृत्ति हो जानेपर समत्वकी पूर्णता मानी जाती है। तभी दुःखसंयोग-वियोगरूप योग पूर्णतः चरितार्थ होता है।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (योगदर्शन १। २) के अनुसार चित्तवृत्तिनिरोध इसलिये योग कहने योग्य है, क्योंकि प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति नामक पाँचों प्रकारकी वृत्तियोंके निरुद्ध हो जानेपर (असम्प्रज्ञात समाधि सध जानेपर) द्रष्टा वृत्तिसारूप्य-विनिर्मुक्त होकर स्वरूपस्थिति लाभ करता है। व्युत्थानदशामें वृत्तियोंकी विद्यमानता रहनेपर भी विवेकख्यातिके बलपर गुणमयभावोंके अनुरूप आत्मभावका उदय न होनेसे वृत्तिसारूप्यके अभावमें स्वरूपस्थिति बनी रहती है। इसी अभिप्रायसे विवेकख्यातिको योग मानना उपयुक्त है। वेदान्तमें जीव और शिवकी एकताकी संवित् समाधि है—

समाधिः संविदुत्पत्तिः परजीवैकतां प्रति।

(अन्नपूर्णोपनिषद् ५। ७५)

स्वरूपोपलब्धिमें परम्परासे उपयोगी होनेके कारण योगाङ्गोंको 'योग' कहा गया है।

विवेकख्याति जहाँ योग है, वहाँ योगका फल भी। पातञ्जलयोगसूत्र-भाष्यविवरणकार भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य महाराजके अनुसार दुःख-प्रचुर संसार 'हेय' (त्याज्य) है। अविद्यानिमित्तसे होनेवाला द्रष्टा-दृश्यका संयोग 'हेयहेतु' है। संयोगकी आत्यन्तिक उपरामता 'हान' है। कैवल्यरूप हान ही योगशास्त्रका फल, साध्य अथवा प्रयोजन है। अविप्लव (अविकम्प) विवेकख्याति 'हानोपाय' है। जैसे भैषज्यका आरोग्य ही फल है, आरोग्यका भैषज्य ही साधन है, वैसे ही विवेकख्यातिका हान ही फल है और विवेकख्याति ही हानका साधन है। कैवल्यके प्रति विवेकख्याति उपाय है। विवेकख्यातिके प्रति योग उपाय है। योग (समाधि) के प्रति योगाङ्ग उपाय है। यथार्थबोध ही विवेकख्याति है—

'भूतार्थावगतिश्च विवेकख्यातिः'

(योगसूत्रभाष्यविवरण १। १)

भूतार्थावगतिके लिये चित्तकी एकाग्रता अपेक्षित है—

'यस्त्वेकाग्रे चेतसि स भूतमर्थं प्रद्योतयति'

(योगभाष्य १। १)

'योग' समाधि है। समाधि चित्तका सार्वभौम धर्म है। चित्तके तुल्यप्रत्ययप्रवाहका नाम एकाग्र है। प्रत्ययशून्य चित्तका नाम निरुद्ध है। समाधिमें कैवल्यरूप 'हान'की विद्यमानता है। **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** (योगसूत्र

१।३), '**स्वरूपप्रतिष्ठा च चितिशक्तेः कैवल्यम्**' (योगसूत्र ४।३४)। निर्बीज समाधिके द्वारा कैवल्योपलब्धिमें योगसूत्रोंका तात्पर्य संनिहित है।

अविद्यानिवृत्तिके द्वारसे ख्याति ही कैवल्यमें साधन है, क्योंकि अविद्या-निमित्तक ही बन्ध है—'**ख्यातिरेव साधनमविद्यानिवृत्तिद्वारेण। अविद्यानिमित्तो हि बन्धः।' एकमेव दर्शनम्, ख्यातिरेव दर्शनम्,** (विवरण-भाष्य) '**बुद्धिवृत्तिरेव दर्शनम्**' (विवरण० पृ० १४)।

योगसूत्रोंके अनुशीलनसे अविद्यानिवृत्तिका ही पोषण होता है, न कि 'जगन्मिथ्यात्वका', ऐसा मानना उपयुक्त नहीं। अविद्या और प्रकृतिकी एकरूपता है। प्रपञ्च प्रकृतिका परिणाम है। अविद्यानिवृत्तिसे जगत्की निवृत्ति सर्वथा सङ्गत है। द्रष्टा शुद्ध चिन्मात्र है। वह व्यवहारदशामें वृत्तिसारूप्य भ करता है। दृश्य परार्थ (पुरुषके लिये) है। कृतार्थके ो नष्ट (अदृश्य, निवृत्त) होनेपर भी अकृतार्थोंके प्रति भोग थवा अपवर्ग देनेके लिये प्रस्तुत प्रकृति अनष्ट रहती है। ृति स्वशक्ति है। पुरुष स्वामिशक्ति है। दोनोंकी उपलब्धिका ् संयोग है। संयोगका हेतु अविद्या है। जैसे वेदान्तमें ष और अविद्याका संयोग भी अविद्यानिमित्तक ही है, ो ही योगमतमें असङ्ग स्वप्रकाश पुरुषका प्रकृतिके साथ योग भी प्रकृति-निमित्तक ही है। इस प्रकार प्रकृति और विद्याकी एकरूपता है। अविप्लव विवेकख्याति प्रकृतिसहित विद्याको नष्ट करके पुरुषको कृतार्थ करनेवाली है। शुद्धसत्त्व विवेकख्याति है। मलिन सत्त्व अविद्या है। गुण प्रकृति है—

'**कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।**'

(योगसूत्र २।२२)

इस सूत्रमें जगन्मिथ्यात्वका प्रतिपादन है। इस रहस्यका काश सूत-संहिताके तात्पर्यदीपिकाके यज्ञवैभवखण्ड ष्टमाध्यायविवरणमें माधव नामक विद्वान्ने सिद्ध किया —'व्यवहारदशामें प्रकृति-प्राकृत-लक्षण, प्रपञ्चका सत्यत्व ौर आत्मनानात्वका प्रतिपादन योगादिसम्मत है। वल्यदशामें स्वरूपस्फूर्ति ही सम्भव है, न कि भेदभाव। ात्माके यथार्थ ज्ञानसे (प्रकृति-पुरुष-विवेकख्यातिसे) वल्य सम्भव है। विवेकख्यातिके उत्तरकालमें जगत् सर्वथा अस्फुरित भी रहे और सत्य भी सिद्ध हो ले, ऐसा कथमपि सम्भव नहीं। क्योंकि मेय (ज्ञेय) की सिद्धि मान (ज्ञान) के अधीन होती है, अतः आत्मयाथात्म्यज्ञानसे जगत् निवृत्त (बाधित) हो ही जाता है। जगत् ही नहीं, आत्मनानात्व और जीवेश्वर-भेद भी मुक्तिमें भासित न होनेसे मिथ्या ही मान्य है—'**आत्मनानात्वस्य जीवेश्वरभेदस्य च मुक्तावनवभातत्वेनैव प्रपञ्चवन्मिथ्यात्वम्।**'

योग-रहस्य

अपान और प्राण, रज और रेतस्, सूर्य और चन्द्र तथा जीवात्मा और परमात्मारूप द्वन्द्वसमूहका जो संयोगरूप ऐक्य है, वह योग कहा जाता है—

योऽपानप्राणयोरैक्यं स्वरजोरेतसोस्तथा।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः।
एवं द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते॥

(योगशिखोपनिषद् १।६८)

मुख और नासिकाके द्वारा वायुका बाहर निकलना प्राणकी गति है। वायुका अधोगमन अपानकी गति है। अपानमें प्राणका सङ्गम पूरक है। प्राणमें अपानका सङ्गम रेचक है। प्राणापानकी गतिका स्तम्भन कुम्भक है। वामस्वर इडा है, उसे चन्द्रनाडी कहते हैं। दक्षिणस्वर पिङ्गला है, उसे सूर्यनाडी कहते हैं। उसके मध्यमें सुषुम्ना है। मुद्राबन्ध-विशेषके द्वारा मनसहित प्राणसंयमसे सूर्य-चन्द्रका ऐक्य होता है।

इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना नाभिमण्डले।
मुद्राबन्धविशेषेण वायुमूर्ध्वं च कारयेत्॥

(वराहोपनिषद् ५।६६।६७)

नेत्रका अनुग्राहक सूर्य है। सूर्य आत्मा है। मनका अनुग्राहक चन्द्रमा है। मन चन्द्रमा है। चन्द्ररूप मनको सूर्यरूप नेत्रमें और सूर्यरूप आत्माको चन्द्ररूप मनमें मिलानेपर प्रवृत्तिमार्गकी सिद्धि होती है। सूर्यरूप नेत्रको चन्द्ररूप मनमें और चन्द्ररूप मनको सूर्यरूप आत्मामें रमानेपर निवृत्तिमार्गकी सिद्धि होती है। जाग्रत्में सूर्यमें चन्द्र और चन्द्रमें सूर्यका योग होनेसे प्रवृत्ति है। मनोराज्य और स्वप्न जाग्रत्-सुषुप्तिके मध्यकी स्थिति (अवस्था) है। उसमें सूर्यरूप नेत्रका चन्द्ररूप मनमें और चन्द्ररूप मनका सूर्यरूप आत्मामें

योग होता है। द्वैतकी प्रतीति बनी रहती है। सुषुप्तिमें सावरण या सबीज द्वैत होता है। द्वैतकी प्रतीति नहीं होती। समाधिमें सूर्यरूप नेत्रका मनरूप चन्द्रमें और चन्द्ररूप मनका आदित्यरूप आत्मामें लय होता है। प्रपञ्चकी निरावरण-निवृत्ति होती है। **'आदित्या ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा'** (प्रश्नोपनिषद् १।५)—'निःसंदेह सूर्य प्राण है और चन्द्रमा रयि है'—इस श्रुतिके अनुसार प्राण और अपानके ऐक्यसे सूर्य और चन्द्रका भी ऐक्य सध जाता है। योगवासिष्ठके अनुसार सूर्यात्मक 'प्राण' परमात्मा है। सोमात्मक 'अपान' जीवात्मा है। पूरक, कुम्भक और रेचकके द्वारा परमात्माकी आत्मासे और आत्माकी परमात्मासे एकता होती है। सूर्य उग्र होनेसे रेतः-प्रधान है। सोम सौम्य होनेसे रजः-प्रधान है। प्राणापानके द्वारा सूर्य-चन्द्रका सङ्गम होनेपर रेत और रजका भी सङ्गम सध जाता है। इस प्रकार प्राणापानके ऐक्यसे सूर्य-चन्द्र, जीव-शिव और रेत-रजका संयोगरूप योग सध जाता है। तत्त्ववेत्ता धारणाके द्वारा इस योगसे लाभान्वित होते हैं।

वायुके निर्गमन और आगमनके साथ **'हंसः'** और **'सोऽहम्'** मन्त्रकी विभागपूर्वक धारणा करनेसे जहाँ मन्त्रयोगकी सिद्धि होती है, वहाँ प्राणापानका ऐक्य भी सध जाता है। इस प्रकार प्राणापानका ऐक्य मन्त्रयोगके अन्तर्गत है। प्रत्येक जन्तुके शरीरमें योनिरूप महाक्षेत्रमें जपाबन्धूक-तुल्य रक्त रजका निवास है, वही देवी-तत्त्व है। शुक्ल शुक्र (रेत) शिवतत्त्व है। रज-रेतका योग 'राजयोग' है। हंस मन्त्रके हकारके द्वारा सूर्यका और सकारके द्वारा चन्द्रका बोध होता है। सूर्य और चन्द्रका योग हठयोग कहा जाता है। जीव (क्षेत्रज्ञ) और शिवका ऐक्य होनेपर चित्त विलयको प्राप्त होता है। पवन (प्राण) स्थिर होता है, इसीको 'लययोग' कहते हैं। मन्त्र, लय, हठ और राजयोग एक महायोगके ही चार प्रकार हैं—

मन्त्रो लयो हठो राजयोगोऽन्तर्भूमिकाः क्रमात्॥
एक एव चतुर्धायं महायोगोऽभिधीयते।

(योगशिखोपनिषद् १।१२९, १३०)

योग-मीमांसा

योगदर्शनमें अष्टाङ्गयोगका वर्णन है। यम, नियम और आसनसे त्वङ्मांसशोणितास्थिस्नायुमज्जामय षाट्कौशिक स्थूल शरीररूप अन्नमयकोशसहित इन्द्रियोंका शोधन होता है। शौच आदि स्थूल शरीरके शोधक हैं, यह तथ्य प्रसिद्ध ही है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये पाँच 'नियम' हैं। स्थूल शरीरसहित पञ्चकर्मेन्द्रियोंका शोधन पञ्च यमके पालनसे होता है और पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंका शोधन पञ्च नियमके सेवनसे होता है। आसनके द्वारा मुख्यरूपसे कार्य-करणसंघातात्मक स्थूल शरीरका शोधन होता है। प्राणायामके द्वारा प्राणमय कोशका शोधन होता है। प्रत्याहार और धारणाके द्वारा मनोमयकोशका शोधन होता है। ध्यानके द्वारा विज्ञानमय-कोशका शोधन होता है। समाधिके द्वारा आनन्दमयकोश (कारणभेद) का शोधन होता है। इस प्रकार अष्टाङ्गयोगके द्वारा पञ्चकोशोंका शोधन हो जानेपर अध्यात्मज्ञानके द्वारा इनके अनात्मत्व (मिथ्यात्व) का स्फुट अनुभव होता है।

अयोगियोंका शरीर द्वन्द्वस्पर्शी होता है। योगहीन ज्ञानियोंको द्वन्द्वोंसे असङ्ग रहना पड़ता है। योगियोंका शरीर द्वन्द्वस्पर्शी नहीं होता। सर्वद्वन्द्वोंसे अतीत योगाग्निदग्ध ब्राह्मीतनुमें आत्माकी असङ्गता निरावरण स्फुरित होती है। ब्रह्मलोकमें योगाग्निदग्ध देह सुलभ होनेके कारण छाया और आतपतुल्य देह और आत्माका विमल विवेक सुलभ होता है—

'छायातपयोरिव ब्रह्मलोके' (कठोपनिषद् २।३।५)

देहके पाँच दोष होते हैं—१-काम, २-क्रोध, ३-निःश्वास, ४-भय और ५-निद्रा। निःसंकल्पताके द्वारा कामका वारण होता है। क्षमाके द्वारा क्रोधका वारण होता है। लघ्वाहारके द्वारा निःश्वासका वारण होता है। अप्रमत्तताके (देख, सुन, सम्हलकर उठने, बैठने, चलने आदिके) द्वारा भयका वारण होता है। तत्त्वसेवन (तत्त्वचिन्तन, समाधि, सत्त्वसेवन) से निद्राका वारण होता है। कहा भी है—

देहस्य पञ्च दोषा भवन्ति कामक्रोधनिःश्वासभयनिद्राः।
तन्निरासस्तु निःसंकल्पक्षमालघ्वाहाराप्रमादतातत्त्वसेवनम्॥

(मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १।२)

भूशुद्धि, भूतशुद्धि, अङ्गन्यास, करन्यास, महायज्ञ और यज्ञोंके द्वारा सप्तधातुमय शरीरका शोधन होता है। शीतली

आदि प्राणायामके द्वारा शरीरको शीतल और गर्म करनेसे भी शरीरका शोधन होता है। खेचरी आदि मुद्राओंके द्वारा क्षुधा, तृषा, आलस्य, मृत्युकी निवृत्ति और योगनिद्राकी समुपलब्धि होती है। खेचरी आदि मुद्रा और नाडी-शोधनादि आजकल दुरूह हैं। गुरुगम्य यह विद्या लुप्तप्राय है। मनमाना योगाभ्यास करने और करानेसे साधकको लाभके बदले हानि ही होती दीखती है।

ऐसी स्थितिमें ईश्वरप्रणिधान और स्वाधिकारानुसार तत्परतापूर्वक अधिकाधिक नामजप, लय-विक्षेपसे सुदूर रखनेवाला युक्ताहार-विहार और व्यवहारसे देहेन्द्रियादिका शोधन सुगम है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(गीता ६। १७)

उपनिषदोंमें कठोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, ोगशिखोपनिषद्, योगकुण्डल्युपनिषद्, योगतत्त्वोपनिषद्, ोगचूडामण्युपनिषद्, योगराजोपनिषद्, जाबालदर्शनोपनिषद्, ंशिखिब्राह्मणोपनिषद्, वराहोपनिषद्, मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, मृतनादोपनिषद्, नादबिन्दूपनिषद्, तेजोबिन्दूपनिषद्, ध्यानबिन्दूपनिषद्, शाण्डिल्योपनिषद्, अन्नपूर्णोपनिषद् और शिवोपनिषद् आदि योगके स्वरूप, प्रभेद, प्रभाव, योगपरम्परा और योगाङ्गोंकी परिभाषादिका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करनेवाली है। योगाङ्गोंमें समाधि मुख्य योग है। उसीके द्वारा कैवल्यसिद्धि सम्भव है। कैवल्यदशामें जीवेश्वरादिभेद और जगद्विभ्रम विगलित हो जाता है। यही औपनिषदयोग और योगदर्शनका हृदय है—

यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति।
एकीभूतः परेणासौ तदा भवति केवलः॥

(श्रीजाबालदर्शनोपनिषद् १०। ११)

इस योग-साधनाके द्वारा समाधिमें प्रविष्ट योगीको जिस परमानन्दकी उपलब्धि होती है, उसका वाणीके द्वारा वर्णन किसी प्रकार सम्भव नहीं है। उसे कोई समाधिस्थ होकर ही जान सकता है—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

(मैत्रायण्युपनिषद् ४। ९)

अध्यात्मपथका उत्तम साधन—योग

(अनन्तश्रीविभूषित ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशी (सुमेरु) पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीशंकरानन्द सरस्वतीजी महाराज)

भारतीय अध्यात्मपरम्परा एवं संस्कृत वाङ्मयके ास्तिक दर्शनोंमें योगका स्थान अप्रतिमरूपसे स्वीकार किया या है। मनुष्य-शरीरका परम प्रयोजन सकल दुःखनिवृत्ति एवं रमानन्दकी प्राप्ति है। केनोपनिषद्में स्पष्टरूपसे स्वीकार किया या है कि **'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती ंविनष्टिः'** अर्थात् इस मानव-शरीरमें यदि परमतत्त्वका बोध हो या तो मानव-शरीर सार्थक हो गया अन्यथा मानो महान् ंविनाश या सर्वनाश हो गया। ऐसा होनेपर चौरासी लक्षयोनियोंके चक्रमें पुनः जाना पड़ेगा।

परमतत्त्वबोधके लिये योग उत्तम साधन है। भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमद्भागवतमहापुराणके एकादश स्कन्धमें कहते हैं—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

अर्थात् मानवके परम कल्याण (मुक्ति) के लिये मैंने ज्ञान और कर्म एवं भक्ति नामक तीन योगोंका कथन किया है।

कठोपनिषद्में भी योगकी परमोपादेयताका वर्णन इस प्रकार मिलता है—**'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति'** (१। २। १२)। **'आत्मनि चित्तस्य समाधानमध्यात्मयोगः, तस्य लाभेन धीरो योगी हर्षशोकौ जहाति'**—भाव यह कि समाहित-चित्त धीर पुरुष योगके द्वारा स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूपका साक्षात्कार कर हर्ष-शोकरूप प्रपञ्चका त्याग करता है—मुक्त हो जाता है। इस प्रकार अध्यात्मपथमें योगके बिना प्रवेश परम दुर्लभ है।

योगस्वरूप-विवेचन

मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग एवं राजयोग-भेदसे योगके विविध भेद हैं। मन्त्रयोगसे महाभावसमाधि, हठयोगसे

महाबोधसमाधि, लययोगसे महालयरूपी समाधिका उदय होता है। ये तीनों राजयोगके साधन हैं। पातञ्जलयोगदर्शनमें वर्णित योग राजयोग है।

योगका अर्थ

योजन, योग, समाधि आदि शब्द योगके पर्याय हैं। वसिष्ठजीने योगवासिष्ठमें चित्तवृत्तिनिरोधको योगका स्वरूप बतलाया है—

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव।
योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥

'हे राघव! चित्त-नाशके केवल दो मार्ग हैं—योग और ज्ञान। चित्त-वृत्तिके निरोधको योग और आत्मतत्त्वके सम्यक् अवेक्षणको ज्ञान कहते हैं। भगवान् पतञ्जलिने योगका लक्षण करते हुए कहा है—'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।**'

चित्तकी क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध नामक पाँच अवस्थाएँ होती हैं। अन्तिम दो—एकाग्र और निरुद्ध अवस्थाएँ योगकी हैं।

'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**'—इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए नागोजि भट्ट लिखते हैं—'**चित्तस्यान्तःकरणस्य वक्ष्यमाणा या वृत्तयस्तासां निरोधो निवर्तनं योग इत्यर्थः। वृत्तिनिवर्तनं च जीवनयोनिप्रयत्नवदतीन्द्रियो यत्नविशेषं चित्तनिग्रहरूपो वृत्तिविलयहेतुः। चित्तवृत्तिसंस्कारशेषावस्था वा···· न तु वृत्त्यभाव एव, वक्ष्यमाणसंस्कारजनकत्वानुपपत्तेः।**

अर्थात् अन्तःकरणकी वृत्तियोंका लय योग है और वह सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात-भेदसे दो प्रकारका है। '**सम्यग्ज्ञायते साक्षात्क्रियते ध्येयतत्त्वमस्मिन्निति सम्प्रज्ञातः।**' ध्येयतत्त्वका समीचीनतया साक्षात्कार जिस समाधिमें हो वह सम्प्रज्ञात है। सम्प्रज्ञात समाधि सबीज समाधि तथा सविकल्प समाधि आदि नामोंसे भी व्यवहृत होती है। दूसरे शब्दोंमें ध्येय-साक्षात्काराख्य-फलोपहितचित्तवृत्ति-निरोधरूप चित्तकी अवस्था-विशेषका नाम सम्प्रज्ञात योग है।

चित्तकी पाँच अवस्थाओंमेंसे एकाग्रावस्थामें सम्प्रज्ञात योग होता है। योगदर्शनके सिद्धान्तानुसार चित्त स्वतः सर्वार्थग्रहणक्षम एवं विभु होता है। तथापि तमोगुणसे आवृत होनेसे सदा समस्त वस्तुओंके साक्षात्कारमें समर्थ नहीं होता। एकाग्रावस्थामें तमोरजके क्षीण होनेके कारण सत्त्वमात्रके उद्रेकसे चित्त वस्तु-साक्षात्कार करनेमें समर्थ हो जाता है—योगसारमें विज्ञानभिक्षु लिखते हैं—'**चित्तं हि स्वत एव सर्वार्थग्रहणक्षमं विभु च भवति।**'

असम्प्रज्ञात समाधि, निर्बीज समाधि तथा निर्विकल्प समाधि ये समानार्थक शब्द हैं। चित्तकी निरुद्धावस्थामें समस्त वृत्तियोंके निरोध हो जानेपर, संस्कारमात्र शेष रहनेपर चित्तकी पञ्चमावस्थामें असम्प्रज्ञात समाधिकी स्थिति आती है—इसी बातको भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—'**विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।**'

तात्पर्य यह कि परवैराग्यपूर्वक जब समस्त वृत्तियोंके निरोध हो जानेपर चित्त संस्कारमात्र अवशिष्ट रहता है तो इस अवस्थाको असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

अध्यात्मपथानुयायियोंको यह बात अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये कि योगसे श्रेष्ठ परमात्मप्राप्तिपूर्वक जीवन्मुक्तिमें सहायक प्रायः अन्य कोई विशिष्ट साधन नहीं है। अध्यात्मविद्यामें योग शरीर है, भक्ति प्राण है और ज्ञान आत्मा है। शरीरमें ही प्राण एवं आत्माकी अभिव्यक्ति या उपलब्धि होती है। चित्तादिका मल योग-साधनके बिना कथमपि निवृत्त नहीं हो सकता और जबतक मलादि निवृत्त नहीं होंगे, तबतक भक्ति आदिकी उपलब्धि सर्वथा असम्भव है। अतः कल्याण-प्रेप्सुजनोंको किसी वास्तविक योगी गुरुका सांनिध्य-लाभ कर साधनतत्पर होना चाहिये।

दूसरे किसीमें भी ममता न रहकर एक भगवान्‌में जो अनन्य ममता होती है, उसीको प्रेम कहते हैं। इसी प्रेमको भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव और नारद आदिने भक्ति बतलाया है।—नारदपाञ्चरात्र

जो किसी प्रकारके भयमें पड़ा हुआ है, जो मेरा भक्त है, जो कहीं आश्रय न मिलनेसे आर्त हो रहा है, जो हीन दशाको प्राप्त है, जो अपने प्राण बचाना चाहता है, ऐसे किसीको मैं कदापि नहीं त्याग सकता, इसमें मेरे प्राण भले ही चले जायँ। यह मेरा नित्य-व्रत है।—धर्मराज श्रीयुधिष्ठिर

दर्शनोंके परिप्रेक्ष्यमें योगका स्वरूप और महत्त्व

(दण्डी स्वामी श्री१०८ श्रीविपिनचन्द्रानन्द सरस्वतीजी महाराज, 'जज स्वामी')

(१) योग और योगाङ्ग—जीव और शिवका मिलना योग है। शिव और शक्तिका मिलना योग है। भक्त और भगवान्‌का मिलना योग है। वृत्तिका भगवदाकार होना योग है। वृत्तिका आत्माकार होना योग है। ऐसा होनेपर भी वृत्तिका विषयाकार होना भोग है। योगदर्शनके अनुसार योगके आठ अङ्ग हैं—(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान और (८) समाधि। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१-यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं। (योगसूत्र २।३०, विष्णुपुराण ६।७।३६)। देहेन्द्रियोंमें वैराग्यको यम कहा गया है—

'देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः'

(त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् २८)।

२-नियम—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये पाँच नियम हैं। (योगसूत्र २।३२, वि०पु० ६।७।३७)। परम तत्त्वमें सतत अनुरक्ति नियम है—

'अनुरक्तिः परे तत्त्वे सततं नियमः स्मृतः'

(त्रि० ब्रा० २९)।

३-आसन—ध्यानाभ्यासके उपयुक्त स्थिर और सुखदायी सिद्ध, पद्म, सिंह और भद्रादि आसन हैं। द्वन्द्व-सहिष्णुता, प्राणायामकी योग्यता और अनात्मवस्तुओंमें उदासीनता आसन-सिद्धिके फल हैं—**'ततो द्वन्द्वानभिघातः'** (योग०सू० २।४८), **'सर्ववस्तुन्युदासीनभावमासनमुत्तमम्'** (त्रि०ब्रा०२९)।

४-प्राणायाम—श्वास-प्रश्वासकी गतिका विच्छेद (रोकना) प्राणायाम है। **'तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गति-विच्छेदः प्राणायामः'** (यो०सू०२।४९)। बाह्यवृत्ति (रेचक), आभ्यन्तरवृत्ति (पूरक) और स्तम्भवृत्ति (कुम्भक)-भेदसे प्राणायाम तीन प्रकारका होता है। (यो०सू०२।५०)। जैसे वायुयोगसे आग राख आदि आवरणसे रहित होकर प्रज्वलित होती है, वैसे ही प्राणायामके योगसे ज्ञान आच्छादक तमसे रहित (अनभिभूत) होकर अविप्लव-विवेक-ख्यातिके अभिमुख होता है। नाडी-शोधनमें प्राणायामका मुख्य उपयोग है। यम, नियम जिसके जीवनमें प्रतिष्ठित हैं, आसन जिसका सुस्थिर है, नाडी जिसकी शुद्ध है उसका प्राणायाममें प्रशस्त अधिकार है—**'यमनियमाभ्यां संयुक्तः पुरुषः प्राणायामं चरेत् तेन नाड्यः शुद्धा भवन्ति।'** (शाण्डिल्योपनिषद् ३), **'यमैश्च नियमैश्चैव आसनैश्च सुसंयतः। नाडीशुद्धिं च कृत्वादौ प्राणायामं समाचरेत्॥'** (त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् ५३)। यम, नियम, आसनके द्वारा आंशिक नाडीशोधनके अनन्तर प्राणायाम प्रारम्भ करना चाहिये। प्राणायामसे नाडियोंकी विशेष शुद्धि होती है।

५-प्रत्याहार—चित्तका अन्तर्मुख होना प्रत्याहार है। इन्द्रियोंका अपने विषयोंके साथ सम्बन्ध न होनेपर चित्तके रूपका अनुकरण-जैसा करना प्रत्याहार है। **'चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारस्तु सत्तम।'** (त्रि०ब्रा० ३०), **'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः'** (यो० सू० २।५४)।

६-धारणा—चित्तको एकदेश (स्थान) पर स्थिर रखना धारणा है—**'चित्तस्य निश्चलीभावो धारणा धारणं विदुः'** (त्रि० ब्रा० ३१), **'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'** (यो० सू० ३।१)।

७-ध्यान—धारणाके विषयमें चित्तवृत्तिकी एकतानता ध्यान है (यो०सू० ३।२)।

८-समाधि—ध्यानकी सम्यक्-विस्मृति समाधि है—**'ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक्समाधिरभिधीयते'** (त्रि०ब्रा०३२)। अभिप्राय यह है कि ध्येयमात्रकी स्फूर्ति और चित्तविस्मृतिका नाम समाधि है—**'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः'** (यो०सू० ३।३)।

(२) लोकव्यवहारमें योग—व्यवहार हो या परमार्थ मनकी एकाग्रता, तन्मयता, समवधानता सर्वत्र अपेक्षित है। योगिराज दत्तात्रेयजी महाराजने कर्तव्यपालनमें तन्मयताकी शिक्षा बाण बनानेवालेसे ली। अहिंसा, सत्यादि पञ्च यमोंकी जिसके जीवनमें प्रतिष्ठा न हो और शौच, संतोषादि पञ्चनियमोंसे जो सुदूर हो, वह लोकमें निन्दित होता है और उसकी आत्मा भी उसे कोसती है। जिसकी वागादि कर्मेन्द्रियाँ अचञ्चल हों, श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ संयत हों, सिद्ध-पद्म, सुखादि आसनोंका आलम्बन लेकर जो बैठनेमें समर्थ हो, प्राणापानादि जिसके

संयत हों, इन्द्रियाँ जिसकी अन्तर्मुख हों, चित्त जिसका केन्द्रित हो तथा ध्येयप्रवण और ध्येयमात्र होनेमें समर्थ हो, वही लोकमें चरमोत्कर्ष प्राप्त करनेमें समर्थ होता है।

(३) दर्शन-संदर्भमें योग—चार्वाकमतमें अभीष्ट विषयका अभीष्ट इन्द्रियके साथ अभीष्ट संयोग सुखद होनेसे योग है। बौद्धदर्शनमें सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-सङ्कल्प, सम्यक्-वचन, कर्मान्त (पञ्चशील, दशशील), सम्यक्-आजीव, सम्यक्-व्यायाम, सम्यक्-स्मृति तथा सम्यक्-समाधि—ये अष्टाङ्ग मार्ग हैं। इनमें पञ्चशील पञ्च 'यम'-तुल्य है। सम्यक्-आजीव 'नियम'-तुल्य है। सम्यक्-व्यायाम 'आसन' और 'प्राणायाम'-तुल्य है। सम्यक्-वचन 'प्रत्याहार'-तुल्य है। सम्यक्-सङ्कल्प 'धारणा'-तुल्य है। सम्यक्-दृष्टि 'ध्यान'-तुल्य है। माध्यमिक (शून्यवाद), योगाचार (क्षणिक विज्ञानवाद), सौत्रान्तिक (बाह्यानुमेयवाद) और वैभाषिक (बाह्य प्रत्यक्षवाद)—इन चारों प्रकारके बौद्धोंके मतमें रागादि ज्ञानकी परम्परारूपी वासनाका उच्छेद अभीष्ट है—

रागादिज्ञानसंतानवासनोच्छेदसम्भवा ।
चतुर्णामपि बौद्धानां मुक्तिरेषा प्रकीर्तिता ॥

(विवेक-विलास ८। २७४)

रागादिकी निवृत्तिके लिये योगालम्बन परमावश्यक है। वेदान्तियोंका विज्ञान (विज्ञानमय) विज्ञानवादी बौद्धोंका आत्मा है। वही लौकिक-पारलौकिक सभी कर्मोंका निर्वाह करता है। कर्म विज्ञानपूर्वक होता है। विज्ञानवान् कर्ता होता है। विज्ञानमयका आत्मा (हृदय) योग है। **'योग आत्मा'** (तैत्तिरीयोपनिषद् २। ५। १)। युक्ति (समाधान) योग है। युक्त (समाहित) यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ होता है।

जैनमतमें सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चरित्र—ये त्रिरत्ननामक मोक्षमार्ग हैं। **'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'** (तत्त्वाधिगम-सूत्र १। १)। इसमें सम्यक्-चरित्रका अर्थ है—पापके सम्बन्धका सर्वथा त्याग। अहिंसादि पञ्च यम सम्यक्-चरित्रके भेद हैं। अहिंसादि प्रत्येक व्रतकी पाँच-पाँच भावनाएँ हैं। इस प्रकार जैनमतमें योगाङ्गोंका विशेष महत्त्व है।

वैशेषिक-दर्शनमें आत्मस्वरूपमें स्थित निष्क्रिय और निर्दुःख-मनःस्थिति योग है। प्रकारान्तरसे चित्तनिरोध योग है। अथवा सुख-दुःखके आरम्भसे रहित आत्मस्वरूपमें ध्यानमग्न मनकी दुःखाभावके उपयुक्त स्थिति योग है। अथवा सुख-दुःखके आरम्भसे रहित आत्मस्वरूपमें स्थित मनके योगसे जिस अवस्थामें देह-विशिष्ट आत्माको दुःख नहीं होता, वह योग है। अथवा योगाभ्यासके अनन्तर क्रियाशून्य प्राणरूप आत्मामें मनःस्थितिके प्रभावसे देहावच्छिन्न आत्माकी दुःखरहित स्थिति योग है—**'तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखाभावः स योगः'** (५। २। १६)।

न्यायशास्त्रमें योगदर्शनके अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशरूप पञ्चविध क्लेशोंका राग, द्वेष और मोहके रूपमें वर्णन किया गया है। आत्मसाक्षात्कारसे इनकी निवृत्ति होती है। ध्यानकी परिपक्वता आत्मसाक्षात्कारमें हेतु है—

'ध्यायिनो ध्यानपरिपाकवशात् साक्षात्कृतात्मनः।'

(तर्कभाषा)

पूर्वसञ्चित धर्माधर्मकी योगालम्बनसे जानकारी प्राप्त कर योगबलसे कायव्यूहकी रचनाकर शुभाशुभ कर्मोंका फलोपभोग मोक्षमें अविलम्ब हेतु है—

पूर्वोपात्तं च धर्माधर्मप्रचयं योगर्द्धिप्रभावाद्विदित्वा समाहृत्य युञ्जानस्य पूर्वकर्मनिवृत्तौ····।' (तर्कभाषा)

इस प्रकार न्यायशास्त्रमें योगका अत्यन्त महत्त्व है।

सांख्यसूत्रमें योगियोंके अतीत, अनागत और व्यवहित वस्तुके प्रत्यक्षका वर्णन किया गया है। योगियोंका प्रत्यक्ष बाह्य प्रत्यक्षसे भिन्न होता है। उन्हें अतीत और अनागतरूप लीन और अतीन्द्रिय पदार्थका भी बुद्धिवृत्तिरूप विज्ञानसे संनिकर्ष प्राप्त होता है—

'योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः' (१। ९०)
'लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः'। (१। ९१)

आत्म-श्रवणके बाद मनन, निदिध्यासन (ध्यान), अन्तराय ध्वंसके लिये मान्य है। यद्यपि पुरुष असङ्ग है तथापि अविवेकवश जपा-स्फटिकके तुल्य उसमें बुद्धिधर्मोंका उपराग होता है। उपरागका अर्थ है वृत्तिसारूप्य। वृत्तिरूप विक्षेप और वृत्तिशून्य संस्काररूपमें अवशिष्ट चित्तरूप बिम्बका निरोध होनेपर प्रतिबिम्बात्मक उपरागका भी निरोध होता है। इसके लिये ध्यान, धारणा, प्रत्याहार, प्राणायाम, आसन, अभ्यास,

वैराग्यादि अपेक्षित हैं।

सांख्यकारिका (६४)के अनुसार पुनः-पुनः तत्त्वचिन्तन निदिध्यासन है। निदिध्यासनरूप अभ्याससे अनात्मवस्तुओंमें अहंता-ममताकी निवृत्तिरूप कैवल्यज्ञान उत्पन्न होता है—

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्याद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥

योगदर्शनके अनुसार चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग (समाधि)से वृत्ति-सारूप्य भङ्ग होनेपर द्रष्टाकी स्वरूपस्थिति होती है। यद्यपि वृत्तिदशामें भी द्रष्टा वृत्तिके उपरागसे रहित ही होता है, परंतु इस तथ्यकी अनुभूति समाधिजन्य विवेक-ख्यातिसे ही सम्भव है। विवेकख्यातिमें प्रतिबन्धक्षय और वृत्तिसारूप्यकी निवृत्तिके लिये योगालम्बन अपेक्षित है।

पूर्वमीमांसाके अनुसार अनुष्ठानसे (प्रयोगसे) सम्बद्ध (समवेत) द्रव्य, देवतादि-रूप अर्थके स्मारक मन्त्र होते हैं। **मन्त्रैरेव स्मर्तव्यम्**' इस नियमविधिके अनुसार अर्थस्मरणरूप दृष्टफल प्रकारान्तर (ब्राह्मणवाक्यों) से करना उचित नहीं है। **यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेद्वषट् करिष्यन्**' (ऐतरेय ब्राह्मण० ११।८।१)। **'सन्ध्यां मनसा ध्यायेत्**' (ऐ० ब्रा० ३।८।१)।

—आदि श्रुतियोंके अनुसार देवताका ध्यान कर्तव्य है। देवताके स्मरणसे द्रव्यशुद्धि कर्तव्य है। शुद्ध द्रव्य अभिमत देवताके प्रति समर्पित होता है। देवतोद्देश्यसे समर्पित द्रव्य अभ्युदय-निःश्रेयसकी सिद्धिमें परम्परासे हेतु है—

इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयप्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन॥

(श्लोकवार्तिक)

—के अनुसार वेदान्तविचारसे आत्मप्रबोध होता है।

युक्तस्य ब्रह्मचर्याद्यैरङ्गैः शमदमादिभिः।
कुर्वाणस्यात्ममीमांसां वेदान्तोक्तेन वर्त्मना।
मुक्तिः सम्पद्यते सद्यो नित्यानन्दप्रकाशिनी॥

(मीमांसामानमेयोदय, प्रमेय २७, २८)

—के अनुसार ब्रह्मचर्य, शमादिसम्पन्न साधक वेदान्त-मार्गसे आत्मविचारके द्वारा मोक्षलाभ करता है। इस प्रकार ध्यान, शम, दम, ब्रह्मचर्यादिरूप योगाङ्ग मीमांसकोंके मतमें अभ्युदय और निःश्रेयसमें परमोपयोगी हैं।

उत्तरमीमांसा (वेदान्त-दर्शन)के अनुसार योगदर्शनमें सांख्योक्त पदार्थोंकी गणनाको छोड़कर जो अष्टाङ्गयोगका वर्णन है, वह वेदान्त (उपनिषद्) सम्मत होनेसे ग्राह्य है।

'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृहदा० २।४।५)—इस श्रुतिमें निदिध्यासन विहित है। वार्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्यके अनुसार—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥

(बृहदा० भाष्यवार्तिक श्लोक १०८३)

—श्रुतिवाक्योंद्वारा आत्मस्वरूपका श्रवण कर अनेक युक्ति, अनुमान और उपपत्तियोंके द्वारा उस स्वरूपका निरन्तर ध्यान करना चाहिये। ब्रह्मात्मतत्त्वका ध्यान विहित है। श्रुतिके अनुसार मैं वह चिन्मात्र ब्रह्म ही हूँ—ऐसा चिन्तन ध्यान है।

'सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते।'

(त्रि० ब्रा० ३१)

'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्' (श्वेता० २।८)

'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्'

(कठ०२।६।१८)

'विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्'

(कठ०२।६।१८)

'अथ तत्त्वदर्शनोपायो योगः'

(योगशास्त्र)

'वक्षःस्थल, ग्रीवा और सिर—ये तीन जिसमें उन्नत रखे जाते हैं, उस त्रिरुन्नत शरीरको समान-भावसे रखकर योगका अभ्यास करे', 'उस स्थिर इन्द्रिय-धारणको ही योग कहते हैं', 'इस ब्रह्मविद्या और सम्पूर्ण योगविधिको पाकर नचिकेता ब्रह्मभावको प्राप्त हो गया', 'तत्त्वदर्शनका साधन योग है' आदि श्रुति-स्मृतियोंके द्वारा समर्थित योग तत्त्वज्ञान और तत्त्वनिष्ठाके लिये परमोपयोगी है। सगुण-निर्गुणोपासना सविकल्प-निर्विकल्प समाधिके क्रमसे मोक्षोपयोगी है।

४-शांकर वेदान्तमें योगका स्वरूप और महत्त्व—शांकर वेदान्तमें सम्यग्दर्शननिष्ठारूप योगका फल मोक्ष है। मोक्षमें प्रतिबन्धक मल-विक्षेपके वारणके लिये निदिध्यासन (ध्यान) रूप योगकी आवश्यकता है। उससे चित्त निर्मल

और शान्त होता है। निर्मल और शान्त चित्तको विशुद्ध कहते हैं। ध्यानयोगके प्रत्याहारादि अन्तरङ्ग और कर्मासक्ति, फलासक्ति, अहंकृतिको शिथिल कर धृत्युसाहपूर्वक भगवदर्थ स्वधर्मपालन बहिरङ्ग साधन हैं। इस प्रकार धर्मानुष्ठानसे वैराग्य, वैराग्यसे योगाभ्यास, योगाभ्याससे एकाग्रता, एकाग्रतासे ज्ञाननिष्ठा और ज्ञाननिष्ठासे मोक्ष यह क्रम शांकर-प्रस्थानमें मान्य है। यथा—

'ज्ञाननिष्ठालक्षणः स संन्यासः कर्मयोगोपायो योगः'

(गीता ४। १, शांकरभाष्य)

'न हि अस्य सम्यग्दर्शननिष्ठालक्षणस्य मोक्षाख्यं फलं व्येति'

(गीता ४। १, शांकरभाष्य)

भगवत्पाद शंकराचार्य ऐसा मानते हैं कि अत्यन्त वैराग्यवान् समाधिलाभ करता है। समाहित ही दृढ़ बोध-लाभ करता है। दृढ़ बोधसे ही भवबन्धनकी निवृत्ति होती है। मुक्तात्माको नित्य सुखानुभूति होती है—

अत्यन्तवैराग्यवतः समाधिः समाहितस्यैव दृढप्रबोधः।
प्रबुद्धतत्त्वस्य हि बन्धमुक्तिर्मुक्तात्मनो नित्यसुखानुभूतिः॥

(विवेकचूडामणि ३७६)

साथ ही समाधिद्वारा चित्त निश्चल और ज्ञाननेत्र विकसित होता है। आत्मदर्शन स्फुट सम्भव है। श्रुत पदार्थ नेत्रोंमें अनुभूत होनेपर उसके विषयमें कोई संदेह नहीं रह जाता।

समाधिना साधु विनिश्चलात्मना पश्यात्मतत्त्वं स्फुटबोधचक्षुषा।
निःसंशयं सम्यगवेक्षितश्चेच्छ्रुतः पदार्थो न पुनर्विकल्पते॥

(विवेकचूडामणि ४७४)

श्रीशंकराचार्यजीका अद्वैत सम्प्रदाय और उनकी साधनामें योगकी प्रधानता

(अनन्तश्रीविभूषित तमिलनाडुक्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीजयेन्द्रसरस्वतीजी महाराज)

श्रीशंकराचार्यजीके अद्वैतसिद्धान्तका सारसंग्रह है—**'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।'** आचार्यके कथनका भाव यह है कि भारतवर्षके अनन्तकोटि ग्रन्थोंमें विस्तारसे जिन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन हुआ है, उनका सारांश यह है कि केवल परमात्मा ही त्रिकालाबाधित सत्य है, मायामय विश्व क्षणभङ्गुर एवं मिथ्या है और विविध प्रकारके जीव भी एक तत्त्वघनीभूत परमात्मा या ब्रह्म ही है। इस शांकर सिद्धान्तकी प्रमुख विशेषता है कि यह महान् परमात्माके उच्छ्वास-स्वरूप वेदोंके शिखाभूत ईशावास्य, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ईश, केन और कठ आदि उपनिषदोंसे प्रतिपादित है, उसी प्रकार इसके अधिगमनका मार्ग भी उन्हींसे विशदीकृत है। यही गीतामें भी भगवान्‌के द्वारा स्वयं उपदिष्ट है तथा भगवान् वेदव्यासमुनिके द्वारा ब्रह्मसूत्र या वेदान्त-दर्शनमें सूत्र-रूपसे उपदिष्ट है। वही भगवान् आद्य शंकराचार्यद्वारा स्वकीय भाष्यग्रन्थों तथा अन्य विवरण-स्तोत्र आदि ग्रन्थोंमें सुप्रतिष्ठित, उपबृंहित तथा विस्तारसे प्रतिपादित हुआ है। यही कारण है कि यह अद्वैत सिद्धान्त शांकर-सम्प्रदायके नामसे भी संसारमें प्रसिद्ध है। इस सम्प्रदायकी मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

ब्रह्म—जो अनादि, अनन्त, नित्य एक ही वस्तु,निस्संग, निर्गुण, निष्क्रिय, अद्वितीय, अपरिच्छिन्न, परिपूर्ण, सत्, चित्, आनन्दात्मक है, वही एकमात्र पारमार्थिक सत्य है तथा 'ब्रह्म' के नामसे व्यवहृत होता है।

माया—इसीसे अनादि-सम्बन्धयुक्ता, त्रिगुणात्मिका, अनिर्वचनीया, कार्यानुमेया, जडात्मिका, महाद्भुता जो शक्ति है, वही माया है। इसके दो रूप होते हैं—एक व्यापक, जिसका नाम माया है तथा दूसरा व्याप्य, जिसका नाम है अविद्या। इसीका अपर नाम है अन्तःकरण। मायाकी दो शक्तियाँ हैं—आवरणशक्ति तथा विक्षेपशक्ति।

ईश्वर—स्वयंप्रकाश शुद्धचैतन्य परंब्रह्म जब शुद्धसत्त्व-प्रधानभूत मायामें प्रतिबिम्बित होता है, तब सर्वशक्त परमेश्वर बन जाता है। तमोगुणात्मक आवरण-शक्तिसे चैतन्यके आवृत हो जानेपर रजोगुणात्मिका विक्षेपशक्ति विजृम्भित हो उठती है। उस आत्मा यानी शुद्ध चैतन्यसे आकाश उत्पन्न होता है तथा उससे वायु आदि क्रमसे आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त, जड-चेतनात्मक असंख्य जीवगणोपेत स्थूल, सूक्ष्म, कारणात्मक त्रिविध

शरीरमय जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्त्यात्मक त्रिविध अवस्थासंयुक्त पञ्चकोशात्मक चतुर्योनिमय अनिर्वचनीय प्रपञ्चके रूपमें मायाका परिणाम होता है। यह परिणाम शुद्ध चैतन्यका विवर्त होता है। यानी यह सब प्रपञ्च एकमात्र शुद्धचैतन्यमें अधिष्ठित यानी कल्पित तथा भ्रमात्मक होता है।

जीव—मलिन सत्त्वप्रधानभूत अविद्यात्मक अन्तःकरणमें शुद्धचैतन्यका जो प्रतिबिम्ब होता है, वही जीवत्व प्राप्त करता है। यह भी अनादि है। आवरण-शक्तिसे आवृत हो जानेसे शुद्ध वस्तुका ज्ञान नहीं होता। सत्तारूपमें भी नहीं समझ पड़ता। अन्तःकरण तथा जीवके अन्योन्याध्यासकी प्रबलतासे (अयो दहतिकी भाँति) एकका धर्म दूसरेके जैसा प्रतीत होता है।

जगत्—ब्रह्मज्ञानात्मक विद्याप्राप्तिक अविद्याकल्पित जगत्का सत्यत्व प्रतीत होता ही रहेगा। ज्ञानके प्राप्त होते-होते जगत् अस्तमित हो जायगा, जगत्की यही स्थिति व्यावहारिक सत्ता कहलाती है। इससे देह-इन्द्रियादिके अध्याससे जीवमें कर्तृत्वबुद्धि सुदृढ़ होती है। तदनुसार इष्ट-अनिष्टात्मक फलभोक्तृत्व भी सुदृढ़ अनुभूत होता है। परंतु सम्पूर्ण निस्संग शुद्ध चेतनात्मकता जीवकी कैसे उचित सिद्ध होगी ?

समुचित और सङ्गत बात तो यह है कि अन्तःकरण जड है और जड तत्त्वका कर्तृत्व कभी सम्भव नहीं है। इधर आत्मा असंग है, अतः उसका जड-तत्त्वोंसे सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो सकता है।

इसी बातको उपनिषदोंने भी योगका आशय लेकर दूसरे प्रकारसे समझाया है। उनका कथन है कि प्राणीका मन ही बन्धन या मोक्ष दोनोंका कारण बनता है—'**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।**' जगत्की व्यक्तताका मूल कारण है मन। अतः जब मनका नाश हो जाता है तब तत्कल्पित बन्ध एवं उसके मूल कारण जगत्की भी निवृत्ति हो जाती है। मनका विनाश कैसे होता है, जैसे सोनेमें मन रहता है, पर मनका भान नहीं होता। परंतु जाग्रत्में मनकी ज्ञान, इच्छा, क्रियात्मक शक्तियोंका कार्यान्वित हो जानेका अनुभव होता ही है। ऐसा होनेपर मन (अन्तःकरण) रहता है—ऐसा समझा जाता है। स्वप्नमें तो स्थूल शरीर-कर्मेन्द्रियों तथा ज्ञानेन्द्रियोंका लय हो जाता है, परंतु किस प्रकार इनके सब व्यापार होते रहते हैं ? अन्तःकरणमात्रसे जब गहरी नींदमें पड़ जाते हैं, तब अन्तःकरणका भी लय होता है। अतः किसी भी तरह मन आदिके व्यापार नहीं रहते। किंचिदपि ज्ञान नहीं रहता। जाग उठनेपर 'सुखसे सो गया, कुछ भी न समझ पाया'—ऐसा सुखका स्मरण तथा उसके अनुभवका अज्ञान दोनों समझे जाते हैं। स्मरणके उपादान मन एवं बुद्धिके अनुभव हैं। जब मन शुद्ध चैतन्यमें लीन हो जाता है, तब उसकी पुनरुत्पत्ति नहीं हो पाती और वह नित्य-निरन्तर सुखस्वरूप हो जाता है। यही शुद्ध चैतन्यात्मकता है। शुद्ध चैतन्यात्मकता पानेका कौन-सा उपाय है ? यही है कि—

अन्तःकरण अविद्याका परिणाम (सत्त्वगुण-प्रधान) है, अतः उसे व्यावहारिक सत्योंसे वियुक्त कर चैतन्य-स्वरूपके ध्यानको प्रवृत्त करना चाहिये। इसकी आधारभूत श्रेणी चारों सोपानोंसे परिष्कृत है। ये हैं विवेक, वैराग्य, शम-दमादि षट्-सम्पत्ति एवं मुमुक्षुता। यदि साधक इन्हें सिद्ध कर सद्गुरुके उपदेशके आधारपर ब्रह्माभिन्नत्वको जानकर श्रवण-मनन-निदिध्यासन—इन तीनोंसे निर्विकल्पक समाधिमें लीन हो जाय और निर्विकल्पक समाधिके चारों विघ्नोंको दूर करके उसीमें स्थिरता पा जाय तो अखण्डाकार-वृत्ति भी ईंधनहीन अग्निके समान स्वयं शान्त हो जायगी। किसी प्रकारकी वृत्तिका भान न होनेसे मनका सर्वथा लय हो जायगा। स्वयं सिद्ध ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्ति हो जायगी।

योगदर्शनमें भी इन सभी बातोंको '**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**' अर्थात् इन्हीं साधनोंके द्वारा द्रष्टाके अपने स्वरूपमें अर्थात् ब्रह्मरूपमें स्थित हो जानेकी पद्धति विस्तारसे समझायी गयी है और उन साधनोंसे साक्षात् ब्रह्मके समान ही सर्वज्ञता, परितृप्ति, अनन्तशक्तिमत्ता, शुद्धबुद्धता और परमानन्दता परिपूर्णतः प्राप्त हो जाती है।

दुःखोंकी प्राप्तिसे जिसके मनमें उद्वेग नहीं होता, सुखोंकी स्पृहा जिसके मनसे चली गयी है, तथा जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं वही मुनि स्थिरबुद्धि कहलाता है।—श्रीमद्भगवद्गीता

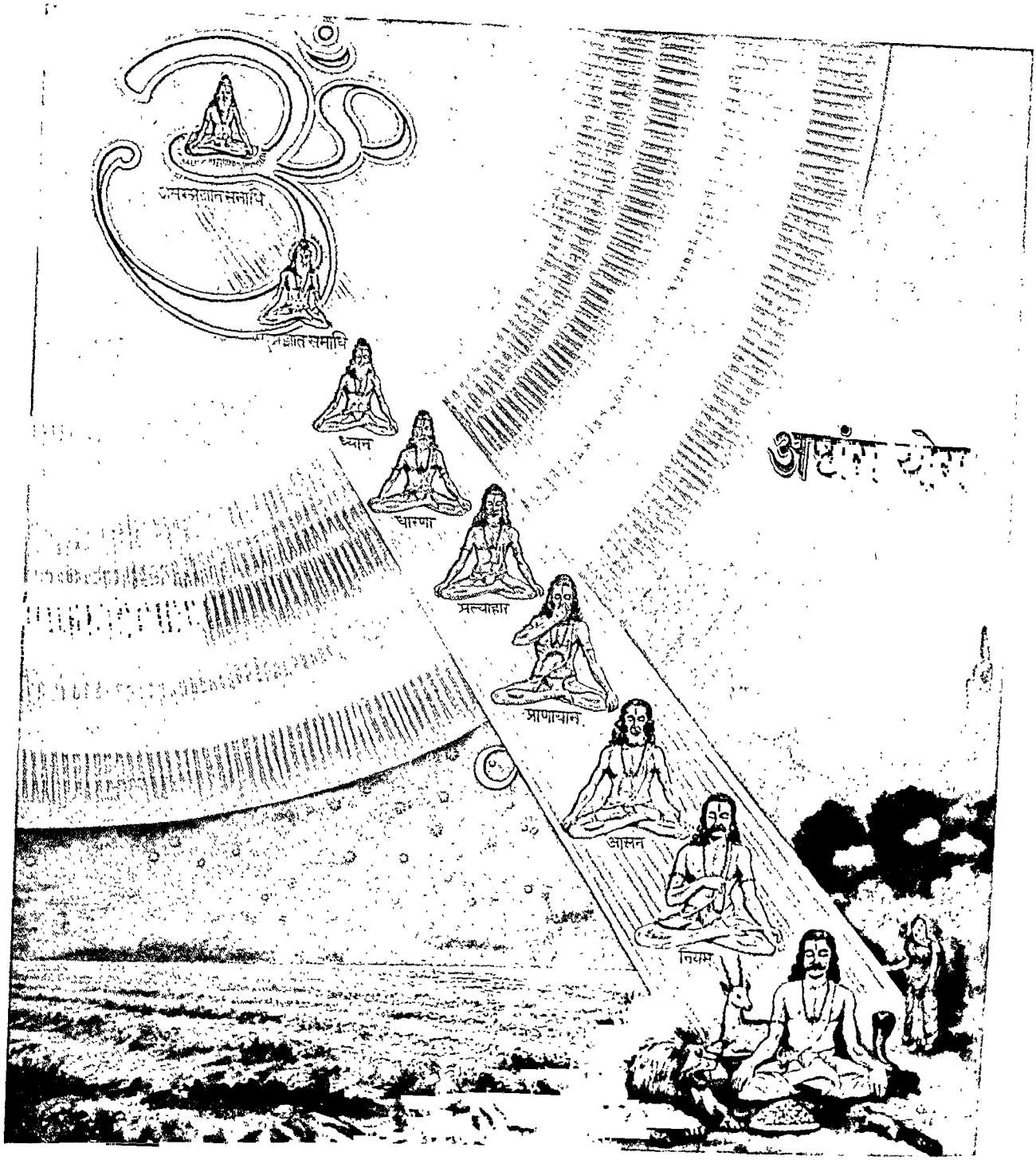
असम्प्रज्ञात समाधि
सम्प्रज्ञात समाधि
ध्यान
धारणा
प्रत्याहार
प्राणायाम
आसन
नियम

अष्टाङ्ग-योग

(ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

अनेकों व्यक्ति ध्यान करने और समाधि लगानेकी चेष्टा करते हैं, परंतु उन्हें सफलता नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि समाधिकी सिद्धिके लिये यम-नियमोंके पालनकी विशेष आवश्यकता है। यम-नियमोंके पालन किये बिना ध्यान और समाधिका सिद्ध होना अत्यन्त कठिन है। झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचारकी वृत्तियोंके नष्ट हुए बिना चित्तका एकाग्र होना कठिन है और चित्त एकाग्र हुए बिना ध्यान और समाधि नहीं हो सकते। यों तो समाधिकी इच्छावाले पुरुषोंको योगके आठों ही अङ्गोंका साधन करना चाहिये, किंतु यम और नियमोंका पालन तो अवश्यमेव करना चाहिये। जैसे नींवके बिना मकान नहीं ठहर सकता, ऐसे ही यम-नियमोंके पालन किये बिना ध्यान और समाधिका सिद्ध होना असम्भव-सा है। यम-नियमोंमें भी जो पुरुष यमोंका पालन न करके केवल नियमोंका पालन करना चाहता है, उससे नियमोंका पालन भी अच्छी प्रकार नहीं हो सकता।

यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥

(मनुस्मृति ४। २०४)

'बुद्धिमान् पुरुष नित्य-निरन्तर यमोंका पालन करता हुआ ही नियमोंका पालन करे, केवल नियमोंका नहीं। जो यमोंका पालन न करके, केवल नियमोंका करता है वह साधन-पथसे गिर जाता है।' इनका साधन किये बिना ध्यान और समाधिकी सिद्धि होनी कठिन है। अतः योगकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुषको यम-नियमोंका साधन अवश्यमेव करना चाहिये। इनके पालनसे चोरी, जारी, झूठ, कपट आदि दुराचारोंका और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणोंका नाश होकर, अन्तःकरणकी पवित्रता होती है और उसमें उत्तम गुणोंका समावेश होकर इष्टदेवताके दर्शन एवं आत्माका साक्षात्कार भी; साधक जो चाहता है वही हो सकता है। परंतु यम-नियमोंके पालन किये बिना ध्यान और समाधिकी बात तो दूर रही अच्छी प्रकारसे प्राणायामका होना भी कठिन है।

बहुत-से लोग प्राणायामके लिये यत्न करते हैं, किंतु सफलता नहीं पाते। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुण एवं झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचार एवं प्राणायाम-विषयक क्रियाके ज्ञानका अभाव ही इस सफलतामें प्रधान बाधक है। यम-नियमोंका पालन करनेसे उपर्युक्त दुराचार और दुर्गुणोंका नाश हो जाता है। अतएव प्राणायामका साधन करनेवालेको भी प्रथम यम-नियमोंका पालन करना चाहिये। उपर्युक्त दुर्गुण और दुराचार सभी साधनोंमें बाधक हैं। इसलिये ध्यान और समाधिकी इच्छा करनेवाले साधकोंको दोषोंका नाश करनेके लिये प्रथम यम-नियमोंका पालन करके ही योगके अन्य अङ्गोंका अनुष्ठान करना चाहिये। जो पुरुष योगके आठों अङ्गोंका अच्छी प्रकारसे साधन कर लेता है, उसका अन्तःकरण पवित्र होनेपर ज्ञानकी अपार दीप्ति हो जाती है, जिससे उसको इच्छानुसार सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं और सिद्धियाँ न चाहनेवाला पुरुष तो क्लेश और कर्मोंसे छूटकर आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर सकता है।

योगके आठ अङ्ग ये हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। (योगदर्शन २। २९)

'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं।' इन आठ अङ्गोंकी दो भूमिकाएँ हैं—(१) बहिरङ्ग, (२) अन्तरङ्ग। ऊपर बतलाये हुए आठ अङ्गोंमेंसे पहले पाँचको बहिरङ्ग कहते हैं, क्योंकि उनका विशेषतया बाहरकी क्रियाओंसे ही सम्बन्ध है। शेष तीन अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरङ्ग हैं। इसका सम्बन्ध केवल अन्तःकरणसे होनेके कारण इनको अन्तरङ्ग कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने एक साथ इन तीनोंको 'संयम' भी कहा है—'**त्रयमेकत्र संयमः।**' (३। ४)

अब इन आठों अङ्गोंका संक्षिप्त विवेचन किया जाता है।

१-यम

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। (योगदर्शन २। ३०)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँचोंका नाम यम है।'

(क) किसी भूत-प्राणीको या अपनेको[१] भी मन, वाणी, शरीरद्वारा कभी किसी प्रकार, किञ्चिन्मात्र भी कष्ट न पहुँचानेका नाम अहिंसा है।

(ख) अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जैसा निश्चय किया हो, हितकी भावनासे, कपटरहित प्रिय शब्दोंमें वैसा-का-वैसा ही प्रकट करनेका नाम सत्य है।

(ग) मन, वाणी, शरीरद्वारा किसी प्रकारके भी किसीके स्वत्व (हक) को न चुराना, न लेना और न छीनना अस्तेय है।

(घ) मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले काम-विकारके सर्वथा अभावका नाम ब्रह्मचर्य है।

(ङ) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि किसी भी भोगसामग्रीका संग्रह न करना अपरिग्रह है।

इन पाँचों यमोंका सब जाति, सब देश और सब कालमें पालन होनेसे एवं किसी भी निमित्तसे इनके विपरीत हिंसादि दोषोंके न घटनेसे इनकी संज्ञा 'महाव्रत' हो जाती है।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।

(योगदर्शन २।३१)

'जाति, देश, काल और निमित्तसे अनवच्छिन्न यमका सार्वभौम पालन महाव्रत होता है।' सार्वभौमके निम्नलिखित प्रकार हैं—

मनुष्य और मनुष्येतर स्थावर-जङ्गम प्राणी, हिन्दू-मुसलमान, सनातनी-असनातनी आदि भेदोंसे किसीके साथ भी यमोंके पालनमें भेद न करना 'जातिगत सार्वभौम' महाव्रत है।

भिन्न-भिन्न खण्डों, देशों, प्रान्तों, ग्रामों, स्थानों एवं तीर्थ-अतीर्थ आदिके भेदसे यमके पालनमें किसी प्रकारका भेद न रखनेसे वह 'देशगत सार्वभौम' महाव्रत होता है।

वर्ष, मास, पक्ष, सप्ताह, दिवस, मुहूर्त, नक्षत्र एवं पर्व-अपर्व आदिके भेदोंसे यमके पालनमें किसी प्रकार भी भेद न रखना 'कालगत सार्वभौम' महाव्रत कहलाता है।

यज्ञ, देव-पूजन, श्राद्ध, दान, विवाह, न्यायालय, क्रय-विक्रय, आजीविका आदिके भेदोंसे यमके पालनमें किसी प्रकारका भेद न रखना 'समय (निमित्त) गत सार्वभौम' महाव्रत है। तात्पर्य यह है कि किसी देश अथवा कालमें, किसी जीवके साथ, किसी भी निमित्तसे, हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदिका आचरण न करना तथा परिग्रह आदि न रखना 'सार्वभौम महाव्रत' है।

२-नियम

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

(योगदर्शन २।३२)

'पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्राणिधान—ये पाँच नियम हैं।'

(क) पवित्रता दो प्रकारकी होती है—(१) बाहरी और (२) भीतरी। जल-मिट्टीसे शरीरकी, स्वार्थ-त्यागसे व्यवहार और आचरणकी तथा न्यायोपार्जित द्रव्यसे प्राप्त सात्त्विक पदार्थोंके पवित्रतापूर्वक सेवनसे आहारकी, यह बाहरी पवित्रता है। अहंता, ममता, राग-द्वेष, ईर्ष्या, भय और काम-क्रोधादि भीतरी दुर्गुणोंके त्यागसे भीतरी पवित्रता होती है।

(ख) सुख-दुःख, लाभ-हानि, यश-अपयश, सिद्धि-असिद्धि, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदिके प्राप्त होनेपर सदा-सर्वदा संतुष्ट—प्रसन्नचित्त रहनेका नाम संतोष है।

(ग) मन और इन्द्रियोंके संयमरूप धर्म-पालन करनेके लिये कष्ट सहनेका और तितिक्षा एवं व्रतादिका नाम तप है।

(घ) कल्याणप्रद शास्त्रोंका अध्ययन और इष्टदेवके नामका जप तथा स्तोत्रादि पठन-पाठन एवं गुणानुवाद करनेका नाम स्वाध्याय है।

(ङ) ईश्वरकी भक्ति अर्थात् मन-वाणी और शरीरद्वारा ईश्वरके लिये, ईश्वरके अनुकूल ही चेष्टा करनेका नाम ईश्वर-प्रणिधान है।

उपर्युक्त यम और नियमोंके पालनमें बाधक हिंसा आदि विपरीत वृत्तियोंके नाशके लिये महर्षि पतञ्जलि उपाय बतलाते हैं—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।

(योगदर्शन २।३३)

१-स्वधर्मरक्षा, परोपकार, ईश्वरभक्ति आदि सत्कार्योंमें कष्ट सहन करना तो योगकी सिद्धिमें सहायक है, यहाँ केवल अशास्त्रीय, अनुचित कष्ट पहुँचानेका निषेध है।

हिंसादि वितर्कोंसे बाधा होनेपर प्रतिपक्षका चिन्तन करना चाहिये।

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोध-मोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्।

(योगदर्शन २। ३४)

कृत, कारित और अनुमोदित-भेदसे, लोभ, क्रोध और मोहके हेतुसे मृदु, मध्य और अधिमात्रस्वरूपसे ये हिंसादि वितर्क अनन्त दुःख और अज्ञानरूपी फलके देनेवाले हैं—ऐसी भावनाका नाम 'प्रतिपक्षभावना' है।

अर्थात् हिंसादि दोष, अनन्त दुःख और अनन्त अज्ञानरूप फलके देनेवाले हैं, इस प्रकारकी बारंबार भावना करनेका नाम 'प्रतिपक्षभावना' है।

हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, भोगपदार्थोंका संग्रह, अपवित्रता और असंतोषकी वृत्ति एवं तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधानके विरोधकी वृत्ति इनका नाम वितर्क है।

उपर्युक्त हिंसादिको मन, वाणी, शरीरद्वारा स्वयं करनेका नाम 'कृत', दूसरोंके द्वारा करवानेका नाम 'कारित' और अन्योंद्वारा किये जानेवाले हिंसादि दोषोंके समर्थन, अनुमोदन या उनमें सम्मतिका नाम 'अनुमोदित' है। उपर्युक्त तीनों प्रकारके हिंसादि समस्त दोषोंके होनेमें लोभ, क्रोध और मोह—ये तीन हेतु हैं। तीनों प्रकारके दोष तीन हेतुओंसे बननेवाले होनेके कारण नौ तरहके हो जाते हैं। आसक्ति या कामनासे उत्पन्न होनेवाले हिंसा, असत्यादि दोषोंमें लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, वैरादिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंमें क्रोध और मूढ़ता, विपरीत-बुद्धि आदिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंमें मोह हेतु होता है। ये नौ प्रकारके दोष मृदु, मध्य और अधिमात्रके भेदसे सत्ताईस प्रकारके हो जाते हैं। अत्यन्त अल्पका नाम मृदु, बीचकी मात्राका नाम मध्य और अधिक मात्रामें यानी पूर्णरूपसे होनेवाले हिंसादि दोषका स्वरूप अधिमात्र कहा जाता है।

यम-नियमोंके पालनका महान् फल

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।

(योगदर्शन २। ३५)

अहिंसारूपी महाव्रतके पूर्ण पालन होनेपर उस योगीके समीप दूसरे (स्वाभाविक वैर रखनेवाले) प्राणी भी वैरका अर्थात् हिंसावृत्तिका त्याग कर देते हैं।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

(योगदर्शन २। ३६)

सत्यके अच्छी प्रकार पालनसे उस सत्यवादीकी वाणी सफल हो जाती है, अर्थात् वह जो कुछ कहता है वही सत्य हो जाता है।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।

(योगदर्शन २। ३७)

चोरीकी वृत्तिका सर्वथा त्याग हो जानेपर उसे सब रत्नोंकी उपस्थिति हो जाती है, अर्थात् समस्त रत्न उसके दृष्टिगोचर हो जाते हैं और समस्त जनता उसका पूर्णरूपसे विश्वास करने लग जाती है।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।

(योगदर्शन २। ३८)

ब्रह्मचर्यका अच्छी प्रकारसे पालन होनेपर शरीर, मन और इन्द्रियोंमें अत्यन्त सामर्थ्यकी प्राप्ति हो जाती है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।

(योगदर्शन २। ३९)

अपरिग्रहके स्थिर होनेपर यानी विषय-भोग-पदार्थोंके संग्रहका भलीभाँति त्याग होनेपर, वैराग्य और उपरति होकर मनका संयम होता है और मनःसंयमसे भूत, भविष्यत्, वर्तमान जन्मोंका और उनके कारणोंका ज्ञान हो जाता है।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।

(योगदर्शन २। ४०)

पूर्णतया बाहरकी पवित्रतासे अपने अङ्गोंमें घृणा और अन्य मनुष्योंके संसर्गका अभाव हो जाता है। क्योंकि दूसरे शरीरोंमें अरुचि हो जानेसे उनका संसर्ग नहीं किया जाता।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।

(योगदर्शन २। ४१)

अन्तःकरणकी पवित्रतासे मनकी प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियोंपर विजय और आत्माके साक्षात् दर्शन करनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है।

संतोषादनुत्तमसुखलाभः। (योगदर्शन २। ४२)

संतोषसे सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

(योगदर्शन २।४३)

तपसे मलदोष अर्थात् पापोंका नाश हो जानेपर अणिमादि अष्ट कायाकी सिद्धियाँ और दूरसे देखना-सुनना आदि इन्द्रियोंकी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।

(योगदर्शन २।४४)

अपने इष्टदेवके नामका जप एवं स्वरूप, गुण, प्रभाव और महिमा आदिके पठन-पाठन, श्रवण-मननरूप स्वाध्यायसे इष्टदेवका साक्षात् दर्शन हो जाता है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।

(योगदर्शन २।४५)

ईश्वरप्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि होती है।

३-आसन और आसनसिद्धिका फल

आसन अनेकों प्रकारके हैं। उनमेंसे आत्मसंयम ाहनेवाले पुरुषके लिये सिद्धासन, पद्मासन और स्तिकासन—ये तीन बहुत उपयोगी माने गये हैं। इनमेंसे ोई-सा भी आसन हो, परंतु मेरुदण्ड, मस्तक और ग्रीवाको ोधा अवश्य रखना चाहिये और दृष्टि नासिकाग्रपर अथवा कुटीमें रखनी चाहिये। आलस्य न सतावे तो आँखें मूँदकर ो बैठ सकते हैं। जिस आसनसे जो पुरुष सुखपूर्वक र्घकालतक बैठ सके, वही उसके लिये उत्तम आसन है।

स्थिरसुखमासनम्।

(योगदर्शन २।४६)

सुखपूर्वक स्थिरतासे बहुत कालतक बैठनेका नाम ासन है।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।

(योगदर्शन २।४७)

शरीरकी स्वाभाविक चेष्टाके शिथिल करनेपर अर्थात् से उपराम होनेपर अथवा अनन्त परमात्मामें मनके तन्मय नेपर आसनकी सिद्धि होती है। कम-से-कम एक पहर यानी न घंटेतक एक आसनसे सुखपूर्वक स्थिर और अचल-ावसे बैठनेको आसनसिद्धि कहते हैं।

ततो द्वन्द्वानभिघातः।

(योगदर्शन २।४८)

आसनोंकी सिद्धिसे (शरीर पूर्णरूपसे संयत हो जानेके कारण) शीतोष्णादि द्वन्द्व बाधा नहीं करते।

४-प्राणायाम

अब संक्षेपमें प्राणायामकी क्रियाका उल्लेख किया जाता है। असलमें प्राणायामका विषय अनुभवी योगियोंके पास रहकर ही उनसे सीखना चाहिये, नहीं तो इससे शारीरिक हानि भी हो सकती है।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

(योगदर्शन २।४९)

आसनके सिद्ध हो जानेपर श्वास और प्रश्वासकी गतिके अवरोध हो जानेका नाम प्राणायाम है। बाहरी वायुका भीतर प्रवेश करना श्वास है और भीतरकी वायुका बाहर निकलना प्रश्वास है, इन दोनोंके रुकनेका नाम प्राणायाम है।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।

(योगदर्शन २।५०)

देश, काल और संख्या (मात्रा) के सम्बन्धसे बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्तिवाले—ये तीनों प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं।

भीतरके श्वासको बाहर निकालकर बाहर ही रोक रखना 'बाह्यकुम्भक' कहलाता है। इसकी विधि यह है कि आठ प्रणव (ॐ) से रेचक करके, सोलहसे बाह्य कुम्भक करना और फिर चारसे पूरक करना—इस प्रकारसे रेचक-पूरकके सहित बाहर कुम्भक करनेका नाम बाह्यवृत्ति-प्राणायाम है।

बाहरके श्वासको भीतर खींचकर भीतर रोकनेको 'आभ्यन्तर कुम्भक' कहते हैं। इसकी विधि यह है कि चार प्रणवसे पूरक करके सोलहसे आभ्यन्तर कुम्भक करे, फिर आठसे रेचक करे। इस प्रकार पूरक-रेचकके सहित भीतर कुम्भक करनेका नाम आभ्यन्तरवृत्ति-प्राणायाम है।

बाहर या भीतर जहाँ कहीं भी सुखपूर्वक प्राणोंके रोकनेका नाम स्तम्भवृत्ति-प्राणायाम है। अथवा चार प्रणवसे पूरक करके आठसे रेचक करे, इस प्रकार पूरक-रेचक करते-करते सुखपूर्वक जहाँ कहीं प्राणोंको रोकनेका नाम स्तम्भवृत्ति-प्राणायाम है।

इनके और भी बहुतसे भेद हैं। जितनी संख्या और

जितना काल पूरकमें लगाया जाय, उतनी संख्या और काल रेचक तथा कुम्भकमें भी लगा सकते हैं।

प्राणवायुका नाभि, हृदय, कण्ठ या नासिकाके भीतरके भागतकका नाम 'आभ्यन्तर' देश है और नासिकापुटसे वायुका बाहर सोलह अङ्गुलतक 'बाह्य देश' है। जो साधक पूरक प्राणायाम करते समय नाभितक श्वासको खींचता है, वह सोलह अङ्गुलतक बाहर फेंके, जो हृदयतक अंदर खींचता है, वह बारह अङ्गुलतक बाहर फेंके, जो कण्ठतक श्वासको खींचता है, वह आठ अङ्गुल बाहर निकाले और जो नासिकाके अंदर ऊपरी अन्तिम भागतक ही श्वास खींचता है, वह चार अङ्गुल बाहरतक श्वास फेंके। इनमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तरवालेको 'सूक्ष्म' और पूर्व-पूर्ववालेको 'दीर्घ' समझना चाहिये।

प्राणायाममें संख्या और कालका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण इनके नियममें व्यतिक्रम नहीं होना चाहिये।

जैसे चार प्रणवसे पूरक करते समय एक सेकंड समय लगा तो सोलह प्रणवसे कुम्भक करते समय चार सेकंड और आठ प्रणवसे रेचक करते समय दो सेकंड समय लगना चाहिये। मन्त्रकी गणनाका नाम 'संख्या' या 'मात्रा' है, उसमें लगनेवाले समयका नाम 'काल' है। यदि सुखपूर्वक हो सके तो साधक ऊपर बताये काल और मात्राको दूनी, तिगुनी, चौगुनी या जितनी चाहे यथासाध्य बढ़ा सकता है। काल और मात्राकी अधिकता एवं न्यूनतासे भी प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होता है।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।

(योगदर्शन २। ५१)

बाह्य और भीतरके विषयोंके त्यागसे होनेवाला जो 'केवल' कुम्भक होता है, उसका नाम चतुर्थ प्राणायाम है।

शब्द-स्पर्शादि जो इन्द्रियोंके बाहरी विषय हैं और संकल्प-विकल्पादि जो अन्तःकरणके विषय हैं, उनके त्यागसे—उनकी उपेक्षा करनेपर अर्थात् विषयोंका चिन्तन न करनेपर प्राणोंकी गतिका जो स्वतः ही अवरोध होता है, उसका नाम 'चतुर्थ प्राणायाम' है। पूर्वसूत्रमें बतलाये हुए प्राणायामोंमें, प्राणोंके निरोधसे मनका संयम है और यहाँ मन और इन्द्रियोंके संयमसे प्राणोंका संयम है। यहाँ प्राणोंके रुकनेका कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं है—जहाँ कहीं भी रुक सकते हैं तथा काल और संख्याका भी विधान नहीं है।

प्राणायामका फल

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

(योगदर्शन २। ५२)

उस प्राणायामके सिद्ध होनेपर विवेकज्ञानको आवृत करनेवाले पाप और अज्ञानका क्षय हो जाता है।

धारणासु च योग्यता मनसः।

(योगदर्शन २। ५३)

तथा प्राणायामकी सिद्धिसे मन स्थिर होकर, उसकी धारणाओंके योग्य सामर्थ्य हो जाती है।

५-प्रत्याहार और उसका फल

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

(योगदर्शन २। ५४)

अपने-अपने विषयोंके सङ्गसे रहित होनेपर, इन्द्रियोंका चित्तके-से रूपमें अवस्थित हो जाना 'प्रत्याहार' है।

प्रत्याहारके सिद्ध होनेपर प्रत्याहारके समय साधकको बाह्यज्ञान नहीं रहता। व्यवहारके समय बाह्यज्ञान होता है। क्योंकि व्यवहारके समय साधक शरीरयात्राके हेतुसे प्रत्याहारको काममें नहीं लाता।

अन्य किसी साधनसे यदि मनका निरोध हो जाता है, तो इन्द्रियोंका निरोधरूप प्रत्याहार अपने आप ही उसके अन्तर्गत आ जाता है।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्।

(योगदर्शन २। ५५)

उस प्रत्याहारसे इन्द्रियाँ अत्यन्त वशमें हो जाती हैं, अर्थात् इन्द्रियोंपर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है।

६-धारणा

योगके आठ अङ्गोंमें पाँच बहिरङ्ग साधनोंका वर्णन हुआ। अब शेष तीन अन्तरङ्ग साधनोंका वर्णन किया जाता है। इनमें प्रथम धारणाका लक्षण बतलाया जाता है, क्योंकि धारणासे ध्यान और समाधि होती हैं। यह योगका छठा अङ्ग है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

(योगदर्शन ३। १)

चित्तको किसी एक देशविशेषमें स्थिर करनेका नाम धारणा है। अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म या बाह्य-आभ्यन्तर, किसी एक ध्येय स्थानमें चित्तको बाँध देना, स्थिर कर देना अर्थात् लगा देना 'धारणा' कहलाता है।

७-ध्यान

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (योगदर्शन ३।२)

उस पूर्वोक्त ध्येय वस्तुमें चित्तवृत्तिकी एकतानताका नाम ध्यान है। अर्थात् चित्तवृत्तिका गङ्गाके प्रवाहकी भाँति या तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे निरन्तर ध्येयवस्तुमें ही अनवरत लगा रहना 'ध्यान' कहलाता है।

८-समाधि

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

(यो० ३।३)

वह ध्यान ही 'समाधि' हो जाता है, जिस समय केवल ध्येय स्वरूपका (ही) भान होता है और अपने स्वरूपके भानका अभाव-सा रहता है। ध्यान करते-करते जब योगीका चित्त ध्येयाकारको प्राप्त हो जाता है और वह स्वयं भी ध्येयमें तन्मय-सा बन जाता है, ध्येयसे भिन्न अपने आपका ज्ञान उसे नहीं-सा रह जाता है, उस स्थितिका नाम समाधि है। ध्यानमें ध्याता, ध्यान, ध्येय यह त्रिपुटी रहती है। समाधिमें केवल अर्थमात्र वस्तु यानी ध्येयवस्तु ही रहती है, अर्थात् ध्याता, ध्यान, ध्येय—इन तीनोंकी एकता-सी हो जाती है।

ऐसी समाधि जब स्थूल पदार्थमें होती है, तब उसे 'निर्वितर्क' कहते हैं और सूक्ष्म पदार्थमें होती है तब उसे 'निर्विचार' कहते हैं। यह समाधि सांसारिक पदार्थोंमें होनेसे तो सिद्धिप्रद होती है, जो कि अध्यात्मविषयमें हानिकर है और यही समाधि ईश्वरविषयक होनेसे मुक्ति प्रदान करती है। इसलिये कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको अपने इष्टदेव परमात्माके स्वरूपमें ही समाधि लगानी चाहिये। इसमें परिपक्वता होनेपर अर्थात् उपर्युक्त योगके आठों अङ्गोंके भलीभाँति अनुष्ठानसे मल और आवरणादि दोषोंके क्षय होनेपर, विवेकख्यातिपर्यन्त ज्ञानकी दीप्ति होती है[1] और उस विवेकख्यातिसे अविद्याका नाश होकर कैवल्यपदकी प्राप्ति याने आत्म-साक्षात्कार हो जाता है।

भक्तियोगका वैशिष्ट्य

(अनन्तश्रीविभूषित श्रीमद्विष्णुस्वामिमतानुयायि श्रीगोपालवैष्णवपीठाधीश्वर श्री १०८ श्रीविट्ठलेशजी महाराज)

जीवात्मा एवं परमात्मा दोनों चैतन्यस्वरूप हैं। उनका परस्पर अंश-अंशीभाव-सम्बन्ध होता है। दोनोंके बीचमें मायारूपी जवनिका (चिक) पड़ जानेके कारण जीव भेददर्शी होकर विचित्र कर्मोंद्वारा विचित्र योनियोंमें जन्म-मरणरूपी संसार-बन्धनसे बँधकर कर्मानुसार सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान आदि परिणामोंको भोगता हुआ जगत्में भटकता फिरता है। अतः आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक—इन तीन प्रकारके तापोंसे संतप्त जीवोंके कल्याणार्थ परम दयालु योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णजीने श्रीमद्भगवद्गीतामें जीवात्मा-परमात्माको एक करानेवाले 'योग' का उपदेश दिया है। योगको परिभाषित करते हुए कहा गया है कि योग इस संसार-सागरसे मुक्ति दिलानेवाली एक युक्ति-विशेष है। अर्थात् इस योगशास्त्रमें भव-बन्धनसे मुक्ति दिलानेवाले एवं आत्मतत्त्वका परमात्मतत्त्वसे ऐक्यभाव उत्पन्न करनेवाले साधनोंका वर्णन है। आत्माके परमात्मासे योग होनेसे ही यह शास्त्र योग कहलाता है।

संसारोत्तारणे युक्तिर्योगशब्देन कथ्यते।
ऐक्यं जीवात्मनोराहुर्योगं योगविशारदाः॥

(योगवासिष्ठ)

भगवत्परायणता ही योग है, वह भी कर्मयोगसे शुद्धान्तःकरण होकर ज्ञानयोगकी भूमिकापर आरूढ़ हो भक्तियोगसे भगवान्को प्राप्त करनेपर ही सिद्ध होता है। कर्म, ज्ञान, भक्ति—ये तीन ही उपाय मानव-कल्याणके लिये भगवान्ने उद्धवजीको बताये थे।

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कर्हिचित्॥

(श्रीमद्भा०)

योग शब्दके मुख्यतया तीन अर्थ होते हैं। प्रथम उपाय,

१-योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिरा विवेकख्यातेः। (योग० २।२८)

दूसरा चित्तवृत्तियोंका निरोध और तीसरा समाधि। साधक यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—इन आठ अङ्गोंके सेवनसे चित्त शुद्ध होकर निश्चल भावको प्राप्त होता है। तभी बिम्ब-प्रतिबिम्बकी तरह जीव-ब्रह्म एक प्रतीत होते हैं।

शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धियाँ अपने-अपने विषयोंको ग्रहण करनेमें लगे रहते हैं, इसी कारण भगवत्साक्षात्कार असम्भव है। अतः विषय-प्रवणा इन्द्रियोंको भगवत्प्रवण बनानेके लिये योगका उपदेश है।

जप-तप-स्वाध्याय, दान, यज्ञ-प्रभृति जितने साधन हैं, वे सभी मनके निग्रह किये बिना इष्ट-प्रदान करनेमें असमर्थ होते हैं। भागवतका कहना है—

सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः।

शुद्ध मन स्वतः भगवन्नाम, लीला, गुणोंके श्रवणमात्रसे भगवान्‌की ओर सम्मुख हो जाता है और संसारोन्मुख चित्तकी वृत्तियाँ सिमिट कर भगवान्‌की ओर अग्रसर हो जाती हैं। यही भगवद्भावापत्तिरूपा समाधि कहलाती है।

जबतक आत्मतत्त्वके ज्ञानसे अज्ञानका नाश नहीं होता है, तबतक सांसारिक कामनाओंके बीजोंका समूल नाश नहीं हो पाता। अतः संसारके उच्छेदनके लिये कामका नाश करना अभीष्ट है। उसके नाशका उपाय निष्कामकर्मनिष्ठा है, उपेय ज्ञान-निष्ठा है। विषयासक्ति बन्धनका हेतु है और भगवदासक्ति मोक्षका कारण है। इसलिये विषयोंकी आशा छोड़कर भगवदासक्ति प्राप्त करनेके लिये मनको नियन्त्रित करना अभीष्ट है।

वह मन चञ्चल स्वभावका होता है, उसको एकाग्र करनेके लिये अभ्यास और वैराग्यरूपी दृढ़ हाथोंकी आवश्यकता होती है। साधक उन्हींके द्वारा दुर्दम्य मनरूपी घोड़ेको पकड़ पाता है। उसको पकड़कर भगवन्मार्गकी ओर दौड़ाना ही भक्तियोग है। इस मार्गसे चलनेपर भगवत्प्राप्ति सुगमतासे होती है।

भगवदेकतानता (तन्मयता) रूपी निदिध्यासन ही राजयोग कहलाता है, उसके साधन भी अनेक हैं, जैसे क्रियायोग, कर्मयोग, हठयोग, मन्त्रयोग, ज्ञानयोग, अद्वैतयोग, ब्रह्मयोग, शिवयोग, सिद्धियोग, लययोग, ध्यानयोग और प्रेमभक्तियोग।

उपर्युक्त सभी साधन साधारण-विशेष-भावसे अष्टाङ्गयोगपर निर्भर हैं। यम-नियमके पालन करनेसे आसन सिद्ध होनेपर प्राणायामद्वारा सर्वेन्द्रियोंको वशमें करके अपने चित्तकी शुद्धिके लिये शरीरके भीतर स्थित सप्तपुरियों, गङ्गादि नदियों तथा क्षमा, सत्य, तप आदि आध्यात्मिक तीर्थोंका सेवन करना चाहिये। इससे चित्त शुद्ध होकर लक्ष्यकी ओर अग्रसर होता है।

'मनःपूतं समाचरेत्' इस सिद्धान्तके अनुसार शुद्ध-चित्त होकर जो कुछ किया जाय वह शीघ्र फलदायक होता है। अतः मानसिक शुद्धिके लिये योगका अभ्यास अत्यावश्यक है। उसमें प्राणायाम ही परम बल है। इसके नियमित अभ्याससे प्राणका संचारी मार्ग प्रशस्त होकर जीवात्माको परमात्माके निकट पहुँचानेमें समर्थ होता है। प्राणके अधीन मन, मनके अधीन इन्द्रियाँ हैं और मनरूपी लगामसे दस इन्द्रियरूपी घोड़ोंको वशमें करनेमें बुद्धिरूपी सारथि सक्षम होता है। अतः प्राणायामके बिना उत्तरोत्तर भूमिकापर आरूढ़ होना कठिन होता है। इसलिये मन-रूपी दुर्दम्य घोड़ेको निग्रह करनेके लिये यौगिक क्रियाका उपदेश है। यह योग-क्रिया अव्यक्तोपासना करनेवालोंके लिये उपादेय है। अव्यक्तोपासना कष्ट-साध्य होती है। भक्तियोगमें भी शुद्ध मनकी परमावश्यकता है अन्यथा जप, तप, सेवा-पूजा, ध्यान आदिमें मन नहीं लगेगा।

सभी कर्मोंको निष्काम-भावसे भगवत्समर्पित करनेपर कर्म-संज्ञा नष्ट हो जाती है और वे अर्पित कर्म भगवद्धर्म कहलाते हैं, जो बन्धक न होकर मोचक हो जाते हैं।

भगवद्भक्तियोगसे स्वर्ग-अपवर्ग आदि सकल पुरुषार्थोंकी प्राप्ति हो सकती है। भक्तियोगमें दूसरे साधनोंकी विशेष अपेक्षा नहीं होती है, किंतु अन्य प्रायः सभी साधनोंमें भक्तिकी अपेक्षा रहती है। वह भक्तियोग सर्वतन्त्र, सर्वसुकर होकर भी सर्वदुष्कर है। बिना गुरु-गोविन्दकी कृपाके उसमें अधिकार पाना कठिन है। अतः भगवत्प्रसाद पानेके लिये सद्गुरुका आश्रयण अभीष्ट है, जिसके सदुपदेशसे चित्तकी वृत्तियोंका निरोधकर भगवान्‌में मन-इन्द्रियोंको लवलीन

करनेकी शक्ति प्राप्त होती है।

श्रद्धा-भक्तिसे मन लगाकर भगवत्सेवन, श्रवण, कीर्तनादि करनेवाला भक्तियोगी सर्वश्रेष्ठ भक्त है, इसीलिये भगवान् कहते हैं कि—**'मच्चित्तः सततं भव'**, **'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि'** (गीता १८। ५७,५८)। इससे सिद्ध होता है कि भगवान्‌में चित्तको एकाग्र करना ही योग है। उससे भगवत्प्रसाद सिद्ध होनेपर योगी सभी दुर्गम मार्गोंको पार कर जाता है।

ऐहिक-पारलौकिक वैभवोंकी तृष्णाका परित्याग कर निरन्तर बिना व्यवधानके भगवान् श्रीकृष्णका अम्बरीष नृपकी तरह सर्वेन्द्रियोंसे मनसे सेवन करनेसे घरमें रहकर भी भगवत्प्राप्ति-रूप मोक्ष प्राप्त हो सकता है **'गृहाश्रमः किं न करोत्यवद्यम्'** (श्रीमद्भा० ५। १। १७)। शम-दम-साधन-सम्पत्तिके बिना भक्तियोग दुर्लभ है। **'अव्यावृतभजनाद्वा'** इस सूत्रके अनुसार **'गृहे स्थित्वा भजेत् कृष्णम्'**, **'अव्यावृतो भजेत् कृष्णम्'** इन श्रीमदाचार्यके वचनोंसे घरमें गृहस्थोचित क्रियासे निवृत्त होकर भजन करे। श्रवण-कीर्तन-स्मरण करते हुए दिन यापन करे।

योगाभ्यासी ज्योतिःस्वरूप भगवद्धाममें लीन हो जाता है, यही विदेह कैवल्य कहलाता है। किंतु प्रेमी भक्तयोगी तो उस तेजपुञ्जमें भगवत्स्वरूपके सौन्दर्य-माधुर्य-सौकुमार्य आदि गुणगणोंका आनन्द अनुभव करता है।

सारांश यह है कि अष्टाङ्गयोगकी क्रिया भक्तियोगमें विशेष उपादेय नहीं। भक्तियोगमें साधनभक्ति-(नवधा भक्ति-)के द्वारा मन-इन्द्रियोंको निरुद्ध कर फलरूपा प्रेमाभक्तिसे भगवदानन्दका अनुभव करना ही फलादेश है। प्रेमाभक्तिकी सिद्धि होनेपर भक्तियोगी पुरुष दास्यासक्ति सख्यासक्ति, स्वरूपासक्ति, नामासक्ति श्रवणासक्ति ध्यानासक्ति, स्मरणासक्ति आदिमेंसे अपनी रुचिके अनुसा भगवदासक्ति-रूपी समाधि सिद्ध कर भगवान्‌में लवलीन हो जाते हैं। उनको इस लोक-परलोकके सुखोंकी आकाङ्क्षा ह नहीं होती। पुनः मोक्ष भी नहीं चाहते इसमें क्या कहना ?

न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥

(श्रीमद्भा० १०। ८७। २१

कुछ प्रेमी भक्त ऐसे होते हैं जो आपकी लीला कथाओंको छोड़कर मोक्षकी अभिलाषा नहीं करते, स्व आदिकी तो बात ही क्या है। वे आपके चरणकमलोंके प्रेमी परमहंसोंके सत्संगमें, जहाँ आपकी कथा होती है, इतन सुख मानते हैं कि उसके लिये इस जीवनमें प्राप्त अपनी घर-गृहस्थीका भी परित्याग कर देते हैं।

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

(श्रीमद्भा० ३। २९। १३)

कुछ भक्त मेरी सेवाको छोड़कर दिये जानेपर भी अन्य मोक्ष आदि नहीं लेते।

नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविद्रुतम्।

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६७)

मेरे अनन्य प्रेमी भक्त सेवासे ही अपनेको परिपूर्ण—कृतकृत्य मानते हैं। मेरी सेवाके फलस्वरूप जब उन्हे सालोक्य-सारूप्य आदि मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं, तब वे उन्हे भी स्वीकार करना नहीं चाहते, फिर समयके फेरसे नष्ट हो जानेवाली वस्तुओंकी तो बात ही क्या है।

भगवन्नामसे प्रेम करो

दूलन चरनन लागि रहु, नामकी करत पुकार।
भक्ति सुधारस पेट भरु, का दहुँ लिखा लिलार॥
जग रहु जगतें अलग रहु, जोग जुगतिकी रीति।
दूलन हिरदे नाम तें, लाइ रहौ दृढ़ प्रीति॥

—दूलनदास

मनको वश करनेके कुछ यौगिक साधन

(नित्यलीलालीन श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥

(गीता ६। ३६)

भगवान् कहते हैं—'जिनका मन वशमें नहीं है, उनके लिये योगका प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, यह मेरा मत है, परंतु मनको वशमें किये हुए प्रयत्नशील पुरुष साधनद्वारा योग प्राप्त कर सकते हैं।'

भगवान् श्रीकृष्ण महाराजके इन वचनोंके अनुसार यह सिद्ध होता है कि मनको वश किये बिना परमात्माकी प्राप्तिरूप योग दुष्प्राप्य है। यदि कोई ऐसा चाहे कि मन तो अपनी इच्छानुसार निरङ्कुश होकर विषयवाटिकामें स्वच्छन्द विचरण किया करे और परमात्माके दर्शन अपने-आप ही हो जायँ, तो यह उसकी भूल है।

दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और आनन्दमय परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवालेको मन वशमें करना ही पड़ेगा, इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है। परंतु मन स्वभावसे ही बड़ा चञ्चल और बलवान् है, इसे वशमें करना कोई साधारण बात नहीं। सारे साधन इसीको वश करनेके लिये किये जाते हैं, इसपर विजय मिलते ही मानो विश्वपर विजय मिल जाती है। भगवान् शंकराचार्यने कहा है—'**जितं जगत् केन मनो हि येन।**' 'जगत्को किसने जीता?—जिसने मनको जीत लिया।' अर्जुनने भी मनको वशमें करना कठिन समझकर कातर शब्दोंमें भगवान्से यही कहा था—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

(गीता ६। ३४)

'हे भगवन्! यह मन बड़ा ही चञ्चल, हठीला, दृढ़ और बलवान् है, इसे रोकना मैं तो वायुके रोकनेके समान अत्यन्त दुष्कर समझता हूँ।'

इससे किसीको यह न समझ लेना चाहिये कि जो बात अर्जुनके लिये इतनी कठिन थी, वह हमलोगोंके लिये कैसे सम्भव होगी। मनको जीतना कठिन अवश्य है, भगवान्ने इस बातको स्वीकार किया, पर साथ ही उपाय भी बतला दिया—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥

(गीता ६। ३५)

भगवान्ने कहा—'अर्जुन! इसमें कोई संदेह नहीं कि इस चञ्चल मनका निग्रह करना बड़ा ही कठिन है, परंतु अभ्यास और वैराग्यसे यह वशमें हो सकता है।' इससे यह सिद्ध हो गया कि मनका वशमें करना कठिन भले ही हो, पर असम्भव नहीं, और इसके वश किये बिना दुःखोंकी निवृत्ति नहीं। अतएव इसे वश करना ही चाहिये। इसके लिये सबसे पहले इसका साधारण स्वरूप और स्वभाव जाननेकी आवश्यकता है।

मनका स्वरूप

मन क्या पदार्थ है? यह आत्म और अनात्म-पदार्थके बीचमें रहनेवाली एक विलक्षण वस्तु है। यह स्वयं अनात्म और जड है, किंतु बन्ध और मोक्ष इसीके अधीन हैं—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

बस, मन ही जगत् है, मन नहीं तो जगत् नहीं। मन विकारी है, इसका कार्य संकल्प-विकल्प करना है। यह जिस पदार्थको भलीभाँति ग्रहण करता है, स्वयं भी तदाकार बन जाता है। यह रागके साथ ही चलता है, सारे अनर्थोंकी उत्पत्ति रागसे होती है, राग न हो तो मन प्रपञ्चोंकी ओर न जाय। किसी भी विषयमें गुण और सौन्दर्य देखकर उसमें राग होता है, इसीसे मन उस विषयमें प्रवृत्त होता है। परंतु जिस विषयमें इसे दुःख और दोष दीख पड़ते हैं, उससे इसका द्वेष हो जाता है, फिर यह उसमें प्रवृत्त नहीं होता, यदि कभी भूलकर प्रवृत्त हो भी जाता है तो उसमें अवगुण देखकर द्वेषसे तत्काल लौट आता है। वास्तवमें द्वेषवाले विषयमें भी इसकी प्रवृत्ति रागसे ही होती है। साधारणतया यही मनका स्वरूप और स्वभाव है। अब सोचना यह है कि यह वशमें क्योंकर हो। इसके लिये उपाय भगवान्ने बतला दिया है—अभ्यास और वैराग्य। यही उपाय योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिने बतलाया है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

(समाधिपाद १२)

'अभ्यास और वैराग्यसे ही चित्तका निरोध होता है', अतएव अब इसी अभ्यास और वैराग्यपर विचार करना चाहिये।

मनको वशमें करनेके साधन

(१) भोगोंमें वैराग्य

जबतक संसारकी वस्तुएँ सुन्दर और सुखप्रद मालूम होती हैं, तभीतक मन उनमें जाता है, यदि यही सब पदार्थ दोषयुक्त और दुःखप्रद दीखने लगें (जैसे कि वास्तवमें ये हैं) तो मन कदापि इनमें नहीं लगेगा। यदि कभी इनकी ओर गया भी तो उसी समय वापस लौट आयेगा, इसलिये संसारके सारे पदार्थोंमें (चाहे वे ऐहलौकिक हों या पारलौकिक) दुःख और दोषकी प्रत्यक्ष भावना करनी चाहिये। ऐसा दृढ़ प्रयत्न करना चाहिये कि इन पदार्थोंमें केवल दोष और दुःख ही भरे हुए हैं। रमणीय और सुखरूप दीखनेवाली वस्तुमें ही मन लगता है। यह रमणीयता और सुखरूपता विषयोंसे हटकर परमात्मामें दिखायी देने लगे (जैसा कि वास्तवमें है) तो यही मन तुरंत विषयोंसे हटकर परमात्मामें लग जाय। यही वैराग्यका साधन है और वैराग्य ही मन जीतनेका एक उत्तम उपाय है। सच्चा वैराग्य तो संसारके इस दीखनेवाले स्वरूपका सर्वथा अभाव और उसकी जगह परमात्माका नित्यभाव प्रतीत होनेमें है। परंतु आरम्भमें नये साधकको मन वश करनेके लिये इस लोक और परलोकके समस्त पदार्थोंमें दोष और दुःख देखना चाहिये, जिससे मनका अनुराग उनसे हटे।

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥

(गीता १३।८)

'इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें वैराग्य, अहङ्कारका त्याग, (इस शरीरमें) जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग (आदि) दुःख और दोष देखने चाहिये।' इस प्रकार वैराग्यकी भावनासे मन वशमें हो सकता है।

(२) नियमसे रहना

मनको वश करनेमें नियमानुवर्तितासे बड़ी सहायता मिलती है। सारे काम ठीक समयपर नियमानुसार होने चाहिये। प्रातःकाल बिछौनेसे उठकर रातको सोनेतक दिनभरके कार्योंकी एक ऐसी नियमित दिनचर्या बना लेनी चाहिये, जिससे जिस समय जो कार्य करना हो, मन अपने-आप स्वभावसे ही उस समय उसी कार्यमें लग जाय। संसार-साधनमें तो नियमानुवर्तितासे लाभ होता ही है, परमार्थमें भी इससे बड़ा लाभ होता है। अपने जिस इष्ट स्वरूपके ध्यानके लिये प्रतिदिन जिस स्थानपर, जिस आसनपर, जिस आसनसे, जिस समय और जितने समय बैठा जाय उसमें किसी दिन भी व्यतिक्रम नहीं होना चाहिये। पाँच मिनटका भी नियमित ध्यान अनियमित अधिक समयके ध्यानसे उत्तम है। आज दस मिनट बैठे, कल आध घंटे, परसों बिलकुल लाँघा, इस प्रकारके साधनसे साधकको सिद्धि कठिनतासे मिलती है। जब पाँच मिनटका ध्यान नियमसे होने लगे, तब दस मिनटका करे, परंतु दस मिनटका करनेके बाद किसी दिन भी नौ मिनट न होना चाहिये। इसी प्रकार स्थान, आसन, समय, इष्ट और मन्त्रका बार-बार परिवर्तन नहीं करना चाहिये। इस तरहकी नियमानुवर्तितासे भी मन स्थिर होता है। नियमोंका पालन खाने, पीने, पहनने, सोने और व्यवहार करने—सभीमें होना चाहिये। नियम अपनी अवस्थाके अनुकूल शास्त्रसम्मत बना लेने चाहिये।

(३) मनकी क्रियाओंपर विचार

मनके प्रत्येक कार्यपर विचार करना चाहिये। प्रतिदिन रातको सोनेसे पूर्व दिनभरके मनके कार्योंपर विचार करना उचित है। यद्यपि मनकी सारी उधेड़-बुनका स्मरण होना बड़ा कठिन है, परंतु जितनी याद रहे उतनी ही बातोंपर विचार कर जो-जो संकल्प सात्त्विक मालूम दें, उनके लिये मनकी सराहना करना और जो-जो संकल्प राजसिक और तामसिक मालूम पड़ें, उनके लिये मनको धिक्कारना चाहिये। प्रतिदिन इस प्रकारके अभ्याससे मनपर सत्कार्य करनेके और असत्कार्य छोड़नेके संस्कार जमने लगेंगे, जिससे कुछ ही समयमें मन बुराइयोंसे बचकर भले-भले कार्योंमें लग जायगा। मन जब पहले भले कार्यवाला होगा, तब उसे वश करनेमें सुगमता होगी। कुसंगमें पड़ा हुआ बालक जबतक कुसंग नहीं छोड़ता, तबतक उसे कुसंगियोंसे बुरी सलाह मिलती रहती है, इससे उसका वशमें होना कठिन रहता है। पर जब कुसंग छूट जाता

है, तब उसे बुरी सलाह नहीं मिल सकती, दिन-रात घरमें उसको माता-पिताके सदुपदेश मिलते हैं, वह भली-भली बातें सुनता है। तब फिर उसके सुधरकर माता-पिताके आज्ञाकारी होनेमें विलम्ब नहीं होता। इसी तरह यदि विषय-चिन्तन करनेवाले मनको कोई एक साथ ही सर्वथा विषयरहित करना चाहे तो वह नहीं कर सकता। पहले मनको बुरे चिन्तनसे बचाना चाहिये, जब वह परमात्म-सम्बन्धी शुभ चिन्तन करने लगेगा, तब उसको वश करनेमें कोई कठिनाई नहीं होगी।

(४) मनके कहनेमें न चलना

मनके कहनेमें नहीं चलना चाहिये। जबतक यह मन वशमें नहीं हो जाता, तबतक इसे अपना परम शत्रु मानना चाहिये। यद्यपि यह बड़ा बलवान् है, कई बार इससे हारना होगा, पर साहस नहीं छोड़ना चाहिये। जो हिम्मत नहीं हारता, वह एक दिन मनको अवश्य जीत लेता है। इससे लड़नेमें एक विचित्रता है। यदि दृढ़तासे लड़ा जाय तो लड़नेवालेका बल दिनोंदिन बढ़ता है और इसका क्रमशः घटने लगता है, इसलिये इससे लड़नेवाला एक-न-एक दिन इसपर अवश्य ही विजयी होता है। अतएव इसकी हाँ-में-हाँ न मिलाकर प्रत्येक कार्य खूब सावधानीसे बर्तना चाहिये। यह मन बड़ा ही चतुर है। कभी डरावेगा, कभी फुसलावेगा, कभी लालच देगा, बड़े-बड़े अनोखे रंग दिखलावेगा, परंतु कभी इसके धोखेमें न आना चाहिये। भूलकर भी इसका विश्वास न करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे इसकी हिम्मत टूट जायगी, लड़ने और धोखा देनेकी आदत छूट जायगी। अन्तमें यह आज्ञा देनेवाला न रहकर सीधा-सादा आज्ञा-पालन करनेवाला विश्वासी सेवक बन जायगा।

मन लोभी, मन लालची, मन चंचल, मन चौर।
मनके मत चलिये नहीं, पलक पलक मन और॥

(५) मनको सत्कार्यमें संलग्न रखना

मन कभी निकम्मा नहीं रह सकता, कुछ-न-कुछ काम इसको मिलना ही चाहिये, अतएव इसे निरन्तर काममें लगाये रखना चाहिये। निकम्मा रहनेसे ही इसे बुरी बातें सूझा करती हैं, अतएव जबतक नींद न आवे, तबतक सुन्दर माङ्गलिक कार्योंमें इसे लगाये रखना चाहिये। जाग्रत्-समयके सत्कार्योंके चित्र ही स्वप्नमें भी दिखायी देंगे।

(६) मनको परमात्मामें लगाना

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

(गीता ६। २६)

'यह चञ्चल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ दौड़कर जाय, वहाँ-वहाँसे हटाकर बारंबार इसे परमात्मामें ही लगाना चाहिये।'

मनको वशमें करनेका उपाय प्रारम्भ करनेपर पहले-पहले तो यह इतना जोर दिखलाता है—अपनी चञ्चलता और शक्तिमत्तासे ऐसी पछाड़ लगाता है कि नया साधक घबड़ा उठता है, उसके हृदयमें निराशा-सी छा जाती है, परंतु ऐसी अवस्थामें धैर्य रखना चाहिये। मनका तो ऐसा स्वभाव ही है और हमें इसपर विजय पाना है, तब घबड़ानेसे थोड़े ही काम चलेगा। मुस्तैदीसे सामना करना चाहिये। आज न हुआ तो क्या, कभी-न-कभी तो वशमें होगा ही। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

(गीता ६। २५)

'धीरे-धीरे अभ्यास करता हुआ उपरामताको प्राप्त हो धैर्ययुक्त बुद्धिसे मनको परमात्मामें स्थिर करके और किसी भी विचारको मनमें न आने दे।'

इस प्रकारकी दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि किसी प्रकारका भी वृथा चिन्तन या मिथ्या संकल्पोंको मनमें नहीं आने दिया जायगा। बड़ी चेष्टा, बड़ी दृढ़ता रखनेपर भी मन साधककी चेष्टाओंको कई बार व्यर्थ कर देता है, साधक तो समझता है कि मैं ध्यान कर रहा हूँ, पर मनदेवता संकल्प-विकल्पोंकी पूजामें लग जाते हैं। जब साधक मनकी ओर देखता है तो उसे आश्चर्य होता है कि यह क्या हुआ। इतने नये-नये संकल्प—जिनकी भावना भी नहीं की गयी थी—कहाँसे आ गये? बात यह होती है कि साधक जब मनको निर्विषय करना चाहता है, तब संसारके नित्य अभ्यस्त विषयोंसे मनको फुरसत मिल जाती है, उधर परमात्मामें लगनेका इस समयतक उसे पूरा अभ्यास नहीं होता। इसलिये फुरसत पाते

ही वह उन पुराने दृश्योंको (जो संस्काररूपसे उसपर अङ्कित हो रहे हैं) सिनेमाके फिल्मकी भाँति क्षण-क्षणमें एकके बाद एक उलटने लग जाता है। इसीसे उस समय ऐसे संकल्प मनमें उठते हुए मालूम होते हैं जो संसारका काम करते समय याद भी नहीं आते थे। मनकी ऐसी प्रबलता देखकर साधक स्तम्भित-सा रह जाता है, पर कोई चिन्ता नहीं। जब अभ्यासका बल बढ़ेगा, तब उसको संसारसे फुरसत मिलते ही तुरंत परमात्मामें लग जायगा। अभ्यास दृढ़ होनेपर तो यह परमात्माके ध्यानसे हटाये जानेपर भी न हटेगा। मन चाहता है सुख। जबतक इसे वहाँ सुख नहीं मिलता—विषयोंमें सुख दीखता है, तबतक यह विषयोंमें रमता है। जब अभ्याससे विषयोंमें दुःख और परमात्मामें परम सुख प्रतीत होने लगेगा, तब यह स्वयं ही विषयोंको छोड़कर परमात्माकी ओर दौड़ेगा, परंतु जबतक ऐसा न हो तबतक निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिये।

(७) एकतत्त्वका अभ्यास करना

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः। (समाधिपाद ३२)

चित्तका विक्षेप दूर करनेके लिये शास्त्रनिर्दिष्ट अभिमत एकतत्त्वका अभ्यास करना चाहिये। एकतत्त्वके अभ्यासका अर्थ ऐसा भी हो सकता है कि किसी एक वस्तुकी या किसी मूर्तिविशेषकी तरफ एकदृष्टिसे देखते रहना। जबतक आँखोंकी पलक न पड़े या आँखोंमें जल न आ जाय, तबतक उस एक ही चिह्नकी तरफ देखते रहना चाहिये। चिह्न धीरे-धीरे छोटा करते रहना चाहिये। अन्तमें उस चिह्नको बिलकुल ही हटा देना चाहिये। **'दृष्टिः स्थिरा यत्र विनावलोकनम्'**—अवलोकन न करनेपर भी दृष्टि स्थिर रहे। ऐसा हो जानेपर चित्तविक्षेप नहीं रहता। इस प्रकार प्रतिदिन आध-आध घंटे भी अभ्यास किया जाय तो मनके स्थिर होनेमें अच्छी सफलता मिल सकती है। इसी प्रकार दोनों भ्रुवोंके बीचमें दृष्टि जमाकर जबतक आँखोंमें जल न आ जाय, तबतक देखते रहनेका अभ्यास किया जाता है। इससे भी मन निश्चल होता है, इसीको त्राटक कहते हैं।

(८) नाभि या नासिकाग्रमें दृष्टि स्थापन करना

नित्य नियमपूर्वक पद्मासन या सुखासनसे सीधा बैठकर नाभिमें दृष्टि जमाकर जबतक पलक न पड़े तबतक एक-मनसे देखते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे शीघ्र ही मन स्थिर होता है। इसी प्रकार नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर बैठनेसे भी चित्त निश्चल हो जाता है। इससे ज्योतिके दर्शन भी होते हैं।

(९) शब्द-श्रवण करना

कानोंमें अँगुली देकर शब्द सुननेका अभ्यास किया जाता है। इसमें पहले भँवरोंके गुंजार अथवा प्रातःकालीन पक्षियोंके चुँचुहाने-जैसा शब्द सुनायी देता है, फिर क्रमशः, घुँघुरू, शङ्ख, घण्टा, ताल, मुरली, भेरी, मृदङ्ग, नफीरी और सिंहगर्जनके सदृश शब्द सुनायी देते हैं। इस प्रकार दस प्रकारके शब्द सुनायी देने लगनेके बाद दिव्य 'ॐ' शब्दका श्रवण होता है, जिससे साधक समाधिको प्राप्त हो जाता है। यह भी मनके निश्चल करनेका उत्तम साधन है।

(१०) ध्यान या मानसपूजा

सब जगह भगवान्‌के किसी नामको लिखा हुआ समझकर बारंबार उस नामके ध्यानमें मन लगाना चाहिये अथवा भगवान्‌के किसी स्वरूपविशेषकी अन्तरिक्षमें मनसे कल्पना कर उसकी पूजा करनी चाहिये। पहले भगवान्‌की मूर्तिके एक-एक अवयवका अलग-अलग ध्यान कर फिर दृढ़ताके साथ सम्पूर्ण विग्रहका ध्यान करना चाहिये। उसीमें मनको अच्छी तरह स्थिर कर देना चाहिये। मूर्तिके ध्यानमें इतना तन्मय हो जाना चाहिये कि संसारका भान ही न रहे। फिर कल्पना-प्रसूत सामग्रियोंसे भगवान्‌की मानसिक पूजा करनी चाहिये। प्रेमपूर्वक की हुई नियमित भगवदुपासनासे मनको निश्चल करनेमें बड़ी सहायता मिल सकती है।

(११) मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षाका व्यवहार

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलि मनोनिग्रहका एक उपाय यह भी बतलाते हैं—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

(समाधिपाद ३३)

'सुखी मनुष्योंसे प्रेम, दुखियोंके प्रति दया, पुण्यात्माओंके प्रति प्रसन्नता और पापियोंके प्रति उदासीनताकी भावनासे चित्त प्रसन्न होता है।'

(क) जगत्‌के सारे सुखी जीवोंके साथ प्रेम करनेसे

चित्तका ईर्ष्यामल दूर होता है, डाहकी आग बुझ जाती है। संसारमें लोग अपनेको और अपने आत्मीय स्वजनोंको सुखी देखकर प्रसन्न होते हैं, क्योंकि वे उन लोगोंको अपने प्राणोंके समान प्रिय समझते हैं। यदि यही प्रिय भाव सारे संसारके सुखियोंके प्रति अर्पित कर दिया जाय तो कितने आनन्दका कारण हो! दूसरेको सुखी देखकर जलन पैदा करनेवाली वृत्तिका नाश हो जाय।

(ख) दुःखी प्राणियोंके प्रति दया करनेसे पर-अपकाररूप चित्त-मल नष्ट होता है। मनुष्य अपने कष्टोंको दूर करनेके लिये किसीसे भी पूछनेकी आवश्यकता नहीं समझता, भविष्यमें कष्ट होनेकी सम्भावना होते ही पहलेसे उसे निवारण करनेकी चेष्टा करने लगता है। यदि ऐसा ही भाव जगत्‌के सारे दुःखी जीवोंके साथ हो जाय तो अनेक लोगोंके दुःख दूर हो सकते हैं। दुःखपीड़ित लोगोंके दुःख दूर करनेके लिये अपना सर्वस्व न्योछावर कर देनेकी प्रबल भावनासे मन सदा ही प्रफुल्लित रह सकता है।

(ग) धार्मिकोंको देखकर हर्षित होनेसे दोषारोप नामक मनका असूया-मल नष्ट होता है, साथ ही धार्मिक पुरुषकी भाँति चित्तमें धार्मिक वृत्ति जाग्रत् हो उठती है। असूयाके नाशसे चित्त शान्त होता है।

(घ) पापियोंके प्रति उपेक्षा करनेसे चित्तका क्रोधरूप मल नष्ट होता है। पापोंका चिन्तन न होनेसे उनके संस्कार अन्तःकरणपर नहीं पड़ते। किसीसे भी घृणा नहीं होती। इससे चित्त शान्त रहता है।

इस प्रकार इन चारों भावोंके बारंबार अनुशीलनसे चित्तकी राजस, तामस वृत्तियाँ नष्ट होकर सात्त्विक वृत्तिका उदय होता है और उससे चित्त प्रसन्न होकर शीघ्र ही एकाग्रता लाभ कर सकता है।

(१२) सद्ग्रन्थोंका अध्ययन

भगवान्‌के परम रहस्यसम्बन्धी परमार्थ-ग्रन्थोंके पठन-पाठनसे भी चित्त स्थिर होता है। एकान्तमें बैठकर उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, रामायण आदि ग्रन्थोंका अर्थसहित अनुशीलन करनेसे वृत्तियाँ तदाकार बन जाती हैं। इससे मन स्थिर हो जाता है।

(१३) प्राणायाम

समाधिसे भी मन रुकता है। समाधि अनेक तरहकी होती है। प्राणायाम समाधिके साधनोंका एक मुख्य अङ्ग है। योगदर्शनमें कहा गया है—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।

(समाधिपाद ३४)

नासिकाके छेदोंसे अन्तरकी वायुको बाहर निकालना प्रच्छर्दन कहलाता है और प्राणवायुकी गति रोक देनेको विधारण कहते हैं। इन दोनों उपायोंसे भी चित्त स्थिर होता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने भी कहा है—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥

(४।२९)

'कई अपानवायुमें प्राणवायुका हवन करते हैं, कई प्राणवायुमें अपानवायुका हवन करते हैं और कई प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणायाम किया करते हैं।'

इसी तरह योगसम्बन्धी ग्रन्थोंके अतिरिक्त महाभारत, श्रीमद्भागवत और उपनिषदोंमें भी प्राणायामका यथेष्ट वर्णन है। श्वास-प्रश्वासको गतिको रोकनेका नाम ही प्राणायाम है। मनु महाराजने कहा है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

'अग्निसे तपाये जानेपर जैसे धातुका मल जल जाता है, उसी प्रकार प्राणवायुके निग्रहसे इन्द्रियोंके सारे दोष दग्ध हो जाते हैं।'

प्राणायाम मनको रोकनेका एक बहुत ही उत्तम साधन है।

(१४) श्वासके द्वारा नाम-जप

मनको रोककर परमात्मामें लगानेका एक अत्यन्त सुलभ और आशङ्कारहित उपाय और है, जिसका अनुष्ठान सभी कर सकते हैं। वह है आने-जानेवाले श्वास-प्रश्वासकी गतिपर ध्यान रखकर श्वासके द्वारा श्रीभगवान्‌के नामका जप करना। यह अभ्यास बैठते-उठते, चलते-फिरते, सोते-खाते हर समय, प्रत्येक अवस्थामें किया जा सकता है। इसमें श्वास जोर-जोरसे लेनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं। श्वासकी साधारण चालके साथ-ही-साथ नामका जप किया जा सकता है। इसमें लक्ष्य

रखनेसे ही मन रुककर नामका जप हो सकता है। श्वासके द्वारा नामका जप करते समय चित्तमें इतनी प्रसन्नता होनी चाहिये कि मानो मन आनन्दसे उछला पड़ता हो। आनन्दरससे छका हुआ अन्तःकरणरूपी पात्र मानो छलका पड़ता हो। यदि इतने आनन्दका अनुभव न हो तो आनन्दकी भावना ही करनी चाहिये। इसीके साथ भगवान्‌को अपने अत्यन्त समीप जानकर उनके स्वरूपका ध्यान करना चाहिये, मानो उनके समीप होनेका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है। इस भावसे संसारकी सुध भुलाकर मनको परमात्मामें लगाना चाहिये।

(१५) ईश्वर-शरणागति

ईश्वर-प्रणिधानसे भी मन वशमें होता है, अनन्य भक्तिसे परमात्माके शरण होना ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है। 'ईश्वर' शब्दसे यहाँपर परमात्मा और उनके भक्त दोनों ही समझे जा सकते हैं। **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति', 'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्', 'तन्मयाः'**—इन श्रुति और भक्तिशास्त्रके सिद्धान्त-वचनोंसे भगवान्, ज्ञानी और भक्तोंकी एकता सिद्ध होती है। श्रीभगवान् और उनके भक्तोंके प्रभाव और चरित्रके चिन्तनमात्रसे चित्त आनन्दसे भर जाता है। संसारका बन्धन मानो अपने-आप टूटने लगता है। अतएव भक्तोंका संग करने, उनके उपदेशोंके अनुसार चलने और भक्तोंकी कृपाको ही भगवत्प्राप्तिका प्रधान उपाय समझनेसे भी मनपर विजय प्राप्त की जा सकती है। भगवान् और सच्चे भक्तोंकी कृपासे सब कुछ हो सकता है।

(१६) मनके कार्योंको देखना

मनको वशमें करनेका एक बड़ा उत्तम साधन है 'मनसे अलग होकर निरन्तर मनके कार्योंको देखते रहना।' जबतक हम मनके साथ मिले हुए हैं, तभीतक मनमें इतनी चञ्चलता है। जिस समय हम मनके द्रष्टा बन जाते हैं, उसी समय मनकी चञ्चलता मिट जाती है। वास्तवमें तो मनसे हम सर्वथा भिन्न ही हैं। किस समय मनमें क्या संकल्प होता है, इसका पूरा पता हमें रहता है। आँखको आँख नहीं देख सकती। इस न्यायसे मनकी बातोंको जो जानता या देखता है वह मनसे सर्वथा भिन्न है, भिन्न होते हुए भी वह अपनेको मनके साथ मिला लेता है, इसीसे उसका जोर पाकर मनकी उद्दण्डता बढ़ जाती है। यदि साधक अपनेको निरन्तर अलग रखकर मनकी क्रियाओंका द्रष्टा बनकर देखनेका अभ्यास करे तो मन बहुत ही शीघ्र संकल्परहित हो सकता है।

(१७) भगवन्नामकीर्तन

मग्न होकर उच्च स्वरसे परमात्माका नाम और गुण-कीर्तन करनेसे भी मन परमात्मामें स्थिर हो सकता है। भगवान् चैतन्यदेवने तो मनको निरुद्धकर परमात्मामें लगानेका यही परम साधन बतलाया है। भक्त जब अपने प्रभुका नामकीर्तन करते-करते गद्‌गद-कण्ठ, रोमाञ्चित और अश्रुपूर्ण-लोचन होकर प्रेमावेशमें अपने-आपको सर्वथा भुलाकर केवल प्रेमी परमात्माके रूपमें तन्मयता प्राप्त कर लेता है, तब भला मनको जीतनेमें और कौन-सी बात बच रहती है। अतएव प्रेमपूर्वक परमात्माका नामकीर्तन करना मनपर विजय पानेका एक अत्युत्तम साधन है।

इस प्रकारसे मनको रोककर परमात्मामें लगानेके अनेक साधन और युक्तियाँ हैं। इनमेंसे या अन्य किसी भी युक्तिसे किसी प्रकारसे भी मनको विषयोंसे हटाकर परमात्मामें लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये। मनके स्थिर किये बिना अन्य कोई भी अवलम्बन नहीं। जैसे चञ्चल जलमें रूप विकृत दीख पड़ता है, उसी प्रकार चञ्चल चित्तमें आत्माका यथार्थ स्वरूप प्रतिबिम्बित नहीं होता। परंतु जैसे स्थिर जलमें प्रतिबिम्ब जैसा होता है वैसा ही दीखता है, इसी प्रकार केवल स्थिर मनसे ही आत्माका यथार्थ स्वरूप स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है। अतएव प्राणपणसे मनको स्थिर करनेका प्रयत्न करना चाहिये। अबतक जो इस मनको स्थिर कर सके हैं, वे ही उस श्यामसुन्दरके नित्यप्रसन्न नवीन-नील-नीरद प्रफुल्ल मुखारविन्दका दर्शन कर अपना जन्म और जीवन सफल कर सके हैं। जिसने एक बार भी उस 'अनूपरूप-शिरोमणि' के दर्शनका संयोग प्राप्त कर लिया, वही धन्य हो गया। उसके लिये उस सुखके सामने और सारे सुख फीके पड़ गये! उस लाभके सामने और सारे लाभ नीचे हो गये!

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

'जिस लाभको पा लेनेपर उससे अधिक और कोई-सा लाभ भी नहीं जँचता।' यही योगसाधनका चरम फल है अथवा यही परम योग है।

योग-तत्त्व-मीमांसा

(श्रीसम्प्रदायाचार्य श्रीभाष्यभगवद्विषय उभयसिंहासनाधिपति विश्वाचार्य श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज 'तर्कशिरोमणि')

'योग' भारतीय सनातन धर्म-दर्शन एवं संस्कृतिका अभिन्न अङ्ग है। इसका मूल रूप वैदिक संहिताओंमें सूत्ररूपमें उपनिबद्ध है। योगके बीजका वर्णन कृष्णयजुर्वेदकी 'काठक' शाखामें इस प्रकार उपलब्ध है—**'पूर्णो वै प्रजापतिः समृद्धिभिः। ऊनो व्यृद्धिभिः। पूर्णः पुरुषः कामैः। ऊनः समृद्धिभिः।'** प्रजापति समृद्धियोंसे पूर्ण है। परंतु वह व्यृद्धियों (असमृद्धियों) से ऊन (हीन) है, इसके विपरीत पुरुष (जीव) कामनाओंसे परिपूर्ण है, परंतु समृद्धियोंसे हीन है। पुरुषकी यह समृद्धियोंसे हीनता एवं परमात्माकी समृद्धियोंसे पूर्णता ही योगका बीज बनी है। कारण कि अभावकी पूर्तिके लिये प्राणीकी स्वभावतः प्रवृत्ति है। जिसके पास धन नहीं है, वह धनार्जन करके धनाभावको नष्ट करना चाहता है। जिसके पास ज्ञान नहीं है, वह ज्ञानार्जन करके ज्ञानाभावको नष्ट करना चाहता है। इसी प्रकार अल्पायु जीव दीर्घायु, शक्तिहीन जीव शक्तिमान्, दुःखी जीव आनन्दवान् होनेकी कामना करता है। जीवमें इन सभी वस्तुओंका अभाव है, परंतु परमात्मामें ये सभी वस्तुएँ पूर्णरूपसे विद्यमान हैं। परमात्माकी आयु अनन्त है। अर्थात् वह अनादि-अनन्त है। उसकी शक्ति अनन्त है। वह विश्वकर्मा है। वह अनन्तानन्त शक्तियोंका घन है। उसका ज्ञान अनन्त है। वह सर्वज्ञ है। उसके बल-ऐश्वर्य आदि सब अनन्त हैं। इस कारण उसके पास पहुँचकर, उनसे मिलकर उन अभिलषित वस्तुओंको प्राप्त करनेकी लालसा मनुष्यके हृदयमें निसर्गसे उठती है। यह जो उनके पास पहुँचनेकी लालसा है, उसके पूर्ण करनेके उपायको 'उपासना' कहते हैं। अर्थात् परमात्माके समीप जाने अथवा उसके सामीप्यलाभको प्राप्त करनेके उपायको उपासना कहते हैं, यही योग है। इसका आरण्यक और उपनिषद्-भागमें 'भक्ति' भी नामान्तर है। महापुरुषोंके मतमें सर्वोच्च जीवन-विज्ञानके अनुसार मानवका अनन्त शाश्वत जीवन वही है कि जिसमें सर्वतोव्यापी पूर्ण सत्ताके साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध बना रहे। यही शाश्वत जीवन परमात्माके अनुभवका जीवन है। परमात्माके अनुभवका यही रहस्य है कि उनके साथ सदैव सम्बन्ध अविच्छिन्न बना रहे। ऐसा सम्बन्ध ही योग कहलाता है। इसका ही अपर नाम उपासना अर्थात् सामीप्य है। यह नवधा भक्तिसे भिन्न है।

इस उपर्युक्त योगतत्त्वका वर्णन महापुरुषोंने प्रकारान्तरसे इस प्रकार किया है—उनका अनुभव इस प्रकार है—मनुष्यमें वह योग्यता है कि सर्वशक्तिमान्‌से वह अपने आत्माका सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। इस तत्त्वके यथार्थ समझने एवं करनेपर नरसे नारायण हो सकता है। अर्थात् नारायण-सम हो जाता है। नारायण-सम होते ही वह यह अनुभव करने लगता है कि वह सभी दिव्य शक्तियोंका केन्द्र बन गया है। वह स्वयं महान् शक्तिमान् है। उस समय प्रकृतिके सभी पदार्थ उसकी आज्ञासे काम करने लगते हैं। केवल प्राकृत सुख एवं केवल प्राकृत विज्ञान मनुष्यका परम मङ्गल नहीं है, परंतु पूर्ण मङ्गलमय परमात्माके साथ सतत सामीप्यका लाभ ही परम मङ्गल है। दूसरे शब्दोंमें जीवनका परम लक्ष्य वही श्रेष्ठतर कर्म है, जिसके द्वारा मानवीय सत्ता व्यापक भगवत्सत्ताके साथ एकीभावको प्राप्त हो जाय। मनुष्यमें सामर्थ्य है कि वह अपना सम्बन्ध भगवान्‌की अलौकिक शक्तिके साथ कर सकता है। इस प्रकारका सम्बन्ध एक बार भी हो जाय और इसका रहस्य भी समझमें आ जाय तो मनुष्य पुनः मायाका दास नहीं बना रह सकता, वह भगवद्दास हो जाता है। वह स्वयं प्रभु-समान बन जाता है। उस समय मनुष्यके अनुभवमें आ जाता है कि सब शक्तियोंका आकर अपने भीतर ही विद्यमान है, उसमें सर्वशक्तिमान्‌की उपासनासे सभी शक्तियोंका प्राकट्य हो जाता है और वे सभी शक्तियाँ उसकी आज्ञासे काम करने लगती हैं। परंतु परमात्मा अव्यक्त होनेसे इन्द्रियातीत हैं। हमारे दृष्टिगोचर नहीं होते, अर्थात् हमको दीखते नहीं हैं। जीवपर प्रकृतिका आवरण होनेसे वह उससे बहुत दूर स्थित-जैसा है। उसके पास यकायक कैसे जाया जाय। अर्थात् प्रकृतिपरायण मानव-चित्त यकायक अधिकारयुक्त नहीं हो सकता, इसका समाधान योगके द्वारा होता है। चित्तवृत्ति-निरोधद्वारा आत्मसाक्षात्कारके लिये निर्दिष्ट क्रियाओंका नाम योग है। इस योगके चार पर्व हैं। उनके नाम हैं—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग एवं राजयोग। इनमें मन्त्रयोग स्थूल, हठयोग सूक्ष्म, लययोग

सूक्ष्मतर एवं राजयोग सूक्ष्मतम है। अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। इन चारोंका स्वरूप अति संक्षेपमें इस प्रकार है—

शब्द (मन्त्र एवं अर्थ), मूर्ति—इन दोनोंके अवलम्बनसे जो योग साधा जाता है वह मन्त्रयोग है। जिन क्रियाओंसे चित्तवृत्तिका निरोध किया जाता है वह हठयोग है। पुरुषमें प्रकृतिका लय लययोग है। जो अन्तःकरण (बुद्धि)-के द्वारा साधा जाता है वह राजयोग है। योगोंमें श्रेष्ठ होनेके कारण इसको राजयोग कहते हैं। राजयोगमें बुद्धिसे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाओंका अधिक सम्बन्ध है। लययोगमें मानस-क्रियाका आधिक्य है। हठयोगमें वायुजय-क्रियाका आधिक्य है और मन्त्रयोगमें ब्रह्मचर्य-रक्षा और रेतोधारणपर विशेष आग्रह है। इनका विशेष विवरण तो योगकी मूल संहिताओंमें ही देखना आवश्यक है।

अनासक्तियोग

(स्व० पं० श्रीरामनारायणदत्तजी पाण्डेय, शास्त्री)

(१)

ालकें किसी मंजु सुहागिनकी जिसे नागिन-सी डँस जातीं नहीं।
ड़ चञ्चल आँखें सुदूरहीसे उर-भौनमें आग लगातीं नहीं॥
धरोंकी कभी वह हाला जिसे मधु-प्याला बनी ललचाती नहीं।
वाह उसे भवकूपकी क्या जिसे रूपकी ज्वाला जलाती नहीं॥

(२)

हाँ दौड़ पड़ा दृग मूँद अरे! रसबूँदकी चाहमें प्यासा यहाँ।
प घूँटता एक ही घूँट पिये चला खेलने प्राणका पाँसा यहाँ॥
रा कंचनका घड़ा है विषसे खड़ा तू लिये कैसी दुराशा यहाँ।
ह जिंदगी ही मिट जाती, नहीं बुझ पाती किसीकी पिपासा यहाँ॥

(३)

हीं क्रीडनके लिये नीड बना, कहीं डोल हिंडोल रहे अगमें।
न, यौवन, रूप, सनेह सुधा—सभी मोहक साज सजा मगमें॥
रा होश सँभालके आगे बढ़ो, पड़ जाय न बेड़ी कहीं पगमें।
हें बाँधनेके लिये चित्त-विहंगम! जाल अनेकों बिछे जगमें॥

(४)

अभिमान तुझे जिस आयुका है उसे एक ही झोंकमें वायु उड़ाता।
नवयौवनकी मदिरा भी अरे! बली काल अकालहीमें बुलकाता॥
फिर वैभव-भोगकी बात ही क्या, क्षणमें जो प्रभात-सा है मिट जाता।
यह सारा प्रपञ्च ही है सपना, अपना कहके किसे नेह लगाता॥

(५)

जलती जो सदा ही सनेहसे है उससे करनेको सनेह चलो नहीं।
गति एककी देख विवेक करो, फँस मोहके फंदमें यों फिसलो नहीं॥
रसपानके लोभमें जान गवाँ अनजान-से हा! अपनेको छलो नहीं।
उस दाहक सुन्दरता पै अरे बन बावले प्रेमी पतंग! जलो नहीं॥

(६)

कभी मर्म न जाना उपासनाका, किये वासनाको तू प्रपंचित ही रहा।
पथ मुक्तिका भूला, बँधा मुकुलोंमें, न चेत अभी तुझे किञ्चित् भी रहा॥
कमलालयमें भी सदा करता कमलोंके परागको संचित ही रहा।
कमलेशमें राग हुआ नहिं हा! रसलोभी मलिन्द! तू वंचित ही रहा॥

(७)

कलगानपै मोहित होकर जो अलियोंसे नहीं तुम नेह लगाते।
मधु सौरभ पुण्य पराग सभी निज हाथसे साथ ही यों न गँवाते॥
लगे दाग नहीं यदि होते, तुम्हें अनुरागसे देव भी माथ चढ़ाते।
निज भूलपै रोकर फूल! नहीं तुम धूलमें यों अपनेको मिलाते॥

योगः कर्मसु कौशलम्

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

गीता समतामें ही साधनकी पूर्णता मानती है। यदि समता आ जाय तो सिद्ध पुरुषोंके सब लक्षण अपने-आप आ जाते हैं। यदि किसी साधकमें अन्य लक्षण तो हैं, पर समता नहीं है तो उसका साधन पूर्ण नहीं है। इसलिये गीतामें जहाँ-जहाँ सिद्धोंके लक्षण आये हैं, वहाँ-वहाँ समताकी मुख्यता आयी है। तात्पर्य है कि समता ही गीताका ध्येय है।

गीताका उपदेश दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे आरम्भ होता है। उपदेशके आरम्भमें भगवान्‌ने ग्यारहवें श्लोकसे तीसवें श्लोकतक शरीरी-शरीर, सत्-असत्, नित्य-अनित्य विवेकका वर्णन किया। फिर इकतीसवेंसे अड़तीसवें श्लोकतक क्षात्रधर्मकी दृष्टिसे युद्ध करनेकी आवश्यकताका वर्णन करके उनतालीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।

(२।३९)

'यह (अड़तीसवें श्लोकमें वर्णित[१]) समता पहले सांख्ययोगमें कही गयी, अब तू इसको योगके विषयमें सुन।'

यहाँ पहली बार 'बुद्धि' शब्दका प्रयोग हुआ है। इससे पहले कहीं 'बुद्धि' शब्द नहीं आया। उनतालीसवें श्लोकसे जो प्रकरण आरम्भ हुआ है, उसमें 'समता' को ही कहीं 'बुद्धि' शब्दसे (२।३९, ४९—५१), कहीं 'योग' शब्दसे (२।४८, ५०, ५३) और कहीं 'बुद्धियोग' शब्दसे (२।४९) कहा गया है। अड़तालीसवें श्लोकमें भगवान् 'योग'की परिभाषा बताते हैं—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(२।४८)

'हे धनंजय! तू आसक्तिका त्याग करके सिद्धि-असिद्धिमें सम होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंको कर; क्योंकि समताको ही योग कहा जाता है।'

इसके बाद पचासवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

'बुद्धि (समता)से युक्त मनुष्य वर्तमानमें ही पुण्य और पाप दोनोंसे रहित (निर्लिप्त) हो जाता है। अतः तू योग (समता)में लग जा; क्योंकि योग ही कर्मोंमें कुशलता है।'

इस श्लोकमें आये **'योगः कर्मसु कौशलम्'** पदोंपर विचार करें तो इनके दो अर्थ लिये जा सकते हैं—

(१) **'कर्मसु कौशलं योगः'** अर्थात् कर्मोंमें कुशलता ही योग है।

(२) **'कर्मसु योगः कौशलम्'** अर्थात् कर्मोंमें योग ही कुशलता है।

अगर पहला अर्थ लिया जाय कि 'कर्मोंमें कुशलता ही योग है' तो जो बड़ी कुशलतासे, सावधानीसे चोरी, ठगी आदि कर्म करता है, उसका कर्म 'योग' हो जायगा! परंतु ऐसा मानना उचित नहीं है और यहाँ निषिद्ध कर्मोंका प्रसंग भी नहीं है। अगर यहाँ शुभ-कर्मोंको ही कुशलतापूर्वक करनेका नाम योग मानें तो मनुष्य कुशलतापूर्वक, साङ्गोपाङ्ग किये हुए शुभ-कर्मोंके फलसे बँध जायगा—**'फले सक्तो निबध्यते'** (गीता ५।१२); अतः उसकी स्थिति समतामें नहीं रहेगी और उसके दुःखोंका नाश नहीं होगा।

शास्त्रमें आया है—**'कर्मणा बध्यते जन्तुः'** 'कर्मोंसे मनुष्य बँध जाता है।' अतः जो कर्म स्वभावसे ही मनुष्यको बाँधनेवाले हैं, वे ही मुक्ति देनेवाले हो जायँ—यही वस्तुतः कर्मोंमें कुशलता है। मुक्ति योग (समता)से होती है, कर्मोंमें कुशलतासे नहीं। कर्म कितने ही बढ़िया हों, उनका आरम्भ तथा अन्त होता है और उनके फलका भी संयोग तथा वियोग होता है। जिसका आरम्भ और अन्त, संयोग और वियोग होता है, उसके द्वारा मुक्तिकी प्राप्ति कैसे होगी? नाशवान्‌के द्वारा अविनाशीकी प्राप्ति कैसे होगी? अतः महत्त्व योगका है, कर्मोंका नहीं।

१-सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ (२।३८)
'जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःखको समान करके फिर युद्धमें लग जा। इस प्रकार युद्ध करनेसे तू पापको प्राप्त नहीं होगा।'

अगर उपर्युक्त अर्थ ही ठीक माना जाय तो भी 'कुशलता' के अन्तर्गत समता, निष्कामभावको ही लेना पड़ेगा अर्थात् कर्मोंमें कुशलता ही योग है तो 'कुशलता' क्या है ? इसके उत्तरमें यह कहना ही पड़ेगा कि योग (समता) ही कुशलता है। ऐसी स्थितिमें 'कर्मोंमें योग ही कुशलता है' ऐसा सीधा अर्थ क्यों न ले लिया जाय ? जब उपर्युक्त पदोंमें 'योग' शब्द आया ही है, तो फिर 'कुशलता'का अर्थ योग लेनेकी जरूरत ही नहीं है।

अगर प्रकरणपर विचार करें तो योग (समता) का ही प्रकरण चल रहा है, कर्मोंकी कुशलताका नहीं। भगवान् **'समत्वं योग उच्यते'** (२।४८) कहकर योगकी परिभाषा भी बता चुके हैं। अतः इस प्रकरणमें योग ही विधेय है, कर्मोंमें कुशलता विधेय नहीं है। योग ही कर्मोंमें कुशलता है अर्थात् कर्मोंको करते हुए हृदयमें समता रहे, राग-द्वेष न रहें—यही कर्मोंमें कुशलता है। इसलिये **'योगः कर्मसु कौशलम्'**—यह योगकी परिभाषा नहीं है; किंतु योगकी महिमा है।

इसी (पचासवें) श्लोकके पूर्वार्धमें भगवान्‌ने कहा है कि समतासे युक्त मनुष्य पुण्य और पाप दोनोंसे रहित हो जाता है। यदि मनुष्य पुण्य और पाप दोनोंसे रहित हो जाय तो फिर कौन-सा कर्म कुशलतासे किया जायगा ?

गीतामें 'कुशल' शब्दका प्रयोग अठारहवें अध्यायके दसवें श्लोकमें भी हुआ है—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः॥

'जो अकुशल कर्मसे द्वेष नहीं करता और कुशल कर्ममें आसक्त नहीं होता, वह त्यागी, बुद्धिमान्, संदेहरहित और अपने स्वरूपमें स्थित है।'

यहाँ 'अकुशल कर्म' के अन्तर्गत सकामभावसे किये जानेवाले और शास्त्रनिषिद्ध कर्म आते हैं तथा 'कुशल कर्म' के अन्तर्गत निष्कामभावसे किये जानेवाले शास्त्रविहित कर्म आते हैं। अकुशल और कुशल कर्मोंका तो आदि-अन्त होता है, पर योग (समता) का आदि-अन्त नहीं होता। बाँधनेवाले राग-द्वेष ही हैं, कुशल-अकुशल कर्म नहीं। अतः रागपूर्वक किये गये कर्म कितने ही श्रेष्ठ क्यों न हों, वे बाँधनेवाले ही हैं; क्योंकि उन कर्मोंसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति भी हो जाय तो भी वहाँसे लौटकर पीछे आना पड़ता है—**'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।'** (गीता ८।१६)। इसलिये जो मनुष्य अकुशल कर्मका त्याग द्वेषपूर्वक नहीं करता और कुशल कर्मका आचरण रागपूर्वक नहीं करता, वही वास्तवमें त्यागी, बुद्धिमान्, संदेहरहित और अपने स्वरूपमें स्थित है[२]।

उपर्युक्त विवेचनसे सिद्ध हुआ कि **'योगः कर्मसु कौशलम्'** पदोंका अर्थ 'कर्मोंमें कुशलता ही योग है'—ऐसा न मानकर 'कर्मोंमें योग ही कुशलता है'—ऐसा ही मानना चाहिये। अब 'योग' क्या है—इसपर विचार किया जाता है।

गीतामें 'योग' शब्दके तीन अर्थ हैं—(१) समता; जैसे—**'समत्वं योग उच्यते'** (२।४८); (२) सामर्थ्य, ऐश्वर्य, प्रभाव; जैसे—**'पश्य मे योगमैश्वरम्'** (९।५); और (३) समाधि; जैसे—**'यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया'** (६।२०)। यद्यपि गीतामें 'योग' का अर्थ मुख्यतासे 'समता' ही है, तथापि 'योग' शब्दके अन्तर्गत तीनों ही अर्थ लेने चाहिये।

पातञ्जलयोगदर्शनमें चित्तवृत्तियोंके निरोधको 'योग' कहा गया है—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** (१।२)। इस योगके परिणामस्वरूप द्रष्टाकी स्वरूपमें स्थिति हो जाती है—**'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** (१।३)। इस प्रकार पातञ्जल-योगदर्शनमें योगका जो परिणाम बताया गया है, उसीको गीता 'योग' कहती है[३]। तात्पर्य है कि गीता चित्तवृत्तियोंसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक स्वतःसिद्ध सम-स्वरूपमें स्वाभाविक

२-दोषबुद्ध्योभयातीतो निषेधान्न निवर्तते। गुणबुद्ध्या च विहितं न करोति यथार्भकः॥ (श्रीमद्भा० ११।७।११)

'जो मनुष्य अनुकूलता-प्रतिकूलतारूप द्वन्द्वोंसे ऊँचा उठ जाता है, वह शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंका त्याग करता है, पर द्वेषबुद्धिसे नहीं और शास्त्रविहित कर्मोंको करता है, पर गुणबुद्धिसे अर्थात् रागपूर्वक नहीं। जैसे घुटनोंके बलपर चलनेवाले बच्चेकी निवृत्ति और प्रवृत्ति राग-द्वेषपूर्वक नहीं होती, ऐसे ही उभयातीत मनुष्यकी निवृत्ति और प्रवृत्ति भी राग-द्वेषपूर्वक नहीं होती। (बच्चेमें तो अज्ञता रहती है, पर राग-द्वेषसे रहित मनुष्यमें विज्ञता रहती है।)

३-'समत्वं योग उच्यते' (२।४८) 'समताको ही योग कहा जाता है' और 'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्' (६।२३) 'जिसमें दुःखोंके संयोगका वियोग है, उसको योग नामसे जानना चाहिये'—ये दोनों ही भगवान्‌की दृष्टिमें 'योग' की परिभाषाएँ हैं।

स्थितिको 'योग' कहती है। इस समतामें स्थित होनेपर फिर कभी इससे वियोग अर्थात् व्युत्थान नहीं होता, इसलिये इसको 'नित्ययोग' कहते हैं। चित्त-वृत्तियोंका निरोध होनेपर तो 'निर्विकल्प-अवस्था' होती है। पर समतामें स्वतःसिद्ध स्थितिका अनुभव होनेपर 'निर्विकल्प बोध' होता है। निर्विकल्प बोध अवस्था नहीं है, प्रत्युत सम्पूर्ण अवस्थाओंसे अतीत तथा उनका प्रकाशक एवं सम्पूर्ण योग-साधनोंका फल है। इस प्रकार गीताका योग पातञ्जलयोगदर्शनके योगसे बहुत विलक्षण है।

परमात्मा सम हैं—**'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** (गीता ५।१९)। जीव परमात्माका अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५।७); अतः समरूप परमात्माके साथ जीवका सम्बन्ध अर्थात् योग नित्य है। इस स्वतःसिद्ध नित्ययोगका ही नाम 'योग' है, यह नित्ययोग सब देशमें है, सब कालमें है, सब क्रियाओंमें है, सब वस्तुओंमें है, सब व्यक्तियोंमें है, सब अवस्थाओंमें है, सब परिस्थितियोंमें है, सब घटनाओंमें है। तात्पर्य है कि इस नित्ययोगका कभी वियोग हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता नहीं। परंतु असत् (शरीर)के साथ अपना सम्बन्ध मान लेनेसे इस नित्ययोगका अनुभव नहीं होता। दुःखरूप असत्के साथ माने हुए संयोगका वियोग (सम्बन्ध-विच्छेद) होते ही इस नित्ययोगका अनुभव हो जाता है—**'तं विद्याद्दुःखसंयोग-वियोगं योगसंज्ञितम्'** (गीता ६।२३)। यही गीताका मुख्य योग है और इसी योगका अनुभव करनेके लिये गीतामें कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग आदि साधनोंका वर्णन किया है। परंतु इन साधनोंको योग तभी कहा जायगा, जब असत्से सम्बन्ध-विच्छेद और परमात्माके साथ नित्य सम्बन्धका अनुभव होगा।

पातञ्जलयोगदर्शनके योगका अधिकारी वह है, जो मूढ़ और क्षिप्त वृत्तिवाला नहीं है, प्रत्युत विक्षिप्त वृत्तिवाला है। परंतु भगवान्की प्राप्ति चाहनेवाले सब-के-सब मनुष्य गीताके योगके अधिकारी हैं। इतना ही नहीं, जो मनुष्य भोग और संग्रहको महत्त्व न देकर इस योगको ही महत्त्व देता है और इसको प्राप्त करना चाहता है—ऐसा योगका जिज्ञासु भी वेदोंमें वर्णित सकामकर्मोंका अतिक्रमण कर जाता है—

'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥'

(गीता ६।४४)।

इस योग (समता) की महिमा भगवान्ने दूसरे अध्यायके उनतालीसवें-चालीसवें श्लोकोंमें चार प्रकारसे कही है—

(१) **'कर्मबन्धं प्रहास्यसि'**—समताके द्वारा मनुष्य कर्म-बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

(२) **'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'**—इसके आरम्भका भी नाश नहीं होता।

(३) **'प्रत्यवायो न विद्यते'**—इसके अनुष्ठानका उलटा फल भी नहीं होता।

(४) **'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'**—इसका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान जन्म-मरणरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है।

यद्यपि पहली बातके अन्तर्गत ही शेष तीनों बातें आ जाती हैं, तथापि सबमें थोड़ा अन्तर है; जैसे—

(१) भगवान् पहले सामान्य रीतिसे कहते हैं कि समतासे युक्त मनुष्य कर्मबन्धनसे छूट जाता है। बन्धनका कारण गुणोंका संग अर्थात् प्रकृतिसे माना हुआ सम्बन्ध है—**'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु'** (गीता १३।२१)। समता आनेसे प्रकृतिका सम्बन्ध नहीं रहता; अतः मनुष्य कर्मबन्धनसे छूट जाता है। जैसे संसारमें अनेक शुभाशुभ कर्म होते रहते हैं, पर वे कर्म हमें बाँधते नहीं; क्योंकि उन कर्मोंसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं होता, ऐसे ही समतायुक्त मनुष्यका अपने कर्मोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

(२) समताका केवल आरम्भ हो जाय अर्थात् समताको प्राप्त करनेका उद्देश्य, जिज्ञासा हो जाय तो इस आरम्भका भी कभी नाश नहीं होता। कारण कि अविनाशीका उद्देश्य भी अविनाशी ही होता है, जबकि नाशवान्का उद्देश्य भी नाशवान् ही होता है। नाशवान्का उद्देश्य तो नाश (पतन) करता है, पर समताका उद्देश्य कल्याण ही करता है—

'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते'

(गीता ६।४४)

(३) समताके अनुष्ठानका उलटा फल नहीं होता। सकामभावसे किये जानेवाले कर्ममें अगर मन्त्रोच्चारण, अनुष्ठान-विधि आदिकी कोई त्रुटि हो जाय तो उसका उलटा

फल हो जाता है[४]। परंतु जितनी समता अनुष्ठानमें (जीवनमें) आ गयी है, उसमें अगर व्यवहार आदिकी कोई भूल हो जाय, सावधानीमें कोई कमी रह जाय तो उसका उलटा फल (बन्धन) नहीं होता। जैसे कोई हमारे यहाँ नौकरी करता है और अँधेरेमें लालटेन जलाते समय कभी उसके हाथसे लालटेन गिरकर टूट जाय तो हम उसपर नाराज होते हैं; परंतु उस समय जो हमारा मित्र है, हमारेसे कुछ चाहता नहीं, उसके हाथसे लालटेन गिरकर टूट जाय तो हम उसपर नाराज नहीं होते, प्रत्युत कहते हैं कि हमारे हाथसे भी वस्तु टूट जाती है, तुम्हारे हाथसे वस्तु टूट गयी तो चिन्ताकी क्या बात है ? अतः जो सकामभावसे कर्म करता है, उसके कर्मका तो उलटा फल हो सकता है, पर जो किसी प्रकारका फल चाहता ही नहीं, उसके अनुष्ठानका उलटा फल कैसे हो सकता है ?

(४) समताका थोड़ा-सा भी अनुष्ठान हो जाय, थोड़ा-सा भी समताका भाव बन जाय तो वह जन्म-मरणरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है अर्थात् कल्याण कर देता है। जैसे सकाम कर्म फल देकर नष्ट हो जाता है, ऐसे यह थोड़ी-सी भी समता फल देकर नष्ट नहीं होती, प्रत्युत इसका उपयोग केवल कल्याणमें ही होता है। यज्ञ, दान, तप आदि शुभ-कर्म यदि सकाम-भावसे किये जायँ तो उनका नाशवान् फल (धन-सम्पत्ति एवं स्वर्गादिकी प्राप्ति) होता है और यदि निष्कामभावसे किये जायँ तो उनका अविनाशी फल (मोक्ष) होता है। इस प्रकार यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्मोंके तो दो-दो फल हो सकते हैं, पर समताका एक ही फल—कल्याण होता है। जैसे कोई मुसाफिर चलते-चलते रास्तेमें रुक जाय अथवा सो जाय तो वह जहाँसे चला था, वहाँ पुनः लौटकर चला नहीं जाता, प्रत्युत जहाँतक वह पहुँच गया, वहाँतकका रास्ता तो कट ही गया। ऐसे ही जितनी समता जीवनमें आ गयी, उसका नाश योगभ्रष्ट होनेपर भी नहीं होता अर्थात् स्वर्गादि लोकोंमें बहुत वर्षोंतक सुख भोगनेपर अथवा मृत्युलोकमें श्रीमानोंके घरमें सुख भोगनेपर भी उस समताका नाश नहीं होता (गीता ६।४१—४४)।

उपसंहार

समताकी प्राप्तिके लिये बुद्धिकी स्थिरता बहुत आवश्यक है। पातञ्जलयोगदर्शनमें तो मनकी स्थिरता (वृत्तिनिरोध) को महत्त्व दिया गया है, पर गीता बुद्धिकी स्थिरता (उद्देश्यकी दृढ़ता) को ही महत्त्व देती है (२।५५—६८)। कारण कि कल्याणप्राप्तिमें मनकी स्थिरताका उतना महत्त्व नहीं है, जितना बुद्धिकी स्थिरताका महत्त्व है। मनकी स्थिरतासे लौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, पर बुद्धिकी स्थिरतासे लौकिक सिद्धियाँ प्राप्त न होकर पारमार्थिक सिद्धि (कल्याणप्राप्ति) होती है। कर्मयोगमें बुद्धिकी स्थिरता ही मुख्य है[५]। अगर मनकी स्थिरता होगी तो कर्मयोगी कर्तव्य-कर्म कैसे करेगा ? कारण कि मन स्थिर होनेपर बाहरी क्रियाएँ रुक जाती हैं। भगवान् भी योग (समता) में स्थित होकर कर्म करनेकी आज्ञा देते हैं—**'योगस्थः कुरु कर्माणि'** (२।४८)। तात्पर्य है कि कर्मोंका महत्त्व नहीं है, प्रत्युत योग (समता) का ही महत्त्व है। अतः कर्मोंमें योग ही कुशलता है।

४-ऐसी कथा आती है कि त्वष्टाने इन्द्रका वध करनेवाले पुत्रकी इच्छासे एक यज्ञ किया। उस यज्ञमें ऋषियोंने 'इन्द्रशत्रु विवर्धस्व' इस मन्त्रके साथ हवन किया। 'इन्द्रशत्रु' शब्दमें यदि षष्ठीतत्पुरुष-समास हो तो इसका अर्थ होगा—'इन्द्रस्य शत्रुः' (इन्द्रका शत्रु); और यदि बहुव्रीहि समास हो तो इसका अर्थ होगा—'इन्द्रः शत्रुर्यस्य' (जिसका शत्रु इन्द्र है)। समासमें भेद होनेसे स्वरमें भी भेद हो जाता है। अतः षष्ठीतत्पुरुष समासवाले 'इन्द्रशत्रु' शब्दका उच्चारण अन्त्योदात्त होगा अर्थात् अन्तिम अक्षर 'त्रु' का उच्चारण उदात्त स्वरसे होगा, और बहुव्रीहिसमासवाले 'इन्द्रशत्रु' शब्दका उच्चारण आद्योदात्त होगा अर्थात् प्रथम अक्षर 'इ' का उच्चारण उदात्त स्वरसे होगा। ऋषियोंका उद्देश्य तो षष्ठीतत्पुरुष-समासवाले 'इन्द्रशत्रु' शब्दका अन्त्योदात्त उच्चारण करना था; परंतु उन्होंने उसका आद्योदात्त उच्चारण कर दिया। इस प्रकार (दोनों समासोंका अर्थ एक होनेपर भी) स्वरभेद हो जानेसे मन्त्रोच्चारणका उलटा फल हो गया, जिससे इन्द्र ही त्वष्टाके पुत्र (वृत्रासुर) का वध करनेवाला हो गया। इसलिये कहा गया है—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥ (पाणिनीयशिक्षा)

५-व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ (गीता २।४१)

'हे कुरुनन्दन ! इस समबुद्धिकी प्राप्तिके विषयमें व्यवसायात्मिका बुद्धि एक ही होती है। अव्यवसायी मनुष्योंकी बुद्धियाँ अनन्त और बहुशाखाओंवाली ही होती हैं।'

परो हि योगो मनसः समाधिः

(जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य गोस्वामी श्रीललितकृष्णजी महाराज)

मनकी समाधि-स्वरूपता ही परम योग है, यही योगका परम लक्ष्य है। 'स्व' का स्वकीयसे जुड़ना ही योग शब्दका रूढ़ अर्थ है। 'मैं' तथा 'मेरा'—यह अभिमान ही मानस रोग है, इनसे मनमें काम, क्रोध, लोभ आदि मल आते हैं, जिससे मन मलिन हो जाता है। मलिन-मन जीवात्मा अपनी वास्तविकता खो बैठता है, उसका स्वरूप विकृत हो जाता है। इस विकृतिको दूर करनेके लिये ही योगकी आवश्यकता होती है। विकृति नष्ट हो जाय, मन अविकृत हो जाय तो जीवात्मा भी अविकृत हो जाय। अविकृतता ही जीवका स्वरूप है, इसे ही भागवतमें परम लक्ष्य—मुक्ति कहा गया है—

'मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ॥'

अर्थात् अन्यथा विकृत-रूपको छोड़कर स्वरूपमें व्यवस्थित हो जाना ही मुक्ति है। सुख-दुःख, मानापमान आदि द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियाँ ही मनको मलिन करती हैं, उनमें समत्वका बोध हो जाना ही समाधिका फल है। समाधि-स्थितिमें समाधान और समाप्ति होती है, समका आधान अर्थात् स्थापन, स्थैर्य, स्वस्थता, एकनिष्ठता, शान्ति, संतोष एवं भगवान्‌के गुणोंके चिन्तनकी अर्हता प्राप्त होती है। समाधान वस्तुतः समत्वका आधान है, हमारे अन्तःकरणरूपी गर्भमें समत्वका विक्षेप होता है। **'समत्वं योग उच्यते'**—में इसीका उल्लेख है। समत्वकी प्राप्ति समाप्ति है जो निष्पन्नता, पूर्ति, अन्त आदि अर्थोंका द्योतक है। इस अवस्थामें जीवात्माकी आधियोंका अन्त हो जाता है, वह स्वतःमें निष्पन्न और पूर्ण हो जाता है।

पातञ्जलयोगके अन्तिम सूत्रमें समस्त पुरुषार्थोंकी वृत्तियोंका भगवद्गुणोंमें प्रतिप्रसव अर्थात् आधान होना या चितिशक्तिकी स्वरूप-प्रतिष्ठाको कैवल्य कहा गया है[१]। चित्त और पुरुष दोनोंमें समत्व आनेपर ही निर्मलता होती है, तभी कैवल्य-स्थिति होती है, **'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्'** इस योगसूत्रका यही लक्ष्य है।

महामुनि श्रीशुकदेवने राजा परीक्षित्‌को कैवल्य-प्राप्तिके लिये ध्यानका परामर्श दिया और ज्ञानयोगी एवं भक्तियोगीके लिये पृथक्-पृथक् ध्यानकी विधि भी बतलायी। ज्ञानयोगीको आसन, आहार, श्वास और आसक्तिको संयमित करना चाहिये, तभी वह विराट् पुरुषकी धारणामें निष्ठ होकर ध्यान कर सकेगा। किंतु भक्तियोगमें हृदयावकाशमें भगवान्‌की सगुण मूर्तिको स्थापित कर एकाग्र होकर उपासनामें संलग्न होनेसे ध्यान बनता है। इसे उपनिषदोंमें दहरोपासना कहा गया है। भागवत (१०।८७।१८)की वेदस्तुतिके **'हृदयमारुणयो दहरम्'** स्तुति-वाक्यमें दहरोपासनाको आरुणिने श्रीनिम्बार्ककी उपासना-पद्धति बतलाया है। ऐसे ही महानुभावोंका उल्लेख श्रीशुकदेवजी **'केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।'** (श्रीमद्भा० २।२।८) इत्यादिमें करते हुए भक्तियोगकी ध्यान-पद्धतिको किन्हीं विशिष्ट आचार्यका मत बतलाते हैं।

योगदर्शनमें इसे 'ईश्वरप्रणिधान' अर्थात् भगवद्भक्ति कहा गया है और इससे समाधि-सिद्धि और मुक्ति बतलायी गयी है।

भक्तियोगमें भगवत्स्वरूप और भगवान्‌के गुणोंका स्मरण करते हुए ध्यानका विधान है, जिससे विशोका ज्योतिष्मती मानस-प्रवृत्ति बनती है, एकमात्र ध्येय भगवान्‌का ही प्रकाश रहता है, उपासक अपनेपनके आभाससे शून्य आत्मविभोर हो जाता है और निर्विचार-समाधिमें लीन हो जाता है। योगदर्शनके **'स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का'** (१।४३)—इस सूत्रमें यही कहा गया है।

निर्विचार-समाधिमें समस्त दुःखोंकी निवृत्ति हो जाती है, क्योंकि अन्तःकरण आनन्दमय हो जाता है—**'निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः'** (१।४१) योगसूत्रका ऐसा ही मत है।

'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।'—इस गीतोक्त भगवदीय वचनका भी यही तात्पर्य है।

ऐसी समाहित-चित्त-स्थितिमें ऋतम्भरा प्रज्ञाका उदय होता है, वही समाधान है। **'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'** (योग० सू०

१-पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति। (योग० ४।३४)

१।४८)। इस स्थितिमें एकमात्र सत्यस्वरूप भगवान्‌का ध्यान ही अवशिष्ट रहता है। योगसूत्रके व्यासभाष्यकी कारिका कहती है—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥

अर्थात् 'आगम, अनुमान और ध्यानके अभ्याससे ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रकट होती है, यही उत्तम योग है।'

वाचस्पतिमिश्रके विचारानुसार आगमका अर्थ है वेदविहित भगवद्गुण-श्रवण, अनुमानका अर्थ है उन्हींका मनन और तदनुसार स्वरूप-ध्यानसे भगवद्-रस प्रकट होता है। इसे ही निदिध्यासन कहते हैं।

भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यने आह्लादिनी श्रीराधाका स्मरण और आनन्दमय श्रीकृष्णके ध्यानका विधान हृदयावकाशमें बतलाया है। उन्होंने इन्हींकी लीलाओंका श्रवण, मनन और ध्यान करते हुए रसानुभूति करनेका भक्तोंको परामर्श दिया है।

योगदर्शन-भाष्यमें व्यासजी कहते हैं—'**समाधिप्रज्ञा-प्रतिलम्भे योगिनः प्रज्ञाकृतः संस्कारो नवो नवो जायते।**' अर्थात् निर्विचार-समाधिसे प्रकट ऋतम्भरा प्रज्ञामें भक्तियोगीको प्रज्ञाकृत संस्कारसे नित्य नया रसानुभाव होता है। यही वैष्णवोंका परमयोग है। गीतोक्त पूर्णप्रज्ञाप्रतिष्ठाका भी यही तात्पर्य है।

रसोपासक श्रीनिम्बार्कानुयायी श्रीभट्ट, हरिव्यास, हरिदास एवं राधाचरणानन्योपासक हितहरिवंश आदि इसी परमयोगमें निमग्न रहते थे।

नाथसम्प्रदायमें योगसाधना

(गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज)

नाथयोगविद्या शिवविद्या अथवा महायोगविद्या है। इस साधनाकी आधारशिला स्वसंवेद्य अलख निरञ्जनतत्त्वका पिण्ड और ब्रह्माण्डके सामरस्यके स्तरपर अन्तर्बाह्य साक्षात्कार है। इसके सम्बन्धमें भगवान् योगिराजराजेश्वर शिवने आदिशक्ति महामाया पार्वतीजीसे कहा है—'**शिवविद्या महाविद्या गुप्ता चाग्रे महेश्वरी।**' (शिवसंहिता ५।२४८)

इस योगमार्गमें अद्वैतसे परे परमेश्वर परमशिव ही नाथदेवताके रूपमें परम उपास्य हैं। निराकार, निर्विकार, निर्मल ज्योति ही इस योगमार्गमें परम प्राप्तव्य है। तत्त्वतः परमशिव ही इस योगमार्गमें परम ध्येय हैं, जिनके सांनिध्यमें योगसाधना करते हुए साधक अपने सच्चिदानन्दस्वरूपमें अभिव्यक्त एवं चिदानन्दायित हो उठता है।

नाथसम्प्रदायमें योगसाधनाके द्वारा अमृतत्व-प्राप्ति और मृत्यु-विजयरूप फलसिद्धिको ही योगपुरुषार्थ कहा गया है। हठयोगप्रदीपिकाके मङ्गलाचरणमें उसके प्रणेताने कहा है—

अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः।
पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम्॥

(हठयोगप्रदीपिका ४।१३)

इस योगसाधनाकी पृष्ठभूमि वेदातीत स्वसंवेद्य अलख निरञ्जनतत्त्वकी अन्तरनुभूति है। 'गोरखबानी' में संगृहीत लघुकाय रचना 'सिष्टपुराण' में गोरखनाथजीने साधनाके स्वरूप-निदर्शनमें कहा है—

अपर उपरांति सिद्धि नाहीं। अभय उपरांति रतन नाहीं॥
ध्यान उपरांति ग्रंथ नाहीं। काया उपरांति रतन नाहीं॥
सच उपरांति सास्त्र नाहीं। अघोर उपरांति मंत्र नाहीं॥
निरंजन उपरांति ध्यान नाहीं॥'

—'इस योगमार्गमें काया ही योगसाधनाका महान् क्षेत्र है। अमरकायत्व ही सर्वश्रेष्ठ योगसिद्धि है। अभयपदकी प्राप्ति ही परम सिद्धि है। इष्टदेवका ध्यान ही ग्रन्थ है। शरीर ही सर्वश्रेष्ठ रत्न है। सत्य ही सर्वश्रेष्ठ शास्त्र है। अघोर (शिव) मन्त्र ही सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है और निरञ्जनका ध्यान ही सर्वश्रेष्ठ ध्यान है।'

इस निरञ्जन परमेश्वरकी उपासना ही नाथयोगसाधनाका फल अथवा स्वारस्य है। महायोगी गोरखनाथजीने निरञ्जन-तत्त्वका निरूपण करते हुए कहा है—

ऊँ न अस्त रात न दिन सरबे चराचर भाय न भिन्न।
सोई निरंजन डाल न मूल, सर्वव्यापीक सुषमन अस्थूल॥

(गोरखबानी सबदी)

इस योगसाधनाका मूल स्रोत क्षीरसागरके तटपर सुप्त (सौम्य) शृंगपर महायोगेश्वर शिवद्वारा भगवती पार्वतीके प्रति

उपदिष्ट महायोगज्ञान है, जिसका श्रवण कर योगेन्द्र मत्स्येन्द्रने उस योगज्ञानके ग्रहण और प्रचारके लिये साक्षात् गोरक्षरूपमें अभिव्यक्त शिव-महायोगी गोरखनाथको उचित सत्पात्र स्वीकार किया था। इस तरह नव नाथसिद्ध—चौरंगीनाथ, भर्तृहरिनाथ, गहिनीनाथ, सत्यनाथ, जालन्धरनाथ, कृष्णपाद, गोपीचन्द आदिके द्वारा इस साधन-प्रक्रियाने पोषण प्राप्त किया। यह साधना, योगदर्शन, शिवविद्या अथवा प्राण-साधनाकी सनातन साधन-प्रक्रिया है। यह अनादि, अखण्ड और त्रिकालव्यापी है। यह मार्ग सर्वसिद्धिप्रद और मायाजालको छिन्न-भिन्न करनेवाला है। इस साधनाके फल-स्वरूप अविद्या-अन्धकारमें दिग्भ्रमित जीवात्मा साधक भवबन्धनसे मुक्त होकर नाथयोग-मार्गमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

सर्वसिद्धिकरो मार्गो मायाजालनिकृन्तनम्।
बद्धा येन विमुच्यन्ते नाथमार्गमतःपरम्॥

(योगबीज ६।७)

महायोगी गोरखनाथजीने अमूल, अम्लान, औत्तर, स्पन्दास्पन्द, परिस्पन्द, महोत्पल, भवभयहर, मुक्तिसोपान-संज्ञक, गुह्यसे गुह्य अद्वयतत्त्व द्वैताद्वैतविलक्षण परमतत्त्वका प्रकाशन कर योगसाधकोंको योगामृतसंजीवनी प्रदान की—

जयत्यमूलमम्लानमौत्तरं तत्त्वमद्वयम्।
स्पन्दास्पन्दपरिस्पन्दमहोत्पलम्॥
भवभयहरं नृणां मुक्तिसोपानसंज्ञकम्।
गुह्याद् गुह्यतरं गुह्यं गोरक्षेण प्रकाशितम्॥

(महार्थमंजरी ८८, ८२)

इस मार्गका साधक प्रायः सभी सामान्य दशाओंसे भिन्न एवं अत्यन्त शान्त होता है। योगकी दृष्टि प्राप्त हो जानेपर वह स्वयंको विराट् पुरुषके रूपमें अनुभव करता है। वह विभिन्न स्वरूपोंमें अभिव्यक्त परमात्माको और समस्त लोकोंको अपने भीतर प्रत्यक्ष देखता है। इस तरह वह ब्रह्माण्डदर्शनका आनन्दोपभोग करता है। वह अपने व्यष्टिपिण्डमें सभीको एकात्मभूत समझता है। यही नाथयोग-साधनाका एक विशिष्टतत्त्व है।

इस साधनामार्गमें गुरुकृपाका महत्त्व अत्यधिक है। वस्तुतः निरञ्जनपदकी प्राप्ति करानेमें गुरुकृपादृष्टि एक अमोघ साधन है—

नमः शिवाय गुरवे नादबिन्दुकलात्मने।
निरञ्जनपदं याति नित्यं यत्र परायणः॥

(हठयोगप्रदीपिका ४।१)

महायोगी गोरखनाथजीने गुरुको भी स्वानन्दविग्रह कहा है। सद्गुरुकी करुणाके बिना योगसाधक सांसारिक विषय-जंजालसे छुटकारा नहीं पा सकता और न उसे तत्त्वका दर्शन ही हो सकता है। उसे सहजावस्था—स्वरूपस्थितिकी प्राप्ति भी दुर्लभ हो जाती है। गुरुकी कृपासे ही हरिपद—निरञ्जनपदकी प्राप्ति होती है। योगिराज भर्तृहरिका कथन है—

गुरू सूँ ग्यान, ग्यान सु बुधि भई। बुधि सूँ अकल प्रकासी।
भनत भरथरी हरिपद परस्था सहज भया अबिनासी॥

(नाथसिद्धोंकी बानियाँ ६७९)

इस योगसाधनामें शिवशक्तिका अभेद-दर्शन उपलब्ध होता है। जिस तरह चन्द्र और चन्द्रिकामें अभिन्नता होती है, उसी तरह शिव और शक्तिमें भी परस्पर अभेद है। अन्य योगसाधनाओंके समान ही जीवात्मा और परमात्माका तादात्म्य ही इस नाथयोगसाधनागत समाधिका भी परम फल है। इसके द्वारा समस्त द्वन्द्वोंका अन्त होकर साधक एकात्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है। इसीका दूसरा नाम हठयोग भी है।

जबतक योगी अथवा अध्यात्मविज्ञानीकी परमात्म-स्वरूपमें स्थिति और सम्पूर्ण निष्ठा नहीं हो जाती, तबतक जन्म-मरणका दुःख नहीं छूट सकता। यह निर्विवाद है कि इस विश्व-प्रपञ्चकी गत्यात्मकताके मूल कारणके रूपमें कोई स्वयं सत्य, स्वयं प्रकाशित सत्ता है, जो हमारी इन्द्रिय, मन-बुद्धिसे परे, अतीन्द्रिय, अतिमानसिक और अतिबौद्धिक स्तरपर अभिव्यक्त है। अतः जो पद अनिर्वचनीय है, उसका वर्णन किस तरह किया जाय। जो अचिन्त्य है, उसका चिन्तन किस तरह किया जाय।

जो शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होता है, वही आत्माको आत्मामें देखता है और वही सबका आत्मरूप होता है।—उपनिषद्

केशिध्वज जनककी योगसमीक्षा

(पद्मभूषण आचार्य पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय)

मिथिलाके शासक राजा अपने आध्यात्मिक वैदुष्य तथा अध्यात्म-तत्त्वके वेत्ताओंको आश्रयदानके कारण प्राचीन भारतमें अत्यन्त विख्यात थे, केवल पिता (निमि) के शरीरके अवशेषसे जन्म लेनेके कारण 'जनक', बिना देहसे उत्पन्न होनेके कारण 'विदेह' तथा मन्थनसे उत्पन्न होनेके कारण 'मिथि' कहलाये। वे उनके व्यक्तिगत अभिधान नहीं थे। अतः यह देश मिथिला तथा सभी राजा मैथिल, जनक और विदेह कहलाने लगे। श्रीमद्भागवतके नवम स्कन्धके त्रयोदश अध्यायमें इस वंशका प्रामाणिक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। भागवत तथा विष्णुपुराणमें केशिध्वज जनकका संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

महारानी सीताके पिता सीरध्वज जनकके पौत्र धर्मध्वज जनकके दो पुत्र थे—अमितध्वज तथा कृतध्वज। कृतध्वजके पुत्र थे केशिध्वज जनक और अमितध्वजके खाण्डिक्य जनक। खाण्डिक्य जनक कर्ममार्गमें अत्यन्त निपुण थे और केशिध्वज अध्यात्मविद्याके विशेषज्ञ थे। ये दोनों परस्पर एक-दूसरेको पराजित करनेमें लगे रहते थे। कालक्रमसे केशिध्वजने खाण्डिक्यको राज्यसे च्युत कर दिया और स्वयं राज्यके शासक बन गये। फलतः पराजित होनेके कारण खाण्डिक्यको जनकपुर छोड़ना पड़ा और उन्होंने अपने परिवार तथा परामर्शदाता पुरोहितके साथ जंगलका आश्रय लिया। पराजयसे उनके हृदयको बड़ी चोट लगी और अपने उस वनवासमें अपना एकाकी जीवन व्यतीत करने लगे।

समयने पलटा खाया। विजेता ही विजित व्यक्तिके सामने दीन-हीन-भावसे जिज्ञासुकी मुद्रामें एक दिन स्वयं पहुँचा। पहले तो खाण्डिक्यको अपने पुरातन शत्रुसे बड़ा भय उत्पन्न हुआ, परंतु थोड़ी ही देरमें वह भाव बदल गया, जब जिज्ञासाका प्रसंग छिड़ा। एक विचित्र घटना घटी थी। राज्यसिंहासन प्राप्तकर केशिध्वजने एक विशाल यज्ञका आयोजन किया, परंतु कुछ ही दिनोंमें उनकी धर्मधेनुको जंगलमें एक सिंहने मार डाला। विशाल यज्ञके भंग होनेका दुर्योग आ गया। इसीके प्रायश्चित्तके लिये केशिध्वज कर्मकाण्डके मर्मज्ञ खाण्डिक्य जनकके पास पहुँचे और जिज्ञासाका विधिवत् समाधान होनेपर वे राजधानी लौटे, यज्ञकी यथाविधि पूर्ति हुई। ब्राह्मण याज्ञिकोंकी अर्चना करनेपर भी अपने गुरु-ऋणसे उऋण न होनेपर उनका चित्त शान्त न हुआ। उन्होंने उपदेशके लिये पहले खाण्डिक्यको बहुत-सा धन देना चाहा, परंतु उसे अस्वीकार कर उन्होंने केशिध्वजसे योग-साधनाके आध्यात्मिक तत्त्वकी शिक्षाके लिये प्रार्थना की और इसी प्रसंगमें यह महनीय योग-चिन्तन उपन्यस्त है। विष्णुपुराणके षष्ठ अंशके छठे अध्यायमें इसका विस्तृत विवरण दिया गया है। उसीके आधारपर महायोगी केशिध्वजद्वारा उपदिष्ट यह आध्यात्मिक उपदेश संक्षेपमें दिया जा रहा है—

परमात्माकी प्राप्तिके निमित्त मनुष्योंको दो नेत्र दिये गये हैं। इनमें एक है स्वाध्याय (शास्त्रोंका विधिवत् अध्ययन एवं मनन) तथा दूसरा है योग। इनमेंसे प्रथम सिद्धान्त-पक्ष है और दूसरा व्यवहार-पक्ष। स्वाध्यायसे योगका और योगसे स्वाध्यायका आश्रय लेकर परमतत्त्वकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार स्वाध्याय और योगरूप सम्पत्तिसे परमात्मा प्रकाशित (ज्ञानके विषय) होते हैं—

स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमावसेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

(वि० पु० ६।६।२)

जीवको अनेक सहस्रों जन्मोंतक सांसारिक भोगोंमें पड़े रहनेके कारण वासनारूपी धूलिसे आच्छादित होना पड़ता है। जैसे भौतिक धूलिको हटानेके लिये जगत्में जलकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार इस वासना-जन्य धूलिके अपाकरणके लिये ज्ञानरूपी जलकी आवश्यकता होती है। तभी यह धूलि हट सकती है। धूलि हट जानेके बाद संसारपथके पथिकका मोहरूपी काम शान्त हो जाता है। फलतः प्रथम स्वाध्यायके द्वारा ज्ञानका सम्पादन करना चाहिये। जीवको शान्तिकी प्राप्तिके लिये मनको वशमें करना चाहिये। क्योंकि मन ही मनुष्योंके बन्ध तथा मोक्षका कारण होता है। विषयोंके साथ आसक्ति रखनेवाला मन बन्धका कारण बनता है और विषयोंसे रहित होनेवाला मन मोक्षका कारण बनता है। फलतः इस

मनको अपने वशमें रखनेकी नितान्त आवश्यकता है और मनको वशमें रखनेके लिये विवेकज्ञानसे सम्पन्न होना साधकका परम कर्तव्य है। जिस प्रकार अयस्कान्तमणि (चुम्बक) अपनी शक्तिसे लोहेको खींचकर अपनेमें संयुक्त कर देती है, उसी प्रकार ब्रह्मचिन्तन करनेवाले मुनिको परमात्मा स्वभावसे ही स्वरूपमें लीन कर देते हैं। ब्रह्मके साथ जीवका संयोग ही योग कहलाता है। विष्णुपुराणमें यही योगका लक्षण दिया गया है—

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते॥

(६।७।३१)

मनकी एक सामान्य गति है लौकिक पदार्थोंमें सर्वदा भ्रमण करते रहना। परंतु मनकी एक विशिष्ट गति होती है जो यम, नियम, प्राणायाम आदिके द्वारा उसे वशमें रखती है और यह स्थिति आत्मज्ञानके प्रयत्नभूत इन पदार्थोंके द्वारा आविर्भूत होती है। ऐसे गतिसम्पन्न मनको ब्रह्मके साथ संयुक्त करनेकी जो विधि है वही योग नामसे व्यवहृत की जाती है। पातञ्जलयोगसे इस योग (ब्रह्मयोग) की भिन्नता स्पष्टतः प्रतीत होती है। जहाँ पातञ्जलयोग चित्तवृत्तिके निरोधको योग कहता है, वहीं **'युजिर् योगे'** धातुसे सम्पन्न योग शब्दका प्रयोग ब्रह्मके साथ मनको संयुक्त करनेकी क्रियाके लिये करता है। इस प्रकारके विशिष्ट धर्मसे युक्त होनेसे, मुक्तिकी अभिलाषासे सम्पन्न (मुमुक्षु) व्यक्ति योगी कहा जाता है। योगी अवस्था-भेदसे दो प्रकारके होते हैं। योगके आरम्भ करनेपर वह 'युञ्जान' (योगारूढ़) कहा जाता है और परब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर वह 'विनिष्पन्न'-समाधि कहा जाता है।

योगयुक् प्रथमं योगी युञ्जानो ह्यभिधीयते।
विनिष्पन्नसमाधिस्तु परं ब्रह्मोपलब्धिमान्॥

(वि० पु० ६।७।३३)

चित्तको ब्रह्ममें निश्चित रूपसे लीन करनेके लिये साधकको यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहारका आश्रय करनेका व्यवस्थित विधान किया गया है। यम, नियम तथा आसनके वर्णनमें विशेष नवीनता नहीं है, परंतु प्राणायाम तथा प्रत्याहारका विशिष्ट विवरण दिया गया है। प्राणायाम दो प्रकारका बतलाया गया है— सबीज तथा निर्बीज। सबीज प्राणायाम ध्यान तथा मन्त्र-पाठ आदि आलम्बनोंसे युक्त होता है, परंतु निर्बीज प्राणायाममें इन आलम्बनोंका अभाव रहता है और इसीलिये वह 'निरालम्ब' कहलाता है। जब योगी सबीज प्राणायामका आरम्भ करता है, तब उसका आलम्बन भगवान् अनन्तका हिरण्यगर्भ आदि स्थूल रूप होता है। इसके अनन्तर योगी प्रत्याहारका अभ्यास करता है। रूप, रस आदि विषयोंमें अनुरक्त होनेवाली इन्द्रियोंको चित्तका अनुगामिनी बनाना ही प्रत्याहारकी संज्ञा पाता है। इन्द्रियोंको योगके निमित्त अपने वशमें रखनेकी नितान्त आवश्यकता होती है और यह कार्य प्रत्याहारके द्वारा सिद्ध होता है। प्रत्याहारमें दो पद हैं—'प्रति' तथा 'आहार'। 'आहार' का अर्थ इन्द्रियोंको तत्-तत् विषयोंमें लगाना है। यह कार्य तो सामान्यतः सदा ही होता रहता है। 'प्रति' का अर्थ उलट देना है। फलतः 'प्रत्याहार'-का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ होता है, विषयोंसे इन्द्रियोंका प्रत्यावर्तन करना—हटा लेना। प्राणायामके द्वारा प्राण या श्वास-प्रक्रियाको वशमें किया जाता है तथा प्रत्याहारके द्वारा इन्द्रियोंको वशमें किया जाता है। फलतः इन दोनों व्यापारोंसे चित्त अपने शुभ आश्रय अर्थात् ब्रह्ममें स्थित किया जाता है। तब साधकको योगकी साधनामें सफलताकी प्राप्ति होती है।

प्राणायामेन पवने प्रत्याहारेण चेन्द्रिये।
वशीकृते ततः कुर्यात् स्थितं चेतः शुभाश्रये॥

(वि० पु० ६।७।४५)

चित्तका आश्रय-तत्त्व

चित्तके आश्रय-तत्त्व अनेक प्रकारके हो सकते हैं। इस प्रसंगमें ब्रह्मके भेद, त्रिविध भावना तथा विष्णुके स्वरूप आदिका विवरण विष्णुपुराणमें विस्तारसे दिया गया है। चित्तका मुख्य आश्रय ब्रह्म है, जो स्वभावसे दो प्रकारका होता है—मूर्त तथा अमूर्त अथवा पर एवं अपर। योगकी भावना तीन प्रकारकी होती है—कर्मभावना, ब्रह्मभावना तथा उभयात्मिका भावना। देवताओंसे लेकर स्थावर तथा जङ्गमपर्यन्त समस्त प्राणी कर्मभावनासे युक्त होते हैं। सनक, सनन्दन आदि मुनिगण ब्रह्मभावनासे युक्त होते हैं। स्वरूपविषयक बोध एवं स्वर्गादिविषयक अधिकारसे युक्त हिरण्यगर्भ आदिमें ब्रह्म-कर्ममयी उभयात्मिका भावना रहती है। जबतक प्राणियोंमें विशेष ज्ञानके कारणभूत कर्म क्षीण नहीं

होते, तबतक अहंकार आदि भेदके कारण मनुष्योंकी भिन्न दृष्टि बनी रहती है और ब्रह्म तथा जगत्‌की भिन्नता उन्हें प्रतीत होती है तथा अभेद-ज्ञान उन्हें नहीं होता। ब्रह्मकी उपलब्धि होनेपर साधकको अभेद-ज्ञानकी प्राप्ति होती है। ब्रह्मज्ञानका स्वरूप बड़ा ही विलक्षण है। जिसमें सम्पूर्ण भेद शान्त हो जाते हैं। जो सत्तामात्र होकर वाणीके अगोचर होता है, जो आत्मसंवेद्य होता है अर्थात् स्वयं ही अनुभव करने योग्य होता है, वही ज्ञान ब्रह्मज्ञानकी संज्ञा प्राप्त करता है—

प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम्॥

(वि० पु० ६।७।५३)

वही ब्रह्मज्ञान विष्णुका 'अरूप' नामक परमरूप है, जो उसके विश्वरूपसे विलक्षण होता है—

तद्य विष्णोः परं रूपमरूपाख्यमनुत्तमम्।
विश्वस्वरूपवैरूप्यलक्षणं परमात्मनः॥

(वि० पु० ६।७।५४)

विष्णुका द्विविध रूप

भगवान् विष्णुके दो रूप होते हैं—पर (अमूर्त) रूप तथा अपर (मूर्त) रूप। पररूपका चिन्तन आरम्भमें योगीके द्वारा करना बड़ा दुष्कर होता है, इसीलिये उसे अपर रूप—मूर्तरूपके चिन्तनका उपदेश दिया गया है। मूर्तरूपके भीतर जगत्‌का समस्त प्रपञ्च वर्तमान रहता है। यह भगवान्‌का स्थूल रूप होता है, जिसका ध्यान अधिक क्लेशके बिना भी योगके द्वारा प्राप्त होता है और इसीलिये प्रथमतः इसके ध्यानकी शिक्षा सौकर्यके कारण दी गयी है। इस स्थूल (मूर्त) रूपके भीतर देवतासे लेकर क्षुद्रजीवकी सृष्टितक समग्र जगत् विद्यमान रहता है। हिरण्यगर्भ, भगवान् वासुदेव, प्रजापति, मरुत्, सूर्य, चन्द्र आदि समस्त देवयोनियों, मनुष्य, पशु आदि भूत, प्रधानसे लेकर पञ्चतन्मात्रा, पञ्चमहाभूत आदि समस्त पदार्थ इसी मूर्तरूपके अन्तर्गत होते हैं। इसीका नाम विश्व है—

एतत् सर्वमिदं विश्वं जगदेतच्चराचरम्।
परब्रह्मस्वरूपस्य विष्णोः शक्तिसमन्वितम्॥

(वि० पु० ६।७।६०)

विष्णुकी तीन शक्तियाँ यहाँ निर्दिष्ट की गयी हैं—

१-पराशक्ति—विष्णुकी स्वरूप-शक्ति।

२-अपराशक्ति—क्षेत्रज्ञरूपिणी।

३-कर्मशक्ति—अविद्यारूपिणी।

क्षेत्रज्ञ शक्ति अविद्याशक्तिके द्वारा आवृत होनेके कारण नाना प्रकारके क्लेशोंको प्राप्त करती है तथा इस विशाल विश्वके प्राणियोंमें वह तारतम्यसे दृष्टिगोचर होती है। वह कहीं न्यूनतासे आविर्भूत होती है और कहीं अधिकतासे विद्यमान रहती है। वह शक्ति तारतम्य-भावसे रहती है। जड पदार्थोंमें वह नितान्त न्यून रहती है। जागतिक पदार्थोंमें चैतन्यका जितना अधिक विकास होता जाता है, वह अधिक अंशोंसे उनमें निवास करती है। जड पदार्थोंकी अपेक्षा वृक्ष-पर्वतादि स्थावरोंमें, स्थावरोंसे अधिक सर्पादि जङ्गम पदार्थोंमें और उनसे अधिक पक्षियोंमें वह रहती है।

पशु-पक्षियोंकी अपेक्षा मनुष्य उस शक्तिसे अधिक प्रभावित होता है। उसके आगे वह गन्धर्वादि देवगणोंमें, तत्पश्चात् इन्द्र, प्रजापति एवं हिरण्यगर्भमें वह क्षेत्रज्ञ शक्ति क्रमशः अपने परिमाणके प्रकाशको अधिकतासे उत्पन्न करती है। पराशक्ति भगवान् विष्णुके स्वरूपकी आधायिका शक्ति है। इन समग्र शक्तियोंके आधारभूत स्वयं भगवान् विष्णु हैं। उनमें चित्तको स्थिर करना चाहिये, इसीको शुद्ध धारणा कहा गया है—

तस्मात् समस्तशक्तीनामाधारे तत्र चेतसः।
कुर्वीत संस्थितिं सा तु विज्ञेया शुद्धधारणा॥

(वि० पु० ६।७।७५)

मूर्तरूपके ध्यानके ऊपर चित्तकी स्थिरता प्राप्त होनेपर ही साधकको अमूर्त-रूपके ध्यानमें योग्यता प्राप्त होती है। विष्णुका अवयव-सम्पन्न मूर्तरूप नाना आभूषणों तथा अलंकारोंसे उद्दीप्त तथा देदीप्यमान रहता है। इन आभूषण आदिसे संयुक्त भगवद्रूपका वर्णन विष्णुपुराणमें बड़ी कमनीय भाषामें किया गया है (वि० पु० ६।७।८०—८५)। ध्यातव्य है कि यह पुराण विष्णुके चतुर्भुजरूप तथा अष्टभुजरूप दो प्रकारके रूपोंका संकेत करता है। चतुर्भुजमूर्तिके ध्यानमें चारों हाथोंमें क्रमशः शङ्ख-चक्र-गदा तथा पद्मकी भावना करनेका निर्देश किया गया है। अष्टभुज-रूपके ध्यानमें हाथोंमें शार्ङ्गधनुष, शङ्ख, गदा, खड्ग, चक्र,

अक्षमाला, वरदमुद्रा तथा अभयमुद्रा धारण करनेका विधान है। पुराणका उपदेश है कि भगवान्‌के मूर्तरूपके ध्यानमें साधकको क्रमशः विकास करते रहना चाहिये। प्रथम तो प्रत्येक अङ्गमें आभूषण आदिसे शोभित समग्र मूर्तिका ध्यान निर्दिष्ट है। इस स्वरूपके ध्यानान्तर स्फटिकमाला तथा यज्ञोपवीतधारी रूपका चिन्तन विहित है। इस धारणाके स्थिर होनेपर किरीट, कुण्डल आदि आभूषणोंसे रहित रूपका स्मरण करे। तदनन्तर प्रधान अवयवविशिष्ट भगवान्‌का हृदयसे चिन्तन करे। इसके पीछे अवयवोंसे दृष्टि हटाकर केवल अवयवीका ही ध्यान करना चाहिये। यही विष्णुपुराणका निर्देश है।

धारणाका वर्णन ऊपर किया गया है। योग-साधनाके अवशिष्ट दोनों अङ्गोंका वर्णन क्रमशः यहाँ दिया जा रहा है। ध्यानका स्वरूप इस प्रकार है—

तद्रूपप्रत्यया चैका संततिश्चान्यनिःस्पृहा।
तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप॥

(वि० पु० ६।७।९१)

जिसमें परमेश्वरके रूपकी ही प्रतीति होती है, विषयान्तरकी स्पृहा नहीं रहती, चिन्तनकी एक अनवरत धारा जो प्रवाहित होती रहती है, उसे ही ध्यान कहते हैं। यम-नियमादि छः अङ्गोंके द्वारा यह ध्यान निष्पन्न होता है। इसके अनन्तर समाधिका आविर्भाव होता है—

तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्।
मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते॥

(वि० पु० ६।७।९२)

परमतत्त्वके रूप-चिन्तनमें तीन प्रकारकी कल्पना रहती है। ध्याता—ध्यान करनेवाला, ध्येय—ध्यानके द्वारा प्राप्तव्य वस्तु तथा ध्यान—ध्याता तथा ध्येय—इन दोनोंको एक सूत्रमें लाकर कार्य सिद्ध करनेवाला साधन। उस ध्येय पदार्थका ही मनके द्वारा ध्यानसे सिद्ध होनेवाले स्वरूप-ग्रहणका साधन जो ऊपर निर्दिष्ट त्रिविध कल्पनासे विरहित होता है, समाधि कहलाता है। फलतः समाधिसे होनेवाला भगवान्‌का साक्षात्कार-रूप-विज्ञान ही परब्रह्मतक पहुँचानेवाला होता है। समग्र भावनाओंसे रहित एकमात्र आत्मा ही प्रापणीय (प्राप्त करने योग्य) तत्त्व है। क्षेत्रज्ञ—कर्ता ज्ञानरूपी करणसे मुक्तिरूपी कार्यको सिद्ध कर लेता है तथा अपने प्रयत्नमें सर्वथा कृतकृत्य होनेपर वह निवृत्त हो जाता है—

क्षेत्रज्ञः करणी ज्ञानं करणं तस्य तेन तत्।
निष्पाद्य मुक्तिकार्यं वै कृतकृत्यो निवर्तते॥

(वि० पु० ६।७।९४)

निष्कर्ष है कि अज्ञान ही जीव तथा परब्रह्ममें भेद करनेवाला है। उसकी सत्ता रहनेपर जीव अपनेको परब्रह्मसे भिन्न समझता है। परंतु इस योग-साधनाके बलपर परतत्त्वका सम्पूर्ण ज्ञान हो जानेपर दोनोंमें अभेद-बुद्धि उत्पन्न होती है और अध्यात्मशास्त्रके द्वारा निर्णीत तथा उपदिष्ट यही परम तत्त्व है।

विष्णुपुराणके अनुसार यह परमतत्त्व विष्णु भगवान् ही हैं। वही श्रवणयोग्य तत्त्व हैं। उनसे अतिरिक्त कोई तत्त्व न ध्यातव्य है और न श्रोतव्य। विष्णुपुराणका तत्त्वपोषण इस अभिराम पद्यमें अङ्कित है—

यज्ञैर्यज्ञविदो यजन्ति सततं यज्ञेश्वरं कर्मिणो
यं वै ब्रह्ममयं परावरमयं ध्यायन्ति च ज्ञानिनः।
यं सञ्चिन्त्य न जायते न म्रियते नो वर्धते हीयते
नैवासन्न च सद् भवत्यति ततः किं वा हरेः श्रूयताम्॥

(वि० पु० ६।८।५७)

जागो !

मौत महा उत्कंठ चढ़ै नहिं सूझत अन्ध अभागहु रे।
चित चेतु गँवार बिकार तजो जब खेत पड़े कित भागहु रे॥
जिन बुंद बिकार सुधार कियो तन ज्ञान दियो पगु ता गहु रे।
'धरनी' अपने अपने पहरे उठि जागहु जागहु जागहु रे॥

—धरनीदास

ॐ योग-तत्त्व-विमर्श

योगका वास्तविक स्वरूप

सामान्यतया योगका अर्थ है स्थूलतासे सूक्ष्मताकी ओर ाना अर्थात् बाहरसे अन्तर्मुख होना। चित्तकी वृत्तियोंद्वारा हम थूलताकी ओर जाते हैं, अर्थात् बहिर्मुख होते हैं। आत्मतत्त्वसे प्रकाशित चित्त अहंकाररूप वृत्तिद्वारा, अहंकार न्द्रियों और तन्मात्राओंरूप वृत्तियोंद्वारा, तन्मात्राएँ सूक्ष्म और थूलभूत और इन्द्रियाँ विषयोंकी वृत्तियोंद्वारा बहिर्मुख हो रही ।) जितनी वृत्तियाँ बहिर्मुख होती जायँगी,उतनी ही उनमें रज ौर तमकी मात्रा बढ़ती जायगी और उसके विपरीत वृत्तियाँ ातनी अन्तर्मुख होती जायँगी, उतना ही रज और तमके ारोभावपूर्वक सत्त्वका प्रकाश बढ़ता जायगा। जब कोई भी त्ति न रहे तब शुद्ध परमात्मस्वरूप शेष रह जाता है।

योगके तीन अन्तर्विभाग—योगके मुख्य तीन न्तर्विभाग किये जा सकते हैं—ज्ञानयोग, उपासनायोग ौर कर्मयोग।

ज्ञानयोग—भौतिक पदार्थोंका जान लेना अर्थात् ांसारिक ज्ञान और विज्ञान ज्ञानयोग नहीं है। बल्कि तीनों णों और उनसे बने हुए सारे पदार्थोंसे परे अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म ौर कारण-शरीर तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण-जगत् थवा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और ानन्दमय कोष अथवा शरीर, इन्द्रियों, मन, अहंकार और त्तसे परे गुणातीत शुद्ध परमात्मतत्त्वको जिसके द्वारा इन बमें ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रिया हो रही है, शय, विपर्ययरहित पूर्णरूपसे जान लेना ज्ञानयोग है। यह ान केवल पुस्तकोंके पढ़ लेनेसे या शब्दोंद्वारा सुन लेनेमात्रसे नहीं प्राप्त हो सकता। उसके लिये उपासनायोगकी ावश्यकता होती है।

उपासनायोग—एक प्रत्ययका प्रवाह करना अर्थात् त्तकी वृत्तियोंको सब ओरसे हटाकर केवल एक लक्ष्यपर हरानेका नाम उपासना है। किसी सांसारिक विषयकी प्राप्तिके ्ये इस प्रकार एक प्रत्ययका प्रवाह करना उपासना कहा जा सकता है, उपासनायोग नहीं। यह उपासनायोग तभी कहलायेगा, जब इसका मुख्य लक्ष्य केवल शुद्ध परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति हो। इसको स्पष्ट शब्दोंमें यों समझना चाहिये कि जिस प्रकार जलके सर्वत्र भूमिमें व्यापक रहते हुए भी उसकी शुद्ध धाराको किसी स्थानविशेषसे खोदनेपर निकाला जा सकता है, उसी प्रकार परमात्म-तत्त्वके सर्वत्र व्याप्त रहते हुए भी उसके शुद्ध स्वरूपको किसी स्थान-विशेषद्वारा अन्तर्मुख होकर प्राप्त किया जा सकता है। यह जो चित्तको किसी विशेष ध्येय (विषय-लक्ष्य) पर ठहराकर शुद्ध परमात्मस्वरूपको प्राप्त करनेका यत्न किया जाता है, यही उपासनायोग है। इस एकाग्रतारूप उपासनाको सम्प्रज्ञात-समाधि तथा सम्प्रज्ञात-योग कहते हैं। इसके पश्चात् जो सर्ववृत्तियोंके निरोध होनेपर शुद्ध परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति है, वह ज्ञानयोग है। इसीको असम्प्रज्ञात-समाधि तथा असम्प्रज्ञातयोग कहते हैं। इसके लिये किसी एकान्त निर्विघ्न शुद्ध स्थानमें सिर, गर्दन और कमरको सीधा एक रेखामें रखते हुए किसी स्थिर सुख-आसनसे बैठना, प्राणोंकी गतिको धीमा करना और इन्द्रियोंको बाहरके विषयोंसे हटाकर चित्तके साथ अन्तर्मुख करना आवश्यक है। फिर यह देखना होगा कि अन्तर्मुख होनेके लिये किस स्थानको लक्ष्य बनाया जाय। वैसे तो परमात्मा सर्वत्र व्यापक हैं, किंतु उनके शुद्ध स्वरूपतक पहुँचनेके लिये अपने ही शरीरमें किसी स्थानको लक्ष्य बनानेमें सुगमता रहती है। इसमें पाँच विषयवती प्रवृत्तिके स्थान हैं। अर्थात् नासिकाका अग्रभाग गन्धका, जिह्वाका अग्रभाग रसका, तालु रूपका, जिह्वाका मध्यभाग स्पर्शका और जिह्वाका मूलभाग शब्दका स्थान है।

इनसे भी अधिक प्रभावशाली 'विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति'के सुषुम्ना नाडीमें विद्यमान मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रारचक्र हैं। सुषुम्ना, जो गुदाके निकटसे मेरुदण्डके भीतर होती हुई

मस्तिष्कके ऊपरतक चली गयी है, सर्वश्रेष्ठ नाडी है। यह सत्त्वप्रधान, प्रकाशमय और अद्‌भुत शक्तिवाली है। यही सूक्ष्मशरीर, सूक्ष्मप्राणों तथा अन्य सब शक्तियोंका स्थान है। इसमें बहुत-से सूक्ष्म शक्तियोंके केन्द्र हैं जिनमें अन्य सूक्ष्म नाडियाँ मिलती हैं। इन शक्तियोंके केन्द्रोंको पद्म, कमल तथा चक्र कहते हैं। उनमें उपर्युक्त सात मुख्य हैं। उनमें भी मणिपूरक, अनाहत, आज्ञा और सहस्रार विशेष महत्त्वके हैं। किसके लिये, ध्यानके वास्ते कौन-सा स्थान अधिक उपयोगी हो सकता है, यह इस मार्गके अनुभवी ही बतला सकते हैं।

जिस प्रकार तली-तोड़ कुएँके खोदते समय कई प्रकारकी मिट्टीकी तहें तथा अन्य अद्‌भुत वस्तुएँ निकलती हैं ऐसा ही ध्यान-अवस्थामें होता है। यहाँ भी स्थूलभूत, सूक्ष्मभूत अहंकार और अस्मिता (आत्मासे प्रकाशित चित्त)—ये चार प्रकारकी तीनों गुणोंकी तहें आती हैं। जब स्थूलभूत अवस्था-उनसे सम्बन्ध रखनेवाले विषय सामने आयें, उसको वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि[1], जब सूक्ष्मभूत अथवा उनसे सम्बन्धित विषय उपस्थित हों उसको विचारानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि, जब इन दोनों विषयोंसे परे केवल 'अहमस्मि वृत्ति' रह जाय उसको आनन्दानुगत और जब उससे भी परे केवल 'अस्मि' वृत्ति रह जाय, उसको अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि कहा जाता है।

जिस प्रकार सारी मिट्टीकी तहोंके समाप्त होनेपर जलको रेतसे अलग किया जाता है, इसी प्रकार गुणोंकी इन चारों तहोंके पश्चात् जब आत्माको चित्तसे अलग साक्षात् किया जाता है, तब उसको विवेक-ख्याति कहते हैं। उसके पश्चात् शुद्ध परमात्मस्वरूप शेष रह जाता है जो समाधि, असम्प्रज्ञात-योग या ज्ञानयोग कहलाता है। अतः उपासनायोगद्वारा ही ज्ञानयोगकी प्राप्ति हो सकती है। परंतु यह उपासनायोग भी बिना कर्मयोगके नहीं साधा जा सकता।

कर्मयोग—कोल्हूके बैलके सदृश कामोंमें लगे रहनेका नाम कर्मयोग नहीं है। शरीर, इन्द्रियों, धन, सम्पत्ति आदि सारे साधनों, उनसे होनेवाले कर्तव्यरूप सारे कर्मोंको तथा उनके फलोंको भी ईश्वरको समर्पण करते हुए अनासक्त निष्काम-भावसे व्यवहार करनेका नाम कर्मयोग है। जिस प्रकार मञ्चपर आया हुआ एक्टर अपने पार्टको भलीभाँति करता हुआ अंदर इसका कोई भी प्रभाव अपने हृदयपर नहीं होने देता है, इसी प्रकार कर्मयोगी ईश्वरकी ओरसे आये हुए सारे कर्तव्योंको भलीभाँति करता हुआ भी अंदरसे अलिप्त रहता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥

(गीता ५। १०—१२)

अर्थात् कर्मोंको ईश्वरके समर्पण करके और आसक्तिको छोड़कर जो कर्म करता है वह जलमें पद्मपत्रके सदृश पापसे लिप्त नहीं होता। योगी फलकी कामना और कर्तापनके अभिमानको छोड़कर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये केवल शरीर, इन्द्रियों, मन और बुद्धिसे काम करते हैं। योगी कर्मके फलको त्यागकर परमात्मप्राप्तिरूप शान्तिको प्राप्त करते हैं। अयोगी कामनाके अधीन होकर फलमें आसक्त हुआ बँधता है। योगदर्शन (४। ७)में कहा गया है—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।

अर्थात् योगीके कर्म न पुण्यरूप होते हैं न पापरूप, क्योंकि वह कर्तव्यरूप कर्मोंको ईश्वर-समर्पण करके फलोंका त्याग कर निष्काम-भावसे करता है। पापकर्म तो वह कभी करता ही नहीं; क्योंकि वे उसके लिये सर्वदा त्याज्य हैं। दूसरे साधारण मनुष्योंका कर्म पाप, पुण्य और पुण्य-पापमिश्रित तीन प्रकारका होता है।

उपासनामें जब चित्तकी वृत्तियोंको एक लक्ष्यविशेषपर ठहरानेका यत्न किया जाता है, तब मन अन्य विषयोंमें राग होनेके कारण उनकी ओर दौड़ता है। विषयोंमें राग सकाम कर्मोंसे होता है। इसलिये विषयोंसे वैराग्य प्राप्त करनेके लिये

१-पहली दो भूमियों—वितर्कानुगत और विचारानुगतमें गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द—इन पाँचों विषयोंमें प्रायः रूप और शब्द ही समक्ष आते हैं, क्योंकि रूपको ग्रहण करनेवाली नेत्र-इन्द्रिय और शब्दको ग्रहण करनेवाली श्रोत्र-इन्द्रिय हर समय काम करती रहती है। इसलिये सुगमताके कारण कई आचार्य रूप या शब्दको ही ध्येय बनाकर ध्यान आरम्भ करना बतलाते हैं।

कर्मोंमें निष्कामता होना आवश्यक है। अर्थात् पापरूप अधर्म कर्म तो त्याज्य होते ही हैं, पुण्यरूप धर्म अर्थात् कर्तव्यकर्मोंको भी उनके फलोंकी इच्छाको छोड़कर निष्काम-भावसे करना चाहिये। इसलिये उपासनायोग बिना कर्मयोगकी सहायताके नहीं सिद्ध हो सकता। किंतु ये निष्कामताके भाव भी ध्यानद्वारा ही परिपक्व हो सकते हैं। अर्थात् कर्मयोगकी सिद्धि भी उपासनायोगकी सहायतासे ही हो सकती है। इसलिये जिस प्रकार संसारकी कोई भी वस्तु सत्त्व, रजस् और तमस्के सम्मिश्रणके बिना अपना अस्तित्व नहीं रख सकती, केवल इतना भेद होता है कि कहीं सत्त्वकी प्रधानता होती है, कहीं रजकी और कहीं तमकी, इसी प्रकार इन तीनों योगोंमें भी तमरूप उपासनायोग चित्तको एक लक्ष्यपर ठहरानेवाला, रजरूप निष्काम कर्मयोग और सत्त्वरूप ज्ञानयोग—ये तीनों किसी-न-किसी अंशमें बने ही रहते हैं। यह अवश्य होता है कि कहीं उपासनाकी प्रधानता होती है, कहीं कर्मकी और कहीं ज्ञानकी।

तीनों योगोंके दो मुख्य भेद—सांख्य और योग

इन तीनों योगोंके दो मुख्य भेद सांख्य और योग नामसे किये गये हैं। जहाँ भक्तियोग और कर्मयोगपर अधिक जोर देया गया हो, वह योगनिष्ठा कहलाती है और जहाँ ज्ञानको प्रधानता दी जाती है वह सांख्यनिष्ठा।

रूपकद्वारा योगका स्वरूप

योगका दार्शनिक महत्त्व बतलाकर अब एक रोचक रूपकद्वारा उसके अष्टाङ्ग-स्वरूपको दिखलानेका यत्न किया जाता है—चित्त और पुरुषका जो अनादि स्वस्वामि-भाव-सम्बन्ध चला आ रहा है, उसके अनुसार 'स्व'-रूप चित्तको अश्व और स्वामीरूप पुरुषको सवार समझना चाहिये। इस अश्वका मुख्य प्रयोजन अपने स्वामीको भोग (इष्ट) रूप मार्गको पूरा कराकर अपवर्गरूप लक्ष्यतक पहुँचा देना है। यह मार्ग एक पक्की सड़कवाला चार भागोंमें विभक्त है—पहला स्थूलभूत, दूसरा सूक्ष्मभूतोंसे तन्मात्राओंतक, तीसरा अहंकार और चौथा अस्मिता। अन्तिम किनारेपर भेदज्ञानरूपी एक अश्वशाला है। यहाँ इस घोड़ेको छोड़ देना पड़ता है और अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग परमात्मस्वरूप एक विशाल सुन्दर राजभवन है, जहाँ इस सवारको पहुँचा देना घोड़ेका मुख्य उद्देश्य है। सकाम कर्मरूप असावधानीसे पुरुष घोड़ेकी पीठपरसे नीचे गिरकर बाग पकड़े हुए घोड़ेके इच्छानुसार असमर्थतासे उसके पीछे घूम रहा है। इस अश्वकी असंख्य चालें हैं, जो वृत्तियाँ कहलाती हैं। ये दो प्रकारकी हैं—एक क्लिष्ट, जो पुरुषके लिये अहितकारी है। दूसरी अक्लिष्ट, जो पुरुषके लिये हितकर है। वह पाँच अवस्थाओंमें रहती है—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनमें पहली तीन अवस्थाएँ पुरुषके प्रतिकूल हैं, केवल अन्तिम दो अनुकूल हैं। यह घोड़ा पहली तीन अवस्थाओंमें अपनी अनन्त क्लिष्ट चालोंसे संसाररूपी घोर भयङ्कर वनमें विषय-वासनारूप हरियालीकी ओर भाग रहा है और सवार जन्म, आयु और भोग (अनिष्ट)-रूपी नदी-नालों, खाई-खंदक, काँटों और पत्थरोंमें असमर्थतासे घसिटता हुआ उसके पीछे चला जा रहा है और सुख-दुःखरूपी चोटोंसे पीड़ित हो रहा है। एक अपरिमित समयसे उस अवस्थामें रहते हुए पुरुष अपने वास्तविक स्वरूपको सर्वथा भूल गया है और घोड़ेके साथ एकात्मभाव करके उसके ही विषयोंको अपना मानने लगा है। ईश्वर-अनुग्रहसे जब अध्यात्मविषयक सत्-शास्त्रों और निःस्वार्थ आप्तकाम योगी गुरुओंके उपदेशसे उसको अपने और इस घोड़ेके वास्तविक स्वरूपका तथा अपने अन्तिम लक्ष्यका पता लगता है, तब वह यम-नियमके साधनोंसे घोड़ेकी क्लिष्ट चालोंको अक्लिष्ट बनाता है। आसनका सहारा लेकर घोड़ेकी रकाबपर पैर रखनेका यत्न करता है। प्राणायामकी सहायतासे रकाबपर पैर जमानेमें समर्थ होता है। प्रत्याहारद्वारा वशीकार करके उसकी पीठपर सवार होनेमें सफलता प्राप्त करता है। भोग (इष्ट)-रूपी पक्की सड़ककी ओर घोड़ेका मुख फेरना धारणा है। घोड़ेको उस ओर चलाना आरम्भ कर देना ध्यान है और सड़कके निकट पहुँच जाना समाधि है। वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता अनुगतरूप एकाग्रताकी अवस्थाओंसे क्रमानुसार भोगरूपी मार्गके स्थूल, सूक्ष्म, अहंकार और अस्मितारूपी भागोंको समाप्त करता है, विवेक ख्यातिद्वारा घोड़ेको अश्वशालामें छोड़कर सर्ववृत्तिनिरोध अपवर्ग नामक शुद्ध परमात्मस्वरूपरूपी विशाल राजभवनमें पहुँचता है।

दूसरे मनोरञ्जक उदाहरणद्वारा योगका स्वरूप

सिनेमाके साधारण श्वेत रंगकी चादर (पर्दा)के समान सत्त्वचित्त (जिसमें सत्त्व-ही-सत्त्व है, रज क्रियामात्र और तम उस क्रियाको रोकनेमात्र है।) का स्वरूप समझना चाहिये। यह विद्युत्के सदृश आत्मा (चेतन-तत्त्व) के ज्ञानके प्रकाशसे प्रकाशित हो रहा है। भेद केवल इतना है कि विद्युत् जड होनेके कारण स्वयं सिनेमाके पर्देका देखनेवाला नहीं है। उसको दूसरे चेतन-पुरुष देखते हैं। आत्मा ज्ञान-स्वरूप होनेसे अपने ज्ञानके प्रकाशमें जो कुछ चित्तमें हो रहा है, उसका द्रष्टा है।

यही चित्तरूपी पर्दा कुछ रज और तमकी अधिकताका मैल लिये हुए एक दूसरे अहंकाररूप पर्देके स्वरूपमें प्रकट हो रहा है। यह अहंकाररूपी पर्दा रज और तमकी अधिकताका मैल लिये हुए तन्मात्राओंसे लेकर सूक्ष्म भूतोंरूपी पर्देके स्वरूपमें प्रकट हो रहा है। सूक्ष्म भूतोंरूपी पर्दा कुछ रज और तमकी अधिकताको लिये हुए पाँच स्थूलभूतों-रूपी पर्देके स्वरूपमें प्रकट हो रहा है। इस पर्देपर विषय-वासनाओंसे युक्त अनन्त वृत्तियाँ सिनेमाके चित्रोंके सदृश घूम रही हैं। चित्तरूपी पर्देमें आत्माके ज्ञानका प्रकाश पड़ रहा है। इसलिये अपने ज्ञानके प्रकाशमें जो-जो रूप यह पर्दा धारण करता है, उसका स्वयमेव ही आत्माको ज्ञान रहता है और अपने ज्ञानस्वरूपमें सर्वथा अवस्थित रहते हुए भी चित्तरूपी पर्देका द्रष्टा होनेके कारण जैसा आकार यह पर्दा धारण करता है वैसा ही वह प्रतीत होता है।

अष्टाङ्गयोग

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं, इनमेंसे प्रथम पाँच बहिरङ्ग तथा अन्तिम तीन अन्तरङ्ग साधन कहे गये हैं। बहिरङ्ग साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहारकी सहायतासे, अन्तरङ्ग साधन धारणा, ध्यान और समाधिद्वारा चित्तकी वृत्तिरूपी चित्रोंका वास्तविक स्वरूप साक्षात्कार होता है। वितर्कानुगत समाधिद्वारा चित्रोंका स्थूलस्वरूप तथा पाँच स्थूल भूतोंवाली चित्तकी अवस्थाका वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। विचारानुगत समाधिद्वारा वृत्तिरूप चित्रोंके सूक्ष्मस्वरूप तथा चित्तरूपी पर्देकी सूक्ष्म भूतोंसे तन्मात्रातककी अवस्थाका ज्ञान प्राप्त होता है। इससे ऊपर आनन्दानुगत समाधिद्वारा चित्तकी अहंकाररूप अवस्थाका साक्षात्कार होता है। अस्मितानुगत समाधिद्वारा अस्मिता (आत्मासे प्रकाशित चित्त) के स्वरूपका ज्ञान प्राप्त होता है। विवेकख्यातिद्वारा आत्मारूपी विद्युत् और चित्तरूपी पर्देमें भेद-ज्ञान प्राप्त होता है। पर वैराग्यद्वारा इससे भी परे होकर आत्मारूपी विद्युत्की अपने वास्तविक परमात्मस्वरूपमें अवस्थिति होती है।

योगविद्या

(स्वामी श्रीविज्ञानानन्दजी सरस्वती)

योगविद्या भारतवर्षकी अमूल्य सम्पत्ति है, जो सुदूर अतीत कालसे अविच्छिन्न रूपमें गुरुपरम्परापूर्वक चली आ रही है। युग-युगसे चला आया यह योग वस्तुतः भारतीय ऋषि-मुनि तथा यति-योगियोंका अध्यवसाय एवं साधनालब्ध अन्तर्जगत्का महत्त्वपूर्ण अन्तर्विज्ञान है। इसी योग-समाधिके द्वारा वैदिक कालमें कितने ही ब्रह्मोपासक मन्त्रद्रष्टा ऋषि बन गये। वेदकी ऋचाएँ ही इसका प्रबल साक्ष्य हैं। वेदोंमें ऐसे अनेक मन्त्र आते हैं जो योगका ही प्रतिपादन करते हैं, यथा—ऋ०१०।१७७।३, १०।१३।१, ५।८१।१, अथर्व० १९।८।२। इसलिये '**ऋषिदर्शनात्**' के आधारपर जो मन्त्रद्रष्टा है वही ऋषि है। मन्त्रोंका दर्शन बिना योग-समाधिके नहीं हो सकता और न अनुभूत ही हो सकता है। अतः अतीन्द्रिय-दर्शन समाधिनिष्ठ योगियोंको होता है, अयोगियोंको नहीं। याज्ञवल्क्यस्मृतिमें कहा गया है—'**अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।**' जिस योगसाधनाके द्वारा आत्म-दर्शन या ब्रह्मसाक्षात्कार हो वही परम धर्म है।

इस योगविद्याका वेद, उपनिषद्,दर्शन, पुराण तथा स्मृति आदि आर्ष ग्रन्थोंमें जहाँ-तहाँ पुष्कल-रूपमें वर्णन मिलता है। ऋषियोंद्वारा अनेक योगपरक उपनिषदोंका भी उद्भावन हुआ है। योगतत्त्वोपनिषद्, योगशिखोपनिषद्, योगचूडामण्युपनिषद्,

योगकुण्डल्युपनिषद्, महोपनिषद्, शाण्डिल्योपनिषद् और ध्यानबिन्दु आदि प्रमुख योग-उपनिषदें हैं।

इसके साथ ही योगाचार्य महर्षि पतञ्जलिने सम्पूर्ण योगके रहस्योंको अपने योगदर्शनमें सूत्रोंके रूपमें उपनिबद्ध किया। पतञ्जलिने योगको दार्शनिक रूप देते समय स्वतन्त्र रूप देते हुए भी कपिल मुनिप्रणीत सांख्यशास्त्रके अनुकूल बनाया है अर्थात् सेश्वर सांख्य ही बना डाला है। इसलिये ब्रह्मसूत्र (२।१।३) में बादरायणने '**एतेन योगः प्रत्युक्तः।**'—इस सूत्रसे जो योगका खण्डन किया है, वह वस्तुतः योगमें आया हुआ द्वैतपरक सृष्टिमूलक सांख्य-सिद्धान्तका ही खण्डन किया है, वेदानुकूल योगके उपयोगी साधनोंका नहीं। योग तो बादरायणको भी अभीष्ट ही था।

योग क्या है ?

'योग' शब्द'**युज समाधौ**' धातुसे बनता है। इसका अर्थ है समाधि। '**युजिर् योगे**' धातुसे भी योग शब्द बनता है, इसका अर्थ है जुड़ना अर्थात् जीवात्माका परमात्माके साथ मिल जाना—एक हो जाना। प्रायः हठयोगी तथा कुछ अन्य योगी भी योगका अर्थ यही लेते हैं। परंतु ऐसा स्थूल अर्थ लेना उचित प्रतीत नहीं होता। कारण यह है कि जीवात्मा और परमात्मा पृथक् वस्तु नहीं है, किंतु चेतनत्वेन एक ही है। भेद तो अविद्याजन्य है अतः औपाधिक है। भेद दर्शानेवाली अविद्याकी योगसमाधिके द्वारा निवृत्ति हो जानेपर चेतनमें भेद नहीं रह जाता। चेतन एक ही रह जाता है, जैसे घटाकाश और मठाकाशकी उपाधिरूप घट और मठ नष्ट हो जानेपर एक महाकाश ही शेष रह जाता है। अतः जीवत्व-भावका विलोप करके ब्रह्मभावमें स्थित हो जाना ही योग है। इसीको जीवात्मा और परमात्मा मिलकर एक हो जाना कहा गया है। योगाङ्गोंका अभ्यास करते हुए चित्तवृत्ति-निरोधपूर्वक असम्प्रज्ञात समाधि-भूमिकामें पहुँचकर अपने चैतन्य-स्वरूप या ब्रह्मस्वरूपमें स्थित हो जाना ही योग है।

योगके अधिकारी और साधना

पतञ्जलिकृत योग-दर्शन तीन योगाधिकारियोंको लक्ष्यमें रखकर प्रवृत्त होता है—कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम। तीनोंके लिये भिन्न-भिन्न साधन बताये गये हैं। उनका क्रमपूर्वक वर्णन इस प्रकार है—

१-कनिष्ठ अधिकारी

कनिष्ठ योगाधिकारियोंके लिये अष्टाङ्गयोग बताया गया है। अष्टाङ्गयोग कहनेसे योगशास्त्रमें कथित आठ योगके अङ्गोंको ही समझा जाता है। यथा—'**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि॥**' (योग० २।२९) यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं। इस अष्टाङ्ग-योगके द्वारा प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—इन पाँच चित्तकी वृत्तियोंको निरोध करके योग-समाधिमें प्रवेश करना होता है और सम्प्रज्ञात-समाधिकी अन्तिम भूमिकामें पहुँचकर आत्मदर्शन या ब्रह्मसाक्षात्कार करना होता है। फिर असम्प्रज्ञात-समाधिके द्वारा स्वरूपावस्थितिको प्राप्त कर लेना चाहिये। वही कैवल्य मोक्ष है।

कनिष्ठ अधिकारीके लिये अष्टाङ्गयोगका विधान इसलिये किया गया है कि वे प्रारम्भिक योगी होते हैं। अर्थात् इसी जन्मसे योगका आरम्भ करनेवाले साधक होते हैं। इसलिये उन्हें प्रारम्भिक योगाङ्गोंका अभ्यास करते हुए समाधिकी ओर अग्रसर होना होता है, परंतु मध्यम और उत्तम योगी जिनकी योग-साधना सम्यक्रूपसे पूर्ण सिद्धितक नहीं पहुँची होती है, उनके लिये यम-नियमादिक साधनाओंको विशेष महत्त्व नहीं दिया है। क्योंकि वे उन प्रारम्भिक योगाङ्गोंका अभ्यास करते आये हैं। अतः उनके लिये भिन्न-भिन्न योगका विधान किया है।

२-मध्यम अधिकारी

मध्यम अधिकारी वे हैं जो पूर्वजन्मोंमें मोक्ष-साधन आदि करते आ रहे हैं। विवेक-ख्याति प्राप्त न होनेके कारण मोक्ष प्राप्त नहीं कर सके हैं। इस जन्ममें पुनः योग-साधनामें प्रवृत्त होनेपर योगके प्रारम्भिक साधनोंका विशेष रूपसे अभ्यासकी आवश्यकता नहीं होती। पूर्वजन्मोंके अनुभूत ज्ञान साथ ले आते हैं, इसलिये वे साधन अनायास होने लगते हैं। अतः इस मध्यम अधिकारी योगीके लिये केवल क्रियायोगके द्वारा ही समाधि-अवस्थाकी प्राप्ति हो सकती है और अन्तमें कैवल्य-मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं। क्रियायोगके विषयमें योगसूत्रकार पतञ्जलिने लिखा है—'**तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।**' (योग० २।१) 'तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये तीनों क्रियायोग हैं।'

सब प्रकारके द्वन्द्वोंको सहन करना ही तप है। उसके पश्चात् स्वाध्यायका अभ्यास भी आवश्यक है। स्वाध्यायका तात्पर्य यह है कि मोक्षशास्त्र अर्थात् ब्रह्मविद्या-सम्बन्धी ग्रन्थोंका अध्ययन और प्रणव आदि मन्त्रोंका अनुष्ठानपूर्वक जपादि करना। इससे साधनामें रुचि बढ़नेके साथ-साथ मार्ग-दर्शन भी होता जाता है। इसके बाद आता है ईश्वर-प्रणिधान। ईश्वरप्रणिधानका अभिप्राय है ईश्वरकी उपासना-विशेष, जिसमें भक्तिभाव प्रधानरूपमें रहता है। ईश्वर-प्रणिधानसे अविद्याजन्य क्लेशोंकी क्षीणता तथा समाधिसिद्धि होती है। इसलिये योगसूत्रमें कहा भी है—**'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्'** (योग० २।४५) ईश्वरप्रणिधान-रूप ईश्वरोपासनासे इष्टदेवका दर्शन तथा परमेश्वरका साक्षात्कार हो जाता है। कारण यह है कि ईश्वरके ध्यान-चिन्तनादिसे योगसाधनामें आनेवाले कषायादि समस्त विघ्न दूर हो जाते हैं और शीघ्र समाधिकी प्राप्ति हो जाती है। प्रतिबन्धक समस्त बाधाओंके दूर हो जानेपर समाधिमें परमेश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन होनेमें कोई विलम्ब नहीं होता और एक बार ईश्वर-दर्शन हो जानेपर मोक्षके लिये फिर कोई प्रतिबन्धक नहीं बन सकता, यदि योगी ऋद्धि-सिद्धियोंके पीछे न पड़े तो। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस क्रियायोगके द्वारा भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है, इसमें कोई संदेह नहीं है।

३-उत्तम अधिकारी

उत्तम अधिकारी भी पूर्ण सिद्धिको न प्राप्त किये हुए योगी ही होते हैं। उनके लिये भी यम-नियमादिक बहिरङ्ग साधनोंका विशेष महत्त्व नहीं है। उत्तम अधिकारीके लिये योगसूत्र-कारने साधन बताया है अभ्यास तथा वैराग्य। यथा—**'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'** (योग० १।१२) चित्तवृत्तियोंका निरोध अभ्यास और वैराग्यसे होता है। वृत्तिनिरोध होनेसे समाधि-प्राप्ति और समाधि-प्राप्ति होनेपर स्वरूपावस्थिति होती है।

पहले हम वैराग्यके विषयमें विचार करते हैं। वैराग्य मुख्यतः दो हैं—अपर वैराग्य और परम वैराग्य। अपर वैराग्यके चार अवान्तर भेद हैं—यतमान वैराग्य, व्यतिरेक वैराग्य, एकेन्द्रिय वैराग्य और वशीकार वैराग्य। इनमेंसे अन्तिम वशीकार वैराग्य ही योगमें उत्कर्ष लानेवाला होता है, शेष उसके पूरक मात्र हैं। अपर वैराग्य दृढ़भूत हो जानेपर परम वैराग्यका उदय होता है। परम वैराग्यका तात्पर्य है विवेक-ख्याति या पुरुषख्याति-अवस्थासे भी उपरत हो जाना। इसीको परम वैराग्य कहते हैं। इस प्रकारसे अपर वैराग्य और परम वैराग्यके साथ-साथ अभ्यास भी जारी रखना चाहिये। अभ्यासका तात्पर्य बताते हुए सूत्रकारने लिखा है—**'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः'** (योग० १।१३) पूर्वोक्त परम और अपर दोनों वैराग्योंसे चित्तवृत्तियोंका निरोध करते हुए आत्मस्थिति या स्वरूपावस्थितिकी प्राप्तिके लिये पुनः-पुनः प्रयत्नशील होना अभ्यास है। इस अभ्यासकी परिपक्वता—अन्तरङ्ग साधना - धारणा, ध्यान और समाधिसे होती है।

ध्यानका अभ्यास करते समय जब चित्त ध्येयाकारके रूपमें परिणत हो जाता हो, उसके अपने स्वरूपका भी अभाव-सा हो जाय और सिवा ध्येयके अन्य किसी वस्तुकी प्रतीति न हो, तब उसी ध्यानकी अवस्थाको समाधि कहा जाता है। अर्थात् ध्यानकी परिपक्व अवस्थाका नाम ही समाधि है।

धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनोंको संयम भी कहते हैं। यथा—**'त्रयमेकत्र संयमः'** (योग० ३।४) किसी एक ही ध्येय वस्तुमें धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनोंके ही एक साथ होनेसे उसे संयम कहते हैं। इस संयम-साधनसे अनेकों ऋद्धि-सिद्धि आदिकी प्राप्ति होती है, जो योगदर्शनके विभूतिपादमें बहु चर्चित है।

अब समाधिके विषयमें किञ्चित् विचार किया जाय, समाधि मुख्यतः दो हैं—सम्प्रज्ञात-समाधि और असम्प्रज्ञात-समाधि। सम्प्रज्ञात-समाधिके पुनः चार अवान्तर भेद हैं—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत-समाधि। इनमेंसे वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात-समाधिके भी दो भेद हैं—सवितर्क और निर्वितर्क। विचारानुगत सम्प्रज्ञात-समाधिके भी दो भेद और हैं—सविचार और निर्विचार-समाधि। अग्रिम आनन्दानुगत और अस्मितानुगत-समाधिका कोई भेद नहीं है। इस सम्प्रज्ञात-समाधिको ही सबीज समाधि भी कहते हैं। इसके पश्चात् असम्प्रज्ञात-समाधि प्रारम्भ होती है, जो योगकी चरम अवस्था-विशेष है। इसे निर्बीज समाधि कहते हैं। क्योंकि इस समाधि-भूमिकामें कोई भी कर्मबीज नहीं रह जाता है।

प्रारम्भिक समाधि है वितर्कानुगत समाधि। इस

वितर्कानुगत समाधिके द्वारा स्थूल जगत्के सम्पूर्ण पदार्थोंका साक्षात्कार करना होता है। इसमें शब्द, अर्थ और ज्ञानपूर्वक जो समाधि होती है, वह सवितर्क समाधि है और शब्दार्थ-ज्ञानसे रहित जो समाधि होती है, वह निर्वितर्क समाधि है। स्थूल जगत्के सम्पूर्ण तत्त्वोंको साक्षात्कार कर लेनेपर सूक्ष्म आलम्बनीयविषयक विचारानुगत सम्प्रज्ञात-समाधिकी स्थिति आती है। इस सूक्ष्मविषयक समाधि-भूमिकामें सूक्ष्म जगत्के सारे ही सूक्ष्म और दिव्य तत्त्वोंका साक्षात्कार करना होता है। इसमें भी शब्दार्थ-ज्ञानसहित जो समाधि होती है,वह सविचार समाधि है और बादमें जो शब्दार्थ-ज्ञानसे रहित समाधि होती है, वह निर्विचार समाधिके नामसे कही जाती है। इसमें ऊहापोह, तर्क-वितर्क सब समाप्त हो जाते हैं। इसके पश्चात् आनन्दानुगत समाधि आती है। इस आनन्दानुगत समाधि-भूमिकामें स्थूल-सूक्ष्म तत्त्वोंके साक्षात्कारजन्य तृप्तिसे उत्पन्न हुए आनन्दको आलम्बन किया जाता है। आनन्दको आलम्बन करनेके कारण इसे आनन्दानुगत-समाधि कहते हैं। आनन्द-भूमिकाके पश्चात् अस्मितानुगत-समाधि होने लगती है। अस्मिताका अभिप्राय है—**'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता'** (योग० २।६) दृक्शक्ति आत्मा और दर्शन-शक्ति चित्त (बुद्धि)—इन दोनोंका एक रूप-सा हो जाना अस्मिता है। उस अस्मिताको आलम्बन करके जो समाधि लगायी जाती है, वह अस्मिता-समाधि है। अस्मिता-समाधिमें प्रौढ़ता आ जानेपर भव्य आत्मदर्शन हो जाता है। आत्मा यद्यपि असंग और निरवयव तत्त्व है फिर भी उसका दर्शन या साक्षात्कार अवश्य हो जाता है। जैसे राहुका कोई रूप न होनेपर भी ग्रहणके कालमें चन्द्रमाके साथ राहुका भी दर्शन हो जाता है, वैसे ही निर्गुण-निराकार चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वका भी चित्त या बुद्धिके साथ योगज प्रत्यक्ष हो जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। आत्म-दर्शनके कालमें प्रकृति-पुरुष या आत्मा-अनात्माके पृथक् करनेवाले विवेक-ज्ञानको विवेकख्याति या पुरुषख्यातिके नामसे कहते हैं और उस ख्यातिसे भी उपरत हो जाना परम वैराग्य है। परम वैराग्यमें परिपक्वता आनेपर धर्ममेघ नामकी समाधि उत्पन्न होती है, जो मोक्षरूप अमृतको वर्षानेवाली है। यह योगकी नितान्त उच्चतम अवस्था है।

उक्त समाधिकी दीर्घकालिक स्थिरता आनेपर आत्मा अपने स्व-स्वरूपमें रहने लगता है। जैसे योग-भाष्यमें व्यासने कहा है—**'स्वरूपमात्रज्योतिरमलकेवली पुरुषः इति।'** अर्थात् स्वरूपावस्थितिके कालमें पुरुष-आत्मा विशुद्ध निर्मल तथा स्वयंप्रकाश-स्वरूप चैतन्य-ज्योति बनकर केवल रूपमें भासित होता है। उस कालमें सारे क्लेश-कर्मादि दोषोंकी निवृत्ति हो जाती है। इसलिये योग-सूत्रकारने कहा है—**'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।'** (योग० ४।३४) जिनका पुरुष-आत्माके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा, ऐसे गुणोंका अपने कारणोंमें लीन हो जाना उनका कैवल्य है और द्रष्टा-आत्माका अपने चेतन मात्रस्वरूपमें अर्थात् ब्रह्म-स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाना स्वरूप-स्थिति या मोक्ष है। इस प्रकार आत्मस्थितिको प्राप्त करनेवाले योगी जबतक संसारमें जीवित रहते हैं, जीवन्मुक्त पुरुष कहलाते हैं, शरीर छूटनेके पश्चात् सदाके लिये मुक्त हो जाते हैं। अर्थात् **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'**—हो जाता है। जैसे सांख्य-दर्शन (५।११६)में कहा है—**'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता'**—समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष-दशामें पुरुष-आत्मा ब्रह्मस्वरूपमें स्थित हो जाता है। वैसे मुक्त पुरुष पुनः संसारागमन नहीं करते। भाष्यकार व्यासने भी कहा है—**'क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति। कस्मात्? यस्माद्विपर्ययो भवस्य कारणम्। न हि क्षीणविपर्ययः कश्चित् केनचित् क्वचिज्जातो दृश्यते इति।'** अर्थात् क्लेश-कर्मादि निवृत्त हो जानेपर जीता ही योगी मुक्त हो जाता है, क्योंकि मिथ्याज्ञान ही जन्म-मरणका कारण है। नष्ट अज्ञानवाला कोई भी योगी या ज्ञानी पुरुष किसी हेतुसे कहीं भी उत्पन्न हुआ नहीं देखा गया है। अर्थात् उनका पुनः संसारमें जन्म नहीं होता, सदाके लिये वह मुक्त हो जाता है।

गीताका कर्मयोगी फल और आसक्तिको त्यागकर भगवान्की आज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्व-बुद्धिसे शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म करता हुआ उन कर्मोंद्वारा भगवान्की भक्ति करता है (देखिये गीता २।४७से५१; ३।७, १९, ३०; ४।१४; ५।१०; ६।१; ८।७; ९।२७-२८; १२।६; १०।११; १८।६, ९, ४६, ५६, ५७ आदि)।

योगकी कुछ आवश्यक बातें

त्रियोग—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग।

योगचतुष्टय—हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग और राजयोग।

द्विविधा निष्ठा—सांख्ययोग और कर्मयोग।

द्विविधा प्रकृति—परा और अपरा।

त्रिविध पुरुष—क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम (जगत्, जीव और भगवान्)।

वेदान्तके चार महावाक्य—अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म और अयमात्मा ब्रह्म।

सप्तज्ञानभूमिका—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी और तुर्यगा।

साधनचतुष्टय—नित्यानित्यवस्तुविवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान) और मुमुक्षुत्व।

त्रिविध नरकद्वार—काम, क्रोध और लोभ।

त्रिविध ज्ञानद्वार—श्रद्धा, तत्परता और इन्द्रियसंयम।

भक्तिके चार महावाक्य—कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्, मत्तः परतरं नान्यत्, ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् और मामेकं शरणं व्रज।

द्विविधा भक्ति—अपरा या गौणी, परा या रागानुगा।

नवधा भक्ति—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन।

पञ्चभाव—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर।

अष्ट सात्त्विक भाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय।

प्रेमकी तीन अवस्थाएँ—पूर्वराग, मिलन और वियोग।

त्रिविध विरह—भूत, वर्तमान और भावी।

विरहकी दस दशाएँ—चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु।

चतुर्विध भाव—भावोदय, भावसन्धि, भावशावल्य और भावशान्ति।

द्विविध महाभाव—रूढ और अधिरूढ।

द्विविध अधिरूढ महाभाव—मोदन और मादन या मोहन।

आसन—चौरासी या एक सौ आठ। प्रधान दो—पद्मासन और स्वस्तिकासन।

मुद्रा और बन्ध—ये अनेक हैं, परंतु पचीस मुख्य हैं। उनके नाम हैं—महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयानबन्ध, जालन्धर-बन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालनी, तडागी, माण्डवी, शाम्भवी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी, भुजङ्गिनी और पाँच धारणाएँ (पार्थिव, आम्भसी, वैश्वानरी, वायवी और आकाशी)।

षट्कर्म—धौति, गजकरणी, वस्ति, नौलि, नेति और कपालभाति। कोई-कोई त्राटकसमेत सात मानते हैं।

प्राणायाम—पूरक, कुम्भक और रेचक।

चतुर्विध पातञ्जलोक्त प्राणायाम—आभ्यन्तर, बाह्य और दो प्रकारके केवल प्राणायाम।

अष्टविध प्राणायाम—सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा और प्लाविनी। कुछ लोग अनुलोम-विलोमको जोड़कर नौ प्रकार मानते हैं।

दैनिक श्वास—२१६००।

योगसाधनमें तीन प्रधान नाडियाँ—इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना।

दस वायु—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय।

योगके षट्चक्र—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा।

योगके सप्तचक्र—उपर्युक्त छः और सातवाँ सहस्रार।

योगके नौ चक्र—उपर्युक्त सात और आठवाँ तालुमें ललनाचक्र और नवाँ ब्रह्मरन्ध्रमें गुरुचक्र।

षोडश आधार—१-दाहिने पैरका अँगूठा, २-गुल्फ, ३-गुदा, ४-लिङ्ग, ५-नाभि, ६-हृदय, ७-कण्ठकूप, ८-तालुमूल, ९-जिह्वामूल, १०-दन्तमूल, ११-नासिकाग्र, १२-भ्रूमध्य, १३-नेत्रमण्डल, १४-ललाट, १५-मस्तक और १६-सहस्रार।

तीन ग्रन्थि—ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि।

त्रिमार्ग—पिपीलिका-मार्ग, दार्दुर-मार्ग और

विहङ्गम-मार्ग।

त्रिशक्ति—ऊर्ध्वशक्ति (कण्ठमें), अधःशक्ति (गुदामें) और मध्यशक्ति (नाभिमें)।

पञ्चभूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश।

पञ्चाकाश—आकाश, महाकाश, पराकाश, तत्त्वाकाश और सूर्याकाश।

वर्ण—पचास ('अ' से 'ह' तक)।

त्रिविध मन्त्र—पुँ, स्त्री, क्लीब।

चतुर्विध वाणी—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी।

योगके आठ अङ्ग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

नियम—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान।

संयम—धारणा, ध्यान और समाधि।

क्रियायोग—तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान।

द्विविध ध्यान—भेदभावसे और अभेदभावसे।

द्विविध समाधि—सम्प्रज्ञात या सबीज और असम्प्रज्ञात या निर्बीज।

सम्प्रज्ञात समाधिके चार भेद—वितर्कानुगम, विचारानुगम, आनन्दानुगम और अस्मितानुगम।

असम्प्रज्ञातके दो भेद—भवप्रत्यय, उपायप्रत्यय।

पञ्चवृत्ति—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

पञ्चक्लेश—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।

सप्तसाधन—शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्लिप्तता।

योगके विघ्न—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, विषय-तृष्णा, भ्रान्ति, फलमें संदेह, चित्तकी अस्थिरता, दुःख, मनकी खराबी, देहकी चञ्चलता, अनियमित श्वास-प्रश्वास, अनियमित और उत्तेजक आहार, अनियमित निद्रा, ब्रह्मचर्यका नाश, नकली गुरुका शिष्यत्व, सच्चे गुरुका अपमान, भगवान्‌में अविश्वास, सिद्धियोंकी चाह, अल्प सिद्धिमें ही पूर्ण सफलता मानना, विषयानन्द, पूजा करवाना, गुरु बनना और दम्भ करना।

अष्ट महासिद्धि—अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और यत्रकामावसायित्व। कुछ लोग इनमें 'गरिमा' जोड़कर इनकी संख्या ९ कर देते हैं।

चतुर्विध साधक—मृदु, मध्य, अधिमात्र और अधिमात्रतम।

चार अवस्थाएँ—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया।

योग क्या है ?

(श्रीभूपेन्द्रनाथजी सान्याल)

प्राचीन भारतमें जितने मुमुक्षु-सम्प्रदाय थे, उनमें जो योग तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान-रूप क्रियायोगके द्वारा आत्मसाक्षात्कार करते थे, उन्हीं लोगोंका सम्प्रदाय योग-सम्प्रदाय कहलाता था। इस योगके पुरातन या आदिम वक्ता हिरण्यगर्भ ब्रह्मा अथवा शङ्कर हैं। समस्त दर्शनशास्त्रोंमें योगदर्शन ही प्राचीनतम दर्शन है। प्राचीन मुनि पतञ्जलि इस योगदर्शनके रचयिता हैं। इस योगके द्वारा समस्त तत्त्वोंका ज्ञान जिस प्रकार सूक्ष्मतम रूपमें परिस्फुटित होता है, उस प्रकार अन्य किसी साधनाके द्वारा सम्भव नहीं। क्योंकि चित्तको संयत करनेपर जो एकाग्रता प्राप्त होती है, उस एकाग्रताका अभाव होनेपर हम जागतिक किसी पदार्थ या विषयका भी ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। और जिस समय चित्त विषयासक्ति प्रभृति अवैराग्यके द्वारा अभिभूत नहीं होता, उस समय वह जिस एकाग्र भूमिपर आरोहण करता है, उसके द्वारा निरोधरूप परमोपशान्ति नित्य प्रतिष्ठित होती है। इसके समान श्रेष्ठ बल और कुछ भी नहीं हो सकता। आत्मसाक्षात्कार-प्राप्ति ही साधनाका चरम उद्देश्य है, क्योंकि उसके अतिरिक्त दुःखनिवृत्तिका कोई दूसरा सुगम पथ नहीं है। **'अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्'**—योगके द्वारा आत्मदर्शन प्राप्त करना ही परम धर्म है। हमारे समस्त दुःखभोगका मूल चित्तका स्पन्दन ही है। चित्तके स्पन्दनकी निवृत्ति होनेपर दुःखकी निवृत्ति हो जाती है, अन्यथा लाख विचार करें,

आलोचना करें या श्रवण करें, उससे कुछ भी नहीं हो सकता। हमारे देशकी या अन्य देशोंकी भी समस्त साधनाओंमें जो प्रणालियाँ बतलायी गयी हैं, उनमें चित्तको न्यूनाधिक मात्रामें निरुद्ध करनेका उपदेश सब सम्प्रदायोंमें प्रचलित है, ऐसा देखा जाता है। वास्तवमें चित्तको स्थिर किये बिना कोई दुःखसे मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। इसीलिये चित्तका चरम स्थैर्य जो समाधि है, उसके द्वारा त्रिताप-ज्वालाकी एकदम निवृत्ति हो जाती है। इन्द्रियजनित हमारा जो ज्ञान है, वह शुद्ध ज्ञान नहीं है, क्योंकि विक्षिप्त चित्तमें जो ज्ञान प्राप्त होता है, उस ज्ञानसे आत्मदर्शन नहीं होता। समाधिजनित ज्ञानके बिना कोई आत्मज्ञान अथवा आत्मसाक्षात्कार नहीं प्राप्त कर सकता। कठोपनिषद्में कहा है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

'जो व्यक्ति पापसे निवृत्त नहीं हुआ है, अथवा जो केवल इन्द्रियपरायण है एवं जो असमाहित अर्थात् एकाग्रतारहित, चञ्चलचित्त है—वह कभी आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता, अथवा जो व्यक्ति अशान्त मनवाला है अर्थात् फल-कामनामें आसक्त चित्तवाला है, वह केवल विचारके द्वारा आत्माको नहीं प्राप्त कर सकता।'

उपनिषद्में आत्माकी प्राप्तिके विषयमें कहा है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

'समस्त भूतोंके अंदर आत्म-चैतन्य गुप्तरूपसे निहित है, यह सबके सामने प्रकाशित नहीं होता। किंतु ध्यान-निश्चला सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा सूक्ष्मदर्शियोंको यह आत्मा दिखायी देता है अर्थात् वह उनके सामने प्रकट होता है।'

आत्मदर्शन करनेके लिये बुद्धिको अत्यन्त सूक्ष्म करना होता है। साधारणतः विषयव्यापारसंलग्न चित्त अत्यन्त स्थूल अर्थात् चञ्चल होता है। उस स्थूल चित्तमें सूक्ष्मतम आत्मदर्शन होना असम्भव है। इसीलिये चित्तको स्थिर करते-करते उसे इतना स्थिर कर देना होता है कि उसका सारा स्पन्दन शान्त हो जाय। इस अवस्थाका वर्णन उपनिषद्में इस प्रकार मिलता है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

जिस अवस्थामें पञ्चज्ञानेन्द्रिय मनके साथ स्थित रहते हैं अर्थात् इन्द्रियाँ बहिर्विषयका त्यागकर अन्तर्मुखी हो जाती हैं और बुद्धि भी चञ्चल नहीं रहती अर्थात् विषय-चिन्तनका दाग उसमें नहीं लगता, योगी उस इन्द्रिय-मनोबुद्धिकी स्थिरताको आत्मज्ञान प्राप्त करनेकी श्रेष्ठ साधना कहते हैं। उसी स्थिर इन्द्रिय धारणाको (अर्थात् इन्द्रियोंकी निश्चलताको) योगी लोग योगके नामसे पुकारते हैं। चूँकि योग हित और अहित दोनोंका कारण होता है, इसलिये इस बातके लिये सावधान रहना चाहिये कि चित्तकी परम स्थिरता प्राप्त होनेके पहले प्रमाद न आ जाय। अर्थात् उस समयमें योगीको अनेक विभूतियाँ प्राप्त होती हैं, अगर वह प्रमादवश उनमें आसक्त हो गया तो समस्त अभ्यासका परिश्रम नष्ट हो जायगा। ध्यान देनेकी बात है कि जिस वस्तुके प्रति चित्तका आकर्षण होता है उसी वस्तुकी ओर चित्तकी स्वाभाविक गति होती है। चित्त जब बार-बार उस वस्तुका भोग करता है, तब उसमें तदनुरूप संस्कार उत्पन्न होते हैं, संस्कारसे वासनाका उदय होता है, वासना बढ़ते-बढ़ते इस विराट् संसारकी रचना कर बैठती है। यदि उन सब वासनाओं और भोगादिके परिणाम—नीरसताका विचार किया जाय तो उन सब वस्तुओंको पानेका आग्रह मनमें फिर नहीं आ सकता। जबतक वस्तुके लिये चित्तमें आग्रह रहता है, तबतक उस चित्तको मलयुक्त कहा जाता है और वह समल चित्त भगवच्चिन्तनका बाधक है, इसीसे सब कालमें साधकोंने भगवद्भावनाके विरोधी विषय-वासनाको हेय कहा है।

हमारे अंदर वैराग्यबुद्धिका उदय क्यों नहीं होता? वैराग्यके प्राप्त होनेपर विषयकी ओर चित्त आकृष्ट नहीं होता और मन सहज ही स्थिर होकर आत्मानुसंधानमें प्रवृत्त हो सकता है। वैराग्य अनायास नहीं आता, यह समझनेपर ही विषयके प्रति प्रतिकूल भावका पोषण किया जा सकता है, ऐसा नहीं है। अन्तःकरणके अंदर जो अंश चित्तके नामसे प्रसिद्ध है, उसमें जीवके जन्म-जन्मान्तरके संस्कार एकत्रित रहते हैं, जबतक यह चित्त क्षीण नहीं होता, अ-

संसार-वासना क्षयको प्राप्त नहीं होती। हजारों-लाखों जन्मोंके संस्कारोंसे चित्त भरा हुआ होता है, इसलिये चित्तको जीतना सहज काम नहीं है। चित्तके मूल कारण दो हैं—

'हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः।'

'चित्तके अंदर वृत्तिप्रवाहके केवल दो हेतु हैं। एक तो है वासना अर्थात् भावनामय संस्कार और दूसरा है प्राणप्रवाह।' प्राणके अंदर वासनाका बीज और संस्कार ग्रथित रहते हैं। प्राणके स्पन्दनसे मन स्पन्दित होनेपर वृत्तिप्रवाहरूप उत्ताल तरङ्गमाला उठना आरम्भ करती है। इसीलिये प्राण और मनके स्पन्दनका नाश करनेकी व्यवस्था योगशास्त्रमें बार-बार दी गयी है। निरन्तर नाड़ियोंसे होकर प्राणधारा जीवशरीरमें प्रवाहित हो रही है और वही श्वासके रूपमें स्थूलतः दिखायी देती है। यह श्वास ही जीवका जीवन है। परंतु श्वासकी इस प्रकारकी गतिको योगी लोग संसार-वासनाका मूल कारण समझते हैं। इसीलिये योगियोंके किसी-किसी सम्प्रदायने ऐसी चेष्टा की कि श्वासका ही निरोध किया जाय। क्योंकि—

'पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते।'

'प्राणवायु स्थिर होनेपर मन स्थिर हो जाता है।' अवश्य ही मन स्थिर होनेपर प्राण भी स्थिर होता है। इसीलिये योगियोंमें एक सम्प्रदायने प्राणका और दूसरे सम्प्रदायने मनका निरोध करनेकी ओर विशेष ध्यान दिया है।

इन्द्रियविकारादि दोषसमूह प्राणनिग्रहके द्वारा दूर होते हैं, यह बात महर्षि मनुके उपदेशमें भी देखी जाती है।

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

'अग्निके द्वारा उत्तप्त होनेपर धातुके मल जिस प्रकार जल जाते हैं, उसी प्रकार प्राणवायुके निग्रहके द्वारा इन्द्रियोंके भी समस्त दोष दग्ध हो जाते हैं।'

योगदर्शनमें लिखा है—महामोहमय इन्द्रजालके द्वारा जब प्रकाशशील सत्त्व ढक जाता है, तब अन्य गुण कार्यशील होकर जीवको अकार्यमें नियुक्त करते हैं। उस प्रकाशको ढकनेवाले कर्म प्राणायामके द्वारा नष्ट होते हैं—**'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।'** जबतक रज-तमके कार्य चलते रहते हैं, तबतक बुद्धिका विकार नष्ट नहीं होता। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशादि पञ्च क्लेश कार्यकारण-स्रोतको उत्पन्न कर कर्मविपाककी सृष्टि करते हैं। इसी कारण समाधि-साधनद्वारा बुद्धि स्थिर करने और सब 'क्लेश' क्षीण करनेके लिये योगी क्रियायोगका अनुष्ठान करते हैं। क्योंकि जबतक सब 'क्लेश' क्षीण नहीं हो जाते, तबतक वे अप्रसवधर्मा नहीं होते। 'क्लेश' की प्रबल अवस्था रहनेपर अशुद्धि दूर नहीं होती। परंतु क्रियायोग (प्राणायामादि क्रिया) के द्वारा अशुद्धि नष्ट हो जाती है। अशुद्धि दूर होनेपर सब क्लेश भी क्षीण हो जाते हैं। सब क्लेशोंके क्षीण हुए बिना अशुद्ध वृत्तियोंको नष्ट करना सम्भव नहीं होता। अशुद्ध वृत्तियोंकी प्रबल अवस्थामें उनको कोई सँभाल नहीं सकता। पहले ऐसी चेष्टा करनेकी आवश्यकता है जिससे सब 'क्लेश' क्षीण हो जायँ। क्लेश-समूहके क्षीण हो जानेपर 'ऋतम्भरा प्रज्ञा'का उदय होता है और ऐसी 'प्रज्ञा' के द्वारा 'क्लेश'-समूह अप्रसवधर्मा हो जाता है। क्लेशसमूहकी फिर वृत्ति उत्पन्न नहीं होती। इसीलिये वसिष्ठदेवने कहा है—

दुःसहा राम संसारविषवेगविषूचिका।
योगगारुडमन्त्रेण पावनेनोपशाम्यति॥

'हे राम! यह संसाररूपी विषवेगविषूचिका अत्यन्त दुःसह है। केवल परमपावन योगाभ्यासरूप गारुड-मन्त्रके द्वारा ही उसका उपशमन किया जा सकता है।'

साधारणतः हमारा चित्त जब संसारमुखी (जैसा अधिकांश लोगोंका होता है) होता है,तब श्वास भी बाहरकी ओर विचरण करता है। इस श्वासकी गतिकी ओर योगियोंने ध्यान दिया है। जब श्वास हमारी बायीं अथवा दाहिनी नासिकासे चलता है,तब संसार-वासना स्पन्दित होती है। सब जीवोंका श्वासप्रवाह इन्हीं दो नासापुटोंसे प्रवाहित होता है, अतएव संसार-वासना किसी तरह निवृत्त नहीं होती। इसी कारण योगियोंने ऐसी चेष्टा की है कि श्वास बाहरकी ओर गमनागमन न करे। बाहरकी ओर गमनागमन करनेका पथ इडा और पिङ्गला नाडी हैं। साधारणतः अज्ञानीकी ज्ञाननाडी—सुषुम्ना-पथ बंद रहता है। योगी इसीलिये इडा और पिङ्गला नाडीका द्वार बंद करके सुषुम्नामार्गसे प्राणको चलानेकी चेष्टा करते हैं, अन्यथा मनुष्यके अंदर वास्तविक ज्ञानका उदय होना सम्भव नहीं। हमें समस्त ज्ञान नाडी-पथसे होता है। ब्रह्म-ज्ञान भी नाडी-पथसे होता है, वह ब्रह्मज्ञानप्रवाहिका नाडी

सुषुम्ना है। उसीसे प्राणको चलाना होगा। योग-शास्त्रमें कहा है—

विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते।
सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः॥
मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते।
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी॥

'विधिवत् प्राणसंयमके द्वारा नाडीचक्रके विशुद्ध होनेपर सुषुम्नाका मुख खुल जाता है और उसके अंदर प्राणवायु सहज ही प्रवेश कर जाता है। मध्यनाडी अर्थात् सुषुम्नाके अंदर प्राणवायु संचालित होनेपर मनको जो स्थिर-भाव प्राप्त होता है, उसी स्थिरावस्थाका नाम 'उन्मनी' अवस्था है।'

इस उन्मनी-अवस्थाको प्राप्त योगी देवताओंके भी पूजनीय होते हैं। इस योगाभ्यासके द्वारा कालको भी ठगा जा सकता है। बोधसारग्रन्थमें लिखा है—

गोरक्षचर्पटिप्राया हठयोगप्रसादतः।
वञ्चयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति हि॥

'गोरक्षनाथ, चर्पटि प्रभृति योगी हठयोगके अनुष्ठानके द्वारा सिद्धि प्राप्तकर, मृत्युको ठगकर ब्रह्माण्डमें विचरण करते हैं।'

बहुतसे लोग हठयोगसे घृणा करते हैं और राजयोगका विशेष आदर करते हैं। परंतु योगशास्त्रमें कहा है—हठयोगके बिना राजयोग और राजयोगके बिना हठयोग किसीको भी वास्तविक सिद्धि नहीं दे सकता।

वास्तवमें सब योगोंके अंदर एक प्रकारकी एकता है और परस्पर सापेक्षता है। जो इस बातको नहीं समझते वे योगी नहीं हैं। बोधसारग्रन्थमें लिखा है—

लये मन्त्रे हठे राज्ञि भक्तौ साङ्ख्ये हरेर्मते।
मतैक्यमस्ति सर्वेषां ये बुधा मोक्षमार्गगाः॥

'लययोग, मन्त्रयोग, हठयोग, राजयोग, सांख्ययोग और भक्तियोग—इन सब योगोंके अंदर मतैक्य है। जो मोक्षमार्गगामी हैं, उन सब बुधोंने देखा है कि सबका उद्देश्य मोक्षप्राप्ति है।'

हठिनामधिकस्त्वेकः प्राणायामपरिश्रमः।
प्राणायामे मनःस्थैर्यं स तु कस्य न सम्मतः॥

'हठयोगियोंका मुख्य साधन है श्रमसाध्य प्राणायाम—यह अन्यान्य योगियोंकी साधनासे अधिक है। परंतु वह प्राणायाम सिद्ध हो जानेपर चित्त स्थिर हो जाता है, यह कौन स्वीकार नहीं करेगा ?'

योगदर्शनमें भी लिखा है कि प्राणायामके द्वारा **'धारणासु च योग्यता मनसः'**—मनको धारणाविषयक योग्यता प्राप्त होती है।

प्राणकी क्रिया है निःश्वास और अपानकी क्रिया है प्रश्वास। इस निःश्वास-प्रश्वासकी गति रुद्ध होनेका नाम है कुम्भक। इस प्रकार निगृहीत प्राणवायुमें समस्त इन्द्रियाँ लीन हो जाती हैं। प्राणायाम अन्य प्रकारका भी है, जिसमें जबर्दस्ती वायुको रोकना नहीं पड़ता, बल्कि प्राणापानको दीर्घ करके निरन्तर ग्रहण करने और त्यागनेका जो कौशल है, उस कौशलका अभ्यास करते-करते अपने-आप वायु रुद्ध हो जाता है। इसका नाम 'केवल कुम्भक' है—

'रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद् वायुधारणम्।'

प्राणायाम-साधनका यह एक अत्यन्त आश्चर्यजनक फल है। जो विधिवत् प्राणायामका अभ्यास करते हैं उनके श्वासकी ऊर्ध्व-अधः-गतिका शेष हो जाता है। प्राण उस समय सुषुम्नाके मध्यसे होकर मस्तकमें जाकर स्थिर हो जाता है। प्राणायामके द्वारा जब सुषुम्नामें प्राणकी गति होती है तब 'सहजावस्था' प्राप्त होती है और उसके बाद निर्विकार-स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। इसीलिये योगियोंने चित्तस्थितिके लिये प्राणायामको सर्वश्रेष्ठ उपाय बतलाया है।

योगी गोरक्षनाथजीका कहना है कि जितने दिनोंतक प्राणवायु सुषुम्नामें प्रवेश नहीं करता, उतने दिनोंतक मौखिक ज्ञानकी बात कहना दम्भ और मिथ्या प्रलापमात्र है—

यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे
यावद्विन्दुर्न भवति दृढः प्राणवातप्रबन्धात्।
यावद्ध्यानं सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः॥

सुषुम्नाके अंदर प्राणवेग संचारित होनेपर मन शून्यके अंदर प्रविष्ट हो जाता है अर्थात् निरालम्ब होकर स्थिर हो जाता है, उस समय योगीके सब कर्म निर्मूल हो जाते हैं। यद्यपि सुषुम्नाके अंदर प्राणकी स्थिति नित्य है, तथापि इडा-पिङ्गलाके अंदर जो प्राणका प्रवाह चल रहा है, वह बंद हुए बिना उसका

अनुभव नहीं होता, इसीलिये इडा-पिङ्गलाके प्रवाहका अवरोध करनेकी आवश्यकता है। योगी गोरखनाथने कहा है—

सुषुम्नायां सदैवायं वहेत् प्राणसमीरणः।
एतद्विज्ञानमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

'यह प्राणवायु सुषुम्ना नाडीमें सर्वदा ही प्रवाहित होता है। तु जो योगी इसे जान जाते हैं, वे समस्त पापोंसे मुक्त हो ते हैं।'

प्राणकी चञ्चलताके कारण ही जीव संसारचक्रमें रेभ्रमण करता है, अतएव सब प्रकारसे इस प्राणको ही स्थिर रना आवश्यक है। प्राण स्थिर हो जानेपर कामादि रिपुगण र नाडियोंको दूषित नहीं कर पाते। पहले कहा गया है कि में समस्त ज्ञान नाडीद्वारा ही होता है, अर्थात् मनमें कोई चार (अच्छा या बुरा) आनेके पहले नाडी-प्रवाहिकाके दर कम्पन होता है और वही संकल्प-विकल्प आदिके पमें ऊपर उठता है—उस अवस्थाको ही मन कहते हैं। तएव नाडीका शोधन आवश्यक है। गोरखनाथजी इसीसे हते हैं—

तेन संसारचक्रेऽस्मिन् भ्रमतीत्येव सर्वदा।
तदर्थं ये प्रवर्तन्ते योगिनः प्राणधारणे॥
तत एवाखिला नाडी निरुद्धा चाष्टवेष्टनम्।
इयं कुण्डलिनी शक्ती रन्ध्रं त्यजति नान्यथा॥

'प्राणवायुके कारण ही जीवसमूह इस संसार-चक्रमें निरन्तर भ्रमण करता है। योगी लोग दीर्घ जीवन प्राप्त करनेके लिये इस वायुको स्थिर करते हैं। इसके अभ्याससे नाडियाँ पुनः कामादि अष्ट दोषसे दूषित नहीं हो पातीं। नाडी विशुद्ध हो जानेपर कुण्डलिनी-शक्ति अपने रन्ध्रको छोड़ देती है, अन्यथा नहीं छोड़ती।' वह रन्ध्र मूलाधारसे लेकर ब्रह्मरन्ध्रतक विद्यमान है। योगसाधनके बलसे कुण्डलिनी-शक्ति सुषुम्ना-विवरसे होकर ब्रह्मरन्ध्रमें जाकर जब स्थित होती है, तब शिव-शक्तिसंयोगरूप परमयोग प्राप्त होता है।

मूलाधारसे सहस्रारपर्यन्त जानेके पथमें छः पद्म हैं, इनमेंसे प्रत्येकके ध्यानसे अतुल फल प्राप्त हो सकता है। आज्ञाचक्रके ध्यानके द्वारा योगीके समस्त कर्मबन्धन नष्ट हो सकते हैं। केवल यही नहीं, योगशास्त्रमें कहा गया है कि—

यक्षराक्षसगन्धर्वा अप्सरोगणकिन्नराः।
सेवन्ते चरणं तस्य सर्वे तस्य वशानुगाः॥

'जो इस आज्ञाचक्रका ध्यान कर सकता है, उस साधकके चरणयुगलकी यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा और किन्नर अनवरत सेवा करते हैं और वे सब उस साधकके वशमें रहते हैं।'

योग और उसके विभिन्न दृष्टिकोण

(स्वामी श्रीज्योतिर्मयानन्दजी महाराज)

क्या आपने कभी यह सोचा है कि जब आपकी सभी भिलाषाएँ पूर्ण हो जायँगी तो आप कैसा अनुभव करेंगे? स समय किस सीमातक आपका मस्तिष्क संकल्पोंसे युक्त, कल्पमुक्त अथवा मिश्रित स्थितिमें रहेगा?

आप क्षण-क्षण, दिन-दिन यह सोचते जाते हैं कि मेरी कितनी प्रगति हुई और कितनी होनी चाहिये। यद्यपि आपकी मान्यताएँ भी प्रतिक्षण बदलती जाती हैं, इतनेपर भी आप ह नहीं समझ पाते हैं कि 'आपका वास्तविक स्वरूप क्या ?' आप अपने मनमें यह सोचते हैं कि 'मेरा जीवन सदा सफल रहा है और मैं किसी भी मार्गमें सफलता नहीं प्राप्त र सकता।'

थोड़ेसे परिवर्तनके बाद फिर आप यह सोचते हैं कि जैसा पहले सोचते रहे वैसे आप सर्वथा नगण्य नहीं हैं। फिर आप यह देखते हैं कि आपने इतनी शक्ति अर्जित कर ली है कि आप प्राप्त हुए तथा प्राप्त होनेवाले विघ्नोंपर विजय प्राप्त कर सकते हैं। आप असम्भव और सम्भव वस्तुओंको अच्छी तरह समझ सकते हैं। इसपर आप देखेंगे कि आपके हृदयके अन्तर्गत ही असीम दुर्लभ पदार्थों तथा सीमाओंको प्राप्त करनेकी शक्ति संनिहित है।

योगके बारेमें अभीतक बहुत कुछ कहा जा चुका है। कुछ लोग शारीरिक आसनों एवं प्राणायामों तथा कुछ न्यौली आदि शरीरकी सञ्चालन-प्रक्रियाओंको योग समझते हैं और

कुछ लोग महत् आश्चर्यजनक सिद्धियोंकी उपलब्धिको और कुछ लोग शारीरिक बल तथा मनोबल बढ़ानेको भी योग मानते हैं। किंतु योग इसकी अपेक्षा भी कुछ और अधिक है। इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि योगके विविध प्रायोगिक स्वरूपोंको समझा जाय और उसके द्वारा कौन-कौन-सी वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं, यह भी जाना जाय।

वस्तुतः योग एक संस्कृत शब्द है, जिसका भाव यह है कि जो आप अपनेको समझते हैं उससे आप सर्वथा भिन्न हैं। तत्त्वतः जो आप हैं, उससे संयुक्त करनेवाली साधनाका नाम योग है। आप सम्पूर्ण विश्वकी मूल शक्ति हैं न कि इस सीमित शरीरमें रहनेवाले सामान्य व्यक्ति। अपने हृदयके एकान्त मूल भागमें जो स्थित है, वही आप हैं। जैसे एक जीवनीशक्ति (जीवात्मा) शरीरमें रहकर हाथ, पैर, आँख-कान तथा अस्थि, मज्जा, मांस आदिमें व्याप्त होकर उनका सञ्चालन करती है, उसी प्रकार एक महान् शक्ति सम्पूर्ण विश्वके विभक्त स्वर्ग-पृथ्वी आदि लोकोंका तथा समस्त प्राणियोंका विधिवत् सञ्चालन करती है, यह समझनेमें कठिनाई नहीं होनी चाहिये। विश्वके सभी धर्मोंने उस तत्त्वको विभिन्न भाषा एवं शैलियोंमें समझानेका प्रयास किया है। बाइबिलके अनुसार 'परमात्माने मनुष्यको अपने ही आकार-प्रकारके अनुरूप निर्मित किया, स्वर्गका साम्राज्य उसके हृदयमें ही है।' मुसलमानोंके पवित्र ग्रन्थ कुरानकी यह घोषणा है कि 'मनुष्य परमात्माकी ही एक ज्योतिर्मय किरण है', उपनिषदें भी **'तत्त्वमसि'** अर्थात् 'तुम वही परमात्मा हो'—यह कहकर इसी तथ्यको प्रतिपादित करती हैं। यही विश्वके सभी धर्मोंकी आधारभूत मान्यता है।

ईसामसीह, गौतम बुद्ध, राम, कृष्ण, मूसा और मोहम्मद आदि सभीने मस्तिष्ककी संकीर्णतासे ऊपर उठकर उदार एवं गम्भीर चिन्तनका और समस्त विश्वके साथ आत्मभाव करनेका निर्देश दिया है और इस प्रकार सभी प्राणियों तथा परमात्माके साथ तादात्म्य संस्थापित करनेका उपदेश दिया है। यही योगका मुख्य लक्ष्य है, यही अर्थात् आत्मा या परमात्माका साक्षात्कार ही मनुष्यके जीवनका मूल लक्ष्य है। दर्शनशास्त्रोंकी जो योग-पद्धति है, वह एक ऐसे सामान्य मार्गका निर्धारण करती है कि वह व्यक्ति अपने बौद्धिक या आत्मज्ञानके प्रकाशसे सम्बद्ध हुआ है या नहीं। योग ध्यान-समाधिकी ओर बढ़नेके लिये यम-नियमोंका निर्देश करता है। जिनके द्वारा मनुष्य आत्मसाक्षात्कार करनेमें सक्षम होता है। यह योग-दर्शनकी वह प्रणाली है, जो अभ्यास तथा उसके मूल सिद्धान्तोंको भी उन्नत करती है।

जब हम यहाँ योगकी इस प्रकार चर्चा करते हैं तो वहाँ हमारा तात्पर्य आत्म-प्राप्तिके क्रमिक विकासके साधनोंसे रहता है। इससे भिन्न योग सार्वभौम सत्ताकी ओर केन्द्रित करता है। दोनों प्रकारके योगोंका स्पष्ट अन्तर अब हमें मुख्य योग-सरणिके अनुसरणकी ओर प्रवृत्त करता है।

सार्वभौम योग

योगके अनेक पहलू हैं। सार्वभौम योग मूलतः योगको समझनेकी प्रेरणा देता है। जो सब प्रकारसे इसे सम्यक्रूपेण परिपूर्ण करता है और जो परमात्मासे सम्यक्-रूपसे सर्वथा एकात्मभावके रूपमें संयुक्त कर देता है। एक साधक या योगी व्यक्तिको परमात्मासे एकात्मभाव अवश्य स्थापित करना चाहिये अथवा व्यक्तित्वको सभी स्तरोंपर बुद्धि, संवेग, इच्छा एवं क्रियाओंसे तारतम्य स्थापित किये रहना चाहिये। जीवनमें सफलता प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको चारों दिशाओंमें एक संतुलित एवं व्यापक दृष्टिकोणसे अग्रसर होना चाहिये। असंतुलित यात्रा-क्रम किसी भी दिशामें सफलता प्राप्त नहीं कर सकता।

इसलिये सार्वभौम योग मनुष्यके जो चार स्वरूप होते हैं उनके कारणभूत चार योगोंका सम्मिलित रूप उपस्थित करता है। इनमेंसे ज्ञानयोग (या बुद्धियोग) अनुमान या बुद्धिके अत्यन्त सूक्ष्म रहस्योंको प्रकट करता है और दूसरा भक्तियोग (या उपासना-पद्धति) मनुष्यके भावोंको उत्तेजित करता है और मनुष्यके व्यक्तित्व एवं साधनामें शक्तिका सञ्चार करता है (और वह ज्ञानयोगकी ओर विशेष प्रेरणा देता है)। तीसरा राजयोग (या ध्यान या समाधिकी पद्धति) मनुष्यकी इच्छा-शक्तिको दृढ़ बनाता है और उसके मन या चित्तवृत्तियोंको नियन्त्रित करनेमें सशक्त बनाता है और चौथा कर्मयोग (अर्थात् क्रिया करनेकी विधि) मनुष्यके अन्तर्हृदयमें निहित गूढ़ शक्तियों और उनके रहस्योंको उद्घाटित करता है और वह उसके मनः-शक्तिको बढ़ाता है तथा दिन-प्रति-दिन कर्तव्य-कर्मके रहस्योंको जानते हुए उसकी कार्यकुशलताको बढ़ाता है

(इस प्रकार यह योग भी ज्ञानयोगकी ओर प्रवृत्त करता है)।

सार्वभौम या सम्पूर्ण योग इन चारों योगों—ज्ञानयोग (बुद्धियोग), भक्तियोग, राजयोग एवं कर्मयोगको एकमें बाँधता है और इसीके साथ-साथ जो शेष अनेक प्रकीर्ण योग हैं, उन्हें भी वह समेट लेता है और इन सबको मिलाकर आत्म-साक्षात्कार या भगवत्प्राप्तिकी ओर उन्मुख या प्रवृत्त होता है। इससे भिन्न कोई अकेला सामान्य योग मनुष्यको केसी एक रास्तेपर अथवा असंतुलित रूपसे आगेकी ओर बढ़ाता है और जो अकेले किसी लक्ष्यको पूर्णरूपसे प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता है। किंतु सम्पूर्ण या सार्वभौम-योग साधकके लक्ष्यको प्राप्त करनेमें एक सुरक्षित और सुनिश्चित देशाको प्राप्त कराता हुआ उसे महान् लक्ष्यको प्राप्त करानेमें पूर्ण समर्थ होता है।

योगविद्याका आविर्भाव कब हुआ ?

इतिहासकी दृष्टिसे यह निश्चय करना अत्यन्त कठिन है कि विश्वमें योगविद्याका आविर्भाव कब और कहाँसे हुआ। जहाँ योगका उल्लेख प्राप्त है, इसलिये योग निश्चय ही बहुत प्राचीन कालसे चला आ रहा है। योगविद्याके प्रारम्भिक कालसे उस समयका तात्पर्य नहीं है कि इसका अध्ययन-अध्यापन कबसे प्रारम्भ हुआ, बल्कि इसका तात्पर्य है चित्तकी वृत्तियोंका निरोध और आत्मसंयमका व्यावहारिक अभ्यास कबसे प्रारम्भ हुआ ? यही देखना है।

आइजक न्यूटनने गुरुत्वाकर्षणके सिद्धान्तका आविष्कार मात्र किया था न कि वह उसका प्रयोक्ता भी था। ठीक इसी प्रकार योगके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये कि उसके आविष्कारक और प्रचारक दूसरे लोग थे, किंतु ठीक-ठीक उसे प्रयोगमें लाकर उसका उपयोग कर सिद्धि प्राप्त करनेवाले योगी-जन दूसरे थे। इसलिये यह प्रश्न कि योगका आविर्भाव कब हुआ और किसने किया, यह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि योग-साधना एवं बुद्धिके रहस्योंको उद्घाटित कर आत्माके स्वरूपका साक्षात्कार कब और किसके द्वारा हुआ ? यह प्रश्न महत्त्वका है। बस इतना जान लेना पर्याप्त है कि योग कई हजार वर्षोंसे संसारमें अपना कार्य कर रहा है। इसने विश्वके सभी धर्मोंको अनुप्राणित किया और मनुष्यको आत्मबल प्राप्त कराकर परमोन्नति प्राप्त करनेकी दिशामें अग्रसर किया। इस प्रकारकी यौगिक क्रान्तियाँ समय-समयपर बार-बार होती रही हैं।

यह अत्यन्त युक्तियुक्त एवं तर्कपूर्ण बात है कि अत्यन्त प्राचीन कालमें ईसाने तत्त्वका साक्षात्कारकर अपने विचारोंको धर्मके रूपमें प्रचारित-प्रसारित किया[१]। ईसाके 'पर्वतपरके उपदेश' जो अहिंसा, निश्चलता, सरलता, आत्मानुसंधान या आत्मानुभवसे सम्बन्धित थे, वे योगविद्यासे प्रभावित थे। विश्वके सभी धर्म अपने मूलमें एक ही तत्त्वको सँजोये हुए हैं। संसारके भीषण क्लेशोंसे मुक्त होनेके लिये योगका आश्रयण ही मुख्य है, उसके लिये हिन्दू, ईसाई, मुसलमान आदि विभिन्न धर्मोंके दीक्षाओंकी आवश्यकता नहीं। योगके सहारे आप अपने अन्तर्हृदयके रहस्योंको जान सकते हैं और आप देखेंगे कि सभी धर्मोंका मूल उसीमें संनिहित है। सभी धर्म अपने मूलमें एक हैं और वे सब-के-सब वही हैं।

योगधर्म या दर्शन ?

अबतक हमलोगोंने योगके धर्मके साथ तथा दर्शनके साथ सम्बन्धोंकी समीक्षा की है। अब यह निश्चय समझ लेना चाहिये कि योग इन दोनोंसे भिन्न है। विश्वास तथा आस्थाकी दृष्टिसे यह धर्म नहीं कहा जा सकता। आप किसी भी धर्मके व्यक्ति हो सकते हैं और ऐसा होते हुए भी योगके अत्यन्त प्रेमी बन सकते हैं। वास्तवमें योग एक सार्वभौम विश्व-धर्म है। योगकी दृष्टिमें धर्म एक विज्ञान है। यह ईसाके हजारों वर्ष पूर्व भारतमें विकसित हो चुका था। यही प्राचीन योग-प्रणाली सम्पूर्ण धार्मिक क्रान्तियोंकी जननी रही है और सभी आध्यात्मिक एवं धार्मिक भावनाओंको प्रेरणा देती रही है। इसलिये यदि आप योगका अध्ययन करते हैं तो आप अपने धर्मका ही अध्ययन करते हैं और अपनी आस्था तथा धार्मिक भावनाओंको दृढ़ करते हैं तथा अपने धर्मग्रन्थोंका तात्त्विक रहस्य उस योगके द्वारा स्पष्टरूपसे समझ सकते हैं।

१-ध्यान रखना चाहिये कि भारतीय मत इससे सर्वथा भिन्न है। भारतीय परम्पराके अनुसार सृष्टि प्रायः दो अरब वर्ष पुरानी है और इसके पूर्व भी विभिन्न कल्पोंकी सृष्टियाँ रही हैं, इसीलिये वेदोंके समान ही योगविद्या भी नित्य एवं अनादि सिद्ध मान्य है।

इसी तरह योग शिक्षाकी दृष्टिमें कोई दर्शन नहीं है। यह मानवीय बुद्धिके करामातोंसे बाँधा नहीं गया है और मानवीय बुद्धिके आधारपर टिका भी नहीं है। यह संत-महात्माओंके अनुसंधानोंकी आधारभित्तिपर स्थित है। जिन ऋषियोंने साक्षात् भगवान्‌को प्राप्त कर लिया था या आत्माका दर्शन कर लिया था, यह उनके द्वारा प्रदिष्ट विधियोंका निदर्शन है और आध्यात्मिक आचार-प्रणालीका क्रमिक दर्शन कराता है तथा साधकको अन्तिम लक्ष्यतक पहुँचा देनेमें समर्थ होता है। इस प्रकार व्यावहारिक रूपमें योग एक दीक्षात्मक दर्शन एवं सार्वभौम धर्मका प्रतीक है।

बुद्धियोगका स्वरूप

ज्ञानयोग या बुद्धियोग धर्मकी स्पष्ट एवं सरल व्याख्या करता है, जो अन्ततोगत्वा बुद्धिको प्रेरणात्मक तीव्र संवेगके रूपमें परिणत कर देता है। ज्ञानयोगका लक्ष्य अपने वास्तविक सत्यस्वरूपको समझनेमें पूर्ण सहयोग प्रदान करता है। वास्तविक स्वरूप क्या है ? तथा वास्तविक संसार क्या है ? ईश्वर क्या है ? और दैवी शक्ति या देव-तत्त्व क्या है ? ये सब योगके दार्शनिक पहलू हैं। यह आपको इतना बुद्धिमान्, नम्र और सावधान बनाता है, जिससे आप विपरीत परिस्थितियोंमें घबड़ाते नहीं हैं या दुविधापूर्ण स्थितियोंमें किंकर्तव्यविमूढ़ नहीं होते।

भक्तियोगका स्वरूप

भक्तियोग भगवान्‌के प्रेमको प्राप्त करनेका मार्ग है। संसारके अधिकांश धर्म भगवान्‌के प्रति प्रेमको अत्यधिक महत्त्व देते हैं। सभी धर्मोंमें प्रत्येक व्यक्तिको भगवान्‌के प्रति श्रद्धा-भक्ति एवं प्रेम करनेका उपदेश दिया गया है तथा परिपूर्ण आत्मसमर्पणके द्वारा एक अद्भुत आनन्दकी अनुभूति करनेका भी उपदेश दिया गया है। योगमार्गमें भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌की भक्ति और प्रेम-प्राप्तिका मार्ग प्रशस्त किया गया है। आप केवल ईश्वरसे इसलिये प्रेम नहीं करते हैं कि आप अत्यन्त भयभीत हैं या किसी कष्टमें पड़कर उद्विग्न हो गये हैं। भगवान्‌के गूढ़ रहस्योंको युक्ति, तर्क तथा वैज्ञानिक प्रक्रियाके अनुसार अध्ययन करने तथा हृदयङ्गम करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

ध्यानयोग (राजयोग)—मनको एकाग्र करनेकी कला

जब आप विषम समस्याओंसे घिर जाते हैं, तब यह आपके लिये सोचना आवश्यक हो जाता है कि आप अपने मस्तिष्कको किस प्रकार बिलकुल शान्त कर उस समस्यासे मुक्त होनेका उपाय सोच सकते हैं और कैसे मुक्त हो सकते हैं। यदि आप इसमें समर्थ हो जाते हैं तो आप किसी भी समस्याका समाधान करने या हल निकालनेमें सक्षम हो जाते हैं। दूसरी ओर यदि आप मनको एकाग्र नियन्त्रित कर उस समस्याका हल नहीं ढूँढ़ पाते तो विषम परिस्थितियोंसे मुक्त होनेमें भी असमर्थ होते हैं। मनोविज्ञानके वैज्ञानिक तथा मनको ही सब कुछ माननेवाले योगी मस्तिष्कके अन्तर्गत ही एक दूसरी समानान्तर वस्तुका अन्वेषण करते हैं, जिसके आश्रयसे मनुष्य स्वयं अपने मन और हृदयसे ऊपर उठ सकता है। योग-विज्ञान इस परतत्त्वको मनुष्यके शरीरके अंदर ही स्थित मानता है जो राजयोगका मुख्य विषय है।

राजयोग पाश्चात्त्य जगत्‌में मनके गूढ़ तत्त्वोंके अध्ययनके रूपमें बहुत प्रसिद्ध रहा है। इसीके सहारे साधक मनके रहस्योंको विश्लेषित करते हुए आत्म-साक्षात्कारतक पहुँच जाता है। यह मनोविज्ञानके क्षेत्रमें आपको एक गहरी अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है। राजयोगका अभ्यासी अपने मनके रहस्योंको जाननेमें पूर्ण समर्थ हो जाता है। वह साधक मन तथा इन्द्रियोंके नियन्त्रण करनेकी कला या युक्तियाँ जान जाता है। वह निराशाके विचारोंको आशायुक्त या नास्तिक भावनाको आस्तिकतामें परिणत करनेमें समर्थ हो जाता है। नियन्त्रित मन और वासनाओंके दमनपूर्वक वह किसी भी दुर्लभ परतत्त्वको प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकता है।

आप कह सकते हैं कि 'मेरा योगमें कोई आकर्षण नहीं है।' आप यह भी सोच सकते हैं कि 'मेरे पास सभी आनन्द और उपभोगकी वस्तुएँ हैं तो मुझे योगकी आवश्यकता क्या है ? और मनोनियन्त्रण तथा इन्द्रिय-निग्रहकी आवश्यकता भी क्या है ? और हमारे पास बहुत-सी बुरी आदतें या दुष्प्रवृत्तियाँ भी हैं, जिनका परित्याग सम्भव नहीं तथा मेरे मस्तिष्कमें बहुत-सी धन, सुख-भोग तथा शत्रु-नाश आदिकी विषय-वासनाएँ भी भरी पड़ी हैं।'

सच्ची बात यह है कि आप सब कुछ चाहते हैं—धन, यश, व्यापारमें सफलता आदि। किंतु आध्यात्मिक प्रकाशकी प्राप्तिमें कुछ हदतक मनको नियन्त्रित करना परमावश्यक होता है। यश, धन तथा सफलता-प्राप्तिके लिये भी मनको नियन्त्रित कर उनके उपायोंको प्राप्त करनेमें लगाना पड़ता है। यह सही बात है कि आपको जब अधिक आनन्दकी प्राप्ति होती है तो कुछ अच्छे गुण आते हैं और बुरे दोष अपने-आप दूर हो जाते हैं। आपको इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती है और इधर आपके सारे दोष गुणोंमें परिवर्तित होकर योग-साधनाके उपयुक्त बन जाते हैं। योगका थोड़ा अभ्यास करनेपर आपके अन्तर्गत कौन-से उपादेय गुण और हेय दोष हैं उन्हें जाननेमें एवं तत्काल निर्णय करनेमें आप समर्थ हो जाते हैं। योगाभ्यासमें इस बातकी आवश्यकता भी नहीं पड़ती कि इसमें स्त्री, पुत्र, धन आदि सांसारिक परिस्थितियोंका परित्याग ही करना पड़े। मस्तिष्कके सभी दरवाजे या खिड़कियोंको सर्वथा बंद कर देनेकी भी आवश्यकता नहीं होती।

संसारकी जितनी भी ध्वनियाँ या उनका अपना स्वरूप है उसे नष्ट कर या सर्वथा दूर कर देनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। वे अपनी जगह पड़ी रहें कोई बात नहीं। आप अत्यन्त व्यस्त जीवनमें भी अपने मनको नियन्त्रित या किसी एक स्थानपर केन्द्रित कर सकते हैं। आप अत्यन्त दुरूह परिस्थितियोंमें भी आन्तरिक शान्ति प्राप्त कर सकते हैं या मनको एकाग्र कर सकते हैं। योग ही एक ऐसी वस्तु है जो आपके मनको नियन्त्रित करनेकी कला बताता या शिक्षा देता है। आप क्या कर रहे हैं और कहाँ हैं,यह कोई बात नहीं है, यह चिन्ताका विषय नहीं है।

कर्मयोगका स्वरूप या स्वस्वरूपके परिवर्तनका प्रयत्न

'कर्मयोग' इस शब्दका प्रयोग बुद्धियोगके लिये किया गया है। यह सोचना बहुत कठिन है कि कोई घटना सहसा घटित हो जायगी। मनके रहस्योंके गम्भीर अध्ययनसे यह पता चलता है कि विश्वके धरातलपर कोई घटना घटित होती है वह अकारण नहीं है, बल्कि एक महती शक्तिके नियन्त्रित ध्यान और संकल्पका ही परिणाम है। जब आप इस योग-साधनामें आगे बढ़ते हैं तो आप देखेंगे कि आपकी वर्तमान मानसिक स्थिति विगत सभी घटनाचक्रोंके परिणामस्वरूप एक निश्चित बिन्दुपर पहुँचती है।

मनुष्यके जीवनकी प्रत्येक घटना-चक्रमें आयी हुई प्रत्येक परिस्थिति किसी विगत कर्मका परिणाम है और वह कर्म-विपाकके विशिष्ट सिद्धान्तको निश्चित करता है। यह कोई एक ऐसी सामान्य घटना नहीं है जिसकी सर्वथा उपेक्षा कर दी जाय। इसलिये आपको अपने कष्टोंके लिये संसारपर या अपने परिवारपर दोषारोपणकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि व्यक्ति अपने कर्मोंका ही फल भोगता है। आप अपने प्रासाद (महल)के निर्माण करनेवाले शिल्पी स्वयमेव ही हैं। आप विश्वास कीजिये कि आप अपने मनको किसी अभिमत वस्तुपर नियन्त्रित कर सकते हैं और पुनः उसे किसी संत या भगवान्‌की ओर प्रवृत्त कर सकते हैं। इस प्रकार आप कर्म, योग या ध्यानके आश्रयसे अपनी सारी विपरीत परिस्थितियोंको अत्यन्त अनुकूल रमणीय स्थितिमें परिवर्तित करनेमें समर्थ हैं। यही योगकी चतुर्थ श्रेणी कर्मयोगका क्षेत्र है।

कर्मयोग किसी विशिष्ट लक्ष्यको लक्षित कर प्रवृत्त होता है। कर्म ही शनैः-शनैः योगका रूप धारण करता है और पुनः यह क्रमशः भक्तियोग और ज्ञानयोगके रूपमें वृद्धिङ्गत होता हुआ निर्विकल्प समाधि—ईश्वरप्राप्ति या स्वरूपावस्थितितक पहुँच जाता है। एकान्त या अत्यन्त संन्यासीका जीवन व्यतीत करनेकी अपेक्षा यह अधिक उत्तम होगा कि आप नियमित रूपसे अपने दैनन्दिन क्रिया-कलापोंका कर्मयोगके रूपमें सम्पादन करें। तब आप देखेंगे कि संसार कष्टका स्थान नहीं है, किंतु आपके लिये आनन्दानुभवका स्थान बन जायगा और आप अपने जीवनमें पर्याप्त ऊपर उठ जायँगे। तब आप यह देखेंगे कि यह विश्व आपकी आध्यात्मिक साधनामें एक परोपकारी वस्तु बन जायगा और पुनः सम्पूर्ण विश्व आनन्दमय परमात्माके रूपमें ही दीखने लग जायगा।

अन्य प्रकीर्ण योग

जपयोग—इसमें श्रद्धा-भक्तिके साथ भगवन्नाम या तान्त्रिक मन्त्रोंके बार-बार जपका विधान है। इसमें कभी वैदिक सूक्तोंके साथ ही तान्त्रिक मन्त्रोंके साथ कोई प्रार्थना या स्तुति भी की जाती है। यह भक्तियोगका ही एक अङ्ग है।

हठयोग—यह मनोविज्ञान तथा शारीरिक व्यायामसे

सम्बन्धित योग है, जिसमें शरीरके विभिन्न अङ्गोंको विशिष्ट नियमोंसे संचालन करना पड़ता है। इसमें अनेक प्रकारके आसन, प्राणायाम तथा नेति, धौति, वस्ति आदि कर्मोंका अभ्यास करना पड़ता है। यह राजयोगमें प्रवेश करनेका प्रारम्भिक आधारभूत योग है।

कुण्डलिनी-योग—यह गुप्त रहस्य या दिव्य ज्ञानको प्रदर्शित करनेवाला योग है, जिसे कुण्डलिनीयोग या शक्तियोग भी कहते हैं। यह कुण्डलिनीशक्ति छः चक्रोंका आश्रय लेकर प्रत्येक प्राणीके हृदयनलिकाके अन्तर्गत निवास करती है। यह बात कोई महत्त्व नहीं रखती कि आप किस प्रकारकी साधना कर रहे हैं, कुण्डलिनी-शक्ति आपको सभी प्रकारके मार्गोंमें सहायता प्रदान करेगी, यह एक तापमापक यन्त्रकी तरह शरीरमें स्थित होकर आपकी साधनाकी प्रगतिको सूचित करती है।

नादयोग—यह एक विशेष प्रकारका योग है, जिसमें साधक रहस्य-पूर्वक ध्वनियोंको ध्यानसे सुनता रहता है। इस साधनाका साधक योगी अपने कानोंके भीतर अत्यन्त ध्यानसे हृदयसे उद्भूत होनेवाली ध्वनियोंको श्रवण करता है। जब साधक इस प्रकारकी विभिन्न ध्वनियोंको सुननेका अभ्यस्त हो जाता है तो उसकी स्थिति ध्यान एवं समाधिमें प्रवेश करनेके योग्य हो जाती है।

क्रियायोग—इस योग-पद्धतिमें शास्त्रोंके अध्ययन और उनके अनुसार श्रद्धापूर्वक कर्म करते हुए प्रगाढ़ भक्ति-भावनाको उन्नत करनेका यत्न किया जाता है। यह हृदयको शुद्ध कर देता है और तत्पश्चात् साधक किसी भी महान् योगमें सिद्धि प्राप्त करनेकी योग्यता प्राप्त कर लेता है। क्रियायोगके विशेष परिचयके लिये पद्मपुराणका क्रियायोग सार-खण्ड विशेष सहायक है।

आप योगी अवश्य बनिये

आप अपने प्रत्येक दिनके जीवनमें थोड़ा-थोड़ा समय देकर ज्ञानार्जन, भक्ति, ध्यान और कुछ कर्मानुष्ठानका भी संतुलित भावसे अभ्यास करें। उपरिनिर्दिष्ट बड़े तथा छोटे सभी योगोंका आप अपने प्रत्येक दिनके जीवनमें सम्मिलित रूपसे थोड़ा-थोड़ा अवश्य अभ्यास करते रहें। इस प्रकार धीरे-धीरे आप सार्वभौम-योग—सम्पूर्ण योग या सम्यक्-योगका अभ्यास करने लग जायँगे। योग आपके शरीरकी शोभाको बढ़ा देगा एवं दैवी गुणोंसे आपके व्यक्तित्वका विकास करेगा और भावी सफलताओं तथा दिव्य ज्ञान-ज्योतिकी प्राप्तिके लिये दृढ़ आधार बन जायगा। भगवान्‌का पूर्ण कृपा-प्रसाद आपको प्राप्त हो।

(अनु०—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

योगकी उपादेयता

(स्वामी श्रीओंकारानन्दजी सरस्वती महाराज)

असंख्य प्राणियोंके भवसागरसे पार करने-हेतु महर्षि पतञ्जलिने योगका निरूपण किया है। कुछ लोगोंका विश्वास है कि हिरण्यगर्भरचित योगसूत्र जो अब लुप्त हो गये हैं, उन्हींके आधारपर योगसूत्रकी रचना हुई । महर्षि पतञ्जलिने अष्टाङ्गयोगका प्रतिपादन किया, जो 'यम-नियम-आसन-प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि' के रूपमें गृहीत है। विवेकमार्तण्ड (१।६) में भी इसीका अनुमोदन किया गया है, जो षडङ्गभूत है।

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट्॥

भारतीय वाङ्मयमें योगपर बृहत् चिन्तन प्रस्तुत किया गया है, जिसके आधारपर साधक अपनी साधनाका दिशा-निर्देश प्राप्त करते हैं। सृष्टिका स्वरूप दो पदार्थोंपर आधारित है 'योग और भोग' । इन्हीं दोनोंमें सब कुछ अन्तर्भूत है। दोनोंका फल भी सुनिश्चित है। भोग बन्धन और योग मुक्ति प्रदान करता है। यह भी निर्विवाद है कि बन्धन किसीको स्वीकार्य नहीं, परंतु प्रमाद जीवकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। बिना परिश्रमके वस्तु सहज ग्राह्य समझकर उसमें सुखकी अनुभूति-मात्र मृगमरीचिका बनकर रह जाती है। योगी योगके बिना रोगी ही रहता है, परंतु योगी भोगी होते हुए भी संसारीकी भाँति भले ही दिखायी देता हो, किंतु जितेन्द्रिय और योग-तत्त्वज्ञ होनेसे संसारीकी तरह बन्धनको प्राप्त नहीं होता—जीवन्मुक्त रहता है।

क्षणभङ्गुर संसारमें प्राणी किसी-न-किसी योगका आधार

लेकर विचरण कर रहा है। जबतक वह प्रभुप्रदत्त विवेकको जाग्रत् कर स्वयंको विज्ञ महापुरुषोंके अमृतोपदेशोंसे जोड़ (योग) नहीं लेता, तबतक उसे निःश्रेयसके मार्गका निर्धारण करनेमें कठिनताका अनुभव होता रहेगा।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

(६।४६)

अर्जुन! तू योगी बन जा। क्योंकि तपस्वियों, ज्ञानियों और सकामकर्ममें निरत जनों—इन सभीसे योगी श्रेष्ठ है।

श्रीमद्भागवत महापुराणमें अपने सखा उद्धवको उपदेश देते हुए योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं—

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः॥

(११।१५।१)

'प्रिय उद्धव! जब योगी इन्द्रिय-प्राण और मनको वशमें करके अपना चित्त मुझमें लगाकर मेरी धारणा करने लगता है, तब उसके सामने बहुत-सी सिद्धियाँ उपस्थित हो जाती हैं।' इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि योगके द्वारा सभी सिद्धियाँ (अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशिता, वशिता, कामावसायिता नामकी अष्टसिद्धियाँ एवं अतीत-अनागत ज्ञान, पूर्वजातिज्ञान, दूर-श्रवण, पशु-पक्षियों आदिकी बोलीका ज्ञान आदि अन्य सिद्धियाँ भी) स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। किंतु योगकी चरम उपलब्धि मात्र सिद्धि-प्राप्तिके संकुचित प्रकोष्ठको अधिगत करना नहीं, वरन् आत्मज्ञान और आत्मबलकी प्राप्ति है।

योग हमारे ऋषियों, महर्षियों, तपस्वियोंकी अनुभूत साधनाका वैचारिक आदर्श है। योगीके लिये भौतिक और पारलौकिक पदार्थ सहज प्राप्य हैं। उसकी शक्ति असीमित होती है। वह ब्रह्माण्ड-स्थित सचराचर जगत्‌को अपने विशाल हृदयाकाशमें समाहित देखता है। उसके अन्तःकरणका भक्तियोग उस स्थितिको प्राप्त कर लेता है, जिसमें वह स्वयं आनन्दित होकर कह उठता है—***'सीय राममय सब जग जानी।'*** योगद्वारा अन्तःकरणमें छुपी असीम शक्ति प्रत्यक्ष हो उठती है और वह शक्ति चिरन्तन देदीप्यमान प्रकाश-पुञ्ज बनकर विश्वको जीने-जागने तथा सद्-व्यवहार-सम्पन्न करनेतककी योग्यता प्रदान करनेमें सक्षम हो जाती है। उत्तरगीता (२।१०)में योगके माहात्म्यके विषयमें इस प्रकार कहा गया है—

मुहूर्तमपि योगश्चेन्नासाग्रे मनसा सह।
सर्वं तरति पाप्मानं तस्य जन्मशतार्जितम्॥

'जो साधक योग-साधनामें स्थित होकर मनको एकाग्र करके क्षणमात्रके लिये भी अपनी दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर स्थित कर लेता है, वह अपने सैकड़ों जन्मोंके लिये पापसे छुटकारा पा जाता है।'

ध्यानयोगके विषयमें 'विवेकमार्तण्ड' ग्रन्थमें लिखा है—चाहे कोई हजारों अश्वमेध और वाजपेय यज्ञोंका अनुष्ठान करे, पर जो फल विशुद्ध ध्यान एवं समाधि-योगके द्वारा प्राप्त होता है, वह इन यज्ञोंसे नहीं होता—

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
एकस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

योगकी विभिन्न पद्धतियों एवं उपासनाकी अनेकानेक विधियोंका प्रमुख लक्ष्य चित्तको राग-द्वेषादि मलसे रहितकर उसमें सत्त्वगुणका उद्रेक करके वृत्तियोंको निर्मलता प्रदान करना है। योग स्वरूप-बोधसे स्वरूपोपलब्धितककी यात्रा है। अन्तश्चेतनाकी जागृतिका योग एक अन्यतम साधन है।

चरित्र-निर्माणमें योगका जो महत्त्व है वह भी स्पष्ट है। मानवमें निहित सात्त्विक तत्त्व जब योग-साधनाद्वारा जाग्रत् हो उठते हैं, तब मानव मानवीय गुणोंसे मण्डित हो जाता है। क्षमा, दया, करुणा, ज्ञान, दर्शन और वैराग्यकी अभिवृद्धि ही चरित्र-निर्माणकी भित्तियाँ हैं।

'नास्ति योगात्परं बलम्।' 'नास्ति योगात् परो बन्धुः' — जैसे वचन भी प्रसिद्ध ही हैं। भगवान् शिवका कथन है कि योगमार्गसे उत्तम कोई मार्ग श्रेष्ठ नहीं—

योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ।
शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा॥

(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ५।२१)

महान् योगिराज शिवस्वरूप गोरक्षनाथ अपने गोरक्षशतक (५) में योगसाधनाके विषयमें कहते हैं—

एतद् विमुक्तिसोपानमेतत् कालस्य वञ्चनम्।
यद् व्यावृतं मनो भोगादासक्तं परमात्मनि॥

'यह मुक्ति-प्राप्तिका सोपान है, इससे कालजयी होना सम्भव है। इस योग-ज्ञानके द्वारा मन विषयभोगोंके रसास्वादनसे निवृत्त होकर भगवच्चिन्तनमें लग जाता है।'

कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, हठयोग, प्राणयोग, बुद्धियोग, भावनायोग आदि अनेक प्रकारके योगोंका विवेचन शास्त्रोंमें किया गया है, अमनस्कयोगमें योगाभ्यासके विषयमें कहा गया है—

विविक्तदेशे सुखसंनिविष्टः
समासने किंचिदुपेत्य पश्चात्।
बाहुप्रमाणं स्थिरदृक् स्थिराङ्ग-
श्चिन्ताविहीनोऽभ्यसनं कुरुष्व॥
एवमभ्यसतो योगं मनो भवति सुस्थिरम्।
वायुवाक्कायदृष्टीनां स्थिरता च तथा तथा॥

(१।१६-१७)

सब प्रकारकी चिन्ताओंसे रहित हो एकान्त स्थानमें सम आसनपर कुछ पीछेकी ओर झुककर तनकर स्थिर अङ्गसे सुखपूर्वक बैठकर एक हाथपर्यन्त दृष्टि स्थिरकर योगका अभ्यास करो। ऐसा अभ्यास करते-करते मन स्थिर होता है, वायु (प्राण) वाणी और दृष्टिमें भी स्थिरता आ जाती है और फिर इस प्रकारके अभ्याससे परमतत्त्वका बोध हो जाता है। जब योगीकी भावना पञ्चमहाभूतोंसे निर्मित शरीरके विषयसे ऊपर उठ जाती है, तब उसको बाहर और भीतर सर्वत्र परमतत्त्वका ही स्फुरण होने लगता है और अखण्ड आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार सर्वविध कल्याणकारक योगमार्गका आश्रय ग्रहण करना चाहिये।

भारतीय संस्कृतिकी एक समृद्ध सम्पत्ति—योग

(डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज)

मानव-जीवनका सर्वोत्तम पुरुषार्थ है भगवत्साक्षात्कार। यद्यपि श्रीभगवान् अव्यक्त[1] और अदृश्य हैं तथापि भक्तिपूर्वक ध्यान करनेवाले भाग्यशाली महानुभावोंको वे अपना दर्शन देकर अवश्य ही कृतार्थ कर देते हैं[2]। अतएव वे न केवल अदृश्य हैं अपितु व्यक्तरूप भी हैं। यह ध्यान वैदिक वाङ्मयमें उपदिष्ट योगके छः अङ्गोंमेंसे तीसरा है—

'तथा तत्प्रयोगकल्पः। प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं धारणा तर्कः समाधिरित्युच्यते योगः।'

(मैत्रायणीसंहिता ६।१८)

यहाँ ध्यानके अनन्तर धारणाका उल्लेख है और महर्षि पतञ्जलिके अनुसार धारणाके पश्चात् ध्यान होता है।

साधक जब अपने चित्तकी वृत्तिको प्रयत्नपूर्वक अपने आराध्य प्रभुके रूपके चिन्तनमें लगा देता है, तब वह स्थिति 'योग' कहलाती है—

आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते॥

(विष्णुपुराण ६।७।३१)

इस प्रकारका ध्यान-योग संध्योपासनाके समय सुकर है। जितनी बार संध्योपासना होगी, (प्रातः, मध्याह्न और सायम्) उतनी बार ध्यान भी हो जायगा।

कोई-कोई साधक अपने मनोमन्दिरमें विराजमान प्रादेशमात्र आकारवाले, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज भगवान्का धारणा-विधिसे स्मरण करते रहते हैं—

केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे
प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्।
चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्ख-
गदाधरं धारणया स्मरन्ति॥

(श्रीमद्भा० २।२।८)

जब साधकके चित्तकी उसके चलते-फिरते, उठते-बैठते अथवा कोई और काम करते समय भी भगवदाकारमयी वृत्ति

१-तदव्यक्तमाह हि। (ब्रह्मसूत्र ३।२।२३)

२-अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। (ब्रह्मसूत्र ३।२।२४)

बनी रहे, तब वह धारणा परिपक्व मानी जाती है—

व्रजतस्तिष्ठतोऽन्यद् वा स्वेच्छया कर्म कुर्वतः।
नापयाति यदा चित्तात् सिद्धां मन्येत तां तदा॥

(विष्णुपुराण ६।७।८७)

धारणामें जागतिक व्यवहार चलता रहता है और चित्त-वृत्ति भगवन्मयी भी बनी रहती है। किंतु जब साधककी चित्तवृत्ति सम्पूर्ण भावसे ऐसी भगवदाकारवती हो जाय कि अन्य किसी वस्तुका भान ही न रहे, तब वह स्थिति समाधि कहलाती है। सुनीति-नन्दन राजकुमार ध्रुवने देवर्षि नारदके उपदेशसे चित्तकी ऐसी समाधिमती एकाग्रता प्राप्त कर ली थी।

समाहितः पर्यचरदृष्यादेशेन पूरुषम्॥

(श्रीमद्भा० ४।८।७१)

ध्यायन् भगवतो रूपं नाद्राक्षीत् किंचनापरम्॥

(श्रीमद्भा० ४।८।७७)

ऐसे एकान्त ध्यानकी ओर संकेत करते हुए पूर्वाचार्योंने साधकोंको सावधान करते हुए श्रीभगवद्ध्यानमय योगके अभ्यास करनेकी ओर दत्तचित्त किया है। दिग्दर्शनार्थ—

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥

(मुण्डकोपनिषद् ३।१।८)

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥

(श्रीमद्भा० १।२।१४)

'ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनः।'

(श्रीमद्भा० १२।१३।१)

अर्थात् ज्ञानकी निर्मलताके कारण शुद्ध चित्तवाला ध्यानाभ्यासी साधक भगवान्‌का दर्शन कर लेता है। एकाग्र मनसे प्रतिदिन भगवान्‌के नाम और गुणोंका श्रवण तथा कीर्तन करना चाहिये एवम् उनका ध्यान और पूजन भी करना चाहिये।

योगी लोग ध्यानके द्वारा श्रीभगवान्‌का दर्शन कर लेते हैं। योग भारतीय संस्कृतिकी एक समृद्ध सम्पत्ति है।

योगका वैविध्य

श्रीभगवान्‌ने उद्धवजीको तीन योगोंका उपदेश दिया था। वे हैं ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। अष्टाङ्गयोगको मिलाकर चार योग हो जाते हैं। 'योग-प्रदीप'में राजयोग, अष्टाङ्गयोग, हठयोग, लययोग, ध्यानयोग, भक्तियोग, नामयोग, क्रियायोग, भेषजयोग, मन्त्रयोग, कर्मयोग और ज्ञानयोगका उल्लेख करते हुए योगको बारह प्रकारका माना गया है।

भक्तियोगकी श्रेष्ठता

प्राचीन ग्रन्थोंमें योगके अनेक प्रकारोंका उल्लेख हुआ है अतएव रुचिभेदसे उन योगोंके अनुगामी भी अनेक प्रकारके हैं। भगवान् श्रीकृष्णका यह मन्तव्य है कि सभी प्रकारके योगियोंमें जो श्रद्धापूर्वक मुझमें मन लगाकर मेरा भजन करता है, वही सर्वोत्तम योगी है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

(गीता ६।४७)

संसारमें कैसे रहना चाहिये

जग माहीं ऐसो रहो, ज्यों अम्बुज सर माहिं।
रहै नीरके आसरे, पै जल छूवत नाहिं॥
जग माहीं ऐसे रहो, ज्यों जिह्वा मुख माहिं।
घीव घना भच्छन करै, तौ भी चिकनी नाहिं॥
ऐसा हो जो साध हो, लिये रहै वैराग।
चरनकमलमें चित धरै, जगमें रहै न पाग॥

—चरनदास

योगमाया

श्रीयोगमाया वह अद्भुत तत्त्व है जिसके कारण निर्गुण-निराकार परब्रह्म कल्याणगुणगणाकर मूर्तिमान् बन जाते हैं। यद्यपि इन दोनों—शक्ति तथा शक्तिमान्में कोई भेद नहीं है तथापि भक्तोंसे आराधित शक्तिमान् जिस प्रकार श्रीराम-कृष्णादि अनेक रूपोंमें दर्शन देते हैं, उसी प्रकार ऋषि-मुनि-संस्तुता शक्ति भी श्रीदुर्गा, देवी, काली आदि नानाविध रूपोंमें प्रकट होती हैं। भावके तारतम्यके अनुसार ही शास्त्रमें, उपासनाविधिमें व्यावहारिक भेद दृष्टिगोचर होता है, जैसे किसी भावुक भक्तको अघटनघटनापटीयसी शक्तिदेवीकी अपार महिमाके सम्मुख ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी गौण प्रतीत होते हैं तो किसी दूसरे भक्तको शक्ति शक्तिमान्के अधीन विदित होती हैं। परमार्थतः दोनों एक ही वस्तु हैं।

शास्त्रमें इन महाप्रभावा योगमायाका वर्णन अनेक स्थलोंपर उपलब्ध है। वेदके एक मन्त्रमें शक्ति-शक्तिमान्को भाई-बहिन मानकर उनका आह्वान किया गया है—

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व .....।

(शुक्लयजु० ३। ५७)

'अम्बिका बहिनके साथ हे रुद्र! यह आपका भाग है, इसे पाइये।'

मार्कण्डेयपुराण तथा देवीभागवत इन जगज्जननीके सर्वोपरि माहात्म्यका वर्णन कर ही रहे हैं। श्रीमद्भागवतमें वह ब्रह्मके परिपूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्रजीकी अनुजा कही गयी हैं— **अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजा।**

'भगवान् श्रीविष्णुकी छोटी बहिन अष्टमहाभुजा आयुध लिये दिखायी दीं।' इन्हीं योगमायाने श्रीमन्नारायणके आदेशके अनुसार गर्भसङ्कर्षण नामक त्रिलोकीमें अश्रुतपूर्व चमत्कार किया था और अजा होकर भी यशोदामाताकी गर्भशय्यामें शयन किया था—

या योगमायाजनि नन्दजायया।

योगमायाकी इच्छासे ही वसुदेवजीके कारागृहके निरीक्षक द्वारपाल निद्राभिभूत हो गये थे।

तया हृतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु
द्वाःस्थेषु पौरेष्वथ शायितेष्वपि।

इन्हींके साहाय्यसे भगवान् श्रीकृष्णने रास नामक लोकोत्तर विस्मय कार्य किया था। **योगमायामुपाश्रितः।**

सगुण ब्रह्मका जो सर्वातिशायी ऐश्वर्य है, वह सब योगमायाका प्रभाव है। सनकादि नित्यमुक्त ब्रह्मर्षियोंके वैकुण्ठाधिष्ठान श्रीविष्णुभगवान्के साथ संलापमें भगवान्का जो विशेषण है, उससे यही बात सिद्ध होती है—

ते योगमाययारब्धपारमेष्ठ्यमहोदयम्।
प्रोचुः प्राञ्जलयो विप्राः प्रहृष्टाः क्षुभितत्वचः॥

(श्रीमद्भा० ३। १६। १५)

'योगमायासे जिनके परमैश्वर्यका महोदय प्रकट हुआ, उन परमेश्वरसे वे आनन्दित-पुलकित ब्राह्मण हाथ जोड़कर बोले।'

योगियोंके योगप्रभावको भी योगमाया कहा जा सकता है। किंतु प्रस्तुत प्रसङ्गमें वह अभीष्ट नहीं है, क्योंकि बद्ध मनुष्यकी अपेक्षा मुक्त योगीका ऐश्वर्य यद्यपि निरवग्रह हो सकता है और शास्त्रमें ऐसा कहा भी गया है तथापि परमात्माके साथ तुलना करनेमें वह सावग्रह ही ठहरता है। योगदर्शनके मतानुसार समाधिके अनन्तर अन्यान्य विभूतियोंके अतिरिक्त योगियोंको सर्वज्ञत्व नामकी सिद्धिकी प्राप्ति हुआ करती है।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।

'प्रकृति और पुरुषके भेदका यथार्थ ज्ञान जिसको हो गया वह सब भावोंका अधिष्ठाता और सर्वज्ञ हो जाता है।' यह सर्वज्ञत्व तथा सर्वभावाधिष्ठातृत्व अवश्यमेव आपेक्षिक है। साधारण संसारी जीवकी अपेक्षा योगी सर्वज्ञ है ही, किंतु उसमें निरतिशय सर्वज्ञबीज नहीं है, वह तो नित्यसिद्ध परमपिताका ही सहज गुण है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।

'वहाँ सर्वोपरि सर्वज्ञताका बीज है।' इसी प्रकार योगीको प्रकृतिपर विजय प्राप्त हो जाती है। किंतु वह जगत्की सृष्टि-स्थिति-प्रलय नहीं कर सकता। वेदान्तशास्त्रका—**जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च।**'—यह सूत्र इस विषयमें प्रमाण है। विश्वव्यापार तो भगवान्की ही योगमायाका विलास है।

योगज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ

(श्रीहरिलाल भोगीलाल त्रिवेदी, वैद्य)

प्राचीन कालमें अनेकों महर्षियोंने अध्यात्मबलको प्राप्तकर परम प्राप्तव्य वस्तुका लाभकर जिस सर्वोत्कृष्ट स्थितिके भोक्ता बननेका सौभाग्य प्राप्त किया था, उस स्थितिको पानेके लिये जिसके हृदयमें प्रयत्नशील होनेकी उत्कट इच्छा जाग्रत् हुई है, उसी मनुष्यमें मनुष्यत्व है। अन्यथा केवल मनुष्य-देह धारण करनेसे ही वास्तविक मनुष्यत्व नहीं आता। परंतु परम दयामय देवेशने मनुष्यको जो-जो उत्तम साधन प्रदान किये हैं, उन-उन साधनोंकी सर्वोत्तम शुद्धि करते हुए मनुष्यत्वकी अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ गुणयुक्त देवत्व और उससे भी उच्चतम ईशत्वको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करनेवाला वीर साधक ही मनुष्य नाम पानेके योग्य है।

इस जगत्का प्रत्येक अणु—सजीव या निर्जीव प्रतिक्षण उत्तरोत्तर शुद्ध होकर विकासमार्गमें गतिशील हो रहा है। [illegible] अनुसार मानव प्राणीके भीतर भी अन्तिम सर्वोत्कृष्ट [illegible]ति—मुक्तिस्थिति प्राप्त करनेकी अभिलाषा ज्ञात या [illegible] रहती ही है। भगवती श्रुति कहती हैं—'**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।**' इससे यह सिद्ध है कि ज्ञान प्राप्त हुए बिना मोक्षाभिलाषीकी मुक्त होनेकी आशा निरर्थक है। वह ज्ञान क्या है, यह जानना चाहिये। इस जगत्में दीखनेवाली प्रत्येक लौकिक विद्या दुःखोंकी आत्यन्तिकी निवृत्ति और सुखकी परावधिकी प्राप्ति करवानेमें सर्वथा असमर्थ है। यह बात बुद्धिमानोंके लिये सुस्पष्ट है। तब वह ऐसी कौन-सी विद्या है जिसके द्वारा मनुष्य कर्तव्य, ज्ञातव्य और प्राप्तव्यकी परमोत्तम सिद्धिको साधकर कृतकृत्य हो सकता है? इस विश्वमें आविष्कृत तथा अन्वेषित समस्त विद्याओंमें केवल ब्रह्मविद्या ही सर्वोपरि है और उसीकी सहायतासे मनुष्य मनुष्यत्वसे देवत्व और देवत्वसे आगे जाकर ईशत्वमें स्थित हो सकता है।

यथार्थतः उन्नतिपथमें शीघ्र अग्रसर होनेकी इच्छा करनेवाले व्यक्तिको अपने स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण इस देहचतुष्टय तथा मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार—इस अन्तःकरण-चतुष्टयको शुद्ध करना परमावश्यक है। शुद्धि होनेपर ही सत्य वस्तुका यथार्थ ज्ञान हो सकता है और सत्य ज्ञान होनेपर ही कर्तव्यकी परावधि प्राप्त होती है। जबतक यह स्थिति प्राप्त नहीं होती, तबतक बार-बार इस दृश्य-प्रपञ्चमें प्रवेशकर नाना प्रकारके अनुभव करने पड़ते हैं अर्थात् तबतक जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति नहीं मिलती। जो महापुरुष मुमुक्षुपदमें स्थित हैं और जिनके अंदर तीव्र मोक्षाभिलाषाका उद्भव हुआ है, उनके लिये परम पूज्य महर्षियोंके पवित्र चरण-चिह्नोंका अनुसरण करना और उनकी आज्ञाके अनुसार कर्तव्य-कर्मोंको सम्पन्न करनेके लिये कटिबद्ध होना बहुत ही आवश्यक है।

मोक्षप्राप्तिके उपयोगी दो मार्ग हैं—योगविद्या और वेदान्तशास्त्र। श्रीयोगवासिष्ठ महारामायणमें स्पष्ट लिखा है—

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव।
योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥
असाध्यः कस्यचिद्योगो कस्यचिद् ज्ञाननिश्चयः।
प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमेश्वरः॥

करोड़ों वर्षोंमें तय होने योग्य लंबा रास्ता किस प्रकार सहज हो सकता है, यह बतलाना योगका कार्य है। जिनको मुक्त होनेकी तीव्र इच्छा है उनको निकटका मार्ग बताना योगका उद्देश्य है। जिस मार्गसे चलनेपर बहुत ही थोड़े समयमें परमपद प्राप्त होता है अर्थात् सामान्य मनुष्यको जिस वस्तुकी प्राप्तिमें करोड़ों वर्ष लगाने पड़ते हैं, उस वस्तुकी प्राप्ति एक ही जन्ममें सिद्ध महात्मा कर सकते हैं, वही मार्ग योगमार्ग है। आत्मतत्त्वकी अनन्त अपार शक्तियोंका अटूट धारावद्ध प्रवाह बहा देनेका प्रधान मार्ग ही योगप्रणाली है। परम तत्त्वके चैतन्यसागरमेंसे अनन्त सामर्थ्य प्राप्त करनेकी कला ही योगविद्या है। इस कलाको हस्तगत करनेपर इस विश्वमें कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता और इसी कारणसे योगतत्त्वविद् महापुरुष कहते हैं कि योगविद्या ही सब विद्याओंकी परम एवं चरम अवधि है।

योगविद्या-तत्त्वका सत्य ज्ञान प्राप्त करनेके लिये साधकको श्रीसद्गुरुका आश्रय लेना अनिवार्य है; क्योंकि वेदान्तशास्त्रके सिद्धान्तको सत्यरूपमें केवल सद्गुरु ही समझा सकते हैं, उनकी सहायताके बिना केवल मिथ्या भ्रान्तिमें पड़कर मनुष्य अवनतिको प्राप्त हो सकता है। इसी कारण

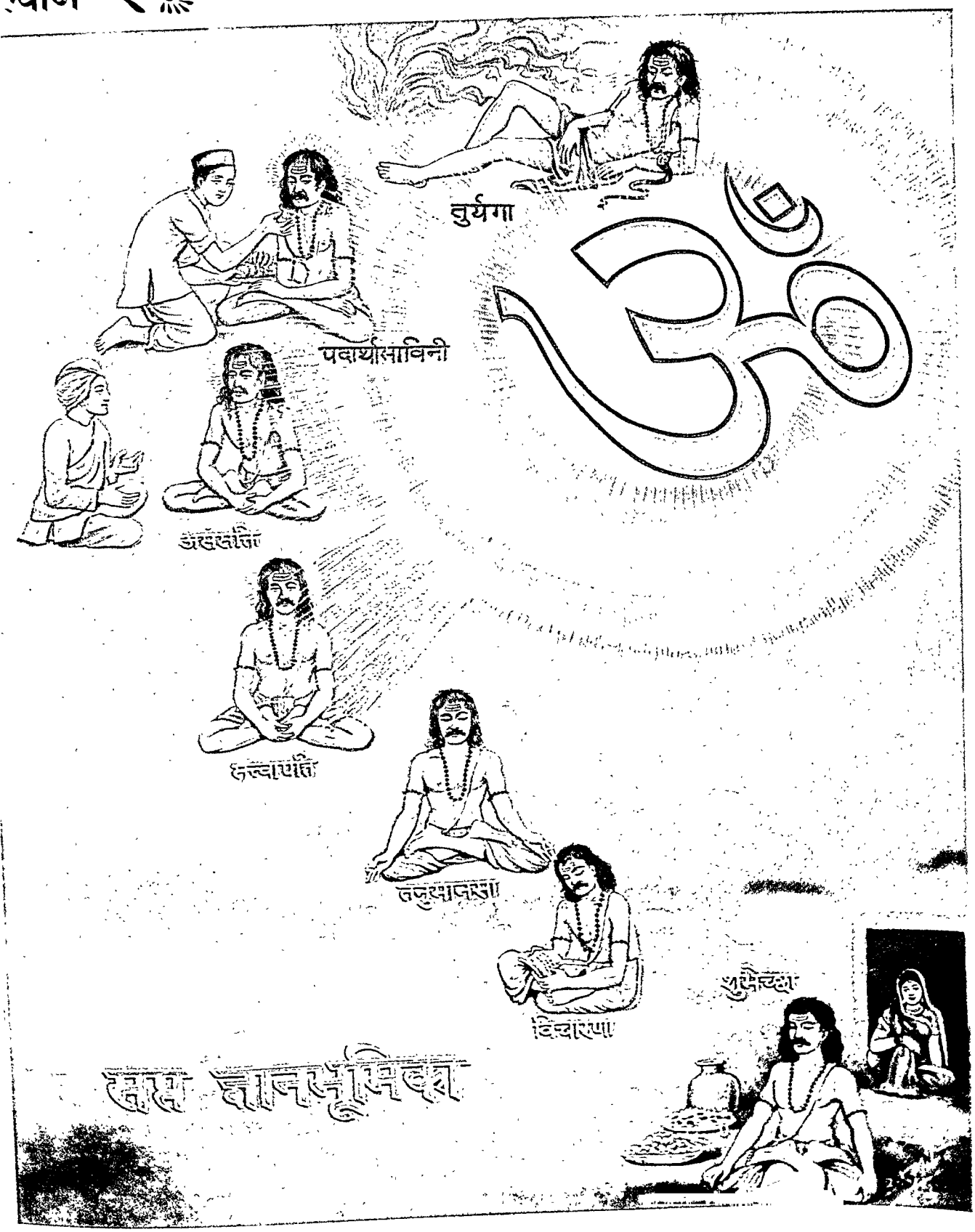
तुर्यगा
ॐ
पदार्थाभाविनी
असंसक्ति
सत्त्वापत्ति
तनुमानसा
विचारणा
शुभेच्छा

दर्शी तत्त्वज्ञानसम्पन्न शास्त्रकारोंने भी आज्ञा दी है—

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।'

(मुण्डकोपनिषद्)

—इस सूत्रके समर्थनमें परमपूज्य आचार्यचूडामणि शंकरभगवान् भी कहते हैं—

'गुरुमेवाचार्यं शमदमादिसम्पन्नमभिगच्छेत्। स्वज्ञोऽपि स्वातन्त्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यात्।'

अर्थात् 'शम-दमादिसम्पन्न गुरुके समीप जाना चाहिये। शास्त्रका ज्ञान होनेपर भी ब्रह्मज्ञानकी मनमानी खोज नहीं करनी चाहिये।' लौकिक विद्याकी सिद्धिके लिये भी जब गुरुकी आवश्यकता पड़ती है, तब ब्रह्मविद्याकी सिद्धिके लिये तो सद्गुरुकी निरतिशय आवश्यकता है, यह सुस्पष्ट है। क्योंकि जिसको जिस वस्तुका अधिकार प्राप्त होता है, उसीके लिये वह प्राप्त हुआ पदार्थ हितकारक होता है। अनधिकारी वेदान्तज्ञानके मार्मिक रहस्यपूर्ण हेतुको नहीं समझ सकता, इसीलिये ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सद्गुरुकी आवश्यकता हमारे सारे शास्त्र मुक्तकण्ठसे स्वीकार करते हैं।

जब वेदान्तप्रदेशमें विचरण करनेका समय आता है, तब ब्रह्मज्ञान, तत्त्वज्ञान आदि शब्दोंसे ज्ञानको समझाना सहज होता है। ज्ञान और उस ज्ञानसे विभूषित महापुरुषोंकी अन्तर्बाह्य स्थितिके स्वरूपको समझनेमें सरलता हो, इसीलिये ज्ञानकी सात भूमिकाओंका वर्णन किया गया है। वे सात भूमिकाएँ इस प्रकार हैं—

भूमयः सप्त तद्वत्स्युर्ज्ञानस्योक्ता महर्षिभिः।
शुभेच्छा ननु तत्राद्या ज्ञानभूमिः प्रकीर्तिता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यादसंसक्तिश्च पञ्चमी।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी चाथ तुर्यगा॥

(वेदान्तसिद्धान्तादर्श)

महर्षियोंने ज्ञानकी सात भूमिकाएँ कही हैं—(१) शुभेच्छा, (२) विचारणा, (३) तनुमानसा, (४) सत्त्वापत्ति, (५) असंसक्ति, (६) पदार्थाभावनी और (७) तुर्यगा। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

***१-शुभेच्छा*—नित्यानित्यवस्तुविवेकादिपुरःसरा फलपर्यवसायिनी मोक्षेच्छा शुभेच्छा।**

अर्थात् 'नित्यानित्यवस्तुविवेक-वैराग्यादिके द्वारा सिद्ध हुई फलमें पर्यवसित होनेवाली मोक्षकी इच्छा अर्थात् विविदिषा, मुमुक्षुता, मोक्षके लिये आतुर इच्छा ही शुभेच्छा है।'

'मैं मूढ़ होकर ही क्यों स्थित रहूँ, मैं शास्त्रों और सत्पुरुषोंके द्वारा जानकर तत्त्वका साक्षात्कार करूँगा'—इस प्रकार वैराग्यपूर्वक केवल मोक्षकी इच्छा होनेको ज्ञानीजनोंने शुभेच्छा कहा है।

***२-विचारणा*—गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारात्मक-श्रवणमननात्मिका वृत्तिः सुविचारणा।**

'श्रीसद्गुरुके समीप वेदान्तवाक्यके श्रवण-मनन करनेवाली जो अन्तःकरणकी वृत्ति है, वह सुविचारणा कहलाती है।'

योगवासिष्ठमें यह बताया गया है कि शास्त्रोंके अध्ययन, मनन और सत्पुरुषोंके सङ्ग तथा विवेक-वैराग्यके अभ्यासपूर्वक सदाचारमें प्रवृत्त होना—यह विचारणा नामकी भूमिका है—

शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥

सत्पुरुषोंके सङ्ग-सेवा एवं आज्ञापालनसे, सत्-शास्त्रोंके अध्ययन-मननसे तथा दैवी सम्पदारूप सद्गुण-सदाचारके सेवनसे उत्पन्न हुआ विवेक (विवेचन) ही विचारणा है। भाव यह है कि सत्-असत् और नित्य-अनित्य वस्तुके विवेचनका नाम ही विवेक है, सब अवस्थाओंमें और प्रत्येक वस्तुमें प्रतिक्षण आत्मा और अनात्माका विश्लेषण करते-करते यह विवेक सिद्ध होता है। विवेकके द्वारा असत् और अनित्यसे आसक्ति हट जाती है, इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण पदार्थोंमें और कर्मोंमें कामना और आसक्तिका न रहना ही वैराग्य है। इस प्रकार विवेक-वैराग्य हो जानेपर साधकका चित्त निर्मल हो जाता है और वह नित्य परमात्माके स्वरूपके चिन्तनमें ही लगा रहता है।

***३-तनुमानसा*—निदिध्यासनाभ्यासेन मनस एकाग्रतया सूक्ष्मवस्तुग्रहणयोग्यता तनुमानसा।**

'निदिध्यासन (ध्यान और उपासनाके अभ्यास) से मानसिक एकाग्रता प्राप्त होती है, उसके द्वारा जो सूक्ष्म वस्तुके ग्रहण करनेकी सामर्थ्य (योग्यता) प्राप्त होती है उसे

तनुमानसा कहते हैं।'

सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका चिन्तन करते-करते उस परमात्मामें तन्मय हो जाना तथा अत्यन्त वैराग्य और उपरतिके कारण परमात्माके ध्यानमें ही नित्य स्थित रहनेसे मनका विशुद्ध होकर सूक्ष्म हो जाना ही तनुमानसा नामकी तीसरी भूमिका है, अतः इसे निदिध्यासन भूमिका भी कहा जा सकता है।

उपर्युक्त तीन भूमिकाएँ जाग्रत् भूमिकाएँ कहलाती हैं। क्योंकि इनमें जीव और ब्रह्मका भेद स्पष्ट ज्ञात होता है। इनमें स्थित व्यक्ति साधक माना जाता है, ज्ञानी नहीं। क्योंकि—

एतस्मिन्नवस्थात्रये ज्ञानोत्पादनयोग्यतामात्रं सम्पद्यते न । ज्ञानमुत्पद्यते।

—'इन तीनों अवस्थाओंमें तत्त्वज्ञानके प्राप्तिकी योग्यता प्राप्त ोती है, ब्रह्मज्ञान नहीं प्राप्त होता', अर्थात् इन तीन ूमिकाओंमें विचरता हुआ पुरुष ब्रह्ममें अभेद-भावको प्राप्त हीं होता। परंतु ज्ञानकी प्राप्तिके लिये इनकी पहले अत्यन्त ावश्यकता होनेके कारण इनकी गणना अज्ञानकी भूमिकामें होकर ज्ञानकी भूमिकामें ही होती है।

ज्ञानभूमिकात्वं तु ज्ञानेतरकर्माद्यनधिकारित्वे सति ानस्यैवाधिकारित्वात्।

इन तीन भूमिकाओंमें स्थित पुरुष ज्ञानसे इतर कर्मादिका धिकारी नहीं होता, प्रत्युत केवल ज्ञान-तत्त्वज्ञानका ही धिकारी होता है।

***४-सत्त्वापत्ति*—निर्विकल्पब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारः त्त्वापत्तिः।**

संशयविपर्ययरहित ब्रह्म और आत्माके तादात्म्य अर्थात् ह्मस्वरूपैकात्मत्वका अपरोक्ष अनुभव ही सत्त्वापत्ति नामकी तुर्थ भूमिका है। यह सिद्धावस्था है। इस भूमिकामें स्थित हापुरुषको **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** का वास्तविक अनुभव जाता है। इसीको श्रीमद्भगवद्गीतामें निर्वाण ब्रह्मकी प्राप्ति हा गया है—

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति॥
(५।२४)

'जो पुरुष आत्मामें ही सुखी है, आत्मामें ही रमण करता है तथा जो आत्मामें ही ज्ञानवान् है, वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त मैं ही ब्रह्म हूँ, इस प्रकार अनुभव करनेवाला ज्ञानयोगी शान्त ब्रह्मको प्राप्त होता है।' ऐसी स्थितिमें उसका इस शरीर और संसारसे कुछ सम्बन्ध नहीं रहता। ब्रह्मवेत्ता पुरुषके अन्तःकरणमें शरीर और अन्तःकरणके सहित यह संसार स्वप्नवत् प्रतीत होता है। श्रीयाज्ञवल्क्यजी, राजा अश्वपति और राजा जनक आदि इस चौथी भूमिकामें पहुँचे हुए माने गये हैं। यद्यपि इस दशाको प्राप्त पुरुषको जगत्का भान होता है और शरीर तथा अन्तःकरणद्वारा सभी क्रियाएँ सावधानीके साथ होती हैं तथापि मायावश जीव जिस जगत्को सत्यस्वरूप देखता है, उस जगत्के मिथ्यात्वका उसे यथार्थ अनुभव हो गया है। यह भूमिका स्वप्न कहलाती है।

***५-असंसक्ति*—सविकल्पकसमाध्यभ्यासेन निरुद्धे मनसि निर्विकल्पकसमाध्यवस्थासंसक्तिः।**

'सविकल्पक समाधिके अभ्यासके द्वारा मानसिक वृत्तियोंके निरोधसे जो निर्विकल्पक समाधिकी अवस्था होती है, वही असंसक्ति कहलाती है।' इसे सुषुप्तिभूमिका भी कहते हैं, क्योंकि इस भूमिकामें सुषुप्ति-अवस्थाके समान ब्रह्मसे अभेद-भाव प्राप्त हो जाता है। यह जगत्प्रपञ्चको भूला रहता है, परंतु समयपर स्वयं ही उठता है और किसीके पूछनेपर उपदेश करता है तथा देहनिर्वाहकी क्रिया भी करता है।

अस्यामवस्थायां योगी स्वयमेव व्युत्तिष्ठते।

परम वैराग्य और परम उपरतिके कारण उस ब्रह्म-प्राप्त ज्ञानी महात्माका इस संसार और शरीरसे अत्यन्त सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, इसलिये इस पाँचवीं भूमिकाको असंसक्ति कहा गया है। ऐसे पुरुषका संसारसे कोई प्रयत्न नहीं रहता। अतः वह कर्म करने या न करनेके लिये बाध्य नहीं है। श्रीजडभरतजी इस पाँचवीं भूमिकामें स्थित माने जा सकते हैं।

***६-पदार्थाभावनी*—असंसक्तिभूमिकाभ्यासपाटवाधिरं प्रपञ्चापरिस्फूर्त्यवस्था पदार्थाभावनी।**

'असंसक्ति नामक पाँचवीं भूमिकाके परिपाकसे प्राप्त पटुताके कारण दीर्घकालतक प्रपञ्चके स्फुरणका अभाव पदार्थाभावनी भूमिका कहलाती है।' पाँचवीं भूमिकामें विश्वप्रपञ्चका विस्मरण अल्पकालतक ही रहता है और छठी

भूमिकामें यह स्थिति दीर्घकालपर्यन्त रह सकती है। इन दोनों भूमिकाओंमें केवल समयका ही भेद होता है। इस भूमिकाको गाढ़ सुषुप्तिके नामसे पुकारते हैं। इस भूमिकामें स्थित महापुरुष देहनिर्वाहादि क्रिया भी स्वतः व्युत्थित दशामें आकर नहीं करता, परंतु—

'अस्यामवस्थायां परप्रयत्नेन योगी व्युत्तिष्ठते।'

'अन्यके द्वारा व्युत्थान पाकर वह क्रिया करता है।' दूसरा कोई मुखमें ग्रास दे देता है तो दाँत और जीभसे खानेकी क्रिया हो जाती है, इत्यादि।

जब ब्रह्मप्राप्त पुरुष छठी भूमिकामें प्रवेश करता है, तब उसकी नित्य-समाधि रहती है, इसके कारण उसके द्वारा कोई भी क्रिया नहीं होती। उसके अन्तःकरणमें शरीर और संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंका अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है। उसे संसारका और शरीरके बाहर-भीतरका बिलकुल ज्ञान नहीं रहता, केवल श्वास आते-जाते हैं, इसलिये इस भूमिकाको 'पदार्थाभावनी' कहते हैं। जैसे गाढ़ सुषुप्तिमें स्थित पुरुषको बाहर-भीतरके पदार्थोंका ज्ञान बिलकुल नहीं रहता, वैसे ही इसको भी ज्ञान नहीं रहता। अतः पुरुषकी अवस्थाको 'गाढ़ सुषुप्ति-अवस्था' भी कहा जा सकता है। किंतु गाढ़ सुषुप्तिमें स्थित पुरुषके तो मन-बुद्धि अज्ञानके कारण मायामें विलीन हो जाते हैं। अतः उसकी स्थिति तमोगुणमयी है, पर इस ज्ञानी महापुरुषके मन-बुद्धि ब्रह्ममें तद्रूप हो जाते हैं। अतः इसकी अवस्था गुणातीत है। इस समाधिस्थ ज्ञानी महात्मा पुरुषकी व्युत्थानावस्था दूसरोंके बारंबार प्रयत्न करनेपर होती है, अपने-आप नहीं। उस व्युत्थानावस्थामें वह जिज्ञासुके प्रश्न करनेपर पूर्वके अभ्यासके कारण ब्रह्म-विषयक तत्त्व-रहस्यको बतला सकता है। इसी कारण ऐसे पुरुषको 'ब्रह्मविद्वरीयान्' कहते हैं। श्रीऋषभदेवजी इस छठी भूमिकामें स्थित माने जा सकते हैं।

६-*तुरीया-तुयर्गा*—**ब्रह्मध्यानावस्थस्य पुनः पदार्थान्तरापरिस्फूर्तिस्तुरीया।**

'ब्रह्मचिन्तनमें निमग्न इस महापुरुषको पुनः किसी भी समय किसी भी अन्य पदार्थकी परिस्फूर्तिका न होना, यही ज्ञानकी सप्तम भूमिका तुरीया कहलाती है।' इस स्थितिको प्राप्त महात्मा स्वेच्छापूर्वक या परेच्छापूर्वक व्युत्थानको प्राप्त ही नहीं होता, केवल एक ही स्थिति—ब्रह्मीभूत-स्थितिमें ही सदा रमण करता है।

अस्यामवस्थायां योगी न स्वतो नापि परकीयप्रयत्नेन व्युत्तिष्ठते केवलं ब्रह्मीभूत एव भवति।

छठी भूमिकाके पश्चात् सातवीं भूमिका स्वतः ही हो जाती है। उस ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महात्मा पुरुषके हृदयमें संसार और शरीरके बाहर-भीतरके लौकिक ज्ञानका अत्यन्त अभाव हो जाता है। क्योंकि उसके मन-बुद्धि ब्रह्ममें तद्रूप हो जाते हैं, इस कारण उसकी व्युत्थानावस्था तो न स्वतः होती है और न दूसरोंके द्वारा प्रयत्न किये जानेपर ही होती है। जैसे मुर्दा जगानेपर भी नहीं जाग सकता, वैसे ही यह मुर्देकी भाँति हो जाता है, अन्तर इतना ही रहता है कि मुर्देमें प्राण नहीं रहते और इसमें प्राण रहते हैं तथा श्वास लेता रहता है। ऐसे पुरुषका संसारमें जीवन-निर्वाह दूसरे लोगोंके द्वारा केवल उसके प्रारब्धके संस्कारोंके कारण ही होता रहता है। वह प्रकृति और उसके कार्य सत्त्व, रज, तम तीनों गुणोंसे और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंसे अतीत होकर ब्रह्ममें विलीन रहता है, इसलिये यह उसके अन्तःकरणकी अवस्था 'तुर्यगा या तुरीया' भूमिका कही जाती है।

उपर्युक्त महात्मा पुरुष उस सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको नित्य ही प्राप्त है। अतः उसके मन-बुद्धिमें भी संसारका अत्यन्त अभाव है। इसलिये ऐसे पुरुषको 'ब्रह्मविद्वरिष्ठ' कहते हैं।

इस प्रकार ज्ञानकी सात भूमिकाओंमें प्रथम तीन भूमिकाएँ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये योग्यता प्राप्त करनेके निमित्त बनायी गयी हैं। चौथीसे सातवीं भूमिकातक ज्ञानकी दशा है और यह उत्तरोत्तर उन्नत दशाकी भूमिका है। चतुर्थ भूमिकामें ही तत्त्वज्ञानका यथार्थ प्रादुर्भाव हो जाता है और वही तत्त्वज्ञान अन्तिम चारों भूमिकाओंमें स्थित रहता है। व्युत्थान-दशाके तारतम्यसे इनमें भेद माना गया है।

शास्त्र कहता है—**'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।'** अतः ब्रह्मके जाननेवालोंको ज्ञानी, तत्त्वज्ञानी, आत्मज्ञानीकी संज्ञासे शास्त्रोंने स्थान-स्थानपर उल्लेख किया है—

एताः सत्त्वापत्त्याद्याश्चतस्रो भूमिका एव ब्रह्मविद्-ब्रह्मविद्वरब्रह्मविद्वरीयो ब्रह्मविद्वरिष्ठेत्येतैर्नामभिर्यथाक्रमेण पूर्वं व्याख्याताः।

'इस प्रकार सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी और तुरीया—इन चार भूमिकाओंमें स्थित महात्मा क्रमशः ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहलाता है।'

ब्रह्मविद्वरिष्ठ महापुरुषसे वार्तालाप न होनेपर भी उसके दर्शन और चिन्तनसे ही मनुष्यके चित्तस्थ मल-विक्षेपका तथा आवरणका नाश हो जाता है। फलतः उसकी वृत्ति परमात्माकी ओर आकृष्ट हो जाती है और उसका सर्वथा कल्याण हो जाता है।

योग-साधनाके विघ्न और उन्हें दूर करनेके उपाय

(पं० श्रीकमलाकान्तजी त्रिवेदी)

समाधौ क्रियमाणे तु विघ्नान्यायान्ति वै बलात्।

'समाधिकालमें विघ्न बलपूर्वक आने लगते हैं।' योगीको चाहिये कि उन विघ्नोंका धीरे-धीरे त्याग करे। भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें कहा है—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शना-लब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।

(समाधिपाद ३०)

'व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व—ये नौ चित्तके विक्षेप हैं, यही अन्तराय (विघ्न) कहलाते हैं।' ये अन्तराय क्या हैं और किस प्रकार इनसे छुटकारा मिल सकता है, इस बातको योगमार्गमें प्रवेश करनेके पहले जानना आवश्यक है।

शरीरको धारण करनेमें समर्थ होनेके कारण धातु नामको प्राप्त हुए वात, पित्त और कफकी न्यूनाधिकता, खाये तथा पिये हुए आहार-पदार्थोंके परिणामस्वरूप रसकी न्यूनाधिकता और मनसहित एकादश इन्द्रियोंके बलकी न्यूनाधिकताको व्याधि अथवा रोग कहते हैं। व्याधि होनेपर चित्तवृत्ति उसमें अथवा उसे दूर करनेके उपायोंमें लगी रहती है। इससे वह योगमें प्रवृत्त नहीं हो सकती। इसी कारण व्याधिकी गणना योगके विघ्नोंमें होती है।

अजीर्ण, नींदकी खुमारी, अति परिश्रम प्रभृतिसे ब्रह्माकार-वृत्तिका अभाव हो जाता है। अजीर्ण आदि लयके कारणरूप विघ्नोंके निवारण करनेके लिये पथ्य और लघु भोजन करनेसे तथा प्रत्येक व्यवहारमें युक्ति एवं नियमके अनुसार चलनेसे और उत्थानके प्रयत्नद्वारा चित्तको जाग्रत् करनेसे ये विघ्न दूर होते हैं। इस विषयमें श्रीकृष्ण भगवान्‌ने भी अर्जुनके प्रति कहा है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥

(गीता ६।१६)

'हे अर्जुन! जो अधिक भोजन करता है, जो बिलकुल बिना खाये रहता है, जो बहुत सोता है तथा जो बहुत जागता है, उसके लिये योग नहीं है।' बल्कि—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

(गीता ६।१७)

'जो नियमपूर्वक भोजन करता, नियमित विहार करता तथा कर्म करनेमें भी नियमपूर्वक रहता है तथा जिसका जागना और सोना भी नियमपूर्वक होता है, उसके लिये योग दुःखका नाश करनेवाला होता है।'

योगसाधनकी इच्छा होनेपर देश-कालादिकी विपरीतताकी कल्पना करके योग-साधनकी प्रवृत्तिमें जो चित्तकी असमर्थता होती है उसे स्त्यान कहते हैं। देश-कालादिकी कल्पित विपरीतताको दूर करनेमें सामर्थ्यरहित चित्तकी यह अयोग्यता भी योगमें प्रवृत्त होने नहीं देती। इसलिये यह भी योगमें विघ्नरूप है।

'यह वस्तु ऐसी ही है या अन्य प्रकारकी है!' इस प्रकारका परस्परविरोधी और उभयकोटिको विषय करनेवाला विज्ञान संशय कहलाता है।' 'योग होता है या नहीं?' 'गुरु और शास्त्र, योग और योगसाधनकी जो महिमा वर्णन करते हैं वह सत्य है या असत्य?' 'योगका फल कैवल्य होता है या दूसरा कुछ?' 'ईश्वर-प्रणिधानसे समाधिलाभ तथा कैवल्य-प्राप्ति सिद्ध होती है या नहीं?' 'योगका परिणाम कैवल्य सत्य है या यह कल्पनामात्र है?'—इस प्रकारके अनेकों विरोधी तथा उभयकोटिको विषय करनेवाले ज्ञानको

ायरूप समझना चाहिये। इस प्रकारके संशय मनुष्यको भी भी योगमें निश्चलतापूर्वक प्रवृत्त नहीं होने देते। अतः ये गके प्रबल विरोधी हैं। अतद्रूप-प्रतिष्ठत्व अर्थात् अपने त्विक रूपमें स्थिर न होनेसे संशय और भ्रान्तिदर्शनके भेद होनेपर भी उभयकोटिके स्पर्श और अस्पर्शरूप वान्तरभेद कहनेकी इच्छासे ही उनका भेद कहा जाता है। लिये संशयका नाशकर भ्रान्तिदर्शनमें भी श्रीसद्गुरुके वचन ौर शास्त्रप्रमाणमें श्रद्धा रखनी चाहिये।

समाधि-साधनमें प्रयत्न न करना अथवा उसमें दासीनता रखना प्रमाद कहलाता है।

कफादिके द्वारा शरीरके भारी होने तथा तमोगुणके द्वारा वत्तके भारी होनेसे भी योग-साधनमें प्रवृत्ति नहीं होती, इसे ो आलस्य कहते हैं।

विषयके समीप रहनेसे विषय-स्थित दोषोंके अत्यन्त वेस्मरणद्वारा विषयभोगकी चित्तमें जो तीव्र इच्छा (तृष्णा) ोती है उसे अविरति अथवा अवैराग्य कहते हैं।

विषय-तृष्णा योगकी प्रबल विरोधिनी है। क्योंकि वह वृत्तिको अन्तर्मुखी नहीं होने देती। यदि कदाचित् अति यत्नपूर्वक वृत्ति अन्तर्मुखी होती भी है तो फिर अल्प समयमें ही विषयोंके स्फुरणद्वारा चित्तको क्षुब्ध करके उसे बहिर्मुख कर देती है। स्मृति भी यही कहती है—

निःसङ्गता मुक्तिपदं यतीनां
सङ्गादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः।
आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः
सङ्गेन योगी किमुताल्पसिद्धिः॥

'यतियोंका संगरहित रहना मुक्तिका स्थान है, संगसे सारे दोष उत्पन्न होते हैं। योगारूढ़ भी संगसे अधोगतिको प्राप्त होते हैं, फिर अल्प सिद्धिवाला अपक्व योगी यदि संगसे अधोगतिको प्राप्त हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या?'

विषय-तृष्णामें दोषदृष्टि करनेसे यह विघ्न दूर होता है। जिस प्रकार लड्डूमें विष डाला गया है—यह बात जान लेनेपर भूखा भी उसे खानेकी इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार शास्त्रोंका अध्ययन और सद्गुरुके उपदेशके द्वारा विषयोंमें दोषदृष्टि होनेपर उनके भोगनेकी इच्छा नहीं होती।

सद्गुरु तथा योगशास्त्रोंके द्वारा उपदिष्ट योगसाधनमें असाधनत्वबुद्धिको भ्रान्तिदर्शन या विपर्ययज्ञान कहते हैं। यह भ्रान्तिदर्शन भी विपरीत ज्ञान तथा विपरीत प्रवृत्तिके कारण साधकको योगमें प्रवृत्त नहीं होने देता। अतः इसकी गणना योगके विघ्नोंमें होती है।

मधुमती आदि समाधिकी भूमिकाओंमें किसी भी भूमिकाका अभ्यास करते रहनेपर भी किसी कारणसे उसका प्राप्त न होना अलब्धभूमिकत्व कहलाता है। अलब्धभूमिकत्व भी साधकके चित्तको असंतोषके द्वारा बहिर्मुख रखनेके कारण योगमें विघ्नरूप है।

मधुमती आदि योगकी भूमिकाओंमें किसी भूमिकाकी प्राप्ति होनेपर भी विस्मय अथवा कर्तव्यके विस्मरण या ज्ञानके द्वारा उसमें चित्तको सुस्थिर न करना अनवस्थितत्व कहलाता है। योगकी किसी भूमिकाके प्राप्त होनेपर, इसीसे भलीभाँति स्थिरता हुई है, किसी कारणसे ऐसा मान लिया जाय और उससे आगेकी सुस्थिरताके लिये प्रयत्न नहीं किया जाय तो उसको उत्तर भूमिकाकी प्राप्ति तो होती ही नहीं, साथ ही उस भूमिकासे भी वह भ्रष्ट हो जाता है। अतः प्राप्त हुई योगभूमिकामें अपने चित्तको सुस्थिर करनेके लिये साधकको प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा प्रयत्न न करनेसे उस भूमिकामें चित्तकी अस्थिरता रहती है, और वह भी योगमें प्रतिबन्धक होती है।

चित्तको विक्षिप्त करनेवाले ये नौ योग-मल योगके विघ्न कहलाते हैं। संशय और भ्रान्तिदर्शनरूप वृत्तियाँ भी वृत्तिनिरोधरूप योगकी विरोधिनी हैं और व्याधि आदि वृत्ति न होनेपर भी वृत्तियोंके साहचर्यसे योगमें बाधक हैं।

केवल ये नौ ही योगके विघ्न नहीं हैं, बल्कि चित्तके विक्षेप करनेवाले इन विघ्नोंके साथ दुःखादि अन्य विघ्न भी हैं। भगवान् पतञ्जलि उनका भी नाश करनेके लिये कहते हैं—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।

(समाधि॰ ३२)

उस विक्षेप तथा उसके साथ होनेवाले दुःखादिकी निवृत्तिके लिये एकतत्त्वका अभ्यास करना चाहिये। इसी प्रकार योगवासिष्ठमें भी कहा है—

तावन्निशीथवेताला वल्गन्ति हृदि वासनाः।
एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः॥

'जबतक एकतत्त्वके दृढ़ अभ्याससे मनको पूर्णरूपसे जीत नहीं लिया जाता, तबतक अर्धरात्रिमें नृत्य करनेवाले वेतालोंके समान वासनाएँ हृदयमें नृत्य करती रहती हैं।'

इस प्रकार अनेक विघ्न योगीके समाधिमें विघ्नरूपसे आते हैं, अतएव उनको हटानेका धीरे-धीरे यत्न करना चाहिये।

इस विषयका एक दृष्टान्त है। एक चरवाहेको रखवाली करनेके लिये दी हुई एक बछिया जंगलमें भटकती है और भटकनेकी आदत सीखती है। पीछे जब वह गाभिन हो जाती है तब कुछ खिलानेका लालच देकर उसे लोग घर ले आते हैं। पर उसको भटकना छोड़कर घरपर रहना अच्छा नहीं लगता और मौका पाकर वह फिर निकल जाती है। पीछे फिर पकड़कर लायी जाती है। ऐसा करते-करते जब वह ब्याती है, तब अपने बछड़ेके प्रेमपाशमें ऐसी बँध जाती है कि फिर लाठीसे मारकर बाहर निकालनेपर भी नहीं निकलती। इसी प्रकार बुद्धिरूपी बछिया संसाररूपी जंगलमें भटकती है और विषयभोगरूपी कुटेव सीखती है। पीछे पुण्योदय होनेपर जब वह मुमुक्षारूप गर्भ धारण करती है तब योगद्वारा बुद्धिको स्थिर करनेका प्रयत्न होता है तथा ध्यानादि क्रियाओंके द्वारा उसे प्राप्त होता है तथापि भटकनेकी आदत होनेके कारण मौका मिलते ही बुद्धि चलायमान हो जाती है। परंतु बुद्धिको समाधिद्वारा ज्ञानरूपी वत्स उत्पन्न होता है, तब उसके ३ निमग्न होकर वह किसी भी दुःखरूपी प्रहारसे घबराकर नहीं छोड़ती अर्थात् कभी बहिर्मुख नहीं होती। इस प्र दोषोंको निवृत्तकर निरोधप्रयत्नके द्वारा निश्चय किया हुआ। स्वाभाविक चञ्चलतासे विषयाभिमुख होकर बाहर जाय तो फिर निरोधप्रयत्नसे ब्रह्ममें लगाये। इस प्रकार ब्रह्ममें एक ह चित्त लय तथा स्तब्ध-अवस्थामें नहीं जाता, शब्द विषयाकार-वृत्तिका अनुभव नहीं करता तथा रसका आस्वादन नहीं करता। यह निवात-प्रदेशमें दीपशिखाके स अचल होकर किसी भी विषयके आकारको न धारण केवल ब्रह्माकार होता है। यह अद्वैतभावनारूप निर्विक समाधि है। यह अद्वैतभावनारूप वृत्ति भी केवल र सात्त्विक होनेपर ब्रह्मका अनुभव कर स्वयं लीन हो जाती इसलिये योगाभ्यास करनेवालेको इन सब विघ्नोंके दूर करने लिये प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिये। क्योंकि **'श्रेयां बहुविघ्नानि'**—श्रेयस्कर कार्यमें अनेकों विघ्न आते हैं, य प्राकृतिक नियम है। इसलिये विघ्न करनेवाले उपकरणो लोभवश न फँसकर उनसे सदा सचेत रहना चाहिये।

योगसे प्राप्त होनेवाली अपरा एवं परा सिद्धियाँ

(वेदान्तभूषण पं० श्रीबदरीदासजी पुरोहित)

सर्वथा सिद्धिविहीन व्यक्तिकी कहीं कोई प्रतिष्ठा नहीं होती और विशेष सिद्धियोंके स्वाभाविक निधान होनेके कारण परमेश्वर सर्वसमर्थ एवं शक्तिमान् होता है और उसकी सर्वत्र पूजा-प्रतिष्ठा होती है। अतः उच्चकोटिका ज्ञान-विज्ञान, जीवन्मुक्ति एवं दिव्य शक्ति आदिकी सिद्धियाँ सबको अभीष्ट होती हैं। अणिमादि अष्टविध सिद्धियाँ तो प्रसिद्ध ही हैं। ये सिद्धियाँ यदि अहङ्कार आदिको जन्म देती हैं और साधक अपनी प्रतिष्ठाके लिये इनका चमत्कार आदिके रूपमें प्रदर्शन करता है तो ये ही सिद्धियाँ उसके मोक्ष आदि परा सिद्धियोंकी प्राप्तिमें अन्तराय बन जाती हैं, उसके पतनका कारण बन जाती हैं, साथ ही इन सिद्धियोंकी शक्ति भी नष्ट हो जाती है। अतः सिद्धिप्राप्त साधकको इनका उपयोग यदि आवश्यक हो तो यथासम्भव परोपकारके कार्यों तथा जीवमात्रके कल्याणके लिये करना चाहिये और इन्हें सर्वथा गुप्त रखते हु निरभिमानपूर्वक आगेकी साधना करते रहना चाहिये।

शरीरमें इन्द्रियों तथा चित्तमें विलक्षण परिणाम उत्प होने अर्थात् इनकी प्रकृतिमें विलक्षण परिवर्तन होनेको सि कहते हैं। सिद्धियोंके पाँच भेदसे पाँच प्रकारके सिद्ध पुरुष माने जाते हैं। इनके निमित्त पाँच हैं—जन्म, ओषधि, मन्त्र तप और समाधि। वे सिद्धियाँ जिनकी उत्पत्तिमें केवल जन्म ही निमित्त है, जन्मजा सिद्धि है। जैसे पक्षियों आदिक आकाशमें उड़ना अथवा कपिल आदि महर्षियोंमें उनके पूर्वजन्मके पुण्योंके प्रभावसे जन्मसे ही सांसिद्धिक ज्ञानक उत्पन्न होना। पारे आदि रसायनोंके उपयोगसे शरीरमें विलक्षण परिणाम उत्पन्न करना ओषधिजा सिद्धि है। मन्त्रद्वारा प्राप्त सिद्धि मन्त्रजा सिद्धि है, जैसे स्वाध्यायद्वारा इष्टदेवताक

मिलना। तपसे अशुद्धिके दूर हो जानेपर शरीर और इन्द्रियोंकी सिद्धि होती है, यह तपोजा सिद्धि है। योगाभ्यासद्वारा समाधि-प्राप्त सिद्धि समाधिजा सिद्धि है।

इनमेंसे यहाँपर योग एवं तपके प्रभावसे प्राप्त होनेवाली मुख्य सिद्धियोंका ही विशेष उल्लेख किया जाता है। मोक्षरूपी परमसिद्धिकी प्राप्ति निर्बीज समाधिका फल है, परंतु सब प्रकारकी दिव्य ऐश्वर्यरूपी नाना प्रकारकी अपरा सिद्धियाँ सम्प्रज्ञात समाधिसे ही सम्बन्ध रखती हैं। योगाभ्यास करनेवाले योगी महात्माओंको जो योगकी विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, उनका संक्षिप्त परिचय महर्षि पतञ्जलिके योगदर्शनके आधारपर यहाँ दिया जा रहा है—

पहली सिद्धि

व्युत्थान-संस्कारोंका लय होकर जो निरोध-संस्कारोंका प्रकट होना है तथा निरोधके क्षणमें जो चित्तका धर्मीरूपमें दोनोंके साथ अन्वय है उसे 'निरोध परिणाम-सिद्धि'कहते हैं। निरोध-संस्कारसे अन्तःकरणकी शान्ति प्रवाहित होती है। नानाविषयोंके संस्कारसे जो अन्तःकरणकी चञ्चलता होती है, उस 'सर्वार्थता'का क्षय और एकाग्रताका उदय ही अन्तःकरणमें समाधिका परिणाम है। तब 'शान्तप्रत्यय' अर्थात् एकाग्रता-परिणाममें सिद्धिकी इच्छा रखनेवाले योगीका अन्तःकरण तरङ्गरहित जलाशयके समान वृत्तियोंकी सर्वार्थताओंसे रहित होकर शान्त हो जाता है, इसी अवस्थाका नाम 'शान्तप्रत्यय' है, और उदितप्रत्यय, अर्थात् शान्तप्रत्ययके साथ ही सिद्धियोंकी इच्छाजनित वासनाबीजके वेगसे सिद्धिके उन्मुख योगीका अन्तःकरण रहता है, इसी अवस्थाका नाम 'उदितप्रत्यय' है। इन दोनों प्रत्ययोंकी समानतारूप चित्तकी जो स्थिति है वही 'एकाग्रतापरिणाम' है। इससे स्थूल, सूक्ष्मभूत और इन्द्रियोंमें भी 'धर्मपरिणाम', 'लक्षणपरिणाम' और 'अवस्थापरिणाम' वर्णित किये गये हैं ऐसा समझना चाहिये। पृथ्वीरूप धर्मीका जो घटरूप विकार है उसको 'धर्मपरिणाम' कहते हैं। घटका जो अनागत लक्षणके त्यागपूर्वक वर्तमान लक्षणवाला हो जाना घटरूप धर्मका 'लक्षणपरिणाम' है और वर्तमान लक्षणवाले घटका जो नयापन तथा क्षण-क्षणमें पुरातनपन है उसको 'अवस्था-परिणाम' कहते हैं। इन तीनों परिणामोंका इन्द्रियोंमें भी इस प्रकार विचार किया जाता है—जैसे इन्द्रियोंका जो नील-पीतादि विषयोंका ज्ञान है वही उनका 'धर्मपरिणाम' है, नीलादि ज्ञानका जो वर्तमान लक्षणवाला हो जाना है उसीका नाम 'लक्षणपरिणाम' है। वर्तमान दशामें जो स्पष्टपन या अस्पष्टपन है उसका नाम 'अवस्थापरिणाम' है। शान्त—अतीत, उदित—वर्तमान और अव्यपदेश्य—भविष्यत्, जो धर्म हैं उनमें अनुगत होनेवाला 'धर्मी' है। परिणामोंके भेदमें क्रमोंका भेद कारणरूप है क्रमके अदल-बदलसे ही परिणामोंका परिवर्तन होता है, जैसे प्रथम मिट्टीके परमाणु होते हैं, पुनः उनसे मिट्टीका पिण्ड बनता है, फिर मिट्टीके पिण्डसे घट बनता है। घट फूटकर कपाल हो जाता है, कपालसे ठीकरे हो जाते हैं, फिर ठीकरे परमाणुमें परिणत होते हुए मिट्टीके रूपको ही धारण कर लेते हैं। ठीक वैसे ही अन्तःकरणकी पूर्ववृत्ति उत्तर-वृत्तिका पूर्वकारण होती हुई क्रमके अनुसार धर्मान्तर-परिणाम करती है। प्रकृतिके सब तरङ्गोंका परिवर्तन और अन्तःकरणमें सुख-दुःख आदि धर्मोंका परिवर्तन—ये सब इसी क्रम-नियमके ऊपर निर्भर हैं। अतएव धर्म, लक्षण और अवस्था नामक तीनों परिणामोंमें संयम करनेसे योगीको भूत और भविष्यत्का ज्ञान होता है।

दूसरी सिद्धि

शब्द, अर्थ और ज्ञानके एक दूसरेमें मिले रहनेसे संकर अर्थात् घनिष्ठ मेल है, उनके विभागोंमें संयम करनेपर 'सब प्राणियोंकी वाणी' का ज्ञान होता है।

तीसरी सिद्धि

संस्कारोंके प्रत्यक्ष होनेसे योगीको पूर्वजन्मका ज्ञान होता है। जैसे मनुष्यके छायारूप चिह्नको यन्त्रद्वारा धारण करनेकी शक्ति उत्पन्न करके वैज्ञानिकगण फोटोग्राफमें मनुष्यमूर्तिको यथावत् प्रकाशित कर देते हैं, वैसे ही संस्कारोंमें संयम करनेसे संस्कारके कारणरूप कर्मोंका यथावत् ज्ञान योगीको हो सकता है।

चौथी सिद्धि

ज्ञानमें संयम करनेपर दूसरेके चित्तका ज्ञान होता है। जिस अन्तःकरणमें जैसा गुण-परिणाम रहता है, वैसी ही उस अन्तःकरणसे सम्बन्धयुक्त ज्ञानकी स्थिति होती है। अतः यदि किसी जीवविशेषके अन्तःकरणका हाल जानना हो तो उसके

ज्ञानकी पर्यालोचना करके उस जीवके मनका सब हाल जान सकते हैं।

पाँचवीं सिद्धि

कायागत रूपमें संयम करनेसे उसकी ग्राह्य शक्तिका स्तम्भ हो जाता है; और शक्तिस्तम्भ होनेसे दूसरेके नेत्रके प्रकाशका योगीके शरीरके साथ संयोग नहीं होता, तब योगीके शरीरका अन्तर्धान हो जाता है। जैसे रूपविषयक संयम करनेसे योगीके शरीरके रूपको कोई नहीं देख सकता, उसी प्रकार शब्दादि पाँचोंके विषयमें संयम करनेसे योगीके शरीरके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धको पासमें रहा हुआ पुरुष भी नहीं जान सकता।

छठी सिद्धि

सोपक्रम—जो कर्म शीघ्र फलदायक हो जाता है उस शीघ्र कार्यकारी कर्मकी अवस्थाका नाम 'सोपक्रम' है, जैसे जलसे भीगे हुए वस्त्रको निचोड़कर सुखा देनेसे वस्त्र शीघ्र सूख जाता है तथा निरुपक्रम—कर्म-विपाककी मन्दताके कारण विलम्बसे फलदायक कर्मकी अवस्थाका नाम 'निरुपक्रम' है, जैसे बिना निचोड़ा पिण्डीकृत वस्त्र बहुत कालमें सूखता है। इन दो प्रकारके कर्मोंमें जो योगी संयम करता है उसको मृत्युका ज्ञान हो जाता है। अथवा त्रिविध अरिष्टोंसे मृत्युका ज्ञान होता है।

सातवीं सिद्धि

मैत्री, मुदिता, करुणा और उपेक्षा आदिमें संयम करनेसे तत्सम्बन्धी बलकी प्राप्ति होती है। मैत्रीबल, करुणाबल, मुदिताबल और उपेक्षाबलकी प्राप्ति करके योगी पूर्ण मनोबल अर्थात् आत्मबल प्राप्त करता है। जो शक्ति अन्तःकरणको इन्द्रियोंमें गिरने न देकर नियमितरूपसे आत्मस्वरूपकी ओर खींचती रहती है उसीको 'आत्मबल' या तेज कहते हैं।

आठवीं सिद्धि

बलमें संयम करनेसे योगीको हस्तीके-से बलादि प्राप्त हो सकते हैं। बल दो प्रकारका है—एक आत्मबल, दूसरा शारीरिक बल। प्रकृतिके विभिन्न होनेसे बलमें स्वतन्त्रता है, जैसे सिंहबल, गजबल, बलशाली खेचर पक्षियोंका बल और बलशाली जलचरोंका बल। जिस प्रकारके बलकी आवश्यकता हो उसी प्रकारके बलशाली जीवोंके बलमें सं करनेसे योगीको उसी प्रकारके बलकी प्राप्ति हुआ करती है।

नवीं सिद्धि

ज्योतिष्मती प्रकृतिके प्रकाशको सूक्ष्मादि वस्तुओंमें न करके उनपर संयम करनेसे योगीको सूक्ष्म, गुप्त और दूर पदार्थोंका ज्ञान होता है। लययोगी अपने अन्तर्राज्यमें शरी द्विदलस्थानमें शुद्ध तेजपूर्ण बिन्दुका दर्शन करता है। ज्योतिष्मती प्रवृत्ति बिन्दुरूपसे आविर्भूत होकर जब स्थिर हो लगती है, तब वही बिन्दुध्यानकी अवस्था है। उसी बिन्दु विस्तारसे योगी संयमशक्तिकी सहायता और ज्योतिष्म प्रकृतिकी सहयोगितासे अनेक गुप्त विषय और जलमग्न पृथ्वीगर्भस्थित समस्त द्रव्यसमूहके देखनेमें समर्थ सकता है।

दसवीं सिद्धि

सूर्यनारायणमें संयम करनेसे योगीको यथाक्रम स्थू और सूक्ष्मलोकोंका ज्ञान हो जाता है। स्थूल लोक प्रधानत यही मृत्युलोक है और विविध स्वर्ग तथा सप्त पाताल—ये सूक्ष्म लोक कहलाते हैं। अन्यान्य निकटस्थ ब्रह्माण्डोंक ज्ञानलाभ करना भी सूक्ष्म लोकसे सम्बन्धयुक्त ज्ञान है।

ग्यारहवीं सिद्धि

चन्द्रमामें संयम करनेसे नक्षत्रव्यूहका ज्ञान होता है। ज्योतिषका सिद्धान्त है कि जितने ग्रह हैं उन सबमें चन्द्र एक राशिपर सबसे बहुत ही कम समयतक रहता है। इससे प्रत्येक ताराव्यूहरूपी राशिकी आकर्षण-विकर्षण शक्तिके साथ चन्द्रका अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः उसी शक्तिके अवलम्बनसे नक्षत्रोंका पता लगानेमें चन्द्रकी सहायता सुविधाजनक है।

बारहवीं सिद्धि

ध्रुवमें संयम करनेसे ताराओंकी गतिका पूर्ण ज्ञान होता है। ध्रुवलोक हमारे सौर्य जगत्से इतना दूरवर्ती है कि उस दूरताके कारण हमलोग उसको स्थिर ही देख रहे हैं। जैसे दूरवर्ती देशमें स्थित किसी अग्निशिखाको उसके स्वभावसे ही चञ्चल होनेपर भी हम एक अचञ्चल ज्योतिर्मय रूपवाली देखते हैं, वैसे ही ध्रुवके चलने-फिरनेपर भी उसके चलनेका

हमारे लोकसे कोई सम्बन्ध न रहनेके कारण और परस्परमें अगणित दूरत्व होनेसे हमलोग ध्रुवको अचञ्चल ध्रुव ही निश्चय करते हैं।

तेरहवीं सिद्धि

नाभिचक्रमें संयम करनेपर योगीको शरीरके समुदायका ज्ञान होता है। शरीरके सात स्थानोंमें सात कमल अर्थात् चक्र हैं, जिनमें छः चक्रोंमें साधन करके सिद्धि प्राप्त होनेपर सातवें चक्रमें पहुँचनेसे मुक्ति प्राप्त होती है। षट्चक्रोंमेंसे नाभिके पास स्थित जो तीसरा चक्र है, उसमें संयम करनेसे शरीरमें किस प्रकारका पदार्थ किस प्रकारसे है; वात, पित्त और कफ—ये तीन दोष किस रीतिसे हैं; चर्म, रुधिर, मांस, नख, हाड़, चर्बी और वीर्य—ये सात धातुएँ किस प्रकारसे हैं, नाड़ी आदि कैसी-कैसी हैं—इन सबका ज्ञान हो जाता है।

चौदहवीं सिद्धि

कण्ठके कूपमें संयम करनेसे भूख और प्यास निवृत्त हो जाती है। मुखके भीतर उदरमें वायु और आहार आदि जानेके लिये जो कण्ठछिद्र है, उसीको 'कण्ठकूप' कहते हैं। यहींपर पाँचवाँ चक्र स्थित है। इसीसे क्षुत्पिपासाकी क्रियाका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

पंद्रहवीं सिद्धि

कूर्मनाड़ीमें संयम करनेसे स्थिरता होती है। पूर्वोक्त कण्ठकूपमें कच्छप आकृतिकी एक नाड़ी है, उसको कूर्मनाड़ी कहते हैं। उस नाड़ीसे शरीरकी गतिका विशेष सम्बन्ध है। इसीसे यहाँ संयम करनेपर शरीर स्थिरताको प्राप्त हो जाता है। जैसे सर्प अथवा गोह अपने-अपने बिलमें जाकर चञ्चलता और क्रूरताको त्याग देते हैं, वैसे ही योगीका मन इस कूर्मनाड़ीमें प्रवेश करते ही अपनी स्वाभाविक चञ्चलताका त्याग कर देता है।

सोलहवीं सिद्धि

कपालकी ज्योतिमें संयम करनेसे योगीको सिद्धगणोंके दर्शन होते हैं। मस्तकके भीतर कपालके नीचे एक छिद्र है, उसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। उस ब्रह्मरन्ध्रमें मन ले जानेसे एक ज्योतिका प्रकाश नजर आता है, उसमें संयम करनेसे योगीको सिद्ध और महात्माओंके दर्शन होते हैं। जीवकोटिसे उपराम होकर सृष्टिके कल्याणार्थ ऐसी शक्तियोंको धारण करके एक लोकसे लोकान्तरमें विचरण करनेवालोंको ही सिद्ध या महात्मा कहा जाता है, जो चतुर्दश भुवनोंमें ही विराजते हैं।

सत्रहवीं सिद्धि

प्रातिभमें संयम करनेसे योगीको सम्पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। योगसाधन करते-करते योगियोंको एक तेजोमय तारा ध्यानावस्थामें दिखलायी पड़ता है, उसी तारेका नाम 'प्रातिभ' है। चञ्चलबुद्धि मनुष्य उस तारेका दर्शन नहीं कर सकते। योगीकी बुद्धि जब शुद्ध होकर ठहरने लगती है, तभी उस भाग्यवान् योगीको 'प्रातिभ' के दर्शन होते हैं। इसी प्रातिभको स्थिर कर उसमें संयम करनेसे योगी ज्ञान-राज्यकी सब सिद्धियोंको प्राप्त कर सकता है।

अठारहवीं सिद्धि

हृदयमें संयम करनेसे योगीको चित्तका ज्ञान होता है। चतुर्थ चक्रका नाम हृत्कमल है। इससे अन्तःकरणका एक विलक्षण सम्बन्ध है। चित्तमें नये और पुराने सब प्रकारके संस्कार रहते हैं, चित्तके नचानेसे ही मन नाचता है। चित्तका पूर्ण स्वरूप महामायाकी मायासे जीवपर प्रकट नहीं होता है। जब योगी हृत्कमलमें संयम करता है, तब वह अपने चित्तका पूर्ण ज्ञाता बन जाता है।

उन्नीसवीं सिद्धि

बुद्धि पुरुषसे अत्यन्त पृथक् है। इन दोनोंके अभिन्न ज्ञानसे भोगकी उत्पत्ति होती है। बुद्धि परार्थ है, उससे भिन्न स्वार्थ है। उसमें अर्थात् अहंकारशून्य चित्प्रतिबिम्बमें संयम करनेसे पुरुषका ज्ञान होता है। बुद्धि-पुरुषका जो परस्पर प्रतिबिम्ब-सम्बन्धसे अभेद-ज्ञान है, वही पुरुषनिष्ठ भोग कहलाता है। बुद्धि दृश्य होनेसे उसका यह भोगरूप प्रत्यय परार्थ यानी पुरुषके लिये ही है। इस परार्थसे अन्य जो स्वार्थ प्रत्यय है यानी जो बुद्धिप्रतिबिम्बित चित्सत्ताको अवलम्बन करके चिन्मात्ररूप है, उसमें संयम करनेसे योगीको नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव पुरुषका ज्ञान हो जाता है। बुद्धिके मलिनभावसे रहित शुद्धभावमय, जैव अहंकारसे शून्य, आत्मज्ञानसे भरी हुई जो चिद्भावकी दशा है उसीको जानकर उसमें जब योगी संयम करता है, तब उसको पुरुषके स्वरूपका

बोध हो जाता है। इस परा सिद्धिके पानेपर योगीको प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता नामक षट्सिद्धियोंकी प्राप्ति हो जाती है।

षट्सिद्धियोंका फल—'प्रातिभ सिद्धि'से योगीको अतीत, अनागत, विप्रकृष्ट और सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है, 'श्रावणसिद्धि'से योगीको दिव्य श्रवणज्ञानकी पूर्णता यानी प्रणवध्वनिका अनुभव होता है। 'वेदनसिद्धि'से योगीको दिव्यस्पर्शज्ञानकी पूर्णता होती है। 'आदर्शसिद्धि'से दिव्य दर्शनकी पूर्णता, 'आस्वादसिद्धि'से दिव्य रसज्ञानकी पूर्णता और 'वार्तासिद्धि'से दिव्य गन्धज्ञानकी पूर्णता स्वतः प्राप्त हो जाती है। ये सब समाधिमें विघ्नकारक हैं, परंतु व्युत्थानदशाके लिये सिद्धियाँ हैं।

बीसवीं सिद्धि

बन्धनका जो कारण है उसके शिथिल हो जानेसे और संयमद्वारा चित्तकी प्रवेश-निर्गममार्गनाड़ीके ज्ञानसे चित्त दूसरे शरीरमें प्रवेश कर सकता है। चञ्चलताको प्राप्त हुए अस्थिर मनका शरीरमें द्वन्द्व तथा आसक्तिजन्य बन्धन है, समाधिप्राप्तिसे क्रमशः स्थूल शरीरसे सूक्ष्म शरीरका यह बन्धन शिथिल हो जाता है। संयमकी सहायतासे चित्तके गमनागमनमार्गीय नाड़ीज्ञानसे स्वतः सूक्ष्म शरीरको कहीं पहुँचा देनेका नाम प्रवेश-क्रिया है और पुनः उस सूक्ष्म शरीरको ले आनेका नाम निर्गम-क्रिया है। इन दोनोंका जब योगीको बोध हो जाता है तब योगी जब चाहे तब अपने शरीरसे निकलकर दूसरेके शरीरमें प्रवेश कर सकता है। इसीका नाम 'परकाया-प्रवेश' है।

इक्कीसवीं सिद्धि

उदानवायुके जीतनेसे जल, कीचड़ और कण्टक आदि पदार्थोंका योगीको स्पर्श नहीं होता और मृत्यु भी वशीभूत हो जाती है। ऊर्ध्वगमनकारी कण्ठसे लेकर सिरतक व्यापक जो वायु है वही 'उदानवायु' कहलाता है। यह ऊर्ध्वगमनकारी होनेसे उसमें संयम करनेवाले योगीका शरीर जल, पङ्क और कण्टक आदिसे नष्ट नहीं होता। उदानवायुसे सब स्नायुओंकी क्रियाएँ नियमित रहती हैं। मस्तिष्कका स्वास्थ्य ठीक रहकर चेतनकी क्रिया बनी रहती है। इसके अतिरिक्त उदानवायुसे प्राणमय कोशसहित 'सूक्ष्म शरीर'पर आधिपत्य बना रहता है। अतएव उदानवायुके जयसे योगी इच्छानुसार प्राणोत्क्रमणरूप इच्छामृत्युको प्राप्त कर सकता है। जै पितामहने उत्तरायण सूर्य आनेपर ही देहत्याग किया

बाईसवीं सिद्धि

समानवायुको वश करनेसे योगीका शरीर ज्योति जाता है। नाभिके चारों ओर दूरतक व्यापक रहकर र प्राप्त हुआ जो वायु जीवनी-क्रियाको साम्यावस्थामें र उस वायुको 'समानवायु' कहते हैं। इस शरीरकी सम इस वायुसे प्रधान सम्बन्ध है। शारीरिक तेजशक्ति ही क्रियाको साम्यावस्थामें रखती है। इसीलिये समान संयमसे जीत लेनेसे योगी तेजःपुञ्ज हो जाता है।

तेईसवीं सिद्धि

कर्ण-इन्द्रिय और आकाशके आश्रयाश्रयिरूप र संयम करनेसे योगी दिव्यश्रवणको प्राप्त होता है। सम और शब्दोंका आधार आकाश है। जबतक कानव आकाशका सम्बन्ध रखा जाता है, तबतक शब्द सुनाय हैं, अन्यथा नहीं। इससे कान और आकाश आश्रयाश्रयिरूप सम्बन्ध है, उसमें संयम करनेसे योगी से-सूक्ष्म छिपे हुएसे अति छिपे हुए, दूरवर्ती-से-दूरव नाना प्रकारके दिव्य शब्दोंको श्रवण कर सकता है।

चौबीसवीं सिद्धि

शरीर और आकाशके सम्बन्धमें संयम करनेसे अ यानी हलकी रुई-जैसे पदार्थकी धारणासे आकाशमें ग सकता है। आकाश और शरीरका व्यापक और व्याप सम्बन्ध है। आकाश सब भूतोंसे हलका है और सर्वव्य इसलिये योगी जब आकाश और शरीरके सम्बन्धमें करता है और उस समय लघुताके विचारसे रुई आदि से-हलके पदार्थोंकी धारणा भी रखता है, तब इस उसमें हलकेपनकी सिद्धि हो जाती है।

पचीसवीं सिद्धि

शरीरसे बाहर जो मनकी स्वाभाविक वृत्ति है उसव 'महाविदेह' धारणा है, उसके द्वारा प्रकाशके आवरणक हो जाता है। स्थूल शरीरसे बाहर शरीरके आश्रयीकी न रखनेवाली जो मनकी वृत्ति है उसे 'महाविदेह' कह

उसीसे ही अहंकारका वेग दूर होता है। उस वृत्तिमें जो योगी संयम करता है, उससे प्रकाशका ढकना दूर हो जाता है। जबतक शरीरका अहंकार रहता है, तबतक मनकी बाह्यवृत्ति रहती है, परंतु जब शारीरिक अहंकारको त्यागकर स्वतन्त्र-भावसे मनकी वृत्ति बाहर रहती है, तभी योगीका अन्तःकरण मलरहित और निःसङ्ग रहता है। शरीरसे लगी हुई मनकी जो बाहरी वृत्ति है उसका नाम 'कल्पिता' है। परंतु शरीरकी अपेक्षा न रखकर देहाध्याससे रहित जो मनकी स्वाभाविकी और निराश्रयी बाहरी वृत्ति है वही अकल्पित है। कल्पितको छोड़कर अकल्पित जो महाविदेहवृत्तिका साधन किया जाता है, उसके सिद्ध होनेपर प्रकाशस्वरूप बुद्धिका पूर्ण विकास हो जाता है। तब अहंकारसे उत्पन्न हुए क्लेश, कर्म और कर्मफल—इनके सम्बन्धसे साधक मुक्त हो जाता है तथा रज-तमका आवरण हट जाता है, जिससे योगी अपने अन्तःकरणको यथेच्छ ले जानेकी सिद्धिको प्राप्त करता है।

छब्बीसवीं सिद्धि

पञ्चतत्त्वोंके स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व—ये पाँच अवस्थाविशेष हैं, इनमें संयम करनेसे भूतोंपर जयलाभ होता है। भूतोंकी 'स्थूल-अवस्था' वह है जो दृष्टिगोचर हुआ करती है। 'स्वरूपावस्था' वह है जो स्थूलमें गुणरूपसे अदृष्ट हो। जैसे तेजमें उष्णता है। 'सूक्ष्मावस्था' तन्मात्राओंकी है। 'अन्वयावस्था' व्यापक सत्त्व, रज और तमोगुणकी है और पञ्चम 'अर्थवत्त्वावस्था' फलदायक होती है। जब योगी पञ्चभूतोंकी इन अवस्थाओंमें संयमद्वारा उनको जय कर लेता है तब प्रकृति अपने-आप उस योगीके अधीन हो जाती है। जैसे गौ अपने-आप ही बच्चेको दूध पिलाया करती है, वैसे ही पञ्चभूतके जयसे प्रकृति वशीभूत हो जानेपर वह प्रकृति माता अपने-आप ही उस योगीकी सेवामें तत्पर हो जाती है।

अष्ट सिद्धियाँ—भूतजयानन्तर अणिमादि 'अष्ट सिद्धि', सिद्धियोंका प्रकाश, शरीर-सम्बन्धी सब सम्पत्तियोंकी प्राप्ति और शरीरके रूपादि धर्मोंका अनभिघात होता है। अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व और ईशित्व—ये अष्ट सिद्धियाँ हैं। जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको सूक्ष्म अणुसे भी सूक्ष्मतर कर लेता है तब उसे 'अणिमासिद्धि' कहते हैं। 'लघिमासिद्धि' उसको कहते हैं कि जब योगी इच्छा करते ही अपने स्थूल शरीरको हलकेसे भी हलका कर सके और आकाशके अवलम्बनसे जहाँ चाहे वहीं जा सके। 'महिमासिद्धि' वह है कि जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको चाहे जितना बढ़ा सके। 'गरिमासिद्धि' वह कहलाती है कि जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको चाहे जितना भारी-से-भारी कर सके। 'प्राप्तिसिद्धि' वह कहलाती है कि जब योगी इच्छा करते ही एक लोकसे लोकान्तरमें यानी किसी ग्रह, उपग्रह, सूर्य या किसी महासूर्यमें जहाँ चाहे वहीं पहुँच सके। 'प्राकाम्यसिद्धि' वह है कि जब योगी जिस किसी पदार्थकी इच्छा करे तभी वह पदार्थ उसको प्राप्त हो जाय, अर्थात् त्रिलोकमें उसको अप्राप्त कोई भी पदार्थ न रहे। 'वशित्वसिद्धि' वह कहलाती है कि जिससे योगीके वशमें समस्त पञ्चभूत और सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ आ जाते हैं। और वह जैसे चाहता है वैसे ही पञ्चभूतोंसे काम ले सकता है। वह स्वयं किसीके भी वशमें नहीं होता। 'ईशित्वसिद्धि' उसको कहते हैं कि जब योगी भूत और भौतिक पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेकी शक्तिको प्राप्त हो जाता है, यदि वह नवीन सृष्टिको करना चाहे तो वह भी आंशिकरूपसे कर सकता है। ये ही अष्ट सिद्धियाँ हैं। इन सिद्धियोंके साथ-साथ योगीको रूप, लावण्य, बल और वज्रतुल्य दृढ़ता—ये सब कायसम्पत्तियाँ भी मिल जाती हैं।

सत्ताईसवीं सिद्धि

ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व नामक इन्द्रियोंकी पाँच वृत्तियोंमें संयम करनेसे इन्द्रियोंका जय होता है। सामान्य और विशेषरूपसे शब्दादि जितने विषय हैं वे सब बाहरी विषय ग्राह्य कहलाते हैं, उन ग्रहण करनेयोग्य विषयोंमें जो इन्द्रियोंकी वृत्ति जाती है उस वृत्तिको 'ग्रहण' कहते हैं। किसी रीतिसे बिना विचारे विषय जब अकस्मात् गृहीत हो जाते हैं, तब मनका उसमें प्रथम विचार ही 'स्वरूपवृत्ति' है। उस अवस्थामें जो अहङ्कारका सम्बन्ध रहता है, वह अहङ्कारमिश्रित भाव ही 'अस्मितावृत्ति' कहा जाता है। फिर बुद्धिद्वारा उस स्वरूपके विचारको यानी जब बुद्धि सत्यासत्य, सामान्य और विशेषका विचार करने लगती है तब उस वृत्तिको 'अन्वय' कहते हैं। नाना विषयोंको प्रकाश करनेवाली, स्थितिशील,

अहङ्कारके साथ सब इन्द्रियोंमें व्यापक, बहकी हुई जो वृत्ति है वही पञ्चम 'अर्थवत्त्ववृत्ति' कहलाती है। इन इन्द्रियोंकी पाँचों वृत्तियोंमें संयम करके इन्हें अपने अधीन कर लेनेसे इन्द्रियगणका पूर्ण जय होता है।

इन्द्रियजयका फल—इन्द्रियजयके अनन्तर मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानजयकी सिद्धियाँ योगीको स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। मनकी गतिके समान शरीरकी उत्तम गतिकी प्राप्तिको 'मनोजवित्व' कहते हैं, अर्थात् मनकी तरह शीघ्र ही अनेक योजनव्यवहित देशमें गमन करनेकी शरीरमें सामर्थ्य होनेका नाम 'मनोजवित्व' है। शरीरके सम्बन्धको त्यागकर जो इन्द्रियोंकी वृत्तिका प्राप्त करना है उसे 'विकरणभाव' कहते हैं, अर्थात् जिस देश, काल या विषयोंमें अभिलाषा हो, शरीरके बिना ही चक्षुरादि इन्द्रियोंसे गति प्राप्त होनेका नाम 'विकरणभाव' है। प्रकृतिके विकारोंके मूल कारणको जय करनेका नाम 'प्रधानजयत्व' है, जिससे सर्ववशित्व प्राप्त होता है। ये सिद्धियाँ स्वतः मिलती हैं।

अट्ठाईसवीं सिद्धि

बुद्धि और पुरुषमें पार्थक्य-ज्ञानसम्पन्न योगीको सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व प्राप्त होता है। जब अन्तःकरणकी ऐसी निर्मल अवस्था होती है, तब अपने-आप परमात्माका शुद्ध प्रकाश उसमें प्रकाशित होने लगता है, जिससे योगीको बुद्धिरूप दृश्य और पुरुषरूप द्रष्टामें जो तात्त्विक भेद है वह स्पष्ट अनुभव होने लगता है और ऐसी परिस्थितिमें योगी अखिल भावोंका स्वामी और सकल विषयोंका ज्ञाता बन जाता है।

उनतीसवीं सिद्धि

जितने कालमें एक परमाणु पलटा खाता है उसको क्षण कहते हैं और उसके अविच्छिन्न प्रवाहको क्रम कहते हैं। उनमें संयम करनेसे विवेक यानी अनुभवसिद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है। भौतिक पदार्थके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भागको 'परमाणु' कहते हैं। जिस कालसे कम भागमें काल विभक्त न हो सके, उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म कालभागको 'क्षण' कहते हैं। उन परमाणुओंकी गति अर्थात् प्रवाहका जो रूप है उसको 'क्रम' कहते हैं। क्रम क्षणसे ही जाना जाता है। भूत क्षणका परिणाम वर्तमान क्षण है। वर्तमान क्षणका परिणाम भविष्यत् क्षण होगा। इस प्रकार समस्त ब्रह्माण्डोंकी सृष्टिक्रिया एक ही क्षणका परिणाम है। इस योगबुद्धिसे क्षण और क्रममें संयम करके उनका साक्षात् ज्ञानलाभ करनेसे अभ्रान्त और पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति होती है। तब योगी जिस विषयको देखता है, उसका ही यथार्थ पूर्णरूप देख लेता है। यही योगीकी त्रिकालदर्शी अवस्था है।

परा सिद्धि

उपर्युक्त अपरा सिद्धियोंकी प्राप्तिके अनन्तर योगीको विवेकाख्यातिजनित वैराग्यके कारण दोषोंके बीज-नाश हो जानेपर 'कैवल्यकी प्राप्ति' होती है। सिद्धियाँ दो प्रकारकी हैं, एक परा और अन्य अपरा। विषयसम्बन्धी सब प्रकारकी उत्तम, मध्यम और अधम सिद्धियाँ 'अपरा सिद्धि' कहलाती हैं। ये सिद्धियाँ मुमुक्षु योगीके लिये हेय हैं। इनके सिवा जो स्व-स्वरूपके अनुभवकी उपयोगी सिद्धियाँ हैं वे योगिराजके लिये उपादेय 'परा सिद्धियाँ' हैं।

भोगमें योग

(काव्यतीर्थ पं० श्रीकृष्णदत्तजी शास्त्री)

योग विषय अनन्त तथा असीम है। सभी आचार्योंने इसकी पृथक्-पृथक् परिभाषाएँ की हैं। योग-जैसे गहन और दुरूह विषयमें पूर्वाचार्योंके अनेक मत होना स्वाभाविक है। जो विषय गूढ़ और जटिल होता है उसका अनेक प्रकारसे समीक्षण किया जाना भी एक प्रकारसे उसके महत्त्वका सूचक है। 'योग' शब्द प्रसङ्गाधीन अनेक अर्थोंमें पाया जाता है। अतः उसका सांकेतिक अर्थ करना उचित नहीं। कोई योगका अर्थ समाधि करता है तो किसीके मतमें अष्टाङ्गयोगद्वारा चित्तवृत्तिका निरोध करना ही योग है। कुछ लोग योगका अर्थ सहकार करते हैं तो किसीके मतमें 'योग' नाम दो भावोंके संयोग या मिलापका है। गवेषणापूर्वक निरीक्षण करनेसे पता चलता है कि योगका अर्थ 'त्याग' करना ही उचित है। वह चाहे किसी अभिप्रेत—अभीष्टके मिलापके लिये हो या स्वतन्त्र हो किंतु योगका अर्थ 'त्याग' करना युक्ति एवं हेतुपूर्ण

है। लोकमें भी योगका अर्थ त्याग ही देखा जाता है। जैसे अमुक मनुष्य योगी हो गया, अमुकने तो मानो संसारसे योग ही ले लिया हो, ऐसा लोग कहते हैं। संन्यासयोग, सांख्ययोग, निष्काम कर्मयोग आदि शब्दोंसे ऐसी प्रतीति होती है कि योग शब्द त्यागमात्रमें पर्यवसित है। क्योंकि एकके त्याग बिना दूसरेका मिलन नहीं होगा। वस्तुतः 'योग' है क्या पदार्थ ? उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है और उसके लिये क्या करना होगा ? यह एक जटिल और गम्भीर प्रश्न है। इस विषयमें विद्वानोंने अनेक उपाय बताये हैं—जैसे अष्टाङ्गयोग, हठयोग, राजयोग, भक्तियोग, प्रेमयोग, ध्यानयोग, संन्यासयोग, सांख्ययोग, समाधियोग, क्रियायोग आदि। परंतु ध्येय सबका एक है, वह है—'ऐहिक पदार्थोंके प्रति अनासक्ति-पूर्वक ब्रह्मसाक्षात्कार किंवा तत्प्राप्ति।' अतः सिद्ध होता है कि योगाभिप्रेत परीक्षाका परीक्ष्य विषय अनासक्ति और फल ब्रह्मप्राप्ति है। अनासक्तिको वासनात्याग भी कहते हैं। ऐहिक वासनाका सम्यक् लय करना योगका काम है। वासना किंवा आसक्ति-त्याग दो प्रकारसे किया जा सकता है। किसी प्रेय पदार्थका स्वरूपसे त्याग और कामना तथा वासना-त्याग। इस विश्वकी विचित्रता और व्यापकताको देखते हुए यथार्थ त्याग कामना और वासनाद्वारा ही हो सकता है। यदि हठयोगद्वारा जंगलमें जाकर या अन्य क्रियाओंद्वारा संसारका स्वरूपसे त्याग किया भी जाय तो पूर्ण त्याग नहीं बन सकता। किसी-न-किसी रूपमें संसारका अस्तित्व बना ही रहेगा। कदाचित् बाह्य जगत्का त्याग किया भी तो आन्तरिक जगत्का त्याग न होगा। पाञ्चभौतिक शरीरद्वारा ही पञ्चभूतोंका त्याग नहीं हो सकता। शरीरके रहते हुए शरीरका स्वरूप-त्याग नहीं बन सकता, अतः वासनात्यागको ही यथार्थ मानना चाहिये।

वासनात्यागके लिये जंगलमें जानेकी या अमुक क्रिया करनेकी आवश्यकता नहीं, उसके लिये तो ब्रह्मज्ञ गुरुद्वारा आत्म-परमात्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्तकर अन्तःकरण-वृत्त्यवच्छिन्न वासनाका त्याग करना होगा। संघर्षमय जीवनकी चञ्चलताको नष्टकर समताके साम्राज्यमें विचरना होगा। 'समत्वं योग उच्यते'का पालन करना होगा, ऐहिक ऐश्वर्योंको पाकर भी पद्मपत्रवत् निर्लिप्त रहना होगा, जीते हुए मुरदा बनना पड़ेगा, सच्चा जनक—विदेह बनना होगा, तभी भोगमें योगका आनन्द प्राप्त होगा, गृहमें जंगलसे अधिक मङ्गलमय जीवन व्यतीत होगा। इसीका नाम योग है। हठयोगद्वारा किसी वृत्तिको समूल नष्ट करना या किसी वृत्तिविशेषकी उत्पत्तिके पूर्व ही उसका नाश कर देना वास्तविक योग नहीं। दमनका नाम यथार्थ त्याग नहीं, बल्कि वह त्यागका उपहासमात्र है। त्यागशक्तिकी दुर्बलताका परिचय देना तो एक प्रकारसे योगकी अवज्ञा करनेके बराबर है।

जैसे किसी प्रकार प्रश्न-पत्रोंको प्राप्त कर लेना, किसीसे पूछ लेना अथवा आत्मघातका भय दिखाकर परीक्षा पास कर लेनेको 'उत्तीर्ण' होना नहीं कह सकते, इसी प्रकार जन्मसे ही दूर रहकर हठयोगद्वारा वृत्तियोंका दमनकर वासना-लय या आसक्ति-त्याग प्राप्त करना योगीका काम नहीं। योगी तो वही है जो विश्ववैभव-सरोवरमें खड़ा होकर भी अपनेको सूखा रख सके, उसकी तरङ्गोंका रंग न चढ़ने दे, विषयद्वन्द्वमें भी निर्द्वन्द्व रहे। निर्वात दीपकी भाँति चित्तको निश्चल और मनको एकाग्र रखे। विषयरसको नीरस बना दे। किसीने कहा भी है—

ईंधन बिहूनी आग राखिबेको जतन कहा,
ईंधनमें आग राखे वाहीको जतन है।
इन्द्री गलित करै, कहौ कौन साधपनो,
इन्द्री बलित बाँधे सोई साधपन है॥
'अक्षर अनन्य' बिन बिषय पाए त्याग कहाँ,
पाय करै त्याग सोई बैराग मन है।
घर छोड़ बन जोग माँडनको निहोरो कहा,
घरहीमें जोग माँडे सोई गुरुजन है॥

वास्तवमें योगविषयक 'अक्षर अनन्य' कविके उपर्युक्त पद्यका भाव अक्षरशः सत्य है। जब सम्भावना ही नहीं, तब त्याग किसका? बलात् इन्द्रियोंका दमन करना तो योगकी विडम्बना है। तृणके अभावमें अग्निका रखना, 'अग्निकी यथार्थ रक्षा' नहीं है। तृणसमूहके होते हुए अग्निको सुरक्षित रखनेका नाम ही रक्षा है। कमल जलमें वास करता है किंतु जलमें लिप्त नहीं रहता। जो गृहमें रहकर भी गृहमें लिप्त नहीं, उसमें आसक्त नहीं,वही सच्चा योगी है। किसीने सत्य कहा है—

पंकज ज्यों जल माँहि बसै, तो पै भिन्न रहै, जल परस न लावे।
हंस बसै सर माँहि सदा, पै छीर भखै नीरहि बिलगावे॥

व्यूह-समूह बसै जिमि ध्यानी, पै ध्यान धरै, नहिं चित्त डिगावे।
भोग न बाधि सकै तिमि योगै,जो भोगमें योग समाधि लगावे॥

शुद्धान्तःकरण और सात्त्विक अन्नभोगीके चित्तमें कभी विक्षेप उत्पन्न नहीं होता तब बाधा कैसी? वह चाहे जिस आश्रममें बसे, किसीसे कम नहीं। चित्त-वृत्तिके निरोधका नाम समाधि है, वह चाहे किसी प्रकार क्यों न प्राप्त हो। मानसिक वेगोंके शान्त होते ही **'नोद्विजते न च द्वेष्टि योगी विगतकल्मषः'** हुआ नहीं कि वही सच्चा योगी हो गया।

यदि हमें भोगमें योग साधना है तो सबसे प्रथम आचार-विचारोंको शुद्ध और परिमित करना होगा। तभी अन्तःकरण-वृत्त्यवच्छिन्न इस प्रपञ्चमय प्राणीको योगी बना सकेंगे। जहाँतक चित्तकी चञ्चलता और विक्षेपका नाश नहीं, वहाँतक योग (त्याग) प्राप्त नहीं होता और त्याग बिना ब्रह्मसाक्षात्कार कैसा? अतः स्थिर धारणा प्राप्त करनी होगी। स्थिरता तो समतामें है। तराजूके किसी पलड़ेमें यदि बोझ कम-ज्यादा होगा तो स्थिरता नहीं प्राप्त हो सकती। बस, यही दशा योगीकी है। मनकी तरङ्गोंका रंग किसी तरफ चढ़ जाने दिया या उसकी परवा न की तो फिर स्थिरता कहाँ? चित्तवृत्तिमें विक्षेपका प्रवेश हुआ नहीं कि बस, किया-कराया सब धूल। अतः यदि भोगमें योग प्राप्त करना है तो चित्तमें विक्षेपका प्रवेश मत होने दो, मनके विकारोंको नष्ट करो, कल्पनाको मिटा दो, उदासीनताका सेवन सीखो, जंगलमें नहीं किंतु घरमें ही सच्चे जनक—विदेह बनो। कौन कहता है कि भोगमें योग नहीं हो सकता? निर्लेप होते ही सब ऋद्धि-सिद्धि आपकी दासी हो जायँगी। तृष्णा आपके आगे हाथ जोड़े खड़ी रहेगी। संतोष आपका मित्र होगा, फिर भय किसका? कल्पना-कालका अभाव हुआ कि आप अजर-अमर योगी हो गये—***'जलमें न्हाइये, कोरे रहिये, अन्तरमें कीजे बास।'*** अब शेष क्या रहा? विशुद्धान्तःकरण मनुष्यको कुछ भी दुर्लभ नहीं—

विक्षेपकल्पनातीतः समचित्तो विचारधीः।
भोगे योगं न जानाति स योगी किं करिष्यति॥

कल्पना, काल एवं विक्षेपरूप शत्रुको जीतनेवाला, शान्तिके साम्राज्यमें स्थिरचित्त हो निश्चिन्त विचरनेवाला यदि भोगमें योग नहीं साध सकता तो वह योगी होकर ही क्या करेगा? अरे, बन्धन तो वासनामें है, जब वासनाका लय हो गया, तब जाग्रदवस्था होते कितनी देर लगती है और वासनारहित योगी सदा ही जीवन्मुक्त है, उसे भोग-बन्धन कैसे हो सकता है।

वासनालिङ्गसम्बद्धो जीवः संसृतिहेतुकः।
वासनालिङ्गनिर्लिप्तो योगी जाग्रदवस्थकः॥

योगका महत्त्व

(प्रो० डॉ० श्रीसीतारामजी झा 'श्याम' एम्० ए०, पी-एच्०डी०, डी० लिट्०)

योग जीवनको सार्थक बनानेवाले साधनोंमें उत्तम साधन है। इसका महत्त्व तो इसीसे जाना जा सकता है कि यह मनुष्यको सभी प्रकारके आवरणों और विक्षेपोंसे सदाके लिये मुक्त करता हुआ ऐसा विशुद्ध अन्तःकरणवाला बना देता है कि परमात्मासे उसका अभिन्न सम्बन्ध अपने-आप स्थापित हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता (५।७) में भगवान् श्रीकृष्णका कथन है—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

अर्थात् 'योगसे युक्त, विशुद्ध अन्तःकरणवाला विजितात्मा—शरीरजयी, जितेन्द्रिय और सब भूतोंमें अपने आत्माको देखनेवाला यथार्थ ज्ञानी हो जाता है। इस प्रकार स्थित हुआ पुरुष लोकसंग्रहके लिये कर्म करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता अर्थात् कर्मोंसे नहीं बँधता।'

वस्तुतः योग तनको सुगठित, मनको नियन्त्रित और आत्माको उद्भासित करता है। यह सभी अभ्युत्थानोंका सबसे मुख्य आधार एवं सारस्वत उपलब्धिका अक्षुण्ण स्रोत है। इसके नियमित अभ्याससे मनुष्यके सारे संशय दूर हो जाते हैं। फिर तो वह जीवनके चरम लक्ष्यको ही प्राप्त कर लेता है—अपनी ऊँचाईके चरम बिन्दुपर पहुँचकर योग आत्मा और परमात्माके मिलनका अप्रतिम माध्यम बन जाता है।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्॥

(कठोपनिषद् २।३।१५)

योगाभ्याससे जब साधकके हृदयकी अहंता-ममतारूप समस्त ग्रन्थियाँ भलीभाँति कट जाती हैं, उसके सब प्रकारके संशय सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और उसे यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि 'परमेश्वर अवश्य हैं और वे निश्चय ही मिलते हैं', तब वह इस शरीरमें रहते हुए ही परमात्माका साक्षात्कार करके अमर हो जाता है। वह स्वरूपावस्थाको प्राप्त कर लेता है।

तत्त्वदर्शी महर्षियोंने परमात्माकी प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय 'ध्यान' अर्थात् 'योग' ही बताया है—

ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥

(श्वेता० उप० १।१४)

योगके महत्त्वपर प्रकाश डालते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजीको यही समझाया था कि—प्रिय उद्धव! मैंने ही वेदोंमें एवं अन्यत्र भी मनुष्योंका कल्याण करनेके लिये अधिकारिभेदसे तीन प्रकारके योगों—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोगका उपदेश किया है। मनुष्यके परम कल्याणके लिये इनके अतिरिक्त और कोई उपाय कहीं नहीं है—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।६)

यह तो सर्वमान्य सिद्धान्त है कि मन ही बन्धन और मोक्षका मूल कारण है—'**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।**' ऐसी स्थितिमें आवश्यकता है मनको अनुरूपता प्रदान करनेकी, जिससे भटकावकी स्थिति उत्पन्न ही न हो। तात्पर्य यह कि योग-साधनाद्वारा मनको निरन्तर ईश्वरोन्मुख करनेका ही प्रयत्न वाञ्छनीय है।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या।

(शुक्लयजुर्वेदसंहिता ११।२)

योगका यह वैशिष्ट्य है कि उसकी साधनाकी ज्योतिमें आत्मतत्त्वद्वारा परब्रह्म परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति हो जाती है, फिर तो उसके सामने किसी प्रकारके बन्धनके रहनेका कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता। जिस प्रकार कोई तेजोमय रत्न मिट्टीसे लिप्त रहनेके कारण छिपा रहता है, अपने असली रूपमें प्रकट नहीं होता, परंतु वही जब मिट्टी आदिको हटाकर धो-पोंछकर साफ कर लिया जाता है, तब अपने असली रूपमें चमकने लगता है, उसी प्रकार इस जीवात्माका वास्तविक स्वरूप अत्यन्त जन्मोंमें किये हुए कर्मोंके संस्कारोंसे मलिन हो जानेके कारण प्रत्यक्ष प्रकट नहीं होता, परंतु जब मनुष्य ध्यानयोगके साधनद्वारा समस्त मलोंको धोकर आत्माके यथार्थ स्वरूपको भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लेता है, तब वह असङ्ग हो जाता है। अर्थात् उसका जो जड पदार्थोंके साथ संयोग हो रहा था, उसका नाश होकर वह कैवल्य-अवस्थाको प्राप्त हो जाता है तथा उसके सब प्रकारके दुःखोंका अन्त होकर वह सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है। उसका मनुष्य-जन्म सार्थक हो जाता है। उस स्थितिमें वह योगी दीपकके सदृश निर्मल प्रकाशमय आत्मतत्त्वके द्वारा ब्रह्मतत्त्वको भलीभाँति देख लेता है। तब उन जन्मादि समस्त विकारोंसे रहित, अचल और निश्चित तथा समस्त तत्त्वोंसे असङ्ग—सर्वथा विशुद्ध परमदेव परमात्माको तत्त्वसे जानकर सब प्रकारके बन्धनोंसे सदाके लिये छूट जाता है—

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

(श्वेताश्वतरोपनिषद् २।१५)

निस्संदेह योगयुक्त होते ही इन्द्रियाँ सही रूपमें विकसित होने लगती हैं—इन्द्रियोंको जड़तासे ऊपर उठानेवाला अनुपम तत्त्व योग ही है। भारतीय चिकित्साशास्त्रमें भी यही सिद्धान्त निरूपित है—

सेन्द्रियचेतनद्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्।

(आचार्य चरक)

तत्त्वतः योगाभ्याससे एक साथ अनेक लाभ होते हैं। यथा—आलस्य-त्याग आत्मबल-विस्तार, भय-संशय-निवारण, उत्साहवृद्धि, स्वास्थ्यलाभ, बौद्धिक विकास, आध्यात्मिक उन्नयन आदि। योग एक व्यवहार-परक विद्या है। इसलिये साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी इसके अभ्याससे असाधारण लाभ उठा सकता है।

अनेक योगासन ऐसे हैं, जिन्हें अति सरलतासे अपनाकर शारीरिक एवं मानसिक शक्तियोंका विकास किया जा सकता है। केवल प्राणायाम करनेसे शरीरमें अतीव स्फूर्ति आ जाती है और मन भी हल्का तथा प्रसन्न रहता है। इतना होनेसे ही

बहुमुखी विकासका द्वार खुलने लगता है, क्योंकि शरीर और मनके स्वस्थ रहनेपर मनुष्य असम्भव-से-असम्भव कार्योंको भी सम्पन्न कर लेता है।

इसी प्रकार अनेक बन्ध, मुद्राएँ तथा नेति-वस्ति आदि षट्कर्मोंकी प्रक्रियाएँ भी योग-साधनामें पर्याप्त सहायक होती हैं। इनके सम्यक् अभ्यासके लिये किसी सुयोग्य अनुभवी गुरुका आश्रयण लेना चाहिये।

संसारको भयङ्कर रोगोंसे मुक्त करना अथवा उनसे बचे रहनेका मार्ग-दर्शन करना योगविद्याकी महान् देन है। आज भी अनेक चिकित्सा-केन्द्रोंमें विभिन्न प्राणायामादि योगाभ्यासों-द्वारा विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक रोगोंकी चिकित्सा की जाती है।

योगके सम्यक् अभ्याससे तो रोग और जरा-जन्य क्लेशका परिहार होता ही है, साधकको इच्छामृत्युकी शक्ति भी प्राप्त हो जाती है—

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।

(श्वेता० २।१२)

अर्थात् 'योगाग्निमय शरीरको प्राप्त कर लेनेवाले उस योगीके शरीरमें न तो रोग होता है, न बुढ़ापा आता है और न उसकी मृत्यु ही होती है।'

यह योगका ही प्रभाव है कि मनुष्यका शरीर कालके निकषपर खरा उतरकर तप्त कञ्चनकी भाँति दमकता रहता है और प्राणवायुपर अधिकार कर लेनेसे उसका मन भी सदाके लिये परिशुद्ध हो जाता है—

मनोऽचिरात् स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम्॥

(श्रीमद्भा० ३।२८।१०)

इस प्रकार मनुष्यके सर्वाङ्गीण विकासमें योगकी भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। यह योग-तत्त्व चरित्र-निर्माण, चिकित्सा-विधान, सामाजिक उत्थान, राष्ट्रोन्नयन एवं विश्व-कल्याणकी भावनाको विकसित करनेसे लेकर परमात्म-साक्षात्कार तकका अप्रतिम साधन है।

योगसाधनामें प्रणवोपासना

(श्रीगंगारामजी शास्त्री)

अष्टाङ्गयोगमें बताये हुए यम-नियमोंका पालन करते हुए आसनकी दृढ़ता प्राप्त हो जानेपर प्राणायामका अभ्यास किया जाता है। प्राणायामके दो प्रकार बताये गये हैं—अगर्भ प्राणायाम और सगर्भ प्राणायाम। केवल श्वास-प्रश्वासकी साधनाका अभ्यास अगर्भ प्राणायाम कहा जाता है। जहाँ श्वासोच्छ्वास-क्रियाके साथ पूरक, रेचक और कुम्भक करते समय मात्राकी गणना किसी मन्त्र-विशेषके साथ की जाती है, उसे सगर्भ प्राणायाम कहा जाता है। गुरूपदिष्ट मार्गके अनुसार इसके लिये सामान्यतया किसी बीजमन्त्रका ही उच्चारण किया जाता है। साधक अपने-अपने इष्टदेवके बीज-मन्त्रका इस प्रकार उच्चारण करते हैं कि उसकी ध्वनि श्वास-प्रश्वासके साथ इस प्रकार एकाकार हो जाती है कि पास बैठे हुए व्यक्तिको भी यह पता नहीं चलता कि इस प्राणायाम-क्रियाके साथ किसी मन्त्रका जप भी चल रहा है। जहाँ किसी विशेष प्रणालीका अनुसरण आवश्यक न हो वहाँ प्रायः सभी साधक जप-ध्यानसहित सगर्भ प्राणायाममें ओंकारका ही जप करते हैं, क्योंकि नादसे प्रथम व्यक्त ध्वनिके रूपमें ओंकारका ही प्राकट्य हुआ। इसीलिये इसे '**श्रुतिगिरामाद्यम्**', '**श्रुतिमौलि-मृग्यम्**' और '**जगत्कारणम्**' कहा गया है। योगसाधना करनेवालेके लिये कहा गया है—

परानन्दमयं नित्यं चैतन्यैकगुणात्मकम्।
आत्माभेदस्थितं योगी प्रणवं भावयेत् सदा॥

(शारदातिलक २५।५४)

इसका भाव यह है कि योगी परानन्दमय अपनी आत्मासे अभिन्न समझता हुआ ही उस प्रणवका ध्यान करे।

यहाँ प्रणवको आत्माके साथ अभेदरूपसे स्थित कहा गया है। जहाँ गति होती है, वहाँ शब्दकी किसी-न-किसी प्रकारकी व्यक्त अथवा अव्यक्त ध्वनि अवश्य रहती है। हम जो श्वासोच्छ्वास लेते हैं, उसमें भी गति रहती है। इस क्रियासे जो अस्पष्ट ध्वनि निकलती है, उसे नाद कहा जाता है।

विज्ञानके अनुसार हृदयके द्वारा फेफड़ोंमें रक्तके आवागमनकी क्रियासे जो ध्वनि स्टेथस्कोपके द्वारा सुनी जाती है, उससे यह नाद भिन्न है। इसके सुननेकी क्रिया भी विशेष योगाभ्याससे ही प्राप्त होती है। इस श्वासोच्छ्वास-क्रियामें जो ध्वनि निकलती है, वह 'ह'-'स' ध्वनियोंसे साम्य रखती है। नासिका-मार्गसे जब इन ध्वनियोंका निकलना सतत चलता रहता है तो इसीको अजपा-जप कहा जाता है। हृदयसे उत्थित होनेवाले उस नादको भी अनाहतनाद कहते हैं। इस प्रकार अनाहतनादके साथ 'ह' कार और 'स' कारकी ध्वनि निरन्तर निकलती रहती है। 'ह' के साथ अनुनासिक ध्वनि तथा 'स' के साथ विसर्ग रखके मिलनेसे 'हंसः' मन्त्र बनता है।—

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।
हंस हंसेति मन्त्रोऽयं जीवो जपति सर्वदा॥

(योगशिख०)

'ह' के साथ अनुस्वार और 'स' के साथ विसर्ग मिलकर इस 'हंसः' मन्त्र बनता है। योगकी विशेष क्रियाके द्वारा इसमें वर्णोंपर-विपर्यय होकर 'सः'+'अहम्' इस प्रकार 'सोऽहम्' बनता है। बिन्दुको पुरुष और विसर्गको प्रकृति माना जाता है। इसलिये 'हं' को पुरुष और 'सः' को प्रकृति कहा गया है। 'हंसः' से 'सोऽहम्' की इस क्रियाके सम्बन्धमें शारदातिलकमें बताया गया है—

पुरुषं स्वाश्रयं मत्वा प्रकृतिर्नित्यमास्थिता॥
यदा तद्भावमाप्नोति तदा सोऽहमयं भवेत्।

(२५। ५२-५३)

प्रकृति सदा पुरुषको आश्रय करके रहती है, इसलिये प्रकृति जब अपने आश्रयसे तद्भावपूर्ण हो जाती है तो यही 'हंसः' मन्त्र 'सोऽहम्' बन जाता है। इस 'सोऽहम्' में व्यञ्जन 'ह' कार और सकारका लोप होकर केवल 'ओम्' रह जाता है, जो ओंकार, प्रणव, उद्गीथ, तार आदि नामोंसे प्रसिद्ध है। इस प्रकार ओंकार और आत्माकी एकरूपता सिद्ध होती है। 'अव रक्षणे' धातुसे ओम्की सिद्धि मानें तो प्राणन-क्रियाके द्वारा यह शरीरसे आत्माका रक्षक है। **'प्राणान् अवति प्रकाशेन नवीकरोति इति प्रणवः'**—इस प्रकार भी प्राणन-क्रियाके आश्रयसे जो इसे सतत नवीन करता रहता है वही प्रणव है।

समस्त और व्यस्तके क्रमसे ओंकारका उच्चारण दो प्रकारसे होता है। ओंकारमें तीन वर्ण हैं—अकार, उकार और मकार। इन तीनोंको मिलाकर ओम् बनता है। यह इसका समस्त रूप है। इसके उच्चारणके भी तीन प्रकार हैं—**'ओमोमोम्'** इस प्रकार निरन्तर उच्चारणको ह्रस्व कहा गया है। **ओम् ओम् ओम्** इस प्रकार स्फुट उच्चारणको दीर्घ कहा जाता है। **ओ३म् ओ३म् ओ३म्** इस प्रकार ओका जहाँ प्लुत उच्चाण होता है उसे प्लुत कहा जाता है। ओंकारके उच्चारणका फल इस प्रकार बताया गया है—

यदि ह्रस्वा भवति सर्वं पाप्मानं दहत्यमृतत्वं च गच्छति।
यदि दीर्घा भवति महतीं श्रियमाप्नोत्यमृतत्वं च गच्छति।
यदि प्लुता भवति ज्ञानवान् भवत्यमृतत्वं च गच्छति।

(नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् ३)

'ओंकारका जो ह्रस्व उच्चारण करता है, उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं, और वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। ओंकारके दीर्घ उच्चारणसे जप करनेपर अत्यन्त लक्ष्मीवान्—धन-धान्य-वैभव-सम्पन्न हो जाता है और अमृतत्वको प्राप्त करता है। प्लुत उच्चारण करनेसे ज्ञानी होता है और अमृतत्व प्राप्त करता है।' योगसाधना करनेवालेको जब ओंकारका समस्त क्रमसे उच्चारण करनेका अच्छा अभ्यास हो जाता है तो आगे उसे व्यस्तक्रमसे उच्चारण करनेकी विधि बतायी जाती है। अकार, उकार, मकार और तुरीया मात्रा इस प्रकार व्यस्तक्रमसे इसमें तीन मात्रा और चतुर्थ अनुस्वारको आधी मात्रा मानकर सार्धत्रय मात्रात्मक कहा जाता है।

ध्यानबिन्दूपनिषद्में ओंकारके उच्चारणका फल इस प्रकार बताया गया है—

ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घः सम्पत्प्रदोऽव्ययः।
अर्धमात्रासमायुक्तः प्रणवो मोक्षदायकः॥

'ह्रस्व उच्चारणसे पापका नाश होता है, दीर्घ उच्चारण करनेसे यह अक्षय सम्पत्तिको प्रदान करता है तथा अर्धमात्रासहित उच्चारण करनेसे मोक्ष प्राप्त होता है।'

ओंकारके व्यस्त उच्चारणमें अकारकी ध्वनि मूलाधारसे उत्थित होकर मणिपूरमें नाभिपर्यन्त व्याप्त होकर रुद्रग्रन्थिका भेदन करती है। नाभिसे ऊपर हृदयसे विशुद्धि-चक्रतक उकारकी ध्वनि व्याप्त होकर विष्णु-ग्रन्थिका भेदन होता है।

मकारकी ध्वनि कण्ठदेशसे आज्ञाचक्रतक व्याप्त होकर ब्रह्मग्रन्थिका भेदन होता है। इसके पश्चात् जिसे तुरीया मात्रा अथवा अर्धमात्रा कहा गया है, उसकी सूक्ष्म ध्वनियोंसे आत्मसाक्षात्कारकी अवस्था आती है। योगतत्त्वोपनिषद् (१३८-१३९) में कहा गया है—

अकारे रेचितं पद्ममुकारेणैव भिद्यते।
मकारे लभते नादमर्धमात्रा तु निश्चला॥

'अकारसे स्फुट होनेवाले हत्पद्मका उकारसे भेदन होता है। मकारसे नादसिद्धि प्राप्त होती है और अर्धमात्रासे निश्चलावस्था प्राप्त होती है।' प्रणवकी इस अर्धमात्राके सम्बन्धमें कहा गया है—

शिखा तु दीपसंकाशा तस्मिन्नुपरि वर्तते।
अर्धमात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता॥

(ब्रह्मविद्योपनिषद् ९)

'जिस प्रकार दीपककी ज्वाला होती है, उसी प्रकार अर्धमात्रा प्रणवके ऊपर स्थित है। इसका उच्चारण तार स्वरके रूपमें किया जाता है, इसीलिये इसे तार भी कहा जाता है।' इसके उच्चारणके सम्बन्धमें संकेत किया गया है—

कांस्यघण्टानिनादस्तु यथा लीयति शान्तये।
ओंकारस्तु तथा योज्यः शान्तये सर्वमिच्छता॥

(ब्रह्मविद्यो० १२)

'जिस प्रकार काँसेके घंटाकी ध्वनि धीरे-धीरे कम होकर विलीन हो जाती है, उसी प्रकार सभी प्रकारकी कामनापूर्तिके लिये ओंकारका प्रयोग करना चाहिये।' इसी प्रकार ध्यानबिन्दूपनिषद् (१८) में भी कहा गया है—

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्।
अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित्॥

'तेलकी अविच्छिन्न न टूटनेवाली धाराके समान अथवा काँसेकी घण्टाकी निरन्तर ध्वनिके समान प्रणवका अग्र—तुरीय मात्रा अवाच्य कही जाती है।' उसकी केवल आज्ञाचक्रसे ऊपर जाकर ध्वनि ही व्याप्त होती है। इसके सम्बन्धमें शिवमहिम्नःस्तोत्रमें बताया गया है—

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरा-
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः
समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम्॥

इसकी मधुसूदनी टीकामें बताया गया है कि ओंकार शिवका ही स्वरूप है। जिस प्रकार शिव सर्वात्मक हैं, उसी प्रकार ओंकार समस्त पद है, जिस प्रकार शिव भिन्नतया प्रतीयमान आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक रूपमें व्याप्त हैं, तीनों वेद; तीनों वृत्तियाँ—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति; तीनों विश्व—विश्व, तेजस्, प्राज्ञ; तीनों लोक— भूः, भुवः, स्वः; तीनों देवता—ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर सभी शिवके व्यस्त रूप हैं। उसी प्रकार ओंकारके अकारसे जाग्रदवस्था, ऋग्वेद, भूलोक और ब्रह्माका बोध होता है। उकारसे यजुर्वेद, स्वप्नावस्था, भुवर्लोक और विष्णुका बोध होता है। मकारसे सामवेद, सुषुप्तावस्था, स्वर्लोक और महेश्वरका बोध होता है। इस प्रकार अकार, उकार, मकारयुक्त ओंकारके उच्चारणसे आपकी ही स्तुति होती है। इन तीनों अवस्थाओंसे परे सम्पूर्ण विकारसे रहित आपका जो तेजोमय रूप है, उसका बोधक ओंकारकी तुरीया मात्रा है। इस प्रकार तीन मात्रासे स्थूल, सूक्ष्म और कारणभूत प्रपञ्चका समावेश हो जाता है। इन सबसे विलक्षण जो चैतन्यात्मा निर्विकार है, उसका बोध करानेवाली प्रणवकी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम होनेवाली ध्वनियाँ हैं, जिन्हें अर्धमात्रा कहा जाता है। अर्धमात्रा कहनेसे उपाधिरहित चैतन्यमात्रका बोध होता है। ओम्के उच्चारणमें जहाँ तार-स्वरसे कांस्यघण्टानिनादके समान ध्वनिको दीर्घसे दीर्घतर किया जाता है, उसीको अणु-ध्वनियाँ कहा गया है। इन ध्वनियोंको कहीं नाद, बिन्दु, कला और कलातीत नाम दिये गये हैं तो कहीं इसे अ,उ,म, नाद, बिन्दु, कला, कलातीत और तत्पर इस प्रकार आठ भेद किये गये हैं। अमृतनादोपनिषद् (४) में इसके उच्चारणके विषयमें इस प्रकार संकेत किया गया है—

मात्रालिंगपदं त्यक्त्वा शब्दव्यञ्जनवर्जितम्।
अस्वरेण मकारेण पदं सूक्ष्मं हि गच्छति॥

'जिसका कोई वाचक नहीं ऐसी मात्रा, लिंग, पद, शब्द और व्यञ्जनसे रहित स्वररहित मकार ही अर्धमात्रा है, जिसके अणु, अणुतर और अणुतम ध्वनियोंसे अवरुद्ध होकर उस नादबिन्दुकलातीत चैतन्यका आभास होता है।'

योगीको चाहिये कि वह आत्मामें अभेद-रूपसे प्रतिष्ठित

परानन्दरूप नित्य और एकमात्र चैतन्यगुणात्मक प्रणवकी भावना करे। वृत्तिको अन्तर्मुखी करना ही भावना कहा जाता है। इसके लिये कठोपनिषद (२।१।१)में कहा गया है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयं भू-
स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

'परमात्माने इन्द्रियोंको बहिर्मुखी बनाया है, इसलिये हमारी वृत्ति बाहरी वस्तुओंकी ओर ही रहती है, अन्तरात्माकी ओर नहीं। कोई अमृतत्वकी इच्छावाला विद्वान् ज्ञानी या धीर पुरुष ही अपनी सभी इन्द्रियोंको अन्तर्मुख कर उस परमात्माका दर्शन करनेमें समर्थ होता है। आवृत्तचक्षु साधक योगकी विशेष क्रियासे सम्पन्न होकर ही अन्तर्मुखी वृत्ति करके अन्तरात्माके दर्शन कर पाता है।

योगी आत्मनिष्ठ होकर ही उस प्रणव-स्वरूप आनन्दरसके एकमात्र समुद्र आत्माको जान सकता है, जो स्वगुणसंवेद्य है, वाणीसे परे है, **'नामात्रे विद्यते गतिः'** और **'वचसामगम्यम्'**, **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** इन वेदवाक्योंके अनुसार जो वेदवाणीसे भी अगम्य है। इसलिये कहा गया है—

आम्नायवाचामतिदूरमाद्यं वेद्यं स्वसंवेद्यगुणेन सन्तः।
आत्मानमानन्दरसैकसिन्धुं पश्यन्ति तारात्मकमात्मनिष्ठाः।

(शा० ति० २५।५५)

तार-ध्वनिके सात भेद बताये गये हैं, जिनके नाम—अ, उ, म, नाद, बिन्दु, शक्ति और शान्ता कला हैं।

शाक्त सिद्धान्तके अनुसार बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिका, नाद आदि ये सूक्ष्म-ध्वनियाँ नवधा मानी गयी हैं।

आज्ञाचक्रसे ऊपर बिन्दु सूक्ष्मतर होकर अर्धचन्द्रमें बदल जाता है। इसके उच्चारणका मात्राकाल एक चौथाई माना गया है। उसके पश्चात् मात्राका अष्टम भाग रोधिनीका माना गया है। सामान्य साधक अभ्यास करके यहींतक बढ़ पाते हैं। जिन्हें केवलीकुम्भक और बन्धत्रयका अच्छा अभ्यास हो वे ही इस साधकोंके मार्गकी रोधिकाको पार कर आगे बढ़ पाते हैं। उसके लिये गीतामें वर्णित **'नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्'** की स्थितिमें आना होता है। इसे पार कर लेनेपर ही योगी पातञ्जल-योगमें वर्णित पञ्चभूतजयका अधिकारी हो सकता है, पर यह अवस्था पूर्वजन्मके संस्कार, निरन्तर साधना और गुरुकी कृपासे ही प्राप्त होती है।

गुरु-तत्त्व-साधना

(पं० श्रीरामनारायणजी झा, ज्योतिषाचार्य, ज्योतिष-तीर्थ, साहित्यकेसरी, साहित्यशास्त्री)

इस असार संसारमें मानवशरीर धारण करनेवालोंको दुरवगाह भवसिन्धुसे पार उतरनेके लिये एक श्रीमद्गुरुपदाम्बुज-नौकाको छोड़ दूसरा उपाय नहीं है, यही सब विद्वानोंका सिद्धान्त है। परंतु श्रीमद्गुरुदेवका अर्चनादि नहीं जाननेसे गुरु-तत्त्वका पूरा पता लगना असम्भव दीख पड़ता है। श्रीमद्गुरुदेवका नाम प्रायः सब जानते ही हैं, परंतु बहुत-से लोग अर्चनादि नहीं जानते। उन लोगोंके उपकारार्थ इस विषयपर हम तन्त्रानुसार कुछ संग्रहकर यथामति पाठकोंके सामने उपस्थित करना आवश्यक समझते हैं। साधक ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर रातका वस्त्र छोड़, शुद्ध वस्त्र पहनकर और सब तरहसे शुद्ध होकर तथा स्वस्तिकासन करके शिरःस्थ सहस्रदलकमलकर्णिकामें परम शिवरूप गुरुदेवका ध्यान करें। यथा—मूलाधारमें चतुर्दलकमलकी कर्णिकापर स्थित जो स्वयम्भूलिङ्ग है, उसमें सार्धत्रिवलयाकार असंख्य विद्युत्कान्तिवाली, विसतन्तुसदृश सूक्ष्मा, इडा, पिङ्गला नाडीके मध्य स्थित जो सुषुम्ना नाडी है उसके मध्यमें मुख की हुई कुण्डलिनी है। उसको 'हंसः' मन्त्रसे जगाकर फिर **'हंसः'** मन्त्रका जप करें। इस विषयमें अनन्तफल तन्त्रमें लिखा है—

हंसात्मिकां भगवतीं जीवो जपति सर्वदा।
हङ्कारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः॥
अस्याः सम्बोधमात्रेण जीवन्मुक्तो भवेन्नरः।

फिर उस स्थानसे उठाकर स्वाधिष्ठानचक्र तथा मणिपूरकचक्रको सुषुम्ना नाडीद्वारा भेदनकर और अनाहतचक्रमें जीवात्माके साथ संयोगकर, फिर सुषुम्ना नाडीद्वारा विशुद्धचक्र और आज्ञाचक्रको भेदनकर शिरःस्थ

सहस्रदलकमलकर्णिकामें परमशिवरूप गुरुदेवसे संयोग कराकर उन जीवात्मा, परमशिव और कुण्डिलनी—इन तीनोंको एक समझकर चन्द्रमण्डलसे स्रवित सुधारसपानसे आनन्दोन्मत्त सदाशिवरूपी श्रीमद्गुरुदेवका ध्यान करना चाहिये। यथा—

स्वमूर्द्धनि सहस्रारपङ्कजासीनमव्ययम्।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं शरच्चन्द्रनिभाननम्॥
प्रफुल्लेन्दीवराकारनेत्रद्वयविराजितम्।
शुक्लाम्बरधरं शुक्लगन्धमाल्यानुलेपनम्॥
विभूषितं श्वेतमाल्यैर्वराभयकरद्वयम्।
वामाङ्गगतया शक्त्या सहितं स्वप्रकाशया॥
सुरक्तोत्पलधारिण्या ज्ञानैर्मुदितमानसम्।
शिवेनैक्यं समुन्नीय ध्यायेत् परगुरुं धिया॥

अपने मस्तकके बीच सहस्रदलकमलमें बैठे हुए अविनाशी, स्वच्छ स्फटिक मणिके सदृश कान्तिवाले, शरत्कालीन चन्द्रमाके समान मुखवाले, विकसित कमलके समान विशाल नेत्रवाले, श्वेत वस्त्र धारण करनेवाले, श्वेत गन्ध तथा श्वेत पुष्पकी मालाको धारण करनेवाले, श्वेत चन्दन धारण करनेवाले, दोनों हाथोंमें वराभयमुद्रा धारण करनेवाले तथा वामाङ्गमें लाल कमल धारण किये हुए अपने तेजसे प्रकाशित स्वशक्तिसे युक्त होकर ज्ञानसे प्रसन्न चित्तवाले अपने परम गुरुदेवको सदाशिवके साथ ऐक्य समझकर ध्यान करना चाहिये।

स्त्रीगुरुपक्षमें—

सहस्रारे महापद्मे किञ्जल्कगणशोभिते।
प्रफुल्लपद्मपत्राक्षीं घनपीनपयोधराम्॥
प्रसन्नवदनां क्षीणमध्यां ध्यायेच्छिवां गुरुम्।
पद्मरागसमाभासां रक्तवस्त्रसुशोभिताम्॥
रक्तकङ्कणपाणिं च रक्तनूपुरशोभिताम्।
स्थलपद्मप्रतीकाशपादद्वन्द्वसुशोभिताम्॥
शरदिन्दुप्रतीकाशरत्नोद्भासितकुण्डलाम्।
स्वनाथवामभागस्थां वराभयकराम्बुजाम्॥

अपने सिरके बीच जो किञ्जल्कसे शोभित सहस्रपत्रवाला महाकमल है उसमें विकसित कमलपत्रके समान सुन्दर आँखवाली, निविड़ मांसल स्तनवाली, प्रसन्न मुखवाली, कृश कटिवाली, पद्मरागमणिके समान सुन्दर कान्तिवाली, रक्तवस्त्र धारण करनेवाली, रक्तवर्ण दोनों हाथोंमें पद्मरागमणिखचित कङ्कणको धारण करनेवाली, रक्तवर्ण दोनों चरणोंमें रक्तनूपुरको धारण करनेवाली, स्थलकमलके समान चरणवाली, शरत्कालीन चन्द्रमाके समान मणिके प्रकाशसे प्रकाशयुक्त कुण्डलवाली, हाथोंमें वराभयमुद्रा धारण करनेवाली, अपने स्वामीके वामाङ्गमें विलसित होनेवाली जो महाशक्तिरूपा गुरु है उसको शिरःस्थ सहस्रदलकमलकर्णिकामें ध्यानकर अधोलिखितानुसार उसकी मानसिक मुद्रात्मिका पूजा करनी चाहिये।

लं पृथ्वीतत्त्वात्मकं गन्धं गुरवे समर्पयामि नमः।

दोनों हाथोंके कनिष्ठ और अङ्गुष्ठकी संयोगात्मक मुद्रासे गन्ध अर्पण करना चाहिये।

हुं आकाशतत्त्वात्मकं पुष्पं गुरवे समर्पयामि नमः।

दोनों हाथोंके अङ्गुष्ठ और तर्जनीकी संयोगात्मक मुद्रासे पुष्प अर्पण करना चाहिये।

यं वायुतत्त्वात्मकं धूपं गुरवे समर्पयामि नमः।

दोनों हाथोंके ऊर्ध्वमुख तर्जनी और अङ्गुष्ठकी संयोगात्मक मुद्रासे धूप अर्पण करना चाहिये।

इं वह्नितत्त्वात्मकं दीपं गुरवे समर्पयामि नमः।

दोनों हाथोंके मध्यमा और अङ्गुष्ठकी संयोगात्मक-मुद्रासे दीप अर्पण करना चाहिये।

वं अमृततत्त्वात्मकं नैवेद्यं गुरुवे समर्पयामि नमः।

दोनों हाथोंके अनामिका और अङ्गुष्ठकी संयोगात्मक मुद्रासे नैवेद्य अर्पण करना चाहिये। उसके बाद प्राणायामत्रय अधोलिखितानुसार करना चाहिये—

प्रथम प्राणायाम

'ओं' इस मन्त्रसे वा 'ऐं' इस मन्त्रसे ही प्राणायामत्रय सम्पन्न होता है। दाहिने हाथके अङ्गुष्ठसे दक्षिण नासापुटको दबाकर वाम नासापुटसे चार वा सोलह बार मन्त्र जपता हुआ श्वास खींचकर नाभिमें गुरुदेवका ध्यान करता हुआ पूरक नामक प्राणायाम करे। फिर दक्षिण अनामिकासे वाम नासापुटको दबाकर सोलह वा चौंसठ बार मन्त्र जपकर तथा वायुको स्तम्भितकर हृदयमें गुरुदेवका ध्यान करते हुए कुम्भक नामक प्राणायाम करे। फिर दक्षिण नासापुटसे दक्षिणाङ्गुष्ठ

हटाकर आठ वा बत्तीस बार मन्त्र जपता हुआ तथा मस्तकमें गुरुदेवका ध्यान करता हुआ श्वास निकालकर रेचक नामक प्राणायाम करे।

द्वितीय प्रकार

पूर्वोक्त प्राणायामका उलटा ही द्वितीय प्राणायाम होता है। दक्षिणानामिकासे वाम नासापुटको दबाकर दक्षिण नासापुटसे चार वा सोलह बार मन्त्र जपता हुआ नाभिमें गुरुदेवका ध्यान करते हुए श्वास खींचकर पूरक नामक प्राणायाम करे। फिर दक्षिणाङ्गुष्ठसे दक्षिण नासापुटको दबाकर सोलह वा चौंसठ बार मन्त्र जप करते हुए वायुको स्तम्भितकर हृदयमें गुरुदेवका ध्यान करते हुए कुम्भक नामक प्राणायाम करे। फिर वाम नासापुटसे दक्षिण अनामिकाको हटाकर आठ वा बत्तीस बार मन्त्र जपते हुए तथा मस्तकमें गुरुदेवका ध्यान करते हुए श्वास निकाल रेचक नामक प्राणायाम करे। प्रथम प्रकार ही तृतीय प्रकारका प्राणायाम होता है। प्रतिपादित प्राणायामत्रय करके फिर मालाका यथाविधि संस्कार कर—

क्लीं माले माले महामाले सर्वसिद्धिस्वरूपिणि।
चतुर्वर्गस्त्वयि न्यस्तस्तस्मान्मे सिद्धिदा भव ओं कामेश्वर्यै नमः॥

—इस मन्त्रसे अक्षतादि लेकर पूजा करके 'ऐं' इस गुरु-मन्त्रका अष्टोत्तरशत वा अष्टाधिकसहस्र जपकर—

ओं त्वं माले सर्वदेवानां पूजिता शुभदा मता।
शुभं कुरुष्व मे भद्रे यशो वीर्यं च धेहि मे॥

—इस मन्त्रसे मालाको प्रणामकर मस्तकपर रखे। इसके बाद पुरुष गुरुदेवके पक्षमें—

ओं गुह्यातिगुह्यगोप्ता त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम्।
सिद्धिर्भवतु मे देव त्वत्प्रसादान्महेश्वर॥

अष्टोत्तरशतं वा अष्टाधिकसहस्रसंख्यकं तेजोरूप 'ऐं' इति गुरुमन्त्रजपमहं गुरवे समर्पयामि नमः।

—इससे गुरुदेवके दाहिने हाथमें समर्पण करे।

स्त्रीगुरुपक्षमें—

ओं गुह्यातिगुह्यगोप्त्री त्वं गृहाणास्मत्कृतं जपम्।
सिद्धिर्भवतु मे देवि त्वत्प्रसादान्महेश्वरि॥

अष्टोत्तरशतं वा अष्टाधिकसहस्रसंख्यकं तेजोरूप 'ऐं' इति गुरुमन्त्रजपमहं गुरवे समर्पयामि नमः।

—इससे गुरुदेवके वाम हस्तमें अर्पण करे। उसके बाद—

अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः॥
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

—इन तीनों मन्त्रोंसे—

स्त्रीगुरुपक्षमें—

नमस्ते देवदेवेशि नमस्ते हरपूजिते।
ब्रह्मविद्यास्वरूपायै तस्यै नित्यं नमो नमः॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
उन्मीलितं यया चक्षुस्तस्यै नित्यं नमो नमः॥

—इन दोनों मन्त्रोंसे शिरःस्थ सहस्रदल-कमलकर्णिकागत परम गुरुदेवको प्रणामकर तथा उनसे आज्ञा लेकर सांसारिक कार्यमें लगना चाहिये।

शुद्धस्वरूप

मन तुम लागहु सुद्ध सरूपे॥ टेक॥
तन मन धन न्यौछावरि बारो बेगि तजो भव कूपे॥
सतगुरु कृपा तहाँ लै लावो जहाँ छाँह नहिं धूपे।
पइया करम ध्यान सों फटको जोग जुगति करि सूपे॥
निर्मल भयो ज्ञान उँजियारो गूँग भयो लखि चूपे।
भीखा दिब्य दृष्टि सों देखत सोहे बोलत मूँ पै॥

—भीखा साहब

गुरु-तत्त्व-विचार

संसारका कोई भी कार्य अनुभवी गुरु या जानकार पथप्रदर्शकके बिना सहज ही सफल नहीं होता। केवल पुस्तकें पढ़नेसे काम नहीं चलता, जो मनुष्य उस कामको करके सफल हो चुका हो, उसकी सलाह आवश्यक होती है और कठिन कार्य हो तो कुछ दिन उसके पास रहकर विनय और सेवासे उसे प्रसन्न रखते हुए उससे सीखना पड़ता है। जब लौकिक कार्योंका यह हाल है तब आध्यात्मिक साधनमें तो गुरुकी बड़ी ही आवश्यकता है। वहाँ तो पद-पदपर गिरनेका डर है। इसलिये प्रत्येक साधकको अनुभवी गुरुके शरण होकर अध्यात्मसाधना करनी चाहिये। भारतीय साधनामें गुरुपरम्परा और गुरुकुलोंका बहुत ऊँचा स्थान है, क्योंकि गुरुके बिना ज्ञान नहीं होता। गुरु ही आँखें खोलकर, हाथमें मसाल लेकर विघ्नोंसे बचाकर शिष्यको लक्ष्यस्थानतक सुखसे पहुँचाता है। गुरु और ईश्वरमें कोई भेद नहीं, प्रत्युत शिष्यके लिये तो गुरु ईश्वरसे भी बढ़कर है। यही गुरु-तत्त्व है।

परंतु आजकल सच्चे गुरु प्रायः नहीं मिलते। वास्तवमें गुरु सदा ही मुश्किलसे मिलते थे। फिर आजकल तो बहुतसे लोभी-लालची और कामी-कपटी लोग गुरु बन गये हैं, इसलिये गुरुवेश कलङ्कित-सा हो गया है। अतः बहुत ही सावधानीसे गुरु बनाना चाहिये। गुरुमें इतने गुण अवश्य होने चाहिये—

'स्वभाव शुद्ध हो, जितेन्द्रिय हो, धनका लालच जिसे हो ही नहीं, वेद-शास्त्रोंका ज्ञाता हो, सत्यतत्त्वको पा चुका हो, परोपकारी हो, दयालु हो, नित्य जप-तपादि साधनोंको स्वयं (चाहे लोक-संग्रहार्थ ही) करता हो, सत्यवादी हो, शान्तिप्रिय हो, योगविद्यामें निपुण हो, जिसमें शिष्यके पापनाश करनेकी शक्ति हो, जो भगवान्‌का भक्त हो, स्त्रियोंमें अनासक्त हो, क्षमावान् हो, धैर्यशाली हो, चतुर हो, अव्यसनी हो, प्रियभाषी हो, निष्कपट हो, निर्भय हो, पापोंसे बिलकुल परे हो, सदाचारी हो, सादगीसे रहता हो, धर्मप्रेमी हो, जीवमात्रका सुहृद् हो और शिष्यको पुत्रसे बढ़कर प्यार करता हो।'

जिनमें ये गुण न हों और निम्नलिखित अवगुण हों, उन्हें गुरु नहीं बनाना चाहिये—

'जो संस्कारहीन हो, वेद-शास्त्रोंको जानता-मानता न हो, कामिनी-काञ्चनमें आसक्त हो, लोभी हो, मान, यश और पूजा चाहता हो, वैदिक और स्मार्त कर्मोंको न करता हो, क्रोधी हो, शुष्क या कटुभाषण करता हो, असत्य बोलता हो, निर्दयी हो, पढ़ाकर पैसा लेता हो, कपटी हो, शिष्यके धनकी ओर दृष्टि रखता हो, मत्सर करता हो, नशेबाज, जुआरी या अन्य किसी प्रकारका व्यसनी हो, कृपण हो, दुष्टबुद्धि हो, बाहरी चमत्कार दिखलाकर लोगोंका चित्त हरता हो, नास्तिक हो, ईश्वर और गुरुकी निन्दा करता हो, अभिमानी हो, बुरी सङ्गतिमें रहता हो, भीरु हो, पातकी हो, देवता, अग्नि और गुरुमें श्रद्धा न रखता हो, संध्या-तर्पण, पूजा और मन्त्र आदिके ज्ञानसे रहित हो, आलसी हो, विलासी हो, धर्महीन हो, संन्यासी होकर त्यागी न हो और गृहस्थ होकर गृहिणीरहित हो, शक्तिहीन हो और वृषलीपति हो।'

स्त्रियोंको किसी भी अन्य पुरुषसे दीक्षित होनेकी या किसी परपुरुषको गुरु बनानेकी आवश्यकता नहीं है। सिद्धमन्त्र स्वामी अपनी पत्नीको दीक्षा दे सकता है। दीक्षा न दे तो भी पति उसका परम गुरु ही है। विधवा स्त्री केवल श्रीपरमात्माको ही गुरु समझकर उन्हींका सेवन करे।

जो धन और कामिनीका लोभी मालूम हो, ऐसे गुरुसे तो सदा दूर ही रहना चाहिये।

इससे यह नहीं समझना चाहिये कि आजकल सद्गुरु हैं ही नहीं, उत्कट इच्छा और सच्ची चाह होनेपर संसारसागरसे तारनेवाले सद्गुरु अवश्य ही मिलते हैं। यदि किसी कारणवश गुरुरूपमें श्रद्धा नहीं टिकती हो तो सर्वान्तर्यामी परमात्मप्रभु परमेश्वरको (शिव, राम, कृष्ण, हनुमान् आदि स्वरूपोंमें) परम गुरु मानकर शास्त्रसम्मत साधना करनी चाहिये।

'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।'

कामना भोगसे कभी शान्त नहीं होती, घी डालनेपर अग्निके समान वह अधिकाधिक बढ़ती ही रहती है।—मनुस्मृति

ब्रह्मचारीजीकी दो बातें

(श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

स्व०श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी मेरे समवयस्क थे, वे वाराणसीमें संस्कृत पढ़ने आये थे। मेरे घर प्रायः नित्य ही आते थे। हम दोनोंमें गहरी छनती भी थी। मुझे उनके हाथका बनाया भोजन बहुत अच्छा लगता था, यद्यपि हम दोनोंके छात्र-जीवनके कारण ऐसा अवसर कम मिलता था कि साथ भोजन करें। उन दिनों वे 'ब्रह्मचारी' विशेषणका उपयोग करते थे और मुझसे धार्मिक विषयोंमें इतना आगे बढ़ जाते थे कि मेरे लिये वहाँतक उनके साथ चलना कठिन था और आगे चलकर तो वे इतना आगे बढ़ गये थे कि उनका साथ ही छूट गया था। पर उनकी एक बात याद रही—आदमीमें श्रद्धा हो या विश्वास न भी हो पर प्राचीन पवित्र स्थानोंके दर्शनसे अन्तश्चक्षु अवश्य खुलता है चाहे क्षणिक ही हो, ज्ञान हो जाता है।

इसी सिलसिलेमें हम पहले भारतके सबसे पुराने, अभीतक जीवित स्थान—काशीमें स्थित जंगमवाड़ी मठ गये थे। यह तो ताम्रपत्रसे ही सिद्ध है कि काशी-नरेश महाराजा श्रीजयेन्द्रदेवजीने शिवयोगी मल्लिकार्जुन जंगमको मठ बनानेके लिये भूमि दी थी, जिसपर मठ बना। वाड़ीका अर्थ बाग होता है। जंगमवाड़ीमें स्थापित शङ्करका एक लिङ्ग है। इस स्थानकी ऐतिहासिक महिमा है। यह सिद्ध स्थान तपस्याके योग्य है।

दूसरा स्थान है शतशिवा। बंगालीटोला मुहल्लेमें महाकालीकी एक जाग्रत् तथा सद्यः फल देनेवाली प्रतिमा प्रतिष्ठित है। कहा जाता है कि यह सौ शवोंपर स्थापित है। पर गङ्गाजीका तट वहाँ शायद हजारों वर्ष पहले रहा हो—गङ्गाजीने महाकाल—काशीनगरीका तट पर्याप्त दूरीपर छोड़ा है, इसका एक सत्य प्रमाण है। ब्रह्मचारीजी कहते थे कि काशीकी वर्तमान नगरी यद्यपि संसारमें सबसे पुरानी नगरी है तथापि अब जो पुराना नगर है, वह भी एक प्रकारसे नया मानना चाहिये। इसके गर्भमें महान् तपस्वी अब भी तपस्या कर रहे हैं। उसका प्रमाण कुछ वर्ष पूर्व मिला था।

काशीसे पाँच मील दूर शिवपुरके पास एक वकीलने एक जमीन खरीदी। वे नींव डालनेके लिये उसकी खोदाई करा रहे थे। यकायक एक खोखला गड्ढा निकल आया और उसमें देखते हैं कि भालूके समान काले बालोंसे ढके एक कृशकाय महात्मा ध्यानस्थ बैठे हैं। उनकी आँख खुली। उन्हें जैसे आश्चर्य हुआ—'क्या है ?' मालिक हाथ जोड़कर खड़े हो गये, उन्होंने महात्मासे क्षमा माँगी। महात्माने केवल इतना ही कहा—'अच्छा, ध्यान खुला है तो जरा गङ्गाजल पिला दो।' भूमि-स्वामीके पास मोटर थी नहीं। टेम्पोका युग नहीं था। रिक्शा भी नहीं था। एक इक्कासे गङ्गाजीसे जल लानेमें तीन घंटे लग गये। जब सिद्धके सम्मुख जल प्रस्तुत किया गया तो उन्होंने पूछा—'इतनी देर क्यों लगी ?'

'महाराज ! चार-पाँच मील आने-जानेमें समय लग गया।' सिद्धने विस्मयसे पूछा—'गङ्गा इतनी दूर चली गयीं ? अच्छा, जैसे यह स्थान ढका था वैसे ही ढक दो।' स्थान ढक दिया गया। भूस्वामीने वह स्थान सदाके लिये छोड़ दिया। बहुत पूछनेपर भी बतलाया नहीं कि वह स्थान कहाँ है। उन्हें भय था कि महात्मा शाप न दे दें। हमने उनसे सम्पर्क करनेकी चेष्टा की। वे दिवङ्गत हो चुके थे।

ब्रह्मचारीजीका कथन बिलकुल सत्य है कि काशी महाश्मशान है। पता नहीं कितने संत-महात्मा बैठे हुए हैं। यह भी प्रकट है कि गङ्गाजी बहुत दूर चली गयी हैं। ऐसे महात्मा पृथ्वीतलमें काशीमें हैं, इसका मुझे प्रत्यक्ष प्रमाण मिला। बड़े भाग्यसे ऐसे अवसर मिलते हैं और जरा भी भूल होनेपर सर्वनाश भी हो जाता है।

(२)

ब्रह्मचारीजीकी दूसरी बात थी—जिह्वा ही शरीरका सबसे महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इसीसे जीवन बनता और बिगड़ता है। यों तो दोहा प्रसिद्ध है—

जिह्वा ऐसी बावरी, कह गई अकास पतार।
आप तो कह भीतर गयी, जूती खात कपार॥

—पर प्रभुदत्तजीका तात्पर्य इससे भिन्न था। वे कहते थे कि कलियुग ईसासे लगभग ३१०२ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ। उसीसे अनुमान लग जाता है कि महाभारत कब हुआ, उसीके बाद कलियुग आया। कलियुग लौहयुग कहलाता है। इसमें लोहेकी प्रधानता रहेगी—लोहा संघर्ष, युद्ध, विपत्तिद्वारा

घातक है। अतएव लोहासे बचनेका एकमात्र उपाय है जिह्वापर नियन्त्रण। कलासे ही कलि बना है। कला शिव-शक्तिकी अभिव्यक्ति है। शिव-शक्तिकी ६४ कला बतायी गयी है। इसमें जगत्का सब व्यापार आ जाता है। जन्मसे मृत्युतक जितने भी गुण हैं, अंश—उपयोग हैं, सब इस ६४ कलाके अन्तर्गत हैं। रामानुजने जिन छः वेदाचार्योंका उल्लेख किया है, सभी इसी ६४ कलाकी सिद्धिसे शिवत्वकी प्राप्तिकी बात कहते हैं, वे षडाचार्य हैं—भारुचि, टङ्क, बोधायन, गुहदेव तथा द्राविड़ाचार्य आदि। इनके ग्रन्थ उपलब्ध हैं या नहीं, मैं नहीं जानता। होंगे तभी तो भगवान् रामानुजाचार्यने उनका स्मरण किया है। मैंने जिज्ञासा की कि जिह्वाका विषयके साथ यह कलाका विषय कैसे छिड़ गया? तो उत्तर मिला कि कलाका अर्थ जिह्वा है। जो इस अर्थको जानते हैं वे जिह्वाके द्वारा ६४ कलाओंपर विजय प्राप्त कर शिवमय, विष्णुमय हो जाते हैं। विष्णुकी षोडश कला, लक्ष्मीकी कला, ब्रह्मा तथा शङ्करकी—सबकी १६-१६ कलाएँ मिलकर शिवतत्त्वकी ६४ कला होती है। उसपर अधिकार पानेके लिये जिह्वाका सहारा लेना पड़ेगा। हृदयसे नाम जपनेसे तथा जिह्वापर पूरी तरह नियन्त्रण रखनेसे ही सिद्धि होती है। जिह्वा ही कहती है—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवाय केन क्व च सम्प्रतिष्ठा।

(श्वेता० अ०१, मन्त्र १)

'हम किससे उत्पन्न हैं, कौन हमें जीवित रखता है। अन्तमें मरनेके बाद हमारी पूर्णतः स्थिति क्या है?'

इसका उत्तर केवल पढ़नेसे नहीं होगा। आज तो केवल इन्द्रिय-सुखके लिये कलियुगमें लोग पागल हो रहे हैं। लोहेका उपयोग, अस्त्र, शस्त्र, विज्ञान—सबका केवल एक ही लक्ष्य है इन्द्रिय-सुख। जिसके लिये भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा था—

इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।

(गीता ३।७)

तो फिर जिह्वा क्या करेगी? ब्रह्मचारीजी कहते थे कि जीभ ही तो सब उत्पात मचाये है। लेकिन ब्रह्मचारीजी जिस जिह्वाका उपयोग करना या कराना चाहते थे आज उसे आसानीसे दिमागमें ले आना भी कठिन है। हठयोग-प्रदीपिका (१३।३७)में इसका जो उत्तर है वह कितने लोगोंकी समझमें आयेगा। लिखा है कि—

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्।

यानी जिह्वाको तीनों नाड़ियों—इडा, पिंगला और सुषुम्नाके मार्गसे कपाल-गह्वरमें लगाना चाहिये। इसे खेचरी मुद्रा भी कहेंगे। सर्पकी तरह जीभको उलटकर कण्ठके तलवेमें लगाना चाहिये, जिससे अमृत भी झरता मिलेगा और ध्यानस्थ होकर ज्ञान भी प्राप्त हो जायगा। हठयोग-प्रदीपिकामें 'कला' का उपयोग जिह्वाके लिये हुआ है। अब यह प्रकट है कि कला—६४ कला—कलियुग तथा कला—जिह्वाका घनिष्ठ सम्बन्ध है। हो सकता है यह अभ्यास सबके बूतेका न हो, हरेक अभ्यास कठिन होता है, पर क्या आजके युगमें इतना भी नहीं कर सकते कि अपनी जिह्वाका दुरुपयोग न करें, कम-से-कम बोले, अधिक-से-अधिक जप करे, प्रभुके नामका अधिकतम उपयोग करे। योगकी यह प्रथम सीढ़ी होगी। काश, हम इस सीढ़ीपर पहला पग रख पाते। इसीसे कहते हैं कि (कला) कलिमें कला—जिह्वा सबसे महत्त्वपूर्ण है।

ब्रह्मचारीजी इस गुणकी जीती-जागती मूर्ति थे—

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति। स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्य तपसा पिपर्ति॥ तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥

संक्षेपमें ब्रह्मचारी पृथ्वी और आकाशको धारण करनेवाला देवता है, दोनोंमें कुछ खोज रहा है। वह अपने तपसे आचार्य तथा राष्ट्रको पूर्ण करता है। उसीसे ब्राह्मण उत्पन्न होता है, ज्येष्ठ ब्रह्मज्ञान पैदा होता है और देवगण उसके लिये अमृत लेकर पधारते हैं।

गीताका सांख्ययोगी, मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं, ऐसे समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अनन्यभावसे निरन्तर स्थित रहता है (देखिये गीता ३।२८; ५।८-९, १३; ६।३१; १३।२९-३०; १४।१९-२०; १८।१७, ४९से ५५ आदि)।

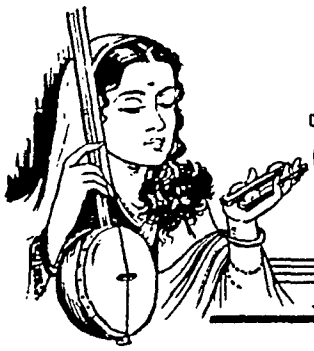

योगके विविध रूप

योगके मुख्य सिद्धान्त

वेद तीन काण्डोंमें विभक्त है—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। वेदके कर्मकाण्डके अनुसार कर्म-सुकौशलको योग कहते हैं। वेदके उपासनाकाण्डके अनुसार चित्तवृत्ति-निरोधको और वेदके ज्ञानकाण्डके अनुसार जीवात्मा और परमात्माके एकीकरणको योग कहते हैं। कर्मकाण्डका अन्तिम लक्ष्य निष्काम होकर कर्म करना है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसका विस्तृत वर्णन किया गया है। कर्म करते हुए कर्मबन्धनसे मुक्त होना ही उसका स्वरूप है। उपासनाकाण्डका अन्तिम लक्ष्य अन्तःकरणकी वृत्तियोंको साधनके द्वारा निरुद्ध कर परमात्माके स्वरूपका अनुभव करना है। तरङ्गरहित जलाशयमें जैसा मनुष्य अपना मुख देख लेता है, चित्तकी वृत्तियाँ निरुद्ध होते ही दृश्य-प्रपञ्चके द्रष्टा परमात्माका स्वरूप वैसा ही अन्तःकरणमें दिखायी देने लगता है। इस विज्ञानका विस्तृत वर्णन योगदर्शनके सूत्रोंमें पाया जाता है। ज्ञानकाण्डका अन्तिम लक्ष्य अविद्याजनित अज्ञानको विद्याकी कृपासे दूरकर आत्मज्ञान प्राप्त करते हुए परमात्मा और जीवात्माके भेदका जो मिथ्या ज्ञान है, उसको हटाकर जीवात्मा और परमात्माकी अद्वैतसिद्धि करना है। इसका विस्तृत वर्णन उपनिषदों और वेदान्तादि शास्त्रोंमें मिलता है। यही वेदके तीनों काण्डोंके अनुसार योगके सिद्धान्तोंका रहस्य है। वस्तुतः इन तीनोंके द्वारा एक ही अवस्थाकी प्राप्ति होती है।

श्रीभगवान्‌की सांनिध्यप्राप्तिके साधनोंको उपासना कहते हैं। उपासनाका प्राण भक्ति है और कलेवर योग है। शरीरमें प्राणके न रहनेसे जैसे शरीरकी कुछ भी उपयोगिता नहीं रहती, वैसे ही भगवद्भक्तिहीन योग नटका खिलवाड़ हो जाता है। शरीरके अभावमें प्राणके रहनेका कोई स्थान ही नहीं रहता। इस दशामें प्राणका अस्तित्व ही सम्भव नहीं रहता। इसी विज्ञानके अनुसार भक्ति और योगका उपासनाकाण्डके सब साधनोंमें अन्योन्याश्रय बना रहना स्वाभाविक है। योगतत्त्ववेत्ता पूज्यपाद महर्षियोंने योगसाधनकी चार स्वतन्त्र शैलियोंका उपदेश दिया है और योगमार्गसे भगवद्राज्यमें पहुँचनेके लिये आठ सोपान बताये हैं। योगसाधन-शैलियोंके चार नाम हैं—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। योगके आठ सोपानोंके नाम इस प्रकार हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। त्रिकालदर्शी और स्थूल तथा सूक्ष्म राज्यको हस्तामलकवत् देखनेवाले महर्षियोंने योगविज्ञानको इन चार श्रेणियों और आठ सोपानोंमें विभक्त करके ऐसा बताया है कि साधनमार्गके सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग इनमें आ जाते हैं।

मन्त्रयोगका सिद्धान्त यह है कि यह संसार नाम-रूपात्मक है। नाम और रूपसे ही जीव अविद्यामें फँसकर जकड़ा रहता है। मनुष्य जिस भूमिपर गिरता है, उसीके अवलम्बनसे उठ सकता है। अतः नाम और रूपके अवलम्बनसे ही जब वह फँसता है, तो नाम और रूपके ही अवलम्बनसे मुक्त भी हो सकता है। मन्त्रयोगके ज्ञाता पूज्यपाद आचार्योंने मन्त्रयोगके साधनोंको सोलह भागोंमें विभक्त किया है। जैसे दिक्‌शुद्धि, स्थानशुद्धि, मन्त्रजप, स्तुति, न्यास आदि। मन्त्रयोगके ध्यानको स्थूल ध्यान कहते हैं। यह ध्यान पञ्च सगुणोपासना और अवतारोपासनाके अनुसार कई प्रकारका होता है। मन्त्रयोगकी समाधिको महाभाव-समाधि कहते हैं।

हठयोगका सिद्धान्त यह है कि स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर एक ही भावमें गुम्फित है और एकका प्रभाव दूसरेपर पूरा बना रहता है। स्थूल शरीरको अपने अधीनकर सूक्ष्म शरीरको अधीन करते हुए योगकी प्राप्ति करनेको हठयोग कहते हैं। योगनिष्णात आचार्योंने हठयोगको सात अङ्गोंमें विभक्त किया है। यथा—नेति, धौति आदि षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि। हठयोगके ध्यानको ज्योतिर्ध्यान कहते

हैं और प्राणके निरोधसे होनेवाली हठयोगकी समाधि महाबोध-समाधि कहलाती है।

लययोगका सिद्धान्त यह है कि ब्रह्माण्डकी प्रतिकृति मानवपिण्ड है। ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिका विलास जैसा ब्रह्माण्ड है, वैसा मानवपिण्ड भी है। ग्रह, नक्षत्र, चतुर्दश भुवन आदिके पीठ मानवपिण्डमें भी हैं। पञ्चकोशोंका आवरण शिथिल होनेपर पिण्ड जहाँ चाहे, उसी लोकमें अपना सम्बन्ध स्थापन कर सकता है। इसी विज्ञानके अनुसार मनुष्यपिण्डके आधारपद्ममें कुलकुण्डलिनी नामक ब्रह्मशक्ति प्रसुप्त रहकर अविद्याके प्रभावसे सृष्टिक्रिया किया करती है। रजोवीर्यजनित बैजी सृष्टि उसका साक्षात् फल है। मनुष्यशरीरस्थ सप्तम चक्र मस्तकमें स्थित सहस्रदलमें जिस योगद्वारा कुलकुण्डलिनी-शक्तिको ले जाकर ब्रह्मरूपी सदाशिवके साथ मिला दिया जाता है, उस शिवमें शक्तिका लय कर मुक्ति प्राप्त करनेके साधनका नाम लययोग है। लययोगके आठ अङ्ग हैं। लययोगके ध्यानको बिन्दुध्यान और लययोगकी समाधिको महालय-समाधि कहते हैं।

राजयोग अन्य तीन योगोंकी चरम सीमा है। उसका सिद्धान्त यह है कि मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कारसे संवलित अन्तःकरण ही जीवके बन्धनका कारण और मुक्तिका भी कारण है। जैसे,अशुद्ध मन जीवको नीचे गिराता है और शुद्ध मन ऊपर उठाता है, वैसे ही इन्द्रियपरायण बुद्धि जीवको बन्धनमें जकड़ती है और ब्रह्मपरायण बुद्धि जीवको मुक्तिभूमिमें पहुँचा देती है। अतः शुद्ध बुद्धिकी सहायतासे तत्त्वज्ञान-लाभ करके अन्तमें राजयोगी जीव और ब्रह्मके अभेदका कारण समझकर ज्ञानसे अज्ञानका नाश करता हुआ जीव और ब्रह्मकी अद्वैतसिद्धिके द्वारा मुक्त हो जाता है। राजयोगसाधनके सोलह अङ्ग हैं। राजयोगके ध्यानको ब्रह्मध्यान कहते हैं और राजयोगकी समाधि निर्विकल्प-समाधि कहलाती है, जिसका फल जीवन्मुक्ति है।

इन चार योगशैलियोंके मूलमें भगवद्भक्तियुक्त अष्टाङ्ग-योगका साधनक्रम विद्यमान है। अष्टाङ्गयोगके आठों अङ्ग ब्रह्मरूपी सर्वोच्च सौध-शिखर (छत) पर चढ़नेके लिये आठ सोपान (सीढ़ियाँ) रूप हैं। इनका संक्षिप्त विज्ञान यह है कि बहिरिन्द्रियोंपर आधिपत्य जमानेके साधनोंको यम कहते हैं। अन्तरिन्द्रियोंपर आधिपत्य जमानेके साधनोंको नियम कहते हैं। स्थूल शरीरको योगके उपयोगी बनानेके साधनोंको आसन कहते हैं। शरीरस्थ प्राणको योगोपयोगी बनानेके साधनोंको प्राणायाम कहते हैं। ये चारों साधन बहिरङ्गके हैं। बहिर्मुख मनको अन्तर्मुख करनेके साधनोंको प्रत्याहार कहते हैं। प्रत्याहारसे ही अन्तरङ्गका साधन प्रारम्भ होता है। अन्तर्जगत्में ले जाकर मनको एक स्थानमें ठहरानेके साधनोंको धारणा कहते हैं। अन्तर्जगत्में ठहरनेका अभ्यास प्राप्त करते हुए अपने इष्टदेव, चाहे सगुणभावमय रूप हो, चाहे ज्योतिर्मय रूप हो, चाहे बिन्दुमय रूप हो, चाहे निर्गुण सच्चिदानन्दमय रूप हो, जिसका जैसा अधिकार हो, उसी इष्टदेवको केवल ध्येय बनाकर जगत्के भूल जानेको ध्यान कहते हैं। परमात्मामें अपने जीवभावके मिला देनेको समाधि कहते हैं। वह समाधि सविकल्प और निर्विकल्प दो भागोंमें विभक्त है। निर्विकल्प - समाधि ही सब साधनोंका अन्तिम लक्ष्य है। यही सर्वजीव - हितकारी सब सम्प्रदायोंके अनुयायियों, सब प्रकारके उपासकों और सब प्रकारके साधकोंके लिये परम हितकर योगका संक्षिप्त विज्ञान है।

विरक्त

(श्रीपंन्यासजी महाराज विजयमाणिक्यरुचिजी यति 'मानिक')

सत्यव्रत धार मन मोहते निवार कर, गिरिकी गुहामें तन तपते तपायेंगे।
दया दिल लायेंगे औ जीव न सतायेंगे औ, दीन न दबायेंगे न काया कलपायेंगे॥
'मानिक' की जोत ईश जोतमें जुटायेंगे औ, आनन्द बढ़ायेंगे अनन्त सुख पायेंगे।
दुनियामें फेर कभी आयेंगे न जायेंगे न, कर्मको खपायेंगे अमरपद पायेंगे॥

अष्टाङ्ग-योग

(अनन्तश्री स्वामी श्रीमाधवाश्रमजी महाराज, 'शुकदेव स्वामीजी')

योगशास्त्रके प्रणेता भगवान् पतञ्जलिने समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य—इन चार पादोंमें सूत्रात्मक-पद्धतिमें योगशास्त्रका प्रणयन किया है। प्रथम पादमें मुख्य रूपसे चित्तवृत्ति-निरोधात्मक समाधिका तथा अभ्यास-वैराग्यरूप और उसके साधनका निरूपण है। द्वितीयपादमें समाधिकी सिद्धिके लिये अष्टाङ्ग-योग, तृतीयपादमें योग-विभूति तथा चतुर्थपादमें कैवल्य या स्वरूप-प्रतिष्ठाकी स्थितिका वर्णन हुआ है।

योगकी सिद्धिके लिये अष्टाङ्ग-योगका पालन करना अत्यावश्यक है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं। प्रकृतमें इनका संक्षेपमें वर्णन किया जा रहा है—

यम

'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।'

(पा० यो० सा० ३०)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम कहलाते हैं।

अहिंसा—**'प्राणवियोगानुकूलव्यापारो हिंसा तदभावोऽहिंसा'** के अनुसार प्राणवियोगजनक व्यापार हिंसा है, एतादृश व्यापाराभाव अहिंसा है। अथवा **'अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः'** (पा० यो० सा० ३५) अहिंसाकी स्थिति होनेपर उस योगीके सांनिध्यमें जन्मजात सर्प और नकुलका स्वाभाविक वैर-त्याग हो जाता है, यह अहिंसाका स्वरूप और फल है।

सत्य—**'वाङ्मनसयोर्याथार्थ्यम्'** (भोजवृत्ति) **'वाचा यथा वस्तुकथनं सत्यशब्दाभिधेयम्'** (भाष्यकार भगवान् शंकराचार्य) वाणी, मन, कर्म, वचनसे जो यथार्थ वर्णन किया जाय अथवा शास्त्रीय सिद्धान्तकी रक्षाके लिये जो कहा जाय वह सत्य है। अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम, दर्श-पौर्णमास आदि यज्ञोंका फल स्वर्ग है अथवा क्रिया (यज्ञ) रूपी धर्मका फल स्वर्ग है। जो सत्यप्रतिष्ठ है, उस योगीको स्वर्गादिरूपी फलकी प्राप्ति हो जाती है। **'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'** (पा० यो० सा० ३६)। यहाँ उस योगीका संकल्प सिद्ध हो जाता है और वाणी सिद्ध हो जाती है।

अस्तेय—दूसरोंके धनका अपहरण न करना अस्तेय कहा जाता है **'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्'** (पा० यो० सा० ३७), सम्पूर्ण दिशाओंमें भ्रमण करनेवाले योगीको अस्तेयकी प्रतिष्ठा होनेपर सम्पूर्ण ईप्सित (इच्छित) वस्तुओंकी प्राप्ति हो जाती है।

ब्रह्मचर्य—जननेन्द्रियके नियन्त्रण करनेको ब्रह्मचर्य कहा जाता है। जो साधक इस सूत्रका स्मरण करके साधनामें रत रहता है, उसे निम्नलिखित फलकी प्राप्ति होती है—

'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।'

(पा० यो० सा० ३०)

ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठासे वीर्य-लाभ होता है। वीर्य शब्द शक्ति-विशेषका वाचक भी है, जैसे वीर्यलाभ होनेपर अणिमादि शक्तियोंके साथ योगी शिष्योंको ज्ञानादि भी हृदयङ्गम करानेकी सामर्थ्य प्राप्त करता है।

अपरिग्रह—**'भोगसाधनानामनङ्गीकारः'** (भोजवृत्ति) भोग्य वस्तुओंका संग्रह न करना अथवा **'मा गृधः कस्य स्विद् धनम्'** (ई० उ० १) इस वचनके आधारपर किसीके धनकी आकाङ्क्षा न करनेका भी अपरिग्रहमें ही पर्यवसान है, एतावता यह भी अपरिग्रह ही कहा जा सकता है। **'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः'** (पा० यो० सा० ३९) साधकको अपने पूर्वजन्मों, वर्तमान जन्मका एवं भविष्यके बोधके अतिरिक्त दूसरोंके भी सभी जन्मोंका बोध हो जाता है, यह अपरिग्रहका फल है।

नियम

नियम पाँच कहे गये हैं— शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—**'शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि नियमाः'** पा० यो० २।३२)।

शौच—शौच दो प्रकारका होता है—बाह्य और आभ्यन्तर। मिट्टी और जलसे शरीरका प्रक्षालन करना बाह्य शौच कहा जाता है। गोमूत्र, गोमयादिके प्राशन तथा मैत्री आदि भावनासे अन्तःकरणके दोष—राग-द्वेषादिकी निवृत्ति होती है। इसे आभ्यन्तर शौच कहा गया है—**'शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा**

परैरसंसर्गः' (पा० यो० सा० ४०)। बाह्याभ्यन्तर शौचका फल सौमनस्य और सौमनस्यका फल एकाग्रतापूर्वक इन्द्रियविजय और आत्मदर्शनकी योग्यता प्राप्त करना है।

संतोष—'**संतोषादनुत्तमसुखलाभः**' (पा० यो० सा० ४२)। प्राप्त वस्तुसे अधिककी अभिलाषा न करना संतोष कहा गया है। संतोषसे लोकोत्तर सुखकी प्राप्ति होती है। यही इसका फल है।

तप—द्वन्द्व सहन करना, भूख-प्यास, ठंडी-गरमीको अप्रतिकारपूर्वक सहन करना, कृच्छ्र-चान्द्रायणादि एवं एकादशी आदि व्रत करना यही तप कहा जाता है।

'**कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।**'

(पा० यो० सा० ४३)

तपसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म पाप नष्ट होनेसे इन्द्रियोंमें सूक्ष्म वस्तुको दूर देशमें भी सुनने और देखनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है।

स्वाध्याय—'**स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः**' (पा० यो० सा० ४४) अधिकारानुसार प्रणव-जप, वेद, पुराण, स्मृतियोंका अध्ययन, भगवन्नाम-जपादि स्वाध्याय कहलाता है। इष्टदेवका साक्षाद्दर्शन होना स्वाध्यायका फल है।

ईश्वरप्रणिधान—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

(श्रीमद्भा० ११।२।३६)

शरीर, मन, वाणी, इन्द्रियों तथा बुद्धि-स्वभावादिसे किया गया कर्म फलाभिसन्धिवर्जित यद्वा ईश्वरार्पण-बुद्धिसे किया गया कर्म ही ईश्वर-प्रणिधान है। समाधिकी सिद्धि ही इसका फल है—'**समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।**' (पा० यो० सा० ४५)

आसन

'**तत्र स्थिरसुखमासनम्**' (पा० यो० सा० ४६) जिस मुद्रामें साधक स्थिरतासे (देरतक) सुखपूर्वक दृढ़ होकर बैठ सके वही आसन है। जैसे पद्मासन, सिद्धासन आदि। इसमें हाथ-पैर आदि अवयवोंको कष्टरहित सुखपूर्वक रखा जाता है। आसनकी सिद्धि हो जानेपर शीतोष्णादि प्रतीत नहीं होते।

प्राणायाम

'**तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।**'

(पा० यो० सा० ४९)

आसन स्थिर हो जानेपर, श्वास और प्रश्वास—इन दोनोंका विच्छेद हो जानेपर गतिका विच्छेद करना ही प्राणायाम है। प्राणायामके तीन भेद हैं—रेचक, पूरक और कुम्भक। प्राणायामका अभ्यास करनेसे साधकके क्लेश, कर्मोंके फल और समस्त दोष-पाप नष्ट होकर चित्तका शब्दादि विषयोंसे सम्बन्ध छूट जाता है।

प्रत्याहार

'**स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः**' (पा० यो० सा० ५४) इन्द्रियोंका अपने विषयोंसे विमुख होकर चित्तके स्वरूपका अनुकरण करना प्रत्याहार कहलाता है। इन्द्रियोंको रोकनेवाला चित्त ही है। चित्तके रुकनेसे ये सभी इन्द्रियाँ भी अवरुद्ध हो जाती हैं। उक्त पाँचों उपाय योगके बहिरङ्ग साधन हैं, क्योंकि चित्तको स्थिर करनेके बाद ही समाधितक पहुँचा जा सकता है।

धारणा

'**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा**' (पा० यो० विभूति० १) नाभिचक्र, नासाग्र, हृदयपुण्डरीक आदि स्थलोंमें चित्तको एकाग्र कर लेना ही धारणा है। भगवान्‌के श्रीचरणारविन्दकी नखमणि - चन्द्रिकासे लेकर शिखापर्यन्त स्वरूपका चिन्तन करना बहिरङ्ग धारणा है।

ध्यान

'**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्**' (पा० यो० विभूति० २) धारणामें किसी देशमें चित्तकी वृत्ति एक स्थानपर स्थिर की जाती है। जब वह वृत्ति समानप्रवाहरूपसे अविच्छिन्न तैलधारावत् प्रवाहित होती रहे, मध्यमें कोई दूसरी वृत्ति न आये तो उसीको ध्यान कहते हैं। धारणा और ध्यानमें केवल यही अन्तर है कि धारणा विच्छिन्न अर्थात् भिन्न-भिन्न देशमें होती है और ध्यान अविच्छिन्न तैल-धाराकी भाँति होता है।

समाधि

'**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः**' (पा० यो० विभूति० ३) ध्यान जब ध्येय वस्तुके आकारमें हो जाय

और ध्यान तथा ध्याता दोनों न रहें तो उसे समाधि कहते हैं। ध्यानावस्थामें ध्यानरूपी क्रिया, ध्यान करनेवाले साधक एवं ध्येय वस्तुकी भी प्रतीति होती है, किंतु अभ्यास बढ़नेपर जब ध्यान, ध्याता और ध्येय—ये तीनों एकाकार होकर ध्येयके रूपमें प्रतीत होने लगें तो उस अवस्थाका नाम समाधि है। समाधिका परम प्रयोजन कैवल्य प्राप्त करना है।

योगचतुष्टय—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग एवं राजयोग

(श्रीएकान्तवासी महात्मा)

(१) मन्त्रयोग

योगसाधनका रहस्य दर्शनोंमें महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शनमें, महर्षि भरद्वाजकृत कर्ममीमांसादर्शनमें और मन्त्रयोगसंहिता, हठयोगसंहिता, लययोगसंहिता, राजयोगसंहिता तथा पुराणोंमें और तन्त्रोंमें विस्तृतरूपसे वर्णित है। योगसाधनकी चार अलग-अलग शैलियाँ हैं। उनमें मन्त्रयोग प्रथम है। उसके देवर्षि नारद, पुलस्त्य, गर्ग, वाल्मीकि, भृगु, बृहस्पति आदि प्रमुख आचार्य हुए हैं।

मन्त्रयोगका सिद्धान्त यह है कि परमात्मासे भाव, भावसे नाम-रूप और उसका विकार तथा विलासमय यह संसार है। इसलिये जिस क्रमके अनुसार सृष्टि हुई है, उसके विपरीत मार्गसे ही लय होगा, यह निश्चय है। अर्थात् परमात्मासे भाव और भावसे नाम-रूपद्वारा जब सृष्टि हुई है, जिससे समस्त जीव संसार-बन्धनमें आ गये हैं, तो यदि मुक्तिलाभ करना हो तो प्रथम नाम-रूपका आश्रय लेकर नाम-रूपसे भावमें और भावसे भावग्राही परमात्मामें चित्तवृत्तिका लय होनेपर ही मुक्ति होगी। इसलिये नारदादि महर्षियोंने नाम और रूपके अवलम्बनसे साधनकी विधियाँ बतलायी हैं, इसीका नाम मन्त्रयोग है। यथा योगशास्त्रमें—

नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात्।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः॥
तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते।
उत्तिष्ठति जनः सर्वोऽध्यक्षेणैतत्समीक्ष्यते॥
नामरूपात्मकैर्भावैर्बध्यन्ते निखिला जनाः।
अविद्याग्रसिताश्चैव तादृक्प्रकृतिवैभवात्॥
आत्मनः सूक्ष्मप्रकृतिं प्रवृत्तिं चानुसृत्य वै।
नामरूपात्मनोः शब्दभावयोरवलम्बनात्॥

'सृष्टि नाम-रूपात्मक होनेके कारण नाम-रूपके अवलम्बनसे ही साधक सृष्टिके बन्धनसे अतीत होकर मुक्तिपद प्राप्त कर सकता है। जिस भूमिपर मनुष्य गिरता है, उसी भूमिके अवलम्बनसे वह पुनः उठ सकता है—यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है। नाम-रूपात्मक विषय जीवको बन्धनयुक्त करते हैं, नाम-रूपात्मक प्रकृति-वैभवसे जीव अविद्याग्रस्त हुए रहते हैं, अतः अपनी-अपनी सूक्ष्म प्रकृति और प्रवृत्तिकी गतिके अनुसार नाममय शब्द तथा भावमय रूपके अवलम्बनसे जो योगसाधन किया जाय, उसको मन्त्रयोग कहते हैं।' मन्त्रयोगका विस्तार और महिमा सबसे अधिक है। सनातन वैदिक मूर्तिपूजा और पीठ-विज्ञान मन्त्रयोगके अनुसार ही सिद्ध होते हैं। मन्त्रयोग-साधन-प्रणालीके अनेक अङ्ग हैं। उनमेंसे मन्त्रयोगके ग्रन्थोंमें निम्नलिखित सोलह अङ्ग मुख्य बतलाये हैं—

भवन्ति मन्त्रयोगस्य षोडशाङ्गानि निश्चितम्।
यथा सुधांशोर्जायन्ते कलाः षोडश शोभनाः॥
भक्तिः शुद्धिश्चासनं च पञ्चाङ्गस्यापि सेवनम्।
आचारधारणे दिव्यदेशसेवनमित्यपि॥
प्राणक्रिया तथा मुद्रा तर्पणं हवनं बलिः।
यागो जपस्तथा ध्यानं समाधिश्चेति षोडश॥

'चन्द्रकी सोलह कलाओंकी तरह मन्त्रयोग भी सोलह अङ्गोंसे पूर्ण है। ये सोलह अङ्ग इस प्रकार हैं—भक्ति, शुद्धि, आसन, पञ्चाङ्गसेवन, आचार, धारणा, दिव्यदेशसेवन, प्राणक्रिया, मुद्रा, तर्पण, हवन, बलि, याग, जप, ध्यान और समाधि।' नाना शास्त्रोंमें इन सोलह अङ्गोंका विस्तृत वर्णन पाया जाता है। भक्तिका विस्तार तो सभी भक्तिशास्त्रोंमें पाया जाता है। शुद्धिके अनेक भेद हैं। यथा—किस दिशामें मुख करके साधन करना चाहिये, यह दिक्शुद्धि है। कैसे स्थानमें बैठकर साधन करना चाहिये, यह स्थानशुद्धि है। स्नानादि-

द्वारा शरीरशुद्धि और प्राणायामादिद्वारा मनःशुद्धि होती है। कैसे आसनपर बैठना चाहिये—जैसे कि चैलासन, मृगचर्मासन, कुशासनादि, यह आसन-शुद्धि है। अपने इष्टकी गीता, सहस्रनाम, स्तव, कवच और हृदय—ये पाँचों पञ्चाङ्ग कहलाते हैं। आचारके तन्त्र और पुराणोंमें अनेक भेद कहे गये हैं। मनको बाहर मूर्ति आदिमें लगानेसे अथवा शरीरके भीतर स्थानविशेषोंमें मनके स्थिर रखनेको धारणा कहते हैं। जिन सोलह प्रकारके स्थानोंमें पीठ बनाकर पूजा की जाती है, उनको दिव्यदेश कहते हैं। यथा—मूर्धास्थान, हृदयस्थान, नाभिस्थान, घट, पट, पाषाणादिकी मूर्तियाँ, स्थण्डिल, यन्त्र आदि। मन्त्र -शास्त्रमें प्राणायामोंके अतिरिक्त शरीरके नाना स्थानोंमें प्राणको ले जाकर साधन करनेकी आज्ञा है। ये सब साधन प्राणक्रिया कहलाते हैं। न्यास आदि इसीके अन्तर्गत हैं। मन्त्रयोगमें अपने-अपने इष्टदेवके प्रसन्न करनेकी जो चेष्टाएँ हैं, वे मुद्रा कहलाती हैं, यथा—शङ्खमुद्रा, योनिमुद्रा आदि। पदार्थविशेषद्वारा इष्टदेवका तर्पण किया जाता है। अग्निमें आहुति देनेको हवन कहते हैं, बलि तीन प्रकारकी होती है—यथा आत्मबलि अहङ्कारादिकी, इन्द्रियोंकी बलि तथा काम-क्रोधादिकी बलि। अन्तर्याग और बहिर्याग-भेदसे याग दो प्रकारके होते हैं। अपने इष्टके नामके जपको जप कहते हैं। जप भी वाचनिक, उपांशु और मानसिक-भेदसे तीन प्रकारका होता है। इष्टके रूपमें ध्यानको मनके द्वारा करनेसे जो साधन होता है, उसको 'ध्यान' कहते हैं। इष्टके रूपका ध्यान करते-करते अपनेको भूल जानेसे जो एक अवस्था होती है, उसे मन्त्रयोगमें 'महाभावसमाधि' कहते हैं। यही मन्त्रयोगसमाधि है।

(२) हठयोग

जैसे मन्त्रयोगके साधनोंमें नाम-रूपके अवलम्बनसे साधनकी विशेषता है, उसी प्रकार केवल स्थूलशरीरके अधिक अवलम्बनसे चित्तवृत्तिनिरोध करके योगसाधनकी प्रणाली हठयोगमें चलायी गयी है। महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शनमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इस प्रकारसे श्रीभगवान्‌के निकट पहुँचनेके लिये साधनके आठ सोपान बतलाये गये हैं। ये उत्तरोत्तर एक दूसरेसे ऊँचे हैं। बहिरिन्द्रियोंपर प्रभाव रखनेको 'यम' कहते हैं। अन्तरिन्द्रियोंपर प्रभाव रखनेको 'नियम' कहते हैं। योगसाधनके लायक शरीर बनानेको 'आसन' कहते हैं। प्राण और अपान वायुपर प्रभाव डालकर उनको योगसाधनोपयोगी बनानेको 'प्राणायाम' कहते हैं। मनको बाहरसे खींचकर भीतरकी ओर लानेको 'प्रत्याहार' कहते हैं। भीतरमें मनको ठहरा रखनेको 'धारणा' कहते हैं। इष्टरूपी ध्येयमें मनके लगा रखनेको 'ध्यान' कहते हैं और इष्टमें मनको लीन करके अपनेको भूल जानेको 'समाधि' कहते हैं। यही 'अष्टाङ्गयोग'-का सार है। इनमेंसे चार अङ्ग बाहरके हैं और चार अङ्ग भीतरके हैं। इन आठोंका बहुत कुछ विस्तार है। उन विस्तारोंमेंसे मन्त्र, हठ, लय और राज—इन चार श्रेणीके साधनोंमें इन आठों अङ्गोंमेंसे किसीमें किसी अङ्गपर अधिक ध्यान दिया है और किसी-किसी साधनमें किसी-किसी दूसरे अङ्गपर विशेष ध्यान दिया है। शास्त्रोंमें कहा गया है कि महर्षि मार्कण्डेय, भरद्वाज, मरीचि, जैमिनि, पाराशर, भृगु, विश्वामित्र आदिकी कृपासे इस कल्पमें हठयोगका विस्तार हुआ है। जब देखा जाता है कि सूक्ष्मशरीरके तीव्र संस्कारसे उत्पन्न हुए कर्मोंके भोगका आश्रयरूपी स्थूलशरीर बनता है, अर्थात् सूक्ष्मशरीरके भावके अनुरूप ही स्थूलशरीरका संघटन होता है तथा सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीर एक ही सम्बन्धयुक्त होकर रहते हैं, तब इसमें क्या बाधा है कि स्थूलशरीरके कार्योंके द्वारा सूक्ष्मशरीरपर आधिपत्य नहीं किया जा सकता? फलतः अधिकारिविशेषके लिये स्थूलशरीरप्रधान योग-क्रियाओंका आविष्कार योगशास्त्रमें किया गया है, जिनके द्वारा साधक प्रथम अवस्थामें स्थूलशरीरकी क्रियाओंका साधन करता हुआ उसपर सम्पूर्ण आधिपत्य कर लेता है और क्रमशः उस शक्तिको अन्तर्मुख करके उसके द्वारा सूक्ष्मशरीरको वशमें लाकर चित्तवृत्तिनिरोधके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार करनेमें समर्थ होता है। इसी योगप्रणालीको हठयोग कहते हैं।

मन्त्रयोगमें जिस प्रकार भावपूर्ण स्थूल ध्यानकी विधि है, हठयोगमें वैसे ही ज्योतिःकल्पनारूप ज्योतिर्ध्यान करनेकी विधि रखी गयी है। अन्तर्जगत्‌के पवित्र भावोंको आश्रय करके जिस प्रकार नाना देव-देवियोंके ध्यानके लिये मन्त्रयोगमें उपदेश है, उसी प्रकार परमात्माको सब ज्योतियोंका ज्योतिःस्वरूप जानकर उनके ज्योतिर्मय रूपकी कल्पना करके

ध्यानका अभ्यास करनेकी व्यवस्था हठयोगमें है। मन्त्रयोग-समाधिमें नाम-रूपोंकी सहायतासे समाधि-लाभ करनेकी साधन-प्रणाली वर्णित है और हठयोगमें वायुनिरोधके द्वारा मनका निरोध करके समाधिलाभ करनेकी विधि है। मन्त्रयोग-समाधिको 'महाभाव' और हठयोग-समाधिको 'महाबोध'-समाधि कहा जाता है।

षट्कर्मासनमुद्राः प्रत्याहारश्च प्राणसंयामः।
ध्यानसमाधी सप्तैवाङ्गानि स्युर्हठस्य योगस्य॥

'षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि—हठयोगके ये सात अङ्ग हैं।' इन सब अङ्गोंके क्रमानुसार साधनद्वारा क्या-क्या फलप्राप्ति होती है, उसका योगशास्त्रमें वर्णन है—

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद् दृढम्।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता॥
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात् प्रत्यक्षमात्मनः।
समाधिना त्वलिप्तत्वं मुक्तिश्चैव न संशयः॥

'षट्कर्मद्वारा शरीरशोधन, आसनके द्वारा दृढ़ता, मुद्राके द्वारा स्थिरता, प्रत्याहारसे धीरता, प्राणायाम-साधनद्वारा लाघव, ध्यानद्वारा आत्माका प्रत्यक्ष और समाधिद्वारा निर्लिप्तता तथा मुक्तिलाभ अवश्य होता है।' इन सब मानसिक और आध्यात्मिक लाभोंके सिवा हठयोगके प्रत्येक अङ्ग और उपाङ्गके साधनद्वारा शारीरिक स्वास्थ्यविषयक भी विशेष लाभ होता है, जो योगिराज श्रीगुरुदेवसे जानने योग्य है। धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक और कपालभाति—ये छहों क्रियाएँ षट्कर्मकी कहलाती हैं। हठयोगके अनुसार बैठकर साधन करनेके कुल तैंतीस आसन माने गये हैं। उनकी क्रियाएँ अलग-अलग हैं। हठयोगके अनुसार आठ प्रकारके प्राणायामकी क्रिया कही गयी है। उनके नाम सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली हैं। इसी प्रकार हठयोगमें पचीस मुद्रा-साधनकी विधि पायी जाती है। ये सब मुद्राएँ वायु और मनको स्थिर करनेवाली होती हैं। प्रत्याहारमें भी ये मुद्राएँ मदद करती हैं तथा ध्यानसिद्धि और समाधि देनेमें भी मदद करती हैं, जो हठयोगका अन्तिम साधन है।

(३) लययोग

अङ्गिरा, याज्ञवल्क्य, कपिल, पतञ्जलि, वसिष्ठ, कश्यप और वेदव्यास आदि पूज्यचरण महर्षियोंकी कृपासे परम मङ्गलकारी तथा मन-वाणीसे अगोचर ब्रह्मपद-प्राप्तिके कारणभूत लययोगका सिद्धान्त संसारमें प्रकट हुआ है।

प्रकृति-पुरुषके शृङ्गारसे उत्पन्न हुए ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों एक ही हैं। समष्टि और व्यष्टि-सम्बन्धसे ब्रह्माण्ड और पिण्ड एकत्व-सम्बन्धसे युक्त हैं। अतः ऋषि, देवता, पितर, ग्रह, नक्षत्र, राशि, प्रकृति, पुरुष सबका स्थान समानरूपसे ब्रह्माण्ड और पिण्डमें है। पिण्डज्ञानसे ब्रह्माण्ड-ज्ञान हो सकता है। श्रीगुरूपदेशद्वारा शक्तिसहित पिण्डका ज्ञान लाभ करनेके अनन्तर सुकौशलपूर्ण क्रियाद्वारा प्रकृतिको पुरुषमें लय करनेसे लययोग कहलाता है। पुरुषका स्थान सहस्रारमें है और कुलकुण्डलिनी नाम्नी महाशक्ति आधारपद्ममें प्रसुप्त हो रही है। उसके सुप्त रहनेसे ही बहिर्मुखी सृष्टिक्रिया होती है। योगाङ्गद्वारा उसको जाग्रत् करके पुरुषके पास ले जाकर लय कर देनेपर योगी कृतकृत्य होता है, इसीका नाम 'लययोग' है।

योगशास्त्रमें इसके नौ अङ्ग बतलाये गये हैं। यथा—

अङ्गानि लययोगस्य नवैवेति पुराविदः।
यमश्च नियमश्चैव स्थूलसूक्ष्मक्रिये तथा॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं चापि लयक्रिया।
समाधिश्च नवाङ्गानि लययोगस्य निश्चितम्॥
स्थूलदेहप्रधाना वै क्रिया स्थूलाभिधीयते।
वायुप्रधाना सूक्ष्मा स्याद्ध्यानं बिन्दुमयं भवेत्॥
ध्यानमेतद्धि परमं लययोगसहायकम्।
लययोगानुकूला हि सूक्ष्मा या लभ्यते क्रिया॥
जीवन्मुक्तोपदेशेन प्रोक्ता सा हि लयक्रिया।
लयक्रियासाधनेन सुप्ता सा कुलकुण्डली॥
प्रबुद्ध्य तस्मिन् पुरुषे लीयते नात्र संशयः।
शिवत्वमाप्नोति तदा साहाय्यादस्य साधकः॥
लयक्रियायाः संसिद्धौ लयबोधः प्रजायते।
समाधिर्येन निरतः कृतकृत्यो हि साधकः॥

'योगतत्त्वज्ञ महर्षियोंने लययोगके नौ अङ्ग वर्णन किये हैं—यम, नियम, स्थूल क्रिया, सूक्ष्म क्रिया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, लयक्रिया और समाधि। स्थूलशरीरप्रधान

क्रियाको 'स्थूल क्रिया' और वायुप्रधान क्रियाको 'सूक्ष्म क्रिया' कहते हैं। बिन्दुमय प्रकृति-पुरुषात्मक ध्यानको 'बिन्दुध्यान' कहते हैं। यह ध्यान लययोगका परम सहायक है। लययोगानुकूल अति सूक्ष्म सर्वोत्तम क्रिया जो केवल जीवन्मुक्त योगियोंके उपदेशसे ही प्राप्त होती है, वह 'लयक्रिया' कहलाती है। लयक्रियाओंके साधनद्वारा प्रसुप्त कुलकुण्डलिनीनामक महाशक्ति प्रबुद्ध होकर ब्रह्ममें लीन होती है। इनकी सहायतासे जीव शिवत्वको प्राप्त होता है। लयक्रियाकी सिद्धिसे महालयरूपी समाधिकी उपलब्धि होती है, जिससे साधक कृतकृत्य हो जाता है।'

बहिरिन्द्रियोंको वशमें लानेके साधनको 'यम' कहते हैं। अन्तरिन्द्रियोंको वशमें लानेके साधनको 'नियम' कहते हैं। हठयोगकी तरह तैंतीस आसनोंमेंसे कुछ आसनोंका साधन, पचीस मुद्राओंमेंसे कुछ थोड़ी-सी मुद्राओंका साधन—ये सब लययोगकी 'स्थूल क्रिया' कहलाती हैं। इसी प्रकार हठयोगके आठ प्राणायामोंमेंसे थोड़े-से प्राणायाम और स्वरोदय आदिकी क्रियाएँ लययोगके अनुसार 'सूक्ष्म क्रिया' कहलाती हैं। स्वरोदयके द्वारा बहुत-सी सिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। लययोगका पञ्चम साधन प्रत्याहार है, जो केवल मनकी सहायतासे किया जाता है। प्रत्याहारकी सिद्धि प्रारम्भ होते ही योगी नादका सुनना प्रारम्भ कर देता है। लययोगके आठवें अङ्गमें योगी शरीरके अंदरके षट्चक्रोंको जानता और उनकी सहायतासे साधनका अभ्यास करता है। योगाचारियोंका मत है कि मेरुदण्डके नीचेसे लेकर मस्तकके ऊपरतक सात ऐसे स्थान हैं, जिनकी सहायतासे योगी प्रकृति-शक्तिको नीचेसे ले जाकर सातवें सहस्रदलके स्थानमें शिव-शक्तिका संयोग करके मुक्ति प्राप्त कर सकता है। इस चक्रकी क्रियाके पूर्ण होनेपर मुक्तिकी प्राप्ति होती है। यह साधन धारणा-साधनसे प्रारम्भ होकर समाधि-सिद्धितक सहायता करता है। लययोगके ध्यानका नाम 'बिन्दुध्यान' है। इस प्रकारसे योगी साधन करते-करते प्रकृतिके सूक्ष्मरूपका बिन्दुरूपमें दर्शन करता है। उसीका ध्यान बढ़ाते-बढ़ाते और उसके साथ लययोगकी कुछ और भी लयक्रिया जो गुरुमुखसे प्राप्त होती है, उसका साधन करते-करते योगी अन्तिम क्रिया समाधिकी प्राप्ति कर लेता है। लययोगकी समाधिका नाम महालय है।

मन्त्रयोगमें जैसे रूपकल्पनाद्वारा ध्यान किया जाता है, हठयोगमें जैसे भगवान्‌का ज्योतिःकल्पनाद्वारा ध्यान किया जाता है, लययोगमें वैसी कल्पना नहीं की जाती। लययोगका योगी योगसाधनके द्वारा अन्तर्जगत्‌में एक अलौकिक बिन्दुका दर्शन करता है। उसीको स्थिर रखकर उसीमें परमात्माके ध्यान करनेको 'बिन्दुध्यान' कहते हैं। यह लययोगकी विशेषता है। लययोगकी दूसरी विशेषता यह है कि लययोगी यदि चाहे तो सारे ब्रह्माण्डको अपने शरीरमें देख सकता है; क्योंकि लययोगसिद्धान्तके अनुसार समष्टिरूपी ब्रह्माण्डका व्यष्टिरूपी मनुष्यपिण्ड साक्षात् प्रतिबिम्बस्वरूप है। लययोगकी सहायतासे ही प्राचीन कालके पूज्यपाद महर्षिगण इस मृत्यु-लोकमें बैठकर सारे ब्रह्माण्डका पता लगा सकते थे।

(४) राजयोग

सब योगसाधनोंका राजा होनेसे इसको राजयोग कहते हैं। स्मृतिशास्त्रमें भी कहा है—'**राजत्वात् सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः।**' राजयोगके लक्षणके विषयमें और उसके साधन-क्रमके विषयमें शास्त्रोंमें कहा गया है कि—

सृष्टिस्थितिविनाशानां हेतुता मनसि स्थिता।
तत्सहायात् साध्यते यो राजयोग इति स्मृतः॥
अन्तःकरणभेदास्तु मनो बुद्धिरहङ्कृतिः।
चित्तं चेति विनिर्दिष्टाश्चत्वारो योगपारगैः॥
तदन्तःकरणं दृश्यमात्मा द्रष्टा निगद्यते।
विश्वमेतत्तयोः कार्यकारणत्वं सनातनम्॥

'सृष्टि, स्थिति और लयका कारण अन्तःकरण ही है, उसकी सहायतासे जिसका साधन किया जाता है, उसको राजयोग कहते हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये अन्तःकरणके चार भेद हैं। अन्तःकरण दृश्य और आत्मा द्रष्टा है। अन्तःकरणरूपी दृश्यसे जगद्रूपी कार्य दृश्यका कार्य-कारण-सम्बन्ध है। दृश्यसे द्रष्टाका सम्बन्ध स्थापित होनेपर सृष्टि होती है। चित्तवृत्तिका चाञ्चल्य ही इसका कारण है। वृत्तिजयपूर्वक स्व-स्वरूपका प्रकाश करना राजयोग कहलाता है। राजयोगसाधनमें विचारबुद्धिका प्राधान्य रहता है। विचार-शक्तिकी पूर्णताद्वारा राजयोगका साधन होता है। राजयोगके ध्यानको 'ब्रह्मध्यान' कहते हैं। राजयोगकी समाधिको 'निर्विकल्प-समाधि' कहते हैं। राजयोगसे सिद्धि-

प्राप्त महात्माका नाम 'जीवन्मुक्त' है। महाभाव (मन्त्रयोगकी समाधि)-प्राप्त योगी, महाबोध (हठयोगकी समाधि)-प्राप्त योगी तथा महालय (लययोगकी समाधि)-प्राप्त योगी तत्त्वज्ञानकी सहायतासे राजयोग-भूमिमें अग्रसर होते हैं। राजयोग सब योगसाधनोंमें श्रेष्ठ है और साधनकी चरम सीमा है, इस कारण इसको राजयोग कहते हैं।

राजयोगके साधनोंको भी शास्त्रोंमें सोलह अङ्गोंमें विभक्त करके वर्णन किया गया है। वे इस प्रकार हैं—

कलाषोडशकोपेतराजयोगस्य षोडश।
सप्त चाङ्गानि विद्यन्ते सप्तज्ञानानुसारतः॥
विचारमुख्यं तज्ज्ञेयं साधनं बहु तस्य च।
धारणाङ्गे द्विधा ज्ञेये ब्रह्मप्रकृतिभेदतः॥
ध्यानस्य त्रीणि चाङ्गानि विदुः पूर्वे महर्षयः।
ब्रह्मध्यानं विराड्ध्यानं चेशध्यानं यथाक्रमम्॥
ब्रह्मध्याने समाप्यन्ते ध्यानान्यन्यानि निश्चितम्।
चत्वार्यङ्गानि जायन्ते समाधेरिति योगिनः॥
सविचारं द्विधाभूतं निर्विचारं तथा पुनः।
इत्थं संसाधनं राजयोगस्याङ्गानि षोडश॥
कृतकृत्यो भवत्यासु राजयोगपरो नरः।
मन्त्रे हठे लये चैव सिद्धिमासाद्य यत्नतः।
पूर्णाधिकारमाप्नोति राजयोगपरो नरः॥

राजयोगके अङ्ग—'षोडशकलासे पूर्ण राजयोगके षोडश अङ्ग हैं। सप्त-ज्ञान-भूमिकाओंके अनुसार सात अङ्ग हैं। ये सब विचारप्रधान हैं। इनके साधन अनेक प्रकारके हैं। धारणाके अङ्ग दो हैं—एक प्रकृतिधारणा और दूसरी ब्रह्मधारणा। ध्यानके अङ्ग तीन हैं—विराट्-ध्यान, ईशध्यान और ब्रह्मध्यान। ब्रह्मध्यानमें ही सबकी परिसमाप्ति है और समाधिके चार अङ्ग हैं—दो सविचार और दो निर्विचार। इस प्रकारसे राजयोगके षोडश अङ्गोंके साधनद्वारा राजयोगी कृतकृत्य होता है। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग—इन तीनोंमें सिद्धिलाभके अनन्तर अथवा किसी एकमें सिद्धिलाभ करनेके अनन्तर साधकको राजयोगका पूर्णाधिकार प्राप्त होता है।'

राजयोगसंहिताके अनुसार—

साधनं राजयोगस्य धारणाध्यानभूमितः।
आरभ्यते समाधिर्हि साधनं तस्य मुख्यतः॥
समाधिभूमौ प्रथमं वितर्कः किल जायते।
ततो विचार आनन्दानुगता तत्परा मता॥
अस्मितानुगता नाम ततोऽवस्था प्रजायते॥
विशेषलिङ्गं त्वविशेषलिङ्गं
लिङ्गं तथालिङ्गमिति प्रभेदान्।
वदन्ति दृश्यस्य समाधिभूमि-
विवेचनायां पटवो मुनीन्द्राः॥
हेया अलिङ्गपर्यन्ता ब्रह्माहमिति या मतिः।
निर्विकल्पे समाधौ हि न सा तिष्ठति निश्चितम्॥
द्वैतभावास्तु निखिला विकल्पश्च तथा पुनः।
क्षीयन्ते यत्र सा ज्ञेया तुरीयेति दशा बुधैः॥
समाधिसाधनं शास्त्राभ्यासतो न हि लभ्यते।
गुरोर्विज्ञाततत्त्वात्तु प्राप्तुं शक्यमिति ध्रुवम्॥

'इसका साधन प्रथमावस्थामें धारणा और ध्यानभूमिसे प्रारम्भ होता है और राजयोगकी साधनभूमि प्रधानतः समाधिभूमि ही है। समाधिभूमिमें पहले वितर्क रहता है तदनन्तर अग्रसर होनेपर विचार रहता है। उससे आगेकी अवस्थाका नाम आनन्दानुगत अवस्था है और उससे आगेकी अवस्थाका नाम अस्मितानुगत अवस्था है। विशेषलिङ्ग, अविशेषलिङ्ग, लिङ्ग और अलिङ्ग—ये चार भेद दृश्यके हैं। अलिङ्गतक त्यागने योग्य हैं। 'मैं ब्रह्म हूँ', यह भाव भी निर्विकल्प-समाधिमें नहीं रहता। कोई द्वैतभाव अथवा कोई विकल्प जब शेष न रहे, वही तुरीयावस्था है। समाधिभूमिका साधनक्रम शास्त्रमें ज्ञात नहीं हो सकता। जिनको अपरोक्षानुभूति हुई है, ऐसे जीवन्मुक्त गुरु ही उसका भेद बतला सकते हैं।'

राजयोगके साधन-क्रमकी समालोचना करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि प्रथम परम भाग्यवान् राजयोगी दर्शनोक्त सप्तज्ञानभूमियोंको, एकके बाद दूसरीको इस तरह क्रमशः अतिक्रम करता हुआ, जैसे मनुष्य सोपानद्वारा छतपर चढ़ जाता है, उसी प्रकार सप्तज्ञानभूमियोंका रहस्य समझ जाता है। यही राजयोगोक्त सोलह अङ्गोंमेंसे प्रथम सप्ताङ्गका साधन-क्रम है। उसके अनन्तर वह सौभाग्यवान् योगी सत् और चित्-भावपूर्ण प्रकृति-पुरुषात्मक दो राज्यके दर्शन करके उनकी धारणासे अनन्तरूपमय प्रपञ्चकी विस्मृति-सम्पादन करनेमें

समर्थ होता है। यही राजयोगके अष्टम और नवम अङ्गका साधन-क्रम है। उसके अनन्तर वह योगिराज परिणामशील प्रकृतिके स्वरूपको सम्पूर्णरूपसे जानकर ब्रह्म, ईश या विराट्‌रूपमें अद्वितीय ब्रह्मसत्ताका दर्शन करके ध्यानभूमिकी पराकाष्ठामें पहुँच जाता है। यही राजयोगोक्त सोलह अङ्गोंमेंसे दशम, एकादश और द्वादश अङ्गका साधन-क्रम है। उसके अनन्तर वह परम भाग्यवान् योगाचार्य यथाक्रम वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत—इन चारों आत्मज्ञानयुक्त (ये चारों समाधिकी दशा पूर्वकथित मन्त्र-हठ-लययोगोक्त महाभाव, महाबोध, महालय-समाधिसे विभिन्न हैं।) समाधि-दशाओंको अतिक्रमण करते हुए स्व-स्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। इसी दशाको जीवन्मुक्त-दशा कहते हैं। यही सब प्रकारके योग-साधनोंका अन्तिम लक्ष्य है। यही उपासना-राज्यकी परिधि है और यही वेदान्तका चरम सिद्धान्त है।

संसार-योग

(पं० श्रीलक्ष्मणनारायणजी गर्दे)

संसार जैसा कुछ दिखायी देता है वैसा नहीं है, यह है आनन्दमय, दिखायी देता है दुःखमय। यही तो माया है और यह माया हमारे एक-एक रग और रेशेमें फैली हुई है। इसी कारणसे संसारकी प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक सम्बन्ध, प्रत्येक घटना जैसी है वैसी नहीं दिखायी देती, कुछ भिन्न ही प्रकारकी दिखायी देती है। हमारा शरीर पञ्चमहाभूतोंसे बना है और पञ्चमहाभूतोंका अंश है। पर दिखायी ऐसे देता है मानो पञ्चमहाभूत कोई दूसरी चीज है और यह शरीर कोई दूसरी चीज। इस पञ्चमहाभूतात्मक शरीरको जैसा हम समझते हैं वैसा नहीं है, इसका कोई भी भाग इन पञ्चमहाभूतोंसे पृथक् नहीं है। हमारे शरीरमें जो आकाश है, वह ऊपरके महाकाशसे सदा मिला हुआ है। हमारे शरीरमें जो पृथ्वीका अंश है, वह सदा संसारभरकी पृथ्वीसे अभिन्नतया मिला हुआ है। यह शरीर जिस पृथ्वीपर है उस पृथ्वीसे एक क्षणके लिये भी कभी पृथक् नहीं हो सकता। योगियोंके शरीर पृथ्वीसे अलग होते हैं, पर जिस अवस्थामें होते हैं उस अवस्थामें यह पृथ्वी भी अपने पार्थिवरूपसे अलग होती है। हमें जल दिखायी देता है पृथ्वीमें, पर वास्तवमें पृथ्वी जलमें है और जल अग्निके भीतर है जो एक असम्भव बात मालूम होती है। इसी प्रकार अग्नि वायुके भीतर है और वायु आकाशके भीतर। हमें घटमें घटकी मिट्टी आकाशको घेरे हुई दिखायी देती है, पर यथार्थमें आकाश घटको घेरे हुए है, यह लम्बी-चौड़ी सम्पूर्ण पृथ्वी एक महान् जलार्णवके बीचमें मिट्टीके एक लोंदेके समान कही गयी है। यह महान् जलार्णव अग्निके,उससे भी बड़े आग्नेयार्णवके भीतर एक सरोवर-सा है और यह आग्नेयार्णव उससे भी कई गुना बड़े वायव्य महार्णवके भीतर है और यह वायव्य महार्णव उससे अनन्तगुण महान् आकाशार्णवके भीतर है। यह आकाशार्णव अविद्या नाम्नी त्रिगुणात्मिका अपरा प्रकृतिके भीतर है और यह अपरा प्रकृति परा प्रकृतिके भीतर है और यह परा प्रकृति परमात्माके भीतर है। परमात्मा सारे संसारको घेरे हुए हैं, इनके भीतर वे सब महार्णव हैं और इन सबसे घिरा हुआ हमारा यह संसार है। यह भगवान्‌से घिरा हुआ है, इसका एक-एक अणु भगवान्‌से घिरा हुआ है और भगवान् आनन्दमय हैं। इसलिये यह संसार आनन्दमयके सिवा और कुछ नहीं हो सकता।

पर यह दिखायी देता है दुःखमय! इसका कारण क्या है? इसका कारण है माया अर्थात् हमारा अज्ञान—हमारा यह न देख पाना कि यह संसार आनन्दमय भगवान्‌के भीतर है। जैसे समुद्रके भीतर मछली हो और वह जलके लिये छटपटाये, वैसी ही अवस्था हमलोगोंकी है कि आनन्द-महार्णवके भीतर रहते हुए भी हमलोग आनन्दके लिये छटपटा रहे हैं! आखिर यह अज्ञान भी कहाँसे आया? इसका उत्तर यही है कि यह हमारे अंदरसे आया। सर्वव्यापक भगवान्‌में जो-जो कुछ है उस-उसमें भी स्वभावतः ही वह चैतन्य है जिसमें एक होते हुए भी बहु होनेकी शक्ति है और पूर्णसे पृथक् होकर पृथक्‌रूपसे बहु होनेकी जो इच्छा है उस इच्छासे चैतन्यका वह अंश मनसे घिर जाता है। यह जो घिर जाना है इसीको अहंकार कहते हैं। अहंकार और ममकाररूपमें जब यह प्रकट

होता है तब चैतन्यका वह अपृथक् होनेपर भी पृथक् बना हुआ अंश बद्ध-जीव हो जाता है। उस बद्धतासे अपना वास्तविक स्वरूप वह भूल जाता है। आत्मस्वरूपकी इस विस्मृतिके कारण वह बाह्य स्वरूप—सारे संसार और संसारके प्रत्येक पदार्थको इसी आत्मविस्मृतिके पैमानेसे देखता है और उसे तब संसार जैसा कुछ वास्तवमें है वैसा नहीं दिखायी देता—आनन्दमय संसार उसे दुःखमय दिखायी देता है और इस दुःखमय संसारमें वह आनन्दको ढूँढ़ता है। अपने-आपको जो भूला हुआ है वह दूसरेको कैसे पहचान सकता है और जो चीज वह चाहता है, जिसकी खोजमें वह भटकता है,वह भी उसे ऐसे भटकनेसे कैसे मिल सकती है ?

संसारमें जितने उद्योग हो रहे हैं वे सब आनन्दकी खोजके ही उद्योग हैं, चाहे वह बच्चोंका स्कूलोंमें पढ़ना हो या मैदानमें खेलना, युवकोंका ब्याह रचना हो या संतानकी आशा करना, धन कमाना हो या नाम कमाना, साँप, बिच्छू और सिंह-व्याघ्रसे डरना हो या उन्हें मार डालनेकी फिक्र करना, मृत्युसे भागना हो या मृत्युके वश होना, युद्ध-हारना हो या युद्ध-जीतना, राज्यक्रान्ति हो या परराष्ट्रपर आक्रमण करना, व्यापारकी दूकान हो अथवा कल-कारखाना। ये सब बद्ध जीवोंके आनन्दकी खोजके उद्योग हैं। ये उद्योग अच्छे-बुरे कुछ नहीं हैं, इनसे यदि आनन्द मिल जाय तो अच्छे हैं, न मिले तो बुरे हैं। पर जबतक आत्मविस्मृति बनी हुई है, हम अपने-आपको भूले हुए हैं, तबतक पहचान भी भूले हुए हैं, रास्ता भी भूले हुए हैं और इसलिये फल भी भूला हुआ ही होता है। इसीलिये यह देखा जाता है कि आत्मविस्मृत कोई भी मनुष्य संसारमें सुखी नहीं हुआ। ऐसे सब प्राणियोंके जीवनोंका अन्तिम अनुभव यही रहा कि जीवन व्यर्थ ही बीता, आनन्दकी खोजमें कहाँ-कहाँ भटके, पर आनन्द मिला नहीं, उल्टे दुःख ही बढ़ता गया। इसीलिये यह कहा जाता है कि संसार दुःखमय है, पर दुःखमय है पूर्णसे पृथक् होनेके कारण—पूर्णसे वियोग होनेके कारण। बंद कोठरीमें, अखिल वायुमण्डलसे पृथक् होते ही, जैसे हमारे प्राण घबराने लगते हैं वैसे ही पूर्ण जो श्रीभगवान् हैं उनसे पृथक् होते ही सर्वाङ्ग दुःखसे व्याप्त हो जाता है। पूर्णसे अपूर्णका यह वियोग है—संसारका सारा दुःख विरह-दुःख है। संसारका प्रत्येक दुःखी प्राणी विरही है, चाहे उसके दुःखका कोई भी प्रकार हो। प्रत्येक दुःख भगवान्‌का विरह है।

आत्मविस्मृतिके जीवनमें कुछ समयके लिये जो सुख मिलता है जिससे कभी-कभी मनुष्य उद्धत और उन्मत्त भी हो जाते हैं वह तो दुःखका बड़ा ही भयङ्कर स्वरूप है। उससे अच्छी दशा उन लोगोंकी है जो बेचारे दुःखी हैं, क्योंकि वे उन्मत्त नहीं हैं और संसारको दुःखमय ही मानकर संसार-स्वामीकी कुछ सुध लेते हैं। पर इनसे भी अच्छे सम्भवतः वे लोग हैं जो संसारके दुःखमात्रको भगवान्‌के विरहका दुःख मानते हैं, क्योंकि सच्ची बात यही है कि संसारमें जो दुःख है वह भगवान्‌का विरह ही है। विरही सदा अपने प्रियतमका चिन्तन करता रहता है और चिन्तन ही अपूर्णके पूर्णसे मिलनका मार्ग है।

यह दुःखमय संसार अपने दुःखसे यही सूचित करता है कि वह आनन्दमय भगवान्‌की ओर जा रहा है और यही कारण है कि यह विश्वजननी अपने उन्हीं सुपुत्रोंको धन्य मानती है जो इस संसारमें उत्पन्न होकर भगवत्साक्षात्कार करके इस संसारका दुःख हरते हैं और इसीलिये ऐसे महात्मा **'सर्वभूतहिते रताः'** कहाते हैं। भूतमात्रका कल्याण यही है कि भगवान्‌से जो उसका वियोग हो गया है सो फिर भगवान्‌से योग हो जाय। संसारका सबसे बड़ा कल्याण यही है। जो लोग देशसेवा या संसारसेवा करना चाहते हों वे भगवान्‌से योग करके सबके वियोग-दुःखको दूर करनेका परम्परासे सिद्ध, मुनि-महात्माओंका जो योग चला आया है उसमें युक्त हों। अन्य सब उद्योग, जिनमें अपने स्वरूपकी पहचान नहीं और इस कारण संसारके रूपकी भी पहचान नहीं, केवल दुःखके ही साधन हैं।

संसार भगवान्‌का कर्म है। कर्म नाम ही संसारका है। कर्म कहते हैं विसर्गको अर्थात् सृष्टि रचनेको—अपना संकल्प मूर्तिमान् करनेको और उस मूर्तिमें आत्मस्वरूप डालनेको। मूर्ति कर्म है और उस मूर्तिको चैतन्य करना उस कर्मकी परिसमाप्ति है—

'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥'

यह परिसमाप्ति यही है कि श्रीभगवान्‌के संकल्पसे जो चैतन्यांश निकलकर कामवशात् अहंभावसे बद्ध होकर

मूर्तिमान् हुआ वह अपने अंशरूपको जानकर अपने पूर्णरूपके साथ योगयुक्त हो। इस प्रकार यह संसाररूप कर्म—व्यष्टिशः और समष्टिशः—भगवत्संकल्पका मूर्तिमान् रूप है और इसकी परिसमाप्ति श्रीभगवान्‌के साथ इसका योग है। यह योग समस्त विश्व-ब्रह्माण्डमें व्याप्त होकर उसको घेरे हुए है। श्रीभगवान्‌की निजसत्तामें तो नित्ययोग है ही, किसी समय भी वियोग नहीं, पर कर्मसत्तामें आत्मविस्मृतिसे जो वियोग हुआ है, उसीसे संसार आनन्दमय होकर भी दुःखमय प्रतीत हो रहा है—नित्ययोगके भीतर ही यह विरह-दुःख है। संसारके प्राणिमात्रका दुःख इसी दुःखका अंश है। आत्मविस्मृतिके नष्ट होते ही संसार भगवान्‌से नित्ययुक्त है ही।

आत्मविस्मृतिकी अवस्थामें संसार दुःखमय है। आत्मस्मृति (कल्पना नहीं) के होते ही संसार आनन्दमय है, क्योंकि श्रीभगवान्‌के साथ संसारका नित्ययोग प्रकट हो गया। इसी योगके लिये नानाविध भावोंसे संसार तरस रहा है।

शरणागतियोगमें समस्त योगोंका समन्वय

(स्वामी श्रीपरमहंसजी महाराज)

भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यकी सिद्धिके लिये वेद-शास्त्रों और अनुभवसिद्ध महात्माओंने अधिकारिभेदके अनुसार कर्मयोग, सांख्ययोग, अष्टाङ्गयोग, हठयोग, राजयोग, मृत्युञ्जययोग, प्रेमभक्तियोग, पाशुपतयोग, ध्यानयोग, क्रियायोग, लययोग, मन्त्रयोग, जपयोग, बुद्धियोग, महाभावयोग और पूर्णयोग इत्यादि अनेकानेक उपाय और साधन बतलाये हैं, वे सभी अपने-अपने सन्मार्गमें महत्त्वपूर्ण तथा प्रधान हैं, परंतु विचार करनेपर उन समस्त योगोंका पर्यवसान शरणागतियोगमें होनेसे शरणागतिके समान अन्य कोई सरल सुगम एवं सुखसाध्य साधन नहीं प्रतीत होता। इस योगमें समस्त योगोंका समन्वय है।

शरण, प्रपन्न, अनन्यभक्ति, अव्यभिचारी भक्ति, अवलम्बन, निर्भरता, प्रपत्ति, आत्मसमर्पण, दासभाव, गोपीभाव इत्यादि शब्द प्रायः एक शरणागतिके ही द्योतक हैं। साधारणतया शरणागतिका अर्थ मन-वाणी और शरीरसे अपने-आपको भगवान्‌के अर्पण कर देना है। '**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।**' अर्थात् 'हे प्रभो ! मैं आपका शिष्य—दास हूँ, आपके शरणागत हूँ, मुझे उपदेश दीजिये।' अर्जुनद्वारा केवल इतना कहनेपर भगवान् उसे अद्भुत गीता-शास्त्रका उपदेश करते हैं।

भगवान् भी यही कहते हैं कि जो एक बार भी शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर मुझसे रक्षाकी प्रार्थना करता है, उसे मैं समस्त प्राणियोंसे अभय कर देता हूँ। यह मेरा सदाके लिये व्रत है—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥

(वा० रा०, युद्ध० १८।३३)

वास्तवमें यही वचन शरणागतिका मूलमन्त्र माना जाता है। श्रीरामचरितमानस तो शरणागतिपरक ही है। उपर्युक्त आशयको लेकर ही महात्मा तुलसीदासजीने रामचरितमानसमें अनेक स्थलोंपर शरणागतिके आदर्शको प्रस्तुत किया है। यहाँ महात्मा भरतजीके कुछ वचनोंको दिया जा रहा है—

कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनामु किहें अपनाए॥

(मानस २।२९९।२-३)

परमात्माको सर्वसमर्थ और सर्वश्रेष्ठ मानकर उनके प्रति अपनेको समर्पित कर देना प्रपत्ति है। परमात्माके सिवा किसीका कभी भी किसी कालमें कुछ भी सम्बन्ध—सहारा न मानकर लज्जा, भय, मान, बड़ाई, अभिमान, अहंता, ममता, कामना, दम्भ आदिका परित्यागकर केवल भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, अनन्त गुणोंके अपार समुद्र, सर्वाधिपति, ऐश्वर्य, माधुर्य, धर्म-शौर्य, ज्ञान, वैराग्य, यश, श्री आदिके भण्डार, क्लेश, कर्म-संशय और भ्रमका सर्वथा नाश करनेवाले परमप्रेमी, परमसुहृद्, परम आत्मीय, परमगुरु और परम महेश्वर हैं—ऐसा दृढ़ विश्वास करना चाहिये और उन्हें करुणावरुणालय समझकर अपनेको सर्वथा निराश्रय, निरवलम्ब, निर्बुद्धि, निर्बल, दीन, निःसत्त्व और दास मानते हुए अतिशय श्रद्धा, भक्ति, शक्ति और अनन्यप्रेमपूर्वक निरन्तर

भगवान्‌के नाम, गुण, प्रभाव, स्वरूपका चित्तसे चिन्तन, बुद्धिसे सब कुछ एक नारायण हैं—ऐसा निश्चय, प्राणोंसे नित्य-निरन्तर भगवन्नाम-जप, कानोंसे भगवत्कथाका श्रद्धापूर्वक श्रवण, नेत्रोंसे भगवद्विग्रहकी झाँकीका दर्शन, वाणीसे नित्य-निरन्तर भगवन्नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभावका संकीर्तन, हाथोंसे भगवान्‌की मधुर मनोहर सुन्दर घनश्यामकी मूर्तिका पूजन, पैरोंसे भगवद्धाम, भगवत्तीर्थ भगवान्‌के मन्दिरोंमें दर्शनार्थ गमन और शरीरसे भगवान्‌की सेवा एवं साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करना— यही अनन्य शरणागति-योग है।

साधक अपने दोषोंको देखकर दीनतापूर्वक भगवान्‌को सर्वगुणाकर मानकर जब उनकी शरण लेता है और अपने-आपको उनके प्रति समर्पण कर देता है तो उसका शरणागति-सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है और पुनः उसके जीव-स्वभाववाले दुर्गुण दूर होकर भगवान्‌की कृपासे उसमें सभी संतों और भक्तोंके गुण अपने-आप बहुत तेजीसे प्रविष्ट होने लगते हैं। भगवान् कहते हैं—मेरा आश्रय लेनेवालेको किसी प्रकार कोई हानि नहीं होती और वह शीघ्र परम धर्मात्मा एवं संत बनकर मुझे भी सर्वदाके लिये प्राप्त कर लेता है—

'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।'

ब्रह्माण्ड तथा पद्मपुराणादिमें शरणागतिके छः भेद बताये गये हैं—

(१) अनुकूलताका संकल्प, (२) प्रतिकूलताकी भावनाका परित्याग, (३) सर्वशक्तिमान् होनेसे वे शरणागत मेरी रक्षा अवश्य करनेमें समर्थ हैं—इसका दृढ़ विश्वास, (४) मैंने उन्हें अपने रक्षकके रूपमें वरण कर लिया है—ऐसी दृढ़ भावना, (५) अपनेको उनके चरणोंमें डाल देना तथा (६) कार्पण्य—अहंकारका परित्याग एवं दीनताका भाव ग्रहण करना।

शरणागत भक्त मन, वचन तथा शरीरसे भगवन्नामरूप, गुण और लीलाओंका चिन्तन, भगवल्लीला एवं नामका गुण-गान और भगवदाज्ञानुसार स्ववर्णाश्रमोचित नियत कर्मोंको निःस्वार्थभावसे भगवान्‌के लिये करता रहता है, यही मन, वाणी तथा शरीरसे भगवदर्पण होना है।

वह प्रत्येक विधानमें भगवान्‌की दयाका दर्शन करता रहता है। भगवान् दया और न्यायके सागर हैं, वही मेरे प्रेमी और सच्चे सुहृद् हैं। उन्होंने मेरे वास्तविक कल्याणके लिये मुझे सुख-दुःख प्रदान किया है, ऐसा मानकर मृत्युको भी भगवान्‌का पुरस्कार मानता है, तनिक भी घबराता नहीं, अपना मन निरन्तर भगवान्‌की मूर्ति, नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभाव, रहस्य तथा तत्त्व-चिन्तनमें लगाये रहता है।

भगवान् समस्त सद्गुणोंके आकर या अमृतसमुद्र हैं, उनमें दया, क्षमा, शान्ति, समता, सरलता, उदारता, वात्सल्य, पवित्रता, माधुर्य, औदार्य, सौन्दर्य, अनन्तता, व्यापकता, *सच्चिदानन्दघनता अपरिसीम—पूर्ण भरी है।* वे षडैश्वर्यसंयुक्त हैं, समस्त जगत्‌के जीवोंमें जो सद्भाव, भक्ति, श्रद्धा, दया और प्रेम दिखायी दे रहा है, वह सब मिलकर प्रेममय दयासागरकी दया तथा प्रेमके एक बूँदके बराबर भी नहीं है। विश्वका तेज और ज्ञान एकत्रित किया जाय तो भी उस तेजमय ज्ञानस्वरूप परमात्माके तेज तथा ज्ञानके एक बूँदके समान नहीं है। इस प्रकार मनसे भगवत्तत्त्वका अनुचिन्तन करना ही मनका अर्पण करना है, मनसे पूर्णतः शरणागति होना है।

भगवन्नाम, रूप, गुण, लीलाओंके प्रतिपादन करनेवाले सत्-शास्त्रों, पुराणों, गीता, रामायणादिका प्रपठन करना, स्वाध्याय कहलाता है। नित्य-निरन्तर नियम तथा सत्प्रेमसे भगवन्नाम, गुण-रूप, प्रेम और महिमाका विस्तारपूर्वक प्रपठन तथा भगवन्नामका वाणीद्वारा संकीर्तन करना वाणीको भगवदर्पण करना है।

भगवान्‌की इच्छा, भगवदाज्ञा, वेद-शास्त्रोक्त ऋषि-मुनियोंकी संस्कृति तथा सत्य नीतिके अनुसार केवल परमात्माके ही लिये कर्तव्यकर्मोंका आचरण करना—शरीरको भगवदर्पण करना कहलाता है। प्रेमी भक्त अपने प्रियतम प्रेमास्पदके लिये ही सम्पूर्ण कर्म करता है।

ऐसी स्थितिमें कर्म बन्धन-रूप नहीं होगा, क्योंकि जब मनुष्य कर्मोंमें ममता, आसक्ति, अहंता और फलकी कामना रखता है, तब वह कर्म बन्धनकारक होते हैं, अतः कर्मफल भोगनेके लिये पुनर्जन्म लेना पड़ता है। अतएव समस्त जगत् परमात्माका है, समस्त पदार्थोंके स्वामी भगवान् हैं, मैं स्वयं भी परमात्माका हूँ, मेरे द्वारा जो कुछ भी यज्ञ, दान, तप, व्रत, सेवा, पूजा, ब्रह्मचर्य आदि कर्म होते हैं, वे सब परमात्माके ही

हैं। ऐसा भाव रखना चाहिये।

मन-वचन तथा शरीरसे भगवदर्पण होनेसे, शरणागतको कोई भय, चिन्ता, अभाव, उत्तरदायित्व और दुर्गति इत्यादि दुःख-दोष नहीं रहता। क्योंकि मनुष्यको बाँधनेवाला 'मैं' और 'मेरा' है। भगवच्छरणागत होनेपर 'मैं-मेरे'के बन्धनसे दास मुक्त हो जाता है। बस, केवल एक तू ही तू और सब कुछ तेरा ही है—यह भावना शरणागतियोग है, यही अर्पण है, यही अर्पण सिद्ध है, यही मुक्ति है।

भगवान् स्वयं अपनी अभय शरणकी प्रतिमा तथा शरणागतके बन्धन, चिन्ता, दुःख, अभावसे निर्भय होनेके लिये कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता १८। ६६)

अर्थात् सम्पूर्ण धर्मों, कर्तव्यकर्मों, फल-कामनाओं, अहंता-ममताओं और मोहासक्तियोंको त्यागकर केवल एकमात्र समस्त योगों, सम्पूर्ण क्रिया और मुक्ति-साधनोंमें परम श्रेष्ठ मेरी शरणागति-योगको अपना लेना सर्वोत्तम योग है।

वास्तवमें भगवत्-शरणागतको अपने स्वार्थ एवं उद्धार होनेसे मतलब ही क्या? वह तो अपने-आपको मन-वचन-तनसहित उनके चरणोंमें समर्पित कर, सर्वथा निश्चिन्त हो जाता है, समस्त कर्मोंको भगवत्समर्पण कर, सब कुछ प्रभुका समझकर जीवन, मन, वचन और तनकी ममता, अहंता, आसक्ति, अभिमान, कामनाओंका सर्वथा त्यागकर भगवान्‌की शरणके अतिरिक्त किसीसे भी प्रयोजन नहीं रखता है। भगवान्‌को परम प्राप्य, परमगति, परमाधार, परमप्रिय, परम हितैषी, परम प्रभु, परम सुहृद्, परम आत्मीय, परम स्वामी, संरक्षक, कर्ता-भर्ता समझकर बैठते-उठते, खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-जागते और हर प्रकारसे परम श्रद्धासे, अनन्य चित्तसे नित्य-निरन्तर भगवान्‌को भजता रहता है। उसका समस्त भार तो भगवान् अपने जिम्मे ले लेते हैं।

इस मार्गपर चलनेवाले भक्तके कामना, वासना, इच्छा, तृष्णा, स्पृहा, आसक्ति-मोहादि दुर्गुण और दुराचार स्वतः नष्ट हो जाते हैं। दैवी सम्पदाका विकास और आसुरी सम्पदाका नाश होनेमें भगवान्‌की दया ही प्रधान हेतु है। मन-वाणी तथा शरीरको सर्वाङ्गभावसे शरणागति-योगकी प्राप्ति नहीं हुई है तो समझना होगा कि अभीतक मनमें कहीं 'मैं-मेरा' इस प्रकारकी इच्छा-कामना छिपी हुई है। इसे दूर करनेके लिये परमात्मासे बार-बार प्रार्थना करनी चाहिये कि उसकी सभी इन्द्रियाँ प्रभु-कार्यमें ही लगी रहें—

जिह्वे कीर्तय केशवं मुररिपुं चेतो भज श्रीधरं
पाणिद्वन्द्व समर्चयाच्युतकथां श्रोत्रद्वय त्वं शृणु।
कृष्णं लोकय लोचनद्वय हरेर्गच्छाङ्घ्रियुग्मालयं
जिघ्र घ्राण मुकुन्दपादतुलसीं मूर्द्धन् नमाधोक्षजम्॥

'हे जिह्वे! केशव-नामका संकीर्तन कर। हे चित्त! मुरारि-माधवका चिन्तन कर। हाथो! श्रीधरकी सेवा-पूजा करो। कानो! तुम अच्युत भगवान्‌की ही कथा श्रवण करो। नेत्रो! भगवान् श्रीराम-श्रीकृष्ण-श्रीशिव, श्रीभगवती माँकी मनोहर मधुर-सुन्दर छबिका दर्शन करो। चरणयुगलो! भगवद्धाम तीर्थोंमें सदा भ्रमण करते रहो। नासिके! तुम मुकुन्दके चरणोंपर चढ़ी तुलसीदलका सुवास लिया करो और मस्तक! भगवान् अधोक्षजके समक्ष झुककर साष्टाङ्ग प्रणाम किया कर। यही सर्वाङ्ग उपासना समस्त योगोंका समन्वय—शरणागति-योग है।

ध्यान

करु मन नंदनँदनको ध्यान।
यहि अवसर तोहिं फिर न मिलैगो, मेरौ कह्यौ अब मान॥
घूँघरवारी अलकैं मुखपै, कुण्डल झलकत कान।
नारायन अलसाने नैना, झूमत रूपनिधान॥

—श्रीनारायण स्वामी

प्रेमयोग

(१)

भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकामें थे। व्रजगोपियोंकी बात ते ही विह्वल हो उठते थे। पटरानियोंको इससे बहुत ईर्ष्या थी। इनकी ईर्ष्या भङ्ग करनेके लिये भगवान्‌ने एक ाका अभिनय किया। भगवान् बीमार हो गये। बीमारी भी न थी। वैद्यजीने ओषधिकी व्यवस्था की, अनुपान गया 'चरणरज'। यह अनुपान कौन देता है? चरणरजके सभीसे पूछा गया। रुक्मिणी, सत्यभामा आदि सभी षियोंने नरकके डरसे चरणरज देनेकी बातपर मुख मोड़ ा। श्रीकृष्णको चरणरज देनेका दुःसाहस कौन करता। र्ष नारदजीको विश्वके सभी देवी-देवताओंके पास भेजा । परंतु किसकी हिम्मत थी जो ऐसा दुःसाहस करे। दजी म्लानमुख खाली हाथ लौट आये। भगवान्‌ने ा—'एक बार व्रज जाकर तो शेष चेष्टा कर देखो।' दजीको बात बहुत नहीं भायी। परंतु भगवान्‌का कहना था, । जाना ही पड़ा। नारदजी हमारे श्यामसुन्दरके पाससे आये सुनकर पगली श्रीराधाजीके साथ व्रजाङ्गनाएँ बासी मुँह ही ईं प्राणनाथकी कुशल पूछनेके लिये। नारदजीने श्रीकृष्णकी ारीकी बात सुनायी। गोपियोंके प्राण सूख गये। उन्होंने सकोगी? इसी अनुपानके साथ दवा देनेसे उनका रोग नष्ट होगा।'

'यह कौन-सी बड़ी कठिन बात हुई? लो, हम पैर बढ़ाये देती हैं, जितनी चाहिये चरणधूलि अभी ले जाओ'—गोपियोंने सरल हृदय और उत्साहसे कहा।

'अरी, करती क्या हो? क्या तुम यह नहीं जानती कि श्रीकृष्ण 'भगवान्' हैं, भगवान्‌को चरणधूलि दे रही हो? वे जगत्पति हैं, क्या तुम्हें नरकका भय नहीं है?' नारदने आश्चर्यचकित होकर कहा।

'नारदजी! हमारे मुक्ति-भुक्ति, स्वर्ग-नरक, जीवन-मरण, सुख-दुःख, हँसी-रुलाई सब एक श्रीकृष्ण ही हैं। अनन्त नरकमें जाकर भी यदि हम श्यामसुन्दरकी देहको पुनः स्वस्थ और सबल पा सकें, तो हम ऐसे मनचाहे नरकका तो नित्य ही भजन करें। जानते नहीं नारदजी! हमारे लिये श्यामसुन्दरने अघासुर, नरकासुर आदिको तो पहलेसे ही मार रखा है। हम न पाप जानती हैं और न नरक मानती हैं। हम तो जानती हैं मात्र हमारे श्यामसुन्दरके सुखको—लीला-विलासको। तुम्हारे सारे पापों और नरकोंको हमलोगोंने इस लीला-विलासके अंदर वदनमें मल लिया है। इसीसे तो हम जल-मर रही हैं। यह मरना ही हमारा जीवन है।'

(२)

एक समय श्रीधाम—द्वारकामें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी रात्रिकालमें श्रीरुक्मिणी, सत्यभामा-प्रभृति-प्रधाना षोडश राजमहिषियोंके मध्य शयन कर रहे थे। स्वप्नावस्थामें आप अकस्मात् 'हा राधे! हा राधे!' उच्चारण करते हुए क्रन्दन करने लगे। जब अन्य किसी प्रकार प्रभुका क्रन्दन नहीं रुका तो बाध्य होकर महारानी श्रीरुक्मिणीदेवीने अपने प्राणवल्लभको चरण-संवाहनपूर्वक जागृत किया। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र निद्राभङ्ग होनेपर किंचित् लज्जित हुए और उन्होंने अति चतुराईसे अपना भाव गोपन कर लिया और पुनः निद्रित हो गये। परंतु इसका रहस्य जाननेके लिये महारानियोंके हृदयमें अत्यन्त व्यग्रता उत्पन्न हुई। सब परस्पर कहने लगीं—'देखो, हम सब सोलह सहस्र महिषी हैं और कुल, शील, रूप एवं गुणमें कोई भी अन्य किसी रमणीसे न्यून नहीं है, तथापि हमारे प्राणवल्लभ किसी अन्य रमणीके लिये इतने व्याकुल हैं, यह तो बड़े ही विस्मयकी बात है, रात्रिमें स्वप्नावस्थामें भी जिस रमणीके लिये प्रभु इतने व्याकुल होते हैं वह रमणी भी, न मालूम कितनी रूप-गुणवती होगी? इसपर श्रीरुक्मिणीदेवी कहने लगीं—'हमने सुना है कि वृन्दावनमें राधा नामकी एक गोपकुमारी है, हमारे प्राणेश्वर उसके प्रति अत्यन्त आकृष्ट हैं, इसीलिये रूपलावण्यवैदग्ध्य-पुञ्ज नयनाभिराम श्रीप्राणनाथ हम सबके द्वारा परिसेवित होकर भी उस सर्वचित्ताकर्षक चित्ताकर्षणीके अलौकिक गुणग्राम भूल नहीं सके हैं।' श्रीसत्यभामादेवी कहने लगीं—'सब ठीक ही है, तो भी वह एक गोपकन्याके सिवा तो कुछ नहीं, फिर उसके प्रति हमारे प्राणकान्त इतने आसक्त क्यों हैं? अस्तु, जो कुछ भी क्यों न हो, हमारी सम्मतिमें तो इस सम्बन्धमें रोहिणीमातासे पूछनेपर ही इसका ठीक-ठीक पता लग सकेगा, क्योंकि उन्होंने स्वयं वृन्दावनमें वास किया है और उस समयकी सम्पूर्ण घटनाओंको वे भलीभाँति जानती हैं।' यह प्रस्ताव सबको रुचा। रात्रि बीती, प्रातःकाल हुआ। श्रीकृष्णचन्द्र प्रातःकृत्य समापन करके राजसभाको पधारे और यथासमय पुनः अन्तःपुर पधारकर स्नानादि-समाधानपूर्वक भोजन करने बैठे। राजभोग सम्मुख आकर उपस्थित हुए, उद्धवादि सखावृन्दसहित प्रभुने भोजन किया और आचमन करके किञ्चित् विश्रामपूर्वक पुनः राजसभाको गमन किया। अवसर पाकर महारानियोंने श्रीरोहिणीदेवीको पूर्वरात्रिकी घटना सुनाकर उनसे व्रजवृत्तान्त पूछा। माताजी कहने लगीं—'प्यारी पुत्रियो! यद्यपि मैं व्रजलीलाकी सम्पूर्ण घटनाएँ जानती हूँ, किंतु माता होकर पुत्रकी गुप्त लीलाओंका रहस्य किस प्रकार कह सकती हूँ? यदि राम-कृष्ण यह कथा सुन लें तो फिर लज्जाकी सीमा न रहेगी।' इसपर महिषीगण कहने लगीं—'माताजी! जिस किसी प्रकारसे भी हो सके, हमें व्रजलीलाकी कथा तो आपको अवश्य ही सुनानी होगी।' माताजीने कहा—'तब एक उपाय करो, सुभद्राको द्वारपर पहरेके लिये बैठा दो; कह दो, किसीको अंदर न आने दे, फिर मैं निःसंकोच तुम्हारे निकट व्रजलीलाका वर्णन करूँगी!' माताजीने यह कहकर सुभद्राकी ओर देखा और कहा—'सुभद्रे! यदि राम-कृष्ण आयें तो उन्हें भी कदापि भीतर मत आने देना।' माताजीका आदेश-पालन किया गया। सुभद्रा 'जो आज्ञा' कहकर द्वार-रक्षा करने लगीं। महिषीवृन्द माताजीको चारों ओरसे घेरकर बैठ गयीं और माताजीने सुमधुर व्रजलीलाका वर्णन करना आरम्भ किया।

इधर राजसभामें राम-कृष्ण दोनों भाई चञ्चल हो उठे। जब किसी प्रकार भी राजसभामें नहीं ठहर सके तो उत्कण्ठित-चित्त होकर अन्तःपुरकी ओर चल पड़े। आकर देखते हैं कि सुभद्रादेवी द्वारपर खड़ी हैं। उन्होंने सुभद्रादेवीसे पूछा—'तुम आज यहाँ क्यों खड़ी हो? द्वार छोड़ दो, हमलोग भीतर जायँ।' सुभद्रादेवीने कहा—'रोहिणी माँने इस समय तुम्हारा अन्तःपुरमें प्रवेश करना निषेध कर रखा है, अतः तुमलोग अभी भीतर नहीं जा सकोगे।' यह सुनकर जब दोनों भाई आश्चर्यान्वित होकर इस निषेधका कारण ढूँढ़ने लगे तो माताजीकी वह रहस्यपूर्ण व्रजलीलात्मक वार्ता उन्हें सुनायी दी। यह वार्ता श्रीवृन्दावनचन्द्रकी परमकल्याणमय, परमपावन, अद्भुत मङ्गलरासविहारात्मक थी। सुनते-सुनते दोनों भाइयोंके मङ्गल श्रीअङ्गोंमें अद्भुत प्रेम-विकारके लक्षण दिखायी देने लगे। क्रमशः दोनों ही प्रेमानन्दमें विह्वल हो गये। अविश्रान्त प्रेमाश्रुकी मन्दाकिनीधारा प्रवाहित होकर दोनोंके गण्डस्थल एवं वक्षःस्थलको प्लावित करने लगी। यह देखकर सुभद्रादेवी भी एक अनिर्वचनीय महाभावावस्थाको प्राप्त हो गयीं। जिस समय

माताजी स्वामिनी श्रीवृन्दावनेश्वरीजीकी अद्भुत प्रेमवैचित्र्या-वस्थाका वर्णन करने लगीं, उस समय श्रीबलरामजी किसी प्रकार भी धैर्य धारण न कर सके। उनके धैर्यका बाँध टूट गया, श्रीअङ्गमें इस प्रकार महाभावका प्रकाश हुआ कि उनके श्रीहस्त-पद संकुचित होने लगे और जब माताजी निभृत निगूढ़- विलास वर्णन करने लगीं,तब तो श्रीकृष्णचन्द्रजीकी भी यही अवस्था हुई। दोनों भाइयोंकी यह अद्भुत अवस्था देखकर सुभद्रादेवीकी भी यही अवस्था हो गयी। तीनों मङ्गलस्वरूप ही महाभावस्वरूपिणी स्वामिनी श्रीवृन्दावनेश्वरीजीके अपार महाभावसिन्धुमें निमज्जित होकर ऐसी स्वसंवेद्यावस्थाको प्राप्त हो गये कि वे लोगोंके देखनेमें निश्चल स्थावर प्रतिमूर्तिस्वरूप परिलक्षित होने लगे। निश्चल निर्वाक् स्पन्दरहित महाभावा-वस्था! अतिशय मनोऽभिनिवेशपूर्वक दर्शन करनेपर भी श्रीहस्तपादावयव किञ्चित् भी परिलक्षित नहीं हो सकते थे। आयुधराज श्रीसुदर्शनजीने भी विगलित होकर लम्बिताकार धारण कर लिया।

इसी समय स्वच्छन्दगति देवर्षि नारदजी भगवद्दर्शनके अभिप्रायसे श्रीधाम-द्वारकामें आ उपस्थित हुए। उन्होंने राजसभामें जाकर सुना कि राम-कृष्ण दोनों भाई अन्तःपुर पधारे हैं। देवर्षिजीकी सर्वत्र अबाधगति तो है ही, अन्तःपुरके द्वारपर जाकर उन्हें जो अद्भुत दर्शन हुए,उससे देवर्षिजी स्तम्भित हो गये। इस प्रकारका दर्शन उन्होंने पूर्वमें कभी नहीं किया था। निज प्राणनाथकी ऐसी अद्भुत अवस्थाके कारणका विचार करते हुए प्रेमविवश स्तम्भ-भावको प्राप्त होकर देवर्षिजी भी वहीं चुपचाप खड़े रह गये। कुछ ही क्षण पश्चात् जब माताजीने पुनः किसी एक रसान्तरका प्रसंग उठाया, तब उन सबको पूर्ववत् स्वास्थ्यलाभ हुआ। सिद्धान्ततः रसान्तरद्वारा रसापत्तिका विदूरित होना सङ्गत ही है। इसी अवसरपर महाभावविस्मित देवर्षि नारदजीने बहुविध स्तव—स्तुति करना आरम्भ कर दिया। करुणावरुणालय श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रने देवर्षिद्वारा स्तुत होकर प्रसन्नतापूर्वक कहा—'देवर्षे! आज बड़े ही आनन्दका अवसर है। कहिये, मैं आपका क्या प्रीति सम्पादन करूँ?' देवर्षिजीने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—'प्रभो! वर्तमानमें यहाँपर उपस्थित होकर आप सबका जो एक अदृष्टश्रुतपूर्व महाभावावेश परिलक्षित हुआ है, स्वरूपतः वह क्या पदार्थ है और किस प्रकार उस महावस्थाका प्राकट्य हुआ? कृपया सविशेष उल्लेख करके दासको कृतार्थ कीजिये। सर्वप्रथम तो सेवामें यही एकान्त निवेदन है।' भक्तवत्सल श्रीभगवान् अमन्दहास्यचन्द्रिकापरिशोभित सुन्दर श्रीवदनचन्द्रमासे देवर्षि नारदजीके सर्वात्माको आप्यायित करते हुए इस प्रकार वचनामृत वर्षण करने लगे—'देवर्षे! प्रातः तथा मध्याह्न-कृत्यसमापनपूर्वक जिस समय हम दोनों भाई राजसभामें समासीन थे, उसी समय महिषीगणके द्वारा पूछे जानेपर माता रोहिणीदेवीने महाचित्ताकर्षिणी अपार माधुर्यमयी व्रजलीला-कथाकी अवतारणा की। महामाधुर्यशिखरिणी व्रज-लीलावार्ताका ऐसा प्रभाव है कि हम जहाँ और जिस अवस्थामें भी हों, हमें वहींसे और उसी अवस्थामें ही आकर्षण करके वह कथास्थलपर खींच लाता है। हम दोनों भाई ऐसे ही आकर्षित होकर यहाँ उपस्थित हुए और देखा कि सुभद्राजी द्वारपालिकारूपमें द्वारपर खड़ी हैं। उत्कण्ठावश अन्तःप्रवेशकाम हम दोनों श्रीसुभद्राद्वारा रोके जानेपर प्रवेशनिषेधका कारण ढूँढ़ते रहे, उसी समय श्रीमाताजीके मुखारविन्दविगलित अत्यद्भुत व्रजलीलामाधुरीने कर्णगत होकर हमारे हृदय विगलित कर दिये। तत्पश्चात् जो अवस्था हुई उसका तो आपने प्रत्यक्ष दर्शन किया ही है। मेरी प्राणेश्वरी महाभावरूपिणी श्रीस्वामिनीजीके महाभावकर्तृक सम्पूर्ण भावसे ग्रसित होनेके कारण हम आपका पधारना भी नहीं जान सके।' इतना कहकर भगवान्ने जब देवर्षिजीसे पुनः वरग्रहणका अनुरोध किया तो देवर्षिजी प्रार्थना करने लगे, 'भगवन्! मैं और किसी वरका प्रार्थी नहीं हूँ। निजजनोंके सर्वाभीष्टप्रदाता चरणयुगलमें केवल यही प्रार्थना है कि आप चारोंकी जो एक अत्यद्भुत महाभावा वेशमूर्ति मैंने प्रत्यक्ष दर्शन की है, वही भुवनमङ्गल चारों स्वरूप जनसाधारणके नयनगोचरीभूत होकर सर्वदा इस पृथिवीतलपर विराजमान रहें। माया-संनिपातमें ग्रस्त जीवसमूह एवं तद्दर्शनविरहकातर भक्तजनके लिये वह महासंजीवनी रसायन स्वरूपचतुष्टय सर्वोत्कर्षतासहित जययुक्त होवें।' करुणायतन भक्तवाञ्छापूर्णकारी श्रीभगवान्ने कहा—'देवर्षे! इस विषयमें मैं पूर्वसे ही अपने दो और परमभक्तोंके प्रति भी आपके प्रार्थनानुरूप ही वचनबद्ध हूँ—एक भक्तचूडामणि महाराज इन्द्रद्युम्न और द्वितीय परमभक्ति-

स्वरूपिणी श्रीविमलादेवी। निखिलप्राणिकल्याणहित भक्तचूडामणि महाराज इन्द्रद्युम्नकी घोरतर तपस्यासे प्रसन्न होकर मैं नीलाचल-क्षेत्रमें दारुब्रह्मस्वरूपमें अवतीर्ण होकर जनसाधारणको दर्शन देनेका वर प्रदान कर चुका हूँ तथा महाविद्यास्वरूपिणी श्रीविमलादेवीद्वारा अनुष्ठित महातपस्यासे प्रसन्न होकर उनकी प्राणिमात्रको बिना विचार किये महाप्रसाद वितरण करनेकी प्रतिज्ञाको उक्त स्वरूपसे ही पूर्ण करनेकी स्वीकृति दे चुका हूँ। अतएव इन तीनों उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये हम चारों इसी स्वरूपमें आगामी कलियुगमें लवणसमुद्र-तटवर्ती नीलाचल-क्षेत्रमें अवतीर्ण होकर प्रकाशमान रहेंगे।' सर्व-जीवकल्याणव्रत देवर्षि श्रीनारदजीने मनोवाञ्छित वर प्राप्त करके प्रभुचरणारविन्दमें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और मधुर वीणासे करुणावारिधि श्रीप्रभुके अमृतमय नामगुणमाधुरीका गान करते-करते यदृच्छागमन किया। श्रीराम-कृष्णने भी माताजीके कथञ्चित् संकोचकी आशंका करके उस स्थानसे प्रस्थान किया। ये ही मूर्तिचतुष्टय श्रीकृष्ण, बलराम, सुभद्रा एवं सुदर्शनरूपसे श्रीनीलाचलक्षेत्रको विभूषित करके अद्यापि विराजमान हैं।

(३)

एक बार श्रीराधाजी अपनी सखियोंसहित सिद्धाश्रम नामक तीर्थमें स्नान करने गयीं। उसी तीर्थमें भगवान् श्रीकृष्ण भी अपनी सोलह हजार रानियों और रुक्मिणी, सत्यभामा आदि आठों पटरानियोंसहित पधारे। भगवान्‌की रानियाँ और पटरानियाँ भगवान्‌के श्रीमुखसे सदा ही श्रीराधाजी एवं श्रीगोपियोंके प्रेमकी प्रशंसा सुनती थीं। आज शुभ अवसर जानकर भगवान्‌की महिषियोंने श्रीराधाजीसे मिलनेकी इच्छा की और भगवान्‌की आज्ञा लेकर उनके साथ सब श्रीराधाजीसे मिलने गयीं। श्रीराधाजीको समस्त सखियोंसमेत भगवान्‌के दर्शनसे बड़ा ही सुख मिला। पश्चात् श्रीराधाजीने भगवान्‌की समस्त पटरानियोंका बड़ा ही सत्कार किया। बातचीतमें उन्होंने कहा—'बहिनो ! चन्द्रमा एक होता है परंतु चकोर अनेक होते हैं, सूर्य एक होता है परंतु नेत्र अनेक होते हैं। इसी प्रकार हमारे प्रियतम भगवान् श्रीकृष्ण एक हैं और हम उनकी भक्त अनेक हैं'—

चन्द्रो यथैको बहवश्चकोराः
सूर्यो यथैको बहवो दृशः स्युः।
श्रीकृष्णचन्द्रो भगवांस्तथैको
भक्ता भगिन्यो बहवो वयं च॥

श्रीराधाजीके शील, स्वरूप, सौन्दर्य, गुण और व्यवहारका महिषियोंपर बड़ा ही प्रभाव पड़ा। वे आग्रह करके श्रीराधाजीको अपने स्थानपर लायीं और उनका यथासाध्य सबने बड़ा ही सत्कार किया। भोजनादिके उपरान्त रातको श्रीराधाजीको भगवान्‌की आज्ञासे श्रीरुक्मिणीजीने स्वयं दूध पिलाया। अनेक प्रकार प्रेमसंलाप होनेके अनन्तर श्रीराधाजी अपने स्थान पधार गयीं। भगवान् अपने शयनागारमें लेटे हुए थे। श्रीरुक्मिणीजी नित्यनियमानुसार वहाँ जाकर भगवान्‌के चरण दबाने बैठीं। चरणोंके दर्शन करते ही वह आश्चर्यमें डूब गयीं। उन्होंने देखा—भगवान्‌की तमाम चरणस्थलीपर फफोले पड़ रहे हैं। श्रीरुक्मिणीने अपनी संगिनी सब रानियोंको बुलाकर भगवान्‌के चरण दिखाये। सभी चकित और स्तम्भित हो गयीं। भगवान्‌से पूछनेकी हिम्मत किसीकी नहीं। तब श्रीभगवान्‌ने आँखें खोलकर सब रानियोंके वहाँ जमा होने और यों चकित रह जानेका कारण पूछा। श्रीरुक्मिणीजीने बड़ी ही नम्रताके साथ पैरके तलुओंमें फफोलोंकी बात कहकर भगवान्‌से ऐसा होनेका कारण पूछा। भगवान्‌ने पहले तो बातको टाल दिया, परंतु बहुत आग्रह करनेपर उन्होंने कहा—'देखो—तुम लोगोंने श्रीराधाजीको जो दूध पिलाया था, वह गरम अधिक था। इसीलिये मेरे पैरमें फफोले पड़ गये।' रानियोंकी समझमें यह बात नहीं आयी। उन्होंने पूछा—'दूध यदि गरम था तो उससे श्रीमतीजीका मुँह जलता, आपके पैरके फफोलोंसे उसका क्या सम्बन्ध ?' भगवान्‌ने मुस्कराते हुए कहा—श्रीराधाजीके हृदयकी बात ही निराली है—

श्रीराधिकाया हृदयारविन्दे
पादारविन्दं हि विराजते मे।
अहर्निशं प्रश्रयपाशबद्धं
लवं लवार्धं न चलत्यतीव॥
अद्योष्णदुग्धप्रतिपानतोऽङ्घ्रा-
वुच्छालकास्ते मम प्रोच्छलन्ति।
मन्दोष्णमेवं हि न दत्तमस्यै
युष्माभिरुष्णं तु पयः प्रदत्तम्॥

स्वरूपिणी श्रीविमलादेवी। निखिलप्राणिकल्याणहित भक्तचूडामणि महाराज इन्द्रद्युम्नकी घोरतर तपस्यासे प्रसन्न होकर मैं नीलाचल-क्षेत्रमें दारुब्रह्मस्वरूपमें अवतीर्ण होकर जनसाधारणको दर्शन देनेका वर प्रदान कर चुका हूँ तथा महाविद्यास्वरूपिणी श्रीविमलादेवीद्वारा अनुष्ठित महातपस्यासे प्रसन्न होकर उनकी प्राणिमात्रको बिना विचार किये महाप्रसाद वितरण करनेकी प्रतिज्ञाको उक्त स्वरूपसे ही पूर्ण करनेकी स्वीकृति दे चुका हूँ। अतएव इन तीनों उद्देश्योंकी पूर्तिके लिये हम चारों इसी स्वरूपमें आगामी कलियुगमें लवणसमुद्र-तटवर्ती नीलाचल-क्षेत्रमें अवतीर्ण होकर प्रकाशमान रहेंगे।' सर्व-जीवकल्याणव्रत देवर्षि श्रीनारदजीने मनोवाञ्छित वर प्राप्त करके प्रभुचरणारविन्दमें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और मधुर वीणासे करुणावारिधि श्रीप्रभुके अमृतमय नामगुणमाधुरीका गान करते-करते यदृच्छागमन किया। श्रीराम-कृष्णने भी माताजीके कथञ्चित् संकोचकी आशंका करके उस स्थानसे प्रस्थान किया। ये ही मूर्तिचतुष्टय श्रीकृष्ण, बलराम, सुभद्रा एवं सुदर्शनरूपसे श्रीनीलाचलक्षेत्रको विभूषित करके अद्यापि विराजमान हैं।

(३)

एक बार श्रीराधाजी अपनी सखियोंसहित सिद्धाश्रम नामक तीर्थमें स्नान करने गयीं। उसी तीर्थमें भगवान् श्रीकृष्ण भी अपनी सोलह हजार रानियों और रुक्मिणी, सत्यभामा आदि आठों पटरानियोंसहित पधारे। भगवान्‌की रानियाँ और पटरानियाँ भगवान्‌के श्रीमुखसे सदा ही श्रीराधाजी एवं श्रीगोपियोंके प्रेमकी प्रशंसा सुनती थीं। आज शुभ अवसर जानकर भगवान्‌की महिषियोंने श्रीराधाजीसे मिलनेकी इच्छा की और भगवान्‌की आज्ञा लेकर उनके साथ सब श्रीराधाजीसे मिलने गयीं। श्रीराधाजीको समस्त सखियोंसमेत भगवान्‌के दर्शनसे बड़ा ही सुख मिला। पश्चात् श्रीराधाजीने भगवान्‌की समस्त पटरानियोंका बड़ा ही सत्कार किया। बातचीतमें उन्होंने कहा—'बहिनो! चन्द्रमा एक होता है परंतु चकोर अनेक होते हैं, सूर्य एक होता है परंतु नेत्र अनेक होते हैं। इसी प्रकार हमारे प्रियतम भगवान् श्रीकृष्ण एक हैं और हम उनकी भक्त अनेक हैं'—

चन्द्रो यथैको बहवश्चकोराः
सूर्यो यथैको बहवो दृशः स्युः।
श्रीकृष्णचन्द्रो भगवांस्तथैको
भक्ता भगिन्यो बहवो वयं च॥

श्रीराधाजीके शील, स्वरूप, सौन्दर्य, गुण और व्यवहारका महिषियोंपर बड़ा ही प्रभाव पड़ा। वे आग्रह करके श्रीराधाजीको अपने स्थानपर लायीं और उनका यथासाध्य सबने बड़ा ही सत्कार किया। भोजनादिके उपरान्त रातको श्रीराधाजीको भगवान्‌की आज्ञासे श्रीरुक्मिणीजीने स्वयं दूध पिलाया। अनेक प्रकार प्रेमसंलाप होनेके अनन्तर श्रीराधाजी अपने स्थान पधार गयीं। भगवान् अपने शयनागारमें लेटे हुए थे। श्रीरुक्मिणीजी नित्यनियमानुसार वहाँ जाकर भगवान्‌के चरण दबाने बैठीं। चरणोंके दर्शन करते ही वह आश्चर्यमें डूब गयीं। उन्होंने देखा—भगवान्‌की तमाम चरणस्थलीपर फफोले पड़ रहे हैं। श्रीरुक्मिणीने अपनी संगिनी सब रानियोंको बुलाकर भगवान्‌के चरण दिखाये। सभी चकित और स्तम्भित हो गयीं। भगवान्‌से पूछनेकी हिम्मत किसीकी नहीं। तब श्रीभगवान्‌ने आँखें खोलकर सब रानियोंके वहाँ जमा होने और यों चकित रह जानेका कारण पूछा। श्रीरुक्मिणीजीने बड़ी ही नम्रताके साथ पैरके तलुओंमें फफोलोंकी बात कहकर भगवान्‌से ऐसा होनेका कारण पूछा। भगवान्‌ने पहले तो बातको टाल दिया, परंतु बहुत आग्रह करनेपर उन्होंने कहा—'देखो—तुम लोगोंने श्रीराधाजीको जो दूध पिलाया था, वह गरम अधिक था। इसीलिये मेरे पैरमें फफोले पड़ गये।' रानियोंकी समझमें यह बात नहीं आयी। उन्होंने पूछा—'दूध यदि गरम था तो उससे श्रीमतीजीका मुँह जलता, आपके पैरके फफोलोंसे उसका क्या सम्बन्ध?' भगवान्‌ने मुस्कराते हुए कहा—श्रीराधाजीके हृदयकी बात ही निराली है—

श्रीराधिकाया हृदयारविन्दे
पादारविन्दं हि विराजते मे।
अहर्निशं प्रश्रयपाशबद्धं
लवं लवार्धं न चलत्यतीव॥
अद्योष्णदुग्धप्रतिपानतोऽङ्घ्रा-
वुच्छालकास्ते मम प्रोच्छलन्ति।
मन्दोष्णमेवं हि न दत्तमस्यै
युष्माभिरुष्णं तु पयः प्रदत्तम्॥

'श्रीराधिकाजीके हृदयकमलमें मेरे चरणकमल दिन-रात प्रेमपाशमें बँधे विराजते हैं, एक क्षण या अर्ध क्षणको भी उस बन्धनसे छूटकर वे वहाँसे नहीं हट सकते। तुमने दूध जरा ठंडा करके नहीं दिया, बहुत गरम दे दिया और श्रीराधाजी उसे तुम्हारा दिया हुआ जानकर पी गयीं। दूध हृदयमें गया और मेरे चरण उससे जल गये, इसीसे फफोले पड़ गये।'

भगवान्‌के वचन सुनकर श्रीरुक्मिणीजी, सत्यभामाजी आदि सभी महारानियोंको बड़ा ही आश्चर्य हुआ और वे श्रीराधाजीके प्रेमके सामने अपने प्रेमको बहुत ही तुच्छ मानने लगीं।

चित्तकी दशाएँ

संसारदशा-जाग्रत्-अवस्था

चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम ही योग है। जब मनुष्य योगदर्शनके नियमोंके अनुसार ऐसी साधना कर लेता है कि जिससे चित्त पुरुषकी इच्छाके अनुसार किसी स्थानमें रोकनेसे वहींपर स्थिर रह जाय, बलात्कारसे विषयान्तरपर धावन न करे, उस साधनाका नाम योग है। अतएव योगकी पूर्व अवस्था जाननेके लिये यह संसार-अवस्थाका प्रथम चित्र है।

इस चित्रमें चित्तकी जो दशा दिखायी गयी है, वह सर्वसाधारण मनुष्यके चित्तकी है। यह मनुष्यकी जाग्रत्-अवस्था है। हृदयदेशमें जो सूर्यके आकारके समान आकार है, वह चित्त है। जिस प्रकार उदयकालमें सूर्यकी किरणें एक साथ ही सम्पूर्ण संसारको स्पर्श कर लेती हैं और सब प्राणी दिनका अनुभव कर लेते हैं, उसी प्रकार चित्तकी वृत्तियाँ शरीरके सब अङ्गोंपर व्याप्ति कर लेती हैं, शरीर जाग्रत्-अवस्थामें आ जाता है। एवं शरीरमें रहनेवाली इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करने लगती हैं—नेत्र देखने लगता है, कान सुनने लगता है, रसना रसका अनुभव करने लगती है इत्यादि। उसी प्रकार कर्मेन्द्रियाँ भी अपने-अपने कार्यमें तत्पर हो जाती हैं। यह चित्तकी जाग्रत्-अवस्था है। इसके द्वारा जीवात्मा संसारकी सब स्थूल वस्तुओंका अनुभव कर रहा है। यह एक मनुष्यका आकार है। वह एक राजाका चित्र है, उसके आसपास उसका परिवार दिखाया गया है और उसके अतिरिक्त उसकी सब सम्पत्तियाँ तथा अन्य-अन्य संसारकी वस्तुएँ हैं, जिनका अनुभव एवं उपयोग वह कर रहा है। इसी प्रकार मनुष्यको अपनी जाग्रत्-अवस्थाका अनुभव होता है। यह चित्तकी बाह्य वृत्ति है।

वासनामय जगत्—स्वप्नावस्था

यह चित्तकी दूसरी अवस्था है। दिनकी अवधि पूरी होनेपर आयी। सूर्यनारायण अस्ताचलपर जा रहे हैं। उनकी संसारव्यापिनी वे सब किरणें अब संसारको छोड़कर सूर्यके बिम्बमें लय हो रही हैं। जिस सूर्यके सामने दिनमें देखा नहीं जा सकता था, अब उसीको मनुष्य आँख फाड़-फाड़कर देख रहे हैं। एक साधारण गोल अङ्गार-पिण्डके समान भगवान् सूर्यदेव दिखायी दे रहे हैं, उसी प्रकार जाग्रत्-अवस्थाकी अवधि पूरी हो गयी है। दिनके विविध कार्योंके अनुष्ठानकी थकावट और आहारकी मादकताने इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको खींचना आरम्भ कर दिया है और सब अङ्ग शिथिल होते जा रहे हैं, मानो जाग्रत्-अवस्थाका संसार निद्राके अन्धकारमें लीन होता जा रहा है, नेत्र आदि सब इन्द्रियोंके द्वारोंपर निद्राके परदे पड़ते जा रहे है, होते-होते सब जाग्रत्-संसार लुप्त हो गया और पुरुष-शरीर काष्ठवत् अवस्थित हुआ शय्यापर पड़ा हुआ है।

वर्तमान फोटो यन्त्रके काँचके समान पुरुषकी सब इन्द्रियाँ जाग्रत्-अवस्थामें अपने-अपने विषयोंकी छायाको लेकर अन्तःकरणके पटलमें छाप देती हैं। अब वह सब अनुभूत विषयोंकी छाया अन्तःकरणमें है। वे विषय जो जाग्रत्-अवस्थामें जहाँ थे, वहीं रह गये हैं, केवल उनकी छाया मात्र अन्तःकरणदेशमें है। इसी छायाको वासना कहते हैं। इस वासनासे स्वप्नावस्थामें जिन विषयोंका प्राणी अनुभव कर रहा है, यह उसका वासनामय जाग्रत् है। उस अवस्थामें भी वह जाग्रत्के समान संसारके सुख-दुःखोंका अनुभव कर रहा है। यह चित्तकी वासनामयी अन्तर्वृत्ति है। जिस प्रकार जाग्रत्-अवस्थामें नाना व्यवसायोंमें चित्त व्यापृत रहता है, उसी प्रकार स्वप्नावस्थामें भी विविध व्यापारोंमें ग्रस्त रहता है। किसी प्रकार भी विश्राम नहीं है। ये दोनों ही जीवके कर्मानुसार भोगके कारण हैं।

जागत

'श्रीराधिकाजीके हृदयकमलमें मेरे चरणकमल दिन-रात प्रेमपाशमें बँधे विराजते हैं, एक क्षण या अर्ध क्षणको भी उस बन्धनसे छूटकर वे वहाँसे नहीं हट सकते। तुमने दूध जरा ठंडा करके नहीं दिया, बहुत गरम दे दिया और श्रीराधाजी उसे तुम्हारा दिया हुआ जानकर पी गयीं। दूध हृदयमें गया और मेरे चरण उससे जल गये, इसीसे फफोले पड़ गये।'

भगवान्‌के वचन सुनकर श्रीरुक्मिणीजी, सत्यभामाजी आदि सभी महारानियोंको बड़ा ही आश्चर्य हुआ और वे श्रीराधाजीके प्रेमके सामने अपने प्रेमको बहुत ही तुच्छ मानने लगीं।

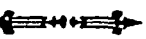

चित्तकी दशाएँ

संसारदशा - जाग्रत्-अवस्था

चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम ही योग है। जब मनुष्य योगदर्शनके नियमोंके अनुसार ऐसी साधना कर लेता है कि जिससे चित्त पुरुषकी इच्छाके अनुसार किसी स्थानमें रोकनेसे वहींपर स्थिर रह जाय, बलात्कारसे विषयान्तरपर धावन न करे, उस साधनाका नाम योग है। अतएव योगकी पूर्व अवस्था जाननेके लिये यह संसार-अवस्थाका प्रथम चित्र है।

इस चित्रमें चित्तकी जो दशा दिखायी गयी है, वह सर्वसाधारण मनुष्यके चित्तकी है। यह मनुष्यकी जाग्रत्-अवस्था है। हृदयदेशमें जो सूर्यके आकारके समान आकार है, वह चित्त है। जिस प्रकार उदयकालमें सूर्यकी किरणें एक साथ ही सम्पूर्ण संसारको स्पर्श कर लेती हैं और सब प्राणी दिनका अनुभव कर लेते हैं, उसी प्रकार चित्तकी वृत्तियाँ शरीरके सब अङ्गोंपर व्याप्ति कर लेती हैं, शरीर जाग्रत्-अवस्थामें आ जाता है। एवं शरीरमें रहनेवाली इन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करने लगती हैं—नेत्र देखने लगता है, कान सुनने लगता है, रसना रसका अनुभव करने लगती है इत्यादि। उसी प्रकार कर्मेन्द्रियाँ भी अपने-अपने कार्यमें तत्पर हो जाती हैं। यह चित्तकी जाग्रत्-अवस्था है। इसके द्वारा जीवात्मा संसारकी सब स्थूल वस्तुओंका अनुभव कर रहा है। यह एक मनुष्यका आकार है। वह एक राजाका चित्र है, उसके आसपास उसका परिवार दिखाया गया है और उसके अतिरिक्त उसकी सब सम्पत्तियाँ तथा अन्य-अन्य संसारकी वस्तुएँ हैं, जिनका अनुभव एवं उपयोग वह कर रहा है। इसी प्रकार मनुष्यको अपनी जाग्रत्-अवस्थाका अनुभव होता है। यह चित्तकी बाह्य वृत्ति है।

वासनामय जगत्—स्वप्नावस्था

यह चित्तकी दूसरी अवस्था है। दिनकी अवधि पूरी होनेपर आयी। सूर्यनारायण अस्ताचलपर जा रहे हैं। उनकी संसारव्यापिनी वे सब किरणें अब संसारको छोड़कर सूर्यके बिम्बमें लय हो रही हैं। जिस सूर्यके सामने दिनमें देखा नहीं जा सकता था, अब उसीको मनुष्य आँख फाड़-फाड़कर देख रहे हैं। एक साधारण गोल अङ्गार-पिण्डके समान भगवान् सूर्यदेव दिखायी दे रहे हैं, उसी प्रकार जाग्रत्-अवस्थाकी अवधि पूरी हो गयी है। दिनके विविध कार्योंके अनुष्ठानकी थकावट और आहारकी मादकताने इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको खींचना आरम्भ कर दिया है और सब अङ्ग शिथिल होते जा रहे हैं, मानो जाग्रत्-अवस्थाका संसार निद्राके अन्धकारमें लीन होता जा रहा है, नेत्र आदि सब इन्द्रियोंके द्वारोंपर निद्राके परदे पड़ते जा रहे है, होते-होते सब जाग्रत्-संसार लुप्त हो गया और पुरुष-शरीर काष्ठवत् अवस्थित हुआ शय्यापर पड़ा हुआ है।

वर्तमान फोटो यन्त्रके काँचके समान पुरुषकी सब इन्द्रियाँ जाग्रत्-अवस्थामें अपने-अपने विषयोंकी छायाको लेकर अन्तःकरणके पटलमें छाप देती हैं। अब वह सब अनुभूत विषयोंकी छाया अन्तःकरणमें है। वे विषय जो जाग्रत्-अवस्थामें जहाँ थे, वहीं रह गये हैं, केवल उनकी छाया मात्र अन्तःकरणदेशमें है। इसी छायाको वासना कहते हैं। इस वासनासे स्वप्नावस्थामें जिन विषयोंका प्राणी अनुभव कर रहा है, यह उसका वासनामय जाग्रत् है। उस अवस्थामें भी वह जाग्रत्‌के समान संसारके सुख-दुःखोंका अनुभव कर रहा है। यह चित्तकी वासनामयी अन्तर्वृत्ति है। जिस प्रकार जाग्रत्-अवस्थामें नाना व्यवसायोंमें चित्त व्यापृत रहता है, उसी प्रकार स्वप्नावस्थामें भी विविध व्यापारोंमें ग्रस्त रहता है। किसी प्रकार भी विश्राम नहीं है। ये दोनों ही जीवके कर्मानुसार भोगके कारण हैं।

जगत्का अभाव—सुषुप्ति-अवस्था

यह चित्तकी तीसरी अवस्था है। जब मनुष्यके आहार-विहारके अतिशयसे निद्रामें ही गाढ़ता आ जाती है, उस समय वह सुषुप्ति-अवस्था कहलाती है। इसमें जो जाग्रत्-अवस्थाके अनुभवोंसे स्वप्नावस्थामें वासनाएँ थीं, वे भी सब नेद्राकी गाढ़ताके कारण विलुप्त हो गयी हैं। जैसे गाढ़ अँधियारी रात्रिमें सब जगत् अन्धकारमें विलुप्तप्राय हो जाता है, उसी प्रकार इस सुषुप्ति-अवस्थामें भी सब वासनाओंका अविद्यामें लय हो जाता है। देखिये, चित्रके अन्तःकरणदेशको कोई आकार नहीं दिखाता है। यह अन्तःकरणकी वह अवस्था है, जिसमें स्थूल या सूक्ष्म कोई-सा भी भोग नहीं है। केवल आत्माका सुखस्वरूप ही शेष रह जाता है। यह संसारकी ही तीसरी अवस्था होनेपर भी आत्मावबोधकी सुखावस्थाका नमूना है, किंतु अस्थायी है और तमोऽभिभूत है। जब मनुष्यकी योग-सिद्धि हो जाती है और समाधिसे चित्त एकाग्र हो जाता है, उस समय वह आत्मस्वरूपके सुखका ही अनुभव करता है, संसारके सुख-दुःखोंसे अतीत हो जाता है। योगदर्शनमें इसे ही स्वरूपावस्थिति कहा गया है।

जपयोग

(बालयोगी श्रीबालस्वामीजी महाराज (श्री न० रा० निगुडकर) के अनुभवयुक्त विचार)

योग क्या है ?

'योग' शब्दके अनेक अर्थ हैं, पर मुख्य अर्थ दो हैं—एक 'जोड़ना' और दूसरा 'उपाय'। योगसाधनके द्वारा साधकका मन अन्तर्यामीके साथ जोड़ा जाता है। साध्य एक होनेपर भी उसे सिद्ध करनेके अधिकार-भेदसे अनेकानेक साधन होते हैं, यही तो हिन्दूधर्मकी विशेषता है। ऐसे सब साधनोंका सामान्य नाम 'योग' है और फिर प्रकार-भेदसूचक शब्द लगाकर अमुक योग कहा जाता है, जैसे—कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, हठयोग, नादयोग, लययोग, जपयोग इत्यादि। अर्थात् जिस-जिस उपायसे चित्तका स्वस्वरूपके साथ योग होता है उसको योग ही कहते हैं। योगशास्त्रमें ऐसे अनेक योग हैं। उन्हींमें एक जपयोग है।

बन्ध-मोक्ष

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
चित्ते चलति संसारो निश्चले मोक्ष उच्यते॥

'मनुष्यका मन ही मनुष्यके बन्ध और मोक्षका वास्तविक कारण है। चित्तके चलाये संसार है और अचल किये मोक्ष है।'

श्रीमद्भगवद्गीताके १६ वें अध्यायमें जो आसुरी सम्पत्ति कही गयी है, उससे जब मनुष्यका मन युक्त होता है तब वह बन्धनका कारण बन जाता है और जब वही मन दैवी सम्पत्तिसे युक्त होता है, तब वह मोक्षका कारण बन जाता है। पूर्ववासनाबलसे चित्त चञ्चल होता है और वह आत्मस्वरूपमें विचित्र संसारचित्र भासित करता है। यह चञ्चल चित्त ही संसार बनता है और द्रष्टा उस दृश्यपर मोहित हो निज स्वरूप भूल जाता है और जीवदशा तथा तदानुषङ्गिक दुःखोंको भोगता रहता है। जबतक चित्त चञ्चल रहता है, तबतक सच्चे सुखका लाभ उसे नहीं होता और आवागमनके चक्रमें भटकता रहता है। परंतु जब चित्त स्वस्वरूपमें स्थिर होता है, तब उसे निजानन्द प्राप्त होता है और वह कृतार्थ होता है। ग्रन्थप्रामाण्य और अनुभवप्रामाण्यसे यह बात प्रत्यक्ष होती है। परमार्थसाधनके जितने भी उपाय हैं उनमें प्रधान हेतु चित्तकी स्थिरता ही है। इस मुख्य हेतुका यदि ध्यान न रहे तो कोई भी साधन हो वह विफल है। श्रुतियोंमें चित्त-स्थैर्यके अनेक उपाय बताये गये हैं और उनके अनुसार अनुभवी महात्माओंने अनेक साधन निर्माण किये हैं। जपयोग भी ऐसा ही एक शास्त्रोक्त और अनुभवसिद्ध साधन है।

वेदशास्त्र-प्रमाण

हमारे धर्मका मुख्य प्रमाण वेद है (मनु० २। ६)। इस विषयमें कोई मतभेद नहीं। और वैदिक धर्मका मुख्य लक्षण 'यज्ञ' है यह भी स्पष्ट है। वैदिक वाङ्मय यज्ञमय है और अपने इस देशमें कोई समय ऐसा था जब सर्वत्र यज्ञ-ही-यज्ञ हुआ करते थे। महाभारतसे यह जान पड़ता है कि चारों वर्णोंके लिये भिन्न-भिन्न यज्ञ थे। (शान्तिपर्व, अ० २३८। ३१)।

पीछे यज्ञोंमें हिंसा बहुत बढ़ गयी, तब श्रौत यज्ञोंके स्थानमें स्मार्त यज्ञ उत्पन्न हुए। त्रिसुपर्णमें यज्ञके सम्बन्धमें एक

आध्यात्मिक कूट है, उसे देखनेसे यह मालूम हो जाता है कि किस प्रकार यह परिवर्तन किया गया। महाभारतमें अनेक स्थलोंपर द्रव्यमय हिंसाप्रधान यज्ञोंकी निन्दा की गयी है। पुराणोंने तो हिंसा उठानेमें बहुत बड़ा काम किया है। फिर भगवान् बुद्धदेव, भगवान् जिनदेव और भगवान् शंकराचार्यने हिंसात्मक यज्ञोंका विरोध ही किया। भगवान् श्रीकृष्णकी शिक्षा तो यज्ञके विषयमें यही थी कि—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।

(गीता ४। ३३)

अर्थात् द्रव्यमय यज्ञसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। इन यज्ञोंमें भी भगवान्‌ने 'जपयज्ञ' को ही अपनी विभूति बताया है (गीता १०। २५)। जपयज्ञ सबके लिये सुगम है, इस समयके लिये तो बड़े ही कामका है। यह यज्ञ है भी ऐसा कि इसमें कोई खर्च नहीं और चाहे जब यह किया भी जा सकता है। वैदिक धर्मानुष्ठानका जो कुछ फल है, वह इस यज्ञसे प्राप्त हो—यह तो कालक्रमसे ही प्राप्त है। इसी जपयज्ञको जपयोग कहते हैं।

वैदिक युगमें जपयज्ञका स्वरूप 'स्वाध्याय' था। वेदाज्ञा है कि 'स्वाध्यायके विषयमें प्रमाद न करो।' 'सतत स्वाध्याय करो।' स्वाध्यायका अर्थ है वेदाध्ययन। यह स्वाध्याय द्विजातिमात्रके लिये था। गुरुमुखसे वेदाध्ययन करके पीछे उसका पारायण करना, वेदमन्त्रोंका जप करना मुख्य तप था। बहुत कालतक ऐसा ही था। पीछे शाखा-प्रशाखाओंका बहुत विस्तार होनेसे अपनी शाखाका अध्ययन ही 'स्वाध्याय' कहा जाने लगा। तथापि स्वाध्यायरूप जप-तप चलता ही था। इस विषयके पृथक् ग्रन्थ थे और उनमें जपके सम्बन्धमें नियम थे। महर्षि शौनकका 'ऋग्विधान' ऐसा ही ग्रन्थ है। रामायणकालमें भी स्वाध्यायकी यह परिपाटी थी। **'तपःस्वाध्यायनिरतम्'** यह वचन श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणमें आरम्भमें ही आता है। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्र वनवास करते हुए यजुर्वेदका स्वाध्याय करते थे, इस बातका स्पष्ट उल्लेख है। महाभारतके समयमें भी यह परिपाटी थी, पर यहींसे स्वाध्यायरूप जप-तप उत्तरोत्तर घटता दिखायी देता है। इसके पश्चात् बड़ा परिवर्तन हुआ है। यज्ञ-यागादि उठ गये, भक्तिमार्ग बढ़ा और तीर्थक्षेत्रों और देवमन्दिरोंके उत्सव बढ़ने लगे। वैदिक मन्त्र पिछड़ गये, पौराणिक मन्त्र-तन्त्र आगे बढ़े—देशभरमें इन्हींका प्रचार हुआ। साध्य तो वही था जो पहले था, पर बाह्य साधन बदल गये। इस समय वैदिक देवताओं, यज्ञों और वेदमन्त्रोंके स्थानमें पौराणिक देवता, अवतार, देवप्रतिमा, देवालय, तीर्थक्षेत्र और उनके उत्सव, गीतासहस्रनामादिकोंके पाठ, पौराणिक मन्त्रोंके जप और भगवन्नामस्मरण ही प्रतिष्ठित हैं। यह केवल बाह्यरूपमें भेद है, साध्य तो सदासे एक ही चला आता है।

भगवान् मनु जपयज्ञका माहात्म्य बतलाते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥
ये पाकयज्ञाश्चत्वारो विधियज्ञसमन्विताः।
सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

(मनुस्मृति २। ८५-८६)

दर्श-पौर्णमासरूप कर्मयज्ञोंकी अपेक्षा जपयज्ञ दसगुना श्रेष्ठ है। उपांशुजप सौगुना और मानसजप सहस्रगुना श्रेष्ठ है। कर्मयज्ञ (दर्श-पौर्णमास) ये जो चार पाकयज्ञ हैं—वैश्वदेव, बलिकर्म, नित्य श्राद्ध और अतिथिपूजन-वे जपयज्ञके सोलहवें अंशके बराबर भी नहीं हैं।

प्रणव और गायत्री

महर्षि पतञ्जलिने अपने योगसूत्रोंमें मन्त्रसिद्धि मानी है और यह कहा है कि इष्टमन्त्रके जपसे इष्टदेवके दर्शन होते हैं। प्रणव मुख्य मन्त्र है और उसके अर्थकी भावना करते हुए उसका जप करनेसे सिद्धि प्राप्त होती है। प्रणवजपका श्रेष्ठत्व भगवान् मनुने भी कथन किया है। कारण, प्रणव वेदोंका मूल है। श्रुतिमें भी प्रणवकी महिमा गायी गयी है।

प्रणवके बाद बड़े महत्त्वका मन्त्र गायत्री है। यह वैदिक मन्त्र है और सबने इसकी महिमा गायी है। यह सब सिद्धियोंका देनेवाला है और द्विजातिमात्रको इसका अधिकार है।

पौराणिक मन्त्र

इसके बाद भिन्न-भिन्न देवताओंके मन्त्र आते हैं और इन्हींका आजकल विशेष प्रचार है, कारण, इनका उच्चारण सुगम है और इनका अर्थ भी जल्दी समझमें आता है, नियमोंकी कोई विशेष कड़ाई नहीं है, चाहे जब, चाहे जहाँ जप किया जा सकता है। इन्हीं कारणोंसे इनका विशेष प्रचार हुआ है और हो रहा है।

इन प्रमाणोंसे यह स्पष्ट हुआ कि मन्त्रजप या जपयोग सर्वमान्य है और केवल मन्त्रजपसे सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और सर्वधर्मानुष्ठानका फल मिलता है। यह ऐसा साधन है कि इसमें कोई कठिनाई नहीं, कोई खर्च नहीं, कोई आयास नहीं, कोई कठोर नियम नहीं।

नामस्मरण और मन्त्रजप

नामस्मरण और मन्त्रजप भिन्न-भिन्न दो साधन हैं, एक नहीं। बहुतोंको तो यह भी मालूम नहीं है कि नामस्मरण क्या होता है। नामका केवल उच्चारण करनेसे नामकी पवित्रताके कारण फल तो अवश्य होता है, परंतु बहुत ऊँचा नहीं, पर नामका यथार्थ स्मरण होनेके लिये मानसिक क्रिया आवश्यक है। जिस किसी देवताका नाम हो, नामके लेते ही उन देवताका रूप मानस-चक्षुके सामने खड़ा हो जाना चाहिये, उनके गुण-कर्मोंका स्मरण होना चाहिये, भक्तोंके लिये उन्होंने क्या-क्या किया यह मालूम होना चाहिये और भगवान्‌का सर्वोत्तमत्व और अपना अत्यन्त क्षुद्रत्व ध्यानमें आना चाहिये और उनके अपार दया-प्रेमसे गद्‌गद होकर उनके स्वरूपमें मिलनेका प्रयत्न होना चाहिये। ऐसा नामस्मरण श्रेष्ठ है। शास्त्रों और साधु-संतोंने ऐसे ही नामस्मरणकी महिमा गायी है, इसीसे कहा गया है—

राम नाम सब कोइ कहे, ठग ठाकुर अरु चौर।
तारे ध्रुव प्रह्लादको, वहै नाम कछु और॥

नामस्मरणमें विशेष नियम तो नहीं है, पर जो दस नामापराध हैं वे न होने चाहिये, तभी नामस्मरण पूर्ण फलप्रद होता है।

राम नाम सब कोइ कहे, दश रित कहे न कोय।
एक बार दश रित कहे, कोटि यज्ञ फल होय॥

इस दोहेमें जिन्हें दश रित कहा है, वे ही दस नामापराध हैं, जिनसे नामस्मरण 'रित' (रिक्त) होना चाहिये। ये नामापराध हैं—(१) निन्दा, (२) आसुरी प्रकृतिवालेको नाममहिमा बतलाना, (३) हरि-हरमें भेददृष्टि रखना, (४) वेदोंपर विश्वास न रखना, (५) शास्त्रोंपर अविश्वास, (६) गुरुपर अविश्वास, (७) नाममहिमाको असत् जानना, (८) नामके भरोसे निषिद्ध कर्म करना, (९) नामके भरोसे विहित कर्म न करना और (१०) भगवन्नामके साथ अन्य साधनोंकी तुलना करना। इन दसका परहेज रखा जाय नामजपसे शीघ्र परम सिद्धि प्राप्त होती है, इसमें के संदेह नहीं।

नामस्मरणके अलावा मन्त्र-जप कुछ और है। ज मन्त्रका ही होना युक्त है। केवल भगवान्‌के नाम अथ *'रघुपति राघव राजा राम'* इत्यादि धुनोंका स्मरण या कीर्त हो सकता है पर उसे जप-यज्ञ कहना ठीक नहीं। मन्त्रोंव रचना विशिष्ट पद्धतिसे मन्त्रशक्तिके विशेषज्ञ अनुभव महात्माओंद्वारा की हुई होती है। उनका अर्थ गहन होता और मन्त्रशास्त्रके नियमोंके अनुसार ही अक्षर जोड़कर मन्त्र बनाये जाते हैं और ये मन्त्र परम्परया जपके कारणसे सिद्ध और अमोघ फलदायक होते हैं। ऐसे मन्त्रोंको साम्प्रदायिव रीतिसे ग्रहण करके विशेष पद्धतिसे उनका जप करना होता है। पुस्तकोंमें मन्त्रोंको पढ़ लेनेमात्रसे कोई विशेष लाभ नहीं होता।

कुछ लोग पुस्तकोंमें कोई मन्त्र पढ़कर कुछ दिन उसका जप करते हैं, कुछ लाभ होता न देख फिर उसे छोड़ देते हैं तब कोई दूसरा मन्त्र जपते हैं और इसी तरह नये-नये मन्त्र जपते और निराश होते हैं। कुछ लोग कई मन्त्र एक साथ ही जपते हैं, पर किसी एकसे भी उन्हें कोई लाभ नहीं होता। कुछ लोग माला जपनेको ही मन्त्रजप समझते हैं और कोई बड़ी-सी माला लेकर यन्त्रवत् घुमाया करते हैं, और समझते यह हैं कि हमने इतनी संख्या जप किया। पर इतने जपका फल पूछिये तो वह नहींके बराबर होता है। परमार्थका साधन इस प्रकार नहीं हुआ करता।

माला तो करमें फिरे, जीभ फिरे मुँहमाँहि।
मनीराम चहुँदिस फिरै, यह तो सुमिरन नाहि॥

संतोंकी यह बात साधकोंको ध्यानमें रखनी चाहिये।

मन्त्रजपमें मालाका महत्त्व अधिक नहीं है। स्मरण दिलाना और जपसंख्याका मालूम होना—ये दो काम मालाके हैं और माला स्वयं पवित्र भी है, इसलिये भक्त लोग उसे धारण करते हैं। पर भोले लोग मालाको अपने सम्प्रदायका चिह्न और पापनाशका साधन जानकर धारण करते हैं। कविवर मोरोपन्त तो कहते हैं कि 'मन बन्धन तोड़कर परधन और कामिनीकी ओर भागनेवाला पशु है। इसके गलेमें विवेकके रससे वैराग्यका काष्ठ बाँध देना चाहिये।'

दीक्षा

पूर्वमें यह कहा जा चुका है कि मन्त्रजप यज्ञ है और वह ईश्वरकी विभूति है। यज्ञका अधिकार दीक्षाविधिसे ही प्राप्त होता है, यह वैदिक नियम है। संहिताब्राह्मणमें इस विषयके वचन हैं। इसलिये किसी अधिकारी पुरुषसे ही मन्त्रकी दीक्षा लेकर तब जप करना चाहिये। श्रद्धालु साधक ऐसा ही करते हैं। गायत्रीमन्त्र दीक्षाविधिसे ही लिया जाता है और उस विधिको व्रतबन्ध कहते हैं। शैव, वैष्णवादि सम्प्रदायोंमें दीक्षाविधि चलती ही है। बहुत-से लोग दीक्षा लेना-देना नहीं मानते, पर यह उनकी भूल है। कुछ लोगोंकी तो यह हालत होती है कि मन्त्र जपते हैं किसी देवताका और ध्यान करते हैं किसी दूसरे ही देवताका। इससे सिद्धि कैसे मिले ? भगवान् यद्यपि एक हैं तो भी उनके अभिव्यक्त रूप तो भिन्न-भिन्न हैं। अपनी अभिरुचिके अनुसार परंतु शास्त्रविधिको बिना छोड़े किसी भी मार्गका अवलम्बन करनेसे शीघ्र फल-प्राप्ति होती है। इसलिये मन्त्र दीक्षाविधिसे ही लेना चाहिये। जिसने स्वयं दीक्षाविधिसे मन्त्र लिया हो और जपा हो उससे मन्त्र लेनेमें कोई हर्ज नहीं है। दीक्षाविधिके लिये शुभ समय, शुभ स्थान और चित्तमें उत्साह होनेकी बड़ी आवश्यकता है। मन्त्र ले चुकनेपर फिर एक दिन भी मन्त्र-जापके बिना खाली न जाय।

जप-विधि

श्रीगुरुसे मन्त्रदीक्षा लेकर साधन-मन्त्रका जप आरम्भ करे। जिनके लिये सुभीता हो, वे किसी एकान्त पवित्र स्थानमें, नदी-किनारे अथवा शिवालयमें जप करें। जिनके ऐसा सुभीता न हो वे अपने घरमें ही जपके लिये कोई पवित्र स्थान बना लें। इस स्थानमें देवताओं, तीर्थों और साधु-महात्माओंके चित्र रखें, उन्हें फूल-माला चढ़ावें, धूप दें। स्वयं स्नान करके भस्म-चन्दन लगाकर चैलाजिन-कुशोत्तर आसन बिछाकर पूर्व या उत्तर दिशाकी ओर मुख करके कन्धेपर उपवस्त्र धारण किये, इष्टदेव और गुरुका स्मरण करते हुए आसनपर बैठें। जो नित्य कर्म करनेवाले हैं, वे पहले संध्यावन्दन कर लें तब प्रातःकालमें सूर्यनारायणको नमस्कार करें, पश्चात् देवपूजन करके नित्य-पाठ कर लें। जो संध्या आदि करना नहीं जानते[1] वे पहले गङ्गा, नर्मदा आदि नामोंसे शरीरपर जलसे मार्जन करें, तब एकाग्रचित्त हो, भगवान् सूर्यका ध्यान करके उन्हें नमस्कार करें, अनन्तर अपने इष्टदेवका ध्यान करके गुरुमन्त्रसे सब उपचार उन्हें अर्पण करें। फिर स्तोत्रपाठादि करके आसनपर बैठें। आसन स्वस्तिक, पद्म अथवा सिद्ध इनमेंसे कोई भी हो दृष्टिको नासाग्र करके प्राणायाम करें। अनन्तर थोड़ी देर सावकाश पूरक और रेचक करें। इसके बाद माला हाथमें लेकर जप आरम्भ करें। मेरु-मणिका उल्लङ्घन न करें। अपनी सुविधा देखकर जपसंख्या निश्चित कर लें और प्रतिदिन उतनी संख्या पूरी करें और वह जप अपने इष्टदेवको अर्पण करें। इसके पश्चात् अपने इष्टदेवके पुराण और उपदेशसे कुछ पढ़ लें। श्रीरामके भक्त हों तो श्रीअध्यात्म-रामायण, श्रीरामगीता और श्रीरामचरितमानस। श्रीकृष्णके भक्त हों तो श्रीमद्भागवत और श्रीगीता पढ़ें। अनन्तर तीर्थप्रसाद लेकर उठें। इस क्रमसे श्रद्धापूर्वक कोई साधना करे तो वह कृतार्थ हो जायगा। यह सब तर्कसे नहीं, करके देखनेसे ही कोई भी जान सकता है। उसका चित्त आनन्दसे भर जायगा। पाप, ताप, दैन्य सब नष्ट हो जायगा। ईश्वर-स्वरूपमें चिरविश्रान्ति प्राप्त होगी। सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान स्फुरित होने लगेगा और शक्ति भी प्राप्त होगी। प्रत्येक देवताके सहस्रनाम हैं, प्रत्येकके अपने उपदेश हैं, भक्त इनका उपयोग करे। प्रातःकाल गीता आदिसे कोई श्लोक पढ़कर दिनभर उसका मनन करे। सायंकालमें पञ्चोपचार-पूजा आदि होनेके बाद जप करके सहस्र नाममेंसे कोई नाम ध्यानमें लाकर उसके अर्थका विचार करते हुए सो जाय। इससे शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है।

(क्रमशः)

संसारमें संग ही प्रधान है, जैसा संग होता है, वैसी ही बुद्धि बन जाती है। कुसंगसे बड़े-बड़े देवता और ऋषियोंका पतन हो गया है और सत्संगसे अनेक पतित भी पूजनीय हो गये हैं, अतएव सदा सत्संग करते रहो।—एक अरण्यवासी महात्मा

१-द्विजोंको संध्या जाननी और करनी ही चाहिये।

मन्त्रयोग-साधना

(कविराज पं० श्रीसीतारामजी शास्त्री 'श्रीविद्याभास्कर')

भारतीय संस्कृतिके विशाल साहित्य-सिन्धुके मन्थनसे समुद्भूत आध्यात्मिक साधना-सुधा ही अजर-अमर कर देने-वाली वास्तविक सुधा है। इस पीयूष-रससे परिप्लुत गम्भीर चिन्तनकी परिणतिका सुधा-स्रोत 'योग' नामसे परिलक्षित होता है।

योग-मार्गकी विविध विधाओंमें मुख्यतः चार प्रकारके योगोंकी प्रधानता है—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। इनमें कुछका वर्णन निम्न प्रकार है—

हठयोग—हठपूर्वक नेति, धौति, आसनादिके द्वारा शारीरिक क्षमतामें वृद्धि होती है एवं यत्किंचित् स्वास्थ्य-लाभकी दिशामें उपलब्धियाँ भी दृष्टिगोचर होती हैं, मानसिक या आध्यात्मिक लाभ प्रायः सामान्य रहता है। इसकी कठिन साधना-प्रक्रियाओंका सम्पादन अनुभवी योगी गुरुके निर्देशनमें किया जाना परमावश्यक है, क्योंकि किंचिन्मात्र भी असावधानीसे विपरीत फलकी आशङ्का बनी रहती है।

लययोग—योगतारावलीमें लययोगकी साधनाके सवा लाख भेद-प्रभेद वर्णित हैं, उनमें नादानुसंधान-समाधि ही मान्यतम लययोगोंमें सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। इसका निरन्तर अजस्र रूपसे अभ्यास सापेक्ष है, न्यूनतम कालका भी व्यवधान होनेसे यथार्थ फलकी प्राप्ति दुष्कर हो जाती है। अतः सांसारिक कर्मोंमें व्यापृत जन-मानसके लिये यह विशेष उपयोगी सिद्ध नहीं होता।

मन्त्रयोग—परमशिवप्रोक्त तन्त्र-आगमोंकी साधना-विधिका नाम मन्त्रयोग है। भारतीय दर्शनोंने निगम (वेद), आगम (तन्त्र) को ही स्वतः परम प्रमाण माना है। ईश्वरके निःश्वासभूत होनेसे **'वेदाः प्रमाणम्'** और शिवप्रोक्त होनेसे **'आगमाः प्रमाणम्'** इस प्रकारसे कहा गया है। आगम शब्दका अर्थ है—**'आगच्छति बुद्धिमारोहति यस्मादभ्युदयनिः-श्रेयसोपायः स आगमः।'** जिसके द्वारा इहलौकिक और पारलौकिक कल्याणकारी उपायोंका यथार्थ ज्ञान हो वह आगम शब्दसे निरूपित होता है। तन्त्र शब्द भी आगम अर्थका ही वाचक है, इसका शब्दार्थ इस प्रकार किया गया है—

तनोति विपुलानर्थांस्तत्त्वमन्त्रसमाश्रितान्।
त्राणं च कुरुते पुंसां तेन तन्त्रमिति स्मृतम्॥

मन्त्र तत्त्वोंका विस्तृत विवेचन एवं उसके तात्पर्यार्थ-साधना-प्रक्रियाका पूर्णरूपसे विपुल प्रतिपादन करता है तथा मानव-जातिका सभी प्रकारके भयोंसे परित्राण करता है, अतः उसकी तन्त्र-संज्ञा होती है।

तन्त्रागमके विशाल साहित्यकी रहस्यमयी साधना-विधिका नाम ही मन्त्रयोग है।

मन्त्र और मन्त्रशक्ति

'मननात् त्रायत इति मन्त्रः, मननत्राणधर्माणो मन्त्राः। मनको मननीय शक्ति प्रदान (एकाग्र) करके जपके द्वारा समस्त भयोंका विनाश करके पूर्ण रक्षा करनेवाले शब्दोंको मन्त्र कहा जाता है। मन्-त्र—ये दो शब्द इसमें है। 'मन्' शब्दसे मनको एकाग्र करना, 'त्र' शब्दसे त्राण (रक्षा) करना जिनका धर्म है और जपसे जो अभीष्ट फल प्रदान करे, वे मन्त्र कहे जाते हैं।

जैसे वेदान्तका सिद्धान्त है कि **'जीवो ब्रह्मैव नापरः'**-'जीव ही ब्रह्म है दूसरा नहीं।' उसी प्रकार तन्त्र-आगमोंका सिद्धान्त है—**'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्'**—आनन्द ही ब्रह्मका रूप है, **'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्'** आदि श्रुतियाँ भी इसी आगम-सिद्धान्तका प्रतिपादन करती हैं। परमानन्दघन परात्पर परमेश्वर पूर्ण ब्रह्मने अपनी अमोघ संकल्प (इच्छा) शक्तिसे **'एकोऽहं बहु स्याम्'**—मैं अकेला हूँ बहुत हो जाऊँ, इस विचित्र विश्वकी रचना करके इसीमें प्रवेश किया—**'तत् सृष्ट्वा तदनु प्राविशत्'**। इसी तरह तन्त्र-आगमोंके भी दार्शनिक सिद्धान्त हैं। यहाँ ब्रह्मका शिव नामसे व्यपदेश किया गया है। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् भगवान् परमशिव संसाररूपी क्रीडा करनेके लिये अपनी सर्वज्ञता और सर्वकर्तृताशक्तिको संकुचित करके मनुष्य-देहका आश्रयण करता है—**'मनुष्यदेहमाश्रित्य छन्नास्ते परमेश्वराः'**—मनुष्य-देहमें प्रच्छन्नरूपसे परमेश्वर ही विद्यमान है, यही गीता-शास्त्र भी कहता है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

(९।११)

यह चराचरात्मक समस्त विश्व उसकी क्रीडा है, केवल लीलामात्र है—**'क्रीडात्वेनाखिलं जगत्', 'लीलामात्रं तु केवलम्।'** अतः यहाँ सिद्ध होता है कि वह परमशिव अपनी सर्वज्ञता एवं सर्वकर्तृता-शक्तिको संकुचित करके मनुष्यदेहमें अल्पज्ञता और अल्पकर्तृता धारण करके क्रीडा कर रहा है। जब वह अपनी शक्तिको संकुचित करता है, तब सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि सांसारिक धर्मोंसे अभिभूत हो जाता है। इसीसे आधि-व्याधि, शोक-संताप, दीनता-हीनता, दरिद्रता, अहन्ता-ममता, संकल्प-विकल्प आदि आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक संतापोंसे संतप्त—दुःखित हो भय-विह्वल होकर इनसे मुक्ति चाहता है। बस इसीके लिये शास्त्रोंमें एवं शास्त्रतत्त्वज्ञ योगीन्द्र, मुनीन्द्र, सिद्ध महात्माओंने विविध प्रकारकी साधना-उपासनाओंके विविध विधानोंका प्रतिपादन किया है। श्रीशिव-निर्मित तन्त्र-आगम-शास्त्रोंमें स्वात्मबोध एवं स्वरूप-ज्ञान तथा सांसारिक भयङ्कर संतापोंकी निवृत्तिके लिये मन्त्र-साधनाको ही सर्वोत्तम मान्यता दी गयी है। तन्त्रागमके गम्भीर सिद्धान्तोंके तात्त्विक एवं विवेचनात्मक ग्रन्थ 'महार्थमञ्जरी'में मन्त्रस्वरूपका सुन्दर संकलन किया गया है—

मननमयी निजविभवे निजसंकोचभये त्राणमयी।
कवलितविश्वविकल्पा अनुभूतिः कापि मन्त्रशब्दार्थः ॥

सर्वज्ञता-सर्वकर्तृता-शक्ति-सम्पन्न अपने विभव (ऐश्वर्य) का बोध कराना तथा अल्पज्ञता एवं अल्पकर्तृतारूपी संकुचित शक्तिसे समुत्पन्न दीनता, हीनता, दरिद्रता आदि सांसारिक संतापोंसे मुक्त करना और कुत्सित वासनाओंके संकल्प-विकल्पोंका 'ग्रास' (विनाश) करके 'शिवोऽहं' की भावनासे भावित अनुभूति होना ही मन्त्र-शब्दका तात्पर्यार्थ, स्वरूप या प्रयोजन है। इसी भावको और स्पष्ट किया गया है—

मोचयन्ति च संसाराद्योजयन्ति परे शिवे।
मननत्राणधर्मित्वात्तेन मन्त्रा इति स्मृताः ॥

नेत्र-तन्त्रमें बहुत विस्तारसे मन्त्रके तात्त्विक रहस्योंका विवेचन किया गया है। सात करोड़ मन्त्र शिवके मुखसे विनिर्गत हुए हैं—**'सप्तकोटिमहामन्त्राः शिववक्त्राद्विनिर्गताः।'** वर्णमालाके 'अ' से लेकर 'क्ष' तक पचास अक्षरोंको 'मातृका' कहते हैं। इन मातृका-वर्णोंसे ही समस्त मन्त्रोंका निर्माण हुआ है। मातृका शब्दका अर्थ है माता या जननी। अतः समस्त वाङ्मयकी यह जननी है। ये समस्त मन्त्र वर्णात्मक हैं और मन्त्र शक्ति-स्वरूप हैं। यह मातृकाकी ही शक्ति है और वह शक्ति शिवकी है, अतः समस्त मन्त्र साक्षात् शिवशक्ति-स्वरूप हैं। यही भगवान् शङ्कर पार्वतीसे कहते हैं—

सर्वे वर्णात्मका मन्त्रास्ते च शक्त्यात्मकाः प्रिये।
शक्तिस्तु मातृका ज्ञेया सा च ज्ञेया शिवात्मिका ॥

मन्त्र अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न होते हैं, इनके सामर्थ्यकी इयत्ताका निर्धारण नहीं किया जा सकता। इसीलिये कहा गया है—**'मन्त्राणामचिन्त्यशक्तिता'** (परशुरामकल्पसूत्र), **'अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधिप्रभावः।'** इन्हीं मन्त्रात्मक वर्णोंसे ही समस्त विश्वका सृजन हुआ है—**'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे इति श्रुतिः।'** आगम-दर्शनकी मूल भित्ति शिवादि-क्षिति-पर्यन्त छत्तीस तत्त्वोंपर आधारित है। ये तत्त्व मातृकाके छत्तीस अक्षरोंपर आधारित हैं। इन्हीं तत्त्वोंसे दृश्यमान समस्त चराचरात्मक विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और लय आदि होते हैं। अतः मन्त्रात्मक अक्षरोंको शब्दब्रह्म कहा जाता है। संसारका व्यवहार भी शब्दोंके द्वारा ही होता है, इसलिये शब्द-शक्ति सर्वोपरि मानी गयी है। भगवान् परमशिवने इन्हीं शब्दोंसे विचित्र चमत्कारपूर्ण समस्त अभीष्ट प्रदान करनेवाले मन्त्रोंकी रचना करके समस्त सांसारिक जीवोंपर कारुण्य-पूर्ण अनुग्रह किया। इन मन्त्रोंकी साधनासे सम्पूर्ण अभीष्टोंकी सिद्धि सरलतासे की जा सकती है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—***'मंत्र महामनि बिषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के ॥'*** यहाँतक कि इनसे भाग्य भी बदल जाता है। इनकी साधना विधिवत् शास्त्रानुमोदित करनी चाहिये।

तन्त्रोंमें मन्त्रोंके स्वरूपका विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। उसमें तीन जातियाँ एवं चार प्रकार मुख्य हैं। इनका 'शारदातिलक' तन्त्रमें इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है—

पुंस्त्रीनपुंसकात्मनो मन्त्राः सर्वे समीरिताः।
मन्त्राः पुंदेवता ज्ञेया विद्या स्त्री देवता स्मृता ॥

पुरुष, स्त्री और नपुंसक—ये तीन जातियाँ मन्त्रोंकी मानी

गयी हैं। मन्त्र पुरुष—देवतात्मक होते हैं एवं महाविद्या, श्रीविद्या आदि विद्याओंके मन्त्र स्त्री-देवतात्मक कहे जाते हैं। इनके चार प्रकार नित्यातन्त्रमें इस प्रकार वर्णित हैं—

मन्त्रा एकाक्षराः पिण्डाः कर्तर्यो द्व्यक्षरा मताः।
वर्णात्रयं समारभ्य नववर्णावधिबीजकाः॥
ततो दशार्णमारभ्य यावद्विंशतिमन्त्रकाः।
अत ऊर्ध्वं गता मालास्तासु भेदो न विद्यते॥

'एक अक्षरवाले मन्त्रकी 'पिण्ड' संज्ञा है, एवं दो अक्षरकी 'कर्तरी', तीन अक्षरसे नौ अक्षरतकके मन्त्रोंको 'बीज' मन्त्र कहा जाता है, दस अक्षरसे बीस अक्षरतक 'मन्त्र' नाम होता है। बीस अक्षरसे अधिक संख्यावाले मन्त्रोंको 'माला' मन्त्र कहते हैं।'

साधकके नामके साथ इन मन्त्रोंके मित्र, शत्रु, साध्य, सिद्ध, सुसिद्ध आदि सम्बन्ध होते हैं। अतः मेलापक-प्रक्रियासे विचार करके मन्त्र ग्रहण करनेसे ही अभीष्ट-सिद्धि होती है। कामना-परक मन्त्रोंका अविचारित रूपसे अनुष्ठान करना विपरीत फलदायक भी हो सकता है। अतः **'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं कार्याकार्यव्यवस्थितौ'**—इस गीतोक्त वचनके अनुसार शास्त्रोंके प्रमाणसे कर्तव्याकर्तव्य निर्धारण करना आवश्यक है। अतः मन्त्र-साधना तन्त्रशास्त्रप्रतिपादित विधानानुसार करनेसे ही ऐहिक और पारलौकिक अभीष्ट-सिद्धि होती है।

तन्त्रशास्त्रमें कुछ मन्त्र, विद्याएँ कलियुगमें सिद्ध मानी गयी हैं, वे सबके लिये उपयोगी हैं, उनमें सिद्धारि आदि मेलापक विचार आवश्यक नहीं हैं।

मन्त्र-साधन-प्रक्रिया

तन्त्र-आगम-शास्त्रमें वर्णित लक्षणोंसे युक्त गुरुसे विधिवत् मन्त्र-दीक्षा-ग्रहण करना चाहिये। उस मन्त्रको अपने इष्टदेवका स्वरूप ही मानना चाहिये। देवताओंका स्वरूप मन्त्रात्मक ही होता है। **'मन्त्रा वर्णात्मकाः सर्वे सर्वे वर्णाः शिवात्मकाः।'** श्रीगुरु-मुखारविन्दसे निःसृत मन्त्ररूप इष्टदेवको स्वकीय कर्णोंके द्वारा हृदय-प्रदेशमें विराजमान करके निरन्तर उसकी परिचर्यामें संलग्न हो जाना चाहिये। इस साधनाके तीन अङ्ग मुख्य हैं—नित्यकर्म, नैमित्तिककर्म और काम्यकर्म।

नित्यकर्म—नित्यकर्ममें प्रातः स्मरण, शौच, दन्तधावन, स्नान, संध्या, पूजा, स्तोत्रपाठ आदिका विधान शास्त्रसे या गुरुसे सम्यक् प्रकारसे जानकर उसका सम्पादन करना चाहिये। प्रातःकालसे रात्रिमें शयनपर्यन्त सभी क्रियाएँ विधिपूर्वक सम्पन्न होनी चाहिये, नित्यकर्मोंका पालन करना मन्त्र-साधकके लिये परमावश्यक है। नित्यकर्मका लोप होनेसे प्रत्यवाय होता है, अतः प्रायश्चित्तका विधान है। मनुष्य स्वभाव-सुलभ प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटवादि दोषोंसे यदि नित्यकर्म लोप हो जाय तो प्रायश्चित्त करना परमावश्यक है। वैदिक विधानोंके अनुसार मन्त्रयोगमें चान्द्रायण व्रतादिकोंकी तरह कठोर विधान नहीं है, केवल कर्मवैगुण्यके अनुसार लाघव-गौरव देखकर मूल मन्त्र-जप-संख्याका ही न्यूनाधिक रूपसे सरल विधान है। जैसे संध्यालोप होनेसे मूल मन्त्रका शत-संख्यात्मक एक माला तथा नैमित्तिक कर्मलोपमें सहस्र संख्यात्मक दस मालाका विधान है।

नैमित्तिककर्म—यह कर्म विशेष पर्वोंपर किया जाता है। परशुराम-कल्पसूत्रमें पाँच मुख्य पर्व माने गये हैं, पञ्चपर्वोंमें विशेषार्चा है। रात्रिव्यापिनी कृष्णाष्टमी, कृष्ण-चतुर्दशी, अमावास्या, पूर्णिमा, संक्रान्ति—इन पञ्च पर्वोंपर दिनमें व्रत रखकर रात्रिमें विशेष पूजा-सामग्रीसे अर्चन करनेका विधान है एवं गुरुका जन्मदिन, व्याप्तिदिन, स्वविद्याग्रहण-दिन, पुष्यार्क, नवरात्र आदि पर्वोंपर अपनी शक्तिके अनुसार व्रतपूर्वक यथाविभव विशेष उत्सवका आयोजन करना चाहिये। इस नित्य और नैमित्तिककर्म करनेवाले साधकके सभी मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं।

काम्यकर्म—काम्यकर्म उसे कहते हैं जो विशेष कामना-पूर्तिके लिये किया जाता है। अपने मूल मन्त्रका पञ्चाङ्ग-पुरश्चरण करनेपर जब मन्त्र-चैतन्यका लक्षण उत्पन्न हो जाय तो भिन्न-भिन्न कामनाओंके लिये पृथक्-पृथक् वस्तुओंसे होम करनेका विधान शास्त्रोंमें वर्णित है, उन-उन वस्तुओंसे होम करनेसे तत्-तत् कामनाएँ पूर्ण होती हैं। परंतु काम्यकर्म करनेका शास्त्रोंमें निषेध ही किया गया है—

शुभं वाप्यशुभं वापि काम्यं कर्म करोति यः।
तस्यारित्वं व्रजेन्मन्त्रस्तस्मात्र तत्परो भवेत्॥

अर्थात् 'शुभ या अशुभ अभिचारादि—काम्य कर्म जो करता है, उसके लिये वही मन्त्र शत्रु-भावापन्न हो जाता है। इसलिये काम्यकर्ममें तत्पर नहीं होना चाहिये।' कोई

अत्यावश्यक कार्य हो तो उसके लिये कदाचित् कर लेनेका विधान है। अपने मन्त्रका नित्य-नैमित्तिक कर्म करनेमात्रसे साधकका जिसमें कल्याण निहित है, उसे मन्त्रका अधिष्ठाता देवता स्वयं सम्पादन करता रहता है। अपने इष्टदेवके सर्वात्मना-समर्पण—शरणागत होकर देवता-प्रीत्यर्थ कर्म करनेसे सभी मनोरथ पूर्ण होते हैं, ऐसा शास्त्रमें लिखा गया है—

निष्कामो देवतां नित्यं योऽर्चयेद् भक्तिनिर्भरः।
तापेव चिन्तयन्नास्ते यथाशक्ति मनुं जपन्॥
सैव तस्यैहिकं भारं वहेन्मुक्तिं च साधयेत्।
सदा संनिहिता तस्य सर्वं च कथयेत सा॥
वात्सल्यसहिता धेनुर्यथा वत्समनुव्रजेत्।
तथानुगच्छेत् सा देवी स्वं भक्तं शरणागतम्॥

निष्काम भक्तिभावसहित जो इष्ट देवताका अर्चन करता है और निरन्तर उसका ही चिन्तन करता हुआ यथाशक्ति मन्त्रका जप करता है, उसके सांसारिक जितने कार्य हैं, उन सबका वहन भगवती स्वयं करती हैं और अन्तमें मोक्ष-प्रदान भी कर देती हैं। इतना ही नहीं, सदा उसके संनिहित रहती हैं और सब कुछ बताती रहती हैं। वात्सल्यभावसे युक्त होकर जैसे धेनु अपने बछड़ेके पीछे रहती है, उसी तरह वह वात्सल्यमयी माता भगवती शरणागत भक्तके कल्याण करनेमें निरन्तर तत्पर रहती है। इसलिये गीतामें भी लिखा है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
(२।४०)

निष्काम कर्म करनेवालेका कभी क्रम-भङ्ग नहीं होता और कोई निषिद्ध कर्मकी सम्भावना भी नहीं रहती। निष्कामकर्मका स्वल्परूप आचरण करनेसे महाभयसे परित्राण होता है। अतः मन्त्र-चैतन्यके लिये पुरश्चरणादि अनुष्ठानके बाद मन्त्र-सिद्धि हो जानेपर ऐहिक और पारलौकिक समस्त कार्य स्वयं सिद्ध होते रहते हैं।

मन्त्रसिद्धिके लिये षडङ्ग-पुरश्चरण अत्यावश्यक है एवं आत्म-कल्याण आदिमें संक्षेप-पुरश्चरणोंका भी शास्त्रमें सिद्धिप्रद नहीं होता, लिखा है—

जीवहीनो यथा देहः सर्वकर्मसु न क्षमः।
पुरश्चरणहीनोऽपि तथा मन्त्रो न सिद्धिदः॥

जैसे जीवहीन देह कोई कर्म करनेमें समर्थ नहीं होता वैसे ही पुरश्चरणके बिना मन्त्र सिद्धिदायक नहीं होता, अतः भोग एवं मोक्ष दोनों चाहनेवाले साधकको पुरश्चरण करना अनिवार्य है। कुछ महाविद्याएँ श्रीविद्या आदिमें पुरश्चरण आवश्यक नहीं है। क्योंकि ये विद्याएँ मोक्ष-प्रधान होती हैं भोगोंकी इनमें अप्रधानता होती है—'भोगा भवन्ति चेत् भवन्तु मा भवन्ति मा भवन्तु।' भोगोंकी प्राप्ति होनी ठीक है न हो तो उनके लिये विशेष अभिलाषा नहीं होती। वैराग्यवान् साधक इन महाविद्याओंका अनुष्ठान मोक्षैकमात्र-प्राप्तिके लिये करते हैं। अन्य मन्त्रोंका पुरश्चरण तो परमावश्यक है। पुरश्चरण करनेपर भी मन्त्रसिद्धिके लक्षण उत्पन्न न हों तो द्रावण-बोधनादि मन्त्रके संस्कार करने चाहिये। इनसे मन्त्र सिद्धि देनेवाला हो जाता है।

द्रावणं बोधनं वश्यं पीडनं शोषशोषणम्।
दाहनं च बुधः कुर्यात्ततः सिद्धो भवेन्मनुः॥

इन संस्कारोंके करनेपर भी यदि मन्त्र-सिद्धि न हो तो उस मन्त्रका परित्याग कर देना चाहिये, ऐसा शास्त्रोंका मत है महाविद्याओंके परित्यागका विधान नहीं है।

मन्त्रसिद्धिके लक्षण

तन्त्रान्तरोंमें मन्त्रसिद्धिके तीन प्रकारके लक्षण बताये गये हैं—उत्तम, मध्यम और अधम।

उत्तम लक्षण—'मनोरथानामक्लेशः सिद्धेरुत्तमलक्षणम्'—बिना क्लेशके सभी मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं। (साधना करनेवालोंके शुभ भाव, पवित्र विचार, सत्संकल्प और श्रेष्ठ मनोरथ होते हैं।) अतः सिद्ध हुए मन्त्रके द्वारा सदिच्छा पूर्ण हो जाती है एवं अकाल मृत्युका भय दूर हो जाता है। देवताके दर्शन होते हैं एवं और भी अनेक प्रकारकी यौगिक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

मध्यम लक्षण—'ख्यातिर्वाहनभूषादिलाभः सुचिरजीवनम्'—यश, वाहन, भूषण आदिका लाभ, चिरजीवन—

इच्छा, समस्त प्राणियोंमें दयाभाव, सर्वज्ञतादि गुणोंका उदय आदि मध्यम सिद्धिके लक्षण हैं।

अधम लक्षण—ख्याति, वाहन, भूषण आदि वैभवकी प्राप्ति तथा धन, पुत्र, दारादि लोकैश्वर्यकी प्राप्ति—ये मन्त्र-सिद्धिके अधम लक्षण हैं। यह साधककी प्रथम भूमिका है।

स्वल्प सिद्धियोंसे सावधानी

मन्त्रयोग-साधनमें तत्पर साधकको मन्त्रप्रभावजन्य कुछ स्वतः स्वल्प सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, किंतु वे परम सिद्धिमें बाधक होती हैं। **'अष्टाविंशतिधा शक्तिः', 'नवधा तुष्टिः', 'अष्टधा सिद्धिः'**—ये तीन प्रकारके अङ्कुश परम सिद्धिके अवरोधक होते हैं।

ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वाङ्कुशस्त्रिविधः॥

ऊह—उपदेशके बिना ही अपेक्षित अर्थका ज्ञान होना ऊह-सिद्धि कही जाती है।

शब्दसिद्धि—प्रासङ्गिक शब्द-श्रवणमात्रसे मुख्य अर्थका बोध शब्दसिद्धि कही जाती है।

अध्ययन-सिद्धि—गुरुके साधारण उपदेशसे शास्त्रोंका बोध होना अध्ययन-सिद्धि है।

दुःख-विघात-सिद्धि—आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक—इन तीन प्रकारके दुःखोंका विघात होना दुःख-विघात-सिद्धि है।

सुहृत्प्राप्ति-सिद्धि—किसी विशिष्ट व्यक्तिके सम्पर्कसे अर्थ-प्राप्ति होना सुहृत्प्राप्ति-सिद्धि है।

दान—विद्वान्, तपस्वी, सिद्धोंके द्वारा प्राप्त अलौकिक क्रियाओंका ज्ञान दान-सिद्धि है।

योगशास्त्रानुसार ये आठ सिद्धियाँ लोकमें तो सिद्धि-रूप हैं, परंतु साधना-मार्गमें अग्रसर होनेमें अवरोधक होती हैं—**'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।'**

अतः इन स्वल्प सिद्धियोंके जालमें न पड़कर सावधान होकर अपनी साधनाको आगे बढ़ाते रहना ही मुख्य-सिद्धि है। मन्त्रयोगमें मानसिक जपमें निरन्तर संलग्न रहना ही मुख्य भूमिका है।

'जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः।

इस प्रकार मन्त्रयोगमें अध्यवसाय-सम्पन्न साधक अनवरत साधनामें संलग्न होनेपर जब पूर्ण सिद्धिका अधिकारी बन जाता है, तब उसका मध्यम-धाममें प्रवेश होता है।

मध्यम धाम-प्रवेश

इस समय साधकका चित्त ही मन्त्र बन जाता है। प्रारम्भिक साधना-कालमें वाचिक, उपांशु,मानसिक जपकी स्थिति रहती है। इस अवस्थामें चित्त ही मन्त्र हो जाता है। **'चित्तं मन्त्रः।'** शिवसूत्रमें इसका विशद विवेचन है। इस अवस्थामें मानसिक जपसे ऊपर उठकर स्वयं अपने-आप चैतन्य सत्ताके सम्पर्कसे चित्तमें जप होने लग जाता है। अब साधकको नाना प्रकारके चमत्कारिक अनुभव होते हैं और उस अद्वैत तत्त्वकी गंध आने लग जाती है। **'शिवोऽहं'** की भावना विकासोन्मुख होने लगती है। यह सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व शिवत्व-प्राप्तिका द्वार है—**'शैवीमुखमिहोच्यते।'** अपना लक्ष्य सामने दिखायी देने लग जाता है। द्वारमें प्रवेश करनेके बाद जैसे भवनके अन्तरालमें जानेका मार्ग सुगम हो जाता है, वैसे ही शिवत्व-प्राप्तिकी सिद्धावस्था भी सुलभ हो जाती है। तन्त्रशास्त्रके विशिष्ट ज्ञाता महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराजजीने भी अपने तन्त्रशास्त्र-सम्बन्धी प्रायः समस्त निबन्धोंमें इस स्थितिका बहुधा उल्लेख किया है। तन्त्रागम-साहित्यमें भी विविध तन्त्रोंमें विविध प्रकारसे विस्तृत विवेचन मिलता है।

शिवत्व-प्राप्ति

तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनाम्॥
तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जनाः।
सहाराधकचित्तेन तेन ते शिवधर्मिणः॥

(स्पन्दकारिका २६-२७)

पूर्वोक्त स्थिति प्राप्त होनेपर सर्वज्ञतादि बलसे युक्त मन्त्र साधकके अधिकारमें आ जाते हैं, जैसे देहधारी अपने कर-चरणादि इन्द्रियोंका स्वेच्छासे संचालन कर सकता है, उसी प्रकार मन्त्र भी उसकी इच्छाके अनुसार कार्य करनेमें लग जाते हैं, इस प्रकार चित्तमें मन्त्रका निरन्तर मनन करते रहनेसे वे शान्त-रूप निरञ्जन शिवधर्मी मन्त्र साधकको शिवत्व प्रदान करके आराधकके चित्तके साथ वहींपर लीन हो जाते हैं।

मन्त्रयोग—साधना करनेवालोंकी तीन प्रकारकी

स्थितियोंका विभिन्न तन्त्र-आगमोंमें विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। यथा साधक, सिद्धि, सिद्ध। इन्हींका रूप द्वैत, द्वैताद्वैत, अद्वैत एवं भेद-भेदाभेद, अभेद है। प्रारम्भमें साधकका द्वैत-भाव या भेदभाव रहता है, जैसे पूज्य और पूजक, मैं पूजा करनेवाला हूँ और इष्टदेव पूज्य हैं। इसीको द्वैतभाव कहते हैं। तदनन्तर पूर्वोक्त साधनाके अनुसार सिद्धि-लाभ करता है और तब मानसिक पूजा जिसे अन्तर्याग कहते हैं, साधक इसमें एकनिष्ठ हो जाता है। अब उसे बाहरमें इष्ट देवताका पूजन गौण हो जाता है और पूजामें समर्पण की जानेवाली सभी सामग्री हृदयस्थित देवताको मानसिक कल्याणके द्वारा समर्पण करता है। यही द्वैताद्वैत—भेदाभेदकी स्थिति है। इस स्थितिमें लौकिक वैभवकी कामनाओंके प्रलोभनमें न पड़कर उस परमतत्त्वकी प्राप्तिके लिये जागरूक होकर दृढ़ निष्ठा, अदम्य उत्साहसे अनवरत अभ्याससे भावना-दार्ढ्यकी स्थितिको प्राप्त कर लेता है और इसी समय कुण्डलिनीके जागरणका अनुभव एवं षट्चक्र-भेदन होता है तथा आज्ञाचक्रस्थित तृतीय नेत्र खुल जाता है। अब मन्त्र-साधक **'शिवोऽहं'** की भावनासे भावित हो जाता है और उसमें अन्तःकरण तदाकाराकारित होकर सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व आदि लक्षण प्रस्फुटित होने लगते हैं, इसीको शिवत्व-प्राप्ति कहते हैं, जैसा कि इस सूत्रमें वर्णित है **'शिवतुल्यो जायते।'** यही सिद्धावस्था है, इसे ही अद्वैतसिद्धि या अभेदभाव कहते हैं।

स्वच्छन्द तन्त्र, मृगेन्द्रागम, मालिनीविजयोत्तर, त्रैपुर-सिद्धान्त, शिवसूत्र, शक्तिसूत्र, त्रिकमत, प्रत्यभिज्ञा-दर्शन आदि ग्रन्थोंमें इसके विभिन्न रूप—मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर; पशुप्रमाता, प्रमाता, पतिप्रमाता; चित्त, चिति, चैतन्य; सकल, विज्ञानाकल, प्रलयाकल; नर, शक्ति, शिव; इदन्ता, अहन्ता, पूर्णाहन्ता; आणव, शान्ता, शाम्भव आदि मन्त्रयोगकी त्रिपुटीके सूक्ष्म-सूक्ष्मतम रहस्योंका विस्तृत विवेचन समुपलब्ध होता है। इन समस्त तन्त्रशास्त्रोंका लक्ष्य एक ही है। केवल साधना-सरणिमें कुछ प्रकारान्तर परिलक्षित होता है। कुछ तन्त्रोंमें विस्तार और कुछमें सामान्य संग्रह है, इसलिये एक तन्त्रकी पद्धतिका आश्रय लेकर साधना करनेसे अन्य तन्त्रोंमें निहित जो क्रियाएँ हैं, वे भी समस्त पूर्ण हो जाती हैं। गुरुनिर्दिष्ट मार्ग ही सर्वथा अनुकरणीय है—

क्वचित्तन्त्रेषु विस्तारः क्वचित्तन्त्रेषु संग्रहः।
एकं तन्त्रं समाश्रित्य सम्यक् कर्मकृतं तथा॥
सर्वं तेन कृतं राम एतच्च गुरुमार्गतः।

(त्रिपुरारहस्य)

मन्त्र-साधनाकी अनुभूतिपूर्वक इस क्रमिक विकाससे इसी जन्ममें ही जीवन्मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः।

(स्पन्दका०)

'चिदानन्दलाभे देहादिषु चैत्यमानेष्वपि चिदैकात्म्य-प्रतिपत्तिदार्ढ्यं जीवन्मुक्तिः।' इस प्रकारसे परात्रिंशिका-शक्तिसूत्र आदि ग्रन्थोंमें जीवन्मुक्तिका विशेषरूपसे वर्णन है, क्योंकि तन्त्र-आगमोंमें जीवन्मुक्ति मोक्षरूपमें मानी गयी है।

मन्त्रयोगका परम आदर्श

करुणामयी, कल्याणमयी पराम्बा भगवती श्रीजगज्जननी श्रीललिता त्रिपुरसुन्दरीके जीवोंके आधि-व्याधि, शोक-संताप, दीनता-हीनता, दरिद्रता आदि दुःखको दूर करनेके लिये प्रार्थना करनेपर समस्त विद्याओंके अधिपति, सम्पूर्ण प्राणियोंके स्वामी भगवान् परमशिवने तन्त्र-आगमशास्त्रको प्रकट किया, इसमें मन्त्रशक्तिकी प्रधानता है। इसके द्वारा साधक अपने वाञ्छित कामनाओंको स्वल्प-कालमें ही प्राप्त कर सकता है।

वैदिक याग और उपनिषदोंकी विद्याओंके साथ तान्त्रिक याग एवं विद्याओंकी समानता परिलक्षित होती है। केवल प्रक्रियागत भेद ही भाषित होता है। मूलतः कोई भेद नहीं है। विशेषकर कलियुगमें तन्त्र-विधानानुसार साधना करनेसे शीघ्र सिद्धि होती है। इन तन्त्र-शास्त्रोंमें वाम और दक्षिण दो मार्ग हैं। वाममार्गमें पञ्चमकारोंका विधान है। इसका कोई धीर-वीर इन्द्रियोंपर संयम रखनेवाला ही अधिकारी होता है। किञ्चित् भी असावधानी होनेसे पतन हो जाता है। सिद्धियोंके प्रलोभनसे इस मार्गमें प्रवृत्त होना भयप्रद है। दक्षिणमार्ग निर्भय एवं निष्कण्टक है। भगवान् आद्य शंकराचार्यने भी दक्षिण मार्गका ही समर्थन करके 'सौन्दर्यलहरी', 'प्रपञ्चसारतन्त्र' आदि ग्रन्थोंकी रचना की है और वर्तमानमें तन्त्र-मार्गमें शांकर सम्प्रदाय ही अविच्छिन्न-रूपसे चला आ रहा है। उच्चकोटिके तन्त्रविदोंका प्रधान उद्देश्य अद्वैत-तत्त्वकी प्राप्ति ही है। अद्वैत-सिद्धि मन्त्रयोगसे शीघ्र प्राप्त होती है, इसीलिये अद्वैत-

मतके आचार्य शंकरने इसका प्रचार-प्रसार किया। श्रीमद्भागवत (११।३।४७)में भी लिखा है—

य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम्॥

'जो शीघ्र हृदय-ग्रन्थिका भेदन चाहता है, वह तान्त्रिक विधिसे केशवका अर्चन करे।' 'केशव' शब्द यहाँपर उपलक्षण है। शिव, शक्ति, सूर्य, गणेश आदि देवताओंका भी पूजन विहित है।

वर्तमानमें प्रचलित प्रायः सभी यज्ञानुष्ठान-पद्धतियाँ तन्त्रशास्त्रसे अनुप्राणित हैं। तन्त्रोंमें स्त्री, शूद्र आदि भी साधनाके अधिकारी माने गये हैं। इसमें जाति और धर्मपर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। साधनाकी प्रवृत्तिवाले सभी समुदायके लोगोंके लिये इसका द्वार खुला है। स्त्री जातिके लिये तो विशेष सुविधा प्रदान की गयी है। साधनामें सरलता एवं अनुभूति होना तन्त्रशास्त्रकी अपनी विशेषता है। मन्त्रयोगके साधकोंका जीवन मन्त्रमय हो जाता है। सभी कार्य उनके मन्त्रपूर्वक होते हैं, इससे शनैः-शनैः साधकमें दिव्य गुणोंका संचार होने लगता है। पाशविक प्रवृत्तियाँ नष्ट होने लगती हैं। सदाचार और सद्विचारके द्वारा आनन्दमय आदर्श जीवन-यात्रा सम्पन्न होती है।

मृत्युञ्जय-योग

जिस प्रकार अर्जुनको भगवान् श्रीकृष्णने गीताका उपदेश किया था, उसी प्रकार श्रीद्वारकापुरीमें उद्धवजीको भी उपदेश प्रदान किया। उक्त उपदेशमें कर्म, ज्ञान, भक्ति, योग आदि अनेक विषयोंकी भगवान्‌ने बड़ी ही विशद व्याख्या की है। अन्तमें योगका उपदेश हो जानेके बाद उद्धवने भगवान्‌से कहा कि 'प्रभो! मेरी समझमें आपकी यह योगचर्या साधारण लोगोंके लिये दुःसाध्य है, अतएव आप कृपापूर्वक कोई ऐसा उपाय बतलाइये जिससे सब लोग सहज ही सफल हो सकें।' तब भगवान्‌ने उद्धवको भागवत-धर्म बतलाया और उसकी प्रशंसामें कहा कि 'अब मैं तुम्हें मङ्गलमय धर्म बतलाता हूँ, जिसका श्रद्धापूर्वक आचरण करनेसे मनुष्य दुर्जय मृत्युको जीत लेता है। यानी जन्म-मरणके चक्रसे सदाके लिये छूटकर भगवान्‌को पा जाता है। इसीलिये इसका नाम मृत्युञ्जय-योग है।' भगवान्‌ने कहा—

मनके द्वारा निरन्तर मेरा विचार और चित्तके द्वारा निरन्तर मेरा चिन्तन करनेसे आत्मा और मनका मेरे ही धर्ममें अनुराग हो जाता है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि शनैः-शनैः मेरा स्मरण बढ़ाता हुआ ही सब कर्मोंको मेरे लिये ही करे। जहाँ मेरे भक्त साधुजन रहते हों उन पवित्र स्थानोंमें रहे और देवता, असुर तथा मनुष्योंमेंसे जो मेरे अनन्य भक्त हो चुके हैं, उनके आचरणोंका अनुकरण करे। अलग या सबके साथ मिलकर प्रचलित पर्व, यात्रा आदिमें महोत्सव करे। यथाशक्ति ठाट-बाटसे गान-वाद्य, कीर्तन आदि करे-कराये। निर्मल-चित्त होकर सब प्राणियोंमें और अपने-आपमें बाहर-भीतर सब जगह आकाशके समान सर्वत्र मुझ परमात्माको व्याप्त देखे। इस प्रकार ज्ञानदृष्टिसे जो सब प्राणियोंको मेरा ही रूप मानकर सबका सत्कार करता है तथा ब्राह्मण और चाण्डाल, चोर और ब्राह्मण भक्त, सूर्य और चिनगारी, दयालु और क्रूर, सबमें समान दृष्टि रखता है, वही मेरे मनसे पण्डित है। बारंबार बहुत दिनोंतक सब प्राणियोंमें मेरी भावना करनेसे मनुष्यके चित्तसे स्पर्धा, असूया, तिरस्कार और अहंकार आदि दोष दूर हो जाते हैं। अपनी दिल्लगी उड़ानेवाले घरके लोगोंको 'मैं उत्तम हूँ, यह नीच है'—इस प्रकारकी देहदृष्टिको और लोकलाजको छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधेतकको पृथ्वीपर गिरकर भगवद्भावसे साष्टाङ्ग प्रणाम करे।

जबतक सब प्राणियोंमें मेरा स्वरूप न दीखे, तबतक उक्त प्रकारसे मन-वाणी और शरीरके व्यवहारोंद्वारा मेरी उपासना करता रहे। इस तरह सर्वत्र परमात्म-बुद्धि करनेसे उसे सब कुछ ब्रह्ममय दीखने लगता है। ऐसी दृष्टि हो जानेपर जब समस्त संशयोंका सर्वथा नाश हो जाय, तब उसे कर्मोंसे उपराम हो जाना चाहिये। अथवा वह उपराम हो जाता है। हे उद्धव! मन, वाणी और शरीरकी समस्त वृत्तियोंसे और चेष्टाओंसे सब प्राणियोंमें मुझको देखना ही मेरे मतमें सब प्रकारके मेरी प्राप्तिके साधनोंमें सर्वोत्तम साधन है। हे उद्धव! एक बार निश्चयपूर्वक आरम्भ करनेके बाद फिर मेरा यह निष्काम धर्म किसी प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे अणुमात्र भी

ध्वंस नहीं होता। क्योंकि निर्गुण होनेके कारण मैंने ही इसको पूर्णरूपसे निश्चित किया है। हे संत! भय, शोक आदि कारणोंसे भागने, चिल्लाने आदि व्यर्थके प्रयासोंको भी यदि निष्काम-बुद्धिसे मुझ परमात्माके अर्पण कर दे तो वह भी परम धर्म हो जाता है। इस असत् और विनाशी मनुष्य-शरीरके द्वारा इसी जन्ममें मुझ सत्य और अमर परमात्माको प्राप्त कर लेनेमें ही बुद्धिमानोंकी बुद्धिमानी और चतुरोंकी चतुराई है।

एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति माऽमृतम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २९। २२)

अतएव जो मनुष्य भगवान्‌की प्राप्तिके लिये कोई यत्न न करके केवल विषयभोगोंमें ही लगे हुए हैं, वे श्रीभगवान्‌के मतमें न तो बुद्धिमान् हैं और न मनीषी ही हैं।

समाधियोग

(श्रीश्रीधर मजूमदार एम्० ए०)

उपनिषदोंके द्रष्टा ऋषियोंने ध्यानबलसे अपने अतीन्द्रिय ज्ञानद्वारा इस बातको अवगत किया कि बाहरी समस्त चराचर जगत्‌के एकमात्र कारण अनन्त चेतन ब्रह्मके दो रूप हैं—एक व्यक्त रूप और दूसरी वह आभ्यन्तर चेतना जो बाह्य व्यक्त जगत्‌को अनुप्राणित करती है, सत्तास्फूर्ति देती है। पहला रूप इन्द्रियगोचर है और बाह्य प्रपञ्च (Phenomenon) कहलाता है और दूसरा अतीन्द्रिय है और प्रत्यक्-चैतन्य (Noumenon) कहलाता है। बाह्य प्रपञ्च परिणामी है और प्रत्यक्-चैतन्य अपरिणामी है। 'ये सब दृश्य पदार्थ विनाशी हैं, अन्तरात्मा अविनाशी कहलाता है। निर्विशेष निरञ्जन परब्रह्म अक्षर है।' (योगशिखोपनिषद् ३। १६)।

जहाँ बाह्य प्रपञ्च है वहाँ प्रत्यक्-चैतन्य भी है। दूधमें मक्खनकी भाँति प्रत्यक्-चैतन्य बाह्य प्रपञ्चमें सर्वत्र-सर्वदा व्याप्त है, किंतु प्रत्यक्-चेतनके सर्वांशमें सर्वदा बाह्य प्रपञ्च नहीं है। दूधके अणु-अणुमें मक्खन है, किंतु जबतक दूध मथा नहीं जायगा, तबतक उसमें मक्खन दृष्टिगोचर नहीं होगा। इसी प्रकार समाधिका आश्रय लिये बिना प्रत्यक्-चैतन्यका साक्षात्कार नहीं होता। जाग्रत्-अवस्थामें क्षिप्त मनको इन्द्रियोंके द्वारा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दके रूपमें बाह्य प्रपञ्चका प्रत्यक्ष होता है, उस समय प्रत्यक्-चैतन्य अन्तर्हित रहता है। किंतु प्रत्यक्-चैतन्यका साक्षात्कार इन्द्रियोंके निरोधसे अर्थात् निरुद्ध मनके द्वारा समाधि-अवस्थामें सच्चिदानन्दरूपमें होता है, उस समय इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं और बाह्य प्रपञ्च तिरोहित हो जाता है।

'जब मनुष्य परमात्माको परमार्थतः देख लेता है, तब अखिल दृश्य जगत् विलीन हो जाता है।' (जाबाल-दर्शनोपनिषद् १०। १२)।

इस प्रकार एक समयमें ब्रह्मके एक रूपका ही साक्षात्कार होता है। आत्मदर्शी मुनि ब्रह्मके अविनाशी प्रत्यक्-चैतन्यस्वरूपका ही वरण करते हैं और परिणामी दृश्य स्वरूपका अपलाप करते हैं।

हमें दृश्य प्रपञ्चकी प्रतीति इन्द्रियोंके द्वारा होती है, किंतु ये इन्द्रियाँ अर्थात् चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा मनके सहयोग बिना व्यापार नहीं करतीं। उदाहरणतः यदि हमारा मन किसी दूसरे विचारमें संलग्न हो तो हमारे नेत्र खुले रहनेपर भी तथा किसी खास वस्तुपर हमारी दृष्टि जमी रहनेपर भी हमें उस वस्तुका प्रत्यक्ष नहीं होता। यही स्थिति दूसरी इन्द्रियों—श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचाकी है। इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका अनुसंधान करनेके अतिरिक्त मन प्राक्तन संस्कारोंकी ही आवृत्ति करता हुआ अथवा आगे मिलनेवाले पदार्थोंकी चिन्ता करता हुआ क्षिप्त अवस्थामें रह सकता है। चित्तकी वृत्तियोंका निरोध कर देनेसे, अर्थात् मनको सब प्रकारके संकल्पोंसे सर्वथा शून्य कर देनेसे—इसीको चित्तकी निरुद्ध अथवा समाहित अवस्था कहते हैं—सारी इन्द्रियाँ निर्व्यापार हो जाती हैं, जिससे बाह्य प्रपञ्चका दीखना बंद हो जाता है। परिणामी बाह्य प्रपञ्चके अदृश्य हो जानेपर उससे इतर अविनाशी प्रत्यक्-चैतन्यकी उपलब्धि होती है। अर्थात् बाह्य आवरणके दृष्टिके सामनेसे हट जानेपर भीतरकी सार वस्तु प्रकट हो जाती है।

'चित्तके (बाह्य विषयोंका अनुसंधान करते समय) चञ्चल होनेपर संसारका भान होता है। मनका निश्चल होना ही

मुक्ति है। अतः हे विश्वके नियन्ता ! परम तत्त्वके ज्ञानसे ही मनको स्थिर करना चाहिये।' (योगशिखोपनिषद्में महेश्वरका ब्रह्माके प्रति उपदेश ६। ५८)।

'चञ्चलतासे शून्य मन अमर कहलाता है, वही तप है और उसीको मोक्ष कहते हैं—यह शास्त्रोंका सिद्धान्त है।'

सब प्रकारके संकल्पोंसे सर्वथा शून्य हो जानेका नाम ही 'समाधि' है, जिस समाधिमें मन सर्वथा निश्चल हो जाता है और जीवात्मा तथा परमात्माका भेद मिट जाता है। जीवात्माका प्रत्यक्-चैतन्यमें, सर्वव्यापी अन्तरात्मामें, ब्रह्मके अतीन्द्रिय रूपमें स्थित होना ही समाधि है। जीवात्माके अंदर यह प्रत्यक्-चैतन्य अथवा परमात्मा, जिसे निर्विकल्प परम अहम् भी कहते हैं, क्षुद्र अहं-प्रत्ययसे आच्छन्न रहता है, जो देहाभिमानका कारण है। इस क्षुद्र अहंबुद्धिके निवृत्त हो जानेपर अथवा चूर्ण हो जानेपर प्रत्यक्-चैतन्य अथवा निर्विकल्प 'परम अहम्'का उदय होता है। अतः समाधि-लाभके लिये क्षुद्र अहंबुद्धिकी निवृत्ति आवश्यक है। दूसरे शब्दोंमें क्षुद्र अहंबुद्धिकी निवृत्ति ही समाधि है, जिस समाधिमें हृदयकी गाँठ खुल जाती है और चित्तका विस्तार होकर उसे पूर्णताकी अवस्था प्राप्त हो जाती है।

'जीवात्मा और परमात्माकी एकताके ज्ञानके उदयको ही 'समाधि' कहते हैं।' (जाबालदर्शनोपनिषद् १०। १ और अन्नपूर्णोपनिषद् ५। ७५)।

'जीवात्माकी परमात्माके साथ एकता ही, जिसमें संकल्पकी सारी क्रिया ही नष्ट हो जाती है, 'समाधि' कहलाती है।' (सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् १६)।

'मुनियोंके द्वारा साधित समाधि उस संकल्पशून्य अवस्थाका नाम है जिसमें न तो मनकी क्रिया है और न बुद्धिका व्यापार है, जो आत्मज्ञानकी अवस्था है और जिसमें उस (प्रत्यक्-चैतन्य) के अतिरिक्त सबका बाध है।' (मुक्तिकोपनिषद् २। ५५)।

'ब्रह्माकारवृत्तिके द्वारा अथवा सर्वसंकल्पनिवृत्तिके द्वारा चित्तकी वृत्तियोंको सर्वथा भूल जानेका नाम ही 'समाधि' है।' (तेजोबिन्दूपनिषद् १। ३७)।

'हे ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण ! 'समाधि' शब्द उस संशयरहित मानसिक पूर्णताका वाचक है, जिसमें आसक्तिका सर्वथा अभाव है और जिसमें सदसद्विवेक भी नहीं है।' (अन्नपूर्णोपनिषद् १। ५०)।

जीवात्मा परमात्मरूप महासागरके वक्षःस्थलपर नृत्य करते हुए एक तरङ्गके समान है। तरङ्गके पीछे समुद्ररूप महान् आधार है। इसी प्रकार जीवात्माके पीछे परमात्मारूप महान् आधार है। वासना अथवा उससे उत्पन्न होनेवाली अहंबुद्धि ही तरङ्गकी सत्ताको अक्षुण्ण रखती है। जिस क्षण वासना नष्ट हो जाती है और उसके साथ ही अहंप्रत्यय भी निवृत्त हो जाता है, उसी क्षण तरङ्ग विलीन होकर सागरमें मिल जाती है, अर्थात् जीवात्मा परमात्मामें प्रवेश कर उसके साथ एकीभावको प्राप्त हो जाता है।

समाधिसिद्धि तथा मोक्षके लिये आवश्यकता है मनको निरुद्ध करनेकी, वासनाशून्य करनेकी अर्थात् सर्वथा संकल्पशून्य होनेकी। इस संकल्पशून्यताको ही जीवात्माकी प्रत्यक्-चैतन्यमें, सर्वव्यापक अन्तरात्मामें, ब्रह्मके अतीन्द्रिय भावमें स्थिति कहते हैं।

'प्रत्येक वस्तुको ब्रह्मसे अभिन्न देखना ही ज्ञान है, मनको निर्विषय करना ही परमात्माका ध्यान है, मनोमलके नाशको ही स्नान कहते हैं और इन्द्रियनिग्रहका नाम ही शौच है।' (स्कन्दोपनिषद् ११ और मैत्रेय्युपनिषद् २। २)।

'जब निश्चल मनके द्वारा क्षिप्त मनकी चिकित्सा करनेसे मनकी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं तभी सुदुर्लभ परब्रह्मका साक्षात्कार होता है।' (योगशिखोपनिषद् ६। ६२)। 'जिस क्षण हृदयमें भरी हुई सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, उसी क्षण यह मरणधर्मा मनुष्य अमृतत्व लाभ कर लेता है और इसी जीवनमें ब्रह्मानन्दका आस्वादन करता है।' (बृहदारण्यकोपनिषद् ४। ४। ७)।

'जब इस क्षिप्त मनको संकल्पाभावके शस्त्रसे शान्त कर दिया जाता है तभी (और उससे पूर्व नहीं) समग्र सर्वगत निर्विशेष ब्रह्मका साक्षात्कार होता है।' (महोपनिषद् ४। ९१)।

'जिस भाग्यवान् पुरुषकी आत्मामें रति हो गयी है, जिसका मन पूर्ण और शुद्ध है और जिसे अनुत्तम विश्राम प्राप्त हो गया है, उसके लिये इस संसारमें कोई भी कामनाकी वस्तु नहीं रह जाती।' (महोपनिषद् २। ४७)।

'जो चित्त आत्मा (परमात्मा) में निवेशित हो गया है

और जिसके सारे मल समाधिके द्वारा धुल गये हैं, उसके आनन्दका वाणीद्वारा वर्णन नहीं हो सकता, केवल अन्तःकरणद्वारा अनुभव हो सकता है।' (मैत्र्युपनिषद्)।

'जीवात्मा और परमात्माकी एकताकी अवस्था जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप त्रिपुटीका अभाव है, जो परमानन्दरूपा है और शुद्ध चैतन्यात्मिका है, वही समाधि है।' (शाण्डिल्योपनिषद् १।११)।

उपनिषदों तथा पातञ्जल योगसूत्रमें समाधिकी अवस्था प्राप्त करने अर्थात् मनको निरुद्ध अथवा सब प्रकारके संकल्पोंसे सर्वथा शून्य करनेकी अनेक विधियाँ बतायी गयी हैं। परंतु मेरी समझसे उन सबमें श्रेष्ठ तथा सुगम विधि है प्रत्यक्-चैतन्य, निर्विकल्प ब्रह्म, परमात्मा अथवा सर्वव्यापी अन्तरात्माको सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण करने अथवा उनके अंदर आत्मनिक्षेप करनेकी मन-ही-मन भावना और अभ्यास करना। स्मरण रहे कि प्रत्यक्-चैतन्य, निर्विकल्प ब्रह्म, परमात्मा और सर्वव्यापी अन्तरात्मा आदि सारे शब्द ब्रह्मके अतीन्द्रिय रूपका ही लक्ष्य कराते हैं। इस पूर्ण समर्पणकी साधनामें तीव्र भक्ति और श्रेष्ठ ज्ञान दोनों मिले हुए रहते हैं। पूर्ण समर्पणकी भावना तीव्र भक्तियोगसे ही उत्पन्न होती है और सर्वव्यापी अन्तरात्माके अंदर आत्म-निक्षेप इस श्रेष्ठ ज्ञानसे होता है कि यह सर्वव्यापी अन्तरात्मा, जो अमृतत्वका कारण है, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पञ्चमहाभूतों अर्थात् इन्द्रियगोचर बाह्य प्रपञ्चके पीछे छिपा रहता है। 'यह आत्मा ही इन सबके भीतर चल रहा है। इस आत्माकी ही उपासना करो, जो अनन्त तथा जन्म, मृत्यु, भय एवं शोकसे रहित है।' (सुबालोपनिषद् ५।१)।

जीवात्माको परमात्माके शरणापन्न कर देनेकी मन-ही-मन भावना करनी चाहिये। परंतु यह अहंबुद्धि ही जीवात्माको परिच्छिन्न एवं परमात्मासे पृथक् बना रखती है। अतः जीवात्माको परमात्माके अर्पण कर देनेका अर्थ है अहंबुद्धिको सर्वव्यापी अन्तरात्मा अर्थात् निर्विकल्प परम अहम्के अर्पण कर देना। इसके लिये व्यष्टि बुद्धिको भावना एवं ध्यानरूप अभ्याससे समष्टिबुद्धि अर्थात् समष्टि अहङ्कारके रूपमें परिणत करना होगा, इससे सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होगी। यह समष्टिमें फैली हुई बुद्धि परिपक्व होनेपर शुद्ध अहंकारके निर्विकल्प परम अहम्के रूपमें बदल जाती है। इस अवस्थामें मनकी क्रिया सर्वथा निरुद्ध हो जाती है और क्षुद्र अहंबुद्धि निर्विकल्प ब्रह्ममें विलीन हो जाती है। इससे असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है, जिसमें जीवात्मा निर्विकल्प ब्रह्मके साथ एकात्मताको प्राप्त हो जाता है।

'हे पद्मसम्भव! इस परम तत्त्वकी उपलब्धि भक्तिके द्वारा चित्तके अन्तर्लीन होनेसे होती है। भावनामात्र ही इस स्थितिका कारण है।' (योगशिखोपनिषद्—महेश्वरका ब्रह्माके प्रति उपदेश ३।२३)।

'चित्तवृत्तिका अहङ्कारशून्य होकर ब्रह्माकार बन जाना ही सम्प्रज्ञात समाधिका स्वरूप है। यह स्थिति ध्यानके परिपक्व अभ्याससे सिद्ध होती है।' (मुक्तिकोपनिषद्२।५१)।

'चित्तकी प्रशान्त वृत्ति, जो ब्रह्मानन्दको देनेवाली है, असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। यह अवस्था योगियोंको अतिशय प्रिय है।' (मुक्तिकोपनिषद् २।५२)।

जब चित्त अपनी चैत्य-दशा अर्थात् विषयचिन्तनसे मुक्त हो जाता है, तब इस प्रकारके क्षीणचित्त पुरुषोंकी स्थितिको बाह्यप्रतीतिशून्यता अथवा कलनाशून्यता कहते हैं। यह एक प्रकारकी जाग्रत्-अवस्थामें सुषुप्ति है।

'हे निदाघ! यह जाग्रत्-अवस्थाकी सुषुप्ति अभ्यास-साध्य है। यही जब प्रौढ़ हो जाती है, तब इसे तत्त्ववेत्ता पुरुष तुरीयावस्था अथवा समाधि-अवस्था कहते हैं।' (अन्नपूर्णोपनिषद्—महर्षि ऋभुका अपने शिष्य निदाघके प्रति उपदेश २।१२, १३)।

'मैं केवल सत्तारूप हूँ, मैं क्षुद्र अहंबुद्धिसे शून्य परम अहम् हूँ। मेरा स्वरूप बाह्य प्रपञ्चसे विरहित है, मैं चिदाकाशमय हूँ।' (तेजोबिन्दूपनिषद् ३।३)।

यह आगे बताया जायगा कि अहंबुद्धिसे विशिष्ट परमात्मा ही जीवात्मा बना हुआ है, जिस प्रकार तरङ्ग वायुजन्य आन्दोलनसे विशिष्ट समुद्रके अतिरिक्त कुछ नहीं है। जीवात्माकी परमात्माके प्रति आत्मसमर्पण-बुद्धि उसके अहंकारका नाश कर देती है और उसे समाधि अथवा तुरीय अवस्थाको पहुँचा देती है जहाँ पहुँचकर वह अपने असली तेजोमय स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

'केवल सद्भावकी भावना दृढ़ हो जानेसे वासना

(अहंबुद्धि) का लय हो जाता है। वासनाका निःशेषरूपसे क्षय ही मोक्ष है और उसीको जीवन्मुक्ति भी कहते हैं।' (अध्यात्मोपनिषद् १३)।

'इस गुणसमाहार (बाह्य प्रपञ्च) को आत्मासे भिन्न देखनेवाले तत्त्वदर्शी पुरुषकी आन्तरिक शान्तिसे उत्पन्न स्थितिका नाम समाधि है।' (अन्नपूर्णोपनिषद् १।२९)।

पातञ्जलयोगसूत्रकी समीक्षा करनेसे हम इसी सिद्धान्तपर पहुँचते हैं। वहाँ भी इस बातकी ओर संकेत किया गया है कि चित्तकी चञ्चलता अथवा क्षुद्र अहंबुद्धि ही जीवात्माको परमात्मासे अलग रखती है, परंतु ज्यों ही यह अहंकार अथवा भेदबुद्धि निवृत्त हो जाती है त्यों ही जीवात्मा अपने असली तेजोमय रूपको प्राप्त होकर परमात्माके साथ एक हो जाता है। तब चित्त अपनी चित्तताको भूलकर ध्येयाकार बन जाता है, इस अवस्थाको 'समाधि' कहते हैं। पातञ्जलयोगसूत्रमें भी अहंकारके नाशका सर्वोत्तम उपाय अपरिच्छिन्न निर्विकल्प ब्रह्मके प्रति आत्मसमर्पणबुद्धिपूर्वक कायिक, वाचिक, मानसिक सब प्रकारकी क्रियाके त्यागका अभ्यास कहा गया है। दृश्य प्रपञ्चकी आड़में छिपे हुए निर्विकल्प ब्रह्मका साक्षात्कार करनेमें जब इन्द्रियाँ अपनेको असमर्थ अनुभव करती हैं, तब इस प्रकारकी निष्क्रियता एवं समर्पणका अभ्यास होता है। इस अभ्याससे उस क्रियाके अनुकूल आसन अपने-आप लग जाता है और साधक धीरे-धीरे शीत-उष्ण, सुख-दुःख, सत्-असत् आदि द्वन्द्वोंके अभिघातसे मुक्त हो जाता है, साथ ही प्राणोंकी क्रिया भी अपने-आप बंद हो जाती है और प्राणायाम सध जाता है, जिससे आत्म-साक्षात्कारका अवरोधक अहङ्कारका पर्दा हट जाता है।

चित्तवृत्तिका निरोध ही योग है—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'** (पातञ्जलयोगसूत्र, समाधिपाद २)।

तब द्रष्टा अपने असली स्वरूपमें स्थित होता है—**'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।'** (पा० यो० समाधि० ३)।

चित्तको किसी देश-विदेशमें बाँध देना 'धारणा' है—**'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।'** (पा० यो० विभूति० १)।

इस प्रकारकी एकाग्रताके द्वारा वृत्तिके अखण्ड प्रवाहका नाम 'ध्यान' है—**'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।'** (पा० यो० विभूति० २)।

ध्यानके स्थिर हो जानेपर मन ध्येयाकार बन जाता है और अपने स्वरूपको भूल जाता है। इस अवस्थाको 'समाधि' कहते हैं—**'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।'** (पा० यो० विभूति० ३)। 'ईश्वरको सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण कर देनेसे समाधि-सिद्धि होती है। **'समाधिसिद्धिरीश्वर-प्रणिधानात्।'** (पा० यो० साधन० ४५)।

सब प्रकारके प्रयत्नोंको शिथिल कर देनेसे तथा अनन्त परमात्माको आत्मसमर्पण करनेसे ध्यानोपयोगी सरल आसन लग जाता है। **'प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।'** (पा० यो० साधन० ४७)।

इसके अनन्तर द्वन्द्वोंमें समभाव हो जाता है—**'ततो द्वन्द्वानभिघातः।'** (पा० यो० साधन० ४८)।

ऐसा होनेपर श्वास-प्रश्वासकी गति रुककर प्राणायाम लग जाता है—**'तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।'** (पा० यो० साधन० ४९)।

तब (आत्माके) प्रकाशका अवरोधक आवरण क्षीण हो जाता है—**'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।'** (पा० यो० साधन० ५२)।

उस अनन्त (परमात्मा) में निरतिशय सर्वज्ञताका बीज रहता है—**'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।'** (पा० यो० समाधि० २५)।

उसके (सर्वव्यापी अन्तरात्माको आत्मसमर्पण करनेके) बाद सारे विघ्न हट जाते हैं और प्रत्यक्चेतनकी उपलब्धि हो जाती है—**'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।'** (पा० यो० समाधि० २९)।

तुम परमेश्वर और भोग दोनोंकी सेवा नहीं कर सकते। विषय न बटोरो। कलके लिये चिन्ता न करो। कल अपनी चिन्ता आप करेगा।—ईसामसीह

सदा स्मरण करने योग्य तो एक ही वस्तु है। सदा सर्वदा सर्वत्र श्रीकृष्णके सुन्दर नामोंके स्मरणमात्रसे ही प्राणिमात्रका कल्याण हो सकता है।—श्रीचैतन्य महाप्रभु

नादानुसंधान और लययोग

(महामण्डलेश्वर योगिराज १००८ श्रीबर्फानीबाबाजी महाराज)

नादानुसंधान लययोगका एक विशेष प्रकार ही है। हठयोगप्रदीपिका (४। ६६) में कहा गया है—

श्रीआदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयन्ति। नादानुसंधानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम्॥

'आदिनाथ भगवान् शिवने लययोगसाधनके सवा करोड़ प्रकारोंका वर्णन किया है। उन सभी लययोगके प्रकारोंमें मैं केवल नादानुसंधानको ही मुख्य मानता हूँ।'

जिसे राजयोगकी साधना करनी हो, योगिराज बनना हो, उसे सावधान चित्तसे मनको स्थिर करके, बाहरी और भीतरी विषयोंका चिन्तन त्यागकर नादका ही अनुसंधान करना चाहिये—

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता॥

(हठयोगप्र० ४। ९३)

नादयोगकी साधना करनेके पूर्व यह जान लेना भी आवश्यक है कि यह नाद क्या है। जिस प्रकार अर्थ-जगत्की चार अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया, उसी प्रकार शब्द-जगत्की चार अवस्थाएँ होती हैं, जिन्हें परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी कहा जाता है। ऋग्वेदमें वाणीके इन चारों भेदोंका उल्लेख इस प्रकार किया गया है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

(ऋग्वेद १। १६४। ४५)

सायणभाष्यमें बताया गया है—

'परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीति चत्वारीति एकैव नादात्मिका वाक् मूलाधारादुदिता सती परेत्युच्यते। नादस्य च सूक्ष्मत्वेन दुर्निरूपत्वात् सैव हृदयगामिनी पश्यन्तीत्युच्यते योगिभिर्द्रष्टुं शक्यत्वात्। सैव बुद्धिं गता विवक्षां प्राप्ता मध्यमेत्युच्यते, मध्ये हृदयाख्ये उदीयमानत्वात् मध्यमा। अथ यदा सैव वक्त्रे स्थिता तालोष्ठादिव्यापारेण बहिर्निर्गच्छति तदा वैखरीत्युच्यते एवं चत्वारि वाचः पदानि परिमितानि मनीषिणो मनसः स्वामिनः स्वाधीनमनस्का ब्राह्मणाः वाच्यस्य शब्दब्रह्मणोऽधिगन्तारो योगिनः परादि चत्वारि **पदानि विदुर्जानन्ति। तेषु मध्ये त्रीणि परादीनि गुहागुहायां निहिता निहितानि हृदये हृदयान्तर्वर्तित्वात्। तुरीयं तु पदं वैखरीसंज्ञकं मनुष्याः सर्वे वदन्ति।'**

'वाणीके चार पद हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। एक ही नादात्मक वाणी मूलाधारसे उदित होनेपर परा कही जाती है। नादकी सूक्ष्मताके कारण उसका निरूपण कठिन होनेसे वही नाद जब हृदयमें उत्थित होता है तो उसे योगी देख सकते हैं, इसलिये उसे पश्यन्ती कहते हैं। उसीके बुद्धिगम्य होनेपर बोलनेकी इच्छासे मध्यमा कहते हैं। हृदयके मध्यमें उदय होनेके कारण इसका मध्यमा नाम है। वही वाणी मुखमें स्थित होकर जब तालु-ओष्ठ आदिके द्वारा उच्चरित होती है, तब उसे वैखरी कहते हैं। इस प्रकार वाणीके चार पद हैं। नादब्रह्मके साधक मनीषी योगी वाणीके इन चारों पदोंको जानते हैं। पर सभी जनसाधारण इनमेंसे केवल वैखरी वाणी ही बोलते हैं।'

वरिवस्यारहस्यमें श्रीभास्करायने इसीको अधिक विस्तारसे स्पष्ट किया है। यहाँ इतना ही जान लेना आवश्यक है कि परमशिवमें जब किंचित् स्फुरणा होती है, जिसे स्पन्द, स्फोट, रव अथवा नाद कहा जाता है तो मूलाधारसे परा वाक्-शक्ति ही विमर्श-रूपमें प्रकट होती है। विमर्शशक्तिका इच्छा-रूप ही पश्यन्ती कहा जाता है। वही ज्ञानशक्तिके रूपमें मध्यमा और क्रियाशक्तिके रूपमें वैखरी कही जाती है। योगिनीहृदयमें बताया गया है—

आत्मनः स्फुरणं पश्येद् यदा सा परमा कला।
अम्बिका रूपमापन्ना परा वाक् समुदीरिता॥
इच्छाशक्तिस्तदा सेयं पश्यन्ती वपुषा स्थिता।
ज्ञानशक्तिस्तथा ज्येष्ठा मध्यमावागुदीरिता॥
क्रियाशक्तिस्तु रौद्रीयं वैखरी विश्वविग्रहा।

इसका अर्थ ऊपर आ गया है। प्रयोगसारके अनुसार—

सोऽन्तरात्मा तदा देवी नादात्मा नदते स्वयम्।
यथासंस्थानभेदेन स भूयो वर्णतां गतः॥
वायुना प्रेर्यमाणोऽसौ पिण्डाद् व्यक्तिं प्रयास्यति।

अन्तरात्मा-रूप वह देवी शक्तिरूपा नादात्माके रूपमें

स्वयं शब्दमयी बन जाती है। वही नाद संस्थान-भेदसे वर्णरूपमें परिवर्तित होकर वायुसे प्रेरित होकर पिण्डमें उच्चरित होता है। प्रपञ्चसारतन्त्र (२।४३) में कहा गया है—

मूलाधारात् प्रथममुदितो यस्तु भावः पराख्यः
पश्चात् पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ्मध्यमाख्यः।
वक्त्रे वैखर्यथ रुरुदिषोरस्य जन्तोः सुषुम्ना-
बद्धस्तस्माद्भवति पवनप्रेरितो वर्णसंघः॥

इसकी टीकामें श्रीपद्मपादाचार्यने बताया है कि चैतन्याभिविशिष्ट प्रकाशिका माया ही निष्पन्दा परावाक् है। कामकलाविलासकी चिद्वल्ली व्याख्यामें सुभगोदयवासनाका संदर्भ देते हुए बताया गया है—

परा भूर्जन्म पश्यन्ती वल्लीगुच्छसमुद्भवा।
मध्यमा सौरभा वैखर्यक्षमाला जयत्यसौ॥

परा वाक् बीज-रूपा है, उससे वल्ली-वेल ही पश्यन्ती है और गुच्छोंके सौरभसे युक्त मध्यमा है। वैखरी ही अक्षमाला है। अक्षमालासे यहाँ अकारसे लेकर क्षकारपर्यन्त पचास मातृका वर्णोंको जानना चाहिये।

नादसाधनाके द्वारा साधक अपनी वृत्तिको अन्तर्मुखी करनेका अभ्यास करता हुआ इसी परा वाग्रूपा चिच्छक्तिका अनुभव करता है। नादपर जिसने अधिकार कर लिया उसे इस संसारमें कुछ भी कार्य शेष नहीं रह जाता; क्योंकि यह माना जाता है कि यह सम्पूर्ण जगत् नादाधीन है—

नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात् पदाद्वचः।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत्॥

हम यदि किसी नदीके उद्गमपर जाना चाहें तो पहिले उसके प्रवाहके मार्गका जान लेना आवश्यक होता है, इसलिये नादके भी इस मार्गको जानकर हम उसके उद्गमतक पहुँच सकते हैं। वर्णकी अभिव्यक्तिका क्रम इस प्रकार बताया गया है—

आत्मा विवक्षमाणोऽयं मनः प्रेरयते मनः।
देहस्थं वह्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
ब्रह्मग्रन्थिस्थितः सोऽथ क्रमादूर्ध्वपथे चरन्।
नाभिहृत्कण्ठमूर्धास्येष्वाविर्भावयति ध्वनिम्॥
नादोऽतिसूक्ष्मो सूक्ष्मश्च पुष्टोऽपुष्टश्च कृत्रिमः।
इति पञ्चाभिधां धत्ते पञ्चस्थानस्थितः क्रमात्॥

बोलनेकी इच्छासे आत्मा मनको प्रेरित करता है। मन देहस्थ अग्निको उत्तेजित करता है, वह अग्नि देहस्थ पवनको प्रेरित करता है, जिससे मणिपूरमें स्थित अग्निसे पश्यन्ती और वहाँसे हृद्गत मध्यमा, वहाँसे कण्ठ, मूर्धा और मुखसे होकर वैखरी वाणीकी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार इस नादके स्थान-भेदसे पाँच प्रकार हो जाते हैं जिन्हें अतिसूक्ष्म, सूक्ष्म, पुष्ट, अपुष्ट और कृत्रिम कहा जाता है। नाद नाम पड़नेका कारण यह है कि यह अग्नि और पवनके संयोगसे उत्थित होता है—

नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः।
जातः प्राणाग्निसंयोगात् तेन नादोऽभिधीयते॥

नकार प्राण वायुको और दकार अग्निको कहते हैं इसीलिये इसका नाम नाद कहा जाता है। नादसाधनकी क्रिया शारदातिलक (२५।४५—४७) के अनुसार इस प्रकार है—

अङ्गुलीभिर्दृढं बद्ध्वा करणानि समाहितः।
अङ्गुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां विलोचने॥
नासारन्ध्रे मध्यमाभ्यामन्याभिर्वदनं दृढम्।
बद्ध्वात्मप्राणमनसामेकत्वं समनुस्मरन्॥
धारयेन्मरुतं सम्यग्योगोऽयं योगिवल्लभः।
नादः संजायते तस्य क्रमादभ्यसतः शनैः॥

'समाहित-चित्त होकर अङ्गुलियोंसे इन्द्रियोंको दृढ़तासे बाँधे। दोनों हाथोंके दोनों अँगूठोंसे कानके छेद बंद करे। दोनों तर्जनी अङ्गुलियोंसे दोनों नेत्र बंद करे। मध्यमा अङ्गुलियोंसे दोनों नाकके छेद बंद करे। दोनों अनामिका ऊपरके ओष्ठपर और दोनों कनिष्ठिका अधरोष्ठपर रखकर मुख अच्छी तरह बंद कर ले। फिर ऐसा ध्यान करे कि मेरा आत्मा प्राण और मन एकाकार हो गये हैं। इस प्रकार पवनके स्थिर होनेसे मनकी स्थिरता होनेपर धीरे-धीरे क्रमशः इस अभ्यासको धैर्यके साथ करते रहनेपर नाद सुनायी देने लगता है।' हठयोगप्रदीपिका (४।६८) के अनुसार यह नाद सुषुम्नापथमें सुनायी देता है—

श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम्।
शुद्धसुषुम्णासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः॥

वगलामुखी-रहस्यमें भी बताया गया है कि योनिमुद्राका निरन्तर अभ्यास करनेवाले योगीका सुषुम्नामें प्राण-संचार होने

लगता है, उसीसे आनन्दजनक नाद सहसा उत्पन्न हो जाता है। मूलाधारसे लेकर सहस्रारपर्यन्त सुषुम्नापथमें शुद्ध स्फटिकके समान नादस्वरूप चैतन्यका ध्यान करना चाहिये। हंस मन्त्रका अभ्यास करना चाहिये।

मन्त्रके दो प्रकार बताये गये हैं—वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक। स्फुट उच्चारण किये जानेवाले सभी मन्त्र वर्णात्मक हैं। नाद ही ध्वन्यात्मक मन्त्र कहा जाता है, जिसके लिये कहा गया है—'**नास्ति नादात्परो मन्त्रः।**' नादसे बढ़कर कोई मन्त्र नहीं है। नाद-साधनाकी दूसरी सरल विधि इस प्रकार बतायी गयी है कि कान बंद करनेके लिये दो गुटका बनाये। एक रत्ती कस्तूरी, दो रत्ती जायफल, तीन रत्ती जावित्री और छः रत्ती लौंग लेकर इन सबको चूर्ण करके जामुनके छोटे फलके बराबर दो गोलियाँ बना ले। उन्हें रेशमी वस्त्रमें लपेटकर कानोंमें लगाकर सूर्योदयसे पूर्व उठकर प्रातःकृत्यसे निवृत्त हो स्वस्थ मनसे अभ्यास करे। अभ्यास-कालमें प्रारम्भमें कठिनाईका अनुभव होता है। प्रारम्भमें शरीरमें किसी-किसी साधकको चींटी-सी रेंगती प्रतीत होती है तो किसीको मिर्चके समान जलनका अनुभव होता है। दूसरी अवस्थामें शरीर टूटने-सा लगता है, अङ्गोंमें ऐंठन होने लगती है। तीसरी अवस्थामें अत्यन्त थकानका अनुभव होता है। चतुर्थ अवस्थामें सिर काँपने लगता है। पाँचवीं स्थितिमें तालुसे लार-सी टपकने लगती है। छठी अवस्थामें मूर्धासे लम्बिका-मार्गसे अमृतस्राव होता है जिसे पानकर योगी अत्यन्त तृप्तिका अनुभव करता है। सप्तम अवस्थामें गूढ़ रहस्य प्रकट होने लगते हैं। अष्टम स्थितिमें परावाक्का साक्षात्कार होता है। नवम अवस्थामें दिव्य देह, नेत्रोंकी निर्मलता और दिव्य दर्शन होते हैं। दशमावस्थामें योगी परब्रह्मका साक्षात्कार कर परब्रह्मका अनुभव करने लगता है।

नाद-श्रवणके क्रममें भी दस प्रकारके नाद क्रमानुसार सुनायी पड़ते हैं—

प्रथम ध्वनि भौंरेके गुंजार और कलकण्ठी नारियोंके गीतके समान सुनायी पड़ती है, दूसरी ध्वनि बाँसुरीके स्वर और कांस्यपात्रकी ध्वनिके समान सुनायी देती है। फिर क्रमसे घण्टानाद, मेघगर्जन, समुद्रगर्जनकी ध्वनि आदि सुनायी पड़ती है।

दस ध्वनियोंका दूसरा प्रकार इस प्रकार सुननेमें आता है—प्रथम चिण् शब्द, द्वितीय चिण्चिण शब्द, तृतीय चिरचिर शब्द, चतुर्थ घरघराहटका शब्द, पाँचवाँ इससे कुछ ऊँचा घर्घर शब्द, छठा मृदङ्गकी ध्वनि, सप्तम सूक्ष्मनाद, अष्टम वंशीके स्वर, नवम मधुर ध्वनि और दशम नगाड़ेका-सा शब्द सुनायी देता है।

प्रयोगसारमें नादसिद्धिके पूर्वकी दस अवस्था इस प्रकार बतायी गयी है—१-कम्प, २-रोमोद्गम, ३-आनन्द, ४-विमलता, ५-स्थिरता, ६-स्फूर्ति—अङ्गोंमें लाघव, ७-प्रकाश, ८-वैदुष्य, विद्वत्ता—सर्वज्ञता, ९-अद्वैत-भाव—द्वैत-भावनाका मिटना और १०-आत्मसाक्षात्कार।

इस प्रकार नाद-साधनाके सिद्ध हो जानेपर योगीको जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं वे इस प्रकार हैं—१-भूत, भविष्य, वर्तमानका ज्ञान, त्रिकालदर्शी होना, २-ऋतम्भरा प्रज्ञा, ३-मनकी बात जान लेना, ४-इच्छानुसार प्राणको रोक लेना, ५-शरीरकी सम्पूर्ण नाडियोंपर अधिकार, ६-वाणीकी सिद्धि, शापानुग्रहमें समर्थ होना, जो कह दे वही हो जाना, ७-चिरायु होना, ८-इन्द्रजाल और प्रकृतिके अन्तरालके अज्ञात रहस्योंका ज्ञान, ९-कायाकल्प, परकायप्रवेशकी सामर्थ्य, १०-आत्माका प्रकाश—ये दस लक्षण प्रकट होनेपर यह समझना चाहिये कि नादसिद्धि प्राप्त हो गयी है।

योगसाधनाके दो प्रयोजन होते हैं— सिद्धियाँ प्राप्त करना और मोक्ष प्राप्त करना। नाद-साधनासे सिद्धियाँ तो प्राप्त होती ही हैं, योगी इसी जन्ममें जीवन्मुक्तकी अवस्था भी प्राप्त कर लेता है।

नादसाधनाका अभ्यास अत्यन्त जटिल प्रक्रिया है, इसलिये इसे किसी अच्छे गुरुकी देख-रेखमें ही करना चाहिये। कभी-कभी अधिक उष्मा बढ़ जानेसे अथवा शक्तिसे अधिक प्राण-निरोधकी क्रिया करनेसे मस्तिष्कमें विकृति भी आ सकती है। नाद सुननेका अभ्यास प्रथम दाहिने कानसे ही किया जाता है। हठयोग प्रदीपिकामें नादश्रवणकी चार अवस्थाएँ तथा कुछ अन्य स्थितियोंका भी वर्णन किया गया है, विस्तारभयसे यहाँ उन सबका उल्लेख करना सम्भव नहीं, जिज्ञासु किसी अच्छे मार्गदर्शकसे उनका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

[प्रेषक—श्रीगंगारामजी शास्त्री]

तारकयोगका रहस्य

(आचार्य श्रीधनीदासजी महाराज)

'योग' विषय गूढ़ तथा व्यापक होनेसे योग-शब्दाभिप्रेत सभी तत्त्वोंका परिचय संक्षेपमें नहीं दिया जा सकता। आजकल 'योग' शब्द इतना व्यापक हो गया है कि उसके वाच्यार्थकी नियत प्रतीतिका पतातक नहीं। फिर भी साधारणतया 'योग'का अर्थ किसी अभीष्ट वस्तुके लिये 'अन्तःकरण-पूर्वक तत्पर होना' मान लें तो अनुचित न होगा। कारण, योगान्तर्गत जितनी भी क्रियाएँ हैं, वे सब किसी अभीष्ट-प्राप्ति या मिलापके लिये ही की जाती हैं, वे चाहे किसी रूपमें क्यों न हों। लोकमें भी किसी अभीष्ट वस्तुके मिलापको 'योग' और अलग होनेको 'वियोग' कहते हैं। किसी वस्तुके साथ अन्य पदार्थके सहकारको भी योग कहा जाता है। यद्यपि महर्षि पतञ्जलि 'योग'का अर्थ **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** कहकर चित्तवृत्तिका निरोध बताते हैं तथापि चित्तके निरोधमात्रसे योगका अर्थ पर्यवसित नहीं होता। व्यासभाष्यमें 'योग'का अर्थ समाधि किया गया है। पर समाधि भी किसी परीप्सित अर्थके लिये ही होती है। इस प्रकार प्रसङ्गानुसार 'योग'के अनेक अर्थ हो सकते हैं। फिर भी 'योग' शब्दसे उसी क्रिया-कलापको ग्रहण करना होगा, जो किसी अलौकिक अथवा लोकोत्तर अभीष्ट वस्तुकी प्राप्तिके लिये किया जाता हो। ऐसी वस्तु ब्रह्मसाक्षात्कार किंवा परमात्मप्राप्तिके अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकती। अतः मानना होगा कि ब्रह्मप्राप्तिके मार्गका नाम 'योग' है, वह चाहे किसी प्रकारका क्यों न हो। ब्रह्मप्राप्ति मन्त्र-तन्त्र, जप-योग, समाधि-साधना आदि अनेक प्रकारसे मानी गयी है। अतएव अनेक प्रकारके योगोंका उल्लेख पाया जाता है। जिसे जिस योगद्वारा अभीष्ट वस्तु प्राप्त हुई, उसने उसीको सर्वोत्तम समझकर उपदेश किया। इस प्रकार योगको अनन्त नाम-रूप प्राप्त हो गये। इन सबमें कौन-सा योग श्रेष्ठ है, यह कहना कठिन है। परंतु अनुभव और उदाहरणोंद्वारा प्रत्येक प्राणी अपने विचारोंको सर्व-साधारणके समक्ष रखनेका अधिकारी है। निजानन्दसम्प्रदाय (प्रणामी-धर्म) के आदिसंस्थापक सद्गुरु श्रीदेवचन्द्रजी तथा प्राणनाथ प्रभुने अपने सिद्धान्तोंमें जिस योगको माना है उसका संक्षिप्त रूप यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

आपने एक अपूर्व और अद्वितीय ज्ञानका अन्वेषण किया है, जिसे तारकयोग किंवा तारकप्रेमयोग कहते हैं। तारकयोगमें अन्य योगोंकी भाँति विशेष क्रिया-कलापोंकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, अधिकारी पात्र योग्य होना चाहिये। बस, जिस प्रकार एक दीपसे अन्य दीपोंका संयोग होते ही सभी दीप तत्काल एक कालाबच्छेदेन तत्समान प्रकाशयुक्त होते चले जाते हैं और प्रथम दीपको किसी प्रकारका कष्ट नहीं होता, उसी प्रकार तारकयोगद्वारा प्रत्येक योग्य अधिकारीको, बिना क्रम, समान शक्ति प्राप्त होते देर नहीं लगती और ब्रह्मसाक्षात्कारके योग्य प्राणी बन जाता है। जैसे दीप अन्य दीपको समान प्रकाश प्रदानकर घट-पट आदिका बोधक बना देता है, वैसे ही तारकयोगद्वारा तत्काल समान शक्तिसम्पन्न योगी माया-ब्रह्मके यथार्थ स्वरूपका ज्ञाता हो ब्रह्मानन्दका अनुभव करने लग जाता है। अतः दीपवत् गुण होनेसे इसे 'दीपकज्ञान' नामसे भी पुकारते हैं। इस विषयमें तत्काल समान शक्तिप्राप्त शिष्योंद्वारा कही हुई साखी भी पायी जाती है। यथा—

गुरु कंचन, गुरु पारस, गुरु चंदन परमान।
तुम सदगुरु दीपक भये, गुरु कियो जुं आपु समान॥
दीपक ज्ञान हाथ कर दीन्हो। छीर नीरको निरनय कीन्हो॥

तारकयोग कहिये या दीपकज्ञान, तात्पर्य दोनोंका एक है। इस नश्वर जगत्से बिना श्रम तारनेवाला होनेके कारण 'तारतम' ज्ञान भी इसीका नाम है। तारकयोग-शक्तिसम्पन्न योगीको गर्भ-जन्म, जरा-मरण आदि सांसारिक भय नहीं रहते—

गर्भजन्मजरामरणसंसारमहद्भयात् संतारयति तस्मात् तारकम्।

(अद्वयतारकोपनिषद्)

संसारजन्य कर्म, क्लेश, विपाक, जन्म-मरण आदि यावद् दुःखपरम्परासे तारनेके कारण ही 'तारक' नाम अन्वर्थक है। इस तारतम्यके रहस्यमय योगको प्राप्तकर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है, उसे कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहता, वह जीवन्मुक्तदशामें विचरने लगा तो फिर बाकी क्या रहा। **'मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति'**—उसकी कौन कहे, वह तो

विश्वको पावन करने लगा, अब उसके दर्शन और परमात्माके दर्शनमें अन्तर नहीं रहा—'**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**' वह ब्रह्मतुल्य हो गया।

'तस्मादन्तर्दृष्ट्या तारक एवानुसंधेयः।'

(अद्वयतारकोपनिषद्)

इसलिये विज्ञजनोंको आत्मदृष्टिद्वारा तारकयोगका अनुसंधान करना चाहिये, इस प्रकारकी आज्ञा श्रुति प्रदान करती है। इस बातका अनुमोदन स्मृति भी मुक्तकण्ठसे करती है। यथा—

'गुरुर्विश्वेश्वरः साक्षात् तारकं ब्रह्म निश्चितम्।'

इस तारकज्ञानके प्रदान करनेवाले गुरुको साक्षात् ईश्वरस्वरूप समझना चाहिये और तारकज्ञानयोग निश्चय ब्रह्मस्वरूप है। जो तारकयोग प्रदान कर अन्यको भी अपने समान शक्तिसम्पन्न बना देता है, वह ईश्वरस्वरूप तो है ही, इसमें संदेह क्या ? महर्षि पतञ्जलि भी अपने योगदर्शनके एक सूत्रमें 'तारकयोग' की अपूर्वता और विशेषता स्वीकार करते हैं। यथा—

तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।

(योग० ३। ५४)

'विवेकद्वारा प्राप्त किया गया 'तारकयोगज्ञान' बिना क्रम सब विषयोंको प्रकाशित करता है' अर्थात् जैसे अन्य विद्या या योग क्रमशः धीरे-धीरे प्राप्त होते हैं, ऐसा तारकयोगमें नहीं। यह तो एक कालावच्छेदेन अतीत-अनागत समस्त प्रपञ्चका प्रकाशक होते हुए ब्रह्मसाक्षात्कार करानेवाला है। इसलिये इसे 'तारक'नामसे पुकारते हैं।

यह योग क्या है और इसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है, यह द्रष्टव्य है। तारकयोग एक मन्त्रविशेषद्वारा प्राप्त ज्ञानको कहते हैं, जिसमें ब्रह्मसाक्षात्कारका भेद बताया गया है। इसे परा ब्रह्मविद्या भी कहते हैं। इसका मुख्य साधन प्रेम है। जहाँतक सच्चा प्रेम उत्पन्न नहीं होता,वहाँतक तारकयोग सिद्ध नहीं होता। इसका बल प्रेम बिना प्रकट नहीं होता। अन्य क्रियाओंद्वारा सहायता मिलती है, परंतु इसका प्राण तो प्रेम ही है। प्रेमपुट लगते ही तारकज्ञान अपूर्व योगको प्राप्त हो जाता है। प्रेममें दबाव न सही किंतु आकर्षण है। भयङ्करता नहीं किंतु तल्लीनता है, अभिमान नहीं किंतु अपनापन है, नैराश्य नहीं अपितु विश्वास है। अतएव 'तारकयोग' प्राप्त करनेके लिये प्रधान साधनभूत सच्चा प्रेम ही माना गया है। प्रेमद्वारा इसे प्राप्त करते विलम्ब नहीं। इस योगमें एक अपूर्व विशेषता यह है कि इसका सम्यक् ज्ञान होते ही मनुष्य पद्मपलाशवत् निर्लिप्त होकर निर्भय विचरने लग जाता है और सच्चिदानन्दके ज्ञानका अनुभवी होकर किसी प्रकारके विक्षेपको प्राप्त नहीं होता—

इतहीं बैठे घर जागे धाम। पूरन मनोरथ हुए सब काम॥

इस विनश्वर विश्वमें बैठा हुआ भी वह अपनेको ब्रह्मधाममें मानता है और पूर्णकाम होकर जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो जाता है।

विश्व-कल्याण-योग

(श्रीअनन्तशङ्करजी कोल्हटकर बी० ए०)

'योगीश्वरं याज्ञवल्क्यम्' कहकर जिनका अनुस्मरण ब्रह्मयज्ञके समय हम करते हैं, उन मुनि याज्ञवल्क्यका आदेश है—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।

मानवमात्रका परम धर्म यही है कि योगसाधनासे आत्म-दर्शन करे। श्रुति माता भी कहती हैं—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।' परंतु, परम कठिन योग-साधनका अनुष्ठान करना तथा सिद्धियोंके मोहसे अपने-आपको बचाकर, अन्तिम सफलता प्राप्त करना बड़ा ही दुस्तर है।

हमारा एकमात्र सहारा इसमें—भगवत्-शरणागति है। परमात्मा कहीं दूर तो नहीं हैं ! हमारे हृन्मन्दिरमें ही विराजते हैं। सरलचित्तसे उन्हें पुकारो। उन्हींके बताये पथसे चलो।

मन और इन्द्रियोंका संयम करो। आत्म-तत्त्व एक ही है—ऐसी समबुद्धि धारण करो। भूतमात्रके हित-साधनमें प्रयत्नशील रहो और निश्चय रखो, तुम मुझे ही प्राप्त होंगे, यही विश्व-कल्याण-योग है।

क्रियायोगका स्वरूप

योगदर्शनमें समाधिसिद्धिका एक मुख्य साधन 'ईश्वरप्रणिधान' माना गया है[१] और ईश्वरप्रणिधान क्रियायोगका एक प्रधान अङ्ग है। यह समाधि ही असम्प्रज्ञात योग या सम्पूर्ण योगके नामसे योगशास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। भगवान् पतञ्जलिने तप (भगवान्‌की सेवाके लिये कष्ट सहना), स्वाध्याय (इष्ट देवताके नाम, मन्त्र, स्तोत्र और चरित्रोंका श्रवण, मनन, ध्यान आदि) तथा ईश्वरप्रणिधान (आराधन करते हुए अपने सारे कर्मों, कर्मफलों तथा अपने-आपको भी भगवान्‌के समर्पण कर देना) को क्रियायोग माना है[२]।

क्रियायोगपर पद्मपुराणका 'क्रियायोगसार' नामक एक स्वतन्त्र खण्ड है। इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्ध तथा अध्यात्मरामायण एवं अन्य पुराणोंमें भी बार-बार क्रियायोगका वर्णन हुआ है। इन सभी प्रकरणोंमें क्रिया-योगको प्रायः भक्तियोग या ईश्वरनिमित्तक कर्मयोग ही कहा गया है। क्रियायोगमें भगवान्‌के आराधना-विषयक पञ्चोपचारोंसे लेकर १०८ राजोपचारोंतक भगवदर्चाका साङ्गोपाङ्ग वर्णन हुआ है। इसलिये पद्मपुराणमें क्रियायोगके सारभूत निर्णयके विषयमें कहा गया है कि साङ्गोपाङ्ग क्रियायोगकी साधनामें गङ्गादि पुण्यतोया नदियोंका दर्शन, नामस्मरण, मार्जन, अवगाहन, भगवान् विष्णुकी पूजा, दानकर्म, ब्राह्मण एवं भक्तोंकी पूजा, एकादशी आदि व्रतोंका अनुष्ठान, धात्री-पिप्पल आदि देववृक्षों एवं तुलसीका पूजन, अतिथि आदिमें विष्णु-भक्तकी भावना रखकर उनका सत्कार तथा अर्चन आदि श्रद्धा-भक्तिसे किया जाता है। ये सब क्रियायोगके अङ्ग-उपाङ्ग हैं—

गङ्गाश्रीविष्णुपूजा च दानानि द्विजसत्तम।
ब्राह्मणानां तथा भक्तिर्भक्तिरेकादशीव्रते॥
धात्रीतुलस्योर्भक्तिश्च तथा चातिथिपूजनम्।
क्रियायोगाङ्गभूतानि प्रोक्तानीति समासतः॥

(पद्म० क्रिया० ३।४-५)

वैसे क्रियायोगका मुख्य अङ्ग है 'भगवान्‌की नाना उपचारोंसे अष्टयामोंमें बार-बार आराधना करना।' यह योग वैष्णव-समाजमें विशेषरूपसे समादृत है। शास्त्रोंमें क्रियायोगका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वर्णन किया गया है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि क्रियायोग (पूजा-पद्धति)के द्वारा भगवान्‌की आराधना परम कल्याणकारक है। इस क्रियायोगके आदि उपदेष्टा भगवान् नारायण हैं, फिर ब्रह्मा, भृगु आदिसे यह परम्परा लोकमें प्रसृत होती गयी। भगवान् शङ्करने माता पार्वतीको भी क्रियायोगका उपदेश दिया था। यह क्रियायोग सभी वर्णाश्रमोंके लिये प्रशस्त है। स्त्री-शूद्रादिके लिये भी यह श्रेष्ठ साधना-पद्धति है। भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवको इस योगका उपदेश करते हुए कहा था—

'प्रिय उद्धव! इस क्रियायोग (कर्मकाण्ड)का बहुत विस्तार है, तथापि मेरी पूजाकी तीन विधियाँ हैं—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्रित। साधकको इन तीनोंमेंसे जो अनुकूल एवं सुविधाजनक हो, उसका आश्रय लेकर अपने कल्याणका प्रयत्न करना चाहिये। साधकको चाहिये कि अधिकारानुसार शास्त्रोक्त विधिसे यज्ञोपवीत-संस्कारद्वारा संस्कृत होकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक पूजन-सामग्रियोंसे मूर्तिमें, वेदीमें, अग्निमें, सूर्यमें, जलमें, हृदयमें अथवा ब्राह्मणमें मेरी ही भावना कर पूजा करे। प्रातः शौच-स्नान-संध्यावन्दनादिसे निवृत्त होनेपर पूजन करना चाहिये। मेरी मूर्ति आठ प्रकारकी है—पत्थरकी, लकड़ीकी, धातुकी, मिट्टी और चन्दनादिकी, चित्रमयी, बालुकामयी, मनोमयी और मणिमयी। प्रतिमा भी चल-अचल-भेदसे दो प्रकारकी होती है। अचल प्रतिमामें आवाहन-विसर्जन नहीं होता। सकाम भाव तथा निष्काम-भाव—इन दोनों भावोंसे भक्त मेरी उपासना करते हैं। हृदयमयी मूर्तिमें केवल भावनाद्वारा ही पूजन किया जाता है।' भगवान्‌का कथन है कि यदि कोई बिना भक्तिभावके श्रद्धा-विहीन होकर मुझे सब कुछ अर्पण कर देता है तो भी मैं उससे संतुष्ट नहीं होता, परंतु कोई श्रद्धापूर्वक केवल जल भी अर्पण करता है तो मैं पूर्ण प्रसन्न हो जाता हूँ। फिर यदि कोई

१-समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् (यो० सू० २।४५)।

२-तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। (यो० सू० २।१)।

श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गन्ध-पुष्प-धूप-दीपादि उपचारोंके समर्पण-पूर्वक मेरी आराधना करता है तो कहना ही क्या ?—

भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते।
गन्धो धूपः सुमनसो दीपोऽन्नाद्यं च किं पुनः॥

(श्रीमद्भा० ११। २७। १८)

उपासक भगवान्‌की आराधनाके लिये पूजासम्भार लेकर कुशासनपर पूर्व या उत्तराभिमुख होकर बैठ जाय। विधिपूर्वक अङ्ग-न्यास एवं करन्यास कर जलपूर्ण कलशकी गन्ध-पुष्पादि-से पूजा करे। अपने ऊपर अभिमन्त्रित जल छिड़के। तदनन्तर पाद्य, अर्घ्य एवं आचमनीयके लिये तीन पात्रोंमें जल भरकर रख ले, उनमें पूजा-पद्धतिके अनुसार पृथक्-पृथक् गन्ध-पुष्पादि सामग्री छोड़े। तीनों पात्रोंके जलको क्रमशः हृदयमन्त्र-शिरोमन्त्र और शिखामन्त्रसे तथा अन्तमें गायत्रीसे तीनोंको, अभिमन्त्रित करे। इसके बाद प्राणायाम तथा हृदयकमलमें भगवान्‌का ध्यान करे। तदनन्तर मानसी पूजा करे। पुनः तन्मय होकर मेरा आवाहन कर प्रतिमामें स्थापना करे। फिर अङ्ग-न्यास कर पूजा करे। पाद्य, अर्घ्यादि उपचार समर्पित करे। सुदर्शनचक्र, पाञ्चजन्य शङ्ख, कौमोदकी गदा, खड्ग, बाण, धनुष, हल, मूसल—इन आठ आयुधोंकी पूजा आठ दिशाओंमें करे। कौस्तुभमणि, वैजयन्तीमाला तथा श्रीवत्सचिह्नकी पूजा वक्षःस्थलपर यथास्थान करे। नन्द, सुनन्द, प्रचण्ड, चण्ड, महाबल, बल, कुमुद और कुमुदेक्षण—इन आठ पार्षदोंकी आठ दिशाओंमें गरुडके सामने; दुर्गा, विनायक, व्यास और विष्वक्सेनकी चारों कोनोंमें स्थापना कर पूजा करे। बायीं ओर गुरुकी और यथाक्रम पूर्वादि दिशाओंमें इन्द्रादि लोकपालोंकी पूजा करे।

भगवान्‌की विशेष पूजामें यदि सम्भव हो तो चन्दनादिसे सुवासित जलसे '**स्वर्णोघर्मः०**'[३] '**जितं ते पुण्डरीकाक्ष०**'[४] तथा पुरुषसूक्त[५] आदि वैदिक सूक्तोंसे स्नानाभिषेक करे। यज्ञोपवीत, चन्दन, आभूषण, माला, वस्त्रादि अलङ्करणोंसे भगवान्‌को अलङ्कृत करे। विविध व्यञ्जनोंका नैवेद्य लगाये। पञ्चामृत आदि अर्पित करे।

इष्टदेवताके मन्त्रादिसे हवन और भगवत्स्वरूप मूल मन्त्र '**ॐ नमो नारायणाय**' का जप भी करना चाहिये। अन्तमें नीराजन पुष्पाञ्जलि समर्पित करे तथा भगवान्‌के स्तोत्रों, चरित्रों एवं लीला-कथाओंका गान करे। भगवान्‌की कथाओंका स्वयं श्रवण करे, दूसरोंको श्रवण कराये तथा सांसारिक प्रपञ्चको भूलता हुआ भगवान्‌में तन्मय रहे। अन्तमें दण्डवत् प्रणामकर भगवान्‌के चरणकमलोंमें अपना सिर रखकर दोनों हाथोंसे चरण पकड़कर इस प्रकार प्रार्थना करे—'भगवन्! इस संसार-सागरमें मैं डूब रहा हूँ। मृत्युरूप मगर मेरा पीछा कर रहा है। मैं डरकर आपकी शरणमें आया हूँ। प्रभो! आप मेरी रक्षा कीजिये'—

'प्रपन्नं पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहार्णवात्॥'

—ऐसी प्रार्थना कर मुझे समर्पित पुष्प, पुष्पमाला आदि आदरके साथ ग्रहणकर सिरपर धारण करे, उसे मेरा दिया हुआ प्रसाद ही समझना चाहिये।

'उद्धवजी! प्रतिमा आदिमें जब जहाँ श्रद्धा हो, तब तहाँ मेरी पूजा करनी चाहिये, क्योंकि मैं सर्वात्मा हूँ और समस्त प्राणियोंमें तथा अपने हृदयमें भी स्थित हूँ। इस प्रकारके क्रियायोगद्वारा जो मेरी पूजा करता है, वह इस लोक और परलोकमें मुझसे अभीष्ट सिद्धि प्राप्त करता है। जो निष्कामभावसे मेरी पूजा करता है, उसे मेरा भक्तियोग प्राप्त हो जाता है और उस निरपेक्ष भक्तियोगके द्वारा वह स्वयं मुझे प्राप्त कर लेता है।' इस क्रियायोगमें भगवान्‌की आराधनामें मन्दिर-निर्माण, प्रतिमा-स्थापन, फूल आदिके बगीचे

३-यजुर्वेद १८। ५०, स्वर्णघर्मानुवाक।

४-पुराणोंकी महापुरुषविद्या चौदह श्लोकोंका एक दिव्य स्तोत्र है, यह महाभारतमें भी प्राप्त होता है। इसमें नारायणकी स्तुतिपूर्वक उन्हें परम आराध्य मानकर उनकी शरणमें जानेपर दिव्य ज्ञानप्राप्तिसे संसारसे निस्तार होनेकी बात प्रधानरूपसे वर्णित है। श्रीमद्भागवतके छठे स्कन्धके १६वें अध्यायमें देवर्षि नारदने राजर्षि चित्रकेतुको महापुरुषविद्याका उपदेश दिया था, जिसके प्रभावसे चित्रकेतुको भगवान्‌के दिव्य दर्शन हुए और उनकी कृपासे विद्याधरत्व प्राप्त हुआ। इस महापुरुषविद्याका प्रारम्भ—

जितं ते पुण्डरीकाक्ष नमस्ते विश्वभावन। सुग्रह्यण्य नमस्तेऽस्तु महापुरुषपूर्वज॥ —से हुआ है।

५-यजुर्वेदके ३१वें अध्यायके प्रारम्भिक सोलह मन्त्र। यह सूक्त प्रायः सभी संहिताओंमें पढ़ा गया है।

लगवाना, रथयात्रा आदि उत्सवोंकी सम्यक् व्यवस्था करना, मन्दिर आदिके लिये भूमि-दान करना आदि सभी पुण्य-कर्म सम्मिलित हैं। तात्पर्य यह है कि क्रियायोगमें सभी कार्य भगवदुद्देश्यसे तथा भगवदर्पणबुद्धिसे किये जाते हैं। ऐसा साधक शीघ्र ही भगवान्‌के कृपा-प्रसादसे उनके सायुज्यको प्राप्त कर लेता है और उसका जीवन कृतकृत्य हो जाता है।

शिक्षाकी दृष्टिसे अष्टाङ्गयोगका महत्त्व

(डॉ० श्रीभीष्मदत्तजी शर्मा)

महर्षि पतञ्जलि-प्रणीत योगदर्शन साधकों, भक्तों और उपासकोंके लिये परम उपयोगी शास्त्र है। इसमें अन्य दर्शनोंकी भाँति खण्डन-मण्डन न करके सरलतापूर्वक संयमित जीवनपद्धतिपर प्रकाश डाला गया है। इसीलिये आजके युगमें न केवल आध्यात्मिक अथवा धार्मिक क्षेत्रमें योगदर्शनके महत्त्वको स्वीकार किया गया है, वरन् शिक्षाके क्षेत्रमें भी इसका महत्त्व दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है।

शिक्षाका जीवनसे गहरा सम्बन्ध है। जीवनका आधार शिक्षा ही है। किसी व्यक्तिके जीवनमें जैसी शिक्षा होती है, वैसा ही उसके जीवनका निर्माण होता है। धार्मिक शिक्षासे धार्मिक जीवनका और भौतिक शिक्षासे भौतिक जीवनका निर्माण होता है। अतः सदैव श्रेष्ठ शिक्षाको जीवनमें उत्तम माना गया है।

भारतवर्ष धर्म, संस्कृति, अध्यात्म और शिक्षाके क्षेत्रमें प्राचीन कालसे ही अग्रगण्य रहा है। यहाँकी आध्यात्मिक शिक्षाने विश्वको समानता, स्वतन्त्रता तथा भ्रातृत्वका दर्शन प्रदान कर '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' की भावनाका प्रचार-प्रसार किया है। यह विडम्बना ही है कि आज भारतमें धार्मिक, आध्यात्मिक और नैतिक शिक्षाका प्रायः लोप होता जा रहा है। महर्षि मनु, वाल्मीकि, व्यास, शंकर, रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ, तुलसी और सूरदास आदि प्राचीन विद्वानों एवं संत-महात्माओंसे लेकर स्वामी विवेकानन्द, टैगोर, अरविन्द और गाँधीजी आदि सभी विचारकोंने शिक्षाको परिभाषित करते हुए कहा कि इसके द्वारा बालकका न केवल शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और सामाजिक विकास होता है, वरन् आध्यात्मिक, धार्मिक और नैतिक विकास भी होता है। वस्तुतः ऐसा होनेपर ही सर्वाङ्गीण विकासकी प्रक्रिया पूर्ण होती है। अतः आज शिक्षा-प्रणालीको इस प्रकार तैयार करनेकी आवश्यकता है, जिससे विद्यार्थियोंका वास्तविक समग्र विकास हो सके। इस दृष्टिसे शिक्षाके क्षेत्रमें योगके समाहितचित्तताकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

यद्यपि समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद तथा कैवल्यपाद नामसे चार पादोंमें विभक्त पातञ्जलयोगदर्शनमें समग्र जीवनपद्धतिका चिन्तन हुआ है तथापि साधनपादमें प्रतिपादित अष्टाङ्गयोगमें ही इस शास्त्रका सम्पूर्ण सार-सर्वस्व निहित है। समस्त योगसाधना इसी अष्टाङ्गयोगपर आधारित है। निर्मल विवेक-ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय बतलाते हुए योग-सम्बन्धी आठ अङ्गोंके अनुष्ठानपर इस शास्त्रमें बल देना इसी ओर संकेत करता है कि मानव-जीवनमें इहलौकिक एवं पारलौकिक कल्याणके लिये यम-नियमादि अष्टाङ्गयोगकी साधना परम उपादेय है। आत्मसाक्षात्कार सम्पूर्ण योगसाधनाका चरम फल है। उचित शिक्षाद्वारा इसी आत्म-साक्षात्कारको प्राप्त करके मानव कृतकृत्य हो जाता है। आजकी शिक्षा प्रणालीमें इनकी उपादेयताको स्वीकार करते हुए योगको शिक्षाके विभिन्न स्तरोंके पाठ्यक्रमोंमें सम्मिलित करनेकी आवश्यकता है, किंतु योगाभ्यासमें केवल विभिन्न प्रकारके आसनोंका अभ्यास करना ही आज प्रचलित होनेके कारण इसका पूर्ण रहस्य अज्ञात ही बना रहता है और योग केवल ऐसा शारीरिक व्यायाममात्र बनकर रह गया है, जिसका उद्देश्य या तो शरीरको स्वस्थ रखना अथवा अनेक प्रकारके रोगोंसे मुक्ति प्राप्त करना है, किंतु वस्तुस्थिति यह नहीं है। यह तो योगका गौण उद्देश्य है। योगका मुख्य उद्देश्य है—ईश्वर-प्राप्ति। योगाभ्यास करनेसे यदि किसीको भगवद्भक्ति नहीं हुई तो उसका प्रयास व्यर्थ है। विद्यार्थी तथा अध्यापकके लिये योगकी उपादेयता इतनी अधिक है कि इसके अभावमें आजकी शिक्षामें नैतिक मूल्योंका निरन्तर ह्रास हो रहा है।

अतः शिक्षाके क्षेत्रमें योगके समावेशको परम आवश्यक मानते हुए उसके आठों अङ्गोंका यहाँ संक्षेपमें शैक्षिक महत्त्वाङ्कन किया जा रहा है—

यम

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम हैं। इन पाँचों यमोंकी आजकी शिक्षामें महती आवश्यकता है। आज छात्रोंके जीवनमें जो अव्यवस्था, कुण्ठा, हिंसा, अनुशासनहीनता, उपेक्षा, निराशा, असंयम, अशान्ति और छल-कपट आदि दुर्गुण बढ़ते जा रहे हैं, उसके मूलमें योगके इस प्रथम अङ्ग 'यम' को छात्रोंद्वारा अपने आचरणमें न लाना ही है। आजकी शिक्षामें छात्रोंको संयमी बनानेका प्रयास न होनेसे ही युवकोंमें धर्म, संस्कृति और अध्यात्मसे हटनेकी प्रवृत्ति बलवती होती जा रही है। आज शिक्षामें प्रत्येक स्तरपर पाठ्यक्रममें इन पाँचों यमोंको छात्रों तथा अध्यापकोंके जीवनमें धारण करानेका प्रावधान होना चाहिये। समुचित दिशामें व्यवहार-परिवर्तन करनेका शिक्षाका कार्य तभी पूर्ण होगा, जब छात्र और अध्यापक दोनों ही अहिंसक, सत्यवादी, ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करनेवाले तथा अपरिग्रही होंगे।

नियम

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (शरणागति)—ये पाँच नियम हैं। शौचका अर्थ है—बाह्य और आभ्यन्तर-शुद्धि। जल-मिट्टी आदिसे बाह्य शुद्धि और जप-तप तथा पवित्र विचारोंसे आन्तरिक शुद्धि होती है। आजकल लोग मल-त्यागके पश्चात् साबुनसे हाथ धोकर शुद्धि मान लेते हैं, किंतु यह उचित नहीं है। बिना जल-मिट्टीके शुद्धि नहीं होती। आज शौचाचारकी व्यवस्था दिन-प्रति-दिन शिथिल होती जा रही है। छात्रोंका आहार-व्यवहार और विचार दूषित होना आजकी शिक्षाका अभिशाप बन गया है। अतः शौच-पालनकी ओर छात्रोंको प्रेरित करनेकी बड़ी आवश्यकता है। भारतीय दर्शन मानव-जीवनमें संतोषको अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानता है, किंतु पाश्चात्य दर्शन ठीक इसके विपरीत असंतोषको उन्नतिका कारण मानता है। अतः आजकी शिक्षा भी छात्रों और अध्यापकों तथा समाजमें असंतोषको बढ़ा रही है। छात्रोंमें व्याप्त असंतोषकी अभिव्यक्ति समय-समयपर अनेक प्रकारके आन्दोलनके रूपमें होती रहती है। ऐसी परिस्थितिमें छात्रोंद्वारा संतोष-नियमका पालन करनेसे शिक्षा-जगत्में व्याप्त अशान्तिके शमनमें सहायता मिल सकती है।

तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधानका मानव-जीवनमें विशेषरूपसे छात्रोंके लिये अत्यधिक महत्त्व है। सत्कर्मके लिये कष्ट सहन करने, सद्ग्रन्थोंके अध्ययन करने तथा ईश्वरके प्रति समर्पित हो जानेसे ही अच्छे मानवका निर्माण हो सकता है। आजकी शिक्षाका भी उद्देश्य है—अच्छे मानवका निर्माण। छात्रोंको ऊँचा उठनेके लिये कठोर परिश्रमी, अध्ययनशील और ईश्वर-भक्त बननेकी प्रेरणा इन तीनों साधनोंसे लेनी चाहिये।

आसन

आसनका अर्थ है बैठना। परमात्मामें मन लगानेके लिये निश्चलभावसे सुखपूर्वक बैठनेको आसन कहते हैं। आजकल अनेक प्रकारके योगासनोंके प्रशिक्षणका प्रचलन बढ़ता जा रहा है, किंतु योगके नामपर केवल विभिन्न प्रकारके योगासनों, व्यायामोंका प्रशिक्षणमात्र ही दिया जाता है। स्कूलों-कालेजों और विश्वविद्यालयोंमें योगके नामसे जो कोर्स चल रहे हैं, उनमें भी प्रायः विभिन्न प्रकारके योगासनोंपर ही बल दिया जाता है। किंतु महर्षि पतञ्जलिके अनुसार यम-नियमकी सिद्धि होनेपर ही आसनकी स्थिति है। बिना यम-नियमके आसनकी साधना करना व्यर्थ है। यम-नियमरहित आसनका अभ्यास शारीरिक व्यायाममात्र ही है। उससे किसी प्रकारका आध्यात्मिक लाभ नहीं हो सकता है। परमात्मामें मन लगानेके लिये आसनका अभ्यास किया जाता है, न कि केवल स्वास्थ्य-लाभके लिये।

यदि शिक्षणको प्रभावशाली बनाना है तो हमें छात्रोंको आसन-सम्बन्धी जानकारियोंसे अवगत कराना चाहिये। इसके अतिरिक्त छात्रोंके जीवनमें ऐसी पद्धतिका भी विकास करना चाहिये, जिससे वे प्रतिदिन कुछ समय परमात्मामें मन लगानेके लिये अपनी सुविधानुसार आसनका अभ्यास करते रहें और साथ ही पद्मासन, हलासन, मयूरासन आदि विभिन्न प्रकारके योगासनोंका अभ्यास करानेसे भी छात्रोंके जीवनमें सदाचार, संयम, अनुशासन तथा अच्छे संस्कारोंका विकास हो सकता है।

प्राणायाम

यम, नियम तथा आसनकी सिद्धि होनेके पश्चात् योगका चतुर्थ साधन है 'प्राणायाम।' प्राणायामका अर्थ प्राण (श्वास-प्रश्वास) का व्यायाम है। जिस प्रकार शरीरको स्वस्थ एवं हृष्ट-पुष्ट रखनेके लिये व्यायाम किया जाता है, उसी प्रकार श्वास-प्रश्वासकी क्रियाद्वारा हृदयको हृष्ट-पुष्ट एवं स्वस्थ रखनेके लिये प्राणायाम किया जाता है। इससे आन्तरिक शुद्धि होती है। अतः प्रत्येक धार्मिक अनुष्ठानके प्रारम्भमें आचमन और प्राणायामका विधान है।

जिस प्रकार शारीरिक अनुशासनके लिये यम, नियम और आसनका अभ्यास आवश्यक है, उसी प्रकार मानसिक अनुशासनके लिये प्राणायामकी आवश्यकता है। आजकल स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयोंमें छात्रोंको योग-प्रशिक्षणके समय प्राणायामका अभ्यास कराना इसलिये आवश्यक है, क्योंकि छात्रोंके जीवनमें व्याप्त अशान्तिको दूर करनेमें इससे सहायता मिलेगी। जब प्रत्येक विद्यार्थी नित्य-प्रति प्राणायाम करनेका अभ्यास करेगा तो उसके मनकी चञ्चलता धीरे-धीरे दूर हो जायगी तथा उसके स्वभावमें स्थिरता आ जायगी। साथ ही अध्ययनके समय उसके मनकी धारणाशक्ति भी बढ़ जायगी और ज्ञानोपार्जनमें भी अभीष्ट सफलता मिलने लगेगी।

प्रत्याहार

यम-नियम और आसनको सिद्ध करते हुए जब साधक प्राणायामका अभ्यास करता रहता है तो उसकी इन्द्रियाँ तो शुद्ध हो जाती हैं किंतु मन तथा इन्द्रियोंकी बाह्य वृत्तियाँ इधर-उधर दौड़ती रहती हैं, जिससे ध्येयमें मन नहीं लग पाता है। अतः उक्त वृत्तियोंको सांसारिक विषयोंसे वापिस लाकर अपने वशमें करते हुए चित्तको ध्येयमें लगानेसे ही योग सिद्ध होता है। किसी भी प्रकारकी साधनाके लिये वस्तुतः न केवल मनको वशमें करना आवश्यक है, वरन् इन्द्रियोंको वशमें करना भी आवश्यक है। जितेन्द्रिय व्यक्ति ही जीवनमें सुखी रहता है। विषयलोलुप इन्द्रियाँ मनुष्यकी शत्रु होती हैं और वशमें होनेपर वे ही मित्र हो जाती हैं। आजकल अश्लील साहित्य, चलचित्र, दूरदर्शन तथा दूषित वातावरणके कारण छात्रोंके जीवनमें इन्द्रियोंकी विषयलोलुपता बढ़ती जा रही है। फलतः वह दिन-प्रति-दिन नैतिक मर्यादाओंसे दूर होकर अपराधी-सा बनता जा रहा है। इसीलिये आजके शिक्षा-मन्दिरोंमें सर्वत्र अशान्ति, कलह, विद्रोह, हिंसा और अनाचार आदिका ताण्डव नृत्य हो रहा है। ऐसे विकट समयमें छात्रोंके जीवनमें नैतिक मूल्योंके विकासके लिये उनकी इन्द्रियलोलुपताको दूर करना आवश्यक है। इस कारण जब छात्र पाठ याद करने बैठते हैं तो उन्हें पाठ याद नहीं होता। इन सभी दोषोंका निवारण 'प्रत्याहार'के प्रशिक्षणसे हो सकता है। अतः छात्रोंको योगासनकी शिक्षाके समय प्रत्याहारका अभ्यास भी कराया जाना चाहिये।

धारणा-ध्यान-समाधि

यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार—ये पाँच योगके बहिरङ्ग-साधन हैं। इनके सिद्ध होनेपर अन्तरङ्ग-साधनोंका अभ्यास कराया जाता है। अन्तरङ्ग-साधनोंमें पहला साधन है धारणा, दूसरा साधन है ध्यान और तीसरा साधन है समाधि। शरीरके बाहर या भीतर कहीं भी किसी एक स्थानमें चित्तको ठहराना 'धारणा' है। जिस ध्येय वस्तुमें चित्तको लगाया जाय, उसीमें चित्तकी वृत्तिका एकतार चलना 'ध्यान' है। योगका अन्तिम साधन 'समाधि' है। इसमें मनकी पूर्ण एकाग्रता होती है। ध्याता, ध्यान और ध्येय—ये तीनों इसमें एक हो जाते हैं। इन तीनों साधनोंका किसी एक ध्येय पदार्थमें होना 'संयम' कहलाता है (योग० ३।४)। संयमकी सिद्धि होनेपर योगीको बुद्धिका प्रकाश प्राप्त हो जाता है। योगीकी यह बुद्धि ऋतम्भरा प्रज्ञा कहलाती है। इसके द्वारा उसे वस्तुके स्वरूपका यथार्थ एवं पूर्ण ज्ञान होता है। यही योग-साधनाकी पराकाष्ठा है।

शिक्षाके क्षेत्रमें धारणा, ध्यान और समाधिका अत्यन्त महत्त्व है। प्राचीन कालमें गुरु अपने शिष्योंको इन तीनोंका विशेष प्रशिक्षण देते थे, जिससे उन्हें परिपूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति होती थी। आध्यात्मिक, धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्रमें उनकी उपलब्धि अतुलनीय होती थी। वस्तुतः धारणा, ध्यान और समाधिके बिना यथार्थ ज्ञानका प्राप्त होना कठिन ही नहीं, वरन् असम्भव है। कोई भी साधना इन तीनोंके बिना अधूरी है। शिक्षा प्राप्त करना भी एक साधना है। इसके लिये भी चित्तकी एकाग्रता आवश्यक है। आजकल विद्यार्थियोंकी प्रायः यह

शिकायत रहती है कि उनका मन पढ़ाईमें नहीं लगता है। जब वे किसी विषयका अध्ययन करने बैठते हैं तो उनका मन अन्यत्र चला जाता है। उन्हें पाठ ठीक याद नहीं हो पाता। अतः वे परीक्षामें उत्तीर्ण होनेमें कठिनाईका अनुभव करनेके कारण अनुचित साधनोंका प्रयोग करते हैं। साक्षात्कारके समय यथावत् ज्ञानका प्रस्तुतीकरण न करना, प्रश्नोंका ठीक उत्तर न दे पाना, किसी विषयपर ठीक-ठीक विचार प्रकट न कर पाना, पाठ याद करते-करते सिरमें दर्द हो जाना और समयपर याद किये हुएको भूल जाना आदि दोष आज छात्रोंमें बढ़ते जा रहे हैं। इन सबका कारण है चित्तकी एकाग्रताका अभाव। चित्तकी एकतानताके लिये आवश्यक है कि शिक्षा-प्रणालीमें धारणा, ध्यान और समाधिका ज्ञान कराया जाय। इससे उन्हें मेधावी और योग्य नागरिक बनाया जा सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षाके क्षेत्रमें योग-प्रशिक्षणका तभी पूर्ण लाभ उठाया जा सकता है जब उसके आठों अङ्ग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिका परम्पराप्राप्त प्रशिक्षण दिया जाय।

संत-मतमें सुरत-शब्दयोगकी महत्ता

(स्वामी श्रीअच्युतानन्दजी महाराज)

संत-मतकी साधनामें सुरत-शब्दयोग अथवा नादानुसंधान प्रभु-प्राप्तिका सर्वोत्तम और अन्तिम साधन है। सुरतको अन्तर्नादमें जोड़नेकी क्रियाको सुरत-शब्दयोग कहते हैं। मानस-जप, मानस-ध्यान—इन दोनों स्थूल सगुण उपासनाओंके बाद दृष्टियोग करनेपर जो ज्योतिर्मय बिन्दु उदित होता है, उस बिन्दुपर ही अन्तर्नाद ग्रहण होता है। मनोनिग्रहके लिये नादानुसंधान सर्वोत्कृष्ट यौगिक क्रिया है। उपनिषत्कारने कहा है—

सदा नादानुसंधानात् संक्षीणा वासना तु या॥
निरञ्जने विलीयेते मनोवायू न संशयः।

(नादबिन्दूपनिषद् ४९-५०)

अर्थात् नादके सतत अभ्याससे वासना क्षीण हो जाती है और मन तथा प्राणवायु निरञ्जन (निर्माया) में लय हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है।

नाद ग्रहण करनेपर मन विषयकी चाहना नहीं करता। इसके सम्बन्धमें उपनिषद्का वचन द्रष्टव्य है—

मकरन्दं पियन् भृंगो गन्धान् नापेक्षते यथा।
नादासक्तं सदा चित्तं विषयं न हि काङ्क्षति॥
यद्वः सुनादगन्धेन सद्यः संत्यक्तचापलः।

(नादबिन्दूपनिषद् ४२-४३)

अर्थात् 'जिस प्रकार मधुमक्खी मधुको पीती हुई उसकी सुगंधकी चिन्ता नहीं करती, उसी प्रकार चित्त जो सर्वदा नादमें लीन रहता है, विषयकी चाह नहीं करता, क्योंकि वह नादकी मिठासमें वशीभूत है तथा अपनी चञ्चल प्रकृतिको त्याग चुका है।'

नादका अभ्यास करनेपर मनको इतना आनन्द प्राप्त होता है कि वह विषयरूप विषको भूल जाता है—

नादग्रहणतश्चित्तमन्तरङ्गभुजङ्गमः॥
विस्मृत्य विश्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति।

(नादबिन्दूपनिषद् ४३-४४)

अर्थात् 'नाग-रूप चित्त नादका अभ्यास करते-करते पूर्णरूपसे उसमें लीन हो जाता है और सभी विषयोंको भूलकर नादमें अपनेको एकाग्र करता है।'

संत कबीर साहबने नादानुसंधानको सहज योग कहा है। मनको वशमें करनेके लिये अन्तर्नादकी खोज आवश्यक है—

सबद खोजि मन बस करै, सहज जोग है येहि।
सत्त सब्द निज सार है, यह तो झूठी देहि॥

शब्द-साधना करके जो अपनी चेतन-धारको समेट पाते हैं, उनका शरीर प्राण रहते हुए भी मृतकवत् हो जाता है, ऐसे साधक फिर आवागमनके चक्रमें नहीं पड़ते। लेकिन जो शब्द-साधना हीन हैं, वे संसारमें भूले रहते हैं और बारंबार जनमते-मरते हैं। गुरु नानकसाहबकी वाणीमें इसकी पुष्टि पायी जाती है—

सबदि मरै तो मरि रहै, फिरि मरै न दूजी वार।
सबदै ही ते पाइऐ, हरि नामे लगै पिआरु॥
बिनु सबदै जग भूला फिरै, मरि जनमै बारोबार।

शब्द-साधनासे सारी इन्द्रियाँ विषय-विमुख हो शिथिल हो जाती हैं, मन गल जाता है और सभी सांसारिक आशाएँ मिट जाती हैं। संत चरणदासजी महाराजने बड़ा ही उत्तम कहा है—

'जबसे अनहद घोर सुनी, इन्द्री थकित गलित मन हूआ,
आशा सकल भुनी'

सुरत-शब्दयोगको संतोंने मीन-मार्ग कहा है। जैसे छोटी मछली नदीके बहावके प्रतिकूल जलके सहारे चलती है, उसी प्रकार साधक सुरत-शब्दके सहारे सृष्टि-प्रवाहके प्रतिकूल चलकर परम प्रभु परमात्माको पाता है। वह शब्द-प्रवाह भी ऊपरसे नीचेकी ओर है। लेकिन जो शब्दको ग्रहण करते हैं, वे शब्दके उद्गमकी ओर आकृष्ट होते हैं, क्योंकि शब्दमें अपने उद्गम-स्थानकी ओर खींचनेका स्वाभाविक गुण है। जो शब्द जहाँसे आता है, वह अपने उद्गम-स्थानका गुण भी साथ लिये रहता है और जो उसे ग्रहण कर पाते हैं, उन्हें वह शब्द अपने गुणसे संयुक्त कर देता है।

सृष्टिके आदिमें परमात्माकी इच्छा हुई कि **'एकोऽहं बहु स्याम्'** अर्थात् मैं एक हूँ, अनेक हो जाऊँ। इच्छासे कम्प हुआ। कम्पका सहचर शब्द भी अवश्य हुआ। उसी आदि शब्दको ऋषियोंने ओ३म्, स्फोट, उद्गीथ, प्रणव, ध्वनि, ब्रह्मनाद आदि शब्दोंसे कहा और संतोंने अपनी वाणीमें उसे सार-शब्द, सतनाम, सत्तशब्द, आदिनाम, रामनाम कहा है। यह आदिनाम परम प्रभु परमात्मासे हुआ, इसलिये इसमें परमात्मातक पहुँचनेकी शक्ति है। जो इसे ग्रहण करते हैं, वे ईश्वरीय गुणके ग्राही हो जाते हैं अर्थात् उनमें ईश्वरत्व आ जाता है। इसलिये संतोंने शब्द-साधना वा सुरत-शब्दयोगको विशेष महत्ता दी है। इसके सम्बन्धमें कबीर साहबने बहुत ही अच्छा कहा है—

आदिनाम पारस अहै, मन है मैला लोह।
परसत ही कंचन भया, छूटा बंधन मोह॥

वह आदिशब्द किसी अङ्ग-प्रत्यङ्ग वा अन्य किसी पदार्थमें ठोकर लगनेसे नहीं उत्पन्न होता, प्रत्युत वह स्वाभाविक ही सबके अन्तःस्थलमें सदा ध्वनित होता रहता है। इसीलिये उसे अनाहत शब्द कहा गया है। आहत शब्द किसी-न-किसी वस्तुमें ठोकर लगने वा कम्पन होनेसे उत्पन्न होता है। लेकिन अनाहत शब्द परम प्रभु परमात्मासे ही उत्थित है। संत कबीर साहबने इसके सम्बन्धमें कहा है—

सब्द सब्द सब कोइ कहै, वो तो सब्द बिदेह।
जिभ्या पर आवै नहीं, निरखि परखि करि लेह॥

संतोंने सार-शब्द अर्थात् आदिनामको ही ग्रहण करनेका संकेत किया है, क्योंकि उसको ग्रहण करनेपर परमात्माकी प्राप्ति होती है।

आदिनाम निर्गुण और सर्वव्यापक है। इसीलिये संतोंने इसे निर्गुण रामनाम भी कहा है। यह आदिनाम साधकको साधनाके प्रथम सोपानमें प्राप्य नहीं है। स्थूल-मण्डलका केन्द्रीय शब्द ग्रहण करके फिर सूक्ष्म-मण्डलके केन्द्रीय शब्दको ग्रहण करते हुए कारण-मण्डलके केन्द्रीय शब्दको ग्रहण कर महाकारण-मण्डलके केन्द्रपर जो शब्द ग्रहण होगा, वही सार-शब्द है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण-मण्डलतक त्रयगुण (सत्त्व, रज, तम) का विस्तार है। इसलिये इन मण्डलोंके शब्द सगुण-ही-सगुण होंगे। इन चतुर्मण्डलोंके परे जो नाद ग्रहण होगा, वही निर्गुण रामनाम है।

शब्द-साधनाके पूर्व बिन्दु-ध्यान आवश्यक है। दृष्टियोग करनेपर जो ज्योतिर्मय बिन्दु उदित होता है, उसपर नाद स्वाभाविक ही स्थित रहता है, इसीलिये जो दृष्टियोग करके बिन्दुको प्राप्त करते हैं, उनको अन्तर्नाद सहज ही प्राप्त होता है। योगशिखोपनिषद्में इसका वर्णन बहुत उत्तम ढंगसे हुआ है—

'बिन्दुपीठं विनिर्भिद्य नादलिङ्गमुपस्थितम्।'

अर्थात् 'बिन्दु-पीठका भेदन करके नादलिङ्ग उपस्थित होता है।' ज्योतिर्मय बिन्दु सूक्ष्म होता है। किसी भी अक्षरके लिखनेके पूर्व बिन्दु बनता है, तभी वह अक्षर लिखा जाता है। ध्यानबिन्दूपनिषद् (श्लोक २)में बिन्दुको बीजाक्षर कहा है, जिसपर नाद स्थित रहता है—

बीजाक्षरं परं बिन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम्।
सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्॥

अर्थात् परम बिन्दु ही बीजाक्षर है, उसके ऊपर नाद है। नाद जब अक्षर(अविनाशी) ब्रह्ममें लय हो जाता है, तो निःशब्द परम पद कहलाता है।

संत पलटू साहबने भी कहा है कि जो बहिर्वृत्तिको

त्यागकर अन्तर्मुखताका साधन करते हैं, वे ज्योतिर्मय बिन्दुको पाते हैं, जिसपर नाद-ध्वनि हो रही है—

बिन्दुमें नादका मेला, उलटिके खेल यह खेला।
बिन्दुमें तहँ नाद बोलै रैन दिवस सुहावनं॥

परमाराध्य श्रीसद्गुरु महाराज (पूज्यपाद महर्षि मेँही परमहंसजी महाराज) की भी वाणीमें आया है—

धर कर बिन्दु सुनो अनहद ध्वनि।
बिबिध भाँतिकी होती पुनि पुनि॥

यों प्रकृति भी संकेत करती है कि ज्योतिके बाद शब्द अवश्य होता है। जैसे आकाशमें जब बादल टकराते हैं तो प्रथम बिजलीकी छटक होती है, उसके बाद ठनकेकी भी आवाज होती है। उसी तरह साधक जब साधना करके प्रकाश-मण्डलमें पहुँचते हैं, तो वहाँ उन्हें शब्द भी अवश्य मिलता है। इसीलिये गुरु नानकसाहबने कहा है कि सुषुम्नामें शून्यका ध्यान करके शब्द ग्रहण करना चाहिये—

सुखमन कै घरि राग सुनि सुन मंडल लिव लाइ।
अकथ कथा बिचारिअै मनसा मनहि समाइ॥

आदिनाद ही सृष्टिका मूल कारण अर्थात् बीज है। यदि शब्द न रहे तो सृष्टि नहीं रहेगी। अन्तर्नादका सुनना बाह्यकानसे नहीं हो सकता है, क्योंकि यह नाद अत्यन्त सूक्ष्म होता है जो अन्तर्हृदयमें ही प्रकाशित होता है।

इसीको उलटा नाम भी कहा गया है। इसलिये कि इसका प्रवाह ब्रह्माण्डसे पिण्डकी ओर अर्थात् ऊपरसे नीचेकी ओर है। जपकालमें वर्णात्मक नामका जब उच्चारण होता है तो यह नीचेसे अर्थात् नाभिसे प्रवाहित होकर मुखसे निकलता है। इसीलिये इसे सीधा और ध्वन्यात्मक रामनामको उलटा कहा है। वर्णात्मक नाम सगुण होता है। लेकिन ध्वन्यात्मक नाम अर्थात् आदिनाम निर्गुण होता है। इसी अनुपम और गुण-निधान निर्गुण रामनामकी वन्दना गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने रामचरितमानसके बालकाण्डमें की है—

बंदउँ नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥
बिधि हरि हरमय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो॥
(१९। १-२)

गोस्वामीजीने इस निर्गुण रामनामको ब्रह्मा, विष्णु और महेश तथा वेदका प्राण अर्थात् ओंकार कहा है। सुरत-शब्दयोगकी साधनाद्वारा साधक मायाके सारे आवरणों—अन्धकार, प्रकाश और शब्द अथवा स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण और कैवल्यको पारकर परम प्रभु परमात्मासे एकताका बोध कर पायेंगे। इसके लिये सच्चे शब्दाभ्यासी सदाचारी सद्गुरुसे तथा शास्त्रोंसे सद्युक्ति प्राप्त करनी चाहिये।

नामसंकीर्तन-योग

(श्रीश्रीधरविनायकजी माण्डवगणे)

मनीं ईश्वराचे चरण। सर्वभावें त्यास शरण॥
योजे ऐसे अन्तःकरण। योग म्हणावे त्याळा॥
(यथार्थदीपिका)

'मनमें ईश्वरके चरण हों, सब प्रकारसे चित्त उन्हींके शरण हो, ऐसा अन्तःकरण हो जाय, इसीका नाम योग है।'

योगाभ्यासकी जो आवश्यकता होती है वह मनोनाश करके चित्तको ऐसा बना लेनेके लिये होती है। जिस योगके अभ्याससे यह काम बनता है,उसे राजयोग कहते हैं। राजयोग जिस क्रमसे प्राप्त होता है, उसमें तीन 'क्रम-भूमिकाएँ' हैं, जिन्हें हठ, लय और मन्त्रयोग कहते हैं। इस क्रमसे चित्त चिन्मय तो हो जाता है, पर इसमें केवल व्यतिरेकज्ञान रहता है अर्थात् उससे जीवन्मुक्त-अवस्था नहीं प्राप्त होती। जीवन्मुक्त होनेके लिये अन्वय-ज्ञान आवश्यक होता है।

यावन्नानात्मधीः पुंसो न निवर्तेत युक्तिभिः।
जागर्त्यपि स्वपन्नज्ञः स्वप्ने जागरणं यथा॥
(श्रीमद्भागवत)

'जबतक पुरुषकी नानात्मधी-युक्तियोंसे निवृत्ति नहीं होती, तबतक वह अज्ञ जागता हुआ भी सोता है, जैसे कोई मनुष्य सोते हुए जागता है।' इसके लिये कर्मयोगकी आवश्यकता होती है। **'त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः'**के अनुसार 'काम्यत्याग' और तत्पश्चात् 'सर्वकर्मफलत्याग' अर्थात् ईश्वरार्पण-कर्मके योगसे जब साधक त्यक्तकाम-संन्यासी हो जाता है, तब वह भागवतधर्मका अधिकारी होता है। ईश्वरभक्तिके अतिरिक्त जिसके और कोई

भी इच्छा नहीं होती, उसके सब कर्म ईश्वरार्पित हो जाते हैं। 'निर्हैतुक-निरहङ्कार होनेमात्रसे ही ब्रह्मार्पण हो जाता है', जैसा कि रंगनाथ स्वामीने कहा है। इससे अन्तःकरण शुद्ध होता है और ईश्वरभक्ति अङ्कुरित होती है। इसके अनन्तर कीर्तनमें रुचि होती है और नवविध भक्तियोगसे तत्त्वजिज्ञासा उत्पन्न होकर श्रीगुरुजनका अधिकार प्राप्त होता है। श्रीगुरुका स्वरूप बतलाते हैं—

शब्दज्ञाने पारंगत। जो ब्रह्मानन्दे सदा डुल्लत।
शिष्य प्रबोधनी समर्थ। तो मूर्तिमंत स्वरूप माझें॥

(एकनाथी भागवत)

अर्थात् श्रीगुरु, जो शब्दज्ञानमें पारङ्गत हैं तथा ब्रह्मानन्दमें सदा झूमते रहते हैं और जो शिष्यको प्रबुद्ध करनेमें समर्थ होते हैं, वह भगवान्‌के ही मूर्तिमान् रूप हैं। ऐसे गुरुकी शरणमें जाकर ज्ञान प्राप्त करना होता है। ग्रन्थोंके अध्ययनसे केवल रुचि होती है। यथार्थ ज्ञान श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुसे ही प्राप्त होता है।

युगधर्मके अनुसार इस कलियुगमें 'नाम-संकीर्तन' ही मुख्य साधन है—

तात्काल जावया देहाभिमान। अखंड माझें नामस्मरण॥
गीत नृत्य हरिकीर्तन। सर्व भूतीं समान मद्भाव॥

(एकनाथी भागवत)

'देहाभिमानके शीघ्र छूटनेके लिये भगवान्‌का अखण्ड नामस्मरण, गीत-नृत्य, हरिकीर्तन और सब प्राणियोंमें समान भगवद्भाव ही साधन है।'

हरिकीर्तनसे ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र तीनों ही ग्रन्थियोंका भेदन होकर आत्मस्वरूपका बोध होता है। भगवान् वेदव्यासने महाभारत, वेदान्त-सूत्र और अष्टादश पुराण रचे, पर उन्हें उनसे शान्ति नहीं प्राप्त हुई। तब भगवन्नाम-कीर्तनरत वीणाधारी श्रीनारदसे उन्होंने शान्तिका मार्ग पूछा। देवर्षिने **'अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः'** कहकर भक्तिके सूत्र बताये और ऐसा ग्रन्थ रचनेको कहा, जिसमें श्रीहरिका गुणकीर्तन हो। तब वेदव्यासने वह ग्रन्थ 'श्रीमद्भागवत' लिखा। वेदव्यासके पुत्र सिद्ध योगी श्रीशुकाचार्य कहते हैं—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्यैव पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा॥

'सब शास्त्रोंका आलोडन करके बार-बार जो विचार किया, उससे यही निष्कर्ष निकला कि सदा नारायणका ही ध्यान करते रहना चाहिये।'

श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं—'कीर्तनसे काया ब्रह्मभूत हो जाती है और ऐसा महद्भाग्य उदय होता है कि भगवान् भी भक्तके ऋणी हो जाते हैं।' इसलिये कीर्तन-योगकी महिमा बड़ी विलक्षण है।

व्यक्तियोग

संसारमें जो असंख्य आत्मा नामरूपसे व्यक्त हुए हैं, वे परमात्माकी असंख्य सत्ताएँ हैं। एक ही परमात्मसत्ताके ये असंख्य भेद हैं, यद्यपि एक ही परमात्मसत्ताके अन्तर्गत होनेसे वे एक दूसरेसे पृथक् नहीं। इनके असंख्य ज्ञान हैं, यद्यपि एक ही परमात्मज्ञानके अंश होनेसे वे एक दूसरेसे पृथक् नहीं। इनके असंख्य आनन्द हैं, यद्यपि एक ही परमानन्दके आस्वाद होनेसे वे एक दूसरेसे पृथक् नहीं। ये जो सत्ता, ज्ञान और आनन्दके भेद नामरूपात्मक जगत्‌में नाम-रूपसे व्यक्त हुए हैं सो उस सत्ता, ज्ञान और आनन्दको व्यक्त करनेके लिये ही हो सकते हैं, अव्यक्तके व्यक्त होनेमें व्यक्त होनेकी इच्छाके सिवा और कोई कारण नहीं हो सकता। इसलिये संसारमें जितने नाम-रूप व्यक्त हुए हैं, उनके पीछे परमात्माकी एक-एक सत्ता, ज्ञान और आनन्द अव्यक्त है। एक-एक अव्यक्त सत्ता, ज्ञान और आनन्दस्वरूप एक-एक आत्माका ही यह व्यक्त रूप है, जो हम संसारमें देखते हैं। संसारमें सब रूप एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं, इसका कारण यह है कि इन रूपोंके पीछे भिन्न-भिन्न आत्मा अपने सच्चिदानन्दस्वरूपके भिन्न-भिन्न प्रकारोंके साथ है। संसारमें जो कोई व्यक्त हुआ, उसका हेतु अपनी सत्ता, ज्ञान और आनन्दको व्यक्त करना है। जन्म-जन्मान्तरसे व्यक्त करनेका यह काम होता चला आया है। परमात्मा अपनी सत्ता, ज्ञान और आनन्द अनन्तकोटि विश्वब्रह्माण्डरूपमें व्यक्त करते हैं। वैसे ही उसीके अंश

असंख्य आत्मा एक-एक व्यष्टिमें अपनी सत्ता व्यक्त करते हैं। **'एकोऽहं बहु स्याम्'**—यह जो मूल संकल्प है वही अनन्तविध होकर व्यक्त होने लगता है। अपने-आपको व्यक्त करनेका यह जो कर्म है, इसकी परिसमाप्ति अपने अंशकी सम्पूर्ण सत्ता, ज्ञान और आनन्दके प्रकट करनेमें ही हो सकती है। इसलिये जिस शरीरमें आत्माकी पूर्ण अभिव्यक्ति हो जाती है वह मुक्त हो जाता है। इसका अर्थ यही है कि यह सृष्टिकर्म परमात्माके अपने-आपको व्यक्त करनेका कर्म है और इस कर्मके अंशस्वरूप असंख्य आत्माओंका अपने-अपने असंख्य शरीर-निर्माण करनेका कर्म भी अपने-आपको ही व्यक्त करनेका कर्म है। भगवत्संकल्पके अनुसार भगवान्‌के सत्-चित्-आनन्दस्वरूपका पूर्णतया व्यक्त हो जाना जैसे भगवत्संकल्पकी पूर्ति और तत्संकल्पगत भगवत्कर्मकी परिसमाप्ति है, वैसे ही प्रत्येक आत्माका परमात्मसंकल्पके अंशस्वरूप जो संकल्प है; उसके अनुसार उसका अपने विशिष्ट सच्चिदानन्दस्वरूपका पूर्णतया व्यक्त करना ही उस संकल्पकी पूर्ति अर्थात् उसे व्यक्त करनेके कर्मकी परिसमाप्ति है। संसारमें जितने व्यक्त रूप हैं, वे रूप ही हैं, आत्मा नहीं, पर हैं वे आत्माके रूप, इतनी बात सत्य है। पर आत्माके भी वे पूर्ण अभिव्यक्ति करनेवाले रूप नहीं हैं। पूर्ण अभिव्यक्ति जिस आत्माकी हो जाती है, उसका कर्म पूर्ण हो गया। आत्माका किसी रूपमें व्यक्त होना ही केवल कर्म नहीं—कर्म है आत्मसत्ताको पूर्णरूपसे व्यक्त करना, एक जन्ममें न हो तो दो जन्ममें, दस जन्ममें। जन्मका हेतु आत्माको ही व्यक्त करना है। आत्माका यह व्यक्तियोग है।

परंतु जबतक आत्माकी ही स्मृति नहीं है, देहात्मबुद्धि है और विषय ही परमधाम है, तबतक यह व्यक्तियोग केवल आकाशकुसुम है। इसलिये पहले आत्माको जानना चाहिये। श्रीगुरुकृपाके बिना आत्मस्वरूप नहीं पहचाना जाता, ऐसा सुना है। और श्रीगुरु सत्सङ्गके बिना नहीं मिलते और सत्सङ्ग श्रीहरिकृपा बिना नहीं मिलता। इसलिये भगवान्‌की भक्तिसे सत्सङ्ग लाभकर श्रीगुरुरूप भगवान्‌से आत्मस्वरूपमें स्थित होनेका योग जानना चाहिये। विषयोंके सब बन्धनोंसे मुक्त होनेपर ही अपने-आपको जाननेकी आशा की जा सकती है। भगवद्भक्तिसे यह सब सुगम हो जाता है। मुक्त मनुष्यके जो कर्म होते हैं, वे आत्मस्वरूपको ही व्यक्त करनेवाले होते हैं।

मुक्त पुरुषके शरीर और कर्म ही आत्माकी अभिव्यक्ति हैं। संसारमें देखने योग्य रूप, सुनने योग्य वाणी, स्पर्श करने योग्य शरीर, समझने और हृदयमें धारण करने योग्य प्रत्येक बात मुक्त पुरुषकी ही होती है। कारण, मुक्त पुरुषकी ये सब बातें आत्माकी अभिव्यक्ति होती हैं। इसीलिये ऐसे पुरुषोंके दर्शन करनेकी इच्छा होती है और उनके दर्शन-स्पर्शनसे अद्भुत सुख होता है। उनका उठना-बैठना, चलना-फिरना, हँसना-खेलना भी देखने योग्य होता है। इसीलिये अर्जुन श्रीकृष्णसे पूछते हैं कि वह कैसे बोलते हैं, कैसे बैठते हैं, कैसे चलते हैं, यह भी बताइये। जितने मुक्त पुरुष हैं वे सब दर्शनीय हैं, वे सभी दुःख हर लेते हैं, क्योंकि उनके रूप और कर्म आत्माके होते हैं। पर सब मुक्त पुरुषोंके रूप और कर्म एक-से नहीं होते—एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न होते हैं। किसीका श्रीरूपसौन्दर्य श्रीउमामहेशके समान होता है, किसीका श्रीशिवके समान होता है, किसीका श्रीरामके समान, किसीका श्रीबुद्धदेवके समान, किसीका श्रीकृष्णके समान, किसीका श्रीलक्ष्मीके समान, किसीका श्रीसरस्वतीके समान, किसीका श्रीबालकृष्णके समान; कितने नाम गिनावें, अनन्त नाम हैं—उनके अनन्त रूप हैं—सब दर्शनीय और वन्दनीय! कारण, भगवान् अनन्त हैं, उनके अनन्त नाम हैं, अनेक रूप हैं। अनन्त जो आत्मा हैं, वे ही परमात्माकी अनन्त सत्ताएँ हैं और ये अनन्त सत्ताएँ अनन्त रूप धारण करती हैं। इससे यह बात भी स्पष्ट होती है कि प्रत्येक मनुष्यको निजात्मस्वरूपकी जो अभिव्यक्ति करनी है, वह अन्य सब सच्चिदानन्द सत्ताओंसे रूपतः और कर्मतः भिन्न है। संसारमें जो अनन्त रूप हैं, वे इन्हींके हैं—पर जो रूप और कर्मबद्ध हैं, वे आत्माकी अभिव्यक्ति नहीं—अहङ्कारकी अभिव्यक्ति हैं। जो आत्मा मुक्त हैं, उन्हींके रूप और कर्म आत्माकी अभिव्यक्ति हैं और प्रत्येक आत्माका मूल हेतु संसारमें अपने अनन्तके साथ युक्त सच्चिदानन्दस्वरूपको व्यक्त करना है। हमलोग जो बद्ध हैं, उनका हेतु भी मुक्त होकर अपने नित्ययुक्त सच्चिदानन्दको पाकर उसे व्यक्त करना है। इसी व्यक्तियोगके लिये नर-तन ही एकमात्र साधन है। इसी तनमें यह व्यक्त करना है—प्रत्येक व्यक्तिको व्यक्त करना है। यही व्यक्तियोग है।

प्रेमयोग और भावतत्त्व

(डॉ० श्रीभवदेवजी झा, एम्० ए० (द्वय), पी-एच्०डी०)

योगकी विशेषता विशुद्ध प्रेममें ही है। यह प्रेम वर्णनातीत होता है—'**अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।**' जीव स्वभावतः किसी वस्तुकी अपेक्षा न करके जब आनन्द-सागरमें मग्न होना चाहता है और जब अपने प्रेमास्पदके लिये व्याकुल हो उठता है,तभी सच्चे प्रेमका उदय होता है। इस प्रेमका उदय हो जाना प्रेमयोग कहलाता है। प्रेममें इन्द्रिय-सुखकी इच्छाओंका नितान्त अभाव रहता है। विशुद्ध प्रेम इन्द्रिय और उनके धर्मोंसे परेकी वस्तु है। प्रेमको रागके नामसे भी जाना जाता है। इसके तीन भेद माने गये हैं—पूर्वराग, मिलन और विरह। इस सम्बन्धमें आठ विकारोंकी चर्चा रागमार्गके उपासक वैष्णवोंने की है। वे इस प्रकार हैं—स्तम्भ, कम्प, स्वेद, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वरभङ्ग, पुलक और प्रलय। प्रेमके लिये इन भावोंको 'सात्त्विक विकार' कहा गया है। चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु—ये विरहकी दस दशाएँ हैं।

अनुरागको शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति नित्य वर्धमान कहा गया है। अनुराग जब बढ़ते-बढ़ते अपनी अन्तिम सीमातक पहुँच जाता है तो उसे भाव कहते हैं। भावकी अन्तिम परिणतिको ही महाभाव कहते हैं। महाभावके भी दो भेद बताये गये हैं—१-रूढ़ महाभाव तथा २-अधिरूढ़ महाभाव। अधिरूढ़ महाभावके भी दो रूप हैं—मोहन (मोदन) और मादन। मादन महाभाव ही मोहनके रूपमें परिणत होकर दिव्योन्मादको प्रकट करता है। दिव्योन्माद ही प्रेमयोगकी अन्तिम अवस्थाको प्रकट करता है। यह दिव्योन्मादका महाभाव राधिकाजीके शरीरमें सम्यक्‌रूपसे उत्पन्न हुआ था।

भावोंकी चार दशाएँ मानी गयी हैं—(१) भावोदय, (२) भाव-सन्धि, (३) भावशाबल्य तथा (४) भावशान्ति।

किसी कारण-विशेषसे उत्पन्न होनेवाले भावको हम भावोदय कहते हैं। उदाहरणके लिये संध्या होते ही गोपियोंके हृदयमें श्रीकृष्णके आगमनका भावोदय होना। हृदयमें दो प्रकारके भावोंका मिल जाना ही भाव-सन्धि है। जैसे प्रवासी पतिके रुग्णावस्थामें घर लौटनेपर उसकी पत्नीके हृदयमें हर्ष और विषाद—दो प्रकारके भावोंका संयोग हो जाता है। अनेक प्रकारके भावोंका जब प्रेमीके हृदयमें उदय हो जाता है तो उस स्थितिको भावशाबल्य कहते हैं। इसी प्रकार जब इष्ट वस्तुके प्राप्त हो जानेपर जो एक अनिर्वचनीय संतुष्टि मिलती है, उसे ही भावशान्तिके नामसे जाना जाता है। जैसे रासलीलाके समय सहसा श्रीकृष्णके अन्तर्धान हो जानेपर जब वे गोपियोंको अकस्मात् मिल गये, उस समय जो उनका अदर्शनरूप व्याकुलतामय विरहभाव था, वह पूर्णतः शान्त हो गया।

प्रेमयोगियोंने भावतत्त्वकी विशद चर्चा करते हुए व्यभिचारी भावोंका भी वर्णन किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, तम, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अपस्मार, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जाड्य, व्रीडा, अवहित्था, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, अमर्ष, असूया, चापल्य, निद्रा और बोध। इनका वैष्णव ग्रन्थोंमें विशद विवरण प्राप्त होता है।

विशुद्ध प्रेमयोगकी दशा बड़ी विलक्षण होती है। जब एक बार अपने प्रियतमसे लगन लग जाती है और जब वह हृदयमें बस जाता है तो नित्य-निरन्तर उसीके भाव प्रेमीके मनको बाँधे रहते हैं। फिर तो सभी प्रकारके भाव और सात्त्विक विकार एवं विरह-दशाएँ स्वतः उदित होने लगती हैं।

प्रेमीको अपने प्रेमास्पदके विरहमें रोने-धोनेके अतिरिक्त कुछ सुहाता ही नहीं। महाप्रभु चैतन्यदेव भी अपने श्यामसुन्दरके विरहमें रोते-रोते यही कहा करते थे—

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्‌गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

अर्थात् 'हे प्रभो! तुम्हारा नाम लेते-लेते कब मेरे दोनों नेत्रोंसे अश्रुधारा बह चलेगी? कब हम गद्‌गदकण्ठसे तुम्हारा प्यारा नाम रटते हुए पुलकित हो उठेंगे?'

वस्तुतः श्रीचैतन्यमहाप्रभुने तो नाम-संकीर्तनके साथ अपनी सारी साध पूरी कर ली और प्रेमतत्त्वके सभी भावों और विभिन्न स्थितियोंके साथ ही अखण्ड प्रेमानन्द भी प्राप्त कर लिया।

प्रेमीके विरहमें ही उसके प्रेमकी परिपक्वता होती है। विरह प्रेमकी जाग्रत्-गति है और सुषुप्ति मिलन है। विरहके बिना प्रेमका असली स्वाद कहाँ ? अपने प्रियतम श्यामसुन्दरके विरहमें तड़पनेवाली गोपियोंकी दशापर जरा विचार करें, जो प्रेम-बावरी बनकर कहती हैं—

बिनु गोपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब वै लता लगति तन सीतल, अब भइँ विषम ज्वाल की पुंजैं॥
बृथा बहति जमुना, खग बोलत बृथा कमल-फूलनि अलि गुंजैं।

परमज्ञानी उद्धवजीने अपने निर्गुण ज्ञानकी गठरी प्रेमयोगिनी—गोपिकाओंके समक्ष खोल तो दी, पर उनका विरह-विषमज्वर शान्त होनेके बदले और भड़क उठा। उनके विरहका संक्रामक रोग उद्धवपर भी सवार हो गया।

विरह तो परमात्माकी एक विलक्षण देन है, जो किसी विरले भाग्यवान् कृपापात्रको ही प्राप्त हो पाता है। एक कविने तभी तो कहा है—

जिसपर तुम हो रीझते, क्या देते यदुवीर।
रोना-धोना सिसकना, आहोंकी जागीर॥

सचमुच विरह तो एक अनोखी जागीर है, जो किसी भाग्यशालीको ही नसीब होती है। सच्चा प्रेमी अपने प्रेमास्पदको पाकर उतना संतुष्ट नहीं होता, जितना उसके वियोग-विछोहमें आँसू बहाकर होता है।

विशुद्ध भगवत्प्रेमकी विरहाग्निमें तो सारे जप-तप ईंधन बनकर राख हो जाते हैं। विरही उस विरहानलमें जलकर ऐसा राख बन जाता है कि उसे मौत भी नहीं ढूँढ़ पाती। इसीलिये तो कबीरने कहा—

बिरह अगिन तनमें तपै, अंग सबै अकुलाय।
घट सूना जिय पीव महँ, मौत ढूँढ़ फिरि जाय॥

ऋषियोंने अनेकानेक योग-साधनोंका मार्ग प्रशस्त किया, किंतु नटनागरके प्रेममें अपनी सुध-बुध खो बैठनेवाली गोपियोंके प्रेमके समक्ष उन्हें भी लज्जित होना पड़ा। चरनदासने तो विरहकी महिमाके सामने सारे योग, जप, तप तथा ध्यानको भी नगण्य माना है—

पी पी कहते दिन गया, नैन गयी पिय ध्यान।
विरहिन के सहजै सधै भगति जोग तप ज्ञान॥

व्रजगोपियोंकी योगधारणा

(श्रीप्रेमनारायणजी त्रिपाठी 'प्रेम')

भगवान् श्रीकृष्णके वियोगमें गोपियोंको अधीर जानकर भक्तप्रवर उद्धव भगवान्‌की आज्ञासे उन्हें समझा-बुझाकर आश्वासन देनेके लिये व्रज जाते हैं और वहाँ गोपियोंको ज्ञान-वैराग्यका उपदेश देते हैं। उधर गोपियोंपर इसका विपरीत ही प्रभाव पड़ता है। वे अपने प्यारे मनमोहनको जीवन्मुक्त पुरुषके ब्रह्मदर्शनकी भाँति सर्वत्र देख रही हैं। उन्हें जड-चेतन-पृथ्वीकी समग्र वस्तुओंमें प्यारे श्रीकृष्णके दर्शन हो रहे हैं। अपने शरीरमें ही सब कुछ देखनेवाली तथा प्यारे मदनमोहनके साथ सदा क्रीडा करनेवाली एक गोपी कहती है—

हौं ही व्रज वृन्दावन मोहीमें बसत सदा,
जमुनातरंग स्यामरंग अवलीनकी।
चहुँ ओर सुंदर सघन बन देखियतु,
कुंजनमें सुनियत गुंजन अलीनकी॥
बंसीवट तट नटनागर नटतु मोमें,
रासके बिलासकी मधुर धुनि बीनकी।
भरि रही झनक भनक ताल तानिकी,
तनक तनक तामें झनक चूरीनकी॥

(महाकवि देव)

उस गोपीको यकायक प्यारे प्रभुकी रासक्रीडाकी सुधि हो आती है। वह मानो उसीमें प्रभुके साथ नृत्य करके 'तनक-तनक तामें' झनक चूरीनकी' सुन-सुनकर पागल हो उठती है। उसके रोमाञ्च हो जाता है। गद्‌गदकण्ठसे लीलामयकी लीलाका वर्णन करती-करती वह आप-ही-आप आनन्दाम्बुनिधिमें गोते खाने लगती है। इसी बीच दूसरी गोपी उद्धव महाराजसे कहती है—

निसिदिन स्रौननि पियूष सौ पियत रहैं,
छाय रह्यौ नाद बाँसुरीके सुरग्रामकौ।
तरनितनूजा तीर बन कुंज बीथिनमें,
जहाँ-तहाँ देखती हैं रूप छबिधामकौ॥
'कवि मतिराम' होत हौं तौ ना हिये तैं नैकु,

सुख प्रेमगातको परस अभिरामकौ।
ऊधौ! तुम कहत वियोग तजि जोग करौ,
जोग तब करैं जो वियोग होय स्यामकौ॥
(महाकवि मतिराम)

अबकी बार यह गोपी श्याममय होकर उछल पड़ती है। उद्धवजीको डाँट बता-बताकर कहती है—महाराज! यहाँ तो हमें जहाँ-तहाँ सर्वत्र ही प्यारे श्रीकृष्णके दर्शन मिल रहे हैं। उनके अमृतमय वंशीनादसे हमारे कान भरे जा रहे हैं। यमुनाके तीर कुञ्जमें—वनमें, प्रत्येक स्थलमें वह मनोहर छबि दिखायी दे रही है। अतएव हे उद्धवजी! आप जो हमें श्रीकृष्णप्राप्तिके लिये योग-समाधि सिखाने आये हैं, वह तो व्यर्थ ही है। कारण, हमारे प्यारे कन्हैयाका तो हमसे पलभरको कभी वियोग ही नहीं है। वे तो हमारे साथ हमें यहीं दीख रहे हैं। इतना सुनकर तीसरी गोपी आगे बढ़कर कहने लगी—उद्धवजी!—

प्राननिके प्यारे तनतापके हरनिहारे,
नंदके दुलारे ब्रजबारे उमहत हैं।
कहैं 'पदुमाकर' उरूझे उर अंतर यों,
अंतर चहे हू तैं न अंतर चहत हैं॥
नैननि बसे हैं अंग-अंग हुलसे हैं, रोम
रोमनि लसे हैं निकसे हैं को कहत हैं।
ऊधौ! वै गोबिन्द मथुरामें कोई और, इहाँ
मेरे तो गोबिन्द मोहि मोहि में रहत हैं॥
(महाकवि पद्माकर)

यह तो इतनी मगन है कि उद्धवजीको भी चक्करमें डाल देती है। कहती है—'उद्धव महाराज! मेरी आँखोंमें वे बसे हैं। मेरे हृदयमें वे समा गये हैं। दूरी चाहनेपर भी दूर नहीं हो सकते, ऐसे लीन हैं। कौन कहता है कि वे कहीं अन्यत्र जाकर बस गये हैं? हे उद्धवजी! तुम्हारे मथुराजीमें वास करनेवाले श्रीकृष्ण कोई और ही होंगे! मेरे प्यारे कृष्ण-गोविन्द तो मेरे रोम-रोममें समाकर यहीं रम रहे हैं।'

धन्य है प्रेम! विमुग्धकारी लीलाधारीकी छबि जब इस प्रकार किसी योगीके हृदयकमलमें वास करने लग जाती है, तब क्यों न वह ***'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई'*** बन जाय। धन्य है अलखनिरञ्जन, संतनसुखदाता, लीलानागर प्रभु श्रीकृष्णको और उनकी प्रेममयी गोपरमणियोंको!

जडयोग

(श्री 'माधव')

चेतन और जड, विद्या और अविद्या, प्रकाश और अन्धकार, गुण और दोषसे पूर्ण यह विचित्र सृष्टि रचकर प्रभुने मनुष्यको विवेक तथा बुद्धि दी, जिसके सहारे वह जड, अविद्या, अन्धकार और दोषका परित्यागकर चेतन, विद्या, प्रकाश और गुणका आश्रय लिये रहे और अपने सत्यस्वरूपको जानते हुए परमात्म-पथमें उत्साह और उल्लासके साथ चलता रहे। मनुष्यके विवेक और बुद्धिमें जबतक परमात्माका प्रकाश जगमगाता रहता है, तबतक वह अपने उद्देश्य-पथपर निश्चल-रूपसे चलता रहता है। शुद्ध बुद्धिका लक्षण यह है कि उसमें परमात्माका आश्रय, भगवान्‌का भरोसा अक्षुण्णरूपसे बना रहता है। शुद्ध बुद्धि जगत्‌को न देखकर जगत्‌के स्वामीको देखती है। उसे प्रपञ्चका आवरण ढक नहीं सकता, मायाकी मोहिनी उसे मुग्ध नहीं कर सकती, क्योंकि उसे परमात्माका प्रकाश, मायापतिका बल प्राप्त है। प्रपञ्चको वेधकर, ससीमको चीरकर शुद्ध बुद्धिकी विशुभ्र किरणें अविच्छिन्नरूपसे परमात्मपदमें प्रवाहित होती रहती हैं। शुद्ध बुद्धि हरिके सिवा किसीका वरण ही नहीं करती, किसीकी ओर देखती ही नहीं, कुछ स्वीकार ही नहीं करती। शुद्ध बुद्धिका यह स्वाभाविक स्वरूप है।

बुद्धिकी यह स्वाभाविकता तभीतक अक्षुण्ण रहती है, जबतक मनुष्य सतत सतर्क एवं सावधान होकर, अहर्निश भीतरसे जागरूक होकर, प्रभुके स्मरण, चिन्तन, ध्यानका सहारा लेकर सदा-सदैव अपने उद्देश्यका ध्यान रखता है। और उसकी प्राप्तिके लिये सब समय तत्पर रहता है। उद्देश्यका विस्मरण ही सारी विपत्तिका मूल है। जहाँ उद्देश्य एक क्षणके लिये भी बिसरा कि प्रपञ्चके लुभावने पर्दे आँखोंपर, बुद्धिपर पड़े और पर्दा पड़ते ही जो साधना ईश्वरोन्मुखी होकर अनन्य-एकान्तरूपसे प्रभुकी खोजमें थी, वही जगत्‌की पूजा-अर्चा

करने लगती है और बुद्धि धीरे-धीरे शैतानके हाथकी कठपुतली हो जाती है। बुद्धि अपना प्रकाश खो देती है, मनकी लगाम ढीली पड़ जाती है, इन्द्रियाँ विषयोंके मोहक रूपपर आसक्त हो जाती हैं और सबसे भयावह परिणाम इसका यह होता है कि बुद्धिके दोषसे असत्‌में सद्बुद्धि, अपवित्रमें पवित्रबुद्धि, असुखमें सुखबुद्धि और अनित्यमें नित्यबुद्धि हो जाती है। इस कारण मनुष्य स्वभावतः असत्, असुख, अपवित्र और अनित्यकी आराधना करने लगता है। क्योंकि उनके रूपपर आकर्षणका जो सुवर्णमय आवरण पड़ा हुआ है, वही उसे उसके सत्य रूपको देखने नहीं देता। इसे ही हमारे ऋषियोंने 'प्रज्ञापराध' कहा है।

असत्, अनित्य, असुख और अपवित्रकी आराधनामें भला सुख कैसे प्राप्त हो ? मनुष्य तो आशामें, प्रतीक्षामें इस विश्वासमें कि कहीं अदृश्यके गर्भमें सुखकी राशि छिपी पड़ी है, जिसे समय कभी-न-कभी लावेगा ही और हम उस सुखको आज न सही, कल भोगेंगे ही—बस, इसी मृगतृष्णामें वहाँ सुख खोज रहा है, जहाँ सुखका लेश भी नहीं। वहाँ शान्ति पाना चाहता है, जहाँ अशान्तिकी महावह्नि धाँय-धाँय कर धधक रही है। मृगजलसे किसकी कब प्यास बुझी ? परंतु इन नादान मृगोंकी आँखें भी कौन खोले ? जिस क्षण हम जगत्‌के वास्तविक स्वरूपको समझ लेंगे, उसी क्षण हमारी आँखें सदाके लिये इससे फिर जायँगी। मृगशिशुको जलती दुपहरीमें लू और लपटोंमें पानीकी खोजमें व्याकुल दौड़ते हुए देखकर किसे दया नहीं आती ? उस नादान मृगछौनेको कोई लाख समझावे, उसे मरनेसे कोई लाख बचानेकी चेष्टा करे; परंतु उसकी बुद्धिमें जो विभ्रम हो गया है, उसके कारण वह तो आगसे ही प्यास बुझानेपर तुला हुआ है और उसे बचानेका हमारा जो भी प्रयत्न होगा, उसे अहितकारी समझकर वह और भी जी छोड़कर लू और लपटोंमें ही भागेगा। यह नहीं कि उसे लूकी लपटें सताती नहीं, जलाती नहीं। वह जितना ही बढ़ता है उतना ही जलता है, परंतु आगे जो जलकी लहरोंका समुद्र लहरा रहा है, उसे पिये बिना कैसे लौटे ? असत्‌में सद्बुद्धिका परिणाम भीषण ज्वाला, दारुण विपत्ति ही है। महाप्रभुने इसे ही 'विषभक्षण' कहा है।

अनादिकालसे ऋषि-मुनि पहाड़की चोटीपर खड़े होकर डंकेकी चोट कहते आये हैं कि जिस जगत्‌के रूपपर तुम मुग्ध हो उसका एक बार भी तो घूँघट उठाकर मुख देख लो ! आवरणपर प्राण गँवाना कहाँकी बुद्धिमानी है ? जिस क्षण इस जगत्‌को सच्चे रूपमें देख लोगे, उसी क्षण इसका नक्शा ही बदल जायगा और उसी क्षण तुम्हारा जलना-तपना भी सदाके लिये मिट जायगा। भवतापसे तुम मुक्त हो जाओगे। परंतु हमारी दशा तो ठीक उस मृगछौनेकी-सी है जो लू-लपटोंमें झुलसता हुआ भी सुख-जलकी आशा और तृष्णामें बुरी तरह भागा जा रहा है। ऋषि-मुनियोंके इन उपदेशोंको हम सुनते-पढ़ते हैं, परंतु भीतर ऐसा भासता है— अरे ! ये हमें संसारसे अलग करने और हमारा सुख छीननेपर तुले हुए हैं। इन्हें संसार-सुखका क्या पता। इन्होंने तो जंगलों-पहाड़ोंकी हवा खायी। ये तो हमें संसारसे अलग रहकर एकान्त-सेवनका उपदेश देंगे ही, परंतु हम भला ऐसे मूर्ख थोड़े हैं कि सामनेके लहराते हुए संसार-सुखकी अनन्त अपार राशिको ठुकरा दें।

'रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्।

संसारके सुख और भोगकी प्राप्तिके लिये हम आज विनाश—सर्वनाशके पथपर सरपट भागे जा रहे हैं। संग्रह-परिग्रहका भूत सिरपर सवार है और हमने जगत्-पिशाचसे ग्रस्त होकर बुद्धिभ्रंशके कारण पदार्थोंमें सुख मान रखा है। अमुक वस्तुको जुटाओ, उसमें सुखकी प्राप्ति होगी, इस वस्तुका संग्रह करो, उससे सुखका अमृत झरेगा। यह जुटाओ, वह जुटाओ, इसका संग्रह करो, उसका परिग्रह करो—बस अब क्या, अब तो एक क्षणमें अभी सुख बरसनेहीवाला है। एक पग आगे बढ़ाया कि सुखका लहराता हुआ समुद्र चरणोंमें लोटेगा। कैसी शीतल लहरें आ रही हैं। यह सुखद शीतल स्पर्श। इस ओरसे सुखकी बाढ़ उमड़ी आ रही होगी—हम जी भरकर सुख लूटेंगे। अपने तो लूटेंगे ही, अपने बाल-बच्चोंके लिये भी सुखका संग्रह कर जायँगे। उनके लिये सुखकी इतनी सामग्रियाँ इकट्ठी कर जायँगे कि वे सुखमें डूबे ही रहेंगे, कभी सुखका अभाव होगा ही नहीं। बस क्या है—यह जमा करो, उसे जुटाओ, यह बनवाओ, यह तैयार करो, इसे मारो, उसे मिटाओ—हम अपने सुखका एक भी बाधक नहीं रहने देंगे और उसकी जितनी भी साधक सामग्रियाँ

होंगी, उन सबका संग्रह कर लेंगे—फिर भय काहेका, चिन्ता किस बातकी ?

विनाशके पथपर द्रुतगतिसे दौड़नेवालोंमें एक बड़ी विकट प्रतियोगिता, एक विचित्र होड़-सी लगी हुई है ! हम अपने सर्वनाशकी सारी सामग्री जुटाकर ही संतुष्ट नहीं होते। हम देखते हैं कि हमसे आगे दौड़नेवालेके पास अधिक सामग्री है, अधिक परिग्रह है—जिसे हम वैभव-ऐश्वर्य कहते हैं, सुखके बहुत अधिक साधन और सामान विद्यमान हैं—फिर क्यों न हम उन साधनोंको भी इकट्ठा कर लें, क्यों न जीवनका 'सदुपयोग' और 'सद्व्यय' कर लें। अपने लिये सभी सामान इकट्ठा कर लिया तो क्या हुआ—बाल-बच्चोंके सुखका कोष कभी खाली न पड़ने पावे, यह देखना भी तो हमारा ही कर्तव्य है। कोई भी अपनी स्थितिसे—चाहे वह कितनी भी ऐश्वर्यमयी क्यों न हो—संतुष्ट नहीं है। जिसके पास महल-अटारी है, वह ऐसे ही दस-बीस और चाहता है—वह भी यदि हो गया तो इच्छा और तृष्णा फिर असंख्य-गुना बढ़ी और फिर !! तृष्णाका भी कहीं ओर-छोर है ? मरीचिकाकी भी कहीं 'इति' है ? जिसके पास मोटर है वह हवाई जहाजके लिये तड़प रहा है, जिसके पास हवाई जहाज है वह साम्राज्य स्थापित करनेकी ज्वालामें झुलस रहा है, जिसे साम्राज्य है वह संसारपर अपना एकच्छत्र शासन चाहता है !!! इसी वृत्तिका नाम जड-उपासना है।

जड-उपासना, शिवको छोड़कर शवकी आराधना पाश्चात्त्य संस्कृतिके विष-वृक्षका फल है। आज तो समस्त संसार इस ज्वालामें झुलस रहा है और लोग इसे सुखका सुन्दर अमृत-निर्झर मानकर इसमें आकण्ठ डूबे हुए हैं। जड सभ्यताने आत्माके स्थानपर शरीरकी, परमात्माके स्थानपर जगत्की, आत्मकल्याणके स्थानपर सर्वनाशकी और विश्व-कल्याणके स्थानपर संहारकी प्रतिष्ठा की है। सब अपनी ही ऐश्वर्यवृद्धिमें व्यस्त हैं—मानो किसीको दूसरेकी ओर देखने, उसके सुख-दुःख सुननेका कोई अवकाश ही नहीं है। दूसरेको गिराकर, जगत्के सभी प्राणियोंको मिटाकर उसकी छातीपर हम अपने ऐश्वर्यका महल खड़ा करना चाहते हैं। ऊँचे-ऊँचे भव्य महलोंके पड़ोसमें टूटी-फूटी झोपड़ियाँ; विलास, वैभव और नाच-रंगके पास ही भीषण दरिद्रताका करुण आर्त-चीत्कार, मोटरोंकी धूलमें गड़े हुए कंगाल नर-नारियोंके करुण कङ्काल, तोप, मशीनगन और हवाई जहाजोंकी अग्नि-वर्षामें पति और पुत्रको खोकर, तड़पती हुई विधवा और अनाथिनीका हृदयवेधक हाहाकार, प्रभुओंका दीन-हीन किसानोंपर रौरव अत्याचार, धनमदमें झूमते हुए, वेश्या और वारुणीमें डूबे हुए बाबुओं और मालिकोंके प्रमत्त अट्टहासके साथ दाने-दानेके लिये तरसते हुए, लज्जा ढकनेभरके वस्त्रके लिये बिलखते हुए लाखों नर-नारियोंका गगनभेदी करुण-क्रन्दन—इस पाश्चात्त्य संस्कृतिके विष-फल हैं। पुरुषोंमें व्यभिचार और स्त्रियोंमें वेश्यापन—इस सभ्यताका आदर्श है। समस्त प्रकारके संयम-नियम हटाकर, सब तरहके बन्धन और मर्यादाको तोड़कर विलासिता, व्यसन, पापाचार, सुखसम्भोगमें आत्मविस्मृत रहना, यही आधुनिक जड सभ्यताका पुण्य-फल है। और आश्चर्य तो यह है कि इसे ही हम मान रहे हैं—उन्नति, विकास, सुधार और सुख-वृद्धि ! पुरुषोंके हिस्से नृशंसता और स्त्रियोंके हिस्से उच्छृङ्खलता और स्वेच्छाचारिता पड़ी है। सिनेमा-थियेटरोंमें रूपका जाल बिछाकर, नग्न सौन्दर्यकी वारुणी पिलाकर क्वारी लड़कियाँ और मिसें अपने कला-ज्ञानका बहुत सुन्दर परिचय दे रही हैं। पुरुष अपनी माँ-बहिनोंपर भी पापपूर्ण दृष्टि डालते हुए संकोच नहीं करता। पुरुष नारीको अपने विलास-भोगकी सामग्री समझे हुए हैं और नारी अपने रूप-सौन्दर्यके बलपर पुरुषोंको पतनके गह्वरमें गिरानेकी वस्तु। एक ओर वैभव-ऐश्वर्यका प्रमत्त अट्टहास है, दूसरी ओर दरिद्रता, नग्नता, अपमान और प्रताड़नाका नग्न नृत्य !!

पाप, अत्याचार, उत्पीडन और उच्छृङ्खलताका संसारकी छातीपर जब ताण्डवनृत्य होने लगता है और इसके कारण जब विषमता और विरोधकी विभीषिका विश्वको जलाने लगती है—संसारमें हाहाकारका दारुण चीत्कार होने लगता है, तब भगवान् शङ्करका क्रोधस्फीत तीसरा नयन खुलता है, जिससे अग्निकी धारा-सी फूट पड़ती है और जिसमें पड़कर सारी विषमता, सारा विरोध, सारे पाप-ताप-अत्याचार भस्म हो जाते हैं। मानवताके इस विध्वंसमें भी प्रभुका कल्याण-भाव ही है और वे मन्द-मन्द मुसका रहे हैं। इस विध्वंस-लीलाके अनन्तर नवीन सृष्टि, नवीन रचना होती है, जिसमें पुनः शुद्ध

जड़योग
लीलामय
जड़-सभ्यता
MATERIALISM
जड सभ्यता से पीड़ित मानवजाति
SUFFERING HUMANITY

प्रज्ञा और निर्मल विवेकका अवतार होता है।

चरकसंहिताके 'विमानस्थानम्'-प्रकरणके तृतीय अध्यायमें जनपदध्वंसनका वर्णन आया है। एक समय भगवान् पुनर्वसु आत्रेयने अपने शिष्य अग्निवेशसे कहा कि नक्षत्र, ग्रह, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, पवन और दिशाओंकी प्रकृतिमें विकृति आयी-सी मालूम होती है। मालूम होता है, थोड़े दिनों बाद ही पृथ्वी और औषधोंका गुण जाता रहेगा और इस कारण लोग नित्यरोगी हो जायँगे, इसके फलस्वरूप जनपदका उद्ध्वंसन उपस्थित होगा।

मनुष्यकी प्रकृतिमें विभिन्नता होनेपर भी उनके अंदर कुछ समानता है और उस समानताके कारण ही समान कालमें समस्त व्याधियाँ उपस्थित होकर जनपदका नाश करती हैं। उल्कापात, निर्घात और भूकम्प इसके लक्षण हैं। गुरुकी भविष्यवाणी सुनकर शिष्यको बड़ा आश्चर्य हुआ और उसने प्रश्न किया—ऐसी विकृति और तज्जन्य जनपदध्वंस क्यों उपस्थित होता है?

इसका उत्तर भगवान् आत्रेय देते हैं— वायु आदिमें जो वैगुण्य उपस्थित होता है उसका कारण अधर्म है। पूर्वकृत असत् कर्म ही उसके कारण हैं। उस अधर्म और असत् कर्मका घर है प्रज्ञापराध—बुद्धिका दोष। जब देश, नगर और जनपदके अध्यक्ष धर्मका परित्याग कर अधर्मपथसे प्रजा-पालन करते हैं, तब उनके आश्रित-उपाश्रित, पुरवासी, जनपदवासी और व्यवहारोपजीवी (वकील, मुख्तार) उस अधर्मकी वृद्धि करते हैं। उस अधर्मके उत्पन्न होनेसे धर्म अन्तर्हित हो जाता है। उसके बाद उन सब धर्मविहीन लोगोंको देवता छोड़ देते हैं। इस तरह मनुष्यके धर्मविहीन, अधर्मपरायण और देवताओंद्वारा परित्यक्त होनेके कारण सब ऋतुएँ विकृत हो जाती हैं। अतएव देवता यथासमय वर्षा नहीं करते, अथवा विकृतरूपमें करते हैं। वायु सम्यग्रूपमें नहीं प्रवाहित होता, भूमि विकृत हो जाती है, पानी सूख जाता है, औषध अपना स्वभाव छोड़कर विकृत हो जाते हैं। अन्तमें समाज उस वायु, जल, भूमि और औषधके स्पर्श, पान और भोजनके कारण ध्वंसको प्राप्त होता है। युद्धके कारण भी मनुष्यका ध्वंस होता है, किंतु उस युद्धका मूल भी अधर्म ही है। मनुष्योंमें लोभ, क्रोध, रोष और अभिमान अत्यन्त बढ़ जानेसे वे दुर्बलोंका अपमान करके आत्मीय स्वजन और दूसरोंका नाश करनेके लिये एक-दूसरेपर शस्त्रद्वारा आक्रमण करते हैं। अधर्म अभिशापका भी कारण है। धर्मविहीन मनुष्य धर्मभ्रष्ट होकर गुरु, वृद्ध, सिद्ध, ऋषि और पूज्योंका अपमान करके अहित साधन करते हैं। फिर वे सब लोग गुरु आदिके अभिशापसे भस्म हो जाते हैं।

ऐसे संकटकालमें बचनेका क्या उपाय है? किस तरह इस ध्वंससे त्राण मिले? भगवान् आत्रेय इस महामारीसे बचनेका उपाय इस प्रकार बतलाते हैं—

सत्यं भूते दया दानं बलयो देवतार्चनम्।
सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मनः॥
हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम्।
सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम्॥
शङ्क्या धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम्।
धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसम्मतैः॥
इत्येतद् भेषजं प्रोक्तमायुषः परिपालनम्।
येषां न नियतो मृत्युस्तस्मिन् काले सुदारुणे॥

ऐसे सुदारुण जनपदध्वंसकालमें इन दवाओंसे ही रक्षा हो सकती है—सत्याचरण, सब भूतोंके प्रति दया, दान, बलि, देवार्चन, सद्वृत्तका अनुष्ठान, आत्मगुप्ति (मन्त्रोंद्वारा आत्मरक्षा), पुण्यवान् जनपदसमूहका उपसेवन (अर्थात् देशपरिवर्तन), ब्रह्मचर्यपालन, ब्रह्मचारियोंके आश्रयमें रहना, धर्मशास्त्र तथा जितात्मा महर्षियोंका आज्ञापालन और वृद्धजनपूजित धार्मिक और सात्त्विक लोगोंका सहवास।

आज संसारमें युद्धके बादल मँडरा रहे हैं। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रके, एक देश दूसरे देशके सर्वनाशकी तदबीरें सोच रहा है और उसके लिये विषैली गैसों, नये-नये प्रकारके हवाई जहाजों, मशीनगनों तथा तोपोंका आविष्कार बड़ी तत्परतासे हो रहा है। अधर्म, पापाचार, विध्वंस, स्वेच्छाचारिता, अदूरदर्शिताका भीषण उत्पात सर्वत्र हो रहा है। क्या इनसे भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं? क्या इस जनपदध्वंस-प्रक्रियामें हम देवताओंके विरुद्ध असुरोंका ही साथ देते रहेंगे? अथवा दैवी सम्पत्तिकी अभिवृद्धि कर पुनः रामराज्यकी स्थापनामें सहायक होंगे?

पातिव्रतयोग

(पं० श्रीप्रेमवल्लभजी त्रिपाठी)

अनादि संसृतिपारावारमें मायानिर्मित सुख-दुःख-मोहात्मक प्रपञ्चके बन्धनसे परवश हुआ जीव तबतक स्वतन्त्र और अनन्त सुखी कदापि नहीं हो सकता, जबतक कि वह अनन्तकोटिब्रह्माण्डाधीश्वर, निराकार, निर्विकार परब्रह्मका साक्षात्कार न कर ले। उसके साक्षात्कारके लिये यज्ञ, तपस्या, दान, यम, नियम, स्वाध्यायादि अनेक उपायोंमें योग एक सर्वश्रेष्ठ उपाय है। धर्मशास्त्रके उपदेशक-शिरोमणि योगिराज श्रीयाज्ञवल्क्यजी आत्मसाक्षात्कार करनेके लिये अनेकानेक धर्मोंका निरूपण करते हुए योगमार्गद्वारा आत्मसाक्षात्कार करना परमधर्म बतलाकर योगकी सर्वश्रेष्ठता प्रदर्शित करते हैं—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।

—तत्तद् अधिकारियोंकी तत्तद् भावनानुसार वेदशास्त्रोंमें योगके नाना प्रकारके भेद वर्णित किये गये हैं। अतः प्रत्येक पुरुष अपने-अपने वर्ण, आश्रम और भावानुकूल अधिकारोंके अनुसार योगका आश्रय लेकर उस परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

स्त्रियोंके लिये इसी परमपदको प्राप्त करनेका एकमात्र साधन 'पातिव्रत' (योग) है। वास्तवमें पातिव्रत योग ही है। विचार करनेपर पता लगता है कि योग और पातिव्रतमें तथा उनकी साधनप्रणालीमें किञ्चित् भी अन्तर नहीं है। क्योंकि **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'**—चित्तकी चञ्चल वृत्तियोंको असन्मार्ग (विषयों) से हटाकर भगवान्‌की किसी सगुण या निर्गुण मूर्तिमें उसे स्थिर करना ही योग है। तब क्या चित्तवृत्तिसहित बहिर्मुख इन्द्रियोंको असन्मार्गसे हटाकर अपने पतिदेवमें ही स्थिर करना, यह स्त्रियोंका पातिव्रतयोग नहीं है ?

जिस तरह यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारादि-द्वारा चित्तको भगवत्परतन्त्र रखना ही पुरुषोंके योगका साधन कहा गया है, इसी तरह पतिके ही निमित्त अपनी सब कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाएँ करते हुए सर्वथा पतिके परतन्त्र रहना ही स्त्रियोंके पातिव्रतयोगका परमसाधन बतलाया गया है। भगवान् मनुने स्पष्ट निर्देश दिया है कि स्त्री अपनी बाल्यावस्थामें पिताके अधीन, युवावस्थामें पतिके अधीन, पतिके दिवङ्गत हो जानेपर अपने पुत्रादिके अधीन रहे। पूर्ण स्वतन्त्र कभी न रहे—

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम्॥

(मनु० ५। १४८)

अतएव स्त्रीकी स्वतन्त्रताका सर्वथा ही निषेध किया गया है—

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित् कार्यं गृहेष्वपि॥

(मनु० ५। १४७)

अर्थात् 'स्त्री बालिका हो या युवती अथवा वृद्धा—उसे पूर्ण स्वतन्त्रतापूर्वक बिना घरवालोंकी अनुमतिके कोई भी महत्त्वका कार्य नहीं करना चाहिये।'

पुरुषोंके लिये साकार तथा निराकार-भेदसे दो तरहकी ईश्वरीय उपासना कही गयी है, किंतु स्त्रियोंके लिये स्वतन्त्र रीतिसे इस उपासनाकी आज्ञा न देकर केवल एक पातिव्रतरूप सगुणोपासना ही वेद-शास्त्रोंमें कही गयी है। यद्यपि गार्गी, मैत्रेयी आदि विदुषी स्त्रियोंने भी ज्ञानमार्गद्वारा निर्गुण ब्रह्मकी और गोपियाँ, मीराबाई प्रभृति स्त्रियोंने भक्ति-मार्गका अवलम्बन ले सगुण ब्रह्मकी उपासना करके पुरुषोंके समान स्वतन्त्र रीतिसे आत्म-साक्षात्कार किया, परंतु ये सब ज्ञानाधिकार और भक्त्यधिकार असाधारण कोटिके हैं। गार्गी, मैत्रेयी, गोपीजन, मीरा प्रभृति स्त्रियाँ साधारण कोटिकी नहीं थीं। इनमें कोई तो श्रुति और कोई देवियाँ और कोई ऋषिका थीं, जिन्होंने किसी कारणवश ही स्त्री-शरीर ग्रहण किया था। अतः उनके लिये ही यह असाधारण धर्म सम्भव था, स्त्रीजाति-मात्रके लिये नहीं। इस दृष्टिसे गार्गी, मैत्रेयी प्रभृति स्त्रियाँ स्त्री-जातिकी आदर्श नहीं हो सकतीं। स्त्रियोंके आदर्श अरुन्धती, अनसूया, सीता, सावित्री, गान्धारी आदि हैं, जिन्होंने अपने पति भगवान्‌को ही स्वात्म-समर्पण करके, उपास्य-उपासकभावसे आजन्म उन्हींकी सेवामें रहकर, अप्रतिहत शक्तिको पाकर उस परमपदको प्राप्त किया।

यह सर्वथा निर्विवाद है कि अष्टाङ्गयोगके सिद्ध होनेसे बहुकालमें पुरुषको जो शक्ति प्राप्त होती है, उसी शक्तिको स्त्री

अपने पातिव्रतयोगसे अल्पकालमें सहज ही प्राप्त कर लेती है। इस पातिव्रतयोगकी शक्तिका दिग्दर्शन संक्षेपमें कराया जाता है—

(क) जब महाभारतके युद्धमें धृतराष्ट्रके पुत्रोंमें केवल एक दुर्योधनके शेष रह जानेपर वीर भीमसेनने दुर्योधनको भी मारनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली, तब दुर्योधन अपनी जीवन-आशाको छोड़कर अपनी माताके अन्तिम दर्शन करके रोने लगा। तब पतिव्रताशिरोमणि माता गान्धारीने उसके अमर होनेका उपाय उसे सूचित करानेके लिये धर्मराज युधिष्ठिरके पास भेजा तो धर्मराजने उसे यही उपदेश दिया कि 'भाई! तू सर्वाङ्ग-नग्न होकर अपनी माताके अभिमुख जा और यदि वह तुझे एक बार अपनी दृष्टिसे देख ले तो फिर तुझे ऐसे हजारों भीमसेन भी नहीं मार सकते।'

धर्मराजके इस उपदेशके अनुसार जब दुर्योधन नग्न होकर माताके पास जाने लगा, तब पाण्डवप्राण श्रीकृष्णजीने अपने किये हुए कार्यको निष्फल समझकर, उसको अपनी योगमायासे समझाकर, पत्तोंकी लँगोटी पहनाकर गान्धारीके पास भेजा। माता गान्धारीने पूछा कि 'पुत्र! धर्मराजने तुम्हें जैसा उपदेश दिया, क्या तुम ठीक उसी तरह यहाँ आये हो?' भगवन्मायावञ्चित हतभाग्य दुर्योधनके मुखसे निकल पड़ा कि हाँ, ठीक वैसे ही आया हूँ। तब माताने अपनी आँखोंकी पट्टीको खोलकर जब उसे देखा तो उसे वञ्चित समझकर अपनी पातिव्रतशक्तिसे सब वृत्तान्त जानकर कहा कि—

मार्गे त्वया सम्मिलितोऽधुना किं
कृष्णः किमूचे वचनं वदस्व।

'हे पुत्र! मार्गमें क्या तुम्हें श्रीकृष्ण मिले? और उन्होंने तुमसे क्या कहा, (सो) कहो।' आँखोंपर पट्टी बँधी रखनेवाली माताकी इस प्रकारकी अद्भुत ज्ञानशक्तिको देखकर जब दुर्योधनने चकित होकर इस शक्तिकी प्राप्तिका कारण पूछा तो पतिव्रता गान्धारीने कहा—

योगेन शक्तिः प्रभवेन्नराणां
पातिव्रतेनापि कुलाङ्गनानाम्।

अर्थात् 'पुरुषोंको योगसे शक्ति प्राप्त होती है और कुलाङ्गनाओंको अपने पातिव्रतसे।' ओह! कैसा पातिव्रतयोग कि गान्धारीने तत्काल अतीव कुपित होकर उन परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्णको भी शाप दे दिया कि—

कृष्ण त्वया मे निहताश्च पुत्रा
नश्यन्तु ते यादवयूथसङ्घाः।

'हे कृष्ण! तुमने मेरे पुत्रोंका नाश किया, अतः इसी तरह तुम्हारे यादवगण भी सब नष्ट हो जायँ।'

क्या स्त्रीके पातिव्रतकी यह शक्ति पुरुषके उस अष्टाङ्गयोगशक्तिसे कुछ कम है कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि, स्थिति और संहार करनेवाले—कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथाकर्तुम् समर्थ श्रीकृष्ण भी—

अस्यास्तु शापं पतिदेवताया
न चान्यथा कर्तुमधीश्वरोऽभूत्।

—इस पतिव्रताके शापको अन्यथा करनेके लिये समर्थ न हो सके।

(ख) चक्रवर्ती महाराजा भोज एक दिन प्रजाकी स्थिति देखनेके लिये रात्रिके समय अपने नगरमें घूम रहे थे, तब उन्होंने किसी मकानकी खिड़कीसे अंदर देखा कि एक स्त्री अपने पति भगवान्‌की पादसेवा कर रही है। निद्रावश होनेसे पति उसके घुटनेपर ही सिर रखकर सो गया था। उसी कमरेके एक दूसरे कोनेमें उनका छोटा-सा बच्चा सोया था। बीचमें एक अग्निकुण्ड था, जिसमें अग्निकी प्रचण्ड ज्वालाएँ लहलहा रही थीं। उसी समय सोया हुआ बच्चा उठकर चिल्लाता हुआ उस अग्निकी ओर आने लगा। माता यह सब देख रही थी, किंतु उसने अपने घुटनेपर सोये हुए पतिदेवको जगानेसे अपने पातिव्रतके नियममें बाधा समझकर, पुत्रकी प्राणरक्षा न कर उसकी उपेक्षा ही कर दी। बहुत छोटा और अनभिज्ञ होनेके कारण वह बालक उस अग्निमें गिर गया।

इधर महाराज भोज निश्चय ही कर चुके थे कि बच्चा अवश्य भस्म हो जायगा, किंतु उस पतिव्रताके शापसे भयभीत हुई अग्नि चन्दनके पङ्कके समान शीतल बन गयी। उस पतिव्रता स्त्रीके पातिव्रतयोगकी अतर्क्य सिद्धि-शक्तिसे चकित होकर कविराज महाराज भोजने—

'हुताशनश्चन्दनपङ्कशीतलः।'

—यह श्लोकका चतुर्थ चरण बनाकर शेष तीन पादोंकी पूर्तिके लिये कविचक्रवर्ती श्रीकालिदासजीको आज्ञा दी। उन्होंने अपनी अलौकिक बुद्धिद्वारा उसी घटनाके अनुरूप

समस्यापूर्ति कर दी—

सुतं पतन्तं प्रसमीक्ष्य पावके
न बोधयामास पतिं पतिव्रता।
पतिव्रताशापभयेन पीडितो
हुताशनश्चन्दनपङ्कशीतलः ॥

'शिशुको अग्निमें गिरते देखकर पतिव्रता पत्नीने अपने पतिको जगानेका प्रयत्न नहीं किया। इधर अग्नि उसके इस पातिव्रतसे प्रभावित होकर और शापसे भयभीत होकर चन्दनके पङ्कके समान शीतल हो गयी।'

क्या स्त्रियोंका यह पातिव्रतयोग पुरुषोंके उस अष्टाङ्गयोगसे कम है? इसीलिये तो वैदिक-स्मार्त-धर्म-प्रवर्तक, धर्मशास्त्रके आदि उपदेष्टा आदि राजा भगवान् मनुजी इस पातिव्रतकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥

(मनु० ५। १५५)

अर्थात् 'स्त्रियोंके लिये अलग यज्ञ, व्रत, उपवास नहीं है। केवल एक पतिकी सेवा करनेसे वे परमपदको प्राप्त होकर देवताओंद्वारा पूजित होती हैं।'

वास्तवमें इसी एक सहज उपायसे जिस स्त्रीने इस पातिव्रतयोगको प्राप्त कर लिया, फिर उसके लिये कौन-सा कर्तव्य शेष रह गया? वह तो फिर अपने मनुष्यभावको ही त्यागकर, देवभावको प्राप्त होकर जगत्पूज्या लक्ष्मी बन जाती है।

सम्पूर्ण वेद, शास्त्र उसकी क्या ही अच्छी स्तुति गा रहे हैं—

यस्य भार्या शुचिर्दक्षा भर्तारमनुगामिनी।
नित्यं मधुरवक्त्री च सा रमा न रमा रमा॥

इसका भाव यह है कि 'जिस पुरुषकी पत्नी बाहर-भीतरसे सर्वथा पवित्र, कुशल, पतिका अनुसरण करनेवाली तथा निरन्तर मधुर भाषण करनेवाली हो, वही स्त्री सच्ची लक्ष्मी है और दूसरी कोई नहीं।'

इस पातिव्रतयोगकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है—जिसके प्रतापसे इस भारतवर्षमें ऐसे वीर पैदा हुए जिनके मन इन लौकिक विषयोंसे मुग्ध न होकर अपने लक्ष्यसे किञ्चिन्मात्र भी विचलित नहीं हो सकते थे। महाराज श्रीरामचन्द्रजीने एक समय श्रीलक्ष्मणजीके ब्रह्मचर्यकी परीक्षाके लिये उनसे प्रश्न किया कि 'लक्ष्मण!

पुष्पं दृष्ट्वा फलं दृष्ट्वा दृष्ट्वा यौषितयौवनम्।
त्रीणि रत्नानि दृष्ट्वैव कस्य नोच्चलते मनः॥

'सुन्दर पुष्प, फल और स्त्रीका यौवन—इन तीन रत्नोंको देखकर किसका मन विचलित नहीं होता?' (क्या नीतिका यह वचन मिथ्या हो सकता है जो तुम अपनेको अखण्ड ब्रह्मचारी समझते हो?) वीर लक्ष्मणने तत्काल इसका उत्तर देते हुए कहा कि—

पिता यस्य शुचिर्भूतो माता यस्य पतिव्रता।
ताभ्यां यः सूनुरुत्पन्नस्तस्य नोच्चलते मनः॥

'जिसके पिता पवित्र आचरणवाले हों और माता पतिव्रता हो, उनके रज-वीर्यसे उत्पन्न हुए पुत्रका मन चलायमान नहीं हो सकता।'

यही योग और पातिव्रत तो इस भारतवर्षकी अलौकिक सम्पत्ति हैं, जिनके प्रतापसे यहाँके स्त्री-पुरुषोंने क्षणभङ्गुर, सांसारिक आधिभौतिक विषयोंका उपभोग न करके आध्यात्मिक विषयोंकी ही खोजमें अपना तन, मन, धन समर्पण करके उस अखण्ड पदको पहुँचकर **'दिवौकसां मूर्धनि तैः कृतं पदम्'** उस देवपदको भी ठुकरा दिया।

धन्य है भारतभूमिको, जिसमें जन्म लेनेवाले स्त्री-पुरुष पातिव्रत और योगको ही अपनी सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति समझकर उसके द्वारा इस मनुष्यदेहको सफल करके इसको इतना पवित्र कर देते हैं कि स्वर्गलोकनिवासी समस्त देवगण भी इस भारतभूमिके लिये तरस-तरसकर मुक्तकण्ठसे हम भारतवासियोंकी उत्तम महिमा गाया करते हैं—

अहो अमीषां किमकारि शोभनं
प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥

(श्रीमद्भा० ५। १९। २१)

धन्य! जिसके प्रतापसे यहाँकी स्त्रियोंके उदरसे ऐसे योगिराज उत्पन्न हुए कि जिन्होंने यहाँकी स्त्रियोंका नाम वीरजननी धराकर भूमण्डलमें यह घोषणा कर दी कि—

नारी नारी मत कहो नारी नरकी खान।
नारीसे सुत ऊपजे ध्रुव प्रह्लाद समान॥

कितने खेदकी बात है और कैसा दुर्भाग्य है कि इसी पातिव्रतयोगको आज हमारी माताओं, बहिनों और कन्याओंने सुधार, स्वातन्त्र्य तथा उन्नतिके नामपर विकृत करना प्रारम्भ कर दिया है!

सबसे उत्तम और अन्तिम साधन—बुद्धियोग

(श्रीतपोवनस्वामीजी महाराज)

परमात्माकी प्राप्तिका उपाय ही योग कहलाता है। यह योग साक्षात् और परम्परासे ईश्वर-प्राप्तिका साधन होनेके कारण फल तथा साधनरूपसे दो प्रकारका है। परमात्मप्राप्तिका साक्षात् साधन बुद्धियोग ही है, अतः वह उत्तम और अन्तिम योग है। परम पुरुषार्थरूप भगवान्‌की प्राप्ति एकमात्र ज्ञानसे ही हो सकती है। यह श्रुतियों और स्मृतियोंकी एक स्वरसे घोषणा है—

ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति (मु० उ०)।

अर्थात् ब्रह्मको जाननेवाला नित्यमुक्त ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है।

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

(श्वेता० उ०)

'आत्माको परमात्मासे अभिन्न जानना ही मोक्षका साक्षात् साधन है, परमात्मप्राप्तिरूप परम पुरुषार्थके लिये इसके अतिरिक्त और कोई साधन है ही नहीं।'

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

अर्थात् 'जिन अधिकारियोंका आत्मविषयक अज्ञान ज्ञानसे नष्ट हो जाता है, उनका वह ज्ञान सूर्यके समान उस वेदान्तप्रसिद्ध परम तत्त्वको प्रकाशित कर देता है।'

'आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर ज्ञानी पुरुष तत्काल ही आत्माकी स्वरूपभूत निरतिशय शान्तिको प्राप्त कर लेता है।'

यदि यह कर्ता-भोक्तारूप दुःखमय संसार रज्जुमें सर्प और शुक्तिमें रजतकी प्रतीति होनेके समान अज्ञान-जन्य ही माना जाता है तो अवश्य इसकी निवृत्ति केवल ज्ञानसे ही हो सकती है। भक्ति, ध्यान अथवा कर्म उस ज्ञानके प्रापक साधन हैं।

मिथ्या ज्ञानसे प्राप्त हुई सुदृढ़ भेद-बुद्धि ही सारे अनर्थोंकी जड़ है। महान् व्यामोहके कारण देह आदिमें प्रकट हुई आत्मबुद्धिके द्वारा जबतक 'मैं कर्ता हूँ', 'भोक्ता हूँ', 'दुर्बल हूँ', 'उन्नत हूँ', 'सुखी हूँ', 'दुःखी हूँ', 'यह सब कुछ मेरा ही है' तथा विधि-निषेध, पुण्य-पाप और इहलोक-परलोक इत्यादि व्यवहार होते रहते हैं, तबतक इसी व्यवहारमें बँधे रहनेके कारण जन्म-मृत्युरूप संसार-समुद्रसे जीवका लेशमात्र भी छुटकारा नहीं हो सकता। और इसीलिये प्रिय-अप्रिय विषयोंकी वेदनासे चित्त चिन्तित रहनेके कारण वह जीव अत्यन्त व्याकुल रहा करता है। जबतक शरीर धारण करना पड़ता है। तबतक स्वप्नमें भी लेशमात्र भी शान्तिका अनुभव नहीं हो सकता—यह निश्चित बात है।

देहधारी होना ही दुःखका मूल है, उस समय जो कभी क्षणिक सुखका अनुभव होता है वह भी दुःखोंसे सम्बन्ध रखनेके कारण दुःख ही है। अतः सम्पूर्ण दुःखोंका मूलभूत जो शरीरग्रहण है, उसका अभाव हो जाना ही परम पुरुषार्थरूप मोक्ष है—यह अनेकों दार्शनिकोंका सिद्धान्त है। इसी आशयका बोधक भगवान् गौतमका न्यायसूत्र भी है—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।

इसका तात्पर्य यह है कि भ्रान्तिरूप मिथ्या ज्ञानसे पहले राग-द्वेष आदि चित्तके दोष प्रकट होते हैं, उनसे धर्माधर्ममें प्रवृत्ति होती है, धर्माधर्ममें प्रवृत्ति होनेसे ही देव, मनुष्य और तिर्यग् आदि योनियोंमें जन्म होता है, फिर उससे दुःख होता है। इस प्रकार यहाँ क्रमशः उत्तरोत्तर भावोंमें पूर्व-पूर्व भाव कारण होते हैं। अतः इसी क्रमसे मूलहेतु मिथ्या ज्ञानके नाश होनेपर उसके कार्यभूत रागादि दोषोंकी निवृत्ति होती है, दोषनिवृत्ति होनेपर धर्माधर्मकी प्रवृत्ति नहीं होती, प्रवृत्तिका अभाव होनेसे किसी योनिमें शरीर ग्रहण नहीं करना पड़ता और शरीरके न होनेसे सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है।

ऐसी स्थितिमें सभी विचारकोंका मत यही है कि 'समस्त दुःखोंका एकमात्र कारण मिथ्या ज्ञान ही है।' उस मिथ्या ज्ञानकी निवृत्ति कैसे होगी और उसकी निवृत्ति हो जानेपर नित्य-निरतिशय आनन्दस्वरूप अपने आत्मभूत परमात्मामें स्थिति किस प्रकार हो सकती है? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर भगवान् भाष्यकार यह सूत्रभूत वाक्य कहते हैं—

मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद् भवति।

ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान हुए बिना इस जन्म, जरा, मृत्यु और दुःखरूप अज्ञान-जन्य संसारका विनाश सौ करोड़ कल्पोंमें भी किसी तरह नहीं हो सकता। इससे बढ़कर बुद्धियोगका माहात्म्य क्या कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त जबतक ईश और ईशितव्यका भेद बना हुआ है अर्थात् 'मैं नियम्य हूँ और ईश्वर मेरा नियामक है' इस प्रकार जीव और ईश्वरमें भेदकी कल्पना है तथा ऐसा होनेके कारण ही हाथमें तलवार उठाये हुए स्वामीके सामने सेवककी भाँति पुरुषका जीवन जबतक भयपूर्ण और पराधीन है, तबतक उसे स्वतन्त्रता कैसे प्राप्त हो सकती है? तथा स्वतन्त्र हुए बिना सुखकी वार्ता भी कैसे की जा सकती है? स्वतन्त्रताके द्वारा ही कृतार्थ हो जानेके कारण जीवको सुख मिलता है—यह सभीका मत है। बड़े खेदकी बात है कि अपनेसे भिन्न नियामक और फलदाता ईश्वरकी कल्पना करके उसके अधीन हो उससे डरते हुए पण्डित पुरुष भी मोहित और दुखी हो रहे हैं! जबतक सम्यक्-रूपसे विचारके द्वारा परमार्थतत्त्वका निश्चय नहीं होता, तबतक अपनेको नियम्य मानकर अपनेसे भिन्न नियामककी अज्ञान-जन्य कल्पना अवश्य ही होगी। अतः परमार्थतत्त्वस्वरूप परब्रह्मका ज्ञान ही नियम्य-नियामकभावसे उसमें आरोपित की हुई अनर्थकी कारणभूत जीव-ईश्वरभेदकल्पनाका नाशक है, इसलिये तत्त्वज्ञान ही सब साधनोंमें उत्तम और विशेष है। जैसा कि सुरेश्वराचार्यने कहा है—

ईशेशितव्यसम्बन्धः प्रत्यगज्ञानहेतुजः।
सम्यग्ज्ञाने तमोध्वस्तावीश्वराणामपीश्वरः॥

अर्थात् अपने आत्माके परम तत्त्वको न जाननेसे ही नियम्य-नियामकभावकी उत्पत्ति होती है। विचारजन्य सम्यक्-ज्ञानके द्वारा अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर तो यह संसारी जीव हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरोंका भी ईश्वर हो जाता है।

जीव, ईश्वर, जगत् इत्यादि नाना प्रकारकी कल्पनाएँ माया-मोहके ही कारण स्फुरित होती हैं। तत्त्वज्ञानसे माया-मोहकी निवृत्ति हो जानेपर वैसी भेद-कल्पनाएँ नहीं हो सकतीं। उस समय स्वयं ब्रह्मभावको प्राप्त होकर पुरुष नित्य-मुक्त शुद्धस्वरूप अपनी महिमामें विराजमान होता है।

इस प्रकार भेद-कल्पना और उससे प्राप्त होनेवाले संसाररूप अनर्थकी परम्पराके एकमात्र बीज महामोहका अत्यन्त विनाश करके नित्यानन्दस्वरूप परमात्माके साथ एकताकी प्राप्ति करानेका साधन बुद्धियोग ही है। अन्य भक्तियोग, राजयोग, कर्मयोग, लययोग, जपयोग, क्रियायोग और हठयोग आदि जो विविध योग हैं, वे भी क्रम-क्रमसे भगवत्प्राप्तिके लिये परम उपयोगी हैं। उनमें भी भक्तियोग सबसे प्रधान है, क्योंकि वह अन्य योगोंकी अपेक्षा शीघ्र ही बुद्धियोगको उत्पन्न करता है।

गौणी भक्ति और परा भक्तिके भेदसे भक्ति दो प्रकारकी है। यदि परा भक्ति नित्य-निरतिशय निर्विकल्पाद्वैतरूपिणी और भेदकी गन्धसे रहित हो तो वह पूर्वोक्त अद्वैत-ज्ञानरूपा ही है, अतः उसकी मोक्षके प्रति साक्षात् साधनता निषिद्ध नहीं है। इसलिये यहाँ बुद्धियोगके साधन-रूपसे गौणी भक्ति ही विवक्षित है। श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें न्याययुक्त अनेकों श्लोकोंद्वारा उन-उन स्थलोंपर भक्तिके सर्वोत्तम माहात्म्यका वर्णन किया गया है। भागवत-प्रसिद्ध नवधा भक्तिके द्वारा अपनेको प्रिय लगनेवाले भगवान्के किसी भी रूपसे उनकी उपासना करनेवाले पुरुष भगवत्कृपासे अपने पाप और चित्तमलके नाश हो जानेपर विशुद्धचित्त होकर शीघ्र ही भगवान्के पारमार्थिक निरुपाधिक तत्त्वको जाननेमें समर्थ होते हैं। भक्तोंके मार्गमें जो-जो विघ्न आते हैं, उन सबको दूर करके भक्तवत्सल भगवान् सदा ही अपने भक्तोंका पालन करते हैं, अतः राजयोग आदिसे भक्तियोगका माहात्म्य अवश्य ही विशेष है। क्योंकि भगवान्की यह प्रतिज्ञा है—

'न मे भक्तः प्रणश्यति॥'

'मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता।' इस विषयपर लेखकद्वारा निर्मित बदरीशस्तोत्रमें विचार किया गया है—

भक्तिर्यदीयसगुणात्मनि शीघ्रशुद्धे
चित्तस्य साधनमतस्तदुपार्जनीयम्।
भक्तो न नश्यति यतोऽवति तं विपद्भ्यो
भक्तप्रियस्तमनिशं स्मर बद्रिकेशम्॥

अर्थात् 'भगवान्‌के सगुण-साकार स्वरूपमें की हुई भक्ति अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक चित्तशुद्धिका कारण होती है, अतः सभी मुमुक्षुओंको चाहिये कि निरन्तर उस भक्तिका उपार्जन करें। क्योंकि परमेश्वरके चरणोंमें जिसने सर्वथा अपना चित्त समर्पण कर दिया है, उसका कभी नाश नहीं होता। जो भक्तवत्सल भगवान् इहलोक और परलोक दोनोंको विनष्ट करनेवाली सभी आपदाओंसे अपने भक्तकी सदा ही रक्षा करते हैं, उन ऐसे माहात्म्यवाले बदरीनाथजीका हे मन ! तू निरन्तर स्मरण कर।'

इसके अतिरिक्त जिस प्रकार भगवान् अभक्तोंको बन्धनका हेतुभूत अज्ञान देते हैं, उसी प्रकार वे ही भक्तोंको चित्तशुद्धिपूर्वक ज्ञान भी देते हैं। अतः तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌की प्रसन्नताके सिवा और कोई भी उपाय नहीं है। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

(गीता १०। १०-११)

'मुझमें सदा चित्त लगाये रहनेके कारण जो लोग अनन्य प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं, उन्हें मैं शीघ्र ही परम तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझ नित्यानन्दैकरस निर्विशेष अद्वय परब्रह्मको प्राप्त कर लेते हैं। उन भक्तोंपर ही दया करके मैं प्रत्यगात्मारूपसे उनके अन्तःकरणमें रहता हुआ अत्यन्त प्रकाशमय ज्ञानात्मक प्रदीपसे उनके अज्ञान-जन्य आवरणको नष्ट कर देता हूँ।'

तथा जबतक चित्त पापकलापोंसे कलुषित है, तबतक उसमें शुद्धता और शुद्धतासे होनेवाले आत्मप्रकाशकी लेशमात्र भी सम्भावना नहीं है। कीचड़से मलिन हुए जलमें जिस प्रकार सूर्यमण्डलका प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं दीखता, उसी प्रकार पापकलुषित हृदयमें आत्मप्रतिबिम्ब तनिक भी स्फुरित नहीं होता। परंतु कीचड़ धो देनेसे निर्मल हुए चित्तमें सहज ही आप-ही-आप आत्मतत्त्व प्रकाशित होने लगता है।

धर्माधर्मकी मर्यादाके व्यवस्थापक और धर्माधर्मके फलदाता सर्वनियामक परमेश्वरकी प्रसन्नताके साथ ही होनेवाली करुणाके बिना किसीके भी पाप-समूहका नाश नहीं हो सकता। अतः भगवान्‌के अनुग्रहका एकमात्र हेतु उनकी भक्ति ही अन्य सभी कल्याण-साधक योगोंसे श्रेष्ठ है— इसमें कहना ही क्या है ? इसीलिये श्रीमद्भागवतमें कहा है—

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते॥

'भगवान्‌की अनन्य भक्ति करनेसे जिसका चित्त निर्मल हो गया है और चित्तशुद्धि हो जानेसे ही जिसकी विषयोंमें लेशमात्र भी आसक्ति नहीं है, ऐसे पुरुषको ही भगवान्‌के पारमार्थिक स्वरूपका ज्ञान हो सकता है, अन्य किसी साधनसे किसी प्रकार नहीं हो सकता।'

निष्कर्षस्वरूप यह कहा जा सकता है कि 'अनन्यचित्तसे अभ्यास किया हुआ भक्तियोग परम पुरुषार्थकी साधनभूत अद्वैत-बुद्धिका उत्पादक होता है और अनायास ही शीघ्रतापूर्वक फलयोग (बुद्धियोग) का अप्रतिबन्धकभावसे साधक होता है, इसलिये वही सब साधनोंमें परम उत्तम है।'

इसके बाद यम-नियम आदि आठ अङ्गोंसे युक्त, चित्तवृत्तिका निरोधरूप फलवाला राजयोग भी सम्यग्रूपसे आत्मज्ञानका उपयोगी है, इसलिये वह भी उत्तम साधन है।

चित्तशुद्धि होनेके अनन्तर एकाग्रमनसे अखण्ड अपरिच्छिन्न आत्माका निरन्तर चिन्तन करनेवाला पुरुष अपरोक्षभावसे आत्माका अनुभव करता है।

आत्मामें चित्तकी समाधि ही अध्यात्मयोग कहलाता है, उसकी प्राप्ति हो जानेसे बुद्धिमान् पुरुष स्वयंप्रकाश आत्माका साक्षात् अनुभव करके हर्ष और शोक आदिसे रहित हो जाता है।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥

(गीता ६। १३,१५)

अर्थात् 'शरीर, मस्तक और ग्रीवा—इन्हें इस प्रकार

धारण करे,जिससे ये सम एवं अचञ्चल हों और स्थाणु-(ठूँठ पेड़-) की भाँति स्थिर होकर नेत्रोंसे अपनी नासिकाके केवल अग्रभागको देखता हुआ अन्य दिशाओंकी ओर दृष्टि न ले जाकर आत्म-भावनामें संलग्न हो चुपचाप बैठा रहे। योगनिष्ठ पुरुष इस प्रकार एकाग्र-चित्तसे निरन्तर आत्माका अनुसंधान करता हुआ, मुझमें स्थित हो जाना ही जिसका स्वरूप है ऐसी नित्य-निरतिशय परमकैवल्यरूपिणी शान्तिको प्राप्त कर लेता है।'

ऐसी अनेकों श्रुतियाँ और स्मृतियाँ तत्त्वदर्शनके उपाय-रूपसे राजयोगका वर्णन करती हैं। यह योग केवल अद्वैत विज्ञानको ही नहीं, सगुण भक्तिको भी चित्तकी एकाग्रताका सम्पादन करता हुआ सुदृढ़ करता है। इसी आशयका समर्थक शाण्डिल्यसूत्र भी है—

'योगस्तूभयार्थमपेक्षणात् ....'

अर्थात् 'भक्ति और ज्ञान दोनों ही चित्तवृत्तिकी स्थिरताकी अपेक्षा रखते हैं, अतः योग इन दोनोंका निमित्त एवं सहायक होता है।'

जिस प्रकार राजयोग भक्तिका उपकारक है, उसी प्रकार भक्ति भी योगके लिये उपयोगिनी है। अतः इन दोनोंमें परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव-सम्बन्ध है।

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा', **'तस्य वाचकः प्रणवः'**, **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'**—इन पातञ्जलयोग-दर्शनके सूत्रोंका भी यही भाव है कि परमेश्वरमें किये जानेवाले कायिक, वाचिक और मानसिक प्रणिधान—भक्तिविशेषसे संतुष्ट होकर ईश्वर अपने भक्तपर अनुग्रह करते हैं, अतः पाप आदि कारणोंसे होनेवाले विघ्न और प्रतिबन्धकोंके अभाव हो जानेसे उस भक्तको थोड़े ही समयमें समाधि और उसके फलकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। उस ईश्वरका वाचक नाम प्रणव-ॐकार है। प्रणव-मन्त्रका जप और प्रणव-प्रतिपाद्य ईश्वरका चिन्तन ही पूर्वोक्त प्रणिधान (भक्ति) है।

इस प्रकार प्रणव-जप और प्रणवके अर्थभूत परमात्माका भलीभाँति चिन्तन करनेसे अवश्य ही चित्त एकाग्र होता है। तदनन्तर बुद्धिमें स्पष्टरूपसे परमात्मा प्रकाशित होते हैं, अर्थात् परम तत्त्वज्ञानका उद्गम होता है—यह इन तीनों सूत्रोंका सम्मिलित अर्थ है।

इस विवेचनके अनुसार यद्यपि राजयोग और भक्ति-योग परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव-सम्बन्धसे युक्त होनेके कारण कुछ शास्त्रकारोंद्वारा तुल्यप्रधान बतलाये गये हैं, तथापि यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार आदिके द्वारा समाधिलाभ करना अत्यन्त कठिन, दुष्कर, परिश्रमसाध्य तथा अनेक विघ्नोंके कारण विषम कार्य है। अतः भक्तिमार्गपर चलना ही अत्यन्त सरल, सुकर तथा परिश्रम एवं विघ्नोंसे रहित है। इसलिये भक्तियोग ही शीघ्र फलदायक उत्तम साधन है। यही उन महात्मा विद्वानोंका भी सिद्धान्त है, जिन्होंने अनेकों साधनोंका अनुष्ठान स्वयं किया है। इस विषयमें व्यासजीके निम्नाङ्कित वचन ध्यान देने योग्य हैं—

यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना।
तत्फलं लभते सम्यक् कलौ केशवकीर्तनात्॥

'अन्य युगोंमें तपस्या, योग और समाधिसे भी जो फल प्राप्त नहीं होता, वही फल कलियुगमें मनुष्य केवल भगवान्‌का नाम-कीर्तन करनेसे पा लेता है।'

इस प्रकार यहाँ भक्तियोगकी प्रधानता होनेपर भी चित्त-वृत्तिनिरोधके विषयमें राजयोगका माहात्म्य निषिद्ध नहीं है। सिद्ध योगियोंकी सहायतासे प्राणायाम और प्रत्याहारादि योग-साधनोंका परिशीलन तथा उसके द्वारा समाधिसम्पादन भी कल्याणपदपर आरूढ़ होनेका उपाय होनेके कारण प्रशंसनीय ही है। दुःखके साथ कहना पड़ता है कि जो लोग योगकला-निष्णात सिद्ध-महात्माओंकी सहायताके बिना ही अपनी धृष्टताके कारण केवल पुस्तकोंकी सहायतासे प्राणायामादि योगमार्गपर चलते हैं, वे महान् अनर्थके गड्ढेमें गिरते हैं। उनके इस दुःसाहस और विपरीत बुद्धिपर आश्चर्य होता है।

पूर्वोक्तरूपसे राजयोग और भक्तियोग परस्पर उपकार्य-उपकारकभावसे सम्बद्ध होनेपर भी दोनों ही ज्ञानयोगके उपकारक होते हैं और अद्वैतबुद्धि (ज्ञान) योग किसी अन्यका अङ्गभूत होकर उपकारक नहीं है, अतः वही ईश्वरप्राप्तिका प्रयोजक उत्तम और अन्तिम योग है।

अपने-अपने वर्ण और आश्रमके लिये विहित सभी कर्मोंका ईश्वरार्पणबुद्धिसे अनुष्ठान करनारूप जो निष्काम कर्मयोग है वह भी रागादि दोषोंको दूर करके चित्त-शुद्धिके

द्वारा ज्ञानयोगका साधक होता है, अतः वह भी आदरणीय ही है। इस कर्मयोगका स्वरूप और माहात्म्य श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत आदि प्रामाणिक ग्रन्थोंमें विस्तारके साथ उपलब्ध होता है। कुछ प्राचीन कर्मठों और किन्हीं-किन्हीं आधुनिकोंकी भी यह सम्मति है कि 'कर्मयोग ही अन्य सभी साधनयोगोंसे श्रेष्ठ है, अतः उसीका सबको अनुष्ठान करना चाहिये।'

इनके अतिरिक्त अन्य जो क्रियायोग, जपयोग, हठयोग, लययोग आदि हैं, वे सभी परम्परासे बुद्धियोगके लिये उपयोगी होनेके कारण आदरणीय हैं और मुमुक्षुओंको उनका भी अनुष्ठान करना चाहिये।

इन सभी योगोंका मूल कारण क्या है, जिसके प्रभावसे उन-उन योगोंमें पुरुषोंकी प्रवृत्ति होती है और क्रमशः बुद्धियोग-सम्पादनके द्वारा परम कैवल्यकी प्राप्ति होती है? इसके उत्तरमें कहा जा सकता है कि सभी योगोंका मूल कारण साधु-संग है। साधु-संग ही सभी योगोंका मूलभूत योग है, इसलिये उसे मूलयोग कहा गया है। इस प्रकार सत्संगयोग परम्परासे परम बुद्धियोगका भी कारण है, अतः वही परमसे भी परमयोग है, उसकी उत्कृष्टताका अनुमान कोई भी नहीं कर सकता। अतः समस्त कल्याणों और सभी योगोंका आदिकारण सत्संग ही है। संसाररोगसे पीड़ित हुए मनुष्योंके लिये सत्संग ही सबसे उत्तम ओषधि है। भव-तापसे संतप्त पुरुषोंके लिये सत्संग ही सबसे बढ़कर सहारा है। संसार-सागरमें डूबते हुए लोगोंको सत्संग ही पार लगानेवाला उपाय है।

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥

(श्रीमद्भा० ११। २६। ३२)

'जिस प्रकार पानीमें डूबते हुए प्राणियोंके लिये सुदृढ़ नौका ही एकमात्र सहारा है, उसी प्रकार भयङ्कर संसार-समुद्रमें डूबते-उतराते हुए अत्यन्त दीन-दुःखी मनुष्योंके लिये अत्यन्त शान्त ब्रह्मवेत्ता साधु ही सबसे बड़े सहारे हैं।'

पूर्ण योग

(स्वामी श्रीमित्रसेनजी)

'योग'का अर्थ संयोग, मिलन या मेल है। दोका अथवा बहुतोंका एकमें मिल जाना योग है। यह योगसिद्धि वियोगमें होती है। परंतु वियोगसे योगमें आना तो फिर वियोगमें जानेके लिये ही है। ऐसा वियोग और योग अर्थात् योग-वियोग ही संसारी जीवन है, जिसमें देश-कालका अधिकार बना रहता है। ईश्वरी-जीवनमें पूर्ण योग भी है और पूर्ण वियोग भी। इस जीवनमें आना-जाना अथवा कोई परिवर्तन नहीं है, सभी रूप और सभी अवस्थामें यह योग है। यह निश्चित ही है कि ईश्वरीय सत्तासे रहित कोई भी सत्ता नहीं है। परंतु जिसमें यह धारणा और ज्ञान है कि सब विस्तार एक ईश्वरमें ही योग पा रहा है, वह तो अपने जीवनके समस्त विस्तारसे अपने प्रभुमें समाया ही है। उसका संसारी जीवन भी ईश्वरीय जीवन ही है। इस अवस्थाको प्रकट करनेके लिये नदी-सागरका दृष्टान्त प्रसिद्ध है। नदी अपने समुद्रमें पूर्ण योग प्राप्तकर अपने रूप और नामको समुद्रमें मिला रही है। समुद्रमें योग पाकर उसका रूप और नाम समुद्री सत्तामें समा जाता है और जो नदी अपने समुद्रमें योग नहीं पाती, वह अपने रूप तथा नामसे अभावमें आ जाती है। मानो अणुका अपने विभुमें योग पाना ही उसकी सत्ताका सत्यतामें बना रहना है।

अब नदीके इस पूर्ण योगपर विचार कीजिये। वह जिस पर्वतसे निकली है, उसका जो जन्म-स्थान है, वहींसे वह अपने समुद्रमें योग पा रही है। यह स्थिति मध्यकी है, उसकी अविच्छिन्न धारा उद्गमस्थानसे लेकर समुद्रपर्यन्त समुद्रसे सदा युक्त ही है। आदि, मध्य, अन्त किसी भी अवस्थामें वह योगशून्य नहीं है। यही उसका पूर्ण योग है।

इसी प्रकार साधक भी अपने पूर्णरूपमें और सभी अवस्थाओंमें अपने प्रभुमें पूर्ण योग पा रहा है। इसमें स्थूल या सूक्ष्मका भेद ही क्या है? जैसे संसारी दृष्टि अपने सम्मुख जो कुछ है—सब देख रही है, वैसे ही इसमें ईश्वरी सत्ताका देखना है। इसमें अपना देखना सबमें समाया ही है और ऐसी दृष्टि-द्वारा पूर्ण योग ही है। ऐसी स्थूल दृष्टिमें सूक्ष्म दृष्टि भी समायी ही है। पूर्ण आनन्द, पूर्ण उल्लास, पूर्ण उमंग सब पूर्ण-ही-पूर्ण है।

पूर्ण योगका अभिप्राय यह है कि मानो सभी रूपों, सभी

नामों और सभी अवस्थाओंमें अपने प्रभुजी अपना योग-ही-योग दे रहे हैं। किसी भी रूप, नाम या अवस्थामें तनिक-सी भी कुछ ग्लानि या शंका मनमें आ जाय तो समझना चाहिये कि यही योगसे हीनता है। परंतु यह ग्लानि, शंका या नहींका बर्ताव भी अपने प्रभुजीका ही पूर्ण दान है। यह भी पूर्ण योगकी पूर्ति और दृढ़तारूप ही है।

हिरण्यकशिपु श्रीप्रह्लादजीकी भक्तिमें अवरोध करनेवाले होकर भी अवरोधक नहीं थे, वरं उनकी गहरी दृढ़ताका कारण भी प्रभुकी प्रेरणा ही है। यह भी संसारी वियोगकी अवस्थासे पूर्णयोगकी सिद्धिमें पहुँचनेका एक पूर्ण साधन ही है। अपनी प्यारी वस्तुको छीननेवाला ही उस वस्तुमें प्रीति बढ़ानेवाला है।

कृष्णसमीपी पांडवा गले हिमाचल जाय।
कृष्णबिरहिनी गोपियाँ मुक्तिधाम लिया पाय॥

पाण्डवोंका योग बाहरी योग था और गोपियोंका योग बाहरीसे भीतरी योगमें समाकर पूर्ण योग सिद्ध हो गया था। इसी प्रकार सभी योग पूर्ण योगमें समाये हैं।

समत्वं योग उच्यते

(सरस्वतीपुत्र श्रीगोपालजी)

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् आसक्तिको त्यागकर समत्वबुद्धिसे कर्म करनेके लिये आज्ञा देते हुए कहते हैं कि हे धनंजय ! आसक्तिको त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योगमें स्थित हुआ कर्मोंका आचरण कर। यह समत्वभाव (जो कुछ भी कर्म किया जाय उसके पूर्ण होने और न होनेमें तथा उसके फलमें समभाव रहनेका नाम समत्व है) ही योग नामसे कहा जाता है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २।४८)

यहाँ भगवान्ने अर्जुनको कर्मयोगके आचरणकी जो प्रक्रिया बतायी है, उसके अनुसार उनका कहना है कि जब कर्मयोगका साधक अपने द्वारा किये जानेवाले कर्मोंमें और उनके फलमें आसक्तिका त्याग कर देता है, तब उसमें स्वतः ही राग-द्वेष तथा हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंका अभाव हो जाता है। अपनी इस स्थितिपर पहुँचकर ही उसका सिद्धि और असिद्धिमें समानभाव हो जाता है, अर्थात् कर्मकी पूर्णता तथा अपूर्णतामें और अनुकूल तथा प्रतिकूल परिणाममें न वह हर्षित होता है और न शोक करता है। गीतामें ही ज्ञानयोगकी स्थितिका निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥

(५।२०)

यहाँ भगवान्ने यह स्पष्ट किया है कि ज्ञानयोगीकी स्थितिमें समभाव हो जानेके कारण उसकी किसी भी वस्तुमें लेशमात्र भी आसक्ति नहीं रहती। इसलिये वह अनुकूलकी प्राप्तिमें न तो हर्षित होता है और न कभी प्रतिकूलकी प्राप्तिमें उद्विग्न। इसी कारण उसके राग-द्वेष आदि सभी दोष समाप्त हो जाते हैं। ज्ञानी भक्तमें भी हर्ष-शोकादि विकारोंका सर्वथा अभाव रहता है।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।

(१२।१७)

मूल तात्पर्य है कि जब मनुष्यमें फलासक्ति अथवा आसक्तिके त्याग-जैसा गुण विद्यमान हो जाता है तो फिर उसमें समभावका आना स्वाभाविक है, क्योंकि आसक्तिके त्यागका और समताका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये दोनों ही परस्पर एक दूसरेके सहायक हैं, अतः भगवान् श्रीकृष्णने गीता (२।४८) में सिद्धि तथा असिद्धिमें सम होकर कर्म करनेके लिये कहा है। यहाँ जिज्ञासा हो सकती है कि जब समत्वको ही योग नामसे कहा गया है तो फिर योगमें स्थित होनेके लिये अलगसे कहनेका क्या तात्पर्य है, क्योंकि सिद्धि और असिद्धिमें सम होकर कर्म करनेके अन्तर्गत ही योगमें स्थित होनेकी बात आ जाती है।

इस सम्बन्धमें बात कुछ ऐसी है कि कर्मयोगीकी अवधि है—समभावका स्थिर हो जाना। इसलिये भगवान्ने यहाँ यह भाव दर्शाते हुए कि योगमें स्थित होकर कर्म कर अर्थात् अर्जुन ! तुझे केवल सिद्धि और असिद्धिमें ही समभाव नहीं रखना है, किंतु प्रत्येक क्रियाको सम्पादित करते समय किसी

भी पदार्थमें तथा किसी भी कर्ममें या उसके फल अथवा किसी प्राणीमें नित्य ही समभावसे स्थित रहना चाहिये। इसलिये भगवान् श्रीकृष्णने यहाँ योगकी परिभाषामें उसका अर्थ स्पष्ट किया है कि समताका नाम ही योग है तथा किसी भी साधनके द्वारा समत्वको प्राप्त कर लेना ही योगी बनना है। भगवान् श्रीकृष्ण ज्ञानियोंके समत्वभाव और उनकी महिमाको इस प्रकार बताते हैं—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(गीता ५।१९)

अर्थात् जिनका मन समत्वभावमें स्थित है, उनके द्वारा इस जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है (वे जीते हुए ही संसारसे मुक्त हैं) क्योंकि सच्चिदानन्दघन परमात्मा निर्दोष और सम हैं, इससे वे सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे स्थित हैं। इसलिये समता परमपिता परमेश्वरका साक्षात् स्वरूप है।

रामचरितमानसके अयोध्याकाण्डमें श्रीराम-सीताको जमीनपर सोते हुए देखकर निषाद जब बहुत दुःखी हुआ तो लक्ष्मणजीने उससे श्रीरामके सम्बन्धमें कहा—

राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल बिकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥

(रा० च० मा० २।९३।७-८)

यहाँ भी तुलसीदासजीने रामकी भेदशून्य स्थिति बतायी है। यानी राम 'सम' हैं। उधर गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।

सभी प्राणियोंपर मेरी समान कृपा-दृष्टि है। न कोई मेरा अप्रिय है और न प्रिय। कहनेका तात्पर्य यह है कि समता ही साधककी पूर्णता या पराकाष्ठा है। समभाव या समता आ जानेपर अन्य श्रेष्ठ गुण भी उसमें स्वतः ही आ जाते हैं। समता जीवका स्वाभाविक गुण है, जिसे गीतामें योग नामकी संज्ञा दी गयी है, जिस योगका स्वल्प मात्र साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

(गीता २।४०)

जन्म-मृत्युका भय उनको ही होता है जिनका मन समत्व-रूप परमेश्वरमें स्थित नहीं है। किंतु जो उस समत्व-रूप परमपिता परमेश्वरमें स्थित हैं, उनके लिये तो भगवान् घोषणा करते हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२।७)

ऐसे प्रेमी भक्तोंका शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-सागरसे उद्धार करनेवाला होता हूँ। सांख्ययोगमें श्रीकृष्ण कहते हैं—

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

(गीता २।५३)

जब तेरी बुद्धि अनेक प्रकारके सिद्धान्तोंको सुननेसे विचलित हुई परमात्माके स्वरूपमें अचल और स्थिर ठहर जायगी, तब तू समत्वरूपयोगको प्राप्त होगा अर्थात् परमात्मासे तेरा नित्य संयोग हो जायगा। मनुष्य या जीवका प्रकृतिके साथ जो संयोग है, वह अनित्य है और परमात्माके साथ जो संयोग है वह नित्य है, प्रकृतिके साथ संयोगमें विषमता है जिसे मनुष्य स्वयं पैदा करता है, जो कृत्रिम तथा नाशवान् है किंतु दूसरी ओर मनुष्यका परमात्माके साथ संयोग अविनाशी है। इसके बीजका कभी नाश नहीं होता। जन्म-जन्मान्तर यह संयोग बना रहता है। **'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'** (गीता २।४०) तथा फिर वह आगेके जन्ममें भी अनायास ही समत्व-बुद्धियोगके संस्कारोंको प्राप्त हो जाता है—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।

(गीता ६।४३)

आत्माका स्वभाव समता तथा परमेश्वरकी प्राप्ति है। परमात्माको प्राप्त हुए कर्मयोगी, भक्तियोगी तथा ज्ञानयोगीमें समता या समत्व-भाव ही एक असाधारण लक्षण बताया गया है। बिना समत्व या समताके न साधन ही पूर्ण है और न सिद्धि ही। सिद्ध पुरुषमें समत्व नहीं तो वह सिद्ध कैसा ? ज्ञानमार्गमें भी ऐसे समभाव रखनेवाले साधक मोक्षके अधिकारी होते हैं। **'समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥'** (गीता २।१५) अर्थात् जिस धीर पुरुषमें विषयोंके संयोग-वियोगसे राग-द्वेष और हर्ष-शोकादि नहीं उत्पन्न होते हैं, वह परमात्माकी

प्राप्तिका पात्र बन जाता है। इसलिये परमेश्वरका संयोग ही सत्य है, क्योंकि वे नित्य सर्वत्र व्याप्त हैं और संसार तो मायामय है। सत्‌का कोई अभाव नहीं है तथा असत्‌का कुछ अस्तित्व नहीं है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (२।१६)

फिर किसी भी कार्यका आरम्भ होता है और समाप्ति भी होती है। कर्मफलका संयोग और वियोग दोनों ही निश्चित हैं, पर जीवात्मा ज्यों-का-त्यों ही रहता है। योगीका समताके साथ जो संयोग है, वही नित्ययोग है। भगवान्‌ने गीता (१२।२०) में बताया है कि इस धर्ममय अमृतको निष्काम-भावसे सेवन करनेवाला मुझे अतिशय प्रिय है। गीता(१४।२४-२५) में गुणातीत पुरुषके लक्षणोंको प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि योगी निरन्तर आत्मभावमें स्थित दुःख-सुखमें, मिट्टी-पत्थर और स्वर्णमें, प्रिय तथा अप्रियमें, अपनी निन्दा-स्तुतिमें, मान-अपमानमें, शत्रु और मित्र—सबमें समभाव रखता है। गीता (६।७—९) में एक सिद्ध कर्मयोगीकी भी यही स्थिति बताते हुए उसमें समत्व-भाव बताया गया है।

रामचरितमानसके उत्तरकाण्डमें तुलसीदासजी कहते हैं—

निंदा स्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रान प्रिय गुन मंदिर सुख पुंज॥

(रा० च० मा० ७।३८)

बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिग्यानी॥

(रा० च० मा० ७।४६।५-६)

भगवान्‌ने गीता (१२।१८-१९)में एक सिद्ध भक्तके लक्षणोंसे समता बताते हुए '**समः शत्रौ च मित्रे···· प्रियो नरः**' यही संदेश दिया है। छठे अध्यायके श्लोक सातसे नौमें पदार्थ आदिमें समभाव रखनेवाले एक सिद्ध कर्मयोगीकी स्थिति इस प्रकार बतायी गयी है—

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते॥

गीतामें इस प्रकारके समत्वभावके उदाहरण भरे पड़े हैं। तत्त्वज्ञानीकी स्थिति बताते हुए (५।१८में) कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समान-रूपसे एक परमात्माका ही दर्शन करते हैं। व्यावहारिक दृष्टिसे इन पाँचों प्राणियोंमें विषमता अनिवार्य है। एक योगीकी स्थिति बताते हुए (६।३२में) कहा गया है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

जैसे मनुष्य अपने सारे अङ्गोंमें अपनी आत्माको समभावसे देखता है, वैसे ही जो योगी अपने ही समान सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है,वह सुख और दुःखको भी सम देखता है और वही योगी परम श्रेष्ठ है। भाव यह है कि सर्वत्र आत्मदृष्टि हो जानेके कारण समस्त विराट् विश्व उसका स्वरूप बन जाता है।

इस समत्वभावसे जो सर्वत्र समदृष्टि रखता है, उसका दृष्टिकोण समष्टिरूप समस्त विश्वमें समभाव है।

अन्तःकरण तथा परमात्मतत्त्व अथवा साधक या सिद्धके दृष्टिकोणसे समत्व (समता) को साधनरूपा और साध्यरूपा संज्ञा दी जाती है। जैसे साधन-रूपा (साधककी समता) के अन्तर्गत कर्मयोगी सिद्धि और असिद्धिमें सम रहकर कर्म करता है—'**सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा**' (गीता २।४८)। इसी प्रकार ज्ञानयोगी सत्-असत्‌का विवेक होनेके कारण सत्-स्वरूपमें स्थित हुआ सदा ही सम रहता है, क्योंकि असत् कभी नित्य नहीं है, जैसे (गीता २।१५-१६)। इसी तरह भक्तियोगीमें भी समभावका दृष्टिकोण भक्तिके द्वारा आ जाता है, जैसे (गीता १२।१३)। मूल बात यह है कि जबतक विनाशी पदार्थोंका महत्त्व अन्तःकरणमें बना रहता है, तबतक स्वतःसिद्ध समताका अनुभव या आभास नहीं हो सकता है, किंतु इसके विपरीत इस महत्त्वके हटते ही समताका प्रादुर्भाव हो जाता है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह कभी असत्‌को महत्त्व न दे, जिससे विषमता उत्पन्न होती है। इसके

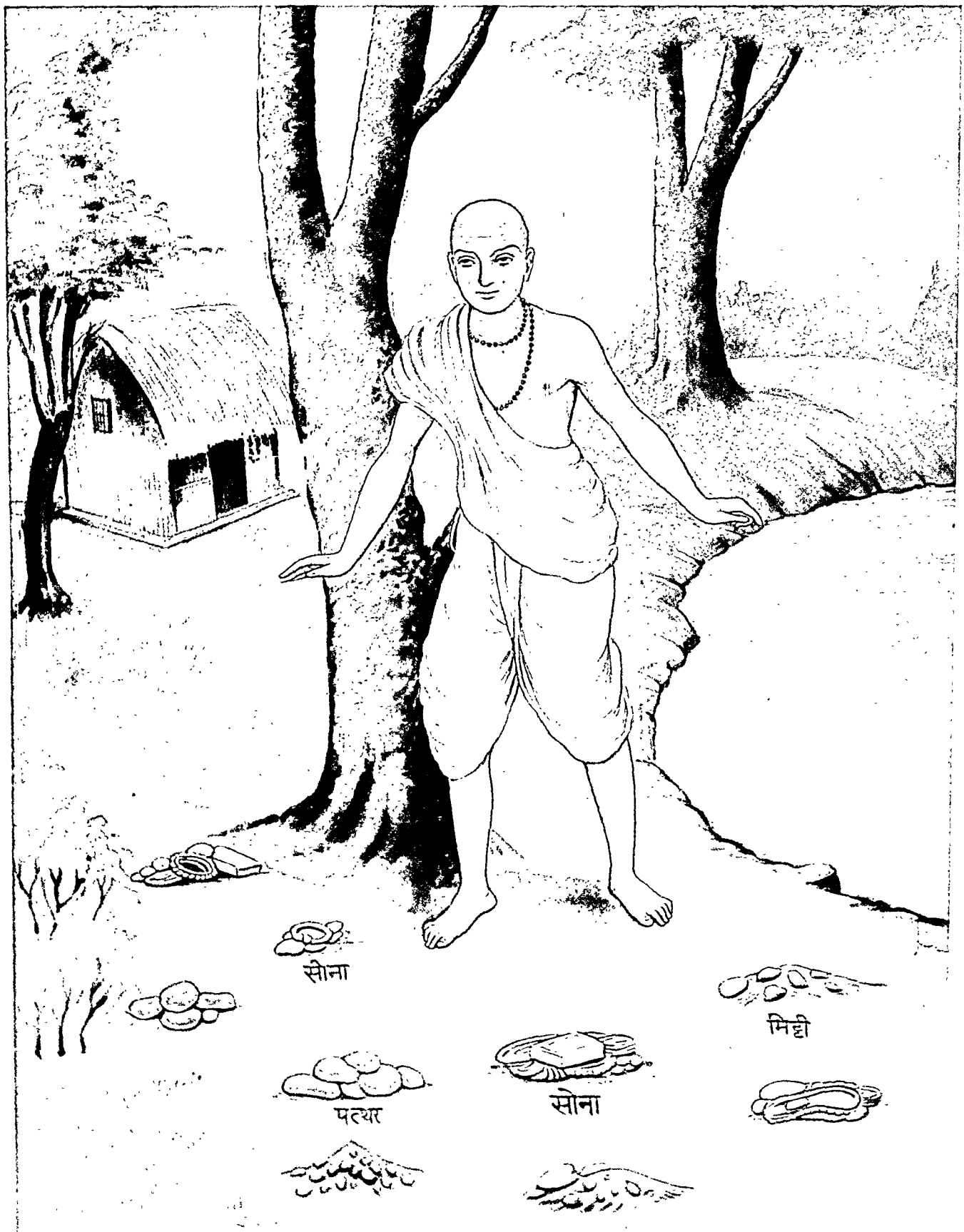

समदर्शी योगी

विपरीत समताके साथ मनुष्यका नित्ययोग है।

साध्यारूपा समता या सिद्धिके समत्व (समता) के अन्तर्गत कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोगके साधकमें समता स्वतः ही रहती है। साधकमें साधनरूपा समता होनेपर अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख, मान-अपमान, शीत-उष्ण आदिका प्रभाव पड़ता है और उनसे विचलित भी होता रहता है, किंतु जब साधकमें साध्यारूपा समता आ जाती है तो उसे अनुकूल और प्रतिकूलका ज्ञान होता तो है, पर उसका उसपर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता और न ही वह उनसे विचलित होता है। भगवान् श्रीकृष्ण इस स्थितिको दर्शाते हुए कहते हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(६।२२)

अर्थात्'जिस लाभको प्राप्त होकर उससे दूसरा कुछ भी अधिक लाभ नहीं मानता है और जिस अवस्थामें स्थित हुआ योगी बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं होता है।' अतः साध्यारूपा समताके प्राप्त होनेपर स्वतः ही समता आ जाती है। समत्वभाव (समता) में स्थित हुआ पुरुष जिसे गीतामें **'समत्वं योग उच्यते'** कहा गया है, अपनी जीवित-अवस्थामें ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है—

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

(गीता ५।१९)

इस प्रकार भगवद्गीतामें सम-अवस्थामें रहनेकी स्थितिको योग कहा गया है और इसकी गीतामें बार-बार महत्ता प्रदिष्ट हुई है। यह एक प्रकारकी सिद्धावस्था है और भगवत्प्राप्त पुरुषका लक्षण है।

निष्काम-कर्मयोग

(श्रीरामकृष्णजी मिश्र, पी० सी० एस्०, अपर आयुक्त 'प्रशासन')

मानवके आधिभौतिक, आध्यात्मिक तथा आधिदैविक तापोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति तथा परमानन्दकी प्राप्तिके निमित्त विश्वमें योगविषयक अनेक ग्रन्थ निर्मित हुए हैं, जिनके सम्यक् अनुशीलन-हेतु अत्यधिक समय, धन, परिश्रम एवं शक्तिकी आवश्यकता है। किंतु श्रीमद्भगवद्गीता भगवान्की साक्षात् संक्षिप्त एवं सारगर्भित योगयुक्त वाणी[१] है, जबकि अन्यान्य धर्मग्रन्थोंमें ईश्वरकी वाणी मनुष्यतक पहुँचनेमें किसी-न-किसी माध्यमका आश्रय लिया गया है तथा सम्प्रेषणमें अन्तराल भी हुआ है । गीताके अठारह अध्यायोंमें मुख्य अठारह योगोंके अन्तर्गत बुद्धियोग, ध्यानयोग आदि अनेक भेद हैं, किंतु वे सब मुख्यरूपसे ज्ञान, भक्ति एवं कर्म—इन तीन योगोंमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। आदि-शंकराचार्य ज्ञानयोगको; रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य तथा निम्बार्काचार्य भक्तियोगको और लोकमान्य तिलक आदि महानुभाव कर्मयोगको गीताका मुख्य उपदेश मानते हैं। महात्मा गाँधी अनासक्तियोगके नामसे भक्ति एवं शरणागति-युक्त कर्मयोगको ही प्रधानता देते हैं। वास्तविकता यह है कि गीतामें भक्तियोगको अन्तर्निहित करते हुए केवल दो ही निष्ठाएँ—१-ज्ञानयोग तथा २-कर्मयोग विवेचित की गयी हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें निष्कामयोगके लिये कर्मयोग, योग, नैष्कर्म्य, मदर्थकर्म, तदर्थकर्म, मत्कर्म, समत्वयोग तथा बुद्धियोग आदि शब्द व्यवहृत हैं। यद्यपि श्रीमद्भगवद्गीतामें इस रूपमें यह शब्द कहीं भी प्रयुक्त नहीं है तथापि कामनारहित कर्तव्यकर्मके लिये कर्मयोगके स्थानपर लोकमें निष्काम-कर्मयोग शब्द ही अधिक प्रचलित है। प्रायः सभी टीकाकारगण गीताके द्वितीय अध्यायके बुद्धियोगको निष्काम-कर्मयोगका ही पर्याय मानते हैं। यह निष्काम-कर्मयोग आत्म-साक्षात्कारमें विशेष सहायक माना गया है।

आत्म-साक्षात्कारके दो मार्ग—जगत्में अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार आचरण करनेके लिये गीतामें दो प्रकारकी निष्ठाएँ बतायी गयी हैं। उनमेंसे ज्ञानयोग ज्ञानियोंके

१- योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात्कथयतः स्वयम्। (गीता १८।७५)

लिये तथा कर्मयोग कर्मयोगियोंके लिये हैं। ज्ञानयोग निवृत्ति तथा कर्मयोग प्रवृत्तिमार्ग है।

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(गीता ३। ३)

ज्ञानयोग—निष्काम-कर्मयोगको समझनेके लिये ज्ञानयोगके स्वरूपको समझना पर्याप्त सहायक होगा। त्रिगुणात्मिका मायासे उत्पन्न गुण ही गुणोंमें वर्तते हैं, ऐसा समझकर मन, इन्द्रियों तथा शरीरसे होनेवाली समस्त क्रियाओंमें कर्तृत्वके अभिमानसे रहित होकर सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एक ही भावसे स्थित होनेका नाम ज्ञानयोग है। इसीको गीतामें सांख्ययोग, संन्यास तथा कर्मसंन्यास आदि नामोंसे भी कहा गया है। इस योगमें योगी अपनी आत्माका अवलोकन करते हुए परम संतुष्ट रहता है। इस प्रकार उसके लिये कोई कर्तव्य-कर्म शेष नहीं रहता। इस विषयमें तत्त्वज्ञानी याज्ञवल्क्यद्वारा अपनी पत्नी मैत्रेयीको दिये गये ज्ञानका उपदेश द्रष्टव्य है—

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

(बृहदारण्यकोपनिषद् ४। ५। ६)

श्रीमद्भगवद्गीता और मुण्डकोपनिषद्में भी कहा गया है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

(गीता ३। १७)

तथा—

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

(गीता २। ५५)

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

(मुण्डकोप० २। २। ८)

ज्ञानयोग एवं कर्मयोगकी एकता—ज्ञानयोग तथा निष्काम-कर्मयोग साधन-शैलीमें भिन्न-भिन्न होते हुए भी परम तत्त्वकी प्राप्तिमें एक ही हैं और दोनों ही परम कल्याणकारक हैं। परमात्म-तत्त्व-प्राप्तिरूप फल एक ही होनेके कारण दोनोंको एक ही बताया गया है, लेकिन श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार ज्ञानयोगकी अपेक्षा निष्काम-कर्मयोग अधिक श्रेयस्कर है।

एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्॥
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥

(गीता ५। ४, २)

ज्ञानयोगसहित अन्य योगोंकी अपेक्षा निष्काम-कर्मयोगके अधिक ग्राह्य होनेके कुछ कारण निम्नाङ्कित हैं—

१-निष्काम-कर्मयोग प्रवृत्तिमें निवृत्तिमार्गकी पुष्टि करता है।

यह गृहस्थ-आश्रमका विशिष्ट योग है। मनुष्य गृहस्थ-आश्रममें रहकर अपने कर्तव्यकर्मोंका पालन करते हुए तथा आश्रमका बिना त्याग किये हुए इस योगके माध्यमसे परमतत्त्वकी प्राप्तिमें समर्थ हो सकता है। भगवान्ने गीतामें सूर्य, मनु, इक्ष्वाकु तथा जनक आदि गृहस्थ राजर्षियोंका नाम उद्धृत करते हुए इङ्गित किया है कि कल्पके प्रारम्भमें प्रवृत्ति-मार्गियोंने इस विद्याको जानकर तथा इसके द्वारा निर्दिष्ट मार्गपर आचरण करके सुगमतापूर्वक परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति की थी (गीता ४। १-२, ३। २०)।

२-निष्काम-कर्मयोगके आश्रयके बिना ज्ञानयोग भी सरलतासे नहीं प्राप्त किया जा सकता। इसी उद्देश्यसे श्रीमद्भगवद्गीतामें निष्काम-कर्मयोगके बिना ज्ञानयोगकी प्राप्ति भी दुःखपूर्वक होनी बतायी गयी है—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ५। ६)

३-इस योगका आचरण अन्य योगोंकी अपेक्षा अत्यन्त सुगम तथा व्यावहारिक है। समस्त अवस्थाओं, जातियों, धर्मों एवं सम्प्रदायोंमें इस निष्काम-कर्मयोगका आचरण निर्भयतापूर्वक किया जा सकता है। निष्काम भावनासे किये जानेके कारण इसमें किसी प्रत्यवाय या विपरीत दण्डका भी भय नहीं रहता। अतः यह सब प्रकारसे उपयोगी तथा सुरक्षित योग है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(गीता २। ४०)

४-कर्मके विषयमें अर्जुनके मोहित हो जानेसे ही श्रीमद्भगवद्गीताका उपदेश दिये जानेकी आवश्यकता हुई थी।

वह अनुयायीको अरण्यमें चला जाना नहीं सिखाता, अपितु कर्मसे विरत हो रहे अर्जुनको अपने धर्मसे सम्बन्धित युद्ध-कर्मकी ओर ही प्रेरित करता है। यह संसार भी एक युद्ध है, जिसमें निष्काम-कर्मयोगके माध्यमसे कर्म करते हुए परम पदकी प्राप्ति कराना ही गीताका मुख्य उद्देश्य है।

५-तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके पश्चात् यद्यपि ज्ञानयोगीको कर्म करना आवश्यक नहीं है तथापि लोक-संग्रह एवं लोकशिक्षाके लिये आदर्श स्थापनके लिये वह कर्मोंमें प्रवृत्त रहता है। इसी उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये गीतामें स्वयं ब्रह्मा तथा भगवान्‌के द्वारा कर्मोंमें प्रवृत्त रहनेको वरीयता दी गयी है। आदिशंकराचार्य प्रभृति ज्ञानी तथा महात्मा गाँधी, श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका-सदृश महात्मागण लोकशिक्षाके कार्यसे अलग नहीं हुए, क्योंकि लोककल्याण ही उनका एकमात्र उद्देश्य था[२]।

कर्मका स्वरूप

निष्काम-कर्मयोगमें कर्म ही वह कार्यकारी उपादान है, जिसपर इस योगका भव्य प्रासाद निर्मित होता है। यद्यपि कर्मोंकी गति अत्यन्त गहन तथा कठिन है तथापि गीतामें विभिन्न संदर्भोंमें कर्मोंकी निम्न कोटियाँ निर्दिष्ट हैं—

(१) कर्म	अकर्म	विकर्म
(२) सात्त्विक	राजस	तामस
(३) शारीरिक	मानसिक	वाचिक
(४) इष्ट	अनिष्ट	मिश्रित
(५) शुभ	अशुभ	शुभाशुभ
(६) सञ्चित	प्रारब्ध	क्रियमाण

मानसिक भावना ही क्रियाओंके कर्म, अकर्म तथा विकर्म बनानेमें मूल हेतु है। कर्मका स्वरूप एक दीखनेपर भी मानसिक भावनामें अन्तर होनेके कारण उनके स्वरूप तथा परिणामोंमें भी अन्तर आ जाता है। कोई भी क्रिया साधारण कामना रहनेसे कर्म, किसीको अनिष्ट पहुँचानेकी भावना होनेसे विकर्म तथा कामनारहित होनेसे अकर्म या निष्कामकर्म बन जाती है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

(मैत्रायण्युपनिषद् ४।११)

श्रीमद्भगवद्गीतामें कर्मकी परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥

(गीता ५।११, १८।१५)

इसका तात्पर्य यह है कि शरीर, मन और इन्द्रियोंद्वारा की जानेवाली प्रत्येक चेष्टा, व्यापार या हलचलका नाम कर्म है। इस परिभाषामें कर्मकी परिधि इतनी अधिक व्यापक है कि देहधारियोंके द्वारा किसी कालमें सम्पूर्ण कर्मोंका त्याग किया जाना कदापि सम्भव नहीं है। यथा—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते॥

(गीता ३।५, १८।११)

योगः कर्मसु कौशलम्

चूँकि देहधारियोंके द्वारा समस्त कर्मोंका त्याग असम्भव है, अतः निष्काम-कर्मयोग कर्मकी ऐसी युक्ति प्रतिपादित करता है, जिससे शरीर-यात्रा भी चलती रहे तथा इस निमित्त किये जानेवाले कर्मोंसे बन्धन भी न हो। कर्मोंको करनेकी इसी कुशलताका नाम निष्काम-कर्मयोग है—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥

(गीता २।५०)

अब प्रश्न यह उठता है कि कर्मोंको करनेमें वह कौशल या युक्ति क्या है, जिससे प्रवृत्तिमार्गमें रहते हुए भी निवृत्तिमार्गका फल या परमतत्त्वकी प्राप्ति हो जाय। अर्थात् कर्मोंको भुने चनेके समान अङ्कुरणरहित या बन्धनमुक्त कैसे बनाया जाय? निष्काम-कर्मयोगकी इस तकनीककी निम्नाङ्कित विशेषताएँ हैं—

२-नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन। न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥ (गीता ३।१८, २२)

(१) केवल नियत कर्मका विधान—मीमांसकोंके अनुसार कर्मके दो प्रकार हैं—(१) विहित-कर्म, (२) निषिद्धकर्म। पुनः वेदों एवं शास्त्रोंद्वारा निर्धारित विहित कर्मोंकी भी चार श्रेणियाँ हैं—(१) नित्य, (२) नैमित्तिक, (३) काम्य और (४) प्रायश्चित्त। निष्काम-कर्मयोगमें निषिद्धकर्म (चोरी, व्यभिचार, असत्य, कपट एवं हिंसा आदि) तथा काम्यकर्म (स्त्री, पुत्र, धन तथा यश आदिकी प्राप्ति हेतु कर्म) सर्वथा त्याज्य हैं। नित्य, नैमित्तिक एवं प्रायश्चित्त-सम्बन्धी समस्त विहित कर्मोंको एक व्यक्तिद्वारा किया जाना सम्भव नहीं है। अपने वर्णाश्रमधर्मके अनुसार निर्धारित कर्म तथा यज्ञ, दान और तपको नियत कर्म, सहज कर्म या स्वाभाविक कर्म कहा गया है। इहलोक तथा परलोकके सम्पूर्ण भोगोंकी कामनाका सर्वथा त्याग करते हुए श्रद्धा एवं उत्साहपूर्वक इन्हीं नियत कर्मोंका किया जाना इस योगमें अपेक्षित है—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्मज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

(गीता ३।८, १८।४५, १६।२४, १८।५)

(२) फलेच्छाका अभाव—इस योगमें कर्तव्यकर्मोंका किया जाना मानवका स्वाभाविक धर्म है, किंतु उनमें फल-प्राप्तिकी कामना कदापि नहीं होनी चाहिये। परिश्रम, श्रद्धा एवं निष्ठापूर्वक किये गये कर्मका फल तो अच्छा ही होगा। इसी भावनाको दृष्टिगत रखते हुए निम्नाङ्कित श्लोक निष्काम-कर्मयोगका चतुःसूत्री श्लोक कहा गया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २।४७)

इसके अतिरिक्त अन्य श्लोक भी द्रष्टव्य हैं—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

(गीता ४।२०, २।५१, ५।१२, ६।१)

(३) आसक्तिका अभाव—विषयोंका ध्यान करते हुए पुरुषके लिये आसक्ति ही वह प्रथम सीढ़ी है, जिसपर आरूढ़ होकर मानव पतनोन्मुख होकर नष्ट हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें उसके पतनका क्रम यह है कि प्रायः सामान्य व्यक्तिको विषयोंका चिन्तन करते-करते उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, जिससे उनकी कामना उत्पन्न होती है। कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोधसे अविवेक या मूढ़भाव उत्पन्न होता है, जिससे स्मरण-शक्ति भ्रमित हो जाती है। स्मृतिके भ्रमित होनेसे बुद्धिका नाश होता है तथा अन्ततः वह पुरुष अपने साधनसे पतित होकर नष्ट हो जाता है। (गीता २।६२-६३)।

अतः कर्तव्य कर्मोंमें किंचिन्मात्र भी आसक्ति नहीं होनी चाहिये। आसक्ति ही कर्मबन्धनका हेतु है, जो परमतत्त्वकी प्राप्तिमें त्याज्य है। (गीता ४।२३)।

(४) समत्व-बुद्धि—जिस प्रकार समुद्रमें विभिन्न नदियोंके जल प्रवेश करते हैं, लेकिन उसमें कोई विशेष हलचल उपस्थित नहीं होती, उसी प्रकार इस जगत्में रहते हुए निष्काम-कर्मयोगीके मनमें सिद्धि-असिद्धि, जय-पराजय, सुख-दुःख तथा लाभ-हानि आदि द्वन्द्वोंमें भी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। यही समत्व निष्काम-कर्मयोग या समत्व नामक बुद्धियोग है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(२।४८)

(५) सर्वत्र समान व्यवहार—जिस प्रकार मनुष्य अपने शरीरके समस्त अङ्गों—सिर, मुँह, मस्तिष्क, गुदा तथा

उपस्थके विभिन्न कर्मोंको जानते हुए भी उनके सुख-दुःखमें समान व्यवहार करता है, उसी प्रकार निष्काम-कर्मयोगी भी समस्त प्राणियोंमें ब्रह्म-सत्ताका दर्शन करता हुआ उनसे यथोचित व्यवहार करता है तथा किसीसे द्वेष नहीं करता। (गीता ५।१८, ६।९, ३०)।

(६) काम्य संकल्पोंका भी त्याग—इस योगके अनुयायीके लिये केवल काम्य कर्मोंका ही नहीं, अपितु समस्त काम्य संकल्पोंका भी परित्याग कल्याणकारी है, क्योंकि जब बीजरूप संकल्प[3] ही नहीं होगा तो काम्य कर्मरूप वृक्षकी भी उत्पत्ति नहीं होगी तथा परमतत्त्वकी प्राप्तिमें प्रारम्भसे ही कोई व्यवधान भी नहीं होगा—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

(४।१९)

(७) कर्मोंको भगवान्‌के लिये अर्पण करना तथा शरणागति-भाव—इस योगमें समस्त कर्मोंको भगवान्‌के ही अर्पण किया जाना अपेक्षित है। समस्त कर्म पूर्ण शरणागति तथा समर्पण-भावसे करने चाहिये ताकि उन कर्मोंको करनेसे किसी प्रकारका कोई बन्धन न रहे—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता ९।२७, ४।२४, १८।६५-६६)

इस प्रकार निष्काम-कर्मयोग मानवकी शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक प्रकृतिके सर्वथा अनुकूल है। उससे स्वार्थ तथा परमार्थ, व्यक्ति तथा समाज, इहलोक एवं परलोक सभीका कल्याण-साधन होता है। वैयक्तिक कामनासे रहित होकर विश्वात्माकी कामनासे कर्म करना ही ईश्वरसे तादात्म्य स्थापित करना है। हर प्रकार समझानेके बाद अन्तमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको यही उपदेश दिया था कि वह सभी धर्मोंको छोड़कर केवल उनकी शरणमें आ जाय। वे स्वयं उसे समस्त पापोंसे मुक्त कर देंगे। अतः निष्काम-कर्मयोगका भी प्रयोजन मानवका दैवी रूपान्तर करके ईश्वरके कार्यका साधन बनाते हुए समग्र विश्वके वास्तविक कल्याणका मार्ग प्रशस्त करना है।

तिब्बती योग 'लुङ्गगोम' एवं आकाश-सञ्चरण-विद्या

(श्रीब्रह्मानन्दजी द्विवेदी 'आनन्द')

'लुङ्गगोम' तिब्बतकी असामान्य गति एवं आकाशोड्डयन-की विशिष्ट साधना है। वस्तुतः यह एक विशिष्ट प्राणायाम-पद्धति है। इस साधनामें प्रायः विभिन्न सिद्धियाँ अन्तर्भुक्त हैं। इसके अन्तर्गत प्राणायामको मनकी एकाग्रताके साथ संयुक्त किया जाता है। इसके द्वारा साधक सैकड़ों मीलकी दूरी स्वल्प कालमें ही तय कर सकता है। तिब्बतके साधकोंमें यह प्रक्रिया बहुत अधिक प्रचलित थी। ग्यारहवीं सदीके संत कवि मिलारेस्पाके लामा गुरु, स्वयं मिलारेस्पा एवं गुरुभ्राता 'त्रपा' आकाशमें घोड़ेसे भी अधिक तीव्र गतिसे उड़ा करते थे। मिलारेस्पाने स्वयं कहा है कि मैंने एक बार अत्यधिक सुदीर्घ मार्ग जो कि महीनोंमें पार हो पाता, स्वल्प कालमें पार कर लिया। अलेक्जेन्ड्रा डेविड नीलने इस प्रकारके तीन लुङ्गगोम साधकोंको आकाशमें उड़ते हुए स्वयं देखा था।

लुङ्गगोमकी साधनामें शरीरकी सहनशक्तिमें अत्यधिक वृद्धिका अभ्यास किया जाता है। इस प्रक्रियाके सिद्ध होनेपर साधक अनवरत अनेक दिन अहोरात्र तबतक चलते रहते हैं,

---

३-यद्यपि मनुके अनुसार कोई भी कार्य बिना संकल्पके प्रारम्भ ही नहीं हो सकता है तथापि मनुष्य जो भी यज्ञ या कार्य करता है, उसके पहले संकल्पका विधान है। संकल्प कर्मका कारण होता है। यदि वह शुभ हो तो अत्यन्त कल्याणकारी है।

सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः। व्रतानि यमधर्माश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥
अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्। यद्यद्धि कुरुते किंचित्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥ (मनु० २।३-४)

जबतक कि वे अपने निर्दिष्ट स्थलतक नहीं पहुँच जाते। त्शांग प्रान्तका शालूगोम्पा इस साधना-प्रशिक्षणका प्रमुख केन्द्र रहा है। इसके अतिरिक्त भी इसके अनेक केन्द्र हैं।

भारतीय योगशास्त्र भी इस साधनाकी झलक देता है। इसके अनुसार शरीरमें भू-तत्त्व एवं जल-तत्त्वकी मात्रा घटाकर अग्नि एवं वायु-तत्त्वके अंशकी अत्यधिक वृद्धि कर दी जाती है। परिणामतः शरीर अत्यधिक हलका हो जानेके कारण साधक आकाशमें सैकड़ों मील प्रति घंटेकी गतिसे गमन कर सकता है।

इस साधन-प्रक्रियामें किसी अनुभवी गुरुके निर्देशानुसार शिष्यको प्राणायामका अभ्यास करना पड़ता है। फिर साधकको दौड़नेका अभ्यास करना पड़ता है। फिर वह गुरूपदिष्ट मन्त्र-विशेषका कुछ कालतक जप एवं ध्यान करता है। आकाशगमनके समय इसी मन्त्रका साधकको जप करना पड़ता है। इस तारतम्यमें प्रत्येक पद मन्त्र एवं प्राणायामके समपर पड़ना चाहिये। साधकको अपनी दृष्टि गन्तव्य स्थानपर केन्द्रित रखनी चाहिये। सामान्यतः गुरु अपने शिष्यको किसी आकाशके तारेपर अपनी दृष्टि केन्द्रित रखकर यात्रा करनेका उपदेश देते हैं। दीर्घाभ्यासोपरान्त प्रगाढ़ सुषुप्ति एवं योगनिद्रामें सिद्धि प्राप्त कर लेनेपर तारेके अस्त हो जानेपर भी साधक—यात्रीके चक्षु उस तारेमें ही केन्द्रित रहते हैं और उसका ध्यान-प्रवाह भंग नहीं हो पाता। दीर्घाभ्यासके अनन्तर साधकके पैर पृथ्वीका संस्पर्श छोड़ देते हैं और वह वायुमण्डलमें तैरने लगता है। यह एक ऐसी योगनिद्रा है, जिसमें साधकको अपने शरीरका भार अनुभूत ही नहीं होता, क्योंकि वह अत्यधिक हलका हो जाता है।

उपर्युक्त साधनाका अभ्यास संध्याके समय, चाँदनीमें किसी समतल भूमिवाले लंबे-चौड़े रेगिस्तानी मैदानों आदिमें किया जाता है। आरम्भिक साधक दोपहर, तृतीय प्रहर, अरण्य, उपत्यका एवं पहाड़के व्यवधानोंपर विजय नहीं कर पाते और इसी प्रकार तारोंके अस्त हो जानेपर अग्रवर्ती यात्रा भी नहीं कर पाते, वे मार्गमें ही रुक जाते हैं, किंतु अनुभवी गुरुओंके लिये ये व्यवधान भी कोई अर्थ नहीं रखते। कथासरित्सागरकी प्रारम्भिक कथाओंमें इस प्रकार आकाश-गमनकी यात्राओंका कई स्थानोंपर उल्लेख हुआ है। पुराणोंमें भी पादुकासिद्धि, लेपसिद्धि आदिके द्वारा आकाशगमनकी अनेकों कथाएँ मिलती हैं। अतः इस विषयमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये।

बिरले योगी

(स्व० योगिवर्य महात्मा श्रीचिदानन्दजी यति)

अवधु निरपक्ष बिरला कोई, देख्या जग बहु जोई—
सम रस भाव भला चित जाके थाप उथापन होई।
अविनाशीके घरकी बाताँ जानेंगे नर सोई॥ अवधु०॥
राव रंकमें भेद न जाने कनक उपल सम लेखे।
नारि नागिनीको नहिं परिचय ते शिवमन्दिर देखे॥ अवधु०॥
निन्दा-स्तुति श्रवण सुनीने हर्ष शोक नवी आणे।
ते जगमें योगीसर पूरा नित चढ़ते गुण ठाणे॥ अवधु०॥
चन्द्र समान सौम्यता जाकी सागर जेम गँभीरा।
अप्रमतें भारंड परैं नित सुर गिरि सम शुचि धीरा॥ अवधु०॥
पंकज नाम धराय पंक सुं रहत कमल जिम न्यारा।
'चिदानन्द' ऐसा जन उत्तम सो साहेबका प्यारा॥ अवधु०॥

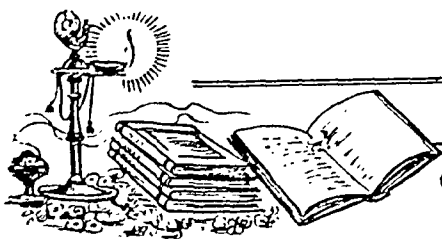

भारतीय वाङ्मयमें योग

वेदमें योगविद्या

(श्रीजगन्नाथजी वेदालंकार)

सभी धर्म-कर्म, योग, ज्ञान, वैराग्य तथा भक्ति आदि सत्कर्म वेदोंद्वारा निर्दिष्ट हैं और उनसे ही निःसृत माने गये हैं, यहाँतक कि भविष्यमें होनेवाले ज्ञान-विज्ञान तथा कला-साहित्य आदिका भी वेदोंमें उत्स प्राप्त है—

'भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥'

(मनु० १२।९७)

यहाँ संक्षेपमें योगमूलक कुछ वैदिक मन्त्रोंका निर्देश किया जा रहा है। योग शब्दका अर्थ है जोड़ना अथवा युक्त करना, समाहित अथवा एकाग्र होना। अपने आत्माको परमात्माके साथ युक्त करना ही योग है और जिस साधनसे इस प्रकारका योग एवं सायुज्य प्राप्त होता है, वह भी योग कहलाता है। योगभाष्यके रचयिता महर्षि व्यास कहते हैं कि पूर्ण एकाग्रतासे परमात्मामें समाहित हो जाना, समाधिकी अवस्था प्राप्त कर लेना भी योग है। अर्थात् 'योग' शब्द साधन और साध्य दोनोंका वाचक है।

ऋग्वेदके एक मन्त्रमें यह शब्द इन्हीं अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है—

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति ॥

(१।१८।७)

अर्थात् जिन (इन्द्राग्नि) देवताके बिना प्रकाशपूर्ण ज्ञानीका जीवन-यज्ञ भी सफल नहीं होता, उसीमें ज्ञानियोंको अपनी बुद्धियों और कर्मोंका योग करना चाहिये, उसी देवमें उन्हें अपनी बुद्धियों और कर्मोंको अनन्यरूपसे एकाग्र करना चाहिये। उनकी बुद्धि उस देवके साथ तदाकार हो जाती है और वह उनके कर्मोंमें भी ओतप्रोत हो जाता है। अपनी सभी क्रियाओं और चेष्टाओंमें भी उनका चित्त उसके साथ जुड़ा रहता है।

योगके इस प्रधान लक्षणका प्रतिपादन यजुर्वेदके ११ वें अध्यायके प्रथम पाँच मन्त्रोंमें अत्यन्त स्पष्ट और सरल शब्दोंमें किया गया है। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याऽभरत्॥

सबको उत्पन्न करनेवाले परमात्मा पहले हमारे मन और बुद्धिकी वृत्तियोंको तत्त्वकी प्राप्तिके लिये अपने दिव्य स्वरूपमें लगायें और अग्नि आदि इन्द्रियाभिमानी देवताओंकी जो विषयोंको प्रकाशित करनेकी सामर्थ्य है, उसे दृष्टिमें रखते हुए बाह्य विषयोंसे लौटाकर हमारी इन्द्रियोंमें स्थिरतापूर्वक स्थापित कर दें, जिससे हमारी इन्द्रियोंका प्रकाश बाहर न जाकर बुद्धि और मनकी स्थिरतामें सहायक हो।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे।
स्वर्गाय शक्त्या॥

हम लोग सबको उत्पन्न करनेवाले परमदेव परमेश्वरकी आराधनारूप यज्ञमें लगे हुए मनके द्वारा परमानन्दकी प्राप्तिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्न करें। अर्थात् हमारा मन निरन्तर भगवान्‌की आराधनामें लगा रहे और हम भगवत्प्राप्तिजनित अनुभूतिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्नशील रहें।

युक्त्वाय सविता देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्र सुवाति तान्॥

वे सबको उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर मन और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंको जो स्वर्ग आदि लोकोंमें, आकाशमें विचरनेवाले तथा बड़ा भारी प्रकाश फैलानेवाले हैं, हमारे मन और बुद्धिसे संयुक्त करके हमें प्रकाश प्रदान करनेके लिये प्रेरणा करें, ताकि हम उन परमेश्वरका साक्षात् करनेके लिये ध्यान करनेमें समर्थ हों। हमारे मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रकाश फैला रहे। निद्रा, आलस्य और अकर्मण्यता आदि दोष हमारे ध्यानमें विघ्न न करें।

इसी प्रकार ऋग्वेदमें कहा गया है—

यूयं तत् सत्यशवस आविष्कर्त महित्वना।
विध्यता विद्युता रक्षः॥
गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम्।
ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि॥

(१।८६।९-१०)

—इन मन्त्रोंमें गौतम ऋषि मरुद्-देवताओंका आवाहन कर उनसे ज्योति-प्राप्तिकी प्रार्थना करते हैं—'हे सत्यके बलसे सम्पन्न मरुतो! तुम्हारी महिमासे वह परमतत्त्व हमारे सामने प्रकाशित हो जाय। विद्युत्के सदृश अपने प्रकाशसे राक्षसका विनाश कर डालो। हृदयगुहामें निहित अन्धकारको छिन्न-भिन्न कर दो, वह अन्धकार सत्यकी ज्योतिकी बाढ़में डूबकर तिरोहित हो जाय। हमारी अभीष्ट ज्योतिको प्रकट कर दो।'

यहाँ मरुद्देवताओंसे योगपरक अर्थ करनेमें पञ्च प्राण—प्राण, अपान, समान, उदान, व्यानका भी ग्रहण हो सकता है। इनपर पूर्ण प्रभुत्वकी प्राप्तिसे योगाभ्यासीको शक्तिके आरोहण और अवरोहणका अनुभव और परम तत्त्वका साक्षात्कार प्राप्त होता है। साक्षात्कारसे जिस ज्योतिके दर्शन होते हैं, वही योगीका अभीष्ट ध्येय है।

अथर्ववेदके एक मन्त्रमें राजयोगकी प्राणायाम-प्रणालीसे होनेवाले शक्तिके आरोहणका वर्णन प्रतीकात्मक भाषामें किया गया है—

पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥

(४।१४।३)

—इस मन्त्रमें पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ क्रमशः अन्न, प्राण और मनकी भूमिकाओंके प्रतीक हैं और स्वर्ज्योति मनसे परे स्थित, वाङ्मनस-अगोचर विज्ञानमय भूमिकाका प्रतीक है। प्राणायामसे सिद्धिप्राप्त साधक कहता है कि मैंने पृथ्वीके तलसे अन्तरिक्षमें आरोहण किया, अन्तरिक्षसे द्युलोकमें और आनन्दमय द्युलोकके स्तरसे आरोहण करके मैं स्वर्लोकके ज्योतिर्मय धाममें पहुँच गया। पातञ्जलयोगदर्शनके अनुसार ये भूमिकाएँ विक्षिप्त, सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात और कैवल्य भूमिकाएँ कहलाती हैं।

चेतनाके उत्तरोत्तर आरोहणके क्रममें योगीको जो अनुभूतियाँ होती हैं, उनका वेदोंमें अनेकत्र वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥

(अथर्व० १०।२।३१)

—इस मन्त्रमें यह कहा गया है कि 'आठ चक्रों और नौ द्वारोंसे युक्त हमारी यह देहपुरी एक अपराजेय देवनगरी है। इसमें एक हिरण्मय कोश है, जो ज्योति और आनन्दसे परिपूर्ण है।'

वैदिक योगसाधनाका ध्येय है आत्माका परमात्माके साथ ऐक्य। उसके लिये साधककी अभीप्सा निम्नलिखित मन्त्रमें सुन्दर ढंगसे व्यक्त की गयी है—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥

(ऋ० ८।४४।२३)

अर्थात् 'हे अग्निदेव! यदि मैं तू अर्थात् सर्वसमृद्धि-सम्पन्न हो जाऊँ या तू मैं हो जाय तो मेरे लिये तेरे सभी आशीर्वाद सत्य सिद्ध हो जायँ।'

इस प्रकार यहाँ वेदमन्त्रोंके आधारपर योग-सम्बन्धी कुछ रहस्यात्मक तत्त्व संक्षेपमें निर्दिष्ट किये गये हैं। प्राचीन या अर्वाचीन सभी योगमार्ग वेदमूलक ही हैं। वेदोंमें योगके मूलभूत सूत्र शिवसंकल्प-सूक्तमें भी सरल रूपमें सबके कल्याणके लिये निर्दिष्ट हुए हैं। इस सूक्तके उपदेशोंके आधारपर प्राणिमात्रके प्रति मैत्री-भावना और समदृष्टिका अभ्यास करना चाहिये। यह अभ्यास सिद्ध हो जानेपर अपने हृदयके सभी भावोंको भगवान्‌की ओर ही प्रेरित करे, सभी सांसारिक सम्बन्धों और अलौकिक सम्बन्धोंको भगवान्‌के साथ ही जोड़ दे। अनेकों वेदमन्त्रोंमें[1] यह उपदेश दिया गया है कि हमें माता-पिता, पुत्र, मित्र, कलत्र, बन्धु-बान्धव आदि सभी सम्बन्ध अपने सच्चे और अनन्य बन्धु भगवान्‌के साथ ही जोड़ने चाहिये, संसारी जनोंके साथ नहीं। सांसारिक आसक्तियोंको दूर करने और भगवान्‌में परम अनुरक्ति और

१-ऋ० ७।३२।१९, ८।९८।११, ६।१।५, १०।४३।१, ९।६१।४, १०।१८६।२; सामवेद ११७०।

रति उत्पन्न करनेका इससे सरल और सरस मार्ग अन्य कोई नहीं है। हृदयके सभी भावों और निखिल कामनाओंको भगवान्‌की ओर मोड़ देनेसे ही उनके साथ सारूप्य, साधर्म्य, सायुज्य और ऐकात्म्य सहजतया प्राप्त हो सकता है, जैसा कि भागवतमें स्पष्टरूपसे प्रतिपादित किया गया है—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
यत्र यत्र मनो देही धारयेत् सकलं धिया।
स्नेहाद् द्वेषाद् भयाद् वापि याति तत्तत्सरूपताम्॥
कीटः पेशस्कृतं ध्यायन् कुड्यां तेन प्रवेशितः।
याति तत्सात्मतां राजन् पूर्वरूपमसंत्यजन्॥

(१०।२९।१५, ११।९।२२-२३)

'काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य और सौहार्दके भावों एवं वृत्तियोंको जो लोग नित्य-निरन्तर भगवान्‌के साथ ही जोड़े रहते हैं, वे उनके साथ सहज ही तन्मयता प्राप्त कर लेते हैं।

यदि प्राणी स्नेहसे, द्वेषसे अथवा भयसे भी अपना मन एकाग्र-रूपसे किसीमें लगा दे तो उसे उसी वस्तुका स्वरूप प्राप्त हो जाता है, जैसे भृङ्गी (भ्रमर) एक कीड़ेको ले जाकर दीवारमें अपने रहनेके स्थानमें बंद कर देता है और वह कीड़ा भयसे उसीका चिन्तन करते-करते अपने पहले शरीरका त्याग किये बिना ही उसी चिन्तन किये गये रूपको प्राप्त कर लेता है—तद्रूप हो जाता है।'

धन्य हैं वे, जो इस प्रकारकी अनन्य एकाग्रताका आश्रयकर भगवान्‌के साथ तन्मयता प्राप्त कर लेते हैं।

योगोपनिषदोंमें योग-निरूपण

(पं० श्रीवटुकनाथजी शर्मा एम्० ए०, साहित्याचार्य)

योग हिन्दू-जातिकी सबसे प्राचीन तथा सबसे समीचीन सम्पत्ति है। यही एक ऐसी विद्या है जिसमें वाद-विवादको कहीं स्थान नहीं, यही वह एक कला है जिसकी साधनासे अनेक लोग अजर-अमर होकर देह रहते ही सिद्ध-पदवीको पा गये। यह सर्वसम्मत अविसंवादि सिद्धान्त है कि योग ही सर्वोत्तम मोक्षोपाय है। भवतापतापित जीवोंको सर्वसंतापहर भगवान्‌से मिलानेमें योग अपनी बहिन भक्तिका प्रधान सहायक है। जिसको अन्तर्दृष्टि नहीं, उसके लिये शास्त्र भारभूत है। यह अन्तर्दृष्टि बिना योगके सम्भव नहीं। अतः इसमें संदेह नहीं कि भारतीय तत्त्वज्ञानके कोशको पानेके लिये योगकी कुंजी पाना परमावश्यक है।

वेदबाह्य बौद्ध, जैन आदि भी योगपर उतनी ही आस्था रखते हैं, जितनी श्रद्धा वेदसम्मत-मतानुयायी सामान्य धार्मिक जनता रखती है। अनेक विलक्षण आचारसम्पन्न साधकगण भी योगको ही परमालम्बन मानते थे। हिन्दुओंके नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें भी योगके कितने अङ्ग—आसन, प्राणायाम आदि—व्याप्त देखे जाते हैं। यह एक बड़ी विशिष्ट बात है कि योगका यह प्राधान्य प्राचीनतम कालसे चला आया है।

वेद ही संसारभरके प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। वेदके दो विभाग हैं—मन्त्र और ब्राह्मण—'मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः।' मन्त्रोंके संग्रहका नाम संहिता है। मन्त्रोंके विनियोग आदि विषयोंको बतलानेवाला ग्रन्थ ब्राह्मण कहा जाता है। ब्राह्मणोंका अन्तिम भाग बहुधा आरण्यक होता है। आरण्यकोंका अन्तिम अंश बहुधा उपनिषद् होता है। यही कारण है कि उपनिषद् वेदान्त कहे जाते हैं। उपनिषद्का अर्थ है 'रहस्य,' 'गुप्त उपदेश'। वेदका सारभूत विषय जो परम अधिकारप्राप्त शिष्योंको ही बताया जाता था, वही उपनिषदोंमें भरा हुआ है। ऐसा माना जाता है कि वेदकी जितनी शाखाएँ थीं उतनी ही संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदें भी थीं। ऋग्वेदकी इक्कीस, यजुर्वेदकी एक सौ नौ, सामवेदकी एक हजार तथा अथर्ववेदकी पचास शाखाएँ थीं। सब मिलाकर ११८० शाखाएँ थीं। अतः इतनी ही उपनिषदें भी होनी चाहिये। किंतु संहिता, ब्राह्मणोंके साथ-साथ बहुत-सी उपनिषदें भी लुप्त हो गयीं।

उपनिषद्-साहित्यमें कठ, मुण्डक, श्वेताश्वतर तथा बृहदारण्यक आदि उपनिषदोंमें योगकी पर्याप्त चर्चा है, किंतु केवल योगसे ही विशेष सम्बन्ध रखनेवाली बीस उपनिषदोंका संग्रह 'योगोपनिषद्-संग्रह'के नामसे प्रकाशित है। साथ ही योगराजोपनिषद् भी योगका आर्ष ग्रन्थ है। यहाँ इन्हें आधार मानकर औपनिषद-योगका संक्षेपमें वर्णन किया जा रहा है—

१-अद्वयतारकोपनिषद्—इसमें लक्ष्यत्रयके अनुसंधानद्वारा तारकयोगका साधन कहा गया है।

२-अमृतनादोपनिषद्—इसमें षडङ्गयोगका वर्णन है, जो इस प्रकार है—

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते॥

'प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि—यह षडङ्गयोग कहलाता है।'

३-अमृतबिन्दूपनिषद्—मन ही बन्धनका कारण है।

बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

'विषयासक्त मन बन्धका और निर्विषय मन मुक्तिका कारण है।'

निरस्तविषयासङ्गं संनिरुद्धं मनो हृदि।
यदा यात्यात्मनोऽभावं तदा तत्परमं पदम्॥

'विषयासक्तिसे मुक्त और हृदयमें निरुद्ध मन जब अपने अभावको प्राप्त होता है तब परमपद प्राप्त होता है।'

तावदेव निरोद्धव्यं यावद् हृदिगतं क्षयम्।
एतज्ज्ञानं च ध्यानं च शेषो न्यायस्य विस्तरः॥

'तभीतक हृदयमें मनका निरोध करना चाहिये जबतक उसका क्षय न हो जाय। इसीको ज्ञान और ध्यान कहते हैं, बाकी सब न्यायका विस्तार है।'

इसके अनन्तर इस उपनिषद्में ज्ञानका स्वरूप तथा ध्यानका प्रकार कहा गया है।

४-क्षुरिकोपनिषद्—इसमें प्रसिद्ध षडङ्ग—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—संक्षेपसे कहे गये हैं। '**आसनमवस्थितः**' परिभाषित कहकर किया है, किसी आसन-विशेषका नाम नहीं दिया गया है।

५-तेजोबिन्दूपनिषद्—यह कुछ बड़ी उपनिषद् है। इसमें छः अध्याय हैं। प्रथम अध्यायमें परब्रह्म-स्वरूप तथा परब्रह्मावगतिसाधन पञ्चदशाङ्गयोग कहा गया है। पञ्चदश अङ्ग ये हैं—

'यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूल-बन्ध, देहसाम्य, दृक्स्थिति, प्राणसंयमन, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि—ये अङ्ग क्रमसे बताये हैं। यम आदिका स्वरूप भी भिन्न ही प्रकारसे कहा गया है। उदाहरणार्थ यमका लक्षण देते हैं—

सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।
यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः॥

'यह सब ब्रह्म है, इस ज्ञानसे इन्द्रियोंका संयम करना यम कहलाता है। इसीका बारंबार अभ्यास करना चाहिये

द्वितीय अध्यायमें अखण्डैकरसत्व तथा चिन्मात्र भावनाद्वारा सबका एकरूप प्रतिपादित किया गया है तृतीयाध्यायमें ब्रह्मानुभवका वर्णन है। चतुर्थ अध्याय जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति आदिका वर्णन है। बाकीके तीन अध्यायोंमें वेदान्तप्रतिपाद्य तत् पदार्थ और त्वं पदार्थ अभेदका निरूपण है।

६-त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्—इसमें पहले सृष्टिक्रम दिखाया गया है। तदनन्तर योगके दो प्रकार कहे गये हैं-कर्मयोग तथा ज्ञानयोग।

कर्म कर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु।
बन्धनं मनसो नित्यं कर्मयोगः स उच्यते॥

'विहित कर्मोंमें इस बुद्धिका होना कि यह कर्तव्यकर्म है मनका ऐसा नित्य बन्धन कर्मयोग है।'

यत्तु चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि बन्धनम्।
ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः॥

'और श्रेयोऽर्थ चित्तका सदा बद्ध रहना ज्ञानयोग है, ऐसा समझना चाहिये। यह ज्ञानयोग सब सिद्धियोंका देनेवाला और मङ्गलकारक है।'

इसके अनन्तर निर्विशेष ब्रह्मज्ञानोपाय अष्टाङ्गयोग कहा है। ये वे ही अष्टाङ्गयोग हैं जो महर्षि पतञ्जलिप्रोक्त है। जैसे—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

७-दर्शनोपनिषद्—इस उपनिषदमें सांकृति नामक शिष्य अपने गुरु दत्तात्रेयसे पूछते हैं और वे अष्टाङ्गयोगका वर्णन करते हैं। अष्टाङ्गयोग पूर्वोक्त ही है। इसके अनन्तर देहका वर्णन है। नाडी, वायु, नाडीके देवता, नाडियोंमें संवत्सरात्मप्राणसूर्यसंचार अन्तस्तीर्थ आदिका बहुत उत्तम वर्णन है। प्राणायामादि सब अङ्गोंका भी बहुत अच्छा प्रतिपादन है। यह योगोपनिषदोंमें एक उत्तम उपनिषद् है।

८-ध्यानबिन्दूपनिषद्—पहले ब्रह्मध्यानयोग (प्रणव-

ध्यान, सविशेष ब्रह्मध्यान त्रिमूर्तिध्यानद्वारा) प्रतिपादित है। षडङ्गयोग इसके अनन्तर कहा गया है। आसन चार ही कहे गये हैं—सिंह, पद्म, भद्र तथा सिद्ध। अन्तमें नादानुसंधानद्वारा आत्मदर्शन बतलाया गया है।

९-नादबिन्दूपनिषद्—इसमें प्रणवोपासना तथा नादानुसंधान कहा गया है।

१०-पाशुपतब्रह्मोपनिषद्—इसमें ज्ञानयोग प्रतिपादित है। परमात्माकी हंसत्वेन भावना, अन्तर्याग, ज्ञानयज्ञरूप अश्वमेध इत्यादि अनेक विषय हैं।

११-ब्रह्मविद्योपनिषद्—प्रणवकी चारों मात्राओंका वर्णन देकर सुषुम्नाके विषयमें यों कहा है—

पद्मसूत्रनिभा सूक्ष्मा शिखाभा दृश्यते परा।
सा नाडी सूर्यसंकाशा सूर्यं भित्त्वा तथा परम्॥
द्विसप्ततिसहस्राणि नाडीर्भित्त्वा च मूर्धनि।
वरदा सर्वभूतानां सर्वं व्याप्यैव तिष्ठति॥

'मृणाल-तन्तुके समान सूक्ष्म और ज्वाला-सी उज्ज्वल और सूर्यसदृश प्रकाशमान वह परानाडी सूर्यको भेदकर परमको प्राप्त होती है और मूर्धामें बहत्तर हजार नाडियोंको भेदकर सबको व्याप्तकर रहती है।'

नादके द्वारा मोक्षप्राप्ति, जीवस्वरूपनिरूपण, हंसविद्या, हंसयोगीके द्वारा अनुसंधेय आत्मस्वरूप इत्यादि अनेक विषय इसमें प्रतिपादित हैं।

१२-मण्डलब्राह्मणोपनिषद्—पहले-पहल अष्टाङ्ग-योग कहा है। चार यम कहे गये हैं—'**शीतोष्णाहार-निद्राविजयः, सर्वदा शान्तिः, निश्चलत्वम्, विषयेन्द्रिय-निग्रहश्चैते यमाः।**' तदनन्तर नव नियम हैं—'**गुरुभक्तिः, सत्यमार्गानुरक्तिः, सुखागतवस्त्वनुभवश्च तद्वस्त्वनुभवेन तुष्टिः, निःसङ्गता, एकान्तवासः, मनोनिवृत्तिः, फलानभिलाषः, वैराग्यभावश्च नियमाः।**'

योगके विषयमें कहा गया है—

तद्योगं द्विविधं विद्धि पूर्वोत्तरविधानतः।
पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरम्॥

'वह योग पूर्वोत्तर विधानसे दो प्रकारका है, पूर्वमें करनेका तारकयोग और बादका अमनस्कयोग है।' तारक भी द्विविध है, मूर्ति तारक और अमूर्ति तारक। जो इन्द्रियान्त है वह मूर्तितारक है, जो भ्रूयुगातीत है वह अमूर्ति तारक है। दोनोंका ही मनोयोगसे अभ्यास करना चाहिये।

तालुमूलोर्ध्वभागे महज्ज्योतिर्विद्यते, तद्दर्शनाद-णिमादिसिद्धिः।

'तालुमूलके ऊर्ध्व भागमें महज्ज्योति है। उसके दर्शनसे अणिमादि सिद्धि प्राप्त होती है।'

१३-महावाक्योपनिषद्—इस छोटेसे उपनिषद्में हंसविद्या कही गयी है। पर यहाँ कुछ विशेष है। तदनुसार—

'काण्डान्तरमें जो ज्योतिर्मण्डलस्वरूप आदित्य है वही विद्या है, अन्य कोई नहीं, '**असौ आदित्यो ब्रह्म**' यही आदित्य ब्रह्म है, जिसका '**हंसः सोऽहम्**' इस अजपा-मन्त्रसे निर्देश किया जाता है। प्राणापानकी अनुलोम और प्रतिलोम-गतिसे वह विद्या जानी जाती है, दीर्घकालके अभ्याससे वह विद्या लाभकर जब त्रिवृत् आत्मा ब्रह्मका ध्यान किया जाता है तब सच्चिदानन्द परमात्मा आविर्भूत होते हैं।'

१४-योगकुण्डल्युपनिषद्—

हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तद्द्वावपि विनश्यतः॥
तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा।
मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः॥

'चित्तके दो हेतु हैं, वासना और प्राण। इनमेंसे किसी एकके नष्ट होनेसे दोनोंका नाश होता है। इनमेंसे पहले सदा प्राणको ही जय करना चाहिये, तब मिताहार होकर आसन साधे और फिर शक्तिचालन करे।'

—इस सिद्धान्तको कहकर आसन प्राणायामादिद्वारा कुण्डलिनीयोग कहा गया है। द्वितीय अध्यायमें खेचरी विद्याकी सिद्धि मन्त्रद्वारा तथा प्रसिद्ध अभ्यासद्वारा कही गयी है। तृतीय अध्यायमें ब्रह्मस्वरूप, जीवस्वरूप, मुक्तिस्वरूप आदि कथित हैं।

१५-योगचूडामण्युपनिषद्—चक्र, नाडी, वायु आदिका तत्त्व बतलाते हुए षडङ्गयोग इसमें कहा गया है। तदनन्तर प्रणवाभ्यास प्रतिपादित है। प्रणवाभ्यास करनेवालेको भी प्राणजय करना आवश्यक है, अतः नाडीशोधनादिद्वारा प्राणायाम पुनः कहा गया है।

१६-योगतत्त्वोपनिषद्—मोक्ष-प्राप्तिके लिये ज्ञान तथा

योग दोनों आवश्यक हैं।

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम्।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि॥

'योगके बिना ज्ञान ध्रुव मोक्षका देनेवाला भला कैसे हो सकता है? उसी प्रकार ज्ञानहीन योग भी मोक्षकर्ममें असमर्थ है।'

योग चार हैं—मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग। इस उपनिषद्में प्रसिद्ध अष्टाङ्गयोगका सविस्तर वर्णन है।

१७-योगशिखोपनिषद्—यह उपनिषद् बड़े महत्त्वका है। विषय तो वही है, जो योगतत्त्वोपनिषद्में कहा गया है, किंतु यहाँ बड़े विस्तारसे तथा प्रकारान्तरसे वही विषय कहा गया है। कुछ बातें उससे भिन्न भी हैं। वहाँ चारों योग स्वतन्त्ररूपेण कहे गये हैं। यहाँ वे क्रमिक-भूमिका माने गये हैं—

मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात्॥
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते।

'मन्त्र, लय, हठ और राज—ये चार योग यथाक्रम चार भूमिकाएँ हैं। चारों मिलकर यह एक ही चतुर्विध योग है, जिसे महायोग कहते हैं।'

इतना ही नहीं, उनके स्वरूप भी कुछ भिन्न प्रकारसे कहे गये हैं। उदाहरणार्थ राजयोग लीजिये—

'रजसो रेतसो योगाद् राजयोग इति स्मृतः।'

'रज और रेतके योगसे राजयोग होता है॥'

योगका सामान्य स्वरूप इस प्रकार है—

'प्राणापानसमायोगो ज्ञेयं योगचतुष्टयम्।'

'प्राणापानको समान करना योगचतुष्टय कहा गया है।' यह उपनिषद् योगदृष्ट्या सचमुच बड़े कामका है।

१८-वराहोपनिषद्—इसमें पाँच अध्याय हैं। चार अध्यायोंमें ज्ञान प्रतिपादित है। पञ्चम अध्यायमें योग कहा गया है। तीन योग हैं—लय, मन्त्र तथा हठ। हठयोगके आठ अङ्ग हैं। यम दस, नियम दस और आसन ग्यारह कहे गये हैं। अन्तमें योगके कुछ विशेष प्रकार दिये गये हैं, जैसे कालवञ्चनोपायभूतयोग, कायदार्ढ्यबलादिसाधनके योग, सम्पुटयोग आदि।

१९-शाण्डिल्योपनिषद्—इसमें महर्षि अथर्वा शाण्डिल्यसे अष्टाङ्गयोग कहते हैं। यम दस, नियम दस, आसन आठ, प्राणायामके तीन प्रकार, प्रत्याहार पाँच, धारणा पाँच, ध्यान दो कहे गये हैं। द्वितीय-तृतीय अध्याय बहुत छोटे-छोटे हैं। इनमें ब्रह्मस्वरूप कहा गया है। अन्तमें दत्तात्रेयका माहात्म्य प्रतिपादित है।

२०-हंसोपनिषद्—इसमें हंसविद्या संक्षेपसे प्रतिपादित है। अजपा-जप, नादानुसंधान आदि तदुपायत्वेन कहे गये हैं।

२१-योगराजोपनिषद्—चार योग हैं—मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग तथा हठयोग। इन चारों योगोंमें आसन, प्राणायाम, ध्यान तथा समाधि सम्मत हैं। लययोगके प्रसङ्गमें नव चक्रोंका वर्णन दिया गया है।

यह इक्कीस योगोपनिषदोंका सारांश है। इनमें योगके प्रायः सभी विषय आ गये हैं। परवर्ती ग्रन्थोंमें इन उपनिषदोंकी सामग्री ले ली गयी है। गोरक्ष आदि सिद्धोंके ग्रन्थोंमें इन उपनिषदोंके श्लोक प्रायः ज्यों-के-त्यों प्राप्त होते हैं। जो लोग कहते हैं कि योगके अङ्ग आठसे छः इन सिद्धोंने किये हैं, उन्हें इन उपनिषदोंको देखना चाहिये। जो लोग इन उपनिषदोंको पीछेके कालका मानते हैं, उनकी युक्तियाँ भी अल्पप्राण ही हैं। तथापि हम आगे यह दिखानेका प्रयत्न करते हैं कि जिन्हें विद्वज्जन प्राचीनतम मानते हैं, उनमें भी योगका विषय अच्छी तरह आया हुआ है।

योग शब्दके इस पारिभाषिक अर्थमें प्रयुक्त होनेके बहुत पूर्वसे योगाभ्यास भारतके लोगोंको अच्छी तरहसे ज्ञात था। यद्यपि युज धातुका प्रयोग मनस् शब्दके साथ तथा ऐसे ही अर्थमें ऋग्वेदमें भी मिलता है, तथापि बिलकुल स्पष्टरूपसे कठोपनिषद्में योग शब्दका प्रयोग हुआ है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

(अध्याय २, वल्ली ३। १०-११)

'जब पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ मनसहित आत्मामें स्थिर होकर बैठती हैं, बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती, तब उस अवस्थाको परमा गति कहते हैं। उसी स्थिर इन्द्रिय-धारणाको योग कहते हैं। उस अवस्थामें साधक प्रमादरहित होता है। उत्पत्ति और

नाश योग ही है।'

उपनिषदोंमें योग 'अध्यात्मयोग' कहा गया है। संहिता-ब्राह्मणोंमें योग अनेक क्रियाकलापोंके साथ मिला हुआ मिलता है तथा सिद्धियाँ ही उसकी बहुशः लक्ष्य थीं। बहुत सम्भव है मोक्षप्राप्तिके लिये जब इसका प्रयोग होने लगा तब इसको अध्यात्मयोग कहने लगे।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥

(कठोपनिषद् १।२।१२)

'वह देव अर्थात् आत्मा जो इतना तेजस्वी है कि देख नहीं सकते, जो गूढ़-गहन स्थानमें प्रवेश किये हुए है, गुहामें बैठा हुआ और गह्वरमें रहनेवाला है उसको अध्यात्मयोगाधिगमके द्वारा जानकर धीर पुरुष हर्ष और शोकको त्याग देता है।'

योग शब्दका प्रयोग दर्शनविशेषके लिये होता है या क्रियात्मकयोगके लिये होता है। उपनिषदोंमें दोनों अर्थोंमें योग शब्द प्रयुक्त मिलता है। ऊपरके दोनों कठोपनिषद्के मन्त्र ही इसके उदाहरण हैं। योगदर्शनके-से मत प्राचीन उपनिषदोंमें भी अनेक स्थलोंपर मिलते हैं। कठ, मुण्डक, छान्दोग्य आदि उपनिषदोंमें इसे स्वयं देखा जा सकता है। क्रियात्मकयोगके भी रूप, प्रकार, भेद आदि प्राचीन उपनिषदोंमें भी मिलते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद्के द्वितीय अध्यायमें षडङ्गयोगका वर्णन स्पष्ट ही दीख पड़ता है। जो लोग योगका षडङ्गत्व मात्र नाथसम्प्रदायका ही अङ्ग मानते हैं उन्हें यह उपनिषद् अपने मतके पलटनेमें बहुत कुछ सहायता देगा।

श्वेताश्वतरके कुछ वाक्य नीचे दिये जाते हैं—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥
प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं
विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः॥

(२।८-९)

ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्।

(१।१४)

'शरीरको त्रिरुन्नत अर्थात् छाती, गर्दन और सिर उन्नत, और सम करके, मनसहित इन्द्रियोंको हृदयमें नियतकर ब्रह्मरूप नौकासे विद्वान् सब भयानक प्रवाहोंको तर जाय। इस शरीरमें प्राणोंका अच्छी तरह निरोध करके युक्तचेष्ट हो और प्राणके क्षीण होनेपर नासिकाद्वारोंसे श्वास छोड़े और इन दुष्ट घोड़ोंकी लगाम मनको विद्वान् अप्रमत्त होकर धारण करे। ध्यानरूप मन्थनसे अत्यन्त गूढ-सा जो आत्मा है उसे देखे।'

श्वेताश्वतरमें योग विस्तारसे कहा गया है। उसमें यजुर्वेदसंहिता आदिमें आये कुछ योगविषयक मन्त्रोंका पूरा भाष्य-सा दिखायी पड़ता है। आसनोंका विस्तृत वर्णन इन उपनिषदोंमें नहीं मिलता। जैसे श्रीमद्भगवद्गीतामें **'समं कायशिरोग्रीवम्'** मिलता है वैसा ही यहाँ दिखायी पड़ता है। ध्यानादिके लिये सिद्धासन तथा पद्मासनको छोड़ अन्य आसन अनुपयुक्त और अनावश्यक माने गये हैं। गोरक्षनाथने गोरक्षपद्धतिमें इसी हेतु ये ही दो आसन बतलाये हैं।

वैदिक ग्रन्थोंमें प्राणविद्याका बड़ा ऊँचा स्थान है। उपनिषदोंमें भी प्राणोपासना अनेक भावनाओंके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारसे कही गयी है। प्रत्यक्ष सम्बन्ध योगसे प्राणोंका प्राणायामके सम्बन्धमें है। प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी उपनिषद् मोक्षके दो उपाय बताते हैं—मनोजय तथा प्राणजय। मनोजय वासनाओंके क्षीण होनेसे होता है, किंतु प्राणजय हो जानेसे मनोजय अनायास सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि योगमें प्राणजयपर इतना जोर दिया जाता है। प्राणजय प्राणायामद्वारा होता है। अतएव प्राणायामका इतना प्राधान्य है। कठोपनिषद् (२।२।३) में यों कहा गया है—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते॥

(२।२।३)

'जो प्राणको ऊपर भेजता है और अपानको फेंकता है उस मध्यमें रहनेवाले वामनको विश्वेदेवगण भजते हैं।'

मुण्डकोपनिषद्में एक वाक्य यों मिलता है—

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥
(३।१।९)

'प्रजाओंके प्राणसह सम्पूर्ण चित्तमें वह आत्मा व्याप्त है और विशुद्धचित्तमें ही विशेषरूपसे प्रकट होता है।'

समाधिका वर्णन भी अनेक स्थलोंमें मिलता है। श्वेताश्वतर (२।१४-१५) में इस प्रकार वर्णन है—

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं
तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥
यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

'जिस प्रकार कोई तेजोमय बिम्ब धूलसे धूसरित हुआ हो और पीछे स्वच्छ करनेपर वही चमकने लगता है, उसी प्रकार उस आत्मतत्त्वको देखकर देही एकावस्थाको प्राप्त होकर कृतार्थ और वीतशोक होता है। परंतु जब देही आत्मतत्त्वसे ब्रह्मतत्त्वको परप्रकाशक दीपकी रीतिसे देखता है तब वह आत्मदेवको अज, ध्रुव, सर्वतत्त्वविशुद्ध जानकर सब पाशोंसे मुक्त हो जाता है।'

ऊपर संक्षेपमें यह दिखानेका प्रयत्न किया गया है कि प्राचीन उपनिषदोंमें भी योगके प्रत्येक अङ्गका विवरण मिलता है। वास्तविक बात तो यह है कि लगभग सभी उपनिषदोंमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे थोड़ा अथवा अधिक योग अवश्य ही आया है। उपनिषद् हमारे मोक्षशास्त्रके परमाधार हैं। मोक्ष अतीन्द्रिय ज्ञानके बिना उपहासास्पद है। अतीन्द्रिय ज्ञान बिना योगके साध्य नहीं। अतः उपनिषदोंसे योगका एक प्रकारसे अविनाभूत सम्बन्ध है। औपनिषदिक योग बड़े ही महत्त्वका विषय है। एक ओर तो संहिताओंमें आया हुआ निगूढ़रूप योग है, दूसरी ओर भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय, धर्म तथा मतानुरूप विकसित योग है। औपनिषदिक योग ही आगे-पीछेकी कुंजी है, योगका इतना भारी किला इसी औपनिषदिक योगकी नींवपर खड़ा है। उपनिषद् वेदान्त है—वेदका सर्वस्वसारभूत निचोड़ है। इनको श्रद्धासे समझनेका उद्योग करना चाहिये।

सिद्ध योगी

(१)
मोह ममतासे रहता दूर,
क्षणिक कायाकी माया नहीं।
छोह है छातीमें भरपूर,
जीवमें जीवन-समता सही ॥

(२)
भरा रहता है सेवाका भाव,
विश्वका सच्चा सेवक वही।
कभी बिचलित क्या करता उसे,
अतुल बल प्रभुता पथसे कहीं ॥

(३)
उसे उसका ही रहता ध्यान,
सृष्टि जिसकी मायासे हुई।
भोगसे रखता उसको दूर,
योगकी शक्ति अनूठी नई ॥

(४)
योगसे पावन निर्मल ज्ञान,
समझमें आती बातें सही।
कभी छल कलुष क्रोध अभिमान,
छोभ-छाया छू सकती नहीं ॥

(५)
साधनाका वह सच्चा कोष,
पूर्ण कर पाता जीवन-यज्ञ।
अमर यश जगमें होते व्याप्त,
समझ सकते क्या उसको अज्ञ ॥

(६)
सिद्ध योगी कहते हैं उसे,
सिद्धियाँ रहतीं जिसके पास।
स्वर्ग-सुखकी न हृदयमें चाह,
प्रलय ताण्डवका जिसे न त्रास ॥

—जगदीश झा 'विमल'

ईशावास्य और इसका कर्मयोग

(पं० श्रीलालबिहारीजी मिश्र)

पूर्ण ग्रन्थ

उपनिषदोंकी गणनाका जब अवसर आता है, तब ईशावास्यका नाम सबसे पहले लिया जाता है[१]। शुक्ल यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायका नाम ईशावास्य-उपनिषद् है। इसमें कुल अठारह मन्त्र हैं। इस तरह कलेवरकी दृष्टिसे यह बहुत छोटी उपनिषद् है, किंतु तत्त्वकी दृष्टिसे यह महान्-से-महान् है; क्योंकि इसमें थोड़ेमें अध्यात्मकी मूल बातें कह दी गयी हैं। इस तरह गागरमें सागर भरनेकी कहावत यहाँ चरितार्थ हो गयी है।

ईशावास्यमें दो मार्गोंका प्रतिपादन

शास्त्रने मानव-जीवनकी सार्थकताके लिये दो मार्ग बताये हैं। पहला है कर्ममार्ग और दूसरा है ज्ञानमार्ग[२]। ईशावास्यमें भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिये इन दोनों मार्गोंका भिन्न-भिन्न रूपसे प्रतिपादन हुआ है। किंतु हुआ है इतने रहस्यात्मक ढंगसे कि सरसरी दृष्टिसे इसकी प्रतीति नहीं होती। यही तो इसकी सूत्रात्मकता है।

पहले और दूसरे मन्त्रमें कर्मयोगका प्रतिपादन हुआ है। नवें, दसवें और ग्यारहवें मन्त्रमें इस कर्मकी उपासनाके साथ अबाधित अपेक्षा बतायी गयी है। इस तरह पाँच मन्त्रोंमें कर्मयोगका यहाँ साङ्गोपाङ्ग निरूपण सम्भव हो सका है।

पहला मन्त्र कर्म और संन्यास—इन दोनोंका प्रतिपादन करता है। अवशिष्ट मन्त्र संन्यासमार्गका प्रतिपादन करते हैं। इस तरह ईशावास्य छोटा किंतु पूर्ण ग्रन्थ है।

वेदार्थ-ज्ञानके लिये परम्परा अपेक्षित

जब हम गुरुपरम्पराके बिना ईशावास्यका पाठ करने लगते हैं, तब हमें इन दोनों मार्गोंके नाम इसमें दिखायी नहीं देते। अतः इस प्रश्नका उठना स्वाभाविक है कि 'ईशावास्यमें उपर्युक्त दो मार्गोंका प्रतिपादन हुआ है। इस कथनमें प्रमाण क्या है ?' सच पूछा जाय तो इससे मिलता-जुलता प्रश्न सभी उपनिषदोंपर लागू होता है। कहा गया है कि 'उपनिषद् जिस तत्त्वको समझाना चाहती थी, उसे समझा नहीं पायी है।'

बात यह है कि उपनिषदोंका समझ सकना उतना सरल नहीं है, क्योंकि इनमें ब्रह्म-जैसे अप्राकृतिक तत्त्वोंका निरूपण हुआ है। अतः उपनिषदोंका नाम 'रहस्य' भी है। आजसे चालीस वर्ष पहलेतक 'वज्रसूचिकोपनिषद्'का रहस्य विवादका विषय बना हुआ था। उपनिषदोंके ज्ञानके लिये गुरुपरम्पराकी अपेक्षा होती है। स्वयं श्रुतिने कहा है—'**आचार्याद्धैव विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापत्।**' यह सही है कि यह परम्परा आज उच्छिन्न-सी हो गयी है। फिर भी परम्परा-प्राप्त आलेखोंका अभी उच्छेद नहीं हुआ है। इनके आधारपर उपनिषदोंके अर्थ समझनेका प्रयास होना चाहिये। 'वज्रसूची'का जटिल अभिप्राय समझनेमें आलेख ही काम आये थे। इन आलेखोंमें इतिहास और पुराणके नाम पहले आते हैं—'**इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्।**' कोरी बुद्धिके बलसे लक्ष्यतक नहीं पहुँचा जा सकता। यहाँ देवीभागवतके आधारपर ईशावास्यके '**कुर्वन्नेवेह कर्माणि०**' मन्त्रकी आंशिक व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है। परम्पराकी सहायतासे रहस्य किस तरह हृदयङ्गम हो जाता है, इसका एक और निदर्शन इससे प्राप्त हो जायगा।

ज्ञातव्य तीन सिद्धान्त

पहले सूत्ररूपमें कुछ सिद्धान्तोंसे परिचित हो लेना अपेक्षित है। वे सिद्धान्त हैं—

१-कर्मसे अज्ञानका नाश असम्भव है।

२-कर्म और ज्ञानका समुच्चय नहीं हो सकता।

३-कर्म और उपासनाका समुच्चय अतीव अपेक्षित है।

कर्मसे अज्ञानका नाश असम्भव

देवीभागवतमें आद्याशक्तिने देवताओंको उपदेश दिया है—'संसारकी जड़ अज्ञान है[३] और इस अज्ञानका नाश करना

१-ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः । ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा॥ (मुक्ति० उप० १।३०)

२-द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः। प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च विभाविताः॥ (महा० शा० २४१।६)

३-अज्ञानमेव मूलं स्यात्। (दे० भा० ७।३४।६)

ही जीवनका लक्ष्य है[४]।' ऐसा सुनकर देवताओंके मनमें जिज्ञासा उठी कि जब जीवनका एकमात्र उद्देश्य है—'अज्ञानका नाश करना' तब वह कौन-सा साधन है, जिससे इस अज्ञानका नाश किया जाय ?

तब जगदम्बाने बताया—'अज्ञानके नाशका एकमात्र साधन है— ज्ञान।' ज्ञानसे ही अज्ञानका नाश हो सकता है। इसके लिये और कोई साधन नहीं है—

'अज्ञाननाशने शक्ता विद्यैव तु पटीयसी।'

(दे० भा० ७। ३४। ५)

कर्मसे अज्ञानका नाश तो बिलकुल सम्भव ही नहीं है। जैसे कोई अन्धकारसे अन्धकारको मिटानेका प्रयास करे तो उसका प्रयास निष्फल होगा, वैसे कर्मसे अज्ञान मिटानेका प्रयास व्यर्थ है। क्योंकि कर्म अज्ञानसे जन्य है, अतः अज्ञानरूप ही है—

'अज्ञानजन्यकर्मणोऽप्यज्ञानरूपत्वात्।'

(टीका, दे० भा० ७। ३४। ५)

अज्ञानको अज्ञानसे वैसे ही नहीं मिटाया जा सकता, जैसे अन्धकारसे अन्धकार नहीं मिटाया जा सकता। जैसे अन्धकारसे जन्य भीतिसे अन्धकारका मिटा पाना अशक्य है, वैसे अज्ञानसे जन्य कर्मसे अज्ञानका मिटा पाना अशक्य है। अतः जगदम्बाने चेतावनी दी है कि 'कर्मके द्वारा अज्ञानको नष्ट करनेकी आशा कभी मत करना'—

प्रत्युताशाऽज्ञाननाशे कर्मणा नैव भाव्यताम्।

(दे० भा० ७। ३४। ९)

इस तरह सिद्ध होता है कि अज्ञानका नाश ज्ञानसे ही होता है, कर्मसे नहीं। जीवनकी सार्थकताके लिये कर्मकी आशा छोड़कर अज्ञानके नाशके लिये ज्ञानका ही सहारा ले।

कर्म और ज्ञानका समुच्चय नहीं

जो लोग केवल अपनी बुद्धिके बलपर ईशावास्यको समझनेका प्रयास करते हैं, वे **'कुर्वन्नेवेह कर्माणि०'** मन्त्रको पढ़कर असमंजसमें पड़ जाते हैं। जगदम्बाकी उपर्युक्त बात इनकी बुद्धिमें उतर नहीं पाती। क्योंकि यह श्रुति जीवनपर्यन्त कर्म करनेका आदेश दे रही है, कर्म छोड़नेका नहीं। यदि जीते-जी कर्म छोड़कर संन्यासमार्गका आश्रयण कर लिया जायगा तो इस श्रुतिका विरोध स्पष्ट है। क्योंकि तब जीवन-पर्यन्त कर्म तो कर नहीं पाया। जगदम्बाके उपर्युक्त आदेशकी बोधिका बहुत-सी श्रुतियाँ हैं—

(क) ज्ञानादेव हि कैवल्यम्।

(ख) तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।

श्रुतियाँ परस्पर विरुद्ध बात तो कह ही नहीं सकतीं। अतः दोनों प्रकारकी श्रुतियोंका समन्वय तो होना ही चाहिये। ऐसी स्थितिमें कोरी बुद्धि यही निर्णय दे सकती है कि 'कर्म और ज्ञानका समुच्चय मान लिया जाय। ज्ञान अज्ञानका नाश करेगा और कर्म इस काममें ज्ञानकी सहायता पहुँचाता रहेगा।' इस तरह दोनों प्रकारकी श्रुतियोंका समन्वय हो जाता है। इस समुच्चयवादका जगदम्बाने पहले तो अनुवाद किया है और इसके बाद खण्डन कर दिया है। अनुवाद है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणीत्यतः कर्माप्यावश्यकम्।
ज्ञानादेव कैवल्यमतः स्यात् तत्समुच्चयः।
सहायतां व्रजेत् कर्म ज्ञानस्य हितकारि च॥
इति केचिद् वदन्त्यत्र····।

(दे० भा० ७। ३४। ११-१२)

कर्म और ज्ञानका समुच्चय असम्भव

अन्तमें पराम्बा इस समुच्चयवादका खण्डन कर देती हैं। हेतु देती हैं—

'असम्भवाद् यौगपद्यं न सम्भवि।'

अर्थात् कर्म और ज्ञानका समुच्चय सम्भव ही नहीं है। उदाहरण देती हैं—जैसे अन्धकार और प्रकाश—**'तमः-प्रकाशयोर्यद्वत्'** (दे० भा० ७। ३४। १४) जैसे अन्धकार और प्रकाशका एक साथ रह सकना असम्भव है, वैसे कर्म और ज्ञानका एक साथ रहना असम्भव है। जो अन्धकार सूर्यके उगते ही अस्तित्वहीन हो जाता है, वह उसका साथ ही कैसे कर सकता है। फिर सहयोगकी बात ही दूर पड़ जाती है। इसी तरह ज्ञानके उदय होते ही जब अज्ञान रहता ही नहीं, तब वह ज्ञानका साथ और सहयोग कैसे कर सकेगा ?

कोरी बुद्धि कितनी एकाङ्ग होती है, यह बात इस

४-एतद् द्विजन्मसाफल्यं यदज्ञानस्य नाशनम्। (दे० भा० ७। ३४। ७)

दृष्टान्तसे स्पष्ट हो जाती है। दोनों श्रुतियोंके विरोधको हटानेके लिये इसे कर्म और ज्ञानका समुच्चय तो दीख गया, किंतु यह नहीं दीख सका कि यह बात सम्भव ही नहीं है!

मार्ग-भेद होनेसे विरोध नहीं

पराम्बाने 'कुर्वन्नेवेह०' मन्त्रसे प्रतिपादित कर्ममार्गसे पृथक् संन्यासमार्गका अस्तित्व बताकर सूचित कर दिया कि कोरी बुद्धि झूठे ही असमंजसके जालमें पड़ गयी थी और झूठे ही छूटनेके लिये हाथ-पैर पटक रही थी। क्योंकि जो मनुष्य अभिमानसे ग्रस्त हैं, वे जीवनभर कर्म करते रहें और जो इससे मुक्त हो गये हैं, वे ज्ञानमें लग जायँ। ऐसी व्यवस्था हो जानेपर जब विरोध ही नहीं रहता, तब उसके परिहारके लिये उलझन-भरा प्रयास कैसा?

परम्परा-प्राप्त भाष्यसे सिद्धान्त-बोध

आलेखोंमें इतिहास और पुराणके बाद हम शांकर-भाष्यको रख सकते हैं; क्योंकि आचार्यका यह अर्थ परम्परासे प्राप्त है। आचार्य शंकरने 'ईशावास्य'को गोविन्दपादसे पढ़ा था। गोविन्दपादने गौड़पादसे, गौड़पादने शुकदेवसे, शुकदेवने व्याससे, व्यासने पराशरसे, पराशरने शक्तिसे, शक्तिने वसिष्ठसे, वसिष्ठने ब्रह्मासे और ब्रह्माने नारायणसे यह विद्या प्राप्त की थी[५]।

यदि परम्परा-प्राप्त इस भाष्यके माध्यमसे 'ईशावास्य' लगाया जाय, तो प्रारम्भमें ही ज्ञात हो जाता है कि **'कुर्वन्नेवेह०'** मन्त्र संसारी लोगोंके लिये कर्मयोगका विधान करता है और प्रायः अवशिष्ट मन्त्र संन्यासयोगका। केवल इतना-सा सिद्धान्त जान लेनेपर न तो विरोधकी गुंजाइश होती है और न परिहारकी।

कर्मयोग

अब देखना है कि ईशावास्यके केवल एक मन्त्रने 'कर्मयोग'-जैसे बृहद् विषयको कैसे प्रतिपादित किया है।

किसी सूत्रकी व्याख्याके लिये आवश्यक होता है कि पूर्वसूत्रमें कहे गये साकाङ्क्ष विषयोंकी उत्तरसूत्रमें अनुवृत्ति कर ली जाय। गागरमें सागर भरनेका यह एक आवश्यक उपाय है।

'कुर्वन्नेवेह०' मन्त्र 'ईशावास्य-उपनिषद्'का दूसरा मन्त्र है। इससे पहला मन्त्र है **'ईशा वास्यमिदं०।'** इसलिये ईशावास्य मन्त्रमें कहे गये साकाङ्क्ष विषयोंकी **'कुर्वन्नेवेह०'** मन्त्रमें अनुवृत्ति होती है। अतः आवश्यक है कि हम पहले ईशावास्य-मन्त्रके अर्थसे परिचित हो लें।

समुद्र और तरंगके दृष्टान्तसे इस मन्त्रका अर्थ सरलतासे समझमें आ जाता है। समुद्र जब प्रेमका खेल खेलना चाहता है[६], तब अपनेको अनगिनत तरंगों, बर्फ, फेन और बुलबुलोंके रूपमें परिणत कर लेता है। समुद्रसे तरंग आदिका यह भेद केवल आभासित होता है। समुद्रमें और इनमें केवल नाम और रूपका ही भेद होता है, वास्तविक नहीं। क्योंकि तरंग आदिके बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, अगल-बगल सर्वत्र जलसमूह-रूप समुद्र अनुस्यूत रहता है। समुद्रसे भिन्न उसकी सत्ता ही नहीं होती। जब उसकी नाम और रूप-रूपी दोनों उपाधियाँ मिट जाती हैं, तब वह समुद्र-रूप हो जाता है।

जब यह खेल प्रेम-मूलक है, तब सबका सबसे प्रेम होना ही चाहिये। यदि एक तरंग दूसरी तरंगसे प्रेम करती है तो वह खेलको पूर्णता ही प्रदान करती है, किंतु प्रेमके नामपर आसक्ति नहीं होनी चाहिये। आसक्ति तो एकमात्र समुद्रसे ही होनी चाहिये। क्योंकि सबका चिर सम्बन्ध समुद्रसे ही है। एक तरंगका दूसरे बर्फ आदिके साथ जो सम्बन्ध है, वह तो क्षणिक है। अभी है, किंतु दूसरे ही क्षण वह समाप्त हो जानेवाला है। ऐसी स्थितिमें एक तरंग यदि दूसरी तरंगपर आसक्त हो जाती है और क्षणमें होनेवाले अनिवार्य विछोहसे पागल बन जाती है, तो यह तरंगकी घोर नासमझी, कृतघ्नता, असफलता और गिरावट मानी जायगी। इस तरंगकी सत्ता न तो किसी अन्य तरंगसे प्राप्त हुई है, न बर्फसे और न बुलबुलेसे ही। तरंगकी सत्ता समुद्रसे है, अतः समुद्रकी है और समुद्रके

५- नारायणं पद्मभुवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च। व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्॥ श्रीशंकराचार्यम्.....।

६(क) यस्मात् प्रेमानन्दात् नित्यानन्दोऽयं लोकः प्रकटितो भवति। (सामः रः उः)

(ख) लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्। (ब्रः सूः १।२)

लिये है। तरंगको गले लगानेके लिये ही समुद्रने नाम-रूपका चोला पहनाकर उसे अपनेसे अलग किया है। इन दोनोंका सम्बन्ध अमर है। ऐसी स्थितिमें तरंग यदि समुद्रके अमर प्रेमको ठुकराकर दूसरी तरंग या बर्फपर आसक्त हो जाय तो क्या यह तरंगकी कृतघ्नता नहीं है? नासमझी इसलिये है कि जो समुद्रकी वस्तु है, उसे अपनी समझ बैठी। असफल इसलिये है कि असीम आनन्दको उल्लसित करनेके लिये प्रियतमने जो प्रेमका खेल प्रारम्भ किया था, उससे बेचारी वञ्चित रह गयी और अन्ततोगत्वा नरककी घोर गहराईमें डाल दी गयी। स्वयं ईशावास्यने कहा है—ऐसे लोगोंको संतापसे भरी योनियों और घोर नरकमें डाल दिया जाता है[७]। आसक्तिका यह कैसा भयानक परिणाम निकला।

इस सम्भावित दुःस्थितिसे बचानेके लिये यदि कोई महापुरुष दया कर तरंग आदिको सावधान कर दे, तो यह उनकी अहैतुकी कृपा ही मानी जायगी। संत तरंग आदिको सचेत करते हुए कहते हैं—

(जगत्याम्)—इस समुद्री दुनियामें **(यत्किं च जगत्)** जो कुछ तरंग, बर्फ, फेन और बुदबुद आदि वस्तुओंका समूह है, **(इदं सर्वम्)** यह सब **(ईशा वास्यम्)** समुद्रसे आच्छादित है। अर्थात् तरंग, बर्फ आदिके नाम-रूप-रूपी उपाधिको हटाकर उनमें वास्तविक समुद्र-रूपको देखो। ऐसी दृष्टि बन जानेपर तुम्हारा ओझल प्रियतम तुम्हारे सामने आ जायगा। यह भी समझमें आ जायगा कि ये बर्फ आदि सारी अभिव्यक्तियाँ उसीकी हैं, तुममेंसे किसीकी नहीं। इससे आसक्तिके मूल जो मोह, ममता आदि हैं, उनका परित्याग हो जायगा और प्रियतमके साथ अमर सम्बन्ध कायम हो जायगा। इस तरह **(तेन सह)** अपने प्रियतमके साथ अमर सम्बन्ध स्थापित कर **(त्यक्तेन)** त्याग-भावसे अर्थात् तरंग आदिमें मिथ्या ममता आदिका त्यागकर **(भुञ्जीथाः)** प्रेमके रसका उपभोग करो। उन नाम-रूपोंसे भी प्रेम करो, क्योंकि वे भी प्रियतम-रूप ही हैं। किंतु उनमें **(मा गृधः)** आसक्त मत होना। क्योंकि **(धनम्)** तरंग, बर्फ आदि सम्पत्ति **(कस्य स्वित्)** तरंग आदिरूपमें अभिव्यक्तिकी कामना करनेवाले समुद्रकी है। तुममेंसे किसीने इन्हें नहीं अभिव्यक्त किया है। फिर इनमें 'मेरा' यह भाव लाना झूठ है न? मिथ्या आसक्ति छोड़ो।

जैसे किसी कृपालु महापुरुषने उपर्युक्त उपदेश देकर तरंग आदिका कल्याण चाहा है, वैसे परमकारुणिक श्रुति हमें सावधान करती है—

(मानवो!) **(जगत्याम्)** सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें **(यत् किं च जगत्)** जो कुछ स्थावर-जंगम है, **(इदं सर्वम्)** यह सब **(ईशा वास्यम्)** ईश्वरसे आच्छादित है। अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन-धान्य आदिसे नाम और रूप-रूपी उपाधिको हटाकर सबमें अनुस्यूत अपने प्रियतम ईश्वरके रूपको निहारो। ऐसी दृष्टि बन जानेपर तुम्हारा छिपा प्रियतम तुम्हारे सामने आ जाता है। यह भी समझमें आ जाता है कि ये स्त्री, पुत्र आदि पदार्थ परमेश्वर ही हैं, परमेश्वरके ही हैं और परमेश्वरके लिये हैं। इस दृष्टिकी प्राप्तिसे आसक्तिके मूल मोह-ममता आदिका त्याग हो जाता है। इसके अतिरिक्त परमेश्वरके साथ जो तुम्हारा अमर सम्बन्ध है, वह भी याद आता रहेगा। इस तरह **(तेन सह)** अपने प्रियतमके साथ **(त्यक्तेन)** त्याग-भावसे अर्थात् स्त्री-पुत्र आदिमें मिथ्या ममता आदिका त्यागकर **(भुञ्जीथाः)** अमर प्रेम-रसका उपभोग करो। उन नाम-रूपोंसे भी प्रेम तो करना ही है, क्योंकि वे भी प्रियतम-रूप ही हैं। किंतु याद रखना **(मा गृधः)** उनमें आसक्त मत होना। क्योंकि **(धनं कस्य स्वित्)** स्थावर-जङ्गमरूप सम्पत्ति परमेश्वरकी है। **(सृष्ट्यर्थं कामयते इति कः)** इस व्युत्पत्तिसे 'क' का अर्थ 'परमेश्वर' होता है। इनमेंसे किसी सम्पत्तिको तुमने तो बनाया नहीं है। फिर तुम ही बताओ कि **(धनं कस्य स्वित्)** यह सम्पत्ति तुममेंसे किसकी है? जब तुम्हारी नहीं, तो इसमें तुम्हारी ममता कैसी? यह पहला मन्त्र है। इसके बादका मन्त्र है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

इस तरह चेतावनी देकर भगवती श्रुति मनुष्यके अभिमानसे ग्रस्त व्यक्तिको कर्मयोगके मार्गपर चलनेकी सीख

७-असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः। ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥(ई० उप० ३)

देती है। कहती है (**इह**) मायाके द्वारा सजायी गयी इस रंगस्थलीमें (**कर्माणि कुर्वन् एव**) पात्रोचित भूमिका निभाते हुए ही (**शतं समाः जिजीविषेत्**) पूरे समयतक जीनेकी इच्छा करे। (**एवम्**) परमेश्वरको निरन्तर स्मरण करते रहनेसे, ममता-मोहका त्याग करनेसे, कर्मफलको भगवान्‌के अर्पण कर देनेसे (**कर्म**) तुमसे किये जानेवाले कर्म (**त्वयि नरे**) तुममें (**न लिप्यते**) नहीं लिप्त होंगे। (**इतः अन्यथा नास्ति**) तुम मनुष्यत्वके अभिमानसे ग्रस्त हो, इसलिये इससे भिन्न और कोई मार्ग तुम्हारे लिये नहीं है।

इस श्रुतिमें दो बातें कही गयी हैं—

(१) यदि सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करो, तो कर्म करते हुए ही जीना चाहो।

(२) कर्मलिप्त न हो, इसके लिये सावधान, किंतु कर्मका लेप कैसे न हो, यह बात इस श्रुतिमें नहीं बतायी गयी है। क्योंकि ये बातें पहली श्रुतिमें आ गयी हैं, जिनकी यहाँ आवृत्ति की गयी है। '**एवम्**' पद उसी अनुवृत्तिका सूचक है।

पहले मन्त्रमें निम्नलिखित विषय आ चुके हैं—

(१) समस्त जड-चेतनमें ईश्वरको देखे।

(२) समस्त नाम-रूप ईश्वरद्वारा अभिव्यक्त है। अतः सब कुछ ईश्वरका है, जीवका कुछ नहीं है।

(३) अतः मिथ्या ममता-मोह न करे।

(४) निरन्तर ईश्वरका स्मरण करते हुए, यह समझते हुए कि यह मेरे साथ है, उसीके लिये कर्म करे।

(५) सबको ईश्वरको समर्पण कर दे।

(६) प्रेम सबसे करे, किंतु आसक्तिसे बचे।

(७) निरन्तर प्रभुके प्रेम-रसका आस्वादन करता रहे।

(८) धर्मशास्त्रसे विहित कर्म ही करे।

—इन सभी तथ्योंकी पूर्व मन्त्रसे '**कुर्वन्नेव**०' श्रुतिमें अनुवृत्ति होती है।

विकर्म और अकर्मका भी ग्रहण

गागरमें सागर भरनेका एक उपाय और है। उसका नाम है—'उपलक्षण'। प्रस्तुत श्रुतिमें '**कर्माणि**' पद आया है। यह उपलक्षण है। इसलिये 'कर्म' शब्दसे 'विकर्म' और 'अकर्म' का भी ग्रहण हो जाता है।आचार्य शंकरने अपने गीता-भाष्यमें उपलक्षणका यह प्रकार अपनाया है। गीतामें '**गहना कर्मणो गतिः**' (४। १७) इस वचनमें केवल '**कर्मणः**' पद पढ़ा गया है। आचार्यने इसी उपलक्षणके बलसे अपेक्षित 'विकर्म' और 'अकर्म'का भी ग्रहण कर लिया है—'**कर्मण इति उपलक्षणार्थं कर्मादीनाम्—कर्माकर्मविकर्मणाम्।**' (शां० भा०)।

तात्पर्य है कि 'कर्म'की तरह हमें 'विकर्म' और 'अकर्म'को भी जानना चाहिये और इनमेंसे कर्मका ग्रहण और 'विकर्म' तथा 'अकर्म' का त्याग करना चाहिये। यह बात श्रुतिने '**एव**' पदसे व्यक्त की है। 'कर्म ही करना चाहिये' कहनेसे अर्थ निकल आता है कि 'कर्म' करना चाहिये और विकर्म और अकर्म नहीं करना चाहिये।

'कर्म' आदिके अर्थ

कर्म आदिके दो प्रकारके अर्थ होते हैं—एक लौकिक, दूसरा वैदिक। श्रीमद्भागवतमें बताया गया है कि कर्म आदिके सम्बन्धमें हम लौकिक पद्धतिको न अपनाकर वैदिक पद्धति ही अपनायें—

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः।

अर्थात् कर्म, अकर्म और विकर्मका स्वरूप-निरूपण हमें वेदके आधारपर ही करना चाहिये, लोकके आधारपर नहीं। यही बात भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कही है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

(१६। २४)

जिज्ञासा होती है कि ये प्रमाण तो स्मृति-ग्रन्थोंके हुए, क्या प्रस्तुत उपनिषद्‌में भी इसपर कोई प्रकाश डाला गया है? जब सूत्र-रूपसे कर्मयोगके अन्य तथ्य कह दिये गये तो इस श्रुतिमें यह तथ्य भी कहीं-न-कहीं कहा गया होगा।

इस जिज्ञासाकी पूर्ति भी 'ईशावास्य' मन्त्रसे सम्भव है। इसके लिये 'ईशा' पदका पर्याय (वेदेन) करना चाहिये, क्योंकि वेद ईश्वरस्वरूप होता है[८]। और वेदके शब्दोंसे ही

८(क) स्वयं वेदने अपनेको ईश्वर-स्वरूप बताया है—'ब्रह्म स्वयम्भूः' (तै० आ०)। (ख) पुराण और इतिहासने इस तथ्यको दुहराया है—
१-वेदः नारायणः स्वयम् (बृ० ना० पु० ४। १७)।
२-वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्। (महा० भा०)।

सृष्टिकी रचना होती है[९]।

कर्म और उपासनाका समुच्चय

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि०' में 'तेन (सह) भुञ्जीथाः' इस अंशकी अनुवृत्तिसे यह तात्पर्य निकलता है कि भगवान्‌को साथ रखकर उनके प्रेमका आस्वाद लेते हुए कर्म करना चाहिये। इस तरह कर्म और उपासनाके समुच्चयका प्रतिपादन हो गया है। फिर भी ईशावास्यमें कर्म और उपासनाके समुच्चयको अत्यावश्यक समझकर वहाँ तीन मन्त्रोंमें इसका विस्तारसे निरूपण किया गया है। यहाँ केवल पहला मन्त्र दिया गया है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया ँ रताः॥

इसका तात्पर्य है कि जो लोग कर्म (अविद्या) की उपासना करते हैं, वे अज्ञानस्वरूप घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो लोग उपासना (विद्या) में रत हैं मानो और अन्धकारमें प्रवेश करते हैं।

तन्त्रमें योग

(श्रीअटलबिहारीजी घोष)

भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय अपने-अपने मार्गके अनुसार 'योग' शब्दका अर्थ करते हैं। वेदान्त-पक्षका कहना है कि 'जीव और आत्माके मिलनका नाम योग है। प्रत्यभिज्ञा-पक्षके मतानुसार शिव और आत्माके अभेद-ज्ञानका नाम योग है। भेदवादियोंके मतमें पुराण-पुरुषका ज्ञान ही योग है। आगमवादी कहते हैं कि शिव और शक्तिका अभेद-ज्ञान ही योग है। योगाभ्यास करनेके लिये दीक्षा अवश्य ग्रहण करनी चाहिये। दीक्षानिर्दिष्ट अपनी ब्रह्ममूर्तिकी उपासनासे सिद्धि प्राप्त करनेपर योगमार्गमें प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त करता है। कौल कहते हैं कि शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर एवं गाणपत्यादि मन्त्रोंके द्वारा चित्त विशुद्ध होनेपर कौल-ज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्रकाशित होता है। कुलार्णवतन्त्रके द्वितीय उल्लासमें लिखा है—

शैववैष्णवदौर्गार्कगाणपत्यादिकैः क्रमात्।
मन्त्रैर्विशुद्धचित्तस्य कौलज्ञानं प्रकाशते॥

उक्त तन्त्रमें और भी कहा गया है कि मनुष्य चार श्रेणियोंमें विभक्त है तथा प्रत्येक श्रेणीके मनुष्य अपने अधिकार-भेदसे परमपदार्थको भिन्न-भिन्न रूपमें देखा करते हैं।

अग्नौ तिष्ठति विप्राणां हृदि देवो मनीषिणाम्।
प्रतिमास्वप्रबुद्धानां सर्वत्र विदितात्मनाम्॥

अर्थात् क्रिया-काण्डमें अनुरक्त ब्राह्मण उनको (परमात्माको) अग्निमें देखा करते हैं। मनीषी अपने हृदयमें उनका अनुभव करते हैं। जो अप्रबुद्ध हैं, वे प्रतिमामें उन्हें देख पाते हैं और जो आत्मज्ञानी हैं, वे सर्वत्र और सर्वदा उस परम पदार्थको देखा करते हैं।

योगसाधनका उद्देश्य यही शेषोक्त अवस्था प्राप्त करना है। इसके लिये सबसे प्रथम कर्तव्य है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर—इन षट् रिपुओंका नाश करना। स्त्री-भोगादिकी जो अभिलाषा है, वही काम है। प्राणियोंको पीड़ा पहुँचानेका नाम है क्रोध। धनादिकी अतिशय आकाङ्क्षाका नाम है लोभ। तत्त्वज्ञानका अभाव ही मोह है। मैं सुखी हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं धनवान् हूँ, इस प्रकारके गर्वको मद कहते हैं और दूसरेका सौभाग्य देखकर जो दुःख होता है, उसका नाम मत्सर है। ये ही शत्रु हैं, क्योंकि ये ही सब दुःखोंके कारण हैं और ये ही आत्मस्वरूपका विचार करनेमें बाधा पहुँचाते हैं। इनका दमन करनेके लिये योगके अष्टाङ्गोंमें यम, नियम,

---

श्रवणके बाद मनन अपेक्षित है। ब्रह्मका स्वरूप सत्, चित् और आनन्द होता है। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।' (बृ० उ० ३।९।२८)। चित्का अर्थ है—ज्ञान।अतः ब्रह्म जैसे नित्य सत्-रूप और आनन्दरूप है, वैसे नित्य ज्ञानरूप भी है। ज्ञानमें शब्दके अनुवेद्यका होना आवश्यक रहता है। नित्य ज्ञानके लिये नित्य शब्दका भी अनुवेद्य होना चाहिये। इस तरह नित्य शब्द, नित्य अर्थ और नित्यसम्बन्धवाला वेद ब्रह्मरूप सिद्ध हो जाता है।

९-वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे। (मनु० १।२१)

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिका अभ्यास करना होगा।

यम शब्दका अर्थ है उपरति अर्थात् काम आदिसे निवृत्ति। यह दस प्रकारका है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, कृपा, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच।

अहिंसाका अर्थ है—किसी कर्मके द्वारा और मनके द्वारा किसी प्रकारसे किसी प्राणीको क्लेश न पहुँचाना। सत्य शब्दका अर्थ है—जैसा सुना हो और जैसा देखा हो, वैसा ही कहना। अस्तेय शब्दका अर्थ है—दूसरेका तुच्छसे भी तुच्छ तृण आदि भी ग्रहण न करना। ब्रह्मचर्य शब्दका अर्थ है—आठों प्रकारके मैथुनका परित्याग करना। इस अष्टविध मैथुनका वर्णन शास्त्रमें इस प्रकार आया है—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥

—बुरी भावनासे स्त्रीका स्मरण, कथन, स्त्रीके साथ खेलना, स्त्रीको देखना, छिपकर बातें करना, पानेका सङ्कल्प करना, पानेकी चेष्टा करना और सहवास करना।

कृपा शब्दका अर्थ है—प्राणिमात्रकी दुःखनिवृत्तिकी चेष्टा। आर्जव शब्दका अर्थ इस प्रकार वर्णित है—

व्यवहारेषु सर्वेषु मनोवाक्कायकर्मभिः।
सर्वेषामपि कौटिल्यराहित्यमार्जवं भवेत्॥

अर्थात् समस्त प्राणियोंके साथ मन, वाणी और शरीरके द्वारा जो व्यवहार किया जाता है, उसमें कुटिलताके अभावका नाम आर्जव है। क्षमा शब्दसे अपकार करनेवालेके प्रति मित्रवत् व्यवहार समझना चाहिये। इष्टवस्तुकी अप्राप्तिमें जो दुश्चिन्ता उत्पन्न होती है, उस दुश्चिन्ताका अभाव ही धृति है। शरीर धारण करनेमात्रके लिये जो भोजन है उसका नाम मिताहार है। जिसके द्वारा चित्त निर्मल होता है, उस पवित्रताका नाम शौच है। यहाँपर यह समझना चाहिये कि धृति इन दस प्रकारके सभी साधनोंमें रहेगी। अहिंसा और ब्रह्मचर्यके द्वारा कामपर, कृपा और क्षमाके द्वारा क्रोधपर, अस्तेय, सत्य और आर्जवके द्वारा लोभपर, मिताहार और शौचके द्वारा मोहपर, क्षमा और आजर्वके द्वारा मदपर और अहिंसा, कृपा, आर्जव तथा क्षमाके द्वारा मत्सरपर विजय प्राप्त होती है।

योगका द्वितीय अङ्ग नियम भी दस प्रकारका है, जैसे—तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, देवपूजा, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप और होम।

कृच्छ्रादि व्रतोंके आचरणका नाम तप है। इष्टतर वस्तुकी भी अभिलाषा न होनेका नाम संतोष है। श्रुतिप्रतिपाद्य अर्थमें परलोकके अस्तित्वमें जो विश्वास है वही आस्तिक्य है। यथाविहित अनिन्द्य उपायसे कमाये हुए धनको शक्तिके अनुसार देव, पितर और मनुष्योंके उद्देश्यसे बाँटना दान कहलाता है। अपनी ब्रह्ममूर्तिकी उपासना देवपूजा है। उपनिषद् आदि मोक्षशास्त्रोंके सुननेका नाम सिद्धान्तश्रवण है। कुत्सित आचरणके कारण मनमें जो कष्ट होता है उसका नाम ह्री है। मति शब्दका अर्थ है मनन अर्थात् विविध युक्ति-प्रमाणोंकी सहायतासे सुने हुए अर्थका अनुशीलन। यहाँपर जप शब्दसे इष्टमन्त्रका जप समझना चाहिये। इसके द्वारा चित्तशुद्धि होती है। अग्निहोत्रादि होमका नाम होम है।

आसन अनेक प्रकारके हैं। इनकी कोई संख्या नहीं है। परंतु साधारणतः चौरासी प्रकारके आसनोंकी बात कही गयी है। उनमें पाँच आसन शास्त्रोंमें प्रधान बताये गये हैं। इन पाँचोंके नाम हैं—पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, वज्रासन और वीरासन।

१-पद्मासन—बायीं जाँघपर दाहिना पैर और दाहिनी जाँघपर बायाँ पैर रखकर, पीछेकी ओरसे दोनों हाथ ले आकर दाहिने हाथसे दाहिना अँगूठा और बायें हाथसे बायाँ अँगूठा पकड़ना होता है। इसको बद्ध पद्मासन कहते हैं। मुक्त पद्मासनमें इस प्रकार अँगूठा पकड़नेका नियम नहीं।

२-स्वस्तिकासन—दाहिने घुटने और जङ्घाके बीचमें बायें पैरका तलवा और बायें घुटने तथा जङ्घाके मध्यमें दाहिने पैरके तलवेको रखकर, शरीर सीधा करके बैठना होता है अर्थात् मेरुदण्ड और शिरोभागको एक सीधमें करना होता है। इसको स्वस्तिकासन कहते हैं।

३-भद्रासन—सीवनके दोनों ओर दोनों एड़ियोंको ठहराकर, अण्डकोपके नीचे दोनों हाथोंसे एड़ियों और पैरोंको पकड़कर स्थिर, निश्चल-भावसे बैठा जाता है, इसीको भद्रासन कहते हैं।

४-वज्रासन—दोनों जाँघोंके ऊपर दोनों पैरोंको रखकर, घुटनोंके ऊपर दोनों हाथोंकी हथेली रखकर निश्चलरूपमें

बैठनेको वज्रासन कहते हैं।

५-वीरासन—एक पैरसे दोनों अण्डकोषोंको दबाकर दूसरे पैरको दूसरी जाँघके ऊपर रखकर सरलभावसे बैठनेको वीरासन कहते हैं।

आसन लगानेपर जब श्रम दूर हो जाय तब प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये। जिस आसनमें साधकको कोई क्लेश न हो और सुखपूर्वक बैठ सके, वही आसन लगाकर प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये। प्राणायाम दो प्रकारका है—निगर्भ और सगर्भ। ध्यान और मानस-जप करते हुए प्राणायाम-साधनका नाम सगर्भ प्राणायाम है। बीज उच्चारण न करके जो प्राणायाम किया जाता है उसका नाम निगर्भ प्राणायाम है। इडा नाडीसे अर्थात् बायें नथुनेसे षोडश-मात्रा वायु आकर्षण करनेका नाम पूरक, चौंसठ मात्रा वायु धारण करनेका नाम कुम्भक, बत्तीस मात्रामें पिङ्गलासे अर्थात् दाहिने नथुनेसे वायु त्याग करनेका नाम रेचक है। प्राणायाममें तीन प्रकारकी अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्थामें पसीना निकलता है, उसे अधम अवस्था कहते हैं। मध्यम अवस्थामें साधककी देह काँपती है और प्राणायामकी उत्तम अवस्थामें साधक भूमि छोड़ सकता है। इस प्राणायाममें सिद्ध होनेपर साधक प्रत्याहारका अधिकारी होता है। प्रत्याहार शब्दका अर्थ है इधर-उधर दौड़नेवाली सब इन्द्रियोंको इन्द्रियग्राह्य विषयोंसे निवृत्त करना। अँगुली, एड़ीसे आरम्भ करके सहस्रारपद्मके नीचे रहे हुए द्वादशदल कमलतक सोलह स्थानोंमें प्राणवायुको धारण करनेका नाम धारणा है। प्रत्याहार और धारणाका अभ्यास गुरुके उपदेशके अनुसार ही करना चाहिये। गुरु शिष्यको योग्यताके अनुसार इनकी विधि निर्दिष्ट करते हैं।

एकाग्रचित्त होकर अपने अभीष्ट देवता या स्वकीया ब्रह्ममूर्तिके चिन्तन करनेका नाम ध्यान है। निरन्तर जीवात्मा और परमात्माके ऐक्यचिन्तनको समाधि कहते हैं।

जीवदेहमात्र ही शिवशक्त्यात्मक या अग्नीषोमात्मक अथवा शुक्रशोणितात्मक है और वह ९६ अंगुल लम्बी है अर्थात् साधककी अपनी अँगुलियोंसे ९६ अंगुल है। पायु और जननेन्द्रियके मध्यके स्थानको कन्द या मूलाधार कहते हैं। इस मूलाधारसे असंख्य नाडियोंकी उत्पत्ति हुई है। उनमें तीन प्रधान हैं, उन तीनोंका नाम है—इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना।

इडा बायीं ओर है, पिङ्गला दाहिनी ओर है और सुषुम्ना मेरुदण्डके मध्य भागमें है। सुषुम्नाके भीतर एक और नाडी है, उसे चित्रा कहते हैं। चित्राके अन्तर्भागको ब्रह्मनाडी कहते हैं। मूलाधारमें जो एक अत्यन्त सुन्दर ज्योतिर्मय त्रिकोण है, वहींपर कुण्डलिनी अर्थात् जीवशक्ति साढ़े तीन चक्करके रूपमें सोयी हुई सर्पिणीकी तरह रहती है। मूलाधारके ऊपर लिङ्गमूलमें जो चक्र है उसका नाम स्वाधिष्ठानचक्र है। उसके ऊपर नाभिके मूलदेशमें सुषुम्नानाडीसे सम्बद्ध जो चक्र है, उसे मणिपूरचक्र कहते हैं। हृदयस्थानमें जो एक चक्र है, उसको अनाहतचक्र कहते हैं, कण्ठदेशमें जो चक्र है, उसका नाम विशुद्धिचक्र है और भ्रूमध्यमें जो चक्र है उसको आज्ञाचक्र कहते हैं। इसी स्थानपर गुरुकी आज्ञाका सञ्चार होता है, इसीसे इसका नाम आज्ञाचक्र है। साधक कुण्डलिनी-शक्तिको इन समस्त चक्रोंका भेदन करता हुआ मूलाधारसे द्वादशदलचक्रके ऊपरमें शिवस्थानमें ले जाता है और शिवशक्ति-सामरस्यरूप अतुल आनन्दका भोग करता है। षट्चक्रनिरूपण, त्रिपुरासार-समुच्चय, गन्धर्वतन्त्र प्रभृति ग्रन्थोंमें इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। महाकालोक्त 'पादुकापञ्चकम्' स्तोत्रमें पूर्वोक्त द्वादशदलपद्मका विशेष विवरण है। योगसाधनाका उद्देश्य यही है कि गुरु, मन्त्र, यन्त्र, देवता और साधककी एकताकी उपलब्धि हो और क्रमशः अद्वैतभावकी प्राप्ति हो। उस अवस्थाकी प्राप्ति होनेपर सिद्धयोगी परमानन्द नित्यचैतन्यैक-गुणात्मक आत्माभेदस्थित प्रणवके या हींकारके चिन्तनमें मग्न होते हैं। उस समय वे मन, वाणी तथा वेदवाक्यसे अतीत स्वसंवेद्य आनन्द-रससागर तारात्मक वस्तुकी उपलब्धि करते हैं।

अद्वैतलाभके पूर्वकी अवस्थामें जो ध्यान शारदातिलकमें बतलाया गया है, वह इस प्रकार है—

सत्यं मानविवर्जितं श्रुतिगिरामाद्यं जगत्कारणं
व्याप्तं स्थावरजङ्गमं मुनिवरैर्ध्यातं निरुद्धेन्द्रियैः।
अर्काग्नीन्दुमयं शताक्षरवपुस्तारात्मकं सन्ततं
नित्यानन्दगुणालयं गुणपरं वन्दामहे तन्महः॥
(२३।३७)

विचार करके देखनेपर मालूम होगा कि तन्त्रकथित

मार्गका और श्रुतिकथित मार्गका गन्तव्य स्थान एक ही है। इसीलिये श्रुति और आगमका भेद वाक्यगत है, वस्तुगत नहीं। उद्धृत श्लोककी व्याख्या कोई-कोई इस प्रकार करते हैं—

'अरूपस्य ब्रह्मणो भावनरूपं ध्यानमेतत्। सत्यम्, असत्यव्यावृत्तिरूपम्; 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतेः। मानविवर्जितम्, प्रमाणागोचरीकृतम्; 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेः। श्रुतिगिरामाद्यम्, वेदप्रवक्तृ 'शास्त्रयोनित्वात्' इति बादरायणिसूत्रणात्। जगत्कारणम्; 'जन्माद्यस्य' इति सूत्रणात्। व्याप्तस्थावरजङ्गमम्; 'सहस्रशीर्षा' इत्यादि श्रुतेः। मुनिवरैर्नारदादिभिः। अर्काग्नीन्दुमयमिति गायत्र्यादिदेवताक्रमेण। यद्वा अर्को विष्णुः अग्नी रुद्र इन्दुर्ब्रह्मा तन्मयम्। तत उत्पन्नत्वात्। यद्वा ओंकाररूपत्वं वक्ष्यति। एतेनाकारोकारमकारात्मकत्वेनाग्नीन्दुर्कर्रूपत्वं शताक्षरवपुरिति। शताक्षरैः परं महः प्रतिपाद्यते। प्रतिपाद्य-प्रतिपादकयोरभेदात् शास्त्रयोनित्वेन कार्यकारणाभेदाद्वा शब्दब्रह्मरूपत्वाद्वा तथोक्तिः; यद्वा यतः अर्काग्नीन्दुरूपत्वम् अत एव शताक्षरवपुरिति हेतुहेतुमद्भावेन योजना। नित्यानन्दचित्त्वं तत्स्वरूपमेव। तदालयत्वं च भगवत उपचारात्। गुणेभ्यः सत्त्वरजस्तमोभ्यः परं तद्रहितम् तद्वेदशिरसि प्रसिद्धम्। महः नित्यं प्रकाशकत्वान्मह इव। एते च सर्वे शब्दास्तस्य वस्तुनो लक्षका एव न वाचकाः। एतेषां शब्दानामेकार्थत्वम् अपर्यायत्वेऽपि अतद्व्यावृत्त्यर्थतया न पौनरुक्त्यम्।'

फिर, उपर्युक्त श्लोककी व्याख्या इस प्रकार भी की जाती है—

महस्तेजोरूपा कुण्डलिनी उच्यते। सत्यं नित्यत्वात्तस्याः; 'नित्या शक्तिः परादेवी' इत्युक्तेः। मानमियत्ता तद्वर्जिता; 'सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा विभुः'; इत्युक्तेः। व्याप्तस्थावरजङ्गमा; 'सर्वगा विश्वरूपिणी दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना' इत्युक्तेः। निरुद्धेन्द्रियैर्मुनिवरैर्ध्याता; 'योगिध्येया च सर्वदा' इत्युक्तेः। 'योगिनां हृदयाम्भोजे नृत्यन्ती नित्यमञ्जसा' इत्यपि। अर्काग्नीन्दुरूपा; 'त्रिधामजननी देवी' इत्युक्तेः। 'सोमसूर्याग्निरूपा च' इत्युक्तेश्च। शताक्षरवपुः; 'विश्वात्मना प्रयुक्ता सा सूते मन्त्रमयं जगत्' इत्युक्तेः। तारात्मकम्;

तन्मध्ये चिन्तयेद्देवीमूर्ध्वाकारां तडित्प्रभाम्।
ओङ्काररूपिणीं ज्योत्स्नामात्मरूपां शुभोदयाम्॥

—इत्युक्तेः। नित्यानन्दगुणालया 'नित्यानन्दगुणोदया' इत्युक्तेः। गुणपरा; गुणरूपा परा च, 'शक्तिः कुण्डलिनी गुणत्रयवपुर्विद्युल्लतासंनिभा' इत्युक्तेः। 'परापरविभागेन परशक्तिरियं मता' इत्युक्तेश्च।

उक्त श्लोकमें **'शताक्षरवपुः'** शब्दका अर्थ शताक्षरमन्त्र है। यह (१) त्रिष्टुप्, (२) गायत्री और (३) अनुष्टुप्—इन तीन मन्त्रोंके संयोगसे बनता है।

उद्धृत श्लोककी जो व्याख्या दी गयी है वह महामति सर्वशास्त्रविशारद राघवभट्टकृत है। उससे यह मालूम होता है कि कोई मन्त्र किसी निर्दिष्ट देवताका नहीं है। जिस समय साधकसे मन्त्र, देवता और गुरुके साथ ऐक्य-भावना करनेके लिये कहा जाता है, उस समय साधक जिस इष्ट देवताका साधन करता है, वही एकमात्र परम देवता है, यह समझना भूल है। भगवत्पाद शंकराचार्यने स्वरचित प्रपञ्चसारतन्त्रमें हल्लेख्या बीजके सम्बन्धमें कहा है—

यां ज्ञात्वा सकलमपास्य कर्मबन्धं
तद्विष्णोः परमं पदं प्रयाति लोकः।
तामेतां त्रिजगति जन्तुजीवभूतां
हल्लेख्यां जपत च नित्यमर्चयीत॥

—इससे स्पष्ट मालूम होता है कि शक्तिबीज-साधनके द्वारा भी विष्णुपद प्राप्त किया जाता है। पहले ही कहा गया है कि साधकके उपास्य या इष्ट देवता उसकी गुरुनिर्दिष्ट ब्रह्ममूर्तिमात्र है। अपने इष्टकी मूर्तिका अवलम्बन करके ही परम पदार्थमें लीन हुआ जा सकता है। शाक्ततन्त्रमें शक्तिको प्रधानता दी जाती है, इसीसे 'ह्रीं' कार बीज और कुण्डलिनी-शक्तिकी आराधनाको प्रधानता दी जाती है। शैवतन्त्रमें 'ओंकार' और शिवको प्रधानता दी जाती है। इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं। शिव और शक्तिके परस्पर-सम्बन्धको 'अविनाभाव' बतलाया जाता है। जिन्होंने इस 'अविनाभाव' की उपलब्धि की है, वे ही जीवन्मुक्त हैं।

उपसंहारमें यह कहना आवश्यक है कि इसके अतिरिक्त और जो कुछ करनेकी आवश्यकता है, वह गुरुसे ही जाना जा सकता है। शास्त्रोंमें कहा गया है—

'गुरूपदेशतो ज्ञेयं न ज्ञेयं शास्त्रकोटिभिः।'

यह कहनेका मतलब यही है कि केवल शास्त्रवचनके आधारपर यदि योगसाधना की जाय तो साधकको समय-समयपर विशेषरूपसे विपद्ग्रस्त होना पड़ता है। गुरु शिष्यका अधिकार समझकर पग-पगपर उसे उपदेश देते हैं। यहाँतक देखा गया है कि प्राणायामसाधन करते समय भी कोई पथप्रदर्शक न होनेपर साधकको विपद्ग्रस्त होना पड़ा है। इन सब कारणोंसे जो विषय गुरुसे ही सीखने योग्य है, उसका उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है।

शांकरवेदान्तमें योगका महत्त्व

(श्रीवेदान्ती स्वामीजी)

योगदर्शनके अनुसार 'योग' शब्दसे निर्विकल्प-समाधि ही अभिप्रेत है, अन्य कुछ नहीं। इसे प्रायः सभी व्याख्याता मानते हैं—

'योग असम्प्रज्ञातसमाधिः।'

(व्यासभाष्य)

प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र आदि सभी प्रमाणों, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं एवं इसके विपरीत संकल्प, विकल्प आदि सभी वृत्तियोंको निरुद्ध कर एकमात्र तुरीय अवस्थामें स्थित होना ही योग है। इसे जैन, बौद्ध, सूफी आदि अन्य योग-साधक भी स्वीकार करते हैं। इसे ही निर्विकल्प समाधि कहा गया है। इसीमें परमात्माका साक्षात्कार भी होता है, जैसा कि महर्षि पतञ्जलिका कथन है—

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।'

(योग० १।३)

अद्वैत वेदान्तमें योगकी प्रधानता है। आसन, प्रत्याहार, प्राणायाम, धारणा, ध्यान और समाधि—ये असम्प्रज्ञात योगके मुख्य अङ्ग हैं। विजातीय वृत्तियोंके तिरस्कारपूर्वक सजातीय वृत्तिका सहज प्रवाह ध्यान है। **'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'** तथा **'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता'**—आदिके अनुसार ध्यानकी परिपक्वावस्था ही समाधि है। समाधिसे सञ्चित पुण्यापुण्य अपरिमित कर्म इस ध्यानद्वारा नष्ट हो जाते हैं।

धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः।
वर्षत्येष यतो धर्मामृतधारां सहस्रशः॥

(पञ्चदशी)

'परमश्रेष्ठ योगवेत्तागण धर्मकी अमृतमयी धाराकी निरन्तर वर्षा करनेके कारण समाधिको धर्ममेघ कहते हैं।' योग-दर्शनमें कहा गया है कि जो योगी प्रसंख्यान-ज्ञानसे भी विरक्त है उसको निरन्तर विवेक-ख्यातिके उदय होनेसे धर्ममेघ-समाधि होती है—**'प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः'** (४।२९)। ज्ञानसे केवल भ्रान्तिकी निवृत्ति होती है, पर ब्रह्माकाराकारिता-वृत्तिकी गाढ़ता योगके बिना सम्भव नहीं है। योगजन्य साक्षात्कारका विषय होनेसे ब्रह्मानन्द योगानन्दको प्राप्त होता है, वही निरुपाधिक होनेसे निजानन्द है और उसीको गौण-मिथ्या-मुख्यात्मके विवेचनद्वारा आत्मानन्द कहते हैं।

वस्तुतः आत्मबोध होनेपर भी आत्मनिष्ठताके अभावमें व्यक्ति जीवन्मुक्तके आनन्दसे वञ्चित रह जाता है। आत्मनिष्ठता ध्यानसे प्राप्त होती है। क्रमशः प्रत्ययैकतानतारूप ध्यानसे वासनाका क्षय भी शनैः-शनैः हो जाता है—

यदा यदा प्रत्यगवस्थितं मनः
तदा तदा मुञ्चति बाह्यवासना।

यम-नियमादिके पालनसे योगसाधनस्वरूप ध्यानकी योग्यता प्राप्त होती है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय अथवा ध्याता, ध्यान, ध्येयकी त्रिपुटीयुक्त सविकल्प-समाधि एवं त्रिपुटीरहित ध्येयैकगोचर समाधि निर्विकल्प है। विज्ञानमय ध्याता मनोमय ध्यानका विषय है। ध्याता, ध्यान, ध्येयके अभावमें निवातदीपवत् चित्त समाधिस्थ कहा जाता है। इस योग-समाधिके आश्रयसे अन्तःकरणके समस्त मलोंका अपनयन हो जाता है।

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं लभेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

(मैत्रायणी-उपनिषद् ४।१)

आत्मामें योगाभ्याससे शुद्ध हुए चित्तको निवेशित करनेके उपरान्त साधकको अलभ्य सुखकी प्राप्ति होती है। जिस कालमें द्वैतकी प्रतीति नहीं होती एवं विक्षेप निद्रा आदिका भी अभाव होता है, उस समय समाधिके दिव्य सुखका अनुभव होता है। उसी अवस्थाको ब्रह्मानन्द कहा जाता है।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥

(गीता ६। २७)

योगाभ्याससे मन प्रशान्त हो जाता है। इस प्रकार कल्मषरहित योगी उत्तम सुख प्राप्त करता है। वह अवस्था-विशेष या समाधिके अभ्यासद्वारा परिशुद्ध अन्तःकरणसे स्वप्रकाश-स्वरूप चैतन्यको देखता हुआ अपनेमें संतुष्ट रहता है। आत्मतत्त्वमें स्थित हुआ (आत्मनिष्ठ) महान् दुःखोंसे विचलित नहीं होता है। किसी परिस्थितिके आनेपर वह घबड़ाता नहीं है। ऐसी ही स्थितिमें ब्रह्माकारावृत्ति स्थिर हो जाती है।

वेदान्त आदि दर्शनशास्त्रोंमें जहाँ विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति तथा मुमुक्षुत्व आदि ज्ञानके साधन कहे गये हैं, वहीं श्रवण, मनन, निदिध्यासनको ज्ञानका हेतु बतलाया गया है।

श्रवणादित्रयं तद्वत्तत्त्वमिथ्याविवेचनम्।
पुनर्ग्रन्थेरनुदयो बोधस्यैते त्रयो मताः॥

(पञ्चदशी)

ग्रन्थिस्वरूप वासनाओंका पुनः उदय न होना ही ज्ञानका फल है। अर्थात् कूटस्थके साथ अहङ्कारादि तादात्म्य-वृत्तिका उदय न होना यह ज्ञानका फल है। निदिध्यासन-समाधिके अभ्याससे वृत्ति जब गाढ़ हो जाती है, तब **'तादात्म्याध्यास'**-रूप ग्रन्थिका उदय नहीं होता है। योगसे प्राप्त ब्रह्मज्ञानके द्वारा भ्रान्तिकी निवृत्ति होती है। ऐसी स्थितिमें चिज्जड-ग्रन्थिका उदय नहीं होता है। ध्यान-योगमें ब्रह्माकार-वृत्ति रहती है। यहाँ ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटी नहीं है। ब्रह्माकार-वृत्तिका यह वैशिष्ट्य है कि लक्ष्यकी आवृत्ति भी होती है तथा ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटी भी नहीं रहती ज्ञानप्राप्तिके बाद भी योगकी आवश्यकता रहती है, क्योंकि ज्ञान होनेपर ज्ञाननिष्ठाकी प्राप्ति योगके बिना नहीं हो सकती। अतः योगका महत्त्व योगज्ञान-निष्ठा ही है।

ज्ञान होनेपर केवल भ्रान्तिकी निवृत्ति होती है, वासनाका क्षय नहीं होता। अतः अन्तःकरणकी विशुद्ध प्रशान्त एवं विक्षेपशून्यावस्था योगाभ्यासके बिना नहीं होती है। अद्वैत-ज्ञानमें चित्तवृत्तियोंका निषेध होता है।

मन-बुद्धि आदि सूक्ष्म एवं स्थूल नाम-रूप सकल प्रपञ्चका निषेध करनेपर निषेधरहित निर्विशेषवृत्तिको ब्रह्माकार-वृत्ति कहते हैं; यह कर्ताका बाध करके उत्पन्न होती है अतः कर्तृजन्य नहीं है।

आनन्दको भी त्यागकर आत्मस्थिति प्राप्त करनेको निर्विकल्प समाधि कहते हैं। यदि समाधि ज्ञान है तो उत्थानको अज्ञान मानना पड़ेगा। ज्ञान होनेपर भी विक्षेप दूर नहीं होता, क्योंकि ज्ञान तो केवल अज्ञान दूर करता है। अतः विक्षेप-निवृत्तिके लिये योगकी नितान्त आवश्यकता है।

सच्चे गुरुदेव

काहू सौं न रोष तोष काहू सौं न राग दोष,
काहू सौं न बैरभाव काहू की न घात है।
काहू सौं न बकवाद काहू सौं नहीं बिषाद,
काहू सौं न संग न तौ कोउ पक्षपात है॥
काहू सौं न दुष्ट बैन काहू सौं न लैन दैन,
ब्रह्म को बिचार कछु और न सुहात है।
सुन्दर कहत सोई ईसनि कौ महाईस,
'सोई गुरुदेव जाकै दूसरी न बात है'॥

—श्रीसुन्दरदासजी

योगवासिष्ठमें योग

(प्रो० डॉ० श्रीभीखनलालजी आत्रेय, एम्० ए०, डी० लिट्०)

श्रीयोगवासिष्ठ महारामायण भारतवर्षके आध्यात्मिक ग्रन्थोंमें बहुत उच्च कोटिका ग्रन्थ है। इसमें वसिष्ठ ऋषिद्वारा श्रीरामचन्द्रको किये हुए आध्यात्मिक उपदेशका बहुत सरस भाषामें वर्णन है, इसके दार्शनिक सिद्धान्त बहुत सूक्ष्म और गहन हैं। अद्वैत वेदान्तके अनेक लेखकोंने इन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया है और कुछ विद्वानोंने इसके बहुत-से स्थलोंसे चुनकर कुछ श्लोकोंका संग्रह करके उन संग्रहोंको उपनिषदोंके नामसे प्रकाशित किया है। महा-उपनिषद्, अन्नपूर्णा-उपनिषद् और अक्षि-उपनिषद्के तो प्रायः सभी श्लोक योगवासिष्ठसे ही संगृहीत हैं।

'योग' शब्दका अर्थ

योगवासिष्ठमें योग शब्दका अर्थ है—संसारसागरसे पार होनेकी युक्ति (निर्वा०पू० १३।३)।

योगका आदर्श

योगद्वारा मनुष्य अपने यथार्थ स्वरूप सच्चिदानन्दका अनुभव कर लेता है। योगका ध्येय वह तुरीय नामक परम आत्मामें स्थिति है, जिसमें जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति किसीका भी अनुभव न हो और न इनके आगामी अनुभवका बीज भी रहे तथा जिसमें परम आनन्दका निरन्तर अनुभव होता रहे।

योगके तीन प्रभेद

(१) एक तत्त्वकी दृढ़ भावना, (२) मनकी शान्ति और (३) प्राणोंके स्पन्दनका निरोध—ये तीन योगके प्रभेद हैं। इन तीनोंमेंसे किसी एकपर चलनेसे तीनोंकी ही सिद्धि हो जाती है। इन तीनोंमें मनको शान्त कर लेना सबसे सरल है। यद्यपि किसीको ज्ञानका अभ्यास, किसीको प्राण-निरोध और किसीको मनका शान्त करना सरल होता है तो भी योग-वासिष्ठकार कहते हैं कि प्राणोंके निरोधकी अपेक्षा मनको शान्त करना अथवा तत्त्वका दृढ़ अभ्यास करना अधिक सरल है (निर्वा० पू० १३।८)। इसलिये इस ग्रन्थमें इन दो भेदोंका ही बहुधा उल्लेख हुआ है।

१-एक तत्त्वका दृढ़ अभ्यास

एक तत्त्वकी दृढ़ भावनासे मन शान्त होकर आत्मामें विलीन हो जाता है और प्राणोंका स्पन्दन स्वयं ही रुक जाता है (निर्वा० पू० ६८।४८)। एक तत्त्वका दृढ़ अभ्यास तीन प्रकारसे किया जाता है—

१. ब्रह्मभावना—पहले विचारद्वारा यह निश्चय हो जाना चाहिये कि संसारभरमें केवल एक ही अनन्त आत्मतत्त्व है और सब पदार्थ उसी तत्त्वके नाना नाम-रूप हैं। तब मनको तन्मय करनेका प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकारका ब्रह्माभ्यास करनेसे मन ब्रह्माकार होकर विलीन हो जाता है और प्राणोंकी गति भी स्वयं ही अवरुद्ध हो जाती है, क्योंकि यह नियम है कि जो जिस विषयकी दृढ़ भावना करता है वह तद्रूप हो जाता है।

२. अभाव-भावना—अभाव-भावनाका अर्थ है, पदार्थोंको अत्यन्त असत् समझकर उनके पारमार्थिक अभावकी दृढ़ भावना करना। जबकि ब्रह्म (आत्मा)के अतिरिक्त इस जगत्में और कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं और सब दृश्य पदार्थ वस्तुतः ब्रह्म ही हैं, तब उनको नाना नाम-रूपवाले और भिन्न सत्तावाले समझना केवल भ्रम है। इस बातको भलीभाँति समझकर यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये कि पदार्थ हैं ही नहीं, केवल सर्वत्र ब्रह्म-ही-ब्रह्म है। इस निश्चयके अभ्यासका नाम ब्रह्मभावना है। ऐसा करनेसे मन शान्त हो जाता है और अहंभाव तथा जगत्का अनुभव—दोनोंका लोप होकर आत्मभावमें स्थिति हो जाती है (स्थिति-प्रकरण)।

३. केवलीभाव—केवलीभाव उस निश्चयके अभ्यासका नाम है जिसमें केवल एक आत्मतत्त्वकी स्थिति मानी जाय और समस्त दृश्य पदार्थोंके असत्य होनेकी दृढ़ भावना होनेके कारण अपने द्रष्टा होनेको भी असत् समझा जाय और अपने उस आत्मस्वरूपमें स्थिति हो जाय जिसमें द्वैतका कोई भान नहीं है (स्थिति० ४।५३)।

२-मनोलय

योगवासिष्ठके अनुसार मन ही संसारका उत्पन्न करनेवाला और चलानेवाला है। मनके शान्त हो जानेपर जीवनमें परमशान्ति आ जाती है और संसारका अनुभव क्षीण हो जाता है। मनके शान्त हो जानेपर जीव ब्रह्मत्वको प्राप्त हो जाता है और प्राणोंका स्पन्दन भी रुक जाता है। मन

संसाररूपी मायाचक्रकी नाभि (केन्द्रबिन्दु) है। इस नाभिको बल और बुद्धिद्वारा घूमनेसे रोक लेनेपर संसारचक्रकी गति भी अवरुद्ध हो जाती है। मनको जीत लेनेपर सब कुछ जीत लिया जाता है। मनके नाश होनेपर संसारका इस प्रकार लय हो जाता है जैसे कि घटके नाश होनेपर घटाकाश नष्ट हो जाता है। चित्तके लीन हो जानेपर द्वैत और अद्वैत दोनोंकी भावनाओंका लय होकर परम शान्त आत्मतत्त्वका ही अनुभव शेष रह जाता है। संसाररूपी दुःखसे मुक्त होनेका उपाय केवल मनको निग्रह करना है। इसी युक्तिद्वारा मनुष्यको परम शान्तिका अनुभव होता है। बिना इस युक्तिके शुभगति प्राप्त नहीं होती।

मन ही स्थूल होकर परिमित जीव हो जाता है और मन सूक्ष्म और विस्तृत होकर ब्रह्म हो जाता है। जिन कारणोंद्वारा मन स्थूलताको प्राप्त होकर दुःख भोगता है, वे ये हैं—अनात्म वस्तुमें आत्मभाव, स्थूल देहमें आस्था, स्त्री, पुत्र और कुटुम्बसे ममता, मेरा-तेरापन, बुढ़ापे और मौतसे भय, संसारसे सुखकी आशा, किसी वस्तुकी प्राप्ति और किसीके त्यागका यत्न, भोगोंकी तृष्णा और विषयोंके भोगोंमें फँसना आदि (उप० प्रक० ५०। ५७—६३)।

मन सूक्ष्म होकर जिन कारणोंसे ब्रह्मभावको प्राप्त होता है, वे ये हैं—भोगोंमें सुखकी कल्पनाको छोड़कर सांसारिक वासनाओंको त्यागकर परम शुद्ध आत्मतत्त्वकी ओर प्रवृत्त होना, मनकी असत्ता और आत्माकी सत्तापर बार-बार विचार करना, संसारके पदार्थोंकी असत्ताका दृढ़ निश्चय हो जाना, परम तत्त्वके चित् सामान्य रूपमें स्थिर होना आदि।

मनको शान्त करनेके उपाय

बिना उचित युक्तिके मनको जीतना कठिन है (उप० प्रक० ९१। ३४)। जो लोग ठीक युक्तियोंको छोड़कर हठपूर्वक मनको जीतना चाहते हैं, उनको अनेक क्लेश और भय प्राप्त होते हैं। (उप० प्रक० ९१। ४०)। मनको शान्त करनेकी अनेक रीतियाँ हैं, उनमेंसे कुछका उल्लेख यहाँ किया जाता है—

१. ज्ञानयुक्ति—ज्ञानद्वारा मनका निरोध करना आँख मींचने या फूलको मसल देनेसे भी सरल है। इसमें जरा भी कष्ट नहीं होता (निर्वा० पू० १११। ३१)। मनकी सत्ता ही अज्ञानके कारणसे है और वह ज्ञानद्वारा इस प्रकार सरलतासे नष्ट की जा सकती है जैसे कि रस्सीमें साँपकी सत्ता और मरुभूमिमें मृगतृष्णाके जलकी सत्ता। जो वस्तु अज्ञानजन्य है, वह ज्ञानद्वारा तुरंत नष्ट हो जाती है। सत्यका ज्ञान होनेपर यह भलीभाँति निश्चित हो जाता है कि वस्तुतः आत्माके अतिरिक्त और कोई पदार्थ नहीं है और मन भी असत् है।

२. संकल्पत्याग—संकल्प मनका बन्धन है और संकल्पका अभाव मनकी मुक्ति है। संकल्प न रहनेपर मनका नाश हो जाता है और मुक्तिका उदय होता है। संकल्पके शान्त होनेपर संसारका सब दुःख मूलसहित नष्ट हो जाता है।

३. भोगोंसे विरक्ति—जबतक संसारका नाश करनेवाले भोगोंसे विरक्ति उदित नहीं होता, तबतक दुःखोंपर विजय पानेवाली परम निवृत्तिका अनुभव नहीं होता (५। २४। ३७-३८)। संसाररूपी गड्ढेमें पड़े हुए लोग तभीतक दुःखोंमें भ्रमण करते हैं, जबतक उनको विषयोंसे वैराग्य नहीं होता (५। २४। ४३)। विषयोंसे विरक्ति होनेसे मन सूक्ष्म होकर आत्मभावको प्राप्त होता है।

४. वासनात्याग—चित्त (मन)का असली रूप वासना है। वासना (इच्छा) और मन पर्यायवाची शब्द हैं। वह मनुष्य जिसकी सम्पूर्ण वासनाएँ क्षीण हो गयी हों, जीवन्मुक्त हो जाता है। बन्धनमें पड़े हुए लोगोंको उस अवस्थाका अनुभव नहीं होता (३। २२। ८)। वासनात्यागकी सरल युक्ति यह है कि पहले तामसी वासनाओंका परित्याग करके मनमें मैत्री आदिकी शुद्ध वासनाओंको रखे, उनके अनुसार व्यवहार करता हुआ फिर उनको भी मनसे निकालकर सब वासनाओंसे रहित होकर केवल एक चिन्मात्रावस्थाको प्राप्त होनेकी वासनाको मनमें रहने दे (स्थिति० प्रक० ५७। २१)। तब मन और बुद्धिसहित उस वासनाका भी त्याग करके जो अवस्था शेष रहे उसके ध्यानमें स्थिर रहे। इस प्रकार जिस वासनाद्वारा दूसरी वासनाओंका त्याग किया जाय, उस अहंभावको भी त्याग देना चाहिये। उस ज्ञानवान् पुरुषके मनमें, जिसने कि इस भावनासे कि 'सब कुछ ब्रह्म ही है' अपना अज्ञान नष्ट कर लिया है, कभी वासनाका उदय नहीं होता। जिस प्रकार दीपकसे अँधेरा दूर होकर प्रकाशका उदय हो जाता है, उसी प्रकार परमार्थके ज्ञानसे वासना समूल नष्ट

होकर शान्तिका अनुभव होता है।

५. अहंभावका नाश—अहंभावके दृढ़ होनेपर ही संसारका भ्रम उदित होता है और अहंभावके क्षीण होनेपर उस स्वभावमें स्थिति हो जाती है, जिसमें कि निरन्तर शान्ति ही है। अहंभावरूपी मेघके क्षीण होनेसे चिदाकाशके निर्मल हो जानेपर ही आत्मानुभवरूपी सूर्यका प्रचण्ड प्रकाश होता है। यह सब संसार इन्द्रजालकी भाँति मिथ्या है, इसलिये इसमें राग रखनेसे क्या और द्वेष करनेसे क्या? इस प्रकार विचार करते रहनेसे अहंभाव नहीं रहता। जब यह ज्ञान होकर कि मैं ही सारा जगत् हूँ और यहाँपर कोई वस्तु भी त्यागने अथवा प्राप्त करने योग्य नहीं है, चित्तमें समताका प्रकाश हो जाय, तब अहंभावकी वृद्धि नहीं होती (स्थिति० ३३।४६)।

६. असङ्गका अभाव—जिसके हृदयमें संसारकी वस्तुओंके साथ संग है, वही मनुष्य संसारसागरमें डूबा हुआ है और जिसका मन संगसे रहित है वही संसारसे मुक्त है। संगरहित पुरुष वह है जो न कर्मोंके त्यागसे प्रसन्न होता है और न कर्मोंमें अनुरक्त होता है, जो किसी भी कर्मका फल नहीं चाहता और जो सब अवस्थाओंमें समान रहता है। यहाँ सब कुछ आत्मा ही है—किस वस्तुका त्याग करूँ और किसका ग्रहण—इस भावका नाम असंग है। जीवन्मुक्तिमें यही दशा होती है (उप० प्रक० ६८।४)।

७. कर्तृत्वभावका त्याग—जब स्पन्दनात्मक कर्म क्षीण हो जाता है तो मन भी क्षीण हो जाता है। जैसे अग्नि और उष्णताकी सदा एकता है, वैसे ही मन और कर्मकी सदा एकता है। दोनोंमेंसे एकका नाश होनेसे दोनोंका ही नाश हो जाता है। कर्मका बीज (कारण) आत्माके अज्ञानसे उत्पन्न हुआ संकल्प है। संकल्प करना ही बन्धनका कारण है, इसलिये उसका सर्वथा परित्याग करना चाहिये। संवेदन और संवेद्य दोनोंको छोड़कर वासनारहित शान्त होकर रहनेका नाम कर्मत्याग है।

८. सर्वत्याग—जबतक सब कुछ नहीं त्यागा जाता, तबतक आत्मलाभ नहीं होता। सब अवस्थाओंका परित्याग करनेपर जो शेष रहता है, वही आत्मा है (५।५८।४४)। शुद्ध सर्वत्यागको सर्वदुःखोंका अन्त करनेवाली चिन्तामणि समझना चाहिये, शुद्ध बुद्धिसे उसीकी साधना करनी चाहिये। जो सब कुछ है, जिससे सब कुछ है और जो सबका कारण है, उसीमें सबका त्याग कर देनेसे सर्वत्यागकी सिद्धि होती है। तीनों कालमें रहनेवाला जगज्जाल जिसने अपने भीतर इस प्रकार देख लिया है जैसे कि मोतीके भीतर तागा, उसने सब कुछ त्याग दिया। जिसने बुद्धिद्वारा सब शङ्काओं, सब इच्छाओं और सब निश्चयोंका त्याग कर दिया है वह महात्यागी कहलाता है।

९. समाधिका अभ्यास—यदि निर्विकल्प समाधिमें स्थिति हो जाय तो अक्षय और निर्मल सुषुप्तिके समान आत्म-पदकी प्राप्ति हो जाती है। समाधि चुपचाप रहनेका नाम नहीं है। सब आशाओंरूपी तृणोंको भस्म करनेवाली तत्त्वज्ञानरूपी अग्निका नाम समाधि है (५।६२।८)। समाधि उस प्रज्ञाका नाम है जिसमें चित्त स्थिर हो, नित्य तृप्ति हो और पदार्थोंके असली रूपका ज्ञान हो। विषयोंके प्रति किसी प्रकारकी भी तृष्णा न रहनेका नाम समाधि है।

१०. लयक्रिया—देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और क्षेत्रज्ञ—जिन-जिन तत्त्वोंसे उत्पन्न होते हैं उनको जानकर उनमें इनको लय करनेका यत्न करना चाहिये। इस रीतिसे पहले अपने आपको विराट्में स्थित करे, फिर अव्याकृतमें और फिर परम कारणमें। शरीरके पार्थिव भाग मांसादिका पृथ्वीतत्त्वमें विचारद्वारा लय करे, रक्तादिका जलमें, तैजस भागका अग्निमें, वायव्य भागका वायुमें और आकाशीय भागका आकाशमें। इसी प्रकार एक-एक इन्द्रियको उसके कारण तत्त्वमें लय करे—श्रोत्रको दिक्में, त्वक्को वायुमें, चक्षुको सूर्यमें, जिह्वाको जलमें, घ्राणको पृथ्वीमें, पैरोंको विष्णुमें, पायुको मित्रमें, उपस्थको कश्यपमें, मनको चन्द्रमामें, बुद्धिको ब्रह्मामें—इस प्रकार समस्त देहको उसके कारण—तत्त्वोंमें लय करके अपने आपको विराट् समझे। अब पृथ्वी-तत्त्वको जलमें, जलको अग्निमें, अग्निको वायुमें, वायुको आकाशमें और आकाशको महाकाशमें जो कि सबका उत्पत्ति-कारण है, लय करे। वहाँपर योगी लिङ्ग-शरीरद्वारा क्षणभर स्थित होकर और ब्रह्माण्डके बाहर दृष्टि फैलाकर यह अनुभव करे कि मैं आत्मा हूँ। लिङ्ग-शरीरको सूक्ष्म अव्याकृतमें जो कि ब्रह्मासे पूर्वकी अवस्थाका नाम है, लीन करना चाहिये। यह वह तत्त्व है जिसमें नाम-रूपका त्याग करके जगत् स्थित रहता है। कोई इसको प्रकृति कहते हैं, कोई माया और कोई परमाणुसमूह,

कोई तर्कसे भ्रान्त चित्तवाले इसको अविद्या कहते हैं। उसमें सब पदार्थ लय होकर अव्यक्तरूपसे वर्तमान रहते हैं। इन तीनों अवस्थाओं-(स्थूल, सूक्ष्म और कारण-)के परे भी एक अव्यय चतुर्थ पद है। उसकी प्राप्तिके लिये उसका ध्यान करके कारण-शरीरका उसमें लय करना चाहिये। (निर्वा० पू० १२८। २१—२५)।

३-प्राण-निरोध

जैसे पंखेका हिलना बंद होते ही हवाका चलना बंद हो जाता है, उसी प्रकार प्राणोंकी गति रुक जानेपर मन भी शान्त हो जाता है।

प्राणका स्पन्दन रुकनेसे मन शान्त हो जाता है और मनके शान्त हो जानेपर संसारका लय हो जाता है। (५। ७८। १५-१६)।

प्राण-निरोधके उपाय

शान्त करना, जिसमें ज्ञानका उदय हो जाय, ठीक उसी समय उसमें दृढ़ भावसे निश्चित होना और किसी भी विकल्पसे विचलित न होना, चिरकालतक जिस पदार्थकी वासना रही हो, उसकी शून्य भावनासे मनको वासनारहित करके क्षीण करना और शुद्ध संवित्में ध्यान लगाना। इनके सिवा प्राणनिरोधकी और भी अनेक युक्तियाँ हैं जो नाना देशोंमें प्रचलित हैं और अनेक गुरुओंद्वारा बतायी गयी हैं। इस प्रकार प्राण-निरोधके अभ्याससे प्राणका लय होनेपर मनकी क्रिया शान्त हो जाती है और निर्वाणपद ही शेष रह जाता है।

प्राणविद्याके अतिरिक्त योगवासिष्ठमें कुण्डलिनी-विद्याका भी विस्तारपूर्वक वर्णन है। कुण्डलिनी-विद्याका ज्ञान होनेपर कुण्डलिनी-शक्तिको जाग्रत् करके उसके द्वारा योगी अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

योगकी सात भूमिकाएँ

संसारके अनुभवसे मुक्ति पाने और परमानन्दका अनुभव

और चित्तके विषयोंसे पूर्णतया विरक्त हो जानेपर सत्य आत्मामें स्थित हो जानेका नाम सत्त्वापत्ति है।

५. असंसक्ति—चारों भूमिकाओंके परिपक्व हो जानेपर जब पूर्णतया मनमें असक्ति उत्पन्न हो जाती है और आत्म-तत्त्वमें दृढ़ स्थिति प्राप्त हो जाती है तो उस अवस्थाका नाम असंसक्ति है।

६. पदार्थाभावनी—पूर्वके पाँचों भूमिकाओंके अभ्याससे और आत्मामें निश्चल स्थिति हो जानेसे जब आन्तर और बाह्य वस्तुओंके अभावकी दृढ़ भावना हो जाती है, उस स्थितिका नाम पदार्थाभावनी है। इसकी सिद्धि तब होती है, जबकि परमात्माकी सत्ता और पदार्थोंकी असत्ताका बहुत समयतक यत्नपूर्वक अभ्यास किया जाय।

७. तुर्यगा—पूर्वकी छः भूमिकाओंके अभ्याससे और पदार्थोंका अनुभव न होनेसे अपने असली स्वरूपमें निरन्तर स्थित रहनेका नाम तुर्यगा है। जीवन्मुक्त लोगोंको इस अवस्थाका अनुभव होता है। विदेहमुक्ति इस अवस्थासे परे है।

योगवासिष्ठ बड़ा विशाल ग्रन्थ है और इसमें प्राधान्येन प्राणोंके नियमनके द्वारा धारणा, ध्यान तथा निर्विकल्प समाधिकी स्थितिमें आत्माको परमात्माके एकात्मभावसे प्राप्तिका सम्यक् विधान वर्णित है या ज्ञानद्वारा वासनाके क्षयके *क्रमसे मनके आत्मामें लय हो जानेपर स्वयमेव प्राणोंका* नियमन निर्विकल्प समाधिकी प्राप्ति निर्दिष्ट है। इसलिये योगवासिष्ठमें ज्ञान या योग दोनों मार्गोंसे ब्रह्मप्राप्ति अभीष्ट है और महर्षिके उपदेश करते ही किशोर राम पूर्ण समाधिस्थ हो जाते हैं और फिर महर्षि उन्हें जाग्रत् कर उनके विश्वामित्रके साथ यज्ञरक्षार्थ गमन, सीतापरिणय, रावण-वध आदि भविष्यके कर्मोंको निर्दिष्ट करते हैं। इस प्रकार बराबर वे योग और ज्ञानमें निरत होकर आदर्श मर्यादापुरुषोत्तमके रूपमें स्थित होते हैं। इसी प्रकार योगवासिष्ठमें जनक आदि राजर्षि महर्षियोंके भी समाधिस्थ होकर विश्वमें विशिष्ट सफलता प्राप्त करने और अन्तमें मोक्ष प्राप्त करनेके उपाख्यान वर्णित हैं। यहाँ संकेत रूपमें उसके संक्षिप्त साधनोंका ही दिग्दर्शन किया गया है। उसके पूर्ण लाभके लिये समग्र ग्रन्थका अवलोकन और *मनन करना चाहिये।*

प्राणब्रह्म

(योगी श्रीनारायणस्वामीजी महाराज)

श्रीमद्भगवद्गीताके माहात्म्यमें लिखा है कि प्राणायाम-परायण पुरुषके इस लोकके तो क्या पूर्वजन्मोंके भी किये पाप नहीं रहते। तब भला प्राणायाम प्राप्त करनेकी इच्छा किसे न होगी ? जिधर देखिये उधर ही सब प्राणायामके लिये उत्सुक दिखायी देते हैं, किंतु प्राणायाम क्या है, यह पहले समझ लेना चाहिये। आजकल तो लोग 'प्राण' का भी अर्थ न समझनेके कारण श्वासकी द्रुत आदि गतियोंके प्रसारपर ही योग-सिद्धियोंकी आशा करते हुए ठगे-से जा रहे हैं। यदि 'प्राण' शब्दकी समुचित व्याख्या कर दी जाय तो 'प्राणायाम' कठिन नहीं रह जाता।

भगवान् पिप्पलादसे एक शिष्य प्रश्न करता है—**'कुत एष प्राणो जायते'** महाराज ! यह प्राण कहाँसे पैदा होता है ? ऋषि उत्तर देते हैं—**'आत्मन एव प्राणो जायते'** आत्मासे ही प्राण उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि प्राणका जो महत्त्व महर्षि पिप्पलाद समझे हुए थे वह अप्रमेय था। प्राणका इतिहास वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है कि सबसे प्रथम प्रजापतिने 'रयि' एवं 'प्राण' को उत्पन्न किया। सूर्य ही प्राण है एवं चन्द्रमा ही रयि (भोग्यान्न) है। उन्होंने सब कुछ मूर्त एवं अमूर्तको प्राणरूपी सूर्यके तेजका भक्ष्य बताया है । कहा है—

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते।

(प्रश्नोप० १।५)

अर्थात् 'वह ही यह प्राण सर्वगत अग्निरूप उदय होता है।'

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मान-मन्विष्यादित्यमभिजयन्त एतद्वै प्राणानामायतनमेत-दमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष···· निरोधः॥ (प्रश्नोप० १।१०)।

अर्थात् 'जो तपसे, ब्रह्मचर्यसे, श्रद्धा एवं विद्याद्वारा आत्माको खोजकर सूर्यलोकको प्राप्त होते हैं, वे पुनः जन्म नहीं

धारण करते। कारण यह कि वह सूर्य ही प्राणोंका आश्रय है, वही मोक्ष है, वही अभय पद है। इसलिये कर्म करनेवालोंको यह परमाश्रय मिला हुआ है।' इस ऋचाका अर्थ यही है कि प्राण ही सूर्यका रूप है। अपने रूपको सूर्य जब खींच लेता है, तब प्राणी रूप आदि गुणविशिष्टोंसे हीन होकर मुक्त हो जाता है। कारण, प्राण ही शरीरबन्धनमें मुख्य है। अतः प्राणोंका आश्रय सूर्य इनको खींचकर प्राणीको मुक्त कर देता है।

उपनिषदोंकी प्रख्यात कथा है कि एक बार शरीरके समस्त अभिमानी देवताओंने अपने-अपने वश की हुई इन्द्रियोंद्वारा विचार कराया कि हम सबमें श्रेष्ठ कौन है! आकाश, वायु, अग्नि, पृथ्वी, वाणी, मन, चक्षु, श्रोत्र—इन सभीने ही अपने-अपने माहात्म्यका वर्णन किया एवं कहा कि हम ही इस शरीरको धारण किये हुए हैं। तब प्राणने उनसे कहा—**'मा मोहमापद्यथ।'** अरे मूर्खो! अज्ञानको प्राप्त मत हो, मैं ही इस आत्माके लिये पाँच रूपसे विभाजित होकर शरीरको धारण कर रहा हूँ। उन सबने विश्वास नहीं किया, तब प्राण अभिमानसे शरीरको छोड़नेके तुल्य होने लगा। उसके छोड़नेसे पहले ही सब नष्ट-से होने लगे एवं विनयकर उसे स्थिर किया। प्राणके स्थिर होनेपर पुनः सब ऐसे ही स्थिर हो गये जैसे मधुमक्खियोंकी रानीके उड़नेपर सब मक्खियाँ उड़ जाती हैं एवं बैठनेपर बैठ जाती हैं। इस प्रकार हारकर मन, श्रोत्र आदि इन्द्रियोंने प्राणकी स्तुति की।

प्राणकी महिमाका वर्णन करते हुए ऋषियोंने लिखा है—

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत्। (प्रश्न० २।५)

'यही प्राण अग्निरूपसे तपता है, सूर्य, मेघ, इन्द्र, वायु, पृथ्वी, रयि (चन्द्रमा वा भोग्य) यही है, सत् एवं असत् भी यही है एवं यही अमृत है।'

इस मन्त्रका प्रत्यक्ष आदेश है कि यद्यपि वेदान्तसूत्र **'नैकस्मिन्नसम्भवात्'** के अनुसार दो विरोधी गुणोंका एक जगह होना असम्भव है तथापि प्राणमें सत् एवं असत् दोनों संज्ञाओंका अस्तित्व है। यह प्राण अनुपम है। कहा है कि जैसे रथके पहियेमें 'अरे' लगे रहते हैं, इसी प्रकार प्राणमें सब कुछ ऋक्, यजु, साम, यज्ञ, क्षत्र एवं ब्रह्म आदि हैं। यह प्राण ही विराट्रूप होकर गर्भमें रहता है, उत्पन्न होता है एवं अन्य प्राणोंसे स्थित रहता है, देवादिको बलि प्राण ही पहुँचाता है, प्राण ही इन्द्र है, तेजस्वी होनेके कारण प्राण ही रुद्र है, यही रक्षक है, यही सूर्यका रूप धारण किये हुए आकाशमें विचरता है, यही नक्षत्रोंका पति है, यह प्राण ही मेघरूप होकर वर्षा करता है एवं प्रजाके प्राणोंकी रक्षा करता है।

प्रश्नोपनिषद्में प्राणको व्रात्य कहा है। व्रात्य शब्दका अर्थ है जो स्वतः शुद्ध हो, जिससे परे कोई न हो, आगे कहा है—

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि नः॥

(२।१३)

यह सब प्राणके वशमें है और स्वर्गमें जो कुछ है, वह भी हे प्राण! तेरे वशमें है। हे प्राण! माताके समान पुत्रोंका पालन कर। लक्ष्मी एवं सरस्वती अथवा श्री एवं प्रज्ञाको हमें दे।'

प्राणके विषयमें कहा है कि जैसे सम्राट् अपने अधीन राजाओंको छोटे-छोटे राज्योंका शासन बाँट देता है, इसी प्रकार यह प्राण दूसरे प्राणोंको अलग-अलग उपदेश देता है। औपनिषद विषयमें अपान आदि चार वायु भी प्राणके नामसे ही पुकारे जाते हैं। वहाँ लिखा है—**'मुखनासिकाभ्यां प्राणः'**—मुख एवं नाकमें प्राणवायु रहता है। इस प्राणको सप्तार्चिष कहा है, क्योंकि दो कान, दो नेत्र, दो नासिकारन्ध्र एवं एक मुख—ये सात प्राणके अग्निस्वरूपकी ज्योतियाँ कही जाती हैं।

मृत्युके समय पुरुष जिस प्रकारके प्राणकी चिन्तना करता है, उस चिन्तनाके विषय—प्राणको ही प्राप्त करता है। इस प्राणको जो जानता है उसकी प्रजा (संतान) नष्ट नहीं होती, वह अमर हो जाता है। लिखा है—

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते॥

(प्रश्नोप० ३।१२)

'प्राणकी उत्पत्ति, प्राण कैसे शरीरमें आता है, शरीरमें कहाँ रहता है, उसका पाँच प्रकारका व्यापकत्व एवं उसके अध्यात्मको जाननेसे मोक्ष हो जाता है।'

इसी प्राणके नियन्त्रणका नाम प्राणायाम है। प्राणायामकी अति सरल विधि यह है—सप्त व्याहृति (१-भूः, २-भुवः, ३-स्वः, ४-महः, ५-जनः, ६-तपः और ७-सत्यम्)-सहित

गायत्रीमन्त्रको मनसे चिन्तन करता हुआ नेत्रोंको बंद करके पूरक करे एवं इसके उपरान्त उपर्युक्त मन्त्रकी तीन आवृत्ति करता हुआ कुम्भक करे, पश्चात् एक बार स्मरण करता हुआ रेचक करके श्वासको बाहर निकाल दे। किन्हीं-किन्हीं आचार्योंका मत है कि सप्त व्याहृतिका प्रथम तो अर्थ समझना कठिन है, पुनः सात प्रकारका ध्यान असम्भव होनेके कारण अर्थसहित प्रणवका जाप करनेसे ही प्राणायाम-सिद्धि हो जाती है। योगसूत्रमें भी लिखा है—'**तस्य वाचकः प्रणवः**'—'**तज्जपस्तदर्थभावनम्**' इत्यादि। अतः सर्वसुगम प्राणायाम प्रणवके द्वारा ही होता है। प्रणवकी एक संख्या निश्चित कर उससे पूरक करे, उससे तीन गुना जपता हुआ कुम्भक करे एवं फिर उतना ही रेचक करे। केवल इसी अभ्यासकी उत्तरोत्तर वृद्धि करनेसे यम, नियम, आसन, धारणा, ध्यान स्वतः ही सिद्ध हो जाते हैं एवं पश्चात् प्राणोंको जीतनेसे समाधि भी प्राप्त हो जाती है, हृत्कमलका विकास होना आरम्भ हो जाता है एवं परम ज्योतिके दर्शन इसी शरीरसे प्राप्त हो जाते हैं। यह सुख अवर्ण्य है।

प्राणपूजा स्वात्मपूजा है, अतः परमात्माकी एवं चेतनकी पूजा है, इस पूजामें तनिक-सा मन लगानेवाला भी इस संसारजालके जडवादमें मोहित नहीं हो सकता। प्राणवायु ही पञ्चमहावायुओंमें मुख्य है, अतः मुक्तिका कारण है। वैदिक ब्राह्मणग्रन्थोंमें लिखा है—'**मौनी प्राणायामत्रयं कुर्यात्**'—मौन होकर तीन प्राणायाम करे। इस विषयमें कुछ मतभेद है। किन्हीं विद्वान् आचार्योंका कथन है कि सूक्ष्म प्राण, प्राण एवं महाप्राण—इन तीनोंका आलोडन ही प्राणायामत्रय कहा जाता है।

प्राणायामके विषयमें अधिकारकी कोई ख्यात भूमिका नहीं है। प्रत्येक प्राणी प्राणायामसरोवरमें स्नान करता हुआ अपनेको धन्य बना सकता है। किसी ऋतु-विशेषकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, अजपा-गायत्रीके साथ जो प्राणायामका विधान है वह क्लिष्टतासे भरा हुआ है।

केवल सात्त्विक श्रद्धामयी वृत्ति ही प्राणायाममें सफलताकी कुंजी हो जाती है।

शुद्ध एवं युक्त आसनपर स्थित होकर ही प्राणका व्यवहार करना उचित है, अन्यथा रोगादि होनेका भय हो जाता है। इस प्राणायामकी आसन-विधिपर किसीने कहा है—

तन डिढ मन डिढ बचन डिढ और आसन डिढ होय।
गुरू कहै सुण चेलक्या मरै तो सही पिण बूढो नी होय॥

प्राणायाम करनेवालोंमें ईश्वरभक्त एवं सो भी सगुणोपासक श्रद्धालु पुरुष बहुत जल्दी सिद्धि प्राप्त करते हैं। कौतुक समझकर करनेवालोंको प्राणायाम इतना सुखद नहीं होता। वस्तुतः प्राणकी महत्ता एवं उसकी रक्षा करना मनुष्य नहीं जानते; यही कारण है कि संसारमें चक्कर खाते हुए फिरते हैं। प्राणके महत्त्वका दिग्दर्शन कराते हुए पिप्पलादने भरद्वाज-पुत्र सुकेशा ऋषिसे कहा कि ये प्राण आदि जिससे उत्पन्न हुए हैं वह इसी शरीरमें अङ्गुष्ठमात्र होकर हृत्कमलमें निवास करता है।

सृष्टिविषयमें उसने विचार किया कि मैं किसके आविर्भावपर अपना आविर्भाव करूँगा एवं किसमें स्थिति करूँगा, सबका आश्रय तो मैं हूँ, मेरा आश्रय क्या होगा, तब उसने प्राणकी उत्पत्ति की। प्राणसे श्रद्धा उत्पन्न की। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, दसों इन्द्रियाँ, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म एवं लोकप्रसिद्ध नामादि रचे।

इन सब रचित प्राणियोंमें व्याप्त प्राण उसी महाप्राणके आश्रित हैं। जैसे चलती हुई समुद्रगामिनी नदियाँ समुद्रको प्राप्त होकर नाम-रूपादि गुणविशिष्टोंसे अस्तित्वहीन हो जाती हैं, केवल 'समुद्र' ऐसा नाम रह जाता है, इसी प्रकार उस महाप्राण समुद्रपुरुषमें परायण ये प्राणसरिताएँ उस पुरुषको पाकर नाम-रूपसे परे हो जाती हैं एवं तब महाप्राण ऐसा नाम ही रह जाता है, इस महाप्राणको एवं इसके महत्त्वको जो जानता है वह अमर हो जाता है। 'रथके पहियेके अरेके समान प्राणमें सब कुछ व्याप्त है' उसी प्रकार यह प्राण वा महाप्राण उस परमपुरुष ईश्वररूपी पहियेमें अरेकी भाँति स्थित है, उसे जाननेसे मृत्युका भय नहीं रहता।

प्राणायामपरायण पुरुषको यह प्रकरण अवश्य देखना चाहिये। प्राणायाममें प्रणवका जो स्थान है वह श्लाघ्य एवं स्पृहणीय है, वह स्थान किसी अक्षर वा बीजमन्त्रको नहीं मिला। प्रणवकी— ॐकी तीन मात्राएँ हैं। यह अ, उ, म् वा (ओ३म्) ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि भेदोंके अनुसार त्रिमात्र है। अतः प्राणायामपरायण पुरुष यदि एक मात्रावाले प्रणवका

ध्यान करता है (वा 'अ' अक्षरकी उपासना करता है) तो वह निश्चय करके ज्ञान प्राप्त कर लेता है एवं मृत्युके उपरान्त तुरंत ही संसारमें मानुषी जन्म धारण करता है, पूर्व-संस्कारोंसे उसकी बुद्धि प्राणायामपरक विषयोंमें ही प्रवृत्त होती है। उसे ऋग्वेदके मन्त्रोंद्वारा मनुष्ययोनि मिलती है एवं संस्कारवश होकर वह पुरुष तपस्या तथा ब्रह्मचर्यसे श्रद्धापूर्ण होकर ऐश्वर्यका अनुभव करता है।

यदि कोई दो मात्रावाले प्रणवसे ('अ', 'उ'—इन दो अक्षरोंवाली मात्राओंसे) मनमें प्रणवको धारण करता है तो वह यजुर्वेदके मन्त्रोंसे अन्तरिक्षमें चन्द्रलोकको प्राप्त होता है। वह वहाँ ऐश्वर्यभोग करके पुण्य क्षीण होनेपर फिर इस लोकमें जन्म लेकर कैवल्यपद प्राप्त कर लेता है।

किंतु जो पुरुष तीन मात्रावाले पूर्ण प्रणव 'ॐ' इस अक्षरसे उस परमपुरुषकी प्राणायामपरायण होकर उपासना करता है वह तेजःस्वरूप सूर्यमें निवास करता है और जैसे साँप पुरानी केंचुली (त्वचा) से स्वतः मुक्त हो जाता है, इसी प्रकार वह पापसे मुक्त हो जाता है एवं सामवेदके मन्त्रोंसे ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लेता है। पश्चात् इस परमसे भी परम उत्कृष्ट अर्थात् शरीररूपी नगरके राजासे भी श्रेष्ठ पुरुष परमात्माको देख लेता है। क्योंकि ॐकारकी पृथक्-पृथक् तीन मात्राएँ मनुष्यको संसारमें फँसानेवाली ही हैं। ये आवागमनसे रहित नहीं कर सकतीं (तीनों मिलकर करती हैं, अलग-अलग एक-एक मात्रा आवागमनके बन्धनको नष्ट नहीं कर सकतीं) किंतु केवल उपासनासे ही काम नहीं चलता, वहाँ यथायोग्य विचार कर लेनेपर बाहरी एवं भीतरीके बीचकी क्रियाओंमें बुद्धिसे युक्त वा परिपूर्ण होकर एक दूसरेके आश्रित एवं एक होकर ये भक्तकी रक्षा करती हैं एवं इस प्रकार वह त्रिमात्रसाधक अपने पथसे नहीं डिगता; किंतु निर्दिष्ट लक्ष्यको प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार वह साधक ऋग्वेदसे मनुष्यलोकको, यजुर्वेदसे चन्द्रलोकको ले जाया जाता है, किंतु जो साधक ऋषियोंके जाने हुए सामवेदके मन्त्रोंसे ब्रह्मलोकको ले जाया जाता है ऐसा विद्वान् साधक प्रणवप्राणायामके द्वारा ही जरा अर्थात् वृद्धावस्थासे रहित हो जाता है, मृत्युसे रहित हो जाता है (मृत्युसे रहितका तात्पर्य यह है कि यद्यपि शरीरका नाश होता है, किंतु ज्ञान एवं स्वप्रकाशविभूतिकी विस्मृति नहीं होती) एवं भयसे रहित होकर शान्तिको पाता हुआ परमपुरुषको प्राप्त होकर उसीमें लीन हो जाता है।

उस प्राणब्रह्मके विषयमें श्रुतिका भी यही कथन है—

एतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद। नातः परमस्तीति।

अमर भये

(स्व० योगिवर्य श्रीआनन्दघनजी 'यति')

अब हम अमर भये न मरेंगे।
या कारन मिथ्यात दियो तज क्योंकर देह धरेंगे॥
राग द्वेष जग बन्ध करत हैं इनको नाश करेंगे।
मर्यो अनन्त काल ते प्राणी सो हम काल हरेंगे॥
देह विनाशी, हूँ अविनाशी, अपनी गति पकरेंगे।
नाशी जासी, हम थिर वासी, चोखे ह्वै निखरेंगे॥
मर्यो अनन्त बार बिन समझ्यो, अब सुख-दुख बिसरेंगे।
'आनँदघन' निपट निकट अक्षर दो नहि समरे सो मरेंगे॥

प्रेषक—पंन्यासजी महाराज रीविरेंड

श्रीमद्भागवतके योगका वैलक्षण्य

(श्रीचतुर्भुजजी तोषनीवाल)

श्रीमद्भागवतमें 'योग' का अत्यन्त वैज्ञानिक रीतिसे विवेचन किया गया है। योग और धर्म—ये दोनों ही पुरुष-प्रयत्न - साध्य हैं। इसीलिये शास्त्रोंमें इन्हें बहिरङ्ग एवं अन्तरङ्ग साधनके नामसे कहा गया है। धर्मका साधन अनुष्ठानप्रवण बुद्धिके द्वारा होता है, जब कि योगका साधन शान्ति-प्रवण बुद्धिके द्वारा होता है। अतः जिनकी प्रवणता अर्थात् रुझान कर्मकी ओर है उनके लिये धर्मका विधान है और जिनका रुझान शान्ति एवं समाधिकी ओर है उनके लिये योगाभ्यासका विधान है।

विषयके सम्यक् ज्ञानहेतु श्रीमद्भागवतके एतद्विषयक निम्न कतिपय श्लोकोंका तात्पर्य समझना सहायक होगा—

परमात्मा और आत्माकी एकता ही समस्त श्रुतियोंका प्रतिपाद्य विषय है और इसका सम्यक् अनुभव ही योगियोंका सर्वोच्च ध्येय है। अतः जिनकी बुद्धि योगमें निपुण हो गयी है, उन साधकोंका सर्वभावेन एक ही परम पुरुषार्थ बन जाता है कि वे सर्वत्र एवं सर्वदा परमात्मा एवं आत्माकी एकताका दर्शन करें—

एतावानेव मनुजैर्योगनैपुणबुद्धिभिः।
स्वार्थः सर्वात्मना ज्ञेयो यत्परात्मैकदर्शनम्॥

(श्रीमद्भा० ६। १६। ६३)

किंतु भक्तिमार्गके आचार्योंने '**परात्मैकदर्शनम्**'का अर्थ किया है—सर्वत्र, सर्ववस्तुमें एक श्रीभगवान्का ही दर्शन होना।

परम योगेश्वरों—सनकादिकोंने योगका केवल इतना ही स्वरूप बतलाया है कि मनको सब ओरसे खींचकर साक्षात् श्रीभगवान्में प्रविष्ट करा दिया जाय।

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा॥

(११। १३। १४)

समग्र योगका उद्देश्य बताते हुए श्रीमद्भागवतमें भगवान् कपिलदेवजीका वचन है कि समग्र प्रकृति और प्राकृत जगत्से अनासक्ति ही मनको अन्तर्मुखी बनानेमें मुख्य हेतु सिद्ध होती है।

एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः।
युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसङ्गस्तु कृत्स्नशः॥

(३। ३२। २७)

भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रिय भक्त उद्धवको कहते हैं—(इसलिये) हे उद्धव! अपनी वृत्तियोंको मुझमें तन्मय करते हुए अपनी पूरी इच्छा-शक्तिद्वारा मनको वशमें कर लो और मुझमें नित्य युक्त हो जाओ। सारी योगसाधनाका इतना ही सार-तत्त्व है।

तस्मात् सर्वात्मना तात निगृहाण मनो धिया।
मय्यावेशितया युक्त एतावान् योगसंग्रहः॥

(११। २३। ६१)

मनुष्य-जन्मका सर्वश्रेष्ठ लाभ यही है कि सांख्य (आत्मा-अनात्मा-विवेक), अष्टाङ्गयोग अथवा निष्ठापूर्वक स्वधर्माचरणद्वारा अन्तकालमें भी श्रीभगवान्की अखण्ड स्मृति बनी रहे।

एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया।
जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः॥

(२। १। ६)

भागवतमें भगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्राप्तिके साधनरूपमें भक्तियोगकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्॥
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥

(श्रीमद्भा० ११। २०। ६—८)

मनुष्योंका आत्यन्तिक कल्याण करनेके हेतु अधिकारिभेदसे मैंने तीन प्रकारके योगोंका विधान किया है—ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग। जिन्होंने कर्मोंसे विरक्त होकर कर्मफलका त्याग कर दिया है, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं। इसके विपरीत जिनको कर्मोंसे वैराग्य नहीं हुआ है, वे कर्मयोगके अधिकारी हैं। किंतु जो व्यक्ति न तो अति विरक्त

है, न अति आसक्त ही है तथा जिन्हें यदृच्छया अर्थात् कर्मफलवशात् अथवा भगवत्कृपाहेतु मेरी लीला-कथामें श्रद्धा हो गयी है, वे भक्तियोगके अधिकारी हैं।

इस प्रकार भक्तियोगके द्वारा मेरा निरन्तर भजन करनेसे मैं साधकके हृदयमें आकर बैठ जाता हूँ और तब उसके हृदयकी सारी वासनाएँ अपने संस्कारोंके साथ सहज ही नष्ट हो जाती हैं। इसी सिद्धान्तको स्पष्ट करते हुए श्रीभगवान्‌ने फिर कहा है—

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥

(श्रीमद्भा० ११।२०।३१)

अतः मेरे भक्तके लिये ज्ञान और वैराग्यकी प्राप्ति उसके आत्यन्तिक कल्याण-साधनमें विशेष अपेक्षा नहीं रखती है। उसका कल्याण तो प्रायः मेरी भक्तिके द्वारा ही हो जाता है।

महर्षि पतञ्जलिने योगकी परिभाषामें कहा है—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'** 'योगके अष्टाङ्गों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिका सद्गुरुके निर्देशनमें दृढ़ संकल्पके साथ अनुशीलन करनेसे ही चञ्चल चित्तकी समस्त वृत्तियोंका निरोध सम्भव हो पाता है, जो अत्यन्त कष्टसाध्य है। श्रीभगवान्‌ने भी गीताके छठे अध्यायमें (श्लोक ३५) स्वीकार किया है कि चञ्चल मनका निग्रह तीव्र वैराग्य एवं अभ्यासके बलपर ही शनैः-शनैः सम्भव है। निर्विकल्प समाधि सिद्ध हुए बिना परमात्मैक्य-प्राप्ति सम्भव नहीं होती। इसमें भी एक साधनोंके अनुष्ठान-कालमें फलस्वरूप प्राप्त होनेवाली सिद्धियोंके रूपमें विपत्ति उपस्थित होती है। इन चमत्कारपूर्ण सिद्धियोंके प्रलोभनमें फँस जानेपर तो सारा श्रम ही निष्फल हो जाता है, कारण कि सिद्धियाँ तो भगवत्प्राप्तिमें अन्तराय ही हैं। (भा० ११।१५।३३)

अतः साधारण मनुष्य भी सुगमतासे भगवत्प्राप्ति कर सके, इसी उद्देश्यसे कारुण्यवश श्रीमद्भागवतका प्राकट्य हुआ है। श्रीमद्भागवतके मङ्गलाचरणके वस्तुनिर्देशात्मक (द्वितीय) श्लोकमें ही स्पष्ट घोषणा कर दी गयी—**'सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्'** अर्थात् श्रीभगवान्‌के श्रवणकी इच्छामात्रसे ही अधिकारी साधकोंके हृदयमें श्रीभगवान् तत्क्षण बंदी हो जाते हैं। बन गया न काम? जिन चित्तवृत्तियोंको सांसारिक काम्य वस्तुओंकी दिशामें दौड़नेसे रोकने-हेतु योगके अष्टाङ्गोंका सम्यक् अनुष्ठान आवश्यक है, उसी उद्देश्यकी प्राप्तिहेतु श्रीमद्भागवत एक अभिनव सरल उपाय बता रहा है। चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेका प्रयत्न न करके केवल उनकी दिशा श्रीभगवान्‌की ओर मोड़ दें। यह दिशा-परिवर्तन भी एक अत्यन्त सरल साधन भक्तियोगसे ही सम्पन्न हो जाता है। इस सर्वोत्तम किंतु सरल साधन निर्गुण अथवा गुणातीत भक्तिका वर्णन करते हुए भगवान् कपिल माता देवहूतिसे कह रहे हैं—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥

(श्रीमद्भा० ३।२९।११-१२)

इस निर्गुण अर्थात् गुणातीत भक्तिका प्रादुर्भाव भी कितना सरल एवं विलक्षण है। श्रीभगवान्‌के गुणानुवादके श्रवणमात्रसे ही गुणातीत भक्तिदेवीका प्राकट्य हो जाता है, इसमें अन्य कुछ करना - धरना नहीं पड़ता। न समाधि लगानी पड़ती है, न पूजा-उपासना करनी पड़ती है। केवल श्रीभगवान्‌का गुणानुवाद सुना और मनकी गति श्रीभगवान्‌की ओर बहने लगी। किस भगवान्‌की ओर? बाहरके भगवान् नहीं—**'मयि सर्वगुहाशये'** अर्थात् जो भगवान् सबके हृदयमें विराजमान हैं, उनकी ओर। इस भक्तिमें दो बातें विशेष हैं—एक 'अहैतुकी' और दूसरी 'अव्यवहिता'। अहैतुकी भक्ति उसे कहते हैं, जो किसी बाह्य प्रेरणासे अथवा किसी प्रयोजनकी पूर्तिहेतु न की गयी हो। 'अव्यवहिता' का तात्पर्य है—लगातार धाराप्रवाह गतिवाली।

श्रीभगवान्‌के गुणानुवाद-श्रवणके साथ-साथ यदि उनके दिव्य माधुर्यमय रूपका वर्णन भी श्रवण किया जाय तो फिर मणि-काञ्चन-संयोगका फल देगा। नैर्गुण्यमें परिनिष्ठित, आत्माराम, निर्ग्रन्थ महायोगी श्रीशुकदेवजीने भी जब भागवतान्तर्गत भगवान् श्रीकृष्णके 'दयालुता' प्रकाशक **'अहो बकी यं'** श्लोक और माधुर्यप्रकाशक **'बर्हापीडं नटवरवपुः'** श्लोक-पाठ सुना तो वे उन श्लोकोंमें वर्णित अद्भुत अप्रतिम किशोरस्वरूपकी लीलाओंको सम्पूर्णतया

श्रवण करनेके लिये उत्सुक हो गये और अपने निर्विकल्प-समाधिका त्याग करके उस अद्भुत श्रीग्रन्थ, जिसके ये श्लोक थे, का अध्ययन करने-हेतु महर्षि व्यासके पास दौड़े गये। एक दिन जिस सर्वभूतहृदय बालक शुकके पीछे पुत्र-स्नेहकातर व्यासजी दौड़ रहे थे, आज इस श्रीमद्भागवतरूपी रत्नके लोभसे वही बालक उनके पीछे पड़ा हुआ था। लीला-श्रवणसे समाधित्यागका इससे उत्कृष्ट उदाहरण मिलना दुष्कर है।

आवागमन-चक्रसे छूटकर अभयपदके इच्छुक मोक्षकामी मनुष्यका परम कर्तव्य यही है कि वह सर्वात्मा, सर्वनियन्ता, सर्वदुःखहारी श्रीभगवान्‌के विषयमें ही श्रवण करे, उन्हींका कीर्तन एवं स्मरण करे। परम भक्तिमती कुन्तीदेवी भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करती हुई कहती हैं कि जो मनुष्य श्रीभगवान्‌के चरित्रोंका श्रवण, गायन, कीर्तन, स्मरण करते हुए आनन्दित होते रहते हैं, वे अविलम्ब उनके भवप्रवाहनाशक चरणकमलोंका दर्शन कर लेते हैं (श्रीमद्भा० १।८।३६)। अतः हे श्रीकृष्ण! जैसे गङ्गाकी अखण्ड जलधारा समुद्रमें गिरती रहती है, उसी प्रकार मेरी बुद्धि सब प्रकारके विषयोंसे सिमटकर निरन्तर केवल आपसे ही प्रेम करती रहे (श्रीमद्भा० १।८।४२)। राजा परीक्षित्‌ने भी श्रीमद्भागवतका केवल श्रवण करके ही परम गति पायी। ऐसे मनुष्य, दैत्य, पशु आदि विभिन्न योनिगत जीवोंके जिनमें योग, विद्या, तप, स्वाध्याय आदिका नितान्त अभाव था, किंतु जो केवल श्रवण-कीर्तन-स्मरणके बलसे परमगतिको प्राप्त हो गये, दृष्टान्तोंसे श्रीमद्भागवत भरा पड़ा है। अतः दुःसाध्य योगचर्याका सम्यक् अनुष्ठान करनेमें असमर्थ साधारण जीवोंको निराश होनेका कोई कारण नहीं है। वेद-स्तुतिमें तो इसे पूर्णतया स्पष्ट कर दिया गया है—

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि
यन्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो
वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजसुधाः॥

(श्रीमद्भा० १०।८७।२३)

श्रुतियाँ कहती हैं—'बड़े-बड़े विचारशील योगी-यति अपने प्राण-मन और इन्द्रियोंको वशमें करके दृढ़ योगाभ्यासके द्वारा हृदयमें आपकी उपासना करते हैं। किंतु आश्चर्य यह है कि उन्हें जिस पदकी प्राप्ति होती है, उसी पदकी प्राप्ति उन शत्रुओंको भी हो जाती है, जो आपका वैरभावसे स्मरण करते हैं। कहाँतक कहें, भगवन्! वे स्त्रियाँ, जो अज्ञानवश, केवल काम-भावसे आपकी शेषनागके समान मोटी, लम्बी तथा सुकुमार भुजाओंपर आसक्त रहती हैं, उन्हें भी वही परमपद मिलता है जो हम श्रुतियोंको भी प्राप्त होता है। यद्यपि हम सदा-सर्वदा एकरस अनुभव करती हुई आपके चरणकमलोंका मकरन्द-पान करती रहती हैं।'

भक्तिसाधनाको योगसाधनासे समानता ही नहीं, वरन् सुगमताहेतु वरीयता प्राप्त है। विस्तार-भयसे इसकी पुष्टिमें श्रीमद्भागवतसे अधिक उद्धरण नहीं दिये जा रहे हैं। जिन साधकोंको इस विषयमें रुचि हो, उन्हें श्रीमद्भागवतके निम्न प्रसङ्ग इस दृष्टिसे अध्ययन करनेपर अपूर्व आनन्दकी प्राप्ति होगी—सम्पूर्ण वेणुगीत एवं रास-पञ्चाध्यायी, दशम स्कन्धके ९।९ से ११; १२।१२, ३९; ८२।४०; ८३।३, षष्ठ स्कन्धका ३।३९, एकादश स्कन्धके १९।२० से २४; २।१२, ३९-४०; ३।२७; ११।२३—२५, द्वादश स्कन्धके १३।१८, २३; ३।४६—५२; ६।२से ६ इत्यादि।

श्रीमद्भगवद्गीताके श्रीकृष्णको 'महायोगेश्वर' पदवीसे ही सम्बोधित किया गया है, किंतु श्रीमद्भागवतके श्रीकृष्णको तो 'योगेश्वरेश्वर' पदवी प्रदत्त हुई है (श्रीमद्भा० १०।२९।१६, १०।६९।१९, ११।१२।१६)। योगेश्वरेश्वरका अर्थ है समस्त योगेश्वरोंके भी ईश्वर अर्थात् नियन्ता, सर्वोपरि। अतः योगके विषयमें भगवान् श्रीकृष्णके वचन अन्तिम हैं।

अतः हम सब भी प्रेमसे भगवान्‌के गोप-सखाओंके साथ मिलकर इस प्रकारकी भक्तिपूर्ण प्रार्थना करें—

मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु॥
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया।
मङ्गलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे॥

(श्रीमद्भा० १०।४७।६६-६७)

हमारे मनकी समस्त वृत्तियाँ श्रीकृष्णकी ओर प्रवाहित

कर उन्हींके चरणकमलोंका आश्रय लें। हमारी वाणी उनके मोच्चारण तथा शरीर उनको सतत प्रणाम करनेमें ही लगे रहें। गवदिच्छासे या कर्मोंके फलस्वरूप हमें जिस-किसी योनिमें न्म लेना पड़े, हम वहाँ शुभ आचरण, दान आदि सत्कर्म करें, किंतु उसका फल केवल यही मिले कि भगवान् श्रीकृष्णमें हमारी प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ती रहे। महाभावावस्थागता गोपियोंकी आश्वासनवाणी **'तव कथामृतं····श्रवणमङ्गलम्।'** की हमें सदा स्मृति बनी रहे।

श्रीमद्भगवद्गीतामें योगका स्वरूप

(पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

यद्यपि भारतवर्षमें सभी भाषाओंमें योग-साहित्यपर अपार सामग्री है और केवल योगपर ही विभिन्न भाषाओंमें अनेकों ग्रन्थ निर्मित हुए हैं, जिनकी विस्तृत सूची आफ्रेक्ट तथा कुन्हन राजा और बी० राघवन आदिके कैटेलग्स कैटेलग्रम (बृहत् संस्कृत ग्रन्थ-सूची) आदिमें देखी जा सकती है। वेद, उपनिषद्, आरण्यक, ब्राह्मण-ग्रन्थ, इतिहास-पुराण सभी योगकी व्याख्या एवं विवरण प्रस्तुत करते हैं। योगवासिष्ठमें योगपर बत्तीस हजार (३२०००) श्लोक हैं। महर्षि पतञ्जलिके योग-दर्शनपर भी अनेकों व्याख्याएँ, भाष्य, विवरण आदि हैं। ये सभी योगके प्रशंसापरक और परमात्म-प्राप्तिमें अत्यन्त सहायक हैं। किंतु श्रीमद्भगवद्गीता स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे कथित होनेके कारण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योग-शक्तिसे युक्त है। यह कल्याणप्रद और मध्यम आकारका अत्यन्त पवित्र एवं प्रभावशाली ग्रन्थ है। इसके श्लोक बड़े सुन्दर, भव्य, अनेक अलंकारोंसे युक्त और रमणीयतम हैं। थोड़ी भी संस्कृत भाषा जाननेवाला इसे सरलतासे समझ सकता है। इसे पढ़नेमें उसे बहुत आनन्द प्राप्त होता है और पद-पदपर योगके द्वारा भगवत्साक्षात्कारका ही आनन्द प्राप्त होता दीखता है।

महाभारतमें एक जगह कहा गया है कि 'योगके द्वारा सारी सिद्धियों, समस्त योगोंके फल और भगवान्‌को भी तत्काल प्राप्त किया जा सकता है, किंतु यज्ञ तथा दान आदिके द्वारा योगजनित सिद्धियाँ कभी प्राप्त नहीं की जा सकतीं—

योगेनाप्नोति ताः सर्वाः नान्यैर्योगगतिं व्रजेत्।

यही बात गीताके आठवें अध्यायके अन्तिम श्लोकमें भी कही गयी है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव
दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा
योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥

अर्थात् 'वेद, यज्ञ, तप और दान आदिके द्वारा जो भी फल प्राप्त होता है अथवा शास्त्रोंमें कहा गया है, उन सबको प्राप्त कर उनसे आगे जाकर योगी सर्वोच्च पदको प्राप्त कर लेता है।'

इसी प्रकार छठे अध्यायके अन्तमें भी कहा गया है कि योगी तपस्वी, कर्मकाण्डी और शास्त्रज्ञानी आदि सभीसे बड़ा है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

इस प्रकार भगवद्गीतामें तथा अन्य शास्त्रोंमें योगकी सर्वाधिक महिमा निर्दिष्ट है। योगमें हिन्दू, ईसाई, जैन, बौद्ध, सिक्ख और मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर आदिका भेद-भाव भी नहीं है। इसमें विविध प्रकारके इष्ट देवताओंकी भी विभिन्नता नहीं है। योगी सर्वत्र सबमें परमात्माको देखता है। उसे राम, कृष्ण आदि सभी अवतार ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र, कुबेर, वरुण, वायु, अग्नि, पृथ्वी आदि और समस्त संसारके मनुष्य, भूत, पितर तथा पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, गुल्म आदिमें भी भगवान्‌का ही रूप दिखायी देता है। योगी सबमें एक ही पूर्ण ब्रह्म परमात्माको देखता है। इससे उसके हृदयमें तत्काल शान्ति उदय होती है। किंतु करना क्या होता है कि काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, मान, प्रतिष्ठा, दम्भ, हिंसा, उद्वेग, हर्ष, किसी प्राणिपदार्थमें आसक्ति और समस्त विषयोंके रसतकका परित्याग कर अर्थात् संसारके सभी दोषोंका परित्याग कर मनको सम्यक् ज्ञानमें प्रतिष्ठित करके एक सम-अवस्थाको प्राप्त करना होता है। इसीका नाम कषायोंका परिपाक है। जबतक ऐसा नहीं हो जाता, तबतक

भगवान्‌का सम्यक् या परिपूर्ण साक्षात्कार नहीं हो सकता। यही बात स्वयं भगवान् विष्णुने नारदको कही थी कि 'मैं अविपक्वकषायवाले कुयोगी पुरुषोंको तत्काल दृष्टिगत नहीं होता—

अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्।

इसलिये बार-बार कामादि दोष एवं मल आदि कषायोंको दूर करते हुए परमात्म-साक्षात्कारके लिये उद्योग करना पड़ता है। यही बात सम्पूर्ण योगवासिष्ठमें विस्तारसे समझायी गयी है।

भगवद्गीतामें दूसरेसे आठवें अध्यायतक इस योगकी विशेष चर्चा है। इसका मुख्य प्रसंग दूसरे अध्यायके ३९ वें श्लोकसे प्रारम्भ होता है। जहाँ भगवान् कहते हैं—'यहाँतक तो सांख्यकी चर्चा हुई, अब योगकी बात सुनो, जिस यौगिक बुद्धिसे युक्त होकर तुम समस्त कर्मबन्धनोंको काट डालोगे।' इस योगमार्गमें किये गये अभ्यास-क्रमका उच्छेद नहीं होता अर्थात् अन्य पुण्योंके समान इसका फल नष्ट नहीं होता और इसमें प्रत्यवाय, पाप आदि भी नहीं होते। इसका थोड़ा-सा भी आचरण महान् भय और संकटको दूर कर देता है।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

(२।४०)

इस योगप्रक्रियामें केवल एक ही निश्चयात्मिका बुद्धि रहती है कि एक ही परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है। उसकी शरणागति, ध्यान, स्मरणसे सारा क्लेश नष्ट होगा और पूरी शान्ति प्राप्त हो जायगी। समस्त प्राणिपदार्थ एवं क्रियाएँ भी और कुछ नहीं केवल उसीके ही स्वरूप हैं। अतः सभी प्राणि-पदार्थ मायिक हैं। सुख, दुःख, सिद्धियाँ एवं असिद्धियाँ भी मायिक हैं। इनमें कोई सार नहीं है। इसलिये इनकी प्राप्ति-अप्राप्तिमें हर्ष-विषाद आदिसे तनिक भी विचलित नहीं होना चाहिये। इस प्रकार जब साधककी बुद्धि परमात्मामें ही समाहित होकर स्थित हो जाती है तब वही 'योग' नामसे व्यपदिष्ट होता है—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(२।४८)

इस योगके सामने अन्य सभी कर्म तुच्छ हैं। अतः समस्त फलोंकी आशाका परित्यागकर केवल कर्तव्य-बुद्धिसे मात्र श्रेष्ठ कर्मोंका ही आचरण करना चाहिये। योगी व्यक्तिके पुण्य एवं पाप सभी नष्ट हो जाते हैं। इसलिये वह कर्मबन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाता है और सारी कामनाओंका परित्यागकर सर्वथा प्रसन्न हो जाता है। वह केवल अपनी आत्माको देखता हुआ परमात्मभावसे संतुष्ट हो जाता है। उसे भारी-से-भारी क्लेशसे भी उद्वेग नहीं होता और संसारके राजपाट या किसी भी अन्य सुखकी स्पृहा नहीं होती। भय, क्रोध एवं आसक्तिसे वह सर्वथा शून्य होता है। उसकी दृष्टि एकमात्र परमात्मापर लगी रहती है। इससे भोग-पदार्थोंकी इच्छाकी तो बात ही क्या, उधर लेशमात्र भी उसका रहा-सहा रस भी समाप्त हो जाता है। यह योगके द्वारा परमात्माके दर्शनका परम फल है—

रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(२।५९)

—वैसे इस योग-सिद्धिमें विद्वान् लोगोंको भी कई जन्म लग जाते हैं। क्योंकि इन्द्रियाँ बड़ी बलवती होती हैं और वे ज्ञानी पुरुषोंको भी विजयके प्रयत्न करनेपर भी अलग-अलग अपने प्रभावसे मनको खींचकर परमार्थसे भ्रष्ट कर देती हैं। विषयोंके सांनिध्यसे उनका चिन्तन होता है और उनकी ओर आसक्ति होती है। उसमें बाधा पड़नेपर क्रोध भी होता है। इस प्रकार राग और क्रोधके कारण मोहमें पड़कर आगे-पीछेके सभी साधन भूल जाते हैं। फिर बुद्धि सर्वथा नष्ट हो जाती है और इससे साधक परमार्थ-प्राप्तिसे वञ्चित हो जाता है और एक प्रकारसे उसका सर्वनाश हो जाता है। इसलिये योग-साधकको सर्वथा आसक्ति और विषयोंके प्रभावसे बचकर अपने उद्धारका प्रयत्न करना चाहिये। जो ऐसा नहीं करता वह अपना अधःपतन करानेवाला स्वयं शत्रु है। योगी व्यक्ति विषयोंको तथा संसारको असत्य तथा क्षणभङ्गुर समझकर संसारमें केवल भगवान्‌की भावना एवं ध्यान करता हुआ परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है। जो ऐसा नहीं करता, वह विषयोंकी अग्निमें झुलसता हुआ अशान्त रहता है, ऐसे अशान्त व्यक्तिको सुख कहाँ? इधर योगी व्यक्ति भगवान्‌के ध्यानसे सुखी रहता है। जो सारी कामनाओंका परित्यागकर स्पृहारहित होकर शारीरिक नित्य-कर्मोंका आचरण करता है, जिसके मनमें अहंकार, मोह और ममता नहीं है तथा वह भगवान्‌को

ही सब कुछ मानता है, उसे सम्यक् शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

गीताके छठे अध्यायमें योगारुरुक्षु, योगारूढ और योगसिद्ध—इन तीन प्रकारकी योग-अवस्थाओंकी विवेचना हुई है। जो योगमार्गपर आरूढ होना चाहता है, उसके लिये फलाशा त्यागकर अपने वर्ण, आश्रम और परिस्थितियोंके अनुसार धर्मका ही आचरण करना चाहिये, ऐसा बतलाया गया है। ऐसा आचरण कर मनुष्य योगारूढ़ हो जाता है। जब साधक योगारूढ हो जाता है तब उसके लिये परम योग-सिद्धिकी प्राप्तिके निमित्त विशिष्ट देवी-देवताओंके ध्यानपूर्वक निर्बीज-समाधिकी स्थिति प्राप्त करनेका विधान है। क्योंकि—**'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।'** ऐसा कहा गया है। ऐसी अवस्थामें वह भगवान्‌की ही चर्चा करता है और एकान्त स्थानमें बैठकर निश्चल दीपशिखाकी भाँति स्थित हो अपने चित्तको भगवान्‌के भजनमें लगा देता है। वह लेशमात्र भी भगवान्‌से पृथक् नहीं होता—

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः॥

(६।१९)

योगीको पवित्र एवं एकान्त—नदीके तीर, बिल्व या पीपलके वृक्षके नीचे, अरण्य-प्रान्तमें या किसी गुफा अथवा देवालयमें जहाँ मन भगवान्‌की ओर विशेष आकृष्ट हो सके ऐसे स्थानमें कुश, मृगचर्म, कम्बल या मुलायम वस्त्रके आसनपर सीधे बैठकर योग-साधना करनी चाहिये। सर्वप्रथम वह समस्त संकल्पों और उससे उत्पन्न होनेवाले कामनाओंका निःशेष रूपसे परित्याग कर दे और मनको सर्वथा चिन्तनसे मुक्त कर दे। मनके शुद्ध हो जानेपर भगवान् हृदयमें अपने-आप आ जाते हैं। यदि मन कहीं किसी बाहरी वस्तुका चिन्तन करनेकी ओर दौड़े, तो उसे वहाँसे खींचकर पुनः हृदयस्थ परमात्मामें लगाना चाहिये। जब मन अभीष्ट वस्तुका चिन्तन नहीं करता और उसके हृदयमेंसे सदैव रजोगुण, तमोगुण सभी भाव विलय हो जाते हैं, तब योगीके हृदयमें परम शान्ति आ विराजती है और वह परम सुखी हो जाता है। फिर अज्ञान नष्ट होकर विशुद्ध विज्ञान चमक उठता है, जिससे हृदयके भीतर तथा बाहर परमात्माका चिन्तन होने लगता है। उसकी दृष्टि सब जगह समान हो जाती है। यथा—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(६।२९)

इस प्रकार जो समस्त प्राणियों तथा आकाश, पाताल, समुद्र, नदी, पर्वत आदिमें सर्वत्र एक परमात्माको देखता है, भला उसकी दृष्टिसे परमात्मा या परमात्माकी दृष्टिसे वह कैसे ओझल हो सकता है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(६।३०)

जो समभावमें स्थित होकर राग-द्वेषादिसे शून्य पूरे विश्वमें अपने आत्माके समान ही सबके सुख-दुःखकी भावना करता है और सर्वत्र परमात्माको निरन्तर देखता है, वही सर्वश्रेष्ठ सिद्ध योगी है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६।३२)

भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने योगके तत्त्वको परम पवित्र संन्याससे भी अधिक श्रेष्ठ माना है। यदि कोई संन्यासी योगका साधक नहीं है, तो उसे सिद्धि बड़ी कठिनाईसे प्राप्त हो सकेगी और अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ेगा। परंतु विशुद्ध योगका साधक अनायास विशुद्ध ज्ञानके द्वारा भगवान्‌को अतिशीघ्र ही प्राप्त कर लेता है—

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥

(५।६)

क्योंकि योग-साधनासे योगीकी आत्मा निर्मल दर्पणकी भाँति स्वच्छ, ज्ञानके प्रकाशसे पूर्ण हो जाती है, जिससे योगी सर्वथा स्ववश एवं जितेन्द्रिय हो जाता है। वह सब प्राणियोंमें अपने आत्माको देखते हुए उनमें सर्वत्र अनुस्यूत हो जाता है, फलतः उसे कोई पाप-ताप स्पर्श भी नहीं कर पाते—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥

(५।७)

योगी बाह्य पदार्थोंके प्रभावसे सर्वथा असंस्पृष्ट रहता है। उसे योगके द्वारा आत्मामें जो सुख, शान्तिकी उपलब्धि होती है, उसका वर्णन नहीं हो सकता। उसकी आत्मा ब्रह्म-साक्षात्कारसे सम्पन्न होकर एवं ब्रह्मयोगसे परिपूर्ण होकर अक्षय आनन्दको प्राप्त करती है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

(५।२१)

मनुष्य सर्वाधिक बुद्धिमान् प्राणी कहा जाता है। पर बुद्धिका सबसे बड़ा चमत्कार यही है कि वह इस मायामय एवं मिथ्या संसारमें सत्य एवं सच्चिदानन्दतत्त्व परमात्माका दर्शन प्राप्त कर ले अन्यथा उसे अनन्तकोटि योनियोंमें सुख-दुःखके चक्करमें निरन्तर भटकते रहना पड़ेगा। व्यास, वाल्मीकि, वसिष्ठ, नारद, पतञ्जलि, याज्ञवल्क्य आदि सभी महर्षियोंने भगवान्‌की कृपासे ही उनका साक्षात्कार किया और अपने-अपने योग-शास्त्रोंमें केवल भगवान्‌को ही महत्त्व दिया। वे राज-पाट, धन-दौलत, ऐश्वर्य-भोग एवं विश्वकी सम्पूर्ण सुख-समृद्धियोंके प्रति तनिक भी आकृष्ट नहीं हुए। सुदूर तपोवनमें रहकर शुद्धतम बुद्धिद्वारा योगसिद्धिको प्राप्त कर वे एक क्षणके लिये भी भगवच्चिन्तन या भगवद्दर्शनसे अलग नहीं होते थे। वे प्रायः अजर, अमर एवं अन्य सभी आधियों-व्याधियोंसे मुक्त भी थे। देवर्षि नारदने भागवतकी रचनाके पूर्व व्यासदेवको यही समझाया था। उनके वचन बड़े महत्त्वके थे, जो मूलतः इस प्रकार हैं—

तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो
न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं
कालेन सर्वत्र गभीररंहसा॥

अर्थात् कामोपभोग आदि सुख कालयोगसे स्वर्ग, नरक तथा पाताल आदिमें सर्वत्र वैसे ही प्राप्त होते हैं, जैसे दुःख बिना बुलाये ही आ जाते हैं—स्वाभाविक ही प्राप्त होते हैं, पर उनसे कोई लाभ न होकर अशान्ति ही बढ़ती है और भयंकर-से-भयंकर क्लेशोंकी प्राप्ति होती है। इसलिये बुद्धिमान् और विद्वान् व्यक्तिका एकमात्र यही कर्तव्य है कि समस्त प्रयत्नोंके द्वारा सम्पूर्ण शक्ति लगाकर योगाभ्यासद्वारा शीघ्र-से-शीघ्र परम तत्त्व परमात्माका सम्यक् साक्षात्कार अवश्य कर ले और जबतक ऐसा न हो जाय, तबतक अन्य कुछ भी कार्य न करे। यहाँतक कि विश्राम भी न करे।

परमात्मा करुणा, सुख, शान्ति, ज्ञान, बल और आनन्दका अक्षय-कोष है। अतः कृपापूर्वक वह अपनेको प्राप्त कराकर जीवात्माका परम कल्याण करना ही चाहता है। इसलिये उसकी प्राप्तिमें विलम्बकी शङ्का ही कहाँ है? भगवद्गीता तथा सभी योगशास्त्रों और इतिहास-पुराणादि शुद्ध भारतीय वाङ्मयका भी यही उपदेश है—

वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ।
आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥

(हरिवंश०, भविष्य० १३२।९५)

एहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।

समूची गीतामें एकमात्र भगवान् ही प्रतिपाद्य तथा प्रत्येक शब्दमें शुद्धरूपसे व्याप्त हैं। बस, आवश्यकता है उसमें गम्भीर अवगाहन करनेकी, उससे तत्काल भगवद्दर्शन सुलभ हो सकता है।

याद रखो

१- किसीको नीचा दिखानेकी चाह या चेष्टा न करो, किसीकी अवनति या पतनमें प्रसन्न न होओ, न किसीकी अवनति या पतन चाहो ही। किसीकी निन्दा-चुगली, दोष-प्रकाशन न करो।

२- मान-प्रतिष्ठाके लिये त्यागका स्वाँग मत धारण करो। सच्चा त्याग करो। त्यागमें भाव प्रधान है, बाहरी क्रिया नहीं।

३- मौन-साधन करो—परंतु याद रखो, असली मौन तो मनका है। मनमें विषय-चिन्तन बंद हो जाना चाहिये।

४- गिरे हुए, रोगी, प्रलोभनमें पड़े हुए, अपराधी, विपत्तिग्रस्त और अपमानित नर-नारियोंके साथ कभी दुर्व्यवहार मत करो। उनसे सहानुभूतिका बर्ताव करो। उन्हें सच्चा सुखी बनानेकी चेष्टा करो।

चरकसंहितामें योगदर्शन

प्राचीन ऋषि-महर्षि महात्यागी, महायोगी एवं उपासनाबलसे त्रिकालज्ञ थे। उन्होंने जिन ग्रन्थोंका निर्माण किया है, उनमें कल्याणकारी भगवदीय तत्त्व और आत्म-विश्लेषणके सभी रहस्य प्रकट करनेके प्रयत्न किये थे। इसीलिये विविध ऋषियोंद्वारा दृष्ट वैदिक सूक्तों, वेदाङ्गों तथा दर्शन-शास्त्रोंमें योगशक्ति ही मुख्यरूपसे वर्णित हुई है। मनुष्यके शारीरिक लाभ तथा रोगादिके अपाकरणके लिये उन्हीं ऋषियोंने आयुर्वेदशास्त्रका भी निर्माण किया, जिनमें चरक, सुश्रुत, वाग्भट, शार्ङ्गधर आदि आचार्योंकी संहिताएँ अत्यन्त प्राचीन हैं। माधवनिदान तथा भावप्रकाश आदि ग्रन्थ उन्हींपर आधृत हैं। इन सभीमें योगविद्याका भी वर्णन हुआ है, किंतु इन सबका मूल चरकसंहिता मानी गयी है जो महर्षि पतञ्जलिकी रचनाके रूपमें मान्य है। इसमें मनुष्यके अन्तर्हृदयमें स्थित विविध प्रकारके भावों तथा आत्मा-परमात्मापर पर्याप्त विचार किया गया है। उनके पूरे भावको वर्णित करना शक्य नहीं है, केवल संक्षेपमें यहाँ चरकस्थ योगका वर्णन किया गया है।

चित्तवृत्तियोंका निरुद्ध हो जाना ही योग है। अर्थात् योगावस्थामें चित्त विषयोंसे हट जाता है और अपने कारण आत्मा-परमात्मामें लीन हो जाता है। जब चित्तवृत्तियोंका निरोध हो जाता है, तब आत्माकी अपने स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। योग-दर्शनमें योगकी यही व्याख्या दी गयी है।। आयुर्वेदके महान् ऋषि भी योगके इन सिद्धान्तोंको मानते थे। चरक-संहिताके प्रारम्भमें आयुर्वेद-दीपिकाकार चक्रपाणिदत्त महोदयने कहा है कि आयुर्वेदके उपदेष्टा भगवान् चरक और योगदर्शनके आद्य आचार्य भगवान् पतञ्जलि एक ही व्यक्तिके दो नाम हैं[1]। अस्तु, चरकसंहितामें अनेक स्थलपर योगकी व्याख्या, योगकी सिद्धियोंका विवरण, योगियोंकी चर्या, हठयोगके सिद्धान्त—वमन, विरेचन, वस्ति आदिका वर्णन होना स्वाभाविक ही है। अतः योग और आयुर्वेदके सिद्धान्तोंका मूल प्रयोजन प्रायः समान ही है और दोनों शास्त्रोंमें परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

चरकसंहितामें योगकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि आत्माको मन और इन्द्रियोंके साथ विषयोंके सम्पर्कसे सुःख-दुःख होते हैं। जब मन आत्मामें स्थिर हो जाता है, तब सुख-दुःखकी अनुभूति नहीं होती, मनके आत्मा-परमात्मामें लीन हो जानेकी अवस्थाको योगियोंने योग कहा है[2]।

मन और आत्माका सतत सम्पर्क रहता है—मोक्ष होनेपर ही आत्माको मनसे छुटकारा मिल सकता है, यही बात भगवान् चरकने भी कही है। आत्मा जब एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें प्रवेश करनेके लिये जाता है, तब वह अपने साथ किये हुए कर्मके फल, मन-बुद्धि-अहंकार, सूक्ष्म इन्द्रियाँ, सूक्ष्म भूत आदि घटकोंको ले जाता है, योगी लोग यह देखते हैं। सामान्य मनुष्योंको यह अनुभव नहीं हो पाता[3]।

मन आत्माके समान व्यापक नहीं है फिर भी अपनी चञ्चलताके कारण व्यापक प्रतीत होता है, इन्द्रिय-मन और आत्माका परस्पर सम्बन्ध होनेके कारण आत्माको सुख-दुःखकी अनुभूति होती है।

भगवान् चरकने इन्द्रिय-विजयको आरोग्यका प्रमुख कारण बतलाया है, उनका कथन है कि मानसिक वेगोंको

१- पातञ्जलमहाभाष्यचरकप्रतिसंस्कृतैः। मनोवाक्कायदोषाणां हर्त्रेऽहिपतये नमः॥
(चरक-सूत्र १ ।१ पर चक्रपाणि)

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन। योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥
(योगवार्तिक विज्ञानभिक्षु)

२- आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां संनिकर्षात् प्रवर्तते। सुखं दुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे॥
निवर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते। सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः॥
(चरक-शारीर १।४४)

३- अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः। न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहंकारविकारदोषैः॥
(चरक-शा० २।३६)

रोकनेसे व्यक्ति पापमुक्त होकर पुण्यशाली बनता है और शीघ्र ही धर्म-अर्थ और कामको प्राप्त करता है।

मनका प्रवेश जहाँ-जहाँ होता है, वहाँ-वहाँ सुख-दुःखकी अनुभूति होती है और जहाँ मनका प्रवेश नहीं होता, वहाँ सुख-दुःखकी अनुभूति नहीं होती। मनका प्रवेश सम्पूर्ण शरीरमें है, अतः शरीर दुःखका अधिष्ठान माना गया है। केश, लोम, नखाग्रमें मनका प्रवेश नहीं होता, अतः वहाँ-वहाँ दुःखकी अनुभूति नहीं होती। अतः यह स्पष्ट है कि मनका कोई एक विशिष्ट निर्धारित स्थान नहीं है।

आयुर्वेदके अनुसार इन्द्रियसहित शरीर और मन वेदनाका अधिष्ठान माना गया है। योगमें और मोक्षमें सभी वेदनाओंका नाश हो जाता है। मोक्ष प्राप्त होनेपर सभी प्रकारकी (शारीरिक-मानसिक-ऐन्द्रियिक) वेदनाओंका नाश हो जाता है, अतः योग मोक्षका प्रवर्तक है[1]। योग स्वयं मोक्ष नहीं है, अपितु योगकी उपासनासे मोक्षकी प्राप्ति होती है। योग-प्रवृत्तिसे शारीरिक, मानसिक आरोग्य तो प्राप्त होता ही है, साथ-ही-साथ समाहित-चित्तताकी भी प्राप्ति हो जाती है।

चित्तकी अवस्थाएँ

महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनमें सत्त्व, रज और तमोगुणके परिणामस्वरूप चित्तकी पाँच अवस्थाएँ बतलायी हैं— (१) मूढ़, (२) क्षिप्त, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र तथा (५) निरुद्ध। जगत्‌में जो कुछ भी दृश्यमान है अर्थात् जो कुछ भी देखा जाय, सुना जाय, सोचा जाय, इनके आधारपर हमारा आभ्यन्तर चित्त प्रतिक्षण कार्यरत रहता है, यह सारा संसार मनुष्य-मनका मूर्तस्वरूप है। मनुष्यके चिन्तन-मननके परिणामस्वरूप बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कार — रोगोंकी चिकित्सा, ओषधियोंका संशोधन, ग्रहों-उपग्रहोंके परिभ्रमण आदिका ज्ञान हुआ है। दार्शनिक दृष्टिसे विचार करें तो यह चित्त क्षण-क्षणपर सत्त्व-रज और तमोगुणसे युक्त होता रहता है। कभी वह सात्त्विक, कभी रजोगुणी तो कभी तमोगुणयुक्त होता है, तीनों अवस्थाओंमें चित्तमें विभिन्न गुणधर्म होते हैं। चरकसंहिता शारीर-स्थान अध्याय ४ में चित्तके गुणधर्मों एवं प्रकृतियोंका विस्तृत विवेचन किया गया है। वह प्रकरण भारतीय मनोविज्ञानका मूर्धन्य अंश है। चरकमुनिद्वारा विवृत यह मनोविज्ञान उस समय जितना महत्त्वपूर्ण था आज भी उतना ही महत्त्व रखता है।

आज मानवमें रजोगुण और तमोगुणकी वृद्धि हो रही है और सत्त्वगुणका पूर्णतः ह्रास होता चला आ रहा है। परिणाम-स्वरूप लोभ, ईर्ष्या, घृणा, आलस्य, द्वेष, भय, हिंसा, असत्य, क्रोध, असंतोष, अशान्ति आदि दानवीय गुणोंमें अधिक मात्रामें वृद्धि होती चली जा रही है। मनुष्य अपनी शान्ति, मानवता, श्रद्धा, संतोष, प्रेम, विश्वास,प्रसन्नता, सुख, दया, दानशीलता, उत्साह, ज्ञान, उदारता, धैर्य तथा चैतन्य आदि जो सात्त्विक गुण हैं, उन्हें प्रतिदिन भूलता चला जा रहा है। वह केवल भौतिक ही बनता जा रहा है, वास्तवमें यह उसकी प्रगति नहीं है, प्रत्युत यह मानव-जातिका आत्मघात है। वास्तविक सुख प्रेम, शान्ति, दया, करुणा एवं संतोषमें है। भगवान् चरकने शारीर-स्थान-४ में मानव-मनके गुणधर्मोंका जो सुन्दर विवरण प्रस्तुत किया है, वह सनातन सत्य है, दुनियामें जहाँ अधिक समृद्धि है, वहाँ अधिकाधिक आक्रोश, द्वेष-ईर्ष्या तथा स्पर्धा भी अत्यधिक है।

चरकमें मनका लक्षण

ज्ञानका होना अथवा न होना ही मनका लक्षण है। आत्मा, इन्द्रिय और विषयोंका मनसे सम्पर्क होनेसे विषयका ज्ञान होता है और मनका सम्पर्क नहीं होनेसे विषयका ज्ञान नहीं होता[2]। अर्थात् ज्ञानोत्पत्ति-प्रक्रियामें मन सेतुका कार्य करता है, मनका इन्द्रियोंके साथ सम्पर्क होते ही इन्द्रियाँ विषयोंको ग्रहण करती हैं। वैशेषिक दर्शनमें भी मनकी सिद्धिके लिये ऐसे ही विचार मिलते हैं।[3]

१- वेदनानामधिष्ठानं मनो देहश्च सेन्द्रियः। केशलोमनखाग्रान्ममलद्रवगुणैर्विना॥
योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामावर्तनम्। मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्तकः॥ (चरक-शारीर १।४३-४४)

२- लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च। सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां संनिकर्षे न वर्तते॥
वैवृत्यान्मनसो ज्ञानं सांनिध्यात्तु प्रवर्तते॥ (चरक-शारीर १।५)

३- आत्मेन्द्रियार्थे संनिकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम्। (वै० द० ३।२।१)

मनके कार्य

वैसे तो मन अचेतन है, अतः उसमें क्रिया सम्भावित नहीं है तथापि आत्माके साथ सम्पर्क होनेसे मनमें क्रियाका अध्यास माना गया है, (वास्तवमें क्रियाएँ आत्माकी ही हैं) मनको अति चञ्चल तथा गतिशील कहा गया है। मन शरीर तथा इन्द्रियोंपर सतत नियन्त्रण रखता है, अतः मनुष्य कभी भी शान्तिका अनुभव नहीं कर पाता, सतत क्रियाशील रहता है। भगवान् चरकने मनके प्रमुख कार्य इस प्रकार गिनाये हैं—इन्द्रियोंके साथ सम्पर्क करके विषयोंको ग्रहण करना, इन्द्रियों तथा शरीरको नियन्त्रित रखना, अपने-आपको नियन्त्रित रखना, विचारना, ध्यान करना, चिन्तन-मनन करना आदि[1]। मन अपना कार्य पूरा करता है, बादमें बुद्धि प्रवृत्त करती है, तत्पश्चात् शरीर अपना कार्य प्रारम्भ करता है। भगवान्ने मनके कार्य प्राकृत और विकृत—दो प्रकारके बतलाये हैं। सत्त्वसार पुरुषके जो-जो लक्षण हैं, वे सब प्राकृत मनके ही कार्य हैं तथा विकृत मनके काम, क्रोध, अहंकार, ईर्ष्या, लोभ, मद, मोह, भय, चिन्ता आदि विकार हैं, वे ही मानस रोगके कारण भी हैं[2]।

मोक्षका मार्ग

भगवान् पतञ्जलिने योगको मोक्षका मार्ग कहा है तथा चित्तवृत्तियोंके निरोधको योग बतलाया है और चित्तवृत्तियोंके निरोधके लिये उन्होंने अष्टाङ्गयोगका उपदेश दिया है। आयुर्वेदके ऋषियोंने भी प्रायः इन्हीं सिद्धान्तोंद्वारा शारीरिक एवं मानसिक रोगोंकी चिकित्साका निर्देश दिया है। योगके उपदेशोंको धारण करनेसे मनुष्यको मोक्षकी प्राप्ति होती है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—ये योगमार्गके अष्टाङ्ग—उत्तरोत्तर आठ सोपान हैं।

भगवान् चरकद्वारा प्रबोधित मोक्षमार्ग

अष्टाङ्गयोगके पालनमें जिस प्रकारका पवित्र आचरण करनेपर मोक्षकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकारके आचरणोंसे मोक्ष-प्राप्तिका विवरण भगवान् चरकने भी दिया है। आयुर्वेदके स्वस्थवृत्तमें तथा दैव-व्यपाश्रय-चिकित्सामें ये बातें विस्तारसे निर्दिष्ट हैं।

चरकसंहितामें कहा गया है कि 'सज्जनोंकी सेवा करना, दुर्जनोंका त्याग करना, शास्त्रोपदिष्ट व्रत, उपवास तथा पवित्र नियमोंका पालन करना, धर्मशास्त्रका निरन्तर अभ्यास करते रहना, आत्मज्ञानमें रुचि रखना, एकान्तप्रियता, विषयोंमें अनासक्ति, मोक्षप्राप्तिके लिये सतत यत्न करते रहना, धैर्य धारण करना, नूतन कर्मोंद्वारा फल-प्राप्ति-रूपी बन्धनमें न फँसना, किये हुए कर्मोंका क्षय करनेका उपाय करना, कर्म निष्काम भावसे (अहंकाररहित) करना, पुनर्जन्मका भय रखना, मन-बुद्धिको आत्मा—ईश्वरमें जोड़ना— यही मोक्षका सरलतम मार्ग है[3]। गीतामें भी मोक्षका मार्ग इसी प्रकारका बतलाया गया है[4]। उपर्युक्त आचरणमें योगके उपदिष्ट अष्टाङ्गोंका समावेश हो जाता है।

चरकसंहिता, चिकित्सास्थानके रसायन-सेवनके प्रकरणमें कहा गया है कि निम्नलिखित गुणोंवाला मनुष्य यदि रसायन-सेवन नहीं करता तो भी उसे रसायन-सेवनके सभी गुण प्राप्त हो जाते हैं। यथा—मातृकाओंके साथ भगवान् शिवके पूजन, विष्णुसहस्रनामके पाठ, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, गङ्गा और इष्टदेवता आदिकी उपासना, माता-पिता, गुरुओंकी भक्तिपूर्वक सेवा, ब्रह्मचर्यादिके नियमतः पालन,

---

१-चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च। यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥
इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसस्त्वस्य निग्रहः। ऊहो विचारश्च ततः परं बुद्धिः प्रवर्तते॥
(च० शा० १।७-८)

२-चरक. विमान(५।२।१)।

३-सतामुपासनं सम्यगसतां परिवर्जनम्। व्रतचर्योपवासश्च नियमाश्च पृथग्विधाः॥
धारणं धर्मशास्त्राणां विज्ञानं विजने रतिः। विषयेष्वरतिर्मोक्षे व्यवसायः परा धृतिः॥
कर्मसंगानसमारम्भः कृतानां च परिक्षयः। नैष्कर्म्यमनहंकारः संयोगे भयदर्शनम्॥
मनोबुद्धिरसमाधानमर्थतत्त्वपरीक्षणम्। तत्त्वं स्मृतेरुपस्थानात् सर्वमेतत्प्रवर्तते॥ (चरक-शारीर १।४७)

४-गीता १५।१—४

जप, होम, वेदोंके श्रवण तथा संतोंके दर्शनसे सभी प्रकारके विषम ज्वरोंसे मुक्ति हो जाती है। ग्राम, नगर एवं जनपद आदिके विध्वंसक रोगोंके शमनके लिये सत्य, दया, देवतार्चन, धर्मशास्त्रोंका श्रवण आदिका भी उपदेश भगवान् चरकने किया है। उनके मूल वचन इस प्रकार हैं—

सोमं सानुचरं देवं समातृगणमीश्वरम्।
पूजयन् प्रयतः शीघ्रं मुच्यते विषमज्वरात्॥
विष्णुं सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम्।
स्तुवन्नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वान् व्यपोहति॥
ब्रह्माणमश्विनाविन्द्रं हुतभक्षं हिमाचलम्।
गङ्गां मरुद्गणांश्चेष्टान् पूजयन् जयति ज्वरान्॥
भक्त्या मातुः पितुश्चैव गुरूणां पूजनेन च।
ब्रह्मचर्येण तपसा सत्येन नियमेन च॥
जपहोमप्रदानेन वेदानां श्रवणेन च।
ज्वराद्विमुच्यते शीघ्रं साधूनां दर्शनेन च॥

(चरक-चि० ३। १९६—२००)

सत्यं भूते दया दानं बलयो देवतार्चनम्।
सद्वृत्तस्यानुवृत्तिश्च प्रशमो गुप्तिरात्मनः॥
हितं जनपदानां च शिवानामुपसेवनम्।
सेवनं ब्रह्मचर्यस्य तथैव ब्रह्मचारिणाम्॥
संकथा धर्मशास्त्राणां महर्षीणां जितात्मनाम्।
धार्मिकैः सात्त्विकैर्नित्यं सहास्या वृद्धसम्मतैः॥

(चरक० निदा० ३। १६-१९)

स्वस्थवृत्तके प्रकरणमें कई स्थलपर योगके इस राजमार्गका विवरण मिलता है।

अभ्यास और वैराग्य

प्रत्येक जीवधारीमें परमात्मा अंश-रूपमें विराजमान हैं। प्राणीके हृदयमें उनका निवास है, इसलिये उनके नाम-गुणोंका मन एवं वचनद्वारा कीर्तन तथा श्रवण करनेसे और शास्त्रोंके अनुशीलनसे एवं पवित्र कर्मोंके आचरणके अभ्याससे, परमात्माके गुणोंको चित्तमें स्थिर करनेसे और मनको विषयोंमें न भटकने देनेसे, साथ ही आत्म-तत्त्वका चिन्तन करते रहनेसे अर्थात् आत्मा पञ्चभूतोंसे भिन्न है, शरीरका नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता, वह शाश्वत सभी प्राणीमें विराजमान है—इस प्रकार सर्वदा चिन्तन-मनन करते रहनेसे साधकमें लेशमात्र भी कर्तापनका अहंकार नहीं रहता, उसे सर्वत्र परमात्मा ही दिखायी देते हैं। ऐसा व्यक्ति जो भी कार्य करता है, वह उसमें अपनेको निमित्त मात्र समझता है, इसीमें परमात्माकी प्रसन्नता बढ़ती है।

इच्छाओंका नाश (इच्छात्याग) ही वैराग्य है। विषयोंका चिन्तन तथा मनन दुःखका कारण है, अतः उन्हें चित्तमेंसे निकाल देना चाहिये। सुखी मनुष्योंसे मैत्री-भावना, दुःखी मनुष्योंसे करुणा तथा पुण्यात्माओंसे मुदिता-प्रसन्नताकी भावना तथा पापियोंमें उपेक्षा-भाव बर्तना चाहिये। इससे चित्तका मल दूर होता है और मन निर्मल बनता है, यह बात चरकसंहिता और योगदर्शन दोनोंमें ही कही गयी है[1]। भगवान् चरकने तो कहा है कि इच्छाएँ ही दुःख और दुःखका कारण हैं। इच्छाओंका त्याग ही दुःखनिवृत्तिका मार्ग है। जिस प्रकार रेशमका कीड़ा अपने-आपको स्वयं फँसाता और नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार विषयोंमें फँसा मनुष्य स्वयंको नष्ट करता है। निष्कामभावसे (अहंकारका त्यागकर) कर्म करनेसे कर्मका बन्धन नहीं होता[2]।

योगदर्शनमें वर्णित योगकी अष्टसिद्धियाँ

योगकी प्रक्रियामें जैसे-जैसे साधक अपनी साधनामें आगे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसे दिव्य शक्तियों एवं सिद्धियोंकी उपलब्धि होने लगती है, उनमें आठ मुख्य सिद्धियाँ ये हैं—

१-अणिमा — अणु-समान सूक्ष्मरूप धारण कर लेना, २-लघिमा—शरीरको फूल-सदृश हलका बनाना, ३-महिमा—शरीरको बड़ा बना लेना, ४-गरिमा—शरीरको

१-मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। (यो० द० १।३३)
मैत्री कारुण्यमार्तेषु शक्ये प्रीतिरुपेक्षणम्। प्रकृतिस्थेषु भूतेषु वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधा॥ (च०-सू० ९। १९)

२-उपधा हि परो हेतुर्दुःखदुःखाश्रयप्रदः। त्यागः सर्वोपधानां च सर्वदुःखव्यपोहकः॥
कोषकारो यथा ह्यशून्यादते वधप्रदान्। उपादत्ते तथार्थेभ्यस्तृष्णामज्ञः सदातुरः॥
यस्त्वग्निकल्पानर्थान् ज्ञो ज्ञात्वा तेभ्यो निवर्तते। अनारम्भादसंयोगात्तद्दुःखं नोपतिष्ठते॥ (चरक-शारीर १। ३१)

भारी बना लेना, ५-प्राप्ति— संकल्प-बलसे पदार्थोंको प्राप्त कर लेना, ६-प्राकाम्य—इच्छापूर्ति कर लेना, ७-वशित्व—पदार्थों और प्राणियोंको वशमें कर लेना और ८-ईशित्व—प्राणी और पदार्थोंपर शासन-शक्ति जमा लेना। इन आठ सिद्धियोंके अतिरिक्त मनोजवित्व, अप्रतिहत-गतित्व, दूरश्रवण, पशु-पक्षी आदिकी बोलीका ज्ञान आदि अनेक शक्तियाँ भी उसे प्राप्त हो जाती हैं।

चरकसंहितोक्त सिद्धियाँ

भगवान् चरकने यह निर्दिष्ट किया है कि शुद्ध सत्त्व समाधिसे योगियोंको जो अष्टविध ऐश्वर्य प्राप्त हो जाता है, वह इस प्रकार है—

१-आवेश—सूक्ष्म शरीरद्वारा दूसरे शरीरमें प्रवेश करना, २-छन्दतः क्रिया—प्राणी-पदार्थोंको वशमें कर लेना, ३-चेतस-ज्ञान—दूसरोंके विचारको जान लेना, ४-इष्टतः दृष्टि—इच्छानुसार देखना, ५-इष्टतः श्रौत — इच्छानुसार सुनना, ६-इष्टतः स्मृति — इच्छानुसार स्मरण करना, जन्मान्तरोंका स्मरण करना, ७-इष्टतः कान्ति — इच्छानुसार स्वरूप धारण कर लेना और ८-इष्टतः अदर्शन — इच्छानुसार अदृश्य होना[1]।

हठयोगके सिद्धान्त

स्वास्थ्य-रक्षणमें हठयोगकी क्रियाएँ बहुत ही सहायक हैं। हठयोगके आसन तथा धौति, वस्ति, नेति आदि षट्कर्म भी आयुर्वेदके पञ्चकर्मके जनक हैं।

हठयोगका महत्त्वपूर्ण अङ्ग आसन है। आसनोंकी संख्या ८४ बतायी गयी है। आसनोंके माध्यमसे स्वास्थ्य-रक्षा की जा सकती है तथा अङ्गकी स्थूलता दूर की जा सकती है। पवनमुक्तासन, वीरासन, वज्रासन, धनुरासन, मत्स्येन्द्रासन आदि आसनोंसे वातदोष; भुजंगासन, शलभासन एवं वस्ति (कर्म) से पित्तदोष तथा गजकरणी, धौति (कर्म) नेति (कर्म) से कफ-सम्बन्धी दोषोंके अपाकरणमें सहायता प्राप्त होती है।

इसी प्रकार शवासन, प्राणायाम, शीर्षासनसे हृदय; शीर्षासन, सूत्रनेति (क्रिया) त्राटकसे नेत्र; जलनेति (वमन) सूत्रनेति (क्रिया) से नासिका; प्राणायाम, सूर्यनमस्कारसे फुसफुस; मत्स्येन्द्रासनसे प्लीहा; भुजंगासनसे वृक; पद्मासन, वज्रासन आदिसे अंडकोष; मयूरासन, हलासनसे आँत; योगमुद्रा, शीर्षासन, मत्स्यासन आदिसे मस्तिष्क आदि शरीरके विभिन्न अवयवोंके विकार दूर होते हैं।

हठयोगके 'षट्कर्म' तथा आयुर्वेदके पञ्चकर्म

आयुर्वेद-संहिताओंमें वर्णित पञ्चकर्म हठयोगके षट्कर्मोंसे मिलते-जुलते हैं। भगवान् चरकने १-वमन, २-विरेचन, ३-वस्ति, ४-धूमपान, ५-नस्य (सुश्रुत-रक्तमोक्षण) —इन्हें पञ्चकर्म कहा है। हठयोग-प्रदीपिकामें धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभातिको षट्कर्म कहा गया है। इन षट्कर्म और पञ्चकर्मके उद्देश्य तो प्रायः एक ही हैं। त्रिदोषके वैषम्यको सम-अवस्थाओंमें लानेके लिये ही इन कर्मोंका प्रयोग किया जाता है तथा इन कर्मोंसे अनेक रोगोंका शमन होता है।

योगदर्शन और आयुर्वेद—ये दोनों ही वेदोंके व्याख्यान हैं और वेदोंका तात्पर्य परमात्माको जाननेमें है। योग-साधनामें चित्तकी वृत्तियोंको भगवदाकार करनेका उपदेश है तथा आयुर्वेदमें भी शरीर एवं मनके सभी विकारोंको दूरकर स्वच्छ एवं निर्मल अन्तःकरणमें भगवद्दर्शन करनेका निर्देश दिया गया है। मूलतः सभी विद्याएँ, सभी शास्त्र भगवान्‌को ही प्राप्त करानेवाले हैं।

[संकलनकर्ता—डॉ० श्री आर० वाई० शास्त्री, साहित्याचार्य]

उपवास, अल्प भोजन, आजीविकाका नियम, रस-त्याग, सर्दी-गर्मीका समभावसे सहन करना और स्थिर आसनसे रहना—यह छः प्रकारका बाह्य तप है और प्रायश्चित्त, ध्यान, सेवा, विनय, शरीरोत्सर्ग और स्वाध्याय—यह छः प्रकारका आभ्यन्तर तप है।—महावीर तीर्थङ्कर

१- आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया। दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम्॥

(चरक-शारीर १।४५)

स्मृति-वाङ्मयमें योग-निरूपण

(डॉ० श्रीबसन्तबल्लभजी भट्ट, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

'स्मृति' शब्द सामान्य स्मरण, चिन्तन, ध्यान और धर्मशास्त्र-ग्रन्थोंका भी वाचक है। ये धर्मशास्त्र मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, वसिष्ठ, गौतम, पराशर, आपस्तम्ब, दक्ष, हारीत, शाण्डिल्य, भरद्वाज तथा विश्वामित्र आदि महान् वेदवेत्ता, धर्मपरायण, अध्यात्मतत्त्वमें पारङ्गत और योगज्ञान-सम्पन्न ऋषि-महर्षियोंके द्वारा श्रुतियोंके आधारपर ही निर्मित हुए हैं। ये ऋषि वेदमन्त्रोंके द्रष्टा भी थे और योग-विद्यामें निष्णात, भूत, भविष्य तथा वर्तमान—तीनों कालोंके ज्ञानसे संयुक्त, अतीन्द्रिय, व्यवहित, सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्म-अनात्म पदार्थोंके ज्ञान और भगवत्साक्षात्कारसे भी सम्पन्न थे। ध्यान-योगके अद्भुत प्रभावसे सम्पन्न होकर इन ऋषियोंने अतिनिगूढ़ परमात्म-शक्तिका दर्शनकर महामेधा, महाविद्या तथा महास्मृतिसे सम्पन्न होकर लोककल्याणार्थ जिन ग्रन्थोंका प्रणयन किया वे सभी, उन-उन महर्षियोंके नामसे प्रसिद्ध हुए और वे ही स्मृतिशास्त्र कहलाये। जैसे राजर्षि मनुविरचित मनुस्मृति, महर्षि याज्ञवल्क्यविरचित याज्ञवल्क्यस्मृति आदि। वास्तवमें ये स्मृति-ग्रन्थ विश्वके शाश्वत संविधान हैं। श्रुतियोंकी तरह ही इनका भी प्रबल प्रामाण्य है।

स्मृतियोंका विशाल साहित्य है। निबन्ध ग्रन्थोंके अनुसार इनकी संख्या प्रायः दो सौके आस-पास हैं, किंतु उनमेंसे ७० स्मृतियाँ विशेष प्रसिद्ध हैं और प्रायः प्रकाशित भी हो चुकी हैं। प्राचीन भारतमें इन्हीं स्मृतियोंके आधारपर व्यवहार आदि सभी धर्मकार्योंका निर्णय होता था। इन्हींके वचनोंको लेकर स्मृति-चन्द्रिका (देवन्न भट्ट), स्मृतितत्त्व (रघुनन्दन भट्ट), स्मृति-कौस्तुभ (अनन्तदेव), कृत्यकल्पतरु (लक्ष्मीधर भट्ट), चतुर्वर्गचिन्तामणि (हेमाद्रि), वीरमित्रोदय (वीरमिश्र), निर्णयसिन्धु (कमलाकर भट्ट) तथा धर्मसिन्धु (काशीनाथ उपाध्याय) आदि अतिश्रेष्ठ निबन्ध-ग्रन्थोंका निर्माण हुआ।

स्मृतियोंका प्रतिपाद्य विषय

स्मृतियाँ प्रत्येक स्त्री-पुरुष, परिवार, वर्ण, आश्रम, व्यापार, व्यवहार, राज्य-संचालन तथा विश्व-संचालनके लिये सदा मार्गदर्शक रही हैं और जबतक इनका समादर रहा, तबतक विश्वमें प्रायः कोई क्लेश भी नहीं रहा, क्योंकि ये स्मृतियाँ योग-प्रतिभा और ईश्वरके श्वास-प्रश्वासस्वरूप वेदज्ञानसे समर्थित थीं। स्मृतियोंमें मुख्यरूपसे सम्पूर्ण मानव-जातिके प्रातःकालके उत्थानसे लेकर शयन, स्वप्न और पुनः जागरणतक तथा प्राणीके गर्भमें प्रवेश या गर्भाधानकालसे अन्त्येष्टिपर्यन्त और परलोकसे लेकर पुनर्जन्मतकके विधान दिये गये हैं। मुख्यरूपसे ब्राह्ममुहूर्तमें जागरण, दुःस्वप्नादि दोषोंकी निवृत्तिके लिये प्रातःकालिक भगवत्स्मरण, मङ्गलपाठ, माङ्गलिक पदार्थोंका दर्शन, शौच, स्नान, संध्या, देवर्षि-पितृतर्पण, देवाराधन, स्वाध्याय, पञ्चमहायज्ञोंका सम्पादन, बलिवैश्वदेव, भोजन, योग-क्षेमके लिये स्ववर्णाश्रमोचित अध्ययनादि षट्कर्म, कृषि-व्यापार आदिके उपाय, पुनः सायंकालीन संध्या, सत्सङ्ग, देवाराधन, रात्रि-भोजन एवं शयनके पूर्वके कृत्य एवं विधि-विधान विस्तारसे निर्दिष्ट हैं। इन नित्य कृत्योंके अतिरिक्त गर्भाधान, सीमन्त, पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकरण, विद्यारम्भ, यज्ञोपवीत, वेदारम्भ, वेदव्रतोंके पालनपूर्वक वेदस्नान, समावर्तनपूर्वक स्नातक बनकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश तथा गृहस्थ-धर्मका पालन, तदनन्तर वानप्रस्थ एवं संन्यासादि आश्रमोंके नियम-धर्मोंका साङ्गोपाङ्ग प्रतिपादन हुआ है। साथ ही अज्ञान एवं ज्ञानमें हुए पातकों एवं उपपातकोंके निवारणार्थ विस्तारसे प्रायश्चित्तकी विधियाँ भी निर्दिष्ट हैं। इसलिये ये स्मृतियाँ प्रत्येक मनुष्यके लिये सर्वाधिक कल्याणकारिणी और इनके अनुसार आचरण करनेपर स्वर्ग एवं मोक्ष भी प्रदान करानेवाली हैं।

स्मृतियों और योगका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध

वैसे तो संध्या आदि कृत्योंके प्रसङ्गोंमें प्रायः सभी स्मृतियोंमें प्राणायाम, ध्यान आदि योगसम्बन्धी मुख्य प्रकरण आये हैं, किंतु कुछ स्मृतियोंमें योगके सभी अङ्गोंपर प्रकाश डाला गया है और कुछ स्मृतियोंका एकमात्र उद्देश्य ही योग-सिद्धि है, जैसे बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति आदि। मनुस्मृतिमें प्रायः सर्वत्र योगको ही मुख्य तत्त्व मानकर अन्य धर्मोंका विश्लेषण हुआ है। मनुका दशाङ्गधर्म योगके प्रकरणके बीचमें

निर्दिष्ट हुआ है। इसी बातको ध्यानमें रखकर महर्षि याज्ञवल्क्यने अपने मुख्य धर्मशास्त्र याज्ञवल्क्यस्मृतिके प्रारम्भमें ही धर्मकी परिभाषा बतलाते हुए योगके द्वारा आत्मदर्शन अथवा भगवत्प्राप्तिको ही परम धर्म माना है—

'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥'

(१।८)

विचार करनेपर यही बात सभी वेदादि शास्त्रों, पुराणेतिहास-ग्रन्थों, धर्मशास्त्रों तथा सभी योगशास्त्रोंसे भी प्रमाणित होती है कि भगवत्प्राप्ति ही सर्वोपरि योग है। इसी विषयको लेकर सभी स्मृतियोंमें पर्याप्त विचार किया गया है। यहाँ योगविषयक कुछ प्रमुख स्मृतियोंके योगसम्बन्धी मुख्य प्रकरणोंको आधार मानकर उनके विविध पक्षोंको संक्षेपमें प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१) दक्षस्मृतिमें योग

प्रजापति दक्षने सृष्टिके आरम्भमें प्रजाके कल्याणके लिये सदाचार आदि सभी नियमोंसे सम्पन्न एक स्मृतिकी रचना की, जो दक्ष-स्मृतिके नामसे प्रसिद्ध हुई। उनकी पुत्री महायोगिनी सतीने शिव-वियोगमें योगाग्निसे ही अपने शरीरको दग्धकर पुनः पार्वती-रूपमें योगीश्वर शिवको प्राप्त किया। दक्ष भगवान् शिवके ससुर बने। इससे महाराज जनककी तरह इनकी भी योगैकप्राणता स्वयं सिद्ध है। उन्होंने अपनी स्मृतिके अन्तमें योगतत्त्वपर स्पष्ट रूपसे प्रकाश डाला है और उसके सभी स्वरूपोंपर विचार किया है, जो संक्षिप्त होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है। योग-निरूपणकी प्रस्तावनामें वे कहते हैं—

लोको वशीकृतो येन येन चात्मा वशीकृतः।
इन्द्रियार्थो जितो येन तं योगं प्रब्रवीम्यहम्॥

(दक्ष० ७।१)

इसका भाव यह है कि योगसे मनुष्य सम्पूर्ण लोकको वशमें कर सकता है और बिना योगशक्तिके वह किसीको भी पूर्ण वशमें नहीं कर सकता। बिना योगके व्यवहार-ज्ञान भी नहीं होता। केवल योग ही एकमात्र ऐसा साधन है, जिससे मनुष्य स्वयंको भी वशमें कर सकता है। इन्द्रियोंको निवृत्त करनेकी क्षमता भी योगमें ही है, अन्यथा प्रमाथी स्वभाववाली इन्द्रियाँ किसी भी उपायसे वशमें नहीं हो सकतीं।

प्रजापति दक्षने अपनी स्मृतिमें पातञ्जलयोगके अष्टाङ्गसे प्रायः सर्वथा भिन्न षडङ्गयोगका उपदेश किया है, जो प्रायः कई उपनिषदोंमें भी उपदिष्ट है। दक्षद्वारा उपदिष्ट छः अङ्ग हैं—प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा, तर्क एवं समाधि।

योगके अत्यन्त सूक्ष्म और सारस्वरूपपर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि किसीके अरण्यसेवन, अनेक प्रकारके ग्रन्थोंके स्वाध्याय, अति शारीरिक क्लेश, विविध प्रकारके यज्ञ, विभिन्न प्रकारके हठयोग, आसन, नासिकाग्रदृष्टि, विशेष प्रकारके शारीरिक शुद्धियोंके व्यसन, मौन-धारण, अनेक प्रकारके मन्त्रोंके जप तथा पुण्यानुष्ठानों और सांसारिक कार्योंसे भी योगसिद्धि नहीं होती, किंतु किसी पवित्र सात्त्विक पदार्थ अथवा अभीष्ट देवता आदिमें तीव्र ध्यानके अभ्यास और उन साधनोंमें गुरुके उपदेशद्वारा दृढ़ निष्ठा तथा बार-बार संसारकी निस्सारताको ध्यानमें रखते हुए तीव्र वैराग्यके आशयसे ही पूर्णयोगकी सिद्धि होती है—

अभियोगात् तथाभ्यासात् तस्मिन्नेव तु निश्चयात्।
पुनः पुनश्च निर्वेदाद्योगः सिद्ध्यति नान्यथा॥

(दक्ष० ७।६)

सम्पूर्ण प्राणियोंमें और सर्वत्र एक परमात्माकी विशुद्ध दृष्टि तथा यथासाध्य सभी प्रकारकी पवित्रतासे पूर्णयोगकी सिद्धि होती है, अन्य किसीसे नहीं। जो व्यक्ति शरीरसे भिन्न केवल आत्मतत्त्वका ही चिन्तन, अवलोकन करते हुए आत्मनिष्ठ बना रहता है और आत्मदृष्टिसे सबके साथ सम-व्यवहार करता है, उसीको योग सिद्ध हो सकता है, अन्य किसीको नहीं। जो सोते-जागते, स्वप्नादिमें एक वृत्तिसे ही भगवद्ध्यानमें रत रहता है, वही ब्रह्मवादियोंमें परम योगी है। जो एक आत्मासे भिन्न विश्वमें कुछ भी नहीं देखता, वही योगी ब्रह्मीभूत होकर कृतकृत्य हो जाता है, ऐसा दक्षका अपना अभिमत है—

य आत्मव्यतिरेकेण द्वितीयं नैव पश्यति।
ब्रह्मीभूतः स विज्ञेयो दक्षपक्ष उदाहृतः॥

(दक्ष० ७।११)

(२) बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृतिका योग-विधान

महर्षि याज्ञवल्क्यने सूर्यकी आराधनाकर वाजसनेयि-संहिता या माध्यन्दिनसंहिता या शुक्लयजुर्वेदको प्राप्त किया था। शतपथ-ब्राह्मण भी उन्हींके द्वारा दृष्ट है। शतपथ-ब्राह्मणके

आरण्यकभाग (बृहदारण्यक) में राजर्षि जनकके दरबारमें कहोढ़ आदि विद्वानोंके साथ महायोगी याज्ञवल्क्यका ब्रह्मज्ञानसम्बन्धी शास्त्रार्थ विस्तारसे प्रतिपादित है। शिक्षाके ग्रन्थोंमें उनके द्वारा रचित याज्ञवल्क्य-शिक्षा अत्यन्त प्रसिद्ध है। उन्होंने ही लोकोपकारकी दृष्टिसे अपने योगज्ञानसे तीन स्मृतियोंकी रचना की, जो बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति, ब्रह्मोक्त योगियाज्ञवल्क्यसंहिता तथा याज्ञवल्क्यस्मृतिके नामसे प्रसिद्ध हैं। इन तीनोंमें परस्पर साम्य होते हुए भी याज्ञवल्क्यस्मृतिका विशेष प्रचार-प्रसार है। ब्रह्मोक्त योगि-याज्ञवल्क्यसंहिताके वचन प्रायः उनकी दो स्मृतियोंमें समाहित हो गये हैं । यहाँ क्रमशः बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृतिके योगसार-सम्बन्धी वचनोंका संक्षिप्त विवरण उपस्थापित किया जाता है।

महर्षिने अपने बृहद्योगियाज्ञवल्क्यस्मृतिमें पहले मन्त्रयोग, प्राणायाम, ध्यान, गायत्रीजपकी विस्तृत विधि, गायत्री-मन्त्रका भाष्य तथा प्रणवके भी भाष्यका विस्तारसे विवेचन किया है और अन्तिम ग्यारहवें-बारहवें अध्यायमें योग एवं वेदान्तका विवरण उपस्थित किया है। आचार्यकी मान्यता है कि अन्य सभी धर्म दोषयुक्त एवं पुनर्जन्म आदिको देनेवाले हैं, किंतु योग थोड़ा भी अभ्यस्त होनेपर परब्रह्मके साक्षात्कारपूर्वक मोक्षको प्रदान करनेवाला है। जिस व्यक्तिने योगका अभ्यास नहीं किया, वह चाहे जितना भी अध्ययन-अध्यापन करता रहे और अहर्निश प्रवचन भी करता रहे, उससे उसे आत्मतुष्टि या परमात्मप्राप्तिकी सम्भावना नहीं है, वह उसका प्रलापमात्र है। इसलिये मुख्य योगशास्त्रोंका अध्ययन कर बुद्धिमान् मनुष्यको योगपरायण होना चाहिये। अन्यथा जैसे पंख होनेपर पक्षी अपने घोंसलेको छोड़ देते हैं, उसी प्रकार अयोगी या ब्रह्मसाक्षात्काररहित व्यक्तिको मरते समय वेद भी छोड़कर किनारे हो जाते हैं—

छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः ॥

(बृहद्यो० ११।२०)

समस्त वेद ओंकारमें ही प्रतिष्ठित हैं, उसके जप-ध्यानसे भी परमात्माका साक्षात्कार होता है। कोई भी विद्वान् केवल विद्या या तपस्यासे मुक्त नहीं हो सकता, जिसमें सदाचार एवं योगकी प्रतिष्ठा हो, वही मुक्तिको प्राप्त होता है। वैसे समस्त प्राणी बुद्धिमान् हैं, उनमें भी मनुष्योंकी बुद्धि सबसे अधिक है, मनुष्योंमें भी जो साङ्गोपाङ्ग वेदादिके ज्ञाता हैं वे अधिक श्रेष्ठ हैं और उनमें भी वे श्रेष्ठ हैं जो अध्ययनके अनुसार आचरण करनेवाले हैं और सबसे श्रेष्ठ वे ही हैं जो योगद्वारा परमात्मज्ञानको प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार परमात्मज्ञानके द्वारा परमात्मप्राप्तिसे बढ़कर और कोई बड़ा लाभ नहीं है। इसीलिये महर्षि ऐसे परमात्मप्राप्त व्यक्तिको वेदसमूहके ज्ञाताओंसे भी श्रेष्ठ मानते हैं—

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्रं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥

(बृहद्यो० ११।३८)

अतः सम्पूर्ण विश्वके नित्य एकमात्र प्रशास्ता, अतिसूक्ष्म होनेके कारण किसीको भी भासित नहीं होनेवाले और केवल योगके द्वारा समाधिमें ही सम्यक्-रूपसे प्राप्त होनेवाले, प्रतप्त स्वर्णके समान हिरण्मय आभायुक्त परमात्मतत्त्व ही ध्येय, ज्ञेय एवं प्राप्य हैं। जैसे भी हो उन्हें शीघ्र प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। संक्षेपमें महर्षि योगियाज्ञवल्क्यके ज्ञानयोग एवं ध्यानयोगका यही सारांश है।

(३) याज्ञवल्क्यस्मृतिमें योग

स्मृति-वाङ्मयमें याज्ञवल्क्यस्मृतिकी सर्वाधिक महिमा है। महर्षिने यद्यपि यज्ञ, दान, स्वाध्याय, सदाचार, अहिंसा आदि सभी धर्मोंकी स्थान-स्थानपर प्रशंसा की है और उनका आचरण आवश्यक बतलाया है, पर अपनी स्मृतिके आरम्भमें ही उन्होंने योगसांधनाके द्वारा परिपूर्ण रूपसे परमात्म-साक्षात्कारको ही मुख्य ध्येय बताया है। महर्षिका तात्पर्य है कि अन्य धर्मोंका समादर करते हुए योगके आश्रयणसे परमात्म-तत्त्वका दर्शन करना चाहिये, यही परम धर्म है—

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥

(याज्ञ० १।१।८)

वास्तवमें यही सभी उपनिषदों, इतिहास-पुराणों और ऋषियों, मुनियों तथा संतोंके सभी उपदेशोंका सारांश है। आचार्य विज्ञानेश्वरने इस श्लोककी व्याख्यामें कहा है कि बाह्य वृत्तियों एवं सभी इन्द्रियोंपर निग्रह प्राप्तकर पूर्णरूपसे अन्तर्मुख होकर हृदयमें स्थित परमात्माको देखना या देखते रहना ही

सर्वोपरि धर्म है और यह जिस किसी देश-काल या अत्यन्त इष्ट आत्मामें या शुद्ध परमात्माके अवलोकनमें जहाँ विशेष आकर्षण हो वहाँ भी किया जा सकता है। इसमें अन्य धर्मोंकी तरह विशेष देश-कालकी शुद्धिका नियम नहीं है, यह योगका वैशिष्ट्य है।

वैसे तो इस स्मृतिके आचार, व्यवहार, राजधर्म एवं प्रायश्चित्तादि—सभी प्रकरणोंमें सदा अप्रमत्त रहने आदिके नियमोंमें योग ही समाविष्ट है तथापि इसके तृतीय अध्यायमें योगके द्वारा परमात्म-प्राप्तिकी जो प्रतिज्ञा प्रारम्भमें की गयी, उसका सम्यक् विधान निर्दिष्ट किया गया है। महर्षिका कथन है कि चित्तकी वृत्तियोंका सम्यक् निरोधकर ध्यानयोगके द्वारा सूक्ष्म आत्माको अपने हृदयके अन्तर्गत परमात्मामें अवस्थित देखना चाहिये—

'ध्यानयोगेन सम्पश्येत् सूक्ष्म आत्मात्मनि स्थितः ॥'

(३।४।६४)

इसके लिये वेदान्त या आत्मतत्त्वज्ञानका बार-बार श्रवण, मनन, चिन्तन और समाहित होकर ध्यान करना चाहिये। सारांश यह है कि क्षेत्रज्ञके अन्तर्गत परमात्माको स्थित देखना चाहिये। पुनः इसके अधिक सूक्ष्म स्वरूपको स्पष्ट करते हुए महर्षि बतलाते हैं कि मनुष्यके हृदयके अन्तर्गत एक नाडीकन्द है, जहाँसे हिताहितसंज्ञक बहत्तर हजार छोटी-बड़ी नाडियाँ निकलकर मनुष्यके सम्पूर्ण शरीरमें मन, प्राण, रक्त आदिका संचार करती हैं। उस नाडीकन्दके अन्तर्गत चन्द्रमाके समान एक तेजोमय मण्डल है, जिसके अन्तर्गत सूक्ष्म जीवात्मा निर्वात दीपशिखाके समान स्थित होकर सबका संचालन करता

महर्षि याज्ञवल्क्यने योग-साधनाके शारीरिक प्रकारका भी उल्लेख किया है, तदनुसार किसी एकान्त एवं पवित्र स्थानमें कुश, मृगचर्म और उसके ऊपर वस्त्र बिछाकर बद्धपद्मासन लगाकर बैठना चाहिये। ठुड्डीको कण्ठकूपमें स्थिरकर, जिह्वाको उलटकर तालुमें स्थित कर ले तथा ओठोंको बंद कर ले। दाँतोंका परस्पर स्पर्श न करे। इस प्रकार निश्चल बैठकर पैंतालीस बार चुटकी लगानेतक साधकको पूरक, कुम्भक एवं रेचक प्राणायामोंका अभ्यास करना चाहिये। सम्पूर्ण इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे सर्वथा मुक्तकर चित्तको कहीं भी अन्यत्र नहीं जाने देना चाहिये, इससे वह धारणा एवं ध्यान करनेमें सक्षम हो जाता है। साधकको अपने चित्तको शुद्ध आत्मामें स्थित करना चाहिये और हृदयमें दीपशिखाके तुल्य स्थित भगवान्‌का निश्चलरूपसे ध्यान करना चाहिये।

ध्यान एवं समाधिके सिद्ध हो जानेपर साधक—योगी अन्तर्ध्यानसिद्धि, अतीन्द्रिय एवं पूर्वजन्मोंकी स्मृति प्राप्त कर लेता है। उसका शरीर कमनीय हो जाता है और उसकी दृष्टि अतीत, अनागत एवं अतीन्द्रिय, सूक्ष्म, व्यवहित, दूरस्थ एवं दिव्य अलौकिक शक्तियोंको भी देखनेमें समर्थ हो जाती है, वह दूरश्रवण एवं देवता आदिके भी निर्देशोंको समझनेमें तथा अपने शरीरको छोड़कर दूसरेके शरीरमें भी प्रवेश करनेमें समर्थ हो जाता है। ये सभी योगसिद्धिके लक्षण हैं। जब साधकका योग एवं शरीर सिद्ध हो जाता है तो वह फिर देहपातके बाद सर्वथा मुक्त हो जाता है और उसे पुनः शरीर धारण करनेकी आवश्यकता नहीं रहती—

भी अनेक स्थलोंपर इनका उल्लेख है—

'मनुर्वै यत्किंचिदवदत् तद्भेषजं भेषजतायाः'

अर्थात् महाराज मनुके निर्देश भेषजता अथवा चिकित्सा-विज्ञानकी भी चिकित्साके रूपमें मान्य हैं। तात्पर्य यह है कि मनुके वचन ही सर्वोपरि कल्याणकारी हैं। इसीलिये सर्वज्ञ ऋषियोंने इन्हें अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, प्राण अथवा साक्षात्परमात्माके रूपमें देखा था—

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्।
इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥

(मनु० १२।१२३)

स्वयं मनुस्मृतिमें ही महर्षि भृगुने इन्हें सर्वज्ञानमय कहा है—

यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥

(मनु० २।७)

अर्थात् उन्हें पर, अवर एवं शब्द—तीनों ब्रह्मोंका पूर्ण साक्षात्कार था।

मनुस्मृतिमें बारह अध्याय हैं। यद्यपि उनके आचार, व्यवहार, राजधर्म, स्त्रीधर्म एवं आपद्धर्म आदिमें योग अनुस्यूत है तथापि दो-तीन स्थानोंमें उन्होंने इसकी विशेष चर्चा की है। छठे अध्यायमें वानप्रस्थ एवं संन्यासी-धर्मप्रकरणमें मुख्य-रूपसे योगकी ही चर्चा हुई है। मनुने इन्द्रिय-निग्रहको ही प्रधान योग कहा है। यदि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ वशमें हो गयीं तो चित्तकी सभी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं और शुद्ध निर्मल हृदयमें भगवान्का साक्षात्कार हो जाता है। किंतु पर्याप्त ज्ञान और वैराग्यके अभावमें इन्द्रियोंका संग्रह सम्भव नहीं होता, इसलिये साधकको दूरतक दृष्टि ले जानी चाहिये। सभी लोगोंके शरीरमें अनेक प्रकारकी आधियाँ-व्याधियाँ, विपत्तियाँ प्रत्यक्ष देखनेमें आती हैं, जिनका कोई प्रतीकार सम्भव नहीं दिखायी देता। प्राणी माताके गर्भमें भी अपार यातना सहन करता है और नारकीय यातनाएँ भी असत्य नहीं हैं, शास्त्र एवं योगज ज्ञानसे यह सब प्रत्यक्ष सिद्ध है। इन सब बातोंका जितना ही ध्यानसे चिन्तन किया जाता है, उतना ही वैराग्य तीव्र और ज्ञान भी सुदृढ़ होता जाता है। इस प्रकारकी सूक्ष्म दृष्टि प्राप्तकर योगद्वारा आत्माको ही देखनेका प्रयत्न करना चाहिये—

'सूक्ष्मतां चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः।'

(मनु० ६।६५)

राजर्षि मनुके अनुसार प्राणोंका नियमन मुख्य योग है, क्योंकि प्राणायामके द्वारा मन नियन्त्रित हो जाता है और सारी इन्द्रियाँ भी वशीभूत हो जाती हैं। अतः गायत्रीसहित तीन प्राणायाम करनेपर पापकी अपार राशि दग्ध हो जाती है और साधकका महान् तप या योग सिद्ध हो जाता है। जैसे सुवर्णादि धातुओंको अग्निमें तपाये जानेपर उनके सारे मल दूर हो जाते हैं, वैसे ही प्राणोंके निगृहीत करते ही इन्द्रियोंके सारे दोष जलकर भस्म हो जाते हैं। इस प्रकार साधकको प्राणायामोंके द्वारा शारीरिक दोषोंको नष्टकर, धारणाके द्वारा पूर्वजन्मार्जित तथा वर्तमानतकके सारे पापोंको दूर कर देना चाहिये तथा प्रत्याहारके द्वारा संयोग या संसर्ग प्राप्त होनेपर भी उनसे दूर रहकर नवीन दोष या किल्बिष उत्पन्न नहीं होने देना चाहिये और अधिक देरतक धारणा-ध्यान-सम्पन्न हो जानेपर, योगीके अन्तःकरणके सर्वथा शुद्ध हो जानेपर जो जीवके शेष बचे दुर्गुण होते हैं, वे सब नष्ट होकर ऐश्वर अर्थात् ईश्वरके सभी गुण उसे प्राप्त हो जाते हैं—

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥

(मनु० ६।७२)

इस प्रकार उस योगीकी सम्यक् ब्रह्मदृष्टि सम्पन्न हो जाती है और उसे सम्पूर्ण विश्वमें केवल एकमात्र शुद्ध परमात्माका ही निरन्तर दर्शन होने लगता है तथा ज्ञानके द्वारा उसकी कभी विस्मृति नहीं होती और न संसार ही कभी उसे पुनः इस रूपमें दिखलायी पड़ता है। सर्वत्र सम्यक् ब्रह्मदृष्टि-सम्पन्न योगी अपने आगे-पीछेके कर्मोंके बन्धनमें नहीं फँसता, क्योंकि यज्ञ, तप आदि कर्म तथा उसके फल भी उसे ब्रह्मरूपमें दिखलायी पड़ते हैं, किंतु यदि ऐसी दृष्टि नहीं हो पाती और संसार इसी भिन्न रूपमें दीखता रहता है तो फिर वह संसारमें गिर सकता है। इसलिये सम्यक् ब्रह्मज्ञान और निरन्तर एकाकार भगवद्दृष्टि ही सर्वोपरि उपलब्धि है—

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते॥
(मनु० ६।७४)

इन्हीं सब बातोंको महाराज मनुने अपनी स्मृतिके अन्तमें भी निरूपित करते हुए कहा है कि सभीको यह बात कदापि नहीं भूलनी चाहिये कि परमात्मा ही समस्त विश्वका एकमात्र सच्चा नियामक है। वही सबको निरन्तर नियमित करता है और अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे अणु-अणुमें व्याप्त है। वह योग, धारणा-ध्यान, समाधि और स्वप्नयुक्त तुरीया आदि अवस्थाओंमें भी उदयकालीन आदित्यकी ज्योतिके समान हिरण्यवर्ण, दीप्तिमयी रक्तिमायुक्त तेजोमय रूपमें प्रतिभासित होता है, उस परम पुरुष परमात्माको सभी योग-साधनाओंके द्वारा अवश्य ही सभी अवस्थामें जानते रहना चाहिये, यही बुद्धिमान् साधकका सर्वोपरि धर्म है—

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥

इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंमें परमात्माको और परमात्मामें ही सम्पूर्ण प्राणियोंको तथा अपनेको भी देखना चाहिये। इसी प्रकार सभी प्राणियोंमें समदृष्टि रखनेवाला योगी साम्राज्य, श्रेष्ठ स्वाराज्य या आत्माके राज्य और कभी क्षीण न होनेवाली एवं स्वभावतः जो सबको प्राप्त है, उस ब्रह्मस्थितिको अनायास ही प्राप्त कर लेता है—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति॥
एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥
(मनु० १२।९१, १२५)

(क्रमशः)

सूर्यविज्ञान

(महामहोपाध्याय आचार्य पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०)

(क) उपक्रम

बहुत दिनों पहलेकी बात है। जिस दिन महापुरुष परमहंस श्रीविशुद्धानन्दजी महाराजका पता लगा था, तब उनके सम्बन्धमें बहुत-सी अलौकिक शक्तिकी बातें सुनी थीं। बातें इतनी असाधारण थीं कि उनपर सहसा कोई भी विश्वास नहीं कर सकता। अवश्य ही **'अचिन्त्यमहिमानः खलु योगिनः'**—इस शास्त्रवाक्यपर मैं विश्वास करता था और देश-विदेशके प्राचीन तथा नवीन युगोंमें विभिन्न सम्प्रदायोंके जिन विभूतिसम्पन्न योगी और सिद्ध महात्माओंकी कथाएँ ग्रन्थोंमें पढ़ता था, उसके जीवनमें संघटित अनेकों अलौकिक घटनाओंपर भी मेरा विश्वास था। तथापि आज भी हमलोगोंके बीचमें ऐसे कोई योगी महात्मा विद्यमान हैं, यह बात प्रत्यक्षदर्शीके मुखसे सुनकर भी ठीक-ठीक हृदयङ्गम नहीं कर पाता था। इसीलिये एक दिन संदेह-नाश तथा औत्सुक्यकी निवृत्तिके लिये महापुरुषके दर्शनार्थ मैं गया।

उस समय संध्या समीपप्राय थी, सूर्यास्तमें कुछ ही काल अवशिष्ट था। मैंने जाकर देखा, बहुसंख्यक भक्तों और दर्शकोंसे घिरे हुए एक पृथक् आसनपर एक सौम्यमूर्ति महापुरुष व्याघ्र-चर्मपर विराजमान हैं। उनके सुन्दर लम्बी दाढ़ी है, चमकते हुए विशाल नेत्र हैं, पकी हुई उम्र है, गलेमें सफेद जनेऊ है, शरीरपर काषायवस्त्र हैं और चरणोंमें भक्तोंके चढ़ाये हुए पुष्प तथा पुष्पमालाओंके ढेर लगे हैं। पास ही एक स्वच्छ काश्मीरोपलसे बना हुआ गोल यन्त्रविशेष पड़ा है। महात्मा उस समय योगविद्या और प्राचीन आर्यविज्ञानके गूढ़तम रहस्योंकी, उपदेशके बहाने साधारणरूपमें व्याख्या कर रहे थे। कुछ समयतक उनका उपदेश सुननेपर जान पड़ा कि इनमें अनन्यसाधारण विशेषता है। क्योंकि उनकी प्रत्येक बातपर इतना जोर था, मानो वे अपनी अनुभवसिद्ध बात कह रहे हैं, केवल शास्त्रवचनोंकी आवृत्तिमात्र नहीं। इतना ही नहीं, वे प्रसङ्गपर ऐसा भी कहते जाते थे कि शास्त्रकी सभी बातें सत्य हैं, आवश्यकता पड़नेपर किसी भी समय योग्य अधिकारीको मैं दिखला भी सकता हूँ। उस समय 'जात्यन्तर-परिणाम' का विषय चल रहा था। वे समझा रहे थे कि जगत्में सर्वत्र ही सत्तामात्ररूपसे सूक्ष्मभावसे सभी पदार्थ विद्यमान रहते हैं। परंतु जिसकी मात्रा अधिक प्रस्फुटित होती है, वही अभिव्यक्त और इन्द्रियगोचर होता है, जिसका ऐसा नहीं होता,

वह अभिव्यक्त नहीं होता—नहीं हो सकता। अतएव इनकी व्यञ्जनाका कौशल जान लेनेपर जिस किसी भी स्थानसे किसी भी वस्तुका आविर्भाव किया जा सकता है। अभ्यासयोग और साधनाका यही मूल रहस्य है। हम व्यवहार-जगत्‌में जिस पदार्थको जिस रूपमें पहचानते हैं—वह उसकी आपेक्षिक सत्ता है, वह केवल, हम जिस रूपमें पहचानते हैं, वही है यह बात किसीको नहीं समझनी चाहिये। लोहेका टुकड़ा केवल लोहा ही है सो बात नहीं है, उसमें सारी प्रकृति अव्यक्तरूपमें निहित है, परंतु लौहभावकी प्रधानतासे अन्यान्य समस्त भाव उसमें विलीन होकर अदृश्य हो रहे हैं। किसी भी विलीन भावको (जैसे सोना) प्रबुद्ध करके उसकी मात्रा बढ़ा दी जाय तो पूर्वभाव स्वभावतः ही अव्यक्त हो जायगा और वह सुवर्णादि प्रबुद्धभाव प्रबल हो जानेसे वह वस्तु फिर उसी नाम तथा रूपमें परिचित होगी। सर्वत्र ऐसा ही समझना चाहिये। वस्तुतः लोहा सोना नहीं हुआ—वह अव्यक्त हो गया और सुवर्णभाव अव्यक्तताको हटाकर प्रकाशित हो गया। आपात-दृष्टिसे यही समझमें आवेगा कि लोहा ही सोना हो गया है—परंतु वास्तवमें ऐसा नहीं है। कहना नहीं होगा कि यही योगशास्त्रका 'जात्यन्तरपरिणाम' है। पतञ्जलिजी कहते हैं कि प्रकृतिके आपूरणसे 'जात्यन्तरपरिणाम' होता है, एकजातीय वस्तु अन्यजातीय वस्तुमें परिणत होती है—**'जात्यन्तर-परिणामः प्रकृत्यापूरात्'**। यह कैसे होता है, सो भी योग-शास्त्रमें बतलाया गया है।

कुछ देरतक जिज्ञासुरूपसे मेरे पूछताछ करनेपर उन्होंने मुझसे कहा—'तुम्हें यह करके दिखाता हूँ।' इतना कहकर उन्होंने आसनपरसे एक गुलाबका फूल हाथमें लेकर मुझसे पूछा—'बोलो, इसको किस रूपमें बदल दिया जाय?' वहाँ जवाफूल नहीं था, इसीसे मैंने उसको जवाफूल बना देनेके लिये उनसे कहा। उन्होंने मेरी बात स्वीकार कर ली और बायें हाथमें गुलाबका फूल लेकर दाहिने हाथसे उस स्फटिकयन्त्रके द्वारा उसपर विकीर्ण सूर्यरश्मिको संहत करने लगे। क्रमशः मैंने देखा, उसमें एक स्थूल परिवर्तन हो रहा है। पहले एक लाल आभा प्रस्फुटित हुई, धीरे-धीरे तमाम गुलाबका फूल विलीन होकर अव्यक्त हो गया और उसकी जगह एक ताजा हालका खिला हुआ झूमका जवा प्रकट हो गया। कौतूहलवश इस जवापुष्पको मैं अपने घर ले आया था।

स्वामीजीने कहा—'इसी प्रकार समस्त जगत्‌में प्रकृतिका खेल हो रहा है, जो इस खेलके तत्त्वको कुछ समझते हैं, वही ज्ञानी हैं। अज्ञानी इस खेलसे मोहित होकर आत्मविस्मृत हो जाता है। योगके बिना इस ज्ञान या विज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। इसी प्रकार विज्ञानके बिना वास्तविक योगपदपर आरोहण नहीं किया जा सकता।'

मैंने पूछा—'तब तो योगीके लिये सभी कुछ सम्भव है?' उन्होंने कहा—'निश्चय ही है, जो यथार्थ योगी हैं, उनकी सामर्थ्यकी कोई इयत्ता नहीं है, क्या हो सकता है और क्या नहीं, इसकी कोई निर्दिष्ट सीमा-रेखा नहीं है। परमेश्वर ही तो आदर्श योगी हैं, उनके सिवा महाशक्तिका पूरा पता और किसीको प्राप्त नहीं है, न प्राप्त हो ही सकता है। जो निर्मल होकर परमेश्वरकी शक्तिके साथ जितना युक्त हो सकते हैं, उनमें उतनी ही ऐसी शक्तिकी स्फूर्ति होती है। यह युक्त होना एक दिनमें नहीं होता, क्रमशः होता है। इसीलिये शुद्धिके तारतम्यके अनुसार शक्तिका स्फुरण भी न्यूनाधिक होता है। शुद्धि या पवित्रता जब सम्यक्‌प्रकारसे सिद्ध हो जाती है, तब ईश्वर-सायुज्यकी प्राप्ति होती है। तब योगीकी शक्तिकी कोई सीमा नहीं रहती। उसके लिये असम्भव भी सम्भव हो जाता है। अघटनघटनापटीयसी माया उसकी इच्छाको उत्पन्न होते ही पूर्ण कर दिया करती है।'

मैंने पूछा—'इस फूलका परिवर्तन आपने योगबलसे किया या और किसी उपायसे?' स्वामीजी बोले—'उपायमात्र ही तो योग है। दो वस्तुओंको एकत्र करनेको ही तो योग कहा जाता है। अवश्य ही यथार्थ योग इससे पृथक् है। अभी मैंने यह पुष्प सूर्यविज्ञानद्वारा बनाया है। योगबल या शुद्ध इच्छा-शक्तिसे भी सृष्टि आदि सब कार्य हो सकते हैं, परंतु इच्छा-शक्तिका प्रयोग न करके विज्ञानकौशलसे भी सृष्ट्यादि कार्य किये जा सकते हैं।' मैंने पूछा—'सूर्यविज्ञान क्या है?' उन्होंने कहा—'सूर्य ही जगत्‌का प्रसविता है। जो पुरुष सूर्यकी रश्मि अथवा वर्णमालाको भलीभाँति पहचान गया है और वर्णोंको शोधित करके परस्पर मिश्रित करना सीख गया है, वह सहज ही सभी पदार्थोंका संघटन या विघटन कर सकता है। वह देखता है कि सभी पदार्थोंका मूल बीज इस

रश्मिमालाके विभिन्न प्रकार—संयोगसे ही उत्पन्न होता है। वर्णभेदसे और विभिन्न वर्णोंके संयोगभेदसे विभिन्न पद उत्पन्न होते हैं, वैसे ही रश्मिभेद और विभिन्न रश्मियोंके मिश्रणभेदसे जगत्‌के नाना पदार्थ उत्पन्न होते हैं। अवश्य ही यह स्थूल-दृष्टिमें बीज-सृष्टिका एक रहस्य है। सूक्ष्मदृष्टिमें अव्यक्त गर्भमें बीज ही रहता है। बीज न होता तो इस प्रकार संस्थानभेदजनक रश्मिविशेषके संयोग-वियोग-विशेषसे और इच्छाशक्ति या सत्यसंकल्पके प्रभावसे भी सृष्टि होनेकी सम्भावना नहीं रहती। इसीलिये योग और विज्ञानके एक होनेपर भी, एक प्रकारसे दोनोंका किञ्चित् पृथक्‌रूपमें व्यवहार होता है। रश्मियोंको शुद्धरूपसे पहचानकर उनकी योजना करना ही सूर्यविज्ञानका प्रतिपाद्य विषय है। जो ऐसा कर सकते हैं, वे सभी स्थूल और सूक्ष्म कार्य करनेमें समर्थ होते हैं। सुख-दुःख, पाप-पुण्य, काम-क्रोध-लोभ, प्रीति, भक्ति आदि सभी चैतसिक वृत्तियाँ और संस्कार भी रश्मियोंके संयोगसे ही उत्पन्न होते हैं। स्थूल वस्तुके लिये तो कुछ कहना ही नहीं है। अतएव जो इस योजन और वियोजनकी प्रणालीको जानते हैं, वे सभी कुछ कर सकते हैं— निर्माण भी कर सकते हैं और संहार भी, परिवर्तनकी तो कोई बात ही नहीं। यही सूर्यविज्ञान है।'

मैंने पूछा—'आपको यह कहाँसे मिला ? मैंने तो कहीं भी इस विज्ञानका नाम नहीं सुना।' उन्होंने हँसकर कहा—'तुमलोग बच्चे हो, तुम लोगोंका ज्ञान ही कितना है ? यह विज्ञान भारतकी ही वस्तु है—उच्च कोटिके ऋषिगण इसको जानते थे और उपयुक्त क्षेत्रमें इसका प्रयोग किया करते थे। अब भी इस विज्ञानके पारदर्शी आचार्य अवश्य ही वर्तमान हैं। वे हिमालय और तिब्बतमें गुप्तरूपसे रहते हैं। मैंने स्वयं तिब्बतके उपान्तभागमें ज्ञानगंज नामक बड़े भारी योगाश्रममें रहकर एक योगी और विज्ञानवित् महापुरुषसे दीर्घकालतक कठोर साधना करके इस विद्याको तथा ऐसी ही और भी बहुत विद्याएँ हैं। केवल नाम सुनकर ही तुम क्या समझोगे ? तुमलोगोंने शास्त्रोंमें जिन विद्याओंके नाममात्र सुने हैं, वे और उनके अतिरिक्त और भी न मालूम कितना क्या है ?'

इस प्रकार बातें होते-होते संध्या हो चली। पास ही घड़ी रखी थी, महापुरुषने देखा, अब समय नहीं है, वे तुरंत नित्यक्रियाके लिये उठ खड़े हुए और क्रियागृहमें प्रविष्ट हो गये। हम सब लोग अपने-अपने स्थानोंको लौट आये।

इसके बाद मैं प्रायः प्रतिदिन ही उनके पास जाता और उनका सङ्ग करता। इस प्रकार क्रमशः अन्तरङ्गता बढ़ गयी। क्रमशः नाना प्रकारकी अलौकिक बातें मैं प्रत्यक्ष देखने लगा। कितनी देखी, उनकी संख्या बतलाना कठिन है। दूरसे, नजदीकसे, स्थूलरूपसे, सूक्ष्मरूपसे, भौतिक जगत्‌में, दिव्य जगत्‌में—यहाँतक कि आत्मिक जगत्‌में भी—मैं उनकी असंख्य प्रकारकी लोकोत्तर शक्तिके खेलको देख-देखकर स्तम्भित होने लगा।

(ख) परमहंसजीकी कुछ बातें

स्वामी श्रीविशुद्धानन्द परमहंसजीने बंगालके बर्दवान जिलेके बंडूल नामक गाँवके प्रसिद्ध चट्टोपाध्यायवंशमें जन्म

एवं माताका नाम राजराजेश्वरीदेवी था। लड़कपनमें ही इनके जीवनमें बहुत-सी अलौकिक घटनाएँ हुई थीं। चरित्रबल, धैर्य, अध्यवसाय, मानसिक संयम एवं भगवान्‌पर निर्भरता आदि सद्गुणोंके कारण छोटी उम्रमें ये अपने समवयस्क बालकोंमें विशिष्ट बन गये थे। आप लड़कपनमें खेलनेके बहाने भगवान्‌की और देवताओंकी पूजा करते, और मौका मिलते ही निर्जन तथा एकान्त स्थानमें जाकर ध्यानस्थ हो जाना आपको बहुत अच्छा लगता। वाक्‌सिद्धि और अन्यान्य अनेकों प्रकारके ऐश्वर्य बहुत बार इनकी बिना जानकारीमें ही लड़कपनमें इनके चरित्रमें देखे जाते थे। एक बार खेलमें ये मिट्टीके शिवजी बनाकर उनकी पूजा कर रहे थे, उसी समय इनके एक साथीने अशिष्ट आचरण करके पूजामें विघ्न किया, जिससे इनके चित्तमें क्रोध आ गया और अनजानमें ही अकस्मात् इनके मुँहसे निकल गया कि 'शिवजीका अपमान करनेके कारण शिवजीका साँप तुम्हें डसेगा।' वास्तवमें यही हुआ। उसको साँपने डस लिया, परंतु पीछेसे डसे हुए अङ्गपर इनके हाथ फेरते-फेरते देहसे विषकी क्रिया दूर हो गयी और बालक जी उठा।

एक बार इनकी पूजनीया माताजीको हैजा हो गया। चिकित्सकोंने उनके जीवनकी आशा छोड़ दी। ये शिशुपनसे ही असाधारण मातृभक्त थे। स्नेहमयी जननीके परलोक-गमनकी आशङ्कासे बालकका हृदय आच्छन्न हो गया। ये अपने गृहदेवता श्रीश्यामसुन्दरसे माताकी जीवन-रक्षाके लिये प्रार्थना करने लगे। परंतु निरन्तर प्रार्थना करनेपर भी माताकी अवस्था क्रमशः बिगड़ती गयी। तब तो ये रूठकर एक लोहेकी सांबल हाथमें लेकर गोशालाके ऊपरके मचानपर चढ़कर वहीं छिप गये। इन्होंने मनमें संकल्प कर लिया कि यदि श्यामसुन्दर मेरी माताके प्राणोंकी रक्षा नहीं करेंगे तो मैं इस लोहेकी छड़से उनकी मूर्तिको तोड़-फोड़ डालूँगा। भगवान्‌पर अत्यन्त निर्भरता तथा विश्वास होनेके कारण ही बालकके कोमल हृदयमें ऐसा मान पैदा हो गया था। कहना नहीं होगा कि श्यामसुन्दरने अपने इस मानी भक्तको मना लिया। उस अवसरपर इनकी माताजीके प्राण बड़ी ही अलौकिक रीतिसे बच गये।

इस प्रकारकी घटनाएँ इनके बाल्यजीवनमें अनेकों हुईं। छोटी ही उम्रमें इन्हें नाना प्रकारके देवताओंके दर्शन होने लगे। कई बार तो उनके साथ इनकी बातचीत भी होती। उपनयन-संस्कारके बाद इस अवस्थाका विशेष विकास हुआ था। यह सब पूर्वजन्मकी तपस्याका फल था, इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है। परंतु जिस घटनाने इनके जीवनको पलट दिया और इनके असाधारण योगशक्ति तथा ज्ञान-विज्ञानप्राप्तिके अधिकारकी सूचना हुई, वह घटना इनकी किशोरावस्थामें हुई थी। किसी पागल कुत्तेके काट खानेसे इन्हें जलान्तक रोग हो गया था और बहुत तरहके इलाज करनेपर भी अच्छे होनेकी कोई आशा नहीं रह गयी थी। ऐसी अवस्थामें ये भीषण यन्त्रणा भोगते हुए मौतकी बाट देख रहे थे। इसी समय एक महापुरुषने अपने योगबलसे बहुत ही थोड़े समयमें इन्हें आसन्न-मृत्युके मुँहसे बचा लिया। इन महापुरुषका नाम श्रीश्रीनिमानन्द परमहंस था। ये यहाँ किसी निर्दिष्ट आश्रममें नहीं रहते थे। अधिकांश समय हिमालयके ज्ञानगंज नामक विराट् योगाश्रममें ही निवास करते थे। इनकी उम्र इतनी अधिक थी कि आजकलके समयमें साधारण मनुष्य उसपर विश्वास करना नहीं चाहेंगे। कुछ दिनोंके बाद यही महात्मा इन्हें अलौकिक उपायोंसे अपने साथ आकाशमार्गके द्वारा बंगालसे बहुत दूर हिमालयमें ले गये और मानसरोवरके समीप अपने गुरुदेवके चरणोंमें उपस्थित कर दिया। मानसरोवरके समीप निवास करनेवाले श्रीनिमानन्दजीके गुरु हजारसे भी अधिक वर्षोंकी उम्र होनेपर भी आजतक स्थूल शरीरसे विद्यमान हैं। इन्होंने बालकको यथाविधि शक्तिसंचारपूर्वक दीक्षा देकर योगशिक्षा और ब्रह्मचर्यव्रत-पालनके लिये ज्ञानगंज आश्रममें भेज दिया। इस विराट् आश्रममें योगशिक्षाके साथ-ही-साथ नाना प्रकारके प्राकृतिक विज्ञानशिक्षाकी भी व्यवस्था है। 'विज्ञान' शब्दसे साधारणतः हम जो कुछ समझते हैं और जिसका समुन्नत रूप आजकल पाश्चात्त्य जगत्‌में दिखायी पड़ता है, ज्ञानगंज आश्रमका विज्ञान ठीक उसी प्रकारका नहीं है। यहाँ वे विज्ञान हैं जो प्राचीन कालके ऋषियोंको अवगत थे और आवश्यक होनेपर जिनके द्वारा वे अनेकों प्रकारके कार्य-साधन करते थे। ज्ञानगंज आश्रममें श्रीमत् श्यामानन्द परमहंस नामक एक महापुरुष इस विज्ञान-विभागके अधिष्ठाता थे। बाबाजीने महायोगी श्रीभृगुराम परमहंसदेवसे योगके समस्त

अङ्गोंका और विज्ञानविद् श्रीश्यामानन्द परमहंससे प्राकृतिक विज्ञानका रहस्य प्राप्तकर यथासमय ब्रह्मचर्य-व्रतका उद्यापन किया था। ब्रह्मचर्य-अवस्थाके बाद दण्डी और संन्यासी-अवस्थामें तत्तत् साधनभूमिके अनुसार सब साधनोंका अभ्यास करके और नियमपूर्वक परीक्षामें उत्तीर्ण होकर गुरुदेवकी आज्ञासे आपने पुनः लोकालयमें लौटकर जीवोंके कल्याण-साधनका व्रत लिया। दीर्घसमयतक लगातार ज्ञानगंज आश्रममें रहनेके बाद आपने भारतवर्षके बहुत-से तीर्थोंमें पर्यटन किया। यह लम्बी कथा है, यहाँ विस्तारकी आवश्यकता नहीं। यहाँ आकर तीर्थस्वामी-अवस्थामें आपने बर्दवान जिलेके गुप्कारा नामक गाँवमें निवास किया। तदनन्तर अपने गाँव बंडूलमें एक आश्रम बनाया और वहाँ इनके गुरुप्रदत्त शिवलिङ्गकी बंडूलेश्वरके नामसे स्थापना की गयी। इसके अनन्तर बर्दवान, काशी, झालदा, पुरीधाम और कलकत्ता आदि स्थानोंमें भी उन-उन प्रदेशोंके भक्त और साधकोंकी साधनसुकरताके लिये आश्रमोंकी स्थापना की गयी।

परमहंसदेव साधारणतः अशिक्षित और अर्धशिक्षित समाजमें 'गन्धबाबा'के नामसे विख्यात थे। जिनका इनसे बहुत दिनोंका परिचय है वे जानते हैं कि इनके शरीरसे कैसी एक अपूर्व दिव्य गन्ध सदा निकलती रहती थी। यह मूलतः विशुद्ध पद्मगन्धके समान होनेपर भी मर्त्यलोकमें इस गन्धकी कोई उपमा नहीं है। इसी गन्धसे इनके अनजानमें वायु और भावोंके स्पन्दनानुसार कभी चन्दन, कभी खस, कभी गुलाब और कभी अन्य किसी प्रकारकी दिव्य गन्धका आविर्भाव हो जाया करता। ब्रह्मचर्यके परिणामस्वरूप देहके सम्यक् प्रकारसे शुद्ध होनेपर शरीरसे इस प्रकारकी दिव्य गन्ध स्वाभाविक ही निकला करती है। पहले परमहंसदेव जहाँ बैठते, वहाँसे बहुत दूरतक—यहाँतक कि सारे आश्रममें उनके शरीरकी सुवास फैली रहती थी।

करके लिखनेसे साधारण पाठक उनमेंसे किसीको भी सम्भव नहीं मानेंगे और सहसा उनपर विश्वास करनेमें भी समर्थ नहीं होंगे। ये सारी बातें इतनी अधिक संख्यामें और इतने विचित्र ढंगसे इनके जीवनमें प्रकट हुई हैं कि धीरजके साथ विचार करनेपर अत्यन्त कठोर शुष्क नास्तिक-हृदयमें भी भगवान्‌की मङ्गलमय विभूति और अहैतुकी अपार करुणापर विश्वास हुए बिना नहीं रह सकता। परंतु इन सब व्यक्तिगत बातोंको लेकर लोगोंके सामने प्रकट होना अशोभन मालूम होता है, इसीलिये विशेष विवरण न देकर थोड़ेसेमें कुछ खास-खास बातें लिखी जाती हैं।

परमहंसदेव अपने मस्तकके भीतर शालग्राम और शिवलिङ्गको धारण किये रहते हैं। साथ ही वहाँ १०८ स्फटिक मणियोंकी एक माला भी है। पूजा आदिके समय उक्त शालग्राम और शिवलिङ्गको मुख आदि द्वारोंसे बाहर निकालकर यथाविधि पूजा कर चुकनेपर पुनः यथास्थान उन्हें रख देते हैं। एक बार एक भक्त जमाये हुए पारेसे बना हुआ एक शिवलिङ्ग लाये और उसे बाबाको दिखलाया। बाबाने कहा—'तुम कहो तो मैं इस पारदसे बने हुए शिवलिङ्गको निगल जाऊँ।' शिष्य घबरा उठे। लगभग एक पाव पारा खा लेनेपर कहीं ऐसा न हो कि बाबाका शरीर न रहे। उनको यह डर हो गया। इसीलिये वे इधर-उधर ताकने लगे। आखिर अन्यान्य गुरुभाइयोंके उत्साह दिलानेपर वे राजी हो गये। तब परमहंसजीने सबके सामने उस शिवलिङ्गको मुखमें लेकर मस्तकपर चढ़ा लिया और उसे वहीं स्थापन कर दिया। फिर एक बार उन्होंने इस पारेके शिवलिङ्गको भी मुखसे निकालकर उसकी पूजा-अर्चना करनेके बाद पुनः मस्तकमें चढ़ा लिया था।

इनके शरीरमें इतना अधिक तेज है और बिजलीकी इतनी अधिक क्रिया होती है कि मच्छर, मधुमक्खी, हड्डे, भँवरे आदि जीव दंशन करते ही उसी क्षण मरकर गिर जाते हैं।

वे भी उसी क्षण सिर झुकाकर मृदु बन जाते हैं[१]।

परमहंसदेवके शरीरमें बहुत-से स्फटिक-गोलक (Crystal balls) हैं। तीव्र योगक्रियाके प्रभावसे जब शरीरमें बहुत अधिक गरमी बढ़ती है, तब इन स्निग्ध वस्तुओंके संसर्गसे वह बहुत कुछ शान्त हो जाती है। इन स्फटिकोंके अतिरिक्त मोती, हीरा आदि वस्तुएँ भी इनके देहके अंदर स्थानविशेषमें रक्षित हैं। शीतके समय शरीरके संकोच होनेके कारण कभी-कभी दो-एक स्फटिक अपने-आप ही लोमकूपके द्वारा शरीरसे बाहर निकल पड़ते हैं। कई बार प्रसङ्गवश वे स्वयं ही किसी तत्त्वकी व्याख्या करते समय देहसे स्फटिक निकालकर दिखाया करते हैं। रोमछिद्रोंसे स्फटिकोंके बाहर निकलते समय न तो किसी प्रकारका कष्ट होता है और न खून ही निकलता है। शरीरसे निकलते ही स्फटिकोंमें अति पवित्र दिव्य गन्ध आती है। आप शरीरके अंदर भी एक जगहसे दूसरी जगह स्फटिकादिको ले जाते हैं। साधारण लोगोंकी तो बात ही क्या है, देहतत्त्वके पण्डित भी अपने अपूर्व ज्ञानसे इस बातको नहीं समझ सकते कि यह सब कैसे होता है। योगीकी देह बाह्यदृष्टिसे साधारण देहकी तरह प्रतीत होनेपर भी उसमें निश्चय ही एक अचिन्त्य वैशिष्ट्य रहता है। एक बार परमहंसदेवने अपने विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको एक-दूसरेसे अलग करके दिखलाया था और आश्चर्य यह कि उसी समय वे अदृश्यरूपसे शून्यमेंसे बोलते हुए शिष्यको समझा भी रहे थे। फिर किसी अपूर्व शक्तिके प्रभावसे वे सब अलग-अलग हुए अङ्ग-प्रत्यङ्ग पुनः अपने-आप ही परस्पर जुड़ गये और शरीर पूर्वपरिचित आकारमें प्रकट हो गया।

एक दिन कुछ जिज्ञासु भक्तोंको आपने अपने हाथका एक परत चमड़ा अलग करके फिर उसे हाथसे ज्यों-का-त्यों लगाकर समझाया था कि पाश्चात्त्य शारीर-विज्ञानियोंकी लौकिक विद्याके द्वारा योगियोंके स्वरूपका निरूपण सम्भव नहीं है। एक बार आपका शरीर नवजात शिशुके आकारमें बदल गया था। इसको कई लोगोंने अपनी आँखों देखा था। इस लेखकको एक दिन आप पुराणवर्णित श्रीविष्णु भगवान्‌के नाभिकमलसे ब्रह्माजीके उत्पन्न होनेकी बात समझाते हुए कहने लगे कि 'पुराणोंका यह वर्णन 'रूपक' नहीं है, किंतु अक्षर-अक्षर सत्य है। कुण्डलिनी-शक्तिका विकास होनेपर जब योगके अन्तराकाशमें परमादित्यस्वरूप ज्योतिर्मय तेजपुञ्जका उदय होता है, तब सूर्योदयके समय कमलकी भाँति उसका नाभिकमल अपने-आप ही प्रस्फुटित हो जाता है। जो वास्तवमें योगी हैं, उनको ऐसा अवश्य होता है। हाँ, परंतु जो नाभिधौति आदि दुरूह क्रियाओंमें पूर्णरूपसे निष्णात नहीं हैं, उनके कमलका विकास नहीं हो सकता।' इतना कहकर वे फिर बोले कि 'साधारण बद्ध जीवोंकी नाभिमें ग्रन्थि लगी है, इस ग्रन्थिका मोचन न होनेतक ऊर्ध्वरति असम्भव है।' इसके बाद दोनों हाथोंसे नाभिप्रदेशके दो-चार बार संचालन करते ही नाभिप्रदेश एक गड़हेके रूपमें परिणत हो गया। उपस्थित भक्तगण यह देखकर चकित हो गये। क्रमशः उस गड़हेमेंसे एक अति सुन्दर नालका आविर्भाव हुआ और उसके ऊपर अत्यन्त लावण्ययुक्त दिव्य कमल दिखलायी पड़ा। हालके खिले हुए कमलकी पवित्र गन्धसे सारा घर और आँगन सुगन्धित हो उठा। यहाँतक कि उस समय जो लोग दर्शनके लिये बाहरसे आ रहे थे उनको भी घरमें प्रवेश करनेके पूर्वसे ही सुगन्धि आने लगी। कुछ क्षणोंके बाद नाभिको हिलाते ही कमल नालसहित संकुचित होकर भीतर प्रवेश करके अदृश्य हो गया।

परमहंसदेवकी शक्तिकी तुलना नहीं है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है। मनुष्यकी शक्ति कहाँतक विकसित हो सकती है, इस बातको परमहंसजीके साथ अन्तरङ्गभावसे परिचित होनेपर ही जाना जा सकता है। उनके वस्तुनिर्माणकी बात कहनेकी तो विशेष आवश्यकता ही नहीं है। कारण, इस बातको तो बहुत लोग जानते हैं। हमारे अपने घरमें अत्यन्त कठिन रोगके समय, उनको किसी तरहकी खबर न देनेपर भी, बहुत बार उन्होंने स्थूल या सूक्ष्म शरीरसे आविर्भूत होकर

१-इस प्रसङ्गमें यह उल्लेख करना अप्रासङ्गिक नहीं होगा कि बाबाजी जब गुप्कारामें रहते थे, तब कई विषधर सर्पोंको अपने साथ रखते थे। गरमीके दिनोंमें क्रियाके समय साँपोंको शरीरपर लपेटे रहते थे, जिससे इनका शरीर ठंडा रहता था। फिर झालदामें रहनेके समय कुछ दिन बाघ आपके पास रहे थे। भीषण हिंस्र जीव होनेपर भी बाघ आपके समीप शान्त और स्थिरभावसे ही रहते थे। जाड़ेके दिनोंमें रातको कई बार आप बाघसे लिपटे रहते थे, जिससे शरीर खूब गरम रहता था।

रोगीको उपदेश दिया है और औषध देकर भी अथवा न देकर भी तत्काल ही उसे रोगमुक्त कर दिया है। पाँच-सात मील दूरसे क्षणभरमें आविर्भूत होकर स्थूल और पञ्चभूतात्मक औषध प्रदान करना आदि कार्य साधारण बुद्धिके अगोचर हैं। कभी-कभी तो ऐसी घटना हुई है कि एक सेकंड असावधानी की जाती तो भयङ्कर परिणाम हो जाता, परंतु उस एक सेकंडके बीतते-बीतते ही उन्होंने आविर्भूत होकर अपनी मङ्गलमयी रक्षाशक्तिका प्रयोग किया। ऐसी अनेकों घटनाएँ हैं, परंतु यहाँ उनके प्रकट करनेकी आवश्यकता नहीं है।

एक बार मेरी जपकी माला टूट गयी। मैं उसको ठीक शास्त्रीय ढंगसे गूँथ देनेके लिये बिखरे हुए रुद्राक्षके दाने और थोड़े-से रेशमको लेकर बाबाके पास पहुँचा और उनसे मैंने प्रार्थना की। उन्होंने रुद्राक्षके दानोंको और रेशमको गोमुखीमें रखकर उसे अपनी मुट्ठीमें भींच लिया। फिर दो-तीन बार उसपर हाथ फिराकर गोमुखी मुझे दे दी। ऐसा करनेमें तीन-चार सेकंडसे अधिक समय नहीं लगा था। मैं गोमुखीसे निकालकर देखता हूँ तो माला बड़ी सुन्दरतासे गुँथी हुई है। यहाँतक कि सुमेरुतक विधिपूर्वक लगा है। गाँठें भी शास्त्रीय प्रक्रियाके अनुसार ही लगी हैं। पूछनेपर उन्होंने कहा कि 'यह वायुविज्ञानका कार्य है। जिसको तुमलोग अल्पसमय कहते हो, वह वास्तवमें अल्प नहीं है। सूक्ष्म स्तरमें चले जानेपर उसीमें दीर्घकालका भी कार्य हो सकता है।'

परमहंसदेवमें ऐश्वर्य और माधुर्य इन दोनों भावोंका अत्यन्त अपूर्व सम्मिश्रण है। योग अथवा विज्ञान किसी भी दिशामें उनकी शक्तिकी सीमा नहीं बाँधी जा सकती। इसके सिवा योगज्योतिष, देवज्योतिष, स्वरोदय आदि विद्याओंपर पूर्ण अधिकार होनेके कारण वे योग और विज्ञानकी शक्तिके बिना ही एक प्रकारसे सर्वज्ञानशक्तिपर अधिकार किये हुए हैं। परंतु इतनी शक्तियोंके होते हुए भी उनमें जिस अपूर्व संयम और माधुर्यगुणका विकास देखा जाता है, वह अतुलनीय है। ज्ञानका विकास होनेपर पराभक्ति और प्रेमकी गम्भीरतामें द्युतिमय रसतत्त्वका आविर्भाव होता है, उससे करुणा, स्नेह, वात्सल्य आदि दिव्य गुणोंकी स्फूर्ति होकर अपने-आप ही कार्य होता रहता है। कर्तव्यनिष्ठा, संयमशीलता, उद्यम, अध्यवसाय, गुरुभक्ति और निर्भरता आदि गुणोंके समन्वयसे उनका जीवन योगमार्गमें अप्रविष्ट साधारण मनुष्यके लिये भी आदर्श है।

परमहंसजीका प्रधान उपदेश यह है कि 'प्रेमके बिना भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती, शुद्धा भक्तिकी परिणतिसे ही प्रेमका उदय होता है। जिस भक्तिकी दृष्टि स्वार्थसाधनकी ओर है, जिसकी जड़में कामनाका बीज है वह कभी प्रेमके रूपमें परिणत नहीं होती। वस्तुतः उसको भक्ति कहना ही उचित नहीं है। ऐसी भक्तिसे तो यथासम्भव दूर रहना ही साधकका कर्तव्य है। शुद्धा भक्तिके उदयके लिये ज्ञानका विकास आवश्यक है। केवल ग्रन्थोंके अध्ययनसे जिस ज्ञानकी प्राप्ति होती है, वह तो शुष्क ज्ञान है। उसे असली ज्ञान नहीं कहना चाहिये। यथार्थ ज्ञानका उद्भव चित्तशुद्धि हुए बिना नहीं होता और चित्तशुद्धि कर्मसापेक्ष है। अतएव यथाविधि सद्गुरुके आदेशको सिर चढ़ाकर उनके दिखलाये हुए मार्गसे निष्ठा, संयम और श्रद्धाके साथ अपने चरित्रबलको पवित्र बनाये रखते हुए जो अग्रसर हो सकता है, उसको अवश्य ही असली ज्ञान प्राप्त होता है। इस कर्मको ही योगीगण योग कहते हैं, इसके विपरीत अन्य कर्मोंको योग नहीं कहा जाता और वे चित्तशुद्धिमें सहायक भी नहीं होते। अतएव नीति और चरित्रशुद्धिकी ओर लक्ष्य रखकर सद्गुरुके उपदिष्ट मार्गसे निरन्तर योगाभ्यासरूप दीर्घकालव्यापी कर्म कर सकनेपर ही चित्तशुद्धि और आत्मज्ञानका विकास होता है। तब हृदय-ग्रन्थि खुल जाती है, समस्त संशय छूट जाते हैं और जन्म-जन्मान्तरकी संचित कर्मराशिका क्षय हो जाता है। इस अवस्थामें अविद्याकी आंशिक निवृत्तिके कारण उसीके अनुसार आत्मशक्तिका स्फुरण आरम्भ होता है। यही योग-विभूतिकी सूचना है। इसके बाद परमात्माके अहैतुक नित्य आकर्षणके प्रभावसे विशुद्ध जीव क्रमशः आगे बढ़ता हुआ उनके निकट पहुँचता रहता है और परम मङ्गलमय ऐश्वरिक विभूतिका आस्वादन प्राप्त करता है। ज्ञानका परिपाक अथवा भक्तिका विकास इस एक ही भूमिके नामान्तर हैं। इसके बाद आत्मसमर्पणके पूर्ण होते ही प्रेमका आविर्भाव होता है। इसीसे भगवत्प्राप्तिकी सूचना है। पूर्ण साधनमार्गके किसी भी अंशकी उपेक्षा करनेसे काम नहीं चलता। अवस्था और अधिकारभेदसे सभीकी उपकारिता है। अतएव साधनामात्रका ही मूलमन्त्र कर्म है।

कर्म या पुरुषार्थका आश्रय लेनेपर दैवबल अपने-आप ही आ जाता है। तब फिर भगवान्‌के अनुग्रहके लिये प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। अवश्य ही पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मके फलसे किसी-किसीके प्रथम अवस्थामें ही उन्नत-भावका विकास देखनेमें आता है। परंतु इससे सिद्धान्तमें कोई व्यतिक्रम नहीं होता। इतनी बात याद रखनी चाहिये कि भगवान्‌की इच्छा ही मूल है। अतएव कर्मको मूल बतलानेपर भी प्रकारान्तरसे कर्मके मूलमें भी उन्हींका अनुग्रह होता है, परंतु अज्ञान-अवस्थामें अनुग्रहकी अनुभूति नहीं होती, इसलिये आत्माभिमान प्रबल रहता है, अतएव कर्मके भावको ही प्रबल मानकर चलना पड़ता है। ज्ञानका उदय होनेपर यह बात समझमें आ जाती है कि समस्त विश्व ही उनकी लीला है। अर्थात् उनकी इच्छाशक्तिका खेल है। जीव केवल इस अभिनयका एक निष्क्रिय द्रष्टामात्र है।' (क्रमशः)

मेस्मेरिज्म, हिपनॉटिज्म और योग-विद्या

(डॉ० श्रीदुर्गाशंकरजी नागर)

मेस्मेरिज्मका इतिहास

मेस्मेरिज्मके तत्त्वज्ञानसे हमारे भारतीय ऋषि-महर्षि अपरिचित नहीं थे। पातञ्जलयोगदर्शनके प्रथम सूत्रमें ही यह बतलाया गया है—**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** अर्थात् चित्त-वृत्तियोंके निरोधका नाम ही योग है। मनका स्थिर करना ही इस शक्तिका मूल है। मेस्मेरिज्म और हिपनॉटिज्म भी मनकी एकाग्रताके प्रतीक हैं और एकाग्रतासे ही सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। मेस्मेरिज्म विद्याको दो भागोंमें विभक्त किया गया है—एक रोगनिवारण और दूसरा दिव्य ज्ञान। दोनोंका एक दूसरेसे घनिष्ठ सम्बन्ध है।

मनुष्यकी जिस शक्तिसे मेस्मेरिज्म क्रिया उत्पन्न की जाती है उसे 'इच्छाशक्ति' (Will-power) कहते हैं। वेदमें मनकी अपूर्व शक्तिका वर्णन है। मनःसंयम करनेका अभ्यास करना या एकाग्रताका अभ्यास करना ही मनोयोग है।

मेस्मेरिज्म विद्याके जन्मदाता आस्ट्रियाके मेस्मर (सन् १७३४ ई०) नामक चिकित्साशास्त्री थे। उन्होंने रोगोंके निवारणके लिये यूरोपमें इस विद्याका प्रचार-प्रसार किया। इन्हींके नामपर इस विद्याका 'मेस्मेरिज्म' नाम प्रचलित हुआ।

मेस्मरकी मृत्युके बाद जर्मनी, फ्रांस तथा इंग्लैंड और विश्वके अन्य देशोंमें भी इस विद्याका खूब प्रचार होता रहा और अमेरिकामें तो इसका और भी अधिक प्रचार हुआ। बादमें क्लोरोफार्मके आविष्कार होनेसे मेस्मेरिज्मका प्रचार कुछ कम हो गया।

ई० सन् १८४१ में मेनचेस्टरके प्रसिद्ध डॉक्टर ब्रेडने मेस्मेरिज्मके सिद्धान्तोंका अध्ययन किया और सिद्ध किया कि मेस्मरका अदृश्य शक्तिके प्रवाह (Animal Magnetism) का सिद्धान्त कल्पना मात्र है। डॉक्टर ब्रेडका अनुभव यह हुआ कि दूसरोंको प्रभावित करना या कृत्रिम निद्रामें लाना सूचनाशक्तिपर निर्भर है। किसी मनुष्यकी कोई चमकीली वस्तुपर दृष्टि जमवाकर नेत्रोंके मज्जातन्तुओंमें थकान ला देनेकी क्रियासे स्वाभाविक निद्राके समान तन्द्रा उत्पन्न होती है। इस कृत्रिम निद्राका नाम हिपनॉसिस है। इसी नामके आधारपर हिपनॉटिज्म शब्द प्रचलित हुआ।

मेस्मेरिज्म और हिपनॉटिज्ममें भेद

मेस्मेरिज्म और हिपनॉटिज्ममें अन्तर यह है कि मेस्मेरिज्ममें हाथ फेरकर और दृष्टि स्थिर करके निद्रा उत्पन्न की जाती है और हिपनॉटिज्ममें सूचना देकर किसी चमकीली वस्तुपर पात्रकी दृष्टि सधाकर कृत्रिम निद्रा लायी जाती है।

मेस्मेरिक और हिपनॉटिक अवस्थाका विवेचन

कुछ मनुष्य ऐसे होते हैं कि रात्रिको नींदमें ही उठकर विविध कार्य करते हैं—पत्र लिखते हैं—लेख लिखते हैं और प्रातःकाल जाग्रत् होनेपर लेखादि तैयार देखकर आश्चर्य करते हैं कि यह कार्य किसने किया। उनको इस बातका ज्ञान नहीं रहता कि यह कार्य उन्हींका किया हुआ है। इस स्थितिको स्वाप्निक अवस्था कहते हैं। मेस्मेरिक और हिपनॉटिक अवस्थामें बहिर्मन सो जाता है और अन्तर्मन जाग्रत् रहता है। अन्तर्मनपर कृत सूचनासे वह अत्यधिक प्रभावित होता है और अन्तर्मन ही सब कुछ करता है।

हिपनॉटिक अवस्थामें पात्रको कहा जाय कि तू कुत्ता है तो वह भौंकने लगता है और कुत्तेकी-सी चेष्टा करता है। उसे

घॉसलेट सुँघाकर कहा जाय कि यह गुलाबका इत्र है तो वह बड़े प्रेमसे सूँघता है। उसे आँखें खोलनेकी आज्ञा दी जाय और सूचना दी जाय कि देखो, तुम्हारे सम्मुख समुद्र है, तुम इसमें तैर सकते हो तो वह कपड़े उतारकर तैरने लगता है। हिपनॉटिज्ममें आज्ञा या सूचना देकर ज्ञानेन्द्रियोंको भ्रममें डाल सकते हैं। विरोधी सूचना देकर विविध व्यसन, मानसिक रोग, दुराचार आदिको दूर कर सकते हैं।

मेस्मेरिक सुषुप्ति-अवस्था जब किसी सन्धिवातके रोगीमें उत्पन्न हो जाती है जो जाग्रत्-अवस्थामें जरा भी हाथ-पैर नहीं हिला सकता और उसे उस अवस्थामें जोरदार सूचना दी जाय कि तुमको बिलकुल दर्द नहीं होगा, तुम अपने पैर अच्छी तरह हिला सकते हो, तो जाग्रत् होनेपर वह अपने पैर इसी तरह हिला सकेगा। जाग्रत् होनेपर उसको कोई पीड़ा नहीं मालूम होगी। इसी प्रकार चित्तभ्रम, उन्मादवायु, मज्जाविकार, वातविकार, अर्धाङ्गवायु, हिस्टीरिया, न्यूरस्थेनिया, उन्निद्ररोग, मस्तिष्ककी निर्बलता, पेटके विकार, सन्धिवात, भिन्न-भिन्न प्रकारके दर्द, सामान्य ज्वर और सिरदर्द आदि रोग मेस्मेरिज्मसे दूर किये जा सकते हैं।

मेस्मेरिज्मकी छः अवस्थाएँ होती हैं—१-तन्द्रा, २-निद्रा, ३-प्रगाढ़ सुषुप्ति, ४-अनुवृत्ति, ५-दिव्य दृष्टि और ६-प्रत्यग्दृष्टि (आन्तर्दृष्टि)।

साधारण पात्र तीन अवस्थाओंसे अधिक प्रभावित नहीं होते। कोई-कोई उत्तम पात्र चौथी या पाँचवीं अवस्थामें चले जाते हैं और छठी अवस्था तो किसी विरलेमें ही उत्पन्न होती है।

मेस्मेरिज्म और समाधि

पाँचवीं और छठी अवस्था उत्पन्न होनेपर पात्रको दूरदर्शन और दूरश्रवण होने लगता है। वह भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालका उत्तर दे सकता है, यह समाधि-अवस्था ही है। मेस्मेरिज्मकी इस अन्तर्दृष्टिकी अवस्थामें पहुँचनेपर पात्रके मनका शरीरसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता। रोग-निवारण एवं चमत्कारोंके साथ ही यह विद्या योगाभ्यासका भी दिग्दर्शन कराती है। यदि कोई मनुष्य दूसरोंपर प्रयोग न करके अपने ऊपर ही प्रयोग करता रहे तो समाधितक पहुँचकर आत्मानुभव कर सकता है। योगके द्वारा इससे अधिक एवं कोई अलौकिक अनुभूति होती है।

मेस्मेरिज्म और प्राणतत्त्व

योगशास्त्रमें प्रसिद्ध प्राण और मेस्मेरिज्म—ये दोनों तत्त्व एक ही हैं, इसलिये मेस्मेरिज्म विद्याको हम प्राण-विनिमयके नामसे कह सकते हैं। प्राण ही शरीरका जीवभूत आधार है। प्राणमें विकृति होनेसे ही रोगादि दोष शरीरमें उत्पन्न होते हैं और प्राणकी शुद्धि ही बल, पराक्रम और शरीरके आरोग्यका आधार है।

प्राण-विनिमय (मेस्मेरिज्म)-से विकृत प्राणको दूर करके शुद्ध प्राणका संचार किया जाता है। जिस मनुष्यका मन पवित्र हो और शरीर स्वस्थ हो वह दूसरोंमें शुद्ध प्राणका संचार कर सकता है। किसी मलिन शरीर और अशुद्ध विचारकी वृत्तिवाले मनुष्यके स्पर्शसे अपने प्राणकी शुद्धता नष्ट होती है। इसीलिये उनका स्पर्श होनेपर स्नानका विधान है। जड और चेतन सब पदार्थोंमेंसे प्राणकी छाया निरन्तर निकला करती है। अतः दूसरोंके पहने हुए वस्त्र, उपयोगमें लायी हुई वस्तुएँ, उच्छिष्ट अन्न-जल आदि भी नहीं ग्रहण करना चाहिये। छूत-छात और भक्ष्याभक्ष्यका विचार इसी सिद्धान्तपर अवलम्बित है। मेस्मेरिज्मका 'योगशास्त्र, तन्त्रशास्त्र और स्वरशास्त्रसे घनिष्ठतम सम्बन्ध है।

पुराने समयके महापुरुषों तथा देवताओंके चित्र और मूर्तियोंके अवलोकन करनेसे ज्ञात होता है कि हरेकके मस्तकके चारों ओर एक गोलाकार आलोक बना हुआ है। संस्कृतमें इसे तेजस् कहते हैं और अंग्रेजीमें औरा।

हमारे शरीरमेंसे विद्युत्प्रवाह निकलता रहता है और हाथोंकी अंगुलियोंके अग्रभाग तथा नेत्रोंके छोरसे विशेषरूपसे निकलता है। इसीलिये मेस्मेरिज्ममें वेधक दृष्टि और हस्तसंचालन (मार्जन) पर विशेष जोर दिया गया है।

१-लौहचुम्बक (Magnet), २-क्रिस्टल (Crystal), ३-फूल तथा ४-मनुष्यके हाथ और चेहरेसे जो तेजस् निकलता है, उसे ऑडिलिक फोर्स (Odylic force) कहते हैं।

मेस्मेरिक और हिपनॉटिक शक्तिके विकास करनेके नियम

१-आत्मविश्वास, २-दृढ़ संकल्प-बल, ३-परमार्थबुद्धि,

४-वेधक दृष्टि, ५-स्वस्थ शरीर, ६-धैर्य और दृढ़ता, ७-शुद्ध आहार-विहार और ८-शान्त चित्त।

मेस्मेरिज्म और हिपनॉटिज्ममें सिद्धहस्त होनेके लिये उपर्युक्त गुण प्रयोगकर्तामें अवश्य होने चाहिये। बिना आत्मविश्वास और दृढ़ संकल्प-बलके किसी भी कार्यमें सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

आकर्षणशक्ति बढ़ानेका साधन

प्रातःकाल जितना जल्दी हो सके, दृष्टिसाधनका अभ्यास एकान्त कमरेमें अकेले करना चाहिये। शालग्राम, शिवलिङ्ग अथवा दीपककी ज्योतिपर ध्यान और नासिकाग्र अथवा त्रिपुटीदेशमें त्राटक करनेका विधान योगशास्त्रमें बतलाया गया है। दीपककी ज्योतिपर या नासिकाग्रपर दृष्टि स्थिर करनेसे नेत्रविकारवाले व्यक्तियोंको हानि पहुँचती है। शालग्राम और शिवलिङ्गपर त्राटक करनेसे नेत्रज्योति बढ़ती है। इस बातका सदा ध्यान रहे कि दो फुटसे अधिक दूरी न हो और अभ्यास शनैः-शनैः बढ़ाया जाय, एकदम नहीं।

दर्पणत्राटकका अभ्यास

दीवालपर दर्पणको टाँग दिया जाय। उसके मध्यभागमें चवन्नी बराबर सफेद कागज काटकर चिपका दें। दर्पणसे डेढ़ फुट दूरीपर पट्टे या कुर्सीपर स्थिरतासे बैठ जाइये। आँखोंको न अधिक तानना चाहिये और न दृष्टिको ही नीचे गिराना चाहिये। दर्पणके कागजपर दृष्टिको स्थिरकर पलकोंको हिलने नहीं देना चाहिये। एक दृष्टिसे टकटकी बाँधकर देखते रहना चाहिये, वृत्तिको इस तरह स्थिर करना चाहिये कि आपका प्रतिबिम्ब काँचमें न दीखने पावे। प्रथम दिन एक मिनट, दूसरे दिन दो मिनट इस प्रकार कम-से-कम दस-पंद्रह मिनटसे आध घंटेतक अभ्यास बढ़ा सकते हैं। आँखोंको कष्ट मालूम हो तो एक दिनका विश्राम देकर पुनः अभ्यास किया जा सकता है। अभ्यासके बाद नेत्रोंको ठंडे जलसे अच्छी तरह धो डालें। इस अभ्याससे निर्बल नेत्र सबल होंगे और आकर्षणबल बढ़ेगा। त्राटकके अभ्यासके समय इस प्रकारका बार-बार चिन्तन करना चाहिये कि—

'मेरे नेत्रोंके ज्ञानतन्तु बलवान् हो रहे हैं। मेरे नेत्र आकर्षक और प्रभावशाली हो रहे हैं। मैं निर्भय हूँ। मैं सिर ऊँचा करके सबके सम्मुख देख सकता हूँ। मेरी मनःशक्ति प्रबल है।'

दीर्घ श्वास-प्रश्वासका अभ्यास

प्रातःकाल वायुसेवनके लिये जंगलमें किसी ऊँचे टीलेपर या स्थानपर सरलतासे सिर और छाती सीधी करके सुखासनसे मेरुदण्डको सीधा करके बैठ जाइये। मुख बंद करके नासिकासे गहरा श्वास लेकर कुछ देर फेफड़ोंमें कुम्भक कर शनैः-शनैः प्रश्वासद्वारा खींची हुई वायुको बाहर निकालिये। पुनः इसी प्रकार दस-बीस बार कीजिये और यहाँतक अभ्यास बढ़ाइये कि कम-से-कम सौ बार इस श्वासोच्छ्वासक्रियाको आसानीसे कर सकें। पूरक, कुम्भक और रेचक करते समय निम्न विचारोंपर मनन करें—

'मैं सूर्य भगवान्‌से प्राणशक्तिको श्वसनक्रियाद्वारा शरीरमें खींच रहा हूँ। सूर्यकिरणोंद्वारा प्राणशक्ति मेरे रोम-रोममें प्रविष्ट होकर मुझे बल, उत्साह, जीवनशक्ति और आरोग्य प्रदान कर रही है। मेरे शरीरसे विद्युत्-प्रवाह, प्रकाश और किरण निकल रहे हैं। मैं सूर्यके सदृश तेजस्वी बन रहा हूँ।'

मार्जन करनेकी रीति

मनुष्यके शरीरपर हाथ फेरकर रोग दूर करनेकी प्रथा प्राचीन कालसे चली आ रही है। अपनी शक्तिको दूसरेमें प्रवेश करनेकी क्रियाको मार्जनक्रिया अथवा पास करना कहते हैं। मार्जन दो प्रकारके होते हैं—विधानमार्जन और विसर्जनमार्जन।

हाथोंकी दोनों हथेलियोंको जोरसे रगड़ें जबतक कि वे गर्म न हो जायँ। फिर हाथोंको आगे-पीछे खूब हिलाइये और हाथोंकी मुट्ठियोंको खूब जोरसे बंद करें और खोलें। अब दोनों हाथोंकी हथेलियोंको और अंगुलियोंको मिलाकर तथा अँगूठोंको दूर रखकर एक तकिया रखकर कल्पना करें कि यह मनुष्य है। धीरे-धीरे कपाल, छाती, पेटपरसे उतारते ले जायँ और पैरतक ले जाकर एक तरफ झटक दें। (पास स्त्रीके बायीं ओर और पुरुषके दाहिनी ओर देना चाहिये)। इस तरह हाथोंको झिड़क देना चाहिये कि मानो किसी दूषित द्रव्यको शरीरसे निकालकर बाहर फेंक रहे हों। शरीरसे हाथ चार इंच दूरीपर रखना चाहिये। सिरसे पैरतक एक बार ऐसा करना एक

मार्जन कहलाता है। दूसरा मार्जन प्रारम्भ करते समय हाथोंको झटकनेके बाद तत्काल मुट्ठियाँ बंद करके रोगीके सिरपरसे ले जाना चाहिये और फिर उसी रीतिसे पास देना चाहिये। इस प्रकार पंद्रह मिनटसे आध घंटेतक रोग दूर करनेका अभ्यास कर लेना चाहिये।

कुछ दिनोंके अभ्याससे अभ्यासमें सफलता प्राप्त होनेपर मेस्मेरिज्मसे रोगीकी चिकित्सा की जा सकती है।

मेस्मेरिज्मका प्रयोग

प्रथम विधि

जिस मनुष्य या रोगीपर मेस्मेरिज्म करना हो उसको एक कुर्सीपर बिठा दें। दूसरी कुर्सी उसके सम्मुख एक फुटकी दूरीपर रखकर प्रयोगकर्ता बैठ जाय। जिस पात्रपर प्रयोग किया जाय उसके दाहिने हाथकी अँगुलियोंको अपने बायें हाथसे पकड़कर नजरसे नजर मिलाये और दृढ़ संकल्प करे कि पात्रको निद्रा आ रही है। उसे कहा जाय कि वह टकटकी बाँधकर एक दृष्टिसे पलकोंको बिना झपकाये प्रयोगकर्ताके नेत्रोंकी तरफ देखता रहे। थोड़ी देर बाद जब आँखोंको खुला रखना पात्रके लिये असम्भव हो जाय तब उसे आँखें बंद करनेकी आज्ञा दी जाय। प्रयोगकर्ता पात्रको समझा दे कि जब आँखें भारी होकर बंद होने लगें तब बंद कर ले और स्वस्थतासे सो जाय। पात्रको यह भी समझा दे कि उसपर मार्जन करके शक्तिपात किया जायगा।

इस प्रकार करनेपर थोड़ी देर बाद पात्रकी आँखें भारी हो जायँगी और उसे ऊँघ आने लगेगी। इस समय प्रयोगकर्ताको हाथ धीरेसे छोड़कर विधान-मार्जन देना आरम्भ करना चाहिये। दस-पंद्रह मिनट मार्जन देनेसे पात्र गहरी नींदमें चला जायगा।

मेस्मेरिक अवस्थाकी परीक्षा

जिसपर मेस्मेरिज्म किया गया हो उस पात्रका हाथ ऊँचा उठाकर तुरंत छोड़ दे। यदि लकड़ीके समान एकदम गिर पड़े तो जानो कि उसपर मेस्मेरिज्मका प्रयोग हो गया है। उसकी आँखोंकी पलकें खोलकर देखे। यदि नेत्र ऊपर चढ़े हुए हैं, सफेद दीखने लगे हैं और बीचका तारा घूमने लगे तो समझो कि प्रभाव हो गया है।

यदि पात्र रोगी हो तो जिस अङ्गमें रोग हो उस स्थानपर पाँच-सात मार्जन करके सूचना देनी चाहिये कि तुम्हारे जाग्रत् होनेपर सब दर्द दूर हो जायगा। यदि विश्वदृष्टि उत्पन्न करनी हो तो किसी वस्तुको मुट्ठीमें बंद करके उसके कपालपर हाथको रखकर कहे कि तुम सूक्ष्म शरीरसे मेरे हाथकी वस्तु देख सकते हो—बतला सकते हो। जब वह बतला दे तो कमरेकी अन्य चीजोंके सम्बन्धमें उससे पूछे। फिर अन्य स्थानोंमें भेजकर वहाँके समाचार प्राप्त करे। फिर विसर्जन-मार्जन अर्थात् उलटे पैरसे सिरकी ओरसे कर दे या जोरसे ताली बजाकर जाग्रत् कर दे। मार्जन करनेके बाद हाथोंको ठंडे जलसे अच्छी तरहसे धो डालना चाहिये। मार्जन देते समय हाथ-पैरको धोना नहीं चाहिये।

द्वितीय विधि

पात्रको बिस्तरपर शरीर शिथिल करके लेट जाने दे। सारे अङ्ग-प्रत्यङ्ग ढीले छोड़नेको कहे। फिर नाकसे श्वास-प्रश्वास करनेको कहे और सिरसे छातीतक मार्जन करता रहे, दस-पंद्रह मिनटमें ही वह मेस्मेरिक निद्रामें चला जायगा।

हिपनॉटिज्म

पात्रको सीधा खड़े होनेको कहे। उसे सारे शरीरको बिलकुल शिथिल करनेको कहे। उसके पीछे खड़े होकर दोनों हाथोंको कंधोंपर रख दे और दृष्टिको मस्तकके निचले भागपर गर्दनके ऊपर स्थिर करे। पात्रको समझा दे कि पीछे गिरना मालूम हो तो वह रोकनेका प्रयत्न करे। उसे सँभालकर नीचे लिटा दिया जायगा। अब धीरे-धीरे मृदु और प्रभावशाली भाषामें कहे—'महाशय ! तुम गिर रहे हो, गिर रहे हो—पीछे गिर रहे हो—बड़े जोरोंसे पीछेकी तरफ खिंचे चले आ रहे हो, जब मैं अपने हाथोंको तुम्हारे कंधोंसे अलग कर लूँगा, तुरंत ही तुम गिर जाओगे। गिर जाओगे—अवश्य गिर जाओ—गिर जाओ—भयभीत मत होओ।'

इस प्रयोगसे पात्र पीछे गिर जायगा। उसे सँभालकर नीचे लिटा दे। इसी प्रकार उसके आगे खड़े होकर अपनी एक अँगुलीपर उसकी दृष्टि जमवाकर तुम आगे झुक रहे हो—आगे झुक रहे हो, यह सूचना बार-बार देकर आगेकी ओर गिरा सकते हैं। इसी प्रकारके अनेकों प्रयोग अपनी इच्छा-शक्तिके आधारपर किये जा सकते हैं।

डॉक्टर ब्रेडका तरीका

किसी चमकीली वस्तुको पात्रकी आँखोंसे जरा ऊपर मस्तकके पास ले जाकर उसे उसपर दृष्टि स्थिर करनेको कहे और कहे कि तुम्हारी आँखें अब भारी हो रही हैं—बहुत भारी हो रही हैं। अब तुम आँखें बंद कर लोगे, आँखें बंद कर लो। अब तुम आँखें नहीं खोल सकते, नहीं खोल सकते—चाहे जितना प्रयत्न करो। सो जाओ, सो जाओ—सो जाओ, गहरी नींदमें चले जाओ—गाढ़ निद्रामें चले जाओ—प्रगाढ़ निद्रा आ रही है—शान्त और मीठी नींद आ रही है। इस प्रकार हिपनॉटिक निद्रा-अवस्थामें आनेपर आप दुर्गुण, दुर्व्यसन, सिरदर्द या अन्य बीमारी या कुटेव तथा अनेक मानसिक रोगोंको हिपनॉटिज्मसे दूर कर सकते हैं।

मनुष्य स्वार्थको भूलकर मानवजातिके हितार्थ जितना अधिक इन शक्तियोंका सदुपयोग करेगा, उतनी ही उसकी आत्मिकशक्ति बढ़ेगी। यह सदा स्मरण रखे कि विश्वशक्तिका मूल वही अनन्य-शक्ति है जो सर्वशक्ति और सत्ताका उद्गम है। स्मरण रखें कि सब उस अनन्त शक्तिके अंश हैं। अपने मन और शरीरको शुद्ध करके अपनी अन्तरात्माका उस परम पिता परमात्माके साथ, जो सबके हृदयगुहाके अन्तस्तल-प्रदेशमें विराजमान है, सम्बन्ध स्थापित करे। वही सर्वयथार्थ शक्तिका स्थान है।

नेत्र बंद कर लें, अपने भीतर गहरे उतरें, बाहरकी स्थितिको शनैः-शनैः भूल जायँ। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, अजर, अमर, नित्यशुद्ध, सत्-चित्-आनन्द-स्वरूप नारायणका ध्यान करें। अत्यन्त गहरेमें चले जाइये जहाँ आनन्दमय प्रकाशके दर्शन होने लगेंगे। यह प्रकाश सारे विश्वका जीवन है। इस प्रकाशसे जीवन-बल-तेज-आरोग्य-दायक शक्ति एवं अनन्त शान्ति प्राप्त होगी। सभी भारतीय शास्त्र अन्तरात्माकी ओर अभिमुख होनेको ही योगकला कहते हैं।

ज्योतिष-शास्त्र और योग

ज्योतिष-शास्त्र एवं योग-शास्त्रका परस्पर अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। त्रिकालज्ञ महर्षियोंने दुर्लभ योगसाधना एवं योगविज्ञानको सुलभ बनानेकी दृष्टिसे भूत-भविष्यके विज्ञापक ज्योतिष-शास्त्रका निर्माण किया था। ध्यान-समाधिके द्वारा बड़ी कठिनतासे भूत-भविष्यका ज्ञान होता है, किंतु उन्हीं दिव्य शक्ति-सम्पन्न देवता एवं ऋषियोंके द्वारा प्रणीत ज्योतिष-विद्या तथा उनके द्वारा अनुभूत प्रयोगोंको एवं उनके कृपाप्रसूत ज्ञानको सामान्य व्यक्ति भी श्रद्धापूर्वक अध्ययनकर और विश्वासके द्वारा मनन कर भूत-भविष्यका ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जिन भूत-भविष्यकी बातोंका ज्ञान सिद्ध योगी ध्यान-समाधिके माध्यमसे करता है, दैवज्ञ उन्हीं बातोंको ज्योतिषके ज्ञानसे जान जाता है[१]। ज्योतिष-विज्ञानका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। सिद्धान्त, संहिता, होरा—ये तीन इसके प्रमुख स्कन्ध माने गये हैं। इसके साथ ही प्रश्न, शकुन, यात्रा-विज्ञान, देश-कालका ज्ञान, ग्रह-नक्षत्रोंकी स्थितियाँ, भूगर्भ-सम्बन्धी वस्तुओंका ज्ञान आदि सभी बातें इसीकी सीमामें अन्तर्निहित हैं। ज्योतिषके सम्यक् अध्ययनसे व्यक्ति पृथ्वी तथा पृथ्वीतलके अंदरकी वस्तुएँ तथा सुदूर अन्तरिक्षस्थ तारागणों या ज्योतिश्चक्रकी स्थिति, दैवी-भौम आदि उत्पातोंकी जानकारी तथा सुदूर व्यक्तिकी स्थिति और स्वप्न, शकुन, अङ्गस्फुरण और किसी तिथि, नक्षत्र, योग, करण आदिमें प्रारम्भ किये जानेवाले कार्योंका शुभाशुभ फल भी जान जाता है और इसके परिणाम प्रायः रात-दिन एवं जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि सभी अवस्थाओंमें घटित होते रहते हैं। अतः ज्योतिष-विद्याका जानना अत्यन्त आवश्यक है। इतना ही नहीं, इस विद्यामें श्रद्धा रखनेसे आस्तिक्य-भाव होनेके कारण उन ऋषियों तथा भगवान्‌की भी कृपा हो जाती है।

वैसे तो ज्योतिष-विद्याके सभी अङ्गोंमें योग ही सर्वत्र

१-सेन्टपीटर्स रौजेटने अपने ग्रन्थ 'इन्टरनेशनल थीजरस' में भविष्यकी स्थितियोंको जाननेके लिये प्रायः तीन सौ प्रकारकी वैज्ञानिक एवं दिव्य विद्याओंका उल्लेख किया है, जिनमें सम्पूर्ण विश्वके ज्ञान-विज्ञानकी शाखाओंका संकलन है, किंतु उन सभीमें योग एवं ज्योतिष-विद्या—ये दो प्रमुख हैं, इन दोनोंके अन्तर्गत वे सभी विद्याएँ समन्वित हो जाती हैं।

व्याप्त है तथापि पञ्चाङ्गमें आयुष्मान्, प्रीति, ब्रह्म, शिव, प्रजापति, व्यतीपात आदि योग तथा फिर धूम्र, वज्र, कालदण्डादि योग एवं विभिन्न नक्षत्रादिके संयोगसे बननेवाले अमृतसिद्धि, सर्वार्थसिद्धि, सर्वदोषविनाशक रवियोग, स्थायी योग और जन्मकुण्डली आदिमें पञ्चमहापुरुष-योग, विविध प्रकारके वाणी, केदार, एकावली, माला, पारिजात, गजकेसरी, राजयोग आदि भाग्यसूचक योग एवं द्वादश भावोंसे उत्पन्न होनेवाले हरिहर-ब्रह्मयोग आदि जितने भी योग हैं, जो ज्ञान-विज्ञानकी किसी अन्य शाखामें नहीं मिलते, ये सभी अद्भुत रूपसे भूत-भविष्यका ज्ञान करानेवाले हैं। इन सब बातोंकी सम्यक् जानकारीके लिये ज्योतिष-शास्त्रका ज्ञान रखना आवश्यक है। द्वादश राशियों तथा लग्न आदिसे भी भविष्यका विचार किया जाता है। ये राशियाँ आकाशमें स्थित होनेके साथ ही मनुष्यके शरीरमें भी स्थित होती हैं। इसी प्रकार ग्रहोंके भी दशा-अन्तर्दशाके ज्ञानसे दैवी उपासनाओं, रत्नधारण तथा ओषधिस्नानके द्वारा उनके दुष्प्रभावोंसे मुक्त हुआ जा सकता है।

ज्योतिष-विद्याकी विभिन्न शाखाओंमें स्वप्न-विचार, अङ्गस्फुरण, पल्लीपतन, यात्रा आदिके शकुन पशु-पक्षियोंकी विभिन्न प्रकारकी बोलियों तथा दर्शनसे भविष्यका ज्ञान होता है। इसके साथ ही स्थिर फलोंके निर्देशक जन्माङ्ग-विचार, प्रश्नकुण्डली, ग्रहोंकी दशा-अन्तर्दशाओंका विवरण, ग्रह-गोचरज्योतिष तथा वर्षफल आदि अनेक भविष्य ज्ञानके हेतु होते हैं। इन सबके साथ ही अशुभ फलों तथा अशुभ फलादेशोंकी शान्तिके लिये जप, होम, पूजा-पाठ, हवन-दान, ओषधि-स्नान, रत्नधारण आदिका विधान भी ज्योतिष-ग्रन्थोंमें विस्तारसे निर्दिष्ट है। इन सबका तात्पर्य योग-समाधि एवं अत्यन्त समाहित-भावसे जीवात्माका परमात्माके साथ सम्पर्क करनेमें है। इसीलिये वृहत्पराशर आदि ग्रन्थोंमें बुध, गुरु, शुक्रादिकी दशाओंमें अशुभ फलोंके निवारणके लिये 'तद्दोषशान्त्यर्थं विष्णुसाहस्रकं जपेत्, शिवसाहस्रकं जपेत्, दुर्गादेवीजपं चरेत्, मृत्युञ्जयजपं चरेत्' आदि विविध देवताओंकी आराधनाका निर्देश किया गया है। यहाँ विष्णु, शिवादि नामान्तर केवल तात्कालिक फलादेशके लिये हैं, क्योंकि ग्रहोंके दैवत, अधिदैवत, प्रत्यधिदैवत भावोंके द्वारा मूल परम दैवत, परब्रह्म परमात्मातक पहुँचनेमें शीघ्रता होती है।

इस तरह ज्योतिष-विद्याके सभी विभाग प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूपसे मूलतः योगसे ही सम्बद्ध हैं। भविष्य जाननेकी भाषा दैवज्ञता कहलाती है। सम्यक् भविष्य-ज्ञानके लिये योग एवं ज्योतिषकी जानकारी आवश्यक है। योगके द्वारा समाधि लगाकर तथा ज्योतिषके द्वारा ग्रह-नक्षत्रादिके विविध संयोगोंके फलादेशोंसे भूत-भविष्यका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। ज्योतिषमें न केवल ग्रह-नक्षत्रादिके संयोगोंसे अपितु प्रकृति एवं अन्य जीव-जन्तुओं तथा पशु-पक्षियोंकी बोलियों एवं उनके दर्शनसे भी भूत-भविष्यके ज्ञानकी विधियोंका विस्तारसे विवेचन हुआ है। कौआ, क्षेमकरी तथा नीलकण्ठ आदि पक्षियोंका प्रकृतिसे सीधा सम्बन्ध होता है और निश्छल, निष्कपट होनेके कारण वे अपनी आत्मासे सीधे सम्बद्ध होते हैं तथा भविष्यके ज्ञानको लक्षणोंसे सूचित करते हैं। कपट एवं वासना-जालके कारण मनुष्यका वह ज्ञान तिरोहित रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अङ्ग-स्फुरण, शकुन, स्वप्नादिके द्वारा योगसे सम्बद्ध प्रकृति देवी प्राणीको शुभाशुभ फलकी बातें सूचित करना चाहती हैं, किंतु अहंकारग्रस्त होनेसे तथा प्रमादके कारण मनुष्य इन बातोंको ठीक-ठीक नहीं समझ पाता और कदाचित् जानकर भी उपेक्षा करता है, फलतः उसका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। इसके लिये आवश्यक है कि ज्योतिष-शास्त्रमें निर्दिष्ट इन सभी प्रकरणोंका ध्यानसे तन्मयतापूर्वक अध्ययन-मनन किया जाय। इसीमें कल्याण है। इसीलिये योगज-दृष्टिसम्पन्न ऋषियोंने ज्योतिष-शास्त्रमें इन सभी बातोंका समन्वय किया था। आचार्य वराहमिहिरने अपने वृहत्संहितामें कहा है कि राजाओंको तो सबसे अधिक महत्त्व ज्योतिर्वेत्ताको ही देना चाहिये, क्योंकि वह ज्योतिषके ज्ञानसे त्रिकालज्ञ होता है, इसीलिये दैवज्ञ भी कहलाता है।

सद्योवृष्ट एव अनेक दैवी एवं भौम शुभ योगों तथा अशुभ योगोंके यौगिक लक्षण जिनमें गन्धर्वनगरदर्शन, उल्कापात, ग्रहण, चन्द्र-सूर्य-दर्शन आदि विशेष हैं, ये सभी विषय ज्योतिषके अन्तर्गत हैं तथा शुभाशुभ भविष्यके ज्ञापक हैं। सभी शास्त्रोंमें गौका स्वप्नमें दर्शन अत्यन्त शुभ बताया

गया है। क्योंकि वह सभी धर्म-दर्शन एवं पुरुषार्थोंकी मूल तथा विशुद्ध सत्त्व-सम्पन्न है, इसलिये यात्रा आदिमें भी गौ तथा मृगसमूह आदिका दर्शन मङ्गलजनक है। इसी प्रकार ब्राह्मणों एवं संत-महात्माओंका दर्शन तथा उनके आशीर्वाद-शाप आदि भी प्रत्यक्ष-फलदायक माने गये हैं। ये सब बातें न केवल ज्योतिष-शास्त्रमें ही वर्णित हैं, अपितु रामायण तथा पुराणेतिहास-ग्रन्थों एवं योगशास्त्रमें भी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूपसे स्थान-स्थानपर उल्लिखित हैं।

जिज्ञासु पुरुषको समग्र ज्योतिष-शास्त्रका अध्ययन कर अपने वास्तविक कल्याणके समयका ज्ञान करना चाहिये। इसके अध्ययनसे व्यक्तिके जन्मसमयसे निर्मित होनेवाले ग्रह-नक्षत्रोंके संयोगसे तथा जन्माङ्गके द्वादश भावोंसे भूत-भविष्यका ज्ञान तथा अशुभ समयोंकी शान्तिके उपाय भी ज्ञात होते हैं। जन्म-लग्नसे शरीरके लक्षण, प्रकृति, स्वभाव, आकृति एवं आयुका परिज्ञान होता है। द्वितीय धन-स्थानसे कुटुम्ब, वाणी और आर्थिक स्थितिका ज्ञान होता है, तृतीय स्थानसे भाई-बन्धु, शक्ति तथा भाग्यका भी अवबोध होता है। चतुर्थ स्थानसे माता, मित्र, गृह, क्षेत्र तथा अन्य सुख-संयोगोंका पता चलता है। इसी प्रकार पञ्चम स्थानसे विद्या, बुद्धि, संतान; षष्ठस्थानसे शत्रु, ऋण, रोगादि; सप्तम स्थानसे यात्रा, संतान, कलत्र और अन्य सौख्य पदार्थोंका ज्ञान होता है। इसी प्रकार अष्टम स्थानसे आयु, नवम स्थानसे भाग्य एवं धर्म-कर्मका आचरण, दशम स्थानसे पद-प्रतिष्ठा, स्थिर कार्य-कलाप, पिता आदि, एकादश-स्थानसे विविध प्रकारके आयस्रोत और अन्तिम द्वादश स्थानसे व्यय, अनेक जन्मों, परलोक तथा मोक्षकी स्थितिका भी ज्ञान होता है।

इस प्रकार यहाँ संक्षेपमें योग एवं ज्योतिषके विषयमें लिखा गया है। ज्योतिष एवं योगशास्त्रके सम्यक् सम्बन्धके परिज्ञानके लिये योगशास्त्रका अध्ययन एवं ज्योतिष-शास्त्रके विविध प्रकारके योगों और प्रतिक्षण घटित होनेवाले दैव, भौम और शारीरिक लक्षणोंसे प्रकट होनेवाले निर्देशोंको समझना चाहिये। इसीके साथ ही प्रश्न-विज्ञानके प्रश्नभूषण, षट्पञ्चाशिका आदि ग्रन्थोंके अध्ययन तथा देवताके स्मरणपूर्वक भविष्यका ज्ञान कर तद्वत् आचरण करना चाहिये। भगवान् तो सबके अन्तर्बाह्यमें विद्यमान हैं। उनके शरणागत होनेसे वे सभी सूचनाएँ देते हैं, वे महायोगेश्वर हैं, सभी कुछ करनेमें समर्थ हैं, उनकी कृपाका आश्रय लेकर ज्योतिष-शास्त्र आदिसे लाभ उठाना चाहिये।

महाभारतमें योगकी महिमा और स्वरूप

(मानसमर्मज्ञ पं० श्रीसच्चिदानन्ददासजी रामायणी)

योग यथार्थतः एक दर्शन है, वैदिक षड्दर्शनोंमें इसकी गणना होती है। इसका उद्देश्य स्वरूपस्थितिकी प्राप्ति है। हमारे जीवनका प्रारम्भ प्रायः बहिर्मुखी प्रवृत्तिसे ही होता है, उस प्रवृत्तिको बदलकर अन्तर्मुखी कर लेना ही मूलतः यौगिक प्रक्रिया है। योगका तात्पर्य जोड़से है अर्थात् आत्माका परमात्मासे मिलनका नाम योग है। यह सम्भव भी तभी हो सकता है जब बहिर्मुखी चित्तवृत्तिका पूर्णतः निरोध हो।

जो लोग सम्यक्रूपेण यौगिक क्रियाओंका अभ्यास करते हैं, उनमें अनेक प्रकारकी विलक्षण शक्तियाँ आ जाती हैं। उसे ही विभूति या सिद्धि कहते हैं। व्यक्तिगत विकास और उन्नतिकी दृष्टिसे तो योगका महत्त्व प्रकट ही है, योगसे सब प्रकारकी शारीरिक और मानसिक शक्तियोंकी वृद्धि भी इच्छानुसार हो सकती है। यहाँतक कि योगसे प्रकृति और उसके विकारोंको यथार्थ-रूपमें देखनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है।

परमभागवत नैष्ठिक ब्रह्मचारी बालयोगी श्रीशुकदेवजीसे महर्षि वेदव्यासजीने महाभारतमें विस्तारपूर्वक यौगिक महिमाका निरूपण किया है। भगवान् व्यासदेवने प्रायः सभी पुराणों, लघु एवं बृहद् व्यास-स्मृतियों और महाभारतके प्रायः सभी पर्वोंमें अनेक ऋषियोंके मतसे योगका अनेक प्रकारसे वर्णन किया है और उनका पातञ्जलयोगदर्शनपर भी व्यासभाष्य प्रसिद्ध है। अतः उन्हें योगैकप्राण कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा। यहाँ केवल महाभारत-शान्ति-पर्व-मोक्षधर्मके योगनिरूपणके एक अंशका संक्षेपमें विचार किया जा रहा है जो इस प्रकार है—पूर्णरूपेण योगक्रिया सम्पन्न करनेहेतु योगके सहायक द्वादश भेदोंका वर्णन करते हुए भगवान्

वेदव्यासजीका कथन है कि—

छिन्नदोषो मुनिर्योगान् युक्तो युञ्जीत द्वादश।
देशकर्मानुरागार्थानुपायापायनिश्चयैः ॥
चक्षुराहारसंहारैर्मनसा दर्शनेन च।

(महा०, शा० २३६। ३-४)

अर्थात् समाहित-चित्त मुनिको चाहिये कि वह हृदयके रागादि दोषोंको नष्ट करके योगमें सहायता पहुँचानेवाले देश, कर्म, अनुराग, अर्थ, उपाय, अपाय, निश्चय, चक्षुष्, आहार, संहार, मन और दर्शन—इन बारह योगोंके आश्रयसे ध्यानयोगका अभ्यास करे।

ध्यानयोगके साधकको ऐसे स्थानपर आसन लगाना चाहिये, जो समतल और पवित्र हो। निर्जन वन, गुफा या ऐसा ही कोई एकान्त स्थान ही ध्यानके लिये उपयोगी होता है। ऐसे स्थानपर आसन लगानेको देशयोग कहते हैं। आहार-विहार, चेष्टा, सोना और जागना—ये सब परिमित और नियमानुकूल होने चाहिये। यही कर्मनामक योग है। परमात्मा एवं उसकी प्राप्तिके साधनोंमें तीव्र अनुराग रखना अनुरागयोग कहलाता है। केवल आवश्यक सामग्रीको ही रखना अर्थयोग है। ध्यानोपयोगी आसनसे बैठना उपाययोग है। संसारके विषयों और सगे-सम्बन्धियोंसे आसक्ति तथा ममता हटा लेनेको अपाययोग कहते हैं। गुरु और वेदशास्त्रके वचनोंपर विश्वास रखनेका नाम निश्चययोग है। चक्षुको नासिकाके अग्रभागपर स्थिर करना चक्षुर्योग है। शुद्ध और सात्त्विक भोजनका नाम है आहारयोग। विषयोंकी ओर होनेवाली मन-इन्द्रियोंकी स्वाभाविक प्रवृत्तिको रोकना संहारयोग कहलाता है। मनको संकल्प-विकल्पसे रहित करके एकाग्र करना मनोयोग है। जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदि होनेके समय महान् दुःख और दोषोंका वैराग्यपूर्वक दर्शन करना दर्शनयोग है। जिसे योगके द्वारा सिद्धि प्राप्त करनी हो, उसे इन बारह योगोंका अवश्य अवलम्बन करना चाहिये।

श्रीकृष्णद्वैपायन भगवान् श्रीवेदव्यासजीने योगका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति ही कहा है। योगके उपयोगी देश, कालको तथा कर्मानुष्ठानमें सहायक वस्तुओंको भी भगवत्प्राप्तिमें योगात्मक सहयोग प्रदान करनेके कारण योग ही कहा गया है और इनका भी आश्रय और संयोग अवश्य लेना चाहिये। वे कहते हैं कि इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी वृत्तियोंको जगत्से मोड़कर सर्वव्यापी परमात्माके साथ उनकी एकता स्थापित करना ही सर्वोत्तम ज्ञान है। इस उच्च स्थितिको प्राप्त करनेके लिये साधकको सब ओरसे मनको हटाकर शम-दमादि साधनोंसे सम्पन्न होकर आत्मतत्त्वका चिन्तन करते हुए एकमात्र परमात्मामें ही अपनेको समाहित करना चाहिये।

योगतत्त्वका आश्रय लेनेवाले पुरुषको चाहिये कि वह विषयभोगोंसे दूर रहे। योगसाधनामें अग्रसर होनेपर मोह-भ्रम और आवर्त आदि अनेकों विघ्न आते रहते हैं। फिर सुगन्ध आती है और दिव्य शब्दोंके श्रवण एवं दिव्य रूपोंका साक्षात्कार भी होता है। नाना प्रकारके अद्भुत रस और स्पर्शका अनुभव होने लगता है। इच्छानुकूल सर्दी, गर्मी प्राप्त होती है तथा वायुस्वरूप होकर नभोमण्डलमें चलने-फिरनेकी क्षमता आ जाती है, प्रतिभा बढ़ जाती है और दिव्य भोग भी अपने-आप उपस्थित हो जाते हैं।

इन सब सिद्धियोंको योगबलसे प्राप्त करके भी तत्त्ववेत्ता योगीको चाहिये कि उनका अत्यधिक आदर न करे, क्योंकि ये सब यौगिक विघ्न हैं। अतः मनको उनकी ओरसे मोड़कर परमात्मामें ही एकाग्र करे—

प्रमोहो भ्रम आवर्तो घ्राणं श्रवणदर्शने।
अद्भुतानि रसस्पर्शे शीतोष्णे मारुताकृतिः ॥
प्रतिभामुपसर्गांश्चाप्युपसंगृह्य योगतः।
तांस्तत्त्वविदनादृत्य आत्मन्येव निवर्तयेत् ॥

(महा०, शा० २४०। २३-२४)

ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले यौगिक साधनोंके उपयोग-कालमें भिन्न-भिन्न प्रकारके दृश्य दृष्टिगोचर होनेका वर्णन श्वेताश्वतरोपनिषद्में भी इस प्रकार प्राप्त होता है—

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥

(श्वेता० २। ११)

तात्पर्य यह कि योगाभ्यास आरम्भ करनेपर पहले अनुभव होनेवाले कुहरे, धूम, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत, विद्युत्, स्फटिकमणि और चन्द्रमादि अनेक दृश्य योगीके समक्ष दिखलायी पड़ते हैं। ये सब लक्षण ब्रह्मप्राप्ति करानेवाले योगके प्रारम्भिक अवस्थामें प्रकट होते हैं।

योगसाधनामें किसी वर्ण-विशेषका ही रहना आवश्यक नहीं है, कोई क्यों न हो, वह योगका आश्रय ले सकता है। भगवान् वेदव्यासने महाभारतमें इसका स्पष्ट निर्देश किया है—

अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकाङ्क्षिणी।
तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम्॥

(महा०, शा० २४०। ३४)

भाव यह कि कोई नीच वर्णका पुरुष और स्त्री ही क्यों न हो, यदि उनके मनमें धर्मसम्पादनकी अभिलाषा है तो इस योगमार्गका सेवन करनेसे उन्हें भी परमगतिकी प्राप्ति हो सकती है।

योग-साधनाके सिद्ध हो जानेपर योगी परमात्माका आत्मासे अनुभव करता है। इस भगवत्प्राप्ति और परमात्म-प्राप्तिकी बात वेदव्यासजीने इस प्रकार बतलायी है—

अजं पुराणमजरं सनातनं यदिन्द्रियैरुपलभेत निश्चलैः।
अणोरणीयो महतो महत्तरं तदात्मना पश्यति मुक्तमात्मवान्॥

(महा०, शा० २४०। ३५)

तात्पर्य यह है कि जिसने अपने मनको वशमें कर लिया है वही योगी, निश्चल मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा जिसकी उपलब्धि होती है, उस अजन्मा, पुरातन, अजर, सनातन, नित्यमुक्त, अणुसे भी अणु और महान्‌से भी महान् परमात्माका आत्मासे अनुभव करता है।

इस प्रकार भगवान् श्रीव्यासदेवके इन योगोपदेशोंका मन-ही-मन विचार करके एवं इसे भलीभाँति समझते हुए इसके अनुसार जो आचरण करते हैं, वे मनीषी पुरुष ब्रह्माजीकी समताको प्राप्त करके प्रलयकालपर्यन्त ब्रह्मलोकमें उनके साथ रहकर अन्तमें उन्हींके साथ मुक्त हो जाते हैं। (महा०, शा० २४०। ३६)।

समर्थ रामदास स्वामीके दासबोधके अन्तर्गत योगदर्शन

(श्री ग० नी० पुरंदरे, बी० ए०, बी० एस्० सी०, एल्-एल्० बी०)

समर्थ श्रीरामदास स्वामी छत्रपति शिवाजी महाराजके गुरु थे। एक श्लोकमें कहा गया है—वे शुकदेव मुनिके समान विरक्त, योगेश्वर श्रीवसिष्ठजीके समान ब्रह्मज्ञानी तथा कवि वाल्मीकिके समान पूज्य एवं मान्य थे। दिव्यशक्तिसम्पन्न स्वामी रामदासजी कर्मयोगी, बाल-ब्रह्मचारी, कुशल राजनीतिज्ञ तथा महान् श्रीरामभक्त थे। उन्होंने संसारका त्याग कर दिया था। अखिल भारतकी आसेतु हिमाचलकी तीर्थयात्रा कर, स्थान-स्थानपर अनेक मठोंकी स्थापना की थी। मूलतः वे सिद्ध योगी एवं हठयोगी थे। उनका दैनिक कार्यक्रम युक्ताहार-विहार-जैसा था। सूर्य-नमस्कार, भगवद्भजन, मन्त्रजप और समाधिका अभ्यास करना उनका दैनन्दिन नियम था। वे बड़े ज्ञानी थे। वेद-वेदान्त तथा उपनिषद्का उन्हें गहन अध्ययन था। वे श्रीरामभक्तिके महान् प्रचारक तथा श्रीहनुमान्‌जीके अनन्य उपासक थे। उनका ध्येय वाक्य—'**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्**' था। '**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**'—इस श्रुति-वचनपर उनकी अटूट श्रद्धा थी। उन्होंने प्रसङ्गानुसार अनेक चमत्कार भी दिखलाये थे, मृत व्यक्तिको सजीव—सचेतन किया था। स्वामी रामदासजीने श्रीरामचन्द्रजीका दर्शन प्राप्त किया था।

उन्होंने 'दासबोध' नामक एक पारमार्थिक ग्रन्थ लिखा है। यह ग्रन्थ महाराष्ट्र, कर्नाटकमें अनेक स्थलोंपर दैनिक पाठ-पूजामें स्थान प्राप्त कर चुका है। इस ग्रन्थमें उनके तात्त्विक उपदेशोंका सार है। यह ग्रन्थ आध्यात्मिक, व्यावहारिक और योगमार्गपर आधृत है। इस ग्रन्थमें अनेक पारमार्थिक विषयोंका विवेचन किया गया है। जैसे शुद्ध ज्ञान, आत्मस्थिति, सायुज्य-मुक्ति, मोक्षप्राप्ति, शुद्धस्वरूप, विदेह-स्थिति, तादात्म्य, ब्रह्मज्ञान, मायोद्भव, पञ्चमहाभूत, आत्मप्रतीति, परमार्थ, पिण्ड और ब्रह्माण्ड, देहभाव-निरूपण, नवविधा भक्ति, देहशोधन, विवेक-वैराग्य, आत्मनिवेदन, प्रकृति-पुरुष, अजपा-जप-निरूपण, साधन-चतुष्टय तथा आत्मानुभव। यहाँ कुछ विषयोंका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

ब्रह्म—आदिमें ब्रह्म अकेला ही था। ब्रह्म मूलतः एक तथा निराकार-निर्गुण था। बादमें उसने इच्छा की—'मैं बहुविध हो जाऊँ' '**एकोऽहं बहु स्याम्**' इस प्रकार मायाका उद्भव हुआ। उनकी इच्छाकी पूर्ति होनेपर ब्रह्माण्डकी निर्मिति

हुई। यह माया त्रिगुणात्मिका बनी और तदनुकूल बहुविध सृष्टि बनी। **'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते'** गीतामें भगवान्‌ने यही तत्त्व स्पष्ट किया है।

ब्रह्म और माया—ब्रह्म और माया—इन दोनोंमें मूलभेद इस प्रकार है—ब्रह्म निर्गुण-निराकार, माया सगुण-साकार, ब्रह्म अनादि एवं निर्विकार है तथा माया विकारयुक्त है। ब्रह्म नामातीत होते हुए भी उसके अनेक नाम-रूप हैं, जैसे निजानन्द, अच्युत, अनन्त, नादरूप, ज्योतीरूप, चैतन्यरूप, सत्तारूप और साक्षीरूप आदि भी हैं।

मायाको दृश्य, सोपाधि, मिथ्या, परिमेय, विनाशी तथा सगुण बताया है और ब्रह्मको अदृश्य, निरुपाधि, सत्य, अपरिमेय, अविनाशी तथा निर्गुण। माया पाञ्चभौतिक है और ब्रह्म शाश्वत, माया असार है और ब्रह्म सार, माया क्षणिक है और ब्रह्म नैरन्तर्य। माया मूलतः ब्रह्ममें पूर्णतया अन्तःस्थ निर्गुण थी। ब्रह्मसे वह समुद्‌भूत होकर सगुण बनी। प्रथम वह आकाश बनी। आकाश यानी अवकाश, उसमें स्पन्दन हुआ, स्पन्दनसे वायु निर्मित हुआ, वायुमें घर्षण उत्पन्न हुआ और उससे अग्नि उत्पन्न हुआ, अग्निसे जल तथा जलसे सृष्टिका उद्‌भव हुआ। प्रत्येक सृष्ट पदार्थमें परमात्मा स्थित रहता है, इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

ईश्वरोऽहं सर्वभूतेषु हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

सृष्टि—ब्रह्माण्ड उत्पन्न होनेके पूर्व मूलमें माया त्रिगुणात्मिका बनी थी। तमोगुणसे पञ्चमहाभूतोंकी निर्मिति हुई। जो जड और कठिन है वह पृथ्वीका रूप है तथा जो मृदु और प्रवाही है वह अप्‌तत्त्वका रूप है। जो उष्ण और प्रकाशी है वह तेजस्तत्त्वका रूप है तथा जिसमें चैतन्य और चाञ्चल्य है वह वायु-तत्त्वका रूप है। शून्यत्व आकाशतत्त्वका रूप है। ब्रह्माण्डके ऊपर मूलमें माया सूक्ष्म-रूप है। सृष्टिमें प्रथम जलचर निर्मित हुए, तत्पश्चात् खेचर (पक्षी) और तत्पश्चात् भूचर निर्मित हुए।

मनुष्यका देह चतुर्विध है—स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण। यह शरीर स्थूल है। मनुष्यकी वासना, कामना और कल्पना सूक्ष्मदेहकी है। बुद्धि कारण-देह है तथा महावाक्यका ज्ञान महाकारण देह है। महावाक्य यानी जीवात्मा परमात्माका ऐक्य है, इस विषयपर सारे वेदोंकी मतैक्यता है—

ऋग्वेद—अहं ब्रह्माऽस्मि।

यजुर्वेद—सोऽहम्।

सामवेद—तत्त्वमसि।

अथर्ववेद—प्रज्ञानं ब्रह्म।

स्थूल देह जैसे पञ्चभूतात्मक है, वैसे ही सूक्ष्म देह भी पञ्चभूतात्मक है। इसको निम्नलिखित कोष्ठकमें स्पष्ट किया गया है—

आकाश	वायु	तेज	अप् (जल)	पृथ्वी
काम	चलन	क्षुधा	शुक्र	अस्थि
क्रोध	वलन	तृषा	शोणित	मांस
शोक	प्रसारण	आलस्य	लाला (लार)	त्वचा
मोह	निरोध	दीप्ति	मूत्र	नाडी
भय	आकुञ्चन	शुष्कता	स्वेद	रोम

नाथाचार्य गोरक्षनाथजीने अपने सिद्धसिद्धान्त-पद्धति नामक ग्रन्थमें सूक्ष्मदेहके तत्त्वोंका ऐसा ही विवरण किया है। वह ग्रन्थ गोरक्षोपनिषद् नामसे भी विश्रुत है।

दासबोधमें सिद्ध पुरुषके लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं—(१) स्वरूपानुसंधान, (२) अन्तर्बाह्य-समाधान, (३) दृढ़ अभ्यास, (४) षड्-रिपुओंके ऊपर विजय-प्राप्ति, (५) विश्वात्मक बुद्धि, (६) जीवन्मुक्तावस्था, (७) भूत-भविष्यज्ञान, (८) अन्तर्ज्ञान, (९) परचित्तज्ञान, (१०) अतिमानवत्व और (११) चमत्कार-कर्तृत्व।

मूल मायाके पर्याय-शब्द शिवशक्ति, जगदीश्वरी, प्रकृति, परमेश्वरी, गुणेश्वरी, गुणक्षोभिणी हैं। जब गुणेश्वरी गुणक्षोभिणी बन जाती है, तब वह त्रिगुणात्मिका महत्तत्त्वरूपिणी बुद्धि बन जाती है। अद्वैत-सिद्धान्तमें ब्रह्म सत्य, माया मिथ्या, ब्रह्म निर्गुण, माया सगुण कही गयी है। योगशास्त्रमें इस द्वन्द्वका नाम शिवशक्ति है। परमेश्वरको प्रकृति-पुरुष समझा गया है तथा दासबोधमें उसको अर्धनारी-नरेश्वर कहा गया है। वे दोनों एकत्र वास करते हैं और परस्पर भिन्न हैं, जैसे चन्द्र और चन्द्रिकामें भेद नहीं है, उसी प्रकार शिव और शक्ति—इन

दोनोंमें कुछ भेद नहीं है। योगशास्त्रका यह सिद्धान्त अद्वैत-सिद्धान्तसे भिन्न है। शक्ति ही ईश्वरी तथा परमेश्वरी है। योगशास्त्रमें शक्तिकी उपासनापर प्रबल बल दिया गया है।

मानव-मात्रके चार शरीर होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा महाकारण। मानव-शरीरकी चार अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न, निद्रा और तुरीया।

सूक्ष्मदेहके तत्त्व

पञ्चमहाभूत	आकाशका अन्तःकरण-पञ्चक	वायुका प्राणपञ्चक	तेजका ज्ञानेन्द्रिय-पञ्चक	अप् (जल) का कर्मेन्द्रिय-पञ्चक	पृथ्वीका विषय-पञ्चक
आकाश	अन्तर्भ्रमण प्रथम स्फुरण	व्यान सर्वांशमें	श्रवण	वाचा	शब्द
वायु	मनः-संकल्प	समान नाभिस्थान	त्वचा	हस्त	स्पर्श
तेज	बुद्धि निश्चयात्मिका	उदान कण्ठ	चक्षु	पाद	रूप
अप् (जल)	चित्त-चिन्तन	अपान गुदास्थान	जिह्वा	शिश्न	रस
पृथ्वी	अहंकार	प्राण मुख और मस्तक	घ्राण	गुदा मलोत्सर्ग	गंध

पिण्ड और ब्रह्माण्ड—जिस प्रकार जीवात्मा परमात्माका अंश है, उसी प्रकार पिण्ड ब्रह्माण्डका अतीव सूक्ष्म अंश है। ब्रह्माण्डमें जो कुछ विद्यमान है, वह अत्यन्त सूक्ष्मरूपमें पिण्डमें भी रहता है।

विवेक-वैराग्य—जो विवेकसे वैराग्यको ग्रहण करता है, उसकी संज्ञा विवेक-वैराग्य है। संसारमें रहकर जो परमार्थ करता है, वह विवेक-विरक्त—जीवन्मुक्त है। जो दृश्यको आभास और सूक्ष्मको सत्य समझता है, जो जड जगत्को आभास समझता है, जो उन्मनी-अवस्था पाता है, जो निजानन्दका अनुभव करता है, वह जीवन्मुक्त अनासक्त कर्मयोगी है। उसके प्रधान गुण ऋजुत्व, त्याग, युक्ताहार-विहार, वीतरागत्व आदि हैं। विवेकहीन मनुष्य पशु है। सत्कर्मका फल कभी-न-कभी मिल जाता है यह वह समझ चुका है। वह आत्मामें परम संतुष्ट होनेके कारण दूसरी किसी वस्तुकी वाञ्छा नहीं करता। श्रीमद्भगवद्गीतामें बार-बार इसी बातको कहा गया है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।

अजपाजप-मन्त्र—दासबोधमें अजपाजप-मन्त्रका निर्देश भी है। यह जप मुखसे नहीं केवल भावनासे—मनसे किया जाता है। यह श्वास-प्रश्वासरूप हंस गायत्रीका जप है। यह 'सोऽहं'की साधना है।

शक्तिपातयोग—सद्गुरु अपने शिष्यको केवल स्पर्शसे, दृक्से और मानससे अनुगृहीत कर सकता है और उनके अनुग्रहसे शिष्य गुरुके समान बन जाता है। अतः गुरुकी विलक्षण महिमा बतलायी गयी है।

समर्थ रामदास स्वामीके अनेक शिष्य थे। कल्याण स्वामी, उद्धव स्वामी, दत्तात्रेय स्वामी, वेण्णाबाई, अक्का बाई आदि। सब शिष्य प्रगल्भ और योगीजन थे। छत्रपति शिवाजी इनके परम अनुगृहीत शिष्य थे और इनके आशीर्वादसे तथा इनके निर्देशनमें रहकर ही उन्होंने भारतमें प्राचीन संस्कृति तथा

धर्मके पुनः स्थापनका प्रयत्न किया और मराठा-धार्मिक राज्यकी नींव डाली। इसमें समर्थ गुरुकी ही मूल प्रेरणा थी। उनके ज्ञान तथा योगकी बातें दासबोधमें संगृहीत हैं और उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टिसे तात्कालिक तथा भविष्यकी बातें भी देख ली थीं, जिनका उन्होंने दासबोधमें कलियुगके वर्णनमें अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है। पाठकोंको उनके अमृतमय उपदेशोंके स्वाध्याय एवं मननसे पूर्ण लाभ उठानेका प्रयत्न करना चाहिये।

मानसका भक्तियोग

(डॉ० श्रीमिथिलाप्रसादजी त्रिपाठी, वैष्णवभूषण, डी० लिट्०)

महात्मा तुलसीदासने अपने सम्पूर्ण साहित्यमें भगवत्प्राप्तिके मुख्य हेतुओंमें योग, ध्यान और तल्लीनताको ही प्रधान कारण माना है। ऐसे तो विनयपत्रिका, वैराग्यसंदीपनी, रामाज्ञाप्रश्न, कवितावली आदिमें भी योगपर प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है, पर मानसमें उन्होंने योगकी सुस्पष्ट महिमा वर्णित की है। वे कहते हैं कि संसारमें प्रायः सभी लोग मोहरूपी रात्रिमें सोकर मिथ्या स्वप्नोंमें ही भूले-भटके हैं और अपने जीवनको नष्ट करते हैं। केवल योगी जन ही प्रपञ्चसे अलग होकर केवल परमात्मामें लीन हो सच्चे आनन्दका अनुभव करते हैं और उनका ही जीवन अभिनन्दनीय है—

मोह निसाँ सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥
एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥

किंतु मोहरूपी रात्रिसे जागनेका उपाय क्या है? और योगियोंका योग क्या है? इस सम्बन्धमें वे स्पष्ट कहते हैं कि उपांशु या मानस मन्त्रके रूपमें अहंकार या राम-नामका जप ही उनका मुख्य साधन होता है—

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी॥
× × ×
सुक सनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनिबर बिग्यान बिसारद॥

भगवान् शङ्कर सच्चे एवं महान् योगेश्वर हैं, किंतु सभी शास्त्रोंके अनुसार उनका योगसार-सर्वस्व श्रीराम-नाम ही है। जैसे—

तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती॥
× × ×
नाम प्रसाद संभु अबिनासी। साजु अमंगल मंगल रासी॥

प्रायः ध्रुव, प्रह्लाद, शुक, सनकादि, नारद आदि योगियोंको सभी सिद्धियाँ रामनाम-रूप भक्तियोगके प्रसादसे प्राप्त थीं और वे राम-नामको ही योगसार-सर्वस्व मानते हैं; उनका कहना है कि इसी नामयोगका आश्रय न लेनेके कारण सबके हृदयमें स्थित परमात्मा स्थित रहनेपर भी सभी प्राणी दुःखी रहते हैं, किंतु नामका आश्रय लेकर यदि उन्हें वे बुलाते हैं या उनकी शरणमें जाते हैं तो वे साधकका सम्पूर्ण क्लेश दूर कर देते हैं—

ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी॥
अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥
नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥

(बाल० २२। ६—८)

वैसे ध्यान देनेपर मानसमें पद-पदपर योगकी महिमा ही गायी गयी है। वह चाहे कर्मयोग हो, चाहे ज्ञानयोग हो, चाहे भक्तियोग हो। प्रत्येक व्यक्तिको अपने कल्याणके लिये भगवत्प्राप्तिके इन साधनोंकी निष्ठापूर्वक उपासना करनी चाहिये; क्योंकि योग जीवको भगवान्‌से जोड़ देनेकी विद्या है। संसारमें आना एक संयोग है, यहाँ भौतिक वस्तुओंसे जुड़ना भी एक योग-विप्रयोग है, तो इन्हें छोड़कर सर्वशक्तिमान्‌से जुड़ना तो सुयोग ही है। संसारको भ्रम मानकर उसे भूलकर या छोड़कर भगवान्‌का हो जाना—उन्हें पा जाना ही भक्तियोग कहलाता है।

तुलसीदर्शन भक्तियोगका ही दार्शनिक विस्तार है। यों तो श्रीरामचरितमानसमें सर्वत्र ही परम पवित्र भक्तियोगका वर्णन हुआ है, किंतु यहाँ संक्षेपमें अरण्यकाण्डमें वर्णित भक्तियोगकी चर्चा की गयी है। मानसका अरण्यकाण्ड भगवान् श्रीरामका उदरभाग है, इसीमें ऋषि-मुनियों एवं शूर्पणखा, खर-दूषण आदिके प्रसंग भी हैं। शूर्पणखाके आनेके पूर्व तथा ऋषि-दर्शन-वन्दनके बाद प्रभुसे लक्ष्मणद्वारा पूछे गये प्रश्न भक्तियोगके उत्तरके लिये ही थे—

सुर नर मुनि सचराचर साईं। मैं पूछउँ निज प्रभुकी नाईं॥

मोहि समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरन रज सेवा॥
कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया॥
ईस्वर जीव भेद प्रभु सकल कहहु समुझाइ।
जातें होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ॥

श्रीलक्ष्मणजीने भगवान् श्रीरामजीसे ज्ञान-विराग (उपास्य-स्वरूप), भक्ति (फलस्वरूप), माया (विरोधस्वरूप), ईश्वर (परस्वरूप) और जीव (स्वस्वरूप) के विषयमें जिज्ञासा की, इन सभीका समाधान भगवान्‌ने भक्तियोगके रूपमें किया है।

प्रश्नमें *'कहहु'* और *'समुझाइ कहहु'* दो प्रकारसे पूछा गया है। ज्ञान और वैराग्यके लिये *'कहहु'* का प्रयोग हुआ है तथा *'समुझाइ कहहु'* के लिये दो बातें कही हैं— *'सब तजि करौं चरन रज सेवा'* को समझाकर कहने-हेतु पूछा गया है। ज्ञान एवं विरागकी बात पूछनेके ठीक बाद ही दूसरी बार *'कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया।'* पूछा गया है। अब ईश्वर-जीव-विषयक तथा भेद-विषयक बातें इसलिये समझानेको कहा, क्योंकि शोक, मोह और भ्रान्तिको दूर करनेके लिये ज्ञान और वैराग्यकी आवश्यकता है। बिना इनके दूर हुए भक्ति होना सम्भव नहीं।

'चरन रज सेवा', *'कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया'* और *'जाते होइ चरन रति'* यह तीनों बातें एक पक्षकी ही हैं। तुलसीने भक्तिके दो पक्ष बताये हैं—

कै तोहि लागहिं राम प्रिय कै तू प्रभु प्रिय होहि।
दुइ में रुचै जो सुगम सो कीबे तुलसी तोहि॥
(दोहावली ७८)

अर्थात् या तो (१) राम अपनेको प्यारे लगें अथवा (२) रामको हम प्रिय लगने लगें। यह दोनों भक्ति भक्तियोगसे ही सम्भव हैं। लक्ष्मणजीके प्रश्नमें दोनों बातें हैं। *'चरन रज सेवा'* और *'जाते होइ चरन रति'* दोनों अपनेको राम प्रिय लगें यह पक्ष है, परंतु *'कहहु सो भगति करहु जेहिं दाया'* यह रामको प्रिय लगनेकी बात पूछी है। भगवान्‌ने उत्तरमें मायाका परिचय साधारण शब्दोंमें संक्षिप्तरूपसे दिया—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥
गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निजबल ताकें॥

'अहंकार' और तज्जन्य जागतिक सम्बन्ध ही माया है और इसीने समग्र जीवको वशमें कर रखा है। संसारमें द्वन्द्व उत्तम और मध्यम पुरुषमें ही रहता है। उत्तम पुरुषका अहंकार और मध्यम पुरुषका अहंकार ही साद्यन्त संसारमें व्याप्त है। यही 'अविद्या' है जो 'भव-कूप'में डाले रखती है, जनन-मरणके बन्धनमें पड़ी रहती है एवं अतिशय दुःखरूपिणी है। इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ जो भी जागतिक पदार्थ है सब माया ही है, यही विद्या है, क्योंकि सृष्टि यही करती है। त्रिगुण इसके वशीभूत है। यह माया भी प्रभुकी प्रेरणासे ही क्रिया-शक्तिरूपा होकर सिसृक्षा-प्रधान हो जाती है। यही 'उद्भव-स्थिति-संहारकारिणी' है। तुलसीने स्पष्ट शब्दोंमें लिख दिया है कि—

भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥

'ज्ञानवानहम्', **'ज्ञातो मया'** 'मैं ज्ञानवान् हूँ' अथवा 'मैं जानता हूँ' इस प्रकारका मान जहाँ नहीं होता है, सर्वत्र व्यापक ब्रह्मकी सत्ता जो स्वीकार करता है वही वैरागी है। वह सिद्धियों और त्रिगुणोत्पादिकाओंको तिनकेके समान त्याग देता है—

ग्यान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥
कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥

माया क्या है? ईश्वर क्या है? स्वयं क्या है? यह न जाननेवाला ही जीव कहा जाता है तथा बन्धन और मोक्षको देनेवाला, मायाको प्रेरित करनेवाला तथा सबसे परे रहनेवाला ही ईश्वर कहलाता है।

धर्माचरणके सदसद्विवेकके दृढ़ हो जानेसे वैराग्य उत्पन्न होता है और योगाचरण ज्ञानकारक है। यह ज्ञान ही मोक्ष देता है। परंतु भक्ति वह है जिससे भगवान् द्रवित होते हैं। अर्थात् धर्माचरण, वैराग्य, योग और ज्ञान तथा मोक्षसे पृथक् भक्तिद्वारा भी ज्ञानादि मिलते हैं।

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥
× × ×
भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥

भगवान्‌को द्रवित करनेवाली भक्ति ही है। यही भक्तको

सुखदायक होती है। यह स्वतन्त्र और अनन्याश्रित होती है, ज्ञान-विज्ञान इसीके अधीन रहते हैं। यह भक्ति तभी मिलती है जब संत-कृपा होती है। अनुकूल (प्रसन्न) हुए संतोंकी कृपासे अनुपम और सुखमूलक भक्ति मिल जाती है।

जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि अधीन ग्यान बिग्याना॥
भगति तात अनुपम सुख मूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥

यह भक्ति सरल साधनोंसे ही प्राप्त हो जाती है। प्रारम्भमें विप्रोंके चरणोंमें प्रीति करके श्रुतिके नियमोंके अनुसार स्वधर्माचरण करना चाहिये। इस प्रकार विषयोंसे वैराग्य हो जाता है। इसके अनन्तर ही भगवद्धर्ममें अनुराग पैदा होता है।

भगति कि साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥

भागवत-धर्मका आचरण करनेसे ही नवधा भक्ति दृढ़ हो जाती है और प्रभु-लीलामें रति बढ़ जाती है। श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धका दूसरा अध्याय भागवत-धर्मोंका ही निरूपण करता है। भक्त साधक प्रभुको ही सब कुछ सौंप देता है—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

यहाँ श्रीरामने कहा है कि भक्ति ही ऐसी है जिसके वे वशीभूत हो जाते हैं—

प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥
एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥

प्रभुलीलामें रति होनेपर भक्त संत-चरणोंमें बहुत प्रेम करने लगता है। मन, वाणी और कर्मसे दृढ़ नियमपूर्वक भजन करने लगता है। मेरे गुणोंका गान करते हुए शरीरमें पुलक, रोमाञ्च होने लगता है। वाणी गद्गद हो जाती है, आँखोंसे अविरल अश्रुप्रवाह शुरू हो जाते हैं। कामादिक मद, दम्भ नष्ट हो जाते हैं, तब श्रीरामजीका निवास उसके हृदयमें हो जाता है।

संत चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ़ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाकें। नाथ निरंतर बस मैं ताकें॥

भक्त सेवामें ही दृढ़ भावना रखता है, भगवान्‌को ही गुरु, पिता, माता, भाई, स्वामी सब कुछ मान लेता है। मनसा, वाचा, कर्मणा भगवान्‌को ही मानता है और निष्काम भजन करता रहता है, ऐसे भक्तोंके हृदयरूपी कमलमें ही श्रीरामका निवास होता है, यही भक्तियोग है।

योगद्वारा अन्तःकरणकी वृत्तियों और इन्द्रियोंको संयमित करके ज्योति या भगवत्स्वरूपका ध्यान किया जाता है, परंतु भक्तियोगमें निरन्तर भगवद्गुणोंका गायन-मनन, चिन्तन करनेसे सभी अन्तर्वृत्तियाँ भगवन्मय हो जाती हैं तथा अहर्निश भगवच्चिन्तन होता रहता है। संसारके सम्बन्ध भूलकर भक्त भगवन्मय हो जाता है और तभी भगवान् उसके हृदयमें निवास करने लगते हैं। यह भक्तियोग संसार-कूपमें पड़े हुए प्राणियोंके निकलनेका साधन है। इससे जीवकी सद्गति होती है। श्रीलक्ष्मणजीने संक्षेपमें जब यह भक्तियोग सुना तो वे प्रभुके चरणोंमें गिर पड़े और उन्होंने परमानन्द प्राप्त किया।

भगति जोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरननहि सिरु नावा॥

जीवके लिये भगवत्प्रेमावलम्बन ही यथार्थ योग है तथा भगवत्प्रेमकी प्रधानता ही यथार्थमें ज्ञान है, नहीं तो जहाँ भगवान्‌की भक्तिका प्राधान्य नहीं है, वहाँ योग कुयोग है एवं ज्ञान अज्ञान ही माना गया है। यथा—

जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम पेम परधानू॥

जब शान्त और सतोगुणी होकर चित्त आत्मामें लग जाता है, तब धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यकी प्राप्ति आप ही हो जाती है और जब वही शरीर तथा घर आदि मिथ्या पदार्थोंमें लगकर प्रबल रजोगुणी और विषयोंका अनुरागी बन जाता है तब अधर्म, अज्ञान, विषय-लोलुपता और अनैश्वर्यता छा जाती है।—श्रीमद्भागवत

भारतके योग-सम्प्रदाय

(डॉ० श्रीशिवशङ्करजी अवस्थी)

योगरन्धितकर्माणो हृदि योगविभाविते।
योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोऽस्म्यहम्॥

(श्रीमद्भा० ८। ३। २७)

'योगके द्वारा कर्म, कर्म-वासना और कर्मफलको भस्म करके योगी लोग योगसे विशुद्ध अपने हृदयमें जिन योगेश्वर भगवान्‌का दर्शन करते हैं, उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ।'

१-संसारमें योगके आविर्भावका इतिहास

सृष्टिके आदिमें नारायण नामक हिरण्यगर्भ ब्रह्माने एक ही अव्यय योगका उपदेश सबसे पहले सनकादिकोंको, पश्चात् विवस्वान् (सूर्य) को दिया था। समाहित अन्तःकरण एवं व्युत्थित चित्तवाले दो प्रकारके अधिकारियोंके भेदसे यह योग, जिसका फल ब्रह्मप्राप्ति था, दो शाखाओंमें विभक्त हो गया। एक ब्रह्मयोग और दूसरा कर्मयोग। शुद्ध अन्तःकरण होनेसे ब्रह्मयोगपरायण सनकादि ऋषि निवृत्तिमार्गी हुए। यह परम्परा सनक, सनन्दन, सनातन, कपिल, आसुरि, वोढु और पञ्चशिख आदिको तथा नारद-शुकादिकोंकी थी। यह ब्रह्मयोग लोगोंके बीचमें सांख्ययोग, ज्ञानयोग, अध्यात्मयोग—इन अन्य नामोंसे प्रसिद्ध हुआ। यह सम्प्रदाय श्रमण-मार्गकी संज्ञासे भी जाना जाता था।

दूसरी परम्परा विवस्वान् (सूर्य) की है। विवस्वान्‌ने मनुको, मनुने इक्ष्वाकुको, इक्ष्वाकुने राजर्षियों एवं प्रजाओंको योगका उपदेश दिया (गीता ४। १—३)। इस परम्पराका उल्लेख छान्दोग्योपनिषद्‌में भी सुलभ है। यथा—

तद् ह एतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः। (८। १५। १)

इसपर शंकराचार्यने लिखा है—

ब्रह्मा हिरण्यगर्भो विराजे प्रजापतये उवाच। सोऽपि मनवे मनुरिक्ष्वाक्वादिभ्यः प्रजाभ्यः प्रोवाच।

इसके अतिरिक्त—

ब्रह्मा हिरण्यगर्भः परमेश्वरो वा तद्द्वारेण प्रजापतये कश्यपायोवाच। असावपि मनवे स्वपुत्राय। मनुः प्रजाभ्यः। (छान्दोग्योपनिषद् भाष्य ८। १५। १)

व्युत्थित अन्तःकरण होनेसे उस प्रकारके अधिकारी लोकशासन करनेवाले सृष्टिचक्रप्रवर्तनमें परायण, आहिताग्नि, राजर्षि मनु आदिकोंकी परम्परा कर्मयोगसे सम्बद्ध हुई।

अन्य कात्यायन[1], गौतम, गार्ग्य, आवट्यायन प्रभृति, जैगीषव्य[2], असित, देवल, केशिध्वज, खाण्डिक्य जनकादि अपर लोग, भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत, बाद्धलि, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर, पञ्चाधिकरण, पतञ्जलि, वार्षगण्य, कौण्डिन्य और मूकादि मुनि तथा इतर भृगु, वसिष्ठ, कराल-जनक, पराशर, याज्ञवल्क्यादि उस एक ही योगको जानकर गृहस्थ-धर्मका पालन करते हुए यथासमय शुद्धान्तःकरण होनेसे संन्यासी हुए।

२-एकमात्र अव्ययोगका स्वरूप

ब्रह्म अर्थात् अन्तर्यामीमें समस्त कर्मोंको समर्पित करके निरपेक्ष-भावसे भगवदर्थ कार्य करनेवाला व्यक्ति पाप और पुण्यसे वैसे ही लिप्त नहीं होता, जैसे कमलका पत्ता पानी पड़नेपर उससे लिप्त नहीं होता।

इस प्रकार जो लोग फलासंगरहित होकर केवल लोक-संग्रहके लिये कर्म करते हैं, वे कर्मयोगी हैं और प्रवृत्तिमार्गमें आरूढ़ हैं। दोनों मार्ग मोक्षको प्राप्त करानेवाले हैं।

३-साधनरूप अन्य योग

यह सनातन अव्ययोग सुलभ नहीं है। क्योंकि—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।

१-महाभारत, शान्तिपर्व।

२- एतानुत्पाद्य पुत्रांस्तु प्रजासंतानकारणात्। कश्यपः पुत्रकामस्तु चचार सुमहत्तपः॥
तस्यैवं तपतोऽत्यर्थं प्रादुर्भूतौ सुताविमौ। वत्सरश्चासितश्चैव तावुभौ ब्रह्मवादिनौ॥
असितस्यैकपर्णायां ब्रह्मिष्ठः समपद्यत। नाम्ना वै देवलः पुत्रो योगाचार्यो महातपाः॥
(कूर्मपुराण १९। १-२, ५)

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥
(कठोपनिषद् २।१।१)

समस्त जन संसारमें स्वभावतः बहिर्मुख ही उत्पन्न होते हैं। उनमें कोई विरला योगी ही अमृतत्वकी कामनासे अन्तर्मुख होकर प्रत्यगात्माको देखता है। इसलिये उक्त योगके साधनभूत अन्य योग प्रचलित हुए। उनमें महामति पतञ्जलिद्वारा अनुशासित दर्शनमें अष्टाङ्गयोग, तपोयोग, स्वाध्याययोग और ईश्वर-प्रणिधानयोग अच्छी तरह उपदिष्ट हुआ है। तपसे हठयोग, स्वाध्यायसे मन्त्रयोग और ईश्वर-प्रणिधानसे भक्तियोग जाना जाता है।

व्यासभाष्यमें समाधिको योग कहा गया है। भोजवृत्तिमें भी लिखा है—'**योगो युक्तिः समाधानम्, युज समाधाविति।**' प्रस्तुत दर्शनके आधारपर 'योग' शब्द '**युज समाधौ**' धातुसे ही निष्पन्न होता है, '**युजिर् योगे**' से नहीं, ऐसा तत्त्ववैशारदीमें भी कहा गया है।

वियोगका तात्पर्य है—चितिशक्ति (पुरुष) का स्वरूपमें प्रतिष्ठित होना ही योगका फल है। स्वरूपको ढकनेवाले जो अविद्यादिक विकार हैं तथा उनका आधारभूत जो चित्त या व्यष्टि प्रकृति है, उसके प्रलीन हो जानेपर उसमें विद्यमान क्लेश-बीज दग्ध हो जाते हैं और वह सर्वकर्तृत्वाभिमानके निवृत्त हो जानेसे अपने कारण अव्यक्त या समष्टि प्रकृतिमें लीन हो जाती है। अथवा आत्मा या पुरुषके समान शुद्ध रूपमें वर्तमान होती है और तब उपचरित भोगोंके अभावसे शुद्ध होकर पुरुष, स्वरूपमात्र ज्योति अमल और केवली-व्यष्टि प्रकृतिसे वियुक्त हो जाता है। योगदर्शनमें कहा है—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्। (३।१।५५)

योग या समाधिके द्वारा चित्तसत्त्वका दग्ध-क्लेश-बीज होनेसे कर्तृत्वाभिमान निवृत्त होना ही उसकी शुद्धि है और पुरुष तो प्रकृत्या निःसङ्ग है, चित्तसत्त्वके सङ्गसे उसमें औपचारिक भोगोंका प्रादुर्भाव होता है। जब योगद्वारा सत्त्व शुद्ध हो जाता है तो औपचारिक भोगोंका पुरुषमें अभाव हो जाता है, यही पुरुषकी शुद्धि है। तब शुद्ध सत्त्व रहे या न रहे पुरुषके कैवल्यमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, यही पतञ्जलिका आशय है।

४-अस्पर्श-योग

गौडपादाचार्यने कहा है—

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥
(गौडपादकारिका ३।४९)

समस्त सम्बन्धोंके स्पर्शसे रहित होनेके कारण उपनिषदोंमें प्रतिपादित अस्पर्श-योग वेदान्तविहित विज्ञानसे रहित योगकर्मीकी वाणियोंको कठिनतासे प्राप्त होता है। भयसे वर्जित होनेपर भी इस योगको आत्मनाश-रूप माननेवाले अविवेकी इससे भयभीत होते हैं।

उक्त कारिकासे सूचित योग भी वियोग-रूप ही है। इसका स्वरूप वहीं इस प्रकारसे उपन्यस्त है—

सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः॥
(गौ०कारिका, तृतीय प्रक० ३७)

वह सभी प्रकारके वागादि व्यवहारसे रहित, चित्तनादि मनोव्यापारसे परे, अत्यन्त प्रशान्त, नित्य प्रकाशात्मक अचल और अभय समाधिरूप है।

सम्पूर्ण शब्द स्मृतिसे परे, समस्त विचारोंसे '**स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्**' इस गीतोक्त नीतिसे समग्र विषयोंसे वियुक्त हो जानेपर मनकी अमनीभाव दशामें प्रशान्त कल्लोलवाले सागरके सदृश निखिल अज्ञानरूप, अन्धकारको ध्वस्त करनेवाली प्रभासे भास्वर, सुषुम्ना नाड़ीमें प्राण और अपान प्रवाहके सम हो जानेपर स्वर्ण-स्तम्भके समान विद्यमान, निमेष और उन्मेषसे वर्जित, निर्वात-निष्कम्प दीपशिखाकार योगी जिससे अभय हो जाता है, वह समाधि अस्पर्श-योग है।

५-शब्दपूर्वयोग

यह योग व्याकरण-दर्शनमें प्रसिद्ध है। ओङ्कारका जप और तेजका ध्यान ही इसका आशय जान पड़ता है। वाक्यपदीय (व्याकरण-दर्शन) ब्रह्मकाण्डकी वृत्तिमें लिखा है—

इस लोकमें दो प्रकारके शब्द सुने जाते हैं। एक नित्य तथा दूसरा कार्यरूप अनित्य। जो शब्द सुना जाता है या उच्चरित होता है, वह लोक-व्यवहारके लिये प्रवृत्त वैखरी-रूप कार्यात्मक अनित्य है। पश्यन्ती-रूप शब्द ब्रह्मात्मक विम्बके ही वर्ण, पद और वाक्य प्रतिविम्ब हैं। पश्यन्तीरूप नित्य

शब्दात्मा समस्त साध्य-साधनात्मक पद और पदार्थ-भेद-रूप व्यवहारका उपादान कारण है। अकार-ककारादि क्रमका वहाँ उपसंहार हो जाता है। समस्त कर्मोंका आश्रय, सुख-दुःखका अधिष्ठान, सर्वगामी, घटके अंदर रखे हुए दीपकके प्रकाशकी भाँति भोगायतन शरीरमात्रका प्रकाशक समग्र वर्ण, पद और वाक्यात्मक मूर्तियों तथा पदार्थोंकी अक्षय प्रकृति पर्जन्य (मेघ) के सदृश दावाग्निके समान प्रसव (उत्पत्ति) और उच्छेदशक्तिसे युक्त, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिशाली महान् शब्दवृषभ (शब्दब्रह्म), उच्चारण करनेवाले जनोंके हृदयमें विद्यमान रहता है। वाग्योगवेत्तागण उसीके साथ सायुज्यकी कामना करते हैं। कहा भी है—

अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।
प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते॥

(वाक्यपदीय, ब्र० का० १२२, पूना सं०)

शब्द पूर्वयोगसे युक्त योगी जैसे लिपिके चिह्न अक्षरों—अकारादिकोंके निमित्त बनते हैं, वैसे ही जिस प्रकाशमें (अभिन्न दर्पण-रूप ब्रह्ममें) नित्य शब्दकी अभिव्यञ्जक तीनों वैखर्यादि वाणियोंको प्रतिबिम्बके समान देखता है—

यत्र वाचो निमित्तानि चिह्नानीवाक्षरस्मृतेः।
शब्दपूर्वेण योगेन भासन्ते प्रतिबिम्बवत्॥

(वा०प०ब्र०काण्ड)

यहीं क्रमसंहारयोगकी भी चर्चा आयी है, जो शब्द पूर्वयोगका साधक है। भर्तृहरि लिखते हैं—

शब्दस्वरूपके साथ अभेद समझनेवाला व्यक्ति क्रमसंहारद्वारा शब्दपूर्वयोगको उपलब्ध करता है। साधु शब्दोंके प्रयोगसे उसके अन्तःकरणमें पहलेसे ही धर्मविशेष अभिव्यक्त हो चुका है, ऐसा योगी शब्द-तत्त्व-स्वरूप महानात्माके साथ ऐक्यलाभ करता हुआ वैकरण्यको[1] प्राप्त करता है।

६-राजयोग

'राजविद्या राजगुह्यम्' इस गीतोक्त वचनसे इस योगकी सूचना मिलती है। पतञ्जलिके योगका नाम 'राजयोग' है। इसमें 'ध्यानयोग' ही मुख्य है, जिसमें जन्मान्तरमें सिद्ध साधकोंके लिये चित्तवृत्तियोंका निरोध एवं सामान्य साधकोंके लिये यम-नियम आदिसे स्पष्ट किया गया है। इस विषयपर इसी अङ्कमें अन्य स्थानोंपर विवेचन किया गया है।

७-हठयोग

'तप' शब्दके द्वारा पातञ्जलदर्शनमें 'हठ' शब्दकी सूचना मिलती है। इसके अतिरिक्त **'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्'** (योग० २।५२)—इस सूत्रके भाष्य **'तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य'** के पञ्चशिखाचार्योक्त प्रमाणसे प्राणायाम ही परम तप है, यह जाना जाता है। हठयोगमें प्राणायाम ही आधारभूत है—

हठिनामधिकस्त्वेकः प्राणायामपरिश्रमः।
प्राणायामे मनः स्थैर्यं स तु कस्य न सम्मतः॥

और इस हठयोगके दो भेद हैं—(१) मार्कण्डेय हठयोग और (२) नाथपंथी हठयोग। इस हठयोग-विद्याके घेरण्डसंहिता, गोरक्षसंहिता आदि ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं, जिनके स्वाध्याय आदिसे एवं किसी योगीके सहयोगसे नेति, धौति, वस्ति, नौली, गजकरणी आदिकी साधना एवं अन्य यौगिक नियमोंके पालनसे योग-समाधि सिद्ध की जा सकती है।

८-लययोग

यह योग नादयोगके नामसे भी कहा जाता है। दक्षिण कर्णमें अनाहत नादको साधक सुनता है। अभ्यास करनेपर क्रमशः घण्टा-वादन, मेघ-गर्जन एवं ताल-वादन आदिके दस प्रकारके नाद सुनायी पड़ते हैं। अन्तिम नाद ओङ्कार है, उसीमें मनका लय करना चाहिये, तभी स्वरूपस्थिति प्राप्त होती है।

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय वैष्णवीम्।
शृणुयाद् दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा॥

(नादबिन्दूपनिषद्)

इन्द्रियाणां मनोनाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः॥

(हठयोगप्र० ४।२९)

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम्।
पश्चाद् विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत्॥

१-वैकरण्यके विषयमें 'पाशुपतसूत्र' नामक ग्रन्थमें सूत्र पठित है—'विकरणः' (२५)। कौण्डिन्यकृत पञ्चार्थभाष्यमें इसकी व्याख्या दी गयी है—'करणप्रतिषेधात् कार्यप्रतिषेधः कृतो भवति। कस्मात्? विशिष्टत्वात् ग्राहकत्वात् सूक्ष्मत्वाच्च कारणानाम्। तस्माद्विकरण इति कैवल्यम्।

कर्पूरमनले यद्वत् सैन्धवं सलिले यथा।
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते॥
(ह० प्र० ४। ८३,५९)

कुछ लोग इस योगको प्रस्तुत रूपमें समझते हैं— शरीरमें मेरुदण्डके नीचे मूलाधारके नामसे प्रसिद्ध एक कन्द है। बहत्तर हजार नाडियाँ उससे निकलकर सम्पूर्ण देहमें व्याप्त रहती हैं। उनमें इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना नामक तीन नाडियाँ मुख्य हैं। मेरुदण्डके वाम भागमें चन्द्ररूपिणी इडाका, दक्षिण भागमें सूर्यरूपिणी पिङ्गलाका और मध्य छिद्रमें सुषुम्नाका मार्ग है। भ्रूमध्यमें सङ्गम प्राप्त करके ये नाडियाँ सिरमें ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त जाती हैं। मूलाधारमें महाशक्ति कुलकुण्डलिनी सोती रहती है। ध्यान और जपसे उसे जगाकर सहस्रार-चक्रमें विराजमान परमेश्वरमें लीन करना ही लययोग या कुण्डलिनी-योग है।

लयक्रियासाधनेन सुप्ता सा कुलकुण्डली।
प्रबुद्ध्य तस्मिन् पुरुषे लीयते नात्र संशयः॥
शिवत्वमाप्नोति तया साहाय्यादस्य साधकः।

९-मन्त्रयोग और भक्तियोग

भगवन्नाम आदिका जप भगवच्चरित्र एवं भगवान्‌के द्वारा कहे गये गीता, उपनिषद् आदिका अध्ययन 'स्वाध्याय' शब्दसे निर्दिष्ट हुआ है। उक्त स्वाध्यायसे सभी प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। और भी कहा है—

नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात्।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः॥
(मन्त्रयोगसंहिता)

यह सृष्टि नाम-रूपात्मक है, अतः उसी नामका एवं भगवद्रूपका आलम्बन लेकर साधक बन्धनसे मुक्त होकर मुक्ति-लाभ करता है। पातञ्जलयोगदर्शनमें भक्तियोग ईश्वरप्रणिधानके नामसे कहा गया है। इससे शरणागतियोग अथवा प्रपत्तियोग लक्षित होता है।

फल न चाहते हुए कार्यरत रहना यही फल-संन्यासका तात्पर्य है। शरणागति या प्रपत्ति अनुरक्तिके बिना सम्भव नहीं।

१०-शिवयोग और पाशुपतयोग

इस सम्बन्धमें स्कन्दपुराण, शिवपुराण, लिङ्गपुराण, सर्वदर्शन-संग्रह आदि तथा काश्मीरी शैव-दर्शनके ग्रन्थोंमें निर्दिष्ट गम्भीर शिवात्मज्ञानके साधनों, शिवयोगीके चरित्रों, पाशुपत-सूत्र एवं नकुलीश पाशुपत-दर्शन एवं वेदान्तके श्रीकरभाष्य और श्रीकण्ठीय भाष्यका अध्ययन करना चाहिये।

इसी प्रकार जैन, बौद्ध, ईसाई, सूफी, पारसी, इस्लाम आदि धर्मोंमें भी योगके विविध स्वरूपोंपर विस्तारसे वर्णन मिलता है। इसी अङ्कमें विभिन्न स्थानोंपर कुछ योगोंपर निबन्ध प्रकाशित हैं। उन्हें वहीं देखकर समझनेका यत्न करना चाहिये।

भगवन्नाम और जपयोग

(डॉ० श्रीराकेशमणिजी त्रिपाठी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

शास्त्रोंमें प्रणवको एकाक्षर ब्रह्म कहा गया है। प्राणी जिन शब्दोंका उच्चारण करता है, वे उसी क्षण अपने विशिष्ट ध्वनि-संकेतोंको प्रवर्तित करते हुए तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं, किंतु वे ही यदि भगवान्‌के नाम या भगवान्‌की स्तुति आदिसे सम्पन्न हों तो उनका प्रभाव चिरस्थायी हो सकता है। मन्त्ररूपमें शब्दोंकी अद्भुत सामर्थ्य आज भी श्रद्धावान् साधकों, भक्तों आदिके द्वारा देखी जाती है। परंतु जीवनको धन्य तथा कल्याणकारी बनानेवाले शब्द वही हैं, जो जगन्नियन्ता श्रीहरिकी प्राप्तिमें सहायक हो सकें; क्योंकि मानव-जीवनका चरम एवं परम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति ही है। ऐसे शब्द भगवान्‌के दिव्य एवं पावन नाम हैं।

योग-विषयक ग्रन्थोंमें योगकी विविध परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं, जिनपर विचार करनेपर यही सिद्ध होता है कि जिस साधनाके द्वारा जीव अपना सम्बन्ध ईश्वरसे स्थापित कर उन्हें प्राप्त करता है, वही योग है। शास्त्रोंके अनुसार योगकी सार्थकता यही है कि काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर— इन षड्रिपुओंपर विजय प्राप्त कर ली जाय अथवा पाँचों इन्द्रिय और मन— ये छः वशमें हो जायँ। ऐसा होनेपर भी यदि उन नियमोंके द्वारा भगवान्‌के ध्यान-चिन्तन आदिकी प्राप्ति नहीं होती तो वह योग केवल परिश्रममात्र ही सिद्ध हुआ—

षड्वर्गसंयमैकान्ताः सर्वा नियमचोदनाः।
तदन्ता यदि नो योगानावहेयुः श्रमावहाः॥

(श्रीमद्भा० ७।१५।२८)

संतोंकी दृष्टिमें सभी दोषोंका उन्मूलन कर तत्काल भगवदुन्मुख करनेवाला भगवत्प्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ साधन भगवन्नाम है। यह समस्त योग-साधनाओंका सारतत्त्व है। इसका जप सभी प्रकारसे कल्याण करनेवाला है।

अग्निपुराणमें जपकी परिभाषा देते हुए कहा गया है कि जपमें 'ज' अक्षर जन्मविच्छेदक तथा 'प' अक्षर पापनाशक है। तात्पर्य यह कि जप करनेसे पापोंका नाश होता है तथा पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता—

जकारो जन्मविच्छेदः पकारः पापनाशकः।
तस्माज्जप इति प्रोक्तो जन्मपापविनाशकः॥

नित्य जपनीय एक सर्वशक्तिमान् सर्वनियन्ता ईश्वर ही कल्पनानुरूप अनेक देव-रूपोंमें व्याप्त दिखायी पड़ते हैं। **'सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति'** (ऋग्वेद १०।११४।५), **'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते'** (ऋग्वेद ६।४७।१८) एवं **'स वरुणः ···· मध्यतो दिवम्'** (अथर्ववेद १३।३।१३) आदिके अनुसार वह अद्वितीय तत्त्व, सत्य पदार्थ एक ही है। निरुक्त दैवतकाण्ड (यास्क) के अनुसार इस जगत्के मूलमें एक महत्त्वशालिनी शक्ति विद्यमान है, जो निरतिशय ऐश्वर्यशालिनी होनेसे ईश्वर कहलाती है, उसी एक देवता (दिव्यतत्त्व) की बहुत रूपोंमें स्तुति की जाती है—

महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।

(७।४।८-९)

परंतु भगवती श्रुतिके अनुसार ईश्वरके विविध नामों, रूपोंका पर्यवसान 'ॐ' में है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपाँसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(कठोपनिषद् २।१५)

सभी वेद जिस पदका मनन करते हैं, सभी तपस्वी जिसकी चर्चा करते हैं, जिसकी इच्छासे ही ब्रह्मचर्यादि व्रतोंका पालन किया करते हैं, उस पदको मैं तुमसे संक्षेपमें कहता हूँ—वह 'ॐ' है। इस ॐके जपका निर्देश योगाचार्य महर्षि पतञ्जलि भी अपने 'योगदर्शन' के **'तस्य वाचकः प्रणवः** (१।२७) एवं **'तज्जपस्तदर्थभावनम्'** आदि सूत्रोंसे निर्दिष्ट करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार जो पुरुष 'ॐ' ऐसे इस एक अक्षररूप ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थ-स्वरूप परमात्माका चिन्तन करता हुआ—शरीरको त्यागकर परलोक जाता है, वह परमगतिको प्राप्त होता है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

(८।१३)

'ॐ' साक्षात् परमात्माका ही स्वरूप है। भगवान् श्रीकृष्णने गीता (१०।२५) में **'गिरामस्म्येकमक्षरम्'** कहकर इसे सुस्पष्ट किया है। इसी जपयोगकी महत्ताको **'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'** से निर्दिष्ट करते हुए वे उसे अपनी विभूति बतलाते हैं। इस 'ॐ'के जपयोगकी साधनाका विवेचन प्रायः सभी उपनिषदों एवं अन्य आध्यात्मिक योगसाधनात्मक ग्रन्थोंमें किया गया है। मुण्डकोपनिषद्में कहा गया है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

(२।२।४)

अर्थात् प्रणवको धनुष एवं आत्माको तीर बनाकर ब्रह्मरूपी लक्ष्यको प्रमादरहित होकर वेधना चाहिये। जिस प्रकार तीर अपने लक्ष्यके साथ तन्मय हो जाता है, उसी प्रकार आत्मा भी ब्रह्मके साथ तन्मय हो जाता है। इस प्रकार पूर्ण तन्मयतापूर्वक किया जानेवाला प्रणवका जपयोग साधकको ईश्वर-सांनिध्य प्रदान करनेवाला है।

जपयोगकी साधनाके लिये योग-ग्रन्थोंमें अनेक विशिष्ट विधान बतलाये गये हैं। परंतु आजकल जप-विधिका पालन करना अशक्य-सा है, इसलिये हरि-नाम—भगवन्नाम-जप करना विशेष सुगम और कल्याणकारी है, क्योंकि इसके लिये किसी विशिष्ट विधानकी आवश्यकता नहीं बतलायी गयी है।

यह मानसिक, वाचिक, उपांशु[1] किसी भी रूपमें किये जानेपर भगवत्प्राप्तिमें सहायक हो जाता है। इस नानाविध आधि-व्याधि-संकुल कलिकालमें हरिनाम-जपके अतिरिक्त संसार-सागरसे पार होनेका अन्य कोई साधन नहीं है। भगवान् वेदव्यास कहते हैं—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(बृ० ना० पु० ३८। १२७)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजके विचारमें अच्छे भावसे, बुरे भावसे, क्रोध अथवा आलस्यसे किसी भी प्रकार भगवन्नामका जप करनेसे व्यक्तिको दसों दिशाओंमें कल्याण-ही-कल्याण प्राप्त होता है। यह कल्पवृक्षस्वरूप भगवन्नाम स्मरण करनेसे ही संसारके सब जंजालोंको नष्ट कर देनेवाला है। यह कलिकालमें मनोवाञ्छित फलोंको देनेवाला, परलोकका परम हितैषी एवं इस संसारमें व्यक्तिका माता-पिताके समान सब प्रकारसे पालन एवं रक्षण करनेवाला है—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

(मानस १। २८। १)

तथा—

नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥
राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता॥

(मानस १। २७। ५-६)

इस भगवन्नाम-जपयोगके आध्यात्मिक एवं लौकिक पक्षका सुन्दर समन्वय करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं कि ब्रह्माजीके बनाये हुए इस प्रपञ्चात्मक दृश्यजगत्से भलीभाँति छूटे हुए वैराग्यवान् मुक्त योगी पुरुष इस नामको ही जीभसे जपते हुए तत्त्वज्ञानरूप दिनमें जागते हैं। और नाम तथा रूपसे रहित अनुपम, अनिर्वचनीय, अनामय ब्रह्मसुखका अनुभव करते हैं। जो परमात्माके गूढ़ रहस्यको जानना चाहते हैं, वे भगवन्नामका जिह्वाद्वारा जप करके उसे जान लेते हैं। लौकिक सिद्धियोंके आकाङ्क्षी साधक लययोगद्वारा भगवन्नाम जपकर अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त कर सिद्ध हो जाया करते हैं। इसी प्रकार जब संकटसे घबराये हुए आर्तभक्त नामजप करते हैं तो उनके बड़े-बड़े संकट मिट जाते हैं और वे सुखी हो जाते हैं—

नाम जीहँ जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी॥
ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा॥
जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीहँ जपि जानहिं तेऊ॥
साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥
जपहिं नाम जनु आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥

(मानस १। २२। १-५)

इस भगवन्नाम-जपकी महिमा अनन्त है। इस जपके प्रसादसे शिवजी अविनाशी हैं एवं अमङ्गल वेशवाले होनेपर भी मङ्गलकी राशि हैं। परम योगी शुकदेवजी, सनकादि सिद्धगण, मुनिजन एवं समस्त योगिजन इस दिव्य नाम-जपके प्रसादसे ही ब्रह्मानन्दका भोग करते हैं। भक्तशिरोमणि श्रीनारदजी, भक्त प्रह्लाद, ध्रुव, अम्बरीष, परम भागवत श्रीहनुमान्जी, अजामिल, गणिका, गीध, केवट, भीलनी शबरी—सभीने इस भगवन्नामजपके द्वारा भगवत्प्राप्ति की है। मध्यकालीन भक्त एवं संत-कवि सूर, तुलसी, कबीर, दादू, नानक, रैदास, पीपा, सुन्दरदास, मीराबाई, सहजोबाई आदि संतोंने इसी जपयोगकी साधना करके सम्पूर्ण संसारको विश्वकल्याणका संदेश दिया है। सच ही है—जिस भगवन्नामका मात्र उलटा जप करनेसे क्रूरकर्मा दस्यु रत्नाकर महर्षि वाल्मीकि बन सकते हैं, उस हितकारी एवं परमात्म-प्राप्तिमें सहायक भगवन्नामका आश्रय ग्रहण करना सभीके लिये परम कल्याणकारी है।

१-मनुस्मृति (२। ८५) के अनुसार विधियज्ञकी अपेक्षा वाचिक जपका प्रभाव दस गुना, उपांशु-जपका सौ गुना एवं मानसिक जपका प्रभाव हजार गुना होता है— विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः। उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

स्पष्ट उच्चारणपूर्वक किया जानेवाला जप वाचिक, जिसे समीपस्थ व्यक्ति भी न सुन सके केवल होठ ही हिलते हों वह उपांशु एवं जिसको मनसे जपा जाय वह मानसिक जप कहलाता है।

व्याकरणमें योग

(आचार्य पं० श्रीआद्याचरणजी झा)

महर्षि पाणिनिके धातुपाठमें तीन 'युज' धातु हैं। दिवादिगणके 'युज' धातुका अर्थ 'समाधि', रुधादिगणके 'युज' धातुका अर्थ 'संयोग' तथा चुरादिगणके 'युज' धातुका अर्थ 'संयमन' है।

उपर्युक्त तीनों 'युज' धातुका अर्थ साक्षात् तथा परम्परया 'समाधि'—मनःसंयोग या मनोनिरोध है। **'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः'**—यह भगवान् पतञ्जलिके सूत्रमें समाधि-अर्थमें अन्तर्निहित है। रुधादिगणस्थ 'युज' धातुका संयोग-अर्थ श्रीमद्भगवद्गीताके **'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्'** से सिद्ध है।

योगके अनेक अङ्ग हैं, किंतु पतञ्जलिके अनुसार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ अङ्ग प्रमुख हैं तथा सभी प्रकारके योगों—कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, हठयोग आदिमें इनका उपयोग होता है।

भगवान् पतञ्जलिका व्याकरण महाभाष्यद्वारा प्रतिपादित नियम ही व्याकरणशास्त्रीय चरम सिद्धान्त माना गया है। वे ही पतञ्जलि अपने 'पातञ्जल योगदर्शन' में **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** को योग शब्दका सारभूत अर्थ बतलाते हैं। चित्तवृत्तिको कर्ममें, भक्तिमें, ज्ञानमें, चिन्तनमें, प्राणायाममें, पठन-पाठनमें, हठमें, ईश्वर-चिन्तनमें जहाँ-कहीं भी एकाग्रतासे संलग्न किया जाता है, उसे कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग आदि कहते हैं। योगवित्, योगवित्तम, अन्वययोग, व्यतिरेकयोग, राजयोग, मोक्षसंन्यास-योग शब्द भी इसी योगसे निर्मित हैं।

यह 'योग' ईश्वर, जीव और प्रकृतिकी पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार करता है। वेदमें ईश्वरको **'वाचि व्याहृतायाम्'** (यजुर्वेद ८। ५४) कहा गया है। इस तरह ईश्वररूपी वाच्यके वाचक **'भूर्भुवः स्वः'** हैं। यहाँ **'भू सत्तायाम्'** धातुसे भूः अर्थात् सत् **'भुवः अवचिन्तने'** धातुसे 'भुवः' अर्थात् 'चित्' तथा 'स्वः' अर्थात् आनन्द—इस तरह यह व्यवहार-त्रितय 'भूर्भुवः स्वः' सच्चिदानन्द है, यही गूढ़ रहस्य है।

व्याकरणशास्त्रका गूढ़तम तत्त्व 'स्फोट' शब्द है, जिसे मध्यमा नादव्यङ्ग्य कहते हैं। अर्थकी स्फुट—स्पष्ट प्रतीति वहीं होती है, वहीं 'स्फोट' वैखरी-ध्वनिमें सर्वजनसंवेद्य हो जाता है। परा, पश्यन्ती—ये दोनों वाक् तो योगियोंके द्वारा ही गम्य हैं। वहाँतक पहुँचनेके लिये भी एकमात्र योग ही साधन है।

चार प्रकारकी वाणीका वर्णन वेदोंमें भी आया है। वह मन्त्र इस प्रकार है—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

(ऋग्वेद १। १६४। ४५)

आचार्य सायणने इस मन्त्रके वेदपरक, यज्ञपरक, व्याकरणपरक, पशु-पक्षी एवं सर्पादिके वाणीपरक अर्थ करनेके बाद योग एवं कुण्डलिनीपरक अर्थ भी किये हैं, जिसका संक्षिप्त भाव इस प्रकार है—

'चत्वारि वाक्' इस पदकी व्याख्या करते हुए आचार्य सायण कहते हैं कि मान्त्रिक लोग वाणीको परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—इन चार सूक्ष्म भागोंमें विभक्त करते हैं यद्यपि मूलतः यह वाक् एक ही है। इनमें आकाशस्वरूपिणी परा वाणी वह है जो अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे मूलाधारसे उठकर नाद-रूपसे नाभितक व्याप्त रहती है और यह मूल परा वाणी नादरूप होनेसे तथा अत्यन्त सूक्ष्मरूप होनेसे दुर्निरूपिणी कही गयी है अर्थात् इसका किसी प्रकार वर्णन नहीं हो सकता है। पर यही वाणी नाभिसे उठकर हृदयकी ओर चलती है तो योगियोंके द्वारा दृष्ट होती है अर्थात् अनुमित होने लगती है, अतः पश्यन्ती कही जाती है। फिर वह बुद्धि-रूपमें व्याप्त होकर 'अब मैं इसे इस प्रकार कहूँगा'—ऐसा सोचे जानेके कारण मध्यम स्थिति एवं मध्यम स्थानमें आकर मध्यमा नामसे व्यवहृत होती है। चूँकि मध्य हृदयमें यह प्रकट होती है, इसलिये भी इसका नाम मध्यमा है। इससे ऊपर उठकर जब वही वाणी बाहर कण्ठ, तालु और ओष्ठ आदिके द्वारा सुस्पष्ट-रूपसे उच्चरित होती है तो वैखरी नामसे अभिव्यक्त होती है। इन वाणियोंके सूक्ष्मतम रहस्यको योगीजन ही जानते हैं। भगवान्ने गीतामें भी इसी बातको कहा है—

'यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।'

(१५। ११)

व्याकरण, आगम तथा सभी दर्शन शास्त्रोंके भी मूलभूत ये चारों प्रकारके वाक् 'कुण्डलिनी-तत्त्व'के आधारपर ही आधृत हैं। शास्त्रका वचन है—

'मूलाधारात् कुण्डलिनीमुत्थाय सुषुम्नामार्गेण हृदयस्थजीवात्मना सह संयोज्य कण्ठदेशेन मस्तकान्तःस्थिते सहस्रारकमले परमशिवे (परब्रह्मणि) संयोजयेत्, तदैवामृतक्षरणं जायते।' (तन्त्रसार)

इसका भाव है कि कुण्डलिनीको मूलाधारसे उठाकर सुषुम्नाके मार्गसे ले जाते हुए हृदयस्थ आत्माके साथ संयुक्त कर कण्ठदेशसे होते हुए शिरोभागमें स्थित सहस्रारकमलमें परमशिव परमात्मा (जो व्याकरणका शब्दब्रह्म अर्थात् ओंकार है)-से जोड़ दे, उसी समय अमृतका क्षरण होता है। इससे साधकको अमरत्व प्राप्त होता है और परा वाणीका रहस्य भी अवगत हो जाता है।

'योग' जीवनका एक नया अर्थ

(डॉ० श्रीराजेन्द्ररंजनजी चतुर्वेदी, डी० लिट्०)

मनुष्यके रूपमें प्रकृतिके क्रम-विकासकी अभिव्यक्ति होती है। जडतत्त्वसे प्राण और फिर प्राणसे मन और मनसे परे विज्ञान और फिर सच्चिदानन्दकी पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। योग उस दिशामें मानवताको ले जानेवाला एक प्रशस्त मार्ग है। योगमार्ग इतिहासकी बीती हुई बात नहीं है, वह उससे अधिक भविष्यकालकी बात है। विश्वके अनेक देशोंमें भारतके योगका संदेश पहुँचा है तो उन देशोंमें योगके प्रति अभूतपूर्व आकर्षण पैदा हुआ है। अवश्य ही योग-साधना वैयक्तिक है, परंतु उसका परिणाम सार्वजनिक होगा; क्योंकि मनुष्यके पूर्ण विकासका यह मार्ग मनोमय मनुष्यको अतिमानसिक या आध्यात्मिक मनुष्यतक उठानेका मार्ग है। महर्षि अरविन्दके शब्दोंमें कहें तो 'योग'का उद्देश्य है पृथ्वीपर अतिमानसिक चेतनाको उतार लाना, उसे यहाँ स्थापित करना, अतिमानसिक चेतनाकी सहायतासे व्यक्ति और समष्टिके आन्तरिक और वाह्य जीवनको व्यवस्थित—शासित करके एक नवीन जातिकी सृष्टि करना। निश्चित ही मनुष्यका यह स्वरूप चेतनाके स्तरपर अधिक विकसित होगा।

पूर्ण विकसित चेतना विद्यमान तो पहलेसे ही है, किंतु सामान्यतया अविकसित मन उच्चतर मानसकी चेतनाकी उपस्थितिका अनुभव नहीं कर सकता। जो ज्ञानी, तत्त्वदर्शी, भक्त, योगी और साधक हुए हैं, उन्होंने उसकी अनुभूति की थी और हम उसी अनुभूतिका सूत्र पकड़कर योगमार्गपर आगे बढ़ सकते हैं। उन तत्त्वदर्शियोंकी आध्यात्मिक अनुभूति जीवनका सत्य है और जो जीवन हमारे चारों ओर बिखरा हुआ है, उसके पीछे वह अन्तःसलिला गङ्गाकी तरह विद्यमान है। वह अनुभूति आत्मान्वेषण तथा विश्वान्वेषणका एक उच्चतम क्षेत्र है। यह अनुभूति केवल एक शक्तिका बोधमात्र नहीं है, अपितु उस शक्तिको—आन्तरिक शक्तिको ग्रहण करना है जो मनको बदल सकती है, उसकी शक्तियोंको विकसित कर सकती है, मनुष्य-स्वभावको बदल सकती है तथा शारीरिक क्रियाओंपर नियन्त्रण कर सकती है।

चेतनाकी इस शक्तिकी सही पहचानके लिये 'यूरोपीय मनोविज्ञान'का मार्ग पर्याप्त और सर्वथा परिपूर्ण नहीं है। योगके द्वारा मनकी विविध क्रियाओं, अवस्थाओं, स्तरों और विस्तारको अधिक स्पष्टरूपमें जाना-समझा जा सकता है। मनुष्यकी चेतनाका आज जो विकसित रूप है, चेतनाका विस्तार उससे आगे और बहुत आगे भी है, यह बात हमें योग बतलाता है। अतिमानसिक शक्ति हमारे मन, प्राण और शरीरको रूपान्तरित कर सकती है। अतिमानस सच्चिदानन्दकी आत्मज्ञान और विश्वज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति है। आत्म और विश्वके बीच जो सीधा प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, योगसे उस सम्बन्धको प्रत्यक्ष करना सम्भव है।

माण्डूक्य उपनिषद्में जिसे विश्व, तैजस और प्राज्ञ कहा है, वह वाह्य चेतना, आन्तरिक चेतना और अति चेतना है। मनुष्यकी सामान्य चेतनामें केवल वाह्य ही जागरित है, आन्तरिक सत्ताका धुँधला-सा बोध स्वप्नोंमें होता है। उपनिषदोंमें मन, प्राण और अन्न; सूक्ष्म, स्थूल और कारण तथा जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्तिका विवेचन करते हुए आन्तरिक सत्ताका जो उद्घाटन किया है, यूरोपीय मनोवैज्ञानिक 'परामनोविज्ञान'-जैसी विधाके द्वारा वहाँ पहुँचनेका प्रयास कर

रहे हैं। भारतीय योगने तो विश्व, विश्वात्मा और विश्वप्रकृतिकी चेतनाको आत्म-चेतनासे सम्बद्ध देख लिया था। चेतनाका वह स्तर जो भौतिक रूपसे अपना प्रभाव प्रकट करता है, जो विचारको प्रेरित कर सकता है, वह विराट् चेतना जहाँ शरीर बहुत छोटी, आश्रित और अन्तर्विष्ट वस्तु होती है, 'योग' चेतनाकी उसी विराट् अनुभूतिकी खोज करता है तथा मानवजातिका गुणात्मक परिवर्तन भी कर सकता है, इसमें संदेह नहीं। भौतिक विज्ञानके विकासको योग-चेतनाके नियन्त्रणमें होना चाहिये, यह विश्व-कल्याणका मार्ग है और यही जीवनका नया अर्थ है।

भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम्

(म० म० डॉ० श्रीभागीरथप्रसादजी त्रिपाठी, 'वागीश शास्त्री')

यह संसार दो तत्त्वोंसे निर्मित है—जड तथा चेतन, असत् एवं सत्, अज्ञान और ज्ञान अथवा स्थूल और सूक्ष्म। आद्य शंकराचार्य ब्रह्मसूत्रके शांकर-भाष्यमें प्रतिपादित करते हैं—**'सत्यानृते मिथुनीकृत्य नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः'**—सत्य और असत्य परस्पर मिलकर संसारके स्वाभाविक व्यवहारका निर्वाह करते हैं।

जो वस्तु उत्पन्न होकर अस्तित्व रखती है, उसमें परिवर्तन या परिणाम अवश्य होता है। परिवर्तन होनेके कारण ही किसी व्यक्ति या पदार्थमें वृद्धि तथा विकास होता है; किंतु किसी पदार्थमें होनेवाली यह वृद्धि एक निश्चित बिन्दुतक जाकर रुक जाती है और उसमें वहींसे क्षीणता प्रारम्भ होने लगती है। जब यह क्षीणता अपनी पराकाष्ठापर पहुँच जाती है, तब उस वस्तु या व्यक्तिका अभाव हो जाता है। इसी अभावको व्यावहारिक भाषामें विनाश कहते हैं। परिवर्तन आदि उक्त विकारोंको षड्भाव-विकार कहते हैं। ये जड, असत् अथवा स्थूल पदार्थोंमें होते हैं। यह संसार (ब्रह्माण्ड) तथा प्रत्येक प्राणीका शरीर (पिण्ड) जड, असत् अथवा स्थूल होनेके कारण परिवर्तनशील (उत्पत्ति-विनाशशील) अथवा विकारयुक्त है।

यह सम्पूर्ण जगत् (ब्रह्माण्ड) तथा प्राणिजगत् (पिण्ड) जो जड होनेपर भी स्पन्दनशील और गतिशील दृष्टिगोचर हो रहा है, इसका कारण है असीमित चेतन-तत्त्वकी संनिधिका प्रभाव। उस परम चेतन-तत्त्वने इस ब्रह्माण्डकी रचना की और फिर उसके अंदर प्रविष्ट हो गया। अतः उस परम चेतन-तत्त्वसे प्रेरित होकर ही इस जड-तत्त्वमें स्पन्दन होता है और स्पन्दनक्रिया होनेके कारण ही उक्त छः क्रियाविकार होते हैं।

लोहेके कणोंको चुम्बकके सामने ले जाइये। उनमें हलचल मच जायगी। उन लौहकणोंमें हलचल थी नहीं, फिर आ कहाँसे गयी? किंतु ज्यों ही आप उन लौहकणोंको चुम्बककी शक्तिसीमासे परे हटा लेते हैं, पुनः वे निःस्पन्द हो जाते हैं। आप पुनः उन्हें चुम्बककी शक्तिसीमाकी परिधिमें रख देते हैं, तो या तो वे नर्तन करने लगते हैं या फिर उसमें आत्मसात् होना चाहते हैं।

असीमित शक्ति अथवा चेतन-तत्त्वके आगार उस परमतत्त्वकी शक्तिसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जिस प्रकार आकृष्ट है, बँधा है और नर्तन कर रहा है, स्पन्दित हो रहा है उसी प्रकार पिण्ड भी उस परम तत्त्वकी प्रतिनिधि शक्तिके कारण स्फुरित हो रहा है। उत्पत्ति, सत्ता, परिणाम, वृद्धि, क्षीणता तथा विनाशकी अवधि ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनोंकी निश्चित है। ब्रह्माण्डकी यह अवधि पिण्डकी अपेक्षा अधिक लम्बी है। इसलिये ये पिण्ड अन्य पिण्डोंके प्रतिदिन होनेवाले विलयनोंकी भाँति ब्रह्माण्डोंका विलयन नहीं देख पाते हैं। पर उनकी भी आयु-सीमा निश्चित है। वहाँ वह बिन्दु है, जहाँसे क्षरण या क्षीणता प्रारम्भ होती है और अन्तमें शक्ति समाप्त हो जानेके कारण इनको निःस्पन्द हो जाना है। यह जड-तत्त्व केवल उपकरण है चेतन-तत्त्वका। वह चेतन-तत्त्व ही सत् (अपरिवर्तनशील) चित्—चेतनाशील तथा आनन्दमय है।

इस जड या स्थूल तत्त्वको प्रकृति तथा चेतन-तत्त्वको पुरुष भी कहते हैं। प्रकृतिमें विकृति होती है। वह पुरुषको रिझानेके लिये स्पन्दनशील होती रहती है। पर अन्तमें उसमें समाहित होनेपर वह परा प्रकृतिमें अवस्थित हो जाती है।

अव्यक्तसे व्यक्त—इस परा प्रकृतिको 'अव्यक्त' कहते हैं। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणके रूपमें व्यक्त होनेपर यह अव्यक्त प्रकृति त्रिगुणात्मिका (व्यक्त) बन जाती है। वस्तुतः इसी त्रिगुणात्मिका शक्तिका नाम प्रकृति है, क्योंकि विकृति

इसीमें होनी है, 'अव्यक्त' में नहीं। यह 'अव्यक्त' प्रकृति उस परम शक्तिशाली सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म परम चेतनके सहकारसे स्पन्दित होती है और त्रिगुणात्मक होकर हमारी अनुभूतिमें आनेवाले सूक्ष्मतम तत्त्व आकाशको उत्पन्न करती है। पुनः आकाशसे वायु, वायुसे तेजोमय अग्नि और अग्निसे रसयुक्त जल और जलसे गन्धादियुक्त पृथ्वीकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह संसार अव्यक्त या शून्यसे उत्पन्न हुआ है। इसकी विपरीत क्रियासे पृथ्वी वृष्टि आदिसे जलमय और फिर सूर्यकी किरणोंसे जल सूखकर केवल तेजोमय हो जाता है और वह तेज पुनः वायु बनकर और आधार न पाकर धीरे-धीरे आकाशका रूप धारण कर लेता है। आकाश शब्द-गुणसे शून्य होकर अव्यक्त या मूल प्रकृतिमें लीन हो जाता है। इसे ही सर्ग या प्रतिसर्ग, उद्भव या आप्यय अथवा सृष्टि एवं प्रलय संज्ञासे अभिहित किया गया है।

जीवात्माकी व्यग्रता—उस परम चेतनके प्रतिनिधि चेतन आत्माकी संनिधिके कारण पिण्ड प्रकृति (शरीर) उस प्रकार स्पन्दित है, जिस प्रकार परमचेतनके कारण ब्रह्माण्ड स्पन्दित है। यह प्रतिनिधि चेतन आत्मा यद्यपि सत्-चित्-आनन्दमय है तथापि प्रकृतिके प्रतिनिधिभूत देहका आश्रय लेनेके कारण, प्रकृतिके विकृतिमय चौबीस तत्त्वोंसे घिरा रहनेसे प्रकृतिकी विकृतियोंको अपनेमें प्रतिबिम्बित पाकर अपनेको स्वयं विकारोंसे युक्त समझने लगता है। इस प्रकार जब उसका आनन्दमय स्वरूप बाधित होने लगता है, तब उसकी व्याकुलता बढ़ने लगती है। वह अपने आनन्दमय स्वरूपमें अवस्थित होनेके लिये व्यग्र होने लगता है।

आनन्दमय स्वरूपमें स्थित होनेका उपाय— योग

अपने इस आनन्दमय स्वरूपमें स्थित रहनेके लिये अर्थात् प्रकृतिकी विकृतियोंको अपनेमें आरोपित करनेसे बचनेके लिये अथवा प्रकृतिमें विकृतियोंको न होने देनेके लिये तत्त्ववेत्ता अनादिकालसे उपाय करते चले आ रहे हैं।

इस विकृतिशील देह-पिण्डमें स्थूल-रूपसे जल (कफ), अग्नि (पित्त) तथा वायु-तत्त्व (वात) यदि समान अवस्थामें रहते हैं तो यह विकारी देह दीर्घकालतक विकारोंसे रहित रह सकता है। आयुर्वेदशास्त्रका आविर्भाव उक्त तीनों विकारोंको समानावस्थामें ला देनेके लिये हुआ। ताकि जीवात्मा अपने आनन्दमय स्वरूपमें सदा अवस्थित रह सके। किंतु विकृतियोंकी पराकाष्ठा होनेपर आयुर्वेदकी सहायतासे भी धर्मके साधन—इस शरीरकी रक्षा नहीं की जा सकती। परंतु योगमार्गका अवलम्बन कर मानव-शरीरको सिद्धदेहके रूपमें परिवर्तित कर अजर-अमर बनाया जा सकता है और साधक चिरयोगाभ्याससे अपने आनन्दमय स्वरूपमें अवस्थित हो सकता है।

योगकी दीर्घ परम्परा—योगकी दो मुख्य शाखाएँ हैं—हठयोग तथा राजयोग। हठयोगका आश्रय लेकर व्यक्ति अपनेको शारीरिक विकृतियोंसे मुक्त रख सकता है। किंतु राजयोगकी सहायतासे शरीर तथा अन्तःकरण—इन दोनोंके विकारोंसे परे रहकर अपने आनन्दमय स्वरूपमें स्थित रह सकता है। राजयोग समन्वयात्मक योग है। इसे 'अष्टाङ्गयोग' के नामसे भी जाना जाता है। योगविद्याकी अतिदीर्घ परम्परा रही है। योगशास्त्रके आदिवक्ता 'हिरण्यगर्भ' माने गये हैं—

'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।'

भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें प्रकृतिकी विकृतियोंपर विजय प्राप्त करनेके साधन योगशास्त्रको अनादि-कालसे प्रवृत्त बताया है। उन्होंने अर्जुनसे कहा कि इस 'योगशास्त्र' का उपदेश मैंने ही सबसे पहले सृष्टिके प्रकाशक सूर्यको दिया था। सूर्यने मनुको और मनुने अपने पुत्र इक्ष्वाकुको तथा इक्ष्वाकुने राजर्षियोंको इसका उपदेश दिया। इस प्रकार यह योगकी परम्परा क्रमशः सभी सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी राजाओंमें चली आयी और जनक आदि राजा राजर्षि नामसे अलङ्कृत होते थे। इसी तरह महर्षि दत्तात्रेय, महर्षि मार्कण्डेय, महर्षि घेरण्ड आदिकी भी अनेक योगपद्धतियाँ हैं।

विकृतियोंसे मुक्ति—योगारुरुक्षु व्यक्ति प्रकृति (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, चित्त, बुद्धि) रूपी घोड़ेको विकृतियों (शारीरिक, ऐन्द्रियिक, मानसिक, चैत्तिक तथा बौद्धिक रोगों) से दूर रखनेके लिये योगासनोंका आश्रय लेता है। भगवान् श्रीकृष्णने गीता (६। ५)-में अर्जुनसे स्पष्ट कह दिया कि मैं मानव-प्रकृतिकी विकृतियोंसे मुक्त होनेके साधन बतलाता हूँ। विकृतियोंसे अपनेको मुक्त रखना प्रत्येक मानवका आवश्यक कर्तव्य है। जीवात्माको स्वयं प्रकृतिके

क्लेशोंमें नहीं फँसना चाहिये।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

पूर्वजन्मकी वासना और संस्कारोंके कारण संचित कर्मोंके रूपमें मनुष्य इस जन्ममें भले ही प्रारब्धके अनुसार चल रहा हो, पर इस समय जो कर्म वह कर रहा है, वह भविष्यमें संचित कर्मके रूपमें परिवर्तित हो जायगा और प्रारब्ध बन जायगा। वर्तमानके अधिकांश कर्म कर्ताके अधीन हैं। इस शुभ अवसरको खोकर आत्मोद्धारके लिये प्रयत्न न करना वस्तुतः आत्मघात-सा ही है।

स्थूल अथवा जड प्रकृतिको अनुकूल, साधनायोग्य बनानेके लिये साधकका उपयुक्त आहार-विहार करना सफलताकी दिशामें उन्मुख होना है। उचित आहार-विहारके साथ योगसाधना करनेपर वह क्लेशोंको दूर करेगी। यदि आहार-विहारके द्वारा प्रकृतिको अनुकूल न बनाया गया तो योगसाधना क्लेशोंको हटा नहीं सकेगी—(गीता ६। १७)।

योगसाधना—परम औषध

वह परम चेतन सम्पूर्ण द्वन्द्वों (राग-द्वेष, शत्रुता-मित्रता आदि) से परे है, उसमें परम शान्तिका सागर हिलोरें ले रहा है। जब आप योगसाधनाद्वारा अनुकूल बनाये गये शरीर और इन्द्रियोंको अन्तःकरणमें समर्पित कर देते हैं, तब उस परम चेतनकी शान्तिकी कुछ झलक दिखायी देने लगती है। जब अन्तःकरणको आत्मामें समर्पित कर दिया जाता है, तब व्यक्तिको शाश्वत शान्तिका दर्शन होने लगता है और जब आत्माको परमात्मा (परम चेतन) में समर्पित कर दिया जाता है, तब पराशान्ति प्राप्त हो जाती है। योगकी ये तीन भूमिकाएँ हैं। शान्तिका अर्थ है—सम्पूर्ण क्लेशोंसे सर्वथा मुक्ति। अपनी इसी जीवितावस्थामें जो व्यक्ति पूर्ण शान्ति प्राप्त कर लेता है, उसे 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है। इसीलिये योगकी उपादेयताके विषयमें स्कन्दमहापुराणमें कहा गया है कि 'संसारके क्लेशोंसे संतप्त प्राणियोंके लिये योगकी साधना ही परमौषध है'—

'भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम्।'

वियोग

(आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी)

'सङ्गमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः।' प्रेम और ममत्वका ऐसा जोड़ा है कि ये कभी अलग नहीं किये जा सकते। जहाँ प्रेम है वहाँ ममत्व है। जो जिससे प्रेम करता है, उसे अपना ही बनाकर रखना चाहता है। यदि वह उसे अपना नहीं बना पाता तो कलपता है, रोता है। उसका कलपना-रोना ममताकी मात्रा बढ़नेसे होता है। वह आये और गये, उनके आनेमें संयोग, जानेमें वियोग है। दोके मिलनको संयोग अथवा योग कहते हैं—**'संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।'** किंतु उक्त योगकी विशेषता विशुद्ध प्रेममें ही है और वह अनिर्वचनीय है—**'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्।'** वियोगीके हृदयकी कसक, मधुर स्मृतिकी रूपरेखा और तन्मयताकी झलक 'गोपिकागीत'में है—**'त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते।'**

प्रेमयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, लययोग, हठयोग आदि सभी योगोंके सम्पुटसे 'वियोग' रस परिपक्व होकर सिद्ध होता है—***'ऊधौ मोहि ब्रज बिसरत नाहीं।'***

जहाँ संयोगमें मनकी प्रफुल्लता और आनन्द है, वहाँ वियोगमें प्राणोंकी विकलता, तन्मयता, उत्सुकता एवं दुःखदायिनी मधुर स्मृतिमें अकथनीय आह्लाद है। प्रेमके शुद्ध स्वरूपका प्रतिबिम्ब विरहीके विकल हृदयपटलपर रहता है—

परिपुष्टे परिपुष्टं क्षीणे क्षीणं समे समं चैव। माधव तस्या अङ्गं तवैव स्नेहेन घटितमिव॥

प्रेमी अपने प्यारे प्रभुको कभी भी भुला नहीं सकता। प्रेमकी अटूट धाराकी लहर वियोगीके निर्मल हृदय-सरोवरमें सदा लहराती रहती है—

क्वचित् क्वचिदयं यातु स्थातुं प्रेमवशंवदः। न विस्मरति तत्रापि राजीवं भ्रमरो हृदि॥

विभिन्न धर्म एवं सम्प्रदायोंमें योग-साधना

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें योग-विद्याका स्थान

(शास्त्री श्रीमाधवप्रियदासजी वेदान्ताचार्य)

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदाय भक्तियोग-प्रधान सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदायकी दृष्टिसे योगका अर्थ है भगवान्‌के स्वरूपमें चित्तकी वृत्तियोंका लय हो जाना। आचार्य स्वामिनारायण कहते हैं—

'भगवान्‌के स्वरूपमें तैलधारावत् अविच्छिन्न अखण्ड-वृत्ति रखना सबसे कठिन साधन है। जिस मनुष्यके मनकी वृत्ति भगवान्‌के स्वरूपमें अखण्ड रहने लगती है, उसके लिये इससे अधिक कोई प्राप्ति भी शास्त्रमें नहीं कही है; क्योंकि भगवान्‌की मूर्ति चिन्तामणि-तुल्य है। जिस पुरुषको चिन्तामणि मिल जाती है, उसको सभी सम्पत्तियाँ मिल जाती हैं।' (वचनामृतम् भाग १)।

जैसे लोभीका धनमें, कामी पुरुषका स्त्रीमें प्रवेश होता है, वैसे ही सच्चे साधक भक्तकी मनोवृत्तियाँ भी भगवत्स्वरूपमें लीन हो जाती हैं।

भगवान् स्वामिनारायण स्वयं अनेक योग-कलाओंके स्वामी और अलौकिक योगशक्तियोंसे सम्पन्न थे। ग्यारह वर्षकी छोटी आयुमें उन्होंने गृहत्याग किया था। सात वर्षतक हिमालय आदि पर्वतों एवं बीहड़ वनोंमें घूमते-फिरते उन्होंने पूरे भारतवर्षमें भ्रमण किया था। तप एवं तीर्थाटन करते हुए उनकी कई बड़े-बड़े योगियोंसे भेंट हुई थी। हिमालयके बहुत बड़े सिद्धयोगी स्वामी श्रीगोपालयोगीसे उन्होंने अष्टाङ्गयोगकी सम्पूर्ण शिक्षा पायी थी।

यद्यपि भगवान् स्वामिनारायणको हठयोगकी सारी कलाएँ सहज सिद्ध थीं फिर भी उन्होंने सामान्य जनसमाजको लक्ष्यमें रखकर राजयोगपर विशेष बल दिया। हठयोगकी प्रक्रियामें प्रथम प्राणोंका लय होता है। बादमें चित्तका लय होता है, जब कि राजयोगमें प्राणोंको लीन किये बिना भी चित्तकी वृत्तियोंका लय होता है और चित्तकी लीनता होनेपर प्राण आप-ही-आप स्थिरताको प्राप्त कर लेते हैं। भगवान् श्रीस्वामिनारायण कहते हैं—

प्राण रूंधि समाधिमां जाय, हठयोग तेने कहेवाय।
प्राण रुंध्या विना हरि ध्यान, जल प्रेमी प्रेमातुरवान्॥
हरिमूर्ति समाधिमां देखे, राजयोग मुनी तेने लेखे।
एतो उत्तम योग छे जाणो हठयोग थी अधिक प्रमाणो॥

(हरिलीलामृतम्)

इन दोनों योगोंके विषयमें आचार्यका कहना है कि 'तप, निवृत्तिधर्म एवं वैराग्यसे युक्त जो योगाभ्यास करता है अर्थात् हठयोगका अभ्यास करता है, उसके इन्द्रियोंकी शक्तियोंमें अद्भुत वृद्धि होती है, उसे कई प्रकारकी सिद्धियाँ मिलती हैं। उसको शुकदेवजी-जैसी सिद्ध-दशा प्राप्त होती है। जो प्रवृत्तिमार्गमें रहकर योगाभ्यास करता है अर्थात् राजयोगका अभ्यास करता है, उसके अन्तरमें महाराज जनकजीकी तरह सिर्फ ज्ञानकी वृद्धि होती है लेकिन नारद, सनक, शुक-जैसी सिद्ध-दशा नहीं मिलती।' (ग०म०२०)।

योगी यदि सावधान न रहा तो वह अपने लक्ष्यसे भटक जाता है। अपने शरीरको हजारों सालतक टिकाये रखना, पानीमें चलना, हवामें तैरना, अणिमादि अनेक दुर्लभ सिद्धियोंके स्वामी होना या अनेक आश्चर्यकारी शक्तियोंको प्राप्त करना योगका लक्ष्य नहीं है। योगका सर्वोत्तम लक्ष्य तो है भगवत्स्वरूपमें लीन होना। लेकिन हठयोगकी साधना करते-करते जब सिद्धियाँ सामने आती हैं तो योगी इनके मोहमें फँस जाता है। चमत्कारोंके चक्करमें पड़कर अपने ध्येयको भूल जाता है। इसीलिये तो भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजीसे श्रीमद्भागवत (११।१५।३३) में कहते हैं—

अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम्।
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः॥

उत्तम योगके अनुष्ठानद्वारा मेरे स्वरूपमें लीन होनेवाले योगीके लिये सुविज्ञ पुरुषोंने ये सभी सिद्धियाँ अन्तराय-रूपमें कही हैं। क्योंकि इन सिद्धियोंके चक्करमें योगीके समयका व्यर्थ दुरुपयोग ही होता है।

योग-सिद्धिके उपाय

भगवान् स्वामिनारायणने उत्तम राजयोगकी सफल-सिद्धिके लिये साधनाकी प्रक्रियाके कुछ उपाय बताये हैं, जो योग-साधकके लिये उपयोगी हैं। वे इस प्रकार हैं—

पूर्ण योग-सिद्धिके लिये हमारे जीवनमें यम एवं नियमोंका अनुष्ठान परमावश्यक है। साथ-ही-साथ आसन सिद्ध करना भी आवश्यक है। कुछ मात्रामें प्राणायामके अभ्याससे प्राणोंकी गतिमें समत्व लाना भी जरूरी है।

जिसका आहार विकृत होता है, उसके प्राण भी विकृत एवं कुपित हो जाते हैं। जिनके प्राण विकृत हैं, उनका मन कभी एकाग्र नहीं होता। इसलिये प्राणोंकी स्थिरताके लिये आहारकी शुद्धि परम आवश्यक होती है।

प्रत्याहार—प्रत्याहार योगका महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। बिना प्रत्याहारके धारणा, ध्यान एवं समाधि नहीं हो पाते। प्रत्याहारका अर्थ है चित्तकी वृत्तियोंको विषयोंकी ओरसे हटाकर परमात्मसम्मुख करना। विषयोंमेंसे मनको हटाना बड़ा दुष्कर है। लेकिन विषयोंमें दोष-दर्शन, विनाशित्वदर्शन एवं तुच्छत्वके दर्शनसे विषयोंका मोह छूट जाता है। जो साधक परमात्माकी अलौकिक महिमा एवं उनके निरवधिक आनन्दरूपका चिन्तन करता है, उसको प्रत्याहार बिना प्रयास सिद्ध होता है। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(२।५९)

'निराहारी पुरुषके विषय तो छूट जाते हैं, लेकिन विषयोंकी वासना तो ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। वह वासना तो परम आनन्द एवं परमरसस्वरूप भगवान्‌के दर्शनसे ही छूटती है।'

धारणा—वैराग्य एवं भगवान्‌के माहात्म्यज्ञानके बलसे प्रत्याहार सिद्ध करके अर्थात् मनको विषयोंमेंसे हटाकर परमात्माके दिव्य-मङ्गल श्रीविग्रहमें स्थिर करनेका, एकाग्र करनेका अभ्यास करना चाहिये। इसीको धारणा कहते हैं। शुकदेवजी महाराज परीक्षित्‌से कहते हैं—

मनः कर्मभिराक्षिप्तं शुभार्थे धारयेद् धिया।

(श्रीमद्भा० २।१।१८)

'सांसारिक विषय एवं व्यवहारोंसे मनको हटाकर शुभ तत्त्वमें उसकी धारणा करनी चाहिये।'

हमारी धारणा एवं ध्यानके मूल ध्येय तत्त्व सर्वकारणके कारण नारायण हैं। वही सबसे श्रेष्ठ मङ्गलकारी भी हैं। अतः अनन्त शुभगुणोंके भण्डार भगवान् नारायणका दिव्य मङ्गल-विग्रह ही हमारे ध्यान एवं धारणाका अवलम्बन हो सकता है। भगवान् व्यास भी कहते हैं—'**ध्येयो नारायणो हरिः**'—सर्वदुःखोंको हरनेवाले नारायण ही ध्येय हैं।

भगवान् नारायणके दो रूप हैं—व्यक्त एवं अव्यक्त। अन्तर्यामी एवं व्यापकरूपसे वे अव्यक्त हैं। भगवान्‌का यह अव्यक्त स्वरूप हमारे इन्द्रियों एवं अन्तःकरणसे अगोचर होनेके कारण वह हमारी धारणाका स्पष्ट अवलम्बन नहीं बन सकता। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(१२।५)

'भगवान्‌के अव्यक्त रूपमें आसक्त चित्तवाले पुरुषोंको धारणामें अत्यधिक कष्ट होता है, क्योंकि परिमित शक्तियुक्त शरीरधारी लोगोंके लिये अव्यक्त तत्त्वका मार्ग दुःसाध्य है।'

इसलिये ध्येयतत्त्वके रूपमें भगवान्‌का व्यक्त रूप विशेष सुगम है। नारायणका व्यक्त रूप तीन प्रकारका माना गया है—पररूप, अर्चारूप एवं अवतार-रूप।

यद्यपि भगवान्‌का अपने दिव्य अक्षर धाममें विराजमान पररूप व्यक्त होनेसे ध्येय है, किंतु वह दिव्य मङ्गल-स्वरूप मायिक जगत्‌में रहनेवालोंके लिये तो अगोचरप्राय ही है। अतः हमारे ध्यान एवं धारणाके अवलम्बन तो भगवान्‌के अवतारस्वरूप एवं अर्चास्वरूप ही हो सकते हैं। इसीलिये भगवान् स्वामिनारायण कहते हैं—

कृष्णस्तदवताराश्च ध्येयाः तत्प्रतिमापि च।
न तु जीवा नृदेवाद्या भक्ता ब्रह्मविदोऽपि च॥

(शिक्षापत्री श्लोक० ११५)

भगवान् श्रीकृष्ण एवं उनके अवतार ध्यान करने योग्य हैं। उनकी प्रतिमा भी ध्यान करने योग्य है। अतः उनका ध्यान करें।

धारणाका श्रेष्ठ साधन मानसी पूजा—भगवान् स्वामिनारायणने धारणाकी सिद्धिके लिये मानसी पूजाकी शिक्षा दी है; मानसी पूजा ध्यानका प्रारम्भिक रूप है। मनको वश करनेमें मानसी पूजा बड़ी उपयोगी सिद्ध होती है। मानसी पूजाका अर्थ है मानस उपचारोंसे भगवान्‌का पूजन। मन बड़ा चञ्चल है, वह किसीकी पकड़में नहीं आता।

मन संकल्प-विकल्प-रूप होनेसे मनकी विचार-शृङ्खलाको आप बिलकुल बंद नहीं कर सकते, लेकिन उस विचारधाराकी दिशाको बदल अवश्य सकते हैं। भगवान् स्वामिनारायणने मनको मारनेकी नहीं, किंतु मनको मोड़नेकी शिक्षा दी है। जैसे-जैसे मन परमात्माके परमानन्दका अनुभव करने लगता है, वैसे-वैसे उसका विषयोंके प्रति जो राग है, वह समाप्त होने लगता है। तब उसकी वृत्ति भगवद्विषयक हो जाती है और इस तरह उसका सच्चा कल्याण हो जाता है।

मानसी पूजा दिनमें पाँच बार होती है—प्रातः, मध्याह्न, अपराह्न, सायंकाल एवं रात्रि। प्रातःकालीन मानसी पूजामें भगवान्‌को जगाया जाता है एवं श्रेष्ठ प्रसाधनोंसे स्नान, शृङ्गार नीराजनादि होता है। मध्याह्नकालीन पूजामें मानस-सामग्रीसे भगवान्‌को भोग लगाया जाता है। अपराह्नमें भगवान्‌की स्नान-लीला एवं वनविहारादि लीलाओंका चिन्तन होता है और भगवान्‌को फल एवं फूल अर्पित किये जाते हैं। सायंकालमें भगवान्‌को सायंकालीन भोग अर्पित किये जाते हैं। सायं-नीराजन होता है। श्रेष्ठतम नृत्य, गीत, कीर्तन आदिका निवेदन किया जाता है। रातकी मानसी पूजामें भगवान्‌को शयन करवाया जाता है।

नियमितरूपसे मानसी पूजा करनेसे भगवत्स्वरूपमें मनकी धारणा सिद्ध होने लगती है और यही धारणा ध्यानमें परिणत हो जाती है।

ध्यान—ध्यानका अर्थ है भगवत्स्वरूपका तैलधारावत् अखण्डचिन्तन। स्वामिनारायण-सम्प्रदायमें ध्यानके चार भेद माने गये हैं। सलील ध्यान, सपार्षद ध्यान, साङ्ग ध्यान और उपाङ्ग ध्यान।

सलील ध्यानमें भगवान् एवं उनके अवतारोंकी दिव्य मानुषी लीलाओंका चिन्तन होता है। सपार्षद ध्यानमें दिव्य पार्षद एवं सेवकोंके साथ भगवान्‌का ध्यान किया जाता है। उपाङ्ग ध्यानमें वस्त्र-आभूषणोंके साथ भगवान्‌के दिव्य-मङ्गल श्रीविग्रहका ध्यान किया जाता है। साङ्ग ध्यानमें भगवान्‌के श्रीविग्रहमें विद्यमान श्रीवत्सादि दिव्य चिह्नोंका ध्यान होता है।

समाधि—उत्कृष्ट अनुरागवान् चित्त ध्यान करते-करते भगवत्स्वरूपमें पूर्णरूपेण लीन हो जाता है। लीनताकी यह एक ऐसी अवस्था है, जहाँपर न ध्यान करनेवाला बचता है न ध्यानका साधन मन। ये दोनों भगवत्स्वरूपमें इतने डूब जाते हैं कि उनका अलग अस्तित्व दिखायी ही नहीं देता। यही समाधिकी श्रेष्ठ दशा है। इसीको प्रेमाद्वैत भी कहा जाता है। व्रजकी गोपियाँ, शुकदेवजी महाराज, मीराबाई, सूरदास, नरसी मेहता आदिको ऐसी समाधि सहज सिद्ध थी। ध्यानमें भगवान्‌के प्रति पूर्ण अनुराग एवं अहोभाव होना चाहिये। इन दोनोंके प्रभावसे चित्तका लय सहजतासे होता है। अनुराग एवं अहोभाव—इन दोनोंका उदय भगवान्‌के माहात्म्य-ज्ञानसे होता है। माहात्म्यज्ञानका उदय भगवान्‌के परम ऐकान्तिक संतोंके समागमसे होता है और बिना सत्संगके ध्यान एवं समाधि भी सिद्ध नहीं होते हैं।

बौद्धधर्ममें योगकी महत्ता

(प्रो० श्रीलालमोहरजी उपाध्याय, एम्० ए०)

भगवान् बुद्धने साधनाके जो आठ मार्ग बताये हैं, उनमें एक मार्ग 'सम्यक्-समाधि' भी है। यौगिक क्रियाओंके आदर्श भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न हैं। उपनिषदोंमें इसे ब्रह्मके साथ योग अथवा ब्रह्मके साथ साक्षात्कारके रूपमें प्रतिपादित किया गया है। महर्षि पतञ्जलिके योगदर्शनमें योग सत्यका अन्तर्निरीक्षण है। बौद्धधर्म बोधिसत्त्वकी प्राप्ति अथवा जगत्‌की निःसारताका द्योतक है।

पतञ्जलिने चित्तवृत्तिके निरोधको योग कहा है। यहाँ

योगका अर्थ 'समाधि' ही होता है। चित्तवृत्तिके निरोधद्वारा योग सम्पन्न होता है। चित्तवृत्तिके निरोधके सम्पन्न हो जानेपर व्यक्ति मुक्त हो जाता है। यही कैवल्यकी अवस्था है। पतञ्जलिकी ही तरह भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें चित्तवृत्ति या मनकी स्थिरताके लिये अभ्यास और वैराग्यको आवश्यक बताया है।

बुद्ध एक यथार्थ सत्ताके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार उच्चतम श्रेणीके चिन्तनका नाम 'ध्यान' है। बौद्धधर्ममें प्रार्थना-उपासनाका स्थान इसी ध्यानने ले लिया है। 'ध्यान'की चार सीढ़ियाँ हैं—पहली सीढ़ी प्रसन्नता एवं आह्लाद है, जिसकी प्राप्ति एकान्त-सेवासे होती है। इस एकान्तताके साथ-साथ अन्तर्दृष्टि, चिन्तन, गूढ़ विचार एवं जिज्ञासाका विकास होता है एवं साधकको इन्द्रिययोगके बन्धन आदिसे मुक्ति मिलती है। दूसरी सीढ़ी उल्लास एवं चाञ्चल्यराहित्यकी है। तीसरी सीढ़ी वासनाओं एवं पक्षपातोंका अभाव है, जहाँ आत्ममोह सर्वथा समाप्त हो जाता है। चौथी सीढ़ी आत्मसंयम एवं पूर्ण शान्त मुद्राकी है, जिसमें न कोई चिन्ता है और न आह्लाद, क्योंकि जो आह्लाद एवं चिन्ताको उत्पन्न करते हैं, उन्हें एक ओर छोड़ दिया जाता है अर्थात् आह्लाद एवं विषाद—इन दोनोंकी मध्यवर्ती सम-अवस्थामें रहनेका प्रयत्न किया जाता है। यही योगरूप है।

बौद्धदर्शनके अनुसार ध्यानमें मनको सभी विद्यमान वस्तुओंके साथ समतामें लानेका एक सतत प्रयास करना है। बौद्ध-संघके सदस्योंके दैनिक जीवनका मुख्य भाग ध्यानका अभ्यास करना है। शरीरको वशमें करना, ज्ञान-प्राप्तिकी पूर्व भूमिका है। बौद्धधर्मके ध्यान एवं योग-सम्बन्धी दोनों ही सिद्धान्त इस बातपर बल देते हैं कि मानसिक प्रशिक्षणके लिये शारीरिक एवं स्वास्थ्य-सम्बन्धी अवस्थाओंका अनुकूल होना आवश्यक है।

बुद्ध 'प्रज्ञा' को सर्वोत्तम स्थान प्रदान करते हैं। उनका कहना है कि 'प्रज्ञा' बिना प्रेम और परोपकार-भावके सम्भव नहीं है और यदि ऐसा हो भी तो वह प्रज्ञा-स्थिति नहीं होती। जीवनमें सदाचारका अत्यन्त महत्त्व है। यदि जीवनमें सदाचारका अभाव है तो ध्यानकी कोई सार्थकता नहीं। बौद्धधर्मके अनुसार मानसिक अवस्थाओंका नियन्त्रण होनेपर जब इन्द्रियोंके अनुभव समाप्त होकर उसके परे हो जाते हैं तो 'प्रज्ञा' (प्रज्ञा-पारमिता) प्रकट हो जाती है।

गौतम बुद्धकी 'सम्यक्-समाधि' जीवनके दुःखमय संसारको समाप्त करनेका सबसे कठिन मार्ग है। भोगविलास तथा भौतिकतासे ग्रस्त होनेके कारण व्यक्तिका जीवन दुःखमय है, क्योंकि भौतिक वस्तुओंका कोई अन्त नहीं है। वस्तुओंका आकर्षण प्रायः समाप्त नहीं होता। व्यक्ति जितना ही पाता है उतना ही पानेका प्रयास करता है। जब उसमें असफलता मिलती है तो वह दुःखी होता है। ध्यान और योग तभी जीवनके लिये उपयोगी हैं जब भोग-विलाससे अपनेको दूर रखा जाय। इस प्रकार बौद्धदर्शनका यह योग गीताके निष्काम-कर्मको ही प्रतिपादित करता है।

बौद्धधर्म मूलतः प्रेमका धर्म है। मानवीय सहृदयतामें विश्वासका धर्म है। इन तत्त्वोंका विकास तभी होगा, जब जीवनकी मूल चेतनाका स्तर शुद्ध चेतनाकी स्थिति प्राप्त कर सकेगा। शुद्ध चेतना इन्द्रियोंके निग्रह और संयमसे होती है। संयम ध्यानसे तथा ध्यानकी स्थिति और ध्यानमें उस प्रज्ञाकी अनुभूतिका साक्षात्कार होता है जो प्रेम और परमार्थके उदात्त तत्त्वोंको जाग्रत् करता है। तत्त्वावबोध या अखण्ड समाधिमें महात्मा बुद्धको जो कुछ भी अनुभव हुआ वह तुरीयावस्था है। तुरीयावस्थाको ही बौद्धदर्शनमें विशुद्ध प्रज्ञाकी स्थिति माना गया है।

आजकी प्रासङ्गिकतामें जब बौद्धधर्मके ध्यानकी प्रासङ्गिकतापर विचार करते हैं तो इस प्रज्ञा-स्थितिका विशुद्ध लाभ होनेकी पूरी सम्भावना सुस्पष्ट दीखती है। बौद्धाचार्य नागार्जुन जिस स्थिति और सुखको अनिर्वचनीयकी संज्ञा देते हैं, वह भी एक प्रकारसे तुरीयावस्था—ध्यानकी ही स्थिति है।

ध्यानका प्रयोग बौद्धधर्ममें संसारसे विरक्तिके लिये किया गया है, किंतु ध्यानके द्वारा प्राप्त शुद्ध चेतनासे जीवनको समरस रूपमें जीनेकी शक्ति भी आती है। तुरीयावस्था-ध्यानमें जीवन-पलायन नहीं है, वरन् जीवनको सार्थक रूपमें जीनेकी प्रज्ञा है।

इस प्रकार अधिकांश बातोंमें जैन-बौद्ध और पतञ्जलि, मार्कण्डेय आदिके योग भी निर्बीज समाधितक पहुँचते हैं और एक ही ढंगकी साधना और सिद्धावस्था तथा शान्ति, प्रेमके

रूपमें परिणत होते दीखते हैं। कपिल, आसुरि, स्यूमरश्मि, गौतम आदिके भाव भी अहिंसासे आरम्भ होकर समाधितक एक ही रूपमें पहुँचते हैं। इस योगमें सूफी, ईसाई और यहूदी तथा पारसियों आदिका कोई मतभेद नहीं दिखायी देता। सभी धर्मोंमें समस्त प्राणियोंके प्रति प्रेमभावना, धारणा, ध्यान और लययोगके द्वारा समाधिमें पहुँचनेकी एक ही प्रक्रिया दीखती है। वास्तवमें योग एक ऐसा धर्म है जिसमें कोई विवादका अवसर नहीं दिखायी पड़ता। इसलिये यह संसारके सभी धर्मोंमें व्याप्त है। बौद्धधर्मकी सभी शाखाओंमें प्रायः योग ही प्राधान्येन अनुप्राणित है।

जैनधर्ममें योगविद्या

(मुनि श्रीहिमांशुविजयजी न्यायसाहित्यतीर्थ)

भारतीय दर्शन-परम्परामें वैदिक, बौद्ध और जैन—ये तीन मुख्य दर्शन हैं। ये तीनों दर्शन आत्मा, पुण्य-पाप, परलोक और मोक्ष—इन तत्त्वोंको मानते हैं, इसीलिये ये आस्तिक दर्शन हैं। इस लेखमें जैनदृष्टिसे योगके विषयमें कुछ विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

'योग' शब्द 'युज' धातुसे बना है। संस्कृतमें 'युज' धातु तीन हैं। एकका अर्थ है जोड़ना और दूसरेका है 'समाधि' तथा तीसरेका 'संयमन।' इनमेंसे 'जोड़नेके अर्थवाले' युज धातुको जैनाचार्योंने प्रस्तुत योगार्थमें स्वीकार किया है।

मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुध्यते।

(श्रीयशोविजयकृता द्वात्रिंशिका १०।१)

मुक्खेण जोयणाओ जोगो।

(श्रीहरिभद्रसूरिकृता योगविंशका १)

तात्पर्य यह कि जिन-जिन साधनोंसे आत्माकी शुद्धि और मोक्षका योग होता है, उन सब साधनोंको योग कह सकते हैं।

पातञ्जल योगदर्शनमें योगका लक्षण **'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः'** कहा गया है। इसी लक्षणको श्रीयशोविजयजीने इस प्रकार और भी विशद किया है—

'समितिगुप्तिधारणं धर्मव्यापारत्वमेव योगत्वम्।'

(पातञ्जलयोगदर्शनवृत्ति)

यतः समितिगुप्तीनां प्रपञ्चो योग उत्तमः।

(योगभेदद्वात्रिंशिका ३०)

अर्थात् मन, वचन, शरीरादिको संयत करनेवाला धर्मव्यापार ही योग है, क्योंकि यही आत्माको उसके साध्य-मोक्षके साथ जोड़ता है।

योगका शुद्ध अङ्ग

सामान्यतः सभी धार्मिक अनुष्ठान योगके अङ्ग हैं तथापि विशेषरूपसे तो मोक्षप्राप्तिके समीपतमवर्ति पूर्वकालका ध्यान ही अव्यवहित उत्कृष्ट योग है। आचार्य भगवान् श्रीहरिभद्र सूरिने 'योगदृष्टिसमुच्चय'में कहा है—

अतस्तु योगो योगानां योगः पर उदाहृतः।
मोक्षयोजनभावेन सर्वसंन्यासलक्षणः॥

केवल उन ज्ञानी योगियोंको जिन्हें जीवन्मुक्त कहते हैं, मोक्षस्थिति प्राप्त करनेके पूर्व मन, वाणी और शरीरकी समस्त क्रियाओंका निरोध[1] (संक्षय) करना पड़ता है, सभी बाह्य पदार्थोंका त्याग अर्थात् सर्वसंन्यास करना पड़ता है। मोक्ष प्राप्त करनेमें जब अ इ उ ऋ ऌ पञ्चह्रस्वाक्षर उच्चार-प्रमित-काल शेष रहता है उस समयका जो शुक्ल ध्यान[2] है वही सच्चा मोक्षसाधन अर्थात् योग है[3]। इस अवस्थामें स्थित योगी ही सच्चा शुद्ध योगी है। उसके संकल्प-विकल्प विलीन हो जाते हैं। उसके विचारोंका रज, तम या सत्त्वगुणसे भी स्पर्श नहीं होता। अति अल्प समयमें ही शुक्ल ध्यानके द्वारा वह मुक्त हो जाता है। मुक्तको ही सिद्ध कहते हैं। यहाँ सम्पूर्ण कृतकृत्यता हो जाती है।

१-तत्रानिवृत्तिशब्दान्तं समुच्छिन्नक्रियात्मकम्। चतुर्थं भवति ध्यानमयोगिपरमेष्ठिनः॥
समुच्छिन्ना क्रिया यत्र सूक्ष्मयोगात्मिकापि च। समुच्छिन्नक्रियं प्रोक्तं तद्द्वारं मुक्तिवेश्मनः॥ (गुणस्थानक्रमारोह)

२-अथायोगिगुणस्थाने तिष्ठतोऽस्य जिनेशितुः। लघुपञ्चाक्षरोच्चारप्रमितैव स्थितिर्भवेत्॥

३-मन, वाणी और शरीरकी वृत्तियोंके भी जैनपरिभाषामें 'योग' कहते हैं—'कायवाङ्मनःकर्मयोगः' (तत्त्वार्थसूत्र ६।१)। इसी अर्थसे परमेष्ठिको प्राप्त शुद्ध योगीको 'अयोगी' कहा है। 'अयोगी योगानां योगः पर उदाहृतः' यह भी इसी दृष्टिसे कहा गया है।

योगकी विशेष व्याख्या

जैन आगमोंमें योगका अर्थ मुख्यतया 'ध्यान' लिखा है। ध्यान मूलतः चार प्रकारका है— (१) आर्त, (२) रौद्र, (३) धर्म और (४) शुक्ल। इनमें आदिके दो ध्यान तम और रजोगुणविशिष्ट होनेके कारण योगमें अनुपयुक्त और प्रत्यूहकारी हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान योगोपयोगी हैं। इनमें भी शुक्लध्यान अत्यन्त परिशुद्ध और अव्यवहित मोक्षसाधन है। इसके द्वारा दुःखरूप काष्ठके सहस्रों अरण्य क्षणमात्रमें सर्वथा भस्म हो जाते हैं। इस विषयमें समाधिशतक, ध्यानशतक, ध्यानविचार, ध्यानदीपिका, आवश्यक निर्युक्ति, अध्यात्मकल्पद्रुमटीका प्रभृति अनेक ग्रन्थ हैं।

त्रिविध योग

किसी भी वस्तुकी प्राप्तिके लिये उसपर अटल श्रद्धा होनी चाहिये। योगके लिये जो कुछ आवश्यक है उसपर तथा जो पूर्णयोगी हैं उनपर परीक्षापूर्वक श्रद्धा रखना योगका आवश्यक अङ्ग है। इसको जैनदर्शनमें 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं— **'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।'** (तत्त्वार्थसूत्र १।२)। केवल विश्वास रखकर बैठे रहनेसे कुछ नहीं होता। विश्वासके साथ सम्प्रदायका रहस्यज्ञान भी परिपूर्ण रीतिसे होना चाहिये, इसको 'सम्यक्श्रुत' होना कहते हैं। विश्वास और ज्ञान तो है, पर यदि चरित्रशुद्धि नहीं है—राग, द्वेष-मोहादिसे आत्मा व्याप्त है तो करोड़ों वर्षोंमें भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये 'सम्यक्-चरित्र' होना चाहिये। यह ज्ञानदर्शन चरित्रात्मक 'त्रिविध योग' है। इसके पालनसे योग परिपुष्ट होता है और आत्माका आध्यात्मिक उत्कर्ष होता जाता है। योगकी पूर्णता ही मोक्षप्राप्ति कराती है। वैदिक दर्शनोंमें जैसे ब्रह्मसूत्र, गौतमसूत्र, कणादसूत्र आदि मौलिक ग्रन्थ हैं, वैसे ही जैनदर्शनमें उमास्वातिकृत 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' है, उसका प्रथम सूत्र इसी त्रिविध योगके विषयमें है—**'सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।'** इसी सूत्रपर आगे सम्पूर्ण ग्रन्थ है, जिसे 'मोक्षशास्त्र' भी कहते हैं।

चौदह गुणस्थान

जब आत्मा विकासकी दिशामें प्रयाण करता है, तबसे मोक्ष प्राप्त होनेकी अवस्थातककी योग्यताके चौदह गुण जैन-आगमोंमें बताये हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) सास्वादन, (३) मिश्र, (४) सम्यग्दर्शन, (५) देशविरति, (६) प्रमत्त-श्रमणत्व, (७) अप्रमत्तश्रमणत्व, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्ति, (१०) सूक्ष्म लोभ, (११) उपशान्तमोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोगी केवली और (१४) अयोगी केवली। पातञ्जलयोगकी आठ भूमिकाओंमें प्रथम भूमिका यम है। इस 'यम' से भी पूर्व सूक्ष्मरीत्या योगकी जो भूमिकाएँ होती हैं वे भी इन चौदह गुणस्थानोंमेंसे पूर्वके चार गुणस्थानोंमें परिगणित हुई हैं। 'गुणस्थानक्रमारोह' तथा 'कर्मग्रन्थ', 'कर्मप्रकृति' और 'गोमटसार' आदि ग्रन्थोंमें इस विषयका सूक्ष्म विवेचन है।

अष्ट दृष्टि

आचार्य हरिभद्र सूरिने योगकी आठ दृष्टियाँ बतायी हैं—

मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा परा।
नामानि योगदृष्टीनां ..... ॥

पातञ्जलयोगके जो आठ अङ्ग हैं, उनसे इन दृष्टियोंका सादृश्य है।

पञ्चविध योग

अर्वाचीन जैनन्याय-योग-साहित्यके अग्रणी उपाध्याय श्रीयशोविजयजीने पाँच प्रकारका एक अवान्तर योग भी बताया है—

अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
योगः पञ्चविधः प्रोक्तः योगमार्गविशारदैः॥

(योगभेदद्वात्रिंशिका)

योगभेदद्वात्रिंशिकाके अतिरिक्त 'जैन दृष्टियोग' नामक गुजराती ग्रन्थमें भी इन पाँचों भेदोंका विशद विवेचन है।

त्रिविध योग

एक त्रिविध योग और है जो श्रीहरिभद्रयशोविजय आदिके ग्रन्थोंमें मिलता है—

इच्छां शास्त्रं च सामर्थ्यमाश्रित्य त्रिविधोऽप्ययम्।
गीयते योगशास्त्रज्ञैर्निर्व्याजं यो विधीयते॥

अष्टविध योग

महर्षि पतञ्जलि योगविद्याके महाप्राज्ञ आचार्य हुए। उन्होंने योगदर्शनमें योगके जो अङ्ग, लक्षण, परिभाषा तथा

प्रकारादि कहे हैं, उन्हें अनेक धर्मोंके विद्वानोंने माना और अपनाया है। पीछेके योगसाहित्यपर उन्हींके सूत्रोंकी गहरी छाप लगी हुई है। जैनाचार्योंने भी अपनी संस्कृतिके अनुकूल योगसूत्रोक्त नाम, भेद, स्वरूप आदि ग्रहण किये हैं। आचार्य श्रीहेमचन्द्र सूरिकृत योगशास्त्रमें पातञ्जलयोग-दर्शनके यम-नियमादि अङ्गोंको ही क्रमसे गृहस्थधर्म, साधु-धर्म आदि कहा है। श्रीयशोविजयजीने भी आठ अङ्गोंका उल्लेख किया है। जैनयोगी श्रीआनन्दघनने भी अपने पदोंमें आठों अङ्गोंका वर्णन किया है।

प्राणायाम

पतञ्जलि प्रभृति योगाचार्योंने प्राणायामको योगका चौथा आवश्यक अङ्ग माना है। परंतु जैनाचार्योंने इसे आवश्यक नहीं माना है। श्रीहेमचन्द्र प्रभृति विद्वानोंने तो इसका निषेध भी किया है—

तन्नाप्नोति मनः स्वास्थ्यं प्राणायामैः कदर्थितम्।
प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्याच्चित्तविप्लवः॥

(हैमयोगशास्त्र)

प्राणायाम हठयोग है और हठयोगको जैनाचार्योंने योगमार्गमें अनावश्यक माना है। हरिभद्र सूरिने कहा है कि ध्यानमें बलात्कारसे श्वासोच्छ्वासका निरोध नहीं करना चाहिये। पातञ्जलयोगसूत्रकी वृत्तिमें '**प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य**' (योगसूत्र १।३४)—इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए श्रीयशोविजयजी लिखते हैं—

अनैकान्तिकमेतत्। प्रसह्य ताभ्यां मनोव्याकुली-भावात्। ऊसासं ण णिरुं भइ।' (आवश्यकनिर्युक्ति)

तथा—

इत्यादिपारमर्षेण तन्निषेधाच्च।

तात्पर्य यह है कि किसी साधकको इससे लाभ हो तो वह प्राणायाम करे, इसमें कोई निषेध नहीं है, परंतु सबके लिये प्राणायामको आवश्यक अङ्ग जैन आचार्य नहीं मानते।

त्रिविध आत्मा

यों तो चैतन्यादि गुणोपेतत्वेन आत्मा एक ही लक्षणका है, परंतु तद्गताभावोंके तारतम्यसे जैन विद्वानोंने तीन प्रकारका आत्मा माना है—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा। तीनोंके लक्षण इस प्रकार हैं—

आत्मबुद्धिः शरीरादौ यस्य स्यादात्मविभ्रमात्।
बहिरात्मा स विज्ञेयो मोहनिद्रास्तचेतनः॥
बहिर्भावानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः।
सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञैर्विभ्रमध्वान्तभास्करैः॥
निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः।
निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा परमात्मेति वर्णितः॥

शरीर-धनादि बाह्य पदार्थोंमें मूढ़ होकर उन्हींमें जो आत्मबुद्धि धारण करता है, वह रजस्तमोगुणी बहिरात्मा है।' आत्मामें ही जो आत्मभाव धारण करता और यम-नियमादिको समझता और करता है वह अन्तरात्मा है। मोहादि कर्ममलोंको सर्वथा धोकर जो मुक्तपदको प्राप्त होता है वह परमात्मा है। उसी परमात्मपदको प्राप्त करनेका साधन योग कहलाता है।

श्रीरामकृष्णकी साधना-पद्धति

(डॉ० श्रीसुरेशचन्द्रजी शर्मा)

योगीके नेत्र—एक दिन श्रीरामकृष्ण परमहंसजीने अपने भक्त महेन्द्रनाथ गुप्तसे कहा—'क्या तुम ऐसा चित्र ला सकते हो जिसमें अपने अंडोंको सेते हुए पक्षीकी आँखें दिखायी देती हों।' श्रीमहेन्द्रनाथने कहा—'यदि कहीं मिला तो लानेकी कोशिश करूँगा।' पुनः उन्होंने कहा—'योगीकी आँखें कैसी होती हैं, जानते हो? नहीं, तो आज जान लो कि योगीके नेत्र वैसे ही होते हैं, जैसे अंडा सेते हुए पक्षीके। अंडा सेते समय पक्षीका पूरा मन अंडोंकी तरफ ही हो जाता है। यही बात एक सच्चे योग-साधकके सम्बन्धमें भी है।' श्रीरामकृष्ण सभी साधकोंको ऐसा ही अन्तर्मुखी जीवन बनानेका उपदेश देते थे।

व्याकुलता—श्रीरामकृष्णदेव कहते थे कि साधनामें सबसे पहली बात है—'ईश्वर-प्राप्तिके लिये सच्ची व्याकुलता।' यदि हमारे भीतर व्याकुलता है तो समझो कि

हमें योगकी कुंजी प्राप्त हो गयी। योग-साधनामें व्याकुलताकी ऐसी बात है जो हमें चैनसे बैठने नहीं देती । जितने भी साधन हैं, वे हमारे द्वारा स्वतः ही होते जाते हैं। और यदि साधनमें सिद्धि नहीं मिलती तो उससे 'ईश्वर-निर्भरता' हमारे जीवनमें आ जाती है। और यदि यह व्याकुलता नहीं है तो फिर हम चाहे जो भी साधन करें, उसमें सहजता नहीं रहती। थोड़े ही समयमें हम उन साधनाओंसे ऊब जाते हैं, हमारे जीवनमें भटकाव आ सकता है तथा हम अपने पथ और लक्ष्यको छोड़ भी सकते हैं।

व्याकुलता बिना ईश्वरके दर्शन नहीं होते। भक्तोंसे वे बार-बार कहते थे कि काम और काञ्चन ही संसार है। ईश्वर-दर्शनमें ये दो बाधाएँ हैं। जीव मानो एक लोहेका टुकड़ा है और ईश्वर एक चुम्बक है। जीवमें लोहेके समान ही चुम्बक ईश्वरके प्रति सहज आकर्षण है, परंतु सांसारिक आसक्तियोंके सुख-भोगने उसे दबा रखा है। अतः इसे छोड़ना होगा।

नित्यानित्य-विवेक—आसक्तिरूप बाधाको दूर करनेके लिये श्रीरामकृष्ण साधकोंको नित्य-अनित्यका विचार करते रहनेका परामर्श देते थे। ईश्वर ही एकमात्र नित्य है और सब कुछ अनित्य। मानव-जीवनका लक्ष्य संसार-सुख कदापि नहीं हो सकता। जगत्‌में कुछ भी स्थायी नहीं है, सब कुछ परिवर्तनशील है। ईश्वर-दर्शन ही जीवनका एकमात्र लक्ष्य है। ऐसा करनेसे मनुष्यका विवेक जाग्रत् हो जाता है और उसमें ईश्वर-दर्शनकी तीव्र इच्छा उत्पन्न हो जाती है। गृहस्थ साधकोंको वे सर्वस्व-त्यागकी बात न कहकर विवेकपूर्ण एवं मर्यादित जीवन जीते हुए साधना करनेका उपदेश देते थे।

साधु-संग—साधकोंको वे साधु-संग करनेके लिये बहुत प्रेरित करते थे। वे कहते थे—'देखो रे! काम-काञ्चनका रोग लगा ही है, इसलिये साधु-संग करना चाहिये।' साधु भक्तोंको देखकर ईश्वरकी याद आती है और संसारकी विस्मृति होने लगती है। जिन्होंने सांसारिक आसक्तिका त्याग किया है तथा जो ईश्वर-प्राप्तिके लिये व्याकुल हैं, वे ही साधु हैं।

निर्जनवास और प्रार्थना—इसके साथ ही वे भक्तोंको निर्जनवास करने और व्याकुल होकर प्रार्थना करनेका साधन बतलाते थे। उनका कहना था कि संसारी लोगोंके साथ अधिक रहोगे तो फँसते ही जाओगे, निकलना मुश्किल हो जायगा। इसलिये बीच-बीचमें निर्जनवास करना चाहिये और उनको पुकारना चाहिये। संसाररूपी समुद्रमें काम-क्रोधरूपी बहुतसे घड़ियाल हैं। इसलिये पहले शरीरमें विवेक-वैराग्यकी हल्दी लगा लो और फिर संसारमें रहो। हल्दीकी गंधसे वे तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेंगे। एकान्तमें रहकर कुछ विवेक प्राप्त कर लो, वैराग्य लाओ। संसार एक कटहलके समान है। काटोगे तो उसका दूध हाथोंमें लग जायगा। इसलिये पहले अनासक्तिका तेल मलो और फिर संसाररूपी कटहलको काटो। प्रेमपूर्वक विश्वाससे ईश्वरकी प्रार्थना करो। वे तुम्हारी करुण प्रार्थनाको अवश्य सुनेंगे। मनमें ही सारा बन्धन है। इस मनको भटकने न दो। उसे साधनापूर्वक ईश्वरकी ओर लगाये रखो।

नाम-जप और ईश्वर-गुणगान—वे कहते थे कि संसार अथवा निर्जनमें ईश्वरका नाम लेने, उनका ध्यान करने तथा उनके लीला-चरित्रोंका गुणगान करनेसे आत्मिक शान्ति प्राप्त होती है। उनका कहना था कि साधक स्वयंको कभी दुर्बल न समझे। साधकको स्वयंमें तथा अपने ईश्वर (इष्ट) में दृढ़ विश्वास रखना चाहिये। उनकी कृपापर निर्भर रहनेसे साधकमें बल आ जाता है। वे कहते थे कि लंका पार करनेके लिये स्वयं रामको सेतुका निर्माण करना पड़ा था, परंतु उनके भक्त हनुमान् 'जय श्रीराम' कहकर सागरको लाँघ गये। समुद्रमें जब मछुए मछली पकड़ने जाते हैं तो साथमें एक दिशा-बोध करानेवाला 'कम्पास' ले जाते हैं। 'कम्पास' की सुई उनको उत्तर-दक्षिण बतलाती रहती है। ठीक उसी प्रकार इस संसार-समुद्रमें नाम-जप, ध्यान, प्रार्थना साधकके लिये दिशाबोधक कम्पासका काम करेंगे और उस दिशामें यदि प्रयत्नपूर्वक आगे बढ़ते रहें तो शीघ्र ही भगवत्प्राप्ति हो जायगी।

सांसारिक कर्तव्य और साधना—साधकको जगत्‌के कर्तव्योंका पालन करना चाहिये, परंतु अपना ममत्व केवल ईश्वरमें ही रखना चाहिये। वे कहते थे कि भगवान्‌से अपना सम्बन्ध जोड़ लो और उनपर निर्भरता लाओ तथा सभी काम उन्हींके मानकर साधना करते रहो। तुम्हारे कल्याणके सभी सुयोग वे स्वयं जुटा देंगे।

तीर्थ-भ्रमण—परमहंसदेव कहते थे कि तीर्थस्थलों और मन्दिरोंको देखकर, अवतारोंके चित्र देखकर, गङ्गाके दर्शनकर, कथा सुनकर, भक्ति-संगीत सुनकर साधकके मनमें एक सात्त्विक उद्दीपना उद्दीप्त होती है और साधकका जीवन सबल, सरस बना रहता है तथा साधनामें ऊब नहीं आती। इसी प्रकार निरन्तर प्रयत्नपूर्वक आसक्तिरहित साधनाका अभ्यास करते-करते अन्तमें साधकको स्वरूपावस्थितितककी प्राप्ति हो जाती है और फिर कुछ प्राप्त-प्राप्तव्य, ज्ञात-ज्ञातव्य शेष नहीं रह जाता।

सूफी-सम्प्रदायमें हठयोग

(डॉ० श्रीरामस्वरूपजी आर्य, एम्०ए०, पी-एच्०डी०)

सूफी-सम्प्रदायमें हठयोगका विशेष महत्त्व है। राजयोग अर्थात् ईश्वर-प्राप्तितक पहुँचनेमें इसे परम सहायक माना गया है। 'सिद्धसिद्धान्त-पद्धति' में 'ह' का अर्थ सूर्य तथा 'ठ' का अर्थ चन्द्र बतलाया गया है। इस प्रकार सूर्य और चन्द्रके योगको हठयोग कहते हैं।

हकारः कथितः सूर्यः ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगात् हठयोगो निगद्यते॥

—इस श्लोकके सूर्य तथा चन्द्र शब्दोंकी व्याख्या विभिन्न प्रकारसे की गयी है। एक व्याख्याके अनुसार सूर्यसे तात्पर्य प्राणवायु तथा चन्द्रका अपान वायुसे है। अतः प्राणायामद्वारा उक्त दोनों प्रकारकी वायुका निरोध हठयोग है। दूसरे मतके अनुसार सूर्य इडा तथा चन्द्र पिङ्गला नाडियोंका प्रतीक है। इसपर नियन्त्रण करके सुषुम्ना-मार्गसे प्राणवायुको संचरित करना हठयोग कहलाता है। सूर्य और चन्द्रमाको नामान्तरसे गङ्गा-यमुना भी कहा गया है, जो क्रमशः इडा और पिङ्गलाके प्रतीक हैं।

सूफी-सम्प्रदायके सुमेरु-मणि मलिक मुहम्मद जायसी-द्वारा रचित 'पद्मावत' यद्यपि एक प्रेम-काव्य है तथापि उसमें हठयोगका सम्यक् प्रतिपादन हुआ है। नागमती-पद्मावती-विवादके प्रसङ्गमें राजा रत्नसेन उन्हें समझाता है—

तुम्ह गंगा जमुना दुइ नारी लिखा मुहम्मद जोग।
सेव करहु मिलि दूनहुँ औ मानहु सुख भोग॥

(पद्मावत, दोहा ४५)

सूफी कवि उसमानके अनुसार जबतक उस परम तत्त्वका ध्यान नहीं किया जाता, तबतक उसके दर्शन नहीं हो सकते। उस परम रूपका प्रतिबिम्ब हृदयमें ही है। उसके बिना तो संसारमें जीवन ही नहीं है। गुरुके वचनोंको अञ्जनके रूपमें आँखोंमें आँज लो, हृदयरूपी दर्पणको माँज लो, सांसारिक माया-जालको भस्म कर दो, तभी उस परम तत्त्वके प्रतिबिम्बके दर्शन हो सकेंगे—

जौलौं ध्यान धरै नहिं कोई। तौलौं दरस न प्रापत होई॥
घटमें परम रूप परछाहीं। जा बिनु जग महँ जीवन नाहीं॥
गुरू वचन चषु अंजन देहु। हिया मुकुर मज्जन करि लेहु॥
माया जारि भसम कै डारौ। परम रूप प्रतिबिंब निहारौ॥

(चित्रावली, पृष्ठ ९१)

संत नूर मुहम्मद उस परम ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये अहं-भावके त्यागको आवश्यक मानते हैं। वे कहते हैं कि योगसाधक निजको भुलाकर ध्यानमग्न हो तपस्या करे, अभिमान त्यागकर हृदयसे समर्पण करे तथा एकाकी रहकर स्नेह-गुरुका शिष्यत्व ग्रहण कर अपने अन्तःकरणको निर्मल करे, तभी सोलह कलाओंवाले सूर्यका उदय होगा—

जब लगि है आपा महँ कोई। तब लगि ताको दरस न होई॥
ध्यान लगावै करै तपस्या। तजै दर्प, चित देइ नमस्या॥
ध्यान दिये नित्त रहै अकेला। होइ सनेह गुरूपका चेला॥
अन्तःकरन करै निरमला। उवै तबै रवि सोरह कला॥

(अनुराग बाँसुरी, पृ० १४)

मलिक मुहम्मद जायसीने भी परम प्रभुसे एकत्व-प्राप्ति-हेतु द्वैत-भाव त्यागनेकी बात कही है—

एकहि तें दुइ होइ, दुइ सों राज न चलि सकै।
बीच तें आपुहि खोइ, मुहमद एकहि होइ रहु॥

(अखरावट, सोरठा १५)

पद्मावतमें नव इन्द्रिय-द्वारोंके साथ दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्रका भी विस्तृत वर्णन मिलता है। पद्मावतीके प्रेममें अनुरक्त योगी रतनसेनको साक्षात् भगवान् शिव इस प्रकार उपदेश देते हैं—

गढ़ तस बाँक जैसि तोरि काया। पुरुष देखु ओही कै छाया॥
पाइय नाहिं जूझ हठि कीन्हे। जेइ पावा तेइ आपुहि चीन्हे॥
नौ पौरी तेहि गढ़ मझिआरा। औ तहँ फिरहिं पाँच कोटवारा॥
दसवँ दुआर गुपुत एक ताका। अगम चढ़ाव बाट सुठि बाँका॥
भेदै जाइ सोइ वहि घाटी। जो लहि भेद चढ़ै होइ चाँटी॥
गढ़ तर कुंड सुरंग तेहि माहाँ। तेहि मँह पंथ कहौं तोहि पाहाँ॥
चोर बैठ जस सेंध सँवारी। जुआ पैंत जस लाव जुआरी॥
जस मरजिया समुद धँस, हाथ आव तब सीप।
ढूँढ़ि लेइ सरग-दुवारी चढ़ै सो सिंहल दीप॥

(पद्मावत, दोहा २१५)

यहाँ सिंहलद्वीपकी तुलना शरीरसे की गयी है, जिसमें नव इन्द्रिय-द्वार हैं। दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र गुप्त है, जिसकी चढ़ाई अगम्य है। उसको वही भेद पाता है, जो उसका रहस्य प्राप्त करके उसपर पिपीलिका-गति (चींटीकी चाल) से चढ़ता है। गढ़के नीचे एक कुण्ड (कुण्डलिनीका स्थान) है। उसीसे गढ़के ऊपर जानेका मार्ग है। जैसे चोर सावधानीपूर्वक सेंध लगाता है, जुआरी दाँव लगाता है, गोताखोर सागरमें डुबकी लगाता है, उसी प्रकार साधकको भी ब्रह्मरन्ध्रतक पहुँचनेके लिये एकाग्रचित्त होना पड़ता है।

जायसीने सिंहलद्वीपके वर्णनमें सात खण्डोंकी चढ़ाईका वर्णन किया है। ये सात खण्ड शरीरस्थ सात चक्र हैं। उस 'सरग-पंथ' पर पैर बढ़ाकर जीते-जी कोई नहीं लौटा—

कहौं सो तोहि सिंहलगढ़, हैं खंड सात चढ़ाव।
फिरा न कोई जियत जिउ, सरग-पंथ देइ पाँव॥

(पद्मावत, दोहा २१४)

हठयोगके काय-साधनमें कठोर साधनाओंके क्रममें गगन-दृष्टि अथवा उलटी दृष्टिका भी उल्लेख किया गया है। जायसीने दशम द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) को ताड़के सदृश ऊँचा बताया है। वे कहते हैं कि जो दृष्टिको उलट कर देखता है, वही उसे सम्यक् रूपेण देख पाता है। वहाँ वही पहुँच पाता है, जो साँसको रोककर (प्राणायाम साधकर) जाता है—

दसवँ दुआर ताल कै लेखा। उलटि दिस्टि जो लाव सो देखा॥
जाइ सो तहाँ साँस मन बँधीं। जस धँसि लीन्ह कान्ह कालिंदी॥

(पद्मावत, दोहा २१६। १-२)

ज्ञानका उदय होनेपर साधककी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है और वह आत्म-चिन्तनमें लीन हो जाता है।

छान्दोग्योपनिषद्के अनुसार—'**अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति।**' अर्थात् उस ब्रह्मकी इस नगरीमें एक सूक्ष्म कमलाकार-स्थान है, उसके भीतर जो छोटा-सा आकाश है, उसमें जो है, उसे उसका अन्वेषण करना चाहिये और उसीकी जिज्ञासा करनी चाहिये। जायसीका वर्णन भी प्रायः इससे मिलता-जुलता है। उनके विचारमें साढ़े तीन हाथका यह शरीर-रूपी सरोवर है। उसीमें हृदयरूपी कमल विद्यमान है। वह नेत्रोंके समीप है, किंतु हाथोंकी पहुँचसे दूर है—

अहुठ हाथ तन सरवर हिया कँवल तेहि माँह।
नैनन्हि जानहु निअरें कह पहुँचत अवगाह॥

(पद्मावत, दोहा १२१)

सूफी-साधनाके अनुसार लक्ष्यकी प्राप्तिके मार्गमें चार पड़ावोंका उल्लेख मिलता है। ये चार पड़ाव हैं—(१) नासूत, (२) मलकूत, (३) जबरूत और (४) लाहूत। जायसीने 'चारि बसेरे' द्वारा इनकी ओर संकेत किया है—

नवौं खंड नव पौरी औ तहँ वज्र केवार।
चारि बसेरे सों चढ़ै सत सों उतरै पार॥

(पद्मावत, दोहा ४१)

वे इन्हें ही '***करम धरम सत नेम***' से भी स्पष्ट करते हैं—

दस महँ एक जाइ कोइ, करम धरम सत नेम।

(पद्मावत, दोहा १४८)

सूफी-साधनाका चरम लक्ष्य है मोक्षकी प्राप्ति। जहाँ सदैव सुखका वास है, जहाँ मृत्युका भय नहीं रहता। महान् साधक ही इसे प्राप्त करते हैं—

तेहिं पावा उत्तिम कैलासू। जहाँ न मीचु सदा सुखवासू।

(पद्मावत, दोहा १४६। ६)

जायसी आगे कहते हैं कि प्रभु-प्रेमके मार्गमें जबतक कोई स्वयंको चून (चक्कीमें पिसे आटे)के समान नहीं बना लेता, तबतक रंगमें चमक नहीं आ सकती। ठीक उसी प्रकार जैसे पानमें सुपारी और कत्था डाल दिया जाय, किंतु जबतक उसमें चूना नहीं पड़ता तबतक रंग नहीं रचता—

पान सुपारी खैर जिमि मेरइ करै चकचून।

तब लगि रंग न राचै, जब लगि होइ न चून॥

(पद्मावत, दोहा ३०८)

सूफी-सम्प्रदायमें आत्मलयको 'फना' तथा ईश्वरीय व्यक्तित्वकी प्राप्तिको 'बका' कहा गया है। ये दोनों अभाव और भावरूप एक ही अवस्थाके दो स्वरूप हैं। अपना वास्तविक परिचय प्राप्त होनेपर यह आत्मा मौन-रूप हो जाता है। यह मौनरूपता ही अभाव है। साथ ही वह एक ऐसा यन्त्र-रूप धारण कर लेती है, जिसका निनादी वही परम रूप है, जिसमें लीन होनेपर वह मौन-रूप हो गयी है। यह भावरूपताकी उच्च स्थिति है। इसे 'पुराने लोय' (अनुभवी साधक) ही जानते हैं—

'ताल् कल्ल' दोऊ कहै, ब्यौरा बूझे कोय।
एक 'बका' एक 'फना' है, पेम पुराने लोय॥

(शाह बरकतुल्ला—प्रेम प्रकाश, पृष्ठ २९)

दिव्य जीवनका योग

[श्रीअरविन्दके पूर्णयोगका विहङ्गम परिचय]

(श्रीदेवदत्तजी)

श्रीअरविन्दने योगको समग्र अर्थमें लिया है। उनके लिये सम्पूर्ण जीवन ही योग है। जीवन और जगत् किसी मिथ्या या अनित्यकी अभिव्यक्ति नहीं, परात्परका ही अभिव्यक्त स्वरूप है।

यहींपर परात्परकी जिज्ञासा प्रारम्भ होती है। श्रीअरविन्द यह बताते हैं कि पृथ्वी और मानव अन्धकारके किसी निरुद्देश्य बन्धनमें नहीं जकड़े हैं जिससे मुक्त होना ही परम पुरुषार्थ हो बल्कि इस जडत्वके सचेत होनेकी प्रक्रियामें प्रकृतिने अपने विकासके वर्तमान स्तरपर उस सचेत सत्ताको अभिव्यक्त किया है जो मध्यवर्ती है। उसका आवरण तो जडका है, व्यवहारकी इन्द्रियाँ उसके अधिकारमें नहीं हैं, किंतु आत्माके स्तरपर वह अभीप्सु है कि आत्मज्ञानकी डोर पकड़कर दिव्यत्वकी ओर पग बढ़ा सके? यही अभीप्सा उत्क्रान्तिकी जननी है। यही मानवको चुनावका अधिकार देती है कि आत्मज्ञानके बिना क्या वह संतुष्ट हो सकता है? अभीप्सा ही वह गुण है जिसके आधारपर मानव सचेतन रूपसे दिव्यत्वकी दिशाका चुनाव करता है, उसकी ओर कदम बढ़ाता है और प्रारम्भ होती है योगकी साधना।

श्रीअरविन्द योगके साधन बताते हुए कहते हैं कि आत्मामें स्थित भगवान् ही साधकके गुरु हैं। आत्मा ही शास्त्र है और अनन्ततक यात्रा ही पाथेय है। भगवान्‌के प्रति समर्पण ही वह कुंजी है जिससे साधककी अभीप्सा भगवान्‌की इच्छाशक्तिको जीवनमें उतारनेका मार्ग खोलती है। एकमेवाद्वितीयम्‌का लीलासहचर बनना ही जहाँ सार्थकता है, वहाँ साधकका व्यक्तिगत मोक्ष बहुत पीछे छूट जाता है।

इन सभी सत्योंके साथ तादात्म्यके लिये मनुष्यको भगवान्‌ने चुनावकी शक्ति दी है। मानव-देहमें ही आकर चेतनाने सभी क्षेत्रोंमें विवेकके आधारपर चुनावकी क्षमता पायी है और उसे अधिकार भी है कि वह इसका उपयोग इन्द्रियोंके साथ उपादानोंके सम्बन्धको जोड़नेमें लगाये अथवा भगवान्‌के साथ लगाये। अभीप्सा तब प्रारम्भ होती है जब भगवान्‌की प्राप्ति और जीवनमें अभिव्यक्ति ही रसका एकमेव स्रोत बच जाय, बाकी सभी सूख जाय। फिर अभीप्सा योगपथका पाथेय बनकर चेतनाका मार्गदर्शन करती है कि वह भगवत्कृपाको ही देखे, सुने और चुने।

इस अभीप्साका सम्बल लेकर प्रथम पग उठाते ही प्रारम्भ होता है भगवान्‌के प्रति समर्पण। कोटि-कोटि योनियोंसे विकासके पथपर चलती हुई चेतना मानवदेहमें पहुँचते-पहुँचते उनके संस्कारोंको भी साथ लाती है और मानवदेह पाशविक शक्तियोंके अधीन होनेके कारण ये संस्कार ही अहंकारके रूपमें अपनेको अभिव्यक्त करते हैं। सामान्य जीवन जीनेवालोंके लिये यह तत्त्व इसलिये उपयोगी है कि वह उन्हें केन्द्रित रखता है, किंतु योग-पथपर केन्द्र जब भागवत-चेतना हो जाती है तो यह अहंकार मार्गकी बाधा बनकर खड़ा होता है। अतः अहंका समर्पण पूर्णयोगकी साधनामें महत्त्वपूर्ण बन जाता है। पूर्णयोगमें पूर्णसमर्पणका अर्थ है अपनी सत्ताके प्रत्येक भागसे अहंकी ग्रन्थिको काट डालना और उसे मुक्त कर पूर्णरूपेण भगवान्‌को समर्पित कर देना। यह समर्पण

किसी एक स्तर या सत्ताके विशेष भागमें होनेसे आगेका मार्ग नहीं मिलता। इसे मन, प्राण, शरीर—इनके प्रत्येक भागको समर्पित करना होगा और इनकी प्रणालीको दिव्य जीवनकी प्रणालीमें परिवर्तित करना होगा। अकुण्ठ-समर्पण और अन्तिम रूपसे अपनी चेतनाके सर्वोच्च शिखरसे लेकर अचेतनाके सारे कलुष, देहके कोषोंमें छिपी सारी पशुता सभीको भगवान्‌को समर्पित करना होगा।

आत्मार्पणके लिये प्रणिपात, समस्त सत्ताका उद्‌घाटन और प्रभुका अकुण्ठ प्रेमाश्रय—ये सहायक सोपान हैं, जो चेतनाके परिवर्तनमें परम सहायक हैं। इस कार्यमें अनेक जीवन भी लग सकते हैं और एक क्षणमें भी यह सिद्ध हो सकता है, किंतु इस क्षणका चुनाव भगवान् करते हैं, साधक नहीं। साधकको अनन्त कालतक प्रतीक्षाके लिये तैयार होना होगा। श्रीमाँने इस पथके विषयमें स्पष्ट किया है—इस पथपर चलनेके लिये तुम्हारे पास होनी चाहिये आतङ्करहित वीरता, भय नामक जो हीन, तुच्छ, घृण्य वृत्ति है, उसके कारण तुम्हें कभी पीठ नहीं दिखानी चाहिये।

तुम्हारे अंदर होना चाहिये दुर्दमनीय साहस, पूर्ण निष्ठा, ऐसा सर्वाङ्गपूर्ण आत्मदान जिसमें तुम हिसाब-किताब नहीं लगाते या मोल-भाव नहीं करते, तुम पानेकी भावनाका साथ नहीं देते, सुरक्षित रखे जानेके उद्देश्यसे अपनेको अर्पित नहीं करते, तुम ऐसी श्रद्धा नहीं रखते जिसे प्रमाणकी आवश्यकता हो। बस यही इस पथपर अग्रसर होनेके लिये अनिवार्य है। केवल यही समस्त विपत्तियोंसे तुम्हारी रक्षा कर सकती है।

सच्ची अभीप्सा, समर्पण और परित्याग—ये त्रिविध कवच साधकको आवश्यक हैं। इस आधारके निर्माणमें चाहे जितना समय लगे, चाहे जो समस्याएँ आयें, किंतु इनके बिना श्रीअरविन्दके पूर्णयोगकी साधना और रूपान्तरको लक्ष्य बनाकर दिव्य जीवनके हेतु किये गये सारे प्रयास निष्फल ही होंगे।

विचारोंकी चञ्चलता साधकोंके लिये आवेगोंके समान ही कष्ट देती है, अतः मनको उनसे निर्लिप्त रख उनका निरीक्षण करना और इस सत्यका साक्षात्कार करके कि विचार मनमें पैदा नहीं होते, बल्कि बाहरसे आते हैं, उनका उचित उपयोग करते हुए उनसे व्यवहार करना मानसिक आधारको साधनाके लिये तैयार करनेमें सहायक हैं।

श्रीअरविन्दका योग चेतनाको मनसे उठाकर अतिमनमें प्रतिष्ठित करना चाहता है। अतः इसे मानसिक स्तरकी सारी सिद्धियों और सम्पदाओंको अपना लक्ष्य नहीं मानना होगा। चेतनाके विकासके साथ जैसे चेतनाके आधार अर्थात् शरीरका विकास होता है, उसी तरह मनका भी विकास होता है और मानव-शरीरमें निवास करनेवाली चेतनामें प्रायः यह क्षमता सहज हो जाती है कि वह आत्माकी कल्पना कर सके। मनुष्येतर प्राणियोंके मनके विकासकी स्थितिमें आत्माके ज्ञान या कल्पनाका प्रायः प्रश्न ही नहीं उठता। आत्माके विषयमें कल्पनाकी क्षमता ही मनको संकल्पकी शक्ति देती है। आत्मज्ञानके लक्ष्यका चुनाव, आत्माकी प्राप्तिहेतु संकल्प ही साधकको साधनाकी क्षमता प्रदान करता है।

यही संकल्प जब भगवान्‌के प्रति निष्ठामें विकसित होता है तो श्रद्धा, निष्ठा और समर्पणमय अन्तःकरणका प्रादुर्भाव होता है, जहाँ परमाशक्ति अदिति अपना निवास बनाकर साधकको संचालित कर सके।

साधनाके इस अधिष्ठानसे साधना जिस लक्ष्यके लिये आगे बढ़ती है, वह लक्ष्य है अतिमानस। यह लक्ष्य इतना व्यापक है कि श्रीअरविन्दके योगको अतिमानसिक योग भी कहा जाता है। अतिमानस उत्क्रान्ति या विकासकी प्रक्रियामें अवतरित होनेवाला वह तत्त्व है जो मनसे उत्पन्न होनेवाली सारी समस्याओंका समाधान है। किंतु आज आत्माके प्रकाशके कारण हम उसका झलक मात्र प्राप्त कर सकते हैं। जैसे लाखों वर्ष पूर्व कुछ बंदर एकत्र होकर सोचते हैं कि मानव क्या-क्या कर सकता है, तो उनकी कल्पना मानसिक जगत्‌के निर्माणसे एकदम भिन्न होती, उसी प्रकार मानव भी अतिमानसिक चेतनाकी कल्पना नहीं कर सकता। वहीं भागवत प्रकृतिकी पूर्ण चेतना अवस्थित है, जिसमें विभाजन और अज्ञानके लिये कोई स्थान नहीं रह सकता। वह है पूर्ण ज्योति जो सच्चिदानन्दके आलोकसे प्रकाशित है। पशुत्व और विकासके सभी संस्कार उससे छूट गये हैं। वह ज्ञान तादात्म्यसे प्राप्त करता है। उसकी देह अतिमानसिक स्थितिमें वह दिव्यत्व प्राप्त कर लेती है, जहाँ जरा और मरण छूट जाते हैं, किंतु देह बंदीगृह नहीं होती। भगवान्‌की लीलामें इसका

परिवर्तन सचेत-रूपसे सम्भव होता है।

श्रीअरविन्दके योगमें यह ज्ञान भी स्पष्ट है कि अतिमानस अगला कदम है, किंतु अन्तिम नहीं है। अतिमानसमें भी चार सोपान हैं—१-सरभा, २-सरस्वती, ३-इला और ४-दक्षिणा। नित्य लीलामय सच्चिदानन्द तो इन सबमें लीलाओंका प्रकाश करते हुए भी और आगे हैं।

लक्ष्यका ज्ञान या ज्ञानकी कल्पना पानेके बाद साधकको स्पष्ट होना चाहिये कि वह कहाँ है। आत्म-प्रवञ्चना और साधना दोनों विपरीत तत्त्व हैं। योग जीवनसे ही प्रारम्भ करना होगा, कुछ घंटे जप-तप, ध्यान और बाकी समय अहंकारकी गतिविधियोंमें डूबे रहना अर्थात् जीवनको भगवान्‌से बचाये रखना, श्रीअरविन्दके योगमें काम नहीं आता। जीवनका सच्चा उद्देश्य है भगवान्‌के लिये जीवन-यापन, सत्य और अन्तरात्माके लिये जीवन-यापन। यथार्थ सचाई है कि भगवान्‌के लिये जीवन अर्पितकर इसे भागवतजीवन बनाना, बदलेमें उनसे कभी भी लाभकी आशा नहीं करनी चाहिये।

भागवत-जीवनका आधार है मन। यही वह इन्द्रिय है, जहाँसे भगवान्‌की ओर सबसे अधिक सचेत और अन्य इन्द्रियोंपर संयम और रूपान्तरकी साधना हो सकती है। अतः इसके विकास और दिव्य होनेके साथ-साथ न केवल इन्द्रियोंपर प्रभाव पड़ेगा बल्कि अवचेतन और अचेतनतामें जहाँ भगवान्‌के प्रभावका विस्तार होगा, वहीं भूततत्त्वकी मूलाधार चेतना भी परिवर्तित होगी। इस परिवर्तनका प्रभाव है मनका उत्तरोत्तर आरोहण।

साधककी सत्ताके प्रत्येक स्तर भौतिक, प्राणिक एवं मानसिक सभी स्तरोंकी परस्पर सम्बन्ध चेतनाके कारण जब साधक मनसे उठकर उच्चतर मनमें प्रतिष्ठित होता है तो वह वृत्तियों और आवेशोंसे अलग होकर विशुद्ध ज्ञानके प्रभावसे जीवनको संचालित करना प्रारम्भ कर देता है, वह साक्षी भी होता है और भोक्ता भी। वह मन, प्राण, अन्नके कोषोंका स्वामी हो जाता है।

फिर आरोहण होता है प्रकाशित मनमें। साधनाके इस स्तरपर मन अज्ञानसे विभाजित ज्ञान और फिर अखण्ड ज्ञानकी ओर नहीं जाता, बल्कि वह ज्ञानको चेतनाके स्तरपर ही प्राप्त कर लेता है। सत्य उसके लिये मूर्त है, आविष्कारकी आवश्यकता नहीं है। प्रकृति यहाँ दिव्य हो उठती है। अवचेतन तथा अचेतनतक दिव्य ज्योतिसे उद्भासित हो उठते हैं।

इसके बाद मनका विकास होता है सम्बोधि मानसमें, जहाँसे सच्चिदानन्दकी झलक चेतनामें कौंध उठती है। मन विश्वमानससे एकाकार हो उठता है, भगवदानन्दका स्वाद मन चख लेता है। प्रकृतिकी निश्चेतनामें भी अनन्तका ज्ञान प्रेम रिसने लगता है और साधनाकी यात्रा अज्ञानसे ज्ञानकी ओर नहीं बल्कि ज्ञानसे विज्ञानकी ओर प्रयाण करती है।

इस प्रयाणका अगला कदम है अधिमानस जो वर्तमानमें विकसित हो रहे विश्वको धारण करता है। इसीसे दिव्यत्व इस परार्धमें शतधा विभक्त रहता है। यहीं एकत्व बहुत्वमें बदल जाता है फिर भी सामञ्जस्य बना रहता है। यहाँ पूर्णता प्रकट हो जाती है, विश्वका विज्ञान साधकको करतलगत हो जाता है। साधना देहके कोषोंमें भी भागवत-रूपान्तर प्रारम्भ होनेकी आशा जगाती है। यहींपर मृत्यु, अज्ञान तथा अन्धकारपर विजयका मार्ग खुलता है और वह सब कुछ सम्भव दिखायी देने लगता है जो अतिमानसमें है अर्थात् मृत्युपर विजय, सचेत रूपसे दिव्य देहमें परिवर्तनकी क्षमता, सच्चिदानन्दका सृष्टिमें यन्त्र बननेकी क्षमता और दिव्य जीवनका देहजीवनमें पूर्णावतरण।

चक्रोंका उद्घाटन पूर्णयोगमें अवतरण करती हुई भगवत्-शक्तिसे होता है और अतिमानसिक चेतना अभीतक शरीरमें अवस्थित नहीं है, अतः सहस्रारचक्रका उद्घाटन अधिमानसिक चेतनाकी प्राप्तिमें स्वयं होता है। इस प्रक्रियामें इन चक्रोंमें दिव्य चेतनाके अवतरणकी ही प्रधानता है।

संक्षेपमें श्री अरविन्द-योगका लक्ष्य जडका दिव्य जीवनमें रूपान्तरण है तथा परा और अपरा प्रकृतिके भेदको समाप्त कर दिव्य प्रकृति, दिव्य मन और दिव्य जीवनकी प्रतिष्ठा प्राप्त करना है।

वेदोंके प्रवचनसे, अच्छी धारणासे और बहुत शास्त्रोंके ज्ञानसे ही परमात्मा नहीं मिलता, वह जिसपर कृपा करता है, उसीके सामने अपना रूप प्रकट करता है।—उपनिषद्

ईसाई-धर्ममें योगका स्थान

(रेवरेंड एड्विन ग्रीब्ज)

'योग' शब्दका प्रचलित अर्थ ईश्वरके साथ एकता प्राप्त करना ही नहीं है, अपितु उससे उन साधनोंका भी बोध होता है जो उक्त ध्येयकी प्राप्तिमें उपयोगी माने जाते हैं।

परमात्माके साथ एकता करनेके कई अर्थ हो सकते हैं और विचारकके मनमें परमात्माका जो स्वरूप होगा, उसीके अनुसार उसकी एकताका स्वरूप भी होगा।

कुछ लोगोंके मतमें 'एकता' का अर्थ लीन हो जाना है अर्थात् वह अवस्था जिसमें अपना कोई भिन्नत्व रह ही नहीं जाता, वह उस परमात्माका ही एक अङ्ग बन जाता है जिसमें वह लीन हो जाता है—वह परमात्मासे अभिन्न ही नहीं हो जाता बल्कि उसके साथ ऐसा घुल-मिल जाता है कि फिर उसका पृथक् अस्तित्व ढूँढ़नेपर भी ध्यानमें नहीं आता। इसे हम एकताकी पराकाष्ठा कह सकते हैं। इससे नीचे उतरकर लोगोंने एकताकी कई श्रेणियाँ मानी हैं। परंतु कदाचित् उन सभी श्रेणियोंमें योग करनेवालेकी पृथक् सत्ता किसी-न-किसी अंशमें अवश्य रह जाती है—वहाँ एकताका स्वरूप अभिन्नता न होकर अविसंवाद अथवा मेल ही होता है। एकताका अर्थ है परमात्माके साथ एकमन हो जाना—परमात्माके संकल्पके साथ अपने संकल्पको मिला देना। साधक परमात्माकी प्रभुता और सुहृदताको समझकर अपनी दृष्टिको बदलनेकी, अपने भावको परिवर्तित करनेकी तथा अपनी निजी कल्पनाओं और जनसमाजकी युक्तियों और योजनाओंको परित्यागकर, जिनका साधारण जनता अनुगमन करती है, परमात्माके संकल्पों और अभिसन्धिका अनुसरण करनेकी चेष्टा करता है। हम परमात्माके संकल्पोंके अनुसरण करनेकी बात हेतुपूर्वक कह रहे हैं, न केवल किसी मत-विशेषका उपन्यास कर रहे हैं, न किसी ऐसे सिद्धान्त-वाक्यको दोहरा रहे हैं जिसका अर्थ तो हम न जानते हों और केवल इसलिये ठीक समझते हों कि वह भगवद्वाक्य है। एकताका अर्थ है परमात्माके प्रति इस प्रकार प्रेमपूर्वक आत्मसमर्पण करना कि जिससे हमारा चित्त उनकी दिव्य ज्योतिसे जगमगा उठे, हम हृदयसे वही चाहें जो उन्हें प्रिय हो और प्रतिदिन हर घड़ी अपना आचरण एवं व्यवहार ऐसा प्रशस्त एवं परिष्कृत बनानेकी चेष्टा करें कि जिससे मनुष्यका मनुष्यके साथ कैसा बर्ताव होना चाहिये, इसका ईश्वरीय आदर्श हमारे सामने मूर्तिमान् होकर खड़ा हो जाय।

एक सच्चे ईसाईका अपने भगवान्‌के साथ किस प्रकारका सम्बन्ध होना चाहिये, इस विषयमें ईसामसीहके उपदेशोंका स्थूल आशय स्पष्ट ही है। स्वयं उनका अपने परमपिताके साथ जो सम्बन्ध है, उसमें कई बातें बिलकुल निराली हैं, जिनके कारण उस सम्बन्धके स्वरूप और लक्षणोंके निर्देश करनेमें बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ता है। जहाँ हमारे प्रभुने 'मैं और मेरे पिता एक ही हैं।' (I and my Father are one.) इस प्रकारके वाक्य कहे हैं, वहाँ तो यह कठिनाई और भी सुस्पष्ट हो जाती है, एक तरफ तो उनका सम्बन्ध हमें इतना घनिष्ठ प्रतीत होता है कि उसे समझानेके लिये हमें मानव-जगत्‌में कोई उदाहरण ढूँढ़नेपर भी नहीं मिलता। किन्हीं दो मनुष्योंमें मन और हृदयकी कैसी ही एकता, अभिन्नता क्यों न हो, वह उसकी तुलनामें नहीं ठहर सकती। दूसरी ओर हम उपर्युक्त वाक्यका अद्वैतपरक अर्थ भी नहीं कर सकते, क्योंकि उस हालतमें 'मैं और मेरे पिता' इस प्रकारका द्वैत नहीं रह सकता। यह एक ऐसा सम्बन्ध है जिसका निर्देश हो सकता है अर्थात् अद्वैत नहीं है, दोनोंमें घनिष्ठ संयोग है, किंतु सर्वथा अभेद नहीं।

अब रही परमात्माके साथ हमारे सम्बन्धकी बात, इस विषयमें ईसामसीहका सिद्धान्त सुतरां स्पष्ट है। बाइबिलमें एक भी वाक्य ऐसा नहीं मिलेगा जिसमें अस्पष्टरूपसे भी यह संकेत किया गया हो कि ईसाइयोंका ध्येय परमात्मामें मिल जाना है। बाइबिलमें एकताका जो वर्णन मिलता है उसका अर्थ है परमात्माकी इच्छाको जीवनका संचालक एवं पथप्रदर्शक मानना, अपने-आपको ईश्वरके मन तथा अभिसंधिमें मिला देना और मनमें इस बातका निश्चय रखना कि मनुष्यका परम ध्येय यही है और उसीमें आनन्दित होना। महात्मा पॉलके पत्रोंमें इस प्रकारके वाक्य मिलते हैं जिनका भाव है—मैं जीता हूँ पर अब मैं नहीं, मेरे अंदर ईसामसीह जीते हैं। (I live and yet no longer I, but christ liveth in me.) परंतु इस प्रकारके वाक्यका सम्भवतः कोई भी इससे

अधिक अर्थ नहीं लगायेगा कि यह कहनेवाला पुरुष ईसामसीहको अपना गुरु मानकर उनकी सर्वतोभावेन वश्यता स्वीकार करता है, अपनेको ईसामसीहके संचालनमें रखकर उन्हींसे शक्तिसंचार, योगक्षेम एवं अनुग्रहकी आशा रखता है। उसीके आगे ये शब्द मिलते हैं—'और अब जो जीवन इस शरीरमें है वह उन्हीं ईश-पुत्रमें विश्वासका जीवन है, जिन्होंने मुझे प्यार किया और मेरे लिये अपने-आपको दे दिया।' 'and *that life which I now live in the flesh, I live in* faith, The faith which is in the son of God, who loved me and gave Himself for'. रहस्यवादियों (Mystics) में कुछ लोग अवश्य ऐसे मिलते हैं जो परमात्मामें लीन हो जानेको ही ईसाईजीवनका एकमात्र परमपुरुषार्थ मानते हैं। परंतु यह सिद्धान्त अपवादस्वरूप ही है, बहुसंख्यक ईसाई स्त्री-पुरुषोंके साधारण विचार इस प्रकारके नहीं हैं। एक ईसाईके जीवनकी चरितार्थता परमात्माके साथ एक हो जानेमें नहीं है, बल्कि उनके साथ पूर्ण साहचर्यमें है।

प्रस्तुत लेखके आलोच्य विषयका दूसरा अंश है 'वे साधन जिनके द्वारा ईश्वरका साहचर्य प्राप्त हो सके।' इस सम्बन्धमें लोगोंने समय-समयपर कई तरहके विचार प्रकट किये हैं, परंतु इस विषयमें कोई ऐसा सिद्धान्त सामने नहीं रखा जा सकता जो सर्वमान्य हो।

अधिक ध्यान देनेयोग्य बात तो यह है कि बाइबिलमें प्रभुका जो जीवनवृत्तान्त तथा उपदेशोंका संग्रह है, उसमें ऐसी किसी बातका उल्लेख बहुत ही कम है जिसका योगसम्बन्धी साधनाओंसे निकट सम्बन्ध हो। उपदेश-कार्य आरम्भ करते समय ईसामसीहने चालीस दिनका उपवास किया था, ऐसा वर्णन मिलता है, किंतु उन्होंने इस तपको किसी साधनके रूपमें किया हो ऐसा नहीं मालूम होता, बल्कि कुछ समयतक वे अकेले जंगलमें रहे थे और वहाँ वे अपने भावी उपदेश-कार्यको सोचनेमें इतने तल्लीन हुए कि उन्हें खाने-पीनेकी सुध भी न रही। एकाध जगह अवश्य 'प्रार्थना और उपवास' का उल्लेख आता है और ऐसा भी वर्णन मिलता है कि प्रभु कभी-कभी एकान्तमें बैठकर प्रार्थना तथा ध्यानके लिये समय निकाला करते थे, परंतु साधारण तौरपर हमारे प्रभुके जीवनमें तथा उनके उपदेशोंमें योग-साधनाकी आवश्यकताके सम्बन्धमें एक भी प्रमाण नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि वे सादा एवं साधारण मनुष्योंका-सा जीवन व्यतीत करते थे तथा सामान्य कोटिके स्त्री-पुरुषोंसे निःसंकोच होकर मिलते थे, यहाँतक कि उन्हें सामाजिक उत्सवोंमें भी सम्मिलित होनेमें किसी प्रकारका संकोच नहीं होता था। उनकी दृष्टिमें ध्यान कोई बाह्य साधन नहीं है, अपितु मनकी वृत्तिको अनवरतरूपसे भगवान्‌की ओर लगानेका नाम है जिससे कि जीवनमें अव्यक्त जगत्‌के सनातन सत्य तत्त्वोंकी संनिधिका अनुभव होने लगे। 'वसुन्धरा भगवान्‌की है और भगवान्‌की साङ्गता है।' भगवान्‌ने मनुष्यके ही उपयोग एवं भोगके लिये सारे भौतिक पदार्थोंकी रचना की है। इसलिये उनका परित्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है केवल इस बातको ध्यानमें रखनेकी कि कहीं ये पदार्थ हमारे सिरपर सवार होकर हमें अपने अधीन एवं वशवर्ती न कर लें, हमें अपना गुलाम न बना लें। मनुष्यको चाहिये कि वह वस्तुओंका यथार्थ मूल्य आँकना, उनके गुण-दोषोंका विवेचन करना सीखे, आध्यात्मिक एवं सनातन तत्त्वोंका आधिभौतिक एवं जागतिक तत्त्वोंके द्वारा पराभव न होने दे। प्रार्थना, निर्भयता, वश्यता, (ईश्वर एवं मनुष्यमात्रके प्रति) प्रेम—ये ही योगसाधनाएँ हैं, जिन्हें ईसामसीहने परमात्माके अधिकाधिक साहचर्यमें सहायक बताया है।

प्रभु ईसामसीहके कालसे लेकर अबतक ईसाइयोंने जिन-जिन योगसाधनाओंका अभ्यास किया है उनकी कथा बहुत लंबी-चौड़ी और वैचित्र्यपूर्ण है। ईस्वी सन्‌की प्रारम्भिक शताब्दियोंमें उपवासादि कठोर व्रतचर्याओंको कई लोग बहुत उपयोगी मानते थे और उसके बाद भी भिन्न-भिन्न युगोंमें कुछ सम्प्रदायोंकी ऐसी ही धारणा रही है। परंतु इस प्रकारकी धारणा अधिकसंख्यक ईसाइयोंमें न तो सर्वमान्य ही रही है, न सामान्य ही। ईसाइयोंको बराबर चेतावनी दी जाती रही है कि वे भोगविलासकी ओर अग्रसर न हों, इन्द्रियोंके दास न बनें। उन्हें यह भी शिक्षा दी जाती रही है कि वे अपनी सम्पत्ति और अपनी सारी शक्तियोंको परमात्माकी सौंपी हुई पवित्र धरोहर समझें, उनका विवेकपूर्वक उपयोग करें और उदारतापूर्वक उनका दूसरोंको भी उपभोग एवं उपयोग करने दें। उनको इस सम्बन्धमें सतर्क रहनेका उपदेश दिया जाता रहा है कि भौतिक

सुख उनकी आध्यात्मिक दृष्टिको आवृत न कर दें, वे लोग इस जगत्‌को सराय-सा समझकर उसमें मुसाफिरोंकी तरह रहें तथा इस बातको सदा स्मरण रखें कि हमारा वास्तविक और सनातन घर आगे है, किंतु साथ-ही-साथ जो ईश्वरप्रदत्त वस्तुएँ हमें रास्तेमें पड़ी हुई मिलें उनका धर्माविरुद्ध उपभोग भी करते रहें।

कदाचित् योगका सर्वसुलभ रूप उपवास है। रोमन कैथॅलिक तथा प्रॉटेस्टंट दोनों मतोंके अनेक अनुयायी उपवासको बहुत अधिक उपयोगी मानते हैं और खास-खास अवसरोंपर अवश्य उपोषित रहते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो नियमितरूपसे उपवास तो नहीं रखते, किंतु उसे आत्मोन्नतिका एक वास्तवमें उपयोगी साधन अवश्य स्वीकार करते हैं। वे यह समझते हैं कि ऐसे समयमें जब भौतिक सुखोंकी आत्मापर विजय होती दीखती है, उपवाससे मनुष्यको बड़ा साहस एवं बल मिलता है। इस वर्गके लोग उपवासको प्रायश्चित्तके रूपमें न देखकर आत्मोन्नतिका एक उपकारी साधन मानते हैं और यह समझते हैं कि उपवास जीवनमें आत्माके प्रभुत्वका द्योतक है और इस बातको भी सूचित करता है कि हम भौतिक जगत्‌के आधिपत्यको स्वीकार करनेके लिये तैयार नहीं हैं।

ईसाईधर्मका क्षेत्र बहुत व्यापक है, उसके अंदर ईसाई-जीवनकी अभिव्यक्तिके भिन्न-भिन्न स्वरूपों तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके अनुभवोंके लिये गुंजाइश है। सबसे मुख्य बात तो है ईश्वरके सम्बन्धमें क्रमशः अधिकाधिक जानना और उन्हें जानकर उनसे प्रीति करना, उनपर भरोसा करना और उनकी इच्छाके अनुकूल आचरण करना। ईश्वरको जाननेका उपाय है ईसामसीहकी शरणमें आना और उन्हींको एकमात्र गति मानना और प्रार्थना, निर्भरता तथा वश्यताके द्वारा जीवनकी पूर्णताको प्राप्त करना।

जरथोस्ती धर्ममें तीन मार्ग

(श्रीएरच जहाँगीर तारापोरवाला)

ईश्वर-प्राप्तिके लिये सभी धर्मोंमें तीन मार्ग दिखलाये गये हैं—ज्ञान, भक्ति और कर्म। इन तीनों योगमार्गोंके साधनसे मुक्ति मिलती है, ऐसा शास्त्रोंका वचन है। हिन्दूशास्त्रोंमें इन तीनोंका बहुत स्पष्ट और सविस्तर वर्णन है, दूसरे धर्मोंमें भी न्यूनाधिक रूपसे ये तीनों स्पष्ट प्राप्त होते हैं। कदाचित् 'योग' शब्दके अभावके कारण हम लोग सरलतापूर्वक यह बात न सपझ सकें, परंतु मूल वस्तु तो यही है कि मुक्तिका मार्ग तीन प्रकारका है और प्रत्येक व्यक्तिके स्वभावके अनुसार इन तीनोंमेंसे एक उसके अनुकूल होता है।

जरथोस्ती धर्ममें भी इन तीनों मार्गोंका उल्लेख है। दुर्भाग्यवश जरथोस्ती धार्मिक साहित्य थोड़ा-बहुत ही आज उपलब्ध है, उसमें यह बात इतनी सरलतासे नहीं प्राप्त हो सकती है तो भी मननपूर्वक अध्ययन करनेसे और दूसरे धर्मोंके साथ तुलना करनेसे यह मूल सत्य प्राप्त हो सकता है। सौभाग्यवश जरथोस्ती धर्मके मूलस्थापक ऋषि जरथुस्त्रके कुछ मूल श्लोक अभीतक सुरक्षित हैं और वे ही धर्मकी भित्तिस्वरूप माने जाते हैं। वे मूल श्लोक जरथुस्त्रकी 'गाथा' के नामसे विख्यात हैं और पाँच विभागोंमें बँटे हुए हैं। उन पाँचोंमेंसे प्रथम गाथा सर्वश्रेष्ठ गिनी जाती है और उसका नाम 'अहुन व इति गाथा' है। सम्पूर्ण गाथाके २३८ श्लोकोंमेंसे इस प्रथम गाथामें १०० श्लोक आ गये हैं। इस 'अहुन व इति गाथा' नामका मूल अहुन-वर [अहुन-वइर्य] शब्द है,जो जरथोस्ती धर्मका मूल मन्त्र माना जाता है और जिसके लिये इन शास्त्रोंमें कहा गया है कि सृष्टि पैदा करनेसे पूर्व स्वयं ईश्वरने इसका उच्चारण किया था और इसीमेंसे सृष्टि उत्पन्न हुई है। जरथुस्त्रकी 'अहुन व इति गाथा'को इस 'अहुन-वइर्य'की टीका समझें तो कोई भूल नहीं है।

दूसरी बातोंको अलग रखकर यदि केवल अहुनवरके गूढ़ अर्थका मनन किया जाय तो इसीमेंसे योगके तीनों मार्ग निकल आते हैं। इन तीनों मार्गोंको पीछेसे गाथामें विशेष विस्तारसे समझाया गया है। अहुनवरका रहस्य बहुत ही गहन है और उसका ज्यों-ज्यों मनन किया जाता है, त्यों-ही-त्यों उसका अधिकाधिक आध्यात्मिक रहस्य प्रकट होता रहता है और इसी कारणवश हमारे शास्त्रोंमें कहा गया है कि 'अहुनम्-वइरीम् तनूम् पाइति' अर्थात् 'अहुन-वइर्य' तनका (आत्माका) रक्षण करता है।

अहुनवरके अनेक अनुवाद हो चुके हैं। इसपर प्राचीन अवेस्ता साहित्यमें भी एक टीका लिखी हुई है। इसके अतिरिक्त सासानी कालमें[1] इस मन्त्रका पहेलवी भाषामें अनुवाद हुआ था, उसमें इस मन्त्रमें समाये हुए तीन नामोंकी ओर संकेत किया गया है। ये तीन नाम 'अमर-पवित्र-शक्ति' (अमेषा-स्पेन्ता) के हैं और ये ही तीनों मार्गोंका सूचन करते हैं।

सर्वप्रथम 'अहुनवर' इस मन्त्रको देखें। इस मन्त्रमें तीन पंक्तियाँ हैं जो प्रत्येक एक-एक वाक्य हैं और प्रत्येकमें एक महान् सत्य समाहित है।

(१) यथा अहू वइर्या अथा रतुश अषात्-चित् ह चा।

(२) वङ् हेउश् दज्दा मनङ् हो श्योथननाम् अङ् हेउश् मज्दाइ।

(३) क्षथ्रमे-चा अहुराइ आ यिम् द्रिगुन्यो ददत् वास्तारेम्॥

इनका अनुवाद इस प्रकार है—

(१) जैसे राजा सर्वोपरि (है) उसी प्रकार ऋषि (भी) अपने अषके कारण (हैं)।

(२) 'वोहु-मनो'का पुरस्कार जीवनके प्रभुके कार्य करनेवालोंको (मिलता है)।

(३) ईश्वरका 'क्षथ्र' उसको (मिलता है) जो लाचारोंका रक्षक बनता है।

१-प्रथम सत्य यह है कि राजा अथवा इस स्थूल भुवनका जो अधिपति है, उसके ही समान उतना ही महान् ऋषि भी गिना जाय। दूसरे शब्दोंमें कहें तो जिस प्रकार राजाका बड़प्पन इस खाकी जहान्में है, इसी प्रकार ऋषिका बड़प्पन आत्मिक जगत्पर है। किस कारणसे ऐसा है ? केवल 'अष'के ही कारण। अब इस 'अष'को हमलोग जरा गम्भीरता-पूर्वक समझें। जरथोस्तियोंमें बोलचालमें 'अषोई' शब्दका व्यवहार होता है और उसका अर्थ साधारणतः पवित्रता होता है। परंतु एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि ज्यों-ज्यों हम प्राचीन समयकी ओर लक्ष्य करते हुए इसके अर्थको देखते जाते हैं त्यों-ही-त्यों वह अधिकाधिक गहरा होता जाता है। वास्तवमें इसका अर्थ अत्यन्त ही गहन है। अवेस्ताका यह 'अष' शब्द वेदका 'ऋत' शब्द है। यह बात भाषाशास्त्रसे सिद्ध हो चुकी है[2]। जिस प्रकार ऋत शब्दका वेदमें प्रयोग हुआ है, उसी प्रकार हमारे शास्त्रोंमें अषका उपयोग हुआ है। जिस प्रकार देवता ऋतके अधिपति माने जाते हैं, उसी प्रकार हमारे यजद (देवता) 'अषके सरदार' हैं। ईश्वरको प्राप्त करनेका एकमात्र मार्ग है 'अष हे पन्ताओ' **(ऋतस्य पन्थाः)**।

एक स्थानपर स्पष्ट लिखा हुआ है कि 'सर्वोत्तम अषकी सहायतासे, सर्वश्रेष्ठ अषकी सहायतासे हे ईश्वर ! हम तुझको देखें, तेरे पास पहुँचें, तेरे साथ मिल जायँ। यह अष (ऋत) जरथुस्त्रके धर्मका मूल आधार है और इस ऋतको जो समझता है उसको हमारे यहाँ रतु (ऋषि) के नामसे कहते हैं। यह ज्ञानमार्ग है। रतु अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानप्राप्त पुरुष। और ऐसे 'रतुओंके रतु' जगद्गुरु जरथुस्त्र हैं। जिस प्रकार गीतामें कहा गया है कि **'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'** उसी प्रकार यह अषका मार्ग (ज्ञानमार्ग) इस जरथोस्ती धर्मका मार्ग है।

२-परंतु बिना भक्तिके केवल ज्ञान मनुष्यको अहङ्कारके गड्ढेमें ढकेल देता है और इसलिये उस अहङ्कारको जीतनेके लिये प्रेम-भक्तिकी आवश्यकता है। उस भक्तिका एक स्वरूप (या सर्वोत्तम स्वरूप) सम्पूर्ण कर्म ईश्वरके प्रति समर्पण करना है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९। २७)

इसी प्रकार अहुनवरमें भी कहा गया है कि मनुष्यको 'जीवनके प्रभुका कार्य करनेवाला' बनना चाहिये और ऐसा करनेसे 'वोहु-मनो' (अच्छे मन) का पुरस्कार उसे प्राप्त होता है। 'वोहु-मनो' (अच्छा मन) मनकी विशुद्धि प्रदर्शित करता है। मनमेंसे अहङ्कार (मैं-तूँका भाव) दूर करनेके लिये 'वोहु-मनो' प्रकट होता है और उसके होनेपर सब जीवोंके प्रति प्रेमका उद्भव होता है। 'वोहु-मनो' प्रेमशक्ति प्रकट करता है और वह प्रेम केवल मनुष्योंके लिये ही नहीं, प्रत्युत सारे जीवोंके लिये है। 'वोहु-मनो' प्राणिमात्रके अधिष्ठाता हैं, खास करके गौ—पशु-रक्षा उनका प्रधान कर्तव्य माना जाता है।

३-उपर्युक्त ज्ञान तथा भक्ति दोनों मार्ग तो मनुष्यकी

१- ई॰स॰ २२८—६५१ तक।

२-'अष'का एक रूप 'अर्त' भी है। वह 'ऋत' के साथ मिलता है, यह तो स्पष्ट ही है।

अपनी सिद्धिके काम आते हैं। दोनों साधनोंसे मनुष्य अपना जीवन सार्थक कर सकता है, परंतु फिर भी पूर्ण मोक्ष तो उसे नहीं प्राप्त होता। पूर्ण मोक्षकी प्राप्तिके लिये तो ईश्वर (अहुरमजद)का सम्पूर्ण प्रभाव प्राप्त करना चाहिये। उसकी समानता प्राप्त करनी चाहिये। इसके लिये अहुरमजदका क्षश्र (क्षत्र) साधन करना चाहिये। यह साधना गरीब, लाचारोंका रक्षक बननेसे प्राप्त होती है। इसमें कर्ममार्ग स्पष्ट दिखायी देता है। हमारा धर्म इस मार्गपर विशेष जोर देता है और आज भी जरथोस्ती लोग (पारसी जाति) कर्म-योगमें आगे बढ़े हुए दिखायी देते हैं।

इस प्रकार ईश्वर-प्राप्तिके तीनों मार्ग—ज्ञान, भक्ति और कर्मका समानतापूर्वक साधन करनेसे ही मनुष्य मोक्षका अधिकारी बनता है, ऐसी अहुनवरकी शिक्षा है। इसी कारणसे यह मन्त्र परम पवित्र माना जाता है। ईश्वरने सृष्टिरचनासे पूर्व ही यह मन्त्र उच्चारण किया, ऐसा कहा जाता है अर्थात् इन नियमोंके आधारपर सृष्टिकी उत्पत्ति हुई और उनकी प्रगतिके लिये ये ही तीनों मार्ग नियत हुए।

एक जगह ऐसा लिखा है कि यदि कोई मनुष्य अहुनवरके मन्त्रका शुद्ध उच्चारण करके पाठ करे और उसका भावार्थ सम्पूर्णरूपसे समझे तो उसे दूसरे सब मन्त्रोंके पाठ करनेके समान ही पुण्यप्राप्ति हो। जिस प्रकारकी त्रिविध योगसाधना इस मन्त्रमें समाहित है उसे देखते हुए इस कथनमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है।

शाक्तागमोंमें योग

(श्रीवल्लभदासजी बिज्ञानी 'व्रजेश')

शक्तिकी उपासना करनेवालोंको शाक्त और उनके धर्म या मतको शाक्तमत कहा जाता है। इस मतमें सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी चिच्छक्तिको शक्तिके नामसे अभिहित किया गया है। इनकी काली, षोडशी, ललिता, भुवनेश्वरी, तारा आदि दशमहाविद्या एवं सीता, सावित्री, गायत्री आदि रूपोंमें भी उपासना की जाती है। शक्तिकी उपासना कई प्रकारसे होती है, इनमें अहिंसात्मक पद्धति, जिसमें किसी तामसी या अपवित्र वस्तुओंका प्रयोग नहीं होता, सर्वोत्तम है। जैसे सीता, राधा, ललिता आदिकी उपासना सर्वोत्तम पवित्र भावना एवं शुद्ध पदार्थोंसे होती है। इसी पद्धतिसे काली, तारा, त्रिपुरा आदिकी उपासना भी विशेष फलवती होती है। यह अहिंसात्मक पद्धति समयाचारके नामसे प्रसिद्ध है। वैष्णवोंकी शक्ति-उपासना-पद्धति भी श्रेष्ठ है। इन्हीं दोनोंका अनुसरण करना चाहिये। इसके विपरीत भावसे शक्ति-उपासना करनेपर भयंकर हानि होती है।

योगमार्गमें शक्ति-उपासना कुण्डलिनी-जागरणके नामसे प्रसिद्ध है। इसमें शिव-शक्तिका अद्भुत सामरस्य होता है। कुण्डलिनीको ही महाशक्ति, महादेवी माना गया है। यह जाग्रत् होनेपर ऋतम्भरा शक्ति या दिव्य ज्ञानको प्रकट कर देती है। उसकी दिव्य क्रीडा साधकको दिव्य ज्ञानसे सम्पन्न कर देती है और लोकोत्तर दिव्य आनन्द प्रदान करती है। देवी-देवताओंके सभी निर्देश परोक्षपूर्ण होते हैं और वे साधककी बड़े प्रयत्नसे सँभाल करते हैं। कुण्डलिनीकी सात्त्विक उपासना-विधि शारदातिलक, रुद्रयामलतन्त्र आदिमें दी गयी है। कुण्डलिनी-शतनाम, सहस्रनाम, स्तोत्र, कवच आदिके पाठसे साधक देवताओंके समान बन जाता है। विशेष उपासनाकी जानकारीके लिये उन ग्रन्थोंको देखना चाहिये और तदनुसार ही सात्त्विक एवं विनीतभावसे शक्ति-उपासनारूप योग-साधनमें प्रवृत्त होना चाहिये। कारुण्यका आधिक्य होनेसे माता अति शीघ्र ही पुत्रवत् साधकों एवं भक्तोंका परम कल्याण कर देती हैं।

वह परब्रह्म सबके मुखरूप, मस्तकरूप तथा ग्रीवारूप है, वह प्राणिमात्रकी हृदयरूपी गुहामें रहता है। वह सब वस्तुओंमें व्याप्त है, सबकी समृद्धिका दाता है।—उपनिषद्

उस परमपुरुष परमात्माको कुछ लोग विशुद्ध सूक्ष्म बुद्धिसे, कुछ ध्यानके द्वारा हृदयमें, कुछ ज्ञानयोगके द्वारा और कुछ लोग निष्कामकर्मयोगके द्वारा देखते हैं।—श्रीमद्भगवद्गीता

मुख्य आसन और उनसे लाभ

(स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी)

आर्य महर्षियोंने मानवके कल्याणके लिये अधिकारिभेदसे ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, मन्त्रयोग, राजयोग, हठयोग, लययोग प्रभृति अनेक मार्ग प्रवर्तित किये हैं। इन सब मार्गोंमें हठयोगके आसनादि साधनोंका किसी-न-किसी रूपमें प्रयोग करना ही पड़ता है। अतएव हठयोग सब प्रकारके योगोंका सहयोगी है। हठयोगके चार अङ्ग हैं—आसन, प्राणायाम, मुद्रा और नादानुसंधान। आसन ही प्रथम अङ्ग है। इसके अनेक प्रकार हैं। आसनोंके अभ्याससे नाडीसमूहकी मृदुता, सहनशीलताकी वृद्धि, शरीरकी लघुता, मनकी एकाग्रता और प्राणतत्त्वका ऊर्ध्वगमन होता है तथा शरीरके अनेक रोगोंकी निवृत्ति होती है।

विभिन्न आसनोंके विभिन्न परिणाम होते हैं। साधककी प्रकृतिके अनुसार उसके लिये जो आसन अनुकूल हो, उसे मुख्य और दूसरोंको गौण जानना चाहिये। मुख्य आसनोंका अभ्यास तो सदाके लिये किया जाता है, परंतु गौण आसन मलादि दोषोंकी निवृत्तिके लिये किसी अवधिविशेषतक ही किये जाते हैं। आसनोंसे जहाँतक रोग-निवृत्तिका सम्बन्ध है वहाँतक बाल, वृद्ध, युवा, स्त्री-पुरुष सभी इनके अधिकारी हैं। परंतु यदि प्राणायाम आदिके द्वारा राजयोगमें प्रवेश करना हो तो वैसी स्थितिमें आसनके अधिकारी केवल मुमुक्षु ही हो सकते हैं। प्रथम कोटिके अधिकारीकी अपेक्षा मुमुक्षुको आसनोंके अभ्यासमें अधिक दृढ़ता तथा नियमबद्धताका पालन करना पड़ता है।

योगाभ्यास एकान्त और पवित्र स्थानोंमें करना चाहिये, जहाँ किन्हीं जीव-जन्तुओंका उपद्रव तथा कोलाहल न हो। योगाभ्यासके समय प्रबल वायुके झोंकेसे बचना चाहिये और निश्चल मनसे पहले आसनकी क्रिया करनी चाहिये। आसनोंके अनेक प्रकार हैं, परंतु यहाँ शास्त्रानुसार कुछ अत्यन्त उपयोगी आसनोंका वर्णन किया जाता है।

१-सिद्धासन—८४ आसनोंमें सिद्धासन सर्वोत्तम माना जाता है। योनिस्थान (गुदा और मूत्रेन्द्रियके मध्यभाग) में वाम पादकी एड़ीको रखे और दाहिने पादको इस प्रकार सावधानीसे मूत्रेन्द्रियपर रखे कि मूत्रेन्द्रिय और वृषणको बाधा न पहुँचे और दोनों पैरोंके अग्रभाग जानु और ऊरुके मध्यमें रखे। इसे ही सिद्धासन कहते हैं। इस आसनका अभ्यास करते समय हनु (ठोडी) को कण्ठके नीचेके भागमें लगाये। इसे जालन्धरबन्ध कहते हैं। गुदाके ऊपर आधारचक्रसे अपानतत्त्वका आकर्षण करे—इसे मूलबन्धकी क्रिया कहते हैं। दृष्टि भ्रू-स्थानमें रखे, परंतु त्राटकका अभ्यास एक घंटेसे अधिक बढ़नेपर ही इस अभ्यासको करे, अन्यथा दृष्टि निर्बल हो जायगी। दोनों हाथोंको सीधा जानुओंपर रखे। परंतु तर्जनीको मोड़कर अंगुष्ठमूलमें लगाये, शेष तीन अँगुलियोंको भी थोड़ा मोड़ दे। इससे प्राणतत्त्व हाथोंसे बाहर नहीं जा सकेगा।

प्राणायामादि अन्य साधनोंका अभ्यास न करके भी साधक यदि बारह वर्षतक नियमपूर्वक आत्मानुसंधानके साथ मौन रहकर सिद्धासनका अभ्यास करे तो वह चित्तवृत्ति-निरोधरूप योगसिद्धि प्राप्त कर सकता है। प्रातः-सायं दोनों कालमें इस आसनका साधन किया जा सकता है और बढ़ाते-बढ़ाते एक वर्षमें बारह घंटेतक लगातार बैठनेका अभ्यास हो जाता है। इस आसनपर बैठनेपर सुषुम्ना नाडी स्वभावतः सीधी रहती है और प्राणापानकी क्रिया नियमित हो जाती है और नाडी-मलका शोधन होता है। प्राणतत्त्व सहज ही ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होने लगता है, जिससे मनके निरोधमें सफलता मिलती है।

इस आसनसे फुफ्फुस और हृदयको बलवान् बनाते हुए स्वयं ही श्वासोच्छ्वासकी क्रिया दीर्घ होने लगती है और आन्त्रगति भी वृद्धिको प्राप्त होती है। पाचनक्रिया नियमित हो जाती है और कास, श्वास, प्रतिश्याय (जुकाम), हृदयरोग, प्लीहावृद्धिजनित ज्वर, जीर्ण ज्वर, अजीर्ण, अतिसार, प्रवाहिका (पेचिश), स्वप्नदोष, शुक्रनिर्बलता, बहुमूत्र, मूत्रकृच्छ्र आदि रोग नष्ट हो जाते हैं। संन्यासियों और त्यागियोंके लिये यह आसन बहुत ही कल्याण कारक है।

२-गुप्तासन—जिस साधकका वृषणस्थान दोषपूर्ण हो, जिसे कटिवात या भगंदर रोग हो और इस कारण जो सिद्धासन न कर सके, उसके लिये गुप्तासन बहुत ही उपयोगी होता है। इसके गुण सिद्धासनके समान ही होते हैं। क्रिया इस प्रकार है—लिङ्गके ऊपर वाम पादके गुल्फको रखे और उसके ऊपर दक्षिण गुल्फको रखकर स्थिर बैठ जाय। पादके अग्रभाग, ठोडी, दृष्टि, हाथ आदि अङ्गोंको सिद्धासनके ही अनुसार रखे। इसे ही गुप्तासन कहते हैं। दाहिने पैरको स्वाधिष्ठानचक्रपर रखनेसे उड्डीयानबन्ध हो जाता है और उड्डीयानबन्धका साधन सिद्धासनकी अपेक्षा गुप्तासनमें कहीं अधिक अनुकूल होता है। परंतु आधारचक्रपर बाहरसे दबाव न पड़नेके कारण सुषुम्नाके नीचेके भागका जहाँसे कुण्डलिनीशक्ति ऊपर उठती है, शोधन नहीं होता। सिद्धासनके अन्य सभी फल इस आसनद्वारा प्राप्त होते हैं।

३-मुक्तासन—दक्षिण और वाम दोनों पैरोंकी एड़ियोंको मिलाकर वृषण और गुदाके मध्यमें रखे और दृष्टि, जालन्धरबन्ध, हाथोंकी स्थिति आदि सिद्धासनके समान ही रखे। यही मुक्तासन कहलाता है। इस आसनका अभ्यास करते समय प्रारम्भमें पैरोंकी नसें खिंचती हैं और पैर भलीभाँति जमीनपर नहीं बैठते। परंतु थोड़े दिनोंके अभ्याससे यह कठिनाई दूर हो जाती है। मुक्तासनका अभ्यास कर लेनेके बाद सिंहासन, भद्रासन और पश्चिमतानासनके अभ्यासमें सरलता होती है। इस आसनसे नाड़ियाँ मुलायम होती हैं। मूलबन्धके प्रारम्भिक साधनमें यह आसन बहुत हितकर होता है।

४-भद्रासन—योनिस्थानके दोनों ओर दोनों पैरोंकी एड़ियोंको रखे, दक्षिण भागमें दक्षिण एड़ी और वाम भागमें वाम एड़ी, यही भद्रासन है। मुक्तासनमें पैरोंका अग्रभाग आगे रहता है परंतु इस आसनमें वह पीछेकी ओर मुड़ा रहता है। इस आसनको गोरक्षासन भी कहते हैं। इस आसनमें स्थित होकर दोनों हाथोंसे पीठकी ओर निकले हुए पैरोंके अग्रभागको पकड़े और दृष्टि नासिकाके अग्रभागपर रखे।

इस आसनसे पैरोंकी नसें शीघ्र मुलायम हो जाती हैं और मूलबन्ध सहज ही लग जाता है। इसके अभ्याससे मलावरोधसे उत्पन्न व्याधियाँ तथा वातव्याधि दूर होती है। आम, कफ और मेदवृद्धिके रोगियोंको भी इससे बहुत लाभ होता है। अपान-तत्त्वको ऊर्ध्वगामी बनानेमें भी यह आसन सहायक होता है।

५-सिंहासन—योनिस्थानमें दक्षिण तरफ वाम गुल्फ रखे और उसके ऊपर वाम पार्श्वमें दक्षिण गुल्फको रखे, दो हाथोंकी अँगुलियोंको फैलाकर घुटनेपर रखे और मुख खु रखे। दृष्टि भ्रूमध्यमें रखे। इसे सिंहासन कहते हैं।

इस आसनके अभ्याससे उपर्युक्त तीनों बन्धोंकी सहज सिद्धि होती है। जालन्धरबन्ध बिगड़नेपर इस आसन अभ्यास बहुत ही हितकर होता है। नाड़ियोंको मुलायम कर कुण्डलिनीके जाग्रत् करनेमें यह आसन सहायता पहुँचाता है शरीरके ज्ञानतन्तुको बलवान् करता है, उदरवातका शम करता है। इससे आन्त्रकी निर्बलता दूर होती है, पाचनशक्ति बलवान् होती है और मलावरोधजनित रोग दूर होते हैं।

६-स्वस्तिकासन—दोनों ओरके जानु और जंघा बीचमें दोनों पादतलोंको रखकर स्थिर बैठनेको स्वस्तिकास कहते हैं। इस आसनमें बायाँ पैर नीचे रखे और दाहिना पै ऊपर। शारीरिक अस्वस्थतामें दूसरे आसनोंके अनुपयोग होनेपर यही आसन लाभप्रद होता है। निर्बल मनुष्य इस आसनपर अधिक देरतक आसानीसे बैठ सकता है।

७-पद्मासन—पहले बायीं जाँघके ऊपर दाहिने पैरक रखे, फिर बायें पैरको दाहिनी जाँघपर रखे। यही पद्मासन है। परंतु प्राचीन सम्प्रदायके अनुसार पहले बायाँ पैर रखे और उसके ऊपर दाहिना पैर रखे। इन दोनोंमेंसे अपनी प्रकृतिके अनुसार जैसा ठीक हो वैसा करे। दोनों एड़ियोंको नाभिके दोनों पार्श्वोंमें अच्छी रीतिसे लगा ले और दोनों जानु जमीनसे लगे रहें तथा पृष्ठभागसे दोनों हाथोंको ले जाकर बायें हाथसे बायें पैरके अँगूठेको और दाहिने हाथसे दाहिने पैरके अँगूठेको पकड़े। जालन्धरबन्ध लगाकर दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर रखे।

इस आसनके अभ्यासके साथ जिह्वाग्रको उलटकर जिह्वामूलमें ले जाय, इससे खेचरीमुद्रा सिद्ध होती है तथा मूलबन्ध भी स्वभावतः ही लग जाता है, और आधारचक्रका शान्तिपूर्वक संकोच-विकास करते हुए अपानतत्त्वको ऊपर आकर्षित करनेसे वह दृढ़ हो जाता है। इससे कुण्डलिनीशक्ति जाग्रत् होती है।

इस आसनसे सुषुम्ना नाडी सीधी रहती है, फुफ्फुसोंकी

श्वासोच्छ्वासक्रिया नियमित रीतिसे होने लगती है। इसी कारण प्राणायामके अभ्यासमें अन्य आसनोंकी अपेक्षा यह आसन श्रेष्ठ माना जाता है। इसके अभ्याससे हृदय और फुफ्फुसकी निर्बलता, उदररोग, मलावरोधजनित रोग, रक्त-विकार, चर्मरोग, कटिवात, उदरवात, गृध्रसी, आमवात, कास, श्वास, जीर्णज्वर, यकृत्-विकृति, प्लीहा-विकृति आदि रोग दूर होते हैं। इस आसनके अभ्यासमें अधिक चलना हानिकर होता है।

८-कुक्कुटासन—पद्मासन लगाकर दोनों हाथोंको घुटनों और जंघाओंके मध्यसे नीचेकी ओर निकालकर जमीनपर रखे और हाथोंके दोनों तलोंके आधारपर पद्मासन लगे हुए शरीरको ऊपर उठाये। इस कुक्कुटके समान स्थितिको ही कुक्कुटासन कहते हैं।

अन्त्रकी निर्बलताके कारण दुष्ट अपान वायु जो अन्त्रमें उत्पन्न होकर उदरको फुलाता और मलावरोध करके स्वप्नदोष कराता है, उसकी उत्पत्ति इस आसनके अभ्याससे रुक जाती है। लघु अन्त्र बलवान् हो जाते हैं, बृहद् अन्त्रमें भी मलको शीघ्र गति मिलती है। बाहुकी नसें और मांसग्रन्थि दृढ़ होती हैं। सुषुम्नाका मुख खुल जाता है और अपानतत्त्व ऊर्ध्वगमन करने लगता है।

९-पश्चिमतानासन—दोनों पैरोंको दण्डके समान सीधा फैला दे और दोनों एड़ियोंको एक साथ मिला ले। फिर दोनों हाथोंकी तर्जनीके द्वारा पैरोंके अँगूठोंको पकड़कर ललाटको घुटनोंपर रखे। घुटनोंको जमीनसे उठने न दे। इस आसनके अभ्यासमें पहले पैरोंको फैलाकर हाथको लम्बा करके शरीरको बार-बार पैरोंकी ओर झुकाना पड़ता है। प्रतिदिन आधा घंटा अभ्यास करनेसे आठ-दस दिनोंमें आसन लग जाता है। पीछे धीरे-धीरे इस आसनकी अवधिको बढ़ाना चाहिये।

इस आसनसे नसें मलरहित होकर मृदु बनती हैं, जठराग्नि प्रदीप्त होती है। कफ, आम और मेद जल जाता है। नौलिक्रिया करनेमें बहुत सहायता मिलती है। मन्दाग्नि, मलावरोध, अजीर्ण, उदररोग, कृमिविकार, प्रतिश्याय, वातविकार आदि रोग इससे दूर होते हैं। इसके अभ्याससे सुषुम्ना नाडीमेंसे प्राणतत्त्व मस्तिष्कमें पीछेकी ओरसे आने लगता है। यही पश्चिममार्गगमन कहलाता है और इसी कारण इसे पश्चिमतानासन कहते हैं। सिद्धासन, पद्मासनादि आसनोंमें पूर्व-पश्चिम दोनों मार्गोंपर समान असर पड़ता है। भ्रूमध्यसे होकर प्राणतत्त्वके ऊर्ध्व सहस्रदलकमलमें गति करनेको पूर्वमार्ग कहते हैं। दोनों मार्गोंकी अपेक्षा एक ही मार्गपर सारी शक्तिका प्रयोग होनेसे सफलता शीघ्र मिलती है। इसी कारण यह आसन योगमार्गमें बहुत ही लाभदायक माना जाता है।

१०-मयूरासन—दोनों हाथोंके तलोंको एक साथ जमीनपर रखे और दोनों कूर्पर (केहुनी) को नाभिके पास लगाकर दण्डके समान शरीरको धारणकर ऊपर उठा ले, इस आसनको मयूरासन कहते हैं। अन्य आसनोंके अभ्याससे नाड़ी-समूहके मुलायम होनेपर ही इस आसनका अभ्यास करना चाहिये। अन्त्रके कठोर होनेपर मयूरासनका अभ्यास करनेसे उदरमें दर्द होने लगता है और वह बढ़कर अन्त्रमें शोथ उत्पन्न करके नाना रोगोंको पैदा करता है।

इस आसनसे गुल्म, उदररोग, त्वचादोष, कटिवात, कफवृद्धि, कास, श्वास आदि रोग दूर होते हैं। वस्तिक्रिया करनेके पूर्व पाँच-सात मिनटतक इस आसनका कर लेना बहुत ही हितकर होता है।

११-शीर्षासन—पहले जमीनपर एक मुलायम गोल लपेटा हुआ वस्त्र रखकर उसपर अपने मस्तकको रखे, फिर दोनों हाथोंके तलोंको मस्तकके पीछे लगाकर शरीरको उलटा ऊपर उठाकर सीधा खड़ा कर दे। इसे शीर्षासन कहते हैं। इसमें सिर नीचे और पैर ऊपर होता है, अतः इसे विपरीत-करणीमुद्रा भी कहते हैं। कोई-कोई शीर्षासनको कपाली नामसे भी पुकारते हैं। इस आसनको पहले एक-दो मिनट करे, फिर बढ़ाते-बढ़ाते एक घंटातक कर ले। जिस साधकके शरीरमें त्रिधातु सम हो, जो बलवान् और युवा हो, उसके लिये शास्त्रकारोंने इस आसनका अभ्यास बढ़ाकर तीन घंटेतक करनेको लिखा है। परंतु यह अवधि जिज्ञासुओंके लिये ही है। आरोग्यता प्राप्त करनेके लिये एक घंटेसे अधिक यह आसन करना ठीक नहीं होता।

इस आसनमें पैरोंकी ओरसे रक्तका प्रवाह मस्तिष्ककी ओर होने लगता है। इसलिये इस आसनकी क्रिया समाप्त होनेपर आध घंटेतक शवासन करना चाहिये, जिससे रक्तकी गति सम हो जायगी। इस प्रकारके रक्तके आवागमनसे

रक्ताभिसरणकी क्रिया बलवान् होती है। मलदोष नष्ट होता है, प्राणतत्त्व सुषुम्नाके द्वारा मूलाधारचक्रकी ओर जानेके लिये प्रयत्न करता है और पुनः रक्ताभिसरणके द्वारा मस्तिष्कमें जानेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार बिना प्राणायामके ही कुण्डलिनीशक्ति जाग्रत् हो जाती है। नाद जोरसे उठने लगता है और मनको एकाग्रता प्राप्त होती है।

इस आसनका तीन घंटेतक नियमपूर्वक छः मासपर्यन्त अभ्यास करनेसे वात, पित्त और कफदोषसे उत्पन्न सब रोग, ज्वर, कास, श्वास, उदररोग, कटिवात, अर्धाङ्ग, ऊरुस्तम्भ, वृषणवृद्धि, नाडीव्रण, भगंदर, कुष्ठ, पाण्डु, कामला, प्रमेह, अन्त्रवृद्धि आदि रोग दूर हो जाते हैं। परंतु इस आसनका अभ्यास करते हुए घी और दूधका पर्याप्त सेवन करना चाहिये, अन्यथा इस विपरीतकरणी-मुद्रासे विपरीत ही फलकी प्राप्ति होती है।

जिनका मस्तिष्क निर्बल और उष्ण रहता है, नेत्र सदा लाल रहते हैं, जिन्हें उरःक्षत, क्षय, हृदयकी गतिवृद्धि, नवज्वर, श्वास-रोगका तीक्ष्ण प्रकोप, ऊर्ध्व रक्त-पित्त, वमन, हिक्का, उन्माद, निद्रानाश आदि रोग हों, उन्हें शीर्षासन बहुत ही हानिकर होता है। शीर्षासनका अभ्यास प्रातःकाल भोजन करनेके पहले ही करना चाहिये। भोजनके पश्चात् या रात्रिमें इसका अभ्यास करना हानिकर होता है। प्रातःकाल भी एक समय दो बार अभ्यास नहीं करना चाहिये। इस आसनमें मस्तिष्क बहुत तप जाता है, इसलिये सात्त्विक आहारद्वारा मस्तिष्ककी उष्णताको दूर करना चाहिये। इस आसनके करनेके बाद आधे घंटेतक विश्राम करना चाहिये। तुरंत ही मुख-हाथ धोना, शीतल जलसे स्नान करना, खुली वायुमें घूमना बहुत ही हानिकारक होता है। केवल शवासनमें लेटकर नादानुसंधान करना चाहिये। शौच जानेके पहले और स्नानके बाद शीर्षासन नहीं करना चाहिये। प्राणायामके अभ्यासके बाद भी शीर्षासन हानिकर होता है। हाँ, शीर्षासनके पहले अन्य आसनोंका अभ्यास किया जा सकता है।

करती है तथा रक्त-संचयको दूर करनेमें बाध इसमें शवासन लगाना या शरीरको शिथिल कुर्सीपर पड़े रहना अधिक लाभदायक होता समय भोजन करनेसे वह कुपित होकर विशेष जाता है।

इस आसनका अभ्यास करते समय बार-ऊपर उठाना भी बहुत हानिकर होता है, क्योंकि मस्तिष्ककी शिराओंके फट जानेका भय रहता फटनेसे मृत्युतककी आशङ्का हो जाती है। अत संचित हो जानेपर ऐसी कोई भी क्रिया नहीं कर मस्तिष्ककी शिराको आघात पहुँचाये।

यदि कोई बूढ़ा जिज्ञासु भी शीर्षासनक अभ्यास करे तो एक वर्षके बाद उसके सिरके काले होने लगेंगे। शारीरिक निर्बलता दूर होने नीरोग और तेजस्वी हो उठेगा। जो साधक अधिकारी न हो वह यदि शीर्षासनका नियमित तो वह भी सहज ही राजयोगमें प्रवेश कर सके

इस आसनसे स्वभावतः ही तीनों बन्ध अपानतत्त्व पश्चिममार्गसे मस्तिष्कमें गमन करने

१२-मत्स्येन्द्रासन—बायीं जंघाके मूलमें रखे। दाहिनी एड़ीको नाभिस्थानमें या उससे कुछ लगाये। पैरका अग्रभाग जंघापर रखे। पीछे पं बायें हाथको लाकर एड़ीसे तीन इंच आगे पकड़े। हाथका अँगूठा जानुकी ओर रहेगा अ एड़ीकी ओर रहेगी। पीछे बायें पैरको दक्षिण बाहर निकाले। तब बायें पैरका घुटना हृदयके सम प्रतीत होगा तथा बायें पैरके तलका अग्रभाग थो घुटनेके नीचे लगता रहेगा। मुखको दाहिनी ओर दृष्टिको भ्रूमध्यमें स्थिर रखे। इस आसनको कहते हैं।

और बायें हाथको दाहिने पैरके पीछेसे निकालकर दाहिने पैरके अँगूठेको पकड़े। मुखको बायीं ओर घुमा ले, दृष्टि भ्रूमध्यमें रखे। इसकी सारी क्रियाएँ पहली रीतिके विपरीत होती हैं।

उपर्युक्त दोनों रीतियोंसे समान समयतक अभ्यास करे। केवल एक ही रीतिसे अभ्यास करना हानिकर होता है। पश्चिमतान, मयूरासन आदि आसनोंसे नाडी-समूहको मुलायम बनानेके बाद इस आसनका अभ्यास करना चाहिये। इसका अभ्यास बहुत कठिन है, परंतु फल भी बहुत ही दिव्य होता है। प्रातः-सायं एक-एक घंटेतक नित्य अभ्यास करनेसे एक ही वर्षमें नाडियोंके सम्पूर्ण मलदोष और त्रिधातुजनित सारे रोग जलकर भस्म हो जाते हैं और दसवें समुद्रनादके खुल जानेसे मनोवृत्ति एकाग्र हो जाती है। इस आसनके अभ्याससे बिना प्राणायामके ही कुण्डलिनी जाग्रत् हो उठती है और जठराग्नि प्रदीप्त होती है। अन्त्र, पार्श्वभाग और मूत्राशयका संकोच होता है और ज्ञानतन्तु अधिकाधिक बलवान् होने लगते हैं। इससे अतिसार, ग्रहणी, मलावरोध, रक्तविकार, कृमि, श्वास, कास, वातरोग, मेदवृद्धि, अन्त्रवृद्धि तथा रस-रक्तादि सप्त धातुओंकी विक्रिया दूर होकर स्वास्थ्यकी प्राप्ति होती है।

३०-शवासन—भूमिपर शवके समान चित लेटे रहना, दोनों पैरोंके अग्रभागको मिलाकर ऊपर रखना, पैरकी अँगुलियोंको ऊपर सीधा रखना और हाथोंको सीधा पैरोंकी ओर बढ़ाकर छोड़ देना तथा सारे अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको शिथिल कर देना शवासन कहलाता है।

आसन अथवा प्राणायामके पश्चात् नाडियोंके क्षोभको शमन करके शान्त करनेके लिये इस आसनका उपयोग होता है। साधकको प्रतिदिन अभ्यासके पश्चात् शवासनके द्वारा आधा घंटा विश्राम करना चाहिये। शवासनमें नसें सीधी रहती हैं और रक्ताभिसरणक्रिया प्रकृतिके अनुकूल होने लगती है। प्राणतत्त्व मस्तिष्ककी ओर गति करने लगता है, जिससे मन शान्त हो जाता है।

यौगिक व्यायाम एवं कुछ सामान्य नियम

[मुख्य योगासन]

१-स्वस्तिकासन—बायाँ पाँव बायीं जंघाकी ओर फेरकर एड़ीको सीवनीकी दायीं ओर इस प्रकारसे रखे कि बायें पाँवकी तली दायीं जाँघके साथ लगी रहे। पश्चात् दायाँ पाँव दायीं जंघाकी ओर फेरकर एड़ीको सीवनीकी बायीं ओर इस प्रकारसे रखे कि दायें पाँवकी तली बायीं जाँघके साथ लगी रहे। दायें पाँवकी अँगुलियाँ बायीं जंघा तथा पिंडलीके बीच अच्छी प्रकारसे डाल दे । उसी प्रकार बायें पाँवोंकी अंगुलियाँ दायीं जंघा तथा पिंडलीके बीच अच्छी प्रकारसे डाल दे। हाथोंको उलट कर घुटनोंपर रखे। अथवा ज्ञानमुद्रा करे, जिसकी विधि इस प्रकार है—दोनों हाथोंकी कलाईको दोनों घुटनोंपर रखकर तर्जनी अर्थात् अँगूठेके पासकी अंगुली तथा अँगूठेको एक दूसरेकी ओर फेरकर दोनोंके सिरे आपसमें मिला दे और शेष अँगुलियाँ सीधी फैलाकर रखे। अथवा बायाँ हाथ एड़ियोंके ऊपर सीधा रखकर उसी प्रकार दायाँ हाथ उसके ऊपर रखे। आँखें बंद कर ले अथवा यदि नासाग्रदृष्टिका अभ्यास करना हो तो नासिकाके अग्रभागपर दृष्टिको स्थिर करे और यदि भ्रूमध्यदृष्टिका अभ्यास करना हो तो भ्रूमध्यमें दृष्टिको स्थिर करे। इसका नाम स्वस्तिकासन है। इस आसनकी विधिमें दायें पाँवके स्थानपर बायें पाँवका तथा बायें पाँवके स्थानपर दायें पाँवका उपयोग भी किया जाता है।

२-समासन—बायाँ पाँव बायीं जंघाकी ओर ले जाकर उसकी एड़ी उपस्थेन्द्रियके ऊपर अर्थात् जंघास्थिपर रखे। पश्चात् दायाँ पाँव दायीं जंघाकी ओर ले जाकर उसकी एड़ी बायें पाँवकी एड़ीके ऊपर जंघास्थिके साथ इस प्रकार लगाकर रखे कि बायें पाँवकी अँगुलियाँ दायें पाँवकी पिंडली तथा जंघाके बीच आ जायँ, पश्चात् उसी प्रकार दायें पाँवकी अँगुलियाँ बायें पाँवकी पिंडली तथा जंघाके बीच डाले। हाथ और नेत्र स्वस्तिकासनके समान रखे। इस आसनमें भी दायें-बायें पाँवका हेर-फेर किया जा सकता है।

३-पद्मासन—दायाँ पाँव दायीं जंघाकी ओर ले जाकर उसको इस प्रकार दायीं जंघापर रखे कि उसकी एड़ी पेटके बायें भागके मध्य कोनेको स्पर्श करे। उसी प्रकार बायें पाँवको

उसीकी जंघाकी ओर ले जाकर उसकी एड़ीको दायीं जंघापर इस प्रकारसे रखे कि पेटके दायें भागके निचले कोनेको स्पर्श करे। इसको पदबन्ध कहते हैं। पश्चात् हाथोंको स्वस्तिकासनके समान एड़ियोंपर सीधे रखने, नासाग्रदृष्टि करने, ठोड़ीको छातीके ऊपरके हिस्सेमें दबाकर जालन्धरबन्ध करने तथा गुदाका संकोचकर मूलबन्ध करनेसे पद्मासन होता है।

४-सिद्धासन—बायाँ पाँव उसकी जंघाकी ओर ले जाकर एड़ीको सीवनी अर्थात् गुदा और उपस्थेन्द्रियके बीच इस प्रकारसे दबाकर रखे कि बायें पाँवका तल दायें पाँवकी जंघाको स्पर्श करे। इसी प्रकार दायाँ पाँव उसी जंघाकी ओर ले जाकर एड़ीको जंघास्थि अर्थात् उपस्थेन्द्रियके ऊपर इस प्रकारसे दबाकर रखे कि दायें पाँवकी अँगुलियाँ बायें पाँवकी पिंडली तथा जंघाके बीच आ जायँ। पश्चात् उसी प्रकार बायें पाँवकी अँगुलियाँ दायें पाँवकी पिंडली तथा जंघाके बीच अच्छी प्रकार डाले और उपस्थेन्द्रिय तथा अण्डकोशोंको दायें पाँवके नीचे ठीक प्रकारसे रखे। ज्ञानमुद्रा तथा जालन्धरबन्ध करे, भ्रूमध्यदृष्टि रखे। इसका नाम सिद्धासन है।

५-उड्डीयान (खड़े होकर)—दोनों पाँवोंके बीच अन्तर छोड़कर खड़ा हो जाय, थोड़ा-सा आगे झुके और घुटनोंको भी थोड़ा टेढ़ा करे, हाथ जाँघोंपर रखे, पेटकी (स्नायुओं) नसोंको अच्छी प्रकार अंदर सिकोड़कर पूर्ण रेचक करे अर्थात् सब श्वासको पूर्णतया बाहर निकाल दे तथा बाह्य कुम्भक करे अर्थात् श्वासको अंदर मत ले। अब ऐसी अवस्थामें ही जिस प्रकार श्वास लेते समय पसलियाँ ऊपर उठती हैं तथा पेटकी (स्नायु) नसें शिथिल पड़ जाती हैं, उसी प्रकार श्वास अंदर न लेते हुए पसलियोंको ऊपर उठाये तथा पेटकी (स्नायुओं) नसोंको ढीला छोड़ दे। ऐसी अवस्थामें पेट अंदरकी ओर सिकुड़कर गोलाकार हो जायगा। यही खड़े होकर उड्डीयान करनेकी विधि है।

६-उड्डीयान (बैठकर)—पद्मासनमें बताये-अनुसार पदबन्ध करे तथा हाथ घुटनोंपर रखकर थोड़ा आगे झुके और अंदरकी ओर सिकुड़कर गोलाकार हो जायगा उड्डीयान करनेकी विधि है।

७-नौलि (मध्यम)—खड़े होकर उड्डीया ही तत्काल जंघास्थिके ऊपरी भागको (पेटके नि नीचे दबानेवाला तथा आगे ले जानेवाला इस दे कि जिससे पेटके आस-पासके स्नायु अं मध्यके स्नायु अर्थात् नल बाहर निकल आ हाथोंसे घुटनोंपर जोर डाले। ऐसी अवस्थामें स्नायु अर्थात् नल इकट्ठे होकर आस-पासके स्ना हुए दीखेंगे, इसीका नाम मध्यम नौलि है।

८-दक्षिणनौलि—मध्यम नौलिकी अव शरीरको दायीं ओर अधिक परिमाणमें आगे फे दायीं जंघापर अधिक जोर डाले तथा उसी सम भागको ढीला छोड़े। ऐसा करनेसे पेटका दायाँ नल सिकुड़कर आगे तथा दायीं ओरके कोनेमें तथा पेटका बायाँ स्नायु अर्थात् नल ढीला इसीको दक्षिणनौलि कहते हैं।

९-वामनौलि—मध्यम नौलिकी अवस्थ शरीरको बायीं ओर अधिक परिमाणमें आगे हाथसे बायीं जंघापर अधिक जोर डाले तथा उसी दायें भागको ढीला छोड़े, ऐसा करनेसे पेटका अर्थात् नल सिकुड़कर आगे तथा बायीं तरफके जायगा और पेटका दायाँ स्नायु ढीला पड़ जायगा वामनौलि है।

१०-सिंहासन—पाँवोंको लंबा करके मिलाकर बैठे। बायाँ पाँव उसी जंघाकी ओर नितम्बके नीचे इस प्रकारसे रखे कि उसका तला रहे। इसी प्रकार दायाँ पाँव उसी जंघाकी ओर पाँवके नितम्बके नीचे इस प्रकारसे रखे कि ऊपरकी ओर रहे। इतना हो जानेपर आपको यह कि हम पाँवोंकी एड़ियोंके ऊपर बैठे हैं। हाथोंक

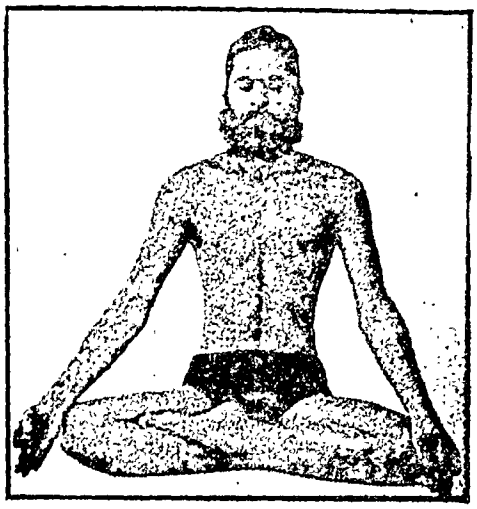

(१) स्वस्तिकासन

(२) समासन

(३) पद्मासन

(४) सिद्धासन

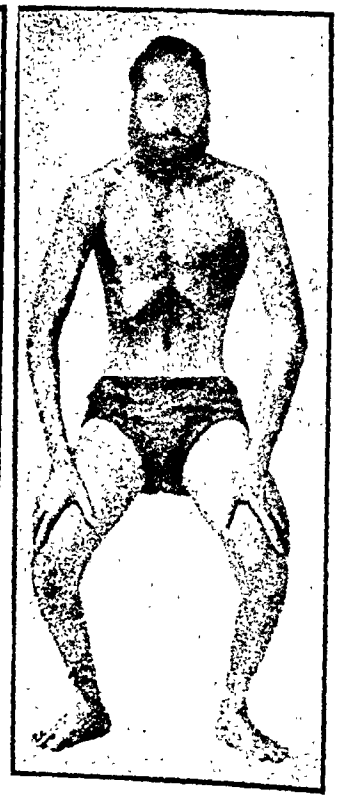

(५) खड़े होकर उड्डीयान

(६) बैठकर उड्डीयान

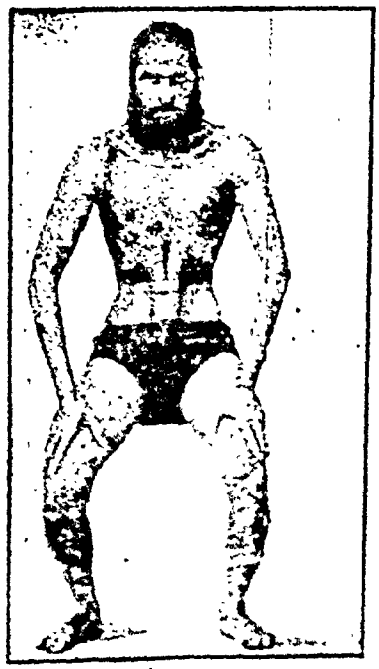

(७) नौलि (मध्यम)

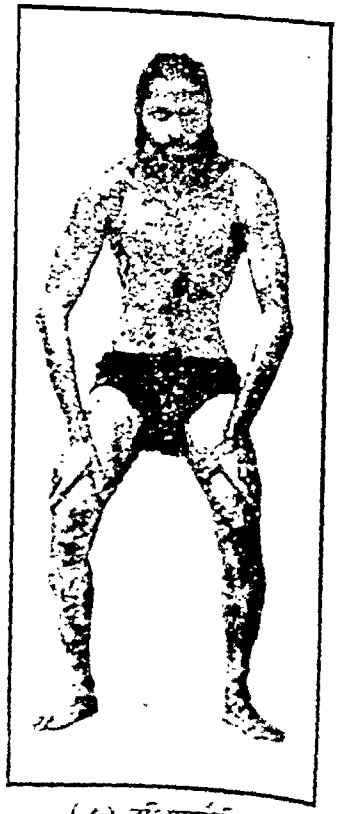

(८) दक्षिणनौलि

सिंहासन है। इस आसनमें पाँवका अदल-बदल भी किया जा सकता है।

११-वज्रासन—पाँवोंको लंबाकर परस्पर मिलाकर बैठे, पश्चात् दोनों पाँवोंको घुटनोंमें फिराकर नितम्बके दोनों ओर इस प्रकारसे लगाकर रखे कि उनकी तलियाँ ऊपरकी ओर रहें। पश्चात् घुटनोंको एक दूसरेके समीप ले जाकर उनपर हाथोंको उलटा करके रखे। आँखें बंद कर ले। इसे वज्रासन कहते हैं।

१२-शीर्षासन—दोनों पाँवोंको अँगुलियोंके भार भूमिपर टेककर उनकी एड़ियोंके ऊपर नितम्बोंको रख दे तथा घुटने टेककर बैठ जाय। अब दायें हाथकी अँगुलियाँ बायें हाथकी अंगुलियोंमें डालकर अंगुलिबन्ध करे और अंगुलिबन्धको 'शीर्ष' की कल्पना कर दोनों हाथोंके मध्य साठ अंशका कोण बनाये, अंगुलिबन्धके बिलकुल सामने सिरके ऊर्ध्व भागके पिछले हिस्सेको टेके। अब घुटनोंको ऊपर उठाते हुए पाँवोंकी अँगुलियों और जाँघोंको शरीरके पास ले जाय। पश्चात् पाँवोंको जंघाओंके साथ लगाकर तथा जंघाओंको पेट और छातीके साथ लगाकर सब शरीरको सिरके भार उठाये। अब जंघाओंको ऊपर उठाकर सिरसे लेकर जाँघोंतक सब शरीरको एक सीधमें ले आये। अब पाँवोंको ऊँचा करे तथा सारे शरीरको लंबी रेखामें सीधा ले जाय। यही शीर्षासन कहलाता है।

१३-सर्वाङ्गासन—चित लेट जाय तथा हाथोंको शरीरके साथ लगाकर लंबा रखे। पाँवोंको तीस अंशका कोण बननेतक ऊपर उठाये। ऐसी स्थितिमें कुछ क्षण रुककर पाँवोंको फिर उठाये और साठ अंशका कोण बनाये। फिर कुछ क्षण रुककर और ऊपर उठाये तथा नब्बे अंशका कोण बनाये। पुनः रुककर धीरे-धीरे बाहु तथा कोहनियोंका सहारा लेकर सिरके अतिरिक्त बाकी सब शरीरको लंबी सीधमें खड़ा रहनेतक ऊपर उठाये। अब कोहनीपर्यन्त हाथोंको ऊपर उठाये तथा पीठकी ओरसे सहारा देकर उनको सारे शरीरका आधार बनाये। इसे सर्वाङ्गासन कहते हैं।

१४-१५-अर्धमत्स्येन्द्रासन—पाँवोंको परस्पर मिलाकर तथा लंबा करके बैठे। दायाँ पाँव घुटनोंमें मोड़कर उसकी एड़ी सीवनीके बीच लगाकर रखे, अब बायें पाँवको घुटनेमें मोड़कर दायें पाँवकी जंघाके साथ बाहरकी ओर खड़ा रखे। शरीरको बायीं ओर फिराये तथा दायें हाथको बायें घुटनेके बाहरसे ले जाकर उससे बायें पाँवको पकड़े। अब शरीरको और अधिक बायीं ओर फिराये तथा सिरको भी ठोड़ीके बायें कंधेपर आनेतक बायीं ओर ले जाय और बायाँ हाथ पीठके पीछेसे ले जाकर उससे दायीं जंघाको पकड़े। यह चित्र-संख्या १४ में दर्शाये-अनुसार अर्धमत्स्येन्द्रासनकी विधि है। यही आसन दायें पाँव तथा दायें हाथका काम बायें पाँव तथा बायें हाथसे लेनेपर और बायें पाँव तथा बायें हाथका काम दायें पाँव तथा दायें हाथसे लेनेपर चित्र-संख्या १५ में दर्शाये-अनुसार बन जाता है।

१६-विपरीतकरणी—चित लेट जाय। हाथोंको शरीरके साथ लंबा करके रखे। पाँवोंद्वारा तीस अंशका कोण बननेतक उन्हें ऊपर उठाये। कुछ क्षण रुककर पुनः ऊपर उठाये तथा साठ अंशका कोण बनाये। फिर कुछ देर रुककर और ऊपर उठाये तथा अस्सी अंशका कोण बनाये और इसी अवस्थामें रुक जाय। इसको अर्धविपरीतकरणी कहते हैं।

अब बाहु तथा कोहनियोंकी सहायतासे शरीरके निचले भागको ऊपर उठाये और नितम्बोंके नीचे हाथोंको लगाकर उनका आधार बनाये। यह क्रिया विपरीतकरणी कहलाती है।

१७-१८-हलासन—हाथोंको शरीरके साथ लंबा करके चित लेट जाय। पाँवोंको तीस अंशका कोण बनाकर ऊपर उठाये, कुछ क्षण रुककर और ऊपर उठाये तथा साठ अंशका कोण बनने दे। पुनः रुककर और ऊपर उठाकर नब्बे अंशका कोण बनने दे और रुक जाय। यह अर्धहलासन हुआ। अब चित्र-संख्या १७ में दर्शाये-अनुसार पाँवोंको सिरकी ओर अधिक झुकाकर उनकी अँगुलियाँ सिरके पीछे जमीनपर टिका दे (यह हलासनकी प्रथमावस्था है)। कुछ देर रुककर अब पाँवोंकी अँगुलियाँ सिरसे और दूर ले जाय (यह हलासनकी द्वितीयावस्था है)। फिर रुककर धीरे-धीरे पाँवकी अँगुलियाँ सिरसे जहाँतक हो सके वहाँतक दूर ले जाय। (यह हलासनकी तृतीयावस्था है)। थोड़ी देर रुक जाय, अब दोनों हाथोंको सिरकी ओर फिराकर अंगुलिबन्ध करे तथा सिरके पिछले भागके साथ लगा दे। अब इसके पश्चात् चित्र-संख्या १८ में दर्शाये-अनुसार पाँवोंकी अँगुलियाँ जितनी भी पीछे

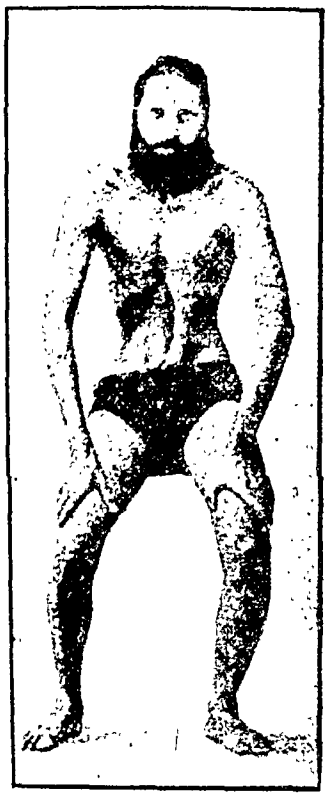

(९) वामनौलि

(१०) सिंहासन

(११) वज्रासन

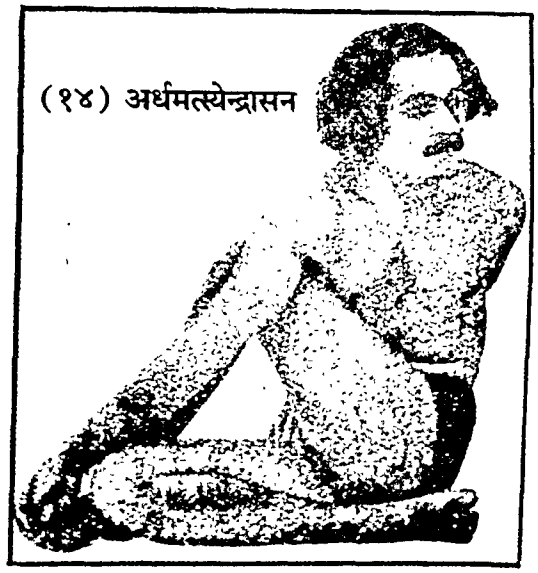

(१४) अर्धमत्स्येन्द्रासन

(१२) डी f

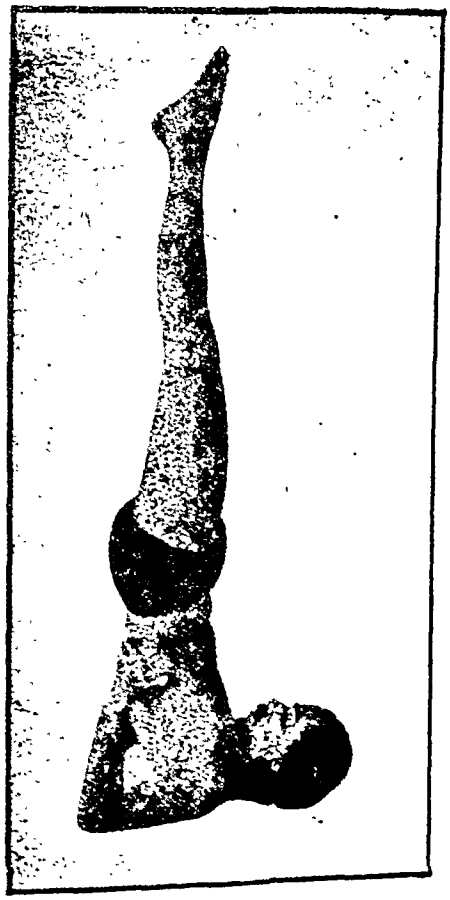

(१३) पूर्वोत्तासन

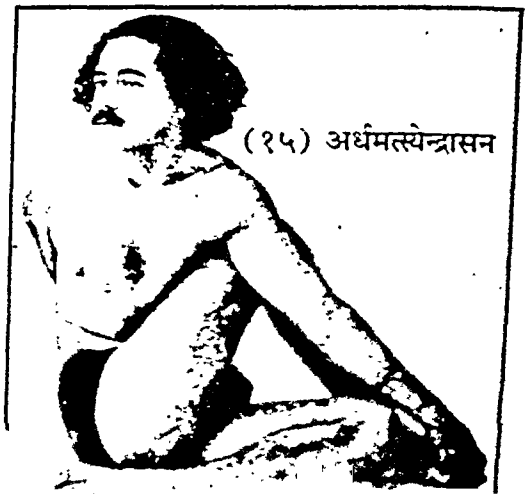

(१५) अर्धमत्स्येन्द्रासन

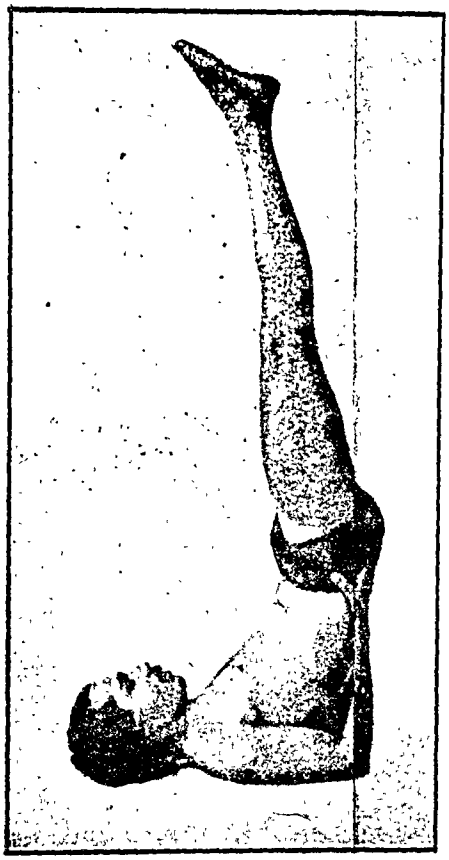

(१६) विपरीतकरणी

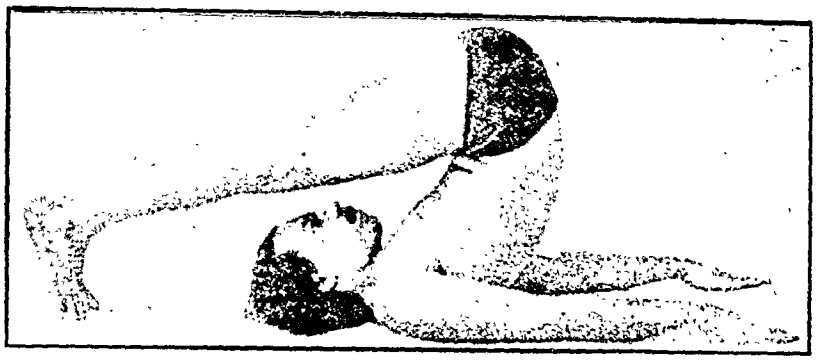

(१७) हलासन (प्रथमावस्था)

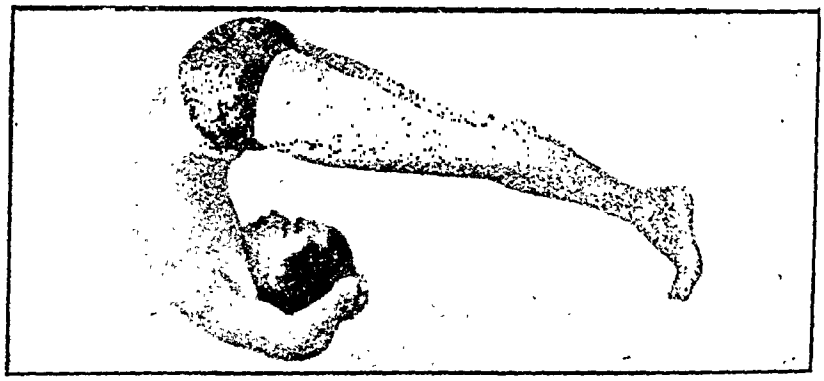

(१८) हलासन (चतुर्थावस्था)

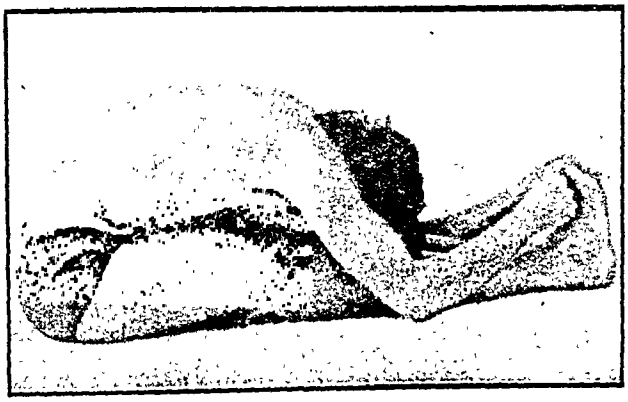

(१९) पश्चिमतानासन

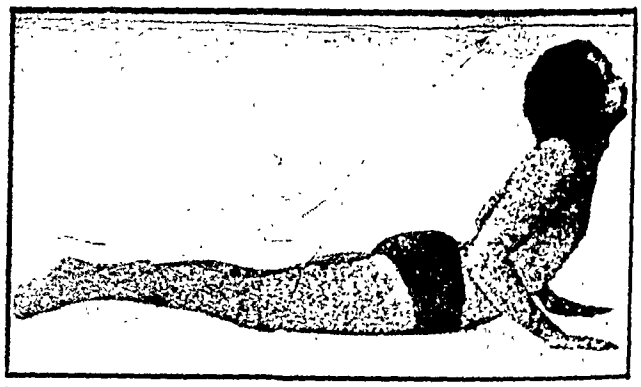

(२०) भुजङ्गासन

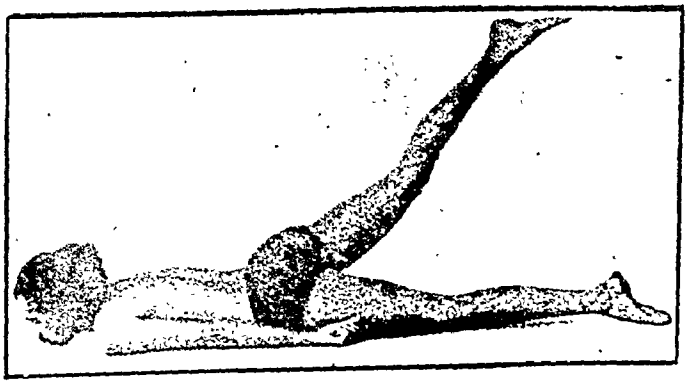

(२१) अर्ध शलभासन

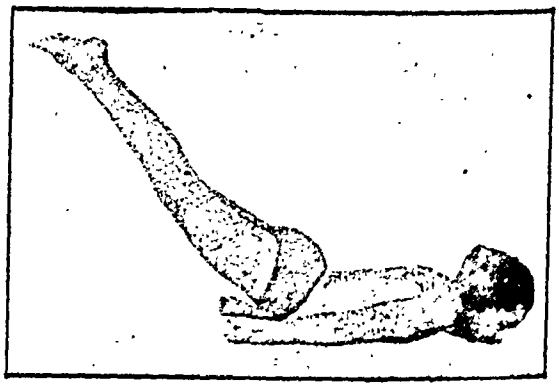

(२२) शलभासन

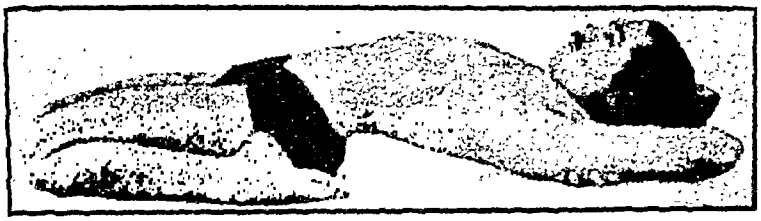

(२३) सुप्तवज्रासन

(२५) योगमुद्रा

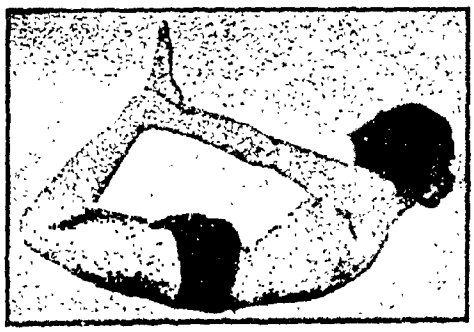

(२४) धनुरासन

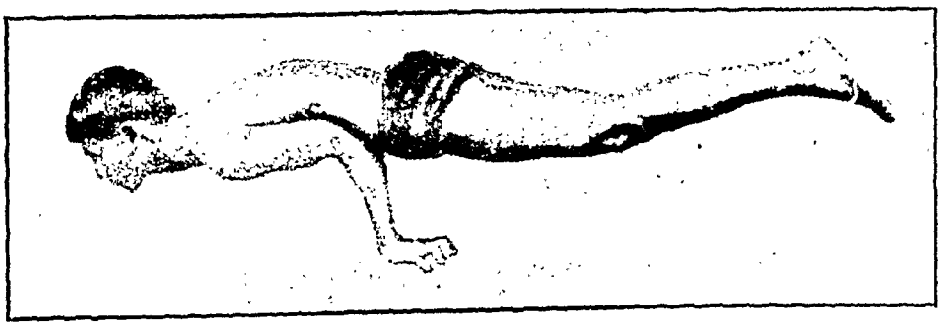

(२६) मयूरासन

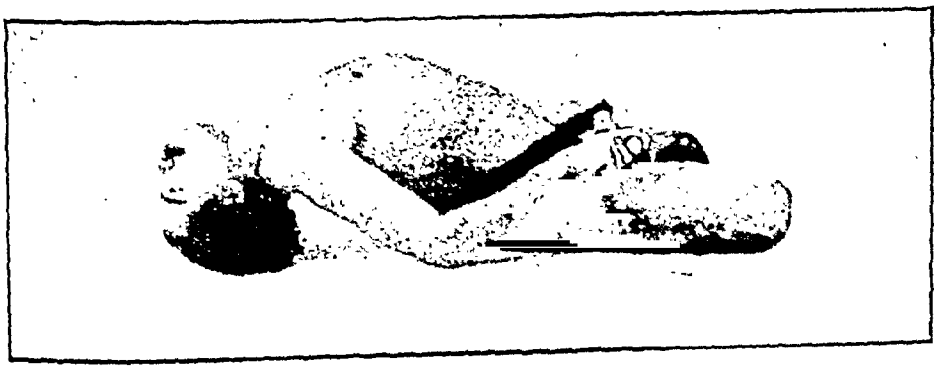

(२७) मत्स्यासन

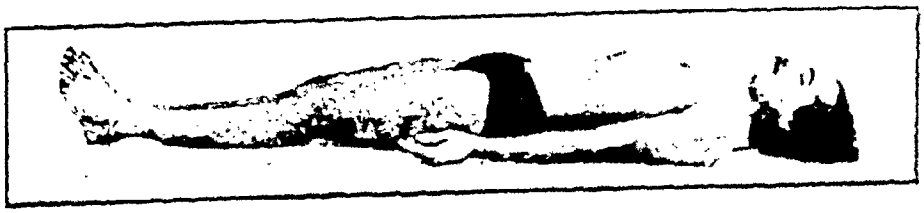

(२८) शवासन

सरका सके, सरकाये (यह हलासनकी चतुर्थावस्था है)। ऐसी स्थितिमें थोड़ी देर रुककर पुनः यथावत् स्थितिमें आ जाय, यह हलासनकी चतुर्विध प्रक्रिया है।

१९-पश्चिमतानासन—पाँवोंको लंबा करके आपसमें मिलाकर बैठे। तर्जनी अँगुलीको टेढ़ा करके दायीं अँगुलीसे दायें पाँवका तथा बायीं अँगुलीसे बायें पाँवका अँगूठा पकड़े। शरीरको आगे झुकाकर मस्तकको पाँवोंके साथ लगा दे। यह पश्चिमतानासन कहलाता है।

२०-भुजंगासन—पेटके बल सोकर माथेको भूमिपर लगा दे। दोनों हाथोंकी तलियोंको छातीके दोनों ओर भूमिपर टेक दे। अब सिरको जहाँतक हो सके धीरे-धीरे पीछे ले जाय, पश्चात् छातीको धीरे-धीरे ऊपर उठाये तथा इसी प्रकार पेटको भी शनैः-शनैः ऊपर उठाये। इसे भुजंगासन कहते हैं।

२१-२२-अर्धशलभासन-शलभासन—पेटके बल लेटकर ठोड़ीको जमीनपर लगा दे। हाथोंको शरीरके साथ लंबे तथा उलटे करके मुट्ठियाँ बंद कर ले। श्वासको पूर्णतया अंदर लेकर अर्थात् पूरक करके कुम्भक करे। दायाँ पाँव पीछेसे ऊपर उठाकर पैंतालीस अंशका कोण बनाये। पुनः उसे नीचे ले आकर पूर्वके समान रख दे। इसी प्रकार बायाँ पाँव ऊपर उठाये तथा पहले पाँवके समान पैंतालीस अंशतक ऊँचा ले जाय। पुनः पूर्ववत् नीचे ले जाय। इसे अर्धशलभासन कहते हैं। यह शलभासनका बनाया हुआ सुगम प्रकार है। अर्धशलभासनके समान पूरक-कुम्भकतककी क्रियाएँ यथावत् रूपमें सम्पन्न कर शरीरको कड़ा करके तथा बाहुओंपर भार डालकर दोनों पाँवोंको पीछेसे जहाँतक हो सके उठाये। इसे शलभासन कहते हैं।

२३-सुप्तवज्रासन—पाँवोंको लंबा करके परस्पर मिलाकर बैठे। दोनों पाँवोंको घुटनोंमें मोड़कर तलियोंको ऊपर करके नितम्बके दोनों ओर लगाकर रखे, घुटने एक दूसरेके समीप ले जाय और ऐसी अवस्थामें ही चित लेट जाय। पश्चात् दोनों हाथोंके प्रकोष्ठों (कोहनीतकके भागों)को एक दूसरेपर रखकर उनको सिरके नीचे इस प्रकारसे रखे कि वे सिरका सिरहाना बन जायँ। पश्चात् हाथोंसे एक दूसरे कंधेको पकड़ ले। आँखें बंद कर ले। यही सुप्तवज्रासन है। सुप्तवज्रासन वज्रासनकी अगली सीढ़ी है।

२४-धनुरासन—पेटके बल लेटकर ठोड़ीको जमीनपर टेक दे। हाथोंको शरीरके साथ लंबा करके रखे। सिरको ऊपर उठाये तथा पाँवोंको घुटनोंकी ओर फेरकर उनके गिट्टोंको हाथोंसे पकड़ ले और शरीरका सारा भार पेटपर डालकर छाती और जाँघोंके पिछले भागको ऊपर उठाकर ताने। यही धनुरासनकी विधि है।

२५-योगमुद्रा—पद्मासनमें दर्शाये-अनुसार पदबन्ध करे। हाथोंको पीठके पीछे ले जाकर बायें हाथसे दायें हाथकी कलाईको पकड़ ले और शरीरको आगे झुकाकर पेटके अंदर एड़ियोंको दबाते हुए सिरको जमीनपर लगा दे। इसे योगमुद्रा कहते हैं।

२६-मयूरासन—घुटने टेककर तथा उनमें पर्याप्त अन्तर छोड़कर बैठे। दोनों हाथोंको कोहनीतक मिलाकर उनकी तलियाँ इस प्रकारसे भूमिपर टेके कि अँगुलियाँ पाँवोंकी ओर रहें। अब जुड़ी हुई दोनों कोहनियोंपर पेटके बिचले हिस्सेके मध्य भागको टेके तथा शरीरको लंबा करके कोहनियोंके ऊपर इस प्रकारसे तोले कि वह भूमिके समान अन्तरपर रहे। इसका नाम मयूरासन है।

२७-मत्स्यासन—पद्मासनके समान पदबन्ध करके चित लेट जाय। सिर तथा पीठको पीछेसे टेढ़ा करके पृष्ठवंश (रीढ़की हड्डी) को कमानके सदृश बनाये तथा तर्जनीको टेढ़ा करके दोनों हाथोंसे दोनों पाँवोंके अँगूठेको पकड़े। इसे मत्स्यासन कहते हैं।

२८-शवासन—चित लेट जाय। हाथ शरीरके साथ लंबे रखे। आँखें बंद कर ले तथा शरीरकी सम्पूर्ण नसों (स्नायुओं) को ढीला छोड़ दे। इसे शवासन कहते हैं।

यौगिक अभ्यास-सम्बन्धी कुछ सामान्य नियम

जिनके कानमें, आँखमें तथा (हृदय निर्बल होनेके कारण) छातीमें पीड़ा होती हो, उनको शीर्षासन नहीं करना चाहिये। जिनकी नाक सदा कफसे बंद रहती हो, उनको शीर्षासन तथा सर्वाङ्गासन अत्यन्त सावधानतापूर्वक करने चाहिये। जिनका पचनेन्द्रिय अर्थात् मेदा बहुत कमजोर हो तथा जिनकी तिल्ली (प्लीहा) बहुत बढ़ गयी हो, उनको भुजङ्गासन, शलभासन तथा धनुरासन नहीं करने चाहिये।

जिनको कब्ज अर्थात् मलबद्धताकी शिकायत रहती हो,उनको योगमुद्रा तथा पश्चिमतान बहुत देरतक करना उचित नहीं। साधारण हृदयकी निर्बलतावालोंको उड्डीयान, नौलि तथा कपालभाति नहीं करनी चाहिये। जिनके फेफड़े निर्बल हों, उनको कपालभाति, भस्त्रिका तथा उज्जायी कुम्भक करना उचित नहीं। किंतु केवल रेचक तथा पूरक उज्जायी करनेमें कुछ हानि नहीं। जिनके रक्तका दबाव सदा १५० से अधिक अथवा १०० से कम रहता हो,उन्हें अपने भरोसे अर्थात् बिना किसी योगानुभवीसे परामर्श लिये किसी प्रकारका भी यौगिक *व्यायाम नहीं करना चाहिये।*

बहुत दिनोंतक रोगग्रस्त रहनेके पश्चात् शरीरमें पुनः अभ्यास करने योग्य पर्याप्त शक्ति आ जानेपर ही अभ्यास आरम्भ करना चाहिये। ऐसे अवसरपर अर्थात् अभ्यास आरम्भ करनेसे पहले अभ्याससे किसी प्रकारके दुष्परिणामकी सम्भावना न रहे, इसलिये एक सप्ताहपर्यन्त प्रतिदिन (सुगमतासे जितना भी दूर जाया जा सके) भ्रमण करते रहनेसे पुनः अभ्यास आरम्भ करनेमें बहुत सुगमता होगी।

भोजनके बाद तथा दूध-पानी आदि पेय पदार्थोंके पर्याप्त सेवनके बाद यौगिक व्यायाम नहीं करने चाहिये।

योगाभ्यास स्वच्छ हवावाले एवं पवित्र किसी भी स्थानमें किया जा सकता है। इस विषयमें केवल इतनी सावधानी रखनी चाहिये कि वायुका झोंका शरीरपर न लगने पाये।

योगाभ्यासी सज्जनको अभ्यासके समय अपने मापकी एक दरी ले लेना उचित है। आरोग्यकी दृष्टिसे यह उचित होगा कि प्रतिदिन धोये हुए खद्दरका एक कपड़ा उस दरीपर बिछा दिया जाय। यदि जमीन स्वच्छ तथा न बहुत ठंडी न बहुत गरम हो तो ऐसी अवस्थामें बिना दरीके भी अभ्यास किया जा सकता है।

उड्डीयान, नौलि, कपालभाति अथवा भस्त्रिका तथा उज्जायी प्राणायाम प्रातःकाल करने चाहिये। जिनको कोष्ठबद्धता अर्थात् कब्जकी शिकायत हो वे उड्डीयान तथा नौलि शौच होनेसे पहले कर सकते हैं। नौलि करनेसे पहले पांचसे लेकर दस छटाँकतक गरम पानीमें पाँचसे दस रत्तीतक सेंधा नमक डालकर पी लेनेसे शौच शीघ्र होनेमें बहुत सहायता मिलती है।

कपालभाति, भस्त्रिका तथा उज्जायी करनेसे पहले शौचादिसे तो निवृत्त हो ही जाना चाहिये, किंतु यदि हो सके तो स्नान भी पहले ही कर लेना चाहिये। कपालभाति, भस्त्रिका तथा उज्जायी—इन तीनोंका अभ्यास पद्मासन अथवा सिद्धासनपर बैठकर करनेसे बहुत सुगमता होती है। इन दोनोंमेंसे भी कपालभाति तथा भस्त्रिकाके लिये तो पद्मासन ही अधिक लाभदायक है। प्रातःकालकी अपेक्षा सायंकालमें शरीरके स्नायु अधिक नरम होते हैं, अतः सायंकालमें आसन करनेमें अधिक सुगमता रहती है। योगमुद्रा, उज्जायी तथा *कपालभाति अथवा भस्त्रिकाको सायंकाल भी किया जा* सकता है।

सायं तथा प्रातः दोनों समयमें अभ्यासका क्रम इस प्रकारसे रखना चाहिये—सबसे प्रथम आसन तथा योगमुद्रा, तत्पश्चात् बन्ध तथा क्रिया और अन्तमें प्राणायाम। कपालभातिको प्राणायामका ही भाग समझना चाहिये। योगाभ्यासीको जो पदार्थ अपने स्वास्थ्यके अनुकूल हों, उनके ही सेवनका नियम रखना चाहिये। कभी आवश्यकतासे अधिक खाना उचित नहीं। प्रत्येक ग्रास अच्छी प्रकारसे चबा-चबाकर खाना चाहिये। इससे ग्रासके अंदर उचित परिमाणमें मुखकी लार मिल जानेसे भोजन पचनेमें बहुत सुगमता होती है। जिनकी पाचनशक्ति अच्छी न हो, उनको सदा हलके पदार्थ ही खानेका नियम रखना चाहिये और केवल दो ही समय भोजन करना चाहिये। यदि एक ही समय भोजन किया जाय तो और भी अच्छा हो। दूसरे समयके भोजनके स्थानपर पचनेमें हलका दुग्धादि अल्पाहार करना चाहिये। अग्निमान्द्य, कोष्ठबद्धता तथा मूत्राम्लका रोग होनेपर किसी प्रकारकी भी दाल नहीं खानी चाहिये और आलू, बैंगन आदिका भी सेवन नहीं करना चाहिये। भोजन करनेके आधे घंटे पश्चात् जल पीना सब प्रकारकी प्रकृतिवालोंको अनुकूल पड़ता है। जिनकी पाचनशक्ति ठीक है वे यदि भोजन करते समय भी जल पी लें तो कुछ हानि नहीं। मदिरा, चाय, काफी एवं तंबाकू-जैसे उत्तेजक पदार्थोंका सर्वथा सेवन न करना ही उत्तम है।

बारह वर्षसे नीचेके बालक-बालिकाओंको प्रारम्भमें भुजङ्गासन, अर्धशलभासन, धनुरासन, पश्चिमतानासन, हलासन तथा योगमुद्राका विशेषरूपसे अभ्यास करना चाहिये।

उदर-सम्बन्धी यौगिक व्यायाम

(राजरत्न प्रो० श्रीमाणिकरावजी)

भारतीय शास्त्रोंमें तथा लोकपरम्पराओंके अनुसार रोग मनुष्यके पूर्वजनित कर्मोंके परिपाकस्वरूप होते हैं और उनके संकेत जन्मकुण्डलीकी ग्रह-दशा, ग्रहोंकी स्थिति और गोचरफलसे भी प्राप्त होते हैं। ये बातें योगियोंको स्वप्नादि या अङ्गस्फुरण आदि दुःशकुनोंसे सूचित होती हैं। प्रायः इनमें अनियमित आहार-विहार ही हेतु बनते हैं। सर्वप्रथम उनसे प्रतिश्याय, मन्दाग्नि, उदरशूल, अतिसार आदि उदरव्याधियाँ उत्पन्न होती हैं और उनके अधिक दिन रह जानेपर स्थिर व्याधियाँ हो जाती हैं, जो शरीरको क्षीण करती हुई मन, बुद्धि, धारणाशक्ति और आत्माको भी दुःखित करती हैं और समयपर समुचित उपाय न किया जाय तो आयु भी घटने लगती है। इसलिये समुचित आहार-विहार, जप-तप आदि अनुष्ठान, मणि, मन्त्र, सामान्य ओषधि-सेवन तथा जलवायु-परिवर्तनके द्वारा आरम्भमें ही उसे रोक लेना चाहिये और किसी भी व्याधिकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि बढ़ जानेपर वे दुश्चिकित्स्य हो जाती हैं। यदि आरम्भमें ही उपवास तथा अन्य सामान्य योगासनोंका सहारा लिया जाय तो ये तत्काल शान्त हो जाती हैं। इसलिये एकादशी आदि उपवासके योगसम्मत नियम शास्त्रकारोंने पहलेसे ही निर्धारित कर रखे हैं। उपवासादि धर्म-कर्म न करनेसे आज व्याधियाँ विश्वमें अत्यधिक रूपमें व्याप्त हो गयी हैं, जिनमें अनुचित आहार-विहारसे उत्पन्न उदर-विकार ही सबका मूल होते हैं। यहाँ उनके उपशमनके लिये सर्वसामान्यके उपयोगी कुछ यौगिक व्यायामोंका वर्णन किया जा रहा है। इनके यथोचित यथासमय अभ्याससे व्यक्ति रोगमुक्त होकर स्वस्थ एवं सबल हो जाता है।

व्यायामके भेद

उदर-सम्बन्धी व्यायामोंकी अनेक विधियाँ हैं। उनमेंसे कुछ मुख्य विधियाँ यहाँपर दी जा रही हैं—

(१) भूमिपर स्वच्छ आसन फैलाकर उसपर बैठ जाय और घुटनोंको सामने करके पैरोंके तलवोंको पीछे ले जाकर चित्र (१) के अनुसार आसन लगाकर और घुटनोंको एक दूसरेसे मिलाये। दोनों हाथ घुटनोंके दोनों ओर, हाथकी अंगुलियोंको मिलाकर जमीनपर सीधा रखे, छातीको उभारे और पूर्ण श्वास लेकर छातीको धीरे-धीरे नीचे उतारकर जाँघोंसे मिलाये और नाक जमीनमें लगाये। इस समय हाथ केहुनियोंके आगे मुड़े हुए हों। पार्श्वभाग पैरके तलवोंसे हिलने न पायें। इतना करके फिर धीरे-धीरे पूर्ववत् हो जाय। यह एक डंड हुआ।

(२) प्रथम विधिके समान आसन लगानेपर दोनों हाथ घुटनोंके समीप न रखकर कमरपर पीछे रखे और दाहिने हाथके पंजेसे बायें हाथका पंजा पकड़कर छाती ऊपरकी ओर करे। फिर छातीको धीरे-धीरे घुटनोंसे और नाकको जमीनसे लगानेका अभ्यास करे। इतना करके फिर धीर-धीरे पूर्व-स्थितिमें आ जाय।

(३) सामने पैर फैलाकर और जहाँतक हो सके उन्हें चौड़ा और सीधा रखकर बैठे। दोनों हाथोंसे पैरोंके अँगूठोंको पकड़े, अनन्तर घुटनोंको बिना टेढ़ा किये कमरसे झुककर नाक जमीनसे लगानेका यत्न करे। ऐसा करते हुए हाथोंको केहुनियोंसे मोड़े। तब धीरे-धीरे पुनः पूर्व-स्थितिमें आये।

(४) प्रथम विधिके अनुसार बैठकर पहले दायाँ पैर वहाँसे निकालकर बायीं ओर बायें पैरकी जाँघसे समकोण मिलाकर सीधा रखे। हाथ पहलेकी ही स्थितिमें रहें। फिर उस पैरको पहलेकी स्थितिमें लाकर रखे और एक डंड करे अर्थात् प्रथम विधिमें जो दूसरी स्थिति है, उसमें आ जाय। इसके बाद दायें पैरकी तरह अब बायाँ पैर चटसे निकालकर दायीं ओर दायें पैरसे समकोण मिलाकर सीधा रखे। अनन्तर फिर पहलेकी स्थितिमें ले आये। यह अभ्यास कई बार करे।

(५) चौथी विधिकी ही सब क्रिया करे, पर हाथ घुटनोंकी ओर न रखकर जिस ओर पैर फैलाया हो, उस ओर घुमाकर सीधा करे और छातीको आगेकी ओर झुकाते हुए हाथोंको पाँवके आगे जितना बढ़ा सके, बढ़ाये और सिरको घुटनोंपर रखे। इस तरह दोनों तरफकी क्रिया करे।

(६) तीसरी विधिमें बताये-अनुसार पैर चौड़े फैलाकर सीधा बैठे। अनन्तर पूर्ण श्वास लेते हुए हाथोंको कंधोंकी

प्रकार १] [चित्र नं० १

प्रकार ३] [चित्र नं० ३

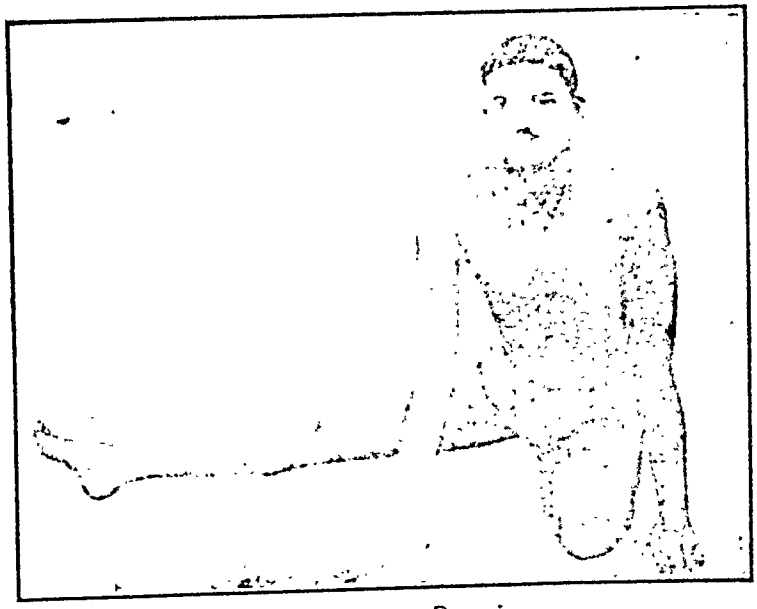

प्रकार ४] [चित्र नं० ४

प्रकार २] [चित्र नं० २

प्रकार ५] [चित्र नं० ५

प्रकार ६] [चित्र नं० ६

प्रकार ७] [चित्र नं० ७

प्रकार ७] [चित्र नं० ८

प्रकार ८] [चित्र नं० ९

प्रकार ९] [चित्र नं० १०

प्रकार १०] [चित्र नं० ११

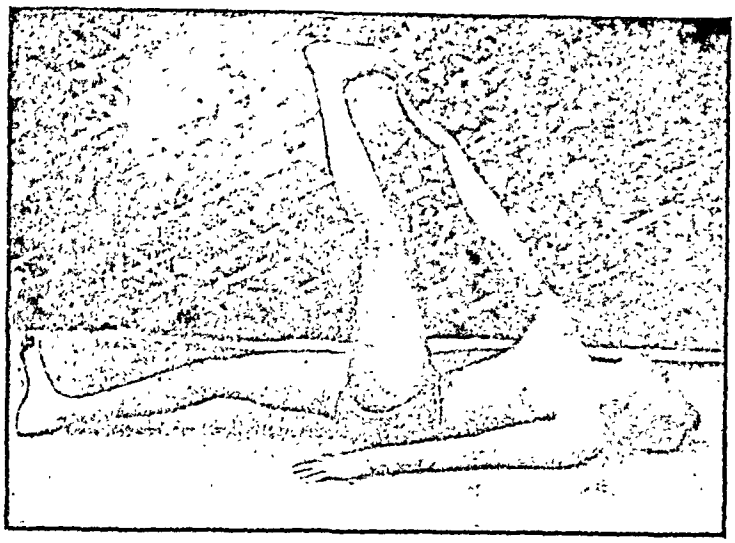

प्रकार ११] [चित्र नं० १२

प्रकार १२] [चित्र नं० १३

प्रकार १२] [चित्र नं० १४

प्रकार १३] [चित्र नं० १५

प्रकार १४] [चित्र नं० १७

प्रकार १३] [चित्र नं० १६

प्रकार १५] [चित्र नं० १८

सीधमें सीधा करे और हाथोंके साथ दायीं ओर शरीरको घुमाये, इतना घुमाये कि पेटको मुड़नेकी वेदना हो। शरीरका घुमाना हो चुकनेपर, जिस ओर हाथ मुड़े हैं, उसी ओर जमीनपर हाथ टेककर जोर दे। यह करते हुए पैर बिलकुल न हिलें, ज्यों-के-त्यों रहें। इसके अनन्तर हाथ निकालकर शरीरको बायीं ओर इतना घुमाये कि पेटमें मुड़नेकी वेदना हो और जमीनपर हाथ टेककर जोर दे। ऐसा कई बार करे।

(७) पैर चौड़े रखकर सीधा खड़ा रहे। दोनों पैरोंके बीच डेढ़ फुट फासला हो। पूर्ण श्वसन करते हुए दोनों हाथ कंधोंसे सीधी रेखामें ताने (चित्र नं० ७)। अनन्तर कटिके ऊपरका अङ्ग दाहिनी ओर इस तरह घुमाये कि दाहिना हाथ बायीं ओर कंधेकी सीधी रेखामें आ जाय, और बायाँ हाथ केहुनीसे मोड़कर (समकोण करके) पंजा दाहिने कंधेमें लगाये (चित्र नं० ८)। केहुनी कंधेकी रेखामें हो। तब फिर पहलेकी तरह सब अङ्ग करके बायीं ओर घुमाये।

(८) सातवें प्रकारमें कहे-अनुसार खड़े होकर हाथोंको ऊपर सीधा खड़ा करे। अनन्तर पूर्ण श्वसन करते हुए धीरे-धीरे पहले दायीं ओर झुककर दाहिने पाँवके पास जमीनपर हाथ रखे (चित्र नं० ९) और बायाँ हाथ ऊपर वैसे ही खड़ा रखे। घुटनोंके जोड़ न हिलें। इतना करके पूर्व-स्थितिमें आकर यही क्रिया दूसरी तरफसे करे।

(९) हाथोंको ऊपर खड़ा रखकर सीधा खड़ा रहे। तब हाथ नीचे सीधे सामने लाकर आगेकी ओर कमरके बल झुककर सिरको घुटनोंके बीचमें लानेका यत्न करे और हाथोंसे जमीन छुए, ऐसा करते हुए घुटने न झुकें। फिर पूर्व-स्थितिमें आ जाय। ऐसा दस-बारह बार करे।

(१०) आठवीं विधिमें कहे-अनुसार हाथ सिरके ऊपर सीधे रखकर खड़ा रहे, फिर शरीरको कमरके बल झुकाकर अपने भरसक पीछेकी ओर ले जाय। हाथोंको भी साथ ही पीछे ले जाय (चित्र नं० ११)। इस प्रकार आठ-दस बार करे।

(११) दरीपर सीधा चित लेट जाय। हाथ दोनों ओर सीधे—सीधा रखे। पूर्ण श्वसन करते हुए बायाँ पैर और दाहिना हाथ एक साथ उठाकर पेटकी मध्य रेखामें ले आये और (चित्र नं० १२ के अनुसार) हाथसे पैरको स्पर्श करे। अनन्तर पुनः पूर्वस्थितिमें आकर दायाँ पैर और बायाँ हाथ उठाकर वैसी ही क्रिया करे। ऐसा करते हुए घुटने टेढ़े न होने पायें।

(१२) चित न लेटकर पेटके बल लेटे और पीछेकी ओरसे घुटनोंको झुकाकर उनके टखने दोनों हाथोंके पंजोंसे पकड़े (चित्र नं० १३)। इस समय गर्दन और छाती इतनी ऊपर उठी रहे कि शरीर धनुषाकार हो जाय, इससे पेटके नल तन जायँगे। इसी स्थितिमें दोनों ओर आधे-आध लोटे (चित्र नं० १४)। ध्यान रहे कि इस समय शरीरमें किसी प्रकारका झटका न लगे।

(१३) सीधा चित लेटे। घुटना और जाँघ दोनोंको झुकाकर दोनों हाथोंसे (दाहिने हाथके पंजेसे बायें हाथकी कलाईको) घुटनोंके समीप पकड़े। इस समय पार्श्वभाग उठा हुआ हो (चित्र नं० १५)। अनन्तर चित्र नं० १६ की स्थितिमें आ जाय।

(१४) ग्यारहवीं विधिके अनुसार चित लेटे। हाथोंके अँगूठोंको मिलाकर दोनों हाथ सिरकी ओर सीधे रखे। अनन्तर धीरे-धीरे श्वास लेते हुए घुटनोंको बिना झुकाये और शरीरको बिना झटका दिये उठे तथा हाथ वैसे ही लाकर पैरोंके पंजे छुए (चित्र नं १७) फिर कमरके बल झुककर घुटनोंको बिना मोड़े, घुटनोंमें नाक लगाये। ऐसा करते हुए पैरोंको जमीनसे न उठाये और न किसी प्रकार ऊपर-नीचे करे। इतना कर चुकनेपर अङ्गमें झटका दिये बिना पूर्वस्थितिमें आ जाय।

(१५) सीधा चित लेटे। हाथ-पैर एक दिशामें सीधा रखे। पैरोंको घुटनोंपर मोड़े बिना सीधे ऊपर उठाये और धीरे-धीरे सिरकी ओर इतना ले जाय कि पेट मुड़े और सिरकी ओर जमीनमें लगे (चित्र नं० १८)। ऐसा करते हुए हाथ अपनी जगहसे न हिलें। फिर जितनी धीमी गतिसे पैर ऊपर लाये हों उतनी ही धीमी गतिसे उन्हें पूर्वस्थितिमें ले आवें।

विरागकी प्राप्तिसे ही मनुष्य विरक्त होता है, विरक्त होनेपर ज्ञान होता है, तभी उसका जन्म-क्षय होता है, तभी उसे ब्रह्मचर्यका फल मिलता है, तब उसका कर्तव्य समाप्त हो जाता है, फिर उसे यहाँ आकर जन्म नहीं लेना पड़ता।

—भगवान् बुद्धदेव

उदर-सम्बन्धी आसन और उनसे लाभ

१-सोड्डीयान पद्मासन—यह आसन योगासनोंमें अत्यन्त प्रसिद्ध है। चित्रके अनुसार पद्मासन लगाकर (दायाँ पैर घुटनेसे घुमाकर बायें ऊरुपर और बायाँ पैर दायें ऊरुपर घुमाकर रखे और एड़ियाँ ऊरुमूलमें आकर लगें) बैठे और हथेलियोंको घुटनोंपर रखे। अनन्तर पूर्ण उच्छ्वास करके, खाली पेटकी स्थितिमें पेटको बार-बार अंदर-बाहर करे। दम पूरा हो तब पुनः श्वास लेकर उच्छ्वास करे और पेटको पूर्ववत् अंदर-बाहर करे। इससे पेटका बढ़ा हुआ मेद समाप्त हो जाता है, यकृत-प्लीहादिके विकार दूर होते हैं, पेटके प्रायः सब रोग इसी एक आसनके नित्याभ्याससे अच्छे हो जाते हैं।

२-बद्धपद्मासन—पद्मासन लगाकर बैठे और पीछेसे दायें हाथसे दायें पैरका अँगूठा और बायें हाथसे बायें पैरका अँगूठा पकड़े। आरम्भमें यह कठिन है, पीछे अभ्याससे सध जाता है। इससे पीठमें कूबड़ निकालकर बैठनेकी बुरी आदत छूट जाती है, कमरके दोष दूर होते हैं, पेट पचकता है और श्वासोच्छ्वास सरल होकर आरोग्य और आयुकी वृद्धि होती है। इस आसनको करते समय मेरुदण्ड सीधा रखना चाहिये और बिना जलपान किये इस आसनका अभ्यास प्रातःकाल करनेसे अत्यधिक लाभ होता है।

३-बद्धासन—पाँवोंको मिलाकर नितम्बपर बैठे और दोनों हाथ टाँगोंके नीचे डालकर पाँवोंके पंजोंको दोनों हाथोंकी पकड़से पकड़कर यथासम्भव नितम्बके समीप खींचे और सीधे बैठे। इससे पेट, कमर और प्रकोष्ठके स्नायु तनकर विकाररहित और बलवान् होते हैं।

४-वक्रबद्धासन—बद्धासनके समान हो करके एक ओर लेट जाय और दोनों घुटनोंके बीचका अन्तर बढ़ाये। फिर दूसरी ओर लेटे। इससे पेट, ऊरु और कमर विकाररहित और बलवान् बनते हैं।

५-अर्धगर्भासन—पद्मासन लगाकर दोनों हाथ टाँगोंके नीचेसे बाहर निकालकर आगे बढ़ाये। इससे पेटके स्नायु बलवान् होते हैं और उदरवात नष्ट होता है।

६-गर्भासन—अर्धगर्भासन ही करे, पर इस अन्तरके साथ कि हाथ कोहुनियोंसे घुमाकर मुट्ठियोंको कानोंके समीप रखे। इससे पेटके स्नायु, ऊरुमूल, कमर, यकृत्, प्लीहा, हृदय, छाती आदि अङ्ग विकाररहित होते हैं।

७-एकपादकन्धरासन—एक पैर नीचे घुटनेसे घुमाकर रखे और दूसरा गर्दनपर रखकर दोनों हाथोंसे पकड़ रखे। गर्दन और दृष्टि सीधी रखे। एक बार एक पैर ऐसा करके दूसरी बार दूसरा पैर ऐसा करे। इससे गर्भासनके सब लाभ होते हैं और साथ ही गर्दन, ऊरु और पेटके विकार दूर होते हैं। अन्त्रवृद्धि (हर्निया) और अपेंडिस-जैसे प्राणघातक रोग भी इस आसनके अभ्याससे नष्ट होते हैं।

८-लोलासन—पाँवोंको जुटाकर नितम्बपर बैठे और सामने हथेलियोंको टेककर सारा शरीर चित्रानुसार ऊपर उठाकर हाथोंपर तौले। इससे एकपादकन्धरासनके सब लाभ होकर हाथके पंजे, कलाई और भुजदण्ड बलवान् होते हैं।

९-भूनमनपद्मासन—पद्मासन करके पीठपर हाथ बाँधे सीधे बैठे और फिर सामने झुककर भूमिमें सिर लगाये इस प्रकार पुनः-पुनः सीधे होकर पुनः-पुनः झुके। इससे कमर मजबूत होती है और बढ़ा हुआ पेट पचकता है। इसे 'योगमुद्रा' भी कहते हैं।

१०-कर्णस्पृष्टजानुपद्मासन—ऊपर कहे-अनुसार पद्मासनसे बैठ दायें घुटनेमें दायाँ और बायाँ कान लगाये और फिर बायें घुटनेमें बायाँ और दायाँ कान लगाये। इससे पीठ, पेट, पसली और गर्दन विकाररहित होते हैं।

११-पार्श्वभूनमनासन—पैरोंके पंजोंके पृष्ठभाग जमीनमें टिकाकर घुटनोंको मिलाये। अनन्तर एक तरफ भरसक झुककर दोनों हाथोंके तलवे पास जमीनमें टिकाये दोनों हाथोंके बीच जमीनमें सिर टिकाये। इसी प्रकार दूसरी बगल करे। इस आसनसे पसलियोंके निचले हिस्से तथा जाँघ और पीठके नल निर्दोष होते हैं।

१२-एकपादपश्चिमतानासन—एक पैर घुटनेसे मोड़ घुमाकर और दूसरा सामने फैलाकर बैठे तथा फैलाये पैरका अँगूठा दोनों हाथोंसे पकड़कर सिर घुटनोंमें लगाये। बदलकर फिर ऐसा ही करे। इससे पेट, पीठ, कमर और जाँघ निर्दोष होती हैं।

१-सोड्डीयान पद्मासन

२-बद्धपद्मासन

३-बद्धासन

४-वक्रबद्धासन

५-अर्धगर्भासन

६-गर्भासन

७-एकपादकन्धरासन

८-लोलासन

९-भूनमनपद्मासन

१०-कर्णस्पृष्टजानुपद्मासन

१२-एकपादपश्चिमतानासन

१३-ऊर्ध्वहस्तपश्चिमतानासन—जुटे हुए दोनों पैर सामने फैलाकर बैठे और सिर घुटनोंमें लगाये और बायाँ हाथ सामने तथा दायाँ पीछे फैलाकर दोनों हाथ यथाशक्य ऊपर करे। फिर हाथ बदलकर ऐसा ही करे। इससे उपर्युक्त आसनोंके लाभ होनेके अतिरिक्त छाती और बाहुमूल दृढ़ होते हैं।

१४-विस्तृतपाद भूनमनासन—बैठकर पैर भरसक दूर फैलाये। अनन्तर पैरोंके अँगूठे हाथोंसे पकड़कर सिर भूमिमें टिकाये। इससे ऊरु और जंघाप्रदेश तन जाते हैं तथा टाँगें, कमर, पीठ और पेट निर्दोष होकर वीर्य स्थिर होता है।

१५-विस्तृतपाद पार्श्वभूनमनासन—पूर्ववत् पैर फैलाकर बैठे। अनन्तर एक पैरके पार्श्वमें हथेलियोंको भूमिमें टिकाकर, दोनों हाथोंके बीचो-बीच, धरतीपर सिर रखे। इसी प्रकार दूसरे पार्श्वमें करे। इससे दोनों पसली, छाती, पेट, कमर और बाहु दोषरहित होते हैं।

१६-विस्तृतपाद हस्तपार्श्वचालनासन—पूर्ववत् पैर फैलाकर शरीरके एक-एक पार्श्वसे, एक साथ दोनों हाथ भरसक चारों ओर घुमाये। इससे बाहु, पेट, कमर, फेफड़े और हृदय निर्दोष होते हैं।

१७-पृष्ठासन—पीठके बल लेटकर घुटनोंको मोड़कर छातीमें लगाये और पैरोंके टखनोंके पास हाथोंकी पकड़ बाँधकर, आगे-पीछे झोंका खाकर, बैठा-जैसा हो जाय और फिर पीठके बल लेट जाय। इससे कमर निर्दोष होकर पीठ और पेटके शूल, मोच आदि दुरुस्त होते हैं तथा बढ़ा हुआ पेट बहुत कुछ पचकता है।

१८-उत्थितपृष्ठासन—पद्मासन लगाकर पीठके बल लेटे। हाथोंको कमरकी दोनों तरफ सीधे फैलाकर भूमिपर चित रखे और पद्मासनकी बैठक तथा सिर भरसक ऊपर उठाये। इससे मुख्यतः छाती और पेटको खिंचाकर व्यायाम (चित्र देखिये)। इससे ऊरु, कमर, मेरुदण्ड, गर्दन, छाती तथा पेट विकाररहित होते हैं और आयु बढ़ती है।

२०-द्विपादचक्रासन—हाथोंके पंजे नितम्बके नीचे रख पीठके बल लेटे और एक पैर घुटनेमें मोड़कर घुटनेको पेटके पास लाकर तथा दूसरा पैर जरा ऊपर उठाकर बिलकुल सीधा रखे और साइकलपर जैसे पैर चलाते हैं वैसे चलाये। इससे नितम्ब, कमर, पेट और टाँगें निर्दोष होकर वीर्य शुद्ध, पुष्ट तथा स्थिर होता है।

२१-उत्थित द्विपादासन—पीठके बल लेटकर दोनों पैर ४५ डिग्रीतक ऊपर उठाकर, जमीनसे बिना लगे धीरे-धीरे ऊपर-नीचे करे। इससे पेटके स्नायु मजबूत होते हैं और मलोत्सर्गक्रिया ठीक होती है।

२२-उत्थित एकैकपादासन—पीठके बल लेटकर दोनों पैर (एक पैर २० डिग्रीमें और दूसरा ४५ डिग्रीमें) अधरमें रखकर जमीनसे बेलाग ऊपर-नीचे करे। इससे कमरके स्नायु बहुत मजबूत होते हैं, मलोत्सर्गक्रिया ठीक होती है तथा वीर्य शुद्ध और स्थिर होता है। स्वप्नदोष नहीं होता।

२३-उत्थितहस्त मेरुदण्डासन—हाथ-पैर एक रेखामें सीधे फैलाकर पीठके बल लेटे। अनन्तर दोनों हाथ उठाकर पैरोंकी ओर ले जाय। इस प्रकार पुनः-पुनः पीठके बल लेटकर पुनः-पुनः उठे। इससे कमर, छाती, रीढ़ और पेट निर्दोष होते हैं।

२४-शीर्षबद्धहस्त मेरुदण्डासन—पूर्ववत् सर्वथा पीठके बल लेटकर सिरके पीछे हाथ बाँधे, कमरसे शरीर ऊपर उठाये। पैर न उठें। इससे पेट, छाती, गर्दन, पीठ और रीढ़के दोष दूर होते हैं।

२५-जानुस्पृष्टभाल मेरुदण्डासन—उपर्युक्त आसन करके घुटना मोड़कर, बारी-बारी, धीरे-धीरे भालमें लगाये। नीचेका पैर भूमिपर टिका सीधा रहे। इससे यकृत्, प्लीहा, फेफड़े आदि नीरोग होकर पेट, गर्दन, कमर, रीढ़

१३-ऊर्ध्वहस्तपश्चिमतानासन

१४-विस्तृतपाद भूनमनासन

१५-विस्तृतपाद पार्श्वभूनमनासन

१६-विस्तृतपाद हस्तपार्श्वचालनासन

१७-पृष्ठासन

१८-उत्थितपृष्ठासन

१९-मत्स्यासन

२०-द्विपादचक्रासन

२१-उत्थित द्विपादासन

२२-उत्थित एकैकपादासन

२३-उत्थितहस्त मेरुदण्डासन

२४-शीर्षबद्धहस्त मेरुदण्डासन

२५-जानुस्पृष्टभाल मेरुदण्डासन

२६-उत्थितहस्तपाद मेरुदण्डासन

२७-उत्थितपाद मेरुदण्डासन

२८-भालस्पृष्टद्विजानु मेरुदण्डासन

२९-पादपार्श्वचालनासन

३०-भूस्पृष्टपाद सर्वाङ्गासन

३१-विपरीत दण्डासन

३२-उत्थित समकोणासन

२७-उत्थितपाद मेरुदण्डासन—पैर सामने फैलाकर हाथोंकी केहुनियोंके बल धड़ उठाये। अनन्तर पैर ४५ डिग्रीतक ऊपर उठाकर ऊपर-नीचे करे। इससे कमर, रीढ़ और पेट निर्दोष होते हैं।

२८-भालस्पृष्टद्विजानु मेरुदण्डासन—ऊपर कहे-अनुसार ही करे, पर इसके अतिरिक्त सिर दोनों घुटनोंमें लगाये। इससे पेट, पीठ, छाती, रीढ़, गर्दन और कमरके सब विकार दूर होते हैं।

२९-पादपार्श्वचालनासन—पीठके बल सीधा लेट जाय। सिरके दोनों ओर एक रेखामें हाथ फैलाये। हाथके तलवे जमीनपर टिकाये। अनन्तर पैरोंको कमरसे उठाकर समकोण रखे और उसी स्थितिमें पहले बायें और पीछे दायें पार्श्वमें ले जाय। हाथ न उठें। इससे कमर और पेटकी अँतड़ियाँ शुद्ध होती हैं, स्नायु मजबूत होते हैं, मलोत्सर्गक्रिया ठीक होती है और फेफड़े सुधरते हैं।

३०-भूस्पृष्टपाद सर्वाङ्गासन—पीठके बल लेटकर पैरोंको ऊपर उठा भरसक सिरके सामने सीधे फैलाकर भूमिपर टिकाये। पीठको दोनों हाथोंका सहारा दे। इससे पेट, पीठ, रीढ़, कमर, वीर्याशय, पैर और गर्दनके सब दोष दूर होते हैं, स्वप्नदोष नहीं होता। आयु बढ़ती है।

३१-विपरीत दण्डासन—यह उलटा डंड है। पहले सामने पैर फैलाकर और हाथ पीछे टिकाकर बैठे। कमरसे एक बित्ता फासलेपर, पीछेकी ओर, हाथोंके तलवे भूमिपर उलटी ओरसे टिके हुए हों। अनन्तर कमरको एकदम ऊपर उठाकर और पैरोंके तलवे भूमिपर टिकाकर दण्डवत् सीधा हो। इस प्रकार चार-पाँच बार नीचे-ऊपर हो। इससे पेट और टाँगें दुरुस्त होती हैं।

३२-उत्थित समकोणासन—सामने पैर फैलाकर नितम्बपर सीधे बैठे और पाँवसहित समूचा शरीर हाथोंपर समकोण उठाकर तोल रखे। कुछ देर इस स्थितिमें रहकर फिर नीचे बैठे और फिर शरीर ऊपर उठाकर तोले। इससे पेटके स्नायु बहुत बलवान् और कंधे तथा बाहु बहुत पुष्ट होते हैं।

३३-उत्थितैकपाद भुजङ्गासन—पेटके बल लेटकर हाथ छातीके दोनों ओरसे केहुनियोंमेंसे घुमाकर भूमिपर टिकाये। भुजङ्गकी तरह छाती ऊपर उठाकर दृष्टि सामने रखे और एक पैर भूमिपर टिका रखकर, दूसरा पैर घुटनेको बिना मोड़े, भरसक ऊपर उठाये। इस प्रकार बारी-बारीसे पैरोंको नीचे-ऊपर करे। इससे कटिदोष और यकृत्-प्लीहादिके विकार दूर होते हैं।

३४-भुजङ्गासन—पैरोंके पंजे उलटी ओरसे जमीनपर टिकाकर और हाथोंको भी भूमिपर जरा टेढ़े रखकर धड़को कमरसे भरसक भुजङ्गाकार पुनः-पुनः नीचे-ऊपर करे। इससे पेट, छाती, कमर, ऊरु, मेरुदण्ड आदि दोषरहित होते हैं।

३५-सरलहस्त भुजङ्गासन—हाथोंको जमीनपर सीधे रखकर और पैरोंको पीछेकी ओर ले जाकर दोनों हाथोंके बीच कमर आ जाय इस रीतिसे कमर झुकाकर छाती और गर्दन भरसक ऊपर उठाकर, सीधे आकाशकी ओर देखे। इससे पेटकी चरबी निकल जाती है और पेट, कमर तथा गर्दनके सब विकार दूर होते हैं।

३६-नौकासन—पेटके बल लेटकर और दोनों पैर भरसक ऊपर उठाकर नीचे-ऊपर करे। दोनों हाथ नितम्बपर नीचेकी ओर बँधे रखे। इससे हृदय, फेफड़े, छाती, मेरुदण्ड, ऊरु, टाँगें, गर्दन और पेट निर्दोष होते हैं।

३७-दोलासन—हाथ-पैर फैलाकर पेटके बल सीधे लेटे। हाथ-पैर भरसक ऊपर उठाकर शरीर ऐसा बना ले जैसी झोली हो। कुछ देर उसी स्थितिमें रहकर पुनः सीधा हो और पुनः वही क्रिया करे। इससे पेट, कमर, छाती, पीठ, रीढ़, ऊरु और बाहुमूल तनकर विकाररहित होते हैं।

३८-शलभासन—हाथ कमरके दोनों ओर रखकर पेटके बल सीधे लेटे, ठोड़ी जमीनपर टिकाये और कमरसे दोनों पैर भरसक ऊपर उठा रखे। पश्चात् पैरोंको नीचे लाकर पुनः ऊपर उठाये। इससे पेट, छाती, गर्दन और पैरोंके विकार दूर होंगे।

३९-पार्श्वासन—इसे बगलमार डंड भी कहते हैं। डंडके समान पहले कमर ऊँची रखकर दोनों हाथों और दोनों पैरोंके बीच एक-एक हाथका फासला रखे। अनन्तर शरीर जमीनमें बिना टिकाये, एक तरफसे सारा शरीर नीचे लाकर, सिरको जरा दूसरी ओर झुकाये। इसी प्रकार दूसरी तरफसे भी करे। इससे यकृत्-प्लीहादिके दोष नष्ट होते हैं।

४०-नासिकास्पृष्टजानु पार्श्वासन—ऊपर कहे-

३३-उत्थितैकपाद भुजङ्गासन

३४-भुजङ्गासन

३५-सरलहस्त भुजङ्गासन

३६-नौकासन

३७-दोलासन

३८-शलभासन

३९-पार्श्वासन

४०-नासिकास्पृष्टजानु पार्श्वासन

४१-धनुरासन

४२-पार्श्वचलित धनुरासन

४३-आकर्णधनुरासन

४९-वलितपाद सर्वाङ्गासन

४४-चतुष्पादासन

४५-मयूरासन

४७-शीर्षस्पृष्टपद्म हलासन

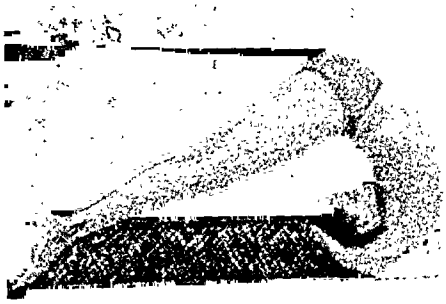

४६-शीर्षबद्धहस्त हलासन

५०-विवृत्तत्रिकासन

४८-प्रसृतहस्त वृश्चिकासन

५१-प्रसृतहस्त विवृत्तत्रिकासन ५२-शीर्षबद्धहस्त विवृत्तत्रिकासन ५३-ऊर्ध्वहस्त जानुभालासन ५४-भूमिस्पृष्टहस्त जानुभालासन

अनुसार, पर घुटनेको मोड़कर उसमें ललाट या नाक लगाये। एक तरफसे करके दूसरी तरफसे भी करे। इससे पेट, छाती, गर्दन आदि निर्दोष होते हैं।

४१-धनुरासन—पेटके बल लेटकर पीछेसे पैरोंके टखने पकड़कर खिंची कमानके समान बने। घुटने शुरू-शुरूमें नहीं जुटेंगे, इसलिये पहले घुटनोंको दूर रखकर ही यह आसन करना चाहिये। पीछे घुटने जोड़कर किया जा सकेगा। इससे पेट, कमर, रीढ़, छाती, गर्दन तथा ऊरुप्रदेश तनकर शुद्ध और बलवान् होते हैं।

४२-पार्श्वचलित धनुरासन—धनुरासनकी स्थितिमें ही दोनों ओर बार-बार लटकना। इससे बढ़ा हुआ पेट पचकता है।

४३-आकर्णधनुरासन—दोनों पैर फैलाकर बैठे। दायें हाथसे बायें पैरका और बायें हाथसे दायें पैरका अँगूठा पकड़कर, बायें पैरका अँगूठा दायें कानतक ले जाय। कुछ देर इसी स्थितिमें रहकर दायें पैरका अँगूठा बायें कानतक ले जाय। इससे पेट, पीठ और छातीके रोग दूर होते हैं।

४४-चतुष्पादासन—बंदरकी तरह हाथ-पैर सीधे रखकर चतुष्पाद होकर चले। नित्य पाँच मिनट ऐसा करनेसे कोष्ठकी बद्धता नष्ट होती है। पशुओंके जो मलोत्सर्गकी कोई शिकायत नहीं रहती, इसका कारण उनकी यही नैसर्गिक स्थिति है।

४५-मयूरासन—पहले पैरोंके अग्रभागोंपर, दोनों घुटने एक हाथके फासलेपर जमीनपर टिकाकर बैठे। अनन्तर हथेलियोंको जमीनपर टिकाकर केहुनियोंतक दोनों हाथ जुटाकर, केहुनियोंको नाभिसे जरा नीचे लगाये और पैर उठाकर सारा शरीर केहुनियोंपर तौले। शुरू-शुरूमें यह तौल रखना बहुत कठिन होगा, पर पीछे अभ्याससे सध जायगा। इससे कैसा भी अग्निमान्द्य हो नष्ट हो जाता है। भूख लगती है और मलोत्सर्गकी भी कोई शिकायत नहीं रहती।

सिरपर रखे। यह बहुत कठिन आसन है। इससे गले और छातीके सब रोग दूर होते हैं, कमर निर्दोष होती है और आयु भी बढ़ती है।

४८-प्रसृतहस्त वृश्चिकासन—जमीनपर पेटके बल लेटकर दोनों पैर भरसक ऊपर लाकर और मोड़कर सिरपर रखे। यह आसन बहुत कठिन है। इससे गले, छाती और कमरके सब रोग दूर होते हैं और आयु बढ़ती है।

४९-वलितपाद सर्वाङ्गासन—सारा शरीर पीछेसे गर्दनतक ऊपर उठाये। पीठको दोनों हाथोंका सहारा देकर पैरोंको भरसक घुमा ले। इससे गर्दन, छाती, कमर, पेट और हृदय शुद्ध तथा बलवान् बनते हैं। आयु-वृद्धि होती है।

५०-विवृत्तत्रिकासन—दोनों पाँवोंके बीच एक हाथका फासला रखकर खड़ा रहे और केहुनियोंसे मुड़े हुए दोनों हाथ कमरके दोनों ओरसे एक साथ आगे-पीछे घुमाये। इससे कमर और पेट शुद्ध होते हैं।

५१-प्रसृतहस्त विवृत्तत्रिकासन—ऊपर कहे-अनुसार ही पैर फैलाये हुए दोनों हाथ शरीरके दोनों ओरसे भरसक पीछेकी ओर मोड़े।

५२-शीर्षबद्धहस्त विवृत्तत्रिकासन—ऊपरकी तरह ही, पर सिरके पीछे हाथ बाँधे, कमरके ऊपरका भाग दोनों ओरसे घुमाये।

५३-ऊर्ध्वहस्त जानुभालासन—पाँव जोड़कर सीधा खड़ा रहे और घुटनोंको बिना झुकाये घुटनोंमें ललाट लगाये और दोनों जुटे हुए हाथ पीछेसे सिरकी ओर भरसक ले जाय।

५४-भूस्पृष्टहस्त जानुभालासन—खड़े होकर और कमरसे झुककर दोनों हथेलियाँ जुटे हुए पैरोंकी दोनों ओर भूमिपर टिकाये और घुटनोंको बिना झुकाये, सिर घुटनोंमें लगाये। इससे टाँग, कमर, पीठ और ऊरु विकाररहित होते हैं।

५५-पृष्ठबद्धहस्त जानुभालासन—कमरसे

५५-पृष्ठबद्धहस्त जानुभालासन

५६-ऊर्ध्वस्थित पृष्ठवक्रासन

५७-शुण्डासन

५८-अर्धचक्रासन

५९-चक्रासन

६०-भूस्पृष्टहस्त वृक्षासन

६१-पृष्ठवलित वृक्षासन

६२-पार्श्ववलित वृक्षासन

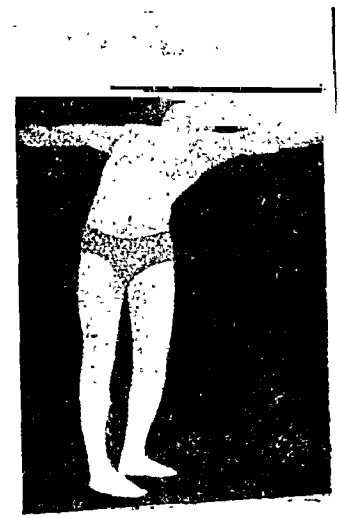

६३-पार्श्वपृष्ठवलित वृक्षासन

६४-मध्यम नौलि

६५-दक्षिण नौलि

६६-वाम नौलि

५७-शुण्डासन—सीधा खड़ा रहे और दोनों हाथ जोड़े हाथीकी सूँडके समान दोनों पैरोंके बीच भरसक ले जाय। इससे पेट, पीठ, छाती, कटि, ग्रीवा और पैरोंके विकार दूर होते हैं।

५८-अर्धचक्रासन—उपर्युक्त स्थितिमें ही हाथ ऊपर उठाकर, कमरसे झुककर, उन्हें भरसक पीछे ले जाय। इसी प्रकार हाथोंको शुण्डासनवत् फिर सामने लाकर पैरोंके बीच ले आये और ऊँचा करके फिर पीछे ले जाय। इससे कमरका विकार दूर होता है और पेट साफ होता है।

५९-चक्रासन—अर्धचक्रासनकी स्थितिमें ही पीछे जमीनतक झोंका देकर हाथ जमीनपर टिकाये और दोनों पैरोंको छूकर शरीरको एक पूरा चक्र बना दे। आसन कठिन है। इससे कमरका विकार दूर और पेट साफ होता है।

६०-भूस्पृष्टहस्त वृक्षासन—दोनों पाँवोंके बीच दो हाथोंका फासला रखे। सामनेसे एक हाथ झुकाकर पैरमें लगाये और दूसरा हाथ ऊपर सिरकी ओर ले जाकर उसकी ओर देखे। इसी प्रकार दूसरी तरफसे करे। इससे कमर, पेट, टाँगें और पसलियाँ शुद्ध होती हैं।

६१-पृष्ठवलित वृक्षासन—दोनों हाथ दो तरफ फैलाकर एक तरफसे ही शरीरको मोड़कर पीछेकी ओर झुके। इसी प्रकार दूसरी तरफसे शरीरको मोड़कर पीछेकी ओर झुके। इससे भी उपर्युक्त लाभ होते हैं।

६२-पार्श्ववलित वृक्षासन—सिरपर सीधे हाथ जोड़कर खड़ा रहे और दायें-बायें यथाशक्य झुके। इससे कमर और पसलियाँ शुद्ध होती हैं।

६३-पार्श्वपृष्ठवलित वृक्षासन—पीछेकी ओर झोंकसे एक हाथ जमीनमें लगानेका प्रयास करना और दूसरा हाथ ऊपर रखना। इसी प्रकार फिर हाथ बदलकर करना। इससे भी उपर्युक्त लाभ होते हैं।

६४-मध्यम नौलि—कमरसे झुककर दोनों घुटनोंपर दोनों हाथ रख, पेट अंदरकी ओर खींचकर, पीठके नल नीचे ढकेले माफिक करनेसे पेटके नल आप ही आगेको आते हैं। स्थूल शरीरसे, बिना पेटको पचकाये, यह क्रिया नहीं बन सकती। पेट पचकानेके लिये 'उड्डीयान' नितान्त आवश्यक है।

६५-दक्षिण नौलि—आगे आये हुए पेटके नल बायीं ओरका पेट अंदर खींचकर दायीं ओर ले जाय और तुरंत—

६६-वाम नौलि—दायीं ओरका पेट अंदर खींचकर वे ही नल दायीं ओरसे बायीं ओर ले आये। इस प्रकार पेटके नल दायीं ओरसे बायीं ओर कुछ देर एक-रंग चलाये जैसे मन्थनमें मथनी चलायी जाती है। इसी प्रकार फिर बायीं ओरसे दायीं ओर चलाये। जो नौलि करना जानता है उसे पेटका कोई रोग कभी नहीं हो सकता और जो रोग पहलेसे हों वे भी दो-चार महीनोंमें ही इससे बिना औषधके दूर हो जाते हैं। यह पूर्ण आनुभविक सत्य है।

कुछ उपयोगी बन्ध एवं मुद्राएँ

योग-साधनामें बन्धों एवं मुद्राओंका विशेषरूपसे उल्लेख आया है। इनमेंसे कुछ उपयोगी बन्धों एवं मुद्राओंका यहाँ संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

बन्ध

धीरे-धीरे ऊपरकी ओर खींचनेको मूलबन्ध कहते हैं। सिद्धासनके साथ यह बन्ध अच्छा लगता है। अन्य आसनोंके साथ एड़ीको सीवनीपर बिना लगाये हुए भी मूलबन्ध लगाया जा सकता है।

बन्धको लगाये रखनेका अभ्यास करना चाहिये।

२-उड्डीयान-बन्ध—दोनों जानुओंको मोड़कर पैरोंके तलुओंको परस्पर भिड़ाकर पेटके नाभिसे नीचे और ऊपरके आठ अंगुल हिस्सेको बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड (रीढ़की हड्डीसे) ऐसा लगा दे जिससे कि पेटके स्थानपर गड्ढा-सा दीखने लगे। पेटको अंदरकी ओर जितना अधिक खींचा जायगा, उतना ही अच्छा होगा। इसमें प्राण पक्षीके सदृश सुषुम्नाकी ओर उड़ने लगता है, इसलिये यह बन्ध उड्डीयान कहलाता है। इसे पैरोंके तलुओंको बिना भिड़ाये हुए भी किया जा सकता है।

फल—प्राण और वीर्यका ऊपरकी ओर दौड़ना, मन्दाग्नि-का नाश, क्षुधाकी वृद्धि, जठराग्निका प्रदीप्त और फेफड़ेका शक्तिशाली होना है।

३-जालन्धर-बन्ध—कण्ठको सिकोड़कर ठोढ़ीको दृढ़तापूर्वक कण्ठकूपमें इस प्रकार स्थापित करे कि हृदयसे ठोडीका अन्तर केवल चार अंगुलका रहे, सीना आगेकी ओर रहे। यह बन्ध कण्ठस्थानके नाड़ी-जालके समूहको बाँधे रखता है, इसलिये इसका नाम जालन्धर-बन्ध है।

फल—कण्ठका सुरीला, मधुर और आर्कषक होना, कण्ठके संकोचद्वारा इडा, पिङ्गला नाडियोंके बंद होनेपर प्राणका सुषुम्नामें प्रवेश करना है।

लगभग सभी आसन, मुद्राएँ और प्राणायाम मूलबन्ध और उड्डीयान-बन्धके साथ किये जाते हैं। राजयोगमें ध्यानावस्थामें जालन्धर-बन्ध लगानेकी बहुत कम आवश्यकता होती है।

४-महाबन्ध—महाबन्धकी दो विधियोंमें पहली विधि इस प्रकार है— बायें पैरकी एड़ीको गुदा और लिङ्गके मध्यभागमें जमाकर बायीं जंघाके ऊपर दाहिने पैरको रख, समसूत्रमें हो, वाम अथवा जिस नासारन्ध्रसे वायु चल रहा हो उससे ही पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगाये। फिर मूलद्वारसे वायुका ऊपरकी ओर आकर्षण करके मूलबन्ध लगाये। मनको मध्य नाड़ीमें लगाये हुए यथाशक्ति कुम्भक करे। तत्पश्चात् पूरकके विपरीतवाली नासिकासे धीरे-धीरे रेचन करे। इस प्रकार दोनों नासिकासे अनुलोम-विलोम-रीतिसे समान प्राणायाम करे। तथा दूसरी विधि इस प्रकार है—पद्म अथवा सिद्धासनसे बैठ, योनि और गुह्यप्रवेश सिकोड़, अपानवायुको ऊर्ध्वगामी कर, नाभिस्थ समान-वायुके साथ मिलाकर और हृदयस्थ प्राणवायुको अधोमुख करके प्राण और अपानवायुओंके साथ नाभिस्थलपर दृढ़रूपसे कुम्भक करे।

फल—प्राणका ऊर्ध्वगामी होना—वीर्यकी शुद्धि, इडा, पिङ्गला और सुषुम्नाका सङ्गम प्राप्त होना, बलकी वृद्धि आदि है।

५-महावेध—यह दो प्रकारसे किया जाता है, इसकी पहली विधि इस प्रकार है—महाबन्धकी प्रथम विधिके अनुसार मूलबन्धपूर्वक कुम्भक करके दोनों हाथोंकी हथेली भूमिमें दृढ़ स्थिर करके, हाथोंके बल ऊपर उठकर दोनों नितम्बोंको शनैः-शनैः ताड़ना दे और ऐसा ध्यान करे कि प्राण इडा, पिङ्गलाको छोड़कर कुण्डलिनी-शक्तिको जगाता हुआ सुषुम्नामें प्रवेश कर रहा है। तत्पश्चात् वायुको शनैः-शनैः महाबन्धकी विधिके अनुसार रेचन करे तथा दूसरी विधि इस प्रकार है—मूलबन्धके साथ पद्मासनसे बैठे, अपान और प्राणवायुको नाभिस्थानपर एक करके (मिलाकर) दोनों हाथोंको तानकर नितम्बोंसे मिलते हुए भूमिपर जमाकर नितम्बको आसनसहित उठा-उठाकर भूमिपर ताड़ित करते रहें।

फल—कुण्डलिनी-शक्तिका जाग्रत् होना, प्राणका सुषुम्नामें प्रवेश करना है। महाबन्ध, महावेध और महामुद्रा—तीनोंको मिलाकर करना अधिक फलदायक है।

मुद्रा

१-खेचरी मुद्रा—जीभको ऊपरकी ओर उलटी ले जाकर तालु-कुहर (जीभके ऊपर तालुके बीचका गढ़ा) में लगाये रखनेका नाम खेचरी-मुद्रा है। इसके निमित्त जिह्वाको बढ़ानेके तीन साधन किये जाते हैं—छेदन, चालन और दोहन।

(१) छेदन—जीभके नीचेके भागमें सूताकारवाली एक नाड़ी नीचेवाले दाँतोंकी जड़के साथ जीभको खींचे रखती है। इसलिये जीभको ऊपर चढ़ाना कठिन होता है। प्रथम इस नाड़ीके दाँतोंके निकटवाले एक ही स्थानपर स्फटिक (बिल्लौर) का धारवाला टुकड़ा प्रतिदिन प्रातःकाल चार-पाँच बार फेरते रहें। कुछ दिनोंतक ऐसा करनेके पश्चात् वह नाड़ी उस स्थानमें पूर्ण कट जायगी। इसी प्रकार क्रमशः उससे ऊपर-ऊपर एक-एक स्थानको जिह्वामूलतक काटते चले

जायँ। स्फटिक फेरनेके पश्चात् माजूफलका कपड़छान चूर्ण (टेरिन ऐसिड) जीभके ऊपर-नीचे तथा दाँतोंपर मलें और उन सब स्थानोंसे दूषित पानी निकलने दें। माजूफल-चूर्णके अभावमें अकरकरा, नून, हरीतकी और कत्थेका चूर्ण छेदन किये हुए स्थानपर लगाये। यह छेदन-विधि सबसे सुगम है और इससे किसी प्रकारकी हानि पहुँचनेकी सम्भावना नहीं है, यद्यपि इसमें समय अधिक लगेगा। साधारणतया छेदनका कार्य किसी धातुके तीक्ष्ण यन्त्रसे प्रति आठवें दिन उस शिराको बालके बराबर छेदकर घावपर कत्था और हरड़का चूर्ण लगाकर करते हैं। इसके छेदनके लिये नाखून काटनेवाला-जैसा एक तीक्ष्ण यन्त्र और खाल छीलनेके लिये एक दूसरे यन्त्रकी आवश्यकता होती है, जिससे कटा हुआ भाग फिर न जुड़ने पावे। इसमें नाड़ीके सम्पूर्ण अंशके एक साथ कट जानेसे वाक् तथा आस्वादन-शक्तिके नष्ट हो जानेका भय रहता है। इसलिये इसे किसी अभिज्ञ पुरुषकी सहायतासे करना चाहिये। छेदनकी आवश्यकता केवल उनको होती है, जिनकी जीभ और यह नाड़ी मोटी होती है। जिनकी जीभ लंबी और यह नाड़ी पतली होती है, उन्हें छेदनकी अधिक आवश्यकता नहीं है।

(२-३) चालन व दोहन—अँगूठे और तर्जनी अँगुलीसे अथवा बारीक वस्त्रसे जीभको पकड़कर चारों तरफ उलट-फेरकर हिलाने और खींचनेको चालन कहते हैं। मक्खन अथवा घी लगाकर दोनों हाथोंकी अँगुलियोंसे जीभका गायके स्तनदोहन-जैसे पुनः-पुनः धीरे-धीरे आकर्षण करनेकी क्रियाका नाम दोहन है।

निरन्तर अभ्यास करते रहनेसे अन्तिम अवस्थामें जीभ इतनी लम्बी हो सकती है कि नासिकाके ऊपर भ्रूमध्यतक पहुँच जाय। इस मुद्राका बड़ा महत्त्व बतलाया गया है, इससे ध्यानकी अवस्था परिपक्व करनेमें बड़ी सहायता मिलती है। जिह्वाओंके भी नाना प्रकारके भेद देखनेमें आये हैं। किसी जिह्वामें सूताकार नाड़ीके स्थानमें मोटा मांस होता है, जिसके काटनेमें अधिक कठिनाई होती है। किसी-किसी जिह्वामें न तो नाड़ी होती है, न मांस। उसमें छेदनकी आवश्यकता नहीं है। केवल चालन एवं दोहन होना चाहिये।

२-महामुद्रा—इसकी पहली विधि इस प्रकार है—मूलबन्ध लगाकर बायें पैरकी एड़ीसे सीवन (गुदा और अण्डकोषके मध्यका चार अँगुल स्थान) दबाये और दाहिने पैरको फैलाकर उसकी अँगुलियोंको दोनों हाथोंसे पकड़े। पाँच घर्षण करके बायीं नासिकासे पूरक करे और जालन्धर-बन्ध लगाये। फिर जालन्धर-बन्ध खोलकर दाहिनी नासिकासे रेचक करे। यह वामाङ्गकी मुद्रा समाप्त हुई। इसी प्रकार दक्षिणाङ्गमें इस मुद्राको करना चाहिये तथा दूसरी विधि इस प्रकार है—बायें पैरकी एड़ीको सीवन (गुदा और उपस्थके मध्यके चार अङ्गुल-भाग) में बलपूर्वक जमाकर दायें पैरको लम्बा फैलाये। फिर शनैः-शनैः पूरकके साथ मूल तथा जालन्धर-बन्ध लगाते हुए दायें पैरका अँगूठा पकड़कर मस्तकको दायें पैरके घुटनेपर जमाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। कुम्भकके समय पूरक की हुई वायुको कोष्ठमें शनैः-शनैः फुलावे और ऐसी भावना करे कि प्राण कुण्डलिनीको जाग्रत् करके सुषुम्नामें प्रवेश कर रहा है, तत्पश्चात् मस्तकको घुटनेसे शनैः-शनैः रेचक करते हुए उठाकर यथास्थितिमें बैठ जाय। इसी प्रकार दूसरे अङ्गसे करना चाहिये। प्राणायामकी संख्या एवं समय बढ़ाता रहे।

फल—मन्दाग्नि, अजीर्ण आदि उदरके रोगों तथा प्रमेहका नाश, क्षुधाकी वृद्धि और कुण्डलिनीका जाग्रत् होना है।

३-अश्विनी-मुद्रा—सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर योनिमण्डलको अश्वके सदृश पुनः-पुनः सिकोड़ना अश्विनीमुद्रा कहलाती है।

फल—यह मुद्रा प्राणके उत्थान और कुण्डलिनी-शक्तिके जाग्रत् करनेमें सहायक होती है। अपानवायुको शुद्ध और वीर्यवाही स्नायुओंको मजबूत करती है।

४-शक्तिचालिनी-मुद्रा—सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर हाथोंकी हथेलियाँ पृथ्वीपर जमा दे। बीस-पचीस बार शनैः-शनैः दोनों नितम्बोंको पृथ्वीसे उठा-उठाकर ताड़न करे। तत्पश्चात् मूलबन्ध लगाकर दोनों नासिकाओंसे अथवा वामसे अथवा जो स्वर चल रहा हो उस नासिकासे पूरक करके प्राणवायुको अपानवायुसे संयुक्त करके जालन्धर-बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। कुम्भकके समय अश्विनीमुद्रा करे अर्थात् गुह्य-प्रदेशका आकर्षण-विकर्षण करता रहे। तत्पश्चात् जालन्धर-बन्ध खोलकर यदि दोनों नासिकापुटसे पूरक किया हो तो दोनोंसे अथवा पूरकसे विपरीत

नासिकापुटसे रेचक करे और निर्विकार होकर एकाग्रतापूर्वक बैठ जाय।

घेरण्डसंहितामें इस मुद्राको करते समय बालिश्त-भर चौड़ा, चार अङ्गुल लंबा, कोमल, श्वेत और सूक्ष्म वस्त्र नाभिपर कटिसूत्रसे बाँधकर सारे शरीरपर भस्म मलकर करना बतलाया है।

फल—सर्वरोग-नाशक और स्वास्थ्यवर्धक होनेके अतिरिक्त कुण्डलिनी-शक्तिको जाग्रत् करनेमें अत्यन्त सहायक है। इससे साधक अवश्य लाभ प्राप्त करे।

५-योनिमुद्रा—सिद्धासनसे बैठ सम-सूत्र हो षण्मुखी मुद्रा लगाकर अर्थात् दोनों अँगूठोंसे दोनों कानोंको, दोनों तर्जनियोंसे दोनों नेत्रोंको, दोनों मध्यमाओंसे नाकके छिद्रोंको बंद करके और दोनों अनामिका एवं कनिष्ठिकाओंको दोनों ओठोंके पास रखकर काकी मुद्राद्वारा अर्थात् जिह्वाको कौएकी चोंचके सदृश बनाकर उसके द्वारा प्राणवायुको खींचकर अधोगत अपानवायुके साथ मिलाये। तत्पश्चात् ओ३म्का जाप ।। हुआ ऐसी भावना करे कि उसकी ध्वनिके साथ परस्पर ।। हुई वायु कुण्डलिनीको जाग्रत् करके षट्चक्रोंका भेदन करते हुए सहस्रदल-कमलमें जा रही है। इससे अन्तर्ज्योतिका साक्षात्कार होता है।

६-योगमुद्रा—मूलबन्धके साथ पद्मासनसे बैठकर प्रथम दोनों नासिकापुटोंसे पूरक करके जालन्धरबन्ध लगाये, तत्पश्चात् दोनों हाथोंको पीठके पीछे ले जाकर बायें हाथसे दायें हाथकी और दायें हाथसे बायें हाथकी कलाईको पकड़े, शरीरको आगे झुकाकर पेटके अंदर एड़ियोंको दबाते हुए सिरको जमीनपर लगा दे। इस प्रकार यथाशक्ति कुम्भक करनेके पश्चात् सिरको जमीनसे उठाकर जालन्धर-बन्ध खोलकर दोनों नासिकाओंसे रेचन करे।

फल—पेटके रोगोंको दूर करने और कुण्डलिनी-शक्तिको जाग्रत् करनेमें सहायक होती है।

७-शाम्भवी मुद्रा—मूल और उड्डीयानबन्धके साथ सिद्ध अथवा पद्मासनसे बैठकर नासिकाके अग्रभाग अथवा भ्रूमध्यमें दृष्टिको स्थिर करके ध्यान जमाना शाम्भवी मुद्रा कहलाती है

८-तड़ागी मुद्रा—तड़ाग (तालाब) के सदृश कोष्ठको वायुसे भरनेको तड़ागी मुद्रा कहते हैं। शवासनसे चित्त लेटकर जिस नासिकाका स्वर चल रहा हो, उससे पूरक करके तालाबके समान पेटको फैलाकर वायुसे भर ले। तत्पश्चात् कुम्भक करते हुए वायुको पेटमें इस प्रकार हिलावे जिस प्रकार तालाबका जल हिलता है। कुम्भकके पश्चात् सावधानीसे वायुका शनैः-शनैः रेचन कर दे, इससे पेटके सर्वरोग समूल नष्ट होते हैं।

९-विपरीतकरणीमुद्रा—शीर्षासन-कपालासन—पहिले जमीनपर मुलायम गोल लपेटा हुआ वस्त्र रखकर उसपर अपने मस्तकको रखे फिर दोनों हाथोंके तलोंको मस्तकके पीछे लगाकर शरीरको उलटा ऊपर उठाकर सीधा खड़ा कर दे। थोड़े ही प्रयत्नसे मूल और उड्डीयान स्वयं लग जाता है। यह मुद्रा पद्मासनके साथ भी की जा सकती है। इसको ऊर्ध्व-पद्मासन कहते हैं। आरम्भमें इसको दीवारके सहारे करनेमें आसानी होगी।

फल—वीर्यरक्षा, मस्तिष्क, नेत्र, हृदय तथा जठराग्निका बलवान् होना, प्राणकी गति स्थिर और शान्त होना, कब्ज, जुकाम, सिरदर्द आदिका दूर होना, रक्तका शुद्ध होना और कफके विकारका दूर होना है।

१०-उन्मनी मुद्रा—किसी सुख-आसनसे बैठकर आधी खुली हुई और आधी बंद आँखोंसे नासिकाके अग्रभागपर टकटकी लगाकर देखते रहना यह उन्मनी मुद्रा कहलाती है। इससे मन एकाग्र होता है।

जिनके राग, भय और क्रोधका नाश हो गया है और जो वेदके तत्त्वको समझ गये हैं ऐसे ही मननशील मुनिगण कल्पनासे और समस्त प्रपञ्चोंसे रहित अद्वय आत्माका दर्शन पाते हैं।—उपनिषद्

भगवान् श्रीविष्णुको प्रसन्न करना वास्तवमें बहुत कठिन कार्य नहीं है, क्योंकि वह सब भूतप्राणियोंका आत्मा और सर्वव्यापी है।—प्रह्लाद

प्राणायाम और उससे लाभ

(कविराज श्रीदाऊदयालजी गुप्त)

प्राणायामसे मनुष्य स्वस्थ एवं नीरोग रहकर दीर्घायु तथा मन और शक्तियोंपर विजय प्राप्त कर सकता है। मनका प्राणसे अनिष्ठ सम्बन्ध है। मनको रोकना अति कठिन है, पर प्राणके निरोध तथा वशीकारसे मनका निरोध एवं वशीकार सुगम हो जाता है, इसलिये प्राणायाम योगका आवश्यक साधन है। प्राणायाम सब दोषोंका नाशक है। जैसे अग्निके संयोगसे धातुओंके मल नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही इन्द्रियोंके समस्त दोष भी प्राणके नियमनसे नष्ट हो जाते हैं। चित्तकी वृत्तियाँ दोषोंसे ही विक्षिप्त होती हैं। प्राणायाम अन्तर्बाह्य सभी दोषोंको दूर करके चित्तको एकाग्र करनेमें समर्थ होता है।

प्राणायाम शरीरमें स्थित वायुओं-प्राणोंको नियन्त्रित करनेमें हितकर है। मनुष्य-शरीरमें वृत्तिके कार्य-भेदसे प्राणको मुख्यतया दस भिन्न-भिन्न नामोंसे विभक्त किया गया है। शरीरमें पाँच प्रधान प्राण—वायु हैं—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। पाँच ही उपवायु भी हैं—नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय। हृदयमें प्राण, गुदामें अपान, नाभिमें समान, कण्ठमें उदान और सम्पूर्ण शरीरमें व्यान-वायुकी स्थिति है। जो वायु जिस स्थानमें रहती है, वह उस स्थानका पूर्णरूपसे नियन्त्रण करती है। पाँच उपवायुओंमें नागका कार्य उद्‌गार (छींक आदि लाना) और कूर्मका उन्मीलन अथवा पलकोंको बंद करना है। कृकर क्षुधा-तृष्णादिमें और देवदत्त निद्रा-तन्द्रामें सहायक होता है। धनञ्जय वायु पोषणादि कार्य करते हुए सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त है।

शरीरमें बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं। उनमें बहत्तर प्रधान हैं और उनमें भी इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी नामकी दस विशेष नाड़ियाँ हैं। इन दसोंके केन्द्र-स्थानको नाड़ियोंका महाचक्र कहा जाता है। इन नाड़ियोंमें इडा बायीं ओर, पिंगला दायीं ओर तथा सुषुम्ना इन दोनोंके मध्यमें रहती है। बायें नेत्रमें गान्धारी, दायें नेत्रमें हस्तिजिह्वाका स्थान है। पूषा दायें कानमें और यशस्विनी बायें कानमें स्थित है। अलम्बुषा मुखमें, कुहू उपस्थमें और शंखिनी मूल (गुह्य) स्थानमें रहती है। इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियोंकी स्थिति प्राणमार्गमें है, ये प्राणायामकी प्रक्रियामें पूर्णरूपसे सहायक होती हैं। जीवात्मा शरीरकी सभी नाड़ियोंमें व्याप्त रहता हुआ भ्रमण करता है।

योगिजन प्राणायामका अभ्यास आरोग्यवृद्धि, मानसिक विकास, आत्मिक प्रगति और अनेक प्रकारकी आध्यात्मिक उन्नतिके लिये तो करते ही हैं, उससे मनोनिग्रह भी होता है। षट्‌चक्रों, सूक्ष्म ग्रन्थियों और उपत्यकाओंका जागरण होनेसे शरीरमें दिव्यताका समावेश होने लगता है। प्राणायामसे भूख-प्यासपर विजय और गर्मी-सर्दीपर नियन्त्रण होता है। परकाय-प्रवेश, आकाश-गमन, जलपर चलने, अग्निकी ज्वालाओंके मध्यसे निकलने तथा पूर्णतम सिद्धि प्राप्त करनेमें प्राणायामपूर्वक ध्यान-समाधिका प्रभाव स्पष्ट है।

प्राणायामकी प्रक्रियाद्वारा वायुतत्त्वसे विपुल शक्ति ग्रहण की जा सकती है। अनेक लोगोंकी मान्यता है कि वायुमें ऐसे सूक्ष्म जीवाणु भी होते हैं, जो दीर्घश्वासके समय शरीरमें प्रविष्ट होकर वहीं रह जाते हैं और वायुसे नाइट्रोजन खींचकर प्रोटीनके रूपमें परिवर्तित कर देते हैं। उनके अनुसार वायुके स्वस्थ वातावरणमें समाविष्ट वे जीवाणु ही प्राण हैं। कुछ अन्य मतमें श्वासके द्वारा जीवाणु ही ग्रहण नहीं होते, वरन् वायुमें स्थित कार्बन, हाइड्रोजन, नाइट्रोजन, कैल्शियम, मैग्नेशियम, पोटाशियम, सोडियम, फासफोरस, सल्फर, लौह, आयोडीन, क्लोरीन और सिल्कमके सूक्ष्म परमाणुओंके रूपमें उपयोगी खनिजों और रसायनोंकी तन्मात्राओंको भी ग्रहण करते हैं, जिनके द्वारा हमारे शरीरका पूर्ण पोषण होता है। उनके अनुसार उक्त शरीरोपयोगी द्रव्योंको ही प्राण समझना चाहिये।

अनेक वैज्ञानिक नलिकाविहीन अन्तःस्रावी ग्रन्थियोंके हारमोनको ही प्राणशक्ति मानते हैं। इनसे भिन्न वैज्ञानिकोंके मतमें प्राणायाम गहरे और लम्बे श्वासका व्यायाममात्र है, जिसके द्वारा विपुल आक्सीजन शोषित होती है। हमारे आचार्योंने प्राणको आक्सीजन, जीवाणु या रसायन नहीं माना है, क्योंकि उनके मतमें मनुष्य भौतिक, रासायनिक तत्त्वोंका पुतला मात्र न होकर मन, बुद्धि और चेतनायुक्त पञ्च भूतोंका संघात है। इस प्रकार प्राण विश्वव्यापी चेतन-शक्ति-विशेष है।

वेदोंने प्राणोंको मूल चेतना कहा है। अथर्ववेदके अनुसार प्राण ही विराट् और सबका प्रेरक है, इसलिये सभी प्राणायामके द्वारा उसकी उपासना करते हैं। वही सूर्य, चन्द्रमा, प्रजापति और सभी शक्तियोंका संचालक है। वही बल, वीर्य, उत्साह, प्रतिभा, तेज आदि सद्गुण और आयु है। प्राणके बिना जीवन नहीं रहता। बृहदारण्यक-उपनिषद्के अनुसार भी प्राण ही बल, अमृत, आयु तथा जीवन है। प्राणायामसे शरीरका कल्प (कायाकल्प) होकर उसके सभी विकार और मलिनता आदि दूर होकर तेजस्विताका समावेश होने लगता है। ऐसा मनुष्य मृत्युको जीत लेता है अर्थात् वह तभी मरता है, जब उसकी इच्छा होती है।

प्राणके विभिन्न भेद—

कुछ लोग प्राणको तीन प्रकारका मानते हैं—मन्द, मध्यम और गहन। जिन व्यक्तियोंमें मन्द प्राण होता है—उनके विचार टूटे-फूटे और अस्पष्ट होते हैं तथा शरीर भी निर्बल और रोगग्रस्त होता है। मन्द प्राणवाले व्यक्तियोंके मन-बुद्धि और शरीरमें सामान्यता होती है। वे किसीको अधिक प्रभावित करनेमें असमर्थ रहते हैं। इसके विपरीत गहन प्राणवाले व्यक्ति उत्कृष्ट विचारोंके होते हैं। उनका शरीर, मन, बुद्धि सभी कुछ स्वस्थ, सबल और तेजोयुक्त होता है। उनके व्यक्तित्वसे सभी प्रभावित होते हैं और अनुयायी बन जाते हैं। यह असम्भव नहीं है कि प्राणकी मन्दता या मध्यमताको बदला न जा सके। प्राणायामकी विभिन्न प्रक्रियाओं और उसके दीर्घकालीन अभ्याससे यह सब सम्भव है। प्राणकी गति अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी होती है। जब बाह्य प्राणका प्राणमय शरीर या ज्ञानेन्द्रियके द्वारा आकर्षण किया जाता है, तब बाहरसे खींचा हुआ नवीन प्राण शरीरमें प्रविष्ट होता है। वह उसकी अन्तर्मुखी गति है। वही प्राण जब निःश्वास आदिके द्वारा कर्मेन्द्रियके मार्गसे बाहर निकलता है, तब उसकी गति बहिर्मुखी कहलाती है। ज्ञानेन्द्रियद्वारा उसके अन्तर्मुखी प्रवाहका और कर्मेन्द्रियद्वारा बहिर्मुखी प्रवाहका सम्पादन होता है। अन्तर्मुखी प्रवाह सुषुम्नामें पहुँचता है और नाड़ी-केन्द्रोंमें संचित रहता है। जैसे ग्रहण किये गये अन्नका सार भाग शरीरमें रक्षित रहता है और निःसार भाग निःश्वासादिके द्वारा बाहर हो जाता है, वैसे ही प्राणका सार भाग प्राणमय शरीरमें एकत्र होता है, निःसार भाग निःश्वासादिके द्वारा बाहर हो जाता है। इन गतियोंमें गड़बड़ी होनेसे ही शरीर और मनकी अवस्थामें परिवर्तन आ जाता है, जिसे प्राणायामके द्वारा नियमित करना सहज कार्य है।

प्राणायामके रोगनाशक प्रभाव—

अनेक उपनिषदोंमें प्राणायामके रोगनाशक प्रभावोंपर प्रकाश डाला गया है। प्राणायामके अभ्याससे सभी रोग दूर हो जाते हैं। योगचूडामणि उपनिषद्में वर्णन आता है कि प्राणायामसे हिक्का, कास, श्वासरोग, सिर, नेत्र और कानकी वेदना तथा वायुके विकार नष्ट हो जाते हैं। अमृतनादोपनिषद्में प्राणायामके साधकको मृत्युसे परे कहा गया है। योगकुण्डल्युपनिषद्का कथन है कि उज्जायी प्राणायाम मस्तककी उष्णता, कण्ठमें स्थित कफ तथा अन्यान्य रोगोंको दूर करता है। शीतली प्राणायाम गुल्म, प्लीहा, पित्त, ज्वर, तृषादि विकारोंको दूर करता है। भस्त्रिका प्राणायाम कण्ठके दाहको दूर कर अग्नि बढ़ाता है, कुण्डलिनी जगाता है, पाप नष्ट करता है।

प्राणायामके अभ्यासका भेद—

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्में वर्णन है कि प्राणायामका साधक वायुजित्, इन्द्रियजित्, अल्पाहारी, स्वल्प निद्रावाला, तेजस्वी और शक्तिमान् होता है। नाभि-केन्द्रमें प्राणके धारणसे कुक्षिके रोगोंका नाश हो जाता है। लघु, मध्यम और दीर्घके भेदसे भी प्राणायामके तीन भेद होते हैं। लघु प्राणायामसे स्वेद, मध्यमसे कम्प और दीर्घसे विषादि दोष दूर होते हैं। इनके द्वारा प्राण वशमें हो जाते हैं। योगदर्शनके अनुसार प्राणायामकी तीन वृत्तियाँ होती हैं—बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्ति। देश, काल और संख्याके अनुसार उसे लंबा या हलका किया जा सकता है। श्वासको बाहर निकालकर वहीं रोके रखना और ध्यान रखना कि बाहर कितने समयतक ठहरता है, बाह्यवृत्ति है। इसमें वायुको रेचक करके बाहर रोकते हैं, इसलिये इसे रेचक भी कहते हैं।

स्वस्थ पुरुष सामान्यतः प्रति मिनट पंद्रह बार श्वास लेता है। उसे नियमित और स्वाभाविक रखनेसे ही मनुष्य अनेक प्रकारके दुर्विचारोंसे बचा रह सकता है। प्राणवायुका इस प्रकार नियमित और स्वाभाविक रहना अभ्यासकी ही दृढ़तापर

निर्भर है।

योगिजनोंने रेचक, पूरक और कुम्भकके भेदसे जो प्राणायाम कहे हैं, उन सबमें अधिक प्रभावशाली कुम्भक माना जाता है। कुम्भक दो प्रकारका होता है—बाह्य और आभ्यन्तर। कुम्भकके जो आठ प्रमुख भेद हैं, उनके नाम हैं—१-सहित, २-सूर्यभेदी, ३-उज्जायी, ४-शीतली, ५-भस्त्रिका, ६-भ्रामरी, ७-मूर्छा और ८-केवली। यदि इनका सम्यक् अभ्यास सिद्ध हो जाय तो फिर कुछ भी करना शेष नहीं रहता। यहाँ संक्षेपमें इनका वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है—

१-सहित कुम्भक—रेचक और पूरकके साथ कुम्भक प्राणायामका अभ्यास सहित 'कुम्भक' कहा जाता है। रेचक-पूरकका अभ्यास सिद्ध होनेपर कुम्भकके सिद्ध होनेमें कठिनाई नहीं होती। प्रारम्भमें बायीं नासासे पूरक, फिर कुम्भक और फिर दायीं नासासे रेचक करे। इसके बाद दायीं नासासे पूरक-कुम्भक और बायीं नासासे रेचक करे। इस अनुलोम-विलोमके अभ्याससे शरीरकी सभी नाड़ियोंका शोधन हो जाता है और वायुकी गति नियमित हो जाती है। जब इसका ठीक तरह अभ्यास हो जाता है, तब नासाके छिद्रोंको ढकनेके लिये अँगुलियाँ लगाना अपेक्षित नहीं रहता, उस स्थितिमें केवल कुम्भक ही किया जा सकता है। जबतक ऐसा न हो, तबतक बायीं नासाको कनिष्ठिका और अनामिकासे तथा दायीं नासाको अँगूठा मात्रसे ढकना चाहिये। प्राणायामके साथ प्रणवके जपका प्रभाव भी दूरगामी होता है। जो श्वास-प्रश्वास-क्रिया मन्त्रजपके साथ की जाती है, उसे 'सगर्भ कुम्भक' कहते हैं और बिना मन्त्रजपके की जानेवाली क्रिया 'निगर्भ कुम्भक' है।

आसनसे बैठकर दायीं नासासे धीरे-धीरे श्वास खींचे, श्वास खींचनेमें दसतक गिनती गिने और गर्दनको आगेकी ओर इतना झुकाये कि ठोडी हृदयपर जा लगे। ऐसा करनेसे कण्ठ संकुचित हो जायगा, बीसतक गिनती गिने, फिर दसतक गिनते हुए श्वास बायीं नासासे बाहर निकाले। धीरे-धीरे अभ्यास बढ़ानेसे शरीरसे पसीना निकलने लगेगा। इससे शरीरकी सभी नाड़ियोंका शोधन होता है। यह वातदोषों और कृमिजन्य विकारोंको नष्ट करती है, इससे जराका नाश होता है, मृत्युका भय मिट जाता है। इसके अभ्याससे प्राण सुषुम्नामें रहता है। इससे शरीरके पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश-तत्त्व सम-अवस्थामें आ जाते हैं।

३-उज्जायी कुम्भक—उज्जायी कुम्भकका अभ्यास सभी लोग आसानीसे कर सकते हैं। इसकी विधि यह है कि आसन लगाकर बैठे और दोनों नासा-छिद्रोंसे धीरे-धीरे वायु भीतर खींचे। इस तरह वायु खींचकर और भीतरी वायुको हृदय और कण्ठसे खींचकर मुखमें रोके। मुखका प्रक्षालन कर कुम्भक किये रहे। जालन्धरबन्ध भी लगाये। इससे क्रूर वायु, अग्निमान्द्य, कफके रोग, श्वास, कास, क्षय, ज्वर, प्लीहा तथा आमवात आदि रोग नष्ट होते हैं। पुरुषोंके प्रमेह-रोगमें भी यह प्राणायाम लाभकारी है। आन्तरिक वायु हृदय और कण्ठसे खींचनेकी विधि कठिन है, पर अभ्याससे यह सरल हो जाती है। नये साधकोंको आन्तरिक वायु न खींचते हुए इसका अभ्यास करना चाहिये। इसकी दूसरी विधि यह भी है कि मुख बंद कर दोनों नासा-छिद्रोंसे श्वास इस तरह खींचे कि वह शब्द करता हुआ हृदयसे कण्ठपर्यन्त भर जाय। इसमें भी गर्दन झुकाकर जालन्धरबन्ध करना चाहिये। बायीं नासासे वायु बाहर निकाले। यह अभ्यास चलते-फिरते, उठते-बैठते,

जाता है कि उनके द्वारा जानेवाली वायु छन-छन कर प्रविष्ट हो सके। सरल आसनसे बैठकर इसका अभ्यास किया जाता है। बाहरसे खींची गयी वायुको उदरमें भरकर कुछ समयतक रोककर दोनों नासाछिद्रोंसे बाहर निकाले। देरतक वायु भरनेकी क्रियाको अभ्याससे सिद्ध किया जाता है। इस कुम्भक प्राणायामके सिद्ध होनेपर शरीर स्वस्थ और रोगरहित हो जाता है। उदररोग नष्ट हो जाते हैं। अजीर्ण, उदरशूल, गुल्म आदिका इसके अभ्याससे शमन होता है। पित्तके विकार और पित्तज्वर नष्ट होते हैं। शरीरकी कान्ति बढ़ती है।

५-भस्त्रिका कुम्भक—यह बड़ा महत्त्वपूर्ण प्राणायाम है। सभी योगाचार्योंने इसका वर्णन किया है। इसमें बाहरी वायुको नासिकाके द्वारा लोहारकी धौंकनीके समान खींचकर उदरतक भरा जाता है। इस प्रकार प्राणायाममें पद्मासन लगाकर बैठे; गर्दन, कमर, मेरुदण्ड एक सीधमें रहें। तब मुखको बंदकर भीतर भरी वायु नासिकासे बाहर निकाले। फिर शब्द करते हुए वायु इस प्रकार खींचे कि कण्ठ-तालु और कपाल तथा हृदयको उसके स्पर्शका अनुभव हो। कुछ देर भीतर वायु रोककर बाहर निकाले। भीतर वायुके भरनेपर उसे धीरे-धीरे चलानेका अभ्यास करना चाहिये। इसमें दायीं नासासे वायु खींचकर पूरक करे और बायीं नासासे रेचककी विधिसे निकाले। इस क्रियामें आन्तरिक कुम्भक किया जाता है, बाहरी कुम्भक न करे। धीरे-धीरे श्वासकी गति बढ़नेपर यह लोहारकी धौंकनीके समान हो जाती है। इसलिये इसका नाम भस्त्रिका है। इसमें रेचक, पूरक दोनोंके वेगकी समानताका ध्यान रखना चाहिये। जितनी देरतक सुखपूर्वक हो सके, फेफड़ेको बाहरी वायुसे रहित करे। इससे श्वास-प्रश्वासकी स्वाभाविक स्थिति हो जाती है। भस्त्रिका कुम्भक तीन बार करे, जाड़ेकी ऋतुमें तीन बार और गर्मीकी ऋतुमें एक बार करे, क्योंकि इससे उष्णता बढ़ती है। यह प्राणायाम फुफ्फुसोंको शक्ति देता है, क्षयरोगका नाश करता है।

६-भ्रामरी कुम्भक—भ्रामरी कुम्भक प्राणायामका अभ्यास सरल है। इसके द्वारा कण्ठ और कानोंके अनेक रोग दूर होते हैं। श्रवणशक्तिको रोकनेमें इसका उल्लेखनीय उपयोग है। योगशास्त्रियोंने इसके अभ्यासका समय अर्धरात्रिको बताया है। घेरण्डसंहिताके अनुसार आधी रात बीत जानेपर जब किसी जीव-जन्तुका भी शब्द सुनायी न दे तब एकान्त स्थानमें जाकर इसका अभ्यास करना चाहिये। कानोंको अपने दोनों हाथोंसे बंद कर पूरकद्वारा बाह्य वायुको खींचकर रोके तो कानोंमें अनेक प्रकारके शब्द सुनायी देने लगेंगे। संहिताकारके अनुसार पहले झींगुरका शब्द, उसके बाद वंशीध्वनि फिर उत्तरोत्तर मेघगर्जन, बाजोंके बजनेकी झर्झर-ध्वनि, भौंरोंका गुंजन, घंटा-घड़ियाल, तुरही, भेरी, मृदंग, दुन्दुभी आदिका नाद सुनायी देता है। इन शब्दोंके श्रवणकी सिद्धि होनेपर अन्तमें अनाहत शब्द अपने अस्तित्वको मनमें विलीन कर एक प्रकारकी अद्भुत शान्ति उत्पन्न करनेमें समर्थ है। भ्रामरी कुम्भक प्राणायामके अभ्यासके लिये चित्तको एकाग्र और शान्तकर बैठना चाहिये। नेत्र बंदकर कानोंके छिद्रोंको रोक ले, जिससे बाहरका शब्द भीतर न प्रविष्ट हो। यदि कानके निचले लवको अंगुलीसे कानकी ओर दाब लिया जाय तो भी छिद्र आसानीसे बंद हो जाता है। अब नासिकासे धीरे-धीरे गहरा श्वास खींचकर उसे भीतर रोके, कुछ सेकेंड बाद बाहर निकाल दे। बार-बार करनेसे शब्द-श्रवणकी शक्ति बढ़ने लगती है। इसकी विधि यह भी है कि कानोंको बंदकर श्वास खींचे और कुम्भकके समय गलेसे गुंजनकी ध्वनि करते हुए ही श्वासको बाहर निकाल दे। इस पूरी क्रियामें मुखका बंद रहना आवश्यक है। चित्तको गुंजनकी ध्वनिपर केन्द्रित रखे, इस विधिसे भौंरोंके गूँजने-जैसी ध्वनि सुनायी देती है।

७-मूर्च्छा कुम्भक—मूर्च्छाका तात्पर्य है चैतन्यराहित्य। इस कुम्भक प्राणायामके द्वारा मनको विषय-विशेषमें विलीन कर दिया जाता है। इससे उसे बाह्य विषयोंका ज्ञान नहीं रहता। मुखके द्वारा साँस भीतर खींचे। पक्षीकी चोंच-जैसा आकार बना लिया जाता है। जिह्वाके द्वारा बाहरी वायु भीतर खींचा जाता है। वायुको यथासमय भीतर रोककर मन आत्मतत्त्वमें लीन किया जाता है। इस प्राणायामके अभ्याससे भोग और योग दोनोंकी सिद्धि होती है। पुरुष-रोगोंके रोगी इससे यथाशीघ्र स्वास्थ्यलाभ करते हैं। धातुरोग, प्रमेह, नपुंसकत्व आदि इससे ठीक होते हैं। भौंहोंके मध्य आज्ञाचक्रमें मनको तल्लीनकर परमात्म-चिन्तन करनेमें सुगमता होती है।

८-केवली कुम्भक—केवली कुम्भक प्राणायाममें दोनों

नासा-छिद्रोंसे वायु भीतर खींचकर उसे रोका जाता है, जितने समयतक रोकनेकी सामर्थ्य हो, उतनी देरतक वायुको रोकना चाहिये, फिर बाहर निकाल देना चाहिये। सबेरे, दोपहर, शामको और रातमें इसका अभ्यास किया जाता है। इस अभ्यासको तीन घंटेके अन्तरसे दिन-रातमें आठ बार भी किया जा सकता है। इसमें अजपागायत्रीका भी जप हो सकता है। श्वास-प्रश्वासमें 'ह' और 'स' की ध्वनि ही 'हंस'-मन्त्ररूप अजपागायत्रीका जप है। इससे प्राणकी गति नियन्त्रित रहती है। केवली कुम्भक प्राणायामसे शरीर स्वस्थ रहता है, आत्मानन्दकी प्राप्ति होती है। इससे साधककी इच्छित कामना सिद्ध होती है, क्योंकि प्राणशक्ति वशमें रहनेसे मनपर नियन्त्रण रहता है और साधक मोक्षानन्द प्राप्त करता है।

प्राणायामकी महत्ता और उसका प्रभाव

(स्वामी श्रीकुवलयानन्दजी कैवल्यधाम)

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति।
आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्यत्कर्म न सम्मतम्॥

'कुछ योगाचार्योंको प्राणायामके सिवा कोई दूसरा मलशोधक साधन अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि उनके मतमें प्राणायामसे ही शरीरके सारे मल सूख जाते हैं।'

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

(पा० यो० सू० २।५२)

'इससे (प्राणायामके साधनसे) ज्ञानरूप प्रकाशको रोक रखनेवाला आवरण नष्ट हो जाता है।'

तपो न परं प्राणायामात्, ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य। (व्यासभाष्य) 'प्राणायामसे बढ़कर कोई दूसरा तप नहीं है। इससे सारे मल धुल जाते हैं और ज्ञानरूप दीपशिखा प्रदीप्त हो जाती है।'

योगसाधनाके आठ अङ्ग हैं, जिनमें प्राणायाम चौथा सोपान है। आसन इसके पहले आता है और प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि पीछे। योगका उद्देश्य है शारीरिक एवं मानसिक समता* स्थापित करना, जिससे आत्मा शरीर और मनके दासत्वसे छूटकर अपनी अपरिच्छिन्न आनन्दमयी स्थितिको प्राप्त हो जाय। आसन शारीरिक क्रिया है और प्रत्याहार, धारणा आदि मानसिक साधन हैं। प्राणायामकी क्रिया उक्त दोनों प्रकारके साधनोंके बीचका साधन है। यह शारीरिक भी है और मानसिक भी, क्योंकि इससे शरीर और मन दोनोंका निग्रह होता है।

योगसाधनामें प्राणायामका विशेष महत्त्व है। शारीरिक दृष्टिसे प्राचीन कालके योगियोंने प्राणायामको इतना गौरव दिया है कि उनमेंसे कुछ लोगोंके मतमें तो शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये तथा उसमें जितने प्रकारके मल इकट्ठे हो सकते हैं उनको निकाल बाहर करनेके लिये किसी और मलशोधक क्रियाकी आवश्यकता ही नहीं है। उनके मतमें योगसाधनाके लिये जिस शारीरिक समताकी आवश्यकता है वह अकेले प्राणायामसे ही स्थापित हो सकती है। यदि प्राणायामपर आधुनिक दृष्टिसे विचार किया जाय तो हमें पता लगेगा कि प्राणायामसे हमारा सारा शरीर ओजस्वी हो सकता है और इस प्रकार हम शारीरिक समता प्राप्त करने तथा उसे कायम रखनेमें समर्थ हो सकते हैं। मानसिक समता स्थापित करनेमें भी प्राणायामको सहायक माना गया है। आधुनिक मानस-शास्त्रकोविदोंका मत है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, शोक, अनुताप आदि मनोविकार ही मानसिक शान्तिको भङ्ग करनेमें प्रबल हेतु हैं। ये विकार हमारे मनके उस स्तरमें उत्पन्न होते हैं जहाँ चेतनता अथवा ज्ञान अर्धजाग्रत् रहता है। प्राणायामके द्वारा हमारे मस्तिष्कके स्नायुजालपर तथा हमारे मनके बोधपूर्वक व्यापारोंपर ही हमारा अधिकार नहीं हो जाता, बल्कि उससे उपर्युक्त स्तरके भी द्वार खुल जाते हैं, जहाँ हमारा ज्ञान अर्धजाग्रत् रहता है, और उस स्तरपर हमारा अधिकार हो जाता है। यही कारण है कि प्राणायामका साधक अपने मनोविकारोंको दबाकर मानसिक

समता स्थापित करनेमें समर्थ होता है। ऊपरके उद्धरणोंमें इस मानसिक साम्यमें हलचल पैदा करनेवाले कारणोंको 'मल' कहा गया है, क्योंकि वे प्रकाश्यरूप आत्माको आच्छन्न कर देते हैं। इन मनोमलोंको धोने तथा आत्माको अपने निज स्वरूपमें स्थित करनेके लिये भगवान् पतञ्जलिने प्राणायामको ही साधन बतलाया है और भाष्यकार व्यासजीने भी उनका समर्थन किया है।

प्राणायामकी प्रक्रिया

शारीरिक दृष्टिसे प्राणायाममें केवल श्वासोपयोगी अङ्गोंका ही संचालन एवं व्यापार होता है। प्राणायामका अर्थ है श्वासकी गतिको कुछ कालके लिये रोक लेना। साधारण स्थितिमें श्वासोंकी चाल दस प्रकारकी होती है—पहले श्वासका भीतर जाना, फिर रुकना, फिर बाहर निकलना; फिर रुकना, फिर भीतर जाना, फिर रुकना, फिर बाहर निकलना इत्यादि। प्राणायाममें श्वास लेनेका यह सामान्य क्रम टूट जाता है। श्वास (वायुके भीतर जानेकी क्रिया) और प्रश्वास (बाहर जानेकी क्रिया) दोनों ही गहरे और लम्बे होते हैं और श्वासोंका विराम अर्थात् रुकना तो इतनी अधिक देरतक होता है कि उसके सामने सामान्य स्थितिमें हम जितने कालतक रुकते हैं वह तो नहींके समान और नगण्य ही है। योगकी भाषामें श्वास खींचनेको 'पूरक', बाहर निकालनेको 'रेचक' और रोक रखनेको 'कुम्भक' कहते हैं। प्राणायाम कई प्रकारके होते हैं और जितने प्रकारके प्राणायाम हैं,उन सबमें पूरक, रेचक और कुम्भक भी भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। पूरक नासिकासे करनेमें हम दाहिने छिद्रका अथवा बायेंका अथवा दोनोंका ही उपयोग कर सकते हैं। रेचक दोनों नासारन्ध्रोंसे अथवा एकसे ही करना चाहिये। कुम्भक पूरकके भी पीछे हो सकता है और रेचकके भी, अथवा दोनोंके ही पीछे न हो तो भी कोई आपत्ति नहीं। पूरक, कुम्भक और रेचकके इन्हीं भेदोंको लेकर प्राणायामके अनेक प्रकार हो गये हैं।

पूरक, कुम्भक और रेचक कितनी-कितनी देरतक होना चाहिये, इसका भी हिसाब रखा गया है। यह आवश्यक माना गया है कि जितनी देरतक पूरक किया जाय उससे चौगुना समय कुम्भकमें लगाना चाहिये और दूना समय रेचकमें [illegible] हिसाब यह है कि जितना समय परकमें लगाया जाय उससे दूना कुम्भकमें और उतना ही रेचकमें लगाया जाय। प्राणायामकी सामान्य प्रक्रियाका दिग्दर्शन कराकर अब हम प्राणायामसम्बन्धी उन खास बातोंपर विचार करेंगे जिनसे हम यह समझ सकेंगे कि प्राणायामका हमारे शरीरपर कैसा प्रभाव पड़ता है।

पूरक करते समय जब कि साँस अधिक-से-अधिक गहराईके साथ भीतर खींची जाती है तथा कुम्भकके समय भी, जिसमें बहुधा साँसको भीतर रोकना होता है, आगेकी पेटकी नसोंको सिकोड़कर रखा जाता है। उन्हें कभी फुलाकर आगेकी ओर नहीं बढ़ाया जाता। रेचक भी जिसमें साँसको अधिक-से-अधिक गहराईके साथ बाहर निकालना होता है, पेट और छातीको जोरसे सिकोड़नेसे ही बनता है। कुम्भक करते समय मूलबन्ध साधनेके लिये तो गुदाको सिकोड़ना पड़ता है और उड्डीयानबन्धके लिये पेटको भीतरकी ओर खींचा जाता है तथा जालन्धरबन्धके लिये ठोडीसे छातीको दबाया जाता है। प्राणायामके अभ्यासके लिये कोई-सा उपयुक्त आसन चुन लिया जाता है जिसमें सुखपूर्वक पालथी मारी जा सके और मेरुदण्ड सीधा रह सके।

एक विशेष प्रकारका प्राणायाम होता है जिसे भस्त्रिका प्राणायाम कहते हैं। उसके दो भाग होते हैं, जिनमेंसे दूसरे भागकी प्रक्रिया वही है जो ऊपर कही गयी है। पहले भागमें साँसको जल्दी-जल्दी बाहर निकालना होता है, यहाँतक कि एक मिनटमें २४० साँस बाहर आ जाते हैं। योगमें एक श्वासकी क्रिया होती है जिसे कपालभाति कहते हैं। भस्त्रिकाके पहले भागमें ठीक वैसी ही क्रिया की जाती है।

प्राणायामका शरीरपर प्रभाव

सामान्य शरीरविज्ञानमें मानवशरीरके अंदर काम करनेवाले भिन्न-भिन्न अङ्गसमूह हैं। इन अङ्गसमूहोंमें प्रधान ये हैं—स्नायुजाल (Nervous system), ग्रन्थिसमूह (Glandular system), श्वासोपयोगी अङ्गसमूह (Pespiratory system) रक्तवाह, अङ्गसमूह (Circulatory system) और आहारका परिपाक करनेवाला अङ्गसमूह (Digestive system)। इन सभीपर प्राणायामका गहरा प्रभाव पड़ता है। मलको बाहर निकालनेवाले अङ्गोंमें हम देखते हैं कि आँतें और गुर्दा तो पेटके अंदर हैं और फेफड़े

छातीके अंदर। साधारण तौरपर साँस लेनेमें उदरकी मांसपेशियाँ क्रमशः ऊपर और नीचेकी ओर जाती हैं, जिससे आँतों और गुर्देमें भी निरन्तर हलचल और हलकी-हलकी मालिश होती रहती है। प्राणायाममें पूरक एवं रेचक तथा कुम्भक करते समय यह हलचल और मालिश और भी स्पष्टरूपसे होने लगती है। इससे यदि कहीं रक्त जमा हो गया हो तो इस हलचलके कारण उसपर जोर पड़नेसे वह हट सकता है। यही नहीं, आँतों और गुर्देके व्यापारको नियन्त्रणमें रखनेवाले स्नायु और मांसपेशियाँ भी सुदृढ़ हो जाती हैं। इस प्रकार आँतों और गुर्देको प्राणायाम करते समय ही नहीं, बल्कि शेष समयमें भी लाभ पहुँचता है। स्नायु और मांसपेशियाँ जो एक बार मजबूत हो जाती हैं, वे फिर चिरकालतक मजबूत ही बनी रहती हैं और प्राणायामसे अधिक स्वस्थ हो जानेपर आँतें और गुर्दे अपना कार्य और भी सफलताके साथ करने लगते हैं।

यही हाल फेफड़ोंका है। श्वासकी क्रिया ठीक तरहसे चलती रहे, इसके लिये आवश्यकता है श्वासोपयोगी मांस-पेशियोंके सुदृढ़ होनेकी और फेफड़ोंके लचकदार होनेकी। शारीरिक दृष्टिसे प्राणायामके द्वारा इन मांसपेशियों और फेफड़ोंका संस्कार होता है। और कार्बनडाई आक्साइड नामक दूषित गैसका भी भलीभाँति निराकरण हो जाता है। इस प्रकार प्राणायाम आँतों, गुर्दे तथा फेफड़ोंके लिये, जो शरीरसे मलको निकाल बाहर करनेके तीन प्रधान अङ्ग हैं, बड़ी मूल्यवान् कसरत है।

आहारका परिपाक करनेवाले और रस बनानेवाले अङ्गोंपर भी प्राणायामका अच्छा असर पड़ता है। अन्न-जलके परिपाकमें आमाशय, उसके पृष्ठभागमें स्थित Pancreas नामक ग्रन्थि और यकृत् मुख्यरूपसे कार्य करते हैं। और प्राणायाममें इन सबकी कसरत होती है। क्योंकि प्राणायाममें उदर और वक्षःस्थलके बीचका स्नायु, जिसे अंग्रेजीमें Diaphragm कहते हैं और पेटकी मांसपेशियाँ, ये दोनों ही बारी-बारीसे खूब सिकुड़ते हैं और फिर ढीले पड़ जाते हैं, जिससे उपर्युक्त पाकोपयोगी अङ्गोंकी एक प्रकारसे मालिश हो जाती है। जिन्हें अग्निमान्द्य और बद्धकोष्ठताकी शिकायत रहती है, उनमेंसे अधिक लोगोंके जिगरमें सदा ही रक्त जमा रहता है और फलतः उसकी क्रिया दोषयुक्त होती है। इस रक्तसंचयको हटानेके लिये प्राणायाम एक उत्तम साधन है।

किसी भी मनुष्यके स्वास्थ्यके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसकी नाड़ियोंमें प्रवाहित होनेवाले रक्तको ऑक्सिजन प्रचुर मात्रामें मिलता रहे। योगशास्त्रमें बतायी हुई पद्धतिके अनुसार प्राणायाम करनेसे रक्तको जितना अधिक ऑक्सिजन मिल सकता है, उतना अन्य किसी व्यायामसे नहीं मिल सकता। इसका कारण यह नहीं कि प्राणायाम करते समय मनुष्य बहुत-सा ऑक्सिजन पचा लेता है, बल्कि उसके श्वासोपयोगी अङ्गसमूहका अच्छा व्यायाम हो जाता है।

जो लोग अपने श्वासकी क्रियाको ठीक करनेके लिये किसी प्रकारका अभ्यास नहीं करते, वे अपने फेफड़ोंके कुछ अंशोंसे ही साँस लेते हैं, शेष अंश निकम्मे रहते हैं। इस प्रकार निकम्मे रहनेवाले अंश बहुधा फेफड़ोंके अग्रभाग होते हैं। इन अग्रभागोंमें ही जो निकम्मे रहते हैं और जिनमें वायुका संचार अच्छी तरहसे नहीं होता, राजयक्ष्माके भयङ्कर कीटाणु बहुधा आश्रय पाकर बढ़ जाते हैं। यदि प्राणायामके द्वारा फेफड़ोंके प्रत्येक अंशसे काम लिया जाने लगे और उनका प्रत्येक छिद्र दिनमें कई बार शुद्ध हवासे धुल जाया करे तो फिर इन कीटाणुओंका आक्रमण असम्भव हो जायगा और श्वास-सम्बन्धी इन भयंकर रोगोंसे बचा जा सकता है।

प्राणायामके कारण पाकोपयोगी, श्वासोपयोगी एवं मलको बाहर निकालनेवाले अङ्गोंकी क्रिया ठीक होनेसे रक्त अच्छा बना रहेगा। यही रक्त विभक्त होकर शरीरके भिन्न-भिन्न अङ्गोंमें पहुँच जायगा। यह कार्य रक्तवाहक अङ्गोंका खासकर हृदयका है। रक्तसंचारसे सम्बन्ध रखनेवाला प्रधान अङ्ग हृदय है और प्राणायामके द्वारा उसके अधिक स्वस्थ हो जानेसे समस्त रक्तवाहक अङ्ग अच्छी तरहसे काम करने लगते हैं।

परंतु बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। भस्त्रिका प्राणायाममें, खासकर उस हिस्सेमें जो कपालभातिसे मिलता-जुलता है, वायवीय स्पन्दन प्रारम्भ होकर मानव-शरीरके प्रायः प्रत्येक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अङ्गको, यहाँतक कि नाड़ियों एवं सूक्ष्म शिराओंतकको हिला देते हैं। इस प्रकार प्राणायामसे सारे रक्तवाहक अङ्गसमूहकी कसरत एवं मालिश हो जाती है और वह ठीक तरहसे काम करनेके योग्य बन जाता है।

रक्तकी उत्तमता और उसके समस्त स्नायुओं और ग्रन्थियोंमें उचित मात्रामें विभक्त होनेपर ही इनकी स्वस्थता निर्भर है। प्राणायाममें विशेषकर भस्त्रिका प्राणायाममें रक्तकी गति बहुत तेज हो जाती है और रक्त भी उत्तम हो जाता है। इस प्रकार प्राणायामसे Endocrine ग्रन्थिसमूहको भी उत्तम और पहलेकी अपेक्षा प्रचुर रक्त मिलने लगता है, जिससे वे पहलेकी अपेक्षा अधिक स्वस्थ हो जाती हैं। इसी रीतिसे हम मस्तिष्क, मेरुदण्ड और इनकी नाड़ियों तथा अन्य सम्बन्धित नाड़ियोंको स्वस्थ बना सकते हैं।

सभी शरीरविज्ञानविशारदोंका इस विषयमें एक मत है कि साँस लेते समय मस्तिष्कमेंसे दूषित रक्त प्रवाहित होता है और शुद्ध रक्त उसमें संचरित होता है। यदि साँस गहरी हो तो दूषित रक्त एक साथ बह निकलता है और हृदयसे जो शुद्ध रक्त वहाँ आता है वह और भी सुन्दर आने लगे। प्राणायामकी यह विधि है कि उसमें साँस गहरे-से-गहरा लिया जाय, इसका परिणाम यह होता है कि मस्तिष्कसे सारा दूषित रक्त बह जाता है और हृदयका शुद्ध रक्त उसे अधिक मात्रामें मिलता है। योग उड्डीयानबन्धको हमारे सामने प्रस्तुत कर इस स्थितिको और भी स्पष्ट कर देनेकी चेष्टा करता है। इस उड्डीयानबन्धसे हमें इतना अधिक शुद्ध रक्त मिलता है, जितना किसी श्वास-सम्बन्धी व्यायामसे हमें नहीं मिल सकता। प्राणायामसे जो हमें तुरंत बल और नवीनता प्राप्त होती है उसका यही वैज्ञानिक कारण है।

मेरुदण्ड एवं उससे सम्बन्धित स्नायुओंके सम्बन्धमें हम देखते हैं कि इन अङ्गोंके चारों ओर रक्तकी गति साधारणतया मन्द होती है। प्राणायामसे इन अङ्गोंमें रक्तकी गति बढ़ जाती है और इस प्रकार इन अङ्गोंको स्वस्थ रखनेमें प्राणायाम सहायक होता है।

योगमें कुम्भक करते समय मूल, उड्डीयान और जालन्धर—तीन प्रकारके बन्ध करनेका उपदेश दिया गया है। इन बन्धोंका एक कालमें अभ्यास करनेसे पृष्ठवंशका, जिसके अंदर मेरुदण्ड स्थित है तथा तत्सम्बन्धित स्नायुओंका उत्तम रीतिसे व्यायाम हो जाता है। इन बन्धोंके करनेसे पृष्ठवंशको यथास्थान रखनेवाली मांसपेशियाँ, जिनमें तत्सम्बन्धित स्नायु भी रहते हैं, क्रमशः फैलती हैं और फिर सिमट जाती हैं, जिससे इन पेशियों तथा मेरुदण्ड एवं तत्सम्बन्धित स्नायुओंमें रक्तकी गति बढ़ जाती है। बन्ध यदि न किये जायँ तो भी प्राणायामकी सामान्य प्रक्रिया ही ऐसी है कि उससे पृष्ठवंशपर ऊपरकी ओर हलका-सा खिंचाव पड़ता है, जिससे मेरुदण्ड तथा तत्सम्बन्धित स्नायुओंको स्वस्थ रखनेमें सहायता मिलती है।

स्नायुजालके स्वास्थ्यपर अच्छा प्रभाव डालनेके लिये तो सबसे उत्तम प्राणायाम भस्त्रिका है। इस प्राणायाममें श्वासकी गति तेज होनेसे शरीरके प्रत्येक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अङ्गकी मालिश हो जाती है और इसका स्नायुजालपर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है।

निष्कर्षरूपमें कहा जा सकता है कि प्राणायाम हमारे शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये सर्वोत्तम व्यायाम है। इसीलिये भारतके प्राचीन योगाचार्य प्राणायामको शरीरकी प्रत्येक आभ्यन्तर क्रियाको स्वस्थ रखनेका एकमात्र साधन मानते थे। उनमेंसे कुछ तो प्राणायामको शरीरका स्वास्थ्य ठीक रखनेमें इतना सहायक मानते हैं कि वे इसके लिये अन्य किसी साधनकी आवश्यकता ही नहीं समझते। प्राणायामसे शरीरकी आभ्यन्तर क्रियाओंका नियन्त्रण ही नहीं होता, अपितु इस शरीरयन्त्रको जीवन देनेवाले प्रत्येक व्यापारपर अधिकार हो जाता है।

श्वाससम्बन्धी व्यायामोंसे श्वासोपयोगी अङ्गसमूहको तो लाभ होता ही है, किंतु उनका असली महत्त्व तो इस बातको लेकर है कि उनसे अन्य अङ्गसमूहोंको भी, खासकर स्नायुजालको विशेष लाभ पहुँचता है।

आध्यात्मिक शास्त्रोंके श्रवण, भगवान्‌के नाम-कीर्तन, मनकी सरलता, सत्पुरुषोंका समागम, देहाभिमानके त्यागका अभ्यास—इन भागवत-धर्मोंके आचरणसे मनुष्यका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, फिर वह अनायास ही भगवान्‌में आसक्त हो जाता है।—श्रीमद्भागवत

योगासन और व्यायाममें अन्तर

(डॉ० श्री आर० सी० वर्मा)

प्रायः सामान्य लोग योगासनोंको शारीरिक व्यायामका ही एक अङ्ग मानते हैं और उन्हें शरीरको पुष्ट करनेका साधनमात्र समझते हैं, किंतु योगासन और व्यायामके परिणाममें पर्याप्त अन्तर दीखता है।

योगासन मानसिक और शारीरिक विकास करते हैं, इनसे मानसिक और शारीरिक स्थिरता प्राप्त होती है। परंतु व्यायामसे केवल शरीरके विशेष अङ्गोंका ही विकास होता है और व्यायामके अभ्यासके व्यतिक्रमसे विपरीत परिणाम भी प्राप्त होते हैं। आसनोंके अभ्याससे सम्पूर्ण मस्तिष्कके केन्द्र (हायर एन्ड लोवर सेन्टर्स आफ ब्रेन) का उपयोग तल्लीनता और एकाग्रताके लिये किया जाता है। आसन धीरे-धीरे बड़ी सावधानीसे ध्यानपूर्वक, बिना झटकेके कम-से-कम शक्तिका उपयोग करते हुए किये जाते हैं और उनके अभ्यासके द्वारा पूर्ण एकाग्रताके लिये प्रयत्न किया जाता है। चित्तकी यही एकाग्रता प्राणायाम, धारणा एवं ध्यानको दृढ़ करती हुई समाधिके द्वारा सहज स्वरूपावस्थातक पहुँचा देती है। व्यायाममें मस्तिष्कके सूक्ष्म केन्द्र (हायर सेन्टर्स) निरुपयोगी रहते हैं, व्यायाम जल्दी-जल्दी झटकेके साथ बार-बार किये जाते हैं और उनमें शक्तिका उपयोग भी अधिक होता है तथा स्थितिके अनेक आवर्तन होते हैं। व्यायाममें यद्यपि बलवृद्धि तथा स्वास्थ्य दृढ़ होता है, किंतु चित्त एकाग्र तथा सात्त्विकताकी ओर उन्मुख न होकर संसारकी ओर प्रवृत्त होता है। इसके विपरीत योगासनोंसे शरीर-स्वास्थ्यके साथ-ही-साथ साधककी प्रवृत्ति भी अन्तर्मुखी हो जाती है।

आसनोंका अभ्यास करनेके पहले शरीर और मनकी शुद्धि बहुत आवश्यक है, शरीरको शौच-स्नान आदिसे शुद्ध और स्फूर्तिमय किया जाता है। आसनोंका अभ्यास करते समय शरीरके भीतर होनेवाली गतिविधियोंपर ध्यान एकाग्र किया जाता है, इससे मनको स्थिर और निर्दोष बनानेमें बड़ी सहायता मिलती है। इसके विपरीत व्यायामके लिये शरीरकी शुद्धिपर विशेष बल नहीं दिया जाता। मन और ध्यानकी स्थिरता और एकाग्रताके अभावमें भी व्यायामोंका अभ्यास किया जाता है। शरीर स्वचालित यन्त्रकी भाँति व्यायाममें तत्पर रहता है।

योगासनोंके अभ्याससे शरीरमें लोच बढ़ती है। शरीरकी ग्रन्थियों और जोड़ोंमें विशेष गतिशीलता आती है, मांसपेशियोंका विकास आवश्यकतासे अधिक नहीं होता है, न उनमें ऐसी विशेष ताकत आती है और न मजबूती ही, जिससे कि शरीरका विकास अवरुद्ध हो जाय, परंतु व्यायामसे शरीरमें कठोरता बढ़ती है, कड़ापन आता है, शरीरके जोड़ोंकी स्वाभाविक गतिशीलतामें क्षीणता उत्पन्न होती है, शरीरकी मांसपेशियाँ अधिक परिपक्व और कठोर होती हैं तथा मानसिक शक्तिके स्थानपर विशेषरूपसे शरीरका बल अधिक बढ़ता है।

योगासनोंके द्वारा शरीरमें प्राण-शक्तिका संचय होता है। शरीरमें स्फूर्ति बढ़ती है, ओज एवं कान्तिकी अभिवृद्धि होती है। दैनिक कार्योंको पूरा करनेमें शरीर स्वस्थ और समर्थ होता है, आलस्य दूर होता है। किंतु व्यायाममें प्राणशक्तिकी विशेष अभिवृद्धि न होकर ह्रासकी सम्भावना रहती है, जिससे शरीरमें शैथिल्य आ जाता है और बहुत देरतक विश्राम करनेकी इच्छा होती है, आलस्य बढ़ता है।

आसनोंका अभ्यास करनेवालोंके लिये यह आवश्यक है कि उनका आहार अल्प एवं सात्त्विक हो; क्योंकि सात्त्विक आहार-विहारसे योगसाधनामें विशेष लाभ होता है। योगासनोंका अभ्यास बालक, युवक, प्रौढ़ और वृद्ध सभी कर सकते हैं। किंतु व्यायाममें शक्तिकी अधिक अपेक्षा होनेसे विशेषरूपसे युवक ही कर सकते हैं। चूँकि व्यायाममें शारीरिक पुष्टतापर अधिक ध्यान दिया जाता है, अतः भोज्य पदार्थोंका कोई विशेष विधि-निषेध नहीं देखा जाता।

योगासनोंके अभ्यासके बाद शान्ति, संतोष तथा सुखका अनुभव होने लगता है और साधककी आध्यात्मिक शक्ति बढ़ती है। हृदयमें उच्च रक्तचाप और फेफड़ों आदिकी गतिमें संतुलन, समभाव प्राप्त होता है। प्रचुर मात्रामें प्राणवायुकी प्राप्ति होती है। इन योगासनोंके अभ्यासके लिये न किन्हीं बाह्य साधनोंकी विशेष आवश्यकता होती है और न अर्थकी अपेक्षा होती है। अतः ये सबके लिये सुलभ हैं, इसके विपरीत व्यायाममें शारीरिक परिश्रम अधिक होता है। अतः शैथिल्य आने लगता है, व्यायामके द्वारा हृदय और फेफड़ोंकी गतिमें तथा रक्तकी गतिमें असंतुलन-सा प्रतीत होता है। प्राणवायुकी

क्षीणता बढ़ती है और व्यायाम करनेवाला हाँफने लगता है। भारतीय पद्धतिके व्यायामोंमें तो कम पर अन्य पाश्चात्त्य पद्धतिके व्यायामोंमें बाह्य साधन आवश्यक होते हैं। वे अर्थसाध्य भी होते हैं। संगीत आदिकी धुनोंपर किये जानेवाले व्यायामोंसे लाभकी अपेक्षा हानिकी ही अधिक सम्भावना रहती है।

भारतीय योगपद्धतिका लक्ष्य चित्तकी वृत्तियोंको सर्वथा निरुद्धकर साधकको परमात्मलाभकी स्थितिमें पहुँचाना है। इस साधना-मार्गमें आसनोंके माध्यमसे स्थैर्य प्राप्त कर, प्राणायामसे प्राणशक्तिका नियमन कर इष्टकी धारणापूर्वक ध्यान-समाधिमें स्थित होना और अन्तमें सहजावस्था-प्राप्तितकका क्रम निर्दिष्ट है। इस क्रम-मार्गमें योगासन ही मूलभूत साधन है। केवल शारीरिक शक्तिकी अभिवृद्धिमें सहयोगी व्यायामोंका इस साधनापद्धतिमें कोई विशिष्ट स्थान नहीं है।

कल्याणकारी साधकको यथासाध्य अपनी प्रकृति एवं शारीरिक क्षमताके आधारपर किसी योग्य कर्मठ सिद्ध योगसाधकका आश्रयण लेकर योगासनोंके अभ्यासपूर्वक स्वाभीष्टदेवका निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये।

रोगोंका यौगिक निदान एवं चिकित्सा

(श्रीसोमचैतन्यजी श्रीवास्तव)

आरोग्य मनुष्य-जीवनमें प्राप्तव्य चारों पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका मूल है। योग-साधनामें भी व्याधिको योगका सर्वप्रमुख विघ्न माना गया है। अतएव लौकिक या अलौकिक पुरुषार्थके सम्पादनमें समर्थ बने रहनेके लिये आरोग्यवान्—आधि-व्याधिशून्य बने रहना अत्यन्त आवश्यक है। आयुर्वेदके अनुसार स्वस्थ पुरुषका लक्षण है आत्मा, मन एवं इन्द्रियोंके प्रसन्न रहनेके साथ-साथ शरीरस्थित दोष—अग्नि, धातु, मल एवं क्रियाओंका सम-अवस्थामें रहना।

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

समत्व ही योगका एवं सृष्टिव्यवस्थाका मूल आधार है। विषमतासे ही विकारकी उत्पत्ति होती है। सूक्ष्मदृष्टि रखनेवाले ऋषि एवं योगिगण केवल शारीरिक रोग एवं बाह्य वैषम्यपर ही नहीं; अपितु इनके उत्पादक सूक्ष्म शरीरके वैषम्यको भी दृष्टिमें रखते थे तथा उस विषमताको भी उत्पन्न करनेवाले कारणोंको दूरकर शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक तीनों प्रकारके स्वास्थ्य-लाभका उपदेश देते रहे हैं। स्वास्थ्यके विकार कर्मदोष, दुर्वृत्त, प्रज्ञाविकार, रजोगुण एवं तमोगुणका प्रभाव, शरीरगत पञ्चभूतोंमेंसे किन्हींका क्षय, श्वास-प्रक्रियामें विपर्यय, वातादिदोषोंकी वृद्धि, अपथ्य-भोजन आदि कारणोंसे होते हैं। आयुर्वेदिक दृष्टिसे व्यक्ति या जनपदमें होनेवाले व्याधि—दुःखका कारण प्रज्ञाविकार है। बुद्धि शरीर-सत्ताकी संचालिका है। बुद्धिमें लोभ, मोह, क्रोध, अभिमान आदिकी उत्पत्ति होनेसे व्यक्ति अधर्माचरण करने लगता है। अतः उस अधर्माचरणके फलस्वरूप नाना प्रकारकी व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनसे सभी व्यक्ति दुःखी होते हैं। व्यक्तिगत अधर्माचरणका फल व्यक्तिको व्याधिके रूपमें मिलता है एवं समूहरूपमें किये गये अधर्मका फल जाति, समुदाय, ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र एवं विश्वको व्यापक व्याधियों एवं अन्य उपद्रवोंके रूपमें मिलता है। मनुष्य मन्द, मध्य, तीव्र मात्रामें जैसी भावनासे जिन-जिन अङ्गोंसे दुष्टाचरण करता है या करवाता है, उसी मात्रामें उसी भावनाके अनुकूल उन-उन अङ्गोंमें उसे दुःखोंकी प्राप्ति होती है, यह दुःख इस जन्ममें अनुष्ठित या पूर्वजन्ममें कृत दोनों प्रकारके कर्मोंके फलके रूपमें प्राप्त होता है। भगवान् मनुने दुराचारको सततव्याधि, अल्पायु एवं दुःखका कारण माना है तथा जडत्व, मूकत्व, अन्धत्व, वधिरत्व, विकृत आकृति आदिको कर्मविशेषका दुष्परिणाम कहा है। उनका यह भी कहना है कि असत्यवादी, हिंसाप्रेमी एवं निन्दित कर्मका आचरण करनेवाले अधार्मिक जन कभी सुखी नहीं रहते। स्वाध्यायका परित्याग कर ज्ञानानुकूल आचरण न करनेसे, सदाचारका त्याग करनेसे, आलस्य एवं प्रमादयुक्त रहनेसे तथा अन्न-दोषके कारण मृत्यु प्राणियोंका संहार करती है।

अतएव सुखी एवं स्वस्थ रहनेके लिये यह आवश्यक है

कि बुद्धिको दोषोंके मूलकारण लोभ, मोह, क्रोधसे रहित बनाया जाय। शास्त्राभ्यास, गायत्रीजप एवं ब्रह्म-ध्यानके द्वारा बुद्धिको निर्मल, पवित्र एवं ज्ञानयुक्त बनाया जाय। बुद्धिके पवित्र एवं सत्यज्ञानयुक्त होनेपर आचरण भी ज्ञानानुकूल, उत्तम, शास्त्रानुमोदित एवं पवित्र ही होगा। कर्मको ही दुःखका हेतु जानकर धर्मशास्त्रोंमें सदाचार एवं दुराचारकी—उत्तम कर्म एवं निन्दित कर्मकी विस्तारपूर्वक विवेचना की गयी है तथा सुखप्राप्तिके हेतु सदैव शास्त्रविहित मङ्गलकर्मोंको ही अनुष्ठित करनेका उपदेश दिया गया है। मनुष्योंको तीव्र दुःख देनेवाले निन्दित कर्मोंका स्पष्ट ज्ञान हो, इसीलिये विस्तारके साथ महापातकों एवं उपपातकोंकी गणना की गयी है तथा भूलकर भी इन पाप-कर्मोंका चिन्तन और अनुष्ठान न करनेका विधान किया गया है। यहाँतक कि इन पापकर्म करनेवालोंके संसर्गसे भी बचनेका उपदेश दिया गया है। यदि कभी प्रमादसे निन्दित आचरण हो भी जाय तो उसके प्रभावसे मुक्त होनेके लिये तथा उक्त पापकर्मजनित संस्कारोंको दूर करनेके लिये तत्काल प्रायश्चित्त कर्म करनेका विधान किया गया है। इन्द्रियभोगोंमें अधिक प्रसक्तिको भी मनुने प्रायश्चित्तके योग्य कर्म माना है—

अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः॥

(११।४४)

अतः व्याधि आदिके दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिये यह आवश्यक है कि आसक्ति एवं फलाकाङ्क्षाका त्यागकर सदैव शास्त्रविहित कर्म किये जायँ। योगियोंके कर्म सदैव शुभाशुभकी वासना, फलकी कामना एवं आसक्तिसे रहित होते हैं, अतएव वे कर्माशयसे रहित होनेके कारण भविष्यमें सुख-दुःखरूप फलको उत्पन्न नहीं करते। पातञ्जल योगसूत्रमें योगियोंके कर्मको अशुक्ल-अकृष्ण कहा गया है। इसके साथ ही शास्त्राभ्यास, सत्सङ्ग, श्रवण एवं मननके द्वारा सम्यग्दृष्टि प्राप्त करनी चाहिये, जिससे संसारमें पाप-कर्मके फलस्वरूप नाना प्रकारके रोगों एवं दुःखोंसे पीड़ित प्राणियोंको दुःखकर पापकर्मकी चेष्टा एवं वासनासे विरक्त रखा जा सके।

दार्शनिक दृष्टिसे विचार करनेपर व्याधि एवं दुःखोंका कारण रजोगुण एवं तमोगुण है। सत्त्वगुणका स्वभाव ज्ञान, प्रकाश, लघुता एवं आमय (रोग) रहित होता है। अतः योगी सत्त्वगुणमें स्थित होकर ही व्याधि एवं अन्य त्रिविध तापों तथा योगविघ्नोंपर विजय प्राप्त करता है। तमोगुणका दमन रजोगुणात्मक ध्यानसे एवं रजोगुणका शमन सत्त्वगुणात्मक ध्यानसे होता है।

वराहोपनिषद्ने पञ्चभूतोंकी दृष्टिसे जीवनका वर्णन किया है तथा देह-क्षयका निवारण करनेके लिये 'भूतधारणा' की विधिका उपदेश दिया है। इस उपनिषद्का कहना है कि इस पाञ्चभौतिक शरीरमें काठिन्य पृथ्वीका, द्रवत्व जलका, तेज एवं दीपन अग्निका, गति एवं प्रसार वायुका और सत्त्व आकाशका गुण है। पृथ्वीतत्त्वके क्षीण होनेपर शरीरके मांस आदि कठिन अंश क्षीण हो जाते हैं एवं शरीरपर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं। जलतत्त्व क्षीण होनेपर शुष्कता आती है एवं केश सफेद हो जाते हैं। अग्नितत्त्वके क्षीण होनेपर क्षुधा और कान्तिका नाश हो जाता है। वायुतत्त्वके क्षीण होनेपर शरीरमें वेपथु (कम्पन) होता है तथा आकाश-तत्त्वके क्षीण होनेपर मृत्यु हो जाती है। भूत-धारणाका अभ्यास करनेपर प्रत्येक भूतके सूक्ष्म अंश शरीरमें निवास करते हैं, जिससे शरीर सदैव स्वस्थ वलीपलितरहित तथा तेज, शक्ति, पुष्टि, कान्ति एवं सत्त्वसे युक्त रहता है। पञ्चभूतोंकी धारणा सभी प्राचीन योग-विधियोंका आवश्यक अङ्ग थी।

इस विश्वके स्रष्टा एवं नियन्ता ईश्वर स्वयं इस पिण्डरूप लघु ब्रह्माण्डके हृदयमें अन्तर्यामी-रूपसे अवस्थित होकर इसे नियन्त्रित कर रहे हैं। शरीरके विभिन्न अङ्गोंमें तथा मन, प्राण एवं इन्द्रियोंमें भी तत्तत् स्थानों एवं उनकी शक्तियोंके स्वामी देवगण उन-उन स्थानोंमें निवास करते हुए सतत अप्रमत्त रहकर अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। अतएव स्वस्थ एवं सुखी रहनेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य सृष्टिमें सभीके साथ आत्मभाव स्थापित करे तथा परब्रह्म एवं देवोंकी विशेषरूपसे आराधना करे। इसके लिये उसे ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ एवं भूतयज्ञ—इन पाँच महायज्ञोंका नित्य अनुष्ठान करना चाहिये। राजर्षि मनुका कथन है कि जो लोग मङ्गलाचारसे युक्त हैं, जिनका चित्त, बुद्धि और आचार शुद्ध एवं पवित्र हैं, जो नित्य ओंकार या महाव्याहृतिपूर्वक गायत्री आदि मन्त्रोंका जप करनेवाले हैं तथा नित्य होमकर्म-द्वारा देवताओंको प्रसन्न करनेवाले हैं, उन्हें कभी कोई रोग,

विपत्ति आदि विघ्न नहीं होते—

मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम्।
जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते॥

(मनु० ४। १४६)

हठयोगके अनुसार भौतिक शरीरके दोषोंको दूर करनेके लिये एवं स्वस्थ बने रहनेके लिये षट्कर्म, आसन, प्राणायाम, मुद्रा, धारणा एवं ध्यानका आलम्बन लेना चाहिये। षट्कर्मका उपयोग प्रवृद्ध कफ-दोषको दूर करके वात, पित्त एवं कफ—इन तीनों दोषोंको समभावमें स्थापित करनेके लिये होता है। यदि कफ-दोष बढ़ा न हो तो, जिस अङ्गमें विकार या अशक्ति प्रतीत हो, उसी अङ्गको बलवान् बनाने या उक्त अङ्गसे विकारको दूर करनेके लिये षट्कर्मोंमेंसे यथावश्यक दो या तीन या चार कर्मोंका अभ्यास करना चाहिये। धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलिक एवं कपालभाति—इन छः क्रियाओंको षट्कर्म कहते हैं। धौति कर्म कण्ठसे आमाशयतकके मार्गको स्वच्छ करके सभी प्रकारके कफ-रोगोंका नाश कर देता है। यह विशेषरूपसे कफप्रधान कास, श्वास, प्लीहा एवं कुष्ठरोगमें लाभकारी है। वस्ति-कर्मद्वारा गुदामार्ग एवं छोटी आँतके निचले हिस्सेकी सफाई हो जाती है। इससे अपानवायु एवं मलान्त्रके विकारसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंका शमन हो जाता है। आँतोंकी गर्मी शान्त होती है, कोष्ठबद्धता दूर होती है। आँतोंमें स्थित—संचित दोष नष्ट होते हैं। जठराग्निकी वृद्धि होती है। अनेक उदररोग नष्ट होते हैं। वस्तिकर्म करनेसे वात-पित्त एवं कफसे उत्पन्न अनेक रोग तथा गुल्म, प्लीहा और जलोदर दूर होते हैं। नेतिकर्म नासिकामार्गको स्वच्छ कर कपाल-शोधनका कार्य करता है। यह विशेषरूपसे नेत्रोंको उत्तम दृष्टि प्रदान करता है और गलेसे ऊपर होनेवाले दाँत, मुख, जिह्वा, कर्ण एवं शिरोरोगोंको नष्ट करता है। त्राटक-कर्मद्वारा नेत्रोंके अनेक रोग नष्ट होते हैं एवं तन्द्रा, आलस्य आदि दोष नष्ट होते हैं। उदर-रोग एवं अन्य सभी दोषोंका नाश करनेके लिये नेति प्रमुख है। यह मन्दाग्निको नष्टकर जठराग्निकी वृद्धि करता है तथा भुक्तान्नको सुन्दर प्रकारसे पचानेकी शक्ति प्रदान करता है। इसका अभ्यास करनेसे वातादि दोषोंका शमन होनेसे चित्त सदा प्रसन्न रहता है। कपालभाति विशेषरूपसे कफ-दोषका शोषण करनेवाली है। षट्कर्मोंका अभ्यास करनेसे जब शरीरान्तर्गत कफ-दोष—मलादिक क्षीण हो जाते हैं, तब प्राणायामका अभ्यास करनेसे अधिक शीघ्र सफलता मिलती है।

जिन्हें पित्तकी अधिक शिकायत रहती है, उनके लिये गजकर्णी या कुंजल-क्रिया लाभदायक रहती है। इस क्रियामें प्रातःकाल शौचादिसे निवृत्त होनेके बाद पर्याप्त मात्रामें नमकमिश्रित कुनकुना जल पीकर फिर वमन कर दिया जाता है। इससे आमाशयस्थ पित्तका शोधन होता है। जिन्हें मन्दाग्निकी शिकायत है या जिनका स्वास्थ्य उत्तम भोजन करनेपर भी सुधरता नहीं है, उन्हें अग्निसार नामक क्रियाका अभ्यास करना चाहिये। इस क्रियामें नाभिग्रन्थिको बार-बार मेरु-पृष्ठमें लगाना होता है। एक सौ बार लगा सकनेका अभ्यास हो जानेपर समझना चाहिये कि इस क्रियामें परिपक्वता प्राप्त हो गयी है, यह सभी प्रकारके उदर-रोगोंको दूर करनेमें सहायक है।

आसनका अभ्यास शरीरसे जडता, आलस्य एवं चञ्चलताको दूर कर सम्पूर्ण स्नायु-संस्थान एवं प्रत्येक अङ्गको पुष्ट बनानेके लिये होता है। इसके अभ्याससे शरीरके अङ्गोंके सभी भागोंमें एवं सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाड़ियोंमें रक्त पहुँचता है, सभी ग्रन्थियाँ सुचारुरूपसे कार्य करती हैं। स्नायु-संस्थान बलवान् हो जानेपर साधक काम, क्रोध, भय आदिके आवेगोंको सहनेमें समर्थ होता है। वह मानस-रोगी नहीं बनता। शरीरका स्वास्थ्य मस्तिष्क, मेरुदण्ड, स्नायु-संस्थान हृदय एवं फेफड़े तथा उदरके बलवान् होनेपर निर्भर है। अतः आसनोंका चुनाव इनपर पड़नेवाले प्रभावोंको दृष्टिमें रखकर करना चाहिये। जिसका जो अङ्ग कमजोर हो उसे सार्वाङ्गिक व्यायामके आसनोंका अभ्यास करनेके साथ-साथ उन दुर्बल अङ्गोंको पुष्ट करनेवाले आसनोंका अभ्यास विशेषरूपसे करना चाहिये। ध्यानके उपयोगी पद्मासन आदिको सर्वरोगनाशक इसलिये कहा जाता है कि इन आसनोंसे ध्यान या जपमें बैठनेपर शरीरमें साम्यभाव, निश्चलता, शान्ति आदि गुण आ जाते हैं, जो भौतिक स्तरपर सत्त्वगुणकी वृद्धि करनेमें सहायक होते हैं। आरोग्यकी दृष्टिसे किये जानेवाले आसनोंमें पश्चिमोत्तान, मत्स्येन्द्र, गोरक्ष, सर्वाङ्ग, मयूर, भुजंग, शलभ, धनु, कुक्कुट, आकर्षणधनु एवं पद्म-आसन मुख्य हैं।

आसनोंको शनैः-शनैः किया जाय, जिससे अङ्गों एवं

स्वास्थ्य-लाभके लिये उपयोगी है। इनमेंसे नभोमुद्रा एवं माण्डूकीमुद्रा तालुस्थित अमृतपानमें सहायक होनेके कारण सभी रोगोंका नाश करनेवाली है। आश्विनी मुद्रा गुह्यरोगोंका नाश करनेवाली, अकालमृत्युको दूर करनेवाली तथा बल एवं पुष्टिको प्रदान करनेवाली है। पाशिनी मुद्रासे बल एवं पुष्टिकी प्राप्ति होती है। तड़ागी मुद्रा एवं भुजंगिनी मुद्रा—ये दोनों ही उदरके अजीर्णादि रोगोंको नष्टकर दीर्घ जीवन प्रदान करती हैं।

रोगोंको दूर करनेमें ध्यान अथवा चिन्तनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। ध्यानसे शरीर, प्राण, मन, हृदय एवं बुद्धिमें शान्ति, पवित्रता एवं निर्मलता आती है। 'सदा प्राणिमात्रके कल्याणका विचार करनेसे एवं सभी सुखी हों, नीरोग हों, शान्त हों'—इस प्रकारकी भावनाओंकी तरंगोंको सभी दिशाओंमें प्रसारित करनेसे स्वयंको सुख तथा शान्तिकी प्राप्ति होती है। व्यक्ति जैसा चिन्तन करता है, प्रायः वह वैसा बन जाता है। 'मैं नीरोग हूँ, स्वस्थ हूँ'—ऐसा चिन्तन निरन्तर दृढ़तापूर्वक करते रहनेसे आरोग्य बना रहता है। इसे आत्मसम्मोहन 'ऑटो सजेशन' की विधि कहते हैं। इसी प्रकार प्रबल संकल्पशक्तिके द्वारा अपने या दूसरेके रोगोंको भी दूर किया जाता है। रोगनिवारणके लिये प्रमुख बात यह है कि रोग होनेपर उसका चिन्तन ही न करे, उसकी परवाह ही न करे। रोगका चिन्तन करनेसे रोग बद्धमूल हो जाता है एवं व्यक्तिका मनोबल दुर्बल हो जाता है। मानसिक रोगोंका संकल्पशक्ति एवं प्रज्ञाबलसे निवारण करना चाहिये एवं शारीरिक रोगोंका औषधोंसे। इन रोगोंके उन्मूलनमें यौगिक साधनोंका अद्भुत योगदान रहा है।

शारीरिक एवं मानसिक रोगोंसे मुक्ति चाहनेवालोंको योग-क्रियाओंका अभ्यास करनेके साथ-साथ रोगोत्पादक सभी मूल कारणोंका त्याग करना चाहिये तथा अपने लिये अनुकूल एवं चिकित्साशास्त्रद्वारा निर्दिष्ट सात्त्विक पथ्य, सदाचार एवं सत्कर्मका सेवन करना चाहिये। यथासम्भव अनिष्ट-चिन्तनसे बचना चाहिये तथा चित्तको राग-द्वेष-मोहादि दोषोंसे दूर करना चाहिये। सम्पूर्ण दुःखोंका मूल कारण तमोगुणजनित अज्ञान, लोभ, क्रोध तथा मोह है। त्रिगुणके प्रभाव तथा अज्ञानके बन्धनसे मुक्त होनेका एकमात्र उपाय योग है तथा योग-बलसे भी बड़ी शक्ति है भगवान्‌की अनुग्रह शक्ति।

अतएव अहंता-ममताका त्याग करके भगवच्चरणोंका एकमात्र आश्रय लेकर योगसाधना करनेसे शारीरिक व्याधिके साथ-साथ त्रिविध ताप एवं भवव्याधि भी कट जाती है। और ऐसा साधक पूर्णतम आनन्दको प्राप्त करनेमें सर्वथा समर्थ हो जाता है।

योगसाधनाका प्राण ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य अथवा इन्द्रियनिग्रह योगसाधनाका अपर पर्याय या प्राण है। विवेकके साम्राज्यमें अथवा साधना-क्षेत्रमें इसीका नाम प्रथम आता है। ब्रह्म या भगवान्‌की प्राप्तिकी ओर चलनेसे ही इसका नाम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचारी अमर होता है और उसे ही भगवत्प्राप्ति होती है। अतः भगवद्दर्शन या स्वरूपस्थितितक विशुद्ध ब्रह्मचर्यका पालन आवश्यक है। ब्रह्मचर्याश्रम सबसे प्रथम एवं सभी आश्रमोंकी आधारभित्ति भी माना गया है। पूर्ण ब्रह्मचर्यकी सिद्धि तभी है जब ईश्वरका साक्षात्कार हो जाय—

'परं दृष्ट्वा निवर्तते।' (गीता)

काम और उसके साधनभूत स्त्री आदि इसमें सर्वाधिक बाधक तत्त्व हैं। कामका मूल संकल्प है। महाभारत शान्तिपर्वके मङ्कि-आख्यानमें महर्षि मङ्कि कामसे कहते हैं—हे काम! मैं तुम्हारा मूल जानता हूँ। तुम संकल्पसे ही उत्पन्न होते हो। अब मैं संकल्प ही नहीं करूँगा, तब तुम उत्पन्न कहाँसे होगे?—

काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे।
संकल्पं न करिष्यामि ततस्त्वं न भविष्यसि॥

कामने शिव-विजयके लिये जब अपनी मायाका विस्तार किया, तब विवेककी सेना भाग खड़ी हुई। वहाँ ब्रह्मचर्यको ही विवेककी सेनाका प्रधान सेनापति कहा गया है—

ब्रह्मचर्ज ब्रत संजम नाना। धीरज धरम ग्यान बिग्याना॥
सदाचार जप जोग बिरागा। सभय बिबेक कटकु सबु भागा॥
(मानस)

ब्रह्मचर्यके आठ अङ्ग हैं—स्त्रियोंके दर्शनसे दूर रहना, उनके स्पर्शसे बचना, उन्हें स्मरण न करना, उनसे कभी सरस

वार्तालाप न करना, उनसे मनोविनोद न करना, उनके विषयमें ध्यानपूर्वक चिन्तन न करना, एकान्तमें न मिलना और उनसे शारीरिक सम्बन्ध स्थापित न करना। इसके विपरीत भगवान्‌से सभी प्रकारका सम्पर्क स्थापित करना ही सभी दृष्टियोंसे हितकर है।

ब्रह्मचर्यकी महिमापर श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणादिमें पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। वैदिक साहित्यमें ब्रह्मचर्यका अद्भुत महत्त्व दृष्टिगत होता है। ऋग्वेदमें दो सूक्त तथा अथर्ववेदके ग्यारहवें काण्डका पाँचवाँ सूक्त ब्रह्मचर्य-सूक्त है। इसमें अनेक मन्त्रोंमें ब्रह्मचारीकी अद्भुत महिमा है। वहाँ ब्रह्मचर्यको ही जगत् एवं विश्व-सञ्चालन कार्यका आधार माना गया है—

'ब्रह्मचारी···· स दाधार पृथिवीं दिवं च।'

(अथर्व० ११।५।१)

इसी सूक्तके पाँचवें मन्त्रमें ब्रह्मचारीको राजासे भी श्रेष्ठ कहा गया है। राजा ब्रह्मचर्यके द्वारा राष्ट्रका संरक्षण-संवर्धन करता है और ब्रह्मचर्यसे देवोंने अमरत्व प्राप्त कर मृत्युको जीत लिया है—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत॥

(११।५।१७—१९)

शतपथब्राह्मण (११।३।३) तथा गोपथब्राह्मण (२।६) ब्रह्मचारी ब्राह्मण ही हैं। इनमें बतलाया गया है कि ब्रह्मने मृत्युके हाथ सारी प्रजाको दे दिया, किंतु एक ब्रह्मचारीको नहीं दिया—

'ब्रह्म वै मृत्यवे प्रजाः प्रायच्छत्, तस्मै ब्रह्मचारिणमेव न प्रायच्छत्।'

(शतपथब्रा० ११।३।३।१, गोपथ०)

ब्रह्मचारीको निरालस्य तथा नृत्य-गीतादिका परित्यागी होना चाहिये—

'न गायनो न नर्तनो न सरणः।'

(गोपथ० २।७)

छान्दोग्य० (२।२३।१) में ब्रह्मचारीको अमर कहा गया है—**'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।'** इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद्‌में ब्रह्मचर्यसे भगवत्प्राप्ति एवं परमात्म-साक्षात्कार होनेकी स्थिति स्पष्ट है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

योगदर्शनमें ब्रह्मचर्यसे समस्त सिद्धियोंकी प्राप्तिकी बात कही गयी है। योगवार्तिककार श्रीविज्ञानभिक्षुने इसकी अत्यन्त विस्तृत व्याख्या की है। वाचस्पति मिश्रने केवल ब्रह्मचर्यसे अणिमा, महिमा आदि सिद्धियों एवं तारादि अष्टसिद्धियोंके मिलनेकी बात लिखी है—

'अणिमादीनुपचिनोति, सिद्धश्च तारादिभिरष्टाभिः सिद्धिभिरूहाद्यपर नामभिरुपेतः।'

(तत्त्ववैशारदीव्याख्या-योगदर्शन, साधनपाद, सूत्र ३८)

इसी प्रकार सांख्यकारिका २३के माठरभाष्यमें ब्रह्मचर्य शब्दकी सर्वोत्तम व्याख्या मिलती है।

ब्रह्मचर्य-महिमा एवं उसकी उपयोगिताका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। हरिवंशपुराण, पद्मपुराण, स्कन्दपुराण, श्रीमद्भागवत, वाल्मीकीय रामायण, महाभारत आदिके अतिरिक्त विविध स्मृतियों, नीतिग्रन्थों तथा भावप्रकाश, अष्टाङ्गहृदय आदि आयुर्वेद-ग्रन्थोंमें भी ब्रह्मचर्यकी महिमापर अनेकों वचन मिलते हैं। पाश्चात्त्य साहित्यमें कई जगह तथा विशेष रूपसे श्री वी० ए० स्मिथके 'इनसाईक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एंड एथिक्स' आदिमें भी इसके महत्त्वको प्रदर्शित करनेवाले कई उदाहरण हैं। मनुष्यके दैनिक जीवनमें भी इसका महत्त्व सर्वविदित है। अतः योगसाधकोंको एवं सर्व-साधारणको इस ब्रह्मचर्यका पालनकर आत्मकल्याण एवं परमात्म-साक्षात्कारकी दिशामें अग्रसर होना चाहिये।

संतोष हुए बिना कामनाका नाश नहीं होता और कामना रहते कभी स्वप्नमें भी सुख नहीं हो सकता, कामना श्रीरामके भजन बिना नहीं मिटती।—गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी

मनके अहंकारको छोड़कर ऐसी जवान बोलनी चाहिये, जिससे दूसरोंको भी शान्ति पहुँचे और अपनेको भी शान्ति मिले।—संत कबीर जी

स्वर-विज्ञान और बिना औषध रोगनाशके उपाय

(परिव्राजकाचार्य परमहंस श्रीमत्स्वामी निगमानन्दजी सरस्वती)

विश्वपिता विधाताने मनुष्यके जन्मके समयमें ही देहके साथ एक ऐसा आश्चर्यजनक कौशलपूर्ण अपूर्व उपाय रच दिया है, जिसे जान लेनेपर सांसारिक, वैषयिक किसी भी कार्यमें असफलताका दुःख नहीं हो सकता। हम इस अपूर्व कौशलको नहीं जानते, इसी कारण हमारा कार्य असफल हो जाता है, आशा भङ्ग हो जाती है, हमें मनस्ताप और रोग भोगना पड़ता है। यह विषय जिस शास्त्रमें है, उसे स्वरोदय-शास्त्र कहते हैं। यह स्वरशास्त्र जैसा दुर्लभ है, स्वरज्ञ गुरुका भी उतना ही अभाव है। स्वरशास्त्र प्रत्यक्ष फल देनेवाला है। मुझे पद-पदपर इसका प्रत्यक्ष फल देखकर आश्चर्यचकित होना पड़ा है। समग्र स्वरशास्त्रको ठीक-ठीक लिपिबद्ध करना बिलकुल असम्भव है। केवल साधकोंके कामकी कुछ बातें यहाँ संक्षेपमें दी जा रही हैं।

स्वरशास्त्र सीखनेके लिये श्वास-प्रश्वासकी गतिके सम्बन्धमें सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

कायानगरमध्ये तु मारुतः क्षितिपालकः।

'देहरूपी नगरमें वायु राजाके समान है।' प्राणवायु 'निःश्वास' और 'प्रश्वास'—इन दो नामोंसे पुकारा जाता है। वायु ग्रहण करनेका नाम 'निःश्वास' और वायुके परित्याग करनेका नाम 'प्रश्वास' है। जीवके जन्मसे मृत्युके अन्तिम क्षणतक निरन्तर श्वास-प्रश्वासकी क्रिया होती रहती है। यह निःश्वास नासिकाके दोनों छेदोंसे एक ही समय एक साथ समानरूपसे नहीं चला करता, कभी बायें और कभी दाहिने पुटसे चलता है। कभी-कभी एकाध घड़ीतक एक ही समय दोनों नाकोंसे समानभावसे श्वास प्रवाहित होता है।

बायें नासापुटके श्वासको इडामें चलना, दाहिनी नासिकाके श्वासको पिंगलामें चलना और दोनों पुटोंसे एक समान चलनेपर उसे सुषुम्नामें चलना कहते हैं। एक नासापुटको दबाकर दूसरेके द्वारा श्वासको बाहर निकालनेपर यह साफ मालूम हो जाता है कि एक नासिकासे सरलतापूर्वक श्वास-प्रवाह चल रहा है और दूसरा नासापुट मानो बंद है, अर्थात् उससे दूसरी नासिकाकी तरह सरलतापूर्वक श्वास बाहर नहीं निकलता। जिस नासिकासे सरलतापूर्वक श्वास बाहर निकलता हो, उस समय उसी नासिकाका श्वास कहना चाहिये। किस नासिकासे श्वास बाहर निकल रहा है, इसको पाठक उपर्युक्त प्रकारसे समझ सकते हैं। क्रमशः अभ्यास होनेपर बहुत आसानीसे मालूम होने लगता है कि किस नासिकासे निःश्वास प्रवाहित होता है। प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्योदयके समयसे ढाई-ढाई घड़ीके हिसाबसे एक-एक नासिकासे श्वास चलता है। इस प्रकार रात-दिनमें बारह बार बायीं और बारह बार दाहिनी नासिकासे क्रमानुसार श्वास चलता है। किस दिन किस नासिकासे पहले श्वास-क्रिया होती है, इसका एक निर्दिष्ट नियम है। यथा—

आदौ चन्द्रः सिते पक्षे भास्करस्तु सितेतरे।
प्रतिपत्तो दिनान्याहुस्त्रीणि त्रीणि क्रमोदये॥

(पवनविजयस्वरोदय)

शुक्लपक्षकी प्रतिपदा तिथिसे तीन-तीन दिनकी बारीसे चन्द्र अर्थात् बायीं नासिकासे तथा कृष्णपक्षकी प्रतिपदा तिथिसे तीन-तीन दिनकी बारीसे सूर्यनाडी अर्थात् दाहिनी नासिकासे पहले श्वास प्रवाहित होता है। अर्थात् शुक्लपक्षकी प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, पूर्णिमा—इन नौ दिनोंमें प्रातःकाल सूर्योदयके समय पहले बायीं नासिकासे तथा चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, दशमी, एकादशी, द्वादशी—इन छः दिनोंको प्रातःकाल पहले दाहिनी नासिकासे श्वास चलना आरम्भ होता है और वह ढाई घड़ीतक रहता है। उसके बाद दूसरी नासिकासे श्वास जारी होता है। कृष्णपक्षकी प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, त्रयोदशी, चतुर्दशी, अमावास्या—इन नौ दिनोंमें सूर्योदयके समय पहले दाहिनी नासिकासे तथा चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, दशमी, एकादशी, द्वादशी—इन छः दिनोंमें सूर्यके उदयकालमें पहले बायीं नासिकासे श्वास आरम्भ होता है और ढाई घड़ीके बाद दूसरी नासिकासे चलता है। इस प्रकार नियमपूर्वक ढाई-ढाई घड़ीतक एक-एक नासिकासे श्वास चलता है। यही मनुष्य-जीवनमें श्वासकी गतिका स्वाभाविक नियम है।

वहेत्तावद् घटीमध्ये पञ्चतत्त्वानि निर्दिशेत्। (स्वरशास्त्र)

प्रतिदिन रात-दिनकी ६० घड़ियोंमें ढाई-ढाई घड़ीके हिसाबसे एक-एक नासिकासे निर्दिष्ट क्रमसे श्वास चलनेके समय क्रमशः पञ्चतत्त्वोंका उदय होता है। इस श्वास-प्रश्वासकी गतिको समझकर कार्य करनेपर शरीर स्वस्थ रहता है और मनुष्य दीर्घजीवी होता है, फलस्वरूप सांसारिक, वैषयिक—सब कार्योंमें सफलता मिलनेके कारण सुखपूर्वक संसार-यात्रा पूरी होती है।

वाम नासिकाका श्वासफल

जिस समय इडा नाडीसे अर्थात् बायीं नासिकासे श्वास चलता हो, उस समय स्थिर कर्मोंको करना चाहिये। जैसे—अलंकारधारण, दूरकी यात्रा, आश्रममें प्रवेश, राजमन्दिर तथा महल बनाना एवं द्रव्यादिका ग्रहण करना। तालाब, कुआँ आदि जलाशय तथा देवस्तम्भ आदिकी प्रतिष्ठा करना। इसी समय यात्रा, दान, विवाह, नया कपड़ा पहनना, शान्तिकर्म, पौष्टिक कर्म, दिव्यौषधसेवन, रसायनकार्य, प्रभुदर्शन, मित्रता-स्थापन एवं बाहर जाना आदि शुभ कार्य करने चाहिये। बायीं नाकसे श्वास चलनेके समय शुभ कार्य करनेपर उन सब कार्योंमें सिद्धि मिलती है। परंतु वायु, अग्नि और आकाश-तत्त्वके उदयके समय उक्त कार्य नहीं करने चाहिये।

दक्षिण नासिकाका श्वासफल

जिस समय पिंगला नाडी अर्थात् दाहिनी नाकसे श्वास चलता हो, उस समय कठिन कर्म करने चाहिये। जैसे—कठिन क्रूर विद्याका अध्ययन और अध्यापन, स्त्रीसंसर्ग, नौकादि आरोहण, तान्त्रिकमतानुसार वीरमन्त्रादिसम्मत उपासना, वैरीको दण्ड, शस्त्राभ्यास, गमन, पशुविक्रय, ईंट, पत्थर, काठ तथा रत्नादिका घिसना और छीलना, संगीत-अभ्यास, यन्त्र-तन्त्र बनाना, किले और पहाड़पर चढ़ना, हाथी-घोड़ा तथा रथ आदिकी सवारी सीखना, व्यायाम, षट्कर्मसाधन, यक्षिणी-बेताल तथा भूतादिसाधन, औषध-सेवन, लिपि-लेखन, दान, क्रय-विक्रय, युद्ध, भोग, राजदर्शन, स्नानाहार आदि।

सुषुम्नाका श्वासफल

दोनों नाकोंसे श्वास चलनेके समय किसी प्रकारका शुभ या अशुभ कार्य नहीं करना चाहिये। उस समय कोई भी काम करनेसे वह निष्फल होगा। उस समय योगाभ्यास और ध्यान धारणादिके द्वारा केवल भगवान्‌को स्मरण करना उचित है सुषुम्ना नाडीसे श्वास चलनेके समय किसीको भी शाप वरप्रदान करनेपर वह सफल होता है।

श्वास-प्रश्वासकी गति जानकर, तत्त्वज्ञानके अनुस तिथि-नक्षत्रके अनुसार, ठीक-ठीक नियमपूर्वक सब कर्मो करनेपर आशाभङ्गजनित मनस्ताप आदि नहीं भोगना पड़ता

रोगोत्पत्तिका पूर्ण ज्ञान और उसका प्रतिका

प्रतिपदा आदि तिथियोंको यदि निश्चित नियमके वि श्वास चले तो समझना चाहिये कि निस्संदेह कुछ अम होगा। जैसे, शुक्लपक्षकी प्रतिपदाको सबेरे नींद टूट सूर्योदयके समय पहले यदि दाहिनी नाकसे श्वास च आरम्भ हो तो उस दिनसे पूर्णिमातकके बीच गर्मीके व कोई पीड़ा होगी और कृष्णपक्षकी प्रतिपदा तिथिको सूर्यो समय पहले बायीं नाकसे श्वास चलना आरम्भ हो तो दिनसे अमावास्यातकके अंदर कफ या सर्दीके कारण पीड़ा होगी, इसमें संदेह नहीं।

दो पखवाड़ोंतक इसी प्रकार विपरीत ढंगसे सूर्यो समय निःश्वास चलता रहे तो किसी आत्मीय स्वजनको बीमारी होगी अथवा मृत्यु होगी या और किसी प्रव विपत्ति आयेगी। तीन पखवाड़ोंसे ऊपर लगातार ग होनेपर निश्चय ही अपनी मृत्यु हो जायगी।

शुक्ल अथवा कृष्णपक्षकी प्रतिपदाके दिन प्रातःकाल इस प्रकार विपरीत ढंगसे निःश्वास चलनेका पता लग उस नासिकाको कई दिनोंतक बंद रखनेसे रोग उत्पन्न सम्भावना नहीं रहती। उस नासिकाको इस तरह बंद चाहिये, जिसमें उससे निःश्वास न चले। इस प्रकार दिनोंतक दिन-रात निरन्तर (स्नान और भोजनका छोड़कर) नाक बंद रखनेसे उक्त तिथियोंके भीतर बिल्कु कोई रोग नहीं होगा।

यदि असावधानीके कारण निःश्वासमें गड़बड़ीसे रोग उत्पन्न हो जाय तो जबतक रोग दूर न हो जाय, ऐसा करना चाहिये कि जिससे शुक्लपक्षमें दाहिनी कृष्णपक्षमें बायीं नासिकासे श्वास न चले। ऐसा करने शीघ्र दूर हो जायगा। और यदि कोई भारी रोग

सम्भावना होगी तो वह भारी न होकर बहुत सामान्य रूपमें होगा और फिर थोड़े ही दिनोंमें दूर हो जायगा। ऐसा करनेसे न तो रोगजनित कष्ट भोगना पड़ेगा और न चिकित्सकको धन ही देना पड़ेगा।

नासिका बंद करनेका नियम

नाकके छेदमें घुस सके इतनी-सी पुरानी साफ रूई लेकर उसकी गोल पोटली-सी बना ले और उसे साफ बारीक कपड़ेसे लपेटकर सी ले। फिर इस पोटलीको नाकके छिद्रमें घुसाकर छिद्रको इस प्रकार बंद कर दे जिसमें उस नाकसे श्वास-प्रश्वासका कार्य बिलकुल ही न हो। जिन लोगोंको कोई शिरोरोग है अथवा जिनका मस्तक दुर्बल हो, उन्हें रूईसे नाक बंद न कर, सिर्फ साफ पतले कपड़ेकी पोटली बनाकर उसीसे नाक बंद करनी चाहिये।

किसी भी कारणसे हो, जितने क्षण या जितने दिन नासिका बंद रखनेकी आवश्यकता हो उतने क्षण या उतने दिनोंतक अधिक परिश्रमका कार्य, धूमपान, जोरसे चिल्लाना, दौड़ना आदि नहीं करना चाहिये। जब जिस-किसी कारणसे नाक बंद रखनेकी आवश्यकता हो, तभी इन नियमोंका पालन अवश्य करना चाहिये। नयी अथवा बिना साफ की हुई मैली रूई नाकमें कभी नहीं डालनी चाहिये।

निःश्वास बदलनेका तरीका

कार्यभेदसे तथा अन्यान्य अनेक कारणोंसे एक नासिकासे दूसरी नासिकामें वायुकी गति बदलनेकी भी आवश्यकता हुआ करती है। कार्यके अनुकूल नासिकासे श्वास चलना आरम्भ होनेतक, उस कार्यको न करके चुपचाप बैठे रहना किसीके लिये भी सम्भव नहीं। अतएव अपनी इच्छानुसार श्वासकी गति बदलनेकी क्रिया सीख लेना नितान्त आवश्यक है। इसकी क्रिया अत्यन्त सहज है, सामान्य चेष्टासे ही श्वासकी गति बदली जा सकती है

जिस नासिकासे श्वास चलता हो, उसके विपरीत दूसरी नासिकाको अँगूठेसे दबा देना चाहिये और जिससे श्वास चलता हो उसके द्वारा वायु खींचना चाहिये। फिर उसको दबाकर दूसरी नासिकासे वायुको निकालना चाहिये। कुछ देरतक इसी तरह एकसे श्वास लेकर दूसरीसे निकालते रहनेसे अवश्य श्वासकी गति बदल जायगी। जिस नासिकासे श्वास चलता हो उसी करवट सोकर यह क्रिया करनेसे बहुत जल्द श्वासकी गति बदल जाती है और दूसरी नासिकासे श्वास प्रवाहित होने लगता है। इस क्रियाके बिना भी जिस नाकसे श्वास चलता है, केवल उस करवट कुछ समयतक सोये रहनेसे भी श्वासकी गति पलट जाती है।

इस लेखमें जहाँ-जहाँ निःश्वास बदलनेकी बात लिखी जायगी, वहाँ-वहाँ पाठकोंको इसी कौशलसे श्वासकी गति बदलनेकी बात समझनी चाहिये। जो अपनी इच्छानुसार वायुको रोक सकता है और निकाल सकता है वही पवनपर विजय प्राप्त करता है।

बिना औषधके रोगनिवारण

अनियमित क्रियाके कारण जिस तरह मानव-देहमें रोग उत्पन्न होते हैं, उसी तरह औषधके बिना ही भीतरी क्रियाओंके द्वारा नीरोग होनेके उपाय भगवान्‌के बनाये हुए हैं। हमलोग उस भगवत्प्रदत्त सहज कौशलको नहीं जानते, इसी कारण दीर्घकालतक रोगका दुःख भोगते हैं। यहाँ रोगोंके निदानके लिये स्वरशास्त्रोक्त कुछ यौगिक उपायोंका उल्लेख किया गया है। इनके प्रयोगसे विशेष लाभ हो सकता है—

ज्वर—ज्वरका आक्रमण होनेपर अथवा आक्रमणकी आशङ्का होनेपर जिस नासिकासे श्वास चलता हो, उस नासिकाको बंद कर देना चाहिये। जबतक ज्वर न उतरे और शरीर स्वस्थ न हो जाय, तबतक उस नासिकाको बंद ही रखना चाहिये। ऐसा करनेसे दस-पंद्रह दिनोंमें उतरनेवाला ज्वर पाँच ही सात दिनोंमें अवश्य ही उतर जायगा। ज्वरकालमें मन-ही-मन सदा चाँदीके समान श्वेत वर्णका ध्यान करनेसे और भी शीघ्र लाभ होता है।

सिन्दुवारकी जड़ रोगीके हाथमें बाँध देनेसे सब प्रकारके ज्वर निश्चय ही दूर हो जाते हैं।

अँतरिया ज्वर—श्वेत अपराजिता अथवा पलाशके कुछ पत्तोंको हाथसे मलकर, कपड़ेसे लपेटकर एक पोटली बना लेनी चाहिये और जिस दिन ज्वरकी बारी हो उस दिन सबेरेसे ही उसे सूँघते रहना चाहिये। अँतरिया ज्वर बंद हो जायगा।

सिरदर्द—सिरदर्द होनेपर दोनों हाथोंकी केहुनीके ऊपर धोतीके किनारे अथवा रस्सीसे खूब कसकर बाँध देना

चाहिये। इससे पाँच-सात मिनटमें ही सिरदर्द जाता रहेगा। केहुनीपर इतने जोरसे बाँधना चाहिये कि रोगीको हाथमें अत्यन्त दर्द मालूम हो। सिरदर्द अच्छा होते ही बाँहें खोल देनी चाहिये।

एक दूसरे प्रकारका सिरदर्द होता है, जिसे साधारणतः 'अधकपाली' या 'आधासीसी' कहते हैं। कपालके मध्यसे बायीं या दाहिनी ओर आधे कपाल और मस्तकमें अत्यन्त पीड़ा मालूम होती है। प्रायः यह पीड़ा सूर्योदयके समय आरम्भ होती है और दिन चढ़नेके साथ-साथ यह भी बढ़ती जाती है। दोपहरके बाद घटनी शुरू होती है और शामतक प्रायः नहीं ही रहती। इस रोगका आक्रमण होनेपर जिस तरफके कपालमें दर्द हो, ऊपर लिखे-अनुसार उसी तरफकी केहुनीके ऊपर जोरसे रस्सी बाँध देनी चाहिये। थोड़ी ही देरमें दर्द शान्त हो जायगा और रोग जाता रहेगा। दूसरे दिन यदि फिर दर्द शुरू हो और रोज एक ही नासिकासे श्वास चलते समय शुरू होता हो तो सिरदर्द मालूम होते ही उस नाकको बंद कर देना चाहिये और हाथको भी बाँध रखना चाहिये। 'अधकपाली' सिरदर्दमें इस क्रियासे होनेवाले आश्चर्यजनक फलको देखकर आप चकित रह जायँगे।

शिरःपीडा—शिरःपीडाग्रस्त रोगीको प्रातःकाल शय्यासे उठते ही नासापुटसे शीतल जल पीना चाहिये। इससे मस्तिष्क शीतल रहेगा, सिर भारी नहीं होगा और सर्दी नहीं लगेगी। यह क्रिया विशेष कठिन भी नहीं है। एक बरतनमें ठंडा जल भरकर उसमें नाक डुबाकर धीरे-धीरे गलेके भीतर जल खींचना चाहिये। क्रमशः अभ्याससे यह क्रिया सहज हो जायगी। शिरःपीडा होनेपर चिकित्सक रोगीके आरोग्य होनेकी आशा छोड़ देता है, रोगीको भी भीषण कष्ट होता है, परंतु इस उपायसे काम लेनेपर निश्चय ही आशातीत लाभ पहुँचेगा।

उदरामय, अजीर्णादि—भोजन, जलपान आदि जब जो कुछ खाना हो वह दाहिनी नाकसे श्वास चलते समय खाना चाहिये। प्रतिदिन इस नियमसे आहार करनेसे वह बहुत आसानीसे पच जायगा और कभी अजीर्णका रोग नहीं होगा। जो लोग इस रोगसे कष्ट पा रहे हैं, वे भी यदि इस नियमके अनुसार रोज भोजन करें तो खायी हुई चीज पच जायगी और धीरे-धीरे उनका रोग दूर हो जायगा। भोजनके बाद थोड़ी देर बायीं करवट सोना चाहिये। जिन्हें समय न हो उन्हें ऐसा उपाय करना चाहिये कि जिससे भोजनके बाद दस-पंद्रह मिनटतक दाहिनी नाकसे श्वास चले। अर्थात् पूर्वोक्त नियमके अनुसार रूईद्वारा बायीं नाक बंद कर देनी चाहिये। गुरुपाक (भारी) भोजन होनेपर भी इस नियमसे वह शीघ्र पच जाता है।

स्थिरताके साथ बैठकर एकटक नाभिमण्डलमें दृष्टि जमाकर नाभिकन्दका ध्यान करनेसे एक सप्ताहमें उदरामय रोग दूर हो जाता है।

श्वास रोककर नाभिको खींचकर नाभिकी ग्रन्थिको एक सौ बार मेरुदण्डसे मिलानेसे आमादि उदरामयजनित सब तरहकी पीड़ाएँ दूर हो जाती हैं और जठराग्नि तथा पाचनशक्ति बढ़ जाती है।

प्लीहा—रातको बिछौनेपर सोकर और सबेरे शय्या-त्यागके समय हाथ और पैरोंको सिकोड़कर छोड़ देना चाहिये। फिर कभी इस करवट कभी उस करवट टेढ़ा-मेढ़ा शरीर करके सारे शरीरको सिकोड़ना और फैलाना चाहिये। प्रतिदिन चार-पाँच मिनट ऐसा करनेसे प्लीहा-यकृत् (तिल्ली, लीवर) रोग दूर हो जायगा। सर्वदा इसका अभ्यास करनेसे प्लीहा-यकृत् रोगकी पीड़ा कभी नहीं भोगनी पड़ेगी।

दन्तरोग—प्रतिदिन जितनी बार मल-मूत्रका त्याग करे, उतनी बार दाँतोंकी दोनों पंक्तियोंको मिलाकर जरा जोरसे दबाये रखे। जबतक मल या मूत्र निकलता रहे तबतक दाँतोंसे दाँत मिलाकर इस प्रकार दबाये रहना चाहिये। दो-चार दिन ऐसा करनेसे कमजोर दाँतोंकी जड़ मजबूत हो जायगी। सदा इसका अभ्यास करनेसे दन्तमूल दृढ़ हो जाता है और दाँत दीर्घ कालतक काम देते हैं तथा दाँतोंमें किसी प्रकारकी बीमारी होनेका कोई डर नहीं रहता।

स्नायविक वेदना—छाती,पीठ या बगलमें—चाहे जिस स्थानमें स्नायविक वेदना या अन्य किसी प्रकारकी वेदना हो, वेदना मालूम होते ही जिस नासिकासे श्वास चलता हो उसे बंद कर देना चाहिये, दो-चार मिनट बाद अवश्य ही वेदना शान्त हो जायगी।

दमा या श्वासरोग—जब दमेका जोरका दौरा हो तब जिस नासिकासे निःश्वास चलता हो, उसे बंद करके दूसरी

नासिकासे श्वास चला देना चाहिये। दस-पंद्रह मिनटमें दमेका जोर कम हो जायगा। प्रतिदिन इस प्रकार करनेसे महीनेभरमें पीड़ा शान्त हो जायगी। दिनमें जितने ही अधिक समयतक यह क्रिया की जायगी, उतना ही शीघ्र यह रोग दूर होगा। दमाके समान कष्टदायक कोई रोग नहीं, दमाका जोर होनेपर यह क्रिया करनेसे बिना किसी दवाके बीमारी अच्छी हो जाती है।

वात—प्रतिदिन भोजनके बाद कंघीसे सिर वाहना चाहिये। कंघी इस प्रकार चलानी चाहिये जिसमें उसके काँटे सिरको स्पर्श करें। उसके बाद वीरासन लगाकर अर्थात् दोनों पैर पीछेकी ओर मोड़कर उनके ऊपर दबाकर १५ मिनट बैठना चाहिये। प्रतिदिन दोनों समय भोजनके बाद इस प्रकार बैठनेसे कितना भी पुराना वात क्यों न हो निश्चय ही अच्छा हो जायगा। अगर स्वस्थ आदमी इस नियमका पालन करे तो उसके वातरोग होनेकी कोई आशङ्का नहीं रहेगी। कहना न होगा कि रबड़की कंघीका व्यवहार नहीं करना चाहिये।

नेत्ररोग—प्रतिदिन सबेरे बिछौनेसे उठते ही सबसे पहले मुँहमें जितना पानी भरा जा सके, उतना भरकर दूसरे जलसे आँखोंको बीस बार झपटा मारकर धोना चाहिये।

प्रतिदिन दोनों समय भोजनके बाद हाथ-मुँह धोते समय कम-से-कम सात बार आँखोंमें जलका झपटा देना चाहिये।

जितनी बार मुँहमें जल डाले, उतनी बार आँख और मुँहको धोना न भूले।

प्रतिदिन स्नानके वक्त तेल मालिश करते समय सबसे पहले दोनों पैरोंके अँगूठोंके नखोंको तेलसे भर देना चाहिये और फिर तेल लगाना चाहिये।

ये कुछ नियम नेत्रोंके लिये विशेष लाभदायक हैं। इनसे दृष्टिशक्ति सतेज होती है, आँखें स्निग्ध रहती हैं और आँखोंमें कोई बीमारी होनेकी सम्भावना नहीं रहती। नेत्र मनुष्यके परमधन हैं। अतएव प्रतिदिन नियम-पालनमें कभी आलस्य नहीं करना चाहिये। (क्रमशः)

हठयोगके षट्कर्म

(श्रीकमलाप्रसाद सिंह)

इस परिदृश्यमान चराचर विश्वप्रपञ्चका उपादान कारण प्रकृति है। मूल प्रकृति त्रिगुणात्मक होनेसे प्राणिमात्रके शरीर वात, पित्त, कफ—इन त्रिधातुओंके नाना प्रकारके रूपान्तरोंके सम्मिश्रण हैं। अतः अनेक शरीर वातप्रधान, अनेक पित्तप्रधान और अनेक कफप्रधान होते हैं। वातप्रधान शरीरोंमें आहार-विहारके दोषसे तथा देश-कालादि हेतुसे प्रायः वातवृद्धि हो जाती है। पित्तप्रधान शरीरोंमें पित्तविकृति और कफोल्वण-शरीरोंमें प्रायः कफ-प्रकोप हो जाता है। कफ-धातुके विकृत होनेपर दूषित श्लेष्म, आमवृद्धि या मेदका संग्रह हो जाता है। पश्चात् इन मलोंके प्रकुपित होनेसे नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होने लगते हैं। इन व्याधियोंको उत्पन्न न होने देनेके लिये और हो गये तो उन्हें दूर करके पुनः देहको पूर्ववत् स्वस्थ बनानेके लिये जैसे आयुर्वेदके प्राचीन आचार्योंने स्नेहपान, स्वेदन, वमन, विरेचन और वस्ति—ये पञ्चकर्म कहे हैं, वैसे ही हठयोगके प्रवर्तक महर्षियोंने साधकोंके कफप्रधान शरीरकी शुद्धिके लिये षट्कर्म निश्चित किये हैं। ये षट्कर्म सब साधकोंको करने ही चाहिये, ऐसा आग्रह नहीं है।

हठयोगके ग्रन्थोंमें षट्कर्मके कर्तव्याकर्तव्यपर विचार किया गया है। हठयोगके षट्कर्मसे जो लाभ होते हैं वे प्राणायामसे भी प्राप्त होते हैं। अन्तर केवल समयका है। परंतु जिस घरमें गंदगी इतनी फैल गयी हो कि साधारण झाड़ूसे न हटायी जा सके, उसमें कुदाल और टोकरीकी आवश्यकता आ पड़ेगी। इसी प्रकार शरीरके एकत्रित मलको शीघ्र हटानेके लिये षट्कर्मकी आवश्यकता है। इसी कारण—

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट् कर्माणि समाचरेत्।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् जिस पुरुषके मेद और श्लेष्मा अधिक हों वह पुरुष प्राणायामसे पहले इन छः कर्मोंको करे और इनके न होनेसे दोषोंकी समानताके कारण न करे। इतना ही नहीं, योगीन्द्र स्वात्माराम आगे चलकर षट्कर्मोंको 'घटशोधनकारकम्' अर्थात् देहको शुद्ध करनेवाले और 'विचित्रगुणसंधायि' अर्थात् विचित्र गुणोंका संधान करनेवाले भी कहते हैं।

यह बात सत्य है कि षट्कर्मोंके बिना ही पहले योगसाधन किया जाता था। समय और अनुभवने दिखाया कि प्राणायामसे जितने समयमें मल दूर किया जाता था, उससे कम समयमें षट्कर्मोंद्वारा मल दूर किया जा सकता है। इन कर्मोंकी उन्नति होती गयी। और छःसे ये कर्म दस हो गये। पीछे गुरुपरम्परासे प्राप्त गुप्तविद्या लुप्त होने लगी। तब तो ये कर्म पूरे जाँचे हुए षट्कर्मतक ही परिमित रह गये। इन षट्कर्मोंसे लाभ है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। यह बात दूसरी है कि सबकी इधर प्रवृत्ति न हो और सब इन्हें न कर सकते हों।

एक बात और है। वर्तमान समयमें अनेक योगाभ्यासी मूल उद्देश्यको न समझनेके कारण शरीरमें त्रिधातु सम होनेपर भी नित्य षट्कर्म करते रहते हैं और अपने शिष्योंको भी जीवनपर्यन्त नियमित रीतिसे करते रहनेका उपदेश देते हैं। यदि शरीरशुद्धिके लिये अथवा इन क्रियाओंपर अपना अधिकार रखनेके लिये प्रारम्भमें सिखाया जाय तो कोई आपत्ति नहीं। कारण, भविष्यमें कदाचित् देश-कालपरिवर्तन, प्रमाद या आहार-विहारमें भूलसे वातादि धातु विकृत हो जायँ तो शीघ्र क्रियाद्वारा उनका शमन किया जा सकता है। परंतु आवश्यकता न होनेपर भी नित्य करते रहनेसे समयका अपव्यय, शारीरिक निर्बलता और मानसिक प्रगतिमें शिथिलता आ जाती है। चरणदासने इसपर तर्क-वितर्क किये बिना ही अपना अन्तिम निर्णय इस प्रकार दे दिया है—

पहले ये सब साधिये, काया होवे शुद्धि।
रोग न लागे देहको उज्ज्वल होवे बुद्धि॥

षट्कर्मके नाम

'हठयोगप्रदीपिका' ग्रन्थके कर्ता स्वात्माराम योगीने १-धौति, २-वस्ति, ३-नेति, ४-नौलि, ५-कपालभाति और ६-त्राटकको षट्कर्म कहा है। आगे चलकर गजकरणीका भी वर्णन किया है। परंतु 'भक्तिसागर' ग्रन्थके रचयिता चरणदासजीने १-नेति, २-धौति, ३-वस्ति, ४-गजकर्म, ५-न्योली और ६-त्राटकको षट्कर्म कहा है। फिर १-कपालभाति, २-धौंकनी, ३-वार्घी और ४-शंखपखाल—इन चार कर्मोंका नाम लेकर उन्हें षट्कर्मोंके अन्तर्गत कर दिया है। दोनोंमें गजकर्म और कपालभातिको षट्कर्मके अंदर रखनेमें अन्तर पड़ता है। चूँकि ये षट्कर्मके शाखामात्र हैं, अतएव इस विभेदका कोई वास्तविक अर्थ नहीं होता।

नियम

षट्कर्म-साधकको हठयोगमें दर्शाये हुए स्थान, भोजन, आचार-विचार आदि नियमोंको मानना परमावश्यक है। यहाँ यही कहा जा सकता है कि स्थान रमणीक और निरापद, भोजन सात्त्विक तथा परिमित होना चाहिये। एकान्तसेवन, कम बोलना, वैराग्य, साहस इत्यादि बातें आचार-विचारसे समझनी चाहिये।

नौलि, नौलिक, नलक्रिया या न्योली

अमन्दावर्त्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् कन्धोंको नवाये हुए अत्यन्त वेगके साथ, जलभ्रमरके समान अपनी तुन्दको दक्षिण-वाम भागोंसे भ्रमानेको सिद्धोंने नौलि-कर्म कहा है।

न्योली पद्मासन सों करे। दोनों पग घुटनोंपर धरे॥
पेट रु पीठ बराबर होय। दहने बायें नलै बिलोय॥
जो गुरु करके ताहि दिखावे। न्योली कर्म सुगम करि पावे॥

(भक्तिसागर)

वास्तवमें दायें-बायें घुमानेका रहस्य किताबोंसे पढ़कर मालूम करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। पद्मासन (सिद्धासन या उत्कटासन) लगाकर, जब शौच-स्नान, प्रातः-सन्ध्या आदिसे निवृत्त हो लिये हों और पेट साफ तथा हलका हो गया हो, तब रेचक कर वायुको बाहर रोक बिना देह हिलाये, केवल मनोबलसे पेटको दायेंसे बायें और बायेंसे दायें चलाना सोचे और तदनुकूल प्रयास करे। इसी प्रकार सायं-प्रातः स्वेद आने पर्यन्त प्रतिदिन अभ्यास करते-करते पेटकी स्थूलता जाती रहती है। तदनन्तर यह सोचना चाहिये कि दोनों कुक्षियाँ दब गयीं और बीचमें दोनों ओरसे दो नल जुटकर मूलाधारसे हृदयतक एक गोलाकार खम्भ खड़ा हो गया। यही खम्भा जब बँध जाय तब नौलि सुगम हो जाती है। मनोबल और प्रयासपूर्वक अभ्यास बढ़ानेसे दायें-बायें घूमने लगती है। इसी चलानेमें छातीके समीप, कण्ठपर और ललाटपर भी नाड़ियोंका द्वन्द्व मालूम पड़ता है। एक बार

न्योली चल जानेपर चलती रहती है। पहलें-पहल चलनेके समय दस्त ढीला होता है। जिसका पेट हलका है तथा जो प्रयासपूर्वक अभ्यास करता है उसको एक महीनेके भीतर ही न्योली सिद्ध हो जायगी।

इस क्रियाका आरम्भ करनेसे पहले पश्चिमतानासन और और मयूरासनका थोड़ा अभ्यास कर लिया हो तो यह क्रिया शीघ्र सिद्ध हो जाती है। जबतक आँत पीठके अवयवोंसे भलीभाँति पृथक् न हो तबतक आँत उठानेकी क्रिया सावधानीके साथ करे, अन्यथा आँतें निर्बल हो जायँगी। किसी-किसी समय आघात पहुँचकर उदर रोग, शोथ, आमवात, कटिवात, गृध्रसी, कुब्जवात, शुक्रदोष या अन्य कोई रोग हो जाता है। अतः इस क्रियाको शान्तिपूर्वक करना चाहिये। अँतड़ीमें शोथ, क्षतादि दोष या पित्तप्रकोपजनित अतिसारप्रवाहिका (पेचिश), संग्रहणी आदि रोगोंमें नौलि-क्रिया हानिकारक है।

मैल पेटमें रहन न पावे। अपान वायु तासों वश आवे॥
तापतिली अरु गोला शूल। रहन न पावैं नेक न मूल॥
और उदरके रोग कहावें। सो भी वे रहने नहिं पावैं॥

(भक्तिसागर)

मन्दाग्निसंदीपनपाचनादि संधापिकानन्दकरी सदैव।
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः॥

(हठयोगप्रदीपिका)

यह नौलि मन्दाग्निका भली प्रकार दीपन और अन्नादिका पाचन और सर्वदा आनन्द करती है तथा समस्त वात आदि दोष और रोगका शोषण करती है। यह नौलि हठयोगकी सारी क्रियाओंमें उत्तम है।

अँतड़ियोंके नौलिके वश होनेसे पाचन और मलका बाहर होना स्वाभाविक है। नौलि करते समय साँसकी क्रिया तो रुक ही जाती है। नौलि कर चुकनेपर कण्ठके समीप एक सुन्दर अकथनीय स्वाद मिलता है। यह हठयोगकी सारी क्रियाओंसे श्रेष्ठ इसलिये है कि नौलि जान जानेपर तीनों बन्ध सुगम हो जाते हैं। अतएव यह प्राणायामकी सीढ़ी है। धौति, वस्तिमें भी नौलिकी आवश्यकता होती है। शंखपषाली क्रियामें भी, जिसमें मुखसे जल ले अँतड़ियोंमें घुमाते हुए पायु-द्वारा ठीक उसी प्रकार निकाल दिया जाता है जैसे शंखमें एक ओरसे जल देनेपर घूमकर जल दूसरी राहसे निकल जाता है, नौलि सहायक है।

वस्तिकर्म

वस्ति मूलाधारके समीप है। रंग लाल है और इसके देवता गणेश हैं। वस्तिको साफ करनेवाले कर्मको 'वस्तिकर्म' कहते हैं। 'योगसार' पुस्तकमें पुराने गुड़ ,त्रिफला और चीतेकी छालके रससे बनी गोली देकर अपानवायुको वश करनेको कहा है। फिर वस्तिकर्मका अभ्यास करना कहा है।

वस्तिकर्म दो प्रकारका है। १-पवनवस्ति, २-जलवस्ति। नौलिकर्मद्वारा अपानवायुको ऊपर खींच पुनः मयूरासनसे त्यागनेको 'वस्तिकर्म' कहते हैं। पवनवस्ति पूरी सध जानेपर जलवस्ति सुगम हो जाती है, क्योंकि जलको खींचनेका कारण पवन ही होता है। जब जलमें डूबे हुए पेटसे न्योली हो जाय तब नौलिसे जल ऊपर खिंच जायगा।

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात् क्षालनं वस्तिकर्म तत्॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् गुदाके मध्यमें छः अंगुल लंबी बाँसकी नलीको रखे जिसका छिद्र कनिष्ठिका अँगुलीके प्रवेश योग्य हो, उसे घी अथवा तेल लगाकर सावधानीके साथ चार अंगुल गुदामें प्रवेश करे और दो अंगुल बाहर रखे। पश्चात् बैठनेपर नाभितक जल आ जाय, इतने जलसे भरे हुए टबमें उत्कटासनसे बैठे अर्थात् दोनों पार्ष्णियों—पैरकी एड़ियोंको मिलाकर खड़ी रखकर उनपर अपने स्फिच (नितम्बों) को रखे और पैरोंके अग्रभागपर बैठे और उक्त आसनसे बैठकर आधाराकुञ्चन करे जिससे बृहद् अन्त्रमें अपने-आप जल चढ़ने लगेगा। बादमें भीतर प्रविष्ट हुए जलको नौलिक्रमसे चलाकर त्याग दे। इस जलके साथ अन्त्रस्थित मल, आँव, कृमि, अन्त्रोत्पन्न सेन्द्रियविष आदि बाहर निकल आते हैं। इस उदरके क्षालन (धोने) को वस्तिकर्म कहते हैं। धौति, वस्ति दोनों कर्म भोजनसे पूर्व ही करने चाहिये और इनके करनेके अनन्तर हलका भोजन शीघ्र कर लेना चाहिये, उसमें विलम्ब नहीं करना चाहिये। वस्तिक्रिया करनेसे जलका कुछ अंश बृहद् अन्त्रमें शेष रह जाता है, वह धीरे-धीरे मूत्रद्वारा बाहर आयेगा। यदि भोजन नहीं किया जायगा तो वह दूषित जल अन्त्रोंसे सम्बद्ध सूक्ष्म नाडियोंद्वारा शोषित होकर रक्तमें मिल

जायगा। कुछ लोग पहले मूलाधारसे प्राणवायुके आकर्षणका अभ्यास करके और जलमें स्थित होकर गुदामें नालप्रवेशके बिना ही वस्तिकर्मका अभ्यास करते हैं। उस प्रकार वस्तिकर्म करनेसे उदरमें प्रविष्ट हुआ सम्पूर्ण जल बाहर नहीं आ सकता और उसके न आनेसे धातुक्षय आदि नाना दोष होते हैं। इससे उस प्रकार वस्तिकर्म नहीं करना चाहिये, अन्यथा **'न्यस्तनालः'** (अपनी गुदामें नाल रखकर) ऐसा पद स्वात्माराम क्यों देते ? यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि छोटे-छोटे जलजन्तुओंका नलद्वारा पेटमें प्रविष्ट हो जानेका भय रहता है। अतएव नलके मुखपर महीन वस्त्र देकर आकुञ्चन करना चाहिये और जलको बाहर निकालनेके लिये खड़ा पश्चिमतान आसन करना चाहिये।

वस्तिकर्ममें मूलाधारके पीड़ित और प्रक्षालित होनेसे लिङ्ग और गुदाके रोगोंका नाश होना स्वाभाविक है।

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः।
वस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयन्ते सकलामयाः॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् वस्तिकर्मके प्रभावसे गुल्म, प्लीहा, उदर (जलोदर) और वात, पित्त, कफ इनके द्वन्द्व वा एकसे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण रोग नष्ट होते हैं।

धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं
दद्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम्।
अशेषदोषोपचयं निहन्या-
दभ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अभ्यास किया हुआ यह वस्तिकर्म साधकके सप्त धातुओं, दस इन्द्रियों और अन्तःकरणको प्रसन्न करता है। मुखपर सात्त्विक कान्ति छा जाती है। जठराग्नि उद्दीप्त होती है। वात, पित्त, कफ आदि दोषोंकी वृद्धि और न्यूनता दोनोंको नष्ट कर साम्यरूप आरोग्यताको प्राप्त करता है। एक बात इस सम्बन्धमें अवश्य ध्यान देनेकी है कि वस्तिक्रिया करनेवालोंको पहले नेति और धौतिक्रिया करनी ही चाहिये, जिसका वर्णन नीचे दिया जाता है। अन्य क्रियाओंके लिये ऐसा नियम नहीं है।

राजयक्ष्मा (क्षय), संग्रहणी, प्रवाहिका, अधोरक्तपित्त, भगंदर, मलाशय और गुदामें शोथ, संततज्वर, आन्त्रसंनिपात, आन्त्रशोथ, आन्त्रव्रण, कफवृद्धिजनित तीक्ष्ण श्वासप्रकोप इत्यादि रोगोंमें वस्तिक्रिया नहीं करनी चाहिये।

यह वस्तिक्रिया भी प्राणायामका अभ्यास चालू होनेके बाद नित्य करनेकी नहीं है। नित्य करनेसे आन्त्रशक्ति परावलम्बिनी और निर्बल हो जायगी, जिससे बिना वस्तिक्रियाके भविष्यमें मलशुद्धि नहीं होगी। जैसे तंबाकू और चायके व्यसनीको तंबाकू और चाय लिये बिना शौच नहीं होता, वैसे ही नित्य वस्तिकर्म अथवा षट्कर्म करनेवालेकी स्वाभाविक आन्तरिक शक्तिके बलसे शरीरशुद्धि नहीं होती।

धौतिकर्म

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम्।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत्॥
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत्।

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् चार अंगुल चौड़े और पंद्रह हाथ लंबे महीन वस्त्रको गरम जलमें भिगोकर थोड़ा निचोड़ ले। फिर गुरूपदिष्ट मार्गसे धीरे-धीरे प्रतिदिन एक-एक हाथ उत्तरोत्तर निगलनेका अभ्यास बढ़ाता जाय। आठ-दस दिनमें पूरी धोती निगलनेका अभ्यास हो सकता है। करीब एक हाथ कपड़ा बाहर रहने दिया जाय। मुखमें जो प्रान्त रहे उसे दाढ़ोंसे भली प्रकार दबा नौलिकर्म करे। फिर धीरे-धीरे वस्त्र निकाले। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि वस्त्र निगलनेके पहले पूरा जल पी लेना चाहिये। इससे कपड़ेके निगलनेमें सुभीता तथा कफ-पित्तका उसमें सटना आसान हो जाता है और कपड़ेको बाहर निकलनेमें भी सहायता मिलती है। धौतिको रोज स्वच्छ रखना चाहिये। अन्यथा धौतिमें लगे हुए दूषित कफरूप विजातीय द्रव्यके परमाणु पुनः दूसरे दिन भीतर जाकर हानि पहुँचायेंगे।

पाश्चात्योंने स्टॉमक ट्यूब बनाया है। कोई एक सवा हाथकी रबरकी नली रहती है, जिसका एक मुख खुला रहता है और दूसरे सिरेके कुछ ऊपर हटकर बगलमें एक छेद होता है। जल पीकर खुला सिरा ऊपर रखकर दूसरा सिरा निगला जाता है और जल रबरकी नलिकाद्वारा गिर जाता है।

चाहे किसी प्रकारकी धौति क्यों न हो, उससे कफ, पित्त और रंग-बिरंगे पदार्थ बाहर गिरते हैं। ऊपरकी नाडीमें रहा

ा एकाध अन्नका दाना भी गिरता है। दाँत खट्टा-सा हो ता है। परंतु मन शान्त और प्रसन्न हो जाता है। वसन्त या ग्मकालमें इसका साधन अच्छा होता है।

घटिका, कण्ठनलिका या श्वासनलिकामें शोथ, शुष्क श, हिक्का, वमन, आमाशयमें शोथ, ग्रहणी, तीक्ष्ण तेसार, ऊर्ध्व रक्तपित्त (मुँहसे रक्त गिरना) इत्यादि कोई रोग तब धौतिक्रिया लाभदायक नहीं होती।

नेतिकर्म

नेति दो प्रकारकी होती है—जलनेति और सूत्रनेति। ले जलनेति करनी चाहिये। प्रातःकाल दन्तधावनके पश्चात् साँस चलती हो, उसीसे चुल्लूमें जल ले और दूसरी साँस कर जल नाकद्वारा खींचे। जल मुखमें चला जायगा। के पिछले सारे हिस्सेमें, जहाँ मस्तिष्कका स्थान है, उस के प्रभावसे गुदगुदाहट और सनसनाहट या गिनगिनाहट ा होगी। अभ्यास बढ़नेपर आगे ऐसा नहीं होगा। कुछ लोग सकाके एक छिद्रसे जल खींचकर दूसरे छिद्रसे निकालनेकी ाको 'जलनेति' कहते हैं। एक समयमें आध सेरसे एक तक जल एक नासापुटसे चढ़ाकर दूसरे नासापुटसे निकाला सकता है। एक समय एक तरफसे जल चढ़ाकर दूसरे य दूसरी तरफसे चढ़ाना चाहिये। जलनेतिसे नेत्रज्योति ज्वान् होती है। स्कूल और कॉलेजके विद्यार्थियोंके लिये भी ाकर है। तीक्ष्ण नेत्ररोग, तीक्ष्ण अम्लपित्त और नये ज्वरमें नेति नहीं करनी चाहिये। अनेक मनुष्य रोज सुबह ासापुटसे जल पीते हैं। यह क्रिया हितकर नहीं है। कारण, दोष नासिकामें संचित होंगे वे आमाशयमें चले जायँगे। ः उषापान तो मुँहसे ही करना चाहिये। जलनेतिके अनन्तर ं लेना चाहिये। महीन सूतकी दस-पंद्रह तारकी एक हाथ ी बिना बटी डोर, जिसका छः-सात इंच लंबा एक प्रान्त कर क्रमशः पतला बना दिया गया हो, पिघले हुए मोमसे फना बनाकर जलमें भिगो लेना उचित है। फिर इस स्निग्ध ाको भी इस रीतिसे थोड़ा मोड़कर जिस छिद्रसे वायु चलती उस छिद्रमें लगाकर और नाकका दूसरा छेद अँगुलीसे कर, खूब जोरसे बारंबार पूरक करनेसे सूतका भाग मुखमें जाता है। तब उसे तर्जनी और अङ्गुष्ठसे पकड़कर बाहर ाल ले। पुनः नेतिको धोकर दूसरे छिद्रमें डालकर मुँहमेंसे निकाल ले। कुछ दिनके अभ्यासके बाद एक हाथसे सूतको मुखसे खींचकर और दूसरेसे नाकवाला प्रान्त पकड़कर धीरे-धीरे चालन करे। इस क्रियाको 'घर्षणनेति' कहते हैं। इस प्रकार नाकके दूसरे रन्ध्रसे भी, जब वायु उस रन्ध्रसे चल रहा हो, अभ्यास करे। इससे भीतर लगा हुआ कफ पृथक् होकर नेतिके साथ बाहर आ जाता है। नाकके एक छिद्रसे दूसरे छिद्रमें भी सूत चलाया जाता है, यद्यपि कुछ लोग इसे दोषयुक्त मानकर इसकी उपेक्षा करते हैं। उसका क्रम यह है कि सूत नाकके एक छिद्रसे पूरकद्वारा जब खींचा जाता है तो रेचक मुखद्वारा न कर दूसरे रन्ध्रद्वारा करना चाहिये। इस प्रकार सूत एक छिद्रसे दूसरे छिद्रमें आ जाता है। इस क्रियाके करनेमें किसी प्रकारका भय नहीं है। सध जानेपर तीसरे दिन करना चाहिये। जलनेति प्रतिदिन कर सकते हैं। नेति डालनेमें किसी-किसीको छींक आने लगती है, इसलिये एक-दो सेकंड श्वासोच्छ्वासकी क्रियाको बंद करके नेति डालनी चाहिये।

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च॥

(हठयोगप्रदीपिका)

'नेति कपालको शुद्ध करती है, दिव्य दृष्टि देती है। स्कन्ध, भुजा और सिरकी संधिके ऊपरके सारे रोगोंको नेति शीघ्र नष्ट करती है।'

त्राटककर्म

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्॥

(हठयोगप्रदीपिका)

'समाहित अर्थात् एकाग्रचित्त हुआ मनुष्य निश्चल दृष्टिसे सूक्ष्म लक्ष्यको अर्थात् लघु पदार्थको तबतक देखे, जबतक अश्रुपात न होवे। इसे मत्स्येन्द्र आदि आचार्योंने 'त्राटककर्म' कहा है।'

त्राटक कर्म टकटकी लागे। पलक-पलक सो मिलै न तागे॥
नैन उघारे ही नित रहै। होय दृष्टि फिर शुकदेव कहै॥
आँख उलटि त्रिपुटीमें आनो। यह भी त्राटक कर्म पिछानो॥
जैसे ध्यान नैनके होई। चरणदास पूरण हो सोई॥

सफेद दिवालपर सरसों-बराबर काला चिह्न दे उसीपर दृष्टि ठहराते-ठहराते चित्त समाहित और दृष्टि शक्तिसम्पन्न हो

जाती है। मैस्मेरिज्ममें जो शक्ति आ जाती है वही शक्ति त्राटकसे भी प्राप्य है।

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम्।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम्।

(हठयोगप्रदीपिका)

'त्राटक नेत्ररोगनाशक है। तन्द्रा-आलस्यादिको भीतर नहीं आने देता। त्राटककर्म संसारमें इस प्रकार गुप्त रखनेयोग्य है जैसे सुवर्णकी पेटी संसारमें गुप्त रखी जाती है।' क्योंकि—

'भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता।'

उपनिषदोंमें त्राटकके आन्तर, बाह्य और मध्य—इस प्रकार तीन भेद किये गये हैं। हठयोगके ग्रन्थोंमें प्रकार-भेद नहीं है।

पाश्चात्योंका अनुकरण करनेवाले कुछ लोग मद्यपान, मांसाहार तथा अम्ल-पदार्थादि अपथ्य-सेवन करते हुए भी 'मैस्मेरिज्म' विद्याकी सिद्धिके लिये त्राटक किया करते हैं। परंतु ऐसे लोगोंका अभ्यास पूर्ण नहीं होता। अनेकोंके नेत्र चले जाते हैं और अनेक पागल हो जाते हैं। जिन्होंने पथ्यका पालन किया है वही सिद्धि प्राप्त कर सके हैं।

यम-नियमपूर्वक आसनोंके अभ्याससे नाडीसमूह मृदु हो जानेपर ही त्राटक करना चाहिये। कठोर नाडियोंको आघात पहुँचते देरी नहीं लगती। त्राटकके जिज्ञासुओंको आसनोंके अभ्यासके परिपाककालमें नेत्रके व्यायामका अभ्यास करना विशेष लाभदायक है। प्रातःकालमें शान्तिपूर्वक दृष्टिको शनैः-शनैः बायें, दायें, नीचेकी ओर, ऊपरकी ओर चलानेकी क्रियाको नेत्रका व्यायाम कहते हैं। इस व्यायामसे नेत्रकी नसें दृढ़ होती हैं। इसके अनन्तर त्राटक करनेसे नेत्रको हानि पहुँचनेकी भीति कम हो जाती है।

त्राटकके अभ्याससे नेत्र और मस्तिष्कमें उष्णता बढ़ जाती है। अतः नित्य जलनेति करनी चाहिये तथा रोज सुबह त्रिफलाके जलसे अथवा गुलाबजलसे नेत्रोंको धोना चाहिये। भोजनमें पित्तवर्धक और मलावरोध (कब्ज) करनेवाले पदार्थोंका सेवन न करे। नेत्रमें आँसू आ जानेके बाद फिर उस दिन दूसरी बार त्राटक न करे। केवल एक ही बार प्रातःकालमें करे। वास्तवमें त्राटकका अनुकूल समय रात्रिके दोसे पाँच बजेतक है। शान्तिके समयमें चित्तकी एकाग्रता बहुत शीघ्र होने लगती है। एकाध वर्षपर्यन्त नियमितरूपसे त्राटक करनेसे साधकके संकल्प सिद्ध होने लगते हैं, दूसरे मनुष्योंके हृदयका भाव मालूम होने लगता है, सुदूर स्थानमें स्थित पदार्थ अथवा घटनाका सम्यक्प्रकारसे बोध हो जाता है।

गजकर्म या गजकरणी

गजकर्म यहि जानिये, पिये पेट भरि नीर।
फेरि युक्तिसों काढ़िये, रोग न होय शरीर॥

हाथी जैसे सूँडसे जल खींच फिर फेंक देता है, वैसे गजकर्ममें किया जाता है। अतः इसका नाम गजकर्म या गजकरणी हुआ। यह कर्म भोजनसे पहले करना चाहिये। विषयुक्त या दूषित भोजन करनेमें आ गया हो तो भोजनके पीछे भी किया जा सकता है। प्रतिदिन दन्तधावनके पश्चात् इच्छाभर जल पीकर अँगुली मुखमें दे उलटी कर दे। क्रमशः बढ़ा हुआ अभ्यास इच्छामात्रसे जल बाहर फेंक देगा। भीतर गये जलको न्योलीकर्मसे भ्रमाकर फेंकना और अच्छा होता है। जब जल स्वच्छ आ जाय तब जानना चाहिये कि अब मैल मुखकी राह नहीं है। पित्तप्रधान पुरुषोंके लिये यह क्रिया हितकर है।

कपालभातिकर्म

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससम्भ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी॥

(हठयोगप्रदीपिका)

अर्थात् लोहकारकी भस्त्रा (भाथी) के समान अत्यन्त शीघ्रतासे क्रमशः रेचक-पूरक प्राणायामको शान्तिपूर्वक करना योगशास्त्रमें कफदोषका नाशक कहा गया है तथा यह क्रिया 'कपालभाति' नामसे विख्यात है।

जब सुषुम्नामेंसे अथवा फुफ्फुसमेंसे श्वासनलिकाद्वारा कफ बार-बार ऊपर आता हो अथवा प्रतिश्याय (जुकाम) हो गया हो तब सूत्रनेति और धौतिक्रियासे इच्छित शोधन नहीं होता। ऐसे समयपर यह कपालभाति लाभदायक है। इस क्रियासे फुफ्फुस और समस्त कफवहा नाडियोंमें इकट्ठा हुआ कफ कुछ जल जाता है और कुछ प्रस्वेदद्वारा बाहर निकल जाता है, जिससे फुफ्फुस-कोशोंकी शुद्धि होकर फुफ्फुस बलवान् होते हैं। साथ-साथ सुषुम्ना, मस्तिष्क और आमाशयकी शुद्धि होकर

पाचनशक्ति प्रदीप्त होती है। परंतु उरःक्षत, हृदयकी निर्बलता, वमनरोग, हुलास (उबाक), हिक्का, स्वरभङ्ग, मनकी भ्रमित अवस्था, तीक्ष्ण ज्वर, निद्रानाश, ऊर्ध्वरक्तपित्त, अम्लपित्त इत्यादि दोषोंके समय, यात्रामें और वर्षा हो रही हो, ऐसे समयपर इस क्रियाको न करे।

अजीर्ण, धूपमें भ्रमणसे पित्तवृद्धि, पित्तप्रकोपजन्य रोग, जीर्ण कफ-व्याधि, कृमि, रक्तविकार, आमवात, विषविकार और त्वचारोगादि व्याधियोंको दूर करनेके लिये यह क्रिया गुणकारी है। शरद् ऋतुमें स्वाभाविक पित्तवृद्धि होती रहती है। ऐसे समयपर आवश्यकतानुसार यह क्रिया की जा सकती है।

कर्मयोग

(कविसम्राट् पं० श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध')

(१)

नयन मनुजके सदा सफलता-मुख अवलोकें।
दोनों कर बन परम कान्त सुरतरु-फल लोकें॥
उसको बहती मिले मरु-अवनिमें रसधारा।
वह पाता ही रहे अमर पुरका सुख सारा॥
कैसे? किस साधनके किये? तो उत्तर होगा यही।
सब दिनों कर्मरत जो रहा सिद्धि पा सका है वही॥

(२)

उषा-रागको लसित कर्म-अनुराग बनाता।
कर्म-सूत्रमें बँधा दिवाकर है दिखलाता॥
रजनी-रंजन कर्म-कान्त बन है छवि पाता।
अवनीतलपर सरस सुधा-रस है बरसाता॥
है करती रहती विश्वको विदित कर्मकी माधुरी।
हो तारकावलीसे कलित प्रतिदिन रजनी सुन्दरी॥

(३)

परम पविहृदय मेरु प्रवाहित निर्झर द्वारा।
प्रस्तर-संकुल अवनि-मध्यगत सरिता-धारा॥
फलसे बिलसे बिटप रंग लातीं लतिकाएँ।
सौरभ भरे प्रसून विकच बनतीं कलिकाएँ॥
देती हैं भवको कर्मकी अनुपमताकी सूचना।
है कर्म परम पावन सरस सुन्दर भावोंसे सना॥

(४)

कैसे मिलते रत्न उदधि-मंथन क्यों होता।
कैसे कार्य-कलाप बीज फल-कृतिके बोता॥
कैसे जड़ता मध्य जीवनीधारा बहती।
कैसे बांछित-सिद्धि साधना-करमें रहती।
कैसे हो वारिद-वृन्द वर वारि बरस पाते कहीं।
जो कर्म न होता तो रसा सरसा हो पाती नहीं॥

(५)

गृहका त्याग न त्याग कर्मका है कहलाता।
बुरे भावका त्याग त्याग है माना जाता॥
किसी कालमें कर्मत्याग तब होगा कैसे।
बने रहेंगे जब दृगादि जैसे के तैसे॥
तबतक थीं बातें त्यागकी जबतक मल धोती नहीं।
भव-कर्मरता सब इन्द्रियाँ कर्मरहित होती नहीं॥

(६)

कर्महीनता मरण कर्म-कौशल है जीवन।
सौरभरहित सुमन समान है कर्महीन जन॥
तिमिर-भरित अपुनीत इन्द्रियोंका वर रवि है।
कर्म परम पाषाणभूत मानसका पवि है॥
है कर्म-त्यागकी रगोंमें परिपूरित निर्जीवता।
है कर्मयोगके सूत्रमें बँधी समस्त सजीवता॥

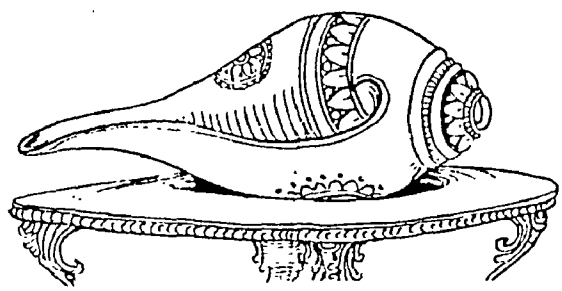

योगाचार्य और उनकी परम्परा

योगमूर्ति योगीश्वर भगवान् शिव

प्राचीन कालसे ही योगियोंकी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ चलती आ रही हैं। जैसे मार्कण्डेययोग, पातञ्जलयोग, नाथयोग (हठयोग), मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग आदि। योगवासिष्ठ-जैसे प्राचीन योगवेदान्तके ग्रन्थमें भी हठयोग, लययोग, राजयोग आदिका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें अधिकांश योग-परम्पराएँ भगवान् शङ्करसे ही प्रारम्भ हुई हैं। गुरु गोरखनाथजीके सम्प्रदायके सिद्ध महात्मा अपने आद्याचार्यके रूपमें भगवान् शङ्करको ही आदिनाथके रूपमें प्रतिष्ठित कर उनकी आराधना करते हैं। भगवान् शङ्करके ध्यान-स्वरूपोंमें भी प्रायः उन्हें सर्वत्र योगमुद्रा, ज्ञानमुद्रा और पद्मासन आदिसे युक्त बतलाया गया है। वे प्रायः योग-समाधि एवं तपश्चर्यामें ही स्थित रहते हैं। श्रीमद्भागवतके चतुर्थ स्कन्धमें कहा गया है कि जब ब्रह्मादि देवगण भगवान् शङ्करके दर्शनोंके लिये उनके नित्यनिवास कैलास पर्वतपर स्थित वटवृक्षके नीचे, जिसे स्वयं महायोगमय और समस्त सिद्ध मुमुक्षुजनोंका आश्रयभूत निवास-स्थान कहा है, पहुँचे तो वहाँ उन सभीने उन्हें विचित्र योगमुद्रामें देखा, जिसका श्रीमद्भागवतकारने इस प्रकार वर्णन किया है—

कृत्वोरौ दक्षिणे सव्यं पादपद्मं च जानुनि।
बाहुं प्रकोष्ठेऽक्षमालामासीनं तर्कमुद्रया॥
तं ब्रह्मनिर्वाणसमाधिमाश्रितं
व्युपाश्रितं गिरिशं योगकक्षाम्।
सलोकपाला मुनयो मनूना-
माद्यं मनुं प्राञ्जलयः प्रणेमुः॥

(श्रीमद्भा० ४।६।३८-३९)

भगवान् शङ्कर अपना बायाँ चरण दायीं जाँघपर रखे थे। वे बायाँ हाथ बायें घुटनेपर रखे, कलाईमें रुद्राक्षकी माला डाले तर्कमुद्रासे विराजमान थे। वे योगपट्ट (काठकी बनी हुई टेकनी) का सहारा लिये एकाग्र-चित्तसे ब्रह्मानन्दका अनुभव कर रहे थे। लोकपालोंके सहित समस्त मुनियोंने मननशीलोंमें सर्वश्रेष्ठ भगवान् शङ्करको हाथ जोड़कर प्रणाम किया।

प्रायः इतिहास-पुराणोंमें सर्वाधिक योगसाधना और दीर्घकालीन समाधिके लिये भगवान् शङ्कर ही सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं, यह बात शिवपुराण, लिङ्गपुराणादिमें बार-बार कही गयी है। उन्हींके आधारपर गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने भगवान् शङ्करके स्व-स्वरूपमें स्थित होकर दीर्घकालतक समाधिमें स्थित होनेकी कई बार चर्चा की है। वे कहते हैं कि भगवान् शङ्करने अपने सहज-स्वरूपका स्मरण किया और उनकी तत्काल निर्विकल्प-समाधि अनन्तकालके लिये लग गयी—

संकर सहज सरूपु सम्हारा। लागि समाधि अखंड अपारा॥

इसी प्रकार एक दूसरी जगह वे लिखते हैं कि भगवान् शङ्करको समाधि लगाये हुए पूरे दिव्य ८७ हजार वर्ष व्यतीत हो गये, तब उन्होंने अपनी सहज समाधिका परित्याग किया—

बीतें संबत सहस सतासी। तजी समाधि संभु अबिनासी॥

इस प्रकारकी अवस्था प्रायः अन्य देवता या सिद्ध मुनियोंकी कम ही देखी जाती है, पर भगवान् शङ्करकी यह सहजावस्था है।

भगवान् शङ्करके आगमों तथा पुराणोंमें अनेक शतनाम तथा सहस्रनाम भी प्राप्त होते हैं, जिनमें उनके प्रायः अधिकांश नाम योगसे ही सम्बद्ध हैं। यथा—सर्वयोगी, योगाध्यक्ष, सिद्धयोगी, सिद्धसाधक, मोक्षद्वार आदि। (महाभा०, अनु०, अ० १७का शिवसहस्रनाम)।

शास्त्रोंमें योगका परम फल ज्ञान बतलाया गया है और योग तथा ज्ञानको भी साक्षात् भगवान्‌का स्वरूप बतलाया गया है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

(श्रीमद्भा० १।२।११)

तत्त्ववेत्तालोग ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित अखण्ड
ाय सच्चिदानन्दस्वरूप ज्ञानको ही तत्त्व कहते हैं।
ा कोई ब्रह्म, कोई परमात्मा और कोई भगवान्‌के नामसे
ा हैं।'

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी स्पष्ट-रूपसे कहा गया है कि
ज्ञानके सदृश अन्य कोई भी कल्याणकारी पवित्र पदार्थ
और योगसिद्ध योगी इसे यथासमय अवश्य प्राप्त कर
ते—

हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
त्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥

(४।३८)

ानरूपी नौकाके सहारे संसारका सर्वाधिक पापी प्राणी
-तापसे मुक्त होकर परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है।

स प्रकार भगवान् शङ्कर विशुद्ध विज्ञानमय कैवल्य-
और सभी विद्या एवं विज्ञानोंके मूल प्रवर्तक तथा
रण कहे गये हैं, अतः तीनों लोकोंमें वे परम गुरु
भी हैं—

'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।'

'तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना॥'

इसीलिये आचार्य सायणने अपने सभी वेदोंके भाष्यमें एक ही श्लोकसे त्रिभुवनगुरु भगवान् शङ्करकी वन्दना की है और कहा है कि वेद जिनके निःश्वासभूत हैं और जो वेदोंके अनुसार ही नाम-रूप जगत्‌का विस्तार करते हैं तथा समस्त विद्याओंके मूलस्रोत विज्ञानमय हैं, उन भगवान् शङ्करकी मैं वन्दना करता हूँ—

यस्य निःश्वसितं वेदा···· विद्यातीर्थं महेश्वरम्।

इस प्रकार भगवान् शिव, भगवान् विष्णु,विशुद्ध विज्ञान और अखण्ड पूर्ण महायोग—ये सब एक ही आनन्दमय तत्त्वके भिन्न-भिन्न नाम-रूप हैं और साधनोंके द्वारा इनकी प्राप्तिमें परमतत्त्व, पराशान्ति, समाधिसिद्धि और कृतकृत्यता हो जाती है। अतः किसी भी प्रकार इनका समाश्रयण, ध्यान, प्रणिधान, निदिध्यासन आदि अवश्य करते रहना चाहिये।

महायोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण

ोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण नारायणके षोडशकलायुक्त
पूर्णावतार कहे गये हैं और उनके द्वारा महाभारत-
समय उपदिष्ट श्रीमद्भगवद्गीता शास्त्र सर्वोत्तम
स्त्र है। इसके अठारह अध्यायोंमें सांख्ययोग, कर्मयोग,
ि-संन्यासयोग, कर्मसंन्यासयोग, आत्मसंयमयोग,
ज्ञानयोग, अक्षरब्रह्मयोग, राजविद्याराजगुह्ययोग,
ोग, विश्वरूपदर्शनयोग, भक्तियोग, क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-
योग, गुणत्रयविभागयोग, पुरुषोत्तमयोग तथा
यासयोग आदिके नामसे प्रायः सभी योगोंका कथन
गया है और बीच-बीचमें ध्यानयोग, ज्ञानयोग,
ग, ब्रह्मयोग आदि और भी अनेक योगोंकी चर्चा हुई
। भगवान् श्रीकृष्ण योगमायाका आश्रय लेकर सदा ही
य, अलौकिक और दिव्य लीलाएँ सम्पादित करते रहते
गवत आदिके अनुसार देवकीके गर्भसे प्रकट होनेके
वे चतुर्भुज विष्णुरूपमें अवतीर्ण हुए और देवकी-
की प्रार्थनापर पुनः बालक-रूपमें परिणत हुए और
घर पहुँचानेकी बात भी उनसे कही। बादमें माता
यशोदाको पुनः विश्वरूप दिखाया और अपने मुखमें ही सम्पूर्ण नक्षत्र-मण्डल, चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डलसहित समस्त विश्वको दिखाया। इसी प्रकार वत्सापहरणके समय ब्रह्माजीको, यमुनामें स्नान करते हुए अक्रूरजीको, युद्धक्षेत्रमें अर्जुनको तथा उससे पूर्व कौरवोंकी सभामें दुर्योधनादिको भी अपना विश्वरूप दिखलाया। रासलीलामें वे गोपियोंकी संख्याके अनुसार ही उतनी संख्यामें परिणत हो गये थे, साथ ही सोलह हजार रानियोंके घरमें भी उतने ही रूप धारणकर विराजित होते थे। यह सब उनकी दिव्य योग-शक्तिका ही प्रभाव था। इस बातको उन्होंने गीतामें स्वयं अपने मुखसे कहा है—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।

श्रीमद्भागवतमें रास आदि प्रकरणोंमें बार-बार स्पष्टरूपसे कहा गया है कि उन्होंने योगमायाका आश्रय लेकर रास करनेका विचार किया—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(१०।२९।१)

—और दुर्गासप्तशतीमें भी योगमायाको भगवान्‌की योग-शक्ति और महामाया कहा गया है, जो तीनों लोकोंको उत्पन्न कर धारण किये रहती हैं और समस्त प्राणियोंको मोहमें भी डाले रहती हैं—'**महामाया हरेश्चैषा तया सम्मोह्यते जगत्।**'

योगेश्वर कृपालु भगवान् श्रीकृष्णका आविर्भाव लोककल्याणके लिये ही हुआ था और उनके द्वारा कथित गीताशास्त्र जो उनका ही दूसरा स्वरूप है और उनकी भास्वती भगवतीकी अनुकम्पासे प्रसूत सर्वाधिक चमत्कृत वस्तु है, वह समस्त अज्ञान एवं मोहपटलको ध्वस्त कर प्रतिपद अब भी उनका प्रत्यक्ष रूपसे दर्शन करानेमें सक्षम है। आवश्यकता है केवल अत्यन्त मनोयोगसे तल्लीन होकर उसके भावोंको हृदयङ्गम करनेकी। उनके केवल एक वचनको देखा जाय, जिसमें योगके सर्वाधिक गुह्यतम रहस्यको प्रकट करते हुए एक ही वाक्यमें उनके द्वारा कहा गया है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

(गीता २।६९)

भाव यह है कि सामान्य जन जिस संसाररूपी दिनमें जागते हैं, उसे योगी रात समझकर, वहाँ केवल एकमात्र भगवान्‌को ही देखता है, संसारके किसी अन्य रूपको वह कभी नहीं देखता। उसके लिये भूत-भविष्य-वर्तमान, सत्ययुग, त्रेता, द्वापर आदि सदा ही केवल एक भगवान्‌के रूपमें ही रहता है और रहेगा। दूसरी ओर घोर संसारी प्राणियों, भौतिकवादियों, अज्ञानी जनोंके लिये जो परमात्मा किसी प्रकार अनुभूत, दृष्ट और ज्ञात नहीं होता, रात्रिके समान दुर्ज्ञेय लगता है, उसी परमात्माको अहर्निश देखता हुआ और परमानन्दको अनुभूत करता हुआ योगी सदा जाग्रत् और चैतन्य रहता है। अर्थात् योगीके लिये भगवान् तो नित्य दृष्टिगोचर हैं और संसार कभी नहीं। यही योगीकी स्थिति है। इस प्रकार योगात्मा भगवान् श्रीकृष्ण योग एवं योगीके सार-तत्त्वको इसी रूपमें प्रायः सर्वत्र बतलाते हुए अपनेको साधकके द्वारा तत्काल प्राप्त होनेका मार्ग निर्दिष्ट करते हैं, अतः वे योग-साधकोंसे कभी तिरोहित नहीं होते।

प्रायः गीताके ही भावोंको उन्होंने कुछ सरल और मधुरतम शब्दोंमें अपने भक्त उद्धवको भागवतके एकादश स्कन्धमें उपदिष्ट किया, जो भागवत ग्रन्थका सर्वोत्तम उत्कृष्ट अङ्ग है और गीताके अर्थोंसे ही अनुस्यूत है। इसी प्रकार महाभारतका अनुगीतापर्व भी पुनः अर्जुनको गीताका स्मरण दिलानेके लिये ही उपदिष्ट है।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके अमृतमय वचनों, अनेकों महत्त्वपूर्ण प्रसङ्गोंको जिनमें योगका ही मुख्यरूपसे उपदेश हुआ है, योगामृत-सार भी कहा जा सकता है। भगवान् व्यासदेवने हरिवंशसहित महाभारत और अष्टादश पुराणोंकी मुख्यरूपसे भगवान् श्रीकृष्णके चरित्र एवं उनकी योगचर्या तथा योगोपदेशके वचनोंके संग्रहकी दृष्टिसे रचना की थी।

इस प्रकार अपनी प्राप्तिके साधनभूत योगसारसर्वस्वको सर्वसामान्यको सुलभ करानेवाले योगमूर्ति पूर्णतम पुरुषोत्तमके पूर्णावतार भगवान् श्रीकृष्णको समस्त भावोंसे तीव्र संवेगके द्वारा, योगसाधनाद्वारा प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये और अपने जीवनको सफल बनाना चाहिये।

योगके आदिप्रवर्तक भगवान् हिरण्यगर्भ

पातञ्जलयोगदर्शनकी व्याख्याओंकी प्रस्तावनामें प्रायः सभी आचार्योंने एक स्वरसे कहा है कि योगमार्गके आदिप्रवर्तक एवं मूल योगसंहिताके आदि प्रवक्ता भगवान् हिरण्यगर्भ ही हैं और कोई दूसरा नहीं। महाभारत तथा याज्ञवल्क्यस्मृतिमें कुछ वचन इस प्रकार मिलते हैं—

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।

अर्थात् 'हिरण्यगर्भ ही योगके वक्ता हैं, इनसे पुरातन

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एष च्छन्दसि स्तुतः।
योगैः सम्पूज्यते नित्यं स च लोके विभुः स्मृतः॥

(महाभा०, शान्ति० ३४२।९६)

'यह द्युतिमान् हिरण्यगर्भ वही है, जिनकी वेदमें स्तुति की गयी है। इनकी योगी लोग नित्य पूजा करते हैं और संसारमें इन्हें विभु कहा गया है।' इसी प्रकार—

हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः।
महानिति च योगेषु विरञ्चिरिति चाप्यजः॥

'इन हिरण्यगर्भ भगवान्‌को (समष्टि) बुद्धि कहते हैं, इन्हींको योगी लोग महान् तथा विरञ्चि और अज भी कहते हैं।' श्रीमद्भागवत (५।१९।१३) में कहा गया है—

इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं
हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत्।

'हे योगेश्वर! यह योगकौशल वही है, जिसे भगवान् हिरण्यगर्भने कहा था।'

उपर्युक्त सभी वचनोंका तात्पर्य यही है कि वेदोंमें जिनकी स्तुति की गयी है, जो योगिजनोंसे पूजित हैं, वेदोंमें जो विभु, विरञ्चि, अज, चतुर्मुख तथा जगदन्तरात्मा आदि शब्दवाच्य हैं, उन्हींसे सर्वप्रथम योगविद्या या पराविद्याका प्रादुर्भाव हुआ, अतः निर्विवाद-रूपसे भगवान् हिरण्यगर्भ ही योगके परम आचार्य हैं। सभी ऋषि, महर्षि, राजर्षि, देवता, सिद्ध, गन्धर्व, विद्याधर एवं योगी महात्माजनोंने उनकी ही उपासना की है और उन्हींकी बातोंको अपने शास्त्रोंमें न्यूनाधिक रूपसे [illegible]त किया है; वैसे योगके आचार्योंमें कपिल, पञ्चशिख, [illegible], आसुरि, सनत्कुमार तथा सनत्सुजात आदि सिद्धविद्याधीश योगीश्वर भी हैं, तथापि ये भगवान् हिरण्यगर्भ कौन हैं? यह एक विचारणीय विषय है। इसका मूल कारण है 'हिरण्यगर्भ' शब्दके विभिन्न अर्थ और फिर कहीं इनके चरित्रका स्पष्ट उल्लेख न मिलना।

'हिरण्यगर्भ' शब्द प्रायः प्रजापति ब्रह्माजीके लिये और कई स्थानोंपर भगवान् विष्णु तथा सूर्यके लिये भी प्रयुक्त हुआ है। जहाँ हिरण्यगर्भ शब्दका ब्रह्मापरक अर्थ है, वहाँ मनुस्मृति आदिके **'तदण्डमभवद्धैमम्'**—इस वचनके अनुसार जलके सुवर्णवर्णके अण्डाकार-रूपमें विवर्तित होने और पुनः उसके दो खण्डों—द्यावा-पृथ्वीरूपमें विभक्त होने तथा उसके मध्यभागसे प्रजापति ब्रह्माके प्रसूत होनेके कारण उसकी सार्थकता होती है, किंतु मूल वैदिक संहिताओं तथा पुराणों आदिमें उस अण्डेके मूल कारण और नाभिपद्मसे उत्पन्न होनेवाले ब्रह्माजीके भी उद्भवकर्ता भगवान् विष्णुको हिरण्यगर्भ कहा गया है।

परम्परासे अनुसंधान करनेपर योगका मूल सम्बन्ध, विश्वके आदिप्रवर्तक परमात्मा भगवान् नारायणसे ही स्पष्ट-रूपसे दीखता है। इसलिये विष्णुसहस्रनाममें **'हिरण्यगर्भो भूगर्भो०'** के साथ-साथ **'योगो योगविदां नेता प्रधानपुरुषेश्वरः'** कहकर भगवान् विष्णुको ही उस जलरूप हिरण्यमय अण्डेके मूल होनेसे तथा साक्षात् योगमूर्ति होनेके कारण भी उन्हें ही योगरूप और हिरण्यगर्भ कहा गया है। अन्य सभी शास्त्रोंमें भी उन्हें ही योगिजनोंके द्वारा ध्येय, योगियोंके आदिगुरु, विशुद्ध योगात्मस्वरूप, योगमायाके स्वामी और योगनिद्राके आश्रयभूत भी कहा गया है—

'ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो०'
'योगिभिर्ध्यानगम्यम्'
'महामाया हरेश्चैषा तया सम्मोह्यते जगत्।'
'योगनिद्रां यदा विष्णुर्जगत्येकार्णवीकृते॥

प्रायः सभी शास्त्रोंमें एकमात्र नारायणको मूल योगाचार्य, समस्त योगियोंके गुरु, गुरुओंके गुरु और योगमार्गके द्वारा एकमात्र प्राप्यतत्त्व बतलाया गया है। योगके द्वारा समस्त कर्मबीजोंको नष्टकर और हृदयकी समस्त वृत्तियोंको योग-भावनासे योगाकार बनाकर योगीलोग एकमात्र उन्हींको देखते हैं और वे ही समस्त योगोंके द्वारा अधिगम्य भी कहे गये हैं। श्रीमद्भागवतमें गजेन्द्र-स्तुतिमें कहा गया है—

तमक्षरं ब्रह्म परं परेश-
मव्यक्तमाध्यात्मिकयोगगम्यम्।
अतीन्द्रियं सूक्ष्ममिवातिदूर-
मनन्तमाद्यं परिपूर्णमीडे॥

(८।३।२१)

'जो अविनाशी, सर्वशक्तिमान्, अव्यक्त, इन्द्रियातीत और अत्यन्त सूक्ष्म हैं, जो अत्यन्त निकट रहनेपर भी बहुत दूर जान पड़ते हैं, जो आध्यात्मिक योग अर्थात् ज्ञानयोग या भक्तियोगके द्वारा प्राप्त होते हैं—उन्हीं आदिपुरुष, अनन्त एवं परिपूर्ण परब्रह्म परमात्माकी मैं स्तुति करता हूँ।'

पुनः आगे कहा गया है—

योगरन्धितकर्माणो हृदि योगविभाविते।
योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोऽस्म्यहम्॥

(८।३।२७)

'योगीलोग योगके द्वारा कर्म, कर्म-वासना और कर्म-फलको भस्म करके अपने योगशुद्ध हृदयमें जिन योगेश्वर भगवान्‌का साक्षात्कार करते हैं—उन प्रभुको मैं नमस्कार

करता हूँ।'

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी उसके वक्ता साक्षात् नारायण भगवान् श्रीकृष्णने भी अपनेको ही योगमार्गका आदिप्रवर्तक बतलाया है। वहाँ चतुर्थ अध्यायके प्रथमसे लेकर छठे श्लोकतक इस रहस्यको स्पष्टरूपसे व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा है कि सर्वप्रथम इस मुख्य योगमार्गको मैंने ही भगवान् सूर्यदेवको बतलाया था और फिर उन्होंने अपने पुत्र वैवस्वत मनुको तथा फिर उन्होंने अपने पुत्र इक्ष्वाकुको बतलाया—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

इस प्रकार यह परम्परासे सूर्यवंशी आदि सभी राजर्षियोंको क्रमशः प्राप्त होता रहा। गीताकी 'गूढार्थदीपिका' नाम्नी टीकामें श्रीस्वामी मधुसूदन सरस्वतीजीने यह स्पष्ट किया है कि यहाँ वैवस्वत मनुका उल्लेख केवल संकेतात्मक है। यह बात नहीं है कि स्वायम्भुव मनुसे लेकर रैवत मन्वन्तरतकके राजर्षियों और योगियोंको यह योग ज्ञात नहीं हो सका, अपितु भगवान् नारायण—हिरण्यगर्भके द्वारा ब्रह्मा आदिकी परम्परासे स्वायम्भुवादि मनु आदि तक रही और फिर यह योग-परम्परा आगे भी प्राप्त होती चली गयी। वैवस्वतमनुका निर्देश केवल इस बातको द्योतित करनेके लिये कहा गया है कि इस योगविद्याकी परम्पराका उपदेश प्रत्येक मन्वन्तरके आदिमें साक्षात् नारायण भगवान् हिरण्यगर्भके द्वारा प्रजापतियों और मनुओंकी वंशपरम्परामें बहुत दूरतक चलता आता है और भगवान् नारायण ही इसके आदि उपदेष्टा होते हैं। साथ ही अन्य विशिष्ट योगिजन भी उन्हींकी कृपासे 'योगैकगम्य' उन्हें प्राप्त करते हैं। यदि कालके व्यवधानसे वह परम्परा उच्छिन्न होने लगती है और सामान्य जनता यहाँतक कि देवादि भी संकटमें पड़ जाते हैं तो पुनः वे ही कृपाकर किसी उपासकके द्वारा उस परम्पराको पुनर्जीवित करा देते हैं, जैसे उन्होंने द्वापरमें अपने प्रिय भक्त एवं योगी अर्जुनको पुनः उज्जीवित कराया था—

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

(गीता ४।३)

वे बार-बार समझाते हुए अर्जुनको योगी बननेके लिये प्रेरित करते हैं— **'तस्माद्योगी भवार्जुन।'**

इस प्रकार सभी शास्त्रोंके अनुसार साक्षात् भगवान् नारायण समस्त योगमार्गोंके आदिप्रवर्तकके रूपमें सिद्ध होते हैं, क्योंकि ब्रह्माजीके भी हृदयमें प्रेरणाकर उनके मुखोंसे वेदादि सभी शास्त्रोंके उच्चारण एवं ज्ञान करानेवाले भी वे ही कहे गये हैं—

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वताजस्य सतीं स्मृतिं हृदि।
स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यतः
स मे ऋषीणामृषभः प्रसीदताम्॥

(श्रीमद्भा० २।४।२२)

'जिन्होंने सृष्टिके समय ब्रह्माके हृदयमें पूर्वकल्पकी स्मृति जागरित करनेके लिये ज्ञानकी अधिष्ठात्री देवीको प्रेरित किया और वे अपने अङ्गोंके सहित वेदके रूपमें उनके मुखसे प्रकट हुईं, वे ज्ञानके मूलकारण भगवान् मुझपर कृपा करें, मेरे हृदयमें प्रकट हों।'

सभी योगशास्त्रियोंका भी प्रायः उपर्युक्त ही आशय है और वे 'हिरण्यगर्भ' शब्दसे उन्हीं परमात्माको व्यक्त करना चाहते हैं और योगशास्त्रका सार-सर्वस्व-तत्त्व प्रणव भी उन्हींका वाचक है। महर्षि पतञ्जलि महाराजने भी योगसूत्रमें कहा है—**'तस्य वाचकः प्रणवः।'** समस्त योग आदि साधनोंके द्वारा प्राप्य भी वे ही हैं और उन्हींकी प्राप्तिमें सभी प्राप्य तत्त्वोंकी प्राप्ति और परम नैष्ठिकी शान्तिकी भी प्राप्ति हो जाती है। वे अहैतुकी कृपाके कारण भक्तों और साधकोंके कल्याणके लिये अनेक अवतारोंको भी धारण करते हैं और योग-साधनके द्वारा अपने स्वरूपको प्राप्त कराकर विश्वका परम उपकार करते हैं। यहाँतक कि उनके चरित्रों और नामोंका श्रद्धापूर्वक गान करके भी साधक योगमार्गको प्राप्तकर उनके चरणोंतक पहुँच जाते हैं और कृतकृत्य हो जाते हैं।

मन, वाणी और कर्मसे प्राणिमात्रके साथ अद्रोह, सबपर कृपा और दान, यही साधु पुरुषोंका सनातन धर्म है।—महाभारत

सनकादि योगीश्वर

सृष्टिके प्रारम्भमें लोकपितामह ब्रह्माजीने विविध लोकोंको रचनेकी इच्छासे तपस्या की। स्रष्टाके उस अखण्ड तपसे प्रसन्न होकर विश्वाधार परम प्रभु नारायणने तप अर्थवाले 'सन' नामसे युक्त होकर ब्रह्माजीके मानस-पुत्रके रूपमें—सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार—इन चार निवृत्ति-परायण ऊर्ध्वरेता मुनियोंके रूपमें अवतार ग्रहण किया। ये प्राकट्यकालसे ही योगमार्गपरायण, ब्रह्मज्ञानी, नित्यसिद्ध, विरक्त और साक्षात् पूर्णतम परमात्माके अवतार हैं। ये चारों प्रायः एक ही साथ रहते हैं तथा एक ही साथ **'हरिः शरणम्'** का हरिनामकीर्तन करते हुए, लोककल्याण करते हुए सर्वत्र विचरण करते रहते हैं। इनकी अवस्था सदा पाँच वर्षकी ही रहती है। काम-रागादिसे सदा दूर रहनेके लिये इन्होंने योगमय शिशुका शरीर धारण कर रखा है और ये सदा योग एवं ब्रह्मज्ञानके प्रभावसे ब्रह्मानन्दमें लीन रहा करते हैं—

ब्रह्मानंद सदा लयलीना। देखत बालक बहु कालीना॥
रूप धरें जनु चारिउ बेदा। समदरसी मुनि बिगत बिभेदा॥

(रा० च० मा० ७। ३२। ४-५)

ये चारों कुमार सदा ही श्रीमद्भगवद्गीताके **'समत्वं योग उच्यते'**, **'पण्डिताः समदर्शिनः'**, **'निर्दोषं हि समं ब्रह्म'** तथा **'येषां साम्ये स्थितं मनः'** इत्यादि नियमोंके मूर्तिमान् स्वरूप, भेददृष्टिसे शून्य केवल एक ब्रह्मदृष्टि होकर योगानन्दसे संतृप्त रहते हैं।

ये चारों कुमार न केवल योगमार्गके अपितु भक्तिमार्गके भी मुख्य आचार्य हैं। कुमारोंकी जन्मजात रुचि भगवान्‌के नाम तथा गुणका कीर्तन करने, भगवान्‌की लीलाओंका वर्णन करने एवं उन पावन लीलाओंको सुननेमें थी। भगवान्‌को छोड़कर एक क्षणके लिये भी उनका चित्त संसारके किसी विषयकी ओर जाता ही नहीं। ये चारों भगवान्‌के दिव्य गुण एवं मङ्गलमय चरित सुननेके लिये सदा उत्कण्ठित रहते हैं। स्वयं भी ये परस्पर एकको वक्ता बनाकर अन्य तीनों श्रोता बनकर सत्सङ्ग करते रहते हैं। ये पातालमें भगवान् शेष तथा कैलासमें भगवान् शङ्करजीके पास जा-जाकर उनके मुखसे भगवान्‌की लीलाओंका आस्वादन करते रहते हैं।

इनके उपदेशोंसे अनेकों व्यक्तियोंका कल्याण-साधन हुआ है। आदिराज महाराज पृथु, जिनके नामपर यह पृथ्वी है, को उन्होंने अद्भुत योगज्ञानका उपदेश दिया। महात्मा शुकदेव और भीष्मजीको इन्होंने अध्यात्मविद्याका सदुपदेश प्रदान किया। इन्होंने देवर्षि नारदजीकी शङ्काओंके उत्तरके रूपमें सम्पूर्ण नारदपुराणका वर्णन किया, जो राजयोग, मन्त्रयोग, लययोग तथा भक्तियोगसे परिपूर्ण है। इन्हींसे सम्पूर्ण भागवत-माहात्म्यका उपदेश नारदजीको प्राप्त हुआ। अनेक उपनिषदोंमें भी नारदजीके प्रश्न करनेपर कुमारोंने उन्हें योग, भक्ति एवं ब्रह्मज्ञानका रहस्य समझाया है।

इस प्रकार ज्ञान, योग, वैराग्य, नाम-जप एवं भगवच्चरित्र सुननेकी अबाध उत्कण्ठा और विश्वके कल्याणकी कामनाका आदर्श ही इन योगीश्वरोंका स्वरूप है। ये अजर-अमर हैं और अधिकारी भक्तों, साधु-संतों एवं साधकोंको आज भी दर्शन देकर कृतार्थ करते रहते हैं।

महायोगी महर्षि मार्कण्डेय

भृगुकुलमें उत्पन्न हुए महायोगी मार्कण्डेय महर्षि मृकण्डुके पुत्र हैं। यज्ञोपवीत-संस्कार हो जानेपर ये अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत धारणकर वेदाध्ययन करने लगे और वेद-पारङ्गत होकर तप, योग-साधना और स्वाध्यायमें लग गये। इन्होंने दस करोड़ वर्षकी दीर्घकालीन तपस्या एवं योगचर्याके द्वारा श्रीहरिकी आराधना करके दुर्जेय कालको भी जीत लिया। उनके इस प्रकार मृत्युको जीत लेनेपर ब्रह्मा, शिव, भृगु, दक्ष और नारदादिको बड़ा आश्चर्य हुआ। इस प्रकार नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत एवं योगमार्गका आश्रयण कर भगवान् अधोक्षजका ध्यान करते हुए महायोगीको छः मन्वन्तरका काल बीत गया। वैवस्वत नामके सातवें मन्वन्तरमें पुरन्दर नामके इन्द्रको उनकी यौगिक तपश्चर्यासे भय होने लगा कि कहीं ये मेरे ऐन्द्र-पदको छीन न लें, इसलिये उन्होंने मुनिको योगमार्गसे डिगानेके लिये गन्धर्व तथा अप्सराओंका सहयोग

लिया, किंतु वे निष्फल रहे। भगवान् नारायण प्रसन्न होकर वर देनेके लिये मुनिके पास आये और वर माँगनेके लिये कहा। इसपर गद्‌गद हो मार्कण्डेयजी बोले—'भगवन्! आपने कृपा करके मुझे अपने दर्शनसे कृतार्थ किया, इससे बढ़कर मैं कौन-सा वर आपसे माँगूँ? तथापि मेरी इच्छा है कि आपकी जिस मायासे यह सत्-वस्तु भेदयुक्त प्रतीत होती है, उस मायाको मैं देखना चाहता हूँ।' नर-नारायण 'तथास्तु' कहकर बदरिकाश्रम चले गये।

सहसा एक दिन ऋषिने देखा कि आकाशमण्डलमें काले-काले मेघ उमड़ आये हैं। थोड़ी ही देरमें मूसलाधार वर्षा शुरू हो गयी। प्रलयकालीन वर्षासे सर्वत्र पृथ्वी जलसे ढक गयी। चारों ओर जल-ही-जल हो गया। मार्कण्डेयजी उस महासमुद्रमें विक्षिप्त-से तैरने लगे। उस अनन्त महार्णवमें वे भयंकर जीव-जन्तुओंसे पीड़ित होने लगे। वायु और जलके थपेड़ोंसे उनका शरीर जर्जरित हो गया। उन्हें भूख-प्यास सताने लगी। इस प्रकार भगवान्‌की मायासे मोहित मार्कण्डेयजीको उस प्रलय-पयोधिमें दीर्घ समय व्यतीत हो गया। मायाके वशीभूत वे कुछ समझ ही नहीं पा रहे थे। जब उन्हें भगवान्‌का स्मरण हुआ, तो उसी समय उन्होंने देखा कि उस महाप्रलय-समुद्रमें एक महावटवृक्षके पत्तेके दोनेमें भगवान् बालमुकुन्द अपने हाथोंकी अँगुलियोंसे दाहिने चरणको पकड़कर उसके अँगूठेको मुखमें लिये चूस रहे हैं, उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ, वे उनकी स्तुति करने लगे—

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं शिरसा नमामि॥

—उन्हें गोदमें लेनेके लिये वे लालायित हो उठे और ज्यों ही उनके पासमें पहुँचे त्यों ही बालमुकुन्दके श्वास खींचते समय उनकी नासिकाके छिद्रसे उदरमें प्रविष्ट हो गये। भगवान्‌की लीलावश उन्हें उदरमें ही सारा ब्रह्माण्ड तथा अपना आश्रम आदि सभी कुछ दिखायी पड़ा। यह सब देखकर वे चकित हो गये, उन्होंने नेत्र बंद कर लिये। भगवान्‌की मायासे पुनः वे श्वासके साथ बाहर निकल पड़े और उसी प्रलय-पयोधिमें तैरने लगे। उन्हें वही वटवृक्ष और वही अद्‌भुत सौन्दर्यघन शिशु दिखलायी पड़े। अब मुनिने उन्हींसे इस आश्चर्यके विषयमें पूछना चाहा, परंतु लीलापुरुषोत्तम भगवान् बालमुकुन्द अन्तर्धान हो गये। उनके अन्तर्धान होते ही वह प्रलय-समुद्र भी क्षणभरमें विलीन हो गया और मुनिने देखा कि वे तो अपने आश्रमके पास ही पूर्ववत् स्थित हैं। उन्होंने मन-ही-मन भगवान् योगेश्वरकी मायाशक्तिको प्रणाम किया और पुनः भगवान्‌की भक्ति और तपश्चर्यामें लग गये।

महायोगी मार्कण्डेयपर भगवान् शङ्करकी अद्भुत कृपा थी। उन्होंने मृत्युञ्जय-स्तोत्रके पाठद्वारा भगवान् शङ्करको प्रसन्न कर कालपर विजय प्राप्त कर ली थी।

मार्कण्डेयजी भगवान्‌की कृपासे ब्रह्माजीकी आयुके बराबर दीर्घायु-प्राप्त पूर्ण सिद्ध महायोगी हैं। इसलिये दीर्घ आयुकी कामनाके लिये जन्मोत्सव—वर्धापन आदि संस्कारोंमें इनका विशेष पूजन होता है। योगियोंके अन्तर्गत उनका सम्प्रदाय 'मार्कण्डेयी योग' के नामसे विशेष रूपसे प्रसिद्ध है। मार्कण्डेयपुराणमें इनके द्वारा वर्णित योगका स्वरूप प्रायः ज्ञानयोगसे सम्बद्ध है और उसकी प्रक्रिया राजयोगसे मिलती है।

महामुनि मार्कण्डेयजीने हजार-हजार युगोंके अन्तमें होनेवाले अनेक महाप्रलयोंके दृश्य देखे हैं। जब यह संसार देवता, दानव तथा अन्तरिक्ष आदिसे शून्य हो जाता है, उस प्रलयकालमें केवल ये अपनी यौगिक साधनाके प्रभावसे ब्रह्माजीके पास रहकर उनकी उपासना करते हैं। इन्होंने तत्परतापूर्वक चित्तवृत्तियोंका निरोध करके ब्रह्माजीकी आराधना की है और घोर तपस्या एवं योग-साधनाद्वारा मरीचि आदि प्रजापतियोंको भी जीत लिया है। ये भगवान् नारायणके समीप रहनेवाले भक्तोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं। परलोकमें इनकी महिमाका सर्वत्र गान होता है। इन्होंने सर्वव्यापक परब्रह्मकी उपलब्धिके स्थानभूत हृदयकमलकी कर्णिकाका यौगिक कलासे अलौकिक उद्‌घाटन कर वैराग्य और अभ्याससे प्राप्त हुई दिव्य दृष्टिद्वारा भगवान्‌का अनेक बार साक्षात्कार किया है। इसलिये सबको मारनेवाली मृत्यु तथा शरीरको जर्जर बना देनेवाली जरा इनका स्पर्श नहीं करती। ऐसे अमर महायोगीजीकी जितनी महिमा गायी जाय वह कम ही है।

योग-वेदान्तके उपदेष्टा महर्षि वसिष्ठ

ब्रह्मशक्तिके मूर्तिमान्-स्वरूप तपोनिधि महर्षि वसिष्ठजीके कल्याणकारी दिव्य चरित्रों, उनकी योगचर्चाओं एवं सदुपदेशोंसे पुराणेतिहास तथा धर्मशास्त्रादि ग्रन्थ भरे पड़े हैं। पुराणोंमें इनके आविर्भावकी अनेक कथाएँ हैं। सृष्टिके आरम्भमें प्रथम कल्पमें ये ब्रह्माजीके मानस-पुत्रके रूपमें उद्भूत हुए। कहीं-कहीं ये मित्रावरुणके पुत्र मैत्रावारुणि तथा कहीं अग्निके पुत्र आग्नेय कहे गये हैं। कल्पभेदसे ये सभी बातें ठीक हैं। महर्षि वसिष्ठ सप्तर्षियोंमेंसे एक हैं और इनकी पत्नी अरुन्धतीदेवी पतिव्रताओंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, उनका इनसे कभी वियोग नहीं होता और सप्तर्षि-मण्डलमें वसिष्ठजीके साथ माता अरुन्धती भी नित्य विद्यमान रहती हैं।

सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीद्वारा यह ज्ञात होनेपर कि आगे चलकर सूर्यवंशमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम अवतरित होंगे, इन्होंने सूर्यवंशका पौरोहित्य कर्म करना स्वीकार कर लिया। जब कभी अनावृष्टि-अतिवृष्टि होती, तब ये अपने योगबलसे, तपोबलसे उसको दूर कर देते। निराश राजा भगीरथ आपकी ही कृपासे गङ्गाको लानेमें समर्थ हो सके। महाराज दिलीपके कोई संतान नहीं होती थी, आपने ही उन्हें संतान-प्राप्तिके लिये गो-सेवाका व्रत बतलाया था। राजा दशरथके पुत्रेष्टि-यज्ञ तथा भगवान् श्रीरामादिके अवतारोंमें आप सहयोगी बने थे।

महर्षि वसिष्ठजीका योगबल अत्यन्त अद्भुत था। एक दिन महातपस्वी एवं महान् शक्तिसम्पन्न महाराज विश्वामित्र ससैन्य इनके आश्रममें पधारे। महर्षिने ससैन्य इनका आतिथ्य किया। वहाँ 'सरला' गौका अद्भुत प्रभाव देखकर विश्वामित्रजी लोभमें आकर उसका अपहरण कर ले जानेकी चेष्टा करने लगे। पर तब भी ये शान्त बने रहे। इनकी आज्ञा पाकर 'सरला'ने अपने शरीरसे असंख्य खसों, शकों, पुलिन्दों तथा बर्बरोंको उत्पन्न किया, उन्होंने इनकी सेनाको ध्वस्त कर डाला। लज्जित होकर विश्वामित्रजी हिमालयपर जाकर घोर तपस्यामें लग गये। भगवान् शङ्कर एवं ब्रह्माजीके वरसे विश्वामित्रजीने दिव्य धनुर्वेद-विद्याके ज्ञानके साथ ही अद्भुत बल-पराक्रम और रौद्रास्त्र, आग्नेयास्त्र, पर्वतास्त्र तथा पर्जन्यास्त्र आदि अनेक अस्त्र-शस्त्रोंको प्राप्त किया।

विश्वामित्र ऐसी शक्ति प्राप्तकर वसिष्ठजीके आश्रममें आये और उत्पात करने लगे, किंतु वसिष्ठजीने क्षमाके मार्गका आश्रयणकर अपने योगबलसे अपने ब्रह्मदण्डको पृथ्वीपर गाड़ दिया, जिसपर विश्वामित्रजीके सभी अस्त्र-शस्त्र समा गये। तब वे क्षत्रियबलको धिक्कृत करते हुए कह उठे—

धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम्।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे॥

अन्ततः लज्जित होकर ये ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेके लिये तपस्या करने लगे। एक बार विश्वामित्रजीने इनके सौ पुत्रोंका नाश कर डाला, तब भी इन्हें तनिक रोष न आया। क्योंकि महर्षि वसिष्ठजी क्षमा एवं तपकी प्रतिमूर्ति तो थे ही। एक दिन रात्रिमें छिपकर विश्वामित्र जब इनके अनिष्टकी इच्छासे इनके पास आये तो इन्हें अपनी पत्नीसे अपने तपकी प्रशंसा करते हुए सुनकर अत्यन्त पश्चाताप करने लगे और वे शस्त्र फेंककर महर्षिके चरणोंपर गिर पड़े। वसिष्ठजीने उन्हें क्षमा कर हृदयसे लगा लिया और 'ब्रह्मर्षि' स्वीकार किया।

इस प्रकार अपने घोर प्रतिद्वन्द्वीके साथ अपूर्व क्षमा एवं उपकारका भाव इनके अद्भुत योगज्ञानका ही प्रभाव था। इन्हीं सब पुण्यों एवं साधनाओंका प्रभाव था कि ये समस्त रघुकुलमें उत्पन्न रघु, दिलीप आदि धर्मात्मा राजाओंके कुलगुरु बने रहे और पूर्ण ब्रह्मके अवतार भगवान् श्रीराम तथा साक्षात् लक्ष्मीस्वरूपा भगवती सीता एवं उनके अंशभूत भाइयों तथा महाराज जनक-जैसे योगियोंके भी आराध्य बन गये। महर्षि वसिष्ठ मनुष्यों तथा सभी देवता, ऋषि-महर्षि एवं योगिजनोंके परम उपास्य हैं। अरुन्धतीके साथ सप्तर्षि-मण्डलमें स्थित होकर ये आज भी सारे जगत्के कल्याणमें लगे हुए हैं।

भगवान् श्रीरामको महर्षि वसिष्ठद्वारा उपदिष्ट 'योगवासिष्ठ' नामक ग्रन्थ योग-वेदान्तका विशिष्ट ग्रन्थ है। इसमें वैराग्य, मुमुक्षु-व्यवहार, उत्पत्ति, स्थिति, उपशम तथा निर्वाण—ये छः प्रकरण हैं। इस ग्रन्थमें प्रायः सर्वत्र ब्रह्मस्वरूपावस्थितिकी ही बातें वर्णित हैं और ज्ञानकी सात भूमिकाएँ विचाररूपमें निर्दिष्ट हैं तथा प्राणायाम आदि क्रियाओंको भी बार-बार सरल ढंगोंसे समझाकर साधकोंको

योगसिद्धितक पहुँचनेके लिये सुगम मार्ग बताया गया है। इस ग्रन्थकी यह विशेषता है कि इसके कई बार आलोडन-मनन करनेसे मनुष्यको सारी योग-सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं और वह ब्रह्मका साक्षात्कारतक करनेमें समर्थ हो जाता है।

महर्षि वसिष्ठजीके उपदेशोंका सार यह है कि हृदयसे वासनाजालके सर्वथा उच्छिन्न हो जानेपर प्राण अपने-आप नियमित और शान्त होकर समाधिकी ओर प्रवृत्त हो जाते हैं अथवा यदि विधिपूर्वक प्राणायाम किया जाय तो वासनाजाल क्षीण होकर समाधि तथा ब्रह्म-साक्षात्कारकी स्थिति होने लगती है। विचार और मननके द्वारा संसार ब्रह्मरूपमें परिवर्तित दिखायी देता है। यदि मन मनन करना छोड़ दे और मनोरथोंसे सर्वथा दूर हट जाय तो मोक्ष अपने-आप उपस्थित हो जाता है। मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन-मनन ही महान् क्लेश है। अतः आत्माके अवलोकनके लिये प्राणायाम और मनो-निरोधका आश्रय ग्रहणकर वासना-जालका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये।

योगशास्त्रके प्रवर्तक महर्षि पतञ्जलि

महर्षि पतञ्जलि योगदर्शनके आद्य प्रवर्तक हैं। इनका विस्तृत चरित्र 'पतञ्जलिचरित' तथा 'लघुमुनित्रिकल्पतरु' में प्राप्त होता है। ऋषियोंके नामोंके अन्तर्गत महर्षि पतञ्जलिका नाम भी बड़े आदरसे लिया जाता है। व्याकरणके ग्रन्थोंके अनुसार ये अपने पिताकी अञ्जलिमें अर्घ्यदान करते समय दिव्य रूपसे ऊर्ध्वलोकसे आ गिरे, अतः इनका नाम पतञ्जलि पड़ा। यह इनके योगके प्रभावका ही मूर्त रूप था। इनकी कृतियाँ यद्यपि अनेक हैं, पर योगदर्शन सबसे मुख्य है। योगका यह आधारभूत ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ सूत्रात्मक है। यह चार पादोंमें विभक्त है। प्रथम समाधिपादमें ५१, द्वितीय साधनपादमें ५५, तृतीय विभूतिपादमें ५५ तथा अन्तिम कैवल्यपादमें ३४—इस प्रकार कुल ११५ सूत्र हैं। व्याकरण महाभाष्य सबसे बड़ा ग्रन्थ है। वैदिक उपनिदानसूत्र तथा आयुर्वेदकी चरकसंहिता भी इन्हींकी रचनाके रूपमें विद्वत्परम्परामें मान्य है—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

इनके योगदर्शनमें स्वयं भगवान् वेदव्यासका भाष्य प्राप्त होता है, जो सांख्य-प्रवचन-भाष्यके नामसे प्रसिद्ध है। परवर्ती टीकाएँ तो अनेक हैं। जब भगवान् वेदव्यासजीको भाष्यसे संतोष नहीं हुआ तो उन्होंने पुराणोंमें भी इस योगका संनिवेश किया। लिङ्गादि पुराणोंमें योगदर्शनका पद्यबद्ध अनुवाद प्राप्त होता है। इससे इनकी योगाचार्यता और आदि प्रवक्ताके रूपमें प्रतिष्ठापित होना प्राचीन कालसे ही सर्वमान्य रहा है।

योगदर्शन अत्यन्त प्राचीन दर्शन है और इससे सभी प्रकारके आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक सिद्धियोंके लाभ प्राप्त होते हैं। साधक सरलतासे देवताओंका सांनिध्य प्राप्तकर उनसे पूरा लाभ उठा सकता है—

'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः'

(योग० सू० २।४४)

साधक थोड़ी तन्मयतासे भी अपने सभी पूर्वजन्मों तथा आगे आनेवाली अवस्थाओं एवं मुक्तितकका ज्ञान प्राप्त कर लेता है—**'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः'** (योग० सू० २।३९) और विधिपूर्वक साधनासे देवताओंके बीचमें विचरने तथा आकाशगमन आदिकी सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती हैं। जाग्रत्-अवस्थाओंकी साधनाओंका स्वप्नादि-अवस्थाओंपर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। यदि शान्त मन और विवेकके द्वारा उन स्वप्नोंकी गुत्थियोंको समझ सकें अथवा स्वप्नमें दीखे हुए देवता-पितर, ऋषि-मुनि, संतों या देवियोंका श्रद्धापूर्वक ध्यान-आराधना करें तो वे उसे अपार सहायता पहुँचाते हैं और उसे सभी प्रकारका दिव्य ज्ञान और मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है—**'स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा'** (यो० सू० १।३८)।

संक्षेपमें महर्षि पतञ्जलिने साधकको स्वरूपमें स्थिति होनेकी युक्ति बतलायी है और अन्तःसाक्ष्यसे अर्थात् उनके ग्रन्थोंके प्रमाणोंसे स्पष्ट होता है कि वे अजर-अमर और सभी सिद्धियोंसे समायुक्त थे। केवल लोकोपकारके लिये ही उन्होंने ग्रन्थका प्रणयन किया, जिससे व्यास, शुकदेव, गौडपादाचार्य और शंकराचार्य एवं अन्य आचार्य भी अत्यन्त प्रभावित हुए। आचार्य व्यासने पुराणोंके अतिरिक्त ब्रह्मसूत्रके चौथे अध्यायमें योगपादका संनिवेश किया है, जो योगदर्शनपर ही आधृत है।

जैसे **'स्थिरसुखमासनम्'** के स्थानपर **'आसीनः सम्भवात्'** आदि सूत्र ठीक उसी प्रक्रियामें सभी साधनोंको निर्दिष्ट करते हुए मोक्षतक ले जाते हैं, जिसपर शंकराचार्य आदिके विलक्षण भाष्य हैं।

महर्षि पतञ्जलिद्वारा निर्दिष्ट यम-नियमादि कोई एक भी साधन ठीक ढंगसे आरम्भ करनेपर भगवत्कृपासे योगकी स्वयं साधकमें प्रवृत्ति हो जाती है। योग-प्रवृत्तियोंके प्रथम लक्षणमें भगवान् पतञ्जलिने स्वयं ज्योतिष्मती, गन्धवती, स्पर्शवती, रूपवती एवं रसवती—इन पाँच योगप्रवृत्तियोंमेंसे किसी एकका लक्षण प्रकट हो जानेसे योगशक्तिमें उसके प्रवेशका लक्षण बतलाया तथा उसे सभी देवी-देवता, दिव्य पदार्थ, शास्त्र आदिके वचनोंमें, परलोकमें पूर्ण विश्वास हो जाता है। इससे उसका शीघ्र कल्याण हो जाता है। इसीलिये थोड़ा भी इस योगचर्यामें चलना महान् कल्याणकारी बतलाया गया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् योगेश्वरका कथन है—**'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥'** इस योगका प्रभाव भारत ही नहीं, सम्पूर्ण विश्वमें शनैः-शनैः प्रचलित हो गया, जिसका मूलतः श्रेय महर्षि पतञ्जलिको है। योगदर्शनमें कोई अनुचित तथा हानिकारक वस्तु है ही नहीं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, त्यागकी वृत्ति, पवित्रता, स्वाध्यायका अभ्यास तथा विश्वप्रेमकी बात सभी धर्मोंमें मिलती है और वही योगका प्रारम्भिक उपदेश है यह सभीको मान्य है। हम सभीका यह पुनीत कर्तव्य है कि महर्षि पतञ्जलिके बताये योगमार्गका आश्रयण कर हम अखण्ड शान्ति एवं परम आनन्द-प्राप्तिकी ओर अग्रसर हों। इसीमें मनुष्य-जन्मकी सच्ची सार्थकता है।

योगके परम आचार्य ऋषिवर घेरण्ड

योगाचार्योंकी परम्परामें घेरण्ड ऋषि अत्यन्त प्राचीन योगी माने गये हैं। चण्डकपालि नामक एक धर्मात्मा राजाके प्रश्न करनेपर उन्होंने ज्ञान-विज्ञानमिश्रित हठयोगशास्त्रका उन्हें उपदेश किया था। उनके उपदेशोंके ही संग्रहका नाम घेरण्डसंहिता है। यह योगशास्त्र मुख्यतः हठयोगविद्याका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके आरम्भमें ही इन ऋषिवर घेरण्डजीका कथन है कि सामान्य प्राणी घटी-यन्त्रकी भाँति अपने कर्मानुसार ऊर्ध्व एवं अधःलोकोंमें निरन्तर भ्रमण करता रहता है और उसे कहीं भी शान्ति नहीं मिलती, किंतु जब योगसाधनाके द्वारा वह कभी परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है, तब उसे सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-दर्शन प्राप्त होनेसे पराशान्ति-लक्षणा कैवल्यमुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

तथा योगं समासाद्य तत्त्वज्ञानं च लभ्यते॥

(घेरण्ड० १।५)

इसके लिये उसे हठयोगकी प्रक्रियाके अभ्यासद्वारा घटरूपी शरीरको शुद्ध करना पड़ता है। योगाभ्यासद्वारा इस घटकी शुद्धिके लिये उन्होंने सात मुख्य साधन बतलाये हैं—

शोधनं दृढता चैव स्थैर्यं धैर्यं च लाघवम्।
प्रत्यक्षं च निर्लिप्तं च घटस्थसप्तसाधनम्॥

(घेरण्ड० १।९)

१-शोधन—देहको शुद्ध करना, २-दृढ़ता, ३-स्थैर्य—एक-समान सदा देहका स्थिर रहना, ४-धैर्य—कभी घबड़ाना नहीं, ५-लाघव—हलकापन, ६-प्रत्यक्ष—आँख आदि इन्द्रियोंसे देखना, छूना आदि तथा ७-निर्लिप्त—आसक्तिरहित होना—ये सात साधन हैं।

इन सातोंकी सिद्धिके लिये भी वे पुनः सात प्रक्रियाएँ बतलाते हुए कहते हैं कि षट्कर्मों (धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक एवं कपालभाति) से शोधन, आसनसे दृढ़ता, मुद्रासे स्थिरता और प्रत्याहारके द्वारा धीरता होती है। प्राणायामसे लाघव और ध्यान तथा समाधिसे परमात्माका दर्शन होता है, पुनः इससे पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति होकर जीवन्मुक्ति या पूर्ण शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

अपने ग्रन्थमें आचार्य घेरण्ड इन्हीं षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायामकी विस्तृत विधि बताते हैं और उनकी दृष्टि योगभक्ति तथा वेदान्त-शास्त्रकी उपलब्धियोंका चरम फल—सर्वत्र भगवद्दर्शनमें पर्यवसित होती है। वे कहते हैं कि सिद्ध योगीको योग-सिद्धावस्थामें सम्पूर्ण विश्वमें और अपने शरीरके अंदर-बाहर सर्वत्र विष्णुका ही दर्शन होने लगता है। वस्तुतः जलमें, स्थलमें, पर्वतकी चोटियों तथा ज्वालामालाओंमें एवं सर्वत्र विष्णु ही व्याप्त हैं। अतः सम्पूर्ण

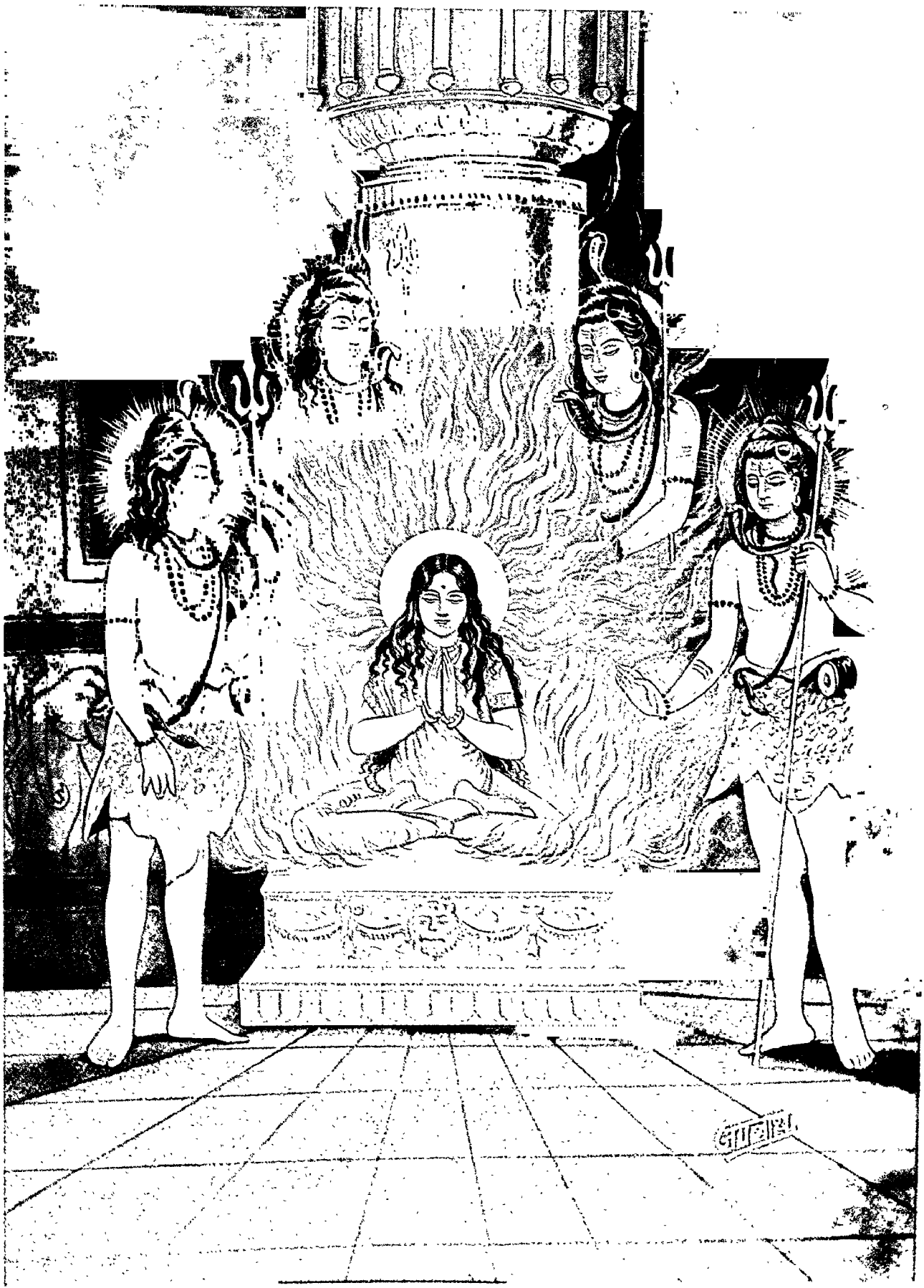

वेश्वको ब्रह्ममय और उसे अपनी आत्मामें भी स्थित देखना चाहिये। यही आचार्य घेरण्डकी योगचर्याओं और योगोपदेशोंका सारांश है। उनके मूल वचन इस प्रकार हैं—

जले विष्णुः स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके।
ज्वालामालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत्॥
सर्वं ब्रह्म विजानीयात् सर्वं पश्यति चात्मनि॥

योगशक्ति-स्वरूपा सती माता

पतिव्रता स्त्रियोंमें सबसे पहले दक्ष-कन्या सतीका नाम लिया जाता है। वे साध्वी स्त्रियोंकी आदर्श हैं।

ब्रह्माजीके नौ मानसपुत्रोंमें प्रजापति दक्ष बहुत प्रसिद्ध हैं। इनकी उत्पत्ति ब्रह्माजीके दाहिने अँगूठेसे हुई थी। ब्रह्माजीके आदेशसे दक्षने आराधना करके भगवती सतीको पुत्रीरूपमें प्राप्त किया। सतीका हृदय बचपनसे ही भगवान् शङ्करकी ओर आकृष्ट था। वह नियमपूर्वक महादेवजीकी आराधना करने लगी। यहाँतक कि उसके मन-प्राण भगवान् शङ्करके लिये व्याकुल रहने लगे। सतीकी यह साधना आगे चलकर कठोर तपस्याके रूपमें परिणत हो गयी।

उधर ब्रह्मा आदि देवता भगवान् शङ्करके पास गये और उनसे असुर-विनाशक पुत्रकी प्राप्तिके लिये दक्षकन्या सतीके साथ विवाह करनेका अनुरोध करने लगे। शिवने 'तथास्तु' कहकर देवताओंको विदा कर दिया।

सतीकी अखण्ड तपस्या देखकर भगवान् शङ्कर प्रसन्न होकर प्रकट-रूपसे उसके पास आये और कहने लगे—'दक्षकुमारी! मैं तुम्हारी आराधनासे बहुत संतुष्ट हूँ। बताओ, किसलिये तुमने इस कठोर योग-साधनाका व्रत लिया है?'

सती बोलीं—देवाधिदेव! आप घट-घटवासी हैं, मेरी अभिलाषा आपसे छिपी नहीं है। आप स्वयं ही आज्ञा दें, मैं आपकी क्या सेवा करूँ? सतीका यह अलौकिक प्रेम देखकर भगवान् शङ्करने उसके अभीष्टको सहर्ष स्वीकृति दे दी और यथासमय दक्ष प्रजापतिने ब्रह्माजी आदि देवताओंके सांनिध्यमें समारोहपूर्वक सतीका विवाह शिवजीके साथ कर दिया।

विवाहके पश्चात् सती माता-पितासे विदा हो पतिके साथ कैलासधाम चली गयीं। सतीके तन-मन और प्राण केवल शिवकी आराधनामें लगे रहते थे। उनके पति, प्राणेश और देवता सब कुछ भगवान् शिव ही थे।

एक बार त्रेतायुग आनेपर पृथ्वीका भार उतारनेके लिये श्रीहरिने रघुवंशमें अवतार लिया था। उस समय वे पिताके वचनसे राज्य त्याग करके तापस-वेषमें दण्डकवनमें विचरण कर रहे थे। इसी समय रावणने मारीचको कपटमृग बनाकर भेजा था और सूने आश्रमसे सीताको हर लिया था एवं श्रीरामजी साधारण मनुष्यकी भाँति विरहसे व्याकुल होकर लक्ष्मणजीके साथ वनमें सीताकी खोज कर रहे थे।

इसी अवसरपर भगवान् शङ्कर सतीदेवीको साथ लिये अगस्त्यके आश्रमसे रामकथाका आनन्द लेकर कैलासको लौट रहे थे। उन्होंने अपने आराध्यदेव श्रीरघुनाथजीको प्रणाम किया। उन्हें प्रणाम करते देख माता सतीके मनमें संदेह उत्पन्न हो गया कि शङ्करजी तो देवोंके भी देव महादेव हैं फिर भी सांसारिक प्राणियोंकी भाँति स्त्रीके लिये व्याकुल रामको ये अपना परम आराध्य कैसे मान रहे हैं? राम परमदेव नहीं हो सकते। सतीके मनोभावोंको समझकर भगवान् शङ्करने उन्हें बहुत समझाया। किंतु वह उपदेश उनके मनमें नहीं बैठा, तब शङ्करजी बोले—'यदि ऐसा नहीं है तो परीक्षा करके देख लो।' भोली-भाली सतीपर भगवान्‌की योगमायाका प्रभाव पड़ चुका था। सतीने खूब सोच-समझकर सीताका रूप धारण किया और आगे बढ़कर उस मार्गपर चलने लगीं जिधरसे श्रीरामचन्द्रजी आ रहे थे। सर्वज्ञ श्रीरामचन्द्रजीने सारी बात जानकर सीतारूपिणी सतीको प्रणाम किया। अपना और अपने पिताका नाम बतलाया तथा हँसकर पूछा—'देवि! शिवजी कहाँ हैं? आप वनमें अकेली क्यों विचर रही हैं?' अब तो सतीजी संकोचमें पड़ गयीं। वे भयभीत होकर शङ्करजीके पास लौट चलीं। उनके हृदयमें बड़ी चिन्ता हो गयी थी, वे सोचने लगीं—'हाय! मैंने स्वामीका कहना नहीं माना, अपना अज्ञान श्रीरामचन्द्रजीपर आरोपित किया। अब मैं उनको क्या उत्तर दूँगी।'

फिर वे बारंबार श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें प्रणाम करके उस स्थानकी ओर चलीं जहाँ शिवजी उनकी प्रतीक्षामें बैठे थे। निकट जानेपर शिवजीने हँसकर कुशल-समाचार पूछा और

कहा—'सच-सच बताओ, किस प्रकार परीक्षा ली ?' सतीने श्रीरघुनाथजीके प्रभावको समझकर भयके मारे अपने सीतारूप-धारण करनेकी बात छिपा ली। शङ्करजीने ध्यान लगाकर,सतीने जो कुछ किया था, वह सब जान लिया। फिर उन्होंने श्रीरामजीकी मायाको मस्तक झुकाया।

'सतीने सीताका वेष बना लिया,' यह जानकर शिवजीके मनमें बड़ा विषाद हुआ। उन्होंने सोचा—'अब यदि मैं सतीसे पत्नीकी भाँति प्रीति करता हूँ तो भक्तिमार्गका लोप हो जाता है और बड़ा अन्याय होता है। सती परम पवित्र हैं, अतः इन्हें छोड़ते भी नहीं बनता और प्रेम करनेमें बड़ा पाप है।' महादेवजी प्रकटरूपसे कुछ नहीं कह सके, किंतु उनके हृदयमें बड़ा संताप था। तब उन्होंने श्रीरामको मन-ही-मन प्रणाम किया। भगवान्‌की याद आते ही उनके हृदयमें यह संकल्प उदित हुआ—***'एहिं तन सतिहि भेट मोहि नाहीं।'*** ऐसा निश्चय करके उन्होंने अखण्ड-समाधि लगा ली और सतीदेवीका परित्याग कर दिया। इसी बीच सतीके पिता दक्ष 'प्रजापति'के पदपर अभिषिक्त हुए। यह महान् अधिकार पाकर दक्षके हृदयमें बड़ा भारी अभिमान पैदा हो गया। उन्होंने ब्रह्मनिष्ठ महात्माओंको, जिनमें शङ्करजी भी थे, उपेक्षाकी दृष्टिसे देखना आरम्भ किया। यहाँतक कि शिवजीसे सम्बन्ध रखनेवाली अपनी पुत्री सतीके प्रति भी उनका भाव अच्छा नहीं रह गया। कुछ समय बाद एक बार प्रजापति दक्षने 'बृहस्पति-सव' नामक यज्ञका आयोजन किया। इस उत्सवमें प्रायः सभी ब्रह्मर्षि, देवर्षि, पितर, देवता आदि आमन्त्रित थे। सबने अपनी-अपनी पत्नीके साथ जाकर यज्ञोत्सवमें भाग लिया। सतीने देखा—कैलासशिखरके ऊपर आकाशमार्गसे विमानोंकी श्रेणियाँ चली जा रही हैं। उनमें देवता, यक्ष, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर, किन्नर आदि बैठे हैं। उनके साथ उनकी स्त्रियाँ भी हैं।

सतीने पूछा—'भगवन्! यह सब क्या है ? ये लोग कहाँ जा रहे हैं।' भगवान् शिवने मुसकराते हुए कहा—'तुम्हारे पिताके यहाँ बड़ा भारी यज्ञ हो रहा है। उसीमें ये लोग निमन्त्रित हैं।' पिताके यज्ञकी बात सुनकर सतीको कुछ हर्ष हुआ। उन्होंने सोचा—'यदि स्वामीकी आज्ञा हो तो यज्ञके ही बहाने कुछ दिन वहीं चलकर रहूँ।' यह विचारकर वे बोलीं—'देव ! पिताजीके घर यज्ञ हो रहा है तो उसमें मेरी अन्य बहनें भी अवश्य पधारेंगी। माता और पितासे मिले मुझे युग बीत गये। इस अवसरपर आपकी आज्ञा हो तो आप और मैं दोनों वहाँ चलें।'

शिवजी बोले—'यद्यपि वहाँ तुम्हारे माता-पिता हैं, परंतु बिना आमन्त्रणके वहाँ जाना ठीक नहीं है। यदि तुम मेरी बात न मानकर वहाँ जाओगी तो इसका परिणाम अच्छा न होगा।'

शङ्करजीने बहुत प्रकारसे समझाया-बुझाया, पर सतीका मन जानेको उद्यत था। तब महादेवजीने अपने प्रधान-प्रधान पार्षदोंको साथ देकर सतीको अकेली ही विदा कर दिया। सती पिताकी यज्ञशालामें पहुँचीं। किंतु वहाँ पिता-माताने सतीका किञ्चित् भी सत्कार नहीं किया, अपितु तिरस्कार ही किया। तब सतीको स्वामीकी कही हुई बातें याद आने लगीं।

उस यज्ञमें शिवजीके लिये कोई भाग न देखकर उनके मनमें बड़ा क्रोध हुआ। उनकी भौंहें तन गयीं, आँखें लाल हो गयीं और ऐसा जान पड़ा मानो वे सम्पूर्ण जगत्‌को भस्म कर डालेंगी। उन्होंने अनेक प्रकारसे पिताकी भर्त्सना की और शिवजीकी महत्ताका वर्णन करते हुए योगबलसे अपने शरीरको भस्म कर देना ठीक समझा।

यज्ञमण्डपमें देवी सती मौन हो उत्तरदिशामें योग-साधनामें बैठ गयीं। वे नेत्र बंद किये योगमार्गमें स्थित हो गयीं। पहले उन्होंने आसनको स्थिर किया, फिर प्राण और अपानवायुको एकरूप करके नाभिचक्रमें स्थापित किया। तदनन्तर उदानवायुको नाभि-चक्रसे धीरे-धीरे ऊपर उठाया और बुद्धिसहित हृदयमें स्थापित कर दिया, फिर हृदयस्थित वायुको वे कण्ठमार्गसे भृकुटियोंके बीच ले गयीं। उन्होंने अपने सम्पूर्ण अङ्गोंमें अग्नि और वायुकी धारणा की। इसके बाद वे अपने स्वामी जगद्गुरु भगवान् शिवके चरणारविन्द-मकरन्दका चिन्तन करने लगीं, उसके सिवा दूसरी वस्तुका उन्हें भान न रहा। उस समय उनका वह दिव्य देह, जो स्वभावसे ही निष्पाप था, तत्काल योगाग्निसे जलकर भस्म हो गया[१]।

१-ततः स्वभर्तुश्चरणाम्बुजासवं जगद्गुरोश्चिन्तयती न चापरम्। ददर्श देहो हतकल्मषः सती सद्यः प्रजज्वाल समाधिजाग्निना॥
(श्रीमद्भा० ४।४।२७)

इस प्रकार पतिप्राणा सतीकी ऐहलौकिक लीला पूर्ण हुई। उन्होंने जीवनभर सदा ही तन, मन, प्राणसे अपने पति भगवान् शिवकी सेवा और समाराधना की तथा अन्तमें भी उन्हींका चिन्तन करते-करते प्राण-त्याग किया। अन्त समय भी उन्होंने भगवान्‌से यही वर माँगा था कि 'प्रत्येक जन्ममें मेरा भगवान् शिवके ही चरणोंमें अनुराग हो।'[१] इसीलिये वे पुनः गिरिराज हिमालयके यहाँ पार्वतीके रूपमें प्रकट हुईं और भगवान् शङ्करको ही उन्होंने पतिरूपमें प्राप्त किया।

परमयोगी जगद्गुरु श्रीआदिशंकराचार्यजी

शङ्करावतार भगवान् श्रीशंकराचार्यके जन्म-समयके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद है। ईसासे पूर्व छठी शताब्दीसे लेकर नवीं शताब्दीपर्यन्त किसी भी समय इनका आविर्भाव हुआ था। कुछ विद्वानोंने यह प्रमाणित किया है कि आचार्यपादका जन्मसमय ईसासे लगभग चार सौ वर्ष पूर्व है। मठोंकी परम्परासे भी यही बात प्रमाणित होती है। केरल प्रदेशके पूर्णा नदीके तटवर्ती कालडी नामक गाँवमें बड़े विद्वान् और धर्मनिष्ठ ब्राह्मण श्रीशिवगुरुकी धर्मपत्नी श्रीसुभद्रामाताके गर्भसे वैशाख शुक्ल पञ्चमीके दिन इनका आविर्भाव हुआ था। इनके माता-पिता संतानहीन थे। उन्होंने बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे भगवान् शङ्करकी आराधना की। फलस्वरूप आशुतोष देवाधिदेव भगवान् शङ्कर प्रकट हुए और उन्हें एक सर्वगुणसम्पन्न पुत्ररत्न होनेका वरदान दिया। अन्ततः स्वयं भगवान् शङ्करको ही इन्होंने पुत्ररूपमें प्राप्त किया। नाम भी उनका शंकर ही रखा गया।

बालक शंकरके रूपमें कोई महान् विभूति अवतरित हुई है, इसका प्रमाण बचपनसे ही मिलने लगा। एक वर्षकी अवस्था होते-होते बालक शंकर अपनी मातृभाषामें अपने भाव प्रकट करने लगे और दो वर्षकी अवस्थामें मातासे पुराणादिकी कथा सुनकर कण्ठस्थ करने लगे। तीन वर्षकी अवस्थामें उनका चूडाकर्म करके उनके पिता स्वर्गवासी हो गये। पाँचवें वर्षमें यज्ञोपवीत करके उन्हें गुरुके घर पढ़नेके लिये भेजा गया और केवल सात वर्षकी अवस्थामें ही वे वेद, वेदान्त और वेदाङ्गोंका पूर्ण अध्ययन करके घर वापस आ गये। उनकी असाधारण प्रतिभा देखकर उनके गुरुजन दंग रह गये।

विद्याध्ययन समाप्त कर शंकरने संन्यास लेना चाहा, परंतु जब उन्होंने मातासे आज्ञा माँगी तो उन्होंने नहीं कर दी। शंकर माताके बड़े भक्त थे, उन्हें कष्ट देकर संन्यास लेना नहीं चाहते थे। एक दिन माताके साथ वे नदीमें स्नान करने गये। उन्हें एक मगरने पकड़ लिया। इस प्रकार पुत्रको संकटमें देख माताके होश उड़ गये। वह बेचैन होकर हाहाकार मचाने लगी। शंकरने मातासे कहा—'माँ! मुझे संन्यास लेनेकी यदि आज्ञा दे दो तो मगर मुझे छोड़ देगा।' माताने तुरंत आज्ञा दे दी और मगरने शंकरको छोड़ दिया। इस तरह माताकी आज्ञा प्राप्तकर वे आठ वर्षकी उम्रमें ही घरसे निकल पड़े। जाते समय माताकी इच्छाके अनुसार वह वचन दे गये कि तुम्हारी मृत्युके समय मैं घरपर उपस्थित रहूँगा।

घरसे चलकर शंकर नर्मदातटपर आये और वहाँ स्वामी गोविन्द भगवत्पादसे दीक्षा ली। गुरुने इनका नाम भगवत्पूज्य पादाचार्य रखा। इन्होंने गुरूपदिष्ट मार्गसे साधना आरम्भ कर दी और अल्पकालमें ही बहुत बड़े योगसिद्ध महात्मा हो गये। इनकी सिद्धिसे प्रसन्न होकर गुरुने इन्हें काशी जाकर वेदान्तसूत्रका भाष्य लिखनेकी आज्ञा दी और तदनुसार ये काशी आ गये। काशी आनेपर इनकी ख्याति बढ़ने लगी और लोग आकर्षित होकर इनका शिष्यत्व भी ग्रहण करने लगे। इनके सर्वप्रथम शिष्य सनन्दनके अवतार पद्मपादाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हुए। काशीमें शिष्योंको पढ़ानेके साथ-साथ ये ग्रन्थ भी लिखते जाते थे। कहते हैं, एक दिन भगवान् विश्वनाथने चाण्डालके रूपमें इन्हें दर्शन दिये। ये इन्हें पहचान गये और फिर उन्हें प्रणाम किया, तदनन्तर भगवान् शङ्करने इन्हें ब्रह्मसूत्रपर भाष्य लिखने और धर्मके प्रचार करनेका आदेश दिया। जब आप वेदान्तसूत्रपर भाष्य लिख चुके, तो एक दिन एक ब्राह्मणने गङ्गातटपर इनसे एक सूत्रका अर्थ पूछा। उस सूत्रपर ब्राह्मणके साथ इनका आठ दिनतक शास्त्रार्थ हुआ। पीछे इन्हें मालूम हुआ कि स्वयं भगवान् वेदव्यास ही ब्राह्मणके

१-सतीं मरत हरि सन बरु मागा। जनम जनम सिव पद अनुरागा॥ (श्रीरामचरितमानस)

रूपमें प्रकट होकर उनके साथ विवाद कर रहे हैं। तब इन्होंने उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और अपनी धृष्टताके लिये क्षमा माँगी। फिर भगवान् वेदव्यासने इन्हें अद्वैतवादका प्रचार करनेकी आज्ञा दी और इनकी सोलह वर्षकी आयु बत्तीस वर्षकी कर दी।

इसके बाद इन्होंने काशी, कुरुक्षेत्र, बदरिकाश्रम आदिकी यात्रा की, विभिन्न मतवादियोंको परास्त किया और बहुतसे ग्रन्थ लिखे। प्रयाग आकर कुमारिलभट्टसे उनके अन्तिम समयमें भेंट की और उनकी सलाहसे माहिष्मतीमें मण्डनमिश्रके पास जाकर शास्त्रार्थ किया। शास्त्रार्थमें मण्डनकी पत्नी भारती मध्यस्था थीं। अन्तमें मण्डनने शंकराचार्यका शिष्यत्व ग्रहण किया और उनका नाम सुरेश्वराचार्य पड़ा। तत्पश्चात् आचार्यने विभिन्न मठोंकी स्थापना की और उनके द्वारा औपनिषद सिद्धान्तकी शिक्षा-दीक्षा होने लगी।

एक बार एक कापालिकने आचार्यसे एकान्तमें प्रार्थना की कि 'आप तत्त्वज्ञ हैं, आपको शरीरका मोह नहीं, मैं एक ऐसी साधना कर रहा हूँ, जिसमें मुझे एक तत्त्वज्ञके सिरकी आवश्यकता है, यदि आप देना स्वीकार करें तो मेरा मनोरथ पूर्ण हो जाय।' आचार्यने कहा—'भाई! किसीको मालूम न होने पावे, मैं अभी समाधि लगा लेता हूँ, तुम सिर काट ले जाना।' आचार्यने समाधि लगायी और वह सिर काटनेवाला ही था कि पद्मपादाचार्यके इष्टदेव नृसिंह भगवान्ने ध्यान करते समय उन्हें सूचना दे दी और पद्मपादने आवेशमें आकर उसे मार डाला।

आचार्यने अनेकों मन्दिर बनवाये, अनेकोंको सन्मार्गमें लगाया और कुमार्गका खण्डन करके भगवान्के वास्तविक स्वरूपको प्रकट किया। इन्होंने मार्गमें सभी मतोंकी उपयोगिता यथास्थान स्वीकार की है और सभी साधनोंसे अन्तःकरण शुद्ध होता है, ऐसा माना है। अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर ही वास्तविकताका बोध हो सकता है। अशुद्ध बुद्धि और मनके निश्चय एवं संकल्प भ्रमात्मक ही होते हैं, अतः इनके सिद्धान्तमें सच्चा ज्ञान प्राप्त करना ही परम कल्याण है और उसके लिये अपने धर्मानुसार कर्म, भक्ति अथवा और भी किसी मार्गसे अन्तःकरणको शुद्ध बनाते हुए वहाँतक पहुँचना चाहिये।

इनके बनाये हुए ग्रन्थोंकी बड़ी लंबी सूची है—ब्रह्मसूत्र शारीरक भाष्य, ईश, केन आदि उपनिषदोंके भाष्य, गीता, विष्णुसहस्रनामके भाष्य, ललितात्रिशती-भाष्य, पञ्चीकरण, आनन्दलहरी तथा विविध स्तोत्र-साहित्य इत्यादि। इनका सिद्धान्त अद्वैतवाद भी बड़ा ऊँचा तथा अधिकारी पुरुषोंके ही समझनेकी चीज है। भारतवर्षके सभी सम्प्रदाय इनके सिद्धान्तसे प्रभावित हैं। सभी विचारशीलोंने मुक्त स्वरसे इनके सिद्धान्तकी महत्ता गायी है। आज भी इनके अनुयायियोंमें बहुत-से सच्चे विरक्त योगी एवं ज्ञानी पाये जाते हैं।

योगिराज श्रीगोरखनाथ

एक बार गुरु मत्स्येन्द्रनाथ घूमते-घूमते अयोध्याके पास 'जयश्री' नामक नगरमें गये। वहाँ वह भिक्षा माँगते हुए एक ब्राह्मणके घर पहुँचे। ब्राह्मणीने बड़े आदरके साथ उनकी झोलीमें भिक्षा डाल दी। ब्राह्मणीके मुखपर पातिव्रतका अपूर्व तेज था। उसे देखकर मत्स्येन्द्रनाथको बड़ी प्रसन्नता हुई। परंतु साथ ही उन्हें उस सतीके चेहरेपर उदासीकी भी एक क्षीण रेखा दिखायी पड़ी। जब उन्होंने इसका कारण पूछा तो उस सतीने निस्संकोच-भावसे उत्तर दिया कि संतान न होनेसे संसार फीका जान पड़ता है। मत्स्येन्द्रनाथने तुरंत झोलीसे थोड़ी-सी भभूत निकाली और ब्राह्मणीके हाथपर उसे रखते हुए कहा—'इसे खा लो, तुम्हें पुत्र प्राप्त होगा।' इतना कह वे तो वहाँसे चले गये। इधर ब्राह्मणीकी एक पड़ोसिन स्त्रीने जब यह बात सुनी तो उसने कई तरहके डर दिखलाकर उसे भभूत खानेसे मना कर दिया। फलस्वरूप उसने भभूत एक गड्ढेमें फेंक दी। बारह वर्ष बाद मत्स्येन्द्रनाथ उधर पुनः वापस आये और उन्होंने उस घरके द्वारपर जाकर 'अलख' जगाया। ब्राह्मणीके बाहर आनेपर उन्होंने कहा कि अब तो तेरा बेटा बारह वर्षका हो गया होगा, देखूँ तो, वह कहाँ है? यह सुनते ही वह स्त्री घबरा गयी और उसने सब हाल कह दिया। मत्स्येन्द्रनाथ उसे साथ ले उस गड्ढेके पास गये और वहाँ 'अलख' शब्द किया। उसे सुनते ही बारह वर्षका एक तेजपुंज बालक वहाँ प्रकट हो गया और मत्स्येन्द्रनाथके चरणोंपर सिर रखकर प्रणाम करने लगा।

यही बालक आगे चलकर गोरक्षनाथके नामसे प्रसिद्ध हुआ। मत्स्येन्द्रनाथने उस समयसे बालकको साथ ही रखा और योगकी पूरी शिक्षा दी। गोरखनाथने गुरूपदिष्ट मार्गसे साधना पूरी की और स्वानुभवसे योगमार्गमें और भी उन्नति की। योगसाधन और वैराग्यमें वे गुरुसे भी आगे बढ़ गये। योगबलसे उन्होंने चिरञ्जीव-स्थितिको प्राप्त किया।

गोरखनाथके दो प्रधान शिष्य हुए—गैनीनाथ या गैबीनाथ और चर्पटीनाथ। इनके नाथ-सम्प्रदायमें निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर आदि और भी कई सिद्ध महात्मा हो गये हैं।

गोरखनाथ केवल योगी ही नहीं थे, वरं बड़े विद्वान् और कवि भी थे। उनके गोरक्षकल्प, गोरक्षसंहिता, गोरक्षसहस्रनाम, गोरक्षशतक, गोरक्षपिष्टिका, गोरक्षगीता तथा विवेकमार्तण्ड आदि अनेक ग्रन्थ संस्कृत-भाषामें मिलते हैं। हिन्दीमें भी उनकी बहुत-सी कविताएँ मिलती हैं।

महायोगी गोरखनाथने अपने ग्रन्थोंमें आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधिका सम्यक् प्रतिपादन किया है। विशेषरूपसे षडङ्ग-योग और उसके कुण्डलिनी-जागरण, मुद्रा-बन्ध, अभ्यास, आसन, षट्चक्रभेदन, नाडी-शोधन, नादानुसंधान तथा न उपासनापर प्रकाश डाला है तथा शिवपद—अलख निष्कल शून्य पदकी प्राप्तिके साधनोंका विस्तार किया है।

श्रीमत्स्येन्द्रनाथकी तरह श्रीगोरखनाथको भी लोग बड़े आदरकी दृष्टिसे देखते हैं औ श्रीपशुपतिनाथजीका अवतार मानते हैं। गोरखनाथजी होनेके कारण ही नेपाली 'गोरखा' कहलाते हैं।

प्रायः सम्पूर्ण भारतमें नाथ सिद्ध योगी गोरखनाथजीके आश्रम, टीला आदि मिलते हैं। गोरखपुर महासिद्ध हठयोगी बाबा गोरखनाथकी तपःस्थली एवं साधना-स्थली रही है। आज भी उस स योगसिद्ध बाबा गोरखनाथका एक विशाल एवं भव्य सुप्रतिष्ठित है।

बिश्नोई-मतके मूल आचार्य सिद्धेश्वर जाम्भोजी

(भाँगीलाल बिश्नोई 'अज्ञात', एम्० ए०)

जुगाँ-जुगाँ को जोगी आयो, सतगुरु सिद्ध बतायो ॥

(सबद ९१-९२)

योगाङ्ग-प्रसङ्ग

जाम्भोजीके सबदोंमें यत्र-तत्र-सर्वत्र चित्तकी चञ्चलताको रोकनेके लिये अष्टाङ्गयोगका साङ्गोपाङ्ग उल्लेख मिलता है, जिसका अन्तिम उद्देश्य 'मोक्ष' है।

प्राणायाम—

'पूरक पूर पूर लै पौण। भूख नहीं अन्न जीमत कौण ॥'

(सबद ५१)

अर्थात् प्राण-अपानको प्राणायामके पूरकसे सुषुम्नामें स्थापित करनेसे भूख-प्यास नहीं लगती, अतः अन्न कौन खाये ? पुनश्च—

भाठी अंदर लोह तपीलो, तंतक सोना छड़ैं कसारूँ ॥

(सबद ९८)

और—

बस कर पवणा, बस कर पाणी, बस कर हाट-पटणा दरवाजों।
दसे दवारे ताला कूँची, भीतर पोल बणाई ॥

(सबद ९९)

यहाँ शरीरको भट्टीमें प्राणायामरूपी अग्निसे मलरूपी लोहेको तपायमान करने एवं सुषुम्नामें प्राण-निरोधको सोना गढ़नेकी संज्ञा दी है। इसके साथ ही प्राणवायु, सहस्रारसे स्रावित अमृत एवं नौ द्वारोंको वशमें कर दसवें द्वारमें खेचरी मुद्रारूपी ताला लगानेको कहा है।

इसी प्रकार खेचरीमुद्रा, उन्मनीमुद्रा आदि मुद्राओंके साथ ही षट्चक्रवेधन एवं कुण्डलिनीके जागरणका भी वर्णन किया है। चित्तवृत्तिनिरोधको उन्होंने एक सुन्दर रूपकद्वारा इस प्रकार समझाया है—

ओउम् काया कंथा, मन जोगूँटो, सींगी श्वास, उश्वासूँ।
मन मृग राखले कर किरसावी, यों म्हे भया उदासूँ ॥
हम ही जोगी, हम ही सती, हम ही राखिबा चिहूँ।
पाँच पटण नव थानक साधले, आदिनाथ का भगहूँ ॥

(सबद ४७)

यहाँ शरीरको गुदड़ी, मनको कौपीन (लंगोट) एवं श्वास-प्रश्वासको प्राणायाम-निरोधजन्य सींगी बताया गया है। चञ्चल मनको चित्तवृत्तिके निरोधसे वशमें कर उपासनारूपी खेती करनेको कहा गया है।

जाम्भोजी महाराजने इस बातपर विशेष बल दिया कि भूलने योग्य छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेषको तुम्हारा मन चाहता है। इस प्रकार केवल बाह्य वेशजन्य साधुतासे क्या ? अतः अन्तःकरणको विवेक एवं वैराग्यसे युक्त कर मनको स्वच्छ करो—

देखत भूली को मन चैवे, भीतर कोरा, बाहर भैवै।

(सबद १०९)

उन्होंने नाम-जपको कल्याण-प्राप्तिका मार्ग बताते हुए कहा है—

ओउम् विष्णु विष्णु तूँ भण रे प्राणी पैंके लाख उपाजूँ।
रतन कया बैकुण्ठे बासो, तेरा जरा-मरण भय भाजूँ ॥

(सबद ११९)

अर्थात् हे प्राणी! श्रद्धापूर्वक तू नित्य 'ओ३म् विष्णु' मन्त्रका जप कर। कलियुगमें लाखों अन्य उपायोंसे केवल 'नाम-जप' ही भवसागर तरानेवाला है। इससे तुम्हारा जन्म-मरणरूपी भय नष्ट होकर वैकुण्ठवास होगा।

दक्षिणके महायोगी संत तिरुमूलर

(डॉ० श्रीमती राधाकृष्णमूर्ति)

दक्षिण भारतकी शैव संत-परम्परामें परम योगी संत तिरुमूलरका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वे ईसाकी छठी शताब्दीमें विद्यमान थे। उनकी अनुपम तमिल-कृति 'तिरुमन्दिरम्' (तिरुमन्त्रम्) आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्त्वोंसे ओतप्रोत एक बृहदाकार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। अपने ग्रन्थमें उन्होंने अपनेको भगवान् नन्दीके सनक, सनातन आदि आठ शिष्योंकी परम्परामें माना है। वे तमिल-प्रदेशके आदिगुरु एवं दक्षिणके शैव-सिद्धान्तके प्रथम प्रतिपादक माने जाते हैं।

तमिल शैव-संतोंके जीवन-चरितके लेखक संत सेक्किलारने अपने 'पेरियपुराणम्' (बृहत्पुराण) में योगी तिरुमूलरके जीवनका वर्णन करते हुए कहा है कि 'तिरुमूलर'

कैलास-स्थित नन्दिकेश्वरकी कृपासे अनुगृहीत योगीश्वरोंमेंसे एक थे।' अष्ट सिद्धियोंको प्राप्त करनेके बाद वे अगस्त्य ऋषिके दर्शनार्थ दक्षिणकी ओर निकल पड़े। मार्गमें केदारनाथ, नेपालके पशुपतीश्वर, काशीके विश्वनाथ तथा श्रीपर्वत, विन्ध्यपर्वत, कालहस्ती आदि तीर्थोंमें स्थित शिवलिङ्गोंके दर्शन करते हुए वे काञ्चीनगरी और चिदम्बरम्से होकर तिरुवावडुतुरै नामक पुण्यक्षेत्र पहुँचे। वहाँके पशुपतीश्वरको देखकर उनका मन आनन्द-विभोर हो गया। उस दिव्य क्षेत्रको छोड़कर जब वे कावेरी नदीके तटपर जा रहे थे, तब उन्होंने एक करुणाजनक दृश्य देखा। वहाँ मार्गमें मूलन नामक एक ग्वाला सर्प-दंशसे मरा पड़ा था और उसकी अनाथ गायें रो रही थीं। परदुःखको मिटानेमें सदा तत्पर रहनेवाले उन योगीश्वरने निःसहाय गायोंके दुःखको दूर करनेके लिये अपनी योगशक्तिसे मूलनके मृत शरीरमें प्रवेश किया और उसी रूपमें गायोंको लेकर गाँव लौटे। दूसरे दिन उन्होंने अपने शरीरमें प्रवेश करना चाहा, परंतु जहाँ वे अपना शरीर छोड़ आये थे, वहाँसे वह अदृश्य हो गया था। इस घटनाको ईश्वरकी इच्छा समझकर वे मूलनके ही शरीरमें समाविष्ट रहकर तिरुवावडुतुरैके मन्दिरमें रहने लगे। यहीं रहकर वे शैवागमोंके गूढ़ तत्त्वोंको तमिल भाषामें पद्यबद्ध करने लगे। उनका मूल नाम 'सुन्दर' था, परंतु ग्वाले 'मूलन' के शरीरमें प्रवेश करनेके कारण वे 'तिरुमूलर' नामसे प्रसिद्ध हुए। इस घटनाका उल्लेख उन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थ 'तिरुमन्दिरम्'में किया है।

तीन हजार पद्योंसे युक्त और नौ तन्त्रों (अध्यायों) में विभाजित 'तिरुमन्दिरम्' दक्षिणके समस्त 'शैव-सिद्धान्त' वाङ्मयमें सर्वप्रथम और तमिल भाषाके द्वादश 'तिरुमुरै' ग्रन्थोंमें दशम ग्रन्थ माना जाता है। इसको 'तिरुमन्दिरमाला' भी कहते हैं। कहा जाता है कि महायोगी तिरुमूलरने तीन हजार वर्षोंतक कठोर तपस्या करते हुए प्रत्येक वर्षमें एक-एक पद्यकी रचना की थी। कारण , कासिक, वीर, सिद्धि, वातुल, व्यामल, कालोत्तर, सुप्रभेद और मुकुट—इन नौ शैवागमोंका प्रतिपादन तिरुमूलरने अपने इस ग्रन्थके नौ तन्त्रोंमें किया है।

गहन आत्म-चिन्तनसे अनुप्राणित इस ग्रन्थमें सर्वत्र शिव-शक्तिकी उपासनाका महत्त्व बताया गया है। उनका उपदेश है कि चाहे वैष्णव हो या शैव, ईश्वरके सामने सब समान हैं और विभिन्न मत या धर्म तो केवल साधनमात्र हैं।

परमात्मा शिव मुक्ति प्रदान करनेवाला ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानका प्रदाता वेदस्वरूप भी वही है। वही सृष्टिकर्ता है। वह सभी पाशोंसे विमुक्त है, विशुद्ध है और स्वयं ज्ञान-ज्योति है। वही सगुण रूपमें प्रकट होकर भक्तोंके लिये पूज्य बनता है। वह भक्तोंके लिये जलसे भी शीतल है। दुष्टोंके लिये अग्निसे भी तेज है। उमापतिका रूप धारण करके वह मन्दिरोंमें विराजमान होता है। उसकी कृपामयी दृष्टि अद्वितीय है। जब जीवात्मा और परमात्माका मिलन हो जाता है, तब सब पाश अपने-आप दूर हो जाते हैं।

प्रेम ही शिव है और समस्त ही शिव है। उनका यह अमर संदेश देश, काल, जाति-कुल आदिके भेदको पार करके मानवमात्रके लिये उपयोगी है।

अप्परस्वामी, तिरुज्ञान सम्बन्धर-जैसे परवर्ती संतोंके लिये उनकी अमृतोपम वाणी और उत्कृष्ट आध्यात्मिक विचार मार्गदर्शक सिद्ध हुए। दक्षिण भारतमें योगी, सिद्ध और संत तिरुमूलरके प्रति इतना पूज्यभाव प्रदर्शित किया गया है कि तिरुवावडुतुरै नामक पुण्य स्थलके शिवमन्दिरमें उनकी मूर्तिको प्रतिष्ठापित करके भक्तगण उनकी परमयोगी और गुरुरूपमें पूजा और आराधना करते हैं तथा उनके योगमय परम कल्याणकारी उपदेशोंसे लाभ उठाकर अपनेको कृतार्थ समझते हैं।

महात्मा जरथुस्त्र

महात्मा जरथुस्त्र पारसी धर्मके आदिसंस्थापक थे। पारसी धर्ममें इन्हें असाधारण देवातीत गुणसम्पन्न ईश्वरतुल्य व्यक्ति बतलाया गया है। ईसासे एक हजार वर्षपूर्व इनका जन्म माना जाता है। महात्मा जरथुस्त्र एकेश्वरवादी थे। जन्दाअवस्ता पारसियोंका आदि धर्मग्रन्थ है। पवित्र चिन्तन, पवित्र वाक्य और पवित्र कार्य—इन तीन नियमोंका ये दृढ़तासे पालन करते हैं।

सौराष्ट्रकी योग-विभूति—महात्मा मस्तरामजी

(डॉ० श्रीकमलपुंजाणी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

सौराष्ट्रकी धरती सदासे ही संत-महात्माओंकी सेवा-साधनासे परिपूर्ण रही है। ये सभी संत-भक्त योगकी अलौकिक शक्तिसे विभूषित थे। इसी परम्परामें भावनगरके ध्यानयोगी महात्मा मस्तरामजी भी अपने नामके अनुसार एक मस्तमौला सिद्ध पुरुष थे। उनका अपना कोई निश्चित निवास-स्थान नहीं था। नदीकी रेत या मरघटकी धूलिपर वे जितनी सहजतासे समाधिस्थ हो जाते थे, उतनी ही सरलतासे शहरके कोलाहलपूर्ण वातावरणमें भी आत्मलीन हो जाते।

महात्मा मस्तरामजी सादगी, संतोष और संयमकी जीवन्त मूर्ति थे। वे निर्लिप्त एवं निर्मोही संत थे। भावनगरमें लगभग सौ वर्ष पहले मस्तरामजी एक पीपलके पुराने पेड़की शीतल छायामें प्रायः पड़े रहते थे।

एक दिन महाराजा तख्तसिंहका रथ पीपलके पेड़के पाससे गुजरा। सहसा महाराजाकी दृष्टि ध्यानस्थ महात्मा मस्तरामजीपर पड़ी। वे रथसे नीचे उतर गये और संतके सम्मुख हाथ जोड़कर बोले—'महात्मन्! आप इस पेड़के नीचे क्यों रहते हैं? हमारे महलमें पधारिये। कभी हमें भी अपनी सेवाका अवसर दीजिये।'

'राजन्! हम साधु-संतोंको महलसे क्या मतलब? यह पेड़ ही हमारा महल है।' इतना कहकर मस्तरामजी पुनः ध्यानस्थ हो गये।

महाराजा तख्तसिंहजी संतकी निर्लिप्तासे बहुत प्रभावित हुए और उन्हें प्रणाम करके वे अपने राजमहलकी ओर चल पड़े।

× × ×

एक बार जाड़ेकी कड़ाकेकी सर्दीमें मस्तरामजी तालाबमें स्नान कर रहे थे। इसी समय महाराजा तख्तसिंहजी अपने दीवानके साथ प्रातःकालीन भ्रमणके लिये निकले। दो सिपाही भी उनके साथ आगे-पीछे चल रहे थे।

महाराजाको देखनेपर प्रतीत हुआ कि मस्तरामजीके हाथ-पैर ठंडके मारे काँप रहे हैं। उन्होंने तुरंत अपनी ऊनी शाल शरीरसे उतारकर सिपाहीको दी और कहा—'इसे चुपचाप महात्माजीके शरीरपर डाल दो।'

सिपाहीने मस्तरामजीके निकट पहुँचकर धीरेसे पीछेसे शाल उनके कंधेपर डाल दी, किंतु वह अपने-आप तुरंत नीचे सरक पड़ी। महाराजाने फिरसे सिपाहीको भेजा और शाल उठाकर महात्माजीको ओढ़ानेका आदेश दिया। सिपाहीने दूसरी बार सँभालकर मस्तरामजीके कंधेपर शाल डाल दी। मस्तरामजी निर्विकार-भावसे खड़े रहे। वह शाल पुनः धरतीपर गिर पड़ी।

महाराजाके संकेतसे सिपाहीने शालको पुनः उठाया और महात्माजीके शरीरपर लपेटनेकी कोशिश की, परंतु मस्तरामजी इधर-उधर देखे बिना चुपचाप वहाँसे चलने लगे और शाल वहीं पड़ी रही। उनकी विरक्ति और सुख-दुःख, शीत-उष्णादि द्वन्द्वोंको जीत लेनेकी शक्तिसे प्रभावित होकर महाराजाके मनमें इनके प्रति और अधिक आदर एवं श्रद्धा बढ़ गयी। ऐसी अनेकों घटनाएँ उनके योगमय जीवनमें देखी जाती थीं। इस प्रकारके प्रसंगोंकी चर्चा शनैः-शनैः सारे भावनगर तथा आस-पासके प्रदेशोंमें फैल गयी, किंतु उन्हें इस चर्चासे कोई लगाव नहीं था।

× × ×

महात्मा मस्तरामजी मानो सहनशीलताकी प्रतिमूर्ति ही थे। वे बाह्य विपत्तियों तथा विघ्नोंसे कभी विचलित नहीं हुए। उनके जीवन-चरित्रमें सहनशीलताके अनेक रोचक रम्य प्रसंग भरे पड़े हैं। एक प्रेरक प्रसंग उदाहरणार्थ यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

एक बार रातके समय महात्मा मस्तरामजी नदीकी रेतमें ध्यानस्थ मुद्रामें बैठे थे। इतनेमें कुछ मनचले युवक वहाँसे निकले और मस्तरामजीको देखकर आपसमें बातें करने लगे।

'अरे! यह तो वही साधु है, जिन्हें महाराजा तख्तसिंहजी अपना गुरु मानते हैं।' एक युवकने कहा।

'नहीं भाई! यह तो ढोंगी लगता है। देखो न, खा-पीकर कितना तगड़ा हो गया है।' दूसरे युवकने अपना मत व्यक्त किया।

'चलो, इसीसे पूछ लेते हैं' कहकर तीसरा युवक मस्तरामजीकी ओर मुड़ा। अन्य युवक भी उसके पीछे-पीछे

चलने लगे।

'साधु महाराज! आप महाराजा तख्तसिंहके गुरुदेव हैं?' युवकने मस्तरामजीके पास जाकर पूछा।

मस्तरामजीने कोई उत्तर नहीं दिया। वे ध्यानावस्थामें बैठे रहे। युवकने उनके कानोंके पास अपना मुँह ले जाकर फिरसे पूछा, किंतु उसे कोई जवाब नहीं मिला। तब युवक जोरसे चिल्लाया—'अरे ढोंगी! बोलते क्यों नहीं? क्या बहरे हो?' इतनेपर भी जब उनका ध्यान विचलित नहीं हुआ तो उनमेंसे एक युवकने एक जलता हुआ बड़ा अंगारा मस्तरामजीकी जाँघपर रख दिया। उसने सोचा कि अंगारेका स्पर्श होते ही साधुकी समाधि टूट जायगी, किंतु मस्तरामजी अविचलित ध्यान-मुद्रामें लीन रहे। इसपर युवकका मन आत्मग्लानिसे भर आया।

ऐसी अनेकों चमत्कारपूर्ण घटनाएँ मस्तरामजीके जीवनसे जुड़ी हुई कही-सुनी जाती हैं। अपनी चिर-साधनाके पश्चात् अन्तमें सं० १९५७ की कृष्णा एकादशीको भावनगरके बोटाद गाँवमें ये चिर-समाधिमें लीन हो गये। वास्तवमें एक सच्चे योगी एवं साधकके लिये प्रायः कुछ भी असम्भव नहीं होता, वह अपनी साधनाके बलपर ध्यान-समाधिके द्वारा भगवान्‌का साक्षात् करनेमें समर्थ हो जाता है।

मिथिलाके सिद्ध योगी परमहंस श्रीलक्ष्मीनाथ गोस्वामी

(आचार्य डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र)

परमहंस श्रीलक्ष्मीनाथ गोस्वामीका जन्म मिथिलाके एक अवदात ब्राह्मण-वंशमें विक्रमाब्द १८५० सन् १७९३ ई० में परसरमा गाँवमें हुआ था। पिता पं० श्रीबच्चाजी झा संस्कृतके अच्छे विद्वान् थे। बचपनसे ही उनके व्यवहारमें परिवार आदि सांसारिक जनोंके प्रति अनासक्तिका भाव देखकर पिताने उन्हें जयनगर पं० श्रीरत्तेजी झाके निकट पढ़नेके लिये भेज दिया। वहाँ उन्होंने व्याकरण, ज्योतिष, वेदान्त तथा तन्त्र-विद्याका गहन अध्ययन किया। घर वापस आनेपर उनकी इच्छाके प्रतिकूल भी माता-पिताने उनका विवाह कर दिया, किंतु सांसारिक बन्धनसे विमुक्त होनेके लिये और योग-सिद्धिकी प्रबल अभिलाषासे वे घर छोड़कर बाहर निकल गये तथा—

चलिये कन्त ओहि देश जहाँपर निज घर अपना।
पँच रँग महल देखि मत भूलहु यह सुख जानहु निसि सपना॥
यह संसार फूल सीमरके अंदर रुइया रे समना।
सुत बित नारि भवन कुल परिजन यह सब चमकत चारि दिना॥

—इन पंक्तियोंको लिखकर बिछावनपर छोड़ दिया और चुपचाप घरसे चल पड़े। कुछ दिनोंके बाद लोगोंने उन्हें सिंहेश्वर महादेवके मन्दिरमें ध्याननिमग्न देखा। घरवाले किसी तरह उन्हें समझाकर घर वापस ले आये। उनकी पत्नी बड़ी ही सती-साध्वी तपोनिष्ठ थी। उसकी सेवासे प्रसन्न हो इन्होंने उसे पुत्र-प्राप्तिका आशीर्वाद दिया और इनके आशीर्वादके प्रभावसे उसे यथासमय एक पुत्र प्राप्त हुआ। इसके बाद परमहंसजी पशुपतिनाथकी यात्रापर निकल पड़े। वहाँ गोरखनाथके शिष्य स्वामी लम्बनाथसे इन्होंने योगकी शिक्षा ली और कठिन साधनाकर पूर्ण सिद्धि प्राप्त की। वहाँसे वे पुनः मिथिला आये और घूम-घूमकर भागवत-धर्मका प्रचार किया। उसी प्रसङ्गमें एक दिन उन्होंने शकरपूरा राजघरानेके राय लक्ष्मीनारायण सिंहका आतिथ्य स्वीकार किया। निःसंतान होनेके कारण राय दम्पतिको अत्यन्त दुःखी देखकर गोस्वामीजीने पुत्ररत्न प्राप्त करनेका आशीर्वाद दिया। उनके आशीर्वादसे राय साहेबको दो पुत्र हुए। इस बातकी ख्याति चारों ओर फैल गयी और गोस्वामीजी एक सिद्ध पुरुषके रूपमें माने जाने लगे।

उनकी जीवनकालीन विभिन्न अलौकिक घटनाओंकी चर्चा आज भी मिथिलाञ्चलमें होती है। जैसे मृत गायको पुनर्जीवित करना, पादुका पहनकर विशाल नदीके प्रवाहमें चलकर उसे पार करना, आशीर्वादके अनुसार फल मिलना आदि।

गोस्वामीजीने श्रीमद्भागवतका गम्भीर स्वाध्याय किया था। उन्होंने व्रजभाषामें अनेक विशिष्ट रचनाएँ भी कीं, जिनमें—१-प्रश्नोत्तरीमाला, २-अकारादि दोहावली, ३-भाषा-तत्त्वबोध, ४-श्रीरामरत्नावली, ५-गुरुचौविसी—ये पाँच ग्रन्थ 'विवेक-पञ्चरत्न' के नामसे प्रसिद्ध हैं।

प्रश्नोत्तरमाला श्रीशंकराचार्यके प्रश्नोत्तरात्मक संस्कृत ग्रन्थका अनुवाद है। गुरु-शिष्यके प्रश्नोत्तररूपमें ६४ दोहात्मक पद्योंकी इस रचनामें विशेषतः आध्यात्मिक विवेचन किया गया

है। यथा—

घोर नरक काको कहत? नरक आपनो देह।
जाकी तृष्णा क्षय भई, ताहि स्वर्ग सुख गेह॥
परम सुखी को होत है? जो नर मूढ़ सुजान।
सेवा काको कीजिये? देव वृद्ध गुरु ज्ञान॥
बन्ध्यो है को जगतमें? जाहि विषय अनुराग।
मुक्ति कौन को होत है? जाको विषय विराग॥

'अ' से 'क्ष' तक प्रत्येक वर्णसे आरम्भकर रचित ५४ दोहोंकी 'अकारादि दोहावली' में प्रत्येक दोहा उपदेशप्रद है। इनमें 'क-ख' का चमत्कार देखिये—

काया कामिनि काल-गति, कबहूँ लखी न जाय।
काहे कातर होत है, कृष्ण रिझाओ जाय॥
खेत खराबी करत क्यों, खबरदार ह्वै खोज।
खरचा खामिन्द देहिंगे जासे खाते रोज॥

श्रीशंकराचार्य-विरचित 'तत्त्वबोध' के अनुवादात्मक ९९ दोहे 'भाषा-तत्त्वबोध' में हैं, जिनमें अध्यात्मविद्याका तात्त्विक निरूपण किया गया है। 'श्रीरामरत्नावली'में श्रीराम-नामके महत्त्वका प्रतिपादन हुआ है। इसमें १११ दोहोंका संग्रह है। श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें यदु और ब्राह्मणके संवाद-रूपमें वर्णित २४ गुरुओंकी शिक्षाके आधारपर श्रीगोस्वामीजीने 'गुरुचौबिसी' की रचना की। इसमें छब्बीस दोहोंका संग्रह है। जिनमें पृथ्वी, वायु, आकाश, मृग आदि चौबीस गुरुओंसे प्राप्त शिक्षाका प्रतिपादन किया गया है।

'विवेक-पञ्चरत्न'के अतिरिक्त श्रीपरमहंसजीकी रचनाओंमें 'श्रीकृष्णरत्नावली', 'श्रीरामगीतावली', 'श्रीकृष्णगीतावली', आदि प्रसिद्ध हैं। इनमें भगवान् श्रीराम और श्रीकृष्णके रूप, गुण, धाम, ऐश्वर्य, माहात्म्य आदिका रोचक वर्णन है।

इस प्रकार गोस्वामी परमहंसजीने अपने उपदेशोंमें संसारकी नश्वरताको समझते हुए भगवान्‌की ओर उन्मुख होनेपर ही विशेष बल दिया है। वे इसके लिये विरागी या संन्यासी होना आवश्यक नहीं समझते थे। उनका मानना था कि संसारमें अनासक्त-भावसे रहते हुए अपने कर्तव्य कर्मोंको करते हुए भगवान्‌की विस्मृति न हो तो इससे शीघ्र ही परम कल्याण हो जाता है।

श्रीअच्युतमुनिजी

श्रीअच्युतमुनिजीका पंजाबी शरीर था। आप संस्कृतके उद्भट विद्वान् थे और पहले लाहौरमें अध्यापन-कार्य करते

थे। आपने शास्त्रोंका बड़ा गहरा अध्ययन किया था। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र आदि ग्रन्थ तो आपको कण्ठस्थ हो गये थे। स्वभावसे ही आपके अंदर वैराग्यकी भावना वर्तमान थी। अध्यापन-कार्य करते समय भी आप प्रायः संसारसे निर्लिप्त रहा करते थे। आपका अधिकांश समय एकान्तमें, विशेषतः रावी नदीके तटपर बीता करता था। नाम-जपपर आपकी बड़ी श्रद्धा थी। आपने स्वयं एक बार कहा था कि ***'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥'*** इस तारकमन्त्रका पाँच करोड़ जप मैंने उन्हीं दिनों किया था। आखिर आप सब कुछ छोड़-छाड़कर संन्यासी हो गये। बहुत दिनोंतक अनूपशहरके पास श्रीभृगुक्षेत्रमें रहे। वहाँ आप श्रीगङ्गाजीके बीच एक नावपर रहा करते। आपकी प्रकृति अत्यन्त सरल और स्वभाव बालकके समान था। आपका प्रेमभरा मृदु भाषण सुनकर कोई भी आदमी आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता था। आपकी विद्वत्तासे आकर्षित होकर बहुतसे लोग आपके पास सत्संग और शास्त्रचर्चाके लिये आया करते

थे। आप वेदान्तादि अत्यन्त गूढ़ विषयोंका विवेचन बड़ी गम्भीरता तथा सरलताके साथ किया करते थे। आपके द्वारा शिक्षाप्राप्त कितने ही महानुभाव आज सन्मार्गपर चलकर आपका गौरव बढ़ा रहे हैं।

आप कुछ समयतक काशीके समीप रामेश्वर नामक स्थानमें रहे और समय-समयपर अपने उपदेशोंसे लोगोंका कल्याण-साधन किया करते रहे। आपने १२ दिसम्बर, सन् १९३५को काशीधाममें भगवान् श्रीविश्वनाथके मन्दिरके सामने श्रीगौरीशंकरजी गोयंनकाके मकानमें इहलीला समाप्त की।

कर्म, ज्ञान और भक्तिकी त्रिवेणी—स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज

अनन्तश्री स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजका जीवन कर्म, ज्ञान और भक्तियोगकी त्रिवेणीका एक संगम था। यद्यपि वे ज्ञानयोगी थे, परंतु उनके कार्यक्रमोंको देखते हुए ऐसा लगता था कि वे किसी कर्मयोगीसे कम नहीं हैं। उनकी भक्ति

भी इतनी प्रगाढ़ थी, जिसकी तुलना किसी सामान्य भक्तसे नहीं की जा सकती। वे एक महान् योगी थे। उन्होंने प्रायः योगके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको धारण करते हुए सम्पूर्ण यौगिक साधनाओंको जीवनमें उतारा। हठयोग, राजयोग, लययोग एवं मन्त्रयोग आदिकी साधना उनके जीवनमें निरन्तर अपने क्रमानुसार चलती रहती थी, जिनका दिग्दर्शन उनकी दैनिक-चर्या एवं जीवनचर्यासे होता था। एक बार उनसे पूछनेपर कि 'महाराज ! आप नयी-नयी यौगिक क्रियाओंका अवलम्बन क्यों लेते हैं ?' तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'कुछ क्रियाएँ कौतूहलवश भी करता हूँ।' पर ऐसा लगता है कि उनके सम्पूर्ण कर्म लोक-संग्रहार्थ ही थे। कारण, वे शास्त्र-मर्यादित कर्मोंके सम्पादनमें पूर्ण तत्परताका निर्वाह करते थे।

वास्तवमें महाराजश्री जन्मतः स्वभावसे ही साधु और त्याग वैराग्यकी प्रतिमूर्ति थे। अपने जीवनमें उन्होंने गृहस्थीसे लेकर विरक्तितक जितना कार्य सम्पन्न किया, उतना कार्य अन्य कोई शायद ही कर सके। जीवनके पूर्वार्धमें उनके तीव्र त्याग और तपस्याकी प्रशस्ति तो सर्वविदित ही है, पर जीवनके उत्तरार्धमें लोकहितार्थ एवं धर्मकी रक्षाके लिये उनके द्वारा जो कार्य सम्पन्न हुए वे कम महत्त्वके नहीं। शास्त्रानुसार धर्मकी संस्थापना और उसकी रक्षा—यह महाराजके जीवनका सत्संकल्प था।

उनकी दिनचर्या अत्यन्त विलक्षण थी, जिसे उनके भक्तगण भी नहीं जान पाते थे। स्वामीजी प्रायः रात्रिमें एक बजे प्रतिदिन उठ जाते और तत्काल स्नान कर जप, ध्यान एवं समाधिमें बैठ जाते। साढ़े तीन बजेसे पाँच बजेतक प्रातः एकाकी भ्रमण—चार-पाँच मील पैदल घूमनेका कार्यक्रम चलता। भ्रमणके समय स्तोत्र-पाठ तथा जप चलता रहता। तदनन्तर प्रातः पाँच बजेसे आठ बजेतक अर्चन-पूजन एवं देवोपासनाका कार्यक्रम चलता। चातुर्मास्यके समय महाराजकी दिनचर्याका पूर्णावलोकन होता था। इन दिनों वे दो मास काशीमें ही निवास करते थे। प्रातः आठ बजेसे बारह बजेतक ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, गीता एवं अन्य सत्-शास्त्रोंका स्वाध्याय एवं उपदेश होता, जिसमें देशके विभिन्न क्षेत्रोंसे समागत संत-महात्मा, साधक एवं विद्वान् पधारकर उससे

लाभान्वित होते। वेदान्त, न्याय, सांख्य, मीमांसा तथा तन्त्रादि और वेद-वेदाङ्गोंसे सम्बद्ध भारतीय संस्कृतिका कोई भी प्राचीनतम ग्रन्थ जो दूसरी जगह समझनेमें कठिन होता, उसे लोग महाराजश्रीके सामने रखते, जिसके पढ़ानेमें महाराजको विशेष रुचि होती थी। वे अपनी पूजा एवं साधनाके अतिरिक्त अन्य कार्योंको करनेकी अपेक्षा स्वाध्याय एवं सत्सङ्गको प्राथमिकता देते। सायंकाल डेढ़ या दो घंटे कथा-सत्सङ्गका कार्यक्रम चलता।

स्वामीजी महाराजकी एक विशेषता थी कि स्वाध्याय एवं सत्सङ्गके समय वे समाधि-जैसी स्थितिमें इतने तल्लीन हो जाते थे कि सामने कौन आया और कौन गया, इसका उन्हें भान भी नहीं होता था। दिनमें प्रायः एकसे पाँच बजेतक महाराजकी एकान्त-साधना चलती। इस अन्तरालमें कुछ समय तो वे लेखन-कार्यमें बिताते थे, पर अधिकांश समय योगासन तथा यौगिक साधनाओंमें बीतता। योगासनोंके साथ-साथ लगभग तीन घंटे लगातार महाराजका शीर्षासनका कार्यक्रम चलता। शीर्षासनमें ही वे श्रीदुर्गासप्तशतीका पाठ तथा अधिकांश पूजा सम्पन्न करते।

एक बार प्रसंगवश उन्होंने यह बताया कि योगासन करते समय भगवदाराधन, पाठ और जप अवश्य करना चाहिये, तभी इसके सम्पादनकी सार्थकता है। उदाहरणरूपमें उन्होंने कहा कि समुद्रमें सीप खोजनेके लिये मछुवे भी प्राणायाम करते हैं तथा दूसरी ओर देवाराधन आदिके निमित्त भी प्राणायाम किया जाता है। इन दोनोंमें कितना अन्तर है। मात्र नश्वर शरीरकी रक्षाके लिये योगासन करना बुद्धिमत्ता नहीं है। शारीरिक स्वस्थता तो योगासन करनेपर प्राप्त होगी ही, किंतु योगासनका उद्देश्य तो देवाराधन ही होना चाहिये, जिससे आध्यात्मिक लाभ मिल सके और समयका पूर्ण सदुपयोग हो सके।

चौबीस घंटेमें एक बार सायंकाल पाँच बजे सूर्यास्तसे पूर्व महाराजकी नमक एवं चीनीसे रहित भिक्षा होती थी, जिसमें उपलब्ध होनेपर गो-दुग्ध भी स्वीकार करते थे। यह बात प्रसिद्ध थी कि महाराजको भिक्षा करनेमें समय नहीं लगता, केवल तीनसे पाँच मिनटमें ही भिक्षा हो जाती। जो कुछ समय लगता, वह भगवान्‌को भोग लगानेमें ही लगता। एक बारकी भिक्षाके अतिरिक्त अन्य किसी समय फल इत्यादि भी वे ग्रहण नहीं करते थे। चातुर्मास्यके दिनोंमें तो उन्हें प्रातःकालसे रात्रिके नौ बजेतक अन्न-जल लेनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। सभी कार्योंसे निवृत्त होकर रात्रिमें नौ बजेके बाद केवल फल और दूध भिक्षाके रूपमें ग्रहण करते। यह क्रम दो मासपर्यन्त प्रायः एक ही प्रकारसे चलता।

स्वामीजी महाराज नियमके अटल थे। प्रत्येक एकादशीको उनका निर्जल व्रत रहता। भीषण-से-भीषण गर्मीमें भी वे एकादशीको जल नहीं ग्रहण करते थे। कई बार पूर्वके दिनोंमें अपने तप और साधनाके क्रममें वे सात दिनतक श्रीमद्भागवतका सप्ताह पाठ करते और अन्तमें सातवें दिन दूधकी भिक्षा लेते। यह क्रम कई दिनों, कई महीनोंतक चलता रहता। तुलसीप्रसादमें महाराजकी अनन्य आस्था थी। एकादशीके निर्जल व्रतमें भी वे तुलसीदल ग्रहण करनेका निषेध नहीं करते थे।

महाराजके जीवनमें नियमकी प्रतिबद्धता थी। अधिक मात्रामें ज्वर आदिके रहनेपर भी वे प्रातः तीन बजेसे पूर्व उठकर एक बार स्नान कर अपनी साधनामें अवश्य बैठ जाते। भले ही अस्वस्थताके कारण कुछ क्षणोंके बाद उन्हें विश्राम करना पड़ता। जाड़े-गर्मी तथा बरसात सभी समय प्रायः वे एक चादर ओढ़कर ही सोते दिखायी पड़ते।

काशीमें महाराजकी अटूट श्रद्धा थी। वे यह मानते थे कि जन्म-जन्मान्तरकी साधनाओंके बाद भी त्याग, वैराग्य और तपसे साधन-सम्पन्न मुक्त योगियोंको जो वस्तु दुर्लभ है, वह मोक्ष-पद काशीमें शरीर त्यागनेमात्रसे सुलभ हो जाता है। इसलिये वे सदा काशीके लिये कहा करते—**'मङ्गलं मरणं यत्र'** अर्थात् जहाँका मरण भी मङ्गलमय है। इसलिये प्रारम्भसे ही उनका यह संकल्प था कि शरीर काशीमें ही त्यागना है। और अपने इस सत्संकल्पके अनुसार उन्होंने काशी-स्थित केदारघाटपर केदारेश्वर-मन्दिरके निकट गङ्गातटपर ७ फरवरी, १९८१ ई० तदनुसार माघ शुक्ला चतुर्दशी, रविवारको इस पार्थिव शरीरका परित्याग किया और वे पूर्ण ब्रह्ममें लीन हो गये।

महाराज सबके कल्याणके लिये शास्त्रको ही परम प्रमाण मानते थे, इसलिये उनके जीवनका लक्ष्य था शास्त्रीय

सिद्धान्तोंकी रक्षा और जीवनपर्यन्त निर्भीकतापूर्वक उन्होंने इसका निर्वाह भी किया। उनके जीवनमें ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग—इन तीनोंकी अजस्र धारा समानरूपसे प्रवाहित होती रही।

ज्ञानयोगी स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज

ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज (श्रीमदन-मोहनजी) स्थितप्रज्ञ और जीवन्मुक्त महात्मा थे। आत्माके ज्ञान-को प्राप्त करने और अविद्याके पापसे बचनेके लिये २० वर्षकी अवस्थामें घरसे चले गये और फैजाबादसे अपने पत्रमें अपने पिता तथा बाबाको लिखा····'मैं इस बातका दावा भी नहीं कर सकता कि मैं इसी जन्ममें उस मार्गको ढूँढ़ लूँगा, परंतु कम-से-कम नींव तो पड़ जानी चाहिये, आगे ईश्वरकी इच्छा

है·····प्रेम-स्वरूप परमात्मा मुझको अविद्याके बन्धनसे हटाकर विद्याके सूर्यमें लावें····अविद्यामें पड़े जीना भी मरेके समान है····संसारमें दुःखों एवं अविद्याको देखकर मेरा हृदय काँप जाता है और यही समझता है कि या तो शीघ्र ही ईश्वरकी शरणमें जाओ, नहीं तो कल्याण नहीं है। जंगलमें रूखी-सूखी रोटी खाकर जीवन बिता दूँगा····· मुझे मृत्यु स्वीकार है; परंतु अविद्यामें रहकर धनवान् होना स्वीकार नहीं है। उसी अविद्याको हटानेके उपायमें मैं अपने जीवनको व्यतीत करना चाहता हूँ।'

दृढनिश्चयी, ईश्वरकृपाप्राप्त, परम विरक्त मदनमोहन, कालान्तरमें अपने प्रयाससे श्रीस्वामी कृष्णबोधाश्रम हुए और उन्होंने अपने इसी जन्ममें अविद्याको हटाने और विद्याको प्राप्त करनेका लक्ष्य प्राप्त कर लिया। वे जीवन्मुक्त और स्थितप्रज्ञ महात्मा हो गये। बादमें उन्होंने श्रीज्योतिष्पीठके आचार्य-पदका गौरव बढ़ाया और अपने कल्याणके साथ सहस्रों मानवोंका कल्याण किया।

परब्रह्म परमात्माको जो महापुरुष प्रिय हैं, उसका लक्षण गीतामें स्वयं उन्होंने अपने श्रीमुखसे वर्णन किया है—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥

(गीता १२। १३-१४)

ब्रह्मलीन जगद्गुरुजी ऐसे ही संत-कोटिके महापुरुष थे। वे एक महान् वीतराग, विवेकी, ब्रह्मनिष्ठ तथा ज्ञानयोगी तो थे ही, साथ ही सर्वभूतहितैषी होते हुए उनकी ब्रह्मात्म-दृष्टि थी। ध्यानयोगमें उनकी मुख्य निष्ठा थी। वे लगातार तीन घंटेसे छः घंटेतक ध्यानमें बैठे रहते। जिन लोगोंने उनका दर्शन किया, उनको मालूम है कि जब वे ध्यानमें बैठते तो उन्हें बाह्य जगत्का ध्यान नहीं रहता। ढोल-नगाड़े, गाजे-बाजे और सांसारिक शोर-गुल भी उनके ध्यानमें व्यवधान नहीं डाल पाते, कारण कि उन्हें इनका आभास ही नहीं होता। उनके ध्यानकी यह विशेषता थी कि बिना घड़ी देखे निर्धारित समयपर ध्यान पूरा हो जाता। उन्होंने दण्ड-संन्यास ले रखा था। वे प्रायः पैदल यात्राके अभ्यासी थे। गङ्गा-किनारे रहने और घूमनेका उनका अभ्यास था।

स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराजका जन्म वि०-सं० १९४९ (ई० सन् १८९२) में मथुरा जिलान्तर्गत भाण्डीर-वनस्थ ग्राममें एक प्रतिष्ठित सनाढ्य ब्राह्मण पं० श्रीटीकारामजीके घरमें हुआ। आपने सेंटजांस कालेज

आगरामें उच्च शिक्षा प्राप्त की। संस्कृतका भी आपको प्रगाढ ज्ञान था। आप परम विरक्त तथा संसारसे विमुख थे। बाल्यावस्थासे ही संसारमें कोई रुचि नहीं थी। प्रारम्भसे ही ये स्वभावसे दयालु एवं परोपकारी थे। बीस वर्षकी अवस्थामें जुलाई १९१३ ई० के श्रावण मासमें आपने गृहका परित्याग कर दिया और गङ्गा-यमुना तथा सरयू आदि पवित्र नदियोंके तटपर एवं विभिन्न तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए आप सर्वप्रथम अयोध्या पहुँचे। १९१६ ई० में श्रीस्वामी चैतन्याश्रम महाराजसे दीक्षा ली और दण्ड ग्रहण किया। इस समय आपकी अवस्था चौबीस वर्षकी थी।

आपने आद्य श्रीशंकराचार्यजीके इस निर्देशको—'संन्यासीको चाहिये कि वह सदा घूमता रहे एवं धर्म-प्रचारमें निरत रहे' अक्षरशः अपने जीवनमें उतार लिया। फलतः आप अधिकांशतः गङ्गा-यमुनाके मध्य देशमें पैदल ही विचरण करते रहे। इन दिनों प्रायः आप गढ़मुक्तेश्वर एवं बागपत (मेरठ क्षेत्र)में ही विचरते हुए साधनारत रहे। इसी साधनाके आपने समस्त वेदान्त, धर्म-शास्त्रों, रामायण, महाभारत अठारहों पुराणोंका गम्भीर अध्ययन किया तथा विशेष पारायण किये।

कठिन-से-कठिनतर व्रतोंका अनुष्ठान करते हुए गङ्गा-यमुनाके तटपर पैदल विचरते अपने धर्माचरणसे अनेक व्यक्तियोंको स्वधर्मनिष्ठ बनाते हुए, श्री १००८ स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराजने इस भारतवर्षकी पावन भूमिपर न जाने कितनी पैदल यात्राएँ की हैं। एक समय अल्पाहार, त्रिकाल-स्नान, गङ्गाजल-पानपूर्वक आप जप-यज्ञ एवं ध्यानमें तल्लीन रहते। दृष्टि सदा नीची रखते या आँख बंद कर लेते थे। शास्त्रका यह वचन है कि **'न नेत्रचपलो यतिः।'** संन्यासीको नेत्रोंको पृथ्वीकी ओर झुकाकर चलना चाहिये, इसे आपने अपने जीवनमें उतार रखा था। ये कभी भी न नगरकी भीड़भाड़के क्षेत्रमें प्रवेश करते, न किसी स्त्रीको देखते, न पैर ही छुआते थे। यदि कभी कोई स्त्री भूलसे चरण छू लेती तो तीन दिवसका कठोर व्रत, अन्न-जल-त्याग आदि विभिन्न कठिन व्रत धारण करते। स्वादके नामपर कुछ नहीं लेते। प्रातःकालके तीन बजेसे पुनः रात्रिके दस बजेतककी जिन्होंने आपकी दिनचर्या देखी है, उनका कहना है कि ध्यान, जप, अध्ययन, सत्संग, उपदेश, धर्म-प्रचार—इसके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रसंगको वहाँ स्थान नहीं।

'शिखा-सूत्र धारण करो', 'संध्या-वन्दन, बलिवैश्वदेव करो', 'अतिथि-सत्कार करो', 'भारतीय वेष-भूषा धारण करो', 'शास्त्रोंका अध्ययन करो', 'रामायणका पाठ करो', 'मादक द्रव्योंका सेवन न करो'—प्रायः इन्हीं बातोंपर आप अधिक जोर देते थे। आपकी दृष्टिमें थोड़ेसे भी धर्मके आचरणका बड़ा महत्त्व रहता। धनके सामने धर्मको आपने सदासे महत्त्व दिया। यही कारण है कि आपके कृपापात्रों, भक्तों—अनुयायियोंमें साधारण कोटिकी जनता ही अधिक है, जिनमें अनपढ़ किसान, जाट, गूजर, गरीब ब्राह्मण, छोटे-छोटे व्यापारी वैश्य, दफ्तरोंके साधारण कर्मचारीगण अधिक हैं। आप प्रायः कहा करते थे कि 'यह वर्ग ही समाजकी रीढ़ है, यदि यह 'शिखा-सूत्र'को धारण किये रहे, संध्या-वन्दनादि, नित्य-नैमित्तिक स्वकर्मोंमें वर्णाश्रमानुसार लगे रहे तो फिर संसारमें कलियुग लाख आये, कुछ बिगड़नेवाला नहीं।' अतः आपका अधिक-से-अधिक बल स्वधर्माचरणपर ही रहता था।

धर्मोपदेश

महाराजश्री स्वयं भी धर्मकी साक्षात् मूर्ति थे। कठोर-से-कठोर व्रतोंका आचरण करते-करते आपने तरुणावस्थामें ही सम्पूर्ण इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ली। तंबाकू पीनेवालेके यहाँ आप भिक्षा पानेका सदैव निषेध करते थे। आप जीवनमें शौचाचारको प्रमुख स्थान देते थे। आपकी स्मरण-शक्ति अद्वितीय थी, जिसे एक बार देख लिया तथा परिचय हो गया, वह व्यक्ति यदि बीस वर्ष बाद भी मिला तो प्रथम परिचयमें ही उसकी कुशल-क्षेम स्वयं ही न पूछी तो बात ही क्या रही।

पाक-शुद्धि तथा आहार-शुद्धिको आप बहुत महत्त्व देते थे। उनका कहना था कि 'जैसा खाओगे अन्न वैसा बनेगा मन'—अतः जो भी जहाँ भी मिल जाय उसे जिस-तिस प्रकारसे खड़े-खड़े उलटा-सीधा खानेकी आप तीव्र भर्त्सना करते थे। आप कहते थे कि 'भक्ष्याभक्ष्य-विवेक'की आज सर्वाधिक आवश्यकता है, अभक्ष्य-भक्षण सब प्रकारकी बीमारियोंका मूल है, बाजारमें बने पदार्थोंके सेवनका आप निषेध करते थे। आपका कथन था कि 'शुद्ध-सात्त्विक पदार्थ अपने घरमें ही

चौका-आसन लगाकर मौन होकर अतिथि, गौ, श्वान, कौवा, पिपीलिका आदिका भाग निकाल कर पञ्चमहायज्ञ एवं बलिवैश्वदेव आदि करनेके उपरान्त ग्रहण करना चाहिये। ऐसा करनेपर ही मन शुद्ध बनेगा तथा शुद्ध विचार, शिव-संकल्प मनुष्यके हृदयमें आयेंगे और तभी परोपकार, दया, अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि धर्मके लक्षणोंका पालन करनेमें सक्षम हुआ जा सकेगा तथा सच्चरित्र बना जा सकेगा और तभी प्रत्येक व्यक्ति एवं समस्त समाज सुखी रह सकेगा, अन्यथा घावको न धोकर, केवल पट्टीको धोने-जैसा आपका प्रयास होगा। सच्चा सुख सदाचरणमें ही है जिसका मूल है शुद्ध आहार—सात्त्विक भोजन, भक्ष्याभक्ष्य-विवेक।'

उपर्युक्त विचारधाराको जीवनमें उतारनेकी प्रेरणा प्रदान करते हुए, आपने अहर्निश उत्तरी भारतकी अनेक तीर्थयात्राएँ पैदल गाँव-गाँव, नगर-नगर घूम-घूमकर सम्पन्न कीं। देशके एक छोरसे दूसरे छोरतक आपके त्याग, तपस्या-विद्वत्ता, सिद्धि एवं सादगीका वर्णन फैलने लगा।

सनातनधर्मके पुनःस्थापन एवं उसके प्रचार-प्रसारमें अनन्तश्री स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजके साथ आपका प्रगाढ़ स्नेह, सहयोग और सम्बन्ध था। उनके विशेष आग्रहपर ही इन्होंने ज्योतिष्पीठ बदरिकाश्रममें शंकराचार्य-पदको ग्रहण किया। इस पदको स्वीकार करनेके पूर्व इन्होंने स्पष्टरूपसे तीन शर्तें रख दी थीं—

(१) खादीके मोटे वस्त्रोंको छोड़कर कौशेय वस्त्र धारण नहीं करूँगा, (२) मिट्टीका कमण्डलु जो सदा साथ रहता है, उसे नहीं छोड़ूँगा तथा (३) सिंहासनपर बैठनेकी बाध्यता नहीं रहेगी और कभी भी किसी सामान्य आसनोंपर बैठ सकता हूँ।

इस प्रकार स्वामीजी महाराज त्याग और सरलताकी प्रतिमूर्ति थे। इनका जीवन सनातन जगत्के लिये अनुकरणीय तथा शिक्षाप्रद रहा है। ८१ वर्षकी अवस्थामें भाद्रशुक्ला त्रयोदशी, तदनुसार १० सितम्बर १९७३ ई० के सायंकालकी प्रदोष-वेलामें आप इस पाञ्चभौतिक शरीरको छोड़कर ब्रह्ममें लीन हो गये।

योगी गुरु परमहंस श्रीमत्स्वामी निगमानन्दजी सरस्वतीदेव

(श्रीदुर्योधन प्रधानजी)

परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमत्स्वामी निगमानन्दजी सरस्वतीदेवका जन्म अविभाजित बंगालके नदिया जिलेमें

कुतुबपुर नामक एक छोटेसे गाँवमें सन् १८८० ई० के श्रावण पूर्णिमाके दिन हुआ था। उनके बचपनका नाम नलिनीकान्त था। पिता भुवनमोहन भट्टाचार्य और माता माणिक्यसुन्दरी-देवीकी वे प्रथम संतान थे। बालक नलिनीकान्त प्रारम्भमें नास्तिक थे, उन्हें ईश्वर, देवी-देवताओं और परलोकपर विश्वास नहीं था। परंतु उनके जीवनमें धीरे-धीरे ऐसी घटनाएँ होने लगीं कि उनकी योग-साधना एवं तत्त्व-विचारपर दृढ़ आस्था हो गयी और वे क्रम-क्रमसे अनेक यौगिक साधनाओंका अभ्यास करने लगे।

नलिनीकान्त जब मात्र बारह वर्षके थे, अचानक उनकी माँका स्वर्गवास हो गया, उसके बाद जब वे अठारह वर्षके थे तो उनकी प्रियतमा पत्नी देवी सुधांशुबालाका भी देहान्त हो गया। मृत्युके बाद देवीने उन्हें तीन बार छायामूर्तिमें दर्शन दिये और उन्हें विश्वास दिलाया कि परलोक सत्य है। उन्हीं देवीकी अशरीरी प्रेरणासे नलिनीकान्त परलोक-तत्त्वकी खोज करने लगे। पहले उन्होंने मद्रासमें महात्मा लेडविटरके सांनिध्यमें थियोसोफीकी शिक्षा ली। इसी बीच पूर्णानन्द सरस्वती नामक साधुसे उनकी भेंट हुई। उन्होंने इन्हें महाशक्तिकी साधनाकी प्रेरणा दी और किसी सच्चे सद्गुरुकी शरण लेनेको कहा।

अब नलिनीकान्त उपयुक्त गुरु प्राप्त करनेके लिये व्याकुल हो उठे। इस बीच एक अशरीरी महापुरुषने उनकी अर्ध-निद्रावस्थामें दर्शन देकर उन्हें महाशक्ति ताराका बधू-बीजमन्त्र प्रदान किया। वीरभूमि जिलेके तारापीठमें तत्कालीन महाभैरव-साधक वामाक्षेपाने महाशक्तिकी साधनामें उनकी सहायता की। फलस्वरूप मात्र एक ही रात्रिकी साधनामें उन्होंने महाशक्ति ताराका अपनी पत्नीके रूपमें दर्शन किया।

इसके बाद उन्होंने पुष्कर तीर्थके सावित्री-आश्रममें वेदान्ती साधु स्वामी श्रीसच्चिदानन्दजी सरस्वतीके सांनिध्यमें योग-ज्ञानकी साधना की। यहींपर संन्यासकी दीक्षा देकर गुरुने उनका नाम निगमानन्द रखा। यहींसे श्रीगुरुके निर्देशसे निगमानन्दजी आत्मतत्त्वकी जिज्ञासासे योगी गुरुकी खोजमें निकल पड़े। भ्रमण करते हुए वे अरुणाचल प्रदेशमें पहुँचे। वहाँ एक विजन-वन-क्षेत्रमें योगाचार्य स्वामी सुमेरुदासजीसे उनकी भेंट हुई। स्वामीजी उन्हें अपनी गुफामें ले गये और उन्हें योगकी शिक्षा देने लगे। निगमानन्द गुरुके निर्देशसे योग-साधनाके लिये लोक-समाजमें आये। उन्होंने मेदिनीपुर जिलेमें एक जमींदारके गृहमें रहकर योग-साधना आरम्भ की। सर्वप्रथम शरीरको साधनाके उपयोगी बनानेके लिये उन्होंने हठयोगकी षट्-साधनासे शरीर-शोधनका अभ्यास किया। उसके बाद उन्होंने 'लय' योगकी साधनासे अनेक दिव्य समाधिलाभोंको प्राप्त किया। पुनः उन्होंने ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने-हेतु प्रेमसिद्धा योगिनी माँ गौरादेवीसे प्रेमतत्त्वकी शिक्षा ली तथा भावसमाधिमें निमग्न हुए। इस प्रकार अनेक साधनाओंका अभ्यास करते हुए उन्होंने १९३५ ई० में महासमाधि ली। अनेक सारस्वत संघोंके द्वारा आज भी उनके उपदेशों और सिद्धान्तोंका प्रचार-प्रसार हो रहा है।

स्वामी श्रीमहेश्वरानन्दजी सरस्वती महाराज

काशी सुमेरुपीठाधीश्वर स्वामी श्रीमहेश्वरानन्द सरस्वतीजी पूर्वाश्रममें पं० महादेव शास्त्रीके नामसे विख्यात थे। न्याय,

व्याकरण, साहित्य, मीमांसा तथा वेदान्तादि शास्त्रोंके वे प्राचीन पद्धतिके निष्णात पण्डित थे। वे संयम, त्याग एवं वैराग्यकी प्रतिमूर्ति थे। उनके जीवनका एक ही लक्ष्य था कि छात्रों एवं बालकोंको संस्कृत-साहित्यका प्रौढ ज्ञान कराया जाय, जिससे उनमें भारतीय संस्कृतिके अमूल्य ग्रन्थोंके स्वाध्यायकी क्षमता आ सके और वे अपने जीवनको सार्थक बना सकें। ग्रन्थोंके गूढ़तम रहस्योंके उद्घाटन तथा उनके पठन-पाठनकी विलक्षण युक्तियाँ उन्हें प्राप्त थीं। पं० महामना मदनमोहन मालवीयजीने उनकी योग्यता एवं प्रखर बुद्धिका आकलन कर उन्हें हिन्दूविश्वविद्यालयमें संस्कृत-महाविद्यालयका अधिभार सौंपा। वहाँसे मुक्त होनेके पश्चात् उन्होंने स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजसे दण्ड-संन्यास ग्रहण किया तथा बादमें वे काशीस्थ सुमेरुपीठमें शंकराचार्यके पदपर भी अभिषिक्त किये गये। संन्यास ग्रहण करनेके बाद भी उनका अधिकांश समय सत्-शास्त्रोंके अध्ययन एवं अध्यापनमें ही बीता। देवोपासना, आराधना और जनता-जनार्दनमें सात्त्विक विचारोंका प्रचार-प्रसार ही उनकी मुख्य दैनिक चर्या थी। वे एक महान् योगी थे। काशीमें, आश्विन मासकी अमावास्याके दिन आजसे प्रायः १६ वर्ष पूर्व सन् १९७५ ई० में उन्होंने अपनी इहलौकिक लीला पूर्ण की।

वाराणसीके हरिहर बाबा

[योगी स्वामी श्रीहरिहरानन्दजी]

वाराणसी नगरीके दक्षिण भागमें गङ्गाके किनारे 'बनपुरवा'के पास काशीके प्रख्यात संत स्वामी श्रीवीतरागानन्दजी और योगी श्रीहरिहरानन्दजीका साथ बहुत दिनोंतक रहा। साथ रहनेपर भी दोनों संत एक-दूसरेके विषयमें कुछ कहने और कुछ सुननेके विरोधी ही रहे हैं। कुछ दिनोंके बाद योगी श्रीहरिहरानन्दजी वाराणसीके अस्सी-संगमपर रहने लगे थे, किंतु उसके पूर्व बहुत दिनोंतक 'काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय' के सामनेवाले गङ्गा-घाटपर भी नौकामें ही रहते रहे। इनकी प्रसिद्धि हरिहर बाबाके नामसे थी।

योगी स्वामी श्रीहरिहरानन्दजीके विषयमें काशीके वयोवृद्ध पण्डितों और संत-महात्माओंसे जो कुछ जानकारी मुझे उपलब्ध हुई, उसके आधारपर उनका जन्म जनपद छपरा, परगना गोवा, गाँव जाफरपुरामें हुआ था। इनके पिता सरयूपारीण ब्राह्मण थे। प्रारम्भमें श्रीहरिहरजीने पटनामें संस्कृतकी पढ़ाई प्रारम्भ की, किंतु वर्तमान शिक्षा-प्रणालीसे उनके मनमें अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न हुआ और वे उसे छोड़कर काशी आ गये। काशी पहुँचते ही उनके मनमें संसारके प्रति वैराग्य उत्पन्न होने लगा और वे काशीसे चलकर अयोध्यामें कुछ दिनों रहे, पुनः वाराणसी वापस आ गये। तबसे वे वाराणसीमें ही स्वामी श्रीवीतरागानन्दजीके पास बनपुरवाके समीप गङ्गाके किनारे रहने लगे।

यहाँ उन्होंने योग-साधनाके आश्रयसे त्याग-वृत्ति ग्रहण की। उनको न तो भोजनकी चिन्ता रहती और न वस्त्रकी ही आकाङ्क्षा। इस प्रकार अनासक्त-भावसे योग-साधनाका अभ्यास चलता रहा। वे दिन-दिनभर समाधिस्थ रहते। उनको समाधिस्थ देखकर कुछ भक्त उनके पासमें फल आदि रख देते थे। समाधि टूटनेपर वे अपनी आवश्यकतानुसार कुछ ग्रहण भी कर लेते थे। कई वर्षोंतक वे इसी प्रकार ध्यान-समाधि लगाते रहे।

कुछ दिनोंके बाद उनकी समाधि गङ्गाजीकी धारामें भी लगने लगी। सावन-भादोंकी गङ्गाकी भयानक बाढ़के समय योगी श्रीहरिहरानन्दजी बनपुरवासे आगे छोटे मीरजापुरके पास गङ्गाके किनारे पहुँच जाते और बीच गङ्गाकी धारामें पहुँचकर पद्मासन लगाकर पीठके बल लेट जाते और श्वास चढ़ाकर गङ्गाकी धारामें अपनेको छोड़ देते। गङ्गामैया उनको अपनी गोदीमें लेकर अपने प्रवाहके आधारपर लगभग चार मीलतक बहाकर काशीके राजघाटकी ओर वरुणा-गङ्गा-सङ्गमतक पहुँचा देतीं। वरुणा-गङ्गा-सङ्गमपर पहुँचकर वे आसनसे पृथक् होकर गङ्गाकी पूर्वी धारा या किनारेका सहारा लेकर पैदल चल पड़ते और चलते-चलते जहाँ कहीं रात हो जाती वहीं विश्राम कर लेते। कुछ देरतक विश्राम कर लेनेके बाद पुनः वहीं मीरजापुरके पास गङ्गाके पूर्वी किनारेपर पहुँच जाते।

गङ्गामें समाधि लगानेका यह क्रम उनका बहुत दिनोंतक चलता रहा। उनकी साधनाके उस कार्यक्रममें विचित्र बात यह होती थी कि उनके कई भक्त इनके भोजनकी चिन्ता करके उनके लिये फल-दूध लेकर गङ्गाके किनारे उनकी खोज भी करते रहते थे। उनके विश्राम-स्थलकी खोज करके उन्हें फल-दूध देनेका प्रयास भी करते थे। इतना ही नहीं, संत श्रीहरिहरानन्दजीके कुछ ऐसे भक्त भी थे जो उनके लिये कम्बल, वस्त्र भी ले जाते थे और रात्रिमें उनको ओढ़ा देते थे। त्यागी संत श्रीहरिहरानन्दजी उन कीमती कम्बलों और वस्त्रोंको वहीं-का-वहीं छोड़कर चल देते थे और जिस-किसीकी दृष्टि उनपर पड़ती, उसे उठा ले जाता या सुरक्षित कर देता था। किंतु योगी श्रीहरिहरानन्दजीको उनकी कोई चिन्ता न रहती थी।

योगी श्रीहरिहरानन्दजीका यह नियम बन गया था कि वह काशीपुरीकी सीमाके भीतर मल-मूत्रका त्याग नहीं करते थे। अतः उनको गङ्गाके पूर्वी किनारेका सहारा लेना ही पड़ता था। जब उनका शरीर कुछ शिथिल होने लगा तो भक्तोंने उनके लिये नौकाका प्रबन्ध कर दिया। स्वामी श्रीहरिहरानन्दजीके शिष्य नौकापर उनको गङ्गाके पूर्वी किनारेपर ले जाते, तब वे मल-मूत्रका त्याग करते थे।

बरसातकी भयानक बाढ़ या माघकी भयानक शीत या जेष्ठ मासकी चिलचिलाती धूपमें भी उनका नियम टूटने नहीं पाता। गङ्गाजीमें तथा ग्रीष्ममें गङ्गाकी तपती बालूमें समाधि लगानेके अतिरिक्त योगी श्रीहरिहरानन्दजी वर्षोंतक घंटों गङ्गामें (छातीभर पानीमें) खड़े रहकर जप भी करते रहे।

धीरे-धीरे उनकी योग-साधनाके अलौकिक प्रभावोंका वाराणसी तथा आस-पासमें अत्यन्त प्रचार-प्रसार हो गया; काशीमें पहुँचनेवाले तीर्थयात्री, पर्यटकगण और अनेक श्रद्धालु भक्त उनके दर्शनोंसे विचित्र शान्तिका अनुभव करते। महामना मालवीयजी तो उनके परम भक्त बन गये।

अपने जीवनकी अन्तिम साधनाओंमें प्रायः वे मौन ही रहते, बहुत कम बोलते थे। बहुत बुलानेपर 'राम राम' या 'शिव शिव' कह देते। उनसे एक भक्तने बहुत आग्रह करके पूछा—'स्वामीजी ! आपको सिद्धि कैसे मिली ? स्वामीजीका उत्तर था—'चाहना' चमरिया होऽव ओकरे चक्करमेंऽन पड़े तोऽसिद्ध अपने आप मिलि जात होऽ।' इसका तात्पर्य यह है कि भगवदासक्तिके अतिरिक्त अन्य कोई भी आसक्ति अत्यन्त दुःखदायी और बन्धनका मूलहेतु है। यदि उसका सर्वथा परित्याग कर दिया जाय तो शीघ्र ही परमसिद्धि या भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

जीवनभर अनवरत योग-साधना करते हुए तथा भक्तोंको सदुपदेश देते हुए संवत् २००६ आषाढ़ शुक्ला पञ्चमीको योगी श्रीहरिहरानन्दने अपने पाञ्चभौतिक शरीरको छोड़कर योगिगम्य परम शिवधामको प्राप्त किया।

(आचार्य श्रीबलरामजी शास्त्री, एम्० ए०)

योगिराज श्रीदेवराहाबाबाजी

वर्तमान शताब्दीके सिद्ध एवं प्रकट योगियोंकी श्रेणीमें ब्रह्मर्षि श्रीदेवराहाबाबाजी महाराजका स्थान अग्रणी है। वे योग-विज्ञान और उसकी कलाके गुह्य रहस्य और प्राविधिके विशेष सिद्धयोगी रूपमें विश्रुत थे। बाबाजी अपनी सहज समाधिमें त्रिकालदर्शी ईश्वरलीन महात्मा थे।

आजसे कई वर्ष पूर्व विशाल जटाजूटसे सुशोभित एक निर्वसन तपस्वी कर-कमलोंमें तुंबा लिये मइलग्राममें सरयू नदीके तटपर पधारे। वे किसीको निकट नहीं आने देते थे। वृक्षके तले या मैदानमें रहते, सरयू-जलका सेवन करते और विशेष आग्रहपर किन्हीं-किन्हीं श्रद्धालु भक्तोंसे प्राप्त गौका दूध सेवन कर लेते। रात्रिमें वहाँ उनके पास कोई नहीं जाता—ऐसा उनका नियम था। स्त्रियाँ दूरसे ही दर्शनकर वापस लौट जातीं। उन दिनों वे महात्मा विशेषतः मौन धारणकर तपस्यारत ही रहते थे, केवल कुछ इने-गिने भक्तोंको ही सत्संगका लाभ मिलता था।

क्षेत्रीय ग्रामीणोंने प्रार्थना की कि 'महाराज ! हमलोग अपनी गौओंके साथ कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे हैं, क्योंकि नदीके कटावसे जमीन धारामें चली गयी है। ऐसी कृपा करें जिससे सरयू मैया हमलोगोंकी जमीन वापस कर दें और दियरा पड़ जाय।' महात्माजीने उत्तर दिया—'बच्चा ! सरयू मैया तुमलोगोंपर अवश्य कृपा करेंगी, दियरा पड़ेगा, किंतु गो-चारणके लिये गोचर-भूमि छोड़नी पड़ेगी और मेरा मञ्च कटिपर्यन्त नदीकी धारामें रहेगा। स्थानीय भक्तोंने उस आदेशको मान लिया और वहीं मइलग्रामके दक्षिणी-पश्चिमी तटपर दियारेमें एक भव्य मञ्च बना, जहाँ महात्माजी विराजने लगे। तभीसे उनका नाम देवराहाबाबा या दियरहवा बाबा पड़ा।

सिरपर बड़ी-बड़ी जटाएँ, चेहरेपर घनी दाढ़ी-मूछें, उन्नत ललाट, चमकती आँखें, श्यामल वर्ण, मुखमण्डलपर परम शान्ति और सात्त्विकता, दुबली-पतली काया—यह थी बाबाकी बाह्य आकृति।

श्रीबाबाजीका दरबार सबके लिये सदैव खुला रहता था। धनी-निर्धन, बड़े-छोटेका भेद नहीं था। वे मुक्त-हृदयसे

सबको आशीर्वाद देते थे। हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, विद्वान्, अज्ञ तथा विशिष्ट पदाधिकारीसे लेकर सामान्य मजदूरतक दर्शनमें उपस्थित होते थे, किंतु सबके लिये एक ही प्रेमपूर्ण आशीर्वचन था 'दया'। आशीर्वादके साथ-साथ बाबा सबको प्रसाद दिलवाते थे। प्रसादमें प्रायः बताशे, सेव और मखाने हुआ करते थे।

बाबाको अनासक्त-भावसे मचानपर बैठे देखकर किसीको भी लग सकता था कि उन्हें दुनियासे कोई सरोकार नहीं। पर ऐसा नहीं था, वे अपने कल्याणमय आशीर्वाद तथा स्पन्दनोंसे मानवकी सुप्त चेतनाको जाग्रत् करनेका निरन्तर प्रयास किया करते थे। श्रीबाबाके शिष्योंकी संख्या सारे विश्वमें फैली हुई है, जिसमें सभी श्रेणीके धर्म-प्रेमी सम्मिलित हैं। गो तथा संतसेवी कई आश्रम भी पूज्य श्रीबाबाजीके सहयोगसे देशके भिन्न-भिन्न भागोंमें सुस्थापित हुए हैं। ब्रह्मलीन श्रीदेवराहाबाबाजी महाराजके जन्मकालसे लेकर सरयूतट-आश्रमपर विराजनेतककी अवधिमें घटित पूर्वचरित अज्ञात है। प्रमाणानुसार जन्मसिद्ध संत भी इस धरापर लोगोंके कल्याणार्थ आते हैं। पूज्य श्रीबाबाजीसे उनकी अवस्थाके बारेमें बहुतसे श्रद्धालु भक्तोंने जिज्ञासा की थी। महाराजका समाधान था—'बच्चा! अनादिकालसे जीव-ब्रह्मका सम्बन्ध है—***'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'*** तब इसकी अवस्था क्या? अवस्था तो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण-शरीरकी होती है। योगियोंकी एक भिन्न अवस्था है, जिसे तुरीय कहते हैं। किंतु मेरी तो ब्रह्मलीन अवस्था है।'

बाबाके साथ चमत्कारोंकी अनेक गाथाएँ जुड़ी हैं। अपने इर्द-गिर्द उन्होंने किसी प्रकारका आडम्बर इकट्ठा नहीं किया, घास-फूसके निर्जन स्थानमें गङ्गा-यमुना और सरयूके किनारे काष्ठमञ्चपर वह इतने आनन्दसे रहे, जितने आनन्दसे कोई सम्राट् भी अपने महलमें नहीं रह पायेगा। जिन्हें एक बार भी योगसिद्ध पूज्य श्रीबाबाजीका दर्शन-लाभ हो जाता, उन्हें कुछ भी पाना शेष नहीं रहता।

गत १९ जून १९९०को योगिनी एकादशीके दिन महाराजश्रीका महाप्रयाण हो गया। श्रीमहाराजजीके आदेशानुसार उन्हें जलसमाधि दी गयी।

[प्रेषक—श्रीमदनजी शर्मा 'शास्त्री']

महात्मा ईसा

ईसामसीह ईसाई धर्मके आदि संस्थापक थे। इन्हें ईसाई लोग जगत्का त्राणकर्ता तथा ईश्वरका पुत्र मानते हैं। इनका जन्म-वृत्तान्त अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। इनकी माता मेरी कुमारी ही थी, जिसके गर्भसे इस पवित्रात्माने अवतार लिया।

बचपनसे ही ईसा बड़े प्रतिभासम्पन्न थे। धर्म-ग्रन्थोंके अध्ययन तथा ईश्वरप्राप्तिके साधनमें ही इनका सारा समय व्यतीत होता था। माता-पिताके प्रति इनकी अगाध भक्ति थी। इनके सत्तर शिष्य हुए, जिन्होंने इनके मतका प्रचार किया। दीक्षाके अनन्तर ईसा भगवत्प्राप्तिके हेतु जंगलमें जाकर एकान्तमें ध्यानमग्न रहने लगे। इस अवधिमें योगाभ्यास करते हुए इन्हें पापोंसे घोर संग्राम करना पड़ा, जिसमें ये अन्तमें विजयी हुए।

यहूदियोंसे मत-भेद होनेके कारण तथा उनके आक्रमणसे ऊबकर ये जेरुजेलम भाग गये, जहाँ गुप्तरूपसे इनपर वार किये गये। इन्होंने अन्धेको दृष्टि दी तथा वेश्याओं और पतितोंका उद्धार किया। एक दिन ईसाने यहूदियोंको स्पष्टरूपमें दम्भी कहा, जिसके परिणामस्वरूप वे लोग इन्हें मार डालनेकी मन्त्रणा करने लगे। उन लोगोंने इन्हें पकड़कर बंदी कर लिया। अन्तमें ईसाको काँटोंका मुकुट पहनाकर इन लोगोंने सूलीपर लटका दिया। ईसाके हाथ और पैरमें जब निर्दयता-पूर्वक कीलें ठोंकी जा रही थीं, उस समय भी ये हत्याकारियोंकी मुक्तिके लिये प्रार्थना कर रहे थे—'हे पिता! इन्हें क्षमा कर दो, क्योंकि ये अबोध हैं।' मरते समय भी महात्मा ईसाके चेहरेपर प्रसन्नता खेलती रही और वे अखण्ड श्रद्धा और प्रेमके साथ परमात्माकी प्रार्थना कर रहे थे। महात्मा ईसाने अपने उपदेशोंमें सेवा, प्रेम, दया, सहानुभूति और सरलतापर बहुत अधिक जोर दिया है।

ब्रह्मलीन श्रद्धेय महर्षि मेँहीं परमहंसजी महाराज

(श्रीघनश्यामलालदासजी)

बिहार राज्यके पूर्णियाँ जनपदके भक्तयोगी महर्षि मेँहीं परमहंसजी महाराज श्रीरामानुग्रहलालदासजी जन्मजात योगी माने जाते हैं। जन्मसे ही आपमें योगीके चिह्न विद्यमान थे। शैशवावस्थासे ही आपके सिरमें सात जटाएँ थीं। वे प्रतिदिन कंघीसे सुलझा दिये जानेपर भी पुनः प्रातःकाल अनायास जटाएँ ही बन जाती थीं।

चार वर्षकी अवस्थामें ही जब आपकी माताजी जनकवती देवीका देहान्त हो गया, तब आपकी मातामही (नानी) ने ननिहालमें तीन वर्षोंतक आपका पालन-पोषण किया। प्राथमिक शिक्षा ग्राममें ही कैथी लिपिसे प्रारम्भ हुई, फिर भी अपनी दिव्य प्रतिभाके कारण अल्पकालमें ही नागरी लिपि (हिन्दी) भी सीख ली। फिर ग्यारह वर्षकी अवस्थामें पूर्णियाँके जिला-स्कूलमें प्रवेश कराया गया।

विद्याध्ययनकालमें आपकी अभिरुचि आध्यात्मिक ग्रन्थोंके अध्ययन और पूजा-ध्यानकी ओर अधिकाधिक बढ़ती गयी। तुलसीकृत रामायणको ये बड़े ही प्रेमभावसे पढ़ा करते थे।

४ जुलाई १९०४ ई० को आप प्रवेशिका-परीक्षा दे रहे थे। उस दिन अंग्रेजीकी परीक्षा थी । प्रश्नपत्रका प्रथम प्रश्न 'निर्माणकर्ता' शीर्षक पद्यसे लिखकर व्याख्या करना था।

उत्तरका थोड़ा अंश यों था— हम लोगोंका जीवन-मन्दिर अपने प्रतिदिनके सुकर्म वा कुकर्मरूपी ईंटोंसे बनता वा बिगड़ता है। जो जैसा कर्म करता है, उसका वैसा ही जीवन बनता है। इसलिये हम लोगोंको भगवद्भजनरूपी सर्वश्रेष्ठ ईंटोंसे अपने जीवन-मन्दिरकी दीवालका निर्माण करते जाना चाहिये····। समयकी सदुपयोगिता सत्कर्ममें है और ईश्वरभक्ति वा भजनसे श्रेष्ठतर और कोई भी सत्कर्म नहीं है।

इसी प्रकार अध्यात्मपूर्ण हृदयोद्गारोंको अभिव्यक्त करते हुए व्याख्याके अन्तमें आपने लिखा—

देह धरे कर यह फलु भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई॥

यह उत्तर लिखते-लिखते आप भाव-विह्वल हो अपने संवेगका संवरण न कर सके। जैसे नदीका बाँध टूटनेपर जलधारा अबाधगतिसे अग्रसर होती है, वैसे ही आप तीव्र और उत्कट आध्यात्मिक अन्तःप्रेरणासे प्रेरित हो विद्यालय (पूर्णियाँ) का परित्याग कर साधु-संतोंकी खोजमें निकल पड़े।

सत्रह वर्षकी अवस्थामें आप दरियापंथ साधुबाबा रामानन्द स्वामीसे दीक्षित होकर मानस-जप और मानस-ध्यान आदिका अभ्यास करने लगे। बादमें भागलपुरमें आपको परम संत बाबा देवी साहबजीका दिव्य दर्शन हुआ। उनके दर्शन और उपदेशोंसे आपको शान्ति और तृप्तिका बोध हुआ। आपकी सेवा-भक्तिसे प्रसन्न होकर सन् १९१४ ई० में बाबा देवी साहबने आपको नादानुसंधान-सुरत-शब्दयोगकी साधना बतलायी।

वे इन साधनाओंका नित्य नियमित अभ्यास बड़ी निष्ठासे वर्षों एकान्तमें करते रहे। सन् १९३३-३४में अठारह महीनेतक भागलपुरके कुप्पाघाटकी गङ्गा-पुलिनस्थ शान्त सुपावन गुहामें बैठकर आपने दृढ़ ध्यानाभ्यास किया और योगसिद्धि प्राप्त की। इसी पुण्य-स्थलने आज महर्षि मेँहीं आश्रम, कुप्पाघाटके नामसे तीर्थत्व प्राप्त कर लिया है। जहाँ अनेकों नर-नारी एकत्र होकर योग, ज्ञान और भक्तिकी मन्दाकिनीमें अवगाहन कर कल्याणपथके पथिक बन अपना मानव-जीवन कृतार्थ करते हैं। परमहंस मेँहीं महाराजका समय सं० १९४२ से सं० २०४३ तकका माना गया है।

आपने लोगोंके कल्याणके लिये अपनी योगमय साधनाओंके अनुभूत विषयोंको अनेक ग्रन्थोंके रूपमें भी उपनिबद्ध किया है। इनमें 'सत्सङ्ग-योग' मुख्य है। आपके उपदेशोंका सार यह है कि 'जितने तनधारी मनुष्य हैं, सभी प्रभु-भक्ति कर सकते हैं। माया-बद्ध जीव आवागमनके चक्रमें पड़ा रहता है। जीवके सब दुःखका कारण मायामें लिप्त रहना है। इससे छुटकारा पानेके लिये सर्वेश्वरकी भक्ति ही एकमात्र उपाय है।'

मानस-जप, मानस-ध्यान, दृष्टि-साधन और सुरत-शब्दयोगद्वारा सर्वेश्वरकी भक्ति करके अन्धकार, प्रकाश और शब्दके प्राकृतिक तीनों परदोंसे पार जाने और सर्वेश्वरसे एकताका ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पा लेनेका मनुष्यमात्र अधिकारी है। मानवका यह कर्तव्य है कि वह झूठ, चोरी, नशा, हिंसा तथा व्यभिचारसे सर्वथा दूर रहे, सदाचारकी

भित्तिपर ही साधना-भवनका निर्माण किया जा सकता है।

भिन्न-भिन्न काल तथा देशोंमें संतोंके प्रकट होनेके कारण तथा इनके भिन्न-भिन्न नामोंपर इनके अनुयायियोंद्वारा संतमतके भिन्न-भिन्न नामकरण होनेसे संतोंके मतमें पृथक्त्व ज्ञात होता है। परंतु यदि मोटी और बाहरी बातोंको तथा पंथाई-भावोंको हटाकर विचार किया जाय और संतोंके मूल एवं सार विचारोंको ग्रहण किया जाय, तो यही सिद्ध होगा कि सब संतोंका एक ही मत है और वह यही है कि परम प्रभु सर्वेश्वरके निज स्वरूपकी प्राप्तिके बिना परम कल्याण नहीं हो सकता।

इस प्रकार जैसे दूधमें घृत और माताके उपदेशमें संतानका हित भरा रहता है, वैसे ही परमहंसजी महाराजके ज्ञानोपदेशमें मानवका सर्वविध कल्याणकी भावना निहित है। आपके विचार, प्रचार और सिद्धान्तसे किसी भी धर्म, मजहब और सम्प्रदायके सार-सिद्धान्तका खण्डन नहीं होता, वरं आपका दृढ़ सिद्धान्त है कि सभी संत अपने उपदेशोंमें एक स्वरसे ध्यानाभ्यासद्वारा एकमात्र प्रभुकी प्राप्तिका मार्ग प्रशस्त करते हैं।

(शान्ति-संदेश)

बाबा किनाराम अघोरी

काशीसे कुछ दूर बाणगङ्गाके दक्षिण तटपर रामगढ़ नामका एक गाँव है। वहीं विक्रम-संवत् १६८४ के चैत्रमें रघुवंशी क्षत्रिय अकबरके घरमें बाबा किनारामका जन्म हुआ। ये जन्मसे ही बड़े विरक्त, भगवद्भक्त एवं एकान्तप्रिय थे। पाँच वर्षकी अवस्थामें ही ये कंकड़-पत्थर इकट्ठे कर लेते और जल, पुष्प आदि चढ़ाकर उनकी पूजा करते और उनके पास घंटों अकेले बैठे 'हरे राम, सीताराम,राम राम' आदि मन्त्रोंका कीर्तन करते रहते।

नौ वर्षकी अवस्थामें ही इनका विवाह कर दिया गया। इस बन्धनसे इन्हें बड़ी चिन्ता हुई, परंतु धैर्य और उत्साहपूर्वक ये अपने साधनको क्रमशः बढ़ाते रहे। अब ये बहुत कम बोलते और प्रायः एकान्तमें ही रहते।

तेरह वर्षकी अवस्थामें इनके गौनेका दिन नियत हुआ। प्रातःकाल ही प्रस्थानका मुहूर्त था। रात्रिको ये सहसा कह उठे कि वह माई तो पिताके पास पहुँच चुकी। सम्बन्धियों तथा माता-पिताको यह बात बहुत बुरी लगी। उन्होंने इन्हें डाँट-डपट बतलायी, ये चुप हो रहे। सुबह लोग ज्यों ही सज-धजकर चलनेकी तैयारीमें ही थे कि इनकी ससुरालका नाई खबर लेकर आया कि 'कन्याका देहान्त हो गया। अरथी सैदपुर घाटपर लायी गयी है। मृतकके संस्कारके लिये आप लोग तुरंत चलिये।' *तेरे मन कछु और है, कर्ताके कछु और।'* सबके चेहरोंपर उदासी छा गयी, परंतु किनाराम अपनेको संसारके बन्धनसे मुक्त समझकर आनन्दसे मुस्कुरा उठे। अबतक जो लोग इन्हें पागल समझते थे,अब वचनसिद्ध संत समझने लगे। कुछ समय बाद इन्होंने वैराग्यके आवेशमें घरसे निकलकर बलियाके कारों नामक गाँवमें बाबा शिवारामजी वैष्णवकी सेवामें जाकर उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया और फिर गुरुकी आज्ञासे घर लौट आये और अपना सारा समय ईश्वर-भजनमें बिताने लगे। इनकी यह हालत देखकर इनके माता-पिताने इनका दूसरा विवाह करनेका विचार किया। जब इन्हें इस बातका पता चला तो ये फिर चुपकेसे घरसे निकल पड़े और चारों धामों तथा अयोध्या, मथुरा आदि अनेक तीर्थोंका भ्रमण करके बहुत वर्षों बाद अपने गाँव लौटे। यहाँ आकर वे गाँवके दक्षिण, बाणगङ्गाके निकट जंगलमें एक वटवृक्षके नीचे अपना डेरा डालकर ईश्वर-भजन करने लगे।

भजनकी वृद्धिके साथ ही इनका तेज भी बढ़ता गया। साथ ही इनमें एक अजीब आकर्षण था, हजारों यात्री दूर-दूरसे इनके दर्शनार्थ आने लगे। यात्रियोंके लिये जलका कष्ट देखकर इन्होंने एक कुआँ बनवा दिया और उसके चारों ओर एक पक्का बरामदा बनवाया। बरामदेकी छतमें न मिहराब रखी और न कड़ियाँ ही चढ़ायीं, सिर्फ उपलोंसे उसे पटवा दिया। और कहा 'बाबा! तू पक्का हो जा।' इनके कहनेमात्रकी देर थी कि सारी छत पक्की हो गयी। कहा जाता है कि कुएँपर मङ्गलवारको धरना देकर स्नान करने, निर्जल रहने और हवन करनेसे अनेकों तरहके ज्वर छूट जाते हैं। इस कुएँका नाम रामसागर है और इसके पास ही किनेश्वर महादेवका एक मन्दिर है।

अब तीसरी बार ये तीर्थयात्राको निकले। घूमते-घामते ये जूनागढ़ पहुँचे। वहाँके बादशाहने अपने राज्यके समस्त साधुओंसे कोई चमत्कार दिखानेको कहा—अन्यथा ठगनेके अपराधमें कैद करनेकी धमकी दी। जब कोई भी साधु किसी तरहकी अपनी अलौकिक शक्ति न दिखा सका तो सभीको कैदखानेमें डाल दिया गया। सिपाही किनारामजीको भी पकड़कर ले गये। वहाँ साधुओंको चक्की पीसते देखकर इन्होंने कहा कि 'तुम चक्की क्यों चलाते हो, छोड़ दो। यह माई अपने-आप ही चलेगी।' साधु छोड़कर अलग हो गये और चक्कियाँ पूर्ववत् चलती रहीं। यह खबर पाकर बादशाह किनारामजीके चरणोंपर गिर पड़ा और उनसे क्षमाकी प्रार्थना करने लगा। किनारामजीकी आज्ञासे सब साधु छोड़ दिये गये। बादशाहके बहुत आग्रह करनेपर इन्होंने एक पात्र देकर कहा कि जितने साधु यहाँ आवें, उन सबको यह पात्र भरकर खिचड़ी दी जाय। इसके बाद किनारामजी फिर अपनी यात्रापर निकल पड़े।

घूमते-घूमते ये गिरनार पहुँचे, वहाँ एक अघोरी सिद्ध महात्माके उपदेश सुनकर बड़े प्रभावित हुए और इन्होंने उनसे अघोरपन्थकी दीक्षा ले ली।

एक सौ अट्ठाईस वर्षकी अवस्थामें संवत् १८१२ में जब ये अपने गाँवको लौटे तो इन्हें अघोरी देखकर पहले तो गाँवके लोगोंने इनसे बड़ी घृणा की, परंतु इनकी बढ़ी हुई शक्तियोंको देखकर वे इनका पहलेसे भी अधिक सम्मान करने लगे। अघोरपन्थ स्वीकार करनेपर भी ये निरन्तर भगवन्नामोंका कीर्तन करते रहते थे।

अघोर-मतकी रामशाला काशी प्रान्तके रामगढ़ और टाँडामें है। जौनपुर जिलेमें भी कई जगह रामशालाएँ हैं, परंतु सबसे प्रधान रामगढ़वाली ही मानी जाती है। इस सम्प्रदायमें अबतक विजाराम, विश्रामराम आदि अनेकों सिद्ध हो चुके हैं।

बाबा किनारामके कई पद्यात्मक ग्रन्थ मिलते हैं। रामरसाल, रामगीता, रामचपेटा, राममङ्गल आदि ग्रन्थ वैष्णवमतके हैं। अघोरमतके ग्रन्थोंमें केवल 'विवेकसार' नामक ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध है।

इनके जीवनमें बहुतसे अलौकिक चमत्कारोंकी बातें मिलती हैं, जो अनहोनी बात नहीं है। कहते हैं, सं० १८२६ में एक सौ बयालीस वर्षकी अवस्थामें आपने जीवित समाधि ले ली।

योगी चमत्कारिक शक्ति रखते हैं

(डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

उत्तरप्रदेशके गाजीपुर जिलेमें मुरकुडा नामके गाँवमें शौच-संतोष और तपकी मूर्ति एक संत योगी भीखा साहब रहते थे। उनका मकान टूटा-फूटा था। दीवारेंतक पूरी नहीं बनी थीं। विवशता और निर्धनताकी मूर्ति भीखा साहब एक दिन प्रातःकाल घरके पास एक टूटी दीवारपर बैठकर दातून कर रहे थे। इतनेमें एक ग्रामीण व्यक्ति भागा-भागा उनके पास आया और बोला—'भीखा साहब! गजब हो गया। ऐसा आश्चर्य हो गया कि जो न मैंने सुना और न देखा ही। शेरपर सवार····।' इतना कहते-कहते व्यक्तिकी बोलती बंद हो गयी, वह बुरी तरह भयभीत हो गया था।

भीखा साहबने पूछा—कौन शेरपर सवार था? क्या दुर्गाकी तस्वीर तुमने देखी है या रातका कोई सपना? वह व्यक्ति इतना डरा हुआ था कि कुछ भी उच्चारण नहीं कर पा रहा था। योगी भीखा फिर पूछने लगे—'अरे भाई! विस्मयकी कौन-सी बात है? बोलो! क्यों घबड़ा रहे हो? क्या बात है?'

आपसे मिलने एक महात्मा शेरपर चढ़कर आ रहे हैं?

'ओफ! वह अवश्य कोई योगी महात्मा हैं। पहुँचे हुए सच्चे योगी ही इस प्रकारके दिव्य शक्तिसे सम्पन्न होते हैं। वे जो भी सवारी चाहें, अपने योगबलसे प्राप्त कर सकते हैं।' उन्हें अवश्य 'प्राप्ति' नामकी सिद्धि प्राप्त है।

आगन्तुकने विस्मयभरे स्वरमें प्रश्न किया, भीखा साहब! यह प्राप्ति क्या है?

योगी भीखा बोले— 'प्राप्ति' एक सिद्धिका नाम है, इसे प्राप्त कर लेनेपर योगी गुप्त-से-गुप्त वस्तुओंको प्राप्त कर लेते हैं। फिर विचार करने लगे—अवश्य ही उन्हें

'यथाकामावसायित्व' नामक सिद्धि भी प्राप्त हो गयी है, जिसके बलसे वे समूचे विश्वमें चाहे जहाँ पहुँच सकते हैं। वे मेरे यहाँ मुझसे मिलने आ रहे हैं तो मुझे उनका स्वागत करना चाहिये। लेकिन मेरे पास तो कोई सवारी ही नहीं है। क्या करूँ ? किस वाहनसे उनसे मिलने जाऊँ ?

वे सोचते रहे ! विचारोंकी उथल-पुथल मनमें समुद्रके तूफानकी तरह उठ रही थी। आखिरमें आगन्तुकसे बोले—योगीजीके स्वागतके लिये मुझे भी तुरंत चलना चाहिये, मेरे पास कोई सवारी नहीं है, जिसपर चढ़कर जाऊँ। अच्छा, चल दीवार ! तू ही चल। यह टूटी दीवार ही मेरी सवारी बने।'

सचमुच आश्चर्य ही हुआ। दीवार भीखा साहबको लेकर आगे बढ़ चली। अब एक ओर शेरपर चढ़े योगी आ रहे थे, तो दूसरी ओर भक्त भीखाजीकी दीवार चली आ रही थी। समीप आनेपर भीखाजी दीवारसे उतरे और दूसरे योगीको शेरसे उतारा। दोनों बड़े प्रेमसे मिले।

यह था दो पहुँचे हुए सच्चे योगियोंका चमत्कारी मिलन।

× × ×

काशीमें थियोसोफिकल सोसायटीका वार्षिक कन्वेंशन हो रहा था। उसमें प्रवचन करनेके लिये बड़े-बड़े विद्वान् और विचारक आये थे। बस, प्रतिभाओंका जमघट ही समझिये। विवेकवान् श्रोताओंका समुद्र ही उमड़ पड़ा था।

उसका एक कारण था कि प्रवक्ताके रूपमें प्रसिद्ध योगी श्रीकृष्णमूर्ति भी आनेवाले थे। उनको सोसायटीमें अवतारी पुरुष और युग-महात्मा भी माना जाता था।

दुर्भाग्य देखिये, कभी-कभी अच्छे कामोंमें विघ्न-बाधाएँ आकर खड़ी हो जाती हैं। समझमें नहीं आता कि ऐसी कठिनाइयाँ कब क्यों कहाँसे यकायक आकर खड़ी हो जाती हैं। उसी समय बारिश होने लगी। पहले लोगोंने समझा कि मामूली बूँदाबाँदी है, थोड़ी देरमें रुक जायगी। पर उस दिन तो गजब हो गया। बारिश थी कि रुकनेका नाम ही नहीं ले रही थी। शामियाने आदि सभी भीग गये। हवा जोरोंसे चली। मण्डप भी गिरने लगा। सब डावाँडोल हो गया।

इतनेमें एक अजीब घटना घटी। श्रीकृष्णमूर्ति आ गये। उनके आते ही सबने आश्चर्यसे देखा कि वातावरण फिर शान्त-सा हो गया। बारिश कम हो गयी। हवाएँ मौन और शामियाना कमर कसकर खड़ा हो गया। श्रोता फिर यथास्थान बैठ गये। श्रीकृष्णमूर्तिका उपदेश पूर्ण हुआ।

योगियोंके मुखसे परमात्मा ही बोलते हैं। उन्होंने यह चमत्कार किया था। वास्तवमें सच्चे योगीमें अद्भुत दिव्य चमत्कारिक शक्तियाँ निवास करती हैं।

एक जिज्ञासुने प्रश्न किया—भगवन्! योगकी सिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है ?

कृपामूर्ति श्रीकृष्णमूर्ति बोले—इस सम्बन्धमें मुझे पतञ्जलिके ये शब्द याद दिलाने हैं—**'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।'** (१।१४) अर्थात् यह जो योगका अभ्यास है, वह एक दिनमें सिद्ध करनेकी वस्तु नहीं है। जब उसे दीर्घकालतक निरन्तर श्रद्धा और पूरी निष्ठाके साथ किया जाय, तब इसमें दृढ़ स्थिति प्राप्त होती है। साथ ही इस बातका ध्यान रखना पड़ता है कि साधकका साहस एवं धैर्य टूट न जाय।

सचमुच सच्चे योगी,तपस्वी चमत्कारिक कार्योंको करनेकी शक्ति रखते हैं। महर्षि व्यास, योगी वसिष्ठ और तपस्वी विश्वामित्र आदि सब योगियोंके सम्बन्धमें ऐसी चमत्कारी बातें कही जाती हैं। योगी दुर्वासामें तो इतनी शक्ति थी कि उनसे बड़े-बड़े राजा काँपते थे। च्यवन ऋषिने अपने योगबलसे सभी देवोंके आसन हिला दिये थे। नारदजी योगबलसे एक स्थानसे दूसरे स्थानको प्रायः आकाशमार्गसे ही जाया करते हैं। योगसे जीवात्मा परमात्मासे मिलता है। योगीका आत्मा इतना उन्नत हो जाता है कि वह परमात्माके तादात्म्यको प्राप्त कर लेता है। सर्वशक्तिमान्से मिलन हो जानेपर इन चमत्कारिक सिद्धियोंका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। परम तत्त्वतक पहुँचनेके लिये सिद्धियों और चमत्कारोंमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये।

सूर्यकी किरणें सब जगह समान पड़नेपर भी जैसे जल और दर्पणमें प्रकाश अधिक दिखायी देता है, वैसे ही भगवान्का विकास सबके हृदयोंमें समानरूपसे होनेपर भी साधुके हृदयमें उसका विशेष प्रकाश होता है।

—रामकृष्ण परमहंस

योगसे भगवत्प्राप्ति

भगवत्प्राप्तिमें ध्यानयोगकी महिमा

'भगवत्प्राप्तिके साधन' और 'भगवत्प्राप्ति' दोनोंका ही नाम योग है। पहलेमें प्रभुसे मिलनेके उपाय होते हैं और दूसरेमें प्राप्ति—मिलन हो जाता है। उपाय वे ही लोग करते हैं जो भगवान्‌को मानते हैं और जीव-जीवनकी चरम-सिद्धिके लिये उनको प्राप्त करना परम आवश्यक समझते हैं। भगवान्‌को न माननेवाले लोग तो ऐसे योगको अनावश्यक और माननेवालोंको मूर्ख ही बतलाते हैं। अतएव भगवत्प्राप्तिके जितने साधन हैं वे सब भगवान्‌के माननेवालोंके लिये ही हैं। परंतु माननेवालोंमें भी लाभ वे ही उठा सकते हैं जो श्रद्धालु, सतत प्रयत्नशील और संयतेन्द्रिय होते हैं—जो सच्ची लगनसे बिना उकताये सदा सावधान और आलस्य-रहित रहकर नियमपूर्वक साधन करते हैं। आज किसीकी बात सुनकर उत्साह हुआ, कुछ करने लगे, दो-चार दिनके बाद जी ऊब गया, नियमोंको ढीला कर दिया और कुछ दिनों बाद साधन छोड़ बैठे, ऐसे लोगोंको लाभ नहीं होता और इस प्रकार बिना कुछ किये ही सब कुछ चाहनेवाले ऐसे लोग ही निष्फल होकर विद्रोही भी बन जाते हैं। अतएव साधकोंको चाहिये कि वे जिस ध्येयको प्राप्त करना चाहते हैं, उसीमें सच्ची लगनसे लग जायँ। दूसरी ओर ताकने-झाँकनेकी आवश्यकता ही न समझें। तभी उनको पद-पदपर सफलता होगी और ज्यों-ज्यों सफलता होगी, त्यों-ही-त्यों उनका उत्साह भी अधिक-से-अधिक बढ़ता जायगा। शीघ्रता करनी चाहिये, क्योंकि जीवन बहुत ही थोड़ा है।

सबसे पहली बात है मन लगानेकी। जो जिस वस्तुको परम आवश्यक मानकर उसे प्राप्त करना चाहता है, उसके चित्तसे उस वस्तुका चिन्तन स्वाभाविक ही बार-बार होता है। उसके चित्तमें अपने ध्येय पदार्थकी धारणा दृढ़ होती जाती है और आगे चलकर वही धारणा चित्तवृत्तियोंके सर्वथा ध्येयाकार बन जानेपर 'ध्यान'के रूपमें परिणत हो जाती है। जितने कालतक वृत्तियाँ ध्येयाकार रहती हैं, उतने कालकी स्थितिको ध्यान कहा जाता है। ध्यानकी बड़ी महिमा है, भगवान्‌ने श्रीमद्भागवतमें कहा है कि जो पुरुष विषयोंका निरन्तर ध्यान करता है उसका चित्त विषयोंमें फँस जाता है और जो मेरा ध्यान करता है वह मुझमें लीन हो जाता है। भक्तियोग, ज्ञानयोग, राजयोग, लययोग, मन्त्रयोग, हठयोग और निष्काम कर्मयोग किसी-न-किसी रूपमें सभी योगोंमें ध्यानकी आवश्यकता और उपयोगिता है। इस ध्यानसे ही भगवान्‌के स्वरूपमें समाधि और ध्यानसे ही भगवान्‌की प्राप्ति होती है।

योगदर्शनमें ध्यान अष्टाङ्गयोगोंमें सातवाँ है। पहले छहों साधन ध्यानमें सहायक हैं, बल्कि उनके करते-करते ही ध्यानकी योग्यता साधकको प्राप्त होती है, ऐसा भी कहा जा सकता है। अतएव सहायक साधनोंका अवश्य ही सम्पादन करना चाहिये। यहाँ संक्षेपमें ध्यानके सहायक कुछ भावों और कार्योंको लिखा जाता है।

गुरु और शास्त्रवचनोंमें प्रत्यक्षवत् विश्वास, साधनमें तत्परता, इन्द्रियों तथा मनको उनके इच्छित सांसारिक विषयोंसे हटाना, तन-मनसे अहिंसा, सत्य, चोरीका अभाव, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, भगवत्स्तुति-प्रार्थना, एकान्तवास, विषयोंसे विरक्ति, अनावश्यक वस्तुओंका सर्वथा त्याग, अन्न-वस्त्र, स्थान आदि आवश्यक वस्तुओंका भी यथासाध्य कम-से-कम संग्रह, अपने ध्येय-सम्बन्धी ग्रन्थोंके सिवा अन्य ग्रन्थोंका न सुनना, न पढ़ना; ध्येयके गुण, प्रभाव और रहस्यकी बातें सुनना, ध्येयके विरुद्ध कुछ भी न सुनना, न देखना और न करना, घर-परिवारमें ममताका त्याग करना, दुराग्रह न करना, अखबार न पढ़ना, दूरदर्शन तथा चल-चित्र आदि न देखना, सभा-समितियोंसे अलग रहना, प्रसिद्धिसे बचनेकी प्राणपणसे निर्दोष चेष्टा करना, परचर्चा न करना, परदोष न देखना, न चिन्तन करना, न कहना, मधुर-प्रिय बोलना, अनावश्यक न बोलना, यथासाध्य मौन रहना,

भक्तियोगी

ज्ञानयोगी

चित्तको विषाद, अहंकार, ईर्षा, द्वेष, आसक्ति, वैर, अभिमान, व्यर्थ चिन्तन आदि दुष्ट भावोंसे बचाना, मान-सम्मान तथा बड़ाई न चाहना, धन और स्त्रीके संगसे और इनके संगियोंसे भी यथासाध्य अलग रहना (इसी प्रकार स्त्री साधकोंको पुरुष-संसर्गसे अलग रहना चाहिये), ध्येयमें प्रीति उत्पन्न करनेवाले सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करना, अपने इष्टके नाम और मन्त्रका निरन्तर विधिपूर्वक सप्रेम जप करना, बार-बार इष्टके गुण, प्रभाव और रहस्यका चिन्तन करना, उनकी दयालुतापर विश्वास रखना, ध्येयकी प्राप्तिमें दृढ़ निश्चय रखना, साधनके स्थान, वस्त्र, आसन, माला, मूर्ति आदि सामग्रियोंको बिना नहाये न स्वयं स्पर्श करना और न दूसरेको—अपने घरके लोगों-तकको भी किसी भी हालतमें—नहानेपर भी स्पर्श न करने देना, परंतु अपनेको किसीसे ऊँचा न समझना, अभिमान या क्रोधका कभी अङ्कुर भी न आने देना, किसीके स्पर्शसे वे सामग्रियाँ अपवित्र होंगी ऐसा न मानकर साधनके वातावरणमें विकृति होगी ऐसा मानना और दूसरोंको नम्रता, प्रेम, आदर और विनयके साथ अपनी कमजोरी तथा साधनके नियम समझाकर साधनसम्बन्धी स्थान और सामग्री आदिसे उनको पृथक् रखना, न अधिक जागना, न ज्यादा सोना, न अधिक खाना, न निराहार रहना, नशीली चीजें बिलकुल न खाना, मांस-मद्यका सर्वथा त्याग करना, तंबाकू-गाँजा आदि न पीना, उत्तेजक तथा गरम चीजें न खाना, खट्टी चीजें और अधिक मीठा न खाना, उड़द, लाल मिर्च, सरसों, राई, लहसुन, प्याज, गरम मसाले और कटहल, गाजर आदि न खाना, बेल, संतरा, हैं आदिका नियमित सेवन करना, हर किसीके हाथका और हर किसीका अन्न भी न खाना चाहिये। उपर्युक्त बातोंके सिवा नियत स्थानपर, नियत समय, नियत कालतक, नियत आसनपर, नियत आसनसे बैठकर, नियत संख्यामें, नियत इष्ट मन्त्रका जप करते हुए, नियत इष्टस्वरूपके ध्यानका प्रयत्न करना साधकके लिये परम आवश्यक है।

अवस्थाविशेषमें इन सब बातोंमें कुछ परिवर्तन या न्यूनाधिक करनेमें भी आपत्ति नहीं है। परंतु इनकी ओर ध्यान अवश्य रहे। ऐसा करनेसे ध्यान सुगमतासे और शीघ्र फलप्रद होता है।

ध्यानके अनेक प्रकार हैं, साधकको अपने-अपने अधिकार, रुचि और अभ्यासकी सुगमता देखकर किसी भी एक प्रकारसे अभ्यास करना चाहिये। परंतु मनमें इतना निश्चय रखना चाहिये कि सत्य तत्त्व परमात्मा एक ही है। वह एक ही अनेक रूपोंसे अपनेको धृत करवाते हैं। भक्त जिस रूपमें उन्हें पकड़ना चाहे, वे उसी रूपमें पकड़में आ जाते हैं। निर्गुण, निराकार, सगुण, साकार सभी उन्हींके रूप हैं। श्रीविष्णु, शिव, ब्रह्मा, सूर्य, गणेश, शक्ति, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि सभी वे एक ही हैं। मार्गके अनुभव भिन्न-भिन्न होते हुए भी सबके अन्तमें प्राप्त होनेवाला सत्य एक ही है। इसी सत्यके कोटिशः विविध प्रकाश हैं, हम किसी भी प्रकाशका अवलम्बन करके उस मूल प्रकाशको पा सकते हैं, क्योंकि ये सभी प्रकाश न्यूनाधिक शक्तिवाले दीखनेपर भी वस्तुतः उस मूलसत्यसे सर्वथा अभिन्न और सर्वथा पूर्ण ही हैं। वह स्वयं ही विभिन्न प्रकाशोंमें अवतीर्ण होकर अपनेको अपने ही सामने प्रकाशित कर रहे हैं। अतएव विभिन्न साधक उन एक अचिन्त्यशक्ति, अनन्तमहिम, अनन्तकल्याणगुणगण-समन्वित, सच्चिदानन्दघन, सर्वव्यापी, सर्वरूप, स्वप्रकाश, सर्वात्मा, सर्वद्रष्टा, अज, अविनाशी, सर्वज्ञ, सर्वसुहृद्, देशकालातीत, गुणातीत, सर्वसत्-लक्षणसम्पन्न, सदसत्सर्वगुणसम्पन्न, सर्वातीत, सर्वलोकमय और सर्वलोकमहेश्वर भगवान्‌के इस समग्र रूपको या परमभावको समझकर किसी भी भावसे उनका ध्यान करें, अन्तमें सबको वह एक ही नारायण प्राप्त होंगे, जिनकी प्राप्तिका और स्वरूपका वर्णन बुद्धि और मन-वाणीसे सर्वथा अगम्य है।

अतएव साधकोंको न तो अपना इष्टरूप छोड़ना चाहिये और न दूसरेके इष्टको नीचा या अल्प मानना चाहिये। इस प्रकारकी एकत्वबुद्धिसे ध्यानका अभ्यास करनेपर बहुत-से विघ्न सहज ही टल जाते हैं और शीघ्र ही परम सफलता प्राप्त हो सकती है।

ध्यान अभेद या भेद अथवा अद्वैत या द्वैत—इन दोनों भावोंसे किया जाता है। अभेदमें भगवान्‌के ध्यानके निर्गुण निराकार, सगुण निराकार, निर्गुण साकार और सगुण साकार ये चार भेद हैं। इसी प्रकार भेदमें भी भगवान्‌के ध्यानके निर्गुण निराकार, सगुण निराकार, निर्गुण साकार और सगुण साकार ये चार भेद हैं।

अद्वैत या अभेद

निर्गुण निराकार—अनिर्वचनीय अचिन्त्य अवाङ्-मनसगोचर निष्क्रिय शुद्ध ब्रह्म या शुद्ध आत्मा।

सगुण निराकार—अज अविनाशी सर्वलोकमहेश्वर मायापति सृष्टिकर्ता।

निर्गुण साकार—अज अविनाशी गुणातीत मायातीत दिव्य विग्रह भगवान्।

सगुण साकार—अज अविनाशी लीलाविहारी अपनी दिव्य प्रकृतिके साथ खेल करते हुए दिव्य विग्रह भगवान् या विराट् विश्वरूप परमात्मा।

द्वैत या भेद

निर्गुण निराकार—जीवोंपर दया करनेवाले सर्वशक्तिमान् न्यायकारी निर्गुण परमात्मा।

सगुण निराकार—जीव-जगत्का संचालन करनेवाले सर्वलोकमहेश्वर, विश्वरूप, विश्वकर्ता, विश्वभर्ता और विश्वसंचालक प्रभु।

निर्गुण साकार—भक्तोंकी सुधि लेनेके लिये माया-मनुष्यरूपधारी वस्तुतः स्वस्वरूपसे सर्वदा निर्गुण ईश्वर।

सगुण साकार—भक्तोंके साथ लीला करनेवाले समस्त गुणनिधि लीलामय भगवान्।

इनके फिर एक-एकके अनेक रूप हैं। इन सब रूपोंमें एक ही सत्य तत्त्व अनुस्यूत है और वह सबमें सब जगह सब ओरसे सब ही भाँति परिपूर्ण है। बुद्धिमान् भगवत्कृपापात्र साधक अपने-अपने भावोंके अनुसार सब रूपोंको किसी एक रूपमें पर्यवसित कर उसका ध्यान करता है। कोई-कोई अल्पमेधस् साधक अपने इष्टको भिन्न मानकर भी ध्यान करते हैं, परंतु उनका वह ध्येयतत्त्व अल्प और सीमित होनेके कारण उन्हें तात्कालिक फल भी अल्प और सीमित ही मिलता है। जो अल्प और सीमित है वही नाशवान् है, अतएव ऐसे साधक अविनाशी नित्यतत्त्वकी प्राप्तिसे दीर्घकालतक प्रायः वञ्चित ही रह जाते हैं। अवश्य ही यदि उनका इष्ट सात्त्विक हुआ तो उसकी कृपासे कालान्तरमें पुनः साधनमें प्रवृत्त होकर वे चरमतत्त्वकी प्राप्तिके अधिकारी हो जाते हैं, अतएव न करने-वालोंसे तो वे अल्पकी उपासना करनेवाले भी अच्छे ही हैं।

वास्तवमें भगवान्के स्वरूपके सम्बन्धमें कुछ भी लिखना अपनी अल्पज्ञताका परिचय देना मात्र ही है। भगवान्के तत्त्वको स्वयं भगवान् ही जानते हैं। यह कोई भी नहीं कह सकता कि भगवान् ऐसे ही हैं। बहुत दूरकी बात कहनेवाले महान् दार्शनिक भी बहुत इधरकी ही कहते हैं। अतएव किसीकी भी निन्दा न कर भगवान्के शास्त्रवर्णित और संतजनसेवित सभी स्वरूपोंको सम्मानकी दृष्टिसे देखना चाहिये। साधकका भाव ऊँचा होगा तो सर्वान्तर्यामी सर्वद्रष्टा सर्वेश्वर परिपूर्णतम भगवान् उसे अपना ही ध्यान समझेंगे और उसके फलस्वरूप अपने स्वरूपकी प्राप्ति भी उसे करा देंगे।

ध्यानके कुछ प्रकार या विधियाँ जाननेके पहले यह जान लेना आवश्यक है कि ध्यानयोगी साधकके लिये उपयुक्त स्थान, काल और आसन कौन-सा उत्तम है एवं उसे किस आसनसे बैठकर कितने समयतक ध्यानका अभ्यास करना चाहिये।

स्थान—एकान्त हो, पवित्र हो (जहाँ हिंसा, चोरी, मैथुन, छल आदि न होते हों) और जहाँ यज्ञ, तप, पूजन, भजन, स्वाध्याय, भगवच्चर्चा आदि होते हों, परंतु ध्यानके समय जहाँ कोई न हो, एकान्त नदीतट, देवमन्दिर हो, जहाँ शब्दादि न होते हों या उत्तम और सूक्ष्म शब्द होते हों, जो मनोरम और सुन्दर वायुसे सेवित हो, गीला या गरम न हो, जहाँ कंकड़ और गरम बालू न हो, सुपुष्प और धूपादिसे सुगन्धित हो, जहाँ भगवान्के सुन्दर चित्र लगे हों। ऐसा निर्जन स्थान न मिले तो अपने घरमें ही अलग स्वच्छ एकान्त-सा स्थान चुन लेना चाहिये।

काल—ध्यानके लिये सर्वोत्तम समय उषाकाल अथवा रात्रिका अन्तिम प्रहर है, उस समय स्वाभाविक ही बुद्धि सात्त्विक और संस्कारशून्य-सी रहती है। परंतु अन्य समय भी ध्यान किया जा सकता है। हाँ, भोजनके बाद तुरंत ही ध्यान करनेसे प्रायः ध्यान नहीं होता। भूखे पेट ध्यान अच्छा होता है।

आसन—आसन न अधिक ऊँचा हो, न अधिक नीचा हो, पहले कुशासन, उसपर मृगाजिन और उसपर शुद्ध वस्त्र बिछाना चाहिये। ऊनका या केवल नरम कुशोंका आसन भी बिछाया जा सकता है। ऐसे आसनपर पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके बैठना चाहिये।

स्वस्तिक और पद्मासन सबसे उत्तम आसन हैं। इन आसनोंमें कष्ट भी नहीं है और चित्त भी जल्दी समाहित होता है। बार-बार आसन बदलना ठीक नहीं, एक ही आसनसे निश्चल होकर बैठना चाहिये।

समय—प्रतिदिन तीन घंटे ध्यान किया जा सके तो बहुत उत्तम है, नहीं तो कम-से-कम एक घंटे तो ध्यानका अभ्यास अवश्य करना चाहिये। हो सके तो तीन बारमें तीन घंटे कर ले—प्रातःकाल, संध्यासमय और रातको।

ध्यानके समय शरीर, मस्तक और गलेको सीधा रखना चाहिये। रीढ़की हड्डी सीधी रहे। कुबड़ाकर न बैठे। जबतक वृत्ति सर्वथा ध्येयके आकारकी न बने, शरीरका बोध बना रहे और सांसारिक स्फुरणाएँ मनमें उठती रहें, तबतक इष्टमन्त्रका जप करता रहे और बारंबार चित्तको ध्येयमें लगानेकी चेष्टा करता रहे। लय (नींद), विक्षेप, कषाय, रसास्वाद, आलस्य, प्रमाद, दम्भ आदि दोषोंसे बचे रहनेके लिये भी प्रयत्नशील रहे। यह विधि नियमित ध्यानके लिये है। यों साधकको तो सभी समय, सभी क्रियाओंमें चित्तको संसारकी व्यर्थ स्फुरणाओंसे रहित करके अपने इष्टका चिन्तन और ध्यान करना चाहिये। ध्यानके समय आँखें मूँद लेनी चाहिये अथवा नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर रखनी चाहिये।

यहाँ अद्वैत-द्वैत दोनों प्रकारके ध्यानोंके कुछ प्रकारोंका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया जाता है।

अद्वैत (अभेद) ध्यान

१-आँखें मूँदकर या नासिकाके अग्रभागपर दृष्टिको स्थिररूपसे जमाकर साधक चित्तकी ओर देखे और उसमें जो कुछ भी वस्तु प्रतीत हो, उसीको कल्पनामात्र जानकर उसका त्याग कर दे। इस प्रकार चित्तमें स्फुरित प्रत्येक वस्तुका त्याग करते-करते शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी भी सत्ता न रहने दे। सबका अभाव करते-करते कुछ कालमें जब सारे दृश्य-पदार्थ चित्तवृत्तिसे निकल जाते हैं, तब सबके अभावका निश्चय करनेवाली वह एकमात्र वृत्ति रह जाती है, यही शुभ और शुद्ध वृत्ति है और सब दृश्यप्रपञ्चका अभाव करनेके बाद यह स्वयं भी शान्त हो जाती है। फिर त्याग, त्यागी या त्याज्य वस्तु कुछ भी नहीं रह जाता। इसके बाद जो कुछ बच रहता है वही चेतनघन परमात्मा है। वह असीम है, अनन्त है और उसीने सब द्रष्टा और भोक्ता वृत्तियोंको ग्रस लिया है। और अब वह उपाधिहीन अकेला ही सर्वत्र परिपूर्ण हो रहा है। यह 'सर्वत्र'-भाव भी उसीमें कल्पित है। वह तो वही है, उसका न कोई वर्णन कर सकता है और न चिन्तन! इस प्रकार विचारपूर्वक दृश्यप्रपञ्चका अभाव करके, अभाव करनेवाली वृत्तिका भी परमात्मामें लय कर देना चाहिये।

२-आँखें मूँदकर दसों इन्द्रियोंके कार्योंको रोककर साधक मनके द्वारा पुनः-पुनः परमात्माके स्वरूपका मनन करे। जो कुछ भी स्फुरणा मनमें आवे, उसीमें परमात्माका भाव करे, यों करते-करते स्फुरणाएँ बंद हो जायँगी। परंतु सावधान, एक भी स्फुरणा परमात्माके भावसे अछूती न रह जाय और केवल परमात्मा ही बच रहेंगे, उन परमात्माके साथ अपनी एकता कर दे। अर्थात् यदि चित्तमें यह वृत्ति जाग्रत् रहे कि मैं परमात्माका ध्यान कर रहा हूँ तो इस वृत्तिको भी छोड़ दे। यह वृत्ति जब एक परमात्माकी सर्वव्यापक सत्तामें मिल जायगी, तब केवल एक परमात्माका ही बोध रह जायगा।

३-आँखें मूँदकर या नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर ऐसा विचार करे कि जैसे कमरेमें रखे हुए घड़ेका आकाश कमरेसे भिन्न नहीं है और कमरेका आकाश जिस खुले आकाशमें मकान बना है, उससे अलग नहीं है; उस खुले आकाशमें ही सब कमरे बने हैं, उन्हींमेंके एक कमरेमें घड़ा है। अतएव सब जगह केवल वही एक आकाश है, कमरे और घड़ेकी उपाधिसे छोटे-बड़े अनेक आकाश दिखायी देते हैं। घड़ेका आकाश अपनी अल्प सीमाको त्यागकर महान् आकाशमें स्थित होकर, जो उसका वास्तविक नित्य स्वरूप है, यदि उस महान्‌की दृष्टिसे देखे तो उसको पता लगेगा कि सब कुछ उसीमें ही कल्पित और सब कुछमें सत्यरूपसे वही स्थित है। साथ ही कमरे या घड़ेका निर्माण जिस उपादान और निमित्त कारणसे हुआ है, उस उपादान और निमित्त कारणका भी कारण वही आकाश है। क्योंकि पञ्चभूतोंमें सबसे पहला आकाश ही है। इसी प्रकार व्यष्टि शरीरमेंसे अपने मैंपनको निकालकर विश्वरूप भगवान्‌की समष्टिमें स्थिर करे और समष्टिके नेत्रोंसे समस्त विश्वको अपने शरीरसहित उसीमें कल्पित देखे। जैसे यशोदाजीने भगवान्‌के मुखके अंदर विश्व और उस विश्वमें व्रजके एक ग्राममें नन्दजीका घर और उसमें

श्रीबालकृष्णको और हाथमें लकुटिया लिये अपनेको देखा था। इस प्रकार व्यष्टि अहंकारको समष्टिमें लय करके फिर उस समष्टिको भी अचिन्त्य परमात्मामें लय कर दे।

वस्तुतः जड, अनित्य, परिणामी, शून्य, विकारी और सीमित आकाशके साथ चेतन, नित्य, सदा एकरस सच्चिदानन्दघन निर्विकार और असीम पूर्ण परमात्माकी तुलना नहीं हो सकती। यह दृष्टान्त तो केवल समझनेके लिये ही है।

४-आँखें मूँदकर इस प्रकार विचार करे कि इस पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गादि समस्त भुवनोंमें जो कुछ देखने-सुनने या जाननेमें आता है, वह सब एकमात्र परमात्मा ही है। वे ही विश्वरूपमें प्रकाशित हो रहे हैं। यह समस्त जगत् उन्हींसे निकला है, उन्हींमें स्थित है और उन्हींमें लय हो जायगा। यह सृष्टि, स्थिति और संहारकी लीला उनके अपने ही अंदर उन्हींके द्वारा हो रही है। मैं भी उसी लीलाका एक खिलौना मात्र हूँ और जैसे सारी लीला वही हैं, वैसे ही यह खिलौना उनसे भिन्न नहीं है। इस प्रकार विचार करते-करते संसार और संसारके पदार्थोंको एकमात्र परमात्माके स्वरूपमें लीन करके फिर ऐसा निश्चय करनेवाली बुद्धिको भी परमात्मामें विलीन कर दे।

५-आँखें मूँदकर या नासिकाग्रपर स्थिर-दृष्टि रखकर ऐसा निश्चय करे कि—सत्, चित् और आनन्दसे परिपूर्ण एक महान् समुद्र लहराता हुआ चला आ रहा है और मैं बैठा देख रहा हूँ। इतनेमें ही उसने आकर मुझको अपने अंदर ले लिया और मैं उसकी गहराईमें डूब गया तथा डूबते ही गलकर उसमें घुल-मिल गया। अब मेरा अलग अस्तित्व ही नहीं रहा। बस, अब केवल वह चेतन आनन्दका अथाह समुद्र ही रह गया। इस प्रकार अपनेको परमात्मामें विलीन करे।

६-आँखें मूँदकर या नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर ऐसा निश्चय करे कि मैं जो कुछ भी देख-सुन और जान रहा था, यह सब स्वप्न है। यह चन्द्र, सूर्य, दिशा, काल, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, दिन-रात, देश-वेश सब कुछ स्वप्नमें मेरे ही अंदर मेरे ही संकल्पके आधारपर स्थित थे। सब केवल मेरी ही कल्पना थी। अब मैं जग गया हूँ, तब ये सब कुछ नहीं रहे, मैं ही मैं बच रहा हूँ, वह मैं परमात्मासे भिन्न नहीं हूँ, परमात्मा ही अपने संकल्पसे यह 'मैं' बन रहे हैं। उनके सिवा मैं और मेरा स्वप्न यह कुछ भी नहीं है। इस प्रकार विचारद्वारा परमात्मामें चित्तको विलीन कर दे।

७-एकमात्र विज्ञान-आनन्दघन परमात्मा ब्रह्म ही है। उनके सिवा न कोई वस्तु है और न कोई स्थान ही है, जिसमें कोई वस्तु रह सके। केवल एक वही परिपूर्ण है। उनका यह ज्ञान भी उन्हींको है। क्योंकि वे ज्ञानस्वरूप ही हैं। वे सनातन, निर्विकार, असीम, अपार, अनन्त, अकल और अनवेद्य हैं। सब कुछ उन्हींमें कल्पित है या वही सब कुछ हैं। वे ही सत् हैं, वे ही असत् हैं; वे सत् भी नहीं हैं, असत् भी नहीं हैं। वे आनन्दमय हैं, अवर्णनीय हैं, अचिन्त्य हैं, उनका यह अवर्णनीय आनन्दमय स्वरूप भी आनन्दमय है। यह आनन्दस्वरूप पूर्ण है, नित्य है, सनातन है, अज है, अविनाशी है, परम है, चरम है, सत् है, चेतन है, ज्ञानमय है, कूटस्थ है, अचल है, अमल है, अकल है, अनामय है, अनन्त है, शान्त है और आनन्दमय है। बस, वह आनन्द ही आनन्द है। आनन्दके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, जो है सो आनन्द ही है। इस प्रकार ब्रह्मके आनन्दमयत्वकी मूर्ति चित्तमें प्रकट करके अपनेको उसमें विलीन कर दे।

८-शरीरके सभी मर्मस्थानोंकी भिन्न-भिन्न नाडियोंके पृथक्-पृथक् स्थान और कौन-सा वायु कहाँ रहता है तथा क्या करता है, इस शरीरविज्ञानको क्रियारूपमें भलीभाँति जानकर तब आँखें मूँदकर ध्यानके लिये बैठे और ज्योतिर्मय, निर्मल, आकाशवत् सर्वव्यापी, दृढ़, अत्यन्त, अचल, नित्य, आदि-मध्य और अन्तरहित, स्थूल होते हुए भी सूक्ष्म, अवकाशरहित, स्पर्शरहित, चक्षुसे अगोचर, रस और गन्धहीन, अप्रमेय, अनुपम, आनन्दरूप, अजर, सत्य, सदसद्रूप, सर्वकारण, सर्वाधार, विश्वमूर्ति, अमूर्त, अज, अविनाशी, अप्रत्यक्ष और नित्य प्रत्यक्ष, अन्तरस्थ और बहिरस्थ, सब ओर मुख, सब ओर आँखें, सब ओर पैर, सब ओर सिर, सब ओर स्पर्शवाले सर्वव्यापी ब्रह्मका ध्यान करे और वह ब्रह्म मुझसे अभिन्न है, ऐसा अनुभव करे।

९-आँखें मूँदकर अपने अंदर इस प्रकार देखे कि कन्दसे निकले हुए बारह अंगुल नलीवाले चार अंगुल चौड़े, ऊर्ध्वमुख, केशरयुक्त, कर्णिकासमन्वित, प्राणायामद्वारा विकसित आठ दलवाले हृदयकमलपर सब प्राणियोंके हृदयमें

रहनेवाले, पुरुषोत्तम, देवपति, अच्युत, अजन्मा, अविनाशी, सृष्टिकर्ता, विभु, लक्ष्मीपति भगवान् विराजमान हैं। उनकी चारों भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म हैं, भगवान्‌के अङ्ग केयूर और कुण्डल तथा अन्य आभूषणोंसे सुशोभित हैं, उनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है। पद्मोदर-सदृश ओष्ठ हैं। प्रसन्नवदन हैं, मन्द-मन्द निर्मल हँसी हँस रहे हैं, विशुद्ध स्फटिकके समान वर्ण है, पीताम्बर धारण किये हुए हैं और अपने दिव्य प्रकाशसे प्रकाशित हो रहे हैं। इस प्रकार ध्यान करके यह देखे कि मैं उन्हींमें विलीन हो गया। वह परमात्मा मुझसे भिन्न नहीं रहे।

१०-आँखें मूँदकर भीतर इस प्रकार देखे कि प्रकृतिरूपी कर्णिकासे युक्त, अष्ट ऐश्वर्यरूपी दलोंसे शोभित, विद्यारूपी केशर और ज्ञानरूपी नलिकासे समन्वित, बृहत् कन्दसे संलग्न और प्राणायामद्वारा खिला हुआ हृदयमें एक कमल है। उस कमलमें सर्वत्र तेजोमय सर्वतोमुखी शिखाओंसे सुशोभित, जगत्‌के कारण ईश्वररूपी हव्यवाहन वैश्वानर महा अग्नि देहको चरणोंसे लेकर मस्तकतक तप्त करते हुए निर्वात दीपकी तरह निश्चल ज्योति-रूपसे विराजित हैं, उनकी उन ज्योतिर्मय लपटोंमें नीलपद्मके अंदर विद्युत्‌की लताकी भाँति दीप्तिमान पीतवर्ण, विश्वचराचरके कारणरूप वैश्वानररूपी अक्षर देवता परमात्मा स्थित हैं। वह परमात्मा ही मैं हूँ। इस प्रकार निश्चय करे और अपनेको उनमें विलीन कर दे।

११-आँखें मूँदकर अथवा अभ्यास हो जानेपर प्रत्यक्ष सूर्य-मण्डलमें देखे कि दिव्य रथके अंदर पद्मासनपर विश्वात्मा चतुर्मुख परम सुन्दर प्रफुल्ल कमलसदृश मुख-मण्डलवाले हिरण्यवर्ण पुरुष विराजित हैं, उनके केश, मूँछें और नख भी हिरण्यमय हैं। उनका दर्शन पापोंको नष्ट करनेवाला है, वे सब लोगोंको अभय देनेवाले हैं। उनके ललाटकी आभा पद्मके गर्भपत्रके समान लाल है। वे समस्त जगत्‌के प्रकाशक और सब लोगोंके अद्वितीय साक्षी हैं। मुनिजन उनका दर्शन और स्तवन कर रहे हैं। ऐसे भगवान् आदित्यका दर्शन करके यह निश्चय करे कि वह आदित्य मुझसे अभिन्न है। और इस निश्चयके साथ ही अपनेको उनमें चित्तवृत्तिके द्वारा विलीन कर दे।

१२-कर्णिका और केशरसे युक्त अष्टदल हृदय-कमलमें चन्द्रमण्डलके मध्य विराजित गर्भाकार भोक्तारूप अक्षर आत्माको देखे और ऐसा निश्चय करे कि उस आत्मामें मैं ही हूँ और वह आत्मारूप मैं अमृतवर्षा करनेवाली चन्द्रकिरणोंसे घिरा हुआ हूँ, सिरमें स्थित अधोमुखी षोडशदल कमलसे गल-गलकर अमृतकी धाराएँ हजारों प्रकारसे मेरे चारों ओर बह रही हैं। वह अव्यय परमात्मा परब्रह्म मैं ही हूँ।

द्वैत (भेद) ध्यान

योगीश्वर शिवका ध्यान

हिमालयके गौरीशंकर शिखरपर एकान्तमें भगवान् शिव ध्यानस्थ पद्मासनसे विराजित हैं, उनके शरीरके ऊपरका भाग निश्चल सीधा और समुन्नत है। दोनों कंधे बराबर हैं। वे दोनों हाथ अपनी गोदमें रखे हुए हैं, जान पड़ता है मानो कमल खिल गया है। जटाजूट जूड़ाके समान ऊँचा करके सर्पके द्वारा बाँधा हुआ है, दोनों कानोंमें रुद्राक्षमाला है, ओढ़ी हुई काली मृगछालाकी श्यामता नीलकण्ठकी प्रभासे और भी घनीभूत हो रही है। उनके तीनों नेत्र नासिकाके अग्रभागपर स्थिर हैं। नासिकाग्रपर स्थित नीचेकी ओर झुके हुए स्थिर और निःस्पन्द उनके नेत्रोंसे उज्ज्वल ज्योति निकलकर इधर-उधर छिटक रही है। उन्होंने समाधि-अवस्थामें देहके अंदर रहनेवाले वायु-समूहको निरुद्ध कर रखा है, जिसे देखकर जान पड़ता है मानो वे जलपूर्ण और आडम्बररहित बरसनेवाले बादल हैं अथवा तरङ्गहीन प्रशान्त महासागर हैं या निर्वात देशमें स्थित निष्कल ज्योतिर्मय दीपक हैं। ऐसे समाधिस्थित योगीश्वर भगवान् शङ्करका ध्यान करे।

पञ्चमुख महेश्वरका ध्यान

आँखें मूँदकर देखे कि सामने एक सुन्दर कमल है, उस कमलपर भगवान् महेश्वर विराजमान हैं। उनके शरीरकी कान्ति चाँदीके पहाड़के समान श्वेत और सुन्दर है, मस्तकपर चन्द्रमा विराजमान है, रत्नोंके समान उज्ज्वल सब अङ्ग हैं, एक हाथमें कुठार है और शेष तीन हाथोंमें क्रमशः मृगमुद्रा, वरमुद्रा और अभयमुद्रा धारण किये हैं। प्रसन्न पाँच मुख हैं और तीन नेत्र हैं। व्याघ्रका चर्म पहने हुए हैं, चारों ओर देवता स्तुति कर रहे हैं। यही भगवान् महेश जगत्‌के आदि बीजस्वरूप और सब भयोंका नाश करनेवाले हैं।

श्रीभुवनेश्वरी देवीका ध्यान

जिनकी प्रातःकालीन सूर्यकिरणके सदृश देहकान्ति है, जिनके ललाटपर अर्धचन्द्रमुकुट सुशोभित है, जिनका विशाल वक्षःस्थल है, जिनके तीन नेत्र हैं और जो मन्द-मन्द मुस्करा रही हैं, जिनके चारों हाथ, वरमुद्रा, अंकुश, पाश और अभयमुद्रासे शोभित हो रहे हैं, उन श्रीभुवनेश्वरी देवीका ध्यान करना चाहिये।

श्रीजगज्जननी उमाका ध्यान

जिनकी देहकान्ति स्वर्णके समान सुन्दर है, जिनके बायें हाथमें नीलपद्म है और दाहिने हाथमें अत्यन्त श्वेतवर्ण चामर है, उन उमा देवीका ध्यान करना चाहिये।

श्रीविष्णुभगवान्‌का ध्यान

आँखें मूँदकर देखे कि हृदयकमलपर या अपने सामने जमीनसे कुछ ऊँचेपर स्थित एक सहस्रदल-कमलपर भगवान् श्रीविष्णु सुशोभित हैं। आप सब अनुरूप अङ्गोंसे समन्वित हैं, अति शान्त, सुन्दर मुखारविन्द है, आपके विशाल और मनोहर चार लंबी भुजाएँ हैं, ग्रीवा अत्यन्त रमणीय और सुन्दर है, परम सुन्दर कपोल हैं, मुखमण्डल मनोहर मन्द मुसकानसे सुशोभित है। लाल-लाल होंठ और मनोहर नुकीली नासिका है। दोनों कानोंमें मकराकृति कुण्डल चमक रहे हैं। मनोहर सुन्दर चिबुक है। नेत्र कमलके समान विशाल और प्रफुल्लित हैं। मेघश्याम-शरीरपर सुवर्णवर्ण पीताम्बर शोभायमान है। लक्ष्मीजीके निवासस्थान वक्षःस्थलमें श्रीवत्सका चिह्न है। हाथोंमें क्रमशः शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, हृदयमें सुन्दर तुलसीयुक्त वनमाला, रत्नहार, वैजयन्तीमाला और कौस्तुभमणि विभूषित हैं। चरणोंमें रत्नजड़ित बजनेवाले नूपुर हैं और मस्तकपर किरीटमुकुट देदीप्यमान है। ललाटपर मनोहर तिलक है, हाथोंमें रत्नोंके कड़े, कमरमें रत्नजटित करधनी, भुजाओंमें बाजूबंद और हाथकी अंगुलियोंमें रत्नकी अँगूठियाँ सुशोभित हैं। आपके घुँघराले केश बड़े ही मनोहर हैं। चारों ओर प्रकाश छा रहा है और उसमेंसे आनन्दका अपार सागर उमड़ रहा है।

शेषशायी विष्णुभगवान्‌का ध्यान

आँखें मूँदकर देखे कि हृदयदेशमें मानो क्षीर-समुद्र है और उसमें भगवान् अनन्त शेषजीकी कोमल शय्यापर शान्तस्वरूप भगवान् श्रीविष्णु लेटे हुए हैं। अत्यन्त सौम्य और प्रसन्न मुखमण्डल है। नील मेघके समान मनोहर नील वर्ण है। सभी अङ्ग परम सुन्दर हैं और विविध आभूषणोंसे विभूषित हैं। श्रीअङ्गसे दिव्य गन्ध निकल रही है, नाभिमेंसे कमल निकला है, उस कमलपर चतुर्मुख ब्रह्माजी विराजमान हैं। जगज्जननी लक्ष्मीजी बैठी हुई भगवान्‌की चरणसेवा कर रही हैं। ऐसे सम्पूर्ण लोकोंके स्वामीके चरणोंमें मैं प्रणाम करता हूँ और भगवान् प्रसन्न होकर मेरे मस्तकपर अपना वरद हस्त रखते हैं। असंख्य सूर्योंसे बढ़कर आपका प्रकाश, असंख्य चन्द्रमाओंसे बढ़कर शीतलता, असंख्य कामदेवोंको मोहित करनेवाला आपका सौन्दर्य, असंख्य अग्नियोंसे बढ़कर आपका तेज, असंख्य इन्द्र और कुबेरोंसे बढ़कर आपका ऐश्वर्य, असंख्य समुद्रोंसे बढ़कर आपका गाम्भीर्य, असंख्य हरिश्चन्द्र और कर्णसे बढ़कर आपका औदार्य, असंख्य पृथ्वी-मण्डलोंसे बढ़कर आपकी क्षमाशीलता, असंख्य जननियोंसे बढ़कर आपका वात्सल्य और असंख्य प्रियतमोंसे बढ़कर आपका माधुर्य है।(क्रमशः)

मनपर विश्वास न करो !

श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

नित्यं ददाति कामस्यच्छिद्रं तमनु येऽरयः। योगिनः कृतमैत्रस्य पत्युर्जायेव पुंश्चली।

(श्रीमद्भा० ५।६।४)

जैसे व्यभिचारिणी स्त्री अपनेपर विश्वास रखनेवाले पतिको धोखा देती है, वैसे ही मन भी अपनेपर विश्वास रखनेवाले योगीको—अपने अंदर काम और उसके पीछे रहनेवाले क्रोध आदिको अवकाश देकर धोखा देता है।

योगसे भगवत्साक्षात्कार

(पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

सभी शास्त्रोंके अनुसार योगकी एक विशिष्ट सार्वभौम सत्ता है। वह या तो साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही है या उसके समकक्ष है। 'पातञ्जल योगदर्शन' के अनुसार चित्तकी सारी वृत्तियोंको निरुद्ध कर यहाँतक कि ऋतम्भरा प्रज्ञाको भी निरुद्ध करनेपर (योगकी अन्तिम भूमिका) जो निर्विकल्प-समाधि होती है, उसीका नाम योग है। इसीका दूसरा नाम 'निर्बीज-समाधि' भी है, यही चितिशक्ति भी है।

'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।'

(पातञ्जलयोग, कै० पा० ३४)

अर्थात् 'पुरुषार्थसे शून्य हुए गुणोंका अपने कारणमें लीन हो जाना कैवल्य है अथवा चितिशक्तिका अपने स्वरूपमें अवस्थित हो जाना ही कैवल्य है।'

श्री दुर्गासप्तशतीमें भी 'पराशक्ति' का नाम चितिशक्ति ही कहा गया है—

चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद्व्याप्य स्थिता जगत्।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

यह भगवती चितिशक्ति नित्य ही सर्वत्र संसारमें व्याप्त है। यही संसारको उत्पन्न, पालित, संचालित एवं संहृत करती रहती है। सभी प्रकारसे इसीको प्रसन्न कर साधक अभीष्ट सिद्धियोंको प्राप्त कर लेता है, चाहे वह कर्मयोगके द्वारा प्राप्त करे अथवा ज्ञानयोगसे—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

(गीता १८।४६)

इसीलिये भगवद्गीतामें 'योग क्या है?' इसके ज्ञानके विषयमें केवल तीव्र उत्कण्ठामात्र होनेपर भी साधकके लिये शब्द-ब्रह्मसे ऊपर उठ जानेकी बात कही गयी है—

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥

(गीता ६।४४)

यहाँ शब्दब्रह्मका तात्पर्य समस्त वेदराशि और वाचिक शब्दोंके द्वारा प्रतिपाद्य लौकिक साहित्य भी है। योग शब्द वैसे **'युज समाधौ'**, **'युज संयमने'** तथा **'युजिर् योगे'**—इन तीन धातुओंसे बनता है तथापि इसके सार्वभौम होनेसे इसमें आत्मा-परमात्माका योग, सम्पूर्ण विश्वके प्राणि-पदार्थोंका एकत्र संयोग, पूर्ण ब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति एवं विज्ञानघन ज्योतिःस्वरूप विशुद्ध आत्माके पूर्ण साक्षात्कार आदि अर्थ-संदर्भोंमें यह विशेषरूपसे प्रयुक्त होता है।

भारतमें योग-साहित्यपर अपार सामग्री है। योग-चूडामणि, कुलकुण्डलिनी, योगशिखोपनिषद्, अथर्वशीर्षोपनिषद् आदिमें एक क्षणके लिये भी योगमें चित्त लगानेको अर्थात् समाधि-अवस्थामें प्रविष्ट होनेकी स्थितिको सैकड़ों यज्ञोंके अनुष्ठान करनेके तुल्य फलवाला बतलाया गया है—

'क्षणमेकं क्रतुशतस्यापि।'

स्वयं योगदर्शनकारने इस समाधिको धर्मामृतधाराको प्रवाहित करनेवाले 'धर्ममहामेघ' की संज्ञा दी है—

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः। (योगदर्शन ४।२९)

इसी स्थितिको पैंगलोपनिषद् और पञ्चदशीमें भी स्पष्टतया इसी रूपमें संकेतित किया गया है—

ततोऽभ्यासपाटवात् सहस्रशः सदामृतधारा वर्षति ततो योगवित्तमाः समाधिं धर्ममेघं प्राहुः। (पैङ्गलोपनिषद् अ० ३)

भाव यह कि योगाभ्यासकी प्राप्तिके द्वारा यह समाधि हजारों धर्मरूपी धाराएँ प्रवाहित करती है। इसीलिये योगाचार्योंने इस समाधिको 'धर्ममेघ' कहा है। आचार्य विद्यारण्यकी पञ्चदशीमें भी यही बात कही गयी है—

अनादाविह संसारे सञ्चिताः कर्मकोटयः।
अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते॥
धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः *।

---

* इसी प्रकार सांख्यकारिका (२) के 'ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः' की चन्द्रिका, तत्त्वकौमुदी, माठरभाष्य, सारबोधिनी, तत्त्वविभाकर आदि व्याख्याओंमें तथा योगदर्शन (४।७) के 'कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्' के व्यासभाष्य-शांकरविवरण, वाचस्पति, विज्ञानभिक्षु, भोजादि विवृति-वार्तिकोंमें धर्मके चार प्रकार बतलाये गये हैं। (१) कृष्णधर्म, (२) शुक्लकृष्णधर्म, (३) शुक्लधर्म, (४) अशुक्लाकृष्णधर्म। इनमें

वर्षत्येष यतो धर्मामृतधारा सहस्रशः ॥

(पञ्चदशी १ । ५९-६०)

योग-साधना सभी प्रकारके साधकके लिये कल्याणका साधन है। इसलिये मनीषियोंने विचारकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म कोटियोंकी परम्पराको पार करते हुए आत्मदर्शन अर्थात् भगवद्दर्शनकी ही सर्वविध श्रेष्ठता प्रतिपादित की है—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।

(याज्ञवल्क्यस्मृति १ । ७ तथा बृ० योगियाज्ञ० ११ । ३४)

यहाँ विद्वान् टीकाकारोंने 'आत्मदर्शन' का अर्थ स्पष्ट रूपसे परमात्मदर्शन ही किया है—

आराध्यते स्ववर्णोक्तधर्मानुष्ठानकारिणा ।
तस्मात् तत्प्राप्तये यत्नः कर्तव्यः पण्डितैर्नरैः ॥
तत्प्राप्तिहेतुर्ज्ञानं च कर्म चोक्तं महामुने ।
अत्रात्मशब्देन परमात्मैव परिलक्षितः ॥

(अपरादित्यकृत अपरार्क-व्याख्या)

अर्थात् ऐसे सभी स्थलोंपर 'आत्मा' शब्दसे 'परमात्मा' ही परिलक्षित—परिगृहीत होता है। जीवात्मा यहाँ कदापि अभीष्ट नहीं है, क्योंकि वह तो बिना योग-समाधिके ही सबको सदा-सर्वत्र प्राप्त है। अतः—

'आत्मा वारे द्रष्टव्यः ।' (बृहदारण्यको०) तथा **'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'** आदि अधिकारों—प्रकरणोंको देखनेसे परमात्मदर्शनकी ही विधि बतलायी—अनुष्ठित की जाती है।

'तमेतं ब्राह्मणा विविदिषन्ति' से भी परमात्मा ही अभिप्रेत है। इसी भावकी पुष्टि गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भी करते हैं—

तब मैं हृदयँ बिचारा जोग जग्य ब्रत दान।
जा कहुँ करिअ सो पैहउँ धर्म न एहि सम आन ॥
जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥
× × ×
सब साधन कर फल यह सुंदर ॥

—इस आत्मदर्शन-रूप परमात्मदर्शन या साक्षात्कार-प्राप्त विद्वान्को कई वेदज्ञ विद्वानोंके तुल्य बतलाया गया है। इसीलिये परमात्मप्रापक योगकी विशेषता स्थान-स्थानपर अत्यधिक रूपमें दृष्टिगत होती है। धर्मका सार योग है और अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, तप आदि यम-नियम, प्राणायामादि योगका भी सार-सर्वस्व गाढ़ सुस्थिर ध्यान किंवा समाधिद्वारा नित्य सर्वत्र भगवद्दर्शन या परमात्म-साक्षात्कार है, जिसे वेदान्तसार भी कहा जाता है। ऐसी स्थितिमें योगीका स्वतन्त्र मन जहाँ-जहाँ भी जाता है, वहाँ-वहाँ भगवान् ही दीखते हैं, संसार पुनः उसे नहीं दीखता। भक्त योगी प्रह्लादको ऐसा ही होता था।

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः ।

(कुलार्णवतन्त्र)

अनेक जन्मोंकी साधनाके बाद सिद्ध गुरुकी कृपासे शास्त्रोंका तात्पर्य समझकर साधक प्रयत्नसे समस्त इन्द्रियोंको मनके साथ-साथ सर्वथा वशकर ऐसी समाधि या नित्य परमात्मदर्शनका प्रयत्न करता है। 'धर्ममेघसमाधि' से उसके प्राक्तन समस्त दुष्कृत-समूह नष्ट हो जाते हैं और दिव्य ज्ञान-ज्योति नित्य प्रज्वलित होने लगती है। गीतामें भगवान्ने कहा है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।

(४ । ३६-३७)

योगीके पुण्य और पाप दोनों एक साथ ही समाप्त हो जाते हैं। अतः निरन्तर भगवद्दर्शनमें कोई बाधा नहीं होती, मात्र भगवान् ही उसके सामने शेष रह जाते हैं। इसीलिये भयंकर कर्मबन्धनसे मुक्ति एवं संसार-सागरसे संतरणका योग ही एकमात्र उपाय है—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥

(गीता २ । ५०)

दुरात्माओंके तामसी श्रद्धासे सम्पादित धर्म तो कृष्ण हैं, राजसी अश्वमेधादि याज्ञिक हिंसामयी क्रियाएँ शुक्ल-कृष्ण हैं। जप, स्वाध्यायादि धर्म शुक्ल हैं और ध्यान-समाधिजनित शुद्धतम धर्म अशुक्लाकृष्ण — दिव्य धर्म है—

गुणाहेतुका निजानन्दफलिका सम्प्रज्ञातसमाध्यादिरूपाक्रिया अशुक्लाकृष्णो धर्मः ।(सारबोधिनी)

इस प्रकार यहाँ भी ध्यान-समाधिद्वारा किये जानेवाले परमात्मदर्शनको सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

तीव्र योगसाधनामें केवल भगवान् ही दृष्टिगत होते हैं। यह संसार बिलकुल तिरोहित हो जाता है—

एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥

अयोगियोंके एवं कुयोगियोंके लिये परमात्मा रात्रिके समान अन्धकारमय अज्ञातस्थितिमें रहता है, जबकि योगीके लिये संसार ही अज्ञात एवं शून्यवत् रहता है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

(गीता २। ६९)

जब नित्य-निरन्तर युगोंतक ऐसी समाधि या ऐसी यौगिक दृष्टि बनती है तो जीवन्मुक्त योगी सीधे भगवान्‌में प्रविष्ट कर जाता है—

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता १८। ५५)

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

(११। ५४)

इसीको अनेक जन्मोंके द्वारा सिद्धिप्राप्त जीवन्मुक्त योगीके लिये परमोच्च पद-प्राप्तिकी बात कही गयी है—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

(गीता ६। ४५)

यह योगका वास्तविक चमत्कार है। जो इस बातको जान लेता है, वह संसारका सर्वाधिक बुद्धिमान् एवं कृतकृत्य व्यक्ति माना गया है—

एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥

(गीता १५। २०)

मानव-जीवनका सर्वोत्तम लक्ष्य पूर्णयोगकी प्राप्ति है। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥

(२। ५३)

अर्थात् समस्त शास्त्रोंके ज्ञानसे तथा शुद्ध बुद्धिद्वारा चिन्तनपूर्वक विप्रतिपन्न बुद्धि जब समाधि-अवस्थामें व्यवसायात्मिका रूपमें एक परमात्मामें अवस्थित हो जायगी तब पूर्णयोगकी प्राप्ति हो जायगी। श्रीभगवान्‌के इस कथनसे यह सुस्पष्ट है कि योगकी प्राप्तिमें समग्ररूपेण परमात्माकी प्राप्ति परिलक्षित है। किंतु यह योग असावधान, चञ्चलचित्त, प्रमाद, अहंकार आदि दोषोंसे ग्रस्त भोगलिप्सु व्यक्तियोंके लिये सर्वथा दुष्प्राप्य है—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।

(६। ३६)

अतः प्रयत्नशील योगाभ्यासी व्यक्तिको समस्त शास्त्रोंके ज्ञानद्वारा '**शास्त्रयोनित्वात्**'—इस ब्रह्मसूत्रमें निर्दिष्ट लक्षणोंसे युक्त होकर परमात्म-प्राप्तिके लिये पूर्ण प्रयत्नशील होना चाहिये।

यद्यपि मनुष्य चराचरके सभी प्राणियोंमें सर्वाधिक बुद्धिमान् है, वह परिश्रमपूर्वक अपने पूर्वजों, योगसिद्ध ऋषि-महर्षियोंद्वारा निर्दिष्ट तथा योग-साधनाओंसे प्राप्त भगवत्तत्त्व और ज्ञान-तत्त्वको अच्छी तरह जानकर उनकी साधना-विधि आदिको हृदयङ्गम कर लेता है, तथापि वह वासना, तृष्णा आदिपर पूर्ण विजय नहीं प्राप्त कर पाता। काम, क्रोध, लोभ, मोहासक्ति, अभिमान, दम्भ, छल, असत्य, ईर्ष्या, उद्वेग, हर्ष-विषाद एवं रसलोलुपताकी दृष्टि आदि हजारों दोषोंको जीतनेमें समर्थ नहीं हो पाता। वह भजन, कीर्तन आदिकी महत्ताको जानकर भी उसमें नहीं लग पाता। इस प्रकार अच्छी वस्तुओंको जानकर भी उनका आचरण करने एवं बुरी वस्तुओंके परित्यागमें वह योगाभ्यासके बिना असमर्थ रहता है। इसे अयोगित्व या कुयोगित्व कहा जाता है। अयोगी या कुयोगी पुरुषको भगवान्‌का दर्शन नहीं हो पाता—

अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्॥

(श्रीमद्भा० १। ६। २२)

इसीलिये योगसाधक शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदिसे सर्वथा दूर रहता है। उसकी इन्द्रियाँ संयत हो जाती हैं। इससे वह दीर्घकालतक योगसाधन एवं भगवद्भजन-रत रह सकता है। काम, क्रोध, लोभ एवं मोह आदि उसके पास भी नहीं फटकते। शील, विनय, करुणा, समता-मुदिता, सद्बुद्धि, शान्ति तथा सम्यक् ज्ञान उसके बाहर-भीतर सदैव व्याप्त रहते हैं। इस प्रकार वह योगसाधक प्रायः सभी दोषोंपर विजय प्राप्त करता हुआ सारे श्रेष्ठ सद्गुणोंका आकर बन जाता है।

इस प्रकारके योग-साधककी दृष्टिमें सूक्ष्मता आ जाती है। जिससे उसे भूत-भविष्यका ज्ञान होने लगता है। ऐसी स्थितिमें सिद्ध, संत, देवता, मुनि आदि भी उसकी सहायता

करने लग जाते हैं। उसे परमात्मतत्त्वका सम्यक् ज्ञान हो जाता है और तत्पश्चात् सम्पूर्ण विश्वमें सम्यक् ब्रह्मदृष्टि हो जानेपर जीवन्मुक्तिकी अवस्थाको प्राप्त कर वह सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है।

योगदर्शन एवं अन्य योगशास्त्रोंमें योगके दो मुख्य भेद बताये गये हैं। जो पूर्वजन्मसे अभ्यस्त होकर योगसाधनामें प्रवृत्त होते हैं, उनके लिये केवल चित्तमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं और संकल्प, विकल्प, पूर्वापरकी स्मृतियों, एवं विपर्यय-ज्ञान आदिको निरुद्ध कर समाधिमें स्थित होनेका विधान निर्दिष्ट है। दूसरे सामान्य साधकोंके लिये अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, आसनसिद्धि, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान आदिके दीर्घ अभ्यासद्वारा समाधि-प्राप्ति एवं भगवत्साक्षात्कार करनेका विधान है। 'योगवासिष्ठ' ग्रन्थमें प्रायः ३२ हजार श्लोकोंमें केवल ज्ञानके सूक्ष्म विवेचन एवं आत्मानुसंधानद्वारा परमात्म-साक्षात्कारका विधान निरूपित हुआ है। पूर्णयोगकी प्राप्ति और पूर्ण शान्ति, समता, अनुद्वेग तथा नित्य भगवद्भजन एवं साधनामें दृढ़ होनेकी लगन— इन सबमें एक-समान स्थिति होने एवं तदनुरूप आचरण करनेसे योगी कृतार्थ हो जाता है। इस प्रकार सभी शास्त्रोंमें चित्तवृत्तियोंके निरोध और सम्यक्-ब्रह्मदृष्टिपूर्वक पूर्ण शान्तिकी स्थितिके प्राप्त होनेको ही योग कहा गया है। इसीमें सर्वाधिक ज्ञान, दिव्य आनन्द एवं लोकोत्तर सुखोंकी स्थिति निर्दिष्ट है। इन्द्रियोंसे प्राप्त शब्द, स्पर्श, गन्ध, रस आदि सुख अल्प अवधिमें ही दुःखके रूपमें परिणत हो जाते हैं, किंतु योगका सुख निरतिशय, सर्वाधिक दिव्य, अतीन्द्रिय एवं सर्वक्लेशापहारी होता है। इसे एक बार प्राप्त कर लेनेपर साधक फिर इससे कभी अलग नहीं होना चाहता। इसमें साधकको परमात्माका दिव्य संयोग प्राप्त होता है और वह उसे ही संसारका सबसे बड़ा लाभ मानकर उससे लेशमात्र भी विचलित नहीं होना चाहता। संसारके महान्-से-महान् क्लेश भी उसे उस श्रेष्ठ ध्यानयोगसे विचलित नहीं कर पाते। कहा भी गया है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

(गीता ६। २२)

इस प्रकार संसारके सारे क्लेशोंसे वियुक्त और भगवद्भावनासे संयुक्त होना ही योग है। इसे अवश्य जानना चाहिये और पूर्ण मनोयोगपूर्वक इस योगसाधनाका सम्यक् अभ्यास करना चाहिये। इसीसे भगवत्प्राप्ति एवं सर्वोपरि सुखोपलब्धि हो सकती है। मानव-जीवनकी सर्वोपरि सफलता भी इसीमें है। जगत्स्रष्टा ब्रह्मा वृक्ष, जलचर, सरीसृप, पशु-पक्षी आदिकी सृष्टि कर असंतुष्ट ही रहे, क्योंकि वे योगद्वारा परमात्म-साक्षात्कारमें सक्षम नहीं थे। अन्तमें उन्होंने मनुष्यकी रचनाकर जब यह देखा कि यह शास्त्रज्ञान एवं योगद्वारा भगवत्प्राप्ति करनेमें सक्षम है तो वे पूर्ण संतुष्ट हो गये—

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयाऽऽत्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥

(श्रीमद्भा० ११। ९। २८)

अतः प्रत्येक मनुष्यको योगद्वारा भगवान्‌को प्राप्त कर अपनी मानवताको सार्थक बनाना चाहिये।

योगिराजके प्रति

योगिराज! तेरे दर्शनको, भक्त मानते हैं शुभ-स्वर्ग।
उसे परम पुरुषार्थ जान तव परम धाम चाहें बुधवर्ग॥
तेरे पदकी सेवा हे हर! मेरे पद-सेवक-संसर्ग।
हो 'द्विजेन्द्र' पर कृपा-दृष्टि वह, जिससे पावें हम अपवर्ग॥

—श्रीसरयूप्रसादजी शास्त्री 'द्विजेन्द्र'

योगसे भगवत्प्राप्ति

(पं० श्रीमाधव बालशास्त्री दातार)

श्रीकृष्णचन्द्रमें चित्त लगाना ही मुख्य योग है और 'योग' पदका यही मुख्य अर्थ है। पातञ्जलयोगसूत्रमें **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'** अर्थात् चित्तवृत्तियोंके निरोधको 'योग' कहा गया है। श्रीमद्भागवतमें स्वयं श्रीकृष्णने भी अपने प्रिय शिष्य उद्धवको योगका यही अर्थ समझाया है। 'योग' शब्दके जो अन्य अनेक अर्थ हैं, जैसे सन्नहन, उपाय, ध्यान, सङ्गति, युक्ति आदि वे सब भी चित्तवृत्तिके निरोधके बिना होनेवाले नहीं। इसलिये चित्तवृत्तिनिरोध 'योग' शब्दके सभी अर्थोंमें, मणिमाला या पुष्पमालामें सूत्रके समान अनुस्यूत है।

अब प्रश्न यह है कि यह चित्तवृत्तिनिरोध कैसे हो ? अनन्त जन्मोंसे विषयासक्त बना हुआ यह चित्त कहाँ और कैसे निरुद्ध हो सकता है ? प्रत्येक मनुष्य इस बातको जानता है कि विषयमात्र आपत्तियोंका घर है, फिर भी मनुष्य पशुवत् विषयोंके पीछे दिन-रात दौड़ा ही करता है, इसका कारण क्या है ?

उत्तर यह है कि मनुष्य जबतक देहपर आत्माध्यास करता रहेगा, तबतक उसका मन सत्त्वप्रधान होनेपर भी उस मनमें सकल दुःखोंका कारण जो रजोगुण है, बढ़ता ही रहेगा, यह नियम है। वही रजोगुण-प्रधान मन 'यही मेरा भोग्य है' ऐसा संकल्प करता है। उससे **'अहो रूपम्, अहो माधुर्यम्'** इत्याकार-गुणचिन्तन होता है। फलस्वरूप ऐसा भोगाभिनिवेश होता है कि उसका वेग सहा नहीं जाता, अति दुस्सह होता है। यह अवस्था अवश्य ही अविद्यामोहित विवेकहीन मनुष्योंकी ही होती है। रजोगुणके वेगसे मोहित अतएव अजितेन्द्रिय मनुष्य कामके वश हो जाता है। अतः कर्ममात्रको दुःखफलक जाननेपर भी विषय-भोगोंके उपायरूप कर्म ही किया करता है। आजतक मुझे फँसाये हुए हैं और इन्होंने ही मुझे अनन्त योनियोंमें बड़ी निर्दयतासे घुमाया है, अब भी यदि मैं सावधान न हुआ तो आत्मसुखसे हाथ धोना पड़ेगा।'—विषयोंपर इस प्रकार दोषदृष्टि रखनेवाला साधक विषयोंमें आसक्त नहीं होता। विषयके चिन्तनसे होनेवाला विषयविषयक काम विषयनिष्ठ दोषदर्शनसे निवृत्त हो जाता है।

पर मन बड़ा चञ्चल है, उसका निग्रह वायुके निग्रहके समान अत्यन्त दुष्कर है, जैसा कि श्रीअर्जुनने गीतामें कहा है। इसपर प्रभुचरणोंका यही उत्तर है कि—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

अर्थात् मन अभ्यास और वैराग्यसे वशमें हो जाता है।

पर आलम्बरहित मन कैसे स्थिर होगा ? कोई-न-कोई आलम्बन तो अवश्य चाहिये। आलम्बन है सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र भगवान् श्रीकृष्णका चरणारविन्द—

संचिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ॥

(श्रीमद्भा० ३।२८।२१)

'उत्तम प्रकारसे भगवान्के उस चरणकमलका ध्यान करे जो चरणकमल वज्र, अङ्कुश, ध्वजा और कमलके चिह्नोंसे युक्त है तथा जिसने अपने ऊँचे उठे हुए लाल-लाल नखोंकी ज्योत्स्नासे सत्पुरुषोंके हृदयके अन्धकारको दूर कर दिया है।'

यही आलम्बन है। इससे बढ़कर कोई आलम्बन नहीं। इसमें मनोनिरोध करना मनकी परमगति है।

भी बलवान् है, ऐसे मनको जो वशमें करता है, वह देवोंका देव है। यही बात भगवती श्रुतिने भी ठीक ऐसे ही कही है—

मनसो वशे सर्वमिदं बभूव
नान्यस्य मनो वशमन्वियाय।
भीष्मो ही देवः सहसस्सहीयान्।

तथापि शनैः-शनैः दीर्घकालतक निरन्तर सत्कारपूर्वक अभ्यास करनेसे तथा जितासन और जितश्वास होकर श्रीकृष्णचरणोंमें चित्त लगानेके अध्यवसायसे मन श्रीकृष्णचरणोंमें स्थिर हो सकता है।

तात्पर्य, शब्द-स्पर्शादि विषयोंका चिन्तन छोड़कर मनको श्रीकृष्णचिन्तनमें अभ्याससे स्थिर करना ही योग है। सनकादिकोंने इसी योगको कहा है, जैसा कि श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धावेश्यते यथा॥

'मेरे शिष्य सनकादिकोंने इसी योगको कहा है कि जिसमें मन सब तरफसे खींचकर मुझमें लगाया जाता है।' भगवत्प्राप्तिका यही योग है।

योग और भगवान्

यद्यपि मुण्डक, माण्डूक्य, योगशिख, योगकुण्डलिनी और योगतत्त्व आदि उपनिषदों, शिव, लिङ्ग, मार्कण्डेय, विष्णु, भागवत आदि सभी पुराणों, मनु, याज्ञवल्क्य आदि सभी स्मृतियों और भगवद्गीता, गणेशगीता, उत्तरगीता, अनुगीता, ईश्वरगीता, शिवगीता, सूर्यगीता , अष्टावक्रगीता, अवधूतगीता तथा महाभारतके अन्तर्गत वर्णित अनेक गीताओंमें प्रायः योगका ही वर्णन है तथापि सभी योगोंका एकमात्र लक्ष्य नारायणस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति ही है। वे ही परम शिव, सूर्य, शक्ति, गणेश आदि विविध देवताओं एवं योगियोंके नाम-रूपोंमें अभिव्यक्त हैं। इतना ही नहीं, अपितु विशुद्ध योग, अद्वैततत्त्वरूप निर्मल ज्ञान-विज्ञान, परमतत्त्व, निर्गुण-निराकार ब्रह्म, परमात्मा तथा विष्णु आदि नामोंसे वे ही अभिव्यक्त होते हैं।

वे ईश्वर सभी प्राणियोंके द्वारा एकमात्र प्राप्त हैं। श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि तत्त्ववेत्तालोग जिसे विशुद्ध परमतत्त्व, ज्ञानीलोग जिसे विशुद्ध अद्वैत-ज्ञान और वेदान्तीलोग ब्रह्म, योगीलोग परमात्मा और भक्तलोग भगवान् कहते हैं, वही सर्वोपरि तत्त्व है और वह एक ही है।

रुचिभेदके वैचित्र्यसे संसारके प्राणी उन्हें शिव, शक्ति, विष्णु, गणेश आदि रूपोंमें मानकर उनकी उपासना करते हैं। श्रीमद्भागवत (१।२।११)के अनुसार भी एक ही परमतत्त्व नानारूपोंमें भासित है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

भक्तोंने उन सर्वेश्वरको अनेक दिव्य अद्भुत अलौकिक चमत्कारोंका महासमुद्र बतलाया है—

दिव्याद्भुतचमत्कारलीलाकल्लोलवारिधिः।

वे अकारण-करुण एवं करुणाके अनन्त अगाध समुद्र हैं। उनकी ओर लेशमात्र भी प्रवृत्ति होनेपर और उनके गुणोंके प्रति आकर्षण होनेपर प्राणीका परम कल्याण होना आरम्भ हो जाता है। उनसे स्वल्प आत्मीयता हो जानेसे ही उनके सम्मुख शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध तथा मृदु, लवण, मधुर, अम्ल आदि सुखप्रद षट्रस एवं शृंगार, हास्य, वीर, करुण आदि नौ रस सर्वथा फीके लगने लगते हैं। विनयपत्रिका (१६९)में गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने लिखा है—

जो मोहि राम लागते मीठे।
तौ नवरस-षटरस-रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे॥

फिर ऐसे ही अनायास उपासककी प्रवृत्ति योगोन्मुख हो जाती है। वह अन्य वस्तुओंको देखना, उनकी चर्चा करना सर्वथा निरर्थक एवं निस्सार मानने लगता है। उसे केवल भगवच्चर्चा ही रुचिकर लगती है। उसे कहीं अन्य प्रसंगमें रस नहीं मिलता तथा भगवान्के ध्यान, चर्चा, गुणगान आदिसे उसकी तृप्ति भी नहीं होती—

राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥

इस प्रकार धीरे-धीरे उपासकमें सभी शास्त्रोक्त सद्गुण आने लगते हैं। उसकी शुद्ध आराधना एवं निष्कामभक्तिके फलस्वरूप उसे देवता, ऋषि-मुनियों आदिका सहयोग भी प्राप्त हो जाता है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः ।

शनैः-शनैः उस साधकका सर्वथा कल्याण हो जाता है। वैसे संसारके सभी आस्तिक-नास्तिक मनुष्य, पशु-पक्षी आदि प्राणि-वर्ग भी जाने-अनजानेमें अपनी आत्माके रूपमें उनकी ही उपासना करते हैं। परंतु यह वैध योग नहीं है—

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

(गीता ९ । २३)

क्योंकि जैन, बौद्ध, ईसाई, हिन्दू, मुसलमान जिस किसी भी नाम-रूपमें सर्वोपरि तत्त्वका स्मरण करते हैं, उसका वास्तविक स्वरूप जानना परमावश्यक है। उसका ठीक-ठीक साक्षात्कार सर्वोच्च योगके द्वारा ही सम्भव है। यही योगका लक्ष्य या परिणाम भी है। वही योग सच्चा योग है जो तीव्र संवेगसे अनुष्ठित होनेपर परमात्माकी प्राप्ति करा दे। जिस योग या ज्ञान आदि साधनसे परमात्मप्राप्ति न होकर सांसारिक लाभ प्राप्त हो, वह योग नहीं कुयोग है, ज्ञान नहीं अपितु अज्ञान है—

जोगु कुजोगु ग्यानु अग्यानू। जहँ नहिं राम पेम परधानू॥

इसी प्रकारकी बात श्रीमद्भागवतमें भी सुस्पष्ट है—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे
न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् ॥

वह निर्मल ज्ञान भी, जो मोक्षकी प्राप्तिका साक्षात् साधन है, यदि भगवान्‌की भक्तिसे रहित हो तो उसकी उतनी शोभा नहीं होती। फिर जो साधन और सिद्धि दोनों ही दशाओंमें सदा ही अमङ्गलरूप है, वह काम्य कर्म और जो भगवान्‌को अर्पण नहीं किया है ऐसा अहैतुक (निष्काम) कर्म भी कैसे सुशोभित हो सकता है।

सभी युगोंमें—सभी धर्मोंमें परमात्माकी प्राप्तिके लिये लोकोपकारदृष्ट्या अनेकों ग्रन्थ लिखे गये हैं। योग-साधनाके क्रममें समाधितक प्रायः सभीकी साधना समान है। परंतु निरीश्वरवादी दार्शनिक उसका अन्त शून्यमें मानते हैं, जो सर्वथा गलत है। वे शून्यको ही परमतत्त्व मानते हैं। जब कि स्फोटवाद और व्याकरण आदि सभी शास्त्रोंके अनुसार 'तत्त्व' शब्द परमात्माका ही वाचक है और वह परमात्मा निश्चय ही शुद्ध योगियोंपर अनुग्रह करता है। अतः योगसे भगवान्‌की प्राप्ति सर्वथा सुनिश्चित है। विश्वके सभी योग-शास्त्रोंमें सनातन वैदिक धर्मके योगशास्त्र एवं उसमें भी श्रीभगवान्‌के श्रीमुखसे उच्चरित 'गीता' सर्वाधिक उपयोगी एवं योग-साधकोंके लिये कल्पतरु है। योगदर्शन तथा भागवत आदिमें भी निर्विकल्प समाधिके अनन्तर पूर्णरूपसे भगवत्प्राप्तिकी बात निर्दिष्ट हुई है। जैसे ही योगके द्वारा साधकका मन रज-तमसे शून्य होकर विशुद्ध सत्त्व एवं योगयुक्त होता है, उसी समय समस्त कल्याणोंके आकर, निखिल सद्गुणोंके निधान भगवान् उसके बाहर-भीतर प्रत्यक्ष हो जाते हैं, इसे ही कुन्तीने बड़े मधुर शब्दोंमें कहा था—

अथवा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः ॥

अर्थात् जो समाधि-प्राप्त परमहंस निर्मल योगी-मुनियोंको भक्ति-सुख देनेके लिये उनके समक्ष अवतरित होता है, उसके स्वरूपको भला हम मूढ़ स्त्रियाँ कैसे समझें ? किंतु भगवान् तो शबरीके ऐसे ***'अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी ॥'*** आदि कहनेपर तत्काल कहते हैं—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता॥

× × ×

नव महुँ एकउ जिन्ह कें होई। नारि पुरुष सचराचर कोई॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें॥
जोगि बृंद दुर्लभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई॥
मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥

अर्थात् कुन्ती और शबरी आदिको भी योग-ध्यानसे ही भगवान्‌के सम्यक् दर्शन प्राप्त हुए, उन्होंने उनका प्रत्यक्ष दर्शन किया और सर्वथा कृतकृत्य हो गयीं।

इस प्रकार योगविद्या अत्यन्त सहज है और सभी उसके अधिकारी हैं और गीता-रामायणरूपी कल्पवृक्ष एवं भारतीय सत्साहित्यके आश्रयसे एक ही जन्ममें और कम समयमें पूर्ण भगवत्साक्षात्कारका आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। साधकके एक कदम चलनेपर भगवान् तीव्रतम गतिसे उसकी ओर चलकर उसका परम कल्याण कर देते हैं और निर्गुण-सगुण सभी रूपोंमें उसके सम्मुख अपना प्रभाव दिखलाकर उसे परमानन्दरससे परिप्लुत कर देते हैं, यही योगविद्याका चमत्कार है।

गो-सेवासे तत्क्षण योगसिद्धि

प्राचीन भारतीय इतिहास इस बातका साक्षी है कि अल्पकालिक गो-सेवासे ही भगवान् श्रीकृष्णको भगवत्ता, महर्षि गौतम, कपिल, च्यवन, सौभरि तथा महर्षि आपस्तम्ब आदिको परम सिद्धिकी प्राप्ति एवं महाराज दिलीपको रघु-जैसे चक्रवर्ती पुत्रकी और मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामको परब्रह्मत्वकी प्राप्ति हुई थी। इसीके आधारपर सम्पूर्ण विश्वमें गोत्रोंका प्रचलन भी हुआ। महर्षि च्यवन एवं आपस्तम्बने अपना मूल्य लगानेके समय स्वयंको सम्पूर्ण पृथ्वी तथा स्वर्गलोकके सम्पूर्ण साम्राज्यसे भी अधिक मूल्यवान् माना, किंतु जब तत्कालीन नरेशोंद्वारा उनके मूल्यके रूपमें एक गायको उपस्थित किया गया तो वे तत्काल प्रसन्न हो गये। अतः गो-सेवाका महत्त्व अत्यधिक है।

भगवान् महावीर एवं गौतम बुद्धने भी गो-सेवासे ही अहिंसा-धर्मको सिद्ध कर अपने महान् धर्मोंको सम्पूर्ण विश्वमें था। योगसाधनके यम-नियमोंमें अहिंसा प्रथम है। उसकी सिद्धिके लिये दूसरे सभी सत्य, अस्तेय आदि साधन हैं। इस अहिंसाका सीधा सम्बन्ध गो-सेवासे ही है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने भी योगके सारभूत सर्वोत्तम लक्ष्य 'ज्ञानदीपक' की प्राप्तिके लिये सर्वप्रथम गायको ही सर्वोच्च साधन निरूपित किया है—

सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपाँ हृदयँ बस आई॥
जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥
तेइ तृन हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई॥

—इसीका घृत योगज्ञान-दीपकका आधार बनता है। समस्त देवताओंको तृप्त करनेवाला मन्त्रपूत हविष्य गो-दुग्धसे ही तैयार होता है। वस्तुतः गाय तीनों लोकोंको पवित्र करती है। उसके शरीरमें तीनों लोकों, देवताओं और ऋषि-मुनियों-सहित सम्पूर्ण तीर्थोंकी भी स्थिति है। अतः उसकी सेवासे भला ऐसी कौन-सी सिद्धि है, जिसकी प्राप्ति न हो?

बड़े खेदकी बात है कि समस्त धर्मों, पुण्यों, सुख-सम्पत्तिके भण्डार एवं योगके सर्वाधिक सरलतम सुखद साधनस्वरूप इस गो-माताका वर्तमानमें घोर तिरस्कार हो रहा है। इसके परिणाम-स्वरूप देशमें ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्वमें रक्तपात, हिंसा और उपद्रवादिकी भयावह स्थिति उत्पन्न हो गयी है।

वेदोंसे लेकर सभी पुराणों तथा अन्यान्य धर्मशास्त्रोंमें 'धर्म' को 'वृष'का ही रूप माना गया है। परंतु इसका वर्तमान राजनीतिमें कोई स्थान नहीं है। जबकि प्राचीन परम्पराके अनुसार धर्मके बिना राजनीति विधवा मानी गयी है। आज विश्वके समस्त राजनीतिज्ञ धर्मके वास्तविक स्वरूपको न समझकर दिशाविहीन, किंकर्तव्यविमूढ़, हतप्रभ एवं ज्ञान-बुद्धिसे शून्य होकर देश-प्रदेशकी जनभावनाओंके साथ जनताका और अपना भी अहित ही कर रहे हैं। निःसंदेह इसमें विश्वरूप-धर्म और विश्वधारिणी गोमाताकी उपेक्षाके साथ-साथ अनीश्वरवादिता एवं देवता आदिके प्रति अश्रद्धाका भाव ही प्रधान कारण है।

समस्त योगसाधनका फल षड्वर्ग-संयम, मन, बुद्धि एवं आत्माकी परिशुद्धि तथा नित्य पराशान्तिकी प्राप्ति ही कही गयी है और वह गोसेवासे शीघ्र एवं अनायास प्राप्त हो जाती है। शास्त्रोंका यह उद्घोष है कि गाय विशुद्ध एवं अक्षय लक्ष्मीको देनेवाली है। उससे विश्व कल्याण-मङ्गलोंसे सुरभित होता है। गौएँ वेद एवं शुद्ध ज्ञान-विज्ञानकी जननी हैं और पवित्रताओंकी मूलस्रोत और सीमा हैं—

नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च।
नमो ब्रह्मसुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः॥

भारतके ऋषि-मुनि सदासे सभी शास्त्रोंमें गो-सेवा तथा वृषभस्वरूप भगवान् धर्मका संरक्षण ही सार्वभौम सुख-शान्तिका सर्वाधिक सुगम एवं कल्याणकारी उपाय बतलाते रहे हैं। पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे इस बातको जीवनमें उतारकर गोमती-विद्या, गो-सावित्री-स्तोत्र तथा मानसके ज्ञान-दीपक आदि प्रसंगोंका ध्यानसे पठन-मनन कर स्वल्प गो-सेवाद्वारा भी इसका तत्क्षण अनुभव करते हुए अपनेको कृतार्थ करें।

योग-साधनाका मुख्य लक्ष्य—धर्म- संस्थापन एवं विश्वकल्याण

आज विश्व विनाशके कगारपर खड़ा है, भयंकर विश्वयुद्धकी विभीषिकाएँ मुँह बाये खड़ी हैं। अनेक अणु, हाइड्रोजन आदि महाविनाशक बम बनकर प्रहारके लिये तैयार हैं। इसका मूल कारण है विश्वके धारण एवं पालन करनेवाले धर्मका तिरस्कार और परम्परागत भारतीय संस्कृति एवं सदाचारकी परम्पराका उल्लङ्घन। पर यदि देखा जाय तो—**'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।' 'धर्मो धारयते प्रजाः।' 'धर्मो धारयते लोकान्।' 'धारणाद् धर्ममित्याहुः।' 'धर्मो रक्षति रक्षितः।'**—आदि वचनोंके आधारपर विशुद्ध धर्म ही विश्वका धारक है। संसार धर्मपर ही टिका है। किंतु आजका विश्व धर्म तथा ईश्वरका नाम लेना भी मूर्खताकी बात मानता है। ईश्वरको न मानना ही बुद्धिमान् होनेकी कसौटी एवं विद्वत्ताका सर्वोच्च प्रमाणपत्र माना जाता है। फलतः सर्वत्र अशान्ति एवं विद्वेषकी ज्वाला धधक रही है। रुपये, रूबल, येन, डालर आदिके नग्न ताण्डव-नृत्य और उनका अबाध आकर्षण तथा राजनीतिज्ञोंकी पाश्चात्त्य अनुकृतियोंकी विमर्शशून्य परम्परासे आज धर्म, अध्यात्म, योगसाधना एवं सद्विचारोंका महत्त्व नगण्य-सा रह गया है। यह स्थिति वस्तुतः चिन्तनीय है।

भारतके सभी शास्त्र डिण्डिमघोष करते हुए कहते हैं कि 'प्राणीका कल्याण परमात्माकी प्राप्तिसे होता है, धन एवं कामोपभोग-प्राप्तिसे कदापि नहीं।' अतः प्राचीन कालके राजा-महाराजा, राज-पाट एवं भोग-विलास आदिको छोड़कर पैसेको तुच्छ एवं हेय समझकर, वनोंमें आश्रम बनाकर साधु-संतों, ऋषि-मुनियोंके समाश्रयणसे भगवत्प्राप्तिके लिये योग-साधनामें रत होते थे। सार्वभौम शान्ति, दिव्य ज्ञान-विज्ञानकी प्राप्ति, उज्ज्वल आत्माके प्रकाश, अचल समाधि तथा निर्मल एवं धवल बुद्धि कामिनी-काञ्चनादिका सर्वथा दूरसे परित्याग कर विशुद्ध योग-साधनाके द्वारा ही प्राप्त होती है—

'समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।'

आज प्रायः सभी विद्या-संस्थान सदाचार या धर्मज्ञानके प्रति उदासीनसे दीखते हैं। जबकि व्यापक आकाश, वायुमण्डल, धूप और चाँदनी आदिके प्रदाताकी तरह विशुद्ध विद्याके अधिष्ठाता भगवान्‌का द्वार उनके लिये रात-दिन खुला हुआ है—पर उधर झाँकनेका किसीका मन नहीं होता। वास्तवमें धन और कामोपभोग योग, धर्म-सदाचार किमधिकम् समस्त विद्या-बुद्धिका वैसे ही सर्वथा विरोधी तत्त्व है, जैसे आतप हिमका, प्रकाश अन्धकारका, ज्ञान अज्ञानका और पुण्य पापका है। योग और भोग सर्वथा विजातीय हैं, पर आज केवल अर्थकरी विद्या पढ़ायी जाती है। महर्घताकी कोई सीमा नहीं है। इधर लोभ भी सुरसाकी तरह मुँह बाये खड़ा है। न्यायालयमें भी उत्कोच आदि अनैतिक व्यवहारोंका साम्राज्य छा गया है। राजनीतिपर असामाजिक तत्त्वोंका वर्चस्व बढ़ता जा रहा है। प्रायः विविध देशोंके अनेक राष्ट्राध्यक्ष कुछ ही वर्षों बाद मौतके घाट उतार दिये जाते हैं। यह सब योग, धर्म, ईश्वर एवं मानवीय जीवनके मूल्योंकी उपेक्षाका जीता-जागता दुष्परिणाम है।

जगत्‌के गुरुपदपर स्थित भारतने सृष्टिके प्रारम्भसे ही विश्वको त्याग एवं शान्तिका मार्ग दिखलाया था। ऋषियोंने अकिंचन बनकर कामिनी-काञ्चनका दूरसे परित्यागकर शुद्ध योग-साधना और धर्मके पालन तथा ईश्वर-दर्शनके द्वारा श्रद्धा-भक्तिके सहारे विश्वका परम कल्याण किया और उसे सुख-शान्तिका स्थान बनाया था। शास्त्र कहते हैं कि ज्ञान और परमात्मा श्रद्धा, योग, वैराग्यकी साधनाद्वारा ही प्राप्य हैं, धनद्वारा कदापि नहीं—

श्रद्धया धार्यते धर्मो नार्थस्य बहुराशिभिः।
निष्किञ्चना हि ऋषयो श्रद्धावन्तो दिवंगताः॥

तथा—

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है। अत्यल्प श्रद्धा शुद्ध रुचिपूर्वक योग-साधनासे भी वह तत्क्षण प्राप्य है। पर आज तो धन और लौकिक सुखकी ही आवश्यकता है, फिर उपरिनिर्दिष्ट दो विरोधी वस्तुएँ एक ही साथ कैसे प्राप्त हो सकती हैं?

'योग' क्या है? इसे जाननेकी तीव्र उत्कण्ठा होनेमात्रसे

समस्त विद्याओंसहित भगवान् प्राप्त हो जाते हैं तथा इसीसे पूर्णसुख एवं शान्तिकी भी प्राप्ति हो जाती है।

'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।'

बालक ध्रुव सर्वथा अबोध शिशु था। देवर्षि नारदद्वारा उपदिष्ट योग-साधनासे केवल एक सप्ताहमें ही उसे देवता, सिद्ध, मुनि, विद्याधर, यक्ष, किन्नर आदि अन्तरिक्षचारी दिव्य प्राणी, जो सर्वसामान्यको प्रायः नहीं दिखायी देते, स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लग गये थे। पुनः कुछ ही दिनोंमें साक्षात् भगवान् भी प्रकट हो गये। उसने किसी विद्यालयमें प्रवेश भी नहीं किया था। भगवान्‌को देखकर उसके हृदयमें उनकी स्तुति करनेकी उत्कण्ठा हुई। सर्वान्तर्यामी भगवान्‌ने यह जानकर अपने शङ्खके अग्रभागसे उसके कपोलका स्पर्श किया—**'पस्पर्श बालं कृपया कपोले'**। बस क्या था? क्षणभरमें बिजली-सी कौंधी और समस्त वेद-शास्त्र उसे सुस्पष्ट प्रतिभात होने लगे। उसने भगवान्‌की दिव्य स्तुति करते हुए कहा—'अरे यह क्या हो गया? यह मेरे अन्तर्हृदयकी सोयी हुई सारी विद्याएँ कैसे जाग पड़ीं? निश्चय ही निखिल शक्तियोंके केन्द्र जगदीश्वर प्रभु ही मेरे हृदयमें शङ्खके स्पर्शके द्वारा प्रविष्ट होकर यह चमत्कार प्रकट कर रहे हैं। मेरे हृदयमें अपूर्व प्रकाश हो रहा है। समस्त इन्द्रियाँ दिव्य शक्तिसे ओत-प्रोत हो गयीं एवं प्राण भी चमत्कृत हो उठे हैं। यह तो प्रभुका ही चमत्कार है।' वे अत्यन्त भक्ति-भावसे श्रीहरिकी स्तुति करने लगे—

योऽन्तःप्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तां
संजीवयत्यखिलशक्तिधरः स्वधाम्ना।
अन्यांश्च हस्तचरणश्रवणत्वगादीन्
प्राणान्नमो भगवते पुरुषाय तुभ्यम्॥

(श्रीमद्भा० ४।९।६)

'प्रभो! आप सर्वशक्तिसम्पन्न हैं, आप ही मेरे अन्तःकरणमें प्रवेशकर अपने तेजसे मेरी इस सोयी हुई वाणीको सजीव करते हैं तथा हाथ, पैर, कान और त्वचा आदि अन्यान्य इन्द्रियों एवं प्राणोंको भी चेतनता देते हैं। मैं आप अन्तर्यामी भगवान्‌को प्रणाम करता हूँ।'

ध्रुवकी यह कथा सभी इतिहास-पुराणों, काव्य-साहित्य और प्रायः सूर, तुलसी आदिके साहित्यमें भी वर्णित है।

ध्रुवँ अबिचल कबहूँ न टरे।
ध्रुवँ सगलानि जपेउ हरिनाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ॥

अर्थात् ध्रुव भगवत्कृपासे यावज्जीवन सार्वभौम सम्राट् रहे और अन्तमें सर्वोच्च ध्रुवलोकको प्राप्त हुए। वहाँ वे स्थिर हैं। समस्त सप्तर्षिमण्डल उन्हींकी परिक्रमा करता है। पाँच वर्षकी आयुमें ही उन्हें सम्पूर्ण भूमण्डलका साम्राज्य, समस्त योगसिद्धियाँ एवं विद्याएँ भी प्राप्त हो गयीं। इसी प्रकारकी घटनाएँ प्रह्लाद, चन्द्रहास आदि बालकोंके साथ हुई हैं। योग एवं योगिलभ्य भगवान् सबके लिये एक समान हैं।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥

भगवान् अपनी ओर एक पग भी चलनेपर समस्त चमत्कृत-सिद्धियों एवं देवता, सिद्ध, मुनियोंके साथ अपनी पूर्ण तीव्र गतिसे उसकी ओर चल देते हैं। गजेन्द्रने ग्राहग्रस्त होकर ज्यों ही उनकी प्रार्थना की, त्यों ही सर्वदेवमय भगवान् देवता, सिद्ध, मुनियोंके साथ वहाँ पहुँच गये—

एवं गजेन्द्रमुपवर्णितनिर्विशेषं
ब्रह्मादयो विविधलिङ्गभिदाभिमानाः।
नैते यदोपससृपुर्निखिलात्मकत्वात्
तत्राखिलामरमयो हरिराविरासीत्॥

(श्रीमद्भा० ८।३।३०)

(श्रीशुकदेवजी कहते हैं—परीक्षित्!) 'गजेन्द्रने बिना किसी भेदभावके निर्विशेष रूपसे भगवान्‌की स्तुति की थी, इसलिये भिन्न-भिन्न नाम और रूपको अपना स्वरूप माननेवाले ब्रह्मा आदि देवता उसकी रक्षा करनेके लिये नहीं आये। उस समय सर्वात्मा होनेके कारण सर्वदेवस्वरूप स्वयं भगवान् श्रीहरि प्रकट हो गये।'

सर्वलोकाधिपति सर्वेश्वरेश्वर भगवान् श्रीहरिके प्रसन्न होनेपर भला संसारकी कौन-सी वस्तु अप्राप्य रह जायगी?

'तस्मिन् तुष्टे किमप्राप्यं जगतामीश्वरेश्वरे।'

भगवान् भक्तियोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि किसी भी योगसे अति शीघ्र प्राप्त होते हैं। वे परमानन्द-सुधासिन्धु हैं। उनकी ओर तनिक भी अग्रसर होनेपर भक्तको उनके दिव्यातिदिव्य चमत्कार एवं आनन्दका भान होने लगता है।

फिर वह राज्य, धन एवं सांसारिक आनन्दोंको तनिक भी नहीं देख सकता। क्योंकि ये लौकिक, मायिक, क्षणिक, सुखप्रद एवं क्षणान्तरमें घोर नरकादिप्रद दुःखदायी पदार्थ सर्वथा निस्सार हैं। जैसे अमृत-सरोवरको प्राप्तकर कोई भी बुद्धिमान् गंदे गड्ढेके जलको नहीं पी सकता, वैसे ही भगवद्रसरसिक तुच्छ कामिनी-काञ्चनके मायाजालमें लेशमात्र भी आबद्ध नहीं हो सकता। यहाँतक कि जैसे सभी ओरसे जलसे परिपूर्ण सरोवरको प्राप्तकर छोटे-छोटे ताल-तलैयोंकी अपेक्षा व्यक्ति नहीं करता, उसी प्रकार भगवदानन्द-सुधासिन्धुमें निमग्न प्राणीको सांसारिक भोगोंकी कोई भी अपेक्षा नहीं रह जाती।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥

(गीता २। ४६)

रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी॥

धर्म भगवान्‌का हृदय एवं सर्वाधिक मुख्य अङ्ग है। जो उसकी रक्षाके लिये तनिक भी प्रयत्न करता है, उसे सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जो विश्वहितकी चिन्ता करता है, उसका जीवन योगमय एवं सार्थक हो जाता है। भगवान् इसीके लिये अवतार लेते हैं। वे कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता ४। ७-८)

यदा यदेह धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः।
तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः॥

(श्रीमद्भा० ९। २४। ५६)

योगेश्वर श्रीभगवान् साक्षात् योग-विग्रह—'**योगो योगविदां नेता**' हैं। उनके प्रत्येक अङ्ग ही धर्ममय हैं। अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, विश्वप्रेम, बाह्याभ्यन्तर-शुचि, दान, स्वाध्याय, संतोष, ईश्वरप्रणिधान, ध्यान, धारणा, समाधि—ये सब योगके भी अङ्ग हैं और धर्मके भी अङ्ग कहे गये हैं। इनकी साधना ही अपने-आपमें धर्मकी संस्थापना है। इसे सारे देवता, ऋषि-मुनि, स्थावर-जङ्गमात्मक प्राणी भी स्वीकार करते हैं और संसारके सभी धर्म और मजहब भी इसी एक धर्ममें ही आबद्ध हैं। इस प्रकार जितेन्द्रियता तथा अहिंसा-प्रेमके द्वारा प्राणियोंमें परस्पर सद्भावना हो जायगी। पूर्ण अहिंसासे सम्पूर्ण विश्वके समस्त प्राणियोंकी रक्षा होगी और सबपर ईश्वर-भावना हो जायगी, क्योंकि योगी सबकी शुभ कामना ही करता है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। २९-३०)

भाव यह है कि जैसे स्वप्नसे जगा हुआ पुरुष स्वप्नके संसारको अपने अन्तर्गत संकल्पके आधारपर देखता है, वैसे ही वह पुरुष सम्पूर्ण भूतोंको अपने सर्वव्यापी अनन्त चेतन आत्माके अन्तर्गत स्वप्नके आधारपर देखता है। जो पुरुष सम्पूर्ण भूतोंमें सबके आत्मरूप मुझ वासुदेवको ही (व्यापक) देखता है और सम्पूर्ण भूतोंको मुझ वासुदेवके अन्तर्गत देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता है, क्योंकि वह मुझमें एकीभावसे स्थित है।

इस तरह यदि अधिकांश लोग कामनाओं और स्वार्थका परित्यागकर योगी बन जायँ या थोड़े लोग भी शुद्ध योग-साधना करने लग जायँ और योगकी पूर्ण जिज्ञासा हो जाय तो सभी अपने-आप अपने सामनेके विश्वको परमात्मा, संत, सहृदय और पूर्ण सुख, शान्ति, समृद्धिसे बना हुआ देखेंगे। इस प्रकार समग्र विश्वमें सर्वत्र शुद्ध धर्म, परस्पर प्रेम, सर्वत्र कल्याण-भावना, विश्व-बन्धुत्व और दिव्य आनन्दकी स्थापना हो जायगी। आशा है, पाठक इस विश्व-कल्याणरूपी यज्ञके सम्पादन और विशुद्ध योगकी साधनामें तथा स्वयं आत्मकल्याणमें विशेषरूपसे ध्यान देकर प्रयत्न करनेका कष्ट करेंगे।

मैं न राज्य चाहता हूँ, न स्वर्ग चाहता हूँ और न मोक्ष चाहता हूँ। मैं तो केवल दुःखमें पड़े हुए प्राणियोंके दुःखका नाश चाहता हूँ।—महाराज श्रीशिवि

नम्र निवेदन और क्षमा-प्रार्थना

भगवत्कृपासे इस वर्ष 'कल्याण'का विशेषाङ्क 'योगतत्त्वाङ्क' पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत है। पिछले कई वर्षोंसे प्रेमी पाठकोंका यह आग्रह था कि योग-सम्बन्धी सामग्रियाँ 'कल्याण'के विशेषाङ्क-रूपमें उपलब्ध करायी जायँ।

वास्तवमें 'योग' एक व्यापक शब्द है जिसका प्रयोग जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें होता है। व्यावहारिक बोलचालकी भाषामें 'प्रयोग, संयोग, वियोग, नियोग, अधियोग, अतियोग, सुयोग, उद्योग, अभियोग, प्रतियोग, उपयोग' आदि अनेक शब्द योगसे संश्लिष्ट हैं। इसी प्रकार विभिन्न शास्त्रोंमें—जैसे आयुर्वेदमें औषध-योजनाको योग तथा ज्योतिष शास्त्रमें ग्रहोंके योगको भी योग कहा जाता है, इसी प्रकार गणितशास्त्र आदिमें भी योग शब्दका प्रयोग होता आया है। इस तरह देखा जाय तो योगके बिना कोई शास्त्र नहीं है। योगकी व्यापकता यहाँतक है कि वियोग और संयोग—इन दोनोंमें इसकी आवश्यकता है। इस प्रकार भारतीय मनीषियोंने यह अनुभव किया कि योग मानव-जीवनका एक अविच्छिन्न अङ्ग है। योगकी व्यापकता देखते हुए विभिन्न विद्वानोंने योगके विभिन्न अर्थ किये हैं, पर यहाँ हमें योगका जो यथार्थ अर्थ समझना है वह है—'परमात्माके साथ युक्त हो जाना', 'भगवान्‌को यथार्थमें पा लेना', भगवत्प्रेम-रूप अथवा भगवद्रूप हो जाना'। यही जीवका परम ध्येय है। जीव जबतक इस स्थितिमें नहीं पहुँच जाता, तबतक न उसकी तृप्ति होती है और न उसे शान्ति मिलती है और उसका भटकना भी बंद नहीं होता। साथ ही पूर्ण और अखण्ड आनन्दरूप तत्त्वके संयोगकी प्राप्ति भी नहीं हो पाती। इस पूर्णके संयोगका नाम ही योग है। अथवा इसको पानेके लिये जीवका जो सावधान प्रयत्न है, उसका नाम भी योग है। इस प्रकार भगवत्प्राप्तिके साधन और भगवत्प्राप्ति—ये दोनों ही योग हैं। इस पूर्णकी प्राप्तिका प्रयत्न जिस क्रियाके साथ जुड़ता है वही योग बन जाता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, सांख्ययोग, राजयोग, मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग आदि इसीके नाम हैं। पर ये क्रियाएँ तभी योग बनती हैं जब भगवन्मुखी होती हैं। कर्म, ज्ञान, भक्ति, ध्यान, सांख्य, मन्त्र, लय या हठ आदिकी क्रिया यदि भगवदुन्मुखी नहीं है तो वह योग नहीं, कुयोग है, उससे प्रायः पतन ही होता है।

साधन-रूपमें योग, समाधि और एकाग्रता—ये तीनों शब्द प्रायः एक ही अर्थके प्रतिपादक हैं, परंतु समाधिकी सिद्धिके लिये यम-नियमोंके पालनकी विशेष आवश्यकता है। इसके बिना ध्यान और समाधिका सिद्ध होना अत्यन्त कठिन है। झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचारकी वृत्तियोंके नष्ट हुए बिना चित्तका एकाग्र होना कठिन है और चित्त एकाग्र हुए बिना ध्यान और समाधि नहीं हो सकते। वैसे तो संसारका कोई भी व्यावहारिक या पारमार्थिक कार्य चित्तकी एकाग्रताके बिना निष्पन्न नहीं हो सकता। यों तो समाधिकी इच्छावाले पुरुषोंको योगके आठों अङ्गोंका साधन करना चाहिये। किंतु यम और नियमोंका पालन तो अवश्यमेव करना चाहिये। जैसे नींवके बिना मकान नहीं ठहर सकता, वैसे ही यम-नियमोंके पालन किये बिना समाधि या ध्यानका सिद्ध होना असम्भव-सा है। महर्षि पतञ्जलिके अनुसार चित्तवृत्तिका निरोध करके स्वरूपमें प्रतिष्ठित होना योग है। **'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः', 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।'**

सांख्य-मतानुसार पुरुष-प्रकृतिका पृथक्त्व स्थापित कर दोनोंका वियोग करके पुरुषका स्वरूपमें अवस्थित होना योग है—**'पुंप्रकृत्योर्वियोगेऽपि योग इत्यभिधीयते।'**

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार सुख-दुःख, पाप-पुण्य, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वोंसे अतीत होकर समत्व प्राप्त करना योग है—**'समत्वं योग उच्यते।'** इसके साथ ही कर्मकी कुशलताको योग कहा गया है। जिस उपायसे कर्म सहज, सुन्दर, स्वाभाविक रूपमें सिद्ध हो सके, अर्थात् बन्धनका कारण न हो उसीका नाम योग है—**'योगः कर्मसु कौशलम्'**।

योगवासिष्ठमें योग शब्दका अर्थ है 'संसार-सागरसे पार होनेकी युक्ति'। योगद्वारा मनुष्य अपने असली स्वरूप सच्चिदानन्दका अनुभव कर लेता है। परम आत्मामें स्थिति होनेपर उसे परम आनन्दका अनुभव निरन्तर होता रहता है।

विभिन्न साधकोंकी रुचि एवं स्वभावके अनुसार अपने शास्त्रोंमें योगकी साधनप्रक्रियाको विभिन्न स्वरूपोंमें प्रस्तुत किया गया है। प्राचीन ग्रन्थोंमें हठयोग, लययोग और राजयोग आदि योगके अनेक भेद मिलते हैं। इनमें हठयोगी नेति, धौति, वस्ति, कपालभाति, आसन, मुद्रा, त्राटक, प्राणायाम आदि शारीरिक क्रियाओंकी ओर विशेष दृष्टि रखकर देहको स्वस्थ, बलिष्ठ और कार्यशील बनानेकी विशेष चेष्टा करते हैं। लययोगी समस्त कामना, वासना, आसक्ति तथा संकल्प-विकल्पके जालसे मुक्त होकर चित्तकी वृत्ति शून्य बनाकर शान्त-अवस्था प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं। उनका विश्वास है कि नित्य-सिद्ध, स्वयंप्रकाश आत्मतत्त्व शुद्ध और शान्त चित्तमें

स्वयं स्फुरित होता है। राजयोगी देहतत्त्व और मनस्तत्त्व तथा आत्मतत्त्वको सम्यक्‌रूपसे जानकर स्वरूपमें प्रतिष्ठित '**स्वे महिम्न्यवस्थितिः**' होकर इस देहराज्यके, जगद्‌ब्रह्माण्डके स्वामी बनकर भगवदिच्छामें अपनी इच्छाओंको मिलाते हुए मुक्त राजाके समान विराजित होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें योगको मुख्यतः तीन भागोंमें विभक्त किया गया है—कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग। कर्मयोगसे मलका नाश होता है, चित्तकी शुद्धि होती है और हाथोंमें कुशलता आती है। भक्तियोगसे विक्षेप दूर होता है और हृदयका विकास होता है। ज्ञानयोगसे अज्ञानका आवरण हटकर मनकी स्थिरता एवं एकाग्रता निष्पन्न होती है और आत्मज्ञानकी उपलब्धि होती है। ये तीनों ही भगवत्प्राप्तिके पूर्ण साधन हैं।

योगके इन विभिन्न स्वरूपोंमें किसी प्रकारका मतभेद एवं विरोध नहीं रहता, अपितु सामञ्जस्यकी स्थिति रहती है। ये सभी लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये एक दूसरेके सहायक होते हैं।

यौगिक क्रियाओंके अन्तर्गत समाधिकालमें कई प्रकारके विघ्न भी बलपूर्वक आने लगते हैं, जिनकी चर्चा महर्षि पतञ्जलिने योगदर्शनमें की है। व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व—ये नौ चित्तके विक्षेप हैं। यही अन्तराय (विघ्न) कहलाते हैं। ये अन्तराय क्या हैं और इनसे किस प्रकार छुटकारा मिलता है, इस बातको योगमार्गमें प्रवेश करनेसे पहले जानना आवश्यक है।

यौगिक क्रियाओंके निष्पन्न होनेपर तथा इन्द्रिय, अहंकार, मन आदिपर संयम करनेपर अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ और अनुभव प्राप्त होते हैं। अपने यहाँ अष्ट-महासिद्धियोंका विवरण मिलता है, जैसे—(१) अणिमा (अपनेको अणुके सदृश सूक्ष्म बना लेना), (२) महिमा (अपनेको पर्वतके समान विशालकाय बना लेना), (३) लघिमा (अपने शरीरको रूईके समान हलका बना लेना), (४) गरिमा (अपने शरीरको लोहेके पर्वत-जैसा भारी बना लेना), (५) प्राप्ति (चन्द्रमाको अँगुलीके अग्रभागसे छू लेना), (६) प्राकाम्य (सब प्रकारकी इच्छाओंका पूर्ण हो जाना), (७) ईशित्व (सृष्टि उत्पन्न करनेकी शक्ति), (८) वशित्व (सबपर शासन करने तथा पञ्चमहाभूतोंपर विजय प्राप्त कर लेनेकी शक्ति)।

परंतु ये सिद्धियाँ लक्ष्यपर पहुँचनेवाले योगीके लिये विघ्नरूप ही हैं। अतः परम उद्देश्यकी प्राप्तिके लिये इन सिद्धियोंसे भी सावधान ही रहना चाहिये। अर्थात् इनमें फँसना नहीं चाहिये। पर वास्तवमें शास्त्रोक्त ये अष्ट महासिद्धियाँ तो आजकल प्राप्त होनी ही दूभर हो गयी हैं। इसके बदले कुछ स्वार्थी लोग 'योग' शब्दका दुरुपयोग करने लगे हैं। ऐन्द्रजालिक-कौशल (Magic) आदिको योगका अङ्ग माना जाने लगा। मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि क्रियाओंको योगके अन्तर्गत समझा जाने लगा है। जो लोग ताबीज, कवच आदिके द्वारा प्रारब्ध-फलके विपरीत वन्ध्याको पुत्र-प्राप्तिके लिये दवा देते हैं, रोगियोंका रोग दूर करनेकी बात करते हैं तथा योगीकी पोशाक—गेरुआ वस्त्र, विभूति आदि धारणकर अपना प्रभाव जमाकर छल-बल और कौशलसे दूसरोंको ठगते हैं, ऐसे लोग भी आजकल योगी कहे जाते हैं और समाजमें पूजित होते हैं, अतः ऐसे लोगोंसे अत्यन्त सावधान रहनेकी आवश्यकता है।

सच्चे और वास्तविक योगी देह, मन, प्राणको शुद्ध और शान्त करके मूलाधारसे कुण्डलिनीको जाग्रत् कर अपनी अन्तःशक्तिको प्रबुद्ध करते हुए सहस्रारमें स्थित सदाशिव परमात्मासे युक्त हो ज्योतिर्मय देहसे भगवान्‌के साथ आनन्दसमाधिमें विभोर रहते हैं। भगवान्‌की इच्छामें अपनी इच्छाओंको मिलाते हुए जगत्‌का कल्याण करना ही उनका मुख्य उद्देश्य होता है। योग-साधनाका सारतत्त्व यही है कि हमारे अंदर भगवान्‌की अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त प्रेम और शाश्वत आनन्दकी नित्य अनुभूति बनी रहे। हमारी कामना, वासना, आसक्ति, अज्ञानता, हमारे कुसंस्कार, स्वार्थ, आत्मसुखकी स्पृहा, अहंकार और प्रतिष्ठाका मोह उस भगवत्प्राप्तिकी साधनामें बाधा पहुँचाते हैं।

अतः हम जितना ही इन बाधाओंसे मुक्त होंगे, उतना ही हमारे भीतर भगवद्भाव प्रकाशित होगा और हम अपनी साधनामें सफल हो सकेंगे। इन्हीं सब दृष्टियोंसे सर्वसाधारण जनमानसको योगके सारभूत तत्त्वोंसे अवगत करानेके लिये इस वर्ष 'योगतत्त्वाङ्क' आपकी सेवामें प्रस्तुत किया जा रहा है। जिसमें मुख्यरूपसे योगका तात्त्विक विवेचन—योग क्या है? वह कितने रूपोंमें विभक्त है? उसकी साधन-प्रणाली क्या है? किस प्रकार चित्तको शुद्ध एवं शान्त करके समाधि-योगके द्वारा परमात्म-साक्षात्कार किया जा सकता है?—इन सबका विश्लेषण किया गया है; साथ ही इसमें विविध प्रकारके योगों, योगशास्त्रों तथा भारतीय वाङ्मयमें योगकी परम्पराके अनुसार योगसाधनाके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंपर पूर्ण प्रकाश डालनेका प्रयास किया गया है। प्राचीन कालसे अर्वाचीन समयतकके प्रायः प्रमुख योगसिद्ध महात्माओं एवं सत्पुरुषोंकी योगमय

जीवनचर्याओं और साधन-पद्धतियों एवं उपासना-प्रक्रियाओंको भी सचित्र एवं रोचक भाषा-शैलीमें प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया गया है।

इस वर्ष विशेषाङ्कके लिये लेख तो बहुत आये, परंतु 'योगतत्त्वाङ्क' की विषय-सूचीके अनुसार सीमित विषयोंपर ही अधिकतम लेख प्राप्त होते रहे, जिस कारण विषयकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण लेखोंका ही उपयोग अङ्कमें किया जा सका है। आजसे लगभग ५५ वर्ष पूर्व सन् १९३५ में 'कल्याण'के विशेषाङ्कके रूपमें 'योगाङ्क'का प्रकाशन हुआ था, उन दिनों 'कल्याण' की ग्राहक-संख्या सीमित होनेके कारण थोड़े लोग ही उससे लाभान्वित हो सके थे। योग-उपासनाके परम साधक, योगाचार्य, संत, महात्मा और गम्भीर विद्वान् जो उन दिनों उपलब्ध थे, वे आज नहीं रहे और जो आज उपलब्ध हैं, कदाचित् आगेके दिनोंमें उनका भी अभाव हो जाय, अतः विषयकी सर्वाङ्गीणतापर ध्यान रखते हुए जो महत्त्वपूर्ण लेख सम्प्रति प्राप्त हुए, उनसे अतिरिक्त विषयोंपर कतिपय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेख पूर्व-प्रकाशित योगाङ्कसे संगृहीत कर लिये गये हैं, जिससे हमारे पाठकोंको उन विशिष्ट विद्वानों, योगाचार्यों और संत-महात्माओंके विचारों और अनुभवोंका भी लाभ प्राप्त हो सके।

'योगतत्त्वाङ्क'की अधिकतम सामग्रीको विशेषाङ्कमें समाहित करनेकी दृष्टिसे हम यह चाहते थे कि इस वर्ष विशेषाङ्ककी पृष्ठ-संख्या तथा चित्रोंकी संख्या बढ़ायी जाय, परंतु महँगाईकी अनवरत अप्रत्याशित वृद्धिके कारण यह सम्भव नहीं हो सका, बल्कि घाटेकी राशिको कम करनेकी दृष्टिसे न्यासमण्डलको 'कल्याण'के वार्षिक शुल्कमें वृद्धि भी करनी पड़ी है। इन सभी परिस्थितियोंके होते हुए भी भगवान् योगेश्वरकी कृपासे विशेषाङ्कमें यथासाध्य योगसे सम्बन्धित सम्पूर्ण सभी विषयोंके समायोजन करनेका प्रयास किया गया है। साथ ही विषय और सामग्रीकी अधिकताको ध्यानमें रखते हुए दूसरे और तीसरे मासका अङ्क भी परिशिष्टाङ्क-रूपमें विशेषाङ्कके साथ दिया जा रहा है।

अब हम सर्वप्रथम 'कल्याण'को अपनी गौरवमयी परम्परामें विकसित तथा प्रतिष्ठापित करनेवाले 'कल्याण'के आदिसम्पादक नित्यलीलालीन परमपूज्य भाईजी श्रीहनुमान-प्रसादजी पोद्दार तथा उनके समकालीन विद्वान् लेखकों (जो आज हमारे बीच नहीं हैं) के पादपद्मोंपर अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करते हैं, जिनकी शक्तिसे समन्वित होकर ही आज हम 'योगतत्त्वाङ्क'-जैसे साधनोपयोगी महत्त्वपूर्ण विशेषाङ्कको आप सब महानुभावोंके समक्ष प्रस्तुत करनेमें समर्थ हो सके हैं।

हम अपने उन सभी पूज्य आचार्यों, परम सम्मान्य पवित्र-हृदय संत-महात्माओं, आदरणीय विद्वान् लेखक महानुभावोंके श्रीचरणोंमें श्रद्धा-भक्तिसहित प्रणाम करते हैं, जिन्होंने विशेषाङ्ककी पूर्णतामें किंचित् भी योगदान किया है। सद्विचारोंके प्रचार-प्रसारमें वे ही मुख्य निमित्त भी हैं, क्योंकि उन्हींके सद्भावपूर्ण उच्च विचारयुक्त लेखोंसे 'कल्याण' को सदा शक्तिस्रोत प्राप्त होता रहता है।

हम अपने विभागके तथा प्रेसके अपने उन सभी सम्मान्य साथी और सहयोगियोंको भी प्रणाम करते हैं, जिनके स्नेहभरे सहयोगसे यह पवित्र कार्य अबतक सम्पन्न हो सका है। हम अपनी त्रुटियों और व्यवहार-दोषके लिये इन सबसे क्षमाप्रार्थी हैं।

'योगतत्त्वाङ्क'के सम्पादनमें जिन योगाचार्यों, भक्तों, संतों और विद्वान् लेखकोंसे हमें सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ है, उन्हें हम अपने मानस-पटलसे विस्मृत नहीं कर सकते। इस अङ्कके सम्पादनमें अपने सम्पादकीय विभागके वयोवृद्ध विद्वान् पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा तथा कुछ अन्य सहयोगियोंके अथक परिश्रमसे ही गम्भीर शास्त्रीय विषयोंका विवेचन करनेवाला यह 'विशेषाङ्क' इस रूपमें प्रस्तुत हो सका है। इसके सम्पादन, प्रूफ-संशोधन, चित्रनिर्माण आदि कार्योंमें जिन-जिन लोगोंसे हमें सहायता मिली है, वे सभी हमारे अपने हैं, उन्हें धन्यवाद देकर हम उनके महत्त्वको घटाना नहीं चाहते।

वास्तवमें 'कल्याण'का कार्य भगवान्का कार्य है। अपना कार्य भगवान् स्वयं करते हैं। हम तो केवल निमित्त मात्र हैं। इस बार 'योगतत्त्वाङ्क'के सम्पादनकार्यके अन्तर्गत योगेश्वर परमात्मप्रभुके चिन्तन, मनन एवं स्मरणका सौभाग्य निरन्तर प्राप्त होता रहा, यह हमारे लिये विशेष महत्त्वकी बात थी। हमें आशा है, इस विशेषाङ्कके पठन-पाठनसे हमारे सहृदय पाठकोंको भी इस पवित्र संयोगका लाभ अवश्य प्राप्त होगा।

अन्तमें हम अपनी त्रुटियोंके लिये आप सबसे क्षमा-प्रार्थना करते हुए दीनवत्सल अकारणकरुणावरुणालय योगेश्वर भगवान् आशुतोषके श्रीचरणोंमें नमन करते हुए यह प्रार्थना करते हैं—

कर्पूरगौरं करुणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्रहारम्।
सदा वसन्तं हृदयारविन्दे भवं भवानीसहितं नमामि॥

—राधेश्याम खेमका
सम्पादक

जीवनके उत्कर्ष-हेतु गीताप्रेसका सत्साहित्य मँगाकर पढ़िये

यदि आप अपनी सब प्रकारकी उन्नति सहित मनुष्य-जीवनके एकमात्र लक्ष्य और परम प्राप्तव्य—'भगवत्प्राप्ति' या 'आत्मकल्याण'की ओर अग्रसरित होना चाहते हैं तो कृपया गीताप्रेस, गोरखपुरका लोक-परलोक-सुधारक आध्यात्मिक साहित्य अवश्य पढ़ें। इन सस्ती, सचित्र, शुद्ध और आत्मकल्याणकारी पुस्तकोंको आप अपने लिये अथवा दूसरोंके वितरणार्थ मँगाकर सत्साहित्यके प्रचार-प्रसारमें सहयोगी बन सकते हैं। एतदर्थ कृपया निम्नलिखितको एकबार ध्यानपूर्वक अवश्य पढ़नेका कष्ट करें। सम्भवतः इन पुस्तकोंके मँगानेकी सदिच्छा अथवा सत्साहित्यके प्रचारका शुभ संकल्प कभी भगवत्कृपासे सहज उदय होकर आपकी आवश्यकता बन जाय।

ध्यान देने योग्य बातें—

(१) पुस्तकोंका आर्डर देते समय पत्रमें नाम, पता, डाकघर, जिला आदि पिनकोड नंबरसहित देवनागरी या अंग्रेजीमें बहुत स्वच्छ तथा सुवाच्य अक्षरोंमें लिखना चाहिये, जिससे पत्रोत्तरमें तथा पुस्तकें भेजनेमें भूल न हो।

(२) हमारे यहाँ श्रीमद्भगवद्गीता, रामायण और श्रीमद्भागवत आदि कई आकार-प्रकारकी मिलती हैं, अतः जो मँगानी हो उसका नाम तथा दाम स्पष्ट लिखना चाहिये।

(३) आजकल डाक-खर्च बहुत बढ़ गया है। जिस जगह रेलवे-स्टेशन निकट हो वहाँ पुस्तकें रेल-पार्सलसे मँगानेमें सुविधा हो सकती है। अतः अपने रेलवे-स्टेशनका नाम अवश्य लिखना चाहिये।

(४) पुस्तकोंके वजनके अनुसार, सुविधा देखकर माल डाकसे या रेल-पार्सलद्वारा भेजा जा सकता है। अधिक पुस्तकें रेलद्वारा मँगवानेसे आप भारी डाक-खर्चसे बच सकतें हैं। अतः पुस्तकोंका बड़ा आर्डर भेजनेवाले सज्जन रेलवे-स्टेशनका नाम कृपया स्पष्ट लिखें।

(५) पुस्तकोंके आर्डरके साथ ही आधी रकम मनीआर्डरसे अग्रिम (पेशगी) भेजनी चाहिये, जिससे व्यर्थके पत्र-व्यवहारसे बचा जा सके।

(६) हमारी पुस्तकें सस्ती होनेके कारण मूल्य कम और उनपर डाकखर्च बहुत अधिक लगता है; अतः पुस्तकोंका आर्डर देनेके बाद जब आपकी सेवामें पुस्तकें पहुँचें तब अवश्य छुड़ा लेनेकी कृपा करें। पुस्तकें लेना अस्वीकार कर देनेसे डाक-व्ययकी व्यर्थ हानि होती है। अतएव आर्डर देनेके पूर्व सोच-विचारकर आर्डर दें तो बड़ी कृपा होगी।

(७) रजिस्टर्ड-पोस्टसे पुस्तकें मँगानेवाले सज्जनोंको पुस्तकोंके मूल्यके साथमें ५ पैसे प्रति रुपया पैकिंग-खर्च तथा ६.०० रजिस्ट्री-खर्च एवं पुस्तकोंके वजनके अनुसार डाकखर्चसहित कुल लागत पहले भेजनी चाहिये। पुस्तकोंका वजन प्रेसके सूचीपत्रमें दिया हुआ है।

(८) डाकद्वारा पुस्तकें मँगानेके लिये आगे पुस्तक-तालिकामें दी हुई बड़ी पुस्तकोंके मूल्यके सामने डाकखर्च रजिस्ट्री-खर्च ६.०० (छः रुपये) जोड़कर ही लिखा गया है। एकसे अधिक पुस्तकें मँगानेपर ५ किलोग्राम वजनतक एक ही जगह रजिस्ट्री-खर्च लगेगा। ५ किलोग्रामसे अधिक वजनकी पुस्तकोंपर प्रति ५ किलोपर ६.०० (छः रुपये) रजिस्ट्री-खर्च अधिक लगेगा। यह ध्यान रखना चाहिये।

(९) प्रचार-प्रोत्साहन हेतु कम-से-कम ५००.०० (पाँच सौ) रुपयेकी पुस्तकें एक साथ मँगानेपर निर्धारित कमीशनके अतिरिक्त रेल भाड़ेकी छूट भी दी जाती है।

(१०) आर्डर प्राप्त होनेपर तथा उसकी प्राप्ति-स्वीकृति-सूचना देनेपर भी उसका पूरा माल भेजनेकी बाध्यता नहीं है। उक्त आर्डरसे जितना माल भेजना सम्भव होगा उतना ही भेजकर शेष आर्डर कैंसिल किया जा सकता है। आर्डरकी पुस्तकें स्टाकमें तैयार न रहनेपर माल भेजनेमें विलम्ब भी हो सकता है। भेजा हुआ माल रास्तेकी गड़बड़ी आदि किसी भी कारणसे न मिलने अथवा विलम्बसे मिलनेकी दशामें हमारी कोई जिम्मेदारी न होगी।

(११) भेजा हुआ माल वापस लेनेका नियम नहीं है।

(१२) 'कल्याण' या उसके विशेषाङ्कोंके साथमें नियमानुसार पुस्तकें नहीं भेजी जा सकतीं। अतएव पुस्तकोंके लिये 'गीताप्रेस'-पुस्तक-विक्रय-विभागके पतेपर और 'कल्याण'के लिये 'कल्याण'-कार्यालय, पो० गीताप्रेसके पतेपर अलग-अलग आर्डर भेजना चाहिये। सुविधा तथा शीघ्रताकी दृष्टिसे इसी प्रकार तत्सम्बन्धी राशि भी सम्बन्धित विभागोंको अलग-अलग भेजना ही उचित है।

(१३) प्रेसकी पुस्तकोंकी तथा 'कल्याण'की एजेन्सी किसीको भी देनेका नियम नहीं है, अतः इसके लिये कोई पत्र-व्यवहार कृपया न करें।

(१४) पुस्तकोंका आर्डर देनेके पहले अपने गाँव या निकटवर्ती शहरके पुस्तक-विक्रेतासे उन्हें माँगना उचित है। इससे आपको समय तथा धनकी बचत हो सकती है। पुस्तक-विक्रेताओं और सामान्य ग्राहकोंकी सुविधाके लिये खास-खास स्थानोंपर गीताप्रेसकी निजी दुकानें हैं, जिनपर पुस्तकोंका पर्याप्त स्टाक रहता है। अतः यथासम्भव अपनी आवश्यकताकी पुस्तकें अपने निकटवर्ती इन प्रतिष्ठानों अथवा स्थानीय अन्य पुस्तक-विक्रेताओंसे ही मँगानी चाहिये।

गीताप्रेसकी निजी दुकानें तथा स्टेशन-स्टाल

(१) **कलकत्ता**—पिन ७००००७— गोविन्दभवन-कार्यालय, १५१, महात्मा गाँधी रोड, फोन-नं० ३८६८९४,३८०२५१

(२) **दिल्ली**—पिन ११०००६— गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दुकान, २६०९, नयी सड़क, फोन-नं० ३२६९६७८

(३) **पटना**—पिन ८००००४— गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दुकान, अशोक राजपथ, बड़े अस्पतालके सदर फाटकके सामने।

(४) **कानपुर**—पिन २०८००१— गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दुकान, नं० २४/२५, बिरहाना रोड, फोन-नं० २५२३५१

(५) **वाराणसी**—पिन २२१००१— गीताप्रेस, कागज-एजेन्सी, ५९/९, नीचीबाग, फोन-नं० ६३०५०

(६) **हरिद्वार**—पिन २४९४०१— गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दुकान, सब्जीमण्डी, मोतीबाजार

(७) **ऋषिकेश**—पिन २४९३०४— गीताभवन, गङ्गापार, पो०—स्वर्गाश्रम, फोन-नं० १२२

इनके अतिरिक्त दिल्ली, कानपुर, गोरखपुर, हरिद्वार, वाराणसी इन पाँच स्थानोंपर हमारे स्टेशन-स्टाल भी हैं।

विशेष द्रष्टव्य—जिन पुस्तकोंके मूल्यके सामने डाकखर्च छः रुपये से अधिक लिखा है वे पुस्तकें रजिस्ट्रीसे भेजी जायँगी; जिनके सामने एक रुपया पचास पैसे या उससे कम लिखा है वे साधारण बुक-पोस्टसे जायँगी।

आगे दी हुयी तालिकामें यद्यपि पुस्तकोंका वर्तमान मूल्य एवं डाकखर्च अङ्कित है; तथापि भविष्यमें समयकी माँगके अनुसार उनमें परिवर्तन भी सम्भव है। अतः आर्डर प्राप्त होनेके समय जो निर्धारित मूल्य और डाकखर्च होगा वही लगाया जायगा।

५६ ए०पी०ओ०, ९९ ए०पी०ओ० और विदेशके पतोंपर पुस्तकें वी०पी०पी० से भेजना डाक-नियमके विरुद्ध है। अतः इस स्थितिमें इच्छुक सज्जनोंको मूल्य एवं डाक-खर्चकी कुल रकमसहित आर्डर प्रेषित करना चाहिये।

विदेशके (वायुयान या जलयानके) डाकखर्चकी जानकारीके लिये कृपया पूर्व पत्र-व्यवहार करें।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५

फोन-नं० ३३३०३०,३३४७२१,३३६९९७

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित आत्मकल्याणकारी, ग्रन्थ और पुस्तकें

	मूल्य रु० पै०	डाकखर्च
श्रीमद्भगवद्गीता साधकसंजीवनी टीका बृहदाकार— (स्वामी रामसुखदासजी) सचित्र, पृष्ठ ११८६, सजिल्द	८०.००	२७.५०
श्रीमद्भगवद्गीता साधकसंजीवनी टीका— (स्वामी रामसुखदासजी) सचित्र, पृष्ठ ११७२ सजिल्द	५०.००	१७.५०
,, ,, ,, ,, **(साधारण)**	३५.००	१७.००
श्रीमद्भगवद्गीता साधकसंजीवनी टीका— (स्वामी रामसुखदासजी), पाकेट साइज—पृष्ठ ११९०	३०.००	८.५०
श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्वविवेचनी (टीकाकार-श्रीजयदयालजी गोयन्दका) गीता-विषयक २५१५ प्रश्न और उनके उत्तरके रूपमें विवेचनात्मक ढंगकी हिंदी टीका, चित्र १९, **राजसंस्करण**	३०.००	१५.५०
,, ,, ,, ,, **साधारण**	१५.००	१५.००
,, ,, ,, **बाईबलपेपर पर गुटका**	१५.००	८.००
गीताशांकरभाष्य— पृष्ठ ५१८, सचित्र	१८.००	११.५०
गीता-चिन्तन— (लेखक-श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार) सचित्र, पृष्ठ ६६८, सजिल्द	१३.००	९.००
श्रीमद्भगवद्गीता पदच्छेद गुजराती—भाषा-टीका-सहित, सचित्र, पृष्ठ ५६०, सजिल्द	११.००	९.००
श्रीमद्भगवद्गीता बंगला भाषामें—मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी-प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं विशेष लेख-'त्यागसे भगवत्प्राप्तिसहित', छोटे टाइप, पृष्ठ ५३८, सजिल्द	१०.००	८.५०
श्रीमद्भगवद्गीता मराठी—प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित, सजिल्द, मोटे अक्षरोंमें, पृष्ठ ५२७	१०.००	९.००
श्रीमद्भगवद्गीता—मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी-प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं 'त्यागसे भगवत्प्राप्ति' लेख सहित, मोटा टाइप, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७६, सचित्र	७.५०	९.५०
श्रीमद्भगवद्गीता—प्रत्येक अध्यायके माहात्म्यसहित, सटीक, मोटे अक्षरोंमें लाहोरी ढंगकी, सचित्र, पृष्ठ ४२४, सजिल्द	७.५०	८.५०
श्रीमद्भगवद्गीता—श्लोक, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी-प्रधान विषय, मोटा टाइप, पृष्ठ ३२०, अजिल्द	५.००	७.५०
श्रीमद्भगवद्गीता—साधारण भाषाटीका, पाकेट साइज, सचित्र, पृष्ठ ३२४	२.००	७.००
श्रीपञ्चरत्नगीता—सचित्र, इसमें श्रीमद्भगवद्गीता, विष्णु-सहस्रनाम, श्रीभीष्मस्तवराज, श्रीअनुस्मृति, श्रीगजेन्द्रमोक्षके मूल पाठ हैं। पृष्ठ २००	६.००	८.००

	मूल्य रु० पै०	डाकखर्च
श्रीमद्भगवद्गीता—केवल भाषा, सचित्र	३.००	७.००
श्रीमद्भगवद्गीता—मूल, मोटे अक्षरवाली	४.००	७.५०
श्रीमद्भगवद्गीता—विष्णुसहस्रनामसहित, पृष्ठ १२८, सचित्र,	१.००	०.५०
गीता ताबीजी—	०.१०	०.५०
श्रीशुकसुधासागर—बृहदाकार, टाइप बहुत बड़े, पृष्ठ १३६१, सचित्र, सजिल्द	१००.००	३१.००
,, ,, ,, **राजसंस्करण**	१२५.००	३१.००
श्रीमद्भागवत-महापुराण (प्रथम खण्ड)—सटीक, पृष्ठ १०१६, सचित्र, सजिल्द	४०.००	१५.५०
,, **(द्वितीय खण्ड)**—सटीक, पृष्ठ १०१०, सचित्र, सजिल्द	४०.००	१५.००
श्रीभागवत-सुधासागर—सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतका भाषानुवाद, पृष्ठ १०१६, सचित्र, सजिल्द	४०.००	१४.५०
श्रीमद्भागवत-महापुराण—मूल, मोटा टाइप, पृष्ठ ६५६	३०.००	१२.००
श्रीप्रेमसुधा-सागर—श्रीमद्भागवत, केवल दशम-स्कन्धका भाषानुवाद, सचित्र, सजिल्द, पृष्ठ-सं० ३०३	१५.००	९.५०
भागवत एकादशस्कन्ध—पृष्ठ-सं० ४४४	५.००	८.००
महाभारत-हिंदी-टीका—**प्रथम खण्ड**—आदि और सभापर्व, पृष्ठ ९५८, सचित्र, कपड़ेकी जिल्द	४०.००	१५.५०
,, **हिंदी-टीका**—**द्वितीय खण्ड**—वन और विराटपर्व, सचित्र, पृष्ठ-संख्या १११०, कपड़ेकी जिल्द	५५.००	१७.००
,, **हिंदी-टीका-तृतीय खण्ड**—उद्योग और भीष्मपर्व, सचित्र, पृष्ठ-संख्या १०७६, कपड़ेकी जिल्द	५५.००	१६.००
,, **हिंदी-टीका**—**चतुर्थ खण्ड**—द्रोण, कर्ण, शल्य, सौप्तिक और स्त्रीपर्व, सचित्र, पृष्ठ-संख्या १३४६, कपड़ेकी जिल्द	६५.००	१८.००
,, **हिंदी-टीका-पञ्चमखण्ड**—शान्तिपर्व, सचित्र, पृष्ठ-संख्या १०१४, कपड़ेकी जिल्द	५०.००	१६.००
,, **हिंदी-टीका-षष्ठ खण्ड**—अनुशासन, आश्वमेधिक, आश्रमवासिक, मौसल, महाप्रस्थानिक और स्वर्गारोहणपर्व, सचित्र, पृष्ठ-संख्या १११२, कपड़ेकी जिल्द	५५.००	१७.००
संक्षिप्त महाभारत (दो खण्डोंमें)—केवल भाषा, सचित्र, सजिल्द	७०.००	२२.००
नारी-अङ्क—सचित्र, सजिल्द, पृष्ठ ८१८	४५.००	१४.००
शक्ति-अङ्क—सचित्र, सजिल्द, पृष्ठ ७०३	४५.००	१४.००

	मूल्य रु० पै०	डाकखर्च
संक्षिप्त शिवपुराण—पृष्ठ ६४०, सचित्र, सजिल्द	३०.००	१२.००
संक्षिप्त श्रीमद्देवीभागवत—हिन्दी भाषामात्र, सचित्र, सजिल्द, पृष्ठ ६७२	३०.००	१२.५०
पातञ्जलयोगप्रदीप—पृष्ठ ६६२, सजिल्द	३०.००	१२.००
मार्क्सवाद और रामराज्य—लेखक—स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज, पृष्ठ ८५६, सजिल्द	२५.००	११.००
श्रीराधामाधवचिन्तन—ग्रन्थकार—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार पृष्ठ १०१६, सजिल्द, सचित्र	२२.००	११.५०
पद-रत्नाकर—रचयिता—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ १०२४	१४.००	१२.००
श्रीतुकाराम-चरित—जीवनी और उपदेश, पृष्ठ ६०८	११.००	८.५०
भजन-संग्रह (पाँचों भाग एक साथ)—पृष्ठ-संख्या ४३२	७.००	८.००
स्तोत्ररत्नावली—सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ-संख्या ३१६	७.००	८.००
अमृत-कण—लेखक-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, सचित्र, पृष्ठ ४४८	६.५०	८.००
जीवनमें नया प्रकाश—(डॉ० रामचरण महेन्द्र) पृष्ठ ३२०	६.५०	७.५०
सूरविनय-पत्रिका—पृष्ठ सं० ३२४	६.५०	७.५०
श्रीकृष्णबालमाधुरी—पृष्ठ २९४	६.००	७.५०
आशाकी नयी किरणें—(डॉ० रामचरण महेन्द्र) पृष्ठ ३१२	५.००	७.५०
प्रेमयोग—(श्रीवियोगीहरिजी), सचित्र, पृष्ठ ३४४	४.००	७.५०
[illegible] हिंदी व्याख्यासहित, पृष्ठ ४१६, सचित्र, सजिल्द	१०.००	८.५०
[illegible]नौ उपनिषद्—अन्वय, हिंदी-व्याख्यासहित, पृष्ठ ४४८,	१०.००	९.००
[illegible]सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, पृष्ठ ६४	१.००	०.५०
केनोपनिषद्—सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, पृष्ठ १८४	३.००	७.५०
कठोपनिषद्—सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, पृष्ठ २१६	४.५०	७.५०
मुण्डकोपनिषद्—सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १६४	३.००	७.००
प्रश्नोपनिषद्—सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १६०	३.००	७.००
ऐतरेयोपनिषद्—सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १३२	२.५०	७.००
श्वेताश्वतरोपनिषद्—सानुवाद, शांकरभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ३२०	६.००	७.५०
अध्यात्म रामायण सटीक—सचित्र, पृष्ठ-सं० ४००	२०.००	१०.००
श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण सटीक—(प्रथम खण्ड) सजिल्द	४०.००	१४.००
,, ,, ,, (द्वितीय खण्ड) सजिल्द	३५.००	१४.००
श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण सटीक—(केवल भाषा) सचित्र, पृष्ठ १०९५, सजिल्द	४५.००	१६.००
श्रीरामचरितमानस—मोटा टाइप, बृहदाकार, भाषाटीका-सहित, सचित्र, पृष्ठ ९८४, सजिल्द	८०.००	२४.५०
,, ,, ,, **राजसंस्करण**	१००.००	२६.००
श्रीरामचरितमानस—मोटाटाइप, भाषाटीका-सहित, सचित्र, पृष्ठ १०५५, सजिल्द	४०.००	१५.५०
श्रीरामचरितमानस सटीक—मझला साइज, पृष्ठ ९३४, सजिल्द	२०.००	११.००
श्रीरामचरितमानस—बड़े अक्षरोंमें, केवल मूल पाठ, सचित्र, पृष्ठ ५६६, सजिल्द	२२.००	११.५०
श्रीरामचरितमानस-मूल मझला साइज—सचित्र, पृष्ठ ५४४	१२.००	९.५०
श्रीरामचरितमानस-मूल, गुटका—सचित्र, पृष्ठ ६७२	८.००	८.००

	मूल्य रु० पै०	डाकखर्च
श्रीरामचरितमानस-बालकाण्ड—सटीक, पृष्ठ २९४	७.००	७.५०
श्रीरामचरितमानस-अयोध्याकाण्ड—सटीक, सचित्र, पृष्ठ २५२	६.००	७.५०
श्रीरामचरितमानस-अरण्यकाण्ड—सटीक, पृष्ठ ८०	१.५०	०.५०
श्रीरामचरितमानस-किष्किन्धाकाण्ड—सटीक, पृष्ठ ३२	१.००	०.५०
श्रीरामचरितमानस-सुन्दरकाण्ड-मूल—गुटका	१.००	०.५०
सुन्दरकाण्ड-मूल—मोटे अक्षर, लाल रंगमें	१.५०	१.००
,, (सटीक) श्रीहनुमानचालीसा सहित—	१.५०	१.००
श्रीरामचरितमानस-लंकाकाण्ड—सटीक, पृष्ठ १३२	३.५०	७.००
श्रीरामचरितमानस-उत्तरकाण्ड—सटीक, पृष्ठ १४०	३.५०	७.००
मानस-रहस्य—सचित्र, पृष्ठ ५१२	८.००	८.००
मानस-शंका-समाधान—पृष्ठ १६८	३.००	७.००
विनयपत्रिका—सरल हिंदी भावार्थसहित, (अनुवादक—श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार) पृष्ठ ४९०, सचित्र	९.००	८.००
गीतावली—सरल भावार्थसहित, पृष्ठ ४४४	८.००	८.००
दोहावली—सानुवाद, (अनुवादक—श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार) सचित्र, पृष्ठ १९२	४.००	७.००
कवितावली—सटीक, सचित्र, पृष्ठ २२४	३.५०	७.००
रामाज्ञा-प्रश्न—सरल भावार्थसहित, पृष्ठ १०४	२.००	७.००
श्रीकृष्ण-गीतावली—सरल भावार्थसहित, पृष्ठ ८४	१.००	०.५०
जानकी मङ्गल—पृष्ठ ५२	१.००	०.५०
हनुमानबाहुक—पृष्ठ ४०	१.००	०.५०
पार्वती-मङ्गल—पृष्ठ ३२	१.००	०.५०
वैराग्य-संदीपनी—पृष्ठ १६	०.३०	०.५०
बरवैरामायण—पृष्ठ १६	०.३०	०.५०
श्रीदुर्गासप्तशती—मूल, मोटा टाइप, आड़ी खुलनेवाली, पाठ-विधि तथा अनेक उपयोगी स्तोत्र, पृष्ठ २५६, अजिल्द	५.००	७.५०
,, ,, ,, सजिल्द	६.००	७.५०
श्रीदुर्गासप्तशती—सानुवाद, पाठविधि तथा अनेक उपयोगी स्तोत्रों सहित, सचित्र, पृष्ठ २४०	५.००	७.५०
अमृतके घूँट—(डॉ० रामचरण महेन्द्र), पृष्ठ २८४	५.००	७.५०
लघुसिद्धान्तकौमुदी—पृष्ठ ३६०	६.००	७.५०
पद-पद्माकर—पृष्ठ २२०	५.००	७.५०
सूक्तिसुधाकर—पृष्ठ २६६	३.५०	७.५०
एक लोटा पानी—पृष्ठ १७६	३.५०	७.००
आनन्दमय जीवन—(डॉ० रामचरण महेन्द्र), पृष्ठ २१६	४.००	७.००
एकनाथ-चरित्र—पृष्ठ २४०	४.००	७.५०
श्रीश्रीचैतन्यचरितावली—(श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)		
,, (खण्ड १) पृष्ठ २८८	४.००	७.५०
,, (खण्ड २) पृष्ठ ३६८	६.००	७.५०
,, (खण्ड ३) पृष्ठ ३८४	६.००	७.५०
,, (खण्ड ४) पृष्ठ २२४	३.५०	७.००
,, (खण्ड ५) पृष्ठ २८०	४.००	७.५०

	मूल्य रु०पै०	डाकखर्च
तत्त्वविचार—(श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार) पृष्ठ १९६	४.५०	७.००
एक महात्माका प्रसाद—पृष्ठ २९६	३.५०	७.५०
सुखी जीवन—(लेखिका—श्रीमैत्रेदेवी), पृष्ठ २०४	३.५०	७.००
स्वर्ण-पथ—पृष्ठ २००	३.५०	७.००
विवेक-चूडामणि—सानुवाद, सचित्र, पृष्ठ १८४	३.००	७.००
सती द्रौपदी—पृष्ठ १६०	३.००	७.००
पातञ्जलयोगदर्शन—हिंदी-व्याख्यासहित, पृष्ठ १८४	३.००	७.००
विदुरनीति—(सानुवाद) पृष्ठ १६८	३.००	७.००
उपयोगी कहानियाँ—३५ बालकोपयोगी कहानियाँ, पृष्ठ १००	३.००	७.००
श्रीभीष्मपितामह—पृष्ठ १६०	३.००	७.००
भजनामृत—(संकलनकर्ता—ईश्वरीप्रसाद गोयनका), पृष्ठ १०४	२.५०	७.००
बालकोंकी बातें—पृष्ठ १५२	२.५०	७.००
बड़ोंके जीवनसे शिक्षा—पृष्ठ ११२	२.५०	७.००
चोखी कहानियाँ—बालकोंके लिये ३२ कहानियाँ, पृष्ठ ८८	२.००	७.००
गुरु और माता-पिताके भक्त बालक—११ बालकोंके आदर्श चरित्र, पृष्ठ ८०	२.००	१.००
पिताकी सीख—(स्वास्थ्य और खान-पान) पृष्ठ १३६	२.००	१.००
आरती-संग्रह—१०२ आरतियोंका अनूठा संग्रह, पृष्ठ ८०	१.७५	१.००
ज्ञानमणि-माला—पृष्ठ-सं० ४८	१.५०	०.५०
सत्संगमाला—(लेखक-श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास), पृष्ठ १०८	१.५०	१.००
दयालु और परोपकारी बालक-बालिकाएँ—२३ छोटी-छोटी कहानियाँ, पृष्ठ ६८	१.५०	०.५०
वीर बालिकाएँ—१७ वीर बालिकाओंके आदर्श चरित्र, पृष्ठ ६८	१.५०	१.००
महासती सावित्री—पृष्ठ ६८	१.५०	१.००
[पढ़ो, समझो और करो]		
,, ,, ,, (भाग १) पृष्ठ १४४	२.५०	७.००
कलेजेके अक्षर—(भाग २) पृष्ठ ११२	२.००	७.००
आदर्शमानव-हृदय—(भाग ३) पृष्ठ १२८	२.००	७.००
आदर्श धर्म—(भाग ४), पृष्ठ १३६	२.००	७.००
उपकारका बदला—(भाग ६), पृष्ठ १३६	२.५०	७.००
असीम नीचता और असीम साधुता—(भाग ७) पृष्ठ १२८	२.५०	७.००
नकली और असली प्रेम—(भाग ८), पृष्ठ १३६	२.००	७.००
भगवान्‌के सामने सच्चा सो सच्चा—(भाग ९), पृष्ठ १३६	२.००	७.००
आनन्दके आँसू—(भाग ११), पृष्ठ १३६	२.५०	७.००
दानवोंमें भी मानवता—(भाग १२), पृष्ठ १३६	२.००	७.००
भक्तभारती—पृष्ठ ११६	२.५०	७.००
भक्त बालक—गोविन्द, मोहन आदि ५ बालक-भक्तोंकी कथाएँ	१.५०	०.५०
भक्त-सप्तरत्न—दामा, रघु आदिकी कथाएँ, पृष्ठ ८८,	१.५०	१.००
भक्त-चन्द्रिका—सखू, विट्ठल आदि ६ भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ८८	१.५०	१.००
भक्त कुसुम—भक्त जगन्नाथ, हिम्मतदास आदिकी कथाएँ, पृष्ठ ८४	०.८०	०.५०
प्रेमी भक्त—बिल्वमंगल आदि ५ भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ ८८	१.५०	१.००

	मूल्य रु०पै०	डाकखर्च
भक्त सरोज—१० भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ १०४	१.५०	१.००
भक्त-सौरभ—व्यासदास, प्रयागदास आदि भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ १५०	२.५०	१.००
भक्तसुधाकर—लाखाजी आदि भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ १००	१.७५	१.००
भक्त महिलारत्न—रानी रत्नावती, हरदेवी आदि ९ भक्तनारियोंकी कथाएँ, पृष्ठ ९६	२.००	१.००
भक्त दिवाकर—सुव्रत, वैश्वानर आदि ८ भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ १००	१.७५	१.००
भक्तरत्नाकर—माधवदास, विमलतीर्थ आदि १४ भक्तोंकी कथाएँ, पृष्ठ १००	१.५०	१.००
प्रेमी भक्त उद्धव—पृष्ठ ६४, सचित्र	०.५०	०.५०
भक्तराज ध्रुव—पृष्ठ ५२, सचित्र	१.००	०.५०
बाल-चित्रमय श्रीकृष्णलीला—[दोनों भाग] आकार १०×७।।, सचित्र, पृष्ठ ६८	२.५०	७.५०
बाल-चित्र-रामायण—[दोनों भाग] आकार १०×७।। सचित्र, रंगीन, पृष्ठ ३४	२.००	७.००
भगवान् राम—[दोनों भाग] सचित्र, पृष्ठ ९६	१.७५	७.००
बाल-चित्रमय बुद्धिलीला—चित्रोंमें, पृष्ठ ३६	१.५०	१.५०
भगवान्‌पर विश्वास—पृष्ठ ६८	१.२५	०.५०
मनन-माला—पृष्ठ ५२	१.२५	०.५०
संस्कृतिमाला—(भाग ४) पृष्ठ १०४	१.२५	१.००
मनुस्मृति—दूसरा अध्याय, भाषा-टीकासहित, पृष्ठ ५२	१.००	०.५०
गङ्गासहस्रनाम सटीक—पृष्ठ ९१	१.००	०.५०
अपरोक्षानुभूति—श्रीआद्यशंकराचार्यविरचित, सानुवाद, पृष्ठ ४०, ...	१.००	०.५०
सीतारामभजन—पृष्ठ ६४	०.७५	०.५०
रामायण-मध्यमा-परीक्षा-पाठ्यपुस्तक—पृष्ठ ३२	०.७५	०.५०
गीताप्रेस-लीला-चित्रमन्दिर-दोहावली—पृष्ठ ६४	१.००	०.५०
गीताभवन-दोहा-संग्रह—पृष्ठ ४८	१.००	०.५०
सन्ध्योपासनविधि—मन्त्रानुवादसहित, पृष्ठ ३२	०.७५	०.५०
विष्णुसहस्रनाम—सटीक, पृष्ठ ८८	१.००	०.५०
हिंदी बाल-पोथी—(भाग १)—शिशु-पाठ १०×७।।	१.००	०.५०
हिंदी बाल-पोथी—(भाग २)—शिशु-पाठ ,,	१.५०	१.००
बालकोंकी बोलचाल—पृष्ठ ४८	१.००	०.५०
बालकके गुण—पृष्ठ ४८	१.००	०.५०
बालककी दिनचर्या—पृष्ठ ४०	०.७५	०.५०
बालकोंको सीख—पृष्ठ ४०	०.७५	०.५०
बालकके आचरण—पृष्ठ ४०	०.७५	०.५०
बाल-अमृत-वचन—पृष्ठ ३२	०.५०	०.५०
तर्पण एवं वलिवैश्वदेवविधि—मन्त्रानुवादसहित, पृष्ठ ३२	०.५०	०.५०
हरेराम भजन दो माला—(गुटका)	०.६०	०.५०
,, ,, १४ माला—	२.००	१.००

	मूल्य रु० पै०	डाकखर्च
श्रीगोविन्ददामोदरस्तोत्र—पृष्ठ ३२	०.५०	०.५०
गजेन्द्रमोक्ष—पदच्छेद, अन्वय और भावार्थसहित, पृष्ठ ३२	०.५०	०.५०
श्रीविष्णुसहस्रनाम मूल—पृष्ठ ३२	०.५०	०.५०
हनुमानचालीसा—पृष्ठ ३२	०.५०	०.५०
शिवचालीसा—पृष्ठ २४	०.५०	०.५०
नारायणकवच—(सानुवाद), पृष्ठ १६	०.३०	०.५०
रामरक्षास्तोत्रम्—पृष्ठ १६	०.३०	०.५०
शिवमहिम्नःस्तोत्र—पृष्ठ ३२	०.२५	०.५०
दोहावलीके चालीस दोहे—पृष्ठ १२	०.२५	०.५०
बलिवैश्वदेव-विधि—	०.१०	०.५०
सौभाग्याष्टोत्तरशतनाम-स्तोत्र—पृष्ठ ८	०.१०	०.५०
साधक-दैनन्दिनी—पृष्ठ ५६	१.००	०.५०

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी पुस्तकें

	मूल्य रु० पै०	डाकखर्च
आत्मोद्धारके सरल उपाय—सचित्र, पृष्ठ २१४	३.५०	७.५०
परम साधन—पृष्ठ ३६८	३.५०	७.५०
आत्मोद्धारके साधन—सचित्र, पृष्ठ ४६४	३.५०	८.००
मनुष्यका परमकर्तव्य—पृष्ठ ४१२	३.५०	८.००
कर्मयोगका तत्त्व—पृष्ठ ४२०	३.००	८.००
भक्तियोगका तत्त्व—पृष्ठ-संख्या ४५६, सचित्र	२.५०	८.००
ज्ञानयोगका तत्त्व—सचित्र, पृष्ठ ३८४	२.५०	७.५०
प्रेमयोगका तत्त्व—पृष्ठ ३८४	२.००	७.५०
स्त्रियोंके लिये कर्तव्य-शिक्षा—सचित्र, पृष्ठ १५७	२.५०	७.००
महाभारतके कुछ आदर्श पात्र—सचित्र, पृष्ठ १२८	२.००	७.००
रामायणके कुछ आदर्श पात्र—पृष्ठ १३९, सचित्र	२.००	७.००
तत्त्व-चिन्तामणि बड़ा—(भाग २) सचित्र, पृष्ठ ५९२ (अमूल्य वचन)	६.००	८.५०
,, ,, (भाग ४) सचित्र, पृष्ठ ५२८ (हमारा लक्ष्य और कर्तव्य)	५.००	८.००
,, ,, (भाग ५) सचित्र, पृष्ठ ४९६ (ईश्वर और धर्म क्यों ?)	३.५०	८.००
,, ,, (भाग ६) सचित्र, पृष्ठ ४५६	३.००	८.००
भगवद्दर्शनकी उत्कण्ठा—पृष्ठ २१७	३.५०	७.५०
समता अमृत और विषमता विष—पृष्ठ २१५	३.००	७.५०
धर्मसे लाभ और अधर्मसे हानि—पृष्ठ २५५	३.५०	७.५०
व्यवहारमें परमार्थकी कला—पृष्ठ २०८	३.५०	७.५०
श्रद्धा विश्वास और प्रेम—पृष्ठ २१९	३.५०	७.५०
परमानन्दकी खेती—पृष्ठ २२०	३.५०	७.५०
परमार्थ-पत्रावली—(भाग १)—पारमार्थिक विषयक ५१		
,, ,, पत्रोंका संग्रह, पृष्ठ ११२, ...	१.००	१.००
,, ,, (भाग २) ८० पत्रोंका संकलन, पृष्ठ १७२, सचित्र,	१.००	१.००
,, ,, (भाग ३) ७२ पत्रोंका संग्रह, पृष्ठ १९२	१.२५	१.००
,, ,, (भाग ४) ९१ पत्रोंका संग्रह, पृष्ठ २०३	१.२५	१.००
शिक्षाप्रद ग्यारह कहानियाँ—पृष्ठ ११२	१.५०	१.००
अध्यात्मविषयक पत्र—श्रीगोयन्दकाजीके ५४ आध्यात्मिक-पत्रोंका संग्रह, पृष्ठ १६४	१.५०	१.००
बाल-शिक्षा—पृष्ठ ६४, सचित्र	१.००	०.५०
बालकोंके कर्तव्य—पृष्ठ-संख्या ८८	०.७५	१.००
श्रीमद्भगवद्गीताके कुछ श्लोकोंपर विवेचन—पृष्ठ ६०,	०.७५	०.५०
गीता-निबन्धावली—गीताकी अनेक बातें समझनेके लिये बहुत उपयोगी है, पृष्ठ ८०	०.७५	१.००
आदर्श नारी सुशीला—पृष्ठ ६४	०.७५	०.५०
नवधाभक्ति—सचित्र, पृष्ठ ६४	०.७५	०.५०
ध्यान और मानसिक पूजा—सचित्र, पृष्ठ ३२	०.५०	०.५०
श्रीभरतजीमें नवधा भक्ति—पृष्ठ ४८	०.५०	०.५०
ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप—पृष्ठ ३६	०.५०	०.५०
सत्संगकी सार बातें—पृष्ठ ३२	०.५०	०.५०
नारी-धर्म—पृष्ठ ४८	०.५०	०.५०
भारतीय संस्कृति तथा शास्त्रोंमें नारी-धर्म—पृष्ठ ४४	०.५०	०.५०
तीन आदर्श देवियाँ—पृष्ठ ३२	०.४०	०.५०
श्रीप्रेम-भक्ति-प्रकाश—पृष्ठ १६	०.४०	०.५०
सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय—पृष्ठ ३२	०.३०	०.५०
गीता पढ़नेसे लाभ—पृष्ठ २४	०.३०	०.५०
श्रीमद्भगवद्गीताका तात्त्विक विवेचन—पृष्ठ ६४	०.३०	०.५०
भगवान् क्या हैं ?—पृष्ठ ३२	०.३०	०.५०
गीतोक्त कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगका रहस्य—पृष्ठ २४	०.२०	०.५०
सामयिक चेतावनी—पृष्ठ २४	०.२०	०.५०
गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग—पृष्ठ ४७	०.२०	०.५०
भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय—पृष्ठ ४०	०.२०	०.५०
परलोक और पुनर्जन्म—पृष्ठ ४६	०.२०	०.५०
वैराग्य—पृष्ठ ३६	०.१५	०.५०
सत्यकी शरणसे मुक्ति—पृष्ठ ३२	०.१५	०.५०

	मूल्य रु० पै०	डाकखर्च
व्यापार-सुधारकी आवश्यकता और व्यापारसे मुक्ति—पृष्ठ ३२	०.१५	०.५०
चेतावनी—पृष्ठ २४	०.१५	०.५०
ज्ञानयोगके अनुसार विविध साधन—पृष्ठ ३२	०.१०	०.५०
प्रेमका सच्चा स्वरूप—पृष्ठ २४	०.१०	०.५०
महात्मा किसे कहते हैं ?—पृष्ठ २२	०.१५	०.५०
स्त्रियोंके कल्याणके कुछ घरेलू प्रयोग—पृष्ठ १९	०.१०	०.५०
चतुःश्लोकी भागवत—पृष्ठ २४	०.१०	०.५०
तीर्थोंमें पालन करने योग्य कुछ उपयोगी बातें—पृष्ठ १५	०.१०	०.५०
गजलगीता—पृष्ठ ८	०.०५	०.५०

श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारकी पुस्तकें

सुखशान्तिका मार्ग—पृष्ठ ३२०	५.५०	७.५०
संतवाणी—(ढाई हजार अनमोल बोल) पृष्ठ २८८	५.५०	७.५०
व्यवहार और परमार्थ—पृष्ठ २९६,	५.००	७.५०
सुखी बननेके उपाय—पृष्ठ ३६६,	४.५०	७.५०
श्रीभगवन्नाम-चिन्तन—पृष्ठ १५८,	४.००	७.५०
प्रेम-दर्शन—नारदरचित भक्तिसूत्रोंकी विस्तृत टीका, पृष्ठ १८०	३.५०	७.००
नारी-शिक्षा—पृष्ठ १६०	३.००	७.००
मधुर—[दिव्य श्रीराधा-माधव-प्रेमकी झाँकी] सचित्र, पृष्ठ ३३०	३.००	७.५०
भगवच्चर्चा भाग १—(तुलसीदल) सचित्र, पृष्ठ २९४	३.५०	७.५०
भगवच्चर्चा भाग २—(नैवेद्य) सचित्र, पृष्ठ २६४	२.५०	७.५०
भगवच्चर्चा भाग ३—(भगवत्प्राप्ति एवं हिन्दू-संस्कृति) पृष्ठ ४००	४.००	८.००
भगवच्चर्चा भाग ४—सचित्र, पृष्ठ ४४०	४.००	८.००
भगवच्चर्चा भाग ५—सचित्र, पृष्ठ ४००	५.००	७.५०
भगवच्चर्चा भाग ६—(पूर्ण समर्पण) सचित्र, पृष्ठ ३९६	५.००	७.५०
लोक-परलोकका सुधार—(कामके पत्र) प्रथम भाग, पृष्ठ २२४	२.००	७.५०
,, ,, (आनन्दका स्वरूप) द्वितीय भाग, पृष्ठ २५९	२.५०	७.५०
,, ,, (महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर) तृतीय भाग, पृष्ठ २९२	३.००	७.५०
,, ,, (शान्ति कैसे मिले ?) चतुर्थ भाग, पृष्ठ २८०	३.००	७.५०
,, ,, (दुःख क्यों होते हैं ?) पञ्चम भाग, पृष्ठ २७२	३.००	७.५०
कल्याण-कुञ्ज (भाग १) सचित्र, पृष्ठ १३६	२.००	१.००
,, (भाग २) पृष्ठ १३२	१.२०	१.००
,, (भाग ३) सचित्र, पृष्ठ १८४	२.००	१.००
मानव-कल्याणके साधन—(कल्याण-कुञ्ज भाग ४) सचित्र, पृष्ठ २६०, ...	४.५०	७.५०
दिव्य सुखकी सरिता—(कल्याण-कुञ्ज भाग ५) पृष्ठ ११६	२.००	१.००
सफलताके शिखरकी सीढ़ियाँ—(कल्याण-कुञ्ज भाग ६) पृष्ठ १७४, सचित्र, ...	२.५०	७.००
परमार्थकी मन्दाकिनी (कल्याण-कुञ्ज भाग ७)	२.००	७.००

	मूल्य रु० पै०	डाकखर्च
सुखी बनो—पृष्ठ १२८	२.००	७.००
मानव-धर्म—पृष्ठ ९६,	१.७५	१.००
गोसेवाके चमत्कार—पृष्ठ ७२,	१.५०	०.५०
प्रार्थना—इक्कीस प्रार्थनाओंका संग्रह, पृष्ठ ५६,	१.००	०.५०
श्रीभगवन्नाम—पृष्ठ ५६	१.००	०.५०
राधा-माधव-रस-सुधा—(षोडश गीत) सटीक, पृष्ठ ३६,	०.४०	०.५०
,, ,, (गुटका), पृष्ठ ५६	०.७०	०.५०
साधन-पथ—सचित्र, पृष्ठ ६८,	०.७५	०.५०
वर्तमान शिक्षा—पृष्ठ ४८,	०.७५	०.५०
आनन्दकी लहरें—पृष्ठ २४	०.५०	०.५०
ब्रह्मचर्य—पृष्ठ ३२	०.५०	०.५०
गोवध भारतका कलंक एवं गायका माहात्म्य—पृष्ठ ४८,	०.५०	०.५०
विवाहमें दहेज—पृष्ठ १६	०.२५	०.५०
नारद-भक्ति-सूत्र—पृष्ठ १५	०.१५	०.५०
सत्सङ्ग-सुधा—पृष्ठ २२४	३.००	७.००
प्रेम-सत्सङ्ग-सुधा-माला—पृष्ठ २०८	३.००	७.००
दैनिक कल्याण-सूत्र—पृष्ठ ९१	१.५०	१.००

स्वामी श्रीरामसुखदासजीकी पुस्तकें

गीता-माधुर्य—पृष्ठ ७२	४.००	७.५०
गीता-माधुर्य-मराठी—पृष्ठ १५२	५.००	७.५०
गीता-माधुर्य-गुटका—पृष्ठ २८३	३.००	६.५०
गीताका ज्ञानयोग—पृष्ठ ४४८	४.००	८.००
गीताका भक्तियोग—पृष्ठ ४६४	४.००	८.००
गीताकी राजविद्या—पृष्ठ ४६८	४.५०	७.५०
गीताकी सम्पत्ति और श्रद्धा—पृष्ठ २५६	३.००	७.५०
गीता-परिचय—पृष्ठ २१६	२.००	७.००
गीताका आरम्भ—पृष्ठ ३६८	३.५०	७.५०
मानसमें नाम-वन्दना—पृष्ठ २७२	५.००	७.००
सुन्दर समाजका निर्माण—पृष्ठ १६२	५.००	७.५०
कल्याणकारी प्रवचन-गुजराती—सचित्र, पृष्ठ २१२	४.००	७.५०
भगवत्प्राप्तिकी सुगमता—पृष्ठ १८८	३.५०	७.००
वास्तविक सुख—पृष्ठ १४८	३.५०	७.००
जीवनोपयोगी प्रवचन—पृष्ठ १५४	३.००	७.००
तात्त्विक प्रवचन—पृष्ठ १३२	३.००	७.००
जीवनका कर्तव्य—पृष्ठ २०४	३.००	७.००
भगवन्नाम—पृष्ठ ७०	२.५०	७.००
साधकोंके प्रति—पृष्ठ ९५	२.५०	७.००
एकै साधे सब सधै—पृष्ठ ८०	२.००	१.००
कल्याणकारी प्रवचन—(प्रथम) पृष्ठ १५२	३.००	७.५०
,, (द्वितीय) पृष्ठ ११५	२.५०	७.००
सत्संगकी विलक्षणता—पृष्ठ ११५	२.५०	७.००

	मूल्य रु० पै०	डाकखर्च
जीवनका सत्य—पृष्ठ ९१	३.००	७.५०
कर्मरहस्य—पृष्ठ ७२	२.००	७.००
सत्संगका प्रसाद—पृष्ठ ८८	२.००	७.००
गृहस्थमें कैसे रहें ?—पृष्ठ ८०	२.००	७.००
स्वाधीन कैसे बनें ?—पृष्ठ ४०	२.००	०.५०
सहज साधना—पृष्ठ ६०	२.००	०.५०
हामी ईश्वर किन मान्ने ?— (नेपाली)	०.२५	०.५०
दुर्गतिसे बचो—पृष्ठ ६४	१.००	०.५०
अच्छे बनो—पृष्ठ ८४	२.२५	७.००
नित्ययोगकी प्राप्ति—पृष्ठ १२४	४.००	०.५०
सच्चा आश्रय—पृष्ठ ६४	०.८०	०.५०

	मूल्य रु० पै०	डाकखर्च
मूर्ति पूजा—पृष्ठ ४८	०.८०	०.५०
हम ईश्वरको क्यों मानें ?—पृष्ठ ३२	०.८०	०.५०
शरणागति—पृष्ठ ५६	१.५०	०.५०
गुरु-तत्त्व—पृष्ठ ६४	१.००	०.५०
आहार-शुद्धि—पृष्ठ ४०	०.८०	०.५०
नाम जपकी महिमा—पृष्ठ ४०	०.८०	०.५०
आवश्यक शिक्षा—पृष्ठ ९२	१.५०	०.५०
महापापसे बचो—पृष्ठ ६४	१.००	०.५०
सन्तानका कर्तव्य—पृष्ठ ४८	०.८०	०.५०
नित्य-स्तुतिः—पृष्ठ ४८	०.८०	०.५०

English Publications

	Price Rs.	Postage
Sri Ramacharitmanasa (with Hindi text and English translation)	37.00	14.50
Srimad Bhagavadgita Sadhak-Sanjivani (By Swami Sri Ramsukhdas) Pages 896	32.00	14.00
Srimad Bhagavadgita Sadhak-Sanjivani (English Commentry) Pocket size Volume-I	20.00	8.00
Srimad Bhagavadgita Sadhak-Sanjivani (English commentry) Pocket size Volume-II	20.00	7.50
Srimad Bhagavadgita (with Sanskrit text and English translation) Pages 804	20.00	14.00
Srimad Bhagavadgita—The Gita—A Mirror (Pocket size)	20.00	7.50
The Immanence of God (By Madanmohan Malviya)	0.30	0.50
Gita Madhurya English (By Swami Ramsukhdasji) pages 155	5·00	7·00

	Price Rs.	Postage
In Search of Supreme Abode (By Swami Ramsukhdasji) Pages 146,	4.00	7·00
Benedictory Discourses (By Swami Ramsukhdasji) Pages 186,	3·50	7·00
Art of Living (By Swami Ramsukhdasji) Pages 124	3·00	7·00
How to Lead a Household Life ? (By Swami Ramsukhdasji) Pages 72,	2·50	7·00
How to Be Self Reliant ?Pages 45	1·00	0·50
Gems of Truth [Second Series] (By Jayadayal Goyandka) Pages 216	2·00	7·50
Sure Steps to God-Realization (By Jayadayal Goyandka) Pages 344,	2·25	7·50
What is God ?(BY Jayadayal Goyandka)	0·20	0·50
Path to Divinity—(By Hanumanprasad Poddar) Pages 157	4·50	7·00

चिरप्रतीक्षित 'शक्ति-अङ्क'का पुनर्मुद्रण

लगभग ५६ वर्षपूर्व विक्रम-संवत् १९९१में 'कल्याण' के ९वें वर्षके विशेषाङ्कके रूपमें 'शक्ति-अङ्क' प्रकाशित हुआ था। उस समय बहुत सीमित संख्यामें छपने और शीघ्र समाप्त हो जानेके कारण बहुसंख्यक जिज्ञासु-जन इससे समुचित लाभ न उठा सके। इसकी उत्तरोत्तर बढ़ती लोकप्रियता, माँग और अनेक प्रेमी सज्जनों तथा 'कल्याण'के पाठकोंद्वारा इसके पुनर्मुद्रण-हेतु निरन्तर प्रेमाग्रहको दृष्टिगत रखकर अब वही 'शक्ति-अङ्क' ग्रन्थाकारमें पुनर्मुद्रित किया गया है। इसकी ७०३ पृष्ठोंकी पाठ्य-सामग्रीमें परब्रह्म परमात्माके शक्तिरूपके तात्त्विक विवेचनसहित महिमा, तत्त्व-रहस्य, लीला, धाम तथा उपासना आदिका विशद वर्णन है। इसमें भारतके सुप्रसिद्ध शक्तिपीठोंका सचित्र दिग्दर्शन और देवी-भगवती-सम्बन्धी रोचक आख्यान तथा कथा-प्रसङ्ग भी हैं। रंगीन चित्र १६, सादे चित्र २१० तथा अनेक रेखा-चित्रों और यन्त्रोंसे सुसज्जित इस ग्रन्थका मूल्य ४५.०० (पैंतालीस रुपये) मात्र तथा डाकखर्च ८.०० (आठ रुपये) अतिरिक्त है। इस प्रकार कुल ५३.०० (तिरपन रुपये) मात्र भेजकर इसे प्राप्त कर सकते हैं।

इसकी अधिक प्रतियाँ (थोक-रूपमें) 'गीताप्रेस-पुस्तक-विक्रय-विभाग'से पुस्तकोंके आर्डरके साथमें मँगानेपर नियमानुसार १५% प्रतिशत कमीशन दिया जायगा। इच्छुक सज्जनोंको मँगानेमें शीघ्रता करनी चाहिये।

'कल्याण'का उद्देश्य और इसके नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जन-जनको कल्याणके पथपर अग्रसरित करनेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याण-मार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख 'कल्याण'में प्रकाशित नहीं किये जाते। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने-न-छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदायी नहीं हैं।**

(२) 'कल्याण'का विशेषाङ्कसहित डाकव्ययके साथ अग्रिम वार्षिक शुल्क भारतवर्षमें ५५.०० (पचपन) रुपये और भारतवर्षसे बाहरके लिये ५ पौंड अथवा ८ डालर नियत है।

(३) **'कल्याण'का वर्ष चैत्र शुक्ल प्रतिपदासे आरम्भ होकर चैत्र कृष्ण अमावास्यापर समाप्त हुआ करेगा, अतः ग्राहक वर्षारम्भ—चैत्र शुक्ल प्रतिपदासे ही बनाये जायँगे।** यद्यपि वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं तथापि चैत्र शुक्लसे उस समयतकके (प्रकाशित) पिछले अङ्क उन्हें दिये जाते हैं। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते, छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) **ग्राहकोंको वार्षिक शुल्क मनीआर्डरद्वारा अथवा बैंक-ड्राफ्टद्वारा ही भेजना चाहिये।** वी०पी०पी०से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं। वी०पी०पी० द्वारा 'कल्याण' भेजनेमें ग्राहकोंको ५.०० (पाँच) रुपये वी०पी०पी० शुल्कके रूपमें अधिक भी देने पड़ते हैं, अतः नये-पुराने सभी ग्राहकोंको वार्षिक शुल्क अग्रिम भेजकर ही अपना अङ्क सुरक्षित करा लेना चाहिये। विशेषाङ्कके बचे रहनेकी दशामें ही केवल पुराने ग्राहकोंको ही ६०.०० (साठ) रुपयेकी वी०पी०पी० भेजी जा सकेगी। चेकद्वारा भेजी हुई राशि कदापि स्वीकार न की जा सकेगी।

(५) 'कल्याण' प्रतिमास कार्यालयसे दो-तीन बार जाँच करके ही ग्राहकोंके पतोंपर भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमारे कार्यालयको भेज देना चाहिये। वाञ्छित अङ्क हमारे यहाँ प्राप्त रहनेकी दशामें ही पुनः भेजा जा सकता है, अन्यथा नहीं।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिनोंके पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। पत्रोंमें **'ग्राहक-संख्या', पुराना और नया पूरा पता सुस्पष्ट एवं सुवाच्य अक्षरोंमें लिखना चाहिये।** यदि महीने-दो-महीनेके लिये ही पता बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर अङ्क प्राप्त कर लेनेका प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता बदलनेकी सूचना न मिलनेपर अथवा पर्याप्त विलम्बसे मिलनेपर अङ्क पुराने पतेपर जानेकी दशामें दूसरी प्रति भेजनेमें कठिनाई हो सकती है।

(७) रंग-बिरंगे चित्रोंवाला अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) ही वर्षका प्रथम अङ्क होता है। पुनः प्रतिमास एक साधारण अङ्क ग्राहकोंको उसी शुल्क-राशिमें (बिना मूल्य) दिया जाता है। किसी अनिवार्य कारणवश यदि 'कल्याण'का प्रकाशन बंद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हों, उतनेमें ही संतोष करना चाहिये; **क्योंकि मात्र विशेषाङ्कका ही मूल्य डाक-व्ययसहित ५५.०० (पचपन) रुपये हैं।**

आवश्यक सूचनाएँ

(१) ग्राहकोंको पत्राचारके समय अपना नाम-पता सुस्पष्ट लिखनेके साथ-साथ अपनी **ग्राहक-संख्या** भी अवश्य लिखनी चाहिये। पत्रमें अपनी आवश्यकता और उद्देश्यका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

.) पत्रोंके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या समुचित डाक-टिकट साथमें भेजना आवश्यक है। एक ही विषयके लिये यदि दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रका दिनाङ्क तथा संदर्भाङ्क (पत्र-संख्या) भी अवश्य लिखना चाहिये।

(३) **'कल्याण'में व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।**

(४) नियमतः चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले 'कल्याण'का पूर्वप्रकाशित कोई विशेषाङ्क अथवा गीताप्रेसकी कोई पुस्तक नहीं दी जा सकती।

(५) कोई भी स्थानीय पुस्तक-विक्रेता, प्रतिष्ठान अथवा स्थानीय उत्साही व्यक्ति कम-से-कम ५० प्रतियाँ (५५.०० (पंचपन) रुपये प्रति 'कल्याण'-वार्षिक दरसे) एक साथ 'कल्याण'-कार्यालयसे मँगाकर 'कल्याण'के प्रचार-प्रसारमें सहयोग दे सकते हैं, ऐसा करनेपर उन्हें ५.०० (पाँच) रुपये प्रति ग्राहक या 'कल्याण'-विशेषाङ्कको दरसे प्रोत्साहन-पुरस्कार (कमीशन-रूपमें) दिया जायगा। किंतु उन महानुभावों या प्रतिष्ठानोंको पूरे वर्षभर अपने द्वारा बनाये हुए सभी ग्राहकोंको प्रतिमाह सभी मासिक अङ्क निजी साधनोंसे पहुँचाने होंगे अर्थात् प्रतिमाह अङ्क-वितरणका पूरा दायित्व उन्हींको वहन करना होगा। विशेषाङ्क रेल-पार्सलसे एवं साधारण मासिक अङ्क रजिस्ट्री-डाकद्वारा भेजे जायँगे।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पत्रालय—गीताप्रेस—२७३००५ (गोरखपुर)

योगांकका सब मसाला ग्राहकोंको एक जिल्दमें साथ ही मिल जाय, इसलिये आश्विनका अंक ('कल्याण' तीसरी संख्या) भी इसी जिल्दमें बाँध दिया गया है। 10447

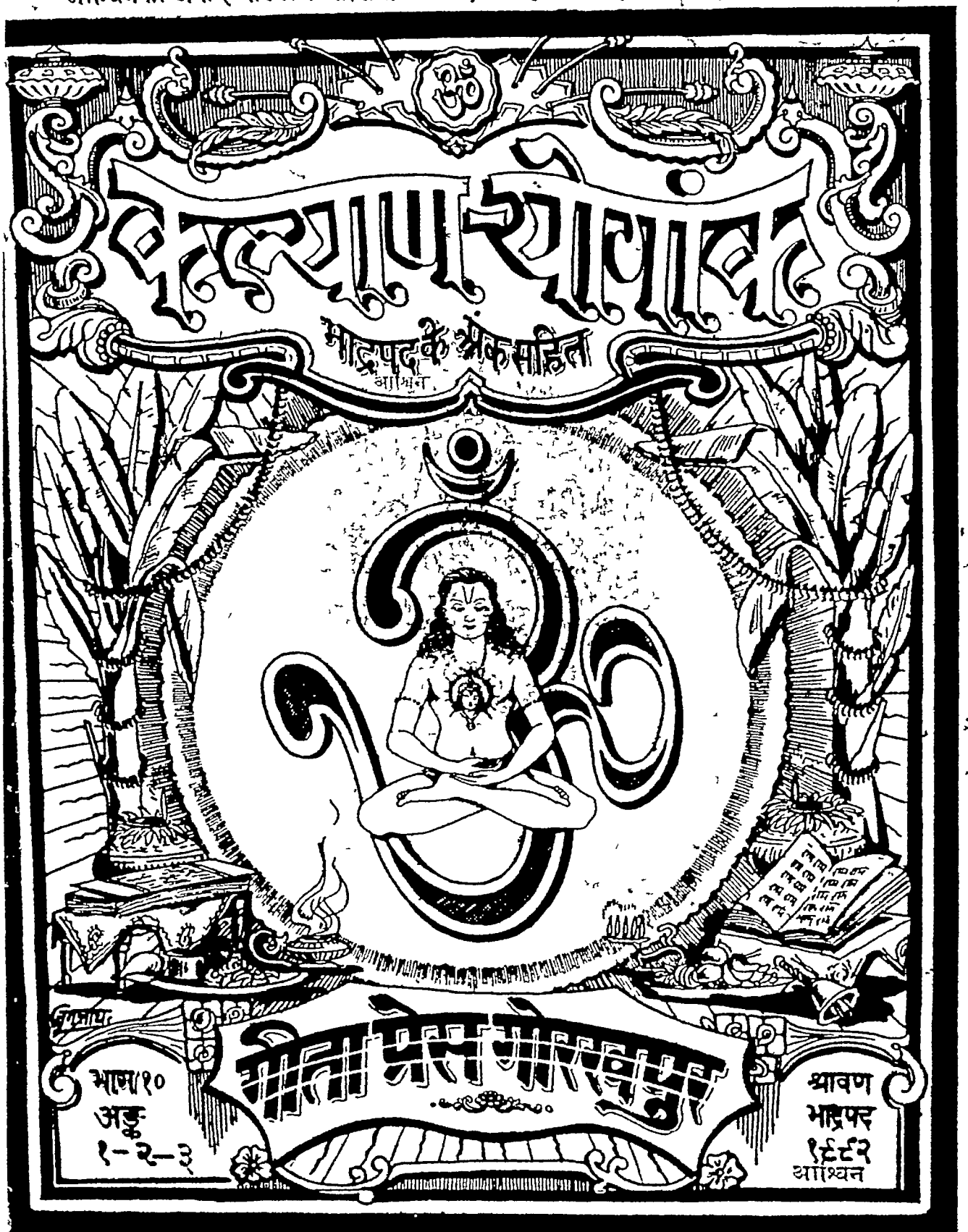

ग्राहकोंको इस प्रकार समझना चाहिये—श्रावणकी संख्या पृष्ठ १ से पृष्ठ ६१६ तक, भाद्रपदकी संख्या पृष्ठ ६१७ से ७६६ तक और आश्विनकी संख्या पृष्ठ ७६७ से ८८२ तक। गतवर्षकी अपेक्षा इस वर्ष सब मिलाकर ९८ पृष्ठ अधिक हैं।

दुर्गतिनाशिनि दुर्गा जय जय, कालविनाशिनि काली जय जय ।
उमा रमा ब्रह्माणी जय जय, राधा सीता रुक्मिणि जय जय ॥
साम्ब सदाशिव साम्ब सदाशिव साम्ब सदाशिव जय शंकर ।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तमहर हर हर शंकर ॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । गौरीशंकर सीताराम ॥
जय रघुनन्दन जय सियराम । व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥

[प्रथम संस्करण ३०१००]

Approved by the Directors of Public Instruction, United Provinces, Bihar and Orissa, Assam, Bombay Presidency and Central Provinces.

कोई सज्जन विज्ञापन भेजनेका कष्ट न उठावें ।

कल्याणमें बाहरके विज्ञापन नहीं छपते ।

समालोचनार्थ पुस्तकें कृपया न भेजें ।

कल्याणमें समालोचनाका स्तम्भ नहीं है ।

वार्षिक मूल्य भारतमें ४≡) विदेशमें ६॥≡) (१० शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

योगाङ्कका मूल्य परिशिष्टांक स० ४) विदेशमें ४॥) साधारण प्रति ।) विदेशमें ।≡)

Edited by L. N. Garde and Hanumanprasad Poddar.
Printed and Published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur U.P. (India)

श्रीगीता और रामायणका प्रसार

परीक्षासमितिकी प्रार्थना

अभी अमेरिकाके प्रसिद्ध वयोवृद्ध विद्वान् तथा भारतवर्षके हितचिन्तक डा० सन्दरलैण्डने अँगरेजी 'कल्याण-कल्पतरु' के 'गीताङ्क'की एक प्रति 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के प्रतिनिधि श्रीचम्मनलालको देकर बड़ा हर्ष प्रकट किया था। वे लिखते हैं कि 'इस गीताङ्ककी दस लाख प्रतियाँ यूरोप, अमेरिका आदि देशोंमें बिकनी चाहिये।' इससे पता चलेगा कि श्रीमद्भगवद्गीताके प्रति जगत्के विद्वानोंके हृदयमें कितना आदर है। गीताका महत्त्व केवल साहित्य या तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे ही नहीं है, प्रधान जीवनशास्त्रके नाते भी है। इसीलिये देशविदेशके सभी विद्वान् गीताके प्रचारके लिये उत्सुक हैं।

क्या ही अच्छा हो यदि जगत्के—खास करके भारत-वर्षके इस किंकर्तव्यविमूढ जीवनमें, जिसमें चारों ओर निराशा-ही-निराशा दिखायी दे रही है, इस दिव्य ज्योतिर्मयी गीताका प्रचार घर-घर हो। और प्रत्येक व्यक्ति इससे प्रकाश और शक्ति प्राप्तकर अपना जीवन सफल बना सके।

श्रीगीताके साथ ही श्रीरामायणका भी अपना एक खास महत्त्व है। सदाचार, समता, प्रेम और विश्व-बन्धुत्वका नाश करके व्यभिचार, कदाचार, विषमता, वैर और वैमनस्यको बढानेवाला साहित्य हमारे पाठ्यक्रममें नहीं रहना चाहिये। यह प्रश्न आज सभी विचारशील पुरुषोंके सामने है।

इसके लिये श्रीरामचरितमानसके साथ ही श्रीतुलसीदास-जीके अन्यान्य सभी ग्रन्थ बड़े उपयोगी हैं। यदि इन ग्रन्थोंके अध्ययनकी व्यवस्था कर दी जाय तो उपर्युक्त प्रश्न सहज ही हल हो सकता है। तुलसीदासजीके ग्रन्थोंमें सदाचार है, उनके शृङ्गारमें भी एक विशेष मर्यादा है, उनमें समाजको सुसंस्कृत, पवित्र और प्रेममय बनानेकी शक्ति है, उनमें निराशामय जीवनको आशापूर्ण, नास्तिक हृदयको आस्तिक एवं अशान्तिपूर्ण चित्तको शान्त बनाने-की शक्ति है।

इसी विचारसे गीता और तुलसीदासजीके अन्यान्य ग्रन्थोंसमेत रामायणकी शिक्षाके प्रचारके लिये 'श्रीगीता-परीक्षासमिति' और 'श्रीरामायणप्रसारसमिति' की स्थापना हुई थी। श्रीगीता रामायणके प्रचारका कुछ कार्य इन समितियोंके द्वारा हो भी रहा है। इन समितियोंके द्वारा अभी केवल परीक्षाका प्रबन्ध है और इनकी स्थापना हुए भी थोडे ही वर्ष हुए हैं, प्रयत्न भी बहुत तीव्र नहीं है, इसपर भी गत वर्ष लगभग ६५०० परीक्षार्थी परीक्षामें बैठे थे। यदि गीता-रामायण-प्रेमी महानुभाव अपने-अपने स्थानोंमें दो-दो गीता-रामायण-परीक्षाके छात्र तैयार करनेका सङ्कल्प कर ले और अपने समीपस्थ किसी केन्द्रमे उनके सम्मिलित करनेकी व्यवस्था करा दें तो इस कार्यका विस्तार बहुत हो सकता है।

जिस प्रकार केन्द्र बनाने और छात्रोंकी सख्या बढाने-की आवश्यकता है, उसी प्रकार लोगोंमें गीता-रामायणकी नियमित पढाई और गीता-रामायणकी शिक्षाके अनुसार जीवन-निर्माणकी भी बड़ी आवश्यकता है। गीता-रामायण-की पढ़ाईकी व्यवस्था तो स्थान-स्थानपर होनी चाहिये। ऐसा होगा तो भारतीय सस्कृति और भारतके गौरवकी रक्षाके साथ-ही-साथ देववाणी सस्कृत और राष्ट्रभाषा हिन्दीके प्रचारमें भी बड़ी सहायता पहुँचेगी।

आशा है कि सभी विचारवान् भाई-बहिन गीता-रामायणकी शिक्षा घर-घर पहुँचानेके प्रयत्नमें तन-मनसे हमारी सहायता करेंगे।

इन समितियोंका कार्यालय 'बरहज' चला गया है, अतएव नियमावली आदि मँगानेके लिये पत्रव्यवहार निम्न-लिखित पतेपर करना चाहिये। परीक्षाओंके लिये आवेदनपत्र भी बरहज भेजने चाहिये।

संयोजक,

श्रीगीतापरीक्षासमिति

या

श्रीरामायणप्रसारसमिति

पो० बरहज (गोरखपुर)

"Kalyana-Kalpataru"

or

The Bliss.

(English Edition of the "Kalyan")

The "Kalyana-Kalpataru" has been in existence for over a year and a half and during this short space of time it has been able to commend itself to the notice of eminent scholars, journalists and lovers of religion almost all over the world, thanks to the unstinted help and ungrudging co-operation received at the hands of its generous contributors, who include saints and savants of this country as well as abroad and representing various faiths and nationalities The "Kalyana-Kalpataru", like its Hindi prototype, issues, at the beginning of each year, a voluminous and profusely illustrated Special Number dealing with one main theme. The inaugural number for the first year was a "God Number" and that for the second year, a "Gītā Number", both of which have been highly appreciated in all quarters for the broad outlook of their contributors, the high standard and variety of their articles, the excellence of their get-up and the attractiveness of their pictures The following are the names of some of our contributors —

His Holiness Jagadguru Sri Sankaracharya of Puri, Sri Aurobindo of world-wide fame, Pandit Malaviya, Mahatma Gandhi, Sadhu Vaswani, Pandit Bhawani Shankar, Sri Anandsarup (Sahebji Maharaj), Dr Ganganath Jha, Principal Dhruva, Principal Gopinath Kabiraj, Sri Krishnaprema Bhikhari (whilom Prof. Nickson), Rev J T Sunderland, Rev Arthur E Massey, Rev Edwin Greaves, Prof F Otto Schrader, Dr Heinrich Lueders, Prof Otto Strauss, Prof Helmuth Glassenapp, Prof Ernest P Horrwitz, Swami Abhedanand, Syt Hirendra Nath Dutt, Swami Asanganand, Swami Yoganand, Swami Sivanand, Syt Nolinikanto Gupta, Syt Anilbaran Ray, Mrs Sophia Wadia, Dr I J S Taraporewalla, Dr M H. Syed, Prof Firoze Cowasji Davar, Dr Radhakamal Mukerjee, Principal Seshadri, etc., etc

The "Kalyana-Kalpataru" supplies about 800 pages yearly and is printed on thick 40 lb paper. The price of its annual Special Numbers is Rs 2/8/- each Subscribers for the whole year will get the Special Number along with eleven ordinary numbers (containing 48 pages and two multi-coloured pictures each) for Rs 4/8/- only, which is very cheap looking to the quality and quantity of the matter supplied.

Subscribers are enrolled from the beginning of the year File for the first year, including the "God Number" can be had for Rs 4/8/- The same, bound in beautiful cloth, can be had for Rs. 5/4/-

॥ श्रीहरिः ॥

श्रीयोगाङ्क और परिशिष्टाङ्क नं० १, २ की विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

१–शरणागतियोग २
२–श्रीमद्भगवद्गीता और योगतत्त्वसमन्वय-मीमांसा (श्रीगोवर्धनपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्री ११०८ श्रीभारती-कृष्णतीर्थजी महाराज) .. ३
३–भक्तियोग और शरणागतियोगका वैलक्षण्य (श्रीकाञ्चीप्रतिवादिभयङ्करमठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीभगवद्रामानुजसम्प्रदायाचार्य श्री ११०८ श्रीअनन्ताचार्य स्वामीजी महाराज) १४
४–हमारा लक्ष्य (श्रीअरविन्द) .. २२
५–महात्मा गान्धीजीका सन्देश .. २६
६–निष्काम कर्मयोगी २६
७–वर्तमान कालमें किस योगका आश्रय लेना चाहिये ? (परम पूज्यपाद श्रीउड़िया स्वामीजी महाराजके विचार, प्रेषक—श्रीमुनिलालजी) २७
८–समाधियोग (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) २८
९–योगतत्त्वम् (श्रीमन्माध्वसम्प्रदायाचार्य दार्शनिक-सार्वभौम-साहित्यदर्शनाद्याचार्य-तर्क-रत्न-न्यायरत्न गोस्वामी श्रीदामोदरजी शास्त्री) ३३
१०–श्रीश्रीशरणागतियोग (अनन्त श्रीस्वामी पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज, अयोध्या) ३४
११–योग (एक जीवसेवक प्रतिष्ठात्यागी महात्मा) ३७
१२–सांख्ययोगी ४२
१३–अष्टाङ्गयोग (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ४३
१४–योगः कर्मसु कौशलम् (महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगङ्गानाथजी झा, एम० ए०, डी० लिट्, एल-एल० डी०) ४८
१५–राजयोग (डॉ० श्रीबालकृष्णजी कौल) . ४९
१६–योगका विषय-परिचय (महामहोपाध्याय आचार्य श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए०, प्रिंसिपल गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज काशी) ५१
१७–योगकी कुछ आवश्यक बातें ... ६१
१८–पिपीलिकामार्ग और विहङ्गममार्ग (गङ्गोत्तरी-निवासी परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती) ... ६३

पृष्ठ-संख्या

१९–गीताका योग (श्रीगीतानन्दजी शर्मा) .. ६४
२०–कल्याण ('शिव') ६६
२१–योगका अर्थ (डॉ० श्रीभगवानदासजी एम० ए०, डी० लिट्) ६८
२२–वेदान्त और योग (डॉ० श्रीमहेन्द्रनाथ सरकार एम० ए०, पी एच० डी०) ... ७२
२३–योग क्या है ? (स्वामी श्रीअभेदानन्दजी पी-एच० डी०) . .. ७६
२४–सुरत-शब्द-योग (श्रीआनन्दस्वरूपजी 'साहेबजी महाराज' दयालबाग, आगरा) .. ७९
२५–वेदोंमें योग (उदासीन परिव्राजकाचार्य, वेददर्शनाचार्य, मण्डलेश्वर स्वामी श्रीगङ्गेश्वरानन्दजी महाराज) .. ८१
२६–ऐतरेय आरण्यकमें प्राणविद्या (प० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य) ८७
२७–उपनिषदोंमें योग-चर्चा (प० श्रीबटुकनाथजी शर्मा, एम० ए०, साहित्याचार्य) ... ९२
२८–उपनिषदोंमें योग (जगद्गुरु भगवत्पाद श्रीरामानन्दसम्प्रदायाचार्य श्री १०८ स्वामी श्रीरघुवराचार्यजी महाराज) ... १०१
२०–तन्त्रमें योग (श्रीअटलविहारी घोष एम० ए०, बी० एल०) १०५
३०–श्रीमद्भागवतमें योगचर्या (प० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम० ए०, साहित्याचार्य) . १०९
३१–श्रीयोगवासिष्ठमें योग (प्रो० डॉ० श्रीभीखनलालजी आत्रेय, एम० ए०, डी० लिट्) ११७
३२–गीतामें योगका स्वरूप (श्रीकृष्णप्रेम भिखारीजी) १२२
३३–गीतामें योगके अनेक अर्थ (दीवानबहादुर के० एस० रामस्वामी शास्त्री, बी० ए०, बी० एल०) १२७
३४–गीतोक्त भक्तियोग या प्रेमलक्षणा भक्ति (महामहोपाध्याय प० श्रीप्रमथनाथ तर्कभूषण) . १३०

पृष्ठ-संख्या

५६–पाशुपतयोगका प्रारम्भिक इतिहास (श्री वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार, एम० ए०) ... २३७
५७–योगशास्त्रके कुछ दार्शनिक सिद्धान्त (स्वामीजी श्रीनित्यानन्दजी भारती) ... २३९
५८–पातञ्जलयोगदर्शनकी प्राचीनता (श्रीमद्योगाचार्य श्रीमन्मौक्तिकनाथजी नैरञ्जन) ... २४८
५९–ग्रन्थिभेद (विद्यालङ्कार प० श्रीशिवनारायणजी शर्मा) ... २५६
६०–ब्रह्मचर्य और योग (ॐ 'श्रीविश्वात्मा') ... २६८
६१–नादानुसन्धान (स्वामीजी श्रीएकरसानन्दजी सरस्वती महाराज) २७१
६२–योग (योगाचार्य श्रीश्रीमदवधूत श्रीज्ञानानन्ददेवजीके उपदेश, प्रे० श्रीउपेन्द्रचन्द्र दत्त) ... २७४
६३–विश्व कल्याण-योग (श्रीअनन्तशङ्करजी फोल्हटकर बी० ए०) २७७
६४–श्रीमच्छङ्कराचार्य और योग (श्रीसुब्रह्मण्य शर्मा सम्पादक 'अध्यात्मप्रकाश') ... २७८
६५–बौद्धधर्ममें योग (डॉ० श्रीविनयतोष भट्टाचार्य एम० ए०, पी-एच० डी०) ... २८०
६६–बौद्धधर्ममें तन्त्रयोग (श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम० ए०, डिप्टी कलेक्टर) २८४
६७–जैनधर्ममें योगविद्या (मुनि श्रीभद्रगुप्तविजयजी न्यायसाहित्यतीर्थ) २९०
६८–जरथोस्तीधर्ममें तीन मार्ग (श्रीएरच जहाँगीर तारापोरवाला, बी० ए०, पी-एच० डी०, बार-एट-ला) २९२
६९–ईसाई-धर्ममें योगका स्थान (रे० एडविन ग्रीव्ज, मेलबार्न, इङ्गलैण्ड) ... २९५
७०–कबीरका योग (श्रीक्षितिमोहन सेन, शान्तिनिकेतन) २९८
७१–स्वामिनारायण-सम्प्रदायमें योग (दार्शनिकचूडामणि षड्दर्शनाचार्य, साङ्ख्ययोगतीर्थ, नव्यन्यायाचार्य प० श्रीकृष्णवल्लभाचार्यजी स्वामिनारायण) ३०३
७२–गङ्गायोग (श्रीरमण महर्षिके एक भक्त) ... ३०७
७३–श्रीअरविन्दका योग (श्रीनलिनीकान्त गुप्त, पाण्डीचेरी) ... ३०९
७४–श्रीअरविन्दका पूर्णयोग (श्रीअनिलवरण राय, पाण्डीचेरी) ३१२

पृष्ठ-संख्या

७५–भृगु-योग (एक 'सेवक') ··· ३१५
७६–तारकयोग (श्रीमन्निजानन्दसम्प्रदायके आदि-पीठस्थ आचार्य श्रीधनीदासजी) ··· ३२०
७७–ऋजु-योग (श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी) ·· ३२२
७८–जपयोग (बालयोगी श्रीबालस्वामीजी महाराज (श्री न० रा० निगुडकरके अनुभवयुक्त विचार), प्रेषक—श्रीराजाराम नारायण वरुलेकर) ··· ३२५
७९–मन्त्रयोगके अंग (श्रीरामेश्वरप्रसादजी वकील) ३३४
८०–सप्त ज्ञानभूमिका (श्रीहरिलाल भोगीलाल त्रिवेदी, वैद्य) ·· ·· ३४२
८१–भोगमें योग (काव्यतीर्थ प० श्रीकृष्णदत्तजी शास्त्री, साहित्यायुर्वेदोभयाचार्य) ··· ३४५
८२–क्लेशोंका स्वरूप और निवृत्ति (सेठ श्री-कन्हैयालालजी पोद्दार) ·· ३४७
८३–योगमाया (प० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, आचार्य, शास्त्री, एम० ए०) ··· ३५४
८४–त्याग और लोकसेवारूप योग (रे० आर्थर ई० मैस्सी, इङ्गलैण्ड) · ·· ३५५
८५–योग शब्द (पण्डितप्रवर श्री श्रीपञ्चाननजी तर्करत्न) ··· ३५८
८६–श्रीरामचरितमानसमें भक्तियोग (श्रीजयराम-दासजी 'दीन' रामायणी) ·· ३६२
८७–मनको वश करनेके कुछ उपाय (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ·· · ३६५
८८–योगबल (पूज्य स्वामीजी श्री श्रीविद्यानन्दजी महाराज) ··· · ३७१
८९–भक्तिके दो रूप—रागानुगा और वैधी (डा० श्रीप्रभातचन्द्र चक्रवर्ती, एम० ए०, पी० आर० एस०, पी-एच० डी०) · ३७५
९०–योग (स्वामीजी श्रीअसगानन्दजी) ··· ३७९
९१–योगमार्गके विघ्न (वैद्यशास्त्री प० श्रीकमला-कान्तजी त्रिवेदी) · · ·· ३८५
९२–श्रीकुण्डलिनी-शक्तियोग (प० श्रीत्र्यम्बक-भास्कर शास्त्री खरे) ··· · ३८७
९३–योग और कुण्डलिनी (श्रीहीरेन्द्रनाथ दत्त एम० ए०, बी० एल०, वेदान्तरत्न) ·· ४०३
९४–बुद्धियोग ही सबसे उत्तम और अन्तिम साधन है (श्रीतपोवन स्वामीजी महाराज) ४०७
९५–हठयोग और प्राचीन राजविद्या अथवा राजयोग (एक 'दीन') ··· ४१३

पृष्ठ-संख्या

९६–समाधियोग (श्री श्रीधर मजूमदार एम० ए०) ४२०
९७–योगकी प्राचीनता (प० श्रीविधुशेखर भट्टाचार्य, एम० ए०, विश्वभारती, शान्ति-निकेतन) ·· ·· ४२४
९८–योग और उसके फल (स्वामी श्रीशिवानन्द-जी सरस्वती) ·· ४२५
९९–गीताका योग (स्वामी श्रीसहजानन्दजी सरस्वती) · · ४३०
१००–अष्टाङ्गयोग (प० श्रीसीतारामजी मिश्र, साहित्याचार्य, काव्य-व्याकरण-सांख्यतीर्थ) ४३५
१०१–अष्टाङ्गयोग (श्रीरामचन्द्रजी रघुवंशी 'अखण्डानन्द') ·· ··· ४४१
१०२–ध्यान-योग (साहित्यरत्न प० श्रीयमुना-प्रसादजी शर्मा, पालीवाल) · ४५१
१०३–ध्यानयोग (हनुमानप्रसाद पोद्दार) · ४५३
१०४–चौरासी सिद्ध तथा नाथ-सम्प्रदाय (श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम० ए०) ४६८
१०५–योगेश्वरेश्वरका रासलीला-महायोग (श्रीसुरेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, बी० ए०, बी० एल०) · · ४७२
१०६–प्रेमयोगकी कुछ अवस्थाएँ (प० श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी) ·· ४८७
१०७–प्रेमयोगिनी मीरा (प० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र, 'माधव' एम० ए०) ··· ४९४
१०८–प्रेमयोग · ··· ५००
१०९–वियोग (आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी) ··· ··· ५०४
११०–विरहयोग (प० श्रीतुलसीरामजी शर्मा 'दिनेश') ·· ··· ५०५
१११–व्रजगोपियोंकी योगधारणा (प० श्रीप्रेम-नारायणजी त्रिपाठी 'प्रेम') ५०८
११२–महर्षि पतञ्जलि और योग (महात्मा श्रीनारायणस्वामीजी महाराज) ·· ५०९
११३–योग, योगवित् और योगवित्तम (हरिभक्तिपरायण प० श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत) ५१३
११४–षट्समाधिका अभ्यास (श्रीशिवपुत्र स्वामी, श्रीसिद्धारूढमठ, हुबली) ·· ··· ५२३
११५–योगस्वरूप-दिग्दर्शन (श्रीआनन्दघनरामजी) ५२५

पृष्ठ-संख्या

११६–आसनोंसे लाभ (स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी) ५२७
११७–चित्तकी दशाएँ (विद्यामार्तण्ड प० श्रीसीतारामजी शास्त्री) ... ५३२
११८–गीताका कर्मयोग (श्रीयुत वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय एम० ए०) ५३४
११९–मेस्मेरिज्म और हिप्नॉटिज्म (डा० श्रीदुर्गाशङ्करजी नागर, सम्पादक 'कल्पवृक्ष') ५३८
१२०–गुरु तत्त्व (प० श्रीकेशवदेवजी शर्मा) ... ५४५
१२१–गुरु-तत्त्व (प० श्रीरामनारायणजी झा, ज्योतिषाचार्य, ज्योतिषतीर्थ, साहित्यकेसरी, साहित्यशास्त्री) ... ५४९
१२२–गुरु-तत्त्व ... ५५१
१२३–दीक्षा-तत्त्व (गोस्वामी श्रीलक्ष्मणाचार्यजी) ५५२
१२४–प्राणायामविषयक मेरा अनुभव (स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज) ... ५५४
१२५–प्राणायामका शरीरपर प्रभाव (स्वामी श्रीकुवलयानन्दजी, कैवल्यधाम) ... ५६१
१२६–स्वरविज्ञान और विना औषध रोगनाशके उपाय (परिव्राजकाचार्य परमहंस श्रीमत् स्वामी श्रीनिगमानन्दजी सरस्वती) ... ५७१
१२७–षट्कर्म (श्रीकमलाप्रसादसिंहजी) ... ५८१
१२८–पादुका-पञ्चक (श्रीरामदयाल मजूमदार एम० ए०, सम्पादक 'उत्सव') ... ५८९
१२९–योगसे भगवत्प्राप्ति (प० श्रीमाधव बालशास्त्री दातार) ५९२
१३०–मृत्युञ्जययोग ५९३
१३१–गीतामें योग, योगी और युक्त शब्दोंके विभिन्न अर्थ (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ५९४
१३२–पूर्णयोग (स्वामी श्रीमित्रसेनजी महाराज सम्पादक 'प्रेमविलास') ... ५९५
१३३–निष्काम कर्मयोगको कब समझेंगे ? (श्रीभगवानदासजी केला) ५९६
१३४–संसार-योग (प० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे) ५९७
१३५–योगकी शक्ति (श्रीचिन्ताहरण चक्रवर्ती एम० ए०, काव्यतीर्थ) ५९९
१३६–अनन्ययोग (भक्तियोग) (प० श्रीकलाधरजी त्रिपाठी) ६०१
१३७–साख्ययोग (प्रो० श्रीलौटूमिश्रजी गौतम एम० ए०, ए० टी०, काव्यतीर्थ, एम० आर० ए० एम०) ६०५

पृष्ठ-संख्या

१३८–साख्ययोग (प० श्रीछजूरामजी शास्त्री, विद्यासागर) ... ६०८
१३९–नामसङ्कीर्तनयोग (श्री श्रीधर विनायक माण्डवगणे) ६०९
१४०–योगनिरूपण (प० श्रीमदनमोहनजी शास्त्री, प्रिंसिपल, मारवाड़ी संस्कृत कालेज, काशी) ६११
१४१–योगशिक्षाका महत्त्व (डॉ० श्री आर० शामशास्त्री, बी० ए०, पी-एच० डी०) ... ६१४

परिशिष्टाङ्क नं० १ भाद्रपदका अंक

१४२–प्रार्थना (प्रे० सोलननरेशाश्रित श्रीमार्तण्ड पञ्चागकर्त्ता) ६१८
१४३–लययोग (श्रीसुन्दरलाल नाथालाल जोशी, विद्यावारिधि, एम० आर० ए० एस०) ... ६१९
१४४–जडयोग (श्री 'माधव') ६२२
१४५–व्यक्तियोग (एक 'दूरस्थ') ... ६२६
१४६–योग और योगी (श्रीतारकनाथ सान्याल, एम० ए०) ६२९
१४७–त्रिविधयोग (श्रीनकुलेश्वर मजूमदार विद्यानिधि बी० ए०, ए० टी० सी०) ६४०
१४८–अ-क-थ-चक्र, सहस्रार, युक्तत्रिवेणी, मुद्रादिका रहस्य (प० श्रीशिवनारायणजी शर्मा सेंगई) ६४७
१४९–नमः प्राणाय यस्य सर्वमिद वशे (श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल, एम० ए०, एल-एल० बी०) ६५५
१५०–गीतामें योगका उल्लेख (श्रीरामप्रसादजी पाण्डेय, एम० ए०) ६५८
१५१–शिवयोगमन्दिर (श्रीचिद्घन शिवाचार्यजी) ६६१
१५२–योगविद्या (प० श्रीहनूमान्जी शर्मा) ... ६६३
१५३–श्रीकैवल्यधाम ... ६६९
१५४–उदरसम्बन्धी यौगिक व्यायाम (राजरत्न प्रो० श्रीमाणिकरावजी, बडोदा) ... ६७०
१५५–यौगिक व्यायामका अभ्यासक्रम ... ६७४
१५६–पेटके आसन ६८२
१५७–स्नायुबलसवर्धन ६८६
१५८–समाधि और सयमतत्त्वसार (श्रीश्रीभार्गव श्रीशिवरामकिङ्कर स्वामी श्रीयोगत्रयानन्दजीके उपदेश) ६९१
१५९–योगद रहस्यवु (कर्नाटकी भाषा) (श्रीरङ्गनाथ रामचन्द्र दिवाकर, एम० ए०) ६९९

पृष्ठ-सख्या

१६०–नाथपन्थमें योग (श्रीपीताम्बरदत्तजी बडथ्वाल, एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट्) ७०१
१६१–गीतान्तर्गत अष्टादशाङ्गयोग (प० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे) ७०७
१६२–समाधियोग (बाबा श्रीराघवदासजी) ... ७११
१६३–योग-तत्त्व (श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडिया) ७१३
१६४–योग क्या है ? (श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल) ... ७१८
१६५–योग तथा योगविभूति (महामहोपाध्याय प० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए०, प्रिंसिपल गवर्नमेण्ट सस्कृत कालेज, काशी) ... ७२३
१६६–भारतीय प्रस्तरकला और योग (प० श्रीवासुदेवजी उपाध्याय, एम० ए०) ... ७३४
१६७–योगका प्रयोग (काका कालेलकरजी) ... ७३७
१६८–प्रणवोपासना (सरदार श्रीमन्त रामराव कृष्ण-जटार, मुमताजुद्दौला बहादुर) ... ७३९
१६९–पातिव्रतयोग (प० श्रीप्रेमवल्लभजी त्रिपाठी शास्त्री, धर्माचार्य) ७४०
१७०–प्राणब्रह्म (योगी श्रीनारायणस्वामीजी महाराज) ७४३
१७१–सूर्यविज्ञान (महामहोपाध्याय प० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम० ए०) ... ७४७
१७२–सत्सगयोग (महात्मा श्रीबालकरामजी विनायक) ७६०
१७३–क्षमायाचना (सम्पादक) ... ७६४

पद्य

१–प्रार्थना (श्रीमती 'सुदर्शनदासी'जी) ... ८०
२–योग-मठ (श्रीनरसिंहजी पाण्डेय 'पथिक') .. ११६
३–प्राणप्यारे (श्रीमान् महाराज राणा राजेन्द्र-सिंहजू देव बहादुर 'सुधाकर', झालावाड़-नरेश) १४०
४–योगिराजके प्रति (प० श्रीसरयूप्रसादजी शास्त्री 'द्विजेन्द्र') १४६
५–विरक्त (श्रीपन्यासजी महाराज विजय-माणिक्यरुचिजी यति 'मानिक') ... १४८
६–अमर भये (स्व० योगिवर्य श्रीआनन्द-घनजी 'यति', प्रेषक—श्रीपन्यासजी महाराज रेवेरैण्ड) २१०

पृष्ठ-सख्या

७–प्रेमयोगी (श्रीरघुवीरशरणजी जौहरी) ... २३६
८–विरले योगी (स्व० योगिवर्य महात्मा श्रीचिदानन्दजी यति) २४७
९–सांख्ययोग (मेवाड़ी भाषामें) (स्व० महाराजसाहब श्रीचतुरसिंहजी रचित, प्रेषक—श्रीजगदीशजी) २६७
१०–योगवीणा (प० श्रीसत्यनारायणजी पाण्डेय 'सत्य') ४६७
११–अनासक्तियोग (प० श्रीरामनारायणदत्तजी पाण्डेय, व्याकरणसाहित्यशास्त्री) ... ५१२
१२–सिद्ध-योगी (प० श्रीजगदीशजी झा 'विमल') ५३७
१३–प्रेम-सन्देश (श्रीगोविन्दरामजी अग्रवाल) ... ५४४
१४–अन्तर्वेदना (श्रीचन्द्रनाथजी मालवीय 'वारीश') ५७०
१५–कर्मयोग (कविसम्राट् प० श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरि औध') ... ६१६
१६–योगमें नौ रस (प० श्रीशिवधनीरामजी मिश्र, 'साहित्यविशारद') ६२७
१७–योगाष्टक ('प्रेमयोगी मान') . ६३८
१८–वटोहीसे (प० श्रीपद्मकान्तजी मालवीय) ६६८
१९–सवाद (स्वामी श्रीसर्वजीतपुरीजी) ... ७२२
२०–योगका योग (म० पुरोहित श्रीप्रतापनारायणजी, ताज़ीमी सरदार) .. ७४६
२१–प्रेमयोग (श्रीगोहित परमानन्दजी) .. ८८३

संगृहीत

१–प्रार्थना (ऋग्वेदसे) १
२–ससारकी नश्वरता (श्रीदयाबाईजी) .. ५०
३–ध्यान (श्रीनारायण स्वामीजी) ... २७३
४–शुद्धस्वरूप (श्रीभीखा साहब) .. २८३
५–अमीवर्षा (श्रीदादूजी) २८९
६–जागो ! (श्रीधरनीदासजी) ... २९४
७–सन्त-महिमा (श्रीगुलाल साहब) .. ६१०
८–प्रार्थना ६१७
९–आत्मदर्शन (श्रीसुन्दरदासजी) ... ६८१

(परिशिष्टाङ्क नं० २ आश्विनके अङ्ककी विषय-सूची)

पृष्ठ-संख्या

१–सच्चा योगी [संग्रहीत कविता] (कबीरसाहबजी) ७६७
२–योगी वरं शिव वन्दे वन्दे योगेश्वरं हरिम् ... ७६८
३–भगवान् हिरण्यगर्भ ७६८
४–भगवान् दत्तात्रेय ७६८
५–योगी याज्ञवल्क्य ७६९
६–योगाचार्य पतञ्जलि ७६९
७–देवर्षि नारद ७६९
८–योगी नारद ७६९
९–राजर्षि जनक ७७०
१०–श्रीशुकदेव मुनि ७७०
११–भक्त प्रह्लाद ७७०
१२–भक्त ध्रुव ७७१
१३–श्रीश्रीशङ्कराचार्य ७७२
१४–श्रीश्रीरामानुजाचार्य ७७२
१५–श्रीश्रीवल्लभाचार्य ७७३
१६–श्रीश्रीनिम्बार्काचार्य ७७४
१७–श्रीश्रीमध्वाचार्य ७७४
१८–स्वामी श्रीरामानन्दजी ७७५
१९–श्रीमद्विद्यारण्य महामुनि ७७५
२०–श्रीश्रीकृष्णचैतन्यदेव ७७५
२१–महात्मा कबीरजी ७७६
२२–गुरु नानकदेवजी ७७७
२३–योगिराज श्री श्रीचन्द्रजी ७७७
२४–योगिराज स्वामी देवचन्द्रजी और योगिवर श्रीप्राणनाथजी महाराज (श्रीरणछोड़वीरजी) ७८१
२५–जैनयोगी आनन्दघनजी (श्रीअनेकान्तीजी) ७८१
२६–महात्मा ईसा ७८२
२७–महात्मा जरथुस्त्र ७८२
२८–श्रीमत्स्येन्द्रनाथ ७८३
२९–श्रीजालन्धरनाथ ७८३
३०–योगिराज श्रीगोरखनाथ ७८३
३१–योगी गोरखनाथजी (कहानी) (श्रीसत्यनारायण चित्रगुप्त) ७८४
३२–योगी भर्तृहरि ७८६

बंगालके योगी

३३–योगिवर श्यामाचरण लाहिड़ी (पं० श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल) ... ७८७
३४–परमहंस श्रीरामकृष्णदेव ७८८
३५–पागल बाबा ७८९
३६–प्रभु जगद्बन्धु ७९०
३७–श्रीमहानन्दगिरिजी (पिताजी महाराज) (श्रीभवानन्दजी पिताजी तथा 'मातृशरणजी') ७९१
३८–श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी ७९१
३९–हुजूर पुरनूर (श्रीअब्दुल गफ्फार) ... ७९२
४०–आसामके प्रसिद्ध भक्तयोगी (बाबा श्रीराघवदासजी)
१ श्रीशङ्करदेव ७९४
२ श्रीमाधवदेव ७९५

विहारके योगी

४१–धरनीदासजी ७९६
४२–दरिया साहब (विहारवाले) ... ७९६
४३–स्वामी श्रीमस्तरामदेव उत्तराखण्डी (स्वामी श्रीपरमानन्दजी) ... ७९६

४४–उत्कलके भक्तयोगी (बाबा श्रीराघवदासजी)
१ महाभागवत श्रीजगन्नाथदासजी ... ७९७
२ महात्मा श्रीबलरामदासजी ... ७९८
३ महाभागवत श्रीअच्युतानन्ददासजी ... ७९९

युक्तप्रान्तके योगी

४५–भक्त सूरदासजी ८००
४६–गोस्वामी तुलसीदासजी ८००
४७–संत रैदासजी ८०१
४८–योगी पलटूजी ८०१
४९–महात्मा जगजीवनजी ८०२
५०–महात्मा भीखाजी ८०२
५१–चुल्ला साहब ८०३
५२–महाराज गुलालजी ८०३
५३–दूलनदासजी ८०३
५४–महात्मा घनंदासजी ८०४
५५–बाबा मलूकदासजी ८०४
५६–श्रीबिहारीबाबा ८०५
५७–स्वामी भास्करानन्दजी सरस्वती ... ८०५
५८–सद्गुरु परमहंस अनन्तमहाप्रभुजी महाराज (बाबा श्रीराघवदासजी) ८०६
५९–गोरखपुरके खाकी बाबा (म०श्रीबालकरामजी विनायक) ८०७

पृष्ठ-संख्या

६०–स्वामीजी श्रीहीरादासजी (भक्त श्रीराम-शरणदासजी) ८१२
६१–श्रीदूल्हेबाबाजी (मुंशी श्रीलालताप्रसादजी) ८१२
६२–श्रीनारायण स्वामीजी ८१३
६३–परमहंस रामदासजी (श्रीकेशरीनन्दनप्रसादजी) ८१३
६४–स्वामी गोमतीदासजी ८१४
६५–महात्मा श्रीरूपकलाजी ८१५

राजपूतानाके योगी

६६–महात्मा चरनदासजी ८१६
६७–दरिया साहब (मारवाड़वाले) ... ८१६
६८–सहजोबाई और दयाबाई ८१६
६९–श्रीजाम्भोजी महाराज (श्रीसदासुखजी विश्नोई) ८१७
७०–स्वामी श्रीहरिपुरुषजी महाराज (वैष्णव साधु श्रीदेवादासजी) ८१७
७१–योगी मावजी (श्रीभवानीशङ्करजी उपाध्याय) ८१७
७२–महात्मा दादूजी ८१८
७३–महात्मा सुन्दरदासजी . .. ८१९
७४–योगप्रेमी महाराजा मानसिंहजी (साहित्याचार्य पं० श्रीविश्वेश्वरनाथजी रेऊ) ... ८१९
७५–श्रीफूलनारायण-आश्रमके स्वामीजी (कुँवर श्रीअमृतलालजी अवस्थी) ८२१
७६–योगिनी मोतीबाई (पुरोहित श्रीहरिनारायणजी, बी० ए०) ... ८२१
७७–महात्मा प० गणेशजी ८२४
७८–बाबा श्रीरामनाथजी (श्रीयुगलकिशोरजी बिड़ला) ८२५
७९–योगिवर श्रीकुशलानन्दजी उर्फ मौनीजी (श्रीयुगलकिशोरजी अग्रवाल) ... ८२६
८०–योगी महाराज चतुरसिंहजी (श्रीनाथूलाल भागीरथजी व्यास, अजमेर) ... ८२७
८१–योगीन्द्र श्रीशीलनाथ महाराज (श्रीबालमुकुन्दजी व्यास, उज्जैन) ८२८

पंजाब-सिन्धके योगी

८२–सिन्धुप्रदेशके प्रसिद्ध योगिराज (श्रीवनखंडीजी उदासीन) (श्रीमान् परमहंस परिव्राजकाचार्य हिन्दूधर्मरक्षक श्रीस्वामी हरिनामदासजी उदासीन, महन्त श्रीसाधुबेलातीर्थ, सक्खर, सिन्ध) ... ८३०

पृष्ठ-संख्या

८३–महात्मा गरीबदासजी ८३१
८४–यारी साहब ८३१
८५–महात्मा मथुरादासजी (प० श्रीहरिदत्तजी शास्त्री पञ्चतीर्थ) ८३१
८६–स्वामी श्रीरामदास काठियाबाबाजी (स्वामी श्रीसतदास बाबाजीकी पुस्तकसे) ... ८३२
८७–स्वामी श्रीआत्मस्वरूपजी ८३३
८८–महात्मा ब्रह्मप्रकाशजी (एक महात्माजीसे प्राप्त) ८३३
८९–स्वामी रामतीर्थजी (श्री 'माधव') .. ८३४
९०–श्रीहँड़िया बाबा (श्री 'मातृशरण'जी) ... ८३५
९१–सत सियारामजी महाराज .. ८३६
९२–बाबा भगवान् नारायणजी (श्रीजिज्ञासानन्द-जी शर्मा) ८३६

गुजरातके योगी

९३–भक्त नरसी मेहता ८३७
९४–श्रीमनमनबाईजी ८३८
९५–गुजरातके तीन योगी (साधु श्रीगोमतीदासजी)
१ योगिराज श्रीनत्थूरामजी .. ८३८
२ योगीन्द्र श्रीत्रिकमाचार्यजी ... ८३८
३ जैनयोगीन्द्र श्रीराजचन्द्रजी ... ८३८
९६–श्रीमाधवजी महाराज (श्रीरामचन्द्रजी रघुवंशी 'अखण्डानन्द') ... ८३८
९७–स्वामी श्रीनित्यानन्दजी महाराज (श्रीमोती-लाल जे० मेहता) ८३९
९८–श्रीनर्मदातटके कुछ महात्मा
१ श्रीरामजी बाबा ८४०
२ श्रीकमलभारतीजी ८४०
३ श्रीगौरीशंकरजी महाराज ... ८४०
४ श्रीनर्मदानन्दजी ८४०
५ श्रीकृष्णानन्दजी ८४०
६ श्रीमौनी महाराज ८४१
७ श्रीमती रमाबाई ८४१
८ चन्द्रशेखरानन्दजी महाराज ... ८४१
९ श्रीब्रह्मानन्दजी महाराज ... ८४१

बराड़, महाराष्ट्र और दक्षिणके योगी

९९–बरारके कुछ योगी (श्री ए० गो० सप्रे)
१ उमरदेव ८४२
२ सुपेनाथ बुवा ८४२
३ फतेपुरी बुवा ८४२

पृष्ठ-संख्या

४ महासिद्ध बुवा ८४२
५ लोकेबा .. . ८४२
६ आवजी बुवा ८४२
७ बालगोविन्द बुवा ८४३
८ सावजी बुवा ८४३
९ छोटे महासिद्ध बुवा . . ८४३
१० वीरोबा ... ८४३
११ सोनाजी बुवा ... ८४३
१२ नरसिंगदास बाबा . . ८४३
१३ देवनाथ ८४३
१४ दयालनाथ ८४३
१५ झिंगरा . ८४३
१६ खटिया बुवा ८४३
१७ गुलाबराव महाराज .. ८४३
१८ आप्पाजी महाराज (स्थान वणी) ... ८४४
१९ रामकृष्ण बुवा (स्थान वाशिम) .. ८४४
२० विष्णुदास (स्थान माहुरगड) . ८४४
२१ सखाराम महाराज (लोणी) .. ८४४
२२ गोसावीनन्दन (सिंदखेड) ... ८४४
२३ रंगनाथ महाराज (सिंदखेड) . ८४४
२४ स्वामी अवधूतानन्द (चांगेफल) ... ८४४
२५ बाळाभाऊ महाराज (मेहेकर) ... ८४५
२६ शिवचरणगीर महाराज (अकोला) ८४५
२७ नर्मदागीर बुवा ८४५
२८ गोविन्द बुवा (वाशीं टाकली) . ८४५
२९ गजानन महाराज (शेगाँव) .. ८४५
३० गोमाजी महाराज (नागझरी) . ८४६
३१ सैयद अम्मा साहिबा (अकोला) ... ८४६
३२ सादवल वली (सादवल) ८४६
३३ अमृतराय ८४६
१००–श्रीचागदेव महाराज (प० श्रीनरहर शास्त्री-जी खरशीकर) ८४६
१०१–श्रीज्ञानेश्वर महाराज ... ८४८
१०२–श्रीएकनाथ महाराज ८४९
१०३–समर्थ गुरु रामदास . .. ८४९
१०४–श्रीतुकाराम महाराज ८५०
१०५–भक्त नामदेवजी .. . ८५१
१०६–योगी सोहिरोबानाथ आंबिये ... ८५२
१०७–श्रीमाणिक्य प्रभु ८५३

पृष्ठ-संख्या

१०८–श्रीमत्परमहंस वासुदेवानन्द सरस्वती (डा० श्री० म० वैद्य, एल० एम० एस०) ... ८५३
१०९–श्रीसिद्धारूढ स्वामी महाराज ... ८५५
११०–श्रीमत्परमहंस स्वामी नारायणानन्दजी सरस्वती (श्रीकेशवसुतजी, काशी) ... ८५६
१११–भागवतयोगी श्रीबालशास्त्री दातार ... ८५६
११२–योगिराज श्रीसदाशिवेन्द्र सरस्वती (आचार्य प० श्रीहरिदत्तजी शास्त्री, पञ्चतीर्थ) ... ८५७
११३–सिद्धयोगी श्रीजनार्दन स्वामी (ज्योतिः-काव्यालङ्कारभूषण प० श्रीविष्णु बालकृष्णजी जोशी, कन्नडकर) ८५८
११४–श्रीयोगानन्द मानपुरी बाबा ,, ,, ... ८५८
११५–राजयोगी श्रीटीकाराम नाथ महाराज ,, ,, .. ८५९
११६–महात्मा तैलंग स्वामी ८६०
११७–श्रीशेषाद्रि स्वामी (श्री 'मातृशरण') ... ८६२

तिब्बत और हिमालयके योगी

११८–हिमालयके महापुरुष ८६३
११९–तिब्बतके लामा योगी (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) ८६४
१२०–तिब्बतके सत योगी ...
१ डॉन-टॉन-पा (Don-ton-pa) ८६६
२ पो टो-पा (Po-to-pa) ८६६
१२१–बौद्धयोगी ...
१ अवलोकितेश्वर ... ८६६
२ भव्य ८६६
३ अर्हत सुभूति ८६६
४ रत्नाकर शान्ति ८६६
५ मञ्जु श्रीकीर्ति ८६६

थियोसोफी मतके योगी

१२२–कर्नल ऑलकॉट ८६७
१२३–मैडम ब्लेवेत्स्की ८६८
१२४–योगी टी० सुब्बाराव (प० श्रीभवानी-शङ्करजी महाराज) ८६९
१२५–कुछ योगियोंके विषयमें मेरी व्यक्तिगत अभिज्ञता (श्रीउपेन्द्रचन्द्र दत्त) ... ८७२
१२६–एक सिद्ध पुरुषका दर्शन (चतुर्वेदी प० श्री-द्वारकाप्रसादजी शर्मा) ... ८७५
१२७–नम्र निवेदन ८७९
१२८–चित्र-परिचय ८८०
१२९–गीताप्रेमियोंसे नम्र निवेदन ... ८८४

चित्र-सूची

पृष्ठ-संख्या

बहुरंगे

१-योग (श्रीविनयकुमार मित्र) मुखपृष्ठ
२-योगीश्वर श्रीशिव (,, ,,) ... १
३-ध्यानमग्ना सीता (श्रीजगन्नाथ) ... २४
४-अष्टाङ्गयोग (श्रीविनयकुमार मित्र) ... ४८
५-ज्ञानयोगी शुकदेव (,,) ... ७२
६-ज्ञानयोगी राजा जनक (श्रीहकीम) .. ८८
७-योगेश्वरका योगधारणासे परम प्रयाण (श्रीजगन्नाथ) ११२
८-योगाश्रम (श्रीहकीम) १६०
९-नवधाभक्ति (श्रीविनयकुमार मित्र) ... १८८
१०-विविध योग (,, ,,) ... २०८
११-महायोग (श्रीलक्ष्मी-नारायण) (मियाँ वसन्त-सिंहजी जागीरदार) ... २३३
१२-ध्यानस्थ भगवान् बुद्धदेव (श्रीसोमालाल शाह) २८०
१३-ध्यानमग्न भरत (श्रीजगन्नाथ) ... ३२८
१४-सप्तज्ञानभूमिका (श्रीविनयकुमार मित्र) ... ३४४
१५-मर्यादायोग (श्रीसीताराम) (श्रीप्रेमचन्द्र, झालरापाटन) ३६४
१६-आधारचक्र (श्रीधनुषराम) ३८८
१७-स्वाधिष्ठानचक्र (,,) ... ३८८
१८-मणिपूरकचक्र (,,) ... ३८९
१९-अनाहतचक्र (,,) ... ३८९
२०-विशुद्धाख्यचक्र (,,) ... ३९२
२१-आज्ञाचक्र (,,) ... ३९२
२२-शून्यचक्र (,,) ... ३९३
२३-षट्चक्रमूर्ति (,,) ... ३९३
२४-गोलोकमें नरसी मेहता (श्रीसोमालाल शाह) ४२०
२५से२८-गोपियोंकी योगधारणा(श्रीविनयकुमार मित्र)४६७
२९-अनन्ययोग—श्रीराधाकृष्ण (श्रीविनय-कुमार मित्र) ४८४
३०-प्रेमयोगिनी मीरा (श्रीसोमालाल शाह) ... ४९७
३१-जाग्रदवस्था चित्र न० १ (श्रीजगन्नाथ) ... ५३२
३२-स्वप्नावस्था चित्र न० २ (,, ,,) ... ५३२
३३-सुषुप्ति अवस्था चित्र न० ३ (,, ,,) ... ५३२
३४-तुरीयावस्था चित्र न० ४ (श्रीविनयकुमार मित्र) ५३२
३५-भक्तियोग चित्र न० ५ (,, ,,) .. ५३३
३६-सकीर्तनयोगी श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु (श्रीधनुषराम) ६०९
३७-जडयोग (श्रीजगन्नाथ) ६२२
३८-प्रेमयोगी नारद (श्रीविनयकुमार मित्र) ... ६३९
३९-नित्ययोग (सहस्रारमें शिवशक्ति) (मियाँ वसन्तसिंहजी जागीरदार) ... ६४७
४०-तपस्विनी (श्रीसोमालाल शाह) ... ६५०
४१-योगाग्नि (श्रीजगन्नाथ) ७२३
४२-प्रणव-योग (मियाँ वसन्तसिंहजी जागीरदार) ७३९
४३-योगमाया (श्री यू० के० मित्र) ... ७६०
४४-ध्यानयोगी ध्रुव (श्रीविनयकुमार मित्र) टाइटल परिशिष्टाङ्क नं० २ (आश्विनकी सख्या)
४५-श्रीश्रीशङ्कराचार्य (श्रीदत्तात्रेय देवलालीकर) ७६७
४६-प्रेमी भक्त श्रीसूरदासजी (प्राचीन चित्र) ... ७६७
४७-अवलोकितेश्वर } पटना म्यूजियमसे प्राप्त ८६६
४८-भव्य }

दुरंगे

४९-योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण (श्रीकनू देसाई) ... ३०४
५०-समाधिस्थ शिव (,, ,,) .. ३६०

इकरंगे

५१-योगदर्शन मूल .. ८
५२-ॐकार-महिमा ९
५३-सारनाथकी बुद्धप्रतिमा २८६
५४-दीपङ्कर श्रीज्ञान (अतिशा) २८६
५५-तिब्बतके दलाई लामा २८६
५६-तिब्बतके ताशी लामा २८६
५७-तकलकोटके राजमार्गका दृश्य ... २८८
५८-तिब्बतका विहङ्गमदृश्य २८८
५९-दलाई लामाका पोटाला राजमहल ... २८८
६०-ॐ मणिपद्मे हु २८९
६१-लामा मन्त्रजपकी चर्खी घुमा रहे हैं ... २८९
६२-षट्चक्र चित्र न० १ ... .. ३९०
६३-षट्चक्र चित्र नं० २ ... ... ३९०
६४ से १४६-चौरासी सिद्धोंके ८३ चित्र ... ४७२
१४७-अजन्तागुफा न० १९ का सामनेका दृश्य ४७३

पृष्ठ-संख्या

१४८–अजन्तागुफा, मन्दिरोंकी गुफा न० २६ का सामनेका दृश्य ४७३
१४९–आरोग्य तेजस् ५४०
१५०–ऑडिलिक फोर्स ५४०
१५१–इच्छाशक्ति और सूचनाका प्रयोग ... ५४०
१५२–डाक्टर ब्रेडका हिप्नॉटिज़्मका तरीका ... ५४०
१५३–प्राणायामका चार्ट ५६०
१५४–मूल, उड्डीयान और जालन्धरबन्ध ... ५६८
१५५–महर्षि पतञ्जलिका योगोपदेश भाद्रपदका सुखपृष्ठ
१५६–शिवयोग मन्दिर ६६०
१५७–वसवलिङ्ग स्वामीजी एलदूर ... ६६१
१५८–महत स्वामीजी, इळकल . . ६६१
१५९–डानग्रह श्रीकुमार शिवयोगीजी .. ६६१
१६०–कैवल्यधाम—लोनावला ६६८
१६१–कैवल्यधाम—विहङ्गम दृश्य ... ६६८
१६२–कैवल्यधाम—बम्बई शाखा, प्रधान कुटीर . . ६६८
१६३–कैवल्यधाम—बम्बई शाखा, बगीचा ... ६६९
१६४–कैवल्यधाम—कनकेश्वर शाखा ... ६६९
१६५–मलसरके श्रीमाधवदासजी महाराज ... ६६९
१६६ से १८३–उदर-सम्बन्धी व्यायामके १८ चित्र .. ६७२
१८४ से २११–योगासनके २८ चित्र ... ६७४
२१२ से २७९–उदर-सम्बन्धी आसनके ६८ चित्र ६८२
२८० से ३४७–स्नायुबलसवर्धन व्यायामके ६८ चित्र ६९०
३४८–सवितर्क और सविचार समाधिकी अवस्था ६९६
३४९–सानन्द और सस्मितावस्था ... ६९६
३५०–सानन्द अवस्थाका द्योतक, शङ्करभाव . . ६९६
३५१–सस्मितावस्थासे असम्प्रज्ञात अवस्थामें जा रहे हैं ६९६
३५२–योगाचार्य भगवान् दत्तात्रेय और अलर्क ... ७६८
३५३–योगाचार्य महर्षि याज्ञवल्क्य (,,) ७६९
३५४–श्रीरामानुजाचार्य ७७४
३५५–श्रीनिम्बार्काचार्य ७७४
३५६–श्रीमध्वाचार्य ७७४
३५७–श्रीवल्लभाचार्य ७७४
३५८–वेदभाष्यकार श्रीश्रीविद्यारण्य मुनिजी .. ७७५
३५९–स्वामी श्रीरामानन्दजी ७७६
३६०–श्रीकबीरजी ७७६
३६१–गुरु नानकदेवजी . .. ७७६
३६२–महात्मा श्रीचन्द्रजी ७७६

पृष्ठ-संख्या

३६३–श्रीज्ञानेश्वर महाराज ७७७
३६४–श्रीएकनाथ महाराज ७७७
३६५–समर्थ गुरु रामदास ७७७
३६६–सत तुकाराम महाराज ७७७
३६७–योगिराज श्री १०८ श्रीमत्स्येन्द्रनाथजी ... ७८२
३६८–योगिराज श्री १०८ श्रीगोरखनाथजी ... ७८३
३६९–श्रीगोरक्षनाथ मन्दिर, गोरखपुर ... ७८३
३७०–स्वामी श्रीगम्भीरनाथजी ७८३
३७१–योगिराज श्यामाचरण लाहिड़ी ... ७८६
३७२–गो० ठाकुर भक्तिविनोदजी ... ७८६
३७३–महात्मा वामाक्षेपा ७८६
३७४–महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी .. ७८६
३७५–स्वामी महानन्दगिरि पिताजी महाराज ... ७८७
३७६–श्रीनरोत्तमबाबाजीके गुरुदेव ... ७८७
३७७–श्रीमत्पूर्णानन्द स्वामी ७८७
३७८–योगिराज योगानन्दजी ७८७
३७९–रामकृष्ण परमहस ७८८
३८०–प्रभु जगद्बन्धु ७८८
३८१–स्वामी विवेकानन्द ७८८
३८२–स्वामी शारदानन्द ७८८
३८३–तैलङ्ग स्वामी ७८९
३८४–स्वामी भास्करानन्द ७८९
३८५–स्वामी विशुद्धानन्द ७८९
३८६–महात्मा मगनीरामजी ७८९
३८७–श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीजी महाराज ... ८१२
३८८–गोस्वामी श्रीहितहरिवंशजी महाराज ... ८१३
३८९–गोस्वामी श्रीचन्दूलालजी महाराज ... ८१२
३९०–भक्तवर श्रीहरिदासजी महाराज ... ८१२
३९१–स्वामी श्रीहीरादासजी ८१३
३९२–स्वामी श्रीउग्रानन्दजी ८१३
३९३–श्रीदूल्हेबाबाजी ८१३
३९४–स्वामी श्रीनित्यानन्दजी ८१३
३९५–स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी ... ८१४
३९६–स्वामी श्रीसीतारामशरणजी ८१४
३९७–स्वामी श्रीजानकीवरशरणजी ... ८१४
३९८–स्वामी श्रीरामवल्लभाशरणजी ... ८१४
३९९–बाबा श्रीगोमतीदासजी ८१५
४००–श्रीरूपकलाजी ८१५

10447

पृष्ठ-संख्या

४०१–श्रीपरमहंस रामदासजी ८१५
४०२–श्रीअनन्त महाप्रभुजी महाराज ... ८१५
४०३–परमहंस वखन्नाथजी ८२४
४०४–स्वामी मङ्गलनाथजी ८२४
४०५–स्वामी उत्तमनाथजी ८२४
४०६–स्वामी श्रीअमृतनाथजी ८२४
४०७–तिगरानेवाले महात्मा ८२५
४०८–महात्मा श्रीगणेशजी ८२५
४०९–महात्मा श्रीरामनाथजी ८२५
४१०–श्रीस्वामी हरिपुरुषजी महाराज ... ८२८
४११–योगीन्द्र श्रीशीलनाथजी महाराज .. ८२८
४१२–श्रीकुशलानन्दजी ८२८
४१३–महाराजा श्रीमानसिंहजी, जोधपुर ... ८२८
४१४–श्रीमस्तरामदेव उत्तराखण्डीजी ... ८२९
४१५–स्वामी श्रीशिवसागरपुरीजी ... ८२९
४१६–श्रीमान् माधवजी महाराज, रूपाल ... ८२९
४१७–स्वामी श्रीमुक्तानन्दजी ८२९
४१८–श्रीवनखण्डीजी महाराज उदासीन ... ८३०
४१९–श्रीरामदासजी (काठियाबाबाजी महाराज) ८३२
४२०–श्रीहँड़िया बाबाजी . .. ८३२
४२१–स्वामी ब्रह्मप्रकाशजी ८३२
४२२–उदासीनाचार्य स्वामी आत्मस्वरूपजी ... ८३२
४२३–योगिराज श्रीवनखंडीजी (नेपालवाले) ... ८३३
४२४–श्रीभगवन्नारायणजी ८३३
४२५–स्वामी रामतीर्थजी ८३३
४२६–स्वामी सियारामजी ८३३
४२७–योगाचार्य श्रीटोकरास्वामीजी .. ८३८
४२८–श्रीमनमनबाईजी उपनाम माजी महाराज ... ८३८
४२९–श्रीआत्मस्वरूपजी ब्रह्मचारी ... ८३८
४३०–श्रीरेवाशङ्करजी ८३८
४३१–महात्मा श्रीनत्थूरामजी शर्मा ... ८३९
४३२–महाराज श्रीनृसिंहस्वामीजी ... ८३९
४३३–योगी श्रीराजचन्द्रजी ८३९
४३४–महाराज श्रीत्रिकमाचार्यजी .. ८३९
४३५–स्वामी कमलभारतीजी ८४०

पृष्ठ-संख्या

४३६–श्रीमौनी स्वामीजी ८४०
४३७–स्वामी गौरीशङ्करजी ८४०
४३८–स्वामी नर्मदानन्दजी ८४०
४३९–स्वामी चन्द्रशेखरानन्दजी ८४१
४४०–स्वामी ब्रह्मानन्दजी ८४१
४४१–स्वामी कृष्णानन्दजी, विमलेश्वर ... ८४१
४४२–भजनानन्दी रामबाईजी ८४१
४४३–गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ... ८५४
४४४–स्वामी नारायणजी ८५४
४४५–स्वामी चिद्घनानन्दजी ८५४
४४६–श्रीजांभोजी महाराज ८५४
४४७–स्वामी श्रीवासुदेवानन्दजी सरस्वती ... ८५५
४४८–श्रीसिद्धारूढ स्वामीजी ८५५
४४९–श्रीनारायण नृसिंहजी सरस्वती ... ८५५
४५०–प० श्रीबालशास्त्रीजी दातार ... ८५५
४५१–श्रीजनार्दन स्वामी, देवगिरि, दौलताबाद ८५८
४५२–राजयोगी श्रीटीकारामजी महाराज ... ८५८
४५३–श्रीगुलाबराय महाराज ८५९
४५४–श्रीयोगानन्द मानपुरी बाबा . ८५९
४५५–श्रीशेषाद्रि स्वामी ८५९
४५६–श्रीमाणिक्य प्रभु ८५९
४५७–मंजु श्रीकीर्ति ८६७
४५८–रत्नाकर शान्ति ८६७
४५९–अर्हत सुभूति ८६७
४६०–पो-टो-पा ८६७
४६१–डॉन-टॉन-पा ८६७
४६२–शूलीपर ईसा ८७०
४६३–श्रीजरथोस्त्र ८७०
४६४–मैडम एच० पी० ब्लेवेत्स्की .. ८७१
४६५–कर्नल हेनरी स्टील आलकट .. ८७१
४६६–डा० एनी बेसेंट ८७१
४६७–श्री टी० सुब्बाराव ८७१

कल्याणके नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम

(१) यह हर एक महीनेकी कृष्णा एकादशीके लगभग प्रकाशित होता है।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांकसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४॥) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥=) नियत है। एक सख्याका मूल्य ।) है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता। नमूना ।) मिलनेपर भेजा जाता है।

(३) एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते। ग्राहक प्रथम अङ्कसे १२ वे अङ्कतकके ही बनाये जाते हैं। एक सालके बीचके किसी अङ्कसे दूसरी सालके उस अङ्क-तक नहीं बनाये जाते। कल्याणका वर्ष श्रावणसे आरम्भ होकर आषाढ़में समाप्त होता है।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' ठीक समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह अगला अङ्क निकलनेके कम-से-कम सात दिन पहलेतक कार्यालयमें पहुँच जाना चाहिये। देर होनेसे या डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना (हिन्दी) महीनेकी कृष्ण प्रतिपदाके पहले-पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

लेख-सम्बन्धी नियम

भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेप-रहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

आवश्यक सूचनाएँ

(१) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(३) ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये क्योंकि वी० पी०के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं। कभी-कभी तो डेढ-दो महीनोंतक नहीं मिलते। इससे निश्चय नहीं होता कि वी० पी० छूटी या नहीं। रुपये न मिलनेतक ग्राहकोंमें नाम नहीं लिखा जाता, मिलनेपर ही आगेके अङ्क भेजे जाते हैं। खर्च दोनोंमें एक ही है परन्तु पहला अत्यन्त सुविधाजनक और दूसरा असुविधाका है। जिनका रुपया आता है उन्हींको कल्याण पहले भेजा जाता है।

(४) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। कल्याणके मूल्यके साथ पुस्तकों या चित्रोंका मूल्य या अधिक पैसे नहीं भेजने चाहिये।

(५) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजना चाहिये।

(६) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि **'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे भेजने चाहिये।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः । कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

(भगवान् श्रीकृष्ण)

वर्ष १० | गोरखपुर, श्रावण १९९२, अगस्त १९३५ | संख्या १ पूर्ण संख्या १०९

स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरं-

ध्याम् । गमद् वाजेभिरा स नः ।

(ऋग्वेद १ । ५ । ३)

शरणागतियोग

(भगवान् श्रीकृष्णका दिव्य उपदेश)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥
किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ (९।३२-३३)

हे अर्जुन ! मेरे अनन्यशरण होकर स्त्री, वैश्य और शूद्रगण तथा चाण्डालादि पापयोनिवाले भी निश्चय परमगतिको प्राप्त होते हैं। फिर पुण्ययोनि ब्राह्मण तथा राजर्षि (मेरे शरणागत) भक्तोंकी तो बात ही क्या है। अतएव तुम इस सुखरहित और अनित्य मनुष्यजन्मको पाकर निरन्तर मेरा ही भजन करो।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ (९।३४)

तुम मुझमे ही मन रक्खो, मेरे ही भक्त बनो, मेरा ही पूजन करो और मुझे ही नमस्कार करो। इस प्रकार मेरे शरण होकर आत्माको मुझमे समाहित करके तुम मुझको ही प्राप्त होओगे।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ (१८।६४)

सब गोपनीयोंमे भी परम गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचन तुम फिर सुनो। तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, इसीलिये तुम्हारे हितकी बात बताता हूँ।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (१८।६५-६६)

हे अर्जुन ! तुम केवल मुझमे ही मन रक्खो, मेरे ही भक्त बनो, मेरा ही पूजन करो और मुझे ही नमस्कार करो। ऐसा करनेपर तुम मुझको ही प्राप्त होओगे। यह मै तुम्हें सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, क्योंकि तुम मेरे (बहुत ही) प्यारे हो। सब धर्मों (दूसरे सब तरहके आश्रयों) को त्यागकर एकमात्र मेरी ही अनन्य-शरणमें आ जाओ। मै तुम्हें सब पापोंसे सर्वथा छुडा दूँगा। तुम चिन्ता न करो।

यही सर्वोत्तम योग है।

श्रीमद्भगवद्गीता और योगतत्त्वसमन्वयमीमांसा

(लेखक—श्रीगोवर्द्धनपीठाधीश्वर श्रीजगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्री ११०८ श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज)

ऐहिकौध्विकफलालिविरक्ति भक्तियुक्तनिजधर्मनिपत्तिम् ।
शान्तिदान्त्युपरतार्तितितिक्षामुख्यपङ्क्तिविवेकमुमुक्षा॰ ॥
शास्त्रदिष्टविधितत्त्वनुरोधं स्वान्तवृत्तिनिकुरुम्बनिरोधम् ।
यो ददाति गुरुरीश्वरयोगं नौमि नाशितनमद्भवरोगम् ॥
होमप्रमुखैर्यजगति द्विजाद्या॰ कर्मभिर्भक्तिविबोधनाभ्याम् ।
इच्छन्ति यत्तत्फलदायिकाभ्यां नमो नम॰ श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ॥
हिरण्यगर्भाधिकबोधदाभ्यां शरण्यसंघातशिरोमणिभ्याम् ।
अरण्यसौधैक्यमतिप्रदाभ्यां नमो नम॰ श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ॥
हौत्राग्निहोत्राग्निहविष्यहोतृहोमादिसर्वाकृतिभासमानम् ।
यद्ब्रह्म तद्बोधवितारिणीभ्यां नमो नम॰ श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ॥

कल्याणकी इच्छासे प्रेरित होकर कल्याणके रास्ते और साधनकी खोजमें निकले हुए प्रत्येक विचारशील मनुष्यका अनुभव है कि यद्यपि भगवान्‌की रची हुई सृष्टिके अन्तर्गत अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें रहनेवाले अनन्तकोटि जीवोंमें शरीर, इन्द्रिय, चित्तवृत्तियों, बुद्धि, विद्या, अभ्यास आदि अंशोंमें अनन्त भेदोंके होनेके कारण कल्याण या शाश्वत श्रेयके साधनके विचारमें अनन्तकोटि मतभेद हुआ करते हैं, और एक-एक जीवके मनमें भी एक ही दिनमें असंख्य मतपरिवर्तन हो जाया करते हैं, तो भी सब जीवोंके विचारमें इस बातमें अत्यन्त एकता हमेशा नजर आती है कि उनका अन्तिम लक्ष्य तो एक ही हुआ करता है । वह यह है कि हमें सब स्थानोंमें, सब समयोंमें, सब अवस्थाओंमें और सब प्रकारसे सुख-शान्ति मिलती रहे और हमारी उन्नति ही होती रहे; किसी स्थानमें, किसी अवस्थामें, किसी बातमें, किसी प्रकारका तनिक भी दुःख, अशान्ति या अवनति न होने पावे । इसी स्वाभाविक एवं अनिवार्य चित्तवृत्ति तथा इच्छासे प्रेरित होकर सब जीव अपने-अपने विचार तथा शक्तिके अनुसार अनेक प्रकारके प्रयत्न करते रहते हैं ।

जीवनका चिह्न

इसमें तो सन्देह या मतभेद नहीं है कि उन्नतिकी इच्छा स्वाभाविक ही नहीं, अपितु अत्यन्त आवश्यक एवं उचित भी है । क्योंकि उन्नतिकी इच्छा तथा उसके साधनका विचार और उसे प्राप्त करनेका उद्योग करना, यही हर एक जीवके जीवनका मुख्य एवं असंदिग्ध चिह्न है । सच पूछिये तो यह कहनेमें भी अत्युक्ति न होगी कि जहाँ उन्नतिकी इच्छा, विचार और प्रयत्न न होते हों वहाँ या तो जान ही नहीं है अथवा वह जान घटते-घटते शनैः-शनैः मृत्युकी ओर अग्रसर हो रही है । अर्थात् ऐसा जीव 'जीवन्नपि मृत एव'—कहनेको जीवित होते हुए भी यथार्थमें मुर्दा ही है । यह एक ऐसी सर्वथा सत्य बात है जिसका निराकरण या प्रतिवाद तो दूर रहा, जिसके बारेमें मतभेद या शङ्कातक नहीं हो सकती ।

उन्नतिका सच्चा अर्थ

परन्तु साथ-ही-साथ उन्नतिके विचार और प्रयत्नमें इसलिये कठिनाई होती है कि हमलोग सच्चे दिलसे अपने कल्याण और उन्नतिको चाहते हुए भी किसी तत्त्वका भलीभाँति विचार नहीं करते और उन्नतिके यथार्थ लक्षणको न समझकर भ्रममें पड जाते हैं, बल्कि अपनी उन्नतिकी इच्छासे जो कुछ करते हैं उसीसे अवनतिके मार्गमें पहुँचकर स्वयं अपने ही अपराधोंसे अनेक नये-नये दुःखोंको भोगते हुए लाचार होकर पश्चात्तापसे बारंबार सन्तप्त होते रहते हैं । इसलिये इस बातकी अत्यन्त आवश्यकता होती है कि पहले हम अपने असली और सच्चे लक्ष्यका पता लगाकर उसके बाद साधन या रास्तेके विचारमें उतरें ।

लक्ष्य और साधनका क्रम

लौकिक कार्योंमें भी तो यही क्रम होता है कि पहले हम अपने प्रातव्य स्थान (Goal या Destination) का सङ्कल्प या निश्चय कर लेते हैं और तत्पश्चात् रास्तेके बारेमें जिज्ञासा करने लगते हैं । यदि अनेक रास्ते हों तो उनमेंसे कौन-सा रास्ता सबसे नजदीक है, कौन सा सबसे शीघ्र पहुँचानेवाला है, कौन-सा सबसे सस्ता है और किसमें सबसे अधिक आराम है—इस बातका निश्चय करते हैं । किन्तु बड़े खेदकी बात है कि इन छोटी-छोटी यात्राओंमें भी इसी क्रमसे काम करते हुए और अपनी बुद्धिमत्ता, होशियारी और चालाकीपर अत्यन्त प्रसन्न होते हुए भी अपने जीवनरूपी इस बड़ी सांसारिक यात्राके विषयमें (जिसपर हमारे इसी जन्मके नहीं, अपितु सम्भवतः हजारों जन्मोंके सुख-दुःख निर्भर करते हैं) हमलोग अपने महान् उत्तरदायित्वका तनिक भी खयाल न करके इतनी विचारशून्यता दिखाया करते हैं कि हम इस प्रारम्भिक

बातका भी नहीं सोचते कि हमारी इस जीवनरूपी लंबी यात्राका लक्ष्य क्या है।

उपहासकी बात

यात्रा तो शुरू हो चुकी है और हम अपने लक्ष्यकी दिशाका भी न जानते हुए, यात्रामें बहुत दूर निकल जानेके बाद भी, लक्ष्यका विचार न करके रास्तेमें मिलनेवाले प्रत्येक व्यक्तिसे पूछते रहते हैं कि हमें किस मार्गसे चलना चाहिये, अथवा केवल चर्चामात्र करते रहते हैं कि अमुक मार्ग ही अच्छा है, अमुक नहीं, इत्यादि। इससे बढ़कर अथवा इसके समान भी उपहासकी बात और क्या हो सकती है कि स्वयं हम ही न जानें कि हमें कहाँ जाना है, यही नहीं, हम औरोंके साथ चर्चा भी करते रहें कि कौन-सा रास्ता अच्छा है, इत्यादि?

इसका परिणाम

जब स्वयं हम ही नहीं जानते कि हमें कहाँ जाना है और इसीलिये अपने लक्ष्यका निर्देश न करते हुए हर एक व्यक्तिसे अपने मार्ग या साधनके बारेमें प्रश्न करते या सलाह माँगते चलते हैं, तब इसका यही परिणाम स्वाभाविक, उचित एवं अनिवार्य भी है कि जिससे सलाह माँगी जाती है वह हमारे भीतरके लक्ष्यको न जानते हुए, और कदाचित अपने अन्दरके लक्ष्यका भी विचार न करते हुए उसी क्षण उसके मनमें जो मार्ग अच्छा या टिककर लगेगा उसीका बता सकेगा और बतानेको विवश होगा। अतः हम सबसे पहले अपने असली और सच्चे लक्ष्यका पता लगाना होगा। लक्ष्यका निश्चय हो जानेके बाद साधनका विचार अपने आप उपस्थित होगा। इसलिये इस लेखके आरम्भमें इसी बातका उपोद्घातरूपसे विचार किया जाता है कि मनुष्यजातिका असली लक्ष्य क्या है?

असली लक्ष्य एक ही है

यह विचार आरम्भ करनेसे पहले यह आक्षेप हो सकता है कि एक एक मनुष्यके मनमें भी एक ही दिनमें और एक एक क्षणमें बहुत सी इच्छाएँ उत्पन्न होती रहती हैं और उनमें बारबार परिवर्तन भी हुआ करता है, अतः एक ही व्यक्तिका हृदयका भी एक ही निश्चित और नियत लक्ष्य नहीं होता। ऐसी अवस्थामें हजारों प्रकारके और अत्यन्त विभिन्न विचारोंके मनुष्योंका एक ही लक्ष्य कैसे हो सकता है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि जब एक-एक [illegible] यके विचारों और इच्छाओंमें भी विपुल भेद हो जाया करते हैं तब अनन्तकोटि मनुष्योंके विचारोंमें अनन्त भेदोंका होना अवश्यम्भावी है। ऐसी दशामें सबके मनमें एक ही इच्छा या लक्ष्यका होना असम्भव सा ज्ञात होता है। तो भी बड़े आश्चर्य और आनन्दकी बात है कि जब हम ऊपर-ऊपरका विचार छोड़कर गहरे विचारमें उतरते हैं तब हमें उसी क्षण पता लग जाता है कि यद्यपि मनुष्य-मनुष्यके विचारोंमें और चित्तवृत्तियोंमें सख्यातीत भेद हैं तो भी हम सबका अन्तिम, असली और सच्चा लक्ष्य तो एक ही है, एक ही प्रकारका है और एक ही प्रकारके लक्षणोंवाला है।

साधनके विचारमें भेद

यह बिल्कुल सत्य है कि एक आदमी पैसेके पीछे पड़ा हुआ नजर आता है, दूसरा शरीरकी तन्दुरस्ती एवं बलकी रक्षामें है, तीसरा विद्याकी चिन्तामें रहता है, चौथा कीर्तिका भूखा है, इत्यादि, इत्यादि। किन्तु ऊपर-ऊपर न ताकर थोड़ा ही गहरा विचार करनेपर हम सबका स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी इन चीजोंके लिये इन चीजोंको नहीं चाहता, बल्कि उपर्युक्त एक-एक वस्तुको—सब सिद्धान्तके अनुसार या क्रमसे—अपने हृदयके अभीष्ट अखण्ड, परिपूर्ण और शाश्वत शान्ति और आनन्दरूपी असली एवं सच्चे लक्ष्यका साधन समझकर और मानकर, उसकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता है। उदाहरणार्थ, रात-दिन पैसेका ही चिन्तन और ध्यान करनेवाले किसी व्यक्तिसे पूछा जाय कि तू पैसा क्या चाहता है, तो वह जवाब देगा कि पैसेसे मैं अमुक-अमुक भोगोंका उपभोग कर सकता हूँ। इसपर उससे पूछा जाय कि तू अमुक-अमुक भोगोंको क्यों भोगना चाहता है, तो वह यही उत्तर देगा कि मुझे अमुक-अमुक भोगोंसे आनन्द होता है। अगर फिर उससे पूछा जाय कि तू आनन्दको क्या चाहता है तो इस प्रश्नके उत्तरमें यही जवाब हमेशा मिलता है कि आनन्द चाहना स्वाभाविक है। कोई यह नहीं कहता कि मैं अमुक प्रयोजन या लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये आनन्द चाहता हूँ। तन्दुरस्ती, बल, विद्या, कीर्ति आदि अन्य सब पदार्थोंके बारेमें भी इसी प्रकारके प्रश्नोत्तर होते हैं।

लक्ष्यकी एकता और लक्षण

तात्पर्य यह है कि आनन्द ही सबका एकमात्र लक्ष्य है और धन-धान्य, गृह, स्त्री, पुत्र, विद्या, आरोग्य, कीर्ति आदि सब पदार्थोंको आनन्दरूपी अपने हृदयके असली, सच्चे और अन्तिम लक्ष्यका साधन समझकर हमलोग उन

सब चीजोंके पीछे पड़ा करते हैं। अर्थात् विचारमें जितने भेद होते हैं वे सब-के-सब साधनके बारेमें हैं, लक्ष्यके विषयमें तो तिलमात्र या अणुमात्र भी भेद नहीं होता और न हो सकता है। अब आगे हमें इस बातका विचार करना है कि हम सबके हृदयके भीतर हमेशा रहनेवाले इस शाश्वत और अखण्ड आनन्दरूपी लक्ष्यके अन्तर्गत क्या-क्या लक्षण होते हैं, उन्हें जाननेके लिये शास्त्रीय ग्रन्थोंके प्रमाण अथवा अन्य किसी मनुष्यविशेषकी साक्षी लेनेकी आवश्यकता नहीं है। अपने ही दिलसे पूछ-पूछकर कि हे दिल! तू क्या-क्या चाहता है, हम पता लगा सकते हैं कि हमारे हार्दिक लक्ष्यके कितने लक्षण होते हैं और वे क्या-क्या हैं।

पहला लक्षण—सत्स्वरूप

प्रत्येक जिज्ञासुको अपने दिलसे ही पूछनेपर कि हे हृदय! तू क्या चाहता है, पता लग सकता है कि मनुष्यमात्रके ही नहीं, बल्कि जीवमात्रके मनमें स्वभावसे ही सबसे पहले यही इच्छा हुआ करती है कि मैं सदा जीवित रहूँ। जो अत्यन्त वृद्ध और बिल्कुल कमजोर हो गया है, जिसके नेत्र, श्रोत्र, बुद्धि आदिसे कुछ भी काम नहीं होता, जिसकी जठराग्निमें अत्यन्त हलके खाद्य और पेय पदार्थोंको भी हजम करनेकी शक्ति नहीं रह गयी है और जो नाममात्रको जिन्दा रहते हुए भी यथार्थमें मरा हुआ ही समझा जाना चाहिये, ऐसा मनुष्य भी मरना नहीं चाहता, बल्कि सर्वदा जीते ही रहना चाहता है। ऐसे आदमीसे यदि पूछा जाय कि तू जिन्दा रहकर क्या करेगा और क्या कर सकता है, अथवा न जिन्दा रहना क्यों चाहता है इत्यादि, तो कदाचित् उससे यही उत्तर मिलेगा कि जिन्दा रहनेकी इच्छा स्वाभाविक है, उसमें कारणकी अपेक्षा नहीं होती। अर्थात् जिन्दा रहना ही स्वत एक लक्ष्य है, किसी इतर लक्ष्यका साधन नहीं है। इस प्रकारके विचारसे स्पष्ट है कि सदा जीवित रहना हम सबका प्रथम लक्ष्य है। और इसीका हमारे शास्त्रोंमें सत्पदार्थ (त्रिकालाबाध्यमस्तित्वम्) नाम है।

दूसरा लक्षण—चित्पदार्थ

इसी प्रकार अपने-अपने दिलसे पूछनेपर सबको पता लग सकता है कि हम सब जिन्दा रहते हुए सब पदार्थोंको जानना चाहते हैं। अर्थात ज्ञान है हम सबका दूसरा लक्ष्य और इसीका नाम है हमारे वेदान्तकी परिभाषामें चित्।

तीसरा लक्षण—आनन्द-पदार्थ

पुन इसी तरह विचार करनेसे स्पष्ट होता है कि केवल जिन्दा रहने और सब बातोंको जाननेसे ही तृप्त न होकर हम दुःखलेशसे भी रहित, केवल एव अखण्ड और परिपूर्ण सुखको भी चाहते हैं। अर्थात् दुःखलेशसे भी रहित केवल शुद्ध, अखण्ड, परिपूर्ण सुख है हमारा तीसरा लक्ष्य और इसीका नाम हमारी सस्कृत भाषामें आनन्द है।

चौथा लक्षण—मुक्तस्वरूप

परन्तु, यदि अपने हृदयकी अभीष्ट सब सुखसामग्री हमें अपने स्वतन्त्र अधिकारसे न मिलकर दूसरे किसीके अनुग्रहसे मिला करे तो ऐसे सुखसे हमें तृप्ति और संतोष नहीं होता और हम कहने लगते हैं कि 'पराधीनतामें रहकर इन सब सुखोंको भोगनेकी अपेक्षा स्वतन्त्रतामें रहते हुए कम सुखोंका भोग करना श्रेष्ठ है, पराधीनता परम दुःख है,' इत्यादि।

भारतका इस समय बड़ा दुर्भाग्य है कि हमारे यहाँकी प्रचलित शिक्षाप्रणाली ही मिथ्या इतिहास सिखानेवाली है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि हमलोग इस बातको भी नहीं जानते कि हमारे प्राचीन महर्षियोंसे पैत्रिक सम्पत्तिके रूपमें हमें कौन-कौन-सी विद्याएँ मिली हैं और यूरोप, अमेरिका आदि पाश्चात्य देशोंमें हमारे यहाँ कौन-कौन-सी वस्तुएँ आयी हैं, इत्यादि। अतएव हमलोग मिथ्या इतिहास सिखानेवाले पाश्चात्य देशोंके स्वार्थी प्रचारकोंकी अपने स्वार्थके लिये बतायी हुई हजारों असत्य बातोंको सत्य मानने और धोखा खानेको विवश हो गये हैं। उदाहरणार्थ, पाश्चात्य देशोंके स्वार्थी प्रचारक हिन्दुस्थानमें व्याख्यानों और पुस्तकोंके द्वारा प्रचार करते हैं कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, स्वराज्य आदिका सिद्धान्त पाश्चात्य देशोंसे आया है, साइमन डी मांटफोर्ड (Simon De Montford), जॉन हैम्प्डेन (John Hampden), जॉन मिल्टन (John Milton), ऑलिवर क्रॉमवेल (Oliver Cromwell), जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill), सर हेनरी केम्बेल बेनरमैन (Sir Henry Compbell Bannerman), प्रेजिडेंट विल्सन (President Wilson) आदि पाश्चात्य राजनैतिक नेता ही स्वतन्त्रताके सिद्धान्तके जगत्के लिये संस्थापक, सञ्चालक और प्रचारक थे और अँगरेजी साहित्य तथा इतिहासका परिचय न मिलनेतक भारतवर्षमें स्वतन्त्रताका अस्तित्व तक न था, इत्यादि, इत्यादि। इन लोगोंकी असत्यप्रियता एव असत्यवादिताके प्रमाणकी

आवश्यकता नहीं है। क्योंकि दुनियाभरके समस्त देशोंके समस्त स्मृतिकारोंमें सर्वप्रथम स्मृतिकार भगवान् मनुने भी दुःख और सुखका निर्वचन (Definition) करते हुए यही बताया है—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।

'परतन्त्रता ही दुःख है और स्वतन्त्रता ही सुख है।'

इसके अतिरिक्त इस बातको भी सबको स्मरण रखना चाहिये कि दूसरे किसी मतमें न मिलनेवाले, केवल सनातनधर्ममें ही मिलनेवाले मोक्ष या मुक्तिरूपी परम लक्ष्यका भी हमारे शास्त्रकारोंने यही निर्वचन किया है कि 'सर्वबन्धनिवृत्तिरूपो मोक्षः,' अर्थात् समस्त बन्धनोंसे निवृत्ति ही मोक्षका स्वरूप है। इस लक्ष्यका दूसरे किसी देशके किसी धर्म, मत या मजहबने कहीं भी कभी भी निर्देश नहीं किया, इससे यह स्पष्ट है कि यदि दुनियाभरमें कोई देश और कोई धर्म स्वतन्त्रताके सिद्धान्तको माननेवाला है तो वह देश हमारा हिन्दुस्थान है और वह धर्म हमारा सनातनधर्म है।

सब बन्धनोंकी निवृत्ति (Emancipation from all bondage) है हमारा लक्ष्य, दुनियाके और सब मतोंका लक्ष्य है स्वर्गमें सुखमय जीवन व्यतीत करना। किन्तु हम सनातनी भारतवासियोंकी दृष्टिमें तो स्वर्गवास भी तुच्छ एवं क्षुद्र, अतएव हेय है और हमारे मतमें मोक्ष ही (जिसका स्वरूप है सर्वबन्धनिवृत्ति) एकमात्र इच्छाकी वस्तु है।

इस आदर्शरूप परम ध्येयको अपने दिलसे कोई भी विचारशील मनुष्य निकाल नहीं सकता, क्योंकि यह इच्छा तो प्राणिमात्रके हृदयमें ईश्वरद्वारा ही स्थापित है। निम्नलिखित लौकिक दृष्टान्तोंसे भी यह बात सिद्ध होती है। तोते, चूहे आदि छोटे-छोटे जानवर भी किसी बड़े धनिक आदमीके घरमें सुवर्णके पिंजरे आदि अत्यन्त सुखमय स्थानमें खाने-पीने आदिकी दृष्टिसे भी सब आनन्दमें रहते हुए भी, मौका मिलनेपर तुरत अपने दीन-हीन जङ्गली स्थानकी ओर चल पड़ते हैं। इसका कारण यही है कि जीवमात्रके हृदयमें प्राकृतिक नियमोंके अनुसार यही भाव रहता है कि परतन्त्रतामें रहकर सुख भोगनेकी अपेक्षा दुःख भोगते हुए भी स्वतन्त्रतामें रहना श्रेष्ठ है। जब कृमि-कीट आदिके मनमें भी यही इच्छा रहती है तब मनुष्ययोनिमें उत्पन्न हुए उत्कृष्ट कोटिके जीवोंके लिये यह बात कैसे हो सकती है कि वे सबबन्ध-निवृत्तिरूपी मोक्षसाम्राज्यको न चाहते हुए पराधीनताको पसंद करते रहें? इन सब विचारोंसे स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता है हम सबका चौथा लक्ष्य और इसीका नाम है हमारे वेदान्तकी परिभाषामें मोक्ष।

पाँचवाँ लक्ष्य—ईशस्वरूप

अगला प्रश्न यह है कि क्या शाश्वत अस्तित्व, अखण्ड ज्ञान, परिपूर्ण आनन्द और स्वतन्त्रताके मिल जानेपर हम तृप्त हो जाते हैं? नहीं, क्योंकि फिर एक पाँचवीं वस्तुकी भी हमारे मनमें स्वाभाविक इच्छा हुआ करती है। वह यह है कि हम किसी दूसरेकी इच्छाके अनुसार न चलना पड़े, केवल इतनेसे ही हम सन्तोष नहीं कर लेते, अपितु यह चाहते हैं कि सारे जगत्के समस्त जीव हमारी इच्छाके अनुसार चलें। जिन्हें दुनियाका लेशमात्र भी अनुभव नहीं है, ऐसे छोटे-छोटे बालक भी तो यही चाहते हैं कि उनकी इच्छाके अनुसार उनके अनुभवी माता-पिता आदि भी चलें। अर्थात् हम औरोंके अधीन तो रहना चाहते ही नहीं, साथ-ही-साथ औरोंके ऊपर शासन करना भी अवश्य चाहते हैं। हमारे हृदयके इसी पाँचवें लक्ष्यका संस्कृतनाम ईशन या ईश्वरस्वरूप है।

छठा लक्षण—कोई नहीं है

और आगे विचार करनेपर पता लगता है कि इन पाँच लक्षणोंके बाद छठा लक्षण कोई नहीं है। इसका कारण यह है कि जब शाश्वत अस्तित्व, परिपूर्ण ज्ञान, अखण्ड आनन्द, सर्वथा स्वतन्त्रता और सर्वोपरि शासन—ये पाँच लक्षण प्राप्त हो जाते हैं तब इनके अतिरिक्त चाहने-योग्य कोई वस्तु चौदह भुवनोंमें भी बाकी नहीं रह जाती। इसलिये हमारे हृदयके असली लक्ष्यके यही पाँच लक्षण हैं और हम जो-जो कार्य और प्रयत्न करते हैं वे सब-के-सब इन्हीं पाँचमेंसे किसी-न-किसी इच्छाकी प्रेरणासे किये जाते हैं।

इन पाँच लक्षणोंसे लक्षित लक्ष्यका नाम

अब इस बातका विचार करना है कि इन पाँच लक्षणोंसे लक्षित लक्ष्यका नाम क्या है, उसका स्थान कहाँ है, इत्यादि। सब धर्मोंके शास्त्रग्रन्थोंने बताया है कि ये पाँच लक्षण परमेश्वरमें पाये जाते हैं, और कहीं नहीं। अर्थात् इन पाँच लक्षणोंसे लक्षित लक्ष्यका नाम है भगवान्, और उसका स्थान भी वहीं है। जो मनुष्य अपनेको नास्तिक कहता हुआ बड़े गर्वके साथ कहता है कि मैं ईश्वर-का नहीं मानता इत्यादि, वह भी तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-

सच्चिदानन्दघनस्वरूपी परमात्माके इन्हीं पाँच लक्षणोंको अपनेमें चाहता है। अर्थात् हम सब नर होते हुए भी, नारायणके लक्षण या अस्तित्वको भी न जानते हुए यथार्थमें नारायण ही बनना चाहते हैं और इसी इच्छाको पूर्ण करनेके लिये अपने-अपने विचारके अनुसार अनेक प्रकारके प्रयत्न करते रहते हैं।

मतान्तरोंका लक्ष्य

इस लक्ष्यकी दृष्टिसे विवेचन करनेपर आश्चर्य और चमत्कारका अनुभव होता है कि एक सनातनधर्मके अतिरिक्त और जितने मत-मतान्तर संसारमें हैं, उनमेंसे एक भी इस लक्ष्यको (जो हर एक जीवके हृदयमें रहता है) नहीं बताता, बल्कि हमारे यह बतानेपर कि यही प्राणिमात्रके हृदयका असली और सच्चा लक्ष्य है, मतान्तरोंके अनुयायी हमसे लड़ पड़ते हैं और कहते हैं कि ऐसा खयाल करना भी blasphemous or sacrilegious (बड़ा भयङ्कर पाप) है, इत्यादि। परन्तु सनातनधर्म तो स्पष्ट कहता है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

'जैसे बाण इधर-उधर न जाकर, अपने लक्ष्यके भीतर पैठकर उसके साथ एक हो जाता है, वैसे ही जीवरूपी बाणको इधर-उधर न भटककर अपने परमात्मरूपी लक्ष्यके भीतर प्रवेशकर उसके साथ एक हो जाना चाहिये।'

लक्ष्यप्राप्तिका साधन

यदि हम नरोंको अपने-अपने दिलकी गवाहीसे सिद्ध हुए इस नारायणरूपी लक्ष्यको प्राप्त करना हो तो हमें उन विधर्मोंसे, जो हमारे हृदयके इस लक्ष्यका विचारतक नहीं करते, उसके साधनका ज्ञान कैसे मिल सकता है? इसलिये हमें अपने सनातनधर्मसे ही, जिसमें हमारे लक्ष्यका पता लगाकर उसकी प्राप्तिके उपाय भी बतलाये गये हैं, इसका साधन सीखना होगा।

साधनका नाम योग है

नारायणके साथ नरके एक हो जानेके लिये सनातनधर्ममें जो साधन या साधनसामग्री बतलायी है, उसीका नाम है संस्कृतमें योग। 'युजिर् योगे' इस धातुके आगे 'कर्तरि घञ्' प्रत्यय लगानेसे व्युत्पन्न होनेवाले 'योग' शब्दका अर्थ है मेल और 'करणे घञ्' लगानेपर उसका अर्थ मिलानेवाला होता है। अर्थात् नर-नारायणसंयोगरूपी लक्ष्य भी 'योग' शब्दका अर्थ है और उन दोनोंको एक करनेवाली साधनसामग्रीका नाम भी 'योग' है। क्रियात्मक दृष्टिसे रूढ़िमें तो साधनका ही नाम 'योग' है।

अनेक प्रकारके योग

इस साधनरूपी योगका जब विचार किया जाता है तब इस बातका अनुभव होता है कि शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक आदि सब दृष्टिकोणोंसे विवेचन करनेपर साधकोंकी अभिरुचि और सामर्थ्यमें जो अनन्त भेद होते हैं, उनके कारण स्वाभाविक और अनिवार्य अधिकारिभेदके अनुसार साधनमें भी अनेक प्रकारके भेदोंका होना अवश्यम्भावी और अनिवार्य है। इसलिये नरको नारायणके साथ एकता करानेवाला साधन सबके लिये एक नहीं हो सकता, बल्कि अपने-अपने अधिकारके अनुसार प्रत्येक साधकको अपने साधनका निश्चय करके उससे काम लेना होगा, अतएव परम कल्याणके साधनरूपी योग अनेक प्रकारके होते हैं और हमारे शास्त्रोंमें उन सबका नाम योग ही पाया जाता है। अर्थात् जो-जो साधनसामग्री जीवको परमात्मस्वरूपमें पहुँचानेवाले किसी-न-किसी रास्तेपर या सीढ़ीपर चढ़ानेवाली हो या उसमें तनिक भी आगे बढ़ानेवाली हो उसका 'योग' शब्दसे निर्देश किया जा सकता है। और उनमेंसे भी जो साधनसामग्री नरको नारायणस्वरूपमें ही पहुँचा देती हो वही मुख्य वृत्ति (Primary meaning) से 'योग' कहलाती है, तथा जो-जो साधनसामग्री इस काममें सिर्फ सहायक हो वह तो गौण (Secondary) ही कहला सकती है। इस तरह गौण और मुख्यके विचारसे भी योगोंमें तारतम्यकी बात होती है।

आनुपूर्वीका विवेचन

इसके अतिरिक्त यह भी शास्त्रसिद्ध एवं युक्तियुक्त और अनुभवसिद्ध है कि एक-एक रास्तेपर चलनेवाले साधकोंके लिये भी जिन अनेक साधनोंकी आवश्यकता हुआ करती है, उनमें भी आनुपूर्वी (आगे-पीछेके क्रम) का हिसाब करना पड़ता है और साधकोंको उन साधनोंसे उसी क्रमसे काम लेना अच्छा होता है जिसे शास्त्रोंने अधिकारिभेद आदिके विचारसे उस-उस साधकके लिये कल्याणकारी बताया हो।

योगोंके अवान्तरविभाग

उक्त कारणोंसे अधिकारिभेद एवं आनुपूर्वीके भेदके कारण क्रियायोग, समाधियोग, मन्त्रयोग, जपयोग, लययोग प्राचीन (मार्कण्डेयी) हठयोग, नवीन (मत्स्येन्द्रनाथी)

हठयोग, कुलकुण्डलिनीयोग, अकुलकुण्डलिनीयोग, वायुयोग, शब्दयोग, अम्पर्शयोग, सहजयोग, शून्ययोग, श्रद्धायोग, भक्तियोग, प्रेमयोग, प्रपत्ति (शरणागति)-योग, निष्काम कर्मयोग, अभ्यासयोग, ध्यानयोग, सांख्ययोग, ज्ञानयोग, राजयोग, राजाधिराजयोग, महायोग, पूर्णयोग आदि अनेकानेक योगोंका पतञ्जलि आदिके ग्रन्थोंमें विस्तृत वर्णन मिलता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें योगोंकी संख्या

इनके अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीताके मूल वाक्योंमें ही बहुत-से और अनेक प्रकारके योगोंका उल्लेख आता है, जिनमेंसे कुछ नाम ये हैं—१ समत्वयोग (२ । ४८; ६ । २९–३३) २ ज्ञानयोग (३ । ३, १३ । २४, १६ । १) ३ कर्मयोग (३ । ३, ५ । २, १३ । २४) ४ दैवयज्ञयोग (४ । २५) ५ आत्मसंयमयोग (४ । २७) ६ द्रव्ययज्ञ (४ । २८) ७ ब्रह्मयोग (५ । २१) ८ सन्यासयोग (६ । २, ९ । २८) ९ दुःखसंयोगवियोगयोग (६ । २३) १० अभ्यासयोग (८ । ८, १२ । ९) ११ ऐश्वरयोग (९ । ५, ११ । ८-९) १२ नित्याभियोग (९ । २२) १३ सततयोग (१० । ९, १२ । १) १४ बुद्धियोग (१० । १०, १८ । ५७) १५ आत्मयोग (१० । १८, ११ । ४७) १६ भक्तियोग (१४ । २६) १७ ध्यानयोग (१८ । ५२)।

अनासक्तियोग और असहयोग

इस खास मौकेपर कोई पूछे कि अनासक्तियोग और असहयोग (जो आजकल हिन्दुस्थानमें पुस्तकरूपसे एवं प्रचारके द्वारा प्रसिद्ध हुए हैं) क्या चीज है, तो उत्तरमें इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि—

(१) श्रीमद्भगवद्गीतामें जो कर्मयोग अथवा निष्काम कर्मयोग जगत्प्रसिद्ध है उसीका अनासक्तियोग-यह नया नाम रक्खा गया है। अनासक्तियोग कोई नयी वस्तु नहीं है।

(२) असहयोग तो कोई योग ही नहीं है। पातञ्जलादि योगशास्त्रके ग्रन्थोंमें योगसाधनोंके बीचमें यह बताया गया है कि सज्जनोंके साथ मैत्री और दुष्टोंके प्रति केवल उपेक्षाका भाव (द्वेष नहीं) रखना चाहिये। और श्रीमद्भगवद्गीतामें भी 'अनपेक्ष', 'उदासीन' आदि शब्दोंके द्वारा उपेक्षाका ही वर्णन मिलता है। योगसाधनान्तर्गत साधनोंमेंसे इसी उपेक्षारूपी एक छोटे टुकड़ेको ही आजकल असहयोग नाम रक्खा गया है। यह भी कोई नयी चीज नहीं है और न यह योग भी नहीं है। अस्तु।

परस्पर सम्बन्ध

पूर्वोक्त सब प्रकारके योगोंके जो वर्णन भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंमें मिलते हैं उनके आधारपर इन सब योगोंके परस्पर सम्बन्ध, आनुपूर्वी आदिका विवेचन करना इसलिये बहुत कठिन है कि वे परस्परविरुद्ध प्रतीत होते हैं, किन्तु उनके समन्वयकी अत्यन्त आवश्यकता सभी जिज्ञासुओंके अनुभवसे सिद्ध है।

योगका निर्वचन

इसके अतिरिक्त जिज्ञासुओंके लिये यह भी एक कठिनाईका कारण हो जाता है कि योगके निर्वचनके बारेमें भी गड़बड़ नजर आती है। क्योंकि भगवान् पतञ्जलिने अपने योगसूत्रमें योगका—

'चित्तवृत्तिनिरोधः'

—यह एक सरल निर्वचन दिया है, किन्तु दूसरोंने और-और प्रकारके निर्वचन दिये हैं। श्रीमद्भगवद्गीतारूपी एक ही ग्रन्थमें इसके अनेकानेक निर्वचन दिये गये हैं। इन सब निर्वचनोंके भी (जो परस्परविरुद्ध या कम-से-कम परस्पर असम्बद्ध अवश्य मालूम देते हैं) समन्वयकी आवश्यकता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें योगनिर्वचन

श्रीमद्भगवद्गीतामें योग और योगीके जो अनेकानेक निर्वचन मिलते हैं उनमेंसे कुछ निम्नलिखित हैं—

१ समत्वं योग उच्यते । (२ । ४८)

२ योगः कर्मसु कौशलम् । (२ । ५०)

३ श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ (२।५३)

४ योगसंन्यस्तकर्माणम् । (४ । ४१)

५ योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ॥ (५ । ७)

६ नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् । (,, । ८)
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ (,, । ९)

७ कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥ (,, ११)

८ बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा .... ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा ..... ॥ (,, २१)

ॐ

श्रीपातञ्जलयोगदर्शनम्।

समाधिपादः

१ अथ योगानुशासनम्।
२ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।
३ तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।
४ वृत्तिसारूप्यमितरत्र।
५ वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः।
६ प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।
७ प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।
८ विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।
९ शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।
१० अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा।
११ अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः।
१२ अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।
१३ तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।
१४ स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।
१५ दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।
१६ तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।
१७ वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः।
१८ विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।
१९ भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।
२० श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।
२१ तीव्रसंवेगानामासन्नः।
२२ मृदुमध्याधिमात्रत्वात्तोऽपि विशेषः।
२३ ईश्वरप्रणिधानाद्वा।
२४ क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।
२५ तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।
२६ पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।
२७ तस्य वाचकः प्रणवः।
२८ तज्जपस्तदर्थभावनम्।
२९ ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।
३० व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।
३१ दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।
३२ तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।
३३ मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।
३४ प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।
३५ विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी।
३६ विशोका वा ज्योतिष्मती।
३७ वीतरागविषयं वा चित्तम्।
३८ स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा।
३९ यथाभिमतध्यानाद्वा।
४० परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः।
४१ क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः।
४२ तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।
४३ स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।
४४ एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता।
४५ सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्।
४६ ता एव सबीजः समाधिः।
४७ निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।
४८ ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।
४९ श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्।
५० तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी।
५१ तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।

इति श्रीपातञ्जलयोगदर्शने समाधिपादः प्रथमः पादः ॥ १ ॥

अथ साधनपादः

१ तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।
२ समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च।
३ अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।
४ अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।
५ अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।
६ दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।
७ सुखानुशयी रागः।
८ दुःखानुशयी द्वेषः।
९ स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः।
१० ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः।
११ ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः।
१२ क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।
१३ सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।
१४ ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्।
१५ परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।
१६ हेयं दुःखमनागतम्।
१७ द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।
१८ प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।
१९ विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि।
२० द्रष्टा दृशिमात्र शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।
२१ तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा।
२२ कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।
२३ स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः।
२४ तस्य हेतुरविद्या।
२५ तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्।
२६ विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।
२७ तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा।
२८ योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।
२९ यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।
३० अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।
३१ जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।
३२ शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।
३३ वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।
३४ वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्।
३५ अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।
३६ सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।
३७ अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।
३८ ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।
३९ अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।
४० शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।
४१ सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।
४२ ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च।
४३ संतोषादनुत्तमसुखलाभः।
४४ कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।
४५ स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।
४६ समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।
४७ प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।
४८ ततो द्वन्द्वानभिघातः।
४९ तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।
५० बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।
५१ बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।
५२ ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।
५३ धारणासु च योग्यता मनसः।
५४ स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।
५५ ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्।

इति श्रीपातञ्जलयोगदर्शने साधनपादो द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

अथ विभूतिपादः

१ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।
२ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।
३ तदर्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।
४ त्रयमेकत्र संयमः।
५ तज्जयात्प्रज्ञालोकः।
६ तस्य भूमिषु विनियोगः।
७ त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः।
८ तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य।
९ व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः।
१० तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्।
११ सर्वार्थतैकाग्र्ययोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः।
१२ ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः।
१३ एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः।
१४ शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी।
१५ क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः।
१६ परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्।
१७ शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्।
१८ संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्।
१९ प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्।
२० न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्।
२१ कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्।
२२ सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा।
२३ मैत्र्यादिषु बलानि।
२४ बलेषु हस्तिबलादीनि।
२५ प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्।
२६ भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्।
२७ चन्द्रे तारव्यूहज्ञानम्।
२८ ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्।
२९ नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्।
३० कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः।
३१ कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्।
३२ मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्।
३३ प्रातिभाद्वा सर्वम्।
३४ हृदये चित्तसंवित्।
३५ सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्।
३६ ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते।
३७ ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।
३८ बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः।
३९ उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च।
४० समानजयाज्ज्वलनम्।
४१ श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्।
४२ कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्।
४३ बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः।
४४ स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद्भूतजयः।
४५ ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च।
४६ रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्।
४७ ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः।
४८ ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च।
४९ सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।
५० तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।
५१ स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्।
५२ क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्।
५३ जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः।
५४ तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं च विवेकजं ज्ञानम्।

इति श्रीपातञ्जलयोगदर्शने विभूतिपादस्तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

अथ कैवल्यपादः

१ जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः।
२ जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्।
३ निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्।
४ निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्।
५ प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्।
६ तत्र ध्यानजमनाशयम्।
७ कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।
८ ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्।
९ जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्।
१० तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्।
११ हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः।
१२ अतीतानागतं स्वरूतोऽध्वभेदाद्धर्माणाम्।
१३ ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः।
१४ परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्।
१५ वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः।
१६ न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्।
१७ तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्।
१८ सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्।
१९ न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्।
२० एकसमये चोभयानवधारणम्।
२१ चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च।
२२ चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्।
२३ द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्।
२४ तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्।
२५ विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः।
२६ तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्।
२७ तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः।
२८ हानमेषां क्लेशवदुक्तम्।
२९ प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः।
३० ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः।
३१ तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्।
३२ ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्।
३३ क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः।
३४ पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।

इति श्रीपातञ्जलयोगदर्शने कैवल्यपादः चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

गीताप्रेस,
गोरखपुर

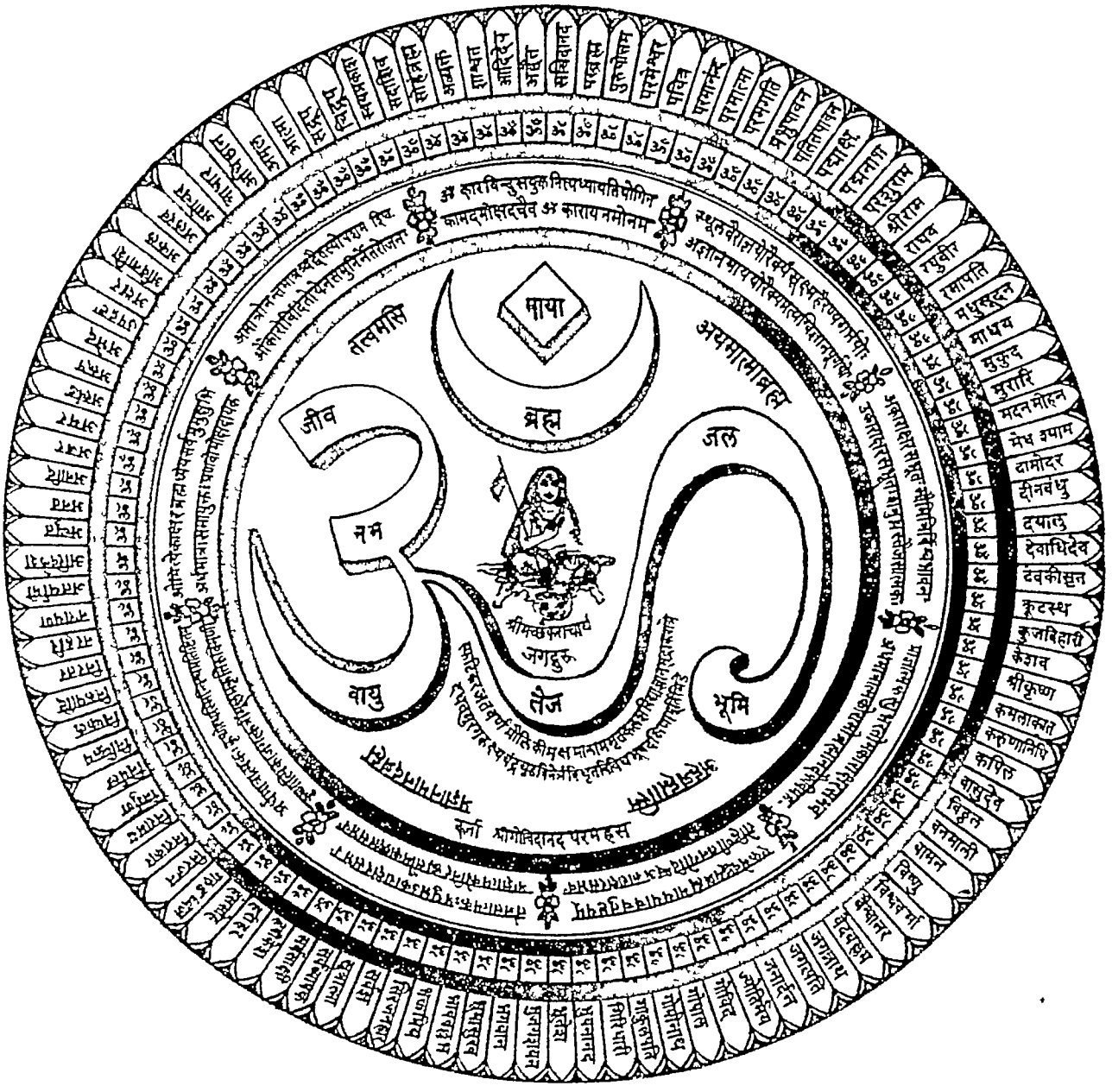

ॐकार-महिमा

९ शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेग स युक्तः स सुखी नरः ॥(५।२३)

१० योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ···· ···· ॥(,,।२४)

११ अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ (६।१)

१२ यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥ (,,।२)

१३ यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ (,,।४)

१४ शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ (,,।७)
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ (,,।८)

१५ सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥(,,।९)

१६ एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥(,,।१०)

१७ प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।(,,।१४)

१८ यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
नि स्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥(,,।१८)
यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥(,,।१९)

१९ यत्रोपरमते चित्तं निरुद्ध योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥(,,।२०)
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥(,,।२१)
यं लब्ध्वा चापरं लाभ मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥(,,।२२)
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥(,,।२३)

२० प्रशान्तमनस ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥(,,।२७)

२१ सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ (,,।२९)
यो मा पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ (,,।३०)
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥(,,।३२)

२२ योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥(६।४७)

२३ सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनःप्राणमास्थितो योगधारणाम् (८।१२)

२४ अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥(,,।१४)

२५ नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ (,,।२७)

२६ मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।(९।४-५)

२७ सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ (,,।१४)

२८ अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां ·· ·· ·· ·· ··॥(,,।२२)

२९ मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥(१०।९)

३० तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ (,,।१०)

३१ मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ (११।५५)
एवं सततयुक्ता ये ··· ····· ····· ।(१२।१)

३२ मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ (,,।२)

३३ ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥(,,।६)

३४ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युससारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥(,,।७)

३५ मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥(१४।२६)

३६ धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी (१८।३३)

भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखसे निकले हुए इन सब निर्वचनोंका आपसमें एवं भगवान् पतञ्जलिके दिये हुए—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

—इस निर्वचनके साथ समन्वय स्पष्ट नहीं होता, बल्कि आपसमें विरोधकी शङ्का भी होती है । इसलिये भी

इन सब योगनिर्वचनों और योगोंके समन्वयकी आवश्यकता है।

तीन ही काण्ड

परन्तु इन सब निर्वचनोका एक दूसरेके साथ समन्वय स्पष्ट न होनेपर भी, इन निर्वचनोंका साधारण तौरपर अनुशीलन करनेसे भी यह तो स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त और मनसे सम्भावना करनेयोग्य सब प्रकारके (मुख्य एव गौण) योगों और योगप्रक्रियाओंका समन्वय-की दृष्टिसे वर्गीकरण करनेपर, प्रत्येक रीतिके योगका (कितने भी नामभेद होते हुए) कर्मकाण्ड, उपासना-काण्ड और ज्ञानकाण्ड, इन तीनोंमेंसे किसी-न-किसी काण्डमें अवश्य अन्तर्भाव हो जाता है। अतः इन्हीं तीनों काण्डोंके समन्वयका विचार करनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है।

काण्डत्रयविरोधाभास

परन्तु इस प्रकारसे सब प्रकारके योगोंको इन तीन काण्डोंके भीतर ले आनेपर भी इन तीनो काण्डोंका आपसमें भयङ्कर विरोध ही मालूम देता है। एक श्री-मद्भगवद्गीतामे ही इस परस्पर आत्यन्तिक विरोधाभासकी प्रतीतिके समर्थक कारण मिलते हैं। यह कोई बड़ी बात नहीं है कि एक स्थानमे कर्मकाण्ड, दूसरेमें उपासनाकाण्ड और तीसरेमें ज्ञानकाण्डकी महिमा जोर-शोरसे बतायी गयी है। परन्तु जब स्थान-स्थानपर एक-एक काण्डके प्राशस्त्यके वर्णनके बाद बाकी दोनों काण्डोंका आत्यन्तिक खण्डन, निन्दा और निषेध करनेवाले वचन श्रीभगवान्‌के श्रीमुखसे निकले हुए प्रतीत होते हैं, तब इनके समन्वयकी अत्यन्त आवश्यकता अति स्पष्ट है।

कर्मयोगका प्राशस्त्य

उदाहरणार्थ, कर्मकाण्डकी महिमा बताते हुए श्री-भगवान्‌ने ज्ञानकाण्डका तिरस्कार-सा करनेका कम-से-कम अर्जुनके मनमे भी भ्रम पैदा करते हुए कहा है—

१ नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मण । (३।८)
२ कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय । (,,।२०)
३ 'कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते । (५।२)
४ तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। ६।४६

भक्तियोगकी प्रशस्ति

इसी प्रकार भक्तियोगकी महिमा भी ज्ञानकाण्ड और खास करके कर्मकाण्डके तिरस्कारके साथ ही निम्नलिखित श्लोकोमे की गयी मालूम होती है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ (६।४७)
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥ (९।३०)
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै-
र्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके
द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥(११।४८)
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ (,,।५३)
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ (,,।५४)
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ (१२।२)
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥(१८।६६)

ज्ञानयोगकी श्रेष्ठता

इसी तरह श्रीभगवान्‌ने ज्ञानयोगकी जो प्रशसा की है उसमें तो केवल भक्ति और कर्मोंका ही नहीं, बल्कि वेदोंका भी तिरस्कार है, इत्यादि कहते हुए आर्यसमाजी लोग श्रीमद्भगवद्गीताका विरोध एवं खण्डन करते हैं। ऐसे वाक्योंमेंसे कुछ दृष्टान्त स्थालीपुलाकन्यायसे नीचे दिये जाते हैं।

१ यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ (२।४२)
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥(,,।४३)
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥(,,।४४)
२ त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ॥(,,।४५)
३ यावानर्थ उदपाने सर्वतः सप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥(,,।४६)
४ दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।(,,।४९)
५ श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ (,,।५३)

६ सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ (४।३३)

७ अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ (,,।३६)

८ यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ (,,।३७)

९ न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते । (,,।३८)

विरोधाभासमें भी चमत्कार

अब उदाहरणार्थ कर्म और ज्ञानके बारेमें जब यह विचार करते हैं कि इन दोनोंमेंसे कौन-सा श्रेष्ठ है और श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने इस विषयपर क्या कहा है, तो बड़े आश्चर्य और चमत्कार अथवा गड़बड़, गोलमाल और दिल्लगीकी बात यह देखनेमें आती है कि श्रीभगवान्‌ने तो इस विषयपर गीताके भिन्न-भिन्न स्थानोंमें परस्परविरुद्ध तीन मत प्रकट किये हैं—

१ दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय । (२।४९)
'ज्ञानयोगसे कर्मयोग अत्यन्त नीचा है ।'

२ ·····कर्म ज्यायो ह्यकर्मण । (३।८)
कर्मसंन्यासाद् कर्मयोगो विशिष्यते ॥ (५।२)
ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः । (६।४६)
'कर्मत्यागसे कर्म श्रेष्ठ है । ज्ञानियोंसे भी कर्मयोगी श्रेष्ठ है ।'

३ साख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
····· (५।४)
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ (,,।५)
'साख्य और योगको बालक ही पृथक् कहते हैं, पण्डित नहीं कहते । जो साख्य और योगको एक देखता है वही ठीक देखता है ।'

इसको समझानेके लिये एक काल्पनिक दृष्टान्त दिया जा सकता है कि राम और कृष्णके बारेमें वाद-विवाद होनेपर कि दोनोंमें उम्रकी दृष्टिसे कौन बड़ा है, अगर एक ही आदमी एक साथ तीन फैसले दे कि—

१ राम ही कृष्णसे बड़ा है ।
२ कृष्ण ही रामसे बडा है ।
और ३ दोनोंकी उम्र बराबर है ।

—तो श्रीमद्भगवद्गीतावाली कर्मज्ञानसम्बन्धी परिस्थिति-का ठीक-ठीक नमूना सामने आ जाता है ।

पाश्चात्त्य विद्वानोंकी समालोचना

परस्पर अत्यन्त विरुद्ध प्रतीत होनेवाले सिद्धान्तोका एक ही गीतामें जो यह अद्भुत समावेश हुआ है उसके कारण Western Orientalists, Indologists and Research Scholars (पाश्चात्त्य समालोचको) ने इन बातोंका समन्वय न कर सकनेके कारण तग आकर यहाँतक कह डाला है कि श्रीमद्भगवद्गीता एक ही श्रीकृष्णका दिया हुआ उपदेश नहीं हो सकता, तीनों काण्डोंके भिन्न-भिन्न अनुयायियोंके ग्रन्थोंको किसी मूर्खने मिला दिया होगा, इत्यादि ।

अर्जुनको भी भ्रम हो गया था

पाश्चात्त्योंकी बात तो जाने दीजिये, स्वयं अर्जुनकी भी तो यही दशा हुई । दूसरे अध्यायको सुनकर इन परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाली अनोखी बातोंका समन्वय न कर सकनेके कारण तीसरे अध्यायके आरम्भमे वह भी तो यही कहने लगा—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मा नियोजयसि केशव ॥ (३।१)
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ (,,।२)

और आगे बढ़नेपर, तीसरे एव चौथे अध्यायको सुनकर, पाँचवें अध्यायके आरम्भमें भी वह यही कहने लगा—

सन्यासं कर्मणा कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेक तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ (५।१)

परन्तु अर्जुनकी इन प्रार्थनाओंपर श्रीभगवान्‌ने जो उत्तर दिये उनसे तृप्त होकर अर्जुन अन्तमें कहता है—

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ (१८।७३)

तो भी केवल पाश्चात्त्य विद्वानोंके मनमें ही नहीं, बल्कि हमारे इस पवित्र हिन्दुस्थानके निवासी षट्शास्त्रपार-गत विद्वच्छिरोमणियोके हृदयमें भी इन तीनों काण्डोंके समन्वयके बारेमें कुछ-न-कुछ शका उठती ही रहती है । यह बात अनुभवसे बारबार जाननेमें आयी है ।

इस लेखका लक्ष्य

अतः इन तीनों काण्डों, सब योगों और समस्त प्रक्रियाओंके परस्पर समन्वयका विचार करना ही प्रस्तुत

लेखका लक्ष्य है। इनकी आनुपूर्वी आदि सम्बन्धोकी बातें भी कहीं-कहीं आनुषगिकरूपसे आ सकती हैं, परन्तु इस लेखका यह लक्ष्य नहीं है। खास मतलब तो समन्वयका ही है। और क्योंकि सनातनधर्मके वेदादि समस्त मूल प्रमाणग्रन्थोंका सारांश श्रीमद्भगवद्गीतामे है और क्योंकि उसमे तीनों काण्डोंके सम्बन्धमें गड़बड भी बहुत है, इसलिये प्रकृत लेखके उद्दिष्ट समन्वयका विशेष करके और प्रायश. श्रीमद्भगवद्गीताके आधारपर ही विचार किया जाता है।

जटिल पारिभाषिक प्रक्रियाएँ

अतएव भक्ति और प्रपत्तिका पारिभाषिक भेद, वैधी और रागानुगा भक्तिका भेद, भक्तियोगमे रसोंका सोपानक्रम, प्राचीन (मार्कण्डेयी) हठयोग और नवीन (मत्स्येन्द्रनाथी) हठयोगका भेद, हठयोगके षट्कर्म, योगके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिरूपी अष्टाङ्ग, योगमार्ग और वियोगमार्गका भेद, षट्चक्रभेदनविधि, अधोमुख सहस्रार और ऊर्ध्वमुख सहस्रार, नाडीचक्र, दशमद्वार-रहस्य, भ्रमरगुहा, गुप्त अष्टदलकमल, बन्धप्रक्रिया, मुद्राभेद, वज्रोली, राजोली, अमरोली और सहजोलीके तत्त्व, प्रज्ञाकी सप्तभूमिका, अक-थका त्रिचक्र, क्रियायोग और समाधियोगके भेद एव अधिकारी, गुरुतत्त्व, गुरुपादुकातत्त्व, गुरुदीक्षातत्त्व, दीक्षामें आणवी, शाक्ती, शाम्भवी, वैष्णवी, कलावती, मान्त्री, हौत्री, स्मार्ती, चाक्षुषी, वैधी आदि भेद, गुरुदयासे शक्तिसञ्चार, गुरुवचनसे तत्त्वबोधका उदय, तारकज्ञानका लक्षण, योगविभूति, कायाकल्प (अर्थात् कायापलट), भूतजय, अष्टमहासिद्धि, इन्द्रियजय, मधुप्रतीकसिद्धि, परकायप्रवेश, विशोका सिद्धि, व्योमपथ (शून्यपथ), ऋतम्भरा प्रज्ञा, विन्दु और महाविन्दुका स्वभाव एवं परस्परसम्बन्ध, ज्योतिष्मती प्रवृत्ति, नादानुसन्धान, स्मृतिपरिशुद्धि, ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि-भेदनरहस्य, कायशुद्धि (कायसिद्धि), युक्तत्रिवेणी और मुक्तत्रिवेणी, भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि, सहजमार्ग, भावदेह और ज्ञानदेह, प्रणवतत्त्वरहस्य और उसके भ्रामरीनाद, शखनाद, घण्टानाद आदि भेद, बीजमन्त्रोका प्रणवके साथ सम्बन्ध, श्रुत-चिन्ता-भावनामयी प्रज्ञा और भूमिप्रविष्ट प्रज्ञा, प्राणायामरहस्य, कुम्भकके अनेक प्रकारके भेद, लोकसंस्थान, पिपीलिकामार्ग और विहङ्गममार्ग, रूपध्यान और अरूपध्यान, पञ्चस्वरतत्त्व, स्वरोदयतत्त्व, स्मृत्युपस्थान, शुक्ल-नील-पीतप्रभावलीरहस्य, दर्शनमार्ग और भावनामार्ग, सगुणध्यान और निर्गुणध्यान, कायव्यूह, निर्माणकाय एव निर्माणचित्त, क्लेशस्वरूप-क्लेशविभाग-क्लेशनिवारणोपाय, शून्यध्यान, शून्य-महाशून्य-अतिशून्यविवेचन, योगके तन्त्रोक्त आणव-शाम्भव-शाक्तमार्ग, अनुपायमार्ग, गुणस्थान, साधनसोपान, सिद्धशिला, अभिमतध्यानरहस्य, लोकाकाश और अलोकाकाश, भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधिका भेद, सम्प्रज्ञात समाधिके प्रभेद, धर्ममेघ, सवर और निर्जर, अपरवैराग्य और परवैराग्यका विवेचन, मनःपर्यायज्ञान, अवधिज्ञान और केवलज्ञान, सात्मकयोग और निरात्मकयोगका पाशुपतशास्त्रोक्त भेद, कर्मस्वभाव, कर्मप्रभेद, कर्मविपाक, असगोक्त योगप्रक्रिया, नागार्जुनोक्त योगप्रक्रिया, ब्रह्मचर्य, नैष्ठिक ब्रह्मचर्य और उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य, शुक्ल, कृष्ण और रक्त ब्रह्मचर्य, ऊर्ध्वरेतस्त्व, प्रज्ञापारमिता, मधुमती, योगान्तराय, प्रेतात्मवाद, योगासनप्रक्रिया, योगासनो तथा षट्कर्मसे व्याधिचिकित्सा, रश्मिविज्ञान, जड समाधि, योगक्षेम इत्यादि अति जटिल पारिभाषिक विषयोके (जिनका केवल स्वानुभूति ही एकमात्र प्रमाण और निरूपक है) निरूपणमें हम नहीं उतरेंगे। केवल इन सब प्रकारके योगभेदोके समन्वयके स्पष्टीकरणके लिये आवश्यक दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता और योगशास्त्र

चूँकि योगकी अर्थात् नरके नारायण बननेकी साक्षात् विधि बतानेके खास मतलबसे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अर्जुनरूपी नरको निमित्त बनाकर तीनो काण्डोंके योगका निरूपण किया है, इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीता योगशास्त्र कहलाती है और इसीलिये उसके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें दिया गया है—'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' अमुक योग नामक अमुक अध्याय समाप्त हुआ।

श्रीमद्भगवद्गीताके अठारह अध्याय

इन अठारह अध्यायोंके क्रमश. ये नाम हैं—

१ अर्जुनविषादयोग, २ साख्ययोग, ३ कर्मयोग, ४ ब्रह्मार्पणयोग (ज्ञानकर्मसन्यासयोग), ५ कर्मसन्यासयोग, ६ आत्मसयमयोग, ७ ज्ञानविज्ञानयोग, ८ अक्षरब्रह्मयोग, ९ राजविद्याराजगुह्ययोग, १० विभूतियोग, ११ विश्वरूपदर्शनयोग, १२ भक्तियोग, १३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग, १४ गुणत्रयविभागयोग, १५ पुरुषोत्तमयोग, १६ दैवासुरसपद्विभागयोग, १७ श्रद्धात्रयविभागयोग, १८ मोक्षसन्यासयोग।

अठारह अध्यायोंमें अठारह योग

इन अठारह अध्यायोंके विषयोंका विचार करनेपर विदित होता है कि—

पहले अध्यायमें अर्जुनके दु:खका ही वर्णन है। २ दूसरे अध्यायमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, इन तीनोंका समन्वय करते हुए भगवान्‌ने सारी भगवद्गीताका संक्षेपसे उपदेश दिया। परन्तु ३ इस संक्षिप्त उपदेशके पर्याप्त न होनेके कारण, अर्थात् दूसरे अध्यायके अन्तमें जब अर्जुन कर्मभक्तिज्ञानसमन्वयको नहीं समझता और पूछता है कि—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ (३।१)

—इत्यादि, तब श्रीभगवान् दूसरे अध्यायमें संक्षेपसे बताये हुए सिद्धान्तका ही बाकी सोलह अध्यायोंमें विवरण करते हुए तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे अध्यायोंमें कर्मकाण्डके अन्तर्गत चार योगविभागों तथा बीचके छः अध्यायोंमें उपासनाकाण्डान्तर्गत छः योगविभागों और अन्तिम छः अध्यायोंमें ज्ञानकाण्डके अन्तर्गत छः योगविभागों अर्थात् कुल मिलाकर सोलह योगोंका अर्जुनको उपदेश देते हैं। इनके परस्पर सम्बन्धों और आनुपूर्वी आदि विषयोंका इस लेखमें वर्णन नहीं हो सकता। तो भी, ऐसी कुछ खास-खास बातोंका विवेचन या कम से-कम दिग्दर्शन तो अवश्य करना है, क्योंकि उनके समझे बिना योगशास्त्रके श्रीमद्भगवद्गीतारूपी परम ग्रन्थके खास-खास सिद्धान्त भी समझमें नहीं आ सकते। इसलिये ऐसी ही कुछ खास-खास बातोंका दिग्दर्शन कराया जाता है।

योगारम्भकी पहली सीढ़ी—सकाम कर्मयोग

उपर्युक्त सोलह योगोंके अतिरिक्त, अष्टमाध्यायमें श्रीभगवान्‌ने—

१ यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः। (८।२३)
२ तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ (८।२५)

—इन दोनों श्लोकोंमें, मोक्षको प्राप्त करनेवाले निष्कामकर्मीकी भाँति, स्वर्गलोकमें जाकर लौटनेवाले कर्मफलेच्छु कर्मकाण्डीका भी 'योगी' शब्दसे जो निर्देश किया गया है उसके ऊपर यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि—

१ आवृत्तिं चैव योगिनः।
२ योगी प्राप्य निवर्तते।

—क्या इसीसे स्पष्ट नहीं है कि श्रीभगवान्‌ने सकामकर्मीको भी योगी ही माना है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि वहाँ मालूम तो ऐसा ही होता है; परन्तु समस्त भगवद्गीतामें केवल इन दो श्लोकोंको छोड़कर सकाम कर्मकी जो अतिशय निन्दा और खण्डन ही उपलब्ध होता है उससे स्पष्ट है कि श्रीभगवान्‌के बताये हुए किसी भी निर्वचनके अनुसार ये सकामकर्मी कर्मठ गीताके सिद्धान्तानुसार किसी प्रकारके भी योगी नहीं माने जा सकते। अतः इनके बारेमें उदाहृत दो श्लोकोंमें जो 'योगी' शब्द (दो बार) मिलता है उसे केवल औपचारिक प्रयोग माननेको हमें बाध्य होना पड़ता है। नहीं तो समस्त गीताकी इन दो श्लोकोंसे निरर्थकता हो जानेकी आपत्ति आती है।

औपचारिक प्रयोग

ऐसे कर्मकाण्डीको औपचारिक रीतिसे योगी मानना भी इस आधारपर ही स्वीकार हो सकता है कि ऐसे आदमी (जो फलकी कामनासे कर्म करते हैं)—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते॥ (९।२१)

—इस हिसाबसे बारबार स्वर्गादिमें सुख भोगकर फिर गर्भवास आदि सङ्कटमें आकर—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।

—इस मुण्डकोपनिषद्के बताये हुए प्रकारसे अनन्त पुनरावृत्तिमें पहुँचानेवाले सकाम कर्ममार्गसे बिल्कुल तंग आकर—निर्विण्ण (Disgusted) होकर एक दिन निष्कामकर्मके मार्गपर आरूढ़ होनेवाले जरूर बन जायँगे। अतः मोक्षकी प्राप्ति करानेवाले निष्काम कर्मयोगके मार्गपर आरूढ़ होनेके लिये पहली सीढ़ी यह है कि आदमी नरकको प्राप्त करानेवाले पापके रास्तेसे बचकर स्वर्गादिमें ले जानेवाले सकाम कर्ममार्गमें चलने लगे। (क्रमशः)

लेखका लक्ष्य है। इनकी आनुपूर्वी आदि सम्बन्धोकी बातें भी कहीं-कहीं आनुषंगिकरूपसे आ सकती हैं, परन्तु इस लेखका यह लक्ष्य नहीं है। खास मतलब तो समन्वयका ही है। और क्योंकि सनातनधर्मके वेदादि समस्त मूल प्रमाणग्रन्थोंका सारांश श्रीमद्भगवद्गीतामें है और क्योंकि उसमें तीनों काण्डोंके सम्बन्धमें गड़बड़ भी बहुत है, इसलिये प्रकृत लेखके उद्दिष्ट समन्वयका विशेष करके और प्रायशः श्रीमद्भगवद्गीताके आधारपर ही विचार किया जाता है।

जटिल पारिभाषिक प्रक्रियाएँ

अतएव भक्ति और प्रपत्तिका पारिभाषिक भेद, वैधी और रागानुगा भक्तिका भेद, भक्तियोगमें रसोंका सोपानक्रम, प्राचीन (मार्कण्डेयी) हठयोग और नवीन (मत्स्येन्द्रनाथी) हठयोगका भेद, हठयोगके षट्कर्म, योगके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिरूपी अष्टाङ्ग, योगमार्ग और वियोगमार्गका भेद, षट्चक्रभेदनविधि, अधोमुख सहस्रार और ऊर्ध्वमुख सहस्रार, नाडीचक्र, दशमद्वार-रहस्य, भ्रमरगुहा, गुप्त अष्टदलकमल, वन्यप्रक्रिया, मुद्राभेद, वज्रोली, राजोली, अमरोली और सहजोलीके तत्त्व, प्रज्ञाकी सप्तभूमिका, अक-थका त्रिचक्र, क्रियायोग और समाधियोगके भेद एवं अधिकारी, गुरुतत्त्व, गुरुपादुकातत्त्व, गुरुदीक्षातत्त्व, दीक्षामें आणवी, शाक्ती, शाम्भवी, वैष्णवी, कलावती, मान्त्री, हौत्री, स्मार्ती, चाक्षुषी, वैधी आदि भेद, गुरुदयासे शक्तिसञ्चार, गुरुवचनसे तत्त्वबोधका उदय, तारकज्ञानका लक्षण, योगविभूति, कायाकल्प (अर्थात् कायापलट), भूतजय, अष्टमहासिद्धि, इन्द्रियजय, मधुप्रतीकसिद्धि, परकायप्रवेश, विशोका सिद्धि, व्योमपथ (शून्यपथ), ऋतम्भरा प्रज्ञा, बिन्दु और महाबिन्दुका स्वभाव एवं परस्परसम्बन्ध, ज्योतिष्मती प्रवृत्ति, नादानुसन्धान, स्मृतिपरिशुद्धि, ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि-भेदनरहस्य, कायशुद्धि (कायसिद्धि), युक्तत्रिवेणी और मुक्तत्रिवेणी, भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि, सहजमार्ग, भावदेह और ज्ञानदेह, प्रणवतत्त्वरहस्य और उसके भ्रामरीनाद, शब्दनाद, घण्टानाद आदि भेद, बीजमन्त्रोंका प्रणवके साथ सम्बन्ध, श्रुत-चिन्ता-भावनामयी प्रज्ञा और भूमिप्रविष्ट प्रज्ञा, प्राणायामरहस्य, कुम्भकके अनेक प्रकारके भेद, लोकसंस्थान, पिपीलिकामार्ग और विहङ्गममार्ग, रूपध्यान और अरूपध्यान, पञ्चस्वरतत्त्व, स्वरोदयतत्त्व, स्मृत्युपस्थान, शुक्ल-नीलगीतप्रभावलीरहस्य, दर्शनमार्ग और भावनामार्ग, सगुणध्यान और निर्गुणध्यान, कायव्यूह, निर्माणकाय एवं निर्माणचित्त, क्लेशस्वरूप-क्लेशविभाग-क्लेशनिवारणोपाय, शून्यध्यान, शून्य-महाशून्य-अतिशून्यविवेचन, योगके तन्त्रोक्त आणव-शाम्भव-शाक्तमार्ग, अनुपायमार्ग, गुणस्थान, साधनसोपान, सिद्धशिला, अभिमतध्यानरहस्य, लोकाकाश और अलोकाकाश, भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधिका भेद, सम्प्रज्ञात समाधिके प्रभेद, धर्ममेघ, संवर और निर्जर, अपरवैराग्य और परवैराग्यका विवेचन, मनःपर्यायज्ञान, अवधिज्ञान और केवलज्ञान, सात्मकयोग और निरात्मकयोगका पाशुपतशास्त्रोक्त भेद, कर्मस्वभाव, कर्मप्रभेद, कर्मविपाक, असंगोक्त योगप्रक्रिया, नागार्जुनोक्त योगप्रक्रिया, ब्रह्मचर्य, नैष्ठिक ब्रह्मचर्य और उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य, शुक्ल, कृष्ण और रक्त ब्रह्मचर्य, ऊर्ध्वरेतस्त्व, प्रज्ञापारमिता, मधुमती, योगान्तराय, प्रेतात्मवाद, योगासनप्रक्रिया, योगासनों तथा षट्कर्मसे व्याधिचिकित्सा, रश्मिविज्ञान, जड़ समाधि, योगक्षेम इत्यादि अति जटिल पारिभाषिक विषयोंके (जिनका केवल स्वानुभूति ही एकमात्र प्रमाण और निरूपक है) निरूपणमें हम नहीं उतरेंगे। केवल इन सब प्रकारके योगभेदोंके समन्वयके स्पष्टीकरणके लिये आवश्यक दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता और योगशास्त्र

चूँकि योगकी अर्थात् नरके नारायण बननेकी साक्षात् विधि बतानेके खास मतलबसे भगवान श्रीकृष्णचन्द्रने अर्जुनरूपी नरको निमित्त बनाकर तीनों काण्डोंके योगका निरूपण किया है, इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीता योगशास्त्र कहलाती है और इसीलिये उसके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें दिया गया है—'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे' अमुक योग नामक अमुक अध्याय समाप्त हुआ।

श्रीमद्भगवद्गीताके अठारह अध्याय

इन अठारह अध्यायोंके क्रमशः ये नाम हैं—

१ अर्जुनविषादयोग, २ साङ्ख्ययोग, ३ कर्मयोग, ४ ब्रह्मार्पणयोग (ज्ञानकर्मसंन्यासयोग), ५ कर्मसंन्यासयोग, ६ आत्मसंयमयोग, ७ ज्ञानविज्ञानयोग, ८ अक्षरब्रह्मयोग, ९ राजविद्याराजगुह्ययोग, १० विभूतियोग, ११ विश्वरूपदर्शनयोग, १२ भक्तियोग, १३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग, १४ गुणत्रयविभागयोग, १५ पुरुषोत्तमयोग, १६ दैवासुरसंपद्विभागयोग, १७ श्रद्धात्रयविभागयोग, १८ मोक्षसंन्यासयोग।

अठारह अध्यायोंमें अठारह योग

इन अठारह अध्यायोंके विषयोंका विचार करनेपर विदित होता है कि—

पहले अध्यायमें अर्जुनके दुःखका ही वर्णन है। २ दूसरे अध्यायमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, इन तीनोंका समन्वय करते हुए भगवान्‌ने सारी भगवद्गीताका संक्षेपसे उपदेश दिया। परन्तु ३ इस संक्षिप्त उपदेशके पर्याप्त न होनेके कारण, अर्थात् दूसरे अध्यायके अन्तमें जब अर्जुन कर्मभक्तिज्ञानसमन्वयको नहीं समझता और पूछता है कि—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥ (३।१)

—इत्यादि, तब श्रीभगवान् दूसरे अध्यायमें संक्षेपसे बताये हुए सिद्धान्तका ही बाकी सोलह अध्यायोंमें विवरण करते हुए तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे अध्यायोंमें कर्मकाण्डके अन्तर्गत चार योगविभागों तथा बीचके छः अध्यायोंमें उपासनाकाण्डान्तर्गत छः योगविभागों और अन्तिम छः अध्यायोंमें ज्ञानकाण्डके अन्तर्गत छः योगविभागों अर्थात् कुल मिलाकर सोलह योगोंका अर्जुनको उपदेश देते हैं। इनके परस्पर सम्बन्धों और आनुपूर्वी आदि विषयोंका इस लेखमें वर्णन नहीं हो सकता। तो भी, ऐसी कुछ खास-खास बातोंका विवेचन या कम-से-कम दिग्दर्शन तो अवश्य करना है, क्योंकि उनके समझे बिना योगशास्त्रके श्रीमद्भगवद्गीतारूपी परम ग्रन्थके खास-खास सिद्धान्त भी समझमें नहीं आ सकते। इसलिये ऐसी ही कुछ खास-खास बातोंका दिग्दर्शन कराया जाता है।

योगारम्भकी पहली सीढ़ी—सकाम कर्मयोग

उपर्युक्त सोलह योगोंके अतिरिक्त, अष्टमाध्यायमें श्रीभगवान्‌ने—

१ यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः। (८।२३)
२ तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ (८।२५)

—इन दोनों श्लोकोंमें, मोक्षको प्राप्त करनेवाले निष्कामकर्मीकी भाँति, स्वर्गलोकमें जाकर लौटनेवाले कर्मफलेच्छु कर्मकाण्डीका भी 'योगी' शब्दसे जो निर्देश किया गया है उसके ऊपर यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि—

१ आवृत्तिं चैव योगिनः।
२ योगी प्राप्य निवर्तते।

—क्या इसीसे स्पष्ट नहीं है कि श्रीभगवान्‌ने सकामकर्मीको भी योगी ही माना है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि वहाँ मालूम तो ऐसा ही होता है; परन्तु समस्त भगवद्गीतामें केवल इन दो श्लोकोंको छोड़कर सकाम कर्मकी जो अतिशय निन्दा और खण्डन ही उपलब्ध होता है उससे स्पष्ट है कि श्रीभगवान्‌के बताये हुए किसी भी निर्वचनके अनुसार ये सकामकर्मी कर्मठ गीताके सिद्धान्तानुसार किसी प्रकारके भी योगी नहीं माने जा सकते। अतः इनके बारेमें उदाहृत दो श्लोकोंमें जो 'योगी' शब्द (दो बार) मिलता है उसे केवल औपचारिक प्रयोग माननेको हमें बाध्य होना पड़ता है। नहीं तो समस्त गीताकी इन दो श्लोकोंसे निरर्थकता हो जानेकी आपत्ति आती है।

औपचारिक प्रयोग

ऐसे कर्मकाण्डीको औपचारिक रीतिसे योगी मानना भी इस आधारपर ही स्वीकार हो सकता है कि ऐसे आदमी (जो फलकी कामनासे कर्म करते हैं)—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एव त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागत कामकामा लभन्ते॥ (९।२१)

—इस हिसाबसे बारबार स्वर्गादिमें सुख भोगकर फिर गर्भवास आदि सङ्कटमें आकर—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।

—इस मुण्डकोपनिषद्के बताये हुए प्रकारसे अनन्त पुनरावृत्तिमें पहुँचानेवाले सकाम कर्ममार्गसे बिल्कुल तंग आकर—निर्विण्ण (Disgusted) होकर एक दिन निष्कामकर्मके मार्गपर आरूढ होनेवाले जरूर बन जायँगे। अतः मोक्षकी प्राप्ति करानेवाले निष्काम कर्मयोगके मार्गपर आरूढ़ होनेके लिये पहली सीढ़ी यह है कि आदमी नरकको प्राप्त करानेवाले पापके रास्तेसे बचकर स्वर्गादिमें ले जानेवाले सकाम कर्ममार्गमें चलने लगे। (क्रमशः)

भक्तियोग और शरणागतियोगका वैलक्षण्य

(लेखक—श्रीकाञ्चीप्रतिवादिभयङ्करमठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीभगवद्रामानुजसम्प्रदायाचार्य श्री१०८ श्रीअनन्ताचार्य स्वामीजी महाराज)

भक्त्या परमया वापि प्रपत्त्या वा महामुने। प्राप्योऽहं नान्यथा प्राप्यो वर्षलक्षशतैरपि॥

मोक्षोपाय

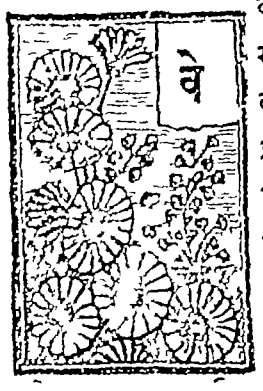

वेदान्तसिद्धान्तानुसार परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिको ही अधिकांश लोग मोक्ष मानते हैं। उस परब्रह्मकी प्राप्ति किस रूपमें होती है—चाहे इस विषयमें भले ही मतभेद हो, किन्तु मोक्षका साधन 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्','ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति','तमेव विद्वानमृत इह भवति', 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' इत्यादि उपनिषद्वाक्यानुसार ब्रह्मवेदन है। 'विद् ज्ञाने' इस धातुसे 'वित्', 'वेद', 'विद्वान्', 'विदित्वा' आदि शब्द बनते हैं। अतएव 'वेदन' शब्दका अर्थ होगा ज्ञान। 'अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते', 'ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय तर्तु मृत्युमविद्यया' इत्यादि वचनोंके देखनेसे मालूम होता है कि वेदन ही 'विद्या' शब्दसे व्यवहृत होता है। उसीको 'ब्रह्मविद्या' कहते हैं। वेदान्तदर्शनमें सूत्रकार बादरायणने 'विद्या' शब्दका प्रयोग किया है। तृतीयाध्याय, तृतीय पादमें 'पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात्', 'विद्यैव तु निर्धारणाद्दर्शनाच्च'—इन सूत्रोंमें 'विद्या' शब्दका प्रयोग हुआ है। चतुर्थ पादके आरम्भमें 'पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः' इस सूत्रमें 'अतः' शब्दसे पूर्वप्रस्तुत ब्रह्मविद्याका परामर्श करके उसीसे मोक्षरूप पुरुषार्थकी प्राप्ति बताते हुए सूत्रकारने ब्रह्मविद्याको ही मोक्षसाधन सिद्ध किया है।

ब्रह्मविद्याएँ अनेक हैं, सद्विद्या, दहरविद्या, अन्तरादित्यविद्या इत्यादि उनके नाम हैं। इन विद्याओंमेंसे किसी भी एक विद्याका अनुष्ठान करके मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। ये विद्याएँ उपासनारूप हैं, यह बात 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इस सूत्रसे ब्रह्मसूत्रकारने सिद्ध की है। उपासना ध्यानरूप है। 'ध्यै चिन्तायाम्' धातुसे 'ध्यान' शब्द बनता है। अतएव ध्यान उस ज्ञानधारा या धारावाहिक ज्ञानका नाम है जो अविच्छिन्न-एकरूपप्रत्ययवाहिनी हो। भगवान् पराशरने ध्यानका स्वरूप निम्नलिखित श्लोकमें बताया है—

तद्रूपप्रत्ययया चैका सन्ततिश्चान्यनिःस्पृहा।
तद् ध्यानं प्रथमैः षड्भिरङ्गैर्निष्पाद्यते तथा॥

अर्थात् विषयान्तरसम्बन्धरहित केवल भगवद्रूपमात्रविषयक प्रत्ययसन्तति ही ध्यान है। अतएव मोक्षसाधनभूत वेदन ज्ञानमात्र न होकर उपासन, निदिध्यासन आदि शब्दवाच्य ध्यानरूप ज्ञान होगा। वही ब्रह्मविद्या और वही मोक्षसाधन है। 'विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्' इस ब्रह्मसूत्रके अनुसार अनेक ब्रह्मविद्याएँ तुल्यफलदायी होनेके कारण वैकल्पिक हैं। अर्थात् इच्छानुसार किसी भी एक ब्रह्मविद्याका आश्रय लेकर पुरुषार्थलाभ किया जा सकता है। उपायभक्ति या भक्तियोग ब्रह्मविद्या ही है, यह बात आगे व्यक्त होगी। और शरणागतियोग भी ब्रह्मविद्याभेदोंमेंसे है। अतएव ये भी मोक्षसाधन हैं। इनको ब्रह्मविद्या मान लेनेपर 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'नान्यः पन्था अयनाय विद्यते' इत्यादि वाक्योंका विरोध भी दूर हो जाता है। ये वाक्य स्पष्ट कह रहे हैं कि वेदन ही मोक्षसाधन है, दूसरा नहीं। यदि हम भक्तियोग और शरणागतियोगको वेदनप्रभेद नहीं मानते हैं तो इन वाक्योंमें विरोध आवेगा। क्योंकि वेदनभिन्न किसीका मोक्षसाधनत्व इन वाक्योंको सह्य नहीं है। 'नान्यः पन्थाः' स्पष्ट शब्द है, दूसरा मार्ग ही मोक्षके लिये नहीं है।

यहाँ यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि वेदान्तके मोक्षोपायकथनप्रकरणोंमें वेदन, ध्यान, उपासन, निदिध्यासन आदि शब्द एक ही अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं।

क्योंकि एक प्रकरणमें एक विषयका वर्णन करते हुए 'विदि' और 'उपासि' धातुओंका प्रयोग एक दूसरेके स्थानपर किया हुआ मिलता है। कहीं 'विदि' धातुसे उपक्रम होकर 'उपासि' धातुसे उपसंहार हुआ है। और कहीं 'उपासि' से उपक्रम होकर 'विदि' से उपसंहार हुआ है। यदि इन धातुओंके अर्थ एक न होते तो ऐसा न होता। छान्दोग्य उपनिषद्के प्रपाठक ४ खण्ड १ में 'यस्तद्वेद यत्स

वेद स मयैतदुक्तः' इस स्थलमें 'विदि' से उपक्रम होकर 'अनु म एतां भगवो देवता॰ शाधि यां देवतामुपास्से' इस प्रकार 'उपासि' धातुसे उपसंहार हुआ है। एवं 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' इस स्थलमें 'उपासि' धातुसे उपक्रम होकर 'भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एव वेद' इस प्रकार 'विदि' धातुसे उपसंहार हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि मोक्षोपायकथनप्रकरणमें जो 'विदि' और 'उपासि' धातु आये हैं वे एकार्थवाची हैं। सेवा और उपासना पर्यायवाची शब्द हैं। 'भज सेवायाम्' धातुसे 'भक्ति' शब्द बनता है। 'सेवा भक्तिरुपासिः' निघण्टुवचन है।

भक्तियोग और शरणागतियोगमें परस्पर अनेक प्रकारसे वैलक्षण्य है। क्रमसे हम उनका निरूपण करेंगे।

स्वरूप-वैलक्षण्य

भक्ति दो प्रकारकी मानी जाती है—उपाय-भक्ति और साध्य-भक्ति। इनमेंसे उपाय-भक्ति तैलधारावत् अविच्छिन्न विषयान्तररहित दर्शनसमानाकार परमप्रेमरूप स्मृतिसन्तान (परम्परा) को कहते हैं। समस्त उपनिषद्वाक्य एक स्वरसे इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं। क्योंकि मोक्षोपायविधानप्रकरणोंमें—

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्', 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः', 'आत्मानमेव लोकमुपासीत', 'तमेवैकं ध्यायथ', 'ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः'।

'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥'

'भक्त्या च धृत्या च समाहितात्मा
ज्ञानस्वरूपं परिपश्यन्ति धीराः।'

'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥'

'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥'

—इत्यादि मोक्षोपायविधायक वचनोंमें वेदन, दर्शन, निदिध्यासन, उपासन, ध्यान, ध्रुवा स्मृति, भक्ति इत्यादि शब्दोंसे मोक्षोपायका विधान पाया जाता है। मीमांसाके 'छागपशुन्याय' अर्थात् सामान्यविशेष-न्यायसे इन सब शब्दोंका एक अर्थमें पर्यवसान करनेसे भक्तिका ऊपर बताया हुआ स्वरूप सिद्ध होता है। ऐसा न करनेपर इन सबको अलग-अलग मोक्षोपाय मानना पड़ेगा। ऐसा होनेपर कुछ वाक्योंमें परस्परविरोध अपरिहार्यरूपसे उपस्थित होगा। यथा—

'तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय', 'नाहं वेदैर्न तपसा···भक्त्या त्वनन्यया शक्यः।'

—इन दोनोंमें पहला कहता है, वेदनके सिवा दूसरा उपाय ही नहीं। दूसरा कहता है, भक्तिके सिवा दूसरा उपाय नहीं। यदि इन दोनों वचनोंको एक सूत्रमें नहीं बाँधते हैं तो परस्परविरोधसे या तो दोनोंको ही सुन्दोपसुन्दन्यायसे अप्रमाण स्वीकार करना होगा, या प्राबल्य-दौर्बल्यावलम्बनसे एकको अप्रमाण स्वीकार करना होगा। यदि दोनोंका ही प्रामाण्य अक्षुण्ण रखना है तो दोनोंका एकार्थत्व स्वीकार कर लेना होगा। यद्यपि उत्सर्गापवादन्यायसे निषेधका विहितव्यतिरिक्त विषयमें सङ्कोच किया जा सकता है, तथापि विरोधका परिहार प्रमाणान्तरानुसार जब अन्य प्रकारसे हो रहा है तब उसकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। बात इतनी ही है कि एक वेदनको मोक्षोपाय बताता है, दूसरा उसीको विशिष्ट रूप देकर मोक्षोपाय बताता है। 'वेदन' सामान्य शब्द होनेके कारण उसका भक्ति-शब्दार्थमें पर्यवसान हो जाता है। तब यह सिद्ध होता है कि भक्तिरूपताको प्राप्त वेदन ही मोक्षसाधन है।

वर्तमानकालमें जो भक्तिशास्त्रके ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उनमें शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र और नारद भक्तिसूत्र ये दो मुख्य माने जाते हैं। नारद-भक्तिसूत्र दो प्रकारके हैं—एक छोटा और दूसरा बड़ा। शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रके 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' इस सूत्रमें भक्तिका स्वरूप बताया गया है। अर्थात् परमेश्वरविषयक अनुराग ही भक्ति है। नारद-भक्तिसूत्रके 'सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' इस सूत्रमें भक्तिको परमेश्वरविषयक परमप्रेमरूप बताया है। अब हमें यह विचारना है कि अनुराग अथवा प्रेम क्या चीज है। इतना तो मालूम होता है कि वह सविषयक पदार्थ है। न्याय-वैशेषिक-मतानुसार बुद्धि, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सत्कार आदि सविषयक पदार्थ माने गये हैं। परन्तु कुछ बुद्धिमान्, विचारशील विद्वानोंने यह सिद्ध किया है कि जैसे स्मृति ज्ञानका ही भेद है वैसे ही इच्छा, द्वेष, अनुराग, प्रेम आदि भी ज्ञानके ही भेद हैं, स्वतन्त्र पदार्थ नहीं। ज्ञानकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंके भिन्न-भिन्न नाम होते हैं।

ये ही स्मृति, इच्छा, द्वेष, अनुराग आदि हैं। यदि इस सिद्धान्तको मान लेते हैं तो ज्ञानहीकी एक विशिष्ट अवस्थाको, जब वह दर्शनसमानाकार प्रेमरूप स्मरण-धारात्वको प्राप्त होती है, 'भक्ति' नाम दिया जाय तो कोई विरोध नहीं होगा।

कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव।

—इस प्रमाणसे तो सब कुछ मनोवृत्तिमात्र है। इस प्रकार पूर्वोक्त ज्ञानावस्थाविशेषको भक्ति न मानकर केवल अनुराग या प्रेमको भक्ति माने तो शास्त्रोंमें उसका विधान अयोग्य होगा। क्योंकि जैसे इच्छा पुरुषतन्त्र नहीं है वैसे अनुराग भी पुरुषतन्त्र न होनेसे उसका विधान नहीं हो सकता। विधान उसीका हो सकता है जो मनुष्यके प्रयत्नसे साध्य हो, जो ऐसा नहीं है उसका विधान नहीं हो सकता। किसीपर प्रेम स्वतः ही उत्पन्न होता है, प्रयत्नसाध्य नहीं है। प्रेम करो, प्रेम करो, कहनेसे कोई प्रेम नहीं कर सकता। जो दृष्टिगोचर हैं उनके दखनेसे तथा उनके गुणोंके ज्ञानसे प्रेम उत्पन्न होता है, करो, करो, कहनेसे कोई लाभ नहीं। हम जब भक्तिका विधान मोक्षोपायके रूपमें शास्त्रोंमें पाते हैं तो वह कोई ऐसा पदार्थ होना चाहिये जिसको मनुष्य शास्त्राज्ञावशीभूत होकर स्वप्रयत्नसे सिद्ध कर सके। ऊपर जो भक्तिका स्वरूप बताया गया है वह परमात्माके स्वरूप, रूप-गुण आदिको शास्त्रद्वारा जानकर, उनकी भक्तिको मोक्षोपाय समझकर अनवरत—अविच्छिन्नभावसे उनका स्मरण प्रेमपूर्वक करते रहनेसे सतत भावनाके कारण वही स्मरण दर्शनसमानाकारताको जब प्राप्त होगा तब सिद्ध होगा। उस अवस्थामें वह स्मरण प्रेमरूप भी हो जाता है। अतएव अनुरागरूपता या प्रेमरूपतामें भी कोई न्यूनता नहीं रह जाती। अतएव शाण्डिल्य आदि महर्षियोंकी उक्ति भी सार्थक हो जाती है। अथवा हम ऐसा भी मान सकते हैं कि शाण्डिल्य आदिने जो स्वरूप भक्तिका कहा है वह साधन-भक्तिका न होकर साध्य-भक्तिका है। साधन-भक्तिद्वारा परमात्मसाक्षात्कार हो जाने-पर साध्य-भक्ति उत्पन्न होती है। उसीको भक्तोंने भगवान्‌से माँगा है। जैसा कि भक्त प्रह्लादने कहा है—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—'मद्भक्तिं लभते पराम्'। किसी-किसीके अन्दर यह भक्ति केवल भगवत्कृपासे प्रकट होती है।

यह तो हुआ उपाय-भक्ति या साधन-भक्तिका स्वरूप। अब शरणागतिका स्वरूप बताते हैं। 'न्यास', 'प्रपत्ति', 'प्रपदन' आदि शरणागतिके ही वाचक हैं। 'शरणागति' शब्दमें जो 'शरण' पद आता है उसके कई अर्थ होनेपर भी यहाँ वह 'उपाय' अर्थमें ही प्रयुक्त होता है। 'गम्' धातुका अर्थ गति या गमन है। परन्तु 'गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः' इस न्यायसे गतिवाचक धातुओंका बुद्धि अर्थ भी होनेके कारण यहाँ बुद्धिरूप अर्थ ही मुख्यतया लिया जाता है। वह बुद्धि सामान्य बुद्धि न होकर अध्यवसायात्मिका बुद्धि ही विवक्षित है। अतएव 'शरणागति' शब्द उपाय-विषयक अध्यवसायात्मिका बुद्धिका वाचक है। यही शरणागतिका स्वरूप भी है।

त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः।
शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम्॥

—इस वचनके अनुसार 'आप ही हमारे लिये मोक्षका उपाय बन जायँ' इस प्रकारकी प्रार्थनारूप दृढ़ अध्यवसायात्मिका बुद्धि ही शरणागति है।

अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।
तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः॥

—इस श्लोकमें प्रपत्तिस्वरूप स्पष्ट बताया गया है। अर्थात् उपायान्तरासाध्य स्वाभीष्टसिद्धिके लिये किसी एक ही समर्थ व्यक्तिसे दृढ़ विश्वासके साथ उपाय बननेकी याचना करना शरणागति है। मोक्षार्थियोंको ईश्वरसे ही ऐसी प्रार्थना करनी पड़ती है तथा फलान्तरार्थीको जो उस फलके दाता हैं उनसे ऐसी प्रार्थना करनी पड़ती है। ईश्वरसे भी फलान्तरोंके लिये ऐसी प्रार्थना की जा सकती है। परन्तु शरणागति करनेवालेको यह दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि हमारा अभीष्ट दूसरेसे नहीं प्राप्त हो सकता, इन्हींसे प्राप्त हो सकता है और अवश्य प्राप्त हो सकता है। इस विश्वासके बिना शरणागति नहीं होती।

भक्तियोगका आचरण भक्तियोगमें मोक्षोपायत्वबुद्धिके साथ किया जाता है। यद्यपि भक्त और प्रपन्न दोनोंको मोक्षरूप फल देनेवाले भगवान् ही हैं, किन्तु भक्त भक्तिको मोक्षोपाय समझकर उसका आचरण करता है। शरणागति करनेवाला उसमें मोक्षोपायत्वबुद्धि नहीं कर

सकता, क्योंकि शरणागतिका स्वरूप ही इस प्रकारकी बुद्धिका विरोधी है। ऊपर जो शरणागतिका स्वरूप बताया गया है वह केवल भगवान्‌में उपायत्वबुद्धिके साथ उनसे उपायत्वकी प्रार्थनारूप है। यदि कोई शरणागतिमें उपायत्वबुद्धि करने लगे तो वह शरणागति कर ही नहीं सकता, शरणागति तो केवल भगवान्‌में उपायत्वनिश्चयरूप है। भक्ति और प्रपत्तिमें यह विशिष्ट वैलक्षण्य है।

ऊपरके वर्णनसे भक्ति और शरणागतिमें स्वरूपतः वैलक्षण्य स्पष्ट हो गया। भक्तियोग उसमें उपायत्वबुद्धिके साथ किया जानेवाला तैलधारावदविच्छिन्न दर्शनसमानाकार प्रेमरूप भगवत्स्मरणात्मक ध्यान है। शरणागतियोग अनन्योपायसाध्य स्वामीष्टसिद्धिमें एक ईश्वरको ही उपाय समझकर परमात्मासे उपाय होनेकी प्रार्थना करना है। शरणागतिका दूसरा नाम न्यास है। तदनुसार शरणागतिका स्वरूप परमात्माके प्रति स्वात्माका अर्पण करना अथवा परमात्मामें स्वात्माको निक्षेप करना है—

'ब्रह्मणे त्वा महस ओमित्यात्मानं युञ्जीत।'
'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयेन हि॥'

—इत्यादि प्रमाणोंके पर्यालोचनसे यह बात सिद्ध होती है। आत्मा कोई ऐसी चीज नहीं है जो एक जगहसे उठाकर दूसरी जगह रख दी जाय। 'न्यास' और 'निक्षेप' शब्द पर्यायवाची हैं। न्यास वा निक्षेपकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है—

तेन संरक्ष्यमाणस्य फले स्वाम्यवियुक्तता।
केशवार्पणपर्यन्ता ह्यात्मनिक्षेप उच्यते॥

अर्थात् न्यास या निक्षेपका अर्थ है अर्पणपर्यन्त फलस्वाम्याभावबुद्धि। जब कोई ईश्वरको ही अनन्योपाय मानकर मोक्ष या भगवत्प्राप्तिके लिये उन्हींसे उपाय बननेकी प्रार्थना करता है तब वह अपने आपको परमात्माके ही भरोसे छोड़ देता है, स्वरक्षणमें अपना कोई भी सम्बन्ध न रखते हुए सब भार परमात्मापर रख देता है। आत्मार्पणका तात्पर्य स्वात्मरक्षणभारार्पण है। शरणागतिके छः अङ्ग हैं—उनमें गोप्तृत्ववरण और आत्मनिक्षेप दोनों ही हैं। तब एक अङ्गकी प्रधानता मानकर इसको शरणागति कहते हैं और दूसरे अङ्गकी प्रधानता मानकर न्यास कहते हैं। जब शरणागति करनेवाला पूर्ण षडङ्गोंका अनुष्ठान करता है तब उपर्युक्त दोनों ही अङ्गोंका अनुष्ठान हो जाता है। वास्तवमें देखा जाय तो शरणागति चाहे जिस रूपमें की गयी हो, वह मोक्षोपाय है ही नहीं। मोक्षोपाय तो ईश्वर ही है, उस ईश्वरका उपायत्वेन स्वीकारमात्र ही शरणागति है, उसको स्वात्मसमर्पण करना आत्मनिक्षेप या न्यास है।

न्यास इति ब्रह्म, ब्रह्मा हि परः, परो हि ब्रह्मा, तानि वा एतान्यपराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्।

—इस उपनिषद्वाक्यमें ब्रह्मको ही न्यास बताया है। तात्पर्य इतना ही है कि मोक्षोपाय परमात्मा है, न्यास नामक क्रियाविशेष नहीं, अतएव शरणागति या न्यासमें उपायत्वबुद्धि नहीं की जा सकती। भक्ति उपायत्वबुद्धिके साथ की जाती है।

इयं केवललक्ष्मीशोपायत्वप्रत्ययात्मिका।
स्वहेतुत्वधियं रुन्धे किं पुनः सहकारिणाम्॥

—यह प्राचीनाचार्यकी सूक्ति है। इससे स्पष्ट है कि शरणागति उपायत्वबुद्धिके बिना की जाती है। किन्तु भक्ति उसीके अन्दर उपायत्वबुद्धिके साथ की जाती है। उपायभक्तिके विषयमें भी एक प्राचीन सूक्ति है—

उपायो भक्तिरेवेति तत्प्राप्तौ या तु सा मतिः।
उपायभक्तिरेतस्याः पूर्वोक्तैव गरीयसी॥

अर्थात् भक्ति ही उपाय है, ऐसी बुद्धि ही उपायभक्ति है, इससे शरणागति श्रेष्ठ है।

अङ्गवैलक्षण्य

भक्तिके अङ्ग कर्म और ज्ञान हैं।

'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन।'

'इयाज सोऽपि सुबहून् यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः।
ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय तर्तुं मृत्युमविद्यया॥'

'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'

—इत्यादि प्रमाणोंसे उपासनात्मक उपायभक्ति कर्मज्ञानाङ्गक सिद्ध होती है—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।'

'स सत्त्वेवं वर्तयन् यावदायुषम्।'

—इत्यादि प्रमाणोंसे यावज्जीवन कर्मानुष्ठानकी कर्तव्यता सिद्ध होती है। भगवान् बादरायणने ब्रह्मसूत्रमें 'सहकारित्वेन च', 'विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि' इत्यादि सूत्रोंसे भक्तिको कर्माङ्गक सिद्ध किया है। अतएव भक्तोंको

नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका भक्त्यङ्गत्वबुद्धिसे अनुष्ठान करना पडता है। शरणागति—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

—इत्यादि शास्त्रानुसार धर्मत्यागाङ्गक है। शरणागतोंको भी यद्यपि कर्तव्यबुद्ध्या नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान करना पडता है, तथापि अङ्गत्वबुद्धिसे नहीं, क्योंकि शरणागति धर्मत्यागाङ्गक है। अतएव भक्तोंको भक्ति-निष्पत्तिके लिये विहित समस्त कर्मोंका अनुष्ठान आवश्यक होता है, क्योंकि वे अङ्ग हैं। शरणागतोंको यथासम्भव अकरणे प्रत्यवायजनक कर्ममात्रका अनुष्ठान करना पडता है।

क्रियमाण न कस्मैचिद्यदर्थाय प्रकल्पते।
अक्रियावदनर्थाय तत्तु कर्म समाचरेत्॥

—यह शरणागतकर्तव्यप्रतिपादक वचन है। इसमें यह स्पष्ट बता दिया गया है कि जिन कर्मोंके करनेसे कोई फल न मिले, किन्तु न करनेपर प्रत्यवाय हो वे ही कर्म कर्तव्य हैं।

भक्ति ध्यानरूप है—यह ऊपर बताया गया है। भगवान् महर्षि पराशरके—

तद्रूपप्रत्यया चैका सन्ततिश्चान्यनिःस्पृहा।
तद् ध्यान प्रथमैः षड्भिरङ्गैर्निष्पाद्यते तथा॥

—इस कथनके अनुसार यम-नियमादि योगाङ्गोंका अनुष्ठान भक्तिनिष्पत्तिके लिये आवश्यक है। एव—

तद्विधविवेकविमोकाभ्यासक्रियाकल्याणानवसादानुद्धर्षेभ्यः सम्भवान्निर्वचनाच्च।

—इस वाक्यकारवचनानुसार सम्पूर्ण भक्तिलाभके लिये विवेकादि साधनसप्तकोंका अनुष्ठान भी प्राप्त होता है, इनके बिना भक्तिकी सिद्धि ही नहीं हो सकती।

विवेक कहते हैं अदुष्ट, शुद्ध, सात्त्विक आहारसेवनसे शरीरपोषणको। विमोक कहते हैं कामानभिष्वङ्गको। भगवानके दिव्य एवं शुभाश्रय रूपके सततानुशीलनको अभ्यास कहते हैं। क्रिया कहते हैं समस्तजात्याश्रमोचित कर्मानुष्ठानको। कल्याण छः प्रकारके हैं—सत्य, आर्जव, दया, दान, अहिंसा और अनभिध्या, ये सभी कल्याण-शब्दवाच्य हैं। सत्यसे अहिंसातक पाँच तो प्रसिद्ध ही हैं। अनभिध्या कहते हैं अभिध्याके अभावको। परकृतापकार-चिन्ता अथवा निष्फल चिन्ताको अभिध्या कहते हैं। उसका अभाव अनभिध्या है। अनवसाद दैन्याभावको कहते हैं। अनुद्धर्ष अतिसन्तोषाभावको कहते हैं। अति-सन्तोष भी भक्तिविरोधी है। इन सात साधनोंसे भक्तिकी निष्पत्ति होती है।

शरणागतियोगके पाँच अङ्ग हैं—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

इस वचनमें शरणागतिको षड्विध बताया है; किन्तु इनमें पाँच अङ्ग हैं, एक गोप्तृत्ववरण या आत्मनिक्षेप अङ्गी है, जैसे 'अष्टाङ्गयोग' नाम प्रसिद्ध होनेपर भी यम आदि सात अङ्ग हैं, समाधिरूप एक अङ्गी है। यद्यपि शरणागति-के पाँच अङ्ग हैं, अतएव उन अङ्गोंकी भी आवश्यकता अङ्गीकी सिद्धिके लिये नियमानुसार है, तथापि यह कहा गया है कि यदि केवल अङ्गीरूप शरणागति ही हो जाय तो अङ्गोंको भगवान् स्वयं क्रमशः पूरा कर देते हैं। उनकी प्रतीक्षा करते हुए बैठे रहनेकी आवश्यकता नहीं है, वे आप ही सिद्ध हो जाते हैं। जैसा कि कहा है—

दृप्तप्रपत्तावेतानि भविष्यन्त्युत्तरोत्तरम्।

ये अङ्ग सुकर भी हैं। केवल बुद्धिमात्रकार्य हैं और स्वतः प्राप्त होते हैं। मुख्यतया अनन्योपायत्व और अकिञ्चनत्व ही अपेक्षित है। इस विषयमें बहुत कुछ लिखनेकी आवश्यकता है, किन्तु यहाँ अधिक विस्तार करना योग्य न समझकर इस विषयको यहीं समाप्त करते हैं।

अधिकारिवैलक्षण्य

भक्तिके स्वरूप और अङ्गोंका वर्णन ऊपर हो चुका। उससे यह बात स्पष्ट हो गयी कि इस उपाय-भक्तिके अधिकारी त्रैवर्णिकमात्र हैं। 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्या-सितव्यः' इस शास्त्रके अनुसार निदिध्यासन करनेके पूर्व श्रवण और मननकी आवश्यकता होती है। वेदान्तमें जो परब्रह्मस्वरूप आदिके प्रतिपादक भाग हैं उनका गुरुमुखसे सुनना ही श्रवण है।

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो ··· अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यम्—

—इत्यादि उपनिषद्वाक्योंमें परमात्माके स्वरूपादिवर्णन-परक वेदान्तभागको पराविद्या कहा है। इस भागको गुरुमुखसे सुनना आवश्यक है।

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्'

—इत्यादि शास्त्रोंसे यह बात सिद्ध होती है।

भृगुर्वै वारुणिर्वरुणं पितरमुपससार—अधीहि भगवो ब्रह्मेति।

—इत्यादि शास्त्रोंमें गुरुमुखसे ब्रह्मस्वरूपश्रवणका वर्णन पाया जाता है। मनन कहते हैं गुरुमुखसे श्रुत अर्थोंको युक्तियोंसे मनमें दृढ करना। श्रवण विना मनन नहीं हो सकता। इन दोनोंके विना निदिध्यासन नहीं हो सकता। वेदान्तश्रवणका अधिकारी उपनयन आदि संस्कारोंसे संस्कृत त्रैवर्णिक पुरुष है। अतएव वे ही ब्रह्मविद्याधिकारी भक्ति करनेके अधिकारी हैं, यह बात सिद्ध होती है। भगवान् बादरायणने भी ब्रह्मसूत्रके अपशूद्राधिकरणमें यही सिद्ध किया है।

'श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्', 'संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च।'

—इत्यादि सूत्रोंमें कहा गया है कि शूद्रोंको वेदोंका श्रवण, अध्ययन, वेदार्थज्ञान एवं तदनुष्ठान निषिद्ध होनेके कारण ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है, वेदाध्ययन करनेके पूर्व उपनयनसंस्कार करनेका विधान है, शूद्रोंके लिये संस्कारका अभाव बतलाया गया है। अतएव वे वेदाध्ययन नहीं कर सकते। वेदाध्ययन, श्रवण आदिके अभावमें वेदान्तमूलक ब्रह्मज्ञानके न होनेके कारण शूद्रोंको ब्रह्मविद्याधिकार नहीं है—यह वेदान्तदर्शनका सिद्धान्त है। यहाँ प्रसगवश इतना कह देना आवश्यक होगा कि विदुर आदि कुछ महापुरुष पूर्वजन्मसंस्कारवश शूद्रयोनिमें जन्म लेनेपर भी विना ही वेदान्तश्रवणके ब्रह्मनिष्ठ हो गये थे। ऐसे कुछ व्यक्तिविशेषोंको छोड़कर साधारण नियम यही है कि वेदान्तश्रवणद्वारा प्राप्त ब्रह्मज्ञानसे ही मनन-निदिध्यासन होकर पूर्ण उपायभक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। साध्य भक्तिकी बात दूसरी है। स्त्रियोंको भी इस उपाय-भक्तिका अधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त भक्तिका अधिकारी वही पुरुष होता है जो अपनेको स्वतन्त्र कर्ता एवं स्वयं भक्ति करके मोक्ष-साधन करनेमें समर्थ समझता है। इस प्रकारकी दृढ भावनाके विना चिरकाल और परिश्रमसाध्य भक्तिके अनुष्ठानमें कोई प्रवृत्त नहीं हो सकता।

शरणागतिमें सबका अधिकार है।

न जातिभेदं न कुलं न लिङ्गं न गुणक्रियाः।
न देशकालौ नावस्थां योगोऽयमपेक्षते॥

—इस वचनके अनुसार शरणागति उत्तम जाति, कुल, पुरुषत्व, सद्गुण, सदाचार, उत्तम देश-काल, शुचि अवस्था आदि किसीकी अपेक्षा नहीं रखती। अर्थात् किसी भी जाति-कुलमें जन्मा हुआ स्त्री या पुरुष, सद्गुणी या दुर्गुणी, सदाचारी या दुराचारी, शुद्ध या अशुद्ध, किसी भी देश या कालमें शरणागति कर सकता है।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

—इस उपनिषद्वाक्यमें केवल मुमुक्षुको ही शरणागतिका अधिकारी बताया गया है।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा येऽपि स्युः पापयोनयः।
सर्व एव प्रपद्येरन् सर्वधातारमच्युतम्॥

—यह वचन स्पष्ट ही स्त्री-शूद्रादिकोंका भी शरणागतिमें अधिकार बता रहा है।

शरणागतिका अधिकारी वह है जो अपनेको सर्वथा असमर्थ, अस्वतन्त्र एवं परमात्माके परतन्त्र समझता है और स्वप्रयत्नसे मोक्षलाभ असम्भव समझता है, तथा स्वयं अपनेको स्वात्मरक्षामें अनधिकृत एवं परमात्माको ही अधिकृत मानता है। शरणागति करनेवालेको परमात्मामें रक्षकत्वबुद्धि, अर्थात् स्वामी परमात्मा अपनी वस्तुकी रक्षा अवश्य करेंगे—इस प्रकारके दृढ निश्चयकी भी आवश्यकता है। अतएव भक्तिके अधिकारी और शरणागतिके अधिकारीमें महती विलक्षणता है। कोई अज्ञताके कारण शरणागत होते हैं, कोई विशिष्ट ज्ञानवान् पुरुष स्व-पर-स्वरूपज्ञानके कारण शरणागत होते हैं। अत्यन्त भक्तिमान् पुरुष भी भक्तिपारवश्यसे कर्तव्यान्तरमें प्रवृत्त न होनेके कारण शरणागत हो जाते हैं। अज्ञानी, ज्ञानी, भक्त, सब इसके अधिकारी हैं। भगवान् शौनककी उक्ति है—

अज्ञसर्वज्ञभक्तानां गतिर्गम्यो भवेद्धरिः।

अज्ञानी, सर्वज्ञ और भक्तके लिये भगवान् हरि ही गति—उपाय और गम्य—प्राप्य हैं।

सापेक्षत्व-निरपेक्षत्व-वैलक्षण्य

भक्तियोग जैसे कर्म-ज्ञानसापेक्ष है वैसे शरणागति-सापेक्ष भी है। कर्म-ज्ञानसापेक्षता तो कर्म-ज्ञानाङ्ग होनेसे ही सिद्ध हो जाती है। शरणागतिसापेक्षता—

'तमेव शरण गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परा शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥'
'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।'
'तमेव चाद्य पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥'

—इत्यादि प्रमाणोंसे सिद्ध होती है। चञ्चल मनके निग्रहके लिये भी भगवच्छरणागतिकी अपेक्षा होती है। शरणागति तो केवल ईश्वरका उपायत्वेन स्वीकार है। ईश्वर सिद्ध उपायरूप है, उनको कार्य करनेके लिये किसीकी अपेक्षा नहीं रहती। अतएव शरणागति निरपेक्षोपाय है। यह बात—

प्रपत्तेः क्वचिदप्येवं परापेक्षा न विद्यते।
सा हि सर्वत्र सर्वेषां सर्वकामफलप्रदा॥

—इस वचनमें बतायी गयी है।

विलम्बिताविलम्बितफलप्रदत्व

भक्तिरूप उपासन अर्थात् ब्रह्मविद्या और शरणागति दोनों ही यद्यपि सर्वाभीष्टफलप्रद माने गये हैं, तथापि उनमें फलभेद अवश्य है।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

—इत्यादि वचनोंमें चार प्रकारके भक्त बताये गये हैं, वह फलभेदके कारण ही है। अवश्य ही भक्ति सर्वापेक्षित ऐहिकामुष्मिक फलोंको दे सकती है और यही बात शरणागतिके सम्बन्धमें भी है—

सा हि सर्वत्र सर्वेषां सर्वकामफलप्रदा।

—वचनमें यह बात स्पष्ट कही गयी है। इसके उदाहरण रामायण आदिमें मिलेंगे। किन्तु मोक्षरूप फलप्रदानकी दृष्टिसे इन दोनोंमें वैलक्षण्य है। भक्ति विलम्बसे फल देती है। शरणागति तत्काल फल देती है। भक्ति और शरणागति दोनों ही समस्त कर्मक्षय होनेपर ही मोक्ष देती हैं, किन्तु भक्तिरूप ब्रह्मविद्या स्वयं समस्त कर्मक्षय नहीं कर सकती, शरणागति कर सकती है। कर्म सञ्चित और प्रारब्ध-भेदसे दो प्रकारके होते हैं। प्रारब्धकर्म भी आरब्धकार्य और अनारब्धकार्य-भेदसे दो प्रकारके होते हैं। इनमें सञ्चित और अनारब्धकायका तो ब्रह्मविद्याके प्रभावसे नाश हो जाता है। आरब्धकार्य प्रारब्धका नाश नहीं होता, उसका फल भोगना ही पड़ता है। अतएव प्रतिबन्धक पापके अवशेष रहनेपर एक, दो या अधिक जन्म लेने पड़ते हैं। जिस जन्ममें भक्ति सिद्ध हुई उसी जन्मके अन्तमें मोक्ष नहीं मिलता।

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः।

—इस सूत्रमें वेदान्तदर्शनकारने यह बात बतायी है। शरणागति उसी जन्मके अन्तमें मोक्ष देती है जिसमें वह की गयी हो।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि।

—इत्यादि भगवद्वचनसे यह बात सिद्ध होती है। सर्वशक्त सर्वेश्वर कह रहे हैं कि मैं सर्व पापोंसे तुझे छुड़ा दूँगा। यहाँ 'सर्व' शब्दका सङ्कोच करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। शरणागतिके प्रभावसे सर्व कर्मोंका क्षय होकर उसी जन्मके अन्तमें मोक्ष मिल जाता है। इतना ही नहीं, यदि शरणागतिकर्ता आर्त हुआ तो शरीरावसानतक भी विलम्ब नहीं होता, शरणागति करते ही उसी क्षणमें सर्वकर्मक्षय होकर तत्काल मोक्ष मिल जाता है—

आर्तानामाशु फलदा सकृदेव कृता ह्यसौ।
दृप्तानामपि जन्तूनां देहान्तरनिवारणी॥

आर्त उसको कहते हैं जो क्षणभर भी सांसारिक तापत्रयके सहनेमें असमर्थ होकर आतुरताके साथ शरणागति करता है, इसको भगवान् तत्काल मोक्ष देते हैं। दृप्त उसको कहते हैं जो शरीरावसानके समय मोक्षकी इच्छा करते हुए शरणागति करता है। उसको शरीरावसानतक प्रारब्ध कर्मका फल भोगना पड़ता है, शरीरावसानके समय मोक्ष प्राप्त होता है। किसी भी कारणसे जन्मान्तर लेनेकी आवश्यकता नहीं रहती।

सकृत्कर्तव्यत्वासकृत्कर्तव्यत्ववैलक्षण्य

भक्तिका स्वरूप पहले बताया जा चुका है। उपायभक्ति तैलधारावदविच्छिन्न दर्शनसमानाकार अत्यर्थप्रियस्मृतिसन्तानरूप ध्यान है। स्मृतिसन्तानको दर्शनसमानाकारत्व प्राप्त होना आवश्यक है। अन्यथा—

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।'
'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥'

—इत्यादि दर्शनविधायक वचनोंका समन्वय नहीं हो सकता। यद्यपि इन वचनोंमें साक्षात् परमात्मदर्शनका विधान मालूम होता है, तथापि—

'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥'
'मनसा तु विशुद्धेन'
'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्'

—इत्यादि शास्त्रोंमें परमात्मस्वरूपको चक्षुरादीन्द्रियावेद्य केवल मनोमात्रग्राह्य बताया गया है। दोनों शास्त्रोंमें अविरोध स्थापन करना आवश्यक है। अतएव 'दर्शन' शब्दका दर्शनसमानाकारत्व अर्थ स्वीकार करके दोनोंमें अविरोध स्थापन किया गया है। स्मरणमें दर्शनसमानाकारता साक्षात्कारीय विषयतारूप है। अर्थात् प्रत्यक्षवत् दिखायी देना—यही दर्शनसमानाकारता है, ऐसी दर्शनसमानाकारता स्मृतिको अनवरत भावनाबलसे प्राप्त होती है। जिस वस्तुकी अनवरत भावना की जाय वह वस्तु सामने न होनेपर भी तद्रूप प्रत्यक्षवत् दीखने लगती है। यह अनुभववेद्य है।

वृक्षे वृक्षे च पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम्।

—इस वाल्मीकीय रामायणोक्त मारीचवचनमें मारीचको रामदर्शन होना भी भावनाप्रकर्षसे ही है। अतएव—

ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः।

—इस श्रुतिमें स्पष्ट ही 'ध्यायमानः पश्यति' निर्देश हुआ है।

इस प्रकार परमात्माका सतत स्मरण करनेकी आवश्यकता होनेके कारण ही वेदान्तदर्शनमें 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' सूत्रमें परमात्मवेदनकी आवृत्ति करनेकी आवश्यकता बतायी गयी है। 'ध्यान' शब्द भी इसी अर्थको सूचित करता है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि भक्ति असकृत्कर्तव्य है। एक-दो बार करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं हो सकती। शरणागति वैसी नहीं है। वह तो सकृत्कर्तव्य है, क्षणमात्रसाध्य है।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

—इस श्रीरामायण-श्लोकमें यह बात स्पष्ट है।

सकृत्प्रपन्नाय—सकृदेव प्रपन्नाय अभयं ददामि।

—श्रीरामचन्द्र भगवान्‌की श्रीसूक्ति है।

सकृदेव हि शास्त्रार्थ कृतोऽयं तारयेन्नरम्।

—इत्यादि प्रमाण शरणागतिको सकृत्कर्तव्य बताते हैं। शरणागतिस्वरूपके देखनेसे असकृदावृत्तिकी आवश्यकता नहीं मालूम होती।

अन्तिमस्मृतिसापेक्षत्व-तन्निरपेक्षत्व-वैलक्षण्य

यह बात भगवद्गीताशास्त्रमें स्पष्ट है कि भगवद्भक्तोंको अन्तसमयमें स्मरण हुए बिना भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

अर्थात् अन्तकालमें जिस-जिस भाव—स्वभावका स्मरण होगा जन्मान्तरमें स्मरणकर्ता तद्भावको ही प्राप्त होगा। अतएव अन्तकालमें भगवत्स्मरणकी आवश्यकता निम्न श्लोकमें बतायी गयी है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

शरणागत पुरुषको अन्तकालमें स्मृतिकी आवश्यकता नहीं रहती, उसके बिना भी उनको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। क्योंकि परमात्मा ही स्वयं काष्ठ-पाषाण-समान पड़े हुए उसको सद्गति प्रदान करते हैं, जैसा कि वराहपुराणमें भगवान् कहते हैं—

ततस्तं म्रियमाणं तु काष्ठपाषाणसन्निभम्।
अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्॥

यद्यपि इस श्लोकमें 'मद्भक्तम्' शब्द आया है, किन्तु वह प्रकरण शरणागतिका है। इस श्लोकमें 'काष्ठपाषाण-सन्निभम्' शब्दसे अन्तिम स्मृतिका अभाव बताया गया है। श्रीवराहभगवान् भूमिदेवीसे कहते हैं कि शरणागत पुरुष शरणागति करनेके पश्चात् कृतकृत्य हो जाता है, उसका कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। उसके पश्चात्का कर्तव्य हमारा है। अतएव वह यद्यपि स्वाभाविक रीतिसे निश्चेष्ट, स्मरणशून्य पड़ा हुआ है, तथापि हम अपने अनन्तरकालीन कर्तव्यको पूर्ण करते हैं। उसको सद्गति देनेका भार हमारे ऊपर है। अतएव मैं उसका स्मरण करता हूँ और गन्तव्य मार्गसे ले जाकर गम्यस्थानमें पहुँचा देता हूँ।

निश्चित-अनिश्चितफलदानवैलक्षण्य

भक्ति मनुष्यप्रयत्नसाध्य है, यह बात उसके स्वरूप और अङ्गोंके विचारसे सिद्ध होती है। भक्ति करनेवालेको यह निश्चय नहीं हो सकता कि हमें मुक्ति मिलेगी ही। परिपूर्ण ब्रह्मविद्याकी सिद्धि हुए बिना मोक्ष नहीं

मिल सकता, इसमें शकाका अवकाश ही नहीं है। यमादि अङ्गोंसे सम्पन्न होकर अचञ्चल—एकाग्रमनसे परमात्माका समाधिपर्यवसायी ध्यान करना होगा। मनकी चञ्चलताको देखते हुए कोई नहीं कह सकता कि ऐसी योग्यता सुखसे प्राप्त हो जायगी। अतएव भगवान्‌का कहना है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

परमात्माकी भक्तिमें प्रवृत्त होना ही जन्मान्तरके महा-पुण्यका फल है। प्रवृत्त होनेपर भी दीर्घकालसाध्य होनेके कारण अनेक विघ्नोपहतिके कारण सिद्धि मिलना कठिन है। सिद्धि मिलनेकी अवस्थामें भी ऐहिक सिद्धियोंमें चित्त न जाकर परमात्मप्राप्तिकी तरफ दृढ़ताके साथ चित्तको लगाये रखना महाकठिन है। तभी तो—

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

—कहा गया है। इन सब बातोंपर विचार करनेपर यही कहना पड़ता है कि भक्तिनिष्ठके लिये मोक्षसिद्धि निश्चित नहीं है। यदि मध्यमें विच्छेद हो गया तो अन्तकालकी मनोवृत्तिके अनुसार जन्मान्तरीय परिस्थिति होगी। यहाँ सब कुछ मनुष्यके प्रयत्न-बलके अधीन है। मनोनिग्रह तो—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।

—के अनुसार कष्टसाध्य है।

शरणागतियोगकर्ताकी परिस्थिति ऐसी नहीं है। शरणागतियोग क्षणमात्रसाध्य होनेके कारण विघ्न-बाधाएँ और प्रच्युतिभय नहीं है। एक बार शरणागतिका अनुष्ठान होते ही फल निश्चित है।

'तस्मादपि वध्यं प्रपन्नं न प्रतिप्रयच्छन्ति।'—तैत्तिरीय
'वधार्हमपि काकुत्स्थः कृपया पर्यपालयत्।'—रामायण
'मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन।'—रामायण
'आर्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणागतः।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृपालुना॥'
—रामायण

ऊपर उद्धृत श्रुति तथा रामायणके वचनोंसे शरणागतको निश्चितरूपसे फल मिलनेकी बात स्पष्ट है। श्रीकृष्ण भगवानकी उक्ति 'मा शुचः' भी इसका पोषक है। सञ्चित, प्रारब्ध, समस्त कर्मोंका नाश हो जाता है।

प्रारब्धेतरपूर्वपापमखिलं प्रामादिकं चोत्तरं
न्यासेन क्षपयन्ननभ्युपगतं प्रारब्धखण्डं च नः।
धीपूर्वोत्तरपाप्मनामजननाज्जातेऽपि तन्निष्कृतेः
कौटिल्ये सति शिक्षयाप्यनघयन् क्रोडीकरोति प्रभुः॥

अर्थात् समस्त सञ्चित, अनभ्युपगत प्रारब्ध, उत्तर-कालीन प्रामादिक पाप, सब शरणागतिके प्रभावसे नष्ट हो जाते हैं। शरणागतिके पश्चात् बुद्धिपूर्वक पाप हो ही नहीं सकता, कदाचित् हो भी गया तो प्रायश्चित्तसे वह नष्ट हो जायगा। यदि वह प्रायश्चित्त न करे, कुटिल बना रहे तो भगवान् उसको तत्काल दुःखानुभव कराकर पापमुक्त कर देते हैं। चाहे जैसा भी हो, भगवान् शरणागतको स्वीकार कर ही लेते हैं, मोक्ष दे ही देते हैं, जन्मान्तरके लिये बाकी नहीं रहने देते।

भक्तियोग और शरणागतियोगके कुछ वैलक्षण्य बताये हैं, ऐसे और भी बताये जा सकते हैं। और, जो कुछ भी लिखा है, संक्षेपमें लिखा है। विस्तारभयसे इस लेखको यहीं समाप्त करते हैं।

हमारा लक्ष्य

(लेखक—श्रीअरविन्द)

योगके जिस मार्गका यहाँ अवलम्बन किया जाता है उसका हेतु अन्य योगमार्गोंसे भिन्न है। इस योगमार्ग-का लक्ष्य केवल सामान्य सांसारिक देहात्मभावसे ऊपर उठकर परमात्मभावको प्राप्त होना ही नहीं है, प्रत्युत उस परमात्मभावके विज्ञानको इस मन, बुद्धि, प्राण और जीवनके तमस्‌में ले आना, इनको रूपान्तरित कर देना, इनमें भगवान्‌को प्रकट करना और जड़ पार्थिव प्रकृतिमें दिव्य जीवन निर्माण करना इसका लक्ष्य है। यह बड़ा ही दुर्गम लक्ष्य और कठिन योगसाधन है, बहुतेरों-को, या प्रायः सभी लोगोंको यह असम्भव ही प्रतीत होगा। सामान्य, अनभिज्ञ सांसारिक देहात्मभावमें अज्ञानकी जो क्रियाशक्तियाँ जमकर डटी हुई हैं वे इसके विरुद्ध हैं और इसका होना ही नहीं मानतीं और इसके होनेमें बाधा ही डालनेका यत्न करती हैं और साधक स्वयं भी देखेगा कि अपने ही मन, प्राण और शरीर इसकी प्राप्तिमें कितनी जबर्दस्त रुकावटें डालेंगे। यदि तुम इस लक्ष्यको सर्वात्मना स्वीकार कर सको, इसके लिये सब कठिनाइयोंका सामना करनेको तैयार हो, पीछे जो कुछ हुआ उसे और उसके बन्धनोंको पीछे ही छोड़ दो और इस भगवद्भावकी सम्भावनाके लिये सब कुछ छोड़ देने और, चाहे जो हो जाय, इसके पीछे लगनेका प्रस्तुत हो, तो ही तुम यह आशा कर सकते हो कि इसके

पीछे जो महत् सत्य है उसका तुम्हें साक्षात्कार होगा।

इस योगकी साधनाका कोई बँधा हुआ मानसिक अभ्यासक्रम या ध्यानका कोई निश्चित प्रकार, कोई मन्त्र या तन्त्र नहीं है; यह साधना आरम्भ होती है साधककी आरोहणेच्छासे, उसके अपने ऊपर या अन्दर आत्मध्यानसे अपने आपको भगवत्प्रभावकी ओर, उस भगवच्छक्तिकी ओर जो हमारे ऊपर है तथा उसके कार्यकी ओर और उस भगवत्सत्ताकी ओर जो हमारे हृदयमें है—अपने आपको खोल देनेसे, और इन सब बातोंके विरुद्ध जो-जो कुछ है उसका त्याग करनेसे। श्रद्धाविश्वास, आरोहणेच्छा तथा आत्मसमर्पणके द्वारा ही इस प्रकार अपने आपको भगवत्सत्ताकी ओर खोल देना होता है।

* * * *

यहाँ सृजन करनेके लिये यदि कुछ है तो वह विज्ञानका ही सृजन है। अर्थात् इस पृथिवीपर, केवल मन-बुद्धि और प्राणमें ही नहीं, प्रत्युत शरीरमें और इस जड प्रकृतिमें भी भगवत्सत्ताका अवतरण कराना है। हमारा उद्देश्य अहभावके फैलावको रोकनेवाले प्रतिबन्धोंको हटाना अथवा मानवमनकी कल्पनाओं या अहकारगत प्राणवासनाओंकी स्वार्थपूर्तिके लिये खुला मैदान छोड़ देना और बेरोक आश्रय प्रदान करना नहीं है। यहाँ कोई भी इसलिये नहीं है कि 'जो मन भावे करे' या किसी ऐसे ससारको रचे जिसमें हमलोग अपनी मनमानी कर सकें, यहाँ हमें तो वही करना है जो भगवान् चाहते है और ऐसा ही ससार रचना है जिसमें भगवदिच्छा अन्तर्निहित सत्यको प्रकट करे—वह भगवदिच्छा किसी मानव-अज्ञानसे विकृत न हो या किसी प्राणवासनासे विपर्यस्त और अन्यथाकृत न हो। विज्ञानके इस योगमें साधकको जो काम करना होता है वह कोई उसका अपना काम नहीं है जिसपर वह अपनी शर्तें भी लाद सके, प्रत्युत वह कर्म भगवान्का है और उसे वह कर्म भगवन्निर्दिष्ट नियमोंके अनुसार ही करना होगा। हमारा योग हमारे अपने लिये नहीं है, बल्कि भगवान्के लिये है। हम जो कुछ व्यक्त करना चाहते है वह हमारा वैयक्तिक व्यक्तीकरण नहीं है—सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, सर्वबन्धविनिर्मुक्त वैयक्तिक अहकारका भी व्यक्तीकरण नहीं है, यह स्वय भगवान्का व्यक्त होना है। हमारी मुक्ति, हमारी पूर्णकामता और हमारी परिपूर्णता तो भगवान्के व्यक्त होनेका ही एक परिणाम और अगमात्र है और सो भी किसी अहभावसे नहीं, न किसी अहता-ममतासे निकले स्वार्थके लिये। यह मुक्ति, पूर्णकामता, परिपूर्णता भी हमारे अपने लिये नहीं, भगवान्के लिये है।

* * * *

योगका अर्थ केवल ईश्वरकी प्राप्ति नहीं बल्कि आभ्यन्तर तथा बाह्य जीवनका ऐसा परिपूर्ण उत्सर्ग और परिवर्तन है कि उसके द्वारा भगवच्चैतन्य व्यक्त हो और वह स्वय भगवत्कर्मका एक अङ्ग हो। इसके लिये एक ऐसे आभ्यन्तरिक अभ्यासके होनेकी आवश्यकता है जो केवल सदाचार और कृच्छ्रचान्द्रायणादि कायिक तपोंसे बहुत अधिक कड़ा और कठिन है। यह योगमार्ग अन्य बहुतेरे योगमार्गोंकी अपेक्षा बहुत ही अधिक विशाल और दुर्गम है। कोई ऐसा मनुष्य कदापि इस मार्गपर पैर न रक्खे जिसको यह निश्चय न हो कि हमारे अन्तरात्माकी यह पुकार है और इस मार्गपर अन्ततक चलनेकी हमारी तैयारी है।

* * * *

पहलेके योगोंमें उस आत्माके अनुभवकी ही खोज थी जो आत्मा सदा ही मुक्त है और परमात्मासे अविभक्त है। उस आत्मज्ञान और आत्मानुभवमें अपनी मानव-प्रकृति बाधक न हो, इस ध्यानसे उतने ही अशमें प्रकृति-स्वभाव बदलनेका यत्न किया जाता था। कुछ थोडे-से ही लोग, और सो भी प्राय 'सिद्धि' प्राप्त करनेके लिये, पूर्ण परिवर्तन अर्थात् शरीरतकको बदलनेका यत्न करते थे। पृथ्वीकी पार्थिव चेतनामें नवीन प्रकृतिके प्राकट्यके लिये उनका प्रयास नहीं था।

* * * *

मनुष्य प्राणी जो सचेतन प्रकृतिमें मूर्तिमान् मन ही है, उसकी सम्पूर्ण चेतना या बोधशक्तिको परम चैतन्यकी प्रकृतिसे मिलनेके लिये ऊपर उठना होगा और परम चैतन्यकी प्रकृतिको भी मन, प्राण और भौतिक आकारमें नीचे उतरना होगा। तभी बीचकी रुकावटें दूर होंगी और परा प्रकृति सम्पूर्ण अपरा प्रकृतिको ऊपर उठा लेने और उसे विज्ञानकी शक्तिसे बदलकर दिव्य बनानेमें समर्थ होगी।

पृथ्वी विकासक्रमका भौतिक क्षेत्र है और मन बुद्धि और प्राण, विज्ञान, सच्चिदानन्द तत्त्वत इस भौतिक चैतन्यमें भी छिपे हुए है। पर विकासक्रममें सबसे पहले भौतिक जगत्की रचना होती है, तत्पश्चात् उसमें प्राणलोकसे

प्राण आकर पृथ्वीके प्राणतत्त्वको आकृति, सहति और गति प्रदान करता है और वनस्पतिजाति और पशुजाति उत्पन्न करता है, तब मनोमयलोकसे मन उतरकर मनुष्यका सृजन करता है। अब मन-बुद्धिके परे जो विज्ञान है वह उतरनेवाला है, इसलिये कि विज्ञानमय मानवजाति उत्पन्न हो।

आत्मानुभवके कार्यक्षम होनेके लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है कि पुरुष (जीव) प्रकृतिके वशसे मुक्त हो, बल्कि यह आवश्यक है कि पुरुषकी अपरा प्रकृति और उसकी अनभिज्ञ क्रियाशक्तियोंके प्रति जो स्नेहासक्ति है वह वहाँसे हटाकर परा भागवती शक्ति श्रीमाताको समर्पित हो।

अपरा निम्नगा प्रकृतिको और उसकी यन्त्रवत् अन्ध क्रियाशक्तियोंको माता समझ लेना भूल है। यह प्रकृति तो एक यन्त्रसामग्री है जो विकासशील अज्ञानको गति देनेके लिये प्रस्तुत की गयी है। जैसे मनोऽभिमानी, प्राणाभिमानी या देहाभिमानी आत्मा ही परमात्मा नहीं है, यद्यपि वह आता परमात्मासे ही है—वैसे ही प्रकृतिकी यह यान्त्रिकता ही भागवतशक्ति या माता नहीं है। अवश्य ही इस यान्त्रिकतामें और इसके पीछे माताका अंश है, जो विकासक्रम साधनेके लिये इसे बनाये हुए है। पर माता स्वयं जो कुछ हैं वह कोई अविद्याकी शक्ति नहीं है, बल्कि भगवान्‌की चिच्छक्ति, ज्योति, परा प्रकृति है, जिनसे हम मुक्ति और भागवती पूर्णताकी कामना करते है।

पुरुष-चैतन्यका अनुभव—शान्त, स्वच्छन्द, त्रिगुण-कर्मोंका अनासक्त, अलिप्त साक्षित्व मुक्तिका साधन है। शान्ति, अनासक्ति, शान्तिमय शक्ति और आत्मरतिको प्राणोंमें, देहमें और मन-बुद्धिमें ले आना होगा। यदि इस आत्मरतिकी इस प्रकार मन, बुद्धि, प्राण और देहमें प्रतिष्ठा हो गयी तो प्राणगत शक्तियोंके उपद्रवोंका शिकार होनेका प्रसङ्ग नहीं आ सकता। पर यह शान्ति, समत्व, स्थिर शक्ति और आनन्दका संस्थापन आधारमें माताकी शक्तिका केवल प्रथम अवतरण है। इसके परे एक ऐसा ज्ञान है, एक ऐसी सञ्चालन-शक्ति है, एक ऐसा गतिशील आनन्द है जिसका अनुभव सामान्य प्रकृतिकी उत्तमावस्थामें, अत्यन्त सात्त्विक अवस्थामें भी नहीं हो सकता, क्योंकि वह भागवतगुण है।

सबसे पहले शान्ति, समता, मुक्ति आवश्यक है। गतिशील आत्मानन्दको अपरिपक्व अवस्थामें नीचे ले आनेका प्रयास करना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसी अवस्थामें उसका नीचे आना क्षुब्ध और अशुद्ध प्रकृतिमें आना होगा, जो उसे अपना न सकेगी और इससे भयङ्कर उपद्रव हो सकते है।

* * * *

यदि परात्पर विज्ञानमय भगवन्मानससे किसी ऐसे महत्तर और पूर्णतर सत्यका अनुभव न होता हो जो उसके नीचेके लोकोंमें नहीं है, तो वहाँ पहुँचनेका प्रयास करना भी व्यर्थ ही है। प्रत्येक लोकके अपने-अपने विशिष्ट सत्यानुभव है। सभी सत्य सर्वत्र वैसे ही नहीं हैं। कुछ सत्य ऐसे है जो ऊर्ध्वतर लोकमें हैं ही नहीं। उदाहरणार्थ, वासना और अहंकार मनोमय, प्राणमय और अन्नमय अज्ञानकी सत्ता थे, वहाँ कोई अहङ्काररहित या वासनारहित हो तो वह एक निर्जीव-सा तामसिक यन्त्रमात्र है। पर इस लोकसे जब हम ऊपर उठते हैं, तब अहङ्कार और वासनाकी कोई सत्ता ही नहीं रहती, वहाँ वे असत् प्रतीत होते है और सदात्मा और सत्यसङ्कल्प-को विकृत—विपर्यस्त करनेका काम करते हैं। दैवी और आसुरी शक्तियोंका संग्राम यहाँकी एक नित्य-सत्य घटना है, पर ज्यों-ज्यों हम ऊपर उठते हैं त्यों-त्यों इसकी सत्ता कम होती जाती है और परात्पर विज्ञानमय भगवन्मानसमें इसकी कोई सत्ता रह ही नहीं जाती। अन्यान्य सत्ताएँ हैं, पर पूर्ण स्थितिमें आकर उनका स्वरूप, महत्त्व और स्थान बदल जाता है। व्यक्त और अव्यक्तका भेद या तारतम्य परा प्रज्ञाकी सत्तामें सत्य भासित होता है—परात्परा प्रज्ञामें इस भेदका भेदरूप अस्तित्व नहीं है, वहाँ व्यक्त और अव्यक्त दोनों अभिन्न-रूपसे एक है। पर परा प्रज्ञाकी स्थिति साधकर उसमें जो पूर्ण होकर न रहा हो वह परात्पर विज्ञानकी सत्ताका अनुभव नहीं कर सकता। मनुष्यका मन तो ऐसा है कि इसे एक प्रकारसे अक्षम-सा अर्थात् व्यर्थका दर्प होता है और उस दर्पमें वह भिन्न-भिन्न स्थितियोंके सदनुभवोंको छाँटने लगता है और अन्य सब सदनुभवोंको असत्य, अलीक जानकर केवल उस एक महत्तम सत्यकी ओर उछल पड़ता है जिसे उसने स्वरूपतः तो नहीं, अनुमानसे जाना है, पर यह एक प्रकारका उच्चपदाभिलाष और गर्वयुक्त प्रमादमात्र है। बात यह है कि जो कोई ऊपर चढ़ना चाहता है उसे पौड़ी-पौड़ी चढ़ना होगा

और हर पौड़ीपर मजबूतीसे पैर रखकर, स्थिर होकर ऊपर उठना होगा, तभी वह शिखरतक पहुँचेगा।

* * * *

विषयासक्तिवाली निम्न प्रकृति और उससे अपने मार्गमें पड़नेवाली बाधाओंके सोचमें ही रहना भूल है। इस प्रकृति और उसकी इन बाधाओंका निस्तार साधनाका अभावपक्ष है। इन बाधाओंको देखना, समझना और हटाना अवश्य ही एक काम है, पर इसीको सब कुछ समझकर इसीमें सर्वात्मना सदा लगे रहना ठीक नहीं। साधनाका जो भावपक्ष है, अर्थात् परा शक्तिके अवतरणका अनुभव, वही मुख्य बात है। यदि कोई यही प्रतीक्षा करता रहे कि पहले निम्न प्रकृति सदाके लिये सर्वथा शुद्ध हो ले, तब परा प्रकृतिके आनेकी बाट जोही जाय, तो ऐसी प्रतीक्षा तो सदा करते ही रह जाना पड़ेगा। यह सच है कि निम्न प्रकृति जितनी ही शुद्ध होगी, उतना ही परा प्रकृतिका उतर आना आसान होगा, पर यह भी सच है, बल्कि उससे भी अधिक सच है, कि परा प्रकृतिका उतरना जितना होगा उतनी ही निम्न प्रकृति निर्मल होगी। पूर्ण शुद्धि या स्थिररूपसे पूर्ण अवतरण एकबारगी ही नहीं हो सकता, यह दीर्घकालमें निरन्तर धैर्यपूर्वक क्रमशः ही होनेका काम है। चित्तकी शुद्धि और भगवच्छक्त्यवतरण दोनोंका काम एक साथ चलता है और दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक स्थिरता और दृढ़ताके साथ दोनों एक-दूसरेको आलिङ्गन करते हैं—साधनाका यही सामान्य क्रम है।

* * * *

किसी सद्भावका आत्यन्तिक अभिनिवेश चित्तमें होकर भी तबतक नहीं ठहरता जबतक अपनी मानवी बोधशक्ति बदलकर दिव्य नहीं हो जाती—दिव्य भावको आत्मसात् कर सकनेमें कुछ काल लगता है। जब जीव स्वयं अबोध-सा रहता है तब आत्मसात् करनेकी यह क्रिया परदेके अन्दर ऊपरी आवरणसे छिपकर भीतर हुआ करती है और ऊपरी आवरणकी बोधशक्तिको केवल मूढ़ताकी-सी स्थितिका अनुभव होता है और ऐसा भी प्रतीत होता है कि जो कुछ दिव्य भाव-सा पहले मिला था वह भी चला गया, पर जब जीव जागता है, उसकी बोधशक्ति जाग उठती है, तब वह देख सकता है कि किस प्रकार भीतर-ही-भीतर आत्मसात् करनेकी क्रिया हो रही है, और कोई भी दिव्य भाव पाया हुआ नष्ट नहीं हुआ है, बल्कि जो दिव्य भाव उतर आया था वह अब स्थिर होकर बैठा है।

विशालता और अपार शान्ति और मौनका साधकको जो अनुभव होता है वह आत्मा—शान्त ब्रह्म है। कई योगोंका तो इसी आत्मा या शान्त ब्रह्मको पाकर उसमें रहना ही एकमात्र ध्येय होता है। परन्तु हमारे योगमें तो भगवत्सत्ताकी अनुभूतिका तथा जीवके क्रमशः उस भगवच्चैतन्यको प्राप्त होनेका—जिसे हम दिव्यीकरण कहते हैं—यह केवल प्रथम सोपान है।

* * * *

सदात्माके दो रूप हैं, एक आत्मा और दूसरा अन्तरात्मा—हृत्पुरुष, जिसे हम चैत्यपुरुष भी कहते हैं। सदात्माकी अनुभूति इनमेंसे किसी एक रूपमें अथवा इन दोनों ही रूपोंमें हो सकती है। इन दोनों अनुभूतियोंमें अन्तर यही है कि आत्मा विश्वभरमें व्याप्त प्रतीत होता है, और अन्तरात्मा व्यक्तिविशेषके मन, प्राण और शरीरको धारण करनेवाला व्यष्टि पुरुष प्रतीत होता है। पहले-पहल जब किसीको आत्मानुभव होता है तब वह आत्माको सब पदार्थोंसे पृथक्, अपने आपमें ही स्थित और संसारसे सर्वथा असक्तरूपमें देखता है। इस प्रकारके आत्मानुभवको सूखे हुए नारिकेल-फलकी उपमा दी जा सकती है। पर अन्तरात्मा या चित्पुरुषका अनुभव ऐसा नहीं है, इस अनुभवमें भगवान्‌के साथ एकत्व, भगवान् ही आश्रय और भगवान् ही एकमात्र शरण्य देख पड़ते हैं और निम्न प्रकृतिको बदल डालने तथा अपने सदन्तःकरणात्मा, सत्प्राणात्मा और सच्छरीरात्माको ढूँढ़ निकालनेकी शक्ति अनुभूत होती है। इस योगमें इन दोनों प्रकारके अनुभवोंकी आवश्यकता होती है।

'मैं' यानी यह छोटा-सा अहङ्कार प्रकृतिकी रचना है और साथ ही मानसिक, प्राणगत और भौतिक रचना भी है। इसका हेतु बाह्यबोध और कर्मको केन्द्रीभूत करके व्यष्टि-विशेषमें व्यक्त करनेके काम आना है। जब सदात्मा मिल जाता है तब अहङ्कारका काम पूरा होता है, फिर उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती और उसका अन्त हो जाता है—उसके स्थानमें सदात्माकी अनुभूति होती है।

* * * *

तीनों गुण शुद्ध और विमल होकर अपनी दिव्य सत्ताको प्राप्त होते हैं—सत्त्वकी हो जाती है ज्योति अर्थात् विशुद्ध आत्मतेज, रज हो जाता है तप अर्थात् शान्तिमय प्रचण्ड दिव्य शक्ति और तम हो जाता है शम अर्थात् निर्द्वन्द्व समता—शान्ति।

* * * *

विश्वब्रह्माण्डकी तीन शक्तियाँ हैं, जिनके अधीन सब पदार्थ हैं—सृष्टि, स्थिति और संहार, जो-जो कुछ सृजा जाता है वह कुछ कालतक रहता है, बाद क्षीण होकर नष्ट होने लगता है। संहारशक्ति निकाल लेनेका यह मतलब होगा कि एक ऐसी सृष्टि होगी जिसका नाश नहीं होगा, बल्कि जो बनी रहकर सदा बदलती रहेगी। अज्ञानमें रहते हुए, उन्नतिके लिये नाश आवश्यक है; पर ज्ञानमें, सत्यकी अपनी दिव्य सृष्टिमें, प्रलयके बिना ही सतत रूपान्तरका होते जाना ही नियम है।*

महात्मा गान्धीजीका सन्देश

सब योगोंका सम्राट् निष्काम कर्मयोग है।

निष्काम कर्मयोगी

गीताका कर्मयोगी फल और आसक्तिको त्यागकर भगवान्‌की आज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्व बुद्धिसे शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म करता हुआ उन कर्मोंद्वारा भगवान्‌की भक्ति करता है। (देखिये गीता २। ४७ से ५१, ३। ७,१९, ३०; ४। १४; ५। १०; ६। १; ८। ७, ९। २७-२८, १२। ६,१०-११; १८। ६, ९, ४६, ५६, ५७ आदि।)

---

* श्रीअरविन्दका यह लेख उन्हींकी आज्ञासे उनकी 'Lights on Yoga' नामक अंगरेजी पुस्तकसे लिया गया है। श्रीअरविन्दने समय समयपर अपने शिष्योंके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए जो पत्र लिखे हैं उन्हींमेंसे कुछ अंश इस पुस्तकमें संगृहीत हुए हैं, जो साधकोंके लिये बड़े कामके हैं और श्रीअरविन्दके योग-विषयक सिद्धान्तोंको समझनेमें बड़े सहायक हैं। पुस्तक आर्य पब्लिशिंग हाउस, ६३, कॉलेज स्ट्रीट (फर्स्ट फ्लोर), कलकत्तेसे मिल सकती है। मूल्य सवा रुपया है। —सम्पादक

वर्तमान कालमें किस योगका आश्रय लेना चाहिये ?

(परमपूज्यपाद श्रीउडियास्वामीजी महाराजके विचार)

पहले मैंने आसाम और भूटान आदि प्रान्तोंमें हठयोगियोंकी बहुत खोज की थी। मुझे जिस किसी प्रसिद्ध हठयोगीका पता लगता उसीके पास जाता और उसकी सेवा कर उसके अनुभवका पता लगानेका प्रयत्न करता। मैंने ऐसे कई हठयोगी देखे हैं जिन्हें तीन-तीन चार-चार घंटेकी समाधि होती थी। परन्तु उनकी वास्तविक स्थितिका पता लगानेपर यही विदित हुआ कि उनमेंसे किसीको भी निर्विकल्प समाधि सिद्ध नहीं हुई। हाँ, सविकल्प समाधिमें उनको स्थिति अवश्य थी। इसके सिवा, मैंने प्रायः सभी हठयोगियोंको रोगी भी पाया। हठयोगका मुख्य लक्ष्य वीर्यकी पुष्टि है, परन्तु मैंने अधिकांश हठयोगियोंको वीर्य-सम्बन्धी रोगोंसे भी ग्रस्त पाया है। किसीको मूत्रकृच्छ्र, किसीको स्वप्नदोष और किसीको किसी अन्य रोगके चंगुलमें फँसे देखा है। इससे मेरी यह दृढ धारणा हो गयी है कि वर्तमान काल हठयोगके अनुकूल नहीं है, इस समय हठयोगद्वारा पूर्णता प्राप्त करना प्रायः सर्वथा असम्भव है।

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि हठयोगका मार्ग ही भ्रमपूर्ण है और उससे किसी भी समय पूर्णता प्राप्त नहीं होती थी। इस समय इसका जो विपरीत परिणाम होता है उसके मुख्य कारण ये हैं—

१–हठयोगीका वीर्य शुद्ध होना चाहिये, और इसका इस समय प्रायः सर्वथा अभाव है।

२–हठयोगका अभ्यास सहन करनेयोग्य बल प्रायः नहीं देखा जाता।

३–सिद्ध हठयोगी गुरुका मिलना भी अत्यन्त दुर्घट है।

इसके सिवा ध्यान और वैराग्यकी कमी होनेके कारण आधुनिक हठयोगी प्राय. अर्थलोलुप और चञ्चल प्रकृतिके देखे जाते हैं। उनके जालमें फँसकर मैंने बहुत-से साधकोंके जीवन नष्ट होते देखे हैं। इसलिये मेरा विचार है कि अपने कल्याणकी इच्छावालोंको इस ओर प्रवृत्त नहीं होना चाहिये।

इस प्रकार बहुत-से हठयोगियोंसे निराश होनेपर मुझे एक ऐसे महात्मा मिले जिन्हें ध्यानयोगद्वारा निर्विकल्प समाधि सिद्ध थी। उनके संसर्गसे मुझे यह अनुभव हुआ कि सिद्धासन और शाम्भवी मुद्राके* द्वारा पूर्ण स्थिति प्राप्त की जा सकती है। यह मार्ग सर्वथा सरल और निरापद है। इसके सिवा भगवद्भजन, नाम-सङ्कीर्तन और जपके द्वारा भी भावसमाधि प्राप्त होती देखी गयी है। यह मार्ग सर्वसाधारणके लिये बहुत उपयोगी है। परन्तु ऐसे भावुक साधकोंमें भी विचारकी कमी होनेके कारण प्रायः आन्तरिक क्रोध और लोभादि दोष देखे गये हैं। इसलिये इस मार्गका अनुसरण करनेवालोंको भी विचारकी बहुत आवश्यकता है; तभी वे भगवद्भक्तिसे पूरा लाभ उठा सकेंगे। —प्रेषक–मुनिलाल

---

* शाम्भवी मुद्राका लक्षण इस प्रकार है—

अन्तर्लक्ष्यबहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता। सा भवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥

'जिसमें चित्तका लक्ष्य अन्तर्मुख (ध्येयाकार) रहता है और दृष्टि बाहरकी ओर रहती है अर्थात् नेत्र खुले रहते हैं, किन्तु कोई बाह्य पदार्थ दिखायी नहीं देता, वह सम्पूर्ण शास्त्रोंमें छिपी हुई 'शाम्भवी मुद्रा' कहलाती है।'

इसका अभ्यास करनेके लिये श्रीमहाराजने इस श्लोकद्वारा उपदेश दिया—

तिर्यगूर्ध्वमधोदृष्टिं विहाय च महामतिः। स्थिरस्थायी च निष्कम्पो योगमेव समभ्यसेत्॥

'मतिमान् साधकको इधर-उधर और ऊपर-नीचे देखना छोड़कर निश्चलभावसे स्थिरतापूर्वक स्थित होकर योगका अभ्यास करना चाहिये।' (प्रेषक)

समाधियोग

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

कितने ही मित्र पातञ्जल योगदर्शनके अनुसार समाधिविषयक लेखके लिये मुझे प्रेरणा कर रहे हैं। उन लोगोंका आग्रह देखकर मेरी भी लिखनेकी प्रवृत्ति होती है, परन्तु मैंने इसका सम्पादन किया नहीं। समाधिका विषय बड़ा दुर्गम और गहन है। महर्षि पतञ्जलिजीका समाधिके विषयमे क्या सिद्धान्त था, यह बात भाष्य आदि टीकाओंको देखनेपर भी अच्छी प्रकारसे समझमें नहीं आती। पातञ्जलयोगके अनुसार योगका भलीभाँति सम्पादन करनेवाले योगी भी ससारमे बहुत ही कम अनुमान होते है। इस विषयके तत्त्वज्ञ योगीसे मेरी तो भेंट भी नहीं हुई। ऐसी परिस्थितिमे समाधिके विषयमे न तो मुझमे लिखनेकी योग्यता ही है और न मेरा अधिकार ही है। तथापि अपने मनके विनोदके लिये पातञ्जल योगदर्शनके आधारपर, समाधिविषयक अपने भावोंको पाठकोंकी सेवामें निवेदन करता हूँ। अतएव पाठकगण मेरी त्रुटियोके लिये क्षमा करेंगे।

पातञ्जल योगदर्शनके अनुसार समाधिके मुख्यतया दो भेद है—१. सम्प्रज्ञात और २ असम्प्रज्ञात।

असम्प्रज्ञातकी अपेक्षा सम्प्रज्ञात बहिरग है।

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य। (३।८)

वह (सयमरूप) सम्प्रज्ञात समाधि भी निर्बीज समाधिकी अपेक्षा बहिरग ही है। इस असम्प्रज्ञातयोगको ही निर्बीज समाधि, कैवल्य, चितिशक्तिरूप स्वरूप-प्रतिष्ठा * आदि नामोंसे पातञ्जल योगदर्शनमें कहा है। और उस योगीकी सदाके लिये अपने चिन्मय स्वरूपमें स्थिति हो जाती है तथा किसीके साथ सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिये उसको चितिशक्तिरूप स्वरूपप्रतिष्ठा कहते है। उस अवस्थामें ससारके बीजका अत्यन्त अभाव है। इसलिये यह निर्बीज समाधिके नामसे प्रसिद्ध है।*

सम्प्रज्ञात योगके मुख्य चार भेद हैं—

वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः।

(१।१७)

वितर्कके सम्बन्धसे जो समाधि होती है उसका नाम वितर्कानुगम, विचारके सम्बन्धसे होनेवालीका नाम 'विचारानुगम', आनन्दके सम्बन्धसे होनेवालीका 'आनन्दानुगम' और अस्मिताके सम्बन्धसे होनेवाली समाधिका नाम 'अस्मितानुगम' है।

(१) आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, ये पाँच स्थूलभूत, और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ये पाँच स्थूलविषय, इन पदार्थोंमें होनेवाली समाधिका नाम 'वितर्कानुगम' समाधि है। इसमें केवल पाञ्चभौतिक स्थूल-शरीर एवं सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदिसहित यह स्थूल ब्रह्माण्ड अन्तर्गत है। इस वितर्कानुगम समाधिके दो भेद हैं— १—सवितर्क और २—निर्वितर्क।

(क) सवितर्क

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।

(१।४२)

ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करने योग्य उन स्थूल पदार्थोंमें शब्द, अर्थ, ज्ञानके विकल्पोंसे सयुक्त, समापत्तिका नाम 'सवितर्क' समाधि है। जैसे कोई सूर्यमें समाधि लगाता है, तो उसमें सूर्यका नाम, सूर्यका रूप, और सूर्यका ज्ञान—यह तीनों प्रकारकी कल्पना रहती है, † इसलिये इसे सवितर्क समाधि कहते है, इसीको 'सविकल्प' भी कहते हैं।

---

* पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसव कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति (४।३४)

* तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः (१।५१)

† जिस पदार्थमें योगी समाधि लगाता है, उस पदार्थके वाचक या नामको तो शब्द, तथा वाच्य यानी स्वरूपको अर्थ और जिससे शब्द-अर्थके सम्बन्धका बोध होता है, उसको ज्ञान कहते है। जैसे सूर्य यह शब्द तो सूर्यदेवका वाचक है, सारे विश्वको प्रकाशित करनेवाला आकाशमें जो सूर्यमण्डल दीख पड़ता है, वह सूर्य शब्दका वाच्य है, और उस मण्डलको देखकर यह सूर्य है—ऐसा जो बोध होता है, उसका नाम ज्ञान है।

(ख) निर्वितर्क

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।
(१ । ४३)

स्मृतिके परिशुद्ध होनेपर अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पोंसे चित्त-वृत्ति भलीभाँति रहित होनेपर, जिसमें साधकको अपने स्वरूपके ज्ञानका अभाव-सा होकर, केवल अर्थ यानी ध्येयमात्रकी ही प्रतीति रहती है, उसका नाम 'निर्वितर्क' समापत्ति अर्थात् समाधि है। जैसे सूर्यका ध्यान करनेवाला पुरुष मानो अपना ज्ञान भूलकर तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है और उसे केवल सूर्यका स्वरूपमात्र ही प्रतीत होता है। उसका नाम निर्वितर्क समाधि है। इसमें विकल्पोंका अभाव होनेके कारण इसे निर्विकल्प भी कहते हैं।

(२) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि सूक्ष्म-तन्मात्राएँ, मन, बुद्धि, अहङ्कार और मूलप्रकृति एवं दश इन्द्रियाँ, इनमें होनेवाली समाधिका नाम 'विचारानुगम' समाधि है। कोई-कोई इन्द्रियोंमें होनेवाली समाधिको आनन्दानुगम समाधि मानते हैं, परन्तु ऐसा मानना युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता।
(१ । ४४)

इस सवितर्क और निर्वितर्कके भेदके अनुसार ही सूक्ष्म विषयवाली, सविचार और निर्विचार समाधिकी व्याख्या समझनी चाहिये। सूक्ष्म विषयकी मर्यादा, स्थूल पञ्चभूतोंको और स्थूल विषयोंको बाद देकर, मूलप्रकृति-पर्यन्त बतलायी है। इससे सूक्ष्म विषयकी व्याख्याके अन्तर्गत ही इन्द्रियाँ आदि आ जाते हैं—

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्। (१ । ४५)

तथा सूक्ष्मविषयताकी सीमा अलिङ्ग यानी मूल प्रकृतितक है। मूल प्रकृतितक होनेसे दृश्यका सारा सूक्ष्मविषय, 'विचारानुगम' समाधिके अन्तर्गत आ जाता है।

इस विचारानुगम समाधिके भी दो भेद हैं। १—सविचार, २—निर्विचार।

(क) सविचार—स्थूल पदार्थोंको छोड़कर शेष मूलप्रकृतिपर्यन्त सम्पूर्ण ग्रहण और ग्राह्योंमें नाम(शब्द), रूप (अर्थ), ज्ञानके विकल्पोंसे संयुक्त समापत्ति अर्थात् समाधिका नाम सविचार समाधि है। तीनों प्रकारके विकल्पोंसे युक्त होनेके कारण, इस सविचार समाधिको सविकल्प भी कहते हैं।

(ख) निर्विचार—जिसमें उपर्युक्त स्थूल पदार्थोंको छोड़कर शेष मूलप्रकृतिपर्यन्त सम्पूर्ण ग्रहण और ग्राह्योंमें स्मृतिके परिशुद्ध होनेपर अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पोंसे चित्त-वृत्ति भलीभाँति रहित होनेपर जिसमें योगीको अपने स्वरूपके ज्ञानका अभाव-सा होकर, केवल अर्थमात्रकी ही प्रतीति रहती है, उसका नाम निर्विचार समाधि है। इसमें विकल्पोंका अभाव होनेके कारण इसे निर्विकल्प भी कहते हैं।

ग्रहण तेरह हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन, बुद्धि, अहङ्कार। ग्राह्य पदार्थोंके ग्रहण करनेमें द्वार होनेसे, इन्हें 'ग्रहण' कहा गया है।

इनके अलावा—स्थूल, सूक्ष्म समस्त जड दृश्यवर्ग, ग्राह्य है। ये उपर्युक्त तेरह ग्रहणोंके द्वारा पकड़े जानेवाले होनेसे इन्हें 'ग्राह्य' कहते हैं।

उपर्युक्त विवेचनका तात्पर्य यह है कि दृश्यमात्र जड है और इस जडमें होनेवाली समाधिका नाम 'वितर्कानुगम' और 'विचारानुगम' समाधि है।

कार्यसहित प्रकृति जो दृश्यवर्ग है, इसीका नाम बीज है, इसलिये इसको लेकर होनेवाली समाधिका नाम सबीज समाधि है।

ता एव सबीजः समाधिः। (१ । ४६)

(३) अन्तःकरणकी स्वच्छतासे उत्पन्न होनेवाले आह्लाद यानी प्रिय, मोद, प्रमोद आदि वृत्तियोंमें जो समाधि होती है, उसका नाम 'आनन्दानुगम' समाधि है। उपर्युक्त वितर्क और विचार ये दोनों समाधियाँ तो केवल जडमें अर्थात् दृश्य पदार्थोंमें हैं परन्तु यह केवल जडमें नहीं है, क्योंकि आनन्दकी उत्पत्ति जड और चेतनके सम्बन्धसे होती है। इस आनन्दमें आत्माकी भावना करनेसे

---

* ध्यानमें तो ध्याता, ध्यान, ध्येयकी त्रिपुटी रहती है और इस सवितर्क और सविचार समापत्तिमें, केवल ध्येयविषयक ही शब्द, अर्थ, ज्ञानसे मिला हुआ विकल्प रहता है तथा समाधिमें केवल ध्येयका स्वरूपमात्र ही रह जाता है। इसलिये यह समापत्ति, ध्यानसे उत्तर एवं समाधिकी पूर्वावस्था है, इसे तटस्थ समापत्ति भी कहते हैं, अतएव इसको भी समाधि ही समझना चाहिये।

विवेकख्याति* द्वारा आत्मसाक्षात्कार भी हो जाता है।

(४) चेतन द्रष्टाकी चिन्मयशक्ति एव बुद्धिशक्ति इन दोनोकी जो एकता-सी है उसका नाम 'अस्मिता' है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता (२।६)

पुरुष और बुद्धिकी एकरूपताकी-सी प्रतीति होना अस्मिता है†। इसलिये बुद्धिवृत्ति और पुरुषकी चेतनशक्तिके एकताके-से स्वरूपमे जो समाधि होती है उसका नाम 'अस्मितानुगम' समाधि है। आनन्दानुगम तो चेतनपुरुष और बुद्धिके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले आह्लादमें होती है। किन्तु यह समाधि चेतन पुरुष और बुद्धिकी एकात्मताकी-सी स्थितिमे होती है। इस समाधिसे पुरुष और प्रकृतिका पृथक्-पृथक् रूपसे ज्ञान हो जाता है। उस सत्त्वपुरुषके पृथक्-पृथक् ज्ञानमात्रसे समस्त पदार्थोंके स्वामित्व और ज्ञातृत्वकी प्राप्ति होती है।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्व च। (३।४९)

फिर इन सबमें वैराग्य होनेपर, क्लेश-कर्मके मूलभूत अविद्यारूप दोषकी निवृत्ति होकर, पुरुष 'कैवल्य' अवस्थाको प्राप्त हो जाता है—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्। (३।५०)

असम्प्रज्ञात योग अर्थात् निर्बीज समाधि तो सङ्कल्पोका अत्यन्त अभाव होनेके कारण, निर्विकल्प है ही किन्तु सम्प्रज्ञातयोगमे निर्वितर्क और निर्विचार आदि सबीज समाधियाँ भी, विकल्पोंका अभाव होनेके कारण, निर्विकल्प हैं।

'ग्रहण' और 'ग्राह्यो' मे तथा आनन्द और बुद्धिसहित ग्रहीतामें सम्प्रज्ञात योगको बतलाकर, अब केवल ग्रहीतामें होनेवाला असम्प्रज्ञात योग बतलाया जाता है। चेतनरूप ग्रहीताके स्वस्वरूपमें होनेवाली समाधिका नाम असम्प्रज्ञात योग है। इसमें दृश्यके अभावसे, द्रष्टाकी अपने स्वरूपमे समाधि होती है।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः। (१।१८)

चित्तवृत्तियोंके अभावके अभ्याससे उत्पन्न हुई स्थिति, जिसमे केवल चित्तनिरोधके सस्कार ही शेष रहते हैं, वह अन्य है अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि है। इसमें चित्तकी वृत्तियोका सर्वथा निरोध हो जाता है और चित्तनिरोधके सस्कार ही रह जाते हैं।

गुण और गुणोके कार्यमें अत्यन्त वैराग्य होनेसे, समस्त दृश्यका आलम्बन चित्तसे छूट जाता है, दृश्यसे अत्यन्त उपरामता होकर चित्तकी वृत्तियोका निरोध होता है और क्लेश कर्मोंका नाश हो जाता है तथा क्लेश कर्मोंका नाश हो जानेसे, उस योगीका चित्तके साथ अत्यन्त सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। सत्, रज, तम-गुणमयी प्रकृति उस योगीको मुक्ति देकर कृतकार्य हो जाती है। यही योगीकी कैवल्य अवस्था अथवा चितिशक्तिरूप स्वरूपप्रतिष्ठा है। इसीको निर्बीज समाधि कहते हैं।

सम्प्रज्ञात योगमें जिस पदार्थका आलम्बन किया जाता है, उस पदार्थका यथार्थ ज्ञान होकर, योगीकी भूमियोंमे वृद्धि होते-होते, शेषमें प्रकृति-पुरुषतकका यथार्थज्ञान हो जाता है। और उसमें वैराग्य होनेसे कैवल्यपदकी प्राप्ति हो जाती है। किन्तु असम्प्रज्ञात योगमें तो शुरूसे ही दृश्यके आलम्बनका त्याग किया जाता है जिससे दृश्यका अत्यन्त अभाव होकर, त्याग करनेवाला केवल चेतन पुरुष ही बच रहता है, वही उसकी कैवल्य अवस्था है। अर्थात् सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञातका प्रधान भेद यह है कि सम्प्रज्ञात योग तो किसीको ध्येय बनाकर यानी किसीका आलम्बन करके, किया जाता है। यहाँ आलम्बन ही बीज है, इसलिये किसीको आलम्बन बनाकर, उसमें समाधि होती है, उसका नाम सबीज समाधि है। किन्तु असम्प्रज्ञात योगमें आलम्बनका अभाव है। आलम्बनका अभाव करते-करते, अभाव करनेवाली वृत्तियोका भी अभाव होनेपर, जो समाधि होती है, वह

---

* सत्त्व और पुरुषकी ख्यातिमात्रसे तो सब पदार्थोंपर स्वामित्व और ज्ञातृत्वकी प्राप्ति होती है, और उसमें वैराग्य होनेसे सशय-विपर्ययसे रहित निर्मल विवेकख्याति होती है, इसीको 'सर्वथा विवेकख्याति' भी कहते हैं, इससे 'धर्ममेघ समाधि' लाभ और क्लेश-कर्मकी निवृत्ति होकर कैवल्यपदकी प्राप्ति हो जाती है।

यह 'धर्ममेघ समाधि' सम्प्रज्ञात योग नहीं है। असम्प्रज्ञात योग यानी निर्बीज समाधिकी पूर्वावस्था है, क्योंकि इससे समस्त क्लेश-कर्मोंकी निवृत्ति होकर कैवल्य पदकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

† वितर्कानुगम और विचारानुगम समाधिके जैसे सवितर्क और निर्वितर्क तथा सविचार और निर्विचार दो-दो भेद होते हैं वैसे ही आनन्द और अस्मिताके भी दो-दो भेद किये जा सकते हैं।

असम्प्रज्ञात योग है। निरालम्ब होनेके कारण इसको निर्बीज समाधि भी कहते है।

ऊपर बताये हुए असम्प्रज्ञात योगकी सिद्धि दो प्रकारसे होती है। जिनमें एकका नाम 'भव-प्रत्यय' है और दूसरेका नाम 'उपाय-प्रत्यय'। जो पूर्वजन्ममे विदेह और प्रकृतिलयतक पहुँच चुके थे वे ही योगभ्रष्ट पुरुष इस जन्ममें भव-प्रत्ययके अधिकारी है, शेष सब मनुष्य उपाय-प्रत्ययके अधिकारी है। उनमें भव-प्रत्यय यह है—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्। (१।१९)

विदेही और प्रकृतिलयोको भव-प्रत्यय होता है।

भव नाम है जन्मका, प्रत्यय नाम है प्रतीति—प्रकट होनेका। जन्मसे ही जिसकी प्रतीति होती है अर्थात् जो जन्मसे ही प्रकट होता है, उसे 'भव-प्रत्यय' कहते है। अथवा, भवात् प्रत्ययः भवप्रत्ययः। भवात् नाम जन्मसे, प्रत्यय नाम ज्ञान, जन्मसे ही है ज्ञान जिसका अर्थात् जिस असम्प्रज्ञात योगकी प्राप्तिका, उसका नाम है 'भव-प्रत्यय'। सारांश यह है कि विदेही और प्रकृतिलय योगियोंको जन्मसे ही, असम्प्रज्ञात योगकी प्राप्तिविषयक ज्ञानका अधिकार प्राप्त हो जाता है। उनको श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञाकी आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि इन सबका साधन उनके पूर्वजन्ममे हो चुका है।

इसलिये पूर्वजन्मके सस्कारबलसे* उनको परवैराग्य होकर विराम प्रत्ययके अभ्यासपूर्वक यानी चित्तवृत्तियोके अभावके अभ्यास अर्थात् दृश्यरूप आलम्बनके अभावके अभ्यासमे असम्प्रज्ञात यानी निर्बीज समाधि हो जाती है।

(१) विदेही उन्हें कहते हैं, जिनका देहमे अभिमान नहींके तुल्य है। सम्प्रज्ञात योगकी जो चौथी समाधि अस्मिता है, उसमें समाविस्थ होनेसे पुरुष और बुद्धिका पृथक्-पृथक् ज्ञान हो जाता है, उस ज्ञानसे आत्माको ज्ञाता और बुद्धिको ज्ञेयरूपसे समझकर, शरीरसे आत्माको पृथक् देखता है। तब उसको 'विदेह' ऐसा कहा जाता है।

(२) 'प्रकृतिलय' उन्हे कहते है जिनमें निर्विचार समाधिद्वारा प्रकृतिपर्यन्त संयम करनेकी योग्यता हो गयी है। इस प्रकारके योगियोको अध्यात्मप्रसाद होकर ऋतम्भरा प्रज्ञाकी प्राप्ति हो जाती है।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः। (१।४७)

निर्विचार समाधिमे वैशारद्य यानी प्रवीणता होनेपर, अध्यात्मप्रसाद होता है। रज, तमरूप मल और आवरणका क्षय होकर, प्रकाशस्वरूप बुद्धिका स्वच्छ प्रवाह निरन्तर बहता रहता है, इसीका नाम 'वैशारद्य' है। इससे प्रकृति और प्रकृतिके सारे पदार्थोंका, सशय-विपर्ययरहित प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है, इसका नाम 'अध्यात्मप्रसाद' है। यह सम्प्रज्ञात योगकी निर्विचार समाधि है।

विदेह और प्रकृतिलय योगियोका विषय बतलाकर अब साधारण मनुष्योंके लिये, असम्प्रज्ञात योग प्राप्त करनेके लिये 'उपाय-प्रत्यय' कहते है।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्। (१।२०)

जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं है, उन पुरुषोका श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक, विराम-प्रत्ययके अभ्यासद्वारा असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है।

श्रद्धा—योगकी प्राप्तिके लिये अभिरुचि या उत्कट इच्छाको उत्पन्न करनेवाले विश्वासका नाम 'श्रद्धा' है। जिनका अन्त करण जितना स्वच्छ यानी मलदोषसे रहित होता है, उतनी ही उसमें श्रद्धा* होती है। श्रद्धा ही कल्याणमे

---

* भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने भी योगभ्रष्ट पुरुषकी गति बतलाते हुए कहा है—

तत्र त बुद्धिसयोग लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूय सस्सिद्धौ कुरुनन्दन॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि स।
(६।४३-४४)

और वह योगभ्रष्ट पुरुष, वहाँ उस पहिले शरीरमें साधन किये हुए बुद्धिके सयोगको अर्थात् समत्वबुद्धियोगके सस्कारोंको अनायास ही प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन! उनके प्रभावसे फिर अच्छी प्रकार भगवत्प्राप्तिके निमित्त यत्न करता है। और वह विषयोंके वशमें हुआ भी उस पहिलेके अभ्याससे नि सन्देह भगवत्की ओर आकर्षित किया जाता है।

* भगवद्गीतामें भी भगवान् कहते है—

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽय पुरुषो यो यच्छ्रद्ध स एव स॥
(१७।३)

हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा, उनके अन्त करणके अनुरूप होती है तथा यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वय भी वही है अर्थात् जैसी जिसकी श्रद्धा है, वैसा ही उनका स्वरूप है।

परम कारण है, इसलिये आत्माका कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको श्रद्धाकी वृद्धिके लिये विशेष कोशिश करनी चाहिये ।

वीर्य—योगकी प्राप्तिके लिये साधनकी तत्परता उत्पन्न करनेवाले उत्साहका नाम 'वीर्य' है । क्योंकि श्रद्धाके अनुसार उत्साह और उत्साहके अनुसार ही साधनमें तत्परता होती है । और उस तत्परतासे मन और इन्द्रियोंके सयमकी भी सामर्थ्य हो जाती है ।

स्मृति—अनुभूत विषयका न भूलना यानी उसके निरन्तर स्मरण रहनेका नाम 'स्मृति' है, इसलिये यहाँ अध्यात्मबुद्धिके द्वारा सूक्ष्म विषयमे जो चित्तकी एकाग्रता होकर, एकतानता है अर्थात् स्थिर स्थिति है, उसको 'स्मृति' नामसे कहा है ।

समाधि—फिर उसीमें अपने स्वरूपका अभाव-सा होकर, जहाँ केवल अर्थमात्र ध्येय वस्तुका ही ज्ञान रह जाता है, उसका नाम 'समाधि' है ।

प्रज्ञा—ऋतम्भरा प्रज्ञा ही यहाँ प्रज्ञा नामसे कथित हुई है । उपर्युक्त समाधिके फलस्वरूप यह ऋतम्भरा प्रज्ञा योगीको प्राप्त होती है ।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा । (१ । ४८)

वहाँ ऋतम्भरा प्रज्ञा होती है । ऋत सत्यका नाम है । उसका धारण करनेवाली बुद्धिका नाम ऋतम्भरा है ।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ।
(१ । ४९)

विशेष अर्थवाली होनेसे यह प्रज्ञा, श्रुत और अनुमान-जन्य प्रज्ञासे अन्य विषयवाली है ।

अर्थात् श्रुति, स्मृतिद्वारा सुने हुए, और अपनी साधारण बुद्धिके द्वारा अनुमान किये हुए, विषयोंसे भी इस बुद्धिके द्वारा विशेष अर्थका यानी यथार्थ अर्थका अनुभव होता है ।

इस ऋतम्भरा प्रज्ञाके द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञानसे ससार-के पदार्थोंमें वैराग्य और उपरति उत्पन्न होकर, उससे आत्मविषयक साधनमे आनेवाले विक्षेपोंका अभाव हो जाता है ।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी । (१ । ५०)

उस ऋतम्भरा प्रज्ञासे उत्पन्न ज्ञानरूप संस्कार अन्य दृश्यजन्य सस्कारोंका बाधक है ।

इसलिये उपर्युक्त प्रज्ञाके संस्कारोद्वारा विराम-प्रत्यय-का अभ्यास करना चाहिये अर्थात् विषयसहित चित्तकी समस्त वृत्तियोंके विस्मरणका अभ्यास करना चाहिये । इस प्रकारका अभ्यास करते-करते दृश्यका अत्यन्त अभाव हो जाता है । दृश्यका अत्यन्ताभाव होनेपर, दृश्यका अभाव करनेवाली बुद्धिवृत्तिका भी स्वयमेव निरोध हो जाता है और इसके निरोध होनेपर निर्बीज समाधि हो जाती है । यही इस योगीकी स्वरूपमें स्थिति है, या यों कहिये कि कैवल्यपदकी प्राप्ति है* ।

इनका सार निकालनेसे यही प्रतीत होता है कि अन्तःकरणकी स्वच्छतासे श्रद्धा होती है । श्रद्धासे साधनमें तत्परता होती है, तत्परतासे मन और इन्द्रियोंका निरोध होकर परमात्माके स्वरूपमे निरन्तर ध्यान होता है, उस ध्यानसे परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान होता है । और ज्ञानसे परम शान्तिकी प्राप्ति होती है । इसीको भगवत्-प्राप्ति, परमधामकी प्राप्ति आदि नामोंसे गीतामे बतलाया गया है । और यहाँ इस प्रकरणमें इसीको 'निर्बीज समाधि' या 'कैवल्यपद' की प्राप्ति कहा है ।

---

* श्रीमद्भगवद्गीतामे भी इसीसे मिलता जुलता वर्णन किया गया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञान तत्पर सयतेन्द्रिय । ज्ञान लब्ध्वा परा शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ (४ । ३९)

जितेन्द्रिय तत्पर हुआ श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है । ज्ञानको प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।

योगतत्त्वम्

(लेखक—श्रीमन्माध्वसम्प्रदायाचार्य-दार्शनिकसार्वभौम-साहित्यदर्शनाद्याचार्य-तर्करत्न-न्यायरत्न गोस्वामी श्रीदामोदरजी शास्त्री)

योगमाश्रयते नीर्यं योगभाग्मत्यगोचर. । योऽग्राह्यो विषयासक्तौ योगमेतु स मे हृदि ॥

अयि कल्याणप्रियजनते !

आपलोग अनेक वर्षोंसे वहुविध मधुर रसका ही आस्वाद करते आ रहे हैं, सम्भव है कि कुछ अरुचिका भी उन्मेष हुआ हो; इससे तरह-तरहके मसाले पड़ी हुई योगरूप चटनीसे आस्वाद वदलना भी लोकरीतिसे अनुचित न होगा, होता अनुचित यदि इमली वा नीमकी वेमेल चटनी होती । यह तो किसमिसकी चटनी होनेसे मेलकी ही है, क्योंकि विना इसके पूर्वास्वादित गरिष्ठ रसका परिपाक होता ही नहीं ।

यह 'योग' शब्द एकाग्रतार्थक 'युज्' धातुसे निष्पन्न है, संयोगार्थक 'युजिर्' धातुसे नहीं, क्योंकि कर्म, ज्ञान, भक्ति, अष्टाङ्गादि योगमें नियमसे चित्तैकाग्रता ही अपेक्षित है ।

इस स्वतन्त्र योगके भी हठ, लय, मन्त्र, राजरूपसे तथा अन्य स्पर्शादि प्रभेदोंसे अनेकानेक प्रकार होते है, किन्तु हम यहाँ हिरण्यगर्भाचार्यप्रवर्तित एव महर्षि 'पतंञ्जलि' द्वारा अनुशासित 'पातञ्जल' दर्शनादि नामोंसे प्रसिद्ध योग-शास्त्रोक्त 'योग' को मुख्य समझकर तदुक्त रीतिसे ही योगतत्त्वका सक्षेपसे निरूपण करते है ।

जव यह भी एक प्रधान दर्शन है, तव दर्शनोचित रीति कैसे छूटेगी ? इस दर्शनमें प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द ये तीन ही प्रमाण अनुमत हैं, इनसे ही प्रमेय-सिद्धि की जाती है । यह शास्त्र महर्षि कपिलोक्त साख्यका परिशिष्ट रूप है, इसीसे 'उत्तरसाख्य' भी कहाता है । अतएव कपिलोक्त पचीस तत्त्व यहाँ भी सम्मत है, केवल छव्वीसवाँ तत्त्व 'ईश्वर' इसमें अधिक सिद्धान्तित है ।

ये दोनो महर्षि 'परिणामवादी' है—इसीसे किसीकी उत्पत्ति या नाश इनके यहाँ नहीं माना गया है । श्री-भगवान्ने गीतोपनिषद्मे 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' ऐसा कहकर परिणामवादका ही अनुमोदन किया है । इस वादमे उपादानकारणसे कार्यका सर्वथा भेद नहीं है, सर्वथा अभेद भी नहीं है, अतएव तादात्म्य है ।

उक्त छव्वीस तत्त्वोमे महापुरुष या पुरुषोत्तम—ईश्वर और पुरुष वा जीव ये ही दोनो चिन्मात्रस्वरूप हैं, वाकीके चौवीस सव जडात्मक हैं, क्योंकि सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणोंकी समष्टिरूप प्रकृति वा प्रधान मूल-कारण है । इसीसे साक्षात् वा परम्परासे तेईसोका सृष्टिसमयमे आविर्भाव होता है और प्रलयकालमे तेईसो प्राकट्यके विपरीत क्रमसे तिरोभूत होते है ।

इस दर्शनमे पुरुषमें ज्ञान-इच्छा,सुख-दुःख,धर्माधर्मादि विशेष गुण कभी नहीं रहते, किन्तु प्रकृतिका प्रथम कार्य वा विकृति, जो वुद्धितत्त्व वा महत्तत्त्व कहाता है, उसीमें उक्त गुण वस्तुतः रहते है । यह अन्तःकरणका मुख्यरूप है, अनादिकालसे इसके साथ पुरुषको तादात्म्य-भ्रम चला आया है । यही वन्धका हेतु है । जव पुरुषको इसके साथ भेद प्रत्यक्ष होता है, तव उसे 'विवेकख्याति' कहते हैं । इस वृत्तिके वाद ही मुक्ति है । तव उक्त वृत्ति भी अनन्त कालतक निरुद्ध रहती है । प्रारब्ध कर्म भुक्त ही हो जाते है, सञ्चित कर्म ज्ञानसे दग्ध हो जाते है, आगामी कारणाभावसे होते ही नहीं । अत. वृत्तिमात्रका निरोध होनेसे पुरुष वास्तविक स्वरूपमें सर्वदा स्थित रहेगा, यही योगदर्शनमें मोक्ष है ।

एक दर्शनका सम्पूर्ण विवरण थोड़े-से लेखमे कैसे आवेगा ? तथापि योगरसिकोंके विनोदार्थ दिग्दर्शन कराया गया । विशेष जिज्ञासु यदि प्रश्न करेंगे तव उत्तर अवश्य दिया जायगा । इति शम् ।

श्रीश्रीशरणागतियोग

(लेखक—अनन्त श्रीस्वामी प० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज, अयोध्या)

बीजाकुरन्यायसे अनादिकालोपचित विविध कर्म-बन्धनोंसे बद्ध जीव नाना प्रकारकी योनियोंमें तत्तत्कर्मानुगुण तत्तच्छरीरग्रहणपूर्वक तत्तच्छरीरभोग्य भोगोंको भोगते आये है और भोगते है तथा भविष्यमे भी भोगते रहेंगे—

'दैवाधीनं जगत् कृत्स्नम्'
'पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमिह कथ्यते ।'

कर्मसञ्चयको ही ससार कहते है । जबतक कर्म सञ्चित रहता है तबतक सुख (मोक्ष) हो ही नहीं सकता, चाहे वह सञ्चित कर्म पुण्यजनकतावच्छेदक हो अथवा पापफलप्रद हो । श्रुति कहती है—

पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।

अतः उभयविध कर्म बन्धप्रद होनेसे त्याज्य ही बतलाये गये है ।

अब प्रश्न यह होता है कि उभयविध कर्मोंका निर्हार कैसे हो, इसके लिये—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यः..... (महिम्न स्तोत्र)

—के अनुसार ज्ञानयोग, कर्मयोग, ज्ञानकर्मसमुच्चय-योग, हठयोग, राजयोग आदि नाना योग प्रतिपादित किये गये है । ये सब योग अपशूद्राधिकरणानुरोधेन नियताधिकार होनेके कारण सर्वजनसुलभ नहीं हैं । शरणागतियोग ही सर्वकाल-सर्वदेश-सर्वजनसुलभ है । अन्य योगोंमें साक्षान्मोक्षप्रदत्व नहीं है, किन्तु तत्तद्योग-द्वारा अन्तःकरणनैर्मल्यापादनपूर्वक भक्तियोगोत्पादन-द्वारा परम्परया मोक्षप्रदत्व है, तथा कर्मयोगादिमें क्रमवैगुण्य होनेसे प्रत्यवाय भी बतलाया गया है । लेकिन इस शरणागतियोगमें उपर्युक्त उभयविध विप्रतिपत्तियोंका अभाव है, भगवान् श्रीगीताचार्यजी कहते है—'प्रत्यवायो न विद्यते' (गीता) । इस शरणागतियोगमें किसी प्रकारका प्रत्यवाय नहीं है । 'शरणागति' शब्दमे ही कितना कारुण्य, कितना वात्सल्य, कितना औदार्य और कितना प्रभाव भरा हुआ है, जिसने बड़े-बड़े कुलिशकठोर हृदयोंको भी क्षणमात्रमें द्रवीभूत कर दिया है । इसके अनेको दृष्टान्त मिलते है । जल्लादोंसे अधिक निर्दयी कठोर हृदयका कोई नहीं होता । पर वे भी इस अद्भुत शक्ति-सम्पन्न (शरणम्) शब्दको सुनकर द्रवीभूत हो गये हैं । तो फिर जो—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ।

—की स्वप्रतिज्ञा उद्घोषित करते है वे द्रवीभूत हो जायँ तो आश्चर्य ही क्या है ।

अब हमें उस शरणागतियोगके स्वरूपका विचार करना है जो सर्वसाधनापेक्षया सुलभ और सर्वजन-साधारणको सहजमे प्राप्य है ।

शरणागति दो प्रकारकी होती है—एक आर्ता शरणागति, दूसरी दृप्ता । एक शरणागत वह है जो 'श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम्' इस श्रुत्युक्त लक्षणलक्षित श्रीपरमाचार्यकी कृपासे तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जानेसे, तथा कृपापूर्ण भगवन्निरीक्षणसे भगवान्के अनुभव करनेमे विघ्नरूप शरीरको भी भार समझता है और भगवन्नित्यकैङ्कर्यप्राप्तिके लिये भगवान्से प्रतिक्षण प्रार्थना करता है कि—'हे भगवन् ! आपके कैङ्कर्यका विरोधी, त्यागने योग्य यह मेरा शरीर शीघ्र छुड़ाइये ।' ऐसी प्रार्थनापूर्वक जो शरणागति की जाती है उसे आर्ता शरणागति कहते हैं । और देहान्तरादिकी प्राप्तिमे स्वर्ग-नरक तथा गर्भ-जरा आदि अवस्थाओंमें दुःखके अनुभवसे डरकर, ससारसे विरक्त होकर, ससारसे निवृत्तिके लिये तथा भगवत्प्राप्त्यर्थ सदाचारसम्पन्न श्रीगुरु महाराज-के उपदेशसे स्ववर्णाश्रमोचित कायिक, वाचिक, मानसिक कर्मोंको करते हुए तथा यथाशक्ति भगवत्कैङ्कर्य करते हुए शेषशेषिभाव, पितापुत्रभाव, भार्याभर्तृभाव, नियाम्यनियामकभाव, आधाराधेयभाव, स्वस्वामिभाव, शरीरशरीरिभाव, धर्मधर्मिभाव, रक्ष्यरक्षकभाव, व्याप्य-व्यापकभाव, भोग्यभोक्तृभाव, अशक्तसर्वशक्तिमद्भाव, अज्ञसर्वज्ञभाव, अपूर्णपरिपूर्णभाव, अकिञ्चन आप्तकाम-भाव आदि अनेक भावोंमें स्वोचित एक सम्बन्ध प्रभुसे मानकर, आप ही मेरे उपाय हैं, मेरे पास और कोई भी साधन नहीं है, इस तरह अपना समस्त भार भगवान्के

सुपुर्दकर सर्वप्रयत्नशून्य होकर केवल भगवान्‌के वात्सल्य, सौशील्य, औदार्यादि अनेक कल्याणगुणोंके चिन्तनपूर्वक जो शरणागति की जाती है उसको दृप्ता शरणागति कहते हैं। इस प्रकार यह द्विविध शरणागतियोग है। अन्य योगोंमें साधकको स्वावलम्बित होकर रहना पड़ता है तथा स्वकर्तव्यका अभिमान रहता है कि इस साधनसे मैं प्रभुको सन्तुष्ट कर लूँगा, यह यज्ञ करता हूँ, दान देता हूँ, जप करता हूँ, ईश्वर अथवा वेदोंकी आज्ञाओंका मैं पालन करता हूँ, अतः मैं अपने कर्तव्योंसे प्रभुको प्रसन्नकर इस अगाध अपरिमित संसारसागरसे पार हो जाऊँगा। इस प्रकार अन्य योगोंमें स्वावलम्बनावृत्ति रहती है, जिसको तत्त्वज्ञोंने वानरीवृत्ति कहा है। इस वृत्तिमें अपने च्युत होनेकी बड़ी आशङ्का रहती है, थोड़ी भी भूल (असावधानी) हुई कि उस वृत्तिका पता नहीं रहता कि कहाँ गयी। परन्तु यह शरणागतियोग परम सुलभ है और अनायास ही भगवत्सान्निध्य प्राप्त करा देता है। शरणागत भक्त अपने किसी भी साधनका भरोसा नहीं करता, वह जानता है कि मुझमें ऐसी कोई भी शक्ति, कोई भी साधन नहीं है जिसके बलसे मैं प्रभुको प्रसन्न कर सकूँ।

अनादिकालसे अनेक जन्मार्जित कर्मोंका कर्मद्वारा निर्हार करना अत्यन्त कठिन ही नहीं, सुतरां दुःसाध्य है। यदि एक-एक जन्मके कर्मोंके निर्हारार्थ एक-एक वर्ष रक्खा जाय तो भी त्रैराशिकानुपातसे अनेकानेक वर्षावधि तादृश साधनोंकी अपेक्षा है जिनसे कर्मक्षय होता है। पहले कहा जा चुका है कि पुण्यात्मक अथवा पापात्मक कैसा भी कर्म हो, वह बन्धप्रद ही है। अनवरत अनेक वर्षपर्यन्त प्रत्यूहरहित तादृश साधनोंका होना बहुत ही कठिन है—

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति।
(कठोपनिषद्)

आवत देखहिं बिषय बयारी। ते पुनि देहिं कपाट उघारी।
(मानसरामायण)

यह तो सर्वसम्मत है कि कर्म-बन्धनद्वारा भगवती श्रीमायादेवी जीवोंको संसारसमुद्रमें डालती हैं। श्रीमुखका वचन है—

.....मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥
(गीता)

अतः भगवच्छरणागतिको छोड़कर दूसरा कोई भी उपाय उस मायासे बचनेका नहीं है। शरणागति वह सरल, सुलभ साधन है जिसके करनेसे 'कर्तव्यं नावशिष्यते।' शरणागतको स्वविषयक किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं रहती। जैसे माता अपने छोटे बच्चेकी अष्टप्रहर रक्षा करती रहती है, बालक स्वयं अपनी कुछ भी चिन्ता नहीं करता, वहीं वात्सल्यसम्पन्ना माता अपने प्रौढ़ बालककी रक्षामें उतनी दत्तावधाना नहीं होती जितनी उस दुधमुँहे बालककी रखती है, ठीक इसी प्रकार परमभक्तवत्सल सौशील्यादि निखिलकल्याणगुणगणार्णव भगवान् भी अपने उन भक्तोंकी सतत रक्षामें रहते हैं जो 'पिता त्वमेव माता त्वमेव', 'माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः', 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव', 'न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी' ऐसा सततानुसन्धान करते हैं और जो अपना सर्वस्व प्रभुके चरणारविन्दोंको ही जानते हैं।

अतः अन्य उपायोंका सहारा त्यागकर भक्त केवल प्रभुकृपैकसाधनका ही सहारा लेते हैं और 'हे नाथ! हे दयामय! मैं अकिञ्चन हूँ, अनन्यगतिक हूँ, सर्वसाधनशून्य हूँ, अनेक दुःखदावानलसे सन्तप्त हूँ; आप जगच्छरण्य हैं, अतः आपकी शरणमें आया हूँ।' इस प्रकार अनन्यभावेन वे प्रभुकी शरणागति करते हैं। उनके लिये भगवान् तुरन्त प्रतिज्ञा कर लेते हैं—

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

परमोदार परमभक्तवत्सल भगवान् श्रीरामचन्द्रजी प्रतिज्ञा करते हैं—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥
(वाल्मीकीय रामायण)

अर्थात् केवल एक बार 'शरणागत हूँ', 'मैं आपका हूँ' ऐसी जो प्रार्थना करता है उसको मैं सर्वभूतोंसे अभय कर देता हूँ—यह मेरी प्रतिज्ञा है।

यदि कोई कहे कि शरणमें आया हुआ दूषित है, पापी है, उसको कैसे शरणमें लेंगे, तो प्रभु स्वयमेव इस शङ्काका निराकरण करते हैं—

मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्॥

आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥
(वा० रा० लं० का०)

जब भगवान् 'अग्नो द्विजान्' वृत्तिवाले सर्वदोषौघागार रावणके भी शरणागत होनेपर उसके ग्रहण और रक्षणकी प्रतिज्ञा करते है, तब उक्त शङ्काको अवकाश ही कहाँ है?

तात्पर्य यह है कि भगवान्की शरणमें आये हुए जीवको उभयतः कल्याण है। यदि प्रभुने अपना लिया तो अच्छा ही है, और यदि न स्वीकार किया तो भी अच्छा ही है। क्योंकि यदि स्वीकार कर लिया तब तो कल्याण ही है, और यदि न अपनाया तो वह शरणागत जीव अपने सर्व दुष्कृत शरण्यको देकर स्वय निष्पाप हो जाता है, तब उसे अवश होकर अपनाना ही पड़ता है। इसी बातको आप महर्षि कण्डुके वचनसे दृढ़ करते हैं—

आर्त्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना॥
विनष्टः पश्यतस्तस्य रक्षिणः शरणं गतः।
आदाय सुकृतं तस्य सर्वं गच्छेदरक्षितः॥
(वा० रा० ल० का०)

इससे शरणमें आया हुआ सदोष हो अथवा निर्दोष, वह अवश्य ही शरण्यके द्वारा रक्षणीय है, अन्यथा बड़ा दोष होगा—यह भी आप अग्रिम श्लोकमें बतलाते हैं—

एवं दोषो महानत्र प्रपन्नानामरक्षणे।
अस्वर्ग्यं चायशस्यं च बलवीर्यविनाशनम्॥
(वा० रा० ल० का०)

तात्पर्य यह है कि शरणागतके दोष शरण्यके लिये सर्वदा ही उपेक्षणीय हैं। शरणागत होनेके पूर्व जीवने जो अपराध किये है वे तो सर्वदा उपेक्ष्य हैं ही, पर शरणागतियोगग्रहणके उपरान्तके भी अपराध सदा उपेक्षणीय ही है। क्योंकि सापराध जीव जब 'तवास्मि' कहता हुआ आपकी शरणमें आता है तब आप उसी समय उसके अनेक जन्मोंके अपराधोंको नाश कर देते हैं—

सनमुख होय जीव मोहि जबही। जनम कोटि अघ नासौं तबही॥
(मानस)

—और सर्वभूतोंसे अभय प्रदान कर देते हैं। उसी एक बारकी की हुई शरणागतिके कारण भूत, भविष्य, सर्वविध समस्त अपराध उपेक्षणीय हैं। आपकी द्वितीय प्रतिज्ञा है—

द्विः शरं नाभिसन्धत्ते द्विः स्थापयति नाश्रितान्।
द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नाभिभाषते॥
(वा० रा० अ० का०)

अतः अन्यान्य योगोकी अपेक्षा शरणागतियोग ही प्रभुको अत्यन्त प्रिय है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
(गीता)

'(यहाँ सर्वधर्मत्यागसे मतलब धर्म त्यागकर अधर्मी बन जानेका नहीं, किन्तु मोक्ष अन्यान्य योगोसे सद्यःसाध्य नहीं है, शरणागतियोगसे ही है, अतः) सर्व धर्मोंसे मोक्षकी आशाको त्यागकर एक शरणागतियोगद्वारा ही उसे प्राप्त करनेकी आशा करो।'

इस शरणागतियोगको हमारे पूर्व महर्षियोंने वैडाली-वृत्ति कहा है। जिस तरह बिल्लीका बच्चा स्वविषयक कुछ भी चिन्ता नहीं करता, उसकी माता ही उसे जहाँ चाहती है मुखमे दबाकर ले जाती है, बच्चा कुछ भी परवा नहीं करता कि मैं कहाँ जा रहा हूँ, क्या होगा, किसलिये माता लिये जाती है, इत्यादि, उसी तरह प्रपन्न (शरणागत) को स्वविषयक कुछ भी चिन्ता नहीं रहती; किन्तु अपने सर्व कर्तव्योंकी आशाको त्यागकर भगवान्को ही अपना उपाय समझता है और उन्हींको उपेय भी जानता है। निर्भय होकर 'विनायकानीकपमूर्धसु' (भागवत) विचरता है, उसे किसीसे भी भय नहीं रहता।

श्रीभगवत्स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कहती हैं—

'नृषु तव मायया·····'अभवच्छरणेषु भयम्'
(श्रीमद्भागवत)

'जो आपकी शरणमे नहीं हैं उन्हींको भय होता है।'

एवम्भूत भगवत्प्राप्तिका जो योग बतलाया गया है, वह भी भगवत्कृपासाध्य है। जब प्रभु अनादिकाल-दुर्वासनावासितान्तःकरण जीवके ऊपर निर्हेतुक स्वस्वरूपानुरूपा कृपा करते हैं तभी इस शरणागतियोगमें प्रीति तथा विश्वास होता है; और ज्यों ही जीवको इस शरणागतियोगमें प्रीति वा विश्वास हुआ, बस, त्यों ही प्रभु उस जीवके सर्वापराधोंको भुलाकर स्वसान्निध्य प्रदान कर देते

है। भगवत्प्राप्तिसाधनीभूत शरणागतियोगके लिये भगवत्कृपातिरिक्त दूसरा कोई भी उपाय नहीं है, केवल उनकी कृपा ही उपाय है—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
(मानस)

भगवती श्रुति कहती है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
(कठोपनिषद्)

अतः एकमात्र भगवान्‌का ही भरोसा करना चाहिये। उन्हींको अपना भर्ता, त्राता, उद्धर्ता समझना चाहिये। वही एकमात्र शरण्य और सर्वभावेन वरेण्य है। उनके सिवा और कोई भी दुःखसागरसे पार करनेवाला नहीं है, और शरणागतियोगके अतिरिक्त कोई सरल, सर्वजनसुलभ साधन भी नहीं है जिसके द्वारा हम उसके पार हो सकें।

अतः 'रक्षिष्यतीति' विश्वासपूर्वक भगवच्छरणागति करनी चाहिये। तभी कल्याण प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसके अनेक ज्वलन्त दृष्टान्त पुराणोंमें मिलते हैं। द्रौपदी, गजेन्द्र आदिको जबतक स्वपुरुषार्थका लेशमात्र भी अभिमान रहा तबतक भगवान्‌ने रक्षा नहीं की; और जब भगवान्‌को ही अपना रक्षक-पोषक समझा और अनन्य-भावसे पुकारा, तब आपने तुरन्त रक्षा की, क्षणमात्र भी देर न लगायी। अनन्यभावसे शरणागत होनेकी ही देर है, फिर जीवको किसी प्रकारका दुःख नहीं रह जाता। वह सुखस्वरूप हो जाता है, उसका अन्तःकरण स्वच्छ दर्पणकी तरह निर्मल हो जाता है। अन्तःकरणनैर्मल्य हो जानेपर शरणागत जीव जैसी-जैसी भावनाएँ, जैसी-जैसी कामनाएँ भगवदिच्छानुकूल करता है वे शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण हो जाती हैं—

स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुपतिष्ठन्ति।
(छान्दोग्योपनिषद्)

जो सुख अन्यान्य योगोंसे बड़े कष्टसे प्राप्त होता है वही शरणागतियोगसे अनायास ही प्राप्त हो जाता है।

योग

(लेखक—एक जीवसेवक प्रतिष्ठात्यागी महात्मा)

योग क्या है?

ग' शब्द 'युज्' धातुके बाद करण और भाववाच्यमें घञ् प्रत्यय लगानेसे बनता है। 'युज्' धातुका अर्थ है समाधि। अतएव 'योग' शब्दका वास्तविक अर्थ समझनेके लिये 'समाधि' शब्दका भी वास्तविक अर्थ समझनेकी थोड़ी चेष्टा करनी होगी। 'समाधि' शब्दका अर्थ है सम्यक् प्रकारसे भगवान्‌के साथ युक्त हो जाना, मिल जाना, जीवका कामना, वासना, आसक्ति, संस्कार आदि सब प्रकारकी आगन्तुक मलिनताको दूरकर, स्वरूपमें प्रतिष्ठित होकर, मुख्य भावसे भगवान्‌में मिल जाना। गौणभावसे भगवान्‌से युक्त होनेका सहज सुन्दर स्वाभाविक उपाय भी 'समाधि' शब्दके अन्तर्गत है। 'योग' शब्दके अन्दर भी हम इन्हीं दो तत्त्वोंको निहित देखते हैं। 'योग' शब्दका अर्थ है जीव और ब्रह्मका पूर्णरूपसे मिलन अर्थात् विजातीय, स्वजातीय एवं स्वगतभेदसे रहित होकर जीव और ब्रह्मका एकत्व प्राप्त कर लेना—भगवान्‌के साथ, भगवद्विधानके साथ सम्पूर्णरूपमें ताल-तालपर मिल जाना, एक हो जाना, जिस अवस्थामें भगवान्‌के अस्तित्वके सिवा हमारा पृथक् अस्तित्व ही नहीं रह जायगा, भगवान्‌की इच्छा पूरी करनेके अतिरिक्त हमारे जीवनमें दूसरा कोई काम ही नहीं रह जायगा। एक शब्दमें—जिस अवस्थामें भगवान्‌की सत्ता, चैतन्य और आनन्द अपने-आप हमारी वाणी, भाव और कार्यके द्वारा पूर्णरूपसे प्रस्फुटित होकर प्रकट हो जाय, उसीका नाम योग है। इसी अवस्थाको लक्ष्य करके मनुष्यको भगवान्‌का अवतार कहा जाता है।

'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्।' 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।'

—इत्यादि वाक्य इसी भावको प्रकट करते हैं। वास्तविक योगकी अवस्थामें क्या हो जाता है, यह समझना भी कठिन है। इसी बातको लक्ष्य करके कहा गया है—

योगवियोगै रहितो योगी
भोगविभोगै रहितो भोगी।
एवं चरति हि मन्दं मन्दं
मनसाकल्पितसहजानन्दम्॥

इसी योगकी अवस्थाकी ओर लक्ष्य करके महर्षि अष्टावक्रने अपने प्रिय शिष्य राजर्षि जनकसे एक दिन कहा था कि वास्तविक योगी ससारमें दुर्लभ हैं—

मुमुक्षुरिह संसारे मुमुक्षुरपि दृश्यते।
भोगमोक्षनिराकाङ्क्षी विरलो हि महाशयः॥

इस योगकी अवस्था समस्त द्वन्द्वभावोंके ऊपर गुणातीत, उदासीन अवस्थामें स्थित है। मिलन या योगके दो प्रकार देखे जाते हैं। एक मिलन है अपने अस्तित्वको पूर्णतया खो देना, जैसा कि शङ्करके विशुद्धाद्वैतवादका मत है, दूसरा मिलन है अपने पृथक् स्वरूपको, स्वगत भावको कुछ अंशमें बचा रखना—जैसा कि रामानुजके विशिष्टाद्वैतवादका मत है। यहाँपर 'योग' शब्द 'युज्' धातुसे भाववाच्यमें प्रत्यय लगानेसे सिद्ध हुआ है, जैसे 'ज्ञायते यत् तत् ज्ञानम्'। यहाँ ज्ञान भगवान्के चित्स्वरूपके सिवा और कुछ भी नहीं। इसके बाद जिसके द्वारा यह मिलन साधित होता है, मिलनके उस सहज-सुन्दर-स्वाभाविक उपायको भी 'योग' शब्दके द्वारा निर्देश किया जाता है। यहाँपर चित्तकी वृत्तिका निरोध करना, चित्तको वृत्तिशून्य करना और चित्तवृत्तिनिरोधके लिये जो कुछ किया जाता है वह सब 'योग' शब्दके अन्तर्गत है। जैसे 'ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्', इस प्रकार करणवाच्यसे 'ज्ञान' शब्द सिद्ध करके गीताकारने 'अमानित्वमदम्भित्वम्' आदि ज्ञानके साधनभूत अङ्गोंको भी 'ज्ञान' शब्दके अन्तर्गत माना है, इसी तरह 'युज्यते अनेन इति' करणवाच्यसाधित 'योग' शब्दके द्वारा आसन, प्राणायाम आदि अष्टाङ्गयोगप्रणालीको भी योगके, भगवान्के साथ युक्त होनेके, सहायकरूपमें 'योग' शब्दके अन्तर्गत रक्खा गया है। अतएव 'योग' शब्दका मुख्य अर्थ है भाववाच्यमें साधित भगवत्-मिलन, और गौण अर्थ है करणवाच्यमें साधित भगवान्के साथ मिलनेके लिये आवश्यक समस्त साधनप्रणाली। किसी भी कार्य-साधनकी सहज, सुन्दर और स्वाभाविक प्रणाली 'योग' शब्दके अन्तर्गत मानी जा सकती है। सभी कार्य योग है, सभी काम मनोयोगके ऊपर निर्भर करते हैं। चित्तकी एकाग्रताके बिना कोई भी काम सुन्दरताके साथ सम्पन्न नहीं हो सकता।

योगके विभिन्न अर्थ

अब हम देखें कि वर्तमान समयमें 'योग' शब्द किन-किन अर्थोंमें व्यवहृत होता है—

(१) जीवात्मा-परमात्माका सम्पूर्णरूपमे मिलन—अद्वैतानुभूति-योग।

(२) देहात्मबुद्धि त्यागकर आत्मभावापन्न होना योग है—जैसे 'योगेनान्ते तनुत्यजाम्।'

(३) योगका अर्थ है—योगदर्शन, पतञ्जलिका योग-दर्शन नामक ग्रन्थ, जिसका उद्देश्य है जीवात्मा-परमात्माका सम्पूर्ण मिलन कराकर कैवल्य-प्राप्तिमें सहायक होना।

(४) पातञ्जलमतानुसार चित्तवृत्तिका निरोध करके स्वरूपप्रतिष्ठ होना योग है। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।'

(५) सांख्यमतानुसार पुरुष-प्रकृतिका पृथक्त्व स्थापितकर, दोनोंका वियोग करके पुरुषका स्वरूपमें स्थित होना योग है, 'पुप्रकृत्योर्वियोगेऽपि योग इत्यभिधीयते।'

(६) सुख-दुःख, पाप-पुण्य, शत्रु-मित्र, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंसे अतीत होकर समत्व प्राप्त करना भी योग नामसे अभिहित होता है। जैसे गीतामें कहा है—'समत्व योग उच्यते।'

भक्त प्रह्लादने—

सर्वत्र दैत्याः समतामुपेत समत्वमाराधनमच्युतस्य।

—इस 'आराधना' शब्दके द्वारा भी योगकी वास्तविक अवस्थाको सूचित किया है।

(७) कर्म बन्धन न कर सकें, इस प्रकारसे कर्मके प्रति उदासीन भावको धारणकर मुक्तावस्थाको प्राप्त करनेके उपायको भी योग कहते हैं। जैसे गीतामें कहा है—'योगः कर्मसु कौशलम्।'

(८) दो विभिन्न पदार्थोंका अपने-अपने स्वरूपको खोकर एक अद्भुत पदार्थमें परिणत होनेका नाम भी योग (Chemical combination) है। जैसे हाइड्रोजन (अम्लजान) और आक्सिजन (यवक्षारजान) मिलकर जलके रूपमें परिणत हो जाते हैं।

इसी प्रकार अपने-अपने पार्थक्यको बनाये रखकर दो द्रव्योंका मिलन भी योग है। जैसे काठका काठके साथ, लोहेका लोहेके साथ मिलना भी योग है।

उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम्।
(शकुन्तला ७। १२)

तमङ्कमारोप्य शरीरयोगजैः
सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि।
(रघुवंश ३। २६)

कथायोगेन बुध्यते। (हितोपदेश)

(९) योगफल— Consequence, result
रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं सञ्चिनोति।
(शकुन्तला २। १४)

(१०) वैयाकरणिक योग—शब्दके बाद धातु-प्रत्ययगत अर्थ, यौगिक (रूढ़ नहीं) अर्थ—Etymological meaning प्रकट करना।

(११) गणितशास्त्रोक्त योग—जोड़, Addition

(१२) कर्मका कौशलरूप योग—इस शब्दके विकृत भावसे मारण, उच्चाटन, वशीकरण, जादू, इन्द्रजाल आदि विद्याओंको भी 'योग-विद्या' नाम दे दिया गया है। अलौकिक ढगसे रोगनिवारण (Remedy, cure) आदि, यहाँतक कि बुरी नीयत, विश्वासघात आदि उद्देश्यपूर्तिके घृणित उपाय भी आजकल 'योग' शब्दके अन्तर्गत आ गये हैं।

योगके अलौकिक प्रभाव—अलौकिक आविष्कार

(१) योगियोने योगबलसे मन स्थिर करके, देहके भीतर कहाँपर क्या है, यह सब जानकर, मानसिक अवस्थाओंका पूर्णरूपसे विचार कर यन्त्र, तन्त्र और मन्त्रोके रहस्यका आविष्कार किया है। उनके मतानुसार हर एक चक्रमें, हर एक स्नायविक केन्द्रमें एक-एक प्रकारकी अलौकिक शक्ति निहित है। उन निद्रिता शक्तियोको प्राणवायु और ध्यानकी सहायतासे जागृत करके साधक दूरदर्शन, दूरश्रवण, परचित्तविज्ञान, परकायप्रवेश, आकाशारोहण, योगबलसे देहत्याग आदि अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त कर सकता है।

(२) योगी सर्प, मेढक आदि जन्तुओंसे आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि योगाङ्गोको सीखकर अपने स्वास्थ्य और आयुकी वृद्धि करनेमें समर्थ हुए थे। प्राचीन ऋषियोंकी, ईसा आदि महात्माओंकी योगबलसे रोगियोंके रोग दूर करनेकी बात प्रसिद्ध ही है। भूकैलासमे एक बार मिट्टीके नीचेसे तीन योगियोके शरीर निकले थे, जिसे बहुत लोग जानते हैं। महाराज रणजीतसिंहके समयमे हरिदास साधुकी योगविभूतिको देखकर बहुत-से लोग विस्मित हुए थे।

(३) योगी पञ्चभूतोंके ऊपर प्रभुत्व प्राप्तकर कैसे-कैसे अलौकिक कार्य करनेमें समर्थ होते हैं, इसका विशेष विवरण पातञ्जलदर्शनके विभूतिपादमे पाया जाता है। आजकल भी देखा जाता है कि योगी पुरुष देहके विभिन्न अङ्गोमें चित्त स्थिर करके और प्राणवायुका सञ्चार करके कैसे-कैसे अलौकिक कार्य सम्पन्न करते हैं। मन्त्र, औषध और समाधिजनित सिद्धि देखकर वर्तमान समयके वैज्ञानिक भी समय-समयपर विस्मित हो जाते हैं। मेस्मर साहबद्वारा आविष्कृत मेस्मेरिज्म (वशीकरण-विद्या) और हिप्नॉटिज्म प्रभृति विद्याएँ वर्तमान युगके अनेक शिक्षित लोगोंका चित्त आकर्षित करती हैं। इन सब विद्याओंको हम प्राचीन योगियोंकी मारण, उच्चाटन और वशीकरण-विद्याके अन्तर्गत ही समझते हैं।

(४) योगबलसे साधक ईर्ष्या-द्वेष, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र आदि द्वन्द्वभाव दूरकर, जितेन्द्रिय, शान्तचित्त आत्मदर्शी होकर किस प्रकार पृथिवीपर शान्तिराज्य स्थापित करनेमे सहायक हुए थे, इसके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं शङ्कर, ईसामसीह, बुद्ध इत्यादि। ये लोग आत्मतत्त्वको जानकर, सुख-दुःखसे अतीत होकर, निर्वाण प्राप्तकर अमर हो गये है और मनुष्यजातिके लिये वास्तविक शान्ति, मुक्ति और आनन्दका पथ बहुत कुछ सुलभ बना गये हैं। ससारमे जितना कुछ सारतत्त्वका आविष्कार हुआ है, उसका अधिकांश योगबलसे ही हुआ है। हम यहाँपर 'योग' शब्दको केवल भारतकी साधन-प्रणाली-विशेषसे सीमाबद्ध करनेका व्यर्थ प्रयास नहीं करेंगे। समस्त वैज्ञानिक और दार्शनिक आविष्कार योगके एकाग्रतासाधनके ही फल हैं।

जो लोग योगतत्त्वके सम्बन्धमें विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, वे पातञ्जलदर्शन, योगियाज्ञवल्क्य, पवन-विजयस्वरोदय, शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता आदि ग्रन्थ पाठ करें अथवा सच्चे योगियोंका सग प्राप्त करनेकी चेष्टा करें।

योगके प्रकारभेद

विभिन्न साधकोंकी रुचि और अभिज्ञताके अनुसार योगकी साधन-प्रणालीको विभिन्न भागोंमें विभक्त किया गया है। गीताकार और वर्तमान महापुरुषोंने योगको साधारणतः कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग, इन तीन भागोंमें विभक्त किया है। योगके प्राचीन ग्रन्थोंमें इसे हठयोग, लययोग और राजयोग, ये तीन प्रकारके भेद देखते हैं। इनमें हठयोगी नेति, धौति, वस्ति, कपाल-भाति, आसन, मुद्रा, वाटक, प्राणायाम आदि शारीरिक क्रियाओंकी ओर विशेष दृष्टि रखकर देहको स्वस्थ, बलिष्ठ और कार्यशील बनानेकी विशेष चेष्टा करते हैं। लययोगी समस्त कामना, वासना, आसक्ति तथा सङ्कल्प-विकल्पके जालसे मुक्त होकर, चित्तको वृत्तिशून्य बनाकर शान्त अवस्था प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं। उनका विश्वास है कि नित्यसिद्ध स्वयंप्रकाश आत्मतत्त्व शुद्ध, शान्त चित्तमें स्वयं स्फुरित होता है। राजयोगी देहतत्त्व और मनस्तत्त्व तथा आत्मतत्त्वको सम्यक् रूपसे जानकर स्वरूपप्रतिष्ठ, 'स्वे महिम्न्यवस्थितः' होकर, इस देहराज्यके, जगत्-ब्रह्माण्डके मालिक होकर, अन्तरिन्द्रिय, बहिरिन्द्रिय और देहके ऊपर अधिकार प्राप्त करके, इन सब यन्त्रोंको अपने-अपने कार्यमें, भगवदिच्छा पूरी करनेमें नियुक्तकर मुक्त राजाके समान विराजमान होते हैं। कोई-कोई साधक इस हठयोग, लययोग और राजयोगको कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्ति-योगके ही अन्तर्गत समझते हैं। आसन, मुद्रा, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, समाधि इत्यादि अष्टाङ्गयोग एवं मन्त्रयोग, जपयोग आदि यावत योगप्रणाली इस त्रिविध योगके अन्तर्गत है। प्राचीन समयमें कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोगका अत्यन्त सुन्दर सामञ्जस्य करनेके कारण जनक, याज्ञवल्क्य प्रभृति राजर्षि और ऋषि-मुनि विशेष-रूपसे प्रसिद्ध हो गये हैं। शिवको योगसाधनके प्रवर्त्तक योगीश्वर और श्रीकृष्णको योगेश्वरेश्वरके रूपमें वर्णन किया गया है।

गीतादि ग्रन्थोंमें योगको कर्मकी कुशलता कहा गया है। जिस उपायसे कर्म (दृष्ट) सहज, सुन्दर, स्वाभाविक रूपमें सिद्ध हो सके, अथच बन्धनका कारण न हो उसीका नाम योग है ('योगः कर्मसु कौशलम्'—गीता)। प्राचीन कालमें ऋषिकुमार यज्ञके लिये कुश बटोरकर लानेको जाया करते थे। उनमें तीन श्रेणीके लोग होते थे। एक श्रेणीके बालक इस प्रकार सावधानीके साथ कुश उखाड़ते कि कुश उखड़ भी आता और उनका हाथ भी न कटता, दूसरी श्रेणीके बालक कुश उखाड़ते समय अपना हाथ काट लेते और तीसरी श्रेणीके बालक हाथ कटनेके भयसे अपने अन्य साथियोंसे कुश माँगकर अपना काम चला लेते। 'कुशं लाति इति कुशलः' जो कुश भी ले आते हैं और हाथ भी नहीं काटते, जो संसारके सब कार्य करते हैं, परन्तु मायामें आबद्ध नहीं होते वे ही कुशल हैं और उनके इस भावको ही कौशल या योग कहते हैं। इस कुश एकत्र करनेकी प्रणालीको संसारके कर्म-काण्डके प्रतीकके रूपमें लिया जा सकता है। जो लोग संसारमें अनासक्त, निर्लिप्त रहकर, फलाकाङ्क्षारहित हो संसारके सब कर्म सम्पादित कर सकते हैं, वे ही योगी हैं। जो लोग संसारमें कर्म करते हुए संसारकी चोटोंसे घायल हो जाते हैं, वे घोर संसारी हैं, और जो संसारको दुःख, कष्ट, बन्धनका कारण समझकर संसारसे बहुत दूर रहते हैं और दूसरोंके कर्मफलके ऊपर निर्भर करते हैं, वे साधारण भिक्षुक या संन्यासी श्रेणीके अन्तर्गत हैं। कहना नहीं होगा कि यहाँपर गीतोक्त संन्यासीकी बात न कहकर साधारण वेषधारी संन्यासियोंकी ओर ही लक्ष्य रक्खा गया है।

'योग' शब्दका दुरुपयोग

'कर्मकी निपुणता योग है', इस भावसे 'योग' शब्द कितने प्रकारसे देश और भाव-राज्यके पतनके साथ-साथ नीचे गिर गया है, और कितने विकृत अर्थमें अब इसका प्रयोग होने लगा है, यह भी यहाँपर विचारणीय है। वर्तमान समयमें ऐन्द्रजालिक कौशल (magic) आदि भी योगका अङ्ग समझा जाता है। मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदिकी ओर ही आजकलके योगियोंका विशेष ध्यान रहता है। किसी प्रकारकी कोई अस्वाभाविक क्रिया दिखा देनेवालोंको ही आजकल सब लोग योगी समझ लेते हैं, उनकी भक्ति करने लगते हैं और ठगाते हैं। ताबीज, कवच आदिके द्वारा जो लोगोंके कर्मफलका खण्डन करनेकी हिम्मत रखते हैं, जो वन्ध्याको पुत्र-प्राप्तिके लिये दवा देते हैं और रोगियोंका रोग दूर करनेकी बात करते हैं, वे भी आजकल योगी कहे जाते हैं और पूजित होते हैं। प्राचीन कालमें जिनके हाथ ऊँचे रहकर भगवत्-कार्य करनेमें ही लगे रहते वे ही ऊर्ध्वबाहु होते थे। आजकल जो लोग भगवदुद्देश्यकी अवहेलना करके,

प्राकृतिक नियमोंका उल्लंघन करके, दोनों हाथोंको ऊपर उठाकर उन्हें परवश कर रखते हैं वे ही ऊर्ध्ववाहु योगी माने जाते हैं। प्राचीन समयमें योगी ध्यान, धारणा, समाधिमें इतने तन्मय हो जाया करते कि शरीरकी ओर उनका ध्यान ही न जाता, उनके बालोंमें जटाएँ बँध जातीं, शरीरपर धूल-मिट्टी आकर जम जाती। आजकल उसकी जगह बड़के दूध इत्यादिसे तावड़तोड़ जटा बना ली जाती है और शरीरमें मिट्टी-राख आदि मलकर योगीका स्वाँग बना लिया जाता है और भोले लोग भी यह देखकर वशीभूत हो जाते हैं। बड़े-बड़े शहरोंमें घरके मालिक जब ऑफिसमें या बाजार चले जाते हैं, तब न मालूम कितने पाखण्डी धूर्त योगीकी पोशाक, गेरुआ वस्त्र, विभूति आदि धारणकर गृहस्थोंके घरोंमें जाकर भोली स्त्रियोंपर अपना प्रभाव जमाकर छल, बल, कौशलसे कितने प्रकारसे धन ठगते हैं, इस बातका खयाल आते ही मर्माहत होना पड़ता है। आजकल ऐसे धूर्त योगियोंकी संख्या और प्रतिष्ठा इतनी बढ़ गयी है कि इनके कारण वास्तविक योगियोंने लोकालय और प्रसिद्ध तीर्थ आदिसे बहुत दूर जाकर रहना आरम्भ कर दिया है और गृहस्थ नकली योगियों-द्वारा ठगे जा रहे हैं। आजकल अणिमा-लघिमादि अष्ट सिद्धियोंका प्रभाव कहीं नहीं दिखायी देता। सिद्धि आजकल दूकानोंमें भाँग और गाँजा आदिमें सीमाबद्ध होकर नशेबाजीको बढ़ा रही है। भीतरसे भगवत्प्राप्ति-जनित ब्रह्मानन्दके नशेमें विभोर न होकर आजके बने हुए योगी मदिरा, गाँजा, भाँग आदि नशैली चीजोंको साधनका अङ्ग कहकर उनका प्रचार करते हैं। यहाँतक कि देवादिदेव महादेवके हाथोंमें भी उन्होंने सङ्कोच छोड़कर अणिमादि अष्ट सिद्धियोंके बदले भंगका प्याला और गाँजे-की चिलम दे दी है।

यथार्थ योगके प्रचारकी आवश्यकता

देश और भावके पतनके साथ-ही-साथ सभी बातोंमें स्वाभाविक ही कुछ-न-कुछ विकृति आ गयी है। वर्तमान समयमें आवश्यकता है उसके उचित संशोधनकी। योगादि साधन-प्रणालीके अन्दर जब बहुत-से सुन्दर-सुन्दर तत्त्व निहित हैं, उसकी सहायतासे जब स्वास्थ्य-प्राप्ति, एकाग्रता-शान्ति-आनन्द-प्राप्ति, उन्नति-प्राप्ति, भगवद्दर्शन, भगवत्-प्राप्ति, जीवका कल्याण-साधन सहज, सुन्दर और स्वाभाविकरूपमें सुसाधित होनेकी सम्भावना है, तब इस योगसाधनप्रणालीका संशोधन करने, इसकी उन्नतिका उपाय करने, इसकी शिक्षा देने तथा सर्वसाधारणके सामने योगके उदार मत, भाव और कालका एक उच्च आदर्श रखनेकी विशेष आवश्यकता है। यह सर्वसाधारण-को समझा देना होगा कि वास्तविक योग क्या है, वह कितने रूपोंमें विभक्त है, उसकी साधन-प्रणाली क्या है, किस तरह संसारके जीवोंके हितसाधनमें, उन्हें आनन्द प्रदान करनेमें इसका प्रयोग किया जा सकता है। कर्मयोगी किस प्रकार कर्मके रहस्यको समझकर, अनासक्त, निष्काम, फलाकांक्षासे रहित होकर केवल भगवत्-प्रीतिके लिये जीवोंका कल्याण करनेमें भगवद्बुद्धि रखकर कर्म किया करते हैं, यह सुन्दररूपमें समझा देना होगा। ज्ञानयोगी इन्द्रियोंको संयत करके, चित्तको शुद्ध और शान्त करके, स्वरूपप्रतिष्ठ, आत्मभावमें स्थित होकर किस प्रकार समाधियोगके द्वारा परमात्मामें तन्मय हुए रहते हैं, यह भी समझ लेना होगा।

सच्चे योगियोंकी स्थिति

योगीगण देह, मन, प्राणको शुद्ध और शान्त करके मूलाधारसे कुलकुण्डलिनीको जागृत करके, सब चक्रोंमें, सब केन्द्रोंमें छिपी हुई शक्तिको प्रबुद्ध करके, समस्त शक्ति, ज्ञान, ऐश्वर्यसे विभूषित होकर, सहस्रारमें स्थित सदाशिवसे, परमात्मासे युक्त होकर, तन्मयत्व प्राप्त करके, ज्योतिर्मय देहसे भगवान्‌के साथ किस प्रकार आनन्दसमाधिमें विभोर रहते हैं, जगत्‌का कल्याण करनेमें भगवान्‌की इच्छा पूरी करनेमें नियुक्त रहते हैं, यह तत्त्व अच्छी तरह समझ लेना होगा। भक्तियोगी प्रेमके साधक होते हैं, उनके भगवान् सब भूतोंमें विराजमान रहते हैं। समस्त जगत्, समस्त जीव-देह उनके प्रियतम श्रीभगवान्‌की मूर्ति या मन्दिर हैं। श्रीभगवान् प्रकृतिके सब तत्त्वोंमें, सब देहोंमें विराजित रहकर जीवके कर्म, ज्ञान और भक्तिके अन्दरसे अपना सच्चिदानन्दभाव प्रकट कर रहे हैं। वास्तविक साधक आँख, कान, नाक आदि बाहरी इन्द्रियों तथा मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त आदि भीतरी इन्द्रियोंके द्वारा अपने प्राणाराम श्रीभगवानके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य आदिका अनुभव कर हृषीकेश-सेवारूप उत्तमा भक्तिके साधनकी सहायतासे भगवत्-मिलनके आनन्दमें विभोर रहते हैं।

साधनराज्यके योगसाधनका सार-तत्त्व यही है कि हमारे अन्दर भगवान्‌की अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त प्रेम और आनन्द निहित है। हमारी कामना, वासना, आसक्ति, हमारी अज्ञानता, हमारे कुसस्कार, हमारा स्वार्थ, आत्मसुखकी स्पृहा, अहकार और प्रतिष्ठाका मोह आदि उस भगवत्-शक्तिके विकासमें बाधा पहुँचाते हैं। अतएव हम जितना ही इन सब बाधाओंसे मुक्त, शुद्ध, शान्त, पवित्र होंगे उतने ही भगवत्-भाव हमारे अन्दर प्रकाशित होंगे, हम साधनराज्यमें सिद्धि प्राप्त करेंगे। भगवान्‌के और हमारे बीचका यह काल्पनिक व्यवधान जितना ही दूर होगा उतना ही हम भगवान्‌के साथ युक्त होने और मिलनेकी योग्यता प्राप्त करेंगे। जहाँ इन सब उपाधियोंके प्रति आसक्ति, स्पृहा दृष्टिगोचर हो वहीं यह समझ लेना चाहिये कि साधक गलत रास्तेपर चल रहा है, उसका पतन और उसके द्वारा देशका अमङ्गल अवश्यम्भावी है। योगी थे भारतके प्राचीन ऋषि-मुनि, जो सयत, शुद्ध, शान्त और पवित्र होकर, भगवान्‌में तन्मयता प्राप्त करके जीवोंका कल्याण करनेमें तल्लीन रहा करते थे। वे लोग ममतारहित, अहकाररहित थे, वे लोग प्रतिष्ठाको शूकर-की विष्ठाकी तरह त्याग देते थे। वे जगत्‌को ब्रह्ममय देखते थे, सर्वत्र ब्रह्मदर्शन, ब्रह्मानुभूति, ब्रह्मसेवा, जीवसेवा उनके जीवनकी प्रधान साधना थी। योगिनियाँ थीं वृन्दावनकी गोपियाँ—जिनकी आँखोंकी साधना थी सर्वत्र भगवद्दर्शन, कानोंकी साधना थी सब शब्दोंके भीतर श्रीभगवान्‌की वशीध्वनि सुनना, उनका मन, प्राण सर्वदा भगवान्‌की सेवा और ध्यानमें डूबे रहते। इन्द्रियोंद्वारा इन्द्रिया-धीशकी अनुभूति और सेवा क्या चीज है, कर्म किस तरह भगवदाराधनामें पर्यवसित होता है, बातचीत किस प्रकार भगवद्गुण गानेमें, चलना किस प्रकार भगवत्प्रेममें नाचने और भगवान्‌के मन्दिरकी प्रदक्षिणामें, चिन्तन किस प्रकार ध्यानमें और समस्त जीवन किस प्रकार ब्रह्मानन्दकी अनुभूतिमें पर्यवसित होता है, गोपी-प्रेमके भीतर इसका आस्वाद करने-का सुयोग हम पाते हैं। उनकी देह, मन, प्राण, आत्मा सर्वदा श्रीभगवान्‌में, भगवान्‌के कार्य करनेमें युक्त रहा करते, अतएव हम प्रधान योगियोंके रूपमें उनकी भक्ति करनेके लिये बाध्य है। श्रीकृष्णको देखना, श्रीकृष्णका ध्यान करना और श्रीकृष्णकी सेवा करना ही उनकी प्रधान साधना थी। वे इस साधनामें तन्मयता प्राप्त करके सम्पूर्ण-रूपमें अपनेको भूलकर, 'इतर-राग-विस्मारक' कृष्ण-प्रेमार्णवमें निमग्न होकर, श्रीकृष्णमें तन्मयता प्राप्त कर श्रीकृष्णके साथ युक्त हो जातीं, मिल जातीं।

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनमेतदेकपरत्वम्।

—इस भावकी साधना ही थी गोपियोंकी परम योगसाधना। वे थीं तन्मनस्का, तदात्मिका। वे अपनी देहके प्रत्येक तत्त्वमें अपने प्राणाराम श्रीकृष्णचन्द्रके साथ युक्त रहकर श्रीकृष्णमय हो जातीं। वे जगत्‌को कृष्णमय देखतीं।

'जित देखौं तित स्याममयी है।'

यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनम्।

—रूपी योगकी सिद्धावस्था वे प्राप्त कर चुकी थीं। इसी योगके फलस्वरूप अष्ट सिद्धियाँ उनके चरणोंमें आकर लोटतीं तो भी वे सिद्धिको, भुक्ति-मुक्तिकी वासनाको बन्धनका कारण समझकर उनसे घृणा करतीं।

सांख्ययोगी

गीताका सांख्ययोगी, मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें वर्तते हैं, ऐसे समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल सर्वव्यापी सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अनन्यभावसे निरन्तर स्थित रहता है (देखिये गीता ३। २८, ५। ८-९-१३, ६। ३१ १३। २९-३०; १४। १९-२०, १८। १७-४९ से ५५ आदि)।

अष्टाङ्गयोग

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

अनेको व्यक्ति ध्यान करने और समाधि लगानेकी चेष्टा करते है, परन्तु उन्हे सफलता नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि समाधिकी सिद्धिके लिये यम नियमोंके पालनकी विशेष आवश्यकता है। यम-नियमोंके पालन किये विना ध्यान और समाधिका सिद्ध होना अत्यन्त कठिन है। झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचारकी वृत्तियोंके नष्ट हुए विना चित्तका एकाग्र होना कठिन है और चित्त एकाग्र हुए विना ध्यान और समाधि नहीं हो सकती। यो तो समाधिकी इच्छावाले पुरुषोको योगके आठो ही अङ्गोका साधन करना चाहिये, किन्तु यम और नियमोका पालन तो अवश्यमेव करना चाहिये। जैसे नींवके विना मकान नहीं ठहर सकता, ऐसे ही यम-नियमोंके पालन किये विना ध्यान और समाधिका सिद्ध होना असम्भव-सा है। यम-नियमोमें भी जो पुरुष यमोका पालन न करके केवल नियमोंका पालन करना चाहता है, उससे नियमोंका पालन भी अच्छी प्रकार नहीं हो सकता।

यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥

(मनुस्मृति ४। २०४)

'बुद्धिमान् पुरुष नित्य निरन्तर यमोका पालन करता हुआ ही नियमोंका पालन करे, केवल नियमोंका नहीं, जो यमोंका पालन न करके, केवल नियमोको करता है वह साधनपथसे गिर जाता है।' इनका साधन किये विना ध्यान और समाधिकी सिद्धि होनी कठिन है। अतः योगकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुषको यम-नियमोंका साधन अवश्यमेव करना चाहिये। इनके पालनसे चोरी, जारी, झूठ, कपट आदि दुराचारोंका और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणोंका नाश होकर, अन्तःकरणकी पवित्रता होती है और उसमें उत्तम गुणोंका समावेश होकर इष्टदेवताके दर्शन एव आत्माका साक्षात्कार भी, साधक जो चाहता है वही, हो सकता है। परन्तु यम-नियमोंके पालन किये विना, ध्यान और समाधिकी बात तो दूर रही, अच्छी प्रकारसे प्राणायामका होना भी कठिन है।

बहुत-से लोग प्राणायामके लिये यत्न करते है, किन्तु सफलता नहीं पाते। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुण एवं झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचार, एव प्राणायामविषयक क्रियाके ज्ञानका अभाव ही इस सफलतामें प्रधान बाधक है। यम-नियमोका पालन करनेसे उपर्युक्त दुराचार और दुर्गुणोंका नाश हो जाता है। अतएव प्राणायामका साधन करनेवालेको भी प्रथम यम-नियमोका पालन करना चाहिये। उपर्युक्त दुर्गुण और दुराचार सभी साधनोंमे बाधक है। इसलिये ध्यान और समाधिकी इच्छा करनेवाले साधकोको, दोषोका नाश करनेके लिये प्रथम यम-नियमोका पालन करके ही, योगके अन्य अङ्गोंका अनुष्ठान करना चाहिये। जो पुरुष योगके आठो अङ्गोंका अच्छी प्रकारसे साधन कर लेता है, उसका अन्तःकरण पवित्र होनेपर ज्ञानकी अपार दीप्ति हो जाती है, जिससे उसको इच्छानुसार सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती है और सिद्धियाँ न चाहनेवाला पुरुष तो क्लेश और कर्मोंसे छूटकर आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर सकता है।

योगके आठ अङ्ग ये हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। (योगदर्शन २। २९)

'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये योगके आठ अङ्ग है।'

इन आठ अङ्गोंकी दो भूमिकाएँ है—१-बहिरङ्ग, २-अन्तरङ्ग। ऊपर बतलाये हुए आठ अङ्गोमेंसे पहले पाँचको बहिरङ्ग कहते है, क्योंकि उनका विशेषतया बाहरकी क्रियाओंसे ही सम्बन्ध है। शेष तीन अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरङ्ग है। इनका सम्बन्ध केवल अन्तःकरणसे होनेके कारण इनको अन्तरङ्ग कहते है। महर्षि पतञ्जलिने एक साथ इन तीनोको 'सयम' भी कहा है—

त्रयमेकत्र संयमः। (३। ४)

अब इन आठो अङ्गोका सक्षिप्त विवेचन किया जाता है।

१—यम

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

(योगदर्शन २। ३०)

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, इन पाँचोका नाम यम है।'

(क) किसी भूतप्राणीको या अपनेको* भी मन, वाणी, शरीरद्वारा, कभी, किसी प्रकार, किञ्चित्मात्र भी, कष्ट न पहुँचानेका नाम अहिंसा है।

(ख) अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जैसा निश्चय किया हो, हितकी भावनासे, कपटरहित प्रिय शब्दोंमे वैसा-का-वैसा ही प्रकट करनेका नाम सत्य है।

(ग) मन, वाणी, शरीरद्वारा किसी प्रकारके भी किसीके स्वत्व (हक) को न चुराना, न लेना और न छीनना अस्तेय है।

(घ) मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले काम-विकारके सर्वथा अभावका नाम ब्रह्मचर्य है।

(ङ) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि किसी भी भोगसामग्रीका संग्रह न करना अपरिग्रह है।

इन पाँचों यमोंका सब जाति, सब देश और सब कालमें पालन होनेसे एवं किसी भी निमित्तसे इनके विपरीत हिंसादि दोषोंके न घटनेसे इनकी संज्ञा 'महाव्रत' हो जाती है।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। (योगदर्शन २ । ३१)

'जाति, देश, काल और निमित्तसे अनवच्छिन्न यमका सार्वभौम पालन महाव्रत होता है।' सार्वभौमके निम्नलिखित प्रकार हैं—

मनुष्य और मनुष्येतर स्थावर-जङ्गम प्राणी, हिन्दू-मुसल्मान, सनातनी-असनातनी आदि भेदोंसे किसीके साथ भी यमोंके पालनमें भेद न करना 'जातिगत सार्वभौम' महाव्रत है।

भिन्न-भिन्न खण्डों, देशों, प्रान्तों, ग्रामों, स्थानों एवं तीर्थ-अतीर्थ आदिके भेदसे यमके पालनमें किसी प्रकारका भेद न रखनेसे वह 'देशगत सार्वभौम' महाव्रत होता है।

वर्ष, मास, पक्ष, सप्ताह, दिवस, मुहूर्त्त, नक्षत्र एवं पर्व-अपर्व आदिके भेदोंसे यमके पालनमें किसी प्रकार भी भेद न रखना 'कालगत सार्वभौम' महाव्रत कहलाता है।

यज्ञ, देव-पूजन, श्राद्ध, दान, विवाह, न्यायालय, क्रय-विक्रय, आजीविका आदिके भेदोंसे यमके पालनमें किसी प्रकारका भेद न रखना 'समय (निमित्त) गत सार्वभौम' महाव्रत है। तात्पर्य यह है कि किसी देश अथवा कालमें, किसी जीवके साथ, किसी भी निमित्तसे, हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदिका आचरण न करना तथा परिग्रह आदि न रखना 'सार्वभौम महाव्रत' है।

* स्वधर्मरक्षा, परोपकार, ईश्वरभक्ति आदि सत्कार्योंमें कष्ट सहन करना तो योगकी सिद्धिमें सहायक है, यहाँ केवल अन्याय, अनुचित कष्ट पहुँचानेका निषेध है।

२—नियम

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।
(योगदर्शन २ । ३२)

'पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान, ये पाँच नियम हैं।'

(क) पवित्रता दो प्रकारकी होती है—१ बाहरी और २ भीतरी। जल-मिट्टीसे शरीरकी, स्वार्थ-त्यागसे व्यवहार और आचरणकी तथा न्यायोपार्जित द्रव्यसे प्राप्त सात्त्विक पदार्थोंके पवित्रतापूर्वक सेवनसे आहारकी, यह बाहरी पवित्रता है। अहंता, ममता, राग द्वेष, ईर्ष्या, भय और काम-क्रोधादि भीतरी दुर्गुणोंके त्यागसे भीतरी पवित्रता होती है।

(ख) सुख-दुःख, लाभ-हानि, यश-अपयश, सिद्धि-असिद्धि, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदिके प्राप्त होनेपर सदा-सर्वदा सन्तुष्ट—प्रसन्नचित्त रहनेका नाम सन्तोष है।

(ग) मन और इन्द्रियोंके संयमरूप धर्म-पालन करनेके लिये कष्ट सहनेका और तितिक्षा एवं व्रतादिका नाम तप है।

(घ) कल्याणप्रद शास्त्रोंका अध्ययन, और इष्टदेवके नामका जप तथा स्तोत्रादि पठन-पाठन एवं गुणानुवाद करनेका नाम स्वाध्याय है।

(ङ) ईश्वरकी भक्ति अर्थात् मन-वाणी और शरीर-द्वारा ईश्वरके लिये, ईश्वरके अनुकूल ही चेष्टा करनेका नाम ईश्वरप्रणिधान है।

उपर्युक्त यम और नियमोंके पालनमें बाधक हिंसा आदि विपरीत वृत्तियोंके नाशके लिये महर्षि पतञ्जलि उपाय बतलाते हैं

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।
(योगदर्शन २ । ३३)

'हिंसादि वितर्कोंसे बाधा होनेपर प्रतिपक्षका चिन्तन करना चाहिये।'

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोध-मोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्। (योगदर्शन २ । ३४)

कृत, कारित और अनुमोदितभेदसे, लोभ, क्रोध और मोहके हेतुसे, मृदु, मध्य और अधिमात्रस्वरूपसे, ये हिंसादि वितर्क अनन्त दुःख और अज्ञानरूपी फलके देनेवाले हैं—ऐसी भावनाका नाम 'प्रतिपक्षभावना' है।

अर्थात् हिंसादि दोष, अनन्त दुःख और अनन्त अज्ञानरूप फलके देनेवाले हैं, इस प्रकारकी बारबार भावना करनेका नाम 'प्रतिपक्षभावना' है।

हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, भोगपदार्थोंका सग्रह, अपवित्रता और असन्तोषकी वृत्ति, एव तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधानके विरोधकी वृत्ति, इनका नाम वितर्क है।

उपयुक्त हिंसादिको मन, वाणी, शरीरद्वारा स्वय करनेका नाम 'कृत', दूसरोंके द्वारा करवानेका नाम 'कारित' और अन्योंद्वारा किये जानेवाले हिंसादि दोषोंके समर्थन, अनुमोदन या उनमें सम्मतिका नाम 'अनुमोदित' है। उपर्युक्त तीनों प्रकारके हिंसादि समस्त दोषोंके होनेमें लोभ, क्रोध और मोह, ये तीन हेतु हैं। तीनों प्रकारके दोष, तीन हेतुओंसे बननेवाले होनेके कारण, नौ तरहके हो जाते हैं। आसक्ति या कामनासे उत्पन्न होनेवाले हिंसा, असत्यादि दोषोंमें लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, वैरादिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंमें क्रोध और मूढता, विपरीत-बुद्धि आदिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंमें मोह हेतु होता है। ये नौ प्रकारके दोष, मृदु, मध्य और अधिमात्रके भेदसे, सत्ताईस प्रकारके हो जाते हैं। अत्यन्त अल्पका नाम मृदु, बीचकी मात्राका नाम मध्य और अधिक मात्रामें यानी पूर्णरूपसे होनेवाले हिंसादि दोषका स्वरूप अधिमात्र कहा जाता है। लेखका विस्तार बढ़ जानेके सङ्कोचसे इनका स्वरूप बहुत ही संक्षेपमें कहा गया है।

यम-नियमोंके पालनका महान् फल

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।
(योगदर्शन २। ३५)

'अहिंसारूपी महाव्रतके पूर्ण पालन होनेपर उस योगीके समीप दूसरे (स्वाभाविक वैर रखनेवाले) प्राणी भी वैरका अर्थात् हिंसावृत्तिका त्याग कर देते हैं।'

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। (योगदर्शन २। ३६)

सत्यके अच्छी प्रकार पालनसे उस सत्यवादीकी वाणी सफल हो जाती है, अर्थात् वह जो कुछ कहता है वही सत्य हो जाता है।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। (योगदर्शन २। ३७)

चोरीकी वृत्तिका सर्वथा त्याग हो जानेपर उसे सब रत्नोंकी उपस्थिति हो जाती है, अर्थात् समस्त रत्न उसके दृष्टिगोचर हो जाते हैं और समस्त जनता उसका पूर्णरूपसे विश्वास करने लग जाती है।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। (योगदर्शन २। ३८)

ब्रह्मचर्यका अच्छी प्रकारसे पालन होनेपर शरीर, मन और इन्द्रियोंमें अत्यन्त सामर्थ्यकी प्राप्ति हो जाती है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः। (योगदर्शन २। ३९)

अपरिग्रहके स्थिर होनेपर यानी विषय-भोग-पदार्थोंके सग्रहका भलीभाँति त्याग होनेपर, वैराग्य और उपरति होकर मनका सयम होता है और मनःसयमसे भूत, भविष्यत्, वर्तमान जन्मोंका और उनके कारणोंका ज्ञान हो जाता है।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः। (योगदर्शन २। ४०)

पूर्णतया बाहरकी पवित्रतासे अपने अङ्गोंमें घृणा और अन्य मनुष्योंके ससर्गका अभाव हो जाता है। क्योंकि दूसरे शरीरोंमें अरुचि हो जानेसे उनका ससर्ग नहीं किया जाता।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।
(योगदर्शन २। ४१)

अन्तःकरणकी पवित्रतासे मनकी प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियोंपर विजय, और आत्माके साक्षात् दर्शन करनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है।

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः। (योगदर्शन २। ४२)

सन्तोषसे सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। (योगदर्शन २। ४३)

तपसे मलदोष अर्थात् पापोंका नाश हो जानेपर, अणिमादि अष्ट कायाकी सिद्धियाँ और दूरसे देखना-सुनना आदि इन्द्रियोंकी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। (यो० २। ४४)

अपने इष्टदेवके नामका जप एव स्वरूप, गुण, प्रभाव और महिमा आदिके पठन, पाठन, श्रवण, मननरूप स्वाध्यायसे इष्टदेवका साक्षात् दर्शन हो जाता है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। (यो० २। ४५)

ईश्वरप्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि होती है।

३—आसन और आसनसिद्धिका फल

आसन अनेकों प्रकारके हैं। उनमेंसे आत्मसयम चाहनेवाले पुरुषके लिये सिद्धासन, पद्मासन और स्वस्तिकासन—ये तीन बहुत उपयोगी माने गये हैं। इनमेंसे कोई-सा भी आसन हो, परन्तु मेरुदण्ड, मस्तक और ग्रीवाको सीधा अवश्य रखना चाहिये और दृष्टि नासिकाग्रपर अथवा भृकुटीमें रखनी चाहिये। आलस्य

न सतावे तो आँखें मूँदकर भी बैठ सकते है । जिस आसनसे जो पुरुष सुखपूर्वक दीर्घकालतक बैठ सके, वही उसके लिये उत्तम आसन है ।

स्थिरसुखमासनम् । (यो० २ । ४६)

सुखपूर्वक स्थिरतासे बहुत कालतक बैठनेका नाम आसन है ।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् । (यो० २ । ४७)

शरीरकी स्वाभाविक चेष्टाके शिथिल करनेपर अर्थात् उनसे उपराम होनेपर अथवा अनन्त परमात्मामें मनके तन्मय होनेपर आसनकी सिद्धि होती है । कम-से-कम एक पहर यानी तीन घटेतक एक आसनसे सुखपूर्वक स्थिर और अचल भावसे बैठनेको आसनसिद्धि कहते हैं ।

ततो द्वन्द्वानभिघातः । (यो० २ । ४८)

उस आसनोंकी सिद्धिसे (शरीर पूर्णरूपसे संयत हो जानेके कारण) शीतोष्णादि द्वन्द्व बाधा नहीं करते ।

४–प्राणायाम

अब संक्षेपमें प्राणायामकी क्रियाका उल्लेख किया जाता है । असलमें प्राणायामका विषय अनुभवी योगियोंके पास रहकर ही उनसे सीखना चाहिये, नहीं तो इससे शारीरिक हानि भी हो सकती है ।

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।
(यो० २ । ४९)

आसनके सिद्ध हो जानेपर श्वास और प्रश्वासकी गतिके अवरोध हो जानेका नाम प्राणायाम है । बाहरी वायुका भीतर प्रवेश करना श्वास है और भीतरकी वायुका बाहर निकलना प्रश्वास है, इन दोनोंके रुकनेका नाम प्राणायाम है ।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः । (यो० २ । ५०)

देश, काल और संख्या (मात्रा) के सम्बन्धसे बाह्य, आभ्यन्तर और स्तम्भवृत्तिवाले, ये तीनों प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं ।

भीतरके श्वासको बाहर निकालकर बाहर ही रोक रखना 'बाह्य कुम्भक' कहलाता है । इसकी विधि यह है—आठ प्रणव (ॐ) से रेचक करके, सोलहसे बाह्य कुम्भक करना और फिर चारसे पूरक करना—इस प्रकारसे रेचक-पूरकके सहित बाहर कुम्भक करनेका नाम बाह्यवृत्ति-प्राणायाम है ।

बाहरके श्वासको भीतर खींचकर भीतर रोकनेको 'आभ्यन्तर कुम्भक' कहते हैं । इसकी विधि यह है कि चार प्रणवसे पूरक करके सोलहसे आभ्यन्तर कुम्भक करे, फिर आठसे रेचक करे । इस प्रकार पूरक-रेचकके सहित भीतर कुम्भक करनेका नाम आभ्यन्तरवृत्तिप्राणायाम है ।

बाहर या भीतर, जहाँ कहीं भी सुखपूर्वक प्राणोंके रोकनेका नाम स्तम्भवृत्तिप्राणायाम है । अथवा चार प्रणवसे पूरक करके आठसे रेचक करे; इस प्रकार पूरक-रेचक करते-करते सुखपूर्वक जहाँ कहीं प्राणोंको रोकनेका नाम स्तम्भवृत्तिप्राणायाम है ।

इनके और भी बहुतसे भेद हैं, जितनी संख्या और जितना काल पूरकमें लगाया जाय, उतनी संख्या और काल रेचक तथा कुम्भकमें भी लगा सकते हैं ।

प्राणवायुका नाभि, हृदय, कण्ठ या नासिकाके भीतरके भागतकका नाम 'आभ्यन्तर' देश है । और नासिकापुटसे वायुका बाहर सोलह अंगुलतक 'बाहरी देश' है । जो साधक पूरक प्राणायाम करते समय नाभितक श्वासको खींचता है, वह सोलह अंगुलतक बाहर फेंके, जो हृदयतक अन्दर खींचता है, वह बारह अंगुलतक बाहर फेंके, जो कण्ठतक श्वासको खींचता है, वह आठ अंगुल बाहर निकाले और जो नासिकाके अन्दर ऊपरी अन्तिम भागतक ही श्वास खींचता है, वह चार अंगुल बाहरतक श्वास फेंके । इसमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तरवालेको 'सूक्ष्म' और पूर्व-पूर्ववालेको 'दीर्घ' समझना चाहिये ।

प्राणायाममें संख्या और कालका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण, इनके नियममें व्यतिक्रम नहीं होना चाहिये ।

जैसे चार प्रणवसे पूरक करते समय एक सेकंड समय लगा तो सोलह प्रणवसे कुम्भक करते समय चार सेकंड और आठ प्रणवसे रेचक करते समय दो सेकंड समय लगना चाहिये । मन्त्रकी गणनाका नाम 'संख्या या मात्रा' है, उसमें लगनेवाले समयका नाम 'काल' है । यदि सुखपूर्वक हो सके तो साधक ऊपर बताये काल और मात्राको दूनी, तिगुनी, चौगुनी, या जितनी चाहे यथासाध्य बढ़ा सकता है । काल और मात्राकी अधिकता एवं न्यूनतासे भी प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होता है ।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः । (योगदर्शन २ । ५१)

बाह्य और भीतरके विषयोंके त्यागसे होनेवाला जो 'केवल' कुम्भक होता है, उसका नाम चतुर्थ प्राणायाम है ।

शब्द-स्पर्शादि जो इन्द्रियोंके बाहरी विषय है और सकल्प-विकल्पादि जो अन्तःकरणके विषय है, उनके त्यागसे—उनकी उपेक्षा करनेपर अर्थात् विषयोंका चिन्तन न करनेपर प्राणोंकी गतिका जो स्वतः ही अवरोध होता है, उसका नाम 'चतुर्थ प्राणायाम' है। पूर्वसूत्रमें बतलाये हुए प्राणायामोंमें, प्राणोंके निरोधसे मनका सयम है और यहाँ मन और इन्द्रियोंके सयमसे प्राणोका सयम है। यहाँ प्राणोके रुकनेका कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं है—जहाँ कहीं भी रुक सकते हैं, तथा काल और सख्याका भी विधान नहीं है।

प्राणायामका फल

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। (योगदर्शन २। ५२)

उस प्राणायामके सिद्ध होनेपर विवेकज्ञानको आवृत करनेवाले पाप और अज्ञानका क्षय हो जाता है।

धारणासु च योग्यता मनसः। (योगदर्शन २। ५३)

तथा प्राणायामकी सिद्धिसे मन स्थिर होकर, उसकी धारणाओंके योग्य सामर्थ्य हो जाती है।

५—प्रत्याहार और उसका फल

स्वविषयासप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। (योगदर्शन २।५४)

अपने-अपने विषयोंके सङ्गसे रहित होनेपर, इन्द्रियोंका चित्तके-से रूपमें अवस्थित हो जाना 'प्रत्याहार' है।

प्रत्याहारके सिद्ध होनेपर प्रत्याहारके समय साधकको बाह्यज्ञान नहीं रहता। व्यवहारके समय बाह्यज्ञान होता है। क्योंकि व्यवहारके समय साधक शरीरयात्राके हेतुसे प्रत्याहारको काममें नहीं लाता।

अन्य किसी साधनसे यदि मनका निरोध हो जाता है, तो इन्द्रियोंका निरोधरूप प्रत्याहार अपने आप ही उसके अन्तर्गत आ जाता है।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्। (योगदर्शन २। ५५)

उस प्रत्याहारसे इन्द्रियाँ अत्यन्त वशमें हो जाती है, अर्थात् इन्द्रियोंपर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है।

६—धारणा

योगके आठ अङ्गोंमे पाँच बहिरंग साधनोका वर्णन हुआ। अब शेष तीन अन्तरङ्ग साधनोंका वर्णन किया जाता है। इनमे प्रथम धारणाका लक्षण बतलाया जाता है, क्योंकि धारणासे ध्यान और समाधि होती है। यह योगका छठा अग है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। (योगदर्शन ३। १)

चित्तको किसी एक देशविशेषमे स्थिर करनेका नाम धारणा है। अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म या बाह्य-आभ्यन्तर, किसी एक ध्येय स्थानमें चित्तको बाँध देना, स्थिर कर देना अर्थात् लगा देना 'धारणा' कहलाता है।

७—ध्यान

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (योगदर्शन ३। २)

उस पूर्वोक्त ध्येय वस्तुमें चित्तवृत्तिकी एकतानताका नाम ध्यान है। अर्थात् चित्तवृत्तिका गङ्गाके प्रवाहकी भाँति या तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे निरन्तर ध्येय वस्तुमें ही अनवरत लगा रहना 'ध्यान' कहलाता है।

८—समाधि

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। (यो० ३। ३)

वह ध्यान ही 'समाधि' हो जाता है जिस समय केवल ध्येय स्वरूपका (ही) भान होता है और अपने स्वरूपके भानका अभाव-सा रहता है। ध्यान करते-करते जब योगीका चित्त ध्येयाकारको प्राप्त हो जाता है और वह स्वय भी ध्येयमें तन्मय-सा बन जाता है, ध्येयसे भिन्न अपने आपका ज्ञान उसे नहीं-सा रह जाता है, उस स्थितिका नाम समाधि है। ध्यानमें ध्याता, ध्यान, ध्येय, यह त्रिपुटी रहती है। समाधिमें केवल अर्थमात्र वस्तु यानी ध्येयवस्तु ही रहती है, अर्थात् ध्याता, ध्यान, ध्येय, तीनोकी एकता-सी हो जाती है।

ऐसी समाधि स्थूल पदार्थमें होती है, तब उसे 'निर्वितर्क' कहते है और सूक्ष्म पदार्थमें होती है तब उसे 'निर्विचार' कहते है। यह समाधि सासारिक पदार्थोंमें होनेसे तो सिद्धिप्रद होती है, जो कि अध्यात्मविषयमें हानिकर है। और यही समाधि ईश्वरविषयक होनेसे मुक्ति प्रदान करती है। इसलिये कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको अपने इष्टदेव परमात्माके स्वरूपमें ही समाधि लगानी चाहिये। इसमे परिपक्वता होनेपर, अर्थात् उपर्युक्त योगके आठों अङ्गोंके भलीभाँति अनुष्ठानसे मल और आवरणादि दोषोंके क्षय होनेपर, विवेकख्यातिपर्यन्त ज्ञानकी दीप्ति होती है * और उस विवेकख्यातिसे, अविद्याका नाश होकर, कैवल्यपदकी प्राप्ति याने आत्मसाक्षात्कार हो जाता है।

* योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। (योग० २। २८)

समाधिपर्यन्त अष्टाङ्गयोगका यह अर्थ प्राय: ग्रन्थोंके आधारपर लिखा गया है। महर्षि पतञ्जलिके सूत्रोंपर अपने भावका यह विवेचन है। इनका असली तात्पर्य या तो महर्षि पतञ्जलि जानते हैं अथवा इसके अनुसार साधन करके जिन्होंने समाधि-अवस्था प्राप्त की है, वे कुछ जानते हैं। मैंने अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार जो कुछ लिखा है, पाठकगण उसे पढ़कर मेरी त्रुटियोंके लिये क्षमा करेंगे।

योगः कर्मसु कौशलम्

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० श्रीगङ्गानाथजी झा, एम० ए०, डी० लिट्, एल-एल० डी०)

'योग' के विषयको लोगोंने ऐसा जटिल बना और समझ रक्खा है कि इसका नाम ही भयङ्कर हो गया है। इसका कारण यह है कि इधर कुछ समयसे 'योग' पदसे लोग 'हठयोग'—केवल आसन-मुद्रादिको समझने लगे हैं। और आसन-मुद्रादि एक तो स्वयं जटिल विषय है, दूसरे इन शारीरिक क्रियाओंसे आध्यात्मिक लाभ क्या और कहाँतक हो सकता है सो भी समझना कठिन है। बात तो यों है कि अभ्यासात्मक योगके सर्वांग तत्त्वोंका समझना गुरुके बिना कठिन है। परन्तु थोड़ा-सा विचार करनेसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि 'हठयोग' यद्यपि योगका अङ्ग अवश्य है पर तो भी है 'योग' का अङ्ग ही, स्वयं 'योग' नहीं, अर्थात् योगका साधनमात्र है, और सो भी प्रधान नहीं।

ऐसे 'अङ्ग' योगके आठ कहे गये हैं—(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, (८) समाधि। इनमें पहले पाँच योगके 'बाह्य अङ्ग' हैं, बाकी तीन 'अन्तरङ्ग' हैं (योगभाष्य ३।१)। ये तीन हैं धारणा, ध्यान, समाधि। ये ही तीन प्रधान हैं। कारण यह है कि ये ही तीन प्रक्रियाएँ हैं जिनका उपयोग सब कार्योंमें होता है। जिस किसी ज्ञानकी प्राप्तिकी इच्छा हो उस ज्ञानके विषयमें जब ये तीनों लगायी जाती हैं तभी उचित ज्ञान प्राप्त होता है। जबतक ज्ञेय पदार्थपर मन एकाग्र-रूपेण नहीं लगाया जाता तबतक उसका ज्ञान असम्भव है। इसलिये प्रथम सीढ़ी हुई यही एकाग्रता जिसे 'धारणा' कहा है (सू० ३।१)। इसके बाद मन जब लगातार बहुत कालतक इसी तरह एकाग्र रहे तो यह हुआ 'ध्यान' (सू० ३।२)। और जब मन इस ध्यानमें इस तरह मग्न हो गया कि उसका ध्येय पदार्थमें लय हो गया तो यही हुई 'समाधि' (सू० ३।३)। किसी कार्यके सम्पन्न होनेमें इन तीनोंकी आवश्यकता होती है। यह केवल आध्यात्मिक अभ्यास या ज्ञानके ही लिये आवश्यक नहीं है, कार्यमात्रके लिये आवश्यक है। कोई भी कार्य हो, जबतक उसमें मन नहीं लगाया जाता, कार्य सिद्ध नहीं होता। इसी 'मन लगाने' को 'धारणा-ध्यानसमाधि' कहते हैं।

ये तीनों एक ही प्रक्रियाके अङ्ग हैं। इसीसे इन तीनोंका साधारण एक नाम 'सयम' कहा गया है (सू० ३।४)। इसी 'सयम' (अर्थात् धारणा-ध्यान-समाधि) से ज्ञानकी शुद्धि होती है।

इन योगसूत्रोक्त उपदेशोंको जब हम मामूली कामोंमें लगाते हैं और इनके द्वारा सफलता प्राप्त करते हैं तब हमको मानना पड़ता है कि 'योग' का सबसे उत्कृष्ट और उपयोगी लक्षण जो श्रीभगवान्‌ने कहा है वही है—

'योगः कर्मसु कौशलम्'।

इस 'योग' के अभ्यासके लिये प्रत्येक मनुष्य सदा तैयार रहता है। 'गुरु' मिलें तब तो योगाभ्यास करें'—ऐसे आलस्यके साधन सभी निर्मूल हैं। यों कोई कर्तव्य सामने आ जाय उसमें सयम (अर्थात् धारणा-ध्यान-समाधि) पूर्वक लग जाना ही 'याग' है। इसमें यदि कोईकी स्वार्थ-कामना हुई तो यह योग अधम श्रेणीका हुआ, और यदि निष्काम है—'कर्तव्य'-बुद्धिसे किया गया है और फल जो कुछ हो सो ईश्वरको अर्पित है तो यही 'योग' उच्च कोटिका हुआ। जब अपने सभी काम इसी रीतिसे किये जाते हैं तो वही आदमी जीवन्मुक्त कहलाता है।

कैसा सुगम मार्ग है, लोगोंने दुर्गम बना रक्खा है। पर मनका 'लाग' चाहिये—तत्परता, तन्मयता। कठिन नहीं है—दूसरे किसीकी आवश्यकता नहीं है—अपने हाथका खेल है। पर श्रद्धा और साहस चाहिये।

इसमें शास्त्रार्थ या तर्क-वितर्ककी जरूरत नहीं है। इसको कोई भी आदमी किसी सामान्य कार्यके प्रति इस प्रक्रियाकी परीक्षा करके स्वयं देख सकता है। पर आदिमें श्रद्धा और आगे चलकर साहसकी अपेक्षा होगी, जिससे प्रक्रिया अपनी चरम कोटितक पहुँच जाय।

राजयोग

(लेखक—डा० श्रीबालकृष्णजी कौल)

'कल्याण' के सर्वस्व श्रीपोद्दारजीका बड़ा आग्रह है कि 'कल्याण' के 'योगाङ्क' के लिये, योगसम्बन्धी किसी विषयपर मैं भी कुछ अवश्य लिखूँ। पर मैं क्या लिखूँ, इसका निर्णय करना कुछ कठिन-सा प्रतीत हो रहा है—केवल विषयकी गम्भीरता और व्यापकताके ही कारण नहीं, इसलिये भी कि 'योग' पर हमारे ऋषि-महर्षियोंने इतना अधिक कह दिया है कि अब, मेरे-जैसे साधारण जनके लिये, उसपर कुछ कहनेको रह ही नहीं गया है। हमारा योगशास्त्र बहुत ही विस्तृत है। गीताके छठे अध्यायमें मुख्यतः 'योग' की ही व्याख्या की गयी है। गौडपादाचार्यने 'माण्डूक्योपनिषद्' में इस विषयका विश्लेषणात्मक विवेचन बड़े विस्तारके साथ किया है। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि महर्षि पतञ्जलिके गम्भीर सूत्रों तथा उनके ऊपर दिये गये 'व्यासभाष्य' के अनन्तर कोई ऐसी बात ही नहीं जिसे हम नवीनताकी सज्ञा देकर जनताके समक्ष उपस्थित कर सकें। अतएव, 'कल्याण'के प्रेमवश, तथा श्रीपोद्दारजीके आग्रहका पालन करते हुए, मैं यहाँ जो कुछ कहूँगा वह अपने इन्हीं पूर्वपुरुषोंसे उधार माँगकर—अपनी ओरसे कुछ नहीं। मेरा यह छोटा-सा निबन्ध 'योगाङ्क' के पाठक तथा पाठिकाओंको आर्य-जातिके एक अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण विषयका स्मरणमात्र करा सकेगा—इतना भी यह कर सका तो मैं अपनेको कृतार्थ समझूँगा।

'योग' के सम्बन्धमें किसी भी प्रकारकी चर्चा चलानेके पूर्व यह जान लेना नितान्त आवश्यक समझा जाना चाहिये कि इसके वास्तविक अधिकारी कौन हो सकते हैं। जीवनकी किसी भी अवस्थामें, किसी भी स्थितिमें, वे लोग तो इसके ('योग' के) अधिकारी हो ही नहीं सकते जिनमें 'निर्वेद'-भावनाकी अनुपस्थिति है—जो निर्वेदरहित हैं। जिनमें निर्वेद-भावना नहीं, वे मुमुक्षु नहीं हो सकते, और जो मुमुक्षु नहीं उनके लिये 'योगशास्त्र' किसी प्रकारके जीवन-साधनका कार्य नहीं कर सकता, क्योंकि 'योग' एकमात्र 'मोक्ष'का ही साधन है।

योगारूढ होनेपर पहला काम होता है 'साधन-चतुष्टय' से सम्पन्न होना—इसके बिना कार्यसिद्धि नहीं हो सकती।

'साधनचतुष्टय'-सम्पन्न होनेमें विलम्ब लगता है—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

ऐसा भी होता है कि पूर्वजन्ममें जो जितनी ही अधिक मात्रामें 'साधनचतुष्टय'-सम्पन्न हो चुके होते हैं, इस जन्ममें उन्हें उतना ही कम समय लगता है। ये 'साधन-चतुष्टय' चित्तशुद्धिके विधायक हैं। जैसे-जैसे इनका परिपाक होता जाता है वैसे-ही-वैसे, चित्तशुद्धिद्वारा, योगाभ्यासमें सिद्धि बढ़ती जाती है। अतः जो सम्पूर्ण-रूपसे 'साधनचतुष्टय'-सम्पन्न हो जाते हैं, वे ही 'ज्ञान'के अधिकारी होते हैं और फिर 'ज्ञान'से 'कैवल्य'को प्राप्त होते हैं।

योग, चाहे वह किसी भी प्रकारका हो, चित्तवृत्तिके निरोधसे ही सम्बन्ध रखता है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

साधारण अवस्थामें चित्तवृत्ति प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है। किन्तु समाधि-अवस्थामें चित्तवृत्ति एकाकार हो जाती है। चित्तवृत्ति बदलते रहनेके दो मुख्य कारण हैं। पहला तो यह कि यह मन, इन्द्रियोंद्वारा बहिर्मुख होकर, बाह्य विषयोंमें आसक्त रहता है। दूसरे, यदि इन्द्रियोंको बन्द करके, मनको बाह्य विषयोंसे खींच भी लिया जाय तो भी अन्तःकरणकी क्रियाएँ बन्द नहीं हो जातीं—वे बराबर चलती ही रहती हैं। जैसे जाग्रदवस्थामें तो मन बहिर्मुख-सा व्यवहार किया ही करता है; पर शब्दादिसे दूर, किसी बन्द कमरेमें, आँखें बन्द करके बैठ जानेपर भी साधारण जनका—और स्वप्नावस्थामें सभी प्राणियोंका—अन्तःकरण जाग्रदवस्थाके समान ही सब क्रियाएँ करता रहता है। योगाभ्यासियोंको अन्तःकरणकी पूरी अनुशासना करनी पड़ती है—चित्तकी वृत्तियोंका सयम करना पड़ता है। इन दोनों ही

अवस्थाओं (जाग्रत् और स्वप्न) में चित्तकी वृत्तियोंपर सम्यक् नियन्त्रण रखनेमें सफलता प्राप्त होनेपर ही 'मन'का निरोध सम्भव है।

पर चित्तकी वृत्तियोंका निरोध किया कैसे जाय? इसके दो प्रकार हैं। यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं कि 'मन' का और 'प्राण' का पारस्परिक सम्बन्ध अटूट है, अविच्छेद्य है। 'मन' के निरोधसे 'प्राण-स्पन्द' रुक जाता है और 'प्राण-स्पन्द'की शिथिलता 'मन' को एकाग्र बना देती है। इसलिये, मनके निरोधके लिये 'प्राण-स्पन्द' की गति-विधिपर सम्यक् अनुशासन रखना नितान्त आवश्यक है। 'प्राण-स्पन्द' का सम्बन्ध श्वास-निःश्वास-से है, अर्थात् जितनी ही तीव्रतासे साँस चलेगी, 'प्राण-स्पन्द' में भी उतनी ही अधिक गतिशीलता आवेगी और साँस जितनी ही धीरे-धीरे चलेगी, 'प्राण-स्पन्द'मे भी उतनी ही अधिक शिथिलता आवेगी। अतएव मनोनिरोधके लिये 'प्राण-स्पन्द'को वशीभूत करना पड़ता है और इसके लिये 'अष्टाङ्गयोग-साधना' से—और उनमें भी विशेषकर प्राणायामसे—काम लेना पड़ता है। 'अष्टाङ्गयोग-साधना'से 'प्राण-स्पन्द' रुक जाता है और उसी अवस्थामें मनका निरोध होता है। यह मनोनिरोधकी एक विधि है।

मनोनिरोधका दूसरा उपाय यह है कि 'मन' को विवेक और वैराग्यद्वारा बाह्य विषयोंसे हटानेका अभ्यास किया जाय। प्रवृत्ति-भावनासे अलग होकर निवृत्ति-भावनाको सुदृढ बनानेका यह अभ्यास जब पक्का हो जाता है, तब मनका निरोध होता है। इसके लिये शास्त्रों-के श्रवण और मननकी आवश्यकता अपरिहार्य है। जितना ही शास्त्रका श्रवण और मनन अधिक होगा उतना ही शीघ्र 'वस्तु' के वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होगा और फलतः, उतनी ही सत्वरता तथा दृढ़तासे, उक्त प्रक्रिया-द्वारा, 'मन' का निरोध होगा। इसीको 'राजयोग' कहते हैं।

मनोनिरोधकी जो दो प्रक्रियाएँ ऊपर बतायी गयी हैं, उन दोनोंका ही श्रद्धासहित और लगातार चिर अभ्यास करनेकी आवश्यकता है। इन दोनोंमेंसे चाहे जिस किसीसे काम लेना हो, उसका कठोर और सनियम अभ्यास करना चाहिये। कहा भी है—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

अभ्यास नियमितरूपसे, नियत समयपर, यथा-सम्भव नियत स्थानमें नित्य किया जाना चाहिये। प्रारम्भमें अभ्यासका समय थोड़ा होना चाहिये और उसमें धीरे-धीरे वृद्धि की जानी चाहिये—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।

अभ्यासके समयकी अवधि बढ़ाकर फिर घटायी नहीं जानी चाहिये। और सबसे बड़ी बात यह है कि अभ्यासीकी दिनचर्या नियमित होनी चाहिये—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

संसारकी नश्वरता

जैसो मोती ओसको, तैसो यह संसार।
विनसि जाय छिन एकमें, 'दया' प्रभू उर धार॥

बहे जात हैं जीव सब, काल-नदीके माहिं।
'दया' भजन नौका बिना, उपजि उपजि मरि जाहिं॥

छिन छिन विनस्यो जात है, ऐसो जग निरमूल।
नाम रूप जो धूस है, ताहि देखि मत भूल॥

—दयाबाई

योगका विषय-परिचय

(लेखक—महामहोपाध्याय आचार्य श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए०)

'कल्याण' पत्रके योगाङ्ककी विषय-सूची प्रकाशित हुई है। माननीय कल्याण-सम्पादक महाशयने मुझसे इस सूचीके परिचयके विषयमे 'कल्याण' के लिये कुछ लिख भेजनेका अनुरोध किया है। विषय-सूचीने इतना बड़ा आकार धारण कर लिया है कि उसके अन्दरके प्रत्येक विषयकी आलोचना करना मासिक पत्रके तुच्छ कलेवरके लिये सम्भव नहीं। अतएव व्यापक एवं सूक्ष्मरूपमें मै सूचीकी आलोचना नहीं कर सकूँगा—यथासम्भव सक्षेपमे इस सम्बन्धमें कुछ दिग्दर्शन करनेकी चेष्टा करूँगा।

प्राचीन भारतीय साहित्यमें 'योग' शब्द नाना प्रकारके व्यापक अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है। फिर भी इसका जो आध्यात्मिक अर्थ है, उसमें प्रकार-भेद होनेपर भी, मूलतः कुछ अंशमें सामञ्जस्य पाया जाता है। जीवात्मा और परमात्माके सयोगको योग कहा जाय, अथवा प्राण और अपानके सयोग, चन्द्र और सूर्यके मिलन, शिव और शक्तिके सामरस्य, चित्तवृत्तिके निरोध अथवा अन्य किसी भी प्रकारसे योगका लक्षण निश्चित किया जाय, मूलमे विशेष पार्थक्य नहीं है।

महायोग और पूर्णयोग

योगशिखा-उपनिषद्में वर्णन आया है कि स्वाभाविक योग एक ही है, अनेक नहीं हैं। यही महायोगके नामसे साधकोंमें प्रसिद्ध है। अवस्था-भेदके अनुसार महायोग ही मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग अथवा राजयोगके रूपमें प्रकाशित होता है।

मन्त्रयोग और जपयोग

योगशास्त्रमें 'मन्त्रयोग' शब्द यद्यपि विभिन्न स्थानोंमें विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है, फिर भी यदि हम मन्त्र-योगका मुख्य अर्थ मन्त्रके आश्रयसे जीवात्मा और परमात्माका सम्मिलन मान लें तो इसमें कोई आपत्ति न होगी। शब्दात्मक मन्त्र चेतन होनेपर उसीकी सहायतासे जीव क्रमशः ऊपर गमन करते-करते शब्दसे अतीत परमानन्दधामतक पहुँच सकता है। वैखरी शब्दसे क्रमशः मध्यमा अवस्थाको भेदकर पश्यन्तीमें प्रवेश करना ही मन्त्रयोगका प्रधान उद्देश्य है। पश्यन्ती शब्द स्वप्रकाशमान चिदानन्दमय है—चिदात्मक पुरुषकी यही अक्षय और अमर षोडशी कला है। वही आत्मज्ञान, इष्ट-देवताके साक्षात्कार अथवा शब्दचैतन्यका प्रकृष्ट फल है। इस अवस्थामें पहुँचनेपर जीव कृतकृत्य हो सकता है। इसके बाद अव्यक्त भाव अपने आप उदित होता है। वही शब्दकी तुरीय अवस्था है। मूलाधारसे निरन्तर शब्द-स्रोत ऊपरकी ओर उठ रहा है, यही शब्द समस्त जगत्के केन्द्रमें नित्य विद्यमान है। बहिर्मुख जीव इन्द्रियोंके अधीन होकर विषयोंकी ओर दौड़ रहा है, इसीसे उसे इसका पता नहीं लगता। जब किसी क्रिया-कौशलसे अथवा अन्य किसी उपायसे इन्द्रियोंकी बहिर्गति रुद्ध हो जाती है और प्राण तथा मन स्तम्भित-से हो जाते है, तब साधक इस चेतन शब्दको सुननेके अधिकारी होते हैं। षण्मुखी मुद्राद्वारा कृत्रिम उपायसे इस नादके अनुसन्धानकी चेष्टा की जाती है। नोदन अथवा अभिघातजनित शब्दको अनाहत नादमें लीन न कर सकनेपर मन्त्र अक्षरसमष्टि ही रह जाता है। उसका सामर्थ्य और प्रकाश अनुभवगोचर नहीं होता। इडा-पिङ्गलाकी गति रुककर प्राण और मनके सुषुम्नाके अन्दर प्रविष्ट होनेपर यह नित्य सारस्वत स्रोत अनुभूत होता है। यही क्रमशः साधकको आज्ञाचक्रमें ले जाता है और वहाँसे बिन्दुस्थान भेदकर क्रमशः सहस्रार-के केन्द्रमें महाबिन्दुपर्यन्त पहुँचा देता है। हस-मन्त्र, जिसका जीव निरन्तर श्वास प्रश्वासके साथ जप करता है, गुरुकृपासे प्राणकी विपरीतभावापन्न अवस्थामें सोऽह-मन्त्रके रूपमे परिणत हो जाता है।

अस्पर्शयोग

माण्डूक्यकारिकामें आचार्य गौडपादने अस्पर्शयोग-का उल्लेख किया है। यद्यपि उस ग्रन्थमें इसका विशेष विवरण नहीं दिया गया है तथापि प्रसङ्गवश तथा विशेषणके रूपमे कुछ वर्णन उसमें मिल जाता है। उससे ऐसा मालूम होता है कि यह योग अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि साधारण योगी अस्पर्शयोगमें प्रवेश नहीं कर

सकता। सब भूतोंके मङ्गल और आनन्दका निदानस्वरूप यह योग सब प्रकारके विरोधोंके ऊपर प्रतिष्ठित है और वास्तविक अभयपद कहे जाने योग्य है। प्रसङ्गवश किसी-किसी वेदान्त-ग्रन्थमें भी इसका उल्लेख देखा जाता है। जिन कुयोगियोंने निरालम्बपदपर पहुँचनेका अधिकार नहीं प्राप्त किया है, वे आत्मलोप होनेकी आशङ्कासे इस निर्विकल्प परमभूमिमें प्रवेश करनेकी न तो सामर्थ्य ही रखते हैं और न इच्छा ही करते हैं। वस्तुतः अस्पर्शयोग असम्प्रज्ञात अथवा निर्विकल्प समाधिकी ही अवस्थाविशेष है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इन्द्रियार्थ सन्निकर्षरूप स्पर्शसे वृत्तिज्ञानका उदय होता है। किन्तु बहिरिन्द्रिय और अन्तःकरणके सम्यक् प्रकारसे निरुद्ध हो जानेपर जिस अस्पर्श-अवस्थाकी अभिव्यक्ति होती है, वह वृत्तिरहित शुद्ध चैतन्यकी भूमिको ही सूचित करती है। न्यायशास्त्रके मतसे भी स्पर्शेन्द्रिय त्वक्के साथ मनका सयोग हुए बिना अन्य किसी प्रकारका ज्ञान नहीं प्रकट हो सकता। इसका कारण यही है कि मनोवहा तथा ज्ञानवहा नाडियाँ त्वक्का आश्रय लेकर ही प्रकट होती हैं और वे सभी वायवीय हैं। स्पर्श वायुका धर्म है, अतएव अस्पर्शयोगकी अवस्थामें वायुका स्पन्दन निरुद्ध हो जानेके कारण पूर्वोक्त नाडियाँ जब अव्यक्त हो जाती हैं तब एक ओर जैसे मनकी वृत्ति शून्य हो जाती है, दूसरी ओर वैसे ही इन्द्रियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। उस समय आत्मा निज स्वरूपमें प्रकाशित रहता है।

शब्दयोग और वाग्योग

प्राचीन आगमशास्त्रोंमें वाग्योग अथवा शब्दयोगके नामसे जिस योगप्रणालीका उल्लेख पाया जाता है, उसका तात्पर्य और रहस्य आजकल बहुत-से लोग प्रायः भूल गये हैं। शैवागमके अन्तर्गत व्याकरण-आगममें भी इस योगसाधनका परिचय मिलता है। जिन्होंने भर्तृहरिके वाक्यपदीय और उसकी साम्प्रदायिक प्राचीन व्याख्याका अनुशीलन किया होगा, उन्हें वाग्योगकी बात अवश्य मालूम होगी। व्याकृत शब्दका वैखरी अवस्थासे मध्यमामें उत्तीर्ण होकर पश्यन्ती-स्वरूपमें प्रवेश कर जाना ही इस योगसाधनका प्रधान उद्देश्य है। पश्यन्ती-अवस्थासे परा-अवस्थामें—अव्याकृत पदमें—गति और स्थिति-प्राप्ति स्वाभाविक नियमसे आप ही हो जाती है। वह किसी भी साधनाका आन्तरिक लक्ष्य नहीं है। वैखरी या स्थूल इन्द्रियग्राह्य शब्दविशेष मिश्र अवस्थामें होनेके कारण उसमें असख्य आगन्तुक मल विद्यमान रहते हैं। गुरूपदिष्ट प्रणालीसे साधन कर चुकनेपर चाहे जिस शब्दको उसकी स्थूल अवस्थासे मुक्त करके विशुद्ध बनाया जा सकता है। इस शोधन-क्रियाका नाम ही शब्दसंस्कार है। जब शब्द सम्यक् प्रकारसे शुद्ध या सस्कृत हो जाता है तब वह दिव्यवाणी या सस्कृतभाषा, अथवा सृष्टिकारिणी ब्राह्मी शक्तिके रूपमें परिणत हो जाता है। केवल एक शब्दको भी इस प्रणालीसे शुद्ध कर लेनेपर जीव सदाके लिये कृतकृत्य हो सकता है—

एक. शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।

जो एक शब्दका भी सस्कार करनेमें समर्थ हुए हैं, उन्हें किसी तरहका अभाव नहीं रह सकता। वह एक ही शोधित शब्द शक्तिके स्वरूपमें प्रकाशित होकर उनके समीप कामधेनुके आकारमें आविर्भूत हो जाता है। शब्दके मर्मको जाननेवाले वसिष्ठ आदि ऋषि इसी उपायसे अलौकिक शक्तिके अधिकारी बन गये थे। आवर्तन अथवा जपयज्ञ इत्यादिके अभ्याससे जब वैखरी शब्दसे आगन्तुक समस्त मल दूर हो जाते हैं तब इडा-पिङ्गलाका अपेक्षाकृत स्तम्भन हो जाता है और सुषुम्ना पथ कुछ परिमाणमें उन्मुक्त हो जाता है। फिर प्राणशक्तिकी सहायतासे वह शोधित शब्द-शक्ति सुषुम्ना-रूप ब्रह्मपथका आश्रय लेकर क्रमशः ऊर्ध्वगामिनी होती है। यही शब्दकी सूक्ष्म या मध्यमा नामक अवस्था है। इसी अवस्थामें अनाहत नाद प्रकट होता है और स्थूल शब्द इस विराट् प्रवाहमें निमग्न होकर उससे भर जाता है तथा चेतनाभाव धारण कर लेता है। यही मन्त्र-चैतन्यका उन्मेषभाव है। साधक इस अवस्थामें पहुँच जानेपर जीवमात्रकी चित्तवृत्तिको अपरोक्षभावसे शब्दरूपमें जान लेता है। देश अथवा कालका व्यवधान शब्दकी इस स्फूर्तिको नहीं रोक सकता। इसके बाद प्रातःकालीन बालसूर्यके समान शब्दब्रह्मरूपी आदित्य साधकके आत्मा अथवा इष्टदेवताके रूपमें प्रकाशित होकर अन्तराकाशका अन्धकार दूर कर देते हैं। आगमशास्त्रमें इसीको 'पश्यन्ती वाक्' कहा जाता है। प्राचीन वैदिक साहित्यमें ऋषित्व-प्राप्ति अथवा मन्त्रसाक्षात्कारके नामसे जिसका

उल्लेख किया गया है, यह वही अवस्था है। आत्मदर्शन, इष्टदेवदर्शन, ज्ञान-चक्षुका उन्मीलन, शिवनेत्रका विकास, षोडशी कलाका उन्मेष अथवा सांख्यवर्णित द्रष्टा पुरुषका स्वरूपावस्थितिरूप कैवल्य—ये सब इसी पश्यन्ती भूमिकी विभिन्न अवस्थाएँ हैं। पश्यन्तीकी अपेक्षा परा-भूमिका पथ अत्यन्त गुप्त है। अतएव यहाँपर उसकी आलोचना करना अप्रासंगिक और अनधिकार चर्चा होगी।

योगमार्ग और वियोगमार्ग

योग और वियोग (अथवा विवेक)-मार्गमें परस्पर क्या भेद है, इस सम्बन्धमें साधारण पाठकोंकी कोई विशेष धारणा है ऐसा मालूम नहीं होता। अवश्य ही आत्यन्तिक परमार्थदृष्टिसे किसी प्रकारका भेद नहीं है, यह सत्य है, परन्तु व्यावहारिक भूमिमें दोनोंमें परस्पर भेद दिखायी पड़ता है और उस भेदके अनुसार सिद्धिमें भी भेद होता है। जीव साधारणतः जिस अवस्थामें संसारमें परिभ्रमण करता रहता है, उसमें स्थूल और सूक्ष्मभाव परस्पर मिले हुए रहते हैं। केवल यही नहीं, सूक्ष्मभावमें स्थूलका अंश और स्थूलभावमें सूक्ष्मका अंश अनिवार्यरूपसे ओतप्रोत है। सुतरां विशुद्ध दृष्टिसे यदि देखा जाय तो दोनोंमेंसे कोई-सा एक दूसरेको छोड़कर नहीं रह सकता। काठके अन्दर अग्निकी तरह, तिलमें तैलकी तरह, दूधमें घीकी तरह, स्थूलके भीतर सूक्ष्म तत्त्व प्रच्छन्नरूपमें निहित है। क्रिया-विशेषके द्वारा इसे स्थूलसे अलग कर लेनेकी आवश्यकता होती है। सांख्यादि शास्त्रानुमोदित साधन-प्रणाली इसी वियोग अथवा विवेकमार्गका पक्षपाती है। वेदान्तका पञ्चकोष-विवेक भी एक प्रकारसे विवेक-पन्थके ही अन्तर्गत है। योगियोंका कहना है कि यह वियोग पूर्णरूपेण सिद्ध हो जानेके बाद दोनोंमें योग स्थापित करना आवश्यक होता है। वियोग-साधनाके द्वारा परस्पर पृथक् रूपमें जो दो पदार्थ उपलब्ध होते हैं, वे वस्तुतः पृथक् पदार्थ नहीं हैं—वे दोनों मूलीभूत एक परम पदार्थके ही पृथक् अवभासमात्र हैं, इस तत्त्वकी उपलब्धि करनेके लिये योगप्रक्रियाका अवलम्बन किये बिना काम नहीं चल सकता। स्थूल और लिङ्ग एक दूसरेके साथ आश्लिष्ट होकर जब चरम अवस्थामें एक परम पदार्थके रूपमें परिणत हो जाते हैं तब यह मालूम होता है कि इस मूल अद्वय-भावसे ही स्थूल और सूक्ष्म दोनों भावोंका विकास सम्पन्न होता है।

दृष्टान्तके रूपमें यहाँ सर्वसाधारणके समझने योग्य भाषामें एक तत्त्वका उल्लेख किया जाता है। जिन्हें शास्त्र-ज्ञान है और जो आध्यात्मिक विषयकी कुछ भी जानकारी रखते हैं, वे जानते हैं कि जीवके स्थूल शरीरकी तरह एक सूक्ष्म शरीर भी है। यह सूक्ष्म शरीर साधारणतया स्थूल शरीरके साथ इतनी घनिष्ठतासे आश्लिष्ट है कि दीर्घ कालतक अभ्यास किये बिना मनुष्य केवल इच्छा करके इसको स्थूल शरीरसे पृथक् नहीं कर सकता। परन्तु अलग न कर सकनेपर भी वह अनेक कारणोंसे सहज ही उसके पृथक् होनेका अनुभव कर सकता है। स्वप्नादिमें अथवा जीवित दशाकी किसी-किसी अनुभूतिमें, और सूक्ष्मदर्शियोंद्वारा देखे गये मृत्युकालीन अनुभवमें सूक्ष्म शरीरकी पृथक् सत्ता स्पष्ट ही मालूम हो सकती है। जिस तरह मन्थनकी प्रक्रिया-के द्वारा यानी कोल्हूमें पेलकर तिलसे तेल निकाला जाता है, उसी तरह प्रक्रियाविशेषद्वारा स्थूल शरीरसे भी सूक्ष्म शरीरको अलग किया जा सकता है। सम्पूर्णरूपसे न सही, आंशिकरूपमें प्रायः सभी अभ्यास करनेवाले इसे कर सकते हैं। इस अवस्थामें स्थूल शरीर अकर्मण्यवत् कङ्कड़-पत्थरकी तरह पड़ा रहता है। और सूक्ष्म शरीर उससे बाहर निकलकर नाना स्थानोंमें घूम-फिरकर पुनः जब स्थूल शरीरमें घुस जाता है तब वह चैतन्य प्राप्त कर लेता है और उसमें पहलेकी तरह ही ज्ञान और क्रियाका सञ्चार हो जाता है। यह सूक्ष्म शरीर भौतिक आवरणके द्वारा प्रतिरुद्ध नहीं होता, और न स्थूल जगत्का कोई भी नियम विशेषरूपसे इसपर प्रभाव डाल सकता है। कोई-कोई योगी घरके अन्दर बन्द रहकर और स्थूल शरीरको जहाँ-का-तहाँ रखकर भी, सूक्ष्म शरीरके द्वारा दीवाल आदि तथाकथित आवरणात्मक घेरेको भेदकर बहिर्जगत्में भ्रमण कर सकते हैं। इस अवस्थामें उनका स्थूल शरीर घरके अन्दर निष्क्रिय अवस्थामें आबद्ध रहता है। कोई भी मनुष्य अपनी इन्द्रियोंद्वारा इस स्थूल शरीरका प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। इस दृष्टान्तसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो शरीर घरमें आबद्ध रहता है वह स्थूल शरीर है और जो निकलकर इधर-उधर विचरण करता है वह सूक्ष्म शरीर है। दोनों शरीर परस्पर सम्बद्ध होनेपर भी पृथक् हैं। यह पार्थक्य वियोगमार्गके द्वारा उपलब्ध होता है। परन्तु एक ऐसी अवस्था भी होती है जिसमें यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि यह पूर्वनिर्दिष्ट [illegible]

स्थूल है या सूक्ष्म। क्योंकि ऐसा भी देखा जाता है कि एक योगी घरके अन्दर बन्द रहकर जब घरसे बाहर निकले तब घरमें पहलेके समान स्थूल शरीर आसनपर नहीं रहा, अर्थात् वह समस्त शरीर लेकर ही बाहर निकल गये और इच्छानुसार घूमते रहे तथा किसी-किसीको दिखायी भी पड़े। जिस शरीरसे वह घरसे निकलकर दीवाल आदि आवरण भेदकर बाहर चले गये, वह लौकिक स्थूल शरीर नहीं था—यह कहना न होगा। क्योंकि वैसा शरीर प्रतिघात-धर्मविशिष्ट दीवालको भेदकर जानेमें समर्थ नहीं होता। और साथ ही वह सूक्ष्म शरीर नहीं है, यह भी निश्चित है। क्योंकि वह यदि सूक्ष्म शरीर होता तो स्थूल शरीर निष्क्रियरूपमें आसनपर पड़ा रहना चाहिये था। योगी लोग ऐसे देहको सिद्ध देह कहते हैं। यह सिद्धि स्थूल और सूक्ष्मके परस्पर अत्यन्त घन सश्लेषणसे उत्पन्न होती है। इसमें स्थूल और सूक्ष्म दोनोंके धर्म दृष्टिगोचर होते हैं, इस कारण इसे एक हिसाबसे स्थूल भी कह सकते हैं और साथ ही सूक्ष्म भी कह सकते हैं। परन्तु वास्तवमें वह न तो स्थूल है, न सूक्ष्म। इस अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये योगमार्गका अवलम्बन आवश्यक है। कहना नहीं होगा कि सर्वारम्भमें इस प्रकारका योग सम्भव नहीं। पहले वियोगमार्गकी साधनाके द्वारा मिश्रसत्ताके अन्दर वर्तमान दोनों सत्ताओं-को पृथक् कर लेना होता है और उसके बाद योगमार्गकी साधनाके द्वारा उन दोनोंको मिलाकर एक कर लेना होता है।

योग और वियोगमार्गका यही संक्षिप्त परिचय है। इससे अधिक यहाँ इसकी आलोचना करना अप्रासङ्गिक होगा।

नादानुसन्धान

पहले शब्दयोगकी आलोचना करते हुए जो कुछ कहा गया है, उससे नादानुसन्धानका तत्त्व भी कुछ अंशमें समझमें आ जायगा। बद्ध जीव श्वास-प्रश्वासके अधीन होकर निरन्तर इडा-पिङ्गला-मार्गमें चल रहा है। उसका सुषुम्ना-पथ प्रायः बन्द है। इसीलिये उसकी इन्द्रियाँ और चित्त सब बहिर्मुख हैं। जो अखण्ड नाद जगत्के अन्तस्तलमें, आकाशमण्डलमें निरन्तर ध्वनित हो रहा है, उसे वह चित्त और प्राणोंकी विक्षिप्तताके कारण सुन नहीं पाता। परन्तु जिस समय गुरुकृपासे तथा क्रिया-विशेषके द्वारा सुषुम्ना-मार्ग उन्मुक्त होता है उस समय प्राण स्थिर और सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त होकर उसमें प्रविष्ट होते हैं और उस शून्य-पथसे मन अनाहत ध्वनिको श्रवण करता है। निरन्तर इस ध्वनिका अनुसरण करते-करते मन क्रमशः निर्मल और शान्त अवस्थाको प्राप्त करता है। जब मन पूर्णरूपेण स्थिर हो जाता है तब फिर नादध्वनि नहीं सुनायी पड़ती। उस समय चिदात्मक आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित होकर बाह्य प्रकृतिके स्पर्शसे मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

नाद मूलतः एक होनेपर भी औपाधिक सम्बन्धके कारण विभिन्न स्तरोंमें विभक्त है। योगियोंने साधारणतः इस प्रकारके सात स्तरोंका उल्लेख किया है। शास्त्र जिसको ओंकार अथवा प्रणवका स्वरूप कहते हैं, वही उपाधिरहित शब्द-तत्त्व है। वैयाकरणोंने तथा किसी-किसी प्राचीन साधक-सम्प्रदायने 'स्फोट' नामसे इसकी व्याख्या की है। यह स्फोट ही अखण्ड सत्तारूप ब्रह्म-तत्त्वका वाचक है। अर्थात् इसीसे ब्रह्मभावकी स्फूर्ति होती है। प्रणव ईश्वरका वाचक है, इस बातका भी तात्पर्य यही है। वाचक स्फोट शब्दब्रह्मके रूपमें और वाच्य सत्ता परब्रह्मके रूपमें वर्णित है। अतएव, एक तरहसे, ब्रह्म ही ब्रह्मका प्रकाशक है, यह कहा जा सकता है। स्वप्रकाश ब्रह्म अपने स्वरूपके अतिरिक्त और किसी पदार्थके द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता—यह कहनेकी जरूरत नहीं। परन्तु स्फोट या शब्दतत्त्व जबतक जीवके लिये अव्यक्त रहता है तबतक उसके द्वारा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसीलिये योगी यथाविधि ध्वनि और नादका अवलम्बन करके इसको अभिव्यक्त करते हैं। कुण्डलिनीका उद्बोधन भी कुछ अंशोंमें इसी कार्यके समान है। मूलाधार-से नाद उठना आरम्भ होता है और सहस्रारमें जाकर लयको प्राप्त हो जाता है। साधकका मन इस नादके साथ युक्त होनेपर अनायास परब्रह्मपदतक उठकर चिन्मय आकार धारण करता है और चैतन्यके अन्दर अपने-आप-को मिला देता है।

हठयोगप्रदीपिका, योगतारावलि तथा अन्यान्य अनेक ग्रन्थोंमें इस नादानुसन्धानका विस्तृत वर्णन मिलता है।

असम्प्रज्ञात समाधि

पातञ्जल योगशास्त्रमें असम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकारकी बतलायी गयी है—भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय। चित्त-

वृत्तिका सम्यक् निरोध ही असम्प्रज्ञात समाधिका लक्षण है। चित्त आत्माका अत्यन्त निकटवर्ती है,—यहाँतक कि दोनोंमें स्व-स्वामि सम्बन्ध वर्तमान है। व्युत्थान अवस्थामें द्रष्टा पुरुष अपना स्वरूप भूलकर वृत्तिसकुल चित्तके साथ अपनेको अभिन्न समझता है और वृत्तियोंका आकार धारण कर लेता है। परन्तु जब वृत्तियोंका निरोध हो जाता है तब उसके लिये इस प्रकार वृत्तियोंका आकार धारण करना सम्भव नहीं होता। इस वृत्तिहीन अवस्थामें पुरुष चैतन्य प्राप्त करके द्रष्टा या साक्षीके रूपमें अवस्थित होता है। अथवा गभीर अज्ञानसे आच्छन्न होकर एक ओर जिस प्रकार विषयज्ञानशून्य हो जाता है, दूसरी ओर उसी प्रकार अपने चित्स्वरूपकी उपलब्धिसे भी वञ्चित रहता है। शास्त्रानुसार यही प्रकृति-लय अथवा जड समाधिकी अवस्था है। यह योगियोंके लिये कदापि काम्य नहीं। वृत्तिहीन होनेसे यद्यपि यह असम्प्रज्ञात समाधिके अन्तर्गत ही है तथापि ज्ञानका उन्मेष न होनेके कारण यह योगावस्था नहीं है। पतञ्जलि इसीको भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात कहते हैं। प्रकृतिलीनकी तरह विदेह देवता भी इसी अवस्थामें रहते हैं। योगियोंकी वास्तविक योगावस्था उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधिके रूपमें ही साधकसमाजमें परिचित है। 'उपाय' का अर्थ यहाँपर प्रज्ञा अर्थात् शुद्ध ज्ञान समझना चाहिये। सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होकर निरुद्ध होनेपर जिस असम्प्रज्ञात समाधिका आविर्भाव होता है, उसकी तुलना ज्ञानके अनुदयकालीन असम्प्रज्ञात समाधिके साथ कभी नहीं हो सकती। भवप्रत्यय-अवस्थामें कुछ समयतक चित्त निरुद्ध रहनेपर भी कालान्तरमें उसका व्युत्थान अवश्यम्भावी है, क्योंकि तबतक चित्तके सस्कार सम्पूर्णरूपमें वर्तमान रहते हैं। परन्तु प्रज्ञा उत्पन्न होनेपर क्रमशः सस्कारोंका दाह करनेसे जो असम्प्रज्ञात समाधि आविर्भूत होती है, उसमें व्युत्थानकी कोई आशङ्का नहीं रहती। वास्तवमें उसीको एक प्रकारसे कैवल्यका पूर्वास्वाद कह सकते हैं।

बौद्ध योगी प्रतिसख्यानिरोध और अप्रतिसख्यानिरोध नामसे जो दो प्रकारके निरोधका वर्णन करते हैं, वे अधिकांशमें उपायप्रत्यय और भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधिके ही समान हैं। सम्प्रज्ञात समाधिमें प्रवेश किये बिना असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करना कभी योगियोंके लिये प्रार्थनीय नहीं है। अविद्यादि क्लेशोंका दाह न कर केवल-मात्र वृत्तियोंका निरोध कर लेनेसे ही पुरुष आत्मस्वरूपमें अवस्थित होनेमें समर्थ नहीं होता। ज्ञानके अतिरिक्त अविद्याका बीज नष्ट करनेका और कोई उपाय नहीं है। क्रियायोगके द्वारा अर्थात् तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधानका अनुष्ठान यथाविधि करनेपर भी अविद्या-संस्कारको दग्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु इसी कारण यह नहीं कहा जा सकता कि क्रियायोग निष्फल है, क्योंकि क्रियायोगके प्रभावसे सस्कारोंका स्थूल-रूप कट जाता है और वह सूक्ष्म आकार धारण कर लेता है। तदनन्तर प्रसंख्यान या ज्ञानाग्नि प्रज्वलित होते ही वह दग्ध हो जाता है, और पुनः जागृत होनेकी शक्तिसे रहित हो जाता है। सम्प्रज्ञात समाधिकी प्रत्येक भूमिमें ही उसके आश्रयसे ज्ञानका विकास होता है। फिर सास्मित भूमिमें सालम्ब ज्ञानकी चरम शुद्धि सम्पन्न होती है। इसका पारिभाषिक नाम गृहीतसमापत्ति है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा—ज्ञानप्राप्तिका यही स्वाभाविक क्रम है। 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्' गीताके इस वचनमें भी ज्ञान-प्राप्तिके मूलमें श्रद्धाको ही स्थापित किया गया है। श्रद्धा-हीन व्यक्ति लाख प्रयत्न करनेपर भी ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता। भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधिमें चित्तका निरोध होनेपर भी अविद्याकी निवृत्ति नहीं होती। अविद्या तथा तज्जनित संज्ञा वर्तमान रहनेपर आत्मा मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता, यही योगशास्त्रका सिद्धान्त है।

निर्माणकाय और निर्माणचित्त

निर्माणकाय और निर्माणचित्तका विषय योगशास्त्रमें विशेषरूपसे आलोचित हुआ है। उच्च श्रेणीके योगी अनेक समय इसकी रचना करके आवश्यकतानुसार कार्य पूरा कर लेते हैं। लौकिक साहित्यमें इस प्रकारकी देह अथवा चित्तका वर्णन कहीं न होनेके कारण साधारणतः बहुत-से लोग इससे अपरिचित हैं। संसारमें हम साधारणतः जिस देहसे परिचित हैं वह भौतिक देह है। पञ्चभूत—उपादान-रूप हों अथवा एक उपादान और अन्य सब उपष्टम्भक-रूपमें हो—परस्पर सश्लिष्ट होकर स्थूल देहकी रचना करते हैं। इस रचनाके मूलमें अथवा भौतिक सयोगके मूलमें देहधारी जीवके पूर्वजन्मार्जित प्रारब्धकर्म वर्तमान रहते हैं। प्रारब्धकर्मसे देह उत्पन्न होती है। देहकी आयु अथवा स्थितिकाल, और उस देहमें जितने सुख-दुःखका भोग होता है वह उस प्रारब्धकर्मके द्वारा ही नियन्त्रित

होता है। परन्तु योगी केवल अपने सङ्कल्पबलसे अर्थात् प्रारब्धकर्मकी सहायताके बिना भी देहका निर्माण कर सकते हैं और करते भी हैं। अवश्य ही इस प्रकार देह-निर्माणकी नाना प्रकारकी प्रणालियाँ हैं। मन्त्रबलसे, द्रव्यविशेषके प्रभावसे, तपस्याके फलसे और समाधिसिद्ध योगीके योगके प्रभावसे इस प्रकार देह बनायी जा सकती है। विशिष्ट और प्राक्तन कर्म रहनेपर, केवल योनिविशेषमे जन्म ग्रहण करनेसे भी ऐसी देह प्राप्त हो जाती है। दृष्टिभेदसे इस निर्माणदेहको कोई-कोई निर्माणचित्त भी कहते हैं। न्यायकुसुमाञ्जलिमें उदयनाचार्यने प्रथम स्तबकके आरम्भमें पातञ्जल-सम्प्रदायका निर्देश करते हुए 'निर्माणकाय' शब्दका प्रयोग किया है। बौद्ध धर्मशास्त्रमे सर्वत्र धर्मकाय, सम्भोगकाय इत्यादिके साथ निर्माणकाय-का भी उल्लेख देखा जाता है। प्राचीन और मध्यकालीन बहुत-से बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थोमें इन सब भिन्न-भिन्न देहोका विशेष वर्णन है। खोज करनेकी इच्छा रखनेवाले पाठकों-को वसुबन्धु, असङ्ग, हरिभद्र आदि आचार्योंके ग्रन्थोंको देखनेसे इस विषयमे बहुत सी बातें मालूम हो सकती हैं। पञ्चशिखाचार्यने एक स्थानमें लिखा है कि परमर्षि कपिलने करुणावश निर्माणचित्तका अवलम्बन कर अपने शिष्य जिज्ञासु आसुरिका षष्टितन्त्रका उपदेश दिया था। निर्माणकाय और निर्माणचित्तमें वास्तविक कोई भेद नहीं। लौकिक देह और लौकिक चित्तमें जो भेद है उस प्रकारका कोई भेद योगिसङ्कल्पनिर्मित देह और चित्तमें नहीं रहता, क्योंकि सिद्ध योगीके सङ्कल्पसे जिस आकारकी उत्पत्ति होती है वह देखनेमें देहके समान होनेपर भी वास्तवमें वह चित्तके सिवा और कुछ भी नहीं है। वह इच्छाशक्तिके प्रभावसे निर्मित होता है, ऐसा प्रसिद्ध है।

यह निर्माणचित्त या निर्माणदेह एक होनेपर भी व्याव-हारिक दृष्टिसे भिन्न रूपोंमें प्रतिपादित होता है। प्रयोजक चित्त और प्रयोज्य चित्त नामक जो निर्माणचित्तके दो पृथक्-पृथक् भेद बतलाये जाते हैं, वे व्यवहारमूलक हैं। योगीके योगबलसे जो निर्माणचित्त बनता है उसकी प्रधान विशेषता यह है कि उसमे शुक्ल, कृष्ण या अन्य किसी प्रकारका कर्माशय नहीं रहता। अन्यान्य उपायसे रचित होनेपर निर्माणचित्तमें किसी-न-किसी आकारका कर्म-सस्कार लगा ही रहता है। इसी कारण ज्ञानलिप्सु अधिकारी शिष्यको ज्ञानका उपदेश देते समय योगी इस प्रकार चित्तनिर्माण करके उपदेश देते हैं। निर्माणदेहका अवलम्बन करके जो ज्ञानोपदेश आदि दिया जाता है उसमें भ्रम, प्रमाद आदि-की सम्भावना नहीं रहती। वास्तवमे यही गुरुदेह है। भौतिक देहसे तत्त्वज्ञानका उपदेश सशय अथवा विपर्यय-शून्य रूपमें नही दिया जा सकता। शुद्ध अस्मिता-तत्त्वसे यह देह निर्मित होती है। जैनाचार्योंने आचार्यदेह-के रूपमे जिस देहका वर्णन किया है, वह बहुत कुछ इसी जातिका है।

ब्रह्मचर्य और ऊर्ध्वरेता

आध्यात्मिक साधनामें उन्नति करनेके लिये ब्रह्मचर्यका विशेषरूपसे पालन करनेकी आवश्यकता है। वैदिक, तान्त्रिक, बौद्ध, जैन एव अन्यान्य देशोंके अन्यान्य प्रकार-के धर्मसम्प्रदायोमें भी इसकी आवश्यकता बतलायी गयी है। जिन ऋषियोने आश्रमचतुष्टयकी व्यवस्था की थी उन्होने भी इसीलिये सर्वप्रथम ब्रह्मचर्यको स्थान दिया था। ब्रह्मचर्यका पालन किये बिना शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक, किसी प्रकारका बल सञ्चित नहीं होता और बलका सञ्चय हुए बिना कार्यमें सिद्धि प्राप्त करनेकी आशा आकाशकुसुममात्र है। शास्त्रमें कहा है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः', अतएव इसमे कोई सन्देह नहीं कि ब्रह्मचर्यके बिना आत्माकी उपलब्धि नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्यका वास्तविक स्वरूप क्या है, यह बतलानेके लिये अनेकों प्रकारकी बातें कहनी चाहिये। परन्तु यह सोचकर कि वर्तमान प्रबन्धमें इस सम्बन्धमें विस्तारसहित आलोचना करना उचित नहीं, यहाँ केवल अत्यन्त आवश्यक दो-एक बातोंका उल्लेख किया जायगा।

साधारणतः लोग वीर्यधारणको ही ब्रह्मचर्य समझते हैं। वीर्यधारण ब्रह्मचर्यका एक प्रधान अङ्ग है, इसमें सन्देह नहीं और इस अङ्गका सम्यक् रूपसे पालन करनेसे इसके अन्यान्य अङ्ग सहज ही सिद्ध हो जाते है। जो लोग अष्टाङ्गमैथुनके त्यागको ब्रह्मचर्य बताते हैं, वे भी इस वीर्यरक्षाकी ओर ही अपना लक्ष्य रखकर इस प्रकारके लक्षण निर्धारित करते हैं। यह परिच्छिन्न ब्रह्मचर्य योगशास्त्रमे यमके अन्तर्गत माना गया है। बौद्धोंने भी शीलसम्पत्तिके अन्दर इसको प्रधान स्थान प्रदान किया है। जैन और अन्यान्य शास्त्रोंमें भी प्रायः उसी रूपमें देखा जाता है। ऋषिप्रणीत धर्मशास्त्र तथा गृह्य और

धर्मसूत्रादिमें ब्रह्मचारीकी आदर्श दिनचर्याके विषयमें बहुत-सी बातें कही गयी हैं।

जो लोग ब्रह्मचर्यके तत्त्वकी खोज करना चाहते हैं, वे थोड़ा-सा अनुसन्धान करनेपर सहज ही समझ सकते हैं कि बिन्दुका सरक्षण, संशोधन और उद्बोधन—ये तीन ही ब्रह्मचर्यके यथार्थ उद्देश्य हैं। ब्रह्ममें अथवा ब्रह्मपथमें जिसके द्वारा सञ्चार नहीं होता वह वास्तविक ब्रह्मचर्य नहीं। जो शास्त्रसिद्ध ब्रह्मचर्यसम्पन्न हैं वह वस्तुतः एकमात्र ब्रह्मपथमें ही सञ्चरण करते हैं। क्योंकि वासना, मिथ्या सङ्कल्प, इन्द्रिय-चाञ्चल्य और चित्तकी विक्षेपवृत्ति निवृत्त होनेपर बिन्दुकी जो आपेक्षिक साम्यावस्था होती है, वही ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठाकी प्रथम भूमि है; बिन्दुके क्षरणसे संसार, और बिन्दुकी स्थिरतासे अमृतत्व अथवा मोक्ष सिद्ध होता है। गणितशास्त्रमें जिस तरह वृत्त और त्रिकोण आदिका केन्द्र ही बिन्दु कहलाता है, उसी तरह देहतत्त्वविद्‌गण भी देहके अथवा कोषके केन्द्रको ही बिन्दु नामसे ग्रहण करते हैं। अन्नमय कोष या स्थूल शरीर जिसके आधारपर प्रतिष्ठित है, उसीको अन्नमय कोषका केन्द्र या स्थूल बिन्दु कहा जा सकता है। इसी तरह जिन प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोषके आधारपर सूक्ष्म शरीर गठित हुआ है, उनके भी कोषगत केन्द्ररूपमें एक-एक बिन्दु है। वेदान्तकी परिभाषाके अनुसार साधारणतः आनन्दमय कोषको ही कारण-शरीर कहा जाता है। कहना नहीं होगा कि इसका भी केन्द्र है और यही अमृतबिन्दुके नामसे परिचित है। ये सब बिन्दु वस्तुतः एक ही महाबिन्दुके देशगत और संस्कारगत भेदमात्र हैं। जबतक औपाधिक भेद वर्तमान रहता है तबतक यह भेद अनिवार्य है। इस भेदको मानकर ही क्रमशः इसके अतिक्रम करनेकी चेष्टा करनी होगी। जिस कारणसे बिन्दु क्षरित होता है, उसको रोके बिना बिन्दुकी ऊर्ध्वगति तो दूर रही, उसकी स्थिरता भी सम्भव नहीं। पहले स्थिररेता हुए बिना कोई भी ऊर्ध्वरेता-भूमिपर आरोहण नहीं कर सकता। जो लोग अप्राकृत कामबीजका रहस्य जानते हैं और जिन्होंने गुरूपदिष्ट प्रणालीसे रसतत्त्वका सम्यक् रूपसे परिशीलन किया है, वे इसे सहज ही समझ सकते हैं। साधारणत हठयोगी कहा करते हैं कि बिन्दुके स्थिर होनेपर प्राण भी स्थिर हो जाता है और प्राणके स्थिर होनेपर बिन्दु भी स्थिर हुए बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार बिन्दुके साथ मनका और मनके साथ प्राणका परस्पर सम्बन्ध समझना चाहिये। कौशलसे इनमेंसे किसी एकको भी बद्ध कर लेनेपर शेष दोको अधीन करना सहज हो जाता है। हठयोगशास्त्रमें तथा योगवासिष्ठरामायणमें इस सम्बन्धमें प्रासङ्गिक अन्यान्य बातें भी लिखी हैं। शास्त्रका यह सिद्धान्त अत्यन्त सारगर्भित है; क्योंकि हमने पहले ही कहा है कि एक ही बिन्दु आधारभेदसे भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकाशित हुआ है। अतएव साधकके पूर्वसंस्कार तथा योग्यताके अनुसार चाहे जिस स्थानमें सयम सम्भव हो, उसीसे अन्यान्य स्थानगत विक्षेप भी निवृत्त हो जाता है एव वहाँ-वहाँके बिन्दु भी स्थिरभावको प्राप्त हो जाते हैं।

चक्षु जिस समय रूप देखता है, श्रोत्र जिस समय शब्द ग्रहण करता है और अन्यान्य इन्द्रियाँ जिस समय अपना-अपना विषय ग्रहण करती हैं, उस समय वास्तवमें देहके मध्यमें स्थित बिन्दु ही क्षरित होकर उस-उस स्थानमें विषय-प्रतिभासके रूपमें जन्म ग्रहण करता है। बिन्दुका क्षरण हुए बिना विषय ग्रहण करना असम्भव है। अतएव जबतक हम इन्द्रियोंके मार्गसे विषय ग्रहण करते हैं तबतक तथाकथित रूपमें वीर्यरक्षा करनेपर भी व्यभिचार होता ही है। विषयका भेद हट जानेपर जब सर्वत्र ही ब्रह्मसाक्षात्कार होता है तब समझना चाहिये कि व्यभिचार निवृत्त हो गया है और साधक ब्रह्मचर्यमें स्थित हो गया है। बिन्दु क्षरित हुए बिना अखण्ड एव कूटस्थ ब्रह्मतत्त्व अपने सामने स्वय प्रकाशित नहीं हो सकता। अतएव ब्रह्मकी जो स्वयं-प्रकाश अवस्था है, जिस अवस्थामें एकमात्र विशुद्ध चैतन्य ही अपने सामने आप प्रकाशित है, वह भी ब्रह्मचर्यकी अवस्था है। उस अवस्थामें बिन्दुके क्षरित होनेपर भी वह सरल मार्गसे सम्पन्न होता है, इस कारण अद्वैत-भावमें व्याघात नहीं पहुँचता, भेदप्रतीति उत्पन्न नहीं होती और विषयसत्ता भी भासमान नहीं होती। यह अवस्था रहस्यदृष्टिसे 'उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य' की अवस्था है। इसीका अनुकरण करके समाजके अन्दर भी उपकुर्वाण ब्रह्मचर्यकी व्यवस्था की गयी है। गुणभेदसे उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य के तीन भेद हैं—शुक्ल, रक्त और कृष्ण। यहाँपर इनकी आलोचना नहीं करनी है। परन्तु जिसे नैष्ठिक ब्रह्मचर्य कहते हैं, उसमें बिन्दुक्षरण बिल्कुल ही सम्भव नहीं है। बिन्दुका

धारण नहीं हो सकता, इसी कारण उस निर्गुण ब्रह्मचर्या-चर्याकी गणना अव्यक्तभावके अन्दर होती है। सामाजिक दृष्टिसे विवाह न करना और विवाह करके स्वपत्नीके साथ संयत रहना दोनों ब्रह्मचर्यके स्वरूप हैं। पर-स्त्रीके प्रति तनिक भी चित्तमें आसक्ति उत्पन्न हो जानेपर ब्रह्मचर्यावस्थासे पतन हो जाता है। क्योंकि चित्तकी वह अवस्था व्यभिचारके ही अन्तर्गत मानी गयी है। स्वदाराके प्रति निरत रहनेपर भी चित्तसंयमके तारतम्यके अनुसार गुणभेदसे गृहस्थका ब्रह्मचर्य सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकारका होता है।

बिन्दुका शोधन सम्यक् प्रकारसे हुए बिना अन्य क्रिया-कौशलद्वारा उसे स्थिर करनेपर भी उसमें स्थायित्व नहीं आता। क्योंकि संस्कारात्मक मलके आकर्षणसे निर्दिष्ट स्थितिकाल अतीत होनेके बाद बिन्दु पूर्वकी तरह नीचेकी ओर गतिशील हो जाता है। वैदिक तथा तान्त्रिक साधनामें बिन्दु-साधनके अनेक प्रकारके उपाय निर्दिष्ट किये गये हैं। महायानसम्प्रदायके बौद्धोंके अन्दर भी वज्रयान, मन्त्रयान एवं सहजयानके साधनमार्गोंमें इस प्रकारके सूक्ष्म तथा अकृत्रिम उपायका वर्णन पाया जाता है। हठयोगमें अपना विशेष अधिकार प्राप्त करनेके लिये भी इस प्रकार बिन्दुस्थिरताके उपायका अवलम्बन किये बिना काम नहीं चल सकता। बिन्दु शुद्ध होनेपर ही वह स्वभावतः स्थिर होता है। इस स्थिर बिन्दुको किसी अलौकिक प्रक्रियाके द्वारा विक्षुब्ध कर लिया जाय तो वह स्वभावतः ही ऊर्ध्व दिशामें सञ्चरणशील हो जाता है। बिन्दुकी यह ऊर्ध्वगति प्रबुद्ध कुण्डलिनीके सहस्रारके आकर्षणसे ऊर्ध्वप्रवाहका नामान्तर है। बिन्दु क्रमशः स्थूलभाव छोड़कर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम अवस्थाको प्राप्त होता है और अन्तमें सहस्रदलकमलकी कर्णिकामें स्थित महाबिन्दुके साथ मिल जाता है। यही चित्तचन्द्रमाका षोडशी कलारूप अमृत बिन्दु है। नाभिग्रन्थिका भेद करके बिन्दुको ऊर्ध्वस्रोतमें संश्लिष्ट कर देना ही उपनयन या दीक्षाका यथार्थ तात्पर्य है। नाभिचक्रसे ऊपर उठे बिना बिन्दु माध्याकर्षणके चक्रसे मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। माध्याकर्षणके चक्रके अन्दर रहना संसारका ही दूसरा नाम है। ब्रह्मचर्यकी साधनाके द्वारा बिन्दुको विषय-जगत्से पृथक् करके, उसे पवित्र बनाकर, ब्रह्ममार्गमें लगाना ही संसारसे मुक्ति प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है। बिन्दुके विक्षुब्ध होकर ऊर्ध्वकी ओर सञ्चरण करनेपर ही नादका विकास होता है। अतएव नाभिचक्रसे ऊपर स्वाभाविक खेल नाद एवं ज्योतिके रूपमें अनुभूत होता है। यही शब्दब्रह्मके सञ्चारकी अवस्था है। इसके बाद नाद, ज्योति इत्यादिकी पूर्णतासे जो परम भावका उदय होता है, वही निजबोधरूप आत्मज्ञानका विकास है। इसका विशेष विवरण 'दीक्षा-तत्त्व' तथा तत्सम्बन्धी षडध्वशुद्धिकी आलोचनाके अङ्गीभूत है।

भगवान् पतञ्जलिने यह निर्देश किया है कि ब्रह्मचर्य धारण करनेसे वीर्यकी प्राप्ति होती है। वास्तवमें ब्रह्मचारीकी अवस्थाका ही वर्णन योगसूत्रमें प्रकारान्तरसे श्रद्धारूपमें किया गया है। ब्रह्मचर्यसम्भूत वीर्यकी प्राप्ति होनेपर देहके अन्दर दिव्य तेज अथवा विद्युत्-शक्तिका विकास होता है—इस तेजकी अधिकताके कारण चित्तकी चञ्चलता नष्ट हो जाती है, प्राणोंकी गति स्थिर हो जाती है और ध्येयकी ओर चित्तका एकतान प्रवाह उत्पन्न होता है। इसीका दूसरा नाम ध्यान अथवा स्मृति है। उपासनाका यही स्वरूप है। क्रमशः इन सबके घनीभूत होते-होते चित्तकी समाधि-अवस्था उत्पन्न होती है। चित्तके समाहित होनेपर ध्येय वस्तु आवरणविमुक्त होकर उज्ज्वलरूपमें स्वीयभावकी ज्योतिसे उद्भासित और प्रकाशित हो उठता है। उस समय चित्त तिरोहित हो जाता है और एकमात्र ध्येय ही उसके अनुभव-क्षेत्रमें जागरूक रहता है। कहना नहीं होगा कि यह ध्येय चित्तका ही एक आकारविशेष है, यह चित्तसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। इस प्रकाशको प्रज्ञाका उन्मेष अथवा ज्ञानचक्षुका खुल जाना कहते हैं। इस प्रज्ञाके निरुद्ध होनेके बाद जिस असम्प्रज्ञात समाधिका उदय होता है, वही वास्तवमें योग कहलाने योग्य है। ब्रह्मचर्य योगकी पूर्णावस्था प्राप्त करनेके लिये नितान्त आवश्यक है, इस संक्षिप्त विवरणसे सम्भवतः यह बात पाठकोंको अवश्य मालूम हो जायगी।

सिद्धिसे पारमार्थिक हानि

आध्यात्मिकमार्गमें सिद्धिका स्थान क्या है, इस विषयमें विभिन्न देशों तथा विभिन्न कालोंमें नाना प्रकारकी बातें कही गयी हैं। यहाँपर उन सबकी चर्चा करना अप्रासङ्गिक मालूम होता है। फिर भी सिद्धिकी सार्थकता

क्या है एवं कौन सिद्धि किस समयमें आध्यात्मिक साधनामें बाधक समझी जाने योग्य है, इसका यहाँ विचार करना आवश्यक है। बहुत लोगोंका ऐसा विश्वास है कि सिद्धि वाञ्छनीय नहीं और उसकी प्राप्ति होनेपर मुमुक्षु योगीके योगमार्गमें विघ्न उत्पन्न होता है। इस विश्वासके मूलमें कुछ सत्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु असलमें यह विश्वास भ्रान्त मालूम होता है, क्योंकि प्रत्येक वस्तुका सत् और असत् दो प्रकारका व्यवहार हो सकता है। व्यवहारके दोषसे वस्तु-सत्ता आक्रान्त नहीं होती। अग्निका स्पर्श करनेसे अबोध शिशुकी सुकुमार देह जल जाती है, इस कारणसे अग्निकी निन्दा करना अथवा उसका त्याग करना बुद्धिमानीका काम नहीं। अग्नि अपने स्वभावके अनुसार अवश्य कार्य करेगी। जो उसके स्वभावको जानकर और उसे नियन्त्रित करके अपना अभीष्ट कार्य पूरा कर सकता है, उसीको चतुर कहना उचित है। अग्निसे व्यवहारानुसार अच्छा या बुरा दोनों प्रकारका कार्य सम्पन्न होता है। परन्तु इसी कारण अग्निको उन सब कार्योंका दायी मान लेनेसे काम नहीं चलता। शक्तिमात्रको इसी प्रकार समझना चाहिये।

मधुमती भूमि और योगके विघ्न

भगवान् पतञ्जलिका नाम जिस योगसम्प्रदायके साथ संश्लिष्ट है, उसमें चार प्रकारके योगियोंका निर्देश मिलता है। उनमें प्रथम अवस्थापन्न योगियोंको 'प्रथमकल्पिक' कहा गया है। वे लोग अष्टाङ्गयोगसम्पन्न होनेपर ही योग-भूमिमें सद्य प्रवेश करते हैं, इसलिये इनकी गणना सबसे निम्न श्रेणीमें होती है। ये स्थूल समाधि-सिद्ध हैं अर्थात् वितर्कानुगत समाधिमें अधिकार प्राप्त करनेके कारण इनमें अन्तर्ज्योतिका स्फुरण होना आरम्भ हुआ है। चित्त समाहित हुए बिना ज्योतिका उन्मेष नहीं हो सकता। परन्तु ज्योतिका आविर्भाव होनेपर भी उसकी क्रमशः शुद्धि होनेकी आवश्यकता है। जबतक उसकी विशुद्धि नहीं होती तबतक तत्त्वोंको जीतकर (अर्थात् अपने वशमें करके) स्वयं योगकी उच्च भूमिपर नहीं पहुँचा जा सकता।

प्रथमकल्पिक अवस्थाके बाद योगी 'मधुमती' नामक योगकी दूसरी भूमिमें पदार्पण करते हैं। इस समय उनका चित्त अत्यन्त विशुद्ध होता है, इस कारण पदस्थ देवता, ऋषि, अप्सरा इत्यादि अनेकों उनके पास उपस्थित होकर नाना प्रकारके अलौकिक प्रलोभनोंके द्वारा उन्हें भुलानेकी चेष्टा करते हैं। ऐसी अवस्थामें साधारणतः मनुष्यके हृदयमें आसक्ति और अहङ्कारका भाव जग उठना स्वाभाविक है। परन्तु जो योगी गुणातीत आत्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेके लिये उद्यत हैं, उनके लिये ये सब क्षुद्र प्रलोभन सर्वथा उपेक्षाके योग्य हैं। जब वे संयत होकर चित्तमें बलका सञ्चय करके साधनपथपर अग्रसर होते हैं तब क्रमशः इन सब भयोंसे छुटकारा पा जाते हैं। यह मधुमती अवस्था ही योगियोंकी परीक्षाकी अवस्था है। प्रथम भूमिमें चित्त सम्यक् रूपसे विशुद्ध न रहनेके कारण देवता आदिके इस तरहके प्रलोभन देनेकी सम्भावना नहीं रहती। तथा तृतीय अवस्थामें समस्त प्रलोभनकी वस्तुएँ योगियोंके अपने सङ्कल्पके द्वारा निर्मित हो सकती हैं और योगी साधक स्वयं दिव्यभावापन्न होते हैं, इस कारण उनके लिये भी विशेष आशङ्काकी सम्भावना नहीं रहती।

तृतीय अवस्थामें योगी विशोधित प्रज्ञाज्योतिके द्वारा पञ्चभूतोंकी पाँच प्रकारकी अवस्थाओं तथा पञ्चेन्द्रियकी भी उसी प्रकारकी पञ्चविध अवस्थाओंके ऊपर अधिकार प्राप्त करके भूतजयी और इन्द्रियजयी हो जाते हैं। भूतजय होनेपर योगी वज्रके समान सिद्धदेह प्राप्त करते हैं और अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा आदि अष्ट महासिद्धियाँ प्राप्त करते हैं। ऐसे योगीकी देहपर पञ्चभूतोंके प्रभावसे आघात नहीं होता अर्थात् भौतिक पदार्थोंके गुण योगी-देहमें अपनी क्रिया नहीं करते। इन्द्रियजयद्वारा मनोजवित्व, विकरणभाव तथा प्रधान या मूलप्रकृतिपर विजय प्राप्त हो जाती है। योगशास्त्रमें इन सब सिद्धियोंका वर्णन 'मधुप्रतीक' के नामसे किया गया है। जिन योगियोंने भूतजयी तथा इन्द्रियजयी होकर इस प्रकार अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हैं, वे अधिकांशमें देवताओंके स्तरसे, शक्ति और शुद्धिमें ऊपर उठ गये हैं, यह निश्चित है। अतएव साधारण देवताके द्वारा उन्हें लोभमें डाले जानेकी कोई सम्भावना नहीं रहती। विशेषकर पञ्चभूत तथा पञ्चेन्द्रियपर योगियोंका अधिकार होनेके कारण उन्हें सृष्टि, स्थिति और संहार करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है और उनके चित्तमें विमल वैराग्यकी छटा छिटकी होनेके कारण वे ऐसा कोई भी अभाव अनुभव नहीं करते जिसकी निवृत्तिके लिये किसी भी प्रलोभनमें पड़नेकी सम्भावना हो।

इस प्रकार साधनाक्रमसे जब योगी भूतेन्द्रियराज्यको

अतिक्रमण करके 'अस्मिता' तत्त्वमें प्रतिष्ठित होते हैं तब वे सर्वज्ञ हो जाते हैं तथा सर्वदा सब भावोंमें अवस्थान करनेकी शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। योगशास्त्रकी भाषामें इसीका दूसरा नाम 'विशोका सिद्धि' है। यही वास्तविक जीवन्मुक्त योगियोंकी अवस्था है। इसके बाद पर-वैराग्यके साथ ही साथ त्रिगुणका राज्य क्रमशः समाप्त हो जाता है और योगी समस्त दृश्य तथा चिन्तनीय पदार्थोंकी सीमा पार करके, ऊपर उठकर अव्यक्त परमपदमें स्थित हो जाते हैं। यही चौथे प्रकारके योगियोंका स्वरूप है। भाष्यकार व्यासजीने इस सर्वश्रेष्ठ योगभूमिको 'अतिक्रान्तभावनीय' नाम दिया है।

हठयोग

हठयोगके आदि आचार्य कौन थे, यह बतलाना तो बहुत कठिन है। हमारे भारतवर्षीय आचार्योंका यह सिद्धान्त है कि सभी शास्त्रोंकी प्रथम प्रवृत्ति परमेश्वरसे ही होती है। इस कारण हठयोग भी ईश्वरप्रोक्त कहा जाता है। हठयोगी कहा करते हैं कि आदिनाथ श्रीशिवजी ही हठयोगके प्रवर्तक हैं। जिस विचित्र उपायसे मत्स्येन्द्रनाथने इस विद्याको प्राप्त किया था उसका ऐतिहासिक मूल्य कितना है, यह नहीं कहा जा सकता। हाँ, इस सम्बन्धमें एक दन्तकथा हठयोगके बहुत-से ग्रन्थोंमें मिलती है। मत्स्येन्द्रनाथकी तरह गोरखनाथ, चर्पटि, जलन्धर, कनेड़ी, चतुरंगी, विचारनाथ आदि नाथ-सम्प्रदायके आचार्योंने हठयोगमें निष्णात होकर संसारमें इसका प्रचार किया था। इस सम्प्रदायके इतिहास तथा शास्त्रकी आलोचना करनेपर हठविज्ञानकी बहुत-सी अवश्य जानने योग्य बातें मालूम हो सकती हैं। गोरक्षशतक, गोरक्षसंहिता, सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति, सिद्ध-सिद्धान्तसंग्रह, गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह, अमनस्क, योगबीज, हठयोगप्रदीपिका, हठतत्त्वकौमुदी, घेरण्डसंहिता, निरञ्जनपुराण इत्यादि बहुत-से साम्प्रदायिक ग्रन्थ आज भी मिलते हैं।

मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथके पूर्व भी हठयोगका प्रचलन था, इसमें सन्देह नहीं। कहा जाता है कि प्राचीन कालमें मार्कण्डेय मुनि इस योगके साधक थे।

> द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिभिरीरितः।
> अन्यो मार्कण्डपुत्राद्यैः साधितो हठसञ्ज्ञकः॥

गोरक्षोक्त हठयोगके छः अंग हैं—उसमें यम और नियम ग्रहण नहीं किये जाते। परन्तु मार्कण्डेय अष्टाङ्ग हठयोगके पक्षपाती थे। योगतत्त्व-उपनिषद्में भी हठयोगके आठ प्रकारके अङ्ग बतलाये गये हैं।

हठयोगकी पूर्ण परिणति राजयोग है। पातञ्जलदर्शनमें असम्प्रज्ञात समाधिके नामसे इसीका वर्णन किया गया है। हठयोगकी नियमित साधनाके द्वारा राजयोगकी सिद्धि होती है, इसी कारण आचार्यगण हठयोगका राजयोगके सोपानके रूपमें वर्णन किया करते हैं। इस राजयोगके प्रभावसे ही साधनशील जीव कालके पराक्रमसे छुटकारा पानेमें समर्थ होता है। हठयोगप्रदीपिकाके मतानुसार समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्त्व, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरञ्जन, जीवन्मुक्ति, सहज, तुरीय—ये सब राजयोगके नामान्तर हैं। स्वात्मारामने स्पष्ट ही कहा है कि कुम्भकद्वारा प्राणकी गति रुद्ध हो जानेपर चित्त निरालम्ब हो जाता है। ब्रह्मानन्दने भी अपनी टीकामें स्पष्ट लिखा है कि जिस समय सम्प्रज्ञात समाधिके बाद ब्रह्माकार स्थितिका उदय होता है उस समय पर-वैराग्य धारण करके चित्तको सम्यक् प्रकारसे निरुद्ध करना जरूरी है। इससे यह स्पष्ट ही समझमें आ सकता है कि हठयोगसे स्वभावतः राजयोगका विकास होता है।

देहशुद्धि हठयोगका अव्यवहित उद्देश्य है। योगियोंकी पारिभाषिक भाषामें यह घटशुद्धिके नामसे विख्यात है। घेरण्डसंहिताका मत है कि हठशास्त्रोक्त धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि एवं कपालभाति—इस षट्कर्मद्वारा देहकी शुद्धि होती है। देहकी दृढता और स्थिरता आसन और मुद्राका अभ्यास करनेसे सिद्ध होती है। तथा प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधिके द्वारा क्रमशः दैहिक धीरता, लघुता, आत्मप्रत्यक्ष तथा निर्लेपता सुसम्पन्न होती है। अनेक आचार्य आसन, प्राणायाम अथवा कुम्भक, मुद्रा या करण तथा नादानुसन्धान—इन चारको हठयोगका प्रधान प्रतिपाद्य विषय कहते हैं। इनमें आसनका अभ्यास विधिवत् करनेसे देहकी स्थिरता, निरोगता तथा लघुता सम्पन्न होती है। 'आसनेन रजो हन्ति'—यह सिद्धान्त योगिसम्प्रदायमें अत्यन्त प्रसिद्ध है। दीर्घ कालतक विधिके साथ आसनका अभ्यास करनेसे रजोगुणजनित देहकी चञ्चलता और मनकी अस्थिरता दूर हो जाती है। रोग विक्षेपका एक प्रधान कारण है—आसनके अभ्याससे

उसकी भी निवृत्ति हो जाती है। इस अभ्याससे तमोगुणकी क्रियासे उत्पन्न देहका भारीपन भी दूर होता है। देहमें सात्त्विक तेजकी वृद्धि होनेसे तमोगुणका ह्रास होता है और स्वभावतः ही देह हलकी हो जाती है। बार-बार अभ्यास करके आसनको स्थिर कर लेनेपर प्राणायामकी क्रिया सहजसाध्य हो जाती है। परन्तु नाडी-चक्र नाना प्रकारसे आच्छन्न रहनेके कारण वायु सुषुम्ना-मार्गमें प्रवेश नहीं कर सकती। इसीलिये प्राण-सग्रहके पहले नाडी-शोधनकी आवश्यकता होती है। नाडी विशुद्ध हुए विना उन्मनी-भाव अथवा मनोनिवृत्तिकी कोई आशा नहीं रहती। विधिपूर्वक प्राणायाम करनेसे सुषुम्नानाडीके अन्दरका समस्त मल नष्ट हो जाता है। शाण्डिल्य उपनिषद्के मतानुसार नाडीशोधन-प्राणायाम कई महीनेतक नित्य दो बार करना चाहिये*। देहकी कृशता, कान्ति, इच्छानुसार वायु-धारण करनेका सामर्थ्य, अग्निवृद्धि, नादकी अभिव्यक्ति और आरोग्यता—ये सब लक्षण जब क्रमशः आविर्भूत हो जायँ तब समझना चाहिये कि सब नाडियाँ शुद्ध हो गयी हैं†। त्रिशिखिब्राह्मण-उपनिषद्में लिखा है कि यम, नियम और आसन सिद्ध हुए विना प्राणायाम यथार्थ-रूपमें नहीं किया जा सकता। अतएव उस अवस्थामें नाडी-शुद्धिकी चेष्टा करना अनुचित है। हठाचार्योंका कहना है कि सब साधकोंके लिये षट्कर्मकी आवश्यकता नहीं होती। वायु, पित्त या कफ, इन तीनों दोषोंमेंसे किसी एक या दोकी अधिकता होनेपर षट्कर्मकी सहायता लेना आवश्यक है। घटशुद्धिकी तरह स्थूलताका नाश इत्यादि भी हठयोगका एक अव्यवहित फल है। याज्ञवल्क्य प्रभृति आचार्य कहते है कि जब एकमात्र प्राणायामके द्वारा ही समस्त मलकी निवृत्ति हो जाती है तब षट्कर्मकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

मुद्रासाधनका उद्देश्य यह है कि इससे ब्रह्मद्वार या सुषुम्ना-मुखसे निद्रिता कुलकुण्डलिनी जाग्रत् होकर ऊपरकी ओर उठती है। कुण्डलिनीके जागनेपर चक्र, और ग्रन्थि सबका भेदन होता है, प्राण अनायास सुषुम्नामें प्रवेश करता है, चित्त निरालम्ब होता है और मृत्युभय छूट जाता है। आधारशक्तिरूपा कुण्डलिनी समस्त योगाभ्यासका मूल अवलम्ब है। मुद्रा आठ प्रकारकी है और मुद्राके अभ्यासका फल है अष्टैश्वर्य-प्राप्ति।

योगकी कुछ आवश्यक बातें

त्रियोग—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग।

योगचतुष्टय—हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग और राजयोग।

द्विविध निष्ठा—सांख्ययोग और कर्मयोग।

द्विविध प्रकृति—परा और अपरा।

त्रिविध पुरुष—क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम (जगत्, जीव और भगवान्)।

वेदान्तके चार महावाक्य—अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, प्रज्ञान ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म।

सप्तज्ञानभूमिका—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभाविनी, तुर्यगा।

साधनचतुष्टय—नित्यानित्यवस्तुविवेक, वैराग्य, षट्-सम्पत्ति (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान), मुमुक्षुत्व।

त्रिविध नरकद्वार—काम, क्रोध, लोभ।

त्रिविध ज्ञानद्वार—श्रद्धा, तत्परता, इन्द्रियसंयम।

भक्तिके चार महावाक्य—कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्, मत्तः परतरं नान्यत्, ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्, मामेकं शरणं व्रज।

द्विविधा भक्ति—अपरा या गौणी, परा या रागानुगा।

नवधा भक्ति—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन।

पञ्चभाव—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर।

---

* टीकाकार कहते हैं कि ४३ दिन अथवा ३ मास, अथवा ४ मास, ७ मास या एक सालतक इस प्राणायामका विधान है।

† हठयोगप्रदीपिकामें तथा दशम उपनिषद्में कृशताकी बात आती है। शाण्डिल्य उपनिषद्में कृशताकी जगह लघुता शब्दका प्रयोग हुआ है। योगतत्त्व-उपनिषद्में एक ही साथ कृशता और लघुता दोनों पाठ मिलते हैं। शिवसंहिताके मतमें नाडी शुद्ध हो जानेपर दोष नष्ट हो जाते हैं, देहमें साम्य, सुगन्धि और कान्तिकी आभा प्रस्फुटित हो उठती है तथा स्वरमें माधुर्य सिद्ध हो जाता है।

अष्ट सात्त्विक भाव—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय।

प्रेमकी तीन अवस्थाएँ—पूर्वराग, मिलन और वियोग।

त्रिविध विरह—भूत, वर्तमान और भावी।

विरहकी दश दशाएँ—चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु।

चतुर्विध भाव—भावोदय, भावसन्धि, भावशावल्य और भावशान्ति।

द्विविध महाभाव—रूढ और अधिरूढ।

द्विविध अधिरूढ महाभाव—मोदन और मादन (या मोहन)।

आसन—चौरासी या एक सौ आठ। प्रधान दो—पद्मासन और स्वस्तिकासन।

मुद्रा और बन्ध—अनेक हैं। परन्तु पचीस मुख्य हैं। उनके नाम हैं—महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयानबन्ध, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्रोली, शक्तिचालनी, तडागी, माण्डवी, शाम्भवी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी, भुजङ्गिनी और पाँच धारणाएँ (पार्थिव, आम्भसी, वैश्वानरी, वायवी और आकाशी)।

षट्कर्म—धौति, गजकरणी, वस्ति, नौलि, नेति और कपालभाति। कोई-कोई त्राटकसमेत सात मानते हैं।

प्राणायाम—पूरक, कुम्भक और रेचक।

चतुर्विध पातञ्जलोक्त प्राणायाम—आभ्यन्तर, बाह्य और दो प्रकारके केवल प्राणायाम।

अष्टविध प्राणायाम—सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लाविनी। कुछ लोग अनुलोम-विलोमको जोड़कर नौ प्रकार मानते हैं।

दैनिक श्वास—२१६००।

योगसाधनमें तीन प्रधान नाडियाँ—इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना।

दश वायु—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय।

योगके षट्चक्र—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा।

योगके सप्त चक्र—उपर्युक्त छः और सातवाँ सहस्रार।

योगके नौ चक्र—उपर्युक्त सात और आठवाँ तालुमे ललनाचक्र और नवाँ ब्रह्मरन्ध्रमे गुरुचक्र।

षोडश आधार—१ दहिने पैरका अँगूठा, २ गुल्फ, ३ गुदा, ४ लिङ्ग, ५ नाभि, ६ हृदय, ७ कण्ठकूप, ८ तालुमूल, ९ जिह्वामूल, १० दन्तमूल, ११ नासिकाग्र, १२ भ्रूमध्य, १३ नेत्रमण्डल, १४ ललाट, १५ मस्तक और १६ सहस्रार।

तीन ग्रन्थि—ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि।

त्रिमार्ग—पिपीलिका-मार्ग, दार्दुर-मार्ग और विहङ्गम-मार्ग।

त्रिशक्ति—ऊर्ध्वशक्ति (कण्ठमें), अधःशक्ति (गुदामे) और मध्यशक्ति (नाभिमें)।

पञ्चभूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश।

पञ्चाकाश—आकाश, महाकाश, पराकाश, तत्त्वाकाश और सूर्याकाश।

वर्ण—पचास ('अ' से 'ह' तक)।

त्रिविध मन्त्र—पु, स्त्री, क्लीव।

चतुर्विध वाणी—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी।

योगके आठ अंग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

नियम—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान।

सयम—धारणा, ध्यान और समाधि।

क्रियायोग—तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान।

द्विविध ध्यान—भेदभावसे और अभेदभावसे।

द्विविध समाधि—सम्प्रज्ञात या सबीज और असम्प्रज्ञात या निर्बीज।

असम्प्रज्ञात समाधिके चार भेद—वितर्कानुगम, विचारानुगम, आनन्दानुगम और अस्मितानुगम।

असम्प्रज्ञातके दो भेद—भवप्रत्यय, उपायप्रत्यय।

पञ्चवृत्ति—मूढ, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

पञ्चक्लेश—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।

सप्तसाधन—शोधन, दृढ़ता, स्थैर्य, धैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्लिप्तता।

योगके विघ्न—व्याधि, स्त्यान, सशय, प्रमाद, आलस्य, विषयतृष्णा, भ्रान्ति, फलमें सन्देह, चित्तकी अस्थिरता, दुःख, मनकी खराबी, देहकी चञ्चलता, अनियमित श्वास-प्रश्वास, अनियमित और उत्तेजक आहार, अनियमित निद्रा, ब्रह्मचर्यका नाश, नकली गुरुका शिष्यत्व,

सच्चे गुरुका अपमान, भगवान्‌में अविश्वास, सिद्धियोंकी चाह, अल्प सिद्धिमे ही पूर्ण सफलता मानना, विषयानन्द, पूजा करवाना, गुरु बनना, दम्भ करना।

अष्ट महासिद्धि—अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और यत्रकामावसायित्व। कुछ लोग इनमें 'गरिमा' जोडकर इनकी सख्या ९ कर देते हैं।

चतुर्विध साधक—मृदु, मध्य, अधिमात्र और अधिमात्रतम।

चार अवस्थाएँ—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया।

पिपीलिकामार्ग और विहङ्गममार्ग

(लेखक—गङ्गोत्तरीनिवासी परमहस परिव्राजकाचार्य दण्डिस्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती)

हिन्दुओंके वेद, वेदान्त, उपनिषद्, पुराण, उपपुराण, सहिता, धर्मशास्त्र और तन्त्रशास्त्र, सभी एक स्वरसे कहते है कि साधनजगत्‌मे साधकको मुक्ति प्रदान करनेवाले दो प्रशस्त मार्ग विद्यमान है। उनमे एकका नाम है पिपीलिकामार्ग और दूसरेका नाम है विहङ्गममार्ग। अतएव यह जिज्ञासा होती है कि ये दोनो मार्ग क्या है ? तथा इन दोनों मार्गोंके प्रवर्तक कौन है ?

शुकश्च वामदेवश्च द्वे सृती देवनिर्मिते।
शुको विहङ्गम· प्रोक्तो वामदेवः पिपीलिका॥
अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद्विधिमुखेन वा।
महावाक्यविचारेण सांख्ययोगसमाधिना॥
विदित्वा स्वात्मनो रूपं सम्प्रज्ञातसमाधितः।
शुकमार्गेण विरजाः प्रयान्ति परमं पदम्॥
यमाद्यासनजायासहठाभ्यासात्पुनः पुनः।
विघ्नबाहुल्यसञ्जात अणिमादिवशादिह॥
अलब्ध्वापि फलं सम्यक् पुनर्मूत्वा महाकुले।
पूर्ववासनयैवायं योगाभ्यास पुनश्चरन्॥
अनेकजन्माभ्यासेन वामदेवेन वै पथा।
सोऽपि मुक्ति समाप्नोति तद्विष्णोः परम पदम्॥
द्वाविमावपि पन्थानौ ब्रह्मप्राप्तिकरौ शिवौ।
सद्योमुक्तिप्रदश्चैकः क्रममुक्तिप्रद· पर॥

(वराहोपनिषद्)

काम-क्रोधादि रिपुओंसे सङ्कुलित इस ससाररूपी महारण्यके सुदीर्घ मार्गमे ससार-पथ-श्रान्त-क्लान्त जीवके नित्य-सुख· परमशान्ति, स्थायी आनन्दके लीला-निकेतन निज भवनमे उपनीत होनेके लिये देवनिर्मित सुप्रशस्त दो मार्ग विद्यमान है—शुकमार्ग और वामदेवमार्ग। उनमे बालविरागी परम आत्मज्ञानी शुकदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्गको विहङ्गममार्ग तथा वामदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्गको पिपीलिकामार्ग कहा गया है। शुकदेवमार्ग और वामदेवमार्ग इन दोनों मार्गोंका अनुसरण करनेसे ससार-पथ-श्रान्त-क्लान्त जीवको मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु शुकदेवोपदिष्ट मार्गका अनुसरण करनेवाला महावाक्यविचारद्वारा अथवा सांख्ययोगसमाधिद्वारा अपने हृदयकमलके रक्त दलमें सजल जलद-जालमध्य चकितोज्ज्वला विद्युन्मालाके समान कोटिसूर्यप्रदीप्त, कोटिचन्द्रोत्फुल्ल, चिर-उज्ज्वल, चिर-ज्योतिष्मान् स्वस्वरूपको जानकर अनायास चिर-सुखशान्तिमय ब्रह्मानन्दसुखाह्वय परमपद मोक्षसाम्राज्यको प्राप्त करता है। और वामदेवमार्गका अनुसरण करनेवाला संसार-पथ-श्रान्त-क्लान्त जीव यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिरूप अष्टाङ्ग हठयोगका अभ्यास कर विघ्नबाहुल्यसञ्जात अणिमादि अष्ट सिद्धियोंको प्राप्त करता हुआ, कभी ऊर्ध्वगामी और कभी अध·पतित होता हुआ असीम सुषमाकर अनन्त वैचित्र्यपूर्ण नाना जीव-सङ्कुल, शोभनसौन्दर्यमय सुविशाल मर्त्यधामको पुन· लौटकर अतुल ऐश्वर्यका अधीश्वर होकर, राजराजेश्वरकी सुधाधवलित आकाशभेदी सुरम्य हर्म्यावलीमे निवास करता हुआ, पार्थिव सुखैश्वर्यको प्राप्त होता है, अथवा अणिमादि अष्टसिद्धिरूप फलको विना प्राप्त किये सत्कुलमें जन्म लेकर, पूर्वाभ्यासद्वारा पुन योगाभ्यास करते-करते, सौभाग्यसे ज्ञानोदय होनेपर परमशान्ति—मुक्ति प्राप्त करनेमे समर्थ होता है। अतएव यह ज्ञात हुआ कि वामदेवोपदिष्ट मार्गका अनुसरण करनेवाला जीव उत्थान-पतनके विवर्त्तनमे पडकर अनेक जन्मोंके बारबार प्राप्त किये हुए ज्ञानके क्रमविकाससे अनेकों जन्मोके अन्तमे परमपदलाभ करनेमें समर्थ होता है। परन्तु बालविरागी, ज्ञानरसिक शुकदेवके द्वारा उपदिष्ट

मार्गका अनुसरण करनेवाला जीव केवल भक्तिरसमें अपने हृदयको आप्लुतकर महावाक्यविचारद्वारा, साख्ययोग-समाधिद्वारा अथवा असम्प्रज्ञात समाधिमें स्थित होकर क्षिप्त मनका शान्तकर षड्रिपुओंका दमन कर, इन्द्रियोंके मार्ग-का अवरोध कर मिथ्या आडम्बरको त्यागकर, निर्लिप्तचित्त होकर, अपने हृदयकमलके रक्त स्तवकमें—

गतिर्भर्ता प्रभु साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।

—त्रितापहारी सनातनसखा जगज्ज्योतिकी दिव्य-द्युतिका निरीक्षण कर, ब्रह्मसायुज्यकारिणी, मोक्षद्वारके कपाटको अनावृत करनेवाली भक्तिदेवीके प्रसादसे देव-दुर्लभ मुक्तिलाभ करता है। अतएव शुकदेवमार्ग और वामदेवमार्ग, ये दोनों ही मार्ग ब्रह्मप्राप्तिकर और मङ्गलजनक हैं। इनमें विशेषता यही है कि शुकदेवमार्गका अनुसरण करनेवाला जीव आत्मकल्याणमें निरत होकर शीघ्र ही अभीष्टलाभ करनेमें समर्थ होता है, और वामदेवमार्गका अनुसरण करनेवाला जीव एक जन्ममें समर्थ नहीं होता, कितने ही युग-युगान्तर घूमते-घूमते अनेकों जन्म योगाभ्यासमें व्यतीतकर अनेक जन्मजन्मान्तरके बारबार प्राप्त ज्ञानके विकाससे अभीष्ट-लाभ करनेमें समर्थ होता है। अतएव बालविरागी शुकदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्ग ही सद्योमुक्तिप्रद है। तथा योगिराज वामदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्ग क्रममुक्तिप्रद है। तथापि दोनों ही मार्ग जीवके लिये कल्याणप्रद है। क्योंकि—

शुको मुक्तो वामदेवोऽपि मुक्त-
स्ताभ्यां विना मुक्तिभाजो न सन्ति ।
शुकमार्गं येऽनुसरन्ति धीराः
सद्यो मुक्तास्ते भवन्तीह लोके ॥
वामदेवं येऽनुसरन्ति नित्यं
मृत्वा जनित्वा च पुनः पुनस्तत् ।
ते वै लोके क्रममुक्ता भवन्ति
योगैः साङ्ख्यैः कर्मभिः सत्त्वयुक्तैः ॥

(वराहोपनिषद्)

ज्ञान-वैराग्य-रसिक बालविरागी शुकदेव गोस्वामी अथवा योगिराज वामदेव दोनों ही मुक्त पुरुष हैं। परन्तु इनमेंसे एकने तो शीघ्र ही मुक्तिलाभ किया है। और दूसरेने अनेकों जन्मोंके अन्तमें मुक्तिलाभ किया है। यही इन दोनोंमें अन्तर है। अतएव इन दोनों मार्गोंमें जो बालविरागी, वैराग्यरसिक शुकदेवके मार्गका अनुसरण करेंगे, वे अनायास ही सद्योमुक्तिलाभ करेंगे और जो उसे छोड़कर आयाससाध्य योगिराज वामदेवके मार्गका अनुसरण करेंगे वे पुनः-पुनः जन्म-मृत्युके विवर्त्तनमें पड़कर युगयुगान्तरके आवागमनके पश्चात् अनेक जन्मोंके पुण्यप्रभावसे अनेक जन्म धारणकर अष्टाङ्गयोगसाधन, सांख्ययोगसाधन तथा कर्मानुष्ठान कर साधनसम्पत्तिसे युक्त होकर सत्त्वगुणसे भूषित हो शुद्ध सत्त्वबुद्धिद्वारा अनेकों ज्ञानान्वेषण, प्रमाण-पर्यवेक्षण, ध्यान-धारणादिके द्वारा आत्मज्ञान होनेपर जन्म-जन्मान्तरके सञ्चित ज्ञानके क्रमिक विकाससे क्रममुक्ति प्राप्त करेंगे।

गीताका योग

(लेखक—श्रीगीतानन्दजी शर्मा)

श्रीगीतामाहात्म्यमें कहा है—

सर्वोपनिषदो गावो ... ...
... ... दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

अर्थात् 'गीतामाहात्म्य'कारकी सम्मतिमें गीता केवल उपनिषद् ही नहीं, किन्तु उपनिषदोंकी भी उपनिषद् है। गीताके उपनिषद् होनेमें यह प्रमाण अवश्य ही विचारणीय है। अन्तर्भूत प्रमाण गीताके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें कहा जानेवाला वाक्य है—अर्थात् 'इति श्रीमद्-भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ... ...' इत्यादि। इसपर यदि यह शङ्का हो कि यह वाक्य गीताकारका ही है—इस बातका कोई प्रमाण नहीं, हो सकता है कि किसी औरका हो, तो इसका अति सरल और सोपपत्तिक निराकरण यह है कि गीताके उपसंहारमें सञ्जयने 'इत्यहं वासुदेवस्य' (१८।७४) इत्यादिसे 'तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य।' (१८।७७) तक जो चार श्लोक कहे हैं उन्हींके आधारपर 'इति श्रीमद्-भगवद्गीतासु उपनिषत्सु ... ...' इत्यादि वाक्यकी रचना हुई है, यह बात उन श्लोकोंके साथ इस वाक्यको मिलाकर देखनेसे स्पष्ट ही प्रतीत हो जायगी। वे चार श्लोक ये हैं—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥
राजन् सस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥
तच्च सस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

१ इति	...	इत्यहमश्रौषम्
२ श्रीमत्	..	रूपमत्यद्भुतम्
३ भगवत्	...	साक्षात् योगेश्वरात्
४ गीतासु	..	कथयतः
५ उपनिषत्सु	...	परम्
६ ब्रह्मविद्यायां	...	गुह्यम्
७ योगशास्त्रे	...	योगम्
८ श्री	...	महात्मन.
९ कृष्णार्जुन	...	केशवार्जुनयोः
१० सवादे	...	सवादम्
११ (अमुक) योगो नाम	...	हृष्यामि मुहुर्मुहुः
१२ (अमुक) अध्यायः	...	सस्मृत्य सस्मृत्य।

इस अन्त.स्थ प्रमाणसे गीताका उपनिषद् होना निर्विवाद सिद्ध है। इसपर यह आपत्ति हो सकती है कि उपनिषद् होनेपर भी ऋषिगीत न होनेसे आर्ष उपनिषद् नहीं है—भागवत उपनिषद् है। यह तो इष्टापत्ति ही है। इससे इसका उपनिषदोंकी भी उपनिषद् होना सिद्ध हुआ।

इससे यह भी फलित हुआ कि गीताके पदोका (विशेषतः पारिभाषिक पदोका) वही अर्थ ग्राह्य है जो उपनिषद्के अनुसार सिद्ध हो।

गीताका प्रतिपाद्य विषय योग है। भगवान्का ही वचन है—

इम विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
'यह योग हमने विवस्वान्से कहा था।'

सजय भी साक्षी हैं—'व्यासप्रसादाच्छ्रुतवान् ... योगम्'—'व्यासदेवकी कृपासे मैंने यह योग सुना।' इसलिये इस लेखमें उपनिषद्की दृष्टिसे 'योग' शब्दका ही विचार करें।

परमात्माने 'अग्रे' सृष्टिविषयक जो 'ईक्षण' किया उसका स्वरूप यह था—'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय।' अर्थात् मैं एक हूँ, बहुत होऊँ, शरीर धारण करूँ।

इस सङ्कल्पके 'बहु स्याम्' अगकी पूर्ति हुई, तब 'बहुत्व' की—'संख्या'की सृष्टि हुई—अनेक जीव उत्पन्न हुए, अथवा यों कहिये कि भगवान् एक थे, अब अनेक हुए। यह भगवान्का 'संख्या' के साथ योग हुआ। भगवान् अनेक हैं, अनेक होते हुए भी एक हैं। यह भगवान्का 'सांख्ययोग' है। भगवान्ने अर्जुनको पहले यही 'सांख्ये बुद्धि.' दी। इसीका नामान्तर सात्त्विक 'कर्मचोदना' है। इस सात्त्विक ज्ञानकी दृष्टिसे नानात्व मिथ्या है। राजस ज्ञानकी दृष्टिसे वह सत्यवत् प्रतीत होता है। वस्तुत., 'नाय हन्ति न हन्यते'—यही सिद्धान्त है।

परमात्माके सङ्कल्पके शेष अश 'प्रजायेय' की जब पूर्ति हुई तब आत्माका शरीरसे योग हुआ। और फिर—

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयन चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च।

'उसका सृजन कर उसमें परमात्माने प्रवेश किया। वह सत् भी हुआ और असत् भी हुआ, निरुक्त भी और अनिरुक्त भी, निलयन भी और अनिलयन भी, सत्य भी और असत्य भी।'

अर्थात् क्रमसे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय शरीरपञ्चकमें प्रवेश करके भी—उपनिषद्की भाषामें 'शारीर आत्मा' होकर भी—वह अन्नमयातीत, प्राणमयातीत, मनोमयातीत, विज्ञानमयातीत और आनन्दमयातीत बने रहे। ब्रह्मसूत्रके शारीरक-भाष्यमें इसकी विशेष मीमांसा है।

यह परमात्माका शरीरके साथ योग है। गीतामें इसे केवल 'योग' कहा है। यथा—

बुद्धिर्ज्ञानमसमोहः क्षमा सत्य दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

दशमाध्यायके इन श्लोकोंमें प्रजाकी प्रवृत्ति और सृष्टि कथन करके इसे ही इसके बादके श्लोकमें 'योग' कहा है—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥७॥

नवमाध्यायके—

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ॥५॥

—इस श्लोकमे, तथा दशमाध्यायके—

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

—इस श्लोकमे 'योग' शब्द उसी औपनिषदार्थमें प्रयुक्त हुआ है।

तात्पर्य कि उपनिषद् और गीतामे, एक समयावच्छेदेन एक ओर अनेक, सशरीर और अशरीर होना ही 'योग' शब्दका मुख्यार्थ है।

विवक्षाके अनुसार तथा प्रसङ्गानुरोधसे गीताके विशेष स्थलोंमे 'योग' शब्दका यही अर्थ अभिप्रेत है। भिन्न-भिन्न स्थानोंमे भिन्न-भिन्न प्रकारसे कथित होनेपर भी गीतोक्त योगका लक्षण मूलतः एक ही है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
(२।४८)

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥
(२।५०)

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥
(६।२३)

—इत्यादि श्लोकोंमें भी 'योग' शब्दका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष भावसे वही एक ही अर्थ है।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥
(८।३)

यह सृष्टि, स्थिति, सहार करना भगवान्का 'कर्म' है। यह उनका कर्मयोग है। इसको गीतामें 'आत्मयोग' भी कहा है—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
(११।४७)

'मैंने प्रसन्न होकर आत्मयोगसे अपना परमरूप तुम्हे दिखाया।'

आत्मरूपसे अविकृत रहते हुए भी अनात्मजगत्से अभिन्न रहना ही भगवान्का योग है। गीतोपनिषद्के 'योगेश्वर' और 'योगमाया' शब्द भी वेदान्तसूत्रके ईश्वर और मायाकी अपेक्षा बहुत अधिक अन्वर्थक है। इनके गूढार्थकी सूक्ष्म मीमांसा करनेसे 'योग' शब्दका अर्थ और भी खुल जाता है।

तब योग क्या है? ब्रह्मका मायाके साथ युगपत् सयोगवियोग ही योग है।

कल्याण

योगका यथार्थ अर्थ समझना चाहिये। वह है 'श्रीभगवान्के साथ युक्त हो जाना', 'भगवान्को यथार्थमें पा लेना', या 'भगवत्प्रेमरूप अथवा भगवद्रूप हो जाना।' यही जीवका परम ध्येय है। जबतक जीव इस स्थितिमें नहीं पहुँच जायगा, तबतक न उसको तृप्ति होगी, न शान्ति मिलेगी, न भटकना बन्द होगा और न किसी पूर्ण, नित्य, सनातन, आनन्दरूप तत्त्वके सयोगकी अतृप्त और प्रच्छन्न आकाङ्क्षाकी ही पूर्ति होगी। इस पूर्णके सयोगका नाम ही योग है। अथवा इसको पानेके लिये जो जीवका विविधरूप सावधान प्रयत्न है उसका नाम भी योग है। यह पूर्णकी प्राप्तिका प्रयत्न जिस क्रियाके साथ जुड़ता है, वही योग बन जाता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, साख्ययोग, राजयोग, मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग आदि इसीके नाम हैं, परन्तु यह याद रक्खो कि जो कर्म, ज्ञान, भक्ति, ध्यान, साख्य, मन्त्र, लय या हठकी क्रिया भगवन्मुखी नहीं है, वह योग नहीं है, कुयोग है, और उससे प्राय: पतन ही होता है।

अतएव इन सब योगोमेसे, जिसमे तुम्हारी रुचि हो, उसीको भगवत्प्राप्तिका मार्ग मानकर ग्रहण करना चाहिये। ये सब योग भिन्न-भिन्न भी हैं और इनका परस्पर मेल भी है। यों तो किसी भी योगमे ऐसी बात नहीं है कि वह दूसरेकी बिल्कुल अपेक्षा न रखता हो, परन्तु प्रधानता-गौणताका अन्तर तो है ही। कुछ योगोका सुन्दर समन्वय भी है। गीतामे ऐसा ही समन्वय प्राप्त होता है। केवल शरीर, केवल वाणी, केवल मन, केवल बुद्धि आदिसे जैसे कोई काम ठीक नहीं होता, इसी प्रकार योगोंमे भी समझना चाहिये।

हाँ, इतना जरूर ध्यान रहे कि जिन योगोंमें मनका सयोग होनेपर भी (जैसे नेति, धौति आदि षट्कर्म, बन्ध, मुद्रा, प्राणायाम, कुण्डलिनी-जागरण आदि) शारीरिक क्रियाओंकी प्रधानता है, अथवा मन्त्र-तन्त्रादिसे सम्बन्धित देवविशेषकी पूजा-पद्धति मुख्य है, उनमें अज्ञान, अविधि, अव्यवस्था, अनियमितता होनेसे लाभ तो होता ही नहीं, उलटी हानि होती है। भाँति-भाँतिके कष्टसाध्य या असाध्य शारीरिक और मानसिक रोग हो जाते हैं। अतएव ऐसे योगोंकी अपेक्षा भक्तियोग, निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि उत्तम है, ये अपेक्षाकृत बहुत ही निरापद है। इनमें भी अनुभवशून्य लोगोंकी देखा-देखी अविधि करनेसे हानि हो सकती है, अतएव शान्त, शीलवान्, शास्त्रज्ञ एव अनुभवी गुरुकी—पथप्रदर्शककी सभी योगोंमें अत्यन्त आवश्यकता है।

परन्तु अध्यात्ममार्गका पथप्रदर्शक या गुरु सहज ही नहीं मिलता। भगवत्कृपासे ही अनेक जन्मार्जित पुण्य-पुञ्जके कारण अनुभवी और दयालु सद्गुरु मिलते है। हर किसीको गुरु बना लेनेमे तो बहुत ही खतरा है। आजकल देशमें गुरु बननेवालोंकी भरमार है। यथार्थ वस्तुस्थिति यह है कि आज अनेको लुच्चे-लफगे, काम और लोभके गुलाम साधु, योगी, ज्ञानी और महात्मा बने फिरते है। इन्हींके कारण सच्चे साधुओंकी भी अनजान लोगोंमें कद्र नहीं रही। दूधका जला छाछको भी फूँक-फूँक-कर पीता है, यह प्रसिद्ध कहावत चरितार्थ हो रही है। ऐसा होना अस्वाभाविक भी नहीं है, क्योंकि आज साधुवेशमें फिरनेवाले लोगोंमें व्यसनी, कामी, क्रोधी, लम्पट, दुराचारी मनुष्य या पेशेवर, धन कमानेवाले लोग बहुत हो गये है। लोगोंको ठगनेके लिये बडी-बड़ी बातें बनानेवाले और चालाकीसे भोले-भाले लोगोंको झूठी सिद्धिका चमत्कार दिखानेवाले, अथवा कहीं एकाध मामूली सिद्धिके द्वारा लोगोंमें अपनेको परमसिद्ध साबित करनेवाले लोगोंकी आज कमी नहीं है। आज हठयोगमें अपनेको सिद्ध माननेवाले लोग रोगी, ज्ञानयोग-में सिद्ध माननेवाले कामी, क्रोधी या मानी, लययोगमें सिद्ध माननेवाले शरीरकी नाडियोंसे और आभ्यन्तरिक अवयवोंसे अनभिज्ञ, भक्तियोगमें अपनेको परमभक्त बतानेवाले विषयी और मन्त्रयोगमें अपनेको सिद्ध प्रसिद्ध करनेवाले सर्वथा असफल पाये जाते है और इनपर भी अपनी मान-प्रतिष्ठा जमाने या कायम रखनेके लिये सिद्धाईका दावा करते देखे जाते है। ऐसे लोगोंसे साधकको सदा सावधान ही रहना चाहिये।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि आज सच्चे सिद्धिप्राप्त पुरुष है ही नहीं। हैं, अवश्य हैं, परन्तु लोगोंके सामने अपनेको सिद्ध प्रसिद्ध करके जान-बूझकर आसक्ति और स्वार्थवश कामिनी-काञ्चन या मान-सम्मान चाहनेवाले लोगोंमें तो कदाचित् ही कोई सच्चे सिद्ध होगे। सिद्धिप्राप्त पुरुषोंसे मेरा मतलब पातञ्जलोक्त अष्टसिद्धियों या अन्यान्य प्रकारकी सिद्धियोंको प्राप्त पुरुषोंसे नहीं है। किसी भी मार्गसे शेष सीमातक पहुँचकर जो भगवान्‌को प्राप्त कर चुके है, उन्हीं महापुरुषोंसे मेरा अभिप्राय है। ऐसे महापुरुष यौगिक सिद्धियोंकी और चमत्कारोंकी कोई परवा नहीं करते। वास्तवमे सिद्धियाँ परमार्थके मार्गमें बाधक ही होती है। जिसकी चित्तवृत्ति भगवान्‌की ओर नहीं लगी है और जिसमें थोडी भी विषयासक्ति बची है, ऐसा पुरुष यदि किसी साधनसे सिद्धियाँ पा जायगा तो इससे उसका अभिमान बढ जायगा, विषयोंकी प्राप्ति और उनके भोगमे सिद्धियोंका प्रयोग होगा, जिनसे भोगोंमे बाधा पहुँचनेकी आशङ्का या सम्भावना होगी, चाहे वह भ्रमवश ही हो, उनको वैरी समझा जायगा, और उनके विनाशमे सिद्धियों-का उपयोग किया जायगा। परिणाममें वह साधक रावण और हिरण्यकशिपु आदिकी भाँति असुर, और धीरे-धीरे राक्षस बन जायगा। अवश्य ही सिद्धियोंको पानेपर भी उनमें न रमकर, उन्हे तुच्छ मानकर लाँघ जानेवाला पुरुष भगवान्‌-को पा सकता है। परन्तु ऐसा होना है बड़ा ही कठिन। अतएव परमार्थके साधकगण ब्रह्मलोकतकका भोग और ब्रह्मातककी सामर्थ्य प्रदान करनेवाली सिद्धियोंसे भी अलग ही रहना चाहते है।

सच्ची सिद्धि तो अन्त.करणकी वह शुद्ध स्थिति है जिसमे भगवान्‌के सिवा दूसरेको स्थान ही नहीं रह जाता। ऐसी शुद्धान्त करणरूप सिद्धिको प्राप्त करके और फिर इसके द्वारा साधन करके जो भगवान्‌को प्राप्त कर लेते है, वे ही परमसिद्ध हैं। यह परमसिद्धि प्राप्त होती है अन्त.करणकी सम्यक् प्रकारसे शुद्धि होनेपर ही, फिर चाहे वह शुद्धि किसी भी योगरूप उपायसे हुई हो। ऐसे परमसिद्ध महात्मा भी मिल सकते है, परन्तु उन्हें प्राप्त करनेके लिये हृदयमें लगन होनी चाहिये। सच्चे सत्सङ्गके लिये जब हृदयमे छटपटाहट पैदा हो जायगी, जब सतमिलन-के लिये प्राण व्याकुल हो उठेगे, जब योगजिज्ञासारूपी

अग्नि प्रबल और प्रचण्ड होकर हृदयमें छिपे हुए चोरोंको भस्मीभूत कर देगी और अपने प्रखर प्रकाशसे विषयाभिलाषरूपी तमको नाश कर देगी, और सारे प्रपञ्चको जलाती हुई दौड़ेगी भगवान्‌की ओर, तब भगवान् स्वयं व्याकुल होकर उसे बुझानेके लिये सतरूपी मेघ बनकर अमृतवर्षा करेंगे।

एक महानुभाव ढोंगी नहीं हैं, उनके मनमें कामिनी-काञ्चन या मानका लोभ भी नहीं है, अच्छे शास्त्रज्ञ भी हैं, परन्तु साधन करके परमतत्त्वको पहचाने और पाये हुए नहीं हैं। योगग्रन्थोंके पण्डित हैं, परन्तु साधक या सिद्ध योगी नहीं हैं। ऐसे पुरुषका सग करनेसे शास्त्रज्ञान तो हो सकता है। ग्रन्थीय विद्याप्राप्तिके लिये ऐसे सज्जनको अवश्य गुरु बनाना चाहिये, और इसकी आवश्यकता भी है। क्योंकि ग्रन्थीय विद्या क्रियात्मिका विद्यामें बहुत सहायक होती है। परन्तु ऐसे गुरुसे पढ़कर साधना करना—क्रियात्मक योग साधना विपद्‌से शून्य नहीं है। इससे हानिकी बड़ी सम्भावना है। जब वैद्यक और इंजिनियरी आदिमें भी केवल पुस्तकज्ञानसे काम नहीं चलता, अनुभवी गुरुकी आवश्यकता होती है, तब योग-सरीखा साधन केवल पुस्तकज्ञानके आधारपर करना तो बहुत ही भयकी बात है।

अनुभवी गुरुसे जानकर भी यदि साधक उनकी बतायी हुई प्रत्येक बातको नहीं मानता, तो उसे भी सफलता नहीं हो सकती। बल्कि किसी-किसी प्रसगमें तो उलटा नुकसान हो जाता है। अतएव यदि योगसाधना करनी हो तो पहले चित्तमें दृढ़ निश्चय करो, फिर गुरुको खोजो, और भगवत्कृपासे गुरु मिल जायँ तब उनकी एक-एक छोटी-से-छोटी बातको भी महत्त्वपूर्ण और परमावश्यक समझकर श्रद्धापूर्वक उनका अनुसरण करो।

एक बात और है, सभी साधनोंका लक्ष्य मोक्ष या भगवत्प्राप्ति है। सारे ही योगोंकी गति उस एक ही परम योगकी ओर है। फिर ऐसा योग क्यों न साधना चाहिये, जिसमें रुकने या गिरनेका डर न हो, मार्गमें कष्ट भी न हो, सरल, सहज हो और इसी जीवनमें लक्ष्यतक पहुँच जानेका निश्चय हो। ऐसा योग है शरणागति-योग। भगवान्‌का अनन्य आश्रय लेकर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान्‌का सतत स्मरण करते हुए अपने जीवनके सभी कर्मोंके द्वारा उन्हींकी पूजा करना और जीवनको सम्पूर्णतया उन्हींपर छोड़कर निश्चिन्त हो जाना। यही शरणागति-योग है। और सभी योगोंमें विघ्न हैं, परन्तु यह सर्वथा निर्विघ्न है। अतएव इसीको परम साधन समझकर इसीमें लग जाओ।

योगका अर्थ

(लेखक—डा० श्रीभगवानदासजी, एम० ए०, डी० लिट्)

'कल्याण' के सम्पादकजीकी इच्छा है कि 'योग' के विषयपर 'योगाङ्क' के लिये लेख लिखा जाय। लेखसूची भी मिली। उसे देखकर लिखनेकी इच्छाके स्थानपर पढनेकी ही इच्छा प्रबल हुई। इन विषयोंपर प्रामाणिक लेख पढ़नेको मिलें तो अहोभाग्य। जिसको किसी विषयका साक्षात् अनुभव हो उसीको तो उस विषयपर लिखनेका अधिकार हो सकता है। अपने पास 'योग' का अनुभव नहीं। क्या लिखूँ? कई पत्र आये। इसलिये विवश होकर 'परोक्ष' और 'अपरोक्ष' अनुभवकी आड़में शरण लेकर, पढ़े और सुनेके भरोसे, कुछ लिखता हूँ, यद्यपि 'परोक्ष' भी और 'अनुभव' भी यह व्याहत-सी ही बात है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

(गीता ६। ४६)

योगकी महिमा ऐसी है। मेरे-ऐसा नितान्त अनजान उसपर क्या लिखे?

अमरकोषमें 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' कहा है। पुराणकालमें, जब देशकी बोली सस्कृत थी, तब युद्धके लिये योधाओंको 'सन्नहन', सन्नद्ध हो जाने, कवच पहनने और हथियार उठानेके लिये, 'योगो योगः' ऐसी पुकार होती थी। 'उपाय' को भी 'योग' कहते है। वैद्यकमें नुसखेको भी 'योग' कहते हैं—'इत्येको योग.', 'इति द्वितीयो योगः', अर्थात् रोगको दूर करनेका उपाय। 'ध्यान' के विशेष प्रकारका नाम 'योग' प्रसिद्ध ही है। 'सङ्गति', सङ्गम, दो वस्तुओंका मिलना भी 'योग' है। तथा 'युक्ति' भी। 'युक्ति' का अर्थ उपाय भी है, और विशेष तर्क भी, जो खण्डन-मण्डनका उपाय ही है। दूसरे कोषकारोंने 'योग' शब्दके पैंतीस-चालीसतक अर्थ

गिनाये है। इन सब रूढ अर्थोंका मूल यौगिक अर्थ ही है, अर्थात् दो पदार्थोंका मिलना, संयोग। यथा, योधाका कवच और हथियारसे सयोग, किसी इष्ट फलके साधनेके लिये विविध कारणों और करणोंका सयोग, औषधोंका सयोग, चित्तका ध्येय विषयसे सयोग, अन्ततः जीवात्मा-परमात्माका अभेदानुभवात्मक संयोग।

इस देशमें आपामरप्रसिद्ध रूढ अर्थ 'योग' का 'विशेष सिद्धि साधनेवाली चर्या' हो रहा है। शरीरकी और चित्तकी वह क्रिया, वह अभ्यास, जिससे कोई विशेष सिद्धि मिल जाय, 'योग' है। तथा योगी-योगिनी वह पुरुष या स्त्री जो कोई अलौकिक कर्म कर सके, जो साधारण मनुष्यकी शक्तिके बाहर है।

देशके इस भोले विश्वासके भरोसे, कितने ही ठग, केवल जटा बढ़ाकर, 'भभूत' (विभूति) रमाकर, आसन जमाकर, नशेकी चीजोंसे (गाँजा, भाँग, चण्डू, शराब आदिसे) आँख चढ़ाकर, तामस तपस्याके कुछ प्रकार साधकर, भीड़को दिखाकर, सीधी-सादी पर स्वार्थी—'कृपणा फलहेतव.', दुनियाकी छोटा-मोटा सुख उन जटाधारियों या दिगम्बरोंसे चाहनेवाली, जनताको धोखा देते फिरते हैं। ऐसोंसे आप खबरदार रहना और दूसरोंको करना, यह इस समयमें आवश्यक पहला कर्तव्य है। दूसरा कर्तव्य है योगके सच्चे अर्थका पता लगाना।

गुरवो (योगिनो) बहवस्तात शिष्यवित्तापहारकाः।
विरला गुरवस्ते ये शिष्यसन्तापहारकाः॥

सूफियोंने भी कहा है—

ऐ बसा इब्लीस् आदम-रूय अस्त।
पस् बहर् दस्ते न बायद् दाद दस्त॥

'आदमीकी शकल बनाये बहुतेरे शैतान दुनियामें फिरते रहते हैं, इसलिये जल्दीसे किसी आदमीको योगी और गुरु मानकर उसके हाथमें अपना हाथ रख देना नहीं चाहिये।' योगकी चर्चा भारतवर्षकी हवामें भरी है—हिन्दुओंमें 'योग' के नामसे, मुसल्मानोंमें 'सुल्क' के नामसे। पुराण-इतिहासमें, योगवासिष्ठमें, साम्प्रदायिक ग्रन्थोंमें, स्मृतियोंमें, दार्शनिक ग्रन्थोंमें, हठयोगप्रदीपिका, घेरण्डसहिता, गोरक्षसहिता आदि सैकडों निबन्धोंमें, हठयोग, राजयोग, लययोग आदि तरह-तरहके योगोंकी बातें लिखी हैं। पर 'श्रुतिप्रत्यक्षहेतव', कही-सुनी बातको प्रत्यक्ष कर दिखानेवाले प्रायः मिलते नहीं। मिलें भी कैसे? जैसे खोजनेवाले वैसे पाये जानेवाले।

साँचे मनके मीता प्रभुजी, साँचे मनके मीता।

सच्चे मनसे कोई खोजता नहीं, सासारिक लालचोंसे ही खोजता है। इसलिये ढोंगी, दाम्भिकों, ठगोंको ही पाता है। योगसूत्रभाष्यमें कहा है—'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोग.।' जिसका मन सचमुच स्वाध्यायमें, मोक्षशास्त्रोंके अध्ययनमें, प्रणव आदि पवित्र मन्त्रोंके जपमें, सच्ची मुमुक्षासे, लगा हो, उसके पास देवता, ऋषि, सिद्ध पुरुष, आप ही आकर उसकी सहायता जाग्रदवस्था अथवा स्वप्नावस्थामें करते हैं। बिना सात्त्विक तपस्याके, बिना यमनियमादिका अशतः भी सेवन किये, 'योग' कैसे मिले? कठोपनिषद्में कहा है कि कठिन परीक्षाके बाद यमराजने नचिकेता बालकको 'योगविधिं च कृत्स्नम्' बताया। तथा मुण्डकमें कहा है—

तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवच्चैस्तु चीर्णम्। नैतदचीर्णव्रतोऽधीते।

जिन्होंने 'शिरोव्रत' नामक योग और तपस्याके प्रकारका चरण नहीं किया वे ब्रह्मज्ञानके अधिकारी नहीं। देवीभागवतके एकादश स्कन्धमें 'शिरोव्रत' के प्रकारका संकेत किया है। सुप्त 'कुण्डलिनी' शक्तिके जागरण, उत्थापन, सञ्चालन, शिरःस्थित ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त उन्नयन आदिकी बात 'शिरोव्रत' के सम्बन्धमें कही है। पर इस सबका ठीक अर्थ क्या है, 'कुण्डलिनी' क्या है, उसका उत्थापन, संनयन कैसा होता है, यह सब केवल पोथीमें पढ़ लेने, या जबानी कह-सुन लेनेसे ही नहीं समझमें आता। यह प्रक्रियाके, अभ्यासके, और सद्गुरुकी देख-रेखमें ही प्रयोगके, अधीन है। वायुयानका वर्णन अच्छी वैज्ञानिक पुस्तकमें भी पढ लेनेसे, वायुयानको बनाने और उड़ाने-चलानेकी शक्ति नहीं हो जाती। विशेषज्ञ प्रयोक्ताके पास बहुत परिश्रम और अभ्याससे ही हो सकती है।

भगवद्गीताके सात सौ श्लोकोंमें, योग', योगी, युक्तः, योगारूढ., युञ्जन्, युञ्जीत, योगयज्ञा', योगमेवया, सांख्ययोगौ इत्यादि 'युज्' धातुसे बने शब्द और उनके साथ समस्त पद एक सौ अठारह बार आये हैं। गीताकी शब्दानुक्रमणी देखनेसे यह जान पड़ता है। इनके सिवा, प्रति अध्यायके समाप्तिपर जो उनका नाम दिया है उसको भी गिनें तो अठारह और होते हैं। 'आत्मा', 'अहं', 'बुद्धि',

'योग'—ये ही चार शब्द और इनके प्रकार-विकार सबसे अधिक बार गीतामें कहे गये हैं। स्वय श्रीकृष्ण भगवान्ने 'योग' की परिभाषा क्या की है?

समत्वं योग उच्यते (२।४८)
योगः कर्मसु कौशलम् (२।५०)
निःस्पृहः युक्त उच्यते

अर्थात्—

योगो निःस्पृहता स्मृता (६।१२)
दुःखसयोगवियोगं योगसंज्ञितम् (६।२३)
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुख वा यदि वा दुःख स योगी परमो मतः॥
(६।३२)

अर्थात्—

(आत्मौपम्येन सर्वत्र योगस्तु समदर्शनम्।)
श्रद्धावान् भजते यो मा स मे युक्ततमो मतः।
(६।४७)
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
(१२।२)
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥
(९।३४)
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मा नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
(१८।६४-६५)

अर्थात्—

(आत्मश्रद्धात्मभक्तिश्चाप्यात्मयज्ञनमस्क्रिये।
आत्मन्येवापि मनसः सर्वथा विनिवेशनम्॥
अयं गुह्यतमः श्रेष्ट परो योगतमः स्मृतः।)

सारांश, श्रीकृष्णजीका मत यही है कि जीवका परमात्माके साथ अपना अभेद सर्वदा सर्वथा अनुभव करते रहना, और इसके कारण सब जीवोंके साथ 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' व्यवहार करना—यही परमयोग, जीवात्मा-परमात्माका अभेदात्मक सयोग, और भेदभावजनित दुःखोंका वियोग है। यहाँ 'योग' शब्द योगसे साधनीय अवस्थाके अर्थमें कहा गया है। योग तो साधन है। जीवात्मा-परमात्माका अभेद, कैवल्य, यह साध्य है।

योगसूत्र, योगभाष्यके सिद्धान्त सब इस निष्कर्षके अनुकूल ही जान पड़ते हैं।

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' 'तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्।'

चित्तकी वृत्तियोंका, भेदानुभवात्मक स्वच्छन्द प्रवृत्तियोंका, निरोध करना—यह योग है। यदि सब वृत्तियोंका निरोध हो जाय तो द्रष्टा, पुरुष, जीवात्मा, अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, 'अहमेव केवलः' 'अहमेव न मत्तोऽन्यत्' (भागवत ११।१३।२४), इस 'कैवल्य' का अनुभव करता है। योग-सूत्र-भाष्यमें जीवात्मा-परमात्माके अभेदकी चर्चा नहीं की है, साख्यानुकूल 'पुरुषबहुत्व' माना है, और 'पुरुषविशेष ईश्वरः', 'पूर्वेषामपि गुरुः, कालेनानवच्छेदात्', 'क्लेशादिसे अपरामृष्ट', 'निरतिशयसर्वज्ञबीज' आदि कहा और माना है। वेदान्तकी दृष्टिसे यह ठीक नहीं पड़ता। इसीलिये ब्रह्मसूत्रमें 'योगः प्रत्युक्तः' कहा है। पर योगशास्त्रकी प्रारम्भिक दृष्टिसे ही पुरुषविशेष देख पड़ता है। अन्तिम दृष्टिका वेदान्तदृष्टिमें ही पर्यवसान होता है। क्योंकि पुरुषविशेष भी, और कालावच्छिन्न, क्लेशाद्यपरामृष्ट भी, यह बात बनती नहीं। 'विशेष' तो देश-कालादिसे अवच्छिन्न होता है। योगाभ्यास, मनन, विचारणका, भेद-दृष्टि, विशेष-दृष्टिसे, जीव आरम्भ करता है। अन्तमें अभेदका, कैवल्यका, दर्शन करता है। तब अपने असली स्वरूपको, परमात्मासे अपनी एकताको, पहचानता है, और उसमें स्थित हो जाता है—'तदा द्रष्टु स्वरूपे, स्वे महिम्नि, भूम्नि, अन्यनिषेधके, भेदभावप्रतिषेधके, स्वभावे, स्वविभवे, विभुत्वे, व्यापकत्वे, स्थिति.,' 'अहमेव सर्वः'।

एकका निरोध, दूसरेका अनुरोध। वृत्तियोंका, दृश्योंका निरोध, द्रष्टाका अनुरोध। एक ओर वैराग्य, दूसरी ओर अभ्यास। एक ओरसे हटना, दूसरी ओर सटना। प्रकृतिकी विकृतियोंको, विकारोंको छोडना, आत्माको पकड़ना। 'एतत् न इति' के साथ 'अहम् इति' कहना। यदि ऐसा न होता तो केवल निषेधात्मक निरोध अकिञ्चित्कर होता, सुषुप्ति—निद्रामात्र होता।

योगसूत्रभाष्यके प्रक्रियांशको छोड़कर दर्शनाशमें जो अन्य शङ्काएँ उठती हैं उनका यों ही समाधान करना उचित जान पड़ता है। यथा 'वृत्तय. पञ्चतय्यः', पाँच प्रकारकी वृत्तियोंमें 'विपर्यय' को गिनाया है और फिर 'पञ्चक्लेशा.' में अविद्याको प्रथम कहा है, और उसका लक्षण 'विद्याविपरीत ज्ञानमविद्या' कहा है। अर्थात् जो 'विपर्यय' वही 'अविद्या'। और अविद्या ही मुख्य क्लेश है, अन्य चार क्लेशोंकी जड़मूल है। पर 'वृत्तयः पञ्चतय्य.

क्लिष्टाक्लिष्टाः' यह भी सूत्रहीमे कहा है। तो 'विपर्यय'-रूपिणी, 'अविद्या'-रूपिणी, 'मिथ्याज्ञान'-रूपिणी, 'मुख्य क्लेश'-रूपिणी वृत्ति 'अक्लिष्ट' भी हो सकती है—यह बात जल्दी समझमे नहीं आती। एव चित्तवृत्ति-का निरोध करनेवाला कौन है, स्वय चित्त हो या पुरुष? परन्तु पुरुष तो अपरिणामिनी चितिशक्ति है, निष्क्रिय है। और चित्त अपना निरोध क्यो करे, किस उद्देश्यसे करे? यदि इष्टसाधनबुद्धिपूर्वक उसमें अपना आत्मघात करनेकी शक्ति है (जो कि व्याहत बात है) तो फिर वही चैतन्यमय सर्वशक्तिमान् ठहरा, उससे भिन्न, 'पुरुष' क्यो माना जाय? ऐसी ही सूक्ष्मेक्षिकाओंके कारण आरम्भिक दृष्टिको छोड़कर अन्तिम दृष्टिपर स्थिति करना पडता है। वही 'सम्प्रज्ञात-योग' का मुख्य लक्ष्य वा साध्य जीवन्मुक्ति-दृष्टि जान पड़ती है। तथा 'असम्प्रज्ञातयोग' की पराकाष्ठा यह जान पडती है कि जब भेदभाव सर्वथा अस्त हो जाय और उसका सूचक स्थूल सूक्ष्म आदि शरीर कुछ भी न रहे, तब विदेह कैवल्य प्राप्त हो।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

जीवात्मा-परमात्माका योग, अभेदात्मक सयोग ही मुख्य योग। इस एकत्वके 'प्रत्यभिज्ञान', पहिचानको जगानेवाले उपाय—गौण योग। यो तो, 'योग समाधि, स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्म.' (योगभाष्य)। चित्तकी सभी पाँचो क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र, समाहित भूमियो, अवस्थाओमें, कमवेश 'योग' होता है। तितलीके पीछे ओर दौड़ाता हुआ क्षिप्तचित्त बच्चा, गुरुजीके आदर वा भयसे, वर्णमालाकी पोथीमे 'क', 'ख' पर जो एक-एक क्षणके लिये मनोयोग कर देता है, वह भी उस क्षणमे और उस क्षणभरके लिये योग ही है। एव लेलाके लिये मजनूँकी, एव 'पाती लेके आये दौरे, ऊधो तुम भये बौरे, योग कहाँ राखै, यहाँ रोम-रोम स्याम है' यह व्रजगोपिकाओ-की, सात्त्विक विक्षिप्त अवस्था तो (जो द्वैतभावात्मक भक्तिकी दृष्टिसे 'एकाग्रता' और 'समाधि' की भूमियोसे भी ऊँची है) योगसे अधिकांश भरी है। इसीसे तो 'इश्के मजाजी' को, मानवस्नेह—प्रेम—अनुरागको, 'इश्के हकीकी' का, 'वासुदेव. सर्वमिति', 'सर्वमात्मैवाभूत्', विश्वभक्तिका, दर्वाजा कहा है। एव पश्चिम देशके यशस्वी विज्ञानाचार्योंने बड़ी-बडी गवेषणासे बडे-बड़े आविष्कार किये है, बड़ी-बडी वैज्ञानिक सिद्धियाँ साधी हैं, यह सब चित्तकी चौथी भूमि, बड़ी एकाग्रताका फल हैं। बल्कि यह कहना भी अनुचित न होगा कि कुछ अशतक पाँचवीं भूमि 'समाधि' में पहुँचनेसे, 'स्वरूपशून्य इव' 'तन्मय इव', 'अर्थमात्रनिर्भास इव' होनेसे, मिली है।

योग-सूत्र-भाष्य प्रभृति ग्रन्थोमे कही हुई सिद्धियाँ इन वैज्ञानिक सिद्धियोसे बहुत आगे बढकर है। इनकी भी चर्चा एक सूत्रमें की है। 'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः'। वैज्ञानिक सिद्धियोंको यदि ओषधिजा और मन्त्रजा और तपोजा कहें तो अनुचित न होगा। हाँ, 'ओषधि' 'मन्त्र' और 'तप.' शब्दोका अर्थ थोडा सकोच छोडकर विस्तारसे करना होगा। योगोक्त सम्प्रज्ञात समाधिजा सिद्धियाँ कठिन तपस्या और अभ्याससे मिलती है—ऐसी पोराणिक प्रथा है, और स्पष्ट ही है कि सहजमे नहीं मिल सकती।

समाधावुपसर्गाः, व्युत्थाने सिद्धयः।

—कहकर ऐसी सिद्धियोका अपवाद-सा भी योगसूत्रमे किया है। तथा भागवतके एकादश स्कन्धके १४, १५, २८ आदि अध्यायोमे भी, स्वय श्रीकृष्णजीके मुखसे, यथा—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौम न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥
अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम्॥
नहि तत्कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः॥

इत्यादि।

साथ ही इसके यह भी कहा है—

जितेन्द्रियस्यायुक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः॥
उपासकस्य मामेव योगधारणया मुनेः।
मद्धारणा धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्लभा॥
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः।
जन्मौषधितपोमन्त्रैर्यावतीरिह सिद्धयः।
योगेनाप्नोति ताः सर्वा. नान्यैर्योगगतिं व्रजेत्॥
सर्वासामपि सिद्धीना हेतु. पतिरहं प्रभु।
अहमात्मान्तरो बाह्योऽनावृत सर्वदेहिनाम्॥

अर्थात् जो परमात्माकी उपासनामें लीन हैं,

सर्वभूतहिते रत है, सर्वमय हो रहा है, उसको विशेष स्वार्थइच्छा किसी प्रकारकी सिद्धियोंकी नहीं हो सकती। हाँ, जीवन्मुक्तावस्थामें, शरीरधारणावस्थामें, कालक्षेपके लिये, स्थूलेन्द्रियोंके प्रयोग और मात्रास्पर्श और तत्तद्विषय-सम्पर्क और तज्जनित सुख-दुःख कम हो जानेपर, दिव्य अनुभवार्थ, तथा अधिक लोकोपकारशक्त्यर्थ, अन्तरात्माकी प्रेरणासे आपसे आप सिद्धियाँ उपस्थित हो जाती हैं।

निष्कर्ष यह कि योगसाधनद्वारा, स्वार्थबुद्धिसे, सिद्धियोंकी आकांक्षा-अभिलाषा न करे, नहीं तो दुर्गति होगी, जैसी दानवों, दैत्यों, राक्षसोंकी, कठिन-कठिन तपस्यासे, भारी-भारी सिद्धियाँ और शक्तियाँ प्राप्त करके हुई, और जैसी प्रत्यक्ष, हमलोगोंकी आँखोंके सामने, पाश्चात्य विज्ञानकी यन्त्रात्मक सिद्धियोंसे पाश्चात्य तथा पौरस्त्य समस्त मानवजगतकी हो रही है।

एकमात्र सात्त्विक भावसे 'आत्मौपम्येन सर्वत्र' सर्वदर्शी हो, 'मन्मना' हो, तपस्या, सद्व्यवहार, त्याग, धर्मका आचरण करे, जबतक शरीर रहे तबतक। यदि इस बीचमें, उसकी चित्तशुद्धिके कारण, अन्तरात्मा-परमात्माको ही मजूर हो कि उसके शरीरसे कुछ विशेष लोकसेवा ली जाय, तो वही इस शरीरमें सिद्धियाँ स्वयं उत्पन्न करेगा, जैसे विश्वासपात्र सज्जनको लोग अपनी निधि न्यास-रक्षाके लिये आप सौंपते हैं, वह माँगने नहीं जाता, और उन सिद्धियों-शक्तियोंसे लोकसेवा अधिक कर सकेगा।

इस प्रकारसे यही समझमें आता है कि—

'समत्वं योग उच्यते', 'योगः कर्मसु कौशलम्'।
अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥

वेदान्त और योग

(लेखक—डॉ० श्रीमहेन्द्रनाथ सरकार)

हिन्दुस्तानका जीवन और तत्त्वज्ञान सदा एक साथ रहा है। तत्त्वज्ञानका अर्थ हिन्दुस्तानमें केवल 'पदार्थोंको विचारदृष्टिसे देखना' ही नहीं है। तत्त्वज्ञानका वास्तविक अर्थ तो आत्मप्रकाश है। इसलिये हिन्दुस्तानके तत्त्ववेत्ता केवल सिद्धान्तका प्रतिपादन कर चुप नहीं रहते, किन्तु साथ ही ऐसी साधना भी बतलाते हैं जिससे आत्मबोधके जो अनेक स्तर हैं वे खुल जायँ और अन्तमें सत्यका साक्षात्कार हो। वेदान्तमें इस विषयकी समीक्षा विचारदृष्टि तथा अन्तर्दृष्टि दोनोंसे होती है। इसलिये यह एक 'दर्शन' भी है और साथ ही आत्मस्फूर्ति भी।

इसकी विचारदृष्टिमें सविशेष ब्रह्म और निर्विशेष ब्रह्म दोनों एक चीज नहीं है, ब्रह्म एक ही है और वह निर्विशेष है, उसपर मायाका जो विश्वप्रपञ्च दीखता है वह केवल भ्रम है। अद्वैत वेदान्तका यही परम सिद्धान्त है और इस सिद्धान्तको माननेवाला कोई भी साधक तबतक सन्तुष्ट नहीं हो सकता जबतक उसे 'तत्त्वमसि' महावाक्यका साक्षात् अनुभव न हो। इस सत्यके अनुभव करनेका सर्वोत्तम मार्ग यही है कि बुद्धि इतनी निर्मल और ज्ञान-प्रवण हो जाय कि वह सदसत् या नित्यानित्यके भेदको अनुभव कर सके। वेदान्तकी साधना मुख्यतया ज्ञान-साधना है, जिसके अभ्याससे धीरे-धीरे वह बोध होता है जिससे सब पदार्थ एक ही सनातन सत्तामें देख पड़ते हैं। वेदान्तकी मुख्य साधना 'दृश्यमार्जन' है अर्थात् पदार्थों और उनके रूपोंको नित्यानित्यवस्तुविवेकसे देखकर सत्को असत्से अलग करना। इस व्यतिरेक-क्रमसे साधकको सबके आधारभूत एक ही सत्की सत्ताका साक्षात्कार हो सकता है।

वेदान्तके मननादिरूप अभ्याससे ऐसी विचारप्रणाली बँधती है और मनको ऐसा अभ्यास पड़ जाता है कि पीछे सदसत्का ज्ञान (विचारकी अपेक्षा न रख) अपने-आप ही होने लगता है और सत्की जो सर्वत्र व्याप्त समसत्ता है वह अनुभूत होती है। वेदान्त दार्शनिक सिद्धान्तके नाते सत्के साथ नामरूपात्मक जगत्का समन्वय नहीं साध सकाहै; क्योंकि इसका सिद्धान्त ही यह है कि नामरूपात्मक जगत् ब्रह्म पर आरोपित एक मानसिक व्यापार मात्र है, यथार्थमें ब्रह्ममें उसकी कोई सत्ता नहीं है। कारणमें कार्यके होनेकी बातको वेदान्त परमार्थतः नहीं स्वीकार करता, यद्यपि यह मानी हुई बात है कि कारण ही कार्यके रूपमें भासता है।

सामान्य सांसारिक बुद्धिमें यह नामरूपात्मक जगत् सत्य है। इसलिये वेदान्त सृष्टिरचनाका क्रम बतलाते हुए, माया और ईश्वर इन दो तत्त्वोंको मानकर चलता है। मायाको ब्रह्मका व्यष्टितत्त्व माना है। इस व्यष्टितत्त्वकी सत्ता अवश्य ही वैसी नहीं है जैसी कि ब्रह्मकी सत्ता।

वेदान्तका विचार इस प्रकार है कि मनुष्यकी बुद्धिको जब यह तत्त्वजिज्ञासा होती है कि इस दृश्य जगत्का कारण क्या है, तब उसे कारणके लिये मूल सत्ताकी ही भावना करनी पड़ती है। यह मूल सत्ता अवश्य ही ऐसी सत्ता है जिसमें इस नामरूपात्मक विश्वकी विविध रचनाके लिये किञ्चित् भी कोई विकार नहीं उत्पन्न होता। व्यष्टितत्त्व केवल मायामें कल्पित है।

परब्रह्मके अन्दर अपने आपको परिच्छिन्न और परिवृत करनेवाला जो तत्त्व है उसे माया कहते हैं। मानो ब्रह्म अपने सङ्कल्प और सृष्टिक्रममें अपने आपको बाँधता है। पर यह केवल प्रतीत होता है, ऐसा है नहीं।

इस ज्ञानके आधारपर वेदान्तकी साधना प्रतिष्ठित है, इस कारण इसमें दृश्य जगत्से विरक्तका भाव धारण करना स्वाभाविक ही हो गया है। वेदान्तमें जीवनको प्रापञ्चिक और पारमार्थिक दोनों ही रूपोंमें साधा जाता है और यद्यपि प्रापञ्चिककी सत्ता वेदान्तने अस्वीकार की है तथापि उसके व्यावहारिक उपयोगको उसने ग्रहण किया है। इसी दृष्टिसे वेदान्तने जीवनमें तथा आत्मानुभूतिके क्षेत्रमें भी एक नया रास्ता निकाला है—गन्तव्य स्थानपर पहुँचनेके पश्चात् अवश्य ही इस रास्तेका कुछ महत्त्व नहीं रह जाता। बात यह है कि वेदान्तका वास्तविक कार्य चैतन्यको अज्ञानसे मुक्त कर देना है; पर मुक्ति भी क्रमशः होती है, पहले साधकके जीवनमें ऐसी शुद्धता और सूक्ष्मता आती है जो सामान्य सांसारिक जीवनमें नहीं होती। वेदान्तमें आध्यात्मिक जीवनके दो भाग किये जा सकते हैं—एक अध्यात्ममूलक व्यावहारिक साधन और दूसरा आध्यात्मिक परा गति। पूर्वोक्त साधन करते हुए चित्त शुद्ध और बुद्धि-बोधशक्ति सूक्ष्म होती जाती है। यह साधनावस्था देहाभिमानी अबोध प्राकृत जीवनकी अपेक्षा उन्नत जीवन है। यह दिव्य जीवन है, क्योंकि इसमें क्रमशः उन शुभ वृत्तियोंका उदय होता है जो अज्ञानमें दबी रहती हैं और जीवनमें स्वच्छता और पवित्रताका आनन्द आता है, यहाँ साधनामें तो क्रमविकास हो रहा है, पर इस हालतमें भी लक्ष्य वही निर्गुण ब्रह्म है जिसमें कोई विकार नहीं होता। यह विकास अवश्य ही अधिक सूक्ष्म है, क्योंकि इसमें दैवी वृत्तियाँ उदय होती हैं और विकासक्रममें यह ऊँची चढ़ाई है, तथापि जीवनका सूत्र जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें वही एक ही चला आता है और इस कारण द्विधाविभक्त बोधके बोझसे जीवन दब जाता है।

वेदान्तमें आत्मानुभवके दो मार्ग हैं—(१) प्रत्यक्ष, और (२) अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष मार्ग है नित्यानित्यवस्तु-विवेक। इसका ऐसा अभ्यास हो कि छोटी-छोटी बातोंमें भी मन विवेकसे च्युत न हो और प्रत्येक पदार्थमें उसी अविकार्य सत्को ढूँढे।

परन्तु प्रत्येक पदार्थमें सत्को ढूँढनेकी इस वृत्तिसे बाह्य पदार्थोंकी सत्ताका लोप हो सकता है और पदार्थ-मात्रके मूलमें अव्यय चैतन्य प्रकट हो सकता है।

इस प्रकार दृश्यमार्जनकी पद्धतिसे जैसे पृथक् सत्ता-सी प्रतीत होनेवाली अनात्म प्रकृतिके रूपमें भासनेवाला बाह्य अन्तराय नष्ट हो जाता है, वैसे ही आभ्यन्तर प्रकृति (मन-बुद्धि आदि) के अवहित निरीक्षण-क्रमसे उसकी भी अनित्यता और क्षण-क्षणमें पलटनेकी वृत्ति प्रकट हो जाती है। यह भ्रम भी दूर हो जाता है कि हमारी चेतनप्रकृति स्वभावसे गतिशील है।

वेदान्तने हमारी आन्तर प्रकृति और हमारे चित्स्वरूपमें भेद बताया है। मनुष्यका अन्तःकरण चित्स्वरूपको प्रतिबिम्बित करता और प्रकाशयुक्त देख पड़ता है; पर यह आत्माकी अन्तःकरणपर पड़ी हुई केवल छाया है।

यहाँ भी, वेदान्तमें, विचारणाके द्वारा आन्तर प्रकृतिके चक्करोंमेंसे बाहर निकलकर अन्तर्हित आत्माको पुनः प्राप्त करना होता है। इसके लिये चेतन प्रकृतिके केन्द्रस्थानमें अर्थात् उस कालातीत सत्तामें जो आन्तर प्रकृतिकी अप्रतिहत सतत गतिमें सदा स्थिर और अ-व्यवहित रहती है, दृष्टिको एकाग्र करना पड़ता है। आन्तर प्रकृतिकी विकृतियोंको इस प्रकार देखनेका जो अभ्यास है उससे दृष्टि विशाल होती है और क्रमशः अन्तःसाक्षीका साक्षात्कार होता है। यह अन्तःसाक्षी शान्तिस्वरूप है और मन, बुद्धि, अहङ्कारकी वृत्तियोंके खेलका द्रष्टा है। यह द्रष्टा है, नैयायिकोंका कर्ता नहीं, यह मोक्षस्वरूप है, काल और कालावच्छिन्न आन्तर प्रकृतिसे सर्वथा मुक्त।

द्रष्टा गुणी या कर्मी नहीं है, उसमें गुण और कर्म होनेका मतलब तो यह होगा कि उसका द्रष्टृत्व और कर्तृत्व अन्तःकरणमें आबद्ध है। यह मोक्षस्वरूप है, वैसा कर्ता नहीं जो अन्तःकरणमें अपना प्रतिबिम्ब डाले, उसे प्रकाशित करे, अभिप्राय व्यक्त करे अथवा किसी प्रकारका भी कोई काम करे। द्रष्टाके इस मुक्तस्वरूपको श्रीमत्शङ्कराचार्यने पहचाना, कैंट आदि नहीं पहचान सके।

मोक्षस्वरूप द्रष्टृत्व ही आध्यात्मिक और पारमार्थिक अनुभूतिकी पराकाष्ठा है। इस अनुभूतिमें जीव और ईश्वर, क्षरपुरुष और विराट्पुरुष इस प्रकारका कोई भेद नहीं रह जाता। कारण, यथार्थमें वेदान्तका 'तत्त्वमसि' महावाक्य किसी प्रकारका समन्वय नहीं है, बल्कि वह परा स्थिति है जिसमें भेद या समन्वयका कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। अतः वास्तविक वेदान्तिक साधना उसी परम बोधको प्राप्त होनेका प्रयास है जहाँ ये सामान्य सङ्कुचित भेदज्ञान नहीं रह पाते।

वेदान्तकी साधना इसी ज्ञान-धारणापर निर्भर करती है कि अनेकत्व जो कुछ देखनेमें आता है वह सब मिथ्या है और चिन्मय ब्रह्मका जीव या ईश्वररूपमें घनीभूत होकर कर्म करना भी मिथ्या है और अद्वितीय सत्य केवल वही परब्रह्म है जो इन सबके परे है। सविशेष और निर्विशेष ब्रह्मके इस भेदको जानना और सविशेषको अनित्य और मिथ्या मानना वास्तविक ज्ञानका आरम्भ है। पर सविशेषका केवल अनित्य माननेसे पूरा काम नहीं होता, इसके साथ इसके परे जो अद्वितीय सत्य है उसकी खोज होनी चाहिये। इससे उस चैतन्यके कपाट खुलते हैं जो न अक्रिय है न सक्रिय, मन और वाणीसे जिसका वर्णन ही नहीं हो पाता।

ऐसी साधना और ऐसी अनुभूति उन उदार आत्माओंसे ही बन पड़ती है जिन्होंने प्रखर वैराग्यसाधन किया है और बोधशक्तिका तुरीय भाग खोल दिया है।

इस बोधको प्राप्त होनेकी अवस्था पहले तर्कसे जानी जा सकती है, पर है यह यथार्थमें मनकी साधना। वस्तु जब प्रत्यक्ष या समीप होती है तभी विश्वासकी पूर्णता होती है। इसका यह मतलब है कि इस वेदान्त-सिद्धान्तका सतत मनन और निदिध्यासन हो। इससे वृत्ति ब्रह्माकार होती है और मन और अहङ्कारकी दुस्तर मायाको तर जानेमें बड़ी मदद मिलती है और मन अन्तर्मुख होकर जीवनके उस क्षेत्रमें प्रवेश करता है जो देशकालके परे है। वेदान्तमें योगका माहात्म्य यही है।

'योग' शब्दके अनेक अर्थ और रूप हैं, पर इसका जो सर्वसम्मत अर्थ है वह चैतन्यके विविध स्तरोंका खुलना ही है। और योगका लक्ष्य प्रायः आत्माकी विज्ञानमय स्थितिपर पड़े हुए आवरणको हटाना, चित्तको अधिकाधिक चिन्मय बनाना और विश्वजीवनके जगमग प्राणस्वरूपको अपने अन्दर अनुभव करना होता है। विज्ञानमय जीवनका जो विस्तृत क्षेत्र है, जो विविध ब्रह्माण्डोंमें तरतमभावसे प्रकट हुआ है, जीव उसी क्षेत्रमें पहुँचनेकी इच्छा करता है। योगसे विश्वजीवनका सूत्र हाथमें आता है और जीव भगवत्सत्ताके साथ सगुणरूपमें मिलना चाहता है।

यह मार्ग अप्रत्यक्ष है, क्योंकि यह सान्त साकार चैतन्यको आधारभूमिके तौरपर ग्रहण करनेका एकबारगी निषेध नहीं करता। पर इसका लक्ष्य क्रमशः सान्त जीवनमें अनन्त जीवनको भरना और सान्त चिन्मय सत्ताको अनन्तकी वृत्ति, शक्ति और शान्तिमें मिला देना ही है। जो लोग उपासनामार्गी हैं और अपर ब्रह्मका ध्यान करते हैं उन्हें सगुण ब्रह्मका साक्षात्कार होता ही है।

इस योगका वास्तविक स्वरूप एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके सगुण रूपका एकाग्रध्यान और उसीमें मिलना है। यह मिलन अन्तःकरणमें होता है और तब शान्ति और शक्तिका उदय होता है। पर इसमें साधनकी मुख्य और गुप्त बात यह है कि हमारे स्थूल शरीर और स्थूल प्राण हमारे वशमें हों और सूक्ष्म प्राण और सूक्ष्म अन्तःकरणके साथ अपने जीवनका अभेद-सम्बन्ध हो।

जब हमारी प्रकृतिकी जडता दूर होगी तब सगुण ब्रह्मकी सूक्ष्म जीवनधाराओंकी अनुभूति होगी। पर इस मार्गकी परिसमाप्ति तब होती है जब अन्तःकरणमें सगुण ब्रह्मका, केवल जब कभी नहीं बल्कि, सतत अनुभव हो। जिनको ऐसा सतत अनुभव होता है उनमें प्रचण्ड शक्ति और अगाध ज्ञान होता है, क्योंकि सगुण ब्रह्मके साथ उनका जीवनसूत्र इस तरह मिला हुआ होता है कि ईश्वरीय कार्योंकी उन्हें स्पष्ट सूचना मिलती रहती है और विश्वजीवनकी गतिके साथ-साथ उनके पैर पड़ा करते हैं।

यह जो सगुण-साधक योग है उससे ईश्वरप्रोत्यर्थ कर्म करनेकी वृत्ति अत्यन्त प्रबल होती है और वह सायुज्य-मुक्तिके साधनके लिये साधकको तैयार करती है।

वेदान्तके इस योगमें जीव और शिवकी जो एकरूपता होती है वह एकरूपता केवल परात्पर ब्रह्मकी स्थितिमें ही नहीं होती—परात्पर ब्रह्मके साथ एकरूप होना तो इस योगकी परिसमाप्ति ही है—बल्कि त्रिगुणात्मक जगत्कर्ममें भी ईश्वरके साथ जीव एकरूप होता है और यह यों होता है कि वेदान्तमें व्यवहारतः जीव और ईश्वरमें भेद है, परमार्थतः नहीं है। इस तरह मनुष्यकी इच्छा और ईश्वरकी इच्छामें भेद है, और इसलिये वेदान्तमें मनुष्यकी इच्छा और ईश्वरकी इच्छाके योगका विधान है। वेदान्तकी साधनामें योगके इस अङ्गपर जो

अधिक ध्यान दिया-दिलाया जाता है, इसका कारण यह है कि मोक्षका ध्यान मुख्य होनेसे इसका ध्यान दब-सा गया है।

ईश्वर और जीवकी इच्छाके एक होनेका अर्थ तो वास्तवमें यही है कि मनुष्यकी इच्छा ईश्वरेच्छाके पूर्ण शरणागत हो, पर यह शरणागति 'जो कुछ होता है, होने दो' ऐसा मानकर चुप पड़े रहनेकी स्थिति नहीं है, बल्कि अपनी इच्छाको नये सॉचेमें ढालना है और अपनी वृत्तिको विश्वकी गतिके साथ मिलाना है । इस प्रकार मनुष्यका चित्त अहङ्कार और ममकारकी सीमा तोड़कर अन्तमें अपने परमात्मस्वरूपको अनुभव करता है । तब वह विधि-निषेधरूप कर्मके बन्धनसे मुक्त हो जाता है और उस लोकमें प्रवेश करता है जहॉ सब चित्त पृथक् होते हुए भी एक होते हैं और यहॉ उसका व्यष्टि-अहङ्कार और ममकार पीछे छूट जाता है। वेदान्तके सिद्धान्तके अनुसार मनुष्यकी चित्तवृत्ति इतनी विशाल हो सकती है कि उसमें अहंता-ममता कुछ रह ही न जाय । चित्तका वास्तविक मोक्ष यही है, क्योंकि इसीसे उसको अपने स्वच्छन्द, विश्वव्याप्त और विधिनिषेधातीत तथा निरहङ्कार स्वरूपका बोध होता है ।

यही चित्तका मोक्ष है, क्योंकि यही चित्तको सब प्रकारकी सीमाओंसे मुक्त कर देता है । पर यह मोक्ष वह मोक्ष नहीं है जो परात्पर ब्रह्मके साक्षात्कारसे प्राप्त होता है । यह केवल चित्तवृत्तिका स्वातन्त्र्य है, और वह आत्माका स्वातन्त्र्य है । वेदान्त आत्मस्वातन्त्र्यको ही उच्चतर स्थिति मानता है, जिसमें ज्याता-ज्ञान-ज्ञेयकी त्रिपुटी समाप्त हो जाती है ।

इस सगुण ब्रह्मके साथ एकात्मता होनेसे अहता-ममतारूप सत्ता बदलकर सत्ताका कुछ दूसरा ही स्वरूप हो जाता है और अपनी ससीमताका ध्यान भी नहीं रहता । यद्यपि पूर्वके सस्कार इस अवस्थामें भी उठकर अहङ्कारके समवस्थित करनेमें सचेष्ट होते हैं तथापि सगुण ब्रह्मके साथ एकात्मताका जो भाव है वह अहभावसे क्रमशः मुक्ति दिलानेवाला है । और उससे अन्तःकरणमें अनन्तकी सत्ता स्थापित होती है । अन्तःकरणका इस प्रकार पूर्ण परिवर्तन होनेसे बाह्य जगत्के अनुभव करनेका प्रकार भी बदल जाता है । फिर व्यक्तिगत या व्यष्टिगत स्वरूपमें रमना नहीं होता, अव्यक्त अनन्तकी अनुभूति होने लगती है ।

यह मानना कि पृथक् मन और अहङ्कारके बिना कोई प्रतीति नहीं हो सकती, गलत है । प्रतीति—अनुभूति—बोधको अहङ्कारकी विमूढतासे मुक्त करना ही वेदान्त सिखाता है ।

इस मुक्तिके बिना चित्तवृत्ति या इच्छाका मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि बोधशक्ति और चित्तवृत्तिका बडा घनिष्ट सम्बन्ध है । दोनों एक साथ ही रहती हैं । इस प्रकार वैयक्तिक मनोगत इच्छा या सङ्कल्पसे मुक्त होकर ही साधक विश्वात्मा और विश्वसङ्कल्पको साक्षात् करके विश्वबोधके आनन्दको प्राप्त होता है ।

बोधशक्ति और चित्तवृत्तिको इस प्रकार नियत करनेसे इतना ही होता है कि मुक्तिका आस्वाद मिलनेसे आगे बढ़नेको जी चाहता है—इससे यह नहीं होता कि त्रिगुणकी वृत्तियोंसे पूर्ण मोक्ष मिल जाय । कारण, यह भी साधनकी अवस्था है—चेष्टा है और चेष्टा चाहे कितनी भी स्वय स्फूर्त हो वह बद्धताका ही लक्षण है—मुक्त आत्मस्वरूप नहीं । इसलिये वेदान्तका अन्तिम लक्ष्य इस सगुणकी अवस्थाके परे पहुँचना है । यह तब हो सकता है जब हम विश्वात्मबोधसे क्रमशः ऊपर उठकर उस परम भावको प्राप्त हो जहॉ कोई इच्छा नहीं है, केवल एक अद्वितीय परमात्मसत्ता है—वहॉ कोई चेष्टा नहीं है, न फल पानेका कोई सुख है, प्रत्युत एक ऐसा आनन्द है जो चिन्मय है ।

पूर्वसाधनासे चित्तवृत्ति उन्नत, उदार और विशाल होती है, और उत्तर साधनासे परा सत्ता—परम भावका बोध होता है । चित्तवृत्ति देशकालसे सर्वथा स्वाधीन नहीं है, उसे कार्यरूपमें व्यक्त होनेके लिये किसी-न-किसी माध्यमकी आवश्यकता होती है और माध्यमकी इस आड़के कारण अद्वितीय ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं हो सकता । इसलिये वेदान्तमें योगका वास्तविक परम अर्थ वह साधन है जिससे देशकालाद्यनवच्छिन्न नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव परमात्मचैतन्यमें चित्त लग जाय—पूर्वसाधनामें चैतन्यका जो देशकालावच्छिन्न परिचित-अभ्यस्त व्यक्त रूप है उससे चित्त मुक्त हो, क्योंकि देशकालावच्छिन्नता ही यहॉ बद्धता है । कैंटके 'विशुद्ध तर्क' वाद (Pure reason) में बुद्धिकी विषयातीत सत्ता होनेसे उसमें देशकालसे स्वतन्त्र स्वत-सिद्ध बुद्धिके साथ बाह्य जगत्के तदनुरूप होनेवाले बोधकी समन्वित एकता साधित हो सकती है, पर यह जो बाह्य जगत्का बोध है वह तो देशकालसे परिच्छिन्न ही है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं ।

वेदान्तने उस चिन्मय ब्रह्मका पता पाया है जो देशकालके परे है। वह गुणवृत्तियोंसे सर्वथा स्वतन्त्र और देशकालसे अनवच्छिन्न होनेके कारण कैवल्यस्वरूप है। वेदान्तका यह विशिष्ट अनुभव है। योग अन्तःकरणकी ग्रन्थियोंको भेदने और ज्ञानके भिन्न-भिन्न स्तरोंको खोलनेकी कला है और वेदान्तकी विशिष्ट योगसाधना देशकालानवच्छिन्न चिन्मय ब्रह्मको पाना है। यह मोक्ष आत्माको सगुणरूपसे नहीं प्राप्त होता, निर्गुण परमभावके साक्षात्कारसे होता है। कारण, सगुण देशकालपरिच्छिन्न है और परम भावमें ऐसी कोई परिच्छिन्नता नहीं। कालकी परिच्छिन्नताको हटाकर चिन्मय ब्रह्मको पाना ही मोक्षका परम साधन है। यही वैदान्तिक योग या ज्ञानयोगकी मूल भित्ति है।

योग क्या है ?

(लेखक—स्वामी श्रीअभेदानन्दजी पी-एच० डी०)

'योग' शब्द संस्कृतके 'युज्' धातुसे बना है, जिसका अर्थ है 'जोड़ना'। अंग्रेजीका 'योक' (yoke) शब्द भी उसी धातुसे बना है। आरम्भमें अंग्रेजीके 'yoke' और संस्कृतके 'योग' का शाब्दिक भाव एक ही था। 'युज्' धातुका अर्थ है किसी वस्तुसे अपनेको जोड़ना अथवा किसी कार्यमें अपनेको लगाना। इस प्रकार मूल अर्थमें इसका अभिप्राय है किसी कठिन-कठोर कार्यके लिये अपनेको तैयार करना। अंग्रेजीमें इस भावकी व्याख्या 'to go into harness' अथवा 'to buckle to' अर्थात् कार्यके लिये आरूढ़ हो जाना, कमर कस लेना, आदि प्रयोगोंके द्वारा करते हैं। जिस प्रकारके उद्देश्यकी सिद्धि करनी होती है उसी प्रकारका उद्योग भी होता है, इसलिये उद्योग मानसिक भी हो सकता है, शारीरिक भी। पूर्ण स्वस्थता अथवा दीर्घजीवन प्राप्त करनेके उद्देश्यको लेकर मनसे और शरीरसे जो क्रिया होगी उसे 'योग' (हठयोग) कहेंगे।

यही बात मनःशक्तिकी वृद्धि तथा विकासके सम्बन्धमें कही जा सकती है। आत्मसंयमके लिये जिस प्रकारके मानसिक अभ्यासकी आवश्यकता है, आत्माको परमात्मासे मिलानेमें जिस साधनका आश्रय लिया जाता है, परमात्म-मिलन अथवा आध्यात्मिक पूर्णताके लिये जो प्रक्रिया काममें ली जाती है उसे भी 'योग' ही कहते हैं। उसका नाम है 'राजयोग'।

'योग' शब्दका व्यवहार बहुत ही व्यापक अर्थमें किया जाता है और इसका क्षेत्र भी बहुत विस्तृत है। हठयोग, राजयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, मन्त्रयोग, लययोग इत्यादि-इत्यादि इसके अन्तर्गत हैं। इनमेंसे प्रत्येक योगका भिन्न आदर्श है जिसकी प्राप्ति उसके अनुकूल विशिष्ट साधना और अभ्यासद्वारा ही हो सकती है।

राजयोग

योगके क्रियात्मक भागकी सभी शाखाओंमें 'राजयोग'-का सम्बन्ध केवल मन और मनःशक्तिसे है। इसे हम क्रियात्मक मनोविज्ञान कह सकते हैं। इसका उद्देश्य है सभी प्रकारकी मानसिक बाधाओंको हटाकर मनको पूर्णतया स्वस्थ और संयमी बनाना। इसके अभ्यासका मुख्य अभिप्राय है इच्छा-शक्तिको जगाना तथा उसे बलवती बनाना। इसके साथ ही धारणा-शक्तिको जाग्रत करके राजयोग साधकको ध्यान और धारणाके द्वारा सभी धर्मोंके चरम उद्देश्यकी प्राप्ति करा देता है।

योगकी इस साधनप्रणालीको राजयोग अथवा सर्वश्रेष्ठ मार्ग कहते हैं। क्योंकि धारणा-शक्ति और इच्छा-शक्ति सभी प्रकारकी भौतिक शक्तियोंसे श्रेष्ठ हैं—इतना ही नहीं, अपितु सभी दूसरी शक्तियोंकी प्राप्तिके लिये अनिवार्य हैं। जिस मनुष्यने पूर्ण विकसित इच्छा-शक्तिद्वारा संयत, सुदृढ़ मन पाया है और जिसकी धारणा-शक्ति अत्यन्त बलवती है वह सहज ही भौतिक शक्तियोंपर प्रभुत्व स्थापित कर सकता है। और अल्पकालमें ही सत्यका साक्षात्कार कर सकता है। राजयोग ही यह सिखला सकता है कि इसे कैसे प्राप्त किया जाय। वे सभी लोग जो प्राचीन अथवा अर्वाचीन हिन्दू राजयोगियोंसे परिचित हैं, राजयोगके अनुशीलन तथा अभ्यासको प्रोत्साहन देते हैं।

पीथैगरस (Pythagoras) तथा प्लेटो (Plato) जैसे ग्रीसदेशके प्राचीन तत्त्ववेत्ताओंने हमारे राजयोगकी भूरि-भूरि

प्रशंसा की है। प्लॉटिनस (Plotinus) तथा प्रोक्यूलियस Proculeius)-जैसे Neo-Blatonism नामक सम्प्रदायके अनुयायियोंने, मिश्रदेशवासियोंने, यहूदियोंमें 'इसेन' सम्प्रदाय (Essene) के अनुयायियोंने, ईसाइयोंमें Gnostic सम्प्रदायके लोगोंने, फारसके Manichean सम्प्रदायवालोंने तथा योरपके मध्यकालीन ईसाई रहस्यवादियोंने भी राजयोगकी बड़ी प्रशंसा की है तथा इसका अभ्यास रोमन कैथलिक सम्प्रदायकी ऊँची श्रेणीके साधु और साध्वियाँ भी करती थीं। स्पिनोज़ा, कांट, शोपेनहॉर, एमर्सन आदि दार्शनिकोंने भी इसकी प्रशंसा की है तथा यह बताया है कि राजयोगकी साधनाका उद्देश्य प्रकृति तथा आत्माके रहस्यका उद्‌घाटन करना तथा प्रत्येक व्यक्तिके अन्दर छिपी हुई शक्तियोंको जाग्रत करना है। योगियोंने अपने जीवनके द्वारा यह प्रत्यक्ष दिखला दिया है कि राजयोगके अभ्याससे वह शक्ति प्राप्त होती है जो संसारकी अन्य सभी शक्तियोंका नियन्त्रण करनेवाली है। राजयोगका यह कहना है कि जिसने अपने मनपर विजय प्राप्त कर ली वह प्रकृतिके समस्त व्यापारोंपर शासन कर सकता है।

राजयोगकी शिक्षा यह है कि संसारकी सर्वोपरि शक्ति मनःशक्ति है। यदि मनकी शक्तियोंको पूरी तरह समाहित करके किसी वस्तुविशेषपर केन्द्रीभूत कर दिया जाय तो उस वस्तुकी वास्तविक सत्ता प्रकट हो जायगी। यदि हम एक बिन्दुपर अपनी समग्र मनःशक्तिको पुञ्जीभूत कर एकाग्र कर सकें तो हम सहज ही उस वस्तुविशेषकी, जिसपर हमने अपनी वृत्तियोंको एकाग्र किया है, सारी विशेषताएँ जान जायँगे—चाहे वह वस्तु भौतिक हो, चाहे मानसिक, चाहे आध्यात्मिक।

राजयोगीके समाहित चित्तकी तुलना बिजलीकी सर्च-लाइटसे की जा सकती है। अपने मनकी केन्द्रीभूत तथा एकोन्मुखी किरणोंको जब वह किसी पदार्थविशेषपर फेंकता है, चाहे वह स्थूल हो अथवा सूक्ष्म, तब उस वस्तु-का रेशा-रेशा जगमगा उठता है और उसके सामने अपने सत्यरूपमें प्रकट हो जाता है। साधारण मनुष्योंकी दृष्टि वस्तुओंकी तहतक इसलिये नहीं पहुँच सकती कि उनकी मानसिक शक्तियाँ साधारण प्रकाशकी बिखरी हुई किरणों-की भाँति अस्त-व्यस्त, छिन्न-भिन्न हैं। इसी प्रकार यदि मनकी वृत्तिको आभ्यन्तरिक वस्तुओंपर स्थिर किया जाय, अथवा आध्यात्मिक जगत्‌के सत्योंपर ठहराया जाय तो विश्वात्माका पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो गयी कि इन्द्रिय-शक्ति अथवा वैज्ञानिक यन्त्रोंद्वारा प्राप्त सभी प्रकारकी शक्तियोंसे ध्यान-शक्ति बढ़कर है। यदि हम अपनी मनःशक्तियोंका नियमन करके, मनको अन्तर्मुखी करके और मनको क्षुब्ध तथा विक्षिप्त करनेवाले सभी विघ्नोंका उपशमन करके अपनी केन्द्रीभूत मानसिक शक्तिको आत्माकी ओर मोड़ सकें तो अपनी व्यष्टि आत्माका सत्यस्वरूप हमारे सामने आ जायगा और हम इस बातको समझ जायँगे कि हमारा शुद्ध, नित्य, अपरिच्छिन्न अहं ही सर्वात्मा अथवा परमात्मा है और वह ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। तब हमें इस बातका भी बोध हो जायगा कि ब्रह्मकी दिव्य सनातन सत्ता, जिसे हम अज्ञानवश अपनेसे भिन्न मानकर पूजते थे, हमसे अलग नहीं है—वह हमारे भीतर ही है और उसे पानेके लिये हमें बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं। वह तो हमारी ही सर्वशक्तिमान् आत्मा है जिसका निवास हमारे भीतर है। हम यह भी देखेंगे कि वही एक अव्यय सनातन आत्मा सर्वत्र व्याप्त है और उससे परे कुछ है ही नहीं। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

सच्चा योगी सभी वस्तुओंमें सर्वत्र आत्माको और आत्मामें ही सब वस्तुओंको देखता है। इस प्रकार वह समस्त जगत्‌के नाम और रूपके मूलमें 'एक सत्' परम तत्त्वको जान लेता है और इसी कारण वह 'समदर्शी' हो जाता है। इस ज्ञानके द्वारा ही आत्मा अज्ञानसे मुक्त हो सकता है।

राजयोगकी साधनाके आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। पहले चार, अर्थात् यम, नियम, आसन और प्राणायाम, हठयोगमें भी समानरूपसे मिलते हैं। यम-नियमोंमें सदाचारसम्बन्धी सारे नियमोंका समावेश हो गया है। आगेके साधनोंका अभ्यास करनेके लिये यह आवश्यक है कि यम-नियमका पूरी तरहसे पालन किया जाय। बुद्ध, ईसा तथा संसारके अन्यान्य सभी धर्माचार्योंके प्रधान उपदेश तथा मूल सिद्धान्त यम और नियमके अन्तर्गत आ

जाते हैं। यमके अन्दर निम्नलिखित बातें आ जाती हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

इसके अनन्तर दूसरी सीढ़ी नियमकी है, जिसके अन्तर्गत हैं—तप, शौच, सन्तोष, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् ईश्वरकी इच्छामें आत्मसमर्पण कर देना। तीसरी सीढ़ी है आसन—अर्थात् शरीर तथा इसके अवयवोंको भिन्न-भिन्न प्रकारसे स्थिर करना। हठयोग-शास्त्रमें सब मिलाकर कुल चौरासी आसनोंका वर्णन मिलता है। इनमेंसे प्रत्येकको यदि उसके अनुकूल विशेष प्रकारके प्राणायामके साथ किया जाय तो नाडी-चक्रों तथा शरीरके भीतरके भिन्न-भिन्न अङ्गोंकी प्रसुप्त शक्तियाँ जाग जाती हैं। योगके सर्वोच्च आदर्शकी प्राप्तिके लिये यह आवश्यक है कि शरीर स्वस्थ और सुदृढ हो। जो शरीरसे रुग्ण हैं वे अपने चित्तको एकाग्र नहीं कर सकते और न वे ऊँचे तत्त्वोंपर अपना ध्यान ही टिका सकते हैं। इस हेतु योगसाधनाकी प्रारम्भिक अवस्थामें साधकोंको कुछ आसनोंका अभ्यास करना चाहिये, जिससे वे अपने शरीरको स्वस्थ और चित्तको सुस्थिर कर सकें। चौथी सीढ़ी है प्राणायाम। यह श्वासोंका व्यायाम है। मूढ़ता, आलस्य, शारीरिक दुर्बलता आदि विघ्न कुछ खास प्रकारके प्राणायाम करनेसे दूर हो जाते हैं। और उनसे इन्द्रियों तथा नाडी-चक्रोंको वशमें और मनको सुस्थिर करनेमें बहुत अधिक सहायता मिलती है।*

इसके अनन्तर पाँचवीं सीढ़ी प्रत्याहारकी है। यदि हम बाह्य विषयोंसे मनको हटाकर किसी आन्तरिक वस्तुपर इसे स्थिर कर सकें और अपनी इच्छाके अधीन कर लें, अर्थात् इसे अपने वशमें करके जहाँ चाहें वहाँ ले जा सकें, तो समझ लीजिये कि हमारा प्रत्याहार सध गया। पतञ्जलि ऋषिका कथन है—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। (२।५४)

मनकी शक्तियोंको एकत्र कर उन्हें बाह्य विषयोंकी ओर जानेसे रोकनेकी प्रक्रियाका नाम ही प्रत्याहार है। धारणा इसके अनन्तर आती है और यह धारणाकी प्रारम्भिक सीढ़ी है। इन पाँच प्रारम्भिक सीढ़ियोंको पारकर यदि साधक 'धारणा' का अभ्यास करे तो उसे अपूर्व लाभ होगा।

धारणासे आगे योगसाधनकी सातवीं सीढ़ी—'ध्यान' है। ध्यानके द्वारा ही मनुष्य समाधि अथवा तुरीयावस्थामें प्रविष्ट होता है, जो योगकी आठवीं और अन्तिम सीढ़ी है।* समाधि-अवस्थामें सूक्ष्म बोध करानेवाली छठी इन्द्रियका विकास होता है, आध्यात्मिक अथवा दिव्य चक्षु खुल जाती है और हमारी आत्माके आत्मा—परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है। समाधि अथवा तुरीया अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये अनवरत चेष्टा, धैर्य और अध्यवसायकी आवश्यकता है। समाधिके अनेक विघ्न हैं—जैसे शोक, व्याधि, मनःशैथिल्य, संशय, चेष्टाका परित्याग, मन और शरीरका भारीपन, सांसारिक पदार्थोंकी कामना, विपर्यय-ज्ञान, चित्तका एकाग्र न होना, एक स्थितिपर पहुँचकर उससे च्युत हो जाना, श्वास-प्रश्वासकी विषम क्रिया, इत्यादि-इत्यादि। एकनिष्ठ योगीको चाहिये कि वह इस मार्गके सारे विघ्नों और बाधाओंको हटाकर आगे बढ़ता चले। जबतक वह लक्ष्यपर न पहुँच जाय, पथमें उसे नाना प्रकारकी सिद्धियाँ लुभाने आवेंगी। उन-उन विभूतियोंमें—बहुत दूरका दृश्य देख लेना, बहुत दूरका शब्द सुन लेना, (Clairvoyance and Clair-audience), दूसरोंके मनकी बात जान लेना (Thought-reading), तथा अणिमा, महिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ मुख्य हैं। कैवल्य मुक्ति अर्थात् सब प्रकारके बन्धनोंसे छुटकारा चाहनेवाला योगी इन सारी विभूतियोंको विघ्नरूप समझकर इनसे सदा बचता रहे और कभी उनका उपयोग स्वार्थसाधनमें न करे। निर्विकल्प समाधिरूप योगकी चरमावस्थामें स्थित हुआ राजयोगी फिर कभी संसारके जालमें नहीं फँसेगा। समस्त संसार उसे परमात्माकी रंगस्थली प्रतीत होने लगेगा और वह निरन्तर इस बातका अनुभव करेगा कि उसका शरीर और मन उस सर्वसमर्थ शक्तिके हाथका एक यन्त्र है, जिसका स्फुरण समस्त नामरूपमें हो रहा है। इस प्रकार आध्यात्मिक ज्ञानकी दिव्य ज्योति तथा आध्यात्मिक पूर्णताको प्राप्त कर चुकनेपर सच्चा राजयोगी जीवन्मुक्त हो जाता है, आत्मजित् हो जाता है और इसी जीवनमें वह समस्त प्रकृतिका स्वामी बन जाता है। ॐ तत्सत्

---

* इस विषयको विस्तारसे जाननेके लिये पाठक मेरी 'How to be a Yogi' पुस्तकके 'प्राणायाम' (The Science of Breathing) [illegible] हैं।

* इन पिछली तीन अवस्थाओंका विशदरूपसे ज्ञान प्राप्त करनेके लिये पाठक मेरी लिखी हुई 'Spiritual Unfoldment' अथवा 'आत्मविकास' नामक पुस्तक देखें।

सुरत-शब्द-योग

[लेखक—श्रीआनन्दस्वरूपजी (साहेबजीमहाराज)]

राधास्वामीसम्प्रदायमें जो योगसाधन प्रचलित है वह सुरत-शब्द-योगके नामसे प्रसिद्ध है। बतलाया जाता है कि शब्द दो प्रकारके है, आहत और अनाहत। आहत शब्द वे हैं जो आघात अर्थात् दो वस्तुओंके टकरानेसे उत्पन्न होते है और अनाहत वे हैं जो स्वतः अर्थात् आघातके बिना उत्पन्न होते है। अनाहत शब्दोंमें सुरत अर्थात् ध्यानके जोड़नेहीको सुरत-शब्द-योग कहते हैं।

हर कोई जानता है कि प्रत्येक शक्तिके दो रूप होते हैं, गुप्त और प्रकट। जब कोई शक्ति गुप्तरूप होती है तो मनुष्यको उसका कोई ज्ञान नहीं हो सकता। वह अरूप और अनाम रहती है। जब वह क्रियावती होती है तभी मनुष्यको उसका ज्ञान होता है। और जब कोई शक्ति क्रियावती होती है तो उसका विकास धारारूपसे हुआ करता है। अर्थात् उसकी धाराएँ चतुर्दिक् फैलकर अपना मण्डल बाँधती है। और ऐसी प्रत्येक धाराके सग-सग एक शब्दकी धारा प्रवाहित होती है। इसीलिये कहा जाता है कि जहाँ कोई शक्ति क्रियावती होती है वहाँ शब्दकी ध्वनि भी विद्यमान रहती है। देखिये, सूर्यकी किरणोंके द्वारा जो सौरशक्ति वायुमण्डलमें विकीर्ण होकर पृथ्वीमण्डलपर उतरती है उससे भी ध्वनि उत्पन्न होती है, परन्तु हमारी श्रवणेन्द्रिय इस सूक्ष्म शब्दके ग्रहण करनेमें अशक्त है। इस कारण हम उसे सुन नहीं पाते, पर वह शब्द होता है अवश्य। एक श्रवणेन्द्रिय ही क्या, हमारी सभी ज्ञानेन्द्रियोंकी गति सीमाबद्ध है। हम अपने चर्म-चक्षुओंसे जलकी बूँदको स्वच्छ और शुद्ध प्रतीत करते है, परन्तु सूक्ष्मदर्शक यन्त्र (Microscope) से देखनेपर उस बूँदमें शतशः कीटाणु (Germs) विचरते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इसी प्रकार हमारे शरीरमें विद्यमान आत्मशक्तिकी धाराओंसे भी अनेक ध्वनियाँ होती है, जिन्हे सुननेमें हमारी स्थूल श्रवणेन्द्रिय अशक्त है। परन्तु यदि कोई मनुष्य साधन करके अपनी सूक्ष्म और चेतन श्रवणेन्द्रियोंको जाग्रत कर ले तो उनके द्वारा उसको अवश्य ही सूक्ष्म और चेतन शब्दोंका अनुभव प्राप्त होगा। इसी सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक सुरत-शब्द-मार्गानुयायी इन दिव्य शक्तियोंके जगानेका साधन करता है। जब किसी अभ्यासीको ये शब्द सुनायी देने लगते है तो उसके अन्तरमें महान् परिवर्तन होने लगता है। कारण, यह एक सृष्टि-नियम है कि प्रत्येक शब्द अपने उत्थान-स्थान या भाण्डारका प्रभाव लिये रहता है। किसी दुःखिनीके रुदन और क्रन्दनके स्वरको सुनकर हमे तत्क्षण ज्ञात हो जाता है कि उसके हृदयमें कोई घोर दुःख व्याप रहा है। पुत्रकी मृत्यु होनेपर किसी माताके विलापको सुनकर बिना किसीके बतलाये ही हम समझ जाते है कि उसके हृदयको क्या आघात पहुँचा है। इसी प्रकार वे सूक्ष्म और चेतन शब्द भी, जो सुरत-शब्द-अभ्यासीको अन्तरमें सुनायी देते है, अपने उत्थान-स्थानोंके गुणोंका प्रभाव लिये होते है। अतः उन शब्दोंसे सम्बन्ध होते ही अभ्यासीके अन्तरमें उन शब्दोंके उत्थान-स्थानोंके गुणोंका प्रभाव व्याप्त हो जाता है। प्रथम उसे नूतन प्रकारकी शीतलता और निर्मलताका अनुभव होता है और कुछ कालके बीतनेपर उच्च कोटिके शब्दोंके प्रभावसे उसकी चेतन ज्ञानेन्द्रिय जाग्रत होकर उसे चेतन-सृष्टि प्रत्यक्ष होने लगती है, जिसके कारण उसका हृदय अत्यन्त गद्गद हो जाता है।

हमारा मनुष्यशरीर देखनेमें तो केवल हाड़-मांस-चामका पुलिंदा ही है, परन्तु 'सत्-कर्त्तार' ने इसके भीतर नाना प्रकारकी दिव्य शक्तियाँ स्थापित कर दी है। शरीरके उन स्थलोंको जहाँ इन गुप्त शक्तियोंके केन्द्र नियत किये गये है, चक्र, कमल और पद्म कहते है। जो पाठकवृन्द योगविद्याकी परिभाषासे परिचित है वे इन शब्दोंके अर्थ भली प्रकार समझते है। हर कोई जानता है कि जाग्रत् अवस्थामें मनुष्यकी समझने-बूझने और देखने-सुनने आदिकी सभी क्रियाएँ उसके मस्तिष्कमें स्थित विभिन्न केन्द्रोंके क्रियावान् (Active) होनेहीपर बन पड़ती है। इन केन्द्रोंमें तो केवल इन्हीं प्रकारकी क्रियाओंके प्रकट करनेकी योग्यता है, परन्तु उन कमलों और पद्मोंकी योग्यता अत्यन्त उच्च कोटिकी है, यहाँतक कि एक ऐसा कमल है जिसके क्रियावान् होनेपर मनुष्यको ब्रह्म-पुरुषका ऐसे ही

प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हो जाता है जैसे कि इन चर्मचक्षुओं या साधारण दर्शनेन्द्रियके क्रियावान् होनेपर भौतिक जगत्-के सूर्यका होता है, और एक कमल ऐसा है कि उसके चैतन्य होनेपर अभ्यासीको निर्मल चेतन अर्थात् प्रकृतिकी हदसे परेके शुद्ध चेतनका अनुभव हो जाता है, और विश्वास किया जाता है कि इन कमलोंमें उच्चतम कमल या पद्मके क्रियावान् होनेपर मनुष्यको सच्चे कुलमालिकका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हो सकता है। सुतरां, राधास्वामीमतमें जो साधन बतलाये जाते हैं उनका प्रयोजन यही है कि अभ्यासीकी सुरत अर्थात् आत्मा क्रमशः अन्तरमें चढ़कर इन गुप्त चक्रों, कमलों और पद्मोंको चैतन्य करे और सूक्ष्म और चेतनमण्डलोंकी रचनाका अनुभव करती हुई अन्तमें सच्चे कुलमालिकका दर्शन प्राप्त करके कृतकृत्य हो।

यह लिखनेकी आवश्यकता नहीं कि सुरत-शब्द-योग-का साधन ऐसा सुगम नहीं है जैसा कि ऊपरके लेखसे प्रतीत होनेकी सम्भावना है। मनकी चञ्चलता और मलिनता इस साधनकी कमाईमें भी वैसी ही बाधक होती हैं जैसी कि ये दूसरे योग-साधनोंकी कमाईमें हुआ करती हैं। परन्तु अभ्यासीकी सहायताके लिये इस विषयमें एक विशेष प्रबन्ध है, अर्थात् सुरत-शब्द-मार्गानुयायीको दो ऐसी युक्तियाँ सिखलायी जाती है जिनके द्वारा वह इन विघ्नोंसे बहुत कुछ छुटकारा पा सकता है। ये सुमिरन और ध्यानकी युक्तियाँ हैं। सुमिरनसे अभिप्राय एक खास बीजमन्त्रका अन्तरमें जप या उच्चारण, और ध्यानसे अभिप्राय अन्तरमें चेतनस्वरूपका चिन्तन है। ये युक्तियाँ कोई नयी बात नहीं है। 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' और 'वीतरागविषयं वा चित्तम्' इन दो योग-सूत्रोंमें इन्हींके लिये सकेत किया गया है।

अभ्यासीको यह भी निर्देश है कि अपने आहार-व्यवहारमें सावधान रहे और सयमसे बरते। उसे मद्य, मांस आदि तामसी पदार्थोंसे सर्वथा परहेज़ करना होगा और साधारण खान-पानमें भी विचार रखना होगा कि भोजन धर्म्य, स्वच्छ तथा पथ्य हो और वह न तो अति मात्राको पहुँचने पावे और न इतनी अल्प मात्रामें ही रहे कि दिनभर खाद्य पदार्थोंके स्वप्न आते रहें और शरीर निर्बल हो जाय। इसके अतिरिक्त उसे ससारके अनावश्यक व्यवहार और व्यापारसे भी पृथक् रहना होगा। दुष्ट और अनिष्ट सम्पर्क तो उसके लिये सर्वथा ही त्याज्य हैं। उसे उचित है कि जीवनसम्बन्धी धर्धोंसे निवटनेपर जो समय बचे उसे या तो अन्तरी साधनकी कमाईमें लगावे या महात्माओं और प्रेमी जनोंके सगमें या महापुरुषोंकी पवित्र बानीके स्वाध्यायमे व्यतीत करे, ताकि मनको मलिन और चञ्चल होनेके लिये न्यून-से न्यून अवसर प्राप्त हो।

इन निर्देशोंपर आचरण करनेसे प्रेमी परमार्थीका काम चल निकलता है और शनैः-शनैः नवीन आत्मबल उत्पन्न होनेसे उसकी सब कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं और एक दिन उसकी सुरत-शब्दकी डोरके सहारे पिण्ड और ब्रह्माण्ड-के पार सच्चे कुलमालिक राधास्वामीदयालके चरणोंमें विश्राम पा लेती है।

प्रार्थना

(१)

बनि दीन गरीब अनाथ महा यह दासी परी शरणागत तेरे,
सब स्वारथ मित्रसे विश्व भरा, अब तेरे सिवाय नहीं कोउ मेरे।
किये दोष अनेक अजानपने, करि माफ प्रभो करो रावरे चेरे,
तकसीरोंको याद करो मत हा, अब राखो दया निधि चर्णसे नेरे॥

(२)

मोह भरी मद मत्त भई, कितनेहूँ किये जग काम निकामी,
रावरेसों कछु भेद नहीं, तुम हो हरि केशव अन्तरयामी।
दूर कै दोष हरो भ्रम बन्धन, हूँ तव चर्ण सरोज नमामी,
आय परी शरणागत मैं अपनाओ मुझे अब विश्वके स्वामी॥

—सुदर्शनदासी

वेदोंमें योग

(लेखक—उदासीन परिव्राजकाचार्य, वेददर्शनाचार्य, मण्डलेश्वर श्रीस्वामी गङ्गेश्वरानन्दजी महाराज)

उदासीनं सुखासीनमुपासीनं रमारमम् । औदास्यप्रथमाचार्यं कुमारं वैधसं भजे॥

योग भारतवर्षकी अमूल्य सम्पत्ति है। दर्शनशास्त्र महर्षियोंकी योगविद्याका ही चमत्कार है। स्मृति, पुराण, अन्यान्य चिकित्सा-ज्योतिषादि शास्त्र, अधिक क्या, समस्त विद्याएँ योगाभ्यासजन्य ऋतम्भरा प्रज्ञाके ही मधुर एव मनोहर फल हैं। अतएव आर्यजातिके समस्त साहित्यमें ही योगका मुक्तकण्ठसे गुणगान हुआ है। एकाग्रता, समाधि तथा- योग ये तीनों शब्द एक ही अर्थके प्रतिपादक हैं। विचार करनेसे सिद्धान्त होगा कि ससारका कोई भी ऐसा कार्य व्यावहारिक या पारमार्थिक नहीं है, जो विना चित्तकी एकाग्रताके निष्पन्न हो सकता हो।

आजकल नये-नये वैज्ञानिक आविष्कार भी अमर-कीर्ति न्यूटन प्रभृति वैज्ञानिक महानुभावोंकी एकाग्रताके ही दिव्य चमत्कार हैं। अतः प्रत्येक प्राणीको एकाग्रता या योगकी शरणमें अवश्य आना ही होगा। अन्यथा वह अपने लौकिक और पारलौकिक किसी भी अभीष्टको सिद्ध न कर सकेगा।

सब धर्मोंका साधन योग ही है

इसके अतिरिक्त पुरुषके प्रत्येक अभीष्टकी सिद्धिके लिये, पुत्र-वत्सला श्रुतिजननी धर्मानुष्ठानकी आज्ञा कर रही है, 'धर्मं चर'—धर्मका अनुष्ठान करो। यह अनुष्ठेय धर्म तीन अङ्गोंमें विभक्त है—यज्ञ, तप और दान। इनमें भी मुख्य स्थान यज्ञका है। अतएव श्रीकृष्ण परमात्माने—

'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥'
(गीता १८। ५)

'यज्ञ, दान और तप ही बुद्धिमान् मनुष्योंके पावन करनेवाले हैं।' इस उक्तिमें यज्ञको ही प्रथम स्थान दिया है।

यह यज्ञ तीन प्रकारका है—कर्मयज्ञ, उपासनायज्ञ तथा ज्ञानयज्ञ। उक्त त्रिविध यज्ञकी निष्पत्ति योगपर अवलम्बित है। कर्मयज्ञमें अनन्त क्रियाओका पूर्वापरभावसे अनुष्ठान, तत्तद् वेदमन्त्रोंद्वारा अनुष्ठेय कर्तव्यका स्मरण, सम्पूर्ण अङ्गोंका सङ्कलन आवश्यक है। यदि पश्चात् अनुष्ठेय क्रियाका प्रथम और प्रथमानुष्ठेय क्रियाका पश्चात् अनुष्ठान हो, अनुष्ठेय कर्तव्यस्मारक वेदमन्त्रके उच्चारणमें शब्द, वर्ण और स्वरकी भूल हो जाय या कोई अङ्ग छूट जाय, तो वह यज्ञ अपूर्ण ही नहीं वर प्रत्यवायका कारण होगा। अतः कर्मयज्ञकी निष्पत्तिके लिये ऋत्विजोंको सर्वथा सावधान रहना पडता है। चतुर्वेदपारग ब्रह्मा-नामक ऋत्विक् तो इसीलिये नियुक्त किया जाता है कि वह एकाग्रमना रहकर कर्मानुष्ठानमें व्यग्र ऋत्विजोकी मानवस्वभावसुलभ भूलोको समय-समयपर सुधारता रहे।

उपासनायज्ञकी तो बात ही क्या कहनी है, क्योंकि प्रेम या भक्तिको उपासनाका जीवन, और योगको शरीर माना है। जिस प्रकार शरीरके विना शरीरी आत्माका कोई भी भोग सिद्ध नहीं हो सकता, ठीक उसी तरह उपासना-का कोई भी अङ्ग योगकी सहायता विना निष्पन्न नहीं हो सकता।

सर्वव्यापक जीवहृदयविहारी परमात्मा, विविध वृत्ति-तरङ्गोंसे अन्तःकरण-जलाशयके चञ्चल होनेके कारण, मनुष्यके हृदयसे छिप जाते है, यही उनका मनुष्यसे दूर होना है। जिन क्रियाओंसे उस तरह दूर हटे हुए परमात्मा जीवके हृदयमे वृत्तितरङ्गोंके एक बार ही शान्त होनेपर प्रकट हो जायँ, अर्थात् जलाशयमे सूर्यके समान परमात्माके वास्तविक स्वरूपके दर्शन होने लगें, यही परमात्माका जीवके समीप होना है। अन्य प्रकारकी समीपता और विप्रकृष्टता सर्वव्यापी परमात्मामे बन ही कैसे सकती है? शान्तचित्तमें परमात्माके प्रादुर्भावरूप समीप-स्थितिके सम्पादक क्रिया-कलापका नाम ही उपासना है। चित्त-शान्ति-साधनयोगके विना उसका होना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

रहा ज्ञानयज्ञ, वह भी विना योगके आत्मलाभ करने-मे असमर्थ है। बृहदारण्यकोपनिषद्के मैत्रेयी ब्राह्मणमे—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्या-सितव्यः। (२। ४। ५)

'अरे आत्माका ही दर्शन, श्रवण, मनन और निदि-ध्यासन करना चाहिये।'

इस वचनद्वारा श्रवण-मननके सदृश निदिध्यासनको आत्मसाक्षात्कारका साधन माना है।

निदिध्यासन ध्यानका नामान्तर है। ध्यान विशाल योगभवनका सप्तम सोपान है। अतः यह निश्चित हुआ कि विना योगके कोई भी यज्ञ विशेषतः ज्ञानयज्ञ निष्पन्न नहीं हो सकता, अतएव योगी याज्ञवल्क्य लिखते हैं—

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥

'यज्ञाचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय प्रभृति धर्मोंसे योगके द्वारा आत्मदर्शन करना परम धर्म है।' इस परम धर्मका साधन है योग।

दर्शनशास्त्र और पुराणादि स्मृतियोंमें भी योगकी महिमा और यज्ञोंकी सिद्धिके लिये उसकी परमावश्यकता बतलायी गयी है। इसी सिद्धान्तका ऋक्संहितामें स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है—

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।
स धीनां योगमिन्वति ॥
(ऋक्संहिता, मण्डल १, सूक्त १८, मन्त्र ७)

अर्थात् 'योगके विना विद्वान्का भी कोई यज्ञकर्म नहीं सिद्ध होता, वह योग क्या है सो चित्तवृत्तियोंका निरोध है, वह कर्तव्य कर्ममात्रमें व्याप्त है।'

कर्म, उपासना तथा ज्ञानभेदसे यज्ञ तीन प्रकारका है। वह योगके विना निष्पन्न नहीं हो सकता। अज्ञानीकी तो बात ही क्या, ज्ञानी भी योगकी सहायताके विना उसे सिद्ध करनेमें असमर्थ है, क्योंकि चित्तवृत्तिनिरोधरूपी योग या एकाग्रतामें समस्त कर्तव्य व्याप्त हैं, अर्थात् सब कर्मोंकी निष्पत्तिका एकमात्र उपाय चित्तसमाधि या योग ही है।

योग क्या है ?

योग शब्द 'युज् समाधौ' धातुसे घञ् प्रत्यय होकर बना है, अतएव इसका अर्थ संयोग न होकर समाधि ही हुआ है। समाधि नाम चित्तवृत्तिनिरोधकी क्रियाशैलीका है, उस क्रियाशैलीको पूज्यपाद महर्षियोंने चार भागोंमें विभक्त किया है—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग।

परिदृश्यमान प्रपञ्चका कोई भी भाग नामरूपसे बचा हुआ नहीं है। जीव नामरूपमें ही फँसकर बद्ध होता है, जिस भूमिपर गिरता है, उसी भूमिको पकड़कर मनुष्य उठ सकता है, आकाशको नहीं। इस नियमके अनुसार जीवको नामरूपके अवलम्बनसे ही मुक्तिपथकी ओर अग्रसर होना होगा। अतः दिव्य नामरूपके अवलम्बनसे चित्तवृत्ति-निरोधकी जितनी क्रियाएँ हैं, शास्त्रमें उन्हें मन्त्रयोग नामसे कहा गया है।

स्थूल शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली षट्कर्मादि योग-क्रियाओंके अभ्यासद्वारा स्थूल शरीरपर आधिपत्य स्थापित करते हुए सूक्ष्म शरीरपर प्रभाव डालकर चित्तवृत्तिनिरोधकी जितनी क्रियाशैलियाँ हैं, उनका नाम हठयोग है।

समष्टि-व्यष्टिके सिद्धान्तानुसार जीवशरीररूपी पिण्ड, समष्टिसृष्टिरूपी ब्रह्माण्ड दोनों एक हैं। अतः ब्रह्माण्डकी समस्त वस्तुओंका अस्तित्व उसीके समान पिण्डमें अवश्य है। पिण्डमें ब्रह्माण्डव्यापिनी प्रकृतिशक्तिका केन्द्र मूलाधारपद्ममें स्थित सार्धत्रिवलयाकारा—साढे तीन चक्र लगाये हुए सर्पवत् कुण्डलाकृति कुण्डलिनी है। ब्रह्माण्ड-व्यापी पुरुषका केन्द्र सहस्रदलकमल है, निद्रित कुल-कुण्डलिनीको गुरूपदिष्ट योगक्रियाओंसे प्रबुद्ध करते हुए कुलकुण्डलिनीस्थ प्रकृतिशक्तिको सुषुम्नानाड़ीगुम्फित षट् चक्रोंके भेदनद्वारा ले जाकर सहस्रदलकमलविहारी परमात्मामें लय करनेकी जो क्रियाशैली है और तदनुयायी जितने साधन हैं, उनको लययोग कहते हैं।

मनकी क्रिया मनुष्यके बन्धनका कारण है। बुद्धिकी क्रिया मनुष्यके मुक्त करानेमें सहायक होती है। बुद्धिकी क्रिया विचार है, अतः उसके द्वारा चित्तवृत्तिनिरोधकी जो क्रियाशैली है, उसका नाम राजयोग है। इसका अधिकार सबसे बढ़कर है।

योगके विघ्न और उपविघ्न

उक्त चतुर्विध योगके नौ अन्तराय (विघ्न) और पाँच उपान्तराय (उपविघ्न) हैं।

महर्षि पतञ्जलि उनकी नामावली इस प्रकार लिखते हैं—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शना-लब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।
(योग० १ । ३०)

'दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः'
(योग० १।३१)

१ व्याधि (रोग), २ स्त्यान (शिथिलता), ३ संशय, ४ प्रमाद (जान-बूझकर योगाङ्गोंका अनुष्ठान न करना), ५ आलस्य, ६ अविरति (विषयोंमें ग्लानिका न होना अर्थात् विषयभोगाभिरुचि), ७ भ्रान्तिदर्शन (विपरीत निश्चय), ८ अलब्धभूमिकत्व (योगाङ्गोंका अनुष्ठान करनेपर भी मधुमती, मधुप्रतीका आदि समाधिभूमिविशेषका लाभ न होना), ९ अनवस्थितत्व (भूमिविशेषका लाभ होनेपर भी चित्तका स्थिर न रहना) । यह नौ चित्तविक्षेपकारी अतएव योग या समाधिके अन्तराय (विघातक) हैं । योगमल, योगप्रतिपक्ष, योगविघ्न इन्हींका नामान्तर है ।

इनके साथी पाँच उपविघ्न ये हैं—१ दुःख, २ दौर्मनस्य (इच्छाके पूर्ण न होनेसे मनका क्षुब्ध होना), ३ अङ्गमेजयत्व (अङ्गकम्पन), ४ श्वास (बाह्य वायुको भीतर ले जाना), ५ प्रश्वास (भीतरकी वायुको बाहर निकालना) ।

योगसिद्धिके लिये प्रार्थनाकी आवश्यकता

इन विघ्नोपविघ्नोंका निराकरण और चतुर्विध योगानुष्ठानका फल समाधिलाभ तभी होगा, जब साधक ईश्वरका अनुकम्पापात्र हो । सच्चे हृदयसे विनीत प्रार्थी भक्तके ऊपर ही ईश्वर अनुकम्पा करते हैं, अतः निर्विघ्न चतुर्विध योगसिद्धिके निमित्त जगदीश्वरकी प्रार्थनाका वह मन्त्र जिसके द्वारा साधक भगवान्‌को अपनी ओर आकृष्ट कर सके, निम्न निर्दिष्ट है—

योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे ।
सखाय इन्द्रमूतये ॥

अर्थात् प्रत्येक योगमें, प्रत्येक सङ्कट-संग्राममें हम सखा (साधक लोग) बलवान् इन्द्रको बुलाते हैं । ऋग्वेद—१ । ३० । ७ शुक्लयजुः—१ । १४ सामवेद उ० १ । २ । ११ । १ पू० २ । २ । ७ । ९ अथर्ववेद १९ । २४ । ७ एवं २० । २६ । १ ॥

योग—मन्त्रयोगादि भेदसे चार प्रकारका है । उक्त सर्व प्रकारके योगमें प्रवृत्त हुए मित्रके समान अति प्रिय हम साधक सर्वशक्तिसम्पन्न परमात्माको व्याध्यादि विघ्न, दुःख, दौर्मनस्यादि उपविघ्न तथा लोभ, क्रोध, मोहादि राजस-तामस चित्तविकार जो समाधिके प्रबल शत्रु हैं, उनके द्वारा जब-जब समाधिविघातकी चेष्टारूपी संग्राम उपस्थित हो, उस समय रक्षाके लिये कहीं प्रबल शत्रुओंद्वारा समाधिका विघात न हो जाय, इस अभिप्रायसे उन प्रबल शत्रुओंके दमनपूर्वक समाधिको सुरक्षित बना रखनेके लिये आह्वान करते हैं—अर्थात् प्रार्थना करते हैं ।

तात्पर्य—प्रार्थनासे आकृष्ट ईश्वरकी दयासे चतुर्विध योग जिसका हम अनुष्ठान कर रहे हैं, वह निर्विघ्न निष्पन्न हो ।

समाधि, विवेकख्याति तथा ऋतम्भरा प्रज्ञाके जनक योगानुष्ठानको ही महर्षिवृन्दने एक स्वरसे स्वीकार किया है । केवल योगानुष्ठानके ही नहीं, किन्तु उसके विवेकख्यात्यादि फलकी निष्पत्तिमें भी ईश्वरानुकम्पाका विशेष हाथ है ।

वेदका निम्न निर्दिष्ट मन्त्र इसी भावको प्रकट करता है—

स घा नो योग आभुवत् स राये स पुरंध्याम् ।
गमद् वाजेभिरा स नः ॥ (ऋ० १ । ५ । ३ ॥ साम० उ० १ । २ । १० । ३ ॥ अथर्व० २० । ६९ । १ ॥)

अर्थात् वही परमात्मा हमारी समाधिके निमित्त अभिमुख हो, वही विवेकख्यातिरूपी धन तथा अतीतानागतादि अनन्त वस्तुविषयक होनेसे बहुविध बुद्धि ऋतम्भरा प्रज्ञा नामक प्रज्ञाके उत्पादनिमित्त अनुकूल हो, अर्थात् उसकी दयासे समाधि, विवेकख्याति तथा ऋतम्भरा प्रज्ञाका हमें लाभ हो, अपि च वही परमात्मा अणिमादि सिद्धियोंके सहित हमारी ओर आगमन करे ।

तात्पर्य—अणिमादि सिद्धियाँ भी भगवत्कृपासे चरणसेविकाओंके समान हमारी सेवाके लिये प्रतिक्षण प्रस्तुत रहें ।

अष्टाङ्गयोग

पूर्वोक्त चतुर्विध योगकी क्रियाशैली पूज्यपाद महर्षियोंने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठ अङ्गोंकी सहायतासे निर्णीत की है ।

भेद इतना ही है कि किसीमें किसी अङ्गके सङ्कोच और किसीमें किसी अङ्गके विस्तारसे अङ्गसंख्याकी न्यूनाधिकता दृष्टिगोचर होती है । जैसे हठयोगके सात

अङ्ग, राजयोगके सोलह अङ्ग और लययोगके ९ अङ्ग हैं। उन सबका विवरण निम्नलिखित है—

हठयोगके सप्ताङ्ग

षट्कर्मासनमुद्राः प्रत्याहारश्च प्राणसंयामः।
ध्यानसमाधी सप्तैवाङ्गानि स्युर्हठस्य योगस्य॥

षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि—ये हठयोगके सात अङ्ग हैं।

इनके शरीरसशोधन, दृढता, स्थिरता, धीरता, लघुता, आत्मप्रत्यक्ष, निर्लिप्तता और मुक्तिलाभ क्रमशः फल है। प्रथमाङ्ग षट्कर्मसाधनके विषयमें योगशास्त्रमे इस प्रकार लिखा है—

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिर्लौलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि समाचरेत्॥

धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक तथा कपालभाति ये षट्कर्म हैं। इनका पृथक्-पृथक् वर्णन स्थानसङ्कोचसे अशक्य है। ये सब क्रियाएँ योगिराज गुरुदेवकी कृपासे सुविज्ञेय हैं, केवल शास्त्रावलोकनसे नहीं।

हठयोगका द्वितीयाङ्ग आसन है। जिसके अभ्याससे शरीर दृढ एव मन स्थिर हो, उसका नाम आसन है। जगत्में जितनी जीवयोनियाँ हैं, उतने ही प्रकारके आसन हैं।

भगवान् महादेवने चौरासी लक्ष आसनोंका वर्णन किया है, उनमें चौरासी आसन मुख्य हैं, उनमें भी तैंतीस मर्त्यलोकमें मङ्गलजनक है। तैंतीस आसनोंके नाम ये है—सिद्धासन, स्वस्तिकासन, पद्मासन, बद्धपद्मासन, भद्रासन, मुक्तासन, वज्रासन, सिंहासन, गोमुखासन, वीरासन, धनुरासन, मृतासन, गुप्तासन, मत्स्यासन, मत्स्येन्द्रासन, गोरक्षासन, पश्चिमोत्तानासन, उत्कटासन, सकटासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, कूर्मासन, उत्तानकूर्मासन, उत्तानमण्डूकासन, वृक्षासन, मण्डूकासन, गरुडासन, वृषासन, शलभासन, मकरासन, उष्ट्रासन, भुजङ्गासन और योगासन।

उनमे भी हठयोगप्रदीपिकामे प्रधानासन चार एवं सर्वश्रेष्ठ सिद्धासन माना है—

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम्।
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा॥
(प्रथमोपदेश श्लोक ३४)

'सिद्ध, पद्म, सिंह तथा भद्र ये चार मुख्य आसन हैं, इनमे भी श्रेष्ठ यह है कि सदा सुखस्वरूप सिद्धासनपर बैठे।'

जिन क्रियाओंसे प्राणायाम प्रत्याहारादि अङ्गोंकी सिद्धिमें सहायता प्राप्त होती है, उन सुकौशलपूर्ण क्रियाओका नाम मुद्रा है।

उनमेसे मुख्य मुद्राओंके नाम ये हैं—महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेधा, खेचरी, विपरीतकरणी, योनिमुद्रा, वज्रोली, शक्तिचालनी, तड़ागी, माण्डूकी, शाम्भवी, पञ्चधारणा, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मतगी और भुजङ्गिनी।

आसनो एव मुद्राओंका विशेष निरूपण स्थानाभावसे नहीं किया गया। पाठक उनके विशेष ज्ञानार्थ योगग्रन्थोका ही अवलोकन करे।

प्राणायाम तीन प्रकारका है—रेचक, पूरक तथा कुम्भक। कुम्भक दो तरहका है—सहित और केवल। इस लघु निबन्धमे शिष्टाङ्गसम्बन्धी विशेष वक्तव्य नहीं।

राजयोगके पोडश अङ्ग

भक्ति तथा छः दर्शनोके अनुसार राजयोगके सात अङ्ग हैं। वे सब विचारप्रधान है। धारणाके दो अङ्ग है—प्रकृतिधारणा और ब्रह्मधारणा। ध्यानके अङ्ग तीन है—विराड्ध्यान, ईशध्यान तथा ब्रह्मध्यान। समाधिके चार अङ्ग—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत। उनके स्थूलभूत, सूक्ष्मभूत, इन्द्रिय, अहकार तादात्म्यापन्न पुरुष, क्रमशः ध्यातव्य विषय हैं।

लययोगके अङ्ग

यम, नियम, स्थूल क्रिया, सूक्ष्म क्रिया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, लयक्रिया और समाधि।

सूक्ष्म क्रियाके साथ स्वरोदयसाधनका, प्रत्याहारके साथ नादानुसन्धानक्रियाका, और धारणाके साथ षट्चक्रभेदनक्रियाका सम्बन्ध है।

पायुसे दो अङ्गुल ऊपर और उपस्थसे दो अङ्गुल नीचे चतुरङ्गुलविस्तृत समस्त नाड़ियोंका मूलस्वरूप पक्षीके

अण्डकी तरह एक कन्द विद्यमान है, जिसमेंसे बहत्तर हजार नाड़ियाँ निकलकर सारे शरीरमे व्याप्त हुई हैं। उनमें-से योगशास्त्रमें तीन नाडियाँ मुख्य कही गयी हैं, इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना।

चन्द्ररूपिणी इडा मेरुदण्डके वाम भागमें, सूर्यरूपिणी पिङ्गला मेरुदण्डके दक्षिण भागमे, और चन्द्र-सूर्याग्निरूपिणी त्रिगुणमयी सुषुम्ना मध्य भागमें विराजमान रहती है। मूलमे उत्थित इडा और पिङ्गला मेरुदण्डके वाम और दक्षिण भागमें समस्त पद्मोंको वेष्टन करके आज्ञाचक्रपर्यन्त धनुषाकारसे जाकर भ्रूमध्यके ऊपर ब्रह्मरन्ध्रमुखमें सङ्गता हो नासारन्ध्रमें प्रवेश करती हैं।

भ्रूमध्यके ऊपर जहाँपर इडा और पिङ्गला मिलती हैं, वहाँपर मेरुमध्यस्थित सुषुम्ना भी जा मिलती है।

इसलिये यह स्थान त्रिवेणी कहलाता है। क्योंकि शास्त्रमें इन तीनों नाडियोंको गङ्गा, यमुना और सरस्वती कहा गया है। यथा—

इडा भोगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती॥

इस त्रिवेणीमें योगबलसे जो योगी अपने आत्माको स्नान करा सकते हैं—

त्रिवेणीयोगः सा प्रोक्ता तत्र स्नानं महाफलम्।

—इस शास्त्रीय वचनके अनुसार उनको मोक्षकी प्राप्ति होती है।

प्रणवाकृति सुषुम्ना, धनुषाकार इडा और पिङ्गलाके बीचमेंसे मेरुदण्डके अन्ततक जाकर उससे पृथक् हो वक्राकारको धारण करके भ्रूयुगलके ऊपर इड़ा और पिङ्गलाके साथ ब्रह्मरन्ध्रमुखमें सङ्गता हो ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त जाती है। बस, इड़ा, पिङ्गलाके समान सुषुम्ना भी मूलकन्द-से निर्गत हो ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त गयी है।

इस प्रकार मूलकन्दसे लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त विस्तृत सुषुम्ना नाड़ीकी छः ग्रन्थियाँ हैं, जो षट्चक्र कहलाती हैं। योगक्रियाके द्वारा मूलाधारस्थिता निद्रिता कुलकुण्डलिनी-को जाग्रत्कर इन छः चक्रोंके द्वारा सुषुम्नापथमें प्रवाहित करके ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर सहस्रदलकमलस्थित परमशिवमें लय कर देना ही लययोगका उद्देश्य है।

प्रथम चक्रका नाम मूलाधार पद्म है, वह गुदाके ऊपर और लिङ्गमूलके नीचे सुषुम्नाके मुखमें सलग्न है। अर्थात् कन्द और सुषुम्नाके सन्धिस्थलमें इसकी स्थिति है। इसके व-श-ष-स, ये वर्ण चार दल हैं, इसका रक्त वर्ण है, इस चक्रकी अधिष्ठात्री देवी डाकिनी है। आधारपद्मकी कर्णिकाओंके गह्वरमे वज्रा नाड़ीके मुखमे त्रिपुरसुन्दरीका निवासस्थान एक त्रिकोण शक्तिपीठ है। वह कामरूप कोमल और विद्युत्के समान तेजपुज है। उसमें कन्दर्प नामक वायुका निवास है, वह वायु जीवधारक बन्धुजीव पुष्पके समान विशेष रक्तवर्ण तथा कोटि सूर्य-समान प्रकाश-शाली है, उक्त त्रिकोण शक्तिपीठमे स्वयम्भूलिङ्ग विराजमान है, जो पश्चिम मुख, तप्त काञ्चनतुल्य कोमल, ज्ञान और ध्यानका प्रकाशक है। इस स्वयम्भूलिङ्गके ऊपर मृणाल अर्थात् कमलकी डण्डीके तन्तुके सदृश सूक्ष्मा शङ्खवेष्टनयुक्ता और साढे तीन वलयोंके आकारकी सर्पतुल्य कुण्डलाकृति नवीन विद्युन्मालाके समान प्रकाशशालिनी कुलकुण्डलिनी निज मुखसे उस स्वयम्भूलिङ्गके मुखको आवृत करके निद्रिता रहती है। उसके प्रबोधकी क्रियाएँ अति कठिन, गोप्य तथा गुरुप्रसादैकलभ्य हैं।

द्वितीय चक्रका नाम स्वाधिष्ठान पद्म है, इसकी स्थिति लिङ्गमूलमे है। ब, भ, म, य, र, ल ये छः वर्ण उसके दल हैं। इसका रक्त वर्ण है। उसमे बालाख्य सिद्धकी स्थिति है और अधिष्ठात्री देवी राकिणी है।

तृतीय मणिपूर नामक चक्र है, जो नाभिमूलमे है और ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ ये दश सुवर्णमय वर्ण जिसके दश दलरूपसे शोभायमान है, जहाँ रुद्राक्ष सिद्ध लिङ्ग सब प्रकारके मङ्गलोंको दान कर रहे हैं, और जहाँ परम धार्मिका लाकिनी देवी विराजमान है।

चतुर्थ हृदयस्थित चक्रका नाम अनाहतचक्र है,—क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ इन द्वादश वर्णयुक्त, अति रक्तवर्ण इसके द्वादश दल हैं। हृदय अति प्रसन्न स्थान है। इस अनाहत पद्ममे परम तेजस्वी रक्तवर्ण बाणलिङ्गका अधिष्ठान है, जिसका ध्यान करनेसे इहलोक और परलोकमें शुभ फलकी प्राप्ति हुआ करती है। दूसरे पिनाकी नामक सिद्ध लिङ्ग और काकिनी नामक अधिष्ठात्री देवी वहाँ स्थित हैं।

सिद्धान्त नवीन-सा प्रतीत होगा, परन्तु यह बात है बिल्कुल ठीक। इस महत्वपूर्ण प्राणविद्याके प्रथम निर्देश तथा सकेत उपनिषदोसे पूर्व वैदिक सहिताओ तथा आरण्यकोमे भी मिलते है, इसका निश्चय इन कतिपय पृष्ठोके पढ़नेवालेको अवश्य हो जायगा।

आरण्यकोंका विषय

वेदके दो विभाग है—मन्त्र तथा ब्राह्मण। 'मन्त्र-ब्राह्मणात्मको वेदः।' मन्त्रोके सग्रहोको 'सहिता' कहते है। ऐसी सहिताएँ हमारे यहाँ बहुत है, ऋक्सहिता, सामसहिता आदि। ब्राह्मणोके तीन भेद है—ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्। उपनिषद्मे ब्रह्मविद्याका वर्णन है, यह ज्ञानकाण्ड हुआ। ब्राह्मणोंमें यज्ञ-यागादिका सर्वत्र वर्णन है। इसका प्रधान विषय कर्मकाण्ड हुआ। यह गृहस्थोंके लिये है जो घर-द्वार बनाकर वेदविहित यज्ञोका अनुष्ठान अपने कल्याणके लिये किया करते है। आरण्यकोंका स्थान ब्राह्मणो तथा उपनिषदोके बीचमे आता है। 'आरण्यक' नाम पड़नेके दो कारण बतलाये जाते है। एक तो यह हुआ कि ये ग्रन्थ अरण्यमे ही पढ़ने योग्य है, इनका अध्ययन तथा मनन अरण्य (जगल) मे ही करना चाहिये। अतः अरण्यमें पाठ होनेके कारण इन ग्रन्थोंका नाम आरण्यक पड़ा। दूसरा कारण यह है कि ये उन लोगोंके लिये है जो गृहस्थाश्रमको छोड़कर वानप्रस्थ-आश्रममें है। अतः जो लोग घर-द्वार छोड़कर जगलमें कुटिया बनाकर अधिकतर निवास किया करते है उन्हीं तृतीय आश्रममे रहनेवालोंके लिये 'आरण्यक' ग्रन्थ दृष्ट हुए। इन ग्रन्थोके विषय-विवेचनसे भी पूर्वोक्त नामकरणके हेतुकी सत्यताका अनुमान किया जा सकता है। इन आरण्यक ग्रन्थोंमे कर्म-काण्डकी दार्शनिक भित्तिका ही विवेचन नहीं है, प्रत्युत अन्य भी अनेक दार्शनिक सिद्धान्तोंके उद्गम यहाँ दिखायी पड़ते है जिनका प्रचुर विकाश उपनिषदोंमे हमारे सामने आता है। इस प्रकार आरण्यकमें वर्णित दार्शनिक सिद्धान्तोंका अध्ययन करना भारतीय दर्शनके इतिहासकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्व रखता है। इनके मनन करनेसे हमें पता चलेगा कि वैदिक सहिताओंसे आरम्भ होकर उपनिषदोंमे विकसितरूप प्राप्त होनेके पहले भारतीय दार्शनिक वादों तथा सिद्धान्तोंके कौन-कौन-से रूप थे। सक्षेपमे औपनिषद सिद्धान्तोंके पूर्वरूपसे अवगत हो जानेके लिये आरण्यकोंका अध्ययन विशेष महत्व रखता है।

ऐतरेय आरण्यक

अथर्ववेदको छोड़कर प्रत्येक वेदके एक या अनेक आरण्यक है। ऋग्वेदके दो आरण्यक है—ऐतरेय तथा शांखायन। यह ऐतरेय आरण्यक अपने विषयमे विशेष महत्वका है। इसके पाँच खण्ड है। उन्हें भी आरण्यक ही कहते है। प्रत्येक आरण्यकमे कई अध्याय है। पहले आरण्यकमे पाँच अध्याय, दूसरेमे सात, तीसरेमें दो, चौथेमे एक और पाँचवेंमे तीन। इस प्रकार पूरे ग्रन्थमे अठारह अध्याय है। प्रत्येक अध्यायमे कई खण्ड है। इनमे दूसरे आरण्यकको छोड़कर अन्य भागोंमे ऐसे विषय है जिनसे इस समय हमारा मतलब नहीं। द्वितीय आरण्यकके भी सात अध्यायोंमेंसे अन्तिम चार अध्याय मिलकर ऐतरेय उपनिषद् है। आदिके तीन अध्यायोंमे प्राणविद्याका विवेचन किया गया है। इस लेखमे इन्हीं अध्यायोंमें वर्णित प्राणविद्याका सार जिज्ञासु पाठकोके उपकारार्थ प्रस्तुत किया जायगा। इन अध्यायोमे प्रमाणके लिये—वर्णित विषयकी पुष्टि करनेके लिये ऋग्वेदके अनेक मन्त्रोंका निर्देश किया गया है। अतः मुख्य विषयपर आनेसे पहले एक-दो मन्त्र ऋग्वेदसे दिये जायँगे जिससे प्राणविद्याके ऋग्वेदीय स्वरूपका स्वल्प परिचय प्राप्त हो जाय।

ऋग्वेदमें प्राण-स्वरूप-वर्णन

ऐतरेय आरण्यकके प्राणविद्याविषयक अध्यायोंमे ऋग्वेदके लगभग आठ या दस मन्त्रोंको प्रमाणके लिये उद्धृत किया गया है। यहाँपर केवल दो मन्त्रोंको उद्धृत करनेका विचार है। इन मन्त्रोंका अर्थ भी श्रीसायणाचार्यके भाष्यके अनुसार कर दिया गया है। प्राण समस्त विश्वको व्याप्त किये हुए है, इस विषयमें यह मन्त्र 'तदुक्तमृषिणा' कहकर दिया गया है[1]—

अपश्यं गोपामनिपद्यमान-
मा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।

१. अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यताम्।
—सायणभाष्य ऐतरेय आरण्यक पृ० २

१ ऐतरेय आरण्यक आनन्दाश्रम सस्करण पृ० १०६।

स सभ्रीचीः स विषूचीर्वसान
आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥

इस मन्त्रके द्रष्टा दीर्घतमा ऋषि कह रहे हैं कि मैंने प्राणको देखा है—साक्षात्कार किया है। यह प्राण सब इन्द्रियोंका गोपा (रक्षक) है। यह कभी नष्ट नहीं होनेवाला है। यह भिन्न-भिन्न मार्गों अर्थात् नाड़ियोंके द्वारा आता और जाता है। मुख तथा नासिकाके द्वारा क्षण-क्षणमें इस शरीरमें आता है तथा फिर बाहर चला जाता है। यह प्राण शरीरमें—अध्यात्मरूपमें—वायुके रूपमें है, परन्तु अधिदैवरूपमें सूर्य है। अन्य श्रुति कहती है—

आदित्यो वै बाह्यप्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णाति।

(प्रश्नोपनिषद् १।७)

यह प्राण आदित्यरूपसे मुख्य तथा अवान्तर दिशाओंको व्याप्त कर वर्तमान है और सब भुवनोंके मध्यमें बारंबार आकर निवास करता है। इस मन्त्रसे यही सारांश निकलता है—सर्वं हीदं प्राणेनावृतम्[2]। इस समस्त विश्वके देव, मनुष्य तथा पशु आदि समग्र प्राणी प्राणवायुके द्वारा व्याप्त हैं।

प्राण अमृतरूप है। जबतक उसका इस देहमें वास है, यह शरीर मृत्युको प्राप्त नहीं होता। इस सिद्धान्तकी पुष्टि करनेके लिये ऋग्वेदका यह मन्त्र दिया गया है—

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतो-
ऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता
न्यन्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम्॥
(१।१६४।३८)

यह प्राण इस शरीरमें स्वधा—अन्नके द्वारा ही स्थित है। यह मलमूत्रादिके निकालनेके लिये अधोभागमें जाया करता है तथा श्वासके लिये मुख आदि ऊर्ध्वभागमें सञ्चरण किया करता है अर्थात् यह अपान तथा प्राणके रूपमें शरीरमें सर्वदा सञ्चार किया करता है। प्राण अमर्त्य है—अर्थात् मृत्युरहित है, परन्तु यह मरणधर्मवाले शरीरके साथ सदा एक स्थानपर निवास करता है। ये शरीर और प्राण विविधव्यापारसम्पन्न हैं तथा आपसमें विरुद्ध हैं, क्योंकि मृत हो जानेपर शरीर पृथ्वीपर गिर जाता है, परन्तु प्राण ऊपर किसी लोकान्तरमें चला जाता है। इन दोनोंमेंसे देहको मनुष्य अन्नपानके द्वारा बढ़ा सकता है, परन्तु प्राणको अन्न और पानसे कोई भी नहीं बढ़ा सकता।

इसी प्रकार अन्य अनेक मन्त्रोंमें प्राणके स्वरूपका यथार्थ वर्णन हमें उपलब्ध होता है। इन सब मन्त्रोंका निर्देश करनेके लिये यहाँ न तो उचित अवसर है, न स्थान ही। इन दो मन्त्रोंको यहाँ उद्धृत करनेसे हमारा यही अभिप्राय है कि प्राणकी महत्ताको ऋग्वेदकी संहितामें भी स्वीकार किया गया है। यहीं हमें प्राणविद्याका वह मूल दृष्टिगोचर होता है जिसका विकास आरण्यकोंसे होता हुआ उपनिषदोंमें उपलब्ध होता है।

प्राणकी श्रेष्ठता

सब इन्द्रियोंमें कौन श्रेष्ठ है? इसका उत्तर उपनिषदोंमें एक अतीव हृदयग्राहिणी आख्यायिकाके द्वारा दिया गया है। इस विषयका वर्णन छान्दोग्य (५।१), कौषीतकि (२।१४) तथा प्रश्नोपनिषद् (२।१–१३) में आया हुआ है। छान्दोग्य (५।१।६–१५) का वर्णन पूर्ण ही नहीं, प्रत्युत सबसे प्राचीन भी माना जाता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। आरण्यकमें भी यह कथानक ज्यों-का-त्यों मिलता है। ऐतरेय आरण्यकके दूसरे आरण्यकके पहले अध्यायके चतुर्थ खण्डमें यह इन्द्रिय-प्राण-संवाद बड़ी ही सुन्दर रीतिसे दिया गया मिलता है।

चक्षु, श्रवण आदि इन्द्रियोंमें आपसमें यह स्पर्धा चली कि उक्थ कौन है? सब झगड़ने लगे कि मैं ही उक्थ हूँ, मैं ही उक्थ हूँ। अन्तमें उन्होंने कहा कि हमलोग इस शरीरसे निकल चलें, जिसके निकल जानेपर यह शरीर नष्ट हो जाय तथा गिर पड़े, वही सबसे श्रेष्ठ माना जाय। पहले वागिन्द्रिय निकल गयी। परन्तु यह शरीर बिना बोले खाते-पीते टिका रहा। अनन्तर चक्षु निकल गया, यह देह बिना देखे खाते-पीते टिकी रही। श्रवण निकल गया, यह शरीर बिना सुने खाते-पीते टिका रहा। मनके निकल जानेपर भी यह शरीर मूँदे हुएकी तरह खाते-पीते बना रहा; परन्तु प्राणके बाहर निकलते ही यह शरीर गिर पड़ा। इसपर भी प्राणकी श्रेष्ठताके विषयमें इन्द्रियोंको निश्चय नहीं हुआ। अब भी वे आपसमें झगड़ा करती ही रहीं।

१. ऋ० वे० १।१६४।३१; १०।१७७।३

२. ऐत० आर० पृ० १०८

पञ्चम पद्मका स्थान कण्ठ है और नाम विशुद्धचक्र है, उसका रङ्ग सुन्दर स्वर्णकी तरह है, (मतान्तरमें धूम्रवर्ण है)—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अ, अः इन षोडश वर्णसुशोभित उसके षोडश दल हैं। इस पद्ममें छगलाण्ड नामक सिद्ध लिङ्ग और शाकिनी नामक देवीकी स्थिति है।

भ्रूद्वयके मध्यमें आज्ञापद्म छठा चक्र है। यह शुभ्र वर्ण है और ह, क्ष युक्त इसके दो दल है, शुक्ल नामके महाकाल इस पद्मके सिद्ध लिङ्ग और हाकिनी नाम्नी महाशक्ति इस चक्रकी अधिष्ठात्री देवी है।

द्विदल पद्मके ऊपर ब्रह्मरन्ध्रमें ही इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नाका सङ्गमस्थान तीर्थराज प्रयाग है, इसमें स्नान करनेसे तत्क्षण साधक मुक्तिपदको प्राप्त होता है। ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर सहस्रदलकमल स्थित है। उस स्थानका नाम कैलास है, और वहाँ देवादिदेव महादेव सदा विराजमान हैं और वही महेश्वर नामक परम शिव हैं। उनको नकुल भी कहते हैं। वह नित्यविलासी हैं, उनको क्षय और वृद्धि कदापि नहीं होती, अर्थात् वह सदा एकरूप ही हैं। इस सहस्रदलकमलमें जो साधक अपनी चित्तवृत्तिको निश्चलरूपसे लीन करता है, वह अखण्डज्ञानरूपी निरञ्जन परमात्माकी स्वरूपताको लाभ कर लेता है अर्थात् मुक्त हो जाता है। इस सहस्रदलपद्मसे निर्गत पीयूषधाराको जो योगी निरन्तर पान करता है वह अपनी मृत्युको मारकर कुलजयद्वारा चिरञ्जीवी हो जाता है। इसी सहस्रदलकमलमें कुलरूपा कुण्डलिनी महाशक्तिका लय होनेपर चतुर्विध सृष्टिका भी परमात्मामें लय हो जाता है। मूलाधारमें जो चार दलोंका पद्म है, इस अवस्थामें वहाँकी कुण्डलिनी शक्ति निश्चय करके अपने स्थानको त्याग कर देती है। क्रमशः कुण्डलिनी षट्चक्रभेदनद्वारा सहस्रदलपद्ममें जाकर लयको प्राप्त हो जाती है। यहाँ शिवशक्तिसंयोगरूप मुक्तिक्रिया कहलाती है, और इस अवस्थामें वह योगी अखण्डज्ञानरूपी निरञ्जन परमात्माके रूपको प्राप्तकर मुक्त हो जाता है।*

लययोगके वर्णित अलौकिक रहस्यविज्ञानके लिये हम ही नहीं, मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी कितने लालायित एवं उत्कण्ठित रहा करते थे, इसका पता अधोनिर्दिष्ट मन्त्रके अवलोकनसे चलता है—

क त्रीचक्रा त्रिवृतो रथस्य क त्रयो बन्धुरो ये सनीळाः।
कदा योगो वाजिनो रास्भस्य येन यज्ञं नासत्योपयाथ॥

(ऋक्संहितामण्डल १ सूक्त ३४ मन्त्र ९)

[त्रिवृतः] त्रिवृद्भूतकार्यस्य तेजोऽबन्नविकारस्य, [रथस्य] शरीरस्य 'शरीरं रथमेव तु' इति श्रुतेः [त्रीचक्रा] त्रीणि चक्राणि अधस्तनानि मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूराभिधानि [क] कुत्र वर्तन्ते, तेषां स्थानविशेषः क इति न अस्माभिर्ज्ञायते, [बन्धुरः] बन्धुजीवपुष्पसन्निभो रक्तवर्णो जीवधारकः कन्दर्पाभिधो वायुः, त्रिकोणशक्तिपीठमध्यवर्ती केति सम्बन्धः [सनीळाः] नीडं ब्रह्मरन्ध्रस्योपरि वर्तमानं सहस्रार पद्मं शिववासस्थानं तेन सहिताः [त्रयः] उपरितनचक्रविशेषाः अनाहतविशुद्धाज्ञानामकाः क कुत्रेत्यपि च न ज्ञायते [वाजिनः] बलशालिनः सर्वशक्तिसम्पन्नस्य [रास्भस्य] रासेन रसप्रचुरेण—आनन्दघनेन स्वात्मना भासमानस्य, आनन्दघनस्वप्रकाशस्य रासो रासलीला शिवशक्तिसंगमलक्षणा सर्वरसाधारभूता, ततः शोभमानस्य वा शिवस्य [योगः] कुलकुण्डलिनीरूपया शक्त्या समं सम्बन्धः, योगशास्त्रोपदिष्टषट्चक्रभेदनादिक्रियाकौशलेन प्रबोधितायाः कुलकुण्डलिनीरूपाया महाशक्तेः सहस्रारपद्ममध्यवर्तिनि भगवति शिवे लय इति यावत्, [येन] लययोगेन [यज्ञम्] यजनं मिथः सङ्गमनम् 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' इति धातुपाठः [नासत्या] सर्वदा वर्तमानौ शक्तिशिवौ युवां [उपयाथः] उपगच्छथ.—संयोगः, [कदा] कस्मिन् काले इत्यपि न ज्ञायते, अपि मातापितरौ शक्तिशिवौ, युष्मत्प्रसादात् अस्मिन् पिण्डे कस्य चक्रस्य किं स्थानं का अधिष्ठात्री देवी कियन्ति दलानि को वर्णो मूलाधारपद्मस्थकुलकुण्डलिनीशक्तेः सहस्रदलपद्मस्थशिवे लयगमनसमयश्च क इत्येतत् सर्वमवगतं भवतु, अवगत्य च तथानुतिष्ठेयं भवत्करुणयेति भावः।

अर्थात् (छान्दोग्यप्रतिपादित सृष्टिके अनुसार) अग्नि, जल, पृथिवी इन तीन भूतोंका कार्य शरीर है, रथ नाम—'शरीर रथमेव तु' शरीरको ही रथ समझो, इस कठश्रुतिके प्रमाणसे—शरीरका ही है। उस शरीररथके मध्यमें नीचेके तीन चक्र, जिनके मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर ये नाम हैं, वे कहाँ है, उनका स्थानविशेष

* सातों चक्रोंके चित्र पूर्ण विवरणसहित 'शक्तिअंक' में प्रकाशित हो चुके हैं। पृष्ठ ४५४ देखना चाहिये।

कौन-सा है, यह हमें ज्ञात नहीं। जीवधारक बन्धुजीव पुष्पके समान नितान्त रक्तवर्ण कन्दर्प नामक वायु कहाँ है, अर्थात् उसके निवासस्थानके ज्ञानसे भी हम वञ्चित हैं। शिववामस्थान सहस्रदलकमलसहित ऊपरके तीन चक्र, जिनके अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा ये नाम हैं, कहाँ हैं, यह भी हमें ज्ञात नहीं, सर्वशक्तिसम्पन्न आनन्दघन स्वप्रकाश शिव परमात्मा, जो शिवशक्तिसंगमरूप रासलीलासे शोभित होते हैं, उनका आधारपद्मस्थित कुलकुण्डलिनी महाशक्तिसे योग अर्थात् कुलकुण्डलिनीका उनमें लय जिसके द्वारा शिवशक्ति दोनों परस्पर सङ्गत होते है, वह लय किस समय होता है, इसका भी हमें पता नहीं है। हे अविनाशी शिवशक्ति माता-पिता ! आपकी कृपासे लययोगसम्बन्धी ये सब बातें मुझे ज्ञात हों और मैं जानकर उस लययोगका अभ्यास करूँ।

वेद पूर्णपुरुष जगदीश्वरकी कृति हैं,उनमें आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तीनों भाव रहते हैं, क्योंकि कार्य कारणके अनुरूप ही होता है। जब वेदके रचयिता प्रभुमें क्रमशः ब्रह्म, ईश तथा विराट् ये पूर्वोक्त तीन भाव हैं तब प्रभुकी कृति वेदमें भी क्यों न होंगे ?

भाष्यकार यथारुचि केवल एक भावके दृष्टिकोणसे वेदमन्त्रोंकी व्याख्या किया करते हैं, इससे यह समझना भारी भूल है कि अन्य भावका अर्थ है ही नहीं या भाष्यकार उसको जानते ही न थे। आचार्य सायणने आधिदैविक भाव जिसका सम्बन्ध कर्मकाण्डसे है, उसी भावके दृष्टिकोणसे रचना की है। अतः सायणभाष्यमें आध्यात्मिक योगपक्षका अर्थ न मिलना युक्तिसङ्गत ही है। परन्तु अनन्त स्थलोंमें आध्यात्मिक पक्षके अनुकूल भी व्याख्या की है जिसके द्वारा कृपालु सायणाचार्यने जिज्ञासुओंकी दर्शित भ्रान्तिका सर्वथा मूलोच्छेद कर दिया है।

इस निबन्धमें उद्धृत वेदमन्त्रोंके योगसम्बन्धी अर्थ श्रीसनत्कुमारप्रवर्तित मुनि (उदासीन) सम्प्रदायके पुनरुत्थापक आचार्य योगिराज शिवस्वरूप विश्वगुरु, सोलहवीं शताब्दीके महापुरुष श्रीश्रीचन्द्र महाराजनिर्मित योगप्रदीपसे लिये गये हैं।

आचार्यश्रीकृपासे बाबा श्रीहजारा, महाराज श्रीवनखण्डीजी, पञ्जाबकेसरी महाराज रणजीतसिंहके परम श्रद्धेय तत्समकालीन योगिराज महाराज श्रीहरिदास प्रभृति अनन्त महापुरुष भारतवर्षके रत्न मुनिसम्प्रदायमें हुए हैं। अब भी ऋषिकेशवासी योगिराज श्रीस्वरूपानन्दजी महाराज हैं जो इस समय योगविद्याके अद्वितीय वेत्ता हैं।

दुःसहा राम संसारविषवेगविमूर्च्छिका।
योगगारुडमन्त्रेण पावनेनोपशाम्यति॥

'हे राम ! इस संसाररूपी विषके वेगकी वेदना बड़ी दुःसह है। यह पावन योग-गारुड मन्त्रसे ही शान्त होती है।'

ऐतरेय आरण्यकमें प्राणविद्या

(लेखक—प० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम० ए०, साहित्याचार्य)

उपक्रम

भारतीय दर्शनमें प्राणविद्याका विशेष महत्त्व है। इस विद्याका जितना चिन्तन तथा अध्ययन हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंने किया था, उतना शायद ही किसी अन्य देशके विद्वानोंने किया होगा। सच तो यह है कि प्राणोपासनाकी विद्या हमारी अपनी सम्पत्ति है। प्राणके वास्तविक महत्त्वको समझना, इस शरीर तथा बाह्य जगत्में उसके सच्चे कार्य तथा व्यापक प्रभावको परखना, तथा किसी देवताका आरोप कर उसकी उपासना करना—ये सब सिद्धान्त इस भारत-भूमिपर ही हमारे पूर्वजोंकी सात्त्विक बुद्धि तथा उर्वर मस्तिष्कके कारण ही प्राचीन कालमें उत्पन्न हुए तथा अब भी हममें किसी-न-किसी रूपमें दृष्टिगोचर होते हैं। यह विद्या कबसे चली ? यह कहना बिल्कुल असम्भव है, परन्तु जब हमारे साहित्य तथा धर्मका प्रथम प्रभात हुआ, तभीसे इस विद्याका उदय हुआ होगा, यह हम बिना रोक-टोक कह सकते हैं, क्योंकि हमारी वैदिक संहिताओंमें, विशेषतः ऋक् तथा अथर्ववेदकी संहिताओंमें, इस विद्याका समुल्लेख सबसे पहले किया गया मिलता है। विद्वानोंसे यह अपरिचित नहीं कि उपनिषदोंमें प्राणविद्या भरी पड़ी है, परन्तु उपनिषदोंमें नहीं, प्रत्युत आरण्यक तथा संहितामें इस विद्याका यथेष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। बहुत-से विद्वानोंको यह

सिद्धान्त नवीन-सा प्रतीत होगा, परन्तु यह बात है बिल्कुल ठीक। इस महत्वपूर्ण प्राणविद्याके प्रथम निर्देश तथा सकेत उपनिषदोसे पूर्व वैदिक सहिताओं तथा आरण्यकोमे भी मिलते हैं, इसका निश्चय इन कतिपय पृष्ठोंके पढनेवालेको अवश्य हो जायगा।

आरण्यकोंका विषय

वेदके दो विभाग हैं—मन्त्र तथा ब्राह्मण। 'मन्त्र-ब्राह्मणात्मको वेदः।' मन्त्रोंके सग्रहोंको 'सहिता' कहते हैं। ऐसी सहिताएँ हमारे यहाँ बहुत हैं, ऋक्सहिता, सामसहिता आदि। ब्राह्मणोंके तीन भेद हैं—ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्। उपनिषद्में ब्रह्मविद्याका वर्णन है, यह ज्ञानकाण्ड हुआ। ब्राह्मणोंमे यज्ञ-यागादिका सर्वत्र वर्णन है। इसका प्रधान विषय कर्मकाण्ड हुआ। यह गृहस्थोंके लिये है जो घर-द्वार बनाकर वेदविहित यज्ञोंका अनुष्ठान अपने कल्याणके लिये किया करते हैं। आरण्यकोंका स्थान ब्राह्मणों तथा उपनिषदोंके बीचमे आता है। 'आरण्यक' नाम पड़नेके दो कारण बतलाये जाते हैं। एक तो यह हुआ कि ये ग्रन्थ अरण्यमे ही पढने योग्य है, इनका अध्ययन तथा मनन अरण्य (जगल) मे ही करना चाहिये। अतः अरण्यमें पाठ होनेके कारण इन ग्रन्थोंका नाम आरण्यक पड़ा[1]। दूसरा कारण यह है कि ये उन लोगोंके लिये हैं जो गृहस्थाश्रमको छोड़कर वानप्रस्थ-आश्रममें हैं। अतः जो लोग घर-द्वार छोड़कर जगलमें कुटिया बनाकर अधिकतर निवास किया करते हैं उन्हीं तृतीय आश्रममे रहनेवालोंके लिये 'आरण्यक' ग्रन्थ दृष्ट हुए। इन ग्रन्थोंके विषय-विवेचनसे भी पूर्वोक्त नामकरणके हेतुकी सत्यताका अनुमान किया जा सकता है। इन आरण्यक ग्रन्थोंमें कर्म-काण्डकी दार्शनिक भित्तिका ही विवेचन नहीं है, प्रत्युत अन्य भी अनेक दार्शनिक सिद्धान्तोके उद्गम यहाँ दिखायी पड़ते हैं जिनका प्रचुर विकाश उपनिषदोमे हमारे सामने आता है। इस प्रकार आरण्यकमें वर्णित दार्शनिक सिद्धान्तोका अध्ययन करना भारतीय दर्शनके इतिहासकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्व रखता है। इनके मनन करनेसे हमे पता चलेगा कि वैदिक सहिताओंसे आरम्भ होकर उपनिषदोमें विकसितरूप प्राप्त होनेके पहले भारतीय दार्शनिक वादो तथा सिद्धान्तोके कौन-कौन-से रूप थे। सक्षेपमें औपनिषद सिद्धान्तोंके पूर्वरूपसे अवगत हो जानेके लिये आरण्यकोंका अध्ययन विशेष महत्व रखता है।

१ अरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यताम्।
—सायणभाष्य ऐतरेय आरण्यक पृ० २

ऐतरेय आरण्यक

अथर्ववेदको छोड़कर प्रत्येक वेदके एक या अनेक आरण्यक है। ऋग्वेदके दो आरण्यक है—ऐतरेय तथा शाखायन। यह ऐतरेय आरण्यक अपने विषयमे विशेष महत्वका है। इसके पाँच खण्ड हैं। उन्हें भी आरण्यक ही कहते हैं। प्रत्येक आरण्यकमे कई अध्याय है। पहले आरण्यकमें पाँच अध्याय, दूसरेमें सात, तीसरेमें दो, चौथेमें एक और पाँचवेंमें तीन। इस प्रकार पूरे ग्रन्थमे अठारह अध्याय है। प्रत्येक अध्यायमें कई खण्ड हैं। इनमें दूसरे आरण्यकको छोड़कर अन्य भागोमे ऐसे विषय हैं जिनसे इस समय हमारा मतलब नहीं। द्वितीय आरण्यकके भी सात अध्यायोंमेंसे अन्तिम चार अध्याय मिलकर ऐतरेय उपनिषद् हैं। आदिके तीन अध्यायोंमें प्राणविद्याका विवेचन किया गया है। इस लेखमें इन्हीं अध्यायोंमें वर्णित प्राणविद्याका सार जिज्ञासु पाठकोंके उपकारार्थ प्रस्तुत किया जायगा। इन अध्यायोंमे प्रमाणके लिये—वर्णित विषयकी पुष्टि करनेके लिये ऋग्वेदके अनेक मन्त्रोंका निर्देश किया गया है। अतः मुख्य विषयपर आनेसे पहले एक-दो मन्त्र ऋग्वेदसे दिये जायँगे जिससे प्राणविद्याके ऋग्वेदीय स्वरूपका स्वल्प परिचय प्राप्त हो जाय।

ऋग्वेदमें प्राण-स्वरूप-वर्णन

ऐतरेय आरण्यकके प्राणविद्याविषयक अध्यायोमे ऋग्वेदके लगभग आठ या दस मन्त्रोंको प्रमाणके लिये उद्धृत किया गया है। यहाँपर केवल दो मन्त्रोंको उद्धृत करनेका विचार है। इन मन्त्रोंका अर्थ भी श्रीसायणाचार्यके भाष्यके अनुसार कर दिया गया है। प्राण समस्त विश्वको व्याप्त किये हुए है, इस विषयमें यह मन्त्र 'तदुक्तमृषिणा' कहकर दिया गया है[1]—

अपश्यं गोपामनिपद्यमान-
मा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।

१ ऐतरेय आरण्यक आनन्दाश्रम सस्करण पृ० १०६।

स सप्रीचीः स विषूचीर्वसान
आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥

इस मन्त्रके द्रष्टा दीर्घतमा ऋषि कह रहे हैं कि मैंने प्राणको देखा है—साक्षात्कार किया है। यह प्राण सब इन्द्रियोंका गोपा (रक्षक) है। यह कभी नष्ट नहीं होनेवाला है। यह भिन्न-भिन्न मार्गों अर्थात् नाड़ियोंके द्वारा आता और जाता है। मुख तथा नासिकाके द्वारा क्षण-क्षणमे इस शरीरमें आता है तथा फिर बाहर चला जाता है। यह प्राण शरीरमे—अध्यात्मरूपमें—वायुके रूपमें है, परन्तु अधिदैवरूपमे सूर्य है। अन्य श्रुति कहती है—

आदित्यो वै बाह्यप्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णाति।

(प्रश्नोपनिषद् १। ७)

यह प्राण आदित्यरूपसे मुख्य तथा अवान्तर दिशाओंको व्याप्त कर वर्तमान है और सब भुवनोंके मध्यमें बारबार आकर निवास करता है। इस मन्त्रसे यही सारांश निकलता है—सर्वं हीद प्राणेनावृतम्[2]। इस समस्त विश्वके देव, मनुष्य तथा पशु आदि समग्र प्राणी प्राणवायुके द्वारा व्याप्त हैं।

प्राण अमृतरूप है। जबतक उसका इस देहमे वास है, यह शरीर मृत्युको प्राप्त नहीं होता। इस सिद्धान्तकी पुष्टि करनेके लिये ऋग्वेदका यह मन्त्र दिया गया है—

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतो-
ऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता
न्यन्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम्॥

(१। १६४। ३८)

यह प्राण इस शरीरमे स्वधा—अन्नके द्वारा ही स्थित है। यह मलमूत्रादिके निकालनेके लिये अधोभागमे जाया करता है तथा श्वासके लिये मुख आदि ऊर्ध्वभागमे सञ्चरण किया करता है अर्थात् यह अपान तथा प्राणके रूपमें शरीरमे सर्वदा सञ्चार किया करता है। प्राण अमर्त्य है—अर्थात् मृत्युरहित है, परन्तु यह मरणधर्मवाले शरीरके साथ सदा एक स्थानपर निवास करता है। ये शरीर और प्राण विविधव्यापारसम्पन्न हैं तथा आपसमें विरुद्ध हैं, क्योंकि मृत हो जानेपर शरीर पृथ्वीपर गिर जाता है, परन्तु प्राण ऊपर किसी लोकान्तरमें चला जाता है। इन दोनोंमेंसे देहको मनुष्य अन्नपानके द्वारा बढ़ा सकता है, परन्तु प्राणको अन्न और पानसे कोई भी नहीं बढ़ा सकता।

इसी प्रकार अन्य अनेक मन्त्रोंमें प्राणके स्वरूपका यथार्थ वर्णन हमें उपलब्ध होता है। इन सब मन्त्रोंका निर्देश करनेके लिये यहाँ न तो उचित अवसर है, न स्थान ही। इन दो मन्त्रोंको यहाँ उद्धृत करनेसे हमारा यही अभिप्राय है कि प्राणकी महत्ताको ऋग्वेदकी संहितामें भी स्वीकार किया गया है। यहीं हमें प्राणविद्याका वह मूल दृष्टिगोचर होता है जिसका विकास आरण्यकोंसे होता हुआ उपनिषदोंमें उपलब्ध होता है।

प्राणकी श्रेष्ठता

सब इन्द्रियोंमें कौन श्रेष्ठ है? इसका उत्तर उपनिषदोंमें एक अतीव हृदयग्राहिणी आख्यायिकाके द्वारा दिया गया है। इस विषयका वर्णन छान्दोग्य (५। १), कौषीतकि (२। १४) तथा प्रश्नोपनिषद् (२। १–१३) में आया हुआ है। छान्दोग्य (५। १। ६–१५) का वर्णन पूर्ण ही नहीं, प्रत्युत सबसे प्राचीन भी माना जाता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। आरण्यकमें भी यह कथानक ज्यो-का-त्यों मिलता है। ऐतरेय आरण्यकके दूसरे आरण्यकके पहले अध्यायके चतुर्थ खण्डमें यह इन्द्रिय-प्राण-संवाद बड़ी ही सुन्दर रीतिसे दिया गया मिलता है।

चक्षु, श्रवण आदि इन्द्रियोंमें आपसमें यह स्पर्धा चली कि उक्थ कौन है? सब झगड़ने लगे कि मैं ही उक्थ हूँ, मैं ही उक्थ हूँ। अन्तमें उन्होंने कहा कि हमलोग इस शरीरसे निकल चलें, जिसके निकल जानेपर यह शरीर नष्ट हो जाय तथा गिर पड़े, यही सबसे श्रेष्ठ माना जाय। पहले वागिन्द्रिय निकल गयी। परन्तु यह शरीर बिना बोले खाते-पीते टिका रहा। अनन्तर चक्षु निकल गया, यह देह बिना देखे खाते-पीते टिकी रही। श्रवण निकल गया, यह शरीर बिना सुने खाते-पीते टिका रहा। मनके निकल जानेपर भी यह शरीर मूँदे हुएकी तरह खाते-पीते बना रहा; परन्तु प्राणके बाहर निकलते ही यह शरीर गिर पड़ा। इसपर भी प्राणकी श्रेष्ठताके विषयमें इन्द्रियोंको निश्चय नहीं हुआ। अब भी वे आपसमें झगड़ा करती ही रहीं।

१. ऋ० वे० १। १६४। ३१; १०। १७७। ३

२. ऐत० आर० पृ० १०८

इस आरण्यकमें यहाँतक प्राणके विषयमें कहा गया है कि—

सर्वा ऋचः, सर्वे वेदाः, सर्वे घोषा एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राण ऋच इत्येव विद्यात्।

(ऐत० २। २। १०, पृ० १२१)

जितनी ऋचाएँ हैं, जितने वेद हैं, जितने घोष हैं, वे सब प्राणरूप हैं। प्राणको ही इन रूपोंमें समझना चाहिये तथा उसकी उपासना करनी चाहिये।

प्राणके इन भिन्न-भिन्न रूपों तथा गुणोंको जानकर तत्तद्रूपसे उसकी उपासना करनी चाहिये।

ऊपर प्राणविद्याका जो एक स्वल्प परिचय दिया गया है, उससे स्पष्ट प्रतीत हो गया होगा कि प्राणकी उपासना हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीन कालसे चली आती है। उपनिषदोंमें तो उसके विपुल वर्णन उपलब्ध होते ही हैं। आरण्यकोंमें भी प्राणविद्याका प्रचुर वर्णन है, परन्तु सच तो यह है कि संहिताके मन्त्रोंमें भी इनके बहुतसे निर्देश मिलते हैं। अतः इस विद्याके मूलरूपके ज्ञानके लिये ऋग्वेदस्थ मन्त्रोंका इस दृष्टिसे अध्ययन करना चाहिये तथा इस विद्याके उद्गम तथा विकासको ठीक-ठीक समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। इति शम्।

उपनिषदोंमें योग-चर्चा

(लेखक—पं० श्रीवटुकनाथजी शर्मा एम० ए०, साहित्याचार्य)

योग हिन्दू-जातिकी सबसे प्राचीन तथा सबसे समीचीन सम्पत्ति है। यही एक ऐसी विद्या है जिसमें वाद-विवादको कहीं स्थान नहीं, यही वह एक कला है जिसकी साधनासे अनेक लोग अजर-अमर होकर देह रहते ही सिद्ध-पदवीको पा गये। यह सर्वसम्मत अविसंवादि सिद्धान्त है कि योग ही सर्वोत्तम मोक्षोपाय है। भवतापतापित जीवोंको सर्वसन्तापहर भगवान्‌से मिलानेमें योग अपनी बहिन भक्तिका प्रधान सहायक है। जिसको अन्तर्दृष्टि नहीं, उसके लिये शास्त्र भारभूत है। यह अन्तर्दृष्टि बिना योगके सम्भव नहीं। अतः इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय तत्त्वज्ञानके कोशको पानेके लिये योगकी कुञ्जी पाना परमावश्यक है।

इस कालमें सर्वसाधारणजनको योगका ज्ञान बहुत ही कम है। पण्डितसमाजको जो कुछ ज्ञान है वह पातञ्जल-योगका और वह भी दुरधीत तथा दुरध्यापित शास्त्ररूपेण। योगचर्या तथा योगाभ्याससे हमारा सभ्य-समाज उतना ही सम्पर्क रखता है जितना माया-परिष्वक्त जीव सर्वदुःखहर महेश्वरसे रखता है। यही एक प्रधान कारण है कि इस समय योगके सम्बन्धमें विचित्र-विचित्र बातें विद्वज्जनके मुखसे भी सुननेमें आती हैं। अस्तु। इस समय इसकी कैसी भी दुर्दशा अनात्मज्ञ लोगोंमें क्यों न हो, भारतवर्षके आध्यात्मिक इतिहासमें योगका सर्वदा विशिष्ट स्थान रहा है। दार्शनिक मत-मतान्तरोंके परस्पर भिन्न रहनेपर भी, योगाभ्यासमें किसीकी विप्रतिपत्ति सुननेमें नहीं आती। वेदबाह्य बौद्ध, जैन आदि भी योगपर उतनी ही आस्था रखते थे जितनी श्रद्धा वेदसम्मत-मतानुयायी आर्यजनता रखती थी। अनेक विलक्षण आचारसम्पन्न साधकगण भी योगको ही परमालम्बन मानते थे। कहाँतक कहें, हिन्दुओंके नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें भी योगके कितने अङ्ग—आसन, प्राणायाम आदि—व्याप्त देखे जाते हैं। यह एक बड़ी विशिष्ट बात है कि योगका यह प्राधान्य प्राचीनतम कालसे चला आया है। डायसन इसीको 'भारतके धर्मजीवनकी एक सबसे विलक्षण बात' कहते हैं।[1] अन्यत्र हम यह दिखानेका प्रयत्न कर रहे हैं कि वैदिक संहिताओंके कालमें भी योगचर्या अच्छी तरह ज्ञात थी। वेद ही हमारे—हमारे क्या संसारभरके—सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। यदि यह दिखाया जा सकता है कि वेदके प्रत्येक विभागमें योगके विषयमें बहुत कुछ मिलता है, तब यह बात कभी अत्युक्ति नहीं कही जा सकती कि योग हमारी सबसे पुरानी सम्पत्ति है। इस उद्देश्यको सामने रखकर यहाँ हम उपनिषदोंमें आये हुए योग-वर्णनकी कुछ चर्चा करते हैं।

वेदके दो विभाग हैं—मन्त्र और ब्राह्मण। 'मन्त्र-ब्राह्मणात्मको वेदः'। मन्त्रोंके संग्रहका नाम संहिता है। मन्त्रोंके विनियोग आदि विषयोंको बतलानेवाला ग्रन्थ ब्राह्मण कहा जाता है। ब्राह्मणोंका अन्तिम भाग

1. Paul Deussen The Philosophy of the Upanishads, p 117.

बहुधा आरण्यक होता है। आरण्यकोंका अन्तिम अंश बहुत करके उपनिषद् होता है। यही कारण है कि उपनिषद् वेदान्त कहे जाते हैं। उपनिषद्का अर्थ है 'रहस्य, गुप्त उपदेश'। वेदका सारभूत विषय जो परम अधिकारप्राप्त शिष्योंको ही बताया जाता था, वही उपनिषदोंमें भरा हुआ है। ऐसा माना जाता है कि वेदकी जितनी शाखाएँ थीं उतनी ही संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् थे। ऋग्वेदकी २१, यजुर्वेदकी १०९, सामवेदकी १०००, तथा अथर्ववेदकी ५० शाखाएँ थीं। सब मिलाकर ११८० शाखाएँ थीं। अतः इतने ही उपनिषद् भी होने चाहिये। किन्तु संहिता, ब्राह्मणोंके साथ-साथ उपनिषद् भी लुप्त हो गये। मुक्तिकोपनिषद्में भगवान् श्रीरामचन्द्र सारतर १०८ उपनिषदोंके नाम यों कहते हैं—

ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः ।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा ॥
ब्रह्मकैवल्यजाबालश्वेताश्वो हंस आरुणिः ।
गर्भो नारायणो ब्रह्मबिन्दुनादशिरः शिखा ॥
मैत्रायणी कौषीतकी बृहज्जाबालतापनी ।
कालाग्निरुद्रमैत्रेयी सुबालक्षुरिमन्त्रिका ॥
सर्वसारं निरालम्बं रहस्यं वज्रसूचिकम् ।
तेजोनादध्यानविद्यायोगतत्त्वात्मबोधकम् ॥
परिव्राट् त्रिशिखी सीता चूडा निर्वाणमण्डलम् ।
दक्षिणा शरभं स्कन्दं महानारायणाद्वयम् ॥
रहस्यं रामतपनं वासुदेवं च मुद्गलम् ।
शाण्डिल्यं पैङ्गलं भिक्षुमहच्छारीरकं शिखा ॥
तुरीयातीतसंन्यासपरिव्राजाक्षमालिका ।
अव्यक्तैकाक्षरं पूर्णा सूर्याक्ष्यध्यात्मकुण्डिका ॥
सावित्र्यात्मा पाशुपतं परं ब्रह्मावधूतकम् ।
त्रिपुरा तपनं देवी त्रिपुरा कठभावना ।
हृदयं कुण्डली भस्म रुद्राक्षगणदर्शनम् ॥
तारसारमहावाक्यपञ्चब्रह्माग्निहोत्रकम् ।
गोपालतपनं कृष्णं याज्ञवल्क्यं वराहकम् ॥
शाट्यायनी हयग्रीवं दत्तात्रेयं च गारुडम् ।
कलिजाबालिसौभाग्यरहस्यऋचमुक्तिका ॥

इन १०८ उपनिषदोंके अतिरिक्त और भी अनेक उपनिषद् उपलब्ध हैं। ऐसे उपनिषदोंका एक संग्रह दो वर्ष हुए अड्यार लाइब्रेरी (मद्रास) से निकला है। इस संग्रहमें ७१ उपनिषद् संगृहीत हैं। उनके नाम ये हैं—

१—योगराजोपनिषत्
२—अद्वैतोपनिषत्
३—आचमनोपनिषत्
४—आत्मपूजोपनिषत्
५—आर्षेयोपनिषत्
६—चतुर्वेदोपनिषत्
७—इतिहासोपनिषत्
८—चाक्षुषोपनिषत्
९—छागलेयोपनिषत्
१०—तुरीयोपनिषत्
११—त्र्यम्बकोपनिषत्
१२—निरुक्तोपनिषत्
१३—पिण्डोपनिषत्
१४—प्रणवोपनिषत्
१५—प्रणवोपनिषत्
१६—याज्ञवल्क्यमन्त्रोपनिषत्
१७—याज्ञवल्क्यमन्त्रोपनिषत् (सवृत्तिका)
१८—मठाम्नायोपनिषत्
१९—विश्रामोपनिषत्
२०—शौनकोपनिषत्
२१—सूर्यतापिन्युपनिषत्
२२—स्वसंवेद्योपनिषत्
२३—ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनिषत्
२४—कात्यायनोपनिषत्
२५—गोपीचन्दनोपनिषत्
२६—तुलस्युपनिषत्
२७—नारदोपनिषत्
२८—नारायणपूर्वतापिनी
२९—नारायणोत्तरतापिनी
३०—नृसिंहषट्चक्रोपनिषत्
३१—पारमात्मिकोपनिषत्
३२—यज्ञोपवीतोपनिषत्
३३—राघवोपनिषत्
३४—लाङ्गूलोपनिषत्
३५—श्रीकृष्णपुरुषोत्तमसिद्धान्तोपनिषत्
३६—सङ्कर्षणोपनिषत्
३७—सामरहस्योपनिषत्
३८—सुदर्शनोपनिषत्
३९—नीलरुद्रोपनिषत्
४०—पारायणोपनिषत्
४१—विल्वोपनिषत्
४२—मृत्युलाङ्गूलोपनिषत्
४३—रुद्रोपनिषत्
४४—लिङ्गोपनिषत्
४५—वज्रपञ्जरोपनिषत्
४६—वटुकोपनिषत्
४७—शिवसङ्कल्पोपनिषत्
४८—शिवसङ्कल्पोपनिषत्
४९—शिवोपनिषत्
५०—सदानन्दोपनिषत्
५१—सिद्धान्तशिखोपनिषत्
५२—सिद्धान्तसारोपनिषत्
५३—हेरम्बोपनिषत्
५४—अल्लोपनिषत्
५५—आर्यवंद्वितीयोपनिषत्
५६—कामराजकीलितोद्धारोपनिषत्
५७—कालिकोपनिषत्
५८—कालीमेधादीक्षितोपनिषत्
५९—गायत्रीरहस्योपनिषत्
६०—गायत्र्युपनिषत्
६१—गुह्यकाल्युपनिषत्
६२—गुह्यषोढान्यासोपनिषत्
६३—पीताम्बरोपनिषत्
६४—राजश्यामलारहस्योपनिषत्
६५—वनदुर्गोपनिषत्
६६—श्यामोपनिषत्
६७—श्रीचक्रोपनिषत्
६८—श्रीविद्यातारकोपनिषत्
६९—षोढोपनिषत्
७०—सुमुख्युपनिषत्
७१—हंसषोढोपनिषत्

अब यह स्थिर हुआ कि जिसके प्रवेश करनेपर यह शरीर उठ खड़ा हो, वही उत्थ है—वही हममें श्रेष्ठ है। वागिन्द्रिय पहले घुसी, परन्तु यह शरीर सोया ही रहा। चक्षु, श्रवण, मन बारी-बारी प्रवेश करते गये, परन्तु कोई परिणाम नहीं हुआ। यह शरीर पहलेकी भाँति ही सोया-सा रहा—पृथ्वीपरसे उठ नहीं सका। अन्तमें प्राणने प्रवेश किया, उसके प्रवेश करते ही यह शरीर उठ खड़ा हुआ। अतः प्रतिज्ञाके अनुसार प्राण ही उत्थ माना गया। वही सब इन्द्रियोंमें श्रेष्ठ माना गया।[1]

आरण्यकका यह वर्णन उपनिषद्के वर्णनसे कई अंशोंमें भिन्न-सा है। उपनिषद्में तो प्राणके निकलते समय शरीरकी अन्य इन्द्रियोंके खिन्न तथा निर्जीव होनेकी घटनाका वर्णन है, परन्तु इस आरण्यकमें प्रवेशसे पतित शरीरको खड़ा करा देनेकी योग्यताका एक नवीन उल्लेख प्राणके विषयमें किया गया है। प्राणकी श्रेष्ठता इस प्रकार उत्क्रमणसे ही नहीं, बल्कि प्रवेशसे भी सिद्ध की गयी है। इस आरण्यकके अध्ययनसे यह भी पता चलता है कि यह विषय ऋग्वेदकी संहितामें भी निर्दिष्ट किया गया है। इन्द्रियोंने 'त्वमस्माक तय स्मसि' (तुम हमारे स्वामी हो और हम तुम्हारे भृत्य हैं) कहकर प्राणकी श्रेष्ठता स्वयं मानी है। यह इस मन्त्रसे स्पष्ट प्रतीत होता है।[2]

प्राणकी उपासना

प्राणकी सब इन्द्रियोंमें श्रेष्ठता प्रतिपादित करनेके अनन्तर उसकी उपासनाके प्रकारका विस्तृत वर्णन इस आरण्यकमें किया गया है। इस प्राणके अनेक गुणोंका विशद विवेचन किया गया है। अनन्तर उसमें भिन्न-भिन्न देवता तथा ऋषियोंकी दृष्टि कर प्राणोपासनाके ढंग तथा उसके फलका उल्लेख किया गया है। इस लेखमें इस वर्णनका थोड़ा-सा सारांश प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया गया है।

हमारे शास्त्रोंमें इस पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्डकी एकतापर सर्वत्र ज़ोर दिया गया मिलता है। बाहर जो यह विशाल ब्रह्माण्ड नानाकारोंसे हमारे सामने उपस्थित है, उसका एक छोटा प्रतिनिधि है यह हमारा लघु शरीर। अतः भीतर तथा बाहर सब जगह भिन्न-भिन्न आकारसे एक ही तत्त्व इस मानव-शरीर तथा विश्वरूपमें समभावसे व्याप्त दृष्टिगोचर हो रहा है। बाह्य जगत्में जो विश्वका पोषक आदित्य है, इस शरीरमें सब इन्द्रियोंकी स्थितिका कारण वही प्राण है। श्रुतिमें प्राण तथा आदित्यकी एकता सर्वत्र प्रतिपादित की गयी है। प्रश्नोपनिषद्में कहा गया है—'आदित्यो वै बाह्यप्राण उदयत्येष चाक्षुष प्राणमनुगृह्णीते' (प्रश्न० १।७)। आरण्यकोंमें भी इसी एकताका प्रतिपादन स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है। अतः जिस प्रकार आदित्य हमारी उपासनाका विषय है, उसी प्रकार इस शरीरमें प्राण भी हमारी उपासनाका विषय है। हमारा यह सतत ध्येय होना चाहिये कि हम इस प्राणकी उपासना सदा किया करें।

प्राणकी महिमा

सोऽयमाकाशः प्राणेन वृहत्या विष्टब्धः, तद्यथायमाकाशः प्राणेन वृहत्या विष्टब्ध एवं सर्वाणि भूतानि आपिपीलिकाभ्यः प्राणेन वृहत्या विष्टब्धानीत्येवं विद्यात्।

(ऐत० आर० २।१।६)

अर्थात् प्राण इस विश्वका धारक है। 'प्राणकी ही शक्तिसे जैसे यह आकाश अपने स्थानपर स्थित है, उसी तरह सबसे बड़े प्राणीसे लेकर चींटीतक समस्त जीव इस प्राणके द्वारा ही विधृत हैं।' यदि प्राण न होता, तो इस विश्वका जो यह महान् संस्थान हमारे नेत्रोंके सामने सतत आश्चर्य पैदा किया करता है, वह कहीं भी नहीं रहता।

प्राण सर्वत्र व्याप्त है। 'सर्वं हीद प्राणेनावृतम्' (प्राणसे यह सारा जगत् आवृत है।) वह विश्वका धारक है, अतः वह उसका रक्षक है। मन्त्रमें इसीलिये प्राणको 'गोपा' कहा गया है। प्राण ही आयुका कारण है। कौषीतकि उपनिषद्में प्राणके यह आयुष्कारक होनेकी बात स्पष्ट ही कही गयी है—

यावदस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः।

(१।२)

जबतक इस शरीरमें प्राण रहता है तभीतक आयु है। अतः श्रुतिमन्त्रोंमें प्राणके लिये 'गोपा' शब्दका व्यवहार उचित ही है।

१. ऐत० आर० पृ० १००-१०१
२. ऐत० आर० पृ० १०२

प्राणके द्वारा अन्तरिक्ष तथा वायुकी सृष्टि हुई है। प्राण पिता है तथा अन्तरिक्ष और वायु उसकी सन्तान हैं। जिस प्रकार कृतज्ञ पुत्र अपने सत्कर्मोंसे पिताकी सेवा किया करता है, उसी प्रकार अन्तरिक्ष और वायुरूप पुत्र भी प्राणकी सेवामें लगे रहते हैं। अन्तरिक्षका अनुसरण करके ही प्राणिमात्रका सञ्चरण होता है और अन्तरिक्षकी सहायतासे ही आदमी दूर स्थानपर कहे गये शब्दोंको सुन लिया करता है। इस प्रकार अन्तरिक्ष प्राणकी परिचर्या करता है। वायु भी शोभनगन्ध ले आकर प्राणको तृप्त कर देता है तथा इस प्रकार अपने पिता प्राणकी सेवा किया करता है। ऐतरेय आरण्यकमें प्राणके स्रष्टा तथा पिता होनेकी बात इस प्रकार कही गयी है—

प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्च। अन्तरिक्षं वा अनुचरन्ति, अन्तरिक्षमनुशृण्वन्ति। वायुरस्मै पुण्यं गन्धमावहति। एवमेतौ प्राणं पितरं परिचरतोऽन्तरिक्षं च वायुश्च।

अर्थात् 'प्राणसे अन्तरिक्ष और वायुकी सृष्टि हुई। अन्तरिक्षका अनुसरण करके प्राणी चलते हैं और अन्तरिक्षका अनुसरण करके सुनते हैं। वायु इसके पास पुण्यगन्ध ले आता है। इस प्रकार ये अन्तरिक्ष और वायु अपने पिता प्राणकी परिचर्या करते हैं।'

प्राणकी ध्यानविधि

ध्यान करनेके लिये प्राणके भिन्न-भिन्न गुणोंका उल्लेख विस्तृतरूपसे किया गया है। तत्तद्रूपसे प्राणका ध्यान करना चाहिये। उन-उन रूपोंसे उपासना करनेसे फल भी तदनुरूप ही उपासकको प्राप्त होंगे। उस ध्यानके कतिपय प्रकारोंका यहाँ उल्लेख किया जाता है।

प्राण ही अहोरात्रके रूपमें कालात्मक है। दिन प्राणरूप है तथा रात्रि अपानरूप। सवेरे प्राण सब इन्द्रियोंको इस शरीरमें अच्छी तरहसे फैला देता है। इस 'प्रतनन' को देखकर मनुष्य लोग कहते हैं 'प्रातायि' अर्थात् प्रकर्षरूपसे प्राण विस्तृत हुआ। इसी कारण दिनके आरम्भकालको जिसमें प्राणका प्रसरण दृष्टिगोचर होता है 'प्रातः' (सवेरा) कहलाता है। दिनके अन्त होनेपर इन्द्रियोंमें संकोच दीख पड़ता है। उस समय कहते हैं 'समागात्'। इसी कारण उस कालको 'साय' कहते हैं। विकासके कारण दिन प्राणरूप है और संकोचके हेतु रात्रि अपान है। प्राणका ध्यान इस प्रकार अहोरात्रके रूपमें करना चाहिये।

प्राण ही देवतात्मक है। वाग्में अग्नि देवताका निवास है, चक्षु सूर्य है, मन चन्द्रमा है, श्रोत्र दिशाएँ हैं। प्राणमें इन सब देवताओंकी भावना करनी चाहिये। 'हिरण्यदन् वैद' नामक एक ऋषिने प्राणके इस रूपको जाना था तथा प्राणकी देवतारूपसे उपासना की थी। इस उपासनाका जो, विपुल फल उन्हें प्राप्त हुआ, उसका वर्णन ऐतरेय आरण्यकमें स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है (ऐत० आर० पृ० १०३। १०४)।

प्राण ही ऋषिरूप है। ऋग्वेदके मन्त्रोंके द्रष्टा अनेक ऋषि कहे गये हैं। इन सब ऋषियोंकी भावना प्राणमें करनी चाहिये, क्योंकि प्राण ही इन मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंके आकारमें विद्यमान है। प्राण ही शयनके समयमें वाग्, चक्षु आदि इन्द्रियोंके निगरण करनेके कारण 'गृत्स' कहलाता है और रतिके समयमें वीर्यके विसर्गजन्य मद उत्पन्न करनेके कारण अपान ही 'मद' हुआ। अतः प्राण और अपानके संयोगको ही गृत्समद कहते हैं, प्राण ही विश्वामित्र है क्योंकि इस प्राण देवताका यह समस्त विश्व भोग्य होनेके कारणसे मित्र है (विश्व मित्र यस्य असौ विश्वामित्रः)। प्राणको देखकर वागाद्यभिमानी देवताओंने कहा, 'यही हममें वाम'—वननीय, भजनीय, सेवनीय है, क्योंकि यह हममें श्रेष्ठ है। इसी हेतु देवोंमें 'वाम' होनेसे प्राण ही वामदेव है। प्राण ही अत्रि है, क्योंकि इस प्राणने ही समस्त विश्वको पापसे बचाया है (सर्वं पाप्मनोऽत्रायत इति अत्रिः)। प्राण ही भरद्वाज है। गतिसम्पन्न होनेसे मनुष्यके देहको 'वाज' कहते हैं। प्राण इस शरीरमें प्रवेश कर उसकी रक्षा सतत किया करता है। अतः वह प्राण 'बिभ्रद्वाज' है। इसी कारण वह भरद्वाज है। देवताओंने प्राणको देखकर कहा था कि तुम 'वसिष्ठ' हो, क्योंकि इस शरीरमें इन्द्रियोंके निवास करनेका कारण प्राण ही है। प्राण ही सबसे बढ़कर वास या निवासका हेतु है। अतः वह वसिष्ठ हुआ। इन निर्वचनोंसे यही सिद्ध होता है कि प्राण ही ऋषिरूप है। अतः प्राणमें इन ऋषियोंकी भावना करनी चाहिये तथा तद्रूप उपासना करनी चाहिये। अन्य ऋषियोंकी भी भावना इसी प्रकार बतलायी गयी है।

इस आरण्यकमें यहाँतक प्राणके विषयमें कहा गया है कि—

सर्वा ऋचः, सर्वे वेदाः, सर्वे घोषा एकैव व्याहृतिः प्राण एव प्राण ऋच इत्येव विद्यात्।

(ऐत० २। २। १०, पृ० १२१)

जितनी ऋचाएँ हैं, जितने वेद हैं, जितने घोष हैं, वे सब प्राणरूप हैं। प्राणको ही इन रूपोंमें समझना चाहिये तथा उसकी उपासना करनी चाहिये।

प्राणके इन भिन्न-भिन्न रूपों तथा गुणोंको जानकर तत्तद्रूपसे उसकी उपासना करनी चाहिये।

ऊपर प्राणविद्याका जो एक स्वल्प परिचय दिया गया है, उससे स्पष्ट प्रतीत हो गया होगा कि प्राणकी उपासना हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीन कालसे चली आती है। उपनिषदोंमें तो उसके विपुल वर्णन उपलब्ध होते ही हैं। आरण्यकोंमें भी प्राणविद्याका प्रचुर वर्णन है, परन्तु सच तो यह है कि संहिताके मन्त्रोंमें भी इनके बहुतसे निर्देश मिलते हैं। अतः इस विद्याके मूलरूपके ज्ञानके लिये ऋग्वेदस्थ मन्त्रोंका इस दृष्टिसे अध्ययन करना चाहिये तथा इस विद्याके उद्गम तथा विकासको ठीक-ठीक समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। इति शम्।

उपनिषदोंमें योग-चर्चा

(लेखक—पं० श्रीबटुकनाथजी शर्मा एम० ए०, साहित्याचार्य)

योग हिन्दू-जातिकी सबसे प्राचीन तथा सबसे समीचीन सम्पत्ति है। यही एक ऐसी विद्या है जिसमें वाद-विवादको कहीं स्थान नहीं, यही वह एक कला है जिसकी साधनासे अनेक लोग अजर-अमर होकर देह रहते ही सिद्ध-पदवीको पा गये। यह सर्वसम्मत अविसवादि सिद्धान्त है कि योग ही सर्वोत्तम मोक्षोपाय है। भवतापतापित जीवोंको सर्वसन्तापहर भगवान्‌से मिलानेमें योग अपनी बहिन भक्तिका प्रधान सहायक है। जिसको अन्तर्दृष्टि नहीं, उसके लिये शास्त्र भारभूत है। यह अन्तर्दृष्टि बिना योगके सम्भव नहीं। अतः इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय तत्त्वज्ञानके कोशको पानेके लिये योगकी कुञ्जी पाना परमावश्यक है।

इस कालमें सर्वसाधारणजनको योगका ज्ञान बहुत ही कम है। पण्डितसमाजको जो कुछ ज्ञान है वह पातञ्जल-योगका और वह भी दुरधीत तथा दुरध्यापित शास्त्ररूपेण। योगचर्या तथा योगाभ्याससे हमारा सभ्य-समाज उतना ही सम्पर्क रखता है जितना माया-परिष्यक्त जीव सर्वदुःखहर महेश्वरसे रखता है। यही एक प्रधान कारण है कि इस समय योगके सम्बन्धमें विचित्र-विचित्र बातें विद्वज्जनके मुखसे भी सुननेमें आती हैं। अस्तु। इस समय इसकी कैसी भी दुर्दशा अनात्मज्ञ लोगोंमें क्यों न हो, भारतवर्षके आध्यात्मिक इतिहासमें योगका सर्वदा विशिष्ट स्थान रहा है। दार्शनिक मत-मतान्तरोंके परस्पर इतने भिन्न रहनेपर भी, योगाभ्यासमें किसीकी विप्रतिपत्ति सुननेमें नहीं आती। वेदबाह्य बौद्ध, जैन आदि भी योगपर उतनी ही आस्था रखते थे जितनी श्रद्धा वेदसम्मत-मतानुयायी आर्यजनता रखती थी। अनेक विलक्षण आचारसम्पन्न साधकगण भी योगको ही परमालम्बन मानते थे। कहाँतक कहें, हिन्दुओंके नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें भी योगके कितने अङ्ग—आसन, प्राणायाम आदि—व्याप्त देखे जाते हैं। यह एक बड़ी विशिष्ट बात है कि योगका यह प्राधान्य प्राचीनतम कालसे चला आया है। डायसन इसीको 'भारतके धर्मजीवनकी एक सबसे विलक्षण बात' कहते हैं।[1] अन्यत्र हम यह दिखानेका प्रयत्न कर रहे हैं कि वैदिक संहिताओंके कालमें भी योगचर्या अच्छी तरह ज्ञात थी। वेद ही हमारे—हमारे क्या संसारभरके—सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। यदि यह दिखाया जा सकता है कि वेदके प्रत्येक विभागमें योगके विषयमें बहुत कुछ मिलता है, तब यह बात कभी अत्युक्ति नहीं कही जा सकती कि योग हमारी सबसे पुरानी सम्पत्ति है। इस उद्देश्यको सामने रखकर यहाँ हम उपनिषदोंमें आये हुए योग-वर्णनकी कुछ चर्चा करते हैं।

वेदके दो विभाग हैं—मन्त्र और ब्राह्मण। 'मन्त्र-ब्राह्मणात्मको वेदः'। मन्त्रोंके संग्रहका नाम संहिता है। मन्त्रोंके विनियोग आदि विषयोंको बतलानेवाला ग्रन्थ ब्राह्मण कहा जाता है। ब्राह्मणोंका अन्तिम भाग

1 Paul Deussen The Philosophy of the Upanishads, p 117.

बहुधा आरण्यक होता है। आरण्यकोंका अन्तिम अंश बहुत करके उपनिषद् होता है। यही कारण है कि उपनिषद् वेदान्त कहे जाते हैं। उपनिषद्का अर्थ है 'रहस्य, गुप्त उपदेश'। वेदका सारभूत विषय जो परम अधिकारप्राप्त शिष्योंको ही बताया जाता था, वही उपनिषदोंमें भरा हुआ है। ऐसा माना जाता है कि वेदकी जितनी शाखाएँ थीं उतनी ही संहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् थे। ऋग्वेदकी २१, यजुर्वेदकी १०९, सामवेदकी १०००, तथा अथर्ववेदकी ५० शाखाएँ थीं। सब मिलाकर ११८० शाखाएँ थीं। अतः इतने ही उपनिषद् भी होने चाहिये। किन्तु संहिता, ब्राह्मणोंके साथ-साथ उपनिषद् भी लुप्त हो गये। मुक्तिकोपनिषद्में भगवान् श्रीरामचन्द्र सारतर १०८ उपनिषदोंके नाम यों कहते हैं—

ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः ।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा ॥
ब्रह्मकैवल्यजाबालश्वेताश्वो हंस आरुणिः ।
गर्भो नारायणो ब्रह्मबिन्दुनादशिर' शिखा ॥
मैत्रायणी कौषीतकी बृहज्जाबालतापनी ।
कालाग्निरुद्रमैत्रेयी सुबालक्षुरिमन्त्रिका ॥
सर्वसारं निरालम्बं रहस्यं वज्रसूचिकम् ।
तेजोनादध्यानविद्यायोगतत्त्वात्मबोधकम् ॥
परिव्राट् त्रिशिखी सीता चूडा निर्वाणमण्डलम् ।
दक्षिणा शरभं स्कन्दं महानारायणाद्वयम् ॥
रहस्यं रामतपनं वासुदेवं च मुद्गलम् ।
शाण्डिल्यं पैङ्गलं भिक्षुमहच्छारीरकं शिखा ॥
तुरीयातीतसंन्यासपरिव्राजाक्षमालिका ।
अव्यक्तैकाक्षरं पूर्णा सूर्याक्ष्यध्यात्मकुण्डिका ॥
सावित्र्यात्मा पाशुपतं परं ब्रह्मावधूतकम् ।
त्रिपुरा तपनं देवी त्रिपुरा कठभावना ।
हृदयं कुण्डली भस्म रुद्राक्षगणदर्शनम् ॥
तारसारमहावाक्यपञ्चब्रह्माग्निहोत्रकम् ।
गोपालतपनं कृष्णं याज्ञवल्क्यं वराहकम् ॥
शाट्यायनी हयग्रीवं दत्तात्रेयं च गारुडम् ।
कलिजाबालिसौभाग्यरहस्यऋचमुक्तिका ॥

इन १०८ उपनिषदोंके अतिरिक्त और भी अनेक उपनिषद् उपलब्ध हैं। ऐसे उपनिषदोंका एक संग्रह दो वर्ष हुए अड्यार लाइब्रेरी (मद्रास) से निकला है। इस संग्रहमें ७१ उपनिषद् संगृहीत हैं। उनके नाम ये हैं—

१–योगराजोपनिषत्
२–अद्वैतोपनिषत्
३–आचमनोपनिषत्
४–आत्मपूजोपनिषत्
५–आर्षेयोपनिषत्
६–चतुर्वेदोपनिषत्
७–इतिहासोपनिषत्
८–चाक्षुषोपनिषत्
९–छागलेयोपनिषत्
१०–तुरीयोपनिषत्
११–द्वयोपनिषत्
१२–निरुक्तोपनिषत्
१३–पिण्डोपनिषत्
१४–प्रणवोपनिषत्
१५–प्रणवोपनिषत्
१६–याष्कलमन्त्रोपनिषत्
१७–याष्कलमन्त्रोपनिषत् (सवृत्तिका)
१८–मठाम्नायोपनिषत्
१९–विश्रामोपनिषत्
२०–शौनकोपनिषत्
२१–सूर्यतापिन्युपनिषत्
२२–स्वसंवेद्योपनिषत्
२३–ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनिषत्
२४–कात्यायनोपनिषत्
२५–गोपीचन्दनोपनिषत्
२६–तुलस्युपनिषत्
२७–नारदोपनिषत्
२८–नारायणपूर्वतापिनी
२९–नारायणोत्तरतापिनी
३०–नृसिंहषट्चक्रोपनिषत्
३१–पारमात्मिकोपनिषत्
३२–यज्ञोपवीतोपनिषत्
३३–राघोपनिषत्
३४–लाङ्गूलोपनिषत्
३५–श्रीकृष्णपुरुषोत्तमसिद्धान्तोपनिषत्
३६–सङ्कर्षणोपनिषत्
३७–सामरहस्योपनिषत्
३८–सुदर्शनोपनिषत्
३९–नीलरुद्रोपनिषत्
४०–पारायणोपनिषत्
४१–विल्वोपनिषत्
४२–मृत्युलाङ्गूलोपनिषत्
४३–रुद्रोपनिषत्
४४–लिङ्गोपनिषत्
४५–वज्रपञ्जरोपनिषत्
४६–वटुकोपनिषत्
४७–शिवसङ्कल्पोपनिषत्
४८–शिवसङ्कल्पोपनिषत्
४९–शिवोपनिषत्
५०–सदानन्दोपनिषत्
५१–सिद्धान्तशिखोपनिषत्
५२–सिद्धान्तसारोपनिषत्
५३–हेरम्बोपनिषत्
५४–अल्लोपनिषत्
५५–आथर्वणद्वितीयोपनिषत्
५६–कामराजकीलितोद्धारोपनिषत्
५७–कालिकोपनिषत्
५८–कालीमेधादीक्षितोपनिषत्
५९–गायत्रीरहस्योपनिषत्
६०–गायत्र्युपनिषत्
६१–गुह्यकाल्युपनिषत्
६२–गुह्यषोढान्यासोपनिषत्
६३–पीताम्बरोपनिषत्
६४–राजश्यामलारहस्योपनिषत्
६५–वनदुर्गोपनिषत्
६६–श्यामोपनिषत्
६७–श्रीचक्रोपनिषत्
६८–श्रीविद्यातारकोपनिषत्
६९–षोढोपनिषत्
७०–सुमुख्युपनिषत्
७१–हंसषोढोपनिषत्

पूर्वोल्लिखित १७९ उपनिषदोंके अतिरिक्त और भी अनेक उपनिषद् उपलब्ध हैं, किन्तु अभीतक अप्रकाशित हैं। उपलब्ध उपनिषदोंकी संख्या दो शत-तीन शतके मध्यमे है[1]। डॉ० डायसनने स्वकल्पित विनिगमकद्वारा परीक्षाकर इन उपनिषदोंका समयक्रमसे चार विभाग किया है[2]—

१–प्राचीन गद्य उपनिषद्–
- बृहदारण्यक
- छान्दोग्य
- ऐतरेय
- कौषीतकि
- तैत्तिरीय
- केन

२–प्राचीन छन्दोबद्ध उपनिषद्–
- काठक अथवा कठ
- ईश या ईशावास्य
- श्वेताश्वतर
- महानारायण

३–पीछेके गद्य उपनिषद्–
- प्रश्न
- मैत्रायणी (य) या मैत्री
- माण्डूक्य

४–आथर्वण उपनिषद्[3]–
- सन्यास उपनिषद्
- योग उपनिषद्
- सामान्य वेदान्त उपनिषद्
- वैष्णव उपनिषद्
- शैव, शाक्त तथा अन्य छोटे उपनिषद्

इस विभागमें प्रकृतोपयोगी बात यह है कि योगोपनिषद् डॉ० डायसनके मतानुसार बिल्कुल अर्वाचीन हैं। ये उपनिषद् ऐसे है कि इनको देखते ही विद्वान् समझ सकते हैं कि ये योगके सभी अङ्गोंसे भरे हुए हैं। पीछेके योग-विषयक ग्रन्थ–हठयोगप्रदीपिका, गोरक्षपद्धति, शिवसहिता आदि–इन्हीं उपनिषदोंके आधारपर बने हुए हैं। इन योगोपनिषदोंका सग्रह भी ए० महादेव शास्त्रीद्वारा सम्पादित मद्रासकी अड्यार लाइब्रेरीसे निकला है। इसमें निम्नलिखित २० उपनिषद्, उपनिषद् ब्रह्मयोगिकृत टीका-सहित दिये हुए हैं[4]—

१ अद्वयतारकोपनिषत्	(शु० य०)
२ अमृतनादोपनिषत्	(कृ० य०)
३ अमृतबिन्दूपनिषत्	(कृ० य०)
४ क्षुरिकोपनिषत्	(कृ० य०)
५ तेजोविन्दूपनिषत्	(कृ० य०)
६ त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्	(शु० य०)
७ दर्शनोपनिषत्	(सा० वे०)
८ ध्यानविन्दूपनिषत्	(कृ० य०)
९ नादबिन्दूपनिषत्	(ऋ० वे०)
१० पाशुपतब्रह्मोपनिषत्	(अ० वे०)
११ ब्रह्मविद्योपनिषत्	(कृ० य०)
१२ मण्डलब्राह्मणोपनिषत्	(शु० य०)
१३ महावाक्योपनिषत्	(अ० वे०)
१४ योगकुण्डल्युपनिषत्	(कृ० य०)
१५ योगचूडामण्युपनिषत्	(सा० वे०)
१६ योगतत्त्वोपनिषत्	(कृ० य०)
१७ योगशिखोपनिषत्	(कृ० य०)
१८ वराहोपनिषत्	(कृ० य०)

१. विलवलकर और रानडेकृत History of Indian Philosophy (भारतीय तत्त्वज्ञानका इतिहास, खण्ड २, पृ० ८७)

२. Paul Deussen The Philosophy of Upanishads (Eng Transl), pp 22–26 अन्य (भारतीय) विज्ञजन इस विभागको माननेमें समर्थ नहीं हैं। गद्यात्मक या पद्यात्मक होनेसे ही प्राचीन अथवा अर्वाचीन कहना वास्तवमें इतना युक्तियुक्त नहीं जँचता। देखिये–– Belvelkar and Ranade History of Indian Philosophy, vol, II pp. 89–90

३. समझमें नहीं आता डॉ० डायसनने इन सबको आथर्वण उपनिषद् कैसे कह दिया। वह कहते हैं, "All of these Upanishads were received into the Atharvaveda" किन्तु इस सिद्धान्तपर वह कैसे पहुचे, इसका पता नहीं लगता। उपनिषद् ब्रह्मयोगिकी टीकासे स्पष्ट विदित होता है कि वे भिन्न-भिन्न वेदोंकी शाखाओंसे सम्बन्ध रखते हैं।

४ हम आगे योग-उपनिषदोंके नामके साथ सङ्केताक्षरद्वारा उनके वेदकी भी सूचना देते हैं।

शु० य०=शुक्लयजुर्वेद, कृ० य०=कृष्णयजुर्वेद, सा० वे०=सामवेद, ऋ० वे०=ऋग्वेद, अ० वे०=अथर्ववेद।

१९ शाण्डिल्योपनिषत् (अ० वे०)
२० हंसोपनिषत् (शु० य०)

अप्रकाशित उपनिषदोंके सग्रहमें योगराजोपनिषद् भी एक है। इस तरह ये २१ उपनिषद् योगोपनिषद् कहे जाते हैं। नीचे हम प्रत्येकके प्रतिपादित विषयका उल्लेख सक्षेपसे करते हैं—

१–अद्वयतारकोपनिषद्–इसमे लक्ष्यत्रयके अनुसन्धानद्वारा तारकयोगका साधन कहा गया है।

२–अमृतनादोपनिषद्–इसमें षडङ्गयोगका वर्णन है। ये षडङ्ग प्रसिद्ध षडङ्गसे जरा भिन्न हैं। यहाँके षडङ्ग ये हैं—

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते॥

'प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि—यह षडङ्गयोग कहाता है।'

तर्कका लक्षण यह है—

आगमस्याविरोधेन ऊहनं तर्क उच्यते।

'आगमसे अविरुद्ध अनुमान तर्क कहाता है।'

आसनोंका उल्लेख समाधिसिद्ध्युपायमे यों किया है—

पद्मकं स्वस्तिकं वापि भद्रासनमथापि वा।
बद्ध्वा योगासनं सम्यगुत्तराभिमुखः स्थितः॥

'उत्तराभिमुख होकर पद्मक या स्वस्तिक या भद्र या बद्ध योगासन।'

३–अमृतविन्दूपनिषद्–मन ही बन्धनका कारण है।

बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

'विषयासक्त मन बन्धका और निर्विषय मन मुक्तिका कारण है।'

निरस्तविषयासङ्गं संनिरुद्धं मनो हृदि।
यदा यात्यात्मनोऽभावं तदा तत्परमं पदम्॥

'विषयासक्तिसे मुक्त और हृदयमे निरुद्ध मन जब अपने अभावको प्राप्त होता है तब परमपद प्राप्त होता है।'

तावदेव निरोद्धव्यं यावद् हृदिगतं क्षयम्।
एतज्ज्ञानं च ध्यानं च शेषो न्यायस्य विस्तरः॥

'तभीतक हृदयमे मनका निरोध करना चाहिये जबतक उसका क्षय न हो जाय। इसीको ज्ञान कहते हैं और ध्यान कहते हैं, बाकी सब न्यायका विस्तार है।'

इसके अनन्तर ज्ञानका स्वरूप तथा ध्यानका प्रकार कहा गया है।

४–क्षुरिकोपनिषद्–इसमे प्रसिद्ध षडङ्ग—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—सक्षेपसे कहे गये है। 'आसनमवस्थितः' कहकर छोड़ दिया है, किसी आसन-विशेषका नाम नहीं लिया है।

५–तेजोविन्दूपनिषद्–यह जरा बड़ा उपनिषद् है। इसमें छः अध्याय हैं। प्रथम अध्यायमें परब्रह्म-स्वरूप, तथा परब्रह्मावगतिसाधन पञ्चदशाङ्गयोग कहा गया है। पञ्चदश अङ्ग ये हैं—

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालतः।
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः॥
प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात्॥

'यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृक्स्थिति, प्राणसयमन, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि–ये अङ्ग क्रमसे बताये हैं।'

यम आदिका स्वरूप भी भिन्न ही प्रकारसे कहा गया है। उदाहरणार्थ यमका लक्षण देते हैं—

सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।
यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः॥

'यह सब ब्रह्म है, इस ज्ञानसे इन्द्रियोंका संयम करना ही यम कहाता है। इसीका बारबार अभ्यास करना चाहिये।'

द्वितीय अध्यायमें अखण्डैकरसत्व तथा चिन्मात्रत्व भावनाद्वारा सबका एकरूप प्रतिपादित किया गया है। तृतीयाध्यायमें ब्रह्मानुभवका वर्णन है। चतुर्थ अध्यायमें जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति आदिका वर्णन है। बाकीके तीन अध्यायोमे वेदान्तप्रतिपाद्य तत् पदार्थ और त्व पदार्थ-के अभेदका निरूपण है।

६–त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्–पहले सृष्टिक्रम दिखाया गया है। योग दो प्रकारका है—कर्मयोग तथा ज्ञानयोग।

कर्म कर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु ।
बन्धनं मनसो नित्यं कर्मयोगः स उच्यते ॥

'विहित कर्मोंमें इस बुद्धिका होना कि यह कर्तव्य कर्म है, मनका ऐसा नित्य बन्धन कर्मयोग है ।'

यत्तु चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि बन्धनम् ।
ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः ॥

'और श्रेयोऽर्थमे चित्तका सदा बद्ध रहना ज्ञानयोग है, ऐसा समझना चाहिये । यह ज्ञानयोग सब सिद्धियोका देनेवाला और मङ्गलकारक है ।'

इसके अनन्तर निर्विशेष ब्रह्मज्ञानोपाय अष्टाङ्गयोग कहा है । अष्टाङ्ग वे ही प्रसिद्ध अष्टाङ्ग है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ।

यम—१ अहिंसा, २ सत्य, ३ अस्तेय, ४ ब्रह्मचर्य, ५ दया, ६ आर्जव, ७ क्षमा, ८ धृति, ९ मिताहार, १० शौच ।

नियम—१ तप, २ सन्तोष, ३ आस्तिक्य, ४ दान, ५ हरिका आराधन, ६ वेदान्तश्रवण, ७ ह्री, ८ मति, ९ जप, १० व्रत ।

आसन—१ स्वस्तिक, २ गोमुख, ३ वीर, ४ योग, ५ पद्म, ६ बद्धपद्म, ७ कुक्कुट ८ उत्तान कूर्मक, ९ धनु, १० सिंह, ११ भद्र, १२ मुक्त, १३ मयूर, १४ सिद्ध, १५ मत्स्य, १६ पश्चिमतान, १७ सुख ।

प्राणायाम—प्राणायाम बतलानेके पहले अग्निस्थान, नाभिस्थान, नाडीचक्र, कुण्डलिनी, नाडीकन्द, नाडीचर वायु आदिका विशद वर्णन दिया गया है । केवल कुम्भक, सहित तथा नाडी-शोधक प्राणायाम, प्राणायामफल, प्राणधारणसे रोगनाश आदि इसके अनन्तर कहा गया है ।

प्रत्याहार—

यद्यष्टादशमेदेषु मर्मस्थानेषु धारणम् ।
स्थानात् स्थानं समाकृष्य प्रत्याहार. स उच्यते ॥

'यदि अठारहों मर्मस्थानोंमेंसे प्रत्येक स्थानमे (मनसे परमात्माको) धारण कर सके तो उसको प्रत्याहार कहते हैं ।'

इसके अनन्तर १८ मर्मस्थानोंके नाम इस प्रकार दिये हुए है—पादाङ्गुष्ठ, गुल्फ, जङ्घामध्य, ऊरुमध्य और मूल, पायु, हृदय, शिश्न, देहमध्य, नाभि, गलकूपर, तालुमूल, घ्राणमूल, नेत्रमण्डल, भ्रूमध्य, ललाट, ऊर्ध्वमूल, जानुद्वय और करमूल ।

धारणा—

पञ्चभूतमये देहे भूतेष्वेतेषु पञ्चसु ।
मनसो धारणं यत्तद् युक्तस्य च यमादिभिः ।
धारणा सा च संसारसागरोत्तारकारणम् ॥

'इस पाञ्चभौतिक देहके पाँचों भूतोंमे, यमादिसे युक्त मनका धारण करना ही धारणा है, वह ससारसागरसे तारनेवाली है ।'

ध्यान—

चिन्तनं वासुदेवस्य परस्य परमात्मनः ।
स्वरूपव्याप्तरूपस्य ध्यानं कैवल्यसिद्धिदम् ॥

स्वरूपव्याप्तरूप परम परमात्मा वासुदेवका चिन्तन ही ध्यान है । वह कैवल्यसिद्धिका देनेवाला है ।'

ध्यान दो प्रकारका है—सगुण तथा निर्गुण ।

समाधि—

अहमेव परब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः ।
समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः ॥

'मैं ही परब्रह्म हूँ, ब्रह्म मैं हूँ, ऐसी सम्यक् स्थितिको समाधि जानो, उसमें और कोई भी वृत्ति नहीं रहती ।'

सुषुप्तिवद् यश्चरति स्वभावपरिनिश्चलः ।
निर्वाणपदमाश्रित्य योगी कैवल्यमश्नुते ॥

'सोया हुआ-सा जो चलता है, स्वभावसे ही जो सदा सर्वत्र निश्चल है, ऐसा योगी निर्वाणपदका आश्रय करके कैवल्य प्राप्त करता है ।'

७-दर्शनोपनिषद्-सांकृति नामक शिष्य अपने गुरु दत्तात्रेयसे पूछते हैं और वह अष्टाङ्गयोग कहते हैं । अष्टाङ्गयोग पूर्वोक्त ही है । यम और नियम ऊपर कहे हुए दस-दस हैं । यहाँ उनके प्रत्येकके लक्षण दिये हुए है । आसन ९ दिये गये हैं—१ स्वस्तिक, २ गोमुख, ३ पद्म, ४ वीर, ५ सिंह, ६ भद्र, ७ मुक्त, ८ मयूर, ९ सुख

या सम। इसके अनन्तर देहका वर्णन है। नाडी, वायु, नाडीके देवता, नाडियोंमें संवत्सरात्मप्राणसूर्यसञ्चार अन्तस्तीर्थ आदिका बहुत उत्तम वर्णन है। प्राणायामादि सब अङ्गोंका भी बहुत अच्छा प्रतिपादन है। यह योगोपनिषदोंमें एक उत्तम उपनिषद् है।

८–ध्यानविन्दूपनिषद्–ब्रह्मध्यानयोग (प्रणवध्यान, सविशेष ब्रह्मध्यान त्रिमूर्तिध्यानद्वारा) पहले प्रतिपादित है। षडङ्गयोग इसके अनन्तर कहा गया है। आसन चार ही कहे गये हैं—सिंह, पद्म, भद्र तथा सिद्ध। अन्तमें नादानुसन्धानद्वारा आत्मदर्शन बतलाया गया है।

९–नादविन्दूपनिषद्–इसमें प्रणवोपासना तथा नादानुसन्धान कहा गया है।

१०–पाशुपतब्रह्मोपनिषद्–इसमें ज्ञानयोग प्रतिपादित है। परमात्माकी हंसत्वेन भावना, अन्तर्याग, ज्ञानयज्ञरूप अश्वमेध इत्यादि अनेक विषय हैं।

११–ब्रह्मविद्योपनिषद्–प्रणवकी चारो मात्राओंका वर्णन देकर सुषुम्नाके विषयमें यों कहा है—

पद्मसूत्रनिभा सूक्ष्मा शिखाभा दृश्यते परा।
सा नाडी सूर्यसंकाशा सूर्यं भित्त्वा तथा परम्॥
द्विसप्ततिसहस्राणि नाडीर्भित्त्वा च मूर्धनि।
वरदा सर्वभूतानां सर्वं व्याप्यैव तिष्ठति॥

'मृणाल-तन्तुके समान सूक्ष्म और ज्वाला-सी उज्ज्वल और सूर्यसदृश प्रकाशमान वह परा नाडी सूर्यको भेदकर परमको प्राप्त होती है और मूर्धामें बहत्तर हजार नाडियोंको भेदकर सबको व्यापकर रहती है।'

नादके द्वारा मोक्षप्राप्ति, जीवस्वरूपनिरूपण, हंसविद्या, हंसयोगीके द्वारा अनुसन्धेय आत्मस्वरूप इत्यादि अनेक विषय हैं।

१२–मण्डलब्राह्मणोपनिषद्–पहले-पहल अष्टाङ्गयोग कहा है। चार यम कहे गये हैं—शीतोष्णाहार-निद्राविजय., सर्वदा शान्ति, निश्चलत्वम्, विषयेन्द्रियनिग्रश्चैते यमा.। तदनन्तर नव नियम हैं—गुरुभक्ति., सत्यमार्गानुरक्ति., सुखागतवस्त्वनुभवश्च तद्वस्त्वनुभवेन तुष्टिः, निःसङ्गता, एकान्तवासः, मनोनिवृत्तिः, फलानभिलाषः, वैराग्यभावश्च नियमाः। और सब अङ्ग प्रसिद्ध रीतिसे ही कहे गये हैं। यह उपनिषद् अधिकांश तारकयोग तथा अमनस्कयोगमें ही लगाया गया है।

तद्योगं द्विविधं विद्धि पूर्वोत्तरविधानतः।
पूर्वं तु तारकं विद्याद्अमनस्कं तदुत्तरम्॥

'वह योग पूर्वोत्तर विधानसे दो प्रकारका है, पूर्वमें करनेका तारकयोग और बादका अमनस्कयोग है।' तारक भी द्विविध है, मूर्ति तारक और अमूर्ति तारक। जो इन्द्रियान्त है वह मूर्ति तारक है, जो भ्रूयुगातीत है वह अमूर्ति तारक है। दोनोंका ही मनोयोगसे अभ्यास करना चाहिये।··· उत्तरयोग अमनस्कयोग है।

तालुमूलोर्ध्वभागे महज्ज्योतिर्विद्यते, तद्दर्शनादणिमादिसिद्धि।

'तालुमूलके ऊर्ध्व भागमें महज्ज्योति है। उसके दर्शनसे अणिमादि सिद्धि प्राप्त होती है।'

१३–महावाक्योपनिषद्–इस छोटेसे उपनिषद्में हंसविद्या कही गयी है। पर यहाँ कुछ विशेष है।

विद्या हि काण्डान्तरादित्यो ज्योतिर्मण्डलं ग्राह्यं नापरम्। असावादित्यो ब्रह्मेत्यजपयोपहितं हंस· सोऽहम्। प्राणापानाभ्यां प्रतिलोमानुलोमाभ्यां समुपलभ्यैवं सा चिरं लब्ध्वा त्रिवृदात्मनि ब्रह्मण्यभिध्यायमाने सच्चिदानन्दः परमात्माविर्भवति।

'काण्डान्तरमें जो ज्योतिर्मण्डलस्वरूप आदित्य हैं वही विद्या हैं, अन्य कोई नहीं। 'असौ आदित्यो ब्रह्म' यही आदित्य ब्रह्म है जिसका 'हंस· सोऽहम्' इस अजपा मन्त्रसे निर्देश किया जाता है। प्राणापानकी अनुलोम और प्रतिलोम गतिसे वह विद्या जानी जाती है, दीर्घकालके अभ्याससे वह विद्या लाभकर जब त्रिवृत् आत्मा ब्रह्मका ध्यान किया जाता है तब सच्चिदानन्द परमात्मा आविर्भूत होते हैं।'

१४–योगकुण्डल्युपनिषद्—

हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरण·।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तद्द्वावपि विनश्यतः॥

तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा ।
मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः ॥

'चित्तके दो हेतु हैं, वासना और प्राण । इनमेंसे किसी एकके नष्ट होनेसे दोनोंका नाश होता है । इनमेंसे पहले सदा प्राणको ही जय करना चाहिये, तब मिताहार होकर आसन साधे और फिर शक्तिचालन करे ।'

इस सिद्धान्तको कहकर आसन प्राणायामादिद्वारा कुण्डलिनीयोग प्रथम अध्यायमें कहा गया है । द्वितीय अध्यायमें खेचरी, मन्त्रद्वारा तथा प्रसिद्ध अभ्यासद्वारा, कही गयी है । तृतीय अध्यायमें ब्रह्मस्वरूप, जीवस्वरूप, मुक्तिस्वरूप आदि कथित हैं ।

१५–योगचूडामण्युपनिषद्–चक्र, नाडी, वायु आदिका तत्त्व बतलाते हुए षडङ्गयोग इसमें कहा गया है । तदनन्तर प्रणवाभ्यास प्रतिपादित है । प्रणवाभ्यास करनेवालेको भी प्राणजय करना आवश्यक है, अतः नाडीशोधनादिद्वारा प्राणायाम पन: कहा गया है ।

१६–योगतत्त्वोपनिषद्–मोक्ष-प्राप्तिके लिये ज्ञान तथा योग दोनों आवश्यक हैं ।

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम् ।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ॥

'योगके बिना ज्ञान ध्रुव मोक्षका देनेवाला भला कैसे हो सकता है ? उसी प्रकार ज्ञानहीन योग भी मोक्षकर्ममें असमर्थ है ।'

योग चार हैं—मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग ।

मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगक ।

इस उपनिषद्में प्रसिद्ध अष्टाङ्गयोगका सविस्तर वर्णन है ।

१७–योगशिखोपनिषद्–यह उपनिषद् बड़े महत्त्वका है । विषय तो वही है जो योगतत्त्वोपनिषद्में कहा गया है किन्तु यहाँ बड़े विस्तारसे तथा प्रकारान्तरसे कहा गया है । कुछ बातें उससे भिन्न भी हैं । यहाँ चारों योग स्वतन्त्ररूपेण कहे गये हैं । यहाँ वे क्रमिक भूमिका माने गये हैं—

मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात् ।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते ॥

'मन्त्र, लय, हठ और राज—ये चार योग यथाक्रम चार भूमिकाएँ हैं । चारों मिलकर यह एक ही चतुर्विध योग है जिसे महायोग कहते हैं ।'

इतना ही नहीं, उनके स्वरूप भी कुछ भिन्न प्रकारसे कहे गये हैं । उदाहरणार्थ राजयोग लीजिये—

रजसो रेतसो योगाद् राजयोग इति स्मृतिः ।

'रज और रेतके योगसे राजयोग होता है ।'

योगका सामान्य स्वरूप—

प्राणापानसमायोगो ज्ञेयं योगचतुष्टयम् ।

'प्राणापानको समान करना योगचतुष्टय कहा गया है ।' यह उपनिषद् योगदृष्ट्या सचमुच बड़े कामका है ।

१८–वराहोपनिषद्–इसमें पाँच अध्याय हैं । चार अध्यायोंमें ज्ञान प्रतिपादित है । पञ्चम अध्यायमें योग कहा गया है । तीन योग हैं—लय, मन्त्र तथा हठ । हठयोगके आठ अङ्ग हैं । यम १०, नियम १० और आसन ११ कहे गये हैं । अन्तमें योगके कुछ विशेष प्रकार दिये गये हैं, जैसे कालवञ्चनोपायभूतयोग, कायदार्ढ्यबलादिसाधनके योग, सम्पुटयोग आदि ।

१९–शाण्डिल्योपनिषद्–इसमें अष्टाङ्गयोग शाण्डिल्यसे अथर्वा कहते हैं । यम १०, नियम १०, आसन ८, प्राणायामके ३ प्रकार, प्रत्याहार ५, धारणा ५, ध्यान २ कहे गये हैं । द्वितीय-तृतीय अध्याय बहुत छोटे-छोटे हैं । इनमें ब्रह्मस्वरूप कहा गया है । अन्तमें दत्तात्रेयका माहात्म्य प्रतिपादित है ।

२०–हंसोपनिषद्–हंसविद्या संक्षेपसे प्रतिपादित है । अजपाजप, नादानुसन्धान आदि तदुपायत्वेन कहे गये हैं ।

२१–योगराजोपनिषद्–चार योग हैं—मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग तथा हठयोग । इन चारों योगोंमें आसन, प्राणायाम, ध्यान तथा समाधि सम्मत हैं । लययोगके प्रसङ्गमें नव चक्रोंका वर्णन

दिया गया है। हठ तथा राजयोगके विषयमें और कुछ नहीं कहा गया है।

यह २१ योगोपनिषदोंका सारांश है। इसके देखनेसे कुछ-न-कुछ तद्गत विषयोंका अनुमान हो सकता है। इनमें योगके सभी विषय आ गये हैं। पीछेके ग्रन्थोंमें इन्हीं उपनिषदोंका लिया हुआ माल मिलता है। केवल विषय ही नहीं प्रत्युत वेके-वे ही शब्द अनेक स्थलोंमें मिलते हैं। गोरक्ष आदि सिद्धोंके ग्रन्थोंमें वहाँके श्लोक वैसे-के-वैसे मिलते हैं। जो लोग कहते हैं कि योगके अङ्ग आठसे छः इन सिद्धोंने किये हैं, उन्हें इन उपनिषदोंको देखना चाहिये। सिद्धोंने बौद्धोंसे योग सीखा यह कहनेका जिनका साहस है, उनके पास प्रमाण क्या है वे ही जानें। तिब्बत आदि उत्तरीय प्रदेशोंमें सिद्धोंकी अनेक कथाएँ प्रचलित हैं, यह कोई प्रमाण नहीं है। इससे तो कुछ दूसरी ही बात निकलती है। जो लोग इन उपनिषदोंको पीछेके कालका मानते हैं, उनकी युक्तियाँ भी अल्पप्राण ही हैं। तथापि हम आगे यह दिखानेका प्रयत्न करते हैं कि जिन्हें विद्वज्जन प्राचीनतम मानते हैं, उनमें भी योगका विषय अच्छी तरह आया हुआ है।

योग शब्दके इस पारिभाषिक अर्थमें प्रयुक्त होनेके बहुत पूर्वसे योगाभ्यास भारतके लोगोंको अच्छी तरहसे ज्ञात था। यद्यपि युज् धातुका प्रयोग मनस् शब्दके साथ तथा ऐसे ही अर्थमें ऋग्वेदमें भी मिलता है, तथापि बिल्कुल स्पष्टरूपसे कठोपनिषद्में योग शब्दका प्रयोग हुआ है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

(कठोपनिषद् अ० २ वल्ली ३। १०-११)

'जब पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ मनसहित आत्मामें स्थिर होकर बैठती हैं, बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती, तब उस अवस्थाको परमा गति कहते हैं। उसी स्थिर इन्द्रिय-धारणाको योग कहते हैं। उस अवस्थामें साधक प्रमाद-रहित होता है। उत्पत्ति और नाश योग ही है।'

उपनिषदोंमें योग 'अध्यात्मयोग' कहा गया है। संहिता ब्राह्मणोंमें योग अनेक क्रियाकलापोंके साथ मिला हुआ मिलता है तथा सिद्धियाँ ही उसकी बहुशः लक्ष्य थीं। बहुत सम्भव है मोक्षप्राप्तिके लिये जब इसका प्रयोग होने लगा तब इसको अध्यात्मयोग कहने लगे।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥

(कठोपनिषद् १। २। १२)

'वह देव अर्थात् आत्मा जो इतना तेजस्वी है कि देख नहीं सकते, जो गूढ—गहन स्थानमें प्रवेश किये हुए है, गुहामें बैठा हुआ और गह्वरमें रहनेवाला है उसको अध्यात्मयोगाधिगमके द्वारा जानकर धीर पुरुष हर्ष और शोकको त्याग देता है।'

योग शब्दका प्रयोग दर्शनविशेषके लिये होता है या क्रियात्मकयोगके लिये होता है। उपनिषदोंमें दोनों अर्थोंमें योग शब्द प्रयुक्त मिलता है। ऊपरके दोनों कठोपनिषद्के मन्त्र ही इसके उदाहरण हैं। योगदर्शनके-से मत प्राचीन उपनिषदोंमें भी अनेक स्थलोंपर मिलते हैं। यहाँ उन सब वाक्योंके उद्धृत करनेसे लेखका कलेवर बहुत बढ़ जायगा। विज्ञलोग कठ, मुण्डक, छान्दोग्य आदि उपनिषदोंमें इसे स्वयं देख सकते हैं। क्रियात्मकयोगके भी रूप, प्रकार, भेद आदि प्राचीन उपनिषदोंमें भी मिलते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद्के द्वितीय अध्यायमें षडङ्गयोगका वर्णन स्पष्ट ही देख पड़ता है। जो लोग योगका षडङ्गत्व नाथसम्प्रदायसे आया हुआ मानते हैं, उन्हें यह उपनिषद् अपने मतके पलटनेमें बहुत कुछ सहायता देगा।

श्वेताश्वतरके कुछ वाक्य हम नीचे देते हैं—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निरुध्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥
प्राणान् प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं
विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः॥

(२। ८-९)

ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥
(१।१४)

'शरीरको त्रिरुन्नत अर्थात् छाती, गर्दन और सिर उन्नत, और सम करके, मनसहित इन्द्रियोंको हृदयमें नियत कर ब्रह्मरूप नौकासे विद्वान् सब भयानक प्रवाहोंको तर जाय। इस शरीरमें प्राणोंका अच्छी तरह निरोध करके युक्तचेष्ट हो और प्राणके क्षीण होनेपर नासिकाद्वारोंसे श्वास छोड़े और इन दुष्ट घोड़ोंकी लगाम मनको विद्वान् अप्रमत्त होकर धारण करे। ध्यानरूप मन्थनसे अत्यन्त गूढ़-सा जो आत्मा है उसे देखे।'

विज्ञ पाठक देखेंगे इसमें योगके षडङ्ग किस प्रकार कहे गये हैं। श्वेताश्वतरमें योग विस्तारसे कहा गया है। यजुर्वेदसंहिता आदिमें आये कुछ योगविषयक मन्त्रोंका पूरा भाष्य-सा दिखायी पड़ता है।

आसनोंका विस्तृत वर्णन इन उपनिषदोंमें नहीं मिलता है। जैसे श्रीमद्भगवद्गीतामें 'समं कायशिरोग्रीवम्' मिलता है वैसा ही यहाँ दिखायी पड़ता है[1]। ध्यानादिके लिये सिद्धासन तथा पद्मासनको छोड़ अन्य आसन अनुपयुक्त और अनावश्यक है। गोरक्षनाथने गोरक्षपद्धतिमें इसी हेतु ये ही दो आसन बतलाये हैं।

वैदिक ग्रन्थोंमें प्राणविद्याका बड़ा ऊँचा स्थान है। उपनिषदोंमें भी प्राणोपासना अनेक भावनाओंके द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारसे कही गयी है[2]। प्रत्यक्ष सम्बन्ध योगसे प्राणोंका प्राणायामके सम्बन्धमें है। प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी उपनिषद् मोक्षके दो उपाय बताते हैं— मनोजय तथा प्राणजय। मनोजय वासनाओंके क्षीण होनेसे होता है, किन्तु प्राणजय हो जानेसे मनोजय अनायास सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि योगमें प्राणजयपर इतना जोर दिया जाता है। प्राणजय प्राणायामद्वारा होता है। अतएव प्राणायामका इतना प्राधान्य है। कठोपनिषद्में यों कहा है—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते॥
(२।२।३)

'जो प्राणको ऊपर भेजता है और अपानको नीचे फेंकता है उस मध्यमें रहनेवाले वामनको विश्वेदेव भजते हैं।'

मुण्डकोपनिषद्में एक वाक्य यों मिलता है—

प्राणश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥
(३।१।९)

'प्रजाओंके प्राणसह सम्पूर्ण चित्तमें वह आत्मा व्याप्त है और विशुद्धचित्तमें ही विशेषरूपसे प्रकट होता है।'

योगके सभी अंगोंका वर्णन उपनिषद्वचनोंसे यहाँतक हुआ है। समाधिका वर्णन भी अनेक स्थलोंमें मिलता है। श्वेताश्वतरमें इस प्रकार वर्णन है—

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं
तेजोमयं भ्राजते तत् सुधातम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः॥
यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥
(२।१४-१५)

'जिस प्रकार कोई तेजोमय बिम्ब धूलसे धूसरित हुआ हो और पीछे स्वच्छ करनेपर वही चमकने लगता है उसी प्रकार उस आत्मतत्त्वको देखकर देही एकावस्थाको प्राप्त होकर कृतार्थ और वीतशोक होता है। परन्तु जब देही आत्मतत्त्वसे ब्रह्मतत्त्वको परप्रकाशक दीपककी रीतिसे देखता है तब वह आत्मदेवको अज, ध्रुव, सर्वतत्त्वविशुद्ध जानकर सब पाशोंसे मुक्त हो जाता है।'

ऊपर संक्षेपमें दिखानेका प्रयत्न किया गया है कि प्राचीन उपनिषदोंमें भी योगके प्रत्येक अङ्गका विवरण मिलता है। वास्तविक बात तो यह है कि लगभग सभी उपनिषदोंमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपसे थोड़ा अथवा

---

१. ऊपर दिये हुए श्वेताश्वतरके वाक्यको देखिये—'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्।'

२ छान्दोग्य० १।११।५, ४।३।३-४, ५।१।६—१५।७। १५।१, ५।१०—२४, कौषीतकि० २।१, ५, श्वेताश्वतर० १।४—५, इत्यादि।

अधिक योग अवश्य ही आया है। उपनिषद् हमारे मोक्षशास्त्रके परमाधार हैं। मोक्ष अतीन्द्रिय ज्ञानके विना उपहासास्पद है। अतीन्द्रिय ज्ञान विना योगके साध्य नहीं। अतः उपनिषदोंसे योगका एक प्रकारसे अविनाभूत सम्बन्ध है। औपनिषदिक योग बड़े ही महत्त्वका विषय है। एक ओर तो संहिताओंमें आया हुआ निगूढरूप योग है। दूसरी ओर भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय, धर्म तथा मतानुरूप विकसित योग है। औपनिषदिक योग ही आगे-पीछेकी कुञ्जी है। योगका इतना भारी किला इसी औपनिषदिक योगके नींवपर खड़ा है। उपनिषद् वेदान्त हैं—वेदका सर्वस्वसारभूत निचोड़ हैं। इनको श्रद्धासे समझनेका उद्योग करना चाहिये। काट-कतरकी धिषणाको यहाँ जरा संयत रखना चाहिये। इस धैर्य और श्रद्धाका फल अवश्य परम हितकारक होगा।

उपनिषदोंमें योग

(लेखक—जगद्गुरु भगवत्पाद श्रीरामानन्दसम्प्रदायाचार्य श्री १०८ स्वामी श्रीरघुवराचार्यजी महाराज)

'योग' शब्दका सामान्य अर्थ है 'सम्बन्ध'। परन्तु महर्षि पतञ्जलिके सिद्धान्तानुसार चित्तकी वृत्तियोंका वास्तविक निरोध करना ही योग है और यह योग ही कैवल्यमुक्तिका सर्वोत्तम साधन है। यह योग साङ्ख्यशास्त्रीय योगसे विलक्षण नहीं है—दोनोंकी एकता ही मानी जाती है। परन्तु गीतामें जो 'साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः' इत्यादि श्लोक आये हैं उनमें सांख्य और योग शब्दोंका आशय भिन्न है। गीतामें 'सांख्य' से 'संख्यया बुद्ध्यावधारणीयमात्मतत्त्वम्'—सख्यासे अर्थात् बुद्धिसे धारण करने योग्य आत्मतत्त्व अर्थात् ज्ञानका अभिप्राय है, और 'योग' से कर्मयोगका। यहाँ कापिल सांख्य और पातञ्जल योगका कोई प्रकरण नहीं है।

यहाँ सांख्य और योग शब्दोंसे ज्ञान और कर्मयोगका ग्रहण किया गया है। सांख्य और योग दोनोंमें स्वरूपभेद तो अवर्जनीय है, पर उभयसाध्य फलांशमें अभेद होनेके कारण यह कहा गया है कि, 'सांख्य और योगको बालक ही पृथक् कहते हैं, पण्डित नहीं, क्योंकि दोनोंमेंसे एकका भी जो अच्छे प्रकारसे अनुष्ठान किया जाय तो दोनोंका ही फल प्राप्त हो जाता है। जो स्थान (मोक्षाख्य फल) ज्ञानसे प्राप्त किया जा सकता है वही योग (निष्कामकर्मयोग) से भी प्राप्त होता है।' यद्यपि याग-दानादि कर्म फलासक्ति और अहङ्कारबुद्धिसे अनुष्ठित होनेपर ज्ञानलभ्य फलको नहीं दे सकते, तथापि निष्कामबुद्धिसे अर्थात् भगवदर्पणबुद्धिसे उनका अनुष्ठान करनेसे वही फल सुलभ होता है। इसके अतिरिक्त भगवत्परिचर्या आदि सत्कर्मोंका भी यहाँ ग्रहण है। यही श्रीगीताचार्य भगवान्का तात्पर्य है।

योग शब्द मनोनिरोधका वाचक है, और मनोनिरोधके विना ज्ञान, भक्ति और नित्यादि सत्कर्म सभी व्यर्थ होते हैं। अतएव परम पुरुषार्थके प्रतिपादक उपनिषदादिमें योग शब्दका प्रयोग दोनों अर्थोंमें समञ्जस होता है और इसी आशयकी पूर्तिके लिये प्रायः सभी उपनिषदोंमें योगका प्रधानरूपसे वर्णन है। कुछ उपनिषदोंमें तो योगका महत्त्व अन्य साधनोंकी अपेक्षा बहुत ही चढ़ा-बढ़ा देखा जाता है। सायुज्यमुक्तिको ही उपनिषदोंमें वास्तविक मुक्ति कहा गया है। इस मुक्तिकी प्राप्ति जैसे ज्ञान और पराभक्तिसे होती है, ठीक वैसे ही योगसे भी होती है। इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान, पराभक्ति और योग ये शब्द भगवत्प्राप्तिके चरम साधनके बोधक हैं। अतः इनका उल्लेख मोक्षसाधनतया ही उपनिषदोंमें आता है। इसका स्पष्टीकरण भिन्न-भिन्न उपनिषदोंके दृष्टान्तोंसे किया जाता है। श्वेताश्वतरोपनिषद्के द्वितीयाध्यायमें योगका बहुत अच्छा विवेचन है। वहाँ योगका सर्वोत्तम फल बताया है और यौगिक क्रियाओंका भी वर्णन है। यथा—

प्राणान् प्रपीड्येह स युक्तचेष्ट
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं
विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः॥
(श्वे० २।९)

समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥

यदि शैलसम पाप विस्तीर्णं बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन॥

'पर्वतके समान भी बहुयोजनविस्तीर्ण पापराशि हो तो वह सब ध्यानयोगसे नष्ट हो जाती है, और कोई उपाय नहीं है।' इस उपनिषद्में योगके छः अङ्ग बताये हैं। यथा—

आसनं प्राणसरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट्॥

इन छः अङ्गोंमें ही पातञ्जलदर्शनके अष्टाङ्गोंका अन्तर्भाव समझना चाहिये। योगतत्त्वोपनिषद्में मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग इस प्रकार चार प्रकारके योगोंका स्वरूप, लक्षण और विवेचन बहुत अच्छे प्रकारसे किया गया है। पातञ्जलयोगका और इस औपनिषद योगका ऐक्य ही यहाँ प्रस्फुट होता है। योगशिखोपनिषद्में तो योगमार्गका बहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है। आरम्भमें हिरण्यगर्भका श्रीमहेश्वरसे यही प्रश्न है कि, हे शङ्कर! इस दुःखमय संसारमें सब जीव पड़े हैं और अपने कर्मोंका सुख-दुःखात्मक फल भोग रहे हैं। इनकी मुक्ति किस सुगम उपायसे हो, यह कृपया बताइये? इसका श्रीशङ्करजीने यही उत्तर दिया है कि, कर्मबन्धसे मुक्त होनेका उपाय कोई ज्ञान और कोई योग कहते हैं, परन्तु मेरा मत तो यह है कि—

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भो।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि॥
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्।

'योगहीन ज्ञान और ज्ञानहीन योग कभी भी मोक्षप्रद नहीं होता। इसलिये ज्ञान और योग इन दोनोंका ही मुमुक्षुको दृढ़ताके साथ अभ्यास करना चाहिये।' इससे यही सिद्ध हुआ कि बन्धनिवृत्तिके लिये साध्य-साधनभावसे योग और ज्ञान इन दोनोंको स्वीकार करना चाहिये। इस उपनिषद्में यह भी कहा है कि—

योगशिखां महागुह्यं यो जानाति महामतिः।
न तस्य किञ्चिदज्ञातं त्रिषु लोकेषु विद्यते॥

'इस 'योगशिखा' को जो महामति साधक जानता है उसको तीनों लोकमें कुछ भी अज्ञात नहीं रहता।' इस प्रकार योगके रहस्योंको जाननेवाला सर्वज्ञ हो सकता है, यही इस वाक्यका सार है।

उपनिषदोंका पूर्णतया मनन करनेपर हम इसी निष्कर्षपर आते हैं कि बिना यौगिक साधनोंके हमारी पारमार्थिक प्रवृत्ति अधूरी ही रहती है। समस्त उपनिषदोंमें किसी-न-किसी रूपसे योगका समर्थन करते हुए उसको उपादेय बताया है। योग शब्द एक सामान्य शब्द है। वह विशेष पदके समीप होनेसे अनेक अर्थोंका बोधक है। उपनिषदोंमें साधनरूपसे ग्राह्य जो अनेक सिद्धान्त हैं उनको किसी-न-किसी रूपसे योग कहा जा सकता है। जैसे ज्ञानयोग, भक्तियोग, मन्त्रयोग, लययोग, क्रियायोग, ध्यानयोग, जपयोग, समाधियोग आदि। योगमार्ग ही भगवत्प्राप्तिका एक मार्ग है, क्योंकि यौगिक प्रक्रियाके अनुसार ही मनोनिरोध हो सकता है और सब प्रकारके साधनोंमें मनका स्थैर्य पूर्णतया अपेक्षित है। अतः उपनिषदोंका तात्पर्य योगानुष्ठानपूर्वक ही मुक्तिकी प्राप्तिसे है। ऐसा कोई मार्ग मोक्षसाधनका नहीं है जिस मार्गमें योगाङ्गोंकी आवश्यकता न पड़ती हो। इसलिये जिस प्रकार दूधमें घृत समाया हुआ है और माताके उपदेशोंमें बालकका हित भरा हुआ है, उसी प्रकार उपनिषदोंमें योग समाया हुआ है। योग शब्द अनेक प्रकारसे उपनिषदोंमें व्यवहृत किया गया है। परन्तु सबका तात्पर्य मुक्तिसाधनत्वरूपसे एक ही है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि योग और उपनिषदोंका प्रतिपाद्य-प्रतिपादकत्वादिरूपसे घनिष्ठ सम्बन्ध है।

तन्त्रमें योग

(लेखक—श्रीअटलविहारी घोष)

भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय अपने-अपने मार्गके अनुसार 'योग' शब्दका अर्थ करते हैं। वेदान्त-पक्षका कहना है—जीव और आत्माके मिलनका नाम योग है। प्रत्यभिज्ञा-पक्षके मतानुसार शिव और आत्माके अभेद-ज्ञानका नाम योग है। भेद-वादियोके मतमें पुराण-पुरुषका ज्ञान ही योग है। आगमवादी कहते है कि शिव और शक्तिका अभेद-ज्ञान ही योग है। योगाभ्यास करनेके लिये दीक्षा अवश्य ग्रहण करनी चाहिये। दीक्षानिर्दिष्ट अपनी ब्रह्ममूर्तिकी उपासनासे सिद्धि प्राप्त करनेपर योगमार्गमे प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त होता है। कौल कहते हैं कि शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर एव गाणपत्यादि मन्त्रोंके द्वारा चित्त विशुद्ध होनेपर कौल-ज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्रकाशित होता है। कुलार्णवतन्त्रके द्वितीय उल्लासमें लिखा है—

शैववैष्णवदौर्गार्कगाणपत्यादिकै क्रमात्।
मन्त्रैर्विशुद्धचित्तस्य कौलज्ञानं प्रकाशते॥

उक्त तन्त्रमे और भी कहा गया है कि मनुष्य चार श्रेणियोंमे विभक्त हैं और प्रत्येक श्रेणीके मनुष्य अपने अधिकार-भेदसे परमपदार्थको भिन्न-भिन्न रूपमें देखा करते है।

अग्नौ तिष्ठति विप्राणा हृदि देवो मनीषिणाम्।
प्रतिमास्वप्रबुद्धानां सर्वत्र विदितात्मनाम्॥

अर्थात् क्रिया-काण्डमे अनुरक्त ब्राह्मण उनको अग्निमें देखा करते है। मनीषी अपने हृदयमे उनका अनुभव करते है। जो अप्रबुद्ध है, वे प्रतिमामे उन्हें देख पाते है और जो आत्मज्ञानी है, वे सर्वत्र और सर्वदा उस परम पदार्थको देखा करते हैं।

योगसाधनका उद्देश्य यही शेषोक्त अवस्था प्राप्त करना है। इसके लिये सबसे प्रथम कर्तव्य है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर, इन षट्-रिपुओका नाश करना। यहाँपर कामादि षट्-रिपुओंके स्वरूपका परिचय देना आवश्यक है। स्त्री-भोगादिकी जो अभिलाषा है, वही काम है। प्राणियोको पीडा पहुँचानेका नाम है क्रोध। धनादिकी अतिशय आकांक्षाका नाम है लोभ। तत्त्वज्ञानका अभाव ही मोह है। मै सुखी हूँ, मै पण्डित हूँ, मैं धनवान् हूँ, इस प्रकारके गर्वको मद कहते हैं। और दूसरेका सौभाग्य देखकर जो दुःख होता है, उसका नाम मत्सर है। ये ही शत्रु हैं, क्योकि ये ही सब दुःखोके कारण है और ये ही आत्मस्वरूपका विचार करनेमे बाधा पहुँचाते हैं। इनका दमन करनेके लिये योगके अष्टाङ्गका अभ्यास करना होगा। योगके ये आठ अग निम्नलिखित है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

यम शब्दका अर्थ है—उपरति, अर्थात् काम इत्यादि-से निवृत्ति। यह दस प्रकारका है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, कृपा, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच।

अहिंसाका अर्थ है—किसी कर्मके द्वारा, और मनके द्वारा किसी प्रकारसे किसी प्राणीको क्लेश न पहुँचाना। सत्य शब्दका अर्थ है—जैसा सुना हो और जैसा देखा हो, वैसा ही कहना। अस्तेय शब्दका अर्थ है—दूसरेका तुच्छसे भी तुच्छ तृण आदि भी ग्रहण न करना। ब्रह्मचर्य शब्दका अर्थ है—आठो प्रकारके मैथुनका परित्याग करना। इस अष्टविध मैथुनका वर्णन शास्त्रमें इस प्रकार आया है—

स्मरण कीर्तन केलि प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च॥

बुरी भावनासे स्त्रीका स्मरण, कथन, स्त्रीके साथ खेलना, स्त्रीको देखना, छिपकर बातें करना, पानेका सङ्कल्प करना, पानेकी चेष्टा करना और सहवास करना। कृपा शब्दका अर्थ है—प्राणिमात्रकी दुःखनिवृत्तिकी चेष्टा। आर्जव शब्दका अर्थ इस प्रकार वर्णित है—

व्यवहारेषु सर्वेषु मनोवाक्कायकर्मभि।
सर्वेषामपि कौटिल्यराहित्यमार्जवं भवेत्॥

अर्थात समस्त प्राणियोंके साथ मन, वाणी और शरीरके द्वारा जो व्यवहार किया जाता है, उसमें कुटिलताके अभावका नाम आर्जव है। क्षमा शब्दसे अपकार करनेवालेके प्रति निरवच व्यवहार समझना चाहिये। इष्टवस्तुकी अप्राप्तिमें जो दुश्चिन्ता उत्पन्न होती है, उस दुश्चिन्ताका अभाव ही धृति है। शरीर धारण करनेमात्रके लिये जो भोजन है उसका नाम मिताहार है। जिसके द्वारा चित्त निर्मल होता है, उस परिष्कारका नाम शौच है। यहाँपर यह समझना चाहिये कि धृति इन दस प्रकारके सभी साधनोंमें रहेगी। अहिंसा और ब्रह्मचर्यके द्वारा कामपर, कृपा और क्षमाके द्वारा क्रोधपर, अस्तेय, सत्य और आर्जवके द्वारा लोभपर, मिताहार और शौचके द्वारा मोहपर, क्षमा और आर्जवके द्वारा मदपर और अहिंसा, कृपा, आर्जव और क्षमाके द्वारा मत्सरपर विजय प्राप्त होती है।

योगका द्वितीय अङ्ग नियम भी दस प्रकारका है जैसे—तपः, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजा, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप और होम।

कृच्छ्रादि व्रतोंके आचरणका नाम तप है। इष्टतर वस्तुकी भी अभिलाषा न होनेका नाम सन्तोष है। श्रुतिप्रतिपाद्य अर्थमें परलोकके अस्तित्वमें जो विश्वास है वही आस्तिक्य है। यथाविहित अनिन्द्य उपायसे कमाये हुए धनको शक्तिके अनुसार देव, पितर और मनुष्योंके उद्देश्यसे बाँटना दान कहलाता है। अपनी ब्रह्ममूर्तिकी उपासना देवपूजा है। उपनिषद् आदि मोक्षशास्त्रोंके सुननेका नाम सिद्धान्तश्रवण है। कुत्सित आचरणके कारण मनमें जो कष्ट होता है उसका नाम ह्री है। मति शब्दका अर्थ है मनन अर्थात विविध युक्ति-प्रमाणोंकी सहायतासे सुने हुए अर्थका अनुशीलन। यहाँपर जप शब्दसे इष्ट मन्त्रका जप समझना चाहिये। इसके द्वारा चित्तशुद्धि होती है। अग्निहोत्रादि होमका नाम होम है।

आसन अनेक प्रकारके हैं। इनकी कोई संख्या नहीं। परन्तु साधारणतः चौरासी प्रकारके आसनोंकी बात कही गयी है। उनमें पाँच आसन शास्त्रोंमें प्रधान बताये गये हैं। इन पाँचोंके नाम हैं—पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, वज्रासन और वीरासन।

(१) पद्मासन—बायीं जाँघपर दाहिना पैर और दाहिनी जाँघपर बायाँ पैर रखकर, पीछेकी ओरसे दोनों हाथ ले आकर दाहिने बायें दाहिना अँगूठा और बायें बायें बायाँ अँगूठा पकड़ना होता है। इसको बद्ध पद्मासन कहते हैं। मुक्त पद्मासनमें इस प्रकार अँगूठा पकड़नेका नियम नहीं।

(२) स्वस्तिकासन—दाहिने घुटने और जङ्घाके बीचमें बायाँ पैर रखना पड़ता, और बायें घुटने और जङ्घाके बीचमें दाहिने पैरको रखकर, शरीर सीधा करके बैठना होता है। हाथों, शिरोभाग और शिरोभागको एक सीधमें रखना होता है। इसको स्वस्तिकासन कहते हैं।

(३) भद्रासन—सीवनके दोनों ओर दोनों एड़ियोंको टिकाकर, अण्डकोषके नीचे दोनों हाथोंसे एड़ियों और पैरोंको पकड़कर स्थिर, निश्चल भावसे बैठा जाता है, इसीको भद्रासन कहते हैं।

(४) वज्रासन—दोनों जाँघोंके ऊपर दोनों पैरोंको रखकर, घुटनोंके ऊपर दोनों हाथोंकी हथेली रखकर निश्चलरूपसे बैठनेको वज्रासन कहते हैं।

(५) वीरासन—एक पैरको दोनों अण्डकोषोंको दबाकर दूसरे पैरको दूसरी जाँघके ऊपर रखकर सरलभावसे बैठनेको वीरासन कहते हैं।

आसन लगानेपर जब श्रम दूर हो जाय तब प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये। जिस आसनमें साधकको कोई क्लेश न हो और सुखपूर्वक बैठ सके, वही आसन लगाकर प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये। प्राणायाम दो प्रकारका है—निगर्भ और सगर्भ। ध्यान और मानस-जप करते हुए प्राणायाम-साधनका नाम सगर्भ प्राणायाम है। बीज उच्चारण न करके जो प्राणायाम किया जाता है उसका नाम निगर्भ प्राणायाम है। इड़ा नाड़ीसे अर्थात् बायें नथुनेसे षोडश-मात्रा वायु आकर्षण करनेका नाम पूरक, चौंसठ मात्रा वायु धारण करनेका नाम कुम्भक एवं बत्तीस मात्रामें पिङ्गलासे अर्थात् दाहिने नथुनेसे वायु त्याग करनेका नाम रेचक है। प्राणायाममें तीन प्रकारकी अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्थामें पसीना निकलता है, उसे अधम अवस्था कहते हैं। मध्यम अवस्थामें साधककी देह काँपती है। और प्राणायामकी उत्तम अवस्थामें साधक भूमि छोड़ सकता है। इस प्राणायाममें सिद्ध होने-

'पर साधक प्रत्याहारका अधिकारी होता है। प्रत्याहार शब्दका अर्थ है इधर-उधर दौड़नेवाली सब इन्द्रियोंको इन्द्रियग्राह्य विषयोंसे निवृत्त करना। और अँगुली, एड़ीसे आरम्भ करके सहस्रारपद्मके नीचे रहे हुए द्वादशदल कमलतक सोलह स्थानोंमें प्राणवायुको धारण करनेका नाम धारणा है। प्रत्याहार और धारणाका अभ्यास गुरुके उपदेशके अनुसार ही करना चाहिये। इनकी कोई साधारण व्यवस्था नहीं है। गुरु शिष्यकी योग्यताके अनुसार इनकी विधि निर्दिष्ट करते हैं।

एकाग्रचित्त होकर अपने अभीष्ट देवता या स्वकीया ब्रह्म-मूर्तिके चिन्तन करनेका नाम ध्यान है। निरन्तर जीवात्मा और परमात्माके ऐक्यचिन्तनको समाधि कहते हैं।

जीवदेहमात्र ही शिवशक्त्यात्मक या अग्नीषोमात्मक अथवा शुक्रशोणितात्मक है और वह ९६ अँगुली लम्बी है अर्थात् साधककी अपनी अँगुलियोंसे ९६ अंगुल है। पायु और जननेन्द्रियके मध्यके स्थानको कन्द या मूलाधार कहते हैं। इस मूलाधारसे असंख्य नाड़ियोंकी उत्पत्ति हुई है। उनमें तीन प्रधान हैं; उन तीनोंका नाम है—इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना।

इड़ा बायीं ओर है, पिंगला दाहिनी ओर है और सुषुम्ना मेरुदण्डके मध्यभागमें है। सुषुम्नाके भीतर एक और नाड़ी है, उसे चित्रा कहते हैं। चित्राके अन्तर्भागको ब्रह्मनाड़ी कहते हैं। मूलाधारमें जो एक अत्यन्त सुन्दर ज्योतिर्मय त्रिकोण है, वहींपर कुण्डलिनी अर्थात् जीवशक्ति साढ़े तीन चक्कर-के रूपमें सोयी हुई सर्पिणीकी तरह रहती है। मूलाधारके ऊपर लिङ्गमूलमें जो चक्र है उसका नाम स्वाधिष्ठानचक्र है। उसके ऊपर नाभिके मूलदेशमें सुषुम्नानाडीसे सम्बद्ध जो चक्र है, उसे मणिपूरचक्र कहते हैं। हृदयस्थानमें जो एक चक्र है, उसको अनाहतचक्र कहते हैं। कण्ठदेशमें जो चक्र है, उसका नाम विशुद्ध चक्र है। और भ्रूमध्यमें जो चक्र है उसको आज्ञाचक्र कहते हैं। इसी स्थानपर गुरुकी आज्ञा-का सञ्चार होता है, इसीसे इसका नाम आज्ञाचक्र है। साधक कुण्डलिनी-शक्तिको इन समस्त चक्रोंका भेद करता हुआ मूलाधारसे द्वादशदलचक्रके ऊपरमें शिवस्थानमें ले जाता है और शिवशक्ति सामरस्यरूप अतुल आनन्दका भोग करता है। षट्चक्रनिरूपण, त्रिपुरासारसमुच्चय, गन्धर्वतन्त्र प्रभृति ग्रन्थोंमें इसका विस्तृत वर्णन मिलता है। महाकालोक्त 'पादुकापञ्चकम्' स्तोत्रमें पूर्वोक्त द्वादशदलपद्मका विशेष विवरण है। योगसाधनाका उद्देश्य यही है कि गुरु, मन्त्र, यन्त्र, देवता और साधककी एकताकी उपलब्धि हो और क्रमशः अद्वैतभावकी प्राप्ति हो। उस अवस्थाकी प्राप्ति होनेपर सिद्धयोगी परमानन्द नित्यचैतन्यैकगुणात्मक आत्माभेदस्थित प्रणवके या हौं-कारके चिन्तनमें मग्न होते हैं। उस समय वे मन, वाणी तथा वेदवाक्यसे अतीत स्वसंवेद्य आनन्द-रससागर तारात्मक वस्तुकी उपलब्धि करते हैं।

अद्वैतलाभके पूर्वकी अवस्थामें जो ध्यान बतलाया गया है, वह इस प्रकार है—

> सत्यं मानविवर्जितं श्रुतिगिरामाद्यं जगत्कारणं
> व्याप्तस्थावरजङ्गमं मुनिवरैर्ध्यातं निरुद्धेन्द्रियैः।
> अर्काग्नीन्दुमयं शताक्षरवपुस्तारात्मकं सन्ततं
> नित्यानन्दगुणालयं गुणपरं वन्दामहे तन्महः॥

विचार करके देखनेपर मालूम होगा कि तन्त्रकथित मार्गका और श्रुतिकथित मार्गका गन्तव्य स्थान एक ही है। इसीलिये श्रुति और आगमका भेद वाक्यगत है, वस्तुगत नहीं। उद्धृत श्लोकका अर्थ कोई-कोई इस प्रकार करते हैं—

अरूपस्य ब्रह्मणो भावनरूप ध्यानमेतत्। सत्यम्, असत्यव्यावृत्तिरूपम्; 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति श्रुतेः। मानविवर्जितम्, प्रमाणागोचरीकृतम्; 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इति श्रुतेः। श्रुतिगिरामाद्यम्, वेदप्रवक्तृ; 'शास्त्रयोनित्वात्' इति बादरायणसूत्रणात्। जगत्कार-णम्; 'जन्माद्यस्य' इति सूत्रणात्। व्याप्तस्थावरजङ्गमम्; 'सहस्रशीर्षा' इति श्रुतेः। मुनिवरैर्नारदादिभिः। अर्का-ग्नीन्दुमयमिति गायत्र्यादिदेवताक्रमेण। यद्वा अर्को विष्णुः अग्नी रुद्र इन्दुर्ब्रह्मा तन्मयम्। तत उत्पत्तित्वात्। यद्वा ओङ्काररूपत्वं वक्ष्यति। एतेनाकारोकारमकारात्मकत्वेनाग्नी-न्दूर्कस्वरूपत्वं शताक्षरवपुरिति। शताक्षरं परं महः प्रतिपाद्यते। प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरभेदात् शास्त्रयोनित्वेन कार्यकारणभेदाद्वा शब्दब्रह्मस्वरूपत्वाद्वा तथोक्तिः, यद्वा यतः अर्काग्नीन्दुस्वरूपत्वम् अत एव शताक्षरवपुरिति हेतुहेतुमद्-भावेन योजना। नित्यानन्दचित्त्वं तत्स्वरूपमेव। तदालयत्वञ्च भगवत उपचारात्। गुणेभ्यः सत्त्वरजस्तमोभ्यः परं तद्रहितम्। तद्वेदशिरसि प्रसिद्धम्। महः नित्यं

प्रकाशकत्वान् मह इव। एते च सर्वे शब्दास्तस्य वस्तुनो लक्षका एव न वाचकाः। एतेषां शब्दानामेकत्वार्थत्वम् अपर्यायत्वेऽपि अतद्व्यावृत्त्यर्थतया न पौनरुक्त्यम्।'

फिर, उपर्युक्त श्लोकका अर्थ इस प्रकार भी किया जाता है—

'महस्तेजोरूपा कुण्डलिनी उच्यते। सत्यं नित्यस्वात्मस्था, 'नित्या शक्तिः परादेवी' इत्युक्तेः। मानमियत्ता तद्वर्जिता, 'सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा विभुः' इत्युक्तेः। व्याप्तस्थावरजङ्गमा, 'सर्वगा विश्वरूपिणी दिक्कालाद्यनवच्छिन्ना' इत्युक्तेः। निरुद्धेन्द्रियैर्मुनिवरैर्ध्याता; 'योगिध्येया च सर्वदा' इत्युक्तेः। 'योगिनां हृदयाम्भोजे नृत्यन्ती नित्यमक्षमा' इत्यपि। अर्काग्नीन्दुरूपा; 'त्रिधामजननी देवी' इत्युक्तेः। 'सोमसूर्याग्निरूपा च' इत्युक्तेश्च। शताक्षरवपुः, 'विश्वात्मना प्रबुद्धा सा सूते मन्त्रमयं जगत्' इत्युक्तेः। तारात्मकम्;

तन्मध्ये चिन्तयेद्देवीमूर्ज्वाकारां तडित्प्रभाम्।
ओङ्काररूपिणीं ज्योत्स्नामात्मरूपां शुभोदयाम्॥
(इत्युक्तेः)

नित्यानन्दगुणाढ्या, 'नित्यानन्दगुणोदया' इत्युक्तेः। गुणपरा, गुणरूपा परा च, 'शक्तिः कुण्डलिनी गुणत्रयवपुर्विद्युल्लतासन्निभा' इत्युक्तेः। 'परापरविभागेन परशक्तिरियं मता' इत्युक्तेश्च।

उक्त श्लोकमें 'शताक्षरवपुः' शब्दका अर्थ शताक्षरमन्त्र है। यह (१) निष्टुप्, (२) गायत्री और (३) अनुष्टुप्—इन तीन मन्त्रोंके संयोगसे बनता है।

उद्धृत श्लोककी जो व्याख्या दी गयी है यह महामति सर्वशास्त्रविशारद राघवभट्टकृत है। इससे यह मालूम होता है कि कोई मन्त्र किसी निर्दिष्ट देवताका नहीं है। जिस समय साधकसे मन्त्र, देवता और गुरुके साथ ऐक्य भावना करनेके लिये कहा जाता है, उस समय साधक जिस इष्ट देवताका साधन करता है, वही एकमात्र परम देवता है, यह समझना भूल है। भगवत्पाद शङ्कराचार्यने स्वरचित प्रपञ्चसारतन्त्रमें हृल्लेखा बीजके सम्बन्धमें कहा है—

यां ज्ञात्वा सकलमपास्य कर्मबन्धं
तद्विष्णोः परमं पदं प्रयाति लोकः।
तामेतां त्रिजगति जन्तुजीवभूतां
हृल्लेखां जपत च नित्यमर्चयीत॥

इससे स्पष्ट मालूम होता है कि शक्तिबीजसाधनके द्वारा भी विष्णुपद प्राप्त किया जाता है। पहले ही कहा गया है कि साधकके उपास्य या इष्ट देवता उसकी गुरुनिर्दिष्ट ब्रह्ममूर्तिमात्र है। अपने इष्टकी मूर्तिका अवलम्बन करके ही परम पदार्थमें लीन हुआ जा सकता है। शाक्ततन्त्रमें शक्तिको प्रधानता दी जाती है, इसीसे 'ह्रीं' कार बीज और कुण्डलिनी शक्तिकी आराधनाको प्रधानता दी जाती है। शैवतन्त्रमें 'ओंकार' और शिवको प्रधानता दी जाती है। इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं। शिव और शक्तिके परस्पर-सम्बन्धको 'अविनाभाव' बतलाया जाता है। जिन्होंने इस 'अविनाभाव' की उपलब्धि की है, वे ही जीवन्मुक्त हैं।

उपसंहारमें यह कहना आवश्यक है कि इसके अतिरिक्त और जो कुछ करनेकी आवश्यकता है, वह गुरुसे ही जाना जा सकता है। शास्त्रोंमें कहा है—

गुरूपदेशतो ज्ञेयं न ज्ञेयं शास्त्रकोटिभिः।

यह कहनेका मतलब यही है कि केवल शास्त्रवचनके आधारपर यदि योगसाधना की जाय तो साधकको समय-समयपर विशेषरूपसे विपद्ग्रस्त होना पड़ता है। गुरु शिष्यका अधिकार समझकर पग-पगपर उसे उपदेश देते हैं। यहाँतक देखा गया है कि प्राणायामसाधन करते समय भी कोई पथप्रदर्शक न होनेपर साधकको विपद्ग्रस्त होना पड़ा है। इन सब कारणोंसे जो विषय गुरुसे ही सीखनेयोग्य है, वह यहाँ नहीं लिखा गया है।

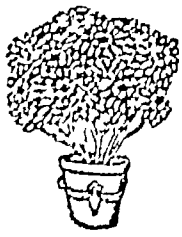

श्रीमद्भागवतमें योगचर्या

(लेखक—प० श्रीवलदेवप्रसादजी उपाध्याय एम० ए०,साहित्याचार्य)

मद्भागवत सस्कृतके धार्मिक साहित्यका एक अनूठा रत्न है । यह अष्टादश पुराणोंमे सबसे श्रेष्ठ माना जाता है । महर्षि वेदव्यासने नदियोंमे गंगा, देवताओंमे विष्णु, वैष्णवोंमे शिवके समान, पुराणोमे इसे बतलाकर इसकी प्रधानता तथा श्रेष्ठताको स्पष्ट-रूपसे अभिव्यक्त किया है[1] । सब क्षेत्रोंमे जिस प्रकार काशी सर्वोत्तम है, उसी प्रकार पुराणसमूहोमे भागवत है । वेद तथा वेदान्तका महत्त्वपूर्ण सार भाग निचोड़कर श्रीमद्भागवतमे भर दिया गया है[2] । वास्तवमें यह 'निगमकल्पतरुका गलित फल' है । यह फल देवी-देवताओंके लिये भी दुर्लभ है (श्रीमद्भागवती वार्ता सुराणामपि दुर्लभा)। परन्तु सौभाग्यवश यह सुरस तथा स्वादिष्ठ फल महर्षि वेदव्यासके परम अनुग्रहसे हम मानवजनोंके लिये नितान्त सुलभ है । भगवान् वेदोंके परम रहस्योंसे सवलित होनेके कारण भागवतका यथार्थमे समझना विद्वज्जनोका ही काम है । इसीलिये कहा जाता है कि विद्वानोंकी विद्वत्ताकी परीक्षा भागवतमें होती है—'विद्यावतां भागवते परीक्षा ।' किसी धार्मिक ग्रन्थमें 'भागवत' के प्रत्येक अक्षरसे एक अतीव सुन्दर अर्थकी उद्भावना की गयी है। 'भा' अक्षरसे भारूप-प्रकाशस्वरूप सच्चिदानन्दका सकेत किया गया है । 'भा प्रकाशे चिदानन्दे' । 'ग' अक्षरसे उस भगवान्के विषयमें लौकिक 'गति' का अर्थ निकलता है—'गतिर्यस्यात्र लौकिकी ।' 'व' अक्षर भागवतको सब शास्त्रोंमें 'वरिष्ठ'—श्रेष्ठ बतला रहा है—'वरिष्ठ सर्वशास्त्राणाम् ।' अन्तिम अक्षर तकार है जो इस बातको सकेत कर रहा है कि यह ग्रन्थ इस भवार्णवसे पार जानेके लिये एकमात्र 'तरणि'—नाव—है—'तरणिर्भूतभवार्णवे' । इस प्रकार भागवतके अक्षरोंकी इस भावमयी साकेतिक व्याख्याका यही अर्थ है कि यह ग्रन्थ प्रकाशरूप सच्चिदानन्दके विषयमे लौकिक उपायको बतलानेवाला है, सब शास्त्रोंसे बढकर है तथा इस ससाररूपी समुद्रसे पार जानेके लिये—निरपायभूत भगवान्के पास पहुँचनेके लिये—एक सुदृढ नौकाका काम करता है । भागवतसे परिचित पाठक इस व्याख्याकी यथार्थता तथा रमणीयताको भलीभाँति समझ सकते हैं ।

श्रीमद्भागवतका प्रतिपाद्य विषय क्या है ? यह तो प्रथम स्कन्धके आरम्भमें ही व्यास-नारद-सवादसे स्पष्ट प्रतीत होने लगता है । स्त्री, शूद्र तथा द्विजबन्धुओंके हितार्थ व्यासजीने श्रुत्यर्थसवलित लक्षश्लोकात्मक महाभारतकी रचना करके जिस चित्तसन्तुष्टिको नहीं प्राप्त किया, उसे ही उन्होंने श्रीमद्भागवतकी रचना कर पाया । इसका कारण यही था कि सब विषयोंसे पूर्ण होनेपर भी महाभारतमे भगवान्की आनन्दमयी लीलाओंका विशद वर्णन न था—धर्म, अर्थका विशद कीर्तन होनेपर भी वासुदेवकी महिमाका वर्णन न था । इसी कमीकी पूर्ति करनेके लिये ही व्यासजीने नारदजीके उपदेशसे श्रीमद्भागवत नामक नये पुराणकी रचना की । 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जित न शोभते ज्ञानमल निरञ्जनम्' (नैष्कर्म्यस्वरूप निरञ्जन अलं ज्ञान भी अच्युत-भावके विना शोभा नहीं देता ।) (श्रीमद्भा० १ । ५ । १२) कहकर व्यासजीने भगवद्भक्तिकी ही प्रधानताको दिखलाया है । अतः लीलाधाम भगवान्की मनोरम लीलाओंके सुन्दर वर्णनके साथ-साथ भक्तियोगका मनोरम तथा विशद विवेचन ही भागवतका प्रधान विषय है, तथापि स्थल-स्थलपर ज्ञान तथा कर्मका भी उचित वर्णन है तथा अष्टाङ्गयोगका भी वर्णन कम नहीं है ।

योगका विषय उपनिषदोंमे भरपूर है, यह तो बहुत-से विज्ञ पुरुषोंको अवगत है, तथापि सहिताओंमे, विशेषतः ऋग्वेद तथा अथर्ववेदकी सहिताओंमे भी योगके अल्प या अधिक, गौणतः तथा मुख्यतः, अनेक सङ्केत उपलब्ध होते है, इसे बहुत-से जानकार लोग भी नहीं जानते । अतः वैदिक संहिताओंमें ही योगकी आदिम रूप-रेखा हमे मिलती है, उपनिषदोंमे आकर योगकी यह रूप-रेखा अत्यन्त सुव्यक्त रूप धारणकर धीरे-धीरे परिपूर्णावस्थाको प्राप्त करती हुई लक्षित होती है । महाभारत, पुराण, तन्त्र

---

१ श्रीमद्भागवत १२ । १३ । १६

२ श्रीमद्भागवत १२ । १३ । १४

अपने शरीरको ही उतने ही गोपों तथा गौओंमें परिवर्तित कर जो चमत्कार किया था वह योगकी कायव्यूहसिद्धिका उज्ज्वल दृष्टान्त है। श्रीकृष्णने प्रबल दावाग्निसे गोपोंकी जो रक्षा की थी, उसमें उनका 'योगवीर्य' ही प्रधान कारण था। रासलीलाके समयमें वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्णने जो अलौकिक लीलाएँ दिखायीं उनमें उनका योगमायाका आश्रय लेना भी एक कारण था। कहाँतक हम गिनावें श्रीकृष्णके योगशक्तिजन्य अद्भुत कार्योंको। जब यादवोंके भारसे भी व्यथित इस भूमण्डलको श्रीकृष्णने भार-विहीन कर तथा जीवनदान देकर अपने लोकमें जानेका विचार किया, उस समय भी श्रीकृष्ण ध्यान लगाकर अपने परम रमणीय शरीरको आग्नेयी योगधारणासे बिना जलाये ज्यों-के-त्यों अपने शरीरके साथ अपने लोकमें चले गये[४]। 'साधारण योगी अग्निधारणासे अपने शरीरको भस्म कर देता है।' श्रीकृष्णने भी वह धारणा की अवश्य, परन्तु अपने शरीरको बिना भस्म किये सशरीर ही अपने धाममें चले गये[५]। इस प्रकार श्रीकृष्णके जीवनचरितको आदिसे अन्ततक व्यासजीने योगसिद्धियोंसे परिपूर्ण प्रदर्शित किया है।

प्रत्यक्ष वर्णन

अबतक जो कुछ कहा गया उससे पता चल गया होगा कि भागवतमें योगसम्बन्धी अनेक अप्रत्यक्ष सङ्केत विद्यमान हैं। अब भागवतमें अष्टाङ्गयोगका जो प्रत्यक्ष निदर्शन है उसको देखें। ऐसा निदर्शन एक ही स्थलपर नहीं, अनेक स्थलोंपर है। छोटे-छोटे तो अनेक वर्णन हैं, परन्तु इनका उल्लेख यहाँ न कर केवल विस्तृत विवरणोंका ही निर्देश किया जाता है। भागवतके तीन स्कन्धोंमें योगका विशेष विवरण दिया गया है—दूसरे स्कन्धके अध्याय १ तथा २ में, तीसरे स्कन्धके २५ वें तथा २८ वें अध्यायोंमें कपिलजीका अपनी माता देवहूतिके प्रति योगका उपदेश, और फिर एकादश स्कन्धके अध्याय १३ में सनकादिकोंको हंसरूपधारी भगवान्‌के द्वारा योगका वर्णन, अ० १४ में ध्यानयोगका विशद वर्णन, अ० १५ में अणिमा आदि अठारह सिद्धियोंका वर्णन, अ० १९ में यमनियमादिका वर्णन, अ० २८-२९ में यथाक्रम ज्ञानयोग और भक्तियोगके साथ अष्टाङ्गयोग। इन सब स्थानोंमें योगका इतना विशद प्रचुर वर्णन है कि उसके लिये एक अलग पुस्तिकाकी आवश्यकता होगी। यहाँ केवल उसका साराश उपस्थित करनेका यत्न किया जायगा।

भागवतमें अष्टाङ्गयोगकी यह एक बड़ी विशेषता है कि वह स्वतन्त्र साधनरूपमें उपस्थित किया गया है। साथ-ही-साथ अन्य साधनमार्गोंको भी वह सहायता पहुँचाता है। योग भक्तिका सबसे अधिक सहायक है अवश्य, फिर भी वह ज्ञान, कर्म तथा भक्तिके समान एक पृथक् स्वतन्त्र साधनपथ है जिसपर चलकर साधकगण परमात्माका साक्षात्कार कर सकते हैं। इसकी विशेषता ठीक-ठीक समझनेके पहले उससे परिचय प्राप्त कर लेना नितान्त आवश्यक है।

योगके आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। इनमें यम तथा नियमका संक्षिप्त वर्णन ग्यारहवें स्कन्धके अध्याय १९ में यत्किञ्चित् मिलता है। पातञ्जल सूत्रोंमें तो यम तथा नियम केवल पाँच प्रकारके ही बतलाये गये हैं, परन्तु भागवतमें उनमेंसे प्रत्येकके बारह भेद माने गये हैं—

यमके द्वादश भेद[१]—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) असङ्ग, (५) ह्री, (६) असञ्चय, (७) आस्तिक्य, (८) ब्रह्मचर्य, (९) मौन, (१०) स्थैर्य, (११) क्षमा, (१२) अभय।

नियमके द्वादश भेद[२]—(१) शौच-बाह्य, (२) आभ्यन्तर, (३) जप, (४) तप, (५) होम,

---

१ श्रीमद्भागवत १० । १३ । १९

२ ,, १० । १९ । १४

३ ,, १० । २९ । १

४ सयोज्यात्मनि चात्मान पद्मनेत्रे न्यमीलयत्॥
लोकाभिरामा स्वतनु धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाग्नेय्या दग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥
(श्रीमद्भागवत ११ । ३१ । ५-६)

५ उक्त श्लोककी व्याख्यामें मान्य टीकाकारोंमें भी मतभेद दिखायी पड़ता है। श्रीधरस्वामीके 'अदग्ध्वा' पदच्छेदको मानकर वीरराघव, विजयध्वज, जीवगोस्वामी आदि सब टीकाकारोंने एक समान ही अर्थ किया है, परन्तु निम्बार्कमतानुयायी श्रीशुकदेवने अपने सिद्धान्त-प्रदीपमें 'दग्ध्वा' पदच्छेद कर 'स्ववियोगाधिना सन्तापयित्वा' अर्थ कर विद्युत्के अदृश्य होनेकी तरह भगवत्तनुके अन्तर्धान होनेकी बात लिखी है।

१ श्रीमद्भागवत ११ । १९ । ३३

२ ,, ११ । १९ । ३४

(६) श्रद्धा, (७) आतिथ्य, (८) भगवदर्चन, (९) तीर्याटन, (१०) परार्थचेष्टा, (११) सन्तोष, (१२) आचार्यसेवन ।

इन यमोंमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (भागवतका छठा 'असञ्चय') पातञ्जलदर्शनमें भी हैं, शेष सात नये हैं । नियमोंमें उसी भाँति शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान (भागवतका आठवाँ 'भगवदर्चन') पातञ्जलदर्शनमें भी हैं, शेष नये हैं ।

आसन—यह योगका तीसरा अङ्ग है । शुद्ध, पवित्र तथा एकान्त स्थानमें आसन लगाना चाहिये । जहाँ कहीं हल्ला न हो, निर्जनताके कारण शान्ति विराजती हो, वैसा ही स्थान आसन लगानेके लिये चुनना चाहिये । आसन 'चैलाजिनकुशोत्तर' होना चाहिये, इसका 'कल्पितासन' शब्दके द्वारा भागवतमें स्थान-स्थानपर सकेत है । योगमें अनेक आसन बतलाये गये हैं । स्वस्तिकासनसे बैठे तथा उस समय अपने शरीरको बिल्कुल सीधा बना रक्खे—

गृहाद् प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः ।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवद् कल्पितासने ॥
(श्रीमद्भा० २ । १ । १६)

'घरसे निकला हुआ वह धीर पुरुष पुण्यतीर्थोंके जलमें स्नान करे और शुद्ध एकान्त स्थानमें विधिपूर्वक बिछाये हुए आसनपर आसीन हो ।'

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम् ।
तस्मिन् स्वस्ति समासीन ऋजुकायः समभ्यसेद् ॥
(३ । २८ । ८)

'शुचि देशमें आसन लगाकर आसनको जीते, पीछे स्वस्तिकासन लगाकर सीधा शरीर करके अभ्यास करे ।'

इस श्लोकमें श्रीधरस्वामीके अनुसार 'स्वस्तिक' पाठ माना जाता है । अन्य टीकाकारोंने 'स्वस्ति समासीनः' पाठ माना है तथा पद्मासन अथवा सिद्धासनसे सुखपूर्वक बैठे, ऐसा अर्थ किया है । अतः भागवतमें किसी एक आसनके प्रति आदर दिखाया गया नहीं मालूम पड़ता । स्थान-स्थानपर टीकाकारोंके संकेतसे पद्म अथवा सिद्ध आसनोंकी ओर निर्देश जान पड़ता है ।

प्राणायाम—प्राणोंका आयाम योगका चौथा अङ्ग है । पूरक, कुम्भक तथा रेचकके द्वारा प्राणके मार्गको शुद्ध करनेका उपदेश दिया गया है—

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।
(३ । २८ । ९)

प्राणायाम पुराणोंमें दो प्रकारका बतलाया गया है—(१) अगर्भ तथा (२) सगर्भ । अगर्भ प्राणायाम वह है जिसमें जप तथा ध्यानके बिना ही मात्राके अनुसार प्राणायाम किया जाय । सगर्भ प्राणायाममें जप तथा ध्यान अवश्य होना चाहिये । इन दोनोंमें सगर्भ प्राणायाम श्रेष्ठ है । अतः पुराणोंने उसीके करनेका उपदेश दिया है । शिवपुराणकी वायवीय सहिताके उत्तरखण्ड अध्याय सैंतीसमें इन दोनोंके भेद तथा उपयोगका अच्छा वर्णन है—

अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो द्विधा स्मृतः ।
जपं ध्यानं विनागर्भः सगर्भस्तत्समन्वयात् ॥३३॥

'प्राणायाम अगर्भ और सगर्भ, दो प्रकारका कहा गया है, जप और ध्यानके बिना जो प्राणायाम होता है वह अगर्भ है और जप-ध्यानके सहित जो है वह सगर्भ है ।'

अगर्भाद् गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः ।
तस्मात्सगर्भं कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम् ॥३४॥

'अगर्भसे सगर्भ प्राणायामका गुण सौगुना है । इसलिये योगी सगर्भ प्राणायाम करते हैं ।'

विष्णुपुराणमें अगर्भको अबीज तथा सगर्भको सबीज प्राणायाम कहा गया है[1] । श्रीमद्भागवतमें भी इसी सगर्भ प्राणायामका विधान बतलाया गया है । प्राणायाम करता जाय, साथ-ही-साथ अ-उ-मूसे ग्रथित ब्रह्माक्षर ॐकारकी मनमें आवृत्ति करता जाय । ॐकारको बिना भुलाये अपने श्वासको जीते[2]—

अभ्यस्येन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम् ।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन् ॥
(श्रीमद्भा० २ । १ । १७)

'इस तीन अक्षरवाले शुद्ध परम ब्रह्माक्षर मन्त्रका मनसे जप करे, इस ब्रह्मबीजको बिना भुलाये श्वासको जीतकर मनको एकाग्र करे ।'

१. विष्णुपुराण षष्ठ अंश ७ । ४०
२ श्रीमद्भागवत ११ । १४ । ३४

तथा धर्मशास्त्रमें योगकी यह धारा अविच्छिन्नरूपसे बहती हुई कालान्तरमें महर्षि पतञ्जलिके 'योगदर्शन' के रूपमें हमारे सामने आती है। यह धारा यहीं नहीं रुकती, बल्कि पतञ्जलिके भाष्यकार, वृत्तिकार तथा वार्तिककार—व्यास, वाचस्पति, भोज, विज्ञानभिक्षु तथा नागेश आदि माननीय ग्रन्थकारोंकी रचनाओंसे परिपुष्ट होती हुई आज भी हमारी श्रद्धा तथा भक्तिका भाजन उसी प्रकार बनी हुई है जिस प्रकार पुण्यसलिला भगवती भागीरथीकी विमल धारा। योगशास्त्रके उद्गम तथा विकासके इस सांकेतिक वर्णनसे श्रीमद्भागवतवर्णित योगका स्थान पाठकोंको स्पष्ट प्रतीत होने लगेगा। भागवतका योग पौराणिक योगका एक अंशमात्र है तथा योगशास्त्रके इतिहासकी दृष्टिसे उसका स्थान औपनिषद योग तथा पातञ्जल योगके मध्यके कालमें आता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि भागवतमें भक्तिके साथ-साथ अष्टाङ्गयोगका भी प्रचुर वर्णन है। यह वर्णन दो प्रकारसे किया गया मिलता है। कई स्थलोंपर योग-साधनकी क्रियाओंका अप्रत्यक्षरूपसे सङ्केतमात्र किया गया है। परन्तु अन्य स्थलोंपर योगका प्रत्यक्षरूपसे विशद विवेचन किया गया है। योगके अप्रत्यक्ष सङ्केत प्रायः दो प्रसङ्गोंमें किये गये मिलते हैं। किसी विशेष व्यक्तिकी तपश्चर्याके वर्णनके अवसरपर योगका आश्रय लिये जानेका सङ्केत मिलता है तथा किसी महान् व्यक्तिके इस भौतिक शरीरके छोड़नेका जहाँ वर्णन है वहाँ भी योगमार्गका आलम्बन कर प्राणत्यागकी घटनाका संक्षिप्त परन्तु मार्मिक उल्लेख उपलब्ध होता है। इस प्रकार महापुरुषोंके तपश्चरण तथा शरीरत्यागके दोनों अवसरोंपर विशेषरूपसे योगकी ओर सङ्केत किया गया मिलता है। ऐसे प्रसङ्ग श्रीमद्भागवतमें अनेक आये हैं। इन सब महत्त्वपूर्ण प्रसङ्गोंका उल्लेख यहाँ किया जायगा। इन परोक्ष सङ्केतोंके अतिरिक्त भागवतमें योगका विशद विवेचन भी स्थान-स्थानपर किया गया है, परन्तु ऐसे स्थल पहलेकी अपेक्षा न्यून ही हैं। जो कुछ भी हो, इस लेखमें भागवतमें वर्णित योगका, परोक्षरूप तथा प्रत्यक्षरूपसे किये गये उल्लेखका, यथासाध्य पूरा विवेचन करनेका प्रयत्न किया गया है। अप्रत्यक्ष सकेतोंमें नितान्त महत्त्वपूर्ण सकेतोंका ही स्थानाभावके कारण यत्र उदाहरण दिया गया है और प्रत्यक्ष वर्णनोंके सार अंगको ही यहाँ उपस्थित करनेका यत्न किया गया है। वर्णन स्कन्धोंके क्रमसे किया गया है तथा उसे पूर्ण करनेका यथासाध्य उद्योग किया गया है।

पहले योगविषयक अप्रत्यक्ष निर्देशोंकी बात कही जायगी। ऐसे प्रसंग भागवतके प्रथम स्कन्धमें कई बार आये हैं[1]। नारदजीने अपने जीवनचरितसे एक ऐसे प्रसङ्गका उल्लेख किया है—

(१) जब वह बालक थे तब उन्हें अध्यात्मवेत्ता मुनियोंके संसर्गमें रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लड़कपनमें ही उनकी माताका देहपात हो गया, तब नारदजीने उत्तर दिशामें जाकर मुनियोंके मुखसे सुने गये भगवान्‌का साक्षात्कार करनेका निश्चय किया। तब निर्जन स्थानमें उन्होंने भगवान्‌के चरणकमलोंमें अपना मन लगा ध्यान धरा जिससे भगवान्‌ने प्रसन्न होकर अपना दर्शन दिया। इस प्रसङ्गमें 'मनःप्रणिधान' जैसे पारिभाषिक शब्दका उल्लेख मिलता है[2]।

(२) नारदजीके उपदेशसे व्यासजीने भगवान्‌की विविध लीलाओंके वर्णन करनेका विचार किया। तदनुसार उन्होंने सरस्वती नदीके पश्चिम तटपर स्थित शम्याप्रास नामक आश्रममें आसन मारकर भगवान्‌में अपना मन लगा भक्तिपूर्वक ध्यान धरा। उनका निर्मल मन इतने अच्छे ढंगसे समाहित हुआ कि उन्होंने भगवान्‌का साक्षात्कार कर लिया[3]। आसन तथा मनःप्रणिधानका उल्लेख स्पष्ट ही है।

(३) भीष्म पितामहके देहत्यागके अवसरपर व्यासजीने ऋषि, मुनियोंके अतिरिक्त पाण्डवोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको भी उस स्थानपर ला एकत्र किया है। अन्तिम अवसरपर सब लोग भीष्मको देखनेको आये, श्रीकृष्ण भी पधारे। भीष्म सच्चे पारखी थे, भावुक भक्त थे। उन्होंने श्रीकृष्णकी ललित स्तुति की तथा अन्त समयमें भगवान्‌में मन, वचन, दृष्टिकी वृत्तियोंसे अपनी आत्माको लगाकर अन्तःश्वास लिया तथा शान्त हो गये[4]। इस प्रसङ्गमें भीष्मने अपने शरीरको योगक्रियासे

१. श्रीमद्भागवत १।६।१६, १७
२ ,, १।६।२०
३. ,, १।७।३, ४
४ ,, १।९।४३

छोड़ा यह बात स्पष्ट ही है। अन्तिम बार श्वासको भीतर खींचकर ब्रह्मरन्ध्रसे प्राणत्याग करना योगकी महत्त्वपूर्ण क्रिया समझी जाती है।

(४) देवहूति सांख्यशास्त्रप्रवर्तक कपिल मुनिकी पूजनीया माता थीं। बहुत आग्रह करनेपर कपिलने उन्हें योगकी शिक्षा दी। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने अपना देहत्याग समाधिके द्वारा किया[1]।

(५) चतुर्थ स्कन्धमें सतीके शरीरदाहकी कथा वर्णित है। अपने पिता दक्ष प्रजापतिके द्वारा किये गये शिवजीके निरादरके कारण सतीने अपने शरीरको जला दिया था। गोसाईंजी 'जोग अगिन तनु जारा' लिखकर योगाग्निमें सतीके भस्म होनेकी बात लिखकर चुप हैं, परन्तु व्यासजीने एक श्लोकमें उसकी समग्र योगक्रियाका यथार्थ वर्णन किया है[2]। इस पद्यकी शुकदेवकृत सिद्धान्त-प्रदीप तथा विजयराघवकृत भागवतचन्द्रिका-व्याख्यामें बड़ी मार्मिक व्याख्या की गयी है। सतीने पहले आसन-जय किया—आसन मारकर इस प्रकार बैठ गयीं कि प्राण-सञ्चारजनित अङ्गसञ्चालन बिल्कुल बन्द हो गया। तब प्राण और अपानका निरोधकर एकवृत्ति बना नाभिचक्र (मणिपूर) में रक्खा। अनन्तर नाभिचक्रसे उदानवायुको उठाकर हृदय (अनाहत) में ले आयीं, निश्चयबुद्धिके साथ वहाँसे भी वायुको कण्ठमार्ग (विशुद्धिचक्र) से भ्रूमध्य (आज्ञाचक्र) में ले आयीं। उदानको वहीं टिकाकर सतीने अपने अङ्गोंमें वायु तथा अग्निकी धारणा धारण की। परिणाम स्पष्ट ही हुआ। शरीर एकदम जल उठा। इस वर्णनमें शरीरके विभिन्न चक्रों तथा तद्द्वारा वायुको ऊपर ले जानेकी क्रियाका उल्लेख नितान्त स्पष्ट है।

(६) नारदजीने ध्रुवको आसन मार प्राणायामके द्वारा प्राण, इन्द्रिय तथा मनके मलको दूरकर समाहित मनसे भगवान्‌के ध्यान करनेका उपदेश दिया था[3]। ध्रुवने उसी मार्गका अवलम्बन किया तथा अल्प समयमें ही वह भगवान्‌का साक्षात्कार करनेमें समर्थ हुआ[4]। ध्रुवको नारदने अष्टाङ्गयोगका ही उपदेश दिया था, इसका पूरा पता 'कृत्वोचितानि' पद्यकी भागवतचन्द्रिकाके देखनेसे लग सकता है। 'उचितानि कृत्वा' में यम-नियमका, 'कल्पितासन०' में आसनका, 'मल व्युदस्य' में प्राणायाम तथा प्रत्याहारका, 'ध्यायेत्' में ध्यानके धारणापूर्वक होनेके कारण धारणा तथा ध्यानका विधान किया गया है अर्थात् पूरे अष्टाङ्गयोगका उपदेश है।

(७) दधीचि ऋषिसे देवताओंने वज्र बनानेके लिये उनकी हड्डियाँ माँगी, तब लोकोपकारकी उन्नत भावनासे प्रेरित होकर ऋषिने उनकी प्रार्थनाको अङ्गीकार किया तथा इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धिका नियमन कर परम योगका आश्रय लिया। उस समय उन्हें खबर ही न लगी कि उनका शरीरपात कब हो गया[1]।

(८) वृत्रने भी अपनी मृत्युके समय भगवान्‌के चरणकमलोंमें मन लगाकर समाधिके द्वारा अपने प्राण छोड़े[2]।

(९) अदितिने 'पयोव्रत' नामक महत्त्वपूर्ण व्रत भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये किया। भगवान् प्रसन्न हो गये और उन्होंने अदितिके उदरसे जन्म धारण करना स्वीकार कर लिया। महर्षि कश्यपको इस अद्भुत घटनाका ज्ञान समाधियोगसे बिना किसीके जनाये ही हो गया[3]।

(१०) श्रीकृष्णके जीवनचरितमें अनेक प्रसङ्ग भागवतके दशम स्कन्धमें वर्णित हैं जिनमें योगका आश्रय लेकर उन्होंने अत्यन्त आश्चर्यजनक अलौकिक घटनाओं-को घटित किया है। श्रीकृष्ण तो भगवान्‌के पूर्णावतार ठहरे—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' अतः अलौकिक घटनाओंको उत्पन्न करना उनकी शक्तिके एक कणका कार्य है, परन्तु इन सब अद्भुत कार्योंकी उत्पत्ति श्रीकृष्णने अपने योगबलसे की थी, इसका उल्लेख बारबार मिलता है। वह अनेक बार 'योगी' तथा योगियोंमें श्रेष्ठ 'योगेश्वरेश्वरः' बतलाये गये हैं। उनके योगजन्य कतिपय घटनाओंके निर्देशमात्रसे हम सन्तोष करेंगे, वर्णनके लिये न तो यहाँ समय है और न स्थान। ब्रह्माने ग्वालों तथा गौओंको जब पर्वतकी कन्दरामें चुराकर रख छोड़ा था तब श्रीकृष्णने

१ श्रीमद्भागवत ३ । ३३ । २७
२ ,, ४ । ४ । २५, २६
३. ,, ४ । ८ । ४४
४. ,, ४ । ८ । ७७

१ श्रीमद्भागवत ६ । १० । १२
२ ,, ६ । ११ । २१
३. ,, ८ । १७ । २२

अपने शरीरको ही उतने ही गोपो तथा गौओंमें परिवर्तित कर जो चमत्कार किया था वह योगकी कायव्यूहसिद्धिका उज्ज्वल दृष्टान्त है। श्रीकृष्णने प्रबल दावाग्निसे गोपोकी जो रक्षा की थी, उसमें उनका 'योगवीर्य' ही प्रधान कारण था। रासलीलाके समयमें वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्णने जो अलौकिक लीलाएँ दिखायीं उनमें उनका योगमायाका आश्रय लेना भी एक कारण था। कहाँतक हम गिनावें श्रीकृष्णके योगशक्तिजन्य अद्भुत कार्योंको। जब यादवोंके भारसे भी व्यथित इस भूमण्डलको श्रीकृष्णने भार-विहीन कर तथा जीवनदान देकर अपने लोकमें जानेका विचार किया, उस समय भी श्रीकृष्ण ध्यान लगाकर अपने परम रमणीय शरीरको आग्नेयी योगधारणासे बिना जलाये ज्यों-के-त्यों अपने शरीरके साथ अपने लोकमें चले गये[4]। 'साधारण योगी अग्निधारणासे अपने शरीरको भस्म कर देता है।' श्रीकृष्णने भी वह धारणा की अवश्य, परन्तु अपने शरीरको बिना भस्म किये सशरीर ही अपने धाममें चले गये[5]। इस प्रकार श्रीकृष्णके जीवनचरितको आदिसे अन्ततक व्यासजीने योगसिद्धियोंसे परिपूर्ण प्रदर्शित किया है।

प्रत्यक्ष वर्णन

अबतक जो कुछ कहा गया उससे पता चल गया होगा कि भागवतमें योगसम्बन्धी अनेक अप्रत्यक्ष सङ्केत विद्यमान हैं। अब भागवतमें अष्टाङ्गयोगका जो प्रत्यक्ष निदर्शन है उसको देखें। ऐसा निदर्शन एक ही स्थलपर नहीं, अनेक स्थलोंपर है। छोटे-छोटे तो अनेक वर्णन हैं, परन्तु इनका उल्लेख यहाँ न कर केवल विस्तृत विवरणोंका ही निर्देश किया जाता है। भागवतके तीन स्कन्धोंमें योगका विशेष विवरण दिया गया है—दूसरे स्कन्धके अध्याय १ तथा २ में, तीसरे स्कन्धके २५ वें तथा २८ वें अध्यायोंमें कपिलजीका अपनी माता देवहूतिके प्रति योगका उपदेश, और फिर एकादश स्कन्धके अध्याय १३ में सनकादिकोंको हंसरूपधारी भगवान्‌के द्वारा योगका वर्णन, अ० १४ में ध्यानयोगका विशद वर्णन, अ० १५ में अणिमा आदि अठारह सिद्धियोंका वर्णन, अ० १९ में यमनियमादिका वर्णन, अ० २८-२९ में यथाक्रम ज्ञानयोग और भक्तियोगके साथ अष्टाङ्गयोग। इन सब स्थानोंमें योगका इतना विशद प्रचुर वर्णन है कि उसके लिये एक अलग पुस्तिकाकी आवश्यकता होगी। यहाँ केवल उसका सारांश उपस्थित करनेका यत्न किया जायगा।

भागवतमें अष्टाङ्गयोगकी यह एक बड़ी विशेषता है कि वह स्वतन्त्र साधनरूपसे उपस्थित किया गया है। साथ-ही-साथ अन्य साधनमार्गोंको भी वह सहायता पहुँचाता है। योग भक्तिका सबसे अधिक सहायक है अवश्य, फिर भी वह ज्ञान, कर्म तथा भक्तिके समान एक पृथक् स्वतन्त्र साधनपथ है जिसपर चलकर साधकगण परमात्माका साक्षात्कार कर सकते हैं। इसकी विशेषता ठीक-ठीक समझनेके पहले उससे परिचय प्राप्त कर लेना नितान्त आवश्यक है।

योगके आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। इनमें यम तथा नियमका संक्षिप्त वर्णन ग्यारहवें स्कन्धके अध्याय १९ में यत्किञ्चित् मिलता है। पातञ्जल सूत्रोंमें तो यम तथा नियम केवल पाँच प्रकारके ही बतलाये गये हैं, परन्तु भागवतमें उनमेंसे प्रत्येकके बारह भेद माने गये हैं—

यमके द्वादश भेद[1]—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) असङ्ग, (५) ह्री, (६) असञ्चय, (७) आस्तिक्य, (८) ब्रह्मचर्य, (९) मौन, (१०) स्थैर्य, (११) क्षमा, (१२) अभय।

नियमके द्वादश भेद[2]—(१) शौच-बाह्य, (२) आभ्यन्तर, (३) जप, (४) तप, (५) होम,

१ श्रीमद्भागवत १० । १३ । १९
२ ,, १० । १९ । १४
३ ,, १० । २९ । १
४ सयोज्यात्मनि चात्मान पद्मनेत्रे न्यमीलयत्॥
लोकाभिरामा स्वतनु धारणाध्यानमङ्गलम्।
योगधारणयाग्नेय्या दग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्॥
(श्रीमद्भागवत ११ । ३१ । ५-६)

५ उक्त श्लोककी व्याख्यामें मान्य टीकाकारोंमें भी मतभेद दिखायी पड़ता है। श्रीधरस्वामीके 'अदग्ध्वा' पदच्छेदको मानकर वीरराघव, विजयध्वज, जीवगोस्वामी आदि सब टीकाकारोंने एक समान ही अर्थ किया है, परन्तु निम्बार्कमतानुयायी श्रीशुकदेवने अपने सिद्धान्त-प्रदीपमें 'दग्ध्वा' पदच्छेद कर 'स्वयियोगाधिना सन्तापयित्वा' अर्थ कर विद्युत्के अदृश्य होनेकी तरह भगवत्तनुके अन्तर्धान होनेकी बात लिखी है।

१ श्रीमद्भागवत ११ । १९ । ३३
२ ,, ११ । १९ । ३४

(६) श्रद्धा, (७) आतिथ्य, (८) भगवदर्चन, (९) तीर्थाटन, (१०) परार्थचेष्टा, (११) सन्तोष, (१२) आचार्यसेवन।

इन यमोंमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (भागवतका छठा 'असञ्चय') पातञ्जलदर्शनमें भी हैं, शेष सात नये हैं। नियमोंमें उसी भाँति शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान (भागवतका आठवाँ 'भगवदर्चन') पातञ्जलदर्शनमें भी हैं, शेष नये हैं।

आसन—यह योगका तीसरा अङ्ग है। शुद्ध, पवित्र तथा एकान्त स्थानमें आसन लगाना चाहिये। जहाँ कहीं हल्ला न हो, निर्जनताके कारण शान्ति विराजती हो, वैसा ही स्थान आसन लगानेके लिये चुनना चाहिये। आसन 'चैलाजिनकुशोत्तर' होना चाहिये, इसका 'कल्पितासन' शब्दके द्वारा भागवतमें स्थान-स्थानपर सकेत है। योगमें अनेक आसन बतलाये गये हैं। स्वस्तिकासनसे बैठे तथा उस समय अपने शरीरको बिल्कुल सीधा बना रक्खे—

गृहात् प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत् कल्पितासने॥
(श्रीमद्भा० २। १। १६)

'घरसे निकला हुआ वह धीर पुरुष पुण्यतीर्थोंके जलमें स्नान करे और शुद्ध एकान्त स्थानमें विधिपूर्वक बिछाये हुए आसनपर आसीन हो।'

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम्।
तस्मिन् स्वस्ति समासीन ऋजुकायः समभ्यसेत्॥
(३। २८। ८)

'शुचि देशमें आसन लगाकर आसनको जीते, पीछे स्वस्तिकासन लगाकर सीधा शरीर करके अभ्यास करे।'

इस श्लोकमें श्रीधरस्वामीके अनुसार 'स्वस्तिक' पाठ माना जाता है। अन्य टीकाकारोंने 'स्वस्ति समासीनः' पाठ माना है तथा पद्मासन अथवा सिद्धासनसे सुखपूर्वक बैठे, ऐसा अर्थ किया है। अतः भागवतमें किसी एक आसनके प्रति आदर दिखाया गया नहीं मालूम पड़ता। स्थान-स्थानपर टीकाकारोंके सकेतसे पद्म अथवा सिद्ध आसनोंकी ओर निर्देश जान पड़ता है।

प्राणायाम—प्राणोंका आयाम योगका चौथा अङ्ग है। पूरक, कुम्भक तथा रेचकके द्वारा प्राणके मार्गको शुद्ध करनेका उपदेश दिया गया है—

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः।
(३। २८। ९)

प्राणायाम पुराणोंमें दो प्रकारका बतलाया गया है—(१) अगर्भ तथा (२) सगर्भ। अगर्भ प्राणायाम वह है जिसमें जप तथा ध्यानके बिना ही मात्राके अनुसार प्राणायाम किया जाय। सगर्भ प्राणायाममें जप तथा ध्यान अवश्य होना चाहिये। इन दोनोंमें सगर्भ प्राणायाम श्रेष्ठ है। अतः पुराणोंने उसीके करनेका उपदेश दिया है। शिवपुराणकी वायवीय संहिताके उत्तरखण्ड अध्याय सैंतीसमें इन दोनोंके भेद तथा उपयोगका अच्छा वर्णन है—

अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो द्विधा स्मृतः।
जपं ध्यानं विनागर्भः सगर्भस्तत्समन्वयात्॥३३॥

'प्राणायाम अगर्भ और सगर्भ, दो प्रकारका कहा गया है, जप और ध्यानके बिना जो प्राणायाम होता है वह अगर्भ है और जप-ध्यानके सहित जो है वह सगर्भ है।'

अगर्भाद् गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः।
तस्मात्सगर्भं कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम्॥३४॥

'अगर्भसे सगर्भ प्राणायामका गुण सौगुना है। इसलिये योगी सगर्भ प्राणायाम करते हैं।'

विष्णुपुराणमें अगर्भको अबीज तथा सगर्भको सबीज प्राणायाम कहा गया है[1]। श्रीमद्भागवतमें भी इसी सगर्भ प्राणायामका विधान बतलाया गया है। प्राणायाम करता जाय, साथ-ही-साथ अ-उ-मूसे ग्रथित ब्रह्माक्षर ॐकारकी मनमें आवृत्ति करता जाय। ॐकारको बिना भुलाये अपने श्वासको जीते[2]—

अभ्यस्येन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम्।
मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन्॥
(श्रीमद्भा० २। १। १७)

'इस तीन अक्षरवाले शुद्ध परम ब्रह्माक्षर मन्त्रका मनसे जप करे, इस ब्रह्मबीजको बिना भुलाये श्वासको जीतकर मनको एकाग्र करे।'

१ विष्णुपुराण षष्ठ अंश ७। ४०
२ श्रीमद्भागवत ११। १४। ३४

जो योगी इस प्रकार सगर्भ प्राणायामके अभ्याससे श्वासजय प्राप्त कर लेता है, उसके मनसे आवरक मल—रज तथा तम—का नाश उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार आगमें तपाये लोहेसे मलिनता दूर हो जाती है—

मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः ।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम् ॥
(३ । २८ । १०)

ऊपर पूरक, कुम्भक तथा रेचकके क्रमसे प्राणायाम करनेका विधान बतलाया गया है, परन्तु भागवतके एकादश स्कन्धमें 'विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः' (१४ । ३३) 'प्रतिकूलेन वा चित्तम्' (३ । २८ । ९) कहकर इससे उलटे क्रमसे प्राणायाम करनेकी भी विधि शास्त्रीय मानी गयी है । यहाँ 'विपर्ययेणापि' तथा 'प्रतिकूलेन' का अर्थ श्रीधरस्वामीने दो प्रकारसे किया है । एक अर्थ तो यह हुआ—साधारण नियमका उलटा क्रम अर्थात् रेचक, पूरक, कुम्भक । इसका आशय यह है कि पहले ही रेचक करे, बादको कुम्भक और अन्तमें पूरक । कुम्भक दो प्रकारका होता है—अन्तःकुम्भक तथा बहिःकुम्भक । भागवतमें इन दोनोंका इस प्रकार वर्णन है तथा दोनोंमें किसी एकके द्वारा चित्तको स्थिर करनेका उपदेश दिया गया है । दूसरा अर्थ यह बतलाया गया है कि वाम नाडीसे पूरक करे तथा दाहिनीसे रेचक करे अथवा इसका उलटा दक्षिण नाडीसे वायु भरकर वामसे रेचक करे । दोनों ही अर्थ योगाभ्यासियोंको सम्मत हैं । प्राणायामको तीनों कालमें—प्रातः, मध्याह्न तथा साय करना चाहिये और हर बार दस प्राणायाम करना चाहिये । यदि इस नियमसे प्राणायाम किया जाय, तो एक मासके पूर्व ही साधक पवनको वशमें कर लेता है—

दशकृत्वस्त्रिपवणं मासादर्वाग् जितानिलः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । ३५)

प्रत्याहार—इस प्रकार आसन, सङ्ग तथा श्वासको जीतकर साधक अपनी इन्द्रियोंको उनके तत्तद्विषयोंसे खींचे । इस कार्यमें सहायता देगा निश्चयबुद्धिवाला मन । मनके द्वारा निश्चयबुद्धिकी सहायतासे मनुष्य अपनी इन्द्रियोंको विषयोंसे खींचकर उन्हें एक स्थानपर रखनेका यत्न करे । यह हुआ प्रत्याहार ।

नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान् मनसा बुद्धिसारथिः ।
(श्रीमद्भा० २ । १ । १८)

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मनः ।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । ४२)

धारणा—मनको एक वस्तुमें टिकानेका नाम हुआ धारणा । भागवतमें दो प्रकारकी धारणा बतलायी गयी है । वे ही धारणाएँ अन्य पुराणोंमें भी नामभेदसे बतलायी गयी हैं । भगवान्‌के दो रूप हैं—स्थूल तथा सूक्ष्म । इन्हींको विष्णुपुराणमें (१) मूर्त अथवा 'विश्व' तथा (२) अमूर्त अथवा 'सत्' रूप बतलाया गया है[1] । भगवान्‌के इन्हीं दोनों रूपोंके धारणा तथा ध्यान करने चाहिये । अतः भागवतविहित धारणाके दो भेद हुए—(१) वैराजधारणा तथा (२) अन्तर्यामिधारणा ।

सबसे पहले भगवान्‌के स्थूल रूपमें ही धारणा तथा ध्यान लगावे अर्थात् पहले भगवान्‌के विराट् रूपकी धारणा करे । भागवतके दूसरे स्कन्धके पहले ही अध्यायमें भगवान्‌के विराट् रूपका इतना सुन्दर तथा सांग वर्णन किया गया है कि पद्योंको पढ़ते-पढ़ते रूप आँखके सामने आकर झूलने लगता है । स्थूल होनेके कारण मूर्त रूपमें मन आसानीसे लगाया जा सकता है । इस धारणाका नाम हुआ वैराज धारणा । जब यह धारणा साधकके हाथमें आ जाय, तब अमूर्त रूपकी धारणा करनी चाहिये । इस दूसरी धारणा—अन्तर्यामिधारणाका अतीव सुन्दर वर्णन भागवतके अनेक स्थलोंपर किया गया है, यथा दूसरे स्कन्धका दूसरा अध्याय, तीसरे स्कन्धका अट्ठाईसवाँ अध्याय तथा ग्यारहवें स्कन्धका चौदहवाँ अध्याय । इन वर्णनोंका आशय[2] है कि अपने शरीरके भीतर ऊर्ध्वनालवाले अधोमुख हृत्पुण्डरीकको ऊर्ध्वमुख, विकसित, अष्टदलवाला तथा कर्णिकायुक्त ध्यान धरे । कर्णिकामें क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्निके मण्डलको रक्खे । इस अग्निके भीतर आनन्दकन्द श्रीवृन्दावनचन्द्र वनमालधारीकी मनमोहिनी मूरतिका ध्यान धरे । भगवान्‌के इस सुहावने रूपका जैसा वर्णन भागवतमें मिलता है वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है । व्यासजीने अपनी समग्र कविताशक्तिको मानो यहीं समाप्त कर दिया है । सस्कृतज्ञ पाठक

१. विष्णुपुराण अ० ६ अ० ७ ।

२. श्रीमद्भागवत ११ । १४ । ३६, ३७

भागवतको पढकर इसका अलौकिक आनन्द उठावें। इस रूपकी धारणा तबतक करें जबतक मन निश्चल तथा स्थिर न हो जाय। इसका नाम हुआ अन्तर्यामिधारणा।

ध्यान–किसी वस्तुविशेषमें अनुस्यूतरूपसे मन धारणा धारण करे। प्रत्ययकी एकतानता हो, तो उसे ध्यान कहते हैं—'तत्रैकतानता ध्यानम्'। भागवतमे ध्यानके विषयमें बहुत कुछ कहा गया है। सारांश यही है कि जब हृत्कर्णिकामें भगवान्‌के समग्र शरीरकी धारणा निश्चल तथा ठीक हो जाय, तब प्रत्येक अङ्गका ध्यान करना चाहिये। अङ्गोंका क्रम 'पादादि यावत् हसितं गदाभृतः' (चरणोंसे लेकर हँसते हुए मुखतक) है। इनका वर्णन तीसरे स्कन्धके अट्ठाईसवें अध्यायमें देखने ही योग्य है। भगवान्‌के पैरके ध्यानसे आरम्भ कर ऊपर बढता जाय और अन्तमें मुखकी मन्द मुसुकानके ऊपर अपना ध्यान जमा दे—

सञ्चिन्तयेद् भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम्।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम्॥
(३।२८।२१)

'उत्तम प्रकारसे भगवान्‌के उस चरण-कमलका ध्यान करे जो चरणकमल वज्र, अङ्कुश, ध्वजा और कमलके चिह्नोंसे युक्त है तथा जिसने अपने ऊँचे उठे हुए लाल-लाल नखोंकी ज्योत्स्नासे सत्पुरुषोंके हृदयके अन्धकारको दूर किया है।'

× × × ×

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठ-
भासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति।
ध्यायेत् स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णो-
र्भक्त्यार्द्रयार्पितमना न पृथग् दिदृक्षेत्॥
(३।२८।३३)

'हृदयमें रहनेवाले भगवान्‌के उस ध्यानायनस्वरूप हास्यका—जिस हास्यसे नीचेके होंठकी लालिमा भीतर-की कुन्दकली-सी दन्तपङ्क्तिको अरुण आभा प्रदान कर रही है—अर्पित मन होकर सरस भक्तिसे ध्यान करे, पृथक् न देखे।'

समाधि–ध्यानके बाद ही समाधिका स्थान है। उस समय भक्तिसे द्रवीभूत हृदय, आनन्दसे रोमाञ्चित होकर, उत्कण्ठासे आँसुओंकी धारामें नहानेवाला भगवान्‌का भक्त अपने चित्तको भी ध्येय पदार्थसे उसी भाँति अलग कर देता है जिस प्रकार मछलीके मारे जानेपर मछुआ बडिश (काँटे) को अलग कर देता है—'चित्तबडिश शनकैर्वियुङ्क्ते'। इस समय निर्विषय मन अर्चिकी तरह गुणप्रवाहसे रहित होकर भगवान्‌में लय प्राप्त कर लेता है—ब्रह्माकारमे परिणत हो जाता है[1]।

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात्।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-
स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते॥
मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-
मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः॥
सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या
तस्मिन्महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये।
हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्
स्वात्मन् विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः॥
(श्रीमद्भा० ३।२८।३४–३६)

'इस प्रकार भगवान् श्रीहरिमें जिसका पूर्ण प्रेमभाव हो गया है, जिसका हृदय भक्तिसे द्रवीभूत हो गया है, प्रेमानन्दसे जो पुलकित हो उठा है, जो बारबार उत्कण्ठासे उत्पन्न हुई अश्रुधारामें नहाता रहता है, वह उस चित्तरूप बडिश (मछली पकड़नेके काँटेको) भी पीछे धीरे-धीरे छोड़ देता है। ससारका आश्रय जिसने छोड़ दिया, जो निर्विषय और पूर्ण विरक्त हो गया, वह मन बत्ती जल जानेपर दीप-शिखाके महज्ज्योतिमें मिलनेके समान निर्वाणपदको प्राप्त होता है। त्रिगुणका प्रवाह जिससे हट गया ऐसा वह पुरुष अपने सिवा और कोई व्यवधान नहीं देखता हुआ अखण्ड आत्मस्वरूपको प्राप्त होता है। वह पुरुष मनकी इस चरमनिवृत्तिसे सुखदुःखके बाहर उस महिमामें लीन हुआ रहता है और ऐसा आत्मस्थितिकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुआ पुरुष यद्यपि अपने आपको कर्ता नहीं मानता तथापि सुखदुःखका जो मूल कारण है वह अपने अन्दर देखता है।'

१. श्रीमद्भा० ३।२८।३४–३८

विशेषता

श्रीमद्भागवतवर्णित योगचर्याका एक सामान्य परिचय यथामति ऊपर सक्षेपमें दिया गया है। सद्योमुक्ति, क्रममुक्ति आदि अन्य तत्सम्बन्ध विषय स्थानाभावके कारण छोड़ ही दिये गये हैं। प्रेमी पाठक वहींसे इन विषयोंका मनन करें। ऊपरके वर्णनसे भागवतकी योगचर्याकी विशेषता जिज्ञासुजनोंके ध्यानमें आ गयी होगी, अतः दो ही चार शब्द लिखकर हम इस लेखको यहीं समाप्त करेंगे।

इस योगकी यह बड़ी विशेषता मालूम पड़ती है कि यह अष्टाङ्गयोग भक्तिके साथ नितान्त सम्बद्ध है। वास्तविक योगी केवल शुष्क साधक नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌की उत्तम भक्तिसे आप्लाव्यमान हृदयवाला परम भागवत है। बिना भक्तिके योगविहित समाधिकी निष्पत्ति कथमपि नहीं हो सकती। व्यासजीने अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें कहा कि योगका उद्देश्य 'कायाकल्प' नहीं है—शरीरको केवल दृढ़ बनाना नहीं है, प्रत्युत उसका प्रधान ध्येय श्रीभगवान्‌में चित्त लगाना है, भगवत्परायण होना है—

केचिद्देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम्।
विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये ॥४१॥
नहि तत् कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः।
अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः ॥४२॥
योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत् कल्पतामियात्।
तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान् योगमुत्सृज्य मत्परः ॥४३॥
(श्रीमद्भागवत ११। २८)

'कोई-कोई धीर इस देहका कल्प करने अथवा चिरायु होनेके लिये योगके विविध उपाय किया करते हैं। परन्तु कुशल (विवेकी) पुरुष इसका आदर नहीं करते। यह सारा प्रयास व्यर्थ ही जानेवाला होता है, क्योंकि वृक्षके फलकी तरह शरीर नाशवान् है। योगसाधन करनेसे काया यदि कल्पान्ततक भी जीती रहे तो भी मत्परायण बुद्धिमान् पुरुषको भगवद्योग छोड़कर उसमे कभी श्रद्धा न करनी चाहिये।'

श्रीमद्भागवतका योगके विषयमें यही परिनिष्ठित सिद्धान्त प्रतीत होता है कि योगियोंके लिये जगदाधार भगवान्‌मे भक्तिके द्वारा चित्त लगानेके अतिरिक्त ब्रह्म-प्राप्तिका अन्य कोई उपाय नहीं है—

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥
(श्रीमद्भा० ३। २५। १९)

'अखिल आत्मस्वरूप भगवान्‌में लगी हुई भक्तिके समान 'शिवः पन्थाः', कल्याणकारी मार्ग योगियोंके लिये ब्रह्मप्राप्तिमें, और कोई नहीं है।'

योग-मठ

होवे लघुद्वार एक, छिद्र ना गवाक्ष जामें,
जाको अति छोटो नाहिं बड़ो विस्तार हो।
गोमय पवित्र से लिपा हो, स्वच्छ सुन्दर हो,
प्राणी दूसरा न होवे, शान्ति रस-धार हो॥
बाहरमें वेदी कूप मण्डप सुशोभित हों,
चारों ओर पुष्पलता सीमा निरधार हो।
ताको हठयोगी जन 'योगमठ' मानत हैं,
'पथिक' पवित्र जामें नित्य सदाचार हो॥

—नरसिंह पाण्डेय 'पथिक'

श्रीयोगवासिष्ठमें योग

(लेखक— प्रो० डा० श्रीभीखनलालजी आत्रेय, एम० ए०, डी०लिट्)

योगवासिष्ठ महारामायण भारतवर्षके आध्यात्मिक ग्रन्थोंमे बहुत उच्च कोटिका ग्रन्थ है। इसमें वसिष्ठ ऋषिद्वारा श्रीरामचन्द्रको किये हुए आध्यात्मिक उपदेशका बहुत सरस भाषामें वर्णन है, इसके दार्शनिक सिद्धान्त बहुत सूक्ष्म और गहन हैं। अद्वैत वेदान्तके अनेक लेखकोंने इन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया है, और कुछ विद्वानोंने इसके बहुत-से स्थलोंसे चुनकर कुछ श्लोकोंका संग्रह करके उन संग्रहोंको उपनिषदोंके नामसे प्रकाशित किया है। महाउपनिषद्, अन्नपूर्णाउपनिषद् और अक्षिउपनिषद्के तो सभी श्लोक योगवासिष्ठसे चुने हुए है (देखिये हमारा योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त। योगवासिष्ठ और कुछ उत्तरकालीन उपनिषद्, पृष्ठ ४५)। कल्याणके सम्पादक महोदयके अनुरोधसे यहाँपर हम पाठकोंके लिये योगवासिष्ठके योग-सम्बन्धी विचारोंका दिग्दर्शन कराना चाहते हैं। जिन सज्जनोंको इन सिद्धान्तोंको और भलीभाँति समझनेकी उत्कण्ठा हो उनको योगवासिष्ठ-सम्बन्धी हमारी पुस्तकोंका* अवलोकन करना अथवा योगवासिष्ठको आद्योपान्त पढ़ना चाहिये।

'योग' शब्दका अर्थ

योगवासिष्ठमें योग शब्दका अर्थ है—संसारसागरसे पार होनेकी युक्ति (६/१ । १३ । ३)।

योगका आदर्श

योगद्वारा मनुष्य अपने असली स्वरूप सच्चिदानन्दका अनुभव कर लेता है। योगका ध्येय वह तुरीय नामक परम आत्मामें स्थिति है जिसमे जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, किसीका भी अनुभव न हो, और न इनके आगामी अनुभवका बीज भी रहे, और जिसमें परम आनन्दका निरन्तर अनुभव होता रहे (६/१ । १३ । ३; ६/१ । १२८ । ५०-५१)।

योगकी तीन रीतियाँ

(१) एक तत्त्वकी दृढ भावना, (२) मनकी शान्ति और (३) प्राणोंके स्पन्दनका निरोध—ये तीन योगकी रीतियाँ हैं। इन तीनोंमेंसे किसी एकपर चलनेसे तीनोंकी ही सिद्धि हो जाती है (६/१ । ६९ । २७, ४०) इन तीनोंमें मनको शान्त कर लेना सबसे सरल है (६/१ । ६९ । २९)। किसीको ज्ञानका अभ्यास, किसीको प्राण-निरोध और किसीको मनका शान्त करना सरल होता है। तो भी योगवासिष्ठकार कहते हैं कि प्राणोंके निरोधकी अपेक्षा मनको शान्त करना अथवा एक तत्त्वका दृढ अभ्यास करना अधिक सरल है (६/१ । १३ । ८) इसलिये इस ग्रन्थमें इन दो रीतियोंका ही अधिक वर्णन है।

(१) एक तत्त्वका दृढ़ अभ्यास

एक तत्त्वकी दृढ़ भावनासे मन शान्त होकर विलीन हो जाता है और प्राणोंका स्पन्दन स्वयं ही रुक जाता है। (६/१ । ६८ । ४८) एक तत्त्वका दृढ अभ्यास तीन प्रकारसे किया जाता है—

(१) ब्रह्मभावना

पहले विचारद्वारा यह निश्चय हो जाना चाहिये कि संसारभरमें केवल एक ही अनन्त आत्मतत्त्व है और सब पदार्थ उसी तत्त्वके नाना नाम-रूप हैं। तब मनको तन्मय करनेका प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकारका ब्रह्माभ्यास करनेसे मन ब्रह्माकार होकर विलीन हो जाता है और प्राणोंकी गति भी स्वयं ही रुक जाती है, क्योंकि

---

*१—श्रीयोगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त (प्रेसमें)
२—श्रीवासिष्ठदर्शनम्
३—श्रीवासिष्ठदर्शनसार
४—Yogavasistha and Its Philosophy
५—Yogavasistha and Modern Thought
६—The Philosophy of Yogavasistha(प्रेसमें)
७—Yogavasistha and some of the minor Upanishads

यह नियम है कि जो जिस विषयकी दृढ भायना करता है वह तद्रूप हो जाता है (६/६।६९।४९, ५२; ४।११।५८)।

(२) अभाव-भावना

अभाय भावनाका अर्थ है, पदार्थोंको अत्यन्त असत् समझकर उनके पारमार्थिक अभावकी दृढ भायना करना। जब कि ब्रह्म (आत्मा) के अतिरिक्त इस जगत्में और कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं और सब दृश्य पदार्थ वस्तुतः ब्रह्म ही हैं, तब हमारा उनको नाना नामरूपवाले और भिन्न सत्तावाले समझना केवल भ्रम है। इस बातको भलीभाँति समझकर यह दृढ निश्चय कर लेना चाहिये कि पदार्थ हैं ही नहीं, केवल ब्रह्म-ही-ब्रह्म सर्वत्र है। इस निश्चयके अभ्यासका नाम ब्रह्मभावना है। ऐसा करनेसे मन शान्त हो जाता है और अहभाय और जगत्का अनुभव—दोनोंका लोप होकर आत्मभावमें स्थिति हो जाती है। (३।२२। २७, ३।७।२७, २८; ३।२१।१२)।

(३) केवलीभाव

केवलीभाव उस निश्चयके अभ्यासका नाम है जिसमें केवल एक आत्मतत्त्वकी स्थिति मानी जाय और समस्त दृश्य पदार्थोंके असत्य होनेकी दृढ भायना होनेके कारण अपने द्रष्टा होनेको भी असत् समझा जाय और अपने उस आत्मस्वरूपमें स्थिति हो जाय जिसमें द्वैतका कोई भान नहीं है (३।४।५३)।

२—मनोलय

योगवासिष्ठके अनुसार मन ही ससारका उत्पन्न करनेवाला और चलानेवाला है। मनके शान्त हो जानेपर जीवनमें परमशान्ति आ जाती है और ससारका अनुभय क्षीण हो जाता है। मनके शान्त हो जानेपर जीव ब्रह्मत्वको प्राप्त हो जाता है और प्राणोंका स्पन्दन भी रुक जाता है। मन ससाररूपी मायाचक्रकी नाभि है। इस नाभिको बल और बुद्धिद्वारा घूमनेसे रोक लेनेपर ससारचक्रकी गति भी रुक जाती है। मनको जीत लेनेपर सब कुछ जीत लिया जाता है। मनके नाश होनेपर ससारका इस प्रकार लय हो जाता है जैसे कि घटके नाश होनेपर घटाकाश नष्ट हो जाता है। चित्तके लीन हो जानेपर द्वैत और अद्वैत दोनोंकी भावनाओंका लय होकर परम शान्त आत्मतत्त्वका ही अनुभय रह जाता है। संसाररूपी दुःखसे मुक्त होनेका उपाय केवल मनको निग्रह करना है। इसी युक्तिद्वारा मनुष्यको परम शान्तिका अनुभय होता है। बिना इस युक्तिके शुभ गति प्राप्त नहीं होती (५।४९।४०; ५। ५०।७, ६/६।२९।५, ६, ७, ८; ५।२४।१४, १५; ५।१७।१९, ५।५०।१४, ६/६।६९।४४; ६/६।९३। ४४–४७; ४।३५।२; ३।११२।९; ३।१११।१५; ३।१११।२)।

मन ही स्थूल होकर परिमित जीय हो जाता है और मन सूक्ष्म और विस्तृत होकर ब्रह्म हो जाता है। जिन कारणोंद्वारा मन स्थूलताको प्राप्त होकर दुःख भोगता है वे ये हैं—अनात्म वस्तुमें आत्मभाय, स्थूल देहमें आस्था, स्त्री, पुत्र और कुटुम्बसे ममता, मेरा-तेरापन, बुढ़ापे और मौतसे भय, संसारसे सुखकी आशा, किसी वस्तुकी प्राप्ति और किसीके त्यागका यत्न, भोगोंकी तृष्णा और विषयोंके भोगोंमें फँसना आदि (५।५०।५७–६३)।

मन सूक्ष्म होकर जिन कारणोंसे ब्रह्मभावको प्राप्त होता है वे ये हैं—भोगोंमें सुखकी कल्पनाको छोड़कर सांसारिक वासनाओंको त्यागकर परम शुद्ध आत्मतत्त्वकी ओर लगना, मनकी असत्ता और आत्माकी सत्तापर बार-बार विचार करना, ससारके पदार्थोंकी असत्ताका दृढ़ निश्चय हो जाना, परम तत्त्वके चित् सामान्य रूपमें स्थिर होना आदि (३। ९८।२, ३।९७।१०, ११, ३।१००।२, ५।५५।२)

मनको शान्त करनेके उपाय

बिना उचित युक्तिके मनका जीतना कठिन है (५।९१।३४)। जो लोग ठीक युक्तियोंको छोड़कर हठपूर्वक मनको जीतना चाहते हैं उनको अनेक क्लेश और भय प्राप्त होते हैं (५।९१।४०)। मनको शान्त करनेकी अनेक रीतियाँ हैं, उनमेंसे कुछका उल्लेख यहाँ किया जाता है—

(१) ज्ञानयुक्ति

ज्ञानद्वारा मनका निरोध करना आँख मींचने या फूलको मसल देनेसे भी सरल है। इसमें जरा भी कष्ट नहीं होता (६/६।१११।३१)। मनकी सत्ता ही अज्ञानके कारणसे है और यह ज्ञानद्वारा इस प्रकार सरलतासे नष्ट की जा सकती है जैसे कि रस्सीमें साँपकी सत्ता और

मरुभूमिमें मृगतृष्णाके जलकी सत्ता। जो वस्तु अज्ञान-जन्य है वह ज्ञानद्वारा तुरन्त नष्ट हो जाती है। सत्यका ज्ञान होनेपर यह भलीभाँति निश्चित हो जाता है कि वस्तुतः आत्माके अतिरिक्त और कोई पदार्थ नहीं है और मन भी असत् है (४।११।२७)।

(२) संकल्पत्याग

सङ्कल्प मनका बन्धन है और सङ्कल्पका अभाव मनकी मुक्ति है (६।१।१।२७)। सङ्कल्प न रहनेपर मनका नाश हो जाता है और मुक्तिका उदय होता है (५।१३।८०)। सङ्कल्पके शान्त होनेपर ससारका सब दुःख मूलसहित नष्ट हो जाता है (५।५४।१९)।

(३) भोगोंसे विरक्ति

जबतक ससारका नाश करनेवाली भोगोंसे विरक्ति उदय नहीं होती तबतक दुःखोंपर विजय पानेवाली परम निवृत्तिका अनुभव नहीं होता (५।२४।३७-३८)। ससाररूपी गड्ढेमें पड़े हुए लोग तभीतक दुःखोंमें भ्रमण करते हैं जबतक उनको विषयोंसे वैराग्य नहीं होता (५।२४।४३)। विषयोंसे विरक्ति होनेसे मन सूक्ष्म होकर आत्मभावको प्राप्त होता है।

(४) वासनात्याग

चित्त (मन) का असली रूप वासना है। वासना (इच्छा) और मन पर्यायवाची शब्द है (६।१।९४।५)। वह मनुष्य जिसकी सब वासनाएँ क्षीण हो गयी हों, जीवन्मुक्त हो जाता है, बन्धनमें पड़े हुए लोगोंको उस अवस्थाका अनुभव नहीं होता (३।२२।८) वासना-त्यागकी सरल युक्ति यह है कि पहले तामसी वासनाओं-का परित्याग करके मनमें मैत्री आदिकी शुद्ध वासनाओं-को रक्खे (४।५७।२०), उनके अनुसार व्यवहार करता हुआ, फिर उनको भी मनसे निकालकर सब वास-नाओंसे रहित होकर केवल एक चिन्मात्रावस्थाको प्राप्त होनेकी वासनाको मनमें रहने दे (४।५७।२१)। तब मन और बुद्धिसहित उस वासनाका भी त्याग करके जो अवस्था शेष रहे उसके ध्यानमें स्थिर रहे। इस प्रकार जिस वासनाद्वारा दूसरी वासनाओंका त्याग किया जाय उसको भी त्याग देना चाहिये (४।५७।२२)। उस ज्ञानवान् पुरुषके मनमें, जिसने कि इस भावनासे कि 'सब कुछ ब्रह्म ही है' अपना अज्ञान नष्ट कर लिया है, कभी वासनाका उदय नहीं होता (६।१।८७।२५)। जिस प्रकार दीपकसे अँधेरा दूर होकर प्रकाशका उदय हो जाता है, उसी प्रकार परमार्थके ज्ञानसे वासना समूल नष्ट होकर शान्तिका अनुभव होता है (५।७४।२१)।

(५) अहंभावका नाश

अहंभावके दृढ होनेपर ही ससारका भ्रम उदय होता है और अहभावके क्षीण होनेपर उस स्वभावमें स्थिति हो जाती है जिसमें कि निरन्तर शान्ति ही है (६।२।२६।२९)। अहभावरूपी मेघके क्षीण होनेसे चिदा-काशके निर्मल हो जानेपर ही आत्मानुभवरूपी सूर्यका प्रचण्ड प्रकाश होता है (५।१३।११)। यह सब ससार इन्द्रजालकी नाईं मिथ्या है, इसलिये इसमें राग रखनेसे क्या और द्वेष करनेसे क्या? इस प्रकार विचार करते रहनेसे अहंभाव नहीं रहता (४।३३।४४)। जब यह ज्ञान होकर कि मैं ही सारा जगत् हूँ और यहाँपर कोई वस्तु भी त्यागने अथवा प्राप्त करने योग्य नहीं है, चित्तमें समताका प्रकाश हो जाय तब अहंभावकी वृद्धि नहीं होती (४।३३।४६)।

(६) असङ्गका अभाव

जिसके हृदयमें ससारकी वस्तुओंके साथ सङ्ग है वही मनुष्य संसारसागरमें डूबा हुआ है और जिसका मन सङ्ग-से रहित है वही ससारसे मुक्त है (५।६७।३०)। सङ्गरहित पुरुष वह है जो न कर्मोंके त्यागसे प्रसन्न होता है और न कर्मोंमें अनुरक्त होता है, जो किसी भी कर्मका फल नहीं चाहता, और जो सब अवस्थाओंमें समान रहता है (५।६८।६)। यहाँ सब कुछ आत्मा ही है—किस वस्तुका त्याग करूँ और किसका ग्रहण—इस भाव-का नाम असङ्ग है। जीवन्मुक्तिमें यही दशा होती है (५।६८।४)।

(७) कर्तृत्वभावका त्याग

जब स्पन्दनात्मक कर्म क्षीण हो जाता है तो मन भी क्षीण हो जाता है (३।९५।३५)। जैसे अग्नि और उष्णताकी सदा एकता है वैसे ही मन और कर्मकी सदा एकता है। दोनोंमेंसे एकका नाश होनेसे दोनोंका ही नाश हो जाता है (३।९५।३७) कर्मका बीज (कारण) आत्माके अज्ञानसे उत्पन्न हुआ सकल्प है। (६।१।१२४।५) सकल्प करना ही बन्धनका कारण है,

इसलिये उसको त्यागना चाहिये (६ । १२४ । ६) सवेदन और सवेद्य दोनोको छोड़कर वासनारहित शान्त होकर रहनेका नाम कर्मत्याग है (६ । ३ । २५)।

(८) सर्वत्याग

जबतक सब कुछ नहीं त्यागा जाता तबतक आत्मलाभ नहीं होता। सब अवस्थाओंका परित्याग करनेपर जो शेष रहता है वही आत्मा है (५ । ५८ । ४४)। शुद्ध सर्वत्यागको सर्वदुःखोंका अन्त करनेवाली चिन्तामणि समझना चाहिये, शुद्ध बुद्धिसे उसीकी साधना करनी चाहिये (६ । ९० । ५)। जो सब कुछ है, जिससे सब कुछ है, और जो सबका कारण है, उसीमें सबका त्याग कर देनेसे सर्वत्यागकी सिद्धि होती है (६ । ८३ । ३०) तीनों कालमें रहनेवाला जगजाल जिसने अपने भीतर इस प्रकार देख लिया है जैसे कि मोतीके भीतर तागा, उसने सब कुछ त्याग दिया (६ । ९३ । ४९)। जिसने बुद्धिद्वारा सब शंकाओं, सब इच्छाओं और सब निश्चयोंका त्याग कर दिया है वह महात्यागी कहलाता है (६ । ११५ । ३४)।

(९) समाधिका अभ्यास

यदि निर्विकल्प समाधिमें स्थिति हो जाय तो अक्षय और निर्मल सुषुप्तिके समान आत्मपदकी प्राप्ति हो जाती है (३ । १ । ३६)। समाधि चुपचाप रहनेका नाम नहीं है। सब आशाओंरूपी तृणोंको भस्म करनेवाली तत्त्वज्ञानरूपी अग्निका नाम समाधि है (५ । ६२ । ८)। समाधि उस प्रज्ञाका नाम है जिसमें चित्त स्थिर हो, नित्य तृप्ति हो और पदार्थोंके असली रूपका ज्ञान हो (५ । ६२ । ९)। विषयोंके प्रति किसी प्रकारकी भी तृष्णा न रहनेका नाम समाधि है (६ । ४५ । ४६)।

(१०) लयक्रिया

देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और क्षेत्रज्ञ जिन-जिन तत्त्वों से उत्पन्न होते हैं उनको जानकर उनमें इनको लय करनेका यत्न करना चाहिये (६ । १२८ । ४)। इस रीतिसे पहले अपने आपको विराट्में स्थित करो, फिर अव्याकृतमें और फिर परम कारणमें (६ । १२८ । ५)। शरीरके पार्थिव भाग मांसादिका पृथ्वीतत्त्वमें विचारद्वारा लय करो, रक्तादिका जलमें, तैजस भागका अग्निमें, प्राणरूप भागका वायुमें और नाभस भागका आकाशमें। इसी प्रकार एक-एक इन्द्रियको उसके कारण तत्त्वमें लय करो—श्रोत्रको दिक्में, त्वक्को वायुमें, चक्षुको सूर्यमें, जिह्वाको जलमें, घ्राणको पृथ्वीमें (६ । १२८ । ६-८), पैरोंको विष्णुमें, पायुको मित्रमें, उपस्थको कश्यपमें, मनको चन्द्रमामें, बुद्धिको ब्रह्मामें—इस प्रकार समस्त देहको उसके कारण तत्त्वोंमें लय करके अपने आपको विराट् समझो (६ । १२८ । ९-११)। अब पृथ्वी-तत्त्वको जलमें, जलको अग्निमें, अग्निको वायुमें और वायुको आकाशमें और आकाशको महाकाशमें जो कि सबका उत्पत्ति-कारण है, लय करो (६ । १२८ । १६-१७) वहाँपर योगी लिङ्गशरीरद्वारा क्षणभर स्थित होकर और ब्रह्माण्डके बाहर दृष्टि फैलाकर यह अनुभव करे कि मैं आत्मा हूँ (६ । १२८ । १९)। लिङ्ग शरीरको सूक्ष्म अव्याकृतम जो कि ब्रह्मासे पूर्वकी अवस्थाका नाम है, लीन करना चाहिये (६ । १२८ । २०)। यह वह तत्त्व है जिसमें नामरूपका त्याग करके जगत् स्थित रहता है। कोई इसको प्रकृति कहते हैं, कोई माया और कोई परमाणुसमूह, कोई तर्कसे भ्रान्त चित्तवाले इसको अविद्या कहते हैं। उसमें सब पदार्थ लय होकर अव्यक्तरूपसे वर्तमान रहते हैं। इन तीनों अवस्थाओं—(स्थूल, सूक्ष्म और कारण)—के परे भी एक अव्यय चतुर्थ पद है। उसकी प्राप्तिके लिये, उसका ध्यान करके कारण-शरीरका उसमें लय करना चाहिये (६ । १२८ । २१-२५)।

३—प्राण-निरोध

जैसे पंखेका हिलना बन्द होते ही हवाका चलना बन्द हो जाता है उसी प्रकार प्राणोंकी गति रुक जानेपर मन भी शान्त हो जाता है (६ । ६९ । ४१)।

प्राणका स्पन्दन रुकनेसे मन शान्त हो जाता है और मनके शान्त हो जानेपर संसारका लय हो जाता है (५ । ७८ । १५-१६)।

प्राण-निरोधके उपाय

प्राण क्या है ? प्राणोंकी प्रगति किस प्रकार होती है ? और प्राणायाम कैसे किया जाता है—इन विषयोंकी चर्चा योगवासिष्ठमें खूब विस्तारसे की गयी है (६ । २४ । ८-३८, ६ । २५ । ३-६०)। यहाँपर स्थलाभावसे केवल उन उपायोंकी गणनामात्र कराते हैं जिनसे कि योगवासिष्ठानुसार प्राणका स्पन्दन रुक जाता है। वे ये हैं—वैराग्य,

परम कारणका ध्यान, व्यसनक्षय, निरोधकी विशेष युक्ति, परमार्थज्ञान (५ । १२ । ८५), शास्त्र और सज्जनोंका सङ्ग, वैराग्य और अभ्यास, सांसारिक प्रवृत्तियोंसे मनको हटाना (५ । ७८ । १८), इच्छित वस्तुका ध्यान, एक तत्त्वका अभ्यास (५ । ७८ । १९), दुःख हरनेवाले पूरकादि (पूरक, कुम्भक और रेचक) प्राणायामोंका गहरा अभ्यास, एकान्तमें ध्यान (५ । ७८ । २०), ॐकारका उच्चारण करते-करते शब्द-तत्त्वकी भावना, सविद्‌को सुषुप्तिमें लाना (५ । ७८ । २१), रेचकके अभ्याससे प्राणको आकाशपर्यन्त विस्तृत करना (५ । ७८ । २२), पूरकके अभ्याससे मेरुके समान स्थिर हो जाना (५ । ७८ । २३), कुम्भकके अभ्याससे प्राणका स्तम्भित करना (५ । ७८ । २४), तालूमूलपर स्थित घण्टीको जिह्वासे यत्नपूर्वक दबाकर ऊर्ध्वरन्ध्रमें प्राण ले जाना (५ । ७८ । २५), सवित्‌को शून्य आकाशमें, जहाँपर कोई कलना नहीं है, ले जाकर शान्त करना (५ । ७८ । २६), नासाग्रसे द्वादशाङ्गुलपर बाहर शुद्ध आकाशमें सवित्‌को लीन करना (५ । ७८ । २७), भ्रुवोंके मध्यमें दृष्टि लीन करके शुद्ध चेतनमें स्थित होना (५ । ७८ । २९), ऊर्ध्वरन्ध्रमें प्राण ले जाकर तालूसे बारह अङ्गुल ऊपर प्राणको शान्त करना (५ । ७८ । २८), जिसमें ज्ञानका उदय हो जाय, ठीक उसी समय उसमें दृढ भावसे निश्चित होना और किसी भी विकल्पसे विचलित न होना (५ । ७८ । ३०), चिरकालतक जिस पदार्थकी वासना रही हो उसकी शून्य भावनासे मनको वासनारहित करके क्षीण करना और और शुद्ध सवित्‌में ध्यान लगाना (५ । ७८ । ३१)। इनके सिवा प्राणनिरोधकी और भी अनेक युक्तियाँ हैं जो नाना देशोंमें प्रचलित हैं और अनेक गुरुओंद्वारा बतायी गयी हैं (५ । ७८ । ३९)। इस प्रकार प्राण-निरोधके अभ्याससे प्राणका लय होनेपर मनकी क्रिया शान्त हो जाती है और निर्वाणपद ही शेष रह जाता है (५ । ७८ । ४६)।

प्राणविद्याके अतिरिक्त योगवासिष्ठमें कुण्डलिनी-विद्याका भी विस्तारपूर्वक वर्णन है (६ । ८० । ३६-४८, ६ । ८१ । १-९, ६ । ८१ । ६२-७३, ६ । ८२ । २-१३, ६ । ८० । ३१-३५, ६ । ८१ । ४५-५६, ६ । ८२ । २९-३३)। कुण्डलिनी-विद्याका ज्ञान होनेपर कुण्डलिनी शक्तिको जाग्रत् करके उसके द्वारा योगी अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

योगकी सात भूमिकाएँ

संसारके अनुभवसे मुक्ति पाने और परमानन्दका अनुभव प्राप्त करनेके योग नामक मार्गकी योगवासिष्ठके अनुसार सात भूमिकाएँ हैं। जो जीव प्रयत्नशील होते हैं वे उन सबको थोड़े ही समयमें पार कर लेते हैं और जो अधिक प्रयत्नशील नहीं होते उनको जन्म-जन्मान्तर लग जाते हैं। इन भूमिकाओंका वर्णन योगवासिष्ठमें कई स्थानोंपर (३ । ११८, ६ । १२०, ६ । १२६) आया है। एक स्थानपर उनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है। ज्ञानकी सात भूमिकाएँ हैं—१-शुभेच्छा, २-विचारणा, ३-तनुमानसा, ४-सत्त्वापत्ति, ५-असंसक्ति, ६-पदार्थाभावनी और ७-तुर्यगा। इन सातोंके अन्तमें मुक्ति है जिसको प्राप्त कर लेनेपर कोई दुःख नहीं रहता (३ । ११८ । ७)।

१—शुभेच्छा—संसारसे वैराग्य हो जानेपर जब मनुष्य अपनेको अज्ञानी समझकर शास्त्र और सज्जनोंकी सङ्गति करके सत्यका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, उस अवस्थाका नाम शुभेच्छा है (३ । ११८ । ८)।

२—विचारणा—शास्त्र और सज्जनोंके सम्पर्कसे और वैराग्य और अभ्याससे सदाचारमें जब प्रवृत्ति होती है, उस अवस्थाका नाम विचारणा है (३ । ११८ । ९)।

३—तनुमानसा—शुभेच्छा और विचारणाके अभ्याससे इन्द्रियोंके विषयोंमें असक्तता होनेसे मनके सूक्ष्म हो जानेका नाम तनुमानसा है (३ । ११८ । १०)।

४—सत्त्वापत्ति—पूर्व तीनों भूमिकाओंके अभ्याससे और चित्तके विषयोंसे पूर्णतया विरक्त हो जानेपर सत्य आत्मामें स्थित हो जानेका नाम सत्त्वापत्ति है(३।११८।११)।

५—असंसक्ति—चारों भूमिकाओंके परिपक्व हो जानेपर जब पूर्णतया मनमें असक्ति उत्पन्न हो जाती है और आत्मतत्त्वमें दृढ स्थिति प्राप्त हो जाती है तो उस अवस्थाका नाम असंसक्ति है (३ । ११८ । १२)।

६—पदार्थाभावनी—पूर्व पाँचों भूमिकाओंके अभ्याससे और आत्मामें निश्चल स्थिति हो जानेसे जब आन्तर और बाह्य वस्तुओंके अभावकी दृढ भावना हो जाती है उस स्थितिका नाम पदार्थाभावनी है। इसकी सिद्धि तब होती

है जब कि परमात्माकी सत्ता और पदार्थोंकी असत्ताका बहुत समयतक यत्नपूर्वक अभ्यास किया जाय (३।११८।१३-१४)।

७—तुर्यगा—पूर्व छः भूमिकाओंके अभ्याससे और पदार्थोंका अनुभव न होनेसे अपने असली स्वरूपमें निरन्तर स्थित रहनेका नाम तुर्यगा है। जीवन्मुक्त लोगोंको इस अवस्थाका अनुभव होता है। विदेहमुक्ति इस अवस्थासे परे है (३।११८।१६)।

गीतामें योगका स्वरूप

(लेखक—श्रीकृष्णप्रेमभिखारी)

आजकल योगकी चर्चा सर्वत्र चल रही है परन्तु लोग बहुधा यह भूल जाते हैं कि योगका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ गीता है। अवश्य ही पातञ्जल योगसूत्र, घेरण्डसंहिता, शिवसंहिता तथा अन्य ऐसे धर्मग्रन्थोंमें योगका वर्णन आया है, परन्तु उनमें गीता-जैसा न विस्तार ही है न प्रामाणिकता ही। वे सम्प्रदाय-विशेषके ग्रन्थ हैं। गीताजीके सामने तो सभी सम्प्रदायके आचार्योंने सिर झुकाया है और इसे प्रामाणिक माना है। गीता वेदान्तकी प्रस्थान-त्रयीमें एक है। कोई भी आचार्य, चाहे जिस सम्प्रदायका क्यों न हो, अपने विचारोंद्वारा तबतक कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकता जबतक उसके कथनका समर्थन गीता नहीं करती। केवल भारतवर्षके ही नहीं, अपितु संसारके समग्र उत्कृष्ट धर्मग्रन्थोंमें,—(ऐसे ग्रन्थोंकी संख्या बहुत अधिक नहीं है) जहाँतक मेरी बुद्धि जाती है, उच्च योगके सम्बन्धमें कुछ ही ऐसे ग्रन्थ मिलेंगे जो गीताके समकक्ष माने जायँ। यह तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि गीतासे बढ़कर योगविषयक कोई ग्रन्थ है ही नहीं। इसी परम उच्च योगके सम्बन्धमें बहुत पहले याज्ञवल्क्य मुनिने कहा था—'यह वह प्राचीन दुर्गम सँकरीला मार्ग है जो बहुत दूरतक फैला हुआ है।'

इसमें सन्देह नहीं कि गीताका अभिप्राय योगकी शिक्षा देना है। आरम्भसे अन्ततक सभी अध्यायोंका नाम 'योग' विशेषसे और भगवान श्रीकृष्णको 'योगेश्वर' कहा गया है। 'योग', 'योगी' और 'युक्त' शब्दका व्यवहार गीतामें शायद सबसे अधिक हुआ है और छठे अध्यायके ४६वें श्लोकमें तो 'योगी' को साधकोंमें सर्वोत्तम बतलाते हुए भगवान्‌ने अर्जुनको योगी बननेकी लिये आज्ञा दी है।

परन्तु यहाँ एक कठिनाई उपस्थित होती है। योग-परम्परामें कई प्रकारके योगका उल्लेख मिलता है—जैसे ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, राजयोग, हठयोग इत्यादि इत्यादि। इनमेंसे गीता किस योगका समर्थन करती है और किसे सर्वश्रेष्ठ मानकर इतनी प्रशंसा करती है? इसके साथ ही एक और प्रश्न उपस्थित होता है। क्या गीता विभिन्न योगोंको समान मानती हुई किसीका भी अनुगमन श्रेयस्कर मानती है अथवा यह किसी एक 'योग' की शिक्षा देती है? यदि गीतामें किसी योगविशेषकी शिक्षा है तो वह ऊपर लिखे हुए योगोंमें किससे मेल खाता है?

गीताके भाष्यकारोंने इस प्रश्नको और भी उलझन और अन्धकारमें डाल दिया है। ज्ञान, भक्ति और कर्म—जिस मार्गमें उनकी अभिरुचि थी, अपने सम्प्रदायविशेष-के सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करनेके लिये उन्होंने गीताका उसी प्रकार अर्थ करके स्वानुमोदित 'योग' की व्याख्या गीताद्वारा करायी है। परिणाम यह हुआ कि साधारण व्यक्ति भाष्यकारोंकी इस खींच-तानको अनुभव करते हुए इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि गीता सभी प्रकारके योगोंका समानरूपसे आदर करती है और इस दशामें उत्तम यही है कि अपनी व्यक्तिगत रुचि और प्रवृत्तिके अनुसार किसी एक योगका अनुसरण किया जाय! इससे तो भाष्यकारों-की अपेक्षा वह साधारण व्यक्ति ही अधिक बुद्धिमान् निकला। परन्तु उससे भी अच्छी बात तो यह है कि राग-द्वेषसे रहित होकर, तथा अपने जन्मगत तथा संस्कार-गत अथवा स्वेच्छासे ग्रहण किये हुए सम्प्रदायका आग्रह छोड़कर अपनी अन्तर्दृष्टि (Intuition) से मूलग्रन्थका अनुशीलन किया जाय। इस अन्तर्दृष्टिकी शक्तिके सम्बन्धमें प्लॉटिनस (Plotinus) का कथन है कि 'यह एक ऐसी शक्ति है जो प्राप्त तो सभीको है, परन्तु जिसका उपयोग

कम ही लोग करते हैं।' (a faculty which all possess but few use) यह एक ऐसी शक्ति है जो व्यवहारमें लानेसे अधिकाधिक बढती है और चुपचाप छोड़ देनेसे घट जाती है।

नीचेकी पंक्तियोंमें जो कुछ निवेदन किया जा रहा है उसमें युक्तियुक्तताके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं है। मैंने व्यक्तिगत अनुभवोंकी पुस्तकें देखी हैं और शास्त्रीय दलीलोंकी अपेक्षा उनसे मुझे बहुत लाभ हुआ है। मैंने इस लेखमें उस रीतिसे काम नहीं लिया है जिसके द्वारा किसी पुस्तक या कई पुस्तकोंमें समन्वय स्थापित करनेकी दृष्टिसे ही शब्दोंके अर्थमें तोड़-मरोड़ और खींचातानी की जाती है। यह तो स्पष्ट ही है कि गीताका घनिष्ठ सम्बन्ध उपनिषदों, महाभारत और सम्भवतः ब्रह्मसूत्रों* से है। अस्तु, कोई कारण नहीं कि इन ग्रन्थोंके अतिरिक्त अन्यान्य ग्रन्थोंसे भी गीताका बलात् समन्वय स्थापित किया जाय।

गीताके अठारह अध्याय तीन भागोंमें विभक्त हैं—और प्रत्येक विभागमें छः अध्याय हैं। यदि ध्यानसे देखा जाय तो यह स्पष्ट दिखायी देगा कि प्रत्येक छः अध्यायोंमें एक नवीन उपदेश है। पहले छः अध्यायोंमें भगवान् श्रीकृष्णने प्रायः पाँच प्रकारकी साधनाप्रणालीका वर्णन किया है जो उपर्युक्त योग-साधनाके एक-न-एक अङ्गसे मेल खाता है। अगले छः अध्यायोंमें भगवान्‌ने अपने उपदेशका मूल अथवा गीताका हृदय खोलकर रख दिया है और अपने शिष्यको दिव्य दृष्टि प्रदान की है। अन्तके छः अध्यायोंमें भगवान् श्रीकृष्णने कुछ विशिष्ट और दुरूह सिद्धान्तोंकी मीमांसा की है जिन्हें समझना योगको पूर्णतः व्यवहारमें लानेके लिये अत्यन्त आवश्यक है। कुछ और विस्तारसे देखें तो दूसरे अध्यायमें साख्ययोगकी प्रणालीका विशद वर्णन है। इसका सम्बन्ध सीधे ज्ञानयोगसे है, परन्तु इसे पीछे लिखी हुई ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिकासे मिलाना ठीक न होगा। बहुतोंने ऐसा ही किया है, परन्तु वैसा करना ठीक नहीं है। गीतोक्त साख्ययोग आजकलका वेदान्तीय ज्ञानयोग भी नहीं है। उसकी व्याख्या तो महाभारतमें ही मिलेगी जिसमें कई प्रकारके सांख्यकी समीक्षा की गयी है और जिसके द्वारा ही गीतामें प्रयुक्त 'सांख्य' शब्दका अर्थ खुलेगा। यहाँ हमारा अभिप्राय इतना ही प्रकट करनेसे है कि गीतोक्त सांख्ययोग ऐसा योग है जो तत्त्वज्ञानके द्वारा प्राप्त होता है और जिसमें पूर्ण नैष्कर्म्य होता है।

तीसरे अध्यायमें कर्मयोगका विषय है। यहाँ फलेच्छाको त्यागकर विहित कर्मको कर्त्तव्यके रूपमें करनेका आदेश है। चौथे अध्यायका नाम है ज्ञानयोग। पाँचवें अध्यायमें सन्यासद्वारा योगसाधनकी बात कही गयी है। छठा अध्याय, जिसका नाम 'अभ्यासयोग' है (कहीं-कहीं इस अध्यायका नाम 'ध्यानयोग' अथवा 'अध्यात्मयोग' भी मिलता है), प्रायः उन्हीं बातोंका विवेचन करता है जो 'राजयोग' में आती हैं।

यहाँ एक बात विशेषरूपसे ध्यान देनेकी है कि चौथे अध्यायके आरम्भमें भगवान् श्रीकृष्ण उस योगको जिसकी वह शिक्षा दे रहे हैं, 'अव्यययोग' कहते हैं, (इम योगं अव्ययम्) और यह भी बतलाते हैं कि हम ही इस योगके आदि विधायक हैं। इसके अनन्तर उन्होंने इस योगके आचार्योंकी अत्यन्त पुरातन परम्परा भी बतला दी है। यहाँ यह स्मरण रखनेकी बात है कि भगवान्‌ने इस स्थलपर एक ही अव्यययोगकी बात कही है, न कि विविध योगोंकी। यह योग केवल इसी अध्यायमें नहीं है, क्योंकि इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है कि पहले जो कुछ भी हम कह आये हैं वह सब इसमें है।

सबसे अर्थपूर्ण श्लोक, इस सम्बन्धमें, इस अध्यायका दूसरा श्लोक है जिसमें यह बात कही गयी है कि वही अव्यय पुरातन योग दीर्घ कालके पश्चात् इस संसारमें क्षयको प्राप्त हुआ और गुरु-शिष्य-परम्परासे क्षय होते-होते नष्ट हो गया। यह उक्ति मेरे विचारमें बड़े ही महत्त्वकी है, क्योंकि इससे यह मालूम होता है कि जिस योगकी शिक्षा सनातन श्रीकृष्णने विवस्वान्‌को दी थी वह योग सबका समावेश करनेवाला एक ही योग था। वह केवल 'योग' था, उसमें और कोई ऐसा विशेषण नहीं था जैसे विशेषण आजकल 'योग' शब्दमें आकर जुटे हैं। गुरु-शिष्य-परम्परासे यह योग ज्यों-ज्यों आगे चला त्यों-त्यों उसमें शाखा-प्रशाखाएँ फूटने लगीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न शिष्योंके भिन्न भिन्न स्वभाव और अधिकार होनेसे एक ही योगकी अद्भुत अनेक बातोंमेंसे किसीको कोई बात स्वने अच्छी लगी तो किसी दूसरेको कोई दूसरी बात। अपनी-

* गीता अ० १३, श्लोक ४ पर शाङ्करभाष्य देखिये।

अपनी समझ और स्वभावके अनुरूप किसीने ज्ञानको प्रधान माना तो किसीने भक्तिको और किसीने कर्मको, क्योंकि किसीमें सिरकी प्रधानता हुई तो किसीमें हृदयकी और किसीमें हाथोंकी। इस प्रकार एक ही सर्वव्यापी योगके अनेक टुकडे हो गये और ये टुकड़े एक-एक योग बन बैठे। ऐसे आंशिक योग अच्छे होनेपर भी हैं एकदेशीय ही और उनसे आत्माकी समृद्धि और विविधतामे कुछ-न-कुछ ठेस लगती है।

यह जो योगका टुकड़े-टुकड़े हो जाना है इसीको भगवान् श्रीकृष्ण इस रूपमें कहते है कि वह योग नष्ट हो गया, (क्योंकि बात भी यही है कि उनके समयमें इन एकदेशीय योगोंके आचार्योंकी भरमार थी, जैसा कि गीतासे ही प्रकट होता है) और इन सब एकदेशीय योगोंको एक योगशिक्षामें समन्वित करके वही पुरातन अव्यय योग अर्जुनको शिक्षा देते हुए पुनः स्थापित कर रहे हैं और वही योग गीताकी मुख्य शिक्षा है और वह विशेष करके द्वितीय षट्कमें है।

सबसे पहले अब यह देखें कि पहले छः अध्यायोंमें जिन एकदेशीय योगोंका वर्णन हुआ है उनको भगवान् कैसे निपटाते हैं। पहले अध्यायको तो छोड़ दीजिये, इसलिये नहीं कि 'इसमें कुछ नहीं है'—इसमें बहुत कुछ है, पर यहाँ जिस विषयकी चर्चा चल रही है उसके साथ पहले अध्यायका कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरे और तीसरे अध्यायमें, और फिर अन्यत्र भी श्रीकृष्ण बड़े यत्नके साथ (कर्म-)योगियोंके निष्काम कर्मके साथ सांख्योंके निष्कर्म तत्त्वज्ञानको मिला रहे हैं और यह बतला रहे हैं कि 'सांख्य और योग पृथक्-पृथक् हैं, ऐसा बालक कहा करते हैं, पण्डित नहीं।' इससे भी बढ़कर बात यह है कि प्रत्येक अध्यायके अन्तमें भगवान् इन दोनों योगपद्धतियोंको पूर्ण करनेके लिये अपने-आपको परमेश्वर बतलाकर अपनी ओर ध्यान दिलाते हैं, क्योंकि इसके बिना योग अपूर्ण ही रह जाते हैं। यथा, द्वितीय अध्यायके ५०वें और ६१वें श्लोकमें भगवान्के दर्शन करने और भगवत्परायण (मत्परः) होनेकी बात विशेषरूपसे कही गयी है और इसे सांख्योंके तत्त्वज्ञानमें जोड़कर उसे पुष्ट किया गया है, अन्यथा इसकी उस तत्त्वज्ञानमें उपेक्षा-सी ही थी। कर्मयोगियोंको भी यह बात याद दिलायी गयी है कि केवल कर्तव्य कर्म करना ही पर्याप्त नहीं है—कर्तव्य भी किसको कहेंगे?—यह बड़ा ही सन्दिग्ध शब्द है जिसकी व्याप्तिका कोई ठिकाना नहीं अथवा शास्त्रोक्त नित्य-नैमित्तिक कर्म ही केवल इसका अर्थ हो जाता है। इसलिये केवल कर्तव्यका भाव होनेसे ही काम नहीं चलता, उसमे ईश्वरार्पणबुद्धि होनी चाहिये, यह बात गीताने जोड़ दी है (मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्य)।

चौथे अध्यायके ज्ञानियोंको यह बात याद दिलायी गयी है कि भगवान्के दिव्य जन्म-कर्मका ज्ञान होना आवश्यक है और ज्ञानियोंको फलासक्तिरहित होनेपर भी और इस रूपसे सूक्ष्मतया कर्मरहित होनेपर भी कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये (कर्मण्यभिप्रवृत्तः)। ज्ञानियोंके ज्ञानकी परिसमाप्ति भी यही बतलायी गयी है कि सब जीव भगवान्के अन्दर दीखने लगें। पाँचवें अध्यायके सन्यासयोग-मार्गियोंको भी यह सीखना है कि सन्यास कर्मका नहीं बल्कि कर्मफलका होना चाहिये, और फिर अन्तिम श्लोकमे उन्हीं 'सुहृद सर्वभूतानाम्' भगवान्की बात आती है।

अन्तमें, छठे अध्यायमें राजयोगीको यह बात बतायी जाती है कि जिस आनन्दकी खोजमें राजयोगी है वह आनन्द श्रीकृष्णमें मिलता है (श्लोक १५) और फिर एक बार योगका अन्त दिखाया जाता है श्रीकृष्णके दर्शनमे (श्लोक ३० और ३१) जो प्राणिमात्रके हृदयमें विराज रहे हैं, जिनके बिना योग अपने ही सुखकी खोजका स्वार्थभरा धन्धा हो जाता है जिसमें दीन-दुखी प्राणियोंका आर्त्तनाद भी नहीं सुनायी देता। इस प्रकारका भीतरी स्वार्थ जो कैवल्यप्राप्तिसे केवल अपने ही दुःखका अन्त चाहता है, सामान्य प्रकारके राजयोगके मार्गमें बड़ा भारी भय है, राजयोगी इस गड्ढेमें न गिरे, इसलिये श्रीकृष्ण अपने-आपको इस योगका केन्द्र और हृदय माननेकी आवश्यकता बतलाते हैं। कारण, जब यह बात समझमें आवेगी कि श्रीकृष्ण सब प्राणियोंके भीतर हैं तब योगीसे दूसरोंके दुःखकी उपेक्षा और केवल अपने ही मोक्षकी चिन्ता न बन पडेगी।

इस प्रकार अपने पुराने सनातन योगके विच्छिन्न अङ्गोंको फिरसे जोड़कर भगवान् आगेके छः अध्यायोंमें यह बतलाते हैं कि किस प्रकारसे भगवान्का यह मूलसूत्रात्मक और समन्वय-साधक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है तथा उस ज्ञानका क्या लक्षण है, क्योंकि उस ज्ञानका

लक्षण केवल यह जानना ही नहीं है कि द्वापरके अन्तमें भगवान् मनुष्यरूपमें पृथ्वीतलपर अवतीर्ण हुए और वह पीताम्बर पहने और पीतपट ओढ़े थे। इसलिये अब वह इस ज्ञानको बतलाना इन अर्थपूर्ण शब्दोंके साथ आरम्भ करते हैं—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥

'हे पार्थ! मुझमें मन लगाकर और मेरा ही आश्रय करके योगमें लगकर तुम जिस प्रकार मुझे निःसंशय समग्ररूपसे जानोगे वह (अब) सुनो।'

यह मुख्य और अखिल महत्त्वपूर्ण ज्ञान ऐसा है 'जिसे जाननेके बाद कोई बात संसारमें जाननेकी नहीं रह जाती,' यही बात ७ वें और ८ वें अध्यायमें समझायी गयी है। यह ज्ञान कितना दुर्लभ है इसका कथन (अ०७, श्लोक ३ और १९), भगवान्‌के भक्तोंके प्रकार, अपनी प्रकृतियोंके साथ उनका सम्बन्ध, उनका मन्त्र, उनका परमधाम और उसका रास्ता, ये सब बातें सुस्पष्टरूपसे कही गयी हैं। बड़े सीधे-सादे शब्द हैं, पर उनके भीतर अथाह-सी गहराई है जो ऊपरी दृष्टिमें नहीं आती।

यह परम ज्ञान, जिसे भगवान् राजगुह्य कहते हैं, इसके बादके अध्यायमें भी आगे चला है। इसे स्पष्ट ही 'गुह्यतम' कहा गया है और इसका वर्णन करनेमें भगवान्‌को श्लोक ४ और ५ में परस्पर विरुद्ध-सी बात विवश होकर कहनी पड़ी है। इससे यह मालूम होता है कि यह ज्ञान केवल बौद्धिक ज्ञान नहीं है बल्कि कोई ऐसा ज्ञान है जो आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टिसे ही धारण किया जा सकता है। दूसरे श्लोकमें भी एक ऐसा ही अर्थपूर्ण शब्दप्रयोग है। वह है 'प्रत्यक्षावगमम्' अर्थात् 'प्रत्यक्ष जाननेयोग्य'। इस शब्द-प्रयोगका महत्त्व असाधारण है। यह इस बातको घोषित करता है कि यह अमूल्य ज्ञान, यह राजविद्या, कोई अन्धश्रद्धाकी बात नहीं है जो आँख मूँदकर मान ली जाय, बल्कि जो कोई इस रास्तेपर चलेगा वह इसे प्रत्यक्ष देख और अनुभव कर सकेगा। यह कथन केवल सत्यका ही कथनमात्र है और यह मनुष्यकी स्वतन्त्रताका दिव्य अधिकारपत्र है जिसके सामने केवल विश्वासका धन्धा करनेवाले सम्प्रदायोंकी कूपमण्डूकता कहीं टिकने नहीं पाती और जो 'मरे हुओं' को भी [illegible] पुकारता और कहता है, 'जागो, उठो और इस रास्तेपर चलो, क्या कब्रमें गड़े पड़े हो!'

फिर देखिये, अध्यायके अन्तमें वह महान् श्लोक (अ० ९। ३४) जो गीताका एक ही श्लोक है जो गीतामें (कुछ नहींसे अन्तरके साथ) दो बार आता है। पर इसके बारेमें पीछे कहेंगे।

दसवें अध्यायका महत्त्व अर्जुनके १७ वें श्लोकवाले प्रश्नसे प्रकट होता है। अर्जुन पूछता है कि सर्वव्यापक भगवान्‌का ज्ञान मैं कैसे जानूँ और किन-किन उपायोंसे मैं उनका ध्यान करूँ और श्रीकृष्ण उत्तर देते हुए अन्तरात्माकी अन्तर्दृष्टिको जगानेका उपाय बतलाते हैं और इस प्रकार अपने शिष्यको वह महान्, उत्तुङ्ग, व्यापक और आश्चर्यजनक दृश्य देखनेके लिये तैयार करते हैं जो इसके बादके अध्यायमें उसकी आश्चर्यभरी दृष्टिपर आ गिरता है जैसा कि आज भी इस पथके पथिकोंकी चकित दृष्टिपर, ठीक समयसे, ऐसा दृश्य आया करता है।

इस भीषण अनुभवके बाद अर्जुनकी घबराहट जब दूर हुई तब बारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने उसे भक्तितत्त्वामृत पान कराया। यह भक्तितत्त्व इस अध्यायके पूर्व भी सब अध्यायोंमें, दूधमें मक्खनरूपसे, रहा है और यहाँ वह मक्खन ही निकालकर आगे रक्खा गया है। भक्ति कैसी होती है और उसके क्या-क्या लक्षण हैं, इसका सुस्पष्ट वर्णन तेरहवें श्लोकसे अन्ततक किया गया है। जो कोई भक्ति करना चाहते हों वे इस वर्णनको मननपूर्वक पढ़ें और उस सच्ची भक्तिको सीख लें जो भक्ति नामसे कभी-कभी पुकारी जानेवाली फेनिल भावुकतासे सर्वथा भिन्न वस्तु है। एक और महापुरुषने ठीक ही कहा है कि 'प्रभु! प्रभु! चिल्लानेवाला हर कोई इस राज्यमें प्रवेश न कर सकेगा, वही प्रवेश करेगा जो वैकुण्ठधामवासी मेरे पिताकी इच्छाके पीछे चलेगा।'

योग बता दिया, अन्तश्चक्षु खोल दिया, विराट्-दर्शन भी करा दिया। सब कुछ हुआ, अब कुछ संकेत बताना रह गया जिनसे शिष्य बतावे मार्गसे चल सके और दिये ज्ञानका अभ्यास कर सके। अन्तके छ अध्याय इसी कामके लिये हैं। और केवल अठारहवें अध्यायके अन्तमें मुख्य प्रतिपाद्य विषय उपसंहाररूपमें आता है। संक्षेपमें, पर कभी न भूलनेवाले शब्दोंमें [illegible] मुख्य

बातें सारांशरूपसे कही है और तब अपनी सम्पूर्ण शक्तिके साथ एक छोटे-से श्लोकमे अपने सम्पूर्ण मार्गका सारतत्त्व, अपने उपदेशका महावाक्य बता दिया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

'मेरे मनमें अपना मन मिला दो, मेरे भक्त हो जाओ, मेरा यजन करो, मुझे प्रणाम करो । मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि मुझको ही प्राप्त होगे, क्योकि तुम मेरे प्रिय हो ।'

हम सब प्रायः गीताके श्लोकोंको अपनी कल्पनाओंके अनुरूप घुमा-फिरा लिया करते हैं । कुछ लोगोका यह दावा है कि गीताका सारतत्त्व दूसरे अध्यायके पचासवें श्लोकके 'योगः कर्मसु कौशलम्' (योग नाम है कर्ममें जो कुशलता है उसका), इन्हीं शब्दोमे आ गया है । कुछ दूसरे लोग यह बतलाते हैं कि गीताका महावाक्य तीसरे अध्यायका सतरहवाँ श्लोक है । पर सच पूछिये तो भगवान्के शब्द इतने स्पष्ट हैं कि कहीं कोई युक्तियुक्त सन्देह रह जानेकी कोई गुजाइश ही नहीं है । ऊपर जो श्लोक दिया हुआ है उसकी यह बात है कि यही श्लोक राजगुह्यवाले अध्यायके अन्तमे प्रायः इसी रूपमें आया है और फिर सम्पूर्ण उपदेशके पश्चात् यही श्लोक इस भूमिकाके साथ आता है कि अब हम तुमसे 'परम वचः' कहते हैं । इससे तो बात इतनी स्पष्ट हो जाती है कि शकाके लिये कोई स्थान ही नहीं रहता । इस श्लोकमे सम्पूर्ण योगका सारतत्त्व—भगवान्की शिक्षाका सारा मर्म आ गया है । इसे हम अच्छी तरहसे समझ लें, क्योकि इसमें सबका सारांश है ।

मनुष्यका स्वभाव त्रिविध है—बौद्धिक, भावुक और कर्मशील—मस्तिष्क, हृदय और हाथ । ये तीन अग सभी मनुष्योंमे होते हैं, किसीमें किसी अगका विकास कम और किसीका अधिक होता है और किसी-किसीमें तो इनका परस्पर कोई सामञ्जस्य ही नहीं रहता—इतना बेहिसाब गठन इनका होता है । ये तीनों प्रायः सांसारिक पदार्थोंमें लगे रहते हैं । इन्हें बाह्य पदार्थोंसे निकालकर परमभावमें, परमप्रकाशमें, निष्कलक एकमेवाद्वितीयमें, स्वय सनातन श्रीकृष्णकी सेवामें लगाकर दिव्य बनाना होगा ।

सबसे पहले भगवान्को जानना होगा, क्योकि मन-बुद्धि उनकी कर देना है (मन्मना भव) । यह पहली बात है, क्योंकि उन्हें जाने बिना न तो उनसे प्रेम किया जा सकता है, न उनकी सेवा की जा सकती है और जैसा कि श्रुति कहती है, 'उनके ज्ञानके बिना सुखका कोई रास्ता नहीं है' (नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।)

दूसरी बात है उनसे प्रेम करना (मद्भक्तः), क्योंकि प्रेमरहित ज्ञान कोई ज्ञान नहीं । इसलिये हृदयको दिव्य बनाना होगा और सिरको भी ।

तीसरी बात है, कर्मरूपसे उनकी सेवा करनी होगी, क्योकि जिस प्रेमसे कर्मका स्रोत नहीं निकलता वह सच्चा प्रेम नहीं है । सब कर्मोंको उन भगवान्की सेवामें लगाकर यज्ञरूप बनाना होगा जो सब प्राणियोंमें निवास करते है और जो हजारों, लाखों शरीरोंके हृदयोंमे बैठकर उनके आकाश-पाताल एक करनेवाले हृदयद्रावक आर्तनाद सुना करते हैं और अपनी पक्षपातरहित दृष्टिसे यह देखा करते हैं कि कौन है वह मेरा भक्त बननेकी इच्छा करनेवाला जो इस सेवाके लिये तैयार खडा है । इसमें कोई सन्देहकी बात नहीं है कि जङ्गलका कोई दीन वन्य पशु अपने बच्चोका मारा जाना देखकर जो रोता है वह यथार्थमे वह नहीं रोता, भगवान् हृदयमे बैठे उस कृत्यको अकित करते हैं और समयके पूरा होनेपर मारनेवालेको उसका बदला चुकाते हैं ।

अन्तमें यह आज्ञा है कि भगवान्के चरणोंमें प्रणाम करो, अपना आपा—अपना हर तरहका अहकार निकालकर फेंक दो और उनके चरणोकी धूलमे लोट जाओ, क्योकि प्रणामका वास्तवमे यही अर्थ है, मन्दिरोंमें जाकर केवल बाह्य प्रणाम करना नहीं । आपा छायामात्र भी न रह जाय, यदि हम उनके पास पहुँचना चाहते हैं ।

यही गीताका हृदय है, योगोंका योग है और जैसा कि हमलोग देख चुके, यह वह योग है जो मानव प्रकृतिके सब अगोंको एक सूत्रमे ले आता है । इसके बिना योग क्या ? ऐसा विकास किस कामका जिसमें सब अगोंका सामञ्जस्य न हो ? सभी अग शुद्ध, पवित्र और दिव्य बनें । इसपर यदि कोई कहे कि यह बड़ा कठिन और दुर्गम रास्ता है तो इसका उत्तर यह है कि इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं है, क्योकि भगवान् श्रीकृष्ण स्वय ही बतलाते हैं कि 'अनेक जन्मोंके पश्चात् ज्ञानी पुरुष मेरे पास आता है ।' अभी या पीछे सबको इसी 'दुर्गं पथम्' पर—इसी 'क्षुरस्य धारा निशिता' पर चलना होगा । हाँ, इतनी निश्चिन्तता तो है कि चलते हुए पाँवोंसे चाहे कितना ही रक्त निकले

और हृदयका साहस टूटे, इसमे सन्देह नहीं कि भगवान् सदा हमारे पार्श्वमे हैं—'हमारे श्वासोच्छ्वाससे भी अधिक पास, हाथ-पैरोंसे भी अधिक समीप' है और अज्ञात आरम्भसे लेकर अनन्त अन्तवाले इस लम्बे रास्तेपर एक क्षणके लिये भी हमें कभी अकेला नहीं छोड़ते।

६६ वें श्लोकपर मैंने कुछ नहीं लिखा। इसका कारण यह है कि इसका अर्थ और कोई नहीं समझता, सिवा उन लोगोंके जो उच्च स्थितिको प्राप्त हो चुके है और इसलिये मैं उस अत्युज्ज्वल प्रतिज्ञाको अपने दुर्बल वचनोसे मलिन नहीं करना चाहता।

गुरुजनोंको प्रणाम, प्रणाम उन मुनिजनोंको जो उस पार हैं, प्रणाम उन लोगोको जिनका ज्ञान ससारको आलोक दिखाता है, और जिनके चरणोमें जो कुछ सत्य इन शब्दोंमे हो वह सादर समर्पित है।

गीतामें योगके अनेक अर्थ

(लेखक—दीवानबहादुर के० एस० रामस्वामी शास्त्री बी० ए०)

हिन्दूतत्त्वज्ञान और हिन्दूजीवनमें 'योग' शब्द सर्वत्र व्यावृत है। श्रीमद्भगवद्गीताके अन्तिम श्लोकमें भगवान् 'योगेश्वर' कहे गये हैं। जिन मगलमय शब्दोंमे भगवान्का वर्णन किया जा सकता है, ऐसे सब शब्द गीताके दसवें अध्यायमे अर्जुनके 'पर ब्रह्म पर धाम' आदि भगवदा-वाहनमें बड़े ही आश्चर्यजनक ढगसे एकत्र हो आये है। इस आवाहन-स्तुतिसे अधिक उदात्त या आकर्षक स्तुति सम्पूर्ण साहित्यभरमें और कहीं भी नहीं है। इस स्तुतिका जो-जो कुछ अर्थ है, इससे जो-जो कुछ सूचित और ध्वनित होता है, वह सब एक 'योगेश्वर' शब्दमें आ जाता है। गीताके इस 'योगेश्वर' शब्दकी व्याख्या करना जितना कठिन है उतना ही गीताका योग क्या है, यह बतलाना कठिन है। दोनों ही काम कठिन ही नहीं, असम्भव हैं। तथापि दोनोंको जाननेका यत्न करना होगा, इसलिये नहीं कि यह प्रयास सफल होगा, बल्कि इसलिये कि इस प्रयासमे भी आनन्द है।

योगका आंतरतम महत्त्व इस बातमें है कि अनात्मकी प्रकृति और गति आत्माकी प्रकृति और गतिसे मूलतः ही सर्वथा भिन्न है। अनात्मा और आत्मा, भगवान् श्रीशङ्कराचार्य कहते है कि 'तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभाव' वाले है। आंग्ल महाकवि वर्ड्सवर्थने इस विभिन्नताको, एक दूसरे ही ढगसे, अपने ही मजेदार तरीकेसे प्रकट किया है। उनकी उस कविताका भावार्थ यह है कि 'पृथ्वी अपनी गोद अपने ही आनन्दोसे भरती है, बच्चेके प्रति उसकी उत्कण्ठा उसके अपने स्वभावके अनुरूप होती है और उसमे एक प्रकारका मातृभाव ही होता है, कोई अनुचित हेतु नहीं। यह धात्री अपने इस मानवरूप पोष्य पुत्रको, जैसे भी बनता है, पालती-पोसती है और इस तरह उस राजप्रासादको जहाँसे कि वह आया और उसके सुखोंको भुला देती है।' कवि फिर आगे कहते हैं, 'हमारा जन्म, एक प्रकारकी निद्रा और विस्मृति है। हमारा आत्मा हमारा जीवन-नक्षत्र जो हमारे साथ ऊपर उठता है, किसी अन्य स्थानसे चला है और बड़ी दूरसे आ रहा है।' अस्तु।

इस वैषयिक जीवनका वास्तविक रूप क्या है? क्षणभङ्गुरता ही उसका स्वरूप है, और अतृप्ति सदा उसके पीछे लगी रहती है।। सुखके ठीक मध्यतकमे दुःखका विष-बिन्दु होता ही है अथवा जैसा कि कीट्स कविने कहा है कि 'हर्षके मन्दिरतकमें विषादका गर्भमन्दिर होता है।' श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(५।२२)

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
(९।३३)

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
(१३।८)

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
(२।२७)

परन्तु आत्मा तो अनन्त और सनातन, मुक्तस्वभाव और आनन्दस्वरूप है। इसी दिव्य प्रतिज्ञाके साथ गीता आरम्भ होती है और तब दुःखारी जीवोंकी जो दो

प्रकारकी जीवनधाराएँ हैं—एक संसृतिसे ससृतिकी ओर ही ले जानेवाली निम्नधारा और दूसरी ससारके पार पहुँचानेवाली ऊर्ध्वगामिनी धारा—उनका और उनके कारण गुणोका और फिर गुणोंके कारणस्वरूप अविद्याका विचार होता है।

मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि गीताके—

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥
(६।२३)

इस श्लोकमें परम योगेश्वर श्रीकृष्णने योगका सूक्ष्मातिसूक्ष्म सार भर दिया है। हमारे देहयुक्त जीवनमें दुःखका सयोग होता है। इसका जो वियोग है वही योग है। दुःखके सयोगके वियोगका ही नाम योग है। उसी योगमें आत्मा अपनी दिव्यताके साथ स्थित होता है। भगवान् उस स्थितिका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
(६।२१-२२)

वह अनुभूति अवर्णनीय आनन्दकी स्थिति है। इन्द्रियोंकी वहाँतक पहुँच नहीं है, केवल बुद्धिके द्वारा ही उसका ग्रहण हो सकता है। वह परा गति है, सुख-दुःखके सर्वथा परे है।

योग शब्द युज् (समाधौ) से प्रायः साधा जाता है। इसका अर्थ है मिलन या योग अर्थात् दुःखसे वियोग और आनन्दके साथ योग। दार्शनिक भाष्यकार प्रायः अपनी पसन्द या प्रकृतिके अनुसार गीतामें किसी-न-किसी विशिष्ट एकदेशीय योगकी ही प्रधानता बताते हैं। परन्तु श्रीकृष्णने इस प्रकारका कोई एकदेशीय योग नहीं बताया है, और जो योग उन्होंने बताया है वह आरम्भमें दुर्गम और क्लेशकर प्रतीत हो तो भी शीघ्र ही सुगम और सुखकर हो जाता है और फिर अन्ततक ऐसा ही रहता है। यही कारण है कि 'इस लोकमें द्विविधा निष्ठा' (३।३) बतलाते हुए वह भी कह देते हैं कि दोनों मार्ग पहुँचते हैं एक ही स्थानको। (५।५)

साथ ही भगवान् यह भी कहते हैं कि कर्मकी समाप्ति आत्मस्थितिमें होती है—

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥
(४।३३)
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥
(४।३७)
न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥
(४।३८)
संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥
(५।६)

कर्तव्यकर्मसे कोई कच्चे मनके साथ न भागे। मन जब परिपक्व होगा तब कर्म आप ही उससे छूट जायगा। परिपक्वता ही मुख्य है। (न कर्माणि त्यजेद्योगी कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ।) भगवान् बारंबार गीताकी इस मुख्य शिक्षापर जोर देते हैं कि भगवत्प्राप्तिके साधनका सार मर्म वह अनासक्ति और भक्ति है जिससे कर्म नैष्कर्म्यको प्राप्त होता है। यज्ञ, दान और तपरूप कर्म चित्तशुद्धिके साधन हैं और सच्चा त्याग सङ्गत्याग और फलत्याग है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
(३।४)
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन॥
(६।२)
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
(१८।५)
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः॥
(१८।९)

इससे यह मालूम होता है कि गीताका योगमार्ग आत्म-मिलन, आत्मानुभव और आत्मरतिका मार्ग है और यह सम्पूर्ण मार्ग एक ही है और वह आनन्दका मार्ग है। उन लोगोंसे मेरा मतैक्य नहीं है जो कर्मयोगको कनिष्ठ और सन्यासयोगको श्रेष्ठ बताते हैं, अथवा जो यह कहते हैं कि कर्मयोगमें जो आनन्द है उससे सन्यासयोगका आनन्द श्रेष्ठ कोटिका है। हाँ, इस बातको मैं

अवश्य मानता हूँ कि 'स्वरूपेऽवस्थानम्' (आत्मस्वरूपमें स्थित) होना अनुभव और आनन्दकी पराकाष्ठा है। गीताका यह वचन है कि कर्मयोगमार्गमें भी शान्ति और आनन्दकी प्राप्ति है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
(२।६४-६५)

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(२।७१)

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
(५।१२)

त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ (१२।१२)

कर्मयोगका विवेचन करते हुए श्रीकृष्णने इस शब्दके दो और अर्थ प्रकट किये हैं। एक है, 'समत्वं योग उच्यते' सिद्धि-असिद्धिमें सम रहना योग है, दूसरा और 'योगः कर्मसु कौशलम्' कर्ममें जो कौशल है वह योग है। यह कौशल क्या है? कौशल है वही अनासक्ति और भक्ति जिनसे बन्धनकारक कर्म मोक्षदायक कर्म हो जाता है और कर्म ज्ञान बन जाता है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥
(२।५१)

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥
(३।९)

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥
(४।२०)

आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय॥
(४।४१)

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥
(५।७)

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
(५।१०)

यहाँतक गीताके 'योग' शब्दके अर्थपर सामान्य विचार और कर्मयोगान्तर्गत 'योग' का विशेष विचार हुआ। कर्मयोग चित्तशुद्धिका साधन है। भगवान् श्रीकृष्णके कर्मयोगमें पातञ्जलयोगदर्शनके वे यम और नियम सांगोपांग आ जाते हैं जिनसे 'चित्तप्रसादन' होता है, यमनियमसे यह कर्मयोग अधिक व्यापक है और फिर इसमें यह विशेषता है कि इसमें ईश्वरार्पणबुद्धि है जो योगसूत्रोंमें नहीं है। चित्तशुद्धिसे चित्तैकाग्र्य होता है जैसा कि गीताके छठे अध्यायमें कहा है। चित्तैकाग्र्यको प्राप्त योगी अन्तःसुख और अन्तर्ज्योतिको प्राप्त करते हैं। 'अन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः' (५।२४)। ऐसे पुरुषको श्रीकृष्ण योगी कहते हैं जो 'तपस्वियों, ज्ञानियों और कर्मियोंसे' श्रेष्ठ है और इसीलिये अर्जुनको उपदेश है कि, 'तस्माद्योगी भवार्जुन' (६।४६)।

वह कठिन राजयोगमार्ग जिससे सगुण ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, गीताके ८ वें अध्यायमें वर्णित है। उससे अर्जुन चकित—स्तम्भित हो जाता है। इसलिये भगवान् सुगम सुखपूर्वक साध्य भक्तिमार्ग बतलाते हैं और इसीको राजविद्या कहते हैं। इस विद्याका सबको अधिकार है और इसमें स्वयं भगवान् ही हमारे ध्येय और ध्येयके पास पहुँचानेवाले मार्गदर्शक हैं। भगवान् भक्तियोगीको 'युक्ततम' बतलाते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥
(६।४७)

इसी योगमें १० वें अध्यायका विभूतियोग और ११वें का विश्वरूपदर्शनयोग सम्मिलित है। भगवान् कहते हैं कि अकेला भक्तियोगी ही परमात्माके इस विश्वरूपको देख सकता है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥
(११।५४)

यह भक्तियोग एक तरफ कर्मयोग और राजयोगसे और दूसरी तरफ अक्षर उपासना तथा ज्ञानयोगसे सम्बद्ध होता है। १२ वें अध्यायमें भगवान् कहते हैं कि अक्षर-उपासनासे भक्तियोग सुगम है और भक्त सदा सन्तुष्ट (सन्तुष्टः सततम्) रहता है (१२।१४) और भक्तियोगका मार्ग भी धर्म्य

और अमृत है (धर्म्यामृतमिदम्) (१२।२०)। १३ वें अध्यायमें भक्तिको ज्ञानका एक अग कहा है।

ज्ञानयोगमे जाकर भक्तिकी पूर्ण सार्थकता होती है। भगवान् कहते हैं कि कर्मकी परिसमाप्ति ज्ञानमें होती है (४।३३) और ज्ञानी ही आत्मा है (ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ७।१८)।

चतुर्विधा भजन्ते मां जना. सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
उदारा. सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(७।१६-१९)

अद्वैतदर्शनका यह सिद्धान्त है कि जीवात्मैक्यबोध ही परम बोध है।

इस प्रकार गीतामे योगके अनेक अर्थ श्रीयोगेश्वरके द्वारा निरूपित हुए हैं। इस बातको यदि हमलोग समझें और तदनुसार चलें तो इससे अपना और राष्ट्रका भी उद्धार होगा। भगवान्‌की दया और हमारी ऊपर उठने और मोक्ष साधनेकी उत्कण्ठा, ये दो इस उद्धार-साधनमें मुख्य बातें हैं।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥
(१८।७८)

गीतोक्त भक्तियोग वा प्रेमलक्षणा भक्ति

(लेखक—महामहोपाध्याय प० श्रीप्रमथनाथ तर्कभूषण)

श्रीमद्भगवद्गीताके १८ वें अध्यायके अन्तमे उपदेश समाप्त करते समय श्रीभगवान्‌ने कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
सम. सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥५४॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥५५॥

अर्थात् (ज्ञानलाभ होनेपर) ब्रह्मस्वरूप होकर जीव प्रसन्नात्मा हो जाता है, उसे शोक नहीं होता, किसी वस्तुकी अभिलाषा भी नहीं रहती, वह सब प्राणियोंके प्रति समत्व-बुद्धि-सम्पन्न हो जाता है; इस प्रकारका होकर वह, मुझमें पराभक्तिको प्राप्त करता है।

उस पराभक्तिके द्वारा ही वह, मेरा वास्तविक क्या स्वरूप है, और मेरी क्या महिमा है, इसे जाननेमें समर्थ होता है, तथा इस प्रकार मेरा वास्तविक तत्त्व समझकर,—उसके बाद—मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।

इन दोनों श्लोकोंमें जिस 'भक्ति' शब्दका प्रयोग देखा जाता है, उसके अर्थका निर्णय करते हुए भगवत्पाद आचार्य श्रीशङ्करने कहा है—

एवम्भूतो ज्ञाननिष्ठो 'मद्भक्तिं' मयि परमेश्वरे भक्तिं भजनम्, परमाम् उत्तमाम् ज्ञानलक्षणां चतुर्थीं लभते 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' इत्युक्तम्।

"इस प्रकार ज्ञाननिष्ठ व्यक्ति 'मद्भक्ति' अर्थात् मुझ परमेश्वरकी परमा अर्थात् उत्तमा भक्तिको प्राप्त करता है, इस परमा भक्तिसे चतुर्थी भक्ति सूचित होती है, क्योंकि इसके पहले ही भगवान्‌ने कहा है—'चतुर्विधा भजन्ते माम्' अर्थात् आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी मेरा भजन करते हैं, उसके अनुसार ज्ञानीकी जो भक्ति है, वही चतुर्थी भक्ति है और वही उत्तमा है।" दूसरे श्लोककी व्याख्याके प्रसङ्गमें उन्होंने कहा है—

'ततो ज्ञानलक्षणया भक्त्या मामभिजानाति, यावानहमुपाधिकृतविस्तरभेद., यश्चाहं विध्वस्तसर्वोपाधिभेदोऽभिमत उत्तमपुरुष आकाशकल्पस्तं मामद्वैतं चैतन्यमात्रैकरसमजरममरमभयनिधनं तत्त्वतोऽभिजानाति। ततो माम् एवं तत्त्वतो ज्ञात्वा, विशते तदनन्तरं मामेव। नात्र ज्ञानानन्तरप्रवेशक्रिये भिन्ने विवक्षिते, ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् इति। किं तर्हि? फलान्तराभावाज् ज्ञानमात्रमेव।'

"उसके बाद ज्ञान-रूप भक्तिके द्वारा मुझको प्रत्यक्ष-रूपसे जान सकता है, (अर्थात्) जितने प्रकारके उपाधिकृत भेदोंसे युक्त (होकर मैं जितने प्रकारका होकर रहता हूँ) एव सब प्रकारकी उपाधिसे शून्य मैं अभिमत होकर रहता हूँ अर्थात् आकाशकल्प पुरुष, (अर्थात्) चैतन्यमात्र, एकरस, अभय, अजर, अमर और अद्वैत-स्वरूप—इस प्रकार मुझको ही जानकर वह तदनन्तर मुझमें ही प्रवेश कर जाता है। यहाँपर 'जानकर तदनन्तर प्रवेश कर जाता है'—इस प्रकार कहनेमें ज्ञान और अनन्तर प्रवेश—ये दो क्रियाएँ विवक्षित नहीं हैं। तो क्या है? ब्रह्मज्ञानका दूसरा कोई फल न होनेके कारण यहाँपर केवल ब्रह्मका साक्षात् ज्ञान ही प्रतिपादित हुआ है।"

गीताके इन दो श्लोकोंमे प्रयुक्त भक्ति शब्दकी व्याख्या करते हुए मधुसूदन सरस्वती आदि प्रधान सुप्रसिद्ध टीकाकारोंने भी आचार्य शङ्करके मतका अनुसरण करते हुए कहा है कि अद्वैत ब्रह्मज्ञाननिष्ठा या चरम ब्रह्म-साक्षात्कार ही यहाँपर परमाभक्ति है। विस्तारभयसे हम यहाँ उनकी उक्तियोंको उद्धृत नहीं कर रहे हैं।

अद्वैतवादियोंके मतानुसार ब्रह्मसाक्षात्कार या ज्ञान-निष्ठा ही गीताका भक्तियोग है। यह भक्तियोग ज्ञानसे विलक्षण नहीं है, इस बातको आचार्य शङ्कर आदि अद्वैतवादी पूज्यपाद आचार्योंने एक स्वरसे स्वीकार किया है। किन्तु बगालके 'प्रेमके ठाकुर' श्रीगौराङ्गदेवके मतानुयायी श्रीरूप गोस्वामिपाद आदि प्रधान गौड़ीय वैष्णव आचार्य गीताके इन दो श्लोकोंमें प्रयुक्त भक्ति शब्दका अर्थ 'निर्गुण ब्रह्मसाक्षात्कार-रूप भक्ति है' इसे स्वीकार नहीं करते, उनके मतमें यह पराभक्ति केवल ज्ञानरूपा भक्ति नहीं, बल्कि यही भगवद्गीतोक्त प्रेमाभक्ति है, यह प्रेमाभक्ति निर्गुण ब्रह्म ज्ञानकी चरम अवस्था नहीं है, बल्कि यह चिन्मात्रैकरस आनन्दघन सच्चिदानन्दविग्रह श्रीभगवान्‌के प्रति निष्काम प्रेमलक्षणा भक्ति है, इसीका दूसरा नाम है रागात्मिका भक्ति। गीताके ही एकादश अध्यायमें श्रीभगवान्‌ने और भी स्पष्ट रूपमे निर्देश किया है कि—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥
(११।५४)

'हे परन्तप अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा ही मैं (अर्थात् परमेश्वर) इस प्रकार तत्त्वतः—परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञानसे गोचर होता हूँ और फिर इस भक्तिके द्वारा ही भक्त मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।'

यहाँपर भी भक्तिद्वारा श्रीभगवान्‌का परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञान तथा भक्तका उसमें प्रवेश, ये तीनों क्रियाएँ स्पष्टरूपसे पृथक्-पृथक् हैं, अतएव अद्वैतमतके अनुसार इन कई श्लोकोंके 'भक्ति' शब्दकी व्याख्या करनेपर गीता-के मुख्य अर्थको छोड़कर लाक्षणिक अर्थ ही ग्रहण करना पड़ता है। भक्तावतार श्रीगौराङ्गदेवके मतानुयायी श्री-रूप गोस्वामिपाद प्रभृति प्रेमीभक्त आचार्यगण इसी कारण गीतोक्त इस भक्तिको 'अद्वैतवादसम्मत निर्गुण ब्रह्मका साक्षात्काररूप' भक्ति नहीं मानते।' वे कहते है कि इस भक्ति शब्दका अर्थ रागात्मिका या प्रेमलक्षणा भक्ति ही है।

इस परा या उत्तमा भक्तिका स्वरूप क्या है, इसे समझाते हुए श्रीरूप गोस्वामिपादने स्वप्रणीत 'भक्तिरसा-मृतसिन्धु' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थमें जो कुछ कहा है, वह भी यहाँपर विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है। वह कहते हैं—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

'श्रीकृष्णसम्बन्धी अथवा श्रीकृष्णके निमित्त जो अनुकूल अनुशीलन (अर्थात् कायिक, वाचिक और मानसिक क्रिया) है, वही भक्ति शब्दका सामान्य अर्थ है। वह अनुकूल अनुशीलन ज्ञान और कर्मके द्वारा यदि अनावृत हो एवं श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य सब वस्तुओंके प्रति स्पृहाशून्य हो तब उसे उत्तमा भक्ति कहते हैं।'

जो अनुशीलन अन्य सब वस्तुओंके प्रति स्पृहाहीन होनेके साथ ही आनुकूल्यसमन्वित अर्थात् केवल श्रीकृष्ण-विषयक स्पृहासे युक्त है, वही अनुशीलन उत्तमा भक्ति है, यह उत्तमा भक्ति प्रेमाभक्तिके सिवा और कुछ भी नहीं हो सकती, इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए श्रीरूप गोस्वामिपादने श्रीमद्भागवतके निम्नलिखित दो श्लोकोंका भी उल्लेख किया है—

अहैतुक्यव्यवहिता या भक्ति पुरुषोत्तमे॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमान न गृह्णन्ति विना मत्सेवन जनाः॥

स एष भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत ।

(श्रीमद्भागवत ३ स्कन्ध, २९ अ०, १० श्लोक)

भगवान् श्रीकपिलदेव माता श्रीदेवहूतिको सम्बोधन करके कहते हैं—

हे माता ! इस अहैतुकी (अर्थात अन्याभिलाषिता-शून्य) और अव्यवहिता (अर्थात् ज्ञान और कर्मादिरूप आच्छादनरहित) मानसिक गतिरूपा भक्तिको जिन्होंने प्राप्त किया है वे भक्त मुझसे अन्य किसी फलकी इच्छा तो दूर रही, उनको यदि सालोक्य (मेरे साथ समान लोकमें वास), सार्ष्टि (मेरे समान ऐश्वर्य), सामीप्य (सर्वदा मेरे पास रहना), सारूप्य (मेरे समान रूप) अथवा एकत्व (मेरे साथ अभेद)—इन कई प्रकारकी मुक्तियोंमेंसे कोई-सी भी दी जाय तो उसे भी वे ग्रहण नहीं करते, प्रेमवश मेरी सेवाको ही वे परम पुरुषार्थ जानकर उसीके लिये प्रार्थना करते हैं । तथा मेरी सेवाके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करते ।

वह सेवा प्रीतिपूर्वक होनेपर ही 'आनुकूल्येन कृष्णानुशीलन' रूपा भक्ति होती है, यही है भक्ति शब्दका मुख्य अर्थ—यही श्रीरूप गोस्वामिपादने उक्त श्लोकके द्वारा सिद्ध किया है ।

इस प्रीतिके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए वैष्णवाचार्य श्रीजीव गोस्वामिपादने स्वप्रणीत 'षट्सन्दर्भ' ग्रन्थके प्रीति-सन्दर्भ प्रकरणमें जो कुछ कहा है, वह भी यहाँपर विशेष ध्यान देने योग्य है । उन्होंने कहा है—

'प्रीतिशब्देन खलु मुदप्रमदहर्षानन्दादिपर्यायं सुखमुच्यते, भावहार्दसौहृदादिपर्यायप्रियताचोच्यते । तत्र उल्लासात्मको ध्यानविशेष: सुखम् । तथा विषयानुकूल्यात्मकस्तदानुकूल्यानुगततत्स्पृहातदनुभवहेतुकोल्लासमयज्ञानविशेष: प्रियता । अतएवास्यां सुखत्वेऽपि पूर्वतो वैशिष्ट्यम् । तयो: प्रतियोगिनौ च क्रमेण दुःखद्वेषौ । अतः सुखस्योल्लासमात्रात्मकत्वादाश्रय एव विद्यते न तु विषय: । एवं तत्प्रतियोगिनो दुःखस्य च । प्रियतायास्तु आनुकूल्यस्पृहात्मकत्वाद् विषयश्च विद्यते । एवं प्रातिकूल्यात्मकस्य तत्प्रतियोगिनो द्वेषस्य च । तत्र सुखदुःखयोराश्रयौ सुपुण्यपापकर्मणौ जीवौ । प्रियताद्वेषयोराश्रयौ प्रीयमाणद्विषन्तौ विषयौ च तत्प्रियद्वेष्यौ ।'

इसका संक्षिप्त तात्पर्य यह है कि—

'प्रीति' शब्दका अर्थ है 'सुख' और 'प्रियता', इनमें 'सुख' शब्दके और भी कई पर्यायवाची शब्द हैं । जैसे मुद, प्रमद, हर्ष और आनन्द आदि । 'प्रियता' शब्दके भी कई पर्यायवाची शब्द हैं । जैसे भाव, हार्द और सौहृद प्रभृति । 'सुख' शब्द उल्लासरूप जो ज्ञानविशेष है, उसीको जताता है । 'प्रियता' शब्द भी उल्लासरूप ज्ञानविशेषका ही यद्यपि बोध कराता है, तथापि यह उल्लासात्मक ज्ञानविशेष, विषयात्मक वस्तुके प्रति जो आनुकूल्य है, तत्स्वरूप भी हो जाता है, और उस आनुकूल्यके साथ सदा सम्बद्ध जो प्रिय वस्तुकी प्राप्तिके लिये अभिलाषा और प्रिय वस्तुका अनुभव है, उन दोनोंके साथ मिश्रित या तन्मय भी हो जाता है । उल्लासमय सुखरूप ज्ञानविशेष यदि प्रियजनके लिये होनेवाली अभिलाषा और प्रियविषयक अनुभूतिके साथ मिलता है तब वह प्रीति शब्दका मुख्य अर्थ होता है; यही उसका संक्षिप्त वर्णन है । प्रियता सुखस्वरूप होनेपर भी प्रिय वस्तुके प्रति अभिलाष और प्रिय वस्तुकी अनुभूति इसमें विद्यमान रहती है, इस कारण यह, केवल सुखरूप जो ज्ञान या मनोवृत्तिविशेष है, वह होनेपर भी इसमें विशेषता रहती है । यहाँपर एक और भी ध्यान देनेकी बात है कि सुखके विपरीत दुःख होता है और प्रियताके विपरीत द्वेष होता है । चूँकि सुख केवल उल्लासस्वरूप होता है, उसी कारणसे उसका आश्रय ही प्रसिद्ध है, उसका विषय अन्य कोई वस्तु नहीं होती । इसी तरह सुखके विरुद्ध जो दुःख है, उसका भी आश्रय विद्यमान है, अन्य कोई वस्तु उसका विषय नहीं है । परन्तु प्रियता आनुकूल्यात्मक अभिलाषास्वरूप होती है; इस कारण इसके आश्रय और विषय दोनों ही विद्यमान रहते हैं । इसी तरह इस प्रियताके विरुद्ध जो प्रतिकूलता या द्वेष है, उसके भी आश्रय और विषय दोनों ही विद्यमान हैं । पुण्यात्मा जीव सुखका आश्रय होता है और पापात्मा जीव दुःखका आश्रय होता है । इसी तरह आनन्दका अनुभव करनेवाला प्रियताका आश्रय होता है और विद्वेषी द्वेषका आश्रय होता है; जो वस्तु प्रिय है वह प्रियताका विषय होती है एवं जिसके प्रति द्वेष उत्पन्न होता है वह द्वेषका विषय माना जाता है ।

श्रीजीव गोस्वामिपादकी इस प्रकारकी उक्तिके द्वारा यही सिद्ध होता है कि प्रीतिरूपा भक्ति अभिलाष और

उल्लासमय ज्ञानविशेष होनेके कारण वह श्रवणादिजन्य निर्विशेष ब्रह्मज्ञानकी चरमावस्था अथवा निर्गुण ब्रह्मकी अपरोक्षानुभूतिमात्र नहीं मानी जा सकती।

परम भक्त श्रीप्रह्लादने भी श्रीभगवान्‌का साक्षात्कार लाभ करके मुक्ति अथवा निर्वाणके लिये प्रार्थना नहीं की, बल्कि उन्होंने यही कहा कि—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

(विष्णुपुराण)

'विवेकशून्य सांसारिक जीवोंकी स्त्री, पुत्र, धन और ऐश्वर्य आदि विषयोंमें जैसी निरन्तर प्रीति रहती है, हे भगवन्! आपके स्मरणके फलस्वरूप (आपके प्रति) वैसी ही प्रीति मेरे हृदयसे कभी दूर न हो।'

यह प्रीतिलक्षणा भक्ति किसी प्रकारके पुरुषार्थका साधन नहीं, वरं यही चरम पुरुषार्थ है। और यह मुक्तिकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, यह बात भी साक्षात् श्रीमद्भागवतमें ही कही गयी है। यथा—

अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।

(श्रीमद्भा० ३। २४। ३१)

अहैतुकी अर्थात् प्रीतिरूपा भगवद्भक्ति सिद्धि (अर्थात् ज्ञान और मुक्ति) से भी श्रेष्ठ है। इस श्लोककी व्याख्या करते समय टीकाकार श्रीधर स्वामीने कहा है—'सिद्धेर्मुक्तेरपि' (सिद्धि अर्थात् मुक्तिसे भी)। श्रीभगवन्नाम-कौमुदीमें भी लिखा है—'सिद्धेर्ज्ञानात् मुक्तेर्वा' (अर्थात् सिद्धि शब्दके अर्थ ज्ञान अथवा मुक्ति दोनोंसे ही भक्ति श्रेष्ठ है।)

निर्गुण ब्रह्मवादियोंके मतसे मुक्तिमें अहंभावका लय हो जाता है, किन्तु भक्तिवादी आचार्योंका कहना है कि अहंभावका विनाश यदि मुक्ति है तब तो आत्मविनाश और मुक्ति एक ही चीज हो जाती है। इस कारण वह किसी भी विवेकी पुरुषके लिये स्पृहणीय नहीं हो सकती। दूसरी ओर यह भगवत्प्रीतिरूपा भक्ति उसी अपूर्ण अहंमर्यको, निरन्तर श्रीभगवत्स्वरूपकी आनन्दमय स्फूर्तिका सम्पादन करके पूर्ण बना देती है, इसी कारण अध्यात्म-शास्त्र निःसङ्कोचभावसे कहते हैं—

निरहं यत्र चित्सत्ता तुर्या मुक्तिरिति स्मृता।
पूर्णाहन्तामयी सैव भक्तिरित्यभिधीयते॥

(उद्धृत षट्सन्दर्भमें जीव गोस्वामिद्वारा)

'अहंभावसे रहित होनेपर चैतन्य सत्ताको तुरीय मुक्ति कहते हैं, वही चैतन्य सत्ता यदि परिपूर्ण अहंभावसे युक्त हो जाती है तभी वह (भगवत्प्रेमरूपा) भक्तिरूपा हो जाती है।'

यह प्रेमा भक्ति या अहैतुकी भगवद्भक्ति ही मानव-जन्मको सब प्रकारसे सफल बनाती है। 'पूर्णाहन्तामयी' विशेषण इस बातको विशेषरूपसे सूचित करता है। ऐसा कहनेका कारण यह है कि सब प्रकारके प्राणियोंकी सब प्रकारकी देहोंकी अपेक्षा मानवदेहका समुत्कर्ष अथवा मुख्य प्रयोजन क्या है, यह श्रीमद्भागवतके निम्नोद्धृत श्लोकमें अत्यन्त सुन्दर रूपमें वर्णित है—

सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावबोधधिषण मुदमाप देवः॥

'देव—श्रीभगवान्‌ने अपनी अनादि शक्तिके द्वारा वृक्ष, सरीसृप, पशुसमूह, पक्षी, दंश और मत्स्य इत्यादि नाना प्रकारके पुर अर्थात् देहोंका निर्माण किया, किन्तु उन सब देहोंके द्वारा उन्हें सन्तोष या तृप्ति नहीं प्राप्त हुई, तब उन्होंने पुरुष अर्थात् मनुष्यदेहका निर्माण किया और उससे उन्हें तृप्ति मिली। क्योंकि मनुष्यदेहमें बुद्धि या अन्तःकरण है, उसीमें ब्रह्मसाक्षात्काररूप वृत्ति उत्पन्न होती है।'

इस श्लोककी विस्तृत व्याख्या किये बिना इसका वास्तविक तात्पर्य अच्छी तरह समझमें नहीं आवेगा; अतएव यहाँ कुछ विस्तारसे लिखा जाता है—

श्रुतिमें सृष्टि-वर्णनके प्रसङ्गमें कहा गया है—

'स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी नैव रमते, स द्वितीय-मैच्छत्।' (बृहदारण्यक उप०)

'उस परमात्माको तृप्ति नहीं मिलती थी, (कारण, वह उस समय अकेले थे) इसीलिये (देखा जाता है कि) जब कोई अकेला रहता है तब उसे तृप्ति नहीं प्राप्त होती, उन्होंने दूसरा कोई हो; ऐसी इच्छा की।' और कोई

न रहनेके कारण उन्हें अर्थात् परमात्माको आत्माराम और पूर्णकाम होनेपर भी तृप्ति नहीं होती थी, यह बात बिल्कुल असगत-सी प्रतीत हो सकती है, किन्तु वास्तवमें इसमें किसी प्रकारकी असङ्गति नहीं है, क्योंकि श्रुतिमें ही देखा जाता है कि 'रसो वै सः', वह रसस्वरूप हैं, केवल रसस्वरूप ही नहीं, वह—सब प्रकारके कल्याणमय गुणोंके एकमात्र आधार, समस्त सौन्दर्यके वही सार और समस्त माधुर्यके वही पार, वही सत्, वही चित्, वही आनन्द हैं, उन्हींके सौन्दर्यका एक कणमात्र सकल ब्रह्माण्डमें प्रविष्ट होकर चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र और ग्रहोंको प्रकाशित करता है तथा सुन्दर बनाता है; उन्हींकी महिमासे सब प्राणी महत्ताके आवेशसे आभासित होते हैं। उनके स्वरूपका वर्णन करती हुई श्रुति सङ्कोच छोड़कर कहती है—

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानां राजा तद्यथा रथनाभौ रथनेमौ च अराः सर्वे समर्पिता एवमेव अस्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः।

(बृहदारण्यक०)

'यही वह—रसस्वरूप आत्मा सब भूतोंके अधिपति, सब प्राणियोंके राजा हैं, जैसे रथकी नाभिमें और रथकी नेमिमें सब अरे अर्थात् टेढ़े-टेढ़े काठके टुकड़े समर्पित होते हैं, वैसे ही उस परमेश्वरमें—आत्मामें—सब भूत, सब देवता, सब प्राण और सब जीव समर्पित हैं।' यह परमात्मा सर्वेश्वर हैं, फिर भी इनका ईशितव्य नहीं है। यह सर्वसुन्दर हैं फिर भी इनका भोक्ता तथा भोगमें चरितार्थ होने योग्य द्रष्टा नहीं है। इससे इनका अतृप्त होना स्वाभाविक है, चन्द्रमाका सौन्दर्य क्या व्यर्थ नहीं हो जाता यदि उसे देखकर किसीकी आँखें शीतल न हों? सुगन्धित पुष्पसमूहकी सुगन्धि और सौन्दर्य क्या व्यर्थ नहीं हो जाता यदि उसका कोई भोक्ता न रहता? अतएव रसमय सर्वसुन्दरका अकेले रहकर अतृप्त होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इस अतृप्तिकी परिणति ही उनकी बहु होनेकी इच्छा है, इसीसे श्रुति कहती है—

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय।

'उन्होंने सङ्कल्प या इच्छा की कि मैं बहुत होऊँ, मैं प्रकृष्टरूपसे जन्म ग्रहण करूँ।)'

अनादि अचिन्त्य अनन्त और विचित्र जिनकी शक्ति है, उनकी इच्छा होनेके साथ ही एक अचिन्त्य घटना घटी, क्या घटी? श्रुति कहती है—

यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति। एवमेव अस्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।

(बृहदारण्यक० २।१।२०)

'जिस तरह राशीकृत प्रचण्ड दीप्यमान अग्निसे चारों ओर स्फुलिङ्ग निकलते हैं, उसी तरह (अपने सौन्दर्य, अपने माधुर्य, अपनी महिमा और अपनी विभूतिको अपनेसे अलग करके अच्छी तरह देखनेकी इच्छा होते ही) उस परमात्मासे सब प्राण (अर्थात् मुख्य प्राण और इन्द्रियसमूह), भूरादि भोग्य वस्तुसमूह, सब देवता और ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त सब प्राणी उत्पन्न हुए।'

श्रुति-वर्णित इस सृष्टिप्रक्रियाके अनुसार श्रीमद्भागवतमें उक्त श्लोककी रचना हुई है। उक्त श्लोकका निगूढ़ तात्पर्य यही है कि रसरूप, आनन्दमय, चैतन्यस्वरूप, लीलानिरत, सर्वशक्तिमान् एक अद्वितीय परमात्माकी अपरोक्ष अनुभूति ही मानव-जीवनकी परम सफलता है। इस परमात्मानुभूतिके अनुकूल मनुष्यका ही अन्तःकरण है, दूसरे किसी प्राणीका नहीं है। इसी कारण अनुकूल देहके आश्रयमें आत्मदर्शन करके तृप्त होनेकी इच्छासे श्रीभगवान् मानवदेह निर्माण करके ही सन्तुष्ट हुए थे। पृथ्वीपर विशेषकर पुण्यक्षेत्र इस भारतमें मानव-जन्म पाकर मनुष्य यदि इस जन्मप्राप्तिके साफल्यकी बातको भूल जाय, और अन्य प्राणियोंकी तरह वैषयिक आनन्द प्राप्त करनेके लिये संसारमें भटकता रहे,—धनके लिये, रमणीके लिये, ऐश्वर्यके लिये, यशके लिये उन्मत्त होकर, काम, क्रोध और मोहके वशीभूत होकर, व्यष्टिभावसे या समष्टिभावसे जगत्में युद्ध, कलह और अशान्तिका निरन्तर प्रवाह उत्पन्न करता रहे, तो यह समझना चाहिये कि उसका मनुष्यजन्म सर्वथा विफल हो गया। यही है भारतीय सभ्यता या सनातन हिन्दूधर्मका सारात्सार उपदेश, यही है सनातन हिन्दूसभ्यताकी शाश्वत सुदृढ भित्ति, इसी भित्तिके ऊपर कर्म, ज्ञान और भक्ति यह त्रिविध साधनरूप चतुर्वर्गफलप्रद महाप्रासाद निर्मित हुआ है। इसे प्रत्येक सनातनधर्मी हिन्दूको सर्वदा ध्यानमें रखना चाहिये। यही है 'सृष्ट्वा पुराणि' इत्यादि भागवतोक्त श्लोकका निगूढ़ तात्पर्य।

इस प्रेमरूपा भक्तिके फल और स्वरूप-निर्णयके प्रसङ्गमें श्रीरूप गोस्वामिपादने जो कहा है वह भी यहाँ सर्वथा ध्यान देने योग्य है। उन्होंने कहा है—

क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षिणी च सा॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

'यह पराभक्ति क्लेशघ्नी, शुभदा, मोक्षलघुताकृत्, सुदुर्लभा, सान्द्रानन्दविशेषरूपा और श्रीकृष्णाकर्षिणी होती है।'

(१) क्लेशघ्नी—अर्थात् इस भक्तिके उत्पन्न होनेपर सब प्रकारके क्लेश नष्ट हो जाते हैं।

क्लेश शब्दका अर्थ है—

क्लेशास्तु पापं तद्बीजमविद्या चेति ते त्रिधा।

'पाप, पापका बीज और अविद्या—ये तीन प्रकारके क्लेश होते हैं।'

अप्रारब्धं भवेत् पापं प्रारब्धं चेति तद् द्विधा।

'पाप दो प्रकारका है—अप्रारब्ध और प्रारब्ध।' भक्ति इन दोनों प्रकारके पापोंका नाश करती है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

यथाग्निः सुसमिद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः॥

श्रीभगवान् भक्तश्रेष्ठ उद्धवसे कहते हैं—'हे उद्धव! जिस तरह सुप्रदीप्त अग्नि काष्ठसमूहको भस्मसात् कर देती है, उसी तरह मद्विषया प्रेमरूपा भक्ति सब प्रकारके पापोंका विनाश कर देती है।' अर्थात् यह केवल सञ्चित और क्रियमाणरूप अप्रारब्ध पापको ही विनष्ट करती है, सो बात नहीं, यह प्रारब्ध कर्मको भी नष्ट करती है। श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धमें कहा गया है—

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्त्तनाद्
यत्प्रह्वणाद् यच्छ्रवणादपि क्वचित्।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात्॥

देवहूति श्रीभगवदवतार कपिलदेवसे कहती हैं, (भक्तियुक्त होकर) जिनका नाम सुनने और निरन्तर कीर्तन करनेसे, जिनको प्रणाम करने तथा कभी भी स्मरण करनेसे चाण्डाल प्रभृति अन्त्यज जातिके लोग भी सद्यः यज्ञानुष्ठान करनेके योग्य हो जाते हैं, हे भगवन्! उन आपके साक्षात् दर्शनसे जो लाभ होता है, उसके विषयमें और अधिक क्या कहा जा सकता है?

इस श्लोकमें, हरिभक्ति प्रारब्ध कर्मको भी विनष्ट कर देती है, यह बात 'चाण्डाल भी भक्तिके प्रभावसे सद्यः अर्थात् वर्तमान जन्ममें ही यज्ञादि कर्म करनेके योग्य हो जाता है'—इस वाक्यके द्वारा स्पष्ट ही कही गयी है। कारण—

दुर्जातिरेव सवनायोग्यत्वे कारणं मतम्।
दुर्जात्यारम्भकं पापं यत् स्याद् प्रारब्धमेव तत्॥

'चाण्डालादिका यज्ञादि कर्ममें जो अनधिकार है, उसका कारण है उनकी दुर्जाति, उस दुर्जातिका आरम्भक जो पाप है, वह प्रारब्ध कर्म ही होता है।' पद्मपुराणमें भी यही बात कही गयी है—

अप्रारब्धफलं पापं कूटं बीजं फलोन्मुखम्।
क्रमेणैव प्रलीयेत हरिभक्तिरतात्मनाम्॥

'जो लोग हरिभक्तिमें अनन्यभावसे अनुरक्त हो जाते हैं, उनके अप्रारब्धफल, कूट, बीज और फलोन्मुख—ये चारों प्रकारके पाप क्रमशः विनाशको प्राप्त हो जाते हैं।'

यह भक्ति ही अविद्याको भी नष्ट करती है। इसमें भी प्रमाण इस प्रकार है—

कृतानुयात्रा विद्याभिर्हरिभक्तिरनुत्तमा।
अविद्यां निर्दहत्याशु दावज्वालेव पन्नगीम्॥

(पद्मपुराण)

'दावानलकी शिखा जिस प्रकार सर्पिणीको दग्ध कर डालती है, उसी प्रकार समस्त विद्याके साथ अनुगम्यमान होकर यह अत्युत्तमा हरिभक्ति तुरन्त अविद्याको भी दग्ध कर डालती है।'

(२) शुभदा—

शुभ शब्दका अर्थ है—

शुभानि प्रीणनं सर्वजगतामनुरक्तता।
सद्गुणा सुखमित्यादीन्याख्यातानि मनीषिभिः॥

'सब प्राणियोंके प्रति प्रीति, सबका अनुराग, सद्गुण एवं सुख इत्यादि इस शुभ शब्दका अर्थ है।' पद्मपुराणमें लिखा है—

येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि।
रमन्ति जन्तवस्तत्र जङ्गमाः स्थावरा अपि॥

जो व्यक्ति श्रीहरिकी अर्चना करते हैं, वे समूचे जगत्‌को परितृप्त करते हैं, अधिक तो क्या, स्थावर और जङ्गम समस्त प्राणी उनके प्रति अनुरक्त हो जाते हैं।

भक्ति सब प्रकारके सद्‌गुण प्रदान करती है, यह श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्‌गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—'हे महाराज! भगवान् श्रीकृष्णके प्रति जिनकी अकिञ्चना अर्थात् निष्काम प्रीतिलक्षणा भक्ति होती है, उनमें वशीभूत होकर सब गुणोंके साथ देवता वास करते हैं, और श्रीहरिमें जिसकी भक्ति नहीं है, वह बहिर्जगत्‌में मिथ्या वस्तुओंके प्रति आसक्त होकर दौड़ा फिरता है, इस कारण उसमें सद्‌गुण कैसे रहेंगे?'

सुख तीन प्रकारका है—

सुखं वैषयिकं ब्राह्ममैश्वरञ्चेति तत्त्रिधा॥

'वैषयिक, ब्राह्म और ऐश्वर भेदसे सुख तीन प्रकारका कहा गया है।'

तन्त्रशास्त्रमें कहा है—

सिद्धयः परमाश्चर्या भुक्तिर्मुक्तिश्च शाश्वती।
नित्यञ्च परमानन्दो भवेद् गोविन्दभक्तितः॥

'जिस व्यक्तिकी भक्ति श्रीगोविन्दचरणमें हो गयी है, उसे अणिमादि आश्चर्यजनक सिद्धियाँ, वैषयिक सुखभोग, नित्य परमानन्दस्वरूप ऐश्वरिक सुख तथा सर्वदुःखनिवृत्तिरूप मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है।'

(३) हरिभक्ति मोक्षको तुच्छ कर देती है—

मनागेव प्ररूढायां हृदये भगवद्रतौ।
पुरुषार्थास्तु चत्वारस्तृणायन्ते समन्तत॥

'हृदयमें श्रीभगवान्‌के प्रति अनुराग अङ्कुरित होते ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ चारों ओरसे तृणके समान तुच्छ हो जाते हैं।'

यही नारदपाञ्चरात्रमें भी कहा गया है—

हरिभक्तिमहादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः।
मुक्तयश्चादभुताश्चापि सेविकावदनुद्रुताः॥

'जिस तरह दासियाँ सम्मानपूर्वक सर्वदा महारानीके पीछे-पीछे चलती हैं, उसी तरह मुक्ति-मुक्ति आदि अद्‌भुत सिद्धियाँ भी हरिभक्ति महादेवीका अनुसरण करती हैं।'

(४) भक्ति सुदुर्लभा है। यथा—

साधनौघैरनासङ्गैरलभ्या सुचिराद्‌पि।
हरिणा चाश्वदेयेति द्विधा सा स्याद् सुदुर्लभा॥

'भक्तिके साधनोंका अनुष्ठान यदि प्रीतिपूर्वक न किया जाय तो बहुत समयतक अनुष्ठान करनेपर भी भक्ति उदय नहीं होती। और श्रीहरि भी इस भक्तिको देना नहीं चाहते, इस कारण इसका दुर्लभत्व दो प्रकारका होता है।'

पहले प्रकारका सुदुर्लभत्व—

ज्ञानतः सुलभा मुक्तिर्भुक्तिर्यज्ञादिपुण्यतः।
सेयं साधनसाहस्रैर्हरिभक्तिः सुदुर्लभा॥

(भक्तिरसामृतसिन्धूद्धृततन्त्रवचनम्)

'ज्ञान होनेपर मुक्ति अनायास प्राप्त होती है और यज्ञादि कर्मजनित पुण्योंके द्वारा नाना प्रकारकी भुक्ति (भोग) भी सुलभ हो जाती है। किन्तु यह प्रेमरूपा हरिभक्ति हजारों साधनोंका अनुष्ठान करनेपर भी सुलभ नहीं होती।'

दूसरे प्रकारका सुदुर्लभत्व श्रीमद्भागवतमें कहा है।

राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां
दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः।
अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—'हे राजन्! भगवान् मुकुन्द तुम लोगोंके और यादवोंके पति (अर्थात् पालक), गुरु (उपदेशक), प्रिय एवं कुलपति हैं, अधिक क्या, तुम लोगोंके आज्ञाकारी होकर उन्होंने तुम लोगोंके दौत्यादि किङ्करके कार्य भी किये। यह सब सत्य है, किन्तु उनका यह स्वभाव ही है कि वह प्रायः भजन करनेवालोंको मुक्ति ही देते हैं, शीघ्र अपना भक्तियोग नहीं प्रदान करते।'

(६) भक्ति सान्द्रानन्दविशेषात्मा है। यथा—

ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः।
नैति भक्तिसुधाम्भोधिपरमाणुतुलामपि॥

'यदि ब्रह्मानन्दको परार्द्ध सख्याद्वारा गुणा किया जाय तो वह ब्रह्मानन्दरूप सुख भी भक्तिसुखसागरके एक परमाणुके बराबर भी नहीं होता।'

(७) भक्ति श्रीकृष्णाकर्षिणी है। यथा—

कृत्वा हरिं प्रेमभाजं प्रियवर्गसमन्वितम्।
भक्तिर्वशीकरोतीति श्रीकृष्णाकर्षिणी मता॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

'वह प्रेमलक्षणा भक्ति प्रियवर्ग (अर्थात् भक्तवृन्द) के साथ श्रीकृष्णको प्रेमपात्र बनाकर वशीभूत कर लेती है।'

साक्षात् श्रीभगवान्‌ने उद्धवको भी यही सुनाया है—

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥

'हे उद्धव! जिस तरह मद्विषयक प्रबला भक्ति मुझे वशीभूत करती है, उस तरह योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग—कुछ भी मुझे वशीभूत नहीं कर सकते।'

यही है गौडीय वैष्णवाचार्योंद्वारा मानी हुई प्रेमलक्षणा भक्तिका या भक्तियोगका संक्षिप्त परिचय। इस प्रेमलक्षणा भक्तिके विभाग-विस्तारका परिचय अत्यन्त विस्तृत है, इसी कारण इस परिमित प्रबन्धमें उसका उल्लेख नहीं किया गया। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसी भक्तिका प्राधान्य है, यह 'भक्त्या मामभिजानाति' इत्यादि पूर्वोक्त श्लोकोंद्वारा प्रतिपादित होता है। यही है श्रीचैतन्यदेवके मतानुयायी गौडीय वैष्णवाचार्योंका सिद्धान्त।

गीताका योग

(लेखक—श्रीमतिलाल राय)

बात लाखों प्रमाणों तथा अनुभूतिकी सहायतासे निश्चित हो चुकी है उसे अस्वीकार कर नये सिरेसे नया अनुसन्धान करना साहसका काम तो कहा जा सकता है; पर हम लोगोंकी आयु बहुत थोड़ी है, चारों ओर घूम-फिरकर यदि उसी सनातन प्राप्त वस्तुको अन्तमें सबको स्वीकार कर लेना पड़ेगा तब तो जीवकी इतनी सब चेष्टाएँ एक प्रकारसे व्यर्थ ही हुईं। वस्तु प्राप्त करनेकी चेष्टा और प्राप्त वस्तुका आश्रय लेकर जीवनकी अभिव्यक्ति—इन दोनोंमें समयका सद्व्यवहार कहाँ अधिक होता है, इसे कहनेकी आवश्यकता नहीं। किन्तु दुर्भाग्य है हम लोगोंका—यदि सरल मार्गसे ही हम अभीष्ट वस्तु पा जायँ तो फिर आज तेलीके बैलकी तरह घानीमें क्यों चक्कर काटे? यह अन्धत्व और गर्दनपर जो पराधीनताका जुआ है—ये दोनों हमारे समष्टि जीवनकी अवस्थाका दिग्दर्शन कराते हैं। सात समुद्र, तेरह नदी पार करके जिस तरह हमारे ऊपर एक अन्य जाति शासन करती है, उसी तरह इन सात समुद्र, तेरह नदियोंका जल पीकर हम लोगोंको अपनी वस्तु प्राप्त करनी होगी—आज हम लोग अपने गड़हीके जलमें ही डूब रहे हैं।

गीता, उपनिषद्, वेद, वेदान्त, तन्त्र, पुराण इन सबको हम लोगोंने रद्द कर दिया था। उस दिन एक विद्वान् सज्जनने मुझसे कहा—'क्या आप उडरफसाहबके महानिर्वाणतन्त्रका अनुवाद कर सकते हैं?' मैंने विस्मित होकर उत्तर दिया—'वह तो महानिर्वाणतन्त्रका हूबहू अनुवाद है।' उन्होंने बड़े आश्चर्यके साथ कहा—'सचमुच?' इसीसे मालूम होता है कि आजकल हम लोग दुनियाको खाक छानकर तब अपना घर पहचानते हैं। सौभाग्यशाली पुरुष वही है जिसने उसे पहचान लिया है। हाथ घुमाकर नाक पकड़नेका अभ्यास करते-करते हमारी अवस्था ऐसी हो गयी है कि 'नाक दिखाओ' कहनेपर हम यन्त्रकी तरह हाथ चारों ओर घुमाकर नाकपर रखते हैं; परन्तु नाक वस्तु क्या है, यह मानो भूल गये हैं। लोग यह सुनकर हँसेंगे, पर वास्तवमें अवस्था ऐसी ही हो गयी है। 'डागमैटिक' हो गया है गाली। पर सनातन सिद्धान्तको आत्मज्ञानी कैसे छोड़े? और इस छोड़नेके सम्मोहन-मन्त्रसे विमूढ़ होनेके कारण ही तो हमारी जाति नष्ट हो गयी है। पुराणमें वर्णन है—एक दैत्य निष्ठाके साथ वैदिक आचरण करता था, जिससे उसके ऐश्वर्य और प्रभावकी सीमा नहीं थी, किन्तु देवताओंकी मायासे उसने दिव्याचारके बदले भिन्नाचार ग्रहण कर लिया और इससे वह हतवीर्य हो गया। भारतका मेरुदण्ड टूट गया है आत्मधर्मके प्रति आस्थाहीन होनेके कारण। ऐसा क्यों हुआ, इसका विचार करना आजका विषय नहीं; अतएव इसे ईश्वरका विधानमात्र मानकर मैं अब मूल प्रसङ्गपर आता हूँ।

श्रुतिमें एक कथा है—'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।' देवकी अर्थात् स्वयप्रकाश आत्माकी शक्ति निजगुणमें गुप्त है। गुणसे मतलब है—सत्त्व, रज, तम—प्रकृति इसी कारण गुणमयी है। सृष्टिके आदिमे इस प्रकृतिके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुके अस्तित्वका निश्चय करना सम्भव नहीं, तथा भारतके ज्ञान-विज्ञानकी साधना इस प्रकृति-तत्त्वका आश्रय करके ही सिद्ध हुई है,—तन्त्रादि प्रकृतिको मूलमें रखकर बने ही हैं। वेदान्तकी साधनामें प्रकृतिके ऊपर पुरुषके अस्तित्वका अनुभव करनेकी युक्ति है, वह युक्ति कहाँतक अनुभवगम्य हुई है, यह विचारणीय है। परन्तु साधन नामसे शक्तिकी साधना ही इस देशमें प्रसिद्ध हुई है।

तीनों गुणोंकी साम्यावस्थामें सृष्टि स्तब्ध, विमूढ रहती है, यह कोई नयी बात नहीं। विषमता ही चाञ्चल्य एवं गतिका लक्षण है—इसीसे जगत्की सृष्टि हुई है। प्रकृति ही शक्ति है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि किसकी शक्ति है, किसलिये है? इसी कारण प्रकृतिके पीछे भी किसी तत्त्वके अस्तित्वका अनुमान करना पड़ता है; यह अनुमान-लब्ध वस्तु प्रत्यक्ष नहीं है, प्रमाण-सिद्ध नहीं है। जो कुछ प्रत्यक्ष प्रमाणसिद्ध है, वह नश्वर, अस्थिर है—इसी कारण जो आँखोंसे अगोचर है, उसकी व्याख्या हमने सर्वगत, स्थाणु, अचल आदि अनेक नामोंके द्वारा की है, उसे इस समय आलोचनासे अलग रखकर जहाँतक सम्भव होगा, मैं अपने विषयपर अग्रसर होनेकी चेष्टा करूँगा। हम लोग गुणभेदसे प्रकाशभेद देख सकते हैं। सत्त्वगुण ज्ञान प्रकट करता है, अहवस्तुकी स्वच्छता उससे प्रस्फुटित होती है, 'अहमज्ञो मामह न जानामि' इस प्रकारकी चेतना उत्पन्न होती है। इस चेतनासे ही देह है। देहसे प्राण भिन्न है। प्राणसे मन, मनसे बुद्धि इत्यादि भिन्न हैं। 'अहम्' और 'इदम्' भेद-ज्ञान पैदा करते हैं। प्रश्न उत्पन्न होनेपर मीमांसाकी वाणी भी उच्चारित होती है। अह-वृत्ति ही विज्ञान है, इदं-वृत्ति ही मन है। हमारा अन्तःकरण दो भागोंमें विभक्त है—मनको घेरकर जो चेतना-जगत् है उसे 'इदम्' कहते हैं, और चिद्घन चेतनाका जो दूसरा अंश है, उसे 'अहम्' कहते हैं। जो नित्य शाश्वत है, वह आत्मा नामसे प्रसिद्ध है, विशुद्ध सत्त्वगुणके प्रभावसे इस प्रकार आत्मप्रकाश विश्लेषित होता है। इस सत्त्वगुणके आधिक्यके कारण ही प्रकृतिसे महत्-तत्त्वकी सृष्टि होती है।

सृष्टिकी बात स्थूलरूपसे समझे बिना योगकी बात स्पष्ट समझमें नहीं आती, अतएव सूचनाके लिये सक्षेपमें सृष्टिरहस्यका सूत्र बतलाया जा रहा है। प्रकृतिसे महत् उत्पन्न हुआ। महत् देशकालसे अनवच्छिन्न होनेके कारण सर्वव्यापी है। गीताके शब्दोंमें—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥

महत्-रूप ब्रह्मयोनिमें जगद्विस्तारके लिये गर्भाधान-स्थान निरूपित होनेपर वह अनिर्देश्य पुरुष स्वय चिदाभास-रूपमें अपनेको उसमे नियोग करते हैं और उससे सर्व-भूतोंकी उत्पत्ति होती है। प्रकृतिसे महत् और फिर एकके बाद एक सब तत्त्वोंकी सृष्टि होती है। प्रकृति ही सृष्टि करती है, इसलिये इसको ईश्वर नामक वस्तुका कारण-शरीर कहा गया है। सत्त्वका प्रकाश-गुण, रजका शक्ति-गुण और तमका आवरण-गुण, ये त्रिगुण मिलकर सृष्टिके पर्याय बन गये हैं। पर्यायभेदसे माया और अविद्यारूपमें यह द्विविध है। समष्टिशरीराभिमानी जो चैतन्यवृत्ति है, वह माया है; इसीको हिन्दूशास्त्रोंने ईश्वर या हिरण्यगर्भ नाम प्रदान किया है। और मिश्रित गुणके सहयोगसे जो विचित्र, जड़वत् सृष्टि है, उसका व्यष्टिसिद्ध शरीराभिमानी जीव या तैजस नामसे वर्णन किया गया है। मूल माया गुणोंके आश्रयसे आठ प्रकारकी है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

—भूमि प्रभृतिसे पञ्चगन्धादि तन्मात्राओंका समन्वय समझना चाहिये, मन, उसका कारण अहकार, बुद्धि, उसका कारण महत्-तत्त्व, अहंकार, उसका कारण अविद्या। इनके साथ सोलह प्रकारके विकार मिलकर चौबीस तत्त्व-सयुक्त इस विश्वकी सृष्टि हुई है। सीधे तौरपर यदि यह बात कही जाय, एक-एक करके प्रकृतिसे तत्त्व और उनकी विकृति बतलायी जाय तो इस प्रकार होगा—प्रकृतिसे महत्, महत्से बुद्धि, बुद्धिसे अहंकार, क्षिति, जल, तेज, वायु, आकाश, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, चक्षु, नासिका, जिह्वा, कर्ण, त्वचा, हाथ, पैर, मुँह, पायु और उपस्थ।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

यह अलौकिक गुणमयी भगवान्की माया बड़ी दुस्तर है, किन्तु फिर भी यदि भगवान्के प्रति अव्यभिचारिणी भक्ति

उत्पन्न हो तो इस दुस्तर माया-सागरको पार करके जीव आत्मस्वरूपको प्राप्त कर सकता है, और वही पथ भारतका सनातन योग-धर्म है। जीवकी तीन अवस्थाएँ हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। किन्तु ज्ञान अद्वैत है। अविद्या तत्त्वाश्रित है। तत्त्वातीत चैतन्य ही ज्ञान है—यह ज्ञान विश्लेषण करनेकी वस्तु नहीं, अविद्या दूर होनेपर ही मिलता है, और ज्ञानका प्रकाश होनेपर ही जीवकी मुक्ति होती है। ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सबसे पहले वस्तु-विश्लेषणकी आवश्यकता है। वस्तुसे मतलब है तत्त्व-वस्तुसे, तत्त्वकी विकृति जो पञ्चभूत हैं, उनकी गुणसमष्टि अन्तःकरण है। अन्तःकरणको हम दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं, एक भाग मन और दूसरा बुद्धि। मनकी वृत्ति सशयात्मिका है, बुद्धि निश्चयात्मिका वृत्ति है। इस बुद्धि-योगसे ही योगका सूत्र आरम्भ हुआ है।

साधनाके आरम्भमें देहशुद्धिकी आवश्यकता है। देहकी शुद्धि वैदिक आचारका त्याग करनेसे नहीं होती। भाषा और ढंग चाहे जो हो, कार्यतः उस शम-दम आदि सब प्रकारकी साधनाओंकी जरूरत होती है। बाहरके शौचाचारके साथ अन्तःशुद्धिका अङ्गाङ्गी सम्बन्ध है। अन्तःकरण स्तब्ध होनेपर सर्वांग स्थिर होता है, और सिद्धासनपर शरीरको बलात् अचल करके रखनेपर अन्तः-करण भी स्थिर होने लगता है। सब एक सूत्रमें बँधी हुई चीजें हैं, कोई किसीसे पृथक् नहीं, किन्तु बाहरकी साधनासे आत्मस्वरूपका पता नहीं मिलता, उससे स्वरूपका बोध मात्र होता है, किन्तु बोध होना ही प्राप्ति नहीं है—इसलिये बुद्धियोग साधनाकी आरम्भिक चीज होनेपर भी साधकको इसके ऊपर उठकर खड़ा होना पड़ता है। सब छोड़कर ही साधनाका आरम्भ किया जाता है, किन्तु छोड़नेवाली वस्तुका निर्णय हुए बिना छोड़ा क्या जायगा? इसीलिये तत्त्व-विश्लेषणकी आवश्यकता होती है। इसीसे गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनसे योगकी बात कहनेकी उपक्रमणिकामें सांख्ययोगकी बात सबसे पहले कही है, किन्तु उससे साधकके मनको सन्तोष नहीं होता। असल चीज तो गड़बड़झालेमें ही रह जाती है। अविद्यासे मुक्ति प्राप्त करनेको ही हिन्दू-शास्त्रोंमें मोक्ष कहा गया है। साधना करनेसे आत्मा देहसे पृथक् है, यह ज्ञान पैदा होता है। यह केवल शुद्धिग्राह्य है। मोक्षका अभिप्राय है कि उस स्थितिमें देहज्ञानके लोपके साथ-साथ सब प्रकारके ज्ञानका लोप सिद्ध हो जाता है। इसीसे गीताके दूसरे अध्यायमें मोक्ष-साधनकी बात कहते-कहते जब श्रीकृष्णने यह कहा—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥

तब अर्जुनने विस्मित होकर सोचा—मोक्षसाधन धर्मका उपदेश देते-देते भगवान् किस कारणसे हिंसात्मक कर्मको विहित बतलाने लगे! उन्हें कर्मकी प्रशंसा करके उपसंहारमें ब्रह्मज्ञाननिष्ठाके प्रशंसावादमें वक्तव्य समाप्त करते हुए देखकर अर्जुनके सशयात्मक मनने स्वभावतः प्रश्न किया—

ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥

अर्जुनने भगवान्‌को 'जनार्दन' शब्दसे सम्बोधित किया। अर्द् धातुका अर्थ है वध करना; समुद्रके अन्दर रहनेवाले जन नामक असुरका उन्होंने वध किया था; इसका असल अर्थ है—जनं जन्म अर्दयति हन्ति, जो भक्तको मुक्ति देनेवाले हैं वह हैं जनार्दन। हमारा जन्म और जन्ममूलक कारण अशुद्ध है, इसी कारण जन्म होते ही सस्कार और वासना विक्षुब्ध होकर इस बातकी विस्मृति पैदा कर देते हैं कि हम अमृतके पुत्र हैं, हम भागवत-ज्ञानविहीन कीड़ेकी भाँति जीवन धारण करते हैं। इसीलिये जो अयाचित करुणावश जन्म और जन्ममूलक कारणगत अशुद्धि दूर करके हमें दिव्य जन्म प्रदान करते हैं, उन्हें हम जनार्दन नहीं कहेंगे तो और क्या कहेंगे? अर्जुनने श्रीकृष्णके कथनका मर्म नहीं समझा, इसीसे सोचा कि कर्मसे ज्ञान श्रेष्ठ है—और भगवान् अपना यह मत प्रकट कर चुके, किन्तु पुनः हिंसात्मक कर्ममें प्रवृत्त करते हैं—तो क्या घटनाक्रमसे यह अनिवार्य हो उठा है जो इस प्रकार मिश्रित उपदेश-वाक्योंका प्रयोग कर रहे हैं? मनुष्यकी क्षुद्र बुद्धि जबतक बृहत्‌के साथ संयोग नहीं प्राप्त कर लेती तबतक वह ऊपरके निर्देशको अपने सस्कारसे मिलाकर स्थिर करता है। और उसके अनुसार ही जीवन नियन्त्रित करनेके लिये अग्रसर होता है—यही धर्म हमारा सनातनधर्म है। इसके अतिरिक्त, भारतकी मनोवृत्तिने बहुत दिनोंसे शास्त्रादिका अर्थ जिस रूपमें ग्रहण करना आरम्भ किया है, अर्जुन उसके प्रभावसे भी मुक्त नहीं थे। 'कर्म जीवनका बन्धन है,' 'कर्म वासनाका जाल बुनकर

जीवके मोक्षका मार्ग रोक देता है'—यह परम्परासे प्रचारित होता आ रहा है, इसी कारण श्रीकृष्णचन्द्रने जब मोक्ष-साधनके अनुकूल शास्त्र-निर्देशित चिरप्रचलित उपदेश सुनाया तब उसे समझना अर्जुनके लिये कठिन नहीं हुआ—क्योंकि यही प्रचलित धर्मोपदेश है, किन्तु उसके बाद ज्यों ही उन्होंने कहा—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता २। ३८)

—त्यों ही अर्जुनके सिरपर मानो वज्रपात-सा हो गया। कर्म करनेपर यदि पाप नहीं होता तब फिर जीवके भव-बन्धनका और क्या कारण है? कर्मबन्धनके भयसे ही तो भारतके तत्त्वज्ञानियोंने इससे विमुख होकर ब्रह्मसमाधि प्राप्त करनेके प्रशस्त पथकी यात्रा की है। कर्म-प्रेरणाके मूलमें मनुष्यकी इच्छा वर्तमान रहती है, कोई भी कर्म वासनाके सङ्केतके बिना नहीं हो सकता। कुरुक्षेत्रके युद्धमें जो भारतके राजा उपस्थित हुए थे, उनका उद्देश्य अपनी स्वार्थरक्षा करनेके सिवा और क्या हो सकता है? कामना-विसर्जनके साथ-ही-साथ कामनाओंसे दूषित हुए देह, प्राण, मन आदिका त्याग करना पड़ता है, इसी मार्गसे महात्मागण यात्रा करते हैं—श्रीकृष्णचन्द्रने इसी श्रेयः-पथका अर्जुनको उपदेश दिया। तब फिर बन्धन-सृष्टिके उपायस्वरूप 'कर्म' की प्रशंसा क्यों की? अर्जुनके मनमें प्राचीन कर्म-संस्कार दृढ होनेके कारण यह प्रश्न उनके लिये अत्यन्त स्वाभाविक था। समूची गीतामें इसी प्रश्नके उत्तरके बहाने श्रीकृष्णने एक सिद्धयोगकी घोषणा की है। यह सिद्धयोग ही आत्मसमर्पण है। भारतके वेद, वेदान्त, उपनिषद्, पुराण, तन्त्र, यहाँतक कि वस्तुविज्ञान, चार्वाक आदि नास्तिक दर्शन भी दिग्दर्शक यन्त्रके सिवा और कुछ नहीं है। भारतका कोई भी धर्मग्रन्थ साधन-विरुद्ध या आपसमें एक-दूसरेका विरोधी नहीं है; जिसे जो दिशा दिखानी थी, उसने उसी भागपर प्रकाश डाला है, सब दिशाओंको देखकर तत्त्वज्ञ पुरुष निश्चित सरल पथसे भारतका सनातनधर्म प्राप्त कर सकते हैं। हमलोगोंको स्मरण रखना चाहिये कि आर्य-योद्धा श्रीकृष्ण एक बहुत बड़े वैदान्तिक थे, उन्होंने वेदान्त और उपनिषद्के आधारपर ही भावी भारतके सामने सनातनधर्मका विराट् स्वरूप खड़ा किया है। हम आज इस राजमार्गका अनुसरण करके अबाध गतिसे अभीष्ट लक्ष्यकी ओर यात्रा कर सकते हैं। समय थोड़ा है, इसलिये हम यदि केवल साधनकी त्रिधाराको धारण करके ही भागवत संयोग प्राप्त करके धन्य हो सकते हैं तब हमें सुदीर्घ तत्त्वोंका विश्लेषण करनेकी क्या आवश्यकता है? कर्म, ज्ञान और भक्ति—त्रिमार्ग-योगके द्वारा जो साध्यस्वरूप आत्मसमर्पण-योग है, वही श्रीकृष्णकथित गीताके योगके रूपमें प्रचारित है। योग-भूमि भारतके जातीय जीवनमें यह महायोग प्रतिष्ठित हो!

प्राणप्यारे

(रचयिता—श्रीमान् महाराज राणा राजेन्द्रसिंह जू देव बहादुर "सुधाकर", झालावाड़नरेश)

चित्तको चुराते हो छुपाते हो न जाने कहाँ,
चुटकीमें अपने ही प्रेमीको उड़ाते हो।
रीत यह प्रीतकी तुम्हारी है अनोखी कैसी,
आभा-सी दिखाके कहीं जाके छुप जाते हो॥
ध्यानमग्न मैं तो हूँ, "सुधाकर" मुझे तो तुम
खाते-पीते जाते-आते सोते देख पाते हो।
बार-बार कहते हो, आता हूँ, मैं आता हूँ, पै,
कहके भी प्रानप्यारे! क्यों न पास आते हो?

गीता योगशास्त्र है

(लेखक—एक दीन)

गका यथार्थ उद्देश्य सिद्धि प्राप्त करना नहीं (सिद्धियाँ तो योगमें विघ्न हैं), बल्कि जीवात्माका श्रीपरमात्माके साथ योग अर्थात् मिलन है, अथवा यों कहें कि जिससे दोनोंका मिलन या एकता हो वह योग है। श्रीमद्भगवद्गीता परम और पूर्ण योगशास्त्र है, जिसका अन्तिम लक्ष्य श्रीपरमात्माकी प्राप्ति है। गीतामें योगकी प्रारम्भिक साधना द्वितीय अध्यायसे आरम्भ होती है और उत्तरोत्तर आगेके अध्यायोंमें भी उसीका विकास होता गया है, वे सब योगमार्गकी क्रमशः विभिन्न मंजिलें हैं। श्रीपरमात्माके स्वरूप, निवासस्थान और जीवात्मा और परमात्माके सम्बन्धका ज्ञान होना इस मार्गमें सर्वप्रथम आवश्यक है। इस मार्गकी पहली मंजिल विचार-विवेकके द्वारा प्रकृति और पुरुष अथवा आत्मा-अनात्माका ज्ञान है, जिसके कारण गीतामें सबसे पहले प्राचीन सांख्य-योगका उपदेश दिया गया है। यह सांख्ययोग निरीश्वर-वाद नहीं है। इसमें कहा गया है कि आत्मा चेतन, सनातन, अजन्मा, अमर आदि है और शरीर, जो जड़ है, वह केवल वस्त्रके समान है। यह संसार चेतन अविनाशी तत्त्वसे व्याप्त है (२। १७) और वही केवल सत्, चित्, आनन्द है। जीवात्मा उसीका अंश है और इन्द्रियोंके बाह्य भोगात्मक विषय दुःखमूलक हैं (२। १४), इनके भोगात्मक सम्बन्धसे ही दुःख प्राप्त होता है। अतएव कर्म कर्तव्य-पूर्ति और यज्ञके उद्देश्यसे योगस्थ होकर अर्थात् देव, पितृ, ऋषि, मनुष्य, पशु आदिके ऋणपरिशोधके निमित्त निष्कामभावसे, अहङ्कार और ममताको छोड़कर करना चाहिये और कर्मकी सिद्धि-असिद्धिमें समान रहना चाहिये। यही बुद्धि-योग है (२। ३९, ४७ और ४८ तथा ३। ८, ९)। सकाम कर्म बन्धनका कारण है, किन्तु कर्तव्य और यज्ञ-कर्म बन्धनका कारण नहीं। कर्मका त्याग भी कदापि न करना चाहिये (३। ८, ९)। यही सांख्ययोगके बादका कर्मयोग है।

इसके बाद ज्ञानयज्ञ अथवा ज्ञानयोग है। इसकी प्राप्तिकी योग्यताके निमित्त इन्द्रिय और प्राण-निग्रह * आवश्यक है (४। २६, २७)। तथा स्वाध्याय अर्थात् तत्त्वशास्त्रके पठन, मनन और निदिध्यासन (४। २८) की आवश्यकता है। अष्टाङ्गयोगमें ब्रह्मचर्य (इन्द्रिय-निग्रह), स्वाध्याय और प्राणायामसे भी यही तात्पर्य है। इस अवस्थामें ब्रह्मचर्यपालन मुख्य है, उसमें भी जिह्वा और जननेन्द्रियका निग्रह प्रधान है। अन्य इन्द्रियोंके विकार काम, क्रोध और लोभका त्याग भी जरूरी है (३। ३७)। इन्द्रियोंका निग्रह साङ्ख्ययोगके अभ्याससे अर्थात् अपनेको शरीर, मन, बुद्धि इत्यादि, जो जड़, अनात्मा हैं, उनसे ऊपर, पृथक् और विलक्षण चेतन आत्मा मानकर आत्मामें ही स्थिति प्राप्त करने (३। ४३) तथा विषयोंसे ध्यान हटाने (२। ६२, ६३) से सम्भव है। इसके बाद साधकको तत्त्वदर्शी ज्ञानी गुरुसे ज्ञानयोग-का उपदेश लेना चाहिये (४। ३४)। इस ज्ञानयोगका परिणाम यह होगा कि साधक यह देखेगा कि अखिल चराचर समष्टि सृष्टि चेतनमय होनेके कारण उसके चेतन आत्मासे अभिन्न है और फिर सब-के-सब परमात्मामें अभिन्न-रूपसे वर्तमान हैं। यह ज्ञान होनेके बाद फिर साधकको मोह नहीं होगा (४। ३५)। यह ज्ञानयोग कर्मयोगका साधन करके इन्द्रियनिग्रह करनेसे श्रद्धावान् पुरुषको प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं (४। ३८, ३९)। किन्तु यहाँतकका ज्ञान बुद्धिके द्वारा केवल निश्चयात्मक है, इसे विज्ञानमें परिणत करनेसे अर्थात् साक्षात् अथवा अपरोक्ष बनानेसे ही परमात्माकी प्राप्ति होती है। इस प्राप्तिमें मन मुख्य है और मन ही बाधक है। मन उभयात्मक है, यह जिसमें अनुरक्त होता है, वही भाव ग्रहण कर लेता है। वर्तमान समयमें हमारा मन बहिर्मुखी होकर इन्द्रियोंके कामात्मक विषयोंमें आसक्त हो रहा है और अज्ञानके कारण उन्हींको सुखप्राप्तिका साधन समझ रहा है, यद्यपि वे यथार्थमें परिणाममें दुःखदायी हैं। भोगकी प्राप्तिके

* प्राणायाम विधिपूर्वक बहुत थोड़ा करना चाहिये, अधिक करनेसे हानि होती है। इसी निमित्त श्रीमद्भागवत स्क० ११, अ० १४, श्लोक ३५ में तीन बार केवल दस-दस प्राणायाम करनेका उपदेश है।

लिये हिंसा, असत्य, स्तेय, अविहित काम-चेष्टा आदि की जाती है, जिससे मन कलुषित हो जाता है, फिर भी सुख-शान्ति न मिलनेके कारण वह और भी चञ्चल हो उठता है। अतएव मनका अज्ञान, तथा भोगलिप्साके कारण उत्पन्न राग-द्वेष, मलीनता और चञ्चलता दूरकर मनको पवित्र, स्थिर और शान्त बनाना आवश्यक है, जिसके बिना यह आत्मोन्मुख हो ही नहीं सकता। यह कार्य कर्म और अभ्यासयोगसे सम्पन्न होता है, जिसके लिये ज्ञानके अतिरिक्त वैराग्य और अभ्यासकी आवश्यकता है (६। ३५)। इस योगकी सिद्धिका मूलतत्त्व इस नाम-रूपात्मक संसारके नानात्वको सत्य न मानकर उसमें एक ब्रह्मको देखना और उसीके अनुसार अभ्यास करना है। इसी कारण गीतामें कर्माभ्यासयोग नामक छठें अध्यायमें श्रीभगवान्‌ने इस योगके मूलमन्त्रको इस प्रकार बतलाया है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥२९॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥३०॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥३१॥

इन वाक्योंका भाव यह है कि योगमें स्थित साधक अनन्त चेतनको सब भूतोंमें व्याप्त और सब भूतोंको उस अनन्त चेतनमें व्याप्त देखता है और सर्वत्र एकत्वकी-समान दृष्टि रखता है। श्रीभगवान् कहते हैं, जो मुझ परमात्माको सबमें व्याप्त और सबको मुझमें व्याप्त देखता है, वह न मुझसे अदृश्य है, न मैं उसके लिये अदृश्य हूँ। जो सब भूतोंमें व्याप्त मुझ एकको ही इस प्रकार सर्वत्र वर्तमान जानकर मेरा भजन अर्थात् सेवा करता है, वह व्यवहारमें रहकर भी योगी है और मुझको प्राप्त करता है। फिर श्रीभगवान् कहते हैं कि सर्वत्र परमात्मदृष्टिकी केवल भावना ही योग नहीं है, बल्कि इसको आचरणमें परिणत करना 'योग' है। ऊपरके श्लोकोंके बाद ही यह वचन है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६। ३२)

जो दूसरोंके सुख-दुःखको अपना सुख-दुःख समझता है वही परम योगी है। स्पष्ट अर्थ यह है कि जैसे हमलोग अपने सुखकी वृद्धि करना चाहते हैं, वैसे ही हमें दूसरोंके सुखकी भी वृद्धि करनेके निमित्त यत्न करना चाहिये और इसी तरह दूसरोंके सुखको भी अपना सच्चा सुख समझना चाहिये। और जिस तरह हम अपने दुःखकी निवृत्तिके लिये यत्न करते हैं, उसी तरह दूसरोंके दुःखको भी अपना दुःख मानकर उसकी निवृत्तिके लिये यथासाध्य प्रयत्न करना चाहिये और उस दुःखनिवृत्तिको अपनी ही दुःखनिवृत्ति समझनी चाहिये। यही यथार्थ योग है। इस कर्माभ्यास-योगमें कर्म-यज्ञ अर्थात् कर्मयोग सृष्टिके हितके लिये अपने स्वार्थको स्वाहाकर अर्थात् त्यागकर यज्ञपुरुष परमात्माकी सेवाकी भाँति उन्हींके निमित्त किया जाता है। दान अर्थात् परहित-कार्य और शरीर, मन तथा वाणीकी शुद्धिके लिये तपस्या भी यज्ञ-पुरुषके निमित्त ही की जाती है, क्योंकि स्वयं श्रीभगवान्‌का कथन है कि यज्ञ, जिसमें दान सम्मिलित है, और तपस्याका मैं स्वयं भोक्ता हूँ और इनके द्वारा सबका हित सम्पादन करता हूँ, जो सुहृद्‌का धर्म है (५। २९)। साधारण परोपकार और योगके परहित-सेवामें भेद यह है कि पहलेमें उपकृतको अपनेसे पृथक् समझकर उपकार किया जाता है, किन्तु योगमें उपकृतको पहले अपना ही आत्मा समझकर निष्कामभावसे उसका हितसाधन करते हैं, फिर आगे चलकर उसे श्रीपरमात्माका ही रूप मानकर श्रीपरमात्माकी सेवाकी भाँति, फलाकांक्षासे रहित होकर, निरहङ्कार-भावसे उसका हितसाधन या सेवा की जाती है। क्योंकि साधन, सामग्री और करनेकी शक्ति सब कुछ श्रीपरमात्माकी है, साधक तो केवल निमित्तमात्र है। इसी सिद्धान्तपर योगके प्रथम अङ्ग यमके अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह स्थित हैं। जब सब कुछ परमात्माका रूप ही है तब हिंसा, असत्य, स्तेय आदि दुर्व्यवहार किसीके साथ करना मानो श्रीपरमात्माके ही साथ करना है और इस कारण हिंसाका त्याग कर दूसरोंका हितसाधन करना, असत्यका त्यागकर सबके साथ सत्यका व्यवहार करना, स्तेयका त्यागकर अन्यायपूर्वक किसीकी वस्तु न लेना और परिग्रह अर्थात् दूसरोंसे दान लेना छोड़कर स्वयं दूसरोंका दान देना योगकी मुख्य साधना है। इसी प्रकार सर्वत्र परमात्मभाव रखकर व्यवहार करनेका अभ्यास करनेसे श्रीपरमात्माकी प्राप्ति सहज ही हो जाती है, जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा है—

अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥
(११।२९।१९)

इस सर्वत्र एक ब्रह्मात्मक भावका ज्ञान परिपक्व होनेसे और बाह्य नानात्वपर केवल अभ्यास माननेसे विषय-वैराग्य स्वाभाविक ही आ जायगा और यह वैराग्य ज्ञानमूलक होनेके कारण दृढ़ होगा। ऐसे वैराग्यवाले पुरुषको किसी सांसारिक पदार्थकी तृष्णा नहीं होगी। वास्तवमें तृष्णा और राग-द्वेषके कारण ही मन चञ्चल रहता है, और वैराग्यद्वारा इनकी निवृत्ति हो जानेपर मनका आत्मोन्मुख होना सम्भव हो जाता है। इसी निमित्त गीताके उसी छठे अध्यायमें आदेश है कि मनको आत्मामें स्थित करके भावनारहित कर दे और यदि मन आत्माको छोड़कर अन्यत्र जाय तो फिर वहाँसे उसे लौटाकर आत्मामें ही लगावे। सर्वत्र एकात्मभाव बना रखनेसे मनके विक्षेपको दूर करनेमें बड़ी सहायता मिलती है। जो भावना मनमें आवे, बस, उसीको आत्मा मान ले। इस तरह निरन्तर अभ्यास करनेसे मन अवश्य शान्त हो जायगा। यही अभ्यासयोग है, इसीसे मनकी चञ्चलता दूर होती है जो पातञ्जलयोगसूत्रका मुख्य ध्येय है। यहाँ भी अभ्यास और वैराग्य ही इसके साधन बतलाये गये हैं। ऊपर कथित गीताका वचन इस प्रकार है—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
(६।२५-२६)

उक्त अध्यायके १४ वें श्लोकमें योगकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता बतलायी गयी है। वास्तवमें योगके लिये ब्रह्मचर्य अत्यन्त आवश्यक है। ब्रह्मचर्य योगके प्रथम अंग यमके अन्तर्गत है। आत्मामें मनके स्थित हो जानेपर आत्माके आनन्दकी उपलब्धि होती है और यह महान् सुख इन्द्रियातीत है, केवल बुद्धिग्राह्य है (६।२१)।

केवल आत्मस्थिति, जो आधुनिक सांख्यका लक्ष्य है, हो जानेसे ही योगके लक्ष्यकी पूर्ति नहीं होती। इस आत्मानन्दको भी अतिक्रम करना चाहिये। इसलिये श्रीभगवान्‌का कथन है कि श्रेष्ठ योगी वही है जिसका मन मेरे साथ संलग्न हो (६।४७)। अतएव अब योगके मुख्य लक्ष्य श्रीभगवान्‌की प्राप्तिके लिये उनकी ओर अग्रसर होना चाहिये। मनको अपने आत्मामें लय करके अब आत्माको श्रीभगवान्‌में अर्पित कर देना चाहिये। इसी आत्मार्पणका दूसरा नाम शरणापन्न होना है। इसमें सबसे प्रथम विचारणीय विषय यह है कि श्रीभगवान्‌के कौन-से निवास और भावमें आत्मार्पण किया जा सकता है। श्रीभगवान्‌के विराट् व्यापक विश्वरूपके भावमें अर्पण करना अथवा उनके साथ एकता प्राप्त करना विच्छिन्न शरीरमें रहनेवाले जीवात्माके लिये कदापि सम्भव नहीं है। तब यह सम्भव कैसे होगा? इस जटिल समस्याको स्वयं श्रीभगवान्‌ने गीतामें ही हल कर दिया है। उन्होंने कहा है कि मैं सब भूतोंके हृदयोंमें हूँ (१३।१७; १५।१५; १८।६१)। इस हृदयस्थ ईश्वरमें ही आत्मार्पण-योग करना होगा—यह श्रीभगवान्‌ने गीतामें स्पष्ट शब्दोंमें कहा है। अध्याय १८ के श्लोक ६१ में अपना वास सब भूतोंके हृदयमें बतलाकर उसके बादके श्लोकमें कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

इसका स्पष्ट अर्थ है कि मन, वचन और शरीरसे उस हृदयस्थ ईश्वरकी शरणमें जाओ, जिसके बाद उसकी कृपा-से परम शान्ति मिलेगी और उसका जो सनातन अविचल पद है, उसकी प्राप्ति होगी। यही अन्तिम साधना भक्ति-योग है। इस योगमें पहले यह दृढ़ विश्वास होना चाहिये कि परमात्माने जीवात्माका त्राण करनेके लिये कृपा करके अपनेको हृदयमें कैदीकी भाँति बना रक्खा है, जिसमें उसको उनकी प्राप्ति हो, जो अन्यथा सम्भव नहीं था। यह श्रीभगवान्‌की असीम कृपा जीवोंके लिये है। इस कारण भी जीवात्माका श्रीभगवान्‌में स्वाभाविक प्रेम होना चाहिये। इसी निमित्त श्रीभगवान्‌का जीवात्माके साथ पिता-पुत्र, सखा और प्रेमपात्र, प्रियतम और प्रेमीका सम्बन्ध है (११।४४)। यह प्रेम-सम्बन्ध भक्तियोगमें मुख्य है। इस योगकी प्राप्ति किस आश्रयका अवलम्बन करनेसे होगी, इसका वर्णन ७ वें अध्यायमें है। वहाँपर दो प्रकृतियोंका, पञ्चभूत और अन्तःकरणचतुष्टयका अपरा जड़ प्रकृतिके रूपमें और इसके परे जो चैतन्य जीव-शक्ति है, उसका परा प्रकृतिके रूपमें वर्णन है, जिसका दूसरा नाम दैवी प्रकृति भी है।

श्रीभगवान्‌की प्राप्ति राजविद्या अर्थात् प्राचीन राजयोग-के द्वारा होती है, इसका उल्लेख गीताके ९ वें अध्यायमें

है। श्रीभगवान्‌का कथन है कि इसका फल प्रत्यक्ष है, यह अभ्यासमें सुखदायी (हठयोगके समान कष्टकर नहीं) और धर्मात्मक है (९ । २)। उक्त अध्यायके १३ वें श्लोकमें श्रीभगवान्‌ने कहा है कि महात्मागण मेरी दैवी प्रकृति (परा चैतन्य समष्टि जीव-शक्ति) का आश्रयकर मुझे प्राप्त करते हैं। इसके बाद अपनी प्राप्तिका उपाय गीताके १२ वें अध्यायमें उन्होंने बतलाया है, जो भक्तियोग है। सर्वप्रथम आवश्यकता इस बातकी है कि हृदयमें सगुण साकार भावकी उपासना की जाय, न कि अव्यक्तकी, जो क्लेशकर है। इस भक्तियोगमें श्रीभगवान्‌की दैवी प्रकृतिका आश्रय प्राप्त करना आवश्यक है, जो अपने दिव्य तेज और प्रकाशसे साधकको घोर अविद्यान्धकारसे पारकर श्रीभगवान्‌से युक्त कर देती है। इसका आश्रय पानेके लिये दैवी सम्पत्तिके गुणोंको, जिनका वर्णन गीताके १६ वें अध्यायमें १ से ३ श्लोकतक है, प्राप्त करना और आसुरी सम्पत्तिका, जिसका वर्णन उसी अध्यायमें ४, ७ और ८ श्लोकोंमें है, त्याग करना परमावश्यक है। भक्तियोगका लक्षण १२ वें अध्यायमें १३ से २० श्लोकतकमें बतलाया गया है, उसका भी होना अत्यन्त आवश्यक है। भक्तियोगका मुख्य साधन निम्न श्लोकोंमें कहा गया है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(१२ । ६ । ७)

इन श्लोकोंका भाव यह है कि जो अपने सम्पूर्ण कर्मोंको, सामारिक और पारमार्थिक दोनों, श्रीभगवान्‌के कर्म समझकर उनके निमित्त अहङ्कार, ममता और फल-कामनाका त्यागकर, करता है, उनमें अनुरक्त रहता है और अपने मनमें श्रीभगवान् और उनके सम्बन्धके सिवा दूसरी कोई भावना नहीं आने देता, केवल उन्हींमें मनको सनिवेशितकर उपासना-ध्यान करता है, ऐसे चित्तसे पूर्ण अनुरक्त प्रेमी भक्तका श्रीभगवान् शीघ्र मायासे उद्धार करके उसे अपनी अमर पदवी देते हैं। यही भाव ८ वें अध्यायके १४ वें श्लोकका भी है, जो इस प्रकार है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

इस भक्तियोगमें सब प्रकारके कर्मोंका अर्पण, उपासना अर्थात् शरीर, वचनसे कर्म करते हुए तैलधाराके समान मनसे सतत निरन्तर ईश्वरस्मरण, चिन्तन और ध्यान मुख्य है। अन्तिम साधना, जिससे योग अर्थात् सम्बन्ध हो जाता है, वह है ध्यानयोग। पहले हृदयमें अपने इष्टकी मनोहर दिव्य साकार मूर्त्तिपर चित्तकी धारणा करनी चाहिये, जिसके लिये प्रथमावस्थामें भीतर ठीक वैसे ही रूपकी भावना करनेके लिये कोई विग्रह अथवा चित्र आवश्यक है। धारणाके परिपक्व हो जानेपर यथार्थ ध्यान प्रारम्भ होगा। वास्तवमें यह ध्यान हृदयका कार्य है और जब हृदय प्रेमसे द्रवित हो जाता है तभी यह सम्भव है। १४ वें अध्यायके २६ वें श्लोकमें श्रीभगवान्‌का वचन है कि जो अव्यभिचारिणी भक्ति (श्रीभगवान्‌हीको सर्वस्व समझना और उन्हींको सर्वार्पण करना) से मेरी सेवा करता है वह गुणातीत हो जाता है। गुणातीतका लक्षण उसी अध्यायके श्लोक २२ से २६ तकमें है। इस भक्तियोगकी अन्तिम साधनाका क्रम और लक्षण अन्तिम अध्याय १८ में इस प्रकार बतलाया गया है—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८ । ५१–५५)

यह कथन गीताके योगका सार है। इस कथनमें सद्गुणोंमें इन्द्रियनिग्रह, मनोनिग्रह, विषय-वैराग्य और अहङ्कार, ममता, काम, क्रोध, परिग्रह आदिका त्याग मुख्य है। इन सद्गुणोंकी पूर्ण प्राप्तिसे यहाँ मतलब है। इनकी पूर्ण प्राप्ति भक्तिके संयोगसे ही होती है (पर इच्छा निवर्तते), तथा साधनाके रूपमें प्रेमोपहारके समान सब कर्मोंको श्रीभगवान्‌के निमित्त करना, प्रेमसे श्रीभगवान्‌का सतत स्मरण, और अन्तिम प्रधान साधना ध्यानयोग, ये तीन मुख्य हैं। मन्त्रजप ध्यानयोगका अभिन्न स्वरूप है।

इसलिये ध्यानके साथ मानसिक मन्त्रजप अवश्य करना चाहिये। योगसूत्रमे लिखा है—तज्जपस्तदर्थभावनम्।

यह ध्यानयोग ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनोका योग (एकता) करता है, जो योगका अन्तिम लक्ष्य है। पातञ्जलयोगसूत्रमे भी ध्यानसे समाधिकी प्राप्तिकी बात कही गयी है। गीताके इस परम ध्यानके बाद कर्मफलका त्याग होता है अर्थात् ध्यानरूप कर्मका फल जो मोक्ष है उसका त्याग (सन्यास) इसलिये भक्त करता है कि मोक्ष ले लेनेसे भगवत्सेवा छूट जायगी। वह तो प्रेमके कारण निमित्तमात्र होकर निरन्तर श्रीभगवान्‌की सेवामें रत रहना चाहता है। इसीसे उसको परम शान्ति मिलती है (१२। १२) जो मोक्षसे भी ऊपरकी स्थिति है।

गीतामें केवल प्रपत्ति-योग है

(लेखक—प० श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयी)

श्रीमद्भगवद्गीताको किसीने कर्म-परक बतलाया है, किसीने ज्ञान-परक और किसीने भक्ति-परक, परन्तु सबका समन्वय करनेवाले वैष्णव आचार्योंने इस महोपनिषद्‌को प्रपत्ति-परक समझा और बतलाया है। वैष्णवोके प्रत्येक सम्प्रदायमें यही सिद्धान्त है। भगवान् श्रीनिम्बार्काचार्यने जो गीतापर भाष्य किया था, वह अब अप्राप्य है, परन्तु उसी भाष्यका अर्थ स्पष्ट करनेके लिये जगद्विजयी श्रीकेशव भट्टाचार्यने जो 'तत्त्वप्रकाशिका' नामकी सुन्दर सस्कृत टीका इसपर लिखी, वह उपलब्ध है और प्रकाशित भी हो चुकी है। इस 'तत्त्वप्रकाशिका' में आचार्य केशव भी गीताको प्रपत्तिपरक स्वीकार करते हैं।

प्रपत्ति और भक्ति

प्रपत्ति और भक्तिमें सूक्ष्मतम मौलिक भेद है। भगवान्‌के ऊपर अपना सब भार छोड़कर निर्द्वन्द्व हो जानेका नाम प्रपत्ति है और अपने उद्धारके लिये भगवान्‌की सेवा-प्रार्थना करना भक्ति है। प्रपन्न (शरणागत) पिताका वह नन्हा-सा बच्चा है, जो अपना सब कुछ पिताके ऊपर छोड़े है, और भक्त वह बड़ा पुत्र है, जो बहुत कुछ अपना भला-बुरा खुद करनेकी हिम्मत रखता और करता भी है। स्वभावतः पिताका ध्यान नन्हे बच्चेपर जितना अधिक रहेगा, उतना बड़ेपर नहीं। बस, प्रपत्ति या शरणागति और भक्तिमें यही भेद है। वस्तुतः प्रपत्तिमे ज्ञान और कर्मकी तरह भक्तिका भी समावेश हो जाता है। यानी सब साधनोंमें प्रपत्ति अगी है और शेष सब अग।

प्रपत्तिको छः मुख्य भेदोंमें विभक्त किया गया है—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

शरणागति या प्रपत्ति-योगके ये छः अग हैं। इनमें 'आत्मनिक्षेप' प्रधान है, अगी है, शेष सब अग हैं। आत्मनिक्षेप ही तो शरणागति है, अपना कुल भार उसपर डाल देना, चाहे वह जो करे।

परन्तु यों शरणागतिमें आनेका ढोंग करके कोई चाहे जो किया करे, यह नहीं हो सकता है। शरणागतिके जो छः अङ्ग ऊपर गिनाये हैं, उनमें आरम्भहीमें है—आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः। अर्थात् जो काम भगवान्‌को अच्छे लगते हैं, उनके करनेका सकल्प मनमें हो, यह पहली बात है। इसमें सब सत्कर्म आ गये। भगवत्प्रपन्न अपने श्रेयके लिये नहीं, भगवान्‌को प्रसन्न करनेके ही लिये सब सदनुष्ठान करेगा। दूसरा अङ्ग है—प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। प्रपन्न पुरुष ऐसा कोई भी काम न करेगा, जिससे भगवान्‌के अप्रसन्न होनेका डर हो। इस प्रकार सम्पूर्ण असत्कर्मोंसे वह दूर रहेगा।

भगवान् अवश्य मेरी रक्षा करेंगे,—'रक्षिष्यतीति विश्वासः'—इस विश्वासकी तो सबसे अधिक ज़रूरत है। यही नींव है। जबतक विश्वास न होगा, शरणागति पक्की नहीं होगी। 'सशयात्मा विनश्यति'—नास्तिकता आ जायगी।

कार्पण्यका मतलब है—दीनता। भगवान्‌के सामने दैन्यप्रदर्शन भी प्रपत्तिका एक अग है। पामर लोग ज्ञानलव-दुर्विदग्ध होकर इतराने लगते हैं और कहते हैं—'जो न करे

मौजा, सो करे एतमादुद्दौला !' ऐसे जीवोंका घोर पतन हो जाता है। 'मैं सब कुछ कर सकता हूँ' 'मैंने सब किया है' इस प्रकारकी भावना पतनका मूल है। प्रपन्न अपने मनमें कभी ऐसा भाव नहीं आने देता और भगवानके प्रति सदा दीन रहता है।

यों जीव जब भगवान्‌के ऊपर दृढ विश्वास करके आत्मनिक्षेप करता है, तो यह प्रपत्ति-योग कहलाता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसी योगका प्राधान्य है।

किसी भी ग्रन्थका प्रधान विषय क्या है, यह जाननेके लिये आदि, मध्य और अन्तका समन्वय देखना होता है। तीनों जगह जो मिले, वही प्रधान होता है। जिस बातका हमें प्रतिपादन करना है, उसे शुरूमें कहेंगे, उसीसे उपक्रम करेंगे, बीचमें उसीकी पुष्टि करेंगे और अन्तमें उसीपर जोर देकर वक्तव्य पूर्ण करेंगे।

अब देखना चाहिये कि श्रीमद्भगवद्गीताके आदि, मध्य और अन्तमें क्या है।

गीताके उपक्रममें 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।' यों 'प्रपन्न' शब्दसे शरणागतिको प्रधानता दी है। बीचमें भी 'निवासः शरणं सुहृत्' इत्यादि प्रकारसे इसीपर जोर है और अन्तमें तो डंकेकी चोट कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

यहीं आकर गीताशास्त्रकी समाप्ति होती है। अतएव यही उसका प्रधान विषय निश्चित है।

शरणागतिके छहों अंगोंका गीतामें विस्तारसे वर्णन है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।

इत्यादिके द्वारा प्रपत्तिका प्रथम अंग (आनुकूल्य संकल्प) दिखलाया। परित्याज्य आसुरी सम्पत्‌का वर्णन करके तथा प्रत्यक्ष 'निर्वैरत्व' आदिका उपदेश देकर दूसरा अंग स्पष्ट किया। 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' आदि कहकर विश्वास दृढ़ किया, जो प्रपत्तिका तीसरा अंग है। 'पितासि लोकस्य चराचरस्य' यहाँसे लगाकर 'प्रसीद देवेश जगन्निवास' यहाँतक जो कुछ कहा, उससे चतुर्थ अंग स्पष्ट किया। 'दिशो न जाने न लभे च शर्म' और 'न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्' इस कथनसे पाँचवाँ अंग कार्पण्य बतलाया। मुख्य आत्मनिक्षेप तो प्रधानरूपसे कहा ही गया है—'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' 'मामेकं शरणं व्रज' इत्यादि।

शेष ग्रन्थ कर्म, ज्ञान और भक्तिका प्रतिपादन करते हैं जो प्रपत्तिके सहायक हैं।

यों सम्पूर्ण गीताशास्त्रका प्रतिपाद्य विषय प्रपत्ति-योग है। हिन्दीमें भी गोस्वामी तुलसीदासजीकी 'विनयपत्रिका' तथा 'सूरसागर' के विनय-पदोंमें प्रपत्तिका अच्छा विकास मिलता है। 'विनयपत्रिका'* में तो बड़ी ही सुन्दरतासे इस योगका प्रतिपादन हुआ है। और भी सन्तोंने इसीका आश्रय लिया है।

योगिराजके प्रति

योगिराज ! तेरे दर्शनको, भक्त मानते हैं शुभ-स्वर्ग।
उसे परम पुरुषार्थ जान, तव परम धाम चाहें बुधवर्ग॥
तेरे पदकी सेवा हे हर ! तेरे पद-सेवक-संसर्ग।
हो 'द्विजेन्द्र' पर कृपा-दृष्टि वह, जिससे पावें हम अपवर्ग॥

—सरयूप्रसाद शास्त्री 'द्विजेन्द्र'

* विनयपत्रिका (हिन्दीटीकासहित १) में गीताप्रेससे मिल सकता है।

योग

(श्रीभारतधर्ममहामण्डलके एक महात्माद्वारा लिखित)

द तीन काण्डोंमे विभक्त है, यथा—कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। वेदके कर्मकाण्डके अनुसार कर्म-सुकौशलको योग कहते हैं। वेदके उपासनाकाण्डके अनुसार चित्तवृत्ति-निरोधको योग कहते हैं और वेदके ज्ञानकाण्डके अनुसार जीवात्मा और परमात्माके एकीकरणको योग कहते हैं। कर्मकाण्डका अन्तिम लक्ष्य निष्काम होकर कर्म करना है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसका विस्तृत वर्णन किया गया है। कर्म करते हुए कर्मबन्धनसे मुक्त होना ही उसका स्वरूप है। उपासनाकाण्डका अन्तिम लक्ष्य अन्तःकरणकी वृत्तियोंको साधनके द्वारा निरुद्ध कर परमात्माके स्वरूपका अनुभव करना है। तरङ्गरहित जलाशयमें जैसा मनुष्य अपना मुख देख लेता है, चित्तकी वृत्तियाँ निरुद्ध होते ही दृश्यप्रपञ्चके द्रष्टा परमात्माका स्वरूप वैसा ही अन्तःकरणमें दिखायी देने लगता है। इस विज्ञानका विस्तृत वर्णन योगदर्शनके सूत्रोंमें पाया जाता है। ज्ञानकाण्डका अन्तिम लक्ष्य अविद्याजनित अज्ञानको विद्याकी कृपासे दूरकर आत्मज्ञान प्राप्त करते हुए परमात्मा और जीवात्माके भेदका जो मिथ्या ज्ञान है, उसको हटाकर जीवात्मा और परमात्माकी अद्वैतसिद्धि करना है। इसका विस्तृत वर्णन उपनिषदों और वेदान्तादि शास्त्रोंमें मिलता है। यही वेदके तीनों काण्डोंके अनुसार योगके सिद्धान्तोंका रहस्य है। वस्तुतः इन तीनोंके द्वारा एक ही अवस्थाकी प्राप्ति होती है।

श्रीभगवान्‌की सान्निध्यप्राप्तिके साधनोंको उपासना कहते हैं। उपासनाका प्राण भक्ति है और कलेवर योग है। शरीरमें प्राणके न रहनेसे जैसे शरीरकी कुछ भी उपयोगिता नहीं रहती, वैसे ही भगवद्भक्तिहीन योग नटका खिलवाड़ हो जाता है। शरीरके अभावमें प्राणके रहनेका कोई स्थान ही नहीं रहता। इस दशामें प्राणका अस्तित्व ही सम्भव नहीं रहता। इसी विज्ञानके अनुसार भक्ति और योगका उपासनाकाण्डके सब साधनोंमें अन्योन्याश्रय बना रहना स्वाभाविक है। योगतत्त्ववेत्ता पूज्यपाद महर्षियोंने योगसाधनकी चार स्वतन्त्र शैलियोंका उपदेश दिया है और योगमार्गसे भगवद्राज्यमें पहुँचनेके लिये आठ पौढ़ियाँ बतायी हैं। चार योगसाधन-शैलियोंके नाम हैं—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग। योगकी आठ पौढ़ियोंके नाम हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। त्रिकालदर्शी और स्थूल तथा सूक्ष्म राज्यको करतलामलकवत् देखनेवाले महर्षियोंने योगविज्ञानको इन चार श्रेणियों और आठ पौढ़ियोंमें विभक्त करके ऐसा बताया है कि, साधनमार्गके सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग इनमें आ जाते हैं।

मन्त्रयोगका सिद्धान्त यह है कि, यह संसार नामरूपात्मक है। नाम और रूपसे ही जीव अविद्यामें फँसकर जकड़ा रहता है। मनुष्य जिस भूमिपर गिरता है, उसीके अवलम्बनसे उठ सकता है। अतः नाम और रूपके अवलम्बनसे ही जब वह फँसता है, तो नाम और रूपके ही अवलम्बनसे मुक्त भी हो सकता है। मन्त्रयोगके ज्ञाता पूज्यपाद आचार्योंने मन्त्रयोगके साधनोंको सोलह भागोंमें विभक्त किया है। जैसे— दिक्‌शुद्धि, स्थानशुद्धि, मन्त्रजप, स्तुति, न्यास इत्यादि। मन्त्रयोगके ध्यानको स्थूल ध्यान कहते हैं। यह ध्यान पञ्च सगुणोपासना और अवतारोपासनाके अनुसार कई प्रकारका होता है। मन्त्रयोगकी समाधिको महाभाव समाधि कहते हैं।

हठयोगका सिद्धान्त यह है कि, स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर एक ही भावमें गुम्फित है और एकका प्रभाव दूसरेपर पूरा बना रहता है। स्थूल शरीरको अपने अधीनकर सूक्ष्म शरीरको अधीन करते हुए योगकी प्राप्ति करनेको हठयोग कहते हैं। योगनिष्णात आचार्योंने हठयोगको सात अङ्गोंमें विभक्त किया है। यथा—नेती, धौती आदि षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्राणायाम इत्यादि। हठयोगके ध्यानको ज्योतिर्ध्यान कहते हैं और प्राणके निरोधसे होनेवाली हठयोगकी समाधि महाबोध समाधि कहाती है।

लययोगका सिद्धान्त यह है कि, ब्रह्माण्डकी प्रतिकृति मानवपिण्ड है। ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिका विलास जैसा ब्रह्माण्ड है, वैसा मानवपिण्ड भी है। ग्रह, नक्षत्र, चतुर्दश भुवन आदिके पीठ मानवपिण्डमें भी हैं। पञ्चकोशोंका

आवरण शिथिल होनेपर पिण्ड जहाँ चाहे, उसी लोकमे अपना सम्बन्ध स्थापन कर सकता है। इसी विज्ञानके अनुसार मनुष्यपिण्डके आधारपद्ममें कुलकुण्डलिनी नामक ब्रह्मशक्ति प्रसुप्त रहकर अविद्याके प्रभावसे सृष्टिक्रिया किया करती है। रजोवीर्यजनित वैजी सृष्टि उसका साक्षात् फल है। मनुष्यशरीरस्थ सप्तम चक्र मस्तकमें स्थित सहस्रदलमें जिस योगद्वारा कुलकुण्डलिनीशक्तिको ले जाकर ब्रह्मरूपी सदाशिवके साथ मिला दिया जाता है, उस शिवमे शक्तिका लय कर मुक्ति प्राप्त करनेके साधनका नाम लययोग है। लययोगके आठ अङ्ग हैं। लययोगके ध्यानको विन्दुध्यान और लययोगकी समाधिको महालय समाधि कहते है।

राजयोग अन्य तीन योगोकी चरमसीमा है। उसका सिद्धान्त यह है कि मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कारसे सवलित अन्तःकरण ही जीवके वन्धनका कारण और मुक्तिका भी कारण है। जैसे अशुद्ध मन जीवको नीचे गिराता है और शुद्ध मन ऊपर उठाता है, वैसे ही इन्द्रिय-परायण बुद्धि जीवको वन्धनमे जकड़ती है और ब्रह्मपरायण बुद्धि जीवको मुक्तिभूमिमे पहुँचा देती है। अतः शुद्ध बुद्धि-की सहायतासे तत्त्वज्ञान लाभ करके अन्तमें राजयोगी जीव और ब्रह्मके अभेदका कारण समझकर ज्ञानसे अज्ञान-का नाश करता हुआ जीव और ब्रह्मकी अद्वैतसिद्धिके द्वारा मुक्त हो जाता है। राजयोगसाधनके सोलह अङ्ग है। राजयोगके ध्यानको ब्रह्मध्यान कहते हैं और राजयोगकी समाधि निर्विकल्प समाधि कहाती है, जिसका फल जीवन्मुक्ति है।

इन चार योगशैलियोंके मूलमे भगवद्भक्तियुक्त अष्टाङ्ग-योगका साधनक्रम विद्यमान है। अष्टाङ्गयोगके आठों अङ्ग ब्रह्मरूपी सर्वोच्च सौध शिखर (छत) पर चढ़नेके लिये आठ सोपान (सीढियाँ) रूप हैं। इनका सक्षिप्त विज्ञान यह है कि, वहिरिन्द्रियोंपर आधिपत्य जमानेके साधनोको यम कहते हैं। अन्तरिन्द्रियोंपर आधिपत्य जमानेके साधनोको नियम कहते है। स्थूल शरीरको योगके उपयोगी वनानेके साधनोंको आसन कहते हैं। शरीरस्थ प्राणको योगोपयोगी वनानेके साधनोंको प्राणायाम कहते है। ये चारों साधन वहिरङ्गके हैं। वहिर्मुख मनको अन्तर्मुख करनेके साधनोको प्रत्याहार कहते है। प्रत्याहारसे ही अन्तरङ्गका साधन प्रारम्भ होता है। अन्तर्जगत्मे ले जाकर मनको एक स्थानमें ठहरानेके साधनोंको धारणा कहते हैं। अन्तर्जगत्में ठहरनेका अभ्यास प्राप्त करते हुए अपने इष्टदेव, चाहे सगुण-भावमय रूप हो, चाहे ज्योतिर्मय रूप हो, चाहे विन्दुमय रूप हो, चाहे निर्गुण सच्चिदानन्दमय रूप हो, जिसका जैसा अधिकार हो, उसी इष्टदेवको केवल ध्येय वनाकर जगत्के भूल जानेको ध्यान कहते हैं। परमात्मामे अपने जीवभावके मिला देनेको समाधि कहते हैं। वह समाधि सविकल्प और निर्विकल्प दो भागोंमें विभक्त है। निर्विकल्प समाधि ही सव साधनों-का अन्तिम लक्ष्य है। यही सर्वजीवहितकारी सव सम्प्र-दायोंके अनुयायियों, सव प्रकारके उपासकों और सव प्रकारके साधकोंके परम हितकर योगका सक्षिप्त विज्ञान है।

विरक्त

(रचयिता—श्रीपन्यासजी महाराज विजयमाणिक्यरत्नविजी यति 'मानिक')

सत्यव्रत धार मन मोहते निवार कर, गिरिकी गुहामें तन तपते तपायेंगे।
दया दिल लायेंगे औ जीव न सतायेंगे औ, दीन न दवायेंगे न काया कलपायेंगे॥
'मानिक' की जोत ईश जोतमें जुटायेंगे औ, आनन्द वढायेंगे अनन्त सुख पायेंगे।
दुनियामें फेर कभी आयेंगे न जायेंगे न, कर्मको खपायेंगे अमरपद पायेंगे॥

योगतत्त्वमीमांसा

(लेखक—श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य स्वामीजी श्रीश्रीजयेन्द्रपुरीजी महाराज)

नमो गुरुभ्यो गुरुपादुकाभ्यो नमः परेभ्यः परपादुकाभ्यः । आचार्यसिद्धेश्वरपादुकाभ्यो नमोऽस्तु लक्ष्मीपतिपादुकाभ्यः ॥

स संसारमें जितने भी आस्तिक दर्शन हैं अथवा अन्य मत-मतान्तर हैं उन सबमें परस्पर किसी-न-किसी अंशमें विवाद अवश्य रहता है, परन्तु 'योग ऐहिक और आमुष्मिक कल्याणका हेतु है' इसमें किसीका भी विवाद नहीं है। योगको सबने मुक्तकण्ठसे कल्याणका हेतु स्वीकार किया है। नास्तिक-से-नास्तिक भी योगकी प्रशंसा मुक्तकण्ठसे करते हैं।

सब आस्तिक दर्शनोंका यह सिद्धान्त है कि—'अतीन्द्रिय अर्थमें वेद ही प्रमाण है, जिसमें निखिल विश्व प्रतिष्ठित है' वस्तुतः जो सर्वथा दुःखादि सम्बन्धसे रहित असङ्ग चैतन्य तत्त्व है यही जानने लायक है, इतना ही कहकर वेद भगवान् उदासीनताका अवलम्बन नहीं करते, किन्तु संसारदुःखको समूल उच्छेद करनेकी इच्छावाला पुरुष तत्त्वबोधकी इच्छा करता हुआ अनुपायके ग्रहणद्वारा अन्धगोलाङ्गूलन्यायसे अनर्थको न प्राप्त हो, इसलिये कृपा करके तत्त्वकी अभिव्यक्ति करनेवाली चार प्रकारकी प्रतिपत्तियोंमें विधि आदि अर्थको बतलानेवाले तव्यादि प्रत्ययद्वारा उपादेयता भी बतलाते हैं, यथा 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यादि। यहाँ प्रथम प्रतिपत्ति (निश्चय) श्रवणरूप है। सम्पूर्ण उपनिषद्वाक्योंका अद्वितीय ब्रह्ममें तात्पर्यनिर्णयानुकूल न्यायविचारात्मक, तत्त्वविषयक शाब्दबोधरूप अन्तःकरणकी वृत्तिविशेषका नाम श्रवण है। दूसरी प्रतिपत्ति मनन है, आगमके अविरुद्धतर्कणारूप अथवा तत्त्वकी अनुमितिरूप अन्तःकरणकी वृत्तिविशेषका नाम मनन है। तीसरी प्रतिपत्ति निदिध्यासन है, विजातीय प्रत्ययसे अनन्तरित सजातीय प्रत्ययके प्रवाहका नाम निदिध्यासन है। श्रवणमननजनित संस्कारसहित अन्तःकरण निदिध्यासन करनेमें समर्थ होता है। और चौथी प्रतिपत्ति असङ्ग प्रत्यगभिन्न ब्रह्मस्वरूपका साक्षात्काररूप है। अनादि अविद्याकी निवृत्तिसे उपलक्षित निरतिशय अद्वयानन्दस्वरूपावस्थित चितिशक्तिरूप कैवल्य, स्वरूप-साक्षात्कारका फल है। इस तुरीयसाक्षात्काररूप प्रतिपत्तिका अन्तरङ्ग साधन प्रत्ययैकतानतारूप निदिध्यासन नामक तृतीय प्रतिपत्ति है।

ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।

(मुण्डकश्रुति ३ । १ । ८)

वृद्ध योगी लोग इस निदिध्यासनका ही दूसरा नाम प्रत्ययैकतानतारूप ध्यान कहते हैं। अतएव भाष्यकार शङ्करभगवान्ने निदिध्यासितव्यका अर्थ 'ध्यातव्य' किया है। इस निदिध्यासनरूप ध्यानकी परिपक्व अवस्था ही समाधि है।

ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ।

(स्कन्द०)

ध्यानादस्पन्दनं बुद्धेः समाधिरभिधीयते ।

यह विश्वरूपाचार्यका वचन है। अतएव 'समाध्यभावाच्च' (२ । ३ । ३९)। इस ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें 'समाधि' शब्दके विवरणमें 'निदिध्यासितव्यः', 'ओमित्येवं ध्यायथ' इत्यादि ध्यानप्रतिपादक वाक्योंका उदाहरण शाङ्करभाष्यमें दिया है। अतएव योगसूत्रकारने भी 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (३ । २) इस प्रकार ध्यानका निर्वचन करके

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।

(३ । ३)

इस योगसूत्रमें ध्यानका ही समाधिरूपसे निर्वचन किया है। समाधिको ही महर्षिलोग 'योग' कहते हैं—

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः ।
सयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः ॥

(याज्ञवल्क्य०)

अतएव—

यत्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः ।
स नष्टसर्वसङ्कल्पः समाधिरभिधीयते ॥
परमात्मात्मनोर्योऽयमविभागः परंतप ।
स एव तु परो योगः समासात्कथितस्तव ॥

—इत्यादि स्कन्दपुराणके वाक्योंमें समाधि और योगका एक ही लक्षण कहा है।

बहुत क्या कहें, यह निदिध्यासन ही क्षण-घड़ी-घण्टा-प्रहर-दिन-रात्रि-अर्द्धमास-मास-ऋतु-अयन-वर्ष आदि काल-क्रमके अभ्याससे परिपक्व होकर प्रसख्यान, सम्प्रज्ञात, धर्ममेघ, ऋतम्भरा प्रज्ञा, गुणवैतृष्ण्य, परवैराग्य, ज्ञानप्रसाद, ध्रुवा स्मृति, प्रसख्यान-पराकाष्ठा, असम्प्रज्ञात, निर्विकल्प समाधि, सर्वग्रन्थिविप्रमोक्ष, प्रतिप्रसवजीवन्मुक्ति आदि शब्दोंसे कहा जाता है। यह वार्ता विद्वान् योगियोसे छिपी नहीं है। यहाँपर यह वार्ता जानने योग्य है कि प्रसख्यान, धर्ममेघ, सम्प्रज्ञातादि अवस्थापन्न ध्यान विज्ञानकी उत्पत्तिद्वारा मोक्षका हेतु है। और ज्ञानप्रसाद, परवैराग्य, ध्रुवा स्मृत्यादि अवस्थापन्न ध्यानयोग साक्षात् मोक्षका हेतु है। और असम्प्रज्ञात समाधि तो मोक्षके समान ही है।

इसलिये—

स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये।

—इस सूत्रसे पतञ्जलिभगवान्ने असम्प्रज्ञात समाधिको कैवल्यके सदृश कहा है। इसी अवस्थाको वसिष्ठजी परा-(दा)-र्थाभाविनी और तुर्यगा कहते हैं। इस अवस्थाको प्राप्त विद्वान् ही ब्रह्मविद्वरिष्ठ जीवन्मुक्त कहा जाता है।

शङ्का—प्रत्यगभिन्न ब्रह्मप्रमाकी उत्पत्तिके लिये जिज्ञासुको प्रमाकरण और करणव्यापाररूप इतिकर्तव्यता, इन दोनोंकी ही अपेक्षा है। इसमे करण 'त त्वौपनिषद पुरुष पृच्छामि' इत्यादि श्रुतियोंसे 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यका श्रवण है, और इतिकर्तव्यता अप्रामाण्य शङ्काको दूर करनेवाला मननरूप तर्क है, एव श्रवण-मननसे ही इष्ट स्वरूपसाक्षात्कारकी सिद्धि बन सकती है, अतः अत्यन्त क्लेशसाध्य निदिध्यासनरूप समाधियोगकी कोई अपेक्षा नहीं है। इसी कारणसे 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' (२।१।३) इस ब्रह्मसूत्रसे व्यासभगवान्ने योगका खण्डन किया है। और—

एतेन सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन, योगस्मृतिरपि प्रत्याख्याता द्रष्टव्या।

—यह शाङ्करभाष्य है। 'विचारस्यासम्भवे योग ईरितः'—यह विद्यारण्यस्वामीका उपदेश है।

समाधान—स्वरूपप्रमाकी उत्पत्तिके लिये प्रमाण और इतिकर्तव्यताके सिवा अन्य साधनोंका अनुष्ठान करना चाहिये, यह हम नहीं कहते। किन्तु अत्यन्त निविड़ अनादि भ्रम-ज्ञानवासनाजन्य प्रतिबन्धकोंके वैचित्र्यसे यह इतिकर्तव्यता ही अनेक शाखावाली है। स्वरूपाभिव्यक्तिका प्रथम प्रतिबन्धक भोगोंकी वासना है, जो निरन्तर अग्निकी तरह जलाती है, वृश्चिकादिकी तरह डँसती है, भालेकी तरह छेदन करती है, रात्रिकी तरह अन्धा बनाती है, रस्सीके सदृश बाँधती है, तलवारकी तरह काटती है। दूसरा प्रतिबन्धक 'उपनिषद् अद्वितीय ब्रह्ममें प्रमाण हैं कि नहीं' इत्याकारक सशयरूप है, अथवा 'उपनिषदोंसे अद्वितीय असङ्ग ब्रह्मका बोध सम्भव नहीं है'—यह प्रमाणगत असम्भावना है। तीसरा प्रतिबन्धक 'आत्मा देहादिसे अतिरिक्त है या नहीं और अतिरिक्त होनेपर भी कर्ता है या अकर्ता, अकर्ता होनेपर भी चेतन है या जड है, और चेतन होनेपर भी आनन्दस्वरूप है या आनन्द गुणवाला है, आनन्दस्वरूप होनेपर भी ब्रह्मसे आत्मा भिन्न है या अभिन्न है' इत्यादि विविध सशयरूप है। अथवा अबाधित ब्रह्ममें भी बाधितत्वकल्पनारूप प्रमेयगत असम्भावना है। और चतुर्थ प्रतिबन्धक ब्रह्मके प्रत्यक्ष हो जानेपर भी ब्रह्मसाक्षात्काररूप प्रमामें असाक्षात्कारत्वकी कल्पनारूप विपरीत भावना है। यहाँ जो प्रथम विषयभोगोंकी वासना है सो उपनिषद्-श्रवणके अङ्ग यम-नियम-विवेक-वैराग्यादिसे नष्ट होती है। प्रमाणगत असम्भावना श्रवणसे नष्ट होती है, और प्रमेयगत सन्देह अथवा असम्भावना मननसे नष्ट होती है। इसके लिये यद्यपि निदिध्यासनकी परिपक्व अवस्थारूप समाधियोगकी अपेक्षा नहीं है, तथापि 'वेदान्त यद्यपि ब्रह्मको बोधन करते हैं, ब्रह्म किसी मानसे बाधित भी नहीं है, तो भी ब्रह्म मुझको प्रत्यक्ष नहीं है, परोक्ष ही है' इत्यादि भ्रान्ति और भ्रान्तिसस्कारपरम्परारूप विपरीत भावनाकी अनुवृत्ति जबतक मौजूद है, तबतक विद्या प्रतिबन्धरहित अपने फलको नहीं दे सकती। अतः पूर्वोक्त भ्रान्तिनिरासपूर्वक 'उपनिषदोंसे बोधित एव सर्वमानोंसे अबाधित सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही मैं हूँ, प्रत्यगभिन्न असङ्ग अद्वितीय स्वयप्रकाश सच्चिदानन्द ब्रह्म मुझको सदा अपरोक्ष है'—इस प्रकार स्वानुभवपर्यन्त ब्रह्मसाक्षात्कारके लिये निदिध्यासनकी परिपक्व अवस्थारूप योगकी शरण अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है। 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' इस सूत्रसे व्यासभगवान्ने योगका खण्डन नहीं किया है, किन्तु प्रधानादि जगत्में त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्यत्व, प्रधान स्वातन्त्र्य, जीवोंका परस्पर भेद, जीव-ईशका भेद आदि जो वेदके विरुद्ध हैं, उनका केवल खण्डन किया है। क्योंकि व्यासभगवान्ने—

'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' 'ध्यानाच्च' 'आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्।' (४।१।१,८,१२)

—इत्यादि ब्रह्मसूत्रोंसे प्रसंख्यानरूप अथवा निदिध्यासनकी परिपक्व अवस्थारूप योगको प्रत्यगभिन्न ब्रह्मसाक्षात्कारद्वारा कैवल्यका हेतु स्वयं स्वीकार किया है।

इसके अतिरिक्त अनेक श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण सभी योगकी कल्याणहेतुताको मुक्तकण्ठसे स्वीकार करते हैं, विस्तारभयसे यहाँ प्रमाण नहीं दिये गये हैं।

ऋषि-मुनि-विद्वान् महात्माओंका अनुभव भी इसमें प्रमाण है। कामातुरके व्यवहित कामिनीसाक्षात्कारमें प्रसंख्यानकी कारणता प्रसिद्ध ही है। अतः योगके विषयमें साक्षात्कारकारणताकी कल्पना नवीन नहीं है। अतएव भामतीकार कहते हैं—

सा हि सत्कारदीर्घकालनैरन्तर्यसेविता सती दृढभूमिविशेषसाक्षात्काराय प्रभवति कामिनीभावनेव स्त्रैणस्य पुंसः इति।

प्रश्न—योगकी प्रमाकरणोंमें परिगणना न होनेसे योगजन्य ब्रह्मसाक्षात्कार कामिनीसाक्षात्कारकी तरह प्रमा नहीं होगा?

उत्तर—जहाँ प्रमाणजन्यत्वाभाव हो, वहाँ प्रमात्वका अभाव हो यह नियम नहीं है। क्योंकि जहाँ वाष्पको धूम समझकर पर्वतमें वह्निकी अनुमितिके अनन्तर वह्निका अर्थी पर्वतमें जाय और वहाँ वस्तुतः वह्नि विद्यमान हो तो वहाँ अनुमिति प्रमा है। यह प्रसङ्ग 'पाणौ पञ्चवराटकान् पिधाय' इत्यादि खाद्यखण्डनमें स्पष्ट है। वस्तुतः, जैसे घटसाक्षात्कारमें नेत्रका द्वार नेत्रका सन्निकर्ष है, वैसे ही ब्रह्मसाक्षात्कारमें उपनिषदोंका द्वार योग है, अतः योगकी प्रमाकरणोंमें गणना न होनेपर भी योगजन्य ब्रह्मसाक्षात्कार प्रमाणमूलक होनेसे उसमें अप्रमात्वकी शङ्का नहीं बनती। 'ब्रह्मसाक्षात्कारका शब्द करण नहीं है, किन्तु शमदमादिसे संस्कृत मन ही करण है'—वाचस्पतिके इस मतमें भी योगको द्वार माना है। अतएव 'कथं तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते'—इस प्रकार आकाङ्क्षाको उठाकर 'समाधिविशेषाभ्यासात्' इत्यादि न्यायसूत्रसे गौतम महर्षिने भी योगको तत्त्वज्ञानका हेतु वर्णन किया है। यह समाधिरूप योग चित्तका धर्म है, आत्माका धर्म नहीं है; क्योंकि 'केवलो निर्गुणश्च' इत्यादि श्रुतियोंसे आत्मा निर्गुण है। 'स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः'—यह प्रथम योगसूत्रके भाष्यका वचन है। अर्थात् चित्तकी पाँच भूमियाँ हैं—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। रजोगुण अर्थात् शब्दादि विषयोंमें और रागद्वेषादिमें हर समयमें व्यग्र—अत्यन्त चञ्चल चित्तका नाम क्षिप्त है, जैसे दैत्य-दानवोंका चित्त अथवा बन्दरका चित्त। तमोगुणके समुद्रेकसे निद्रादि वृत्तिवाले तमःप्रधान चित्तका नाम मूढ है, जैसे भैंसका चित्त अथवा अजगरका चित्त। जिस चित्तमें चञ्चलता बहुत हो और कदाचित् थोड़ी शान्ति भी हो वह चित्त विक्षिप्त कहा जाता है, जैसे देवताओंका चित्त अथवा जिज्ञासुओंका चित्त। किसी एक विषयमें तैलधाराकी तरह प्रवाहरूपसे वहनशील चित्तका नाम एकाग्र है। ऐसा चित्त सम्प्रज्ञात (सविकल्प) समाधिवाले योगीका होता है। जिस चित्तकी सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध हो गया हो अर्थात् सम्पूर्ण संकल्पविकल्पोंसे रहित संस्कारमात्रशेष चित्तका नाम निरुद्ध है। ऐसा चित्त असम्प्रज्ञात (निर्विकल्प) समाधिवाले योगीका होता है।

प्रश्न—पतञ्जलि भगवान्ने 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'—इस सूत्रसे चित्तवृत्तिके निरोधको योगका लक्षण कहा है, परन्तु यह लक्षण ठीक नहीं है। क्योंकि क्षिप्त-मूढ-विक्षिप्त भूमियोंमें भी सात्त्विक वृत्तिका निरोध विद्यमान है, इन भूमियोंमें होनेवाले निरोधको योग नहीं कह सकते, अन्यथा बन्दर, भैंस आदि सम्पूर्ण जीव योगी हो जायँगे। दुनियामें ऐसा कोई भी चित्त नहीं है, जिसकी वृत्तिका निरोध न हो। यदि सर्ववृत्तियोंका निरोध योगका लक्षण है, तब सम्प्रज्ञात समाधिमें यह लक्षण नहीं जावेगा?

उत्तर—

क्लेशकर्मादिपरिपन्थित्वे सति चित्तवृत्तिनिरोधो योगः।

—इस लक्षणके स्वीकार होनेसे अतिव्याप्ति-अव्याप्ति दूषण नहीं रह सकता। क्योंकि क्षिप्त-मूढ-विक्षिप्त भूमियोंके निरोधमें क्लेशादिविरोधित्व नहीं है, और सर्व शब्दके अग्रहणसे सम्प्रज्ञातमें अव्याप्ति भी नहीं है। सम्प्रज्ञातमें राजस-तामस वृत्तियोंका निरोध होनेसे क्लेशादिपरिपन्थित्व विद्यमान है। प्रकृति और प्रकृतिके विकारोंमें जो समाधि हैं उनके फल अनेक प्रकारकी विभूतियाँ हैं। इन विभूतियोंका निरूपण विभूतिपादमें बड़े विस्तारसे किया गया है। ये सब समाधि जडसमाधि हैं, 'भवप्रत्ययो विदेह-

प्रकृतिलयानाम्' इस सूत्रमे यही जड समाधि कही है। इसी जड समाधिका नाम भवप्रत्यय है। तत्त्वजिज्ञासुको यह जड समाधि कर्तव्य नहीं है।

प्रकृति-विकृतिरहित अद्वितीय सर्वान्तर्यामी स्वयं-प्रकाश चैतन्य ज्योतिःस्वरूप शुद्ध असङ्ग प्रत्यगभिन्न ब्रह्म-विषयक समाधि चैतन्य समाधि कही जाती है, यह समाधि ही जिज्ञासुको कर्तव्य है। इस चैतन्य समाधिवाले योगीके भी यदि विषयवासना शेष रह गयी हो तो प्रत्यक् चेतनका साक्षात्कार नहीं होता, किन्तु वासनाके अनुसार उत्तम लोकोंकी ही प्राप्ति होती है। जबतक अणुमात्र भी विषयवासना रहेगी तबतक आवरणभग नहीं होगा। अतएव श्रीगौडपादाचार्यजी कहते हैं—

अणुमात्रेऽपि वैधर्म्ये जायमाने विपश्चितः।
असङ्गता सदा नास्ति किमुतावरणच्युतिः॥

(प्र० ४। ९७)

इस चैतन्य समाधिका नाम ही अस्पर्शयोग है, यह समाधि द्वैतदृष्टिवाले योगियोंको दुर्दर्श है—

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥

(प्र० ३। ३९)

यह गौडपाद स्वामीका वचन है।

समाधि

समाधियोगका स्पष्टरूपसे वर्णन इस प्रकार है—

व्युत्थान-सस्कारोंका तिरस्कार और निरोध-सस्कारोंके प्रकट होनेपर अन्तःकरणका एकाग्रतारूप परिणाम समाधि है। यह समाधि दो प्रकारकी होती है, एक सविकल्प और दूसरी निर्विकल्प। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयरूप त्रिपुटीभानसहित अद्वितीय ब्रह्मविषयक अन्तःकरणकी वृत्तिकी स्थिति सविकल्प समाधि है। यह सविकल्प समाधि दो प्रकारकी है। एक शब्दानुविद्ध, दूसरी शब्दाननुविद्ध है। 'अहं ब्रह्मास्मि'—इस शब्दभानके सहित होनेसे समाधि शब्दानुविद्ध कही जाती है। और शब्द-भानसे रहित शब्दाननुविद्ध कही जाती है। और त्रिपुटीभानरहित अखण्ड ब्रह्माकार अन्तःकरणकी वृत्तिकी स्थिति निर्विकल्प समाधि है। इस प्रकारसे समाधिके दो भेद हैं। इनमें सविकल्प समाधि साधन है एव निर्विकल्प फल है। जो सविकल्प समाधि है, उसमें यद्यपि त्रिपुटीरूप द्वैत प्रतीत होता है, तथापि वह द्वैत ब्रह्मरूपसे ही प्रतीत होता है। जैसे मृत्तिकाके विकार घटादि विवेकीको प्रतीत भी होते हैं तो भी मृत्तिकारूपसे ही प्रतीत होते हैं, वैसे ही सविकल्प समाधिमें विवेकीको त्रिपुटीद्वैत ब्रह्मरूप ही प्रतीत होता है। यद्यपि निर्विकल्प समाधिमे भी सविकल्प समाधिकी तरह त्रिपुटीद्वैत विद्यमान है, तथापि त्रिपुटीद्वैतकी प्रतीति नहीं होती। जैसे जलमे लवण डालें तो वहाँ लवण मौजूद है, परन्तु नेत्रसे लवणकी प्रतीति नहीं होती। अतः सविकल्प-निर्विकल्प समाधिका यह भेद सिद्ध हुआ कि सविकल्प समाधिमे ब्रह्मरूप करके द्वैत प्रतीत होता है और निर्विकल्प समाधिमें द्वैतकी प्रतीति नहीं होती।

सुषुप्ति और निर्विकल्प समाधिका भेद

सुषुप्तिमें ब्रह्माकार वृत्ति नहीं होती और निर्विकल्प समाधिमे अन्तःकरणकी ब्रह्माकार वृत्ति तो रहती है, परन्तु वृत्तिका भान नहीं रहता। सुषुप्ति होनेपर बैठा हुआ शरीर गिर पड़ता है, समाधिमे नहीं गिरता। इससे मालूम होता है कि समाधिमें अन्तःकरणकी वृत्ति रहती है। समाधिसे उठनेपर ब्रह्माकार वृत्तिकी प्रतीति होती है, इससे भी निर्विकल्प समाधिमें वृत्तिकी अनुवृत्ति अवश्य रहती है। यद्यपि निर्विकल्प समाधिमें प्रयत्न नहीं है, तथापि प्रथमके प्रबल प्रयत्नसे निर्विकल्प समाधिमे ब्रह्माकारवृत्तिका प्रवाह अवश्य रहता है। इसके अतिरिक्त सुषुप्तिमें अन्तःकरण-का लय अज्ञानमें होता है और निर्विकल्प समाधिमें जल-प्रक्षिप्त लवणकी तरह चेतनमें अन्तःकरणका लय होता है। सुषुप्तिमें आवरण रहता है, आत्मविषयक निर्विकल्प समाधिमें आवरण नहीं रहता। सुषुप्तिमें आवृत आनन्दका अनुभव होता है, निर्विकल्प समाधिमें निरावरण आनन्द-स्वरूपका अनुभव है। यम-नियमादि प्रयत्नके विना चित्तका लय निद्रा है, यम-नियमादि-प्रयत्नपूर्वक चित्तका लय समाधि है—

निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः।
प्रचारः स तु विज्ञेयः सुषुप्तेऽन्यो न तत्समः॥
लीयते हि सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते।
तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः॥

(गौडपाद प्र० ३। ३५)

निर्विकल्प समाधिके दो प्रकार

एक अद्वैतभावनारूप निर्विकल्प समाधि होती है, दूसरी अद्वैत अवस्थानरूप होती है। जो अद्वैत

ब्रह्माकार अन्तःकरणकी अज्ञात वृत्तिसहित हो वह अद्वैत-भावनारूप निर्विकल्प समाधि है। इसके अधिक अभ्याससे जब अन्तःकरणकी वृत्ति शान्त हो जाती है तब वृत्तिरहित अद्वैत-अवस्थानरूप निर्विकल्प समाधि सिद्ध होती है। जैसे तप्त लोहेपर जलकी बूँद गिरी हुई तप्त लोहेमे प्रवेश करती है, तद्वत् अद्वैतभावनारूप समाधिके दृढ़ अभ्याससे अत्यन्त प्रकाशमान ब्रह्ममे वृत्तिका लय होता है।

यहाँ यह रहस्य है कि यद्यपि अद्वैत-अवस्थानरूप समाधिमें रज-तमका तिरोधान हो चुका है, तथापि शुद्ध सत्त्वगुण विद्यमान है एव च शुद्ध सत्त्वगुणरूप उपादानमें ही वृत्तिके लयका सम्भव है, निर्विकार ब्रह्मप्रकाशमें नहीं। तप्त लोहेपर जलबिन्दुका दृष्टान्त जो कहा है, वहाँ भी विचारदृष्टिसे पार्थिव लोहेमें जलबिन्दुका लय नहीं होता किन्तु जलका उपादान जो अग्नि है उसीमे जलबिन्दुका लय होता है, तप्त लोहेमें उपचारमात्र है। तथापि ब्रह्मप्रकाशके भानरूप निमित्तसे वृत्तिका लय हुआ है, अतः उपचारसे ब्रह्मप्रकाशमें लय कहा है। अथवा उस समाधिनिष्ठ ब्रह्मविद्वरिष्ठकी दृष्टिसे गुणादिक है ही नहीं, शुद्ध ब्रह्म ही है, ब्रह्मका विवर्त ही निखिल विश्व है। अतः प्रकाशरूप ब्रह्ममे वृत्तिका लय कहा है।

चित्तवृत्तिनिरोधरूप योगके आठ उपाय भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें बतलाये है—

(१) 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'। अभ्यास तथा वैराग्यसे चित्तवृत्तिका निरोध होता है। 'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'—इस वचनसे श्रीभगवान्ने भी चित्तनिरोधके उपाय अभ्यास-वैराग्य ही कहे हैं।

(२) 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'। अथवा प्रणवजप और प्रणवके अर्थचिन्तनसे भी चित्तवृत्तिका निरोध होता है।

(३) 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य'। प्राणायामसे भी चित्तवृत्तिका निरोध होता है।

(४) नासिकाके अग्रभागमें संयम करनेसे दिव्य गन्धका प्रत्यक्ष होता है। 'त्रयमेकत्र संयमः'। किसी एक अभिमत लक्ष्यमें धारणा-ध्यान-समाधिका नाम सयम है। जिह्वाग्रमें सयमके परिपाकसे दिव्य रसका, तालुमें संयमसे दिव्य रूपका, जिह्वाके मध्यमें सयमसे दिव्य स्पर्शका, एव जिह्वाके मूलमें सयमसे दिव्य शब्दका साक्षात्कार होता है। इन गन्धादि प्रत्यक्षोंका नाम विषयवती प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति चित्तनिरोधद्वारा समाधिमें उपयोगी होती है।

(५) हृदयकमलमें सयम करनेसे चित्तका प्रत्यक्ष होता है। अस्मितामें सयम करनेसे अस्मिताका प्रत्यक्ष होता है, इस प्रत्यक्षसे भी योगीका चित्त निरुद्ध होता है।

(६) वीतराग पुरुषके चित्तके अनुकूल चलनेसे, अथवा वीतराग पुरुषोंके अन्तरङ्ग होनेसे भी चित्तका निरोध होता है।

(७) स्वप्नमे देखी हुई भगवान् महेश्वरकी मूर्तिमें सयम करनेसे भी चित्तवृत्तिनिरोधरूप योगकी सिद्धि होती है।

(८) 'यथाभिमतध्यानाद्वा'। अथवा जो देवतादिविग्रह अपनेको इष्ट हो उसीका ध्यान करे, उससे भी चित्तवृत्तिका निरोध हो जाता है। ये सक्षेपसे आठ उपाय योगके हैं।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

(यो० सू० १। ३३)

इस सूत्रमे कहे हुए मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षारूप चतुर्विध भावनाओंका इन आठ उपायोंमेंसे प्रत्येकके साथ समुच्चय है। इनका विस्तार योगदर्शनके समाधिपादमें है, यहाँ विस्तारभयसे नहीं लिखते।

निर्विकल्प समाधिके (१) लय, (२) विक्षेप, (३) कषाय, (४) रसास्वाद—ये चार विघ्न हैं। आलस्य और निद्रासे वृत्तिके अभावको लय कहते हैं। उस लयसे सुषुप्तिके समान अवस्था हो जाती है, ब्रह्मानन्दका भान नहीं होता है। अतः निद्रा-आलस्यादिक निमित्तसे जब वृत्तिका लय होता दीखे तब योगी सावधान हो, निद्रादिकोको रोककर वृत्तिको जगावे, आँखोमें जल और कपूर लगावे। इस वृत्तिके जागरणरूप प्रवाहके अनुकूल प्रयत्नको गौडपादाचार्य 'चित्तसम्बोधन' कहते हैं। 'लयात् सम्बोधयेच्चित्तम्'—यह गौडपादका वचन है।

जैसे बाज आदिके डरसे पक्षी घरमें प्रविष्ट होता है, और भयसे व्याकुल होनेके कारण घरके भीतर अपने बैठनेका स्थान न देखकर पुनः तुरन्त बाहर आकर खेदको प्राप्त होता है, वैसे ही अनात्मपदार्थोंको दुःखका हेतु जानकर

अद्वैतानन्दको विषय करनेके लिये अन्तर्मुख हुई वृत्तिको कुछ काल स्थितिके बिना चैतन्यस्वरूप आनन्दका लाभ नहीं होता, क्योंकि वृत्तिका विषय चेतन अति सूक्ष्म है। अतः वृत्ति बहिर्मुख होकर पुनः अनात्मपदार्थोंमें लग जाती है। इस रीतिसे बहिर्मुख वृत्तिको विक्षेप कहते हैं। अतः वृत्तिके अन्तर्मुख होनेपर जबतक वृत्ति ब्रह्माकार न होवे तबतक बाह्य पदार्थोंमें दोषभावना ही करे, वृत्तिको बहिर्मुख न होने दे, किन्तु अन्तर्मुखता ही स्थापन करे। विक्षेपरूप विघ्नका विरोधी जो योगीका प्रयत्न है उसे गौडपादजीने 'शम' कहा है। 'विक्षिप्त शमयेत् पुनः'—यह गौडपादजीका वचन है।

रागादिक दोषोंको 'कषाय' कहते हैं। रागादि दो प्रकारके हैं—एक बाह्य, दूसरे आन्तर। पुत्र-धनादिके प्रति वर्तमानविषयक राग-द्वेष-मोहादिक बाह्य हैं, भूत और भावीका चिन्तनरूप मनोराज्य आन्तर है। रागादिक दोष-सहित अन्तःकरण क्षिप्त है, इस क्षिप्त अन्तःकरणका योगमें अधिकार ही नहीं है। अतः रागादिक दोषरूप कषाय समाधिके विघ्न हैं, यह कहना नहीं बन सकता। तथापि इसका समाधान यह है कि बाह्य अथवा आन्तर जो रागादिक हैं वे क्षिप्त अन्तःकरणमें ही होते हैं, क्षिप्त अन्तःकरणका योगमें अधिकार है नहीं, तो भी जन्म-जन्मान्तरमें पूर्व अनुभव किये जो राग-द्वेष हैं उनके सूक्ष्म संस्कार विक्षिप्त अन्तःकरणमें भी बन सकते हैं। स्थूल राग-द्वेषादिकोंका नाम कषाय नहीं है, सूक्ष्म राग-द्वेषादिकोंके संस्कार ही 'कषाय' कहे जाते हैं। सूक्ष्म संस्कार अन्तःकरणमें रहते ही हैं। परन्तु राग-द्वेषादिकोंके उद्बुद्ध संस्कार समाधिके विरोधी हैं, अनुद्बुद्ध (अप्रकट) विरोधी नहीं हैं। योगीके अन्दर जब राग-द्वेषादिक संस्कार प्रकट हों तब वह उन्हें विषयोंमें दोषदृष्टिसे दबा दे। बाह्यविषयाकार वृत्तिको विक्षेप कहते हैं। योगीके प्रयत्नसे जब वृत्ति अन्तर्मुख हो तब जिन राग-द्वेषादिकोंके उद्बुद्ध संस्कारोंसे अन्तर्मुख हुई भी वृत्ति रुक जाय, ब्रह्माकार न हो सके, उन राग-द्वेषादिके उद्बुद्ध संस्कारोंका नाम 'कषाय' है।

रसास्वादका यह अर्थ है—योगीकी वृत्ति जब लय, विक्षेप और कषायके न होनेसे अन्तर्मुख हो तब ब्रह्म-साक्षात्कारके पहले विक्षेपकी निवृत्तिसे आनन्दाभास होता है। जैसे भारवाही पुरुषको भार उतर जानेसे आनन्द होता है। वहाँ आनन्दमें और तो कोई विषय हेतु नहीं है, पर भारजन्य दुःखकी निवृत्ति होनेसे भारवाही यह कहता है कि मुझे आनन्द हुआ है। इससे दुःखकी निवृत्ति ही आनन्दका हेतु है। वैसे योगीको समाधिमें विक्षेपकी निवृत्ति होनेसे जो आनन्द होता है उस अनुभवका नाम रसास्वाद है।

विक्षेपरूप दुःखकी निवृत्तिसे होनेवाले आनन्दके अनुभवसे ही यदि योगी तृप्त हो जावे, तो सर्व उपाधि-रहित अद्वितीय ब्रह्मानन्दाकार वृत्तिके नहीं होनेसे प्रत्यगभिन्न—निरुपाधिक ब्रह्मानन्दका अनुभव योगीको नहीं होगा। अतः विक्षेपनिवृत्तिजन्य आनन्दका अनुभवरूप रसास्वाद भी समाधिमें विघ्न है।

इष्टकी प्राप्ति न होनेपर भी विरोधीकी निवृत्तिसे आनन्दकी प्राप्ति अन्य स्थलमें भी देखी गयी है। जैसे किसी पुरुषके घरमें निधि गड़ी हुई है, उसके ऊपर पृथ्वीमें बड़ा भारी काला नाग रहता है, वहाँ उस काले नागको मार देनेसे भी आनन्द होता है। यदि वह पुरुष काले नागके मरनेसे होनेवाले आनन्दमें ही अलबुद्धि कर ले और निधि-प्राप्तिके लिये खोदनेमें प्रयत्न न करे तो निधिकी प्राप्ति नहीं होगी। वैसे ही अद्वैत ब्रह्मरूप निधि अज्ञानसे ढकी हुई है, देह-गेहादिक अनात्मपदार्थोंकी प्रतीतिरूप काला नाग है; यदि योगी अनात्मपदार्थोंकी प्रतीतिरूप (विक्षेप) नागके मरनेसे पैदा होनेवाले आनन्दमें अल-बुद्धि कर ले और अद्वितीय ब्रह्मके साक्षात्कारके लिये प्रयत्न न करे तो आवरणके भङ्ग न होनेसे योगी पुरुषार्थसे भ्रष्ट हो जायगा। अतः विक्षेपनिवृत्तिजन्य आनन्दका अनुभव-रूप रसास्वाद ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिमें विघ्न है।

अथवा सविकल्प समाधिसे होनेवाले आनन्दका नाम रसास्वाद है। यदि योगी सविकल्प समाधिसे होनेवाले आनन्दमें ही अलबुद्धि कर ले तो निर्विकल्प समाधिके आनन्दसे वञ्चित हो जावेगा। अतः निर्विकल्प समाधिका विघ्न सविकल्प समाधिजन्य आनन्दका अनुभव रसास्वाद है। अतः इस रसास्वादमें ही योगी अपनेको कृतकृत्य न माने, किन्तु असङ्ग होकर परवैराग्यके अभ्याससे निर्विकल्प समाधिके लिये ही प्रयत्न करे।

अतएव गौडपाद स्वामीजी कहते हैं—

नास्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्।
निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नतः॥

(प्र० ३। ४५)

अर्थात् लय-विक्षेपरहित एकाग्र चित्तमें निर्विकल्प समाधिके पहले जो आनन्दाभासरूप सुख उत्पन्न होता है उसके स्वादमें मग्न न हो जावे, किन्तु उसको अज्ञान-विजृम्भित-मिथ्या समझकर निःस्पृह होवे, विवेकपूर्वक असङ्ग आत्माकी ही भावना करे। सर्व दोषोंकी निवृत्ति होनेपर विद्वान्को जो निर्विकल्पक ब्रह्मविषयक समाधि होती है उसका स्वरूप भी श्रीस्वामी गौडपादजीने लिखा है—

सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः॥

(प्र० ३। ३७)

'सर्व बाह्य शब्दादि व्यवहारसे रहित, सर्व सूक्ष्म प्रपञ्चरूप चिन्तासे रहित, सम्पूर्ण अविद्यादि क्लेशोंसे रहित, सदा स्वयंप्रकाशमान, ज्योतिःस्वरूप, अचल, भयादि द्वैत-रहित स्वस्वरूपका नाम ही समाधि है।' सम्पूर्ण प्रत्ययोंसे और सब प्रकारके सम्बन्धोंसे रहित होनेके कारण इस समाधिका नाम ही असम्प्रज्ञातयोग है।

प्रश्न—अनादि-अनन्त कालसे सञ्चित अनात्मविषयक प्रत्ययोंके अनन्त होनेसे इनका अल्पकालके अल्पसंख्यक आत्मविषयक प्रत्ययोंसे निरोध नहीं बन सकता।

उत्तर—आत्मविषयक अभ्यासजन्य प्रत्ययोंके अल्प-संख्यक होनेपर भी इनका विषय आत्मा सत्य है, अतः इनसे मिथ्याविषयक अनात्मगोचर प्रत्ययोंका निरोध हो जाता है—'भूतार्थ (सत्य) पक्षपातो हि धियां स्वभावः।'

तावदेवेयमनवस्थिता भ्राम्यति न यावत् तत्त्वं प्रतिलभते।

—यह वाचस्पतिका वचन है।

निरपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः।
न बाधोऽनादिमत्त्वेऽपि क्षुद्रैस्तत्पक्षपाततः॥

यह बुधका वचन है। 'तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार-प्रतिबन्धी' (१।५०) यह पतञ्जलिका सूत्र है। इसी योगसूत्रमें 'ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितम्'—यह व्यास-भाष्यका वचन है। लाखों भेड़ोंको मारनेके लिये एक ही शेर समर्थ हो सकता है। अतः बहुत संख्यावालोंसे अल्प संख्यावालोंका बाध होता है, यह नियम नहीं है।

यहाँपर यह क्रम है—प्रथम गुरु और शास्त्रके द्वारा श्रवण किये हुए ब्रह्मस्वरूपका स्मरण करे और पुनः-पुनः आवृत्ति करता हुआ विजातीय वृत्तिके तिरस्कारपूर्वक सजातीय वृत्तिके प्रवाहको बढ़ावे, जब चित्त तैलधाराकी तरह लक्ष्यमें एकाग्र हो जाता है तब अनात्मवृत्तियोंका निरोध हो जाता है और एकाग्रताकी परिपक्वावस्थारूप समाधि (निर्विचार) योगका लाभ होता है। इस समाधियोगके परिपक्व होनेपर वैशारद्य (रजस्तमसे अनभिभूत स्वच्छ सत्त्वके स्थितिप्रवाह) का लाभ होता है। इसके अनन्तर अध्यात्मप्रसाद (यथार्थवस्तुविषयक युगपत् स्फुट प्रज्ञाका आलोक) होता है। इस अवस्थाका वर्णन करते हुए योगभाष्यमें कहा है—

प्रज्ञाप्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान्।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति॥

इस अध्यात्मप्रसादकी परिपक्व अवस्थाके लाभ होनेपर ऋतम्भरा प्रज्ञाका लाभ होता है। यह प्रज्ञा अन्वर्थ है, केवल सत्यको ही विषय करनेवाली है—विपर्यासका इसमें गन्ध भी नहीं रहता। इस अवस्थाका वर्णन करते हुए व्यासजीने योगभाष्यमें कहा है—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्॥

अर्थात् श्रवण, मनन, ध्यानाभ्यासमें पुनः-पुनः आदरसे उत्तम योग (ऋतम्भरा प्रज्ञा) की प्राप्ति होती है। यह प्रज्ञा अद्वितीयत्व-असङ्गत्वादि विशेषविषयक होनेसे श्रुत और अनुमानजन्य प्रज्ञासे अन्यविषयक है। इस तत्त्वसाक्षात्काररूप प्रज्ञाके लाभ होनेसे योगीके स्वतःसिद्ध प्रज्ञासे पुनः-पुनः नवीन-नवीन संस्कार पैदा होता है। 'तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी' (१।५०)—यह तत्त्वसाक्षात्कारजन्य संस्कार व्युत्थानसंस्कार आशयका बाध करता है। व्युत्थानसंस्कारोंके अभिभवसे अनात्म-संस्कारजन्य प्रत्ययरूप व्युत्थान नहीं होता; प्रत्ययनिरोधसे समाधि होती है, एवं समाधिसे पुनः तत्त्वप्रज्ञा होती है और उससे प्रज्ञाकृत संस्कार—इस प्रकार नवीन-नवीन संस्कार, आशय पैदा होता है, ततः प्रज्ञा, ततः संस्कारः।

प्रश्न—यह संस्कारका अतिशय चित्तको साधिकार क्यों नहीं करता?

उत्तर—ये संस्कार तत्त्वज्ञानसे पैदा हुए हैं, अतः चित्तको साधिकार अर्थात् भोगादि कार्य करनेमें समर्थ नहीं कर सकते। किन्तु ये विवेकख्यातिजन्य संस्कार क्लेशक्षय-

के हेतु हैं, अतः चित्तको भोगरूप कार्य करनेमें असमर्थ कर देते हैं। अतएव योगभाष्यमें कहा है—'ख्यातिपर्यवसान हि चित्तचेष्टितम्'। परवैराग्यसे तत्त्वज्ञान और तत्त्वज्ञानजन्य संस्कारोंका भी निरोध हो जानेपर निर्बीज समाधि होती है, इसी समाधिका नाम असम्प्रज्ञयोग है। 'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः'—इस सूत्रसे पतञ्जलि भगवान्‌ने असम्प्रज्ञयोगका ही वर्णन किया है। परवैराग्यजन्य निरोधसंस्कारोंके सहित चित्त निवृत्त हो जाता है, चित्तके निवृत्त होनेसे पुरुष स्वस्वरूपमें स्थित शुद्ध मुक्त कहा जाता है। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'—इस योगसूत्रने इसी अवस्थाका वर्णन किया है। यह योगका स्वरूप कहा।

इस योगके सामान्यतः चार भेद हैं—१ मन्त्रयोग, २ लययोग, ३ हठयोग, ४ राजयोग। मन्त्रयोगका वर्णन संक्षेपसे योगचूडामण्युपनिषद्‌में किया है—

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥
षट् शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येकविंशति।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥
अजपा नाम गायत्री योगिना मोक्षदा सदा।
अस्याः सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते॥
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति॥
(३१–३५)

योगतत्त्वोपनिषद्‌में मन्त्रयोगके विषयमें इस प्रकार कहा है—

मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत्।
क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम्॥
(२१।२२)

तुलसीदासजीने भी मन्त्रयोगकी महिमा बहुत गायी है—

नाम जीह जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी॥
साधक नाम जपहिं लय लाये। होंहि सिद्ध अनिमादिक पाये॥

पतञ्जलि भगवान्‌ने भी मन्त्रयोगका वर्णन किया है—

'तस्य वाचकः प्रणवः', 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'।
(योग० १।२७-२८)

मनु भगवान् कहते हैं—

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान्॥
(२।८२)

जप्येनैव तु संसिद्ध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः।
(२।८७)

'जो पुरुष प्रतिदिन आलस्यादिरहित होकर प्रणव-व्याहृतिके सहित गायत्रीमन्त्रका जप तीन वर्षपर्यन्त नियमसे करता है, सो वायुकी तरह स्वतन्त्र गतिवाला होता है, और परब्रह्मको प्राप्त होता है।'

'पवित्र मन्त्रके जपसे ही ब्राह्मण सिद्ध होता है, इसमें सन्देह नहीं है।'

यस्तु द्वादशसाहस्रं प्रणवं जपतेऽन्वहम्।
तस्य द्वादशभिर्मासैः परं ब्रह्म प्रकाशते॥
(संन्यासोपनिषद्)

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हस हंसेति मन्त्रोऽयं सर्वैर्जीवैश्च जप्यते॥
गुरुवाक्यात् सुषुम्नायां विपरीतो भवेज्जपः।
सोऽहं सोऽहमिति प्रोक्तो मन्त्रयोगः स उच्यते।
प्रतीतिर्मन्त्रयोगाच्च जायते पश्चिमे पथि॥
(योगशिखोपनिषद् १।१३०–१३२)

मन्त्रयोगसे पश्चिमपथ (सुषुम्ना) का दर्शन होता है। सुषुम्नादर्शनसे चित्तस्थितिद्वारा तत्त्वसाक्षात्कार ही मन्त्रयोगका फल है, अर्थात् 'सोऽहम्' इत्यादि मन्त्रजप करते-करते जो चित्तवृत्तिका निरोध होता है उसका नाम मन्त्रयोग है। मानस जप और मौखिक जप न हो सके तो लेखात्मक जप करे, इससे भी मन स्थिर हो जाता है।

लययोग

लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः।
गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् भुञ्जन् ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम्॥
स एव लययोगः स्यात्.....।
(योगतत्त्वोपनिषद् २३-२४)

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः॥
(हठयोगप्रदीपिका ४।२९)

'इन्द्रियोंका नाथ (स्वामी) मन है, और मनका स्वामी प्राण है, प्राणका नाथ मनका लय है, मनका लय

नादके श्रवणसे होता है।' अर्थात् षण्मुखी मुद्रामे (अपने दो अँगूठोंसे कान, दो तर्जनियोंसे आँख, दो मध्यमाओंसे नाक, बाकी अँगुलियोंसे मुख बन्द करके आधी रात्रिके बाद आन्तर शब्दमें मनको लगाना) मनका लय करे।

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम्।
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत्॥
कर्पूरमनले यद्वत् सैन्धवं सलिले यथा।
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते॥
(४।८३, ५९)

'लयो विषयविस्मृतिः', 'निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्', 'भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते, विलापयेदित्यर्थः'। (४।३४, ५०, ४८)

—इत्यादि हठयोगप्रदीपिकामे लययोगका विस्तारसे वर्णन किया है।

सङ्कल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं
सङ्कल्पमात्रकलनैव मनोविलासः।
सङ्कल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्प-
माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम्॥

—इत्यादि योगवासिष्ठमे भी विस्तारसे लययोगका वर्णन है।

पवनः स्थैर्यमायाति लययोगोदये सति।
लयात्सम्प्राप्यते सौख्यं स्वात्मानन्दं परं पदम्॥
(योगशिखोपनिषद्)

निर्विकल्पे निराधारे निराकारे निरञ्जने।
सर्वभूतलयं दृष्ट्वा भूतसिद्धिः प्रजायते॥

हठयोग

हठयोगमतः शृणु।
यमश्च नियमश्चैव आसनं प्राणसंयमः॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं भ्रूमध्यमे हरिम्।
समाधिः समतावस्था साष्टाङ्गो योग उच्यते॥
लब्धाहारो यमेष्वेको मुख्यो भवति नेतरः॥
अहिंसा नियमेष्वेका मुख्या वै चतुरानन!।
(२४-२५, २८, २९)

—इत्यादि हठयोगका प्रतिपादन योगतत्त्वोपनिषद्में किया गया है। इन अंगोंका वर्णन 'योगदर्शन', 'हठयोग-प्रदीपिका', 'घेरण्डसंहिता' आदि योगग्रन्थोंमे विस्तारसे किया गया है। यहाँ लेखविस्तारके भयसे यमादिका वर्णन नहीं करते।

अथवा—

हकारेण तु सूर्यः स्याद् सकारेणेन्दुरुच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते॥
हठेन ग्रस्यते जाड्यं सर्वदोषसमुद्भवम्।
क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं तदा भवेत्॥
(योगशिखोपनिषद्)

सूर्य नाम दक्षिण स्वरका है, चन्द्र नाम वाम स्वरका है, दोनोंकी समताका नाम हठयोग है। अर्थात् नाभिसे उठकर नासिकाके अग्रभागसे बारह अङ्गुलपर्यन्त प्राण-वायु बाहर जाता है, पुनः लौटकर नाभिमे प्राणवायु आता है, इस प्रकार प्राणवायुकी स्वाभाविक गति है।

प्राणायामके बलसे योगी प्राणवायुकी गतिको एक-एक दो-दो अङ्गुल क्रमशः घटावे, जब द्वादश अङ्गुल बाहरकी गति बन्द हो जाय और केवल नासिकाके भीतर ही दोनो स्वर सम होकर सुषुम्नासे जिस अवस्थामे प्राण चले उस अवस्थाका नाम 'हठ' है। इस अवस्थाका वर्णन श्रीभगवान्‌ने गीतामें भी किया है—

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥ इत्यादि।

अथवा प्राणनिरोधद्वारा मनका निरोध हठयोग है, और मनके निरोधद्वारा प्राणका निरोध राजयोग है।

राजयोग

मन्त्रयोग, लययोग, हठयोगका फल राजयोग है। आत्मनिष्ठा, ब्रह्मनिष्ठा, राजविद्या, राजगुह्य, महायोग, अस्पर्शयोग, सांख्ययोग, अध्यात्मयोग, ज्ञानयोग, राजाधि-राजयोग इत्यादि अनेक नाम राजयोगके हैं। १ विवेक २ वैराग्य ३ षट्सम्पत्ति ४ मोक्षकी इच्छा ५ श्रवण ६ मनन ७ निदिध्यासन ८ तत्पदार्थ, त्वं पदार्थका शोधन-रूप आठ अङ्गोंसे प्रत्यगभिन्न ब्रह्मविषयक निर्विकल्प समाधिरूप राजयोगकी सिद्धि होती है। कर्मयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग भी राजयोगके अङ्ग हैं। त्रिशिखिब्राह्मणोप-निषद्में राजयोगके १ यम २ नियम ३ आसन ४ प्राणायाम ५ प्रत्याहार ६ धारणा ७ ध्यान ८ समाधि, ये आठ अङ्ग कहे हैं, इन यमादिका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः ॥
अनुरक्तिः परे तत्त्वे सततं नियमः स्मृतः ।
सर्ववस्तूदासीनभावमासनमुत्तमम् ॥
जगत्सर्वमिदं मिथ्याप्रतीतिः प्राणसंयमः ।
चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारस्तु सत्तम ॥
चित्तस्य निश्चलीभावो धारणा धारणं विदुः ।
सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते ॥
ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक् समाधिरभिधीयते ।
(२८–३२)

अर्थात् देहादिमें वैराग्य यम है । निरन्तर परतत्त्वमें अनुरक्तिका नाम नियम है । सर्व वस्तुओंमें उदासीनता आसन है । जगत्में मिथ्यात्वनिश्चय प्राणायाम है । चित्तकी अन्तर्मुखता प्रत्याहार है । चित्तका तत्त्वमें निश्चलभाव धारणा है । 'चिन्मात्र ब्रह्म ही मैं हूँ'—इस चिन्तनका नाम ध्यान है । ध्यानकी अच्छी तरह विस्मृति अर्थात् केवल संस्कारशेष अवस्था समाधि है ।

तेजोबिन्दूपनिषद्में राजयोगके पन्द्रह अङ्ग कहे गये हैं ।

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालतः ।
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः ॥
प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा ।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात् ॥
सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥
(१ । १५–१७)

(१) 'सम्पूर्ण ब्रह्म ही है'—इस ज्ञानसे जो इन्द्रिय-ग्रामका संयम है, सो ही यम है । इस यमका जिज्ञासुको पुनः पुनः अभ्यास करना चाहिये ।

(२) सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः ।
नियमो हि परानन्दो नियमाल्लिप्यते बुधैः ॥
(१ । १८)

'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्तिका सजातीय प्रवाह और विजातीय वृत्तियोंका तिरस्कार नियम है । इसका विद्वान्लोग नियमसे अनुष्ठान करते हैं ।

(३) त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षप्रदायकः ।
(१ । १९)

अनात्मचिन्ताका न करना ही त्याग है । यह महान् पुरुषोंका पूज्य है, शीघ्र मोक्षको देनेवाला है ।

(४) ब्रह्म मन-वाणीका अगोचर है और 'नेति-नेति' श्रुतिप्रमाणसे अनात्मा वस्तुतः है नहीं, इस निश्चयको मौन कहते हैं ।

इति वा तद्भवेन्मौनं सर्वं सहजसंज्ञितम् ।
गिरा मौनं तु बालानामयुक्तं ब्रह्मवादिनाम् ॥
(५) आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्न विद्यते ।
येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः ॥
(१ । २२-२३)

वस्तुतः जिसमें सर्वथा सर्वदा कोई भी मनुष्यादि प्रपञ्च नहीं है, सर्वका विवर्ताधिष्ठान होनेसे जो सर्वत्र सर्वदा विद्यमान है उस अपने आत्माको ही योगियोंने अभ्यासके लिये निर्जन एकान्त देश कहा है ।

(६) कल्पना सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां निमेषतः ।
कालशब्देन निर्दिष्टं ह्यखण्डानन्दमद्वयम् ॥
(१ । २४)

ब्रह्मादि सर्वभूतोंकी जिसमें क्षणभरमें कल्पना होती है ऐसा अखण्ड आनन्द अद्वितीय ब्रह्म ही अभ्यासके योग्य काल है । अर्थात् अभ्यासीको देश-कालकी भ्रान्तिका त्याग करना चाहिये ।

(७) सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम् ।
आसनं तद्विजानीयादन्यत्सुखविनाशनम् ॥
(१ । २५)

यद्यपि आसन चौरासी लक्ष हैं, उनमें ८४ आसन प्रधान हैं, चौरासी आसनोंमें भी १ सिंह २ भद्र ३ पद्म ४ सिद्ध, ये चार आसन प्रधान हैं; इनमें भी सिद्धासन अत्यन्त प्रधान है । सिद्ध आसनका यह लक्षण है—वाम पादकी एड़ीको उपस्थके ऊपर दबाकर धरे, और वाम पैरके जाँघ और ऊरुके बीचमें दक्षिण पैरके पंजेको दबाके रक्खे, और भृकुटीके ऊपर दृष्टि रक्खे, और स्थाणुकी तरह सरल निश्चल शरीर करे । इसका नाम सिद्धासन है । तथापि जिस आसनसे सुखपूर्वक निरन्तर ब्रह्मका चिन्तन हो सके वही आसन योगीको उपादेय है । अर्थात् जिस स्थितिमें एकाग्र मन ब्रह्मचिन्तन कर रहा हो, उस स्थितिको न बदले । स्थिति बदलनेपर एकाग्रताका सुख नष्ट हो जायगा । वस्तुतः जो सम्पूर्ण सिद्धोंकी सिद्धिका निमित्त है, जो सर्वभूतोंका आदि है, जो विश्वका अधिष्ठान है, वही अद्वितीय ब्रह्म सिद्धासन है—

सिद्धये सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमद्वयम् ।
यस्मिन् सिद्धिं गताः सिद्धास्तत्सिद्धासनमुच्यते ॥

(८) यन्मूलं सर्वलोकानां यन्मूलं चित्तबन्धनम्।
मूलबन्धः सदा सेव्यो योग्योऽसौ ब्रह्मवादिनाम्॥
(१।२६-२७)

जो सर्वलोकोंका मूल है, जो चित्तनिरोधका मूल है, सो यह आत्मा ही ब्रह्मवादियोंको सदा सेवन करना चाहिये। यही मूलबन्ध है, अन्य गुदासंकोचरूप मूलबन्ध जिज्ञासुको सेव्य नहीं है।

(९) अङ्गानां समतां विद्यात्तस्मे ब्रह्मणि लीयते।
नोचेन्नैव समानत्वमृजुत्वं शुष्कवृक्षवत्॥
(१।२८)

अपने हस्तादि सम्पूर्ण अंगोंको ब्रह्मरूप समझे, इस प्रकार समझनेवाला योगी ब्रह्ममें ही लीन होता है। इस ज्ञानके बिना केवल कटि आदि अंगोंकी समता या ऋजुता शुष्कवृक्षकी सरलताकी तरह व्यर्थ है।

(१०) दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद्ब्रह्ममयं जगत्।
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी॥
(१।२९)

ज्ञानदृष्टिसे सम्पूर्ण जगत्को ब्रह्मरूप देखे, यही दृष्टि परम उदार मोक्षको देनेवाली है, नासिकाके अग्रभागको विषय करनेवाली दृष्टि मुमुक्षुको कर्तव्य नहीं है। नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि करनी चाहिये, इसका यह भाव है कि यदि योगी नेत्रोंको अधिक खोलेगा तो विक्षेप होगा, यदि सर्वथा नेत्र बन्द करेगा तो आलस्यादिसे चित्तका लय होगा, अतः योगी शाम्भवी मुद्रासे स्थित रहे, भ्रकुटीके मध्यमें आन्तरतत्त्वमें लक्ष्य रक्खे, नेत्रोंको किञ्चित् खुला रक्खे, इसको शाम्भवी मुद्रा कहते हैं।

(११) चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात्।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायाम स उच्यते॥
(१।३१)

'चित्तादि सर्व पदार्थोंमें ब्रह्मभावनाके परिपाकसे सर्ववृत्तियोंका निरोध हो जाता है और सर्ववृत्तियोंके निरोधसे प्राणका भी निरोध होता है। यही मुख्य प्राणायाम है।'

'नेति-नेति' श्रुतिके बलसे प्रपञ्चका अभाव निश्चय करना रेचक प्राणायाम है। 'ब्रह्मैवाहमस्मि'—इस वृत्तिका नाम पूरक है। 'ब्रह्मैवाहमस्मि'—इस वृत्तिकी निश्चलता कुम्भक प्राणायाम है, ब्रह्मनिष्ठोंका यही प्राणायाम है। केवल नाक दबाकर प्राणोंका रोकना अज्ञानियोंका प्राणायाम है।

निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरितः।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरुच्यते॥
ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः।
अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां घ्राणपीडनम्॥

(१२) विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चित्तरञ्जकम्।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः॥
(१।३२—३४)

'सम्पूर्ण विषयोंमें आत्मदृष्टि करनेसे जो चित्तका सन्तोष और शान्ति होती है वही प्रत्याहार है, यही प्रत्याहार योगीके द्वारा अभ्यास करने योग्य है।'

(१३) यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्।
मनसा धारणं चैव धारणा सा परा मता॥
(१।३५)

जहाँ-जहाँ मन जावे वहाँ-वहाँ ब्रह्मदर्शन, यही उत्तम धारणा है।

(१४) ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्यां निरालम्बतया स्थितिः।
ध्यानशब्देन विख्यातः परमानन्ददायकः॥
(१।३६)

अन्य विषयशून्य जो 'ब्रह्मैवाहमस्मि' वृत्तिकी एकतानता है, यही ध्यान है। यह ध्यान परमानन्दका देनेवाला है।

(१५) निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिरभिधीयते॥
(१।३७)

निर्विकार अद्वितीय ब्रह्माकारवृत्तिकी स्थितिके अनन्तर परिणामित्वादि दोषदर्शनपुरःसर परवैराग्यसे जो सर्वथा वृत्तिका विस्मरण और विलय है, सो संस्कारशेष अवस्था समाधि है। इस समाधिका तबतक पूर्णतया अभ्यास होना चाहिये, जबतक सम्पूर्ण विषयशून्य ब्रह्मका प्रत्यक् स्वस्वरूपसे स्फुरण न हो जाय। एव योगचूडामणि उपनिषद्में राजयोगके आसनादि ६ ही अङ्ग कहे हैं। एवं श्रीजाबालोपनिषद्, योगतत्त्वोपनिषद्, योगशिखोपनिषद् आदिमें भी राजयोगका विस्तारसे वर्णन किया है। यहाँ विस्तारके भयसे नहीं लिखते हैं।

अहमेव परं ब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः।
समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः॥
दान स्वधर्मो नियमो यमश्च
श्रुत च कर्माणि च सव्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
परो हि योगो मनसः समाधिः॥

योगसाधन-रहस्य

(लेखक—स्वामी श्रीदयानन्दजी)

र्यशास्त्रमें भक्तिको उपासनाका प्राण और योगको उपासनाका शरीर कहा गया है। जिस प्रकार विना प्राणके शरीर रह नहीं सकता, उसी प्रकार विना भक्तिके उपासना बन ही नहीं सकती, इस कारण भक्ति उपासनाका प्राण है। शरीरके विना जिस तरह शरीरी आत्माका भोग असम्भव है उसी प्रकार योगकी शैलीके विना उपासनाका कोई साधन बन ही नहीं सकता। इसी कारण योगको उपासनाका शरीर कहा है। आवरण, विक्षेप आदि भावोंसे अन्तःकरणके युक्त रहनेसे परमात्माका स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता, इस कारण सर्वव्यापी परमात्मा जीवके अन्तःकरणमें विराजमान रहनेपर भी उससे दूर हो जाते हैं, अथवा यह कहिये कि, अन्तःकरणरूप जलाशय सदसद्वृत्तियोंसे तरङ्गायित और आलोडित रहनेके कारण परमात्मारूपी सूर्यका यथार्थ स्वरूप उस जलाशयमें दिखायी नहीं पड़ता। जब साधनकी सुकौशलपूर्ण क्रियाद्वारा उस जलाशयरूपी अन्तःकरणका वृत्तिरूपी तरङ्ग एकबार ही शान्त हो जाता है तभी सूर्यप्रतिबिम्ब अथवा अपना मुख दर्शक उसमें देख सकता है। अत. योगशास्त्रमें कहा है—

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'

'तदा द्रष्टु. स्वरूपेऽवस्थानम्'

चित्तवृत्तिनिरोधकी सुकौशलपूर्ण क्रियाओंको योग कहते हैं। योगक्रियाद्वारा क्रमशः अन्तःकरणकी वृत्तियाँ शान्त होते-होते जब एकबारगी ही शान्त हो जाती हैं उस अवस्थाका नाम योगयुक्त अवस्था है। उसी अवस्थामें द्रष्टा अर्थात् परमात्मा अपने यथार्थ स्वरूपमें प्रकट हो जाते हैं। हम यह दिखा चुके हैं कि, चित्तवृत्तियोंके चाञ्चल्यके कारण सर्वव्यापक तथा जीव-हृदय-विहारी परमात्मा जीवके हृदयसे छिप जाते हैं, यही उनका जीवसे दूर हट जाना है। जिन-जिन साधनोंके द्वारा इस प्रकार दूर हटे हुए परमात्मासे अनाथ हुआ जीव उनके निकट होकर सनाथ हो जाता है उन्हींको उपासना कहते हैं, अर्थात् उप—समीपे, आस्यते—प्राप्त होता है, अनया—इस साधनके द्वारा, इति उपासना। अत. जिन-जिन क्रियाओंके अवलम्बनसे परमात्माके निकट होनेमें जीव समर्थ होता है, उन्हींको उपासना कहते हैं और जब चित्तवृत्तिनिरोध होते-होते उसकी पूर्णावस्थामें परमात्मा अन्तःकरणमें प्रकट होकर जीवके निकटस्थ हो जाते हैं तो यह मानना ही पड़ेगा कि, उपासनापक्षमें सर्वथा सर्वरूपसे सहायक योग उपासनाका शरीररूप है।

योगशास्त्रमें व्युत्थान दशासे लेकर निरोध दशापर्यन्त चित्तकी पाँच भूमियाँ बतायी गयी हैं, यथा मूढ, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। चित्तकी मूढ भूमि वह कहलाती है जिसमें चित्त सदसद्विचारहीन होकर, आलस्य, विस्मृति आदिके वश होकर बेलगाम घोड़ेकी तरह कुछ-से-कुछ करता रहता है। यह भूमि तमोगुणकी है। चित्तकी रजोगुणमयी दूसरी भूमिका नाम क्षिप्त है। इसमें चित्त किसी एक कार्यमें लगकर बुद्धिकी सहायतासे विचार करता हुआ किसी लक्ष्यका साधन करता रहता है। यथा—लगामवाला घोडा या विचारवान् प्रवृत्तिपर मनुष्योंके चित्तकी भूमि। चित्तकी तीसरी भूमिका नाम विक्षिप्त है। यह भूमि सत्त्वगुणकी है और क्षिप्तसे विशिष्टतायुक्त होनेसे ही इसका नाम विक्षिप्त है। इस भूमिमें चित्त सुख, दुःख, विचार, आलस्य, रजोगुण, तमोगुण आदिसे पृथक् होकर शून्य हो जाता है और उसमें कोई भी चिन्ता नहीं रहती है। इस भूमिका उदय महात्माओंमें अधिक और सांसारिक जीवोंमें कभी-कभी बहुत थोडी देरके लिये होता है। तदनन्तर चित्तकी जो दो भूमियाँ हैं वे साधन अवस्थाकी हैं। इनमेंसे एकाग्र भूमिमें ध्याता ध्यानयोगके द्वारा ध्येय वस्तुमें चित्तको ठहरानेका प्रयत्न करता है जिसके लिये भगवान् श्रीपतञ्जलिजीने यम, नियम, आसन, प्राणायामादि अष्टाङ्गयोगरूप साधारण उपाय और ईश्वरप्रणिधान, अभिमतध्यान, स्वप्ननिद्राज्ञानावलम्बन, ज्योतिष्मती विशोकादर्शन आदि कई असाधारण उपाय बताये हैं। इस प्रकार साधारण तथा असाधारण उपायोंके द्वारा एकाग्र भूमिमें उन्नति लाभ करके अन्तमें जब साधकके चित्तमें ध्याता, ध्यान, ध्येयरूपी त्रिपुटीका विलय साधन होता है तभी अन्तिम भूमिरूप निरुद्ध भूमिका उदय होता है। इसी निरुद्ध भूमिमें ही योगी क्रमशः सम्प्रज्ञात समाधि-

की चार अवस्थाओंको अतिक्रम करके अन्तमें सिद्धावस्थाको प्राप्तकर मुक्त हो जाता है। अतः अधिकारानुसार चाहे कोई किसी रास्तेसे ही चले योगशास्त्रकी बतायी हुई एकाग्र भूमिसे निरुद्ध भूमिमें पहुँचनेका नाम ही साधन है।

चित्तवृत्तिनिरोध करनेवाली सुकौशलपूर्ण जितनी क्रियाएँ हैं उन्हींको पूज्यपाद महर्षियोंने अनेक गवेषणा करके निश्चय कर दिया है कि चित्तवृत्तिनिरोध करनेवाली क्रियाशैलीको चार भागोंमें विभाजित कर सकते हैं और चित्तवृत्तियोंको निरोध करनेके मार्गको आठ सोपानों अथवा आठ मार्गविभागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यह संसार नामरूपात्मक है अर्थात् परिदृश्यमान संसारका कोई भी अङ्ग नामरूपसे बचा हुआ नहीं है। इसी कारण नामरूपमें फँसकर ही जीव बद्ध होता है। चित्तकी वृत्तियाँ भी नामरूपके ही अवलम्बनसे अन्तःकरणको चञ्चल किया करती हैं। अतः जहाँ मनुष्य गिरता है उसी भूमिको पकड़कर उठना चाहिये। अस्तु, नामरूपके अवलम्बनसे चित्तवृत्तिनिरोधकी जितनी क्रियाएँ हैं उनको मन्त्रयोगके अन्तर्गत करके महर्षियोंने वर्णित किया है।

हठयोगका ढंग कुछ और ही है। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीरका ही परिणाम है। इस कारण स्थूल शरीरका प्रभाव सूक्ष्म शरीरपर बराबर समानरूपसे पड़ता है। अतः स्थूल शरीरके अवलम्बनसे सूक्ष्म शरीरपर प्रभाव डालकर चित्तवृत्तिनिरोध करनेकी जितनी शैलियाँ हैं उनको हठयोग कहते हैं।

लययोगका ढंग कुछ और ही विचित्र है। जीवशरीररूपी पिण्ड और समष्टिसृष्टिरूपी ब्रह्माण्ड ये दोनों समष्टि-व्यष्टिसम्बन्धसे एक ही हैं। अतः दोनोंको एक समझकर अपने भीतर जो प्रकृतिशक्ति है उसे अपने शरीरस्थ पुरुषभावमें लय करनेकी जो शैली है और उसके अनुयायी जितने साधन हैं उनको लययोग कहते हैं।

राजयोगका अधिकार सबसे बढ़कर है। मनकी क्रिया मनुष्यको फँसाती है और बुद्धिकी क्रिया मनुष्यको मुक्त करनेमें सहायक होती है, यही कारण है कि अज्ञानसे जीव बन्धनको प्राप्त होता है और ज्ञानसे मुक्त होता है। अतः बुद्धिक्रियारूपी विचारद्वारा चित्तवृत्तिनिरोधकी जो शैली है उसको राजयोग कहते हैं।

योगमार्गके आठ सोपानरूप आठ अङ्गोंमेंसे चार बहिरङ्ग और चार अन्तरङ्ग कहाते हैं। यम, नियम, आसन और प्राणायाम ये चार बहिरङ्ग हैं और प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये चार अन्तरङ्ग हैं। बहिर् और अन्तरङ्गको मिलानेवाला प्रत्याहार अङ्ग है। जीव बहिरिन्द्रिय और अन्तरिन्द्रियमें फँसकर बद्ध रहता है। इस कारण बहिरिन्द्रिय और अन्तरिन्द्रियसे वीतराग करानेके जो अभ्यास हैं उनको यथाक्रम यम और नियम कहते हैं। इन दोनोंकी क्रियाशैली विभिन्न आचार्योंके मतानुसार विभिन्न प्रकारकी है। इस प्रकारसे यम और नियमके साधनोंसे उपासना-काण्डका साधक योगसाधनका अधिकारी बनता है। और तृतीय सोपानमें वह अपने शरीरको योगोपयोगी करता है। मीमांसाका यह सिद्धान्त है कि चाञ्चल्यसे बन्धन और धैर्यसे मुक्ति होती है। अतः शरीरको धैर्ययुक्त करनेकी जो शैली है उसको आसन कहते हैं। शरीरको धैर्ययुक्त करनेके अनन्तर प्राणको धैर्ययुक्त करनेकी जो शैली है उसे प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम चतुर्थ अङ्ग है। प्राणायाम अङ्गके साधनके अनन्तर साधकको योगके अन्तरङ्ग साधनका अधिकार प्राप्त होता है क्योंकि मन और वायु दोनों कारण और कार्यरूपसे एक ही हैं। प्रत्याहार साधनके द्वारा साधक अपनी बहिर्दृष्टिको बहिर्जगत्से हटाकर अन्तर्जगत्में ले जाता है। कूर्म जिस प्रकार अपने अङ्गोंको समेट लेता है उसी प्रकार प्रत्याहाररूपी पञ्चम अङ्गके साधनसे उन्नत साधक बहिर्विषयसे अपनी विषयवती प्रवृत्तिको अन्तर्राज्यमें खींचकर बहिर्जगत्से अन्तर्जगत्में पहुँच जाता है। यही योगका पञ्चम अङ्ग है। अन्तर्जगत्में पहुँचकर सूक्ष्म अन्तर्राज्यके किसी विभागका अवलम्बन करके अन्तर्राज्यमें ठहरे रहनेको ही धारणा कहते हैं। इस प्रकारसे षष्ठ अङ्गरूपी धारणा साधनद्वारा योगी जब अन्तर्राज्यको जय कर लेता है तब बहिः और अन्तर्राज्यके द्रष्टा परमात्माके सगुण तथा निर्गुण रूपके ध्यान करनेकी शक्ति योगीको प्राप्त होती है। उस समय ध्याता, ध्यान और ध्येयरूपी त्रिपुटीके सिवा और कुछ नहीं रहता है। यही योगका सप्तम अङ्ग है। तत्पश्चात् ध्याता, ध्यान, ध्येयरूपी त्रिपुटीका जब विलय हो जाता है और ध्याता ध्यानमें मिलकर दोनों ध्येयमें लय हो जाते हैं उसी द्वैतभावरहित वृत्तिनिरोधकी अन्तिम अवस्थाको समाधि कहते हैं। यही योगका अष्टम अङ्ग है। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चारों क्रियासिद्धान्तोंकी जो क्रियाशैली पूज्यपाद महर्षियोंने कही है वे सब इन्हीं आठ अङ्गोंकी सहायतासे निर्णीत हुई हैं। भेद

इतना ही है किसीमें किसी अङ्गका विस्तार है और किसीमें किसी अङ्गका सङ्कोच है। इस प्रकारसे साधक एकके बाद दूसरा सोपान, दूसरेके बाद तीसरा सोपान इस प्रकारसे सोपान अतिक्रम करता हुआ अष्टम सोपानरूपी सविकल्प समाधिमें पहुँच जाता है और तदनन्तर निर्विकल्प समाधिमें पहुँचकर स्वरूप-उपलब्धि करनेमें समर्थ हो जाता है। निर्विकल्प समाधिप्राप्त योगी शारीरिक सर्व कर्म करता हुआ भी कुछ भी नहीं करता। तब वह चाहे स्वरूपस्थित रहे, चाहे व्युत्थान दशाको प्राप्त होकर कर्ममें प्रवृत्त हो, सब अवस्थाओंमें निर्विकल्प भावमें स्थित रहनेके कारण अद्वैतभावमें स्थिर रहता है। इसी दशाको जीवन्मुक्त दशा कहते हैं। इसीको अद्वैतस्थिति, इसीको परज्ञानकी दशा और इसीको पराभक्तिकी दशा भी कहते हैं। भिन्न-भिन्न विचारके अनुसार ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। उपासनाकी प्राणरूपिणी भक्ति और उपासनाके शरीररूपी योगका यही अन्तिम लक्ष्य है।

इन शास्त्रीय वचनोंका तात्पर्य यह है कि चित्तवृत्ति-निरोधद्वारा जो अवस्था प्राप्त होती है और जिस अवस्थामें जीवात्मा और परमात्माका एकीकरण होकर स्वरूपकी प्राप्ति होती है ऐसे साधनको योग कहते हैं। इन वचनोंसे यही सिद्धान्त निकलता है कि चित्तवृत्तियोंका जबतक निरोध नहीं होता है तबतक जीवकी पृथक् सत्ता विद्यमान रहती है। परन्तु चित्तवृत्तिका जितना-जितना निरोध होता जाता है उतना-उतना ही अज्ञानमूलक जीवत्वका नाश होकर स्वरूपका विकास होता है और चित्तवृत्तिके सम्पूर्णरूपसे निरुद्ध हो जानेपर जीवके जीवत्वका कारण नष्ट हो जाता है और तभी स्वरूपका पूर्ण विकास होता है। मन्त्रयोगकी सिद्धावस्थारूपी महाभाव समाधिमें और हठयोगकी सिद्धावस्थारूपी महाबोध समाधिमें और लययोगकी सिद्धावस्थारूपी महालय समाधिमें साधकको जो सफलता प्राप्त होती है उन सफलताओंसे साधकको चित्तवृत्तिके निरोध करनेमें बहुत कुछ सहायता मिलती है। इन तीनों सविकल्प समाधियोंकी दशामें साधक लौकिक पुरुषार्थद्वारा चित्तवृत्तियोंको दबाकर निरोध करनेमें समर्थ होता है। इन तीनों सविकल्प समाधियोंकी दशामें पूर्णरीत्या न चित्तवृत्तियोंका विलय होता है और न उनका मूलनाश ही हो सकता है। मन्त्र और इष्टदेवके रूपके एकीकरणद्वारा मन्त्रयोगकी महाभाव समाधिका उदय होता है। वायु-निरोधद्वारा हठयोगकी महाबोध नामक समाधिका उदय होता है और नाद और विन्दुके एकीकरणसे लययोगकी महालय नामक समाधिका उदय होता है। ये तीन समाधियाँ लौकिक उपायसम्भूत होनेसे, हठपूर्वक अनुष्ठित होनेसे और ज्ञानसम्बन्धरहित होनेसे यद्यपि बलपूर्वक चित्तवृत्तिनिरोध करनेमें समर्थ होती हैं, तथापि चित्तवृत्तिके मूलोच्छेदमें समर्थ नहीं होतीं। अतः इन तीनों समाधि-दशाओंमें वृत्तियोंका पुनरुत्थान होना सम्भव है। साधक इन तीनोंमेंसे किसी समाधिको प्राप्त करके जब योगकी उन्नत भूमिमें पहुँच जाता है, तभी वह देवदुर्लभ साधनकी उन्नत अवस्थाको प्राप्त करके राजयोगका अधिकारी बन जाता है। वस्तुतस्तु, मन्त्रयोग, हठयोग और लययोग जहाँ समाप्त होते हैं, राजयोगका श्रेष्ठ अधिकार वहींसे प्रारम्भ होता है।

राजयोगके साधनक्रमकी समालोचना करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि प्रथम परम भाग्यवान् राजयोगी सप्त दर्शनोक्त सप्त ज्ञानभूमियोंको एकके बाद दूसरी इस तरह क्रमशः अतिक्रम करता हुआ जैसे मनुष्य सोपानद्वारा छतपर चढ़ जाता है, उसी प्रकार सप्त ज्ञानभूमियोंका रहस्य समझ जाता है। यही राजयोगोक्त सोलह अङ्गोंमेंसे प्रथम सप्ताङ्गोंका साधनक्रम है। इसके अनन्तर सौभाग्यवान् योगी सत् और चित् भावपूर्ण प्रकृति-पुरुषात्मक दो राज्योंके दर्शन करके उनकी धारणासे अनन्त रूपमय प्रपञ्चकी विस्मृति सम्पादन करनेमें समर्थ होता है। यही राजयोगके अष्टम और नवम अङ्गका साधनक्रम है। उसके अनन्तर वह योगिराज परिणामशील प्रकृतिके स्वरूपको सम्पूर्णरूपसे परिज्ञात होकर ब्रह्म, ईश और विराट्रूपमें अद्वितीय ब्रह्मसत्ताका दर्शन करके ध्यानभूमिकी पराकाष्ठाको पहुँच जाता है। यही राजयोगोक्त सोलह अङ्गोंमेंसे दशम, एकादश और द्वादश अङ्गोंका साधनक्रम है। इसके अनन्तर परम भाग्यवान् योगाचार्य यथाक्रम वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत इन चारों आत्मज्ञानयुक्त (ये चारों समाधिकी दशाएँ पूर्वकथित मन्त्र-हठ-लययोगोक्त महाभाव, महाबोध, महालय समाधिसे विभिन्न हैं) समाधि दशाको अतिक्रमण करते हुए स्वस्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। इसी दशाको जीवन्मुक्ति दशा कहते हैं। यही सब प्रकारके योगसाधनोंका अन्तिम लक्ष्य है। यही उपासनाराज्यकी परिधि है और यही वेदान्तका चरम सिद्धान्त है।

आत्मज्ञान प्राप्त करनेका सरल उपाय—योग

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीगोपालचैतन्यदेवजी महाराज)

परम करुणामय श्रीश्रीसद्गुरु महाराजकी असीम कृपासे सञ्जीवित होकर आत्मस्वरूप अपने परमप्रिय सुधी 'कल्याण' के प्रेमी पाठकोंको परम कल्याणके मार्गपर चलनेकी विधियाँ बतलानेके लिये तैयार हुआ हूँ। यद्यपि मैं जानता हूँ कि यह विषय विशेष गूढ-शास्त्रतत्त्व, भावतत्त्व और साधन-तत्त्वसे पूर्ण होना चाहिये, तथापि मालूम नहीं अन्तरात्माने किसकी प्रेरणासे अनुप्राणित होकर मुझ-सदृश मूढ और गँवारसे लेखनी उठवायी है। यदि इस प्रबन्धमें कोई भूल-चूक हो तथा भाषासम्बन्धी दोष हों तो प्यारे सुधी पाठक उस ओर ध्यान न दे केवल क्रियाओंको विधिवत् करनेकी चेष्टा करें। मेरा विश्वास है कि वे स्वयं मेरी बातोंकी सत्यताका अनुभव करते हुए परमानन्दावस्था प्राप्त करेंगे। हाँ, मूल विषयपर आनेके पूर्व कुछ अपने जीवनका हाल लिखनेके लिये मैं विवश हो गया हूँ; क्योंकि पहले-पहल मुझे विशेष कष्ट उठाना पड़ा था, जिसे सामने रखनेसे आगेकी बातोंका यथार्थ मूल्य प्रकट होनेमें बहुत कुछ सहायता मिलेगी।

बचपनमें ही योगसाधनकी धुन मेरे सिरपर सवार हो गयी थी। तबसे मैं जिस किसी साधु सन्तको देखता, भले-बुरेका कोई विचार न कर उसीके चरणोंमें सिर झुका देता और साधनतत्त्व प्राप्त करनेके लिये अपनी विशेष उत्कण्ठा प्रकट करता। उस समय मेरी हालत ऐसी हो गयी थी कि किसी विषयपर विचार करनेकी शक्ति मुझमें नहीं थी तथा एक मुहूर्त्त भी व्यर्थ बिताना बड़ा कष्टदायक मालूम पड़ता था। फलस्वरूप अनेक साधु-सन्त मिले, अनेक प्रकारकी साधना भी उनसे प्राप्त की तथा उन्हीं साधनादिके फलस्वरूप दमा, क्षय और रक्तपित्तकी व्याधियोंसे आक्रान्त होकर यमराजका अतिथि बननेके लिये तैयार होने लगा। उन्हीं दिनों परममङ्गलमय परमपिताकी अहैतुकी कृपासे 'योगी गुरु' नामक एक सर्वांग सुन्दर पुस्तक अचानक मेरे हाथ लग गयी। उसे पढ़नेपर मालूम हुआ कि अनियमित रूपसे योगसाधन और प्राणायामादि करनेसे अनेक प्रकारके कठिन रोग हो सकते हैं; किन्तु पवन-विजय—स्वरोदय-शास्त्रकी विधिके अनुसार चलनेपर साधक उन कठिन व्याधियोंसे मुक्त हो सकता है। तब मैं पवन-विजय—स्वरोदय-शास्त्रकी विधिको अपने जीवनका एकमात्र सबल बनाकर धीरे-धीरे उसके अनुसार अभ्यास करने लगा। उस पुस्तकमें उस शास्त्रकी अनेक अद्भुत विधियाँ मौजूद थीं। आखिर सालभरके भीतर ही सब रोगोंसे मुक्त होकर मैंने पूर्ण स्वस्थ शरीर प्राप्त कर लिया और साथ ही साधन-तत्त्वका भी बहुत कुछ अनुभव प्राप्त किया। उसके बाद जीवन्मुक्त महापुरुषके श्रीश्रीचरण-सरोजोंमें आत्मसमर्पण करके, नियमितरूपसे साधन करके, अपने जीवनमें अपूर्व आनन्द प्राप्त किया। आज उसी साधनाका थोड़ा-सा अंश 'कल्याण' के प्रेमी पाठकोंके मंगलके लिये यहाँ लिखनेकी चेष्टा कर रहा हूँ।

योग अनेक प्रकारके होते हैं—जैसे राजयोग, कर्मयोग, हठयोग, लययोग, सांख्ययोग, क्रियायोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, विज्ञानयोग, ब्रह्मयोग, विवेकयोग, विभूतियोग, प्रकृति-पुरुष-योग, मन्त्रयोग, पुरुषोत्तमयोग, मोक्षयोग, राजाधिराज-योग इत्यादि। सीधी बात तो यह है कि व्यापक कर्ममात्रको ही योग कहा जा सकता है, परन्तु वे सब एक ही प्रधान योगके अर्थात् जीवात्मा-परमात्माके मिलनके ही अंग-प्रत्यंगमात्र हैं। योगी याज्ञवल्क्यजीने भी इसे ही योग कहा है, जैसे—

संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।

अर्थात् जीवात्मा-परमात्माका मेल ही योग है। अनेक प्रकारके योगोंके नाम सुने जाते हैं तो भी वास्तवमें योग एक ही प्रकारका होता है, दो या अधिक प्रकारका नहीं। उस एक ही प्रकारके योगसाधनकी सोपानस्वरूप जितनी प्रक्रियाएँ हैं, वे सब ध्यानविशेषमें—उपदेश-विशेषमें एक-एक स्वतन्त्र योगके नामसे पुकारी जाती हैं, तथापि जीवात्मा और परमात्माका संयोग-साधन ही योगका

योगकी श्रेष्ठता

प्रकृत उद्देश्य है। सब साधनाओंका मूल अर्थात् सर्वोत्कृष्ट साधना योग ही है। शास्त्रमें भी लिखा है कि 'वेदव्यासपुत्र श्रीशुकदेवजीने पूर्वजन्ममें किसी वृक्षकी शाखामें छिपकर

भगवान् शिवजीके मुँहसे निकला हुआ योगोपदेश श्रवण किया और उसीसे पक्षियोनिसे उद्धार पाकर परजन्ममें वह परम योगी बन गये।' योगका उपदेश सुननेमात्रसे जब इतना लाभ होता है तब उसकी साधना करनेसे ब्रह्मानन्द तथा सब सिद्धियोंके प्राप्त होनेमें क्या सन्देह है?

योग धर्म-जगत्का एकमात्र पथ है। तन्त्रका तन्त्र, मुसलमानोंके अल्लाह तथा ईसाइयोंके ईसा पृथक्-पृथक् होनेपर भी जब वे अपने-अपने अभ्यासके द्वारा आत्मलीन हो जाते हैं, तब वे अज्ञातभावसे भी योगाभ्यासके सिवा और क्या किया करते हैं? परन्तु किसी भी देशका कोई भी धर्म-शास्त्र आर्य-योगधर्मकी भाँति परिणति और परिपुष्टिको प्राप्त नहीं हुआ है। अतः अन्यान्य जातियोंके सम्बन्धमें चाहे जो बात हो, परन्तु भारतीय तन्त्र, मन्त्र, पूजापद्धति, भक्ति आदि सभी योगमूलक ही हैं।

योगाभ्यासके द्वारा चित्तकी एकाग्रता प्राप्त हो जाने-पर ज्ञान उत्पन्न हो जाता है एवं उसी ज्ञानसे जीवात्माकी मुक्ति होती है। वह मुक्तिदाता परम ज्ञान योगके सिवा केवल शास्त्र पढ़नेसे प्राप्त नहीं हो सकता। भगवान् शंकरजीने कहा है—

अनेकशतसंख्याभिस्तर्कव्याकरणादिभिः ।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया ते विमोहिताः॥

(योगबीज ८)

'सैकड़ों तर्कशास्त्र तथा व्याकरणादि पढ़कर मनुष्य शास्त्रजालमें फँसकर केवल विमोहित हो जाते हैं। वास्तवमें प्रकृत ज्ञान योगाभ्यासके बिना उत्पन्न नहीं होता।'

मथित्वा चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि चैव हि ।
सारन्तु योगिभिः पीतस्तक्रं पिबन्ति पण्डिताः॥

(ज्ञानसंकलिनी तन्त्र ५१)

'वेदचतुष्टय तथा सब शास्त्रोंको मथकर उसका मक्खन-स्वरूप सार-भाग तो योगी चाट गये हैं और उसका असार-भाग तक्र (छाछ) पण्डित लोग पी रहे हैं।' शास्त्र पढ़नेसे जो ज्ञान प्राप्त होता है वह मिथ्या तथा कोरी डींगमात्र है—वह प्रकृत ज्ञान नहीं। बाहरकी ओर मुँह किये हुए मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको सब बाहरी विषयोंसे निवृत्त करके अन्तर्मुखी करते हुए सर्वव्यापी परमात्मामें मिलानेका नाम ही वास्तविक ज्ञान है।

वह ज्ञान योगाभ्यासके बिना प्राप्त नहीं होता। साधारण लोगोंका जो ज्ञान है वह केवल भ्रान्त ज्ञान है। क्योंकि सभी जीव मायाके फन्देमें जकड़े हुए हैं और मायाका फन्दा तोड़े बिना सच्चा ज्ञान नहीं उपजता। मायाका फन्दा तोड़कर सच्चा ज्ञानालोक प्राप्त करनेका उपाय योग है। योगसाधनके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकारसे भी मोक्षका हेतुभूत जो दिव्य ज्ञान है, वह नहीं प्राप्त होता। योगविहीन सांसारिक ज्ञान वास्तवमें अज्ञान-मात्र है, उससे केवल सुख-दुःखका अनुभव होता है—मुक्तिपथपर चलनेमें सहायता नहीं मिलती। परम योगी महादेवजीने अपने मुँहसे कहा है—

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीश्वरि।

(योगबीज १८)

'हे परमेश्वरि! योगविहीन ज्ञान कैसे मोक्षदायक हो सकता है?' सदाशिवजीने योगकी श्रेष्ठता बताकर पार्वती-को सुनाया था—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः।
विना योगेन देवोऽपि न मुक्तिं लभते प्रिये॥

(योगबीज ३१)

'हे प्रिये! ज्ञानवान्, संसारविरक्त, धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय अथवा कोई देवता भी योगके बिना मुक्ति नहीं पा सकता।' बिना योगके केवल साधारण, नाममात्रके ज्ञानसे ब्रह्मज्ञान नहीं प्राप्त होता। योगरूपी अग्नि अशेष पाप-पुञ्ज जला देती है एवं योगके द्वारा दिव्य ज्ञान प्राप्त होता है। उस ज्ञानसे ही लोग दुर्लभ निर्वाण-पद पाते हैं। अब सुधी सज्जन समझ गये होंगे कि योगसाधनके अतिरिक्त दिव्य ज्ञान प्राप्त करनेका दूसरा कोई सरल उपाय नहीं है। अब देखना चाहिये कि वह—

योग क्या है?

सर्वचिन्तापरित्यागो निश्चिन्तो योग उच्यते।

(योगशास्त्र)

जिस समय मनुष्य सब चिन्ताओंका परित्याग कर देता है, उस समय उसके मनकी उस लयावस्थाको योग कहते हैं। और—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

(पातञ्जल० समाधिपाद २)

अर्थात् 'चित्तकी सभी वृत्तियोंको रोकनेका नाम योग है।' वासना और कामनासे लिप्त चित्तको वृत्ति कहा है। इस वृत्तिका प्रवाह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीनों

अवस्थाओंमे मनुष्यके हृदयपर प्रवाहित होता रहता है। चित्त सदा-सर्वदा ही अपनी स्वाभाविक अवस्थाको पुनः प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करता रहता है; किन्तु इन्द्रियाँ उसे बाहर आकर्षित कर लेती हैं। उसको रोकना एवं उसकी बाहर निकलनेकी प्रवृत्तिको निवृत्त करके उसे फिर पीछे घुमाकर चिद्घन पुरुषके पास पहुँचनेके पथमें ले जानेका नाम ही योग है। हम अपने हृदयस्थ चैतन्यघन पुरुषको क्यो नहीं देख पाते ? कारण यही है कि हमारा चित्त हिंसादि पापोंसे मैला और आशादि वृत्तियोंसे आन्दोलित हो रहा है। यम-नियमादिकी साधनासे चित्त-का मैल छुड़ाकर चित्त-वृत्तिको रोकनेका नाम योग है।

अब इस योगसाधनाका सरल उपाय, जिसके द्वारा अपने जीवनमे मुझे कुछ लाभ हुआ है, आपलोगोंके सामने रखनेका साहस करता हूँ। योगकी साधना करनेसे पहले सम्यक्रूपसे शरीर-तत्त्व जान लेना उचित है। विस्तार-भयसे मैं यहाँ उसका उल्लेख न कर केवल साधना-विधि ही लिखता हूँ। जो उसे जानना चाहते हो उन्हे पातञ्जलादि योग-शास्त्र या 'योगी गुरु' 'ज्ञानी गुरु' नामक पुस्तकोका अवलोकन करना चाहिये।

योगके आठ अङ्ग है। उन्हींका साधन करना होता है। साधनाका अर्थ है अभ्यास। योगके आठ अङ्ग इस प्रकार हैं—

यमश्च नियमश्चैव आसनञ्च तथैव च।
प्राणायामस्तथा गार्गि प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यान समाधिरेतानि योगाङ्गानि वरानने॥
(योगियाज्ञवल्क्य १। ४५)

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—ये ही आठ योगके अङ्ग है। योगका साधन करना हो अर्थात् पूर्ण मनुष्य बनकर स्वरूप-ज्ञान प्राप्त करना हो तो योगके इन आठों अङ्गोकी साधना यानी अभ्यास करना चाहिये। पहले यम-नियमके साथ-ही-साथ आसनका भी अभ्यास करना उचित है। आसन किसे कहते है ?

स्थिरसुखमासनम्।
(पातञ्जल० साधनपाद ४६)

शरीर न हिले, न डुले, न दुखे, न चित्तमें किसी प्रकारका उद्वेग हो, ऐसी अवस्थामे बैठनेको आसन कहते हैं। योगशास्त्रमे अनेक प्रकारके आसन बताये गये हैं, उनमेसे योगसाधनके लिये सिद्धासन सर्वश्रेष्ठ है। जीवन्मुक्त महापुरुष और सिद्ध योगी सिद्धासन तथा मुक्त पद्मासनका उपदेश देते हैं। सिद्धासन कैसे करना चाहिये ?

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत्
मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा समं विग्रहम्।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन् भ्रुवोरन्तरं
चैतन्याख्यकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते॥
(गोरक्षसंहिता ११)

'योनि-स्थानको वाम-पदके मूलदेशसे दबाकर, दूसरे चरणसे मेढ्र-देशको आबद्धकर, हृदयमे ठोडी जमाकर, देहको सीधा रखकर और दोनो भौंहोंके मध्यदेशमे दृष्टि स्थापित करके यानी शिवनेत्र होकर निश्चलभावसे बैठने-का नाम सिद्धासन है।' सिद्धासन सिद्धि प्राप्त करनेके लिये सहज और सरल आसन है। सिद्धासनका अभ्यास करनेसे अति शीघ्र योगमे सिद्धि प्राप्त होती है। इसकी साधनासे किसी प्रकारका अनिष्ट होनेकी सम्भावना नहीं रहती। इसके द्वारा बहुत जल्द योगमे सिद्धि मिलनेका कारण यह है कि लिङ्गमूलमें जीव तथा कुण्डलिनी शक्ति अवस्थित है। सिद्धासनके कारण वायुका पथ सरल तथा सहजगम्य हो जाता है। इससे स्नायुओंका विकास होता है और समस्त शरीरकी बिजलीके लिये चलने-फिरनेका सुभीता हो जाता है। योगशास्त्रमे कहा है कि सिद्धासन मुक्तिवाले दरवाजेके किवाड खोलता है तथा सिद्धासनसे आनन्दकारी उन्मनी (समुन्नत) दशा मिलती है। सभी सज्जन आसानी-से सिद्धासन कर सकते हैं।

अब पद्मासनकी बात सुनिये—

आसनं पद्मकमुत्तमम्।—(गारुड० ४१)

और भी—

वामोरुपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरुपरि चैव वन्धनविधिं धृत्वा कराभ्यां दृढम्।
तद्दृष्टे हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत्
एतद् व्याधिविकारनाशनकरं पद्मासनं प्रोच्यते॥
(गोरक्षसंहिता १२)

'बायीं जाँघपर दाहिना पैर और दाहिनी जाँघपर बायाँ पैर रखकर, दोनों हाथ पीठकी ओर घुमाकर बायें हाथसे बायें पैरका अँगूठा और दाहिने हाथसे दाहिने पैरका

अँगूठा पकड़ना चाहिये। फिर छातीमें ठोडी सटाकर नाककी नोकपर दृष्टि जमानी चाहिये। इस तरह बैठनेका नाम पद्मासन है।'

पद्मासन दो प्रकारका है—मुक्त और बद्ध। उपर्युक्त नियमसे बैठनेको बद्ध-पद्मासन कहते हैं तथा हाथोंको पीठकी ओरसे घुमाकर अँगूठे न पकड़, दोनों जाँघोंपर दोनों हाथ चित रखकर बैठनेका नाम मुक्त-पद्मासन है।

पद्मासन लगानेसे निद्रा, आलस्य, जडता प्रभृति देहकी ग्लानि निकल जाती है। पद्मासनके प्रभावसे कुण्डलिनी चैतन्य हो जाती है एवं दिव्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है। पद्मासन लगाकर दाँतकी जडमें जीभकी नोक जमानेसे सब प्रकारकी बीमारियाँ दूर होती हैं।

इन दो प्रकारके आसनोंके अतिरिक्त स्वस्तिकासन, भद्रासन, उग्रासन, वीरासन, मण्डूकासन, कूर्मासन, कुक्कुटासन, गुप्तासन, योगासन, शवासन, सिंहासन, मयूरासन, शीर्षासन आदि अनेक प्रकारके आसन प्रचलित हैं सही, किन्तु अनेक प्रकारके आसनोंका अभ्यास करनेमें समय नष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं। उपर्युक्त दोनों प्रकारके आसनोंमें जिसे जिस आसनमें सुभीता मालूम हो, उसे उसी आसनका अवलम्बनकर योगाभ्यास करना चाहिये।

राजपूताना, मध्यभारत, पञ्जाब आदि नाना स्थानोंमें भ्रमण करते समय मुझे मालूम हुआ कि उन प्रदेशोंमें बहुत-से सज्जन शीर्षासन करते हैं। शीर्षासन योगसाधनके अनुकूल नहीं है, ऐसा अनेक योगाभ्यासी सज्जनोंसे मुझे मालूम हुआ है। क्योंकि शीर्षासन करके प्राणायाम आदि यौगिक क्रिया तथा पूजा, मन्त्र, जपादि कोई धर्मसम्बन्धी क्रिया नहीं की जा सकती। हाँ, शीर्षासनद्वारा साधक ब्रह्मरन्ध्रसे जो अमृतधारा टपकती है, और जो अनाहत-पद्मस्थित अरुण-वर्ण सूर्यमण्डलमें पहुँचकर सूख जाती है, उसीको पीनेकी चेष्टा करते हैं। परन्तु उस क्रियासे कहाँतक सिद्धि प्राप्त होती है, यह कहना कठिन है। अनेक योगाभ्यासी सज्जनोंका कहना है कि उस क्रियासे न तो शरीर बलिष्ठ, पुष्ट और जरारहित होता है और न उस अमृतपानसे उनका चित्त ही लय होकर अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त करता है। आसन करनेका मतलब यही है कि शरीर स्वस्थ रहे तथा धीरे-धीरे कुल-कुण्डलिनी जाग्रत होकर क्रमशः दिव्य ज्ञान प्राप्त हो जाय। आसनके सम्बन्धमें शास्त्र यही कहता है कि—

ततो द्वन्द्वानभिघातः। (पातञ्जल० साधनपाद ४८)

आसनका अभ्यास करनेसे सब प्रकारके द्वन्द्व छूट जाते हैं अर्थात् शीत-ग्रीष्म, क्षुधा-तृषा, राग-द्वेष प्रभृति किसी प्रकारका द्वन्द्व योगसाधनमें बाधा नहीं डाल सकता अर्थात् गीताके द्वितीय अध्यायमें वर्णित स्थितप्रज्ञके लक्षण आप-ही-आप आ पहुँचते हैं। परन्तु सदा ही यह स्मरण रखना चाहिये कि आसनका सबसे मुख्य उद्देश्य यही है कि मेरुदण्ड (पीठकी रीढ़) सदा सीधा रहे। क्योंकि उसीके अन्दर सुषुम्ना नाड़ी विद्यमान है, जिसके भीतर क्रमशः वज्रिणी, चित्रिणी तथा ब्रह्मनाड़ी विद्यमान है। आसन, मुद्रा तथा ध्यानद्वारा कुल-कुण्डलिनी-शक्ति जाग्रत होती है और ब्रह्मनाड़ीके भीतरसे क्रमशः षट्चक्रको भेदती हुई ब्रह्मरन्ध्रमें पहुँचती है, जहाँ परात्पर ब्रह्म शिवजीसे मिलकर लय हो जाती है, या यों कहें कि साधक समाधिस्थ हो जाते हैं। साधनाके समय अगर मेरुदण्ड टेढ़ा-बाँका रहे तो उपर्युक्त क्रियाके सम्पन्न होनेकी सम्भावना ही नहीं रहती और न दिव्य ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है, बल्कि नाना प्रकारकी व्याधियाँ ही होनेकी सम्भावना रहती है। अतएव साधना करते समय सदा ही स्मरण रखना चाहिये कि रीढ़की हड्डी सीधी रहे।

नित्य नियमितरूपसे त्रिकाल-सन्ध्या तथा रात्रि-सन्ध्या (रात्रि १२ बजे) अर्थात् चार बार आसन लगानेसे छः महीनेके भीतर आसनमें सिद्धि प्राप्त हो सकती है। हाँ, प्रत्येक बार कम-से-कम आध घण्टा अवश्य आसन लगाना चाहिये। आसन लगाकर बैठनेपर जब शरीरमें दर्द न हो अथवा किसी प्रकारके कष्टका अनुभव न हो, बल्कि एक प्रकारके आनन्दका उदय हो तभी समझना चाहिये कि आसन सिद्ध हुआ।

साधनमें सबसे पहले निम्नलिखित कुछ बातोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये—

(१) नित्य नियमितरूपसे एक ही स्थानपर आसन लगाना उत्तम है। ऐसा करनेसे उस स्थानपर एक प्रकारकी शक्ति पैदा हो जाती है। जब कभी मन चञ्चल होता है तब उस स्थानपर पहुँचते ही शान्त हो जाता है तथा एक प्रकारकी आनन्दावस्था आप-ही-आप प्राप्त होती है।

(२) जिस स्थानपर अर्थात् जिस कोठरीमें बैठकर साधना की जाय, वह स्थान विशेष हवादार, साफ-सुथरा और शुद्ध होना चाहिये। उस स्थानको नित्य अपने ही हाथों साफ करना चाहिये, गोबर आदिसे लीप देना चाहिये। दूसरे आदमीसे यह सब काम नहीं कराना चाहिये। क्योंकि जब दूसरा आदमी कमरेमें आता है तब उसके शरीरमें उस शक्तिका, जो नित्य नियमितरूपसे साधना करनेसे उस स्थानमें पैदा होती है, कुछ अंश चला जाता है, जिससे वह आदमी तो कुछ आध्यात्मिक उन्नति करता है, मगर साधक उतने अंशमें शक्तिहीन हो जाता है। इससे उत्तम तो यह है कि उस स्थानपर कभी कोई दूसरा व्यक्ति जावे ही नहीं।

(३) जिस आसन (जैसे कम्बलासन, कुशासन, व्याघ्रासन आदि) पर बैठकर स्वयं साधना की जाय, उस आसनको कोई हाथसे भी स्पर्श न करे—इस बातपर बराबर ध्यान रखना चाहिये। अगर कोई उसे छू दे तो उसे छोड़ ही देना उचित है।

(४) इस बातपर भी ध्यान रखना चाहिये कि जिस कपड़े, दुपट्टे तथा कौपीनको धारणकर साधन किया जाय, उसे भी कोई दूसरा आदमी न छुए। उसे अगर साफ करना हो तो अपने ही हाथों साफ कर लेना चाहिये।

(५) साधनके स्थानमें अपवित्र वस्तु मिट्टीके तेलको कभी नहीं जलाना चाहिये। निशाकाल तथा ब्राह्ममुहूर्तमें साधना करते समय जीवन्मुक्त महात्मा लोग तथा देवी-देवता साधकके पास आकर उसे नाना प्रकारसे सहायता पहुँचाते हैं। उस स्थानपर अपवित्र वस्तु रहनेपर अथवा स्वयं अपवित्र अवस्थामें साधन करनेपर वे कभी वहाँ नहीं पधारेंगे और न साधककी सहायता ही करेंगे। शुद्धभावसे साधना करनेपर कुछ महीने बाद ही साधक स्वयं उन सब जीवन्मुक्त पुरुषों तथा देवी-देवताओंकी अनुकम्पाका अनुभव करने लगेगा। यह बात सत्य, सत्य, ध्रुव सत्य है।

(६) जिस समय साधना करने जाना हो उस समय शुद्ध होकर, अर्थात् सुविधा हो तो स्नान करके अथवा हाथ-पैर धोकर, धोती-कपड़ा आदि बदलकर, खड़ाऊँ पहनकर उस स्थानमें जाना चाहिये।

(७) अगर साधक अपना भोजन स्वयं बना ले तो इससे विशेष लाभ होगा। क्योंकि साधक स्वयं तो सात्त्विकभावकी प्राप्तिके लिये साधना कर रहा है, उस अवस्थामें अगर तामसिक और राजसिक व्यक्तिके हाथका भोजन करेगा तो उसकी साधनामें बाधा पड़ेगी। अतएव साधकको इन सब बातोंपर सदा ध्यान रखना चाहिये, तभी साधनाद्वारा कुछ लाभ हो सकता है।

उपर्युक्त जितनी बातें कही गयी हैं, सबका मतलब है शौच। शौच दो प्रकारका होता है। इस विषयमें शास्त्र-वचन इस प्रकार है—

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनःशुद्धिस्तथान्तरम्॥

(योगियाज्ञवल्क्य)

शरीर और मनकी मलिनताके दूर करनेको शौच कहते हैं। परन्तु साबुन, क्रीम, स्नो, पाउडर, फुलेल तथा एसेन्स इत्यादि विलासिताकी सामग्रियाँ शौचके साधन नहीं हैं, अतएव इन सबके मोहको छोड़कर गोमय, मृत्तिका तथा जल इत्यादिके द्वारा ही शरीरकी, एवं दया इत्यादि सद्गुणोंद्वारा मनकी मलिनताको दूर करना चाहिये। उपर्युक्त बातें भी शौचके ही अङ्ग हैं। वर्तमान समयमें बहुतसे सज्जन बाहरके शौचकी ओर ही अधिक ध्यान देते हैं—आन्तर शौचकी ओरसे अन्धे बन जाते हैं। किन्तु इस विषयमें मुझे विस्तारके साथ लिखने-की आवश्यकता नहीं—सब सज्जन जानते ही हैं कि आन्तर शौचके बिना बाह्य शौचका कोई मूल्य नहीं।

प्रत्येक साधनसे हमें क्या लाभ होता है, इसका वर्णन हमें शास्त्रोंमें मिलता है। शौचके सम्बन्धमें शास्त्रका कथन है—

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।

(पातञ्जल० साधनपाद ४०)

हृदयमें पवित्रता रहनेपर शरीर यदि कहीं जरा भी अपवित्र मालूम होगा तो उससे घृणा होने लगेगी और दूसरोंके साथ सङ्गति करनेमें भी घृणा होगी। उस समय अवधूतगीताका यह महान् वाक्य मनमें जाग्रत् हो उठेगा—

विष्ठादिनरकं घोरं भगं च परिनिर्मितम्।
किमु पश्यसि रे चित्त कथं तत्रैव धावसि॥

(८।१४)

अब साधन-विधिपर आवें। किसी प्रकारकी भी साधना क्यों न की जाय, जबतक मन स्थिर नहीं होगा तबतक

सब वृथा है। अतः आसनका साधन करते समय चुपचाप न बैठ मन स्थिर करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। प्राणायामके द्वारा मन स्थिर तो जरूर हो सकता है, परन्तु वह काम कुछ कठिन है, और यदि प्राणायाममें कहीं नियमका ठीक-ठीक पालन न हुआ तो नाना प्रकारकी व्याधियाँ हो सकती हैं। सिद्ध योगियोंका कहना है कि प्राणायाम बहुत ऊँची साधना नहीं है,—हाँ, प्राणायामके द्वारा शरीरके स्वस्थ होने तथा आत्मज्ञान प्राप्त करनेमें थोड़ी-बहुत सहायता मिलती है। प्राणायाम शास्त्रानुसार आठ प्रकारका है, उनमेंसे योगिगण शरीर स्वस्थ रखनेके लिये केवल शीतली प्राणायाम करते हैं। परन्तु प्राणायामके पहले शरीरस्थ नाडियोंका शोधन विशेष आवश्यक है। कृतादि युगमें साधु-सन्त नेति, धोति, कपालभाति आदि क्रियाओंसे नाड़ी-शोधन करते थे। परन्तु कलियुगके दुर्बल तथा अल्पायु मनुष्योंके लिये वे क्रियाएँ सुलभ नहीं हैं। हठयोगकी नेति, धोति आदि क्रियाएँ यदि सम्यक् प्रकारसे न हुईं तो साधकको अवश्य ही दुःसाध्य व्याधियोंसे आक्रान्त होकर, नाना प्रकारके कष्ट भोगकर यमराजका अतिथि बनना पड़ेगा। परम मङ्गलमय भगवान् अपने प्यारे जीवोंपर सदा ही कृपा-दृष्टि डाले हुए हैं। कलियुगके मनुष्य इन सब कठिन क्रियाओंके करनेमें असमर्थ होंगे, ऐसा सोच-समझकर ही जगद्गुरु भगवान् श्रीमच्छङ्कराचार्यजीने नाडीशोधन नामक एक प्रकारकी अति सरल विधि बतलायी है। हठयोगकी विधिसे, अति कठिन तथा सदा विपद्युक्त मार्गद्वारा नाडीशोधनमें कम-से-कम एक युग तो चाहिये ही, परन्तु शङ्करकी बतायी हुई विधिके द्वारा उसी नाडीशोधनकी क्रिया दो-तीन महीनेमें ही सिद्ध हो जाती है तथा इसमें कोई नुकसान भी नहीं होता। यह कितने आनन्दकी बात है!

नाडीशोधन

सबसे पहले आसनका अभ्यास करना चाहिये। जब आसनमें सिद्धि प्राप्त हो जाय तब नाडी-शोधनकी क्रिया शुरू करनी चाहिये। स्थिरभावसे सुखासनमें बैठकर दाहिने हाथके अँगूठेसे दाहिने नथुनेको कुछ दबाकर बायें नथुनेसे जहाँतक हो सके, वायुको खींचना चाहिये और जरा-सी देर भी न ठहरकर अनामिका और कनिष्ठा अँगुलियोंसे बायें नथुनेको बन्दकर दाहिने नथुनेसे वायुका रेचन करना अर्थात् वायुको निकाल देना चाहिये, फिर दाहिने नथुनेसे वायु खींचकर यथाशक्ति बायें नथुनेसे निकाल देना चाहिये। परन्तु खींचनेका काम पूरा होते ही उसी क्षण वायुको निकाल देना चाहिये, जरा देर भी न रोकना चाहिये। पहले अभ्यास करते समय उपर्युक्त क्रिया तीन बार करनी चाहिये। इसके बाद तीन बारका अच्छी तरह अभ्यास हो जानेपर पाँच बार, फिर सात बार—इस प्रकार बढ़ाते जाना चाहिये।

विधि

रात-दिनमें इस तरह एक बार ब्राह्ममुहूर्त्तमें यानी सूर्योदयसे पहले, एक बार दोपहरको, एक बार सूर्यास्तके बाद रातके समय और एक बार रात १२ बजेके बाद—कुल चार बार क्रिया करनी चाहिये। रोज नियमसे चार बार अभ्यास करनेसे दो-तीन महीनेमें सिद्धि मिल जायगी।

नाडीशोधनमें सिद्धि प्राप्त हो जानेपर देह खूब हलकी मालूम होती है, आलस्य, जडता, सुस्ती सब कुछ दूर हो जाती है। कभी-कभी आनन्दसे मन उत्फुल्ल हो उठता है और समय-समयपर सुगन्धिसे नाक भर जाती है। जब ये सब लक्षण प्रकट होने लगें तब समझना चाहिये कि नाडी-शोधनकी क्रिया सिद्ध हो गयी।

अब प्राणायामकी बात सुनिये। प्राणायाम किसे कहते हैं?

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

(पातञ्जल० साधनपाद ४९)

'श्वास-प्रश्वासकी स्वाभाविक गतिका विच्छेद करके शास्त्रोक्त नियमोंके अनुसार चलानेका नाम प्राणायाम है।' इसके अतिरिक्त प्राण और अपानवायुके सयोगको भी प्राणायाम कहते हैं। जैसे—

प्राणापानसमायोगः प्राणायाम इतीरितः।
प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचकपूरककुम्भकैः॥

(योगियाज्ञवल्क्य ६। २)

प्राणायाम कहनेसे हम साधारणतः रेचक, पूरक तथा कुम्भक इन तीन प्रकारकी क्रियाओंको ही समझते हैं। बाहरकी वायुको आकर्षित करके भीतर भरनेको पूरक, जलसे पूर्ण घड़ेकी तरह भीतर ही वायु धारण करनेको कुम्भक और उस धृत वायुको बाहर निकालनेको रेचक कहते हैं। पहले दाहिने हाथके अँगूठेसे दाहिने नथुनेको

बन्दकर प्रणव (ॐ) अथवा अपने इष्ट-मन्त्रका सोलह बार जप करते हुए वायुको धीरे-धीरे बायें नथुनेसे खींचकर भीतर यथा-शक्ति भरना चाहिये; फिर कनिष्ठिका और अनामिकासे बायें नथुनेको बन्दकर वायुको रोकते हुए ॐ या मूल मन्त्रका चौंसठ बार जप करते हुए कुम्भक करना चाहिये, उसके बाद अँगूठेको दाहिने नथुनेसे उठाकर ॐ या मूल मन्त्रका बत्तीस बार जप करते हुए दाहिने नथुनेसे वायुको निकाल देना चाहिये। फिर इसी प्रकारसे उलटे तौरपर अर्थात् श्वास छोड़नेके बाद उसी दाहिने नथुनेसे ॐ या मूल मन्त्रका जप करते हुए पूरक, दोनों नथुनोंको बन्द करके कुम्भक, और बायें नथुनेसे रेचक करना चाहिये। बायें हाथकी अँगुलियोंके पोरोंपर जपकी गिनती करनी चाहिये।

प्राणायामकी विधि

पहले-पहल पूर्वोक्त सख्यासे प्राणायाम करनेमे यदि कष्ट हो तो ८। ३२। १६ या ४। १६। ८ बार जप करते-करते प्राणायाम करना चाहिये। दूसरे धर्मावलम्बियों-को या जिनको मन्त्रजप करनेकी सुविधा न हो उन्हे एक, दो, तीन इत्यादि सख्याओंकी गिनती करते हुए प्राणायाम करना चाहिये, अन्यथा फल मिलनेकी सम्भावना नहीं रहेगी। क्योंकि ताल-तालपर श्वास-प्रश्वासकी क्रिया सम्पन्न होनी चाहिये। परन्तु सावधान! कभी जोरसे रेचक या पूरक न हो। रेचकके समय विशेष सतर्क एव सावधान रहना चाहिये। इतना धीरे-धीरे श्वास परित्याग करना चाहिये कि हाथपर रक्खा हुआ सत्तू भी निःश्वासके वेगसे उड़ न सके। प्राणायामके समय सुखासनसे बैठकर मेरुदण्ड, गर्दन, मस्तक सीधा और भौंहोंके बीचमें दृष्टि रखनी चाहिये। इसे सहित कुम्भक कहते हैं।

परन्तु सिद्ध योगी इसकी सहायता न लेकर शीतली प्राणायामकी ही सहायता अधिक लेते हैं। क्योंकि शीतली प्राणायामसे शरीर विशेष स्वस्थ रहता है।

सर्वदा साधयेद् योगी शीतलीकुम्भकं शुभम्।
अजीर्णं कफपित्तञ्च नैव तस्य प्रजायते॥

(गोरक्ष-सहिता)

योगियोंको चाहिये कि सदा इसी शीतली कुम्भककी साधना करें। इसकी साधना करनेसे कभी अजीर्ण और कफपित्तादि व्याधियाँ नहीं होगी। शीतली प्राणायामकी विधि इस प्रकार है—

जिह्वाया वायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः।
क्षणं च कुम्भकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत् पुनः॥

(घेरण्ड-सहिता)

'जीभसे वायुको आकर्षित करना चाहिये अर्थात् दोनों होंठ सिकोड़कर बाहरकी वायुको धीरे-धीरे खींचना चाहिये। इस प्रकार अपनी शक्तिभर वायु खींचकर मुँह बन्द कर लेना चाहिये और वायुको घोंटकर पेटमे पहुँचाना चाहिये। इसके बाद थोडी देरतक इस वायुको कुम्भकद्वारा धारण करके दोनो नथुनोंसे बाहर निकाल देना चाहिये।'

शीतली प्राणायामकी विधि

इस नियमसे वायु बार-बार खींचनेपर कुछ काल बाद रक्त स्वच्छ हो जायगा एव शरीर कामदेवके सदृश सतेज बन जायगा। शीतली कुम्भक करनेपर अजीर्ण और कफ-पित्तादि रोग नहीं पैदा होंगे। चर्मरोग प्रभृति बीमारीमें रक्त साफ करनेके लिये सालसा काममे न लाकर, उसके बदले यह क्रिया करके देखना चाहिये। यह सालसासे भी शीघ्र फलदायी हो सकती है और इसका फल दीर्घकालतक स्थायी भी हो सकता है।

रोज रात-दिनमें कम-से-कम तीन चार बार, पाँच-सात मिनट हर बार, स्थिरभावसे बैठकर इसी तरह मुँहसे वायु खींचनी चाहिये और नथुनोंसे निकालनी चाहिये। अवश्य ही जितना ही अधिक इसका अभ्यास किया जायगा, उतना ही शीघ्र लाभ पहुँचेगा।

मैले-कुचैले और वायु बिगड़े हुए स्थानमे, वृक्षके नीचे, मिट्टीके तेलका चिराग जलाकर, घरमे और खाया हुआ अन्न न हजम होनेपर यह क्रिया नहीं करनी चाहिये। वायु निकालनेके बाद हाँफना भी नहीं चाहिये, इस बातका विशेष खयाल रखना चाहिये। विशुद्धवायुसे पूर्ण स्थानमें स्थिरासनसे बैठकर धीरे-धीरे पूरक तथा रेचक करना चाहिये। इसकी साधनासे क्या लाभ होता है, वह भी सुनिये—

गुल्मप्लीहादिकान् दोषान् ज्वरं रोगं क्षयं क्षुधाम्।
तृष्णाञ्च शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति वै॥

(घेरण्ड सहिता)

जपसे ध्यानमें सौगुना अधिक फल होता है। ध्यानकी अपेक्षा सौगुना अधिक फल लाभ होता है—लययोगसे। अतः जपादिकी अपेक्षा सबको किसी भी प्रकारके लययोगका साधन करना चाहिये। अब साधनाकी विधि सुनिये। यों तो इस साधनाकी विधियाँ बहुत-सी हैं, परन्तु उनमेंसे जो सबसे सरल है, उसीको मैं बतलाता हूँ। विधि इस प्रकार है—

नादानुसन्धान-विधि

साधकको उपर्युक्त नियमसे शुद्ध होकर योगसाधनके स्थानपर उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके आसन जमाकर बैठ जाना चाहिये। जिन्हें निर्वाण-मुक्तिकी इच्छा हो उन्हें उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके बैठना चाहिये, परन्तु जिन्हें सांसारिक उन्नतिकी इच्छा हो, उनके लिये तो पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके बैठना ही उचित है।

जिसे जिस आसनका अभ्यास हो, उसे वही आसन लगाकर मस्तक, गर्दन, पीठ और उदरको बराबर सीधा रखकर, अपने शरीरको सीधा करके बैठ जाना चाहिये। तत्पश्चात् नाभिमण्डलमें दृष्टि जमाकर कुछ देरतक पलक नहीं मारना चाहिये। नाभिस्थानमें दृष्टि और मन रखनेसे निःश्वास धीरे-धीरे जितना कम पड़ता जायगा, मन भी उतना ही स्थिर होता जायगा। इस भावसे नाभिके ऊपर दृष्टि और मन लगाकर बैठनेसे कुछ दिन बाद मन स्थिर हो जायगा। मन स्थिर करनेका ऐसा सरल उपाय दूसरा और नहीं है।

त्राटक-योगकी विधिसे भी मन स्थिर हो सकता है, परन्तु अनियमसे आँखकी बीमारी अथवा आँख खराब हो सकती है। अतः उस विधिको मैं ठीक नहीं समझता हूँ और इस कारण उसका उल्लेख भी यहाँ करनेकी इच्छा नहीं है।

हाँ, उपर्युक्त विधिसे मन स्थिर करते समय यदि थोड़ी-थोड़ी वायु भी धारण की जाय तो नाद-ध्वनि बहुत ही जल्द सुन पड़ती है। पहले झींगुरकी झनझनाहट-जैसा या भृङ्गी-जैसा झिं-झिं शब्द सुनायी देगा। उसके बाद क्रमशः साधन करते-करते एकके बाद एक वंशीकी तान, बादलका गर्जन, झाँझकी झनकार, भौंरेकी गुञ्जार, घण्टा, घड़ियाल, तुरही, करताल, मृदङ्ग प्रभृति नाना प्रकारके बाजोंके शब्द सुन पड़ेंगे। ऐसे ही रोज अभ्यास करते हुए नाना प्रकारकी ध्वनियाँ सुनी जाती हैं। मैंने जो विधि बतलायी है, उसका शास्त्रमें भी प्रमाण है—

नाभ्याधारो भवेत् षष्ठस्तत्र प्राणं समभ्यसेत्।
स्वयमुत्पद्यते नादो नादतो मुक्तिरन्ततः॥

(योगस्वरोदय)

ऐसी ध्वनि सुनते-सुनते कभी शरीर रोमाञ्चित हो जाता है, कभी किसी प्रकारका शब्द सुननेसे सिर चक्कर खाने लगता है, कभी कण्ठकूप जलसे पूर्ण हो जाता है। लेकिन साधकको किसी ओर भी ध्यान न देकर अपना काम करते रहना चाहिये। मधु पीनेवाला भौंरा जैसे पहले मधुकी सुगन्धसे आकृष्ट होता है, किन्तु मधु पीते समय मधुके स्वादमें इतना डूब जाता है कि उस समय उसका सुगन्धकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं रहता, वैसे ही साधकको भी नादकी ध्वनिसे मोहित न होकर शब्द सुनते-सुनते चित्तको लय कर देना चाहिये।

आत्मज्योति-दर्शन

इस प्रकारका अभ्यास करनेपर हृदयके भीतरसे अभूतपूर्व शब्द और उससे द्रुत प्रति-शब्द कानमें पहुँचेगा। उस समय साधकको आँख बन्द करके अनाहत-पद्म-में स्थित बाणलिङ्ग शिवके मस्तकपर निर्वात—निष्कम्प दीपशिखाकी भाँति ज्योतिका ध्यान करना चाहिये। ऐसे ही ध्यान लगाते-लगाते अनाहत-पद्मस्थ प्रतिध्वनिके भीतर ज्योतिःदर्शन होगा।

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः॥

(गोरक्ष-संहिता)

उस दीप-कलिका (दीपककी लौ) के आकारमें ज्योतिर्मय ब्रह्ममें साधकका मन संयुक्त होकर ब्रह्मरूपी विष्णुके परमपदमें लीन हो जायगा। उस समय शब्द बन्द हो जायगा तथा मन आत्मतत्त्वमें डूब जायगा। साधक सर्वव्याधिसे मुक्त होकर तेजोयुक्त हो अतुल आनन्दका उपभोग करेगा। उस समयका वह भाव अनिर्वचनीय है! अवर्णनीय है!! अलेखनीय है!!!

नित्य नियमितरूपसे इसी तरह नाभिस्थानमें वायु-धारण करनेसे प्राणवायु अग्निस्थानमें गमन करती है उस समय अपान-वायुद्वारा शरीरस्थ अग्नि क्रमशः उद्दीप्त हो उठती है। इस क्रियासे और एक विशेष लाभ होता है। जिसकी

पाचन-शक्ति कम हो गयी है—कोई चीज बिल्कुल ही हजम नहीं होती,—वह अगर इस क्रियाको ठीक विधिसे करे तो थोड़े दिन बाद उसके शरीरका समुचित शोधन होकर पाचन-शक्ति बढ़ जायगी और कोष्ठ भी स्वच्छ होता जायगा।

आत्मज्योतिःदर्शनकी एक और दूसरी विधि है, उसे सूर्यदेवकी ओर दृष्टि डालकर करना चाहिये।

नादसाधनके सम्बन्धमें शास्त्रका कहना है—

आसीद्विन्दुस्ततो नादो नादाच्छक्तिसमुद्भवः।
नादरूपा महेशानि चिद्रूपा परमा कला॥
(वायवीय संहिता)

आदि-प्रकृति देवीका नाम परा-प्रकृति है। सुतरां परा-प्रकृति आद्या-शक्ति ही नादरूपा होती है।

न नादेन विना ज्ञानं न नादेन विना शिवः।
नादरूपं परं ज्योतिर्नादरूपी परो हरिः॥

और भी देखिये—

नादाध्वेस्तु परं पारं न जानाति सरस्वती।
अद्यापि मज्जनभयात् तुम्बं वहति वक्षसि॥

इस नाद-ध्वनिकी साधना करते-करते अन्तमें जो 'ॐकार' ध्वनि सुननेमें आती है, वह ध्वनि जबतक साधक जीवन धारण करता है, तबतक कभी बन्द नहीं होती। सदा सर्वावस्थामें अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें भी नादध्वनि चलती ही रहती है।

ऊपर जितनी विधियाँ मैंने लिखी हैं, उनका अनुभव मैंने स्वयं साधना करके किया है। इसी कारण विद्याबुद्धि-विवर्जित होनेपर भी उन्हें यहाँ पाठकोंकी हितकामनासे लिख दिया है। अन्तमें सुधी सज्जनोंसे सविनय निवेदन है कि वे इनकी साधना करके चाहे तो प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं।

क्षमध्वं पण्डिता दोषान् परपिण्डोपजीविनः।
ममाशुद्धयादिकं सर्वं शोध्यं युष्माभिरुत्तमैः॥

सिद्धयोग

(लेखक—परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीश्रीशंकर पुरुषोत्तमतीर्थ स्वामीजी)

एक समय सृष्टिकर्ता ब्रह्माने देवाधिदेव महादेवसे प्रश्न किया—

सर्वे जीवाः सुखैर्दुःखैर्मायाजालेन वेष्टिताः।
तेषां मुक्तिः कथं देव कृपया वद शङ्कर॥
सर्वसिद्धिकरं मार्गं मायाजालनिकृन्तनम्।
जन्ममृत्युजराव्याधिनाशनं सुखदं वद॥
(योगशिखोपनिषद् १।१-२)

'हे शंकर! सब जीव सुख-दुःखरूप मायाजालसे घिरे हुए हैं। हे देव! कृपया मुझसे यह कहिये कि इनकी मुक्ति किस प्रकार हो सकती है। ऐसा एक उपाय बतलाइये जिससे सब सिद्धियाँ प्राप्त हों, मायाजाल कट जाय और जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधिका नाश हो जाय।'

इसके उत्तरमें भगवान महादेवने विष्णुके नाभिकमल-से उत्पन्न ब्रह्मासे कहा—

नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम्॥
सिद्धिमार्गेण लभते नान्यथा पद्मसम्भव।
(योगशिखोप० १।३-४)

'हे पद्मसम्भव! कैवल्यरूप परम पदकी प्राप्तिके अनेक उपाय कहे गये हैं, किन्तु उन समस्त उपायोंसे उसे प्राप्त करना सहज नहीं। एकमात्र सिद्धिमार्गके द्वारा ही कैवल्य-पद आसानीसे प्राप्त होता है। अन्य प्रकारसे नहीं प्राप्त होता।' कैवल्य-प्राप्ति ही मानव-जीवनका उद्देश्य है। कैवल्य-मुक्ति होनेपर ही दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। दुःख नष्ट हो जानेपर पुनः उसकी उत्पत्ति न होनेको ही दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति कहते हैं। कैवल्य या मोक्ष प्राप्त होनेपर जीवको पुनः जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-जनित दुःख नहीं भोग करना पड़ता। इसे प्राप्त करनेका सहज पथ सिद्धिमार्ग या सिद्धयोग है।

यह सिद्धिमार्ग क्या है, यहाँ इस बातका विशदरूपसे वर्णन करना आवश्यक है। जिस पथसे बिना कष्टके योग

प्राप्त होता है, उसी पथको सिद्धिमार्ग कहते हैं। योग-रूप सिद्धि प्राप्त करनेका पथ सुषुम्ना नाड़ी है, जब इस नाड़ीसे प्राणवायु प्रवाहित होकर ब्रह्मरन्ध्रमें जाकर स्थित होता है तब साधकको जीव-ब्रह्मैक्य-ज्ञानरूप योग प्राप्त होता है। सर्वप्रथम गुरुद्वारा शक्तिका सञ्चार होनेपर कुण्डलिनी-शक्ति जागरित होती है, और उसके बाद क्रमोन्नतिके द्वारा योगलाभ होता है। जिस तरह तुम्हें बरतन, लकड़ी, जल और अग्नि इत्यादि किसी चीजको परिश्रम करके जुटाना नहीं पड़ता, केवल दाताकी कृपासे ही उसके घरमें तैयार अन्नसे ही तुम्हारी क्षुधा शान्त हो जाती है, उसी तरह तुम्हें परिश्रम करके सब योगोंकी आधारस्वरूपा मूलाधारस्थिता कुण्डलिनी-शक्तिको जागरित करनेके लिये योगशास्त्रोक्त आसन, मुद्रा और प्राणायामादि कुछ भी अस्वाभाविक ढगसे अनुष्ठान करनेकी जरूरत नहीं, केवल गुरुशक्तिके प्रभावसे ही कुण्डलिनी-शक्तिके जागरित हो जानेसे स्वाभाविक रूपमे योगमार्ग प्राप्त हो जाता है। इसीको 'सहज कर्म' कहा गया है। स्वभावसे जो होता है, वही वास्तवमें सहज है। स्वाभाविक और अस्वाभाविक भेदसे योगपथ दो प्रकारका है। उनमें अस्वाभाविक उपाय अत्यन्त कष्टसाध्य तथा विघ्नसकुल है। स्वाभाविकसे विपरीत ही अस्वाभाविक है। जो स्वाभाविक है, अर्थात् जो स्वभावतः होता है, वही अनायाससाध्य और सुखद है, तथा उसमें किसी तरहकी विपत्तिकी भी सम्भावना नहीं। देखो, जब स्वभावतः हमें निद्रा, क्षुधा और मल-मूत्रादिका वेग होता है तब सोजाने, भोजन कर लेने और मलमूत्रादि त्याग देनेसे शारीरिक स्वस्थता तथा मानसिक आनन्दका अनुभव होता है। किन्तु निद्राकी इच्छा न मालूम होनेपर भी जबर्दस्ती सो रहनेसे सुषुप्तिके स्थानमें स्वप्न आया करता है और उससे शारीरिक और मानसिक अस्वस्थताका अनुभव होता है। भूख नहीं है, फिर भी भोजन कर लिया, तो उससे अजीर्णतादि दोषके कारण शरीरमें रोग होनेकी सम्भावना रहती है। भूख न रहनेपर भोजन करनेसे वह उतना रुचिकर भी नहीं मालूम होता। मलका वेग नहीं हुआ, फिर भी कॉखकर मल त्याग किया, इससे भविष्यमें गुह्य रोगोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है किन्तु वेग होनेके बाद मल त्याग करनेपर शारीरिक और मानसिक आराम मालूम होता है। उसी तरह अन्तःकरणमें स्वाभाविकरूपसे आसन, मुद्रा और प्राणायामादि करनेकी इच्छा होनेपर और उसके अनुसार क्रिया करनेपर वह सहज और शान्तिप्रद हो जाती है। स्वभावसे ही जो हो जाता है, उसमें बाधा डालनेपर बल्कि अनिष्टकी सम्भावना रहती है। जैसे, शोकमें जिस समय रुलाई आती है, उस समय उसमें बाधा उपस्थित होनेपर हृदयमें भयानक चोट लगती है, किन्तु रो लेनेपर शरीर और मन हल्का मालूम होता है। मल-मूत्रादिका वेग होनेपर उसे रोक लेनेसे दुःख होता है और रोग उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है, किन्तु उसका त्याग करते ही आराम मिलता है। उसी तरह गुरुशक्तिके प्रभावसे स्वभावतः जो आसन, मुद्रा और प्राणायाम आदि तथा नाना प्रकारसे अंगसञ्चालन आदि करनेकी इच्छा होती है, उसमें उस समय बाधा डालनेपर मानसिक अशान्ति मालूम होती है और शरीरको भी अच्छा नहीं मालूम होता।

जिस तरह वायु, पित्त और कफ इन तीनोंके स्वभावमें विषमता होनेपर वैद्यके पास जाना पड़ता है और वैद्यके बतलाये हुए औषध, पथ्यका व्यवहार करके स्वभावकी सहायता करनेपर शरीर स्वभावतः ही नीरोग हो जाता है, उसी तरह सद्गुरुकी कृपासे शक्तिसञ्चारके द्वारा सिद्धिमार्ग प्राप्त होनेपर एकमात्र गुरूपदिष्ट मन्त्रजप या ध्यानके द्वारा ही स्वभावतः आसन, मुद्रा, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान इत्यादि सब योगाङ्ग अनायास साधित हो जाते हैं, इसके लिये विशेष परिश्रम करने या चेष्टा करनेकी आवश्यकता नहीं होती, अथवा गुरुसे इन सब आसन, मुद्रा और प्राणायाम आदिका स्वतन्त्ररूपसे उपदेश लेनेकी भी जरूरत नहीं होती।

इसी पथसे क्रमशः अग्रसर होते-होते साधक शीघ्र ही योगसिद्धि प्राप्त करके कृतार्थ और धन्य हो जाता है। इस उपायसे स्वभावतः योगाङ्गादि साधनक्रमसे जीव और ब्रह्मका ऐक्यज्ञान अथवा अखण्ड-चैतन्यानुभूति होती है और इसीको सिद्धिमार्ग या सिद्धयोग कहते हैं। परन्तु यह शक्तिसम्पन्न सद्गुरुकी कृपा प्राप्त होनेपर ही सम्भव है

वाम-कौल-तान्त्रिक योग

(लेखक—श्रीगुलाबसिंहजी शर्मा)

नमामि त्वां महादेवीं महाभयविनाशिनीम्।
महादुर्गप्रशमनीं महाकारुण्यरूपिणीम्॥

'मृत्युरूप महाभयका नाश करनेवाली, अति दुस्तर विघ्नोंको शान्त करनेवाली तथा महान् करुणाकी मूर्ति आप महादेवीकी मैं वन्दना करता हूँ।'

जीवात्माका विकास जीवनके उत्कर्षपर निर्भर करता है। यह जीवनशक्ति और प्राणोंकी वृद्धि हम योगाभ्याससे ही विशेषतः लाभ कर सकते हैं। आहार-विहारमें यथायोग्य सयम करते रहने और स्वास्थ्यके साधारण नियमोंका पालन करनेसे हमारी जीवनशक्तिकी वृद्धि होती है। तब योग-सरीखे सर्वोच्च सयमनमार्गका अभ्यास करनेसे हमारी आत्मिक शक्ति अवश्यमेव विकसित होगी, यह ध्रुव सत्य है। हाँ, इन क्रियाओंमें पथप्रदर्शक अर्थात् गुरुकी आवश्यकता अनिवार्य है, और यदि मनकी लगन सच्ची हो तो गुरु भी मिल जाता है। योगके नामसे कई मठ और नानाविध ग्रन्थ हमें प्राप्त हैं, परन्तु अनुभव हमें बतलाता है कि सबसे श्रेष्ठ वही मार्ग है जिसमें अभ्युदय और निःश्रेयस दोनोंकी प्राप्ति सुगम हो—केवल एकाङ्गी धर्म कभी कल्याणप्रद नहीं हो सकता। इसी सिद्धान्तको ध्यान-में रखते हुए आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णने गीताजी-में कहा है—

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥
(२। ५०)

अर्थात् 'इससे समत्वबुद्धि योगके लिये ही चेष्टा करो, यह समत्वबुद्धि-रूप योग ही कर्मोंमें चतुरता है।' फिर आगे चलकर भगवान् अर्जुनको उपदेश देते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
(६। ४६)

अर्थात् 'योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है और शास्त्रके ज्ञान-भी श्रेष्ठ माना गया है, तथा सकाम कर्म करने-योगी श्रेष्ठ है। अतएव हे अर्जुन! तुम योगी
[illegible] स्पष्ट है कि योग पूर्णांग-मार्ग है और
[illegible]मे है कि यह न किसीका त्याग बतलाता है न किसीका ग्रहण, जैसा कि अन्य साम्प्रदायिक मार्गोंमें है। योगमार्ग हमें भुक्ति और मुक्ति दोनोंको प्राप्त कराता हुआ परम आनन्दमय जीवन अर्थात् मुक्त अवस्थाको प्राप्त करा देता है। शास्त्रोंको देखने, सुनने और विचार करनेसे पता लगता है कि कौलमार्ग अर्थात् तान्त्रिक साधना ही प्रधान योगमार्ग है और उसका यह दावा है—

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो
यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः।
श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां
भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव॥

अर्थात् जहाँ भोग है वहाँ मोक्ष नहीं है और जहाँ मोक्ष है वहाँ भोग नहीं है। किन्तु जो लोग भगवती श्रीत्रिपुरसुन्दरीकी सेवामें सलग्न हैं उनके लिये भोग और मोक्ष दोनों ही करतलगत हैं।

तान्त्रिक साधनामें कर्मके त्याग-ग्रहणकी आवश्यकता नहीं, केवल कर्मफल त्यागनेकी आवश्यकता है। इस साधनाके विषयमें कुछ कहनेके पूर्व 'कौल', 'वाम' आदि शब्दोंसे जो भ्रम होता है, उसको दूर करना आवश्यक है।

वाम—**अक्षेमः अनेनः अनेद्यः अनवद्यः अनभिशस्तः उकथ्यः सुनीथः पाकः वाम· वयुनमिति दश प्रशस्य-नामानि।** (निरुक्त)

अर्थात् उपर्युक्त दस नाम प्रशस्य अर्थात् श्रेष्ठके वाचक हैं।

य एव हि प्रज्ञावन्तस्त एव हि प्रशस्या भवन्ति।
(दुर्गाचार्य)

अर्थात् जो प्रज्ञावान् (बुद्धिमान्) हैं वे ही प्रशस्य हैं। 'प्रशस्य' शब्दका अर्थ है प्रज्ञावान्। प्रज्ञावान् प्रशस्य योगीका नाम ही 'वाम' है। तन्त्रके प्रवर्तक भगवान् शिव कहते हैं—

वामो मार्ग· परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

अर्थात् वाममार्ग अत्यन्त गहन है और योगियोंके लिये भी अगम्य है।

अधिकार—

परद्रव्येषु योऽन्धश्च परस्त्रीषु नपुंसकः ।
परापवादे यो मूकः सर्वदा विजितेन्द्रियः ॥
तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र वामे स्यादधिकारिता ॥

(मेरुतन्त्र)

अर्थात् जो परद्रव्यके लिये अन्धा है, परस्त्रीके लिये नपुसक है, परनिन्दाके लिये मूक है और जो इन्द्रियोंको सदा अपने वशमें रखता है ऐसा ब्राह्मण ही वाममार्गका अधिकारी होता है ।

कौल-कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते ।
कुलाकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते ॥

(स्वच्छन्दतन्त्र)

अर्थात् 'कुल' शब्द शक्तिका वाचक है और 'अकुल' शब्दसे शिवका बोध होता है, कुल और अकुलके सम्बन्धको कौल कहते हैं ।

तन्त्र-तन्त्रकृत्तन्त्रसम्पूज्या तन्त्रेशी तन्त्रसम्मता ।
तन्त्रेशा तन्त्रवित्तन्त्रसाध्या तन्त्रस्वरूपिणी ॥

(ब्रह्मयामल)

अर्थात् 'देवी तन्त्रको रचनेवाली, तन्त्रके द्वारा अर्चनीय, तन्त्रकी स्वामिनी, तन्त्रको मान्य, तन्त्रको जाननेवाली, तन्त्रके द्वारा साध्य और तन्त्रस्वरूपिणी हैं ।'

तात्पर्य तन्त्र शक्ति प्राप्त करनेका मार्ग है और तन्त्र ही स्वय शक्ति है । तन्त्रशास्त्रके दो मुख्य साधनमार्ग हैं—एक भावना और दूसरा कुल-कुण्डलिनीका ऊर्ध्व-सञ्चालन । शास्त्रकार कहते हैं—

भावेन लभते सर्वं भावेन देवदर्शनम् ।
भावेन परमं ज्ञानं तस्माद् भावावलम्बनम् ॥

(रुद्रयामल)

बहुजापात् तथा होमात् कायक्लेशादिविस्तरैः ।
न भावेन विना देवो यन्त्रमन्त्रफलप्रदः ॥

(भावचूडामणि)

अर्थात् भावसे सब कुछ प्राप्त होता है, भावसे ही देवदर्शन होता है और भावसे ही श्रेष्ठ ज्ञानकी प्राप्ति होती है । चाहे हम कितना ही जप करें, कितना ही होम करें और शरीरको कितना ही क्लेश पहुँचावें, भावके बिना देवता यन्त्र और मन्त्रका फल नहीं देते ।

इसी मूल सिद्धान्तको लेकर तमोगुणाधिक साधकके लिये पशु-भाव, रजोगुणाधिक साधकके लिये वीरभाव और सत्त्वगुणाधिक साधकके लिये दिव्यभावकी साधना तन्त्र-शास्त्रमे बतायी है । इन तीनों प्रकारकी साधनाओंके लिये साधक जिज्ञासुओंको किसी सुविज्ञ गुरुके पास जाकर उनका मर्म जानना चाहिये । केवल ग्रन्थ देखकर कोई साधना करेंगे तो भ्रममें फँसकर अपना पतन करेंगे ।*

अस्तु, कुलकुण्डलिनी क्या है, यह अब पहले देखना चाहिये—

Shortly stated, Energy (*Shakti*) polarises itself into two forms, namely, static or Potential (*Kuṇḍalinī*) and dynamic (the working forces of the body as (*Prāṇa*)

—*Sir John Woodraffe* (*Shakti and Shakta*)

Kuṇḍalinī is the static *Shakti*

It is the Individual bodily representative of the great Cosmic Power (*Shakti*) which creates and sustains the Universe

—(*'The Serpent Power' by Arthur Avalon*)

अर्थात् संक्षेपमें हम यों कह सकते है कि शक्ति स्थिर अथवा अविकसित (कुण्डलिनी) और चल (अर्थात् शरीरकी प्राणरूप सञ्चालिका शक्ति) रूपसे द्विविध हो जाती है । —सर जॉन वुडरफ़ ('शक्ति और शाक्त') ।

कुण्डलिनी स्थिर शक्ति है । यह उस महान् विश्वव्यापिनी शक्तिका ही व्यष्टि शरीरस्थित रूप है ।

—आर्थर एवेलन ('कुण्डलिनी शक्ति') ।

यह तो हुई पाश्चात्य विद्वानोंकी राय । शास्त्रकारोंके वचन ये हैं—

---

* तान्त्रिक शब्द सब पारिभाषिक हैं और उनका अर्थ गुप्त है । जो गुरु-परम्परानुसार चल रहा है । अत. उन आदेशों और क्रियाओंको गुरु ही समझा सकता है । यह 'हृदयका गुप्त रहस्य' है, जो गुरुसे शिष्यको प्राप्त होता है और गुप्त ही रक्खा जाता है—

प्रकाशात् सिद्धिहानि स्याद्वामाचारगतौ प्रिये ।
अतो वामपथं देवि गोपायेत् मातृजारवत् ॥

(विश्वसार)

अर्थात् हे प्रिये ! वामाचारमार्गमें साधनको प्रकाशित करनेसे सिद्धिहानि होती है, अतः हे देवि ! वाममार्गको माताके जार समान गुप्त रखना चाहिये ।

सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रभया स्वया।
अहिवत् सन्धिसंस्थाना वाग्देवीबीजसंज्ञका॥
ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्भया स्वर्णभास्वरा।
सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयप्रसूतिका॥

अर्थात् यह देवी सोयी हुई नागके समान मालूम होती है तथा अपने ही प्रकाशसे दीप्त है। यह सर्पके समान सन्धिस्थानमें रहती है तथा वाग्देवीके बीज नामसे विख्यात है। इसे विष्णुकी शक्ति जानना चाहिये। यह निर्भय और स्वर्णके समान आभावाली है तथा सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोका प्रसूतिस्थान है।

अर्थात् सब शक्तियोंकी मूल शक्ति यह कुलकुण्डलिनी है। इसको कैसे जगाया जाय, यही प्रश्न है। हमारे ऋषियोंने कई प्रकारके उपाय साधनाधिकारभेदसे बतलाये हैं, जैसे मन्त्रयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, विन्दुयोग (अथवा नादयोग), हठयोग, राजयोग इत्यादि। इनका विवरण ग्रन्थोंमें होनेपर भी साधकके लिये सिद्ध गुरुकी आवश्यकता है। सिद्ध गुरुके बिना कुछ प्राप्त नहीं होगा और मैं भी यहाँ उतना ही वर्णन करूँगा जितनेके लिये गुरु-आज्ञा है।

(१) सबसे पहले बाह्य और आन्तर शुद्धि होनी चाहिये। फिर (२) आहार-विहार नियमित और शुद्ध होना चाहिये। (३) ऐसे आचार नहीं होने चाहिये जिनसे मस्तिष्कमें अधिक क्षोभ पैदा हो। (४) ईश्वर अर्थात् इष्टमें पूर्ण प्रेम होना चाहिये। (५) आध्यात्मिक ग्रन्थोंका स्वाध्याय और गुरु-आज्ञापर पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिये। (६) साधनाका स्थान नीरव, एकान्त, स्वच्छ और शुद्ध वायुयुक्त हो। (७) साधन प्रातः-साय और अर्द्धरात्रिमें अवश्य करना चाहिये। आधीरातका समय ध्यान और जपके लिये श्रेष्ठ है। (८) जिह्वादि इन्द्रियोंका पूर्ण सयम करना चाहिये। (९) मन-बुद्धिसे किसीका भी अहित न सोचना, प्रत्युत प्राणिमात्रके हितकी भावना करनी चाहिये। (१०) हर हालतमें ब्रह्मशक्तिका स्वरूप अपनेको समझते हुए अपने आत्माको अजर, अमर, और सब शक्तियोका केन्द्रस्थान समझना चाहिये। ी-जातिको जगदम्बास्वरूप समझते हुए कभी समझना चाहिये, बल्कि माताके रूपमे

ये हैं नियम जिनमे साधकको साधनासे पहले अपने-आपको ढालना होगा। तत्पश्चात् निम्नलिखित साधना आरम्भ करनी चाहिये—शीर्षासनका नित्य प्रातः-साय अभ्यास करो। प्रथम एक मिनटसे प्रारम्भ करके जब दस मिनटतकका अभ्यास हो जाय तब प्राणायामका अभ्यास करो। पद्म या सिद्ध आसनसे बैठकर रेचक, पूरक, कुम्भकका अभ्यास आरम्भ करो। प्रयत्न करो कि ज्यादा देरतक कुम्भक हो सके, पर बलपूर्वक प्राणवायुको रोकनेका प्रयत्न मत करो। धीरे-धीरे अभ्यास करो। इसमें ॐके उच्चारणकी गिनतीका हिसाब रक्खो और प्रति सप्ताह पाँच मन्त्र बढाते चलो। बीस प्राणायामसे अधिक न बढ़ाना चाहिये और तीन घण्टेतकका कुम्भक हद है। स्मरण रक्खो कि वायुमण्डल ही प्राण नहीं है, वायुका विशुद्धतम अश ही प्राणवायु कहलाता है। विशुद्ध-विशेषका सम्बन्ध ग्रहोंकी शक्ति (Planatary Electricity) और विशेषकर सूर्यज्योतिसे है। जबतक सूर्य रहता है जाग्रति रहती है। सूर्यके न रहनेसे जीवमात्र ही शक्तिहीन हो जाते हैं और उन्हें विश्रामकी आवश्यकता पड़ती है। अतः जिस तरह बाह्य सूर्य है, उसी तरह हमारे अन्दर सूर्यकेन्द्र है, जिसको (Solar Plex) कहते हैं। इसका स्थान नाभिके पास है और यौगिक भाषामें उसे मणिपूर-चक्र भी कहते हैं। यही वह मणिपूर है जिसका वर्णन पुराणोमे आया है कि शक्तिका स्थान मणिपूरमें है। (इसी तरह विष्णुका वैकुण्ठ और शिवका कैलास भी मनुष्यके शरीरमे ही है। पर तिनकेकी ओट पहाड़ है।) अतः प्राणायामकी प्रक्रिया-द्वारा यही चित्त-शक्ति बढ़ायी जाती है और जल्द वह समय आ जाता है जब मणिपूर-चक्र जगने लगता है। जब चक्र जगने लगता है तब साधकमें तेज चमकने लगता है। वह शक्तिमान् हो उठता है और उसकी इच्छाशक्ति बलवती हो जाती है। उसके बाद प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और तल्लीनता अर्थात् समाधि आरम्भ होती है।

मस्तिष्क ही ज्ञानरज्जुके रूपमे मेरुदण्डके भीतर नीचेतक अनन्त स्नायु-तन्तुओंके रूपमे फैला हुआ है। पायुसे दो अङ्गुल ऊपर, उपस्थसे चार अङ्गुल नीचे ज्ञान-रज्जु मेरु-दण्डके बाहर चार अङ्गुल विस्तृत कन्दके रूपमे प्रकट हुई है। सिद्धोंके मतानुसार उसी कन्दसे बहत्तर हजार नाडियोंका सम्बन्ध है। इन नाडियोंमे मुख्य इडा-पिङ्गला और

सुषुम्ना है। हमारा उद्देश्य केवल प्राणायामसे उस कन्दको पुष्ट करके शरीरको पुष्ट करना ही न होना चाहिये, बल्कि शरीर तो स्वयं पुष्ट होगा, हमारा लक्ष्य होना चाहिये ब्रह्मानन्द-प्राप्ति—शिवशक्तिसम्मिलन। हमारी अन्तर्मुख शक्ति तब सिद्ध होगी जब हमारा सम्बन्ध सुषुम्नासे होगा। क्योंकि सुषुम्ना नाड़ी कन्दसे होती हुई मस्तिष्कतक जाती है और जीवात्मासे विशेष सम्बन्ध रखती है। अतः इसी सुषुम्नाद्वारा योगिगण केवल भावनासे प्राणायामसे सञ्चित शक्तिको ठोकर लगाकर कुण्डलिनीको जगाकर ऊर्ध्व-गामिनी करनेमें समर्थ होते है और अमृत-पद प्राप्त करते हैं। शिवभक्त इसको शिवशक्तिसम्मिलन कहते हैं। कृष्णभक्त इस कुल-कुण्डलिनी-रूपी राधिकाका कृष्ण ब्रह्मके साथ (वंशीवटके निकट) मस्तिष्कके पास रासविलास देखा करते हैं और आधुनिक सन्त सुरति-शब्द-योग कहकर गद्‌गद् होते हैं। यही जीव शिव हो जाता है—सब ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। कुण्डलिनीके जागरणपर एक प्रकारका कम्प पैदा होता है और उससे ॐ की ध्वनि स्वय निकलने लगती है तथा अनेक प्रकारके स्वर आने लगते हैं। यह ओंकार जगदम्बाका उद्‌गार है और काम, क्रोध, लोभ, मत्सरका नाश ही शुम्भ, निशुम्भ, चण्ड, मुण्डका वध है।

भ्रुकुटीमे द्विदल कमल है, जहाँ शिवका निवासस्थान है और योगियोंके मतसे महाकाल रुद्र वहाँ लेटे हैं। जगदम्बा कुण्डलिनी जाकर ठोकर लगाती है, उनके वक्षःस्थलपर भीषण नृत्य करके उनमे जीवनका सञ्चार करती है और शवसे शिव बनाकर सहस्रदलपद्ममें सदा ही विहार करती है। यही कालीका नृत्य है।

तान्त्रिक मतसे एक तो यह मार्ग है और दूसरे इसी योगके शाखास्वरूप मन्त्र, ज्योति, नादादि योग हैं। पर योग मात्रकी साधना तभी सिद्ध होती है जब कुण्डलिनी जाग उठे। सब योगोंका लक्ष्य भी एक ही है। इसमे वाद-विवादसे कुछ नहीं मिलेगा, यह तो करतब विद्या है, जो करेगा वह आनन्द लेगा। इससे अधिक कुछ नहीं लिखा जा सकता, न लिखनेकी आज्ञा ही है। आगे जो कुछ है वह अनिर्वचनीय और अनुभवगम्य है। अन्तिम प्रार्थना यही है कि जगदम्बा हमारा और आपका सबका कल्याण करें। जो साधना करना चाहें उनसे प्रार्थना है कि वे पञ्चदेवोंके प्रति द्वेष-भावना छोड दें, देव एक है, वस्तु एक है, केवल भावना और साधन-प्रणाली पृथक्-पृथक् है—ऐसा समझकर एक-दूसरेके इष्टको प्रेमसे देखें। इससे सबका मङ्गल होगा। शास्त्रकार कहते हैं—

एकैव माया परमेश्वरस्य
स्वकार्यभेदाद् भवति चतुर्धा।
भोगे भवानी समरे च दुर्गा
क्रोधे च काली पुरुषे च विष्णुः॥

अर्थात् परमेश्वरकी एक ही माया अपने कार्य-भेदसे चार प्रकारकी हो जाती है। भोगके समय उसे भवानी कहते हैं, समरमें वही दुर्गा कहलाती है, क्रोधमे वह काली नामसे विख्यात होती है, तथा पुरुषरूपमे वह विष्णुसज्ञा-को धारण करती है।

जो इस पथपर चलेंगे वे आनन्द प्राप्त करेंगे—

ब्रह्मानन्दरसं पीत्वा ये तु उन्मत्तयोगिनः।
इन्द्रोऽपि रङ्कवद्भाति का कथा नृपकीटकः॥

अर्थात् ब्रह्मानन्दरूप रसको पीकर जो योगी उन्मत्त हो जाते हैं उनके सामने इन्द्र भी रङ्कतुल्य प्रतीत होता है, साधारण नृपरूप कीटोकी तो बात ही क्या है?

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

अस्पर्शयोग

(लेखक—प० श्रीनरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ)

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥

(गौडपादीय कारिका ३९)

श्रीआनन्दगिरिजीने इस कारिकाका अर्थ इस प्रकार किया है—'वर्णाश्रमधर्मसे, पापादि मलसे जिसको स्पर्श नहीं होता, जो इनसे सर्वथा अछूत रहता है वह अद्वैतानुभव अस्पर्श है। वह यह योग अर्थात् जीवकी ब्रह्मभावसे योजना ही अस्पर्शयोग है।'

भगवान् शङ्कराचार्य इसका भाष्य यों करते हैं—

यद्यपोदमित्थं परमार्थतत्त्वम्। अस्पर्शयोगो नामायं सर्वसम्बन्धाख्यस्पर्शवर्जितत्वादस्पर्शयोगो नाम वै स्मर्यते प्रसिद्धमुपनिषत्सु। दुःखेन दृश्यत इति दुर्दर्शः सर्वैर्योगिभिः, वेदान्तविहितविज्ञानरहितैः सर्वयोगिभिरात्मसत्यानुबोधाभासलभ्य एवेत्यर्थः। योगिनो बिभ्यति ह्यस्मात्सर्वभयवर्जितादप्यात्मनाशरूपमिमं योगं मन्यमाना भयं कुर्वन्ति अभयेऽस्मिन्भयदर्शिनो भयनिमित्तात्मनाशदर्शनशीला अविवेकिन इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

इसका अर्थ यह है—

'यह अस्पर्शयोग सब स्पर्शोंसे, सब सम्बन्धोंसे अलिप्त रहनेका नाम है और उपनिषदोंमें प्रसिद्ध है एवं कई स्थानोंमें इसका उल्लेख आया है। जिनको वेदान्तविहित विज्ञानका बोध नहीं उनके लिये 'दुर्दर्शः' है। यह अस्पर्शयोग सब प्रकारके भयोंसे शून्य है तो भी योगिजन इस योगसे भयभीत होते रहते हैं—वह भय यह कि कहीं इस अस्पर्शयोगके अभ्याससे आत्मनाश न हो जाय। इस प्रकार अस्पर्शयोगद्वारा अद्वैततत्त्वमें मिल जानेसे आत्मतत्त्वका नाश समझनेवाले योगियोंका अविवेक ही है अर्थात् अविवेकियोंको ही ऐसा भय रहता है, अन्योंको नहीं।'

उपनिषदोंमें 'न लिप्यते कर्मणा पापकेन' इत्यादि वचन मिलते हैं। अस्पर्शयोगवाले योगिजन पाप-पुण्यसे अलिप्त रहते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त कारिका, उसका शाङ्करभाष्य, उसपर की गयी आनन्दगिरिजीकी टीका इन सबका अभिप्राय अस्पर्शवादसे विशुद्ध अद्वैतका है।

अभयके विषयमें यह निम्नलिखित कारिका क्या कहती है, देखिये—

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम्।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च ॥

(गौडपादीय का० ४०)

'अभय—आत्मदर्शनतत्त्व तो मनके निग्रहके अधीन है जिससे समस्त दुःखोंका क्षय होता है और प्रबोधचन्द्रका उदय भी। अक्षय शान्ति भी मिलती है।'

गीताका कर्मयोग भी एक प्रकारसे अस्पर्शवाद ही है। उसमें भी फलकी आकांक्षासे अछूत रहकर कर्म करना पड़ता है—फलकी आकांक्षा छोड़कर केवल कर्त्तव्यके लिये कर्त्तव्य करते रहनेसे पुरुष पाप-पुण्यसे अलिप्त रहकर मोक्षका अधिकारी बन जाता है। ध्यानयोगका जो फल है वही फल इस प्रकारके अस्पर्शवादका है—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

(१)	(२)	(३)
योगका ध्यानयोग	गौडपादका अस्पर्शयोग	गीताका कर्मयोग

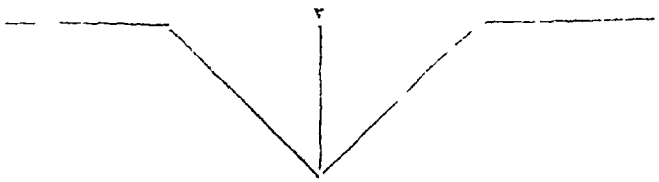

तीनोंका फल एक

अर्थात्

मोक्ष

जितना भी दुःख है वह है स्पर्शका, कर्मफलमें लिप्त रहनेका;—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।

(गीता)

× × ×

न तेषु रमते बुधः। (गीता)

संसारके जितने संस्पर्शज भोग हैं वे दुःखके ही कारण हैं—बुद्धिमान् पुरुष उनमें रमते नहीं, अलग रहते हैं,

अस्पर्शसे काम लेते हैं तब वे पुण्यापुण्यसे ऊपर उठते हैं, तब आत्मदर्शन कर पाते हैं, तब 'अभय' में लीन हो जाते हैं। यह अस्पर्शयोग अत्यन्त कठिन है। साधारण योगियोंको तो क्या बड़े-बड़े योगियोंको भी अप्राप्य है। पर अभ्यास और वैराग्यसे वशीकारसंज्ञा प्राप्त करनेपर सहजगम्य है।

पुराकालमें हमारे इस पवित्र भरतखण्डमें इस प्रकारके उच्चकोटिके योगियोंकी कमी नहीं थी—अब भी यह खण्ड शून्य नहीं है पर पुराकालकी वह बात भी नहीं रही है। आजकल निम्नलिखित पारमार्थिक सत्यको समझानेवाले हमारे देशमें कितने मिलेंगे? और कहाँ मिलेंगे? मिलेंगे तो वे किस प्रकार पहचाने जायँगे? पहचाने भी गये तो वे किस प्रकार प्रसन्न होंगे और तत्त्वको समझायेंगे?

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते॥
(गौडपादीय कारिका ४८)

'वस्तुतः 'कर्त्ता' 'भोक्ता' जीव तो कभी उत्पन्न नहीं होता। स्वभावसे जो 'अज' है 'एक ही आत्मा' है वह उत्पन्न भी कैसे हो सकता है? संसारमें जितने 'सत्य' हैं उनमें परमार्थ सत्य यह है कि उस सत्यस्वरूप ब्रह्ममें अणुमात्र भी उत्पन्न नहीं होता।'

अब रही द्वैताद्वैतकी बात, उसको गौडपादीय कारिका ३१ में स्पष्ट वर्णन किया है—

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित्सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते॥

'द्वैतकी सब बात मनके अधीन है—मनके कारण है। मन ही जब लीन-विलीन हो गया तब द्वैत कहाँ? द्वैतकी बात बोलनेवाला कहाँ?'

भक्तियोग तथा उसकी सर्वव्यापकता और उत्कृष्टता

(लेखक—साहित्याचार्य प० श्रीमथुरानाथजी शास्त्री, भट्ट, कविरत्न)

[१]

चाहे शिक्षित हो या अशिक्षित, आस्तिक हो या नास्तिक, सबका ध्येय सुख है। सबकी इच्छा यही रहती है कि दुःखसे बचें, और सुख मिले। मनुष्य ही क्या, प्राणिमात्र सुखके लिये व्यस्त हैं। अपनी जानमें वह वही यत्न करता है कि जिससे दुःखसे बचकर सुखके सम्मुख हो। किन्तु अपनी-अपनी बुद्धि और योग्यताके अनुसार उपायोंमें अन्तर है। एक आदमीके यत्नकी पहुँच वहींतक हो पाती है कि कुछ दिनके लिये चाहे उसे दुःखसे छुटकारा भले ही मिल जाय परन्तु उस नियत अवधिके बीत जानेपर फिर उसे उसी दुःखका सामना करना पड़ता है। परन्तु दूसरा आदमी अपनी दूरन्देशीसे ऐसे उपायोंमें लगता है जिनके कारण अनन्त अवधिके लिये वह दुःखोंसे छुटकारा पा जाता है। गरमीके घामसे घबराया हुआ पशु जब किसी मकानकी छायामें पहुँच जाता है तो समझता है, मैंने अपने उपायोंसे सुख प्राप्त कर लिया। किन्तु सूर्य ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ता जाता है, छाया वहाँसे हटती जाती है। वह भी अपनी जानमें उपायोंमें कमी नहीं करता। उसके साथ-साथ आगे बढ़ता चला जाता है। किन्तु जब मकानकी भित्ति आ चुकती है, और धूपसे बचाव नहीं हो पाता तब वह अपने उद्योगको विफल समझकर घबरा उठता है। सन्तापसे बचनेके लिये इधर-उधर दीन दृष्टि डालता है।

विचारशीलोंका एक बारीक विचार यहाँ और है। वह 'सुख' शब्दके अर्थपर ही डट जाते हैं। उनका कहना है कि 'सुख' पदार्थको तो अभी लोगोंने नहीं समझा है। वर्तमान परिस्थितिमें कुछ-न-कुछ उन्नति होना, थोड़ा-बहुत आराम और उत्कर्षकी तरफ जाना ही 'सुख' कहा जाना चाहिये। हमारी प्रचलित परिस्थितिमें एक आगन्तुक दुःख जो अचानक आ पड़ता है उसकी निवृत्ति होनेपर हमें खुशी जरूर होती है किन्तु विचार-दृष्टिसे वह सुख नहीं कहा जा सकता। वह तो अचानक आयी हुई आपत्तिसे बचाव है न कि लाभ। जिस सेवकको प्रतिमास पचास रुपया वेतन मिलता है, स्वामीकी अप्रसन्नताके कारण हर मास उसके यदि पाँच रुपये कुछ मासतक कटते रहें और फिर उसे पचास रुपया मासिक

मिलने लगे तो क्या इसे उन्नति समझेंगे ? रास्ता चलते हुए आदमीके सिरपर अचानक बोझ रख दिया जाता है जिससे वह बेचारा घबरा उठता है। उसके हट जानेपर जरूर वह निश्चिन्तताका श्वास लेता है किन्तु क्या यह वास्तव सुख है ? सुख तो वह गिना जाना चाहिये जो कि उसे अपनी परिस्थितिसे कुछ आगे बढावे। अतएव आगन्तुक दुःखोंके अभावको सुख नहीं मानना चाहिये। संसारके सुख प्रायः सब इसी तरहके हैं। भर्तृहरि कहते हैं—

निवृत्तौ दुःखानां सुखमिति विपर्यस्यति जनः।

इन सब बातोंको सोचकर ही विवेकशील दार्शनिकोंने उत्तमोत्तम सुखकी परिभाषा अलग ही मानी है। वह स्वर्गसुखको उत्कृष्ट बताते हैं। दूसरे-दूसरे शास्त्रोंने 'स्वर्ग' को एक लोकान्तर माना है किन्तु इनके मतसे—'जिस सुखमें दुःखका जरा भी मिलाव न हो, जो किसी सुखकी तुलनामें दबता न हो, जिसमें अन्तर (विच्छेद) न पड़ता हो, जो यथेच्छ प्राप्त हो, उसे ही स्वर्गसुख[1] कहते हैं।

जो ईश्वर और शास्त्रोंपर विश्वास नहीं करते उनके मतमें सुख और उसकी प्राप्तिके लिये उपाय-परिकल्पना कैसी होगी, इसपर मैं विचार करना नहीं चाहता। जो ईश्वरको केवल मानते ही नहीं, उसकी प्रसन्नता सम्पादनको ही जो परम पुरुषार्थ समझते हैं, शास्त्रोंको प्रमाण मानते हैं वे 'स्वर्गकामो यजेत' इस शास्त्राज्ञाके अनुसार स्वर्गसुखके लिये यज्ञ-यागादि किया करते हैं। किन्तु वह सुख भी सावधिक (मर्यादी) है। किये हुए यज्ञादिका पुण्यफल जितने कालके लिये पर्याप्त हो सकता है उतने कालके लिये वे भी उस लोकान्तर या सुखविशेषको भोगते हैं। फिर 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'।

दूसरे, स्वर्गीय भी आपत्तियोंके आक्रमणोंसे एकदम बरी नहीं कहे जा सकते। माना कि हम पग-पगपर नानाविध आपत्तियोंसे घिरे रहते हैं, चिन्ता और सन्ताप हमारा हरदम पीछा किया करते हैं, सुख थोड़ा और आपत्तियाँ बहुत। किन्तु एकदम सुखी तो देवता भी नहीं गिने जा सकते। और तो क्या, सब देवताओंके अधिपति इन्द्र भी आये दिन शत्रुओंके आक्रमणोंका सामना किया करते हैं। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि स्वर्गमें पहुँचनेपर तो दुःखोंसे सदाके लिये छुटकारा हो ही जाता है ?

फिर यज्ञ-यागादिका पूरा पार पड़ जाना भी तो सहज नहीं। उनकी विधिमें थोड़ा भी अन्तर होते ही कार्यसिद्धि कैसी, उलटा प्रत्यवाय (पाप) का भागी होना पड़ता है। 'व्रीहीन् अवहन्ति' धानोंका अवघात (काष्ठादिसे छड़ना) जहाँ विहित है वहाँ थोड़ा भी अन्तर पड़ जानेसे कर्ममें वैगुण्य हो जाता है। 'दक्षिणेन कुशानास्तीर्य' 'वेदीके दक्षिण भागमें कुश फैलावे'। यदि इसमें थोड़ी भी भूल हो गयी तो कार्यसिद्धिमें अन्तर पड जाता है। मन्त्र बोलते समय स्वरमात्रमें भी थोडी-सी भूल हो गयी तो लेनेके देने पड़ जाते हैं। असुरोंकी तरफसे, इन्द्रको मारनेवालेको उत्पन्न करनेके लिये यज्ञ किया जा रहा था, किन्तु 'इन्द्रशत्रो' इस पदमात्रमें स्वरकी जरा-सी गलती करनेसे इन्द्रके हाथसे मरनेवाला पैदा हो गया। अब कहिये, कितनी बड़ी सावधानीका काम है। कितना अध्यवसाय, कितना परिश्रम, कितना काल अपेक्षित है ? फिर सौभाग्यसे पूर्ण सिद्धि हो भी गयी तो भी वह सुख सदाके लिये स्थायी हो, सो भी नहीं। 'पतनान्ताः समुच्छ्रयाः' के अनुसार कभी-न-कभी उसका भी अन्त होता ही है। अब कहिये, तपश्चर्या अथवा यज्ञादिके द्वारा जो हमने फलसिद्धि प्राप्त की उससे कौनसा हमें आत्यन्तिक सुख मिल सका ?

फिर और लीजिये। यज्ञ-यागादि करनेके लिये, तपश्चर्या-विधानके लिये सब मनुष्य अधिकारी भी तो नहीं। प्रथम, वेदाध्ययनका ही सबको अधिकार नहीं, फिर उसके द्वारा यज्ञादि करना तो सबके हिस्सेमें आ ही कैसे सकता है ? वेदका सबको अधिकार क्यों नहीं ? मैं समझता हूँ, इसपर झगड़ा करना जम नहीं सकेगा। क्योंकि 'वेद पढ़कर यज्ञ करनेसे स्वर्ग मिलता है' यह आपने कैसे जाना ? आप यही कहेंगे न कि शास्त्रमें लिखा देखा है। बस, उसी शास्त्रमें यह भी व्यवस्था की है कि अमुक वर्ण 'वेद पढे और अमुक नहीं।' फिर 'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा' पर ही आप क्यों बिगड़ उठते हैं ? शास्त्रके एक हिस्सेपर तो श्रद्धा रखकर यज्ञ करनेके लिये तैयार होते हैं और दूसरी तरफ शास्त्रको अप्रमाण भी मानते

१. यत्र दुःखेन सम्भिन्नं यत्र ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥

जाते हैं ? यों मनमानी भी करना चाहते हैं और शास्त्रोंसे लाभ उठानेकी भी आशा रखते हैं ?

अब आप ही विचार कीजिये, सब प्राणियोंके लिये आत्यन्तिक सुखप्राप्तिका उपाय क्या हो सकता है ? मेरे पहले निवेदनपर ध्यान रहना चाहिये कि शास्त्रोंको जो प्रमाण मानते हैं उन आस्तिकोंके विषयमें ही मैं निवेदन कर रहा हूँ। और निबन्ध लिखना भी मेरा उन्हींके लिये है। शास्त्रज्ञ आस्तिकोंका कथन है कि आनन्दैकात्मक उन भगवान्‌से उत्पन्न हुआ उनका ही एकांश यह जीव जबतक उन्हीं भगवान्‌के सम्मुख नहीं होता तबतक इसको सुख नहीं मिल सकता। भगवान्‌ने अपनी इच्छासे, अपनी क्रीडाके लिये, अपने ही रूपसे; स्वात्मक यह जगत् उत्पन्न किया है। जबतक वह स्वयं न चाहें तबतक इस क्रीडाकी समाप्ति न हो, बराबर यह क्रीडा चली जाय, इसके लिये कर्मबन्धका जो प्रबल चक्र चलाया गया है उसमें 'माया' का प्रधान हाथ है। वह इस जीवको ठिकानेपर आने ही नहीं देती। अपने स्वरूपको तथा अपने स्वामीको भूला हुआ यह जीव अन्धेकी तरह संसारचक्रमें अनन्त जन्मोंसे घूम रहा है। सौभाग्यवश सत्संगति मिल जानेपर जैसे ही यह उस सूक्ष्म सच्चे रास्तेके अभिमुख आने लगता है [यदि इसकी लगन दृढ न हुई] तो वह 'माया' फिर इसकी बुद्धिको चकरा देती है, जिससे यह उस रास्तेसे भटककर फिर उसी चौरासीके चक्करमें पड़ जाता है।

एक अन्धा यदि ऐसे एक बगीचेमें फँस जाय कि जिसके चारों तरफ लताओंसे आच्छन्न पुख्ता चहार-दिवारी हो, केवल एकमात्र सूक्ष्म दरवाजा ऐसा हो जिसपर भी आधेसे ज्यादा लताएँ छायी हुई हों। वह नि सहाय अन्धा चारों तरफ टटोलता-टटोलता बाहर निकलनेके लिये जैसे ही उस दरवाजेके सामने पहुँचने लगता है कि दरवाजेके सहारे खड़ा हुआ एक कौतुकी पुरुष मोरपङ्खकी पिच्छी उसके शरीरपर छुआ देता है। वह बेचारा लताओंके धोखेसे उस दरवाजेमें न घुसकर फिर आगे बढ़ जाता है और उसी चहारदिवारीको टटोलता हुआ चक्कर काटने लगता है। बस, यही हाल चौरासीके चक्करमें पड़े हुए इस जीवका है। जैसे ही यह सन्मार्गके अभिमुख होने लगता है कि फिर मायाकी चपेटमें पड़कर चौकड़ी भूल जाता है। गरज यह कि जबतक स्वयं उस कौतुक करनेवालेका ही आश्रय यह जीव नहीं ले लेता तबतक यह उस 'भूलभुलैया' के बाहर नहीं निकल सकता। स्वयं भगवान् ही इस भेदको खोलते हैं कि— 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'।

[२]

भगवान्‌का आश्रय जिसमें लिया जाय, उनकी 'प्रपत्ति' जिसमें की जाय, अपने मनकी गति भगवान्‌में जहाँ लगा दी जाय, वह विशिष्टयोग 'भक्तियोग' है।

यों तो सात्त्विक, राजस, तामस आदि भक्तिके अनेक भेद बताये गये हैं, परन्तु जहाँ और-और तरफ बहते हुए मनकी गतिको भगवान्‌में ही लगा दिया जाय, उस 'निर्गुणा' भक्तिको ही सबसे प्रधानता दी गयी है। 'निबन्ध' बढ़ न जाय, इसलिये केवल डेढ श्लोकसे ही इस 'भक्तियोग' का स्वरूप और उत्कर्ष दिखानेका यत्न करता हूँ। आशा है, मार्मिक लोगोंके लिये यही पर्याप्त होगा।

भगवान् आज्ञा करते हैं—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।

'गङ्गाप्रवाहकी गति जिस तरह समुद्रकी तरफ अप्रतिरुद्ध और स्वाभाविक होती है, इसी प्रकार मेरे गुणोंको सुनकर सर्वव्यापक मुझमें अविच्छिन्न (प्रतिबन्ध-रहित) जो मनकी गति है वही निर्गुण भक्तियोगका लक्षण अर्थात् ज्ञापक (सूचक) कहा गया है'। यह पद्यका अक्षरार्थ हुआ। यहाँ एक-एक पदसे क्या-क्या गूढार्थ सूचित किया गया है, अब जरा इसपर ध्यान दीजिये—

'मद्गुणश्रुतिमात्रेण' इस पूरे पदमें प्रीतिकी स्वाभाविकता और मनोगतिकी अनिवार्यता सूचित की गयी है। मन गुणोंके कारण जब किसीपर अनुरक्त होता है, वह अनुराग बड़ा दृढ और स्वाभाविक होता है। क्योंकि अपनी मनोरथपूर्तिके लिये जब किसीके प्रति किसीका खिंचाव होता है और वह अपने प्रेमपात्रको चाहने लगता है उसमें गुण दरअसलमें गुणका (रस्सीका) काम करते हैं। इसीलिये साहित्यवालोंने पूर्वानुरागमें कहा है—

श्रवणादर्शनाद्वापि मिथः सरूढरागयो।

श्रीरुक्मिणीजीने जिस समय भगवान्‌के गुणोंको सुना उसी समय भगवान्‌के प्रति उनका हृदय इतना आकृष्ट

हुआ कि उन्होंने सम्पूर्ण भूमण्डलके बड़े-बड़े प्रतापी राजाओंमें भगवान् श्रीकृष्णको ही अपने योग्य पति माना—

सोपश्रुत्य मुकुन्दस्य रूपवीर्यगुणश्रियः।
··· ···तं मेने सदृशं पतिम्॥

इन गुणोंने श्रीरुक्मिणीजीके हृदयको इस प्रकार दृढ़ बाँध लिया था कि थोड़ा भी शैथिल्य होना कठिन था! इन गुणोंके कारण ही, बिना भगवान्‌को देखे ही उन्होंने भगवान्‌को अपना पतितक वरण कर लिया था। यह क्या सामान्य बात है? वह कहती है—'हे भुवनसुन्दर! आपके गुणोंको सुनकर विवश हुआ यह मेरा हृदय सब अपत्रप (लज्जा) आदिको छोड़कर 'आविशति' आपमें केवल लगा ही नहीं है, इसे एक तरहका 'आवेश' हो गया है। 'तन्मे भवान् खलु वृतः पतिः' 'अतएव आपको मैंने अपना पति वरण किया है।' इस गुणश्रवणका प्रभाव यहींतक नहीं हुआ, बल्कि अपने प्राणपर्यन्त भगवान्‌को उन्होंने अर्पण कर दिये थे। वह अपने पत्रमें लिखती है—

यर्ह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं
जह्यामसून् व्रतकृशान् शतजन्मभिः स्याद्।

हे कमलदललोचन! यदि आपकी कृपा मुझपर नहीं होगी तो इन प्राणोंको मैं छोड़ दूँगी। ये प्राण पहले ही कैसे हैं—'व्रतकृशान्', आपकी प्राप्तिके लिये जो नाना व्रत किये हैं उनके कारण दुर्बल हो रहे हैं। फिर इनके चले जानेमें देर ही क्या लगेगी? आप यह न समझें कि मेरा यह हृदयसमर्पण केवल इसी जन्मके लिये हुआ है। नहीं-नहीं, यदि आपका अनुग्रह इस जन्ममें न हुआ और आपको स्मरण करते-करते यह शरीर छूट गया तो फिर दूसरे जन्ममें भी आपकी ही प्रीति होगी। और वहाँ भी आपके अनुग्रहकी यों ही लालसा रहेगी। इस तरह चाहे मेरे शत (अनन्त) जन्म ही क्यों न हों, परन्तु मैं आपकी प्रसन्नताको प्राप्त किये बिना नहीं जी सकती। इस दृढ़ताको सूचित करनेके लिये ही आपने यहाँ कहा है—'शतजन्मभिः स्यात्'। बस, गुण-श्रवणके इस सुदृढ़ और स्थायी प्रभावको दिखलानेके लिये ही भगवानने यहाँ कहा है—'मद्गुणश्रुतिमात्रेण'।

'मात्र' पदसे यह ध्वनित किया गया है कि भक्तका कैसा स्वाभाविक और दृढ़ अनुराग होना चाहिये कि केवल गुणश्रवण करते ही भगवानके प्रति उसका वह आकर्षण हो जाय कि बस, फिर कोई प्रतिबन्धक सामग्री उसके हृदयको भगवत्प्रीतिसे रोक न सके। भगवद्विमुख राक्षस-मयी लङ्कामें रहते हुए भक्त विभीषणने जहाँ भगवान्‌के गुणश्रवण किये वहीं उनके हृदयका वह आकर्षण हुआ कि बस, उन्होंने सर्वसमृद्ध लङ्का, स्त्री-पुत्र-बान्धव आदि सब कुछ छोड़कर भगवान् श्रीरामचन्द्रको ही अपना आत्मसमर्पण कर दिया। वह कहते हैं—

भवद्गतं मे राज्यं च जीवितं च सुखानि च।

विभीषणने तबतक भगवान् श्रीरामचन्द्रका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किया था। श्रीरामके त्रिलोकविख्यात गुण ही उनके कानोंतक पहुँचे थे। परन्तु गुणश्रवणसे ही उनके हृदयमें वह प्रीत्युद्रेक हुआ कि उन्होंने सब राज्य-सुखादि-को तृणवत् छोड़कर, प्रत्युत भ्रातृत्यागसे हुई समस्त संसारकी अवहेलनाको भी सिरपर स्वीकार करके, श्रीरामचन्द्रकी चरणसेवाको ही आजन्मके लिये अङ्गीकार कर लिया। इसी प्रेमकी दृढ़ताको सूचित करते हुए यहाँ कहा है कि मद्गुणश्रुति 'मात्रेण'।

'मयि' 'मुझमें' (मनोगतिः, मनका लगना), यही कहना पर्याप्त था, फिर 'सर्वगुहाशये' यह विशेषण देनेका तात्पर्य है 'सर्वव्यापक, सर्वसाक्षी मुझमें'। अर्थात् जिस तरह मेरे गुणश्रवण कर चुका है, उसी तरह मेरा प्रभाव, माहात्म्य भी जिसको अवगत हो चुका हो। इसका आशय यह है कि जिसको भगवान्‌के सर्वसामर्थ्य, ऐश्वर्य, सर्वव्यापकतापर दृढ विश्वास हो जायगा फिर उसकी भक्ति भगवान्‌से कभी भी हट न सकेगी। क्योंकि जब वह देखेगा कि भगवान्‌से बढ़कर चतुर्दश भुवनोंमें भी कोई समर्थ नहीं है तो अब उनको छोड़कर वह किसके पास जायगा? प्रह्लादकी परीक्षा करनेके लिये जिस समय भगवान्‌ने कहा—

वरं वृणीष्वाभिमतं कामपूरोऽस्म्यहं नृणाम्।

हे प्रह्लाद! अपना अभिमत वर माँगो। मैं मनुष्योंके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला हूँ। उस समय ऐकान्तिक भक्तवर प्रह्लादने कहा कि—हे भगवन्! मेरे सदृश तुच्छ तो पहलेसे ही मनोरथोंमें आसक्त है, फिर आप मुझे वरोंके द्वारा क्यों प्रलोभित करते हैं। और हे भगवन्! आपके सम्मुख आकर मैं माँगूँ भी तो क्या माँगूँ? मनुष्यके प्रार्थनीय आयु, धन, वैभव ही क्या स्थिर है, जो इनके लिये आपके सम्मुख मुख खोला जाय। हे अखिलेश! मैंने मनुष्य तो

क्या, देवताओंतककी दशा देख ली है। देवता भी कैसे ? सम्पूर्ण लोकोंके पालक होनेके कारण जो 'लोकपाल' कहाते हैं। मैंने देखा है कि उनके भी आयु, धन, वैभव, मेरे पिता (हिरण्यकशिपु) की भ्रुकुटिके कोटेपर चढे हुए थे। जरा-से फर्कसे इधरके उधर हो जाते थे। कोपसे उसकी भ्रुकुटि जरा बाँकी हो जाती, इतने मात्रमें वह अपनी आयुकी समाप्ति समझ लेते थे, और प्रसन्नतासे जरा भी उसकी भ्रुकुटि नाच उठती तो वह अपना अहोभाग्य समझते थे। वह अद्भुत प्रतापी पिता भी जब आपके आगे क्षणभरमें निरस्त हो चुका, तो अब आपके सामर्थ्यको समझना कुछ बाकी रह गया ?

महाभारतके युद्धमें सम्मुख समरसे विचलित हुए अर्जुनको जिस समय भगवान्‌ने सम्पूर्ण सांख्ययोगादिका उपदेश दिया, उस समय युक्तियुक्त होनेके कारण सब बातें उसने मान तो लीं परन्तु उसके हृदयमें कुछ सन्देहरेखा बराबर बनी रही। जिस समय भगवान्‌ने कहा—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

इस अक्षय 'योग' का उपदेश मैंने सूर्यको दिया था, सूर्यने मनुको और मनुने इक्ष्वाकुके लिये बताया था। उस समय सन्दिग्ध अर्जुनने पूछ ही तो लिया कि—'अपर भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः' [हे भगवन्! आपका जन्म तो अब हुआ है और सूर्यका जन्म तो आपसे बहुत पहले हो चुका है, फिर आपने यह उपदेश विवस्वान्‌को कैसे दिया ?] इसपर भगवान्‌को अपना माहात्म्य अर्जुनके लिये कहना पड़ा—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥

'मैं जन्म-मरणादि विकारोंसे रहित हूँ तथा प्राणिमात्रका स्वामी हूँ तो भी दया-दाक्षिण्य आदि अपने स्वभावको लेकर अपनी लीलासे जगत्‌के उद्धारके लिये उत्पन्न होता हूँ।'

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

'मैं सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे रहता हूँ। स्मृति और ज्ञान तथा उनका अभाव (विस्मृति और अज्ञान) यह सब मुझहीसे होता है। वेदोंके द्वारा उपदेश्य भी मैं ही हूँ तथा वेदोंका कर्ता और ज्ञाता भी मैं ही हूँ।'

इत्यादि भगवान्‌का अलौकिक माहात्म्य जब अर्जुनको विदित हुआ और विश्वरूपदर्शनके द्वारा जब भगवान्‌का सर्वसामर्थ्य उसके हृदयमें अच्छी तरह जम गया तब भगवान्‌के प्रति उसकी श्रद्धा और विश्वास अटल हो गया। अपने हृदयमें भगवान्‌के प्रति समानभाव रखनेकी जो धृष्टता उसने की थी उसके लिये शत-शत प्रणाम करके उसने क्षमा माँगी। हाथ जोड़कर उनकी प्रपत्ति की और कहा कि 'करिष्ये वचनं तव' 'मैं अब जो आपकी आज्ञा होगी वही करूँगा।' कारण इसका यही था कि अर्जुनको भगवान्‌के माहात्म्यका दृढ़ निश्चय हो चुका था। इसीलिये 'भक्ति' के लक्षणमें आचार्योंने कहा है—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
रागो भक्तिरिति प्रोक्तः.....॥

बस, भगवान्‌के सर्वसामर्थ्यको जानकर भक्तकी श्रद्धा और भी सुदृढ हो जाय इसीलिये यहाँ विशेषण दिया है—'सर्वगुहाशये'।

'मनका लगना' यह न कहकर 'मनोगतिः' यह कहना बड़ा गम्भीर भाव ध्वनित करता है। जिस मनको निश्चल करनेके लिये योगी और मुनि चिरकालतक घोर परिश्रम करके भी कभी-कभी फेल हो जाते देखे हैं, उसी चञ्चलतम स्वभाव मनको निश्चल बनाकर किसी जगह लगा देना क्या स्वाभाविक बात है ? 'योग' और 'भक्तियोग' का तारतम्य जरा बारीकीसे परखनेका यही स्थल है। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' 'मनकी वृत्तिको रोक लेना' इसीपर योगकी नींव डाली गयी है। किन्तु चित्तवृत्ति रोक लेनेके इतिहासपर साधारण भी दृष्टि डालेंगे तो आपको विदित हो जायगा कि इसकी सिद्धि होना क्या सबके लिये सरल है ? विश्वामित्र-सदृश त्रिलोकविश्रुत तपस्वी, जिन्होंने कि अपने तप-प्रभावसे दूसरी सृष्टि बनाना ही आरम्भ कर दिया था, वह भी इस मनके अनिवार्य वेगको जब नहीं रोक सकते हैं तब मनको निश्चल कर डालना क्या साधारण-

---

१. दृष्टा मया दिवि विभोऽखिलधिष्ण्यपाना-
मायुश्रियो विभव इच्छति यावतोऽयम्।
येऽस्मात्पितुः कुपितहासविजृम्भितभ्रु-
विस्फूर्जितेन कुलिशेन स तु ते निरस्तः॥

सी बात होगी ? चञ्चल और वेगवान् होनेमें मन आजतक दुनियाभरमें सबका उपमान रहा है। इससे बढ़कर कोई चपलस्वभाव नहीं।

गीतामें भी मनके निग्रहकी जहाँ बात आयी वहाँ अर्जुनको कहना पड़ा—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

'प्रमाथि' 'बलवद्' 'दृढम्' इन तीनों विशेषणोंपर थोड़ा विचार करनेकी आवश्यकता है। यदि कोई पदार्थ तेज तो हो किन्तु दुर्बल (कमजोर) हो तो फिर भी बचावकी आशा रहती है परन्तु यहाँ कहा है 'बलवत्' (बलवान्)। बलवान् भी हो परन्तु कुछ मृदुप्रकृति अर्थात् अपने निश्चयसे लौट आना भी जहाँ सम्भव हो तो फिर बचतका अवकाश होता है किन्तु यह है 'दृढम्'। और तो क्या, यह जिस समय विकृत होता है और इसके रोकनेकी बलवत् चेष्टा की जाती है उस समय यह रुद्धवेग होकर भीतर-ही-भीतर सब इन्द्रियोंको मथित (विह्वल) कर डालता है। भला, इसकी गतिको रोक लेनेका 'योग' (नुसखा) सबसे सध सकेगा कि जिससे वे इस 'भवरोग' से छुटकारा पावें ? इसीलिये 'भक्तियोग'में गतिको रोकनेकी बात नहीं, प्रत्युत यहाँ तो 'गति' का विशेषण दिया है 'अविच्छिन्ना' बे-रोक-टोक।

आप मनकी गति रोक लेनेकी अस्वाभाविक और कठिन चेष्टा न कीजिये। उसकी गतिको अविच्छिन्न रहने दीजिये, किन्तु उसका मुख जरा मोड़ दीजिये। अबतक वह और-और तरफ बहता था, अब भगवान् कपिल इतना-सा ही भक्तिमें 'योग' साधन करनेके लिये आज्ञा दे रहे हैं कि वह गति 'मयि' मेरी तरफ कर दो। मनका जितना भी वेग है सब मेरी तरफ जोड़ दो। जब आप उसकी गतिको ज़बरदस्ती रोकनेकी असाध्य चेष्टा नहीं करते तब वह भी 'विद्रोही' नहीं होगा। उसे आप मार्ग बना दीजिये, वह उसी रास्ते अपनी स्वाभाविक प्रबलतासे चलता रहेगा। पानी बहता हुआ जिस समय जोरसे आ रहा हो यदि आप उसे रोकना चाहेंगे तो फल यह होगा कि वह सब तरफ़ फैल जायगा। और अधिक स्थान घेरेगा। यह भी बहुत सम्भव है कि यदि वह प्रबल हुआ तो रोकनेवालेको भी बहा ले जाय। किन्तु यदि आप उसकी गतिको मोड़ देंगे, रोकेंगे नहीं, तो वह सीधा-सीधा चला जायगा। इसी स्वारस्यको सूचित करनेके लिये दृष्टान्त भी दिया है 'यथा गङ्गाम्भसः' जैसे गङ्गाके जलकी गति।

'जैसे गङ्गाकी गति समुद्रकी तरफ होती है' यहाँ कहना तो पर्याप्त था, फिर 'गङ्गाके जलकी गति' यों बोलनेमें 'भुजङ्गकी-सी गति' क्यों ? सुनिये—भगवती गङ्गा हिमालय-शिखरसे जिस समय उद्भूत होती है उनकी गति नीचेकी तरफ होती है। और जैसे-जैसे उनमें हिमका द्रव (पिघलाव) मिलता जाता है वह प्रबल प्रवाहके साथ आगेकी तरफ बढ़ती जाती है। गगनचुम्बी पर्वतसे उतरकर समुद्रकी तरफ जाती है, इसलिये ढलावकी तरफ झुका हुआ जलप्रवाह कितने प्रबल वेगसे चल रहा होगा यह सरलतासे अनुमान किया जा सकता है। उस प्रचण्ड प्रवाहमें यदि पर्वत-सरीखा भी आ जाय तो उसे भी एक बार तो भेदन करके वह निकल जाय। भला, जलके वेगको कोई रोक सकता है ? ढलाव-की तरफ झुकी हुई जलकी और मनकी गति अनिवार्य होती है इस बातको महाकवि कालिदासने भी माना है। वह कहते हैं—

क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः
पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत्।

'अपने मनोरथकी तरफ प्रबलतासे झुके हुए मन और ढलावकी तरफ बहते हुए जलको भला कौन लौटा सकता है ?'

'अविच्छिन्ना' का तात्पर्य है प्रतिबन्धरहित। अर्थात् मनकी गति भगवान्‌में ऐसी हो जाय कि कोई उसे रोक न सके। सदा भगवान्‌की ही भावना रहे। ऐन्द्रिय विषयोंका भी यदि प्रसङ्ग आ पड़े तो भी भगवान्‌का सम्बन्ध न टूटे। नेत्रेन्द्रियको अच्छे दृश्य देखनेकी यदि लालसा हो तो भगवान्‌की सेवामें ही नाना तरहके वस्त्र-आभूषण—लता-वृक्ष पुष्पादिका आयोजन कर दीजिये जिसमें चक्षुरिन्द्रिय 'विद्रोही' न हो। प्रत्युत भगवत्सेवामें आसक्त होनेके कारण कल्याणमार्गका परिष्कारक हो जाय। इसी तरह आस्वाद्य पदार्थोंकी तरफ यदि जिह्वादि-की प्रबल उत्कण्ठा हो तो भगवन्नैवेद्योपयुक्त भोज्यादिसे उसे शान्त करके अनुकूल मार्ग दे दीजिये। कहनेका

भक्तियोग

(लेखक—पण्डितशिरोमणि श्रीनरसिंहाचार्यजी वरखेडकर)

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ॥
(श्रीमद्भागवत ७ । ९ । ९)

विश्वके कल्याणका अमोल सुयोग भक्तियोगपर ही निर्भर करता है। अतः उस रमणीय भक्तियोगको विश्वके 'कल्याण' द्वारा ही प्रकट करता हूँ ।

भक्तिका स्वरूप

अनुग्रह, प्रेम, भक्ति ये तीनो एक ही स्नेहके पर्याय हैं । वयोमान, गुण, योग्यतादिसे किञ्चित् न्यून रहनेवाले सेवक, शिष्य, पुत्रादिपर जब इस स्नेहका दौरा पहुँचता है, तब वह अनुग्रहके नामसे जनतामे प्रसिद्ध हो जाता है । यदि अपनी बराबरीके मित्रगण, भार्यादिसे स्नेहमय वार्तालाप, अथवा पत्रव्यवहारादि करने लगें तो यही स्नेह प्रेमरूपसे फड़कने लगता है । कदाचित् सौभाग्यवश अपनेसे श्रेष्ठ माता, पिता, गुरु और देवतादिके पास विनय, श्रद्धा, सदाचारादि अलङ्कारोंसे मण्डित होकर पहुँचे तो फिर यह स्नेह राजर्षि प्रह्लाद, अम्बरीष अथवा देवर्षि नारदादिकी पंक्तिमें भी बैठते नहीं सकुचता ।

केवल इसी स्नेहके ऊपर समस्त विश्वका उदय और आनन्द निर्भर है । यदि यही एक स्नेह समस्त भूमण्डलमें यथायोग्य सभी लोगोंमें फैल जाय तो भूलोक और स्वर्लोकमें अन्तर ही क्या समझ पड़ेगा ? माता पुत्रका, राजा प्रजाका, गुरु शिष्यका, विशेष क्या कहें करुणासागर भगवान् अपने सख्य पदार्थोंका पालन केवल इसी स्नेहके वशीभूत होकर करते हैं । इसके विपरीत पुत्र, प्रजा, शिष्य आदि भी जो माननीयोंकी सेवा-आदरादि करते हैं वह भी इसी स्नेहका परिणाम है । यदि इसी दृष्टिकोणसे समस्त जगत्की ओर देखा जाय तो इस स्नेहमयी बागडोरको माता, पुत्र, पिता, गुरु, शिष्य, बन्धु आदि समस्त जगत्में फैलाकर, उसमें उस जगत्को नत्थीकर, भगवान् किस प्रकारसे जगत्का पालन करते हैं यह भेद खुल जाता है। और भगवान्की इस अगाध महिमाका विचार करनेसे हमारा स्नेहमय भक्तियोग ब्रह्माण्डमें न समाकर उसके भी परे रहनेवाले आनन्दकन्द मेघश्याम भगवान्के चरणारविन्दोंमें लीन हो जाता है । इसीसे भक्तियोगकी उत्कृष्टता और व्यापकता कितनी है, यह बात सुगमतासे ध्यानमें आ जाती है ।

भक्तियोगका स्वरूप ही उसकी महत्ता तथा व्यापकतामें प्रमाण है । इसलिये पहले उसका स्वरूप ही पाठकोंके सामने रखते हैं जिससे भक्तियोगकी अन्य विलक्षणता भी सहज ही दृष्टिपथमें आ जाय ।

श्रीमन्मध्वाचार्यजीने अपने ग्रन्थोंमे भक्तियोगका वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया है ।

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥
(श्रीमन्महाभारततात्पर्यनिर्णय)

महत्त्वबुद्धिर्भक्तिस्तु स्नेहपूर्वाभिधीयते ।
तथैव व्यज्यते सम्यग् जीवरूपं सुखादिकम् ॥
(ब्रह्मसूत्रभाष्य)

इसी अभिप्रायसे योगिवर श्रीमज्जयतीर्थमुनीन्द्रजीने 'श्रीमन्न्यायसुधा' ग्रन्थमे कहा है—

तत्र भक्तिर्नाम निरवधिकानन्तानवद्यकल्याणगुणत्वज्ञानपूर्वकः स्वस्वात्मात्मीयसमस्तवस्तुभ्योऽनेकगुणाधिकोऽन्तरायसहस्रेणाप्यप्रतिबद्धो निरन्तरप्रेमप्रवाहः ।

सारांश, अपरिमित अनवद्य कल्याणगुणोंके ज्ञानसे उत्पन्न हुए, अपने समस्त सम्बन्धिजन तथा पदार्थोंसे ही क्या, प्राणोसे भी कई गुना अधिक, हजारो विघ्न आनेपर भी न हटनेवाले, अत्यधिक सुदृढ, गङ्गाप्रवाहके समान अखण्ड प्रेमके प्रवाहको भक्ति कहते है ।

इसीको दूसरे शब्दोमे सक्षेपसे कहना हो तो इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जिस अखण्ड स्नेहधारामें सदा सर्वदा एकमात्र भगवान् ही विषय है, अन्य नहीं, वही उत्कृष्ट अथवा अनन्य भक्तियोग है । इसी प्रकार मातृपितृभक्ति, गुरुभिक्त, पतिभक्ति, स्वामिभक्ति आदिमे भी अनन्यत्व जानना चाहिये ।

यदि सर्वसाधारण स्नेहको ही भक्ति कहा जाय तो अन्य पदार्थोंपर किये जानेवाले स्नेहसे भगवानादि श्रेष्ठ पदार्थोंपर किये जानेवाले स्नेहमें वैलक्षण्य ही क्या रह जाता है? क्योंकि वस्त्र-आभूषणादि, मित्र-भार्या-पुत्रादि समस्त पदार्थोंपर यथाक्रम अधिकाधिक स्नेह हम सभी लोग करते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त है कि यह स्नेह कारण-वशात् टूटनेवाला अतएव अनित्य है। इस सिद्धान्तकी प्रतीति प्रत्येक प्राणीको उस समय स्पष्टरूपसे हो जाती है जब कि उसके खास प्राणोंपर आकर बीतती है। आध्यात्मिक तत्त्वोंको लोकप्रसिद्ध तथा मनोरञ्जक दृष्टान्तोंसे समझा देनेमें परमकुशल श्रीवेदव्यासजीने, श्रीमन्महाभारत-जैसे उच्च कोटिके ग्रन्थमें यही सिद्धान्त अनुभवारूढ कर देनेके लिये एक चिड़ियाकी कहानी कही है जिसमें, कराल दावानलके घेरमें फँसी हुई वह चिड़िया बड़े कष्टसे पालन किये हुए अपने छोटे-छोटे सात बच्चोंको, जो कि उड़नेमें असमर्थ हैं, रक्षणकी इच्छासे एकत्रित कर, आखिर प्रबल ज्वालाग्निके तापसे विवश होकर, केवल अपनी रक्षाके लिये एकके पीछे एक सबको पैरके तले दबाती हुई उनके भस्म होनेके बाद आप स्वयं उसी अग्निमें भस्म हो जाती है। यह स्वप्राणोंपर रहनेवाले स्नेहका चरित्रचित्रण है। अस्तु,

इस संसारमें पुत्र, शिष्य, भार्या, सेवकादिकोंको क्रमशः माता-पिता, गुरु, पति, स्वामी आदि ही अनन्य भक्तिके लिये भगवान्‌के प्रतीक हैं। इनकी भक्ति करनेसे ही उनके अन्दर रहनेवाले भगवान् प्रसन्न होते हैं अन्यथा नहीं। इनकी सेवाके अविरोधसे, अथवा इन लोगोंकी अनुमतिसे अन्य प्रतीकोंकी भी शास्त्रविहित सेवा अन्यान्य-रूपसे कर सकते हैं। परन्तु यदि इनके विरोधसे जप, तप, पूजा आदि की जाय तो वह कभी भगवान्‌के प्रसाद-की कारण नहीं होती। इस विषयमें क्रमशः पुण्डलीकमुनि, रामचन्द्रजी, कृष्णजी, अनसूयाजी, सीताजी तथा हनुमान्‌जी अविस्मरणीय उदाहरण हैं। इससे मातृभक्ति, पितृभक्ति आदि भी भगवन्निष्ठबुद्धिपूर्वक करनेसे भगवान्‌की भक्ति ही कहाती है, ऐसा सिद्ध होता है।

श्रीमन्मध्वाचार्यजीके सिद्धान्तमें द्वेषादि दोष भक्तिके साधन नहीं हैं। शिशुपालादिमें शापादिसे द्वेषादि-बुद्धि थी। स्वरूपतः वे भक्त ही थे। इसीसे पागल पुत्रादिके समान अपने विरुद्ध होनेपर भी भगवान्‌ने क्षमाकर उनको अपने अन्दर स्थान दिया। यदि द्वेषादिको भक्तिका स्वरूप ही कहा जाय, तो यवनादिकोंका मन्दिर गौ इत्यादिपर किया हुआ आक्रमण, पुण्यप्राप्तिद्वारा स्वर्गादिप्रापक ही क्यों न कहा जाय? इससे 'द्वेषाच्चै-द्यादयो नृपाः' इत्यादि वाक्योंकी योजना स्वरूपभक्तपर ही कही गयी है।

भक्ति, स्नेहविशेष मनोनिष्ठ धर्म होनेके कारण, प्रत्यक्ष-से उसका ज्ञान नहीं हो सकता। प्रत्युत कार्यसे ही भक्तिकी पहचान हो सकती है। उसमें कोई भक्तगण बाह्य उन्मादादि चिह्नोंसे युक्त, कोई केवल आन्तर भक्त तथा कोई आन्तर-बाह्य दोनों प्रकारोंसे युक्त होते हैं। अतएव 'ब्रह्मतर्क' में कहा है—

भक्तिके प्रकार

केचिद्भक्ताः प्रनृत्यन्ति गायन्ति च यथेप्सितम्।
केचित्तूष्णीं भजन्त्येव केचिच्चोभयकारिणः॥

इसी अभिप्रायसे पदरत्नावलीमें भी कहा है—

केचिदुन्मादवद्भक्ताः बाह्यलिङ्गप्रदर्शकाः।
केचिदान्तरभक्ताः स्युः केचिच्चैवोभयात्मकाः॥
मुखप्रसाददार्ढ्याच्च भक्तिर्ज्ञेया न चान्यतः॥

हसनादिलक्षणमुन्मादादावतिव्याप्तमित्यत उक्तं मुखप्रसादादिति।

भक्तिके कार्योंका श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार वर्णन है—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
(११।२।४०)

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥
(११।३।३२)

भगवान्‌का दर्शन हमें किस प्रकारसे होगा इस चिन्तासे भक्त कभी रोते हैं, कभी भगवान्‌के विशेष चरित्र स्मरण आनेसे हँसते हैं, आनन्द मानते हैं, नाचते हैं, बिना पूछे ही कभी लोगोंको भगवान्‌के चरित्र वर्णन करते हैं, फिर उसमें लोगोंको आदर हो या न हो। कभी हावभावसे भगवान्‌के चरित्रका अनुकरण करते हैं। कभी भगवान्‌की मनोहर मूर्तिको मनमें लाकर

यदि सर्वसाधारण स्नेहको ही भक्ति कहा जाय तो अन्य पदार्थोंपर किये जानेवाले स्नेहसे भगवानादि श्रेष्ठ पदार्थोंपर किये जानेवाले स्नेहमें वैलक्षण्य ही क्या रह जाता है? क्योंकि वस्त्र-आभूषणादि, मित्र-भार्या-पुत्रादि समस्त पदार्थोंपर यथाक्रम अधिकाधिक स्नेह हम सभी लोग करते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त है कि यह स्नेह कारण-वशात् टूटनेवाला अतएव अनित्य है। इस सिद्धान्तकी प्रतीति प्रत्येक प्राणीको उस समय स्पष्टरूपसे हो जाती है जब कि उसके खास प्राणोपर आकर बीतती है। आध्यात्मिक तत्त्वोंको लोकप्रसिद्ध तथा मनोरञ्जक दृष्टान्तोंसे समझा देनेमें परमकुशल श्रीवेदव्यासजीने, श्रीमन्महाभारत-जैसे उच्च कोटिके ग्रन्थमें यही सिद्धान्त अनुभवारूढ कर देनेके लिये एक चिड़ियाकी कहानी कही है जिसमें, कराल दावानलके घेरमें फँसी हुई वह चिड़िया बड़े कष्टसे पालन किये हुए अपने छोटे-छोटे सात बच्चोंको, जो कि उड़नेमे असमर्थ हैं, रक्षणकी इच्छासे एकत्रित कर, आखिर प्रबल ज्वालाग्निके तापसे विवश होकर, केवल अपनी रक्षाके लिये एकके पीछे एक सबको पैरके तले दबाती हुई उनके भस्म होनेके बाद आप स्वयं उसी अग्निमें भस्म हो जाती है। यह स्वप्राणोंपर रहनेवाले स्नेहका चरित्रचित्रण है। अस्तु,

इस संसारमें पुत्र, शिष्य, भार्या, सेवकादिकोंको क्रमशः माता-पिता, गुरु, पति, स्वामी आदि ही अनन्य भक्तिके लिये भगवान्‌के प्रतीक हैं। इनकी भक्ति करनेसे ही उनके अन्दर रहनेवाले भगवान् प्रसन्न होते हैं अन्यथा नहीं। इनकी सेवाके अविरोधसे, अथवा इन लोगोंकी अनुमतिसे अन्य प्रतीकोंकी भी शास्त्रविहित सेवा अन्यान्य-रूपसे कर सकते हैं। परन्तु यदि इनके विरोधसे जप, तप, पूजा आदि की जाय तो वह कभी भगवान्‌के प्रसाद-की कारण नहीं होती। इस विषयमें क्रमशः पुण्डलीकमुनि, रामचन्द्रजी, कृष्णजी, अनसूयाजी, सीताजी तथा हनुमान्‌जी अविस्मरणीय उदाहरण हैं। इससे मातृभक्ति, पितृभक्ति आदि भी भगवन्निष्ठबुद्धिपूर्वक करनेसे भगवान्‌की भक्ति ही कहाती है, ऐसा सिद्ध होता है।

श्रीमन्मध्वाचार्यजीके सिद्धान्तमें द्वेषादि दोष भक्तिके साधन नहीं हैं। शिशुपालादिमें शापादिसे द्वेषादि-बुद्धि थी। स्वरूपतः वे भक्त ही थे। इसीसे पागल पुत्रादिके समान अपने विरुद्ध होनेपर भी भगवान्‌ने क्षमाकर उनको अपने अन्दर स्थान दिया। यदि द्वेषादिको भक्तिका स्वरूप ही कहा जाय, तो यवनादिकोंका मन्दिर गौ इत्यादिपर किया हुआ आक्रमण, पुण्यप्राप्तिद्वारा स्वर्गादिप्रापक ही क्यों न कहा जाय? इससे 'द्वेषाच्चै-द्यादयो नृपाः' इत्यादि वाक्योंकी योजना स्वरूपभक्तपर ही कही गयी है।

भक्ति, स्नेहविशेष मनोनिष्ठ धर्म होनेके कारण, प्रत्यक्ष-से उसका ज्ञान नहीं हो सकता। प्रत्युत कार्यसे ही भक्तिकी पहचान हो सकती है। उसमें कोई भक्तगण बाह्य उन्मादादि चिह्नोंसे युक्त, कोई केवल आन्तर भक्त तथा कोई आन्तर-बाह्य दोनों प्रकारोंसे युक्त होते हैं। अतएव 'ब्रह्मतर्क' में कहा है—

भक्तिके प्रकार

केचिद्भक्ताः प्रनृत्यन्ति गायन्ति च यथेप्सितम्।
केचित्तूष्णीं भजन्त्येव केचिच्चोभयकारिणः॥

इसी अभिप्रायसे पदरत्नावलीमें भी कहा है—

केचिदुन्मादवद्भक्ताः बाह्यलिङ्गप्रदर्शकाः।
केचिदान्तरभक्ताः स्युः केचिच्चैवोभयात्मकाः॥
मुखप्रसादादार्द्र्याच्च भक्तिर्ज्ञेया न चान्यतः॥

हसनादिलक्षणमुन्मादादावतिव्याप्तमित्यत उक्तं मुखप्रसादादिति।

भक्तिके कार्योंका श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार वर्णन है—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
(११।२।४०)

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥
(११।३।३२)

भगवान्‌का दर्शन हमें किस प्रकारसे होगा इस चिन्तासे भक्त कभी रोते हैं, कभी भगवान्‌के विशेष चरित्र स्मरण आनेसे हँसते हैं, आनन्द मानते हैं, नाचते हैं, बिना पूछे ही कभी लोगोंको भगवान्‌के चरित्र वर्णन करते हैं, फिर उसमें लोगोंको आदर हो या न हो। कभी हावभावसे भगवान्‌के चरित्रका अनुकरण करते हैं! कभी भगवान्‌की मनोहर मूर्तिको मनमें लाकर

भक्तियोग

(लेखक—पण्डितशिरोमणि श्रीनरसिंहाचार्यजी वरखेडकर)

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ॥
(श्रीमद्भागवत ७ । ९ । ९)

विश्वके कल्याणका अमोल सुयोग भक्तियोगपर ही निर्भर करता है। अतः उस रमणीय भक्तियोगको विश्वके 'कल्याण' द्वारा ही प्रकट करता हूँ।

भक्तिका स्वरूप

अनुग्रह, प्रेम, भक्ति ये तीनों एक ही स्नेहके पर्याय हैं। वयोमान, गुण, योग्यतादिसे किञ्चित् न्यून रहनेवाले सेवक, शिष्य, पुत्रादिपर जब इस स्नेहका दौरा पहुँचता है, तब वह अनुग्रहके नामसे जनतामें प्रसिद्ध हो जाता है। यदि अपनी बराबरीके मित्रगण, भार्यादिसे स्नेहमय वार्तालाप, अथवा पत्रव्यवहारादि करने लगें तो यही स्नेह प्रेमरूपसे फड़कने लगता है। कदाचित् सौभाग्यवश अपनेसे श्रेष्ठ माता, पिता, गुरु और देवतादिके पास विनय, श्रद्धा, सदाचारादि अलङ्कारोंसे मण्डित होकर पहुँचे तो फिर यह स्नेह राजर्षि प्रह्लाद, अम्बरीष अथवा देवर्षि नारदादिकी पंक्तिमें भी बैठते नहीं सकुचता।

केवल इसी स्नेहके ऊपर समस्त विश्वका उदय और आनन्द निर्भर है। यदि यही एक स्नेह समस्त भूमण्डलमें यथायोग्य सभी लोगोंमें फैल जाय तो भूलोक और स्वर्लोकमें अन्तर ही क्या समझ पड़ेगा ? माता पुत्रका, राजा प्रजाका, गुरु शिष्यका, विशेष क्या कहें करुणासागर भगवान् अपने सख्य पदार्थोंका पालन केवल इसी स्नेहके वशीभूत होकर करते हैं। इसके विपरीत पुत्र, प्रजा, शिष्य आदि भी जो माननीयोंकी सेवा-आदरादि करते हैं वह भी इसी स्नेहका परिणाम है। यदि इसी दृष्टिकोणसे समस्त जगत्की ओर देखा जाय तो इस स्नेहमयी बागडोरको माता, पुत्र, पिता, गुरु, शिष्य, बन्धु आदि समस्त जगत्में फैलाकर, उसमें उस जगत्को नत्थीकर, भगवान् किस प्रकारसे जगत्का पालन करते हैं यह भेद खुल जाता है। और भगवान्की इस अगाध महिमाका विचार करनेसे हमारा स्नेहमय भक्तियोग ब्रह्माण्डमें न समाकर उसके भी परे रहनेवाले आनन्दकन्द मेघश्याम भगवान्के चरणारविन्दोंमें लीन हो जाता है। इसीसे भक्तियोगकी उत्कृष्टता और व्यापकता कितनी है, यह बात सुगमतासे ध्यानमें आ जाती है।

भक्तियोगका स्वरूप ही उसकी महत्ता तथा व्यापकतामें प्रमाण है। इसलिये पहले उसका स्वरूप ही पाठकोंके सामने रखते हैं जिससे भक्तियोगकी अन्य विलक्षणता भी सहज ही दृष्टिपथमें आ जाय।

श्रीमन्मध्वाचार्यजीने अपने ग्रन्थोंमें भक्तियोगका वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया है।

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥
(श्रीमन्महाभारततात्पर्यनिर्णय)

महत्त्ववुद्धिर्भक्तिस्तु स्नेहपूर्वाभिधीयते ।
तथैव व्यज्यते सम्यग् जीवरूपं सुखादिकम् ॥
(ब्रह्मसूत्रभाष्य)

इसी अभिप्रायसे योगिवर श्रीमज्जयतीर्थमुनीन्द्रजीने 'श्रीमन्न्यायसुधा' ग्रन्थमें कहा है—

तत्र भक्तिर्नाम निरवधिकानन्तानवद्यकल्याणगुणत्वज्ञानपूर्वकः स्वस्वात्मात्मीयसमस्तवस्तुभ्योऽनेकगुणाधिकोऽन्तरायसहस्रेणाप्यप्रतिवद्धो निरन्तरप्रेमप्रवाहः।

सारांश, अपरिमित अनवद्य कल्याणगुणोंके ज्ञानसे उत्पन्न हुए, अपने समस्त सम्बन्धिजन तथा पदार्थोंसे ही क्या, प्राणोंसे भी कई गुना अधिक, हजारों विघ्न आनेपर भी न टूटनेवाले, अत्यधिक सुदृढ, गङ्गाप्रवाहके समान अखण्ड प्रेमके प्रवाहको भक्ति कहते हैं।

इसीको दूसरे शब्दोंमें संक्षेपसे कहना हो तो इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जिस अखण्ड स्नेहधारामें सदा सर्वदा एकमात्र भगवान् ही विषय हैं, अन्य नहीं, वही उत्कृष्ट अथवा अनन्य भक्तियोग है। इसी प्रकार मातृपितृभक्ति, गुरुभक्ति, पतिभक्ति, स्वामिभक्ति आदिमें भी अनन्यत्व जानना चाहिये।

यदि सर्वसाधारण स्नेहको ही भक्ति कहा जाय तो अन्य पदार्थोंपर किये जानेवाले स्नेहसे भगवानादि श्रेष्ठ पदार्थोंपर किये जानेवाले स्नेहमें वैलक्षण्य ही क्या रह जाता है ? क्योंकि वस्त्र-आभूषणादि, मित्र-भार्या-पुत्रादि समस्त पदार्थोंपर यथाक्रम अधिकाधिक स्नेह हम सभी लोग करते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त है कि यह स्नेह कारण-वशात् टूटनेवाला अतएव अनित्य है। इस सिद्धान्तकी प्रतीति प्रत्येक प्राणीको उस समय स्पष्टरूपसे हो जाती है जब कि उसके खास प्राणोंपर आकर बीतती है। आध्यात्मिक तत्त्वोंको लोकप्रसिद्ध तथा मनोरञ्जक दृष्टान्तोंसे समझा देनेमें परमकुशल श्रीवेदव्यासजीने, श्रीमन्महाभारत-जैसे उच्च कोटिके ग्रन्थमें यही सिद्धान्त अनुभवारूढ कर देनेके लिये एक चिड़ियाकी कहानी कही है जिसमें, कराल दावानलके घेरमें फँसी हुई वह चिडिया बड़े कष्टसे पालन किये हुए अपने छोटे-छोटे सात बच्चोंको, जो कि उड़नेमें असमर्थ हैं, रक्षणकी इच्छासे एकत्रित कर, आखिर प्रबल ज्वालाग्निके तापसे विवश होकर, केवल अपनी रक्षाके लिये एकके पीछे एक सबको पैरके तले दबाती हुई उनके भस्म होनेके बाद आप स्वयं उसी अग्निमें भस्म हो जाती है। यह स्वप्राणोंपर रहनेवाले स्नेहका चरित्रचित्रण है। अस्तु,

इस संसारमें पुत्र, शिष्य, भार्या, सेवकादिकोंको क्रमशः माता-पिता, गुरु, पति, स्वामी आदि ही अनन्य भक्तिके लिये भगवान्‌के प्रतीक हैं। इनकी भक्ति करनेसे ही उनके अन्दर रहनेवाले भगवान् प्रसन्न होते हैं अन्यथा नहीं। इनकी सेवाके अविरोधसे, अथवा इन लोगोंकी अनुमतिसे अन्य प्रतीकोंकी भी शास्त्रविहित सेवा अन्यान्य-रूपसे कर सकते हैं। परन्तु यदि इनके विरोधसे जप, तप, पूजा आदि की जाय तो वह कभी भगवान्‌के प्रसाद-की कारण नहीं होती। इस विषयमें क्रमशः पुण्डलीकमुनि, रामचन्द्रजी, कृष्णजी, अनसूयाजी, सीताजी तथा हनुमान्‌जी अविस्मरणीय उदाहरण हैं। इससे मातृभक्ति, पितृभक्ति आदि भी भगवन्निष्ठबुद्धिपूर्वक करनेसे भगवान्‌की भक्ति ही कहाती है, ऐसा सिद्ध होता है।

श्रीमन्मध्वाचार्यजीके सिद्धान्तमें द्वेषादि दोष भक्तिके साधन नहीं हैं। शिशुपालादिमें शापादिसे द्वेषादि-बुद्धि थी। स्वरूपतः वे भक्त ही थे। इसीसे पागल पुत्रादिके समान अपने विरुद्ध होनेपर भी भगवान्‌ने क्षमाकर उनको अपने अन्दर स्थान दिया। यदि द्वेषादिको भक्तिका स्वरूप ही कहा जाय, तो यवनादिकोंका मन्दिर गौ इत्यादिपर किया हुआ आक्रमण, पुण्यप्राप्तिद्वारा स्वर्गादिप्रापक ही क्यों न कहा जाय ? इससे 'द्वेषाच्चै-द्यादयो नृपाः' इत्यादि वाक्योंकी योजना स्वरूपभक्तपर ही कही गयी है।

भक्ति, स्नेहविशेष मनोनिष्ठ धर्म होनेके कारण, प्रत्यक्ष-से उसका ज्ञान नहीं हो सकता। प्रत्युत कार्यसे ही भक्तिकी पहचान हो सकती है। उसमें कोई भक्तगण बाह्य उन्मादादि चिह्नोंसे युक्त, कोई केवल आन्तर भक्त तथा कोई आन्तर-बाह्य दोनों प्रकारोंसे युक्त होते हैं। अतएव 'ब्रह्मतर्क' में कहा है—

भक्तिके प्रकार

केचिद्भक्ताः प्रनृत्यन्ति गायन्ति च यथेप्सितम्।
केचित्तूष्णीं भजन्त्येव केचिच्चोभयकारिणः॥

इसी अभिप्रायसे पदरत्नावलीमें भी कहा है —

केचिदुन्मादवद्भक्ताः बाह्यलिङ्गप्रदर्शकाः।
केचिदान्तरभक्ताः स्युः केचिच्चैवोभयात्मकाः॥
मुखप्रसाददार्ढ्याच्च भक्तिर्ज्ञेया न चान्यतः॥

हसनादिलक्षणमुन्मादादावतिव्याप्तमित्यत उक्तं मुखप्रसादादिति।

भक्तिके कार्योंका श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार वर्णन है—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
(११।२।४०)

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः॥
(११।३।३२)

भगवान्‌का दर्शन हमें किस प्रकारसे होगा इस चिन्तासे भक्त कभी रोते हैं, कभी भगवान्‌के विशेष चरित्र स्मरण आनेसे हँसते हैं, आनन्द मानते हैं, नाचते हैं, बिना पूछे ही कभी लोगोंको भगवान्‌के चरित्र वर्णन करते हैं, फिर उसमें लोगोंको आदर हो या न हो। कभी हावभावसे भगवान्‌के चरित्रका अनुकरण करते हैं ! कभी भगवान्‌की मनोहर मूर्तिको मनमें लाकर

प्रसन्नचित्तसे चुपचाप बैठे रहते हैं, किसीके पूछनेपर भी उनको जवाब नहीं मिलता।

इन्हीं भक्ति-कार्योंको लेकर अवधूतशिरोमणि श्रीविष्णु-तीर्थजीने भक्तिकी तीन अवस्थाएँ कही हैं। भक्ति-कार्य हासादि जिसमें स्पष्टरूपसे नहीं दीखते वह अपक्व भक्ति, जिसमें साधारण स्पष्टरूपसे उन्मादादि कार्य दृष्टिगोचर होते हैं वह पक्वकल्प, तथा विशेषरूपसे जिसमें ग्रहग्रस्तके समान देखनेमें आते हैं वह पक्वभक्तियोग कहाता है।

भक्तवर प्रह्लादने यह भक्ति नौ प्रकारकी कही है। वही मध्वसिद्धान्तमें प्रमुख मानी गयी है।

प्रकार	उदाहरण	प्रकार	उदाहरण	प्रकार	उदाहरण
१ श्रवणम्....	परीक्षित, गार्गि, जनमेजय आदि।	४ पादसेवनम्...	हनूमान्, बलि, विभीषण आदि।	७ दास्यम्.....	लक्ष्मण, हनूमान्, सात्यकि।
२ कीर्तनम्.....	सनत्कुमार, नारद, शुकाचार्य आदि।	५ अर्चनम्...	रुक्मिणी, द्रौपदी, (पत्रम्) गजेन्द्र, शबरी, बलि (पुष्पम्)(फलम्)(तोयम्)	८ सख्यम्.....	अर्जुन, सुग्रीव आदि।
३ स्मरणम्.....	गजेन्द्र, अजामिल, गोपिका, कंस, शिशुपाल, (काम) (भय) (द्वेष)	६ वन्दनम्.....	रहूगण, नलकूवर, मणिग्रीव आदि।	और—	
				९ आत्मनिवेदनम्...	द्रौपदी, कुन्ती, उद्धव, आदि अनेक हैं।

भगवान् श्रीकृष्णजीने गीतामें—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

इस श्लोकसे तीन प्रकारकी भक्ति ज्ञान, दर्शन और प्रवेशमें कारण कही है। तीनों प्रकारकी भक्ति अनन्य होनेपर भी उनका पूर्वापरी भाव होनेके कारण उनमें तारतम्य मानना पड़ता है। साधारणतः मोक्ष प्राप्त करनेके लिये कारणीभूत अनन्य भक्तिके द्वारा अधिकारीको चार सोपान (सीढ़ियाँ) चढ़ने पड़ते हैं।

प्रथम सोपान अपक्व भक्तिके उपाय	द्वितीय सोपान पक्वकल्प भक्तियोगके उपाय	तृतीय सोपान पक्व भक्तियोगके उपाय	चतुर्थ सोपान मोक्षके उपाय
१ श्रद्धा, आस्तिक्यबुद्धि-द्वारा शास्त्रविहित कर्मानुष्ठानसे अन्तःकरणशुद्धि।	१ अपक्व भक्तियोग (अनन्य-भक्ति)।	१ पक्वकल्प भक्तियोग (अनन्यभक्ति)।	१ पक्व भक्तियोग (अनन्य-भक्ति)।
२ तत्त्वज्ञानके लिये गुरुके पास गमन।	२ विशेषरूपसे तत्त्वज्ञानके लिये गुरुसमीपगमन	२ ध्यानतत्त्वके विशेष ज्ञानके लिये गुरुसमीपगमन।	२ भगवान्का अतिशयिन प्रसाद।
३ प्रणिपातादि(नमस्कारादि) गुरुसेवा।	३ परिप्रश्नादि गुरु-सेवा।	३ गुरुसेवा सर्वरूपसे।	३ प्रारब्धकर्मभोगद्वारा अनिष्ट पुण्यपापोंका नाश।
४ सामान्यरूपसे तत्त्वोंका श्रवण, मनन।	४ विशेषरूपसे तत्त्वोंका श्रवण, मनन, ज्ञान।	४ उपदेशानुसार ध्यान।	४ उत्क्रान्ति।
५ अपक्व भक्तियोग (अनन्य-भक्ति)।	५ तत्त्वनिश्चयद्वारा पक्व-कल्प भक्तियोग (अनन्य-भक्ति)।	५ भगवान्का साक्षात्कार तथा उससे पक्व भक्तियोग	५ सत्यलोकादिद्वारा वैकुण्ठादि लोकोंमें गमन भगवत्-प्रवेशादि क्रीडादि।

उपरिनिर्दिष्ट विषयमें प्रमाण अनेक होनेपर भी लेखका विस्तार बहुत हो जानेके कारण स्थलाभावसे यहाँ नहीं दे सकते, इसलिये हम आशा करते हैं कि पाठकवर्ग क्षमा करेंगे।

अन्य साधनोंसे अप्राप्य परम पुरुषार्थ मोक्ष भी जब भक्तिसे प्राप्त होता है तब इस भक्तियोगसे श्रेष्ठ अन्य पदार्थ और कौन-सा हो सकता है ? जिस समय अरण्यमें रहनेवाले पाण्डवोंसे मिलनेके लिये सत्यभामाको लेकर श्रीकृष्ण भगवान् गये उस समय सत्यभामा द्रौपदीसे पूछती है कि 'हे द्रौपदी ! हमें बहुत आश्चर्य प्रतीत होता है कि तुम अपने पाँचों पतियोंको कैसे स्वाधीन रखती हो। हमें तो एक ही पति है परन्तु वह हमारे अधीन नहीं है। अतएव हमें भी अपनी शिष्या बनाकर उस वशीकरणमन्त्रका उपदेश दे दोगी तो अच्छा होगा।' उस समय हँसकर सती द्रौपदीने सत्यभामासे कहा कि, केवल पतिको ही क्या, समस्त विश्वको अपने अधीन रखनेमें समर्थ ऐसा यह स्त्रियोंको अनन्य पति-भक्तिस्वरूप महावशीकरणरूपी बड़ा भारी मन्त्र है।

भक्तिकी महत्ता

भगवान् स्वयं इसकी महत्ता अपने मुखसे वर्णन करते हैं कि—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

'हे प्रिय नारद ! हम वैकुण्ठमें ही वास करते हैं, अथवा योगीलोगोंके हृदयमें ही वास करते हैं यह समझना भूल है। जहाँपर हमारे भक्तगण अत्यन्त भक्तिभावसे गायन करते हैं, वहाँ अवश्य ही हम रहते हैं।'

श्रीमद्भागवतमें तो भगवान् अपने भक्तोंको कहते हैं—

यस्यामृतामलयशःश्रवणावगाह-
सद्यः पुनाति जगदाश्वपचाद्विकुण्ठः।
सोऽहं भवद्भय उपलब्धसुतीर्थकीर्ति-
श्छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम्॥
(३।१६।६)

'जिसका अमृतरूपी निर्मल यश, श्रवणरूपी स्नानसे आचाण्डालान्त समस्त जगत्को उसी क्षणमें पवित्र करता है, आप-सरीखे भक्तोंसे जिसको पवित्र कीर्तिका लाभ हुआ है, वह हम, आपलोगोंके प्रतिकूल आचरण करनेवाला यदि हमारा अपना ही हाथ क्यों न हो, उसे काट डालेंगे, फिर अन्यके विषयमें कहना ही क्या ?'

अतएव माठर श्रुतिमें कहा है—

भक्तिरेवैनं नयति भक्तिवश. पुरुषः।

'भक्ति ही मोक्षका कारण है। परमात्मा भक्तिके अधीन है।'

कठ श्रुतिमें भी भगवान्के प्रसादका असाधारण कारण भक्ति ही वर्णित है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥

शिष्यमण्डलीको जमाकर बड़े-बड़े अर्थशास्त्रके विद्वत्ता-प्रचुर व्याख्यानोंसे, अथवा तर्कशास्त्रादिके केवल क्रोडपत्रनिर्माणोपयोगिनी कुशलबुद्धिसे, अथवा समस्त देशोंके नाना प्रकारके समाचारपत्रादिके अध्ययनसे, अथवा भक्तिरहित अन्तःकरणसे भगवद्गुणानुवादोंका श्रवण-मननादि करनेपर भी भगवान् प्रसन्न (प्राप्त) नहीं होते किन्तु भगवान्, जिसको अपना भक्त कहकर स्वीकार करते हैं उसीको अपना स्वरूप तथा अधिकारीका स्वरूप प्रकट कर दिखाते हैं। सारांश भक्तिके सिवा परमात्म-प्राप्तिका अन्य कोई भी उपाय नहीं है। इसीसे भक्तियोगके सदृश महत्ता अन्य किसी भी योगकी नहीं है।

भक्ति उत्पन्न होनेका उपाय श्रीमद्भागवत-जैसे भक्तिप्रधान ग्रन्थमें अमङ्गलको नाश करनेवाले उत्तमश्लोक भगवान्के गुणानुवादोंका श्रवणादि ही कहा है—

भक्तिके उपाय

यस्त्वुत्तमश्लोकगुणानुवादः
सङ्गीयतेऽभीक्ष्णममङ्गलघ्नः।
तमेव नित्यं शृणुयादभीक्ष्णं
कृष्णेऽमलां भक्तिमभीप्समानः॥
(१२।३।१५)

भगवद्गुणानुवाद केवल अमङ्गलोंका नाश करनेमें ही पटु (चतुर) है, इतना ही नहीं किन्तु भक्तिप्रतिबन्धक इधर-उधरके ग्राम्य-समाचार, विषयप्रवर्तक प्रतीति-सुन्दर कथाओंमें भी अरुचि उत्पन्न करनेवाला है। ऐसा कहा है—

यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः
प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः।
निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षो-
र्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे॥
(५।१२।१३)

ज्ञान, भक्ति, वैराग्यप्रवर्तक 'कल्याण' मासिकका अन्य मासिकोंकी अपेक्षा अल्प ही कालमें इतना अधिक प्रचार इस विषयमें प्रज्वलित तथा आदर्श उदाहरण है। 'तस्य तावदेव चिर यावन्न विमोक्ष्येत' इस श्रुतिके अनुसार भगवान्‌की प्राप्तिमें उतनी ही देर है जितनी देरतक भक्ति-प्रवर्तक विश्वकल्याणयोग प्रत्येक प्राणीको नहीं होता। लेख बहुत ही विस्तृत हो गया है। जिस भगवान्‌की प्रेरणासे ये चार शब्द 'कल्याण' भक्तोंके सामने रखनेका सुयोग प्राप्त हुआ है उसीके चरणारविन्दोंमें यह अर्पणकर पाठकोंसे विराम ग्रहण करता हूँ।

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥
(श्रीमद्भा० २।४।१५)

श्रीकृष्णार्पणमस्तु।

भक्तियोग

(लेखक—आचार्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी)

योगेश्वराय कृष्णाय योगक्षेमप्रदायिने।
भक्तियोगवितानाय ह्यवतीर्णाय ते नमः॥

योग शब्द कितने व्यापक अर्थोंमें व्यवहृत होता है, यह बात 'कल्याण' के इस 'योगाङ्क' में प्रकाश्य विषयोंकी सूची देखनेसे ही विदित हो जाती है। इस अनेकार्थवाची छोटे-से दो अक्षरके 'योग' शब्दकी यथार्थ परिभाषा करना, कम-से-कम मेरी विद्या-बुद्धिके तो बाहरकी बात है, परन्तु 'कल्याण' के सुयोग्य सम्पादक महोदयके प्रेमभरे अनुरोधकी रक्षा करना भी मेरे लिये अनिवार्य है, अतएव मैं जो कुछ इस सम्बन्धमें लिखूँगा उसमें अपनी कोई कल्पना सम्मिलित न कर केवल योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके ही उस मतका अनुसरण करूँगा जो उन्होंने इस विषयमें अपने योग-शास्त्रमें प्रकट किया है। वे योगकी परिभाषा करते हुए कहते हैं—

योगः कर्मसु कौशलम्।

अर्थात् कर्मोंके करनेमें जो कुशलता (चतुराई) है, उसीका नाम योग है।

कर्मोंको कुशलतासे करनेका आशय यह है कि कर्म एक जडीय तत्त्व है। यह जीवोंके जडबन्धनका कारण है। जडबुद्धि जीवोंके लिये कर्मोंका करना अनिवार्य है। देहधारी जीव कर्म किये बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते, क्योंकि कर्मके बिना शारीरिक कृत्योंका होना असम्भव है। अतएव हमें ऐसी चतुराईसे कर्म करने चाहियें, जिसमें वे यथावत् होते भी रहें और हमारे बन्धनका कारण भी न बनें। यह चतुराई हम तभी कर सकते हैं जब हम पहले कर्मके रहस्यको समझ लें। वह रहस्य यह है कि वास्तवमें कर्म स्वयं कोई फल उत्पन्न नहीं करता, उसके साथ हमारी जो इच्छा सम्मिलित होती है उसीके अनुसार फल प्राप्त होता है। यह बात इस उदाहरणसे भली-भाँति समझमें आ जायगी—जैसे कोई दुष्ट मनुष्य जब किसीके शरीरपर शस्त्रद्वारा आघात करता है तब वह पुलिसद्वारा पकड़ा जाकर न्यायालयसे दण्डित होता है, और डाक्टर साहब अनेक रोगियोंके शरीरपर रोज शस्त्रप्रयोग करते हैं तो भी वे राजाप्रजा दोनोंके द्वारा सम्मानित होते हैं। दुष्ट और डाक्टरका कर्म एक है, केवल उसके करनेकी इच्छा पृथक्-पृथक् है। दुष्टकी इच्छा तो दुख देनेकी होती है और डाक्टर साहबकी इच्छा आराम पहुँचानेकी होती है; इसीलिये दोनोंका कर्म समान होनेपर भी, कर्ताकी इच्छाके अनुसार फल भिन्न-भिन्न मिलता है। इसी नियमके अनुसार जो कर्म फलकी आशासे हम अपने लिये करते हैं, वे हमें फल भोगनेके लिये बन्धनमें ले आते हैं और जो फलाशा-त्यागपूर्वक भगवान्‌के लिये करते हैं वे हमें जडमुक्त कर परमधामको पहुँचाते हैं। इस प्रकार कर्म करते समय अपनी इच्छाको ठीक रखना ही कुशलता है और यह कुशलता ही योग है। इससे भिन्न अर्थमें योग शब्दका प्रयोग योगेश्वरको स्वीकृत नहीं है। इसीसे वे कहते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥

अर्थात् हे अर्जुन! योगी पुरुष तपस्वी, ज्ञानी, कर्मी आदि सबसे श्रेष्ठ है, अतएव तू योगी बन जा।

यदि कहो कि तपस्वी, ज्ञानी, कर्मी आदि भी तो योगी कहे जाते हैं, तो योगेश्वर अपने अभिमत योगी-के लक्षण भी बताते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

'अन्य समस्त योगियोंमें जो अपने अन्तरात्माको मुझमें लगाकर श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करता है मैं उसीको सर्वोत्तम योगी मानता हूँ।'

योगेश्वरने हमको अपने योगशास्त्रमें कर्मोंको कुशल-तापूर्वक करनेकी प्रक्रिया भी उपदेश कर दी है। वे आज्ञा करते हैं—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

'आहार-विहार, कर्मोंकी चेष्टा एवं शयन-जागरण-को युक्तरूपसे करनेवाले पुरुषका योग दुःखोंको नाश करता है।' योगेश्वर युक्त शब्दका भी अर्थ स्वयं आदेश करते हैं—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥

'सर्व कामनाओंसे रहित एकाग्रचित्त जब आत्मामें स्थित होता है तब वह युक्त कहाता है।'

आत्माका अर्थ भी उन्हींके मुखारविन्दसे सुनिये—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

'समस्त भूतोंमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित मैं ही सबका आत्मा हूँ।'

सबका सारार्थ यह है कि जो कुछ भी कर्मचेष्टा की जाय, उसका सबका सम्बन्ध सर्वात्मा श्रीकृष्णके साथ स्थापित करनेसे ही दुख दूर करनेवाला योग होगा।

इसीसे योगेश्वरने कहा है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

'हे कौन्तेय! तू जो कुछ करे, जो भोजन करे, जो हवन करे, जो दान करे, जो तप करे, वह सब मेरे अर्पण कर दे।'

ऐसा करनेसे क्या होगा? सो भी योगेश्वर बतलाते हैं—

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

'शुभाशुभ फलवाले कर्मबन्धनोंसे छूट जायगा और कर्मत्यागरूप योगसे युक्तात्मा विमुक्त होकर मुझे प्राप्त करेगा।'

सारांश यह है कि फलाशासे शून्य कुशलतासे किये हुए कर्मकी कर्म संज्ञा नहीं होती, किन्तु वह योग नाम-से अभिहित होता है और इसे अन्यान्य साधारण योगोंकी अपेक्षा असाधारण सिद्ध करनेके लिये भक्तियोग आख्या प्रदान की गयी है। अन्यान्य योगोंमें एवं भक्ति-योगमें सबसे बड़ा अन्तर यह है कि वे सब व्यभिचारी योग हैं और यह अव्यभिचारी है। जो योग श्रीकृष्णसे अतिरिक्त विषयान्तरोंसे प्रयुक्त होता है, वह व्यभिचारी है। और जो एकमात्र श्रीकृष्णको ही विषयरूपसे वरण करता है, वह अव्यभिचारी है। श्रीकृष्णसेवैकपरायण इस भक्तियोगके द्वारा ही हम मायिक गुणोंसे पार होकर, निर्गुण अवस्था लाभ कर सकते हैं, जैसा कि श्रीयोगेश्वरने स्वयं श्रीमुखसे आज्ञा की है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

अर्थात् जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मेरा सेवन करता है, वह गुणोंको अतिक्रम कर ब्रह्मभावको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है।

ब्रह्मभाव मुक्त जीवकी एक निर्गुण अवस्थाविशेष है, यह भी श्रीयोगेश्वरने ही कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

'ब्रह्मभावको प्राप्त पुरुषका आत्मा प्रसन्न होता है, न वह शोच करता है, न आकांक्षा करता है; सब भूतोंमें समान भाव रखता हुआ मेरी पराभक्तिको प्राप्त करता है।'

अर्थात् भक्तियोगका ही अपर नाम साधन-भक्ति है जिसके द्वारा पराभक्तिका अधिकार लाभ होता है। यह श्रीयोगेश्वरके अभिमत 'योग' की व्याख्या है। इससे आगे पराभक्ति भावराज्यकी बात है। उसके सम्बन्धमें कुछ लिखना मेरे समान अभावुकके लिये और भी कठिन है और इससे अधिक लिखनेके लिये स्थान भी नहीं है अतः विषयको यहीं विश्राम दिया जाता है।

भक्ति और प्रपत्तिका स्वरूपगत भेद

(लेखक—देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री)

स्नेहो भक्तिर्द्विधा वैधी स्वभावानुगता च या ।
प्रपत्तिरात्मनिक्षेपः सा द्विधा रूढियोगतः ॥
स्नेह आनन्दधर्मः स्यादानन्दो भगवानिति ।
प्रपत्तिः स्वीकृतिर्विष्णोर्भेदाभेदोऽनयोर्द्वयोः ॥

'स्नेह (प्रेम)-रस ही भक्तिरस है । यह भक्तिरस दो प्रकारका है, एक शास्त्रप्राप्त और दूसरा स्वभावप्राप्त । पर अपने-आपको परमात्मापर छोड़ देना प्रपत्ति कहलाता है। यह प्रपत्ति भी दो तरहकी है, पहली रूढिप्राप्त और दूसरी योगप्राप्त ।'

'आनन्दकी ही एक किरण स्नेह है, और भगवान् स्वयं आनन्दस्वरूप हैं । भगवत्कृत स्वीकारको (दूसरी) प्रपत्ति कहा है' अतएव भक्ति और प्रपत्तिका भगवान्‌के साथ भेद और अभेद दोनों सम्बन्ध हैं ।

'आनन्दः प्रियतातीव' आदि वाक्योंसे और अनुभवसे यह सिद्ध है कि आनन्दका ही विस्तार स्नेह किंवा प्रेम है । और 'सत्य विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियोंसे यह भी सिद्ध है कि आनन्द ही भगवान् है । अतएव कहना होगा कि भगवान् और भगवान्‌का स्नेह (प्रेम) वास्तवमें एक है । किन्तु एकतामें व्यवहार-आनन्द नहीं आता इसलिये यह भगवान्‌का आनन्द प्रेमरूप होकर हमारे पास आ गया । अब हमें भगवान्‌के आनन्दका स्वाद आने लगा । इस तरह भक्ति और भगवान्‌में परस्पर भेदाभेद सम्बन्ध है ।

यही बात प्रपत्तिमें भी है । प्रपत्तिका रूढ अर्थ है स्वीकार और यौगिक अर्थ है आत्मनिक्षेप । प्र—प्रकर्षेण, एकदम, पत्तिः—पदनम्, भगवान्‌में चले जाना और आत्मनः—अपने-आपको भगवान्‌में निक्षेप—नितरां क्षेपः—एकदम डाल देना, दोनों बातें एक ही हैं । यदि प्रपत्तिका कोरा 'स्वीकार' अर्थ लेते हैं तो भगवान्‌के साथ प्रपत्तिका भेद है और यदि आत्मनिक्षेप लेते हैं तो अभेद है । इस तरह प्रपत्तिका भी भगवान्‌के साथ भेदाभेद सिद्ध है । भगवत्कृत जीवस्वीकार और जीवकृत भगवत्स्वीकार दोनों प्रपत्ति हैं । पहली अनुग्रह (पुष्टि) प्रपत्ति है, और दूसरी मार्यादिक प्रपत्ति । दृष्टान्त श्रीगोपीजन और श्रीविभीषण ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

'रसो वै सः' 'सत्य विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' 'आनन्द आत्मा' । वह परमात्मा रस है । परब्रह्म सत्य, विज्ञान और आनन्द है । आनन्दमय परब्रह्मका आत्मा भी आनन्द ही है । इत्यादि श्रुतियोंसे यह सिद्ध है कि परब्रह्म परमात्मा रसरूप है, आनन्दरूप है । और 'ममैवांशो जीवलोके', 'अंशो नानाव्यपदेशात्', 'एकांशेन स्थितो जगत्' इत्यादि स्मृतिसूत्रोंसे यह भी स्पष्ट होता है कि उस रसरूप परमात्माका ही रूपान्तर होनेसे—अंश होनेसे सब देहोंमें विद्यमान आत्मा (जीव) भी वास्तवमें रसरूप आनन्दरूप ही है। किन्तु माया, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय और देहका आवरण आ जानेसे इसकी वह रसरूपता तिरोहित हो रही है । अतएव इसे अपना आनन्द तो अनुभवमें आता नहीं और बाह्य पदार्थोंमें आनन्द मालूम देता है । इससे यह बाह्य पदार्थोंमें प्रेम करने लगता है और अन्तमें उनमें आसक्त होकर जन्म-मरणके चक्करमें पड़ जाता है । अस्तु ।

उस आनन्दरूप आत्माका ही विशुद्ध धर्म या किरण ही जब मनके द्वारा अन्तःप्रकट होता है तब वह स्नेह किंवा प्रेम कहाता है और इसीलिये प्राकृत लोग उस प्रेमको मनोधर्म कह देते हैं । वास्तवमें यह स्नेह आनन्दका ही धर्मान्तर होनेसे आत्मधर्म ही है । स्नेहका मूलरूप निर्गुण है, सत्त्वादि गुणोंका इसमें स्पर्शतक नहीं है । इसीको भाव किंवा रति भी कहते हैं । आत्मधर्म होनेसे ही यह नित्य है, अतएव स्थायी है । यह निर्गुण विशुद्ध प्रेम जहाँ कहीं भी (आलम्बनमें) पैदा होता है वहाँ निष्कारण ही पैदा होता है । यह अतीन्द्रिय है, केवल बुद्धिवेद्य है किंवा स्वसंवेद्य है । गुणमात्रसे रहित है, अतएव दुःखरहित है और अनिर्वचनीय है । यह साधनोंसे बढ़ता नहीं और विरुद्ध साधनोंसे घटता भी नहीं । सदा एक स्वरूपमें ही रहता है । तथापि आधारोंके द्वारा जब अधिक-अधिक अनुभूयमान होता है, तब उद्दीपन विभावादिके द्वारा इसका मूल व्यापक रूप प्रकट होने लगता है । इसी अवस्थाको सहृदय लोग रस, शृंगार, वात्सल्य किंवा भक्ति कहते हैं । किन्तु यह याद रहे कि

लौकिकमें जो शृङ्गारादि हैं उनमें गुणोंका स्पर्श है किन्तु उस अलौकिक रसमें गुणोंका स्पर्श नहीं है। यहाँतक यह प्रेमरस बढता है कि सारे संसारमें प्रकाशित हो जाता है और फिर अन्तमें आप भी उसी व्यापक प्रेमानन्दमें विलीन हो जाता है। उस दशामें आनन्दसे अनुभवकी मात्रा बहुत कम हो जाती है। अतएव श्रुति 'नेति-नेति', 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' कहकर उसके स्वरूपका निर्देश करती है। इस प्रेमरसकी कुछ प्रारम्भिक दशाका वर्णन किसी अभियुक्तने यों किया है—

आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि
क्षीयेतापि न चापराधविधिना नस्या न यद्वर्धते।
पीयूषप्रतिवादिनस्त्रिजगतीदुःखद्रुहः साम्प्रतं
प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाङ्निष्ठतालाघवम्॥

'जिस प्रेमने पैदा होनेके समय एकदम थोड़े भी कारणकी अपेक्षा न रक्खी और जो हजारों अपराध होनेपर भी नष्ट किंवा कम नहीं होता। तथा चापलूसी करनेसे कभी बढ़ता भी नहीं और जो अमृतके सामने खम ठोककर 'तू मेरे सामने कौन वस्तु है' यह कहनेको सदा तैयार रहता है, उस सारे ससारके दुःखोंके नाश करनेवाले और अति महत् प्रेमको मैं आज अपनी वाणीसे कैसे कहूँ और कहकर उसकी आबरू कैसे बिगाड़ दूँ।'

यह प्रेम जब अपने समानमें होता है तब उसे स्नेह किंवा शृंगार कहा जाता है। अपनेसे छोटेमें वात्सल्य और अपनेसे बड़ेमें उत्पन्न होकर यह भक्ति नामसे प्रसिद्ध है।

ऐश्वर्य (हुकूमत, प्रताप), पराक्रम, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन षट्गुणोंसे महत्त्व (बड़प्पन) होता है। इनमेंसे एक-एक गुण भी जहाँ आ जाते हैं वहाँ वह बडा कहा जाता है। यदि कहीं यह सारे गुण एकमें ही स्वभावतः रहते हों तो फिर उसके माहात्म्यकी कथा ही क्या है। अतएव भगवान् सबसे बड़े हैं। उन पुरुषोत्तम भगवान्में उनके माहात्म्यको समझकर जो प्रेम किया जाता है उसे भक्ति कहते हैं। नारदपाञ्चरात्रमें यही बात इस तरहसे कही है—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा॥

विशुद्ध अवस्थामें यह एक भक्तिरस है किन्तु जब इसमें सत्त्व, रज और तम त्रिगुणका मेल हो जाता है तब यह भक्ति तीन, नौ, इक्यासी, और आगे चलकर अनन्तविध हो जाती है।

यहाँतक हमने विशुद्ध निर्गुण रसरूपा भक्तिका निरूपण किया। यह फलरूपा भक्ति है। अतएव इसीका रूपान्तर और इसका साधन भी एक नवधा भक्ति किंवा तनुजा वित्तजा सेवा नामक साधनभक्ति और भी है। इस वैधी साधनभक्तिका निरूपण श्रीमद्भागवतमें इस तरह है—

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।
(३।२५।३२-३३)

वेद और वैदिक शास्त्रोंकी आज्ञासे और उनमें कहे गये साधनोंके अनुष्ठानसे जो क्रमसे प्रकट होती है उस स्नेहरूपा भक्तिको वैधी भक्ति कहते हैं। कभी-कभी किसी-किसी अधिकारीको जन्मसे ही यह भक्ति प्राप्त होती है, जैसे प्रह्लादजीको। उस जगह पूर्वजन्मके साधनानुष्ठानसे किंवा सामान्यानुग्रहसे ही वह प्रकाशित हुई है यह निश्चय है। इसलिये उसे भी वैधी भक्ति ही समझना चाहिये। इस वैधी भक्तिका क्रम इस तरहसे है। एक मनवाले सब दैवइन्द्रियोंके व्यवहार स्वाभाविक होकर सत्त्वविग्रह श्रीभगवान्में ही निरन्तर होते रहें वह भक्ति कही जाती है। फिर कामनारहित होकर सदाके लिये निर्गुण भगवान् पुरुषोत्तमको ही अपना विषय बना लें तब वे सर्वेन्द्रियवृत्तियाँ ही पूर्वोक्त मनके साथ एकताको प्राप्त होकर भगवती अनिमित्ता वैधी भक्ति कही जाती है।

'द्वया ह वै प्राजापत्या.' किंवा 'देवासुरा वै संयेतिरे उभये प्राजापत्याः' इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार प्रत्येक प्राणीकी दसों इन्द्रियाँ दो प्रकारकी होती हैं—दैव और आसुर। इन दैवासुर इन्द्रियोंकी वृत्तियोंमें परस्पर प्रतिदिन युद्ध होता रहता है। दैव वृत्तियाँ स्वभावतः आनुश्रविक होती हैं। और आसुर वृत्तियाँ केवल लौकिक होती हैं। आनुश्रविक देवेन्द्रियवृत्तियाँ जब-जब जिस-जिस इन्द्रियान्तवर्ति प्राणका आश्रय लेकर उन आसुर वृत्तियोंको जीतना चाहती हैं तब-तब ही ये बलिष्ठ आसुर वृत्तियाँ उनके उस आश्रयको पापविद्ध कर देती हैं। तब अन्तमें ये दैव वृत्तियाँ आसन्य-प्राणका आश्रय लेती हैं। वहाँ भी आसुर वृत्तियाँ पहुँचती

तो है पर वह मुख्यप्राण भगवद्रूप है अतएव मिट्टीके ढेले पत्थरपर गिरकर जैसे बिखर जाते है उसी तरहसे आसुर वृत्तियाँ इस मुख्यप्राणपर आक्रमण करनेसे स्वय ही नष्ट हो जाती है। फिर ये दैवेन्द्रियवृत्तियाँ वेदोक्त कर्मादिके द्वारा कार्यसे भी दैव बन जाती है। भक्तिके लायक अपना स्वरूप बना लेती है। बहुजन्माभ्यासी ऋषियोके, इन्द्रादि देवोंके किंवा अनुगृहीत दैवसम्पन्न मनुष्योंके भी इन्द्रिय दैव होते हैं।

जिस तरह इन्द्रियाँ दो प्रकारकी होती है वैसे ही मन भी दो प्रकारका है। मनः शब्दसे यहाँ उस बुद्धिका ग्रहण होता है जो मनके साथ एकताको प्राप्त होकर निश्चयका और इन्द्रियोके द्वारा कार्य करानेका काम करती है। इस मन और बुद्धिका विशेष विवेचन गहन एव विस्तृत होनेसे ज्ञेय होनेपर भी हम इसे यहाँ ही छोड़ते है।

मनोरूपा बुद्धि दो प्रकारकी है एक व्यवसायात्मिका और दूसरी अव्यवसायात्मिका बहुशाख और अनन्त होती है। पर व्यवसायात्मिका एक ही रहती है। बुद्धिको व्यवसायात्मिका बनानेके लिये शास्त्रोंमे अनेक प्रकारके साधन कहे है उनके अनुष्ठानसे बुद्धि व्यवसायात्मिका हो जाती है, पर व्यवसायात्मिका बुद्धि जब आत्माके सहारे अपने कर्तव्यका निश्चय कर चुकती है और इन्द्रियोके द्वारा कार्य करानेकी आज्ञा आत्मासे ले लेती है तब मनके साथ एकताको प्राप्त हो जाती है, मनोरूप हो जाती है। यह मन मननात्मक रहता है। अर्थात् विजातीय प्रत्यय-रहित होकर सजातीय प्रत्ययद्वारा युक्त रहता है। इस तरह वेदोक्त साधनानुष्ठानोंके द्वारा जिस पुरुषका मन एकभावापन्न हो जाता है उस पुरुषकी वे पूर्वोक्त चक्षुरादि इन्द्रियाँ जब विशुद्ध सत्त्वविग्रह अवतीर्ण भगवान्‌में किंवा निर्गुण पुरुषोत्तम भगवान्‌मे ही निरन्तर लग जाती है, उनकी वृत्तियाँ भगवान्‌की परिचर्यामे ही रहती है तब उसे तनुजा वित्तजा सेवा किंवा नवधा भक्ति कहते हैं। चक्षुका लौकिक कार्योंमे दर्शनमात्र कार्य रह जाय पर उसकी वृत्ति (व्यवहार) तो केवल भगवान्‌मे ही होने लगे। इसी तरह दसों इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ जब केवल निर्गुण भगवान्‌मे लग जाती है तब आत्मनिष्ठ आनन्दका आवरण दूर हो जाता है और नित्यविद्यमान भक्ति (प्रेम) प्रकट होती है। यह हम पूर्वमे सिद्ध कर चुके है कि भक्ति, प्रेम किंवा आनन्द पदार्थ नित्य हैं, वे न उत्पन्न होते है और न नष्ट। साधनोके द्वारा उनका आविर्भाव-तिरोभाव ही होता रहता है। आवरण आनेसे तिरोभाव और आवरण-के हट जानेसे आविर्भाव होता है। अज्ञानीलोग आविर्भाव-को ही उत्पत्ति समझ लेते है। इस प्रेमरूपा भक्तिके प्रादुर्भावके लिये जो पूर्वोक्त श्रवणादि नव साधन किंवा तनुजा वित्तजा सेवा करनेमें आती है उसे भी भक्ति ही कहते हैं, पर साधनभक्ति कहते हैं। शास्त्रमें कहा भी है—'भक्त्या सजातया भक्त्या', 'मयि सजायते भक्तिः'। तनुजा वित्तजा सेवा और नवधा भक्ति, दोनों प्रायः एक हैं।

श्रवण कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

यह नवधा भक्ति है और तनुजा सेवामें भी यही साधन विचारपूर्वक किये जाते हैं, इसलिये दोनों एक ही पदार्थ है। विभवके बाहुल्यमें राजोपचारसे सेवाका निर्वाह करना ही वित्तजा सेवा है न कि पैसा देकर दूसरोंके द्वारा तनुजा कराना।

परम भागवतवक्ताके मुखसे भगवान्‌के स्वरूप, जन्म, लीला, नाम और स्तोत्र आदिको श्रद्धासे सुनकर उन सबका परमपुरुष भगवान्‌मे निर्धारण कर लेनेको श्रवणभक्ति कहते हैं। तनुजा सेवामे भी कीर्तनके समय किंवा अनवसरके समय श्रीभागवत सुबोधिनी गीता आदिके सत्सगमें यह भक्ति होती है। प्रभुके नाम-चरित्र आदिके अधिकारानुसार श्रद्धासे कथनको कीर्तनभक्ति कहते हैं। तनुजा सेवामे भी यह कीर्तन प्रायः आठों दर्शनादि-में होते रहते हैं। भगवत्स्वरूप उनकी लीला आदि, तथा उनके परिकरका श्रद्धासे चिन्तन करना ही स्मरणभक्ति है। यह भी तनुजा सेवामे होता रहता है। सर्वदा श्रद्धासे-परिचर्या, अर्थात् भगवान्‌के वस्त्रप्रक्षालन आदि सर्वविधि सेवा करते रहना, यह पादसेवनभक्ति है। माहात्म्यबुद्धि रखकर शास्त्रोक्त विध्यनुसार किन्तु प्रेम और लोकरीतिसे जुदे प्रकारके उपचारोंसे भगवत्पूजा करनेको अर्चनभक्ति कहते हैं। तनुजा सेवामे भी यह दोनो किये जाते है। मन्दिर-मार्जन, वस्त्रप्रक्षालन, जलाहरण, रसवतीकरण आदि पादसेवन कहा जाता है। और पञ्चामृतस्नान, अधिवासन, सङ्कल्प, देवोत्थापन, शङ्ख, झाँझ, दुन्दुभिध्वनि, समन्त्रक-स्नान आदि अर्चनभक्ति है। भगवान्‌के आगे अपना दैन्य

प्रकाशित करते रहकर नमन-प्रणाम आदि करना 'वन्दनभक्ति' है। यह तनुजा सेवामें समान ही है। प्रभुके सिवा अन्य किसीका भी आश्रय न लेनेको दास्य कहते हैं। तनुजा सेवामें भी अनन्याश्रय भगवत्प्रसादी चन्दन ताम्बूल भोज्य पदार्थोंका भगवद्दत्त बुद्धिसे ग्रहण करना ही दास्यभक्ति है। प्रभुकी सेवामें किसीकी भी प्रेरणाके बिना अपनी प्रीति और श्रद्धासे प्रेरित होकर प्रभुके हितोंके अनुष्ठान करते रहनेको सख्यभक्ति कहते हैं।

करावित्र शरीरस्य नेत्रयोरिव पक्ष्मणी।
अप्रेरितं हितं कुर्यात्तन्मित्रं मित्रमुच्यते॥

इत्यादि वचनोंके अनुसार ग्रीष्ममें पखा करना, चन्दन धारण कराना, शीतकालमें गद्दा, रजाई प्रभृति रुई और मखमलके वस्त्र धारण कराना, सुहागसोंठ वगैरह गरम वस्तुओंका भोग धरना प्रभृति उन-उन ऋतुओंके अनुसार प्रेम और लौकिक रीतिके अनुसार उपचार करना सख्यभक्ति है। अपने-आपको स्त्री-पुत्र-धन-गृहादिसहित भगवत्सेवाके उपयोगी कर देना, उपकरण बना देना, बस यही आत्मनिवेदन है। यह नवधा भक्ति है और यही सब तनुजा सेवा है। तनुजा सेवामें सब नवधा भक्ति आ जाती है। और यही भगवदधीन सर्वेन्द्रियवृत्तियाँ हैं। किन्तु ये सब इन्द्रियव्यवहार किंवा तनुजा सेवा अनिमित्ता होनी चाहिये। भक्ति (सेवा) में केवल भगवान्‌का किंवा भगवत्प्रेमका ही प्रयोजन किंवा उद्देश्य रहना चाहिये। किन्तु देहसुख, स्त्रीपुत्र-धनादि लौकिक प्रयोजन किंवा पापनिर्हरण, स्वर्ग किंवा मोक्ष आदि अलौकिक प्रयोजन भी भक्तिका उद्देश्य न रहना चाहिये। क्योंकि—

भक्तिरस्य भजनमिहामुत्रफलभोगनैराश्येनामुष्मिन्मनःकल्पनम्।

—इत्यादि श्रुतिमें तथा 'इति पुंसार्पिता विष्णौ', 'भक्त्या त्वनन्यया', 'अनिमित्ता भागवती' इत्यादि स्मृति-पुराणोंमें निष्काम भक्तिका ही विधान है। 'श्रवण कीर्तन विष्णोः' इत्यादि प्रह्लादके वचनमें 'अर्पिता' शब्द है। अर्थात् भगवान्‌में अर्पण करते हुए भक्ति करनी चाहिये, ऐसा कहा है। सेवा करते समय उस सेवा या नवधा भक्तिको भगवान्‌में ही स्थित रखना चाहिये। वहाँसे उठा न लेना चाहिये। भक्ति करके जो लोग भगवान्‌से किसी भी फलकी चाहना करते हैं वे उस भक्तिको भगवान्‌के पाससे हटाकर अपने पास ही ले लेते हैं। ऐसा न कर उसे श्रीभगवान्‌में ही अर्पित रखना चाहिये। ऐसी भक्ति अनिमित्ता कही जाती है।

अनिमित्ता होकर भी फिर यह भागवती होनी चाहिये। अर्थात् कोई निर्विशेष निर्धर्मक किंवा अनित्याल्पगुण वस्तु भक्तिका विषय नहीं होना चाहिये किन्तु भगवान् षडैश्वर्य किंवा नित्यानन्तकल्याणगुण पुरुषोत्तम ही उसका विषय रहना चाहिये तब वह अनिमित्ता भागवती भक्ति कही जाती है। यह सब भगवदनुग्रहके बिना नहीं है। अतएव लक्षणमें 'या' यत् शब्दका प्रयोग किया है।

सामान्यानुग्रहसे भी इतना सब साध्य नहीं है। प्रभुका सामान्य अनुग्रह तो मनुष्यजन्म दे देता है। यही बात भगवान्‌ने कही है कि 'मयानुकूलेन नभस्वतेरितम्' सागरमें पतित नौकाके लिये अनुकूल पवनका चल जाना भी बहुत सहारा है। किन्तु दण्डका चलाना तो आवश्यक है ही। इसी तरह दैवी मनुष्यजन्मके मिल जानेपर भी साधनानुष्ठान तो आवश्यक है ही। दैवीसम्पल्लब्धजन्माके लिये तीन साधन हैं। 'ज्ञान कर्म च भक्तिश्च' इन तीन उपायोंमें सब उपायोंका समावेश हो जाता है। कर्म, ज्ञान और भक्तिरूप सब साधन हैं।

शिशु जब जन्म लेता है तब महीने-दो-महीनेतक उसके पास चेष्टाके सिवा अपनी फलसिद्धिके लिये अन्य कोई साधन नहीं है। फिर जैसे-जैसे उन चेष्टा (कर्मों) के द्वारा आवरण हटता जाता है वैसे-ही-वैसे उसके अन्तःस्थित ज्ञान और प्रेमका प्रादुर्भाव होता जाता है। इसी तरह जीवके पास अपने उद्धारके लिये पहला साधन ज्ञानसहित वेदशास्त्रोक्त कर्म है। निष्काम किंवा भगवदर्पित कर्मोंके द्वारा आवरण दूर होता है और भगवदंशरूप अतएव नित्य सिद्ध ज्ञान और प्रेम (स्नेह) अन्तःप्रकाशित हो जाते हैं। ज्ञानसहित निष्काम कर्म किंवा भगवत्-समर्पित कर्म करते-करते देहपात भी हो जाय तो भी उसकी हानि नहीं होती। भगवान्‌ने स्वयं आज्ञा की है कि—

'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'
'नहि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।'

हे अर्जुन! सत्कर्म करनेवाला कभी भी नीचे नहीं गिरता। सत्कर्मका थोड़ा भी अंश उसे बड़े भयसे भी बचा लेता है। फिर भी उसे उत्तम जन्म और पौनर्देहिक बुद्धि मिल जाती है। और यदि न मरा और उसी

जन्ममें वह उसका कर्म पूरा-पूरा पार उतर गया तो फिर 'पञ्चाग्निविद्या' के अनुसार यह दूसरा जन्म उसे अन्तिम मिलता है। इस फलरूप जन्ममें पूर्वोक्त भक्ति पूर्वोक्त रीति-के अनुसार अनिमित्ता और भागवती प्राप्त होती है। किंवा स्वतन्त्रा भक्ति प्राप्त होती है। यह स्वतन्त्रा भक्ति पुष्टिमार्गीय है इसलिये हम इसे यहाँ ही छोडते हैं।

अनिमित्ता भागवती भक्ति (साधन) सायुज्य मुक्तिसे भी श्रेष्ठ होती है, क्योंकि इसका फल गाढ़ भगवत्प्रेम है। और सायुज्यमें प्रेमरूप तो है किन्तु प्रेमप्राप्ति नहीं। भक्तोंको आनन्दरूप हो जाना वाञ्छनीय नहीं है अपि तु आनन्दभोग वाञ्छनीय है। भगवत्प्रेम ही फलरूपा भक्ति है। यद्यपि इस मानसी सेवा (प्रेमभक्ति) के तीन फल हैं जो आगे कहे जायँगे और इसलिये यह भी साधन ही है, तथापि ऐसे भक्तोंके लिये यह प्रेम ही सर्वोत्तम फल है, अन्य फलोकी वे चाहना नहीं करते। अतएव अन्यत्र कहा है कि—

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवन जना[1]।

भगवान् अपने भक्तोको सालोक्यादि फलोंका दान करते हैं पर वे भजनके सिवा कुछ नहीं चाहते। इस फलरूपा भक्तिका वर्णन इस प्रकार किया है—

नैकात्मता मे स्पृहयन्ति केचि-
न्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥

पूर्वश्लोकोक्त तनुजा वित्तजा (नवधा) सेवा करनेसे भगवद्रस (प्रेम) की अभिव्यक्ति हो जाती है। इस श्लोकमे उस भगवद्रसके प्रकट हो जानेके तीन प्रत्यक्ष लक्षण कह रहे हैं। 'मत्पादसेवाभिरताः' 'मदीहाः' और 'येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि'—ऐसे प्रेमी भक्तोंके काय, वाक् और मनके व्यवहार स्वाभाविक रीतिसे भगवान्में ही रहते हैं। मेरी सेवा करनेमें ही उनकी चित्तवृत्ति सर्वदा लगी रहती है, उनके शारीरिक व्यवहार भी सर्वदा मत्सम्बन्धी होते रहते हैं। और समानधर्मा वे लोग परस्पर निष्किञ्चन मित्रता रखते हुए भगवत्सम्बन्धी पराक्रमों-का ही सर्वदा सादर सप्रेम कथोपकथन तथा सत्कार किया करते हैं। अतएव भगवान्से प्रार्थना करना तो दूर है पर अपने हृदयमें सायुज्यादि चार मुक्तियोंकी अभिलाषा भी कभी नहीं करते। उनको तो भगवत्स्वरूपलीला और गुणोंके रसका अनुभव करते रहना ही परम उत्कृष्ट फल मालूम देता है। क्योंकि उनके हृदयमें आनन्दरूप भगवान्-का प्रादुर्भाव हो जाता है, उनका यही साध्य है, यही साधन है और जीवित भी यही है। 'तन्मे साध्यं साधनं जीवितं च' उन्हें फिर जगत्के किंवा जगत्से बाहरके किसी पदार्थसे भी प्रीति नहीं रहती।

हमारे गीताके ठाकुरने भी आज्ञा की है—

'रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥'
'यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥'

---

१ (सा चेद्भागवती भवति साक्षाद्भगवन्तं विषयीकरोति भगवद्भावं षड्गुणरूपतामापद्यते। पूर्वं सत्त्वरूपे देवे विष्णौ वृत्तिः सैव जन्मान्तरे भागवती भवतीति वा। पञ्चाग्निविद्यायां ज्ञानौपयिकदेहसिद्धिनिरूपिता। तथापि मुक्तेः सायुज्याटपीयं भक्तिर्गरिष्ठा सिद्धेर्गरीयसी। ·· ··· एतया मे पदं प्राप्यत इति भावः। तादृशभक्तानां ज्ञानिनामिवाग्रिमकृत्यमाह प्रकारद्वयेन। तत्र प्रथममाह—त्रिभिर्नैकात्मतामित्यादिभिः। इयं हि फलरूपा भक्ति-र्ज्ञातव्या। फलरूपता तदैव भवति, यदा भजनाद्रसोऽभिव्यक्तो भवति बहुधा। 'तस्या अभिव्यक्तेर्निदर्शनम्, भगवत एकात्मतां फलं न स्पृहयन्ति, प्रार्थना दूरे। तेषां कायवाङ्मनोवृत्तिः स्वभावत एव भगवति भवतीत्याह मत्पादसेवेत्यादिना। तेषां फलावस्थामाह—पश्यन्ति ते म इति। ते मे रूपाणि पश्यन्ति, निरन्तरं भगवत्-साक्षात्कारो भवति यथा मित्रैः सह क्रीडन्ति। ततस्तेषा सायुज्यमाह—तैर्दर्शनीयेति। भगवान् स्वगृहं गच्छन् सानपि नयति। ते तु इन्द्रियाणि मनश्च नयन्ति। भक्तिन्तु फलावश्यम्भाविनी कालादीनामगम्यमतिसूक्ष्ममेव भगवदा-त्मकं फलं प्रयच्छन्ति। सालोक्यादि फलमाह—अथो इत्यादि। सा चेद्भक्तिर्मध्यमा भवेत् ततोऽयं भिन्नप्रक्रमः। परम्य कालाक्षराद्य लोके व्याप्तिवैकुण्ठे सर्वमैश्वर्यादिकमश्नुवते। एवं भेदत्रयं निरूपितम्, सायुज्यं वैकुण्ठः जीवन् मुक्तिश्चेति।

(भाग० सुबोधिनी ३। २५। श्लोक ३२से ४०)

यह अनुवाद है, विधि नहीं है। इस प्रकार चिरकाल भगवद्रसका अन्त:स्वाद लेते-लेते सर्वत्र भगवान्‌का बहि:-प्राकट्य हो जाता है। उस समय वे भक्तलोग पूर्ण फलका अनुभव करते हैं। जहाँ भगवान् रस्य और परतन्त्र हो जाय और भक्त रसयिता तथा स्वतन्त्र हो जाय वह अवस्था भक्तों-की पूर्णफलावस्था है। शास्त्रमें इसे अलौकिक सामर्थ्य और परप्राप्ति भी कहा है। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस ऋचा और 'सत्य ज्ञानम्' इत्यादि विवरणरूप ब्राह्मणका भी यही तात्पर्य है। भक्ति (सेवा) तारतम्यसे फलतारतम्य हो जाता है इसलिये द्वितीय, तृतीय फल और भी है। भागवत तृतीय स्कन्धके इसी प्रकरणमे 'पश्यन्ति ते मे' से लेकर 'तान्मृत्यो-रतिपारये' पर्यन्त (३५से४०) श्लोकोंमे सायुज्य, व्यापिवैकुण्ठ और जीवन्मुक्ति ये तीन सेवाफल कहे गये हैं। सायुज्यके दो अर्थ होते हैं सहयोग और ऐक्य। भक्तलोगोंको परमानन्दसहयोग भी अभिलषित है, इसलिये 'पश्यन्ति ते मे' इस श्लोकमें सहयोग अर्थात् अलौकिक सामर्थ्यका निरूपण किया है। 'तैर्दर्शनीयावयवैः' इस श्लोकमें द्वितीय सायुज्य परमानन्दैक्यका प्रतिपादन किया है। 'अथो विभूतिं मम' और 'न कर्हिचिन्मत्पराः' इन दोनों श्लोकोंसे व्यापिवैकुण्ठनिवासरूप फलका कथन किया है और 'इमं लोकम्' और 'विसृज्य सर्वानन्यांश्च' इन दो श्लोकोंसे जीवन्मुक्तिफलका निरूपण किया है। यहाँ जीवन्मुक्तिका अर्थ है अलौकिक अक्षरात्मक देहकी प्राप्ति। यहाँ तक हमने फलसहित वैधी भक्तिका स्वरूप कहा। यह भक्ति परमानन्दरूपा होनेसे भगवान्‌से भिन्न भी है और अभिन्न भी है।

अब इस भक्तिका दूसरा भेद स्वभावानुगता भक्ति है। स्वभावानुगता भक्ति पुष्टि (अनुग्रह) मार्गका विषय है। स्वभावानुगता भक्ति और पूर्वोक्त वैधी भक्तिमें विशेष भेद नहीं है। यह भी परमानन्दरूपा है और परमानन्दप्राप्ति ही इसका भी फल है। केवल कारणका भेद है। कारणके भेदको उपचारसे भक्तिमे कहा गया है। वैधी भक्ति साधनो-से प्रकाशित होती है और स्वभावानुगता भगवान्‌के विशेषा-नुग्रहसे प्रकाशित होती है। भगवान्‌का अनुग्रह भगवद्धर्म है इसलिये नित्य है और साधनासाध्य है।

भक्ति और प्रपत्तिके स्वरूपमें भेद दिखानेके लिये प्रपत्तिका भी स्वरूपदर्शन कराना उचित है। प्रत्येक शब्द रूढ और यौगिक भेदसे दो तरहके हो सकते हैं। प्रकृतिप्रत्यय-की तरफ ध्यान न देकर जिसकी सिद्धि अनादिसिद्ध मान ली गयी है वह रूढ शब्द है और प्रकृतिप्रत्ययके अनुसार जिसकी सिद्धि दिखायी गयी है वह यौगिक शब्द माना गया है। इन शब्दोंके अर्थ भी दो तरहके हैं—रूढ और यौगिक, किंवा रूढप्राप्त, योगप्राप्त।

प्रपत्ति शब्दको रूढ मानते हैं तब उसका स्वीकार अर्थ है। और जब उसे यौगिक मानते हैं तब प्र—प्रकर्षेण एक-दम, पत्तिः—पदन गमनम्, भगवान्‌के साथ सगत हो जाना अर्थ होता है। प्रपत्तिमार्गमें प्रपत्तिके दोनों अर्थ स्वीकृत हैं। यह प्रपत्तिमार्ग दो प्रकारका है, मार्यादिक (किसी विशेष मर्यादासे सम्बद्ध) और अनुग्रहलब्ध। यद्यपि भक्तिमार्गकी तरह प्रपत्तिमार्गमें प्रेम और प्रेमप्रकर्ष रहता है तथापि 'प्रधानाभिहारन्याय' से प्रपत्तिके ही आधिक्य रहने-से यह प्रपत्तिमार्ग कहा जाता है, भक्तिमार्ग नहीं।

कलौ भक्त्यादिमार्गा हि दुःसाध्या इति मे मतिः।

कलियुगमें कर्म, ज्ञान और भक्तिमार्गका निर्वाह करना अति कठिन है। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने इन सबसे पृथक् शरण (प्रपत्ति) का मार्ग प्राकट्य किया है। भक्तों-की दृष्टिमे भगवत्प्रेम फल है, साधन नहीं। इसलिये भी प्रपत्तिमार्ग भक्तिमार्ग नहीं कहा जा सकता। वास्तवमें प्रपत्तिको मार्ग कहना भी युक्त नहीं है।

प्रपत्ति (स्वीकार) दो प्रकारकी है। भक्तकृत भगवान्-का स्वीकार और भगवत्कृत भक्तका स्वीकार। भक्तकृत भगवत्स्वीकार मार्यादिक प्रपत्ति है। वानरका शिशु अपनी माताको कसकर पकड़ता है। माता उतना उसे नहीं पकड़ती। यह तो अपने चलने-फिरने, खाने-पीने, उछलने-कूदनेमें लगी रहती है। किन्तु मार्जारी (बिल्ली) अपने शिशुका स्वयं दृढतर ग्रहण करती है। शिशुको मार्जारीकी उतनी परवा नहीं रहती। उस शिशुका सर्वाधार माता है। माताको उसने आत्मनिक्षेप कर रक्खा है। शिशु अपने साथ कोई साधन नहीं रखता। माता आती है तो शिशु उलटा अपने नेत्र मींच लेता है। अब उसका जीवन मारण, धारण, नयन, स्थापन सब कुछ मार्जारीके ही हाथमे है।

इसी तरह भक्तकृत भगवत्प्रपत्ति मार्यादिक है। भगवान् अपने स्वरूपमें हैं। अपनी लीलाएँ भी यथावत् करते चले

जाते हैं। किन्तु भक्तने अपने स्वरूप और चरित्रमें परिवर्तन कर दिया है। यह परिवर्तन छः प्रकारका है—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।

'शरणागतिः रक्षकत्वेन भगवत्कर्मकः स्वीकारः।' भगवान्‌को ही अपना रक्षकरूपसे स्वीकार करना, बस, यही शरणागमन किंवा प्रपत्ति कही जाती है। यद्यपि यहाँ आत्मनिक्षेप है किन्तु अन्य साधन समान है। जैसे आनुकूल्यसङ्कल्प आदि हैं, उन्हींके जोड़तोड़का आत्मनिक्षेप भी है, वह फलरूप नहीं है। प्रपत्तिमें यदि आत्मनिक्षेपके साथ आनुकूल्यका सङ्कल्प भी है तब आत्मनिक्षेप उतना दृढ नहीं रहता। अस्तु।

भगवदनुकूलताका स्वीकार, प्रतिकूलताका परित्याग, रक्षाके विषयमें विश्वास, केवल भगवान्‌का वरण (स्वीकार), आत्मनिक्षेप और दैन्य, इन छहोंको प्रपत्ति कहते हैं। पुष्टि प्रपत्ति और मार्यादिक प्रपत्ति दोनोंमें प्र—प्रकर्षेण पत्तिर्गमनम्—एकदम भगवान्‌के साथ सङ्गम (आत्मनिक्षेप), ऐक्य है और वह सायुज्य (प्रत्यापत्ति) पर्यन्त गिना गया है। अतएव दोनोंको प्रपत्ति कहा गया है। किन्तु मार्यादिक प्रपत्तिमें साधनान्तरोंका सहयोग होनेसे आत्मनिक्षेप अदृढ (शिथिल) है।

मार्यादिक प्रपत्तिके दृष्टान्त अर्जुन और विभीषण हैं। गीताके प्रारम्भमें 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' कहकर अर्जुनने भगवान्‌का रक्षकत्वेन स्वीकार किया है। मध्य मध्यमें 'त्वमादिदेवः' तथा अन्तमें 'करिष्ये वचनं तव' इत्यादि कहकर आनुकूल्यादि अङ्गोंका भी निर्वाह किया है। तथापि अर्जुनपर भगवान्‌का विशेषानुग्रह भी है, इसलिये इसकी प्रपत्ति पुष्टिसम्मिश्र है, शुद्ध मार्यादिक नहीं है।

अपने-अपने धर्मोंका त्याग करके जो एक दूसरेका दृढ स्वीकार हो वह अनुग्रह प्रपत्ति है। और व्यासजीने कहा भी है—

गृहीतवान् स क्षितिदेवदेवः।

अर्जुनको भगवान्‌ने स्वीकार किया है। अपने धर्मोंका त्याग करके अर्जुनका स्वीकार किया है और उसके अन्य साधनोंका त्याग कराकर अपना स्वीकार करनेका उपदेश भी किया है। अर्जुनसे भगवान्‌ने अन्तमें स्पष्ट कहा है कि तू तो अभीतक धर्मोंको पकड़े बैठा है अतएव अभीतक तूने मुझे कसकर पकड़ा नहीं है, इसलिये यदि तू मुझे पूरा-पूरा पकड़ना चाहता है तो—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

'सब धर्मोंको छोड़कर एक मेरी शरणमें आ जा।'

इसीका नाम 'आत्मनः नितरां क्षेपः' है। इतना ही नहीं, गीता और भागवतमें अर्जुन और भगवान्‌के चरित्र एवं उन दोनोंके वचन ऐसे हैं जिनसे प्रतीत होता है कि दोनोंने स्वधर्मत्यागपुरःसर एक दूसरेका स्वीकार किया है।

गीतामें—

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु।

और श्रीभागवतमें—

नर्माण्युदाररुचिरस्मितशोभितानि
हे पार्थ हेऽर्जुन सखे कुरुनन्दनेति।
सञ्जल्पितानि नरदेव हृदिस्पृशानि
स्मर्तुर्लुठन्ति हृदयं मम माधवस्य॥
(१।१५।१८)

वञ्चितोऽहं महाराज हरिणा बन्धुरूपिणा।
(१।१५।५)

—इत्यादि अर्जुनके वाक्य हैं। इनसे दोनोंका गहरा प्रेम और परस्पर स्वीकार प्रतीत होता है। इसलिये कुछ अंशमें ऐक्य और प्रेमप्रकर्षके होनेसे अर्जुन केवल मर्यादाप्रपत्तिका उदाहरण नहीं है।

केवल मर्यादाप्रपत्तिका उदाहरण विभीषण है। विभीषणने अपने धर्मोंका परित्याग नहीं किया है और न श्रीराघवने ही अपने धर्मोंका परित्याग किया है। विभीषणने श्रीरामचन्द्रका परिहास किंवा असत्कार भी नहीं किया है और न श्रीरामचन्द्र विभीषणके सारथी बने हैं और न दिव्यास्त्रोंको अपने ऊपर सहनकर अपनेसे भी विशेष विभीषणकी रक्षा की है। विभीषणके कर्तव्यको स्वयं करके उसको महत्त्व दिलानेका कार्य भी श्रीरामचन्द्रने नहीं किया है। प्रत्युत विभीषणने लङ्काका राज्य ग्रहण किया और प्रभुने विभीषणसे रावणकी रहस्य बातें जानकर युद्धमें सुभीता भी कर लिया, ये प्रेमसन्देहास्पद हेतु दोनोंमें मिल सकते हैं इसलिये दोनोंमें पूरा-पूरा

आत्मनिक्षेप और प्रेमप्रकर्ष न होनेसे, और आनुकूल्य तथा प्रातिकूल्यवर्जनका निर्वाह होनेसे विभीषण केवल मर्यादा-प्रपत्तिका उदाहरण है। राज्याभिषेक होनेके बाद विभीषणको भगवान्‌ने विदा कर दिया और वह खुशी-खुशी चला भी गया, और जानेके बाद भी विभीषणके किसी व्यवहारमें परिवर्तन न होने पाया। ये केवल मर्यादाके लक्षण हैं। अतएव विभीषणकी प्रपत्ति मार्यादिक प्रपत्ति है और अर्जुनकी मर्यादापुष्टि प्रपत्ति है।

इन दोनों प्रपत्तियोंसे पृथक् अनुग्रह (पुष्टि) लब्धप्रपत्ति है और यही भगवान्‌को भी प्रिय है। अनुग्रहलब्ध प्रपत्तिमें अनुग्रहके सिवा अन्य साधन हेतुभूत नहीं होते और प्रपत्ति होनेके बाद भी आनुकूल्य सङ्कल्पादि साधनोंका नियम नहीं होता, कभी हो भी जाय, कहीं नहीं भी। प्रत्युत कभी-कभी तो आनुकूल्यादि साधनोंका एकदम परिवर्तन हो जाता है। प्रपन्नकी इच्छाके आगे भगवान्‌की इच्छा नहीं चलती। भगवान्‌को प्रपन्नकी अनुकूलता देखनी पड़ती है। उसके प्रातिकूल्यको बचाना पड़ता है। भगवान् और प्रपन्न दोनों अपने-अपने धर्मोंका परित्याग करके धर्मीका (एक दूसरेका) दृढ स्वीकार करते हैं। दोनोंका परस्पर आत्मनिक्षेप रहता है। अतएव ऐक्य और प्रेमप्रकर्ष रहता है। इसलिये इस प्रपत्तिका नाम पृथक् शरणमार्ग है। यह आत्मनिवेदन परस्परका है इसलिये नवधा भक्तिके आत्मनिवेदनसे यह एकदम जुदा है। और यही प्रपत्ति हमारे गीताके ठाकुरको हृदयसे सम्मत है।

भगवद्गीतामें कर्म, ज्ञान और भक्तिका फलसहित उपदेश करके १८ वें अध्यायके अन्तमें अनुग्रहलब्ध प्रपत्तिका ८ श्लोकोंसे उपदेश देना प्रारम्भ किया है और अन्तमें ६५ वें श्लोकमें तो पूर्ण प्रपत्तिका निरूपण कर ही दिया। गीताके कर्म, ज्ञान, भक्तिका भगवदुपदेश गुह्य धर्मका उपदेश है। मार्यादिक प्रपत्तिका उपदेश गुह्यतर है और अनुग्रहलब्ध प्रपत्तिका गुह्यतम उपदेश है। 'भक्त्या मामभिजानाति' इस ५५वें श्लोकपर्यन्त सारी गीतामें प्रायः गुह्य धर्मका निरूपण है। और 'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणः'—यहाँसे लेकर 'इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया' इस ६२ वें श्लोकपर्यन्त मार्यादिक प्रपत्तिरूप गुह्यतर समझका उपदेश किया है। और सर्वान्तमें 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इत्यादि ६५वें श्लोकमें पूर्ण प्रपत्तिरूप गुह्यतम वस्तुका उपदेश दिया है। सो भी परोक्ष रीतिसे। क्योंकि प्रत्यक्षमें जिस अर्जुनको उपदेश दे रहे हैं वह उस प्रपत्तिका अधिकारी ही नहीं है।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

—इस श्लोकके भाष्य और टीकाओंमें अनेक विद्वान् अर्थपरिवर्तन करनेका कष्ट करते हैं किन्तु वह अर्थ भगवदाशयगोचर नहीं है। वह अर्थ यदि मान लिया जाय तो निरर्थक लक्षणाओंका ढेर लग जाय। यदि उसी अर्थको कहना भगवदभिमत होता तो स्पष्ट उन्हीं अक्षरोंमें कहना क्या भगवान्‌को नहीं आता था? अतएव यथाश्रुत अर्थ ही भगवान्‌को अभिमत है। और इस तरह स्पष्ट रीतिसे कहनेमें भगवान्‌का आशय ही कुछ और है और वह आशय आचार्योंने अपने एक श्लोकमें स्पष्ट कर दिया है—

न्यासादेशेषु धर्मत्यजनवचनतोऽकिञ्चनाधिक्रियोक्ता
कार्पण्यं नाङ्गमुक्तं तदितरभजनापेक्षणं नो व्यपोढम्।
दुःसाध्येच्छोद्यमौ वा क्वचिदुपशमितावन्यसम्मेलने वा
ब्रह्मात्रन्याय उक्तस्तदिह न विहतो धर्म आज्ञादिसिद्धः॥

'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इस प्रपत्तिके उपदेशमें जो सर्वधर्म त्याग करनेकी आज्ञा दी गयी है, इससे भगवान्‌की ही आज्ञाएँ जो अन्यत्र धर्माचरणके विषयमें हुई हैं उन सबका बाध होता है। भगवान्‌का प्रादुर्भाव धर्म-रक्षार्थ माना गया है और गीतामें बहुत-सी जगह आपने धर्माचरण करनेका उपदेश दिया है। अब जो यह 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' सबसे अन्तिम आज्ञा हुई है इसने उन सब आज्ञाओंको मटियामेट कर दिया है, यह प्रश्न यहाँ उपस्थित होता है। और यह ठीक भी है, एक जगह धर्म करानेका आग्रह और दूसरी जगह उसके त्यागकी आज्ञा देना यह क्या बात हुई?

इसके उत्तरमें आचार्योंने पाँच कारणोंका निर्देश किया है। 'अकिञ्चनाधिक्रिया उक्ता' से लेकर 'ब्रह्मात्रन्याय उक्तः' पर्यन्त। सबसे पहला कारण यह है कि सब धर्म उनके अधिकारानुसार निर्माण किये गये हैं। धर्मके द्वारा ही सबका उद्धार होता है, यह सही है, किन्तु उन सबमें अधिकार नियत है। जगत्‌में ऐसे बहुत-से मनुष्य विद्यमान हैं जिनकी प्रभु (धर्मी) को छोड़कर धर्मोंपर श्रद्धा ही नहीं जमती। इस आशयके अभियुक्तोंके वचन भी हैं—

सन्ध्यावन्दन भद्रमस्तु भवते भो स्नान तुभ्यं नमो
हे देवाः पितरश्च तर्पणविधौ नाहं क्षमः क्षम्यताम् ।
यत्र क्वापि निषद्य यादवकुलोत्तंसस्य कंसद्विषः
स्मार स्मारमघ हरामि तदलं मन्ये किमन्येन मे ॥

इनका कहनेका आशय है कि भगवदासक्त प्रेमी पुरुषको धर्मोंसे कुछ मतलब ही नहीं रह जाता। अब कहिये कि ऐसे पुरुषका किसी धर्ममें भी अधिकार रह जाता है क्या? कितने ही अधिकारविशेषके पुरुष कहने लगेंगे कि इस तरह सब धर्मोंमें अश्रद्धा रखनेवाला अवश्य नरकमें जाने लायक है। किन्तु इसका मर्म उनसे नहीं पूछा जा सकता। इसके विषयमें तो उसकी माता किंवा प्रिय पितासे पूछा जाय कि 'तेरा पुत्र नरकमें जाता है, बोल, अब क्या करें।' मैं समझता हूँ कि प्रियता ऐसी वस्तु है कि वह विधिकी परवा नहीं करती। प्रिय मनुष्य अपने प्रियके बचावका कोई-न-कोई उपाय ढूँढ निकालता है। यह तो असर्वज्ञ और असमर्थकी बात है। और जो समर्थ और सर्वज्ञ हैं उनका फिर कहना ही क्या है। भगवान् सर्वज्ञ हैं, समर्थ हैं और सब जीवमात्रके 'माता धाता पितामहः' हैं। उनके वाक्य हैं कि 'जिनका कोई भी सहारा नहीं है उनका मैं आश्रय हूँ।'

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

इससे अकिञ्चन पुरुषोंके लिये प्रपत्ति है। अतएव 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इसमें उनका अधिकार दिखाया गया है।

अथवा स्नान किये बिना जैसे धर्मकार्य नहीं हो सकता, अतएव स्नान धर्मकार्यका पूर्वाङ्ग है, वैसे ही निष्किञ्चन हुए बिना प्रपत्ति होना दुष्कर है अतएव कार्पण्य (दैन्य) प्रपत्तिका पूर्वांग है। और 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' कहकर दैन्यका उपदेश किया है। प्रपन्नके लिये दैन्य अपेक्षित है। किंवा भगवानसे अन्य और भगवान् दोनोंका भजन और अपेक्षणकी मनाही की गयी है। अन्य-भजन किंवा भगवद्भक्ति रही आवेगी तो कुछ-कुछ भरोसा और मान बना रहेगा और उनसे अपेक्षा रखना भी बना रहेगा। ऐसी अवस्थामें आत्मनिक्षेप और भगवत्स्वीकार पूरा-पूरा न होने पावेगा। इसलिये 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' कहकर भगवद्भिन्नके भजन और अपेक्षाको हटाया है। अथवा इसी बहानेसे अन्याश्रयको दूर रखनेके लिये 'ब्रह्मास्त्रन्याय' कहा गया है। हनुमान्‌जीने मेघनादके ब्रह्मास्त्रका स्वीकार किया और बँध गये किन्तु राक्षसोंको ब्रह्मास्त्रपर उतना विश्वास न रहा, अतएव रस्से वगैरहसे भी उन्होंने हनुमान्‌जीको बाँधा। तब ब्रह्मास्त्रने हनुमान्‌जीको छोड़ दिया। यह कथा रामायणमें प्रसिद्ध है। इसी तरह यदि प्रभुका स्वीकार करनेपर भी अन्य धर्मोंका आचरण भी करते रहे तब ब्रह्मास्त्रन्याय हो जाता है, अर्थात् भगवान्‌की प्रपत्ति उसका परित्याग कर देती है। यह बात समझानेके लिये ही प्रभुने 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरण व्रज' यह आज्ञा की है। अतएव मार्गान्तर होनेसे आज्ञादिसिद्ध धर्मोंका विरोध नहीं होने पाता। प्रपत्तिके विशेषकी समझ चाहनेवालोंको 'न्यासादेश' ग्रन्थ देखना उचित है।

जिस दिन श्रीकृष्णकी दृढ प्रपत्ति (स्वीकार) ग्रहण की उसी दिन यह जीव कृतकृत्य हो चुका।

'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥'
'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥'
'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।'

—इत्यादि प्रतिज्ञाओंके अनुसार जीवका उद्धार भगवान्‌का कर्त्तव्य रह गया। अब उसमें जीवका कर्तव्य कोई नहीं रह जाता और अविश्वास रखनेकी भी बिल्कुल आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवान् सत्यसङ्कल्प हैं। 'ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ' ब्रह्मास्त्र और चातकका विचार रखना चाहिये। प्रपन्नके लिये अनन्यता और विश्वासका परित्याग करना विषके समान हानिकारक है।

अविश्वासो न कर्त्तव्यः सर्वथा बाधकस्तु सः ।

अब यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि यदि प्रपत्तिमात्रसे जीवका उद्धार हो चुकता है और फिर उसका कोई कर्तव्य नहीं रहता तो फिर भगवत्सेवा, भगवन्नामजप, स्तोत्रपाठ आदि क्यों करने चाहिये? और भगवदाज्ञा-सिद्ध वर्णधर्मका पालन भी व्यर्थ है।

ठीक है, ये सब नहीं करने चाहिये। और प्रपत्तिमार्ग-में यह सब उस दृष्टिसे किये भी नहीं जाते। यह ठीक है कि प्रपत्तिसमनन्तर ही उसका उद्धार हो चुका, वह कृतकृत्य हो चुका। अब उसका अपने उद्धारके लिये कोई

कर्तव्य नहीं रहा। तो अब यह प्रश्न रहता है कि फिर उसे करना क्या चाहिये ? प्रपत्तिके समनन्तर ही मनुष्य निश्चेष्ट हो जाय किंवा मर जाय, यह तो उसके हाथमें है नहीं, क्योंकि 'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'। किसी तरह जीवनकाल तो बिताना ही पड़ेगा, कालक्षेप तो करना ही होगा। बस, कालक्षेपके लिये भगवत्परिचर्या, भगवन्नामावृत्ति प्रभृति करते रहना सुन्दर उपाय है और लौकिकासक्तिको बचानेके लिये अपेक्षित आज्ञासिद्ध वर्णधर्मका भी पालन करते रहे तो हानि नहीं और ये सब अनवसरमें किये जाते हैं। इस तरह प्रपन्नका भगवत्स्वीकार और आत्मनिक्षेप पूर्ण हो जाता है। ये बातें भी हमने असमर्थ जीवकी दृष्टिसे ही कही हैं।

वास्तवमें तो पूर्ण प्रपन्नका उदाहरण गोपसीमन्तिनी हैं। यह तो हम अपने अन्य ग्रन्थमें कह ही चुके हैं कि श्रीगोपीजनोंके चार यूथ मुख्य हैं। उन सबमें नित्यसिद्धा गोपीजन मुख्य एवं भगवद्रूपा हैं। ये ही इस मुख्य प्रपत्तिका मुख्य दृष्टान्त हैं। स्वामी और स्वामिनियाँ दोनों एक ही (रस) पदार्थ हैं तब परस्पर स्वीकार और दृढ आत्मनिक्षेपका (एकीभावका) सन्देह करना तो व्यर्थ ही है। प्राकट्य होनेके पहले और प्रत्यापत्तिमें तो दोनों एक ही हैं पर भूतलपर प्रकट होते ही श्रीगोपीजनोंने प्रभुको अपना आत्मनिक्षेप कर दिया, और प्रभुने उसी समय स्वीकार भी कर लिया, यह 'आत्मान भूषयांचक्रुः' 'यर्ह्यङ्गनादर्शनीयकुमारलीलौ' इत्यादि प्रकरणोंमें सूचित है।

स्पष्ट आत्मनिक्षेपके पूर्व भी श्रीगोपीजनोंने आज्ञा की है कि 'सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूल प्राप्ताः' धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ मनुष्यके मनको अपने साथ विशेष करके सी लेते हैं। इसलिये मोक्ष (आत्मज्ञान)-पर्यन्त ये सब विषय सामान्य हैं। अतएव श्रीगोपीजन कहती हैं कि हे पुरुषोत्तम ! हम इन सब विषयोंका वासनासहित (सर्वधर्मान् परित्यज्य) परित्याग करके आपके चरणतलमें आयी हैं। यहाँ भी पूर्ण स्वीकार और दृढ आत्मनिक्षेप है ही।

अच्छा, जब भगवान्‌ने दार्ढ्यपरीक्षार्थ स्त्रीधर्मका उपदेश किया, तब भी उसका उत्तर स्वामिनी देती हैं कि—

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा॥

धर्मावलम्बी धर्मोपदेशकोंने स्त्रियोंके लिये पति, पुत्र, सास, ससुर प्रभृतिकी सेवा करना ही धर्म कहा है और आप भी ऐसा ही उपदेश दे रहे हैं, किन्तु ये सब व्यर्थ प्रयास हैं, क्योंकि न तो हमारी शास्त्रसे पहचान है और न धर्मसे। किन्तु यह अवश्य जान रही हैं कि आप धर्मसामान्यके पण्डित हैं, न कि धर्मविशेषके किंवा धर्मीके। हमारा धर्म क्या है, यह आपने जाना ही नहीं, अथवा जानकर भी आप छिपा गये हैं। अस्तु, प्रपन्नको स्वामीके कर्तव्यकी विशेष छानबीन करना उचित नहीं है। हम तो इतना ही समझना ठीक मानती हैं कि आप ही सब प्राणीमात्रके अतिप्रिय हैं, रक्षक हैं, और सबके आधार हैं, इसलिये सर्वोपदेशोंके स्थानभूत अति दुर्लभ और हमारे लिये परम सुलभ आपको छोड़कर अब और कहाँ-कहाँ पृथक्-पृथक् भाव करती फिरें। हम तो अब आपमें ही सर्वभावसे आत्मनिक्षेप करती हैं। आपकी ही सेवाको सर्वसेवा जानती हैं। यहाँ अन्याश्रय और अविश्वासका सर्वथा परित्याग है। श्रीगोपीजनोंका भगवान् (धर्मी) के सिवा अन्य किसी धर्मके साथ कोई सम्बन्ध नहीं था, यह बात मुक्तिस्कन्धमें भगवान्‌ने ही कही है—

ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।
अव्रततप्ततपसो मत्सङ्गान्मामुपागताः॥

सर्वसाधनरहित अनेक भक्तोंका निरूपण करते हुए उन्हींमें श्रीगोपीजनोंकी भी परिगणना की है, किन्तु उन सबसे श्रीगोपीजनोंका स्थान बहुत ऊँचा है। प्रपत्तिकी दृष्टिसे सत्सङ्ग भी साधन है, धर्मपरिग्रह है। 'सत्सङ्गेन हि दैतेया.' (११।१२।३) इत्यादि श्लोकोंमें निर्दिष्ट प्रपन्नोंमें सत्सगका परिग्रह विद्यमान था, किन्तु श्रीगोपीजनोंमें भगवान्‌से अन्य सत्सगका लेश भी नहीं था। उनको तो भगवत्सगसे ही भगवत्प्राप्ति हुई है। अतएव श्रीगोपीजन ही पूर्ण प्रपत्तिके पूर्ण दृष्टान्त हैं।

जिस प्रकार श्रीगोपीजनोंने सर्वधर्मत्यागपुरःसर भगवान्‌का स्वीकार और आत्मनिक्षेप किया था उसी प्रकार भगवान्‌ने भी स्वधर्मत्यागपूर्वक श्रीगोपीजनोंका स्वीकार किया था। भगवान्‌की यह प्रारम्भकी प्रतिज्ञा है—

तन्मान्मच्छरणं गोष्ठं मदाथं मत्परिग्रहम्।
गोपाये स्वात्मयोगेन सोऽयं मे व्रत आहितः॥

और मध्यमे भी आपने आज्ञा की है कि 'मया परोक्षं भजता तिरोहितम्।' और अन्यत्र भी कहा है—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तलौकिकाः।

सबसे विशेष तो यह है कि भगवान्‌का मुख्य धर्म आत्मारामता है, किन्तु भगवान्‌ने उसका भी परित्याग कर दिया और श्रीगोपीजनोंका स्वीकार किया—'आत्मारामोऽप्यरीरमत्'। यह भगवत्कृत भक्तस्वीकार आत्मनिक्षेप है।

भगवान्‌को आत्मनिवेदन करके स्वामिनीवर्ग सर्वदाके लिये कृतकृत्य हो चुका था। अतएव वे समयका अतिवहन करनेके लिये भगवद्गुणगानादि करती रहती थीं। यह बात श्रीशुकब्रह्मने इस तरह कही है—

गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः।
कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान्॥

यहाँतक हमने यह प्रपत्तिका संक्षेपसे निरूपण किया है। भक्तिमें अनुग्रह है और प्रेमप्रकर्ष है। तथा प्रपत्तिमें भी अनुग्रह और प्रेमप्रकर्ष है। दोनोंमें भगवान् ही फल हैं। इस दृष्टिसे दोनों एक हैं, किन्तु केवल साधनाचरणका दोनोंमें भेद है। भक्तिमें साधनविशेषरूप धर्मविशेषका भी स्वीकार है, पर प्रपत्तिमें केवल धर्मी (भगवान्) का ही स्वीकार है, साधनानुष्ठानका नहीं।

भक्तिमें आनुकूल्यका संकल्प और प्रातिकूल्यका वर्जन है, किन्तु प्रपत्तिमें इनका नियम नहीं है। कहीं दोनों हैं, कहीं एक है, और कहीं दोनों ही नहीं। उपालम्भ-लीला, और मानादिलीलाओंमें और भ्रमरगीतादिके समय प्रातिकूल्य ही आभासित होता है। यद्यपि प्रपत्ति और भक्ति दोनोंहीके विषयमें बहुत वक्तव्य रह गया है, तथापि लेखके बढ़ जानेके भयसे आज यहींतक कहकर इस विषयको पूर्ण किया जाता है। हरिः ओं शम्।

ज्ञानयोग

(लेखक—पं० श्रीविनायक नारायण जोशी 'साखरे महाराज')

शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाच्छब्दादेवापरोक्षधीः।
सुषुप्त पुरुषो यद्वच्छब्देनैवाववुद्धयते॥

'योग' शब्द सुनते ही श्रोताके मनमें सर्वप्रथम हठ-योगकी कल्पना आती है। परन्तु 'योग' शब्दका अर्थ हठयोग नहीं है। 'योग' में 'युज्' धातु होनेसे चित्तको एकाग्र करना, जोड़ना, एकत्र होना इत्यादि इसके अनेक अर्थ होते हैं। साधकका जिससे सम्बन्ध होगा, उसी सम्बन्धके अनुसार उसकी साधनाको नाम प्राप्त होगा। यदि साधकका सम्बन्ध कर्मके साथ है तो वह कर्मयोग, भक्तिसे सम्बन्ध है तो वह भक्तियोग, और ज्ञानसे सम्बन्ध है तो वह ज्ञानयोग कहा जायगा।

निष्काम कर्मयोग

स्वर्गादि फलकी इच्छासे यदि नित्य-नैमित्तिक कर्मोंसे सम्बन्ध है तो उस कर्मयोगसे मोक्षप्राप्ति नहीं होती, वे कर्म तो कर्त्ताको स्वर्गादि फल प्राप्त कराकर क्षीण हो जाते हैं। किन्तु वे ही नित्य-नैमित्तिक कर्म जब निष्काम बुद्धिसे अर्थात् ईश्वरार्पणबुद्धिसे किये जाते हैं तब वे चित्तशुद्धि करके मोक्ष प्राप्त कराते हैं और इसी कारण उन्हें निष्काम कर्मयोग कहते हैं।

निष्काम कर्म क्या असम्भव है?

किसी भी मनुष्यके लिये निष्काम कर्मका होना सम्भव नहीं, क्योंकि 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'—(प्रयोजनके बिना कोई अदना काम भी नहीं होता।) इस न्यायके अनुसार किसी भी मनुष्यमें फलकामनारहित किसी कर्मकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। स्वर्गादि फलकी इच्छा न करके ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्म करनेवाले पुरुषके मनमें यह कामना होती ही है कि ईश्वरके प्रसादसे मोक्षकी प्राप्ति हो, प्राप्तभोगैश्वर्यका परित्यागकर स्वदेशके कल्याणके लिये दिन-रात आन्दोलन करनेवाले पुरुषके मनमें स्वराज्य-प्राप्तिकी कामना होती ही है, पितरोंकी कष्टप्रद सेवा करनेवाले सुपुत्रकी यह कामना होती ही है कि इन पितरोंकी सेवा करनेसे जो पुण्य प्राप्त होगा, उससे उत्तम लोककी प्राप्ति हो। तब निष्काम कर्म क्या हुआ यह प्रश्न रह ही जाता है।

निष्काम कर्मकी सम्भवनीयता

कोई भी कर्म कामनारहित नहीं होता, यह बात सत्य है। तथापि वेदोंमें जिन-जिन कर्मोंका लौकिक फल कहा गया है, उन-उन फलोंकी कामनासे जब कर्मारम्भ किया जाता है तब उस कर्मको सकाम कर्म कहते हैं। और लौकिक कर्मफलकी इच्छा न कर केवल मोक्षकी कामनासे, ईश्वरार्पणबुद्धिसे जब कर्म किया जाता है तब उस मोक्षकी कामनाको 'कामना' नहीं कहते, ऐसी शास्त्रमर्यादा है। यदि कोई यह कहे कि ऐसी शास्त्रमर्यादा क्यों है तो इसका कारण यह है कि मोक्षका स्वरूप कूटस्थात्मरूप है। आत्मरूप मोक्ष जीवोंको नित्य प्राप्त है। मोक्ष नित्य प्राप्त होनेके कारण ही आत्मप्राप्तिकी कामना भ्रमरूप है। कर्णको कौन्तेयत्व प्राप्त होनेकी कामना भ्रमरूप थी, क्योंकि वह तो स्वतःसिद्ध कौन्तेय (कुन्तीका पुत्र) था। रज्जुसर्प भ्रमरूप होनेके कारण वह सर्प नहीं है। उसी तरह आत्मा मोक्षरूप होनेके कारण मोक्ष-कामना कामना नहीं और इस कारण मोक्ष-कामनासे किये हुए कर्मको निष्काम कर्म कह सकते हैं। जीवन्मुक्त पुरुषके अन्तःकरणमें प्रारब्धवश उत्पन्न होनेवाली उपदेश करनेकी कामना कामना नहीं, इस कारण श्रीकृष्ण अथवा अन्य जीवन्मुक्त पुरुषोंके किये हुए उपदेशादि सब कर्म निष्काम हैं। अतएव मुमुक्षुद्वारा मोक्षेच्छासे किया हुआ कर्म भी निष्काम ही होता है। श्रीविद्यारण्यस्वामीने पञ्चदशीके छठे प्रकरणमें पुरुषकी इच्छाको काम कब कहते हैं, इसका निर्णय करते हुए लिखा है—

अहङ्कारचिदात्मानावेकीकृत्याविवेकतः।
इदं मे स्यादिदं मे स्यादितीच्छाः कामशब्दिताः।२६१।
अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक् पश्यन्नहङ्कृतिम्।
इच्छंस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रन्थिभेदतः।२६२।

इसका भावार्थ यह है कि 'शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा और अहङ्कार वास्तवमें एक दूसरेसे भिन्न हैं, अविवेकके कारण वे एक ही हैं, ऐसा निश्चय करके मुझे अमुक-अमुक वस्तु चाहिये, ऐसी इच्छा (जीव) करता है। ऐसी इच्छाको काम कहते हैं। आत्मा और अन्तःकरणका भेद मालूम हो जानेपर यदि ज्ञानी करोड़ों वस्तुओंकी भी इच्छा करे तो ग्रन्थिभेद हो चुकनेके कारण उसमें कोई हर्ज नहीं। क्योंकि उस इच्छाको काम नहीं कहा जा सकता।'

दूसरे, रत्नादि पाषाण ही हैं, किन्तु उन्हें कोई पाषाण नहीं कहता, इसी तरह मृतकका अग्निसंस्कार करते समय घड़ा फोड़नेके लिये जो छोटा-सा पत्थर लिया जाता है, वह वास्तवमें होता तो पाषाण ही है, किन्तु उसे पाषाण न कहकर 'अश्मा' कहनेकी श्रेष्ठ लोगोंकी रूढि है। अतएव कोई भी कर्म सकाम होनेपर भी उपर्युक्त कारणोंसे मोक्षकी कामनासे किये हुए कर्मको निष्काम कर्म कहनेकी शास्त्रोंकी प्रथा है। अतएव निष्काम कर्मयोग सम्भव है।

भक्तियोग

निष्काम कर्मयोगके विषयमें जो ऊपर विचार किया गया, उसीके अन्दर भक्तियोग भी है। नामस्मरण, चिन्तन, ध्यान, धारणारूप जो भक्ति है, वह भी एक मानसिक कर्म ही है। इसी कारण वह निष्काम कर्मयोगके अन्तर्भूत है। जिस तरह निष्काम कर्म अन्तःकरणकी शुद्धिका हेतु है, उसी तरह ईश्वरभक्ति अन्तःकरणकी स्थिरताका हेतु है। जब अन्तःकरणकी शुद्धि और स्थिरता होती है तब आचार्यद्वारा महावाक्यका उपदेश लेनेपर जीव-ब्रह्मैक्य-फलरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। यद्यपि महावाक्य सुननेसे शब्दशक्तिसे ही ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान उत्पन्न होता है, तथापि अन्तःकरण यदि शुद्ध और निश्चल न हो तो उस ज्ञानसे मोक्षरूप परमानन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव सर्वप्रथम मुमुक्षुको निष्काम कर्मयोग और भक्तियोग दोनोंका अनुष्ठान करनेकी आवश्यकता है।

अन्तःकरणकी शुद्धि और निश्चलता प्राप्त होनेके बाद जीव-ब्रह्मैक्य-ज्ञानकी प्राप्तिके लिये—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।

—इस वेदाज्ञाके अनुसार मुमुक्षुको हाथमें समिध लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यकी शरणमें जाना चाहिये।

मुमुक्षुके शरणमें जानेपर ब्रह्मनिष्ठ गुरु शिष्यको 'तत्त्वमसि' महावाक्यका उपदेश करते हैं। इस वाक्यमें 'तत्' पदका अर्थ है ईश्वर और 'त्वं' पदका अर्थ है जीव। इन दोनों पदोंके अर्थको लेकर 'असि' पदसे उनका एकत्व मानें तो अल्पज्ञ अल्पशक्ति जीव और सर्वज्ञ सर्वशक्ति ईश्वरका ऐक्य होना सम्भव नहीं। किन्तु जब पदोंका अर्थ लेनेपर वाक्यार्थ अनुभवके विरुद्ध होता है तब लक्षणासे पदोंके अर्थको ग्रहणकर शुद्ध ब्रह्मके साथ कूटस्थरूप

शुद्ध जीवका एकत्व मान लें। इससे मुमुक्षुको श्रवण-कालमें जो आपाततः जीव-ब्रह्मात्मैक्यका विश्वास हुआ रहता है, वह दृढ हो जाता है। अतएव महावाक्यके श्रवणसे जो ब्रह्मके आत्मत्वसे ज्ञान प्रत्यक्ष होता है उस ज्ञानसे मुमुक्षु ससारमुक्त होकर ब्रह्मरूप परमानन्दको प्राप्त होता है अर्थात् परमानन्द-रूप हो जाता है।

शंका—यहाँपर यह शका हो सकती है कि यदि हम यह मान ले कि 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंसे ही ब्रह्मापरोक्ष ज्ञान हो जाता है, तब 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि वेदवाक्योंसे विरोध होता है। वाणी परमात्माके स्वरूपका प्रतिपादन करती हुई, परमात्मस्वरूपको न पहुँचकर मनके साथ वापस आ जाती है अर्थात् वाणीसे परमात्माका वर्णन होना सम्भव नहीं। इसी तरह 'यद् वाचानभ्युदित येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्व विद्धि'—केनके प्रथम खण्डमें कहा गया है। वाणीके उपादानभूत स्वप्रकाशमान परमात्माका प्रकाश अर्थात् ज्ञान लेकर शब्दके स्थानमें जड पदार्थको प्रकाशित करनेकी शक्ति प्राप्त हुई है। दीपकके स्थानमें जड पदार्थ प्रकाशित करनेकी शक्ति जैसे दीपोपादानभूत अग्निकी है, वैसे ही शब्दके स्थानमें पदार्थ-प्रकाशनकी शक्ति शब्दोपादानभूत स्वप्रकाशमान अर्थात् ज्ञानरूप परमात्माकी है। जब ऐसी बात है तब—

येनेदं जानते सर्वं तत्केनान्येन जानताम्।

(प० प्र० ३। १७)

अर्थात् जिसके योगसे सब प्रकाशित होता है उस ब्रह्मको ब्रह्मके अतिरिक्त जड पदार्थोंके द्वारा क्या प्रकाशित किया जा सकता है? कदापि नहीं। श्रीज्ञानेश्वर महाराजजी कहते हैं—

सूर्याचेनि प्रकाशे। जे कांहीं जड आभासे॥
तेणें तो गिवसे। सूर्यू काया?

(अ० प्र० ५ ओ० १४)

अर्थात् सूर्यके प्रकाशसे जो सब जड पदार्थ प्रकाशित होते हैं, उन जड़ पदार्थोंसे क्या सूर्य प्रकाशित किया जा सकता है? कभी नहीं।'

इस सम्पूर्ण विवेचनसे यह मालूम हुआ कि लौकिक शब्दोंसे तो नहीं, परन्तु वैदिक शब्दोंसे भी ब्रह्मज्ञान होना सम्भव नहीं। तब तो वैदिक शब्द 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' इत्यादि साधारण वाक्य हों अथवा 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य हों, एकदम शब्दोंसे ब्रह्मज्ञान होना सम्भव नहीं, ऐसा सिद्ध होता है। किन्तु आप कहते हैं कि आचार्यद्वारा तत्त्वमसि आदि वेदवाक्योंसे मुमुक्षुको ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है। यह कैसे?

समाधान—किसी मनुष्यको यदि अपने मुँहके होनेकी बातपर विश्वास हो जाय तो भी उसे स्वय अपना ही मुँह आरसी आदि उपाधियोंके बिना कभी नहीं दिखायी दे सकता। अथवा चक्षुरिन्द्रियसे जो अग्राह्य अत्यन्त सूक्ष्म जन्तु है, उसका ज्ञान सूक्ष्मपदार्थदर्शक दूरबीनके बिना होना सम्भव नहीं। दूरबीनकी सहायतासे उस सूक्ष्म जन्तुका औपाधिक स्थूलत्व मालूम कर उसका ज्ञान प्राप्त किया जाता है। दृश्य पदार्थोंके विषयमें यह बात सबको मालूम है। ब्रह्म—आत्मा तो निरवयव, अरूप, निर्गुण है, इस कारण आरसी अथवा दूरबीनकी सहायतासे किसी भी इन्द्रियके द्वारा उसका ग्राह्य होना सम्भव नहीं। पञ्च-ज्ञानेन्द्रियाँ तो अपने-अपने उपादानभूत आकाशादिके गुणोंका अर्थात् केवल शब्दादि विषयोंका ज्ञान कराती हैं। आत्मा निर्गुण है, अतएव किसी भी ज्ञानेन्द्रियसे उसका ज्ञान नहीं हो सकता। इन्द्रियोंके सन्निकट होनेपर किसी पदार्थका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, ऐसा नैयायिक मानते हैं। परन्तु कुछ पदार्थोंका 'दशमस्त्वमसि' के अनुसार शब्दोंसे ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इन्द्रियके सान्निध्यके द्वारा अथवा शब्दद्वारा अन्तःकरणकी वृत्ति ज्ञेयपरसे अज्ञानके आवरणको दूर करती है और अन्तःकरणस्थित आत्म-चैतन्यका आभास उस-उस आत्मभिन्न जड पदार्थको प्रकाशित करता है अर्थात् आवरणका नाश हो जानेके बाद अन्तःकरणकी वृत्ति ज्ञेय पदार्थके आकारकी हो जाती है। उसीके साथ वृत्तिमें आया हुआ आत्मज्ञानका आभास ही उस पदार्थके आकारका हो जाता है, जिससे उस पदार्थका ज्ञान होता है, ऐसा कहते हैं।

शका—हाँ, यह तो हम समझ गये कि जड पदार्थका ज्ञान अन्तःकरणकी वृत्तिसे होता है। परन्तु आत्माका ज्ञान इन्द्रियों अथवा शब्दकी सहायतासे होना कैसे सम्भव है?

समाधान—मुख्य शकाका समाधान समझनेके लिये अन्तःकरणकी जैसी भूमि तैयार होनी चाहिये, वैसी तैयार होनेके लिये ही जड पदार्थके ज्ञानकी प्रक्रिया ऊपर कही गयी है। उसमें मुख्य रहस्य यह है कि आत्मभिन्न जड पदार्थको वृत्तिसे व्याप्त कर आभासके तदाकार हुए बिना

जड पदार्थका ज्ञान होना सम्भव नहीं। अन्तःकरणकी वृत्ति जो पदार्थमें व्याप्त होती है, उसे वृत्तिव्याप्ति कहते हैं। और अन्तःकरणकी वृत्तिमें जो चिदाभास रहता है उसे शास्त्रकी भाषामें 'फल' कहते हैं। उस आभासकी जड पदार्थमें जो व्याप्ति है, उसे फलव्याप्ति कहते हैं। कहनेका तात्पर्य, जड पदार्थका ज्ञान होनेके लिये वृत्तिव्याप्ति और फलव्याप्तिकी आवश्यकता है। इन दोनों व्याप्तियोंके विना जड पदार्थका ज्ञान होना सम्भव नहीं। परन्तु ब्रह्म-आत्मा जड नहीं है, स्वप्रकाशमान है तथा उसके ऊपर अनादि अविद्याका आवरण है। अब अन्तःकरणकी वृत्तिके द्वारा उस आवरणके नष्ट होनेपर अर्थात् पूर्वोक्त निष्काम कर्म और निष्काम भक्तियोगके द्वारा शुद्ध और स्थिर हुए अन्तःकरणमें, अन्तःकरणस्थित ब्रह्मात्मचैतन्यकी सच्चिदानन्दरूपसे सहज अभिव्यक्ति होती है। इसीको ब्रह्मापरोक्ष ज्ञान कहते हैं। प्रकाशमान सूर्य जब बादलोंसे आच्छादित रहता है तब यथार्थरूपमें नहीं दिखायी पड़ता। बादलके कारण सूर्यदर्शन नहीं होता, यह सूर्यके ही सामान्य प्रकाशसे मालूम होता है, परन्तु बादलके आच्छादनके द्वारा सूर्यके यथार्थ स्वरूपका भान नहीं होता। हवा चलनेसे वे बादल जब दूर हो जाते हैं तब सूर्यका स्पष्ट दर्शन होता है। उस समय लोक-व्यवहारमें यह कहा जाता है कि हवाने सूर्यदर्शन करा दिया। किन्तु वस्तुतः हवाने केवल बादलोंको दूर किया, सूर्यको तैयार नहीं किया। श्रीज्ञानेश्वर महाराजने गीताके १८ वें अध्यायके ५५ वें श्लोककी व्याख्यामें दो-तीन दृष्टान्त देकर इसी सिद्धान्तको बतलाया है—

वारा आभाळचि फेडी। वांचूनि सूर्यातें न घडी।
कां हातु चाबुळी भाडी। तोय न करी॥ १२३१॥
तैसा आत्मदर्शनीं आडळु। असे अविद्येचा जो मळु॥
तो शास्त्र नाशी येरु निर्मळु। मी प्रकाशे स्वये॥१२३२॥
म्हणौनि आघवींचि शास्त्रे। अविद्या विनाशार्थीं पात्रें।
वांचोनि न होती स्वतन्त्रे। आत्मबोधीं॥१२३३॥

अर्थात् हवा बादलोंके आवरणमात्रको दूर करती है। सूर्यको तैयार नहीं करती। अथवा पानीपर जमी हुई काईको एक किनारे कर देती है, वह पानीको तैयार नहीं करती, पानी तो काईके नीचे रहता है।

इसी प्रकार स्वप्रकाशानन्द आत्माका ज्ञान होनेमें प्रतिबन्धक जो अविद्याका मल है, उस मलका नाश शास्त्र करते हैं। हे अर्जुन! उस मलका नाश होनेके बाद अत्यन्त निर्मल अन्तःकरणमें स्वप्रकाशमान परमात्मा स्वतः ही अभिव्यक्त होता है। अर्जुन! सब शास्त्र केवल अविद्याका ही नाश करनेवाले हैं। यथार्थ आत्मबोध करा देना शास्त्रके हाथकी बात नहीं है।

इसी उद्देश्यसे समन्वयाधिकरणमें—

अविद्याकल्पितभेदनिवृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य। न हि शास्त्रमिदन्तया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिषति किं तर्हि? प्रत्यगात्मत्वेनाविषयतया प्रतिपादयदविद्याकल्पितं वेद्यवेदितृवेदनादिभेदमपनयति।

—ऐसा कहा गया है। इसका अर्थ है कि ऋग्वेदादि शास्त्र सच्चिदानन्द ब्रह्मको 'इदत्वसे' अर्थात् अङ्गुलीनिर्देश करके जिज्ञासुको नहीं दिखाते कि यह ब्रह्म है। जीवके लिये आत्मरूप अविषय होनेसे ब्रह्मके प्रति उसमें अविद्याकल्पित वेद्यवेदितृवेदनादि भेद उत्पन्न हो जाते हैं जिससे वह ब्रह्मसे दूर हो जाता है, इसलिये शास्त्र केवल अविद्याकल्पित मिथ्या भेद-प्रतीतिका नाशभर करते हैं। कल्पित भेद निवृत्त हो जानेपर महावाक्यके श्रवणसे स्वप्रकाशमान ब्रह्म आत्मत्वसे अन्तःकरणमें अभिव्यक्त होता है। इसीका नाम ब्रह्मापरोक्ष ज्ञान है।

इस सम्पूर्ण विवेचनसे ऐसा मालूम होता है कि क्या वेद-वाक्य अथवा क्या अन्य शास्त्र, किसीके द्वारा साक्षात् आत्मज्ञान होना सम्भव नहीं। तब शास्त्रोंका उपयोग क्या है? ऐसा यदि कोई कहे तो इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ब्रह्म स्वप्रकाशमान है, सब जीवोंका आत्मा है, उसीके ज्ञानके आश्रयपर सब लौकिक और वैदिक व्यवहार चलते हैं, फिर भी जीवोंके अन्दर सच्चिदानन्दब्रह्मरूप आत्मा है, ऐसा ज्ञान नहीं होता, अतएव यह मानना होगा कि स्वप्रकाशानन्द आत्माके ऊपर अविद्याका आवरण है। उस आवरणका नाश गुरुद्वारा वेदान्तमहावाक्य सुननेसे ही होता है, दूसरे किसी उपायसे नहीं होता। इसी कारण उपनिषदोंका ऐसा सिद्धान्त है कि आचार्यद्वारा महावाक्य सुननेसे ब्रह्मात्मैक्य अपरोक्ष ज्ञान होता है। अवश्य ही वेदवाक्य ब्रह्मको अङ्गुलीनिर्देश करके सामने दिखा नहीं देते। इसी अर्थमें 'यतो वाचो निवर्तन्ते' आदि श्रुतिने कहा है। परन्तु अन्तःकरण यदि अत्यन्त शुद्ध हो तो वेदान्तमहावाक्यके द्वारा उसमें ब्रह्मस्वरूपकी अभिव्यक्ति

होती है। इसीका 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्धया' (तीव्र बुद्धिसे देखा जाता है), 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' (मनसे प्राप्त होता है)' आदिके द्वारा श्रुतिने प्रतिपादन किया है। यही तुम्हारी शंकाका समाधान है।

इन सब बातोंका मतलब यह है कि मुमुक्षुको आत्म-ज्ञान प्राप्त करनेके लिये कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं होती, आत्मा तो प्रतिक्षण अन्तःकरणमें अभिव्यक्त है। परन्तु बुद्धिके अन्दर भेदकी सत्यताका निश्चय है। इस प्रतिबन्धके कारण जीवको स्वच्छ आत्माका ज्ञान नहीं। जबतक उस स्वच्छ आत्माका ज्ञान नहीं होता तबतक जीवके संसारसे मुक्त होनेकी सम्भावना नहीं। इस कारण भगवान् शंकराचार्यने गीताके १८ वें अध्यायके ५० वें श्लोककी व्याख्या के अन्तमें—

तस्माज् ज्ञाने यत्नो न कर्तव्यः किं त्वनात्मबुद्धि-निवृत्तावेव, तस्माज् ज्ञाननिष्ठा सुसम्पाद्या।

—कहकर यह बतलाया है कि निष्काम कर्मयोग, भक्तियोग, अष्टांगादि योग, ध्यानादि अनन्त योग इत्यादि सब तरहके योग ज्ञानयोगके ही अंग हैं। इन अंगोंकी सहायतासे आत्मस्वरूप ज्ञानके प्रतिबन्धक अज्ञानावरणको दूर करना चाहिये और गुरुद्वारा प्राप्त महावाक्यकी सहायतासे ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और मुक्त होना चाहिये। यही वैदिक शब्दोंद्वारा अपरोक्ष ज्ञानोत्पत्तिकी प्रक्रिया है जो संक्षेपसे यहाँ कही गयी है।

सम्पूर्ण योग

(लेखक—प० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर)

चीन ऋषि-मुनियोंद्वारा जो धर्म मानवजातिके उद्धारके लिये प्रकाशित हुआ, उसमें 'योगसाधन' को प्रधान स्थान प्राप्त है। यदि मानव-धर्मसे योगसाधनको पूर्णतया हटा दिया जाय तो फिर उसमें कोई विशेष महत्त्वकी बात ही नहीं रह जायगी। योगसाधनका ऐसा महत्त्व अपने सनातन वैदिक धर्ममें बताया गया है।

अगर अपनी भाषाका निरीक्षण किया जाय तो उसमें भी योगकी सार्वत्रिक उपयोगिताका पता लगता है। भाषामें 'प्रयोग, संयोग, वियोग, नियोग, अधियोग, अतियोग, सुयोग, उद्योग, अभियोग, प्रतियोग, उपयोग' इत्यादि अनेक शब्द प्रयोगमें आते हैं। ये सब भी 'योग' ही हैं। यदि इन योगोंका उपयोग भाषामें न किया जाय तो भाषा कितनी अधूरी हो जायगी, इसका ज्ञान प्रत्येक भाषाभाषीको सहजमें ही हो सकता है। भाषामें योगका यह सार्वत्रिक प्रयोग सिद्ध करता है कि भाषाकी पूर्णताके लिये 'योग' की अत्यन्त आवश्यकता है।

भाषा क्या है? भाषा आत्माका ही प्रकाश है। आत्मा बुद्धिके साथ युक्त होकर अपने जो भाव प्रकट करता है, वही भाषा है। अर्थात् भाषा आत्माका भाव है अथवा प्रभाव है। और वह पूर्वोक्त योगोंके बिना प्रकट नहीं हो सकता। इसीलिये कहा जाता है कि आत्माका प्रकाश प्रकट होनेके लिये 'योग' की आवश्यकता है।

आर्य वैद्यकमें औषध-योजनाको 'योग' कहते हैं। ज्योतिषशास्त्रमें ग्रहोंके योगको भी 'योग' कहा जाता है। गणितशास्त्रमें भी 'योग' है। इस तरह देखा जाय तो योगके बिना कोई शास्त्र नहीं है, यह बात स्पष्ट हो जायगी। योगकी व्यापकता यहाँतक है कि 'वियोग' में भी 'योग' की आवश्यकता है, फिर 'संयोग' में आवश्यकता है—यह कहनेकी तो आवश्यकता ही क्या है?

इस तरह भारतीय ऋषि-मुनियों तथा तपस्वियोंने योगका मानवजीवनके साथ अटूट सम्बन्ध देखा और अनुभव भी किया। इस समयमें भी प्रत्येक व्यक्तिको इस सम्बन्धका अनुभव करना चाहिये।

सभी शास्त्रोंमें 'योग' कहा गया है। पातञ्जल योग-दर्शनमें 'योगसाधन' का ही विचार किया गया है; कपिलमुनिके सांख्यदर्शनने भी 'सांख्ययोग' कहा है, पूर्वमीमांसामें 'कर्मयोग' कहा है, उत्तरमीमांसामें 'ब्रह्मयोग' है, श्रीमद्भागवतादि पुराणोंमें भक्तियोग है।

इस तरह अनेक ग्रन्थकार इस योगतत्त्वका विवेचन करनेमें ही प्रवृत्त हुए दीखते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि सब आर्यशास्त्रोंका एकमात्र उद्देश्य यही है कि धर्म-जिज्ञासुओंके मनमें इस योगतत्त्वको स्थिर कर दिया जाय।

इतना प्रयत्न होनेपर तो हम सब सनातनधर्मियोंके मनमें योगकी प्रवृत्ति होनी चाहिये, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। विरले ही कोई योगसाधनमें लगते हैं, बाकी लोग वैसे ही कोरे रह जाते हैं जैसे योगके प्रचारके लिये कोई प्रयत्न ही न हुआ हो। ऐसा क्यों? इस प्रश्नका विचार करनेका समय आ गया है। जो लोग धार्मिक हैं, उन्हें इसका विशेष विचार करना चाहिये।

हमारे विचारमें इसका मुख्य कारण है 'सम्पूर्ण योगकी अवहेलना और अपूर्ण योगकी ओर अधिक झुकाव।' प्राय. लोग समझते हैं कि भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, हठयोग, लययोग, ध्यानयोग आदि सब योग एक दूसरेसे पृथक् हैं और एकका दूसरेके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यह विचार इतना दृढ़ हो गया है कि योगमार्गका अनुसरण करनेवाले साधक भी अपने-आपको दूसरोंसे पृथक् समझते हैं, अर्थात् भक्तिमार्गी लोग अपने-आपको हठयोगियोंसे पृथक् मानते हैं। इसी तरह ज्ञानमार्गियोंका कर्ममार्गियोंसे विरोध है और यह विरोध ग्रन्थोंमें भी स्पष्ट दिखायी देता है।

क्या भक्ति, ज्ञान, कर्म आदि परस्परविरोधी मार्ग हैं? क्या दूसरे मार्गका स्पर्श भी न कर केवल भक्ति, केवल कर्म अथवा केवल ज्ञानका अनुष्ठान होना सम्भव है? हमारे विचारसे सम्भव नहीं है। परन्तु कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्गका परस्पर विरोध भाष्यकारोंने भी मान लिया है। और ऐसा भी मानने लगे हैं कि ये सब मार्ग एक ही केन्द्रबिन्दुको प्राप्त होनेवाले हैं, फिर भी ये परस्पर भिन्न हैं।

यदि ये सब मार्ग भिन्न-भिन्न हैं तो यह निश्चित है कि इनमेंसे कोई मार्ग 'सम्पूर्ण' नहीं है। जो योग 'सम्पूर्ण' होगा, वह किसीसे भी भिन्न नहीं हो सकता।

हठयोगी कहते हैं कि हम आसन-प्राणायामादिके अभ्यासके द्वारा प्राण स्थिर करते हैं और चित्तकी एकाग्रता साधते हैं, ज्ञानयोगी कहते हैं कि हम विशेष मननादि साधनसे स्थिरताका साधन करते हैं, कर्मयोगी कहते हैं कि हम कर्म करनेमें ही अपना जीवन समर्पित कर देते हैं, भक्त कहते हैं कि हम नाम-स्मरण आदि करते हैं। इस तरह प्रत्येक साधक अपने मार्गको दूसरोंसे पृथक् समझता है। इसका फल यह होता है कि हठयोगी आसनोंसे शरीर और प्राणायामके द्वारा प्राणोंपर विजय प्राप्त करता है, ज्ञानयोगी मननके द्वारा मनपर अच्छे संस्कार जमाता है; कर्मयोगी कर्मेन्द्रियोंसे प्रयत्न करता है और भक्तिमार्गी नामस्मरण आदिमें ही लगा रहता है। इनमेंसे एक शरीरका आश्रय करता है, दूसरा प्राणपर निर्भर करता है, तीसरा मनका उपयोग करता है, चौथा कर्मेन्द्रियोंका उपयोग करता है और पाँचवाँ स्मरणशक्तिका आश्रय लेता है। इस तरह इनमेंसे एक भी सम्पूर्ण मानवशक्तियोंका उपयोग नहीं करता। हर एक प्रकारका साधक एक-एक शक्तिका उपयोग करता है और इसीलिये अपने आपको दूसरेसे पृथक् अनुभव करता है तथा इस पृथक्त्वमें उसे अपूर्णताका भी अनुभव होता है।

मनुष्यके पास आत्मा, बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रियाँ, पञ्चभूत आदि अनेक पदार्थ हैं। इन सबका एक साथ योग होनेपर ही 'सम्पूर्ण योग' हो सकता है। जो यह कहते हैं कि हम केवल प्राणोंका साधन करते हैं, अथवा केवल अपने आत्माको ही परमात्माके साथ मिलाते हैं, वे अंशका योग करते हैं, उनके सम्पूर्ण अङ्गोंके साथ योग नहीं होता। अतः वे अपूर्ण योग करते हैं और इसलिये पृथक्त्वका अनुभव करते हैं।

वस्तुतः देखा जाय तो केवल एक ही शक्तिका प्रयोग करना असम्भव है। अर्थात् हठयोगी जो यह कहते हैं कि हम आसन-प्राणायाम आदिके द्वारा केवल शरीरावयव और प्राणका ही अनुष्ठान करते हैं, वे गलती करते हैं। आत्मा, बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रिय, पञ्चभूत आदि सबका उपयोग किये बिना न हठयोगका अनुष्ठान हो सकता है और न अन्य योगोंका। थोड़ा-सा विचार करनेपर यह स्पष्ट तौरपर मालूम हो जायगा कि प्रत्येक योगमें सब साधनोंका न्यूनाधिक उपयोग होता ही है. परन्तु साधक यह अनुभव नहीं करता कि मेरे अनुष्ठानमें 'सम्पूर्ण योग' का अनुष्ठान हो रहा है, बल्कि भ्रमसे यह मानता है कि मेरा साधन-मार्ग दूसरोंके साधन-मार्गसे भिन्न है, पृथक् है। जो इस भ्रममें ही मस्त रहते हैं वे 'सम्पूर्ण योग' के लाभसे वञ्चित रह जाते हैं और अपूर्णताका अनुभव करते हैं। इतना ही नहीं, ऐसे ही लोग साधनमार्गोंके आपसी झगड़ेके

हेतु बनते हैं और इस तरह योगका सर्वव्यापक उन्नतिका साधन प्राप्त होनेपर भी वे उसके सम्पूर्ण लाभसे वञ्चित रह जाते हैं।

बहुत-से साधक यह समझते हैं कि योगकी सिद्धि आत्माका परमात्माके साथ मिलाप हो जाना है; अर्थात् वे यह समझते हैं कि हमारे मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय और पञ्चभूत आदिका परमात्माके साथ योग नहीं होता है। यही 'अपूर्ण योग' अथवा 'सम्पूर्ण योगका अपूर्ण ज्ञान' है और यही बहुत बड़ा घात करनेवाला है तथा नाश कर रहा है। ऋषि-मुनियोंने तो हमें सम्पूर्ण योगसाधन दिया, परन्तु उसे हमने ग्रहण नहीं किया, केवल उसके एक-एक अंशको लेकर ही हम आपसमें झगड़ रहे हैं और इसीलिये योगसाधनके सम्पूर्ण लाभसे वञ्चित हो रहे हैं।

साधकोंको यह समझ लेना चाहिये कि जबतक वे इस अपूर्ण साधनमें विचरते रहेंगे तबतक उनको पूर्णत्वका अनुभव नहीं होगा। अब प्रश्न यह होता है कि 'सम्पूर्ण योग' का लक्षण क्या है और उसका साधन कैसे करना चाहिये?

जिस योगमें एक ही साथ सम्पूर्ण मानवी शक्तियोंका योग परमात्माकी सम्पूर्ण शक्तियोंके साथ होता है वह 'सम्पूर्ण योग' है और वह स्वरूपज्ञान होनेके बाद ही हो सकता है।

यहाँ सहज ही यह प्रश्न पाठक कर सकते हैं कि परमात्माकी और जीवात्माकी शक्तियाँ कौन-सी हैं? गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

> भूमिरापोऽनलो वायुः ख मनो बुद्धिरेव च।
> अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
> अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
> जीवभूता महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥
>
> (७। ४-५)

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार यह आठ प्रकारकी अपरा प्रकृति और नवीं जीवरूपी परा प्रकृति है। अर्थात् यह नौ प्रकारकी ईश्वरकी प्रकृति है। क्या यह नौ प्रकारकी प्रकृति जीवके पास नहीं है? क्या पञ्चभूत, मन, बुद्धि, अहंकार तथा जीवनकला मनुष्यके पास नहीं है? है, अवश्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि जो नौ शक्तियाँ परमेश्वरके पास है, वे ही मनुष्यके पास भी हैं। फिर मनुष्य केवल एक ही शक्तिका योग क्यों करता है? परमात्माकी सम्पूर्ण शक्तियोंके साथ अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंका योग क्यों नहीं करता? विचार करनेपर यह मालूम होता है कि मनुष्य ऐसा अवश्य कर सकता है। तब इस तरहका 'सम्पूर्ण योग' कैसे किया जाय, इसीका अब विचार करें।

साधकको पहले यह विचार करना चाहिये कि ईश्वरकी प्रकृतिमें जो नौ तत्त्व हैं, वे ही हमारे अन्दर भी हैं। परमेश्वरकी प्रकृति इस समूचे विश्वमें पूर्णतया व्याप्त है, कोई स्थान उससे रिक्त नहीं। इसी कारण ईश्वरको 'सर्व', 'विश्व' कहते हैं। (विश्व विष्णुः। पुरुष एवेद सर्वम्।) जब परमेश्वर 'सर्व' है तब यह सब रूप उसीका रूप हुआ, जिसके अन्दर साधक भी हैं। इस तरह साधकको अपने-आपको महासागरके अन्दरके एक जलबिन्दुके समान समझना चाहिये। जो तत्त्व सम्पूर्ण महासागरमें है वही एक जलबिन्दुमें भी है। इसी तरह जो नौ तत्त्व ईश-प्रकृतिमें हैं, वे ही साधककी प्रकृतिमें भी हैं और ईश्वरकी महती प्रकृतिमें साधककी अल्प प्रकृति सम्मिलित है। महासागर प्रभु है और साधक उसीका एक बिन्दुरूप। इस भावनामें साधकको स्थिर होना चाहिये। और यह विचार करके देखना चाहिये कि अपने पृथ्वी-तत्त्वके साथ ईश्वरकी प्रकृतिका पृथ्वी-तत्त्व मिला है या नहीं, गन्धसे पृथ्वी-तत्त्वका ज्ञान होता है। क्या कोई ऐसा स्थान है जहाँ गन्ध न हो? अपने शरीरमें गन्धवती पृथ्वी है, वैसे ही सम्पूर्ण विश्वमें भी है। क्या अपने शरीरकी गन्धवती पृथ्वी विश्वरूपी ब्रह्माण्डकी ईशप्रकृतिसे पृथक् है? पृथक् कहाँसे हो सकती है? गन्धमें गन्ध मिला हुआ है। इसी तरह अपने शरीरके जल, तेज, वायु, आकाश आदि तत्त्वोंके साथ विश्वप्रकृतिके ये तत्त्व कैसे मिले हुए हैं, इसका अनुभव करें। विवेकपूर्वक यह निश्चय करना चाहिये और इसका अनुभव करना चाहिये कि ईशके विश्वव्यापक शरीरसे मेरा शरीर पृथक् नहीं है। जैसे कपड़ेमें सूत्रका भाग है वैसे ही उस प्रभुमें मैं हूँ। न मैं उससे पृथक् हूँ और न वह मुझसे पृथक् है।

जबतक मनमें ऐसा निश्चय न हो जाय तबतक बार-बार विचार करके ऐसा अनुभव करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। और यह बात जाननी चाहिये कि किस तरह अपनी प्रकृति ईश्वरकी प्रकृतिके साथ मिली हुई है। जब यह अनुभूति होगी तभी यह ज्ञान प्राप्त होगा कि अपनी प्रकृतिका सम्पूर्ण योग

परमात्म-प्रकृतिके साथ सदा-सर्वदा है ही। सम्पूर्ण योगके अभ्यासका यह प्रथम पाठ है।

इस योगमें यह भावना कि, 'मैं प्रभुके साथ सर्वदा सयुक्त हूँ' सदा जाग्रत् रहनी चाहिये। 'मै अलग हूँ और वह अलग है'—यह भाव यहाँ है ही नहीं। अपनी सब शक्तियाँ उसके साथ नित्य सम्बद्ध हैं। यही अनुभव करना यहाँका अनुष्ठान है।

इसके आगेका दूसरा पाठ यह है कि क्या ये पञ्चमहाभूत पृथक् सत्ताधारी हैं अथवा एक ही सत्तत्त्वके ये पाँच गुण सारी पाँचों इन्द्रियोंको पाँच अनुभव दिला रहे हैं?

पाँच अन्धे हाथी देखने गये। एकने जाकर पाँवका स्पर्श किया तो उसको हाथी स्तम्भ-जैसा प्रतीत हुआ, दूसरेको कान स्पर्श करनेपर सूपके समान मालूम हुआ। इसी तरह पाँचों अन्धोंने हाथीका वर्णन पाँच प्रकारसे किया। उनका अनुभव ऐसा ही था, अवश्य ही अनुभव अपूर्ण था। यही दशा हमारी इन्द्रियोंकी है। एक सत्तत्त्वके साथ जब आँख काम करती है तब उसे उसका रूप दीखता है और जब कान कार्य करता है तो उसे शब्द सुनायी देता है। ये पृथक् अनुभव आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचाकी निजी आन्तरिक घटनाके कारण होता है। वस्तुतः जिसके ये गुण अनुभवमें आते हैं, वह तत्त्व एक ही है। उस तत्त्वमें पृथक्-पृथक् भाव नहीं हैं। जैसे आमका पीला रंग आँख देखती है, उसका स्पर्श हाथ करता है, उसका स्वाद जिह्वा लेती है, उसका शब्द कान सुनता है और उसकी गन्ध नाक लेती है, पर आम तो एक ही है, वैसे ही मूल सत्तत्त्व एक ही है, किन्तु उसका सम्बन्ध ज्ञानेन्द्रियोंसे होनेपर, पृथक् गुण अनुभूत होते हैं। एक ही सत्तत्त्वके अनेक गुण प्रतीत होते हैं।

इस तरह विचारद्वारा एक तत्त्वका अभ्यास करना चाहिये। पहले अभ्याससे यह ज्ञान हुआ कि अपनी प्रकृतिके पञ्चतत्त्वोंके साथ ईश-प्रकृतिके पञ्चतत्त्व मिले हैं। इस अभ्याससे यह अनुभव प्राप्त हुआ है कि जीव और शिवमें एक ही तत्त्व है और वह सब परस्पर मिला हुआ है, उसमें पार्थक्य बिल्कुल नहीं है। यह 'सम्पूर्ण योग' का दूसरा पाठ है।

पञ्चतत्त्वोंका एकीकरण इस तरह प्रत्यक्ष अनुभवमें आ सकता है। यह केवल कल्पनाकी बात नहीं है। पाठक विचार करें और अपने शरीरके पञ्चतत्त्व विश्वव्यापी पञ्चतत्त्वोंके साथ मिले हुए हैं, इसको अनुभव करें अथवा जिस एक तत्त्वके पाँच गुण पाँच इन्द्रियोंद्वारा प्रतीत होते हैं, वह एक तत्त्व जैसा अपने शरीरमें है वैसा ही सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त है, इस बातको विचार करके जान लें। यह जानते ही अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंका सम्पूर्ण योग विश्व-व्यापक शक्तियोंके साथ हो जाता है और 'नेह नानास्ति किञ्चन' का अनुभव होता है। यही अखण्ड एकताका अनुभव है।

पाठक कहेंगे कि यह तो प्राकृतिक तत्त्वोंकी एकता है। सच है। पर पहले यही एकता मनमें स्थिर होनी चाहिये। क्योंकि प्रकृतिमें बड़ी विभिन्नता है। यदि यह प्राकृतिक विभिन्नता हट जाय तो मानसिक, बौद्धिक और आत्मिक एकता समझनेमें कठिनाई न होगी।

जब पञ्चमहाभूतोंका योग हो गया तब उसके बाद मनका विचार करना चाहिये। मन क्या करता है? मन मनन करता है और सर्वत्र 'सत्ता, भान और प्रियता' का अनुभव करता है। साधक यदि विचार करके देखेंगे तो उन्हें पता लगेगा कि मनद्वारा तीन प्रकारके अनुभव होते हैं—(१) 'यह सब है', (२) 'यह मुझे प्रतीत होता है', और (३) 'यह मुझे प्रिय है।' इन्हीं अनुभवोंका सक्षिप्त नाम है—'सत्-चित्-आनन्द'। अस्ति-भाति-प्रियत्व भी इनको कहते हैं। देखनेवाला अपने अतिरिक्त सम्पूर्ण जगत्में ये तीन अनुभव करता है। यदि साधक अपने साथ सम्पूर्ण विश्वमें ये तीन अनुभव लेनेका यत्न करेगा तो इस तरह भी उसका 'सम्पूर्ण योग' सिद्ध होगा।

इस सम्पूर्ण विश्वका मैं एक अंग हूँ और मेरे साथ जो यह सम्पूर्ण विश्व है, वह है, वह प्रतीत होता है और वह प्रिय है। ऐसा अनुभव होनेपर मनका विश्वव्यापक मनके साथ सम्पूर्ण योग हो जायगा। पार्थक्यका ज्ञान करानेवाला मन भी इस तरह विश्वरूपके साथ एक हो जायगा।

प्रथम पञ्चज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा पञ्चभूतोंका ज्ञान हुआ, वह अब जाता रहा और एक ही वस्तुके तीन पहलुओंका ज्ञान हुआ। जो वस्तु (अस्ति) है, वही (भाति) प्रतीत होती है और वही (प्रिय) प्रेमरूप है। अणु-रेणुको इन तीन भावोंसे देखिये, उनमें अपने-आपको मिलाकर अपना पृथक्त्व हटानेका प्रयत्न कीजिये। इस तरह

अभ्याससे यह ज्ञान उत्पन्न होगा कि सब वस्तु एक ही है। यह सम्पूर्ण योगका तीसरा पाठ है। इसमे पञ्चतत्त्व हट जाते हैं और केवल तीन भाव ही रह जाते हैं। सम्भवतः ऐसा भी अनुभव होने लगता है कि ये एक ही वस्तुके तीन भाव है।

इसके बाद बुद्धि आती है, वह कहती है कि यहाँ न तो पञ्चतत्त्व हैं, न तीन भाव ही हैं, केवल जड और चेतन दो ही वस्तुएँ हैं। विश्वमे कुछ जड और कुछ चेतन दिखायी पड़ता है। ऐसा दीखता भी है और अनुभवमे भी आता है। जो जड है वह चेतन नहीं है और जो चेतन है वह जड नहीं है। अतएव बुद्धिद्वारा केवल ये दो पदार्थ निश्चित होते हैं। इन्द्रियोंके सम्बन्धसे हमने पाँच पदार्थ निश्चित किये थे, मनके द्वारा तीन किये थे, अब बुद्धिके द्वारा केवल दो ही निश्चित होते है—जड और चेतन। विश्वमें जड भी है, चेतन भी। साधकमे शरीर जड है और जीव चेतन। अतएव जो जड-चेतन विश्वरभरमे हैं वे ही साधकमें भी हैं। ऐसा विचारकर साधकको अपना जडभाग विश्वके जडके साथ और अपना चेतन विश्वव्यापक चेतनके साथ मिला देना चाहिये। अब हम किस रूपमे अलग रहे? अपने साथ जो सम्पूर्ण विश्व है उसमें केवल दो ही पदार्थ रह गये हैं—एक जड और एक चेतन। शेष पञ्चमहाभूत, अस्ति-भाति-प्रियत्व अथवा सत्त्व, रज, तम सब उसी जड-चेतनके अन्तर्गत आ गये।

अब साधक अलग कहाँ रहा? वह तो विश्वव्यापी जड-चेतनमे ही मिल चुका है। अब यह प्रश्न उठता है कि क्या जड और चेतन पृथक्-पृथक् है? यहाँ आत्माको साक्षीरूपमे देखना चाहिये। जाग्रतिमे जब यह देखता है तभी उसको ऐसा प्रतीत होता है कि यह जड है या चेतन। और तभी इनका अस्तित्व भी होता है। यदि यह द्रष्टा सो जाय ओर जागे ही नहीं तो कौन किसको जड कहेगा और कौन किसको चेतन? अतः इस द्रष्टाका ज्ञान ही यह सब होता है, द्रष्टाका स्वरूप ही ज्ञान है जो इस विश्वमे परिणत होता है। फिर द्रष्टासे भिन्न कौन-सा पदार्थ कहाँ रहा? जड और चेतनरूप जो यह भेद है वह इसीके निज रूपका भेद है।

अब साधक इस चतुर्थ पाठके समय स्वय ही सब कुछ बन गया। अब वह यह कहता है कि जब मै देखता हूँ तब यह सब है, नहीं तो नहीं है अर्थात् मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है, मैं ही सब कुछ हूँ, मैं ही सम्पूर्ण हूँ। यह सम्पूर्ण योगका अन्तिम पाठ है। इस समय निम्नलिखित श्रुतिवाक्य ठीक समझमें आ सकता है—

अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादह पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदꣳ सर्वम्॥

(छान्दो० ७। २५। १)

'मै ही नीचे, ऊपर, आगे, पीछे, दायीं और बायीं ओर हूँ, और मैं ही यह सब हूँ।' यह 'सम्पूर्ण योग' की सम्पूर्णता है। वेद, उपनिषद् तथा अन्यान्य शास्त्रोंमें यही योग कहा गया है। अन्य सब योग इसी योगके अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं और वे सब अपूर्ण योग हैं। यही सर्वाङ्ग सम्पूर्ण योग है। पाठक इसका मनन करें और पूर्ण बनें। अपूर्णतामें दुःख और पूर्णतामें सुख है। पाठक इस प्रकार सुखको प्राप्त कर सकते हैं।

अमर भये

(लेखक—स्व० योगिवर्य श्रीआनन्दघनजी 'यति')

अब हम अमर भये न मरेंगे।
या कारन मिथ्यात दियो तज क्योंकर देह धरेंगे॥
राग द्वेष जग बन्ध करत हैं इनको नाश करेंगे।
मरयो अनन्त काल ते प्राणी सो हम काल हरेंगे॥
देह विनाशी, हूँ अविनाशी, अपनी गति पकरेंगे।
नाशी जासी, हम थिर वासी, चोखे ह्वै निखरेंगे॥
मरयो अनन्त वार बिन समझ्यो, अब सुख-दुख बिसरेंगे।
'आनँदघन' निपट निकट अक्षर दो नहि समरे सो मरेंगे॥

प्रेषक—पन्यासजी महाराज रीविरैण्ड

योगसिद्धिका रहस्य

(प्रवक्ता—श्रीनागेन्द्रनाथ शर्मा साहित्यालङ्कार, एम० आर० ए० एस०)

(१)

भूतजय तथा अष्टमहासिद्धि

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ।
(पात० ३ । ४४)

इस सूत्रमे अणिमादि अष्टसिद्धियोंका पूर्वरूप भूतजय वर्णित है । ऋषि कहते हैं कि स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व इन पॉचमें सयम प्रयोग करनेसे भूतजय होता है। स्थूल अर्थात् नाम-रूप जैसे घट आदि । स्वरूप—स्थूल उपादान जैसे मृत्तिका आदि । सूक्ष्म तन्मात्र—जैसे गन्धादि । अन्वय—प्रकाश, प्रवृत्ति, स्थितिरूप तीन गुण, ये सभी पदार्थोंमे अन्वित हैं । इसीसे तीन गुणोंको अन्वय कहा जाता है । अर्थवत्त्व—प्रयोजनत्व अर्थात् निर्लेप आत्माका भोगापवर्गसाधनरूप लीलाविलास । भूतादिका यही प्रयोजन है । दृश्य वस्तुमात्रके ये ही पॉच रूप हैं । क्रम-क्रमसे इन पॉचमें बार-बार सयमप्रयोग करनेसे भूतजय होता है । भूतोका यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होना ही भूतजय है । भूतसमूह परमार्थतः नहीं है, उनकी सत्ता नहीं है, इसका प्रत्यक्ष होना ही भूतजय नामक विभूति है ।

स्थूलसे अर्थवत्त्वपर्यन्त पदार्थोंके जो पॉच तरहके रूप प्रदर्शित हुए, धीरभावसे उनके आदिसे अन्ततक प्रत्येकमे सयमप्रयोग करनेसे पृथिव्यादि भूतोका यथार्थ स्वरूप ज्ञात हो सकता है । एक रहस्य यह है कि उक्त पॉच प्रकारके रूपमें प्रथमसे ठीक-ठीकरूपसे सयम प्रयुक्त होनेसे पर-परका आविर्भाव अपने आप ही होता रहता है, उन्हे तलाश करके नहीं लाना पड़ता । मान लीजिये कि एक घट है । उस नामरूपात्मक प्रथम दृश्यमान पदार्थमें सयमप्रयोग करनेसे ही उसका स्वरूप अर्थात् स्थूलोपादान जो पृथ्वी—क्षिति है वह प्रकाशित होगी ही । तब फिर उस अशमें सयम प्रयोग करनेसे उसके सूक्ष्म स्वरूप गन्ध तन्मात्र स्वरूपमे उपनीत हुआ जाता है, उसमे सयत होनेसे सत्त्व, रज और तमोगुणरूप त्रिविध स्पन्दनमात्र पाया जाता है । यही पदार्थकी सूक्ष्म अवस्था है, इसीका नाम अन्वय है । त्रिगुणमें पहुँचनेसे तब इसका 'अर्थवत्त्व' प्रतीत होने लगता है । तीन गुण जो स्वरूपके अज्ञानसे उत्पन्न आवरण-विक्षेपात्मक एक प्रकारका लीलाविलासमात्र हैं, यह प्रत्यक्ष होने लगता है । इस प्रकार स्थूलसे कारणपर्यन्त पदार्थोंकी अवस्था प्रत्यक्ष होनेसे फिर भूत या पदार्थ कहनेको कुछ नहीं रहता । भूत प्रत्यक्षरूपसे वर्तमान रहनेपर भी वे परमार्थरूपसे नहीं हैं, यह दृढ विश्वास हो जाता है । तब यह भूतजयनाम्नी विभूति क्या है, समझमे आ सकती है । भूतोंका यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होनेसे उनपरसे हेयोपादेय बुद्धि सदाके लिये दूर हो जाती है । यही यथार्थ भूतजय है । साधारण मनुष्य भौतिक वस्तुओंको परमार्थ वस्तु जानकर उनके सग्रह और रक्षणादिमे पूर्णभावसे आत्मनियोग करते हैं । किन्तु भूतजयी योगी ऐसा कभी नहीं कर सकते, अथवा करते नहीं । जबतक यह ज्ञान नहीं होता कि यह स्वप्नमात्र है, तबतक ही स्वप्नके देखे हुए पदार्थ सत्य जान पड़ते हैं और उनके साथ सयोग-वियोगके कारण चित्तमें क्षोभ उत्पन्न होता रहता है । किन्तु स्वप्न एकदम भङ्ग हो जाय, तब फिर स्वप्नमें देखी वस्तुके नाश या प्राप्तिसे उत्पन्न चित्तविक्षेप नामको भी नहीं रहता, उस योगीको ठीक इसी प्रकार जगत् स्वप्नका स्वरूप जान पडता है, वह समस्त जगत्का आधिपत्य पाकर भी प्रसन्न नहीं होता, और सर्वस्व नाश भी हो जाय तो विचलित नहीं होता । भूतजय होनेसे योगीमें ये लक्षण प्रकट होते हैं । ये विभूतियॉ त्रैवर्गिकोके लिये कल्पितरूपसे सिद्ध होती हैं ।

४४ वें सूत्रका आभास

पृथिव्यादि पॉच भूतोकी पॉच अवस्थाएँ हैं, जिन्हे अवधारण कर सकनेसे महाभूत योगीके अधीन हो जाते हैं अर्थात् योगीके इच्छानुसार भूतोकी क्रिया होती रहती है । स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व—इन पॉच भूतभावोंपर योगीको दृष्टि रखना आवश्यक है । जिस-जिस मूर्ति या आकारसे वह दर्शन देते हैं, वही उनका स्थूल भाव है । अर्थात् आपातत: पाषाण, मूर्तिमें परिणत होनेपर भी, जिस कार्यको करनेके लिये उस अवस्थामें आया है वही उसका स्वरूप है, यह स्वरूप और जिस अभिमानशक्तिके ऊपर निर्भर करके

प्रकाशित है वही सूक्ष्म भाव है। जगत्‌मे उद्देश्य या अभिप्रायरहित कोई पदार्थ नहीं है। जीवका अभिप्राय सहजमे प्रकाशित हो जाता है, जडका उद्देश्य छिपा रहता है। यह उद्देश्य या अभिप्राय ही जडकी सूक्ष्म मूर्ति है। यह उद्देश्य भी निरन्तर परिवर्तनशील है। कारण कि सुखदुःख एव मोहरूप सत्त्व, रज और तमोगुण ये ही उद्देश्यके अवयव हैं। ये तीन गुण ही जडकी मूर्ति गठन करते हुए अभिप्रायभेदसे कार्यमे नियुक्त करते है। इस कारण प्रत्येक दशामे तीनों गुणोका अन्वयभाव है, फिर इस परिणाम या भावान्तर होनेके उद्देश्यपर कटाक्ष करनेसे चित्त जब समझे कि परिणामसे भूतोंका अपना कुछ प्रयोजन नहीं है, अग्निको जलानेके लिये ही काष्ठकी चेष्टा है, वह व्यापार काष्ठका अपना कोई उद्देश्य नहीं है, यहाँतक कि अग्निकी सहायता करनेमे काष्ठ अपना शरीरतक खो देता है, उसी प्रकार प्रकृतिदेवी विचित्र क्रिया और रूपके उत्पादनमें चैतन्यस्वरूप पुरुषका आत्मसाक्षात्कार व्यापारमात्र घटाती है, और आप अन्तर्हित हो जाती है। अतएव पञ्चभूत और उनकी तन्मात्राएँ, जो-जो सृष्ट वस्तुएँ दीख पड़ती हैं, उनमेंसे अपने लिये कोई वस्तु नहीं रची है, सब जीवोंके भोगसम्पादनके लिये हैं। जैसे अन्न-व्यञ्जनादि जो वस्तुएँ तैयार होती है वे सब मनुष्यके भोजनार्थ है। उसी प्रकार जगत् केवल जीवोंके भोगके लिये है, यही भूतग्रामका अर्थवत्त्व है। इन पाँच भावोंमे सयम करनेसे पञ्चभूत योगीके अधीन होते है।

अतएव बाह्य भूतोंपर यदि आधिपत्य हो जाय तो आभ्यन्तरिक भूतग्राम भी योगीके वश हो जाता है, तब वह प्रत्येक पदार्थपर उक्त पाँच अवस्थाओंका समन्वय स्थापन करके सबको अपने वश कर सकता है। चित्त निश्चिन्त और निस्तरङ्गभावसे विश्राम करता था। उसका वह शान्त प्रवाह भङ्ग करते हुए अपनी मूर्तिसे जो अकस्मात् आकर्षण किया, वही विषयका स्थूलभाव है। अकस्मात एक आम्रफल देखकर उसका स्थूल भाव समझा। आकार देखनेसे ही तो सन्तुष्ट नहीं हुआ जाता। यह क्या है? यह कहनेसे प्रश्नका उत्तर मिला—भोज्यकी योग्यता ही आम्रका स्वरूप है। कहाँ था? वृक्षकी चोटीपर हरसाल ही आता है। अतएव आम्रवृक्षके भीतर स्थित उत्पादिका शक्तिविशेष ही आम्र है। आम्र परिणत और सुपक्व होकर जीवका भोज्य होनेके सिवा अपने स्वार्थका उसने कुछ भी परिचय नहीं दिया। इसी भावसे योगी जब समस्त दृष्ट पदार्थोंको देखना सीखेगा तब उसका देखना समाप्त होगा और वस्तु भी उसकी दृष्टिके अनुसार ही गठित होगी।

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत् तद्धर्मानभिघातश्च ॥४५॥

इस सूत्रमें अणिमादि आठ प्रकारकी विभूतियोंका वर्णन हुआ है। ऋषि कहते हैं कि 'भूतजय' होनेपर अणिमादिका प्रादुर्भाव होता है और कायसम्पत् प्राप्त होती है और उसके धर्मका अनभिघात होता है।

१—अणिमा—अत्यन्त सूक्ष्मत्व, अणुशब्दका अर्थ है सूक्ष्मत्व, आकाशीय भाव। सूक्ष्म और क्षुद्र एक बात नहीं है। साधारणतः परमाणुको क्षुद्रतम अश समझा जाता है, किन्तु दर्शनशास्त्रमें अणुशब्द अधिकाश स्थलमे सूक्ष्म अर्थमे ही प्रयुक्त होता है। इस सूक्ष्मत्वकी जो पराकाष्ठा है उसका नाम है अणिमा, जिससे परे कोई सूक्ष्म वस्तु हो ही नहीं सकती। स्थूल देहकी अपेक्षा इन्द्रियाँ सूक्ष्म हैं। इन्द्रियोसे मन सूक्ष्म है, मनसे बुद्धि सूक्ष्म है और बुद्धिसे भी आत्मा सूक्ष्म है। आत्मा ही सूक्ष्मकी पराकाष्ठा है। अतएव अणिमा कहनेसे केवल परमात्मा ही लक्षित होता है। 'मैं' ही अणिमा हूँ, परम सूक्ष्म मुझमे ही विद्यमान है, अभिन्न सत्तामात्रस्वरूप मैं ही परम सूक्ष्म वस्तु हूँ, इस तरह जो प्रत्यक्ष अनुभूति है, उसीका नाम अणिमा-विभूतिका प्रादुर्भाव है। केवल शास्त्र पढ़ लेने या उपदेश सुनकर समझ लेनेमात्रसे यह विभूति-रहस्य, साधन बिना, हृदयङ्गम करना असम्भव है। आत्ममहत्त्वदर्शनका नाम विभूति है। अणिमादिरूपसे आत्मसत्ताका अनुभव साधकका परम सौभाग्य सूचित करता है। यह मुक्तिकी अति सन्निहित अवस्था है। प्रियतम साधक, तुम कब यहाँ आकर जीवन धन्य करोगे?

२—लघिमा—लघुशब्दका अर्थ है हलका। पक्षीके रोएँ या रुई आदि वस्तुको इसके दृष्टान्तस्वरूपमें दिखाया जा सकता है। यह लघुत्व एक प्रकारका बोधमात्र है। यह जब पराकाष्ठाको प्राप्त होता है अर्थात् जिससे अधिक और कोई लघुविषय हो नहीं सकता, उसका नाम है लघिमा। यह लघिमा सत्तामात्रस्वरूप आत्मामे ही विद्यमान है। मैं ही लघिमा हूँ, परम लघुत्व मुझमे ही नित्य विराजित

है, ऐसा जो प्रत्यक्ष अनुभव है उसीका नाम लघिमा-विभूति है।

३–महिमा—महत्त्वकी जो पराकाष्ठा है, जिससे और महत् कुछ हो नहीं सकता, उसे महिमा कहते हैं। देश और काल महत् वस्तु है, वह भी बुद्धि या महत्तत्त्वके दृश्य—ग्राह्यरूपसे अवस्थित है। अतएव महत्तत्त्व देशकाल-की अपेक्षा भी महत्तर है। फिर यह महत्तत्त्व स्वप्रकाश-स्वरूप आत्माके प्रकाशसे ही प्रकाशित है, आत्माकी सत्तासे ही सत्तावान् है, अतएव बुद्धि या महत्तत्त्वसे भी आत्मा महत्तम है। महिमा परमात्माका ही अन्य नाम है। देश-कालका जो महत्त्व अर्थात् व्यापकता है वह विजातीय भेदरूपसे गृहीत होती है। बुद्धिका महत्त्व या महत्तत्त्वकी व्यापकता स्वगतभेदरूपसे गृहीत होती है, और अभिन्न सत्तामात्रस्वरूप आत्माका महत्त्व सर्वभेदातीतरूपसे नित्य विद्यमान है। आत्माकी सत्ता विना महत्तत्त्व भी सत्ता प्राप्त नहीं कर सकता; इस कारण परममहत्त्व एकमात्र आत्मामें ही नित्य विद्यमान है। यह परम महत्त्व ही महिमा है, मैं ही वह महिमा हूँ, परम महत्त्व मुझमें ही नित्य विराजता है, इस प्रकार जो प्रत्यक्ष आत्मानुभव है उसीको 'महिमा' विभूतिका आविर्भाव कहा जाता है।

४–प्राप्ति—सर्वथा सब पदार्थोंकी प्राप्ति ही प्राप्ति नामकी विभूति है। मैं सत्तास्वरूप वस्तु हूँ, अतएव जहाँ जो कुछ 'है' रूपसे प्रतीत होता है वह सभी आत्माद्वारा सर्वथा प्राप्त है, इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभवका नाम प्राप्ति है। मैं जबतक सत्तास्फूर्ति प्रदान न करूँ, तबतक कोई वस्तु ही सत्ता प्राप्त नहीं कर सकती, इस सत्य ज्ञानसे वञ्चित रहनेके कारण ही साधारण मनुष्य सदा अनेक प्रकारके अभाव-अभियोगोंको प्रत्यक्ष करते रहते हैं। किन्तु भूतजयी योगी सर्वात्मदर्शनके फलसे इस प्राप्ति नामक विभूतिको पाकर धन्य होते और सब अभाव-अभियोगोंसे ऊपर चले जाते हैं।

५–प्राकाम्य—प्राकाम्य शब्दका अर्थ है—इच्छाका अनभिघात। भूतजयी योगी देखता है कि इच्छा एकमात्र परमेश्वरकी है जो सृष्टि, स्थिति और प्रलयका अधीश्वर है, जो आत्मा है, जो मैं रूपसे प्रकाशित है, वही इच्छा-रूपिणी महती शक्ति है। यथा—

या देवी सर्वभूतेषु इच्छारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

इस महती इच्छाका सम्यक् अनुवर्तन अर्थात् ईश्वर-प्रणिधान करनेके फलसे जीवभावीय इच्छा कहनेको फिर कुछ भी नहीं रहता। इस अवस्थामें पहुँचनेपर योगी देख पाता है कि उसे प्राकाम्यसिद्धि प्राप्त हुई है। इस अवस्थामें योगीके चित्तमें जो इच्छा उदय होती है वह उस महती इच्छासे भिन्न न होनेके कारण कोई इच्छा अपूर्ण नहीं रहती। छोटी-छोटी इच्छाएँ भी महती इच्छामें मिला दे सकनेसे साधक इस प्राकाम्य या इच्छा-की अनभिघातरूपा विभूति प्राप्त कर सकते हैं।

६–वशित्व—भूत-भौतिक वश्यता ही इसका स्वरूप है। भूत और भौतिकरूपसे जो कुछ प्रकाश हो रहा है वह सब आत्माकी—मेरी सत्तासे सत्तावान् और मेरे प्रकाशसे प्रकाशित है। मैं आश्रय या आधार हूँ और वह सब आश्रित या आधेय है, ऐसी प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त होना ही वशित्व नामक विभूति है।

७–ईशित्व—स्थूल, सूक्ष्म और कारण, ग्राह्य वस्तुमात्रकी ये तीन तरहकी अवस्थाएँ दीख पड़ती हैं। इन अवस्थाओं-को ठीक-ठीकरूपसे सुनिश्चित करनेकी जो सामर्थ्य है उसे ईशित्व कहते हैं। पूर्वोक्त वशित्वविभूतिसे ही इसका भी प्रकाश होता है। मैं ही तो सब स्थूल, सूक्ष्मादि-का नियन्ता हूँ। 'मेरे भयसे सूर्य उदय होते हैं, मेरे शासनसे वायु प्रवाहित होती है, मेरे भयसे अग्नि ताप देती है, मैं इस विश्वब्रह्माण्डकी स्थूल, सूक्ष्मादि सब वस्तुओंको भलीभाँति नियमित रखता हूँ,' ऐसे प्रत्यक्ष अनुभवका नाम ईशित्वप्राप्ति है।

८–यत्रकामावसायित्व—कामनाओंका बिल्कुल अन्त हो जानेका नाम 'यत्रकामावसायित्व' है। इसको पूर्णकामत्व भी कहा जाता है। 'पूर्णकामोऽस्मि सम्वृत्तः' मैं पूर्णकाम हुआ हूँ, अब मेरे देखने और पानेको कुछ बाकी नहीं है। मैंने अपने स्वरूपका पता पाया है। इसके बाद और ज्ञातव्य या प्राप्तव्य कुछ नहीं रह सकता। इस अनुभूतिके उदय होनेसे समझा जा सकता है कि योगी 'यत्रकामा-वसायित्व' विभूति पाकर धन्य हुआ है। केवल आत्मज्ञानसे ही सब कामनाओंका अन्त हो जाता है। भूतजयी योगी अभिन्न सत्तामात्रस्वरूप आत्माका पता पानेसे-इन आठों सिद्धियोंको प्राप्त कर लेते हैं।

इन अणिमादि आठ सिद्धियोंके सम्बन्धमें लोगोंके जैसे सुदृढ संस्कार हो रहे हैं या मौजूद [illegible], उन

लोगोंको यह व्याख्या पसन्द नहीं आ सकती, परन्तु भरोसा है कि जो योगीश्वरी 'माँ' हैं वह आप ही प्रत्येकके अन्तर्यामिदेवतारूपसे—गुरुरूपसे उनके चक्षु खोल देंगी, तब वे इस सत्यका पवित्र स्निग्ध प्रकाश पाकर सब संशय और संस्कारोंसे पार चले जायँगे। माँ—आत्मा-ब्रह्म-गुरु! सन्तानकी यह आशा कभी निष्फल हो नहीं सकती। तुम स्वयं ही तो इस हृदयाकाशमें आशारूपसे उदय होकर भविष्यत्के उज्ज्वल प्रकाशका उज्ज्वल चित्र सत्यरूपसे दिखा देती हो। धन्य माँ !!!

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत् ॥ ४६ ॥

इस सूत्रमें पूर्वोक्त कायसम्पत्का फल वर्णन करते हैं कि भूतजयी योगीका सुन्दर रूप, मनोहर कान्ति, और अत्यन्त बलवान् वज्रके समान सुदृढ शरीर हो जाता है।

(व्यासभाष्य)

स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व इन पाँच भूतस्वभावोंमें संयमका उपदेश पहले कहा गया है। उनमेंसे स्थूलभावमें संयम करनेसे अणिमा, लघिमा, महिमा और प्राप्ति ये चार सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। स्वरूपमें संयम करनेसे 'प्राकाम्य', सूक्ष्ममें संयम करनेसे 'वशित्व', अन्वयमें संयम करनेसे 'ईशित्व' और अर्थवत्त्वमें संयम करनेसे 'कामावसायित्व' होता है। इन सिद्धियोंके प्रयोगसे योगी भूत-भौतिक पदार्थोंके ऊपर अपने प्रयोजनानुसार कार्य अवश्य कर सकते हैं किन्तु भगवान्के अभिप्रायसे अन्यथा आचरण करनेपर भूतमर्ममें हस्तक्षेप नहीं कर सकते। योगीका प्रयोजन सिद्ध होनेपर भी मूलप्रवाह ईश्वरेच्छासे ही चलता रहता है।

बाह्य भूत वशीभूत होनेसे योगीका रूप, शरीरमें माधुर्य और बल साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा अलौकिक जान पड़ता है। वह देहको वज्रकी भाँति कठिन कर सकता है अर्थात् भूतजगत् उसपर अपना प्रभाव कुछ नहीं डाल सकता। जैसा कि दधीचि मुनिकी अस्थिसे वज्र बना था।

४६ वें सूत्रका रहस्य

ऋषि कहते हैं कि रूप, लावण्य, बल और वज्र-संहननत्व ये ही कायसम्पत् है। जो सर्वत्र प्रकाशित है तो भी भाषा या विचारद्वारा जिसका स्वरूप निरूपण नहीं किया जाता, उस मूकास्वादनवत् अनिर्वचनीय वस्तुका नाम रूप है। साधारणतः हम जिसको रूप समझते हैं वह रूप नहीं है—आकृति है। आकृति और रूप एक वस्तु नहीं है। रूपका कोई रूप नहीं तो भी सब उसे अनुभव कर सकते हैं, चैतन्य वस्तुका ही दूसरा नाम है रूप। चैतन्य जब जड पदार्थोंके साथ अन्वित होकर प्रकाश पाता है तभी उसका नाम रूप होता है।

२—लावण्य—

मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा ।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥

प्राचीन विद्वानोंने लावण्यविषयमें इस श्लोकका उल्लेख किया है। साधारण बोलचालमें श्री, सौन्दर्य, चारुता आदि-आदि शब्दोंसे हम जो समझते हैं, लावण्य उससे बहुत बढकर वस्तु है। अति कुत्सित वस्तु-में भी कुछ श्री है, यह श्री जहाँ बहुत अधिक प्रकाशित है वहीं लावण्यका प्रकाश है। शिशुके मुखपर, चन्द्रमामें, कमलमें लावण्य पाया जाता है। यह रूप और लावण्य जगत्में सर्वत्र पूर्णभावसे अवस्थित है। बुद्धिकी मलिनताके कारण वह अनुभूत नहीं होता। भूतजयी योगीकी बुद्धि निर्मल हो जाती है, इस कारण वह विश्वमय रूप और लावण्यको अनुभव कर सकता है। अजी, आत्मदर्शनकारीके लिये सर्वत्र ही रूप-लावण्यकी मधुरिमा है। आत्मा ही रूप है, आत्मा ही लावण्य है, गुरु-कृपासे ज्ञानचक्षु उन्मीलित होनेपर वह प्रत्यक्ष होता रहता है। साधक! प्रेमिक! तुम ज्ञानसे या अज्ञानसे जिसको सबसे अधिक प्रिय समझते हो, जिसका वियोग तुम क्षणभर भी नहीं सह सकते, उसीका नाम रूप और लावण्य है। जिसके उदयसे मदन मूर्छा पा जाता है, काम-वासना सदाके लिये बुझ जाती है, वही रूप और वही लावण्य है।

केवल यही नहीं, बल और वज्रसंहनन भी उसीमें विद्यमान है अथवा वही बल और वही वज्रसंहनन है। देखो साधक! इस जगत्में जो जिसके आश्रित है, वह उसीको बलवान् जानता है। केवल शारीरिक बल नहीं, धनबल, विद्याबल, तपोबल, योगबल आदि जितने प्रकारके बल हैं वे सब परमबल परमात्माके आश्रित हैं। परमात्मसत्तामें और परमात्माके ही प्रकाशसे दृश्य प्रपञ्च सत्तावान् और प्रकाशमय है। अतएव बल कहनेसे केवल आत्माको ही समझिये। उपनिषद् कहता है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः ।

'बलहीन व्यक्ति आत्मप्राप्ति नहीं कर सकता।' इस वाक्यका तात्पर्य यह है कि आत्माके सिवा अन्य कोई आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता। वह स्वसंवेद्य वस्तु है, वेत्ता और वेद्य दोनों वही है। लब्ध और लभ्य दोनों वही है, अतएव जबतक बिन्दुमात्र भी अनात्मविश्वास है तबतक साधक बलहीन है। बलहीन किस तरह बलस्वरूप वस्तुको प्राप्त करेगा? निरपेक्ष और अबाधितभावसे अपने सत्ता-प्रकाशकी जो सामर्थ्य है वही बल है। अपना अस्तित्व प्रकाश करनेके लिये किसी दूसरेका मुँह नहीं ताकना पड़ता अथवा दूसरा कोई अपनी सत्ताके प्रकाशमें बाधा भी नहीं डाल सकता। यह जिस सामर्थ्यके प्रभावसे सम्भव है वही बल है। भूतजयी योगी आत्माके इस बलस्वरूपत्वको प्रत्यक्ष कर सकता है। यही विभूति है।

वज्रसंहननत्व—सहनन शब्दका अर्थ है शरीर और स्वरूप। वज्र शब्द भीतिसूचक है। रूप-लावण्यादिकी भाँति भीषणता भी आत्माकी कायसम्पत् है। 'महद्भय वज्रमुद्यतम्', 'भयादस्य तपति सूर्यः' इत्यादि वाक्योंसे श्रुतिने आत्माको भीतिदायक वज्रस्वरूपसे वर्णन किया है। किसीके सिरपर यदि वज्र गिरनेको तैयार हो तो वह जिस तरह सदा सङ्कुचित और भयभीत रहता है, उसे वज्र गिरनेकी आशंका रहती है और सर्वतोभावसे आज्ञानुवर्ती रहता है, ठीक उसी तरह इस विश्वके ऊपर, इस अहके ऊपर, इस चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्डके ऊपर महद्भय उद्यत वज्रस्वरूप आत्मा विराजमान है, इसीसे सब नियमपूर्वक अपना-अपना कार्य करते हैं और कर्म-चक्र चलता रहता है। एक तिलमात्र भी अन्यथा करनेका उपाय नहीं है। ज्यों ही कोई इससे पृथक् जरा भी स्वाधीन-रूपसे अपनेको देखनेका विचार करे, त्योंही उसकी विशिष्ट सत्तातक लोप हो जाती है। ऐसा अव्यर्थ शासन है। इसी कारण सत्यदर्शी ऋषियोंने उदात्तस्वरसे कहा है कि 'उसीके भयसे सूर्यदेव प्रतिदिन नियमितभावसे उदित होते रहते हैं, उसीके भयसे पवनदेव सदा सञ्चरण करते हैं, उसीके भयसे अग्निदेव गर्मी देते हैं, उसीके भयसे मृत्युदेव सदा जीव-संहरण-कार्यमें निरत रहते हैं।' भूतजयी योगीको यह सब प्रत्यक्ष गोचर होता है।

ये जो रूप, लावण्य, बल और वज्रसंहननत्व चार कायसम्पद् हैं सो स्वरूपके ऐश्वर्य हैं। 'चैतन्य-स्वरूप मैं ही रूपमय, लावण्यमय, बलवान् और वज्रसंहनन हूँ।' इस तरह प्रत्यक्ष अनुभूति पानेका नाम ही कायसम्पद् विभूतिका आविर्भाव है। अजी! मैं कितना महान् हूँ, यह विश्वराशि मेरी है, यह विश्वमय लावण्य मेरे ही अङ्गकी तरल छाया है, मेरा प्रकाश किसीकी अपेक्षा नहीं करता, न उसमें कोई बाधा डाल सकता है, मेरा स्वरूप वज्रके समान भयदायक और अनभिभवनीय है। ऐसी अनुभूति यदि आती रहे तो साधक समझ ले कि उसकी कायसम्पद् नामक विभूतिका वह प्रकाश है।

'तद्धर्मानभिघात' पद पूर्व सूत्रमें उल्लिखित होनेपर भी यहाँ उसकी कुछ व्याख्या की जाती है। तद्धर्मका अर्थ रूप-लावण्य आदि कायसम्पद् लक्ष्य किया गया है। तद्धर्म अर्थात् रूप, लावण्य, बल और वज्रसंहननरूप धर्मका अनभिघात होता है जिसका कोई विनाश नहीं कर सकता। आत्मा नित्य वस्तु है, इसलिये कायसम्पत् भी नित्य ही विद्यमान रहेगी, किसी अवस्थामें उसका अभिघात नहीं हो सकता। आशंका हो सकती है कि आत्मा तो धर्मधर्मिभेदरहित अद्वितीय वस्तु है, तब उसमें धर्म किस तरह सम्भव है? हाँ, सत्य है, आत्मामें न कोई धर्म है न रह सकता है तो भी आत्मस्वरूप-जिज्ञासुजनोंको समझानेके लिये ऐसे भेदबोधक वाक्योंका प्रयोग किया जाता है। वस्तुतः रूप, लावण्य, बल आदि आत्माका स्वरूप ही है। ये विभूतियाँ अपूर्व हैं। इनके आनेसे साधकको इतना आनन्द होता है कि पृथिवी-में नहीं समाता। साधकके प्रभावको यह विश्व धारण नहीं कर सकता। प्रियतम साधक! आओ, गुरु—ईश्वर-प्रणिधानके मार्गपर आगे बढ़ो, जिससे तुम भी इस विभूतिको पाकर धन्य हो सको।

(२)

इन्द्रियजय तथा मधुप्रतीकसिद्धि

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥४७॥

इस सूत्रमें इन्द्रियजयरूप विभूतिका वर्णन हुआ है। ऋषि कहते हैं कि ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व यह पाँच प्रकार संयम प्रयोग करनेसे इन्द्रियजयत्व-रूप विभूति आविर्भूत होती है। १—ग्रहण (ग्रहण विषय-संस्पर्श) चक्षुः आदि इन्द्रियोंके साथ रूप, रस आदि विषयोंका संस्पर्श। २—स्वरूप (स्वरूप विषयप्रकाशकत्व) इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका प्रकाश, सांख्यकी भाषामें इसे

आलोचन-ज्ञान कहते हैं। ३–अस्मिता (दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता योग० २।६)। दृक्शक्ति और दर्शनशक्ति इन दोनोंकी एकात्मता ही अस्मिता है। दृक्शक्ति–पुरुष, आत्मा, और दर्शनशक्ति बुद्धि, इन दोनोंकी जब एकात्मता या तादात्म्य होता है, दोनों एक ही जान पड़ते हैं, तब उसे अस्मिता कहते हैं। सूत्रमें जो 'इव' शब्द है वह इसलिये है कि यह वास्तविक तादात्म्य नहीं है, तादात्म्य-सा जान पड़ता है। आत्मा सदा निर्लेप वस्तु है, उसका कभी बुद्धिके साथ तादात्म्य नहीं हो सकता, तो भी बुद्धिसत्त्व जब अत्यन्त निर्मल होता है तब उसमें प्रतिबिम्बित आत्मस्वरूप अति उज्ज्वलभावसे प्रकाशित होता है, इसी कारण बुद्धिसत्त्व आत्मारूपसे प्रतीयमान होता रहता है। जैसे स्वच्छ काँचकी लालटैन उसके भीतरकी जलती हुई बत्तीसे बिल्कुल पृथक् है, परन्तु दूरसे सारा काँच ही प्रकाशित जान पड़ता है। जलती हुई बत्ती जब पाससे देखते हैं तब अलग जान पड़ती है। इसी प्रकार जबतक बुद्धिका आवरण पूर्णरूपसे भेद न हो तबतक बुद्धिमें ही 'आत्मबोध' होता रहता है, जिस बुद्धिमें यह आत्मबोध हुआ है उसीका नाम अस्मिता है। ४–अन्वय (अन्वयो गुणत्रयः) शब्दका अर्थ है तीन गुण। ५–अर्थवत्त्व (अर्थवत्त्व लीलाशक्तिरनिर्वचनीया) शब्दका अर्थ है अनिर्वचनीया लीलाशक्ति। इन पाँच प्रकारके सयमप्रयोगसे इन्द्रियजय सिद्ध होता है। इन्द्रियोंका सबसे प्रथम जो रूप हमारे अनुभवमें आता है, ऋषिने उसका नाम रक्खा है ग्रहण, विषयको ग्रहण करना ही इन्द्रियका प्रथम रूप है। अभीष्ट विषय समीप होनेसे यदि उसमें किसी प्रकारकी बाधा न पड़े तो इन्द्रियाँ विषयके साथ सम्बन्धयुक्त हो जाती हैं। इस ग्रहणभावको अवलम्बन करके धारणा, ध्यान और समाधिरूप सयमप्रयोग करनेसे इन्द्रियोंके पर-पररूप अपने आप उपस्थित होते रहते हैं। इन्द्रियोंका दूसरा रूप विषयप्रकाशकत्व है। यद्यपि निर्मल बोधसत्त्वके बिना विषयका सर्वांग प्रकाशित नहीं होता तो भी इन्द्रियावच्छिन्न चैतन्य और विषयावच्छिन्न चैतन्यका सम्बन्ध होनेसे ही प्रमातृचैतन्यका आभास आ पहुँचता है और उसके द्वारा विषयका कुछ अश प्रकाशित होने लगता है। इस प्रकार इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका जो आंशिकभावसे प्रकाशित होना है, सूत्रमें इसीको इन्द्रियोंका स्वरूप कहा गया है। सयमकी सहायतासे योगी क्रमसे ग्रहण करते-करते इस स्वरूपमें पहुँच जाता है।

इसके बाद है अस्मिता। इन्द्रियाँ अस्मिताके व्यूहमात्र हैं। 'मुझमें रूप ग्रहण करनेकी शक्ति है' 'मुझमें शब्द-ग्रहणकी शक्ति है' ऐसा जो बोधप्रवाह है उसीको चक्षु आदि इन्द्रियाँ कहते हैं, अतएव इन्द्रियमें सयमप्रयोग करनेसे उसका ग्रहणभाव और स्वरूप क्रमसे अस्मिता-क्षेत्रमें पहुँचा जा सकता है। इसके बाद अन्वय अर्थात् प्रकाश, प्रवृत्ति, स्थितिरूप तीन गुण हैं। अस्मितामें सयत होनेसे उसके कारणस्वरूप तीन गुणोंमें आ पहुँचते हैं। अन्तमें इस अन्वय या तीन गुणोंका भी जो कारण है उसकी ओर लक्ष्य फिराते हैं, तब अर्थवत्त्व पाया जाता है। अर्थात् अविद्या-शक्तिद्वारा कल्पित पुरुषके भोगापवर्गरूप प्रयोजनसाधनके लिये ही जो तीन गुण प्रकाशित हैं वे अनुभवमें आते रहते हैं। इस तरह अनुभवके फलसे बुद्धि अत्यन्त स्वच्छ हो जाती है। तब जो यथार्थ सत्ता है, जिसको कोई रूप अन्यथा नहीं होता, यह चैतन्यस्वरूप वस्तु प्रकाशित होने लगती है। पक्षान्तरमें जिन इन्द्रियोंके आधारसे हम विशेषभावसे आत्मसत्ता अनुभव करते हैं उनकी फिर कोई आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। उन्हें पूर्णरूपसे परित्याग कर भी 'हम' अच्छी तरह रह सकते हैं। यह अनुभूति प्राप्त होनेके फलसे इन्द्रियोंकी पारमार्थिक सत्ताविषयक प्रतीति सदाके लिये विलय हो जाती है। इसीका नाम इन्द्रियजय नामक अपूर्व विभूति है। जिन इन्द्रियोंका उच्छेद करते हुए अनेक जन्म बीत गये, जिन इन्द्रियोंकी भोगलालसा निवृत्त करनेकी चेष्टामें अनेक बार जन्म-मरणकी यातनाएँ भोगी गयीं, वे इन्द्रियाँ वास्तविक नहीं हैं, तो क्या अबतक हम मोह या भ्रममें पड़े हुए थे? छायाको भूत मानकर भूतके भयसे व्याकुल थे? अहो! आज कैसा आनन्द है! इन्द्रियाँ कहनेको कुछ भी नहीं हैं। किसी कालमें नहीं थीं। अजी! ऐसी उन इन्द्रियोंके दासत्व-बन्धनसे आज हम सर्वथा मुक्त हैं। इस ज्ञानका उदय होना ही इन्द्रियजय-विभूति है।

प्रियतम साधक! याद रखिये, किसीको भी जीतनेके लिये उससे अधिक बलकी आवश्यकता होती है। जबतक आप इन्द्रियरूप छड़ीका सहारा लेकर आत्मसत्ताका अनुभव करेंगे तबतक आपको इन्द्रियोंके अधीन होकर ही रहना होगा। फिर जब गुरुकृपासे सयम-बल पाकर इन्द्रिय-विरहित आत्मसत्ताको अखण्डभावसे प्रत्यक्ष

कर सकेंगे उसी दिन आपका इन्द्रियजय सिद्ध हो जायगा। किस रीतिसे इन्द्रियजय किया जाता है, यह ऋषिने ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्वरूप क्रमसे बता दिया। भूतजयकी अपेक्षा इन्द्रियजय कठिन है। भूतजय होनेसे स्थूल देहात्म-बुद्धिका विलय होता है और इन्द्रियजय होनेसे सूक्ष्म देहमें जो आत्मबुद्धि है, वह भी विलीन हो जाती है। स्थूल बात यह है कि भूतजयसे मतलब है ग्राह्यका विलय और इन्द्रियजय कहनेसे ग्रहणका विलय। साधनक्रमसे उन्नत स्तरपर आरोहण करते हैं। भूतजय किये बिना कोई इन्द्रियजय नहीं कर सकता। जो लोग यह कहते हैं कि एकदम आत्मस्वरूप प्रकाशित होनेसे ही तो भूतजय और इन्द्रियजय सिद्ध हो जायगा, उन्हें यह भी याद रखना चाहिये कि इस योगशास्त्रके बताये हुए मार्गपर चलनेसे ही आत्मस्वरूपका पता मिलता है। प्रत्येक सम्प्रदायके साधक ज्ञात या अज्ञात सारसे इसी मार्गपर चलते हैं।

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥४८॥

इस सूत्रमें इन्द्रियजयका फल कहा है कि इन्द्रियजय होनेसे—

(१) मनोजवित्व (मनसोऽबाधितविचरणसामर्थ्यमितिभावः। धर्माधर्मादिद्वन्द्वातीतसत्तालाभादेवं भवति) (२) विकरण (कारणरहित आत्मसत्तानुभवः) (३) प्रधानजयश्च (प्रधानस्य लीलाशक्तेरितिभावः) (जयः त्रैकालिकसत्ताहीनतानुभव इत्यर्थः) सत्ता हि नाम सा, या खलु चैतन्यमात्रे व्यवस्थिता, न जडेऽनात्मनि।

मनकी बेरोक-टोक चालकी सामर्थ्यको मनोजवित्व कहते हैं। जबतक आत्मस्वरूपका पता न पाया जाय तबतक मन स्वेच्छापूर्वक नहीं विचर सकता। पाप-पुण्य, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व उपस्थित होकर मनके स्वाधीन उल्लासको विनष्ट कर देते हैं। साधक जितने ही मुक्तिसे अधिक सन्निहित होते रहते हैं अर्थात् इन्द्रियरूपबन्धनरहित होकर आत्मसत्तानुभवकी सामर्थ्य प्राप्त करते जाते हैं, उतना ही स्वाधीनताका आस्वाद पाते रहते हैं। पहले विधि-निषेधका विचार करते हुए कार्य करना होता था और अब खुले मैदानमें आकर उतनी भावना और विचार करनेकी आवश्यकता नहीं होती, मन स्वाधीन विचरता रहता है। साधक यह शङ्का न करें कि इन्द्रिययोगी तो उच्छृङ्खल होकर धर्माधर्मविचार किये बिना स्वच्छन्द कार्य करते होंगे। ऐसा कभी नहीं होता। इस क्षेत्रमें पहुँच जानेपर फिर उनसे निन्दित कर्म तो हो ही नहीं सकते, चित्त सम्यक् निर्मल हुए बिना इन क्षेत्रोंमें पहुँचा ही नहीं जा सकता। अस्तु। अतीन्द्रिय वस्तुसे जितना ही समीप होते जाते हैं उतनी ही अधिक स्वाधीनता आती जाती है। मनकी इस स्वाधीन विचरनेकी सामर्थ्यको मनोजवित्व कहते हैं।

विकरणभाव शब्दका अर्थ है करणरहित अवस्था। करण १४ हैं। ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ और ४ अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार)। इन करणोंसे रहित होकर भी आत्मसत्ता अनुभव करनेकी सामर्थ्यको विकरण भाव कहते हैं। साधारण मनुष्यमें जब यह विकरण अवस्था उपस्थित होती है, तब वह सुषुप्त हो जाता है, फिर वह आत्मसत्ता अनुभव नहीं कर सकता, किन्तु इन्द्रियजयी योगी विकरण होकर भी भावमय-सत्तामय रूपमें अवस्थान कर सकता है। इस सामर्थ्यके प्राप्त होनेसे समझा जाता है कि विकरण विभूतिका आविर्भाव हुआ है।

इसके बाद है प्रधानजय। प्रधान शब्दका अर्थ है प्रकृति। प्रकृति क्या है, यह योगसूत्रके द्वितीय पादमें विस्तारपूर्वक लिखा है। प्रकृति नामसे कुछ है, ऐसी प्रतीतिका लय होना ही प्रकृतिजय है। सत्ता केवल आत्मा (चैतन्यस्वरूप) में ही विद्यमान है, यह प्रत्यक्ष होनेपर फिर अनित्य वस्तुकी सत्ताका ज्ञान रह ही नहीं सकता। अतएव प्रकृति (तीन गुणोंकी साम्यावस्था) वास्तवमें न है और न रह सकती है।

साधनकी पहली अवस्थासे यही मान लिया जाता है कि पुरुष ही प्रकृतिरूपसे अपना प्रकाश करता है, यही ज्ञान लेकर आगे बढ़ते हैं, फिर जब गुरुकृपासे, अनेक जन्मसञ्चित पुण्यबलसे पुरुषका साक्षात्कार प्राप्त होता है तब समझमें आता है कि पुरुष पुरुष ही है, वह कभी प्रकृति नहीं हुआ और न उसे किसी प्रकृतिकी आवश्यकता ही है। इस प्रकार पारमार्थिकी प्रज्ञाका उदय होनेसे प्रकृतिजय नामक चरम विभूतिका साक्षात्कार प्राप्त होता है। मनुष्यजीवनमें इससे श्रेष्ठ अभ्युदय और कुछ भी नहीं है।

साधक! आपने हर गौरी-मूर्ति देखी है? वराभयहस्ता स्वर्णवर्णा गौरी हरकी गोदमें बैठी हैं। उस अपूर्व मूर्ति-

का स्मरण करनेसे इस प्रधानजयका चित्र चित्तपटपर फूट उठता है। जीव जबतक शिशु रहता है, विशुद्ध बोध-स्वरूप पुरुषको अनुभव नहीं कर सकता, तबतक वह प्रकृति ही उस (जीवरूपी शिव) को ज्ञानस्तन्य पान कराकर अनेक जन्मोंतक परिपुष्ट करती रहती है। जब शिशुत्व दूर हो जाता है, जब जीव (शिव) अपने स्वरूप-में प्रतिष्ठित होता है, तब वह प्रकृति ही उसके वशीभूत हो जाती है अर्थात् क्रोडोपरि विराजमान होकर अपूर्व आनन्दरसका आस्वाद प्रदान करती है। इसीसे हम—'शिवमाता शिवानी च ब्रह्माणी ब्रह्मजननी वैष्णवी विष्णु-प्रसूती।' कहकर उनके चरणोंमें प्राणकी पुष्पाञ्जलि देकर धन्य होते हैं।

॥ इति शिवम् ॥

योगकी विभिन्न सिद्धियाँ

(लेखक—वेदान्तभूषण प० श्रीबदरीदासजी पुरोहित)

जके जडमुखापेक्षी, साधना-सिद्धिहीन, विलासविभ्रमरत, मोहावृत भारतको योगकी सिद्धियोंकी बातें 'खं पुष्प' के समान लगें तो इसमें क्या आश्चर्य है! यद्यपि हमारे परमात्मदर्शी पूज्य महर्षियोंने इन सिद्धियोंको तुच्छ समझकर त्याग दिया था और उन्हें अपने आत्मोद्धारके पथमें विघ्नस्वरूप माना था, फिर भी आज जबतक हम उन्हें प्राप्त न कर लें और निरे जबानी जमाखर्चके माफिक यह कह बैठें कि 'सिद्धियाँ विघ्नस्वरूप हैं' तो इससे हमारेमें वह शक्ति, प्रतिष्ठा और स्वतन्त्रता नहीं आ सकती जो हमारे पूर्वजोंमें थी। किसी साधारण वस्तुको त्याग देना या उसे तुच्छ बतला देना सहज है, परन्तु एक अलौकिक शक्ति या सिद्धिको त्याग देना या उसे तुच्छ समझना बहुत बड़ी बात है। आज हम श्रद्धासाधनविहीन मनुष्य जरा-सी भौतिक सिद्धिके लिये तो लालायित हैं परन्तु योगिगणप्राप्त सिद्धियोंको मोहवश अलीक कल्पना मानते हैं, या परमार्थमें बाधक बताकर साधनसे पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं। जिन पुरुषोंको पेटभर भोजन मिलना कठिन है, अपने देशमें स्वतन्त्र रहना भी दुष्कर है, उनके सामने योगकी सिद्धियोंकी चर्चा करना हास्यास्पद हो सकता है; किन्तु यदि गम्भीर विचारपूर्वक देखा जाय तो अपनी वंश-परम्परागत शक्तिका स्मरण कराना अनुचित नहीं है।

योगकी विभिन्न सिद्धियोंको प्राप्त करनेके लिये योग क्या है, उसका किस प्रकार अभ्यास किया जाता है, अभ्याससे पूर्ण योगसे कौन-कौन-सी सिद्धियाँ मनुष्यको मिल सकती हैं? इत्यादि प्रश्नोंको हल करना ही इस लेखका उद्देश्य है। उद्देश्यपूर्तिके लिये सर्वप्रथम हमें यह समझ लेना होगा कि 'योग क्या है?' आजकल 'योग' शब्दका रूढार्थ 'प्राणायाम आदि साधनोंसे चित्तवृत्तियों या इन्द्रियोंका निरोध करना अथवा पातञ्जल-सूत्रोक्त समाधि या ध्यानयोग' है। कठोपनिषद्की छठी वल्लीके ग्यारहवें मन्त्रमें भी इसी अर्थका प्रयोग हुआ है। जैसे—

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

परन्तु ध्यानमें रखना चाहिये कि योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी भगवद्गीतामें यही अर्थ विवक्षित नहीं है। 'योग' शब्द 'युज्' धातुसे बना है जिसका अर्थ 'जोड़, मेल, मिलाप, एकता, एकत्र अवस्थिति' इत्यादि होता है, और ऐसी स्थितिकी प्राप्तिके 'उपाय, साधन, युक्ति या कर्म' को भी 'योग' कहते हैं। ये ही सब अर्थ अमरकोषमें इस तरहसे दिये हुए हैं—

योगः संहननोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु।

फलित ज्योतिषमें कोई ग्रह यदि इष्ट अथवा अनिष्ट हों तो उन ग्रहोंका 'योग' इष्ट या अनिष्ट—अच्छा या बुरा कहलाता है। गीताके 'योगक्षेमम्' पदमें 'योग' शब्दका अर्थ—'अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करना है।' श्रीमद्भगवद्गीता-में 'योग' और 'योगी' अथवा योग शब्दसे बने हुए सामासिक शब्द लगभग 'अस्सी बार' आये हैं। उनमें चार-पाँच स्थानोंके सिवा योग शब्दसे 'पातञ्जलयोग'

अर्थ कहीं भी अभिप्रेत नहीं है। सिर्फ 'युक्ति, साधन, कुशलता, उपाय, भगवत्प्राप्ति, जोड़ और मेल' यही अर्थ कुछ हेर-फेरसे सम्पूर्ण भगवद्गीतामें पाये जाते हैं। अनेक प्रकारकी व्यक्त सृष्टि निर्माण करनेकी कुशलता और अद्भुत सामर्थ्यको भी 'योग' कहा गया है और इसी अर्थमें भगवान् श्रीकृष्णको 'योगेश्वर' कहा है। यही अर्थ योगवासिष्ठमें लीला और चूडालाके आख्यानमे लिया गया है। क्रियात्मक 'योग' शब्दका मुख्य या विशेष अर्थ 'विशेष प्रकारकी कुशलता, साधन, युक्ति या उपाय ही' है। भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि 'योगः कर्मसु कौशलम्' अर्थात् कर्म करनेकी किसी विशेष प्रकारकी कुशलता, युक्ति, चतुराई अथवा शैलीको योग कहते हैं। 'कर्मसु कौशलम्' का यही अर्थ भगवान् श्रीशङ्कराचार्यने भी किया है कि कर्ममें स्वभावसिद्ध रहनेवाले बन्धनको तोड़नेवाली 'युक्ति' है। यदि सामान्यरूपसे देखा जाय तो एक ही कर्मके करनेके लिये अनेक 'योग' हैं। 'सिद्धि और असिद्धि दोनोंमें समबुद्धि रखनेको 'योग' कहते हैं।' इन सबका तात्पर्य यह है कि 'पापपुण्यसे अलिप्त रहकर कर्म करनेकी जो समत्वबुद्धिरूप विशेष युक्ति है वही कौशल है, और इसी कुशलता या युक्तिसे कर्म करनेको 'योग' कहा है।' उपर्युक्त प्रकारसे 'योग क्या है ?' इस प्रश्नका समुचित उत्तर जब हमारी समझमें आ जाता है तब 'योगाभ्यास' करनेमें हमें अवश्य सफलता मिल सकती है।

भारतवर्षमें यों तो बहुत-से योगी हैं। लाखों प्रकारकी युक्तियों और विशेष प्रणालियोंसे लोग कर्म करते हैं परन्तु भारतका दिनोंदिन अधःपतन ही होता जा रहा है। कोई भी व्यक्ति योगेश्वरकी शक्तिको आंशिक भी प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार भारतीय शास्त्रोंमें योगकी सिद्धियोंका वर्णन है, उसमेंसे दो-चार सिद्धियाँ भी आज हमें प्राप्त नहीं हैं। इसलिये यह बात निर्विवाद मान लेनी पड़ेगी कि हमने 'योगाभ्यास' जिस प्रकार करना चाहिये वैसा नहीं किया। यही कारण है कि आज हमारा देश और हमारा समाज दीन-हीन अवस्थामें पड़ा हुआ परमुखापेक्षी बन गया है। इस दुःखद अवस्थाको हमें हटाना होगा। हमें योगकी विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त करनी चाहिये। शास्त्रोक्त पुरुषार्थ करनेपर हम जो चाहें वही योगके द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु दुःख है कि हम भारतवासियोंके घरमें योगवासिष्ठ, उपनिषद् और योगदर्शनके अलावा श्रीभगवद्गीता-जैसे अनुपम योगशास्त्रके रहनेपर भी आज हम दीन, दुखी और परतन्त्र हैं! ऐसा क्यों है? उत्तर स्पष्ट है कि हमने योग शब्दका अर्थ समझकर 'योगाभ्यास' को, समबुद्धिसे आसक्ति त्यागकर सिद्धि और असिद्धिमे समान भाव रखके, नहीं किया, उसीका यह परिणाम हमारे सामने है कि हमारे बाप-दादोंकी असंख्य सिद्धियाँ, जो समस्त संसारको चकित करनेवाली थीं, हमें प्राप्त नहीं हुईं। जबतक हमारा 'योगाभ्यास' सफल नहीं होगा तबतक हमें किसी प्रकारका सच्चा सुख नहीं मिलेगा। अतः इसको प्रयत्नपूर्वक, मनसा, वाचा, कर्मणा सदैव करना चाहिये।

सच्चिदानन्दमय, अनादि, अनन्त ब्रह्म सदा एकरूप है, पूर्ण ज्ञानरूप वह सदैव निष्क्रिय और सृष्टिसे अतीत है। न तो उनको किसी प्रकारकी क्रिया स्पर्श कर सकती है और न उनमें कोई क्लेशोंकी सम्भावना है। भूत, भविष्य और वर्तमानमें वह सदा एकरूपसे ही रहते हैं। इच्छा-अनिच्छारूप इच्छासे उन्हींकी इच्छामयी शक्तिसे यह संसार उत्पन्न होता है, वर्तमान रहता है और पुनः उन्हींमें लयको प्राप्त हो जाता है। जब जीवरूपी चैतन्य अविद्यामें फँसकर अपने आपको प्रकृतिवत् मानने लगा तब वही 'कारण शरीर' बन गया, और अन्तःकरण, पञ्चप्राणसहित पञ्चज्ञानेन्द्रिय और पञ्चकर्मेन्द्रिय मिलकर 'सूक्ष्म शरीर' कहाया, और फिर पञ्चीकरण विधानके अनुसार सूक्ष्म पञ्चतत्त्वोंसे उत्पन्न पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश नामक स्थूल पाँच भूतोंके द्वारा 'स्थूल शरीर' उत्पन्न हुआ। यह 'स्थूल शरीर' जीवके देहपातके पश्चात् यहीं पड़ा रहता है; और 'सूक्ष्म शरीर' विशिष्ट जीव ही जन्मान्तर प्राप्त करता है। 'स्थूल शरीर' केवल सूक्ष्म शरीरका विस्तारमात्र है। जीव जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ कर्म भोगता है और जो कुछ कर्म भविष्यमें भोगनेके लिये होंगे उनका संस्कार ग्रहण करता है। वह सब 'सूक्ष्म शरीरसे' अन्तःकरणमें ही करता है। इसलिये जबतक अविद्याकी स्थिति है, तबतक जीवरूपी चैतन्य अपने आपको अन्तःकरण माने हुए है। जबतक उसका मानना है तबतक उस अन्तःकरणके काममें उसका फँसना भी रहेगा। और जबतक यह भ्रममूलक सम्बन्ध रहेगा, तबतक नाना सुख-दुःखरूपी कर्मोंमें फँसता हुआ जीव आवागमनरूप चक्रपथमें भ्रमता रहेगा।

योग शब्दका अर्थ जोड़ना है। इससे जीवरूप चैतन्य जो अविद्यामें फँसकर परमात्मा, परब्रह्मसे भिन्न हो रहा है, उसकी इस भिन्नताको दूर करके उसके पहले रूपमें उसको लाकर 'जहाँसे निकला था वहीं पुनः पहुँचा देनेका नाम 'योगाभ्यास' है।' इस प्रकारके जितने साधन जीवको मुक्तिपदमें पहुँचानेके लिये वेदशास्त्रोंमें वर्णन किये गये हैं वे सब चार विभागोंमें विभक्त हैं। (१) मन्त्रयोग, (२) हठयोग, (३) लययोग और (४) राजयोग। शास्त्रोक्त किसी मन्त्रका जप और शास्त्रोक्त किसी रूपका ध्यान करते-करते चित्तवृत्तिनिरोधसे परमपद मोक्षके पथमें अग्रसर होनेका नाम 'मन्त्रयोग' है। शारीरिक क्रियाद्वारा चित्तवृत्तिका निरोध करके मुक्तिपथमें अग्रसर होनेका नाम 'हठयोग' है। षट्चक्रके भेदसे बहिर्मुखी शक्तिको ब्रह्माण्डमें लय करके मुक्तिपथमें अग्रसर होनेका नाम 'लययोग' है। केवल बुद्धिकी सहायतासे ब्रह्माभ्यास या ब्रह्मविचारद्वारा चित्तवृत्तियोंसे उपराम होकर आधिभौतिकताको लीनकर अन्तःवाहकताको प्राप्त करते हुए मोक्षमार्गमें अग्रसर होनेका नाम 'राजयोग' है।

'योगाभ्यास' के क्रियासिद्धांगका सार्वभौम दृष्टिसे योगिराज महर्षि पतञ्जलिकृत 'योगदर्शन'में अच्छे प्रकारसे वर्णन है। यह सकल प्रकारके साधनोंकी सार्वभौम भित्ति है। साधक चाहे किसी प्रकारका हो, चाहे वह मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोगका अधिकारी हो, चाहे वह भक्त हो, चाहे ज्ञानी हो, चाहे भोगी हो, चाहे त्यागी हो, परन्तु 'योगाभ्यास' सब प्रकारके जीवोंके लिये कल्याणप्रद है। ऐसे 'योगाभ्यास' करनेके आठ भेद किये हैं और वे ही योगके आठ अङ्ग हैं। जैसे—'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।' इनमें यम, नियम, आसन और प्राणायाम ये चारों बहिर्जगत्के साधन हैं। और प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये चारों अन्तर्जगत्के साधन हैं। इन योगके आठों अङ्गोंका सुकौशलपूर्ण अभ्यास करते-करते साधक शनैः-शनैः अन्तःकरणको निरुद्ध करता हुआ आधिभौतिकताको हटाकर अन्तःवाहकताको पा जानेपर कैवल्य मोक्षको प्राप्त कर लेता है। यही 'योगाभ्यास' करनेका परमोत्तम फल है।

उपर्युक्त प्रकारसे योग क्या है? योगका अभ्यास कैसे किया जाता है? इन प्रश्नोंको जो पुरुष हल कर लेते हैं और 'योगाभ्यास' करके अपने स्थूल देह और अन्तःकरणसे अपना साक्षात् सम्बन्ध हटा लेते हैं वे योगी महात्मा अपने पुरुषार्थके प्रभावसे सभी कुछ कर सकते हैं। वे चाहे जहाँ जा सकते हैं। बिना रोके सर्वत्र भ्रमण करनेके सिवा योगकी विभिन्न सिद्धियोंको प्राप्त करते हैं। योगाभ्याससे सिद्धियोंकी प्राप्ति कैसे होती है? और वे सिद्धियाँ कौन-कौन-सी हैं? इस तृतीय प्रश्नको हल करनेपर हमारे इस लेखका उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। हमने पहले बतला दिया है कि बिना स्थूल देहका अध्यास हटाये अन्तःवाहकता अर्थात् अन्तर्जगत्में प्रवेश नहीं किया जाता। सूक्ष्मता प्राप्त करनेपर समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। आधिभौतिकताको विलीन करने और अन्तःवाहकता—सूक्ष्म शरीर—को पानेके लिये योगियोंने एक ऐसा साधन निश्चित किया है कि उस एक साधनसे ही योगकी विचित्र सिद्धियाँ प्राप्त की जाती हैं। सम्पूर्ण सिद्धियोंको देनेवाले साधनका नाम है—'सयम'। जिस योगीने 'सयम' कर लिया उसने सब कुछ पानेकी शक्तिको अपने वश कर लिया, ऐसा कहनेमें कोई अत्युक्ति नहीं है। 'संयम' क्या है? उसके लक्षण बतलाये जाते हैं—धारणा, ध्यान और समाधि इन तीन साधनक्रियाओंसे जब साधक एक ही पदार्थविशेषमें युक्त हो जाता है तब साधककी उस अवस्थाविशेषको 'सयम' कहते हैं। यह 'सयम' क्रिया सविकल्प समाधिमें हुआ करती है। यह 'सयम' साधनकी ही ताकत है कि जिसके द्वारा महर्षिगण त्रिकालदर्शी हुआ करते थे। यह उस 'सयम' साधनकी ही शक्ति है कि जिससे हमारे पूर्वजोंने बिना बाहरी चेष्टाके किये ही केवल 'सयम' से ही नाना शारीरविज्ञान और ज्योतिष आदिके अलौकिक चमत्कारोंका आविष्कार किया था।

'त्रयमेकत्र सयमः' धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनोंको एक करनेका नाम 'संयम' है। जब किसी एक विषयमें इन तीनों अङ्गोंका एकत्र समावेश किया जाय, तब यही अवस्था सयमकी हो जाती है। सयमसे सम्बन्ध रखनेवाली जो धारणा और समाधि है उनमें विषयकी धारणा रहती है। ध्येयका ध्यान बना रहता है और फिर भी समाधि की जाती है। ऐसा न हो तो अलौकिक योगसिद्धियाँ कैसे प्राप्त हो सकती हैं? यही कारण है कि यह समाधि द्वैताभावसे पूर्ण होती है। इस गहन विषयको और प्रकारसे भी समझ सकते हैं। 'सयमके जयसे प्रज्ञाका प्रकाश होता है।' जितना-जितना 'संयम' स्थिर होता

जाता है उतनी-उतनी ही पूर्ण ज्ञानमय परमात्माकी कृपासे समाधिविषयिणी दिव्य बुद्धि प्रकाशित होती हुई शेषमें पूर्णताको प्राप्त हो जाती है। समाधिविषयिणी बुद्धिसे तात्पर्य है उस भ्रमहीन बुद्धिसे कि जो योगकी विभिन्न सिद्धियोंमें कार्यकारिणी होती है। अतः 'सयमक्रियाका प्रयोगस्थान' केवल धारणा, ध्यान और समाधि इन्हीं तीन भूमियोंमें है। 'सयमक्रिया' धारणाभूमिमें पहुँचकर विषयकी धारणासे प्रकट होकर 'विषयाकार वृत्तिसे' ध्यानभूमिमें पहुँचकर समाधिभूमिमें जाकर सिद्धिलाभ करती है। यही कारण है कि 'सयम' जीवमें अनन्त ऐसी शक्तियोंको प्रकट कर देता है।

पूर्वोक्त प्रकारसे योगाभ्यास करनेवाले योगी महात्माओंको जो 'योगकी विभिन्न सिद्धियाँ' प्राप्त होती हैं, अब उनका सक्षिप्त परिचय दिया जाता है। मोक्षरूपी परम सिद्धिकी प्राप्ति निर्बीज समाधिका फल है, परन्तु सब प्रकारकी दिव्य ऐश्वर्यरूपी नाना अपरा सिद्धियाँ सम्प्रज्ञात समाधिसे ही सम्बन्ध रखती हैं।

पहली सिद्धि

व्युत्थान-सस्कारोंका लय होकर जो निरोध-सस्कारोंका प्रकट होना है, तथा निरोधके क्षणमें जो चित्तका धर्मीरूपमें दोनोंके साथ अन्वय है उसे 'निरोध-परिणाम-सिद्धि' कहते हैं। निरोध-संस्कारसे अन्तःकरणकी शान्ति प्रवाहित होती है। नाना विषयोंके संस्कारसे जो अन्तःकरणकी चञ्चलता होती है उस 'सर्वार्थता' का क्षय और एकाग्रताका उदय ही अन्त:करणमें समाधिका परिणाम है। तब शान्त-प्रत्यय अर्थात् एकाग्रतापरिणाममें सिद्धिकी इच्छा रखनेवाले योगीका अन्तःकरण तरङ्गरहित जलाशयके समान वृत्तियोंकी सर्वार्थताओंसे रहित होकर शान्त हो जाता है, इसी अवस्थाका नाम 'शान्तप्रत्यय' है, और उदितप्रत्यय, अर्थात् शान्तप्रत्ययके साथ ही सिद्धियोंकी इच्छाजनित वासना बीजके वेगसे सिद्धिके उन्मुख योगीका अन्त:करण रहता है, इसी अवस्थाका नाम 'उदितप्रत्यय' है। इन दोनों प्रत्ययोंकी समानतारूप चित्तकी जो स्थिति है वही 'एकाग्रतापरिणाम' है। इससे स्थूल, सूक्ष्मभूत और इन्द्रियोंमें भी 'धर्मपरिणाम', 'लक्षणपरिणाम' और 'अवस्थापरिणाम' वर्णित किये गये हैं ऐसा समझना चाहिये। पृथ्वीरूप धर्मीका जो घटरूप विकार है उसको 'धर्मपरिणाम' कहते हैं। घटका जो अनागत लक्षणके त्यागपूर्वक वर्तमान लक्षणवाला हो जाना घटरूप धर्मका 'लक्षणपरिणाम' है; और वर्तमान लक्षणवाले घटका जो नयापन तथा क्षण-क्षणमें पुरातनपन है उसको 'अवस्था-परिणाम' कहते हैं। इन तीनों परिणामोंका इन्द्रियोंमें भी इस प्रकार विचार किया जाता है—जैसे इन्द्रियोंका जो नील-पीतादि विषयोंका ज्ञान है वही उनका 'धर्मपरिणाम' है, नीलादि ज्ञानका जो वर्तमान लक्षणवाला हो जाना है उसीका नाम 'लक्षणपरिणाम' है, वर्तमान दशामें जो स्पष्टपन या अस्पष्टपन है उसका नाम 'अवस्थापरिणाम' है। शान्त—अतीत, उदित—वर्तमान, और अव्यपदेश्य—भविष्यत्, जो धर्म हैं उनमें अनुगत होनेवाला 'धर्मी' है। परिणामोंके भेदमें क्रमोंका भेद कारणरूप है। क्रमके अदल-बदलसे ही परिणामोंका परिवर्तन होता है, जैसे प्रथम मिट्टीके परमाणु होते हैं, पुनः उनसे मिट्टीका पिण्ड बनता है, फिर मिट्टीके पिण्डसे घट बनता है। घट फूटकर कपाल हो जाता है, कपालसे ठीकरे हो जाते हैं, फिर ठीकरे परमाणुमें परिणत होते हुए, मिट्टीके रूपको ही धारण कर लेते हैं। ठीक वैसे ही अन्त:करणकी पूर्ववृत्ति उत्तर-वृत्तिका पूर्वकारण होती हुई क्रमके अनुसार धर्मान्तर परिणाम करती है। प्रकृतिके सब तरङ्गोंका परिवर्तन और अन्तःकरणमें सुख-दुःख आदि धर्मोंका परिवर्तन ये सब इसी क्रमनियमके ऊपर निर्भर हैं। अतएव धर्म, लक्षण और अवस्था नामक तीनों परिणामोंमें सयम करनेसे योगीको भूत और भविष्यत्का ज्ञान होता है।

दूसरी सिद्धि

शब्द, अर्थ और ज्ञानके एक दूसरेमें मिले रहनेसे संकर अर्थात् घनिष्ठ मेल है, उनके विभागोंमें सयम करनेपर 'सब प्राणियोंकी वाणी' का ज्ञान होता है।

तीसरी सिद्धि

सस्कारोंके प्रत्यक्ष होनेसे योगीको पूर्वजन्मका ज्ञान होता है। जैसे मनुष्यके छायारूप चिह्नको यन्त्रद्वारा धारण करनेकी शक्ति उत्पन्न करके वैज्ञानिकगण फोटोग्राफमें मनुष्यमूर्तिको यथावत् प्रकाशित कर देते हैं वैसे ही संस्कारोंमें संयम करनेसे सस्कारके कारणरूप कर्मोंका यथावत् ज्ञान योगीको हो सकता है।

चौथी सिद्धि

ज्ञानमें संयम करनेपर दूसरेके चित्तका ज्ञान होता है। जिस अन्तःकरणमें जैसा गुणपरिणाम रहता है वैसी ही

उस अन्तःकरणसे सम्बन्धयुक्त ज्ञानकी स्थिति होती है। अतः यदि किसी जीवविशेषके अन्तःकरणका हाल जानना हो तो उसके ज्ञानकी पर्यालोचना करके उस जीवके मनका सब हाल जान सकते हैं।

पाँचवीं सिद्धि

कायागत रूपमें सयम करनेसे उसकी ग्राह्य शक्तिका स्तम्भ हो जाता है; और शक्तिस्तम्भ होनेसे दूसरेके नेत्रके प्रकाशका योगीके शरीरके साथ सयोग नहीं होता, तब योगीके शरीरका अन्तर्धान हो जाता है। जैसे रूपविषयक सयम करनेसे योगीके शरीरके रूपको कोई नहीं देख सकता, उसी प्रकार शब्दादि पाँचोंके विषयमें सयम करनेसे योगीके शरीरके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धको पासमें रहा हुआ पुरुष भी नहीं जान सकता।

छठी सिद्धि

सोपक्रम—जो कर्म शीघ्र फलदायक हो जाता है उस शीघ्र कार्यकारी कर्मकी अवस्थाका नाम 'सोपक्रम' है, जैसे जलसे भीगे हुए वस्त्रको निचोड़कर सुखा देनेसे वस्त्र शीघ्र सूख जाता है। तथा निरुपक्रम—कर्म-विपाककी मन्दताके कारण विलम्बसे फलदायक कर्मकी अवस्थाका नाम 'निरुपक्रम' है, जैसे विना निचोड़ा पिण्डीकृत वस्त्र बहुत कालमें सूखता है। इन दो प्रकारके कर्मोंमें जो योगी सयम करता है उसको मृत्युका ज्ञान हो जाता है। अथवा त्रिविध अरिष्टोंसे मृत्युका ज्ञान होता है।

सातवीं सिद्धि

मैत्री, मुदिता, करुणा और उपेक्षा आदिमें सयम करनेसे तत्सम्बन्धी बलकी प्राप्ति होती है। मैत्रीबल, करुणाबल, मुदिताबल और उपेक्षाबलकी प्राप्ति करके योगी पूर्ण मनोबल अर्थात् आत्मबल प्राप्त करता है। जो शक्ति अन्तःकरणको इन्द्रियोंमें गिरने न देकर नियमितरूपसे आत्मस्वरूपकी ओर खींचती रहती है उसीको 'आत्मबल' या तेज कहते हैं।

आठवीं सिद्धि

बलमें सयम करनेसे योगीको हस्तिके बलादि प्राप्त हो सकते हैं। बल दो प्रकारका है—एक आत्मबल, दूसरा शारीरिक बल। प्रकृति विभिन्न होनेसे बलमें स्वतन्त्रता है, जैसे सिंहबल, गजबल, बलशाली खेचर पक्षियोंका बल और बलशाली जलचरोंका बल। जिस प्रकारके बलकी आवश्यकता हो उसी प्रकारके बलशाली जीवोंके बलमें सयम करनेसे योगीको उसी प्रकारके बलकी प्राप्ति हुआ करती है।

नवीं सिद्धि

ज्योतिष्मती प्रकृतिके प्रकाशको सूक्ष्मादि वस्तुओंमें न्यस्त करके उनपर सयम करनेसे योगीको सूक्ष्म, गुप्त और दूरस्थ पदार्थोंका ज्ञान होता है। लययोगी अपने अन्तर्राज्यमें शरीरके द्विदलस्थानमें शुद्ध तेजपूर्ण बिन्दुका दर्शन करता है। वह ज्योतिष्मती प्रवृत्ति बिन्दुरूपसे आविर्भूत होकर जब स्थिर होने लगती है तब वही बिन्दुध्यान-की अवस्था है। उसी बिन्दुके विस्तारसे योगी सयम-शक्तिकी सहायता और ज्योतिष्मती प्रकृतिकी सहयोगितासे अनेक गुप्त विषय और जलमग्न या पृथ्वीगर्भस्थित समस्त द्रव्यसमूहके देखनेमें समर्थ हो सकता है।

दसवीं सिद्धि

सूर्यनारायणमें सयम करनेसे योगीको यथाक्रम स्थूल और सूक्ष्म लोकोंका ज्ञान हो जाता है। स्थूल लोक प्रधानतः यही मृत्युलोक है। और सात स्वर्ग तथा सात पाताल ये सूक्ष्म लोक कहलाते हैं। अन्यान्य निकटस्थ ब्रह्माण्डोंका ज्ञानलाभ करना भी सूक्ष्म लोकसे सम्बन्ध-युक्त ज्ञान है।

ग्यारहवीं सिद्धि

चन्द्रमामें सयम करनेसे नक्षत्रव्यूहका ज्ञान होता है। ज्योतिषका सिद्धान्त है कि जितने ग्रह हैं उन सबमें चन्द्र एक राशिपर सबसे बहुत ही कम समयतक रहता है। इससे प्रत्येक ताराव्यूहरूपी राशिकी आकर्षण-विकर्षण शक्तिके साथ चन्द्रका अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः उसी शक्तिके अवलम्बनसे नक्षत्रोंका पता लगानेमें चन्द्रकी सहायता सुविधाजनक है।

बारहवीं सिद्धि

ध्रुवमें सयम करनेसे ताराओंकी गतिका पूर्ण ज्ञान होता है। ध्रुवलोक हमारे सौर्य जगत्से इतना दूरवर्ती है कि उस दूरताके कारण हमलोग उसको स्थिर ही देख

रहे हैं। जैसे दूरवर्ती देशमें स्थित किसी अग्निशिखाको उसके स्वभावसे ही चञ्चल होनेपर भी हम एक अचञ्चल ज्योतिर्मय रूपवाली देखते हैं। वैसे ही ध्रुवके चलने-फिरनेपर भी उसके चलनेका हमारे लोकसे कोई सम्बन्ध न रहनेके कारण और परस्परमें अगणित दूरत्व होनेसे हमलोग ध्रुवको अचञ्चल ध्रुव ही निश्चय करते हैं।

तेरहवीं सिद्धि

नाभिचक्रमें संयम करनेपर योगीको शरीरके समुदायका ज्ञान होता है।

शरीरके सात स्थानोंमें सात कमल अर्थात् चक्र हैं; जिनमें छः चक्रोंमें साधन करके सिद्धि प्राप्त होनेपर सातवें चक्रमें पहुँचनेसे मुक्ति प्राप्त होती है। षट्चक्रोंमें-से नाभिके पास स्थित जो तीसरा चक्र है उसमें संयम करनेसे शरीरमें किस प्रकारका पदार्थ किस प्रकारसे है, वात, पित्त और कफ ये तीन दोष किस रीतिसे हैं; चर्म, रुधिर, मांस, नख, हाड़, चर्बी और वीर्य ये सात धातुएँ किस प्रकारसे हैं, नाड़ी आदि कैसी-कैसी हैं; इन सबका ज्ञान हो जाता है।

चौदहवीं सिद्धि

कण्ठके कूपमें संयम करनेसे भूख और प्यास निवृत्त हो जाती हैं। मुखके भीतर उदरमें वायु और आहार आदि जानेके लिये जो कण्ठछिद्र है उसीको 'कण्ठकूप' कहते हैं। यहींपर पाँचवाँ चक्र स्थित है। इसीसे क्षुत्पिपासाकी क्रियाका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

पन्द्रहवीं सिद्धि

कूर्मनाड़ीमें संयम करनेसे स्थिरता होती है। पूर्वोक्त कण्ठकूपमें कच्छप आकृतिकी एक नाड़ी है, उसको कूर्मनाड़ी कहते हैं। उस नाड़ीसे शरीरकी गतिका विशेष सम्बन्ध है। इसीसे यहाँ संयम करनेपर शरीर स्थिरताको प्राप्त हो जाता है। जैसे सर्प अथवा गोह अपने-अपने बिलमें जाकर चञ्चलता और क्रूरताको त्याग देते हैं, वैसे ही योगीका मन इस कूर्मनाड़ीमें प्रवेश करते ही अपनी स्वाभाविक चञ्चलताको त्याग कर देता है।

सोलहवीं सिद्धि

कपालकी ज्योतिमें संयम करनेसे योगीको सिद्धगणोंके दर्शन होते हैं। मस्तकके भीतर कपालके नीचे एक छिद्र है उसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। उस ब्रह्मरन्ध्रमें मन ले जानेसे एक ज्योतिका प्रकाश नजर आता है, उसमें संयम करनेसे योगीको सिद्ध और महात्माओंके दर्शन होते हैं। जीवकोटिसे उपराम होकर सृष्टिके कल्याणार्थ ऐसी शक्तियोंको धारण करके एक लोकसे लोकान्तरमें विचरण करनेवालोंको ही सिद्ध या महात्मा कहा जाता है जो चतुर्दश भुवनोंमें ही विराजते हैं।

सतरहवीं सिद्धि

प्रातिभमें संयम करनेसे योगीको सम्पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है।

योगसाधन करते-करते योगियोंको एक तेजोमय तारा ध्यानावस्थामें दिखलायी पड़ता है, उसी तारेका नाम 'प्रातिभ' है। चञ्चलबुद्धि मनुष्य उस तारेका दर्शन नहीं कर सकते। योगीकी बुद्धि जब शुद्ध होकर ठहरने लगती है तभी उस भाग्यवान् योगीको 'प्रातिभ' के दर्शन होते हैं। इसी प्रातिभको स्थिर कर उसमें संयम करनेसे योगी ज्ञान-राज्यकी सब सिद्धियोंको प्राप्त कर सकता है।

अठारहवीं सिद्धि

हृदयमें संयम करनेसे योगीको चित्तका ज्ञान होता है। चतुर्थ चक्रका नाम हृत्कमल है। इससे अन्तःकरणका एक विलक्षण सम्बन्ध है। चित्तमें नये और पुराने सब प्रकारके संस्कार रहते हैं, चित्तके नचानेसे ही मन नाचता है। चित्तका पूर्ण स्वरूप महामायाकी मायासे जीवपर प्रकट नहीं होता है। जब योगी हृत्कमलमें संयम करता है तब वह अपने चित्तका पूर्ण ज्ञाता बन जाता है।

उन्नीसवीं सिद्धि

बुद्धि पुरुषसे अत्यन्त पृथक् है। इन दोनोंके अभिन्न ज्ञानसे भोगकी उत्पत्ति होती है। बुद्धि परार्थ है, उससे भिन्न स्वार्थ है। उसमें अर्थात् अहंकारशून्य चित्प्रतिबिम्ब-में संयम करनेसे पुरुषका ज्ञान होता है। बुद्धि-पुरुषका जो परस्पर प्रतिबिम्ब-सम्बन्धसे अभेद ज्ञान है वही पुरुष-निष्ठ भोग कहलाता है। बुद्धि दृश्य होनेसे उसका यह भोग-रूप प्रत्यय परार्थ यानी पुरुषके लिये ही है। इस परार्थसे अन्य जो स्वार्थ प्रत्यय है यानी जो बुद्धिप्रतिबिम्बित चित्सत्ताको अवलम्बन करके चिन्मात्ररूप है उसमें संयम करनेसे योगीको नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव पुरुषका ज्ञान हो जाता है। बुद्धिके मलिनभावसे रहित शुद्धभाव-

मय, जेव अहकारसे शून्य, आत्मज्ञानसे भरी हुई जो चिद्भावकी दशा है उसीको जानकर उसमें जब योगी सयम करता है तब उसको पुरुषके स्वरूपका बोध हो जाता है। इस परा सिद्धिके पानेपर योगीको प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता नामक षट्सिद्धियों-की प्राप्ति हो जाती है।

षट्सिद्धियोंका फल

'प्रातिभ सिद्धिसे' योगीको अतीत, अनागत, विप्रकृष्ट और सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। 'श्रावण-सिद्धिसे' योगीको दिव्य श्रवणज्ञानकी पूर्णता यानी प्रण-वध्वनिका अनुभव होता है। 'वेदनसिद्धिसे' योगीको दिव्यस्पर्शज्ञानकी पूर्णता होती है। 'आदर्शसिद्धिसे' दिव्य दर्शनकी पूर्णता, 'आस्वादसिद्धिसे' दिव्य रसज्ञानकी पूर्णता, और 'वार्तासिद्धिसे' दिव्य गन्धज्ञानकी पूर्णता स्वतः प्राप्त हो जाती है। ये सब समाधिमें विघ्नकारक हैं, परन्तु व्युत्थानदशाके लिये सिद्धियाँ हैं।

बीसवीं सिद्धि

बन्धनका जो कारण है उसके शिथिल हो जानेसे और सयमद्वारा चित्तकी प्रवेशनिर्गममार्गनाड़ीके ज्ञानसे चित्त दूसरे शरीरमें प्रवेश कर सकता है। चञ्चलताको प्राप्त हुए अस्थिर मनका शरीरमें द्वन्द्व तथा आसक्तिजन्य बन्धन है, समाधिप्राप्तिसे क्रमशः स्थूल शरीरसे सूक्ष्म शरीरका यह बन्धन शिथिल हो जाता है। सयमकी सहायतासे चित्तके गमनागमनमार्गीय नाड़ीज्ञानसे स्वतः सूक्ष्म शरीर-को कहीं पहुँचा देनेका नाम प्रवेशक्रिया है, और पुनः उस सूक्ष्म शरीरको ले आनेका नाम निर्गम-क्रिया है। इन दोनोंका जब योगीको बोध हो जाता है तब योगी जब चाहे तब अपने शरीरसे निकलकर दूसरेके शरीरमें प्रवेश कर सकता है।

इक्कीसवीं सिद्धि

उदानवायुके जीतनेसे जल, कीचड़ और कण्टक आदि पदार्थोंका योगीको स्पर्श नहीं होता और मृत्यु भी वशीभूत हो जाता है। ऊर्ध्वगमनकारी कण्ठसे लेकर सिरतक व्यापक जो वायु है वही 'उदानवायु' कहलाता है। यह ऊर्ध्वगमनकारी होनेसे उसमें सयम करनेवाले योगीका शरीर जल, पङ्क और कण्टक आदिसे नष्ट नहीं होता। उदानवायुसे सब स्नायुओंकी क्रियाएँ नियमित रहती हैं। मस्तिष्कका स्वास्थ्य ठीक रहकर चेतनकी क्रिया बनी रहती है। इसके अतिरिक्त उदानवायुसे प्राणमय कोश-सहित 'सूक्ष्म शरीर' पर आधिपत्य बना रहता है। अतएव उदानवायुके जयसे योगी इच्छानुसार शरीरसे प्राणोत्क्र-मणरूप इच्छामृत्युको प्राप्त कर सकता है। जैसे भीष्म पितामहने उत्तरायण सूर्य आनेपर ही देहत्याग किया था।

बाईसवीं सिद्धि

समानवायुको वश करनेसे योगीका शरीर ज्योतिर्मय हो जाता है। नाभिके चारों ओर दूरतक व्यापक रहकर समताको प्राप्त हुआ जो वायु जीवनी क्रियाको साम्या-वस्थामें रखता है उस वायुको 'समानवायु' कहते हैं। इस शरीरकी समानताका इस वायुसे प्रधान सम्बन्ध है। शारीरिक तेजशक्ति ही जीवनी क्रियाको साम्यावस्थामें रखती है। इसीलिये समानवायुको सयमसे जीत लेनेसे योगी तेजःपुञ्ज हो जाता है।

तेईसवीं सिद्धि

कर्ण-इन्द्रिय और आकाशके आश्रयाश्रयिरूप सम्बन्धमें संयम करनेसे योगी दिव्यश्रवणको प्राप्त होता है। समस्त श्रोत्र और शब्दोंका आधार आकाश है। जबतक कानके साथ आकाशका सम्बन्ध रक्खा जाता है तबतक शब्द सुनायी पड़ते हैं, अन्यथा नहीं। इससे कान और आकाशका जो आश्रयाश्रयिरूप सम्बन्ध है उसमें सयम करनेसे योगी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म छिपे हुएसे अति छिपे हुए, दूरवर्ती-से-दूरवर्ती और नानाप्रकारके दिव्य शब्दोंको श्रवण कर सकता है।

चौबीसवीं सिद्धि

शरीर और आकाशके सम्बन्धमें सयम करनेसे और लघु यानी हलकी रुई जैसे पदार्थकी धारणासे आकाशमें गमन हो सकता है। आकाश और शरीरका व्यापक और व्याप्यरूपसे सम्बन्ध है। आकाश सब भूतोंसे हलका है। और सर्वव्यापी है, इसलिये योगी जब आकाश और शरीरके सम्बन्धमें सयम करता है और उस समय लघुताके विचारसे रुई आदि हलके-से-हलके पदार्थोंकी धारणा भी रखता है, तब इस क्रियासे उसमें हलकेपनकी सिद्धि हो जाती है।

पचीसवीं सिद्धि

शरीरसे बाहर जो मनकी स्वाभाविक वृत्ति है उसका नाम 'महाविदेहधारणा' है, उसके द्वारा प्रकाशके आवरणका नाश हो जाता है। स्थूल शरीरसे बाहर शरीरके आश्रयोंकी अपेक्षा न रखनेवाली जो मनकी वृत्ति है उसे 'महाविदेह' कहते हैं। उसीसे ही अहंकारका वेग दूर होता है। उस वृत्तिमें जो योगी सयम करता है उससे प्रकाशका ढकना दूर हो जाता है। जबतक शरीरका अहंकार रहता है तबतक मनकी बाह्य वृत्ति रहती है, परन्तु जब शारीरिक अहंकारको त्यागकर स्वतन्त्रभावसे मनकी वृत्ति बाहर रहती है तभी योगीका अन्तःकरण मलरहित और निःसङ्ग रहता है। शरीरसे लगी हुई मनकी जो बाहरी वृत्ति है उसका नाम 'कल्पिता' है। परन्तु शरीरकी अपेक्षा न रखकर देहाध्याससे रहित जो मनकी स्वाभाविकी और निराश्रयी बाहरी वृत्ति है वही अकल्पित है। कल्पितको छोडकर अकल्पित जो महाविदेहवृत्तिका साधन किया जाता है, उसके सिद्ध होनेपर प्रकाशस्वरूप बुद्धिका पूर्ण विकास हो जाता है। तब अहंकारसे उत्पन्न हुए क्लेश, कर्म और कर्मफल, इनके सम्बन्धसे साधक मुक्त हो जाता है। तथा रज-तमका आवरण हट जाता है जिससे योगी अपने अन्तःकरणको यथेच्छ ले जानेकी सिद्धिको प्राप्त करता है।

छब्बीसवीं सिद्धि

'पञ्चतत्त्वोंकी स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व ये पाँच अवस्थाविशेष हैं, इनमें सयम करनेसे भूतोंपर जयलाभ होता है।' भूतोंकी 'स्थूल-अवस्था' वह है जो दृष्टिगोचर हुआ करती है। 'स्वरूपावस्था' वह है—जो स्थूलमें गुणरूपसे अदृष्ट हो। जैसे तेजमें उष्णता है। 'सूक्ष्मावस्था' तन्मात्राओंकी है। 'अन्वयावस्था' व्यापक सत्त्व, रज और तमोगुणकी है। और पञ्चम 'अर्थवत्त्वावस्था' फलदायक होती है। जब योगी पञ्चभूतोंकी इन अवस्थाओंमें सयमद्वारा उनको जय कर लेता है तब प्रकृति अपने-आप उस योगीके अधीन हो जाती है। जैसे गौ अपने-आप ही बच्चेको दूध पिलाया करती है वैसे ही पञ्चभूतके जयसे प्रकृति वशीभूत हो जानेपर वह प्रकृति माता अपने-आप ही उस योगीकी सेवामें तत्पर हो जाती है।

अष्ट सिद्धियाँ

'भूतजयानन्तर अणिमादि 'अष्ट सिद्धि', सिद्धियोंका प्रकाश, शरीरसम्बन्धी सब सम्पत्तियोंकी प्राप्ति और शरीरके रूपादि धर्मोंका अनभिघात होता है।' अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व और ईशित्व—ये ही 'अष्ट सिद्धियाँ' हैं। जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको सूक्ष्म अणुसे भी सूक्ष्मतर कर लेता है तब उसे 'अणिमासिद्धि' कहते हैं। 'लघिमासिद्धि'—उसको कहते हैं कि जब योगी इच्छा करते ही अपने स्थूल शरीरको हलकेसे भी हलका कर सके और आकाशके अवलम्बनसे जहाँ चाहे वहीं जा सके। 'महिमासिद्धि' वह है कि जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको चाहे जितना बढ़ा सके। 'गरिमासिद्धि' वह कहलाती है कि जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको चाहे जितना भारी-से-भारी कर सके। 'प्राप्तिसिद्धि' वह कहाती है कि जब योगी इच्छा करते ही एक लोकसे लोकान्तरमें यानी किसी ग्रह, उपग्रह, सूर्य या किसी महासूर्यमें जहाँ चाहे वहीं पहुँच सके। 'प्राकाम्यसिद्धि' वह है कि जब योगी जिस किसी पदार्थकी इच्छा करे तभी वह पदार्थ उसको प्राप्त हो जाय, अर्थात् त्रिलोकमें उसको अप्राप्त कोई भी पदार्थ न रहे। 'वशित्वसिद्धि' वह कहाती है कि जिससे योगीके वशमें समस्त पञ्चभूत और सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ आ जाते हैं। और यह जैसे चाहता है वैसे ही पञ्चभूतोंसे काम ले सकता है। वह स्वयं किसीके भी वशमें नहीं होता। 'ईशित्वसिद्धि' उसको कहते हैं कि जब योगी भूत और भौतिक पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेकी शक्तिको प्राप्त हो जाता है, यदि वह नवीन सृष्टिको करना चाहे तो वह भी आंशिकरूपसे कर सकता है। ये ही अष्ट सिद्धि हैं। इन सिद्धियोंके साथ-साथ योगीको रूप, लावण्य, बल और वज्रतुल्य दृढता ये सब कायसम्पत्तियाँ मिल जाती हैं। रूप और लावण्य उसे कहते हैं कि यह स्थूल शरीर ऐसी दिव्य सुन्दरताको धारण करे कि तब उस शरीरके रूपकी माधुर्यतासे सब प्रकारके दर्शक ही मोहित हो जायँ। चाहे दर्शक देवता हो चाहे मानव, चाहे पशु और जीव हो, सब उसकी मूर्तिको देखते ही मोहित हो जायँ। प्रकृति ही जिसके वशीभूत हो जाती है उसके बलकी तुलना किससे हो सकती है? सब शस्त्रोंसे महातीव्र वज्रकी तरह उसका शरीर दृढ़ हो जाता है।

सत्ताईसवीं सिद्धि

'ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व नामक इन्द्रियोंकी पाँच वृत्तियोंमें सयम करनेसे इन्द्रियोंका जय

होता है।' सामान्य और विशेषरूपसे शब्दादि जितने विषय हैं वे सब बाहरी विषय ग्राह्य कहलाते हैं, उन ग्रहण करनेयोग्य विषयोंमें जो इन्द्रियोंकी वृत्ति जाती है उस वृत्तिको 'ग्रहण' कहते हैं। किसी रीतिसे बिना विचारे विषय जब अकस्मात् गृहीत हो जाते हैं, तब मनका उसमें प्रथम विचार ही 'स्वरूपवृत्ति' है। उस अवस्थामें जो अहङ्कारका सम्बन्ध रहता है, वह अहङ्कारमिश्रित भाव ही 'अस्मितावृत्ति' कहा जाता है। फिर बुद्धिद्वारा उस स्वरूपके विचारको यानी जब बुद्धि सत्यासत्य, सामान्य और विशेष-का विचार करने लगती है तब उस वृत्तिको 'अन्वय' कहते हैं। नाना विषयोंको प्रकाश करनेवाली, स्थितिशील, अहङ्कारके साथ सब इन्द्रियोंमें व्यापक, बहकी हुई जो वृत्ति है वही पञ्चम 'अर्थवत्त्ववृत्ति' कहलाती है। इन इन्द्रियोंकी पाँचो वृत्तियोंमें सयम करके इन्हें अपने अधीन कर लेनेसे इन्द्रियगणका पूर्ण जय होता है।

इन्द्रियजयका फल

'इन्द्रियजयके अनन्तर मनोजवित्व, विकरणभाव और प्रधानजयकी सिद्धियाँ योगीको स्वतः प्राप्त हो जाती हैं।' मनकी गतिके समान शरीरकी उत्तम गतिकी प्राप्तिको 'मनोजवित्व' कहते हैं, अर्थात् मनकी तरह शीघ्र ही अनेक योजनव्यवहित देशमें गमन करनेकी शरीरमें सामर्थ्य होनेका नाम मनोजवित्व है। शरीरके सम्बन्धको त्यागकर जो इन्द्रियोंकी वृत्तिका प्राप्त करना है उसे 'विकरणभाव' कहते हैं, अर्थात् जिस देश, काल या विषयोंमें अभिलाषा हो, शरीरके बिना ही चक्षुरादि इन्द्रियोंसे गति प्राप्त होनेका नाम 'विकरणभाव' है। प्रकृतिके विकारोंके मूल कारणको जय करनेका नाम 'प्रधानजयत्व' है जिससे सर्ववशित्व प्राप्त होता है। ये सिद्धियाँ स्वतः मिलती हैं।

अट्ठाईसवीं सिद्धि

'बुद्धि और पुरुषमें पार्थक्य-ज्ञानसम्पन्न योगीको सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व प्राप्त होता है।' जब अन्तःकरणकी ऐसी निर्मल अवस्था होती है तब अपने-आप परमात्माका शुद्ध प्रकाश उसमें प्रकाशित होने लगता है, जिससे योगीको बुद्धिरूप दृश्य और पुरुषरूप द्रष्टामें जो तात्त्विक भेद है वह स्पष्ट अनुभव होने लगता है, और ऐसी परिस्थितिमें योगी अखिल भावोंका स्वामी और सकल विषयोंका ज्ञाता बन जाता है।

उनतीसवीं सिद्धि

जितने कालमें एक परमाणु पलटा खाता है उसको क्षण कहते हैं और उसके अवच्छिन्न प्रवाहको क्रम कहते हैं। उनमें संयम करनेसे विवेक यानी अनुभवसिद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है। भौतिक पदार्थके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भागको 'परमाणु' कहते हैं। जिस कालसे कम भागमें काल विभक्त न हो सके, उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म काल-भागको 'क्षण' कहते हैं। उन परमाणुओंकी गति अर्थात् प्रवाहका जो रूप है उसको 'क्रम' कहते हैं। क्रम क्षणसे ही जाना जाता है। भूत क्षणका परिणाम वर्तमान क्षण है। वर्तमान क्षणका परिणाम भविष्यत् क्षण होगा। इस प्रकार समस्त ब्रह्माण्डोंकी सृष्टिक्रिया एक ही क्षणका परिणाम है। इस योगबुद्धिसे क्षण और क्रममें सयम करके उनका साक्षात् ज्ञानलाभ करनेसे अभ्रान्त और पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति होती है। तब योगी जिस विषयको देखता है उसका ही यथार्थ पूर्णरूप देख लेता है। यही योगीकी त्रिकालदर्शी अवस्था है।

परासिद्धि

'उपर्युक्त अपरा सिद्धियोंकी प्राप्तिके अनन्तर योगीको विवेकाख्यातिजनित वैराग्यके कारण दोषोंके बीज-नाश हो जानेपर 'कैवल्यकी प्राप्ति' होती है।' सिद्धियाँ दो प्रकारकी हैं, एक परा और अन्य अपरा। विषयसम्बन्धीय सब प्रकारकी उत्तम, मध्यम और अधम सिद्धियाँ 'अपरा सिद्धि' कहलाती हैं। ये सिद्धियाँ मुमुक्षु योगीके लिये हेय हैं। इनके सिवा जो स्वस्वरूप अनुभवके उपयोगी सिद्धियाँ हैं वे योगिराजके लिये उपादेय 'परा सिद्धियाँ' हैं।

पाठकगण! लेख-विस्तारसे 'योगकी विभिन्न सिद्धियों' का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। यदि आजकलका भारत इन सिद्धियोंमेंसे एकको भी भलीभाँति प्राप्त कर ले तो हमारी दीनहीन दशा दूर हो जाय और हम पुनः अपने पूर्वजोंके समान सदैव सुखी और स्वतन्त्र हो सकें। अतएव योग क्या है? योगाभ्यास किस प्रकारसे करना चाहिये? और योगकी विभिन्न सिद्धियाँ किस प्रकार प्राप्त हो सकती है? इत्यादि प्रश्नोंका समीचीन उत्तर आपके सामने है। हमारी प्रार्थना है कि 'कल्याण'के प्रेमी पाठक इस लेखसे उत्साहित होकर योगाभ्यास करके अपना, अपने देश और समाजका अवश्य ही अभ्युत्थान करें।

हिन्दू और बौद्ध-धर्ममें सिद्धियोंका स्थान

(लेखक—डा० एफ० ऑटो श्राडर, पी-एच० डी०, विद्यासागर, कील विश्वविद्यालय, जर्मनी)

सिद्धियोंकी सचाईको भारतवासी अति प्राचीन कालसे मानते आये हैं। परन्तु वैज्ञानिक पद्धतिसे उनके निरूपणकी अथवा उनके वर्गीकरण-की चेष्टा भारतीय वाङ्मयमें उसी समयसे मिलती है जिस समय इस देशमें उन दार्शनिक सिद्धान्तोंका विकास हुआ जिनका क्रियात्मक भाग योगशास्त्रके रूपमें उपलब्ध होता है अथवा जिनके क्रियात्मक भागका एक अंश योगशास्त्रके नामसे प्रसिद्ध हुआ। इन दार्शनिक सिद्धान्तोंमें केवल सांख्ययोग-नामसे प्रसिद्ध शास्त्र ही शामिल नहीं है जिसका यह संयुक्त नाम इस बातको सूचित करता है कि उसमें सिद्धान्त और क्रिया दोनोंका समावेश है—अपितु बौद्ध एवं जैनदर्शन भी सम्मिलित हैं। इतना ही नहीं, हमारी यह धारणा भी युक्तिविरुद्ध नहीं मालूम होती कि उस प्राचीन युगमें किसी भी दार्शनिक सिद्धान्तके प्रचलित होनेकी तबतक आशा नहीं हो सकती थी जबतक उसमें जगत्‌की उत्पत्ति आदिका विचार (सांख्य) न किया गया हो और साथ ही जिसमें मानसिक शक्तियोंके विकास-की कोई प्रक्रिया (योग) न बतायी गयी हो। हाँ, पीछे जाकर अवश्य ये दोनों भाग किसी अंशमें एक दूसरेसे अलग हो गये, जिसका कारण था उस समयके विद्वानोंकी किसी एक विषयको लेकर उसका स्वतन्त्ररूपसे विवेचन करनेकी प्रवृत्ति, यद्यपि फिर भी ये दोनों सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हो गये और दोनोंमें परस्पर आदान-प्रदान बराबर जारी रहा, उदाहरणतः, पातञ्जलदर्शनमें केवल योगका ही निरूपण करनेकी प्रतिज्ञा की गयी है, किन्तु उसका दार्शनिक आधार सांख्य ही है, और वेदान्तसूत्रके 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' (वे० सू० २।१।३) इस सूत्रमें जो योगका निराकरण किया गया है वह केवल उसके उपर्युक्त दार्शनिक आधारका ही आंशिकरूपसे खण्डन है, न कि योगकी प्रक्रियाका। उसका तो अन्य दर्शनोंकी भाँति वेदान्तने भी समर्थन किया है।

पातञ्जलयोग तथा बौद्धमतमें योगके उस भागका जिसका सम्बन्ध सिद्धियोंसे है क्या स्थान है, इसी बातका विचार नीचेकी पंक्तियोंमें संक्षेपरूपसे किया जायगा, योगसूत्रमें दो जगह, अर्थात् 'विभूतिपाद' नामक तीसरे पादके सैंतीसवें और पचासवें सूत्रोंमें सिद्धियोंका गुणदोषनिरूपण किया गया है। सैंतीसवाँ सूत्र इस प्रकार है—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।

अर्थात् ये (सिद्धियाँ) समाधिमें विघ्नरूप हैं और व्युत्थान (जाग्रत्) अवस्थामें सिद्धियाँ हैं। इस सूत्रके पूर्वार्धमें सिद्धियोंकी जो विघ्नरूपसे हेयता बतायी गयी है उसके सम्बन्धमें यदि किसीको कुछ शङ्का हो तो उसका पचासवें सूत्रसे निराकरण हो जाता है, जो इस प्रकार है—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।

अर्थात् इन (सिद्धियों) से भी वैराग्य कर लेनेपर (मन हटा लेनेपर) दोषोंका बीज नाश होकर कैवल्य (मुक्ति) की प्राप्ति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि सिद्ध योगी अपनी इन अलौकिक शक्तियोंका उपयोग करना तो दूर रहा, उनकी ओर आँख उठाकर ताकेगा भी नहीं, क्योंकि वह इस बातको जानता है कि वे उसके लिये सहायक न होकर उलटा उसके पतनका कारण हो सकती हैं, क्योंकि वह उन्हींको परम लक्ष्य मानकर सन्तोष कर बैठता है, जैसा कि श्रीसदाशिवेन्द्र सरस्वती अपने 'योगसुधाकर' नामक ग्रन्थमें लिखते हैं—

यदि तत्रापेक्षा स्याद् तदा मोक्षाद् भ्रष्टः कथं कृतकृत्यतामियाद्।

परन्तु इसपर यह शङ्का होती है कि उपर्युक्त सूत्रके उत्तरार्धमें जो सिद्धियोंकी प्रशंसा की गयी है उसका क्या अर्थ है? उसका अर्थ यह तो हो नहीं सकता कि जो योगी नहीं हैं उन्होंने सिद्धियोंकी इस प्रकार प्रशंसा की है, अपितु इसका अर्थ तो यह होना चाहिये कि वे योगियोंके लिये भी समाधिसिद्धिमें, उसके सिद्ध न होनेतक किसी-न-किसी रूपमें सहायक होती हैं। यहाँपर यह प्रश्न होता है कि साधन-मार्गपर चलनेवाले योगीको किस भूमिकापर पहुँचनेपर ये सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। विभूतिपाद-के अन्तिम सूत्रकी व्याख्यामें भाष्यकार महर्षि व्यास इन

सिद्धियों (ऐश्वर्य) को 'समाधिज' अर्थात् समाधिसे उत्पन्न हुई बतलाते हैं। निश्चय ही यह समाधि वह समाधि नहीं है जिसका उल्लेख उपर्युक्त सूत्र (३।३७) मे आया है, क्योंकि यदि ये सिद्धियाँ उसी समाधिसे उत्पन्न होनेवाली हो जिसके मार्गमे ये विघ्नरूप है तो वे केवल उसका आनुषङ्गिक फल ही मानी जायँगी जिनका परिणाम अशुभके सिवा शुभ कभी हो नहीं सकता। वास्तवमे तो योगशास्त्रमे व्यवहृत 'समाधि' शब्दका अर्थ बहुत व्यापक है और उसके कम-से-कम दो विशिष्ट अर्थ है, जैसा कि 'सम्प्रज्ञात समाधि' और 'असम्प्रज्ञात समाधि' इन दो समस्त पदोंसे प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'व्युत्थान' शब्दका अर्थ भी बिल्कुल असन्दिग्ध नहीं है। योगी जब ऊपर उठता हुआ क्रमशः उच्चतर स्थितिको प्राप्त होता है जो पहलेकी अपेक्षा उत्तरोत्तर आवरणशून्य होती जाती है, तो आगेकी उच्चतर स्थितिकी दृष्टिमें प्राक्तन स्थिति व्युत्थान अवस्था ही है। अतः असम्प्रज्ञात समाधिकी अपेक्षा सम्प्रज्ञात समाधिमे मनकी व्युत्थित अवस्था ही रहती है और इसलिये उपर्युक्त सूत्रमें 'व्युत्थान' शब्द एक प्रकारसे सम्प्रज्ञात समाधिका ही बोध कराता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि इस सम्प्रज्ञात समाधिमे उपर्युक्त सिद्धियोका विकास होता है और उनसे आगे बढ़नेमे सहायता मिलती है। सिद्धियोकी उत्पत्तिका स्थान-निर्णय करनेमे हमारे लिये कदाचित् इससे अधिक सचाईके निकट पहुँचना सम्भव नही होगा। यह प्रसिद्ध ही है कि निम्न श्रेणीकी अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधिकी (सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार, इस प्रकार) चार भूमिकाएँ हैं, परन्तु जहाँतक मुझे मालूम है, किसी भी ग्रन्थमे इनमेंसे किसी एकको सिद्धियोकी उत्पत्तिमें विशिष्ट कारण नहीं माना गया है। और सिद्धियाँ अनेक है, इससे ऐसी बात सम्भव भी नहीं मालूम होती। इन सिद्धियोंको साधक चारो भूमिकाओमेसे होता हुआ अथवा यों कहिये कि तीसरी और चौथी भूमिकामे एक-एक करके प्राप्त करता है (और कदाचित् सारी सिद्धियाँ प्रत्येक साधकके अन्दर प्रकट भी नहीं होतीं, क्योंकि सभी योगी समान शक्तिवाले नहीं होते)। अब अन्तिम प्रश्न यह रह जाता है कि सिद्धियोंसे योगीको जिस सहायताका प्राप्त होना माना गया है वह सहायता किस प्रकारकी होती है, उसका स्वरूप क्या है? इस प्रश्नका उत्तर योगसूत्रके किसी सूत्रमे नहीं मिलता। हाँ, व्यासजीने अपने भाष्यकी उस पंक्तिमे जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं यह लिखा है कि ज्ञानकी ही भाँति समाधिजन्य ऐश्वर्य (अर्थात् सिद्धियाँ) भी सत्त्वशुद्धि (अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धि) का कारण होता है। इससे अधिक वे कुछ नहीं कहते और वाचस्पति मिश्र भी इस विषयपर कुछ अधिक प्रकाश नहीं डालते। ऐसी दशामें, आकाशगमन-जैसी सिद्धिसे किस प्रकार अन्तःकरण-की शुद्धि होती है इस बातका पता लगानेके लिये हमारे पास अनुमानके सिवा कोई दूसरा उपाय नहीं रह जाता। कदाचित् हम यह कह सकते हैं कि उपर्युक्त सिद्धियोंके प्राप्त हो जानेपर योगीको ऐसा अनुभव होने लगता है कि मैं प्रकृतिसे मुक्त हो गया अथवा मैंने प्रकृतिपर जय प्राप्त कर ली (देखिये योगसूत्र ३।४८) और इस प्रकार उसका देहाभिमान कम हो जाता है। परन्तु उनसे मुख्य लाभ तो हमारी समझसे साधकको यह होता है कि वे उसके लिये एक सनदका काम देती हैं जिसके द्वारा उसकी प्रगतिका पता लगता है और उसे अपने साधनमे आगे बढ़नेके लिये प्रोत्साहन मिलता है। अन्तमे ये बातें ध्यानमे रखनेकी हैं कि (१) कैवल्यकी प्राप्तिके लिये सिद्धियोंकी आवश्यकता नहीं है (देखिये योगसूत्र ३।५५ का भाष्य), और (२) वे योगाभ्याससे ही मिलती हों यह बात नहीं है, किन्तु कम-से-कम उनमेसे कुछ तो जन्मसिद्ध भी हो सकती हैं अथवा ओषधिप्रयोग, मन्त्रबल अथवा तपोबलसे भी प्राप्त हो सकती है (देखिये यो० सू० ४।१)। अतः सभी सिद्धिप्राप्त पुरुष महात्मा ही हों यह आवश्यक नहीं है, बल्कि उनमेंसे कुछ धूर्त भी हो सकते हैं।

अब हमलोग प्राचीन बौद्ध योगकी ओर एक दृष्टि डालें जो पातञ्जलयोगसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है। भगवान् बुद्धने, जो निःसन्देह एक महान् योगी थे, समाधि और सिद्धि दोनोका ही उपदेश दिया है। परन्तु सिद्धियोंका उल्लेख न तो उनकी 'महाबोधि' के ही वर्णनमे मिलता है और न उनके परिनिर्वाणके प्रसगमे, और इन दोनों स्थितियों-के सम्बन्धमें यह वर्णन मिलता है कि समाधिकी उच्चतम अवस्थासे ही इनकी सिद्धि हुई थी। इस बातकी ओर लक्ष्य कराना इसलिये आवश्यक हो गया है कि कतिपय यूरोपीय विद्वानोंने अभी थोड़े ही दिन हुए यह मत प्रकट किया है कि बौद्ध योगमे उच्चतम समाधि अर्थात् बौद्धोके चतुर्थ ध्यानके आधारपर ही सिद्धियोका विकास होता है। वे लोग

अपने इस मतकी पुष्टिमें 'सामञ्ञफल सुत्त' नामक एक ग्रन्थ-का प्रमाण देते हैं जिसमें चारो ध्यानोंकी सिद्धिको सिद्धियोंकी प्राप्तिके साधनोंकी अपेक्षा नीचा बतलाया गया है और यह भी लिखा है कि इन ध्यानोंके सिद्ध हो जानेके अनन्तर सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिये साधन होता है तथा इन्हींके साथ कतिपय अन्य विभूतियों एवं अनुभूतियोंकी प्राप्तिके लिये साधन होता है और तब जाकर 'दुःखके पवित्र तत्त्व'का पूर्ण ज्ञान होता है। परन्तु परलोकवासी प्रोफेसर ऑटो फ्रैंके (Otto Franke) ने यह सिद्ध किया है कि इस ग्रन्थके अन्दर जो कुछ है वह जहाँ-तहाँसे संगृहीतकर मद्दी तरहसे एक जगह रख दिया गया है। यह संग्रह भगवान् बुद्धके निर्वाणके पश्चात् किसी ऐसे समयमें किया गया होगा जब प्राचीन योगपद्धतिका यथार्थ ज्ञान बहुत कम लोगोंमें रह गया था। (जिस प्रकार यह आजकल उन देशोंमें जहाँ पाली ग्रन्थोंमें निरूपित बौद्धमतका प्रचार है केवल ग्रन्थोंमें ही रह गया है।) उपर्युक्त सिद्धान्तका ध्यानोंके मूल सिद्धान्तके साथ विरोध आता है, इसी प्रकार एक सिद्धान्त और भी इसके विरुद्ध मिलता है जो निःसन्देह पहलेकी अपेक्षा अर्वाचीन होनेके साथ-ही-साथ उतना असङ्गत भी नहीं है। यह यह है कि आठ प्रकारके जो विमोक्ष कहे गये हैं उनमेंसे उच्चतर कोटिके विमोक्षोंसे कतिपय ऐसे लोकोंकी प्राप्ति होती है जो ध्यानोंके द्वारा प्राप्त होनेवाले लोकोंसे ऊँचे हैं। पालीभाषाके धर्मग्रन्थोंमें इस बातके प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि बौद्धधर्मके मूल सिद्धान्तोंमें उच्चतम कोटिके ध्यानकी अपेक्षा सिद्धियोंका स्थान किसी प्रकारसे भी ऊँचा नहीं माना गया है। वहाँ उन्हें निर्वाणलाभके लिये आवश्यक नहीं समझा गया है। उनके सम्बन्धमें तो केवल यही माना गया है कि जो थोड़े-से लोग प्रकृतिसे विषयलोलुप होते हैं उन्हें योगाभ्यासके आनुषङ्गिक फल-रूपमें ये सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। सिद्धिप्राप्त पुरुषोंमें (अथवा, यों कह सकते हैं कि उन लोगोंमें जिन्हें कतिपय सिद्धियाँ प्राप्त थीं) देवदत्त-जैसा अधम अधिकारी भी था जो भगवान् बुद्धका चचेरा भाई और शिष्य था और जिसने अपने गुरुको मारनेकी कई बार चेष्टा की थी। फिर, यह भी स्पष्ट है कि सिद्धियोंके प्रति भगवान् बुद्धकी आदरबुद्धि नहीं थी। अवश्य ही वे महामोग्गल्लन नामक अपने शिष्यको 'इद्धि' (सं. ऋद्धि=सिद्धि) प्राप्त पुरुषोंमें अग्रगण्य, अनिरुद्धको दूरदृष्टिसम्पन्न पुरुषोंमें श्रेष्ठ एवं पन्थकको बहुकायनिर्माणमें प्रमुख कहकर उनकी प्रशंसा किया करते थे, किन्तु पिण्डोल भरद्वाजकी इन्होंने इस बातके लिये बड़ी भर्त्सना की कि वह किसी गृहस्थके कहनेपर हवामें उड़ गया था। स्वयं उन्हें लोग बार-बार कहते कि आप कम-से-कम अपने धर्मका विस्तार करनेके लिये ही अपनी सिद्धियोंका प्रयोग कीजिये, किन्तु वे सदा ही उनका विरोध किया करते थे। उनकी दलील यही होती थी कि लोगोंको अपना अनुयायी बनानेका यह एक जघन्य उपाय है और ऐसा करनेसे लोगोंको यह सन्देह हो सकता है कि ये किसी सामान्य जादू अथवा 'जन्तर-मन्तर'का प्रयोग करते हैं। विनय नामक आचारग्रन्थमें भिक्खुओंके लिये यह एक आज्ञा भी है कि वे गृहस्थोंके सामने अपनी सिद्धियोंका प्रदर्शन न करें, और दूसरा नियम यह है कि कोई धार्मिक अनुष्ठान (जिसमें चार भिक्खुओंकी आवश्यकता हो) उस सूरतमें विधिहीन माना जायगा यदि उनमेंसे एक भी भिक्खु अपनी सिद्धिके बलसे भूमिसे ऊपर उठ गया हो। ऐसी दशामें यदि इसी वर्गके ग्रन्थोंमें हमें इस प्रकारके आख्यान भी मिलें कि भगवान् बुद्धका एक समय किसी काले नागके साथ मन्त्र-युद्ध हुआ था, अथवा उन्होंने (सागत नामक) अपने अनुचर भिक्खुसे कहा कि तुम राज्याधिकारी पुरुषोंकी सभामें जाओ और अपनी सिद्धियाँ दिखलाकर उन्हें चकित करो, अथवा आर्य पिलिन्दवच्छने महाराज बिम्बिसारके महलको सोनेका बना दिया, तो हमें इस बातके समझनेमें अधिक बुद्धिका प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी कि इस प्रकारके आख्यान निरे कपोलकल्पित हैं। बढ़ते-बढ़ते महायानसम्प्रदायमें तो चमत्कारोंका इतना प्राचुर्य हो गया कि यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि उनमेंसे कौन-से चमत्कार सिद्धियों-के बलपर दिखाये जाते थे और कौन-से निरे ऐन्द्रजालिक-प्रयोग होते थे। इस युगमें बौद्धमतका इतना अधःपतन हुआ कि महात्माका अर्थ ही चमत्कार दिखलानेवाला हो गया और उस कालके साहित्यमें हमें स्थान-स्थानपर इस प्रकारके वाक्य मिलते हैं कि अमुक सिद्ध पुरुषने चमत्कारोंके बलपर अनेकों शिष्य बनाये।

योग-विज्ञान

(लेखक—श्रीताराचन्द्रजी पाँडया)

ग कहते हैं मिलनेको। आत्मिक जगत्में इसके दो स्वरूप हैं—(१) आत्माका अनात्मीय पदार्थोंसे सम्बन्ध और (२) आत्माका आत्मामें लीन होना। अनात्मिक वस्तुएँ अनेक हैं, परस्परमें विषमता-को लिये हुई हैं, परिवर्तनशील हैं और आत्मासे विजातीय हैं। उनमें लीन होनेकी इच्छाका परिणाम सतत अतृप्ति और दुःख है—वस्तुतः उनमें लीनता हो ही नहीं सकती। अतः आत्माका आत्मामें लीन होना ही वास्तविक योग है। यह स्वाभाविक और चिरस्थायी है। इसके दो अङ्ग हैं—विजातीय पदार्थोंसे वियोग करना अर्थात् अनात्मीय पदार्थोंसे रुचि हटाना, और आत्मासे योग करना। जिन उपायोंसे यह सिद्ध होता है उन्हें भी, अन्नम प्राणकी तरहसे कारणमें कार्यका उपचार करके, योग कहते हैं। असलमें ये उपाय सिर्फ कारण ही नहीं हैं बल्कि अल्पाधिक अंशोंमें आत्मामें आत्माकी तल्लीनताकी अवस्थाकी अभिव्यक्ति भी हैं—अर्थात् सचमुच योग है, क्योंकि आत्मा धर्मसे भिन्न नहीं है।

योगके लिये आत्मा और अनात्माका भेद, प्रकृति अर्थात् कर्मका आत्माके प्रति आकर्षण (आश्रय) और उससे सम्बन्ध, नवीन कर्म-सम्बन्धका निरोध (संवर) तथा पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा होकर आत्यन्तिक मुक्तिकी उपलब्धि, इन विषयोंका ठीक तथा प्रतीतियुक्त ज्ञान होना आवश्यक है।

देहधारी प्राणियोंमें जो विषमताएँ और जो सुख-ज्ञान-शक्ति आदिकी अल्पता और स्वस्वरूपभ्रान्ति आदि दिखायी पड़ते हैं वे आत्माके निजी स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि उनकी अल्पाधिकता होती रहती है तथा उनका आत्यन्तिक अभाव भी सम्भव है। अतः आत्माके ये भाव किसी अनात्मीय पदार्थके निमित्तसे हैं। यह पदार्थ कर्म है। जीवके वर्तमान कर्मोंके फलोंको भविष्यमें भोगनेसे भी कर्मकी सिद्धि होती है, क्योंकि कर्म और उसके फलके समयमें अन्तर रहनेसे, कार्यकारणकी दृष्टिसे, कोई ऐसा तत्काल कर्मजन्य कार्य मानना पड़ता है जो कि समयपर फलोत्पत्ति कर सके।

आत्माका देहसे सम्बन्ध होना, आत्माके मानसिक भावों और इच्छाओंका भौतिक पदार्थोंपर प्रभाव पड़ना, यथा क्रोधसे आँखें लाल हो जाना, आदिसे सूचित होता है कि उनका कारण भी भौतिक (पुद्गल) है, क्योंकि कारणके अनुरूप कार्य होता है।

तप्त लोहेका गोला जिस तरह जलमें चारों ओरसे जल-को खींचता है उसी तरह मन, वचन, कायकी शुभ या अशुभ क्रियाओंसे आत्मामें परिस्पन्दन—हलन-चलन होनेसे एक विशेष जातिके सूक्ष्म पुद्गल परमाणु कर्मरूप होकर आत्माकी ओर आकर्षित होते हैं, और क्रोधादि कषाय भावोंसे फलदानशक्ति तथा स्थितियुक्त होकर आत्माके साथ सम्बद्ध हो जाते हैं। ये कर्म दो प्रकारके होते हैं, घातिया और अघातिया। घातिया कर्म चार तरहके होते हैं—ज्ञानका आवरण करनेवाले, दर्शनका आवरण करनेवाले, आत्माको मोहनेवाले अर्थात् उसको आत्मश्रद्धान और स्वरूपाचरणसे बेभान कर देनेवाले, और दान, लाभ, भोगोपभोग और शक्तिमें विघ्न करनेवाले। अघातिया कर्म भी चार तरहके होते हैं, और उनके कार्य आयु (उम्र), शरीर, गोत्र और सुख-दुःखकी वेदना है। सामान्यतः तीव्र कषायोंसे शुभ कर्मोंकी फलदान-शक्ति और स्थिति कम और अशुभ कर्मोंकी अधिक होती है, और मन्द कषायका फल इसके विपरीत होता है। कुछ कालतक अनुदयरूप रहकर ये कर्म उदयमें आते हैं, अर्थात् अपना फल देने लगते हैं, और स्थिति पूरी होनेपर झड़ जाते हैं। फल भोगनेके समय आत्मा कषायभावसे फिर नये कर्म बाँध लेता है। तपस्या आदिके जरिये कर्म अपने समयसे पहले भी उदयमें आकर फल दे देते हैं। कई पूर्वबद्ध कर्मोंमें वर्तमान क्रियाओंसे भी परिवर्तन हो जाता है। क्योंकि कर्म भिन्न-भिन्न स्थितियोंके होते हैं, अतः प्रत्येक क्षण कषायसहित आत्माके साथ नवीन कर्म बँधते रहते हैं, बहुत-से पूर्वकर्म उदय होकर झड़ते रहते हैं, और बहुत-से

पूर्वकर्म फल देनेका समय न आनेके कारण सत्तारूपमें सम्बद्ध रहते हैं। इस तरह आत्मा और कर्मका यह सम्बन्ध प्रवाहरूपसे अनादि है, परन्तु प्रत्येक कर्मबन्ध सादि और सान्त है। आत्मज्ञान पाकर कषायोंको नष्ट कर देनेसे नवीन कर्मबन्ध न होनेपर और पुरातन कर्मोंके, समय पाकर या तपस्यासे, असमयमें ही झड़ जानेपर आत्मा सदाकालके लिये कर्मोंसे मुक्ति पा जाता है, और निज स्वाभाविक, स्वाधीन, पूर्ण आनन्द, ज्ञान, शक्ति आदिको भोगने लगता है। इसीको स्वस्वरूपमें लीन होना कहते हैं।

ऊपर वर्णित ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्म द्रव्य-कर्म हैं। उनके निमित्तसे आत्माके जो अज्ञान, मोह, राग, द्वेषादि भाव होते हैं वे भाव-कर्म हैं।

मनुष्यसे निम्नकोटिके प्राणी कर्मोंके और तज्जनित वासनाओंके अधीन रहते हैं। परन्तु मनुष्यादि उत्तम जीवोंके कर्म और कषाय अपेक्षाकृत मन्द रहते हैं। उनमें विवेकशक्ति रहती है, और वे इच्छाओंके सर्वथा वशमें नहीं होते हैं। इसलिये वे उपदेशादिका निमित्त पाकर उपयोग और साधनासे अपने कषायोंको और स्वस्वरूपविस्मरणको नष्ट या मन्द कर सकते हैं, और इस तरह मुक्ति या मुक्ति-मार्गके अधिकारी होते हैं।

आत्माके साथ कर्मका सम्बन्ध मिथ्यात्व (अर्थात् स्वस्वरूपभ्रान्ति) असयम, वासना और मन-वचन-कायकी क्रियासे होता है। अतः इन कारणोंको दूर करनेसे नवीन कर्मबन्ध होना रुकता है। इनमेंसे मन-वचन-कायकी क्रियाका पूर्ण निरोध तो प्रायः देहसे मुक्ति पानेतक नहीं हो सकता है, क्योंकि सूक्ष्म क्रियाएँ तो अनिच्छापूर्वक होती ही रहती हैं। इन क्रियाओंके द्वारा कर्मोंका आगमन होनेपर भी विना राग-द्वेष-मोहके उनका सम्बन्ध आत्मासे नहीं होता। अतः निरी क्रियाएँ बन्धका कारण भी नहीं हैं। इसलिये इनका यथाशक्य निरोध करना चाहिये, और प्रयोजनीय क्रियाओंको यत्नाचारपूर्वक आसक्ति, कषाय और हिंसासे बचते हुए करना चाहिये।

कर्म-बन्धको रोकनेके उपाय बन्धके कारणोंसे विपरीत गुण हैं। यथा—प्रतीतिसहित स्वस्वरूपका सम्यक् ज्ञान (आत्मज्ञानी अन्तर्मुखी हो जाता है, और कर्म-फल भोगते हुए भी उसकी वासनाएँ मन्द हो जाती हैं तथा प्रतिक्षण अधिक-अधिक मन्द होती जाती हैं), मन-वचन-कायकी क्रियाओंका निग्रह, यत्नाचारपूर्वक प्रयोजनीय क्रियाओंको करना, क्षमा, मार्दव आदि दश सामान्य धर्मोंका पालन, मैत्री, मुदिता, करुणा, उपेक्षाकी चार भावनाएँ भाना, संसारकी अनित्यता और दुःखरूपता, मृत्युकी प्रबलता, देहकी भिन्नता और अपवित्रता, अपने-अपने कर्मोंके फलोंको भोगनेमें अकेलापना, कर्मोंका और लोकका स्वरूप, धर्मकी महिमा और दुर्लभता, इनका बार-बार चिन्तन, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पञ्चमहाव्रतोंका पालन, वीतराग आत्माका आदरसहित चिन्तन, दुष्ट सङ्गतिका त्याग, क्षुधा-पिपासा आदि शारीरिक दुःखों और राग, द्वेष, अपमान, अलाभ, संशय, काम, क्रोध, मद आदि मानसिक दुःखोंको समतासे सह लेना और उनके निमित्त कारणोंसे चलायमान नहीं होना, समता धारण करना और स्वस्वरूपके समान आचरण करना आदि।

तप भी कर्मबन्ध रोकनेका एक बहुत बड़ा उपाय है। यह पूर्वसञ्चित कर्मोंको भी अपने समयसे पहले झड़ा देता है। यह बाह्य और अभ्यन्तर-भेदसे दो प्रकारका है। शक्त्यनुसार उपवास करना, एक वक्त भोजन, युक्ताहार, युक्ताहारमें भी घर, पदार्थ आदिकी सीमा बाँधना, रसोंका त्याग, एकान्तसेवन और विधिपूर्वक समताभावसे कायक्लेश करना—ये बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त, साधुओं और गुरुओंकी सेवा और विनय, ज्ञानाभ्यास, बाह्य पदार्थोंका और तत्सम्बन्धी ममता और वासनाका त्याग, चित्तशुद्धि और ध्यान—ये अन्तरङ्ग तप हैं। इनमें ध्यान सर्वश्रेष्ठ है। ध्यानके विना आत्मसिद्धि नहीं होती है। अन्य सब साधन ध्यानकी ही सिद्धिके लिये हैं। ध्यानी ही सच्चा योगी है। परमात्मावस्था भी तो एक तरहकी ध्यानावस्था ही है।

चित्तवृत्तिको अन्य सब क्रियाओं और पदार्थोंसे हटाकर एक पदार्थमें लगाना, इस एकाग्रचिन्तानिरोधको ध्यान कहते हैं। उत्तम सहननवाले बलवान् शरीरधारीके ही यह ध्यान थोड़े-से कालतक हो सकता है। यह दो तरहका है—ससारसम्बन्धी और मोक्षसम्बन्धी। प्रथमके दो भेद हैं—इष्टवियोग अनिष्टसंयोग और पीड़ा, इनके होनेपर व्याकुल होकर इनके दूर होनेका चिन्तन करते रहना तथा भावी विषयभोगका विचार करते रहना, यह आर्तध्यान है जो तिर्यक् गतिको ले जाता है। हिंसा, झूठ, चोरी और विषयभोग, इनमें आनन्द मानना और इनका ही विचार करते रहना, यह

रौद्र ध्यान है और इसका फल नरक है। ये हेय हैं। इनको त्यागकर धर्म-ध्यानका आश्रय लेना चाहिये। तत्त्व-ज्ञानका चिन्तन, दयाभावका या पापसे मुक्ति पानेका चिन्तन, कर्म-स्वरूपका चिन्तन और तीन लोकके स्वरूप-का और लोकमें आत्माके परिभ्रमणका—जन्म-मरणका—चिन्तन, ये चार भेद धर्म-ध्यानके हैं। पिण्डस्थ (शरीरस्थ निज आत्माका ध्यान), पदस्थ (मन्त्राक्षरोंका ध्यान), रूपस्थ (शरीरसहित परमैश्वर्ययुक्त सर्वज्ञ वीतरागी आत्मा-का ध्यान) और रूपातीत (अरूपी, देहमुक्त, सच्चिदा-नन्दमय आत्माका ध्यान), ये चार ध्यान धर्म-ध्यानके चतुर्थ भेद लोकसस्थान-ध्यानके अन्तर्गत है। पिण्डस्थ ध्यानके अन्तर्गत पाँच धारणाएँ हैं—पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी और तात्त्विक। इन धारणाओंमे क्रमशः पृथ्वीपर, सागरके बीच, सुमेरुपर, निजात्माको शान्त और तेजस्वीरूपमे विचारकर, निज कर्मोंका अग्निसे भस्म हो जाना, हवासे उड़ जाना, जलसे धुल जाना विचार करके अन्तमे कर्ममलरहित निज शुद्ध स्वरूपका विचार होता है।

बुरे विचारो तथा वासनाओंको दूर करनेके लिये भिन्न-भिन्न रुचिवालोके लिये ऊपर लिखे उपाय कितने उपयोगी है यह मनोविज्ञानसे परिचित पाठकोंसे छिपा नहीं रह सकता। कोई आत्मस्वरूपका चिन्तन कर सकते हैं तो कोई साकार सशरीर ईश्वरका और कोई अशरीर ब्रह्मका। कइयोंको ससारकी निःसारतासे वैराग्य होता है तो कइयोको पापके दुःखरूप होनेसे अथवा जन्म-मरणकी भीतिसे। कर्मफलके चिन्तनसे पापसे भीति होती है और सुख-दुःखका असली कारण जानकर क्रोधादि नष्ट होकर समताभाव आता है। जो भौतिक ऐश्वर्य और सौन्दर्यके प्रेमी हैं वे उत्कृष्ट भौतिक ऐश्वर्य और सौन्दर्ययुक्त सशरीर पूर्णात्माका चिन्तन कर शनैः-शनैः आत्माके प्रेमी बनते है। कई क्रोधादिका उनके विरोधी-भाव क्षमादिसे नाश करते हैं। पार्थिवी आदि धारणाएँ एक तरहका गहरा स्वयं सूचन (Self-suggestion) है। ज्ञानाभ्यास, ध्यान आदिके तीन कार्य होते हैं—(१) चित्त-वृत्तिके एक ही क्रियामे अकषायभावमे होनेसे तथा अन्य क्रियाओंके निरोधसे नर्यान बन्धका अभाव। (२) उस समय उदय होनेवाले कर्मोंके फलोंकी ओर उपयोग न होनेसे उनका बिना कषायभाव उत्तेजित किये झड़ जाना। (३) ज्ञानादिके जरिये पुरातन वासनाओंके सस्कारोंको निर्बल कर देना। सक्षेपमे, जितने अशमे त्याग और शान्ति है उतने ही अशमें बन्ध नहीं होता है।

योगका अभ्यास करते समय तपस्या, सयम, ध्यान, अहिंसा, अचौर्य, मैत्री आदिकी भावना आदिके फलसे, कर्मोंके अल्पाधिक क्षयोपशम होनेपर कई अद्भुत शक्तियाँ अल्पाधिक अशोंमे प्रकट होती हैं। ये कुछ तो ज्ञान-सम्बन्धी होती है, यथा—अद्भुत बुद्धि, अद्भुत स्मृति-शक्ति, अद्भुत इन्द्रिय-शक्ति, देशकालकी सीमाको लिये भूत, भविष्य, वर्तमानकालके दूरस्थ और समीपस्थ पौद्गलिक पदार्थोंको जानना तथा स्व और परके पूर्व और आगामी जन्मोंको जानना (अवधिज्ञान), मनपर्ययज्ञान अर्थात् दूसरेके मनमें रहे हुए पदार्थोंको जानना आदि, कुछ तप और सयमसम्बन्धी होती है, यथा कठोर तप करनेकी शक्ति, शरीरको तनिक भी निर्बल किये बिना दीर्घकालीन और अनेक उपवास कर सकना, जल, थल, आकाशमें और वनस्पति आदिपर बिना किसी जीवको बाधा पहुँचाये विहार कर सकना आदि, तथा कुछ शरीरसम्बन्धी और अन्य तरहकी होती हैं, यथा सर्वौषधि ऋद्धि (दृष्टि या वचनसे, या शरीरके स्पर्शसे, या शरीरके मल या स्वेदसे, अथवा शरीर-सस्पर्शी रज, पवन आदिसे असाध्य भी रोग, विष आदिका दूर हो जाना), बल ऋद्धि (अपार शारीरिक, मानसिक और वाचनिक बल, बिना थके हुए एक मुहूर्तके भीतर समस्त शास्त्रोंका चिन्तन या उच्चारण कर सकना आदि), रस ऋद्धि (क्रुद्ध होनेपर दृष्टि या वचनसे दूसरेको विषाभिभूत करके मार सकना, कर-स्पर्शसे नीरस आहारका भी स्वादिष्ट रससयुक्त हो जाना अथवा वचनसे ही दूसरोंको अमृत-भोजन किये-जैसा तृप्त कर देना आदि), अक्षीणमहानसर्द्धि (योगीको जिस पात्रसे या जिस वस्तुका आहार दिया जाय वह अत्यल्प होनेपर भी उससे या उसको चाहे जितने प्राणियोंको खिला देने-पर भी उस दिनके लिये उसका अक्षय होना), विक्रिया ऋद्धि जो दो तरहकी होती है, पृथक् (अपने शरीरके सिवा दूसरे शरीरादि बना सकना) और अपृथक् (अपने शरीरको ही अनेक आकाररूप बना सकना और उसको अति भारी, अति हलका, अति सूक्ष्म, सुमेरुसे भी अति महान्, अति दीर्घ, अति छोटा आदि कर सकना, भूमिपर बैठे-बैठे मेरुके शिखरको या सूर्यको छू सकना, अन्तर्धान हो सकना, पहाड़में भी आकाशके समान

गमनागमन कर सकना, जलमें थलके समान और थलमें जलके समान सञ्चार कर सकना, सर्ववशीकरण आदि)। क्षेत्र ऋद्धि (योगीके ठहरनेका स्थान जरा-सा होनेपर भी उसमें अपरिमित मनुष्योका सुखसे समा सकना), आहारक शरीर (तीर्थ-दर्शनके लिये या सन्देहके निवारणार्थ अति दूरस्थ उत्कृष्ट ज्ञानी—केवली या श्रुतकेवली—के पास जानेके लिये मुनिके मस्तकसे रसादि धातुरहित, एक हाथ प्रमाण, चन्द्रिका-समान श्वेत शरीर निकलना), तीव्र शुभ परिणामोंसे उत्पन्न हुआ तैजस शरीर जो बारह योजनतकके प्रदेशमें दुर्भिक्ष, महामारी आदिको दूर करता है, और तीव्र अशुभ रौद्र परिणामोसे उत्पन्न हुआ अशुभ तैजस शरीर जो बारह योजनतकके प्रदेशके सर्व वनस्पति, प्राणी आदिको भस्म कर अन्तमे मुनिके भी शरीरको भस्म कर देता है। विद्या-देवताओ या मन्त्र-देवताओंकी अधीनता या कृपासे भी अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं।

योगीकी अद्भुत शक्तियाँ प्रकृतिके नियमोंके विरुद्ध नहीं होतीं। प्रत्येक पदार्थके अनन्त गुण हैं, परन्तु साधारण मनुष्योंका ज्ञान अत्यल्प है। जब पदार्थोंके ज्ञात गुणोसे विचित्र कोई घटना हो जाती है तो लोग उसे अप्राकृतिक कहने लगते है। वस्तुतः कोई कार्य या घटना अप्राकृतिक (Unnatural या Supernatural) हो ही नहीं सकती। आधुनिक वैज्ञानिक भी इसे मानते हैं कि हमारे विचार और चारित्र्यका प्रभाव हमारे शरीर तथा बाहरी पदार्थोंपर भी पड़ता है।

योगकी विभूतियोंमेंसे बहुत-सी तो आत्मज्ञानी योगीको ही प्राप्त होती हैं, और कुछ अज्ञानियोंको भी तप, सयम आदिसे मिल जाती हैं। जो आत्मज्ञानसे रहित हैं या मोह-विमूढ हैं वे इनसे मोहित होकर तपसे भ्रष्ट हो जाते हैं, और इन शक्तियोंका सांसारिक अर्थोंके लिये उपयोग करने लगते हैं, जिसके फलस्वरूप वे आत्मोन्नतिमें बाधा डालकर, आत्माको पतितकर, कर्म-बन्धसे इन शक्तियोंको ही नहीं खो देते हैं बल्कि नरकादि दुर्गतियोंके भी अधिकारी हो जाते हैं और जन्म-मरणके चक्रमे फँसे रहते हैं। परन्तु जो आत्मवेत्ता होते हैं, जिनको आत्माकी पूर्ण और अनन्त शक्तिमे श्रद्धा है वे इन्हें पराधीन, अपूर्ण, अस्थिर और पूर्ण आत्मशक्तिका एक किरणमात्र समझकर इनसे निरपेक्ष रहते हैं और आत्माकी पूर्णोपलब्धिके लिये अग्रसर होते रहते है।

धर्म-ध्यानके साधनसे शुक्ल-ध्यानकी सामर्थ्य होती है। शुक्ल-ध्यान मोक्षका साक्षात् कारण है। इसमें तल्लीनता होती है—ध्यान, ध्याता और ध्येयका भेद मिट जाता है। इसके चार भेद हैं—पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्म-क्रियाप्रतिपाति, और व्युपरत क्रियानिवृत्ति। प्रथममें वितर्क और विचार दोनों होता है, और यह मन, वचन, काय इन तीनों क्रियावालेके हो सकता है। दूसरा वितर्कसहित पर विचाररहित होता है, और यह एक क्रियावालेके ही हो सकता है। तीसरेमें सिर्फ सूक्ष्म देहक्रिया रहती है और चौथा सर्वथा क्रियारहित होता है। अन्तिम दो ध्यान तो जीवन्मुक्त सर्वज्ञ (अरहन्त) के ही हो सकते हैं, और प्रथम दो ध्यान उत्तम शरीर-संहननवाला सम्पूर्ण शब्द-ब्रह्मका ज्ञाता (श्रुतकेवली) योगी ही कर सकता है। ऐसा योगी शुक्ल-ध्यानके प्रथम दो भेदोंसे आत्मामे लीन होकर मोहनीय कर्मको और ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय इन तीन शेष घातिया कर्मोंको विनष्ट कर देता है। उनके नष्ट होते ही विशुद्ध स्वस्वरूप उपलब्धि, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्दकी पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। तब आत्मा आत्माके ही जरिये, बिना किसी इन्द्रिय या मनकी सहायताके, बिना तर्क या अनुमानके, लोकालोकके सर्व पदार्थोंको उनके अनन्त धर्मों और उनकी त्रिकालीन सर्व अवस्थाओंसहित, युगपत् और सदा हस्तामलकवत् स्पष्ट देखने और जानने लगता है। अगर आयु-कर्मके शेष रहनेसे वह आत्मा इस शरीरमें रहे तो वह सर्वथा निःस्पृह होकर आत्मलीन होता हुआ, सिर्फ अपने अनन्त ज्ञानादि गुणोंको ही भोगता हुआ रहता है। इसीको जीवन्मुक्तावस्था, कैवल्यावस्था या अरहन्तावस्था कहते हैं। यही रूपस्थ ध्यानका ध्येय है। वह आत्मा क्षुधा, तृषा, रोग, चिन्ता, श्रान्ति (थकावट), निद्रा, स्वेद, राग, द्वेष, मोह, इच्छा, कषाय, विस्मय, शोक, भय, मद, ग्लानि, जन्म, जरा, मृत्यु आदि दोषोंसे रहित रहता है। उसकी देह धातु-उपधातुरहित, मलरहित, छाया-रहित, अति सुन्दर हो जाती है। उसके नख, केश नहीं बढते हैं और उसकी पलकें नहीं झपकती हैं। वह कवलाहार नहीं करता है। जहाँ वह रहता है वहाँ सदा प्रकाश रहता है और उस स्थानमें रहनेवाले प्राणियोंको

भूख, प्यास, शोक, वैर, भय नहीं सताते है। वहाँ सब ऋतुओंके फल-फूल एक साथ उत्पन्न होते हैं। आकाश, दिशाएँ और भूमि निर्मल रहती हैं और सुगन्धयुत, मन्द, सुखद पवन बहता है। उसके आस-पास चारो दिशाओंमे सौ-सौ योजनतक दुर्भिक्ष, महामारी आदि उपद्रव नहीं होते हैं। समस्त विद्याओका स्वामीपना, सब सुरासुरों और इन्द्र-नरेन्द्रोंसे पूजितपना, चारों दिशाओंमें मुख दीखना, अदया और उपसर्गका अभाव अर्थात् न किसीको बाधा देना और न किसीसे बाधित होना, आकाशमे गमन और उस समय चरणतले देवोके द्वारा कमलोंका बिछाया जाना, देव-निर्मित अति मनोज्ञ और विस्तीर्ण सभामन्दिरमें दर्शन-मात्रसे अभिमानको हरनेवाला मानस्तम्भ, और शोकको हरनेवाला अशोक वृक्ष, दर्शकके कई जन्म-जन्मान्तरोंको दिखानेवाला भामण्डल, रत्नमय सिंहासन, तीन छत्र, यक्षोंसे ढुलाये गये चँवर, दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि और जय-जयध्वनि इन देवकृत अष्ट प्रतिहार्योंका होना तथा वहाँ-पर सर्वभाषारूप परिणत होनेवाली अनक्षरी दिव्य ध्वनिका, बिना इच्छाके और बिना ओंठोंके हिलाये, सर्वज्ञके तनसे निकलना और उसके द्वारा प्राणियोंके सम्पूर्ण वाङ्मय ज्ञानका बोध होना आदि अनेक बाह्य विभूतियाँ उस जीवन्मुक्तके होती है (कइयोंके दिव्य ध्वनि नहीं भी होती है, अतः सभामन्दिर आदि भी नहीं होते है)।

आयु-कर्मकी समाप्तिके समय जीवन्मुक्तके शुक्ल-ध्यानके अन्तिम दो ध्यान क्रमशः बिना किसी यत्नके स्वतः ही होते है। उनसे अवशेष अघातिया कर्म भी दूर होकर, सर्वदेह और सर्वकर्मसे मुक्त आत्मा सिद्धावस्थाको प्राप्त होती है जिसमें कि वह मनरहित, वचनरहित, कायरहित और समस्त अनात्मीय पदार्थोंके सम्बन्धसे रहित होकर निज अनन्त ज्ञान, आनन्दादि अनन्त धर्मोंको सदाकाल भोगती रहती है—स्वस्वरूप हो रहती है।*

शिवयोग

(लेखक—पण्डितवर्य श्रीकाशीनाथजी शास्त्री, मैसूर)

योगशास्त्रके प्रवर्तक पतञ्जलि महर्षिजीने 'योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः' इस सूत्रमे चित्तवृत्तिके निरोधको ही योग कहा है। चित्तवृत्तिके निरोध करनेमे साधनीभूत जो योग है वे पाँच प्रकारके हैं—मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग और शिवयोग।

एकाक्षरं द्व्यक्षरं वा षडक्षरमथापि वा।
अष्टाक्षरं वा मोक्षाय मन्त्रयोगी जपेत् सदा॥

'एकाक्षरात्मक 'ॐ' मन्त्रको, अथवा द्व्यक्षरात्मक 'हंसः' अथवा 'सोऽहम्' मन्त्रको, अथवा षडक्षरात्मक 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्रको, अथवा अष्टाक्षरात्मक 'ॐ ह्रां ह्रीं नमः शिवाय' मन्त्रको मन्त्रक्रमके अनुसार मोक्षप्राप्तिके लिये जपना मन्त्रयोग कहाता है।'

यस्य चित्तं निजध्येये मनसा मरुता सह।
लीनं भवति नादे वा लययोगी स एव हि॥

'चित्तका अपनी ध्येय मूर्तिमें अथवा प्राणायामसे अभिव्यक्त नादमें मन और मारुतके साथ लय होना लययोग कहाता है।'

भवेदष्टाङ्गमार्गेण मुद्राकरणबन्धनैः।
तथा केवलकुम्भे वा हठयोगी वशानिलः॥

'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि-नामसे प्रसिद्ध जो अष्टाङ्गयोग है उसके द्वारा, अथवा महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डियान, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली, और शक्तिचालन आदि दस प्रकारके बन्धसमूहोंसे, अथवा धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति इन षट् कर्मोंसे, अथवा रेचक, पूरक प्राणायामोंको छोड़कर केवल कुम्भक प्राणायामसे वायुको वशमे कर लेना हठयोग कहाता है।'

त्रिषु लक्ष्येषु यो ब्रह्मसाक्षात्कारं गमिष्यति।
ज्ञाने वाथ मनोवृत्तिरहितो राजयोगविद्॥

'जो मनुष्य बाह्य लक्ष्य, मध्य लक्ष्य, अन्तर्लक्ष्यादिसे अथवा अमनस्कज्ञान (अन्तर्मुद्राज्ञान) से आत्मसाक्षात्कार कर लेता है उसीको मनोव्यापाररहित 'राजयोगी' कहते

* इस लेखके अधिकांशमें जैनधर्मके अनुसार प्रतिपादन किया गया है।

है ।' और इस प्रकारके अभ्यासको ही राजयोग कहते हैं । एव निर्दिष्ट चार प्रकारके योगोंमें राजयोग ही सबसे श्रेष्ठ है ।

न भेदः शिवयोगस्य राजयोगस्य तत्त्वतः ।
शिवार्थिनां तथाप्येवमुक्तो बुद्धेः प्रवृद्धये ॥

'राजयोग और शिवयोगमे पारमार्थिक दृष्टिसे कोई भेद नहीं है । तथापि परशिवब्रह्मके साक्षात्कार चाहनेवाले मुमुक्षुओकी ज्ञानवृद्धिके लिये 'शिवयोग' का प्रतिपादन किया गया है।'

प्रतिपाद्यस्तयोर्भेदस्तथा शिवरतात्मनाम् ।
तस्मान्मनीषिभिर्ग्राह्य. शिवयोगस्तु केवलम् ॥

'राजयोग और शिवयोग इन दोनोंमे क्या भेद है, इस विषयको शिवप्रेमियोंके लिये बतलाना आवश्यक है । मुमुक्षुजनोको चाहिये कि वे इसको समझकर शिवयोगका ही अङ्गीकार करें ।' गुणत्रयसाक्षात्कार ही तारकत्रय है, प्रकृतिमे मनको लय करना ही अमनस्कता है । इस बातको अच्छी तरहसे जानकर पुरुषसाक्षात्कारके लिये प्रयत्न करना ही राजयोग है, यह पातञ्जलयोगशास्त्रमें कहा गया है । परन्तु शिवागमोंमें शिवभक्तिके आधारभूत महाकुण्डलिनीजन्य तारकत्रयके साक्षात्कारद्वारा उस शक्तिमे वृत्तिज्ञानको लय करके सर्वतोमुखव्याप्त शिवतत्त्वाभिव्यक्तिको ही 'शिवयोग' कहा गया है ।

ज्ञान शिवमयं भक्तिः शैवी ध्यानं शिवात्मकम् ।
शैवव्रतं शिवार्चेति शिवयोगो हि पञ्चधा ॥

'इस शिवयोगके शिवज्ञान, शिवभक्ति, शिवध्यान, शिवव्रत और शिवपूजा नामसे पाँच प्रकार हैं ।' शिवपूजामे शिवज्ञानादिका अन्तर्भाव होनेके कारण प्रधानतया शिवपूजाको ही शिवयोग कहते हैं ।

शिवार्चनविहीनो यः पशुरेव न संशय. ।
स तु संसारचक्रेऽस्मिन्नजस्रं परिवर्तते ॥

'जो मनुष्य शिवपूजारूप शिवयोगसे विमुख रहता है वह निश्चय ही पशु कहलाता है और वह संसारचक्रमें जननमरणादिकोंसे परिभ्रमण करता रहता है ।'

अन्तर्योगो बहिर्योगो द्विविधं तच्छिवार्चनम् ।
मुख्या चाभ्यन्तरी पूजा सा च बाह्यार्चनोदिता ॥

'शिवपूजाके दो प्रकार हैं एक अन्तःपूजा और दूसरी बहिःपूजा । इन दोनोंमें अन्तःपूजा ही मुख्य है । वह अन्तःपूजा बाह्यलिङ्गपूजासे ही उत्पन्न होती है ।' बाह्य इष्टलिङ्गपूजा किये बिना अन्तर्लिङ्गपूजा सिद्ध नहीं हो सकती, इसलिये इष्टलिङ्गपूजा ही अन्तर्लिङ्गपूजाका मुख्य साधन है ।

त्रिनेत्रं त्रिगुणाधारं त्रिमलक्षयकारणम् ।
सर्वमङ्गलया देव्या निजवामाङ्गशोभितम् ॥
परं शिवं हृदि ध्यात्वा निश्चलीभूतमानसः ।
यजेदाभ्यन्तरद्रव्यैरवधानेन तद्यथा ॥
शमाम्बुपरिषेचनं सकलपूर्णभावाम्बरं
त्रिशक्तिगुणसंयुतं विहितयज्ञसूत्रं तथा ।
स्वसंविदनुलेपनं समधिकानुकम्पाक्षतान्
शिवाय विनिवेदयेत् प्रकटभक्तिपुष्पाणि च ॥
धूपमान्तरचतुष्टयेन तदीपमिन्द्रियगुणोत्करेण तु ।
कल्पयेच्च सुखदुःखवर्जितं जीवरूपमुपहारमान्तरे ॥
रजस्तमःसत्त्वगुणत्रयाख्यतान्बूलकं प्राणनमस्कृतिं च ।
इत्येवमाभ्यन्तरमुख्यपूजाद्रव्याणि सम्पादय शङ्कराय ॥

'त्रिनेत्री, त्रिगुणाधार, आणवादि मलत्रयको नाश करनेवाले और अपने वामभागमें उमादेवीसे शोभायमान ऐसे शिव परमात्माका हृदयकमलमें एकाग्रचित्तसे ध्यान करते हुए आभ्यन्तर उपचारोसे उनकी पूजा करनी चाहिये । आभ्यन्तर उपचारोंका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—शान्ति ही अभिषेकजल, विश्वव्यापकताभाव ही वस्त्र, इच्छाज्ञानक्रियात्मक शक्तित्रय ही यज्ञोपवीत, स्वस्वरूपज्ञान ही गन्धानुलेपन, अत्यधिक दया ही अक्षता, परिशुद्ध भक्ति ही पुष्प, मनोबुद्धिअहकारपरमान्तःकरणचतुष्टय ही धूप, इन्द्रियगुणोत्कर ही दीप, सुखदुःखरहित आत्मस्वरूप ही नैवेद्य, सत्त्वरजस्तमोगुणत्रय ही ताम्बूल और प्राण ही नमस्कार है । इस प्रकार आभ्यन्तरोपचारोसे शिव परमात्माका पूजन करना चाहिये ।'

शिवयोगसाधकोको शिवयोग ही साध्य है, और हठयोग तो साधनमात्र है । हठयोग बाह्य और आन्तर अष्टाङ्गोंसे युक्त है । वीरशैवोंको आन्तर अष्टाङ्गात्मक हठयोगद्वारा शिवयोगका साधन करना चाहिये ।

यमनियमगुणैश्च स्वात्मशुद्धिं विधाय
स्ववशविविधपीठैरेव भूत्वा स्थिरात्मा ।
असुनियमजलेन स्नापयेदिष्टलिङ्ग
प्रकटितचतुरङ्गं बाह्यमेतद्विधानम् ॥

शम्भोरथेन्द्रियनिवर्तनमेव गन्धो
ध्यान प्रसूननिचयो दृढधारणा सा।
धूपः समाधिरथशुद्धमहोपहारं
आभ्यन्तराख्यचतुरङ्गविधानमेतत् ॥
एवमष्टाङ्गयोगेन सदान्तःपद्मसद्मनि।
पूजयेत्परमं देवं किं बाह्यैर्देवपूजनैः ॥

'यम-नियमोके सम्बन्धी चौवीस गुणोसे आत्मशुद्धि करना, और अपने वशीभूत पद्मादि आसनोंसे देहको स्थिर करना और प्राणायामरूपी जलसे दिव्य लिङ्गका अभिषेक करना, इसीको बाह्य चतुरङ्ग कहते हैं। शिवजी-के नेत्रादि इन्द्रियोका विषयनिवृत्तिरूप प्रत्याहार ही गन्ध है, उस इन्द्रियनिवृत्तिसे अन्तर्मुख हुए मनमे जो शिवध्यान किया जाता है वही पुष्प है, उन्हीं शिवजीको दृढताके साथ धारण करना ही धारणा है, और जाताजात-रूप समाधि ही नैवेद्य है। इसीको आभ्यन्तर चतुरङ्ग कहते है। शिवयोगी लोग इस प्रकार अष्टाङ्गयोगका साधन करते हुए अपने हृदयकमलमे शिव परमात्माका पूजन करें।'

वीरशैवमतमे 'भक्त, महेश, प्रसादी, प्राणलिङ्गी, शरण, ऐक्य नामसे प्रसिद्ध जो षट्स्थल है' वे ही शिव-योगके मुख्याङ्ग हैं। यम-नियमादि अष्टाङ्गोका भी षट्स्थलोंम ही समावेश होता है।

यमेन नियमेनैव मन्ये भक्त इति स्वयम्।
स्थिरासनसमायुक्तो महेश्वरपदान्वितः ॥
चराचरलयस्थानं लिङ्गमाकाशसंज्ञकम्।
प्राणे तद्व्योम्नि संलीने प्राणलिङ्गी भवेत् पुमान् ॥
प्रत्याहारेण संयुक्तः प्रसादीति न संशयः।
ध्यानधारणसम्पन्नः शरणस्थलवान् सुधीः ॥
लिङ्गैक्योऽद्वैतभावात्मा निश्चलैकसमाधिना।
एवमष्टाङ्गयोगेन वीरशैवो भवेन्नरः ॥

'यम-नियमोसे जो युक्त है उसीको 'भक्त' कहते है। आसनसे जो युक्त है उसको 'महेश्वर' कहते है। चराचर प्रपञ्चका जिस लिङ्गमे लय होता है उस लिङ्गको 'आकाश' कहते है, ऐसे आकाशमे जो मनुष्य अपने प्राणको लय करता है उसीको 'प्राणलिङ्गी' कहते हैं। प्रत्याहारसे जो युक्त है उसको 'प्रसादी' कहते है। शिव परमात्माके ध्यान-धारणादिसे जो युक्त है उसीको 'शरण' कहते है। समाधिमें जिसका मन स्थिर हुआ है और जिसको अद्वैत-भाव उत्पन्न हुआ है उसीको 'ऐक्य' कहते है। इस प्रकार अष्टाङ्गरूपी षट्स्थलोका आचरण करनेवाला सज्जन ही 'वीरशैव' होता है।' लिङ्गपुराणके प्रमाणोसे भी इसी विषयका बोध होता है—

कीटो भ्रमरयोगेन भ्रमरो भवति ध्रुवम्।
मानवः शिवयोगेन शिवो भवति केवलम् ॥

'भ्रमरके योगसे कीड़ा जैसे प्रत्यक्ष भ्रमर ही होता है उसी प्रकार मानव भी शिवयोगसे केवल शिव ही हो जाता है।' यही शिवयोगका रहस्य है। अस्तु।

सत्यमार्गप्रविष्टानां कल्याणं मङ्गलं शुभम्।

प्रेमयोगी

प्रेम सरित तट बसे विरह धूनी तन तावे।
आशाकी कोपीन भाव रँग रँगी चढ़ावे ॥
भस्म रागकी मले कमंडल शून्य बनाकर।
ले विचारका दंड भावना भीख जमाकर ॥
उच्छ्वास अश्रु तड़पन क्रिया, जिसका प्राणायाम हो।
निज हृदय तोड़ तन तजे जो, वह योगी 'घनश्याम' हो ॥

—रघुवीरशरण जौहरी

पाशुपतयोगका प्रारम्भिक इतिहास

(लेखक—श्री वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार एम० ए०)

मालूम होता है कि प्राचीन कालमें परिव्राजक साधुओंका एक ऐसा समुदाय था जो योगी कहलाते थे और जो किसी एक स्थानपर टिककर नहीं रहते थे। ये लोग जितेन्द्रिय होते थे और सदा योगेश्वर भगवान्‌के चरणकमलोंके ध्यानमें रत रहा करते थे तथा इस नश्वर एवं मिथ्या सांसारिक जीवनके बन्धनसे मुक्त होनेकी खोजमें रहते थे।

इस प्रकारके परिव्राजक मुनि इस देशकी स्थायी सम्पत्ति रहे हैं। यवन यात्री मेगस्थनीजसे लेकर, जो ईसामसीहसे चार सौ वर्ष पूर्व यहाँ आया था, जितने विदेशी यात्री और अभ्यागत इस प्राचीन देशमें आये उन सभीने इस प्रकारके योगियोंकी बातें लिखी हैं और आज भी ऐसे लोगोंसे हम अपरिचित नहीं हैं। गत चार-पाँच सौ वर्षोंमें जो यात्री यहाँ आये उनके वृत्तान्त*को देखते हुए ऐसा मालूम होता है कि ये योगी भिन्न-भिन्न वर्णों और जातियोंके होते थे।

सिन्धुप्रदेशमें पुरातत्त्ववेत्ताओंको जो कुछ ध्वसावशेष प्राप्त हुए हैं उनको देखनेसे यह पता लगता है कि ईसवी सन्‌से ३००० वर्ष पूर्व तथा उससे भी पहले भारतवर्षमें योगका किसी-न-किसी रूपमें अवश्य प्रचार था। इन ध्वसावशेषोंमें कुछ खण्डित पत्थरकी मूर्तियाँ भी हैं 'जिनका मस्तक, ग्रीवा और धड बिल्कुल सीधा है और जिनके अर्धनिमीलित नेत्र नासिकाके अग्रभागपर स्थिर हैं।' और योगाभ्यास करनेवालोंके बैठनेका यही ढग शास्त्रोंमें वर्णित है, (देखिये R Chanda Memoirs of Archæological Survey of India, No 41, pp 33-34) वायुपुराणके पाशुपतयोगविषयक अध्यायोंमें इस प्रकारका जो वर्णन मिलता है उसका उपर्युक्त वर्णनसे मिलान करनेसे इस निर्णयपर पहुँचना अनिवार्य हो जाता है कि प्रागैतिहासिक युगमें तथा ऐतिहासिक युगके प्रारम्भमें सिन्धुप्रदेशमें जो योगी रहते थे उनकी योगसाधना ही पाशुपतयोगका प्रारम्भिक रूप था। क्योंकि वायुपुराणमें लिखा है कि पाशुपतयोगका अभ्यास करनेवाला छाती तानकर बैठे, मस्तक और ग्रीवाको बिल्कुल सीधा रक्खे और नेत्रोंको अर्धनिमीलित कर दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर स्थिर करे, अन्य दिशाओंमें न जाने दे (देखिये वायुपुराण ११। १५-१६)। इससे योगसम्प्रदायकी प्राचीनता भलीभाँति सिद्ध होती है। यद्यपि इस सम्बन्धमें कुछ अनुमान करना साहसका काम है तथापि हमारी ऐसी धारणा होती है कि ऋग्वेदसंहिता और यजुर्वेदके सकलनके बीचके कालमें ही यह योगसम्प्रदाय प्रवर्तित हुआ होगा। क्योंकि यजुर्वेदमें जटिल कर्म-कलापका वर्णन मिलता है और कर्मकाण्डपर विशेष जोर दिया गया है। इस कर्मवादके सिद्धान्तका इतनी तेजीके साथ प्रभाव बढा कि इतिहास-पुराणके युगमें हमें इस प्रकारके वाक्य मिलने लगे कि कर्म ही सब कुछ है। और योगसाधना भी उसीकी सफल होती है जो शास्त्रोक्त विधिसे कर्मका अनुष्ठान करता है।

योगकी परिपाटी तथा उसके सिद्धान्त निःसन्देह आर्य-सभ्यताके चिह्न हैं और सिन्धुप्रदेशकी सभ्यताके प्रवर्तक द्राविड नहीं अपितु आर्य ही थे, इस सिद्धान्तकी पुष्टिमें अन्य प्रमाणोंके साथ-साथ यह भी एक प्रमाण है। परन्तु यहाँ हमें इस विवादमें तो पडना नहीं है। यहाँ तो केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि अधिक पहले नहीं तो कम-से-कम भारतीय इतिहासके ताम्रयुगमें सिन्धुप्रदेशमें इस आर्य परिपाटीका प्रचार रहा। यह तो एक सयोगकी बात है कि वायुपुराणमें भी पाशुपतयोगकी प्राचीनताके प्रमाण मिलते हैं। वायुपुराणकाल जो कुछ भी हो (इस प्रसंगमें देखिये लेखकका "Some Aspects of the *Vayupurāna*" शीर्षक निबन्ध जो मद्रास विश्वविद्यालय-के मुखपत्रके सन् १९३३ के ग्यारहवें खण्डमें प्रकाशित हुआ है) उसके पाशुपतयोगविषयक दश अध्यायोंमें योगके एक प्राचीन सम्प्रदायका वर्णन है। उक्त ग्रन्थके

* देखिये पद्मनाभ मेननरचित 'केरलदेशका इतिहास' खण्ड ३, पृ० ६४०–९।

(११, १४ और १५) तीन अध्यायोंमें तो केवल पाशुपत-योगकी साधना और परिपाटीका ही वर्णन है और इनके अतिरिक्त भी कई अध्याय ऐसे हैं जो योगके मूल सम्प्रदाय-का अध्ययन करनेवालोंके लिये बहुत कामके हैं । इनमें योगोपसर्गों (योगके विघ्नों), योगैश्वर्यों (योगलभ्य सिद्धियों), शौचाचारलक्षण (योगक्रिया) आदिका वर्णन है । एक अध्याय माहेश्वरावतारयोगविषयक है जिसमें महेश्वर अथवा योगेश्वरके २८ अवतारोंका वर्णन है । प्रत्येक कल्पमें एक अवतार माना गया है । इसके अनन्तर उक्त ग्रन्थमें अष्टाङ्गयोगका वर्णन है । आठ अङ्गोंके नाम ये हैं—आसन (बैठनेकी शैली), प्राणारोध (प्राणवायुको रोकना), प्रतिहार (इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण न करना), धारणा (चित्तको एकाग्र करना), ध्यान (किसी वस्तुका निरन्तर चिन्तन करना), समाधि (परमात्मामें वृत्तिको स्थिर करना), यम (प्रधान कर्तव्य) और नियम (गौण-कर्म) । भगवान् पतञ्जलिने अपने योगसूत्रोंमें इन अङ्गोंके जो लक्षण बताये हैं यह वर्णन भी उन्हींके अनुसार है (देखिये यो० सू० २ । २९) । ईसासनीहसे ४०० वर्ष पुराना एक तामिलभाषाका व्याकरण है जिसे 'तोलकाप्पियम्' कहते हैं, उसमें भी इनका उल्लेख आता है । आगे चलकर, जैसा कि मैत्र्युपनिषद्के देखनेसे मालूम होता है, अष्टाङ्ग-योगके दो अङ्गों, यम और नियमको निकाल दिया गया । फलतः अष्टाङ्गयोग षडङ्ग ही रह गया ।

मानों यह प्रमाणित करनेके लिये कि इस पुराणका मूल बहुत प्राचीन है, वायुपुराणमें गृहस्थोंके कुछ धर्म बताये हैं । योगीलोग अनेक वेष धारणकर देशमें सर्वत्र विचरते रहते हैं । जब कभी वे किसी गृहस्थके यहाँ आवें गृहस्थका यह धर्म है कि वह उनका हृदयसे स्वागत करे और अपनी कल्याणवृद्धिके लिये उनकी यथायोग्य सेवा-पूजा करे । दूसरी बात यह कही गयी है—जो पहलीकी अपेक्षा विलक्षण है—कि श्राद्धपक्षमें भी गृहस्थ जहाँतक हो सके इन्हीं योगियोंको ढूँढ़कर लावे और भोजन करावे, ऐसा करनेसे पितृगण पूर्ण सन्तुष्ट होते हैं । श्राद्धके दिन एक योगीको भोजन कराना हजार ब्राह्मणों अथवा ब्रह्मचारियोंको भोजन करानेके तुल्य कहा गया है । पुराण-के इस वचनको पढ़कर आश्चर्य होता है । स्मृतिग्रन्थोंमें ब्रह्मचारियों तथा यतियोंको भोजन करानेका स्पष्ट निषेध किया गया है । श्राद्धके अवसरपर केवल गृहस्थको भोजन करानेका विधान है । अतः यह पुराण उस प्राचीन कालका लक्ष्य कराता है जब श्राद्धके दिन योगियोंको भोजन कराना महान् लाभ समझा जाता था । यह प्रथा किस कालमें प्रचलित थी और कब इसका लोप हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता ।

ऊपरके वर्णनसे एक बात स्पष्ट हो जाती है । हम भारतके प्रागैतिहासिककालकी जहाँतक खोज लगा सके हैं, हमें शिव, योगेश्वर अथवा महेश्वरकी उपासना ही सबसे प्राचीन मालूम होती है । अतएव योगके प्रारम्भिक स्वरूपमें इस उपासनाका गहरा समावेश था । हमें तो ऐसा मालूम होता है कि पाशुपतयोग ही सबसे प्राचीन योगसाधना थी, और प्राणायामका यथाविधि अभ्यास ही इस योगका स्वरूप है । ब्राह्मणलोग जो आज भी त्रिकालसन्ध्योपासन करते हैं उसमें इस पाशुपतयोगका कुछ अंश सुरक्षित है । इस योगका आरम्भ उस समय प्राणायामके आधारपर ही हुआ और समयकी प्रगतिके साथ उसका शाखा-प्रशाखा-रूपमें विस्तार होता गया । इन शाखा-प्रशाखाओंसे हमारा इस समय कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि प्रस्तुत निबन्धका विषय केवल पाशुपतयोगका प्रारम्भिक इतिहास है, आगे चलकर इस पाशुपतयोगका स्वरूप कुछ बदल गया, आचार्य शङ्करने अपने प्रसिद्ध शारीरकभाष्यमें पाशुपतमत-का जो खण्डन किया है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है ।

योगशास्त्रके कुछ दार्शनिक सिद्धान्त

(लेखक—स्वामीजी श्रीनित्यानन्दजी भारती)

योगशास्त्रका विषय इतना आवश्यक और उपादेय है कि अनादिकालसे ऋषि-मुनिलोग इसपर ध्यान देते और योगका अनुष्ठान करते चले आ रहे हैं। श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास और सामान्य सस्कृत साहित्यमें ही नहीं किन्तु न्याय, वैशेषिक, सांख्य और वेदान्तदर्शनतकमे योगका महत्त्व स्वीकार किया गया है। बहुत-सी उपनिषदोमे भी योगके सम्बन्धमें उत्तमोत्तम विचार प्रकट किये गये है। यही कारण है कि गीता इस विषयमे सबसे आगे बढ़ गयी है—उसका कोई अध्याय ऐसा नहीं जिसमें योगके किसी-न-किसी सिद्धान्तका वर्णन न किया गया हो। यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्णकी गीता योगशास्त्रकी मानी हुई पुस्तक है और श्रीकृष्णजी महायोगेश्वर प्रसिद्ध हैं।

योगदर्शन महर्षि पतञ्जलिके योगसूत्रोंका दूसरा नाम है। इस दर्शनके सिद्धान्त इतने शुद्ध और निर्मल हैं कि प्रत्येक आस्तिक दर्शनमे किसी-न-किसी प्रकार इनपर विचार किया गया है। कारण यह है कि योगशास्त्रमें महर्षि पतञ्जलिने आत्मसाक्षात्कार और उसके उपायोंपर ऐसा सुन्दर लेख लिखा है कि दर्शनशास्त्रके बहुत-से रहस्य करामलकवत् सर्वथा निरावरण हो गये हैं। यह योगशास्त्र ही है जिसका अक्षरशः अनुकरण करके जैन और बौद्ध-सम्प्रदायोंमें अभ्यास तथा वैराग्यके स्तम्भ खड़े कर लिये गये हैं और आस्तिक दर्शनोंका सामना किया गया है। यह योगशास्त्र ही है जिसके यम-नियमादि अष्टाङ्गयोग नास्तिकोंको भी ऐसे ही मूल्यवान् प्रतीत होते हैं जैसे आस्तिकोंको। योगशास्त्रके सर्वप्रिय होनेमें यह एक विचित्र प्रकारकी विशेषता है।

वेदान्तदर्शनके रचयिता महर्षि व्यास तो योगदर्शनके इतने प्रशंसक थे कि उन्होंने पतञ्जलिके सूत्रोंपर स्वय दिल लगाकर योगभाष्य लिखा है और योगके सम्बन्धमें बहुत-से बहुमूल्य विचार प्रकट किये है। इस छोटे-से लेखमे हमारी इच्छा है कि व्यासप्रदर्शित व्याख्यानकी सहायतासे योगशास्त्रके दार्शनिक सिद्धान्तोंकी यत्किञ्चित् विवेचना करें और यह विचारें कि दर्शनशास्त्रकी कठिन समस्याओंको योगशास्त्रमें किस प्रकार सुलझाकर सरल किया गया है।

यद्यपि चित्तवृत्तिके निरोधके उपाय तथा समाधिके प्रकार और नाना प्रकारकी योग-विभूतियोंका वैज्ञानिक व्याख्यान योगशास्त्रमे विस्तारपूर्वक किया गया है तथापि मोक्ष-विषयक उपेक्षा न करते हुए 'मनोविज्ञान' के कई गूढ रहस्योपर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इस निबन्धमें हम जिज्ञासु विचारकोंको योगशास्त्रके दो-एक दार्शनिक सिद्धान्तोंसे परिचित करानेमें प्रवृत्त होते हैं। आशा है, जो लोग योगशास्त्रको दर्शनशास्त्र नहीं मानते उनके विचारोंमे इससे परिवर्तन हो सकेगा।

चित्त और जगत्का सम्बन्ध

चिरकालसे दार्शनिक विद्वानोंके सामने यह जटिल समस्या उपस्थित रही है कि जगत् और जगत्के पदार्थ चित्तके अन्दरसे निकलते है अथवा चित्तसे भिन्न इनकी बाहर स्वतन्त्र सत्ता है। बौद्ध विद्वानोंने बहुत ऊहापोह करनेके अनन्तर दृष्टि-सृष्टिवादका सिद्धान्त स्थिर किया है और यह घोषणा की है कि जगत् और जगत्के पदार्थ चित्तके अन्दरसे निकलते हैं—इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। कई एक मनोविज्ञान (Psychology) के पाश्चात्य विद्वानोंका भी ऐसा ही सिद्धान्त है। न केवल यही बल्कि दृष्टिसृष्टिवादको वेदान्तियोंने भी स्वीकार किया है और योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थोंमे तो बलपूर्वक सिद्ध करके यह प्रतिपादन किया है कि जगत् मनसे ही निकला है और मनमें ही लीन होता है। दृष्टिसृष्टिवादीका कथन है कि जगत्के पदार्थ ज्ञानके समय ही प्रतीत होते हैं ज्ञानके पहले या पीछे नहीं, इसलिये जगत् ज्ञानसमकालीन होनेके कारण ज्ञानसे भिन्न नहीं है। विज्ञानवादी बौद्ध—'धर्मकीर्ति' ने अपने विचारकी पुष्टिमें डङ्केकी चोट कहा है—

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्य इन्दाविवाद्वये॥

अर्थात् 'नील और नीलज्ञान सहोपलम्भनियमके कारण परस्पर भिन्न नहीं है। यदि नील वस्तु, नीलज्ञानसे अतिरिक्त प्रतीत होती है तो यह भ्रान्तिमात्र है जैसे एक ही चन्द्रमा भ्रान्तिसे दो चन्द्रमा मालूम पड़ते हैं।' तात्पर्य यह है कि जैसे एक चन्द्रमा दूसरे चन्द्रमासे पृथक् नहीं किन्तु वही है और नील वस्तु उसी समय प्रतीत होती है जब नीलविषयक ज्ञान हो—ज्ञानकालके अतिरिक्त उसका सद्भाव प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार जगत्के पदार्थ ज्ञानकालमें ही प्रकाशित होनेसे ज्ञानसे भिन्न नहीं हैं। किसी भी वस्तुकी उपलब्धि ज्ञानके समय ही होती है बिना ज्ञानके नहीं—यही ज्ञान और वस्तुका सहोपलम्भ-नियम है।

परन्तु बौद्ध विद्वान्का यह कथन ठीक सिद्ध नहीं होता क्योंकि नियत सहोपलम्भवाले सभी पदार्थ परस्पर अभिन्न—एक नहीं होते। जैसे प्रभा और नील-पीतादि पदार्थ। प्रकाशके होनेपर ही नील-पीतादि पदार्थोंकी प्रतीति होती है, अन्धकारमें नहीं। परन्तु इस सहोपलब्धिमात्रसे यदि कहा जाय कि प्रभा और नील-पीतादि पदार्थ एक ही हैं—भिन्न-भिन्न नहीं, तो सर्वथा अनुभवविरुद्ध होगा क्योंकि नील-पीतादि पदार्थोंके उठाने, धरने और टूटने-फूटनेसे प्रभा नहीं टूटती-फूटती। यदि नील घट और दीपकका प्रकाश परस्पर अभिन्न होते तो घटमें जल डालनेसे प्रभा बुझ जाती।

धर्मकीर्ति दूसरी युक्ति देता है कि—

नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्य नानुभवो परः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते॥

अर्थात् बुद्धि अथवा ज्ञानसे कोई अनुभाव्य पदार्थ भिन्न नहीं है, ग्राहकसे भिन्न कोई ग्राह्य नहीं है—केवल बुद्धि (ज्ञान) स्वय प्रकाश कर रही है। जिस ज्ञानसे जो पदार्थ जाना जाता अर्थात् ग्रहण किया जाता है वह ग्राहक ज्ञानसे पृथक् नहीं होता। जैसे आत्मा ज्ञानसे जाना जाता है और आत्मा ज्ञानसे पृथक् भिन्न सत्ता नहीं रखता किन्तु ज्ञानस्वरूप ही है। इसी प्रकार ज्ञान सब पदार्थोंका ग्राहक है और सब पदार्थ ज्ञानसे ही ग्रहण किये जानेसे ग्राह्य है अतः यह ग्राह्य जगत् ग्राहक ज्ञानसे भिन्न नहीं है। स्वप्नके पदार्थोंका विज्ञानवेद्य मनोग्राह्य होना सभीको अनुभव होता है—जागनेपर उनका अस्तित्व नहीं रहता इसीलिये उनको मिथ्या कहते हैं। बौद्ध विद्वान् इसी विज्ञानवेद्यत्व-हेतुसे जाग्रत्के बाह्य जगत्को स्वप्नके आन्तर जगत्के समान मिथ्या मानता है।

शोक है कि बौद्धोंका यह सिद्धान्त भी वेदान्तके एक-देशी कई व्याख्याता विद्वानोंने अपनालिया है। इस स्थान-पर यदि हम ब्रह्मसूत्र और शांकरभाष्यकी सहायतासे काम लें तो बौद्धों और वेदान्तियोंको विचार करनेका बहुत उत्तम सुयोग प्राप्त हो सकता है। देखिये वेदान्तसूत्र—

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्। (२।२।२९)

शांकरभाष्य—**यदुक्तं बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्यय-वज्जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषात्—इति, तत् प्रतिवक्तव्यम्। अत्रोच्यते—न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जागरितप्रत्यया भवितु-मर्हन्ति। कस्मात्? वैधर्म्यात्!—वैधर्म्यं हि भवति स्वप्न-जागरितयोः। किं पुनर्वैधर्म्यम्? बाधाबाधाविति ब्रूमः—बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु, प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयो-पलब्धो महाजनसमागम इति, न ह्यस्ति मम महाजन-समागमो निद्राग्लानं तु मे मनो बभूव तेनैषा भ्रान्ति-रुद्भूवेति। एवं मायादिष्वपि भवति यथायथं बाधः। नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्याञ्चिदप्यवस्थायां बाध्यते, अपि च स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम्, उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्.....इत्यादि।**

'बाह्य पदार्थोंका अभाव माननेवालेने जो यह कहा है कि—'जागरितके स्तम्भादि पदार्थोंका ज्ञान भी स्वप्नके पदार्थोंके ज्ञानके समान बिना बाह्य पदार्थोंके ही है, ज्ञान होनेके कारण। इसका खण्डन करो।' सो इसका उत्तर यह है कि जागरितके ज्ञान स्वप्नादिके ज्ञानके समान नहीं हो सकते। क्यों? वैधर्म्य होनेसे!—स्वप्न और जागरितका परस्पर अत्यन्त भेद है। क्या वैधर्म्य है? बाध और अबाध हम कहते हैं! सुनो, स्वप्नमें प्रतीत होने-वाली वस्तुका जागरितमें बाध हो जाता है—जागनेपर कहता है कि मैंने जो स्वप्नमें महाजनका समागम देखा है यह मिथ्या ही था क्योंकि यदि सच ही मुझे इष्टमित्रादि मिले होते तो जागनेपर भी रहते, वास्तवमें बात यह है कि निद्रादोषके कारण मेरा मन ठिकाने नहीं था इसीलिये यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई। इसी प्रकार जैसे स्वप्नके पदार्थों-का बाध देखा गया है वैसे मायादिके पदार्थोंका भी बाध होता है, परन्तु जागरितमें उपलब्ध होनेवाले स्तम्भादि

पदार्थ तो किसी भी अवस्थामें बाधको प्राप्त नहीं होते। न केवल यही किन्तु स्वप्न और जागरितमें एक और भी वैधर्म्य है—स्वप्नका देखना तो स्मृतिमात्र है और जागरितमें पदार्थोंका दर्शन उपलब्धि है। प्रत्येकको स्वयं अनुभव होता है कि स्मृति और उपलब्धिमें महान् अन्तर है—स्मृतिमें पदार्थ नहीं होता और उपलब्धिमें पदार्थ उपस्थित होता है। जैसे प्रिय पुत्रका स्मरण करता हूँ अर्थात् पुत्र इस समय मेरे पास नहीं है उसको प्राप्त करना चाहता हूँ। ऐसी अवस्थामें यह नहीं कहा जा सकता कि जागरितके बाह्य पदार्थ स्वप्नके समान मिथ्या हैं। विचारशील विद्वानोंको अपने अनुभवका तो विरोध नहीं करना चाहिये।'—इत्यादि।

भगवच्छंकराचार्यने इसी भाष्यके अन्तमें कहा है कि स्वप्नके साधर्म्यसे जागरितके पदार्थोंको मिथ्या कहना ऐसा ही हास्यास्पद है जैसा कि अग्निको जलके साधर्म्यसे शीत कहना।

साधर्म्यमात्रसे दो पदार्थोंको एक समझना और उनके परस्पर वैधर्म्यपर दृष्टि न डालना दर्शनशास्त्रमें बड़ी भयंकर भूल मानी गयी है। इसीलिये वैशेषिक दर्शनमें तत्त्वज्ञानके लिये साधर्म्य-वैधर्म्य दोनोंका ज्ञान होना आवश्यक माना गया है। शांकरभाष्यके अनुसार जागरित और स्वप्नके पदार्थों तथा ज्ञानोंमें पदार्थत्व और ज्ञानत्व साधर्म्य होनेपर भी उनके परस्पर विरुद्ध धर्मोंकी उपेक्षा नहीं की गयी। इसीलिये भगवत्पादोंने ठीक ही कहा है कि स्वप्नके पदार्थ बाधित हैं, जागरित पदार्थोंका किसी भी अवस्थामें बाध नहीं होता, स्वप्नके पदार्थ स्मृतिरूप हैं, जागरित पदार्थ उपलब्धिरूप हैं, जागरित पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ता है, स्वप्नके पदार्थ ज्ञानके अधीन कल्पित हैं।

जिस प्रकार शङ्करभगवान्ने 'धर्मकीर्ति' के सिद्धान्तका व्याससूत्रोंके भाष्यमें विद्वत्तापूर्ण उत्तर दिया है उसी प्रकार योगमें भी खुला विचार किया गया है। बौद्ध विद्वान् कहते हैं कि संसार मनःकल्पित है, चित्तने ही इसकी रचना की है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः।
(योग० ४। १५)

यदि जगत् मन-कल्पित है तो यह बतलाओ कि एक ही वस्तुमें अनेक ज्ञानोंका क्या कारण है?—एक ही स्त्रीमें कामी पुरुषको प्रेम होता है, शत्रुको द्वेष होता है, विमूढको विषाद होता है और ज्ञानीको वैराग्य होता है। एक ही कर्मको धर्मात्मा सुखकारक समझता है, पापी दुःखदायक मानता है, विमूढ उपेक्षायोग्य कहता है इत्यादि। वास्तवमें ज्ञानका मार्ग और है और वस्तुका मार्ग और है—दोनोंमें महान् अन्तर है, ज्ञान और पदार्थ एक नहीं है। यदि जगत्के पदार्थ ज्ञान अथवा मनसे कल्पित होते तो एक वस्तुमें अनेक प्रकारके ज्ञान न होते। इसपर यह भी ज्ञातव्य है कि वे एक मनके कल्पित हैं या अनेक मनोंके कल्पित हैं। एक मन (ज्ञान) से तो यह अनेक पदार्थोंसे भरा संसार उत्पन्न हो नहीं सकता क्योंकि परिच्छिन्न मन महान् जगत्को कैसे रच सकता है और न कोई मन ही ऐसा है जिसके अन्दरसे लाखों मन परिमाणवाले पर्वतादि उत्पन्न हो सकें। यदि हम रेलगाड़ीको दौड़ते हुए देखें तो बौद्धदृष्टिसे इसका यह तात्पर्य होगा कि रेलगाड़ी हमारे मनसे निकली—रेलके सैकड़ों यात्री, उनके ट्रंक, बिस्तरे, सामान तथा अन्य पदार्थ उस क्षणभरमें हमारे अन्दरसे पटरीपर आ पड़ें और शृङ्खलाबद्ध होकर सामने आ गये तथा थोड़ी देर पश्चात् जब गाड़ी हमारी आँखोंसे ओझल हो गयी तो सारे डब्बे, यात्री, उनके सामान हमारे मनःकोटरमें प्रविष्ट हो गये। जिन लोगोंने कारखानोंमें लोहेके इञ्जिन, गाड़ियाँ आदि बनाया, गार्ड, ड्राइवर, यात्री, उनके परिवारको उत्पन्न करने तथा शिक्षित करनेमें वर्षों लगा दिया उनका वह सब व्यर्थ और झूठा और यह क्षणभरके देखनेवाले, अपने मनको इस दृश्यका रचयिता कहनेवाले महाशय सच्चे—यह बात मानना किसी लौकिक या परीक्षकको समुचित नहीं मालूम होगा।

दूसरा दोष यह है कि एक चित्तकी कल्पित की हुई वस्तुको दूसरा चित्त कभी नहीं देख सकता। जैसे देवदत्तके मनने जो स्वप्नदृश्य कल्पित किया उस स्वप्नके दृश्यको यज्ञदत्त या विष्णुमित्रादि कोई अन्य व्यक्ति नहीं देख सकता। यदि यह बाह्य जगत् किसी एक चित्तका कल्पित होता तो दूसरे चित्तोंसे कदापि दृश्य न होता, परन्तु इस जगत्को संसारके सभी लोग देखते हैं, इसलिये भी वस्तु और ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं तथा मनसे जगत् उत्पन्न नहीं होता और जागरितके पदार्थ स्वप्नके समान नहीं हैं।

यदि कहा जाय कि अनेक ज्ञानों (चित्तों) ने जगत्‌की कल्पना की है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि अनेक चित्तोंसे एक वस्तुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि अनेक कर्मकर्ता लोगोंसे गृह, मन्दिरके समान माना जाय तो एक ही वस्तुके अनेक भागोंको अनेक चित्तोंसे रचित मानना होगा परन्तु यह अनुभवविरुद्ध है। एक वृक्षको पचास लोगोने देखा तो एक भागको किसीने रचा, दूसरे भागको किसीने, अन्य भागोंको अन्योने—यह मानना प्रमाणशून्य है।

दृष्टिसृष्टिवादीका मत है कि ज्ञान समकालीन ही पदार्थ है, ज्ञानके पूर्व तथा उत्तर क्षणोंमें उनका भाव नहीं रहता; महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्याद्।

(योग० ४। १६)

अर्थात् वस्तु किसी एक चित्तके अधीन नहीं है, क्योंकि जिस समय वस्तु उस चित्त (ज्ञान) के अधीन न होगी, तब क्या नष्ट होगी?

जिस कालमें चित्तका वस्तुके साथ सम्बन्ध नहीं है अथवा सम्बन्ध निवृत्त हो चुका है या उस वस्तुसे भिन्न किसी अन्य वस्तुको विषय कर रहा है या एकाग्रताको प्राप्त है—उस कालमें जगत्‌का या जगत्‌के पदार्थोंका क्या नाश हो जायगा? गङ्गाविषयक ज्ञानके अभावसे गङ्गाका अभाव मानना, पर्वतविषयक ज्ञानके अभावसे पर्वतका अभाव मानना तथा रात्रिकालमें सूर्यविषयक ज्ञानके अभावसे सूर्यका अभाव मानना—सर्वथा प्रमाणशून्य है। जब घटको देखा तो घट उत्पन्न हो गया और जब घटसे दृष्टि हटायी तो घट नष्ट हो गया, नगरपर दृष्टि पड़ी तो नगर उत्पन्न हो गया और दृष्टि हटी तो नगर नष्ट हो गया—इस सिद्धान्तके युक्तियुक्त होनेमें कोई प्रमाण नहीं है। इसीलिये महर्षि गौतमने न्यायदर्शनमें कहा है—

प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम्।

यदि विज्ञानसे अतिरिक्त पदार्थोंकी सत्ता नहीं मानते तो बतलाओ इस सिद्धान्तकी सिद्धि किस प्रमाणसे करते हो? यदि कहो कि विज्ञानसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है इसलिये हमारे पास कोई प्रमाण नहीं तो आपका सिद्धान्त प्रमाणशून्य होनेसे विद्वानोंसे उपादेय नहीं हो सकता। यदि कहो कि प्रमाण है तो विज्ञानसे अतिरिक्त पदार्थ सिद्ध होनेसे आपकी प्रतिज्ञाहानि हो गयी। दूसरी बात यह है कि प्रमाणको माननेसे प्रमेयकी सत्ता माननी अनिवार्य हो जायगी। इसलिये प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जानने योग्य घटपटादि बाह्य पदार्थोंकी विज्ञानसे अतिरिक्त सत्ता है।

उपर्युक्त योगसूत्रपर महर्षि व्यासजी भाष्य करते हुए कहते हैं—

ये चास्यानुपस्थिता भागास्ते चास्य न स्युरेवं नास्ति पृष्टमित्युदरमपि न गृह्येत, तस्मात्स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुषसाधारणः। (योगभाष्य)

जब हम किसी वस्तुको देखते है तो उसके सम्पूर्ण भागोंको एक कालमे कदापि नहीं देख सकते। घटका उपरिभाग, निम्नभाग, मध्यभाग, पृष्ठभाग आदि एकदम नहीं देख सकते। तो जिस भागको देखते हैं क्या उस भागसे भिन्न अन्य भाग नहीं हैं? यदि घटपृष्ठको देखें तो दृष्टिसृष्टिवादीके मतमे उस घटका उदर, निम्नभाग तथा अन्य भाग नहीं मानने होंगे। परन्तु ऐसा नहीं है, इसलिये विज्ञानसे अतिरिक्त कालमे घटपटादि पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ता है और इसको सर्वसाधारण अनुभव करते हैं। और जो सर्वजनोंके अनुभवका विषय हो उसका निरादर करना उचित नहीं है।

यदि विज्ञानसे बाह्य पदार्थोंको भिन्न न माना जाय तो घटको देखनेसे पटज्ञान और पटको देखनेसे नदीज्ञान क्यों नहीं होता? घटज्ञान, पटज्ञान, नदीज्ञान, मनुष्यज्ञान, पशुज्ञान आदि अनेक ज्ञानोका कारण बतलाना होगा। बिना कारणके कार्य नहीं होता—इसलिये विज्ञानसे अतिरिक्त घटपटादि पदार्थ हैं जिनके साथ सम्बन्ध होनेसे घटादिविषयक ज्ञान उत्पन्न होते हैं। घटपटादिकी पृथक् सत्ता है, जब घटके साथ मनका योग हुआ तो घटज्ञानकी उत्पत्ति हुई—घटकी नहीं, जब पटके साथ योग हुआ तो पटज्ञानकी उत्पत्ति हुई—पटकी नहीं।

यदि ज्ञानमात्रसे भूतभौतिक सृष्टिकी उत्पत्ति मानी जाय तो ज्ञानके कल्पित मोदकोंसे रस-वीर्य-विपाकादि भी होने चाहिये तब वास्तविक मोदकोंकी क्या आवश्यकता होगी। ऐसे व्यक्ति 'मनोराज्यके शेखचिल्ली' को वास्तविक भोजनादि बाह्य पदार्थोंके बिना ही तृप्ति आदि होनी चाहिये, परन्तु हाती कदापि नहीं। इसलिये न तो बाह्य

पदार्थोंका अभाव ही है और न मनसे बाह्य जगत्‌की उत्पत्ति हुई है किन्तु बाह्य जगत् और उसके घटपटादि पदार्थ स्वप्रतिष्ठ—स्वतन्त्र हैं। जिन जिज्ञासु सज्जनोंको अधिक विचारकी आवश्यकता हो वे उपर्युक्त सूत्रोंपर व्यासभाष्य तथा वाचस्पतिटीका और शाङ्करभाष्य* का स्वाध्याय करें।

(२) मोक्षका स्वरूप

दार्शनिक जगत्‌में मोक्षके विषयमें भी बहुत कुछ विचार हुआ है। मोक्षका स्वरूपनिर्णय करनेमें तो कई लोगोंके सिद्धान्त परस्पर विलक्षण प्रतीत होते हैं। कारण यह है कि सब लोगोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे विचार किया है।

मोक्षके स्वरूप और उपायादिपर भिन्न-भिन्न दृष्टियोंकी आलोचना करनेसे पूर्व यदि हम मोक्ष शब्दके अर्थपर ध्यान दें तो हमारा विचार है कि इस विषयके बहुत-से प्रश्नोंका स्वयमेव समाधान हो जायगा।

मोक्ष और मुक्ति इन दोनों शब्दोंका अर्थ है—छुटकारा। किससे छुटकारा? जिससे छूटना चाहते हैं उससे। वह है—दुःख। दुःख तथा बन्धन पर्याय कह दिये जायँ तो कुछ अनुचित न होगा। मोक्षका शब्दार्थ निकल आया—दुःखोंसे छूट जाना।

महर्षि गौतम न्यायदर्शनमें इसी युक्तिसे मोक्षपर विचार करते हैं। उनका सूत्र बिल्कुल स्पष्ट है—

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। (१।१।२२)

अर्थात् दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति होना ही मोक्ष है। मोक्षके लिये न्यायमें 'अपवर्ग' शब्दका प्रयोग किया गया है जो कि सर्वथा युक्तियुक्त है क्योंकि जैसे मोक्ष अथवा मुक्तिका अर्थ छुटकारा है वैसे ही अपवर्गका अर्थ भी छुटकारा है; इसीलिये मोक्षका पर्याय अपवर्ग—दुःखकी अत्यन्त निवृत्तिका सूचक है। वेदान्ती कहता है कि यह लक्षण ठीक नहीं क्योंकि श्रुतियोंमें मोक्षके विषयमें कहा गया है—'अत्र ब्रह्म समश्नुते' यहाँ ब्रह्मानन्दका उपभोग करता है। इसलिये ऐसा लक्षण करो कि दुःखात्यन्त-निवृत्तिपूर्वक जहाँ ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति है, वह मोक्ष है। नैयायिक कहता है कि दुःखनिवृत्ति पुरुषार्थसाध्य है, आनन्दप्राप्ति यत्नसाध्य नहीं, वह तो आत्माको स्वभावतः प्राप्त होगी, इसलिये वह लक्षण नहीं—जैसे मलिन वस्त्रका मलदोष दूर करना कष्टसाध्य है परन्तु मैल निकाल डालनेपर शुद्धता स्वतः प्राप्त हो जाती है—सफेदीके लिये अन्य पुरुषार्थ अपेक्षित नहीं होता। जैसे मैल दूर करनेके लिये साबुन, सोडा, गरम जल आदि अपेक्षित हैं वैसे शुक्लताके लिये किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं होती, किन्तु मैल दूर होते ही शुक्लता प्रकाशित हो जाती है। ऐसे ही दुःखनिवृत्ति होते ही आनन्दप्राप्ति हो जाती है। यथा बृहदारण्यक श्रुति—'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये'—इसको दुःखोंसे छूटनेकी देर है फिर तो सम्पत्ति है। विचार किया जाय तो इसमें विवादका लेशमात्र भी अवकाश नहीं है परन्तु दार्शनिक विद्वानोंने पक्ष-विपक्षकी कुक्षिमें घुसकर एक दूसरेको बहुत कुछ सुना डाला है।

महर्षि पतञ्जलिने मोक्षके लिये 'कैवल्य' शब्दका निर्धारण किया है। 'कैवल्य' का शब्दार्थ है 'केवल वही होना' अर्थात् आत्मा अपने आपमें हो और किसीके साथ उसका सम्बन्ध न हो। यद्यपि मोक्ष शब्दके अर्थके साथ जितना साक्षात् सम्बन्ध 'अपवर्ग' का है उतना कैवल्यका नहीं है तथापि भावार्थ जैसा 'कैवल्य' से व्यक्त होता है वैसा न तो मोक्ष शब्दसे और न 'अपवर्ग' से ही। मोक्ष और अपवर्ग दुःख-निवृत्तिपर ध्यान आकर्षित करते हैं और 'कैवल्य' दुःखनिवृत्तिके अनन्तर अवस्थाविशेषपर।

बौद्ध लोगोंने मोक्षके लिये 'निर्वाण' शब्दको चुना है। यद्यपि दुःखनिवृत्ति और 'निर्वाण' पर्याय कहे जाने चाहिये तथापि बौद्धसिद्धान्त इसका घोर विरोधी है। शून्यवादी माध्यमिक कहता है कि निर्वाणका अर्थ है—'बुझ जाना'। अर्थात् जैसे दीपशिखा बुझ जाती है ऐसे ही ज्ञानज्योतिका बुझ जाना। यही शून्यवादके शून्यसिद्धान्तका शून्यरहस्य या शून्यसार है। परन्तु 'शून्य' हो जाना तो किसीको भी अभीष्ट नहीं है—तब ऐसे मोक्ष (?) के लिये कौन यत्न करेगा—दुःखोंसे निवृत्त होना प्रत्येक व्यक्तिको अभीष्ट है, अपने स्वरूपमें स्थिति भी बहुमूल्य सम्पत्ति है, परन्तु अपनेको बुझा देना अथवा उच्छेद या नाश कर डालना उन्मत्तके बिना और किसीको अच्छा नहीं लग सकता। शोक है कि बौद्ध विद्वानोंने विचारवान् होकर भी ऐसी भयङ्कर भूल पाल-पालकर सँभाल रखी है कि जो अत्यन्त

* वेदान्तसूत्र अ० २ पा० २ सूत्र २८—३२

हानिकारक है। महर्षि गोतमने बड़े प्रेमसे समझाया था कि शून्यवाद छोड़ दो, परन्तु इन लोगोंने समुचित ध्यान नहीं दिया। महर्षि कपिलने भी—'अपवादमात्रमबुद्धानाम्।' (साख्यदर्शन १।४५) इत्यादि सूत्रोंमें बहुत कुछ प्रयत्न किया, परन्तु ये भाईके लाल नहीं समझे। अन्ततोगत्वा शङ्कर भगवान् आये। शङ्कराचार्यने कहा, यदि 'शून्य' ही परम-तत्त्व है तो उस शून्यको या शून्य अवस्थाको कोई अनुभव भी करता है या नहीं। यदि अनुभव करनेवाला है, तो वह शून्यसे भिन्न भावपदार्थ सिद्ध हो गया। यदि कहो शून्य-को अनुभव करनेवाला शून्य ही है तो यह वदतोव्याघात है—जैसे कोई कहे कि 'मैं नहीं हूँ' इससे भी उसका शून्य होना सिद्ध नहीं होता। यदि कहा जाय कि शून्यका कोई साक्षी नहीं है, तो इस प्रमाणशून्य शून्यकी सत्ता कैसे सिद्ध करोगे। यदि कहो कि 'शून्य' अभावात्मक है, उससे भिन्न कोई भावपदार्थ नहीं है जो शून्यका अनुभव करे, तो यह बताओ कि घटादि पदार्थोंके भावाभाव किसी चेतन भावपदार्थके ज्ञानाधीन क्यों हैं—वस्तुका भाव हो या अभाव, परन्तु उसके जाननेवाले साक्षीका भाव ही मानना होगा क्योंकि कोई पदार्थ साक्षीशून्य नहीं हो सकता—यदि साक्षी हो तो शून्य नहीं हो सकता। भगवती मैत्रेयी-को ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्यने यही बात सन्यास लेते समय उपदेश की थी। ऋषिने कहा था—'अविनाशी वाऽरेऽयमात्मा-नुच्छित्तिधर्मा'—देवि, यह साक्षी आत्मा अविनाशी है, इसका उच्छेद कभी नहीं होता।

जैन लोग आत्माको शरीरपरिमाण—हस्तीका आत्मा हस्तीशरीर जितना लंबा-चौड़ा, घोड़ेका आत्मा घोड़ेके शरीर जितना और पिपीलिकाका आत्मा उसके अपने शरीर जितना मानते हैं। शरीरपरिमाण माननेसे सकोच-विकास-वाला मानना होगा और जो पदार्थ सङ्कोच-विकासवाला होता है वह रबरके समान सावयव होता है। सावयवके लिये घटके समान परिणामी होना आवश्यक है। अतः जैनदर्शनमें भी आत्मोच्छेद दोष उपस्थित है।

महर्षि पतञ्जलि इन सब बातोंपर विचार करके इस परिणामपर पहुँचे हैं कि आत्मा परिणामशून्य है और चेतन है तथा आत्माकी अपने स्वरूपमें स्थिति ही मोक्ष है। सूत्र यह है—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति। (योग० ४। ३४)

'पुरुषको भोग तथा अपवर्ग दिलानेके कार्यसे निवृत्त होकर मन और बुद्धिका जो अपने कारणमें लीन हो जाना है उसका नाम कैवल्य है, अथवा यों समझो कि चेतनशक्तिका अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित होना।'

कार्य-गुणोंका अपने-अपने कारण-गुणोंमें लीन हो जाना, यथा—व्युत्थान निरोध सस्कारोंका मनमें, मनका अस्मितामें, अस्मिताका बुद्धिमें, बुद्धिका अव्यक्त प्रकृतिमें लीन हो जाना इसलिये कैवल्य है कि आत्मा (पुरुष) को भोग देनेके लिये प्रवृत्त हुई प्रकृति जब गुणोंको कार्यरूपमें परिणत करती है तो गुणोंमें उत्तरोत्तर कारणकार्यभाव उत्पन्न होकर कार्यक्षमता हो जाती है और जब ये गुण अपवर्ग दिलानेको प्रवृत्त होते हैं तो क्रमानुसार अपने-अपने कारणमें लीन होते जाते हैं—इस भावको इसलिये 'कैवल्य' कहा गया है कि ऐसा होनेसे ही पुरुषके भोग समाप्त होते और कालान्तरमें मन, बुद्धि, चित्त, अहकार-का आत्मासे सम्बन्ध नहीं रहता। इनका सम्बन्ध ही बन्धन है—जब इनसे सम्बन्ध नहीं रहा तो वही कैवल्य है। उस अवस्थामें, जब कि गुण तो अपने-अपने कारणमें लीन होते-होते प्रकृतिमें लीन हो गये—गुणोंके भोक्ता अर्थात् बुद्धिको भोग्य और अपनेको भोक्ता माननेवाले सवृत्तिक मनके अधिष्ठाता पुरुषका क्या होता है? क्या वह नष्ट हो जाता है या लुप्त हो जाता है अथवा कुछ और बन जाता है? महर्षि कहते हैं कि वह नष्ट नहीं होता, उसका परिणाम नहीं होता, वह चेतन है, उसकी चेतनशक्तिका विपरिलोप नहीं होता—वह सदा रहनेवाली अलौकिक सत्ता है, उसकी उस समय अपने स्वरूपमें स्थिति होती है। जैसे दीपक अपने आपको भी प्रकाशित करता है और अपने सामने आये हुए घटपटादि पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है। यदि घटपटादि पदार्थ न हों तो उनके अभावको ही प्रकाशित करता है। इसी प्रकार मन-बुद्धिमें पड़े हुए प्रतिबिम्बको भी आत्मा प्रकाशित करता है और जब मन-बुद्धि नहीं होते तब भी प्रकाश ही करता है। मन-बुद्धिके बिना जो आत्माका प्रकाशित होना है, यही आत्माकी स्वरूपमें अवस्थिति है—यही उसका कैवल्य अर्थात् केवल निर्गुण होना है। इसीको मोक्ष कहते हैं। इस विषयमें श्रुतिकी भी सहायता है। छान्दोग्योपनिषद् ७। २४। १ में

* देखो न्यायदर्शन ४। १। ३८, ४०

महर्षि सनत्कुमारने नारदको उत्तर दिया है—'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति ? स्वे महिम्नीति ।'—तब वह किसमें प्रतिष्ठित होता है ? अपनी महिमामें अर्थात् अपने स्वरूपमें ।

मोक्षमें आनन्दप्राप्ति या ब्रह्माकारताके सम्बन्धमें योगसूत्रोंमें कुछ नहीं कहा गया । कारण यह है कि सुख-दुःखकी अनुभूति अन्तःकरणके द्वारा ही होती है और अन्तःकरणके साथ सम्बन्ध होना तथा उसके धर्मोंका अपने (आत्मा) को धर्मी मानना ही मिथ्या ज्ञान है । इधर सर्वशास्त्रसम्मत सिद्धान्त है कि मिथ्याज्ञानके रहते मोक्ष नहीं हो सकता । तब मोक्षमें आनन्द किस करणसे भोगा जायगा ? बिना करणके भोग असम्भव है और बिना भोगके आनन्दकी सिद्धि कठिन है । यदि कहा जाय कि उसका स्वरूप ही आनन्द है, तो फिर भोग या प्राप्ति कैसी ? यह स्वरूपस्थिति ही हुई । कहा जा सकता है कि चेतनरूपता या चितिशक्तिकी स्वरूपस्थिति भी तो सन्देहभरी है—चेतनताको किस करणसे अनुभव करता है, क्योंकि अन्तःकरण तो वहाँ है नहीं । बात यह है कि करणके द्वारा अपनेसे भिन्न पदार्थोंका अनुभव होता है—अपने स्वरूपके लिये—अपनी सत्ताके ज्ञानके लिये किसी करणकी आवश्यकता नहीं है जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद्में कहा है—

येनेदꣳसर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्· · · विज्ञातारमरे केन विजानीयात् । (४ । ५ । १५)

अर्थात् 'जिस (आत्मस्वरूप) से सबको जानता है उस (आत्मस्वरूप) को किस (करण) से जाने, अरे जाननेवालेको किससे जाने !' इसीलिये महर्षि पतञ्जलिने बिना किसी करण या करणकी क्रियाके आत्माकी स्वरूपस्थितिको कैवल्य मोक्ष माना है । यह करणशून्य तथा करणक्रियाशून्य 'केवल चेतनरूपसे स्थिति' किसी अन्य अवस्था या लक्षणकी अपेक्षा नहीं रखती क्योंकि 'दुःखात्यन्तनिवृत्ति' और 'आनन्दावाप्ति' का इस कैवल्यस्थितिमें ही अन्तर्भाव हो जाता है ।

विषय और करणसे शून्य आत्मस्थिति (कैवल्य) को मोक्ष मानना कई एक विद्वानोंको रुचिकर प्रतीत नहीं होता । वे कहते हैं कि शिलाके समान जडभावको प्राप्त हो जाना किसी विद्वान्को अभीष्ट नहीं है, इसलिये कैवल्यपद किसी कामका नहीं है । परन्तु विचार किया जाय तो दीपकवत् प्रकाशरूप स्थितिको शिला-समान समझना विद्वत्तासे बहुत ही इधरकी बात मालूम पड़ती है । आत्माको स्वत-प्रकाश ज्योतिःस्वरूप माननेवालेपर यह निकम्मा आक्षेप करना कि वह शिलाके समान परप्रकाश्य जडरूप मानता है, सर्वथा उपेक्षणीय है । 'केवल प्रकाशरूप निर्गुण चेतनस्थिति' को पतञ्जलिका मनःकल्पित सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह सिद्धान्त जहाँ युक्तियुक्त है वहाँ श्रुतिसम्मत भी है ।

आत्माको सच्चिदानन्दस्वरूप मानना, समझानेके लिये तो उपयुक्त हो सकता है, परन्तु यदि इसपर आग्रह करके सिद्धान्त मान लिया जाय तो वेदान्तीके साथ इस विषयमें योगशास्त्रीका मतभेद हो जाना अनिवार्य है । योगी कह सकता है कि चित्स्वरूप और सच्चिदानन्दस्वरूपका एक अर्थ नहीं है क्योंकि सच्चिदानन्दस्वरूपका अर्थ है—सत्स्वरूप, चित्स्वरूप और आनन्दस्वरूप होना । एक ही वस्तु तीन स्वरूपोंवाली नहीं हो सकती—ऐसा तो हो सकता है कि एक तो उसका स्वरूप हो और शेष उसके धर्म हों । 'जो सत् होता है वह चेतन भी होता है'—इस व्याप्तिको कोई विद्वान् स्वीकार करनेके लिये उद्यत नहीं हो सकता क्योंकि घटपटादि जड पदार्थ सत् (अस्तित्व रखते) हैं परन्तु चेतन नहीं है । यदि घटपटादिको चेतन माना जाय तो घटपटादिको फोड़नेवालेको हत्याका अपराधी मानना होगा इत्यादि । इसी युक्तिसे सत्ता रखनेवाले पदार्थ आनन्दरूप नहीं कहे जा सकते । अतः यही मानना होगा कि आत्मा चित्स्वरूप है और सत्ता तथा आनन्द उसके धर्म (गुण) हैं । क्योंकि 'जो चेतन होता है वह सत् होता है' इस व्याप्तिका खण्डन नहीं हो सकता । यदि कोई खण्डन करनेको अग्रसर हो तो उसे ऐसा चेतन दिखाना होगा जो असत् हो—परन्तु यह सर्वथा असम्भव है कि कोई चेतन तो हो और सत्ता न रखता हो । वेदान्तीके लिये कठिनता यह है कि वह आत्माको गुण-गुणी या धर्म-धर्मी-सम्बन्धसे युक्त मानना अद्वैत सिद्धान्तकी हानि मानता है क्योंकि निर्गुण श्रुति उसके ऐसा माननेसे भारी व्याकोपको प्राप्त हो जाती है । यह ठीक है, परन्तु जो श्रुति गुणगुणीभावका निषेध कर रही है वह गला फाड़-फाड़कर यह भी चिल्ला रही है कि 'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'—साक्षी आत्मा

चैतन्यस्वरूप है, वह केवल है और उसके साथ किसी भी गुणका सम्बन्ध नहीं है। यदि सच्चिदानन्दस्वरूप होना ही श्रुतिको अभीष्ट होता तो 'चेता' (चिद्रूप) न कहती। श्रुति आत्माको चैतन्यस्वरूप कहकर अन्य किसी भी (आनन्दादि) गुणका वर्णन नहीं करती बल्कि 'केवल' कह रही है, इससे सिद्ध है कि आत्माका वास्तविक स्वरूप 'केवल चैतन्य' ही है, उसके साथ आनन्दादि नहीं। यदि कहा जाय कि आत्माको आनन्दस्वरूप मान लिया जाय तो आनन्दविधायक वचनोंकी सङ्गति भी लग जायगी और जो आनन्दस्वरूप होता है वह चेतन अवश्य होता है और जो चेतन होता है वह सत् भी अवश्य होता है—यह व्याप्ति भी चरितार्थ हो जायगी तो यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि ऐसा मानना श्रुतिको अभीष्ट होता तो 'साक्षी चेता' और केवल तथा निर्गुण न कहती किन्तु 'आनन्दस्वरूप ही है' ऐसा कहती, परन्तु ऐसा तो श्रुतिने कहा नहीं। इसलिये निर्विशेष निर्धर्मक चेतनकी जो स्वरूपस्थिति है वही मोक्ष है। आनन्दादिपरक श्रुतियाँ इसी स्वरूपस्थितिकी महिमाका व्याख्यान है और कुछ नहीं।

सक्षेपमें योगी पतञ्जलिका सिद्धान्त यह है कि 'दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति' रूप मोक्षको अनुभव करनेवाला कोई चेतन अपेक्षित है जो दुःखाभावरूप जड नहीं हो सकता किन्तु दुःखाभावका साक्षी—अभावका द्रष्टा चेतन ही हो सकता है। इसलिये नैयायिकका अपवर्ग बिना 'चेतनस्वरूपमें स्थिति' के माने कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। और यदि आनन्दप्राप्तिको भावपदार्थ माना जाय—दुःखाभावका दूसरा नाममात्र न माना जाय तो इस आनन्दको भी कोई भोगनेवाला होना चाहिये, क्योंकि बिना चेतनके कोई भोग्य भोगा नहीं जा सकता। ऐसी अवस्थामें भोगके लिये किसी करण (मन, इन्द्रियादि) की आवश्यकता माननी होगी परन्तु वेदान्ती ऐसा नहीं मान सकता क्योंकि इससे आत्मासे भिन्न आनन्दरूप कोई भावपदार्थ सिद्ध होता है जो अद्वैत सिद्धान्तके विरुद्ध है तथा मोक्षका आनन्द नाशवान् मानना पड़ता है। तब यही कहना होगा कि आत्माके चैतन्यस्वरूपसे भिन्न कोई आनन्द पदार्थ नहीं है—इससे भी निर्गुण चेतनस्वरूपमें स्थिति ही 'मोक्ष' सिद्ध हुई। इसलिये चाहे नैयायिक हो या वेदान्ती हो, योगप्रतिपादित कैवल्यकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

(३) चित्त और आत्माका भेद

बहुत लोगोंका विचार है कि चित्त या बुद्धि ही जानती और कर्म करती है, उससे भिन्न कोई और आत्मा नहीं है। इस सिद्धान्तके माननेवाले बौद्ध हैं। योगशास्त्रमें इस विषयपर भी विचार किया गया है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि चित्त 'आत्मा' नहीं है और न केवल चित्तसे काम ही चल सकता है। चित्त या बुद्धिसे भिन्न आत्माकी पृथक् सत्ता है। यथा—

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्।
(योग० ४। १८)

'चित्तकी वृत्तियाँ पुरुषको सदा ही ज्ञात हैं, क्योंकि पुरुष अपरिणामी होता हुआ चित्तके परिणामोंका साक्षी तथा प्रभु है।'

तात्पर्य यह है कि चित्त अथवा बुद्धिमें परिणाम होते हैं, आत्मामें परिणाम नहीं होता। चित्त ज्ञेय है, आत्मा ज्ञाता है। आत्मा स्वामी है, चित्त उसके अधीन है।

चित्तकी वृत्तियाँ ही चित्तके परिणाम हैं। वृत्तियाँ सदा एक समान कभी नहीं रहतीं—घट-सम्बन्धसे घटाकार, पट-सम्बन्धसे पटाकार, गृह-सम्बन्धसे गृहाकार होती रहती हैं—यही चित्तका परिणाम है। परिणाम तीन प्रकारका है—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्था-परिणाम। जैसे घट-पटादि पदार्थोंमें धर्म, लक्षण और अवस्थापरिणाम होते हैं—मृत्तिकाके चूर्णका पिण्ड बनता है, पिण्डका घट बनता है, फिर घट क्रमशः पुराना होता जाता है। वैसे ही चित्तमें भी परिणाम होता है। एक परिणामके अनन्तर दूसरा परिणाम होता है, दूसरेके अनन्तर तीसरा। इस प्रकार चित्त परिणामी पदार्थ है। परिणामी पदार्थ जड होता हुआ अनित्य होता है इसलिये चित्त जड और अनित्य है। अनित्य वस्तु घट-पटादिके समान किसी ज्ञाताकी अपेक्षा करती है, अतः चित्त ज्ञेय है तथा आत्मा उसका ज्ञाता है। चित्तमें चाहे कोई परिणाम हो, चित्त उस परिणामका कभी द्रष्टा या ज्ञाता नहीं हो सकता। बौद्ध क्षणिक विज्ञानवादी हैं ही, अतः यह सिद्ध करना कि चित्त परिणामी है, एक प्रकारसे अनावश्यक ही है। आशय यह है कि जिस चित्तमें परिणाम होता है, उसकी प्रत्येक

अवस्था (सवृत्तिक मनके परिणाम) को आत्मा इसलिये जानता है कि चित्तका वह स्वामी है और स्वामी अपने भृत्यपर अवश्य शासन करता है। यदि आत्माको परिणामी माना जाय तो उसके परिणामोंका साक्षी कोई और चेतन मानना होगा, वह भी परिणामी माना जाय तो उसका साक्षी कोई और मानना होगा। अतः इस अनवस्थासे बचनेके लिये एक ही अपरिणामी नित्य साक्षी मानना आवश्यक है।

बौद्ध विद्वान् कहता है कि निःसन्देह चित्त परिणामी है, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उससे भिन्न किसी अपरिणामी चेतनको चित्तका स्वामी माना जाय। चित्तसे भिन्न इसलिये चेतनकी आवश्यकता कही जाती है कि चित्त जड है और जडके लिये किसी चेतन प्रकाशकका होना अनिवार्य है। हम (बौद्ध) कहते हैं कि जड होते हुए भी प्रकाशक हो सकता है। जैसे अग्नि घटादिको प्रकाशित करती है और स्वय भी प्रकाशित होती है, इसी प्रकार चित्त भी स्वयप्रकाश है अर्थात् विषयका भी प्रकाशक है और वृत्तियोंका भी। अतः चित्तसे भिन्न आत्मा माननेकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि चित्तको स्वप्रकाश मानना ठीक नहीं है। यथा—

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्। (योग० ४। १९)

अर्थात् 'चित्त दृश्य है इसलिये चित्तको स्वप्रकाश नहीं कह सकते।' जो दृश्य होता है वह घटादिके समान परप्रकाश्य होता है। चित्त भी दृश्य है, अतः वह भी परसे प्रकाशित है—स्वतः प्रकाशशील नहीं है। अग्नि यद्यपि प्रकाशशील है तथापि उसका प्रकाश जड है—अग्नि नहीं जानता कि मैं प्रकाश कर रहा हूँ या मेरे प्रकाशसे घटपटादि पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं अथवा मेरे प्रकाशमें अमुक-अमुक कार्य हो रहे हैं, यही अग्निकी दृश्यता अर्थात् जडता है। इसलिये इससे भी यही सिद्ध होता है कि चित्त जडपरिणामी है।

वास्तवमें जिस प्रकार घटपटादिके लिये जैसे अग्निके प्रकाशकी आवश्यकता है, उसी प्रकार अग्निके ज्ञानके लिये यद्यपि अन्य अग्निकी अपेक्षा नहीं; तथापि दृश्य होनेसे किसी द्रष्टाकी तो आवश्यकता बनी ही रहेगी, क्योंकि अग्निमें ज्ञान नहीं है।

आत्माकी चित्तसे पृथक् सत्ता सिद्ध करनेके लिये और दर्शनोंमें भी विचार किया गया है और विलक्षण युक्तियोंसे आत्माकी सिद्धि की गयी है। इस छोटे-से निबन्धमें सब बातोंका उल्लेख करना बहुत ही कठिन कार्य है। अतः लेखके आकार-प्रकारपर विचार करते हुए यही उचित प्रतीत होता है कि लेखनीको विराम दिया जाय।

विरले योगी

(लेखक—स्व० योगिवर्य महात्मा श्रीचिदानन्दजी यति)

अवधु निरपक्ष विरला कोई, देख्या जग बहु जोई—
सम रस भाव भला चित जाके थाप उथापन होई।
अविनाशीके घरकी बाताँ जानेंगे नर सोई। अवधु०
राव रंकमें भेद न जाने कनक उपल सम लेखे।
नारि नागिनीको नहिं परिचय ते शिवमन्दिर देखे। अवधु०
निन्दा-स्तुति श्रवण सुनीने हर्ष शोक नवी आणे।
ते जगमें योगीसर पूरा नित चढ़ते गुण ठाणे। अवधु०
चन्द्र समान सौम्यता जाकी सागर जेम गँभीरा।
अप्रमतें भारंड परैं नित सुर गिरि सम शुचि धीरा। अवधु०
पंकज नाम धराय पंक सुं रहत कमल जिम न्यारा।
'चिदानन्द' ऐसा जन उत्तम सो साहेबका प्यारा। अवधु०

पातञ्जल योगदर्शनकी प्राचीनता

(लेखक—श्रीमद्योगाचार्य श्रीमन्मौक्तिकनाथजी नैरञ्जन)

दर्शनशास्त्रका प्रादुर्भाव कैसे हुआ ? कब हुआ ? और कहाँसे हुआ ? इत्यादि प्रश्नोंके उत्तर तो बड़े-बड़े दार्शनिकोंकी प्रतिभाको भी अगम्य-से हैं । हाँ, हमारा यावन्मात्र अध्यवसाय है—'श्रुति, स्मृति, पुराण और इतिहासादि सद्ग्रन्थोंमें जो-जो अध्यात्मविचार विद्यमान हैं उन्हीं सदुपदेशोंकी मीमांसा दर्शनशास्त्रोंमें समीचीनतया सगृहीत है ।' दर्शनशास्त्रोंके विशेष महत्त्वका कारण यह है कि उनमें पदार्थविवेचन और अध्यात्मरहस्य साङ्गोपाङ्ग तथा सविस्तर विवर्णित रहते हैं । साथ ही इनकी रचनाचातुरी भी चतुरचित्तको चमत्कृत करनेवाली होती है । जिस प्रमेयकी सिद्धिमें सैकड़ों ग्रन्थ गीत ही गाया करते हैं, दर्शनशास्त्रका एक नन्हा-सा सूत्र भी चट्से उसकी सिद्धि कर दिखाता है । अतएव 'गागरमें सागर' की कहावत दर्शनशास्त्रमें ही अक्षरशः चरितार्थ होती है ।

दर्शनोंकी रचनाशैली

दर्शनशास्त्रोंका श्रीगणेश 'अथ' शब्दसे और उसकी चरम सीमा 'इति' शब्दसे होती है । परन्तु यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं है । कई दर्शन ऐसे भी हैं जिनकी स्वतन्त्रतामें 'अथ' और 'इति' कुछ भी बाधा नहीं डाल सकते । तथा अनेक दर्शन ऐसे भी हैं जिन्होंने 'इति' शब्दका काम आम्रेडितसे अर्थात् द्विरुक्तिसे ही सिद्ध कर लिया है ।

गद्य-पद्यकी अपेक्षा दर्शनशास्त्रोंकी मूर्ति प्रायः छोटे-बड़े विविध सूत्रोंसे लपेटी रहती है । अतः इन सूत्रोंपर न तो कोई कवि ही कटाक्ष कर सकता है और न छन्दःशास्त्र ही इनपर अपने दण्डकोंका दबाव डाल सकता है । अतएव दर्शनशास्त्रका छोटे-से-छोटा सूत्र भी सर्वदा स्वतन्त्र-स्वच्छन्दरूपसे बड़े-बड़े अखाड़ोंमें भी अकड़ा ही करता है ।

दर्शनशास्त्रोंकी गणना तथा प्राग्भवीय इतिवृत्त अनुमान-प्रमाणके आधारपर ही निर्भर है । हाँ, अनुमानका लिङ्ग प्रायः उद्भूतरूपमें होना चाहिये, क्योंकि अनुमानका लिङ्गज्ञान ही आधार है । माधवाचार्यने सर्वदर्शनसग्रहमें जिन चार्वाकादि सोलह दर्शनोंका सग्रह किया है उन्हींमें पाणिनिदर्शन भी गुँथा हुआ है । जब हमारी दृष्टि पाणिनिके सूत्रोंपर पड़ती है तो—

'लोपः शाकल्यस्य'	(८ । ३ । १९)
'अवङ् स्फोटायनस्य'	(६ । १ । १२३)
'ऋतो भारद्वाजस्य'	(७ । २ । ६३)
'ई ३ चाक्रवर्मणस्य'	(६ । १ । १३०)
'लङः शाकटायनस्यैव'	(३ । ४ । १११)
'वा सुप्यापिशले'	(६ । १ । ९२)
'तृतीयादिषु भाषितपुंस्क पुंवद्गालवस्य'	(७ । १ । ७४)

इत्यादि विविध सूत्रोंमें शाकल्य, स्फोटायन, भारद्वाज, चाक्रवर्मण, शाकटायन, आपिशलि, गालव तथा भागुरि, इन्द्र, चन्द्र, अमर, जैनेन्द्रादि महावैयाकरणोंके नाम और व्याकरणसम्बन्धी तत्-तत् सिद्धान्त स्पष्टतया देखे जाते हैं । इसी प्रकार सांख्यदर्शनमें भी—

अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिख ।	(६ । ६८)
लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्य ।	(६ । ६९)

इत्यादि विविध आचार्योंके नाम उल्लिखित मिलते हैं । वेदान्तदर्शनमें भी—

'बादरायण'	(१ । ३ । २६)
'बादरि'	(१ । २ । ३०)
'जैमिनि'	(१ । २ । २८)
'आश्मरथ्य'	(१ । २ । २९)
'औडुलोमि'	(१ । ४ । २१)
'काशकृत्स्न'	(१ । ४ । २२)

इत्यादि दार्शनिक महर्षि योगियोंके नाम तथा तत्सम्बन्धी सिद्धान्त विजृम्भमाण दिखायी देते हैं । अतः स्पष्ट है कि पाणिनिसे पूर्व भी शाकल्यादि विविध दर्शन केवल एक शब्दशास्त्रकी ही पुष्टिपर विद्यमान थे । तथा कपिलदेवसे प्रथम या तत्समयमें ही पञ्चशिख या सनन्दनाचार्यादिकोंके दर्शन केवल सांख्यशास्त्रके सम्बन्धमें ही रचे गये होंगे । एवं वेदान्ततत्त्वका गहन सिद्धान्तभाण्डार भी पूर्वोक्त बादरायणादि परमयोगियोंकी देखरेखमें भरपूर

रहता होगा। परन्तु शोक है कि उन दर्शनोंके अभावसे आज एक अति साधारण बालक भी चट्से कह उठता है कि, 'अजी! आप क्या कहते हैं, अमुक-अमुक दर्शन तो प्राचीन हैं ही नहीं!' अस्तु।

दर्शनशास्त्रकी गणनापद्धति निर्धारित न होनेपर भी आज षड्दर्शनोंकी कुरसी अव्वल है। इन्हीं छः दर्शनोंमें पातञ्जलदर्शनका नाम गुँथा हुआ है। इसीको योगदर्शन या पातञ्जलसूत्र भी कहते हैं। कुछ लोगोंका कथन है कि 'कलियुगके प्रारम्भसे प्रथम ही योगशास्त्रका प्रचार लोप हो गया था। यदि ऐसा न होता तो श्रीकृष्णभगवान् ऐसा क्यों कहते—

स कालेनेह महता योगो नष्ट परन्तप॥
(गीता ४। २)

अब रहे पातञ्जलसूत्र, इनमें तो आकाशकी पाताल ही ठूसी हुई है। वेदादि सच्छास्त्र भी साक्षी नहीं देते कि पातञ्जलका सिद्धान्त सर्वथा मान्यतम है।' बस, इन्हीं वितर्कों और कुतर्कोंका समाधान करना इस लेखका प्रधान उद्देश्य है।

पातञ्जलकी प्राचीनतामें इतर दर्शनोंके प्रमाण

इस विषयमें केवल षड्दर्शनोंका ही विलोडन करना है। क्योंकि योगमार्गका भाण्डार इतना विराट् है कि वेदोंसे लेकर साधारण-से-साधारण कथा-कहानियोंमें भी उसके अमूल्य रत्नोंकी गणना ही नहीं हो सकती। फिर उन रत्नोंका उद्धरणरूपसे संग्रह किया जाय तो महाभारतसे भी चतुर्गुण विस्तृत 'योगरत्नमहासागर' का पोथा बन सकता है। यदि ईश्वरेच्छा बलीयसी होती रहेगी तो वेदादि शास्त्रोंके तत्तद्योगरत्नके नमूने 'कल्याण' के उपकण्ठमें समर्पण किये जायँगे।

इन षड्दर्शनोंमें श्रीकपिलभगवान्का सांख्यदर्शन प्राचीन माना जाता है, इस विषयकी पुष्टिमें, 'ऋषिं प्रसूतं कपिलम्' (श्वेता० ५। २) इत्यादि श्रुति ही शिरोधार्य समझी जाती है। तथा महाभारतमें भी—

ज्ञान च लोके यदिहास्ति किञ्चिद्
सांख्यागतं तच्च बृहन्महात्मन्।
(महा० शान्ति० ३०१। १०९)

अर्थात् इस संसारमें विभिन्न प्रकारके सम्पूर्ण ज्ञान सांख्योंसे ही प्राप्त हुए हैं। 'सांख्यदर्शन' का रहस्य है पुरुष-प्रकृतिका ज्ञान। अर्थात् पुरुष आत्मा वा क्षेत्रज्ञ कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिगुणव्यतिरिक्त साक्षी चैतन्य चिद्घन है, और त्रिगुणात्मिका जडरूपा प्रकृति यानी प्रधान अर्थात् मूल प्रकृति पुरुषसन्निधिमात्रसे ही लोहचुम्बकन्यायसे चैतन्यताको प्राप्त होकर महदादिक्रमसे चराचर संसारका विसर्ग करती है। पुरुष जबतक प्रकृतिके गुणोंमें बँधा हुआ है, दुखी है, जब योगाङ्गानुष्ठानसे अपने स्वरूपका वास्तविक ज्ञान हासिल कर लेता है, तब सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। पुरुष-प्रकृतिके स्वरूपका सच्चा ज्ञान ही सांख्यशास्त्रकी मूलभित्तिका है। अतएव केचित् कलाकलापी महाशयोंका अपलाप है कि कपिल भगवान् तो निरीश्वरवादी निरे नास्तिक थे, क्योंकि आपने पुरुष-प्रकृतिके ज्ञानमात्रसे ही कृतकृत्यता मान ली है। पर वास्तवमें श्रीकपिलभगवान् निरीश्वरवादी या नास्तिक तो नहीं थे। क्योंकि 'ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा' (सां० द० ३। ५७) 'इस प्रकारके ईश्वरकी सिद्ध सिद्ध है' की छाप उनके दर्शनमें समुल्लसित है ही। अर्थात् सन्निधिमात्रसे प्रकृति और पुरुषका प्रेरक तथा संसारसर्ग-विसर्गका निमित्त कारण ईश्वरकी सिद्धि सिद्ध है। कुलालके सदृश गारेका ढेर लगाकर थापा-थापी करना ईश्वरका काम नहीं है।

पातञ्जलदर्शन और सांख्यदर्शन

पातञ्जलका सूत्र है—'वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः।' (पात० सू० १। ५) 'चित्तकी वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट पाँच प्रकारकी होती हैं।' सांख्यदर्शनमें भी यही सूत्र अक्षरशः पाया जाता है। पतञ्जलिने चित्तवृत्ति-निरोधोपाय 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।' (पात० सू० १। १२) 'अभ्यास और वैराग्यसे वृत्तिनिरोध होता है' लिखा है। कपिलजीने भी इसी सूत्रको व्यत्यय कर—'वैराग्यादभ्यासाच्च' (३। ३६) 'वैराग्य और अभ्याससे होता है' लिखा है। पतञ्जलिने 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (१। ३) 'तब द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान होता है' इस सूत्रसे आत्माका वास्तविक स्वरूप दरसाया है। कपिलने भी 'तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थ।' (२। ३४) 'उसके निवृत्त और शान्तरज होनेपर वह स्वस्थ होता है' लिखकर पूर्वोक्त तत्त्वको ही स्पष्ट किया है। व्युत्थान अवस्थामें भी आत्माका स्वरूप 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' 'अन्यत्र वृत्तिसदृश रूप रहता है।'

(पात० सू० १।४) 'कुसुमवच्च मणिः' (सां० सू० २।३५) 'कुसुमके समान जैसे मणि।' इन दोनों सूत्रोंसे स्पष्ट हो जाता है। कपिलके 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' (१।६१) 'सत्त्व, रज और तम इन तीनोंकी साम्यावस्था ही प्रकृति है।' इत्यादि सूत्रमे समारकी उत्पत्तिके साथ-साथ पुरुषके भोग और मोक्षका कारण भी प्रकृतिको माना है। इस रहस्यको पतञ्जलिने भी 'प्रकाशक्रियास्थितिशील भूतेन्द्रियात्मक भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' (२।१८) 'प्रकाश, क्रिया और स्थिति दृश्यका स्वभाव है। भूत और इन्द्रिय उसके स्वरूप हैं और भोग और अपवर्ग उसके प्रयोजन हैं।' इस सूत्रसे सिद्ध किया है। पतञ्जलिका सिद्धान्त है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व धर्म आत्माके नहीं हैं, सर्वदा शुद्धस्वरूप भी आत्मा बुद्धिवृत्तिका अनुसरण कर सुख-दुःखादि-धर्मवान् देखा जाता है। कपिलका भी यही सिद्धान्त है। क्रमशः—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः। (यो०सू०२।२०)
उपरागात् कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात्। (सा० सू० १।१६५)

योगदर्शनकी विवेचना है कि अविद्याग्रन्थिका जबतक सर्वतोभावेन तिरोभाव नहीं होता, तबतक कैसा भी योगाभ्यासी मुमुक्षु क्यों न हो, संसाररूपी नाट्यशालामे पुनः-पुनः जन्म लेकर जात्यायुर्भोगात्मक सिनेमा टॉकीके सीन (दृश्य) उसे देखने ही पड़ेंगे। यही भाव सांख्यदर्शनका भी है। क्रमशः—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। (यो०सू० २।१३)

'मूलके रहते हुए उन कर्मोंका विपाक जन्म, आयु और भोग है।'

सस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः।

'सस्कारलेशसे उनकी सिद्धि होती है।' इन्हीं सिद्धान्तोंकी साम्यताका ज्वलन्त उपदेश श्रीकृष्णभगवान्ने बड़े मधुर शब्दोंमें दिया है—

साख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
(गीता ५।४)

साख्य और योग पृथक् हैं ऐसा मूर्ख कहते हैं, पण्डित नहीं। खैर, यह तो हुई श्रीभगवान्की करुणावृष्टि। परन्तु आश्चर्य यह है कि साख्यदर्शनके सिंहद्वारपर ही एक वीरभद्र महाराज ऐसा दृढ़ खूँटा गाड़कर बैठे हैं कि बार-बार हिलानेपर भी जरा-सा टस-से-मस नहीं होते। प्रथम तो उनके दर्शनसे कुछ घबराहट-सी हो गयी थी, परन्तु कुछ परिचय होनेपर हमें प्रसाद मिला कि योगदर्शन सांख्यदर्शनसे बहुत प्राचीन है। उन वीरभद्र महाराजका यह परिचय है कि—

न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्। (सा०सू० १।२५)

'हम वैशेषिकादि शास्त्रोंकी भाँति षट्पदार्थवादी नहीं हैं।' इनका दृढ़तर अध्यवसाय है कि कपिलके सांख्यदर्शनसे कणादका वैशेषिक दर्शन प्राचीन है। इसलिये प्रथम इनका विचार हो ले।

पातञ्जलदर्शन और वैशेषिक दर्शन

यद्यपि वैशेषिक दर्शनका प्रतिपाद्य विषय द्रव्यगुण-कर्मादि छः पदार्थोंकी विवेचना है, तथापि मोक्षमार्ग-व्यासङ्गमें तो कणादको भी पातञ्जलसूत्रोंका आश्रय लेकर धीमी-धीमी चालसे चलना पड़ता है। पातञ्जलमे मोक्षका लक्षण—'तदभावात् सयोगाभावो हानम्, तद्दृशेः कैवल्यम्।' (२।२५) लिखा है। इसीकी पूरी-पूरी नकल कणादके वैशेषिक दर्शन—'तदभावे सयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः।' (५।२।१८) 'उसके अभावमें सयोगका अभाव और पुनः उत्पन्न न होना ही मोक्ष है।' में देखी जाती है। पूर्वोक्त सूत्रके भावार्थके साथ-साथ अक्षरोंकी साम्यावस्था भी सम्यक् उद्भूत ही है। कणादको अष्टाङ्गयोगानुष्ठानजन्य मोक्ष अभिमत है, अतएव आपने मोक्षमार्गकी प्रक्रिया—'आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः।' (६।२।१६) लिखी है। चन्द्रकान्त इस सूत्रका भाष्य—'आत्मकर्मसु=यमनियमादिषु सत्सु मोक्षो व्याख्यातः' ऐसा करते हैं। पातञ्जलके—'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।' (२।१२)के आधारपर ही—'दृष्टादृष्टप्रयोजनाना दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय।' इस कणादके सूत्रकी सृष्टि हुई। योगसूत्रोंके सदृश कणादसूत्रोंकी चरम सीमा भी 'इति' शब्दसे उल्लिखित ही है। अतः दार्शनिकोंका निरर्गल निश्चय है कि पातञ्जल-सूत्रोंका विकास कणादके सूत्रोंसे बहुत प्राचीनतम कालका है।

पातञ्जलदर्शन और न्यायदर्शन

जब हम गौतमके न्यायदर्शनका निरीक्षण करते हैं तो उसमें भी अष्टाङ्गयोग बिना गति नहीं। यद्यपि वैशेषिकके सदृश गौतमका प्रतिपाद्य विषय 'प्रमाण-प्रमेयादि' सोलह पदार्थोंके विवेचनपर ही निर्भर है, तथापि मोक्ष-

धामकी पद्धति तो उसे भी अष्टाङ्गयोगकी ही माननी पड़ी। गौतमका सिद्धान्त है कि बाधालक्षण दुःखके अत्यन्ताभाव-का नाम अपवर्ग यानी मोक्ष है। यही बात 'बाधनालक्षणं दुःखमिति' (१।१।२१) 'दुःख बाधास्वरूप है।' 'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः' (१।१।२२) 'उससे अत्यन्त विमोक्षका नाम अपवर्ग है' इन सूत्रोंसे स्पष्ट की गयी है। दुःखोंकी निवृत्तिका उपाय भी—'तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगश्चाध्यात्मविध्युपायैः' —लिखा है। योगाभ्यासोपयोगी स्थानका निर्णय भी—'अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः' (४।२।४२) 'अरण्य, गुहा, नदीतट आदि स्थानोंमें योगाभ्यास करनेका उपदेश है' निर्धारित कर दिया है। समाधिसाधनाके बिना ब्रह्मतत्त्वकी अभिव्यक्ति होती ही नहीं, इस सर्वतन्त्रसिद्धान्तकी सर्वोपादेयताका वर्णन भी—'समाधिविशेषाभ्यासात्' (४।२।३८) 'समाधि-विशेषके अभ्याससे' से सुस्पष्ट कर दिया है। अतः दार्शनिक तार्किकोंका अभ्रान्त सिद्धान्त है कि गौतमका न्यायदर्शन पातञ्जलदर्शनसे सर्वथा अर्वाचीन है। अब रहे पूर्वमीमांसा यानी जैमिनिप्रणीत मीमांसादर्शन। वह तो याज्ञिक कर्मकलापको ही अष्टाङ्गयोगका साधन बतलाते हैं। आपका विश्वास है कि 'याज्ञिक कर्मकलापकी कसौटीसे बार-बार मनमन्दिरको उत्कर्षण करनेपर योगैकगम्य सच्चिदानन्द परमात्मा कभी-न-कभी अवश्य दर्शन देंगे ही। बस, छुट्टी पायी। अब हम इस छोटी-सी बातके लिये श्रीमान् महर्षि जैमिनिजीको खामखा तकलीफ देना नहीं चाहते।

पातञ्जलदर्शन और वेदान्तदर्शन

हाँ, अब हम पूर्वमीमांसाके छोटे भैयाके मेहमान बनते हैं। कहनेको तो आप पूर्वमीमांसाके छोटे भैया हैं, पर आप अपने सद्गुणोंसे संसारभरमें बड़े-से-बड़े समझे जाते हैं। आप बड़े छैलछबीले, चटकीले, रँगीले तो हैं ही, साथ ही आप मनमोहिनी विद्याके जादूगर भी हैं। अतएव आज सम्पूर्ण मानवसंसार आपके नामकी ही मनोहर मुरली बजा रहा है। आपका शुभ नाम है—वेदान्तदर्शन, व्याससूत्र, उत्तरमीमांसा और शारीरकशास्त्र। वेदान्त-दर्शनके देखते ही—'एतेन योगः प्रत्युक्तः' (२।१।३) 'इससे योगका प्रतिवाद हो जाता है।' यह प्रश्न उपस्थित होता है। जिन महानुभावोंने योग-मार्गके महत्त्वका श्रवणतक नहीं किया वे यह कहा करते हैं कि पूर्वोक्त सूत्रसे योगका खण्डन होता है। परन्तु एवंविध सूत्रोंकी एकवाक्यता है ही टेढ़ी खीर।

अपरा विद्या और परा विद्या

मैं प्रथम ही निवेदन कर चुका हूँ कि योगमार्गके महत्त्वकी पराकाष्ठा सर्वसाधारणको अगम्य है। अनादि-कालसे आजतक योगमार्गकी अनेक ऐसी टेढ़ी-मेढ़ी बटेदार पद्धतियाँ चली आ रही हैं कि जिनके द्वारपर बूढ़े वेद-भगवान्‌को भी चुपकेसे बैठकर दिन काटने पड़ते हैं। वेद क्या वस्तु है? योगिराजोंके अनुभवात्मक ज्ञानकी लघीयसी मात्रा। फिर भी अपरा विद्याके क्लासमें ही उनको स्थान मिला। मुण्डक उपनिषद्‌के प्रारम्भमें ही एक कथा है कि—शौनक नामक ऋषिने योगेश्वर अङ्गिराके पास जाकर प्रार्थना की कि हे भगवन्! वह कौन-सी विद्या है जिसके ज्ञानसे सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो? अङ्गिरा उपदेश देते हैं कि—ब्रह्मवेत्ता योगेश्वर दो विद्याओंका वर्णन करते हैं—(१) परा और (२) अपरा। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्व-वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिषादि विद्या तो इहलौकिक सुखसाधक होनेसे अपरा यानी ऐहलौकिकी कहलाती है। और जिस विद्यासे अक्षर, अव्यय, अविनाशी पूर्णब्रह्म परमेश्वरका साक्षात् होता है उसका नाम परा विद्या है (मुण्डक० १३-५)। इसी प्रकारकी कथा नारद और सनत्कुमारजीके प्रसङ्गसे छान्दोग्यउपनिषद्‌के सप्तम अध्यायके प्रारम्भमें समुल्लसित है।

योगसम्प्रदायका सिद्धान्त

अतएव अवधूत मत्स्येन्द्र-गोरक्षादि महासिद्ध योग-विद्याकी अपेक्षा कर्ममयी वेदविद्याको न्यग्भूत ही समझते हैं। क्योंकि वेदविद्यामें त्रैगुण्य प्रपञ्च ही तो है। योगेश्वर श्रीकृष्णभगवान् 'त्रैगुण्यविषया वेदाः'—(गीता २।४५) कहकर त्रैगुण्यप्रपञ्चमय वेदोंकी कैसी अवहेलना करते हैं यह तो विद्वत्समाज मान ही रहा है। यही सही, वेद ही मान्यतम हैं, तो क्या वेद-शब्द योगका वाचक नहीं है? मैं तो सप्रश्रय प्रार्थना करता हूँ कि वेदोंके विकाससे प्रथम ही योगविद्या तरुण हो चुकी थी। या यों कह सकते हैं कि योगविद्याके गर्भसे ही वेद-विद्याका जन्म हुआ। मुण्डकोपनिषद्‌के प्रारम्भमें ही लिखा है कि—

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।

'देवताओंमें प्रथम ब्रह्मा हुए जो विश्वके कर्ता और भुवनके गोप्ता हैं ।' ठीक है, परन्तु जब विश्वरचनाकी आवश्यकता पड़ी तो श्रीहिरण्यगर्भजीके पास विश्वरचना-सामग्री तो थी ही नहीं, आप मन-ही-मन चिन्ता करने लगे। तब योगैकगम्य योगात्मा दयालु पूर्णब्रह्मका आदेश-प्रसाद मिला कि—

स चिन्तयन्द्व्यक्षरमेकदाम्भ-
स्युपाश्रृणोद् द्विर्गदितं वचो विभुः ।
स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंशं
निष्किञ्चनानां नृप यद्धनं विदुः ॥
(श्रीमद्भा० २ । ९ । ६)

अर्थात् उन ब्रह्माजीने ऐसा विचार करते हुए एक दिन (प्रलयकालके) जलमें दो अक्षरोंवाले एक शब्दका दो बार उच्चारण सुना। उनमेंसे पहला वर्ण तो स्पर्शवर्णोंमें (क से लेकर प तक) पन्द्रहवाँ अर्थात् त था और दूसरा इक्कीसवाँ अर्थात् प था। (जिनको मिला देनेसे 'तप' ऐसा शब्द बन जाता है) और जिसे अकिञ्चन पुरुषोंका धन कहते हैं ।

अब तो विभु महाराजको 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' (१ । १ । ९) की वाटिकामें दूरसे ही स्पर्श-कल्पद्रुम दिखायी पड़ा । फिर क्या था जरा-सा हिलाते ही स्पर्शोंमेंसे षोडश (त) और फिर एकविंशतिसंख्या (प) यानी 'तप' के प्रादुर्भावके साथ ही संसारका भी प्रादुर्भाव व्यक्त हो गया । कहिये तपकी कितनी महिमा है। जिस तपने इतने बड़े ब्रह्माण्डकी रचना कर डाली, योगदर्शनमें उसकी गणना अति साधारणरूपसे नियमोंमें पायी जाती है । अध्यात्मरसरसिक योगिराज क्या—'ना वेदविन्मनुते त बृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३ । १२ । ९ । ७) 'वेदको नहीं जाननेवाला उस बृहत् परमात्माको नहीं जानता ।' 'त त्वौपनिषद पुरुष पृच्छामि' (बृ० ३ । ९ । २६) 'उस उपनिषद्वेद्य पुरुषके बारेमें मैं प्रश्न करता हूँ ।' इत्यादि रहस्यका अनुमोदन नहीं करते ? करते हैं, परन्तु उनका पक्का सिद्धान्त यही है कि—

राम राम सब कहत हैं, ठग ठाकुर अरु चौर ।
तिनको योगीजन भजें, वह राम कछु और ॥

वेदान्तसूत्रके कर्ता 'योगविद्याके महत्त्वसे खूब परिचित थे फिर भी 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' की प्रतिज्ञा आपको शिरोधार्य है । इसके भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्यजी योगमहत्त्वोपपत्तिजनक अनेक श्रुतिप्रमाण देकर कहते हैं कि हमें इस विषयमें तो कुछ आपत्ति नहीं, परन्तु सांख्यस्मृतिके सदृश योगस्मृति भी ईश्वरसत्ताके बिना ही केवल प्रकृति-पुरुषद्वारा ही संसारका आविर्भाव मानती है, अतः सांख्यस्मृतिके सदृश ही 'सङ्गदोषन्याय' से योगस्मृतिका भी निराकरण हो सकता है । तथास्तु । परन्तु योगस्मृतिसे यदि पातञ्जलयोगदर्शनका अध्याहार कर लिया हो तो हम स्पष्ट शब्दोंसे स्तुति करेंगे कि शारीरकसूत्रकी स्मृति ही स्तब्ध हो गयी । प्रायः वेदान्त-दर्शन भी तो स्मृति है, न कि श्रुति । इसीका नाम 'गजनिमीलिका' है ।

पातञ्जलदर्शन सेश्वर है, अतः आपका उपदेश है कि प्रकृति तो जड है ही, अतः सहत्यरूपा होनेसे स्वयं परार्था भी है । रहे पुरुष, यद्यपि वे चिद्घन हैं तथापि अनेक जन्मोद्भव सुखदुःखात्मक कर्मोंके अकाट्य निगड़ोंसे ऐसे निगडित हैं कि पाशुपतदर्शनमें उन्हींकी पशुसंज्ञा मानी गयी है । इन पुरुषोंसे जो विशेष शक्तिमान् अर्थात् पुरुषोत्तम है वही इस जगत्का नियन्ता—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।
(१ । २४)

—'अविद्यादि पञ्चक्लेश, कर्म, उनके विपाक (सुख-दुःख) और आशय (वासना) से असृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर है ।'—दयालु प्रभु है । इस बातकी शहादत श्रीकृष्णभगवान् आप ही देते हैं—

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तम. ॥
(गीता १५ । १८)

—'क्योंकि मैं क्षरसे परे हूँ और अक्षरकी अपेक्षा उत्तम हूँ, इसीसे लोक और वेद दोनोंमें मैं पुरुषोत्तम नामसे विख्यात हूँ ।' वेदमें भी यही उपपत्ति है—

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनि-
र्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः
संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥
(यजु—श्वेता० ६ । १६)

अर्थात् 'वह (परमात्मा) विश्वका कर्ता, विश्वका वेत्ता, स्वयम्भू, ज्ञाता, कालका भी काल, गुणवान्, सर्वज्ञ, प्रकृति और पुरुषका स्वामी, गुणोंका ईश और संसारके मोक्ष, स्थिति और बन्धका हेतु है।' सूर्यको दीपक दिखाना तो अपना ही अपमान करना है। जो पदार्थ सर्वशिरोधार्य है, वहाँ लिङ्गव्ययादिका अडङ्गा अकाण्डताण्डव ही तो है। आखिरको हमें—

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः।
(उत्तररामचरित ४। ११)

'गुणवान् पुरुषोंके अन्दर उनके गुण ही पूजाके पात्र हैं, उनका लिङ्ग (चिह्न) और अवस्था इसमें कारण नहीं है।' भवभूति कविके इस इशारेपर चलना ही पड़ेगा। वेदान्तदर्शनने अपने प्रयत्नोंमें कुछ बाकी नहीं छोड़ा, परन्तु आखिर—घट्टकुटीरप्रभात* इस न्यायके ही विश्रामभवनमें आश्रय मिला।

वेदान्तस्मृतियोगाङ्गोंके आसन-ध्यानादिका महत्त्व

आसीनः सम्भवात्। (४। १। ७)

'आसनपर बैठकर उपासना करे, क्योंकि तभी उपासना हो सकती है।'

ध्यानाच्च। (४। १। ८)

'ध्यान भी तभी हो सकता है।'

अचलत्वं चापेक्ष्य। (४। १। ९)

'ध्यान अचलत्वकी अपेक्षा रखता है।'

स्मरन्ति च। (४। १। १०)

'स्मृतियोंमें भी ऐसा ही कहा गया है।'

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्। (४। १। ११)

'जहाँ एकाग्रता हो वहीं उपासना करनी चाहिये, अन्य कोई विशेष बात नहीं है।'

आ प्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्। (४। १। १२)

'उपासना भी मृत्युपर्यन्त करनी चाहिये।'

—इत्यादि मधुर शब्दोंसे प्रतिपादन कर ही रहीं थी कि अकस्मात् वास्कलि नाम मुमुक्षु ऋषि योगेश्वर श्रीवाध्वके योगाश्रममें ब्रह्मजिज्ञासार्थ पधारे। और प्रार्थना की कि—'हे प्रभो! उस योगैकगम्य सच्चिदानन्द परब्रह्मका क्या स्वरूप है?' वाध्व महाराज चुपचाप बैठे रहे। जब बार-बार वास्कलि पूर्वोक्त जिज्ञासापर ही डटे रहे तो वाध्व महाराज कुछ मुस्कुराकर बोले कि 'अरे वास्कले! तेरे प्रश्नोंका उत्तर तो मैं साथ-ही-साथ देता रहा, तेरी समझमें न आवे तो मैं क्या करूँ!' आखिर आपने यह उपदेश दिया—

उपशान्तोऽयमात्मा।

बात भी ठीक है। क्रियात्मक अष्टाङ्गयोगसाधनाके बिना वेदान्तपरिभाषाके अक्षरोंमें ब्रह्म कभी नहीं मिलेंगे। नृसिंहाचार्यके वेदान्तडिण्डिमके सदृश हम भी—(१) 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषद्)—'ब्रह्म प्रज्ञानस्वरूप है'। (२) 'अहं ब्रह्मास्मि' (यजुर्वेदीय बृहदारण्यक० १। ४। १०)—'मैं ब्रह्म हूँ'। (३) 'तत्त्वमसि' (सामवेदीय छान्दोग्य० ६। ८। ७)—'वह आत्मा तू ही है'। (४) 'अयमात्मा ब्रह्म'—(अथर्ववेदीय मुण्डक०)—'यह आत्मा ही ब्रह्म है' इत्यादि मन्त्रोंका दिन रात पाठ किया करते हैं, परन्तु इन शब्दोंकी ध्वनि दशवें द्वारके त्रिकुटी-महलमें (जो सच्चिदानन्दका आमोदयोगमठ है) कभी नहीं सुन पड़ती। 'ज्ञान भारः क्रियां विना' 'क्रियाके बिना ज्ञान भाररूप है'। अविद्या-ग्रन्थिका नाश तो समाधिद्वारा ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। वेदान्तदर्शनके भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य अपने अनुभवीय समाधिका वर्णन क्या मधुरतासे करते हैं—

समाधिनानेन समस्तवासना
ग्रन्थेर्विनाशोऽखिलकर्मनाशः।
अन्तर्बहिः सर्वत एव सर्वदा
स्वरूपविस्फूर्तिरयत्नतः स्यात्॥
(विवेकचूडामणि ३६४)

'इस समाधिसे समस्त वासनारूप ग्रन्थिका विनाश और अखिल कर्मोंका नाश होकर भीतर, बाहर, सर्वत्र एवं सर्वदा बिना यत्न किये ही स्वरूपकी विस्फूर्ति होने लगती है।'

निर्विकल्पकसमाधिना स्फुटं
ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम्।
नान्यथा चलतया मनोगतेः
प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत्॥
(विवेकचूडामणि ३६५)

* कुछ व्यापारी माल लेकर एक स्थानसे दूसरे स्थानको जा रहे थे। रास्तेमें घट्टकुटीर यानी चुंगीघरसे बचनेके लिये वे रातभर इधर-उधर भटकते रहे। भटकते-भटकते प्रातःकाल ठीक चुंगीघरके सामने आ पहुँचे। जिससे बचना चाहते थे उसीसे सामना हुआ। इसीको कहते हैं—'घट्टकुटीरप्रभातन्याय'।

१ वेदान्तदर्शन (३। २। १७) सूत्रका शांकर-भाष्य देखो।

'निर्विकल्प समाधिसे निश्चय ही ब्रह्मतत्त्वका स्फुट ज्ञान हो जाता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि अन्य अवस्थाओंमें मनोवृत्तिके चञ्चल होनेसे वह ज्ञान अन्य प्रतीतियोंसे मिश्रित रहता है।'

फिर व्युत्थान अवस्थामें भी उस योगिराजको चराचर जगत्में—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण, अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतम् ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्। (मुण्डक० २।२।११)

'यह अमृतस्वरूप ब्रह्म ही आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दक्षिणमें और ब्रह्म ही उत्तरमें है, तथा ऊपर और नीचे भी ब्रह्म ही फैला हुआ है। यह सारा विश्व ही ब्रह्म है और ब्रह्म सबसे श्रेष्ठ भी है।'

—यही परमानन्द मिलता ही रहता है। वेदोंमें इस प्रकारकी समाधिके सहस्रों लक्षण विद्यमान हैं। भला जो निखिलतन्त्रचूडामणि-योगसमाधिभास्कर है उसके आगे तीन अक्षरके 'प्रयुक्तः'—सैंहिकेय (राहु) की कियती मात्रा है?

पातञ्जलदर्शन और भक्तिदर्शन

लोकमान्य श्रीबालगङ्गाधर महोदयने गीतारहस्यके परिशिष्ट प्रकरणके दूसरे भागमें थासन साहब तथा ज्ञानेश्वर महाराजके सिद्धान्तानुकूल 'गीताका विकास पातञ्जलसूत्रसे ही हुआ है' यह मानते हुए भी यह कहा है कि 'पातञ्जलसूत्रकी अपेक्षा शाण्डिल्य ऋषिका भक्तिदर्शन अति प्राचीन है' इत्यादि। परन्तु जब हम भक्तिदर्शनका दर्शन करते हैं तो यह धारणा हो जाती है कि पातञ्जलसूत्रका विकास भी श्रीशाण्डिल्यऋषिजीके अवतारसे भी बहुत प्राचीन है। शाण्डिल्यऋषि भक्तिमीमांसाका श्रीगणेश कर 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' (१।१।२) 'ईश्वरमें परम अनुरागका नाम ही भक्ति है।' यह एक ही कदम आगे रख पाये थे कि योगदर्शनकी लाल-लाल आँखें दिखायी पड़ीं, और आपको भविष्यचिन्ता चकित करने लगी। बस, इसी चिन्ताके चिकित्सार्थ आपसे 'हेया रागत्वादिति चेन्नोत्तमास्पदत्वात् सङ्गवत्' (१।२।२१) 'यदि कहो, रागरूप होनेसे यह हेय है, तो ऐसा ठीक नहीं, क्योंकि (उत्तम पुरुषोंके) सङ्गके समान उत्तम (पुरुषोत्तम)-विषयक होनेसे वह श्रेष्ठ ही है।'—इस सूत्रका आविर्भाव हुआ। चिन्ताका मूल कारण भी श्रवण कीजियेगा—

'राग' शब्द अनेकार्थ होनेपर भी पातञ्जलदर्शनमें उसकी गणना अविद्यादि पञ्चक्लेशोंमें ही की गयी है। रागका पर्याय रक्ति शब्द भी है, इन्हीं शब्दोंके प्रथम उपसर्गोंका समावेश करनेपर—अनुराग, सुराग, विराग, अनुरक्ति, विरक्ति, परानुरक्ति इत्यादि अनेक पर्याय शब्द सिद्ध हो सकते हैं। इसी रक्ति शब्दके पूर्व 'परा और 'अनु' उपसर्गके मेलसे 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' की सृष्टि तो हो गयी, परन्तु—'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः (पञ्च) क्लेशाः' (पात० सू० २।३) 'अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाँच क्लेश हैं।' इस पातञ्जलसूत्रसे थरथराकर ही ऋषिजी महाराजको 'हेया रागत्वाद्—(१।२।२१) इत्यादि सूत्र लिखना पड़ा। योगसूत्र राग वा रक्ति शब्दका गोलार्थ करता है—योगपरिपन्थी पदार्थोंमें ममत्वका अनध्यारोप या यों कहिये कि विषयासक्तिसे सर्वदा उदासीन रहना। हाँ, योगसूत्रने राग और रक्ति शब्दोंमें शृङ्गाररसकी भावना समझकर पूर्वोक्त शब्दोंके स्थानमें 'प्रणिधान' शब्दको ही सर्वोपरि माना है। अतएव 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' (२।४५)—'ईश्वरप्रणिधानसे समाधिसिद्धि होती है।' यह सिद्धान्त स्थिर किया है। फिर इस छोटी-सी समस्याके आगे शाण्डिल्य महाराज घबड़ा उठे। दार्शनिक महोदयवर्य! कहिये, लोकमान्य तिलकजीका सिद्धान्त सर्वतन्त्र है या प्रतितन्त्र?

पातञ्जलसूत्रोंके भाष्य आदि और हिरण्यगर्भ

यों तो श्रीमहर्षि वेदव्यासप्रणीत व्यासभाष्यकी विभिन्न अवतरणिकाओंसे स्पष्ट अनुमान होता है कि व्यासभाष्यसे पहले भी योगदर्शनपर भाष्यादि थे, परन्तु वर्तमानमें इन योगसूत्रोंपर जो-जो भाष्यादि हैं उनकी तालिका इस प्रकार है—

श्रीवेदव्यासप्रणीत	व्यासभाष्य
विज्ञानभिक्षुरचित	योगवार्तिक
मिश्र वाचस्पतिकृत	व्यासभाष्यव्याख्या
भोजदेवप्रणीत	राजमार्तण्ड
नागेश भट्टकृत	योगसूत्रवृत्ति
भावागणेशकृत	सूत्रवृत्ति
प० आनन्दकृत	योगचन्द्रिका
उदयङ्करकृत	यो० सू० वृत्ति
क्षेमानन्द दीक्षितकृत	नवयोगकल्लोलवृत्ति
ज्ञानानन्दकृत	यो० सू० वृत्ति
नारायणकृत	गूढार्थदीपिका
भवदेवकृत	अभिनवभाष्य
,,	योगसूत्रटिप्पण

महादेवकृत	यो० सू० वृत्ति
रामानन्दकृत	मणिप्रभा
रामानुजकृत	यो० सू० भाष्य
वृन्दावन शुक्लकृत	यो० सू० वृत्ति
शिवशङ्करकृत	,, ,,
सदाशिवकृत	,, ,,
राघवानन्दकृत	पातञ्जलरहस्य
राधानन्दकृत	पातञ्जलरहस्यप्रकाश
उमापति मिश्रकृत	यो० सू० वृत्ति
स्वा० हरिप्रसादकृत	यो० सू० वैदिकवृत्ति

इन सब भाष्यादिकारोंका एक मत है कि पातञ्जल-योगदर्शनका विकास हैरण्यगर्भशास्त्रसे ही हुआ है। इन भाष्यादिकारोंने निश्चय किया है कि योगसूत्र 'अथ योगानुशासनम्' (अब योगका उपदेश दिया जाता है।) से पतञ्जलि महाराजका योगसूत्रमें साक्षात् शासन न होनेपर अनुशासन ही है। तथा—

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्य पुरातन.।

'हिरण्यगर्भ ही योगके वक्ता हैं, इनसे पुरातन और कोई वक्ता नहीं है।' इस योगियाज्ञवल्क्यस्मृतिके प्रबल प्रमाणसे योगशास्त्रके विधाता श्रीहिरण्यगर्भ महाराज ही हैं। तथैवास्तु। परन्तु जिस प्रकार इतर दर्शनकारोंके इतिहास पुराणादिमें उपलब्ध है, श्रीहिरण्यगर्भजीका कोई भी इतिहास पुराणादिमें नहीं मिलता, न इस विषयमें किसी महानुभावने कोई कष्ट उठाया और किसीको जरूरत भी क्या थी कि बहिरङ्ग परीक्षाके पीछे-पीछे फिरे! परन्तु कुछ शास्त्रोंका समाकलन करनेपर हमें यह तो आपका पता मिला कि,

साख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्य. पुरातन.॥

(महाभा० १२। ३४९। ६५)

'सांख्यके वक्ता कपिलाचार्य परमर्षि कहलाते हैं और योगके वक्ता हिरण्यगर्भ हैं, जिनसे पुराना और कोई इस शास्त्रका वक्ता नहीं है।' आगे चलकर इस प्रकार योगका रहस्य दर्शाया है कि—

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एष च्छन्दसि स्तुतः।
योगे सम्पूज्यते नित्य स च लोके विभु स्मृतः॥

(महाभा० १२। ३४२। ९६)

'यह द्युतिमान् हिरण्यगर्भ वही हैं जिनकी वेदमें स्तुति की गयी है। इनकी योगीलोग नित्य पूजा करते हैं और संसारमें इन्हें विभु कहते हैं।' और देखिये—

हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृत।
महानिति च योगेषु विरञ्चिरिति चाप्यज.॥

'इन हिरण्यगर्भ भगवान्को (समष्टि) बुद्धि कहते हैं, इन्हींको योगीलोग महान् तथा विरञ्चि और अज (अजन्मा) भी कहते हैं।'

अपि च—

इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं
हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत्।

(श्रीमद्भा० ५। १९। १३)

'हे योगेश्वर! यह योगकौशल वही है जिसे भगवान् हिरण्यगर्भने कहा था।'

हिरण्यगर्भो जगदन्तरात्मा···

(अद्भुतरामायण १५। ६)

'हिरण्यगर्भ जगत्के अन्तरात्मा हैं।'

हिरण्यगर्भः सर्गेऽस्मिन् प्रादुर्भूतश्चतुर्मुख.।

(वायु० ४। ७८)

'इस सर्गमें हिरण्यगर्भ चतुर्मुखरूपसे प्रकट हुए।' इन पद्योंका भावार्थ यह है—

वेदोंने जिसकी स्तुति की, जो योगिजनोंसे पूजित हैं, वेदोंमें जो विभु, विरञ्चि, अज, चतुर्मुख तथा जगदन्तरात्मा इत्यादि विशेषणोंसे उपश्लोकित हुए हैं। बस, उन्हींकी—'महानिति च योगेषु' है। इसकी टीका करते हुए श्रीनीलकण्ठजी फरमाते हैं—

योगेषु एष महानिति प्रथमं कार्यम्।

अर्थात् हिरण्यगर्भ महाराजकी यही 'महान् इति' है कि आपने वेदोंसे भी प्रथम योगविद्या याने परा विद्याका प्रादुर्भाव किया। जिन हिरण्यगर्भ भगवान्का छन्द यानी वेदमें—

हिरण्यगर्भ· समवर्तताग्रे
भूतस्य जात. पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(ऋ० १०। १२१। १)

'हिरण्यगर्भ ही पहले उत्पन्न हुए जो समस्त भूतोंके एक पति थे। उन्होंने इस पृथिवी और स्वर्गलोकको धारण किया। उन अनिर्वचनीय देवकी हम पूजा करते हैं।'

—इस प्रकार स्तुति की गयी है, बस, इन्हीं हिरण्यगर्भ महाराजके हैरण्यगर्भसूत्रोंका योगदर्शनमें अनुशासनकर 'अथ योगानुशासनम्' से योगदर्शनका प्रादुर्भाव हुआ है। अतः यह निर्विवाद है कि पातञ्जलयोगदर्शनसे प्राचीन कोई भी दर्शन संसारमें है ही नहीं।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ग्रन्थिभेद

(लेखक—विद्यालंकार प० श्रीशिवनारायणजी शर्मा)

ब्रह्मग्रन्थिभेद

शृण्वन्तु विश्वेऽमृतस्य पुत्राः ।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

प्रथम यह जानना चाहिये कि ये ग्रन्थियाँ हैं क्या चीज ?

ये आगामी, सञ्चित और प्रारब्ध तीन प्रकारके कर्म हैं । आगामी कर्मोंका नाम उपनिषद्में ब्रह्मग्रन्थि, चण्डी-में मधुकैटभ और तन्त्रमें कुलकुण्डलिनी है । विराट् मन-प्राण और ज्ञान ये ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर हैं । उनको पानेके लिये जीवभाववाले मन, प्राण और ज्ञानकी खोज करना आवश्यक है । जिस प्रकार पृथ्वीके भीतर छिपा हुआ जलप्रवाह पानेके लिये आँगनमें कूप खोदना होता है, उसी प्रकार विराट् समष्टिको पानेके लिये अपने भीतर सदा अनुभूत होनेवाली व्यष्टिसत्ताका आश्रय लेना होता है ।

फिर सद्गुरुके आश्रय और उपदेशानुसार पहले मनुजत्वसे मनुत्व प्राप्त करना और जगत्की प्रत्येक वस्तुमें सत्यप्रतिष्ठा कर सबको गुरु समझनेकी दृढ भावना करनी चाहिये । 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' यह मन्त्र चैतन्य हो जानेसे जीव मनुजत्वकी सङ्कीर्णतारूप सीमासे बाहर निकलनेको व्याकुल होता है । भगवान् मनु मनुष्य-जातिके पिता और ब्रह्मा पितामह हैं । मनु ही ब्रह्माकी प्रथम सृष्टि हैं । जब मनुष्य साधनबलसे 'मनुत्व' प्राप्त कर लेता है, तभी वह 'भर्गो देवस्य धीमहि' कहता हुआ अमृत-मय अनन्त ज्योतिकी लहरमें निमग्न होकर तन्मय हो जाता है । जब आप 'तत्ते पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये' कहते हुए, सूर्यमें सत्यप्रतिष्ठा कर सत्यदर्शी ऋषियोंकी भाँति महासूर्यकी आभासतरङ्गसे सवेदित होंगे, जब आप 'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि'—कहते हुए वैदिक युगके ऋषियोंकी भाँति सूर्यमें सत्य और प्राणप्रतिष्ठ होकर जीव-भाव बिल्कुल भूल जायँगे, तब मनुत्वके अधिकारी होंगे । साधक यह न समझें कि ऐसा होना आपके लिये असम्भव है । ब्रह्मदर्शी ऋषि ऐसा अव्यय सरल मार्ग आविष्कार कर गये हैं कि उसपर धीरे-धीरे सहजभावसे आगे बढ़ते जानेपर मनुष्यमात्र इसे प्राप्त कर सकते हैं ।

मनुत्व प्राप्त होनेसे अणिमा, महिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और घृणा, लज्जा आदि अष्ट पाश-बन्धनोंसे जीव मुक्त हो जाता है । प्रथम मनुजत्वसे मनुत्व और फिर मनुत्वसे ब्रह्मत्व, ये तीन अवस्थाएँ क्रमशः सद्गुरु-कृपासे साधकके सम्मुख अपने आप आती जाती हैं । जीव यह समझने लगता है कि मनुरूप पिताकी गोदमें मैं निर्भय आनन्दपूर्वक नग्न सरल शिशुकी भाँति बैठा हुआ हूँ । मैं चाहे कितना ही क्षुद्र, दीन, अविश्वासी और श्रद्धाहीन हूँ परन्तु पिताकी गोदमें बैठा हूँ । जब हर घड़ी यही अनुभव करता रहता है तब मर्त्यलोकमें रहकर भी वह अमरताके आस्वादमें मुग्ध रहता है और साधारण जनोंके लिये जो जगत् सदा दुःखमय है उसीको वह आनन्दमयरूपसे भोगता हुआ अनिर्वचनीय शान्ति पाता है, 'स शान्तिमधि-गच्छति' ।

मनुष्योंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय 'मनु' के इशारे-पर ही निर्भर है, वह प्रत्येक मनुष्यके सूक्ष्म और कारण देह तथा मनके भाव प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है । हमारे हृदयपटलपर जन्मजन्मान्तरके सञ्चित भावसंस्कार अङ्कित हैं, वे हमारे अनुभवमें नहीं आते, परन्तु जब हम मनुत्व प्राप्तकर मन्वन्तरके अधिपति होंगे तब अपने तथा दूसरोंके संस्कार, पाप, पुण्य, जन्म, जाति, आयु, भोग इत्यादि सब प्रत्यक्ष अनुभव कर सकेंगे । मनुत्वका ही आंशिक फल प्राप्त कर लेनेवाले साधु अपने दर्शनार्थियोंके विचार बिना कहे ही जान लेते और बतला देते हैं ।

मनुत्वका कुछ अंश प्राप्त कर लेनेपर साधक सद्गुरु-से दीक्षित होनेपर अपनी इच्छाशक्तिद्वारा मनकी गति उलट देते हैं । मनके दो मुख हैं, एक नीचेकी ओर दूसरा ऊपरकी ओर । नीचेका मुख प्रवृत्तिकी ओर स्वभावतः प्रवाहित रहता है और ऊपरका बन्द रहता है । कुछ दिन सद्गुरुका सत्सङ्ग प्राप्त होने और उनकी कृपा होनेपर ऊर्ध्वमुख निवृत्तिमार्ग प्रवाहित होने लगता है, अधोमुख सूक्ष्म हो जाता है । जिसको मनुत्वपर कुछ अधिकार प्राप्त हो चुका है वही सद्गुरु और सत्सङ्ग करानेका अधिकारी है ।

बोधमय क्षेत्रमें पहुँच हो जानेपर ब्रह्मग्रन्थि शिथिल हो जाती है। साधक जीव जब अन्तःशरीरमे प्रवेश करता है तब देखता है कि अन्नमयसे आनन्दमय कोषतक पाँचों कोष धर्मसस्कारोसे परिच्छिन्न हैं। शास्त्रीय विधि-निषेध आत्मज्ञानप्राप्तिमे प्रथम सहायक अवश्य होते हैं, परन्तु फिर वे बन्धनरूप हो पड़ते है। इतना जान लेनेपर भी उनकी उपेक्षा करनेका साहस नहीं होता। जबतक जीव आत्म-स्नेहमें मुग्ध नहीं होता तबतक वैध कर्मोंके सस्कार उसे बहुत ही सताते है, इस कारण वे नित्यानन्दके विघातक प्रबल शत्रु है।

स्थूल वृत्तियाँ मनुष्यकी साधारण शत्रु हैं और सूक्ष्म वृत्तियाँ प्रबल शत्रु हैं। काम-क्रोधादि वृत्तियाँ आत्मराज्य-प्राप्तिमें उतनी विघ्नकारक नहीं हैं जितनी सूक्ष्म वृत्तियाँ (सस्कार) बाधक हैं। इनके हाथसे छूटना अत्यन्त दुरूह है। यहींपर जीवको विषादयोग होता है, इसके बाद फिर साधकको विषादयुक्त नहीं होना पड़ता।

गीताके कुरुक्षेत्रमे आत्मीय ज्ञानसे विमूढ युद्धविमुख अर्जुनके विषादयोगकी यहीं समाप्ति थी। गीताका युद्ध साधकप्रवर अर्जुनके अन्नमय क्षेत्रमें और विषाद मनोमय क्षेत्रमे था, एव चण्डीमे वर्णित मन्त्रिविद्रोह और राजा सुरथके प्राणोमें जो विषाद उपस्थित हुआ था वह विज्ञान-मय क्षेत्रमें होनेके कारण उससे सूक्ष्म (उच्चस्तरका) था।

सांसारिक साधारण दुःख और साधनजगत्के दुःखों-का अन्तर साधक ही जान सकते हैं, जैसे विरहाग्निका सन्ताप विरहिणी अनुभव कर सकती है, विरहकी अग्निसे जब स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर भस्मीभूत हो चुके तब कहीं उस प्रेमविभोर जीवका परमप्रिय तत्त्वसे तादात्म्य हुआ। बिन्दुमें सिन्धु समा गया। यह आनन्द वियोगी जाने वा योगी? अत्यन्त विरहासक्ति ही प्रेमकी सबसे ऊँची अवस्था है। विरह एक प्रकारका पुट है। इसके बिना प्रेमका रग चढ़ता ही नहीं। साधिका देवी सहजोबाईने कहा है—

प्रेमदिवाने जे भये, कहें अटपटे बैन।
कबहुँक मुख हाँसी छुटै, कबहुँक टपकत नैन॥

जीव जब भगवत्प्रेम करने लगता है तब अनुभवमें आता है कि 'अरे! सस्कारोंने तो मेरा आनन्दमय कोष, नित्यशुद्धबुद्धत्व और स्वामित्व सब हर लिया। ये सस्कार ही मेरे मन्त्री थे। ये बड़े दुष्ट हैं। क्या देहराज्यमे, क्या मनोराज्यमें, क्या आनन्दके केन्द्रमें कहीं तिलभर भी मेरी प्रभुता नहीं रही है? क्योंकि देह मेरी इच्छा बिना रुग्ण हो जाती है, वृद्ध होती है, मन मेरी इच्छा बिना विषयोंकी ओर दौड़ता रहता है, ज्ञान मेरी ज्ञेय वस्तुओको प्रकाशित नहीं करता, रहा आनन्द सो उसका तो तलाश करनेपर भी कहीं पता नहीं लगता। यद्यपि ये सब मेरे ही हैं तथापि विपक्षी हैं। अरे, मेरी इच्छासे तो एक बूँद रक्त भी चलायमान नहीं होता, ये सब मेरी आत्मराज्यप्राप्तिके प्रतिकूल खड़े हैं।' इससे उसे अत्यन्त विषाद होता है, यह विषाद बाहरसे नहीं दीख सकता। फिर विशेषता यह कि इस विषादकी अवस्थाको प्राप्त हुआ जीव महाभाग्यवान् कहा जाता है, परन्तु साधारण असाधक जन उस पीड़ाको क्या समझेंगे!

कबहूँ बाँझ न जानही तन प्रसूतकी पीर।

अथवा—

कबहूँ भेक न जानई, अमल कमलकी बास।

चण्डीमें सुरथका सर्वस्व दुष्ट मन्त्रियोने हरण कर लिया, वह महाभाग भी है और दुःखी भी है, ये दो विपरीत भाव एक साथ क्यों और कैसे? कारण, ऐसा हुए बिना उसे मेधस् ऋषिका सत्सङ्ग न मिलता, और न वह मनुत्वको प्राप्त होता। इससे वह महाभाग है, और जीवभाव और जीवत्वकी ग्रन्थियाँ उस समय उसे अत्यन्त दुःखमय जान पड़ती हैं, यह दुःख है।

अस्तु, जबतक आत्म (मातृ) दर्शन नहीं होता, तबतक यथार्थ ग्रन्थिभेद नहीं होता। विषादयोगके बाहरी लक्षण गीतामें कहे गये हैं—

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति॥
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते॥

ये विषादके चिह्न साधकप्रवर अर्जुनके स्थूल देह अन्नमय कोषमे प्रकट हुए थे, परन्तु सुरथका विषाद सूक्ष्म और कारणदेहमें अवतरित होनेके कारण उसका बाहर विशेष लक्षण कुछ प्रकट नहीं हुआ। प्रजाविद्रोह या भावविरोधिता विज्ञानमय कोषमें, और मन्त्रियोंका विरोध या धार्मिक संस्कारोंकी परिच्छिन्नता आनन्दमय कोषमें अनुभव होते हैं। ज्ञानका अधिकार जिसका जितना उच्च है उसका विषाद भी उतना ही सूक्ष्म और

उच्चस्तरका होता है। बालक मिट्टीका खिलौना टूट जानेसे रोता है परन्तु समझदार विद्वान् पुरुष युवा पुत्रकी मृत्युपर भी अधीर नहीं दीख पड़ता, तो क्या उसे दुःख होता ही नहीं, अवश्य होता है, परन्तु अन्तःकरणके उच्चस्तरमें होता है।

साधक जब अपना चित्त बाह्य विषयोंसे रोकता और व्याकुल होता है तब स्नेहमयी माँ उसे एक सरल मार्गपर ले जाती है। कारण, पहले तो साधक सयम, योग, ध्यान, सिद्धि, शक्ति आदिको चाहता था, परन्तु जब अनेक बार विफलमनोरथ हुआ, तब यथार्थ आत्मा (माँ) की खोज उसके प्राणमें उदित हुई, तब वह 'एकाकी हयमारुह्य जगाम गहन वनम्' इन्द्रियरूपी अश्वपर सवार होकर विषयारण्यमें ही आत्मानुसन्धान करने लगा, तब उसने क्या देखा—

स तत्राश्रममद्राक्षीद् द्विजवर्यस्य मेधसः।

यही बुद्धियोगकी प्राप्ति है—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

अहा! गीतामें मोक्षफलदायक कल्पवृक्षके जो बीज बोये गये थे उन्होंने चण्डीमें पत्र, पुष्प और सरस फलरूपमें परिणत होकर साधकोंको कृतार्थ कर दिया और करते हैं।

जीव जब अन्तर्राज्यमें रत्ती-रत्ती ढूँढनेपर भी आत्माका पता नहीं पाता, तब विवश हो फिर इन्द्रियग्राह्य विषयोंके समीप आता है। पहले तो वह इन विषयोंको नाशवान् और मिथ्या कहकर विषवत् त्यागकर अन्तर्राज्यमें प्रविष्ट हुआ था, अब लौटकर फिर उसी विषयारण्यमें प्रवेश करता है, परन्तु इसमें भेद यह होता है कि पूर्व केवल विषय समझकर विषय भोगता था और अब आत्मानुसन्धानके निमित्तसे भोगता है। पहले-पहल प्रत्येक विषयमें 'सत्य' कल्पना करते-करते ही आत्मानुसन्धान जागरित होने लगता है। कारण कि प्रथम साधक विचारता है कि विषय तो यथार्थ आत्मा नहीं है, विषय क्षुद्र हैं, आत्मा अनन्त है, विषय भावोंकी घनीभूत अवस्था है, आत्मा भावातीत है, विषय अज्ञान-मात्र है, आत्मा ज्ञानमय है। इस कारण विषयोंमें विचर-कर क्या अत्यन्त विपरीत विरुद्ध आत्माका पता मिलना सम्भव है? परन्तु क्या किया जाय, अन्तर्राज्यमें जब अमृतका पता न मिला तब बहिःराज्यमें तलाश करनेमें हानि ही क्या है? ऐसा करते-करते कुछ दिनोंके बाद यहींसे आत्मप्राप्तिका श्रीगणेश होने लगता है।

चाहे कोई भी पदार्थ आपके सामने आवे, इन्द्रियरूप अश्व अपनी इच्छासे चलकर किसी भी पदार्थके सामने खड़ा कर दे, उसीको आप 'सत्य' 'आत्मा' मानकर ग्रहण कीजिये। चक्षु कोई रूप लाकर सामने उपस्थित करे उसे आप आत्मा 'माँ' का रूप समझिये, कानसे कुछ भी शब्द सुने, उसे 'माँ' के कण्ठका शब्द मानिये, गन्धको आत्माके अङ्गका सौरभ समझिये, रसनासे जो विचित्र रस अनुभव करे उन्हें 'रसो वै स.' कहकर अमृतायमान होइये, कोमल स्पर्शसे रोमाञ्चित हों तो स्नेहमयी माँ—आत्माका करस्पर्श समझिये, इस प्रकार आठों प्रहर जो कुछ भी करें उसे यही समझें कि, 'यत्करोमि जगन्मातस्तदेव तव पूजनम्' यह रोम-रोमसे अनुभव कीजिये, केवल मुखसे कहनेसे यथार्थ फल न होगा। साधक! अबतक आप भाव, विषय और सस्कारोंके विरुद्ध युद्धकर क्षतविक्षत हुए हैं, अब उनके अनुकूल चलिये, परन्तु उनमें आत्म-सवेदनसे बार-बार सवेदित होते रहिये। अनेक जन्म-जन्मान्तरसे 'जगद्भाव' का अभ्यास हो रहा है, आप जगद्भावमें ही मोहित रहे हैं। अब आप जो कुछ करें, जो कुछ देखें, समझें वह सब छद्मवेशधारिणी माँकी ही मूर्ति है, यह आपकी बुद्धिमें सदा विकसित होता रहे, यही बुद्धियोग है। 'योग. कर्मसु कौशलम्' है। यही मोक्षमार्गपर ले जानेवाला योगपथ है। समस्त दर्शन, वेद, शास्त्र यही एक बात कहते हैं। 'ईशा वास्यमिदं सर्वम्' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। भगवान् सर्वव्यापी हैं, इस बातको तो प्राय. सभी मनुष्य कहते हैं; परन्तु इसे व्यवहारमें लानेवाले, तत्त्वतः जाननेवाले कोई-कोई ही हैं, 'कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः'। इस साधनके लिये कोई नयी बात सीखनी-सिखानी नहीं, जानना-सुनना भी कुछ शेष नहीं, जो कुछ सीखा-सुना-पढ़ा है, उसे कार्यरूपमें परिणत करनामात्र है। 'इदम विना अमलके किस कामका'। यह बुद्धियोग ही चित्तकी चञ्चलता दूर करनेका अमोघ अस्त्र है। आपका मन कहेगा, सामने यह वृक्ष है, तब आपकी बुद्धि जोर देकर कहे कि नहीं, यह वृक्षरूपमें माँ है। पहले-पहल ये बातें व्याजरूप ही जान पड़ती हैं। हमारा अविश्वासी मन इन बातोंको स्वीकार नहीं करना चाहता कि इस दीखनेवाले जगत्के रूपमें भगवान् ही सर्वत्र विराजमान हैं। परन्तु मनकी चतुराईसे, इन्द्रियोंकी

धूर्ततासे, आप धोखा न खाइये। बुद्धिबलसे सर्वत्र 'सत्य-प्रतिष्ठा' कीजिये, तब आप इसके मधुमय परिणामको देख सकेंगे। गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥
(६। २९-३१)

आपको भगवान्‌की जो मूर्ति प्रिय हो, सबको उसी रूपमें देखिये और उसके साथ ठीक ऐसा ही बर्ताव कीजिये मानो सचमुच (इष्ट) देव ही मिल गये। ऐसा करते-करते आप यथार्थ भक्तिपर पहुँच जायँगे।

'भक्ति बिना थोथें सभी जोग जग्य आचार'

देखिये भगवान् वस्तुतः दुर्लभ नहीं, अति सुलभ हैं, अणोरणीयान् महतो महीयान् हैं। परन्तु उसके चाहनेवाले दुर्लभ हैं—

चलन चलन सब कोइ कहे पहुँचे बिरला कोय।

अरे! पलक बन्दकर खोलनेमें तो देर भी लगती है, कुछ चेष्टा भी करनी पडती है। पर भगवान्‌को पानेमें न चेष्टा करनी पडे, न देर लगे, वह तो 'सबहिं सुलभ सब देस' है, वह कहाँ नहीं है, पर हमें उसकी चाह ही नहीं है।

आँखोंमें तू है जिसके दिलमें खयाल तेरा।
मुश्किल नहीं है उसको होना विसाल तेरा॥
दिलका मेरे शिवाला सब मन्दिरोंसे आला।
देखा करूँ मैं इसमें हरदम जमाल तेरा॥
दोनों जहाँन देकर वापिस किये सुदामा।
क्योंकर कहूँ न होगा पूरा सवाल तेरा॥
प्रह्लादकी तरह जो सच्ची है प्रीति तेरी।
किसकी है मौत आई छूवे जो बाल तेरा॥
करुणासे मुझको अपनी शादान रख जहाँमें।
फूले फले हुआ दे तुझको निहाल तेरा॥
लीला तेरी न जानी नारदसे देवताने।
'आनन्द चीज क्या है जाने जो हाल तेरा॥

यदि सबसे निकट कोई वस्तु है तो आत्मा—भगवान् है। परन्तु उसमें विश्वास दुर्लभ है, जो कुछ आयोजन-प्रयोजन-साधन और कठिनाई है वह इस विश्वासके दृढ करनेमें ही है। दृढ विश्वास होते ही साधक वि-श्वास, विगत श्वास 'सहज कुम्भक' हो जाता है, यही योगका सार है। श्वास भी अपने नहीं रहते, खुदी दूर हो जाती है।

मथित्वा चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि चैव हि।
सारस्तु योगिभिः पीतस्तक्रमश्नन्ति पण्डिताः॥
आलोच्य चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि सर्वदा।
योऽहं ब्रह्म न जानाति दर्वी पाकरसं यथा॥
यथा खरश्चन्दनभारवाही
भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।
तथैव शास्त्राणि बहून्यधीत्य
सारं न जानन् खरवद् बहेत्सः॥
(उत्तरगीता)

अस्तु, बुद्धियोगका कौशल (रहस्य) न जाननेके कारण ही लोग श्वास रोककर स्वयं चित्त स्थिर करनेकी चेष्टा करते हैं, परन्तु उसे (आत्माको) पाते नहीं। कारण, वे आत्माको चाहते नहीं हैं, वे तपस्वी होनेको तपस्या करते हैं, साधु बननेके लिये साधना करते हैं और जैसा चाहते हैं वैसे ही बन जाते हैं, क्योंकि भगवान् वाञ्छाकल्पतरु हैं।

छान्दोग्यमें कहा है, 'मनो ब्रह्म इत्युपासीत'—मनकी ब्रह्मरूपसे उपासना करना ही सत्यप्रतिष्ठा है, क्योंकि जगत् मनका भाव है, जगत्‌की उपासना ही मनकी उपासना है। बुद्धि (महत्तत्त्व) में चैतन्यका सबसे प्रथम प्रकाश होता है, समानधर्मवाले पदार्थ जैसे दूध और जल आपसमें सुगमतासे मिल जाते हैं। मनसे परे बुद्धि और बुद्धिसे परे आत्मा है। इस कारण अपने निकटतम सूक्ष्म अंश बुद्धिद्वारा ही वह शीघ्र मिल सकता है। इन्द्रियाँ मनसे रुकती हैं, मन बुद्धिसे रुकता है, इस कारण पहले बुद्धि स्थिर होनी चाहिये। बुद्धियोगका गुण बडा विचित्र है। इसका जरा-सा भी अनुष्ठान महान् भयसे त्राण कर देता है। भगवान् कहते हैं—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
(गीता २। ४०)

इस बुद्धियोगकी सहायतासे साधकके हृदयमें एक अपूर्व स्निग्ध चिदाकाश प्रकाशित होता है। उसके दर्शनमात्रसे प्राण अमृतरसमें निमग्न हो जाते हैं। अविश्वासी

चञ्चल मन स्थिर होकर उस निर्मल सत्य ज्योतिमे मुग्ध हो जाता है, हृदयका सारा सन्ताप मिट जाता है। प्रथम यह चिदाकाश कुछ मलिन, अस्थिर और अल्पक्षण स्थायी होता है, फिर सत्य-प्रतिष्ठामें अभ्यास बढ़नेपर क्रमशः निर्मल, श्वेत, देरतक ठहरता और इच्छामात्रसे दिखायी देने लगता है। इसीका नाम अरण्यमे राजा सुरथको मेधस् मुनिका प्रशान्त श्वापदाकीर्ण मुनि-शिष्योपशोभित आश्रम-दर्शन होना है।

मेधस्=मेधा, स्मृति शक्ति पाना। इससे मोह नष्ट होता है।

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।

यही बुद्धिका विकास गीताकी समाप्ति और चण्डीका आरम्भ है, बुद्धिमय क्षेत्र ही मेधस्का आश्रम है, यही ब्रह्मज्ञानप्रवेशका तोरणद्वार है। यहाँपर पहुँचना ही साधनमे एण्ट्रेन्स पास होना है। सुषुम्णाप्रवाह प्रकाशित होनेपर इस स्थानपर सहजमे पहुँच सकते हैं, तन्त्रमें इसको कुल-कुण्डलिनी-जागरण कहा जाता है। इसका साक्षात्कार होनेपर जीवकी ब्रह्मग्रन्थि शिथिल हो जाती है।

प्राचीन समयमे ऐसे ऋषि-मुनियोंसे भारत अधिक गौरवान्वित था, वे गृही हैं या सन्यासी, आश्रमी है या दण्डी, कुछ कहनेमें नहीं आता था। उनके स्त्री, पुत्र, धान्य, पशु सब कुछ था तो भी वे निर्मम थे, कुछ भी न था, वे सदा विश्वका कल्याण करनेमें लीन रहते थे। वर्तमानमें भी ऐसे सन्तोंका अभाव नहीं है। परन्तु उनका सत्सङ्ग सर्व-साधारणको प्राप्त होना-न होना भगवत्कृपापर निर्भर है, संसारमें किसी वस्तुका रूपान्तर भले ही हो जाय पर अभाव नहीं होता। अस्तु,

बुद्धिमय क्षेत्रमे पहुँचनेपर साधकके विरुद्ध भाव स्थिर हो जाते हैं, उनमे चञ्चलता नहीं रहती, काम, क्रोधादि हिंसक जन्तु सताना भूल जाते हैं। साधन-जगत्में जबतक अनुमान और अप्रत्यक्ष रहे, तबतक समझना चाहिये कि अभी यथार्थ साधन-पथपर एक कदम भी आगे नहीं चले हैं। साधनमें जब पग-पगपर कुछ-न-कुछ प्रत्यक्ष होता रहेगा, तभी साधना सरस और मधुर होगी। मन्त्रचैतन्य इसमे परम सहायक होता है। जीवमात्र साधक हैं, कर्ममात्र साधन हैं, प्रकृति गुरु है, पुरुष इष्टदेव—लक्ष्य है। साधना सजीव होनेसे सिद्धि अवश्य होगी, साधनमे जातिभेद या साम्प्रदायिक भेद नहीं है, अधिकारी (पात्र) होना आवश्यक है।

उस बुद्धिमय ज्योतिमे साधक आरम्भमें अधिक देरतक नहीं ठहर सकते, शीघ्र ही देहबुद्धिमें उतर आते हैं। कारण कि नीचेकी ओर मन (भर बोझा) बँध रहा है, यह मन भगवान्के चरणोंमे अर्पण कर देनेपर ही जीवत्वका अन्त होता है। और वह प्रकाश ठहरने लगता है तथा समाधिसे भेंट होती है। जो भक्तिधनसे धनवान्, गुरुकृपासे ज्ञानवान्, सत्यप्रतिष्ठाकी शक्तिसे वीर्यवान् और चिन्मय ज्योतिसे प्रकाशमान है उन्हींके कुलमें समाधिका आविर्भाव (जन्म) होता है।

आत्मा—ब्रह्मके दर्शनका उपाय है उसके दर्शनकी इच्छाका होना। ब्रह्म, सर्वत्र प्रकाशित रहनेपर भी जीवकी दर्शन करनेकी इच्छा हुए विना, दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसे अपनी आँखोंसे सबको देख सकते हैं पर अपनी आँख नहीं दीखती। जीवकी ब्रह्मदर्शनकी इच्छा होनेपर प्रथम वह सद्गुरुरूपसे दर्शन देता है। सद्गुरु प्राप्त होनेपर साधक अपना देह, मन, प्राण सर्वस्व श्रीगुरुचरणोंमें अर्पण करनेको उद्यत होता है, क्रमसे गुरु ही उसका 'मैं' हो जाता है। जीवभावीय कर्तृत्वबोध उसका शिथिल हो जाता है। सत्-असत् चाहे कोई भी कर्म क्यो न हो, उसमे यह धारणा नहीं रहती कि 'मैं करता हूँ।' वह अपनेको द्रष्टामात्र समझने लगता है। वह समझता है कि—

केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।

शरीर यन्त्र है, आत्मा यन्त्री है। इसी ज्ञानसे उसके लौकिक कार्य होते रहते हैं। उनमे अनुराग या विद्वेष नहीं रहता। इसी कारण वे भविष्यत् कर्मके बीजरूप (बन्धन) में परिणत नहीं होते। इधर सांसारिक कर्मोंमें जितनी आसक्ति कम होती रहती है उधर उतनी हृदयस्थ गुरुपर साधककी आसक्ति बढती जाती है, और उसमें वह मुग्ध होता रहता है। फिर क्रमसे उसमें आत्म-समर्पण कर साधक निश्चिन्त हो जाता है और समझ सकता है कि 'गुरु, आत्मा, माँ' एकहीके नाम हैं। वही अन्तरमे रहकर सब अनुष्ठान पूर्ण करा लेते हैं। साधकको अपनी अहबुद्धिसे कोई विशेष पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता, बल्कि किसी अलङ्घ्य नियमके द्वारा समस्त कार्य क्रमशः अपने-आप सिद्ध हो जाते हैं। यह ग्रन्थि-

भेद करनेके लिये जब जैसा अध्यवसाय करना आवश्यक होता है, 'माँ' उसी भावसे आत्मप्रकाश करती हैं। यही साधन-जगत्का यथार्थ क्रम या सोपान है।

ब्रह्मग्रन्थिभेद सत्यप्रतिष्ठा है, विष्णुग्रन्थिभेद प्राणप्रतिष्ठा है और रुद्रग्रन्थिभेद आनन्दप्रतिष्ठा है। जब सत्य और प्राणप्रतिष्ठा हो जाती है तब आनन्दप्रतिष्ठा अपने आप हो जाती है, केवल आत्मा—माँके होनेका विश्वास घनीभूत होनेसे ही जीवभावीय कर्तृत्व शिथिल हो जाता है और आगामी कर्मोंका फल ध्वस हो जाता है, इसीको ब्रह्मग्रन्थि-भेद या मधुकैटभ-वध कहते हैं। यह प्रतिष्ठित होनेसे जीवत्वकी एक जड़ कट गयी, या समुद्रकी एक लहर ऊपर होकर निकल गयी। योगदर्शनमे है—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। (२।३६)

सत्य वह है जो इन्द्रिय और मानस ग्राह्यरूपसे प्रकाशित हो रहा है। इस सत्यमें सशय-विपर्ययरहित स्थिति हो तब क्रियाफलाश्रयत्व होता है। क्रिया शब्दका अर्थ है शास्त्र-विहित दैव-पैत्र्य कर्म और काय-मनोव्यापाररूप व्यावहारिक कर्म। इन्हीं कर्मोंका यथायोग्य फलाश्रयत्व होता है, सब क्रियाओंका फल केवल सत्यप्रतिष्ठ व्यक्तिका ही आश्रय करता है, जो सत्यप्रतिष्ठ नहीं है वह व्यावहारिक कर्मका भी पूर्णफल प्राप्त नहीं कर सकता, न उसको आत्मज्ञान हो सकता है। शास्त्रीय कर्मोंपर वर्तमानकालमें जन-साधारणकी अश्रद्धा होनेका कारण सत्यप्रतिष्ठाका न होना ही है। आजकल प्रायः मनुष्य सत्यसे विमुख हो गये हैं, जगत्को जड समझ लिया है, कर्मको जडरूपसे देखते हैं, चैतन्यरूप द्रष्टाकी धारणा भी नहीं कर सकते। इसी कारण शास्त्रोक्त कर्म प्राणहीन अनुष्ठानमात्रमें समाप्त हो जाते हैं। ज्ञानरूप अमृतफल पानेके लिये ही कर्मक्षेत्र (देह) मे निवास और अनेक प्रकारके कर्म किये जाते हैं। किन्तु हाय! केवल सत्यप्रतिष्ठाके बिना सब कर्म निष्फल हो जाते हैं। प्रियतम साधक! यदि आप यथार्थ सुखी होना चाहते हैं तो सत्यप्रतिष्ठाका अवश्य अनुशीलन करें।

२—विष्णुग्रन्थिभेद, महिषासुर-वध या प्राणप्रतिष्ठा

जानन्तु विश्वे अमृतस्य मत्ता

ब्रह्मग्रन्थिभेद होनेसे मधुकैटभ-वध वा आगामि कर्मोंका बीज नष्ट हो गया। साधक अब नित्य नयी-नयी आशा-आकाक्षा लेकर कर्ममें प्रवृत्त न हों। कर्मक्षेत्र (शरीर) में रहनेसे बाध्य होकर कर्म तो किये ही जायँगे, क्योंकि—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।

परन्तु अब अनासक्त होकर कर्म करने पड़ेंगे। उनकी सफलता और निष्फलतामें हर्ष-शोक न हो। विज्ञान-मय गुरु मेधस्की कृपासे ज्ञाननेत्र जैसे-जैसे खुलते जाते हैं वैसा ही क्रमसे अज्ञानान्धकार दूर होता जाता है।

साधक! पहले 'स्त्री-पुत्रादि' गृहस्थके बन्धनको ही परमात्मप्राप्तिमें बन्धन समझते थे और उनका साथ छोड़ना चाहते थे। परन्तु अब गुरुने अनुभव करा दिया कि ये बन्धन नहीं है, बल्कि तुम्हारे सूक्ष्म शरीरमें अन्तः-करणके सस्कार ही यथार्थ बन्धन हैं, जो अनेक जन्मसे साथ चले आ रहे हैं। ससार तुम्हारे भीतर ही है, तुम किसी भी एकान्त स्थान वा पर्वतकन्दरामें क्यों न चले जाओ, पर ये संस्कार साथ ही रहेंगे; जब साधक भलीभाँति यह अनुभव कर ससारका मूलोत्पाटन करना चाहता है तब सत्यप्रतिष्ठा-के फल और सद्गुरुकृपासे सोती हुई प्राणशक्ति जाग्रत् होकर आगामि कर्मोंके बीजरूप मधुकैटभका प्रथम निधन करती है। विष्णुकर्णमलोद्भूतौ मधुकैटभौ।

साधनक्षेत्रमें प्राणका नाम है 'विष्णु'। विष्णुका और एक विशेषण है प्रभु, अर्थात् स्वाधीन, जो स्वतन्त्ररूपसे इच्छाशक्ति चला सके। जब जगत् नहीं रहता तब जगद्-व्यापी प्राण 'शेषमास्तीर्य' अर्थात् भविष्य जगत्के बीजों-को शय्यारूप कल्पितकर 'अधःकृत' अपनेमे लीनकर योगनिद्रा लेते हैं। 'योग' का अर्थ है परमात्ममिलनभाव। उस समय जगद्भाव सुप्त रहनेके कारण व्यवहारमे वह निद्रातुल्य है, योग सिद्ध होनेपर जगद्भावमे सुप्तभाव होगा ही, इस दशामें विष्णुकी फिर स्वतन्त्रता नहीं रहती, योग-निद्रास्वरूपिणी मातृसत्ता विद्यमान रहती है।

विष्णुकर्णका अर्थ है व्यापक चिदाकाश (विष्णु—व्यापक, आकाश शब्दगुणात्मक है, शब्द कानसे ही सुनायी देता है।), मलका अर्थ है आवरक—आवरण करनेवाला, जो निर्मल शुभ्र चिदाकाशको आवरण करे वह मधुकैटभ है। मधुका अर्थ है आनन्द, कैटभका अर्थ है बहुत्व।

कीटवद् भाति इति कैटभः, तस्य भाव इति कैटभ.।

छोटे-छोटे कीड़ोंके समूहकी तरह सञ्चित कर्मबीज एक साथ अनेक भावोंको दरसाते हैं, अतएव अनेकताका

बीज ही कैटभ है। जब मधुकैटभ मारे गये तब मानो संसारमहामहीरुहकी एक जट कट गयी, परन्तु अभी दो जड़ें बड़ी दृढ़तासे जमी हुई हैं, वे सहजमें नहीं उखड़तीं। संञ्चित कर्म जो तुमने बहुत्व चाहा था वह तो जमा है, चित्तक्षेत्रमें उनका कोष भरा हुआ है, उनका नाश हुए बिना—महिषासुर-वध हुए बिना—भूमासुखकी प्राप्तिकी आशा नहीं। परन्तु भय नहीं, मैं तुम्हारी 'माँ' हूँ, मैंने गुरुरूपसे प्रकाश किया है, मैं स्वयं खड्गपाणि होकर समराङ्गणमें अवतीर्ण हो तुम्हारे सब संञ्चित संस्कार विलय कर दूँगी, तुम केवल मेरी गोदमें बैठे तमाशा—लीला देखते रहो। जब तुमने भयके कारण आर्त होकर मुझे 'माँ' कहकर पुकारा है, जब तुम मेरे महाप्राणमें प्राण मिलाकर व्याकुल भावसे देख रहे हो, तब निर्भय रहो, मैं तुम्हारे सब बन्धन काटकर अपने अङ्गमें मिला लूँगी। तुम्हें कुछ भी नहीं करना होगा, तुम सुख-दुःखमें निर्विकार आनन्दमय नग्न सरल शिशुकी भाँति मेरी स्नेहमय गोदमें द्रष्टारूपसे अवस्थान करो।

जीव अनेक जन्ममें अनेक प्रकारके वैध कर्मोंके अनुष्ठान, योग, तपस्या या भक्ति-ज्ञानके अनुशीलनसे परमात्म-विषयक संस्कार संञ्चित करता है, वे ही देवता हैं। अर्थात् मन-बुद्धि-इन्द्रियोंकी जो परमात्ममुखी गति या मिलन-प्रयास है उसीका नाम देवशक्ति है और विषयाभिमुखी लालसा ही असुर है अथवा गीतोक्त दैवासुर-सम्पत्तिको देवासुर समझिये। यह देवासुर-संग्राम जीव-देहमें सदा ही चला करता है। यह सूक्ष्म और कारणमें और स्थूल संग्राम कथा-वार्तामें सुना ही होगा। तीनों ही सत्य हैं।

अस्तु, रजोगुण महिषासुर है, 'क्रोधञ्च महिषं दद्यात्' यहाँपर क्रोधरूप महिषका, देवीके प्रति, बलि देना कहा है, परन्तु—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।

क्रोध रजोगुणसे ही उत्पन्न है। कामना और वासनाएँ रजोगुणके ही स्थूल विकासमात्र हैं। महिषासुर इनका अधिपति है। रजोगुणके अन्तर्मुखी विकाससमूह देवता हैं। इनके अधिपति (जो नव द्वारवाले देहरूप पुरको बसकर अर्थात् देहात्मबोध विलयकर देहत्रयातीत, अवस्थात्रयातीत, गुणत्रयातीत, परमात्मसत्ता, मातृअङ्कमें मिलनेका प्रयास है वही) पुरन्दर हैं। अभय, सत्त्वसंशुद्धि, दान, दम, तितिक्षा आदि देवभाव इनके आज्ञानुवर्ती हैं।

एक तरफ भोगकी लालसा-वासना, दूसरी ओर मोक्षका आकर्षण। यह संग्राम परमाणुमात्रमें हर समय चला करता है। परन्तु जीव जब मनुष्य-शरीरमें पहुँचता है तब आत्मबोध होनेपर विज्ञानमय कोषमें साधकोंके अनुभवमें आता है, तभी उसका मनुष्य-जीवन सफल होता है। साधक! देखते हो, तुम्हारे संञ्चित संस्कार आसुरी शक्तिबलसे तुम्हें पराजित करते हैं (अपवर्गमें पहुँचनेकी तुम्हारी राहको रोकते हैं)। जब ऐसा विचार करनेमें कई जन्ममें सौ वर्ष पूरे हो जायँगे तब यह संग्राम अपने आप समाप्त हो जायगा—'पूर्णमब्दशतं पुरा।' हमारा वर्तमान जीवन यथार्थ जीवन कहने योग्य नहीं है। कारण कि जीवन वह है जो गति-शक्तिवाला हो, जिसमें हम उन्नति करें, देवासुर-संग्राम अनुभव करते हुए जिसकी समाप्ति हो। जिसने मनुष्य-जीवन-व्यापी देवासुर-संग्राम, रासलीला या रामलीलाका अन्तरमें अनुभव नहीं किया, उसका जीवन व्यर्थ गया।

'वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम्!'
'यत्रैव जायते तत्रैव म्रियते!'

इस साधन-समरमें पहले देवताओंकी हार हुई, देवशक्ति और असुरशक्ति दोनों ही मनके भाव हैं। नाभि या मणिपूरचक्रसे नीचे असुरोंका क्षेत्र है और इससे ऊपर देवक्षेत्र है। नाभि-कमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति है, मनका जो अंश परमात्माभिमुखी हुआ है वह पद्मयोनि है, उसे आगेकर देवता (इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य) विष्णु और शिवके शरणापन्न हुए। विष्णु प्राणशक्ति हैं, इनका स्थान हृदयपद्म है। शिव ज्ञानशक्ति हैं, इनका स्थान ललाट या आज्ञाचक्र है) [सद्गुरु हृदय-कमलसे साधन आरम्भ कराते हैं अर्थात् पहले विष्णुकी आराधना कराकर धीरे-धीरे ललाट कमलतक पहुँचाते हैं, जीवका निवास साधनसे पूर्व मूलाधार या पृथ्वी-चक्रमें होता है, इसके ऊपर स्वाधिष्ठान (जलचक्र), फिर मणिपूर (अग्निचक्र), इन तीनके ऊपर हृदय-कमलतक बड़ी ऊँची सीढ़ियाँ हैं, समर्थ गुरु शिशु-साधकको गोदीमें ले अपने हाथसे चौथी सीढ़ीपर बिठा देते हैं। इससे ऊपरकी सीढ़ियाँ कम ऊँची और चौड़ी हैं। इस कारण उनपरसे फिसलनेका डर नहीं होता, तो भी सद्गुरु अपने चतुर्भुजरूपसे साथ या देखते रहते हैं। सन्तोंकी दिव्य दृष्टि पहाड़में भी नहीं रुक सकती। वह

एक्स-रेजसे अनेक गुण तीव्र होती है। रेज रक्तमांसके पारतक ही दिखा सकता है, हड्डीके अन्दर उसकी गति नहीं]

मन (ब्रह्मा) ने यह समझ लिया कि प्राण और ज्ञानकी सत्ता बिना मेरी सत्ता है ही नहीं, यही शरणागति है। जीव जबतक अहंताको जोरसे पकड़े रहता है तबतक उसका अभिमानसे उठा हुआ सिर किसी प्रकार झुकना नहीं चाहता और न तबतक शरणागतभाव आता है। शरणागत हुए या आत्मनिवेदन किये बिना साधनका आरम्भ और आगे बढ़ना हो नहीं सकता।

इन्द्रियोंकी सहायतासे जो ज्ञान होता है उसकी पहुँच बुद्धितक है। इससे आगे वैषयिक प्रकाश नहीं। इसी कारण बौद्ध-ज्ञानको लयका देवता कहा जाता है।

मन (ब्रह्मा) ने, आजतक जो-जो वृत्तियाँ उदय होती रहीं उन सबको, बुद्धिके प्रकाशसे प्रकाशित कर प्राण-को भेंट किया, परन्तु आज मन ही उसे असुरोंका अत्याचार बतला रहा है। इधर मधुकैटभवध (ब्रह्म-ग्रन्थि-भेद) के समयसे प्राण (विष्णु) की भी निद्रा भङ्ग हो गयी है, ज्ञान-शक्ति भी विज्ञानमय गुरुरूपसे प्रकाश कर रही है। जीव! अब तुम भी इधर-उधर भटकना छोड़कर अपने अन्तःस्थित ज्ञानमय गुरु-चरणकी शरण लो। वे साक्षात् हरि हैं।

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

ऐसे बनकर, रोते हुए कहो, प्राणमय गुरो! इन असुरों-की पीड़ासे बचाइये, वे मुझे आपके समीपतक नहीं पहुँचने देते। दया कर, इन सञ्चित कर्मोंके विपरीत आकर्षणसे रक्षा कीजिये। आप ही मेरे—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।

—सब कुछ हैं। मेरी जड़ता दूर कीजिये। (जड़ता रहना ही असुरोंका अत्याचार है।)

देखो जीव! चैतन्य ही तुम्हारा स्वरूप है, तुम्हारी इन्द्रियाँ चैतन्यके ही प्रवाहमात्र हैं, जहाँ चैतन्य है वहीं अमृत है, किन्तु तुम असुरोंद्वारा ऐसे हृतसर्वस्व हो रहे हो कि अमृतके रहते हुए भी आनन्दामृतकी एक बूँदको तरसते हो इस असुरके अत्याचारका अनुभव तो करो। 'यो वै भूमा तत् सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति'। सुख ही स्वर्ग है (सु+अज+घञ्)। अपने प्राणको ब्रह्म—आत्मा 'माँ' समझकर आदर करो, प्रत्येक पदार्थको प्राणरूप अनुभव करो, तब तुम्हारे सब अभावोंका रोना सदाके लिये बन्द हो जायगा, 'माँ' राजराजेश्वरीमूर्तिसे हृदयमें प्रकाशित होगी। अपने अभीष्ट देवताके दर्शन पाकर तुम धन्य हो सकोगे। तुम्हारी 'विष्णुग्रन्थि' खुल जायगी। इस प्राणको 'माँ' समझ लेनेसे फिर प्राणका पता नहीं पाया जाता। तुमने तो अपने नवद्वार बन्द कर रक्खे हैं, माँको प्राण-भिक्षा देना नहीं चाहते। इसीसे तो 'माँ' ने गोपालमूर्तिसे वृन्दावनमें अवतीर्ण होकर माखन (प्राण) चोरी की थी। वह वृन्दावन क्या है? बुद्धिक्षेत्र ही वृन्दावन है, इसी स्थानमें जीवात्मा-परमात्माका मिलन होता है, इसीमें रासलीला होती है, यही जीवन्मुक्तका आनन्दनिकेतन है। रसरूप आत्मा; इन्द्रियशक्तिरूपिणी गोपियोंसे परिवेष्टित आराधिता जीवप्रकृति राधाके साथ रसिकशिरोमणि 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्' श्रीकृष्ण आत्माराम होकर भी रमण करते हैं। शैवोंकी भाषामें यही कैलास है। यहींपर विज्ञानमय महेश्वर, माहेश्वरी पराप्रकृतिके साथ विहार करते हैं। यहींपर 'सर्वमापोमय जगत्' जड़भावका अभाव है, केवल 'चिन्मय' है। यहींपर विषयसंस्पर्शजन्य आनन्द और बहुत्वका अन्त होता है। एक सन्तका गान यहाँ याद आ गया—

हमारे वृंदावन ठर और।
माया काल तहाँ नहिं व्यापे जहाँ रसिक सिरमौर॥
छूट जायँ सब असत वासना मनकी दौरादौर।
गोविंद रसिक लखायो श्रीगुरु अनल अलौकिक ठौर॥

साधक! तुम अपने प्राणको जबतक विश्वप्राणरूपसे न समझ सकोगे, तबतक विष्णुग्रन्थिभेद न होगा। तुम्हारे जीवभावीय संस्कार हैं, वे प्राणमें अवस्थित हैं, उन्हें तुमने संकीर्ण कर रक्खा है। इसीने तुम्हारी विष्णु (प्राण) ग्रन्थि खुलती नहीं। परमेश्वरी माँको—आत्माके सुखपर जीवत्वकी स्याही लगा, कङ्कालिनी बनाकर देहरूप जीर्ण कुटीरमें छिपा रक्खा है, उससे अपने अभाव अभियोगोंका प्रतीकार होता हुआ न देखकर व्यङ्ग वचन कहते हो, हम तुच्छ हैं दीन हैं, दरिद्र हैं, परन्तु क्या कभी तुमने उस माँकी ओरपर भी निगाह डाली है? वह सर्वेश्वरी होकर भी तुम्हारे अभावोंको पूर्ण करते-करते दरिद्रा हो गयी, परन्तु तुम्हारे अभाव दूर न हुए, दिन-दिन बढ़ते ही जा रहे हैं, वह जार-जार रोती हुई कष्ट सहती हुई तुम्हारा मुँह ताकती है, कि अपनी दशा विचारकर आकुल प्राणसे

जो व्यथा सहती है उसका विचार करनेसे वज्रहृदय भी टुकड़े-टुकड़े हुआ जाता होगा कि राजराजेश्वरीकी सन्तानकी यह दुर्दशा !

जीवकी उच्छृङ्खल कामनाएँ पूर्ण करते-करते माँ ! आज तुम भिखारिणी हो रही हो, तुमने अपना सर्वस्व दे डाला है, परन्तु हम ऐसे कुपुत्र हैं कि तुम्हारी इस दशाका उलटा तिरस्कार करते हैं, हम कब मनुष्य होंगे ? कब अपनेको माँकी सन्तान समझ सकेंगे ? क्षमा करो माँ, हम अकृतज्ञ, अधम, शिशु पुत्रोंका यह अज्ञानकृत अपराध क्षमा करो—

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ॥

अब हम लज्जाके मारे कुछ कहने-विचारनेयोग्य नहीं हैं, इस असुरसे बचाओ ।

सुनो जीव ! तुम्हारी यह कल्पित भाव-दीनता देखकर माँ तुम्हें आशीर्वाद, नहीं नहीं, वर देनेको तैयार हुई है, उसे ग्रहण करो, तुम्हारे सब अभाव दूर होंगे ।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥
(गीता ६ । २२)

विक्षेप-आवरणादि असुरवृत्तियाँ प्राणप्रतिष्ठा होनेपर प्राणमय हो गयीं, भेदज्ञान दूर हो गया, सञ्चित संस्कार दग्ध बीजवत् हो गये, प्राणमय ग्रन्थि खुल गयी, अब सञ्चित संस्कारोंका फल भोगे बिना ही जीव माँकी गोदमें आरोहण कर सकेंगे, विष्णुग्रन्थिभेदका यही विशेष फल है । अब समझमें आ गया कि 'माँ-गुरु' के प्राण ही हमारे प्राणरूपसे प्रकाशित हैं । विषयमात्र ही मानो प्राणकी मूर्ति हैं, अब यह देख पाया है । अब विषयोंपर जो ममता, अनुराग या विद्वेष था, वह भी दूर हो गया । तुम प्राण या चैतन्यपर प्रतिष्ठित हुए हो । संसारवृक्षकी दूसरी जड भी कट गयी । रजोगुणरूप महिषासुरका वध हुआ, सञ्चित कर्म दग्ध हो गये । परन्तु सबसे मजबूत प्रारब्धभोगरूप मोटी जड अभी शेष रही है, यह रुद्रग्रन्थिभेद होनेपर माँ—समर्थ गुरुकी कृपासे एक ही शरीरसे अनेक जन्मोंका फल भोग कराकर स्वयं काट देगी ।

रुद्रग्रन्थिभेद—शुम्भवध या आनन्दप्रतिष्ठा

पश्यन्तु सर्वे अमृतस्वरूप
गच्छन्तु सर्वे अमृत निधानम् ।

अब हम रुद्रग्रन्थिके समीप होते हैं, यद्यपि 'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः' श्रुतिमें कहा है, तथापि भगवान् श्रीकृष्णजीका उपदेश लक्ष्य भेदकर और भी आगे बढता है—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते' । प्रारब्ध जीवरूप वृक्षका अन्तिम बन्धन है । माँकी कृपासे यह कटते ही अज्ञान-अन्धकार बिल्कुल दूर हो जायगा, जीवका जो यथार्थ स्वरूप है वह प्रकाशित होने लगेगा । सुरथ ! तुम आत्मसमर्पणयोगकी सहायतासे मुक्तिसागरमें कूद पड़े हो, दो लहरें तुम्हारे ऊपर होकर निकल गयीं । स्थूल और सूक्ष्म शरीरपर जो अभिमान था वह दूर हो गया । अब इस समरके लिये कुछ अस्त्र आवश्यक हैं उन्हें दृढतापूर्वक काममें लाना होगा—(१) 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' इसपर दृढ विश्वास प्रथम अस्त्र है । (२) बुद्धितत्त्वमें अवस्थानकर स्वयप्रकाशित चितिशक्तिकी ओर बार-बार लक्ष्य करनेका अभ्यास, यह दूसरा अस्त्र है । (३) युक्तिकी सहायतासे दृढ करना कि इन दृश्य पदार्थोंमें व्यावहारिक सत्ता है, पारमार्थिक सत्ता नहीं, यह तीसरा अस्त्र है । (४) शास्त्रीय प्रमाणोंकी सहायतासे 'तत्त्वमसि' 'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादिकी सहायतासे अद्वयस्वरूप परिग्रह करनेका प्रयास करना, यह चौथा अस्त्र है । (५) माँकी विशिष्ट कृपा पानेके लिये कातर प्रार्थना आदिसे अन्ततक कृपा रखनेकी प्रार्थना करना । कृपा ही शरणागतभावका अवश्यम्भावी फल है । आत्मप्राप्तिके पक्षमें आत्मकृपा ही प्रधान अवलम्बन है, कृपा प्राप्त होनेसे सब अनायास प्राप्त हो जाता है । ये व्युत्क्रमसे फल देते हैं । सबसे पहले माँकी कृपाका अनुभव होता है, फिर विश्वास दृढ होता है, फिर शास्त्रवाक्यका अर्थ प्रतीत होता है, फिर युक्ति या विचारकी सामर्थ्य उत्पन्न होती है । अन्तमें अनुभूतिको लक्ष्यकर अभिन्नस्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेकी योग्यता होती है ।

यह योग्यता होते ही तीसरी लहर कारण शरीरका अभिमान भी दूर हो जायगा और तुम आनन्दमें प्रतिष्ठ होओगे, रुद्रग्रन्थिभेद हो जायगा । आओ साधक ! आओ जीव ! एक स्वरसे माँको प्रणाम कर आगे बढ़ें और जिसने इस दुर्जय असुरकी पीड़ासे परित्राणकर अपने स्नेहमय वक्षपर रखकर आनन्दमय मन्दिरमें पहुँचाया है, उसके चरणोंपर प्रणत हों । प्रणाम करनेके सिवा और हम क्या सेवा-पूजा कर सकते हैं ? हमारा है क्या, सब कुछ उसीका

रूप है। अपना आत्माभिमान-बोध माँके चरणोंमें देना ही प्रणाम है। जिसका प्रणाम जितना सत्य, सरलतामय और निष्कपट है यह उतना ही शीघ्र और सहजमे अपना अभीष्ट प्राप्त कर शान्तचित्त होता है।

आनन्दमय सन्तान! तुम सत्यके आनन्दमय आह्वानसे प्रबुद्ध हुए हो, प्राणके अमृतमय स्पर्शसे शरीरमें रोमाञ्च हुआ है, अब मेरी आनन्दमय सत्ताको प्रत्यक्ष करो, देखो, मैं आनन्दमय, मधुमय, अमृत, अभय और नित्यमुक्त हूँ। निरवच्छिन्न आनन्द ही मेरा स्वरूप है। श्रुति कहती है, 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन,' 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म'। यद्यपि आनन्दका थोड़ा-बहुत अनुभव प्राणिमात्रको है, जगत्में काम्य वस्तु प्राप्त होनेपर कुछ आनन्दभाव सबके हृदयमे उत्पन्न हो जाता है, तथापि वह विषयेन्द्रियसयोगजन्य आनन्द है। यदि कदाचित् तुम्हें समर्थ गुरु कृपा कर एक ऐसी अवस्थामें ले जायँ कि जहाँ किसी प्रकारका विषयसंस्पर्श नहीं, कुछ चिन्ता नहीं, कुछ भावना नहीं, त्याग नहीं, ग्रहण नहीं, दर्शन-श्रवणादि व्यापार नहीं बल्कि केवल आनन्द-ही-आनन्द है तो उस अवस्थाको ही 'माँ—आत्मा' का स्वरूप समझ लो। और धीरभावसे आगे बढ़ो। आनन्द एक प्रकारका भाव या ज्ञान है। उसमें सजातीय, विजातीय और स्वगतभेद नहीं है, अङ्गाङ्गीभाव, भोक्तृभोग्यादिभाव भी नहीं है, वह केवल विशुद्ध आनन्द है। इसीको श्रुतिने 'एकमेवाद्वितीयम्' कहा है। इस आनन्दका ही दूसरा नाम रस या प्रेम है। यहाँ प्रेम-प्रेमी और प्रिय तथा रसिक, रस और रस्य, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयकी कुछ विभिन्नता नहीं है। केवल प्रेमरस है। इसे भाषामें क्या कहे, कैसे समझावें, यह तो भाषासे बाहर है। परन्तु समझने-समझानेकी चेष्टा सदासे चली आयी है और चलेगी। अतएव पूज्य आत्मदेवका स्मरणकर यथाशक्ति लिखनेका साहस करते हैं, पाठकगण! क्षमा करें। श्रुतिने उसे—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'
'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' 'अस्थूलमनण्वहस्वम्'

इत्यादि नेति-नेति मुखसे 'माँ—आत्मा' का निर्गुण रूप समझानेकी बहुत चेष्टा की है।

इस निर्गुण निरञ्जन स्वरूपके ऊपर आत्मा (माँ) का दो प्रकारका महत्त्व प्रकाशित होता है—एक ईश्वरत्व, दूसरा जीवत्व। आनन्दसे ही इन भूतोंकी उत्पत्ति है, आनन्दमें ही उनका अवस्थान और आनन्द ही प्रलय-स्थान है। निर्गुणका अर्थ है अभिन्न गुण। ब्रह्मकी यह विशेषता है कि इसे जो जैसा कहे वह ठीक वैसा ही है। क्योंकि प्रकाश-अन्धकार, ज्ञान-अज्ञान, विद्या-अविद्या, सगुण-निर्गुण, सुख-दुःख इत्यादि परस्पर अत्यन्त विरुद्ध धर्म भी तो एक साथ ब्रह्ममें ही मौजूद हैं, तो भी उसके निरञ्जन स्वरूपमे कुछ व्याघात नहीं होता। केवल आनन्द-स्वरूप ब्रह्म अपना निरञ्जन स्वरूप सर्वथा अखण्ड रखते हुए भी एक साथ ईश्वर और जीवरूपसे प्रकट हो सकता है। यही ब्रह्मका ब्रह्मत्व है। वह सत्, चित् और आनन्द है, यही प्रथम स्पन्दनमें सत् या सत्त्वगुण, द्वितीय स्पन्दनमें चित् या रजोगुण—आनन्दकी अनुभवशक्ति और तृतीय स्पन्दनमे आनन्द या तमोगुण अनुभाव्य—भोग्यभाव प्रकाशित होता है। उसका नाम 'आत्मा' 'माँ' कुछ भी रख लीजिये। यह ज्ञानस्वरूप परमात्मा परम प्रेमास्पद है, जिसकी प्रीति साधनके लिये जीवत्वका बन्धन अनादि-कालसे लादे आ रहे हैं, जिसकी रक्षाके लिये 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्' सब पृथिवी त्यागना कहा है। पृथिवी मूलाधार कमल है, इसको त्यागकर उन्नत हुए बिना आत्म-राज्यमें पहुँच नहीं हो सकती। वह आत्मा कितना घन आनन्दस्वरूप है, क्या मुखसे उसका वर्णन किया जा सकता है?

तात्पर्य यह है कि हजार बार सगुण होनेपर भी उसकी निर्गुणतामे कुछ विकार नहीं होता, जैसे हजार आभूषण नाना प्रकारके बना लेनेपर भी सुवर्णका सुवर्णत्व नष्ट नहीं होता। ब्रह्ममें गुणातीत और गुणमय ये दोनों भाव साथ ही विद्यमान हैं। जब आनन्दमय आत्मा आप अपनेको बहुधा विभाजित कर भोग करता है तब वह ईश्वर है और जब उस समष्टि ईश्वरानन्दको व्यष्टिरूपसे भोगता है तब वही जीव है। जैसे समुद्रका जल, जलकी लहरें और जलकी बूँदे इनमें कुछ भेद नहीं है, इसी प्रकार केवलानन्दमयी, सर्वकारिणी, ईश्वरानन्दमयी और फिर सर्वरूपिणी जीवानन्दमयी 'माँ' है।

साधक! अब विचार कीजिये कि धीरे-धीरे आप कहाँ आ पहुँचे। अब आपकी देहका प्रत्येक परमाणु आनन्दके सिवा और कुछ भी नहीं है। आनन्द ही आपका निमित्त, आनन्द ही उपादान, आनन्द ही स्वरूप है।

आपके चारों ओर आनन्द-ही-आनन्द है। जड़ पत्थरतक सभी आपके पारिवारिक जन, आनन्दमय घन सत्ता हैं।

अजी, आप आनन्दसमुद्रमें मग्न हो, दिन-रात आनन्दकी सेवा करते हो और फिर भी नेत्रहीनको भाँति खोजते हो कि 'आनन्द कहाँ है?' एक बार माँकी ओर देखो तो सही, फिर आपको कहीं भी आनन्दका अभाव न रहेगा। यह संसार आनन्दमय भासने लगेगा और आपकी जगद्भोगकी वासनाएँ बिल्कुल अन्तर्हित हो जायँगी।

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

इस प्रकार विष्णुमाया, निद्रा, क्षुधा, तृष्णा, क्षान्ति, जाति, लज्जा, शान्ति, श्रद्धा, कान्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, स्मृति, दया, तुष्टि, मातृ और भ्रान्ति आदि सब आत्मा—माँके ही रूप तो हैं, सबको प्रणाम। जब इतना दृढ विश्वास हो जाता है, तब साधक नृपनन्दन कहलानेका अधिकारी होता है।

ऋषिरुवाच—

एवं स्तवादियुक्तानां देवानां तत्र पार्वती।
स्नातुमभ्याययौ तोये जाह्नव्या नृपनन्दन॥३७॥

यहाँ साधकका चित्त आर्द्र होकर प्रेमाश्रु निकलने लगते हैं, यही गङ्गाजल है, इसमें स्नान करनेको 'माँ' आती है। सन्तानके परम पवित्र प्रेमाश्रु बिना 'उमा' का स्नान-अभिषेक नहीं होता। त्रितापसन्तापसन्तप्त सन्तानके आकुल आर्तनादसे विक्षोभित मातृवक्षको शीतल-शान्त करनेके लिये निष्कपट प्रेमाश्रुओंकी ही आवश्यकता है। अर्थात् साधक देखते हैं कि यह परिदृश्यमान विश्व केवल जड़ पदार्थ नहीं है, आनन्दमयी माँकी मूर्ति है—

सोऽब्रवीत् तान् सुरान् सुभ्रुर्भवद्भिः स्तूयतेऽत्र का।

सरल अबोध बालिकाकी भाँति 'उमा' शिवा सन्तानको व्याकुल देख पूछती है, अरे! क्या हुआ? तुम किसकी स्तुति करते हो? यहाँ अस्मितारूप शुम्भ दैत्यका निधन होगा। अन्नमयादि पञ्च कोशोंसे प्रकट होनेके कारण 'कौशीतकी' नाम पड़ा है—

कौशीतकीति समस्तेषु ततो लोकेषु गीयते।

एक बार अद्वयतत्त्वका साक्षात्कार प्राप्त हो जानेपर साधककी भेदभ्रान्ति, बन्धनभय, मृत्युभय दूर होकर अभय हो जाता है। उसके बाद जबतक स्थूल देह रहती है, तबतक साधक प्रारब्ध संस्कार क्षय करता और अन्तमें कैवल्य मोक्ष प्राप्त करता है। प्रबल प्रारब्ध रहनेतक शुम्भ-वध या रुद्रग्रन्थिभेद (यथार्थ अद्वैततत्त्वप्रकाश) नहीं होता। यहाँतक तो साधकका ममता-क्षय (निशुम्भ-वध) हुआ। जबतक साधक यथार्थ अहंके दर्शन नहीं कर सकता, तबतक उसका मिथ्या अहं दूर नहीं होता, 'मैं-माँ' के दर्शन होते ही ब्रह्मवित् पुरुष निरहङ्कार हो जाते हैं। सच्चे सन्तका लक्षण निरहङ्कार होना ही है।

अब असिता (शुम्भ) और दुर्गा (प्रतिबिम्ब और बिम्ब) का दारुण युद्ध होता है। कारण, असिताकी सत्तासे ही सब लोकोंकी सत्ता है, असिता न रहे तो सर्व कहनेको कुछ रहता ही नहीं। असुर भी असिताके ही भिन्न-भिन्न स्फुरणमात्र हैं।

साधक एक दिन गीताके अन्तमें श्रीसमर्थ गुरुकी अपूर्व वाणी 'मामेकं शरणं व्रज' सुनकर मुग्ध हुए थे, अपने 'मैं' को उनके चरणोंमें अर्पण किया था। इतने दिन बाद उसकी सार्थकता अनुभवमें आयी है, जब माँने आत्मसत्तामें मिला लिया है, अब कहो—

धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं सफलं जीवनं मम।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दं विभाति मे॥

शुम्भ देवीके शूलसे आहत और गतप्राण होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। प्रबल प्रारब्धसंस्कार क्षीण होनेपर आत्मप्रकाश होता है। इसीको साधनकी भाषामें रुद्रग्रन्थिभेद कहते हैं। इस जगत्, देह आदिकी प्रतीति ही रुद्रग्रन्थि है। जगत्की सत्ता त्रिकालमें नहीं है, एक अद्वितीय आत्मा नित्य विराजमान है, आत्मा नित्य शुद्ध निरञ्जन है। उसपर जो अत्यन्त अनुराग है वही अहैतुकी भक्ति है।

अस्मिता नष्ट होनेपर सर्वत्र प्रसन्नता दीख पड़ती है, आत्मप्राप्तिके बाद साधकके शब्द मधुर उच्चारित होते हैं, कण्ठमें आकर्षणभाव आ जाता है। रोग-शोकमें भी यह स्वरूपानन्द विच्युत नहीं होता। यह आनन्द ही सांख्यका पुरुष, वेदान्तका ब्रह्म, उपनिषद्की आत्मा, गीताका श्रीकृष्ण, देवीमाहात्म्यकी चण्डिका और साधककी 'माँ-उमा' है। एक बार कहिये।

'सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्।'

'तथा चात्मवित् संसारं तीर्त्वा ब्रह्मानन्दमिहैव प्राप्नोति।'

तनुं त्यजतु काश्यां वा श्वपचस्य गृहेऽथवा।
ज्ञानसम्प्राप्तिसमये मुक्तोऽसौ विगताशयः॥

खलाः काले काले निशि निशितमोहैकमिहिका
गता लोके लोके विषयशतचौराः सुचतुराः।
प्रवृत्ताः प्रोद्युक्ता दिशि दिशि विवेकैकहरणे
रणे शक्तास्तेषां क इव विदुषः प्रोह्य सुभटाः॥

उपसंहार

वत्स सुरथ! तुमने और समाधि वैश्यने कहा था कि हम ज्ञानी हैं, जानते हैं, तो भी यह मोह हमें क्यों होता है? इस मोहके छूटनेका उपाय जो गीतामें कहा वही यहाँ भी कहते हैं—

तामुपैहि महाराज शरणं परमेश्वरीम्।
आराधिता सैव नृणां भोगस्वर्गापवर्गदा॥

माँकी आराधना करनेसे पहले वह ब्रह्मग्रन्थिभेद करेगी, उससे विषयासक्ति दूर होगी, तब पार्थिव भोग अपने-आप आकर उपस्थित होंगे, यही माँका प्रथम दान है। दूसरी मूर्तिसे विष्णुग्रन्थिभेद करेगी, उसके फलसे विश्वमय प्रियतम प्राणसत्ताके दर्शन कर तुम स्वर्ग-सुख-भोगके अधिकारी होगे और तीसरी मूर्तिसे वह रुद्रग्रन्थि भेदकर तुम्हें विशुद्धबोधस्वरूप (आत्मज्ञान) मे उपनीत करेगी, तब तुम मोक्ष प्राप्त करोगे।

तीन स्थानों (मनोमय, प्राणमय और विज्ञानमय क्षेत्र)में उपासना करनेसे प्रसन्न होकर जगद्धात्री माँके चण्डिका-रूपसे आविर्भूत होनेपर साधकका तीनों ग्रन्थिभेद हो जाता है। सुरथ और समाधिकी उपासनाप्रणाली क्रमशः साधन-समरकी रीति अथवा योगकर्मका कौशल है।

सुरथ जीवात्मा है, आत्म-राज्यसे विच्युत हुआ है, वह इन्द्रियवृत्तियोंपर आधिपत्य चाहता है जिससे विषयेन्द्रियद्वारा पीड़ित न हो, और समाधि वैश्य (आत्म-राज्यमे प्रवेश करनेवाले साधक) ने अहं-ममत्वरूप संसारासक्ति-विनाशक आत्मज्ञानके लिये प्रार्थना की है। मोंके दर्शन होते ही मन बिना रोक-टोकके भोग चाहता है और प्राण आत्मामें तन्मय होना चाहते हैं, इस प्रकार साधकको भोग और मोक्ष दोनों ही प्राप्त होते है। मोंने श्रीकृष्णरूपसे गीतामें कहा था—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥
(८।१६)

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥
(८।१४-१५)

'न स पुनरावर्तते'

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्॥

इस प्रकार साधकोंकी सब बाधाएँ दूरकर माँ उन्हें अपनेमें लीन कर लेती है, तब सारा जगत् ब्रह्ममय दीखने लगता है—

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥

सांख्ययोग

(लेखक—स्व० महाराज साहब चतुरसिंहजीरचित)

(मेवाड़ी भाषामें)

दीखे सो दीखी नहीं, अण देखी देखाण। राईमें पर्वत छिपै, उद्या अलख पिछाण॥
रात पड्याँ उगे रवी, दने न दिखे भाण। अस्या रात दिन वे जठे, उद्या अलख पिछाण॥
देखूँ देखूँ छोड़ने, देखूँ देखूँ ठाण। ई दीखूँ रो दीखणों, उद्या अलख पिछाण॥
लेखण पै कागद लखे, अखर खुले असमान। उण आखर रे आलखे, उद्या अलख पिछाण॥
कागद कीड़ी रे जस्यो, वी मे वेद कुरान। वी में अक्षर एक नी, उद्या अलख पिछाण॥
नारी नारीने जणें, पण नर सू अणजाण। जाण वियां पै नी जणे, उद्या अलख पिछाण॥
मुरदा मोजाँ घर करे, जिंदा जले मसाण। अस्या नगर रो नाथ है, उद्या अलख पिछाण॥
सुलटी ने उलटी करे, उलटी सुलटी आण। उलटी सुलटी माँय ने, उद्या अलख पिछाण॥
सांख्य योगरो सार है, यो गीता रो ज्ञान। उपनिषदाँ रो अरथ है, उद्या अलख पिछाण॥

प्रेषक—जगदीश

ब्रह्मचर्य और योग

(लेखक—ॐ 'श्रीविश्वात्मा')

योगका महत्त्व और उसकी कठिनाइयाँ

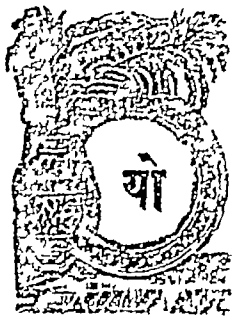

ग भारतवर्षकी बहुत ही प्राचीन सम्पत्ति है। यह भारतवर्षके गौरव एव मानकी वस्तु है। इसका प्रभाव धर्म और सम्प्रदायमात्रपर पड़ा है। भारतीय शास्त्रोंमें योग-पर बड़ी-बड़ी रोचक, मनोहर एवं विचित्र कथाएँ लिखी हुई हैं। योगके सम्बन्धमें यहाँ वृद्धोक्ति और किंवदन्तियोंकी भी कमी नहीं है। यौगिक तत्त्वोंपर भारतवर्षमें स्वतन्त्र ग्रन्थ भी बहुत लिखे गये हैं, जिनमें पातञ्जल योगदर्शन जैसा उत्तम दर्शन है जो भारतीय प्रधान छः दर्शन-शास्त्रोंमेंसे एक दर्शनशास्त्र है। दार्शनिक विचार कितने ऊँचे, पवित्र और रहस्यमय होते हैं इसको कोई भी बुद्धिमान् पुरुष मान सकता है। दार्शनिक तत्त्व होनेसे ही योगकी गहनता, महत्ता, दिव्यताका पता लग जाता है कि योग कितनी कठिन समस्याका नाम है। इस योगकी महान् सिद्धिके लिये हमारे पूर्वजोंने हजारों वर्षोंतक कितने ही प्रयत्न कितनी ही सख्याओंमें किये हैं जिसपर भी उनमेंसे कोई एक ही योगकी परम सिद्धिको प्राप्त कर सका है। इस विषयपर बातचीत करते हुए 'ॐ' से एक महात्माने कहा था कि 'गुब्बे' (एक प्रकारके सट्टे वा जुए) में तो सौ अङ्कोंमेंसे निन्नानवे अङ्क हारके एव एक अङ्क जीतका होता है। परन्तु योगमें तो हजार अङ्कोंमेंसे नौ सौ निन्नानवे अङ्क हारके और एक अङ्क जीतका है। यद्यपि यह वाक्य व्यङ्ग शब्दोंमे योगपर कुछ आक्षेप-सा मालूम होता है परन्तु है यह बिल्कुल सत्य, जो गीता अ० ७ श्लो० ३ में बड़े ही सुघरे शब्दोंमें कहा गया है—

मनुष्याणा सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥

'प्रयत्नशील हजारों पुरुषोंमेंसे कोई एक पुरुष ही योगकी सिद्धि (यथार्थ मार्ग) को प्राप्त किया करता है और उस यथार्थगामी हजारों सिद्धोंमेंसे कोई एक ही मेरे तत्त्वको जाना करता है।' इस श्लोकमें 'सिद्धये' और 'मां वेत्ति तत्त्वतः' शब्द योगके रहस्य और तत्त्वको बतला रहे हैं। प्रथम शब्द योगके कपाट खोलनेकी कुञ्जी है तो दूसरा शब्द योगकी गुप्त गुहामें रक्खे हुए दिव्य ईश्वर-रत्नको दिखानेवाला चक्षु है। 'सिद्धये' शब्दके आगे 'मा वेत्ति तत्त्वतः' आनेसे पता लगता है कि यहाँ योगके उसी मार्गका नाम सिद्धि कहा जाता है जिससे साधक ईश्वरके तत्त्वको भली प्रकारसे जान जाया करता है। असत्यसे दृष्टिको हटाकर सत्यपर जमा देना ही योगका सच्चा अर्थ है अर्थात् असद्विचारदृष्टिको हटाना ही योगकी यथार्थ सिद्धि और सत्यपर विचारदृष्टिको जमा देना ही भगवान्‌को तत्त्वसे जान लेना है। जो साधक इस अर्थको समझकर योगमें लगता है वही योगके तत्त्वको प्राप्त किया करता है, अन्य सब मार्गमें ही पड़े रह जाते हैं। जैसे कुछ साधक थोड़े दिन साधना करके अपनी व्यग्रता एव चञ्चलताके कारण साधनको ही छोड़ दिया करते हैं तो दूसरे कुछ अपनी अनियमितताके कारण रोगी होकर जीवन बिताया करते हैं। कुछ हठी दुराग्रही रोगी हो जानेपर भी मनमाने साधनमें लगे रहा करते हैं। ऐसे दुराग्रही साधकोंकी चिकित्सा मृत्यु-मुखके सिवा कुछ भी नहीं होती। यदि कोई साधक इन सब कठिनाइयोंसे पार हो भी गया तो वह भौतिक सिद्धियोंके फेरमे पड़ जाया करता है। उपर्युक्त तीनों विघ्नोंसे सताये हुए असिद्ध साधकोंका साधनसञ्चय दूसरे जन्म-में काम आ जाया करता है, क्योंकि वे अपने विघ्नोंके लिये पश्चात्तापरूपी प्रायश्चित्त करते रहते हैं। परन्तु सिद्धियोंका खोया हुआ साधक तो अपना सर्वस्व खोकर ही यहाँसे प्रस्थान किया करता है। जहाँ तीनोंको अपने विघ्नोंके लिये पश्चात्ताप हुआ करता है वहाँ इसको अपनी सफल सिद्धियोंपर प्रसन्नता बढती रहा करती है। यह अपना सर्वस्व लुटाकर भी बधाई बाँटनेवालेके सदृश है।

उपर्युक्त सब विघ्न-बाधाओं एवं पापोंसे बचकर साधना करनेवाले साधकका ही 'सिद्धये' शब्दसे निर्देश किया गया है—वही सिद्ध साधक मेरे तत्त्वोंको जाना करता है, यही भगवान्‌के उपर्युक्त वाक्यका अभिप्राय है। इस भगवान्‌को देखने, पकड़ने, पानेवाली सिद्धिको वही साधक प्राप्त कर सकता है जो 'ससार सत्य है' की भावनाको मिटाकर योगमें लगा करते हैं। जो ससारको सत्य मानकर

उसकी पुष्टि (भोगप्राप्ति) के लिये योगमें लगा करते हैं उन्हींको उपर्युक्त व्यग्रता, अनियमितता, दुराग्रह आदि दोष, विघ्न तथा सिद्धि आदि पाप सताया करते हैं। सच तो यह है कि भोगोंके लिये योगमें लगना रोग और मृत्युको पाना और भोगवासनाको भस्म करनेके लिये योगमें लगना भगवान्‌को पा जाना है। यही योगसाधनका मूल मन्त्र वा सिद्धान्तबिन्दु है।

ब्रह्मचर्य

ॐ जिस योगकी महत्ता, दिव्यता, गहनता तथा कठिनता, कठोरता और क्रूरताको ऊपर कहा गया है, जिसके अनुसार चलकर साधक ईश्वरकी ज्योतिमें भी समा सकता है और मृत्युका कलेवा भी बन सकता है, उस योगको यदि आप साध्य बनाना चाहते हैं तो सर्वप्रथम आप ब्रह्मचर्यका पालन कीजिये। ब्रह्मचर्यके बिना योगकी सफलताका अङ्कुर वैसे ही नहीं उगा करता जैसे जलके बिना बीज। ब्रह्मचर्यके बिना योग वैसा ही है जैसे प्रकाशके बिना सूर्य और प्राणके बिना प्राणी। ब्रह्मचर्यकी निष्ठाके बिना योगको छूना अपनी मौतको आप बुलाना है। अतः योगके जिज्ञासुका ब्रह्मचारी होना उतना ही आवश्यक है जितना कि जीवनके इच्छुकको प्राणी (प्राणवाला) होना आवश्यक है। ब्रह्मचर्यव्रतसे युक्त साधकके प्राण स्वभावसे ही स्थिर रहा करते हैं। यही बात योगशास्त्रमें भी कही गयी है कि 'स्थिरे बिन्दौ स्थिरः प्राणः' वीर्यके स्थिर हो जानेसे ही प्राण भी स्थिर हो जाया करते हैं। इस सिद्धान्तके पोषक वाक्य योगशास्त्रमें सैकड़ों ही मिलते हैं। जैसे—

सिद्धे बिन्दौ महादेवि किं न सिध्यति भूतले।

हे पार्वति! बिन्दुके सिद्ध हो जानेपर ऐसी कौन-सी सिद्धि है जो साधकको प्राप्त न हो सके? पातञ्जलयोग-दर्शनमें भी कहा है 'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः'। ब्रह्मचर्यकी निष्ठासे वीर्य 'बिन्दु' की स्थिरता, ऊर्ध्वगति-का लाभ प्राप्त होता है। हठयोगप्रदीपिकामें कहा है कि—

ऊर्ध्वरेता भवेद्यावत् तावत् कालभयं कुत।

जबतक साधक बिन्दुको ऊर्ध्वगामी रखता है तबतक उसको काल—मृत्यु—प्राणक्षयका भय नहीं है। अथर्ववेदमें भी कहा है कि—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।

ब्रह्मचर्यरूप तपसे देवोंने मृत्युको मार डाला। शिव-संहितामें महादेव कहते हैं—

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।

बिन्दुका पतन ही मृत्यु और बिन्दुका धारण—स्थिरता ही जीवन है। आगे फिर कहा है कि, 'अहं बिन्दुः शिवो बिन्दुः' मैं बिन्दु हूँ, शिव ही बिन्दु है। आगे फिर पार्वतीसे कहते हैं कि, हे पार्वति! मैं बिन्दुजयसे ही शिव-पदको प्राप्त कर सका हूँ। इस बिन्दुके धारणसे ही तो ॐ का ॐकार ईशत्वको प्राप्त हो गया है। उसके मत्थे-परसे बिन्दुको हटाकर देखिये कि वह फिर भी ॐ रहता है या नहीं। वह बिन्दु हटते ही ईशत्वसे च्युत हो जाता है। बिन्दु धारण ही उसको ईशत्वपद दिये हुए है। अस्तु, जब योगके जन्मदाता मुख्याचार्य शिवको शिवत्व ही बिन्दु धारणसे प्राप्त हुआ है, जब योगके प्रदाता ईश्वरके प्रथम नाम ॐके ओमत्वका कारण भी बिन्दु धारण ही है तो फिर साधारण ब्रह्मचर्यहीन पुरुष योगसिद्धि शिवत्वको प्राप्त हो सकेगा, यह बात असम्भवसे भी दुस्तर है। दुस्तर ही नहीं अपितु अपनी मौतको निमन्त्रण देना है। उपर्युक्त विवेचनसे आपको दो बातोंका पता लगेगा। एक, ब्रह्मचर्य बिना योगका साधन करना अपनेको रोग और मौतके मुखमें भेज देना है और दूसरे, मरनेवाले मिथ्यात्वसे छूटना शिवत्वको प्राप्त करना है। यही योग शब्दका सच्चा तत्त्वार्थ है। ॐ के मतानुसार इस अर्थको लेकर योगसाधनमें लगनेवाला साधक ही योगमार्गकी कठिनाइयोंसे पार पहुँचा करता है।

आप ऊपर यह तो समझ ही चुके हैं कि ब्रह्मचर्य-से हीन साधक योगमार्गमें सफलता नहीं पा सकता है। ब्रह्मचर्य ही योग-सफलताकी कुञ्जी है। यही नहीं, अपितु ब्रह्मचर्य ही विश्वमात्रकी सफलताओंका बीज है। फिर यह सफलता चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक। यही कारण है कि हमारे पूर्वजोंने मनुष्य-निर्माणकी अवस्थाका नाम ही ब्रह्मचर्य रक्खा है। इस अवस्थाको पूर्णरूपसे निभानेवाला पुरुष सफलताका भण्डार ही हुआ करता है। इस तत्त्वका पता हमको ब्रह्मचर्य शब्दका अर्थ समझनेसे ही लग जाता है।

ब्रह्मचर्य शब्दका तत्त्वार्थ

ब्रह्मचर्यका शब्दार्थ समझना बहुत कठिन है। बहुतसे लोग ब्रह्मचर्यका अर्थ आजन्म कोरा रहना या जटा-

जूट आदि भेष बनाकर फिरना मात्र ही मान लेते हैं। सचमुच ब्रह्मचर्यका इतना अर्थ लेना ब्रह्मचर्यकी हत्या करना है। ब्रह्मचर्यका सम्बन्ध न तो कुँवारपनसे है और न किसी वेष-भूषासे ही है। स्थूलार्थमें ब्रह्मचर्यका अर्थ वीर्य-निरोध या काम-दमनसे ही है। परन्तु इतना समझनेसे भी ब्रह्मचर्यका अर्थ पूरा नहीं होता। ब्रह्मचर्यका पूरा अर्थ होता है वीर्यको रोकना, वेद ज्ञानको पाना, सत्-चित्-आनन्द ब्रह्ममें समाना। वीर्य एक दिव्य तेजका नाम है। जैसे कि शतपथ ब्राह्मणमें कहा है, 'वीर्यं वै भर्गः' वीर्य ही तेज, आभा, प्रकाश है। इस वीर्यरूप ब्रह्मके दीपनसे ही ब्रह्म-वेदके तत्त्वज्ञानका दर्शन और वेदतत्त्वके ब्रह्म दीपकसे सत्-चित्-आनन्द ब्रह्मका साक्षात्कार हुआ करता है। यह ब्रह्मत्रयसङ्गम ही ब्रह्मचर्यका पूरा तत्त्वार्थ है। इस ब्रह्म-त्रिवेणीका स्नाता पुरुष ही योगका सच्चा अधिकारी हुआ करता है।

ब्रह्मचर्यकी श्रेणी

हमारे शास्त्रोंमें वीर्यके बीजत्व, वीरत्व, ओजस्, बल, तेज, शुक्र, पवित्रता, रेत, रेतस्, कान्ति, बिन्दु, भर्गादि नाम कहे हैं और वीर्यको ही सृष्टिका उत्पादक, पालक, सहारक भी कहा है। परन्तु योगशास्त्रमें वीर्यको ब्रह्म-बिन्दु-ब्रह्मबीजतक कहा गया है। महादेवने योगशास्त्रमें कहा है कि 'अहं बिन्दु रजः शक्तिः' मैं (महादेव) बिन्दु वीर्य हूँ और रज शक्ति (पार्वती) है। योगशास्त्रमें कहा है कि साधकके नाभिस्थानमें रज और मस्तकके मध्य केन्द्रमें वीर्य बिन्दु रहा करता है। रजका सिन्दूर वर्ण और वीर्यका श्वेत वर्ण है। रजरूप पार्वतीको नाभिसे उठाकर मस्तकमें मिला देना ही योगसिद्धिका सफल रहस्य है। इस कथनमें बहुत बारीक वैज्ञानिक तत्त्व छिपा हुआ है। ब्रह्मचर्यका ब्रह्म शब्द भी वीर्य और ब्रह्मके अभेद्य सम्बन्धको बता रहा है। इस अभेद्य सम्बन्धको अभेद्य रखनेवाला साधक ही प्रथम श्रेणीका ब्रह्मचारी होता है। इस ब्रह्मचारीका अहबिन्दु अपने स्वभावसिद्ध स्वरूप ब्रह्ममें ही स्थिर रहा करता है अर्थात् ऐसे ब्रह्मचारियों-को यह भी मालूम नहीं होता कि हमारे वीर्य तन्तुओंमें संसारसे सम्बन्ध रखनेवाला कोई वीर्यरूप पदार्थ है या नहीं। उसका ब्रह्मबिन्दु सब तरहके कम्पनोंसे रहित सदा स्थिर रहा करता है।

दूसरी श्रेणीके ब्रह्मचर्यवाले साधकके ब्रह्मबिन्दुमें कम्पन तो अवश्य उठा करता है परन्तु वह अपने कठोर सयम, बल और भीष्म-प्रतिज्ञाद्वारा ब्रह्मबिन्दुके उन कम्पनोंको ब्रह्मबिन्दुकी ओर ही ढकेल दिया करता है। यह भूमिका साधकके लिये बहुत ही कठिन कसौटीकी है।

तीसरी श्रेणीके ब्रह्मचर्यवाले ब्रह्मचारी (साधक) के ब्रह्म-बिन्दुमें जो सृजन-कम्पन उठा करते हैं, उन्हें वह ईश्वरका सृष्टि-सृजन-आदेश समझकर सन्तान-उत्पत्तिमें बदल दिया करता है। वह इस सृजनके ध्येयसे ही गृहकार्यमें प्रवृत्त हुआ करता है। वह ब्रह्मकी उस ब्रह्मबिन्दुमें होनेवाली 'एकोऽहं बहु स्याम्' की सांकेतिक सूक्ष्मान्तर दिव्य वाणीको सुना करता है जो उसको कहती है कि चल, तू भी मेरे बहुत होनेके कार्यमें सम्मिलित हो जा। ईश्वरीय आज्ञाका पालक और विषयासक्तिसे रहित होनेसे यह साधक भी ब्रह्मचारी ही होता है। ऐसे साधकोंके सृजन-कार्यमें ईश्वरीय सृजन-प्रेरणा ही कार्य करती है।

प्राकृतिक धक्केके सिवा साधकका उससे कुछ भी नहीं बनता-बिगड़ता। इस प्राकृतिक धक्केको पशु-पक्षी आदि अभीतक खूब अच्छी तरहसे समझते हैं। वे बारहों मास स्त्री-पुरुषकी भावनासे रहित होकर विचरा करते हैं, जब उनको यह ईश्वरीय प्राकृतिक सकेत मिलता है तभी वे स्त्री-पुरुषमें बदल जाया करते हैं। इस प्राकृतिक सकेत-का वैज्ञानिक बोध ही पशु-पक्षी आदिमें वन्ध्यात्वके अभावका कारण है, धन्य है इन पशु-पक्षी आदिको जो अभीतक उस सृजन-विज्ञान ऋतुकालके रहस्यको समझते हैं। जो साधक इस ईश्वरीय सकेतको पाकर अनासक्त भाव और निष्काम बुद्धिसे सावधान हुए शास्त्रानुकूल सृजनकार्य किया करते हैं वे ब्रह्मचारी ही नहीं अपितु ईश्वरके आज्ञापालक ही हुआ करते हैं। उनका यह कार्य वैसा ही हुआ करता है जैसा कि कोई पुरुष इधरसे वस्तु लेकर उधर दे दिया करता है। ऐसे साधकोंके कामको ही तो भगवान् गीतामें अपना स्वरूप बताते हैं, जैसे कि 'प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः' 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।' (सृजन धर्मके अनुसार सन्तान बनानेवाला काम मैं ही हूँ)। उपर्युक्त तीनों ब्रह्मचारी ब्रह्मके उपासक हैं। प्रथम ब्रह्मलीन, ब्रह्मस्थित, ब्रह्मरूप कहा जाता है। दूसरा योगी होता है, और तीसरा भगवान्का परम प्रिय भक्त कहा जाता है। ईश्वर भारतमें ऐसे ब्रह्मचारियोंको जन्म दे जिससे कि योगको पुनर्जीवन मिल सके। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

नादानुसन्धान

(लेखक—स्वामीजी श्रीएकरसानन्दजी सरस्वती महाराज)

योग कहते हैं चित्तकी वृत्तियोंके निरोधको। इस निरोधकी स्पष्टता कठोपनिषद्में नीचेके मन्त्रोंमे कही है—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

'जिस कालमें योगाभ्यासके बलसे पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, छठा मन और सातवीं बुद्धि लयभावको प्राप्त हो जाती है, उसको परम गति कहते हैं। मोक्ष, मुक्ति, कैवल्य, ब्राह्मीस्थिति, निर्वाण और अमनस्क-स्वरूप प्रतिष्ठा भी इसीको कहते हैं।' यही बात योगशास्त्रके प्रवर्त्तक भगवान् शिवजीने शिवसंहितामें कही है—

निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।
वृत्तिहीनं मनः कृत्वा पूर्णरूपं स्वयं भवेत्॥

'जिस कालमे सविकल्प समाधिके साधनसे, निर्विकल्प समाधि सिद्ध हो जाती है, मन दृश्यका चिन्तन छोड़कर वृत्तिरहित हो जाता है, उस कालमें साधक स्वयं पूर्णरूप हो जाता है।' यानी 'उपाधिविलयात्विष्णो'—के अनुसार, अज्ञानकी कार्यरूप वृत्ति ब्रह्ममें लीन हो जाती है और साधक ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाता है। जीव-ब्रह्मका स्वरूपसे तो अभेद है, परन्तु उपाधिकृत भेद है, योगाभ्यासके बलसे उस उपाधिका लय कर लेनेपर जीवात्मा ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाता है।' यही बात दक्षिणामूर्तिजीने वेदान्तडिण्डिममे कही है—

न जीवब्रह्मणोर्भेदः स्फूर्तिरूपेण विद्यते स्फूर्तिभेदेन मानम्, न जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रियरूपेण विद्यते प्रियभेदेन मानम्।

'जीव-ब्रह्मका स्फुरणरूपी वृत्तिसे भेद है, स्वरूपसे भेद नहीं। चेतनमें अविद्याकी जो उपाधि, जगत्की सत्यता, स्वरूपका विस्मरण, दृश्यमे आसक्ति है, यही जीवदशा है।' भगवान् शङ्कराचार्यजीने मनके लयका सर्वोत्तम साधन नादानुसन्धान, अपने 'योगतारावली' ग्रन्थमें, नीचेके श्लोकोंमें बताया है—

सदा शिवोक्तानि सपादलक्ष-
लयावधानानि वसन्ति लोके।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं
मन्यामहे मान्यतमं लयानाम्॥
नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुभ्यं
त्वां मन्महे तत्त्वपदं लयानाम्।
भवत्प्रसादात् पवनेन साकं
विलीयते विष्णुपदे मनो मे॥
सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता॥

'योगशास्त्रके प्रवर्तक भगवान् शिवजीने मनके लय होनेके सवा लक्ष साधन बतलाये हैं, उन सबमे नादानुसन्धान सुलभ और श्रेष्ठ है। हे नादानुसन्धान! आपको नमस्कार है, आप परम पदमें स्थित कराते हैं, आपके ही प्रसादसे मेरा प्राणवायु और मन ये दोनों विष्णुके परमपदमें लय हो जायँगे। योगसाम्राज्यमें स्थित होनेकी इच्छा हो तो सब चिन्ताओंको त्यागकर सावधान हो एकाग्र मनसे अनहद नादोंको सुनो।' शुक योगेन्द्रके शिष्य श्रीचरणदासजीने भी अनहद नादोंकी महिमा नीचेके शब्दोंमे गायी है—

अनहदके सम और ना फल बरन्यो नहिं जाय।
पटतर कछु न दे सकूँ सब कुछ है वा माँय॥
पाँच थके आनँद बढे अरु मन ही बस होय।
शुकदेव कही चरनदाससे आप अपन जाय खोय॥
नाडिनमें सुषुम्ना बडी सो अनहदकी मात।
कुंभकमें केवल बडा वह वाहीका तात॥
मुद्रा बडी जो खेचरी वाकी बहिनी जान।
अनहद-सा बाजा नहीं और न या सम ध्यान॥
सेवकसे स्वामी होवे सुने जो अनहद नाद।
जीव ब्रह्म होय जाय हैं पावे अपनी आद॥
खिडकी खोली नादकी मिला ब्रह्ममें जाय।
दसों नादके लाभकी महिमा कही न जाय॥

शिवसंहितामें भी मनको लय करनेमें उत्तमोत्तम साधन नाद ही कहा है। जैसे—

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भकसमं बलम्।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः॥

'सिद्धासनके तुल्य कोई लाभदायक आसन नहीं, केवल कुम्भकके तुल्य कोई बल नहीं, खेचरी मुद्राकी बराबरी करनेवाली और मुद्रा नहीं, मनको लय करनेवाले साधनोंमें, अनहद नादकी तुलना करनेवाला और कोई साधन नहीं।' मनको लय करनेके अनेक साधन हैं, परन्तु उनमें नादानुसन्धान ही उत्तमोत्तम है।

अनहद नादके प्रकट करनेका गुप्त साधन

हर एक मनुष्यकी देहमें लगभग साढे तीन कोटि रोम हैं। जब साधक साढे तीन कोटि परमात्माके नामका जप सद्गुरुमार्गसे कर लेता है तब अनहद नाद प्रकट हो जाता है। यह तो जिनकी वायुकी प्रकृति हो, उनके लिये है, और जिनकी पित्त प्रकृति होती है, उनकी तो नाडियाँ जल्दी शुद्ध होनेसे सवा कोटि जप सद्गुरुमार्गसे करनेसे ही नाद प्रकट हो जाता है। नाद दस प्रकारका है, अभ्यास करते-करते जब दसवाँ नाद, जो बादलकी गर्जनाके तुल्य है, प्रकट हो तब नौ नादोंको छोड़कर दसवाँ नाद ही सुनते रहना चाहिये, दसवे नादकी पक्व अवस्थामें प्राणवायु और मन ये दोनो ही लय हो जायँगे। मन-पवनका लय होनेपर शेषमें ब्रह्मपद ही है। ब्रह्मनाडी जो सुषुम्ना है, उसके भीतर प्राणवायुका प्रवेश होनेपर नादका प्रकट होना आरम्भ होता है, शनैः-शनैः अनहदको सुरतके बलसे दक्षिण कानसे सुनते जाना चाहिये। अभ्यासकी पक्व अवस्थामें फल यह होगा कि कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर ब्रह्मज्ञान भी करा देगी। अन्तमें कुण्डलिनी शक्ति भी ब्रह्ममें लय हो जायगी। जीवदशा नष्ट होकर ब्रह्मपद प्राप्त होगा। कुण्डलिनी जागकर ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थिको भेद करके अनेक प्रकारके चमत्कार दिखाती है। जबतक कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत नहीं होती, तबतक मनुष्योंका ज्ञान भ्रमात्मक और संशययुक्त ही रहता है। अनुभवरहित शास्त्रीय ज्ञान नक्शेकी बम्बईके तुल्य है, और कुण्डलिनी जागरणके बादका अनुभवी ज्ञान ऐसा है जैसे किसीने आठ महीने घूम-घूमकर बम्बईकी गली-गली देखी हो। इसी कारणसे चतुर साधकोंको चाहिये कि योगानुभवी सद्गुरुकी शरण लेकर कुण्डलिनी जाग्रत करें, इसके जागनेपर ब्रह्मका सम्यक् ज्ञान करामलकवत् होकर मुक्ति प्राप्त होगी। दृश्यरूपी भ्रम, दृश्यके देखते रहनेपर भी दुःखदायी न रहेगा।

त्रिबन्ध

नीचे लिखे हुए हठयोगके साधन बहुत ही लाभदायक हैं। इन साधनोंसे शरीरकी नीरोगता, भजनमें निर्विघ्नता, प्राण-अपानकी समता, बिन्दुजय इत्यादि अनेक लाभ होते हैं। हठयोगके चौरासी आसनोंमें सिद्धासन और पद्मासन मुख्य हैं, सिद्धासनकी पक्व अवस्थामें अपान प्राणमें मिल जायगा, योनिके पीडनसे अग्नि दीप्त होगी, स्वप्नदोष तो कभी होगा ही नहीं, तीनों बन्ध इस आसनमें लगाने ही पड़ते हैं, इससे बन्धोंका अभ्यास भी हो जायगा। सिद्धासनके समय मूल बन्ध और खेचरी मुद्रा करनेसे अपानवायु प्राणवायुमें मिल जायगा। बद्ध पद्मासनसे सब रोगोंका नाश और बहत्तर हजार नाडियोंका मल साफ हो जायगा। प्राणायाम और तीन बन्धोंसे यह लाभ है—

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगस्य सम्भवः॥
प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान्गुणान्॥
समाधिना निर्लिप्तं च मुक्तिरेव न संशयः।
दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥
न बहिः प्राण आयाति देहस्थ मरणं कुतः।
केवले कुम्भके सिद्धे किं न सिद्धयति भूतले॥

गुरुगम्य प्राणायाम करनेसे सब रोग नष्ट होते हैं। प्राणायाममें गलती होनेसे सब रोगोंके होनेकी सम्भावना है। प्राणायामके सम्यक् होनेसे, और वात, पित्त, कफ समतामें रहनेसे शरीर नीरोग रहता है। कुम्भकमें मन मलरहित हो जाता है। धारणासे पापोंका नाश होता है, प्रत्याहारसे इन्द्रियोंका जो विषयोंसे संसर्ग है, वह छूट जाता है। ध्यानसे परमात्माका ज्ञान होता है, समाधिसे निर्लिप्त केवली भावरूप मुक्तिको प्राप्त हो जाता है। जैसे सोना अग्निमें तपानेसे मैलको छोड़कर शुद्ध हो जाता है, वैसे ही प्राणायामरूपी वायुनिरोधसे इन्द्रियाँ प्रमादरूपी अवगुण छोड़कर शुद्ध हो जाती हैं। जिस योगीका प्राण

वहिर्गमन ही नहीं करता उसकी मृत्यु कैसी ? जिस योगी-का केवल कुम्भक सिद्ध हो गया, उसको कुछ भी दुर्लभ नहीं है। मराठी भाषाके योगग्रन्थमें एकनाथजीने लिखा है—

प्राणवायूचें धारण तेंचि स्वच्छंद मृत्यूचें लक्षण।

'जिस योगीने प्राणवायु अपने वशमें करके केवल कुम्भककी सिद्धि कर ली है, उसकी इच्छामृत्यु होती है।' देह रक्खे या न रक्खे, यह उसकी इच्छाके अधीन है। जैसे भीष्मपितामहने अपनी देहको दक्षिणायनमें न त्यागकर, अपने इच्छानुसार उत्तरायणमें त्यागा। यह प्राणविद्याकी महिमा है। जहाँतक प्राणवायु कुम्भकसे निरुद्ध है, वहाँतक मन भी वृत्तिरहित है, और दृष्टि भी भ्रकुटीमें अचल है। ऐसी अवस्थामें कालका भय नहीं है। चरणदासजीने इसी प्राणायामकी महिमा नीचे लिखे शब्दोंमें कही है—

प्राणायाम बडा तप भाई। प्राणायाम सम बल नहीं कोई॥
प्राणवायुकूँ यह बस लावे। मनकूँ निश्चल कर ठहरावे॥
आयुदाको यही बढावे। तनमें रोग रहन नहिं पावे॥
मोक्षमार्गको यह पहुँचावे। चरनदास शुकदेव सुनावे॥

प्राणायाम करते समय पूरकमें मूलबन्ध, कुम्भकमें जालन्धरबन्ध और रेचकमें उड्डियानबन्ध करना ही चाहिये। ये तीनों बन्ध गुरुसे ही सीखने चाहिये। लेख-परसे या पुस्तकोंमें देखकर करनेसे हानिकी सम्भावना है।

बन्धोंसे ये लाभ हैं—

अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्॥
बद्धं मूलविलं येन तेन विघ्नो विदारितः।
अजरामरमाप्नोति यथा पञ्चमुखो हरः॥

मूलबंध गुण ऐसा होई। वायु अधोगति जाय न कोई॥
ऊर्ध्वरेता यासूँ सधे, दिन दिन आयु सवाई बढे॥
योग माहिं यह है प्रधान। बुढी देह पलट होय जवान॥
जठराग्नि बाढे अधिकाय। जो चाहै तौ बहुते खाय॥
यासों कारज सब बनि आवे। रोग रक्तके सभी नसावे॥
योगी पहिले यह आराधे। अपान वायुको नीके साधे॥

'मूलबन्ध और खेचरीमुद्राके अभ्याससे अपान प्राणमें जाकर मिल जाता है, अग्निकी दीप्तिसे मल-मूत्र अल्प होता है, मूलबन्धके सतत अभ्याससे वृद्ध भी जवान-तुल्य हो जाता है। जिस साधकने मूलबन्ध पक्क कर लिया, उसके सब विघ्न मिट जाते हैं, और जैसे पञ्चमुख महादेवजी अजरामर हैं, वैसे ही केवल कुम्भक सिद्धिवाला योगी भी हो जाता है।' जालन्धरबन्धसे यह लाभ है—

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।
जालन्धरकृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्॥
जालन्धरं महामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी।

अपान वायुकूँ ऊपर लावे। प्राण वायु नीचे ले जावे॥
जो पैं यह साधन बनि आवे। योगी वृद्ध होन नहिं पावे॥

जालन्धरबन्धमें ठोढीको नीचे झुकाकर हृदयके चार अङ्गुल ऊपर दृढ जमावे। इससे सोलह आधारोंका बन्धन होता है, जालन्धरबन्ध और महामुद्रा ये दोनों मृत्युको हटानेवाले हैं। अब उड्डियानबन्धसे लाभ सुनिये—

उदरे पश्चिमं स्थानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी॥
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम्।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा॥

प्राणायाममें रेचकके समय नाभि पीछे खींचकर मेरु-दण्डसे मिलाओ, इससे वायु सुषुम्नामें प्रवेश करेगा, अभ्यास करते-करते अन्तमें ब्रह्मरन्ध्रमें वायुका लय हो जायगा।

ध्यान

करु मन नंदनँदनको ध्यान।
यहि अवसर तोहिं फिर न मिलैगो, मेरो कह्यो अब मान॥ १॥
घूँघरवारी अलकैं मुखपै, कुण्डल झलकत कान।
नारायन अलसाने नैना, झूमत रूपनिधान॥ २॥

—श्रीनारायण स्वामी

योग

(योगाचार्य श्रीश्रीमदवधूत श्रीशानानन्ददेवजीके उपदेश)

१–शिवनामामृत व्याकरणके मतसे शिवके साथ जीवकी सन्धि हो सकती है, उसी सन्धिका नाम योग है। उस सन्धिकी अवस्थामे यद्यपि जीव शिवके साथ मिल जाता है, फिर भी दोनोंका पृथक्-पृथक् अस्तित्व रहता है। इस प्रकार सन्धिकी अवस्थामे जीवके अस्तित्वका लोप नहीं होता।

२–योग एक प्रकारकी शक्ति है, जिस शक्तिके प्रभावसे जीवात्मा परमात्माके साथ युक्त होता है। जीवात्मा-परमात्माकी युक्तावस्थाका नाम अध्यात्मयोग है। अध्यात्मयोग अनिर्वचनीय है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

३–जिस शक्तिके प्रभावसे जीव और शिवका योग होता है, उसीको सन्ध्याशक्ति कहते हैं।

४–ब्रह्मसायुज्य निर्वाण भी नहीं है, लय भी नहीं है। सायुज्यका अर्थ है योग। दो विभिन्न चीजोंका परस्पर योग ही दोनोंका ऐक्य नहीं है। जीव-ब्रह्मका योग (सायुज्य) ही जीव-ब्रह्मका ऐक्य नहीं है।

५–लोहारकी भाथीकी आगसे लोहा आग हो जानेपर भी लोहा ही रहता है, वह केवल अन्य अवस्थापन्न लोहा हो जाता है। उसमेसे अग्निके बुझ जानेपर फिर लोहा ही रह जाता है। अग्नि रहनेपर दोनों मिले हुए हैं। इसी प्रकार जीवत्व और शिवत्व एक साथ रह सकते हैं। कभी योगावस्थामें जीवात्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं, कभी अयोगावस्थामें दोनों अलग-अलग रहते है। लोहा जलकर जब अग्नि बन जाता है तब जो अवस्था होती है, उसी प्रकारकी अवस्था जीवात्माकी भी परमात्माके साथ योग होनेपर होती है।

६–आत्मा-परमात्मामें जो योग होता है, उसे आत्म-परमात्मयोग कहते हैं। उस योगकी अवस्थामें योगीको बाह्यचैतन्य बिल्कुल नहीं रहता।

७–जीवात्मा और परमात्माका जो ऐक्य है वही वास्तविक योगावस्था है। उस ऐक्यसे जो आनन्द प्राप्त होता है, उसी आनन्दको हम आध्यात्मिक मैथुन कह सकते हैं। उस मैथुनके प्रभावसे परमा शान्ति नाम्नी कन्या उत्पन्न होती है।

८–प्रधानतः दो प्रकारका मुक्तियोग बतलाया गया है—नित्यमुक्तियोग और अनित्यमुक्तियोग। नित्यमुक्ति-योग दुर्लभ है, किन्तु अनित्यमुक्तियोग समय-समयपर किसी-किसी महात्माको प्राप्त होता है। परन्तु वह दीर्घकालतक स्थायी नहीं होता।

९–नाना प्रकारके योगके प्रभावसे नाना प्रकारकी घटनाएँ होती हैं। त्रिविध क्रियायोगके द्वारा सृजन, पालन और नाश होता है। योगके बिना कुछ भी नहीं होता।

१०–अधिक जप करनेसे, अधिक ध्यान करनेसे, अधिक हरि-सङ्कीर्तन करनेसे अथवा अधिक हरि-सङ्कीर्तन सुननेसे, अधिक परिमाणमे भगवान्के सम्बन्धमें अन्य किसी प्रकार-का सङ्गीत गानेसे अथवा सुननेसे, भक्तोंका अधिक सङ्ग करनेसे, भक्तचरित्रका अधिक पर्यालोचन करनेसे, भगवद्भक्तिसम्बन्धी अधिक आलोचना करनेसे, भगवद्भक्ति और प्रेमसम्बन्धी किसी ग्रन्थका पाठ करने अथवा सुननेसे अथवा ज्ञानपूर्ण अनेक बातें सुननेसे मन स्थिर होकर एकाग्र हो जाता है।

११–जो योगकी साधना करते हैं, वे योग-साधक हैं; योगसिद्ध होनेपर साधकको योगी कह सकते हैं।

१२–योगसाधक और योगसिद्ध एक श्रेणीके नहीं हैं। योगसाधक साधना करते-करते योगके कुछ अलौकिक अनुभव प्राप्त करते हैं। परन्तु उन्हे उस समय योग-सम्बन्धी समस्त निगूढ़ तत्त्वोंको हृदयङ्गम करनेकी शक्ति नही होती। सिद्धयोगी योगके सम्बन्धमें सब कुछ जानते हैं। उनमें अलौकिक क्षमता—अद्भुत शक्ति होती है। वह कितनी ही असम्भव बातोको सम्भव कर सकते हैं। उन्हें अद्भुत योगविभूतियाँ प्राप्त होती हैं।

१३–अत्यन्त ग्रीष्म-कालमे शरीरमे जलन होनेपर यदि सुशीतल जलमे स्नान किया जाय तो उससे शरीर जल नहीं हो जाता, किन्तु वह शीतलताकी शक्तिसे पूर्ण हो जाता है। इसी प्रकार जीवात्माका परमात्माके साथ अध्यात्म-योग होनेपर जीवात्मामें परमात्माकी शक्ति सञ्चारित होती है और वह परमात्मशक्तिसे पूर्ण होकर तन्मय हो जाता है।

१४–भावात्मक सम्बन्ध भी एक प्रकारका योग है। ईश्वरके साथ जिनका ऐसा योग है वे ही धन्य हैं।

१५–जिनका स्वभावतः परब्रह्मके साथ मनोयोग होता है, उनको किसी प्रकारका आसन-अभ्यास करनेकी आवश्यकता नहीं। वह अगको चाहे जैसे रखकर भी समाधिस्थ हो जाते हैं, वही उनका योगासन है।

१६–आत्मज्ञानके कारण जो योग होता है वह कैवल्यका कारण है।

१७–आजकल बहुत से लोग योगी नामसे प्रसिद्ध हैं, परन्तु वे वास्तविक योगी नहीं हैं। वास्तविक योगीको अतुल ऐश्वर्य और अनुपम विभूति प्राप्त होती है। उन्हे श्वास आदि कोई भी रोग नहीं होता। अग्निमें प्रवेश करनेपर भी अद्भुत सयमके बलसे, अग्नि उन्हें नहीं जलाती, जलमें प्रवेश करनेपर जल उन्हें नहीं डुबाता; तीखे कॉटोके ऊपर चलनेपर भी उनके पैरमें कॉटे नहीं गड़ते, सयमके प्रभावसे अस्त्र-प्रहार होनेपर भी वे घायल नहीं होते। योगी निर्भय होते है। योगी जीवन्मुक्त होते है। क्या किसी योगीके साथ किसी साधारण जीवकी तुलना हो सकती है? योगीकी शक्ति आश्चर्यजनक होती है।

१८–आठों सिद्धियाँ सिद्धयोगीको प्राप्त होती हैं। परमहस श्रीशङ्कराचार्यको भी अष्टसिद्धि प्राप्त थीं। आजकलके अधिकांश दण्डी परमहस योगको पसन्द नहीं करते, उनमें जो सबसे उत्तम होते हैं, वे वैदिक उपनिषद्, वेदान्त, भगवद्गीता और श्रीशङ्कराचार्य प्रभृति वैदान्तिक महाशयोके वैदिक उपनिषद् और वेदान्तप्रतिपाद्य ग्रन्थ पढ़ते और सुनते हैं और उन्हीं पठित तथा श्रुत विषयोंका विचार करते हैं।

१९–दिव्य कर्मयोगके बिना दिव्य ज्ञानयोग, दिव्य भक्तियोग और दिव्य प्रेमयोग नहीं प्राप्त होता।

२०–कलियुगमें भक्तियोगमें शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है।

२१–स्नान करनेसे जिस प्रकार शरीर सर्वदा शीतल नहीं रहता, उसी प्रकार भक्तिमान् जीवात्मा भी सर्वदा तन्मय होकर नहीं रहता।

२२–योगाभ्यासके लिये शीतकाल ही उत्तम समय है।

२३–हठयोग, राजयोग और राजाधिराजयोगका अभ्यास करते-करते मनोयोग होता है। मनोयोग इस त्रिविध योगका सिद्धफल है।

२४–इन तीन योगोंके सिवा मनोयोग होनेके और-और उपाय भी हैं।

२५–मनका सयम करनेसे मन स्थिर होता है। मनके स्थिर होनेपर इष्टमें मनोयोग होता है।

२६–जिस प्रकार पातञ्जलयोगदर्शनमें पद्मासन आदि किसी आसनका निर्देश नहीं है, उसी प्रकार गीतामे भी किसी आसनका नाम और निर्देश नहीं है। इन दोनो प्रसिद्ध योगशास्त्रोंसे मालूम होता है कि किसी निर्दिष्ट आसनके बिना भी योगका अनुष्ठान हो सकता है।

२७–हठयोग एक प्रकारका व्यायाम है। हठयोगके अन्तर्गत नाना प्रकारके आसन और मुद्राएँ हैं।

२८–सब प्रकारका सोना, बैठना और खड़ा होना एक-एक प्रकारका आसन है।

२९–विविध आसनोंका अभ्यास करते समय गेरुआ कौपीन पहनना चाहिये अथवा नग्न रहना चाहिये।

३०–आसनका अभ्यास अत्यन्त निर्जन स्थानमें करना चाहिये।

३१–शिशु तथा बालक-बालिकाओंके सामने, विशेषकर युवती स्त्रियोंके सामने किसी प्रकारका योगाभ्यास करना निषिद्ध है। उनके सामने किसी प्रकारका साधन-भजन नहीं करना चाहिये।

३२–वास्तविक योगीके उपदेशानुसार प्राणायामका अभ्यास करनेपर किसी प्रकारका भयङ्कर रोग नहीं होता, उसके द्वारा उन्नति ही होती है, बल्कि उसके द्वारा योगी होनेमें विशेष सहायता मिलती है।

३३–निःश्वास-प्रश्वासके साथ-साथ जीवका स्वभावतः ही सर्वदा रेचक-पूरक होता रहता है। परन्तु योगाभ्यासके समय इस साधारण नियमका उल्लङ्घन करके योगशास्त्रके नियमोंका अवलम्बन करना चाहिये।

३४–कुम्भक स्वाभाविक नहीं होता। योगियोको उसका अभ्यास करना पड़ता है।

३५–योगदर्शनकी पद्धतिके अनुसार नासिका-रन्ध्रद्वारा शरीरके अन्दर वायु भरनेका नाम पूरक है। शरीरके भीतरकी वायुके रेचन अर्थात् निकालनेका नाम रेचक है। शरीरके अन्दर वायु रोककर धारण करनेका नाम कुम्भक है। कुम्भकमें शरीरके अन्दर वायु रोक देनेपर श्वास-

प्रश्वास भी बन्द हो जाता है। रेचक, पूरक और कुम्भक प्राणायामके प्रधान तीन अङ्ग हैं। प्राणायामके साथ-साथ ध्यान किया जाता है।

३६–प्रगाढ भगवच्चिन्तनको ध्यान कहते हैं।

३७–ध्यान दो प्रकारका है—साकारका ध्यान और निराकारका ध्यान। साकारके रूपका और निराकारके स्वरूप और गुणका ध्यान किया जाता है।

३८–साधनात्मक ध्यानानन्दके परे स्वाभाविक ध्यानानन्द है, और उसके भी बाद स्वाभाविक योगानन्द है। वह योगानन्द किसी-किसी योगीको समयविशेषपर प्राप्त होता है और किसी-किसीको स्वाभाविक तौरपर नित्य लाभ होता ही है।

३९–राजयोग प्राणायाम है। प्राणायामके अन्तर्गत रेचक, पूरक और कुम्भक हैं। इन तीनोंकी साधना उत्तम रूपसे पूरी हो जानेपर त्राटककी आवश्यकता है।

४०–त्राटकका अभ्यास करनेके लिये सबसे पहले कुछ समयतक दीपशिखाकी ओर एकटक देखना चाहिये। सफेद पत्थर अथवा स्फटिकके शिवलिङ्गके अग्रभागको भी देखनेकी पद्धति है। इस प्रकार साधन करनेसे क्रमशः जब दृष्टि स्थिर होने लगे तब एकाग्रताके साथ नासापुटको देखना चाहिये। जब नासापुटपर अनायास दृष्टि स्थिर होने लगे तब भ्रूमध्यमें दृष्टि जमानी चाहिये। भ्रूमध्यको देखते-देखते दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है। दिव्यदृष्टिके फलस्वरूप नेत्रोंकी ज्योति बढ़ती है। चाक्षुषी ज्योति बढ़नेपर कुछ भी अदृश्य नहीं रह जाता।

४१–अच्छी तरह त्राटकका अभ्यास हो जानेपर पहले आँखें बन्द करके ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। यह अभ्यास हो जानेपर फिर खुली आँखोंसे ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार ध्यानकी साधना करनेपर ध्यान-सिद्धि प्राप्त होती है। इसी सिद्धिका दूसरा नाम ध्यान-योग है।

४२–जैसे धर्मसम्बन्धी ग्रन्थोंके अतिरिक्त अन्यान्य ग्रन्थोंका अध्ययन करके भी तुम विद्वान् हो सकते हो। फिर पीछे उस उपार्जित विद्याके द्वारा कितनी ही धर्मसम्बन्धी पुस्तकोंकी रचना कर सकते हो। वैसे ही किसी जड मूर्ति या किसी कल्पित मूर्तिका ध्यान करते-करते ध्यान सिद्ध हो जानेपर उसके द्वारा सच्चिदानन्दका भी ध्यान हो सकता है।

४३–यदि किसीका पुत्र विदेशमें हो और बहुत दिनोंसे उसका समाचार न मिला हो तो उसको जैसे स्वभावतः ही चिन्ता होती है, अभ्यास करके वह चिन्ता नहीं की जाती, उसी तरह भगवान्‌के प्रति प्रेम होनेपर उनके विरह-में स्वभावतः ही चिन्ता उत्पन्न होती है। वह चिन्ता साधनात्मिका नहीं होती। उस चिन्ताको ही ध्यान कहा जा सकता है।

४४–पहले चित्तकी शुद्धि हुए बिना, चित्त निर्विकार हुए बिना समाधि नहीं हो सकती।

४५–चित्तशुद्धि होनेपर चित्त निर्विकार होता है। चित्त निर्विकार होनेपर शुद्ध भक्ति होती है। शुद्ध भक्तिके होनेपर यम, नियम, आसन, मुद्रा और प्राणायामके बिना भी समाधि हो सकती है।

४६–मन स्थिर होनेपर एकाग्रता होती है। एकाग्रता होनेपर समाधि होती है।

४७–सविकल्प समाधिमें केवल कण्ठश्वास और नाभि-श्वास रहता है। सविकल्प समाधिमें स्थित पुरुषकी नाडी मुमूर्षु व्यक्तिकी नाडीके सदृश हो जाती है। इस समाधि-अवस्थामें शरीरके जलने अथवा अन्य प्रकारसे विशेष कष्ट पहुँचनेपर अन्तःकरणमें उसका बोध होता है।

४८–खिलौनेका हाथी नामसे और बनावटसे हाथी होता है, परन्तु वास्तविक हाथी नहीं होता। उसी प्रकार निद्रा ही योगनिद्रा नहीं है। दोनोंमें बहुत बड़ा भेद है।

४९–समाधि-अवस्थाका एक नाम योगनिद्रा है।

५०–चक्षुस्थिरका अभ्यास करनेपर चक्षु स्थिर होता है। मरनेपर चक्षु स्थिर होता है। परन्तु अभ्यास करके क्या मरा जाता है? अथवा मरनेपर जो चक्षु स्थिर होता है वह क्या चक्षुका स्थिर होना है? अभ्यास करनेपर तुम्हें समाधि होगी? समाधि तो मृत्युके समान स्वाभाविक है। नींद क्या अभ्यासकी चीज है? वह तो स्वभावतः होती है। योगनिद्रा भी स्वभावतः होती है।

५१–जो योगी पूर्णरूपसे चैतन्यहीन हो जाता है, जिस योगीको इतना भी बोध नहीं रहता कि 'मैं हूँ', वही योगी योगनिद्रित है। उस योगीमें सब गुण और क्रियाशक्ति वर्तमान रहनेपर भी वह पूर्णरूपसे निर्गुण और निष्क्रिय है।

५२–निद्रावस्थामें 'मैं हूँ' इसका बोध न रहनेपर भी 'मैं' रहता है। मृत्यु होनेपर भी 'मैं हूँ' इसका बोध न रहनेपर 'मैं' रहता है। परन्तु योगनिद्रामे 'मैं' नहीं रहता। योगनिद्रा भङ्ग होनेपर 'मैं हूँ' ऐसा बोध होता है।

५३–चाहनेपर जिस तरह नींद नहीं आ जाती, उसी तरह चाहते ही समाधि नहीं लग जाती। नींद जिस तरह स्वभावतः आती है, उसी तरह समाधि भी स्वभावतः होती है। निद्रा अभ्याससे नहीं होती। आँख बन्द करनेसे ही निद्रावस्थाकी प्राप्ति नहीं होती। इसी तरह किसी प्रकारका आसन लगाकर आँख बन्द कर लेनेसे ही समाधिस्थ नहीं हुआ जाता।

५४–समाधिस्थ पुरुष मृत व्यक्तिकी तरह सुस्थिर, जडकी तरह अचल होता है।

५५–समाधिमें ब्रह्मके साथ मनोयोग होनेपर श्वास-प्रश्वासतक बन्द हो जाता है। उस समय रेचक, पूरक दोनों नहीं होते। इस प्रकारकी समाधिके जीवनमें योगीकी एक प्रकारसे मृत्यु हो जाती है और ब्रह्मसे उसके मनका वियोग होनेपर पुनः श्वास-प्रश्वास चलने लगता है, पुनः रेचक-पूरक होने लगता है। इस प्रकारकी समाधिकी स्थिति ब्रह्मकृपाका एक आश्चर्यजनक प्रमाण है।

५६–बधिर तो बहुत-से लोग होते हैं, किन्तु दिव्य बधिर कितने लोग हो सकते है? इसी तरह दिव्य अन्धे भी कितने लोग हो सकते हैं? समाधिस्थ पुरुषके अतिरिक्त दिव्य बधिर और दिव्य अन्ध दूसरा कोई नहीं है। लकवा मार जानेपर किसी-किसी मनुष्यका शरीर सुन्न हो जाता है; इसी तरह समाधिस्थ पुरुषका शरीर भी सुन्न और अवश हो जाता है, उनके इस प्रकारके शरीरको कोई स्पर्श करे तो उन्हे उस स्पर्शका बोध नहीं होता। उनको शरीरकी इस अवस्थाके कारण किसी प्रकारके कष्टका भी अनुभव नहीं होता। वह इस अवस्थामें सुख-दुःख आदि सब अवस्थाओंसे अतीत हो जाते हैं।

५७–समाधिस्थ होनेपर समस्त इन्द्रियोंकी शक्ति निष्क्रिय हो जाती है। वह पुरुष उस अवस्थामें निश्चल और निष्क्रिय हो जाता है, जीवन्मृत हो जाता है।

५८–जिनको निर्विकल्प समाधि होती है, उनके लिये आहारके विषयमें कोई विधि-निषेध नहीं रहता। उनको किसी प्रकारका आसन और मुद्रा नहीं करनी पड़ती। वह प्राणायाम अथवा ध्यान भी नहीं करते। वह सदानन्द, जीवन्मुक्त पुरुष हैं।

५९–निर्विकल्प समाधि होनेपर कण्ठश्वास और नाभि-श्वासतक बन्द हो जाता है। यहाँतक कि उस अवस्थामें हाथकी नाडी भी स्थिर हो जाती है। मृत व्यक्तिके शरीरकी तरह सब अङ्ग ठण्डे हो जाते हैं। उसी अवस्थाको वास्तविक विदेह कैवल्यावस्था कहा जा सकता है। वह अवस्था जिनकी जब होती है, वह उस समय देहस्थ होनेपर भी देहस्थ नहीं हैं। उस अवस्थामें देहमें रहनेपर भी देहके साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उस अवस्थामें उनकी देह जला देनेपर अथवा टुकड़े-टुकड़े करनेपर भी उनको कोई कष्ट मालूम नहीं होता।

(प्रेषक–श्रीउपेन्द्रचन्द्र दत्त)

विश्व-कल्याण-योग

(लेखक—श्रीअनन्तशङ्करजी कोल्हटकर बी० ए०)

'योगीश्वर याज्ञवल्क्यम्' कहकर जिनका अनुस्मरण ब्रह्मयज्ञके समय हम करते हैं, उन मुनि याज्ञवल्क्यका आदेश है—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।

मानवमात्रका परम धर्म यही है कि योगसाधनसे आत्म-दर्शन करे। श्रुति माता भी कहती है—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।' परन्तु, परम कठिन योग-साधनका अनुष्ठान करना तथा सिद्धियोंके मोहसे अपने-आपको बचाकर, अन्तिम सफलता प्राप्त करना बडा ही दुस्तर है!

हमारा एकमात्र सहारा इसमें—भगवत्-शरणागति है। परमात्मा कहीं दूर तो नहीं हैं! हमारे हृन्मन्दिरमें ही विराजते हैं। सरलचित्तसे उन्हें पुकारो। उन्हींके बताये पथसे चलो।

मन और इन्द्रियोंका संयम करो। आत्म-तत्त्व एक ही है—ऐसी समबुद्धि धरो। भूतमात्रके हित-साधनमें प्रयत्नशील रहो और निश्चय रक्खो, तुम मुझे ही प्राप्त होगे। यही विश्व-कल्याण-योग है।

श्रीमच्छङ्कराचार्य और योग

(लेखक—श्रीसुब्रह्मण्य शर्मा)

श्रीमत् शङ्कराचार्यके वेदान्त-सिद्धान्तमें योगका कहाँ क्या उपयोग है, इस विषयमें विद्वानोंमें गहरा मतभेद है। कुछ लोगोंका यह ध्यान है कि योग तो श्रीशङ्करकी वेदान्त-प्रणालीका प्राण ही है, और कुछ इसके सर्वथा विपरीत यह समझते हैं कि योग या योगकी गुप्त बातोंसे आचार्यका कोई वास्ता ही नहीं है। इन दो मतोंमें उत्तर-दक्षिण ध्रुवोंका-सा अन्तर है। पर सच्ची बात यह मालूम होती है कि इस अन्तरके मध्यमें कहींपर सत्य छिपा हुआ है। इस लेखमें उसीको दिखानेका यत्न किया जायगा। और यह प्रयत्न प्रस्थानत्रयपर आचार्यके जो भाष्य हैं उन्हींके आधारपर होगा।

श्रीशाङ्कर अद्वैतमें योग देखनेवाले बार-बार यह कहा करते हैं कि अद्वैतकी सिद्धि बिना निर्विकल्प समाधिके हो ही नहीं सकती। विवेकचूडामणि-जैसे प्रकरण-ग्रन्थोंसे जो कि आचार्यकृत बताये जाते हैं, वे अपने मतकी पुष्टि करते हैं। इसके विरुद्ध अन्य प्रकरण-ग्रन्थोंसे प्रमाण दिये जा सकते हैं पर उसका विचार छोड़ दें तो भी प्रस्थानत्रयके भाष्योंसे ही यह बात पूर्णरूपसे प्रमाणित होती है कि आचार्य अपने इस तर्कसिद्ध और अखण्डनीय सिद्धान्तको कहीं भी छोड़नेको तैयार नहीं हैं कि आत्मा और अनात्माके 'इतरेतराध्यास' से उत्पन्न हुआ बन्ध ज्ञानसे ही छूटता है, और किसी भी उपायसे नहीं। बृहदारण्यकभाष्यसे हम नीचे एक अवतरण देते हैं जिससे बात आप ही खुल जायगी। प्रसङ्ग है 'आत्मन्येवोपासीत' आदि वाक्य 'अपूर्वविधि' बतलाते हैं या क्या है, इसकी चर्चाका। यहाँ श्रीमत् शङ्कराचार्य कहते हैं—

न च 'आत्मन्येवोपासीत' इत्यपूर्वविधिः। कस्मात्? आत्मस्वरूपकथनानात्मप्रतिषेधवाक्यजनितविज्ञानव्यतिरेकेणार्थान्तरस्य कर्त्तव्यस्य मानसस्य बाह्यस्य वाभावात्।

अर्थात् 'यह अपूर्वविधि नहीं है, क्योंकि वाक्यसे आत्मविज्ञान होने और अनात्माका निरास होनेपर कुछ भी मानस या बाह्य कर्म नहीं रह जाता।' इस सिद्धान्तके विरोध-पक्षकी सब बातोंको काटकर आचार्य योगपक्षसे आनेवाली शङ्काकी खबर लेते हैं और उसका इस प्रकार समाधान करते हैं—

'निरोधस्तर्ह्यर्थान्तरमिति चेत्। चित्तवृत्तिनिरोधस्य वेदवाक्यजनितात्मविज्ञानादर्थान्तरत्वात्। तन्त्रान्तरेषु च कर्तव्यतयावगतत्वाद्विधेयत्वमिति चेत्, न, मोक्षसाधनत्वेनानवगमात्। न हि वेदान्तेषु ब्रह्मात्मविज्ञानादन्यत्परमपुरुषार्थसाधनत्वेनावगम्यते। 'आत्मानमेवावेत्तसात्तत्सर्वमभवत्,' 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' 'तस्य तावदेव चिरम्' 'अभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद' इत्येवमादिश्रुतिशतेभ्य.।'

अर्थात् यह कहा जा सकता है कि निरोध तो इस ज्ञानसे भिन्न उपाय है। पर चित्तवृत्तिनिरोध वह आत्मज्ञान नहीं है जो वेदवाक्यसे होता है। यह चित्तवृत्तिनिरोध अन्य तन्त्रोंमें भी बताया है (जैसे साख्य और योगमें)। इसलिये यहाँ भी उसका विधान हो सकता है, ऐसा प्रश्न हो तो यही उत्तर है कि ऐसा नहीं हो सकता। वेदान्त-श्रुतिमें ब्रह्मात्मज्ञानसे अन्यत् और कोई परम पुरुषार्थ-साधन नहीं बताया है। 'वह अपने आपको जानता था इसलिये उससे सब कुछ हुआ।' 'ब्रह्मविद् ही परम पदको पाता है।' 'जो परब्रह्मको निश्चयसे जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है,' 'जो आचार्यवान् होता है वह उसे जानता है,' 'तभीतक उसे प्रतीक्षा करनी होती है,' 'जो यह जानता है वह निर्भय ब्रह्म होता है' इत्यादि शत-शत श्रुतिवाक्योंसे यह सिद्ध है। (बृहदारण्यक० १।४।७)

यह अवतरण स्फटिक-सा स्वच्छ है। इससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य आत्मज्ञान और मुक्तिके बीचमें और कोई तीसरी चीज न आने देंगे।

तथापि योग या ध्यानका महत्त्व भी आचार्यके शिक्षा-सम्प्रदायमें कम नहीं है। जो लोग शुष्क बौद्धिक खेलको ही मुक्तिका एकमात्र द्वार समझे बैठे हैं उन्हें आचार्यपादसे उतनी ही निराशा होगी जितनी कि उन लोगोंको जो योगके स्तुति-स्तोत्र गाते फिरते हैं। आत्मज्ञान ही मुक्तिका प्रत्यक्ष साधन है, चित्तवृत्तिनिरोधरूप योगको आचार्य

आत्मज्ञानका-सा महत्त्व नहीं प्रदान करते, इतनी ही बात है, अन्यथा मनः-सयमरूप प्रारम्भिक साधनके तौरपर उसको भी आचार्य उपयोगी बतलाते हैं। इस विषयमे आचार्य इस प्रकार कथन करते हैं—

(१) योगोऽप्यणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलः स्मर्यमाणो न शक्यते साहसमात्रेण प्रत्याख्यातुम्। श्रुतिश्च योगमाहात्म्यं प्रख्यापयति।

अर्थात् योग भी जैसा कि स्मृतिने कहा है, अणिमादि ऐश्वर्यका देनेवाला है, इसलिये यह कहकर कि यह कुछ नहीं है, इसका तिरस्कार नहीं किया जा सकता। श्रुतिने भी योगकी महिमा गायी है। (ब्रह्मसूत्र-भाष्य १। ३। ३३)

(२) 'येन त्वंशेन न विरुद्ध्यते तेनेष्टमेव सांख्ययोगस्मृत्योः सावकाशत्वम्'

अर्थात् जितने अशमें सांख्ययोगस्मृतियोका वेदान्तसे विरोध नहीं है उतने अशमें उनका ग्रहण इष्ट है। (ब्रह्मसूत्र-भाष्य २। १। ३)

(३) सम्यग्दर्शननिष्ठानां संन्यासिना सद्योमुक्तिरुक्ता।'' अथेदानीं ध्यानयोगं सम्यग्दर्शनस्यान्तरङ्गं वक्ष्यामीति तस्य सूत्रस्थानीयान् श्लोकानुपदिशति स्म।

अर्थात् सम्यग्दर्शननिष्ठ जो सन्यासी हैं उनके लिये सद्यो-(तत्काल) मुक्ति कही गयी। अब सम्यग्दर्शनके साधनरूप ध्यानयोगका विवरण करते हुए सूत्रस्थानीय श्लोक उपदेशसे कहते हैं। (भगवद्गीताभाष्य ५। २७)

अब माण्डूक्य-कारिकाके भाष्यसे एक अवतरण और देते हैं जिससे आचार्यका मत इस विषयमें और भी स्पष्ट हो जायगा, एक तरहसे रहस्य ही खुल जायगा—

येषा पुनः ब्रह्मस्वरूपव्यतिरेकेण रज्जुसर्पवत्कल्पितमेव मन इन्द्रियादि च न परमार्थतो विद्यते तेषां ब्रह्मस्वरूपाणामभयं मोक्षाख्या चाक्षया शान्तिः स्वभावत एव सिद्धा नान्यापेक्षा नोपचारः कथञ्चनेत्यवोचाम। ये त्वतोऽन्ये योगिनो मार्गगा हीनमध्यमदृष्टयो मनोऽन्यदात्मव्यतिरिक्तमात्मसम्बन्धि पश्यन्ति तेषामात्मसत्यानुबोधरहितानां मनसो निग्रहायत्तममयं सर्वेषां योगिनाम्। किं च दुःखक्षयोऽपि। न ह्यात्मसम्बन्धिनि मनसि प्रचलिते दुःखक्षयोऽस्त्यविवेकिनाम्। किं चात्मप्रबोधोऽपि मनोनिग्रहायत्त एव तथाक्षयापि मोक्षाख्या शान्तिस्तेषां मनोनिग्रहायत्तैव।

'जिनके मन, इन्द्रियादि रज्जु-सर्पवत् केवल कल्पित हैं, परमार्थतः ब्रह्मस्वरूपके अतिरिक्त है ही नहीं, जो ब्रह्मस्वरूप हो गये हैं उनके लिये अभय और मोक्ष नामकी अक्षय शान्ति एक ऐसी स्थिति है जो उनका स्वभाव ही है, उसके लिये उन्हे अन्य किसी सहारेकी आवश्यकता नहीं और इसलिये हमने कहा कि उन्हें बन्धनसे मुक्त होनेके लिये कुछ भी नहीं करना है। परन्तु जो इनसे भिन्न, योगी हैं और आत्मानुसन्धानके मार्गपर चल रहे हैं, जो हीन मध्यम दृष्टिसे मनको आत्मासे अलग आत्माका सम्बन्धी जानते हैं, ऐसे आत्मसत्यके अनुबोधसे रहित सब योगियोंका अभय मनोनिग्रहके ही अधीन है। उनका दुःखक्षय भी मनोनिरोधपर ही अवलम्बित है। आत्माका सम्बन्धी (और आत्मासे अलग) ऐसा जो मन है उसके क्षुब्ध होनेसे जो दुःख होता है उस अविवेकियोंके दुःखका (मनोनिग्रहके बिना) क्षय नहीं हो सकता। इसी प्रकार इनकी अक्षया शान्ति भी जिसे मुक्ति कहते हैं, मनोनिग्रहपर ही अवलम्बित है।'

अब यह बात स्पष्ट हो गयी होगी कि आचार्यने मुमुक्षुओंकी तीन कक्षाएँ की हैं। पहली कक्षा उन लोगोंकी है जिन्हें योग या अन्य किसी भी साधनाके सहारेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि उनका अन्तःकरण शुद्ध निर्मल सत्त्व है और उन्हें गुरुद्वारा उपदिष्ट होते ही अद्वितीय ब्रह्मका बोध हो जाता है। मध्यम और हीन दृष्टिवाले जो साधक हैं और जिनकी सख्या ही अधिक होती है उनके लिये योग और कर्मयोग भी नितान्त आवश्यक है और योगमें जो मनोनिग्रहका अभ्यासक्रम है वह उनके लिये अनिवार्य है। आचार्यके भिन्न-भिन्न भाष्योंमे, विशेषकर श्रीमद्भगवद्गीताके भाष्यमें इतस्तत. योगकी जो बातें मिलती हैं उन्हे तो हमारे ही जैसे सामान्य मुमुक्षुओंके लिये श्रीआचार्यचरणोंने दया करके कहा है, क्योंकि हम लोग परम ज्ञानके उस उच्चतम शिखरतक दुर्लभ परमहंसोंके समान उड़कर जा नहीं सकते और इसलिये हमें तो कर्मयोग और भक्तियोगके मार्गसे ही क्रमशः ऊपर उठना होगा, तब किसी दीर्घकालके बाद ब्रह्मनिष्ठके उस महाप्रासादका प्रवेशद्वार भी कभी मिलेगा।

बौद्धधर्ममें योग

(लेखक—डा० श्रीविनयतोष भट्टाचार्य, एम०ए०, पी-एच० डी०)

साधारण बोलचालमें तथा शास्त्रीय भाषामे भी 'योग' शब्दका अर्थ मेल अथवा सम्बन्ध जोडना है। पारिभाषिक भाषामें योग उस दर्शनशास्त्रको कहते हैं जिसका ध्येय है जीवात्मा या व्यष्टि चेतनका परमात्मा या समष्टिचेतनके साथ, अथवा यों कहिये कि जीवका ईश्वरके साथ, सम्बन्ध स्थापित करना। बौद्धग्रन्थोंमें 'जीवात्मा' और 'परमात्मा' शब्दका प्रयोग नहीं हुआ है, उनके स्थानमें 'बोधिचित्त' और 'शून्य' शब्द व्यवहृत हुए हैं। बौद्धशास्त्रमें 'बोधिचित्त' एक प्रकारसे जीवात्मा अथवा व्यष्टि चेतनका ही वाचक है और 'शून्य' परमात्मा अथवा समष्टि चेतनका पर्याय है जिसमें 'शून्य', 'विज्ञान' और 'महासुख' ये तीन गुण माने गये हैं।

योग एक विशुद्ध रहस्यमय शास्त्र है जिसका आधार केवल निजी अनुभव है और भारतवर्षमें अति प्राचीन कालसे लोग यह मानते आये हैं कि सिद्धिप्राप्ति अथवा मोक्षलाभका योग एक बलवान् साधन है। जो लोग तर्ककी कसौटीसे इस बातको परीक्षा करना चाहते हैं कि योगशास्त्रमें वर्णित सिद्धियोंमेंसे कोई-सी भी योगके द्वारा प्राप्त हो सकती है या नहीं अथवा उसके द्वारा जीवात्माका परमात्माके साथ सम्बन्ध स्थापित हो सकता है या नहीं, उन्हें सम्भवतः निराश ही होना पड़ेगा। क्योंकि तर्कके द्वारा विश्वके रहस्योंके एक सूक्ष्मतम अशका ही उद्‌घाटन हो सकता है और यह शास्त्र अलौकिक है, अतः तर्ककी यहाँतक पहुँच नहीं है। कदाचित् ऐतिहासिक युगके पूर्वसे ही भारतीय जिज्ञासुओंका तर्कसे समाधान नहीं हो सका और इसीलिये यह देखनेमें आता है कि उन्होंने सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि एव अलौकिक साधनोंसे प्रकृतिके रहस्योंके भीतर प्रवेश करनेकी चेष्टा की है जिससे वे तर्कके द्वारा नहीं, अपितु अपने निजी अनुभवके सहारे उनका पता लगा सकें। उनकी दृष्टिमें रहस्यवाद तर्ककी परिधिको लाँघ जाता है।

भगवान् बुद्धके जीवनकालमें योगका सिक्का जम चुका था। लोग इस बातकी परवा न करके कि दार्शनिक गुत्थियोंको सन्तोषप्रद रीतिसे सुलझानेका कोई और मार्ग भी है या नहीं, योगका साधन किया करते थे।

उदाहरणतः हम देखते हैं कि स्वयं बुद्ध भगवान् घर छोड़कर बोधगयाके निर्जन वनमें जाते हैं और वहाँ 'आस्फानक समाधि' का अभ्यास करते हुए शरीरको इस प्रकार कसते हैं कि उनका आहार घटते-घटते चावलके एक दानेपर पहुँच जाता है। उन्हें बोध भी हुआ, किन्तु वह किस साधनसे हुआ, उनकी ऐकान्तिक तपोनिष्ठासे अथवा तपस्याके साधनको छोड़ देनेसे ? यह विचारणीय है। भगवान् बुद्धके प्रसङ्गमें तो, जो ईसामसीहसे लगभग ६०० वर्ष पूर्व हुए थे, यही कहना पड़ेगा कि तर्कको नीचा देखना पड़ा और रहस्यवादकी विजय हुई। बुद्धने अपने युगके सभी प्रसिद्ध तार्किकों एवं दार्शनिकोंके सामने अपनी शङ्काएँ रक्खीं, किन्तु किसीके उत्तरोंसे उनका समाधान नहीं हुआ। उन्हें तो आत्मनिरीक्षण एवं तपश्चर्यासे ही सिद्धि प्राप्ति हुई और इसीका उन्होंने उपदेश दिया।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि बहुत-से जिज्ञासुओं और श्रद्धालु पुरुषोंने बुद्धके उदाहरणसे उत्साहित होकर उन्हीं साधनोंको करना प्रारम्भ कर दिया जिनसे बुद्धको सिद्धि प्राप्त हुई थी। उस समयके इतिहाससे यह पता चलता है कि भगवान् बुद्धके कतिपय शिष्योंने उन्हीं साधनोंका सम्यक् प्रकारसे अनुष्ठान कर अनेक सिद्धियाँ प्राप्त कीं जिनसे उनके जीवनकालमें ही उनकी बड़ी ख्याति हो गयी। आधुनिक विद्वानोंका मत है कि योगसूत्रोंके प्रणेता महर्षि पतञ्जलि शुङ्गवशीय महाराज पुष्यमित्रके समसामयिक थे जिनका काल ईसवी सन्‌की दूसरी शताब्दी माना जाता है। उनका यह मत शङ्कासे शून्य नहीं है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि व्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि और योगसूत्रोंके प्रणेता एक ही व्यक्ति रहे हों। जब पतञ्जलिने ही पहले-पहल इस शास्त्रको सूत्रबद्ध किया और यदि वे बुद्धके परवर्ती थे तो फिर बुद्धको योगका ज्ञान कैसे हुआ और कैसे उन्होंने अपने युगके

अच्छे-से-अच्छे तार्किकोंसे उनका समाधान न हो सकनेपर उस योगका अभ्यास किया ?

जब बहुत-से जिज्ञासु, श्रद्धालु एवं विशिष्ट पुरुष किसी साधनामें प्रवृत्त होते हैं तो उनका यह आवश्यक कर्तव्य हो जाता है कि वे एक दूसरेके अनुभवोंका मिलान करें और इस प्रकार उन साधनाओंको शास्त्रका रूप दें। यह काम महर्षि पतञ्जलिके हिस्से पड़ा था (चाहे वे जो कोई रहे हों) जिन्होंने योगसूत्रमें योगशास्त्रकी उपयोगिताको सिद्ध करनेके लिये अनेक प्रमाण दिये और सिद्धि प्राप्त करनेके क्रियासाध्य उपाय बतलाये। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें यह प्रतिज्ञा की है कि योगपद्धतिकी सहायतासे साधक लोग कल्पनातीत सिद्धियोंको प्राप्त कर सकते हैं, और मोक्षलाभ भी कर सकते हैं जिससे सारे दुःखोंकी निवृत्ति हो जाती है और संसारके बन्धनसे सदाके लिये छुटकारा मिल जाता है।

बौद्धधर्मने योगके सिद्धान्तोंको चुपचाप ग्रहण तो कर लिया, परन्तु उनका प्रचार जैसा ईसवी सन्‌की तीसरी शताब्दीमें हुआ वैसा उससे पहले नहीं हुआ। किन्तु बौद्ध लोग निश्चेष्ट होकर नहीं बैठ रहे। उनका एक ऐसा दल था जो छिपकर राजयोग एवं हठयोग दोनों प्रकारके योगोंकी साधना किया करता था और उन लोगोंने अपने सामूहिक अनुभवकी सहायतासे उन साधनाओंको शास्त्रका रूप देकर एक ऐसी पद्धतिका निर्माण किया जो पातञ्जलयोगपद्धतिसे बहुत कुछ मिलती है, बल्कि यों कहना चाहिये कि दोनोंमें बहुत कम अन्तर है। (राज) योग और हठयोगकी मूलभित्तिपर तन्त्रोंका निर्माण हुआ और तन्त्रोंकी सहायतासे यह शास्त्र सर्वाङ्गपूर्ण बन गया।

बौद्धोंकी (राज) योग एवं हठयोगसम्बन्धी साधनाओं एवं क्रियाओंका स्पष्ट दिग्दर्शन हमें पहले पहल 'गुह्यसमाज' नामक तन्त्रसे मिलता है और यह ग्रन्थ मेरे अनुमानसे ईसवी सन्‌की तीसरी शताब्दीका लिखा हुआ है जिसके लिये मेरे पास अनेक प्रमाण हैं। यह ग्रन्थ गायकवाड़ प्राच्य ग्रन्थमाला (Gackwad's Oriental Series) का ५३ वाँ पुष्प है और जो लोग यह जानना चाहते हैं कि मेरे पास उसे तीसरी शताब्दीका लिखा हुआ माननेके लिये क्या प्रमाण है उनसे मेरा अनुरोध है कि वे उक्त ग्रन्थके साथ जोड़े हुए विस्तृत ग्रन्थपरिचयको ध्यानपूर्वक पढ़ें।

उक्त ग्रन्थका अठारहवाँ अध्याय इस दृष्टिसे बड़े महत्त्वका है कि उससे हमें बौद्धधर्ममें प्रचलित योग-साधनाओंका तथा उनके उद्देश्य एवं प्रयोजनका वास्तविक परिचय मिलता है। इस अध्यायमें केवल उन पारिभाषिक शब्दोंकी व्याख्या की गयी है जिनका बौद्धतन्त्रोंमें बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। 'उपाय' शब्दकी व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि उपायके सेवा, उपसाधन, साधन एवं महासाधन ये चार भेद हैं। इनमेंसे सेवाके सामान्य सेवा और उत्तम सेवा इस प्रकार दो अवान्तर भेद बताये गये हैं। सामान्य सेवाका दूसरा नाम वज्रचतुष्टय और उत्तम सेवाको 'ज्ञान सुधा' कहा गया है। किसी देवताविशेषके साक्षात्कारकी चतुर्विध प्रक्रियाका नाम वज्रचतुष्टय है और उनका क्रम नीचे लिखे अनुसार है—(१) शून्यताप्रत्यय, (२) शून्यताका बीजमन्त्रके रूपमें परिणाम, (३) बीजमन्त्रका देवताके आकारका बन जाना और (४) देवताका विग्रहरूपमें प्रकट होना।

उत्तम सेवाका स्वरूप बताते हुए गुह्यसमाजकार कहते हैं कि इस सेवामें सिद्धि प्राप्त करनेके लिये षडङ्ग-योगका साधन करना चाहिये। योगके इन छः अङ्गोंके नाम उसी ग्रन्थमें इस प्रकार उल्लिखित हैं—(१) प्रत्याहार, (२) ध्यान, (३) प्राणायाम, (४) धारणा, (५) अनुस्मृति और (६) समाधि।

प्रत्याहार उस क्रियाका नाम है जिसके द्वारा इन्द्रियोंका निग्रह किया जाता है। पाँच ध्यानी बुद्धोंके द्वारा पाँच इष्ट विषयोंपर मनको स्थिर करनेका नाम ध्यान है। इसका अर्थ सम्भवतः सत्ता (Being) के पाँच अवयवों अर्थात् रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञानपर, जो पाँच ध्यानी बुद्धोंद्वारा अधिष्ठित हैं, मनको एकाग्र करना है। इस ध्यानके पाँच अवान्तर भेद बताये गये हैं जिनके नाम हैं वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता।

योगका तीसरा अङ्ग है प्राणायाम। गुह्यसमाजके अनुसार प्राणवायुके निरोधका नाम ही प्राणायाम है और इस प्राणवायुको पञ्चभूतात्मक अथवा पञ्चविध ज्ञानका स्वरूप माना गया है। इनकी नासिकाके अग्रभागपर स्थित एक पिण्डके रूपमें भावना की जाती है और फिर उनका पञ्चवर्णज्योतिको प्रसारित करनेवाले एक रूपमें ध्यान किया जाता है।

चौथे अङ्गका नाम धारणा है जिसमे उपासकको अपने इष्टमन्त्रका हृदयकमलमे ध्यान करना होता है। धारणासे इन्द्रियोंका निग्रह भी होता है, उनकी पुनः एक रत्नके रूपमें भावना की जाती है और उसे प्राणविन्दुपर स्थापित किया जाता है। धारणाका श्रद्धापूर्वक दीर्घकालतक अभ्यास करनेपर 'निमित्त' अथवा चमत्कारपूर्ण चिह्न दृष्टिगोचर होने लगते है। ये पॉच प्रकारके होते हैं। प्रारम्भिक अवस्थामे मरीचिका (मृगतृष्णा) का चिह्न चित्ताकाशके सामने प्रकट होता है। दूसरी भूमिकामे धुएँका चिह्न और तीसरीमे जुगुनुओंका चिह्न व्यक्त होता है, इसके बाद तुरन्त ही चौथा चिह्न प्रकाशका नजर आता है और अन्तमें निरभ्र गगनके सदृश स्थिर प्रकाशका चिह्न दिखायी देता है।

गुह्यसमाजके अनुसार बौद्धयोगका पॉचवॉ अङ्ग अनुस्मृति है। अनुस्मृति उस पदार्थके अनवच्छिन्न ध्यानको कहते हैं जिसके निमित्त योगसाधनाका प्रारम्भ किया गया है। अनुस्मृतिका चिरकालतक अभ्यास करनेसे प्रतिभास (revelation) की उत्पत्ति होती है। 'प्रज्ञा' और 'उपाय' इन दो तत्त्वोके सयोगसे सृष्टिमें स्थित समस्त पदार्थ एक पिण्डके रूपमें अभिव्यक्त होते है। उस एक पिण्डके समस्त बाह्य प्रपञ्चका ध्यान करनेसे समाधिरूप अलौकिक ज्ञानकी अविलम्ब उपलब्धि हो जाती है।

गुह्यसमाजतन्त्रके अठारहवें अध्यायमे आगे चलकर उपसाधनोंकी व्याख्या की गयी है। उस प्रसङ्गमें यह लिखा है कि उपसाधनका साध्य देवताका साक्षात्कार है और साथ ही यह भी लिखा है कि उपसाधनोंका अभ्यास लगातार छः महीनेतक करना चाहिये और उसमे खान-पान तथा अन्य इच्छित पदार्थोंके सम्बन्धमें किसी बन्धनकी आवश्यकता नहीं है। यदि इस अवधिके भीतर उसे देवताका साक्षात्कार न हो तो साधकको चाहिये कि वह उसी अनुष्ठानको तीन बार करे। यदि इसपर भी देवता योगीके सामने प्रकट न हो और उसे बोधिलाभ न हो तब उसे अपने ध्येयकी प्राप्तिके लिये हठयोगका अभ्यास प्रारम्भ कर देना चाहिये और इससे उसे अवश्य ही सर्वज्ञता प्राप्त होगी।

इस अवसरपर यह कौतूहलपूर्ण प्रश्न सामने आता है कि तन्त्र और हठयोगमे परस्पर क्या सम्बन्ध है। ऊपर कही हुई बातोंसे यही समझमें आता है कि गुह्यसमाजकारने हठयोगको देवताके साक्षात्कारका अन्तिम उपाय बताया है—जब अन्य किसी उपायसे ऐसा न हो सके तभी इसका अभ्यास करनेको कहा गया है। इससे यह बात स्पष्टरूपसे ध्यानमें आ जाती है कि तान्त्रिक उपसाधनका आधार हठयोग है और उत्तम सेवाका आलम्बन राजयोग है। इस प्रकार तन्त्रको राजयोग और हठयोगसे पृथक् करना कठिन है। गुह्यसमाजमे इस बातको खूब स्पष्ट कर दिया गया है कि तान्त्रिक साधना करनेके लिये यह आवश्यक है कि साधक पहले (राज) योग एव हठयोगके रहस्योंसे परिचित हो ले। अथवा, दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि तन्त्रशास्त्रके रहस्योमे प्रवेशकर उन्हे समझनेकी चेष्टा करनेके पूर्व साधकको चाहिये कि वह पहले (राज) योग और हठयोगमें निष्णात हो जाय। इन सब बातोंसे हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि जो लोग अदीक्षितोको अथवा प्रारम्भिक साधकोको मन्त्रसाधनाका उपदेश देते है अथवा जो स्वय योगमें निष्णात हुए बिना ही इस साधनाको करने लग जाते हैं वे सर्वथा भूलमे हैं और शास्त्रीय रहस्यसे अपरिचित हैं।

इस बातको लोग भलीभाँति जानते हैं कि हठयोगविद्यामें पारंगत होनेके लिये बहुत समय अपेक्षित है। हठयोगके अभ्याससे मनुष्य ऐसे अनेकों कार्य कर सकता है जो साधारण मनुष्योंके लिये शक्य नहीं है। उदाहरणतः हठयोगी जब चाहे तब श्वासको निरोध कर सकता है तथा रक्तकी गतिको बन्द कर सकता है। वह कई दिनोतक ही नहीं, कई महीनोंतक पृथ्वीके अन्दर समाधिस्थ होकर रह सकता है। कई हठयोगी अपनी ऑतड़ियॉतक बाहर निकाल लेते हैं। परन्तु एक सिद्ध हठयोगीने, जिनसे मिलनेका मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था, मुझे स्वय यह कहा कि हठयोगियोको असाधारण शारीरिक शक्तियाँ अवश्य प्राप्त हो जाती हैं, किन्तु बिना तान्त्रिक साधना अथवा राजयोगका अभ्यास किये उन्हें मानसिक अथवा आध्यात्मिक शक्तियॉ प्राप्त नहीं हो सकतीं। इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि तान्त्रिक साधना उन्हीं लोगोके लिये अभिप्रेत है जो हठयोगके द्वारा प्राप्तव्य ध्येयसे आगे बढ़ना चाहते हैं। किन्तु जब साधकको तान्त्रिक साधनासे वाञ्छित सिद्धि प्राप्त होती न दीखे तो उसे समझ लेना चाहिये कि उसके स्थूल शरीरमें इतने विकार भरे पड़े हैं कि उन्हें हठयोगके द्वारा ही दूर करना होगा।

तन्त्रका प्रमुख अङ्ग 'साधन' अर्थात् वह क्रिया है जिसके द्वारा उपासक अपने इष्टदेवका दर्शन करनेके लिये उद्युक्त होता है, जिस इष्टदेवसे उसे वाञ्छित सिद्धि प्राप्त होती है। साधक किसी एकान्त स्थानमें जाकर 'साधन' नामक तान्त्रिक ग्रन्थोंमें निर्दिष्ट विधिके अनुसार कुछ कालतक अपने इष्टदेवका ध्यान करता है। इस प्रकारके २१२ साधन-ग्रन्थोंका एक संग्रह आलोचनात्मक पद्धतिसे सम्पादित होकर 'गायकवाड़ प्राच्यग्रन्थमाला' में प्रकाशित हुआ है। इन साधन-ग्रन्थोंमें उन आचार्योंने जो पहले उन-उन देवताओंका कष्टसाध्य एवं अनुमानतः दोषयुक्त पद्धतिसे साक्षात्कार कर चुके थे, सरल-से-सरल एवं निर्भ्रान्त उपाय बताये हैं जिनके द्वारा साधक बिना भूल किये उसी ध्येयको सहजहीमें प्राप्त कर सकता है। इन ग्रन्थोंके रचयिताओंका उन गोपनीय साधनोंके प्रकाश करनेमें जिनसे उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई थी कोई निजी स्वार्थ नहीं था। उन्होंने केवल मानवसमाजके हितकी दृष्टिसे अथवा एक ऐसी विद्याको अमर बनानेके उद्देश्यसे ही ऐसा किया जिसके सम्बन्धमें उनकी यह धारणा थी कि इसे समुचित रीतिसे लेखबद्ध नहीं करेंगे तो उसका लोप ही हो जायगा।

जब साधक साधन-ग्रन्थोंमें बतायी हुई किसी विधिके अनुसार, अतिशय श्रद्धापूर्वक एवं सुदीर्घकालतक शून्यका ध्यान करता है तब उसका इष्टदेव उसके सामने झलक दिखाने लगता है। सर्वप्रथम उस देवताका बीजमन्त्र उसके मनोगोचर होता है जिसका वह साक्षात्कार करने चला है। वह बीजमन्त्र शीघ्र ही एक अस्पष्ट-सा आकार धारण कर लेता है और आगे चलकर, जब साधना पूर्ण होनेको होती है उस समय देवताकी अमित सुषमायुक्त तेजोमय मूर्ति विविध वर्णके मनोमोहक वस्त्र धारण किये तथा ठीक उसी प्रकारकी आकृति तथा शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित होकर जैसा उस देवताके ध्यानमें वर्णन होता है उसके मानसिक नेत्रोंके सामने आविर्भूत होती है। इस देवताका एक बार साक्षात्कार हो जानेपर वह उपासकको कभी नहीं छोड़ता, बल्कि बार-बार उसपर कृपावृष्टि करता रहता है और उसे अधिकाधिक सिद्धियाँ प्रदान करता रहता है। ये सिद्धियाँ उसे उस देवताके साक्षात्कार-के फलरूपमें मिलती हैं; परन्तु उस साक्षात्कारलाभके लिये केवल तान्त्रिक साधनासे ही काम नहीं चलता, अपितु उपासकके लिये यह आवश्यक है कि वह राजयोग एवं हठयोगका भी ज्ञान एवं सिद्धि प्राप्त करे।

बौद्धयोगके परिशीलनके लिये आजीवन अध्ययन करनेकी आवश्यकता है। क्योंकि वह समुद्रकी भाँति अगाध है। प्रस्तुत निबन्धमें इस विषयको निःशेष करना मेरा उद्देश्य नहीं है, क्योंकि ऐसा करना मेरे लिये शरीरसे भी सम्भव नहीं है। मैंने इस योगकी कुछ दिशाओंका दिग्दर्शनमात्र कराया है और कुछ ऐसी बातोंपर विशेष लक्ष्य कराया है जिनके विषयमें बौद्ध और वैदिक योगमें खासा मतभेद है और जहाँ इन दोनों पद्धतियोंका समन्वय कर देनेसे महान् फलसिद्धि हो सकती है।

अन्तमें मैं पाठक एवं समीक्षक महोदयोंको पुनः स्मरण दिलाना चाहता हूँ कि योगमार्ग एक रहस्यमार्ग है, इसके परिणामोंको निजी अनुभवकी कसौटीपर कसना होता है। योग चाहे वह बौद्धयोग हो अथवा वैदिकयोग, एक ऐसा विषय है जो मानवतर्ककी पहुँचके बाहर है।

शुद्धस्वरूप

मन तुम लागहु सुद्ध सरूपे ॥ टेक ॥
तन मन धन न्यौछावरि वारो वेगि तजो भव कूपे ॥ १ ॥
सतगुरु कृपा तहाँ लै लावो जहाँ छाँह नहिं धूपे ॥ २ ॥
पइया करम ध्यान सों फटको लोग जुगति करि सूपे ॥ ३ ॥
निर्मल भयो ज्ञान उँजियारो गूँग भयो लखि चूपे ॥ ४ ॥
भीखा दिव्य दृष्टि सों देखत सोहे बोलन मूँ पै ॥ ५ ॥

—भीखा साहब

बौद्धधर्ममें तन्त्रयोग

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम० ए० डिप्टी-कलेक्टर)

विद्वानोंका मत है कि महात्मा गौतमबुद्धके समयमे वैदिक यज्ञ-यागादि, पशुबलि तथा सकाम पुरश्चरणोंकी इतनी भरमार हो गयी थी कि साधारण जनता त्रस्त-सी होकर एक सरल तथा निष्काम धर्मके लिये उत्कण्ठित हो रही थी। इसी सामयिक उत्कण्ठाको लेकर और करुणायुक्त सेवाभावसे प्रेरित होकर शाक्यसिंहने बौद्धधर्मका प्रचार किया। उनके इस नवीन धर्ममें कोई भी साधारण व्यक्ति भिक्षु अथवा भिक्षुणीरूपसे दीक्षित हो सकता था। किन्तु बौद्धधर्ममे जो आचार-विचारसम्बन्धी किञ्चित् कठोर नियम बनाये गये थे वे परिपक्व बुद्धिवाले ज्ञानवान् सन्यासी-तुल्य व्यक्तिके लिये विशेषरूपसे उपयुक्त थे न कि अशिक्षित जनता तथा स्त्रीसमाजके लिये। प्राचीनतम बौद्धधर्ममें भक्तिभावना तथा उपासनाके लिये प्रायः कोई स्थान नहीं रक्खा गया। इन्हीं त्रुटियोंके कारण सिद्धार्थके निर्वाणके अनन्तर ही बौद्धजनतामें मतभेद प्रारम्भ हो गया। और इसी मतभेदको यथासम्भव दूर करनेके लिये सुप्रसिद्ध चार बौद्ध-सगीतियों अथवा महासभाओंका[1] आयोजन किया गया।

महात्मा बुद्धका निर्वाण ईसवी पूर्व सन् ४८३ में माना जाता है। इसके छः वर्ष बाद ई० पू० सन् ४७७ में महाकाश्यप, उपालि, आनन्द आदि पाँच सौ भिक्षुओंने राजगृहमें प्रथम महासभा की। इस सगीतिमें बुद्धके विनय तथा धर्मसम्बन्धी सिद्धान्त सग्रह किये गये। और कुछ कालके लिये मतभेदकी शान्ति की गयी। परन्तु सौ वर्षोंमें इस विरोधभावने इतना जोर पकड़ा कि ई० पू० सन् ३७७ में दूसरी महासभा करनी पड़ी। इस सभामें बुद्धके उपदेशों तथा सिद्धान्तोंकी पुनरावृत्ति की गयी। किन्तु सम्पूर्ण सङ्घ इनको माननेके लिये तैयार न था। अतः विपक्षियोंने अलग अपनी सभा की। इसी समयसे मतभेद बराबर बढ़ता ही गया और कालान्तरमें बौद्धधर्ममे अठारह निकाय अथवा समुदाय पैदा हो गये।

सम्राट् अशोकके समयमें भिक्षुसङ्घमें आलस्य तथा दुराचारने अपना अड्डा जमा लिया था। इसी कारण मूल उपदेश तथा सिद्धान्तोंको माननेवाले (स्थविरवादी) बौद्धोंने ई० पू० सन् २४२ मे तृतीय सगीति की। इस बार इन पुराने बौद्धोंमें भी मतभेद हो गया और विपक्षी दलने अपनी सगीति अलग नालन्दामें की। इन विपक्षियोंको सर्वास्तिवादी कहते हैं और इन्हींके कारण कालान्तरमें नालन्दाकी इतनी सुप्रसिद्धि हुई।

उपर्युक्त तृतीय संगीतिके लगभग पचहत्तर वर्ष बाद मौर्य-साम्राज्यका अन्त होकर वैदिक मतानुयायी शुङ्गवशका राज्य प्रारम्भ हुआ। इसी शुङ्गवंशके प्रथम राजा पुष्यमित्रने दो अश्वमेध-यज्ञ किये। इस समय बौद्धोंपर अनेक अत्याचार होने लगे। अतः स्थविरवादी तो भागकर साँची चले गये और सर्वास्तिवादी मथुरा आ गये। मथुरामें सर्वास्तिवादियोंने अपने ग्रन्थ सस्कृत-भाषामें करा डाले, क्योंकि मूल बौद्धग्रन्थ पालीमें थे।

पचास-साठ वर्षोंमें मथुराकी काबुलवाली सड़कपर[1] स्थित होनेके कारण सर्वास्तिवादका प्रचार गान्धार (वर्तमान कन्धार) तक पहुँचा और सम्राट् कनिष्क भी उसके अनुयायी हो गये। इन्हीं कनिष्कके राजत्वकालमें चतुर्थ सगीति जालन्धरमें हुई। इसके उपरान्त सर्वास्तिवादियोंमें वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक दो सम्प्रदाय हो गये।

बौद्धधर्ममें निर्वाण अथवा मोक्षके तीन मार्ग बतलाये गये हैं। जो केवल स्वयं मुक्त होना चाहता है वह अर्हत् कहलाता है। जो कुछ और लोगोंकी मुक्तिके लिये भी परिश्रम करता है वह प्रत्येक-बुद्ध कहलाता है। और जो जगत्के मोक्षकी चेष्टा करते हुए निर्वाणपद प्राप्त करता है वह बोधिसत्व कहलाता है। ये तीनों मार्ग क्रमशः अर्हत्-यान, प्रत्येकबुद्धयान तथा बोधिसत्वयान कहलाते हैं।

१. इन चार महासभाओंके विस्तृत विवरणके लिये प० जनार्दन भट्टकृत 'बौद्धकालीन भारत' पृ० ३६६–३७० देखिये।

१. देखिये 'सरस्वती' जून १९२९ पृ० ६७८–६८४ (प्राचीन भारतकी सड़कें)।

अबतक मतभेद होते हुए भी सभी बौद्धनिकाय (सम्प्रदाय) इन तीनों मार्गोंको मानते थे और अधिकतर प्रवृत्ति त्याग तथा वैराग्यपर निर्भर होनेके कारण अर्हत्-यानकी ओर ही थी।

परन्तु कनिष्कके सामयिक महापण्डित अश्वघोष जो प्रसिद्ध कवि तथा दार्शनिक थे, उन्होंने एक नया मत सम्पादित किया कि बौद्धोंके लिये केवल बोधिसत्वयान ही सर्वश्रेष्ठ है। यहींसे महायानकी नींव पड़ी। इसका वर्णन आगे किया जायगा।

अश्वघोषके शिष्य सुप्रसिद्ध रासायनिक तथा बौद्ध-दार्शनिक नागार्जुन[1] थे। इनके विषयमे अनेक आश्चर्य-जनक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि योगाभ्याससे इन्होंने बड़ी-बडी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं और इसी कारण इन्हें सिद्धनागार्जुनके नामसे पुकारा जाता था। इनके पूर्वके वैद्यकशास्त्रमें केवल सुश्रुत तथा चरकके ही ग्रन्थ मिलते हैं। हाँ, यदि योगसूत्रकार तथा महाभाष्य-कार महर्षि पतञ्जलिको लौहशास्त्रकार भी मान लें तो उनका नाम भी नागार्जुनसे पूर्व ही आता है।

नागार्जुनके विषयमें कहा जाता है कि उन्होंने रासायनिक ज्ञानसे लोहवेध (लोहेको सोना बनाने) मे सफलता प्राप्त की थी और रासायनिक समासोंसे ऐसे-ऐसे रसादिकी सृष्टि की थी कि जिनके कारण मनुष्य अमर-सा हो जाता है। स्वय नागार्जुनकी आयु ६०० वर्ष[2] कही जाती है। इस विषयमें यह मानना पड़ेगा कि आधुनिक पाश्चात्य वैद्यकशास्त्र सुवर्ण, पारद, अभ्रक तथा गन्धकके अनेकानेक प्रयोगोंसे अनभिज्ञ है। 'समराङ्गणसूत्रधार'[3] नामक बड़ौदेसे प्रकाशित प्राचीन ग्रन्थमें तो यहाँतक लिखा है कि पूर्वकालके वायुयान पारदसे चलते थे। नागार्जुनविषयक इन बातोंसे स्पष्ट है कि यूरोपीय इतिहास-के मध्ययुग (Middle Ages 100—1500 A D) में जो किमियागीरों (Alchemists)[1] का प्रयत्न Elixir of Life (अमृत) तथा Philosopher's Stone (पारस-पत्थर) के लिये बतलाया जाता है उसका मूल स्रोत भारत ही है।

नागार्जुनने अश्वघोषके बोधिसत्वयानसम्बन्धी सिद्धान्तको मानकर पूर्वप्रचलित 'प्रज्ञापारमिता' नामक दर्शनग्रन्थके आधारपर माध्यमिक अथवा शून्यवादी बौद्ध-सम्प्रदायकी सृष्टि की। कुछ विद्वानोंका मत है कि इसी शून्यवादका सुसस्कृत रूपान्तर शङ्कराचार्यजीका मायावाद है। इसके अतिरिक्त मैत्रेयके योगाचारसम्प्रदायका भी विशेष प्रचार हुआ। ये ही दोनों मत (माध्यमिक तथा योगा-चारसम्प्रदाय) महायानके नामसे प्रसिद्ध है। महायान बौद्धधर्मका प्रचार तिब्बत, मङ्गोलिया, चीन तथा जापानमें अबतक पाया जाता है। वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक सम्प्रदाय हीनयानके नामसे पुकारे जाते हैं और हीनयानका प्रचार सीलोन, ब्रह्मा तथा श्याममें है। हीनयानके ग्रन्थ पाली भाषामें हैं और महायानके सस्कृतमें।

स्वय गौतमबुद्धने भी ध्यानयोग (राजयोग) द्वारा बोधिवृक्षके नीचे ज्ञान प्राप्त किया था। बौद्ध 'ब्रह्मजालसुत्त' तथा 'आटानटीय सुत्त' में भी इस विषयका कुछ वर्णन मिलता है। अतः कोई आश्चर्यकी बात नहीं कि नागार्जुन-जैसे सिद्ध योगीका बौद्धधर्मसे सम्बन्ध होनेपर और माध्यमिक तथा योगाचारसम्प्रदायोंके प्रादुर्भूत होनेपर बौद्ध महायानसम्प्रदायमे मन्त्रयोग क्यों न प्रचलित हो। और वास्तवमे हुआ भी ऐसा ही, क्योंकि थोड़े ही समयके अनन्तर महायानके अन्तर्गत मन्त्रयानका प्रचार हुआ जो उग्र रूप धारणकर वर्तमान वज्रयानमें परिणत हो गया।

पतञ्जलिकृत योगदर्शनका सूत्र है—'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः' और इतने उथल-पुथलके बाद बौद्ध भिक्षुओंके लिये चित्तवृत्तिनिरोधकी परम आवश्यकता थी। अतः उनके लिये मन्त्रयोग ही उपयुक्त प्रतीत हुआ। आगे चलकर उपर्युक्त दर्शनके चतुर्थ पादमें कहा है—

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः।

इनमेंसे जन्मपर किसीका वश नहीं। वह केवल

१ देखिये जयचन्द्र विद्यालंकारकृत 'भारतीय इतिहास-की रूपरेखा' भाग २ पृ० ९२४—९२६ और उन्हींका 'भारतीय वाङ्मयके अमररत्न' पृ० ३२—३५।

२. 'गल्पा'का 'पुरातत्त्वाङ्क' पृ० २१८।

३. श्रीभोजदेवकृत 'समराङ्गणसूत्रधार' २ भाग Gaekwad Oriental Series, Baroda

१ इन Alchemists के विषयमें अधिक ज्ञानके लिये देखिये 'Alchemy Ancient and Modern' by Redgrove, William Rider and Son, London (1922)

बौद्धधर्ममें तन्त्रयोग

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम० ए० डिप्टी-कलेक्टर)

विद्वानोंका मत है कि महात्मा गौतमबुद्धके समयमें वैदिक यज्ञ-यागादि, पशुबलि तथा सकाम पुरश्चरणोंकी इतनी भरमार हो गयी थी कि साधारण जनता त्रस्त-सी होकर एक सरल तथा निष्काम धर्मके लिये उत्कण्ठित हो रही थी। इसी सामयिक उत्कण्ठाको लेकर और करुणायुक्त सेवाभावसे प्रेरित होकर शाक्यसिंहने बौद्धधर्मका प्रचार किया। उनके इस नवीन धर्ममें कोई भी साधारण व्यक्ति भिक्षु अथवा भिक्षुणीरूपसे दीक्षित हो सकता था। किन्तु बौद्धधर्ममें जो आचार-विचारसम्बन्धी किञ्चित् कठोर नियम बनाये गये थे वे परिपक्व बुद्धिवाले ज्ञानवान् सन्यासी-तुल्य व्यक्तिके लिये विशेषरूपसे उपयुक्त थे न कि अशिक्षित जनता तथा स्त्रीसमाजके लिये। प्राचीनतम बौद्धधर्ममें भक्तिभावना तथा उपासनाके लिये प्रायः कोई स्थान नहीं रक्खा गया। इन्हीं त्रुटियोंके कारण सिद्धार्थके निर्वाणके अनन्तर ही बौद्धजनतामें मतभेद प्रारम्भ हो गया। और इसी मतभेदको यथासम्भव दूर करनेके लिये सुप्रसिद्ध चार बौद्ध-सगीतियों अथवा महासभाओंका[1] आयोजन किया गया।

महात्मा बुद्धका निर्वाण ईसवी पूर्व सन् ४८३ में माना जाता है। इसके छः वर्ष बाद ई० पू० सन् ४७७ में महाकाश्यप, उपालि, आनन्द आदि पाँच सौ भिक्षुओंने राजगृहमें प्रथम महासभा की। इस सगीतिमें बुद्धके विनय तथा धर्मसम्बन्धी सिद्धान्त संग्रह किये गये। और कुछ कालके लिये मतभेदकी शान्ति की गयी। परन्तु सौ वर्षोंमें इस विरोधभावने इतना ज़ोर पकडा कि ई० पू० सन् ३७७ में दूसरी महासभा करनी पड़ी। इस सभामें बुद्धके उपदेशों तथा सिद्धान्तोंकी पुनरावृत्ति की गयी। किन्तु सम्पूर्ण सङ्घ इनको माननेके लिये तैयार न था। अतः विपक्षियोंने अलग अपनी सभा की। इसी समयसे मतभेद बराबर बढ़ता ही गया और कालान्तरमें बौद्धधर्ममें अठारह निकाय अथवा समुदाय पैदा हो गये।

सम्राट् अशोकके समयमें भिक्षुसङ्घमें आलस्य तथा दुराचारने अपना अड्डा जमा लिया था। इसी कारण मूल उपदेश तथा सिद्धान्तोंको माननेवाले (स्थविरवादी) बौद्धोंने ई० पू० सन् २४२ में तृतीय सगीति की। इस बार इन पुराने बौद्धोंमें भी मतभेद हो गया और विपक्षी दलने अपनी सगीति अलग नालन्दामें की। इन विपक्षियोंको सर्वास्तिवादी कहते हैं और इन्हींके कारण कालान्तरमें नालन्दाकी इतनी सुप्रसिद्धि हुई।

उपर्युक्त तृतीय सगीतिके लगभग पचहत्तर वर्ष बाद मौर्य-साम्राज्यका अन्त होकर वैदिक मतानुयायी शुङ्गवंशका राज्य प्रारम्भ हुआ। इसी शुङ्गवंशके प्रथम राजा पुष्यमित्रने दो अश्वमेध-यज्ञ किये। इस समय बौद्धोंपर अनेक अत्याचार होने लगे। अतः स्थविरवादी तो भागकर साँची चले गये और सर्वास्तिवादी मथुरा आ गये। मथुरामें सर्वास्तिवादियोंने अपने ग्रन्थ सस्कृत-भाषामें करा डाले, क्योंकि मूल बौद्धग्रन्थ पालीमें थे।

पचास-साठ वर्षोंमें मथुराकी काबुलवाली सड़कपर[1] स्थित होनेके कारण सर्वास्तिवादका प्रचार गान्धार (वर्तमान कन्धार) तक पहुँचा और सम्राट् कनिष्क भी उसके अनुयायी हो गये। इन्हीं कनिष्कके राजत्वकालमें चतुर्थ सगीति जालन्धरमें हुई। इसके उपरान्त सर्वास्तिवादियोंमें वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक दो सम्प्रदाय हो गये।

बौद्धधर्ममें निर्वाण अथवा मोक्षके तीन मार्ग बतलाये गये हैं। जो केवल स्वयं मुक्त होना चाहता है वह अर्हत् कहलाता है। जो कुछ और लोगोंकी मुक्तिके लिये भी परिश्रम करता है वह प्रत्येक-बुद्ध कहलाता है। और जो जगत्के मोक्षकी चेष्टा करते हुए निर्वाणपद प्राप्त करता है वह बोधिसत्व कहलाता है। ये तीनों मार्ग क्रमशः अर्हत्-यान, प्रत्येकबुद्धयान तथा बोधिसत्वयान कहलाते हैं।

१. इन चार महासभाओंके विस्तृत विवरणके लिये प० जनार्दन भट्टकृत 'बौद्धकालीन भारत' पृ० ३६६–३७० देखिये।

१ देखिये 'सरस्वती' जून १९२९ पृ० ६७८–६८४ (प्राचीन भारतकी सड़कें)।

अबतक मतभेद होते हुए भी सभी बौद्धनिकाय (सम्प्रदाय) इन तीनों मार्गोंको मानते थे और अधिकतर प्रवृत्ति त्याग तथा वैराग्यपर निर्भर होनेके कारण अर्हत्-यानकी ओर ही थी।

परन्तु कनिष्कके सामयिक महापण्डित अश्वघोष जो प्रसिद्ध कवि तथा दार्शनिक थे, उन्होंने एक नया मत सम्पादित किया कि बौद्धोंके लिये केवल बोधिसत्वयान ही सर्वश्रेष्ठ है। यहींसे महायानकी नींव पड़ी। इसका वर्णन आगे किया जायगा।

अश्वघोषके शिष्य सुप्रसिद्ध रासायनिक तथा बौद्ध-दार्शनिक नागार्जुन[1] थे। इनके विषयमे अनेक आश्चर्य-जनक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि योगाभ्याससे इन्होंने बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं और इसी कारण इन्हें सिद्धनागार्जुनके नामसे पुकारा जाता था। इनके पूर्वके वैद्यकशास्त्रमें केवल सुश्रुत तथा चरकके ही ग्रन्थ मिलते हैं। हाँ, यदि योगसूत्रकार तथा महाभाष्य-कार महर्षि पतञ्जलिको लौहशास्त्रकार भी मान लें तो उनका नाम भी नागार्जुनसे पूर्व ही आता है।

नागार्जुनके विषयमें कहा जाता है कि उन्होंने रासायनिक ज्ञानसे लोहवेध (लोहेको सोना बनाने) में सफलता प्राप्त की थी और रासायनिक समासोंसे ऐसे-ऐसे रसादिकी सृष्टि की थी कि जिनके कारण मनुष्य अमर-सा हो जाता है। स्वयं नागार्जुनकी आयु ६०० वर्ष[2] कही जाती है। इस विषयमें यह मानना पड़ेगा कि आधुनिक पाश्चात्य वैद्यकशास्त्र सुवर्ण, पारद, अभ्रक तथा गन्धकके अनेकानेक प्रयोगोंसे अनभिज्ञ है। 'समराङ्गणसूत्रधार'[3] नामक बड़ौदेसे प्रकाशित प्राचीन ग्रन्थमें तो यहाँतक लिखा है कि पूर्वकालके वायुयान पारदसे चलते थे। नागार्जुनविषयक इन बातोंसे स्पष्ट है कि यूरोपीय इतिहास-के मध्ययुग (Middle Ages 100—1500 A D) में जो किमियागीरों (Alchemists)[1] का प्रयत्न Elixir of Life (अमृत) तथा Philosopher's Stone (पारस-पत्थर) के लिये बतलाया जाता है उसका मूल स्रोत भारत ही है।

नागार्जुनने अश्वघोषके बोधिसत्वयानसम्बन्धी सिद्धान्तको मानकर पूर्वप्रचलित 'प्रज्ञापारमिता' नामक दर्शनग्रन्थके आधारपर माध्यमिक अथवा शून्यवादी बौद्ध-सम्प्रदायकी सृष्टि की। कुछ विद्वानोंका मत है कि इसी शून्यवादका सुसस्कृत रूपान्तर शङ्कराचार्यजीका मायावाद है। इसके अतिरिक्त मैत्रेयके योगाचारसम्प्रदायका भी विशेष प्रचार हुआ। ये ही दोनों मत (माध्यमिक तथा योगा-चारसम्प्रदाय) महायानके नामसे प्रसिद्ध हैं। महायान बौद्धधर्मका प्रचार तिब्बत, मङ्गोलिया, चीन तथा जापानमें अबतक पाया जाता है। वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक सम्प्रदाय हीनयानके नामसे पुकारे जाते हैं और हीनयानका प्रचार सीलोन, ब्रह्मा तथा श्याममें है। हीनयानके ग्रन्थ पाली भाषामें हैं और महायानके सस्कृतमें।

स्वय गौतमबुद्धने भी ध्यानयोग (राजयोग) द्वारा बोधिवृक्षके नीचे ज्ञान प्राप्त किया था। बौद्ध 'ब्रह्मजालसुत्त' तथा 'आटानटीय सुत्त' मे भी इस विषयका कुछ वर्णन मिलता है। अतः कोई आश्चर्यकी बात नहीं कि नागार्जुन-जैसे सिद्ध योगीका बौद्धधर्मसे सम्बन्ध होनेपर और माध्यमिक तथा योगाचारसम्प्रदायोंके प्रादुर्भूत होनेपर बौद्ध महायानसम्प्रदायमें मन्त्रयोग क्यों न प्रचलित हो। और वास्तवमें हुआ भी ऐसा ही, क्योंकि थोड़े ही समयके अनन्तर महायानके अन्तर्गत मन्त्रयानका प्रचार हुआ जो उग्र रूप धारणकर वर्तमान वज्रयानमें परिणत हो गया।

पतञ्जलिकृत योगदर्शनका सूत्र है—'योगश्चित्तवृत्ति-निरोध.' और इतने उथल-पुथलके बाद बौद्ध भिक्षुओंके लिये चित्तवृत्तिनिरोधकी परम आवश्यकता थी। अतः उनके लिये मन्त्रयोग ही उपयुक्त प्रतीत हुआ। आगे चलकर उपर्युक्त दर्शनके चतुर्थ पादमें कहा है—

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धय।

इनमेंसे जन्मपर किसीका वश नहीं। वह केवल

१. देखिये जयचन्द्र विद्यालंकारकृत 'भारतीय इतिहास-की रूपरेखा' भाग २ पृ० ९२४—९२६ और उन्हींका 'भारतीय वाङ्मयके अमररत्न' पृ० ३२—३५।

२. 'गङ्गा'का 'पुरातत्त्वाङ्क' पृ० २१८।

३. श्रीभोजदेवकृत 'समराङ्गणसूत्रधार.' २ भाग Gaekwad Oriental Series, Baroda

१ इन Alchemists के विषयमें अधिक ज्ञानके लिये देखिये 'Alchemy Ancient and Modern' by Redgrove, William Rider and Son, London (1922)

कर्मानुसार ही होता है और ओषधियोद्वारा सिद्धि प्राप्त करना केवल नागार्जुन-जैसे सिद्धोंहीके वशमे था। अतः जनसाधारणके लिये तृतीय उपाय मन्त्रका ही अवलम्बन सुलभ प्रतीत हुआ। मन्त्रयोगमें अक्षरोके अधिष्ठाता देवताओका ध्यान एक आवश्यक अङ्ग है। इसी कारण बौद्धधर्ममें इसी समयसे मूर्तियोका बनाया जाना प्रारम्भ हुआ और वज्रसत्व, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्धि तथा वैरोचन नामक पॉच ध्यानी बुद्धो, मञ्जुश्री, अवलोकितेश्वर, वज्रपाणि, आकाशगर्भ, क्षितिगर्भ, मैत्रेय, समन्तभद्र इत्यादि बोधिसत्वोंकी कल्पना प्रारम्भ हुई। इनके अतिरिक्त हिन्दुओंकी दश महाविद्याएँ तथा अनेकानेक अन्य देवी-देवता भी छद्मरूपसे बौद्धधर्ममें ले लिये गये। बौद्धोंकी प्रधान देवी तारा हैं।

उपर्युक्त विषयपर बौद्धसाहित्यमे अनेकानेक ग्रन्थ मिलते हैं पर विद्वानोंके मतमे इनमेंसे मुख्य ग्रन्थ[२] 'मञ्जुश्री मूलकल्प' 'गुह्यसमाज तन्त्र' 'साधनमाला' 'श्रीचक्रसवर' 'सद्धर्मपुण्डरीक' तथा 'सुखावतीव्यूहसूत्र' इत्यादि हैं जो सब छप गये हैं। इनके अध्ययनसे बौद्धधर्मके मन्त्रयोग, साधनक्रम तथा अन्य उपक्रम और उनके साधना-भेद मालूम हो सकते हैं। इस छोटे-से लेखमें इन सबका सूक्ष्म विवरण भी देना असम्भव है। हालमें काशी-विद्यापीठद्वारा प्रकाशित बुद्धघोष (ईसाकी पाँचवीं शताब्दि) कृत 'शमथयान अर्थात् समाधि' को देखनेसे तो प्रतीत होता है कि अनेक स्थलोमे पतञ्जलिके योगदर्शनकी पूरी-की-पूरी नकल कर ली गयी है।

'गुह्यसमाजतन्त्र' के विषयमें कल्याणके पाठक 'शिवाङ्क' के 'देवताका स्वरूप क्या है?' शीर्षक लेख (पृष्ठ तीन-सौ एकहत्तर—तीन सौ तिहत्तर) में सूक्ष्म विवरण पायेंगे। और 'श्रीचक्रसवर' की भूमिकाका सार 'शक्तिअङ्क' (पृ० पॉच सौ चौआलीस—पाँच सौ सैतालीस) में 'बौद्ध और जैनधर्ममे शक्ति-उपासना' शीर्षक लेखमें दिया गया है। 'श्रीचक्रसवर' के कुछ अशका अंग्रेजी अनुवाद Arthur Avalon सम्पादित Tantrik Texts के Volume VII में मिलेगा। उसके अध्ययनसे बौद्धमन्त्रयोगके महत्त्व तथा गाम्भीर्यका कुछ-कुछ आभास मिल सकेगा।

'गुह्यसमाजतन्त्र'में लिखा है कि जहॉ मन्त्रयोगकी गति न हो वहॉ तन्त्रोंका आधार लेना पड़ता है। इसी कारण मन्त्रयानमें तन्त्रयानका समावेश होना अवश्यम्भावी था। तन्त्रोंकी साधनविधि तथा वाम और दक्षिणमार्गके विषय गुह्य तथा रहस्यमय हैं। वाममार्गके[१] वीभत्स्य प्रतीत होनेवाले कृत्योका यथार्थ मर्म उस मार्गका साधक ही जान सकता है। अनभिज्ञ दर्शक उनको देखकर तन्त्रोंको गर्ह्य बतलाने लगता है और अनभिज्ञ साधक उनका विपरीत प्रयोग करके नरकका भागी होता है और पतित हो जाता है। बौद्धमन्त्रयोगाचारमें वाममार्गका विशेष प्रयोग होने लगा था और अब भी होता है। अतः अनभिज्ञ जनतामें उसका प्रवेश होते ही अनर्थ होने लगा और भारतसे बौद्धधर्मके लोप होनेका यह एक मुख्य कारण हुआ। इस विषयमें अन्यत्र प्रकाशित 'चौरासी सिद्ध तथा नाथसम्प्रदाय' शीर्षक लेख देखिये। उपर्युक्त मन्त्र-तन्त्रयानको ही वज्रयान कहते हैं।

बौद्धोंका मुख्य मन्त्र है 'ॐ मणिपद्मे हुम्' जिससे सम्पूर्ण तिब्बत रात-दिन गूँज रहा है। कुछ विद्वानोंका विचार है कि मणिपद्मसे कुण्डलिनीयोगके मणिपूरकचक्रका निर्देश है[२] और इस चक्रके देवता रुद्रका ध्यान

---

१ मन्त्रशास्त्रके विषयमे अधिक जानकारीके लिये देखिये। Woodroffe कृत "Garland of Letters", Ganesh & Co, Madras (1922).

२ 'मञ्जुश्रीमूलकल्प' (Trivandrum Sanskrit Series), 'गुह्यसमाज तन्त्र और साधनमाला' (Gaekwad Oriental Series), 'श्रीचक्रसवर' (Tantrik Texts Vol VII Edited by Arthur Avalon, Thacker Spink & Co, Calcutta), 'सद्धर्मपुण्डरीक' (Sacred Books of the East Vol 12), 'सुखावती व्यूह' (Anecdota Oxoniensia Aryan Series Vol II इसमे बौद्धस्वर्गकी कल्पना है) 'सुखावती' पर एक बड़ा सुन्दर लेख आचार्य नरेन्द्रदेवने 'माधुरी' अक्टूबर १९२५ पृ० ४७१—४७६ (सुखावतीमार्ग) में लिखा है।

१ इस विषयपर एक बड़ा ही सुन्दर लेख Woodroffe कृत 'Shakti and Shakta' (Ganesh & Co Madras, third edn 1929) पृ० ५५३—६०७ (Pancha-Sattva the Secret Ritual) में मिलेगा।

२. देखिये 'सरस्वती' फरवरी १९२७ पृ० २४८—२५१ (बौद्धधर्मपर हिन्दू-धर्मकी छाप)।

बौद्धलोग अवलोकितेश्वर (अक्षोभ्य भैरव) रूपसे करते हैं। बौद्धोंके मन्त्र सस्कृतमे होते हैं और उनकी उपचार-विधि हिन्दुओंके तान्त्रिक प्रयोगोंसे बिल्कुल मिलती है।

नागार्जुनका स्थान श्रीशैल कहा जाता है जो मद्रासके समीप है। सम्भव है, द्वितीय ज्योतिर्लिङ्गवाला श्रीशैल[1] ही नागार्जुनके सिद्धिका केन्द्र हो। सस्कृत ग्रन्थोमें भी (उदाहरणार्थ 'हर्षचरित' 'मालतीमाधव') इस स्थानका एक तान्त्रिक केन्द्र होना पाया जाता है।

नालन्दा[2] का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कहा जाता है कि सम्राट् अशोकने यहाँ एक बौद्धविश्व-विद्यालय स्थापित किया। कुछ दिनो नागार्जुनने भी इस स्थानपर वास किया था। अतः सम्भव है कि उसी समयसे यहाँ तारादेवीकी तान्त्रिक उपासनाका प्रारम्भ हुआ हो। ईसाकी आठवीं शताब्दीमे किसी कारण इस विश्वविद्यालयका पतन हो गया। तबसे समीपस्थ भागलपुरके पासवाले विक्रमशिला-विश्वविद्यालय[3]की ख्याति बढ़ गयी। विक्रमशिलाके विश्वविद्यालय तथा उदन्तपुरीके पुस्तकालयके जन्मदाता बगालके पालवशीय राजा थे। वे बौद्ध थे, अतः इनकी छत्रछायामे विक्रमशिला-वज्रयानकी साधनाका केन्द्र बन गया। इस विश्वविद्यालयके मध्यमे अवलोकितेश्वरका मन्दिर था और इस मन्दिरके चारो ओर तिरपन तान्त्रिक देवी-देवताओंके छोटे-छोटे मन्दिर थे। यहीसे वज्रयानका प्रवेश तिब्बतमे हुआ। इस विद्यालयमे अनेकानेक प्रकाण्ड बौद्ध तान्त्रिक हो गये हैं और सुप्रसिद्ध चौरासी सिद्धोंमेसे भी अनेकोका इस संस्थासे सम्बन्ध था।

यहाँके लङ्काजयभद्रने ही उपर्युक्त 'श्रीचक्रसवर' नामक तन्त्र ग्रन्थ लिखा था जिसका उल्लेख बार-बार चौरासी सिद्धोंकी 'बानियों' में आता है। लीलाव्रज नामक आचार्यने अपने मन्त्रबलसे तुर्कोंके प्रथम आक्रमणको निष्फल कर दिया था। आचार्य कमलरक्षितने अपने योगबलसे पाँच सौ तुर्कोंको मार भगाया था। कहते हैं कि इन्होंने तुर्कसेनापर पूर्णकुम्भ फेंका जिसके कारण तुर्क लोग खून उगलते हुए जान लेकर भागे[5]। सन् १२०२ ई० में बख्तियार खिलजीने इस स्थानको लूटकर यहाँके विशाल ग्रन्थसंग्रहको जला डाला।

विक्रमशिलाके ध्वंसके बाद बौद्ध तान्त्रिकोंका भारतसे लोप ही हो गया। उनमेंसे बहुतेरे तो तलवारके घाट उतारे गये, कुछ भागकर सीलोनकी ओर चले गये, और अधिकांश उत्तरकी ओर नेपाल तथा तिब्बतके अगम्य देशोमें भाग गये। जो कुछ बौद्ध-तन्त्रका अवशेष भारतमे रहा वह आज भी मिथिलामें पाया जाता है, क्योंकि विक्रम-शिलाके बाद ही नदिया तथा मिथिलाके विद्याकेन्द्रोंका उदय हुआ।

इस समय वज्रयानका मुख्य गढ महाचीन (तिब्बत) है। तिब्बतमें बौद्धधर्मका प्रवेश[6] ईसाकी आठवीं शताब्दिके प्रारम्भमे हुआ। उसके पहले इस देशमे 'बोन'[7] धर्म प्रचलित था जो वैदिक शैवसम्प्रदायका विकृत रूप था। 'बोन' धर्मका मुख्य स्थान कैलाश पर्वत था और देशकी असाधारण प्राकृतिक स्थितिके कारण 'बोन' धर्ममे जादू-टोना इत्यादि बहुत बढ गया था अर्थात् तमःप्रधान देवोंकी सकाम उपासनाका प्राधान्य था। नालन्दाके महा-पण्डितोकी ख्याति सुनकर तिब्बतसम्राट्ने वहाँके आचार्य शान्तरक्षित (ई० सन् ६५०—७५०) को अपने देशमे बौद्धधर्मके प्रचारके लिये आमन्त्रित किया। आचार्य तिब्बत गये किन्तु उनके पहुँचते ही अनेक प्राकृतिक उपद्रव उठ खड़े हुए। अतः उनके परामर्शसे राजाने पद्मसम्भव नामक एक तान्त्रिकको भारतसे बुलवाया। इन्होंने अपने योगबलसे देशके सभी उग्र देवी-देवताओंको शान्त किया। वर्तमान तिब्बतीय लामाधर्म इन्हीं पद्म-सम्भवकी मूल कृति है[8]। तिब्बतवाले इन्हे लामारिन्-

१ देखिये 'शिवाक' पृ० ५४९-५५० (श्रीमल्लिकार्जुन)

२. विस्तृत विवरणके लिये देखिये उपर्युक्त 'बौद्धकालीन भारत' पृ० ३७५—३७९।

३ देखिये 'सरस्वती' दिसम्बर १९१५ पृ० ३३९—३४१ (विक्रमशिलाका विश्वविद्यालय)।

४ देखिये प० विश्वेश्वरनाथ रेउकृत 'भारतके प्राचीन राजवश' (प्रथम भाग) पृ० १८१—१९७।

५ देखिये नोट नम्बर ३ वाला लेख।

६. देखिये राहुल साकृत्यायनकृत 'तिब्बतमें सवा बरस' पृ० १८७—२२३।

७ देखिये 'Modern Review' August 1934 (Article on 'Home of Tantricism')

८ देखिये 'माधुरी' जून १९२६ पृ० ५७८—५८६ (विराट् भारत)

पोचे कहते हैं और भर्तृहरि तथा आल्हाकी तरह इनको अमर मानते हैं। आज भी घर-घर इनका चित्र पाया जाता है। आचार्य शान्तरक्षितने उदन्तपुरीके विहार-के नमूनेका एक विहार तिब्बतमें सम्-ये नामक स्थानमें बनवाया जो अब भी मौजूद है।

इसके ३०० वर्ष बाद दीपंकर श्रीज्ञान (ई० सन् ९८२–१०५४) नामक विक्रमशिलाके प्रकाण्ड तान्त्रिक आचार्य तिब्बतमें बुलाये गये क्योंकि बीचमें बौद्धधर्म शिथिल हो चला था। इन्होंने अनेकानेक भारतीय ग्रन्थोंका तिब्बती भाषामें अनुवाद कराया। ये अनुवाद अबतक विद्यमान हैं। भारतके मूल ग्रन्थ धर्मान्ध यवनोंके हाथ कभीके भस्म हो चुके।

स्वयं तिब्बतमें जे-चुन् मिल-रे-पा[1] नामक एक उत्कृष्ट तान्त्रिक (ई० सन् १०४०–११२३) हो गये हैं और उनके निर्दिष्ट मार्गका अनुसरण करते हुए अब भी सैकड़ों बौद्ध मान्त्रिक तथा तान्त्रिक एकान्त गुफाओंमें बीस-बीस क्या चालीस-चालीस वर्षतक एकान्तवास तथा तान्त्रिक साधनाएँ करते हैं। इनकी गुफाओंमें प्रविष्ट होनेपर द्वार सदाके लिये अथवा नियमित वर्षोंके लिये बन्द कर दिया जाता है और केवल एक छिद्रसे भोजन पहुँचानेका प्रबन्ध रहता है। न तो भीतर प्रकाश पहुँचता है न एकान्तवासी किसीसे भोजनके छिद्रद्वारा भाषण करता है[2]। मिल रे-पाका एकान्तवासस्थान लप-चीमें था। वहीं अब भी विशेषकर उपर्युक्त प्रकारसे एकान्तवास करते हुए अनेकानेक सिद्ध मिलेंगे। सन् १९२१ वाले एवरेस्ट आरोहणवाले दलको लप-चीमें ३०० या ४०० एकान्तवासी मिले थे[2]। और अपनी (Trans Himalaya) नामक पुस्तकके ३५ वें परिच्छेदमें Dr Sven Hedin (जिन्हों-ने सन् १९०६–७ में तिब्बतकी यात्रा की थी) इसी प्रकार-के एक एकान्तवासीका कल्पनायुक्त वर्णन किया है। ऐसे ही अनेक स्थान तिब्बतमें हैं। इनमें एक मुख्य स्थान ताशी लामाका निवासस्थान शीगर्ची है।

तिब्बतका राज्यतन्त्र ही लामा सिद्धोंके हाथमें है[1]। प्रधान शासक दलाई लामा कहे जाते हैं। उनके बाद शीगर्चीके ताशी लामाका स्थान है। देशभरमें प्रधान अधिकारी लामा ही हैं। इनमें अनेक पाखण्डी तथा दुराचारी भी हैं किन्तु इनके संरक्षणमें विस्मयकारी वज्रयान अथवा लामा-धर्म अब भी पूर्ववत् अक्षुण्ण चला आता है। देशभरमें अनेकानेक मठ विद्यमान हैं जहाँ प्राचीन प्रणालीसे शिक्षा दी जाती है और जिनमें लाखों लामा लोग (गृहस्थ इन मठोंमें भर्ती नहीं हो सकते) अब भी 'ॐ मणिपद्मे हुम्' के गम्भीर नादसे उस ज्योतिको जाग्रत् रख रहे हैं। इन लामाओंके हाथमें एक चरखी-सा यन्त्र होता है जिसमें कागजोंपर लिखे हुए हजारों 'ॐ मणिपद्मे हुम्' होते हैं। लामा लोग बराबर इस चरखीको घुमाया करते हैं और इससे निरन्तर मन्त्रजपका पुण्य माना जाता है। स्थान-स्थानपर यह मन्त्र पत्थरोंपर अथवा कपड़ोंके टुकड़ोंपर[2] लिखा मिलता है। संक्षेपमें यही वज्रयानकी गायत्री है।

यह तो हुई तिब्बतकी स्थिति। अब और उत्तरमें मङ्गोलियामें बढ़ जाइये तो यही क्रम और घोररूपमें मिलेगा। कारण यह कि प्राकृतिक स्थितिके कारण मङ्गोलिया आधुनिक सभ्यताके लिये तिब्बतकी अपेक्षा अधिक अगम्य है। याद रहे कि तिब्बतमें विदेशियों (जिनमें भारतीयोंकी भी गणना है) के प्रवेशके लिये कठोर निषेध अबतक चले जाते हैं।

गत महायुद्धके बाद रूसमें जो राज्यविप्लव हुआ उसमें बोलशेविकोंके हाथसे बचनेके लिये Count Ossen-dowsky नामक सज्जन मङ्गोलिया होते हुए तिब्बतकी ओर भागे। इस निर्वासनकालका विवरण उन्होंने 'Beasts, Men, and Gods'[3] नामक पुस्तकमें दिया है।

---

१. देखिये राहुल सांकृत्यायनकृत 'तिब्बतमें बौद्धधर्म' पृ० २८ (श्रीशिवप्रसादजी गुप्त, काशी)।

२. देखिये 'Trans-Himalaya' by Sven Hedin (vol II) Pp 1–12 (Macmillan & co, 1909 'Colonial Library' Edition)

३ देखिये 'सरस्वती' नवम्बर १९२२ पृ० २७७ (माँट एवरेस्टका आरोहण)।

१. देखिये एकाई कावागुचीकृत 'तिब्बतमें तीन वर्ष' पृ० ३०१—३२२ (हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता)।

२. इनको 'मानी' कहते हैं।

३. Beasts Men and Gods by F Ossendow-sky Edward Arnold & Co, London (17 th edition 1923) See pages 87, 96, 113–121, 177—181, 218–219, 257—262, 264–265, 287—316

जोगपेनका किला

मेघाच्छादित गुरला मान्धाता

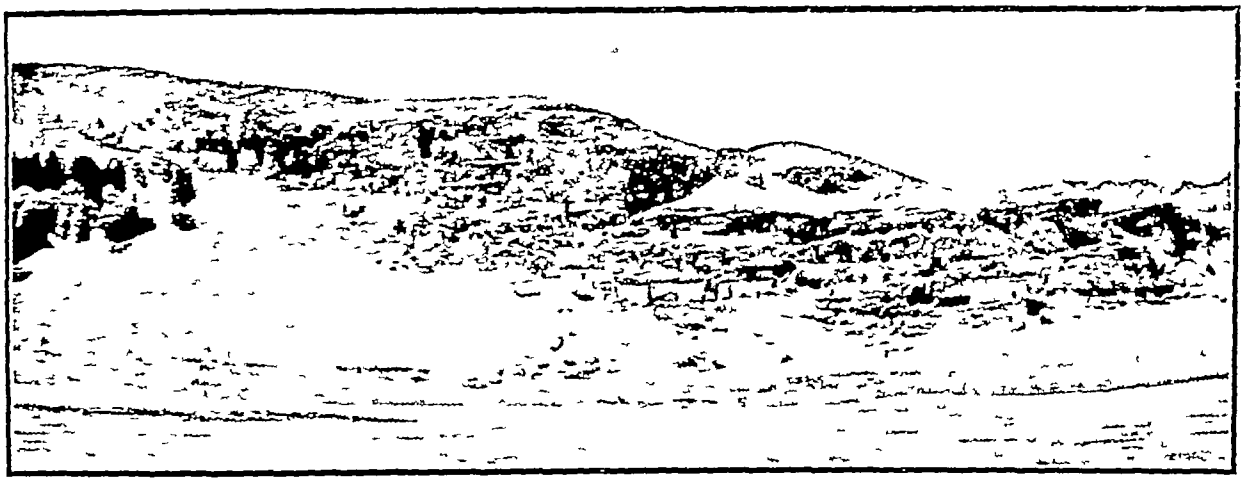

तकलकोटके राजमार्गका दृश्य

गुफागृह तथा पहाड़को काटकर बनाये हुए भवन बीच-बीचमे दिखायी देते है।
नदीमें अनेकों नर-नारी स्नान करते है।

तिब्बतका विहंगम दृश्य

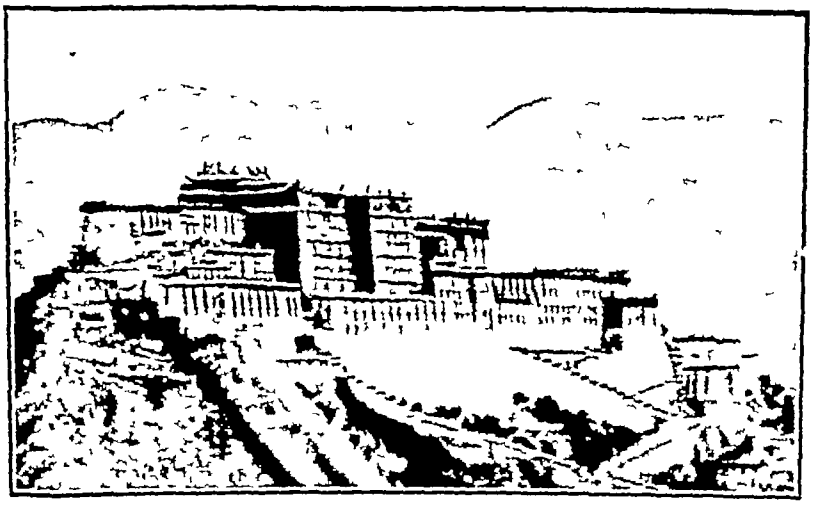

दलाईलामाका पोटाला राजमहल

कल्याण

ॐ मणिपद्मे हुं

ॐ मणिपद्मे हुं

लामा मन्त्रजपकी चर्खी घुमा रहे हैं

इस पुस्तकको देखनेसे वज्रयानकी अलौकिक शक्तियोंका कुछ अनुमान किया जा सकता है। हड्डियोंको अग्निमे तपाकर उनसे 'अरिष्ट' (योगदर्शन पा० ३ सू० २१) का ज्ञान प्राप्त करना, रक्तसे, आँतोंसे अथवा Black Stone (काले पत्थर) से भविष्यका पता लगाना, व्योमविहरण, मूर्तियोंसे प्रश्नोत्तर पाना तथा विना अग्निके दीपकोंका अपने आप जल उठना इत्यादि अनेक चमत्कारोंका इस पुस्तकमें उल्लेख है। उर्गा नामक स्थानमें 'प्रत्यक्ष बुद्ध' (Living Bogdo) नामक महापुरोहित रहते हैं। जिस समय उनमें देवावेश होता है उस समय उनके चेहरेके चारों ओर प्रभामण्डल (Nimbus) दीख पड़ता है। एक मन्दिरमें इस ग्रन्थके लेखकको थोड़ी देरके लिये अपने सुदूरस्थित गृहका दृश्य दीख पड़ा। दूसरे स्थानपर एक लामाने एक पुरुषको मार डाला पर थोड़ी ही देरमें वह मृत व्यक्ति ज्यो-का-त्यों पुनर्जीवित हो गया, इत्यादि। इन बातोंको योगदर्शनके तृतीय पादके साथ देखिये तब ज्ञात होगा कि केवल जादू-टोना कह देनेसे शङ्कासमाधान नहीं होता। इन चमत्कारोंको करनेकी शक्ति आयी कहाँसे? केवल मन्त्र और तन्त्रप्रक्रियाओंसे। हाँ, कहीं-कहीं अज्ञातरूपेण जन्मसिद्ध प्रयासे अथवा विशिष्ट जड़ी-बूटियोंके प्रयोगसे इन शक्तियोंकी प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः।

वैशाख-पूर्णिमाको तिब्बतमें बुद्धोत्सव[1] मनाया जाता है। इसी तिथिको महात्मा बुद्धका जन्म हुआ था और इसीको निर्वाण। आश्चर्यकी बात है कि इसी दिन इनको बोध भी हुआ था। उत्तरीय तिब्बतमें इस तिथिको रात्रिके समय एक चबूतरेपर बड़े-बड़े बौद्ध सिद्धाचार्य प्रतिवर्ष एकत्रित होकर बुद्धका आवाहन करते हैं। कहा जाता है कि बुद्धदेव प्रकट होकर आशीर्वाद देते हैं और पुनः अन्तर्हित हो जाते हैं।

कुण्डलिनीसम्बन्धी लेखमें मैं लिख ही चुका हूँ कि महायानीय जितनी बुद्धप्रतिमाएँ मिलेंगी उनमेंसे अधिकांश (पाँचवीं शताब्दिके बादवाली) में बुद्ध घुँघराले बालवाले कनफटे योगीके रूपमे दिखलाये गये होंगे। ये घुँघराले केश सहस्रारचक्रके द्योतक हैं।

कहा जाता है कि सुप्रसिद्ध महाराणा जङ्गबहादुरके गुरु शंखेलामाने उन्हें वज्रोली मुद्राका अभ्यास कराया था।

हिमालयप्रान्त वैदिकमतानुयायी योगियोंका भी स्थान माना गया है। भर्तृहरि तथा आल्हा[2] अमर माने गये हैं और यह साधारण किंवदन्ती है कि वे हिमालयमें तपस्या कर रहे हैं।

अमीवर्षा

अमृत धारा देखिये पारब्रह्म वरिखन्त।
तेजपुञ्ज झिलिमिलि झरै, को साधूजन पीवन्त॥
रसहीमें रस वरिखिहै, धारा कोटि अनन्त।
तहँ मन निहचल राखिये, दादू सदा वसन्त॥
घन बादल विनि वरिखिहै, नीझर निरमल धार।
दादू भींजै आतमा, को साधू पीवनहार॥
ऐसा अचरज देखिया, विन बादल वरिखै मेह।
तहँ चित चातग ह्वै रहा, दादू अधिक सनेह॥

'दादूजी'

१. देखिये 'योगी' (पटना) का 'बुद्धाङ्क' पृ० २९—३२ (महात्मा बुद्ध और वैशाख-पूर्णिमा)।
२. देखिये 'कल्याण' पौष १९९० पृ० ९७४—९७७ (नहोवा और उसके देवस्थान)।

जैनधर्ममें योगविद्या

(लेखक—मुनि श्रीहिमांशुविजयजी न्यायसाहित्यतीर्थ)

भारतके वैदिक, बौद्ध और जैन मुख्य दर्शन हैं। ये तीनो आत्मा, पुण्य-पाप, परलोक और मोक्ष इन तत्त्वोको मानते हैं, इसीलिये ये आस्तिकदर्शन[1] हैं। प्रस्तुत लेखमें हम जैनदृष्टिसे योगके विषयमे कुछ लिखेगे।

'योग' शब्द 'युज्' धातुसे बना है। सस्कृतमे 'युज्'[2] धातु दो हैं। एकका अर्थ है जोड़ना और दूसरेका है 'समाधि'। इनमेसे 'जोड़ने' के अर्थवाले 'युज्' धातुको जैनाचार्योंने प्रस्तुत योगार्थमें स्वीकार किया है।

मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते।

(श्रीयशोविजयकृता 'द्वात्रिंशिका' १०।१)

'मुक्खेण जोयणाओ जोगो'

(श्रीहरिभद्रसूरिकृता 'योगविंशका' १)

अर्थात् जिन-जिन साधनोसे आत्माकी शुद्धि और मोक्षका योग होता है उन सब साधनोंको योग कह सकते है।

पातञ्जलयोगदर्शनमें योगका लक्षण 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' कहा है। इसी लक्षणको उपाध्याय यशोविजयजीने इस प्रकार और भी विशद किया है—

समितिगुप्तिधारणं धर्मव्यापारत्वमेव योगत्वम्।

(पातञ्जलयोगदर्शनवृत्ति)

यतः समितिगुप्तीनां प्रपञ्चो योग उत्तमः।

(योगभेदद्वात्रिंशिका ३०)

अर्थात् मन, वचन, शरीरादिको सयत करनेवाला धर्मव्यापार ही योग है, क्योकि यही आत्माको उसके साध्य मोक्षके साथ जोड़ता है।

योगका शुद्ध अंग

इस प्रकार सामान्यतः सभी धार्मिक अनुष्ठान योगके अङ्ग हैं, तथापि विशेषरूपसे तो मोक्षप्राप्तिके समीपतमवर्त्ति पूर्वकालका ध्यान ही अव्यवहित उत्कृष्ट योग है। आचार्य भगवान् श्रीहरिभद्र सूरिने 'योगदृष्टिसमुच्चय' में कहा है—

अतस्तु योगो योगानां योगः पर उदाहृतः।
मोक्षयोजनभावेन सर्वसंन्यासलक्षणः ॥११॥

केवल उन ज्ञानी योगियोको जिन्हे जीवन्मुक्त कहते हैं, मोक्षस्थिति प्राप्त करनेके पूर्व मन, वाणी और शरीरकी समस्त क्रियाओंका निरोध[3] (सक्षय) करना पड़ता है, सभी बाह्य पदार्थोंका त्याग अर्थात् सर्वसन्यास करना पड़ता है। मोक्ष प्राप्त करनेमे जब अ इ उ ऋ ऌ पञ्चह्रस्वाक्षरउच्चारप्रमित काल शेष रहता है उस समयका जो शुक्ल ध्यान[4] है वही सच्चा मोक्षसाधन अर्थात् योग है। इस अवस्थामे स्थित योगी ही सच्चा शुद्ध योगी है।[5] उसके सङ्कल्प-विकल्प विलीन हो जाते हैं। उसके विचारोंका रज, तम या सत्त्वगुणसे भी स्पर्श नहीं होता। अति अल्प समयमें ही शुक्ल ध्यानके द्वारा वह मुक्त हो जाता है। मुक्तको ही सिद्ध कहते हैं। यहाँ सम्पूर्ण कृतकृत्यता हो जाती है।

योगकी विशेष व्याख्या

जैन आगमोंमें योगका अर्थ मुख्यतया 'ध्यान' लिखा है। ध्यान मूलतः चार प्रकारका है—१ आर्त्त, २ रौद्र, ३ धर्म और ४ शुक्ल। इनमें आदिके दो ध्यान तम और रजोगुणविशिष्ट होनेके कारण योगमें अनुपयुक्त और प्रत्यूहकारी हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान योगोपयोगी हैं। इनमें भी शुक्लध्यान अत्यन्त परिशुद्ध और अव्यवहित

---

१ देखिये सिद्ध हेमचन्द्र-व्याकरण लघुवृत्ति पृ० ४८४ हमारी सम्पादित आवृत्ति।

२. 'युजृपी योगे' गण ७ वाँ। 'युजि च समाधौ' गण ४ वाँ।

३ तत्रानिवृत्तिशब्दान्त समुच्छिन्नक्रियात्मकम्।
चतुर्थं भवति ध्यानमयोगिपरमेष्ठिन ॥१०५॥
समुच्छिन्ना क्रिया यत्र सूक्ष्मयोगात्मिकापि च।
समुच्छिन्नक्रिय प्रोक्त तद्द्वार मुक्तिवेश्मन ॥१०६॥
(गुणस्थान क्रमारोह)

४ अथायोगिगुणस्थाने तिष्ठतोऽस्य जिनेशितु।
लघुपञ्चाक्षरोच्चारप्रमितैव स्थितिर्भवेत् ॥१०४॥

५ मन, वाणी और शरीरकी वृत्तियोंको भी जैनपरिभाषामें 'योग' कहते हैं—'कायवाङ्मन कर्मयोग' (तत्त्वार्थसूत्र ६।१) इसी अर्थसे पराकोटिको प्राप्त शुद्ध योगीको 'अयोगी' कहा है। 'अयोगो योगाना योग पर उदाहृत' यह भी इसी दृष्टिसे कहा गया है।

मोक्षसाधन है। इसके द्वारा दुःखरूप काष्ठके सहस्रों अरण्य क्षणमात्रमें सर्वथा भस्म हो जाते हैं। इस विषयमें समाधिशतक, ध्यानशतक, ध्यानविचार, ध्यानदीपिका, आवश्यक निर्युक्ति, अध्यात्मकल्पद्रुमटीका प्रभृति अनेक ग्रन्थ हैं।

त्रिविध योग

किसी भी वस्तुकी प्राप्तिके लिये उसपर अटल श्रद्धा होनी चाहिये। योगके लिये जो-जो कुछ आवश्यक है उसपर तथा जो पूर्णयोगी हैं उनपर परीक्षापूर्वक श्रद्धा रखना योगका आवश्यक अङ्ग है। इसको जैनदर्शनमें 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं—'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्।' (तत्त्वार्थसूत्र १-२)। केवल विश्वास रखकर बैठ रहनेसे कुछ नहीं होता। विश्वासके साथ सम्प्रदायका रहस्यज्ञान भी परिपूर्ण रीतिसे होना चाहिये। इसको सम्यक्श्रुत होना कहते हैं। विश्वास और ज्ञान तो है, पर यदि चरित्रशुद्धि नहीं है—राग-द्वेष-मोहादिसे आत्मा व्याप्त है तो करोड़ों वर्षोंमें भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये 'सम्यक् चरित्र' होना चाहिये। यह ज्ञानदर्शनचरित्रात्मक 'त्रिविध योग' है। इसके पालनसे योग परिपुष्ट होता है और आत्माका आध्यात्मिक उत्कर्ष होता जाता है। योगकी पूर्णता ही मोक्षप्राप्ति कराती है। वैदिकदर्शनोंमें जैसे ब्रह्मसूत्र, गौतमसूत्र, कणादसूत्र आदि मौलिक ग्रन्थ हैं वैसे ही जैनदर्शनमें उमास्वातिकृत 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' है, उसका प्रथम सूत्र इसी त्रिविध योगके विषयमें है—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' इसी सूत्रपर आगे सम्पूर्ण ग्रन्थ है जिसे 'मोक्षशास्त्र' भी कहते हैं।

चौदह गुणस्थान

जब आत्मा विकासकी दिशामें प्रयाण करता है तबसे मोक्ष प्राप्त होनेकी अवस्थातककी योग्यताके चौदह गुण जैनआगमोंमें बताये हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) सास्वादन, (३) मिश्र, (४) सम्यग्दर्शन, (५) देशविरति, (६) प्रमत्तश्रमणत्व, (७) अप्रमत्तश्रमणत्व, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्ति, (१०) सूक्ष्म लोभ, (११) उपशान्तमोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोगी केवली और (१४) अयोगी केवली। पातञ्जलयोगकी आठ भूमिकाओंमें प्रथम भूमिका यम है। इस 'यम' से भी पूर्व सूक्ष्मरीत्या योगकी जो भूमिकाएँ होती हैं वे भी इन चौदह गुणस्थानोंमेंसे पूर्वके चार गुणस्थानोंमें परिगणित हुई हैं। 'गुणस्थानक्रमारोह' तथा कर्मग्रन्थ, कर्मप्रकृति, गोमटसार आदि ग्रन्थोंमें इस विषयका सूक्ष्म विवेचन है।

अष्ट दृष्टि

आचार्य हरिभद्र सूरिने योगकी आठ दृष्टियाँ बतायी हैं—

मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा परा।
नामानि योगदृष्टीनां.....॥

पातञ्जलयोगके जो आठ अङ्ग हैं उनसे इन दृष्टियोंका सादृश्य है।

पञ्चविध योग

अर्वाचीन जैन न्याय-योग-साहित्यके अग्रणी उपाध्याय श्रीयशोविजयजीने पाँच प्रकारका एक अवान्तर योग भी बताया है—

अध्यात्मं भावनाध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः।
योगः पञ्चविधः प्रोक्तः योगमार्गविशारदैः॥

(योगभेदद्वात्रिंशिका)

योगभेदद्वात्रिंशिकाके अतिरिक्त 'जैनदृष्टियोग' नामक गुजराती ग्रन्थमें भी इन पाँचों भेदोंका विशद विवेचन है।

त्रिविध योग

एक त्रिविध योग और है जो श्रीहरिभद्रयशोविजय आदिके ग्रन्थोंमें मिलता है—

इच्छां शास्त्रं च सामर्थ्यमाश्रित्य त्रिविधोऽप्ययम्।
गीयते योगशास्त्रज्ञैर्निर्व्याजं यो विधीयते॥

अष्टविध योग

महर्षि पतञ्जलि योगविद्याके महाप्राज्ञ आचार्य हुए। उन्होंने योगदर्शनमें योगके अङ्ग, लक्षण, परिभाषा, प्रकारादि जो कहे हैं उन्हें अनेक धर्मोंके विद्वानोंने माना और अपनाया है। पीछेके योगसाहित्यपर उन्हींके सूत्रोंकी गहरी छाप लगी हुई है। जैनाचार्योंने भी, अपनी संस्कृतिके अनुकूल, योगसूत्रोक्त नाम, भेद, स्वरूप आदि ग्रहण किये हैं, इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। आचार्य श्रीहेमचन्द्र सूरिकृत योगशास्त्रमें पातञ्जलयोगदर्शनके यम-नियमादि अङ्गोंको ही क्रमसे गृहस्थधर्म, साधुधर्म आदि कहा है। श्रीयशोविजयजीने भी आठ अङ्गोंका उल्लेख किया है। जैन योगी आनन्दघनजीने भी अपने पदोंमें आठों अङ्गोंका वर्णन किया है।

प्राणायाम

पतञ्जलि प्रभृति योगाचार्योंने प्राणायामको योगका चौथा आवश्यक अङ्ग माना है। परन्तु जैनाचार्योंने

इसे आवश्यक नहीं माना है। श्रीहेमचन्द्र प्रभृति विद्वानोंने तो इसका निषेध भी किया है—

तत्लाभोति मनः स्वास्थ्यं प्राणायामैः कदर्थितम्।
प्राणस्यायमने पीडा तस्यां स्याच्चित्तविप्लवः॥
(हैमयोगशास्त्र)

प्राणायाम हठयोग है और हठयोगको जैनाचार्योंने योगमार्गमें अनावश्यक माना है। हरिभद्र सूरिने कहा है—'ध्यानमें बलात्कारसे श्वासोच्छ्वासका निरोध न करना चाहिये'। 'पातञ्जलयोगसूत्रकी वृत्ति' में 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' (योगसूत्र १। ३४) इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए श्रीयशोविजयजी लिखते हैं—

अनैकान्तिकमेतत्। प्रसह्य ताभ्यां मनोव्याकुलीभावात्। 'ऊसासं ण णिरुं भइ'। (आवश्यकनिर्युक्ति)

'इत्यादिपारमर्षेण तन्निषेधाच्च।'

तात्पर्य, किसी साधकको इससे लाभ हो तो वह प्राणायाम करे, इसमें कोई निषेध नहीं है। परन्तु सबके लिये प्राणायामको आवश्यक अङ्ग जैन विद्वान् नहीं मानते।

त्रिविध आत्मा

यों तो चैतन्यादि गुणोपेतत्वेन आत्मा एक ही लक्षणका है, परन्तु तद्गत भावोंके तारतम्यसे जैन विद्वानोंने तीन प्रकारका आत्मा माना है—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा। तीनोंके लक्षण इस प्रकार हैं—

आत्मबुद्धिः शरीरादौ यस्य स्यादात्मविभ्रमात्।
बहिरात्मा स विज्ञेयो मोहनिद्रास्तचेतनः॥
बहिर्भावानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्चयः।
सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञैर्विभ्रमध्वान्तभास्करैः॥
निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृतः।
निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा परमात्मेति वर्णितः॥

शरीर-धनादि बाह्य पदार्थोंमे मूढ होकर उन्हींमें जो आत्मबुद्धि धारण करता है वह रजस्तमोगुणी बहिरात्मा है। आत्मामें ही जो आत्मभाव धारण करता और यम-नियमादिको समझता और करता है वह अन्तरात्मा है। मोहादि कर्ममलोंको सर्वथा धोकर जो मुक्तपदको प्राप्त होता है वह परमात्मा है।

उसी परमात्मपदको प्राप्त करनेका साधन योग कहाता है। योगके अभ्यासी मुमुक्षु योगधर्म जानकर उस परमपदकी ओर चलेंगे, यही आशा करके यह लेख पूरा करता हूँ।

ज़रथोस्ती धर्ममें तीन मार्ग

(लेखक—श्री एरच जहाँगीर तारापोरवाला बी० ए०, पी-एच० डी० बार-एट-ला)

ईश्वरप्राप्तिके लिये सभी धर्मोंमें तीन मार्ग दिखलाये गये हैं—ज्ञान, भक्ति और कर्म। इन तीनों योगोंके साधनसे मुक्ति मिलती है ऐसा शास्त्रोंका वचन है। हिन्दूशास्त्रोंमें इन तीनोंका बहुत स्पष्ट और सविस्तर वर्णन है, दूसरे धर्मोंमें भी न्यूनाधिकरूपसे ये तीनों स्पष्ट प्राप्त होते हैं। कदाचित् 'योग' शब्दके अभावके कारण हमलोग सरलतापूर्वक यह बात न समझ सकें परन्तु मूल वस्तु तो यही है कि मुक्तिका मार्ग तीन प्रकारका है और प्रत्येक व्यक्तिके स्वभावके अनुसार इन तीनोंमेंसे एक उसके अनुकूल होता है।

हमारे ज़रथोस्ती धर्ममें भी इन तीनों मार्गोंका उल्लेख है। अभाग्यवश ज़रथोस्ती धार्मिक साहित्य लगभग समूल नष्ट हो चुका है और इसी कारण जो कुछ थोड़ा-बहुत साहित्य आज उपलब्ध है उसमें यह बात इतनी सरलतासे नहीं प्राप्त हो सकती है तो भी मननपूर्वक अध्ययन करनेसे और दूसरे धर्मोंके साथ तुलना करनेसे यह मूल सत्य प्राप्त हो सकता है। हमारे अवस्ता-साहित्यकी इक्कीस पुस्तकें थीं, उनमेंसे केवल दो ही पुस्तकें पूरी बची हैं, दूसरी चारमेंसे इधर-उधरके कुछ अंश प्राप्त होते हैं। जो पुस्तकें पूरी कहलाती हैं उनमें भी कई स्थानोंपर मूलसे इतना अधिक परिवर्तन हो गया है कि उन स्थानोंका अर्थ करना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव-सा हो जाता है। परन्तु सौभाग्यवश मूलस्थापक जगद्गुरु ऋषि ज़रथुस्त्रके मूल श्लोक अभीतक सुरक्षित हैं और वे ही हमारे धर्मकी भित्तिस्वरूप माने जाते हैं। कोई भी ग्रन्थ न रहकर केवल ये श्लोक ही रह जाते तो भी आज ज़रथुस्त्रधर्मका अस्तित्व रह

सकता था। वे मूल श्लोक जरथुस्त्रकी 'गाथा' के नामसे विख्यात हैं और पाँच विभागोंमें बँटे हुए हैं। उन पाँचोंमेंसे प्रथम गाथा सर्वश्रेष्ठ गिनी जाती है और उसका नाम अहुन वइति गाथा है। सम्पूर्ण गाथाके २३८ श्लोकोंमेंसे इस प्रथम गाथामें १०० श्लोक आ गये हैं। इस 'अहुन वइति गाथा' नामका मूल अहुन-वर (अहुन-वइर्य) शब्द है जो हमारे धर्मका मूल मन्त्र माना जाता है और जिसके लिये हमारे शास्त्रोंमें कहा गया है कि सृष्टि पैदा करनेसे पूर्व स्वयं ईश्वरने इसका उच्चारण किया था और इसीमेंसे सृष्टि उत्पन्न हुई है। जरथुस्त्रकी अहुन वइति गाथाको इस अहुन-वइर्यकी टीका समझें तो कोई भूल नहीं है।

दूसरी बातोंको अलग रखकर यदि केवल अहुनवरके गूढ अर्थका मनन किया जाय तो इसीमेंसे योगके तीनों मार्ग निकल आते हैं। इन तीनों मार्गोंको पीछेसे गाथामें विशेष विस्तारसे समझाया गया है। अहुनवरका रहस्य बहुत ही गहन है और उसका ज्यों-ज्यों मनन किया जाता है त्यों-ही त्यों उसका अधिकाधिक आध्यात्मिक रहस्य प्रकट होता रहता है। और इसी कारणवश हमारे शास्त्रोंमें कहा गया है कि 'अहुनम्-वइरीम् तनूम् पाइति' अर्थात् अहुन-वइर्य तनका (आत्माका) रक्षण करता है।

अहुनवरके अनेक अनुवाद हो चुके हैं। इसपर प्राचीन अवस्ता साहित्यमें भी एक टीका लिखी हुई है। इसके अतिरिक्त सासानी कालमें* इस मन्त्रका पहेलवी भाषामें अनुवाद हुआ था, उसमें इस मन्त्रमे समाये हुए तीन नामोंकी ओर सङ्केत किया गया है। ये तीन नाम 'अमर-पवित्र-शक्ति' (अमेषा-स्पेन्ता) के हैं और ये ही हमारे तीनों मार्गोंका सूचन करते हैं।

सर्वप्रथम हम 'अहुनवर' इस मन्त्रको देखें और उसका अनुवाद करें। इस मन्त्रमे तीन पक्तियाँ हैं जो प्रत्येक एक-एक वाक्य हैं और प्रत्येकमें एक महान् सत्य समाहित है।

(१) यथा अहू वइर्या अथा रतुश् अपात्-चित् ह चा।

(२) वङ्हेउश् दज्दा मनङ्हो श्योधननाम् अङ्हेउश् मज्दाइ।

(३) क्षथ्रमे-चा अहुराइ आ यिम् द्रिगुन्यो ददत् वास्तारेम्॥

अनुवाद—

(१) जैसे राजा सर्वोपरि (है) उसी प्रकार ऋषि (भी) अपने अषके कारण (हैं)।

(२) वोहु-मनोका पुरस्कार जीवनके प्रभुके कार्य करनेवालोंको (मिलता है)।

(३) ईश्वरका क्षत्र उसको (मिलता है) जो लाचारोंका रक्षक बनता है।

(१) प्रथम सत्य यह है कि राजा अथवा इस स्थूल भुवनका जो अधिपति है उसके ही समान उतना ही महान् ऋषि भी गिना जाय। दूसरे शब्दोंमें कहें तो जिस प्रकार राजाका बड़प्पन इस खाकी जहान्में है, इसी प्रकार ऋषिका बड़प्पन आत्मिक जगत्पर है। किस कारणसे ऐसा है? केवल अष के ही कारण। अब इस अषको हमलोग जरा गम्भीरतापूर्वक समझें। हम जरथोस्तियोंमें बोलचालमें 'अषोई' शब्दका व्यवहार होता है और उसका अर्थ साधारणतः पवित्रता होता है। परन्तु एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि ज्यों-ज्यों हम प्राचीन समयकी ओर लक्ष्य करते हुए इसके अर्थको देखते जाते हैं त्यों-ही-त्यों वह अधिकाधिक गहरा होता जाता है। वास्तवमें इसका अर्थ अत्यन्त ही गहन है। अवस्ताका यह 'अष' शब्द वेदका 'ऋत' शब्द है। यह बात भाषाशास्त्रसे सिद्ध हो चुकी है*। जिस प्रकार ऋत शब्दका वेदमें प्रयोग हुआ है उसी प्रकार हमारे शास्त्रोंमें अष का उपयोग हुआ है। जिस प्रकार देवता ऋतके अधिपति माने जाते हैं, उसी प्रकार हमारे यज़द (देवता) 'अषके सरदार' हैं। ईश्वरको प्राप्त करनेका एकमात्र मार्ग है 'अष हे पन्ताओ' (ऋतस्य पन्थाः)। एक स्थानपर स्पष्ट लिखा हुआ है कि 'सर्वोत्तम अषकी सहायतासे, सर्वश्रेष्ठ अषकी सहायतासे, हे ईश्वर, हम तुझको देखें, तेरे पास पहुँचें, तेरे साथ मिल जायँ। यह अष (ऋत) ज़रथुस्त्रके धर्मका मूल आधार है और इस ऋतको जो समझता है उसको हमारे यहाँ रतु (ऋषि) के नामसे कहते हैं। यह ज्ञानमार्ग है। रतु अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानप्राप्त पुरुष। और ऐसे 'रतुओंके रतु' जगद्गुरु जरथुस्त्र हैं। जिस प्रकार गीतामें कहा गया है कि 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'

* ई० स० २२८—६५१ तक

* 'अष' का एक रूप 'अन' भी है। वह 'ऋत' के साथ मिलता है, यह तो स्पष्ट ही है।

उसी प्रकार यह अपका मार्ग (ज्ञानमार्ग) हमारे धर्मका मार्ग है।

(२) परन्तु भक्ति विना केवल ज्ञान मनुष्यको अहङ्कारके गड्ढेमें ढकेल देता है और इसलिये उस अहङ्कारको जीतनेके लिये प्रेम-भक्तिकी आवश्यकता है। उस भक्तिका एक स्वरूप (या सर्वोत्तम स्वरूप) सम्पूर्ण कर्म ईश्वरके प्रति समर्पण करना है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

(गीता ९। २६)

इसी प्रकार अहुनवरमे भी कहा गया है कि मनुष्यको 'जीवनके प्रभुका कार्य करनेवाला' बनना चाहिये और ऐसा करनेसे वोहु-मनो (अच्छे मन) का पुरस्कार उसे प्राप्त होता है। वोहु-मनो (अच्छा मन) मनकी विशुद्धि प्रदर्शित करता है। मनमेसे अहङ्कार (मैं-तूँका भाव) दूर करनेके लिये वोहु-मनो प्रकट होता है और उसके होनेपर सब जीवोंके प्रति प्रेम उद्भव होता है। वोहु-मनो प्रेमशक्ति प्रकट करता है और वह प्रेम केवल मनुष्योंके लिये ही नहीं प्रत्युत सारे जीवोंके लिये है। वोहु-मनो प्राणीमात्रके अधिष्ठाता हैं, खास करके गौ—पशु-रक्षा उनका प्रधान कर्तव्य माना जाता है।

(३) उपर्युक्त दोनों मार्ग तो मनुष्यकी अपनी सिद्धिके काम आते हैं। ज्ञान तथा भक्ति दोनों साधनोंसे मनुष्य अपना जीवन सार्थक कर सकता है परन्तु फिर भी पूर्ण मोक्ष तो उसे नहीं प्राप्त होता। पूर्ण मोक्षकी प्राप्तिके लिये तो ईश्वर (अहुरमजद) का सम्पूर्ण प्रभाव प्राप्त करना चाहिये। उसकी समानता प्राप्त करनी चाहिये। इसके लिये अहुरमजदका क्षथ्र (क्षत्र) साधन करना चाहिये। यह साधना गरीब, लाचारोंका रक्षक बननेसे प्राप्त होती है। इसमे कर्ममार्ग स्पष्ट दिखायी देता है। हमारा धर्म इस मार्गपर विशेष जोर देता है और आज भी जरथोस्ती लोग (पारसी जाति) कर्म-योगमे आगे बढे हुए दिखायी देते हैं।

इस प्रकार ईश्वरप्राप्तिके तीनों मार्ग—ज्ञान, भक्ति और कर्मका समानतापूर्वक साधन करनेसे ही मनुष्य मोक्षका अधिकारी बनता है। ऐसी अहुनवरकी शिक्षा है। इसी कारणसे यह मन्त्र परम पवित्र माना जाता है। ईश्वरने सृष्टिरचनासे पूर्व ही यह मन्त्र उच्चारण किया ऐसा कहा जाता है अर्थात् इन नियमोंके आधारपर सृष्टिकी उत्पत्ति हुई और उसकी प्रगतिके लिये ये ही तीनों मार्ग नियत हुए।

एक जगह ऐसा लिखा है कि यदि कोई मनुष्य अहुनवरके मन्त्रका शुद्ध उच्चारण करके पाठ करे और उसका भावार्थ सम्पूर्णरूपसे समझे तो उसे दूसरे सब मन्त्रोंके पाठ करनेके समान ही पुण्यप्राप्ति हो। जिस प्रकारकी त्रिविध योगसाधना इस मन्त्रमे समाहित है उसे देखते हुए इस कथनमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है।

जागो !

मौत महा उत्कंट चढ़ै नहिं सूझत अन्ध अभागहु रे।
चित चेतु गँवार विकार तजो जब खेत पड़े कित भागहु रे॥
जिन बुंद विकार सुधार कियो तन ज्ञान दियो पगु ता गहु रे।
'धरनी' अपने अपने पहरे उठि जागहु जागहु जागहु रे॥

—धरनीदास

ईसाई-धर्ममें योगका स्थान

(लेखक—रेवरेण्ड एड्विन ग्रीन्स)

'योग' शब्दका प्रचलित अर्थ ईश्वरके साथ एकता प्राप्त करना ही नहीं है, जो इसका मूल अर्थ है, अपितु उससे उन साधनोंका भी बोध होता है जो उक्त ध्येयकी प्राप्तिमें उपयोगी माने जाते हैं।

सम्भवतः 'योग' शब्दका यह दूसरा एवं लाक्षणिक अर्थ पहलेकी अपेक्षा अधिक विचारकी अपेक्षा रखता है, किन्तु पहले अर्थके सम्बन्धमें हम जिस निर्णयपर पहुँचेंगे उसका अवश्य ही दूसरे अर्थके सम्बन्धमें स्थिर किये हुए हमारे विचारोंपर बहुत अधिक प्रभाव पड़ेगा। परमात्माके साथ एकता करनेके कई अर्थ हो सकते हैं और विचारकके मनमें परमात्माका जो स्वरूप होगा उसीके अनुसार उसकी एकताका स्वरूप भी होगा।

कुछ लोगोंके मतमें 'एकता' का अर्थ लीन हो जाना है अर्थात् वह अवस्था जिसमें अपना कोई भिन्नत्व रह ही नहीं जाता, वह उस परमात्माका ही एक अङ्ग बन जाता है जिसमें वह लीन हो जाता है—वह परमात्मासे अभिन्न ही नहीं हो जाता बल्कि उसके साथ ऐसा घुल-मिल जाता है कि फिर उसका पृथक् अस्तित्व ढूँढ़नेपर भी ध्यानमें नहीं आता। इसे हम एकताकी पराकाष्ठा कह सकते हैं। इससे नीचे उतरकर लोगोंने एकताकी कई श्रेणियाँ मानी हैं। परन्तु कदाचित् उन सभी श्रेणियोंमें योग करनेवालेकी पृथक् सत्ता किसी-न-किसी अंशमें अवश्य रह जाती है—वहाँ एकताका स्वरूप अभिन्नता न होकर अविसवाद अथवा मेल ही होता है। एकताका अर्थ है परमात्माके साथ एकमन हो जाना—परमात्माके सङ्कल्पके साथ अपने सङ्कल्पको मिला देना। साधक परमात्माकी प्रभुता और सुहृदताको समझकर अपनी दृष्टिको बदलनेकी, अपने भावको परिवर्तित करनेकी तथा अपनी निजी कल्पनाओं और जनसमाजकी युक्तियों और योजनाओंको परित्यागकर, जिनका साधारण जनता अनुगमन करती है, परमात्माके सङ्कल्पों और अभिसन्धिका अनुसरण करनेकी चेष्टा करता है। हम परमात्माके सङ्कल्पोंके अनुसरण करनेकी बात हेतुपूर्वक कह रहे हैं, न केवल किसी मत-विशेषका उपन्यास कर रहे हैं, न किसी ऐसे सिद्धान्त-वाक्यको दोहरा रहे हैं जिसका अर्थ तो हम न जानते हों और केवल इसलिये ठीक समझते हों कि वह भगवद्वाक्य है। एकताका अर्थ है परमात्माके प्रति इस प्रकार प्रेम-पूर्वक आत्मसमर्पण करना कि जिससे हमारा चित्त उनकी दिव्य ज्योतिसे जगमगा उठे, हम हृदयसे वही चाहें जो उन्हें प्रिय हो और प्रतिदिन, नहीं-नहीं हर घड़ी, अपना आचरण एवं व्यवहार ऐसा प्रशस्त एवं परिष्कृत बनानेकी चेष्टा करें कि जिससे मनुष्यका मनुष्यके साथ कैसा बर्ताव होना चाहिये इसका ईश्वरीय आदर्श हमारे सामने मूर्तिमान् होकर खड़ा हो जाय।

एक सच्चे ईसाईका अपने भगवान्‌के साथ किस प्रकारका सम्बन्ध होना चाहिये इस विषयमें ईसामसीहके उपदेशोंका स्थूल आशय स्पष्ट ही है। स्वयं उनका अपने परमपिताके साथ जो सम्बन्ध है उसमें कई बातें बिल्कुल निराली हैं जिनके कारण उस सम्बन्धके स्वरूप और लक्षणोंके निर्देश करनेमें बड़ी कठिनाईका सामना करना पड़ता है। जहाँ हमारे प्रभुने 'मैं और मेरे पिता एक ही हैं' ("I and my Father are one") इस प्रकारके वाक्य कहे हैं वहाँ तो यह कठिनाई और भी सुस्पष्ट हो जाती है, एक तरफ तो उनका सम्बन्ध हमें इतना घनिष्ठ प्रतीत होता है कि उसे समझानेके लिये हमें मानव-जगत्‌में कोई उदाहरण ढूँढनेपर भी नहीं मिलता। किन्हीं दो मनुष्योंमें मन और हृदयकी कैसी ही एकता, अभिन्नता क्यों न हो, वह उसकी तुलनामें नहीं ठहर सकती। दूसरी ओर हम उपर्युक्त वाक्यका अद्वैतपरक अर्थ भी नहीं कर सकते क्योंकि उस हालतमें 'मैं और मेरे पिता' इस प्रकारका द्वैत नहीं रह सकता। यह एक ऐसा सम्बन्ध है जिसका निर्देश हो सकता है अर्थात् अद्वैत नहीं है, दोनोंमें घनिष्ठ संयोग है, किन्तु सर्वथा अभेद नहीं। यदि हम इतनी ही बात पाठकोंके सामने उत्तरके रूपमें रक्खें तो वह कदाचित् अपूर्ण समझी जायगी और उससे सबका समाधान न हो सकेगा। हमने तो केवल इस बातको समझनेकी कोशिश की है कि हमारे सामने एक ऐसी पहेली है जिसको बूझना हमारे लिये कठिन है, नहीं-नहीं, हमारी बुद्धिकी सीमाके

बाहर है, किन्तु फिर भी उसे हम एक महान् तथ्यके रूपमें अनुभव करते हैं। यह तथ्य हमारी बुद्धिके लिये अगम्य होनेपर भी हमारे समस्त चैतन्यांशको इस निश्चयसे आपूरित कर देता है कि वह रहस्य एक सत्य तत्त्व है, केवल हमारे मन-की कल्पना नहीं है। अब रही परमात्माके साथ हमारे सम्बन्ध-की बात, सो इस विषयमें ईसामसीहका सिद्धान्त सुतरां स्पष्ट है। बाइबिलमें एक वाक्य भी ऐसा नहीं मिलेगा जिसमें अस्पष्ट रूपसे भी यह सकेत किया गया हो कि ईसाइयोंका ध्येय परमात्मामें मिल जाना है। बाइबिलमें एकताका जो वर्णन मिलता है उसका अर्थ है परमात्माकी इच्छाको जीवनका सञ्चालक एवं पथप्रदर्शक मानना, अपने आपको ईश्वरके मन तथा अभिसन्धिमें मिला देना और मनमें इस बातका निश्चय रखना कि मनुष्यका परम ध्येय यही है, और उसीमें आनन्दित होना। महात्मा पॉलके पत्रोंमें हमें इस प्रकारके वाक्य मिलते है जिनका भाव है—मैं जीता हूँ पर अब मैं नहीं, मेरे अन्दर ईसामसीह जीते हैं। (I live and yet no longer I, but Christ liveth in me) परन्तु इस प्रकारके वाक्यका सम्भवतः कोई भी इससे अधिक अर्थ नहीं लगावेगा कि यह कहनेवाला पुरुष ईसामसीहको अपना गुरु मानकर उनकी 'सर्वतोभावेन वश्यता' स्वीकार करता है, अपनेको ईसामसीहके सञ्चालनमें रखकर उन्हींसे शक्तिसञ्चार, योगक्षेम एव अनुग्रहकी आशा रखता है। उसीके आगे ये शब्द मिलते हैं—'और अब जो जीवन इस शरीरमें है वह उन्हीं ईश-पुत्रमें विश्वासका जीवन है जिन्होंने मुझे प्यार किया और मेरे लिये अपने आपको दे दिया।'

'(and that life which I now live in the flesh I live in faith, the faith which is in the Son of God, who loved me and gave Himself for)'

रहस्यवादियों (mystics) में कुछ लोग अवश्य ऐसे मिलते हैं जो परमात्मामें लीन हो जानेको ही ईसाई-जीवनका एकमात्र परमपुरुषार्थ मानते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त अपवादस्वरूप ही है, बहुसख्यक ईसाई स्त्री-पुरुषोंके साधारण विचार इस प्रकारके नहीं हैं। एक ईसाईके जीवनकी चरितार्थता परमात्माके साथ एक हो जानेमें नहीं है, बल्कि उनके साथ पूर्ण साहचर्यमें है।

हमारे आलोच्य विषयका दूसरा अश है वे साधन जिनके द्वारा ईश्वरका साहचर्य प्राप्त हो सके। इस सम्बन्धमें लोगोंने समय-समयपर कई तरहके विचार प्रकट किये हैं, परन्तु इस विषयमें कोई ऐसा सिद्धान्त सामने नहीं रक्खा जा सकता जो सर्वमान्य हो।

अधिक ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि बाइबिलमें हमारे प्रभुका जो जीवनवृत्तान्त तथा उपदेशोंका सग्रह है उसमें ऐसी किसी बातका उल्लेख बहुत ही कम है जिसका योगसम्बन्धी साधनाओंसे निकट सम्बन्ध हो। उपदेशकार्य आरम्भ करते समय ईसामसीहने चालीस दिनका उपवास किया था, ऐसा वर्णन मिलता है, किन्तु उन्होंने इस तपको किसी साधनके रूपमें किया हो ऐसा नहीं मालूम होता, बल्कि कुछ समयतक वह अकेले जङ्गलमें रहे थे और वहाँ वह अपने भावी उपदेशकार्यको सोचनेमे इतने तल्लीन हुए कि उन्हें खाने-पीनेकी सुध भी न रही। एकाध जगह अवश्य 'प्रार्थना और उपवास' का उल्लेख आता है, और ऐसा भी वर्णन मिलता है कि प्रभु कभी-कभी एकान्तमें बैठकर प्रार्थना तथा ध्यानके लिये समय निकाला करते थे, परन्तु साधारण तौरपर हमारे प्रभुके जीवनमें तथा उनके उपदेशोंमें योग-साधना-की आवश्यकताके सम्बन्धमे एक भी प्रमाण नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि वह सादा एवं साधारण मनुष्यों-का-सा जीवन व्यतीत करते थे तथा सामान्य कोटिके स्त्री-पुरुषोंसे निःसङ्कोच होकर मिलते थे, यहाँतक कि उन्हें सामाजिक उत्सवोंमें भी सम्मिलित होनेमें किसी प्रकारका सङ्कोच नहीं होता था। उनकी दृष्टिमें ध्यान कोई बाह्यसाधन नहीं है, अपितु मनकी वृत्तिको अनवरतरूपसे भगवान्की ओर लगानेका नाम है जिससे कि जीवनमें अव्यक्त जगत्के सनातन सत्य तत्त्वोंकी सन्निधिका अनुभव होने लगे। 'वसुन्धरा भगवान्की है और भगवान्की साङ्गता है।' भगवान्ने मनुष्यके ही उपयोग एवं भोगके लिये सारे भौतिक पदार्थोंकी रचना की है। इसलिये उनका परित्याग करनेकी आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है केवल इस बातको ध्यानमें रखनेकी कि कहीं ये पदार्थ हमारे सिरपर सवार होकर हमें अपने अधीन एव वशवर्ती न कर लें, हमें अपना गुलाम न बना लें। मनुष्यको चाहिये कि वह वस्तुओंका यथार्थ मूल्य ऑकना, उनके गुणदोषों-का विवेचन करना सीखे, आध्यात्मिक एव सनातन तत्त्वोंका आधिभौतिक एव जागतिक तत्त्वोंके द्वारा पराभव न होने दे। प्रार्थना, निर्भरता, वश्यता, (ईश्वर एवं मनुष्यमात्रके प्रति) प्रेम, ये ही योगसाधनाएँ हैं जिन्हें

ईसामसीहने परमात्माके अधिकाधिक साहचर्यमें सहायक बताया है।

प्रभु ईसामसीहके कालसे लेकर अबतक ईसाइयोंने जिन-जिन योगसाधनाओंका अभ्यास किया है उनकी कथा बहुत लम्बी-चौड़ी और वैचित्र्यपूर्ण है। ईसवी सनकी प्रारम्भिक शताब्दियोंमें उपवासादि कठोर व्रतचर्याओंको कई लोग बहुत उपयोगी मानते थे और उसके बाद भी भिन्न-भिन्न युगोंमें कुछ सम्प्रदायोंकी ऐसी ही धारणा रही है। परन्तु इस प्रकारकी धारणा अधिकसंख्यक ईसाइयोंमें न तो सर्वमान्य ही रही है, न सामान्य ही। ईसाइयोंको बराबर चेतावनी दी जाती रही है कि वे भोगविलासकी ओर अग्रसर न हों, इन्द्रियोंके दास न बनें। उन्हें यह भी शिक्षा दी जाती रही है कि वे अपनी सम्पत्ति और अपनी सारी शक्तियोंको परमात्माकी सौंपी हुई पवित्र धरोहर समझें, उनका विवेकपूर्वक उपयोग करें और उदारतापूर्वक उनका दूसरोंको भी उपभोग एवं उपयोग करने दें। उनको इस सम्बन्धमें सतर्क रहनेका उपदेश दिया जाता रहा है कि भौतिक सुख उनकी आध्यात्मिक दृष्टिको आवृत न कर दें, वे लोग इस जगत्को सराय-सा समझकर उसमें मुसाफिरोंकी तरह रहें, तथा इस बातको सदा स्मरण रक्खें कि हमारा वास्तविक और सनातन घर आगे है, किन्तु साथ-ही-साथ जो ईश्वरप्रदत्त वस्तुएँ हमें रास्तेमें पड़ी हुई मिलें उनका धर्माविरुद्ध उपभोग भी करते रहें।

कदाचित् योगका सर्वसुलभ रूप उपवास है। रोमन कैथॅलिक तथा प्रॉटेस्टण्ट दोनों मतोंके अनेक अनुयायी उपवासको बहुत अधिक उपयोगी मानते हैं और खास-खास अवसरोंपर अवश्य उपोषित रहते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो नियमितरूपसे उपवास तो नहीं रखते, किन्तु उसे आत्मोन्नतिका एक वास्तवमें उपयोगी साधन अवश्य स्वीकार करते हैं। वे यह समझते हैं कि ऐसे समयमें जब भौतिक सुखोंकी आत्मापर विजय होती दीखती है, उपवाससे मनुष्यको बड़ा साहस एवं बल मिलता है। इस वर्गके लोग उपवासको प्रायश्चित्तके रूपमें न देखकर आत्मोन्नतिका एक उपकारी साधन मानते हैं और यह समझते हैं कि उपवास जीवनमें आत्माके प्रभुत्वका द्योतक है और इस बातको भी सूचित करता है कि हम भौतिक जगत्के आधिपत्यको स्वीकार करनेके लिये तैयार नहीं हैं।

इन पंक्तियोंका लेखक इस बातको जानता है कि ईसाइयोंमें बहुत लोग ऐसे हैं जिनकी यह धारणा है कि ईसाईधर्ममें योगका महत्त्व जितना वह समझता है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक है। वे ऐसा मानते हैं तो मानें। लेखक उनके इस भावका आदर करता है और यदि इस प्रकारकी साधनाओंका महत्त्व उनके अनुभवमें आया है तो उनकी बातका वह खण्डन भी नहीं करता, बल्कि उनके अनुभवकी सत्यताको स्वीकार करनेमें भी उसे कोई आपत्ति नहीं है। ईसाईधर्मका क्षेत्र बहुत व्यापक है, उसके अन्दर ईसाईजीवनकी अभिव्यक्तिके भिन्न-भिन्न स्वरूपों तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके अनुभवोंके लिये गुंजाइश है। सबसे मुख्य बात तो है ईश्वरके सम्बन्धमें क्रमशः अधिकाधिक जानना और उन्हें जानकर उनसे प्रीति करना, उनपर भरोसा करना और उनकी इच्छाके अनुकूल आचरण करना। ईश्वरको जाननेका उपाय है ईसामसीहकी शरणमें आना और उन्हींको एकमात्र गति मानना और प्रार्थना, निर्भरता और वश्यताके द्वारा जीवनकी पूर्णताको प्राप्त करना।

कबीरका योग

(लेखक—श्रीक्षितिमोहन सेन, शान्तिनिकेतन)

योग और क्षेम इन दो शब्दोंको युक्त कर एक साथ व्यवहार करनेकी प्रथा हमारे देशमें प्रचलित है (गीता ९।२२)। शङ्कराचार्य योगको अप्राप्तकी प्राप्ति और क्षेमको उसकी रक्षा बताते हैं। श्रीधरस्वामी भी यही बात कहते हैं।

अत्यन्त प्राचीन कालसे ही मनुष्यने योगके मर्मको अनुभव किया है। जिस मोहन-जो-दरोको पण्डितोंने आर्योंके आगमनका भी पूर्ववर्ती बताया है उसमें भी सुन्दर-सुन्दर योगियोंकी मूर्तियाँ पायी गयी हैं। उन मूर्तियोंको देखते ही जान पडता है कि ये योगियोंकी मूर्तियाँ हैं जो किसी-न-किसी योगसाधनाको सूचित करती हैं।

असीम अनन्त विश्वतत्त्वसे ही मनुष्यका उद्भव हुआ है। विश्व-सागरमेंसे अपना व्यक्तित्व लेकर मनुष्य एक लहरकी नाईं प्रकट हुआ है। इसीलिये यह विश्वतत्त्व निरन्तर नानाभावसे उसे आकृष्ट कर रहा है। उसका जीवात्मा भी सर्वदा विश्वात्माके साथ युक्त होना चाहता है। यह व्याकुलता ही योगका मूल है।

इस योगकी हम दो प्रकारसे उपलब्धि कर सकते हैं—भावोंसे या क्रियासे। हमारे देशके साधकोंने इन दोनों प्रकारके योगोंके वैचित्र्यकी नाना रूपसे प्रार्थनाएँ की हैं।

मिलनका एक मूलमन्त्र यह है कि जो लोग मिलेंगे उनमें परस्पर साधर्म्य होना चाहिये। समजातीय होनेसे भी मिलन होता है, जैसे जलके साथ जलका, और परस्पर परिपूरक (complementary) होनेसे भी योग होता है, जैसे शिवके साथ शक्तिका। इस प्रकारकी परिपूरकताके क्षेत्रमें एक दूसरेके लिये व्याकुल आकांक्षा रहती है, इसीलिये ऐसा योग एक साधनामात्र न होकर एक अनुपम रस-वस्तु हो उठता है।

मनुष्य और विश्व—विश्वात्मामें जो योग है उसमें समजातीयता और परिपूरकता दोनों ही भाव हैं। विश्वदेह और मानवदेहमें जो योग है वह समजातीयताका ही योग है, यद्यपि उसमें कुछ परिमाणगत भेद भी है। विश्वात्मा और मानवात्मामें जो योग है वह परस्पर परिपूरक है। यद्यपि दोनों ही कुछ हदतक एक ही नियम मानकर चलते हैं तथापि जीवात्मा सीमाबद्ध है, विश्वात्मा या परमात्मा असीम। अथवा इस भेदके कारण ही दोनोंके योगमें इतनी प्रबल आकांक्षा और व्याकुलताका रस वर्तमान है।

विश्व और मानव दोनोंमें ही एक साधर्म्य है। दोनों ही एक-एक सम्पूर्ण जगत् हैं। इसीलिये ग्रीक दार्शनिकोंने विश्वको (Macrocosm) या विराट् जगत् कहा है, और मानवको (microcosm) या क्षुद्र जगत् कहा है। नव प्लेटोनिक (नौ-अफलातूनी) दार्शनिकोंने दार्शनिकभावसे इसकी नाना प्रकारसे आलोचना की है। फिर भी इसके रसरूपका अनुभव किया गया है भारतवर्षकी और सूफियोंकी साधनामें, भक्तों और कवियोंकी वाणीमें।

नौ-अफलातूनियोंने ही केवल विश्व और मानवमें यह साधर्म्य नहीं दिखाया। उपनिषदोंमें देखते हैं,—'इस विश्व आकाशमें जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष हैं, वही हमारे आत्मामें भी तेजोमय अमृतमय पुरुष हैं।' (बृहदारण्यक० २।५, १०।१४) तभीसे यह भाव और दोनोंके बीचकी मिलन-व्याकुलता ही भारतवर्षके सभी भक्त और साधक कवियोंकी प्राण-वस्तु रही है।

इसीका क्रियासाध्य (Practical) रूप मोहन-जो-दरोकी मूर्तियोंमें दिखायी पड़ता है। वहाँका साहित्य तो हमलोगोंको मिला नहीं, मिली हैं सिर्फ कुछ मूर्तियाँ। मूर्तिमें idea अर्थात् भीतरकी मर्मकथा तो रक्खी नहीं जा सकती, इसीलिये वहाँकी भीतरी बात हम नहीं पा सके, पा सके हैं बाहरी योगचेष्टाका रूप।

यह योगचेष्टा भी इस देशमें कम प्राचीन नहीं है। खूब सम्भव है, यह वेद-पूर्व सभ्यताकी एक विशेष सम्पत्ति हो। पहले-पहल वैदिक आर्यलोग इसके प्रभावमें नहीं आये, पर बादमें उन्हें इससे प्रभावित होना पड़ा था, इसे आर्यचिन्तासे दूर नहीं रक्खा जा सका। परवर्ती भारतीय साहित्य तो इडा, पिङ्गला, चक्र, कमल, कोश, नवद्वार, मूलाधार, सहस्रार प्रभृति तत्त्वोंसे भरा पड़ा है। अथर्ववेदमें भी इसका कुछ-कुछ आदि आभास मिलता है।

अष्टा चक्रा नवद्वारा देवानां पुरयोध्या।
तस्या हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥

(अथर्वसंहिता ८।२।३१)

अष्टचक्र और नवद्वारसे युक्त है यह अजेय देवपुरी, यहींपर जो हिरण्मयकोश आवृत है वही स्वर्ग है।

तस्मिन् हिरण्मये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥
(अथर्व० १०।२।३२)

त्रि-अरयुक्त त्रिप्रतिष्ठित उस हिरण्मय कोशमें जो आत्मयुक्त यक्ष (पूज्य अपूर्व पुरुष) विराजमान है, उसे ब्रह्मविद् लोग ही जानते है।

इस स्थानपर परवर्ती योगशास्त्रकी अनेक बातें देख पड़ती हैं। इसके बाद एक और अपूर्व मन्त्र है—इसमें उस अन्तःस्थित अधिष्ठान पुरुषकी बात और भी चमत्कार-पूर्ण ढगसे वर्णित है—

पुण्डरीकं नवद्वार त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥

तीनों गुणोंसे आवृत, नवद्वारोंवाला यह कमल है। उसमें वास करता है वही यक्ष (पूज्य अपूर्व पुरुष), उसे ब्रह्मविद् लोग ही जानते हैं। इसीमें योगशास्त्रकी सबसे बड़ी बात है।

इडा-पिङ्गला, शिव-शक्ति, चन्द्र-सूर्य, ज्ञान-प्रेय प्रभृतिके मिलनसे होकर नाना आकारों और नाना प्रतीकोंमें वियुक्त मानव और विश्वात्माके मिलनकी ही चेष्टा होती आयी है। एक मूलाधारसे वियुक्त होकर दो धाराएँ हुई हैं, उन्हें फिरसे एक वेणीमें मिलाना होगा। अधोधारा षट्चक्र वेध करके ऊपर ऊर्ध्वलोकमें जायगी।

वह्निपुराण-क्रियायोगसार, विष्णुपुराण (षष्ठ अंश सप्तम अध्याय), सौर पुराण (बारहवाँ अध्याय), ब्रह्मवैवर्त (कृष्णखण्ड), गरुडपुराण (चौदहवाँ अध्याय, उनचासवाँ अध्याय) और भागवतमें नाना भाँतिसे इस विषयका वर्णन है। देहके शुभाशुभ सम्बन्धके साथ भी उसके सम्बन्धकी बात लिङ्गपुराण (नवाँ अध्याय), मार्कण्डेयपुराण (पैंतीसवाँ अध्याय) आदिमें लिखी है। योगका भाव-पक्ष भी गीतामें बहुत प्रकारसे बहुत तरहकी भाषाओंमें व्यक्त हुआ है। इस दृष्टिसे योगवासिष्ठ बड़ा मूल्यवान् ग्रन्थ है। तन्त्रों और शैवागमोंमें, यहाँतक कि उत्तरकालीन बौद्धग्रन्थोंमें भी योगका बहुत कुछ सन्धान पाया जाता है।

इसके बाद योगी और सिद्धाचार्योंके निकट आना पड़ता है। ये सब तो योगमतके ही ग्रन्थ हैं। गोरक्ष-सहितामें अथसे इतितक क्रियासिद्ध योगकी ही बात है। मेरे अपने अध्ययनका विषय मध्ययुगके सन्तोंकी वाणी है। इस युगमें भी सैकड़ों भक्तोंकी वाणियोंमें योगकी बात नाना भावोंसे वर्णित हुई है। इनमेंसे केवल कबीरकी ही बात यदि ली जाय, तो कबीरका साहित्य भी तो एक समुद्र है।

कबीरकी आध्यात्मिक क्षुधा और आकांक्षा विश्वग्रासी है। वह कुछ भी छोड़ना नहीं चाहते, इसीलिये वह ग्रहणशील हैं, वर्जनशील नहीं। इसीलिये उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, सूफी, वैष्णव, योगी प्रभृति सब साधनाओंको जोरसे पकड रक्खा है। फिर भी उन मतोंकी सङ्कीर्ण साम्प्रदायिकता कबीरके साथ मेल नहीं खाती। इसीलिये कबीर इन सबको ही अपने ढगसे अपना सके हैं। उनके क्रिया-काण्ड, उनकी साधना और उनकी सज्ञाओंको भी कबीरने अपने विशेष भावसे व्यक्त किया है। कबीर भक्त हैं, प्रेमिक हैं, योगी हैं, मानवरससे भरपूर हैं, मैत्री, युक्ति आदिसे परिपूर्ण हैं। इस तरह उन्होंने जिन मतवादोंको ग्रहण किया है उनमेंसे प्रत्येक कुछ हदतक उनका गृहीत है, कुछ हदतक अपनी विशेष व्याख्यासे उन्होंने अपने समान कर लिया है, कुछ हदतक परित्यक्त है और किसी हदतक उनके कठोर आघातोंसे आहत है। कबीरके योगमतवादके सम्बन्धमें भी यही बात कही जा सकती है। उन्होंने कुछ अंशोंमें इसे मान लिया है, कुछ अंशोंतक विशेष भावसे आत्मसात् कर लिया है, कुछ अंशोंतक छोड दिया है और फिर किसी-किसी अंशपर कठोर प्रहार भी किया है। कबीर-साहित्यकी आलोचना करते समय एक बात विशेषरूपसे मनमें उठा करती है। यह साहित्य तो बहुधा विचित्र है और नाना सम्प्रदायोंद्वारा सग्रह किया गया है। फिर कौन-सी वाणीका आश्रय करके आलोचना की जाय? योगमतकी आलोचनाके इस प्रसङ्गमें मैंने काशीकी नागरी-प्रचारिणी-सभाके सस्करणका ही आश्रय लिया है।

कबीरके अनेक पदोंको देखकर ऐसा जान पड़ता है कि ठीक पूर्ववर्ती योगियोंकी, यहाँतक कि कभी-कभी हू-ब-हू वे ही बातें पढ़ रहे हैं। जैसे—

'प्रथमे गगनकी पुहमी प्रथम प्रभु प्रथमे पवन कि पाणी ।'

(पदावली १६४)

कबीरकी प्रश्नोत्तरी और प्रहेलिकाएँ बिल्कुल प्राचीन योगियोंके समान हैं । इसीलिये इन प्रहेलिकाओंको 'गोरखधन्धा' कहते हैं । कबीरका निम्नलिखित पद भी योगी-पदोंके ही समान है—

सुंनिमटलमें घर किया जैसैं रहै सिचाना ।
उलटि पवन कहाँ राखिये कोइ मरम बिचारै ॥
साधै तीर पतालकूं, फिरि गगनहिं मारै ।

ठीक इसी प्रकारका एक और पद परिशिष्ट (२०७)में है ।

मूल दुआरै बध्या बधु । रवि ऊपर गहि राख्या चंदु ॥
पच्छम द्वारै सूरज तपै । मेर डंड सिर ऊपर बसै ॥
....

खिडकी ऊपर दसवा द्वार । कहि कबीर ताका अत न पार ॥

योगके सम्बन्धमें भी कबीरके वैचित्र्यका अन्त नहीं । वह पवन उलटकर षट्चक्रभेद करके शून्य गगनमे समाहित होना चाहते हैं ।

उलटे पवन षट्चक्र बेधा मेरडट सर पूरा ।
गगन गरजि मन सूँनि समाँनाँ बाजे अनहद तूरा ॥
(पद ७)

कभी कहते हैं, 'मनको ही उलटकर उसमें भरना होगा ।'· .... पवन उलटकर षट्चक्र बेध करके 'शून्य सुरति' मे ही 'लय' लगाना होगा—

मन रे मनहीं उलटि समाँनाँ ।
....
उलटे पवन चक्र षट् बेधा सूँनि सुरति लै लागी ॥
इत्यादि (पद ८)

कभी वह द्वादश कूपसे वनमालीके समान नीरधारा ऊपरकी ओर उलटकर सुषुम्णाका कूल पूर्ण कर देना चाहते हैं—यह धारा दस दिशाओंमें ही फुलवारी पावेगी ।

द्वादश कुआँ एक वनमाली उलटा नीर चलावै ।
सहजि सुषमना कूल भरावै दह दिसि बाडी पावै ॥
(पद २१४)

कभी-कभी ईंधन जलाकर जिस प्रकार भट्टीसे सुरा चुआ लेते हैं, उसी प्रकार अन्तरके महारसको गगनमें चुआकर उसी सुरामें मत्त होना चाहते हैं । परन्तु आश्चर्य यह है कि इस गगनरसको उन्होंने भक्तके समान 'रामरस' बना लिया है । उनके योग और भक्तिसम्बन्धी मत इसी प्रकार युक्त हैं । इसी रामरसमें मतवाला होना ही कबीरकी एकान्तवासना है ।

गगन साल चुए मेरी भाठी । सचि महारस तन मया काठी ।
वाकौ कहिये सहज मतवारा । पीवत रामरस ज्ञान बिचारा ॥
.. ..
(परिशिष्ट पद ५८)

'चन्द्र और सूर्य ये दोनों ज्योतिके स्वरूप हैं । इसी ज्योतिके अन्तरमें अनुपम ब्रह्म विराजमान है । ऐ ज्ञानी, यहींपर ब्रह्म-विचार करो—

चद सुरज दुइ जोति सरूप । जोति अन्तरि ब्रह्म अनूप ॥
करु रे ज्ञानी ब्रह्म बिचारू । (इत्यादि परिशिष्ट पद ६७)

कभी-कभी कबीरने योगीके भेषको रूपककी भाँति ग्रहण करके, सुरति-निरति आदिद्वारा सजाया है ।

अवधू जोगी जगथें न्यारा ।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी नाद न खडै धारा ॥
(पद ६९)

निरति मुद्रा और सुरति सिंगासे सज्जित होकर वह योगी जगत्में 'चेतन-चौकी' पर बैठकर उस मधुर महारसको पान करता है, जिस महारसको इस अन्तरकी भट्टीमें चुआया गया है । वहाँ बैठकर वह दुनियाकी ओर ताकता भी नहीं—

बसै गगनमें दुनी न देखै, चेतनि चौकी बैठा ।
चढि अकास आसन नहिं छाडै, पीवै महारस मीठा ॥
(पद ६९)

गगनभट्टी चुआकर जिस अमृतरसका निर्झर झरा करता है, उसे ही पान करना होगा । रसमें ही झरा करता है यह रस ।

गगन ही माँठी सींगी करि चूँगी कनक कलस एक पावा ।
तहुआँ चवै अमृत रस नीझर रसहीमें रस च्वावा ॥
(पद १५३)

यहींपर मनको मत्त कर देनेवाला 'रामरसायन' पान करना होगा । दुनियामें सब भ्रमकी साधनामे भूले हैं—

....

यह दुनिया कॉइ भरम भुलानी।
मैं राम रसाइन माता॥ (वही पद)

गगनमण्डलमें घर करना होगा। क्योंकि वहीं सदा अमृत झरा करता है, सदानन्द उपजता है; ब्रह्मनालका रस पान करना होता है—

अवधू गगनमडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै बकनालि रस पीवै॥
इत्यादि (पद ७०)

कभी-कभी कबीर अधोधाराको ऊर्ध्वमें उठानेके लिये जिन सब आयोजनोंकी ज़रूरत है उन्हें रूपकके रूपमें सजाकर लय, पवन, मन, सत्य, सुरति प्रभृतिकी सहायतासे सहज ही उस धारामें चलाना चाहते हैं—

ल्यौकी सेज पौनका ढीकूँ मन मटकाज बनाया।
सतकी पाटि सुरतिका चाठा सहज नीर मुक लाया॥
(पद २१४)

कभी कबीरका यह योगसम्बन्धी सारा आयोजन रूपकके समान ही है। यद्यपि वह कहते हैं—'हे अवधूत! मेरा मन मत्त हो गया है, उन्मनिपर चढकर मनने उस महारसको मग्न होकर पान किया है, इसीलिये त्रिभुवन दीप्त हो गया है, उज्ज्वल हो गया है—

अवधू मेरा मन मतिवारा।
उन्मनि चढ्या मगन रस पीवै त्रिभुवन भया उजियारा।
. ...
(पद ७२)

किन्तु इस महारसको चुआनेके लिये उन्होंने ज्ञानको किया है गुड़ और ध्यानको किया है महुआ। मन धाराको भट्ठी बनाया है—

गुड करि ज्ञान ध्यान करि महुआ भाठी मन धारा।
(परिशिष्ट पद ६२, एवं पद ७२)

इससे भी अधिक रूपक १५५ नम्बरके पदमें है—

एक बूँद भरि देइ रामरस ज्यूँ भरि देइ कलाली।
काया कलाली लाहनि करिहूँ गुरु शबद गुड कीन्हाँ।
काम क्रोध मोह मद मछर काटि काटि कस दीन्हाँ॥
इत्यादि (पद १५५)

योगियोंका काम ही है, सारङ्गी बजाकर गानके सुरमें सबके चित्तको जागरित करना। यह बात भी कबीर रूपकसे दिखाना चाहते हैं—वह योगी इस तनुयन्त्रको बजाता है। इसीलिये धर्मके दण्डमें, सत्यकी खूँटीमें, तत्त्वकी तॉत बाँधकर यह यन्त्र रचा गया है। मनके निश्चल आसनपर बैठकर रसनासे जपो उस रसको। इस प्रकार ससारका आवागमन छूट जाता है।

जोगिया तनकौ जन्त्र बजाइ, क्यूँ तेरा आवागमन मिटाइ॥
तन करि तॉति धर्म करि डाँडी, सतकी सारि लगाइ।
मन करि निहचल आँसन निहचल, रसनाँ रस उपजाइ॥
(पद २०८)

यहाँके पद २०४, २०५, २०९, २१० और २११ मे नानाभावसे योगको अध्यात्मसाधनाके अर्थमे प्रयोग किया गया है।

उन दिनो एक तरफ तो थी प्रबल मुसलमानी साधना और दूसरी ओर थी योगियोकी योग-साधना। कबीरने दोनोंको ही स्वीकार किया है,पर अपने रास्तेसे। मुसलमान-धर्मपर उन्होंने कम आघात नहीं किया (देखिये—साचकौ अङ्ग ५—९ इत्यादि) योगियोंके ढोगपर भी उन्होंने कठोर रूपसे आघात किया है। 'जोगी पड़े कि जोग कहै घर दूर है' इत्यादि कबीरके ही तीव्र कशाघात हैं। मन-ही-मन शायद उन्होने समझा था कि आघात करनेसे कोई लाभ नहीं, इसीलिये उन सारी बातोंको रूपकके द्वारा व्याख्या कर आत्मसात् कर लेना चाहा है।

मुसलमानके लिये उनका कहना था कि मनको कर लो मक्का और देहीको करो किबला। इस काया-मसजिदमे ही तो दस दरवाजे हैं, वहीं जाकर बाँग दिया करो—

मन करि मक्का किबला करि देही। बोलनहार परम गुरु एही॥
कहु रे मुल्ला बाँग निवाज। एकै मसीति दसै दरवाज॥
(परि० पद १५७)

उन दिनोके साधारण लोक-प्रचलित योगमतवादी योगियोंके प्रति भी उनका प्रहार मामूली नहीं है। जोगी दण्ड, मुद्रा, कन्था प्रभृति लेकर भ्रमका भेख धरे घूमा करते हैं। अरे पागल! आसन और पवन दूर कर दे और कपट छोड़कर नित्य हरिको भज। जिसे तू चाहता है वह स्वय त्रिभुवनको भोग रहे हैं, फिर संसारमें तुम्हारी इस योग-साधनाका अर्थ क्या है?

डंडा मुद्रा खिंथा आधारी। भ्रमके भाइ भवै भेखधारी॥
आसन पवन दूरि करि बवरे। छोडि कपट नित हरि भज बवरे॥

जिहि तू जाचहि सो त्रिभुवनभोगी । कहि कबीर कैसो जग जोगी ॥

फिर इसी योगीको समझाकर वह अपनालेते है—'पागल ! मनकी मैल छोड़ दे । सिङ्गा,मुद्रा वगैरह दिखाकर लोगोको ठगनेसे क्या लाभ है ? विभूति लगानेसे ही क्या होता है ?'

आसन पवन किये दिट् रहु रे । मनका मैल छाँडि दे बौरे ॥
क्या सिंगी मुद्रा चमकायें । क्या बिभूति सब अंग लगायें ॥
(पद ३५५)

इसके बाद रूपक दिखाकर वह योगीके मतको आत्मसात् ही कर लेना चाहते हैं । 'वही तो योगी है, जिसकी मुद्रा है मनमें, अपनी साधनामें वह रात-दिन जगा रहता है । मनमें ही है उसका आसन और मनमें ही है उसकी स्थिति । मनमें ही उसका जप-तप है, मनमें ही बातचीत है । मनमें ही है उसका खप्पर, मनमे ही सिङ्गा, वहींपर वह अनाहत नाद भी बजाता है । पञ्चको दग्ध करके ही वह विभूति बनाता है । कबीर कहते हैं, वही तो जीतेगा लङ्का'—

सो जोगी जाके मनमैं मुद्रा । रात दिवस ना करइ निद्रा ॥
मनमें आसन मनमें रहनाँ । मनका जप तप मनसूँ कहनाँ ॥
मनमें खपरा मनमें सींगी । अनहद बेन बजावै रंगी ॥
पंच पर जारि भसम करि भूका । कहै कबीर सो लहसै लंका ॥
(पद २०६)

कबीरने उसीको सच्चा योगी बताया है जो लोक-प्रचलित योगीपनके अतीत है । अर्थात् सारे सकीर्ण विधि-विधानोंसे मुक्त साधक ही कबीरका चिर-आकांक्षित साधक है । ऐसे साधकका न तो कोई दल होता है और न कोई सम्प्रदाय । दल बाँधते ही नाना मिथ्या आवर्जना अधिकार जमा लेती हैं । इसीलिये उनका कहना है 'बाबा ! जिस योगीका न मेला है और न तीर्थ, वही एक शब्दहीन योगी है । उसके पास झोली नहीं, पत्र नहीं, बिभूति नहीं, बटुआ भी नहीं, वही अनाहत बेन बजाता है'—

बाबा जोगी एक अकेला । जाके तीरथ बरत न मेला ॥
झोली पत्र बिभूति न बटवा । अनहद बेन बजावै ॥
इत्यादि (पद २०७)

ऐसा ही योगी तो 'मनका मानुष' है । इसे बाहर पाया कैसे जाय ? इस योगीका मर्म जो समझता है वही राममें रमता है । त्रिभुवन उसे उपलब्ध होता है । प्रकट कन्थामें छिपा हुआ है वह गुप्त आधारी । उसमें जो मूर्ति है वही तो इस जीवनका प्रिय है । प्रभु निकट ही हैं, लोग उन्हे दूर खोजा करते हैं । ज्ञानगुहामे भर लो सींगा । कबीर कहते हैं कि जो भक्त प्रतिक्षण अमृत-बल्लीका रस पान करता है वही युग-युग जीता है ।

जो जोगियाकी जुगति बूझै । राम रमैं ताको त्रिभुवन सूझै ॥
परगट कथा गुपुत अधारी । तामैं मूरति जीवनि प्यारी ॥
है प्रभु नेरैं खोजै दूरी । ग्यॉनगुफामैं सींगी पूरी ॥
अमरबेलिको छिन छिन पीवै । कहैं कबीर सो जुग जुग जीवै ॥
(पद २०५)

सचमुच ही जो योगी है उसकी साधना विश्वब्रह्माण्ड-को लेकर है । वह एक मुट्ठी भीखके लिये घर छोड़कर नहीं निकलता । कबीर कहते हैं कि वही योगी तो असल योगी है जो नवखण्ड पृथिवीको भिक्षामे माँग लेता है । ज्ञान ही उसका कन्था है । ध्यानकी सुईसे 'शबद' के तागेसे वह उसकी रचना करता है । पञ्चतत्त्वके सन्धानमें वह निकल पड़ता है गुरुके रास्ते । कायाकी धुनी रमाकर वह दृष्टि-अग्नि जला रखता है 'दया है उसकी खड़ाऊँ—सब योगोंका सार राम-नाम' ही उसकी काया है, वही उसका प्राण है । जिसने जीवनमें उनकी कृपा पायी है वही सत्यकी घोषणा कर जाता है—

. ...

नव खंडकी प्रथमी माँगै सो जोगी जगसारा ।
खिंथा ग्यान ध्यान करि सूई सबद ताग मथि घालै ।
पंचतत्वकी करि मिरणानी गुरुके मारग चालै ।
दया फाहुरी काया करि धूई दृष्टिकी अग्नि जलावै ।

सम जोग तन राम नाम है जिसका पिंड पराना ।
कहु कबीर जे किरपा धारै देइ सच्चा निसाना ॥
(परि० पद १४६)

'वही तो जोगी है जिसका सहज भाव है, अखण्ड प्रेमकी भिक्षा ही जिसका उपजीव्य है । अनाहत शब्द ही जिसका सिङ्गानाद है । जिसके न तो काम-क्रोध हैं और न विषयवाद' इत्यादि—

सो जोगी जाके सहज भाइ । अकल प्रीतिकी भीख खाइ ॥
सबद अनाहद सींगी नाद । काम क्रोध बिषिया न बाद ॥
इत्यादि (पद ३७७)

ऐसा आत्मानन्द योगी ही महारस पान करके अमृत-रस सम्भोग करता है—

आत्मा अनन्दी जोगी । पीवै महारस अमृत भोगी ॥
इत्यादि (पद २०४)

योगकी यह परिपूर्ण दृष्टि जब आती है तो फिर ससारके इस मिट्टीके घरमें मन नहीं रहना चाहता । उस समय श्रीहरिके साथ युक्त होकर रहनेकी ही व्याकुलता दिखायी देती है—

इब न रहूँ माटीके घरमैं । इब मैं जाइ रहूँ मिलि हरिमैं ॥
इत्यादि (पद २७३)

सारे योगका मूलगत अर्थ और उसकी अन्तिम परिणति भगवान्‌के साथ प्रेम-मिलनमें है । जिस कबीरने सर्व धर्मों-का समन्वय करना चाहा है, उनसे क्या हम किसी साम्प्रदायिक साधनाकी आशा कर सकते है ? कबीरकी महादृष्टिमें सभी साधनाएँ एकत्र हुई है । बाघ और बकरीको एक घाट वही पानी पिला सकता है जिसमें सामर्थ्य है । कबीरकी साधनाका माहात्म्य तभी समझमें आता है जब हम हिन्दू और मुसलमान साधनाको एकत्र सङ्गत देखते हैं । उन्होंने योग और भक्तिको परस्परसे आसक्त किया है । यह बात, किन्तु, ठीक, है कि कबीरके निकट ज्ञान, कर्म, योग, भक्ति सभी साधनाएँ नदियोंके समान है । सब साधनाओंका अवसान हुआ है भगवत्प्रेमके समुद्रमें ।

स्वामिनारायणसम्प्रदायमें योग

(लेखक—दार्शनिकपञ्चाननषड्दर्शनाचार्य, साख्ययोगतीर्थ, नव्यन्यायाचार्य, पण्डित श्रीकृष्णवल्लभाचार्य स्वामिनारायण)

स्वामिनारायणजी ससारमें योगरीतिसे ही धर्मोपदेश देते थे, स्वय योग करते थे और शरणागतोको सिखाते थे । अष्टाङ्गयोगकी प्रणाली प्रधानरूपसे आपको स्वीकृत थी । उन्होंने अपने अनेक शिष्यों-को योगी बनाया और उनका कल्याण किया । श्रीवैष्णवाचार्य नारद, व्यास, रामानुज आदिकी रीतिसे परम भागवतधर्मका प्रचार कर गये । उनके उपदेशोंमें स्थान-स्थानपर अष्टाङ्ग-योगके साथ-साथ भक्तिको प्रधान स्थान मिला है । श्रीस्वामिनारायणसम्प्रदायके 'शिक्षापत्री' नामक ग्रन्थमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इन पाँच यमोंको तथा शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान इन पाँच नियमोंको पालनेका विधान अति-नियोगपूर्वक किया गया है । उनके समयसे बराबर यम-नियमोंकी प्रणाली चली आती है, और वर्तमान समयमें भी उनके आश्रित लोग उनकी आज्ञाके उल्लङ्घनको अधोगतिप्रद समझकर उनके आज्ञानुसार बराबर यम-नियमादिपर ध्यान रखकर सब क्रियाएँ आचरणमें लाते हैं ।

यम तथा नियमकी आज्ञाएँ

अहिंसा—

कस्यापि प्राणिनो हिंसा नैव कार्यात्र मामकैः ।
सूक्ष्मयूकामत्कुणादेरपि बुद्धया कदाचन ॥११॥
देवतापितृयागार्थमप्यजादेश्च हिंसनम् ।
न कर्तव्यमहिंसैव धर्म. प्रोक्तोऽस्ति यन्महान् ॥१२॥

'हमारे आश्रित जन किसी भी जीव प्राणीकी हिंसा कभी न करें और जान-बूझकर छोटे जूँ, खटमल, मच्छर आदिको न मारें । देवता, पितृ, याग इनके लिये बकरा आदिकी हिंसा कभी न करें, क्योंकि अहिंसा ही परम धर्म है ।'

सत्य—

मिथ्यापवादः कस्मिँश्चिदपि स्वार्थस्य सिद्धये ।
नारोप्यो नापशब्दाश्च भाषणीयाः कदाचन ॥२०॥

'अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये कभी मिथ्या न बोलना, मिथ्या आरोप न करना और अपशब्द भी न बोलना ।'

अस्तेय—

स्तेनकर्म न कर्तव्यं धर्मार्थमपि केनचित् ।
स्वस्वामिकाष्टपुष्पादि न ग्राह्यं तदनाज्ञया ॥१७॥

'धर्मकार्यके लिये भी हमारा कोई भी आश्रित चोरीका कार्य न करे और मालिकका काष्ठ, पुष्प आदि जो हो

उनको उसके मालिककी आज्ञा विना न ले' इत्यादि।

ब्रह्मचारी—

नैष्ठिकव्रतवन्तो ये वर्णिनो मदुपाश्रयाः।
तैः स्पृश्या न स्त्रियो भाष्या न न वीक्ष्याश्च ता धिया १७५
तासां वार्ता न कर्तव्या न श्रव्याश्च कदाचन।
तत्पादचारस्थानेषु न च स्नानादिकाः क्रियाः ॥१७६॥
न स्त्रीप्रतिकृतिः कार्या न स्पृश्यं योषितोऽशुकम्।
न वीक्ष्यं मैथुनपरं प्राणिमात्रं च तैर्धिया ॥१७७॥

'नैष्ठिक व्रतके ब्रह्मचारी लोग स्त्रियोंको स्पर्श न करें, उनसे भाषण न करें, उनको न देखें, उनकी बातें न करें, न सुनें, उनके आने-जानेके स्थानोंपर स्नानादि न करें, स्त्रीका चित्र न बनावें, स्त्रीके वस्त्रोंको स्पर्श न करें, मैथुनासक्त प्राणीको न देखें' इत्यादि।

अपरिग्रह—

न द्रव्यसंग्रहः कार्यः कारणीयो न केनचित् ॥१८९॥

'द्रव्यादिका सग्रह कभी न करें, न करावें।'

शौच—

कायिक, वाचिक, मानसिक बहुत प्रकारके शौच शिक्षापत्री तथा अन्य धर्मग्रन्थोंमे निर्दिष्ट किये हैं।

सन्तोष—

भाव्यं शमदमक्षान्तिसन्तोषादिगुणान्वितैः ॥८९॥

'सदा शम, दम, क्षमा, सन्तोष आदि गुणोंसे युक्त हो।'

तप—

उपवासदिने त्याज्या दिवा निद्रा प्रयत्नतः ॥८०॥

'उपवासके दिन दिनमें निद्रा न लेना।' (रात्रिको जागरण करना तथा तप्तकृच्छ्रचान्द्रायणादि कायिक, वाचिकादि भेदोंसे बहुत प्रकार शिक्षापत्री टीका तथा भाष्यमें वर्णन किये गये हैं।)

स्वाध्याय—

संस्कृतप्राकृतग्रन्थाभ्यासश्चापि यथामति ॥६५॥
अभ्यासो वेदशास्त्राणां कार्यश्च गुरुसेवनम् ॥१८५॥

'यथामति सस्कृत प्राकृत ग्रन्थोंका तथा वेदशास्त्रोंका अभ्यास करना, गुरुकी सेवा करना।'

ईश्वरप्रणिधान—

भक्तैरैतैस्तु कृष्णायानर्पितं वार्यपि क्वचित्।
न पेयं नैव भक्ष्यं च पत्रकन्दफलाद्यपि ॥६०॥

'भगवद्भक्तोंको चाहिये कि भगवान्‌को समर्पण किये बिना जल भी कभी न पीये, और पत्र, फल, फूल भी अर्पण किये विना अपने उपयोगमें न लें।'

इन श्लोकोंकी टीकामें सम्पूर्ण विधियाँ बतायी हैं। ये सब विशेषरूपसे सम्प्रदायमें प्रचलित हैं। यम-नियमोंके योगदर्शनमें जो फल हैं वे सब भगवान् श्रीस्वामिनारायणने अनेक स्थलोंमे चमत्काररूपमें बताये हैं। उनका वर्णन साम्प्रदायिक ग्रन्थोंमे है।

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारको भगवान् स्वामिनारायण स्वय करते थे और शिष्योंको सिखाते थे। उस समयसे गुरुपरम्परासे आसनादि अभीतक अनेक व्यक्तियों में प्रचलित हैं। विशेषरूपसे ध्यान, धारणा और समाधिपर ही निर्भर होकर स्वामिनारायणसम्प्रदायकी जड़ ससारमें फैल गयी। भगवान् श्रीस्वामिनारायण स्वय जन्मसिद्ध योगनिधि थे। उनको योगरीति सीखनी नहीं पड़ी। आप छप्पिया नगरमे ब्राह्मणकुलमें धर्मदेव तथा भक्तिमातासे सवत् १८३७ के चैत्रशुक्ल नवमीके दिन जन्मग्रहण करके जन्मसे ही अलौकिक चमत्कार दिखाने लगे।

श्रीस्वामिनारायण भगवान् जन्मसिद्ध योगी थे, इसलिये गुरूपदेशके बिना भी वह यम-नियम बराबर पालते थे, यम-नियमोंके फलोंके चमत्कार भी उनकी जीवनीमें प्रसिद्ध हैं। चौरासी (८४) से ऊपर आसन करते थे, उनके प्रदर्शनकी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं। धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि, कपालभाति इन क्रियाओंको करते थे तथा सन्तोंको सिखाते थे। रेचक, पूरक, कुम्भकादि प्राणायाम करते थे, और कुम्भकप्राणायामको दीर्घकालतक करके आकाशमार्गमें उठ जाते तथा क्षणमात्रमें देशान्तरमें चले जाते थे। कुम्भकप्राणायामके भेद—सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्करी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा, प्लाविनी आदि तथा महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डियान, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध आदि करते थे। ये सब क्रियाएँ श्रीस्वामिनारायण भगवान्‌ने जन्मसिद्ध महायोगी श्रीगोपालानन्द स्वामीको विशेषरूपसे बतायी थीं। धारणा, ध्यान और समाधिमें सिद्ध थे और लक्षावधि मनुष्योंको ध्यानमें बैठाकर नाडी-प्राण खींचकर समाधि कराते थे। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञाचक्र, सच्चिदानन्दसहस्रारको वेधते थे।

वे अपने यौगिक ऐश्वर्यप्रतापसे असंख्य प्राणियोंका कल्याण करते थे। अपनी जीवनलीलामें अगणित बड़े-बड़े

आश्चर्यजनक ऐश्वर्यचमत्कार उन्होंने दिखाये हैं। वे सब 'श्रीहरिलीलाकल्पतरु' 'सत्संगिभूषण' और 'सत्संगिजीवन' आदि साम्प्रदायिक ग्रन्थोंमें वर्णित हैं। सत्संगिजीवनके पञ्चम प्रकरणमें अध्याय ५६ से ६५ तक श्रीस्वामिनारायण भगवदुपदिष्ट अष्टांगयोग ही निरूपित है। उन्होंने उत्तरावस्थामें कठिन साधनोंकी ओर ध्यान कम करके धारणा, ध्यान और समाधि इन्हीं तीनोंका प्रचार अधिक किया और इनसे ही कोट्यवधि मनुष्योंको भगवद्भक्तिमें जोड़ा। बहुत-से सरल उपाय भी 'वचनामृतों'में बताये हैं—

सभामें श्रीस्वामिनारायण भगवान्‌ने ध्यानकी एक ऐसी युक्ति बतायी कि जिस ध्यानसे बड़े-बड़े भी सिद्धदशाको पा गये। उस ध्यानके समान अन्य कोई ध्यान नहीं है। जैसे कोई चमत्कारी मन्त्र अथवा ओषधिमें स्वाभाविक चमत्कार रहता है, वैसे ही इस ध्यानमें स्वाभाविक चमत्कार है जिससे साधक सिद्धदशाको पा जाते हैं। साधक अपने दक्षिण नेत्रमें सूर्यका ध्यान करे और वाम नेत्रमें चन्द्रका ध्यान करे, इस प्रकार ध्यान करते-करते सूर्य और चन्द्र जैसे आकाशमें हैं वैसे ही जब नेत्रमें भी दीखने लगें, तब दक्षिण नेत्र तपने लगेगा और वाम नेत्र शीतल होने लगेगा। उसके बाद सूर्यकी धारणा वाम नेत्रमें करना और चन्द्रकी धारणा दक्षिण नेत्रमें करना। इस प्रकार धारणा करके सूर्य और चन्द्रको अन्तर्दृष्टि करके हृदयाकाशमें देखते रहना और द्रष्टा जो जीव है, उसके स्वरूपको भी देखना, और जीवके स्वरूपमें परमात्माका ध्यान करना। उसके बाद ध्याताका जो वासनायुक्त लिङ्गदेह है वह चक्रके समान आकाशमें घूमता हुआ भासने लगेगा। पश्चात् ध्यान करते-करते उसको भगवान्‌के विश्वरूपका दर्शन होता है, उसमें चौदह लोकोंकी रचना दिखायी पड़ती है तथा समग्र ब्रह्माण्डादि पदार्थ दिखायी पड़ते हैं। पश्चात् अणिमादि सिद्धियाँ भी उसको प्राप्त होती हैं, और सूर्यचन्द्रकी किरणें जहाँतक पहुँचती हैं वहाँतक उस ध्याताकी दृष्टि पहुँचती है। सिद्धियाँ मिलनेपर भी भगवद्भक्त होनेके कारणसे साधक उन सिद्धियोंको ग्रहण नहीं करता, केवल परमेश्वरका ध्यान ही करता है। तब वह ध्याता नारद, सनकादि, शुकदेवजीके समान चरम सिद्धदशाको पाता है। भगवद्भक्तको यह ध्यान सिद्ध होता है और तात्कालिक सिद्धदशा प्राप्त करनेका यह उत्तम उपाय है।

(अमदावादवचनामृत १)

आत्मनिष्ठा तथा भगवान्‌का माहात्म्य-ज्ञान इन दोनोंमें जितनी न्यूनता रहे उतनी ही पूर्णकाममावमें भी न्यूनता रहती है। एक हरिभक्तको समाधि हुई, उसमें उसको अतिशय तेज दिखायी दिया, तेजको देख वह चिल्लाने लगा और कहने लगा कि मैं जलता हूँ। तब उस भक्तको यह समझाया गया कि तुम्हारा स्वरूप तो अच्छेद्य अभेद्य आत्मा है, देह नहीं है और फिर उसको कहा कि इस गणपतिके स्थानमें चार दलोंका कमल है, वहाँ जाकर अपने स्वरूपको देखो, समाधिवाला जब गणपतिके स्थानमें जाता है तब वहाँ नाद सुननेमें आता है तथा प्रकाश दीखता है, और उससे परब्रह्मके स्थानमें जाता है तब नाद भी खूब सुनायी देता है और तेज भी अतिशय दीखता है। उसके बाद जब विष्णुके स्थानमें जाता है तब अतिशय नाद सुनता है और तेज भी अधिक दीखता है, इस प्रकार जैसे-जैसे श्रेष्ठ-श्रेष्ठ स्थानमें जाता है वैसे-वैसे नाद ज्यादा सुनता है और ज्यादा-ज्यादा प्रकाश भी दीखता है। कभी-कभी भयङ्कर कड़कड़ाहटके शब्द होते हैं। उस समय चाहे कितना ही धीरजवान् हो तो भी धैर्य छूटने लगता है इसलिये देहको आत्मासे भिन्न समझना चाहिये। इस प्रकारकी समाधिके दो भेद हैं—एक तो प्राणायाम करनेसे प्राणका निरोध होता है उसके साथ चित्तका भी निरोध होता है और दूसरा उपाय यह है कि चित्तके निरोधसे प्राणका निरोध होता है—'जब सब स्थानोंसे वृत्ति हटाकर एक भगवान्‌में जोडी जाय, और सब स्थानोंसे वासना मिटाकर एक भगवान्‌में वासना दृढ़ हो जाय, तब भगवत्स्वरूपसे वह वृत्ति किसीके हटाये भी नहीं हटती। चित्त भगवान्‌का ही चिन्तन करे, मन भगवान्‌का ही सङ्कल्प करे, बुद्धि भगवान्‌के स्वरूपका ही निश्चय करे, 'अहङ्कार—मैं आत्मा हूँ, भगवान्‌का भक्त हूँ' इत्यादि अभिमान करे। प्राणसे जो चित्तका निरोध होता है वह अष्टाङ्गयोगसे होता है। अष्टाङ्गयोग साधन है, उसका फल निर्विकल्प समाधि है। केवल भगवान्‌के स्वरूपमें प्रणिधानसे चित्तवृत्तिका निरोध होनेपर अष्टाङ्गयोग बिना साधनासे भी सिद्ध हो जाता है' इत्यादि।

(गढपुर-मध्यप्रकरण, वचनामृत—२६)

सांख्ययोगके और भी बहुत-से प्रकार बताये हैं। इस प्रणालीसे श्रीस्वामिनारायण भगवानने अनेक भक्तोंको योगमार्गका उपदेश देकर उनका कल्याण किया।

श्रीस्वामिनारायणकी परम करुणासे उनके समयमें अनेक भक्तजन दिव्य भावको प्राप्त करके बड़े-बड़े चमत्कार बताते थे, वे क्षणमात्रमें दूर देशान्तरमें चले जाते थे, अदृश्य हो जाते थे इत्यादि। ऐसे चमत्कारवाले बहुत-से योगिजन स्वामिनारायण भगवान्‌के साथ विचरते थे।

श्रीस्वामिनारायणसम्प्रदायमे सद्गुरु श्रीगोपालानन्द-स्वामी जन्मसिद्ध योगी थे और भगवान् श्रीस्वामिनारायणकी आज्ञानुसार अष्टाङ्गयोग सिद्ध करके अन्योंको सिखाते थे। वह 'ईडर' देशमें 'भीलोडा' जिलेमें 'पाडाटोडला' गॉवमें 'मोतिराम' नामके 'माध्यन्दिनी' शाखाके शुक्ल यजुर्वेदी औदीच्यसहस्र ब्राह्मण थे, उनकी पत्नी 'जीवीबा' देवी महासती थीं, उनके घर सवत् १८३७ में माघ शुक्ल अष्टमी सोमवारके दिन पुत्रका जन्म हुआ, उनका नाम खुशाल भट्ट रक्खा गया। आठवें वर्षमें यज्ञोपवीत लेकर खुशाल भट्टने 'शेहेडाई' नगरमें वेदवेदांगादि यावच्छास्त्रोंका अध्ययन किया। इनका जीवन भी यौगिक चमत्कारोंसे पूर्ण था।

श्रीस्वामिनारायण भगवान्‌की शरणमें बहुत कालपर्यन्त रहकर खुशाल भट्टने भागवती दीक्षा ली। एक समय काठियावाड़में एक स्थलपर भूतोंका उपद्रव बहुत था। उसको दूर करनेके लिये महायोगी श्रीगोपालानन्द स्वामीको 'सारङ्गपुर' नगरके 'वाघाखाचर' दरबारने बुलाया। स्वामीने जाकर जल छिड़ककर भूतों-को मोक्ष दिया। उसके बाद विनती करनेसे 'सारङ्गपुर' मे सवत् १९०६ में मन्दिर बनवाकर उसमें हनूमान्‌जीकी प्रतिष्ठा की, प्रतिष्ठाकी आरतीके समयमें योगिराज गोपालानन्द स्वामीने हाथमें काठकी छड़ी लेकर उसको हनूमान्‌जीके चरणोंमें छुआ दिया, उसी समय हनूमान्‌जीकी दिव्य रमणीय पाषाणमय मूर्ति थर-थर काँपने लगी। उस मूर्तिमें साक्षात् हनूमान्‌जीने दिव्यरूपमें प्रकट होकर सबको दर्शन देकर कृतार्थ किया, उस मूर्तिका बड़ा प्रताप है। वर्तमान समयमें भी गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, दक्षिण आदि देशोंमें सहस्रों मनुष्य उस मूर्तिका प्रताप जानते हैं। अस्तु।

भगवद्भक्तिके साथ साथ ध्यान, धारणा, समाधि करने-वाले और भी अनेकों सिद्धयोगी सन्तजन श्रीस्वामिनारायण भगवान्‌की सेवामें रहते थे। जूनागढ़में श्रीगुणातीतानन्द स्वामी थे, वे क्षणमात्रमें अदृश्य होकर देशान्तरमें प्रकट होते थे। वैसे ही व्यापकानन्द स्वामी परकाय-प्रवेश करते थे। सच्चिदानन्द स्वामी समाधि लगाते थे। और सन्तदासजी कुम्भक करके आकाशमार्गमें चलते थे। महानुभावानन्द स्वामी, विज्ञानदासजी तथा वासुदेवानन्द स्वामी, स्वरूपानन्द स्वामी आदि दिव्यदृष्टिवाले, भगवान्‌की मूर्तिको धारनेवाले तथा दिव्य ऐश्वर्यवाले योगी थे।

भगवान् श्रीस्वामिनारायणका उपदेश यही था कि कर्मयोग, ज्ञानयोग, सांख्ययोग, अष्टाङ्गयोग आदि बहुत प्रकारके योगोंमेंसे किसी भी योगको सिद्ध करके भगवत्-प्राप्ति करनी चाहिये। यदि भगवत्प्राप्ति नहीं हुई तो सब प्रयत्न निष्फल हैं। इस उद्देश्यके अनुसार श्रीस्वामि-नारायण भगवान्‌के समयसे चलाया हुआ भक्तियोग ही सब योगोंमें प्रधान माना गया है, और सब योगोंके फल एक भक्तियोगके फलसे चरितार्थ हो जाते हैं। भक्तियोगवालेको अन्य योगोंकी आवश्यकता नहीं रहती। वर्तमान समयमें समग्र स्वाश्रित जनतामे भक्तियोगको प्रधानरूपसे स्थान मिलता है। भगवान्‌मे प्रेम-पराकाष्ठाको भक्ति कहते हैं। मुमुक्षुजन विषयोंसे विरक्त होकर अपने रक्षणके लिये वात्सल्यादि गुणसागर पुरुषोत्तम नारायणके समीप जाकर—'हे भगवन्! तुम्हारी प्राप्तिके साधनरूप तुम ही हो'—इस प्रकार महाविश्वासपूर्वक याचना करे, यही प्रपत्ति और शरणागति कहाती है। इस प्रपत्तिमें भगवान्‌की प्रसन्नतासे प्रारब्धका भी नाश हो जाता है—

साध्यभक्तिस्तु सा हन्त्री प्रारब्धस्यापि भूयसी।

(न्यायसिद्धाञ्जन)

भक्तजन भगवान्‌के शरणमें रहकर प्रेमभक्तिमें यहाँतक लीन हो जाते हैं कि उस समय न तो उनको शरीरका भान रहता है, न इन्द्रियोंका या अन्तःकरणका विषयाभिज्ञान रहता है। सब वृत्तियाँ भगवान्‌में लग जाती हैं, नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहने लगते हैं। प्रेमसे अहो! अहो! पुकारता हुआ भक्त सदा पुलकित रहता है, उसके शरीरको कोई मारे, काटे, जला डाले, धूल लपेटे, कीचड़ लगावे, चाहे कुछ भी करे, उस प्रेममग्न भक्तको उससे कुछ नहीं होता। उसकी वृत्तियाँ दिव्य मूर्तिमे लीन हो जाती हैं, जिससे तनु भी दिव्यभावको पा जाती है। पृथिवी, जल आदि उसे आवरण नहीं करते। ऐसी स्थितिके बाद स्वेच्छानुसार तत्काल या दीर्घकाल होनेपर ऐसे भक्त शरीर त्यागकर ब्रह्मलोकमें भगवान्‌की शरणमें जाकर परम मुक्तिको पाते हैं। ऐसी ब्रह्मदशाके लिये श्रीस्वामिनारायण भगवान्‌ने तथा उनके ब्रह्मनिष्ठ भक्तजनोंने बहुत-से ग्रन्थोंमें उपदेशद्वारा सरल मार्ग बताये हैं—

व्यर्थः कालो न नेतव्यो भक्तिं भगवतो विना।

(शिक्षापत्री)

महायोग

(लेखक—श्रीरमणमहर्षिके एक भक्त)

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम्। (बृहदारण्यक० २।४।५)

'हे मैत्रेयी! आत्मा ही देखने, सुनने, मनन और निदिध्यास करनेयोग्य है, जिसे देखने, सुनने, समझने और अनुभव करनेसे सब कुछ जाना जाता है।'

श्रुति है—

अयमात्मा ब्रह्म।

'यह आत्मा ब्रह्म है।'

तैत्तिरीय उपनिषद्में ब्रह्मको 'तटस्थ लक्षण' से इस प्रकार बतलाते हैं—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति।

अर्थात् सृष्टि, स्थिति और लय तीनोंका कारण ब्रह्म है। स्वरूपलक्षणसे इस प्रकार बतलाते हैं—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

'ब्रह्म सत्य है, ज्ञानस्वरूप है और अनन्त है।' और—

सत्तामात्रैकप्रकाशकं प्रकाशम्, हृत्पुण्डरीकम्.....
न तेजो न तमः।

'एकमात्र सत्ता है, सबको प्रकाशित करनेवाला प्रकाश है, हृत्पद्म है, न शुक्ल है न कृष्ण है।'

फिर भी ब्रह्मको मन-वाणीके परे ही कहा है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

'जहाँसे मनसहित वाणियाँ खाली हाथ लौट आती हैं।' वास्तविक ज्ञान अनुभवसे ही प्राप्त होता है। उसी अनुभवके लिये श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेको कहा है। अथवा—

तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्मेति।

तपसे उस ब्रह्मको अनुभव करो, तप ही ब्रह्म है।

मनसश्चेन्द्रियाणा च ह्यैकाग्र्यं तपः।

'मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता तप है।' यही अभिप्राय पतञ्जलिके 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' का है। तप है—

बाह्यान्त करणसमाधानम्।

'इन्द्रियों और अन्तःकरणका समाधान।' यही बात इसमें भी है—'तमक्रतुः पश्यति' पूर्ण समाहित स्थितिमें ब्रह्मको देखता है। दोनों बातें एक ही हैं। पर तपमें एक बात और है—तप शोषण है, जो बात 'नेति-नेति' में है। तप, योग और निदिध्यासन तीनोंका इस प्रकार सामञ्जस्य हुआ है और तीनों एक हुए हैं।

यदि यह सत्य है कि 'मैं ब्रह्म हूँ (अहं ब्रह्मास्मि)', यदि 'यह जो कुछ है आत्मा है और आत्मा ही सत्य है और वही आत्मा है और वही तुम हो (एतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि)', यदि आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है, 'नित्य सिद्ध' है और 'एक' है तो यह क्या बात है कि हम दुखी होते हैं और परमानन्द और अमृतत्व, आद्यकैवल्यसे वियुक्त हो जाते हैं? यह वियोग आखिर किससे किसका हुआ है? यही अनुसन्धानका प्रस्थान-बिन्दु है और महायोग इसीका उत्तर देता है। आत्मा तो दो नहीं हो सकते, आत्मा अकेला है और एक ही है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

(ईशोपनिषद् ७)

'जिसमें सब भूत आत्मा ही हो जाते हैं, वहाँ उस एकत्वके देखनेवाले ज्ञानीके लिये मोह और शोक क्या है?'

आत्मा विभु होनेसे सर्वत्र व्याप्त है और सब कुछ वही है। अभी जो पृथग्विध नाना भाव देख पड़ते हैं वह विपरीत ज्ञानसे देख पड़ते हैं। यथार्थ ज्ञान होनेसे एक ही अव्ययभाव देख पड़ेगा।

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

(कठ० २।१।१)

स्वयम्भू (परमात्मा) ने बहिर्मुख इन्द्रियोंको निर्माण किया। इस अपने अन्तरात्माको कोई नहीं देख पाता। पर कोई धीर पुरुष अमृतत्वका इच्छुक होकर अन्तर्दृष्टि

साधकर प्रत्यगात्माको देख लेता है अर्थात् अन्तर्मुख होनेसे ही अन्तर्यामीका बोध होता है।

निदिध्यासनका जो वास्तविक अभिप्राय और कार्य है यह महायोगमें उत्तम रीतिसे दर्शित हुआ है। महायोगका जो साध्य है वही उसका साधन है। साधकको केवल इतना ही करना पडता है कि वह अपने विचारोंके प्रवाहको रोककर इस मूल विचारपर आ जाय कि 'मैं कौन हूँ (कोऽहम्)?' यह मूल विचार उसे हृच्चक्रमें ले जाकर छोड़ देगा, फिर उसे वहीं आसन जमाकर बैठ जाना है, वहीं उसकी निजगृहस्थिति और सनातन आत्मसत्ता है।

परन्तु यदि इस मायापटलको कुछ और ही समझा जाय और इसमें अनेक प्रकार और स्तर देखे जायँ तो निदिध्यासन भी तत्तत्प्रकार और स्तरके अनुसार हो जायगा। महायोगका रास्ता तो सीधा और साफ है। पर अधिकारभेदके अनुसार जो अन्य साधनाएँ हैं वे कठिन और कष्टसाध्य हैं। निदिध्यासनके अनेक प्रकार प्रचलित हैं जिनमेंसे निदिध्यासनका एक विशिष्ट पञ्चविध प्रकार यह है—

(१) महायोग—अर्थात् उस अन्तर्यामी सदात्मा—प्रत्यगात्मामें स्थित होना, जो आदिमें—सृष्टिके मूलमें, अन्तमें—संहारके मूलमें और मध्यमें ज्ञान और अज्ञानके मूलमें रहता है।

(२) मन्त्रयोग—अर्थात् स्वरोंके मूलको आत्मामें ढूँढ़ना।

(३) स्पर्शयोग—कुण्डलिनीको जगाकर सुषुम्नाद्वारा सहस्रारमें लेना।

(४) भावयोग—भावोंका ध्यान करना, जैसे—

भूः पादौ यस्य नाभिर्वियदसुरनिलश्चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे·· इत्यादि।

(५) अभावयोग—परात्पर ब्रह्मका ध्यान।

महायोग यों समझनेमें बड़ा सरल मालूम होता है, पर समझमें आकर भी यह जल्दी समझमें नहीं आता और इसका आचरण करना तो कठिन ही है। हाँ, यदि साधकके पीछे भगवद्दयाका बल हो तो कुछ भी कठिन नहीं है। ऐसे साधकको उत्तम गुरु मिल जाते हैं और सब काम बन जाता है।

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छे-
त्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥
तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्य-
क्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥
(मुण्डक० १।२।१२-१३)

'कर्मसे प्राप्त होनेवाले लोकोंको अच्छी तरहसे देखनेपर ब्राह्मणको यह वैराग्य हो आया कि कर्मसे अकृतरूप ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये उस ब्रह्मको जाननेके लिये वह समित्पाणि होकर ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरुके पास गया। उस विद्वान् (गुरु) ने उस पास बैठे हुए सम्यक् प्रशान्तचित्त और समयुक्त (ब्राह्मण) से तत्त्वतः वह ब्रह्मविद्या कही जिससे सत्य अक्षर पुरुष जाना जाता है।' इसी रीतिसे प्राप्त ज्ञान अमोघ होता है, अन्य प्रकारसे उतना नहीं।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति
अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्॥
(कठ० १।२।८)

'कोई अनधिकारी पुरुष इसको कहे तो उससे यह सुविज्ञेय (अच्छी तरह जाननेयोग्य) नहीं है। कारण, बहुत प्रकारसे इसका चिन्तन होता है। बिना किसी दूसरेके कहे भी इसमें गति नहीं है, क्योंकि यह अणुप्रमाणसे भी सूक्ष्म और इसलिये अतर्क्य है।'

नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ॥
(१।२।९)

'यह (आत्म-) मति तर्कसे नहीं मिलती। हे प्रेष्ठ! दूसरेके द्वारा कही जानेपर ही यह अच्छी तरह जानी जाती है।'

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन॥
(१।२।२३)

'यह आत्मा व्याख्यानोंसे, मेधासे या बहुश्रुत होनेसे ही नहीं मिलता।' भगवद्दया ही इसके मिलनेमें मुख्य

कारण है। 'धातुःप्रसादात्' भगवान्‌के प्रसादसे ही यह ज्ञान प्राप्त होता है।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम् ॥

'यह आत्मा ही जिसको वरण करता है उसीको यह प्राप्त होता है। उसका यह आत्मा अपनी (आत्म-) तनु उसके सामने प्रकट करता है।'

ऐसी भगवद्दया साधु-सन्तों और ऋषि-महर्षियोंसे ही प्राप्त होती है और तब यह ज्ञान साधकके अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर ठहरता है।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

(श्वेताश्वतर०)

'भगवान्‌में जिसकी पराभक्ति है, जैसी भगवान्‌में वैसी ही गुरुमें है उस महात्मापर ये कथित अर्थ प्रकट होते हैं।'

सच्चे श्रद्धालु जिज्ञासुको गुरु वाक्यद्वारा उपदेश करते हैं और अपनी मौन और प्रसन्न मुद्रासे प्रसाद प्रदान करते हैं। मौनकी वाणी इतनी सच्ची होती है कि वह अनसुनी नहीं हो सकती और उससे बरसनेवाली करुणाकी शोभा तो अनिर्वचनीय ही है। इस सम्पूर्ण उपदेशका सार एक श्लोकमें इस प्रकार है—

हृदयकुहरमध्ये केवलं ब्रह्ममात्रं
ह्यहमहमिति साक्षादात्मरूपेण भाति।
हृदि विश मनसा स्वं चिन्वता मज्जता वा
पवनचलनरोधादात्मनिष्ठो भव त्वम् ॥

(श्रीरमणगीता)

'हृदयकी गुफाके भीतर केवलमात्र ब्रह्म ही है जो 'अहम् अहम्' (मैं, मैं) इस साक्षात् आत्मरूपसे प्रकाशित होता है। इस हृदयमें मनसे प्रवेश करो, अपने आपको ढूँढ़ो या गहरेमें गोता लगाओ या प्राणनिरोध करके आत्मामें स्थित हो जाओ।' ॐ तत्सत्

श्रीअरविन्दका योग

जीवनरूप कलाका एक योग

(लेखक—श्रीनलिनीकान्त गुप्त, पाण्डीचेरी)

(१)

श्री अरविन्दने जब कहा कि 'हमारा योग हमारे लिये नहीं, प्रत्युत मनुष्य-जातिके लिये है' तब बहुतोंके घबराये हुए प्राण स्वस्थ हुए, क्योंकि उन्हें अब यह आशा हुई कि श्रीअरविन्द-जैसे महान् पुरुष संसारके लेखे सर्वथा नहीं से नहीं हो गये हैं, कुछ तो बचे हैं, नहीं तो (उनकी समझसे) डर तो यह था कि हिन्दुस्थानमें जैसे अन्य अनगिनती सन्यासी बराबरसे ही होते आये हैं वैसे ही यह भी एक और हुए जिनसे न देशका कोई लाभ, न मनुष्यजातिका कोई उपकार !—देश और मनुष्य-जातिको जाने दीजिये, उनका अपना ही कोई उपकार होता हो सो भी नहीं देखनेमें आता ! लोगोंने तो यह समझा था कि श्रीअरविन्दका योग एक आधुनिक चीज है और उसका लक्ष्य है मनुष्यजातिकी सेवा। उनकी आत्मस्थिति और आत्मसाधनाका सार तत्त्व चाहे मनुष्य-जातिकी सेवा न हो, पर उसका फल, कम-से-कम, मनुष्य-जातिकी सेवा तो है ही। इन लोगोंके विचारसे श्रीअरविन्द-का योग कोई ऐसा कौशल था जिससे कुछ ऐसी अदृष्ट शक्तियोंका पता लगे और उनसे काम लिया जाय जो कि मनुष्य-जीवनको अच्छा करने और उसका दुःख दूर करने में केवल बौद्धिक और वैज्ञानिक पद्धतियोंसे अधिक काम कर जायँ।

श्रीअरविन्दने यह देखा कि हमने जो कुछ कहा उसका मतलब तो ये लोग कुछ और ही लगा रहे हैं और असल चीजको ही भुला रहे हैं। इसलिये उन्होंने अपने शब्द बदल दिये और यह कहा कि 'हमारा योग मनुष्यजातिके लिये नहीं बल्कि परमात्माके लिये है।' पर यह मालूम होता है कि श्रीअरविन्दकी यह बात लोगोंको अच्छी नहीं लगी, उन्होंने इसे पैंतरा बदलना समझा और उदास हो गये; क्योंकि अब तो यह आशा बिल्कुल ही जाती रही

कि श्रीअरविन्द देश या ससारका काम करनेके लिये कभी लौटेंगे। अब तो यह समझा जाने लगा कि श्रीअरविन्द सांसारिक पदार्थोंकी माथासे बिल्कुल अलग 'वेदान्त' मे डूब गये हैं और ससारके लिये वैसे शुष्क और नीरस हो गये हैं जैसा कि अक्षर ब्रह्म।

(२)

श्रीअरविन्दकी साधनाके लक्ष्यका ठीक-ठीक अनुमान करना हो तो यह अच्छा होगा कि हम उनके दिये हुए दोनों वचनोको एक करके यह कहे कि उनका उद्योग मनुष्यजातिमे भगवान्‌को पाना और प्रकट करना है। यही सेवा है जो वह मनुष्यजातिकी करना चाहते हैं—अर्थात मनुष्यजातिमे भगवान्‌को अभिव्यक्त और मूर्तिमान् करना। मनुष्य-जीवनका केवल दुःख दूर करना ही नहीं, बल्कि उसका सर्वथा परिवर्तन और रूपान्तर कराना, मनुष्य-जीवनको दिव्य बनाना ही उनका लक्ष्य है।

यहाँ भी सावधान रहना होगा, अन्यथा अनेक प्रकारके भ्रम हो सकते हैं। मनुष्य-जीवनको दिव्यत्व प्राप्त करानेका यह कोई खास मतलब नहीं है कि सारी मनुष्यजाति ही बदल जायगी और सब मनुष्य देवता हो जायँगे। इसका मतलब है विकास अर्थात् पृथ्वीपर श्रेष्ठ जातिके मनुष्योंका प्रकट होना, ठीक वैसे ही जैसे पशुयोनिसे ही विकास होते-होते मनुष्य उत्पन्न हुआ जिसका यह मतलब तो नहीं होता कि सारी पशु-जाति ही मनुष्यजाति हो गयी—हुआ इतना ही कि पशु-जातिके रहते हुए पशु-जातिमेसे ही विकासक्रममें मनुष्यजाति उत्पन्न हुई। और अब यह होनेको है कि मनुष्य-जातिके रहते हुए मनुष्यजातिसे श्रेष्ठतर मनुष्यजाति उत्पन्न होगी।

यह जो कुछ होनेको है, इसके विषयमें श्रीअरविन्द कहते हैं कि यह केवल हो सकनेकी बात नहीं है, होनेवाली है—इसका होना अनिवार्य ध्रुव सत्य है। यहाँ यह बात स्मरण रहे कि जिस शक्तिके द्वारा यह कार्य होगा और अभी इस समय हो रहा है वह कोई वैयक्तिक मानवशक्ति नहीं है, चाहे कोई मानवशक्ति कितनी ही बड़ी क्यों न हो, बल्कि वह शक्ति है स्वय सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्‌की—श्रीभगवान् ही स्वय उस कार्यमें लगे हैं और इसीलिये वह कार्य होनेवाला है।

श्रीअरविन्द-योगकी गूढताका यही असली भेद है। श्रेष्ठतर अर्थात् दिव्य मनुष्योंका उत्पन्न होना चाहे कितना ही अद्भुत और आश्चर्यजनक-सा प्रतीत होता हो, पर बात यह कि यह बात अब नित्यके व्यवहारमें आ चुकी है क्योंकि यह काम किसी मनुष्यके द्वारा नहीं हो रहा है बल्कि स्वय भगवान् अपनी पराशक्ति, परम ज्ञान और परम प्रेमके साथ इस कामको कर रहे हैं। श्रीअरविन्द-योगकी साधनाका सम्पूर्ण रहस्य ही यही है कि सामान्य मानवप्रकृति-स्वभावमें भगवान् उतर आवें—मानव-प्रकृतिको शुद्ध करें, उसे दिव्य बनावें और उसमें निवास करें। साधकको और कुछ नहीं करना है, केवल शान्त और मौन होकर शान्तिसे भगवत्प्राप्तिके लिये उत्कण्ठ होना, भगवन्मुख होना, भगवदनुकूल होना और भगवद्दयाप्रवाहको ग्रहण करना है, उसे स्वय कुछ भी करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, न कुछ उसे करना ही चाहिये बल्कि उसके मार्गदर्शक और प्रभु भगवान् ही उसके लिये सब कुछ करते हैं, और भगवान् जो कुछ करते हैं उसके वह केवल अनुकूल होता है। अन्य सब योगमार्ग अथवा पारमार्थिक पन्थ जो पूर्वकालमे हुए, उनका लक्ष्य देहात्म-भावका उत्थान होकर आत्मभावको प्राप्त होना और उसीमें मिलकर लय हो जाना रहा है। मनुष्यके प्राण-मय कोषमे और मानवप्रकृतिके नित्य व्यवहारमें भगवान्‌का अवतरण हो और वहाँ उनका आसन जमे यह बात उनके विचारमें नहीं थी और यदि किसी अंशमें थी भी तो यह उनकी साधना और सिद्धिका मुख्य लक्ष्य नहीं था। और फिर जिस अवतरणकी बात यहाँ कही जा रही है वह किसी प्रकारके दैवी या भागवत चैतन्यकी बात नहीं है, क्योंकि भगवच्चैतन्यके अनेक प्रकार हैं, यहाँ अवतरणसे अभिप्राय है अपनी शक्तिके साथ भगवान्‌के निज चैतन्यका अवतरण। कारण, भगवान्‌के निज चैतन्यके अवतरणके द्वारा ही इस युगका विकासात्मक रूपान्तर साधित हो रहा है।

इस अवतरणका यथार्थ स्वरूप क्या है, वह कैसे होता है, उसका कार्यक्षेत्र कौन-सा है, और उससे क्या-क्या होगा इत्यादि बातोंका ब्योरा मुझे यहाँ देना है। कारण, यह जो कुछ है, भगवदवतरण है। भगवज्ज्योति पहले बुद्धिमें आती है और वहाँ अपना शुद्धिकार्य आरम्भ करती है—यद्यपि सदा-सर्वदा ही सबसे पहले हृदयके अन्तस्तलमें ही भगवत्सत्ताका अनुभव होता है और वहींसे भगवत्कार्यके होनेमें अनुकूलता मिलती है और फिर बुद्धिके ऊपर कार्यारम्भ होता है, बुद्धिके ऊपर इसलिये कि बुद्धि ही सामान्य मनुष्यभावकी पराकाष्ठा है और भगवज्ज्योतिके प्रकाशके जो प्रवाह आते हैं उन्हे बुद्धि ही अधिक सुगमता और तत्परतासे ग्रहण करती है। बुद्धिसे यह प्रकाश छनकर चित्तकी नानाविध वृत्तियों और

वासनाओं तथा जीवनकर्मों और प्राणकर्मोंके स्थूल जगत्‌में आता है; अन्तमें यह प्रकाश भौतिक देहके जड और तमसाच्छन्न जगत्‌में आता है, क्योंकि जड शरीरको भी तो प्रकाशमय करके परम ज्योतिका ही आकार और प्रतीक बनाना है। मानवजीवन वह प्रासाद है जिसमें कितने ही कांठे और कितने ही खण्ड हैं और इस प्रासादके परम कुशल स्थपति और प्रभु स्वयं दयामय भगवान् हैं जो इस प्रासादको भगवत्सत्यकी परमानन्दलीला और परम सौन्दर्य-की अभिव्यक्तिके सॉचेमें ढालनेके लिये ही दयाभावसे अवतरित हुआ करते हैं। पर यह बात ऐसी है कि इसे वही मनुष्य और भी अच्छी तरहसे सोच समझ सकता है जो इस मार्गके रहस्यद्वारके अन्दर आ गया हो और दीक्षाके मुख्य अग साध चुका हो।

दूसरी बात जो साधारण मनुष्यके मनको बेचैन कर देती है वह यह है कि यह सब आखिर कब होगा—अभी या एक सहस्र संवत्सरके बाद या किसी ऐसे भविष्यकालमे जिसकी गणना देववर्षोंसे की जाय? अथवा वह समय इतना दूर हो सकता है जैसा कि दूरत्व-साहश्यके लिये एक सज्जनने सूचित किया है कि जितना कि सूर्यके ताप-रहित होकर ठण्डे हो जानेका समय। कार्यकी महत्ता और प्रचण्डताको देखते हुए यदि यह कहा जाय कि इसके लिये अनन्त काल हमारे सामने है तो कुछ भी अनुचित न होगा, और एकाध शत संवत्सर या सहस्र सवत्सर भी इतने बड़े कामके लिये कोई चीज नहीं है, कारण, यह कार्य तो अतीतके असंख्य सहस्र सवत्सरोंके सञ्चितको मिटाकर एक बहुत दूर आगे बढा हुआ भविष्य निर्माण करना है। तथापि जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, यह कार्य भगवान्‌का अपना कार्य है और योगका अर्थ भी कार्य करनेकी वह एकायनीभूत सश्लिष्ट अवगुण्ठित पद्धति है जिससे वर्षोंमें होनेवाला काम एक मिनटमे हो जाय, इसलिये यह आशा की जा सकती है कि जिस कार्यकी यहाँ बात है वह कार्य होनेमें विलम्बकी अपेक्षा शीघ्रता ही अधिक है। यह जो कुछ होना है यहीं होना है और अभी होना है—इसी पार्थिव जीवनकी इस पृथिवीपर और अभी इसी जीवनमें, इसी देहके रहते हुए—फिर कभी या और कहीं नहीं। आखिर इसमें निश्चितरूपसे कितना समय लगेगा, इसका ठीक-ठीक उत्तर तो कई बातोंपर निर्भर करता है पर इसमें दस-बीस वर्ष इधर उधर हो जाना कोई बात नहीं है।

यह जो कार्य होगा सो कितना व्यापक होगा, यह कोई विचारकी मुख्य बात नहीं है। कारण, विस्तार या फैलाव कोई चीज नहीं है, चीज तो चीज ही है। वह थोड़ी भी हो अर्थात् उसका क्षेत्र छोटा ही क्यों न हो, तो भी, कम-से-कम आरम्भके लिये, वह बहुत है यदि वह असली चीज है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

अब यदि कोई यह पूछ बैठे कि जो कुछ तुम कह रहे हो उसका प्रमाण क्या है, इस बातका क्या आश्वासन है कि यह भी एक प्रकारके मृगजलका पीछा करना नहीं है? तो इसका उत्तर तो यही है कि चीनीकी मिठास चीनी जीभपर रखनेसे ही मालूम हो सकती है।

(३)

अब अन्तमे इस लेखके नामकरणके सम्बन्धमें एक बात कहनी है, क्योंकि लोग पूछ सकते हैं कि क्या अध्यात्म-जीवन भी कोई कला है, आप इसे कलाओंकी पक्तिमें कैसे बैठाते हैं?

एक विशेष दृष्टिसे, अर्थात् पदार्थमात्रकी वास्तविक अन्तस्सत्ताकी दृष्टिसे, अध्यात्मजीवन कम-से-कम सब कलाओंका मूल तो है ही, चाहे उसे सबसे श्रेष्ठ कला कहनेमें किसीको कोई सकोच भले ही होता हो। पदार्थ-मात्रके अन्तःस्वरूपको व्यक्त कर देना ही कलामात्रका हेतु है और पदार्थमात्रका अन्तःस्वरूप यथार्थमें उसकी अन्तरात्मसत्ता है। इसलिये अध्यात्मजीवन अर्थात् आत्मा-परमात्माके साथ चैतन्ययुक्त सम्बन्ध-स्थापनका अभ्यास कलाओंकी पावन पक्तिमें अग्रपूजाका मान ही पाने योग्य है। फिर अध्यात्मजीवन सबसे श्रेष्ठ और सबसे कठिन कला है, क्योंकि यह जीवनकी ही कला है। जीवनको ऐसा परम सुन्दर और दर्शनीय बना देना कि जिसके अग-अगमें निर्मलता और पवित्रता झलकती हो, जिसकी छन्दोमय गति प्रमादरहित हो, रोम-रोममें जिसके शक्ति सञ्चरित हो रही हो, कान्ति जिसकी शुभ्रा ज्योतिसे सुरञ्जित हुई और गात्र जिसके आनन्दसे स्फुरित और उत्फुल्ल हो रहे हों—तात्पर्य, जीवनको ऐसा बनाना कि वह भगवान्‌की प्रतिमा हो, अध्यात्मजीवनका सबसे ऊँचा लक्ष्य है। इस दृष्टिसे देखा जाय तो श्रीअरविन्द जिस अध्यात्मजीवनकी साधना करते हैं वह कला-सृष्टिकी सबसे बड़ी चीज है।

श्रीअरविन्दका पूर्णयोग

(लेखक—श्रीअनिलवरण राय)

कम हो गयी है। जीव-जगत्में जैसे क्रमविकास होता है वैसे ही धर्मसाधना, अध्यात्मसाधनाके जगत्में भी एक क्रमविकास, क्रमविवर्तनकी धारा चलती है, यह बात आजकल प्राय. सभी लोग मानने लगे हैं। भारतमें इस साधनाका विकास किस प्रकारसे होता आया है, इसका पर्यालोचन करनेसे सम्भवतः श्रीअरविन्दकी शिक्षाका मर्म समझना अपेक्षाकृत सहज हो सकता है।

भारतमें अध्यात्मसाधनाका मूल सूत्र हाथमें आ गया था वेद और उपनिषद्के युगमें। वैदिक ऋषियोंने इस दृश्य जगत्के पीछे देवलोकको देखा था। देवताओंके साथ आदान-प्रदानका सम्बन्ध स्थापित करके मनुष्यका जीवन दिव्य रूपमें परिणत किया जा सकता है और यही मानव-जीवनका वास्तविक लक्ष्य है—इसी सत्यके अवलम्बन करके भारतीय शिक्षा-दीक्षा और भारतीय साधनाका आरम्भ हुआ। इस सत्यकी दो दिशाएँ हैं—पहली दिशा यह है कि मनुष्य इस समय जिस रूपमें जीवन-यापन कर रहा है, यह दुःख, द्वन्द्व, अशान्ति और मृत्युसे पूर्ण है, उससे अर्थात् 'मृत्युसंसारसागरात्' ऊपर उठना होगा। पर उठकर कहाँ जाना होगा? मनुष्य जिस भगवान्से आया है, जिसके अन्दर ही वह रहता है, जिससे मनसा वियुक्त होनेके कारण अनेक दुःखों और क्लेशों-को भोग रहा है, उसीके साथ ज्ञानपूर्वक युक्त होना होगा—उसकी ज्योति, शक्ति और आनन्दके अन्दर चिर प्रतिष्ठित होना होगा। पहली बातके लिये चाहिये सांसारिक जीवनके प्रति तीव्र वैराग्य; दूसरीके लिये चाहिये भगवान्की उपासना। और ये दोनों ही परस्पर सापेक्ष हैं, एकके द्वारा दूसरेको सहायता मिलती है। वैदिक युगमें इस साधनाके दो अङ्ग थे, ज्ञान और कर्म। क्रमशः ये दोनों अङ्ग दो साधन-पथोंके रूपमें परिणत हो गये। किसीके मतसे ज्ञानके द्वारा ही मनुष्य अपने लक्ष्यपर पहुँच सकता है और कर्म तो मनुष्यको सांसारिक जीवनमें बाँध रखता है। किसीके मतसे कर्मके द्वारा ही मनुष्य परमार्थ लाभ कर सकता है। गीताने इन दोनों पथोंमें भेद दिखाया गया है—

ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

वेदके युगसे आगे चलकर अध्यात्मसाधनामें एक और विशेषता उपस्थित हो गयी। वैदिक ऋषियोंने चाहा था इस मानवजीवनको ही दिव्य रूपमें रूपान्तरित कर देना। किन्तु परवर्ती युगमें साधनाका लक्ष्य यह नहीं रहा। मानव-जीवन—संसार—दुःखमय है, इससे किसी प्रकार बाहर निकलकर आत्माके अन्दर मोक्ष या निर्वाण लाभ करना ही साधनाका लक्ष्य बना। गीतामें इन सब विरोधी मतों और पन्थोंमें एक प्रकारका अपूर्व समन्वय किया गया है। गीतामें कहा है, ज्ञान और कर्म विरोधी मार्ग नहीं हैं। पक्षी जिस प्रकार उड़नेके लिये दोनों पङ्खोंकी सहायता ग्रहण करता है, मनुष्य भी उसी प्रकार एक ही कालमें ज्ञान और कर्मके समुच्चयके द्वारा लक्ष्यकी ओर द्रुत गतिसे अग्रसर होता है। किन्तु गीतामें यह दिखाया गया है कि भगवद्भक्तिमें ही ज्ञान और कर्मकी पूर्णता होती है। कर्म, ज्ञान, भक्ति—इन तीनोंका समन्वय जिस साधनामें है, गीताके मतसे वही सिद्धि-प्राप्तिका उत्कृष्ट पथ है। गीता यह और कहती है कि मोक्ष-प्राप्तिके लिये मनुष्यको यह जीवन, यह देह छोड़कर कहीं जाना नहीं होगा, मृत्युके पूर्व, 'इहैव'—इसी शरीरमें मनुष्य भगवान्‌के साथ पूर्णरूपेण युक्त होकर उनका साधर्म्य प्राप्त कर सकता है। उस समय वह चाहे जहाँ रहे और चाहे जो करे, उसके पतनकी फिर कोई आशंका नहीं रहती—

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।

परन्तु भगवान्‌के साथ साधर्म्य प्राप्त करनेके रहस्यका विस्तार गीतामें नहीं किया गया है—उसका केवल सङ्केतमात्र है। उस समय लोगोंका झुकाव उपनिषद् और दर्शनशास्त्रोंकी शिक्षाके फलस्वरूप संसार-त्याग, जीवन-त्याग, कर्म-त्यागकी ओर था, गीताने उसका प्रतिवाद करके जीवन और कर्मकी महिमाका प्रचार किया। अर्जुनने मोहके वश होकर कर्मका त्याग करके सन्यासका अवलम्बन करना चाहा था, उनका तीव्र भाषामें तिरस्कार करके ही गीतामें श्रीकृष्णकी शिक्षाका आरम्भ हुआ है। श्रीकृष्णने समझा दिया कि भीतरकी वासना, कामना, आसक्तिका त्याग ही वास्तविक वैराग्य और संन्यास है, इस कारण जीवन, कर्म, संसारके त्यागकी कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु पहले बौद्धधर्मके प्रभावसे और पीछे आचार्य शङ्करद्वारा आपामर जनसाधारणके अन्दर बड़े जोरोंसे मायावादका प्रचार हो जानेके कारण गीताकी यह शिक्षा भारतवासियोंके जीवनमें अपने प्रभावका पूर्ण विस्तार न कर सकी। अवश्य ही भारतके जातीय जीवनके गठनमें शङ्कराचार्यके उपकारका मूल्य बहुत अधिक है। बौद्धधर्मके प्रभावसे जिस समय भारतवासियोंकी आस्था वेद और उपनिषदोंपरसे उठ रही थी, उस समय आचार्य शङ्करने उसका प्रतिरोध किया, भारतीय शिक्षा-दीक्षाकी मूल धाराकी रक्षा की और हिन्दूसमाज, हिन्दूधर्म जो अनेक भेदों और विवादोंसे विच्छिन्न हो गया था उसको उन्होंने सब मतों और उपासनाओंमें ऐक्य दिखाकर उस आसन्न-ध्वंससे बचाया, भारतके साधनागत ऐक्यको पुनः प्रतिष्ठित किया और उसके आगे बढ़नेका पथ परिष्कृत कर दिया। परन्तु बौद्ध-प्रभावको दूर करनेपर भी वह प्रभाव कुछ-न-कुछ रह ही गया। बौद्ध जिस शिक्षाका प्रचार करते थे, शङ्करके वेदोपनिषद् गीताके भाष्योंसे उसी शिक्षाका प्रचार हुआ—यह संसार माया है, मिथ्या है, इस संसारसे दूर हटकर आत्माके अन्दर, ब्रह्मके अन्दर लीन होना ही परम पुरुषार्थ है और इसके लिये ज्ञान ही श्रेष्ठ साधना है। यही शङ्करकी शिक्षाका मूल तत्त्व है और इसमें और बौद्धोंकी शिक्षामें मूलतः विशेष कोई अन्तर नहीं है। भारतवासियोंके जीवनपर शङ्करकी शिक्षाका प्रभाव बहुत अधिक पड़ा, फिर भी सबने उनका मत नहीं ग्रहण किया। अनेक साधक महापुरुषोंने ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिको ही साधनाके रूपमें श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया। इस भक्तिमार्गका चरम विकास हम देखते हैं श्रीचैतन्यमें। वैष्णव कविका गान है—

यदि गौराङ्ग ना हत कि मेने हइत
केमने धरित दे रे ?
श्रीराधार महिमा रससिंधु सीमा
जगते जानात के रे ?

किन्तु यह जो भक्तिकी साधना है, इसका भी लक्ष्य है सांसारिक जीवनका परित्यागकर संसारसे ऊपर गोलोक अथवा वैकुण्ठमें जाकर श्रीभगवान्‌के साथ संयुक्त होना। प्राचीन कालसे भारतमें जो ये तीन प्रकारकी साधनाएं चली आ रही हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनोंका लक्ष्य दुःखमय सांसारिक जीवनसे ऊपर उठकर ब्रह्ममें लीन होना अथवा भगवान्‌के साथ युक्त होना है। किन्तु इस पृथ्वीपर मानव-जीवनके अन्दर रहकर ही

भगवान्‌के साथ साधर्म्य प्राप्त करनेका जो उपदेश हम गीताके अन्दर पाते हैं, अद्यावधि वह कहीं भी परिस्फुटित नहीं हुआ। इस विषयमे कुछ प्रयत्न हुआ था तान्त्रिक साधनामे। अध्यात्मजीवन प्राप्त करनेमें जो-जो बातें बाधक समझी जाती हैं, उन्हींका व्यवहार साधनामें सहायकरूपसे करके जीवनको दिव्यरूपमें पलट देनेका जो आदर्श तान्त्रिकसाधनामें दिखायी पड़ा था, वह व्यभिचार और दुरुपयोगके कारण भारतके जातीय जीवनपर बहुत अधिक प्रभाव न डाल सका, यद्यपि इसके सारतत्त्वने बहुत कुछ अशमे बङ्गालकी शक्तिपूजाके अन्दर स्थान प्राप्त किया है।

भारतमे युग-युगमे इस प्रकार नाना प्रकारकी साधन-पद्धतियोंका अनुसरण किया गया है। जगत्‌में अध्यात्मसाधनाकी ऐसी कोई धारा नहीं दिखायी पड़ती, जिसकी चरम परीक्षा इस भारतभूमिमे न हुई हो। इस प्रकार भारतमें अध्यात्मसाधनाका ऐसा उत्तम क्षेत्र और वायुमण्डल बन गया है कि पृथ्वीके और किसी स्थानमे ऐसा नहीं दिखायी पड़ता। परन्तु सब अध्यात्मसाधनाओंका मूल लक्ष्य ससारत्याग, जीवनत्यागकी ओर होनेसे ऐहिक जीवनमें भारतकी बड़ी क्षति हुई, जीवनसग्राममें भारत अन्यान्य जातियोसे बहुत पीछे पड़ गया, और इसी कारणसे भारतकी अध्यात्मसाधनापरसे बहुत लोगोकी श्रद्धा ही उठ गयी। जिस समय भारत पाश्चात्य-जातिके सस्पर्शमें आया, पाश्चात्य-जातिने अपनी असीम कर्मशक्ति और वसुन्धराका भोग करनेकी दुर्निवार आकांक्षाके बलसे भारतपर अपना आधिपत्य स्थापित किया, उस समय भारतके बहुत-से लोग उसी आदर्शकी ओर झुक पड़े, और सब विषयोंमें पाश्चात्य जडवादी सभ्यताका अनुसरण करनेके आग्रहके कारण आत्मविस्मृत हो गये। भारतके लिये वह बड़े ही सङ्कटका युग था—राजनीतिक-क्षेत्रमें भारत पराधीन था, अध्यात्मसाधनाके क्षेत्रपर भी नाना प्रकारसे ग्लानि छायी हुई थी, बाह्याचार और प्रचलित रूढियोंको ही लोगोंने धर्म और आध्यात्मिकताकी सीमा मानकर अन्धभावसे पकड़ रक्खा था। इससे जीवनके सब क्षेत्रोंमें अधःपतन और मृत्युके लक्षण दिखायी पड़ते थे और दूसरी ओर पाश्चात्य-जातिका तीव्र जीवन्त आदर्श चमक रहा था। उस आदर्शकी ओर झुक पड़नेके कारण जिस समय अपना स्वधर्म छोड़ने और परधर्म ग्रहण करनेका आग्रह इस देशमे बढ़ रहा था, उसी सन्धिक्षणमें परमहस श्रीरामकृष्ण आविर्भूत हुए। उन्होने अपने जीवनमें सब प्रकारकी साधन-पद्धतियोकी सत्यता प्रत्यक्ष करके यह दिखा दिया कि भारतकी अध्यात्मसाधना मिथ्या, धोखेबाजी या कपट नहीं है, इसके अन्दर असीम शक्ति निहित है, इसीके द्वारा मनुष्य अपने जीवनको सार्थक कर सकता है। पाश्चात्य रगकी बाढ़में भारत जिस समय डूबा हुआ था, उसी समयमे श्रीरामकृष्णके प्रिय शिष्य स्वामी विवेकानन्द भारतका रग लेकर पाश्चात्य-सभ्यताके मर्मस्थलमे जा धमके। बहुत कालके बाद पुनः भारतकी विजय-यात्रा आरम्भ हुई। यह जो स्वामी विवेकानन्दने प्रत्याक्रमणसे पाश्चात्य-सभ्यताके आक्रमणका उत्तर दिया, उसी दिनसे भारतके नवयुगका सूत्रपात हुआ, भारत पुनः अपनी वास्तविक शक्तिकी खोजमे प्रवृत्त हुआ, भारतकी अध्यात्मसाधना नवीन गौरवके साथ ससारवासियोंके सामने उद्भासित हुई।

श्रीरामकृष्णने यह दिखाया कि ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, यहाँतक कि ईसाई-धर्म, मुसलमान-धर्म आदि सब साधनाओं और सब धर्मोंमे सत्य है, मूलतः इनके अन्दर कोई भी विरोध नहीं। जितने मत हैं उतने मार्ग हैं—सब मार्गोंसे उसी एक गन्तव्य स्थानपर पहुँचा जाता है। श्रीरामकृष्णने सब साधनाओंका मूलगत ऐक्य दिखा दिया, पर उस ऐक्यके आधारपर अवलम्बित, सब साधनाओंकी मूल शक्तिका आश्रय करनेवाला जो सर्वयोगसमन्वय-साधन है, वह श्रीअरविन्दकी साधनामे परिस्फुटित हुआ है। और इसमें केवल साधन-पद्धतिका ही नहीं, अध्यात्म साधनाका जो लक्ष्य है, उसका भी पूर्ण समन्वय साधित हुआ है। मनुष्य अभी जैसा जीवन व्यतीत करता है, उसको छोड़कर ऊपर उठना होगा। इसका अर्थ यह नहीं कि मानव-जीवन, मानवजन्मका ही त्याग करके निस्पन्द, निश्चल ब्रह्मके अन्दर लीन होना होगा। यह ससार मिथ्या, माया है, 'भगवान्‌की भूल' है—ऐसा तो श्रीअरविन्द नहीं कहते। मनुष्यके अन्दर जो देवत्व निहित है, उसको देह, प्राण, मनमें पूर्ण विकसित करना होगा, मानवजीवनको दिव्य जीवनमें रूपान्तरित करना होगा, जरा, व्याधि, मृत्युको जीतकर अमृतत्व लाभ करना होगा, यही मानवजन्मका प्रकृत अर्थ है और यही सब अध्यात्मसाधनाओंका वास्तविक लक्ष्य है। किन्तु मनुष्य जबतक मनके स्तरमें ही अटका है तबतक उसका यह रूपान्तर सम्भव नहीं। उच्च जीवन

मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है, उसे कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहता, जीवन्मुक्तदशामें विचरने लगा—फिर बाकी क्या रहा ! 'मद्भक्तियुक्तो भुवन पुनाति'—उसकी कौन कहे, वह तो विश्वको पावन करने लगा, अब उसके दर्शन और परमात्माके दर्शनमें अन्तर नहीं रहा—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' वह ब्रह्मतुल्य हो गया ।

तस्मादन्तर्दृष्ट्या तारक एवानुसन्धेयः ।

(अद्वय० श्रुति)

इसलिये विज्ञजनोंको आत्मदृष्टिद्वारा तारकयोगका ही अनुसन्धान करना चाहिये, इस प्रकार श्रुति आज्ञा प्रदान करती है । इस बातका अनुमोदन स्मृति भी मुक्तकण्ठसे करती है । यथा—

गुरुर्विश्वेश्वरः साक्षात् तारकं ब्रह्म निश्चितम् ।

इस तारकज्ञानके प्रदान करनेवाले गुरुको साक्षात् ईश्वरस्वरूप समझना चाहिये और तारकज्ञानयोग निश्चय ब्रह्मस्वरूप है । जो तारकयोग प्रदान कर अन्यको भी अपने समान शक्तिसम्पन्न बना देता है वह ईश्वरस्वरूप तो है ही, इसमें सन्देह क्या ? महर्षि पतञ्जलि भी अपने योगदर्शनके एक सूत्रमें 'तारकयोग' की अपूर्वता और विशेषता स्वीकार करते हैं । यथा—

तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् । (योग० ३ । ५४)

'विवेकद्वारा प्राप्त किया गया 'तारकयोगज्ञान' बिना क्रम सब विषयोंको प्रकाशित करता है' अर्थात् जैसे अन्य विद्या या योग क्रमशः धीरे-धीरे प्राप्त होते हैं, ऐसा तारक नहीं । यह तो एक कालावच्छेदेन अतीत अनागत समस्त प्रपञ्चका प्रकाशक होते हुए ब्रह्मसाक्षात्कार करानेवाला है । इसलिये इसे तारक नामसे पुकारते हैं । इस योगज्ञानके संस्थापक श्रीदेवचन्द्रजी महाराज हैं । ये एक दिव्य शक्तिसम्पन्न योगिराज थे । सम्भवतः विकराल कलिकालकवलित प्राणियोंको योगविषयमें असमर्थ देखकर परमात्माने देवचन्द्र व्यक्तिविशेषद्वारा इसे प्रकट कराया होगा, ऐसा प्रतीत होता है । इनके पश्चात् इस तारकयोगबलका विशेष प्रचार इनके शिष्य स्वामी प्राणनाथजीने किया है । यही प्राणनाथ प्रभु बुन्देलखण्ड-केशरी वीर छत्रशालके धर्मगुरु थे । आपने इसी योगबलसे वीर छत्रशालको हीरोंकी खान प्रदान की है । इसी योगबलसे आपने जहरीली नदीको पान करने योग्य बनाया । यह नदी आज भी पन्नामें विद्यमान है । इनके अनेक शिष्य हुए हैं । आज भी इसके अनुयायी लगभग पाँच लाखकी संख्यामें विद्यमान हैं जो परनामी कहे जाते हैं ।

यह योग क्या है और इसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है, यह द्रष्टव्य है । तारकयोग एक मन्त्रविशेषद्वारा प्राप्त ज्ञानको कहते हैं जिसमें ब्रह्मसाक्षात्कारका भेद बताया गया है । इसे परा ब्रह्मविद्या भी कहते हैं । इसका मुख्य साधन प्रेम है । जहाँतक सच्चा प्रेम उत्पन्न नहीं होता वहाँतक तारकयोग सिद्ध नहीं होता । इसका बल प्रेम बिना प्रकट नहीं होता । अन्य क्रियाओंद्वारा सहायता मिलती है परन्तु इसका प्राण तो प्रेम ही है । प्रेमपुट लगते ही तारकज्ञान अपूर्व योगको प्राप्त हो जाता है । प्रेममें दबाव न सही किन्तु आकर्षण है । भयङ्करता नहीं किन्तु तल्लीनता है; अभिमान नहीं किन्तु अपनापन है, निराशता नहीं अपितु विश्वास है । अतएव 'तारकयोग' प्राप्त करनेके लिये प्रधान साधनभूत प्रेम ही माना गया है । प्रेमद्वारा इसे प्राप्त करते विलम्ब नहीं, किन्तु होना चाहिये सच्चा प्रेम । इस योगमें एक अपूर्व विशेषता यह है कि इसका सम्यक् ज्ञान होते ही मनुष्य पद्मपलाशवत् निर्लिप्त होकर निर्भय विचरने लग जाता है । और सच्चिदानन्दके ज्ञानका अनुभवी होकर किसी प्रकारके विक्षेपको प्राप्त नहीं होता—

इतहीं बैठे घर जागे धाम । पूरन मनोरथ हुए सब काम ॥

इस विनश्वर विश्वमें बैठा हुआ भी वह अपनेको ब्रह्म-धाममें मानता है और पूर्णकाम होकर जन्ममरणके बन्धनसे मुक्त हो जाता है ।

ऋजु-योग

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

भक्त्या पुमाञ्जातविराग ऐन्द्रियाद्-
दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया ।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः ॥*
(श्रीमद्भाग० ३ । २५ । २६)

सारमें आसक्त हुआ मन जिसके द्वारा परमात्मामें जोड़ा जाय उसीका नाम योग है। अतः प्रभु-प्राप्तिके जितने साधन हैं सभी योग हैं। राजयोग, हठयोग, सुरतिशब्दयोग, कर्मयोग, क्रियायोग, सांख्ययोग आदि अनेको योग हैं। जो जिस योगका अधिकारी होता है, उसके लिये वही योग उपयुक्त भी होता है। एक भक्तियोग ही ऐसा है जिसमें सबके लिये गुंजाइश है। भक्तियोग या भक्तिमार्गमें किसीके लिये मनाही नहीं, वह राजपथ है। अन्धा भी आँखें बन्द करके सहज ही चला जा सकता है, किन्तु उसके लिये भी एक योग्यताकी आवश्यकता है—

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनानन्दाश्रुकलया ·· ···· ·· ···· ··· ॥

जिसका हृदय स्वाभाविक ही मुलायम न हो, जिसे भगवत्-गुण-श्रवण-स्मरणसे रोमाञ्च न होते हों, जिसकी आँखें-आनन्दाश्रु न बहाती हों, वह भक्तिका यथार्थ अधिकारी नहीं। इसीलिये भक्तिके दो भेद हैं—स्वाभाविकी और वैधी। जैसे प्यासा बिना पानीके रह ही न सके, जैसे अग्नि लगी देखकर स्वाभाविक ही मनुष्य उससे दूर भागता है, ऐसे ही विषयोंसे स्वाभाविक विराग होकर प्रभुप्राप्तिकी स्वाभाविक इच्छा होना स्वाभाविकी भक्ति है। और शास्त्रोंमें भक्तिका माहात्म्य सुनकर भक्ति करना यह वैधी भक्ति है। किन्तु हमारी इन झूठी आँखोंमें न तो कभी आनन्दाश्रु ही आते हैं, न यह वज्र-जैसा हृदय ही पसीजता है, फिर हम-ऐसे मूढ़मति पुरुषोंके लिये भी कोई मार्ग है क्या ? शास्त्रकारोंने हम-जैसे अल्पज्ञ पुरुषोंके लिये भी उपाय बताये हैं। भक्तिमार्ग बड़ा विशद है। उसके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, वन्दन, पादसेवन, सख्य, दास्य, अर्चन और आत्मनिवेदन ये नौ अङ्ग हैं। दास्य, सख्य, वात्सल्य, शान्त और मधुर—ये पाँच भाव हैं। और भी अनेकों अनुभाव-विभावोंसे भक्तिमार्ग सुविस्तृत है। इसी भक्ति-सागरको मथकर इसका अल्पीभाव बनाकर हम सर्व-साधारण लोगोंके लिये मनीषियोंने ऋजु-योग-जैसे मार्ग बताये हैं। ऋजु-योग भक्तियोगके ही अन्तर्गत है। इसमें मृदुता और सरलता ही एक आवश्यक वस्तु है। हमारे जीवनमें पग-पगपर बनावट है। यह बनावट किसी तरहसे मिट जाय तो वह प्यारे प्रभु अपने-आप ही हमें हृदयसे चिपटा लें। छोटा निष्कपट सरल शिशु कभी किसीसे यह नहीं कहता कि तुम मुझसे प्यार करो। किन्तु उसकी सरलता, मृदुता और निष्कपट चेष्टाको देखकर चित्त बिना प्यार किये रह ही नहीं सकता। यदि इसी तरह हमारे जीवनमेंसे यह दुनियावी कपट-छल निकल जायँ तो भगवान् प्रेम करनेको विवश हो जायँगे। कपट-छल ही उन्हें अच्छा नहीं लगता—

निरमल मन जन सो मोहिं पावा । मोहिं कपट-छल छिद्र न भावा ॥

किन्तु कपट-छल जीवनमेंसे जाय कैसे ? वह ऋजु-योगके ही द्वारा सुगमता और सरलतासे जा सकता है। ऋजु-योगकी नींव श्रद्धाके ऊपर है। पूरी न हो, स्वाभाविकी न हो, थोड़ी ही सही, सुनकर ही सही, हठपूर्वक ही हो, शास्त्रवाक्योंमें और गुरुवाक्योंमें श्रद्धा होनी चाहिये। थोड़ी भी श्रद्धा होनेसे इस मार्गमें आनेपर धीरे-धीरे श्रद्धा स्वतः ही बढ जाती है। जो वेद, शास्त्र और गुरुवाक्योंकी निन्दा करता है, उन्हें ढोंग समझता है वह तो इधर आवेगा ही नहीं। यदि अणुमात्र श्रद्धासे या वैसे ही शुरू कर देनेपर जो बढ़ता है, वह तो बढ़ता ही जाता है 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।'

ऋजु-योगके चार अङ्ग हैं—सत्सङ्ग, भगवत्कथा-श्रवण, कीर्तन और जप। इन चारोंके ही द्वारा मनुष्य परमपद-

---

* भगवत्-कथा-श्रवणसे मनुष्यको भक्ति उत्पन्न होती है, भक्ति हो जानेपर देखे हुए और स्वर्गादि सुने हुए जितने इन्द्रिय-जन्य सुख हैं, उनमें वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। ऐसा योगयुक्त पुरुष आत्मसाधनके उद्योगमें तत्पर होकर ऋजु-योग-मार्गोंसे प्रभु-प्राप्तिके लिये यत्न करता रहता है।

तक पहुँच सकता है। इन्हींका नाम ऋजु-योग है, इसमें सभी श्रेणीके स्त्री-पुरुषोंका अधिकार है। सभी इस सरल सुगम सक्षिप्त मार्गसे अपने गन्तव्य मार्गतक पहुँच सकते हैं। बहुत सक्षेपमें इन चारोंपर यहाँ विचार कर लीजिये—

१. सत्सङ्ग—ऋजु-योगकी सर्वप्रथम सीढ़ी है सत्सङ्ग। भगवान् कपिलने अपनी माता देवहूतिको ऋजु-योगका उपदेश देते हुए आरम्भमे ही कहा है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

अन्तःकरणको और बाह्य करणोंको आनन्दित करनेवाली कमनीय कथाएँ साधु पुरुषोंके सत्सङ्गमें ही सुननेको मिल सकती हैं। उन कथाओंके श्रवणसे अति शीघ्र ही परमार्थ-स्वरूप प्रभुकी प्राप्तिके विषयमें प्रथम श्रद्धा होती है, श्रद्धा होनेपर रति होती है और रति होनेपर भक्ति प्राप्त होती है। सत्सङ्गके बिना इस मार्गमें जाना ही नहीं हो सकता। सत्सङ्गतिकी महिमा तो शास्त्रोंमे भरी पड़ी है, किन्तु विचारणीय यह है कि हम मन्दमतियोंको यह निर्णय कैसे हो कि यह साधु हैं। आजकल बहुत-से असाधु साधुवेषमें घूमते हैं। यद्यपि शास्त्रोंमें तितिक्षु, करुणायुक्त, सर्वप्राणियोंके मित्र, निर्वैर, शान्त, निरन्तर भक्ति करनेवाले, वीतरागी, गृह-त्यागी, भगवत्कथा सुननेवाले आदि बहुत-से गुण साधुओंके बताये हैं, किन्तु हम साधारण लोगोंमें इतनी बुद्धि कहाँ कि जो इन गुणोंकी परीक्षा कर सकें। इसलिये साधुकी मोटी पहचान यही है कि जो हर समय भगवत्-भजन, भगवत्-कथा-श्रवण और भगवन्नाम-जपमें लगा रहता हो। जिसका कोई भी समय व्यर्थकी बातोंमें—गप-शपमें न जाय। जो अपने शरीरके सुखोंके लिये चिन्ता न करता हो, यदि उसे कोई चिन्ता हो भी तो वह दूसरोंके दुःखोंकी चिन्ता हो। उसे साधु समझना चाहिये। श्रीमद्भागवतमें एक जगह लिखा है—

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः॥

समदर्शी साधु लोगोंके दुःखोंको देखकर दुखी होते हैं। इस अखिल ब्रह्माण्डमें व्याप्त उस अखिलेश्वर जनता-रूपी जनार्दनकी सेवा करनेके निमित्त दुःख भोगना ही उनकी परम आराधना है। जिनकी सभी चेष्टाएँ प्रेमपूर्ण हों और जिनके शारीरिक काम यदि हों भी तो वे परोपकारके लिये हों। बस, उन्हींको साधु समझकर उनकी सङ्गतिमें रहना चाहिये। साधु दूसरोंकी निन्दा न करेगा, न दूसरोंके दोषोंका ही वर्णन करेगा, उसकी सभी क्रियाएँ प्रेममयी होगी और वह दूसरोंके गुणोंको ग्रहण करनेमे सर्वदा तत्पर रहेगा। राजर्षि भर्तृहरिने सन्तकी कैसी सुन्दर सर्वांगीण व्याख्या की है, वे कहते हैं—

मनसि वचसि काये प्रेमपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥

जिनका मन प्रेमपीयूषसे परिप्लावित हो, जिनकी वाणी प्रेममयी मधुमयी हो, जिनका शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी चेष्टाओंसे प्रेम प्रकट होता हो और जो अपने उपकारोंकी बाढ़से त्रिभुवनको बहाते-से रहते हो तथा दूसरोंके अणुमात्र गुणको पर्वतके समान बनाकर अपने हृदयमें विकसित करते रहते हों ऐसे सन्त इस धराधामपर कितने हैं? यदि सौभाग्यसे ऐसे सन्त मिल जायँ और ढूँढ़नेपर मिल ही जाते हैं तो उनका सङ्ग निरन्तर करना चाहिये।

२. भगवत्कथाश्रवण—दूसरी सीढ़ी है भगवत्कथा-श्रवणकी। इच्छापूर्वक, अनिच्छापूर्वक जैसे भी बने वैसे ही कथा सुननी चाहिये। भगवत्कथाश्रवणका व्यसन लग जाना चाहिये। अफीम-जैसी कड़वी चीजको स्वादसे, स्वेच्छासे पहले-ही-पहले कोई नहीं खाता। खाते-खाते जब आदत पड़ जाती है, तब फिर बिना उसके रहा ही नहीं जाता। वैसे ही भगवत्कथा हमारे शरीरकी खूराक बन जाय। यह कभी मत सोचो कि बिना मनके कथा सुननेसे क्या लाभ? स्कूल-कालेजोंके अधिकांश छात्र बिना मनके ही पढ़ने जाते हैं। यदि उन्हें घरवालोंका, फेल होनेका और जुर्मानेका भय न हो तो महीनेमें बहुत कम दिनों वे अपनी इच्छासे पढ़ने जायँ। वहाँ जानेपर भी सबका मन अध्यापककी व्याख्यापर या पाठपर ही लगा रहता हो सो भी बात नहीं। प्रायः सभी कानोंसे व्याख्यान सुनते हैं। मनसे मित्र, दोस्त, सिनेमा, सभा और शतरजकी बातें सोचते रहते हैं। फिर भी वे पास हो जाते हैं और इसी बेमनके श्रवणसे बी० ए०, एम० ए० बन जाते हैं। इसी बातको लक्ष्य करके भगवान् कपिल कह रहे हैं—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्
मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥

'जिन्होंने सब कार्य मेरे ही अर्पण कर दिये हैं और जिन्हें मेरे ही पानेकी इच्छा है वे मुझसे एकात्म होनेकी अर्थात् मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते, क्योंकि वे तो मेरे पाद-पद्मोंकी सेवामे सलग्न हैं। वे परस्परमे बैठकर हठ-पूर्वक भी—मन न लगता हो तो भी—एक दूसरेको आपसमें मेरे गुणोंको सुनाते रहते है और सुनते रहते हैं।'

भगवत्-कथाओंमें सुनते-सुनते रस आने लगता है। छोटा बच्चा पहले बेमनसे—माताके हठपूर्वक खिलानेपर अन्न खाता है, खाते-खाते अभ्यास हो जाता है। फिर रुचि भी बढ़ने लगती है तदनन्तर वह उसमें ऐसा तल्लीन हो जाता है कि बिना अन्न खाये उसे चैन ही नहीं पड़ता। जी तड़फड़ाने लगता है। इसी प्रकार हठपूर्वक कथा सुनते-सुनते सुननेका अभ्यास होगा फिर रुचि भी बढ़ने लगेगी। अन्तमें तो उसमें तल्लीन हो जाओगे। कथा सुने बिना कल ही न पड़ेगी। यह दसरा अग है।

३ कीर्तन—तीसरी सीढ़ी है भगवन्नामकीर्तन। जैसे बने तैसे गाकर, रोकर, जोर-जोरसे, धीरे-धीरे, सबके साथ मिल-कर, अकेलेमे, बैठकर, खड़े होकर, तालस्वरसे, बिना तालके, गा-गाकर अथवा बाजोंके तालस्वरके सहित भगवन्नामोंका और भगवत्-गुणोंका कीर्तन करना चाहिये। वैसे तो कीर्तन सभी युगोंमे सर्वश्रेष्ठ साधन है, किन्तु कलियुगमें तो कीर्तनके सिवा कोई गति ही नहीं। भगवान् व्यासदेव कहते है—

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्।

अर्थात् केवल श्रीकृष्णकीर्तनसे ही मनुष्य इस घोर कलिकालमे परमपदको प्राप्त कर सकता है। कीर्तनके विषयमे विशेष बतानेकी आवश्यकता नहीं। शास्त्रोंमें इसकी अनन्त महिमा है।

४ जप—ऋजुयोगकी चौथी सीढ़ी है जप। जप वेदमन्त्रों-का तथा पौराणिक मन्त्रोंका भी होता है। उनकी शास्त्रों-में अनेक विधियाँ है। विधिपूर्वक करनेसे उनका प्रत्यक्ष फल मिलता है। इसीलिये महादेवजीने जोर देकर पार्वती-जीसे तीन बार कहा है—

जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्वरानने।

'हे वरानने! मैं तीन बार प्रतिज्ञा करके कहता हूँ जपसे सिद्धि होती है, होती है, होती है।'

किन्तु वैदिक मन्त्रोके जपकी विधिको द्विजेतर मनुष्य नहीं कर सकते। द्विजोंमें भी पढे-लिखे और संस्कृत पुरुष ही कर सकते हैं किन्तु भगवन्नामजपमे किसी प्रकारकी विधि नहीं। यह जप तो सब विधिनिषेधोसे परे है। चाहे जो हो, स्त्री, शूद्र, अन्त्यज, चाण्डाल कोई हो, किसी भी अवस्थामें हो, किसी भी देशमें कहीं हो, हर समय इसका जप कर जाता है। और श्रद्धापूर्वक भगवन्नाम-जपसे वही फल मिल जाता है जो अन्य वैदिक मन्त्रोंसे मिलता है। इससे सरल कोई मार्ग ही नहीं।

इस प्रकार ऋजुयोगके ये चार अङ्ग हैं। यदि आप राजयोग नहीं कर सकते, हठयोगके लायक आपका शरीर नहीं है, यदि आप प्राणोंको दसवें द्वारमें ले जाकर समाधि नहीं लगा सकते, यदि आप भगवत्-विग्रहकी षोडशोपचार-रीतिसे पूजा करनेमें भी असमर्थ हैं तो आप मनसे, बेमनसे जैसे भी बने, भगवान्के नामोंका जप कीजिये। श्रीरामायण, भागवत और महाभारतकी कथा सुनिये, साधु पुरुषोंका सङ्ग कीजिये और भगवन्नाम तथा गुणोंका कीर्तन कीजिये। आप सभी योगियोंसे बढ़ जायँगे, आप उस निर्वाणपदको भी पार कर जायँगे। शास्त्रोंमे इसे ऋजुयोग, सक्षिप्तयोग, सरलयोग या मृदुयोग कहा है।

यह बात नहीं कि ये चारों अङ्ग ही हों और बिना चारोंके किये सिद्धिलाभ होती ही न हो। ये चारों स्वतन्त्र भी हैं। केवल कथा ही श्रवण करते रहें और कुछ भी मत करें, निरन्तर भगवल्लीलाओंका श्रवण और उनका मनन करते रहें आप परमपदको प्राप्त कर लेंगे। और किसी भी साधनकी जरूरत नहीं। महाराज परीक्षित इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। केवलमात्र कथाश्रवणसे ही वे सर्वसगनिर्मुक्त हो गये।

केवलमात्र सत्संग ही करते रहें, साधु पुरुषोंकी सेवा करें, उनके वचनामृतोंको सुनें, उनकी सब प्रकारसे शुश्रूषा करें, आपको परमयोगियोंसे भी ऊँची पदवी प्राप्त हो जायगी। बहुत-से यातुधान, खग, मृग, स्त्री, शूद्र केवल-मात्र सत्सङ्गके सहारे ही इस ससाररूपी घोर सागरको बात-की-बातमें तर गये। केवल सत्सङ्ग ही सभी साधनोंका फल दे देता है।

अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम्।
नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम्॥
(श्रीनारदपाञ्चरात्र)

'भगवान्‌की आराधना होती है तो तपसे क्या होगा? और यदि भगवान्‌की आराधना नहीं होती है तो तपसे क्या होगा? यदि अन्दर-बाहर हरि विराज रहे हैं तो तपका क्या काम? और श्रीहरि यदि अन्दर भी नहीं, बाहर भी नहीं तो तपसे क्या होगा?'

वैधी भक्ति (नवधा भक्ति)

विधिसाध्यमाना वैधी सोपानरूपा।
(अ० दे० भी० सूत्र ११)

'विधिसे साधन होनेवाली भक्तिको 'वैधी' कहते हैं, वह सोपानरूपमें है।'

नवधा भक्तिके अङ्ग

(१) श्रवण

यथाग्निः सुसमृद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्।
तथा तद्विषया भक्तिः करोत्येनांसि कृत्स्नशः॥
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्॥
(स्मृति)

'जैसे प्रज्वलित अग्नि ढेर-के-ढेर काष्ठको भस्म कर देती है, उसी प्रकार भगवान्‌की भक्ति साधकके पापसमूहको समूल निर्मूल कर देती है। भगवान्‌का मधुर-मधुर नाम कर्णकुहरमें प्रवेश करते ही हृदयका समस्त पाप दूर कर देता है, जैसे शरद् ऋतु जलका गँदलापन दूर कर देता है।'

(२) कीर्तन

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदयेऽपि वा।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

'वैकुण्ठमें चाहे मैं न रहूँ, अथवा योगियोंके हृदयमें भी मेरा पता न लगे, पर जहाँ मेरे भक्त मेरे गुणोंका गान करते हैं वहाँ तो मैं रहता ही हूँ।'

(३) स्मरण

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(गीता ८। १४)

'जो अनन्यचित्त होकर नित्य मेरा सतत स्मरण करता है, हे अर्जुन! मैं उस नित्ययुक्त योगीके लिये सुलभ हूँ।'

(४) पादसेवन, (५) अर्चन, (६) वन्दन

यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विना-
मशेषजन्मोपचितं मलं धियः।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहमेधती सती
यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित्॥

'जिस चरणसे निकलकर पुण्यसलिला श्रीगङ्गाजी समस्त संसारको पवित्र करती हैं, उस चरणकमलकी सेवा करनेसे अनन्त जन्मोंकी सञ्चित चित्तकी मलिनता तुरन्त नष्ट हो जाती है।'

(७) दास्य, (८) सख्य, (९) आत्मनिवेदन

इन तीन अङ्गोंकी परिसमाप्ति 'रागात्मिका' भक्तिमें होती है। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः॥
(श्रीमद्भा० ९। ४। १८—२०)

'आत्मनिवेदनभक्तिकी अवस्थामें मन भगवान्‌के चरणकमलोंमें, वचन उनके गुणगानमें, हाथ मन्दिरादि मार्जन करनेमें, कर्ण उनकी सत्कथा श्रवण करनेमें, नेत्र उनकी मूर्ति देखनेमें, अङ्ग उनके भक्तोंके शरीर स्पर्श करनेमें, घ्राण उनके चरणसरोजके सुगन्धमें, जिह्वा उनके प्रसादके रस लेनेमें, चरण उनके तीर्थोंकी यात्रामें, मस्तक उनके चरणोंमें प्रणाम करनेमें और सकल कामना उनके दासत्वमें समर्पित होती है।'

रागात्मिका भक्तिकी अवस्था

रसानुभाविकानन्दशान्तिदा रागात्मिका।
(अ० दे० भी० सूत्र १२)

'रस अनुभव करानेवाली, आनन्द और शान्ति देनेवाली भक्तिको 'रागात्मिका' कहते हैं।'

रसानुभव और आनन्दकी दशा

वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २४)

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २ । ४०)

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद्
हसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ३ । ३२)

'रागात्मिका भक्तिके लाभ करनेपर भक्तको लोकलज्जा, लोकभय आदि किसी बातका विचार नहीं रहता। वह कभी निर्लज्ज होकर उच्च हास करता है, कभी उन्मादग्रसित (पागल) का-सा नृत्य करता है, कभी उच्च स्वरसे गाता हुआ सर्वत्र भ्रमण करता है, कभी रोता है, कभी भगवान्के आनन्दामृतको पान करके निस्तब्ध होता है, कभी आत्मामें एकान्त रति प्राप्तकर जगत्को भूल जाया करता है।' रागात्मिका भक्तिकी यह अपूर्व महिमा है।

रागात्मिका भक्तिकी परा शान्तिकी दशा

भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन्नजस्र-
मानन्दबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानः ।
विक्लिद्यमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो
नात्मानमस्मरदसाविति मुक्तलिङ्गः ॥
इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजन्
ततः परा शान्तिमुपैति साक्षात् ॥
(श्रीमद्भा० स्कन्ध ११)

'रागात्मिका भक्तिके उदय होनेसे साधकका चित्त पुलकित हो जाता है, आँखोंसे आनन्दाश्रुधारा प्रवाहित होती है और सकल साधनोंके फलस्वरूप परम पवित्र शान्ति उस भक्तशिरोमणि बड़भागी भक्तको प्राप्त हो जाती है।'

परा भक्तिकी अवस्था

स्वरूपज्ञानापरपर्याया सा ।
(अ० दै० मी० सूत्र १९)

परा भक्ति, स्वरूपज्ञान दोनों एक ही हैं। परा भक्ति, स्वरूपज्ञान, निर्विकल्प समाधि, परवैराग्य सबकी एक ही स्थिति है—कोई भेद नहीं है। इसी स्थितिमें भक्त निखिल ब्रह्माण्ड—समस्त चराचर जगत्को भगवान्मय देखता है।

'तत्त्वमसि,' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि महावाक्योंकी चरितार्थता इसी दशामें होती है।

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥
(श्रीमद्भागवत)

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
(गीता ६ । २९)

'परा भक्तिकी दशा प्राप्त होनेसे भक्त भागवतोत्तम कहलाते हैं। जो सकल जगत्में भगवान्को और भगवान्में ही सकल चराचर जगत्को देखते हैं वे ही सर्वोत्तम भागवत हैं।'

चार प्रकारके भक्तोंमें केवल 'ज्ञानी भक्त' ही परा भक्तिका अधिकारी हो सकता है।

मन्त्रयोगका दूसरा अंग

शुद्धि

शुद्धि दो प्रकारकी है—बाहरकी शुद्धि और अन्तरकी शुद्धि।

बहिर्शुद्धिमें—(१) शरीरकी शुद्धि
(२) स्थानकी शुद्धि
(३) दिशाकी शुद्धि

आन्तर्शुद्धिमें—(१) मनकी शुद्धि। यह मन्त्रयोगमें परमावश्यक है।

(१) शरीरकी शुद्धि—स्नानसे होती है। स्नान सात प्रकारका है—

(१) मान्त्रस्नान—'गङ्गे च यमुने च'—इत्यादि मन्त्रसे जल लेकर स्नान करनेसे होता है।

(२) भौमस्नान—गमछेसे अङ्ग पोछनेसे।
(३) आग्नेय—भस्म लगानेसे।
(४) वायव्य—गोरज स्पर्श करनेसे।
(५) दिव्य—सूर्यदर्शनके होते हुए वर्षामें स्नान करनेसे।
(६) वारुण्य—जलमे गोता लगाकर स्नान करनेसे तालाब-नदी इत्यादिमें।
(७) मानस—श्रीभगवान्‌के रूपका मनमे ध्यान करनेसे।

(२) स्थानकी शुद्धि—गोमयसे अथवा बरगद, पीपल, अशोक, बिल्व, आँवलेके वृक्ष (पञ्चवटी) के नीचे बैठकर साधना-पूजा करनेसे होती है।

(३) दिशाकी शुद्धि—दिनमे पूर्वमुख या उत्तरमुख बैठकर और रात्रिमें उत्तरमुख बैठकर पूजा करनेसे होती है।

(४) अन्त शुद्धि—मनकी शुद्धि दैवी सम्पत्तिके अभ्याससे होती है। अर्थात् इन्द्रियसंयम, भयशून्यता, चित्तप्रसन्नता, दान, यज्ञ, वेदपाठ, वेदसम्मत शास्त्रपाठ, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, लोभका त्याग, अहङ्कार, कुकर्मका त्याग, चञ्चलताका त्याग, चित्तकी शान्ति, अविरोध, धैर्य, शौच, क्षमा इत्यादि भावोंके अभ्याससे होती है।

शुद्धिका फल—बाहरकी शुद्धिसे आरोग्य, आत्मप्रसाद और इष्टदेवकी कृपा प्राप्त होती है। मनकी शुद्धिसे इष्टदेवका दर्शन होता है और समाधि प्राप्त होती है।

मन्त्रयोगका तीसरा अङ्ग

आसन

मन्त्रयोगके साधनमे स्वस्तिकासन और पद्मासन, इन्हीं दो आसनोंका उल्लेख है। आसनकी आज्ञा श्रीगीताजीके छठे अध्यायमें इस प्रकार है—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्॥
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये॥
समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥
(११-१४)

'पवित्र स्थानपर स्थिर आसन लगावे, न बहुत ऊँचा न बहुत नीचा। पहले कुशका आसन, उसपर मृगचर्म, उसपर वस्त्र। चित्त और इन्द्रियोंको वशमे करके, एकाग्र मनसे आसनपर बैठकर, शरीर, पीठ, मस्तक, गर्दनको समदेशमे अचल रखकर, इधर-उधर न देखे, नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि जमाकर शान्तचित्त, जितेन्द्रिय, निर्भय, ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ मेरा ध्यान करे।'

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्ध, अध्याय १४ में भी इसी आसनका वर्णन है।

शुद्ध आसनका फल—श्रीभगवान्‌का सान्निध्य प्राप्त होना।

मन्त्रयोगका चौथा अङ्ग

पञ्चाङ्गसेवन

अपने-अपने इष्टदेव और सम्प्रदायके अनुसार गीता, सहस्रनाम, स्तव, कवच, हृदयका पाठ प्रतिदिन करनेसे योगी पापरहित होकर योगसिद्धिको प्राप्त होता है।

मन्त्रयोगका पाँचवाँ अङ्ग

आचार

सात्त्विक साधकके लिये दिव्याचार, राजसिक साधकके लिये दक्षिणाचार और तामसिकके लिये वामाचार होता है। वामाचार केवल शक्ति-उपासनामें ही देखा जाता है। पर वामाचारमे उन्नतिके बदले गिर जानेका सर्वदा भय है। इसके साधनको तलवारकी धारपर चलना कहा गया है। इसी वामाचारके बढ़नेसे बङ्गालमें अत्यन्त हानि हुई और बड़ा दुराचार फैला, जिसे देखकर, कहते हैं कि, स्वयं श्रीकृष्ण भगवान्‌को दुराचारका नाश करके शुद्ध प्रेमके प्रचारार्थ श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके रूपमें अवतरित होना पड़ा।

मन्त्रयोगका छठा अङ्ग

धारणा (Concentration)

धारणा दो प्रकारकी है—(१) बहिर्धारणा, (२) आन्तर धारणा।

बाहरके पदार्थोंमें मूर्ति, विग्रह, चित्र आदिमे धारणा करनेको बहिर्धारणा कहते हैं।

अन्तर्जगत्‌के विषयोंमे धारणा आन्तर धारणा कही जाती है।

फल—धारणाकी सहायतासे दिव्यदेशमें इष्टदेवका आविर्भाव होता है। इष्टदेव विग्रह, चित्र इत्यादिसे प्रकट होकर साधकसे वार्तालाप करते हैं और मनोवाञ्छित वर देते हैं।

'भक्तमाल' इत्यादि ग्रन्थोंमें और पूज्यपाद श्रीरामकृष्ण परमहंस प्रभृति महात्माओंके जीवनमें ऐसी अनेक घटनाओंका वर्णन है।

मन्त्रयोगका सातवाँ अङ्ग

दिव्यदेशसेवन

दिव्यदेश सोलह हैं। धारणाकी सिद्धि होनेपर भक्ति, आचार, प्राणसंयम, जपसिद्धि, देवतासान्निध्य, आचार, दिव्यदेशादिमें दैवी शक्तिका आविर्भाव और इष्टदेव-दर्शन दिव्यदेशमें होता है।

मन्त्रयोगका आठवाँ अङ्ग

प्राणक्रिया

प्राणायाम—चित्तवृत्तिसंयम, आरोग्य, मनकी एकाग्रता और ध्यानकी सहायताके लिये प्राणायामका विधान है। प्राणायामके साथ करन्यास, अङ्गन्यास, मातृकान्यास, ऋष्यादिन्यासका भी विधान मिलता है।

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें ध्यानयोगके वर्णनमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने श्रीमुखसे १० प्राणायाम प्रातः, १० प्राणायाम मध्याह्न और १० प्राणायाम सन्ध्याकालमें करनेकी आज्ञा दी है। इससे नाडीकी शुद्धता और शरीरकी नीरोगता सिद्ध होती है।

सहितप्राणायामकी विधि मन्त्रयोगमें सहायक है। सहितप्राणायाम पूरक, कुम्भक, रेचककी मन्त्रके साथ साधना करनेसे होता है।

मन्त्रयोगका नवाँ अङ्ग

मुद्रा

अपने-अपने इष्टदेव और सम्प्रदायके लिये पृथक्-पृथक् मुद्राओंका वर्णन है। मुद्रा-प्रदर्शन करनेसे इष्टदेव प्रसन्न होते हैं।

इष्टदेव	मुद्रा
श्रीराम	धनुष, बाण आदि।
श्रीकृष्ण	वेणु, कदम्बफूल आदि।
श्रीविष्णु	शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला, ज्ञान, बिल्व, गरुड, नारसिंही, वाराही, त्रायम्बकी, धनुष, बाण, परशु, जगन्मोहनिका, कामनामिका।
श्रीमहादेव	त्रिशूल, माला, वर, अभय, मृग, खट्वाङ्ग, कपाल, डमरू इत्यादि।
श्रीगणेश	दन्त, पाश, अङ्कुश, बिल्व, परशु, लड्डुक आदि।
श्रीसूर्य	पद्ममुद्रा।
श्रीदुर्गादेवी	पाश, अङ्कुश, वर, अभय, खड्ग, चर्म, धनुष, शर, मूसल आदि।

इसी प्रकार श्रीलक्ष्मी, अग्निदेव, श्यामादेवी, तारादेवी, त्रिपुरसुन्दरी इत्यादि देव-देवियोंकी पृथक्-पृथक् मुद्राओंका वर्णन है।

मन्त्रयोगका दसवाँ अङ्ग

तर्पण

अपने-अपने इष्टदेवका तर्पण करके अन्य देव-देवियों, ऋषि और पितृगणोंका तर्पण करना चाहिये। तर्पणसे इष्टदेव और अन्य देव-देवियोंकी तृप्ति होती है। पृथक्-पृथक् काम्य-कर्मोंमें तर्पणकी सामग्री भी पृथक्-पृथक् है।

मन्त्रयोगका ग्यारहवाँ अङ्ग

हवन

हवनसे निखिल सिद्धियाँ लाभ होती हैं। नित्य होमसे इष्टदेव प्रसन्न होते हैं और सब देव-देवियोंकी तृप्ति होती है।

पहले १६ आहुति मूलमन्त्रसे अपने इष्टदेवके लिये देकर तत्पश्चात् अन्य देव-देवियोंको अपने इष्टदेवके अङ्गीभूत जानकर उनके लिये हवन करना चाहिये।

मन्त्रयोगका बारहवाँ अङ्ग

बलि

बलिसे इष्टदेवकी प्रसन्नता और विघ्नोंकी शान्ति होती है। आत्मबलिद्वारा अहङ्कारका नाश होकर साधक कृतकृत्य हो जाता है। यह सर्वश्रेष्ठ है। काम क्रोधादि रिपुओंकी बलि द्वितीयस्थानीय है। उत्तम फलोंकी बलि भी इष्टदेवको देनी चाहिये। अपने-अपने सम्प्रदायके अनुकूल इष्टदेवको हिंसारहित बलि समर्पण करके अन्य देवों और पितरोंको बलि दे, तत्पश्चात् भूतों, कुत्तों, श्वपचों, पक्षियोंको भी बलि दे अर्थात् उन्हें खानेको दे।

मन्त्रयोगका तेरहवाँ अङ्ग

याग

याग दो प्रकारका है—

(१) अन्तर्याग (मानसिक पूजा)

(२) बहिर्याग

बहिर्यागसे अन्तर्याग श्रेष्ठ है।

इष्टदेवकी पूजा करनेके लिये पञ्चोपचार, दशोपचार, षोडशोपचार और एकविंशति उपचारका वर्णन

है, जो मानसिक पूजा और बहिर्पूजा दोनोंमें होता है।

पञ्चोपचार—गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य।

दशोपचार—पाद्य, अर्घ्य, स्नान, मधुपर्क, आचमन, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य।

षोडशोपचार—आवाहन, पाद्य, अर्घ्य, स्नान, वस्त्र, उपवीत, भूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बूल, आरति, प्रणाम।

एकविंशति उपचार—आवाहन, स्वागत, आसन, स्थापन, पाद्य, अर्घ्य, स्नान, वस्त्र, उपवीत, भूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, ताम्बूल, माल्य, आरति, नमस्कार, विसर्जन।

श्रीरामोपासकके लिये श्रीअगस्त्यसंहिता अध्याय ३३में, मानसिक पूजाके लिये इकतीस उपचारोंका वर्णन है। वह अवश्य दर्शनीय है।

एकत्रिंशत् उपचार—ध्यान, आवाहन, रत्नसिंहासनप्रदान, सन्निधान, सम्मुखीकरण, प्रार्थना, अर्घ्य, मधुपर्क, प्रसन्नकरण, आचमन, पञ्चामृत, स्नान, वस्त्र, यज्ञोपवीत, भूषण, गन्ध, चन्दन, तुलसी पुष्प, अङ्गपूजा, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन, फलदान, ताम्बूल, राजोपचार, नीराजन, स्तुति, हृदयमें आसन, प्रार्थना।

यागका फल—यागकी साधनासे साधकको अखण्ड फलकी प्राप्ति होती है और अन्तमें वह साधक कैवल्य लाभ करता है।

उपयाग

ब्रह्मयाग और जीवयागको उपयाग कहते हैं।

वेद, स्मृति, पुराणोंका पाठ ब्रह्मयाग, और ब्राह्मण, अतिथि और समस्त जीवधारियोंके कल्याणके लिये भोजन, वसन, जल आदि देना जीवयाग है। यह भी साधकको अवश्य करना चाहिये।

उपयागका फल—ब्रह्मयाग और जीवयागसे साधक इस लोकमें और परलोकमें अनन्त कल्याण प्राप्त करते हैं।

मन्त्रयोगका चौदहवाँ अङ्ग

जप

जप तीन प्रकारका है—

(१) वाचिक—जो दूसरेको सुनायी दे।

(२) उपांशु—जो केवल साधकको सुनायी दे।

(३) मानस—जो साधकको भी सुनायी न दे।

वाचिकसे उपांशु (जिह्वाजप) शतगुण और उपांशुसे मानसजप शतगुण श्रेष्ठ है। अति शीघ्रता या अधिक विलम्बसे जप नहीं करना चाहिये। शीघ्रतासे जप करनेसे धनक्षय, विलम्बसे जप करनेसे रोग होता है। अतएव मध्यम वृत्तिसे जप करे।

मन्त्रजपसे हृदयकी ग्रन्थि खुल जाती है और समस्त अवयव प्रवृद्ध होते हैं—

जपात्सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः।

जपके लिये अपने-अपने सम्प्रदाय और इष्टदेवके अनुकूल मालाका पृथक्-पृथक् वर्णन है।

तुलसीमाला—अक्षय फल देनेवाली, श्रीविष्णुभक्तिको देनेवाली है।

रुद्राक्षमाला—शिवभाव और शिवलोक देनेवाली है। कितने तन्त्रशास्त्रोंका मत है कि रुद्राक्षमाला पञ्च सम्प्रदायके साधकके लिये हितकर है।

तुलसी-माहात्म्य श्रीअगस्त्यसंहिता अध्याय ६ में, और रुद्राक्ष-माहात्म्य रुद्राक्षजाबालोपनिषद्में विशेषरूपसे वर्णित है।

मन्त्रयोगका पन्द्रहवाँ अङ्ग

ध्यान

अपने-अपने इष्टदेवके रूपको मनसे देखनेको ध्यान कहते हैं। ध्यानसे ही बन्ध और ध्यानसे ही मोक्ष होता है। आत्मा केवल ध्यानसे ही वश हो सकता है, आत्माके वश करनेका दूसरा उपाय नहीं है।

ध्यानसे समाधिकी प्राप्ति होती है।

मन्त्रयोगका सोलहवाँ अङ्ग

समाधि

मन्त्रसिद्धिके साथ देवतामें मन लय होनेसे जब मन, मन्त्र और देवताका स्वतन्त्र बोध नहीं रहता, तीनों एक-दूसरेमें लय हो जाते हैं, तभी ध्याता, ध्यान, ध्येयरूपी त्रिपुटीका लय हो जाता है। इसी अवस्थामें आनन्दाश्रु, रोमाञ्च आदि लक्षणोंका विकास होकर, मन लयको प्राप्त करता है और समाधिका उदय होता है।

समाधि-प्राप्त साधक कृतकृत्य हो जाता है।

मन्त्र

मन्त्रयोगके आचार्य—देवर्षि नारद, महर्षि अङ्गिरा, कश्यप, वसिष्ठ,

मन्त्रयोगका लक्ष्य—श्री

मन्त्रयोग

मन्त्र

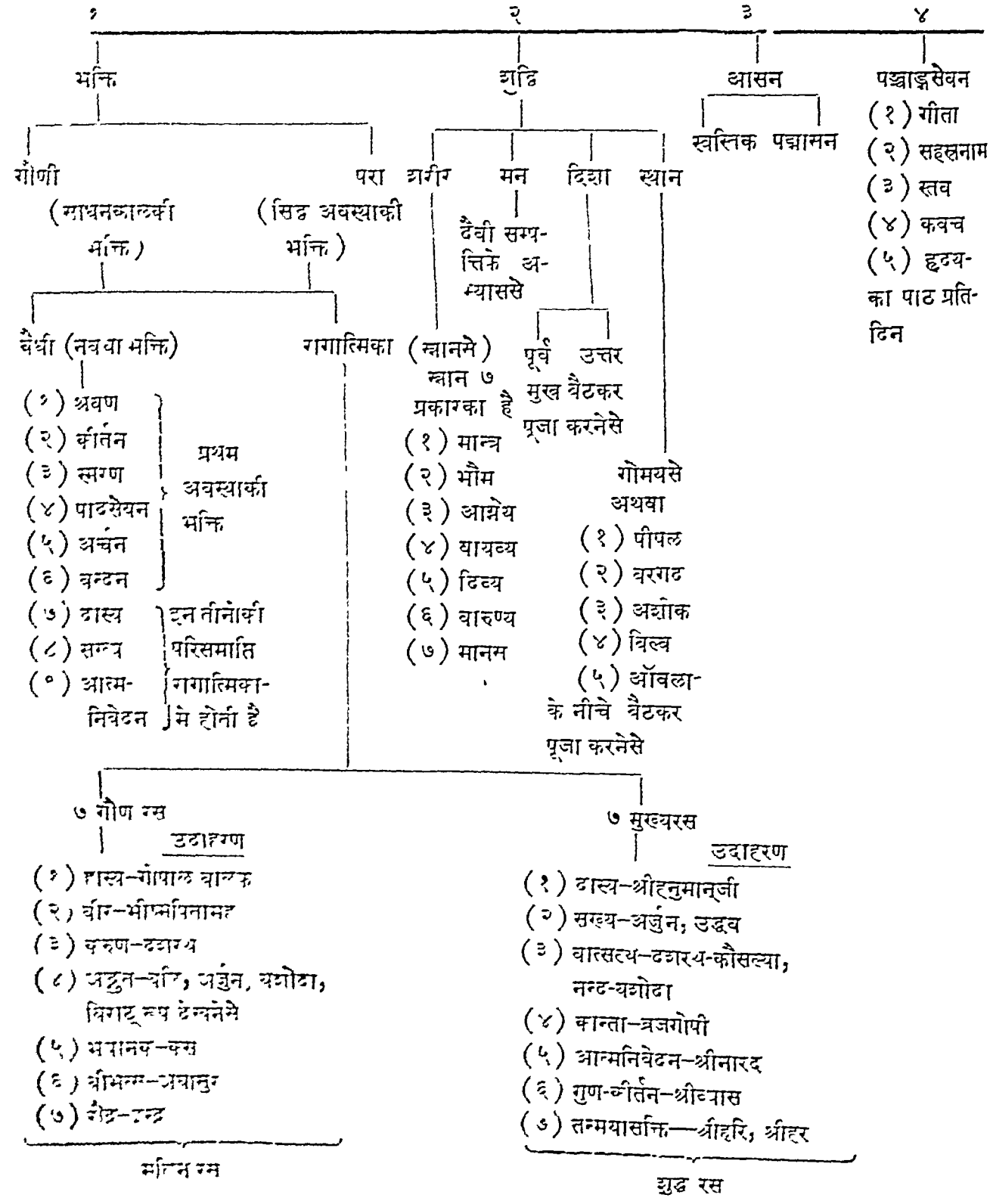

, भरद्वाज, गर्ग, शाण्डिल्य, वाल्मीकि, भृगु, बृहस्पति, शुक्र इत्यादि ।

ब्रह्मका साक्षात् दर्शन ।

६ अङ्ग

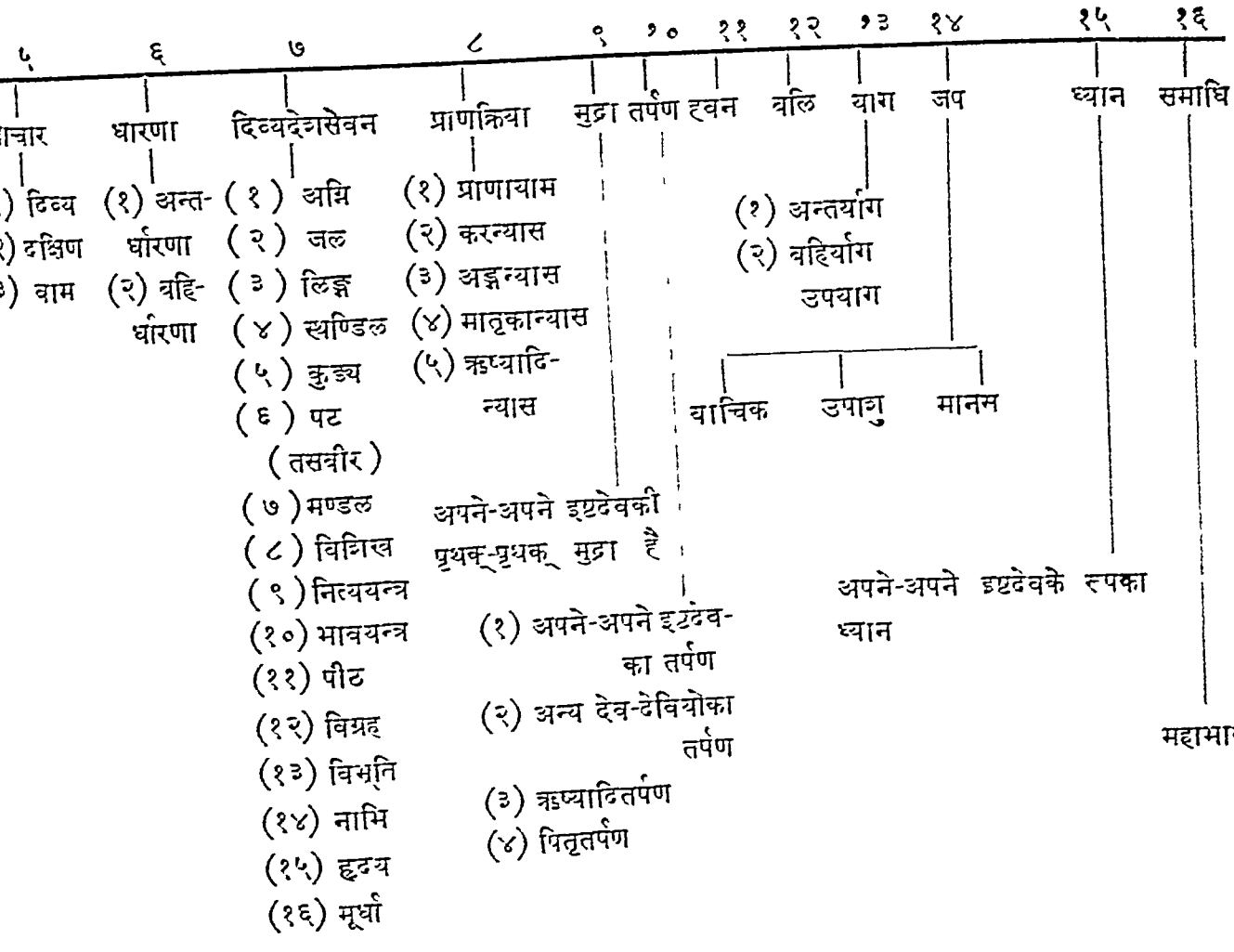

सप्त ज्ञानभूमिका

(लेखक—श्रीहरिलाल भोगीलाल त्रिवेदी वैद्य)

सृष्टि, स्थिति और संहारशक्तिके अधिष्ठाता, परम सेव्य, ज्ञेय, ध्येय, परमकारुणिक सद्गुरु परमात्मा श्रीमन्नरसिंहाचार्यजीको इस शुभ चिन्तनके प्रारम्भमें सप्रेम प्रणति समर्पण करता हूँ।

प्राचीन कालमें अनेकों महर्षियोंने अध्यात्मबलको प्राप्तकर, परम प्राप्तव्य वस्तुको लाभकर जिस सर्वोत्कृष्ट स्थितिके भोक्ता बननेका सौभाग्य प्राप्त किया था, उस स्थितिको पानेके लिये प्रयत्नशील होनेकी जिसके हृदयमें उत्कट इच्छा जागृत हुई है उसी मनुष्यमें मनुष्यत्व है। अन्यथा केवल मनुष्य-देहधारण करनेसे ही वास्तविक मनुष्यत्व नहीं आता। परन्तु परम दयामय देवेशने मनुष्यको जो-जो उत्तम साधन प्रदान किये हैं उन साधनोंकी सर्वोत्तम शुद्धि करते हुए मनुष्यत्वकी अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ गुणयुक्त देवत्व और उससे भी उच्चतम ईशत्वको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करनेवाला वीर साधक ही मनुष्य नाम पानेके योग्य है।

इस जगत्का प्रत्येक अणु—सजीव या निर्जीव प्रतिक्षण उत्तरोत्तर शुद्ध होकर विकासमार्गमें गतिशील हो रहा है। इसीके अनुसार मानव प्राणीके भीतर भी अन्तिम सर्वोत्कृष्ट स्थिति—मुक्तिस्थिति—प्राप्त करनेकी अभिलाषा ज्ञात या अज्ञातभावसे रहती ही है। श्रुति भगवती कहती है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'। इससे यह सिद्ध है कि ज्ञान प्राप्त हुए बिना मोक्षाभिलाषीकी मुक्त होनेकी आशा निरर्थक है। वह ज्ञान क्या है, यह जानना चाहिये। इस जगत्में दीखनेवाली प्रत्येक लौकिक विद्या दुःखोंकी आत्यन्तिकी निवृत्ति और सुखकी परावधिकी प्राप्ति करवानेमें सर्वथा असमर्थ है। यह बात बुद्धिमानोंके लिये सुस्पष्ट है। तब वह ऐसी कौन-सी विद्या है जिसके द्वारा मनुष्य कर्तव्य, ज्ञातव्य और प्राप्तव्यकी परमोत्तम सिद्धिको साधकर कृतकृत्य हो सकता है? इस विश्वमें आविष्कृत तथा अन्वेषित समस्त विद्याओंमें केवल ब्रह्मविद्या ही सर्वोपरि है, और उसीकी सहायतासे मनुष्य मनुष्यत्वसे देवत्व और देवत्वसे आगे जाकर ईशत्वमें स्थित हो सकता है।

यथार्थतः उन्नतिपथमें शीघ्र अग्रसर होनेकी इच्छा करनेवाले व्यक्तिको अपने स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण—इस देहचतुष्टय, तथा मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार इस अन्तःकरण-चतुष्टयको शुद्ध करना परमावश्यक है। शुद्धि होनेपर ही सत्य वस्तुका यथार्थ ज्ञान हो सकता है और सत्य ज्ञान होनेपर ही कर्तव्यकी परावधि प्राप्त होती है। जबतक यह स्थिति प्राप्त नहीं होती तबतक बार-बार इस दृश्यप्रपञ्चमें प्रवेशकर नाना प्रकारके अनुभव करने पड़ते हैं अर्थात् तबतक जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति नहीं मिलती। जो महापुरुष मुमुक्षुपदमें स्थित हैं और जिनके अन्दर तीव्र मोक्ष-अभिलाषका उद्भव हुआ है, उनके लिये परम पूज्य महर्षियोंके पवित्र चरण-चिह्नोंका अनुसरण करना और उनकी आज्ञाके अनुसार कर्तव्य कर्मोंको सम्पन्न करनेके लिये कटिबद्ध होना बहुत ही आवश्यक है।

मोक्षप्राप्तिके उपयोगी दो मार्ग हैं—योगविद्या और वेदान्तशास्त्र। श्रीयोगवासिष्ठ महारामायणमें स्पष्ट लिखा है—

> द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव।
> योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥
> असाध्यः कस्यचिद्योगो कस्यचिद् ज्ञाननिश्चयः।
> प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमेश्वरः॥

करोड़ों वर्षोंमें तय होनेयोग्य लम्बा रास्ता किस प्रकार सहज हो सकता है यह बतलाना योगका कार्य है। जिनको मुक्त होनेकी तीव्र इच्छा है उनको नजदीकका मार्ग बताना योगका उद्देश्य है। जिस मार्गसे चलनेपर बहुत ही थोड़े समयमें परमपद प्राप्त होता है अर्थात् सामान्य मनुष्यको जिस वस्तुकी प्राप्तिमें करोड़ों वर्ष लगाने पड़ते हैं उस वस्तुकी प्राप्ति एक ही जन्ममें सिद्ध महात्मा कर सकते हैं, वही मार्ग योगमार्ग है। आत्मतत्त्वकी अनन्त अपार शक्तियोंका अटूट धारावद्ध प्रवाह बहा देनेका प्रधान मार्ग ही योगप्रणाली है। परम तत्त्वके चैतन्यसागरमेंसे अनन्त सामर्थ्य प्राप्त करनेकी कला ही योगविद्या है। इस कलाको हस्तगत करनेपर इस विश्वमें कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता, और इसी कारणसे योगतत्त्वविद् महापुरुष कहते हैं कि योगविद्या ही सब विद्याओंकी परम अवधि है।

तत्त्वनिश्चय—तत्त्वका सत्य ज्ञान प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको श्रीसद्गुरुका आश्रय लेना अनिवार्य है। क्योंकि

वेदान्तशास्त्रके सिद्धान्तको सत्यरूपमे केवल सद्गुरु ही समझा सकते हैं, उनकी सहायताके विना केवल मिथ्या भ्रान्तिमें पड़कर मनुष्य अवनतिको प्राप्त हो सकता है। इसी कारण दीर्घदर्शी तत्त्वज्ञानसम्पन्न शास्त्रकारोंने भी आज्ञा दी है—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।—(मुण्डकोपनिषद्)

इस सूत्रके समर्थनमे परमपूज्य आचार्यचूडामणि श्रीशङ्करभगवान् भी कहते हैं—

गुरुमेवाचार्यं शमदमादिसम्पन्नमभिगच्छेत्। शास्त्रज्ञोऽपि स्वातन्त्र्येण ब्रह्मज्ञानान्वेषणं न कुर्यात्।

'शमदमादिसम्पन्न गुरुके समीप जाना चाहिये। शास्त्रका ज्ञान होनेपर भी ब्रह्मज्ञानकी मनमानी खोज नहीं करनी चाहिये। लौकिक विद्याकी सिद्धिके लिये ही जब गुरुकी आवश्यकता पड़ती है तब ब्रह्मविद्याकी सिद्धिके लिये तो सद्गुरुकी निरतिशय आवश्यकता है, यह सुस्पष्ट है। क्योंकि जिसको जिस वस्तुका अधिकार प्राप्त होता है, उसीके लिये वह प्राप्त हुआ पदार्थ हितकारक होता है। अनधिकारी वेदान्तज्ञानके मार्मिक रहस्यपूर्ण हेतुको नहीं समझ सकता, इसीलिये ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सद्गुरुकी आवश्यकता हमारे सारे शास्त्र मुक्तकण्ठसे स्वीकार करते हैं।

जब वेदान्तप्रदेशमें विचरण करनेका समय आता है तब ब्रह्मज्ञान, तत्त्वज्ञान आदि शब्दोंसे ज्ञानको समझाना सहज होता है। ज्ञान और उस ज्ञानसे विभूषित महापुरुषोंकी अन्तर्बाह्य स्थितिके स्वरूपको समझनेमें सरलता हो, इसीलिये ज्ञानकी सात भूमिकाओंका वर्णन किया गया है।

इस विश्वमें सातका अङ्क बड़े ही महत्त्वका है। Alchemy ने कहा है कि 'सातकी सख्या बड़ी ही चमत्कारिक है।' हिब्रू लोग इस सख्याके द्वारा शपथ खाते हैं। सगीतविद्यामें भी स्वरसप्तककी व्यवस्था है। ज्योतिःशास्त्र और आयुर्वेद आदिमें भी सप्ताङ्कका महत्त्व विराजमान है। पृथ्वीकी धातुएँ सात हैं, उपधातु भी सात हैं, मनुष्यदेहमें भी सात धातु हैं, और सात उपधातु हैं। चर्मके परत भी सात हैं, अग्निकी कलाएँ भी सात हैं, और उसमें रहनेवाले आशय भी सात हैं। सप्ताहके दिन भी सात हैं, जगत्की लौकिक शिक्षाकी पद्धतियाँ भी सात हैं और अज्ञानकी भूमिकाएँ भी सात हैं। इसी प्रकार ज्ञानकी भी सात भूमिकाएँ हैं। जैसे जगत्मे चौथी नीतिसे ही महत्त्वका यथार्थ प्रारम्भ होता है उसी प्रकार इनमें चौथी भूमिकामें ही ज्ञानकी यथार्थ उत्पत्ति होती है। इस प्रकार 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' इस सूत्रके अनुसार वेदान्तविज्ञान सर्वत्र ओतप्रोत है। वे सात भूमिकाएँ ये हैं—

भूमयः सप्त तद्वत्स्युर्ज्ञानस्योक्ता महर्षिभिः।
शुभेच्छा ननु तत्राद्या ज्ञानभूमिः प्रकीर्तिता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यादसंसक्तिश्च पञ्चमी।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी चाथ तुर्यगा॥

(वेदान्तसिद्धान्तादर्श १९०—१९२)

महर्षियोंने ज्ञानकी सात भूमिकाएँ कही हैं—पहली शुभेच्छा, दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसा, चौथी सत्त्वापत्ति, पाँचवीं असंसक्ति, छठी पदार्थाभावनी और सातवीं तुर्यगा।

१—शुभेच्छा—नित्यानित्यवस्तुविवेकादिपुरःसरा फलपर्यवसायिनी मोक्षेच्छा शुभेच्छा।

'नित्यानित्यवस्तुविवेक-वैराग्यादिके द्वारा सिद्ध हुई फलमें पर्यवसित होनेवाली मोक्षकी इच्छा अर्थात् विविदिषा, मुमुक्षुता, मोक्षके लिये आतुर इच्छा ही शुभेच्छा है।'

२—विचारणा—गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारात्मकश्रवणमननात्मिका वृत्तिः सुविचारणा।

'श्रीसद्गुरुके समीप वेदान्तवाक्यके श्रवण-मनन करनेवाली जो अन्तःकरणकी वृत्ति है वह सुविचारणा कहलाती है।'

३—तनुमानसा—निदिध्यासनाभ्यासेन मनस एकाग्रतया सूक्ष्मवस्तुग्रहणयोग्यता तनुमानसा।

'निदिध्यासन (ध्यान और उपासनाके अभ्यास) से मानसिक एकाग्रता प्राप्त होती है, उसके द्वारा जो सूक्ष्म वस्तुके ग्रहण करनेकी सामर्थ्य (योग्यता) प्राप्त होती है उसे तनुमानसा कहते हैं।'

ये तीन भूमिकाएँ जाग्रत् भूमिकाएँ कहलाती हैं। क्योंकि इनमें जीव और ब्रह्मका भेद स्पष्ट ज्ञात होता है। इनमें स्थित व्यक्ति साधक माना जाता है, ज्ञानी नहीं। क्योंकि—

एतस्मिन्नवस्थात्रये ज्ञानोत्पादनयोग्यतामात्रं संपद्यते न च ज्ञानमुत्पद्यते।

इन तीनों अवस्थाओंमे तत्त्वज्ञानके प्राप्तिकी योग्यता प्राप्त होती है, ब्रह्मज्ञान नहीं प्राप्त होता; अर्थात् इन तीन भूमिकाओंमें विचरता हुआ पुरुष ब्रह्ममें अभेद भावको प्राप्त नहीं होता। परन्तु ज्ञानकी प्राप्तिके लिये इनकी पहले अत्यन्त आवश्यकता होनेके कारण इनकी गणना अज्ञानकी भूमिकामे न होकर ज्ञानकी भूमिकामें ही होती है।

ज्ञानभूमिकात्वं तु ज्ञानेतरकर्माद्यनधिकारित्वे सति ज्ञानस्यैवाधिकारित्वात्।

इन तीन भूमिकाओंमें स्थित पुरुष ज्ञानसे इतर कर्मादिका अधिकारी नहीं होता, प्रत्युत केवल ज्ञान—तत्त्वज्ञानका ही अधिकारी होता है।

४–सत्त्वापत्ति–**निर्विकल्पब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारः सत्त्वापत्तिः।**

संशयविपर्ययरहित ब्रह्म और आत्माके तादात्म्य अर्थात् ब्रह्मस्वरूपैकात्मत्वका अपरोक्ष अनुभव ही सत्त्वापत्ति नामकी चतुर्थ भूमिका है। यह सिद्धावस्था है। इस भूमिकामें स्थित महापुरुषको 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या'का वास्तविक अनुभव हो जाता है। यद्यपि इस दशाको प्राप्त पुरुषको जगत्का भान होता है और शरीर तथा अन्तःकरणद्वारा सभी क्रियाएँ सावधानीके साथ होती हैं, तथापि मायावश जीव जिस जगत्को सत्यस्वरूप देखता है, उस जगत्के मिथ्यात्वका उसे यथार्थ अनुभव हो गया है। यह भूमिका स्वप्न कहलाती है।

५–असंसक्ति–**सविकल्पकसमाध्यभ्यासेन निरुद्धे मनसि निर्विकल्पकसमाध्यवस्थासंसक्तिः।**

सविकल्प समाधिके अभ्यासके द्वारा मानसिक वृत्तियोंके निरोधसे जो निर्विकल्पक समाधिकी अवस्था होती है, वही असंसक्ति कहलाती है। इसे सुषुप्तिभूमिका भी कहते हैं, क्योंकि इस भूमिकामें सुषुप्ति-अवस्थाके समान ब्रह्मसे अभेदभाव प्राप्त हो जाता है। यह जगत्प्रपञ्चको भूला रहता है, परन्तु समयपर स्वयं ही उठता है और किसीके पूछनेपर उपदेश करता है तथा देहनिर्वाहकी क्रिया भी करता है।

अस्यामवस्थायां योगी स्वयमेव व्युत्तिष्ठते।

६–पदार्थाभावनी–**असंसक्तिभूमिकाभ्यासपाटवाच्चिरं प्रपञ्चापरिस्फूर्त्यवस्था पदार्थाभावनी।**

असंसक्ति नामक पाँचवीं भूमिकाके परिपाकसे प्राप्त पटुताके कारण दीर्घकालतक प्रपञ्चके स्फुरणका अभाव पदार्थाभावनी भूमिका कहलाती है। पाँचवीं भूमिकामें विश्वप्रपञ्चका विस्मरण अल्पकालतक ही रहता है और छठी भूमिकामें यह स्थिति दीर्घकालपर्यन्त रह सकती है। इन दोनों भूमिकाओंमें केवल समयका ही भेद होता है। इस भूमिकाको गाढ़ सुषुप्तिके नामसे पुकारते हैं। इस भूमिकामें स्थित महापुरुष देहनिर्वाहादि क्रिया भी स्वतः व्युत्थित दशामें आकर नहीं करता, परन्तु—

अस्यामवस्थायां परप्रयत्नेन योगी व्युत्तिष्ठते।

अर्थात् अन्यके द्वारा व्युत्थान पाकर यह क्रिया करता है। दूसरा कोई मुँहमें ग्रास दे देता है तो दाँत और जीभसे खानेकी क्रिया हो जाती है। इत्यादि।

७–तुरीया–तुर्यगा–**ब्रह्मध्यानावस्थस्य पुनः पदार्थान्तरापरिस्फूर्तिस्तुरीया।**

ब्रह्मचिन्तनमें निमग्न इस महापुरुषको पुनः किसी भी समय किसी भी अन्य पदार्थकी परिस्फूर्तिका न होना, यही ज्ञानकी सप्तम भूमिका तुरीया कहलाती है। इस स्थितिको प्राप्त महात्मा स्वेच्छापूर्वक या परेच्छापूर्वक व्युत्थानको प्राप्त ही नहीं होता, केवल एक ही स्थिति—ब्रह्मीभूत स्थितिमें ही सदा रमण करता है।

अस्यामवस्थायां योगी न स्वतो नापि परकीयप्रयत्नेन व्युत्तिष्ठते केवलं ब्रह्मीभूत एव भवति।

इस प्रकार ज्ञानकी सात भूमिकाओंमें प्रथम तीन भूमिकाएँ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये योग्यता प्राप्त करनेके निमित्त बनायी गयी हैं। चौथीसे सातवीं भूमिकातक ज्ञानकी दशा है और यह उत्तरोत्तर उन्नत दशाकी भूमिका है। चतुर्थ भूमिकामें ही तत्त्वज्ञानका यथार्थ प्रादुर्भाव हो जाता है और वही तत्त्वज्ञान अन्तिम चारों भूमिकाओंमें स्थित रहता है। व्युत्थान दशाके तारतम्यसे इनमें भेद माना गया है।

शास्त्र कहता है–'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।' अतः ब्रह्मके जाननेवालोंको ज्ञानी, तत्त्वज्ञानी, आत्मज्ञानीकी संज्ञासे शास्त्रोंने स्थान-स्थानपर उल्लेख किया है—

एताः सत्त्वापत्त्याद्याश्चतस्रो भूमिका एव ब्रह्मविद्-ब्रह्मविद्वरब्रह्मविद्वरीयोब्रह्मविद्वरिष्ठेत्येतैर्नामभिर्यथाक्रमेण पूर्वं व्याख्याताः।

'इस प्रकार सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी और तुरीया—इन चार भूमिकाओंमें स्थित महात्मा क्रमशः ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहलाता है।'

योगाभ्यासद्वारा तपोबलको बढ़ाकर उसके प्रभावके द्वारा विश्वको वशमें करनेवाले अनेकों महापुरुषोंका आविर्भाव हो, इस शुभ भावनाके साथ यह ज्ञानभूमिकाओंका परिचय समाप्त किया जाता है।

भोगमें योग

(लेखक—काव्यतीर्थ पं० श्रीकृष्णदत्तजी शास्त्री, साहित्यायुर्वेदोभयाचार्य)

योग-विषय अनन्त तथा असीम है। सभी आचार्योंने सकी पृथक्-पृथक् परिभाषाएँ की हैं। योग-जैसे गहन ौर दुरूह विषयमें पूर्वाचार्योंके अनेक मत होना ाभाविक है। जो विषय गूढ़ और जटिल होता है उसका नेक प्रकारसे समीक्षण किया जाना भी एक प्रकारसे सके महत्त्वका सूचक है। 'योग' शब्द प्रसङ्गाधीन अनेक र्थोंमें पाया जाता है। अतः उसका सांकेतिक अर्थ करना चित नहीं। कोई योगका अर्थ समाधि करता है तो कसीके मतमें अष्टाङ्गयोगद्वारा चित्तवृत्तिका निरोध करना ो योग है। कुछ लोग योगका अर्थ सहकार करते हैं तो किसीके मतमें 'योग' नाम दो भावोंके सयोग या मिलापका । गवेषणापूर्वक निरीक्षण करनेसे पता चलता है कि ोगका अर्थ 'त्याग' करना ही उचित है। वह चाहे किसी भिप्रेत—अभीष्टके मिलापके लिये हो या स्वतन्त्र हो किन्तु योगका अर्थ 'त्याग' करना युक्ति एवं हेतुपूर्ण है। ोकमें भी योगका अर्थ त्याग ही देखा जाता है। जैसे मुक मनुष्य योगी हो गया, अमुकने तो मानो ससारसे ोग ही ले लिया हो, ऐसा लोग कहते हैं। सन्यासयोग, ाख्ययोग, निष्काम कर्मयोग आदि शब्दोंपरसे स्थिर होता है कि योग शब्द त्यागमात्रमें पर्यवसित है। क्योंकि एकके त्याग बिना दूसरेका मिलन नहीं होगा। वस्तुतः 'योग है क्या पदार्थ? उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है और उसके लिये क्या करना होगा?' यह एक जटिल और गम्भीर प्रश्न है। इस विषयमें विद्वानोंके अनन्त मतभेद पाये जाते हैं—जैसे अष्टाङ्गयोग, हठयोग, राजयोग, भक्तियोग, प्रेमयोग, ध्यानयोग, सन्यासयोग, सांख्ययोग समाधियोग, क्रियायोग इत्यादि शतशः नाम लिये जा सकते हैं। परन्तु ध्येय सबका एक है। वह है 'ऐहिक पदार्थोंके प्रति अनासक्तिपूर्वक ब्रह्मसाक्षात्कार किंवा तत्प्राप्ति।' इसपर किसीका वैमत्य नहीं। अत. सिद्ध होता है कि योगाभिप्रेत परीक्षाका परीक्ष्य विषय अनासक्ति और फल ब्रह्मप्राप्ति है। अनासक्तिको वासनात्याग भी कहते हैं। ऐहिक वासनाका सम्यक् लय करना योगका काम है। वासना किंवा आसक्ति-त्याग दो प्रकारसे किया जा सकता है। किसी प्रेय पदार्थका स्वरूपसे त्याग और कामना और वासना-त्याग। इस विश्वकी विचित्रता और व्यापकताको देखते हुए यथार्थ त्याग कामना और वासनाद्वारा ही हो सकता है। यदि हठयोगद्वारा जङ्गलमें जाकर या अन्य क्रियाओंद्वारा ससारका स्वरूपसे त्याग किया भी जाय तो पूर्ण त्याग नहीं बन सकता। किसी-न-किसी रूपमें ससारका अस्तित्व बना ही रहेगा। कदाचित् बाह्य जगत्का त्याग किया भी तो आन्तरिक जगत्का त्याग न होगा। पाञ्चभौतिक शरीरद्वारा ही पञ्चभूतोंका त्याग नहीं हो सकता। शरीरके रहते हुए शरीरका स्वरूप-त्याग नहीं बन सकता, अतः वासनात्याग-को ही यथार्थ मानना चाहिये।

वासनात्यागके लिये जङ्गलमें जानेकी या अमुक क्रिया करनेकी जरूरत नहीं, उसके लिये तो ब्रह्मज्ञ गुरुद्वारा आत्म-परमात्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्तकर अन्तःकरण-वृत्त्यवच्छिन्न वासनाका त्याग करना होगा। सघर्षमय जीवनकी चञ्चलताको नष्टकर समताके साम्राज्यमें विचरना होगा। 'समत्व योग उच्यते' का पालन करना होगा; 'सर्वमनास्था खलु' की धारणा दृढ़ करनी होगी, ऐहिक ऐश्वर्योंको पाकर भी पद्मपलाशवत् निर्लिप्त रहना होगा, जीते हुए मुरदा बनना पड़ेगा, सच्चा जनक विदेह बनना होगा; तभी भोगमें योगका आनन्द प्राप्त होगा, गृहमें जङ्गलसे अधिक मङ्गलमय जीवन व्यतीत होगा। इसीका नाम योग है। हठयोगद्वारा किसी वृत्तिको समूल नष्ट करना या किसी वृत्तिविशेषकी उत्पत्तिके पूर्व ही उसका नष्ट कर देना वास्तविक योग नहीं। दमनका नाम यथार्थ त्याग नहीं, बल्कि वह त्यागका उपहासमात्र है। त्याग-शक्तिकी दुर्बलताका परिचय देना तो एक प्रकारसे योग-की अवज्ञा करनेके बराबर है।

किसी प्रकार प्रश्न-पत्रोंको प्राप्त कर लेना, किसीसे पूछ लेना अथवा आत्मघातका भय दिखाकर परीक्षा पास कर लेनेको 'उत्तीर्ण' होना नहीं कह सकते। इसी प्रकार जन्मसे ही दूर रहकर हठयोगद्वारा वृत्तियोंका दमनकर वासनालय या आसक्तित्याग प्राप्त करना योगीका काम नहीं। योगी तो वही है जो विश्ववैभवसरोवरमें खड़ा होकर भी अपनेको सूखा रख सके, उसकी तरङ्गोंका रग न चढ़ने दे, विषयद्वन्द्वमें भी निर्द्वन्द्व रहे। निर्वात

दीपकी भाँति चित्तको निश्चल और मनको एकाग्र रक्खे। विषयरसको नीरस बना दे। किसीने कहा भी है—

ईंधन विहूनी आग राखिवेको जतन कहा,
ईंधनमें आग राखे वाहीको जतन है।
इन्द्री गलित करै, कहौ कौन साधपनो,
इन्द्री वलित बाँधे सोई साधपन है॥
'अक्षर अनन्य' विन विषय पाए त्याग कहाँ,
पाय करै त्याग सोई वैराग मन है।
घर छोड वन जोग मॉडनको निहोरो कहा,
घरहीमें जोग मॉडे सोई गुरुजन है॥

वास्तवमें योगविषयक 'अक्षर अनन्य' कविके उपर्युक्त पद्यका भाव अक्षरशः सत्य है। जब सम्भावना ही नहीं तब त्याग किसका? बलात् इन्द्रियोंका दमन करना तो योगकी विडम्बना है। तृणके अभावमें अग्निका रखना, 'अग्निकी यथार्थ रक्षा' नहीं। तृणसमूहके होते हुए अग्निको सुरक्षित रखनेका नाम ही रक्षा है। कमल जलमें वास करता है किन्तु जलमें लिप्त नहीं। जो गृहमें रहकर भी गृहमे लिप्त नहीं, उसमें आसक्त नहीं, वही सच्चा योगी है। किसीने सत्य कहा है—

पंकज ज्यों जलमॉहिं बसै, तो पै भिन्न रहै, जल परस न लावे।
हस बसै सर मॉहिं सदा, पै छीर मखै नीरहि बिलगावे॥
व्यूह-समूह बसै जिमि ध्यानी, पै ध्यान धरै, नहिं चित्त डिगावे।
भोग न बाधि सकै तिमि योगै जो भोगमें योग समाधि लगावे॥

शुद्धान्तःकरण और सात्त्विक अन्नभोगीके चित्तमें कभी विक्षेप उत्पन्न नहीं होता तब बाधा कैसी? वह चाहे जिस आश्रममें बसे, किसीसे कम नहीं। चित्तवृत्तिके निरोधका नाम समाधि है, वह चाहे किसी प्रकार क्यों न प्राप्त हो। मानसिक वेगोंके शान्त होते ही 'नोद्वेजति न च द्वेष्टि योगी विगतकल्मषः' हुआ नहीं कि वही सच्चा योगी हो गया।

यदि हमें भोगमें योग साधना है तो सबसे प्रथम आचार-विचारोंको शुद्ध और परिमित करना होगा। तभी अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न इस प्रपञ्चमय प्राणीको योगी बना सकेंगे। जहाँतक चित्तकी चञ्चलता और विक्षेपका नाश नहीं वहाँतक योग (त्याग) प्राप्त नहीं होता और त्याग विना ब्रह्मसाक्षात्कार कैसा? अतः स्थिर धारणा प्राप्त करनी होगी। स्थिरता तो समतामें है। तराजूके किसी पलड़ेमें यदि बोझ कम-ज्यादा होगा तो स्थिरता नहीं प्राप्त हो सकती। बस, यही दशा योगीकी है। मनकी तरङ्गोंका रग किसी तरफ चढ़ जाने दिया या उसकी परवा न की तो फिर स्थिरता कहाँ? चित्तवृत्तिमें विक्षेपका प्रवेश हुआ नहीं कि बस, किया-कराया सब धूल! अतः यदि भोगमें योग प्राप्त करना है तो चित्तमें विक्षेपका प्रवेश मत होने दो, मनके विकारोंको नष्ट करो, कल्पनाको मिटा दो, उदासीनताका सेवन सीखो, जङ्गलमें नहीं किन्तु घरमें ही सच्चे जनक विदेह बनो। कौन कहता है कि भोगमे योग नहीं हो सकता? निर्लेप होते ही सब ऋद्धि-सिद्धि आपकी दासी हो जायँगी। तृष्णा आपके आगे हाथ जोड़े खड़ी रहेगी। सन्तोष आपका मित्र होगा, फिर भय किसका? कल्पना-कालका अभाव हुआ कि आप अजर-अमर योगी हो गये—'जलमें न्हाइये, कोरे रहिये, अन्तरमें कीजे बास'। अब शेष क्या रहा? विशुद्धान्तःकरण मनुष्यको कुछ भी दुर्लभ नहीं—

विक्षेपकल्पनातीतः समचित्तो विचारधीः।
भोगे योगं न जानाति स योगी किं करिष्यति॥

कल्पना, काल एवं विक्षेपरूप शत्रुको जीतनेवाला, शान्तिके साम्राज्यमें स्थिरचित्त हो निश्चिन्त विचरनेवाला यदि भोगमें योग नहीं साध सकता तो वह योगी होकर ही क्या करेगा? अरे, बन्धन तो वासनामें है, जब वासनालय हो गया, तब जाग्रदवस्था होते कितनी देर लगती है। और वासनारहित योगी सदा ही जीवन्मुक्त है, उसे भोगबन्धन कैसे हो सकता है!

वासनालिङ्गसम्बद्धो जीवः संसृतिहेतुकः।
वासनालिङ्गनिर्लिप्तो योगी जाग्रदवस्थकः॥

शान्तिः शान्तिः शान्तिः

क्लेशोंका स्वरूप और निवृत्ति

(लेखक—सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार)

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ।

(पातञ्जल योगदर्शन, साधनपाद सू० ३)

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, इन पाँचोंकी क्लेश-संज्ञा है । इन पाँचोंमें अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन चारोंका मूल कारण भी अविद्या ही है—अस्मिता आदि चारों क्लेश अविद्याके कारण ही उत्पन्न होते हैं और अविद्याके नष्ट होनेपर उनकी निवृत्ति है ।

(१) अविद्या—अविद्याका अर्थ है विपर्यय ज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान । अर्थात् अनित्यमें नित्यकी, अशुचिमें शुचिकी, दुःखमें सुखकी और अनात्ममें आत्मत्वकी प्रतीति होना ।

(अ) अनित्यमें नित्यकी प्रतीति—अर्थात् अनित्य वस्तुको नित्य समझ लेना । स्वर्गादि लोक और उनके दिव्य भोगविलास, उनमें विहार करनेवाले देवता एवं अपने पुण्यकर्मोंके फलसे स्वर्गीय सुखोपभोग प्राप्त करनेवाले व्यक्ति, सभी अनित्य हैं । क्योंकि इन्द्रादि देवताओंकी भी अवधि निश्चित है और पुण्यकर्मसे स्वर्गादि उपलब्ध करनेवाले पुण्यात्माओंकी भी । उनका वह वैभव नित्य नहीं, पुण्य क्षीण होनेपर वे भी स्वर्गसे गिरा दिये जाते हैं । भगवान्‌ने उद्धवजीके प्रति कहा है—

तावत्प्रमोदते स्वर्गे यावत्पुण्यं समाप्यते ।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । १० । २६)

अतः स्वर्गलोकादिके अनित्य भोगोंको सर्वदा स्थिर समझकर उनके लिये अभिलाष करना प्रथम अविद्या है ।

(आ) अशुचिमें शुचिकी प्रतीति—अर्थात् अपवित्र वस्तुको पवित्र समझना । मनुष्यशरीरकी अत्यन्त अपवित्रता प्रत्यक्ष सिद्ध है—

स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निष्यन्दान्निधनादपि ।
कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ॥

(पातञ्जलदर्शन-भाष्य २ । ५)

अर्थात् मलमूत्रादि अत्यन्त दुर्गन्धित पदार्थोंसे लिप्त माताका उदर तो इस शरीरका उत्पत्तिस्थान है । माता और पिताका अत्यन्त मलिन रज और वीर्य इस शरीरका उपादान कारण है । तथा जिससे यह शरीर धारण किया जाता है—जो शरीरका उपष्टम्भ (आश्रय) है वह रस भी खाये-पीये हुए अन्नजलादिके परिपाकसे उत्पन्न होनेवाले रुधिर आदि अत्यन्त अपवित्र पदार्थोंसे बनता है । एवं इस शरीरसे मल-मूत्र, प्रस्वेद आदि अत्यन्त अपवित्र पदार्थ तो सर्वदा ही झरते रहते हैं । केवल इतना ही नहीं, जिस शरीरको चन्दनादि सुगन्धित द्रव्योंसे सुवासित और वस्त्रालङ्कारोंसे विभूषित किया जाता है वही शरीर प्राण-वियोग होनेपर अस्पृश्य हो जाता है और शूकर-कूकर आदि मांसभक्षी पशुपक्षियोंका भक्ष्य बन जाता है । भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने कहा है—

वासोविलेपनैर्यानि लालितानि पुनः पुनः ।
तान्यङ्गान्यङ्ग लुण्ठन्ति क्रव्यादाः सर्वदेहिनाम् ॥
मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाजलरयोपमा ।
दृष्टा यस्मिन्स्तने मुक्ताहारस्योल्लासशालिता ॥
श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः ।
श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः ॥

(योगवासिष्ठ वैराग्य प्र० २१ । ४—६)

'सुन्दर वस्त्र और अनेक प्रकारके सुगन्धित द्रव्योंसे शोभित किये जानेवाले देहधारियोंके अङ्गोंको मांसाहारी जीव नोच-नोचकर खा जाते हैं । एवं मोतियोंकी मालासे विभूषित स्त्रीके जो स्तन निर्मल गङ्गाजलसे सुशोभित मेरुशृङ्गके तुल्य आह्लादक प्रतीत होते हैं उन्हीं स्तनोंको कालान्तरमें श्मशानभूमिमें या अन्यत्र श्वान इस प्रकार आस्वादन करते हैं जैसे चावलके छोटे-से पिण्डको ।'

इसके अतिरिक्त यदि मृत शरीरको तत्काल दग्ध न किया जाय तो सड़कर कीड़े पड़ जानेपर शूकर और श्वान आदि भी उससे घृणा करने लग जाते हैं । मनुष्य-शरीर ऐसा बीभत्स और घृणास्पद होनेपर भी किसी स्त्रीको देखकर यह समझना कि यह बड़ी ही सुन्दरी है, मानो इसकी रचना विधाताने अमृतके अवयवोंसे की है, या यह चन्द्र-मण्डलका भेदन करके पृथ्वीपर आ गयी है, निरी मूर्खता है । इस प्रकार स्त्रीमें कामान्ध होकर आसक्त होनेवाले व्यक्तियों-में और मलमूत्रमें विहार करनेवाले कीड़ोंमें क्या भेद हो

सकता है ? उर्वशीमें आसक्त होकर पश्चात्ताप करते हुए राजा ऐलने कहा है—

तस्मिन् कलेवरेऽमेध्ये तुच्छनिष्ठे विपज्जते।
अहो सुभद्रं सुनसं सुस्मितं च मुखं स्त्रियः॥
त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहतौ ।
विण्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम्॥
(श्रीमद्भागवत ११। २६। २०-२१)

"उस अपवित्र और तुच्छ शरीरमें 'अहो इस स्त्रीका कैसा मनोहर मुख है, इसकी नासिका कैसी सम और सुन्दर है, इसकी मुस्कान कैसी मनोहारिणी है—ऐसी भावना करके मनुष्य आसक्त हो जाता है। यह कैसा मोह है ? त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु, मेद, मज्जा और अस्थियोंके समूहरूप इस देहमें आसक्त पुरुषोंमें और अति अपवित्र मल-मूत्रमें किलविलानेवाले कीड़ोंमे क्या अन्तर है ?"

अतएव एवभूत घृणास्पद स्त्रीके शरीरको पवित्र समझना केवल मिथ्या ज्ञान है। स्त्रीमें आसक्त होना साधारण क्लेश नहीं, किन्तु सर्वनाशका कारण भी है। श्रीदत्तात्रेयजीने राजा यदुसे कहा है—

योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादि-
द्रव्येषु मायारचितेषु मूढः।
प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या
पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः॥
(श्रीमद्भागवत ११। ८। ८)

'स्त्रियोंके वस्त्रालङ्कारके सौन्दर्यपर प्रलुब्ध होकर कामान्ध मूढ पुरुष उस पतङ्गकी भाँति नष्ट हो जाता है जो दीपकके रूपपर मुग्ध होकर उसपर गिरकर नष्ट हो जाता है।'

इसी प्रकार यज्ञादिमे की हुई पापरूप हिंसाको पुण्यकर्म समझना और अनेक अनर्थ कर्मोंद्वारा अर्जन-पालन किये जानेवाले धनको पवित्र समझना भी मिथ्या ज्ञान है। इसीसे उद्धवजीके प्रति भगवान्‌ने आज्ञा की है—

स्तेयं हिंसानृतं दम्भ कामः क्रोधः स्मयो मदः।
भेदो वैरमविश्वासः सस्पर्धा व्यसनानि च॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥
(श्रीमद्भागवत ११। २३। १८-१९)

'चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, क्षोभ, मद, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा और स्त्री, द्यूत एवं मद्यका व्यसन, ये पन्द्रह मनुष्योंमें धनके कारणसे ही होते हैं; इसलिये श्रेयार्थी पुरुषको इस अर्थरूप अनर्थका दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये।'

इस प्रकार अशुचिको शुचि समझना दूसरी अविद्या है।

(इ) दुःखमे सुखकी प्रतीति—विषयसुख वास्तवमें महान् दुःखप्रद है। उसे सुख मानना भी मिथ्या ज्ञान है। क्योंकि—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (पातञ्जलदर्शन, साधनपाद सू० १५)

अर्थात् विवेकशील जनोंकी दृष्टिमें सारे विषय-सुख परिणाम, ताप और सस्कारदुःखोंसे परिपूर्ण एवं गुणवृत्ति-विरोध होनेके कारण दुःखरूप हैं।

परिणामदुःख—मनुष्यको पुत्र, स्त्री, मित्र आदि चेतन और गृह, क्षेत्र आदि अचेतन पदार्थोंमे सुखका जो अनुभव होता है वह राग (प्रीति) के सयोगसे होता है—जिसमे राग होता है उसी पदार्थमें सुख भी माना जाता है। राग रजोगुणका कार्य होनेके कारण रागद्वारा सुखकी प्राप्तिके लिये धर्माधर्ममे प्रवृत्ति होती है। एवं सुखके अनुभवकालमे दुःखकारक पदार्थोंसे द्वेष होना भी स्वाभाविक है। और द्वेष होनेपर अनर्थ कार्यमे प्रवृत्ति होती है। तथा दुःखके दूर करनेमें असमर्थ होनेपर मोह होता है। मोह होनेपर कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान नहीं रह सकता। अतः मोह भी अनर्थरूप होनेके कारण पापजनक है। इसके अतिरिक्त विषय-सुखमे भूतहिंसाका होना भी अनिवार्य है। क्योंकि हिंसाके बिना विषय-सुखका होना असम्भव है। जब गृहस्थी जनोंसे अपने जीवनयापन-के साधनोंमे भी—

पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥
(मनुस्मृति ३। ६८)

—चुल्ली आदि पाँच प्रकारकी हिंसाओंका होना अपरिहार्य है, तब नाना प्रकारके विषयोपभोगोंमें हिंसाओंके होनेकी क्या गणना हो सकती है ?

यदि यह कहा जाय कि विषयोंके उपभोगद्वारा इन्द्रियों-की तृप्ति होनेके कारण भोग-तृष्णाकी जो शान्ति होती है

क्या वह सुख नहीं है ? और उस तृष्णाकी शान्तिका न होना क्या दुःख नहीं है ? इसका उत्तर यह है कि विषय-भोगद्वारा भोग-तृष्णाकी शान्ति कहाँ ? प्रत्युत अग्निमें घृत छोड़नेपर जिस प्रकार अग्निकी अभिवृद्धि होती है उसी प्रकार विषयोंके उपभोगसे तो विषय-तृष्णाकी अधिकाधिक वृद्धि होती है—शान्ति नहीं। कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥
(मनुस्मृति २। ९४)

अतएव विषयोंके उपभोगसे भोग-तृष्णा कभी शान्त नहीं हो सकती, यह प्रत्यक्षानुभवसिद्ध है। विषय-भोगका परिणाम क्या होता है, इस विषयमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजी-ने कहा है—

पुत्राश्च दाराश्च धनं च बुध्या
प्रकल्प्यते तात रसायनाभम्।
सर्वं तु तन्नोपकरोत्यथान्ते
यन्नातिरम्या विषमूर्च्छनैव॥
विपादयुक्तो विषमामवस्था-
मुपागतः कायवयोऽवसाने।
भावान् स्मरन् स्वानिह धर्मरिक्तान्
जन्तुर्जरावानिह दह्यतेऽन्तः॥
(योगवासिष्ठ, वैराग्य प्र० २७। १३-१४)

अर्थात् पुत्र, स्त्री और धन आदि जितने भी पदार्थ कल्पनामें अमृतके समान सुखकारक माने जाते हैं, वे अत्यन्त रमणीय प्रतीत होनेवाले सब पदार्थ कुछ भी उपकार न करके प्रत्युत अन्तकालमें विषके समान दुःख-प्रद हो जाते हैं। जब स्वयं सन्तप्त मनुष्य वृद्धावस्थासे ग्रसित होता है तब यह अपने पापकर्मोंका स्मरण करता हुआ दग्ध हो जाता है। विषयासक्ति ही सारे बन्धनोंका कारण है—

बन्धाय विषयासङ्गि मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥
(विष्णुपुराण ६। ७। २८)

अतएव विषयसुखमें यह परिणामदुःखता है।

तापदुःखता—विषयसुखोंके साधनोंकी पूर्णता न होनेसे चित्तमें जो परिताप होता है वह तापदुःखता है। विषय-सुखोंकी प्रतीतिके समय उसके विरोधी पदार्थोंमें द्वेष होनेके कारण कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाओंद्वारा दूसरों-को दुःख देनेमें अवश्य प्रवृत्ति होती है। क्योंकि अपने सुखके बाधक समझ कर ही—

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।

'आज इस शत्रुको मारा, अब औरोंको मारूँगा।' —इस प्रकारकी चित्तवृत्ति उत्पन्न हुआ करती है। इस प्रकारकी चित्तवृत्ति भी भावी दुःखका कारण होनेसे विषयसुखमें तापदुःखता है। अतएव विषयचिन्तनमात्रको श्रीमद्भगवद्गीतामें सर्वनाशका कारण कहा है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
(२। ६२-६३)

संस्कारदुःखता—सुखके संस्कारकी स्मृतिसे जो धर्माधर्म कार्योंमें प्रवृत्ति होती है उसके द्वारा भविष्यमें दुःख होनेकी सम्भावना, विषय-सुखमें संस्कारदुःखता है। अर्थात् सुखका अनुभव होनेसे सुखका संस्कार चित्तमें स्थिर हो जाता है। उस संस्कारसे सुखका स्मरण होता है। स्मरणद्वारा सुखमें राग (अभिलाषा या वासना) उत्पन्न होता है। जिससे सुखकी प्राप्तिके लिये कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाओंद्वारा शुभाशुभ कर्मोंमें प्रवृत्ति होना अवश्यम्भावी है। और उन कर्मोंके फलसे पुनः जन्म होता है। पुनर्जन्म होनेपर सुखादिके अनुभवद्वारा संस्कार, संस्कारसे स्मरण और स्मरणसे राग आदि उत्पन्न होनेसे सुखानुभवजनित संस्कारोंसे प्रत्येक जन्ममें कर्मोंका समूह बनता जाता है, यह विषयसुखमें संस्कारदुःखता है।

जिस प्रकार विषयसुखमें उपर्युक्त परिणाम, ताप और संस्कारदुःख हैं, उसी प्रकार गुण-वृत्तियोंके परस्पर विरुद्ध होनेके कारण भी विषयसुख दुःखरूप है। अर्थात् सत्त्व, रज और तम, ये तीनों गुण परस्परमें अन्योन्याश्रित होकर ही प्रत्येक कार्यका सम्पादन कर सकते हैं, न कि स्वतन्त्र। अतएव विषयसुखोपभोगरूप शान्तवृत्ति भी त्रिगुणात्मक होनेके कारण दुःख और विषादमिश्रित होती है। इसके द्वारा सिद्ध है कि विषयसुख स्वभावतः दुःख-रूप है। यदि सुखोपभोगात्मक शान्तिवृत्तिकी कुछ कालतक अचल स्थिति रहना सम्भव होता तो विषयसुख किसी अंशमें सुख कहा भी जा सकता था। किन्तु गुण चञ्चल होनेके कारण वे क्षण-क्षणमें विलक्षण परिणामको प्राप्त होते

रहते हैं अतएव सुख क्षणिक होनेके कारण अन्तमें दुःखरूप है। अतएव भगवान्‌ने आज्ञा की है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ५। २२)

'हे अर्जुन! इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न भोग दुःखके हेतु और आदि-अन्तवाले हैं, अतएव बुद्धिमान् उनमें नहीं रमता।'

निष्कर्ष यह कि दुःखरूप विषयभोगमें सुख समझना तीसरी अविद्या है।

(ई) अनात्ममें आत्मत्वकी प्रतीति—पशु, पुत्र, स्त्री और भृत्य आदि चेतन तथा शय्या, आसन, गृह और धन आदि अचेतन बाह्य उपकरण एवं भोगका अधिष्ठान[1] शरीर और पुरुषका उपकरण मन[2], ये सभी आत्मासे भिन्न हैं, इनको आत्मरूप अर्थात् मैं और मेरे मान लेना मिथ्या ज्ञान है। अनात्ममे आत्मत्वरूप मिथ्या ज्ञान ही सारे मिथ्या ज्ञानोंका मूल है। इसके नष्ट होनेपर सारे मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाते हैं। इसीसे बृहदारण्यक उपनिषद्‌की—

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥
(४। ४। १२)

'यदि पुरुष अपने आपको जान जाय कि मैं सारे दुःखोंके सम्बन्धसे रहित नित्यमुक्त आनन्दस्वरूप हूँ तो वह फिर किसी पदार्थकी इच्छा करता हुआ किसलिये शरीरमें मिथ्या अध्यास करके विषयभोगोंके लिये दुःखसे सन्तप्त होगा।'

इस श्रुतिमें व्यतिरेकद्वारा आत्म-अज्ञानको ही सम्पूर्ण अनर्थोंका कारण बताया गया है। अतएव यह चौथी अविद्या है।

उपर्युक्त चारों प्रकारकी अविद्या ही राग, द्वेष आदि शेष चारों क्लेशोंका मूल कारण है। अतएव महर्षि गौतमने—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।
(न्यायदर्शन, अध्याय १, सूत्र २)

—इस सूत्रमें मिथ्याज्ञानात्मक अविद्याकी निवृत्तिद्वारा रागादिकी निवृत्तिको ही आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिका कारण बताया है।

(२) अस्मिता—दृक्‌शक्ति (द्रष्टा अर्थात् पुरुष[1]) और दर्शनशक्ति (बुद्धि[2]) की एकात्मता-सी (अभिन्नता-सी) प्रतीत होना अस्मिता नामक क्लेश है।

पुरुष और बुद्धि, ये दोनो वस्तुतः अत्यन्त विलक्षण हैं—पुरुष कूटस्थ, शुद्ध, चेतन तथा भोक्ता है और बुद्धि परिणामी, मलिन तथा जड है। इन दोनोंका तादात्म्यभावसे (अभेदसे) प्रतीत होना अस्मिता है। यह अस्मिता ही पुरुषके लिये भोगका कारण है। क्योंकि इस अस्मिताके कारण ही नित्य, शुद्ध, चेतन, अविकारी और कूटस्थ होकर भी पुरुष अपनेको जडबुद्धिसे भिन्न न मानकर 'मैं कर्ता-भोक्ता हूँ, सुखी हूँ, दुखी हूँ'—इस प्रकार मान लेता है। अतएव द्रष्टा और दृश्यका अभेद-ज्ञानरूप अस्मितासंज्ञक क्लेश बन्धनका कारण है। योगवासिष्ठमें कहा है—

द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्ताङ्ग बन्ध इत्यभिधीयते।
द्रष्टा दृश्यबलाद्बद्धो दृश्याभावे विमुच्यते॥
(उत्पत्ति प्र० १। २२)

'द्रष्टाकी दृश्यरूपसे सत्ता मान लेना ही बन्ध है। दृश्यके वशमें होनेसे वह बद्ध है और दृश्यको मिथ्या समझनेसे मुक्त हो जाता है।'

(३), (४) राग और द्वेष—सुखानुभवके अनन्तर चित्तमें रहनेवाली सुखकी अभिलाषाका नाम राग और दुःखानुभवके अनन्तर चित्तमे रहनेवाली दुःखको निराकरण करनेकी इच्छाका नाम द्वेष है। अर्थात् सुख और दुःखके अनुभवके समय चित्तमें सुख और दुःखके सस्कार स्थिर हो जाते हैं। समयान्तरमे उस पूर्वानुभूत सुख या दुःखका स्मरण हो आनेपर, तादृश सुखकी इच्छा और दुःखके प्रति द्वेष

---

१ शरीरमें स्थित होकर पुरुष भोगोंको भोगता है, अतः शरीर भोगका अधिष्ठान है।

२. विषयभोगका साधन होनेके कारण मन पुरुषका उपकरण है।

१. सबका द्रष्टा होनेके कारण पुरुषकी द्रष्टा-संज्ञा है।

२ विषयाकारसे परिणत होकर विषयरूपको प्राप्त होनेके कारण बुद्धिकी दर्शनशक्ति-संज्ञा है।

उत्पन्न होना राग और द्वेष नामक क्लेश हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने राग-द्वेषको महारोग कथन किया है—

रागद्वेषमहारोगा भोगपूगा विभूतयः।
कथं जन्तुं न बाधन्ते संसारार्णवचारिणम्॥
(योगवासिष्ठ)

अतएव राग-द्वेष क्लेशरूप बताये गये हैं। क्योंकि राग और द्वेष मनुष्यके परम शत्रु हैं—इनके वशीभूत होकर ही सब अनर्थ-कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है। श्रीमद्भगवद्-गीतामें भी कहा है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥
(३। ३४)

सभी इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंमें राग और द्वेष स्थित हैं, अर्थात् इष्ट वस्तुमें राग और अनिष्टमें द्वेष रहता है। अतएव राग-द्वेषके वशमें कभी न होना चाहिये, क्योंकि ये इस पुरुषके परिपन्थी हैं। परिपन्थीका अर्थ पूज्यपाद भाष्यकारने यहाँ 'कल्याण-मार्गमें विघ्न करने-वाले चोरके समान' किया है।

(५) अभिनिवेश—स्वभावसिद्ध मरणभय अभिनिवेश-संज्ञक क्लेश है। अर्थात् प्राणिमात्रकी अपने विषयमें 'मैं कभी न मरूँ, सर्वदा जीवित रहूँ' ऐसी इच्छा रहना ही अभिनिवेश है। अभिनिवेश केवल सम्प्रज्ञात समाधिस्थ योगीजन तथा विवेकशील ज्ञानी एवं भगवद्भक्तोंके अतिरिक्त क्या मूढ, क्या पण्डित, क्या वृद्ध, क्या बालक, सभीके हृदयमें एक समान स्थित रहता है। यह अभिनिवेश स्व-रस-वाही है अर्थात् पूर्वमरणके अनुभवकी वासनाद्वारा रहा करता है। यदि पूर्वजन्ममें मरणका अनुभव न हुआ होता तो इस जन्ममें मृत्युका भय न होता। क्योंकि तत्कालका बालक या कीड़े आदि, जिन्होंने न तो मरण-दुःखका वर्तमानमें प्रत्यक्ष अनुभव ही किया है, न अनुमान ही कर सकते हैं और न आगम-प्रमाणसे ही अभिज्ञ हैं, उनको भी यह मृत्युभय होना प्रत्यक्ष देखा जाता है।

उपर्युक्त अविद्यादि पाँचों क्लेशोंकी चार अवस्थाएँ हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार।

प्रसुप्त अवस्थामें चित्तमें वर्तमान रहते हुए भी क्लेश अपने कार्य करनेमें समर्थ नहीं होते। किन्तु अपने कार्यको सम्पादन करनेकी शक्ति उनमें बीजभावसे बनी रहती है।

तनु अवस्थामें प्रतिपक्षभावनाद्वारा अर्थात् तप एवं स्वाध्याय आदि क्रियायोगोंके अनुष्ठानद्वारा क्लेश उपहत होकर क्षीण हो जाते हैं। अर्थात् सम्यक्ज्ञानद्वारा अविद्या, विवेकज्ञानद्वारा अस्मिता, माध्यस्थ्यद्वारा राग-द्वेष और अहता-ममताके त्यागद्वारा अभिनिवेश तनु अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं। यद्यपि क्लेशोंकी तनु अवस्था क्रियायोग-द्वारा साध्य होनेके कारण उपादेय है, किन्तु असम्प्रज्ञात समाधिस्थ[2] योगीके लिये तनु अवस्थावाले क्लेश भी त्याज्य होनेके कारण तनु क्लेश भी अविद्या मूलक ही है।

विच्छिन्न अवस्थामें क्लेश बीच-बीचमें विच्छिन्न होकर भी फिर उसी रूपमें प्रादुर्भूत होते रहते हैं। यह विच्छिन्न अवस्था दो प्रकारसे होती है—सजातीय रागकी उदारताद्वारा और विजातीय रागकी उदारताद्वारा। जैसे किसी पुरुषका अन्य स्त्रियोंकी अपेक्षा किसी विशेष स्त्रीमें उत्कट अनुराग हो, वह अनुराग लब्धवृत्ति अर्थात् उदार है। किन्तु अन्य स्त्रियोंमें वही अनुराग उस समय भविष्यद्वृत्ति होनेके कारण विच्छिन्न है। अतः ऐसा राग सजातीय रागकी उदारताद्वारा विच्छिन्न होता है। और रागके समय क्रोध उत्पन्न न होनेके कारण जो अदृश्यमान क्रोध है वह विजातीय रागकी उदारताद्वारा विच्छिन्न हो जाता है।

एक क्लेशकी उदार अवस्थाके समय अन्य क्लेशोंकी केवल विच्छिन्न अवस्था ही नहीं किन्तु कहीं प्रसुप्त और कहीं तनु अवस्था भी रहती है।

उदार अवस्थामें क्लेश अपने विषयमें लब्धवृत्ति होनेके कारण उत्कटरूपमें प्रकट होकर अपने कार्यमें तत्पर रहते हैं।

क्लेशोंकी उक्त चारों अवस्थाएँ क्रियायोगके अनुष्ठान-द्वारा जिस प्रकार तनु हो जाती हैं उसी प्रकार विषय-चिन्तन आदि उत्तेजक कारणोंद्वारा उदार हो जाती हैं।

---

१ यह ग्रहण करने योग्य है और यह त्याग करने योग्य, इस प्रकारके अनुकूल और प्रतिकूल ज्ञानके अभावको माध्यस्थ कहते हैं।

२. निर्बीज या निरालम्ब समाधिप्राप्त योगी।

अर्थात् क्रियायोग क्लेशोंकी क्षीणताका और विषयासक्ति क्लेशोंकी वृद्धिका कारण है।

क्लेशोंकी उक्त चारों अवस्थाओंमें प्रसुप्त अवस्था तत्त्वलीन[1] व्यक्तियोंमें रहती है। तनु अवस्था योगीजनोंमें और विच्छिन्न तथा उदार अवस्था विषयासक्त मनुष्योंमें रहती है—

प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्वव्यवस्थाश्च योगिनाम्।
विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसङ्गिनाम्॥

(योगदर्शन—वाचस्पतिमिश्रकृत व्याख्या)

पूर्वोक्त अविद्या आदि पाँचों क्लेशोंकी उक्त प्रसुप्त आदि चार अवस्थाओंके अतिरिक्त एक दग्ध अवस्था भी है। परन्तु वह अवस्था तो वाञ्छनीय है, उस अवस्थाको प्राप्त हो जानेपर क्लेश पुरुषको बाधित करनेमें समर्थ नहीं रहते।

क्लेशोंकी निवृत्ति

प्राणिमात्र क्लेशोंकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्तिके लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। किन्तु जिस विषय-भोगकी प्राप्तिको वे दुःखनाश और सुखकी प्राप्ति समझते हैं, वह न तो वस्तुतः दुःखका नाश है और न सुख ही। प्रत्युत विषय-भोगमें माना जानेवाला सुख तो दुःख (क्लेश)-रूप है, जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त जो लोग दुःखके नाश और सुखकी प्राप्तिके लिये स्वच्छन्द (अपने मनोनुकूल) उपायोंकी योजना करते हैं, उनके द्वारा भी दुःखका नाश या सुखकी प्राप्ति सम्भव नहीं। क्लेशोंकी निवृत्ति तो शास्त्रोक्त साधनोंद्वारा ही हो सकती है।

क्लेशोंकी निवृत्तिके लिये प्रथम उदार अवस्थाप्राप्त क्लेशोंको क्षीण करनेके लिये तप और स्वाध्याय आदि क्रियायोग[2] ही एकमात्र साधन है। क्योंकि अनादिकालसे किये गये कर्म और तज्जनित क्लेशोंकी वासनाद्वारा असंख्य प्रकारसे विषयोंमें प्रवृत्त करनेवाला रजोगुण और तमोगुणका विकास तप और स्वाध्याय आदि क्रियायोगके अतिरिक्त कभी विनष्ट नहीं हो सकता। यहाँ 'तप' द्वारा शरीरको शोषण करनेवाले स्मृतियोंमें निरूपित कृच्छ्रचान्द्रायणव्रत आदि दुःसाध्य तपोंसे तात्पर्य नहीं, क्योंकि चान्द्रायणव्रत आदि धातुवैषम्यकारक होनेके कारण योगके विरोधी हैं। यहाँ तो हित[2], मित[3] एवं मेध्य[4] भोजन, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंकी सहिष्णुता और इन्द्रियोंके दमनात्मक युक्ताहार-विहार आदि तप ही अभीष्ट हैं। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा गया है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

स्वाध्यायसे यहाँ प्रणवका जप, रुद्रसूक्त, पुरुषसूक्त आदि वैदिक मन्त्र और मोक्ष-प्रतिपादक पौराणिक शास्त्रोंका अध्ययन और श्रीभगवन्नामका जप अभीष्ट है।

उदार अवस्थाप्राप्त क्लेशोंकी क्रियायोगद्वारा क्षीण अवस्था हो जानेपर भी वे समूल नष्ट नहीं होते—बीजभावसे स्थित रहते हैं, अतः बीजभावसे स्थित क्लेश-वृत्तियाँ ध्यान (निदिध्यासन) योगद्वारा—जिसकी योग-शास्त्रमें प्रसंख्यान अग्नि संज्ञा भी है—दग्धबीज की जा सकती हैं।

ध्यानका अर्थ है ध्येयाकार चित्तवृत्तिकी एकाग्रता हो जाना—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।
(यो० वि० पा० सू० २)

चित्तकी एकाग्रताके लिये अर्थात् चित्तवृत्तियोंके निरोध करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य ही एकमात्र साधन है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।
(यो० समा० पा० सू० १२)

---

१ आत्मतत्त्वभावना करके (जो अज्ञानजन्य है) पञ्चभूत आदिमेंसे किसी तत्त्वका समाधिमें आलम्बन करके जो ध्यान करते हैं उनको तत्त्वलीन अथवा विदेहप्रकृतिलय कहते हैं और यह सम्प्रज्ञात समाधि कही जाती है। यह समाधि मुक्तिका साक्षात् साधन नहीं, क्योंकि अपनी अवधिके अनन्तर तत्त्वलीनको फिर संसारमें आना पड़ता है।

२. क्रियायोगमें तीसरे साधन ईश्वरप्रणिधान (भक्ति) का भी योगदर्शनमें उल्लेख है, वह आगे लिखा जायगा।

२ योगीके विरोधी अति अम्ल, अति लवण, अति उष्ण, अति रूक्ष, तिल, सरसों, दही और मांस आदिको छोड़कर गेहूँ, चावल, मूँग, गोदुग्ध, शर्करा, घृत और मधु आदि हित-भोजन है।

३ उदरके दो भाग अन्नसे और एक भाग जलसे पूर्ण करके शेष चौथा भाग वायुके सञ्चारके लिये रिक्त (खाली) रखना मितभोजन है।

४ मद्य, मांस, मत्स्य, लहसुनको छोड़कर परवल, सूरण (जिमीकन्द) आदि मेध्यभोजन है।

अर्थात् अभ्यासद्वारा यमनियमादि साधनोंकी दृढ़ अवस्था हो जानेपर और ऐहिक एवं पारलौकिक विषयोंमें अत्यन्त ग्लानि रखनेसे ही चित्तकी एकाग्रता उपलब्ध हो सकती है।

अभ्यास और वैराग्यद्वारा चित्तकी एकाग्रता उपलब्ध हो जानेपर एकाग्रचित्तमें सच्चिदानन्दघन परमेश्वरके ध्यानद्वारा क्लेश दग्धबीज हो जाते हैं। ध्यान अमूर्त और मूर्त दो प्रकारका होता है—

आश्रयश्चेतसो ब्रह्म द्विधा तच्च स्वभावतः।
मूर्तममूर्तं च परं चापरमेव च॥

(विष्णुपुराण ६। ७। ४७)

नारदपाञ्चरात्रगत आनन्दसंहितामें भी कहा है—

आनन्दो द्विविधः प्रोक्तो मूर्तश्चामूर्त एव च।

अमूर्त अर्थात् अव्यक्त—निर्गुण ब्रह्मका ध्यान और व्यक्त अर्थात् भगवान् श्रीरामकृष्ण आदि अपने अभिमत भगवान्‌की इष्टमूर्तिका ध्यान।

इस प्रकार भगवान्‌के ध्यानद्वारा क्लेशोंके दग्धबीज हो जानेपर उन क्लेशोंको निर्मूल करनेका एकमात्र साधन असम्प्रज्ञात समाधि ही है—

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः। (यो० सा० पा० सू० १०)

असम्प्रज्ञात समाधिमें ध्याता और ध्येयकी प्रतीति नहीं होती है[1] अर्थात् वह निर्बीज (निरालम्ब) होती है। यह समाधि ही योगकी परमावधि है। इसीके लिये यम, नियम आदि अष्टाङ्गयोगादि अनेक साधनोंका योग-दर्शनमें उल्लेख किया गया है। किन्तु असम्प्रज्ञात समाधिके योगशास्त्रोक्त साधनोंका अनुष्ठान सहज नहीं। अर्जुनके प्रश्न करनेपर स्वयं भगवान् आज्ञा करते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १२। ५)

जो अव्यक्त (अक्षर निर्गुण निराकार) ब्रह्मके उपासक हैं उनको देहाभिमानका परित्याग करना परमावश्यक है। देहाभिमानके त्याग बिना निराकार ब्रह्मात्मक समाधि उपलब्ध नहीं हो सकती। देहाभिमानका त्याग अत्यन्त दुष्कर है—इसके लिये यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, इन अष्टाङ्गयोगों[2] के दुःसाध्य साधनोंद्वारा इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। अतएव इन साधनोंके अत्यन्त कष्टसाध्य होनेके कारण परमदयालु भगवान् पतञ्जलिने क्लेशोंकी निवृत्ति और समाधिकी उपलब्धिके लिये एक सुखसाध्य साधन और भी बताया है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा।

(योगदर्शन, समाधिपाद, सू० २३)

ईश्वरप्रणिधानका अर्थ है भगवान्‌की भक्ति। इस सूत्रमें 'वा' के प्रयोगद्वारा ईश्वरप्रणिधानसे भी समाधिका उपलब्ध होना कहा गया है। अर्थात् जिस प्रकार श्रद्धा-पूर्वक यमनियमादि साधनोंके करनेसे तीव्र वैराग्य उत्पन्न होकर चित्तके निरोधद्वारा समाधि उपलब्ध होती है, उसी प्रकार भक्तिसे भी समाधि उपलब्ध हो सकती है। इससे स्पष्ट है कि भगवान् पतञ्जलिने सम्पूर्ण क्लेशोंको नष्ट करनेके लिये असम्प्रज्ञात समाधिको ही परम पुरुषार्थ बताया है, जो उपर्युक्त योग और भक्ति दोनोंसे उपलब्ध हो सकती है। किन्तु, जैसा पहले दिखाया गया है, योग-मार्ग बड़ा दुःसाध्य है। भक्तिमार्गमें उन कठिन साधनोंकी आवश्यकता नहीं रहती। इस बातको ध्यानमें रखते हुए ही देवर्षि नारदजीने वेदव्यासजीको कहा है—

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः।
मुकुन्दसेवया यद्वत्तथात्माद्धा न शाम्यति॥

(श्रीमद्भागवत १। ६। ३६)

अर्थात् कामलोभादि क्लेशोंसे अहर्निश सन्तप्त मन जिस प्रकार भगवान्‌की सेवाद्वारा शान्त होता है उस प्रकार यम-नियमादि योगमार्गद्वारा नहीं हो सकता। इसीलिये नारदभक्तिसूत्रमें भी उन्होंने भक्तिको कर्म, ज्ञान और योगकी अपेक्षा अधिकतर बताकर मुमुक्षु-जनोंको भगवद्भक्तिका ही आदेश दिया है—

स तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा।

(सूत्र २५)

तस्मात्सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः। (सूत्र ३३)

निष्कर्ष यह है कि क्लेशोंके विनाशके लिये योग और भक्ति दोनों ही महत्त्वपूर्ण साधन हैं। किन्तु इस कलिकाल-में अष्टाङ्गयोगका यथावत् साधन होना असम्भव नहीं तो अत्यन्त दुःसाध्य होनेके कारण संसारके क्लेशोंके आत्यन्तिक विनाशके लिये इस समय भगवद्भक्तिका आश्रय ही सुसाध्य है।

---

१ कहा है—मनसो वृत्तिशून्यस्य ब्रह्माकारतया स्थिति। अनन्यज्ञाननानासौ समाधिस्त्रिभिरीर्यते॥

२. पातञ्जल योगसूत्र, साधनपाद, सूत्र २९—५५ तथा विभूतिपादके प्रारम्भमें है।

योगमाया

(लेखक—प० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, आचार्य, शास्त्री, एम० ए०)

श्रीयोगमाया वह अद्भुत तत्त्व है जिसके कारण निर्गुण, निराकार परब्रह्म कल्याणगुणगणाकर मूर्तिमान् बन जाते हैं। यद्यपि इन दोनों—शक्ति तथा शक्तिमान्में कोई भेद नहीं है तथापि भक्तोंसे आराधित शक्तिमान् जिस प्रकार श्रीरामकृष्णादि अनेक रूपोंमें दर्शन देते हैं उसी प्रकार ऋषि-मुनि-सस्तुता शक्ति भी श्रीदुर्गा, देवी, काली आदि नानाविध रूपोंमें प्रकट होती हैं। भावके तारतम्यके अनुसार ही शास्त्रमें, उपासना-विधिमें, व्यावहारिक भेद दृष्टिगोचर होता है, जैसे किसी भावुक भक्तको अघटनघटनापटीयसी शक्तिदेवीकी अपार महिमाके सम्मुख ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी गौण प्रतीत होते हैं तो किसी दूसरे भक्तको शक्ति शक्तिमान्के अधीन विदित होती हैं। परमार्थतः दोनों एक ही वस्तु हैं।

शास्त्रमें इन महाप्रभावा योगमायाका वर्णन अनेक स्थलोंपर उपलब्ध है। वेदके एक मन्त्रमें शक्ति-शक्तिमान्को भाई-बहिन मानकर उनका आह्वान किया गया है—

'एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया
तञ्जुषस्व ·····' (शुक्लयजु० ३। ५७)

'अम्बिका बहिनके साथ हे रुद्र! यह आपका भाग है, इसे पाइये।'

मार्कण्डेयपुराण तथा देवीभागवत इन जगज्जननीके सर्वोपरि माहात्म्यका वर्णन कर ही रहे हैं। श्रीमद्भागवतमें वह ब्रह्मके परिपूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्रजीकी अनुजा कही गयी हैं—

अदृश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजा।

'भगवान् श्रीविष्णुकी छोटी बहिन अष्टमहाभुजा आयुध लिये दिखायी दीं।' इन्हीं योगमायाने श्रीमन्नारायणके आदेशके अनुसार गर्भसङ्कर्षण नामक त्रिलोकीमें अश्रुतपूर्व चमत्कार किया था और अजा होकर भी यशोदा-माताकी गर्भशय्यामें शयन किया था—

या योगमायाजनि नन्दजायया।

योगमायाकी इच्छासे ही वसुदेवजीके कारागृहके निरीक्षक द्वारपाल निद्राभिभूत हो गये थे।

तया हृतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु
द्वाःस्थेषु पौरेष्वथ शायितेष्वपि।

इन्हींके साहाय्यसे भगवान् श्रीकृष्णने रास नामक लोकोत्तर विस्मय किया था—

योगमायामुपाश्रितः। (श्रीमद्भा० १०। २९। १)

'योगमायाका आश्रय करके।'

सगुण ब्रह्मका जो सर्वातिशायी ऐश्वर्य है वह सब योग-मायाका प्रभाव है। सनकादि नित्यमुक्त ब्रह्मर्षियोंके वैकुण्ठाधिष्ठान श्रीविष्णुभगवान्के साथ सलापमें भगवान्का जो विशेषण है उससे यही बात सिद्ध होती है—

ते योगमायया रब्धपारमेष्ठ्यमहोदयम्।
प्रोचुः प्राञ्जलयो विप्राः प्रहृष्टाः क्षुभितत्वचः॥
(श्रीमद्भा० ३। १६। १५)

'योगमायासे जिनके परमैश्वर्यका महोदय प्रकट हुआ उन परमेश्वरसे वे आनन्दित पुलकित ब्राह्मण हाथ जोड़कर बोले।'

योगियोंके योगप्रभावको भी योगमाया कहा जा सकता है। किन्तु प्रस्तुत प्रसङ्गमें वह अभीष्ट नहीं है, क्योंकि बद्ध मनुष्यकी अपेक्षा मुक्त योगीका ऐश्वर्य यद्यपि निरवग्रह हो सकता है और शास्त्रमें ऐसा कहा भी गया है, तथापि परमात्माके साथ तुलना करनेमें वह सावग्रह ही ठहरता है। योगदर्शनके मतानुसार समाधिके अनन्तर अन्यान्य विभूतियोंके अतिरिक्त योगियोंको सर्वज्ञत्व नामकी सिद्धिकी प्राप्ति हुआ करती है।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।

'प्रकृति और पुरुषके भेदका यथार्थ ज्ञान जिसको हो गया वह सब भावोंका अधिष्ठाता और सर्वज्ञ हो जाता है।' यह सर्वज्ञत्व तथा सर्वभावाधिष्ठातृत्व अवश्यमेव आपेक्षिक है। साधारण ससारी जीवकी अपेक्षा योगी सर्वज्ञ है ही, किन्तु उसमें निरतिशय सर्वज्ञबीज नहीं है, वह तो नित्य-सिद्ध परमपिताका ही सहज गुण है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।

'वहाँ सर्वोपरि सर्वज्ञताका बीज है।' इसी प्रकार योगीको प्रकृतिपर विजय प्राप्त हो जाता है, किन्तु वह जगत्‌की सृष्टि-स्थिति-प्रलय नहीं कर सकता। वेदान्त-शास्त्रका—

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च।

—यह सूत्र इस विषयमें प्रमाण है। विश्वव्यापार तो भगवान्‌की ही योगमायाका विलास है।

जिन अतर्क्यमहिमशालिनी ब्रह्मशक्ति भगवती श्री-योगमायाके भृकुटिविलासमात्रसे अनन्त आकाशमें अनन्त तारावली यथानियम अप्रमत्तरूपसे परिभ्रमण किया करती है उन जगज्जननी भक्तकल्याणकारिणी योगमायादेवीके श्रीचरण-नलिन-युगलमें हम सादर मस्तक नवाते हैं।

त्याग और लोकसेवारूप योग

(लेखक—रेवरेण्ड आर्थर ई० मैसी)

'यदि कोई मनुष्य मेरा अनुसरण करना चाहता है तो वह अपना अहङ्कार त्याग दे और प्रतिदिन अपना क्रॉस उठाकर मेरे पीछे हो ले।'* (ल्यूक ९। २३)

योगके द्वारा मुक्ति तभी मिल सकती है जब उसकी सारी प्रक्रियाओं और पद्धतियोंमें त्याग और लोकसेवाकी प्रधानता हो, क्योंकि मायिक परिच्छिन्न जीवकी प्रत्येक चेष्टा व्यर्थ होती है। ईश्वर प्रेमरूप है और प्रेममें विधिकी पूर्णता है। जहाँ प्रेमकी प्रधानता है वहाँ त्याग, त्याग नहीं रह जाता, क्योंकि प्रेममें केवल प्रेमास्पदका ही ध्यान रहता है, अपना ध्यान बिल्कुल नहीं रहता। वास्तवमें प्रेम ही सब कुछ है, जिसे हम अहङ्कार कहते हैं वह तो प्रतीतियोंका एक निरा ढेर है जो हमारी भेद-बुद्धिको दृढ करता हुआ हमें उस एक एव अद्वितीय सत्ताके साथ एकताका अनुभव नहीं करने देता। प्रत्येक सच्चा योगी एव प्रत्येक सद्गुरु ज्ञानपूर्वक परमात्मयोगके प्रकाशमें विचरता है, उसके अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तुको न तो वह जानता है और न इच्छा करता है। वह जगत्‌के परस्परविरोधी स्वरोंको अपने कानोंके समीप नहीं जाने देता, अपने अहङ्कारयुक्त विचारों और अनुभूतियोंको शान्त कर देता है और उस आभ्यन्तर प्रकाशकी सहायतासे ससारके कार्य करता है जो प्रकाश प्रत्येक वस्तुके वास्तविक स्वरूपको प्रकट करता है। वह यथार्थ मार्गको ही देखता और ग्रहण करता है और यथार्थ बात ही कहता है। प्रेमरूप शक्तिको ग्रहणकर उसे सब लोगोंको वितीर्ण करना ही उसका कार्य होता है, अतएव मनुष्यशरीरको तो वह अपने आपको सर्वतो-भावेन जनतारूप जनार्दनकी सेवामें उत्सर्ग कर देनेका एक सुन्दर अवसर समझता है। सद्गुरु और आन्तरिक ज्योतिमें कोई अन्तर नहीं है, इसलिये सद्गुरु या योगी बनना ही प्रत्येक कल्याणकामी पुरुषका ध्येय होना चाहिये। हमलोग विच्छिन्न व्यक्तियाँ नहीं हैं, अपि तु एक ही शरीरके अङ्ग हैं, और यदि हममेंसे कोई एक भी प्रभुकी पूर्णता प्राप्त करनेकी चेष्टा करे तो वह सारा समष्टिशरीर ही ऊँचा उठा हुआ अनुभव करेगा। क्योंकि शरीरके एक अङ्गमें पीड़ा होनेपर अन्य समस्त अङ्गोंको उस पीड़ाका अनुभव होता है, अथवा एक अङ्गके पूजित होनेपर समस्त अङ्गोंको प्रसन्नता होती है। इसलिये, यह जानकर कि दुःखसे चरित्रकी दृढ़ता होती है, हमको दुःखमें भी आनन्दित होना चाहिये। एक अङ्गकी पुष्टिसे सारा शरीर पुष्ट होता है और जगत्‌में उसकी क्षमता बढती है, अतः त्याग और लोकसेवा योगका विशुद्धतम एवं सर्वोत्कृष्ट रूप है। "मैं उनके अन्दर रहता हूँ और मेरे अन्दर वे रहते हैं जिससे कि वे पूर्ण होकर 'एक-मेवाद्वितीयम्' बन जायँ।"

प्रेमके बिना परमात्मासे मिलनेकी सारी आकांक्षाएँ, योगकी सारी प्रक्रियाएँ और उसके विविध प्रकार व्यर्थ एवं निष्फल हैं। प्रेम नवीन जीवन प्रदान करनेवाली तथा पवित्र करनेवाली महान् एव अमोघ शक्ति है। 'सत्यं शिव सुन्दरम्' बननेकी सतत चेष्टासे ही मनुष्यके आध्यात्मिक शरीर अथवा आत्माका विकास एव अभि-व्यक्ति होती है। हमारा आध्यात्मिक स्वरूप स्वयं पूर्ण होनेपर भी सदा किसी ऐसे साधनकी खोजमें रहता है जिसके द्वारा वह मानवजातिकी सेवा एव सहायता कर सके और हमारे अन्दर सेवा और सहायता करनेकी

* "If any man would come after Me, let him deny himself and take up his cross daily and follow Me." (*Luke IX 23*)

जितनी योग्यता एव क्षमता आती है उतनी ही मात्रामे ईश्वर हमारे द्वारा अपनी इच्छा और अभिसन्धिको पूर्ण करते हैं।

सेवाके मार्गमें पैर रखनेके पूर्व हमें जाति, वर्ण, रग, धर्म अथवा स्त्री-पुरुषके भेदको सर्वथा भुला देना होगा, नहीं तो हम कदापि इस कार्यमे सफल नहीं हो सकते, क्योंकि प्रेमकी दृष्टिमें मनुष्यमात्र उस 'एकमेवाद्वितीयम्' के ही अनेक रूप है, अतः उनमें छोटे-बड़ेकी कल्पना भी नहीं हो सकती।

मनुष्यके लिये परमात्माको खोजनेकी आवश्यकता नहीं है, जितनी अधिक उसकी खोज की जायगी उतना ही अधिक वह दुर्लभ होता जायगा। क्योंकि किसी कविने ठीक ही कहा है—

'वह (परमात्मा) प्राणसे भी समीप है और हाथ-पैरसे भी निकट है।'* जब जीव अपनी युगान्तव्यापिनी मोहनिद्रासे जागता है, जब भौतिक विचारका आवरण उसकी दृष्टिके सामनेसे हट जाता है और वह ब्रह्मसाक्षात्कारके समीप पहुँच जाता है, उस समय उसे यह दिव्य अनुभव होता है कि 'मेरे अन्दर अब 'अहम्' (मायिक क्षुद्र अहभाव) नहीं रहा, बल्कि स्वय प्रभु प्रतिष्ठित हो गये हैं।'† और इस प्रकार वह सच्चा त्यागी एव लोकसेवक योगी बन जाता है।

बाहरी वेष, कर्मकाण्ड, प्रतिमापूजन, तपश्चर्या आदि सभी आत्माके विकासमें सहायक हैं, यद्यपि इनमेंसे कोई भी अनिवार्य नहीं है। किन्तु ध्येयकी प्राप्ति होते होते ये सब सॉपकी केंचुलीकी भाँति अवश्य छूट जाते हैं और जब कुछ भी नहीं बच रहता तब वहाँ स्वय भगवान् आ विराजते हैं। इस भौतिक जगत्के लिये 'भवाटवी' और 'दुःखालय' आदि शब्दोंका प्रयोग इसीलिये किया गया है कि हम इसे मूर्खतावश प्रकृति नटीका एक नश्वर खेल न समझकर प्रत्यक्ष एव सत् मान बैठे हैं। अतएव वे कष्ट, निर्वेद एव यन्त्रणाएँ जिनका हम जीवनमे अनुभव करते हैं सभी इस रूपमे आवश्यक हैं कि वे हमे सनातन सत्य तत्त्वका—उस अलौकिक शान्तिका लक्ष्य कराते हैं जो हमारी बुद्धिमें भी नहीं आ सकती ("Peace that passeth all understanding") प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक स्पिनोजा (Spinoza) ने एक जगह कहा है कि 'ईश्वरका लक्षणोंके द्वारा निर्देश करना उसका अपलाप करना है' (To define God is to deny Him)। उनका यह कहना सर्वथा सत्य है, क्योंकि जितना ही अधिक हम ईश्वरका लक्षणोंके द्वारा निर्देश करनेकी चेष्टा करते हैं उतना ही अधिक हम उस अपरिच्छिन्नको परिच्छिन्न अथवा ससीम बनाते है। अतः सभी विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों, दर्शनों, आचार्यों एवं अधिकारी पुरुषोंको नमस्कार कर निरन्तर एव दृढतापूर्वक मौनका ही अभ्यास करना श्रेयस्कर है, जिससे हम अपने हृदयस्थित अन्तरतम प्रदेशमें परमात्माका सयोग प्राप्तकर उनके साथ आलाप करें और अन्तमें उन्हींके अन्दर अपने आपको विलीन कर दें—जिन परमात्माको उपनिषदोंने 'एकमेवाद्वितीयम्' कहा है तथा जिनके अतिरिक्त और कोई सत्य वस्तु है ही नहीं।

इस बातको जान लेना श्रेयस्कर है कि परमात्मा ही प्रकृतिके द्वारा अपनी अभिसन्धिको पूर्ण कर रहे हैं।

"सर्वप्रथम बाष्पसदृश धूम्रवर्ण ज्योति उत्पन्न हुई और तदनन्तर ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र आदिकी सृष्टि हुई। इसके अनन्तर खनिज पदार्थों एव शख, सीप आदिकी उत्पत्ति हुई, इसके अनन्तर छोटी-छोटी मछलियाँ एव विसतोइया आदि जीव उत्पन्न हुए और फिर उन गुहाओं और कन्दराओंकी रचना हुई जिनमें जगली मनुष्य रहने लगे। इसके बाद मनुष्योंको कानून एव सौन्दर्यका ज्ञान हुआ और अन्तमें उनकी दृष्टि पार्थिव पदार्थोंके परे आत्माकी ओर गयी। कुछ लोग उत्पत्तिके इस क्रमको परिणाम या विकास कहते हैं और दूसरे लोग इसीको ईश्वरके नामसे पुकारते है।"* हाँ, प्रकृति कोई विरानी अथवा ईश्वरसे भिन्न वस्तु नहीं है, बल्कि उन्हींका निःश्वास है। एक सच्चे योगीकी दृष्टिमें प्रकृति ईश्वरका ही प्रत्यक्ष रूप है,

* "Closer is He than breathing,
Nearer than hands and feet."

† "Not 'I' but Christ that liveth in Me."

* "A fire-mist and a planet,
A crystal and a shell,
A jelly-fish and a saurian,
And caves where the cave-men dwell,
Then a sense of law and beauty,
And a face turned from the clod,
Some call it Evolution,
And others call it God."

विश्वात्माका शरीर है। 'तुम्हारी ज्योतिमें ही हमें प्रकाश-का दर्शन होता है।' प्राकृतिक शक्तियाँ परमात्माके सनातन कर्मका—जगत्के अन्तःस्थित उनके सजीव सङ्कल्पका द्योतन करती हैं। ईसाने जिस सत्यका उपदेश दिया उसकी पूर्वके आत्मवित् योगियोंको नये ढगसे व्याख्या करनी होगी। ईसामसीह पूर्वीय आचार्य थे। उनका प्राकृतिक जगत्के साथ जो गाढ़ परिचय था, उन्हें मनुष्य-के अन्तःकरणका जो परिज्ञान था, उन्होंने सहानुभूति, प्रेम और सेवाका जो रहस्यमय सिद्धान्त ससारके सामने रक्खा, उनका छोटे बच्चों, दीन-दुखियों, पापियों और पतितों—उन पथभ्रष्ट प्राणियोंके प्रति जिन्हे संसार उपेक्षाकी दृष्टिसे देखता है किन्तु जगत्का वह महान् मातृहृदय जिन्हें सदा आलिङ्गन करनेके लिये प्रस्तुत रहता है,—उनके प्रति उनका जो विशेष प्रेम था, उनकी एकान्तप्रियता जो शोकके सौन्दर्यको प्रकट करती थी, उनकी उत्सर्गजनित कोमलता, उनकी सौम्य वाणी और उससे भी सौम्यतर मौन, उनकी प्रेम और विनयपूर्ण आचारनीति, उनका हृदयस्थित परमात्माके साथ संयोग स्थापित करनेवाला धर्म, उनका विशुद्ध जीवन, उनकी मृत्यु जिससे उन्होंने ससारको सनातन परमात्माके पवित्र हृदयका परिचय दिया—अवश्य ही ये सब बातें पूर्वके आदर्शवादी योगियोको सहज ही हृदयङ्गम हो सकती हैं और इन्हींके द्वारा की जानेवाली व्याख्यासे पाश्चात्य जगत्के आध्यात्मिक जीवनका पुनरुत्थान होगा। हमलोग ससारके इतिहासमें एक नवीन युगका आरम्भ देख रहे हैं, जगत्के पुनर्जन्मका काल उपस्थित है, प्राचीन व्यवस्थाका स्थान नवीन व्यवस्था ग्रहण कर रही है। समाज, शासन-व्यवस्था, दार्शनिक सिद्धान्त एवं धर्म, सभीका नये ढगसे पुनर्निर्माण होनेवाला है और इस कार्यमे पूर्व और पश्चिम दोनों ही अपने-अपने ढंगसे योग देंगे। पाश्चात्य जगत् भावी ससारको वैज्ञानिक सघटन, नैतिक शक्ति और राजनैतिक प्रगतिका पाठ पढ़ायेगा, वह व्यक्तित्वका मूल्य और परिस्थितिका महत्त्व बतायेगा और कर्मके सिद्धान्त-का समर्थन करेगा, और प्राच्य जगत् उसकी इस आवश्यक शिक्षाको प्रसन्नता एव कृतज्ञतापूर्वक ग्रहण करेगा।

यह सब ठीक है, परन्तु पश्चिमको भी उच्चतर जीवनके गहनतत्त्वोका अनुशीलन करनेके लिये, पुरातन ज्ञानको आत्मसात् करके उसका अपनी दैनिक आवश्यकताओंमे उपयोग करनेके लिये, योगियोंकी-सी दृष्टि प्राप्त करनेके लिये, प्रकृतिको केवलमात्र वैज्ञानिकोंकी प्रयोगशाला न समझकर उसे आत्माके मन्दिररूपमें देखनेके लिये, ध्यान-का अभ्यास करनेके लिये, और इस बातको भलीभाँति समझ लेनेके लिये कि कर्म ही उपासना नहीं है अपितु उपासना भी एक आवश्यक कर्म है, पूर्वकी ही शरण लेनी होगी। हम पाश्चात्य देशवासियोंके लिये अभी यह सिद्धान्त समझना बाकी है कि सत्य कोरी कल्पना नहीं है अपितु आत्माके अनुभवका विषय है और उसकी उपलब्धि केवल आलोचन-प्रत्यालोचनसे अथवा पदार्थोंका बुद्धिके द्वारा विश्लेषण करनेसे नहीं हो सकती, अपितु उसके लिये सहृदयतापूर्ण आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि और उसी प्रकारके जीवनकी अपेक्षा है। प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक शोपनहॉर उस दिनका स्वप्न देखा करते थे जब पूर्वकी ज्ञानगङ्गा पश्चिमकी ओर वह निकलेगी। जिस दिन वह काल पूर्ण-रूपसे आ जायगा उस दिन पूर्वके रहस्यमय ज्ञानका विकासवादकी अपेक्षा कहीं गहरा प्रभाव पड़ेगा। उस समय भिन्न-भिन्न विश्वधर्मोंके प्रति योरपकी दृष्टि बिल्कुल बदल जायगी और वहाँके निवासी इस बातको भलीभाँति समझ जायँगे कि सत्यका किसी धर्मविशेषने ठीका नहीं ले रक्खा है, ईश्वरीय ज्ञानके प्रकाशकी कहीं इतिश्री नहीं हो गयी और रहस्यमय ज्ञानमें एक ऐसा समन्वय-तत्त्व है जिससे अन्तमे जाकर पूर्व और पश्चिम दोनों पारस्परिक सौहार्द एवं सामञ्जस्य, तथा एक दूसरेके प्रति त्याग और सेवाके अटूट पाशमें बँधकर एक हो जायँगे, यही योगका प्रारम्भ और यही उसका चरम लक्ष्य है।

योग-शब्द

(लेखक—पण्डितप्रवर श्रीश्रीपञ्चाननजी तर्करत्न)

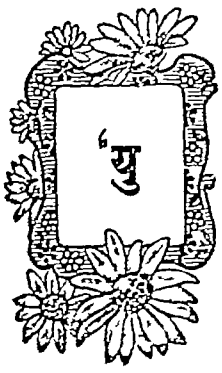

ज्' धातुसे 'योग' शब्द बनता है। पाणिनिके गणपाठमें तीन 'युज्' धातु हैं। दिवादिगणके 'युज्' धातुका अर्थ है समाधि। हमारा आलोच्यमान 'योग' शब्द इसी 'युज्' धातुसे उद्भूत हुआ है, इसमें कोई मतभेद नहीं है। इसके सिवा और दो 'युज्' धातु हैं। एक रुधादिगणमें, जिसका अर्थ सयोग होता है, और दूसरी चुरादिगणमें, जिसका अर्थ होता है संयमन। अब यह विचारना है कि ये दोनों 'युज्' धातु भी आलोच्यमान योग-शब्दकी प्रकृति हो सकते हैं या नहीं।

बहुतेरे कहेंगे कि 'दूसरी दोनों युज् धातुओंसे योग-शब्दका उद्भव होनेपर भी यह इस लेखका आलोच्य विषय नहीं है, क्योंकि वह योग समाधि नहीं है। 'समाधि' शब्दका भट्टोजि दीक्षितद्वारा प्रदर्शित अर्थ है चित्तवृत्तिनिरोध। पातञ्जलदर्शनमें उसका मूल विद्यमान है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। अतएव समाधिबोधक 'युज्' धातुसे ही इस योग-शब्दका उद्भव है, अन्य 'युज्' धातुसे नहीं।'

परन्तु मैं इस मतका पूर्णतः समर्थन नहीं करता। मैं कहूँगा कि 'दिवादिगणीय 'युज्' धातुसे जो 'योग' शब्द उद्भूत होता है उसके समाधिबोधक होनेपर भी अन्य 'युज्' धातुसे उद्भूत 'योग' शब्द समाधिबोधक नहीं हो सकता', यह कोई आवश्यक बात नहीं है। क्योंकि समाधि-शब्दके प्रकृति-प्रत्ययका निर्देश करनेसे उसकी उपलब्धि यों होती है। सम्+आ+धा+कि, सम्=सम्यक्, आ+धा=स्थापन, यहाँ 'किप्' प्रत्ययका अर्थ धात्वर्थसे अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि 'किप्' प्रत्यय भाववाच्यमें होता है।

सम्यक्स्थापन समाधि-शब्दका प्रकृति-प्रत्ययद्वारा प्राप्त अर्थ है। चित्तको इस प्रकार एक नाड़ीमें स्थापन करना पड़ता है जिसके द्वारा चित्तवृत्ति निरुद्ध हो जाती है। अतएव 'समाधि' शब्दके प्रकृति-प्रत्ययके अर्थानुसार पातञ्जलदर्शनका सूत्र 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' है। प्रकृति-प्रत्ययसे प्राप्त अर्थद्वारा यदि पदसमुदयके वाचकत्वका निर्वाह होता है तो इसके विषयमें रूढि-कल्पना करना व्यर्थ है। सामान्यवाचकका विशेषपरक अर्थ होनेपर तो रूढि-कल्पना मान्य ही होती है।

मेरा कथन यह है कि नैयायिक लोग प्रधानतः सयोगको ही समाधि कहते हैं—

अस्मद्विशिष्टानान्तु योगिनां युक्तानां योगजधर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मान्तराकाशदिक्कालमनस्सु तत्समवेतगुणकर्मसामान्यविशेषेषु समवाये चावितथं स्वरूपदर्शनमुपपद्यते। (प्रशस्तपादभाष्य)

इस भाष्यके व्याख्याकार बंगालके प्रथम नैयायिकाचार्य श्रीधराचार्य कहते हैं—

योगः समाधिः, स द्विविधः, सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्च। सम्प्रज्ञातो धारकेण प्रयत्नेन क्वचिदात्मप्रदेशे वशीकृतस्य मनसः तत्त्वबुभुत्साविशिष्टेनात्मना संयोगः। असम्प्रज्ञातश्च वशीकृतस्य मनसो निरभिसन्धिनिरभ्युत्थानात्क्वचिदात्मप्रदेशे संयोगः।

अर्थात् जिस विषयमें तत्त्वनिर्णयकी इच्छा हो, उसके अतीन्द्रिय होनेपर भी चञ्चलताको दूर करनेवाले प्रयत्नके द्वारा वशीकृत मनका उस इच्छासे युक्त अपने आत्माके साथ किसी एक अंशमें संयोग होना सम्प्रज्ञात समाधि है। तथा निम्नलिखित विशेषरूपसे मनःसंयोगको असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। यह मनःसंयोग अभ्युत्थान और व्युत्थानके अभावके कारण, अभिसन्धिसम्बन्धसे रहित तथा अपने किसी आत्मप्रदेशमें उत्पन्न होता है। अतएव 'युजिर् योगे'—यह 'युज्' धातु भी यहाँ परित्यक्त नहीं होती, यह बात तो सुस्पष्ट हो ही गयी। बल्कि कारिकावलीके कर्ता विश्वनाथ पञ्चाननकी प्राचीनोक्ति भी प्रधान कारिकामें देखी जाती है—'युक्तयुञ्जानभेदतः' अर्थात् योगजप्रत्यक्ष दो प्रकारका होता है, एक युक्तका और दूसरा युञ्जानका। यह युञ्जान-शब्द 'युज् समाधौ' इस 'युज्' धातुसे नहीं उद्भूत हो सकता। उससे तो युज्यमान पद बनेगा। नैयायिक-सम्प्रदायमें 'युजिर् योगे' यह रुधादिगणीय धातु भी योगजप्रत्यक्षवर्णनके प्रसङ्गमें सादर गृहीत हुई है।

सयमन अर्थवाली चुरादिगणीय 'युज्' धातुका सम्बन्ध भी 'वशीकृतस्य मनसः' इस अंशद्वारा समर्थित होता है। मनको वशमें करना ही मनका संयमन है। पातञ्जल दर्शनमें भी समाधिमें संयमनके विशेष सम्बन्धकी सूचना है—'त्रयमेकत्र संयमः।' समाधिके अन्तरङ्ग प्रत्याहार, धारणा और ध्यान, इन तीनोंको एक ही साथ 'संयम' नाम दिया गया है। इस प्रकार त्रिविध 'युज्' धातु ही योग-शब्दके मूलमें वर्तमान रह सकती है, यह सिद्ध हुआ।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

यह गीता-वचन भी वियोगबोधक 'योग' शब्दके निर्देशके द्वारा रुधादिगणीय 'युज्' धातुको योग-शब्दकी प्रकृतिरूपमें ग्रहण करनेका सङ्केत करता है। 'योग' शब्दका यह प्रकृति-विचार प्राचीन योगदर्शनके स्वरूपनिर्णयमें उपयोगी है।

न्याय और वैशेषिक समानतन्त्र होनेके कारण एक ही सम्प्रदायमें सामान्यतः गृहीत होते हैं। अवान्तर भेद होते हुए भी ये दोनों सम्प्रदाय 'शैवयोगी' नामसे प्रसिद्ध हैं। षड्दर्शनसमुच्चयकी गुणरत्न नामक टीकामें इनका सामान्यतः ऐक्य और विशेषतः भेद वर्णित है। कौटिल्य* या कौटल्यकृत अर्थशास्त्रमें जो योगका नाम आया है वह न्याय और वैशेषिकका ही ज्ञापक है, असलमें वैशेषिक पूर्वन्याय और गौतमसूत्र उत्तरन्याय कहलाता है। कौटिल्य या कौटल्यकृत अर्थशास्त्रमें गृहीत 'योग' शब्द न्याय और वैशेषिकका ही बोधक है। इसके प्रमाण-स्वरूप उन्हींके द्वारा रचित न्यायभाष्यकी † यह स्पष्टोक्ति पढ़िये—

पुरुषकर्मादिनिमित्तो भूतसर्गः कर्महेतवो दोषाः प्रवृत्तिश्च स्वगुणविशिष्टाश्चेतना असदुत्पद्यते उत्पन्नं निरुध्यत इति योगानाम्।

यहाँ न्यायभाष्यकारने योगमतके द्वारा असत् वस्तुओंकी उत्पत्ति, उत्पन्नके ध्वंस आदिका उल्लेख किया है। यह मत न्यायवैशेषिकका है, प्रचलित योगदर्शनका अर्थात् पातञ्जलदर्शनका नहीं। पातञ्जल दर्शन सांख्यके ही अन्तर्गत है, इसीसे इसका दूसरा नाम 'सेश्वर सांख्य' है। विज्ञानभिक्षुने पातञ्जलका 'सांख्यप्रवचन दर्शन' नाम स्वीकार किया है। पातञ्जलदर्शन असद्वस्तु-उत्पत्तिवादी नहीं है, बल्कि सत्कार्यवादी है। अतएव वात्स्यायन अर्थात् कौटिल्यके मतसे त्रिविध आन्वीक्षिकी या आन्वीक्षकीके अन्तर्गत 'सांख्य' शब्दसे कापिल और पातञ्जलदर्शनका ही बोध होता है।

न्यायवैशेषिकके मतसे 'चित्तवृत्तिनिरोध' शब्दका तात्पर्य 'चित्तकी चञ्चलताका निवारण' हो सकता है, परन्तु पातञ्जलवर्णित प्रमाणसंज्ञादिवृत्ति उस मतमें चित्तवृत्ति न होनेके कारण उनका निरोध इस लक्षणके द्वारा निर्णीत नहीं हो सकता। वृत्ति-शब्दका अर्थ यदि धर्म हो तो चित्तकी चञ्चलता जिस प्रकार चित्तका धर्म है, उसी प्रकार आत्माके साथ जो चित्तका संयोग है वह भी चित्तका धर्म अर्थात् चित्तवृत्ति हो सकती है। परन्तु यह संयोग समाधिकालमें भी निरुद्ध नहीं होता। इसी कारण नैयायिकोंके मतसे 'मनःसंयोगविशेष' ही योग है और वह संयोग ही समाधि है। इसी संयोगका उल्लेख श्रीधराचार्यकी पंक्तियोंको उद्धृत करके पहले किया गया है।

नैयायिकसम्प्रदायके मतसे चित्त, मन और अन्तःकरण एक ही पदार्थ हैं। 'बुध्यते अनेन' इस प्रकार करण वाच्यमें 'बुध्+क्तिन्' प्रत्ययद्वारा निष्पन्न 'बुद्धि' शब्दका अर्थ भी मन होता है। मनको निर्देश करनेके लिये 'बुद्धि' शब्दका प्रयोग न्यायसूत्रमें आया है—

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः। (१।१।१७)

भाष्यकार लिखते हैं—

मनोऽत्र बुद्धिरित्यनेन अभिप्रेत—बुध्यते अनेनेति बुद्धिः।

अर्थात् प्रवृत्ति-शब्दका अर्थ यहाँ वाचिक, कायिक और मानसिक कर्मोंका समूह है। प्रयत्नरूप प्रवृत्तिकी बाह्य मूर्ति उक्त कर्मसमूह है। बुद्धिपदवाच्य जिस अन्तःकरणको न्यायके मतसे मन कहते हैं, उसका एक

---

* कौटिल्य या कौटल्य चाणक्यका ही नामान्तर है। वात्स्यायन नाम भी चाणक्यका ही है। चणक मुनिके पुत्र होनेसे चाणक्य नाम पड़ा।

† वत्स ऋषिकुलकी अन्यतम शाखाके कुटिल या कुटल नामक गोत्रकार मुनिके वंशमें चाणक्यका जन्म हुआ था, इसलिये उन्हें वात्स्यायन और कौटिल्य या कौटल्य कहते हैं। विख्यात जैनाचार्य हेमचन्द्रसूरिके अभिधानमें चाणक्यके इन सब नामोंका उल्लेख है। बंगीय साहित्यसम्मेलनके नैहाटीके अधिवेशनमें दर्शनशाखाके सभापतिरूपसे मैंने जो भाषण दिया था उसमें इसका विशेषरूपसे वर्णन है।

और आभिधानिक नाम आत्मा भी है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह आत्मा ब्रह्म नहीं है, तथा नैयायिकमतसिद्ध जीवात्मा और परमात्मा भी नहीं है। उपनिषदोंमें भी इस प्रकार अन्तःकरणको 'आत्मा' शब्दके प्रयोगद्वारा अनेक स्थलोंमें प्रतिपादित किया गया है। जैसे—

बुद्धेरात्मा महान् परः। महतः परमव्यक्त-मव्यक्तात्पुरुषः परः।

(कठोपनिषद्)

यहाँ पुरुष ही ब्रह्म अथवा न्यायमतप्रतिपादित आत्मा है। इस उपनिषद्-मन्त्रमें प्रथम व्यवहृत 'आत्मा' शब्द पुरुष नहीं, महत्तत्त्व है। यह बात उक्त मन्त्रमें स्पष्ट है।

महत्तत्त्वकी बात सांख्यदर्शनमें है, न्यायके मतसे वह मन ही है। मुण्डकोपनिषद्में है—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

प्रणवके आश्रयसे यहाँ योगका उपदेश दिया गया है, प्रणव धनुरूप है, आत्मा अर्थात् अन्तःकरण बाण-स्वरूप है। ब्रह्मको लक्ष्य करके इस बाणके प्रयोगके द्वारा लक्ष्यको वेधनेसे तन्मयता आ जाती है। लक्ष्यवेध-शब्दके द्वारा सयोगविशेषका ही बोध होता है। यहाँ आत्मा-शब्दका 'अन्तःकरण' अर्थ सर्ववादिसम्मत नहीं है, केवल नैयायिकमतसम्मत है, परन्तु लक्ष्यवेध-शब्दमें जो सयोग-विशेष जान पड़ता है वह सभी द्वैतवादियोंको अभिप्रेत है। ज्ञानादिके लिये मनके जो विशेष-विशेष सयोग स्वीकार किये जाते हैं, न्यायके मतसे उसका स्थूल विवरण इस प्रकार है—'मन अणुपरिमाण है, परन्तु विद्युत्के समान क्षिप्रगतियुक्त है। नाडीविशेषके साथ संयोग होनेपर वही एक मन ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख, प्रयत्नादि विभिन्न गुणोंका उत्पादन करता है, जिस नाडीसे मनका सयोग होनेसे चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है उसी नाडीसे मनः-सयोगके द्वारा श्रावणादि प्रत्यक्ष नहीं होते। उसी प्रकार जिस नाडीसे मनःसयोग होनेपर श्रावण प्रत्यक्ष होता है उसीके साथ मनःसयोग होनेसे चाक्षुषादि प्रत्यक्ष नहीं होते। इसी कारण अन्यमनस्कता-शब्दका व्यवहार होता है।

एकाग्रचित्तसे रूपका दर्शन करते समय किसीकी बात शीघ्र नहीं सुन पड़ती, सगीत श्रवण करते समय दूसरा ज्ञान नहीं होता। क्योंकि शरीरमें बहत्तर हजार नाडियाँ हैं, उनमें केवल बहत्तर ही प्राणवहा प्रधान नाडियाँ हैं। इन प्रधान नाडियोंमें दस प्रमुख हैं—(१) इडा, (२) पिङ्गला, (३) सुषुम्ना, (४) गान्धारी, (५) हस्ति-जिह्वा, (६) पूषा, (७) यशस्विनी, (८) अलम्बुषा, (९) कुहू और (१०) शङ्खिनी।

शङ्खिनी नाडीके अभ्यन्तर जो नाडी है उसके अन्तर्गत पुरीतत् नाडी है। मनके पुरीतत् नाडीमें प्रविष्ट होनेपर सुषुप्ति हो जाती है, उस समय कोई भी ज्ञान नहीं होता। पुरीतत् नाडी जिस मेध्या नाडीद्वारा आवृत है उसमें मनःसंयोग होनेसे निद्रा और निद्रामें स्वप्न-दर्शनादि ज्ञान होता है। मनका गान्धारीके साथ संयोग होनेपर वाम चक्षुद्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और हस्तिजिह्वामें मनका संयोग होनेसे दक्षिण चक्षुद्वारा। पूषामें मनका सयोग होनेसे दक्षिण-कर्णद्वारा श्रावण प्रत्यक्ष होता है और यशस्विनीमें मनःसयोग होनेसे वाम कर्णद्वारा। अलम्बुषाके ऊर्ध्वदेशमें मनःसयोग होनेसे घ्राणज प्रत्यक्ष, और मध्यदेशमें मनः-संयोग होनेसे रसास्वादनका ग्रहण अर्थात् रासनप्रत्यक्ष होता है। कुहूमें मनःसयोग सम्भोगसुखका हेतु है, शङ्खिनीमें मनःसंयोग मलोत्सर्ग-प्रयत्नका हेतु है। सुषुम्नामें मनःसंयोग योगारम्भ, और सुषुम्नामध्यस्थित चित्रिणी प्रभृति नाडीमें शान्त मनका गाढ सयोग समाधि है। यह समाधि दो प्रकारकी है, यह बात पहले कही जा चुकी है।

सुषुम्नाके अतिरिक्त अन्य सब नाडियोंमें मनका संयोग विविध प्रकारके यत्न, इच्छा, द्वेष, शारीरिक चेष्टा तथा विविध विषयोंके भोगके लिये उपयोगी होता है। इडा-पिङ्गलाके साथ मनःसयोग जीवन, योनि, यत्न प्रभृतिका उत्पादक है।

पातञ्जलोक्त चित्तवृत्तिनिरोध सुषुम्नान्तर्गत नाडीमें मनःसयोगसे होता है। 'युज् समाधौ' यह 'युज्' धातु उसी गाढ सयोगका बोध करती है। अपर दोनों 'युज्' धातुओंसे 'योग' शब्द उद्भूत होनेपर भी उसके सामान्यवाचक होनेके अतिरिक्त विशेष अर्थका भी बोध होता है—जिस प्रकार ब्राह्मण कहनेसे पञ्चगौड, पञ्चद्राविड सब ब्राह्मणोंका बोध होता है, किन्तु कान्यकुब्ज कहनेसे एक विशेष सम्प्रदायका ही ज्ञान होता है।

'योग' शब्दके 'युज्' धातुसे उद्भूत होनेपर भी समाधि या सयोगविशेषके अर्थमें उसका प्रयोग पुँल्लिङ्ग, तथा शास्त्रवाचक होनेपर नपुसकलिङ्गमे होता है। 'योगमाचष्टे यत्' इस वाक्यमें योग+णिच्+अच् प्रत्ययसे निष्पन्न 'योग' शब्द ही शास्त्रवाचक है। यह योगवक्ता पुरुषका वाचक भी हो सकता है।

विद्यासमुद्देशप्रकरणमें कौटिल्य लिखते हैं—'सांख्यं योग लोकायत चेत्यान्वीक्षिकी'—यहाँ 'योग' शब्दसे न्याय और वैशेषिकका ही बोध होता है, यह बात प्रमाण पूर्वक पहले ही बतलायी जा चुकी है। आन्वीक्षिकीका मुद्रित पुस्तकमे आन्वीक्षकी पाठ मिलता है।

ब्रह्मसूत्रमे 'एतेन यागः प्रत्युक्तः' सूत्र है, इसमें भी पुँल्लिङ्ग प्रयोग है; परन्तु इसका वाच्यार्थ शास्त्र नहीं है, अर्थात् यहाँ 'योग' शब्द शास्त्रका वाचक नहीं है। शास्त्र यहाँ लक्ष्यार्थ है, 'योग' शब्दकी योगसाधनशास्त्रमें लक्षणा है। यह लक्षणा निम्नलिखित न्यायसूत्रद्वारा सिद्ध होती है—

सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगंगाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः। (२।२।५९)

'साधनात् अत्र प्राणाः' इति भाष्यम्। भगवान् शङ्कराचार्यके मतसे ब्रह्मसूत्रस्थ 'योग' शब्द हिरण्यगर्भोक्त योगशास्त्रपरक होनेपर भी सूत्रकारके अभिप्रायानुसार यह न्यायका बोधक है या नहीं, यह कौन कह सकता है? क्योंकि ब्रह्मसूत्रमे ही नहीं, बल्कि शारीरकभाष्यमें भी न्यायमतका खण्डन नहीं है।

'एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः'—इस ब्रह्मसूत्रकी व्याख्या करते समय भगवान् शङ्कराचार्य परमाणुकारणवादका उल्लेख करते हुए भी न्यायमतका खण्डन नहीं करते। न्यायसूत्रकारका सृष्टिविषयमें वैशेषिकके साथ मतसाम्य प्रसिद्ध होते हुए भी मोक्षक्रममें न्यायसूत्रका प्रामाण्य स्वय शङ्कराचार्य स्वीकार करते हैं, तथा—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्गः। (१।१।२)

—इस न्यायसूत्रको उद्धृत करते है। परमाणुकारणवादके खण्डनमें ब्रह्मसूत्र और शारीरकभाष्यमें जो विचार हैं उनमें भी भगवान् शङ्कराचार्य वैशेषिकमतका ही उल्लेख करते हैं, न्यायमतका तो नाम भी नहीं लेते।

अद्वैतज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती। न्यायमत अद्वैतज्ञानका समर्थक नहीं है, उसका योग मुक्तिका साक्षात्कारण नहीं है, इस अभिप्रायसे 'योगः प्रत्युक्तः' हो सकता है। जो हो, उस विचारकी यहाँ विशेष आवश्यकता नहीं है। नपुसकलिङ्गमें 'योग' शब्द न्याय और वैशेषिकका वाचक है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अभिधानचिन्तामणि और अन्य कतिपय प्राचीन जैन ग्रन्थोंमें नैयायिकके पर्याय शब्दरूपमें 'यौग' शब्द व्यवहृत हुआ है। 'योग' शब्द त्रिविध 'युज्' धातुसे उद्भूत हो सकता है तथा तदुपदेशक शास्त्रवाचक हो सकता है, एव शास्त्रोपदेशकवाचक भी हो सकता है—इस सिद्धान्तकी इस लेखके द्वारा आलोचना की गयी है।

जग माहीं ऐसो रहो, ज्यों अम्बुज सर माहिं।
रहै नीरके आसरे, पै जल छूवत नाहिं॥
जग माहीं ऐसे रहो, ज्यों जिह्वा मुख माहिं।
घीव घना भच्छन करै, तौ भी चिकनी नाहिं॥
ऐसा हो जो साध हो, लिये रहै वैराग।
चरनकमलमें चित धरै, जगमें रहै न पाग॥

—चरनदास

श्रीरामचरितमानसमें भक्तियोग

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन', रामायणी)

यों तो श्रीरामचरितमानसमे सर्वत्र ही भक्तियोगका पवित्र और परम शान्तिदायी सागर लहरा रहा है, परन्तु प्रकृत भक्तियोगका प्रसङ्ग वनकाण्डके अन्तर्गत—

एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छलहीना॥

इस चौपाईसे आरम्भ होता है और—

भगतियोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरननिंह सिर नावा॥

—इस चौपाईपर समाप्त हो जाता है। इस भक्तियोगके साथ उन पाँचों स्वरूपोंके विषयमें प्रश्न किया गया है जिनका वेद-शास्त्रानुसार बोध प्राप्त करना भवसागर पार करनेवाले मुमुक्षुका परम ध्येय है। पाँच स्वरूप ये हैं—

प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः।
प्राप्त्युपायं फलं प्राप्तेस्तथा प्राप्तिविरोधकः॥
वदन्ति सकला वेदाः सेतिहासपुराणकाः।
मुनयश्च महात्मानो वेदवेदान्तवेदिनः॥

अर्थात् (१) परस्वरूप, (२) स्वस्वरूप, (३) उपास्यस्वरूप, (४) फलस्वरूप और (५) विरोधस्वरूप इन्हींके सम्बन्धमें प्रश्न किया गया है, यथा—

कहहु ग्यान बिराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहि दाया॥

ईश्वर जीवहिं भेद प्रभु, सकल कहहु समुझाइ।
जातें होइ चरन रति, सोक-मोह-भ्रम जाइ॥

ज्ञान-विराग (उपास्यस्वरूप), भक्ति (फलस्वरूप) माया (विरोधस्वरूप), ईश्वर (परस्वरूप) और जीव (स्वस्वरूप) के विषयमें यह प्रश्न पूछा गया है। परन्तु इन सब प्रश्नोंका पर्यवसान केवल भक्तियोगमे ही हुआ है, जिसका सम्पुट प्रश्नके साथ ही लगा हुआ है, यथा—

प्रश्नके आदिमें कहा है—

मोहिं समुझाइ कहहु सोइ देवा। सब तजि करौं चरन-रज-सेवा॥

और प्रश्नके अन्तमें कहा है—

'जातें होइ चरन रति, सोक-मोह-भ्रम जाइ॥'

और 'मैं पूछौं निज प्रभुकी नाईं।'—भावको स्पष्ट करके ही प्रश्न पूछा गया है, जिससे भगवान्‌का यह विरद भी—

भगतिवन्त अति नीचउ प्रानी। मोहिं प्रान प्रिय असि मम बानी॥

—लक्षित हो जाय।

उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर आरम्भ करते समय भी सर्वप्रथम अहङ्कारका ही त्याग कराया गया है। जैसे—

थोरेहि महँ सब कहौं बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई॥

तात्पर्य यह कि अन्तःकरणचतुष्टयमेंसे (१) मन, (२) बुद्धि और (३) चित्तको लगाकर अर्थात् अहङ्कार (चौथे) को त्याग कर सुनो।

इस भक्तियोगका मुख्य सार अहङ्कारका निःशेषरूपसे त्याग ही है। विरोधस्वरूपा मायाका स्वरूप भी जो दो भेदोंसे—'मै अरु मोर तोर तैं' अविद्या, और 'गों गोचर जहँ लगि मन जाई' विद्या—बतलाया गया है, उसका भी मूल कारण अहंकार ही है। क्योंकि दुःखरूपा अविद्या-में तो 'मैं' 'मोर' 'तोर' आदि शब्द स्पष्ट ही अहङ्कार-सूचक हैं और यवनिका (परदा) स्वरूपा विद्याके कार्य-रूप जगत्‌में जो नानात्वका दर्शन होता है, वह भी अहङ्कार-मूलक ही है। तभी तो दोनोंकी निवृत्तिमें निर्मानावस्था उत्पन्न होनेपर समदृष्टिसे जगत्‌को ब्रह्मरूप देखना ही ज्ञान कहा गया है—

ग्यान मान जहँ एकौ नाहीं। देखु ब्रह्म समान सब माहीं॥

तथा—

तृन सम सिद्ध तीन गुन त्यागी—

—द्वारा वैराग्य बताकर इस ज्ञान-वैराग्यको भक्तियोगका उपायस्वरूप बतलाया गया है।

ईश्वर (परस्वरूप) के लक्षण '(१) बन्धमोक्षप्रद, (२) सर्वपर, और (३) मायाप्रेरक' कहकर भी सर्वथा अहङ्कारकी ही जड़ उखाड़ दी गयी है। क्योंकि ईश्वर, जीव और माया—इन तीनोंमेंसे जो एक शेष दोनोंपर अपना अधिकार जमाये हुए है, वही सर्वपर (सबसे बड़ा) हुआ। अतः सर्वपरत्व गुण ईश्वरमें निश्चित होनेसे जीवका अहङ्कार जाता रहा। पुनः बन्धमोक्षप्रदत्व गुणसे भी जीवके बन्धन और मुक्तिका अधिकार ईश्वरमें ही रहा, जिसे इस चौपाईके द्वारा दरसाया गया है—

नट मरकट इव सबहिं नचावत। राम खगेस बेद अस गावत॥

चेतन मर्कटकी ही तरह यह चेतन जीव नट-रूप

ईश्वरके अधीन है; उसका बन्धन और मोक्ष अपने अधीन न होनेसे अहङ्कारको स्थान कहाँ ? पुनः 'मायाप्रेरक' तीसरे गुणसे जो मायाको प्रेरित करनेका अधिकार है, वह—

उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गुसाईं॥

—इस चौपाईद्वारा जड कठपुतलीकी उपमा देकर स्थापित किया गया और फिर—

ईस्वर बस माया गुणखानी। माया बस्य जीव अभिमानी॥

—यह कहकर जीवके अहङ्कारकी आत्यन्तिक निवृत्ति सूचित की गयी है। क्योंकि यह जीव जब मायाके वश हो रहा है और माया ईश्वरके वश है तब 'परबस जीव स्वबस भगवन्ता' यह स्पष्ट हो जानेसे 'माया ईश न आपु कहँ जान कहिय सो जीव'—जीवका (स्वस्वरूप) अपना स्वरूप निर्दिष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त चौपाइयोंमें जो मायाके लक्षण कहे गये हैं तथा दोहेके नीचेवाले पदमें जो ईश्वरके लक्षण वर्णित हैं, उन दोनोंसे अलग ही जीवको अपना स्वरूप समझनेके लिये कहा गया है। अतः यह जीव जब ईश्वर और ईश्वरकी आज्ञानुवर्तिनी माया दोनोंके ही अधीन ठहरा तब इसका अहङ्कारसे कल्याण होना कैसे सम्भव है ? बल्कि अहङ्कारकी ही स्फुरणा होनेसे इसके सहज स्वरूपकी हानि होती है। इसीलिये जीवमात्रके कल्याणका मार्ग अहङ्कारको सर्वथा त्यागकर सर्वोपायशून्य होकर श्रीभगवान्‌के शरणापन्न—प्रपन्न होना ही बतलाया गया है, इस प्रपत्तिको ही 'भक्तियोग' कहते हैं। अतएव स्पष्ट वाक्योंमें कहा गया है—

जाते बेगि द्रवौं मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥
सो स्वतंत्र अवलम्ब न आना। तेहि आधीन ज्ञान बिज्ञाना॥

क्योंकि कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों अपने-अपने पूर्व साधनोंके अपेक्षित रहनेसे स्वतन्त्र अवलम्ब नहीं हैं। कहा है—

धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना। ज्ञान मोक्षप्रद बेद बखाना॥

अर्थात् जबतक वर्णाश्रम आदिके अनुसार स्वधर्मका पूर्ण पालन नहीं किया जायगा तबतक (धर्म ते बिरति) वैराग्य उत्पन्न ही न होगा; जबतक वैराग्य न होगा तबतक कर्मोंका फलत्यागादि न होनेके कारण कर्मयोग न हो सकेगा, जबतक कर्मयोग न होगा तबतक (जोग ते ज्ञाना) ज्ञान उत्पन्न न होगा, और जबतक ज्ञान न होगा तबतक मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी। परन्तु यह भक्तियोग मेरे भक्तोंके लिये सुखद, सुलभ, स्वतन्त्र अवलम्ब है। इसके द्वारा मैं वेगि (तुरन्त) ही द्रवीभूत होकर (अहं भक्तपराधीनः) स्वयं अपने भक्तोंके अधीन हो जाता हूँ (फिर मोक्षकी तो गिनती ही क्या है ?)।

इस प्रकार जो जीव ईश्वर तथा माया दोनोंके अधीन होकर—

सो माया बस भयो गुसाईं। बँध्यो कीर मरकटकी नाईं॥

—दुःखरूप भवकूपमें पड़ा था, वही जीव भक्तियोगके सुलभ सहारेसे सहज ही मायाको कौन कहे, 'सर्वपर' नित्यस्वरूप ईश्वरको भी अपने प्रेमाधीन कर लेता है, क्योंकि 'राम पुनीत प्रेम-अनुगामी' हैं।

इस भक्तियोगकी प्राप्तिके सुलभ और सुगम पन्थ निवृत्ति-मार्ग और प्रवृत्ति-मार्गवालोंके लिये अलग-अलग दो प्रकारके बतलाये गये हैं।

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलै जो सन्त होहिं अनुकूला॥

सन्तके अनुकूल होनेपर भक्तिकी प्राप्ति होनेकी बात उन बड़भागियोंके लिये कही गयी है, जिनका मन प्रवृत्ति-मार्गसे उपराम हो गया है और जिन्होंने गृहस्थाश्रम-धर्मका त्यागकर, विरक्तवेष धारण कर, किसी विरक्त सन्त सद्गुरुकी शरण लेकर सदाके लिये शिष्यभावसे उनकी सेवामें अपना जीवन समर्पित कर दिया है। ऐसे समाश्रितोंको उनके अधिकारके अनुसार भगवद्भक्तिका पात्र समझकर जब भक्तियोगी सन्त उनके अनुकूल होते हैं, तब उन्हें भक्तिकी प्राप्ति होती है। इसी कारण इस मार्गकी नवधा साधन-भक्तिका वर्णन प्रसिद्ध श्रवण-कीर्तनादिके क्रमके अनुसार न होकर दूसरे ही क्रमसे है। इस क्रमको स्वयं श्रीभगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे श्रीशबरीजीसे इस प्रकार कहा है—

प्रथम भगति सन्तन कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥
गुरु-पद-पंकज-सेवा, तीसरि भगति अमान।
चौथि भगति मम गुनगन, करै कपट तजि गान॥
मंत्र जाप मम दृढ बिस्वासा। पंचम भजन सो बेद प्रकासा॥
छठ दम सील बिरत बहुकर्मा। निरत निरन्तर सज्जन धर्मा॥
सातँ सब मोहिमय जग देखै। मोतें सन्त अधिक करि लेखै॥
आठँ जथालाभ सन्तोषा। सपनेहुँ नहिं देखै पर दोषा॥
नवम सरल सबसों छलहीना। मम भरोस हिय हरष न दीना॥

प्रवृत्ति-मार्गवाले गृहस्थाश्रमियोंके लिये (जिनको विरक्त होकर किसी त्यागी सन्त सद्गुरुकी अनुकूलताका

सुयोग नहीं प्राप्त हो सका है, उनके लिये) इस प्रकार बतलाया गया है—

भगतिके साधन कहौं बखानी। सुगम पथ मोहिं पावहिं प्रानी॥
प्रथमहि बिप्र चरन अति प्रीती। निज-निज धरम निरत श्रुतिरीती॥
यहिकर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम चरन उपज अनुरागा॥
श्रवनादिक नव भगति दृढाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥

अर्थात् इन भाग्यवानोंको पहले ब्राह्मणोंके चरणोंमें निष्ठा होने और गृहस्थाश्रमादि वर्णाश्रम धर्मोंका वेदानुसार पालन करनेसे (१) श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्मरण, (४) पादसेवन, (५) अर्चन, (६) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य और (९) आत्मनिवेदन, इस नवधा साधनाद्वारा (जिसका वर्णन श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट आया है) भक्तियोगकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार साधनावस्थाकी नवधा भक्ति दोनों मार्गवालोंके लिये दो प्रकारकी होनेपर भी सिद्धा, प्रेमा या पराभक्ति एक ही है। अतएव गृहस्थ और विरक्त दोनोंके लिये अपने-अपने अधिकारानुसार उपर्युक्त प्रकारसे भक्तियोग सुलभ है।

अतएव स्वयं श्रीभगवान् कहते हैं—

सन्त चरन पंकज अति प्रेमा। मन क्रम बचन भजन दृढ नेमा॥
गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि करइ जानि दृढ सेवा॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके॥

बचन कर्म मन मोरि गति, भजन करहिं निःकाम।
तिन्हके हृदयकमल महँ, करौं सदा बिश्राम॥

अर्थात् उन भक्तियोगियोंकी प्रीति केवल भगवत् और भागवतोंमें ही अत्यन्त दृढ हो जाती है और मनसा, वाचा, कर्मणा अनन्यभावसे मेरा भजन करनेका ही उनका नियम निश्चित हो जाता है। वे गुरु, पिता, माता, बन्धु, पति, देवता आदि सब मुझको ही जानकर दृढतासे मेरी सेवामें लगे रहते है, मेरा गुणानुवाद गाते हुए पुलकित हो जाते हैं, उनकी वाणी मेरे प्रेममें गद्गद हो जाती है और उनके नेत्रोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होती है। मैं सदा ऐसे निष्काम और निष्कपट भक्तियोगीके वशमें रहता हूँ।

वास्तवमें भक्तियोग ही एक ऐसा सुलभ और स्वतन्त्र अवलम्ब है जिसके प्रभावसे सर्वेश्वर स्वतन्त्र ईश्वरको भी प्रेमाधीन होकर निरन्तर भक्तोंके वशमें रहना पड़ता है तथा सदैव उनके हृदयमें ही वास करना पड़ता है। इसीलिये—

भगतियोग सुनि अति सुख पावा। लछिमन प्रभु चरननहि सिर नावा॥

—इस भक्तियोगको सुनकर जीवमात्रको कल्याण-पथ बतलानेवाले (शेषावतार रामानुजाचार्य) श्रीलक्ष्मणजीने परमानन्द प्राप्त किया और प्रभुके चरणोंमें शीघ्र नवाकर शरणागति-मार्ग—भक्तियोगको शिरोधार्य किया। अतः जीवमात्रके लिये भगवत्-प्रेमावलम्बन ही यथार्थ योग है तथा भगवत्-प्रेमकी प्रधानता ही यथार्थमें ज्ञान है, नहीं तो जहाँ भगवान्‌की भक्तिका प्राधान्य नहीं है, वह योग कुयोग है एवं वह ज्ञान अज्ञान माना गया है। यथा—

जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥

'सियावर रामचन्द्रकी जय'।

× × × ×

दूलन चरनन लागि रहु, नामकी करत पुकार।
भक्ति सुधारस पेट भरु, का दहुँ लिखा लिलार॥
जग रहु जगतें अलग रहु, जोग जुगतिकी रीति।
दूलन हिरदे नाम तें, लाइ रहौ दृढ़ प्रीति॥

—दूलनदास

× × × ×

मनको वश करनेके कुछ उपाय*

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥
(गीता ६। ३६)

श्रीभगवान् कहते हैं—'जिनका मन वशमें नहीं है उनके लिये योगका प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, यह मेरा मत है, परन्तु मनको वशमें किये हुए प्रयत्नशील पुरुष साधनद्वारा योग प्राप्त कर सकते हैं।'

भगवान् श्रीकृष्ण महाराजके इन वचनोंके अनुसार यह सिद्ध होता है कि मनको वश किये बिना परमात्माकी प्राप्तिरूप योग दुष्प्राप्य है। यदि कोई ऐसा चाहे कि मन तो अपनी इच्छानुसार निरङ्कुश होकर विषयवाटिकामें स्वच्छन्द विचरण किया करे और परमात्माके दर्शन अपने-आप ही हो जायँ, तो यह उसकी भूल है।

दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और आनन्दमय परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवालेको मन वशमें करना ही पड़ेगा, इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है। परन्तु मन स्वभावसे ही बड़ा चञ्चल और बलवान् है, इसे वशमें करना कोई साधारण बात नहीं। सारे साधन इसीको वश करनेके लिये किये जाते हैं, इसपर विजय मिलते ही मानो विश्वपर विजय मिल जाती है। भगवान् शङ्कराचार्यने कहा है—'जित जगत् केन, मनो हि येन'। 'जगत्को किसने जीता?—जिसने मनको जीत लिया।' अर्जुनने भी मनको वशमें करना कठिन समझकर कातर शब्दोंमें भगवान्से यही कहा था—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥
(गीता ६। ३४)

'हे भगवन्! यह मन बड़ा ही चञ्चल, हठीला, दृढ़ और बलवान् है; इसे रोकना मैं तो वायुके रोकनेके समान अत्यन्त दुष्कर समझता हूँ।'

इससे किसीको यह न समझ लेना चाहिये कि जो बात अर्जुनके लिये इतनी कठिन थी वह हमलोगोंके लिये कैसे सम्भव होगी। मनको जीतना कठिन अवश्य है, भगवान्ने इस बातको स्वीकार किया, पर साथ ही उपाय भी बतला दिया—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥
(गीता ६। ३५)

भगवान्ने कहा, 'अर्जुन! इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस चञ्चल मनका निग्रह करना बड़ा ही कठिन है, परन्तु अभ्यास और वैराग्यसे यह वशमें हो सकता है।' इससे यह सिद्ध हो गया कि मनका वशमें करना कठिन भले ही हो, पर असम्भव नहीं, और इसके वश किये बिना दुःखोंकी निवृत्ति नहीं। अतएव इसे वश करना ही चाहिये। इसके लिये सबसे पहले इसका साधारण स्वरूप और स्वभाव जाननेकी आवश्यकता है।

मनका स्वरूप

मन क्या पदार्थ है? यह आत्म और अनात्म पदार्थके बीचमें रहनेवाली एक विलक्षण वस्तु है। यह स्वयं अनात्म और जड है, किन्तु बन्ध और मोक्ष इसीके अधीन हैं।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

बस, मन ही जगत् है, मन नहीं तो जगत् नहीं! मन विकारी है, इसका कार्य सकल्प-विकल्प करना है। यह जिस पदार्थको भलीभाँति ग्रहण करता है, स्वयं भी तदाकार बन जाता है। यह रागके साथ ही चलता है, सारे अनर्थोंकी उत्पत्ति रागसे होती है, राग न हो तो मन प्रपञ्चोंकी ओर न जाय। किसी भी विषयमें गुण और सौन्दर्य देखकर उसमें राग होता है, इसीसे मन उस विषयमें प्रवृत्त होता है। परन्तु जिस विषयमें इसे दुःख और दोष दीख पड़ते हैं उससे इसका द्वेष हो जाता है, फिर यह उसमें प्रवृत्त नहीं होता, यदि कभी भूलकर प्रवृत्त हो भी जाता है तो उसमें अवगुण देखकर द्वेषसे तत्काल लौट आता है। वास्तवमें द्वेषवाले विषयमें भी इसकी प्रवृत्ति रागसे ही होती है। साधारणतया यही मनका स्वरूप और स्वभाव है। अब सोचना यह है कि यह वशमें क्योंकर हो। इसके लिये उपाय भगवान्ने

* इस लेखमें जितने उपाय बतलाये गये हैं वे सभी किसी-न-किसी ऊँचे साधक या महात्मा पुरुषके द्वारा अनुभूत हैं। लेखक

बतला ही दिया है—अभ्यास और वैराग्य। यही उपाय योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिने बतलाया है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

(समाधिपाद १२)

'अभ्यास और वैराग्यसे ही चित्तका निरोध होता है', अतएव अब इसी अभ्यास और वैराग्यपर विचार करना चाहिये।

वशमें करनेके साधन

(१) भोगोंमें वैराग्य

जबतक संसारकी वस्तुएँ सुन्दर और सुखप्रद मालूम होती हैं तभीतक मन उनमें जाता है, यदि यही सब पदार्थ दोषयुक्त और दुःखप्रद दीखने लगें (जैसे कि वास्तवमें ये हैं) तो मन कदापि इनमें नहीं लगेगा। यदि कभी इनकी ओर गया भी तो उसी समय वापस लौट आवेगा, इसलिये संसारके सारे पदार्थोंमें (चाहे वे इहलौकिक हों या पारलौकिक) दुःख और दोषकी प्रत्यक्ष भावना करनी चाहिये। ऐसा दृढ़ प्रत्यय करना चाहिये कि इन पदार्थोंमें केवल दोष और दुःख ही भरे हुए हैं। रमणीय और सुखरूप दीखनेवाली वस्तुमें ही मन लगता है। यदि यह रमणीयता और सुखरूपता विषयोंसे हटकर परमात्मामें दिखायी देने लगे (जैसा कि वास्तवमें है) तो यही मन तुरन्त विषयोंसे हटकर परमात्मामें लग जाय। यही वैराग्यका साधन है और वैराग्य ही मन जीतनेका एक उत्तम उपाय है। सच्चा वैराग्य तो संसारके इस दीखनेवाले स्वरूपका सर्वथा अभाव और उसकी जगह परमात्माका नित्यभाव प्रतीत होनेमें है। परन्तु आरम्भमें नये साधकको मन वश करनेके लिये इस लोक और परलोकके समस्त पदार्थोंमें दोष और दुःख देखना चाहिये, जिससे मनका अनुराग उनसे हटे।

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥

(गीता १३।८)

'इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें वैराग्य, अहङ्कारका त्याग, (इस शरीरमें) जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग (आदि) दुःख और दोष देखने चाहिये।' इस प्रकार वैराग्यकी भावनासे मन वशमें हो सकता है। यह तो वैराग्यका संक्षिप्त साधन हुआ, अब कुछ अभ्यासोंपर विचार करें।

(२) नियमसे रहना

मनको वश करनेमें नियमानुवर्तितासे बड़ी सहायता मिलती है। सारे काम ठीक समयपर नियमानुसार होने चाहिये। प्रातःकाल बिछौनेसे उठकर रातको सोनेतक दिनभरके कार्योंकी एक ऐसी नियमित दिनचर्या बना लेनी चाहिये जिससे जिस समय जो कार्य करना हो, मन अपने-आप स्वभावसे ही उस समय उसी कार्यमें लग जाय। संसार-साधनमें तो नियमानुवर्तितासे लाभ होता ही है, परमार्थमें भी इससे बड़ा लाभ होता है। अपने जिस इष्ट स्वरूपके ध्यानके लिये प्रतिदिन जिस स्थान-पर, जिस आसनपर, जिस आसनसे, जिस समय और जितने समय बैठा जाय उसमें किसी दिन भी व्यतिक्रम नहीं होना चाहिये। पाँच मिनटका भी नियमित ध्यान अनियमित अधिक समयके ध्यानसे उत्तम है। आज दस मिनट बैठे, कल आध घण्टे, परसों बिल्कुल लाँघा, इस प्रकारके साधनसे साधकको सिद्धि कठिनतासे मिलती है। जब पाँच मिनटका ध्यान नियमसे होने लगे तब दस मिनटका करे, परन्तु दस मिनटका करनेके बाद किसी दिन भी नौ मिनट न होना चाहिये। इसी प्रकार स्थान, आसन, समय, इष्ट और मन्त्रका बारबार परिवर्त्तन नहीं करना चाहिये। इस तरहकी नियमा-नुवर्तितासे भी मन स्थिर होता है। नियमोंका पालन खाने, पीने, पहनने, सोने और व्यवहार करनेमें होना चाहिये। नियम अपनी अवस्थानुकूल शास्त्रसम्मत बना लेने चाहिये।

(३) मनकी क्रियाओंपर विचार

मनके प्रत्येक कार्यपर विचार करना चाहिये। प्रतिदिन रातको सोनेसे पूर्व दिनभरके मनके कार्योंपर विचार करना उचित है। यद्यपि मनकी सारी उधेड़-बुनका स्मरण होना बड़ा कठिन है, परन्तु जितनी याद रहे उतनी ही बातोंपर विचार कर जो-जो सङ्कल्प सात्त्विक मालूम दें उनके लिये मनकी सराहना करना और जो-जो सङ्कल्प राजसिक और तामसिक मालूम पड़ें उनके लिये मनको धिक्कारना चाहिये। प्रतिदिन इस प्रकारके अभ्याससे मनपर सत्कार्य करनेके और असत्कार्य छोड़नेके संस्कार जमने लगेंगे, जिससे कुछ ही समयमें मन बुराइयोंसे

बचकर भले-भले कार्योंमे लग जायगा। मन पहले भले कार्यवाला होगा, तब उसे वश करनेमें सुगमता होगी। कुसङ्गमें पड़ा हुआ बालक जबतक कुसङ्ग नहीं छोड़ता तबतक उसे कुसङ्गियोंसे बुरी सलाह मिलती रहती है, इससे उसका वशमें होना कठिन रहता है। पर जब कुसङ्ग छूट जाता है तब उसे बुरी सलाह नहीं मिल सकती, दिनरात घरमे उसको माता-पिताके सदुपदेश मिलते हैं, वह भली-भली बातें सुनता है। तब फिर उसके सुधरकर माता-पिताके आज्ञाकारी होनेमे विलम्ब नहीं होता। इसी तरह यदि विषय-चिन्तन करनेवाले मनको कोई एक साथ ही सर्वथा विषयरहित करना चाहे तो वह नहीं कर सकता। पहले मनको बुरे चिन्तनसे बचाना चाहिये, जब वह परमात्म-सम्बन्धी शुभ चिन्तन करने लगेगा तब उसको वश करनेमें कोई कठिनाई नहीं होगी।

(४) मनके कहनेमें न चलना

मनके कहनेमें नहीं चलना चाहिये। जबतक यह मन वशमे नहीं हो जाता तबतक इसे अपना परम शत्रु मानना चाहिये। जैसे शत्रुके प्रत्येक कार्यपर निगरानी रखनी पड़ती है वैसे ही इसके भी प्रत्येक कार्यको सावधानीसे देखना चाहिये। जहाँ कहीं यह उलटा सीधा करने लगे वहीं इसे धिक्कारना और पछाड़ना चाहिये। मनकी खातिर भूलकर भी नहीं करनी चाहिये। यद्यपि यह बड़ा बलवान् है, कई बार इससे हारना होगा, पर साहस नहीं छोड़ना चाहिये। जो हिम्मत नहीं हारता वह एक दिन मनको अवश्य जीत लेता है। इससे लड़नेमे एक विचित्रता है। यदि दृढ़तासे लड़ा जाय तो लड़नेवालेका बल दिनोदिन बढ़ता है और इसका क्रमशः घटने लगता है, इसलिये इससे लड़नेवाला एक-न-एक दिन इसपर अवश्य ही विजयी होता है। अतएव इसकी हाँ-में-हाँ न मिलाकर प्रत्येक कार्यमें खूब सावधानीसे बर्तना चाहिये। यह मन बड़ा ही चतुर है। कभी डरावेगा, कभी फुसलावेगा, कभी लालच देगा, बड़े-बड़े अनोखे रंग दिखलावेगा, परन्तु कभी इसके धोखेमें न आना चाहिये। भूलकर भी इसका विश्वास न करना चाहिये। इस प्रकार करनेसे इसकी हिम्मत टूट जायगी, लड़ने और धोखा देनेकी आदत छूट जायगी। अन्तमें यह आज्ञा देनेवाला न रहकर सीधा-सादा आज्ञा-पालन करनेवाला विश्वासी सेवक बन जायगा।

मन लोभी, मन लालची, मन चंचल, मन चोर।
मनके मत चलिये नहीं, पलक पलक मन और॥

(५) मनको सत्कार्यमें संलग्न रखना

मन कभी निकम्मा नहीं रह सकता, कुछ-न-कुछ काम इसको मिलना ही चाहिये; अतएव इसे निरन्तर काममें लगाये रखना चाहिये। निकम्मा रहनेसे ही इसे बुरी बातें सूझा करती हैं, अतएव जबतक नींद न आवे तबतक चुने हुए सुन्दर माङ्गलिक कार्योंमे इसे लगाये रखना चाहिये। जाग्रत् समयके सत्कार्योंके चित्र ही स्वप्नमे भी दिखायी देंगे।

(६) मनको परमात्मामें लगाना

श्रीभगवान्‌ने कहा है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
(गीता ६। २६)

'यह चञ्चल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ दौड़कर जाय वहाँ-वहाँसे हटाकर बारबार इसे परमात्मामें ही लगाना चाहिये।'

मनको वशमें करनेका उपाय प्रारम्भ करनेपर पहले-पहले तो यह इतना जोर दिखलाता है—अपनी चञ्चलता और शक्तिमत्तासे ऐसी पछाड़ लगाता है कि नया साधक घबड़ा उठता है, उसके हृदयमें निराशा-सी छा जाती है; परन्तु ऐसी अवस्थामे धैर्य रखना चाहिये। मनका तो ऐसा स्वभाव ही है और हमें इसपर विजय पाना है, तब घबड़ानेसे थोड़े ही काम चलेगा। मुस्तैदीसे सामना करना चाहिये। आज न हुआ तो क्या, कभी-न-कभी तो वशमें होगा ही। इसीलिये भगवान्‌ने कहा है—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥
(गीता ६। २५)

'धीरे-धीरे अभ्यास करता हुआ उपरामताको प्राप्त हो, धैर्ययुक्त बुद्धिसे मनको परमात्मामे स्थिर करके और किसी भी विचारको मनमें न आने दे।'

बड़ा धैर्य चाहिये। घबड़ाने, ऊबने या निराश होनेसे काम नहीं होगा। झाड़ूसे घर साफ कर लेनेपर भी जैसे धूल जमी हुई-सी दीख पड़ती है, उसी प्रकार मनको सस्कारोंसे रहित करते समय यदि मन और भी अस्थिर या अपरिच्छिन्न दीखे तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। पर इससे डरकर झाड़ू लगाना बन्द नहीं करना चाहिये।

इस प्रकारकी दृढ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि किसी प्रकारका भी वृथा चिन्तन या मिथ्या सङ्कल्पोंको मनमें नहीं आने दिया जायगा। बड़ी चेष्टा, बड़ी दृढता रखनेपर भी मन साधककी चेष्टाओंको कई बार व्यर्थ कर देता है, साधक तो समझता है कि मैं ध्यान कर रहा हूँ पर मनदेवता सङ्कल्प-विकल्पोंकी पूजामें लग जाते हैं। जब साधक मनकी ओर देखता है तो उसे आश्चर्य होता है कि यह क्या हुआ। इतने नये-नये सङ्कल्प—जिनकी भावना भी नहीं की गयी थी—कहाँसे आ गये? बात यह होती है कि साधक जब मनको निर्विषय करना चाहता है तब संसारके नित्य अभ्यस्त विषयोंसे मनको फुरसत मिल जाती है, उधर परमात्मामें लगनेका इस समयतक उसे पूरा अभ्यास नहीं होता। इसलिये फुरसत पाते ही वह उन पुराने दृश्योंको (जो संस्काररूपसे उसपर अङ्कित हो रहे हैं) सिनेमाके फिल्मकी भाँति क्षण-क्षणमें एकके बाद एक उलटने लग जाता है। इसीसे उस समय ऐसे सङ्कल्प मनमें उठते हुए मालूम होते हैं जो संसारका काम करते समय याद भी नहीं आते थे। मनकी ऐसी प्रबलता देखकर साधक स्तम्भित-सा रह जाता है, पर कोई चिन्ता नहीं। जब अभ्यासका बल बढेगा तब उसको संसारसे फुरसत मिलते ही तुरन्त परमात्मामें लग जायगा। अभ्यास दृढ़ होनेपर तो यह परमात्माके ध्यानसे हटाये जानेपर भी न हटेगा। मन चाहता है सुख। जबतक इसे वहाँ सुख नहीं मिलता—विषयोंमें सुख दीखता है, तबतक यह विषयोंमें रमता है। जब अभ्याससे विषयोंमें दुःख और परमात्मामें परम सुख प्रतीत होने लगेगा तब यह स्वयं ही विषयोंको छोड़कर परमात्माकी ओर दौड़ेगा, परन्तु जबतक ऐसा न हो तबतक निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिये। यह मालूम होते ही कि मन अन्यत्र भागा है, तत्काल इसे पकड़ना चाहिये। इसको पक्के चोरकी भाँति भागनेका बड़ा अभ्यास है, इसलिये ज्यों ही यह भागे त्यों ही इसे पकड़ना चाहिये।

जिस-जिस कारणसे मन सांसारिक पदार्थोंमें विचरे उस-उससे रोककर परमात्मामें स्थिर करे। मनपर ऐसा पहरा बैठा दे कि यह भाग ही न सके। यदि किसी प्रकार भी न माने तो फिर इसे भागनेकी पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाय; परन्तु यह जहाँ जाय वहींपर परमात्माकी भावना की जाय, वहींपर इसे परमात्माके स्वरूपमें लगाया जाय। इस उपायसे भी मन स्थिर हो सकता है।

(७) एक तत्त्वका अभ्यास करना

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः। (समाधिपाद ३२)

चित्तका विक्षेप दूर करनेके लिये पाँच तत्त्वोंमेंसे किसी एक तत्त्वका अभ्यास करना चाहिये। एक तत्त्वके अभ्यासका अर्थ ऐसा भी हो सकता है कि किसी एक वस्तुकी या किसी मूर्तिविशेषकी तरफ एकदृष्टिसे देखते रहना। जबतक आँखोंकी पलक न पड़े या आँखोंमें जल न आ जाय तबतक उस एक ही चिह्नकी तरफ देखते रहना चाहिये। चिह्न धीरे-धीरे छोटा करते रहना चाहिये। अन्तमें उस चिह्नको बिल्कुल ही हटा देना चाहिये। 'दृष्टिः स्थिरा यत्र विनावलोकनम्'—अवलोकन न करनेपर भी दृष्टि स्थिर रहे। ऐसा हो जानेपर चित्तविक्षेप नहीं रहता। इस प्रकार प्रतिदिन आध-आध घण्टे भी अभ्यास किया जाय तो मनके स्थिर होनेमें अच्छी सफलता मिल सकती है। इसी प्रकार दोनों भ्रुवोंके बीचमें दृष्टि जमाकर जबतक आँखोंमें जल न आ जाय तबतक देखते रहनेका अभ्यास किया जाता है। इससे भी मन निश्चल होता है, इसीको त्राटक कहते हैं। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस प्रकारके अभ्यासमें नियमितरूपसे जो जितना अधिक समय दे सकेगा उसे उतना ही अधिक लाभ होगा।

(८) नाभि या नासिकाग्रमें दृष्टि स्थापन करना

नित्य नियमपूर्वक पद्मासन या सुखासनसे बैठकर सीधा बैठकर नाभिमें दृष्टि जमाकर जबतक पलक न पड़े तबतक एक-मनसे देखते रहना चाहिये। ऐसा करनेसे शीघ्र ही मन स्थिर होता है। इसी प्रकार नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर बैठनेसे भी चित्त निश्चल हो जाता है। इससे ज्योतिके दर्शन भी होते हैं।

(९) शब्द श्रवण करना

कानोंमें अँगुली देकर शब्द सुननेका अभ्यास किया जाता है। इसमें पहले भँवरोंके गुजार अथवा प्रातःकालीन पक्षियोंके चुँचुँहाने-जैसा शब्द सुनायी देता है, फिर क्रमशः घुँघुरू, शङ्ख, घण्टा, ताल, मुरली, भेरी, मृदङ्ग, नफीरी और सिंहगर्जनके सदृश शब्द सुनायी देते हैं। इस प्रकार दस प्रकारके शब्द सुनायी देने लगनेके बाद दिव्य ॐ शब्दका श्रवण

होता है, जिससे साधक समाधिको प्राप्त हो जाता है। यह भी मनके निश्चल करनेका उत्तम साधन है।

(१०) ध्यान या मानसपूजा

सब जगह भगवान्‌के किसी नामको लिखा हुआ समझकर बारंबार उस नामके ध्यानमें मन लगाना चाहिये अथवा भगवान्‌के किसी स्वरूपविशेषकी अन्तरिक्षमें मनसे कल्पना कर उसकी पूजा करनी चाहिये। पहले भगवान्‌की मूर्तिके एक-एक अवयवका अलग-अलग ध्यान कर फिर दृढताके साथ सारी मूर्तिका ध्यान करना चाहिये। उसीमें मनको अच्छी तरह स्थिर कर देना चाहिये। मूर्तिके ध्यानमें इतना तन्मय हो जाना चाहिये कि संसारका भान ही न रहे। फिर कल्पना-प्रसूत सामग्रियोंसे भगवान्‌की मानसिक पूजा करनी चाहिये। प्रेमपूर्वक की हुई नियमित भगवदुपासनासे मनको निश्चल करनेमें बड़ी सहायता मिल सकती है।

(११) मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षाका व्यवहार

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलि एक उपाय यह भी बतलाते हैं—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। (समाधिपाद ३३)

'सुखी मनुष्योंसे प्रेम, दुखियोंके प्रति दया, पुण्यात्माओंके प्रति प्रसन्नता और पापियोंके प्रति उदासीनताकी भावनासे चित्त प्रसन्न होता है।'

(क) जगत्‌के सारे सुखी जीवोंके साथ प्रेम करनेसे चित्तका ईर्ष्यामल दूर होता है, डाहकी आग बुझ जाती है। संसारमें लोग अपनेको और अपने आत्मीय स्वजनोंको सुखी देखकर प्रसन्न होते हैं, क्योंकि वे उन लोगोंको अपने प्राणोंके समान प्रिय समझते हैं। यदि यही प्रिय भाव सारे संसारके सुखियोंके प्रति अर्पित कर दिया जाय तो कितने आनन्दका कारण हो! दूसरेको सुखी देखकर जलन पैदा करनेवाली वृत्तिका नाश हो जाय।

(ख) दुखी प्राणियोंके प्रति दया करनेसे परअपकाररूप चित्त-मल नष्ट होता है। मनुष्य अपने कष्टोंको दूर करनेके लिये किसीसे भी पूछनेकी आवश्यकता नहीं समझता, भविष्यमें कष्ट होनेकी सम्भावना होते ही पहलेसे उसे निवारण करनेकी चेष्टा करने लगता है। यदि ऐसा ही भाव जगत्‌के सारे दुखी जीवोंके साथ हो जाय तो अनेक लोगोंके दुःख दूर हो सकते हैं। दुःखपीड़ित लोगोंके दुःख दूर करनेके लिये अपना सर्वस्व न्योछावर कर देनेकी प्रबल भावनासे मन सदा ही प्रफुल्लित रह सकता है।

(ग) धार्मिकोंको देखकर हर्षित होनेसे दोषारोप नामक मनका असूया-मल नष्ट होता है, साथ ही धार्मिक पुरुषकी भाँति चित्तमें धार्मिक वृत्ति जाग्रत हो उठती है। असूयाके नाशसे चित्त शान्त होता है।

(घ) पापियोंके प्रति उपेक्षा करनेसे चित्तका क्रोधरूप मल नष्ट होता है। पापोंका चिन्तन न होनेसे उनके संस्कार अन्तःकरणपर नहीं पड़ते। किसीसे भी घृणा नहीं होती। इससे चित्त शान्त रहता है।

इस प्रकार इन चारों भावोंके बारबार अनुशीलनसे चित्तकी राजस, तामस वृत्तियाँ नष्ट होकर सात्त्विक वृत्तिका उदय होता है और उससे चित्त प्रसन्न होकर शीघ्र ही एकाग्रता लाभ कर सकता है।

(१२) सद्‌ग्रन्थोंका अध्ययन

भगवान्‌के परम रहस्यसम्बन्धी परमार्थ-ग्रन्थोंके पठन-पाठनसे भी चित्त स्थिर होता है। एकान्तमें बैठकर उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, रामायण आदि ग्रन्थोंका अर्थसहित अनुशीलन करनेसे वृत्तियाँ तदाकार बन जाती हैं। इससे मन स्थिर हो जाता है।

(१३) प्राणायाम

समाधिसे भी मन रुकता है। समाधि अनेक तरहकी होती है। प्राणायाम समाधिके साधनोंका एक मुख्य अङ्ग है। योगदर्शनमें कहा गया है—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। (समाधिपाद ३४)

नासिकाके छेदोंसे अन्दरकी वायुको बाहर निकालना प्रच्छर्दन कहलाता है, और प्राणवायुकी गति रोक देनेको विधारण कहते हैं। इन दोनों उपायोंसे भी चित्त स्थिर होता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने भी कहा है—

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणा॥
(४।२९)

'कई अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं, कई प्राणवायुमें अपानवायुको होमते हैं और कई प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणायाम किया करते हैं।'

इसी तरह योगसम्बन्धी ग्रन्थोंके अतिरिक्त महाभारत, श्रीमद्भागवत और उपनिषदोंमें भी प्राणायामका यथेष्ट वर्णन है। श्वास-प्रश्वासकी गतिको रोकनेका नाम ही प्राणायाम है। मनु महाराजने कहा है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

'अग्निमें तपाये जानेपर जैसे धातुका मल जल जाता है उसी प्रकार प्राणवायुके निग्रहसे इन्द्रियोंके सारे दोष दग्ध हो जाते हैं।'

प्राणोंको रोकनेसे ही मन रुकता है। इनका एक दूसरेके साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। मन सवार है तो प्राण वाहन है। एकको रोकनेसे दोनों रुक जाते हैं। प्राणायामके सम्बन्धमें योगशास्त्रमें अनेक उपदेश मिलते हैं, परन्तु वे बड़े ही कठिन हैं। योगसाधनमें अनेक नियमोंका पालन करना पड़ता है। योगाभ्यासके लिये बड़े ही कठोर आत्मसयमकी आवश्यकता है। आजकलके समयमें तो कई कारणोंसे योगका साधन एक प्रकारसे असाध्य ही समझना चाहिये। यहाँपर प्राणायामके सम्बन्धमें केवल इतना ही कहा जाता है कि बाईं नासिकासे बाहरकी वायुको अन्तरमें ले जाकर स्थिर रखनेको पूरक कहते हैं, दाहिनी नासिकासे अन्तरकी वायुको बाहर निकालकर बाहर स्थिर रखनेको रेचक कहते हैं और जिसमें अन्तरकी वायु बाहर न जा सके और बाहरकी वायु अन्तरमें प्रवेश न कर सके, इस भावसे प्राणवायु रोक रखनेको कुम्भक कहते हैं। इसीका नाम प्राणायाम है।

साधारणतः चार बार मन्त्र जपकर पूरक, सोलह बारके जपसे कुम्भक और आठ बारके जपसे रेचककी विधि है। परन्तु इस सम्बन्धमें उपयुक्त सद्गुरुकी आज्ञा बिना कोई कार्य नहीं करना चाहिये। योगाभ्यासमें देखादेखी करनेसे उलटा फल हो सकता है।

देखा देखी साधै जोग। छीजै काया बाढै रोग।

पर यह स्मरण रहे कि प्राणायाम मनको रोकनेका एक बहुत ही उत्तम साधन है।

(१४) श्वासके द्वारा नाम-जप

मनको रोककर परमात्मामें लगानेका एक अत्यन्त सुलभ और आशङ्कारहित उपाय और है, जिसका अनुष्ठान सभी कर सकते हैं। वह है आने-जानेवाले श्वास-प्रश्वासकी गतिपर ध्यान रखकर श्वासके द्वारा श्रीभगवान्‌के नामका जप करना। यह अभ्यास बैठते-उठते, चलते-फिरते, सोते-खाते हर समय, प्रत्येक अवस्थामें किया जा सकता है। इसमें श्वास जोर-जोरसे लेनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं। श्वासकी साधारण चालके साथ-ही-साथ नामका जप किया जा सकता है। इसमें लक्ष्य रखनेसे ही मन रुककर नामका जप हो सकता है। श्वासके द्वारा नामका जप करते समय चित्तमें इतनी प्रसन्नता होनी चाहिये कि मानो मन आनन्दसे उछला पड़ता हो। आनन्दरससे छका हुआ अन्तःकरण-रूपी पात्र मानो छलका पड़ता हो। यदि इतने आनन्दका अनुभव न हो तो आनन्दकी भावना ही करनी चाहिये। इसीके साथ भगवान्‌को अपने अत्यन्त समीप जानकर उनके स्वरूपका ध्यान करना चाहिये, मानो उनके समीप होनेका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है। इस भावसे ससारकी सुध भुलाकर मनको परमात्मामें लगाना चाहिये।

(१५) ईश्वर-शरणागति

ईश्वर-प्रणिधानसे भी मन वशमें होता है, अनन्य भक्तिसे परमात्माके शरण होना ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है। 'ईश्वर' शब्दसे यहाँपर परमात्मा और उनके भक्त दोनों ही समझे जा सकते हैं। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति', 'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्', 'तन्मयाः'—इन श्रुति और भक्ति-शास्त्रके सिद्धान्त-वचनोंसे भगवान्, ज्ञानी और भक्तोंकी एकता सिद्ध होती है। श्रीभगवान् और उनके भक्तोंके प्रभाव और चरित्रके चिन्तनमात्रसे चित्त आनन्दसे भर जाता है। ससारका बन्धन मानो अपने-आप टूटने लगता है। अतएव भक्तोंका सङ्ग करने, उनके उपदेशोंके अनुसार चलने और भक्तोंकी कृपाको ही भगवत्प्राप्तिका प्रधान उपाय समझनेसे भी मनपर विजय प्राप्त की जा सकती है। भगवान् और सच्चे भक्तोंकी कृपासे सब कुछ हो सकता है।

(१६) मनके कार्योंको देखना

मनको वशमें करनेका एक बड़ा उत्तम साधन है 'मनसे अलग होकर निरन्तर मनके कार्योंको देखते रहना।' जबतक हम मनके साथ मिले हुए हैं तभीतक मनमें इतनी चञ्चलता है। जिस समय हम मनके द्रष्टा बन जाते हैं उसी समय मनकी चञ्चलता मिट जाती है। वास्तवमें तो मनसे हम सर्वथा भिन्न ही हैं। किस समय मनमें क्या सङ्कल्प होता है, इसका पूरा पता हमें रहता है। बबईमें बैठे हुए

एक मनुष्यके मनमें कलकत्तेके किसी दृश्यका सङ्कल्प होता है, इस बातको वह अच्छी तरह जानता है। यह निर्विवाद बात है कि जानने या देखनेवाला जाननेकी वा देखनेकी वस्तुसे सदा अलग होता है। आँखको आँख नहीं देख सकती। इस न्यायसे मनकी बातोंको जो जानता या देखता है वह मनसे सर्वथा भिन्न है, भिन्न होते हुए भी वह अपनेको मनके साथ मिला लेता है, इसीसे उसका जोर पाकर मनकी उद्दण्डता बढ़ जाती है। यदि साधक अपनेको निरन्तर अलग रखकर मनकी क्रियाओंका द्रष्टा बनकर देखनेका अभ्यास करे तो मन बहुत ही शीघ्र सङ्कल्परहित हो सकता है।

(१७) भगवन्नामकीर्तन

मग्न होकर उच्च स्वरसे परमात्माका नाम और गुण-कीर्त्तन करनेसे भी मन परमात्मामें स्थिर हो सकता है। भगवान् चैतन्यदेवने तो मनको निरुद्धकर परमात्मामें लगानेका यही परम साधन बतलाया है। भक्त जब अपने प्रभुका नाम-कीर्तन करते-करते गद्गदकण्ठ, रोमाञ्चित और अश्रुपूर्णलोचन होकर प्रेमावेशमें अपने आपको सर्वथा भुलाकर केवल प्रेमिक परमात्माके रूपमें तन्मयता प्राप्त कर लेता है, तब भला मनको जीतनेमें और कौन-सी बात बच रहती है? अतएव प्रेमपूर्वक परमात्माका नामकीर्त्तन करना मनपर विजय पानेका एक अत्युत्तम साधन है।

इस प्रकारसे मनको रोककर परमात्मामें लगानेके अनेक साधन और युक्तियाँ हैं। इनमेंसे या अन्य किसी भी युक्तिसे किसी प्रकारसे भी मनको विषयोंसे हटाकर परमात्मामें लगानेकी चेष्टा करनी चाहिये। मनके स्थिर किये बिना अन्य कोई भी अवलम्बन नहीं। जैसे चञ्चल जलमें रूप विकृत दीख पड़ता है उसी प्रकार चञ्चल चित्तमें आत्माका यथार्थ स्वरूप प्रतिबिम्बित नहीं होता। परन्तु जैसे स्थिर जलमें प्रतिबिम्ब जैसा होता है वैसा ही दीखता है, इसी प्रकार केवल स्थिर मनसे ही आत्माका यथार्थ स्वरूप स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है। अतएव प्राणपणसे मनको स्थिर करनेका प्रयत्न करना चाहिये। अबतक जो इस मनको स्थिर कर सके हैं वे ही उस श्यामसुन्दरके नित्यप्रसन्न नवीन-नील-नीरद प्रफुल्ल मुखारविन्दका दर्शन कर अपना जन्म और जीवन सफल कर सके हैं। जिसने एक बार भी उस 'अनूप-रूपशिरोमणि' के दर्शनका सयोग प्राप्त कर लिया वही धन्य हो गया! उसके लिये उस सुखके सामने और सारे सुख फीके पड़ गये! उस लाभके सामने और सारे लाभ नीचे हो गये!

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

'जिस लाभको पा लेनेपर उससे अधिक और कोई-सा लाभ भी नहीं जँचता।'

यही योगसाधनका चरम फल है अथवा यही परम योग है।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

योगबल

(लेखक—पू० स्वामीजी श्रीश्रीविद्यानन्दजी महाराज)

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(गीता ६। ३२)

त्रिकालदर्शी ऋषियोंके द्वारा प्रकट होनेवाले ईश्वरके ज्ञानरूप वेदको हम परिपूर्ण ग्रन्थ मानते हैं। जो वेदोंमें है वही न्यूनाधिक रूपसे सर्वत्र मिलता है और जो उसमें नहीं है उसका कहीं अस्तित्व ही नहीं है। वेदमें जो जड-चेतन, लोक-परलोक, स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, कर्म-अकर्म आदि लौकिक-अलौकिक विषयोंका वर्णन किया गया है उनके यथार्थ स्वरूपको प्रत्यक्षतया देखनेवाला योगी है। निगूढ वैदिक तत्त्वोंको प्रत्यक्ष करानेवाला योगाभ्यास है। वेदमें सब विषयोंका स्पष्ट उल्लेख है। पर लोग उसको वैसा नहीं समझ सकते, क्योंकि उनके पास योगबल नहीं है। यदि योगशक्तिसे वैदिक सिद्धान्तका अवलोकन किया जाय तो आज नाना मतभेदपूर्ण विभिन्न सम्प्रदायवादसे कर्तव्यकर्म या धर्मके स्वरूपके विषयमें जो सन्देह हो रहा है वह न हो। जब शान्तिके साधनमें सन्देह है तब शान्ति कहाँ?

हम योगसे परमात्माके असली स्वरूपका अवलोकन कर सकते हैं। हम प्रकृति और उसके विकारोंको यथार्थ रूपमें देखने योग्य हो सकते हैं। हम पहले क्या और कहाँ थे, आगे क्या और कहाँ होंगे, इत्यादि अनेक जन्म-जन्मान्तरोंका पता लगा सकते हैं, पाप और पुण्यजनक कर्मोंका निश्चय कर सकते हैं। अभी तो हमें यही पता नहीं कि मनुष्यका क्या कर्तव्य है? इनका पता भी योगसे ही लगेगा। संसारमें एक-से-एक शक्तिशाली लोग पड़े हैं। उनमेंसे एक चतुर वाग्मी हमें तर्कयुक्तियोंसे आज

जो बात समझा गया, कल उससे भी कोई अधिक वावदूक बड़ी-बडी दलीलें देकर विपरीत बोध करा गया, फिर तीसरा आकर और कुछ निश्चय करा गया, इससे हमारा बुद्धिभेद कम होनेके बजाय दृढ़ हो गया। हमारी बुद्धि मानो फुटबॉल हो गयी, जिसको खेलाड़ी लोग ठोकरें मार-मारकर इधर-से-उधर लिये फिरा करते हैं। योग ऐसी कर्तव्याकर्तव्यविमर्शशून्य बुद्धि-को कर्तव्यपरायण बनाकर भ्रान्त होनेसे रोक देगा। योग उस अस्थिर और चञ्चल चित्तवृत्तिको पर्वतसे भी अधिक दृढ़ और समुद्रसे भी ज्यादा गम्भीर बना देनेवाला एकमात्र साधन है। योग सब शङ्काओंका समाधान कर देनेवाला प्रधान प्रकार है। योगीके समक्ष सब झगडे आप-से-आप मिट जाते हैं। विवाद (झगड़ा) दुराग्रह और वस्तुके असली स्वरूपके न जाननेसे होता है। योगी सब वस्तुओंके यथार्थ स्वरूपको देख लेता है। हाथीके पाँव, सूँड़, पूँछ और पेट आदि अवयवको अन्धजन अवयवी (हाथी) कहकर लड़ सकते हैं, पर जो इनके सयोगको जानता है उसका झगड़ा आप-से-आप मिटा पड़ा है। सब मत-मतान्तरोंके विवाद उस समय आप-से-आप मिट जायँगे जब वे योगमहिमासे धर्मके असली स्वरूपको देख या पहचान जायँगे, जब योगके दीपकसे धर्मका सम्पूर्ण रहस्य हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो जायगा। योग प्रकृति-पुरुषके भेदको प्रत्यक्ष दिखाकर मायाके सारे बन्धनोंको तोड़कर जीव या पुरुषको उससे मुक्त कर देता है। वस्तुतः योगका प्रधान उद्देश्य ही यह है कि वह प्रत्येक वस्तुके स्वरूपको प्रत्यक्ष कर दे।

बृहदारण्यकादि उपनिषदोंमें आत्माके साक्षात्कार करनेका उपाय योग बताया गया है—

आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदि-ध्यासितव्यः।

हे मैत्रेयि! आत्मा देखने, सुनने, मनन करने और निदिध्यासन करने योग्य है। यहाँ निदिध्यासनका अर्थ ध्यान है, और ध्यानको ही समाधि कहते हैं। समाधि (योग) से चित्तवृत्तिका निरोध हो जाता है, जिसका चित्त स्थिर है, जिसका मन चञ्चल नहीं है, वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म गहनातिगहन विषयोंको बड़ी आसानीसे समझ लेता है। हमारे साथ नदिया-शान्तिपुरमें एक आचारी छात्र न्याय पढ़ता था, उसे बहुत समझानेपर भी मोटी-सी बात भी नहीं समझमें आती थी। उसने एक सन्यासी महात्मासे तीन वर्षमें कुछ योगका अभ्यास कर लिया, इतनेहीसे उसकी बुद्धि इतनी निर्मल हो गयी कि वह तीन वर्षकी पढाई तीन मासमें पढ गया। गीता-प्रचार करते-करते जब मेरा शरीर श्रान्त हो जाता है या जब मुझे कोई सामयिक सार्वजनिकलाभविषयक प्रश्न हल करना होता है तब मैं अपनी आदतके अनुसार कुछ दिनोंके लिये एकान्तवास करने हिमालयपर्वतपर कैलास आदि स्थानोंकी ओर चला जाता हूँ। वहाँ मैंने कई बार योगकी अद्भुत शक्तिका चमत्कार स्वय अपनी आँखों देखा है। एक महात्मा बहुत दिनोंसे पहाड़ोंमें रहनेके कारण यह भी नहीं जानते थे कि अखबार क्या चीज होती है, पर मैंने समाचारपत्र पढ़कर जो बातें उनको सुनानी चाही, उसके आगेकी बात उन्होंने स्वय कह दी। एक साधुको रात-दिन बरफकी चट्टानपर ऐसे सोते देखा मानो ये शय्यापर सो रहे हों। तिब्बतके इस तरफ टिङ्करीनूर (आकाश-सरोवर) के तटस्थ जगली प्रदेशमें बहुत कालसे रहनेवाले एक महात्माको बहुत दिनोंतक निराहार रहनेकी सामर्थ्य थी। पूछनेपर मालूम हुआ कि वे योगद्वारा ब्रह्मरन्ध्रसे स्राव होनेवाले अमृतबिन्दुसे हमेशा तृप्त रहते थे। इससे उनकी शारीरिक सम्पत्ति बहुत ही सुन्दर और सुडौल हो गयी थी। मैंने कई गृहस्थ भोटियोंको दीर्घायु और सदा आरोग्य रहते देखा है। पूछनेपर मालूम हुआ कि वे लामा साधुओंकी कृपासे कुछ योगाभ्यासकी विधि जान गये हैं। कई उनमें आसनदृढ़ (बहुत कालतक एक जगहसे न हिलना-डुलना) और कई गुडाकेश थे। ये चमत्कार तो क्या चीज हैं, अणिमादि अष्टसिद्धि और नव निधियाँ भी योगके साधारणतम करिश्मे हैं। योगका प्रधान प्रयोजन तो अन्तःकरणकी शुद्धिपूर्वक ज्ञानानन्तर मोक्षकी प्राप्ति है। सिद्धि-निधि तो नान्तरीयकतया आप-से-आप आ उपस्थित होती हैं।

मैंने उत्तराखण्डके पर्वतोंमें विचरते हुए एक दिन इन प्रश्नोंपर विचार करना आरम्भ किया कि एक सम्प्रदायके लोग दूसरे सम्प्रदायपर क्यों आक्रमण किया करते हैं? मनुष्य मनुष्यके खूनका प्यासा क्यों है? सबके लिये समान भागसे दी हुई ईश्वरकी भू, जल आदि विभूतियोंपर केवल अपना अधिकार करके, दूसरोंको उससे प्राप्त होनेवाले लाभसे वञ्चित और अपने-आपको

लाभान्वित करके मनुष्य क्यों अनधिकार चेष्टा किया करता है ? इत्यादि अनेक प्रश्नोंका उत्तर मुझे एक यही मालूम पड़ा कि मनुष्यके वस्तुस्थिति न जाननेके कारण (पदार्थोंके असली स्वरूपको न जाननेके कारण) ही ये सब बखेड़े खड़े होते हैं और उनके सही स्वरूपका प्रत्यक्ष करा देनेवाला एकमात्र योग है। राजा-प्रजा, छोटे-बड़े, नीच-ऊँचके बीचका विवाद उस दिन काफूर हो जायगा जब योग सबकी आँखें खोल देगा। नहीं तो संसार पाँव, पेट आदि अवयवोंको हाथी बताकर लड़नेवाले अन्धोंकी तरह पारस्परिक झूठे विवादके कारण कभी शान्ति नहीं पा सकेगा।

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं
वर्णप्रसादः स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं
योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥
न तस्य रोगो न जरा न दुःखं
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।

इसमें योगका फल बताया गया है। आलस्य मनुष्यको कुछ करने नहीं देता, और योग आलस्यका परम विरोधी है। योगसे शरीर हलका हो जाता है, नीरोग रहता है, विषय-वासनाकी लालसा जाती रहती है, कान्ति बढ़ जाती है, स्वरमें माधुर्य आ जाता है, गन्ध अच्छी आने लगती है, मल-मूत्र कम होने लगता है—यह योगकी पहली सीढ़ी है। उसे न रोग होता है, न बुढ़ापा आता है, न कोई कष्ट होता है, जिसने योगाग्निमय देदीप्यमान शरीर पा लिया।

पर बिना अधिकारी हुए किसीको कोई वस्तु मिल नहीं सकती। योगका अधिकारी वह हो सकता है जिसकी आत्मामें परलोक, शुभाशुभ कर्मोंके अनुष्ठान, वेद और आचार्यमें श्रद्धा हो। जो महात्माओंका सत्सङ्ग अन्य काम छोड़कर भी करनेकी इच्छा रखता हो, योगका नाम सुनते ही जिसके रोमाञ्च हो जाते हों और आँखोंसे प्रेमाश्रुओंकी झड़ी लग जाती हो, जिसने पूर्व-जन्म या इसी जन्ममें कोई शुभ कर्म किया होगा वही इसका अनुरागी हो सकता है।

क्लिष्ट और अक्लिष्टभेदसे प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति, ये चित्तकी पाँच वृत्तियाँ हैं। 'अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः'—अभ्यास और वैराग्यसे उनका निरोध होता है। 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः' इस सूत्रमें बल और उत्साहपूर्वक ईश्वरमें चित्तकी वृत्ति सम्पादन करनेका नाम अभ्यास बताया गया है। योगभाष्यके अनुसार यों समझना चाहिये कि चित्त एक नदी है। इसमें वृत्तियोंका प्रवाह सदा बहता रहता है। इसकी दो धाराएँ हैं—एक विषयोंके मार्गमें बहती हुई संसारसागरमें जा मिलती है, और दूसरी विवेकके मार्गमें बहती हुई कल्याणसागरमें जा मिलती है। पहलीका पता तो जन्मके साथ ही मिल जाता है, पर दूसरी धाराका पता शास्त्र और आचार्य बताते हैं। जब एक नदीकी दो धारा होकर दोनों तरफ बहती है, यदि एक तरफकी धारा बाँध बाँधकर रोक दी जायगी तो स्वाभाविक ही दूसरी धारा तीव्र होकर बहने लगेगी। यह बात हरिद्वार-ब्रह्मकुण्डके तटपर बैठकर उस पारके नील पर्वतके नीचेवाले नहर विभागके उन फाटकोंको देखनेपर अच्छी तरह समझमें आ सकती है जिनके खोल देनेसे ब्रह्मकुण्डकी धाराका सारा पानी पर्वतकी तरफ बहने लगता है और बन्द कर देनेसे सब जल बड़ी भारी धाराके रूपमें ब्रह्मकुण्डकी ओर प्रवाहित होने लगता है। इसी प्रकार जब विषयोंके स्रोतपर वैराग्यका बाँध बाँधकर अभ्यासकी सहायतासे सारे प्रवाहको विवेकके स्रोतमें डाल दिया जाता है, तब बड़े वेगसे सारी धारा कल्याणके सागरमें जा गिरती है और उससे आगे बढ़कर निरोधके सागरमें लीन हो जाती है। मन अत्यन्त चञ्चल है, अभ्यास और वैराग्य दोनों मिलकर मनको साध लेते हैं। 'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'—इस गीतावचनमें मनके निरोधका कारण अभ्यास और वैराग्यको ही बताया गया है।

संसारमें जो कार्य सिद्ध हो जाते हैं वे इष्ट और जो विफल हो जायँ वे अनिष्ट माने जाते हैं। पर योगके लिये यह बात नहीं है। 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते', 'अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्' इत्यादि भगवद्-वाक्योंके अनुसार योगीको एक बार विफलता होनेपर भी फिर उस मार्गमें आनेका अवसर मिल जाता है।

योगी लोग 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'—ईश्वरका ऐसा स्वरूप मानते हैं कि वह क्लेश, कर्म, उसके फल और वासनाओंसे नहीं छुआ गया है और उसका प्रणिधान करनेके लिये 'तस्य वाचकः प्रणवः' इस योगसूत्रमें 'ॐ' यह (परमात्माका) सबसे बड़ा नाम बताया गया है, 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' इस सूत्रमें उसका प्रणिधान (उपासना) बताया गया है। नामसे नामीके गुण, शक्ति, स्वभावादिविषयक जिज्ञासाका स्फुरण होना

स्वाभाविक है। रामायण, महाभारतादिकी कथामें राम, कृष्ण आदिके नाम सुननेसे श्रोताको उनके गुण, स्वभावादिके विषयमें जिज्ञासा पैदा होनी उचित ही है। 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्'—जिसमें चित्तकी वृत्ति लगी है उसीमें लगी रहे, उसका नाम ध्यान है। उसीको समाधि कहते हैं। बात यह है कि जब एकान्तताकालमें ध्याता, ध्यान, ध्येय—ये तीनों भासते हैं तब वह ध्यान कहलाता है। जब ध्यानकी प्रबलतासे ध्येयके अतिरिक्त (विशेषरूपसे) कुछ भी नहीं भासता, उस अवस्थामें वह ध्यान समाधि कहाने लगता है। इस समाधिके किलेमें बैठकर यह नश्वर मनुष्य-जीवन कालबलिसे लड़कर विजयी बन जाता है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः॥

—इस अभिजनोक्तिके अनुसार जब चाहता है तभी योगी सूर्यमण्डलमेंसे होकर यथेष्ट प्रदेशमें चला जाता है।

उपादानकारणभूत रजोवीर्य-जैसी गन्दी चीजसे इस शरीरकी उत्पत्तिका होना आश्चर्यमें डाल देता है। यदि शरीर और प्राणका वियोग हो जाय तो चाहे जितने बारूद कटा दिये जायँ, चाहे जितने वर्षों खोजा जाय, पर इसका कहीं पता न लगेगा। जिस शरीरके तैयार होनेमें इतना कष्ट और समय लगाना पड़ा, उसके बिगड़ते क्षणमात्र भी नहीं लगता। जो आपाततः साफ-सुथरा प्रतीत होता है, जिसके साथ बैठना, सोना, खाना, पीना बहुत अच्छा लगता है, यदि उस शरीरसे चेचकके व्रणोंके कारण पीव बहने लगे, या विसूचिका-रोगसे निरन्तर वह मल-मूत्र त्यागने लगे तो उसके प्रेमी ही उससे घृणा करने लगेंगे। परन्तु धन्य है उन उद्यमशील ऋषि-मुनि महापुरुषोंको कि जिन्होंने ऐसे अनित्य और मलसार शरीरमें ऐसी विद्या प्रकट कर दी है कि जिसकी सहायतासे मनुष्य इस लोक और परलोकमें भी अधिक-से अधिक सुखोपभोग कर सकता है। प्रकृतिके प्रतिकूल आघात-प्रत्याघातको भी सहन करनेयोग्य हो जाता है। वस्तुतः मनुष्य जबतक शरीरके भीतरके पदार्थ नहीं जान सकता तबतक बाहरके पदार्थ क्या जानेगा। मनुष्यके शरीरके भीतर अन्तःकरणचतुष्टयके अन्तर्गत मन एक ऐसा विघ्नकारक है कि मनुष्यको सहारी झझटोंमें फँसाकर इहलौकिक और पारलौकिक सुखोंसे वञ्चित कर देता है। धर्म और मोक्षका चिन्तन नहीं करने देता। अर्थ और कामके चक्करमें डाले रहता है। इस उपद्रवको दूर करनेके लिये महापुरुषोंने योगका प्रकार बताया है, योगी मनको ऐसे वशमें कर लेता है जैसे अच्छा सारथी घोड़ोंको। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखोंकी निवृत्तिका कारण मोक्ष है। इस अक्षय सुखकी प्राप्तिका साधन मन और इन्द्रियोंका निग्रह है। मनोनिग्रह योगके बिना हो नहीं सकता। जैसे अग्निमें तपा देनेसे धातुओंके सब मल नष्ट हो जाते हैं वैसे ही योगाभ्याससे मनुष्यके मलविक्षेप और आवरणदोष छूटकर अन्तःकरणशुद्धिद्वारा आत्मज्ञानसे उसकी मुक्ति हो जाती है।

साधारण-से-साधारण काममें भी चित्तवृत्तिका निरोध किये बिना काम नहीं चलता। बिना चित्तके एकाग्र किये स्त्रियाँ अपने सिरपर कई घड़े कैसे उठा सकती हैं? ऐसे ही नटका निराश्रय तारपर चलना तथा जिमनास्टिकके बड़े-बड़े कुतूहलजनक खेल चित्तवृत्तिके निरोधके फल हैं। मन लगाकर किया हुआ कोई भी काम अवश्य सफल होता है।

योग बहुत-सी चीजोंके एकत्रीकरणका भी नाम है। ऐसा होनेपर भी यह कहना पड़ेगा कि संसारमें कोई भी काम बिना योग (मेल) के हो ही नहीं सकता। कलियुगमें तो योग (संघशक्ति) का बड़ा महत्त्व है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन॥

—इस वाक्यमें भगवान् योगको सबसे अधिक महत्त्व देते हुए सबके लिये आवश्यक बता रहे हैं।

योगके विषयमें बुद्धिमानोंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। किन्तु जिज्ञासुओंको ग्रन्थकृपाकी अपेक्षा गुरुकृपा अधिक आवश्यक है। हमने कई सज्जन ऐसे देखे हैं कि जिन्होंने किसीके साधारण इशारेपर या कोई ग्रन्थ देखकर योगाभ्यासकी सदिच्छासे प्रेरित हो क्रिया करना आरम्भ कर दिया, फल यह हुआ कि जन्मभरके लिये रोगी हो गये। ग्रन्थ सहायक हो सकते हैं, पर कार्यसिद्धि गुरुकृपापर ही निर्भर है, लगन सच्ची चाहिये, फिर तो सद्गुरु मिलना दुर्लभ होनेपर भी अलभ्य नहीं है। जो जितना ऊँचा काम होगा, अन्तराय भी उसमें उतना ही प्रबल होगा। घण्टेमें सैकड़ों मीलकी दौड़ लगानेवाला व्योमयान (हवाई जहाज) यदि बिगड़कर नीचे गिर पड़े तो उसके सवारोंकी एक हड्डी भी खोजे न मिलेगी। ऊँचे-से-ऊँचे ध्येयतक पहुँचानेमें समर्थ नियमपूर्वक किया जानेवाला योगमार्ग जैसा निष्कण्टक है वैसा ही वह विधिहीन किया हुआ

खतरनाक भी है। भय किसमें नहीं है, किन्तु भयके कारणको दूर करते हुए उद्योग करना चाहिये।

यह नियम नहीं है कि सन्यासी ही योगाभ्यास कर सकता है, या वह बिना पहाड़ोंकी कन्दरोंमें गये योग हो ही नहीं सकता। काश्मीरके पहलगाँव नामक स्थानमें एक ब्राह्मण, जिसके स्त्री-पुत्र, पुत्रवधू साथ थी वह बहुत-से लोगोंको योगाभ्यासकी शिक्षा देता था। और उसकी स्त्री शिक्षार्थियोंकी क्रियामें सहायता पहुँचाती देखी गयी है। एक दिन योगी ब्राह्मण घरपर नहीं थे। क्रिया करते हुए एक अभ्यासीके गलेमें धोती अटक गयी। उस समय उस ब्राह्मणीने गरम पानीकी सहायतासे अनायास धोती निकाल दी। वह ब्राह्मण सफलतापूर्वक शिक्षा दे रहा था। हाँ, यह अवश्य है कि विरक्त महात्मा इसको अनायास थोड़े समयमें ही सम्पादन कर सकते हैं, क्योंकि उनकी अवस्था और एकान्त स्थान इनकी शीघ्र सिद्धिमें सहायक हो जाते हैं। वे इसके द्वारा बहुत ऊँची स्थितिमें पहुँच सकते है। योग सबके लिये शक्य और आवश्यक है, क्योंकि युक्त-युञ्जानभेदसे योगीके लिये सब कुछ जान लेना कठिन नहीं है।

हम तो बार-बार यही कहेंगे कि सब धर्मोंका तभी समन्वय होगा जब लोग योगसे असलियत समझनेमें समर्थ होंगे। योगियोंके आश्रममें सिंह-मृग, बाघ-बकरी, श्येन-वर्तिका, बिड़ाल-मूषक, अहि-नकुल आदि जीवोंका शाश्वतिक विरोध जाता रहता है। तब फिर मनुष्य तो विवेकी है, समझदार है, उसका पारस्परिक प्रेम होना कौन कठिन बात है। सब शान्ति चाहते हैं, सब सुख चाहते हैं और यह सब कुछ योगद्वारा सुलभ है। सब बल सङ्घर्षके कारण हैं, एक बली दूसरेसे उलझ बैठता है; पर योगबल सब बल और बलियों-का सम्मेलन करा देगा। अतः योगबल ही सब कुछ है। मनुष्य यदि योगबल सम्पादन कर ले तो आज रामराज्यके सुखानुभव करनेका सौभाग्य सबको अनायास प्राप्त हो सकता है।

भक्तिके दो रूप-रागानुगा और वैधी

(लेखक—डा० श्रीप्रभातचन्द्र चक्रवर्ती, एम० ए०, पी० आर० एस०, पी-एच० डी०)

रागानुगा और वैधी, इन दो प्रकारकी भक्तियोंका भेद बतलानेके पूर्व हमारा इस लेखके प्रारम्भमें भक्तिका संक्षिप्त विवेचन करनेका विचार है। सबसे पहली बात तो इस सम्बन्धमें यह कहनी है कि अनेक धर्मोंकी जन्मदात्री हमारी इस जगत्प्रसिद्ध भारतभूमिमें भक्तिमार्ग-का प्रचार अत्यन्त प्राचीन कालसे है। जगत्में जो सबसे महान् और सर्वोपरि तत्त्व है उसके प्रति श्रद्धा और भक्ति-के नैसर्गिकभावसे अथवा यों कहें कि देवताओंके अच्छे-पनमें विश्वाससे, जगत्के आदिम निवासियोंमें यज्ञ और कर्मकाण्डके अनुष्ठानका प्रारम्भ हुआ, ऐसा माना जाता है। धार्मिक उपासना और ईश्वरके साथ सम्बन्ध जोड़नेके जितने प्रकार हैं उन सबका मूल हमारी भक्तिभावना ही है। साधनाके पवित्र मार्गमें भक्तिका स्थान अद्वितीय है। सभी भगवत्कामी पुरुषों, सभी योगियों और सभी मक्तोंके लिये भक्तिका साधन आवश्यक है। भक्तिके बिना कोई भी ब्रह्मविद्याके उच्च आसनपर बैठने और उसके द्वारा परमात्माका दिव्य ज्ञान प्राप्त करनेकी आशा नहीं कर सकता।

> यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
> तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन. ॥
>
> (श्वेताश्व० ६ । २३)

'जिसकी परमात्मामें उत्तम भक्ति है और परमात्माके समान ही अपने गुरुमें भक्ति है उस महात्माको ऊपर कहे हुए सभी पदार्थ स्पष्ट हो जाते हैं।'

भारतवर्षमें अति प्राचीन कालसे आध्यात्मिक साधना-के भक्ति, ज्ञान और कर्म इन तीन भिन्न-भिन्न मार्गोंका प्रचार चला आया है। हम लोग सभी इस बातको सामान्यरूपसे जानते हैं कि भक्ति बीजरूपसे मनुष्यके हृदयमें रहती ही है। यह एक पवित्र भाव है जो हृदयके भीतरसे निकलता है, परमात्माके अधिकाधिक स्मरणसे पुष्ट होता है और अन्तमें पूर्ण आत्मनिवेदनमें परिणत हो जाता है।

तब प्रश्न यह होता है कि भक्ति क्या वस्तु है। इसके लिये सर्वप्रथम हमें उन ग्रन्थोंके पन्ने उलटने होंगे जो

केवल भक्तिका प्रतिपादन करते हैं। भक्तिमीमांसामें ईश्वरके प्रति परम अनुरागको भक्ति कहा है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे। (शाण्डिल्यसूत्र)

यहाँ अनुरागका अर्थ है परमात्मा अथवा अपने इष्टदेवमें कामनाशून्य आसक्ति। भक्ति जब पराकाष्ठाको पहुँच जाती है तब भक्तका मन परमात्मामें सर्वथा लीन होकर अद्वैतभावको प्राप्त हो जाता है, उसका अहङ्कार सर्वथा नष्ट हो जाता है। अतः भक्ति एक सर्वथा दिव्य भाव है और उसमें आनन्दका एक अजस्र प्रवाह बहता रहता है। हमारा अपने पुत्रकलत्रादिमें जो प्रेम है उसको भी लौकिक भाषामें अनुराग ही कहते हैं, परन्तु वह अनुराग इतना अधिक स्वार्थपूर्ण एवं लौकिक है कि उसमें भक्तिका कोई भी उदात्त लक्षण नहीं देखनेमें आता। अर्थात् लौकिक प्रेम स्वार्थबुद्धिसे कलुषित रहता है और उस माधुर्यसे सर्वथा शून्य होता है जिसके कारण भक्ति इतनी प्रिय मालूम होती है। प्रेम अथवा अनुरागकी भक्ति-संज्ञा तभी होती है जब वह हमारे जीवनके सर्वस्व एवं चरम लक्ष्य भगवान्‌की ओर मुड़कर धन्य हो जाता है। ऊपर उद्धृत किये हुए सूत्रसे यह बात सुतरां स्पष्ट हो जाती है कि भगवान्‌को परम प्रेमास्पद एवं श्रद्धास्पद मानना ही भक्तिका स्वरूप है।

देवर्षि नारदने ईश्वरके प्रति परम प्रेमको ही भक्तिका लक्षण बताया है—

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। (ना० सू० २)

उक्त दोनों सूत्रकारोंने प्रेमकी प्रगाढ़ताको ही भक्तिका मुख्य लक्षण बताया है और उसीपर विशेष जोर दिया है, जिससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि दोनोंका इस विषयमें एक मत है। नारदने अनुरागके स्थानपर 'प्रेम' शब्दका व्यवहार करके अप्रकटरूपसे यह संकेत किया है कि भक्ति अन्तमें जाकर किस श्रेणीतक पहुँच सकती है। भक्तिरसामृतसिन्धुमें भक्तिके विकासका जो क्रम बताया गया है, यह शब्द उसके अनुकूल ही है। उक्त ग्रन्थमें रूप गोस्वामीने भक्तिका विवेचन करते हुए बड़े सुन्दर ढंगसे यह बताया है कि श्रद्धाके विकासकी कितनी श्रेणियाँ हैं और बढ़ते-बढ़ते अन्तमें जाकर वह किस प्रकार प्रेमके रूपमें परिणत हो जाती है। ईश्वरमें अटल विश्वास भक्तिका प्रथम सोपान है। जहाँ विश्वास नहीं वहाँ भक्ति कहाँ? ज्ञानके सम्बन्धमें भी यही बात है। ज्ञानपिपासुओंको भी श्रद्धाके बिना काम नहीं चलता—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। (गीता ४। ३९)

भक्तिके विकासके पूर्व श्रद्धाकी आवश्यकता है अथवा भक्तिके साथ श्रद्धाका होना अनिवार्य है, इस बातको गीतामें बार-बार कहा गया है। उदाहरणके लिये देखिये—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥

अर्थात् जो नित्ययुक्त पुरुष मेरे अन्दर मनको आवेशितकर परम श्रद्धाके साथ मेरी उपासना करते हैं वे ही मेरे मतमें युक्ततम योगी हैं।

रूप गोस्वामीने अपने उक्त ग्रन्थमें भक्तिका जो लक्षण बताया है वह भी ध्यान देनेयोग्य है, यद्यपि प्रत्यक्ष ही उसमें थोड़ी-बहुत साम्प्रदायिकता अवश्य है। वे कृष्ण-भक्तिको ही सर्वोत्तम भक्ति बतलाते हैं और उसे ज्ञान और कर्मसे सर्वथा शून्य कहते हैं—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

अर्थात् अन्य किसी वस्तुकी कामना न रखते हुए, ज्ञान-कर्मादिके आवरणको हटाकर श्रीकृष्णरूप परमात्माके सर्वथा अनुकूल होकर उन्हींका निरन्तर चिन्तन करना ही श्रेष्ठ भक्ति है।

भक्तिरसायन नामक ग्रन्थके रचयिता अद्वैतशिरोमणि आचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वतीने अपने उक्त ग्रन्थमें भक्तिका बिल्कुल दार्शनिक ढंगसे विवेचन किया है। अद्वैतसिद्धि नामक अद्वैतवेदान्त अथवा शाङ्करवेदान्तका प्रसिद्ध ग्रन्थ भी इन्हीं महानुभावका लिखा हुआ है। यह कम आश्चर्यकी बात नहीं है कि मधुसूदन सरस्वती-जैसे कट्टर अद्वैतवादीने अपने असाधारण बुद्धि-बलके द्वारा भक्तिको जीवनका परमपुरुषार्थ सिद्ध किया है और ज्ञानकी अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाया है। उक्त दार्शनिकशिरोमणिके मतमें भक्ति मनकी एक विशेष वृत्ति है जिसमें मन रागजन्य आनन्दातिरेकसे द्रवीभूत होकर भगवदाकार बन जाता है—

द्रवीभावपूर्विका हि मनसो भगवदाकारता सविकल्पकवृत्तिरूपा भक्तिः।

उन्होंने भक्तिका लक्षण इस प्रकार किया है—

द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥

'भगवद्भावसे द्रवीभूत हुए चित्तकी चराचरनायक भगवान्‌के अन्दर धारावाहिक रूपको प्राप्त हुई वृत्तिको ही भक्ति कहते हैं।'

कहते हैं, भक्ति तभी उत्पन्न होती है जब मनको भगवान्‌में निरन्तर लगे रहनेका अभ्यास हो जाता है। इस प्रकार भक्ति चित्तका एक अजस्र एवं अविच्छिन्न प्रवाह है, एक पवित्र धारा है जो सर्वदा आनन्दार्णवकी ओर बहती रहती है। श्रीमद्भागवतमें भक्तिके इस अजस्र प्रवाहको त्रैलोक्यपावनी मन्दाकिनीकी उपमा दी गयी है। भगवान् वेदव्यास अपनी समाधिभाषामें कहते हैं—

मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्॥

अव्यावृत चिन्तन ही वह बीज है जिसमेंसे भक्तिका अङ्कुर उत्पन्न होता है।

आचार्य मधुसूदन सरस्वतीने यह भी बतलाया है कि भक्तका चित्त भक्तिके प्रभावसे किस प्रकार मृदु हो जाता है अथवा पिघल जाता है, वे कहते हैं कि तीव्र भक्तियोग हृदयको कोमल बनाकर प्रसारित कर देता है। भक्ति वह जादूगरकी छड़ी है जो अपने विलक्षण स्पर्शसे सारे काठिन्यको दूर कर देती है, हृदयको दिव्य आनन्दके रसमें सराबोर कर देती है और क्रूरताको पिघल जानेवाली मृदुताके रूपमें परिणत कर देती है।

भक्तिविषयक सर्वमान्य ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत हैं, पीछेसे भक्तिका प्रतिपादन करनेवाले जितने ग्रन्थ बने उन सबोंने अधिकांशमें इन्हीं दोनों ग्रन्थोंका आधार लिया है। गीताके एक अध्यायका तो नाम ही 'भक्तियोग' है, और वैसे यह सारा ग्रन्थ ही भक्तिके इस महान् आदर्शसे ओतप्रोत है। भगवद्भक्ति और भगवच्छरणागति ही गीताका मूलमन्त्र है। गीतामें यह खास तौरपर बतलाया गया है कि भगवान्‌की भक्ति करनेवालोंकी चार श्रेणियाँ हैं। उनमेंसे जो अपना सब कुछ भगवान्‌को दे डालते हैं वे उत्तम श्रेणीके भक्त माने गये हैं।

श्रीमद्भागवतमें भक्तिकी विस्तृत व्याख्या की गयी है। वहाँ भक्तिको मनकी एक स्वाभाविक वृत्ति बतलाया गया है जो किसी कारणविशेष अथवा पूर्वकल्पित हेतुसे उत्पन्न नहीं होती। श्रीकृष्णके प्रति अहैतुकी भक्तिको ही इस ग्रन्थमें सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा गया है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति॥

'भगवान् नारायणके प्रति अहैतुकी एवं किसी प्रकार भी नहीं रुकनेवाली भक्ति, जिससे आत्मा सुप्रसन्न होता है,—यही मनुष्यमात्रका परमधर्म है।

श्रीमद्भागवतमें तो बराबर प्रेमलक्षणा भक्तिकी, खासकर उस भक्तिकी जो वृन्दावनकी व्रजबालाओंमें प्रकट हुई थी, श्रेष्ठता सिद्ध करनेकी चेष्टा की गयी है। उन व्रजललनाओंका अनुराग इतना पवित्र एवं उत्कट था कि भगवान्‌ने उसके सामने स्वयं अपनी लघुता प्रकट की। श्रीभगवान्‌के शब्द हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या मामजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥

'निर्मल प्रेमकी ध्वजास्वरूपिणी आप महानुभावाओंके उपकारसे मैं देवताओंकी आयुमें भी उऋण नहीं हो सकता, जो बड़ी कठिनतासे टूटनेवाले गृहस्थके पाशको तृणकी तरह तोड़कर मेरी शरणमें आयी हो, इस ऋणको तो आप ही दया करके माफ़ कर दें तो भले ही उससे मैं मुक्त हो जाऊँ, अन्यथा उससे छूटनेका कोई उपाय नहीं है।'

यहाँ डकैतीकी चोट प्रेमकी विजय हुई। इस प्रकारका अलौकिक प्रेम मानवीय ज्ञानके बाहरकी वस्तु है।

आचार्य रामानुजके श्रीभाष्यको देखनेसे मालूम होता है कि वे वैधी भक्तिके उपासक थे। वे प्रख्यात वेदान्ती होनेपर भी भक्तिके प्रबल पक्षपाती थे। उनके मतमें भक्ति ज्ञानका श्रेष्ठ अङ्ग है।

भक्तिशास्त्रमें प्रेम और भक्ति समानार्थक शब्द हैं। जिस वस्तुमें हमारी भक्ति होती है वही हमारे प्रेमकी वस्तु होती है। विष्णुपुराणके निम्नलिखित श्लोकमें भक्तिके स्थानमें 'प्रीति' शब्दका व्यवहार किया गया है—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

'अविवेकी पुरुषोंकी विषयोंमें जैसी निश्चल प्रीति होती है, तुम्हें स्मरण करते हुए मेरी वैसी ही प्रीति तुम्हारे अन्दर सदा बनी रहे, क्षणमात्रके लिये भी हटे नहीं।'

ऐसा माना जाता है कि बिना अनुरागके ऐसी भक्ति नहीं हो सकती और बिना प्रेमके आत्मानन्दकी उपलब्धि नहीं हो सकती। भक्ति ही अन्ततोगत्वा प्रेमके रूपमें प्रकट होती है और जो लोग ज्ञान और कर्मको छोड़कर भक्तिका साधन करते हैं उनके लिये अभीष्टतम वस्तु यह प्रेम ही है। परमात्मविषयक परोक्षज्ञानसे अथवा पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानसे यह अलभ्य वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती। भक्तिका मार्ग इन सबकी अपेक्षा कहीं सुगम है और उससे भक्तका भगवान्‌के साथ निकटतम सम्बन्ध हो जाता है।

हमारे सामने बहुधा यह कठिन प्रश्न आता है—क्या ज्ञान और भक्ति परस्परविरोधी हैं? हमारा उत्तर है—नहीं। सच तो यह है कि दोनों परस्परसम्बद्ध हैं और एक दूसरेके सहायक हैं। यद्यपि ज्ञानको ही जन्ममृत्युके बन्धनसे छूटनेका साक्षात् कारण उद्घोषित किया गया है तथापि हमारी धारणा यह है कि भक्तिका ज्ञानके साथ कोई विरोध नहीं है। बल्कि कुछ लोग तो दोनोंको एक दूसरेके आश्रित मानते हैं (अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये)। दोनोंका फल एक है। दोनोंमेंसे किसी भी मार्गका अनुसरण करनेसे शाश्वत आनन्दकी प्राप्ति होती है। भक्ति और ज्ञानके चरम फलके सम्बन्धमें भक्तिसूत्र और वेदान्तसूत्र दोनोंका एक मत है (देखिये—'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' और 'तत्सस्थस्यामृतत्वोपदेशात्')।

अब हम भक्तिके प्रकारोंका कुछ वर्णन करेंगे। श्रीमद्भागवतमें नवधा भक्तिका निरूपण किया गया है। भक्तिके नौ भेद इस प्रकार है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

सूक्ष्म विचार करनेसे इस नवधा भक्तिका आत्मनिवेदन नामक अन्तिम भक्तिमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। तीव्र भक्तियोगके लिये यह आवश्यक है कि भक्त सर्वतोभावेन अपनेको भगवान्‌की दयापर छोड़ दे। सच्चा भक्त अनुरागकी गाढ़तामें अपने आपको सर्वथा खो बैठता है। किसी सांसारिक हेतुका आश्रय न लेकर भगवान्‌में जो प्रेम किया जाता है वही सबसे ऊँची भक्ति है। भगवान् विष्णुकी निष्काम आराधनामें यह सामर्थ्य है कि उसका साधन करनेवाला निर्वाणपदका अधिकारी हो जाता है—

प्राप्नोत्याराधिते विष्णौ निर्वाणमपि चोत्तमम्।
(विष्णुपुराण)

वैष्णवधर्मकी उत्तरकालीन शाखामें भक्तिके दो प्रकार देखनेमें आते हैं, रागानुगा और वैधी। वैधी भक्तिमें शास्त्रोक्त विधिका अक्षरशः पालन होता है और लौकिक आचारके अनुसार सारी क्रिया होती है, किन्तु रागानुगा भक्ति शास्त्रोक्त विधिके बन्धनमें जकड़ी हुई नहीं है। तीव्र अनुराग ही उसका स्वरूप है और उसमें किसी प्रकारके नियमोंका बन्धन नहीं है। रागानुगा भक्तिमें हृदय खोलकर रख दिया जाता है और इस प्रकारका आवरणशून्य हृदय नियमों और आचारोंके बन्धनको स्वीकार नहीं करता। इस कोटिका तीव्र अनुराग वृन्दावनकी सरलहृदया गोपबालाओंमें प्रकट हुआ था। जिसने अपने सारे कर्म और सारे सङ्कल्प भगवान्‌को अर्पण कर दिये उसके लिये इस बातकी आवश्यकता नहीं है कि वह मानवसमाजके नियमोंका अवश्य ही पालन करे। ध्रुव आदि भक्त वैधी भक्तिके अनुयायी थे। रागमार्गकी भक्तिका साधन बड़ा कठिन है। बहुत थोड़े भक्तोंको इस अत्यन्त विकट मार्गपर चलनेका अधिकार मिलता है। इस जन्ममें अथवा प्राक्तन जन्मोंमें महान् सुकृतोंका अर्जन किये बिना मनुष्य इस मार्गपर नहीं चल सकता। जिस प्रकारके तीव्र अनुरागसे प्रेरित होकर जयदेव और चण्डीदास-जैसे भक्तोंने भगवान्‌के प्रति अपने उद्दाम भावको चरितार्थ करनेके लिये इस मार्गका अवलम्बन किया था हम विषयविमोहित पामर जीव उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

किन्तु प्रायः लोग ऐसा कहा करते हैं कि रागानुगा भक्तिकी सर्वोच्च साधना करनेवाली गोपिकाएँ बिल्कुल ज्ञानशून्य थीं, अर्थात् जिन भगवान् श्रीकृष्णमें वे अनुरक्त थीं उनके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान उन्हें नहीं था। उनका भगवान्‌में विशुद्ध एवं निश्छल प्रेम था, जिसमें नैतिक अथवा धार्मिक किसी प्रकारका कोई विचार नहीं था। कुछ अविवेकी लोग तो उनके विरुद्ध और भी निन्दनीय आक्षेप करते हैं।

ये सारे-के-सारे आक्षेप और अभियोग सर्वथा निःसार हैं। ये कदापि ठहर नहीं सकते। ब्रह्मके स्वरूपका ज्ञान न

होनेके कारण गोपियोंके अनुरागमें किसी प्रकारकी कमी नहीं आयी थी, बल्कि वह अनन्तगुना अधिक तीव्र हो गया था। प्रेमराज्यमें अनुरागकी गाढता ही मूल्यवती समझी जाती है, बुद्धिकी प्रबलता नहीं। प्रेमका स्वभाव ही यह है कि वह बुद्धिको भक्तिकी अपेक्षा गौण बना देता है। 'अतएव तदभावाद् वल्लवीनाम्'—इस सूत्रके द्वारा महर्षि शाण्डिल्यने यह स्पष्टरूपसे कह दिया कि वृन्दावनकी गोपललनाओंको ज्ञान न होनेपर भी वे कृतार्थ हो गयीं। वे भगवान्‌को कान्तरूपमें भजती थीं, उन्हींको अखिल आनन्द और सुखका स्रोत समझती थीं, वे श्रीकृष्णके सिवा अन्य किसी परब्रह्मको नहीं जानती थीं—

कृष्णं विदुः परं कान्तं न च ब्रह्मतया मुने।

योग

(लेखक—स्वामीजी श्रीअसङ्गानन्दजी)

आत्मत्राण अथवा जीवित रहनेकी इच्छा मनुष्य-जातिका सर्वोपरि सिद्धान्त है; केवल मनुष्योंमें ही क्यों, यह जीवनसंघर्ष प्राणिमात्रमें पाया जाता है। सिंह-व्याघ्र, बिल्ली, कुत्तों तथा अन्य जातिके पशुओं, पक्षियों, यहाँतक कि कीटपतङ्गादिकोंको भी नख, पंजे, दाँत और सींग आदि रक्षा और आक्रमणके साधन प्राप्त हैं, जिनके द्वारा वे आत्मत्राण और जीवनरक्षा कर सकते हैं। वैज्ञानिक, समाजसेवक, देशभक्त, कवि, महात्मा और पापी, सभी अपने-अपने ढगसे और अधिकांशमें बिना जाने ही इतिहासके पृष्ठोंमें अपना नाम छोड जानेका प्रयत्न करते रहते हैं, जिससे उनका जीवन अमर हो जाय और इस भौतिक शरीरके छूट जानेपर भी बना रहे। एक रोगी जो किसी भयानक यन्त्रणासे पीड़ित होकर आत्महत्या कर लेता है वह अपने आपको सर्वथा नष्ट करनेकी बुद्धिसे नहीं, अपितु इस भौतिक जीवनकी नारकी यन्त्रणाओं तथा क्लेशोंसे मुक्त होनेके लिये ही ऐसा करता है। योगियोंकी धारणा यह है कि यह अमर जीवन स्थूल शरीरकी क्रियाओं तथा चित्तकी वृत्तियोंके निरोधसे ही प्राप्त होता है।

योगियोंका यह कहना है कि मनके द्वारा ही वे सत्यका साक्षात्कार कर सकते हैं और इसीलिये वे आन्तर एवं बाह्य प्रकृतिपर जय प्राप्त करके सत्यके साक्षात्कारकी चेष्टा करते हैं। जिसे हम आधुनिक भाषामें धर्म (religion) कहते हैं वह अपरोक्षानुभवका ही फल है और नित्य, अनित्य सभी पदार्थोंमें है, किन्तु उसका स्वरूप कतिपय आदेशात्मक सिद्धान्तों एवं मतवादोंको मानना ही नहीं है। आधुनिक सभ्यताके पक्षपाती जड़वादकी मोहमयी मदिराको पीकर इतने मस्त हो गये हैं कि वे जीवनकी इस उन्मादरहित एवं सुखमय दिशाको बिल्कुल भूल गये हैं, यही नहीं, उन्हें धर्मके नामतकसे ऐसी चिढ़ हो गयी है कि जिस किसी वस्तुमें उन्हें धार्मिकताका लेश भी दिखायी देता है उसीकी वे निन्दा करने लगते हैं। उनका कथन यह है कि धर्म और अध्यात्मविद्याकी सारी चर्चा, नहीं-नहीं, सत्यकी उपलब्धि तथा अतीन्द्रिय एवं बाह्य ज्ञानसे ऊपर उठी हुई अवस्थाको प्राप्त करनेके सारे यत्न व्यर्थ एवं अकिञ्चित्कर हैं। अतएव जगत्‌के भिन्न-भिन्न भागोंमें सुधारकों तथा धार्मिक क्षेत्रके कार्यकर्ताओंद्वारा जितनी दौड़-धूप और प्रचारकार्य होता है उसका एकमात्र उद्देश्य है अर्धसभ्य और बर्बर जातियोंको अपने ही जैसे साधु, सच्चरित्र और सौम्य नागरिक बनाना। आधुनिक जड़वादियोंकी दलीलें भ्रान्त एवं भूलसे भरी हैं, क्योंकि वे मिथ्या आधारपर टिकी हुई हैं और उनके मूलमें ही उदारता एवं दूरदर्शिताका अभाव है। सत्यकी खोज करनेवाले उनकी युक्तियोंको बालिशतापूर्ण कहकर उनका इन शब्दोंमें खण्डन करते हैं—'प्रकृति सर्वत्र समान है। जो बात एक बार हो चुकी है वह उसी प्रकारकी परिस्थिति प्राप्त होनेपर दुबारा उसी रूपमें होनी चाहिये और इस प्रकार हममेंसे प्रत्येक व्यक्ति उसी प्रकारका अनुभव और साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है जैसा भगवान् बुद्ध, प्रभु ईसामसीह आदि महापुरुषोंने अपने-अपने जीवनमें प्राप्त किया था। अवश्य ही हमारे विचार उतने ही दृढ़, हमारी लालसा उतनी ही तीव्र और हमारी लगन उतनी ही सच्ची होनी चाहिये।'

तर्क और अनुभवके सम्बन्धमें बहुत-सा भ्रम फैला हुआ है और देखनेमें विरोध भी मालूम होता है। दार्शनिक योगीके समीप आकर उससे प्रश्न करता है, 'मैं किसी वस्तुमें किसी खास प्रकारसे विश्वास या उसका

अनुभव कर सकता हूँ, परन्तु मेरा अनुभव सत्य ही होगा, इसमें क्या प्रमाण है ?' इसका उत्तर योगी इस प्रकार देता है—सहज ज्ञान, तर्क और अन्तर्दृष्टि या अतीन्द्रिय ज्ञान, ये चित्तकी भिन्न-भिन्न आनुपूर्विक अवस्थाएँ हैं। इनमेंसे एक-एक उत्तरोत्तरका हेतु है—सहज ज्ञान आगे चढ़कर तर्क अथवा विवेचनात्मक बुद्धिके रूपमें परिणत हो जाता है और तर्क-बुद्धिका विकास होते-होते वह अलौकिक ज्ञानका रूप धारण कर लेती है। अन्तर्दृष्टि अथवा ईश्वरप्रेरित ज्ञान तर्कका विरोधी नहीं होता, बल्कि उसकी पूर्ति करता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक युक्तिका आधार प्राक्तन अनुभव ही होता है। परन्तु शोक! आज हमलोगोंकी बुद्धिमें कितना विपर्यास हो गया है! भगवान् बुद्ध आदि जगत्को दिशा देनेवाली महान् आत्माओंके भिन्न-भिन्न अनुभव, चाहे वे देखनेमें कितने ही विसदृश एवं विसंवादी हों, एक ही सत्यकी भिन्न-भिन्न उपलब्धियाँ हैं, जिस प्रकार एक ही सूर्यको भिन्न-भिन्न रंगके चश्मेसे देखनेसे वह भिन्न-भिन्न रंगका दीख पड़ता है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि दैवी प्रकृतिसे सम्पन्न होनेपर भी तथा हजार प्रयत्न करनेपर भी साधकको बार-बार असफलता क्यों होती है। मनोविज्ञानके अध्ययनसे हमारे जीवनकी एक खास बात हमारे ध्यानमें आती है। वह यह है कि विषयसुख ही हमें भ्रम, अज्ञान और दुःखके गर्तमें गिराता है और हमें जीवनके लक्ष्यके समीप न ले जाकर उलटे हमारी उन्नतिके मार्गमें बाधा डालता है। अतः पवित्रता धार्मिक एवं आध्यात्मिक जीवनकी पहली सीढ़ी ही नहीं, अपितु उसका आवश्यक अङ्ग है। शुचिताहीन धार्मिक जीवन धार्मिक जीवन ही नहीं है, अपितु उसका विरोधी है। इसीलिये प्रभु ईसा-मसीहने कहा है—'जिनका हृदय निर्मल हो चुका है वे पुरुष धन्य हैं, क्योंकि परमेश्वरका साक्षात्कार उन्हींको होगा।'* भगवान् श्रीकृष्ण भी गीतामें कहते हैं—'इन्द्रिय और विषयके सयोगसे उत्पन्न होनेवाले विषयसुख दुःख-को ही उत्पन्न करते हैं और आदि-अन्तवाले हैं, हे कौन्तेय! विवेकी पुरुष उनमें रमण नहीं करता।' †

'बाह्य सयोगोंमें अनासक्त चित्तवाला वह पुरुष आत्मसुखका लाभ करता है और ब्रह्मके योगमें चित्तको लगाकर अक्षय सुखका उपभोग करता है।'‡

अतः साधकके लिये आवश्यक है कि वह जगत्में रमे हुए चित्तको शुद्ध करे और यह चित्तशुद्धि पहले (निष्काम) कर्मसे और पीछे कर्मसन्याससे होती है। गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

'एकाग्रताके साधनरूप चित्तशुद्धिकी इच्छा करनेवाले मननशील व्यक्तिके लिये (निष्काम) कर्मको ही साधनरूप कहा गया है। और इस प्रकार चित्तके एकाग्र हो जानेपर उस मुनिके लिये अकर्म ही साधन है।'§ इस प्रकार जब शरीर और मनके सारे मल धुल जाते हैं, खासकर जब इच्छाओं और सवेगोंसे उत्पन्न होनेवाले कर्मबीजोंसे मन वियुक्त हो जाता है, तब साधक पूर्ण एकाग्रताको प्राप्त होता है, जिससे अन्तमें निर्वाण अथवा समाधिकी प्राप्ति होती है।

योगके अनेकों दार्शनिकों तथा योगियोंने अनेक प्रकारके लक्षण किये हैं। Miss Evelyn Underhill नामक महिलाने अपने 'Mysticism' नामक उत्कृष्ट ग्रन्थमें Mysticism (योग) की व्याख्या इस प्रकार की है—'Mysticism (योग) सत्यरूप परमात्माके साथ एकत्व सम्पादन करनेकी विद्या है। Mystic (योगी) उसे कहते हैं जिसने न्यूनाधिक रूपसे परमात्माके साथ एकीभाव प्राप्त कर लिया है, अथवा जिसका लक्ष्य है परमात्माके साथ एकात्मभावको प्राप्त करना और जो इस प्रकारके एकात्मभावमें विश्वास करता है।' × भगवान् श्रीकृष्णने योगके अनेक अर्थ किये हैं। एक

---

* "Blessed are the pure in heart, for they shall see God"

† ये हि सस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(गीता ५। २२)

‡ बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥
(गीता ५। २१)

§ आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥
(गीता ६। ३)

× "Mysticism is the art of union with Reality. The mystic is a person who has attained that union in greater or less degree or who aims at and believes in such attainment"

जगह वे 'योगः कर्मसु कौशलम्' कहकर कर्ममे प्रवीणताको योग कहते हैं तथा दूसरे स्थानपर वे 'समत्वं योग उच्यते' कहकर समत्वको ही योगका लक्षण बतलाते है । यद्यपि 'योग' के सम्बन्धमें लोगोंकी अनेक धारणाएँ हैं तथापि सभी महान् आचार्यों और विद्वानोंने अलौकिकवाद अथवा अतीन्द्रिय ज्ञानको स्वीकार किया है, और इस अपरोक्ष अथवा अतीन्द्रिय ज्ञानको ही सबने अपना ध्येय माना है, चाहे यह ध्येय कितना ही विप्रकृष्ट, दुष्प्राप्य और अस्पष्ट क्यों न हो ।

योगके सबसे बड़े आचार्य महर्षि पतञ्जलिने अपने योगदर्शनके एक सूत्रमें योगका बहुत थोड़े शब्दोंमें बहुत सुन्दर लक्षण किया है । वे कहते हैं—'योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः' । अर्थात् चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम ही योग है । सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक महर्षि कपिलाचार्यने अपने सूत्रोंमें मनोविज्ञानका जो सुन्दर निरूपण किया है उसके लिये सभी भारतीय दर्शनशास्त्र उनके ऋणी हैं । महर्षि कपिल कहते हैं कि किसी बाह्य वस्तुको प्रत्यक्ष करनेके लिये निम्नलिखित कारणोंकी अपेक्षा होती है—पहले बाह्य विषय, दूसरे इन्द्रिय, तीसरे इन दोनोंसे सम्बन्धित मन, चौथे बुद्धि और पाँचवें पुरुष अथवा आत्मा । मन, बुद्धि और अहङ्कारकी समष्टिको 'अन्तःकरण' कहते है । ये चित्तकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं । विचारकी धाराओंका नाम वृत्ति है । जगत्का प्रत्येक पदार्थ स्वभावतः अज्ञात एवं अज्ञेय है । ऊपर बताये हुए करणोंके साथ सम्पर्कमें आनेपर ही उसे ज्ञेयता प्राप्त होती है अथवा वह ज्ञान या दूसरे शब्दोंमे प्रत्यक्षका विषय होता है । किसी सरोवरके जलमें ढेला अथवा ईंट फेंकनेसे उसमें लहरें और तरङ्गें उठने लगती हैं, इसी प्रकार बाह्य विषयों-का इन्द्रियों तथा मनके साथ सयोग होनेपर विचारोंकी अनेक लहरें और तरङ्गें उठने लगती हैं । मन उन अनन्त वृत्तियों तथा प्रवाहोका खजाना है जो हमारे चित्तकी सूक्ष्म अवस्थामे समूहित होते हैं, बनते हैं तथा रक्षित रहते हैं । इसीलिये जब इन वृत्तियोंको व्यक्त होनेका उचित अवसर मिलता है उस समय भी ये लहरे बनती हैं । बाहरसे तथा भीतरसे आनेवाले सङ्केत ही इन लहरोके बननेमें कारण होते हैं ।

पातञ्जल योगका आदर्श है वह चरम कोटिका मार्ग जिसमे शरीर और मनके समस्त व्यापार सर्वथा बन्द हो जाते है । योगीको इस प्रकारकी स्थितिमे रहनेका अभ्यास डालना चाहिये जिसमे वह अन्न-जलके बिना एक या दो दिनतक नहीं, बल्कि महीनो और सालों रह सके और सब प्रकारके शारीरिक एव मानसिक व्यापारोको बन्द रक्खे । इसलिये समस्त कामनाओ और रागोंको निर्मूल करनेका सतत प्रयत्न करना चाहिये और मनपर कडा पहरा रखना चाहिये कि उसके अन्दर कोई नये ऐन्द्रिय विषय, प्रत्यक्षगोचर पदार्थ, कामनाएँ अथवा विचार अलक्षित अथवा प्रकटरूपसे न आने पावे । और साथ-ही-साथ चित्तको सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थोंपर एकाग्र एवं स्थिर करनेका अभ्यास करना चाहिये, ऐसा करनेसे सूक्ष्म मन क्रमशः क्षीण होकर सर्वथा नाशको प्राप्त हो जायगा । इस प्रकार एक ओर तो मनको नये ऐन्द्रिय विषय, सङ्कल्प, कामना आदिके रूपमें भोजन न देकर सुखाना चाहिये और दूसरी ओर उसे सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर पदार्थोंपर एकाग्र एवं स्थिर करनेके अभ्यासद्वारा अर्थात् धीरे-धीरे किन्तु दृढताके साथ मनसे सारे सङ्कल्पोंको निकाल बाहर कर उसे अनन्यविषयक बनाना चाहिये । ऐसा करनेसे मन बिल्कुल खाली हो जायगा और सूक्ष्म मन, जिसमे पहलेके ग्रहण किये हुए सस्कार जमा रहते हैं, सर्वथा नष्ट हो जायगा । इस प्रकार महर्षि पतञ्जलिद्वारा अवधारित योगका ध्येय प्राप्त हो जाता है ।

प्राणायाम—प्राणायाम योगीके जीवनका आधार-स्तम्भ है, अतः उसकी प्रक्रियाको बहुत कुछ स्पष्ट एवं विशद करनेकी आवश्यकता है । अद्वैतियोंके आदिगुरु भगवान् शङ्कराचार्यने श्वेताश्वतरोपनिषद्के भाष्यमे प्राणायामके सम्बन्धमें निम्नलिखित आशयका उपदेश दिया है—

'प्राणायामके द्वारा जिसका निःशेष मल धुल गया है ऐसा मन ही ब्रह्ममें स्थिर होता है, अतः प्राणायामका उपदेश दिया जाता है । सबप्रथम नाडीशोधन करना चाहिये, ऐसा करनेसे ही प्राणायाम करनेकी शक्ति प्राप्त होती है । अँगूठेसे दाहिने नासारन्ध्रको दबाकर बायें नथुनेसे अपनी शक्तिके अनुसार वायुको खींचना चाहिये; फिर तुरन्त बायें नासापुटको दबाकर दाहिने नासापुटसे हवाको बाहर निकाल दे, इसी प्रकार दाहिने नथुनेसे अपनी शक्तिके अनुसार हवा खींचकर बायेंसे बाहर निकाले । इस क्रियाको दिन-रातमें चार बार अर्थात् सूर्योदयसे पूर्व,

मध्याह्नमें, सायकालके समय तथा अर्द्धरात्रिमें तीन या पाँच आवृत्ति करनेसे पन्द्रह दिनमें अथवा एक महीनेके अन्दर नाडी-शुद्धि हो जाती है। इसके अनन्तर प्राणायामकी क्रिया शुरू होती है।'

प्राणायामका सम्बन्ध श्वाससे नहीं है। श्वासोच्छ्वास तो असली प्राणायामको सिद्ध करनेके अनेक प्रकारोंमेंसे एकतम प्रकार है। स्वामी विवेकानन्दजी कहा करते थे कि श्वास इस शरीररूपी यन्त्रकी गतिको नियममें रखनेवाला चक्का (flywheel) है। किसी भी बड़े इञ्जिनमें हम देखते हैं कि यह चक्का ही सबसे पहले घूमता है और इसके घूमनेसे दूसरे छोटे छोटे यान्त्रिक पुर्जे चलने लगते हैं और इस क्रमसे अन्तमें मशीनका सबसे नाजुक और सबसे सूक्ष्म पुर्जा भी गतिशील हो जाता है। हमारी इस शरीररूपी मशीनका Flywheel श्वास है, इसीसे इस शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें हलचल पैदा होती है और सारे कल-पुर्जे व्यवस्थितरूपसे काम करते हैं।*

प्राणायामका अर्थ है प्राणोंको वशमें करना। भारतीय दर्शनशास्त्रके अनुसार यह समस्त जगत् और जो कुछ भी इसके अन्दर है वह सब कुछ आकाश और प्राण, इन दो तत्त्वोंसे बना हुआ है। प्रत्येक आकारवाली वस्तु सघटनका परिणाम है और इस आकाशसे उद्भूत है, जो सर्वगत एवं सर्वत्र अनुस्यूत है, और कल्पके अन्तमें प्रत्येक वस्तु आकाशमें पुनर्लीन हो जाती है। 'प्राण वह शक्ति है जिसने आकाशको अधिष्ठितकर विश्वकी रचना की है। ठीक जिस प्रकार आकाश सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक है, उसी प्रकार प्राण भी इस विश्वकी सर्वसमर्थ एवं सर्वव्यापिनी अभिव्यञ्जिका शक्ति है। जगत्में गुरुत्वशक्ति, आकर्षणशक्ति, अपकर्षणशक्ति, विद्युत्-शक्ति, विचार-शक्ति, नाडी प्रवाह आदि जितनी शक्तियाँ हैं वे सब-की-सब प्राणनामक एक ही शक्तिकी भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। अतः प्राण विश्वकी मानसिक एवं शारीरिक सभी प्रकारकी शक्तियोंकी समष्टि है। इसी प्राणके ज्ञान और निग्रहको प्राणायाम कहते हैं। इस समष्टि जगत्के जो नियम हैं वे ही इस व्यष्टि जगत्में भी लागू हैं। अतः प्राण ही प्रत्येक जीवकी जीवनी शक्ति है और विचार-धाराओं, नाडी-प्रवाह, श्वासोच्छ्वास तथा साधारण शारीरिक क्रियाके रूपमें व्यक्त हो रही है। योगियोंके मतमें जो कोई भी दिव्य आनन्दका आस्वादन करना चाहता है तथा सारे दुःखों और व्याधियोंसे छूटना चाहता है उसके लिये यह आवश्यक है कि वह इस प्राणको वशमें करके इसीकी सहायतासे निर्वाण अथवा समाधिरूप अमृतार्णवमें मग्न होकर अलौकिक अथवा अतीन्द्रिय ज्ञानको प्राप्त करे। इस प्राणको वशमें करनेके लिये प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह अपने निकटतम पदार्थोंको अधीन करनेकी सच्चे दिलसे चेष्टा करे। यों तो शरीर हमारे बहुत निकट है, परन्तु मन सबसे निकट है। जो प्राण हमारे शरीर और मनके भीतर कार्य कर रहा है वह विश्वके अन्य सभी प्राणोंकी अपेक्षा हमारे निकट है। इस व्यष्टि प्राणके निगृहीत हो जानेपर, जो समष्टि-प्राणरूपी समुद्रके एक शीकरके समान है, मनुष्य उस अनन्त समष्टि-प्राणको वशमें करनेकी आशा कर सकता है। जो योगी प्राणको वशमें कर लेता है वह सिद्ध हो जाता है और जगत्के किसी भी दृश्य-अदृश्य पदार्थ अथवा प्राणीके वशमें नहीं रहता और इस मृत्युसंसारसागरमें फिर नहीं आता। स्वामी विवेकानन्दने अपने 'राजयोग' नामक ग्रन्थमें इस प्राणायाम और समाधिसिद्धिके सम्बन्धमें जो सुन्दर दृष्टान्त दिया है मैं उसे यहाँ उद्धृत किये बिना नहीं रह सकता। वे लिखते हैं—

'किसी बड़े राजाका एक मन्त्री था, उससे कोई निन्दित कार्य बन गया, राजाने उसे दण्डरूपमें किसी ऊँची बुर्जके शिखरपर ले जाकर कैद कर देनेकी आज्ञा दी। अधिकारियोंने यही किया और मन्त्रीको वहाँ ले जाकर मृत्युके मुँहमें छोड़ दिया। मन्त्रीकी स्त्री बड़ी पतिव्रता थी, वह रातको बुर्जके नीचे आयी और शिखरपर स्थित अपने स्वामीको पुकारकर कहा कि 'क्या मैं आपकी किसी प्रकारसे सहायता कर सकती हूँ?' पतिने कहा कि अभी तो जाओ, कल इसी समय फिर आना और अपने साथ एक लम्बा मोटा रस्सा, थोड़ी-सी मजबूत पतली रस्सी, थोड़ा पक्का सूती धागा जो पार्सल आदि बाँधनेके काममें

*"Breath is like the flywheel of this machine, the body In a big engine, you find the flywheel first moving, and that motion is conveyed to finer and finer machinery until the most delicate and finest mechanism in the machine is in motion The breath is that flywheel, supplying and regulating the motive power to everything in this body"

आता है, कुछ रेशमी धागा, एक कीड़ा और थोड़ा शहद लेते आना। उस साध्वी स्त्रीने पहले तो बड़ा आश्चर्य किया कि स्वामी इन सब चीजोंका क्या करेंगे, किन्तु फिर उनकी आज्ञा समझकर वैसा ही किया और दूसरे दिन वह सब सामान ले आयी। स्वामीने उससे कहा कि रेशमी धागेको कीड़ेके पैरोंमें मज़बूतीसे बाँध दो और उसके मुँहके पासके सींग-जैसे अवयवोंमें शहद चुपड़ दो, फिर उसे बुर्जकी दीवालपर ऊपरकी तरफ़ सिर करके छोड़ दो। स्त्रीने ऐसा ही किया और कीड़ा ऊपरकी ओर चला। उसे अपने आगेकी ओरसे जो मधुकी गन्ध आ रही थी उसीसे आकृष्ट होकर वह शहद पानेकी आशामें धीरे-धीरे दीवालके ऊपर चढ़ने लगा और थोड़ी देरमें शिखरपर पहुँच गया। मन्त्रीने उसे पकड़ लिया और इस प्रकार रेशमी डोरेको हस्तगत कर लिया, तब उसने अपनी स्त्रीसे कहा कि इसके दूसरे छोरको सूती धागेसे बाँध दो और इस रीतिसे सूती धागेको खींच लेनेपर उसने वही बात पतली रस्सीके सम्बन्धमें और अन्तमें मोटे रस्सेके सम्बन्धमें कही। बाकी काम आसानीसे हो गया। मन्त्री रस्सेके सहारे नीचे उतर आया और भाग गया। इसी दृष्टान्तको हमारे इस शरीरपर घटानेसे मालूम होगा कि हमारे शरीरके अन्दर जो प्राणवायुकी गति हो रही है वही रेशमी धागा है। इस श्वासरूपी रेशमी धागेको पकड़कर अपने अधीन कर लेनेसे हम नाड़ी-प्रवाहरूप मोटे डोरेको पकड़ लेते हैं, इनके सहारे हम अपने विचाररूपी पतली रस्सीको और अन्तमें प्राणरूपी मोटे रस्सेको हस्तगत कर लेते हैं जिसे वशमें करके हम मुक्त हो जाते हैं।'

सूक्ष्म प्राण—इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना, मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार, रेचक, पूरक और कुम्भक—कुण्डलिनी।

संसारमें यदि सबसे अद्भुत कोई वस्तु है तो हमारा यह मानवदेह है। इसी शरीरके द्वारा भौतिक एवं आध्यात्मिक जगत्के अनेक चमत्कारोंका हमें पता लगा है, इसीलिये हम इसे आश्चर्योंका आश्चर्य कहते हैं। निर्वाणसुख, निर्विकल्प समाधि अथवा भगवत्प्राप्ति भी जिन्हें हुई है वह इसीसे हुई है, चाहे हम इसके दोषों और दुष्परिणामोंकी कितनी ही निन्दा और गर्हणा करें। योगीलोग इस शरीरको एक सातमंजिले मकानकी उपमा देते हैं। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार—ये इसकी सात मंजिले हैं और अनन्त शिराओंके जालरूप तार इसमें लगे हैं। इन शिराओं अथवा नाडियोंमें इड़ा और पिङ्गला ये दो नाडियाँ मुख्य हैं। ये मेरुदण्डके उभयपार्श्वमें बद्ध हैं। इनके अतिरिक्त एक भीतरसे पोली नली और है जो सुषुम्ना कहलाती है और मेरुदण्डके भीतर होकर गयी है। इस नलीके नीचेके सिरेसे लगा हुआ मूलाधार चक्र है जहाँ कुण्डलिनी शक्ति निवास करती है और ऊपरके सिरेसे सटा हुआ सहस्रारचक्र अर्थात् हजार दलका कमल है जो ज्ञानका आयतन है। प्राणशक्ति निरन्तर इड़ा और पिङ्गला नाड़ियोंमेंसे होकर प्रवाहित होती रहती है। योगी यदि किसी साधनविशेषसे प्राणको सुषुम्ना नाड़ीके नीचेके द्वारमेंसे निकाल ले जाय, जो मुँदा हुआ है, तो उसकी कुण्डलिनी शक्ति, जो सदा सोयी रहती है, जाग्रत होकर धीरे-धीरे किन्तु दृढ़ताके साथ जीवनके ध्येयकी ओर अग्रसर होती है और सहस्रारमें जाकर परमात्मासे मिल जाती है। इस स्थितिमें साधकको बहुत-से विचित्र आध्यात्मिक अनुभव होते हैं। इस तुरीयावस्थारूप परम ध्येयको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे योगी प्राणायामका अभ्यास करता है, जिसका प्रारम्भिक स्वरूप पूरक अर्थात् श्वासको भीतर ले जाना, कुम्भक अर्थात् श्वासको रोकना और रेचक अर्थात् श्वासको बाहर निकालना है, और क्रमशः श्वास, नाड़ी और विचारके प्रवाहको संयतकर अन्तमें सूक्ष्म प्राणको अधीन करनेमें समर्थ होता है और इस वशमें किये हुए प्राणकी सहायतासे वह जगत्के मायारूप भ्रमजालको छिन्न-भिन्न कर देता है। परन्तु प्राणायामके इस विशिष्ट साधनको प्रारम्भ करनेके पूर्व साधकके लिये यह आवश्यक है कि वह योगके चार मुख्य अङ्गोंकी पूर्ति कर ले। वे हैं ब्रह्मचर्य, किसी सिद्ध योगीके तत्त्वावधानमें रहना, अनुकूल सग और हित भोजन, जिसमें अधिक नमकीन, अधिक मीठी अथवा कोई खट्टी, कड़वी और नशीली चीज न हो। इन प्रारम्भिक नियमोंका पालन न होनेपर साधकको भयङ्कर हानि उठानी पड़ती है, जो उन्माद, हृद्रोग, श्वास और इसी प्रकारके अन्य दुष्ट रोगोंके रूपमें प्रकट हो सकती है। प्राणायामका विधिपूर्वक अभ्यास करनेसे तो कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती ही है, किन्तु प्राणायामके अतिरिक्त बहुत-से अन्य उपाय भी हैं जो मनुष्यकी सुप्त शक्तिको जगानेमें निसर्गतः समर्थ हैं। दार्शनिकोंकी सूक्ष्म सङ्कल्प-

शक्तिसे, भगवत्प्रेमसे और सिद्ध महापुरुषोंकी दयासे भी यह कार्य हो सकता है।

निर्वाण अथवा समाधिके मार्गमें अनेकों विघ्न भी हैं। इनमें सबसे बड़ा विघ्न सिद्धियोंकी प्राप्ति है, जिनका लुभावना और चित्ताकर्षक रूप साधकको चोंधिया देता है। सच्चे साधकको चाहिये कि वह इन सिद्धियोंके जादूमें न आवे और अपने आध्यात्मिक जीवनकी नौकाको निर्वाणके सुखद एवं निरापद तीरपर ही ले जाकर विश्राम ले।

शरीर और मनके बीच सनातन कालसे परस्पर सम्बन्ध चला आया है। शरीरका प्रभाव मनपर पड़ता है और मनका शरीरपर। इसीलिये मनको सूक्ष्म शरीर और शरीरको स्थूल मन कहते हैं। हमलोगोंका यह प्रतिदिनका अनुभव है कि पूजा, जप, ध्यान आदिके अभ्याससे जब मन ऊपरको उठता है तब शरीरमें भी स्फूर्ति, उत्साह और बल आ जाता है और रोगी होनेपर भी वह अपनेको रोगमुक्त अनुभव करता है। इसी प्रकार जब शरीर स्वस्थ और नीरोग होता है उस समय मन भी शान्त और समाहित हो जाता है। यह बात साधारण लोगोंमें देखी जाती है। कुछ इने-गिने लोग ऐसे भी होते हैं जिनका शरीर अनेक प्रकारकी व्याधियोंसे जर्जरित एवं आकस्मिक दुर्घटनाओंका शिकार होनेपर भी वे प्रकृतिस्थ और शान्त बने रहते हैं और उनका चित्त प्रशान्त महासागरकी भाँति सदा अक्षुब्ध एवं स्थिर रहता है। परन्तु साधारणतया यह देखनेमें आता है कि एकका असर दूसरेपर पड़ता ही है। स्वास्थ्यके सम्बन्धमें तो चिकित्सकों, वैज्ञानिकों और शरीरमर्मज्ञोंके अनेक परस्परविरोधी मत हैं। इन लोगोंका जो कुछ भी मत हो, योगियोंकी धारणा तो यह है कि शरीरमें प्राणोंका विभाग उचित अनुपातमें न होनेके कारण रोग होते हैं। इसीलिये व्याधिनाशके लिये योगी लोग शरीरके जिस भागमें प्राण आवश्यकतासे अधिक होता है वहाँसे निकालकर जहाँ उसकी कमी होती है वहाँ ले जाते हैं। ध्यानसे हमें शरीरमें प्राणका अनुपात ठीक रखनेमें सहायता मिलती है और इससे साधकका शरीर बिल्कुल स्वस्थ रहता है। परन्तु जब साधकको योगकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है तब वह शीत, उष्ण आदि द्वन्द्वोंके आक्रमणको तथा प्राणशक्तिके व्ययसे होनेवाली क्षीणताको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है। योगशास्त्र कहता है—

न तस्य मृत्युर्न जरा न व्याधिः
प्राप्तं हि योगाग्निमयं शरीरम्।

अर्थात् जिसने योगाग्निमय शरीर प्राप्त कर लिया वह जरा, मृत्यु और व्याधिके पाशसे मुक्त हो जाता है।

पद्मासन, सर्वाङ्गासन आदि कई क्रियाएँ और आसन ऐसे हैं जिनकी सहायतासे अनेकों रोग नष्ट हो जाते हैं और शरीर स्वच्छ और निर्मल रहता है। हठयोगी नित्य प्रातःकाल एक ऐसी क्रिया करते हैं जिसे नेती-धोती कहते हैं। इस क्रियाके द्वारा योगी एक लम्बे कपड़ेके टुकड़े तथा गरम पानीकी सहायतासे पेट तथा मुख्य-मुख्य नाड़ियोंका शोधन करते हैं। देशी वैद्योंका भी कहना है कि इस अद्भुत क्रियासे अनेक रोग, जो देखनेमें असाध्य प्रतीत होते थे, अच्छे होते देखे गये हैं। यह महान् शोककी बात है कि हठयोगियोंकी शरीरके संसर्गमें रहते-रहते शरीरमें दृढ़ आसक्ति हो जाती है और वे लोग जीवनके लक्ष्यकी ओर जरा भी आगे नहीं बढ़ पाते। यद्यपि शरीरकी इस हदतक सेवा और साधना अवश्य करनी चाहिये कि जिससे नैसर्गिक व्याधियोंसे वह मुक्त रहे परन्तु स्मरण रहे, शरीरकी स्वस्थता ही हमारे जीवनका एकमात्र लक्ष्य न बन जाय। पञ्च महाभूतोंके संघातसे शरीरकी रचना हुई है, अतः कालान्तरसे उन भूतोंका वियुक्त होना अवश्यम्भावी है। अतः केवल शरीरकी ही सँभालमें तल्लीन हो जाना कदापि अभीष्ट नहीं है। मनुष्यको साथ-ही-साथ आध्यात्मिक साधना भी करते रहना चाहिये और निरन्तर स्थूल और सूक्ष्म जगत्से ऊपर उठने तथा निर्वाण अथवा निर्विकल्प समाधिकी अवस्थामें आरूढ होनेकी चेष्टा करते रहना चाहिये, जहाँ पहुँचकर मनुष्य इस भौतिक जगत्में नहीं लौटता और जहाँ शाश्वत शान्ति तथा सुखका साम्राज्य रहता है। यही जीवनका परम ध्येय है।

योगमार्गके विघ्न

(लेखक—वैद्यशास्त्री प० श्रीकमलाकान्तजी त्रिवेदी)

समाधौ क्रियमाणे तु विघ्नान्यायान्ति वै बलात् ।

'समाधिकालमें विघ्न बलपूर्वक आने लगते हैं ।' योगीको चाहिये कि उन विघ्नोंका धीरे-धीरे त्याग करे । भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें कहा है—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शना-
लब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।
(समाधिपाद ३०)

'व्याधि, स्त्यान, सशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व—यह नौ चित्तके विक्षेप हैं, यही अन्तराय (विघ्न) कहलाते हैं ।' ये अन्तराय क्या हैं और किस प्रकार इनसे छुटकारा मिलता है, इस बातको योगमार्गमें प्रवेश करनेके पहले जानना आवश्यक है ।

शरीरको धारण करनेमे समर्थ होनेके कारण धातु नामको प्राप्त हुए वात, पित्त और कफकी न्यूनाधिकता, खाये तथा पिये हुए आहार-पदार्थोंके परिणामस्वरूप रसकी न्यूनाधिकता और मनसहित एकादश इन्द्रियोंके बलकी न्यूनाधिकताको व्याधि अथवा रोग कहते है । व्याधि होनेपर चित्तवृत्ति उसमें अथवा उसे दूर करनेके उपायोंमें लगी रहती है । इससे वह योगमें प्रवृत्त नहीं हो सकती । इसी कारण व्याधिकी गणना योगके विघ्नोंमे होती है ।

अजीर्ण, नींदकी खुमारी, अति परिश्रम प्रभृतिसे ब्रह्माकारवृत्तिका अभाव हो जाता है । अजीर्ण आदि स्त्यके कारणरूप विघ्नोंके निवारण करनेके लिये पथ्य और लघु भोजन करनेसे और प्रत्येक व्यवहारमें युक्ति तथा नियमके अनुसार चलनेसे एव उत्थानके प्रयत्नद्वारा चित्तको जाग्रत् करनेसे यह विघ्न दूर होते हैं । इस विषयमे श्रीकृष्ण भगवान्ने भी अर्जुनके प्रति कहा है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
(गीता ६ । १६)

'जो अधिक भोजन करता है, जो बिल्कुल बिना खाये रहता है, जो बहुत सोता है तथा जो बहुत जागता है, उसके लिये हे अर्जुन योग नहीं है । बल्कि—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥
(गीता ६ । १७)

'जो नियमपूर्वक भोजन करता है, नियमित विहार करता है, कर्म करनेमे भी नियमपूर्वक रहता है, जागना और सोना भी जिसका नियमपूर्वक होता है, उसके लिये योग दुःखका नाश करनेवाला होता है ।'

योगसाधनकी इच्छा होनेपर देश-कालादिकी विपरीतताकी कल्पना करके योग-साधनकी प्रवृत्तिमे जो चित्तकी असमर्थता होती है उसे स्त्यान कहते हैं । देश-कालादिकी कल्पित विपरीतताको दूर करनेमे सामर्थ्यरहित चित्तकी यह अयोग्यता भी योगमे प्रवृत्त होने नहीं देती । इसलिये यह भी योगमें विघ्नरूप है ।

यह वस्तु ऐसी ही है या अन्य प्रकारकी है ? इस प्रकारका परस्परविरोधी और उभयकोटिको विषय करनेवाला विज्ञान संशय कहलाता है । 'योग होता है या नहीं ?' 'गुरु और शास्त्र, योग और योगसाधनकी जो महिमा वर्णन करते हैं वह सत्य है या असत्य ?' 'योगका फल कैवल्य होता है या दूसरा कुछ ?' 'ईश्वर-प्रणिधानसे समाधि-लाभ तथा कैवल्य-प्राप्ति सिद्ध होती है या नहीं ?' 'योगका परिणाम कैवल्य सत्य है या यह कल्पनामात्र है ?'—इस प्रकारके अनेकों विरोधी तथा उभयकोटिको विषय करनेवाले ज्ञानको सशयरूप समझना चाहिये । इस प्रकारके सशय मनुष्यको कभी भी योगमे निश्चलतापूर्वक प्रवृत्त नहीं होने देते । अतः ये योगके प्रबल विरोधी हैं । अतद्रूप-प्रतिष्ठत्व अर्थात् अपने वास्तविक रूपमें स्थिर न होनेसे सशय और भ्रान्तिदर्शनके अभेद होनेपर भी उभयकोटिके स्पर्श और अस्पर्शरूप अवान्तरभेद कहनेकी इच्छासे ही उनका भेद कहा जाता है । इसलिये सशयका नाश कर भ्रान्तिदर्शनमें भी श्रीसद्गुरुके वचन और शास्त्रप्रमाणमें श्रद्धा रखनी चाहिये ।

समाधि-साधनमे प्रयत्न न करना अथवा उसमें उदासीनता रखना प्रमाद कहलाता है ।

कफादिके द्वारा शरीरके भारी होने तथा तमोगुणके

द्वारा चित्तके भारी होनेसे भी योग-साधनमें प्रवृत्ति नहीं होती, इसे ही आलस्य कहते हैं।

प्रमाद और आलस्य, ये दोनों यमादि योगसाधनमें साधककी प्रवृत्ति नहीं होने देते। इसलिये ये दोनों योगमें विघ्नरूप हैं।

विषयके समीप रहनेसे विषय-स्थित दोषोंके अत्यन्त विस्मरणके द्वारा विषय-भोगकी चित्तमें जो तीव्र इच्छा (तृष्णा) होती है उसे अविरति अथवा अवैराग्य कहते हैं।

विषय-तृष्णा योगकी प्रबल विरोधिनी है। क्योंकि वह वृत्तिको अन्तर्मुखी नहीं होने देती। यदि कदाचित् अति यत्नपूर्वक वृत्ति अन्तर्मुखी होती भी है तो फिर अल्प समयमें ही विषयोंके स्फुरणद्वारा चित्तको क्षुब्ध करके उसे बहिर्मुख कर देती है। स्मृति भी यही कहती है—

न हि सङ्गता मुक्तिपदं यतीनां
सङ्गादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः।
आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः
सङ्गेन योगी किमुताल्पसिद्धिः॥

'यतियोंका सगरहित रहना मुक्तिका स्थान है, सगसे सारे दोष उत्पन्न होते हैं। योगारूढ भी सगसे अधोगतिको प्राप्त होते हैं, फिर अल्प सिद्धिवाला अपक्व योगी यदि सगसे अधोगतिको प्राप्त हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या?'

विषय-तृष्णामें दोषदृष्टि करनेसे यह विघ्न दूर होता है। जिस प्रकार लड्डूमें विष डाला गया है—यह बात जान लेनेपर भूखा भी उसके खानेकी इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार शास्त्रोंका अध्ययन और सद्गुरुके उपदेशके द्वारा विषयोंमें दोषदृष्टि होनेपर उनके भोगनेकी इच्छा नहीं होती।

सद्गुरु तथा योगशास्त्रोंके द्वारा उपदिष्ट योगसाधनमें असाधनत्वबुद्धिको भ्रान्तिदर्शन या विपर्ययज्ञान कहते हैं। यह भ्रान्तिदर्शन भी विपरीतज्ञान तथा विपरीत प्रवृत्तिके कारण साधकको योगमें प्रवृत्त नहीं होने देता। अतः इसकी गणना योगके विघ्नोंमें होती है।

मधुमती आदि समाधिकी भूमिकाओंमें किसी भी भूमिकाका अभ्यास करते रहनेपर भी किसी कारणसे उसका प्राप्त न होना अलब्धभूमिकत्व कहलाता है। अलब्धभूमिकत्व भी साधकके चित्तको असन्तोषके द्वारा बहिर्मुख रखनेके कारण योगमें विघ्नरूप है।

मधुमती आदि योगकी भूमिकाओंमें किसी भूमिकाकी प्राप्ति होनेपर भी विस्मय अथवा कर्तव्यके विस्मरण या अज्ञानके द्वारा उसमें चित्तको सुस्थिर न करना अनवस्थितत्व कहलाता है। योगकी किसी भूमिकाके प्राप्त होनेपर, इसीसे भलीभाँति स्थिरता हुई है, किसी कारणसे ऐसा मान लिया जाय और उससे आगेकी सुस्थिरताके लिये प्रयत्न नहीं किया जाय तो उसको उत्तर भूमिकाकी प्राप्ति तो होती ही नहीं, साथ ही उस भूमिकासे भी वह भ्रष्ट हो जाता है। अतः प्राप्त हुई योगभूमिकामें अपने चित्तको सुस्थिर करनेके लिये साधकको प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा प्रयत्न न करनेसे उस भूमिकामें चित्तकी अस्थिरता रहती है, और वह भी योगमें प्रतिबन्धक होती है।

चित्तको विक्षिप्त करनेवाले ये नौ योग-मल योगके विघ्न कहलाते हैं। सशय और भ्रान्तिदर्शनरूप वृत्तियाँ भी वृत्तिनिरोधरूप योगकी विरोधिनी हैं। और व्याधि आदि वृत्ति न होनेपर भी वृत्तियोंके साहचर्यसे योगमें बाधक हैं।

केवल ये नौ ही योगके विघ्न नहीं हैं। बल्कि चित्तके विक्षेप करनेवाले इन विघ्नोंके साथ दुःखादि अन्य विघ्न भी हैं। भगवान् पतञ्जलि उनका भी नाश करनेके लिये कहते हैं—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः। (समाधि० ३२)

उस विक्षेप तथा उसके साथ होनेवाले दुःखादिकी निवृत्तिके लिये एक तत्त्वका अभ्यास करना चाहिये। इसी प्रकार योगवासिष्ठमें भी कहा है।

तावन्निशीथवेताला वल्गन्ति हृदि वासनाः।
एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः॥

'जबतक एक तत्त्वके दृढ़ अभ्याससे मनको पूर्णरूपसे जीत नहीं लिया जाता तबतक अर्द्धरात्रिमें नृत्य करनेवाले वेतालोंके समान वासनाएँ हृदयमें नृत्य करती रहती हैं।'

इस प्रकार अनेक विघ्न योगीके समाधिमें विघ्नरूपसे आते हैं, अतएव उनको हटानेका धीरे-धीरे यत्न करना चाहिये।

इस विषयका एक दृष्टान्त है। एक चरवाहेको रखवाली करनेके लिये दी हुई एक बछिया जगलमें भटकती है और भटकनेकी आदत सीखती है। पीछे जब वह गाभिन हो जाती है तब कुछ खिलानेका लालच देकर उसे लोग घर ले आते हैं। पर उसको भटकना छोड़कर

घरपर रहना अच्छा नहीं लगता, और मौका पाकर वह फिर निकल जाती है। पीछे फिर पकड़कर लायी जाती है। ऐसा करते-करते जब वह ब्याती है तब अपने बछड़ेके प्रेमपाशमें ऐसी बँध जाती है कि फिर लाठीसे मारकर बाहर निकालनेपर भी नहीं निकलती। इसी प्रकार बुद्धिरूपी बछिया संसाररूपी जंगलमें भटकती है और विषयभोगरूपी कुटेव सीखती है। पीछे पुण्योदय होनेपर जब वह मुमुक्षारूप गर्भ धारण करती है तब योगद्वारा बुद्धिको स्थिर करनेका प्रयत्न होता है, तथा ध्यानादि क्रियाओंके द्वारा उसे रसरूपी भोजन प्राप्त होता है। तथापि भटकनेकी आदत होनेके कारण मौका मिलते ही बुद्धि चलायमान हो जाती है। परन्तु बुद्धिको जब समाधिद्वारा ज्ञानरूपी वत्स उत्पन्न होता है तब उसके प्रेममें निमग्न होकर वह किसी भी दुःखरूपी प्रहारसे घबराकर घर नहीं छोड़ती अर्थात् कभी बहिर्मुख नहीं होती। इस प्रकार दोषोंको निवृत्तकर निरोधप्रयत्नके द्वारा निश्चल किया हुआ चित्त स्वाभाविक चञ्चलतासे विषयाभिमुख होकर बाहर जाय तो उसे फिर निरोधप्रयत्नसे ब्रह्ममें लगावे। इस प्रकार ब्रह्ममें एक हुआ चित्त लय तथा स्तब्ध अवस्थामें नहीं जाता, शब्दादि विषयाकार वृत्तिका अनुभव नहीं करता तथा रसका भी आस्वादन नहीं करता। यह निवात प्रदेशमें दीपशिखाके समान अचल होकर किसी भी विषयके आकारको न धारणकर केवल ब्रह्माकार होता है। यह अद्वैतभावनारूप निर्विकल्प समाधि है। यह अद्वैतभावनारूप वृत्ति भी केवल शुद्ध सात्त्विक होनेपर ब्रह्मका अनुभव कर स्वयं लीन हो जाती है। इसलिये योगाभ्यास करनेवालेको इन सब विघ्नोंके दूर करनेके लिये प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिये। क्योंकि 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'—श्रेयस्कर कार्यमें अनेकों विघ्न आते हैं, यह प्राकृतिक नियम है। इसलिये विघ्न करनेवाले उपकरणोंमें लोभवश न फँसकर उनसे सदा सचेत रहना चाहिये, क्योंकि वे बलपूर्वक फँसाते हैं।

ॐ तत्सत्

श्रीकुण्डलिनी-शक्तियोग

(लेखक—पं० श्रीत्र्यम्बक भास्करशास्त्री खरे)

पाश्चात्य शिक्षाकी चमक-दमकसे चौंधियायी हुई जनताकी योगशास्त्रविमुख बुद्धि कुछ कालसे परमहंस स्वामी रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, श्रीअरविन्द, स्वामी कुवलयानन्द, श्रीयोगीन्द्र आदिके प्रयत्नसे और पाश्चात्य तत्त्ववेत्ताओंके उद्गारोंसे पुनः योगशास्त्रकी ओर झुकने लगी है और कुछ लोगोंकी समझमें यह आने लगा है कि इस शास्त्रमें कुछ है।

२ योगशास्त्रमें जो अनेक गूढ़ विषय हैं उनमें श्रीकुण्डलिनी-शक्ति गूढतम विषय है। योगशास्त्रके प्रथम सोपानसे अन्तिम सोपानतक चढ़ जानेके पश्चात् ही इस शक्तिका अनुभूत ज्ञान प्राप्त होता है।

३ ऐसे क्लिष्ट और गूढ़ विषयपर लिखनेका प्रयोजन यह है कि अबतक इस विषयपर साङ्गोपाङ्ग और अनुभवसिद्ध विवरण हिन्दी भाषामें ग्रथित किया हुआ कहीं भी देखनेमें नहीं आया। इसलिये अनेक ग्रन्थोंमें अनेक सम्प्रदायोंके सिद्ध पुरुषोंकी सिद्धवाक्सरिताओंमें जिन्होंने अवगाहन किया है—सिद्धवचन पढ़े और सुने हैं और उन्हें अनुभव करनेका महल्लाभ जिन्हें प्राप्त हुआ है ऐसे एक सत्पुरुषसे इस विषयमें जो कुछ बातें मालूम हुई हैं, उन्हींको एकत्र करके प्रबुद्ध साधकोंके उपयोगार्थ प्रकाशित करनेसे उपकार होगा, ऐसा समझकर ही यह प्रयास किया जाता है।

४ इतना कष्टसाध्य कार्य करनेकी योग्यता प्रस्तुत लेखकमें नहीं है। कारण, सदा-सर्वदा प्रापञ्चिक उपाधियोंमें अटके रहनेका ही उसका व्यवसाय है। ऐसी अवस्थामें उसके द्वारा यह काम कहाँतक बन सकेगा, इसका कोई भरोसा नहीं। इसलिये आगे जो कुछ लिखा जायगा वह यदि पाठकोंको नीरस जान पड़ा और मनको विचारशून्य अज्ञात जगत्में प्रवेश करानेमें सर्वथा अयोग्य ही जँचा तो इससे मुझे कुछ भी विषाद न होगा। परन्तु यदि इसमें कोई तथ्य देख पड़ा तो यह श्रीगुरु-मैयाकी दया है, मेरा

उसमे कुछ भी नहीं।

५ विवेचनके सुभीतेके लिये इस विषयके यहाँ पाँच विभाग किये जाते हैं—

(१) वेद, आगम, उपनिषद्, पुराण और साधु-सन्तोके वचनोमें आया हुआ कुण्डलिनी-वर्णन।
(२) कुण्डलिनी-शक्तिका वर्णन।
(३) योग और योगके विभागोका वर्णन।
(४) अभ्यासक्रम, ध्यानप्रकार।
(५) कुण्डलिनी-साधनके फल।

अवतरण

यत्कुमारी मन्द्रयते यथोविद्य पतिव्रतो अरिष्टं यत्किञ्च क्रियते अग्निस्तदनुवेधति। (यजुर्वेद)

कुण्डलिनीशक्तेरवस्थात्रयं विद्यते। यत्रस्मिन् चक्रे कुमारी कुमारावस्थामापन्ना प्रथमं सुप्तोत्थिता मन्द्रयते मन्द्रं स्वरं करोति।

पुरः हिरण्मयीं ब्रह्मा विवेशो पराजिता।
(यजुर्वेद)

अपराजिता कुण्डलिनीशक्तिः षट्चक्राणि भित्वा भूयो भूयः प्रविशति।
(सौन्दर्यलहरी—लक्ष्मीधरव्याख्या)

कुण्डले अस्याः स्तः इति कुण्डलिनी।
मूलाधारस्थ वह्न्यात्मतेजोमध्ये व्यवस्थिता।
जीवशक्तिः कुण्डलाख्या प्राणाकाराथ तैजसी॥
महाकुण्डलिनी प्रोक्ता परब्रह्मस्वरूपिणी।
शब्दब्रह्ममयी देवी एकानेकाक्षराकृतिः॥
शक्तिः कुण्डलिनीनाम विसतन्तुनिभा शुभा।
(योगकुण्डल्युपनिषद्)

विसतन्तुस्वरूपां तां विन्दुत्रिवलयां प्रिये।
(ज्ञानार्णव तन्त्र)

पराशक्ति. कुण्डलिनी विसतन्तुतनीयसी।
(ललितासहस्रनाम)

शक्ति कुण्डलिनीति विश्वजननीव्यापारबद्धोद्यता।
(लघुस्तुति)

मूलाधारे मूलविद्यां विद्युत्कोटिसमप्रभाम्।
सूर्यकोटिप्रतीकाशां चन्द्रकोटिद्रवां प्रिये॥
विसतन्तुस्वरूपां तां विन्दुत्रिवलयां प्रिये।
(ज्ञानार्णव तन्त्र)

यदोल्लसति शृंगारपीठात्व कुटिलरूपिणी।
शिवार्कमण्डलं भित्वा द्रावयन्तीन्दुमण्डलम्॥
(वामकेश्वर तन्त्र)

अष्टधा कुण्डलीभूतामूर्ध्वीकुर्यात्तु कुण्डलीम्।
(योगशिखोपनिषत्)

कला कुण्डलिनी चैव नादशक्तिसमन्विता।
(षट्चक्रनिरूपणम्)

मूलाधार आत्मशक्ति कुण्डली परदेवता।
शायिता भुजगाकारा सार्धत्रिवलयान्विता॥
(घेरण्डसंहिता)

कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥
कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत् परिकीर्तिता।
सा शक्तिश्चालिता येन स युक्तो नात्र संशयः॥
(हठयोगप्रदीपिका)

अधोमुखसर्पिणी निदेली असे।
विद्युल्लतेची विडी। वह्नि ज्वाला ची घडी।
पघरेया ची घोटीव जैशी।
(श्रीज्ञानेश्वरी अ० ६, २२२-२३-२४)

मग कुडलिनी येचा टेंभा। आधारीं केला उभा।
तिया चोजविलिया प्रभा। निमथावेरी॥
(श्रीज्ञानेश्वरी अ० १२। ५१—५२)

मग शक्ति जे का कुडलिनी। आदि माया विश्वसजीवनी॥
शरीर मात्रीं असे निजोनी। परी शरीर चालवी स्वसत्ता॥
मग जेवि कांते नागाचें पिलें। कुकुम केशरीं सर्वांगीं न्हाणलें॥
नातरीतें विद्युल्लते ची विडी। कींते अग्नि ज्वाळाची केवळ घडी॥
नातरी वावन कसाची चोखडी। पुतळी ओतिली॥
(स्वानुभवदिनकर कलाप ९)

६ भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंमें बिखरे पड़े असंख्य वचनोंसे कुछ थोड़े-से ही वचन ऊपर उद्धृत किये है। इन वचनोंसे, कुण्डलिनी क्या है, इसका ऊहापोह करना विचारा है। वस्तुतः यह योगशास्त्रका विषय है। योगशास्त्र प्रयोगसिद्ध शास्त्र है। इसमें जिन बातोंका विवरण है वे सब अनुभवजन्य हैं। जिन सिद्धपुरुषोंको कुण्डलिनी-शक्ति जैसी अनुभूत हुई वैसा ही उन्होंने उसका वर्णन किया है। आज भी यदि कोई अभ्यास करे उसे ये ही अनुभव प्राप्त हो सकते हैं।

७ समष्टि सृष्टिकी कुण्डलिनीको महाकुण्डलिनी कहते हैं और उसीके व्यष्टि—व्यक्तिमें व्यक्त होनेपर उसे कुण्डलिनी कहते

है। सम्पूर्ण जगत्‌को जो चलाती है वह अव्यक्त कुण्डलिनी है और व्यष्टिरूप जीवको चलानेवाली व्यक्त कुण्डलिनी है। जो ब्रह्माण्डमें है सो ही पिण्डमे है, यह बात प्रसिद्ध ही है। 'कुण्डले अस्या स्त' इति कुण्डलिनी। 'कुण्डले' अर्थात् दो कुण्डल—इडा और पिंगला। बायीं ओरसे बहनेवाली नाडी है वह इडा और दायीं ओरसे बहनेवाली पिंगला। इन दो नाडियोंके बीचमे जिसका प्रवाह है वह है सुषुम्ना नाडी। इस सुषुम्ना नाडीके अन्तर्गत और भी नाडियाँ हैं, जिनमें एक चित्रिणी नामकी नाडी है। इसी चित्रिणी नाडीमेंसे होकर कुण्डलिनी-शक्तिका रास्ता है। इसलिये इस सुषुम्ना नाडीकी दोनो ओरसे बहनेवाली उपर्युक्त दो नाडियाँ ही पहले दो कुण्डल हैं।

८ कुण्डलिनी-शक्तिके व्यक्त होनेके साथ वेग उत्पन्न होता है। उससे जो पहला स्फोट होता है उसको नाद कहते हैं। नादसे प्रकाश होता है और प्रकाशका व्यक्त रूप महाविन्दु है। नादके तीन भेद हैं—महानाद, नादान्त और निरोधिनी। विन्दुके भी तीन भेद हैं—इच्छा, ज्ञान और क्रिया, सूर्य, चन्द्र और अग्नि, ब्रह्मा, विष्णु और महेश। जीव-सृष्टिमें उत्पन्न होनेवाला जो नाद है वही ॐकार है, उसीको शब्द-ब्रह्म कहते हैं। ॐकारसे बावन मातृकाएँ उत्पन्न हुईं। इनमे पचास अक्षरमय हैं, इक्यावनवीं प्रकाशरूप है और बावनवीं प्रकाशका प्रवाह है। यह बावनवीं मात्रा वही है जिसे सतरहवीं जीवन-कला कहते हैं। उपर्युक्त पचास मातृकाएँ लोम और विलोमरूपसे सौ होती हैं। ये ही सौ कुण्डल हैं। इन कुण्डलोंको धारण किये हुई मातृकामयी कुण्डलिनी है। इस कुण्डलिनी-शक्तिसे चैतन्यमय जीव देहेन्द्रियादियुक्त जीवरूप धारण करते हुए प्राणशक्तिको सग लिये स्थूल शरीर अर्थात् अन्नमय कोषका स्वामी होता है।

९ इस जीवको जीवत्वकी चेतना सहस्रार चक्रसे अनाहतमे अर्थात् हृच्चक्रमें आनेपर होती है। सहस्रार चक्रमे अव्यक्त नाद है, वही आज्ञाचक्रमे आकर ॐकाररूपसे व्यक्त होता है। इस ॐकारसे उत्पन्न होनेवाली पचास मातृकाओं-की अव्यक्त स्थितिका स्थान सहस्रार चक्र है। इस स्थानको अकुल स्थान कहते हैं। यही श्रीशिव-शक्तिका स्थान है। श्रीशिव-शक्ति अर्धनारीनटेश्वर हैं—शक्ति व्यक्त और शिव अव्यक्त हैं। इस अकुल स्थानसे उत्पन्न होनेवाली जो-जो मातृकाएँ जिस-जिस स्थानमे व्यक्त हुईं उन-उन मातृकाओ और उनके उन-उन स्थानोंको लोम-विलोमरूपसे नीचे दरसाते हैं—

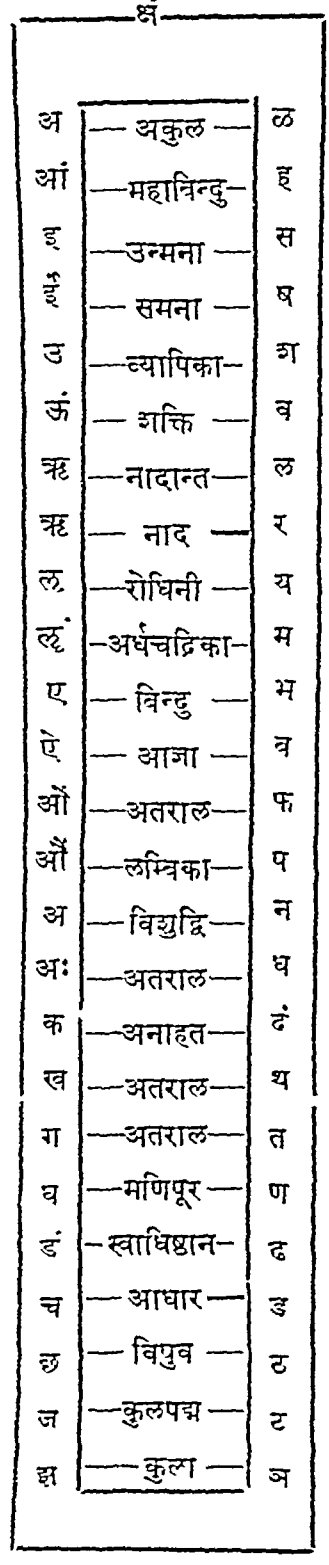

पार्श्वमे दरसाये पचीस स्थानोंके सम्बन्धमे लोम-विलोमात्मक श्लोक नीचे देते हैं। यह एक माला ही है और यह माला फेरते हुए जप करनेसे पुरश्चरण-का फल बताया है। कारण, इस मालासे जप करनेसे वृत्तिका इधर-उधर भटकना असम्भव हो जाता है। अस्तु।

लोमश्लोक

आधारनादसूत्रेण
ध्यायेद् वर्णमणीन् क्रमात्।
अकुलं च महाविन्दुः
उन्मना समना तथा॥
व्यापिका शक्तिनादान्त-
नादरोधार्धचन्द्रिका।
विन्दुराज्ञा ततश्चैकं लम्बि-
काथ विशुद्धिका॥
एकं ततोऽनाहतं द्वे
मणिपूरं तथैव च।
स्वाधिष्ठानाधारके च
विषुसंज्ञं कुलं तथा॥
कुलाथ चेति स्थानानां
पञ्चविंशतिसंख्यका॥

विलोमश्लोक

कुलाथ कुलपद्मं च
विषुवाधारसंज्ञकम्।
स्वाधिष्ठानं मणिपूर-
मन्तरालद्वयं तथा॥
अनाहतं चान्तरालं
विशुद्धिश्चाथ लम्बिका।
अन्तरालाज्ञा च विन्दुरर्ध-
चन्द्रा च रोधिनी॥
नादो नादान्तशक्तिश्च
व्यापिका समना तथा।
उन्मना च महाविन्दुर-
कुलं च विलोमत॥

चित्र नम्बर (१) में, भ्रूमध्यमें 'ह्रं' 'म' (क्ष) 'सोऽहं' मन्त्रके दो बीज दिखाये हैं। इनके अन्तर्गत, ॐकार बीजसे पहले स्वरोत्पत्ति, पीछे व्यञ्जनोत्पत्ति हुई।

भ्रूमध्यगत आज्ञाचक्रके नीचे विशुद्धाख्य, अनाहत, मणिपूर, स्वाधिष्ठान और मूलाधारचक्रोंमें क्रमसे इस वर्णोत्पत्तिका क्रम दिखाया है। इससे यह सिद्ध है कि इन चक्रोंमेंसे ही मातृकात्मक स्वरमाला और वर्णमाला उत्पन्न हुई। इस चित्रमें यह दिखाया गया है कि विशुद्धाख्य चक्रके समीप रुद्रग्रन्थि, मणिपूरके समीप विष्णुग्रन्थि और मूलाधारके समीप ब्रह्मग्रन्थि है।

१० इन मातृकाओंके स्थान जीवके शरीरमें कहाँ-कहाँ किस प्रकार है, यह आगे बतलाते हैं—

अ, आ, कवर्ग, ह—कण्ठस्थान।
इ, ई, चवर्ग—तालुस्थान।
ऋ, ॠ, रवर्ग—मूर्धास्थान।
ऌ, ॡ, तवर्ग, ल, स—दन्तस्थान।
उ, ऊ, पवर्ग—ओष्ठस्थान।

इन उत्पत्तिस्थानोंको बताते हुए मूलाधार, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, ये नाम नहीं दिये हैं। बात यह है कि परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, इन चार वाणियोंके स्थान मूलाधारसे बताये जाते हैं। शब्दोत्पत्तिके स्थान इस प्रकार बतानेपर भी अनुभव इससे भिन्न है।

११ वैखरी वाणी अर्थात् शब्दोच्चारण। इस वैखरी वाणीका मूलस्थान परा वाणी है। शब्द पहले परा वाणीसे उठता है। पहले मनमें वृत्ति उठती है, तब वृत्तिसदृश विचार उत्पन्न होता है। विचार प्रकट करनेका मूलस्थान परा वाणी है। विचार सूक्ष्म शब्दमें आता है तब उसे पश्यन्ती कहते हैं। पश्यन्ती वाणीके शब्द नेत्रोंको दिखायी देने लगते हैं। ये शब्द जब अर्धवाक् और रसनाकी क्रियातक आते हैं तब वे मध्यमा वाणी हैं, और स्पष्ट शब्दोच्चार होनेपर वह वैखरी वाणी है। मन्त्रोंका उच्चार पहले मध्यमामें करे और 'पीछे वैखरीसे रामका नाम पहले ले'। समर्थ रामदास स्वामीकी इस उक्तिके अनुसार मध्यमामें अर्थात् कण्ठमें अस्पष्ट उच्चार करे और पीछे वैखरीसे स्पष्ट शब्द उच्चारे।

१२ सहस्रारके नीचे षोडशदल सोमचक्र है, उसके नीचे द्वादशदल मनश्चक्र है, उसीमें विचार उत्पन्न होनेका स्थान है। वह मूर्धास्थानके ऊपर है। ये चक्र सर्वमान्य योगमार्गके श्रीहट्ट, गोल्लाट और त्रिकूटचक्रोंके समीप ही हैं। मनश्चक्रकी नाडी मनोवहा या आज्ञावहा नलिका है। श्रवणेन्द्रियगोलक शब्दवहा नाडी, नेत्रेन्द्रियगोलक रूपवहा नाडी, वागिन्द्रिय गोलक रसवहा नाडी, प्राणेन्द्रियगोलक गन्धवहा नाडी, और स्पर्शेन्द्रियगोलक स्पर्शवहा नाडी है। ये नाडियाँ सहस्रार चक्रके आस-पास और मनोवहा नाडीके ऊपर हैं। श्रवणेन्द्रियगोलक यदि उपपन्न न हो अथवा नष्ट हो जाय तो वह प्राणी गूँगा होता है। ये सब नाडियाँ सहस्रार चक्रके आस-पास हैं, यह जो बात अभी कही उससे यह भी सिद्ध है कि इन ज्ञानेन्द्रियोंके स्थान सहस्रार चक्रमें ही है। किसी भूली हुई बातका स्मरण करने अथवा किसी बातका विचार करनेके लिये मनुष्य सिरपर हाथ रखकर, आँखें बन्द करके ऊपरकी ओर ही देखता है। इस तरहसे वह भूली हुई बातको याद करता है। आजकल ऐसे वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं जिनसे विचारोंके फोटोतक खींचे जाते हैं। इनमें यही देखा जाता है कि विचार-मालिका सहस्रार चक्रसे बाहर निकल रही है। इससे यह प्रमाणित होता है कि परा, पश्यन्ती वाणियोंके स्थान मूलाधार-स्वाधिष्ठान नहीं, बल्कि सहस्रारके समीप ही हैं।

१३ मनश्चक्रका स्थान भ्रूमध्यके ऊपर पहले बता आये हैं। पर कुछ ग्रन्थोंमें मनश्चक्रका स्थान अनाहतके समीप बताया है और यह मनश्चक्र आठ दलका है। इस प्रकार मनके दो भेद हैं—एक विचार करनेवाला मन और दूसरा विषयोंको अनुभव करनेवाला मन। इस दूसरे मनकी उत्पत्ति कैसे हुई, यह अब देखें।

१४ वामकेश्वरतन्त्रमें यह वर्णन है कि मस्तकमें जैसा सहस्रारचक्र है वैसा ही सहस्रारचक्र मूलाधारमें भी है और कुण्डलिनी जिस स्वयम्भू लिङ्गको लपेटकर बैठी है वह स्वयम्भू लिङ्ग इसी मूलाधारके सहस्रारमें है। ऊपर स्तम्भ ९ में जिस रुद्रग्रन्थि और ब्रह्मग्रन्थिका उल्लेख हुआ है उनके विषयमें इस तन्त्रमें यह कहा है कि रुद्रग्रन्थि मूलाधारके समीप है और ब्रह्मग्रन्थि विशुद्धाख्यके समीप। इसी प्रकार इस वामकेश्वर-तन्त्रके अनुसार जो चित्रपट तैयार किया है उसमें मूलाधारमें 'वँ शँ षँ सँ' इन बीजोंके बदले 'अ आ इ ई' बीज आते हैं। इसके बाद स्वाधिष्ठानमें 'उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ' बीज आते हैं और यही अनुक्रम आगे चलता है और आज्ञाचक्रमें 'ह क्ष' बीज आते हैं। (चित्रपट न० २ देखिये।) इस चित्रपटके अनुसार परा वाक् मूलाधारमें, पश्यन्ती मणिपूरमें, मध्यमा अनाहतमें और वैखरी विशुद्धिमें,

यह क्रम है । और अनाहतचक्रके समीप अष्टदल मनश्चक्र है । इस सम्बन्धमें ऐसी कल्पना की जा सकती है कि जैसे श्रीबदरीनारायणके रास्तेमें गुप्तकाशी और गुप्त-प्रयाग स्थान हैं और फिर नीचे उतरनेपर पुनः काशी और प्रयाग नामके तीर्थ-स्थानोंके दर्शन होते हैं, वैसे ही शिरोदेशगत सहस्रारसे कुण्डलिनी जब चली और चलकर अपने विश्रान्तिस्थान अर्थात् मूलाधारमें पहुँची तब वहाँ भी उसने सहस्रारकी भावना की । इसी प्रकार परा, पश्यन्ती वाणीकी भी भावना की गयी होगी ।

१५ इस चित्रपट (नं० २) में और एक विशेषता यह है कि इसमें अधिष्ठान-देवता भी भिन्न हैं । दलोंके वर्ण इस चित्रपटमें नहीं बताये हैं । पञ्चमहाभूतोंका भी निर्देश इसमें नहीं है ।

१६ 'जीवो ब्रह्मैव नापरः ।' जीव ब्रह्मरूप ही है और तदनुसार जो ब्रह्माण्डमें है वही पिण्डमें है । कुण्डलिनी-शक्ति जैसे ब्रह्माण्डमें है वैसे ही पिण्डमें है । 'पिण्डमें पिण्डका ग्रास' करना यह है कि कुण्डलिनीरूप पिण्ड देहरूप पिण्ड-का ग्रास करे । कुण्डलिनी जब जाग उठती है तब यह देहगत सब त्याज्य पदार्थ, कफ-पित्तादि दोष नष्ट कर डालती है, और वह जब ऊर्ध्वगामिनी होती है तब देहके चलन-वलनादि व्यापार बन्द हो जाते हैं । यहीं क्यों, हृदयका आकुञ्चन-प्रसरण और नाडीकी गति भी बन्द हो जाती है, अन्तमें कुण्डलिनी-शक्ति सहस्रार-स्थित परम शिवसे जा मिलती है । इससे जीव अपना जीवत्व पीछे छोड़ शिवपदवीको प्राप्त होता है ।

१७ कुण्डलिनी शक्ति और प्राण-शक्ति साथ लेकर जीव इहलोककी यात्रा करनेके लिये माताकी कोखमें आता है । प्रारब्धकर्मको भोगनेके उपयुक्त अथवा प्रारब्धकर्मके अनुसार अन्धत्व-मूकत्वादि दोष भी संग लेकर आता है । छः महीनेतक तो जीव माताके आस-पास ही घूमा करता है । सांसारिक व्यवहारमें भी हम देखते हैं कि मकान-मालिक मकान तैयार होनेतक मकानके बाहर ही रहता है । इस प्रकार यह जीवेश्वर अपनी सङ्गिनी कुण्डलिनी और प्राणशक्तिके साथ मातृगर्भमें प्रवेश करता है । प्रवेश करते हुए, कुण्डलिनी-शक्ति सहस्रार चक्रमें अपना मुख्य स्थान नियत करती है और पीछे षट्चक्रोंमें तथा अन्यान्य सब रन्ध्रों और कुहरोंमें प्राणशक्तिके साथ प्रवेश करती है और अन्तमें स्वयम्भू लिङ्गको साढ़े तीन लपेटोंमें लपेटकर और लिपटकर बैठ जाती या सो रहती है । अथवा साम्या-वस्थामें रहती है ।

१८ सभी जीव जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन्हीं तीन अवस्थाओंको अनुभव करते हैं । तुरीय अवस्थाका ज्ञान और विज्ञान केवल योगियोंको होता है । इन तीन अवस्थाओंमें कुण्डलिनीकी स्थिति साम्यावस्थामें होती है और उसके द्वारा शरीर-धारणाका कार्य होता है । अव्यक्त 'सोऽहं' शब्द ही कुण्डलिनीकी साम्यावस्था है । इस अव्यक्त 'सोऽहं' शब्द-की अनुभूति आज्ञाचक्रमें होती है, और वही 'सोऽहं' शब्द प्राणवायुके सहारे अनाहतचक्रमें पहुँचकर अनाहतचक्रकी प्रथम मातृका 'क' का सहारा पाकर 'कोऽहं' शब्दमें परिणत होता है । आज्ञा-चक्रतकको अनुभव करनेवाला जीव आत्मस्वरूपको नहीं भूलता । परन्तु नीचे उतरनेपर नाना प्रकारके विषयोंमें लोलुप होकर वह 'सोऽहं' के बदले 'कोऽहं' कहने लगता है और आस-पासके लोगोंके साहचर्य-से विकृतज्ञान होकर 'देहोऽहं' कहने लगता है और देहा-त्मवादी बनता है । 'अधःस्रोता वै जीवाः' इस वचनके अनुसार सहस्रार चक्रसे नीचे आकर अनाहतमें, अनाहतसे मणिपूरमें, फिर स्वाधिष्ठान और वहाँसे मूलाधारमें आकर प्राणशक्तिके सहारे पूर्ण जीवत्वको प्राप्त होता है । परन्तु यही जीव 'ऊर्ध्वस्रोता वै देवाः' इस वचनके अनुसार स्वयम्भू लिङ्गको लपेटी हुई कुण्डलिनी-शक्तिको जाग्रत करके ऊर्ध्वगामी होकर देवत्वको प्राप्त होता है, स्वयं देवस्वरूप होता है ।

१९ चिदाकाशमें 'एकोऽहं बहु स्याम्' रूप स्पन्द हुआ । स्पन्दसे नाद उत्पन्न हुआ । नाद उत्पन्न होनेके लिये गतिको उत्पन्न होना पड़ता है । कहते हैं कि विद्युत्प्रकाश उत्पन्न होनेके समय विद्युत्कण विलक्षण वेगसे घूमा करते हैं । उनकी गतिका यह वेग यदि नियमित हो तो वे अणुत्व-को प्राप्त होते हैं । वक्र गतिसे और सरल गतिसे घूमनेवाले विद्युत्कण ही शब्दरूप गति हैं । यह शब्द सामान्य मनुष्य-के श्रवणेन्द्रियको गोचर नहीं होता । तथापि जिनकी दिव्य श्रवणशक्ति जाग्रत हो चुकी है वे उस शब्दको सुनते हैं । यही क्यों, हमारी यह ग्रहमाला जिस विशिष्ट गतिसे अपने चारों ओर तथा सूर्यके चारों ओर घूमती है उस गतिसे उत्पन्न होनेवाली सूक्ष्म ध्वनियाँ भी उस पुरुषको अनुभूत होती हैं जिसकी दिव्य श्रवणशक्ति जाग उठी है ।

२० ऐसी ध्वनियाँ दो प्रकारकी हैं । एक अनाहत ध्वनि और दूसरी आहत ध्वनि । यों ही उत्पन्न होनेवाली

आहत ध्वनिसे कोई अर्थोत्पत्ति नहीं होती। अनाहत ध्वनिका अर्थ है 'सोऽहं' ध्वनि। यह ध्वनि पहले अव्यक्त-रूपसे आज्ञाचक्रम मनोऽनुभूत हुई, अनन्तर अनाहतचक्रमें जाकर श्रवणेन्द्रियका द्योतक हुई। परन्तु मात्रोत्पत्ति अनाहतचक्रपर अवलम्बित नहीं है।

२१ आज्ञाचक्रके 'सोऽहं' ध्वनिमें जो ॐकार है उससे स्वर और व्यञ्जन उत्पन्न हुए। इन्हींको वर्ण अथवा अक्षर कहते हैं। भगवतीकी स्तुति करते हुए 'एकानेकाक्षराकृति' कहा है। अक्षरोंसे पद हुए और पदोंसे वाक्य, और वाक्योंके समुदायसे भाषा। अर्थात् शब्द अक्षर यानी अविनाशी है। शब्दोच्चारके पूर्व वे थे, शब्दोच्चारके होते भी वे हैं और उच्चार हो चुकनेपर भी हैं। जैसे अँधेरेमें रक्खा हुआ घट प्रकाश होनेके पूर्व भी है, प्रकाश होनेपर भी है और प्रकाशके जानेपर भी है।

२२ तडिल्लतासमरुचिर्विद्युल्लेखेव भास्वरा।

× × × ×

तडिल्लेखा तन्वी तपनशशिवैश्वानरमयी।

—इत्यादि प्रकारसे ग्रन्थोंमें कुण्डलिनी-शक्तिका वर्णन किया गया है। ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिके पूर्व स्फोट हुआ अर्थात् महानाद उत्पन्न हुआ। परब्रह्मकी इच्छाशक्ति ही स्फोट है और महानाद उसकी क्रियाशक्ति है। नाद उत्पन्न होनेके लिये गतिका होना आवश्यक है और गतिके होते ही प्रकाश उत्पन्न होता है। उष्णताके बिना गति नहीं उत्पन्न होती। उष्णता, नाद और गति तीनों परस्परसापेक्ष हैं। जहाँ उष्णता होगी वहीं गति होगी और जहाँ गति होगी वहीं नाद होगा। उष्णताका दृश्यरूप प्रकाश है। महानादके साथ अक्षरोत्पत्ति हुई। परम शिवके डमरूसे 'अ इ उ ण्' अक्षर उत्पन्न हुए। अक्षर ही मातृकाएँ हैं। जो ब्रह्माण्डमें है सो ही पिण्डमें है—इस न्यायसे जीवकी उत्पत्तिके साथ नाद, अक्षर और प्रकाश उत्पन्न हुए। मातृकाओं अथवा अक्षरोंके साथ प्रकाशका साहचर्य अनिवार्य है। अर्थात् प्रकाश अक्षरोंमें अनुस्यूत है। 'पञ्च पञ्च उपः' कालमें नियतमानस होकर मध्यमा वाणीसे नामस्मरण करके, जिस नाडीसे योग-श्वास चल रहा हो उस ओर अर्धोन्मीलित दृष्टिसे ध्यान लगाने या छः महीने अभ्यास करनेवालेको अपनी श्वासगतिके साथ आनेवाली प्रकाशकिरणोंका साक्षात्कार होता है अर्थात् अव्यक्त और व्यक्त अक्षरोंकी उत्पत्तिके साथ-साथ ही प्रकाशोत्पत्ति भी रहती ही है। इसका अनुभव अवश्य ही अभ्यासके बिना, एकाग्रता साधे बिना नहीं होता। यह प्रकाश कहीं तो कोटिसूर्य-प्रकाशके सदृश होता है और कहीं कोटिचन्द्रप्रकाशके समान। इडा याने सूर्यनाडी जो दाहिने नासारन्ध्रसे होकर चलती है और पिङ्गला याने चन्द्रनाडी जो बायें नासारन्ध्रसे होकर चलती है, ऐसी ये दो नाडियाँ हैं। साधक जिस नाडीके सहारे अभ्यास करेगा, वैसा ही अनुभव उसे प्राप्त होगा। जब हमलोग स्वप्न देखते हैं तब उस स्वप्न-सृष्टिमें हमलोग अपने प्राणमय कोषके सहारे स्वप्नानुभव करते हैं। यह हर किसीको स्वानुभवसे ही ज्ञात है कि स्वप्नसृष्टिके सब व्यवहार प्रकाशमें ही हुआ करते हैं। अर्थात् प्राणमय कोष प्रकाशरूप है। डा० किलनरने प्राणमय कोष (Etheric body) को देखनेके लिये ऑरोस्पेक (Auroscpec) नामका चश्मा ढूँढ निकाला है। इस चश्मेसे दिव्य दृष्टि होती है अर्थात् उसके द्वारा चाहे जिसका प्राणमय शरीर हम देख सकते हैं। परन्तु यह जो प्राणमय शरीर प्रकाशरूप दिखायी देता है सो प्रकाशात्मक कुण्डलिनी-शक्तिके सारे शरीरमें व्याप्त होनेके कारणसे दिखायी देता है। मनोमय शरीरमें ऊर्मियोंके उत्पन्न होनेपर अन्नमय शरीरमें उनकी क्रिया होनेका साधन प्राणमय शरीर ही है। अर्थात् प्राणमय शरीरका प्रकाशरूप अपने अनुभवसे तथा डा० किलनरके 'ऑरोस्पेक' से प्रत्यक्ष होता है। इससे यह सिद्ध है कि कुण्डलिनी-शक्ति प्रकाशरूप है।

२३ यह कुण्डलिनी सहस्रारमें प्रकाशरूपसे स्थित है। जीवको जीवत्व देनेके लिये यह शरीरके सूक्ष्मात्-सूक्ष्मतर छिद्रोंमें प्रवेश करके, सूक्ष्म नाडी जो सुषुम्ना है उससे भी सूक्ष्म वज्रा, वज्रासे भी सूक्ष्म चित्रिणी और चित्रिणीसे भी सूक्ष्म जो ब्रह्मनाडी है उस सूक्ष्मतम ब्रह्मनाडीमेंसे होकर प्रवाहित होती है। ऐसी सूक्ष्मतम नाडीको मृणालतन्तुकी जो उपमा दी गयी है वह ठीक ही है। यह प्रकाशमय है, यह ऊपर बताया ही है।

२४ प्रस्तुत प्रबन्धका शीर्षक 'कुण्डलिनी-शक्तियोग' है। इस शब्दसमुच्चयमेंसे 'कुण्डलिनी-शक्ति' का स्पष्टीकरण हो गया। अब 'योग' शब्दका स्पष्टीकरणक्रम प्राप्त है।

२५ योग शब्द 'युज्'—जोड़ना, इस धातुसे बना है। रवि और चन्द्र अमावस्याको एक स्थानमें आते हैं। उनके इस एकत्र होनेको रवि-चन्द्रयोग कहते हैं। अर्थात् दो वस्तुओंके एकत्र होनेका नाम योग है। अथवा किसी पदार्थमें या किसी कार्यमें या किसी मनुष्यमें किसी भी कारणसे किसी प्रकारकी जो न्यूनता दख पड़ती है

उसकी पूर्तिका होना भी एक प्रकारका योग ही है। कोई दरिद्र मनुष्य है, उसे यदि धन मिल जाय तो वह धनयोग है। जहाँ जल न हो वहाँ यदि जल आ जाय तो वह जलयोग है। जीवको ज्ञान-विज्ञानका प्राप्त होना ज्ञानविज्ञान-योग है। पुराण-पुरुषोत्तमका ज्ञान प्राप्त होना पुराण-पुरुषोत्तमयोग है। जीवकी समाधि लग जाय तो वह समाधियोग है। जायते वर्धते इत्यादि षड्विकारोंसे जो युक्त है वह जीवात्मा है और जो क्लेशकर्मविपाकरहित, षड्विकाररहित है वह है परमात्मा। जिन अनेक प्रक्रियाओंसे इस जीवात्माका उस परमात्माके साथ योग होता है। वह जीवात्म-परमात्म-योग है। अद्वैतमतसे जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं। तब उनका योग क्या है? दो पृथक् वस्तुओंका मिलना ही योग है इसलिये अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार जीवात्माको परमात्मस्वरूपका ज्ञान होना और उस ज्ञानके होनेकी प्रक्रिया ही योग है। आत्मसाक्षात्कार यानी जीवात्मयोग अर्थात् जिन शारीरिक और मानसिक साधनोंसे साक्षात्कार होता है उन्हें योग समझिये। मायामृगजलसे जीवात्मा और परमात्मा भिन्न भासते हैं। यह भिन्नत्व मानसिक सङ्कल्प-विकल्पोंसे प्रतीत होता है। कहते हैं कि माया-सा बलवत्तर बन्धन संसारमें और कोई नहीं, और उस बन्धनको काटनेवाला योग-सा अव्यर्थ और कोई साधन भी नहीं। इसलिये उपर्युक्त मनोर्मियोंका निरसन या निरीक्षण अथवा निरोध करनेके साधनको योग कहते हैं। योगश्चित्तवृत्तिनिरोध.' यह श्रीपतञ्जलि महामुनिकी योगव्याख्या है। इस प्रकारका योग कुण्डलिनी-शक्तिके द्वारा साधना कुण्डलिनी-शक्तियोग है।

२६ मायातन्त्रमें जीव-शिवैक्य-योगको ही यथार्थ योग कहा है। अन्य ग्रन्थकारोंने जीव-शिवके सादृगुण्यको योग कहा है। ईशशक्ति कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथाकर्तुम् इस प्रकार त्रिविध है। इन तीन शक्तियोंमें पहली दो शक्तियाँ योगियोंमें जाग्रत होती है। आगमवादी कहते हैं कि शक्तिका ज्ञान होना अर्थात् ज्ञानशक्त्यात्मिका जो स्थिति है वही योग है। हठयोगप्रदीपिकामें कहा है कि राजयोग-समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, शून्याशून्य परमपद, अमनस्क अद्वैत, निरालम्ब निरञ्जन जीवन्मुक्ति, सहजावस्था, तुरीयातीतावस्था इन सब पदोंका अर्थ योग ही है। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सभी सम्प्रदायोंमें योगकी बड़ी महिमा वर्णन की हुई है। इन सब सम्प्रदायोंमें तथा जैन, बौद्ध, मुसलमान सूफी, अमेरिकाके थियोसोफियन इन सब ग्रन्थोंमें योगतत्त्व पूर्णतया अनुस्यूत है और सत्यज्ञान अनन्तरूप जो परब्रह्म है उसका ज्ञान प्राप्त कर उसको अनुभव करना ही इन सबका ध्येय है।

२७ योगशास्त्रके ग्रन्थोंमें योगके चार विभाग किये गये हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें तीन ही विभाग हैं और सम्मोहनतन्त्रयोगमें पाँच विभाग हैं। योगशास्त्रके ग्रन्थानुसार चार विभाग ये हैं—मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग। श्रीमद्भगवद्गीतामें कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग ये तीन विभाग हैं। परन्तु छठे अध्यायको पढ़िये तो हठयोग भी श्रीमद्भगवद्गीतामें आ जाता है। सम्मोहनतन्त्रके पाँच विभाग इस प्रकार हैं—ज्ञानयोग, राजयोग, लययोग, हठयोग और मन्त्रयोग। इस प्रकार सम्मोहनतन्त्रमें अन्य दो प्रकारके वर्गीकरण भी आ जाते हैं। इसलिये सम्मोहनतन्त्रके वर्गीकरणके अनुसार ही इन योग-विभागोंका विचार करें।

२८ ज्ञानयोग—इस योगमें स्थूल शरीरसे लेकर सूक्ष्म, कारण, महाकारण और फिर अतिमहाकारण देहतक सब देहोंकी, पञ्चीकरणकी दृष्टिसे तथा व्यतिरेक और अन्वयसे, आत्मासे भिन्नता सिद्ध करते हैं। और चित्तवृत्तिका लय करते हुए ज्ञानकी जो सात भूमिकाएँ पार करनी पड़ती हैं वे इस प्रकार हैं—१ शुभेच्छा अर्थात् विवेक-वैराग्यकी स्थिति, २ विचारणा अर्थात् श्रवण-मननकी अवस्था। (इन दो भूमिकाओंको पार करनेके पश्चात् मुमुक्षु साधकपदपर आता है।), ३ मनुमानसा अर्थात् अनेक अर्थोंमेंसे यही एक अर्थ ग्रहण करना कि पञ्चभूतात्मक देह अनित्य और आत्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध है, ४ सत्त्वापत्ति अर्थात् 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ, इस धारणाको दृढ करना, ५ असंसक्ति अर्थात् नानाविध सिद्धियोंकी ओरसे अनासक्ति, ६ पदार्थाभाविनी—'अहं ब्रह्मास्मि' भी तो एक अहंवृत्ति ही है अतः इसका भी लय होना, ७ तुर्यगा अर्थात् आत्मस्वरूपसे न उठना। इन सात भूमिकाओंको पार करते हुए विक्षिप्तता, गतायाता, संश्लिष्टता और सुलीनता इन चार अवस्थाओं तथा लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद इन चार विघ्नोंको लाँघकर केवल निरालम्ब स्थितिमें तल्लीन होकर रहनेको कहा गया है।

२९ राजयोग—इस योगका आधारभूत ग्रन्थ है पातञ्जल योगसूत्र। इसमें चार पाद वर्णित हैं—१ समाधिपाद, २ साधनपाद, ३ विभूतिपाद और ४ कैवल्यपाद। अष्टाङ्गयोगसाधन करके शरीरके भिन्न-भिन्न स्थानोंमें मनःसंयम करे। इस संयमसे भुवनज्ञान, ताराव्यूहज्ञान, कायव्यूहज्ञान, क्षुत्पिपासानिवृत्ति, सिद्धदर्शन और अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व ये आठ

सिद्धियाँ प्राप्त होती है। परन्तु ये सिद्धियाँ आत्मस्थितिमे अन्तराय हैं। इसलिये विवेकख्याति करके निर्विकल्प समाधि-सुख लाभ करना चाहिये यही परम उपदेश है। 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इस योगसूत्रके अनुसार ध्यानयोग राजयोगका ही एक भाग माना गया है। इस राजयोगमें जो प्राणायाम बताया है उसको करते हुए, रेचकके समय बाह्य जगत्को अपने भीतर आकर्षण करे और कुम्भक करनेमें उसे अपने अन्दर दृढ़ धारण करे और पूरकमे मनकी सब द्वैत कल्पनाओको निकाल बाहर करे। श्रीमन्महाभारतमे कथा है कि एक ऋषिपत्नीको यह शाप मिला कि सूर्योदय होनेके साथ ही तुम विधवा हो जाओगी, तब उस सतीने ऊपर लिखे अनुसार धारणा की। उसकी उस धारणासे सूर्यदेवका उदय होना ही रुक गया। सूर्योदयका समय निकल गया, चौदह घण्टे और बीत गये, पर सूर्योदय नहीं हुआ। तब महर्षि वशिष्ठने आकर उससे कहा, 'सूर्यदेवका उदय होना क्यों रोकती हो? सूर्योदय होने दो, तुम्हारे मृत पतिको सञ्जीवन-मन्त्रसे पुनः जीवित कर देंगे।' तब उस सतीने मनःसयमको छोड़ा। तात्पर्य, ऋषिपत्नियाँ भी महायोगिनी हुआ करती थीं। भवन, कर्म और ध्यान इस योगके भेद हैं। भवनका अभिप्राय यह है कि मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्रतक सप्तलोकव्याप्त प्रकाशरूप एक दण्ड है, उसमें जलज, उद्भिज, जारज, देव, दानव, मानव ये सब एक-पर-एक अपने तेजोरूप दण्डमें रहते हुए समाविष्ट हैं, इस प्रकारकी भावना करे। कर्मका अभिप्राय है कि मैं ब्रह्मशक्तिसम्पन्न हूँ, ऐसा जप करे। ध्यानका अभिप्राय है—

शुद्धमात्मात्मममखिलं शुद्धज्ञानतपोमयम्।
शुद्धेन्द्रियगुणोपेतं परं तत्त्वं विभावये॥

यह कहकर भ्रूमध्यमें शुभ्र कमलके बीच परमपुरुषका ध्यान करे।

३० लययोग—प्राणशक्ति, कुण्डलिनीशक्ति, मन, मनकी वृत्तियाँ, इन सबका लय जिस योगमे किया जाता है वह लययोग है। कुण्डलिनी-योग तन्त्रमें वर्णित है और हठयोगमे भी वर्णित है। कुण्डलिनीयोगमें यम-नियमादि अष्टाङ्ग साधन बताकर शोधन, धृति, स्थिरता, वैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्विकल्प समाधि ये सात अङ्ग वर्णन किये हैं। कुछ ग्रन्थोंमें षट्चक्र, उनके दलोंके रग, उन दलोंपर स्थित मातृकाएँ तथा उन चक्रोंके देवता (चित्रपट न० २ के अनुसार) बताये गये हैं। कुछ ग्रन्थोंमें उन षट्चक्रोंके देवता और उनके वाहन नीचे लिखे अनुसार बताये हैं*—

३१—चक्रोंके नाम	स्थान (मेरुदडमे)	दल	दलकी मातृकाएँ	तत्त्व और गुण	तत्त्व-का रग	मण्डलका आकार	बीज	वाहन	देवता वाहन	शक्ति	तत्त्वका गुण	इन्द्रिय	लिङ्ग
मूलाधार	गुदासमीप	४	व श ष स	पृथ्वी सकलीकरण गन्धवाह	पीत	चतुष्कोण	ल	ऐरावत	ब्रह्मा ऐरावत	डाकिनी	गन्ध	पाद कर्मेन्द्रिय	स्वयम्भू
स्वाधिष्ठान	लिङ्गके सामने	६	ब भ म य र ल	आप, आकुञ्चन रसवाह	शुभ्र	अर्धचन्द्र	व	मकर	विष्णु गरुड	राकिनी	रस	हस्त स्पर्शेन्द्रिय	
मणिपूर	नाभिके सामने	१०	ड ढ ण त थ द ध न प फ	तेज, प्रसरण उष्णवाह	रक्त	त्रिकोण	र	मेष	रुद्र नदी	लाकिनी	रूप	गुद कर्मेन्द्रिय	
अनाहत	हृदयके सामने	१२	क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ	वायु, गति स्पर्शज्ञान		षट्कोण	ष		ईश	काकिनी	स्पर्श	लिङ्ग	वाण लिङ्ग
विशुद्धि	कण्ठके सामने	१६	अ आ इ ई ...अ अ.	आकाश	शुभ्र	वर्तुल	ह	शुभ्र हस्ति	सदाशिव	साकिनी	शब्द	श्रवण मुख	
आज्ञा	भ्रूमध्य	२	ह क्ष (स)	मन			ॐ	...	शम्भु	हाकिनी	महत्	हिरण्यगर्भ	पाताल लिङ्ग
सहस्रार	मूर्धन्	१०००		आत्मा			अ० प्रणव		कामेश्वरी कामनाथ			गुरु-पादुका	

* चक्रोंके सात चित्र और एक षट्चक्रमूर्तिका चित्र इसमें अन्यत्र प्रकाशित है। उनके दलोंके रङ्ग और देवता आदिमें कुछ भेद है। परन्तु मौलिक कोई भेद नहीं है। इनका विशेष वर्णन कल्याणके 'शक्ति-अङ्क' मे देखना चाहिये। —सम्पादक

३२ इस सम्प्रदायमे यह बताया है कि सहस्रार-चक्रमे कामेश्वरी और कामेश्वरका ध्यान करे। आमूल सब चक्रोंके देवताओंका जो वर्णन किया गया है वह 'पञ्चब्रह्मासनासीना पञ्चब्रह्मसमन्विता' इस वचनके आधारपर किया गया है। श्रीकामेश्वरी और श्रीकामनाथ आद्यगुरु हैं, इसलिये उनका स्थान सहस्रारके अन्तमें श्रीगुरुपादुका ही बताया है। मूलाधारसे सहस्रारतक सब चक्रोके स्थान स्थूल देहगत स्थानोंके समीप ही, ऊपरके कोष्ठमे बताये हैं। परन्तु स्थूल देहगत स्थान विद्युत्के बिना विद्युद्दीपके समान है। विद्युत्के बिना प्रकाश कहाँ? विद्युद्धाराके चलते ही विद्युद्दीप प्रकाशमान होते हैं उसी प्रकार कुण्डलिनीका उत्थापन होनेसे ही ये चक्र अपने-अपने वर्णोंके साथ प्रकाशित हुए देख पडते हैं। ये चक्र मेरुदण्डगत सुषुम्ना नाडीके भीतर वज्रा नाडी और ब्रह्म नाडीसे संलग्न हैं। उसी प्रकार ये चक्र प्राणमय, तेजोमय और मनोमय कोषके भीतर हैं। सहस्रारचक्र ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर चार अङ्गुल फैला हुआ है। जिनकी दृष्टि दिव्य हो चुकी है वे ही इन चक्रोंके नाना प्रकाशरूपी मातृकाओंको अनुभव करते हैं। अन्य लोग दृढ़ भावनाके साथ तत्तच्चक्रकी मातृकाओं, उनके वर्णों और तत्त्वोंका प्रकाशरूपमे ध्यान कर सकते हैं। षट्चक्रनिरूपण-ग्रन्थमें कुण्डलिनीका उत्थापन नहीं है पर उसका चिन्तन करनेको कहा है। भावनासे और क्रमशः इष्टदेव-प्रसादसे तथा गुरुकृपासे यह कुण्डलिनीयोग सिद्ध होता है। इस भावनासे जो अनुभव प्राप्त होता है वही अनुभव हठयोग-साधनसे प्राप्त होता है। हठयोगसे कुण्डलिनी उत्थान हो जाय तो भी इष्टदेवताप्रसादसे दिग्बन्धका होना तो आवश्यक ही है, नहीं तो पिशाचादि अनिष्ट भूतसङ्घद्वारा प्रत्यवाय हो सकता है। इष्टदेवके प्रसन्न होनेपर इष्टदेव ही मानवरूप धारणकर साधकसे योगकी सब क्रियाएँ करा लेते हैं। इसके प्रमाणस्वरूप परमहंस श्रीरामकृष्णका दृष्टान्त है। उनके चरित्रग्रन्थमें यह लिखा हुआ है कि श्रीभगवतीने उनके पास एक योगिनीको भेजा जिन्होंने छ. महीनेमें उनसे योगकी सब क्रियाएँ करा लीं। तन्त्रशास्त्रके इस लय-योगमें कुण्डलिनीका जागना केवल गुरुकृपासे ही होता है। इसलिये इस सम्प्रदायमे गुरु ही मुख्य देवता माने गये हैं। श्रीगुरु ही स्पर्शदीक्षा और फिर दिव्यदीक्षा शिष्यको देते हैं। और दीक्षा होनेपर एक क्षणमें ही शिष्यकी कुण्डलिनी जाग उठती है। इस कुण्डलिनीशक्तिके जाग उठनेपर मूलाधारसे सहस्रार-पर्यन्त सम्पूर्ण शरीर प्रकाशमय हो जाता है। विद्युत्-रूपसे कुण्डलिनी जब ऊपर जाने लगती है तब प्रकाशका साक्षात्कार होता है।

३३ तन्त्रमार्गीय गुरु शक्तिपात करके शिष्यके भ्रूमध्य और विशुद्धाख्यमे स्पर्श कर प्रकाशका अनुभव कराते हैं। हठयोगके क्लिष्ट और कष्टसाध्य साधनोंसे प्राप्त होनेवाला अनुभवजन्य ज्ञान इस सम्प्रदायमे केवल गुरुकृपासे प्राप्त हो जाता है। आजकल शक्तिपात करके कुण्डलिनी-उत्थान करानेवाले गुरु विरले ही कोई मिलते है। हमारे देखते इन पचीस वर्षोंमें एक ही गुरु ऐसे मिले। आप बङ्गाली शरीर सन्यासी योगी है। पूर्वाश्रममें ये बहुत बड़े उपासक थे। इनका नाम श्रीनित्यानन्द महाराज है। इनके गुरु-बन्धु टेहरीप्रान्तमें जङ्गलमें रहते हैं। इन महाराजने पूनेके ड्राइंग मास्टर (जो अभी पूनेमे हैं) श्रीगुलवणी महाशयकी कुण्डलिनी जाग्रत् कर दी और चमत्कार यह कि स्वामी महाराजने जब उन्हें स्पर्शदीक्षा दी तब उनकी वह दीक्षा देनेकी शक्ति श्रीगुलवणी महाशयको भी प्राप्त हो गयी। इन श्रीगुलवणीजीने पीछे दूसरे एक साधककी कुण्डलिनी जाग्रत् कर दी। 'अपने सरीखे तत्काल ही कर देते है, इसमें उन्हे कुछ भी देर नहीं लगती' इस सन्त-वचनके अनुसार ऊपर दिया हुआ वर्णन प्रत्यक्ष प्रमाण है। उपर्युक्त स्वामी महाराजके समीप हम तीन दिन थे। उनसे दीक्षा पानेकी प्रार्थना की। उन्होने मिलने-के साथ ही कहा कि श्रीभगवतीकी आज्ञा है। पर पीछे यह सूचित किया कि आपको इसकी आवश्यकता नहीं है। 'तुम अपात्र हो' यह न कहकर उन्होंने उक्त प्रकारसे उत्तर दिया। स्वामी महाराज भगवतीकी इच्छाके अनुसार विचरते हैं, इसलिये इस समय महाराज कहाँ हैं यह ज्ञात नहीं हो सका।

३४ शक्तिसम्मोहनतन्त्रमें 'नवचक्रात्मिका देवी' का वर्णन है। उन चक्रोंका विवरण नीचे देते हैं—

स्थान	चक्रका नाम	देवता
शिर	सर्वानन्दमय	श्रीललितामातादुर्गा
शिखरी	सर्वसिद्धिचक्र	त्रिपुराम्बा
गोल्लाट	सर्वरोगहरचक्र	त्रिपुरासिद्धि
विशुद्धि	सर्वरक्षाकरचक्र	त्रिपुरमालिनी
आज्ञा	सर्वार्थसाधकचक्र	त्रिपुराश्रीचक्राधीश्वरी
अनाहत	सर्वसौभाग्यदायक	त्रिपुरवासिनी
मणिपूर	सर्वसक्षोभिणीचक्र	त्रिपुरसुन्दरी
स्वाधिष्ठान	सर्वाशापरिपूर्णचक्र	त्रिपुरेशि
मूलाधार	त्रैलोक्यमोहनचक्र	त्रिपुराम्बा

इस वर्गीकरणमें चक्रोंके दल आदि विवरण नहीं हैं। श्रीत्रिपुराम्बादेवीके भिन्न-भिन्न रूप दिये हैं। इस साधन-क्रममें भावना और महाभाव अवस्थाओंका वर्णन है।

३५ इसके अतिरिक्त महानिर्वाणतन्त्रमे ऐसे ही नौ चक्र हैं। परन्तु चक्रोके आकार और बीज दूसरे ही दिये हैं।

३६ लययोगमें हठयोगकी तरह ही योगनाडियोंका वर्णन है, वह आगे देते हैं। चित्रपट न० २ मे इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना नाडियाँ दिखायी है। इडा नाडी (बायें नासारन्ध्रसे चलनेवाली) चन्द्र नाडी है। उसका वर्ण शुभ्र है। और पिङ्गला (दायें नासारन्ध्रसे चलनेवाली) सूर्य नाडी रक्तवर्णकी है। इन दोनोंके बीचमें सुषुम्ना नाडी है। इडा और पिङ्गला सुषुम्ना नाडीको लपेटे हुई चलती हैं। इन दोनों नाडियोंकी वक्रगतिसे षट्चक्रोमेंके पाँच चक्र बनते हैं, इन्हें पञ्चचक्र कहते हैं। इडा नाडीको अमृतविग्रहा और पिङ्गला नाडीको रौद्रात्मिका कहते हैं। ये दोनों नाडियाँ कालस्वरूप दिखाती हैं। ये दोनों नाडियाँ जब समगतिसे चलती हैं तब सुषुम्ना नाडीमें उनका लय होता है। इसी अवस्थामे सुषुम्ना नाडीमे कुण्डलिनी प्रवेश करती है। योगीलोग सुषुम्ना नाडीमें प्रवेश करके महाप्रयाणका समय बदल देते हैं। इसीलिये कहते हैं कि सुषुम्ना नाडी कालभक्षक या कालरोधक है। कुण्डलिनी सुषुम्ना नाडीमे प्रवेश करके सहस्रारचक्रमे पहुँचकर वहाँ जब शान्त होती है तब उस अवस्थाको समाधि कहते हैं। योगी जब इस समाधिस्थितिमें होते हैं तब उनके शरीर विकाररहित अर्थात् वर्धते, विपरिणमते, नश्यतीति विकारोंसे रहित होते हैं। उनके नखकेशादि नहीं बढ़ते। प्राणक्रिया बन्द होनेसे नाडीका चलना और हृदयका आकुञ्चन-प्रसरण बन्द हो जाता है। इसलिये ऐसे योगीको कालभक्षक अथवा कालान्तक योगी कहते हैं। योगी चांगदेव महाराज १४०० वर्ष जीये और आज भी तीन-तीन सौ वर्ष वयस्के योगी हिमालय-प्रदेशमें देख पडते हैं।

३७ इस लययोगमे नाडी-शुद्धि अथवा नाडी-जय करनेके लिये कोई खास क्रिया-साधन नहीं बताया है। इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना नाडियाँ आज्ञाचक्रके समीप मुक्त त्रिवेणीरूप दिखायी देती हैं और मूलाधारसे जहाँ वे निकलती हैं वहाँ उन्हें युक्त-त्रिवेणी कहते है। इडा-पिङ्गला नाडियोंकी वक्रगतिसे षट्चक्रमेंसे जो पाँच चक्र बनते हैं वे मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्धाख्य हैं। इसके अतिरिक्त मेरुदण्डकी बायीं ओर कुहू नाडी है। बायीं आँखसे बायें पैरके अँगूठेतक चलनेवाली गान्धारी नाडी है। दायीं आँखसे दायें पैरके अँगूठेतक हस्तिजिह्वा नाडी है। हमारे परिचित एक सज्जन पेड़परसे गिरे और उस चोटसे उनकी बायीं आँख बाहर निकल आयी। उन्हें लोग श्रीयोगाभ्यानन्द माधवनाथ महाराजके पास ले गये। नाथ महाराजने कहा कि बायाँ अँगूठा चला जाना यदि स्वीकार हो तो आँख जहाँ-की-तहाँ लग जायगी। तब उन सज्जनका बायाँ अँगूठा बाँधकर उसपर हथौडा चलाया गया। उससे आँख अपने स्थानमें आ गयी और अँगूठा टेढा होकर बेकार हो गया। अस्तु। सुषुम्नाकी दायीं ओर सरस्वती नाडी है। वह जिह्वाके समीप आकर मिली है। दायीं आँखसे पेटतक पूषा नाडी है। पूषा और सरस्वतीके बीचमे पयस्विनी नाडी है। गान्धारी और सरस्वतीके बीचमें शंखिनी नाडी है। दाहिने हाथके अँगूठेसे बायें पैरतक यशस्विनी नाडी है। कुहू और यशस्विनीके बीचमें वारुणी नाडी है और उसकी व्याप्ति शरीरके निचले भागमे है। कुहू और हस्तिजिह्वाके बीचमें विश्वोदरा नाडी है, वह भी वारुणी नाडीके समान शरीरके निचले भागमें फैली हुई है।

३८ सुषुम्नाके मध्य भागमें वज्रा नाडी है और वज्रा नाडीके मध्य भागमें चित्रा नाडी है और चित्रा नाडीके मध्य भागमें ब्रह्म नाडी है। सुषुम्ना नाडी अग्निस्वरूप है। वज्रा नाडी सूर्यरूपा है और चित्रिणी नाडी पूर्ण चन्द्र-मण्डलरूपा है। शब्दब्रह्मके ये तीन प्रकार हैं। शब्दब्रह्म-रूपा कुण्डलिनी जब ऊर्ध्वगामिनी होती है तब इन तीन,

नाडियोंको स्पर्श करती हुई चलती है। इसलिये इन तीन नाडियोंको शब्दब्रह्मरूप कहा है। चित्रा नाडीको ब्रह्म-द्वार कहते हैं, क्योंकि इसी नाडीके पाससे कुण्डलिनी ऊर्ध्वगामिनी होती है।

३९ पञ्चतत्त्वात्मक पञ्च चक्र जो मेरुदण्डगत सुषुम्ना नाडीसे सटे हुए हैं वे इस प्रकार हैं—पृथ्वीतत्त्वका दर्शक मूलाधारचक्र है, अप् तत्त्वका दर्शक स्वाधिष्ठानचक्र है और तेजस्तत्त्वका दर्शक मणिपूरचक्र है। वायुका अधिष्ठान अनाहतचक्रमें है और आकाशतत्त्वका अधिष्ठान विशुद्धि-चक्रमें। आज्ञाचक्र तृतीय नेत्रका आधारभूत चक्र है। एक स्थानमें यह कहा है कि जिसे षट्चक्रका ज्ञान नहीं वह कुण्डलिनीको नहीं जगा सकता और दिव्य मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता।

४० अब संक्षेपमें इन षट्चक्रोंका वर्णन करते हैं—पहला मूलाधारचक्र है, इसके चार दल हैं, देवता ब्रह्मदेव हैं। ये चार दल प्राणशक्तिरूप योगनाडीकी सहायतासे उत्पन्न हुई चार आकृतियाँ हैं। इनमें प्राणशक्तिके साथ कुण्डलिनी प्रसृत होती है। प्राणशक्तिका जब लय होता है तब इन दलोंका भी लय होता है। इन दलोंपर जो मातृकाएँ या अक्षर हैं वे कुण्डलिनीके रूप हैं। कुण्डलिनी स्वयं, इस चक्रके नीचे त्रिकोणाकृति अग्निचक्रमें अवस्थित स्वयम्भूलिङ्गसे साढे तीन वलयोंमें लिपटी हुई सुप्तावस्थामें पड़ी है। इस स्वयम्भू-लिङ्गको घेरे हुए अग्निचक्र त्रिकोणको त्रैपुर कहते हैं। सहस्रारचक्रमें कामकलारूप जो त्रिकोण है उसीकी यहाँ यह प्रतिकृति है। इस मूलाधारचक्रका ध्यान करनेसे वाक्य-काव्य-प्रबन्ध-दक्षता-सिद्धि प्राप्त होती है।

४१ इसके बाद स्वाधिष्ठानचक्र है, इसके छः दल हैं, देवता भगवान् श्रीविष्णु हैं। इसके अनन्तर नाभिपद्म अथवा मणिपूरचक्र है। इसके देवता श्रीरुद्र हैं। इन चक्रदेवताका ध्यान जिस साधकको पूर्णतया सिद्ध हो वह पालन और संहार-जैसे कार्य कर सकता है। इसके बाद हृत्पद्म अथवा अनाहत-चक्र है, इसीके समीप आठ दलोंका निम्न (Lower-Mind) मनश्चक्र है। सहस्रार-चक्रकी जिन्हें अनुभूति नहीं और जो भक्तिमार्गप्रवण हैं, जिन्हें अन्य चक्रोंकी खबर नहीं और सारे योगशास्त्रको जो हठयोग ही मान बैठे हैं वे 'हृदयमन्दिरमें हरिको भजें' इस वचनके अनुसार या 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' इस गीतोक्तिके अनुसार अथवा—

हृत्पुण्डरीकमध्यस्था प्रातःसूर्यसमप्रभाम्।
पाशाङ्कुशधरां सौम्यां वरदाभयहस्तकाम्॥

इस मन्त्रके अनुसार अपने-अपने इष्टदेवका ध्यान अपने हृच्चक्रमें करते हैं। इस कमलके समीप कल्पतरु और मणिपीठ है। विश्वसारतन्त्रमें कहा है कि इस स्थानमें उत्पन्न होनेवाली अनाहतध्वनि ही भगवान् सदाशिव है। त्रिगुणमय ॐकार इसी स्थानमें व्यक्त होता है। इसी स्थानमें बाणलिङ्ग है। निर्वात स्थानकी दीपज्योतिके समान जीवात्मा इसी स्थानमें है। दृश्य जगत्के पदार्थ मेरे और यह शरीर ही मैं, इस प्रकारकी देहात्मवादियों-की जो विचारपद्धति है वही हृदयग्रन्थि है और गुरुकृपासे वह टूट जाती है। इसी हृदयग्रन्थिमें जीवात्मा उलझा रहता है। वित्तैषणा और दारैषणाके नष्ट होनेपर भी साधक लोकैषणामें अटक जाता है। किसीसे पूछिये कि इस बड़े कामको करनेवाले देवदत्त कौन हैं तो वह अपनी छातीपर हाथ रखकर ही अपने देवदत्त होनेका प्रशस्त परिचय देता है। इसके लिये वह कभी मस्तकको स्पर्श नहीं करता, न आधारचक्रको स्पर्श करके अपना परिचय देता है। तात्पर्य, जीवात्माका वासस्थान हृदय ही है। तैत्तिरीय आरण्यकमें इन चक्रोंके अधिष्ठातृ देवता तथा आवरण देवता बताये हैं और आनन्दलहरीके १७ वें श्लोकमें भी वशिन्याद्या आवरण देवताओंका उल्लेख है।

४२ इसके बाद कण्ठपद्म अर्थात् विशुद्धिचक्र है। इसे विशुद्धिचक्र इसलिये कहते हैं कि जीव यहाँ भ्रूमध्य-स्थित परमेश्वरको देखकर वासनाजालसे मुक्त होता है। यहाँ अर्धनारी-नटेश्वर देवता हैं। इन नटेश्वरका अर्धाङ्ग शुभ्र और अर्धाङ्ग सुवर्णमय है। यही मोक्षद्वार है। इस स्थानमें ध्यान करनेसे ज्ञानी त्रिकालज्ञ होता है। इस विशुद्धिचक्रके ऊपर और आज्ञाचक्रके नीचे एक चक्र है जिसे ललनाचक्र या कलाचक्र कहते हैं। उसके १२ दल हैं। उसकी ये वृत्तियाँ हैं—श्रद्धा, सन्तोष, अपराध, दम, मान, स्नेह, शुद्धता, आरती (वैराग्य), सम्भ्रम (मनोद्वेग), ऊर्मी (क्षुधातृषा)।

४३ इसके अनन्तर आज्ञाचक्र है। इस चक्रका नाम आज्ञाचक्र इसलिये रक्खा गया है कि सहस्रारमें स्थित श्रीगुरुसे इसी स्थानमें आज्ञा मिलती है। इसके दो दल हैं। मूलाधारसे आज्ञाचक्रतक ५० मातृकाएँ और ५० वर्ण हैं। ये मातृकाएँ लोम-विलोम मिलाकर १००

होती है। सहस्रारचक्रमें १००० दल हैं, यह जो कहा गया है वह इस हिसाबसे कि १०० तो मातृकाएँ हैं और फिर दस इन्द्रियोंके दस-दस गुण अथवा दस-दस न्यास हैं। इस हिसाबसे सहस्रदल होते हैं। कुछ अन्य ग्रन्थकार यह कहते हैं कि सहस्रारचक्रमें कुल २० विवर हैं, इनमें पचास-पचास मातृकाएँ गिनी जायँ तो भी १००० दल होते हैं। आज्ञाचक्रमें योनित्रिकोण है, उसमें कहते हैं कि इतर लिङ्ग अथवा पाताल-लिङ्ग है। अग्नि, सूर्य और चन्द्र इस त्रिकोणमें एकत्र होते हैं। महत्तत्त्व और प्रकृतितत्त्व इसी स्थानमें है। महत्तत्त्वके बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और सङ्कल्प-विकल्पात्मक मन ये चार भेद हैं। अव्यक्त प्रणवरूप आत्माका यही स्थान है। इसी स्थानमें प्रवेश करके और प्राण धारण करके योगीलोग महाप्रयाणके समय, 'भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तु पर पुरुषमुपैति दिव्यम्' इस वचनके अनुसार पुराण पुरुषमें प्रवेश करते हैं।

४४ आज्ञाचक्रके समीप मनश्चक्र है, उसके छः दल हैं। इनमेंसे पाँच दल शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पाँच विषयोंके स्थान हैं और छठे दलसे स्वप्नगत अनुभव और सम्भ्रमगत ज्ञान प्राप्त होता है। मनश्चक्रके ऊपर सोमचक्र है, उसके १६ दल हैं। यही निरालम्बपुरी, तुरीयातीत अवस्थामें रहनेका स्थान है। इसी स्थानमें योगीजन तेजोमय ब्रह्मको अनुभव करते हैं।

४५ इस आज्ञाचक्रके समीप कारणशरीररूप सप्त कोश हैं। इन कोशोंके नाम—१ इन्दु, २ बोधिनी, ३ नाद, ४ अर्धचन्द्रिका, ५ महानाद, ६ कला (सोमसूर्याग्निरूपिणी), ७ उन्मनी। इस उन्मनी-कोशमें पहुँचनेपर जीवकी पुनरावृत्ति नहीं होती अर्थात् पराधीनसम्भवत्व नष्ट हो जाता है। स्वाधीनसम्भवमें अर्थात् स्वेच्छासे या परमेश्वरी इच्छासे देह धारण करनेमें आत्मस्वरूपकी पूर्ण स्मृति बनी रहती है। इन कोशोंके ऊपर, सहस्रारके नीचे बारह दलोंका एक अधोन्मुख कमल है। इसके नीचेके सभी चक्र इसी प्रकारसे अधोन्मुख ही हैं। कुण्डलिनी-उत्थान जब होता है तभी वे ऊर्ध्वोन्मुख होते हैं। कुण्डलिनी-शक्तिका जाग उठना दो प्रकारसे होता है, या तो हठयोगसे या भावनायोगसे। भावनायोग या हठयोग करते हुए साधक आसनस्थ रहे। आसन भी तदुपयुक्त हो, क्योंकि चाहे जिस आसनसे यह काम नहीं बन सकता। कोई साधक यदि कहे कि शवासन लगाकर कुण्डलिनी-उत्थान कर लूँगा और चक्रोंको ऊर्ध्वोन्मुख कर दूँगा तो यह नहीं हो सकता। कोई भी मनुष्य बैठे रहनेकी अपेक्षा पर्वतासनकी तरह लेट रहनेमें अधिक सुख अनुभव करता है। परन्तु पर्वतासनमें ये चक्र उन्मुकुलित नहीं होते, पद्मासन अथवा वज्रासन लगानेसे ये चक्र उन्मुकुलित होते हैं। उपर्युक्त द्वादशदल कमलमें ही वह त्रिकोण है जिसका ऊपर वर्णन हो चुका है। इस त्रिकोणमें मणिपीठ और उस मणिपीठमें मणिद्वीप है। मणिद्वीपके चतुर्दिक् अमृतार्णव है। ऊपरके कोणमें बिन्दु और नीचे परमशिव काम-कलाके साथ विराजते हैं। त्रिकोणके दो कोनोंपर सूर्य और चन्द्र हैं और उन सूर्य-चन्द्रकी १६ और १७ कलाएँ हैं। १७ वीं कला ही जीवनकला है। 'पादुकापञ्चक' में कामकलाका विशेष वर्णन है।

४६ अब हठयोगका वर्णन करें। बहुतोंका यह खयाल है कि हठयोग कोई और चीज है और राजयोग कोई और। परन्तु श्रीमद्भगवद्गीता, गोरक्षसंहिता, हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रन्थोंमें हठयोगको राजयोगकी नींव कहा है। 'ह' माने सूर्य—पिङ्गला दाहिनी ओरकी वायु और 'ठ' माने चन्द्र—इडा बायीं ओरकी वायु। वायुको अन्दर खींचना है 'ह' और बाहर छोड़ना है 'ठ'। 'प्राणापानौ समौ कृत्वा' अथवा 'अपाने जुह्वति प्राणम्' यह जो विद्या है, यह हठयोगके बिना नहीं सिद्ध होती। 'चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः' इस वचनमें चक्षु एकवचन है अर्थात् इस चक्षुसे तृतीय नेत्रका अभिप्राय है। कुण्डलिनी जबतक आज्ञाचक्रमें नहीं पहुँचती तबतक यह क्रिया हो ही नहीं सकती। राजयोगरूपी उच्च राजप्रासादको जानेके लिये हठयोगकी सीढ़ी लगी है। 'हठयोगप्रदीपिका' में कहा ही है—'केवल राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते,' और 'घेरण्डसंहिता' में कहा है—

..... हठयोगविद्या ॥
विराजते प्रोन्नतराजयोग-
मारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ।

४७ यम-नियम और आसन इन तीन साधनोंके सिद्ध होनेपर नाडी-शुद्धि या नाडी-जय साधनेको कहा है। नाडी-शब्दका (नाड्-गमने) अर्थ है, विशेष प्रकारकी गति जिसमें है—वह। इडा वामी नाडी और पिङ्गला दाहिनी नाडी है। नाडिजयका अर्थ है श्वास-जय। अमुक समयमें अमुक ओरसे ही श्वास चले ऐसा अभ्यास जब पक्का हो जाय तब यही नाडिजय है। इसीको नाडि-शुद्धि कहते हैं।

४८ नाडिजयके लिये आदिनाथ श्रीशङ्करने श्रीपार्वतीजीको 'शिवस्वरोदय' ग्रन्थ सुनाया। 'शिव-स्वरोदय' स्वरशास्त्रका स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इडा और पिङ्गला मनुष्यमात्रके नासारन्ध्रोंमेंसे चलनेवाली नाडियाँ हैं। प्रत्येक नाडी २ घण्टे २४ मिनट चलती है, तब दूसरी नाडीका चलना आरम्भ होता है। प्रातःकाल सूर्योदयके समय यदि इडाका चलना आरम्भ हो तो इसके २ घण्टे २४ मिनट बाद पिङ्गलाका चलना आरम्भ होगा। 'शिवस्वरोदय' में भिन्न-भिन्न कार्योंके लिये भिन्न-भिन्न नाडियोंका चलना आवश्यक बताया गया है। अमुक कार्यके होते अमुक ही नाडी चले, ऐसा विधान है। भोजनके समय चन्द्र नाडी, प्रातर्विधिके समय सूर्य नाडी, सोते समय सूर्य नाडी, क्रूर कर्मके समय सूर्य नाडी, यजन, याजन, दान, अध्ययनादि शान्त कर्मोंमें चन्द्रनाडी चले। ग्वालियरके दीवान राव राजा स्वर्गीय श्रीदिनकर राव राजवाडेके विषयमें यह बात प्रसिद्ध है कि वह नाडी देखकर ही किसी कार्यमें प्रवृत्त होते थे, अनुकूल नाडी न चलती हो तो वह उस कार्यमें प्रवृत्त न होते थे। पुत्रेच्छा हो तो अभिगमनके प्रसगमें पत्नीकी चन्द्र नाडी और पतिकी सूर्य नाडी चलती हो। १५ दिन लगातार यदि किसीकी सूर्यनाडी ही चलती रहे तो यह समझना चाहिये कि एक महीनेमें उसकी मृत्यु होगी। जो योगारूढ होना चाहे उनके लिये यह बताया है कि सूर्योदयसे सूर्यास्ततक चन्द्र अथवा सूर्य कोई भी एक ही नाडी चलती रहे, ऐसा अभ्यास करें। बारह घण्टे बराबर एक ही नाडीका चलना सिद्ध होनेपर नाडीमें उदय होनेवाले पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश-तत्त्वोंका अभ्यास करें। तत्त्वोंका उदयास्त समझनेके लिये विशिष्ट गतिकी मर्यादा बतायी हुई है। प्रातःकाल या सायकालमें ४ घण्टे ४८ मिनट आकाशतत्त्व ही स्थिर रहता है, उसी समयको सन्धिकाल कहते हैं और यही सन्ध्या-वन्दनका समय है। आकाशतत्त्वके उदयके समय अथवा पृथ्वीतत्त्वके उदयके समय २-३ मिनटतक समस्वर रहते हैं अर्थात् उस समय दोनो स्वर चलते हैं। यह सुषुम्ना नाडी है। इस नाडीको ऐसे ही स्थिर करके यदि प्राणायाम किया जाय तो वह सिद्ध होता है। यही प्राणजय है। नाडिशुद्धि होनेपर धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति ये षट्कर्म बताये हैं।

४९ 'श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः' यह पातञ्जल योगका सूत्र है—यह श्वासायाम है, प्राणायाम नहीं। श्वासकी अपेक्षा प्राणशक्ति अधिक सूक्ष्म है, इसलिये इस सूत्रका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि श्वासायाम साधनेसे प्राणायाम आप ही पीछे होने लगेगा। प्राणशक्ति-के विषयमें बहुतोंकी कल्पना ठीक नहीं है। देवमूर्तिकी प्राणप्रतिष्ठा करते हुए 'इह प्राणाः इह प्राणाः' कहते हैं। पर प्राण क्या है, यह न जाननेसे वह क्रिया केवल अन्धानुकरणकी-सी होती है। स्वामी विवेकानन्दने प्राणशक्तिकी व्याख्या एक स्थानमें की है। प्राणायामके सम्बन्धमें स्वतन्त्र विवेचन करना हमने विचारा है, इसलिये यहाँ उसका विस्तार नहीं करते। रेचक, कुम्भक और पूरकसे एक प्राणायाम होता है। कुम्भकके भ्रामरी, भस्त्रा, मूर्छा, प्लाविनी, केवली ये भेद हैं।

५० अनन्तर महामुद्रा, महाबन्ध, खेचरी, मूलबन्ध, उड्डियान, जालन्धरबन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालिनी और महावेध ये दस मुद्राएँ साधकको साधनी पडती हैं तब कुण्डलिनी जाग्रत होती है और जैसा कि पहले कहा है, षट्चक्रोंको भेदकर सहस्रारमें प्रवेश करती है। इन षट्चक्रोंके ऊपर हठयोगमें त्रिकूट, श्रीहाट, गोलाट, औटपीठ और भ्रमरगुम्फा नामके पाँच चक्र और बताये हैं। उनका वर्णन नीचे देते हैं—

मुक्ति	चक्र	अभिमानी	देवता	वाचा	वर्ण	गुण	अक्षर	स्थान	वेद	अवस्था
सलोकता	त्रिकूट	विश्व	ब्रह्मा	वैखरी	सुपीत	रजोगुण	अकार	भूमि	ऋग्वेद	जाग्रति
समीपता	श्रीहाट	तैजस	विष्णु	मध्यमा	नव-मौक्तिक	सत्त्वगुण	उकार	आप	यजुर्वेद	स्वप्न
सरूपता	गोलाट	प्राज्ञ	हर	पश्यन्ती	श्वेत	तमोगुण	मकार	तेज	सामवेद	सुषुप्ति
सायुज्यता	औटपीठ	प्रत्यगात्मा	ईश्वर	परा	विद्युत्	शुद्ध-सत्त्वगुण	ॐ	वायु	अथर्ववेद	तुरीया
कैवल्य	भ्रमरगुम्फा	ज्ञानात्मा	सदाशिव	परात्पर	कृष्ण	सगुण	अर्द्धमात्रा	आकाश	सूक्ष्मवेद	उन्मनी
स्वयब्रह्म	ब्रह्मरन्ध्र	परमपुरुष	परमात्मा	...	बहुवर्ण	निर्गुण	ब्रह्म	स्थिरचर	आत्मवेद	पूर्णता

५१ इसमें अन्तमें वही कैवल्य प्राप्त होता है जो राजयोगसे प्राप्त होता है और सब योगसिद्धियाँ भी प्राप्त होती हैं। एक विद्यमान योगी महाराजने एक बार अपने पूनावासी शिष्यको प्राणायाम करके अपना मस्तक इतना तपाकर दिखाया कि स्पर्श करनेसे उबलते हुए पानी-जैसा गरम मालूम हुआ। पूर्वकालमें श्रीज्ञानेश्वर महाराजने अपनी पीठपर मुक्ताबाईसे मालपूए पकवा लिये थे। यहाँ-तक हठयोगसहित राजयोगका वर्णन हुआ।

५२ मन्त्रयोगमें भक्तियोग आ जाता है। इस योगमें प्राणायामको छोड़ बाकीके सात अङ्ग हैं और चक्रोंमेंसे तीन चक्र हैं—मूलाधार, मणिपूर और आज्ञा। मन्त्रयोगमें मन्त्रजपसे भी प्रकाश-साक्षात्कार होता है।

५३ इन सब योगोंका पृथक्-पृथक् वर्णन किया है तथापि इन सबका परस्पर सम्बन्ध है। श्रीमद्भगवद्गीतामें कर्म, ज्ञान और भक्ति, योगके ये तीन प्रकार बताये गये हैं, तथापि ज्ञानके बिना भक्तियोग नहीं होता और कर्मके बिना ज्ञान नहीं होता और इसलिये ये तीनों योग युक्तत्रिवेणीरूप हैं। वैसे ही इन पाँच योगोंकी यह पञ्चवेणी है।

५४ इस समिश्रराजहठयोगके सम्बन्धमें विचार करते हुए एक योगीने योगसाधनाके सम्बन्धमें कुछ खास बातें बतायीं सो आगे लिखते हैं।

५५ नीलगिरिपर रहनेवाले एक योगी लगभग ३५वर्ष पूर्व पूनेमें पधारे थे। स्व० डा० गर्दे महोदयके यहाँ ठहरे थे। उन्होंने यहाँ कई व्याख्यान दिये। व्याख्यानोंके समय एक चित्रपट वह श्रोताओंके सामने रक्खा करते थे। उसमें मानव-शरीरका शुक्र अथवा ओजमार्ग शुभ्र गुलाबी रंगमें दिखाया गया था। चार दिन व्याख्यान होनेके बाद पाँचवें दिन उन्होंने चित्रपटमें प्रदर्शित रीतिसे ध्यान करनेको कहा। इस प्रकार ध्यान करनेसे उन्होंने बताया कि सम्पूर्ण शरीर अन्तर्दृष्टिसे प्रकाशमय दिखायी देता है। शरीरका यह ओजमार्ग जैसे ओजस् याने तेजसे व्याप्त है वैसे ही वह प्राणशक्तिसे भी व्याप्त है। प्राणशक्तिदर्शक प्राण भी प्रकाशमय हैं। 'अथ आदित्य उदयन् प्राचीर्दिशां सर्वान् प्राणान् रश्मिसु सन्निधत्ते' इस ऋग्वेद-वचनसे प्राण तेजोमय ही हैं। यह सुना है कि डा० किलनरने भी यह सिद्ध किया है कि हमारा Etheral Body याने प्राणमय शरीर प्रकाशमय है और इस बातको सैकड़े ९५ मनुष्य अनुभव भी कर सकते हैं। अपने यहाँ देवादिकोंकी मूर्तियोंके मुखमण्डलोंकी चारों ओर तेजोवलय चित्रित करनेकी रीति है। ये तेजोवलय सारे शरीरको घेरे हुए हैं, मुखके चारों ओर जो तेज है वह अधिक है। इसका भी कारण प्राणमय शरीर ही है। जिस मनुष्यकी दृष्टि जन्मतः ही सूक्ष्म होती है अथवा उपर्युक्त साधनोंसे जो उसे सूक्ष्म बना लेता है वह मनुष्यके स्थूल शरीरके बाहर प्रकाश छिटका हुआ देख पाता है।

५६ उपर्युक्त योगी महाराजने जो पद्धति बतायी उस पद्धतिसे अथवा डा० किलनरके बताये साधनसे यदि सम्पूर्ण शरीरमें प्रकाश फैला हुआ दिखायी दे तो वह प्रकाश सहस्रारचक्र और कुण्डलिनीमार्गमें अधिक दिखायी देगा। सहस्रारके इस प्रकाशमें भगवान् वासुदेवका ध्यान करनेसे साधक सब भूतोंमें उस प्रकाशको देख सकेगा और 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' इस गीता-वचनानुसार महात्मापदको प्राप्त हो सकेगा। भक्तियोगमें हृदयमें ध्यान करनेको कहा है—वह हृदय 'अष्टपद्मोपरि-स्फीत सूक्ष्मं हृदयपङ्कजम्' वाला हृदय है। यह हृदय और योगी महाराजने जिस सहस्रारमें ध्यान करनेको बताया वह सहस्रार, ये दोनों ही स्थान पास-ही-पास हैं।

५७ इस प्रकार ध्यानयोगी अपनी ध्यानशक्तिसे परम पुरुषके साथ समत्व लाभ करता है। लययोगकी कुछ सिद्धियाँ ध्यानयोगीको भी प्राप्त होती हैं। ध्यानयोगीको अपना महाप्रयाणकाल भी ज्ञात हो जाता है। परन्तु ध्यानयोगीको शारीरिक दुःख भोगने पड़ते हैं, इस कारण ध्यानयोगमें अन्तराय पड़ता है। परन्तु लययोग में 'योगो भोगायते मोक्षायते शरीरम्' इस वचनके अनुसार ध्यानके समयमें शरीर-व्याधियोंको मनसे हटाकर दैनन्दिन ध्यानक्रम पूर्ण किया जा सकता है और इस प्रकार वह योगी महाप्रयाणकालमें पूर्णज्ञ स्थितिमें ही प्रयाण करता है। यही नहीं प्रत्युत लययोगमें भी षट्चक्रनिरूपणमें बताये अनुसार खेचरीमुद्रा सिद्ध करनेसे महाप्रयाणकालको भी योगी अपने वशमें रख सकता है।

५८ इस लययोगमें अर्थात् कुण्डलिनीशक्तियोगमें साधक सदा ही आनन्दमें रहता है। उसे किसी सङ्गिनी स्त्रीकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि विद्युत्-प्रवाहरूपिणी, सर्वसौन्दर्यशालिनी, सर्वकषा, सर्वसुखदायिनी कुण्डलिनी-शक्ति उसके साथ है। ऐसे साधकको दिव्य साधक कहते हैं। और जो लौकिक साधक अपनी सहधर्मिणीके साथ श्रीभगवतीकी उपासना करता है वह वीर साधक कहाता है।

५९ योगाङ्गोंका वर्णन करते हुए कुछ स्थानोंमें अभ्यास-क्रम भी लिख दिया है। तथापि विशेष स्पष्टीकरणके लिये कुछ विवरण यहाँ देते हैं।

६० ज्ञानयोगमें बताया है कि 'येनात्मैवात्मना जित.' आत्मासे आत्माको जीते अर्थात् मनसे ही मनको जीते। (दो प्रकारके मनोंका वर्णन पहले आ ही चुका है।) पञ्ची-कृत शरीर नाशवान् है, केवल आत्मा ही अविनाशी है, ऐसा विचार करके जीवात्मा अपनी अनेक आवरणोंमें व्याप्त जीवदशाको व्यतिरेकसे नष्ट करके 'अहं ब्रह्मास्मि' की वृत्तिको अनवरत बना रखनेका अभ्यास करे। श्रीशिवराम स्वामी बतलाते हैं कि—'वृत्ति जिधर जाय उधर आप न जाय, पीछे साक्षी होकर खड़े-खड़े देखता रहे तो निजस्वरूपसे भेंट हो जाती है।' अर्थात् वृत्तिकी ओर देखते रहनेसे वह आप ही अपने अन्दर विलीन हो जाती है। पीछे रह जाता है केवल उर्वरित वस्तु चैतन्यघन आप। इसका यही अभ्यास है। ऐसे चैतन्य घनानन्दमें निमग्न रहनेसे देखना-सुनना, बोलना-सूँघना, चलना-फिरना इत्यादि सब कामोंके होते हुए भी आप निजस्वरूपमें ही लीन रहता है और इन सब कामोंको तटस्थवत् देखता है। ऐसी सहज स्थितिको पहुँचा हुआ साधक ऐहिक-पारलौकिक सभी भोगोंको तुच्छ समझता है। यही निर्विकल्प समाधि है। इस ज्ञानयोगमें 'गुरुरेव परम्, गुरुरेव परम्' इस प्रकार गुरुकी बड़ी महिमा है।

६१ लययोग अथवा कुण्डलिनी-शक्ति-योगमें साधकको षट्चक्रोंका ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये और महाभाव-योगसे शुक्लपक्षमें ऐसी भावना करनी चाहिये कि कुण्डलिनी-शक्ति मूलाधारसे सहस्रारतक चलती है और कृष्णपक्षमें ऐसी भावना करनी चाहिये कि कुण्डलिनी सहस्रारसे चलकर मूलाधारमें आती है। षट्चक्रनिरूपणमें बताया है कि 'इह स्थाने लीने सुमुखसदने चेतसि पुरं निरालम्ब बद्ध्वा'। 'पुरं बद्ध्वा' माने 'अन्तःपुरं बद्ध्वा'। पुः यानी योनिमुद्रा और षण्मुखीमुद्रा अथवा पुर यानी खेचरीमुद्रा, सिद्ध करे। प्रणवका ध्यान भ्रूमध्यमें करे। 'प्रणवचारी दिगानाम्' होनेसे अन्तःकरणके अन्तरिक्षमें 'पवनसुहृदां वह्निकणान् ज्योतिः पश्यति', इस प्रकार उसे प्रकाश-साक्षात्कार होता है।

६२ खेचरीमुद्रा सिद्ध करनेके लिये जिह्वा-छेदन बताया है। छेदनके पश्चात् दोहन है। जिह्वा तीन प्रकारकी होती है—नागजिह्वा, हस्तिजिह्वा और वेनुजिह्वा। नाग-जिह्वा निसर्गतः ही लम्बी होती है। अन्य दो जिह्वाएँ छेदन-योग्य होती हैं। कुछ बालक अपनी जीभ नासाग्रमें अनायास ही लगाते हैं। ऐसी जीभको छेदनकी आवश्यकता नहीं, केवल दोहनकी आवश्यकता होती है। दोहनके लिये पहले वच (उग्रगन्धा) के चूर्णसे जिह्वाको मलना चाहिये। इससे कफादि दोष नष्ट होते हैं। वेणुजाके चूर्णसे दोहन करे और सेन्धवलवणसे जिह्वाका छिदा हुआ भाग

विसे। छेदन गुरुके समीप रहकर ही करे। डाक्टरके द्वारा छेदन करानेसे वाचाशक्ति नष्ट होती है।

६३ खेचरी यदि सिद्ध हो जाय तो नाडिशुद्धि और भूतशुद्धिके विना भी काम चलता है। खेचरी सिद्ध होनेपर प्राणायाम करके खेचरी करे। इसका अभ्यास जब हो जाता है तब प्राणशक्ति सिद्ध करनेके लिये शक्तिचालिनी मुद्रा बतायी है। इस मुद्रासे कुण्डलिनी मणिपूरचक्रतक आती है। अनन्तर खेचरीसे जालन्धरबन्ध करके रुद्रग्रन्थिका भेदन होता है और प्राणशक्ति उड्डियान-बन्धके सहारे विशुद्धिचक्रसे मणिपूरतक आकर कुण्डलिनीको ऊपर ले जाती है। इसके पश्चात् वह आज्ञाचक्रसे ललनाचक्र, मनश्चक्र और सोमचक्रमेसे होकर सहस्रारमें पहुँचती है।

६४ हठयोगमें भी खेचरीमुद्राका बड़ा महत्त्व है। यथार्थमें खेचरी हठयोगकी ही चीज है, राजयोगमें भी खेचरीमुद्रा है पर उसका वर्णन भिन्न प्रकारका है। वह खेचरी आकाशकी ओर दृष्टि लगाना है (खे चरति प्राणः)। नाडिशुद्धिके अभ्यासके लिये बताया है कि बायें नथुनेसे श्वास चले ऐसा यदि करना हो तो दायें नथुनेको रुई डालकर बन्द कर दे और सदा दायीं करवट बैठा करे जिसमें शरीरके दायें अंशपर ही शरीरका अधिक बोझ पड़े, छः महीने अभ्यास करनेसे नाडिजय होता है। नाडिजय होनेपर आकाश-तत्त्व जब नाडीमें बह रहा हो तब श्वासायाम करके खेचरी-साधन करे।

६५ किसी भी प्रकारका साधक हो, सूर्योदय और सूर्यास्त ये दो सन्धि-काल उसके लिये निश्चित हैं। चन्द्रस्वरसे सूर्यस्वरमें जाते हुए दो-एक मिनट दोनों श्वास बराबर चलते हैं अर्थात् उस समय सुषुम्ना नाडी चलती है, उस समय श्वासायाम करके बैठ जाय। सन्ध्याका समय यथार्थमें यही है। यह अभ्यास गुरुके सामने करे। महामुद्रा, महाबन्ध और शक्तिचालनी मुद्रा करनेसे अर्थात् गुदद्वार और मूत्रद्वारके बीचमें दो अंगुल मध्यस्थानपर एड़ीसे चोट करे तब प्राणवायु जाग उठता है और पीछे कुण्डलिनी जागती है।

६६ मन्त्रयोगके द्वारा प्रकाश-साक्षात्कार करनेके लिये मन्त्राक्षरोंको उच्चारते हुए नासारन्ध्रसे बहनेवाले प्राणवायुकी ओर दृष्टि रक्खे। छ महीने ऐसा अभ्यास करनेसे अनुभव मिल जाता है। निवातस्थ दीपज्योतिकी ओर त्राटक करनेसे भी प्रकाश-साक्षात्कार होता है। षण्मुखीमुद्राके अभ्याससे (अँगूठोंसे कानोंको बन्द करना, तर्जनी और मध्यमासे नेत्र बन्द करना और अनामिका-कनिष्ठिकासे नासारन्ध्रोंको बन्द करना, ऐसे अभ्याससे) भी प्रकाश-साक्षात्कार होता है। मन्त्रयोगके मन्त्राक्षरोंका तेजोरूपमें दिखायी देना ही मन्त्रसिद्धि है। मन्त्रयोग ध्यानयोग ही है। महम्मदानुयायी मन्त्रयोगी ही हैं। 'कलमा पढ़े सो कल-कलमें कलमा' वाली बात प्रसिद्ध ही है। इसका आशय यही है कि कलमा पढ़े तो ऐसा पढ़े कि हर नाडीसे वही स्वर निकले। पर अभ्यास उनमें भी कौन करता है?

६७ श्रीभगवती यन्त्रमयी, मन्त्रमयी और प्रकाशमयी हैं। मन्त्रमयी भगवतीका ध्यान होता रहे, इससे वह प्रसन्न होती हैं और साधकसे सब क्रियाएँ करा लेती हैं। श्रीरामकृष्ण परमहंसके पास एक योगिनीको भेजकर भगवतीने ही उनसे सब योगक्रियाएँ करा लीं।

६८ इस प्रकार कुण्डलिनी-शक्ति-योग सिद्ध होनेपर श्रीभगवतीकी कृपासे साधक सर्वगुणसम्पन्न होता है। सब कलाएँ, सब सिद्धियाँ उसे अनायास प्राप्त होती हैं। ऐसे साधकका शरीर १०० वर्षतक बिल्कुल स्वस्थ और सुदृढ रहता है। वह अपने जीवनको श्रीभगवतीकी सेवामें लगा देता है और श्रीभगवतीकी इच्छाके अनुसार लोकोद्धार करते हुए अन्तमें स्वेच्छासे अपना कलेवर छोड़ जाता है। मृत्यु उसकी इच्छाके अधीन होनेसे उसे मृत्युका भय नहीं रहता। पूनेके, अब आनन्दलोकवासी, महर्षि श्रीअण्णासाहब पटवर्धन ऐसे ही इच्छामृत्युवाले थे। उन्होंने अपने महाप्रयाणका समय निश्चित किया। कहा कि हम अमुक समयमें प्रस्थान करेंगे। जो समय उन्होंने निश्चित किया था वह ज्योतिषशास्त्रके हिसाबसे कुयोग था। उनसे कहा गया कि महाप्रयाणके लिये वह शुभ घड़ी नहीं है। उस समयके दो घण्टे बाद सुयोग था। यह उनसे निवेदन किया गया तो उन्होंने कहा—अच्छी बात है, २ घण्टे बाद ही सुयोग आनेपर चलेंगे। ठीक उसी समय उन्होंने अपना शरीर छोड़ा। श्रीरेवतीनन्दन महाराजने भी अपना शरीर पूनेमें रक्खा तब उनकी प्राण-शक्ति ब्रह्मरन्ध्रको भेदकर निकल गयी। श्रीवासुदेवानन्द सरस्वती महाराजने भी अपना प्रयाणकाल दो दिन पहलेसे ही बता दिया था। उनके शिष्य श्रीगुरुभक्त

अण्णासाहब नेनेने भी अपने प्रयाणका समय दो दिन पहले ही बता रक्खा था।

६९ कुण्डलिनी-शक्ति-योगी इस प्रकार निर्भय और स्वानन्दनिमग्न रहता है। श्रीभगवतीकी उसपर पूर्ण कृपा होती है और वह भी सदा भगवतीके ही सङ्ग रहता है। भगवतीके चिरसङ्गका अनुभव उसे समय-समयपर प्राप्त होता ही रहता है। उसके कानोंमें इस दिव्य सन्देशकी ध्वनि सदा गूँजती रहती है कि 'मैं तुम्हारे पीछे खड़ी हूँ।' कुण्डलिनी-शक्तिका सङ्ग क्या है, सहज अवस्था है। कुण्डलिनीके सङ्ग रहनेवाला साधक लोकमें लौकिक दृष्टिसे व्यवहार नहीं करता। लोकदृष्टिसे तो वह सोया हुआ ही है—

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।

७० अन्तमें श्रीभगवतीसे यह प्रार्थना है कि इस प्रबन्धके पाठसे पाठकोंका ध्यान तुम्हारी सेवाकी ओर लगे और सम्पूर्ण जगत् त्वद्भक्तिप्रेरित होकर विषयोंके तुच्छ सुखोंसे मुँह फेरकर कुण्डलिनी-शक्ति-योगके दुर्लभ आनन्दकी ओर चले। यही वर-प्रार्थना करके यह लेख समाप्त करता हूँ। इति शुभम्॥

योग और कुण्डलिनी

(लेखक—श्रीहीरेन्द्रनाथ दत्त)

योगसाधनके साथ कुण्डलिनी-जागरण घनिष्ठरूपसे सम्बद्ध है। योगियोंका कहना है कि साधारण जीवमें कुण्डलिनी सोयी रहती है—विशेष-विशेष योग-प्रक्रियाद्वारा कुण्डलिनीको जाग्रत् कर षट्चक्रभेद करते हुए मस्तिष्कस्थित सहस्रारमें ले जानेपर योगसिद्धि प्राप्त होती है। यह कुण्डलिनी क्या है?

कुण्डलिनी उपनिषदोंकी 'नाचिकेत' अग्नि है। जो 'त्रि-नाचिकेत' हो सकते हैं, वे ही जन्म-मृत्युसे तरते हैं 'तरति जन्ममृत्यू'—उनका शरीर योगाग्निमय हो जाता है और वे जरा, व्याधि और मृत्युके पार हो जाते हैं—

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।

(श्वेताश्वतर०)

चैनिक योगदीपिकामें इस कुण्डलिनीको Spirit-Fire (स्पिरिट-फायर) कहा गया है।

Only after the completed work of a hundred days will the Light be real, there will it become Spirit-fire The heart is the fire, the fire is the Elixir (*I' lohin*)

पाश्चात्य लोग इस कुण्डलिनीको Serpent-fire (सर्पवत् वलयान्विता अग्नि) कहते हैं। ऋषिशिष्या मैडम ब्लैवेट्स्की इसको Cosmic Electricity (विश्वव्यापी विद्युत्शक्ति) कहा करती थीं—क्योंकि कुण्डलिनी विश्वविद्युत्की सजातीय एक अत्यन्त प्रचण्ड शक्ति है।

Kundalini is called the serpentine or annular power, on account of its spiral-like working or progress in the body of the ascetic, developing the power in himself. It is an electric firy occult or *fohatic* power, the great pristine force which underlies all organic and inorganic matter.

(*The voice of the Silence, p. 27*)

'कुण्डलिनी सर्पाकार या वलयान्विता शक्ति कही जाती है, क्योंकि इसकी गति वलयाकार सर्पकी-सी है, योगाभ्यासी यतिके शरीरमें यह चक्राकार चलती है और उसमें शक्ति बढ़ाती है। यह एक वैद्युत अग्निमय गुप्त शक्ति है। यह प्राक्तन शक्ति है जो सेन्द्रिय और निरीन्द्रिय सृष्ट पदार्थमात्रके मूलमें है।'

इस कुण्डलिनीकी गति प्रकाशकी गतिकी अपेक्षा भी अधिक तेज है। मैडम ब्लैवेट्स्कीने कहा है—'Light travels at the rate of 185000 miles a second, Kundalini at 345000 miles a second' अर्थात् 'प्रकाश १८५००० मील प्रति सेकण्डकी गतिसे चलता है और कुण्डलिनी ३४५००० मील प्रति सेकण्डकी चालसे।' तन्त्रसारमें इस कुण्डलिनीके विषयमें लिखा है—

ध्यायेत् कुण्डलिनीं सूक्ष्मां मूलाधारनिवासिनीम्।
तामिष्टदेवतारूपां सार्द्धत्रिवलयान्विताम्॥
कोटिसौदामिनीभासां स्वयम्भूलिङ्गवेष्टिनीम्।
तामुत्थाप्य महादेवीं प्राणमन्त्रेण साधकः॥

प्रकृतिके निगूढ़ विधानके अनुसार यह प्रचण्ड शक्ति शरीरस्थ मूलाधारचक्रमें सोयी हुई रहती है। असंयमी साधकको—जो अकाम, निष्काम नहीं हुआ है, जो passion-proof (मनोविकारका प्रभाव जिसपर न पड़ता हो ऐसा) नहीं हुआ है—असावधानीके साथ तथा सद्गुरुका सान्निध्य प्राप्त हुए बिना इस शक्तिको जागरित करनेकी चेष्टा न करनी चाहिये। इसीलिये अष्टाङ्गयोगका प्रथम भाग यमनियम—सत्य, सयम, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इत्यादि—रक्खा गया है। इस विषयमें हड्सन साहबने सावधानीकी कुछ सूचनाएँ की हैं—उनकी ओर हम पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

Note that the actual arousing of the tremendous force of Kundalini may only be safely attempted under the expert guidance of a Master of occult science—otherwise Kundalini may act downwards and intensify both the desire-nature and the activity of the sexual organs

(*Science of Seership*)

'यह ध्यान रहे कि कुण्डलिनीकी प्रचण्ड शक्तिको जगानेका काम इस गुप्त विद्याके गुरुके ही तत्त्वावधानमें किया जाना चाहिये, अन्यथा कुण्डलिनी नीचेकी ओर प्रवृत्त होकर भोगवासना और जननेन्द्रियकी प्रवृत्तिको बेहद बढ़ा सकती है।'

हमने मूलाधारचक्रको कुण्डलिनीका सुषुप्तिस्थान कहा है। मनुष्यकी पिण्डदेहमें (जिसे Etheric Body कहते हैं) स्थूल शरीरके विशेष-विशेष प्रत्यङ्गोंसे सम्बद्ध जो छः चक्राकार घूमनेवाले शक्तिकेन्द्र हैं, मूलाधार उन्हीं षट्चक्रोंमेंसे एक है—

They are the force-centres in the human body and are so called, 'because' to clairvoyant sight, they have the appearance of spinning vortices They are the six plexuses (*Hodson*)

'मनुष्य-शरीरमें ये शक्तिके केन्द्र हैं और ये चक्र इसलिये कहलाते हैं कि अन्तर्दर्शियोंको वे तन्तुचक्रोंके समान दीखते हैं। ये छः नाडिजाल हैं।'

ये षट्चक्र कौन-कौन हैं? मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र।

मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहतम्।
विशुद्धञ्च तथाज्ञां च षट्चक्राणि विभावयेत्॥

मूलाधार मेरुदण्डके निम्नभागमें अवस्थित है। उसी चक्रके भीतर कुण्डलिनी-शक्ति त्रिवली-आकारमें सुप्त रहती है।

In the heart of this Chakram lies the serpent fire (Kundalini), and there it to sleeps throughout the ages until the time is ripe for it to be roused (*Hodson*)

अर्थात् इस चक्रके अन्तस्तलमें सर्पाकार अग्नि (कुण्डलिनी) रहती है और वहाँ यह युगानुयुग सोयी रहती है जबतक इसके जागनेका समय नहीं उपस्थित होता।

कुण्डलिनी जब विश्वशक्ति है तब मूलाधार उसका उत्पत्ति-स्थान नहीं हो सकता। मालूम होता है, यौगिक उपायसे जब मूलाधार प्रज्वलित होता है तब यह चक्र विश्वव्यापक कुण्डलिनी-शक्तिको व्यष्टिभावमें आत्मसात् करनेकी योग्यता प्राप्त करता है—जलस्तम्भमें जिस तरह जलद जलधिको आंशिकरूपमें आत्मसात् करता है, यह भी उसी तरहका कार्य है। इस प्रकार कुण्डलिनी जाग्रत् होकर मेरुदण्डके मध्यमें स्थित सुषुम्ना मार्गसे होकर इडा और पिङ्गला (इनका नाम सूर्यनाडी और चन्द्रनाडी भी है)-की सहायतासे ऊपरकी ओर प्रवाहित होती है। इन तीन नाडियोंके अन्दरसे उठकर ऊपर जाती हुई कुण्डलिनीशक्ति एक-एक कर स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्रको प्रज्वलित और अनुप्राणित करती हुई अन्तमें (तन्त्रकी भाषामें) सहस्रारमें जाकर सदाशिवके साथ मिल जाती है—

As it passes up the spine, it vivifies in turn each *Chakram*, thereby causing the etheric centres to be opened and channels to be made from the superphysical to the physical worlds, so providing conductors for super-physical vibrations when it is thus aroused, all the psychic powers are fully unfolded and become available

for use, while the man is awake in the physical body

(*Hodson, p 213*)

'जब यह कुण्डलिनी मेरुवंशमेंसे होकर ऊपर जाती है, तब एक-एक चक्रको जगाती हुई चलती है, इससे वे चक्र खुल जाते हैं और पारभौतिकसे भौतिक जगत्में आनेके रास्ते बनते हैं; इस प्रकार कुण्डलिनीके जागनेसे पारभौतिक स्पन्दोंको वहन करनेके साधन उपस्थित हो जाते हैं, चैत्य पुरुषकी सब शक्तियाँ खुल जाती हैं और उनका उपयोग किया जा सकता है, इसके होते हुए मनुष्य अपने भौतिक शरीरमें जागता रहता है।'

मूलाधारके बाद स्वाधिष्ठानचक्र है। उसका स्थान पीहाके पासमें है। स्वाधिष्ठानके ऊपर मणिपूर है। मणिपूर-चक्रका स्थान है नाभि। इस मणिपूरका अंग्रेजी नाम Solar Plexus (सोलर प्लेक्सस—सौर जाल) है। ब्लैवेट्स्कीका कहना है—

'There are three principal centres in man—the heart, the head and the navel' अर्थात् मनुष्यके अन्दर तीन प्रधान केन्द्र हैं—हृदय, मस्तक और नाभि।

स्वाधिष्ठान और मणिपूरके कुण्डलिनीद्वारा प्रज्वलित होनेपर, 'This influence strengthens, rejuvenates and normalises the life-process' अर्थात् इस प्रभावसे जीवन-क्रम बलयुक्त, नवशक्तिसम्पन्न और नियत हो जाता है।

इसके अतिरिक्त स्वाधिष्ठान-चक्रके प्रदीप्त होनेपर मनुष्य सूक्ष्मतर लोकमें स्वच्छन्द विहार करनेका अधिकार प्राप्त करता है, और मणिपूरकी प्रदीप्तिके फलस्वरूप साधकमें आत्मरक्षाकी क्षमता बहुत अधिक मात्रामें बढ़ जाती है। थोड़ेमें कह सकते हैं—

The solar plexus gives conscious emotional control

अर्थात् मणिपूर-चक्र मनोविकारोंका सज्ञान प्रभुत्व प्रदान करता है।

मणिपूरके ऊपर अनाहत-चक्र (Cardiac plexus) है। इस चक्रका स्थान है हृदय (Heart), हृत्पद्म—'हृत्पद्मकोषे विलसत तडित्प्रभम्।' इस पद्मको ईसाई साधक Mystic Rose (गुप्त गुलाब) कहते हैं—

'The petals of which open only after the Christ's child has been born in the heart.'

अर्थात् जिसकी पङ्खड़ियाँ तब खिलती हैं जब हृदयमें ईसारूप बालक पैदा होता है—यही चैनिक 'आईचिन', कनक-कमल है। अनाहत-चक्रके उद्भासित होनेपर मनुष्यकी बुद्धिके ऊपर जो बोधि (Intuition) है, उसका उद्भव होता है—

It becomes the organ of intuition,—through it flows the power of the intuitional worlds

अर्थात् यह बोधि (अन्तर्दृष्टि) का करण बन जाता है—इसके द्वारा बोधिजगत्की शक्तियाँ प्रवाहित होती हैं।

अनाहतके ऊपर विशुद्ध-चक्र है। इसका स्थान है कण्ठ (Throat)। आधुनिक विज्ञान जिस Thyroid gland (थिरायड ग्लैण्ड) के अद्भुत कार्योंका आविष्कार कर रहा है, वह इस विशुद्ध-चक्रके साथ ही सलग्न है। इस चक्रके प्रज्वलित होनेपर साधक दिव्य श्रुति (Clairaudience) प्राप्त करता है।

Throat Chakram when vivified bestows the faculty of clairaudience

विशुद्धके ऊपर आज्ञाचक्र है। इसका स्थान है भ्रूमध्य। यह चक्र द्विदल है—एक दल पाश्चात्य विज्ञानका Pineal gland (पाइनियल ग्लैण्ड) और दूसरा दल Pituitary body (पाइट्यूटरी बॉडी) है। साधारण जीवन-विज्ञान (Physiology) के ग्रन्थोंमें इन दोनों ग्रन्थियों glands को 'Two insignificant excrescences in man's cranial cavity' (मनुष्यके मस्तकके भीतर उत्पन्न दो निरर्थक मासपिण्ड) कहा गया है। अध्यापक विचेने उन्हें 'Two horny warts covered with grey sand' (भूरी बालूसे ढके हुए दो कठोर मांसपिण्ड) कहकर उनकी उपेक्षा की है। किन्तु मैडम ब्लैवेट्स्कीने उस बालूको ध्यानपूर्वक देखकर एक दिन कहा था—

'This sand is very mysterious and baffles the enquiry of every materialist.'

अर्थात् इस बालूमें बड़ा रहस्य है जिससे जड़वादी-मात्रकी बुद्धि चकरा जाती है।

साधारण मनुष्यमें यह आज्ञा-चक्र अविकसित (undeveloped) रहता है। जिस समय कुण्डलिनी-शक्ति जागरित होकर सुषुम्ना-मार्गसे इस आज्ञाचक्रमें प्रवेश करती है, उस समय क्या होता है?

On reaching the pituitary and pineal centres, it polarizes them into positive and negative conditions and vivifies them into a hyper-active state, in which they interact so closely that they become one centre (*Hodson*)

अर्थात् भ्रूमध्यकी इन दो ग्रन्थियोंमें पहुँचकर यह (कुण्डलिनी) इन्हें ऐसे सञ्चालित कर देती है कि एक धनात्मक और दूसरी ऋणात्मक गतिवाली बनकर दोनों बड़ी तेजीके साथ चलने लगती है, दोनोंकी गति एक-दूसरेमें इतनी परस्पर-तन्मयताके साथ होती है कि दोनों मिलकर एक चक्र बन जाती है।

इस प्रसङ्गमें योगसिद्धा श्रीमती ब्लैवेट्स्की इस प्रकार लिखती हैं—

The pulsation of the pituitary body, mounts upward more and more until the current finally strikes the pineal gland and the dormant organ (आज्ञाचक्र) is awakened and at all glowing with the pure Akashic Fire (कुण्डलिनी)—

अर्थात् इन दो ग्रन्थियोंमें जो नीचेकी ओर स्थित है (पिट्यूटरी बॉडी) उसका स्पन्दन ऊपरकी ओर अधिकाधिक होकर अन्तमें ऊपरवाली ग्रन्थिमें आघात करता है और तब जो सोया हुआ-सा रहता है वह आज्ञाचक्र जाग उठता है और विशुद्ध आकाशाग्नि (कुण्डलिनी) से चमकने लगता है।

यह विकसित और प्रज्वलित आज्ञाचक्र ही तन्त्रोक्त त्रिनयन है। उसका उन्मीलन होनेपर साधक त्रि-अम्बक (तीन नेत्र) होता है। यह आज्ञाचक्र ही दिव्य दृष्टिका केन्द्र (centre of clairvoyance) है—इसीसे मनुष्यमें अतिमानसी अभिज्ञाएँ प्राप्त होती हैं।

That a mere nerve centre, almost incomprehensible even to the chief masters in physiological knowledge, should be endowed by a special faculty of clairvoyance, and that the latter should depend in man, on two insignificant excrescences in his cranial cavity

(*Madam Blavatsky*)

'यह बात बड़े अचरजकी-सी मालूम होगी और सहसा समझमें भी न आवेगी कि इस गुप्त विद्याको अधिगत करनेके यत्नकी सफलता इस दिव्य दृष्टिके ऐसी चमकपर निर्भर करती है और यह चमक भी मनुष्यके कपालके अन्दरकी कुछ नहीं-सी दो फालतू-सी ग्रन्थियोंपर अवलम्बित है।'

आज्ञाचक्रके ऊपर ब्रह्मरन्ध्रमें सहस्रार है। इसका स्थान मस्तिष्कके सामनेवाले विवर (anterior fontanelle) में है। अतीन्द्रिय दृष्टिसे देखनेपर इस पद्मके एक हजार दल दृष्टिगोचर होते हैं। इसी कारण इसका नाम सहस्रार (सहस्रदल पद्म—thousand petalled lotus) है।

आज्ञाचक्रको उद्भासित करके, उसके बाद कुण्डलिनी सहस्रारमें उपस्थित होती है। इस सहस्रारको प्रज्वलित करना ही कुण्डलिनी-साधनाकी अन्तिम सीमा है।

When the Sahasrara is fully vivified, the ego gains the power to withdraw from and return to the physical body at will, without a break in consciousness occurring

'सहस्रार जब पूर्णरूपसे जाग उठता है तब देहाभिमानी आत्मामें चाहे जब देहसे अपने-आपको खींच लेने और चाहे जब देहमें लौट आनेकी शक्ति आ जाती है और यह सब करते हुए चित्तमें चैतन्य बना रहता है।'

इस स्वच्छन्द विहारको उपनिषदोंमें 'कामचार' कहा गया है—

तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

तन्त्रकी भाषामें कह सकते हैं कि इस समय कुण्डलिनी-देवी सहस्रारमें सदाशिवके साथ सङ्गता होती है। यही सर्वज्ञता-सिद्धि है—

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजज्ञानम्। (योगसूत्र ३। ५४)

इस अवस्थाका वर्णन करती हुई चैनिकयोग-दीपिका कहती है—

Then body and heart are completely controlled and one is quite free and at

place, letting go all entanglements, untroubled by the slightest excitement, with the Heavenly Heart exactly in the middle

'तब मनुष्यका शरीर और चित्तपर पूर्ण अधिकार होता है, वह सर्वथा सब अवस्थाओंमें स्वच्छन्द और सुखासीन होता है, सब बन्धन छूट जाते हैं, क्षोभका नाम भी नहीं रह जाता, ठीक मध्यमें जो दिव्य हृदय है उसीके साथ वह रहता है।'

यही आईचिनकी भाषामें—'action in inaction' (अकर्ममें कर्म)—गीताका 'शारीरं केवलं कर्म' है। उस अवस्थामें साधक 'instead of being in it, is above it' (इसके अन्दर होनेकी जगह इसके ऊपर होता है,—यही वास्तवमें निर्द्वन्द्व होना है—the union of the opposites on a higher level of consciousness (चैतन्यके उच्चतर स्तरमें परस्पर-विरोधोंका मिलन) है। इसीको सांख्य-मतवाले कहते हैं—

प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः।

उस समय साधक साक्षी, द्रष्टामात्र रहता है, कर्ता या भोक्ता नहीं रहता। यही योगकी चरम सिद्धि है—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। (योगसूत्र १।३)

इसी अवस्थाको लक्ष्य करके छान्दोग्य-उपनिषद् कहता है—

एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।

'यह जीव इस शरीरसे ऊपर उठकर परम ज्योतिको प्राप्तकर अपने स्वरूपमें स्थित होता है।'

बुद्धियोग ही सबसे उत्तम और अन्तिम साधन है

(लेखक—श्रीतपोवनस्वामीजी महाराज)

परमात्माकी प्राप्तिका उपाय ही योग कहलाता है, यही योग शब्दका यौगिक अर्थ है। यह योग साक्षात् और परम्परासे ईश्वर-प्राप्तिका साधन होनेके कारण फल तथा साधनरूपसे दो प्रकारका है। परमात्मप्राप्तिका साक्षात् साधन बुद्धियोग ही है, अतः वही उत्तम और अन्तिम योग है। परम पुरुषार्थरूप भगवान्‌की प्राप्ति एकमात्र ज्ञानसे ही हो सकती है और किसी भी उपायसे नहीं, यही श्रुतियों और स्मृतियोंकी एक स्वरसे घोषणा है—

ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। (मु० उ०)

अर्थात् 'ब्रह्मको जाननेवाला नित्य मुक्त ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है।'

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
(श्वेता० उ०)

'आत्माको परमात्मासे अभिन्न जानना ही मोक्षका साक्षात् साधन है, परमात्मप्राप्तिरूप परम पुरुषार्थके लिये इसके अतिरिक्त और कोई साधन है ही नहीं।'

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।
(तै० उ०)

'ब्रह्मके स्वरूपभूत आनन्द अथवा आनन्दरूप ब्रह्मका साक्षात्कार करनेवाला पुरुष किसीसे भी नहीं डरता; अर्थात् वह निर्भय अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।'

तरति शोकमात्मवित्। (छा० उ०)

'आत्मवेत्ता ही शोकरूप संसारको पार कर सकता है।'

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

अर्थात् 'जिन अधिकारियोंका आत्मविषयक अज्ञान ज्ञानसे नष्ट हो जाता है, उनका वह ज्ञान सूर्यके समान उस वेदान्तप्रसिद्ध परम तत्त्वको प्रकाशित कर देता है।'

'आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर ज्ञानी पुरुष तत्काल ही आत्माकी स्वरूपभूत निरतिशय शान्तिको प्राप्त कर लेता है।'

यदि यह कर्ता-भोक्तारूप दुःखमय संसार रज्जुमें सर्प और शुक्तिमें रजतकी प्रतीति होनेके समान अज्ञान-जन्य ही माना जाता है तो अवश्य इसकी निवृत्ति केवल ज्ञानसे ही

हो सकती है, भक्ति, ध्यान अथवा कर्मसे नहीं। इस प्रकारकी युक्तियों तथा ऊपर बतलायी हुई श्रुति-स्मृतियोंसे भी यही बात सिद्ध होती है कि परमानन्दस्वरूप परब्रह्मकी प्राप्तिका उत्तम साधन ज्ञान ही है। अतः किसीके भी मिथ्या ज्ञानसे बढे हुए जन्म-मरणके प्रवाहरूप ससारका आत्यन्तिक विनाश ज्ञानके विना कभी नहीं हो सकता—यह बात निर्विवाद सिद्ध है।

मिथ्या ज्ञानसे प्राप्त हुई सुदृढ़ भेद-बुद्धि ही सारे अनर्थोंकी जड है। महान् व्यामोहके कारण देह आदिमें प्रकट हुई आत्मबुद्धिके द्वारा जबतक 'मैं कर्ता हूँ' 'भोक्ता हूँ' 'दुर्बल हूँ' 'उन्नत हूँ' 'सुखी हूँ' 'दुखी हूँ' 'यह सब कुछ मेरा ही है' तथा विधि-निषेध, पुण्य-पाप और इहलोक-परलोक इत्यादि व्यवहार होते रहते हैं, तबतक इसी व्यवहारमें बँधे रहनेके कारण जन्म-मृत्युरूप ससार-समुद्रसे जीवका लेशमात्र भी छुटकारा नहीं हो सकता। और इसीलिये प्रिय-अप्रिय विषयोंकी वेदनासे चित्त चिन्तित रहनेके कारण वह जीव अत्यन्त व्याकुल रहा करता है। जबतक शरीर धारण करना पड़ता है तबतक स्वप्नमें भी लेशमात्र भी शान्तिका अनुभव नहीं हो सकता—यह निश्चित बात है। कहा भी है—

यत्र यत्र शरीरपरिग्रहस्तत्र तत्र दुःखम्।

(वासुदेव-मनन)

अर्थात् 'जहाँ-जहाँ शरीर धारण करना पड़ता है वहाँ-वहाँ दुःख है।'

न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति।

(छा० उ०)

'देहधारणकी अवस्थामें प्रिय-अप्रिय विषयोंके ग्रहणसे होनेवाली व्याकुलता कभी भी नहीं मिटती।' देहधारी होना ही दुःखका मूल है, उस समय जो कभी क्षणिक सुखका अनुभव होता है वह भी दुःखोंसे सम्बन्ध रखनेके कारण दुःख ही है। अतः सम्पूर्ण दुःखोंका मूलभूत जो शरीरग्रहण है उसका अभाव हो जाना ही परम पुरुषार्थ-रूप मोक्ष है—यह अनेकों दार्शनिकोंका सिद्धान्त है। इसी आशयका बोधक भगवान् गौतमका न्यायसूत्र भी है—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः।

इसका तात्पर्य यह है कि भ्रान्तिरूप मिथ्या ज्ञानसे पहले राग-द्वेष आदि चित्तके दोष प्रकट होते हैं, उनसे धर्माधर्ममें प्रवृत्ति होती है, धर्माधर्ममें प्रवृत्ति होनेसे ही देव, मनुष्य और तिर्यग् आदि योनियोंमें जन्म होता है, फिर उससे दुःख होता है। इस प्रकार यहाँ क्रमशः उत्तरोत्तर भावोंमें पूर्व-पूर्व भाव कारण होते हैं। अतः इसी क्रमसे मूलहेतु मिथ्या ज्ञानके नाश होनेपर उसके कार्यभूत रागादि दोषकी निवृत्ति होती है, दोषनिवृत्ति होनेपर धर्माधर्मकी प्रवृत्ति नहीं होती, प्रवृत्तिका अभाव होनेसे किसी योनिमें शरीर-ग्रहण नहीं करना पड़ता और शरीरके न होनेसे सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है।

ऐसी स्थितिमें सभी विचारकोंका मत यही है कि 'समस्त दुःखोंका एकमात्र कारण मिथ्या ज्ञान ही है।' उस मिथ्या ज्ञानकी निवृत्ति कैसे होगी और उसकी निवृत्ति हो जानेपर नित्य निरतिशय आनन्दस्वरूप अपने आत्मभूत परमात्मामें स्थिति किस प्रकार हो सकती है? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर भगवान् भाष्यकार यह सूत्रभूत वाक्य कहते हैं—

मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाद्भवति।

ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान हुए विना इस जन्म, जरा, मृत्यु और दुःखरूप अज्ञान-जन्य ससारका विनाश सौ करोड कल्पोंमें भी किसी तरह नहीं हो सकता! इससे बढ़कर बुद्धियोगका माहात्म्य क्या कहा जा सकता है?

इसके अतिरिक्त जबतक ईश और ईशितव्यका भेद बना हुआ है अर्थात् 'मैं नियम्य हूँ और ईश्वर मेरा नियामक है' इस प्रकार जीव और ईश्वरमें भेदकी कल्पना है तथा ऐसा होनेके कारण ही हाथमें तलवार उठाये हुए स्वामीके सामने सेवककी भाँति पुरुषका जीवन जबतक भयपूर्ण और पराधीन है तबतक उसे स्वतन्त्रता कैसे प्राप्त हो सकती है? तथा स्वतन्त्र हुए विना सुखकी वार्ता भी कैसे की जा सकती है? स्वतन्त्रताके द्वारा ही कृतार्थ हो जानेके कारण जीवको सुख मिलता है—यह सभीका मत है। बड़े खेदकी बात है कि अपनेसे भिन्न नियामक और फलदाता ईश्वरकी कल्पना करके उसके अधीन हो उससे डरते हुए पण्डित पुरुष भी मोहित और दुखी हो रहे हैं! जबतक सम्यक् रूपसे विचारके द्वारा परमार्थतत्त्वका निश्चय नहीं होता तबतक अपनेको नियम्य मानकर अपनेसे भिन्न नियामककी अज्ञान-जन्य कल्पना अवश्य ही होगी। अतः परमार्थतत्त्वस्वरूप परब्रह्मका ज्ञान ही नियम्य-नियामकभावसे उसमें आरोपित की हुई अनर्थकी कारणभूत

जीवईश्वरभेदकल्पनाका नाशक है, इसलिये तत्त्वज्ञान ही सब साधनोंमें उत्तम और विशेष है। जैसा कि सुरेश्वराचार्यने कहा है—

ईशेशितव्यसम्बन्धः प्रत्यगज्ञानहेतुजः।
सम्यग्ज्ञाने तमोध्वस्तावीश्वराणामपीश्वरः॥

'अपने आत्माके परम तत्त्वको न जाननेसे ही नियम्य-नियामकभावकी उत्पत्ति होती है। विचारजन्य सम्यक् ज्ञानके द्वारा अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर तो यह संसारी जीव हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरोंका भी ईश्वर हो जाता है।'

जीव, ईश्वर, जगत् इत्यादि नाना प्रकारकी कल्पनाएँ माया-मोहके ही कारण स्फुरित होती हैं। तत्त्वज्ञानसे माया-मोहकी निवृत्ति हो जानेपर वैसी भेद-कल्पनाएँ नहीं हो सकतीं। उस समय स्वयं ब्रह्मभावको प्राप्त होकर पुरुष नित्य मुक्त शुद्धस्वरूप अपनी महिमामें विराजमान होता है। इसी बातका हमने भी बदरीशस्तोत्रमें अन्वय-व्यतिरेकन्यायसे निरूपण किया है—

सत्यज्ञानसुखस्वरूपमचलं यद्वस्तु तस्योदरे
विश्वं भाति विचित्रमूर्ध्वनगरीतुल्यं निजाविद्यया।
मायामोहपरिक्षये तु न जगज्जीवोऽपि वा नेश्वरः
शुद्धात्मात्मनि शिष्यतेऽस्तु बदरीभर्ता गतिस्तद्वपुः॥

'नित्य निर्विकार सच्चिदानन्दघन नामक जो वस्तु है उसीके अन्दर गन्धर्वनगरके समान अज्ञानवश जीव, ईश्वर और जगत्‌के रूपमें यह द्वैत प्रतीत हो रहा है। जिस समय ज्ञान-प्रकाशका उदय होनेसे महामोहरूप तम निवृत्त हो जाता है उस समय न तो जीवकी प्रतीति होती है और न जीवके नियामकरूपसे ईश्वरकी ही प्रतीति होती है, द्वैतका भान तो लेशमात्र भी नहीं होता। उस समय भेदकी कल्पनाओंसे रहित एक अद्वितीय आत्मा ही अपनी महिमामें शेष रह जाता है, ऐसे निर्विकल्प आत्मस्वरूप श्रीबदरीनाथजी ही मेरे आश्रय हों'—यही इस श्लोकका सारांश है।

इस प्रकार भेद-कल्पना और उससे प्राप्त होनेवाले संसाररूप अनर्थकी परम्पराके एकमात्र बीज महामोहका अत्यन्त विनाश करके नित्यानन्दस्वरूप परमात्माके साथ एकताकी प्राप्ति करानेका साधन बुद्धियोग ही है, अतः वही उत्तम और अन्तिम योग है—इस विषयमें विद्वानोंको तनिक भी संशय नहीं है। अन्य जो भक्तियोग, राजयोग, कर्मयोग, लययोग, जपयोग, क्रियायोग और हठयोग आदि अप्रधान योग हैं वे सभी उपर्युक्त महिमावाले परम पदके प्रापक मोहविध्वसक बुद्धियोगके साधनमात्र हैं। उन अप्रधान योगोंमें भक्तियोग ही सबसे प्रधान है, क्योंकि वह अन्य योगोंकी अपेक्षा शीघ्र ही बुद्धियोगको उत्पन्न करता है। भक्तियोग जिस प्रकार अपने साधकको ऊँचे उठाता है—परम तत्त्वके निकट पहुँचाता है उस प्रकार अन्य योग नहीं पहुँचाते, अतः परमेश्वरकी भक्तिकी अपेक्षा सभी योग कनिष्ठ हैं।

यथानुरक्तिर्भवतोऽङ्घ्रिमूले
भक्तानुकम्पस्य भवातिहारिन्।
तथात्र कर्माथ च राजयोगः
सुखेन नैवोन्नमयेत्पुमांसम्॥
(बदरीशस्तोत्र)

'हे भवबाधाको मिटानेवाले भगवन्! आप भक्तवत्सल प्रभुके चरणोंमें की हुई भक्ति जिस प्रकार साधकको अनायास ही उन्नतिकी ओर ले जाती है उस प्रकार इस लोकमें कोई कर्म अथवा राजयोग पुरुषको अनायास और शीघ्र ही उन्नत पदपर नहीं ले जा सकते।'

गौणी भक्ति और परा भक्तिके भेदसे भक्ति दो प्रकारकी है। यदि परा भक्ति नित्य निरतिशय निर्विकल्पाद्वैतरूपिणी और भेदकी गन्धसे रहित हो तो वह पूर्वोक्त अद्वैत ज्ञानरूपा ही है, अतः उसकी मोक्षके प्रति साक्षात् साधनता निषिद्ध नहीं है। इसलिये यहाँ बुद्धियोगके साधनरूपसे गौणी भक्ति ही विवक्षित है। श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें न्याययुक्त अनेकों श्लोकोंद्वारा उन-उन स्थलोंपर भक्तिके सर्वोत्तम माहात्म्यका वर्णन किया गया है। उन सभी श्लोकोंको भक्तिप्रधान 'कल्याण' पत्रके पाठक भलीभाँति सुन और जान चुके होंगे, अतः उनको यहाँ उदाहरणरूपमें उद्धृत करनेका प्रयत्न हम नहीं करते हैं। भागवत-प्रसिद्ध नवधा भक्तिके द्वारा अपनेको प्रिय लगनेवाले भगवान्‌के किसी भी रूपसे उनकी उपासना करनेवाले पुरुष भगवत्कृपासे अपने पाप और चित्तमलके नाश हो जानेपर विशुद्धचित्त होकर शीघ्र ही भगवान्‌के पारमार्थिक निरुपाधिक तत्त्वको जाननेमें समर्थ होते हैं। भक्तोंके मार्गमें जो-जो विघ्न आते हैं उन सबको दूर करके भक्तवत्सल भगवान् सदा ही अपने भक्तोंका पालन करते हैं, अतः राजयोग आदिसे भक्तियोगका माहात्म्य अवश्य ही विशेष है।

क्योंकि भगवान्‌की यह प्रतिज्ञा है—

न मे भक्तः प्रणश्यति ।

'मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता ।' इस विषयपर निम्नाङ्कितरूपसे मैंने भी विचार किया है—

भक्तिर्यदीयसगुणात्मनि शीघ्रशुद्धे
चित्तस्य साधनमतस्तदुपार्जनीयम् ।
भक्तो न नश्यति यतोऽवति तं विपन्नयो
भक्तप्रियस्तमनिशं स्मर बद्रिकेशम् ॥

(बदरीशस्तोत्र)

'भगवान्‌के सगुण साकार स्वरूपमे की हुई भक्ति अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक चित्तशुद्धिका कारण होती है, अतः सभी मुमुक्षुओंको चाहिये कि निरन्तर उस भक्तिका उपार्जन करें । क्योंकि परमेश्वरके चरणोंमे जिसने सर्वथा अपना चित्त समर्पण कर दिया है उसका कभी नाश नहीं होता । जो भक्तवत्सल भगवान् इहलोक और परलोक दोनोंको विनष्ट करनेवाली सभी आपदाओंसे अपने भक्तकी सदा ही रक्षा करते हैं उन ऐसे माहात्म्यवाले बदरीनाथजीका हे मन ! तू निरन्तर स्मरण कर ।'

इसके अतिरिक्त जिस प्रकार भगवान् अभक्तोंको बन्धनका हेतुभूत अज्ञान देते हैं उसी प्रकार वे ही भक्तोंको चित्तशुद्धिपूर्वक ज्ञान भी देते हैं, अतः तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये भगवान्‌की प्रसन्नताके सिवा और कोई भी उपाय नहीं है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥

(गीता १०।१०-११)

'मुझमें सदा चित्त लगाये रहनेके कारण जो लोग अनन्य प्रेमपूर्वक मेरा भजन करते हैं उन्हें मैं शीघ्र ही परम तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ जिसके द्वारा वे मुझ नित्यानन्दैकरस निर्विशेष अद्वय परब्रह्मको प्राप्त कर लेते हैं । उन भक्तोंपर ही दया करके मैं प्रत्यगात्मारूपसे उनके अन्तःकरणमे रहता हुआ अत्यन्त प्रकाशमय ज्ञानात्मक प्रदीपसे उनके अज्ञान-जन्य आवरणको नष्ट कर देता हूँ ।'

तथा जबतक चित्त पापकलापोंसे कलुषित है तबतक उसमें शुद्धता और शुद्धतासे होनेवाले आत्मप्रकाशकी लेशमात्र भी सम्भावना नहीं है । कीचड़से मलिन हुए जलमें जिस प्रकार सूर्यमण्डलका प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं दीखता उसी प्रकार पापकलुषित हृदयमें आत्मप्रतिबिम्ब तनिक भी स्फुरित नहीं होता । परन्तु कीचड़ धो देनेसे निर्मल हुए चित्तमे सहज ही आप-ही-आप आत्मतत्त्व प्रकाशित होने लगता है—

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः ।
यथादर्शतले प्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥

(महाभारत)

'पहलेके किये हुए पापोंका क्षय हो जानेपर ही सम्यक्‌रूपसे पुरुषोंको तत्त्वज्ञान होता है । कीचड़ धुल जानेपर अत्यन्त विमल दर्पणमें जिस प्रकार अपना प्रतिबिम्ब स्पष्ट पड़ता है, उसी प्रकार अपनी विमल बुद्धिमें पुरुष अपने आत्माको अपरोक्षरूपसे उपलब्ध करता है ।'

धर्माधर्मकी मर्यादाके व्यवस्थापक और धर्माधर्मके फलदाता सर्वनियामक परमेश्वरकी प्रसन्नताके साथ ही होनेवाली करुणाके बिना किसीके भी पाप-समूहका नाश नहीं हो सकता । अतः भगवान्‌के अनुग्रहका एकमात्र हेतु उनकी भक्ति ही अन्य सभी कल्याण-साधक योगोंसे श्रेष्ठ है—इसमे कहना ही क्या है ? इसीलिये श्रीमद्भागवतमें कहा है—

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥

'भगवान्‌की अनन्य भक्ति करनेसे जिसका चित्त निर्मल हो गया है और चित्तशुद्धि हो जानेसे ही जिसकी विषयोंमें लेशमात्र भी आसक्ति नहीं है ऐसे पुरुषको ही भगवान्‌के पारमार्थिक स्वरूपका ज्ञान हो सकता है, अन्य किसी साधनसे किसी प्रकार नहीं हो सकता ।'

इस प्रकार भक्तिका सर्वोपरि माहात्म्य सिद्ध होनेपर भी कुछ लोग ऐसा कहा करते हैं कि 'भाष्यकार शङ्कराचार्यने, भक्तिशास्त्रका खण्डन किया है, अतः अद्वैतपथके पथिक शङ्करभक्तोंको भक्तिमार्गका अनुसरण नहीं करना चाहिये ।' यद्यपि उनका कथन ठीक है तथापि जिनके राग-द्वेषादि मल-विक्षेप दूर नहीं हुए है उनके अन्दर आत्मविवेचनकी शक्ति कैसे हो सकती है ? और मलिन चित्त होनेके कारण किस प्रकार वे आत्मसमाधि कर सकते हैं ? अतः भक्तिमार्ग ही सरल और श्रेष्ठ है तथा उसीका सबको अनुसरण करना चाहिये । भाष्यकार

भगवान् शङ्कराचार्य स्वय ही परमात्माके बहुत बड़े भक्त थे। ससारमें उनके समान भक्त कोई विरला ही हो सकता है। हिमालयसे लेकर सेतुबन्ध रामेश्वरतक भारतवर्षके अन्दर अनेकों प्रसिद्ध-प्रसिद्ध क्षेत्रोंमें अपनी सर्वोत्तम भक्तिसे उन्होंने वहाँके देवताओंको प्रसन्न किया जिससे उन-उन देवताओंने उन्हे प्रत्यक्ष दर्शन और मनोवाञ्छित वरदान दिया—यह बात उनके चरित्रवेत्ताओंसे छिपी नहीं है।

इसके अतिरिक्त यद्यपि उन्होंने वैष्णवोंके भक्तिशास्त्रकी प्रक्रियाका तिलशः खण्डन किया तथापि भक्तिका खण्डन कहीं नहीं किया है; क्योंकि भगवान् शङ्कराचार्य स्वय ही भक्तिको तत्त्वज्ञानका परम साधन मानकर उसके सर्वोत्तम माहात्म्यका स्वरचित शारीरकभाष्यमे पाञ्चरात्रोंके चतुर्व्यूहवादका खण्डन करते समय इस प्रकार समर्थन करते है—

यदपि तस्य भगवतोऽभिगमनादिलक्षणमाराधनमञ्जसमनन्यचित्ततयाभिप्रेयते तदपि न प्रतिषिद्ध्यते श्रुतिस्मृत्योरीश्वरप्रणिधानस्य प्रसिद्धत्वाद्।

अर्थात् 'अव्यक्तसे भी पर और स्वयं ही नाना प्रकारके व्यूहोंमें स्थित रहनेवाले सर्वात्मा परमेश्वर देवदेव भगवान् नारायणके मन्दिरमें जाना, पूजा आदिके लिये उपयुक्त सामग्रियोंको लेकर उनकी पूजा करना, अष्टाक्षर आदि मन्त्रोंका जप, कीर्तन और ध्यान आदि जो यजनकर्म वैष्णव-शास्त्रोंमें निरन्तर अनन्यभावसे विधान किये गये हैं उनका हम निषेध नहीं करते, क्योंकि श्रुतियाँ और स्मृतियाँ एक स्वरसे शरीर, मन और वाणीके द्वारा ईश्वरकी विशेष भक्तिका उपदेश करती हैं।'

अतः यह निष्कर्ष निकला कि 'अनन्यचित्तसे अभ्यास किया हुआ भक्तियोग परम पुरुषार्थकी साधनभूत अद्वैत बुद्धिका उत्पादक होता है और अनायास ही शीघ्रतापूर्वक फलयोग (बुद्धियोग) का, अप्रतिबन्धकभावसे साधक होता है, इसलिये वही सब साधनोंमे परम उत्तम है।'

इसके बाद यम-नियम आदि आठ अङ्गोंसे युक्त, चित्तवृत्तिका निरोधरूप फलवाला राजयोग भी सम्यग्रूपसे आत्मज्ञानका उपयोगी है इसलिये वह भी उत्तम साधन है।

ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।

(मुण्डक०)

'चित्तशुद्धि होनेके अनन्तर एकाग्रमनसे अखण्ड, अपरिच्छिन्न आत्माका निरन्तर चिन्तन करनेवाला पुरुष अपरोक्षभावसे आत्माका अनुभव करता है।'

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।

(क० उ०)

'आत्मामे चित्तकी समाधि ही अध्यात्मयोग कहलाता है, उसकी प्राप्ति हो जानेसे बुद्धिमान् पुरुष स्वयप्रकाश आत्माका साक्षात् अनुभव करके हर्ष और शोक आदिसे रहित हो जाता है।'

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥
युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥

(गीता ६। १३, १५)

अर्थात् 'शरीर, मस्तक और ग्रीवा—इन्हे इस प्रकार धारण करे जिससे ये सम एव अचञ्चल हों और स्थाणु (ठूँठ पेड़) की भाँति स्थिर होकर नेत्रोंसे अपनी नासिकाके केवल अग्रभागको देखता हुआ अन्य दिशाओंकी ओर दृष्टि न ले जाकर आत्म-भावनामे सलग्न हो चुपचाप बैठा रहे। योगनिष्ठ पुरुष इस प्रकार एकाग्र चित्तसे निरन्तर आत्माका अनुसन्धान करता हुआ, मुझमें स्थित हो जाना ही जिसका स्वरूप है ऐसी नित्य निरतिशय परमकैवल्यरूपिणी शान्तिको प्राप्त कर लेता है।'

—ऐसी अनेकों श्रुतियाँ और स्मृतियाँ तत्त्वदर्शनके उपायरूपसे राजयोगका वर्णन करती हैं। यह योग केवल अद्वैतविज्ञानको ही नहीं, सगुण भक्तिको भी चित्तकी एकाग्रताका सम्पादन करता हुआ सुदृढ करता है। इसी आशयका समर्थक शाण्डिल्यसूत्र भी है—

'योगस्तूभयार्थमपेक्षणात्.....'

अर्थात् 'भक्ति और ज्ञान दोनों ही चित्तवृत्तिकी स्थिरताकी अपेक्षा रखते हैं, अतः योग इन दोनोंका निमित्त एव सहायक होता है।'

जिस प्रकार राजयोग भक्तिका उपकारक है उसी प्रकार भक्ति भी योगके लिये उपयोगिनी है। अतः इन दोनोंमें परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव सम्बन्ध है।

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' 'तस्य वाचकः प्रणवः' 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (योगसूत्र)

अर्थात् 'परमेश्वरमें किये जानेवाले कायिक, वाचिक और मानसिक प्रणिधानसे—भक्तिविशेषसे सन्तुष्ट होकर ईश्वर अपने भक्तपर अनुग्रह करते हैं, अतः पाप आदि कारणोंसे होनेवाले विघ्न और प्रतिबन्धकोंके अभाव हो जानेसे उस भक्तको थोड़े ही समयमें समाधि और उसके फलकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है।' 'उस ईश्वरका वाचक—नाम प्रणव—ॐकार है।' 'प्रणव-मन्त्रका जप और प्रणव-प्रतिपाद्य ईश्वरका चिन्तन ही पूर्वोक्त प्रणिधान (भक्ति) है।'

इस प्रकार प्रणव-जप और प्रणवके अर्थभूत परमात्माका भलीभाँति चिन्तन करनेसे अवश्य ही चित्त एकाग्र होता है। तदनन्तर बुद्धिमें स्पष्टरूपसे परमात्मा प्रकाशित होते हैं, अर्थात् परम तत्त्वज्ञानका उदय होता है—यह इन तीनों सूत्रोंका सम्मिलित अर्थ है।

ऊपरके कथनानुसार यद्यपि राजयोग और भक्तियोग परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव सम्बन्धसे युक्त होनेके कारण कुछ शास्त्रकारोंद्वारा तुल्यप्रधान बतलाये गये हैं तथापि यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार आदिके द्वारा समाधि-लाभ करना अत्यन्त कठिन, दुष्कर, परिश्रमसाध्य तथा अनेक विघ्नोंके कारण विषम कार्य है। अतः भक्तिमार्गपर चलना ही अत्यन्त सरल, सुकर तथा परिश्रम एवं विघ्नोंसे रहित है। इसलिये भक्तियोग ही शीघ्र फलदायक उत्तम साधन है। यही उन महात्मा विद्वानोंका भी सिद्धान्त है, जिन्होंने कि अनेकों साधनोंका अनुष्ठान स्वयं किया है। इस विषयमें व्यासजीके निम्नाङ्कित प्रकारके वचन ध्यान देनेयोग्य हैं—

यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना।
तत्फलं लभते सम्यक् कलौ केशवकीर्तनात्॥

'अन्य युगोंमें तपस्या, योग और समाधिसे भी जो फल प्राप्त नहीं होता वही फल कलियुगमें मनुष्य केवल भगवान्‌का नाम-कीर्तन करनेसे पा लेता है।'

इस प्रकार यहाँ भक्तियोगकी प्रधानता होनेपर भी चित्तवृत्तिनिरोधके विषयमें राजयोगका माहात्म्य निषिद्ध नहीं है। सिद्ध योगियोंकी सहायतासे प्राणायाम और प्रत्याहारादि योगसाधनोंका परिशीलन तथा उसके द्वारा समाधिसम्पादन भी कल्याणपदपर आरूढ़ होनेका उपाय होनेके कारण प्रशंसनीय ही है। दुःखके साथ कहना पड़ता है कि जो लोग योगकला-निष्णात सिद्ध महात्माओंकी सहायताके बिना ही अपनी धृष्टताके कारण केवल पुस्तकोंकी सहायतासे प्राणायामादि योगमार्गपर चलते हैं वे महान् अनर्थके गड्ढेमें गिरते हैं। हमें तो उनके दुःसाहस और विपरीत बुद्धिपर आश्चर्य होता है।

पूर्वोक्तरूपसे राजयोग और भक्तियोग परस्पर उपकार्य-उपकारकभावसे सम्बद्ध होनेपर भी दोनों ही ज्ञानयोगके उपकारक होते हैं। और अद्वैतबुद्धि (ज्ञान)-योग किसी अन्यका अंगभूत होकर उपकारक नहीं है, अतः वही ईश्वरप्राप्तिका प्रयोजक उत्तम और अन्तिम योग है।

अपने-अपने वर्ण और आश्रमके लिये विहित सभी कर्मोंका ईश्वरार्पणबुद्धिसे अनुष्ठान करनारूप जो निष्काम कर्मयोग है वह भी रागादि दोषोंको दूर करके चित्त-शुद्धिके द्वारा ज्ञानयोगका साधक होता है, अतः वह भी आदरणीय ही है। इस कर्मयोगका स्वरूप और माहात्म्य श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत आदि प्रामाणिक ग्रन्थोंमें विस्तारके साथ उपलब्ध होता है। कुछ प्राचीन कर्मठों और किन्हीं-किन्हीं आधुनिकोंकी भी यह सम्मति है कि 'कर्मयोग ही अन्य सभी साधनयोगोंसे श्रेष्ठ है, अतः उसीका सबको अनुष्ठान करना चाहिये।'

इनके अतिरिक्त अन्य जो क्रियायोग, जपयोग, हठयोग, लययोग आदि हैं वे सभी परम्परासे बुद्धियोगके लिये उपयोगी होनेके कारण आदरणीय हैं और मुमुक्षुओंको उनका भी अनुष्ठान करना चाहिये—इन साधनोंके विषयमें मैं संक्षेपसे इतना ही कहता हूँ। इनका विस्तार करनेका प्रयत्न नहीं करूँगा।

अब अन्तमें मुझे कुछ और भी विशेषरूपसे कहना है—इन सभी योगोंका मूल कारण क्या है, जिसके प्रभावसे उन-उन योगोंमें पुरुषोंकी प्रवृत्ति होती है और क्रमशः बुद्धियोग-सम्पादनके द्वारा परम कैवल्यकी प्राप्ति होती है? इसके उत्तरमें यह बतलाना चाहता हूँ कि सभी योगोंका मूल कारण साधु-संग है। साधु-संग ही सभी योगोंका मूलभूत योग है इसलिये उसे मूलयोग कहा गया है। इस प्रकार सत्संगयोग परम्परासे परम बुद्धियोगका भी कारण है, अतः वही परमसे भी परमयोग है, उसकी उत्कृष्टताका

अनुमान कोई भी नहीं कर सकता। अतः सभी लोग इस बातको जान ले कि समस्त कल्याणों और सभी योगोंका आदिकारण सत्सङ्ग ही है। संसाररोगसे पीडित हुए मनुष्योंके लिये सत्संग ही सबसे उत्तम ओषधि है। भय-तापसे सन्तप्त पुरुषोंके लिये सत्सग ही सबसे बढ़कर सहारा है। संसार-सागरमें डूबते हुओंको सत्सग ही पार लगानेवाला उपाय है।

निमज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥

(श्रीमद्भा०)

'जिस प्रकार पानीमें डूबते हुए प्राणियोंके लिये सुदृढ़ नौका ही एकमात्र सहारा है उसी प्रकार भयङ्कर ससार-समुद्रमें डूबते-उतराते हुए अत्यन्त दीन-दुखी मनुष्योंके लिये अत्यन्त शान्त ब्रह्मवेत्ता साधु ही सबसे बड़े सहारे हैं।'

इति।

हठयोग और प्राचीन राजविद्या अथवा राजयोग

(लेखक—एक 'दीन')

शरीर और उसकी नाडियोंकी शुद्धि और स्वास्थ्यकी रक्षा करना हठयोगका मुख्य उद्देश्य है। आसनसे स्वास्थ्यकी रक्षा और व्याधिनाश होता है और इसका अभ्यास करनेमें कोई भय नहीं। परन्तु इसमें शरीरविज्ञान-का अनुभव पहले आवश्यक है इसलिये अनुभवी पुरुषके द्वारा सीखकर ही अभ्यास करना चाहिये, नहीं तो व्याधि-नाशके बदले व्याधिवृद्धि हो सकती है।

प्राणायाम

विधिपूर्वक किये हुए थोड़े प्राणायामसे दोषोंका नाश होता है। सन्ध्योपासनामें तीनों समय तीन-तीन बार अर्थात् कुल नौ बार प्राणायाम करनेकी विधि है। श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्धमें प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्यामें दस-दस बार अर्थात् कुल तीस बार करनेका आदेश है; किन्तु तीसों बार एक साथ करनेका आदेश नहीं। प्राणायाम करनेसे शरीरके भीतर शुष्कता आती है, इसके लिये अभ्यास करनेवालेको गोघृतका सेवन करना चाहिये। एक प्राणायाम ऐसा है जिसका रेचक ब्रह्मरन्ध्रसे मेरुदण्डके बीचकी सुषुम्ना नाडीमें किया जाता है और जो गुरुगम्य है। प्राणायाम करनेसे उन्माद भी होता है। एक साधकने एक बार मुझसे कहा कि मैंने इतना अधिक प्राणायाम किया कि मेरे रोम-रोमसे प्रणवकी ध्वनि होने लगी; किन्तु कोई आन्तरिक अनुभव या लाभ नहीं हुआ। सच तो यह है कि योगके प्रथम और द्वितीय अग यम-नियमकी प्राप्ति और आसनसिद्धिके बिना प्राणायाम विशेष लाभदायक नहीं होता। शास्त्रोंमें प्राणायामकी बहुत प्रशसा की गयी है, किन्तु यह भी कहा गया है जैसा कि श्रीमद्भागवत पुराणमे मिलता है कि वायु जीतनेपर भी मनको न जीतनेसे लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती। मन प्राण-वायुसे उच्च है, क्योंकि प्राण-वायु मनका अनुसरण करता है, परन्तु मन प्राणवायु-का अनुसरण नहीं करता। काम-क्रोधसे उत्तेजित होनेपर श्वासकी गति तीव्र हो जाती है और मन शान्त होनेपर प्राण भी शान्त हो जाता है। किन्तु प्राणका निरोध करने-पर भी मनकी चञ्चलता पूरी दूर नहीं होती। इस कारण राजयोगमें प्राणनिग्रह न करके सीधे मनका निरोध किया जाता है, जिससे प्राणका निरोध हठके बिना स्वय हो जाता है। हठयोगका भी सिद्धान्त है कि राजयोग ही हठयोगका लक्ष्य है, किन्तु भेद यह है कि हठयोगके ग्रन्थका कथन है कि हठयोगके बिना राजयोगकी प्राप्ति नहीं होगी और हठ भी राजयोगके बिना व्यर्थ है। परन्तु राजयोगका सिद्धान्त है कि हठयोग राजयोगकी प्राप्तिके लिये आवश्यक नहीं है, वरं किञ्चित् बाधक है।

आपत्ति

हठयोगकी बन्ध-सम्बन्धी क्रियामें भय नहीं है। धोती और जलधौती स्वास्थ्यके लिये उत्तम है, किन्तु इनके बदले ऊपरकी जठराग्निके भागको रबरके ट्यूब (Stomach Tube) के द्वारा साफ करना और मलाशयको एनिमा (Enema) द्वारा साफ करना उत्तम है। हठयोगकी क्रियामें ब्रह्मचर्य और सात्त्विक भोजन जैसे गेहूँ, मूँगकी दाल, दूध, घी आदिका व्यवहार आवश्यक है। जो लोग राजसिक आहार—जैसे तेल, मिर्च, खटाई, लवण, कहुआ और तीक्ष्ण आदि

व्यवहार करते हैं, वे रोगग्रस्त हो जाते हैं, क्योंकि साधकका अन्तर्भोग उसे सहन नहीं कर सकता और इस कारण स्वास्थ्योन्नतिके बदले 'योगे रोगभयम्' की उक्ति चरितार्थ होती है। कितने ही हठयोगके साधक केवल क्रियाके कारण असमयमें मर गये अथवा रोगी हो गये। आजकल हठयोगके तत्त्वका जाननेवाले गुरु प्रायः दुर्लभ हैं। यदि उपयुक्त गुरु मिलें और उनकी देखभालमें साधना की जाय तो कोई भय नहीं। केवल हठयोगके अभ्यासमें यह दोष है कि इसके सब साधनोंके स्थूल शरीरसे सम्बन्ध रखनेके कारण स्थूल शरीरमें जो अज्ञानके कारण आत्माभिमान है, उसकी कमी न होकर, उसकी पुष्टि होती है, जो अध्यात्म-पथमें बहुत बड़ा प्रतिबन्धक है। राजयोगमें तो स्थूल शरीरको केवल घोर मायिक मानकर और केवल आवरण समझकर उसकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया जाता, उसकी अवहेलना करके केवल मनोमय कोषसे अभ्यास आरम्भ किया जाता है। दूसरा दोष हठयोगमें यह है कि इसके अधिकांश अभ्यास स्थूल शरीरसम्बन्धी होनेके कारण इसका जो परिणाम होता है वह मृत्युके समय स्थूल शरीर छोड़ देनेपर बेकार हो जाता है और आगे उसका प्रभाव नहीं रहता। किन्तु राजयोगकी मानसिक क्रियाका परिणाम जन्म-जन्मान्तरतक बना रहता है, क्योंकि मृत्युके साथ अन्तःकरणका नाश नहीं होता, वह स्थूल शरीरका त्याग करनेके बाद भी बीजरूपसे वर्तमान रहता है।

चमत्कारकी तुच्छता

आजकल आकाश-तरङ्गके कारण 'ब्रॉडकास्टिङ्ग' द्वारा दूरकी बातें सुनी जाती हैं, अर्थात् विलायतका गाना भारतवर्षमें उसी क्षण सुना जाता है। इस तरह बिना यन्त्रकी सहायताके दूर-श्रवण या दूसरे प्रकारकी चमत्कारिक शक्तियाँ योगके द्वारा प्राप्त होती हैं जिन्हें सिद्धि कहते हैं। किन्तु इन सिद्धियोंका परमार्थसे कोई सम्बन्ध नहीं। अनेक सिद्धियाँ असुरोंको भी प्राप्त थीं। ये योग-भ्रष्ट थे। अतएव सिद्धियाँ प्राप्त करनेकी दृष्टिसे हठयोगका अभ्यास करना मुनासिब नहीं है।

लिये चला जाता है और इस प्रकार समाधिमें जीता पड़ा रहता है। इस अवस्थाको शरीर-वित् (Cateliptic) कहते हैं। वह मेढक वर्षा होनेपर इस अवस्थाको त्यागकर पुनः ऊपर आ जाता है। क्लोरोफार्म देनेपर भी बेहोशी हो जाती है और छुरीके आघातका भी प्रभाव मालूम नहीं होता। इसी प्रकारकी हठयोगकी जड-समाधि है। एक मेरे परिचित जड-समाधिसिद्ध-साधुने मुझको लिखा कि मैं अब आत्महत्या करूँगा, क्योंकि मेरा जीवन व्यर्थ हुआ। इस तरहके समाधिसिद्ध अन्य योगियोंके असीम लोभ और तृष्णाकी कहानियाँ सुनी जाती हैं। एक कथा यह प्रसिद्ध है कि एक बाजीगरने घोड़ा पानेका वचन पाकर किसी राजाके सामने समाधि लगायी। जड-समाधि भङ्ग करनेके लिये तो दूसरोंकी आवश्यकता होती है, जिसके अभावमें यह समाधि-भङ्ग कर उठ न सका। अन्तमें राजाने उसे एक गुफामें रख दिया जो कालान्तरमें जमीनके नीचे दब गयी। बहुत दिनों बाद उस राजाके उत्तराधिकारियोंने उस जमीनको खुदवाया। खुदाईमें वह गुफा निकली और उसमें समाधिस्थ वह बाजीगर भी मिला। किसी प्रवीण व्यक्तिने ठीक युक्तिसे उसे जगाया। समाधिसे कई सौ वर्ष बाद जागकर भी, कहते हैं, उसने घोड़ा ही पानेकी प्रार्थना की। वह इतनी बड़ी समाधि पानेपर भी अज्ञानी ही रहा। वास्तवमें राजयोगकी चैतन्य समाधि ही यथार्थ समाधि है, जो प्रत्याहारकी सिद्धि होनेपर धारणा और ध्यानसे प्राप्त होती है और जिसकी प्राप्ति होनेपर संयमद्वारा संसारके लिये हितकर ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विषयोंके ज्ञानकी प्राप्ति होती है।

कुण्डलिनीका दुरुपयोग

मन और इन्द्रियका दमन किये बिना केवल स्थूल शारीरिक अभ्यासके द्वारा कुण्डलिनीका उत्थान और षट्-चक्र-वेध करनेसे बड़ी हानि होती है। भुवर्लोकके राजसिक-तामसिक क्षुद्र देव नाना प्रकारका मायाजाल फैलाकर, असत्य भाषण करके, असत्य दृश्य दिखाकर, साधकके दोषोंको बढ़ाकर तथा उसे भ्रममें डालकर उसका अध पतन करा देते हैं। यदि साधक इनसे बच भी जाय तो भी वह उस जन्ममें योगोन्नति नहीं कर सकता, क्योंकि उसके चक्र निस्तेज और निःशक्त हो जाते हैं। जिस तरह किसी फूलकी कलीको तोड़कर उसे खिलानेका यत्न करनेपर वह फूल मुरझा जाता है, उसी तरह हठ-

योगकी क्रियासे चक्र नष्ट-से हो जाते हैं।

अनाहत शब्द

कान बन्द कर लेनेपर जो दश प्रकारके शब्द सुनायी पड़ते हैं, वे सूक्ष्म आकाश-तरङ्गोंके शब्द अथवा भुवर्लोकके शब्द हैं। ये शब्द भौतिक अथवा भुवर्लोकिक हैं; यथार्थ अनाहत अथवा सार शब्द अथवा परम नाद नहीं हैं। इन शब्दोंको निरन्तर सुननेसे किसी-किसीके मस्तिष्कमें गर्मी आ जाती है और किसी-किसीका अपने ऊपरसे प्रभुत्व जाता रहता है और वह भुवर्लोकके माया-जालमें फँस जाता है।

भौतिक चमत्कार

विष-पान आदि चमत्कार भी योग नहीं हैं। शरीरका असाधारण बल-प्रदर्शन भी योग नहीं है, जिसे प्रोफेसर राममूर्ति आदि व्यायामप्रवीण भी दिखाया करते हैं।

अजपा-योग

किसी मन्त्रका दो भाग करके एक भागको पूरक करते हुए अर्थात् श्वासके भीतर जाते समय जपना और पूरक पूरा हो जानेपर बहुत थोड़ी देर रुक जाना अर्थात् कुम्भक करना और फिर रेचक करते हुए अर्थात् श्वासको बाहर निकालते समय मन्त्रके दूसरे भागका जप करना और रेचक पूरा हो जानेपर फिर बहुत थोड़ी देर रुक जाना—यह अजपा-योग है। यदि कोई मन्त्र न हो तो पूरक करते हुए 'सो' का उच्चारण करना (पूरक करते समय स्वाभाविक दशसे 'सो' शब्दका उच्चारण होता है), उसके बाद थोड़ा रुक जाना, फिर रेचक करते हुए 'अहम्' का उच्चारण करना (रेचकके समय श्वास निकलनेसे 'अहम्' शब्दका स्वाभाविक उच्चारण होता है), फिर थोड़ा रुक जाना—इसे भी अजपा-जप ही कहते हैं। इसमें मन्त्रका उच्चारण करनेकी आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है केवल श्वासके पूरक और रेचककी गतिपर ध्यान देना, जिससे स्वयं मालूम होगा कि 'सोऽहम्' मन्त्रका जप स्वतः, बिना उच्चारण किये ही, हो रहा है अर्थात् पूरकमें 'सो' और रेचकमें 'अहम्', दोनों मिलकर 'सोऽहम्' का जप बिना जप किये ही हो रहा है। यही अजपा-जपयोग है। इस जपमें वृत्ति अन्तरात्मापर रखनी चाहिये अर्थात् वही 'सो' (वह—ब्रह्म) है और वही 'अहम्' (साधकका जीवात्मा) है; दोनों मिलकर 'सोऽहम्' हुआ है। इसमें पूरक और विशेषकर रेचक धीरे-धीरे करना चाहिये।

यह अजपा-योग उत्तम है और इसमें कोई आपत्ति नहीं है यदि यह जीवात्मा और परमात्माके चैतन्य-स्वरूपकी एकता प्राप्त करनेकी दृष्टिसे किया जाय। श्रीगुरु नानकके अनुयायी कतिपय साधकोंमें यह अभ्यास प्रचलित है।

राजविद्या और राजगुह्य-योग

गीताके नवें अध्यायमें जिस राजविद्या-राजगुह्य-योगका उल्लेख है, उसकी प्राप्तिके लिये जिस ज्ञान, भाव और साधनाकी आवश्यकता है, उसका यहाँ संक्षेपमें वर्णन किया जाता है।

(१) जड प्रकृति और उसके कार्य शरीर आदि नाम-रूपात्मक दृश्यको अनात्मा और चैतन्य आत्माका केवल आवरणमात्र जानकर प्राकृतिक पदार्थोंमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिये, अपने चैतन्य आत्मासहित अखिल विश्वब्रह्माण्डको कारणकी दृष्टिसे चैतन्यघन श्रीपरमात्माका व्यक्त रूप जानकर उसी ज्ञानमें दृढ विश्वास रखना चाहिये। इस ज्ञानके आधारपर सम्पूर्ण दृश्यके प्रति राग-द्वेषसे रहित होकर सबके अन्दर चैतन्यरूपमें श्रीभगवान् अर्थात् अपने इष्टदेवको वर्तमान देखना चाहिये और इसलिये सबको प्रेम और आदरकी दृष्टिसे देखना और मनसे नमस्कार करना चाहिये (भागवतपुराण स्क० ११ अ० २। श्लो० ४१)। श्रीभगवान्‌की इन विभूतियोंमें जो विभूति हृदयको आकर्षित करे, उस रूपमें प्रेमपूर्वक श्रीभगवान्‌की उपासना और पूजा करनी चाहिये (भागवत ११। २७। ४८)। सर्वत्र भगवद्भावकी इस दृष्टिके अनुसार आचरण करना चाहिये अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय (परद्रव्य-अपहरण न करना), ब्रह्मचर्य (इन्द्रियनिग्रह), अपरिग्रह (दूसरेकी वस्तु, देनेपर भी, न ग्रहण करना), शौच, सन्तोष आदिका अभ्यास करना चाहिये और इनके विरोधी दुर्गुणोंका त्याग करना चाहिये।

(२) ऊपरके ज्ञानके आधारपर शरीरके प्रति अहंता और पदार्थोंके प्रति ममताका त्याग कर सब प्रकारके कर्मोंको श्रीभगवान् अर्थात् अपने इष्टदेवके कर्म समझकर केवल उन्हींके निमित्त निःस्वार्थ—निष्कामभावसे करना चाहिये और उन कर्मोंको श्रीभगवान्‌के चरणोंपर अर्पित कर

देना चाहिये। काम करते हुए यह ध्यानमें रखना चाहिये कि केवल ईश्वरानुकूल ही कर्म हो, अपनेसे कदापि ऐसा कोई कर्म न हो जो श्रीभगवान्‌के गुण, वंचन, इच्छा आदिके विरुद्ध हो। अपने सांसारिक व्यावहारिक कर्म भी श्रीभगवान् अर्थात् इष्टदेवके कार्य समझकर उन्हींके निमित्त निष्कामभावसे करने चाहिये। (श्रीभागवत)

(३) ऊपर कहे हुए ज्ञान, भाव और कर्मके द्वारा इन्द्रियोंका निग्रह और शुद्धि, मनका सयम तथा चित्त-शुद्धि करके अहङ्कार, ममता और स्वार्थको भलीभाँति त्याग देना चाहिये, दूसरोंके द्वारा किये हुए अपमान, अपकार आदिको धैर्यपूर्वक सहते हुए जन-जनार्दन अर्थात् सब प्राणियोंको श्रीभगवद्रूप जानकर उनके हितसाधनको ही श्रीभगवान्‌की परम सेवा मानकर उनका सम्पादन निष्कामभावसे करना चाहिये और विशेषकर सदाचार, ज्ञान और भक्तिभावका सब प्रकारसे अपने आचरणद्वारा प्रचार करना चाहिये (भागवत ११। ७। ३८, ४४ तथा ११। ११। २३-२४)।

(४) श्रीभगवान्‌के जिस सगुण-साकारभावके प्रति हृदयका स्वाभाविक झुकाव हो, उसीके प्रति अनुरक्त होकर उसके सशक्तिक दिव्य रूपकी (जो सच्चिदानन्दरूप है, प्राकृतिक कदापि नहीं), कीर्तन, स्मरण, अर्चन, वन्दन, स्तोत्रपाठ, जप आदिके द्वारा निःस्वार्थ प्रेमके साथ नित्य उपासना करनी चाहिये और उसीमें चित्तको निरन्तर लगाना चाहिये। परमात्माके उसी दिव्य नामका निरन्तर मानसिक जप करते हुए ही शरीरसे अन्य काम भी करते रहना चाहिये।

(५) अन्तिम साधना—अपने शरीररूप पिण्ड (छोटे ब्रह्माण्ड) के आध्यात्मिक हृदयमें जो अङ्गुष्ठमात्रका चेतनात्मा (पिण्डका केन्द्रस्वरूप) वर्तमान है, उसमें, हृदयशुद्धि आदिके द्वारा, स्थिति लाभकर अभ्यासद्वारा उसमें मनको लय करना चाहिये।

(६) तत्पश्चात् उस हृदय-केन्द्रमें अपने शक्तिसहित इष्टदेवको स्थापित कर, निरन्तर उनके ध्यानके द्वारा अन्तरात्माको उनमें लय करना चाहिये। इन दोनों अभ्यासोंमें ध्यान मुख्य है। इष्टके साकार ध्यानकी सुगमताके लिये इष्टदेवकी मूर्ति या चित्रको ध्यान करते समय अपने सामने रखना आवश्यक है। उस मूर्ति या चित्रके समान अपने हृदयमें एक मूर्ति नीचेके भागसे लेकर ऊपरके भागतक बनानी चाहिये और उस हृदयस्थ मूर्तिमें मनको सन्निवेशित करना चाहिये, अन्य किसी भावनाको नहीं आने देना चाहिये। यदि कोई दूसरी भावना आवे तो उसे दूरकर फिर चित्तको मूर्तिमें ही सलग्न करना चाहिये।

(७) श्रीशिवकी कृपा होनेपर ध्यानके द्वारा हृदय-कमलमें इष्टके दर्शन होते हैं। श्रीमद्भागवतपुराणमें कथा है कि गुरुके उपदेशके अनुसार हृदयमें ध्यान करनेसे श्रीनारदजीको भगवद्दर्शन हुए। इनके अतिरिक्त दो और सोपान हैं।

(८) जगद्गुरु श्रीशिवकी कृपासे साधकको अपने अदृश्य सद्गुरुके दर्शन हृदयमें ही होते हैं और उनके तेजके प्रकाशसे, अन्तरमें उनसे सम्बन्ध हो जाता है।

(९) श्रीसद्गुरु योगकी यथार्थ उच्च दीक्षाद्वारा साधकका दैवीप्रकृतिके प्रकाशके साथ सम्बन्ध करा देते है, जिस प्रकाशकी सहायतासे श्रीसद्गुरु साधकको अविद्यान्धकारसे पार करके उसके इष्टदेवमें उसे समर्पित और युक्त कर देते है। यह सद्गुरुकी सहायताके बिना कदापि सम्भव नहीं है।

श्रीसद्गुरु

श्रीशिवका सद्गुरु होना तो लोगोंको विदित है, किन्तु श्रीसद्गुरुका ज्ञान प्रायः आजकल एक प्रकारसे लुप्त हो गया है। गुरु-गीता आदिमें जो गुरुका वर्णन इस प्रकार आया है कि गुरु मिलते ही साधकको ज्ञानचक्षु देकर अज्ञानान्धकारको दूरकर उसे अखण्डमण्डलाकार सर्वव्याप्त ब्रह्मका साक्षात्कार करा देते हैं, गुरु स्वय त्रिमूर्ति और परब्रह्मके रूप है, इस वर्णनसे त्रिकालदर्शी महर्षियों और सिद्धोंसे तात्पर्य है जो यद्यपि आजकल कलियुगमें अदृश्य हैं, तथापि इस भूलोकमें ही वर्तमान हैं। कलियुगके आरम्भ होनेपर राजा श्रीपरीक्षितको शाप लगनेके बाद शुकादि ऋषि उनके पास आये थे और फिर उसके बाद जनमेजयके यज्ञमें भी वे सब लोग पधारे थे। ऋषि और सिद्धगण प्रायः शरीर-त्याग नहीं करते, वे तो अमर हैं। लिंगपुराणके सातवें अध्यायमें उन सद्गुरुओंका वर्णन योगाचार्यके रूपमें आया है और उसमें उनके शिष्यों-प्रशिष्योंका भी उल्लेख है। उसमें कहा गया है कि

उन लोगोंका वासस्थान हिमालय और सुमेरु पर्वतमें सिद्धाश्रम नामसे पुकारा जाता है। वे सब जगद्गुरु श्रीशिवजीके शिष्यपुत्रके समान हैं। श्रीमद्भागवतपुराणके १२ वें स्कन्धके दूसरे अध्यायके ३७ वें श्लोकमें लिखा है कि श्रीदेवापि और श्रीमरु, जिनका आश्रम कलापग्राममे है, कलियुगमें वर्णाश्रमधर्मकी रक्षा करेंगे। श्रीश्रीधर स्वामी इस श्लोककी टीकामे लिखते हैं कि, 'कलापग्रामो नाम योगिनामावासः प्रसिद्धः।' उसी पुराणके स्क० १० अ० ८७ श्लोक ५ से ७ तक और महाभारतके मौसल-पर्वके अध्याय ७ के अन्तमें कलापग्राममें सिद्धोंके रहनेका वर्णन मिलता है। श्रीसनकादि चारों कुमारोका आश्रम उत्तरमें है और श्रीअगस्त्य दक्षिणमे हैं, यह बात भी प्रसिद्ध है। प्रत्येक मन्त्रके एक-एक ऋषि होते हैं, जिनका आवाहन मन्त्रके पूर्व नामोच्चारणद्वारा कवच अथवा स्तोत्रमे किया जाता है। इसका भाव यह है कि उन ऋषिकी कृपाके बिना मन्त्रसिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उस मन्त्रके यथार्थ आविष्कारक वही हैं और उन्होंने उसे लोगोंके हितके निमित्त प्रकाशित किया। सिद्धान्त यह है कि महर्षि और सिद्धगण वर्तमान हैं और उनका ज्ञान, भक्ति, योग आदिका लोगोंमें प्रचार करना ही एकमात्र कार्य है। इसी कारण इस ऋषि-ऋणसे मुक्त होनेके लिये प्रतिदिन ऋषि-यज्ञ करना नित्यकर्मका एक प्रधान अंग माना गया है।

वे लोग अदृश्यभावसे सब जिज्ञासुओंकी सहायता उनकी योग्यताके अनुसार करते हैं और ठीक समय आ जानेपर हृदयमें प्रत्यक्ष दर्शन देकर योगदीक्षा देते हैं। इनमें ऊपर कहे हुए दो ऋषि श्रीदेवापि और श्रीमरु विशेष कार्य कर रहे हैं। क्योंकि आगामी युगमें उनमेंसे एक व्यास और एक मनु होंगे। अतएव वे लोग योग्य साधकोंको चुनकर अपने भावी कार्यके लिये तैयार कर रहे हैं। श्रीभगवान्‌ने प्रभाससे प्रस्थान करनेके पूर्व श्रीउद्धवको इन्हीं दोनों ऋषियोंसे अथवा श्रीमरुसे उपदेश लेनेको कहा था। जो लोग इनको सद्गुरु मानकर इनके साथ प्रेम करेंगे और इनके पादपद्मोंका ध्यान करेंगे, उनका इनकी प्राप्तिसे विशेष उपकार होगा।

राजयोगकी विशेषता

इस राजविद्या-राजयोगके मार्गकी एक विशेषता यह है कि इसके सिद्धान्त और साधन सर्वमान्य हैं और इसकी उपयोगितामें किसी आस्तिकको किसी प्रकारका कदापि सन्देह नहीं हो सकता। गीतामें कहा है कि इस धर्मका थोड़ा भी आचरण बहुत बड़े भयसे बचा देता है (२।४०)।

आध्यात्मिक अनुभवकी गोपनीयता

आध्यात्मिक अनुभवको प्रकाशित करनेसे अनुभवका आना बन्द हो जाता है, क्योंकि प्रकाशित करनेका मुख्य उद्देश्य दूसरोंसे प्रशंसा और मान-बड़ाई प्राप्त करना ही होता है जो अध्यात्म-मार्गका बाधक है। साधकको प्रशंसा, मान, बड़ाई आदिको विष समझना चाहिये और निन्दाको ही अच्छा मानना चाहिये। प्रशंसा, मान आदिसे अहङ्कार-की वृद्धि होती है। अतएव उच्च साधक यदि आवश्यक समझकर किसीसे अपना अनुभव कहते हैं तो वे साथ ही दूसरोंसे कहनेका निषेध भी कर देते हैं। यहाँ हम थोड़े-से अनुभवोंको, जिनका पता हमें मिला है, अनुभवीका नाम-स्थान बिना दिये ही, इस निमित्त दे रहे हैं कि साधक यह समझ जायँ कि वर्तमान समयमे भी श्रीसद्गुरुलोग सहायता कर रहे हैं और जो लोग उनपर विश्वास करके उचित पथका अनुसरण करेंगे उन्हें अपनी योग्यताके अनुसार उनसे अवश्य सहायता मिलेगी। साधकोंको उचित है कि वर्तमान समयमे नकली और केवल धन हरण करनेवाले अथवा मान-बड़ाई चाहनेवाले गुरुओंके फेरमें न पड़कर सीधे सद्गुरुपर विश्वास करके उनके मरोसे निर्दिष्ट पथका, जिसका वर्णन गीतामे है, अनुसरण करें।

कतिपय साधारण आध्यात्मिक अनुभव

महात्मा श्रीविजयकृष्णजी गोस्वामीने एक बार अपने एक परम योग्य ब्रह्मचारी ब्राह्मण शिष्यको योगदीक्षा देते समय जब उसमें शक्ति-सञ्चार किया तब शिष्यको मालूम हुआ कि उसका सम्पूर्ण मेरुदण्ड स्वाधिष्ठानसे लेकर भ्रूमध्यतक ज्वालासे भर गया है। यह कुण्डलिनीके उत्थानका चिह्न है, और कुण्डलिनीके उत्थानकी यह उत्तम प्रकारकी दीक्षा है जो सद्गुरुद्वारा प्राप्त होती है, न कि मौतिक क्रियाद्वारा।

आजकल ऐसे साधक वर्तमान हैं, जिन्होंने उपर्युक्त श्रीमरु अथवा श्रीदेवापिसे सम्बन्ध प्राप्त किया है तथा उनके दिव्य रूप देखे हैं। ऐसे सम्बन्धप्राप्त उच्च साधककी संज्ञा इस लेखमें 'सत्पुरुष' रक्खी जायगी।

एक ब्राह्मणी स्त्रीको हृदयके भीतर सद्गुरुके दर्शन होने लगे। उसने जब यह बात एक सत्पुरुषसे कही तो उन्होंने बताया कि वह इन्हींमेंसे एक है। उस स्त्रीको सद्गुरुने इष्टका ध्यान-श्लोक बताया और सीधे उपदेश दिया, जिससे वह बड़ी उच्च कोटिकी साधिका हो गयी।

एक परोपकारी योग्य ब्राह्मणको सत्पुरुषद्वारा मन्त्रदीक्षा मिलनेपर और कई मासतक श्रद्धा और भक्तिके साथ ध्यानोपासना तथा जप नियमपूर्वक ब्राह्ममुहूर्त्तमें करनेपर सद्गुरु, तत्पश्चात् इष्ट और मन्त्र-ऋषिका साक्षात्कार हुआ और उन लोगोंके द्वारा उन्हें आवश्यक उपदेश मिलने लगा।

एक जनसेवाव्रतमें परम परायणा युरोपीय स्त्रीको एक सद्गुरुने एक सत्पुरुषसे उपदेश लेनेको कहा और जो सङ्केत उन्होंने दिखाया, उसीके अनुसार उस सत्पुरुषने उसे मन्त्रदीक्षा दी।

एक परोपकारी सच्चरित्र कायस्थ महाशयको अभ्यन्तरमें श्रीसद्गुरुके दर्शन होने लगे। पहले तो उन्होंने नहीं पहचाना, किन्तु पीछे एक सत्पुरुषद्वारा उन्हें मालूम हुआ कि वह श्रीसद्गुरु हैं। उनको एक बार हैजेकी बीमारी हुई और बीमारीमें श्रीसद्गुरुने आकर उनके पेटपर अपना हस्तस्पर्श कर दिया जिससे बीमारी जाती रही। उन्होंने उस समय स्पष्ट शब्दोंमें यह भी कहा कि जिस कारणसे यह रोग हुआ, उसे फिर कभी न करना।

एक परम सच्चरित्र वैश्य साधक एक सत्पुरुषसे मन्त्रदीक्षा लेकर ध्यान-जप करने लगे। उससे उनका हृदय-चक्र जागा और उसका स्पष्ट अनुभव भी उन्हें अपने अन्दर होने लगा।

एक श्रीरामोपासक साधक, जिनका एक सत्पुरुषसे घनिष्ठ सम्बन्ध है, अपने हृदयमें उस सत्पुरुषको देखते हैं और उस सत्पुरुषके हृदयके भीतर श्रीसद्गुरुको शिष्य-सहित देखते हैं।

एक साधक एक सत्पुरुषसे मन्त्रदीक्षा लेकर ध्यान-जप करने लगे, किन्तु उनको श्रीसद्गुरुमें विश्वास नहीं था। उन्होंने श्रीसद्गुरुको अपने भीतर देखा और फिर अनेक महात्माओंको देखा और उन सबसे बातचीत भी की। उन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभुके भी दर्शन प्राप्त किये। उन्हें उपदेश यही मिला कि नामका प्रचार करो और होम करो। किन्तु ये सब घटनाएँ स्वप्नमें हुईं।

एक कायस्थकी विधवा स्त्री श्रीशबरीकी भाँति एक सत्पुरुषकी सेवा करती है और जब सत्पुरुषसे पृथक् रहती है तब ध्यान-जप करती है। वह भी अपने इष्ट और श्रीसद्गुरुको अपने हृदयमें देखती है।

एक कायस्थ जिज्ञासुने उपयुक्त उपायद्वारा योग्य गुरुका पता जाननेकी चेष्टा की और उन्हें सो जानेपर एक सत्पुरुषका नाम स्वर्णाक्षरोंमें लिखा हुआ दिखायी पड़ा। उन्होंने फिर उन्हींसे मन्त्रदीक्षा ली।

एक दूसरे कायस्थ महाशयने स्वप्नमें सत्पुरुषको देखकर उनसे मन्त्रदीक्षा ली।

एक ब्राह्मण युवकने सत्पुरुष और श्रीसद्गुरुको स्वप्नमें देखा और पीछे वह उन सत्पुरुषके पास आकर कृतकृत्य हुए।

एक ब्राह्मणको सत्पुरुषसे मन्त्रदीक्षा लेकर ध्यान-जप करनेसे अभ्यन्तरमें अपनी इष्टदेवी आदिके दर्शन हुए।

एक ब्रह्मचारी ब्राह्मण उत्तम साधक थे। उन्होंने हठयोगका अभ्यास किया, किन्तु शान्ति नहीं मिली। उसके बाद वह एक भक्तकी सगतिमें आकर श्रीभगवान्‌की सुन्दर विभूतिके उपासक हुए। परन्तु फिर भी उनकी आन्तरिक पिपासा शान्त न हुई, बल्कि वह और भी बढ़ती ही गयी। आखिर उनकी व्याकुलता असह्य हो उठी और उनकी अन्तरात्माने शान्ति-पथ पानेके निमित्त क्रन्दन किया। तब स्वप्नमें एक विशेष सद्गुरुने दर्शन देकर उनसे एक व्यक्तिके निकट जाकर उपदेश लेनेको कहा। वहाँ उनको श्रीसद्गुरुका परिचय तथा राजयोग, उपासना, ध्यान आदिका उपदेश मिला और सत्पुरुषका भी समागम प्राप्त हुआ। फिर वह अभ्यास करने लगे और उसके बाद उक्त श्रीसद्गुरु प्रायः ही उनसे स्वप्नमें यह कहते थे कि जो उपदेश तुम्हें मिला है, वही ठीक मार्ग है, उसीका अनुसरण करो। कभी-कभी स्वप्नमें श्रीसद्गुरुद्वारा उनको चेतावनी भी मिलती थी कि अभ्यासमें सशय मत करो और उपदेशके अनुसार काम करते रहो। किन्तु किसी हठयोगीकी सगतिसे वह सिद्धिके लोभमें पड़ गये और पुनः हठयोगका अभ्यास करने लगे। अन्तमें फिर सँभलनेकी पूरी चेष्टा की गयी, किन्तु हैजेके रोगसे उन्हें शरीर त्यागना पड़ा।

जब श्रीसद्गुरु देखते हैं कि किसी साधकका वर्तमान शरीर साधनके योग्य नहीं है, तब वह परिवर्तन करा देते

हैं और प्रायः हैजेके रोगसे ही ऐसा परिवर्तन होता है।

एक ब्राह्मण प्रायः २१ वर्षसे जप-ध्यान करते थे, किन्तु उसके तत्त्वको नहीं समझते थे। जब उनको तत्त्व समझाया गया और उन्होंने उचित ढगसे अभ्यास किया तब उन्हें अपने भीतर प्रकाश दिखायी पड़ा और सत्पुरुषके सम्बन्धसे उनके अन्तरकी दृष्टि बहुत कुछ खुल गयी।

एक वैष्णव साधक जालन्धर-बन्ध करके हृदयमें प्रातः-सायं नियमसे जप-ध्यान करते हैं और इसके फलस्वरूप हृदयमें प्रकाश और प्रकाशके अन्दर इष्टदेवको देखते हैं। उनसे दीक्षाप्राप्त शिष्य भी प्रायः ऐसा देखते हैं।

एक शूद्रको, जो सत्पुरुषसे दीक्षा लेनेकी प्रतीक्षामें बैठे थे, यह सुनायी पड़ा कि अमुक देवताकी युगल मूर्तिका मन्त्र लो। उस मन्त्रको उन्होंने लिया और उसके थोड़े दिनके अभ्याससे ही—उन्हें अपने हृदयमें इष्टकी युगल मूर्तिके दर्शन हुए तथा स्वप्नमें श्रीसद्गुरुके दर्शन मिले। उन्होंने श्रीसद्गुरुको दो शिष्योंके सहित ध्यानावस्थित देखा और वहाँपर जलती हुई आरती तथा होमकी ज्वाला भी देखी।

एक कायस्थको किसी सद्गुरुने आदेश दिया कि तुम विष्णु-मन्त्र ग्रहण करो। जब उनके कुल-गुरु उन्हें परम्परानुसार शक्ति-मन्त्र देने लगे तब उन्होंने उनसे कहा कि मैं विष्णुका मन्त्र लूँगा। गुरुने तदनुसार उन्हे विष्ण-मन्त्र दिया। उनका ऐसा विश्वास है कि उनके यह श्रीसद्गुरु श्रीनारदजी हैं, जिन्होंने उनसे ऐसा करनेको कहा।

एक हरिजन एक कबीरपन्थी गुरुसे मन्त्र लेकर नित्य नियमपूर्वक रात्रिके तीसरे पहरमें भ्रूमध्यमें ध्यान करते हुए मन्त्र जपने लगे। पाँच-छः महीने बाद उन्होंने किसी महापुरुषको देखा जो शायद श्रीकबीर हो सकते हैं। तबसे वह रोज रातमें भ्रूमध्यमें ध्यान करनेपर उन्हें देखने लगे। कुछ दिनों बाद एक दूसरे महापुरुष प्रकट हुए जो श्रीबुद्धके समान थे। कुछ दिन उन्हें देखनेके बाद उन्होंने एक और तीसरे श्रीसद्गुरुको देखा। उसके बाद वह एक ऐसे महात्माको देखने लगे जिनके नेत्रोंसे अश्रु चलते थे। 'कल्याण' के किसी विशेषांकमें महात्मा श्रीसियारामदासजीके चित्रको देखकर उन्होंने कहा कि आजकल मैं इन्हींको ध्यानमें देखता हूँ। पता लगानेपर मालूम हुआ कि जीवितावस्थामें उक्त महात्माके नेत्रोंसे प्रायः अश्रु बहा करते थे। फिर उन्होंने श्वेतवर्ण मुकुटधारी युगल मूर्ति (स्त्री-पुरुष) देखना आरम्भ किया। इसके बाद भी परिवर्तन हुआ और हो रहा है। किन्तु अब यह आदेश है कि किसीसे इन अनुभवोंको न कहो।

एक विरक्त साधुको स्वप्नमें श्रीसद्गुरुके दर्शन हुए और मन्त्रोपदेश भी मिला। वह क्रमशः उन्नति करने लगे; किन्तु पीछे उपनिषदोंके अर्थको न समझ निर्गुणवादमें पड़ गये और उन्होंने अपने पहलेके अनुभवोंकी अवहेलना कर दी।

एक जिज्ञासुको हठयोगके गुरुने कहा कि हठयोगके लिये पूर्ण ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता है; इसलिये जबतक तुम्हें पुत्र उत्पन्न नहीं हो जाता तबतक अभ्यास नहीं बताया जायगा। एक श्रीसद्गुरुने उनसे कहा कि अब हठयोगीसे जाकर कहो कि पुत्र हो गया, उपदेश दीजिये। उन्होंने ऐसा ही किया और इसके बाद उन्हें समाचार मिला कि पुत्र उत्पन्न हुआ है। थोड़े ही कालतक हठयोगका अभ्यास करनेपर उन्हे यह आदेश मिला कि अमुक देवीके स्थानमें जाकर केवल पयाहार करके अभ्यास करो। ऐसा करनेके बाद हठयोग छोड़कर उपासना-ध्यान आदि राजयोगका अभ्यास करनेका उपदेश मिला। किन्तु उन्होंने हठयोगके अभ्यासका त्याग नहीं किया तथा मालूम होता है, राजयोगका अभ्यास करनेमें ढिलाई की। कुछ कालके बाद रोगग्रस्त होकर उन्होंने शरीरका त्याग किया।

व्रजके एक ब्रह्मचारीको भी एक श्रीसद्गुरुके दर्शन हुए थे।

एक सेठको भी, जो विरक्त स्वभावके साधक थे, श्रीसद्गुरुके दर्शन हुए और उपदेश भी मिला।

अधिकांश साधकोंको कुछ दिन साधना करनेके बाद, यदि वे शैव न हों तो, स्वप्नमें शिवमूर्ति, शिवलिङ्ग, शिवपूजा आदिके दर्शन होने लगते हैं, जिसका भाव यही है कि अब उनको अपने इष्टकी उपासनाके साथ-साथ श्रीशिवजीकी भी उपासना जगद्गुरुके रूपमें करनी चाहिये, जिसमें उनकी कृपासे इष्टकी प्राप्ति हो।

इन अनुभवोंके सम्बन्धमें एक बात जाननेकी यह है कि यह कोई नियम नहीं है कि जितने लोग सत्पुरुषसे दीक्षा, उपदेश लेते हैं, उनमें सबको अनुभव होता है—अधिकांशको नहीं होता, थोड़े लोगोंको ही होता है। जिस साधकको इष्टकी दीक्षा मिल चुकी है, उसके लिये

आवश्यक नहीं है कि वह पुनः दीक्षा ले, बल्कि उसे नहीं ही लेनी चाहिये, यदि उसे इष्टका परिवर्तन न करना हो। हाँ, उपासना-ध्यानके विषयमें उपदेश लेना चाहिये। प्रथम तो योग्यता न प्राप्त होने और अभ्यास ठीक प्रकारसे न करनेके कारण अनुभव नहीं होता, दूसरे, जिसे कुछ अनुभव न हो उसे यह नहीं समझना चाहिये कि उसने कुछ भी उन्नति नहीं की। बात यह है कि उपासना-ध्यानके द्वारा उन्नति विशेषकर सूक्ष्म और कारण शरीरकी होती है। यदि स्थूल शरीर शुद्ध और उन्नत न हो तो उसको भीतरके शरीरोंकी उन्नतिका पता भी नहीं मिलता।

ऊपरके अनुभव लिखनेका उद्देश्य किसीकी विज्ञप्ति करना नहीं है। केवल इसी निमित्त इन्हें यहाँ लिखा गया है कि साधकोंको यह दृढ़ विश्वास हो जाय कि श्रीसद्गुरु, सत्पुरुष सहायता करनेके लिये सदा प्रस्तुत रहते हैं। यह हमलोगोंका दोष है कि हम सहायता पानेकी उचित योग्यता प्राप्त करनेके निमित्त चेष्टा नहीं करते, इधर-उधर केवल भटकते फिरते हैं और सुलभ मार्गके लोभवश स्वार्थियोंके पञ्जेमें पड़ जाते हैं। जो प्रारम्भिक मार्ग है, उसका पता, अनुगमन करनेकी साधना आदिका वर्णन गीता आदिमें स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है। उसीके अनुसार अभ्यास करते हुए साधन-पथमें अग्रसर होना चाहिये। इस लेखमें भी आवश्यक साधना बतलायी गयी है, जिसके अनुसार अभ्यास करनेसे सहायता मिल सकती है। अतएव इन अनुभवोंके विषयमें कोई व्यक्तिगत जिज्ञासा नहीं करनी चाहिये।

एक परमावश्यक और परम स्मरणीय बात यह है कि श्रीसद्गुरु वे ही हैं जिन्होंने निर्वाण पानेकी योग्यता प्राप्त करके भी संसारके हितसाधनके निमित्त निर्वाणका त्याग कर दिया। इस परम त्यागके बादसे वे संसारका सब तरहसे कल्याण करनेके व्रतमें लगे हुए हैं और इस व्रतको पूरा करनेके लिये वे सर्वदा सब व्यक्तियोंपर अपनी दृष्टि रखते हैं तथा यथासमय सबकी सहायता करते हैं। इस कारण उनकी कृपा-दृष्टि विशेषरूपसे उन्हीं व्यक्तियोंपर होगी जो स्वयं भी उनके इस संसार-हित-कार्यके करनेमें निष्काम-भावसे प्रवृत्त हों अर्थात् उनकी साधनाका मुख्य उद्देश्य अपना स्वार्थसाधन न हो, बल्कि जन-जनार्दनकी सेवा करना हो और उसीके निमित्त योग्यता प्राप्त करना साधनाका मुख्य लक्ष्य हो, और जो साथ-साथ यथाशक्ति और यथावसर ऐसी सेवा करते भी जायँ। जनताकी पारमार्थिक उन्नतिके निमित्त यत्न करना ही इस निष्काम सेवाका मुख्य लक्ष्य होना चाहिये, क्योंकि पारमार्थिक उन्नति ही यथार्थ उन्नति है।

समाधियोग

(लेखक—श्री श्रीधर मजूमदार एम० ए०)

पनिषदोंके द्रष्टा ऋषियोंने ध्यानबलसे अपने अतीन्द्रिय ज्ञानद्वारा इस बातको अवगत किया कि बाहरी समस्त चराचर जगत्के एकमात्र कारण अनन्त चेतन ब्रह्मके दो रूप हैं—एक व्यक्त रूप और दूसरी वह आभ्यन्तर चेतना जो बाह्य, व्यक्त जगत्को अनुप्राणित करती है, सत्ता-स्फूर्ति देती है। पहला रूप इन्द्रिय-गोचर है और बाह्य प्रपञ्च (phenomenon) कहलाता है और दूसरा अतीन्द्रिय है और प्रत्यक् चैतन्य (noumenon) कहलाता है। बाह्य प्रपञ्च परिणामी है और प्रत्यक् चैतन्य अपरिणामी है।

'ये सब दृश्य पदार्थ विनाशी हैं, अन्तरात्मा अविनाशी कहलाता है। निर्विशेष निरञ्जन परब्रह्म अक्षर है।' (योगशिखोपनिषद् ३। १६)

जहाँ बाह्य प्रपञ्च है वहाँ प्रत्यक् चैतन्य भी है। दूधमें मक्खनकी भाँति प्रत्यक् चैतन्य बाह्य प्रपञ्चमें सर्वत्र सर्वदा व्याप्त है, किन्तु प्रत्यक् चेतनके सर्वांशमें सर्वदा बाह्य प्रपञ्च नहीं है। दूधके अणु-अणुमें मक्खन है, किन्तु जबतक दूध मथा नहीं जायगा तबतक उसमें मक्खन दृष्टिगोचर नहीं होगा। इसी प्रकार समाधिका आश्रय लिये बिना प्रत्यक् चैतन्यका साक्षात्कार नहीं होता। जाग्रत् अवस्थामें क्षिप्त मनको इन्द्रियोंके द्वारा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दके रूपमें बाह्य प्रपञ्चका प्रत्यक्ष होता है, उस समय प्रत्यक् चैतन्य अन्तर्हित रहता है। किन्तु प्रत्यक् चैतन्यका साक्षात्कार इन्द्रियोंके निरोधसे अर्थात् निरुद्ध मनके द्वारा समाधि-अवस्थामें सच्चिदानन्दरूपमें

होता है; उस समय इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं और बाह्य प्रपञ्च तिरोहित हो जाता है।

'जब मनुष्य परमात्माको परमार्थतः देख लेता है तब अखिल दृश्य जगत् विलीन हो जाता है।' (जाबाल दर्शनोपनिषद् १०। १२)

इस प्रकार एक समयमें ब्रह्मके एक रूपका ही साक्षात्कार होता है। आत्मदर्शी मुनि ब्रह्मके अविनाशी प्रत्यक् चैतन्यस्वरूपका ही वरण करते हैं और परिणामी दृश्य स्वरूपका अपलाप करते हैं।

हमें दृश्य प्रपञ्चकी प्रतीति इन्द्रियोंके द्वारा होती है; किन्तु ये इन्द्रियाँ अर्थात् चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा मनके सहयोग विना व्यापार नहीं करतीं। उदाहरणतः यदि हमारा मन किसी दूसरे विचारमें सलग्न हो तो हमारे नेत्र खुले रहनेपर भी तथा किसी खास वस्तुपर हमारी दृष्टि जमी रहनेपर भी हमें उस वस्तुका प्रत्यक्ष नहीं होता। यही हाल दूसरी इन्द्रियां—श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचाका है। इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका अनुसन्धान करनेके अतिरिक्त मन प्राक्तन संस्कारोंकी ही आवृत्ति करता हुआ अथवा आगे मिलनेवाले पदार्थोंकी चिन्ता करता हुआ क्षिप्त अवस्थामें रह सकता है। चित्तकी वृत्तियोंका निरोध कर देनेसे, अर्थात् मनको सब प्रकारके सङ्कल्पोंसे सर्वथा शून्य कर देनेसे—इसीको चित्तकी निरुद्ध अथवा समाहित अवस्था कहते हैं—सारी इन्द्रियाँ निर्व्यापार हो जाती हैं, जिससे बाह्य प्रपञ्चका दीखना बन्द हो जाता है। परिणामी बाह्य प्रपञ्चके अदृश्य हो जानेपर उससे इतर अविनाशी प्रत्यक् चैतन्यकी उपलब्धि होती है। अर्थात् बाह्य आवरणके दृष्टिके सामनेसे हट जानेपर भीतरकी सार वस्तु प्रकट हो जाती है।

'चित्तके (बाह्य विषयोंका अनुसन्धान करते समय) चञ्चल होनेपर ससारका भान होता है। मनका निश्चल होना ही मुक्ति है। अतः हे विश्वके नियन्ता! परम तत्त्वके ज्ञानसे ही मनको स्थिर करना चाहिये।' (योगशिखोपनिषद्में महेश्वरका ब्रह्माके प्रति उपदेश देखिये ६। ५८)

'चञ्चलतासे शून्य मन अमर कहलाता है; वही तप है और उसीको मोक्ष कहते हैं—यह शास्त्रोंका सिद्धान्त है।'

सब प्रकारके सङ्कल्पोंसे सर्वथा शून्य हो जानेका नाम ही 'समाधि' है, जिस समाधिमें मन सर्वथा निश्चल हो जाता है और जीवात्मा और परमात्माका भेद मिट जाता है। जीवात्माका प्रत्यक् चैतन्यमें, सर्वव्यापी अन्तरात्मामें, ब्रह्मके अतीन्द्रिय रूपमें स्थित होना ही समाधि है। जीवात्माके अन्दर यह प्रत्यक् चैतन्य अथवा परमात्मा, जिसे निर्विकल्प 'परम अहम्' भी कहते हैं, क्षुद्र अह-प्रत्ययसे आच्छन्न रहता है, जो देहाभिमानका कारण है। इस क्षुद्र अहबुद्धिके निवृत्त हो जानेपर अथवा चूर्ण हो जानेपर प्रत्यक् चैतन्य अथवा निर्विकल्प 'परम अहम्'का उदय होता है। अतः समाधिलाभके लिये क्षुद्र अहबुद्धिकी निवृत्ति आवश्यक है। दूसरे शब्दोंमें क्षुद्र अहंबुद्धिकी निवृत्ति ही समाधि है, जिस समाधिमें हृदयकी गाँठ खुल जाती है और चित्तका विस्तार होकर उसे पूर्णताकी अवस्था प्राप्त हो जाती है।

'जीवात्मा और परमात्माकी एकताके ज्ञानके उदयको ही 'समाधि' कहते हैं।' (जाबालदर्शनोपनिषद् १०। १ और अन्नपूर्णोपनिषद् ५। ७५)

'जीवात्माकी परमात्माके साथ एकता ही, जिसमें सङ्कल्पकी सारी क्रिया ही नष्ट हो जाती है, 'समाधि' कहलाती है।' (सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् १६)

'मुनियोंके द्वारा साधित समाधि उस सङ्कल्पशून्य अवस्थाका नाम है जिसमें न तो मनकी क्रिया है और न बुद्धिका व्यापार है, जो आत्मज्ञानकी अवस्था है और जिसमें उस (प्रत्यक् चैतन्य) के अतिरिक्त सबका बाध है।' (मुक्तिकोपनिषद् २। ५५)

'ब्रह्माकारवृत्तिके द्वारा अथवा सर्वसङ्कल्पनिवृत्तिके द्वारा चित्तकी वृत्तियोंको सर्वथा भूल जानेका नाम ही 'समाधि' है।'§ (तेजोविन्दपनिषद् १। ३७)

'हे ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण, 'समाधि' शब्द उस सशयरहित मानसिक पूर्णताका वाचक है जिसमें आसक्तिका सर्वथा अभाव है और जिसमें सदसद्विवेक भी नहीं है।' (अन्नपूर्णोपनिषद् १। ५०)

जीवात्मा परमात्मरूप महासागरके वक्षःस्थलपर नृत्य करते हुए एक तरङ्गके समान है। तरङ्गके पीछे समुद्ररूप महान् आधार है। इसी प्रकार जीवात्माके पीछे परमात्मारूप महान् आधार है। वासना अथवा उससे उत्पन्न होनेवाली अहंबुद्धि ही तरङ्गकी सत्ताको अक्षुण्ण रखती है। जिस क्षण वासना नष्ट हो जाती है और उसके साथ ही अहंप्रत्यय भी निवृत्त हो जाता है उसी क्षण तरङ्ग विलीन

होकर सागरमें मिल जाती है, अर्थात् जीवात्मा परमात्मामें प्रवेश कर उसके साथ एकीभावको प्राप्त हो जाता है।

समाधिसिद्धि तथा मोक्षके लिये आवश्यकता है मनको निरुद्ध करनेकी, वासनाशून्य करनेकी अर्थात् सर्वथा सङ्कल्पशून्य होनेकी। इस सङ्कल्पशून्यताको ही जीवात्माकी प्रत्यक् चैतन्यमें, सर्वव्यापक अन्तरात्मामें, ब्रह्मके अतीन्द्रिय भावमें स्थिति कहते हैं।

'प्रत्येक वस्तुको ब्रह्मसे अभिन्न देखना ही ज्ञान है, मनको निर्विषय करना ही परमात्माका ध्यान है, मनोमलके नाशको ही स्नान कहते हैं और इन्द्रियनिग्रहका नाम ही शौच है।' (स्कन्दोपनिषद् ११ और मैत्रेय्युपनिषद् २।२)

'जब निश्चल मनके द्वारा क्षिप्त मनकी चिकित्सा करनेसे मनकी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं तभी सुदुर्लभ परब्रह्मका साक्षात्कार होता है।' (योगशिखोपनिषद् ६।६२)

'जिस क्षण हृदयमें भरी हुई सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं उसी क्षण यह मरणधर्मा मनुष्य अमृतत्व लाभ कर लेता है और इसी जीवनमें ब्रह्मानन्दका आस्वादन करता है।' (बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।७)

'जब इस क्षिप्त मनको सङ्कल्पाभावके शस्त्रसे शान्त कर दिया जाता है तभी (और उससे पूर्व नहीं) समग्र सर्वगत निर्विशेष ब्रह्मका साक्षात्कार होता है।' (महोपनिषद् ४।९१)

'जिस भाग्यवान् पुरुषकी आत्मामें रति हो गयी है, जिसका मन पूर्ण और शुद्ध है और जिसे अनुत्तम विश्राम प्राप्त हो गया है उसके लिये इस संसारमें कोई भी कामना बाकी नहीं रह जाती।' (महोपनिषद् २।४७)

'जो चित्त आत्मा(परमात्मा)में निवेशित हो गया है और जिसके सारे मल समाधिके द्वारा धुल गये हैं उसके आनन्दका वाणीद्वारा वर्णन नहीं हो सकता, केवल अन्तःकरणद्वारा अनुभव हो सकता है। (मैत्र्युपनिषद् ६।३४)

'जीवात्मा और परमात्माकी एकताकी अवस्था जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप त्रिपुटीका अभाव है, जो परमानन्दरूपा है और शुद्ध चैतन्यात्मिका है, वही समाधि है।' (शाण्डिल्योपनिषद् १।११)

उपनिषदों तथा पातञ्जल योगसूत्रमें समाधिकी अवस्था प्राप्त करने अर्थात् मनको निरुद्ध अथवा सब प्रकारके सङ्कल्पोंसे सर्वथा शून्य करनेकी अनेक विधियाँ बतायी गयी हैं। परन्तु मेरी समझसे उन सबमें श्रेष्ठ तथा सुगम विधि है प्रत्यक् चैतन्य, निर्विकल्प ब्रह्म, परमात्मा अथवा सर्वव्यापी अन्तरात्माको सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण करने अथवा उनके अन्दर आत्मनिक्षेप करनेकी मन-ही-मन भावना और अभ्यास करना। स्मरण रहे कि प्रत्यक् चैतन्य, निर्विकल्प ब्रह्म, परमात्मा और सर्वव्यापी अन्तरात्मा आदि सारे शब्द ब्रह्मके अतीन्द्रिय रूपका ही लक्ष्य कराते हैं। इस पूर्ण समर्पणकी साधनामें तीव्र भक्ति और श्रेष्ठ ज्ञान दोनों मिले हुए रहते हैं। पूर्ण समर्पणकी भावना तीव्र भक्तियोगसे ही उत्पन्न होती है और सर्वव्यापी अन्तरात्माके अन्दर आत्मनिक्षेप इस श्रेष्ठ ज्ञानसे होता है कि यह सर्वव्यापी अन्तरात्मा, जो अमृतत्वका कारण है, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पञ्चमहाभूतों अर्थात् इन्द्रियगोचर बाह्य प्रपञ्चके पीछे छिपा रहता है। 'यह आत्मा ही इन सबके भीतर चल रहा है। इस आत्माकी ही उपासना करो, जो अनन्त, तथा जन्म, मृत्यु, भय एवं शोकसे रहित है।' (सुबालोपनिषद् ५।१)

जीवात्माको परमात्माके शरणापन्न कर देनेकी मन-ही-मन भावना करनी चाहिये। परन्तु यह अहंबुद्धि ही जीवात्माको परिच्छिन्न एवं परमात्मासे पृथक् बना रखती है। अतः जीवात्माको परमात्माके अर्पण कर देनेका अर्थ है अहंबुद्धिको सर्वव्यापी अन्तरात्मा अर्थात् निर्विकल्प परम अहम्के अर्पण कर देना। इसके लिये व्यष्टि बुद्धिकी भावना एवं ध्यानरूप अभ्याससे समष्टिबुद्धि अर्थात् समष्टि अहङ्कारके रूपमें परिणत करना होगा, इससे सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होगी। यह समष्टिमें फैली हुई बुद्धि परिपक्व होनेपर शुद्ध अहङ्कारके, निर्विकल्प परम अहम्के रूपमें बदल जाती है। इस अवस्थामें मनकी क्रिया सर्वथा-निरुद्ध-हो जाती है और क्षुद्र अहंबुद्धि निर्विकल्प ब्रह्ममें विलीन-हो जाती-है। इससे असम्प्रज्ञात-समाधि सिद्ध होती है जिसमें जीवात्मा निर्विकल्प ब्रह्मके साथ एकात्मताको प्राप्त हो जाता है।

'हे पद्मसम्भव! इस परम तत्त्वकी उपलब्धि भक्तिके द्वारा, चित्तके अन्तर्लीन होनेसे होती है। भावनामात्र ही इस स्थितिका कारण है।' (योगशिखोपनिषद्—महेश्वरका ब्रह्माके प्रति उपदेश १।२३)

'चित्तवृत्तिका अहङ्कारशून्य होकर ब्रह्माकार बन जाना ही सम्प्रज्ञात समाधिका स्वरूप है। यह स्थिति ध्यानके परिपक्व अभ्याससे सिद्ध होती है।' (मुक्तिकोपनिषद् २। ५१)

'चित्तकी प्रशान्त वृत्ति, जो ब्रह्मानन्दको देनेवाली है, असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। यह अवस्था योगियोंको अतिशय प्रिय है।' (मुक्तिकोपनिषद् २। ५२)

'जब चित्त अपनी चैत्य दशा अर्थात् विषयचिन्तनसे मुक्त हो जाता है, तब इस प्रकारके क्षीणचित्त पुरुषोंकी स्थितिको बाह्यप्रतीतिशून्यता अथवा कलनाशून्यता कहते हैं। यह एक प्रकारकी जाग्रत् अवस्थामें सुषुप्ति है।

'हे निदाघ! यह जाग्रत् अवस्थाकी सुषुप्ति अभ्यास-साध्य है। यही जब प्रौढ़ हो जाती है तब इसे तत्त्ववेत्ता पुरुष तुरीयावस्था अथवा समाधि-अवस्था कहते हैं।' (अन्नपूर्णोपनिषद्—महर्षि रिवका अपने शिष्य निदाघके प्रति उपदेश २। १२, १३)

'मैं केवल सत्तारूप हूँ, मैं क्षुद्र अहंबुद्धिसे शून्य परम अहम् हूँ। मेरा स्वरूप बाह्य प्रपञ्चसे विरहित है, मैं चिदाकाशमय हूँ।' (तेजोबिन्दूपनिषद् ३। ३)

यह आगे बताया जायगा कि अहंबुद्धिसे विशिष्ट परमात्मा ही जीवात्मा बना हुआ है, जिस प्रकार तरङ्ग वायुजन्य आन्दोलनसे विशिष्ट समुद्रके अतिरिक्त कुछ नहीं है। जीवात्माकी परमात्माके प्रति आत्मसमर्पण बुद्धि उसके अहंकारका नाश कर देती है और उसे समाधि अथवा तुरीय अवस्थाको पहुँचा देती है जहाँ पहुँचकर वह अपने असली तेजोमय स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

'केवल सद्भावकी भावना दृढ हो जानेसे वासना (अहंबुद्धि) का लय हो जाता है। वासनाका निःशेषरूपसे क्षय ही मोक्ष है और उसीको जीवन्मुक्ति भी कहते हैं।' (अध्यात्मोपनिषद् $\frac{१३}{२}$, $\frac{१२}{२}$)

'इस गुणसमाहार (बाह्य प्रपञ्च) को आत्मासे भिन्न देखनेवाले तत्त्वदर्शी पुरुषकी आन्तरिक शान्तिसे उत्पन्न स्थितिका नाम समाधि है।' (अन्नपूर्णोपनिषद् १। २९)

पातञ्जलयोगसूत्रकी समीक्षा करनेसे हम इसी सिद्धान्तको पहुँचते हैं। वहाँ भी इस बातकी ओर संकेत किया गया है कि चित्तकी चञ्चलता अथवा क्षुद्र अहंबुद्धि ही जीवात्माको परमात्मासे अलग रखती है, परन्तु ज्यों ही यह अहंकार अथवा भेदबुद्धि निवृत्त हो जाती है त्यों ही जीवात्मा अपने असली तेजोमय रूपको प्राप्त होकर परमात्माके साथ एक हो जाता है। जब चित्त अपनी चित्तताको भूलकर ध्येयाकार बन जाता है, उस अवस्थाको 'समाधि' कहते हैं। पातञ्जलयोगसूत्रमें भी अहंकारके नाशका सर्वोत्तम उपाय अपरिच्छिन्न निर्विकल्प ब्रह्मके प्रति आत्मसमर्पणबुद्धिपूर्वक कायिक, वाचिक, मानसिक सब प्रकारकी क्रियाके त्यागका अभ्यास कहा गया है। दृश्य प्रपञ्चकी आड़में छिपे हुए निर्विकल्प ब्रह्मका साक्षात्कार करनेमें जब इन्द्रियाँ अपनेको असमर्थ अनुभव करती हैं तब इस प्रकारकी निष्क्रियता एवं समर्पणका अभ्यास होता है। इस अभ्याससे उस क्रियाके अनुकूल आसन अपने-आप लग जाता है और साधक धीरे-धीरे शीतोष्ण, सुख-दुःख, सत्-असत् आदि द्वन्द्वोंके अभिघातसे मुक्त हो जाता है, साथ ही प्राणोंकी क्रिया भी अपने-आप बन्द हो जाती है और प्राणायाम सध जाता है, जिससे आत्म-साक्षात्कारका अवरोधक अहङ्कारका पर्दा हट जाता है।

'चित्तवृत्तिका निरोध ही योग है।'[1] (पातञ्जलयोग-सूत्र, समाधिपाद २)

'तब द्रष्टा अपने असली स्वरूपमें स्थित होता है।' (पा० यो० समाधि० ३)

'चित्तको किसी देश-विदेशमें बाँध देना 'धारणा' है।'[3] (पा० यो० विभूति० १)

'इस प्रकारकी एकाग्रताके द्वारा वृत्तिके अखण्ड प्रवाहका नाम 'ध्यान' है।'[4] (पा० यो० विभूति० २)

'ध्यानके स्थिर हो जानेपर मन ध्येयाकार बन जाता है और अपने स्वरूपको भूल जाता है। इस अवस्थाको 'समाधि' कहते हैं।'[5] (पा० यो० विभूति० ३)

'ईश्वरको सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण कर देनेसे समाधि सिद्ध होती है।'[6] (पा० यो० साधन० ४५)

---

१ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।
२. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।
३. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।
४. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।
५. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।
६ समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।

'सब प्रकारके प्रयत्नोंको शिथिल कर देनेसे तथा अनन्त परमात्माको आत्मसमर्पण करनेसे (ध्यानोपयोगी सरल आसन लग जाता है)।'[७] (पातञ्जल यो० साधन० ४७)

'इसके अनन्तर द्वन्द्वोंमें समभाव हो जाता है।'[८] (पा० यो० साधन० ४८)

'ऐसा होनेपर श्वास-प्रश्वासकी गति रुककर प्राणायाम लग जाता है।'[९] (पा० यो० साधन० ४९)

'तब (आत्माके) प्रकाशका अवरोधक आवरण क्षीण हो जाता है।'[१०] (पा० यो० साधन० ५२)

'उस अनन्त (परमात्मा) में निरतिशय सर्वज्ञताका बीज रहता है।'[११] (पा० यो० समाधि० २५)

'उसके (सर्वव्यापी अन्तरात्माको आत्मसमर्पण करनेके) बाद सारे विघ्न हट जाते हैं और प्रत्यक्चेतनकी उपलब्धि हो जाती है।'[१२] (पा० यो० समाधि० २९)

योगकी प्राचीनता

(लेखक—पं० श्रीविधुशेखरजी भट्टाचार्य, एम० ए०)

'कल्याण'के इस योगाङ्कमें, हमारे देशमें योगसाधना कबसे प्रचलित हुई इस सम्बन्धमें दो-चार शब्द लिखना अप्रासङ्गिक नहीं होगा। इस बातको बतलानेके लिये अब किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है कि जबसे द्रव्ययज्ञोंके स्थानमें ज्ञानयज्ञोंका अनुष्ठान प्रारम्भ हुआ तबसे ज्ञानयज्ञका अनुष्ठान करनेवाले ब्राह्मणों, बौद्धों, जैनों आदि सभी लोगोंके लिये योगसाधना स्वाभाविक ही आवश्यक हो गयी, क्योंकि बिना योगके ज्ञानयज्ञ कोई चीज नहीं है। इसीलिये इन सभी लोगोंके धर्मग्रन्थ जिनमें वे ग्रन्थ भी शामिल हैं जो अपौरुषेय माने जाते हैं, अर्थात् किसी मनुष्यके बनाये हुए नहीं माने जाते, योगचर्चासे भरे हैं।

इस प्रसङ्गमें इस प्रश्नका उठना स्वाभाविक ही है कि इस योगसाधनाका जन्म इस देशमें ही हुआ अथवा भारतवासियोंने किसी अन्य देशके लोगोंसे इसे सीखा।

एक विद्वान्का मत है कि वैदिककालके उपासक महान् आशावादी थे। वे इस लोकमें धन-धान्य और दीर्घायुके अभिलाषुक थे और परलोकमें पितृलोकके सुखकी कामना किया करते थे। अतः प्राणायामके द्वारा शरीरको कष्ट पहुँचाना जो योगका एक आवश्यक अङ्ग है, उन लोगोंकी प्रकृतिके सर्वथा प्रतिकूल था। वैदिककालके आर्यलोग कतिपय अर्द्धसभ्य जातियोंके सम्पर्कमें आकर उन्हें समुन्नत बनानेकी चेष्टा कर रहे थे। उन्हींसे इन्होंने शरीरको मूर्तिके समान अचल बनानेकी क्रिया सीखी।

परन्तु उपर्युक्त विद्वान्की यह धारणा युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि ऋग्वेदमें ही (देखिये १०। १३६। २) कुछ ऐसे मुनियोंका वर्णन आता है जो दिगम्बरवेशमें रहते थे तथा मटमैले पीलेरंगके वस्त्र पहनते थे। (मुनयो वातवसनाः पिशङ्गा वसते मलाः)* यही नहीं, अन्यत्र (देखिये १०। १३६। ३) उनके मौनेय (मुनियोंके उचित आचरण) का भी वर्णन मिलता है। उक्त स्थलोंमें निःसन्देह योगियोंका ही उल्लेख हुआ है।

इस प्रकार यह बात अनुमानसे ठीक मालूम होती है कि ऋग्वेदके कालमें योगसाधनाका प्रचार था और यह साधना भारतीय आर्योंकी विशेष सम्पत्ति थी। परन्तु कुछ विद्वान् जो मोहन-जो-दड़ो तथा हरप्पामें प्राप्त हुए प्राचीन ध्वंसावशेषोंके आधारपर सिन्धुप्रदेशकी संस्कृतिका

७. प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम्।
८. ततो द्वन्द्वानभिघातः।
९. तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।
१०. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।
११. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।
१२. ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।

* हमारे जैन विद्वानोंकी यह धारणा है कि उपर्युक्त मन्त्रोंमें उनके जैन साधुओंका उल्लेख है

अध्ययन कर रहे हैं, उनका मत यह है कि वैदिक कालके आर्योंने सिन्धुप्रदेशके अनार्य निवासियोंसे इस विद्याको सीखा, वे अपने मतकी पुष्टिमें प्रमाण यह देते हैं कि सिन्धुप्रदेशकी सभ्यता वैदिक सभ्यतासे बहुत पहलेकी है।

परन्तु यह तो उनकी कल्पनामात्र है, क्योंकि अभीतक यह बात सन्तोष-प्रद रीतिसे सिद्ध नहीं हुई है कि सिन्धुप्रदेशकी सभ्यता वैदिक सभ्यताको अपेक्षा प्राचीन है। सिन्धुप्रदेशकी सभ्यताका काल ईस्वी सनसे तीन-चार हजार वर्ष पूर्व माना जाता है और ऋग्वेद, कुछ लोगोंके मतमें, ईसामसीहसे २५०० वर्ष पहलेका माना जाता है। किन्तु कुछ विद्वान् यह सिद्ध करनेकी चेष्टामें हैं कि ऋग्वेद ईसामसीहसे करीब ४५०० वर्ष पुराना है। इस विषयका विस्तार न बढाकर हम इतनी बात दावेके साथ कह सकते हैं कि वैदिक साहित्यका विकास ईसामसीहसे कम-से-कम २५०० वर्ष पूर्व अवश्य प्रारम्भ हुआ होगा, इसके लिये हमारे पास पर्याप्त प्रमाण हैं। ऐसी दशामें हम ऐसा नहीं मान सकते कि हमें मोहन-जो-दडो तथा हरप्पामें जो कुछ उपलब्ध हुआ है वह आर्य संस्कृतिसे पहलेका है। अतः जबतक हमारे सामने कोई प्रबल प्रमाण नहीं रक्खे जाते तबतक हम इस बातको माननेके लिये तैयार नहीं हैं कि भारतीय आर्योंने योगसाधना अनार्योंसे सीखी।

योग और उसके फल

(लेखक—स्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती)

योग क्या है ?

'योग' शब्द संस्कृतके 'युज्' धातुसे बना है, जिसका अर्थ है जोड़ना। योगका आध्यात्मिक अर्थ है वह साधन-सरणि जिसके द्वारा योगीको जीवात्मा और परमात्माकी एकताका अनुभव होता है—जीवात्माका परमात्माके साथ ज्ञानपूर्वक संयोग होता है। इस गुह्य ज्ञानको सिखानेवाला शास्त्र योगशास्त्र कहलाता है।

योग वह आध्यात्मिक विद्या है जो जीवात्माका परमात्माके साथ संयोग करानेकी प्रक्रिया बतलाती है। योग वह परमार्थविद्या है जो जीवको इन्द्रियगोचर बाह्य प्रपञ्चके जञ्जालसे मुक्तकर अखण्ड आनन्द, परम-शान्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त जीवन आदि स्वाभाविक गुणोंसे युक्त परमात्माके साथ उसका संयोग करा देती है।

योगका व्यापक अर्थ करनेसे उसके अन्दर कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग, ज्ञानयोग, हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग अथवा कुण्डलिनीयोग आदि सभी योगोंका समावेश हो जाता है। उसका सङ्कुचित अर्थ करनेसे वह केवल अष्टाङ्गयोग अथवा महर्षि पतञ्जलिद्वारा प्रवर्तित राजयोगका ही वाचक प्रतीत होता है।

चतुर्विध योग

जिस प्रकार एक ही अन्न भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके उपयोगमें नहीं आ सकता, इसी प्रकार एक ही मार्ग सब लोगोंके लिये अनुकूल नहीं हो सकता। मनुष्य चार प्रकारके होते हैं—कर्मप्रधान, भक्तिप्रधान, योग-प्रधान और दार्शनिक अथवा बुद्धिप्रधान, अतः उनकी प्रकृतिके अनुकूल मार्ग भी चार ही हैं, यद्यपि उन सबका लक्ष्य एक ही है—परमतत्त्वकी उपलब्धि। मार्ग भिन्न-भिन्न होनेपर भी प्राप्तव्य स्थान एक ही है। इस परम तत्त्वको उपर्युक्त चार प्रकारके मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे उपलब्ध करनेके जो चार मार्ग बताये गये हैं उन्हींको कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग और ज्ञानयोगके नामसे पुकारते हैं।

ये चारों मार्ग परस्परविरोधी न होकर एक दूसरेके सहायक हैं। ये इस बातके द्योतक हैं कि हिन्दू-धर्मके भिन्न-भिन्न मार्गोंमें परस्पर सामञ्जस्य है। धर्मके द्वारा समग्र मनुष्यका—उसके हृदय, मस्तिष्क और हाथ तीनों अंगोंका संस्कार एवं विकास होना चाहिये। तभी वह पूर्णताको प्राप्त हो सकता है। एकदेशीय विकास अभिनन्दनीय नहीं है। कर्मयोगसे मलका नाश होता है, चित्तकी शुद्धि होती है और हाथोंमें कुशलता आती है। भक्तियोगसे विक्षेप दूर होता है और हृदयका विकास होता है। राजयोगसे मनकी स्थिरता एवं एकाग्रता निष्पन्न होती है। ज्ञानयोगसे अज्ञानका आवरण हटकर इच्छा एवं बुद्धिका विकास होता है और आत्मज्ञानकी उपलब्धि होती है। अतः साधकको चाहिये कि वह चारों प्रकारके

योगका अभ्यास करे। अध्यात्ममार्गमे तेजीके साथ आगे वढनेके लिये हम ज्ञानयोगको मुख्य आधार बनाकर अन्य योगोका सहायकरूपमे साधन कर सकते हैं।

सर्वांगीण विकास आवश्यक है

कर्म, भाव और बुद्धि ये तीन घोड़े इस शरीररूपी रथमे जुड़े हुए है। इन तीनोंके व्यापारमे पूर्ण सामञ्जस्य होना चाहिये, तभी रथ आसानीसे चल सकता है। समस्त अगोंका विकास होना चाहिये, हमारा मस्तिष्क शङ्करका-सा, हृदय बुद्धका-सा और हाथ जनकके-से होने चाहिये। भक्तिशून्य वेदान्त बिल्कुल रसहीन हो जाता है। ज्ञानविरहित भक्ति पूर्ण नहीं होती, और जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है, आत्माके साथ अपनी एकताका अनुभव कर लिया है वह अपने आत्मरूप जगत्की सेवा किये विना कैसे रह सकता है ? भक्ति ज्ञानसे वियुक्त नहीं है, वल्कि यो कहना चाहिये कि ज्ञान भक्तिकी पूर्णतामे सहायक है।

विरोधका परिहार

इस प्रश्नको लेकर लोगोंमें वड़ा मतभेद है कि ज्ञान भक्तिका आवश्यक अग है या नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि ज्ञान भक्तिका साधन है। उन लोगोंका कहना यह है कि भगवान्को विना जाने हम उनकी भक्ति कैसे कर सकेंगे। कुछ प्रसिद्ध भक्त ऐसा कहते हैं कि ज्ञान और भक्ति विल्कुल स्वतन्त्र साधन है। वे अपने अनुभवके आधारपर पूर्ण निश्चयके साथ यह कहते हैं कि भक्ति स्वय साध्यरूपा है और उसकी सफलताके लिये ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है। विजलीके रहस्योको जाननेवाला इञ्जिनियर यदि किसी अँधेरी रातको घने जगलमें पड़ जाय और वहाँसे निकलनेका रास्ता उसे न मिले तो निरा विजलीका ज्ञान उसके क्या काम आवेगा ? क्या अन्नके ज्ञानमात्रसे किसीकी भूख बुझ सकती है ?

भक्ति और ज्ञान परस्पर विरोधी हैं, ऐसा कहना निरी मूर्खता है। पूर्ण ज्ञान ही प्रेम है और पूर्ण प्रेम ही ज्ञान है। पराभक्ति और ज्ञान एक ही वस्तु हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(गीता १०।१०)

'इस प्रकार जो मुझमे निरन्तर मनको लगाकर प्रेमसे मेरा भजन करते हैं उनको मैं वह ज्ञान देता हूँ जिसके द्वारा वे मुझे प्राप्त कर लेते है।'

गीतामें अन्यत्र भी कहा है—'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्' (श्रद्धा अर्थात् भक्तिवान्को ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है)।

राजयोग

(१) उसके आठ अङ्ग

राजयोगके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अङ्ग है। यमका अर्थ है आत्मनिग्रह अर्थात् अहिंसा (किसीको कष्ट नहीं पहुँचाना), सत्य, अस्तेय (चोरी नहीं करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (निर्लोभता) का अभ्यास करना। शौच (वाहर-भीतरकी पवित्रता), सन्तोष, तप (स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहन करना), स्वाध्याय (वेदादि उत्तम शास्त्रोंका अध्ययन तथा भगवान्के नामका जप-कीर्तन आदि) और ईश्वरप्रणिधान (ईश्वरकी उपासना करना तथा सारे कर्मोंका फल उन्हें अर्पण कर देना)—इन पाँच व्रतोंके पालनका नाम नियम है। यम-नियमके अभ्याससे योगाभ्यासीकी चित्तशुद्धि होती है। मैत्री, करुणा और मुदिताको बढ़ानेसे घृणा, ईर्ष्या और हृदयकी कठोरताका नाश होकर मनको शान्ति मिलती है। आसन साधनेसे शरीर स्थिर और दृढ़ हो जाता है। प्राणायामके अभ्याससे चित्तका विक्षेप दूर होता है और प्रकाशके आवरणभूत रज और तमका नाश होता है। प्राणायाम करनेवालेका शरीर भी हलका हो जाता है। प्रत्याहार (इन्द्रियोंकी विषयोंसे निवृत्ति) के अभ्याससे साधकको मनोवल और मानसिक शान्ति मिलती है। मनको एकाग्र करनेका नाम धारणा है। ध्यान कहते हैं किसी वस्तुके निरन्तर चिन्तनको। समाधि तुरीयावस्थाका नाम है। धारणा, ध्यान और समाधि, इनके युगपत् अभ्यासका नाम सयम है। वाह्य पदार्थोंमें सयम करनेसे अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और इस पञ्च महाभूतोंसे वने हुए जगत् और उनसे भी सूक्ष्म पञ्च तन्मात्रोंके रहस्योंका ज्ञान होता है। इन्द्रिय, अहङ्कार, मन इत्यादिपर सयम करनेसे अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ और अनुभव प्राप्त होते हैं।

(२) अष्ट सिद्धियाँ

अष्ट महासिद्धियाँ ये है—(१) अणिमा (अपनेको

अणुके सदृश सूक्ष्म बना लेना), (२) महिमा (अपनेको पर्वतके समान विशालकाय बना लेना), (३) लघिमा (अपने शरीरको रूईके समान हलका बना लेना), (४) गरिमा (अपने शरीरको लोहेके पर्वत-जैसा भारी बना लेना), (५) प्राप्ति (चन्द्रमाको उँगलीके अग्रभागसे छू लेना), (६) प्राकाम्य (सब प्रकारकी इच्छाओंका पूर्ण हो जाना), (७) ईशित्व (सृष्टि उत्पन्न करनेकी शक्ति) और ८ वशित्व (सबपर शासन करने तथा पञ्च महाभूतों-पर विजय प्राप्त कर लेनेकी शक्ति)।

(३) समाधिके अवान्तरभेद

योगी क्रमशः योगकी भिन्न-भिन्न भूमिकाओंपर आरूढ होकर अनेक प्रकारके अनुभव, ज्ञान और शक्तियाँ प्राप्त करता है। उसे पहले सवितर्क और निर्वितर्क समाधि सिद्ध होती है और इसके अनन्तर वह सविचार एवं निर्विचार समाधिमें प्रवेश करता है। अन्तमें जाकर वह सानन्द एव सस्मित समाधिका आनन्द लूटता है। इन निम्न श्रेणीकी समाधियोंमें आलम्बन (आधार), सस्कार और ध्याता-ध्यान-ध्येयरूप त्रिपुटी विद्यमान रहती है। इन समाधियोंसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती। जो योगी सबसे ऊँची असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करना चाहता है उसके लिये ये निम्न स्तरकी समाधियाँ अन्तरायरूप हैं। असम्प्रज्ञात समाधिके सिद्ध हो जानेपर जन्म-मृत्युके कारणभूत सस्कारबीज निःशेषतया भर्जित हो जाते है।

(४) राजयोगियोंके चार भेद

योगी भी चार प्रकारके होते हैं। इनमेंसे पहली श्रेणीके योगी 'प्रथमकल्पित' कहलाते हैं। ये बिल्कुल नौसिखुए होते है। इनके अन्दर प्रकाशकी झलकमात्र दिखलायी देती है। इन्हे सिद्धियाँ प्राप्त नहीं होतीं। ये लोग सवितर्क समाधिका अभ्यास करते है। दूसरी श्रेणीके योगी 'मधुभूमिक' कहलाते हैं। ये लोग निर्वितर्क समाधिमें प्रवेशकर ऋतम्भरा प्रज्ञाको प्राप्त किये हुए रहते हैं। इस भूमिकाको 'मधुमती' भूमिका कहते है, जिसका कारण यह है कि इसके अन्दर हमे वह ज्ञान प्राप्त होता है जो मधुके समान आनन्ददायक एव तृप्तिकारी है। तीसरी श्रेणीके योगियोंका नाम है 'प्रज्ञाज्योतिः'। ये लोग पञ्च महाभूतों और इन्द्रियोंको जीते हुए रहते हैं। इस श्रेणीके योगी देवताओंके भी प्रलोभनमें नहीं आते। इस अवस्थाका नाम 'मधुप्रतीक' है। चौथी श्रेणीके योगियोंका नाम है 'अतिक्रान्तभणनीय।' ये योगी 'विशोका' और 'संस्कारशेषा' नामक भूमिकाओंपर आरूढ रहते है, ये कैवल्यको प्राप्त होते हैं।

राजयोगी बिना सयम किये ही प्रतिभासे सारी सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है। उच्चतम ज्ञानका नाम 'प्रसख्यान' है जो विवेकख्याति अर्थात् प्रकृति और पुरुषके भेदज्ञानसे उत्पन्न होता है।

इस ज्ञानको प्राप्त हुए योगीके अन्दर अब 'धर्ममेघ' समाधिका उदय होता है। उसे परवैराग्यकी प्राप्ति होती है। वह सब प्रकारकी सिद्धियोंसे, यहाँतक कि सर्वज्ञता एव सर्वशक्तिमत्त्व आदिसे भी मुँह मोड़ लेता है, क्योंकि वह जानता है कि ये सारी-की-सारी सिद्धियाँ सर्वोच्च समाधिकी प्राप्तिमे अन्तरायरूप ही है। तब उसे असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है, जिससे जन्म-मृत्युके कारणभूत सारे सस्कार निःशेषरूपसे दग्ध हो जाते हैं।

इस स्थितिको प्राप्त हुआ योगी बिना नेत्रोंके देखता है, बिना जिह्वाके रसास्वाद करता है, बिना कानोंके सुनता है, बिना नाकके सूँघता है और बिना त्वचाके स्पर्श करता है। वह सङ्कल्पमात्रसे अगणित चमत्कार कर सकता है। उसकी इच्छासे ही सब कुछ हो जाता है। तैत्तिरीय आरण्यक (१। २५) मे इस स्थितिका इसप्रकार वर्णन मिलता है—

'नेत्रहीनने मोती बींध दिया, बिना उँगलीवालेने उसमे धागा पिरो दिया, कण्ठहीनने उसका हार पहन लिया और जिह्वाहीनने उसकी प्रशसा की।'

(५) कैवल्य

अन्ततोगत्वा पुरुष अपने ऐश्वर्यमय अथवा कैवल्यात्मक स्वरूपकी उपलब्धि कर लेता है। वह प्रकृति और उसके कार्योंसे सर्वथा असम्पृक्त रहता है। वह अपनेको सर्वथा स्वतन्त्र (मुक्त) अनुभव करता है और राजयोगीके चरम लक्ष्य कैवल्यको प्राप्त हो जाता है। अब उसके समस्त क्लेशकर्म नष्ट हो जाते हैं। गुणोंका कार्य भोग और अपवर्ग-सिद्ध हो जानेके कारण अब उनका कार्य बिल्कुल बन्द हो जाता है। अब उसका ज्ञान सारा-का-सारा एककालिक हो जाता है। भूत और भविष्य उसके लिये वर्तमानमे मिल जाते है। प्रत्येक वस्तु वर्तमान हो जाती है, सामने आ जाती है। ऐसा योगी देश-कालको अतिक्रमणकर जाता है। कैवल्यप्राप्त योगीके अनन्त ज्ञानके सामने

त्रैलोक्यका समग्र ज्ञानभण्डार तथा समस्त लौकिक विद्याओंका ज्ञान कुछ नहीं है, निःसार है। जय हो, जय हो ऐसे महान् योगियोंकी ! उनका आशीर्वाद हम सबको प्राप्त हो।

हठयोग

हठयोगीका जोर आसन, बन्ध, मुद्रा और प्राणायामपर अधिक रहता है। उसे शरीरके निम्न भागमें स्थित मूलाधार-चक्रके अन्दर सोयी हुई कुण्डलिनी-शक्तिको जगाकर उसे शेष पाँच चक्रोंके मार्गसे सहस्रारचक्रमें ले जानेकी धुनि सवार रहती है। यह सहस्रारचक्र मस्तकके ऊर्ध्वभागमें ब्रह्मरन्ध्रके समीप स्थित है। यहाँ कुण्डलिनी-शक्तिका शिवके साथ योग हो जाता है। तब योगी निर्विकल्प समाधिमें स्थित होकर मुक्ति एवं भुक्ति (आध्यात्मिक आनन्द) दोनों प्राप्त कर लेता है। प्राणायामका अभ्यास करते समय उसे चार अवस्थाओंका अनुभव होता है जिन्हें 'आरम्भावस्था', 'घट-अवस्था', 'परिच्छाया-अवस्था' और 'निष्पत्ति-अवस्था' कहते हैं।

भक्तियोग

भक्त श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदनरूप नवधा भक्तिका अभ्यास करता है। वह अपनी रुचि, प्रकृति, साधनकी योग्यता तथा स्थितिके अनुसार शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य इन पाँच भावोंमेंसे किसी एक भावका वरण करता है और सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य-मुक्तिको प्राप्त होता है।

उसकी इस प्रकारकी मुक्ति क्रममुक्ति कहलाती है। इस क्रममुक्तिको प्राप्त भक्त ब्रह्मलोकमें जाकर वहाँ महाप्रलय-पर्यन्त ब्रह्माके समीप रहता है और तदनन्तर ईश्वरके साथ ही निर्गुण ब्रह्ममें लीन हो जाता है।

ज्ञानयोग

ज्ञानयोगका साधक मुक्तिके चार साधनों—विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान) और मुमुक्षुत्वको बढ़ाता है। तदनन्तर वह श्रुतियोंको सुनता है, फिर मनन करता है और अन्तमें निदिध्यासन करता है, वह प्रणवके तथा जीव और ब्रह्मकी एकताके प्रतिपादक 'तत्त्वमसि' वाक्यके वास्तविक अर्थका ध्यान करता है। इस साधनको अन्तरङ्ग साधन कहते हैं। तब उसे आत्मसाक्षात्कार अथवा ब्रह्मानुभव होता है।

प्रारम्भमें उसे सविकल्प श्रेणीकी शब्दानुविद्ध एवं दृश्यानुविद्ध समाधि होती है। फिर वह अद्वैतभावनारूप (वृत्तिसहित) समाधिमें प्रवेश करता है और अन्तमें अद्वैतावस्थानरूप (वृत्तिरहित) समाधिको प्राप्त होता है। ज्ञानयोगकी सात भूमिकाएँ हैं, जिनपर साधक क्रमशः आरूढ़ होता है। इनके नाम हैं शुभेच्छा, सुविचार, तनुमानसी, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी और तुरीय।

ज्ञानी सद्योमुक्ति अथवा आत्यन्तिक प्रलयको प्राप्त होता है। वह किसी लोकविशेषमें नहीं जाता। उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता। स्थूल शरीरका पतन होते ही वह ब्रह्ममें लीन हो जाता है।

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिका भेद

ज्ञानीको जीवित अवस्थामें ही विदेहमुक्ति मिल जाती है। ज्ञानी जब सत्त्वापत्ति नामक चतुर्थ भूमिकापर आरूढ़ होता है उसी समय वह जीवन्मुक्त हो जाता है। जब उसके अन्दर देहाभिमान लेशमात्र भी नहीं रहता तब उसे विदेहमुक्त कहते हैं। तुरीयावस्थाको प्राप्त होनेपर ज्ञानी जीवन्मुक्त कहलाता है। वही जब तुरीयातीत अवस्थाको प्राप्त होता है तब उसे विदेहमुक्त कहते हैं। ज्ञानीको जब जाग्रत्-अवस्था स्वप्नवत् भासने लगती है तब वह जीवन्मुक्त कहलाता है। वही जाग्रत्-अवस्था जब उसके लिये सुषुप्ति-के समान हो जाती है तब उसकी विदेहमुक्त-अवस्था कहलाती है। जिस अवस्थामें चित्तका अरूप नाश होता है, उस अवस्थाको जीवन्मुक्ति कहते हैं। जिस अवस्थामें उसका स्वरूप नाश हो जाता है उसे विदेहमुक्ति कहते हैं। जीवन्मुक्त संसारमें रहकर संसारका कार्य कर सकता है। भगवान् शङ्कराचार्य जीवन्मुक्त थे। भगवान् श्रीदत्तात्रेय और जडभरत विदेहमुक्त थे। वास्तवमें इनकी आभ्यन्तरिक स्थितिमें कोई अन्तर नहीं है।

भक्त और ज्ञानीकी तुलना

ज्ञानयोगी इस दुस्तर भवसरिताको तैरकर पार करता है। भक्तियोगी उसीको भक्तिरूप नौकापर आरूढ़ होकर पार करता है। ज्ञानी आत्मनिर्भरता तथा आत्मबलका आश्रय लेकर ज्ञान प्राप्त करता है। भक्त आत्मसमर्पणके द्वारा भगवान्का साक्षात्कार करता है। ज्ञानी अपने स्वरूपको पहचानकर अपने अहङ्कारका विस्तार कर देता

है। भक्त अपने आपको भगवान्‌के अर्पण कर देता है, भगवान्‌के प्रति आत्मनिवेदन कर देता है और उनके सामने दीन-हीन बन जाता है। भक्त मिश्रीका स्वाद लेना चाहता है। ज्ञानी स्वय मिश्री बनना चाहता है। भक्तको क्रममुक्ति मिलती है। ज्ञानीको सद्योमुक्ति प्राप्त होती है। भक्त बिल्लीके बच्चेके समान भगवान्‌की सहायताकी अपेक्षा रखता है और भगवान्‌को असहाय होकर पुकारता है। ज्ञानी बँदरियाके बच्चेकी भाँति स्वय दृढ़तापूर्वक अपनी माताकी छातीसे चिपट जाता है।

ज्ञानी और योगीकी तुलना

ज्ञानी चलते-फिरते, खाते-पीते तथा बात-चीत करते हुए भी अपना साधन कर सकता है। उसे किसी एकान्त कोठरीमे आसन लगाकर बैठनेकी आवश्यकता नहीं है। राजयोगीको अभ्यासके लिये आसनकी भी अपेक्षा है और अलग स्थानकी भी। ज्ञानी सर्वदा समाधि (सहज अवस्था) में स्थित रहता है। उसकी नित्य-दृष्टि होनेसे वह मायाके वशीभूत नहीं होता। ज्ञानीके लिये 'समाधि' तथा 'व्युत्थान' दो अवस्थाएँ नहीं होतीं। परन्तु योगी जब समाधिसे नीचे उतरता है उस समय उसे माया फिर घेर लेती है। जिस प्रकार हम किसी शीशीका मुँह ढक्कनसे बन्द कर देते हैं उसी प्रकार राजयोगी भी अपने प्रयत्नसे चित्तरूपी शीशीका मुँह बन्द कर देता है, जिससे उसके अन्दर वृत्तियोंका आना-जाना बन्द हो जाता है। दूसरे शब्दोंमे, वह चित्त-रुपी बर्तनको बिल्कुल खाली कर देता है। ज्ञानी अपनी वृत्तियोका इस प्रकार निरोध नहीं करता। वह उनका साक्षी बन जाता है। वह अपने सात्त्विक अन्त करणसे ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न करता है। ज्ञानी अपने सत्सङ्कल्पके द्वारा सिद्धियोंको प्रकट करता है, राजयोगी धारणा-ध्यान-समाधिके समवायरूप सयमके द्वारा ऐसा करता है। राज-योगीकी साधना मनसे प्रारम्भ होती है। ज्ञानी अपना अभ्यास बुद्धि और इच्छाशक्तिके आधारपर करता है।

हठयोगी और राजयोगीकी तुलना

हठयोगका सम्बन्ध स्थूल शरीर और प्राणवायुके निग्रहसे है। राजयोगका सम्बन्ध मनसे है। राजयोग और हठयोग अन्योन्याश्रित हैं। वे एक दूसरेके आवश्यक सहकारी अङ्ग हैं। दोनोका ज्ञान हुए बिना कोई पूर्ण योगी नहीं बन सकता।

हठयोगका समुचित अभ्यास जहाँ समाप्त होता है वहींसे राजयोगका प्रारम्भ होता है।

हठयोगकी साधना शरीर और प्राणसे शुरू होती है। राजयोगकी साधनाका मनसे प्रारम्भ होता है।

हठयोगी प्राण और अपानवायुको सयुक्तकर उन्हें भिन्न-भिन्न चक्रोमेसे ले जाता है। तब उसे सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। राजयोगीको उपर्युक्त सयमसे सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ज्ञानी इन्हीं सिद्धियोंको सत्सङ्कल्पसे प्रकट कर देता है। भक्त आत्मसमर्पणके द्वारा भगवत्कृपाको प्राप्तकर सारे ऐश्वर्योंका स्वामी बन जाता है।

उपसंहार

शास्त्र अनन्त हैं, जाननेकी बातें बहुत-सी हैं, समय अति स्वल्प है, उसपर अनेको विघ्न हैं। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह केवल सारको ग्रहण करे, जिस प्रकार हस पानी मिले हुए दूधमेसे केवल दूधको ले लेता है और पानीको छोड़ देता है।

हे अमृतके पुत्रो! जागो। अपनी आँखें खोलो। ससारके दुःखोंका स्मरण करो। मृत्युको याद करो। महात्माओंको याद करो। ईश्वरको याद करो। उसके नामोंका गान करो। भक्तिका साधन करो। नवधा भक्ति-का अभ्यास करो। भागवतोंकी सेवा करो। भगवान्‌की अन्तःस्थित सत्ताका सर्वत्र अनुभव करो। श्रीकृष्णका दर्शन इसी जीवनमे, नहीं, इसी क्षणमे प्राप्त करो। दिव्य भागवत अथवा जीवन्मुक्त बनो और सर्वत्र, चारों दिशाओं-मे सुख, शान्ति और आनन्दकी वर्षा करो। मित्रो! मै आपको एक बार फिर याद दिलाता हूँ, उस वृन्दावन-विहारी वशीरवकारीको एक क्षणके लिये भी मत भूलो। वही तुम्हारा शाश्वत सनातन सङ्गी है, वही तुम्हारे आनन्द-का स्रोत है, वही तुम्हारे जीवनका आधार है।

उनके 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर मन्त्रको सर्वदा रटते रहो। तुम सबपर भगवान नन्दनन्दन-की कृपा बरसती रहे।

हरि: ॐ तत्सत्।

गीताका योग

(लेखक—स्वामी श्रीसहजानन्दजी सरस्वती)

दि विचारपूर्वक देखा जाय तो मानना होगा कि 'योग' एक पेचीदा पहेली है। जितने अर्थोंमे इस योग शब्दका प्रयोग अबतक हुआ है शायद ही किसी अन्य शब्दका उतने अर्थोंमें हुआ हो। यद्यपि कोषोंमें—

योगोऽपूर्वार्थसम्प्राप्तौ सङ्गतिध्यानयुक्तिषु।
वपुःस्थैर्यप्रयोगे च विष्कम्भादिषु भेषजे॥
विश्रब्धघातिनि द्रव्योपायसंनहनेष्वपि।
कार्मणेऽपि च योगः स्यात्" ।

आदि वचनोंके द्वारा नयी चीजकी प्राप्ति, सङ्गति, ध्यान, युक्ति, शरीरकी दृढता, प्रयोग, (ज्योतिषियोंके) विष्कम्भ आदि, ओषधि, विश्वासघाती, द्रव्य, उपाय, कवच, तन्त्रमन्त्रक्रिया, कर्मठ इन चौदह अर्थोंमे इसे व्यवहृत किया है और धातुपाठमे युजिर् तथा युज् इन दो धातुओंके तीन अर्थ योग, समाधि तथा सयमन लिखे गये हैं, तथापि इससे यह नहीं मान लेना होगा कि योग शब्दके इतने ही अर्थ हैं। केवल श्रीमद्भगवद्गीताके ही अठारह अध्यायोंमें प्रत्येकके प्रतिपाद्य विषयको भी 'योग' ही नाम दिया गया है—अर्जुनविषादयोग, साख्ययोग, कर्मयोग आदि। इससे यह तो सिद्ध ही है कि योग शब्दार्थके भीतर कम-से-कम अठारह पदार्थ और भी आ गये। बेशक गीताके साख्ययोग, कर्मयोग आदि शब्दोंके साथ ही प्रत्येक अध्यायके अन्तमे पठित समाप्तिसूचक सङ्कल्पोंमे 'योगशास्त्रे' को देखकर बहुत लोगोंने 'योगशास्त्र' का 'कर्मयोगशास्त्र' अर्थ कर दिया है और नारायणीय धर्मके साथ, जिसका प्रतिपादन महाभारतके शान्तिपर्वमे आया है, गीताप्रतिपादित विषयका मिलान करके गीतामे भी नारायणीय धर्मका ही निरूपण माना है और इस निर्णयपर पहुँचनेमे उन्होंने 'भगवद्गीता' नामसे भी सहायता ली है। कारण, नारायणीय धर्मके वक्ता जहाँ नारायण हैं तहाँ गीताधर्मके वक्ता भी भगवान् या नारायण ही हैं और भगवद्गीता शब्दका यही अर्थ भी है। फिर भी हमारे जानते ऐसा करना खींचतानकी पराकाष्ठा एव दूरकी कौड़ी लाना है। आखिर 'अर्जुनविषादयोग'मे, जो प्रथमाध्यायका प्रतिपाद्य विषय है, कौन-सा कर्मयोग है? केवल तीसरे अध्यायके अन्तके सङ्कल्पमें 'कर्मयोग' आया है। बाकीमे तो सांख्ययोग, ज्ञानकर्मसन्यासयोग, श्रद्धात्रयविभागयोग, दैवासुरसम्पद्विभागयोग आदि शब्द आये हैं। इनमे कहाँ कर्मयोग छिपा हुआ है? और अगर इन सभीका अर्थ प्रकारान्तरसे कर्मयोग ही करनेका हठ किया जाय, जो असम्भव है, तो फिर योग शब्द वही भानमतीकी पिटारी ही सिद्ध हो जाता है और इसके भीतर संसारभरके पदार्थोंका समावेश हो ही जाता है। इससे अच्छा है कि गीताके प्रत्येक अध्यायके प्रतिपाद्य विषयोंको ही योग नाम दे डालें और भगवद्गीता नाम उसका केवल इसीलिये मान लें कि उसमें सर्वत्र 'भगवानुवाच' यही लिखा है। न कि नारायणीय धर्मसे इसका कोई भी सम्बन्ध है। इसीलिये 'भगवद्गीता' यह स्त्रीलिङ्ग नाम भी ठीक हो जाता है। क्योंकि यह गीता तो शब्दान्तरसे भगवान्के द्वारा गायी हुई (उपदिष्ट) उपनिषद् ही है और उपनिषद् शब्दके स्त्रीलिङ्ग होनेके कारण उसका विशेषणरूप गीता शब्द भी स्त्रीलिङ्ग हो गया है। यदि नारायणीय धर्मकी बात होती तो 'भगवानुवाच' की जगह 'नारायण उवाच' कहते और नाम भी नारायणगीता रखते। या नहीं तो धर्म शब्दका खयाल करके पुल्लिङ्ग या नपुसक लिङ्ग 'गीतः' 'गीतम्' रखते।

लेकिन इतनेसे ही योगके शब्दार्थका निश्चय तो हो नहीं जाता और योग क्या है यह पहेली सुलझनेके बजाय और भी उलझ जाती है। बहुत लोग यह समझते होंगे कि पतञ्जलिके योगदर्शनमें शायद इसकी सुलझन हो। लेकिन उन्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि जहाँ गीताके अठारहों अध्यायोंमे सब मिलाकर योग, युक्त, युञ्जन् आदि अर्थात् उसी युज् धातुसे बने शब्दोंका प्रयोग प्रायः डेढ़ सौ बार आया है और यदि इसीमे हर एक अध्यायके समाप्तिसङ्कल्पमे दो-दो बार लिखे योग शब्दको जोड़ दें तो एक सौ नब्बेसे अधिक या प्रायः दो सौ बार आया है ऐसा कह सकते हैं, तहाँ योगदर्शनमे कुल

मिलाकर केवल नौ-दस ही बार इसका प्रयोग हुआ है और उसमें भी योगके अर्थमें केवल चार ही बार, जैसा कि पहले पादके दूसरे, दूसरेके पहले और अट्ठाईसवें और चौथेके सातवें सूत्रोंसे स्पष्ट है। इसके विपरीत गीताके प्रायः सभी प्रयोग इसी अर्थमें हैं। अतः यह तो मानना ही होगा कि योग शब्दको किसी-न-किसी रूपमें गीतामें जितनी बार दुहराया गया है उतनी बार शायद ही किसी और पुस्तकमें दुहराया है। एक बात और है। गीतामें योग शब्दके अभ्यासके साथ ही उसका निर्वचन भी स्पष्टरूपसे दो श्लोकोंमें जरूर किया है और वे हैं द्वितीय अध्यायके ४८ तथा ५० श्लोक जिनमें लिखा है कि 'कर्म और उसके फलमें लिपटनेके भाव (आसक्ति) को छोड़ और उद्देश्य पूरा होने-न-होनेमें बेफिक्र होकर योगबुद्धिसे कर्म करो, क्योंकि इसी अनासक्ति (आसक्तित्याग) और पूरा होने-न-होनेमें बेफिक्रीको—समताको योग कहते हैं।'—'कर्मके सम्बन्धकी विशेषज्ञताको—कौशलको—योग कहते हैं।'

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २। ४८)

'योगः कर्मसु कौशलम्' (गीता २। ५०)

यद्यपि योगदर्शनमें भी 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (१। २) तथा 'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' (२। १) सूत्रोंमें योगशब्दकी व्याख्या की गयी है। फिर भी वह दूसरे ढगकी है—सकुचित एव एकदेशी है। वह व्याख्या केवल योगदर्शनवालोंके ही कामकी है और यह तो मानना ही होगा कि योगदर्शन जनसाधारणकी पहुँचके परेकी चीज है—व्यावहारिक जीवनकी चीज नहीं है। उससे केवल विरक्त या अध्यात्मवादी ही लाभ उठा सकते हैं जिनकी सख्या उँगलियोंपर गिनी जा सकती है, संसार तो दिनरात कामों (कर्म) में लिप्त है, फँसा है, उसे चित्तवृत्तिनिरोधसे क्या काम? फलतः जिन कामोंको वह कर रहा है उनसे उसे न हटाकर भी कोई ऐसी युक्ति (तरकीब) बतायी जाय जिससे अभीष्टकी सिद्धि और असिद्धि, हार-जीत, हानि-लाभ आदिकी उसके दिलपर चोट न पहुँचे और हर हालतमें वह एक-सा रहे—निर्द्वन्द्व रहे तथा जनककी तरह हिम्मतसे कह सके कि समूची मिथिला जली सही, लेकिन मेरा क्या जला?

मिथिलायां प्रदग्धायां न मे किञ्चन दह्यते।

—तो कितना सुन्दर हो, कितना अच्छा हो और इस बेहाल दुनियाको वह कितनी रुचे! इतना ही नहीं, काम करते-करते थक गये और नतीजा कुछ न हुआ तो फिर शुरू किया और इस तरह करते-करते थक गये, मरनेकी नौबत आ गयी, फिर भी यदि काम छूट जानेका मौका आया तो मारे चिन्ताके जलने लगे, यहाँतक कि अन्तदममें भी उस कामकी फिक्रसे ही बेहाल है! ठीक वही हालत है कि बँदरीका बच्चा तो मर गया, मगर वह उसे फिर भी छातीसे चिपकाये फिरती है और छोड़ना नहीं चाहती। ऐसी मनोवृत्ति भी कैसी भयङ्कर और दुःखद है! यह कर्मकी ममता भी कैसी भयावनी है! ठीक वैसी ही है, जैसी फलकी। आसक्ति सभी बुरी है फिर वह चाहे फलकी हो या कर्मकी, वह समुद्र या नदीमें तैरनेवालेके गलेकी चक्की है। फल जबतक कच्चा है, डालमें लगा रहता है और बलात् उसका तोड़ना ठीक नहीं है। साथ ही, पकनेपर जब वह अनायास डाल (वृन्त) से छूट रहा तो हठात् वृन्तमें ही उसे चिपकाये रखना या रखनेकी कोशिश कम बुरी नहीं है, ऐसा करना तो फल, वृन्त, डाल, वृक्ष सभीको बेकार बनाना है। ऐसी हालतमें यदि इस मनोवृत्तिको हटानेका कोई उपाय हो तो कितना बढिया हो, रमणीय हो! यह उपाय, तरकीब या रास्ता योगदर्शनके अरण्यमें मिलनेका नहीं; इसीलिये भर्तृहरिने कहा है और ठीक ही कहा है कि योगमें तो रोगोंका खतरा है—'योगे रोगभयम्'। परिणाम यह होता है कि साधारण जनताकी ज्ञानपिपासा और आकांक्षा योगदर्शनके पढनेके बाद भी शान्त नहीं होती। वह या तो उसे समझ पाती ही नहीं या उसे अपने लिये बेकार समझती है। साथ ही सांसारिक झझटोंमें लिप्त रहनेके कारण कार्योंके फलाफलसे होनेवाली वेदनाओंसे समय-समयपर ऊबकर उनसे छुटकारा भी चाहती है जो सहज हो। क्योंकि समय-समयपरकी यह ऊब तो केवल मसानियाँ वैराग्य है, स्वभावतः लोग कामोंसे तो अलग हो ही नहीं सकते, उन्हें कामोंमें ही मजा आता है। हाँ, कभी-कभी वह मजा किरकिरा हो जाया करता है और उसी किरकिरेपनने पिण्ड छुड़ानेकी इच्छा लोगोंको स्वभावतः रहती है और गीताके 'योग' निर्वचनकी खूबी, इसीमें है कि वह उस आकांक्षाकी पूर्ति करता है, यद्यपि आज हमें यह बात विदित न हो और मतवाद एव साम्प्रदायिक आग्रहमें पड़कर हमने गीताके इस रहस्यको भुला दिया हो, तथापि गीताके सर्वाधिक

लोकप्रिय बननेका प्रारम्भिक कारण यही है कि जन-साधारणके भावोंको समझ उन्हींके उपयुक्त साधनोंके सम्पादनद्वारा उनकी पूर्तिका उपाय उसमें बताया गया है।

बहुत लोगोंके मनमें यह शङ्का होती है कि गीतामें ही योगकी दो परिभाषाएँ क्योंकर दी गयी हैं जो परस्पर मेल नहीं खाती हैं। एकमें तो 'समत्व' का नाम योग रक्खा गया है और दूसरेमें 'कौशल' का। समत्व कर्म तथा फलकी अनासक्ति है जो निषेधात्मक है और कर्ममें 'कौशल' विशेषज्ञता या विशेषरूपकी जानकारी है जो भावात्मक है। कुशल या विशेषज्ञ (specialist) तो वही होता है जो उस वस्तुके रगरेशेको रत्ती-रत्ती जाने। ऐसी हालतमें तो यह विशेष ज्ञान विधानात्मक (positive) हुआ और पूर्वोक्त अनासक्ति निषेधात्मक (negative)। लेकिन यदि थोड़ा भी प्रवेशपूर्वक देखा जाय तो यह बात नहीं है। आखिर योगके उक्त दोनों निर्वचन गीताके द्वितीय अध्यायमें ही नहीं, किन्तु पास-पासके ही श्लोकोंमें लिखे गये हैं। ४८ और ५० के बीचमें तो केवल ४९ सख्या-वाला श्लोक ही व्यवधायक है। बल्कि ४९वें श्लोकमें जो 'बुद्धियोग' शब्द आया है उसीका स्पष्टीकरण ५० वें में है। फलतः व्यवधान भी नहीं है, किन्तु दोनों निर्वचन आगे-पीछे मिले ही हुए हैं। ऐसी दशामें पूर्वापरविरोधका अवसर ही कहाँ? जब साधारण मनुष्य भी एक साथ बोलनेमें एक समय पूर्वापरविरोधसे बचता है तो फिर गीतोपदेशक श्रीकृष्ण या गीताके पदवद्धकर्त्ता व्यासका क्या कहना? असलमें यह मानव स्वभाव है कि बुरा-भला जो कुछ किया जाता है उसका, उसके फलका तथा ससार-में निरन्तर होनेवाली घटनाओंका प्रभाव दिल-दिमागपर—आत्मापर—पड़ता ही है। यह असम्भव है कि आईनेके सामने कोई पदार्थ लाया जाय और उसकी छाया उसमें न पड़े—प्रतिबिम्ब न दीखे। और घटनाचक्रका यही आत्मा-पर पड़नेवाला प्रभाव हमारे सभी कष्टों एव वेदनाओंका कारण है। जबतक दिल-दिमाग दुरुस्त हैं, काम करते हैं तबतक ये वेदनाएँ अनिवार्य हैं। गाढ़ी नींदके बाद जब कोई हृष्ट-पुष्ट मनुष्य उठता है तो उसके दिल-दिमाग शान्त और एकरस—सम मालूम होते हैं और इस दशाको हम दूसरे शब्दोंमें बैलेन्स्ड (balanced) कह सकते हैं। लेकिन उसके बाद घटनाचक्रके करते रसभङ्ग शुरू होता है और मनुष्य कभी प्रसन्न और कभी खिन्न होता है, कभी रोता है तो कभी हँसता और कभी उदासीन बनता है। यही विषमताकी (Unbalanced) अवस्था उसके दिल दिमागकी है। यदि यह अवस्था न आवे तो जिन्दगी कितनी मजेदार हो, जीवन कितना सरस हो, जैसा कि अबोध बच्चोंमें प्रायः पाया जाता है। गाढ़ निद्रा और बेहोशी-की हालतमें भी इस विषमताका पता नहीं रहता, मानो आईना बन्द है और प्रतिबिम्ब नहीं पड़ते। मानव-हृदय और मानव-मस्तिष्क इतने भावग्राही हैं, भावव्यञ्जक हैं, ससर्गग्राही हैं, sensitive हैं कि प्रत्येक घटनाका प्रभाव लिये बिना नहीं रहते, अवश्य प्रभावित हो जाते हैं। इधर हमारी हालत यह है कि अच्छे भावों और उनके परिणामों-के साथ तो तन्मय होना हमें पसन्द है लेकिन असद्भावों और दुष्परिणामोंसे बचना चाहते हैं। यह परस्परविरोधी बाते हैं। यह ऐसी ही हैं जैसी दिनको चाहकर रातको न चाहना। ससार तो परिणामी है, परिवर्तनशील है। फलतः अच्छेके बाद बुरे और बुरेके बाद अच्छेका आना अनिवार्य है। इसमें कोई अन्तर नहीं कि हम दुःख चाहें या सुख। इन दोनोंको तो अयुत सिद्ध कहना चाहिये जिसके मानी हैं कि एकके बिना दूसरा रह ही नहीं सकता। अतएव बुद्धिमानी इसीमें है कि हम एकको भी न चाहें। यह कोई असम्भव बात नहीं। हाँ, कठिन अवश्य है। और जब यह दशा प्राप्त हो गयी तो दिल-दिमाग एकरस (balanced) रहते हैं, सम रहते हैं। इसी दशाका नाम 'समत्व' है जिसका उल्लेख उक्त ४८वें श्लोकमें है।

कही चुके हैं कि कामोंका प्रभाव दिल-दिमागपर पड़ता ही है। बल्कि यों कहना चाहिये कि कर्मोंके फलके रूपमें जो हानि-लाभ, जय-पराजय, सुख-दुःख आदि होते हैं उनका अनुभव दिल-दिमाग तभी करते हैं, उनसे प्रभावित तभी होते हैं, जब उन कर्मोंसे पहले प्रभावित हो लेते हैं। बीजमें अङ्कुर-उत्पादनकी शक्ति होती है जो प्रतीत नहीं होती। लेकिन भाड़में डाल देनेपर वह शक्ति नष्ट हो जाती है यद्यपि बीज ज्यों-का-त्यों रहता है। ठीक यही दशा कामोंकी है। जो काम हमारे दिल-दिमागको प्रभावित नहीं करते उनकी सुखदुःखानुभावक शक्ति नष्ट हो जाती है। बेहोश आदमीको छुरी भोंकनेकी जानकारी न होनेसे उसके बाद होनेवाली पीड़ाका भी अनुभव नहीं होता। पागलों तथा अबोधोंकी तन्मयता क्रियाके साथ न होनेसे तज्जन्य फलसे भी वे लोग सुखी-दुःखी नहीं

होते। अतएव बुरे-भले कर्मोंके साथ यदि हमारी तन्मयता छूट जाय तो फिर उनके फलोंसे भी पिण्ड अनायास ही छूटे। इसके लिये यदि कोई हिकमत, उपाय या तदबीर हो तो क्या खूब! काम करनेसे तो पिण्ड छूट नहीं सकता। मजबूरन कुछ-न-कुछ करना ही पडता है—

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
(गीता ३। ५)

फिर कर्मोंसे बचनेकी निरर्थक कोशिशसे क्या प्रयोजन और क्या प्रयोजन इस बेहूदा दुराग्रहसे कि मै अमुक कर्म करूँगा ही? एकमात्र उनकी आसक्तिसे बचनेकी कोशिशमें बुद्धिमानी है जिससे फल भोगने न पड़ें। इसी बुद्धिमानीको, चातुरीको, कौशलको 'योग' कहा है उक्त ५०वें श्लोकमें और यह कौशल वही अनासक्ति या समता या दिल-दिमागका balance है। इस प्रकार देखनेसे दोनोंमें विरोध कहाँ है? बात असल यह है कि ४८ वे श्लोकमे 'समत्व' नामक जिस योगका उल्लेख किया है उसीका विशदीकरण ४९, ५०, ५१ आदि आगेके श्लोकोंमें किया है और कहा है कि कर्मोंको करता हुआ भी ऐसी बुद्धिमत्ताका सम्पादन करे, ऐसे कौशलको प्राप्त करे जिससे सिद्धि, असिद्धिमे हमेशा बेफिक्र रहे। क्योंकि बिना ऐसी बुद्धिमत्ताके सुकृत-दुष्कृत या भले-बुरे कर्मों तथा उनके फलोंसे छुटकारा नहीं हो सकता। इसके बादके ५१वें श्लोक 'कर्मज बुद्धियुक्ता हि' में फिर उसी बुद्धिमत्ताका विवेचन किया है और दिखलाया है कि किस प्रकार अनासक्ति या समत्वज्ञानरूपी बुद्धिमत्ताके प्राप्त होनेपर जन्म-मरणसे छुटकारा हो जाता है।

गीताके इस योगका निष्कर्ष यह है कि मनुष्यको किसी प्रकारका आग्रह कर्मके सम्बन्धमे नहीं होना चाहिये। प्राकृत नियमोंके अनुसार प्रवाहपतित कर्मोंसे भागना भी ठीक नहीं और अगर सस्कारवश कर्म अपने-आप ही छूट जायँ या एक छूटकर उसकी जगह दूसरा आ जाय तो हर-हालतमे महाभारतोक्त धर्मव्याधकी तरह उसमें भला-बुरा नहीं मानना चाहिये। क्योंकि न तो कर्मोंमे ही कुछ रक्खा है और न उनके त्यागमें ही। कर्मोंके करने या उनके त्यागके सम्बन्धमें जो हमारी मनोवृत्ति है, भावना है वही असल चीज है और उसीके सम्पादनमे हमारा ध्यान रहना चाहिये। यदि कर्मोंमें हमारी आसक्ति या ममता न हो तो वे हमसे छूट जायँगे, यह धारणा भ्रान्त है। कर्म तो सृष्टिके नियमान्तर्गत हैं। फिर वे छूटेंगे कैसे? और अगर उन्हें छूटना ही है तो आसक्ति या ममता उन्हे रख नहीं सकती। प्रत्युत यह आसक्ति विचारको अन्धा और दुर्बल बना देती है। कारण, आसक्ति तो एक प्रकारका हठ है और हठके साथ विवेकका सम्बन्ध ही क्या? आसक्तिमें बहुत बडा दोष है कि वह मनुष्यको अधीर बना देती है, साहसहीन कर देती है और अधीरताकी दशामें कोई भी काम ठीक-ठीक किया ही नहीं जा सकता। यह तो केवल कर्मकी आसक्तिकी बात है। फलकी आसक्ति तो और भी बुरी है। वह मनुष्यके ध्यानको बाँट देती है और जब ध्यान बलात् फलकी ओर चला जाता है तो पूरी शक्तिसे कर्मका अनुष्ठान हो नहीं सकता। साथ ही, जिसपर आसक्ति होती है उसीपर अधिक दृष्टि होती है। फल यह होता है कि कर्म या फलपर आसक्तिके करते उसीमें दृष्टि बँध जाती है और कर्मके साधनोंपर पूर्ण दृष्टि नहीं रहती। परिणाम यह होता है कि साधन-सम्पत्ति पूर्ण न होनेसे क्रिया (कर्म) ठीक नहीं होती, जिससे फल भी सन्दिग्ध रहता है। अतएव कर्म या उसके फलकी ओरसे दृष्टि हटाकर कर्मके साधनोपर रखनी चाहिये। एतदर्थ दोनोंकी आसक्ति त्याज्य है। बात भी है कि जब मनोयोगपूर्वक कर्मके साधन ठीक रहेंगे तो कर्मकी पूर्ति और उसके द्वारा फलकी सिद्धिको कोई रोक नहीं सकता, वह अनिवार्य है। ऐसी दशामें कर्म और फल दोनोंकी आसक्ति सर्वथा हेय है और जब वह रही ही नहीं तो दिलदिमागकी समता (Balance) अवश्य ही रहेगी। गीताके 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (२। ४७), 'कृपणाः फलहेतवः' (२। ४९) आदिका यही भाव है।

हृदय तथा मस्तिष्कके इस समता (Balance) को पातञ्जलयोगवाले भी अपने रास्तेसे प्राप्त करना चाहते हैं। लेकिन यह मार्ग साधारण लोगोंके लिये, जिनमें ससारसे वैराग्य नहीं है, नहीं बताया गया है। क्योंकि 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (१। १२) सूत्रके द्वारा योगकी सिद्धि अभ्यास और वैराग्य दोनोंकी सहायतासे बतायी गयी है। इसीलिये इस योगको हम व्यावहारिक नहीं कहते। जीते-जी मृतक बननेको कितने

लोग तैयार हो सकते हैं। दूसरी ओर गीताका योग है। इसमें किसी भी कामकी मनाही नहीं है। प्रत्युत 'कर्मण्यायो ह्यकर्मण.' (गीता ३ । ८) के द्वारा नहीं करनेकी अपेक्षा कुछ भी करना अच्छा बताया गया है। यह भी नहीं कि कर्मके फलसे वञ्चित करनेका यत्न किया गया हो। प्रत्युत जहाँ आसक्तिके करते फल सन्दिग्ध रहता है, वहाँ गीताने अनासक्तिके द्वारा उसे और भी निश्चित कर दिया है, कारण, कर्मोंके सुसम्पादनसे उनके फल अवश्यम्भावी हैं। यह भी नहीं कि किन्हीं विशेष प्रकारके कर्मोंमें कोई महत्ता रक्खी गयी हो। वहाँ तो—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
(गीता ९ । २७)

—के द्वारा साधारण खान-पानसे लेकर यज्ञ-हवनादि सभीके द्वारा समान रूपसे कल्याण लिखा हुआ है। यम, नियमादि कठिन व्रतोंका भी प्रश्न नहीं है और प्राणायाम, आसन आदिका भी नहीं। किन्तु सभी कुछ करते-कराते रहनेपर भी या तो यह भाव रखना कि इन कर्मोंके द्वारा हम भगवान्‌की पूजा करते हैं, या यह कि प्रकृतिनियमके वश ये हमारे लिये कर्तव्य हैं, इसीसे इन्हें करते हैं, अथवा जो कुछ करते हैं वह यज्ञ हो रहा है—

तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ (गीता ९ । २७)

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
(गीता १८ । ९)

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र। (गीता ३ । ९)

—बस, इन तीनोंमेंसे किसी भी भावनासे, लेकिन कर्मके करने, न करने या उसकी फलकी आसक्ति छोड़कर, जितने भी कर्म छोटेसे बड़ेतक (यहाँतक कि मलमूत्रत्यागसे लेकर समाधितक) किये जाते हैं, सभी कल्याणकारक होते हैं। इस प्रकार 'आमका आम और गुठलीका दाम' चरितार्थ होता है। क्योंकि एक तो कोई विशेष परिश्रम या तैयारी नहीं करनी पड़ती, दूसरे कर्मोंके सांसारिक फल भी मिलते ही हैं, तीसरे दिल-दिमागकी एकरसता (Balance) बनी रहती है जिससे जीवन किरकिरा नहीं होता। चौथे परलोकमें बन्धन नहीं होता और अन्तमें कल्याण होता है। यद्यपि प्रारम्भिक अवस्थामें ये सभी बातें नहीं होती हैं किन्तु धीरे-धीरे एकके बाद दूसरी होती हैं। फिर भी इनका होना असम्भव नहीं। साथ ही यह मार्ग साधारण लोगोंके लिये भी सुकर होनेसे सार्वभौम एवं व्यावहारिक है। यही गीताके योगकी विशेषता है और इसीसे इसे सार्वभौम धर्म कहते हैं। इसके अनुसार किसी भी हिन्दू, मुसलमान, क्रिस्तान आदि सम्प्रदायका मनुष्य समानरूपसे कल्याण प्राप्त कर सकता है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
(गीता १८ । ४७)

—का भी यही अभिप्राय है। यदि गीताका यह योग प्रचलित हो जाय तो धार्मिक कलह स्वयमेव विलीन हो जायँ।

जैसा कि पहले कह चुके हैं गीतामें योग शब्दका प्रयोग प्रायः दो सौ बार आया है—सभी अध्यायोंमें यह शब्द ओतप्रोत है। केवल प्रथम और सत्रहवें अध्यायके श्लोकोंमें यह नहीं मिलता। यह भी बात है कि सर्वत्र योग शब्दका प्रयोग हमारे बताये अर्थमें ही नहीं हुआ है, किन्तु पातञ्जलयोगके अर्थमें तथा कोषमें निर्दिष्ट अर्थोंमें भी हुआ है और प्रत्येक अध्यायके प्रतिपाद्य विषयकी भी योगसंज्ञा गीतामें है। फिर भी यह गीताकी कोई माननीय विशेषता नहीं है और इससे जनताका कोई विशेष लाभ नहीं। गीताने मनुष्यके व्यावहारिक जीवनकी पारमार्थिक या पारलौकिक जीवनके साथ एकता करके उसे जो सर्वजनसाध्य व्यावहारिकता प्रदान की है यही उसकी विशेषता एवं उपादेयताका कारण है। चाहे घरमें हो या जंगलमें, हल जोतता हो या समाधिस्थ हो, नमाज पढ़ता हो, प्रार्थना करता हो या सन्ध्योपासनमें लगा हो, हर हालतमें वह समानरूपसे कल्याणका अधिकारी हो सकता है, इसे गीताने दार्शनिकरूपसे बताया है। यह बात इस रूपमें कहीं नहीं मिलती। यह गीताकी देन है—उसकी अपनी वस्तु है और यही गीताका योग है।

॥ श्रीहरिः ॥ 135

महर्षि पतञ्जलिकृत

योग-दर्शन

हिन्दी-व्याख्यासहित

व्याख्याकार

हरिकृष्णदास गोयन्दका

135

ॐ

पातञ्जलयोगदर्शन

(साधारण हिंदी-व्याख्यासहित)

टीकाकार—

हरिकृष्णदास गोयन्दका

गीताप्रेस, गोरखपुर

प्रकाशक—गोबिन्दभवन-कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २००७ से २०५७ तक	२,७५,२५०
सं० २०५८ छब्बीसवाँ संस्करण	१०,०००
	योग २,८५,२५०

मूल्य—नौ रुपये

मुद्रक—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५
फोन : (०५५१) ३३४७२१; फैक्स ३३६९९७
e-mail:gitapres@ndf.vsnl.net.in
visit us at: www.gitapress.org

॥ श्रीपरमात्मने नमः ॥

प्रथम संस्करणका निवेदन

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥
मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥

योगदर्शन एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और साधकोंके लिये परम उपयोगी शास्त्र है। इसमें अन्य दर्शनोंकी भाँति खण्डन-मण्डनके लिये युक्तिवादका अवलम्बन न करके सरलतापूर्वक बहुत ही कम शब्दोंमें अपने सिद्धान्तका निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थपर अबतक संस्कृत, हिंदी और अन्यान्य भाषाओंमें बहुत भाष्य और टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। भोजवृत्ति और व्यासभाष्यके अनुवाद भी हिंदी-भाषामें कई स्थानोंसे प्रकाशित हो चुके हैं। इसके सिवा 'पातञ्जलयोग-प्रदीप' नामक ग्रन्थ स्वामी ओमानन्दजीका लिखा हुआ भी प्रकाशित हो चुका है, इसमें व्यासभाष्य और भोजवृत्तिके सिवा दूसरे-दूसरे योगविषयक शास्त्रोंके भी बहुत-से प्रमाण संग्रह करके एवं उपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीतादि सद्ग्रन्थोंके तथा दूसरे दर्शनोंके साथ भी समन्वय करके ग्रन्थको बहुत ही उपयोगी बनाया गया है। परंतु ग्रन्थका विस्तार अधिक है और मूल्य अधिक होनेके कारण सर्वसाधारणको सुलभ भी नहीं है। इन सब कारणोंको विचारकर पूज्यपाद भाईजी तथा श्रीजयदयालजीकी आज्ञासे मैंने इसपर यह 'साधारण हिंदी-भाषाटीका' लिखनी आरम्भ की थी। टीका थोड़े ही दिनोंमें लिखी जा चुकी थी, परंतु उसी समय 'कल्याण'के 'उपनिषदङ्क'का निकालना निश्चित हो गया; अतः ईशावास्योपनिषद्से लेकर श्वेताश्वतरोपनिषद्तक नौ उपनिषदोंकी टीका लिखनेका भार मुझपर आ पड़ा। इस कारण योगदर्शनकी टीकाका संशोधन-कार्य नहीं हो सका एवं प्रेसमें छापनेके लिये अवकाश नहीं रहा। इसके सिवा और भी व्यापार-सम्बन्धी काम हो गये, अतः प्रकाशनकार्यमें विलम्ब हुआ। इस समय सरकारका कागजोंपरसे कन्ट्रोल उठ जानेसे एवं प्रेसमें भी छपाईके लिये कुछ अवकाश मिल जानेसे यह टीका प्रकाशित की जा रही है।

यह तो पाठकगण जानते ही होंगे कि मैं न तो विद्वान् हूँ और न अनुभवी ही। अतः योगदर्शन-जैसे गम्भीर शास्त्रपर टीका लिखना मेरे-जैसे अल्पज्ञ

मनुष्यके लिये सर्वथा अनधिकार चेष्टा है। तथापि मैंने इसपर अपने और मित्रोंके संतोषके लिये जैसा कुछ समझमें आया, वैसे लिखनेकी धृष्टता की है। इसके लिये अनुभवी विद्वान् सज्जनोंसे सानुनय प्रार्थना है कि इस टीकामें जहाँ जो त्रुटियाँ रह गयी हों, उनकी सूचना देनेकी कृपा करें, ताकि अगले संस्करणमें आवश्यक सुधार किया जा सके।

समाधिपाद

इस ग्रन्थके पहले पादमें योगके लक्षण, स्वरूप और उसकी प्राप्तिके उपायोंका वर्णन करते हुए चित्तकी वृत्तियोंके पाँच भेद और उनके लक्षण बतलाये गये हैं। वहाँ सूत्रकारने निद्राको भी चित्तकी वृत्तिविशेषके अन्तर्गत माना है (योग० १। १०), अन्य दर्शनकारोंकी भाँति इनकी मान्यतामें निद्रा वृत्तियोंका अभावरूप अवस्थाविशेष नहीं है। तथा विपर्ययवृत्तिका लक्षण करते समय उसे मिथ्याज्ञान बताया है। अतः साधारण तौरपर यही समझमें आता है कि दूसरे पादमें 'अविद्या' के नामसे जिस प्रधान क्लेशका वर्णन किया गया है (योग० २। ५), वह और चित्तकी विपर्ययवृत्ति—दोनों एक ही हैं; परंतु गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर यह बात ठीक नहीं मालूम होती। ऐसा माननेसे जो-जो आपत्तियाँ आती हैं, उनका दिग्दर्शन सूत्रोंकी टीकामें कराया गया है (देखिये योग० १। ८; २। ३, ५ की टीका)। द्रष्टा और दर्शनकी एकतारूप अस्मिता-क्लेशके कारणका नाम 'अविद्या' है (योग० २। २४), वह अस्मिता चित्तकी कारण मानी गयी है (योग० १। ४७; ४। ४)। इस परिस्थितिमें अस्मिताके कार्यरूप चित्तकी वृत्ति अविद्या कैसे हो सकती है जो कि—अस्मिताकी भी कारणरूपा है, यह विचारणीय विषय है।

इस पादके सतरहवें और अठारहवें सूत्रोंमें समाधिके लक्षणोंका वर्णन बहुत ही संक्षेपमें किया गया है। उसके बाद इकतालीसवेंसे लेकर इस पादकी समाप्तितक इसी विषयका कुछ विस्तारसे पुनः वर्णन किया गया है, परन्तु विषय इतना गम्भीर है कि समाधिकी वैसी स्थिति प्राप्त कर लेनेके पहले उसका ठीक-ठीक भाव समझ लेना बहुत ही कठिन है। मैंने अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार उन सूत्रोंकी टीकामें विषयको समझानेकी चेष्टा की है, किंतु यह नहीं कहा जा सकता कि इतनेसे ही पाठकोंको संतोष हो जायगा; क्योंकि सूत्रकारने आनन्दानुगत और अस्मितानुगत समाधिका स्वरूप यहाँ स्पष्ट शब्दोंमें नहीं बताया। इसी प्रकार ग्रहण और ग्रहीताविषयक समाधिका विवेचन भी स्पष्ट

शब्दोंमें नहीं किया; अतः विषय बहुत ही जटिल हो गया है। यही कारण है कि बड़े-बड़े टीकाकारोंका सम्प्रज्ञातसमाधिके स्वरूप-सम्बन्धी विवेचन करनेमें मतभेद हो गया है, किसीके भी निर्णयसे पूरा संतोष नहीं होता। मैंने यथासाध्य पूर्वापरके सम्बन्धकी संगति बैठाकर विषयको सरल बनानेकी चेष्टा तो की है, तथापि पूरी बात तो किसी अनुभवी महापुरुषके कथनानुसार श्रद्धापूर्वक अभ्यास करनेसे वैसी स्थिति प्राप्त होनेपर ही समझमें आ सकती है और तभी पूरा संतोष हो सकता है, यह मेरी धारणा है।

प्रधानतया योगके तीन भेद माने गये हैं—एक सविकल्प, दूसरा निर्विकल्प और तीसरा निर्बीज। इस पादमें निर्बीज समाधिका उपाय प्रधानतया पर-वैराग्यको बताकर (योग० १। १८) उसके बाद दूसरा सरल उपाय ईश्वरकी शरणागतिको बतलाया है (योग० १। २३), श्रद्धालु आस्तिक साधकोंके लिये यह बड़ा ही उपयोगी है। ईश्वरका महत्त्व स्वीकार कर लेनेके कारण इनके सिद्धान्तमें साधारण बद्ध और मुक्त पुरुषोंकी ईश्वरसे भिन्नता तथा अनेकता सिद्ध होती है। योगदर्शनकी तात्त्विक मान्यता प्रायः सांख्यशास्त्रसे मिलती-जुलती है। कई लोग यद्यपि सांख्यशास्त्रको अनीश्वरवादी बतलाते हैं, परंतु सांख्यशास्त्रपर भलीभाँति विचार करनेपर यह कहना ठीक मालूम नहीं होता; क्योंकि सांख्यदर्शनके तीसरे पादके ५६ वें और ५७ वें सूत्रोंमें स्पष्ट ही साधारण पुरुषोंकी अपेक्षा ईश्वरकी विशेषता स्वीकार की गयी है। अतः सांख्य और योगके तात्त्विक विवेचनमें वर्णनशैलीके अतिरिक्त और कोई मतभेद प्रतीत नहीं होता।

उपर्युक्त तीन भेदोंमेंसे सम्प्रज्ञातयोगके दो भेद हैं। उनमें जो सविकल्प योग है, वह तो पूर्वावस्था है, उसमें विवेकज्ञान नहीं होता। दूसरा जो निर्विकल्पयोग है, जिसे निर्विचार समाधि भी कहते हैं; वह जब निर्मल हो जाता है (योग० १। ४७), उस समय उसमें विवेकज्ञान प्रकट होता है, वह विवेकज्ञान पुरुषख्यातितक हो जाता है (योग० २। २८; ३। ३५) जो कि पर-वैराग्यका हेतु है (योग० १। १६); क्योंकि प्रकृति और पुरुषके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होनेके साथ ही साधककी समस्त गुणोंमें और उनके कार्यमें आसक्तिका सर्वथा अभाव हो जाता है। तब चित्तमें कोई भी वृत्ति नहीं रहती, यह सर्ववृत्तिनिरोधरूप निर्बीज समाधि है (योग० १। ५१)। इसीको असम्प्रज्ञात-योग तथा धर्ममेघ समाधि (योग० ४। २९) भी कहते हैं, इसकी विस्तृत व्याख्या यथास्थान की गयी है। निर्बीज समाधि ही योगका अन्तिम

लक्ष्य है, इसीसे आत्माकी स्वरूपप्रतिष्ठा या यों कहिये कि कैवल्यस्थिति होती है (योग० ४। ३४)।

निरोध-अवस्थामें चित्तका या उसके कारणरूप तीनों गुणोंका सर्वथा नाश नहीं होता; किंतु जड-प्रकृति-तत्त्वसे जो चेतनतत्त्वका अविद्याजनित संयोग है, उसका सर्वथा अभाव हो जाता है।

साधनपाद

इस दूसरे पादमें अविद्यादि पाँच क्लेशोंको समस्त दुःखोंका कारण बताया गया है, क्योंकि इनके रहते हुए मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, वे संस्काररूपसे अन्तःकरणमें इकट्ठे होते रहते हैं, उन संस्कारोंके समुदायका नाम ही कर्माशय है। इस कर्माशयके कारणभूत क्लेश जबतक रहते हैं, तबतक जीवको उनका फल भोगनेके लिये नाना प्रकारकी योनियोंमें बार-बार जन्मना और मरना पड़ता है एवं पापकर्मका फल भोगनेके लिये घोर नरकोंकी यातना भी सहन करनी पड़ती है। पुण्यकर्मोंका फल जो अच्छी योनियोंकी और सुखभोग-सम्बन्धी सामग्रीकी प्राप्ति है वह भी विवेककी दृष्टिसे दुःख ही है (योग० २। १५), अतः समस्त दुःखोंका सर्वथा अत्यन्त अभाव करनेके लिये क्लेशोंका मूलोच्छेद करना परम आवश्यक है। इस पादमें उनके नाशका उपाय निश्चल और निर्मल विवेकज्ञानको (योग० २। २६) तथा उस विवेकज्ञानकी प्राप्तिका उपाय योगसम्बन्धी आठ अङ्गोंके अनुष्ठानको (योग० २। २८) बताया है। इसलिये साधकको चाहिये कि बताये हुए योगसाधनोंका श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करे।

विभूतिपाद

इस तीसरे विभूतिपादमें धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनोंका एकत्रित नाम 'संयम' बतलाकर भिन्न-भिन्न ध्येय पदार्थोंमें संयमका भिन्न-भिन्न फल बतलाया है; उनको योगका महत्त्व, सिद्धि और विभूति भी कहते हैं। इनका वर्णन यहाँ ग्रन्थकारने समस्त ऐश्वर्यमें वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये ही किया है। यही कारण है कि इस पादके सैंतीसवें, पचासवें और इक्यावनवेंमें एवं चौथे पादके उन्तीसवें सूत्रमें उनको समाधिमें विघ्नरूप बताया है। अतः साधकको भूलकर भी सिद्धियोंके प्रलोभनमें नहीं पड़ना चाहिये।

कैवल्यपाद

इस चौथे पादमें कैवल्यपाद प्राप्त करनेयोग्य चित्तके स्वरूपका प्रतिपादन

किया गया है (योग० ४। २६)। साथ ही योगदर्शनके सिद्धान्तमें जो-जो शङ्काएँ हो सकती हैं, उनका समाधान किया गया है। अन्तमें धर्ममेघ-समाधिका वर्णन करके (योग० ४। २९) उसका फल क्लेश और कर्मोंका सर्वथा अभाव (योग० ४। ३०) तथा गुणोंके परिणाम-क्रमकी समाप्ति अर्थात् पुनर्जन्मका अभाव बताया गया है (योग० ४। ३२) एवं पुरुषको मुक्ति प्रदान करके अपना कर्तव्य पूरा कर चुकनेके कारण गुणोंके कार्यका अपने कारणमें विलीन हो जाना अर्थात् पुरुषसे सर्वथा अलग हो जाना गुणोंकी कैवल्य-स्थिति और उन गुणोंसे सर्वथा अलग होकर अपने रूपमें प्रतिष्ठित हो जाना पुरुषकी कैवल्य-स्थिति बतलाकर (योग० ४। ३४) ग्रन्थकी समाप्ति की गयी है।

विशेष वक्तव्य

इस प्रकार इस ग्रन्थमें बहुत ही थोड़े शब्दोंमें आत्मकल्याणके बहुत ही उपयोगी और प्रत्यक्ष उपाय बताये गये हैं।

पाठकोंको चाहिये कि ग्रन्थका रहस्य समझनेके लिये उसे आद्योपान्त पढ़कर उसपर विचार करें। जिस किसी विषयका वर्णन प्रकारान्तरसे कई जगह हुआ हो उसके सभी स्थलोंपर दृष्टि डालकर पूर्वापरके विरोधाभासको मिटाकर उसकी संगति बैठावें। जबतक अपने मनमें पूरा संतोष न हो जाय, तबतक उसकी खोज करते रहें। दूसरे टीकाकारोंने उसकी संगति किस प्रकार लगायी है, वर्तमान अनुभवी सज्जनोंका उस विषयपर क्या कहना है और मूलग्रन्थसे सरलतापूर्वक बिना किसी प्रकारकी खींचतानके क्या भाव झलकता है—इन सब बातोंपर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेपर कुछ समाधान हो सकता है।

जैसे विवेकज्ञानका स्वरूप, उसके अवस्था-भेद और फल आदिका आशय समझना हो तो प्रथम पादके ४८ और ४९, द्वितीय पादके २६ से २८, तृतीय पादके ३५, ३६, ४९, ५२, ५३ और ५४ तथा चतुर्थ पादके २५, २६ और २९—इन सब सूत्रोंको सम्मुख रखकर उनपर विचार करना चाहिये। यदि अविद्याके स्वरूपका निर्णय करना हो तो प्रथम पादके ८, द्वितीय पादके ३, ४, ५, १२, २४ और २५ तथा चतुर्थ पादके ११, २८ और ३०—इन सब सूत्रोंको सामने रखकर विचार करें। यदि समाधिके स्वरूपको उसके अवान्तर भेदोंसहित भलीभाँति समझना हो तो प्रथम पादके १७ से २२ और ४१ से ५१, तृतीय पादके ३, ९ से १२, ३५, ३७, ४४, ४७, ४९ और ५० तथा चतुर्थ पादके १, २९, ३०, ३२ और ३४—इन सब सूत्रोंपर दृष्टिपात

करके गम्भीरतापूर्वक भलीभाँति विचार करना चाहिये। इसी प्रकार अन्यान्य प्रसङ्गोंका विवेचन करते समय भी तद्विषयक समस्त सूत्रोंपर ध्यान देना चाहिये। ऐसा करनेसे ग्रन्थका आशय समझनेमें बड़ी सुगमता होती है, यह मेरा अनुमान है।

इस ग्रन्थमें पुरुषविशेष ईश्वरका प्रतिपादन करके उसकी शरणागतिको आत्मसाक्षात्कारका कारण बताया है, परंतु उस ईश्वरको जाननेका कोई भिन्न साधन नहीं बताया गया। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वहाँतक न तो मन-बुद्धि आदि प्राकृत तत्त्वोंकी पहुँच है और न उस प्रकृतिस्थ पुरुषकी ही। वह एक प्रकृतिसे अलग विशुद्ध आत्मतत्त्वसे ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है, जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद्में कहा है—

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

(२।१५)

'जब योगी यहाँ दीपकके सदृश (प्रकाशमय) आत्मतत्त्वके द्वारा ब्रह्मतत्त्वको भी भलीभाँति प्रत्यक्ष देख लेता है, उस समय वह उस अजन्मा, निश्चल, समस्त तत्त्वोंसे विशुद्ध परमदेव परमात्माको जानकर सब बन्धनोंसे सदाके लिये छूट जाता है।

कोई भी सच्चा सम्बन्ध सजातीय तत्त्वसे ही हो सकता है, विजातीयसे नहीं। ईश्वरका सजातीय तत्त्व आत्मा ही है, अतः उसीसे उसका प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है, अन्य जड तत्त्वोंसे नहीं।

इस शास्त्रमें प्रकृतिके चौबीस भेद एवं आत्मा और ईश्वर—इस प्रकार कुल छब्बीस तत्त्व माने गये हैं; उनमें प्रकृति तो जड और परिणामशील है अर्थात् निरन्तर परिवर्तन होना उसका धर्म है तथा मुक्त पुरुष और ईश्वर—ये दोनों नित्य, चेतन, स्वप्रकाश, असङ्ग, देशकालातीत, सर्वथा निर्विकार और अपरिणामी हैं। प्रकृतिमें बँधा हुआ पुरुष अल्पज्ञ, सुख-दुःखोंका भोक्ता, अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेवाला और देशकालातीत होते हुए भी एक देशी-सा माना गया है।

इसके सिवा योगशास्त्रसे वर्णित साधनोंका प्रायः उपनिषद्, गीता, भागवत आदि सभी धर्मग्रन्थ समर्थन करते हैं। अतः प्रत्येक साधकको इस ग्रन्थमें बताये हुए साधनोंका श्रद्धापूर्वक सेवन करना चाहिये।

विनीत—**हरिकृष्णदास गोयन्दका**

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

पातञ्जलयोगदर्शनके प्रधान विषयोंकी सूची

समाधिपाद—१

सूत्र	विषय	पृष्ठ
१—४	ग्रन्थके आरम्भकी प्रतिज्ञा, योगके लक्षण और उसकी आवश्यकताका प्रतिपादन	१-२
५—११	चित्तकी वृत्तियोंके पाँच भेद और उनके लक्षण	२—७
१२—१६	अभ्यास और वैराग्यका प्रकरण	८—११
१७—२२	समाधिका विषय	११—१५
२३—२९	ईश्वर-प्रणिधान और उसके फलका कथन	१६—१९
३०—४०	चित्तके विक्षेपोंका, उनके नाशका और मनकी स्थितिके लिये भिन्न-भिन्न उपायोंका वर्णन	१९—२४
४१—५१	समाधिके फलसहित अवान्तर भेदोंका वर्णन	२५—३२

साधनपाद—२

१-२	क्रियायोगके स्वरूपका और फलका निरूपण	३३-३४
३—९	अविद्यादि पाँच क्लेशोंका वर्णन	३५—३९
१०—१७	क्लेशोंके नाशका उपाय और उसकी आवश्यकताका प्रतिपादन	३९—४५
१८—२२	दृश्य और द्रष्टाके स्वरूपका तथा दृश्यकी सार्थकताका कथन	४६—४९
२३—२७	प्रकृति-पुरुषके अविद्याकृत संयोगका स्वरूप और उसके नाशके उपायभूत अविचल विवेकज्ञानका निरूपण	४९—५३
२८—५५	विवेकज्ञानकी प्राप्तिके लिये अष्टाङ्गयोगके	

सूत्र	विषय	पृष्ठ
	अनुष्ठानकी आवश्यकता, आठों अङ्गोंके नाम तथा उनमेंसे पाँच बाह्य अङ्गोंके लक्षण और उनके विभिन्न अवान्तर फलोंका वर्णन	... ५३—६८
	विभूतिपाद—३	
१—३	धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनों अङ्गोंके स्वरूपका प्रतिपादन	... ६९- ७०
४—८	निर्बीज-समाधिके बहिरङ्ग साधनरूप संयमका निरूपण	... ७०—७२
९—१२	चित्तके परिणामोंका विषय	... ७२—७४
१३—१५	प्रकृतिजनित समस्त पदार्थोंके परिणामका निरूपण	... ७४—७९
१६—४८	फलसहित भिन्न-भिन्न संयमोंका वर्णन	... ७९—९९
४९—५५	विवेकज्ञानका और उसके परम फलस्वरूप कैवल्यका निरूपण	... ९९—१०४
	कैवल्यपाद—४	
१—५	सिद्धियोंकी प्राप्तिके पाँच हेतुओंका तथा जात्यन्तर परिणामका विषय	... १०५—१०८
६-७	ध्यानजनित परिणामकी संस्कारशून्यता (निराशयता) का प्रतिपादन और योगीके कर्मोंकी महिमा	... १०९-११०
८—११	साधारण मनुष्योंकी कर्मफल-प्राप्तिके प्रकारका वर्णन	... ११०—११२
१२—२४	अपने सिद्धान्तका युक्तिपूर्ण प्रतिपादन	... ११२—१२०
२५—३४	विवेकज्ञानका विषय और धर्ममेघ समाधि तथा कैवल्य-अवस्थाका निरूपण	... १२०—१२५

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

पातञ्जलयोगदर्शन

साधारण हिंदी-भाषाटीकासहित

समाधिपाद—१

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

अथ=अब; **योगानुशासनम्**=परम्परागत योगविषयक शास्त्र (आरम्भ करते हैं)।

व्याख्या—इस सूत्रमें महर्षि पतञ्जलिने योगके साथ अनुशासन पदका प्रयोग करके योगशिक्षाकी अनादिता सूचित की है और अथ शब्दसे उसके आरम्भ करनेकी प्रतिज्ञा करके योगसाधनाकी कर्तव्यता सूचित की है ॥ १ ॥

सम्बन्ध—*इस प्रकारके योगशास्त्रके वर्णनकी प्रतिज्ञा करके अब योगके सामान्य लक्षण बतलाते हैं—*

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

चित्तवृत्तिनिरोधः=चित्तकी वृत्तियोंका निरोध (सर्वथा रुक जाना); **योगः**=योग है।

व्याख्या—इस ग्रन्थमें प्रधानतासे चित्तकी वृत्तियोंके निरोधको ही 'योग' नामसे कहा गया है ॥ २ ॥

सम्बन्ध—*योग शब्दकी परिभाषा करके अब उसका सर्वोपरि फल बतलाते हैं—*

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

तदा=उस समय; **द्रष्टुः**=द्रष्टाकी; **स्वरूपे**=अपने रूपमें; **अवस्थानम्**=स्थिति हो जाती है।

व्याख्या—जब चित्तकी वृत्तियोंका निरोध हो जाता है, उस समय द्रष्टा

(आत्मा) की अपने स्वरूपमें स्थिति हो जाती है; अर्थात् वह कैवल्य-अवस्थाको प्राप्त हो जाता है (योग० ४। ३४) ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—*क्या चित्तवृत्तियोंका निरोध होनेके पहले द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित नहीं रहता ?—इसपर कहते हैं—*

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

इतरत्र=दूसरे समयमें (द्रष्टाका); **वृत्तिसारूप्यम्**=वृत्तिके सदृश स्वरूप होता है।

व्याख्या—जबतक योग-साधनोंके द्वारा चित्तकी वृत्तियोंका निरोध नहीं हो जाता, तबतक द्रष्टा अपने चित्तकी वृत्तिके ही अनुरूप अपना स्वरूप समझता रहता है, उसे अपने वास्तविक स्वरूपका ज्ञान नहीं होता। अतः चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग अवश्य कर्तव्य है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—*चित्तकी वृत्तियाँ असंख्य होती हैं, अतः उनको पाँच श्रेणियोंमें बाँटकर सूत्रकार उनका स्वरूप बतलाते हैं—*

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

(उपर्युक्त) **क्लिष्टाक्लिष्टाः**=क्लिष्ट और अक्लिष्ट (भेदोंवाली); **वृत्तयः**=वृत्तियाँ; **पञ्चतय्यः**=पाँच प्रकारकी (होती हैं)।

व्याख्या—ये चित्तकी वृत्तियाँ आगे वर्णन किये जानेवाले लक्षणोंके अनुसार पाँच प्रकारकी होती हैं तथा हर प्रकारकी वृत्तिके दो भेद होते हैं। एक तो क्लिष्ट यानी अविद्यादि क्लेशोंको पुष्ट करनेवाली और योगसाधनमें विघ्नरूप होती हैं तथा दूसरी अक्लिष्ट यानी क्लेशोंको क्षय करनेवाली और योगसाधनमें सहायक होती हैं। साधकको चाहिये कि इस रहस्यको भलीभाँति समझकर पहले अक्लिष्ट वृत्तियोंसे क्लिष्ट वृत्तियोंको हटावे, फिर उन अक्लिष्ट वृत्तियोंका भी निरोध करके योग सिद्ध करे ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—*उक्त पाँच प्रकारकी वृत्तियोंके लक्षणोंका वर्णन करनेके लिये पहले उनके नाम बतलाते हैं—*

****

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः=(१) प्रमाण, (२) विपर्यय, (३) विकल्प, (४) निद्रा, (५) स्मृति—ये पाँच हैं।

व्याख्या—इन पाँचोंके स्वरूपका वर्णन स्वयं सूत्रकारने अगले सूत्रोंमें किया है, अतः यहाँ उनकी व्याख्या नहीं की गयी है॥ ६॥

सम्बन्ध—*उपर्युक्त पाँच प्रकारकी वृत्तियोंमेंसे प्रमाणवृत्तिके भेद बतलाये जाते हैं*—

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

प्रत्यक्षानुमानागमाः=प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—(ये तीन), **प्रमाणानि**=प्रमाण हैं।

व्याख्या—प्रमाणवृत्ति तीन प्रकारकी होती है; उसको इस प्रकार समझना चाहिये—

(१) प्रत्यक्ष-प्रमाण बुद्धि, मन और इन्द्रियोंके जाननेमें आनेवाले जितने भी पदार्थ हैं, उनका अन्तःकरण और इन्द्रियोंके साथ बिना किसी व्यवधानके सम्बन्ध होनेसे जो भ्रान्ति तथा संशयरहित ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष अनुभवसे होनेवाली प्रमाणवृत्ति है। जिन प्रत्यक्ष दर्शनोंसे संसारके पदार्थोंकी क्षणभङ्गुरताका निश्चय होकर या सब प्रकारसे उनमें दुःखकी प्रतीति होकर (योग० २।१५) मनुष्यका सांसारिक पदार्थोंमें वैराग्य हो जाता है, जो चित्तकी वृत्तियोंको रोकनेमें सहायक हैं, जिनसे मनुष्यकी योगसाधनमें श्रद्धा और उत्साह बढ़ते हैं, उनसे होनेवाली प्रमाणवृत्ति तो अक्लिष्ट है तथा जिन प्रत्यक्ष दर्शनोंसे मनुष्यको सांसारिक पदार्थ नित्य और सुखरूप होते हैं, भोगोंमें आसक्ति हो जाती है, जो वैराग्यके विरोधी भावोंको बढ़ानेवाले हैं, उनसे होनेवाली प्रमाणवृत्ति क्लिष्ट है।

(२) अनुमान-प्रमाण—किसी प्रत्यक्ष दर्शनके सहारे युक्तियोंद्वारा जो अप्रत्यक्ष पदार्थके स्वरूपका ज्ञान होता है, वह अनुमानसे होनेवाली प्रमाणवृत्ति है। जैसे धूमको देखकर अग्निकी विद्यमानताका ज्ञान होना, नदीमें

बाढ़ आया देखकर दूर-देशमें वृष्टि होनेका ज्ञान होना—इत्यादि। इनमें भी जिन अनुमानोंसे मनुष्यको संसारके पदार्थोंकी अनित्यता, दुःखरूपता आदि दोषोंका ज्ञान होकर उनमें वैराग्य होता है और योगके साधनोंमें श्रद्धा बढ़ती है, जो आत्मज्ञानमें सहायक हैं, वे सब वृत्तियाँ तो अक्लिष्ट हैं और उनके विपरीत वृत्तियाँ क्लिष्ट हैं।

(३) आगम-प्रमाण—वेद, शास्त्र और आप्त (यथार्थ वक्ता) पुरुषोंके वचनको 'आगम' कहते हैं। जो पदार्थ मनुष्यके अन्तःकरण और इन्द्रियोंके प्रत्यक्ष नहीं है एवं जहाँ अनुमानकी भी पहुँच नहीं है, उसके स्वरूपका ज्ञान वेद, शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंसे होता है, वह आगमसे होनेवाली प्रमाणवृत्ति है। जिस आगम-प्रमाणसे मनुष्यका भोगोंमें वैराग्य होता है (गीता ५।२२) और योगसाधनोंमें श्रद्धा-उत्साह बढ़ते हैं, वह तो अक्लिष्ट है और जिस आगम-प्रमाणसे भोगोंमें प्रवृत्ति और योग-साधनोंमें अरुचि हो, जैसे स्वर्गलोकके भोगोंकी बड़ाई सुनकर उनमें और उनके साधनरूप सकाम कर्मोंमें आसक्ति और प्रवृत्ति होती है, वह क्लिष्ट है॥ ७॥

***सम्बन्ध**—प्रमाणवृत्तिके भेद बतलाकर अब विपर्ययवृत्तिके लक्षण बतलाते हैं—*

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्॥ ८॥

अतद्रूपप्रतिष्ठम्=जो उस वस्तुके स्वरूपमें प्रतिष्ठित नहीं है, ऐसा; **मिथ्याज्ञानम्**=मिथ्या ज्ञान; **विपर्ययः**=विपर्यय है।

व्याख्या—किसी भी वस्तुके असली स्वरूपको न समझकर उसे दूसरी ही वस्तु समझ लेना—यह विपरीत ज्ञान ही विपर्ययवृत्ति है—जैसे सीपमें चाँदीकी प्रतीति। यह वृत्ति भी यदि भोगोंमें वैराग्य उत्पन्न करनेवाली और योगमार्गमें श्रद्धा-उत्साह बढ़ानेवाली हो तो अक्लिष्ट है, अन्यथा क्लिष्ट है।

जिस इन्द्रिय आदिके द्वारा वस्तुओंका यथार्थ ज्ञान होता है, उन्हींसे विपरीत ज्ञान भी होता है। यह मिथ्या ज्ञान भी कभी-कभी भोगोंमें वैराग्य करनेवाला हो जाता है। जैसे भोग्य पदार्थोंकी क्षणभङ्गुरताको देखकर,

अनुमान करके या सुनकर उनको सर्वथा मिथ्या मान लेना योग-सिद्धान्तके अनुसार विपरीतवृत्ति है; क्योंकि वे परिवर्तनशील होनेपर भी मिथ्या नहीं हैं तथापि यह मान्यता भोगीमें वैराग्य उत्पन्न करनेवाली होनेसे अक्लिष्ट है।

कुछ महानुभावोंके मतानुसार विपर्ययवृत्ति और अविद्या—दोनों एक ही हैं, परंतु यह युक्तिसङ्गत नहीं मालूम होता; क्योंकि अविद्याका नाश तो केवल असम्प्रज्ञातयोगसे ही होता है (योग० ४। २९-३०) जहाँ प्रमाणवृत्ति भी नहीं रहती। किंतु विपर्ययवृत्तिका नाश तो प्रमाणवृत्तिसे ही हो जाता है। इसके सिवा योगशास्त्रके मतानुसार विपर्यय ज्ञान चित्तकी वृत्ति है, किंतु अविद्या चित्तवृत्ति नहीं मानी गयी है; क्योंकि वह द्रष्टा और दृश्यके स्वरूपकी उपलब्धिमें हेतुभूत संयोगकी भी कारण है (योग० २। २३-२४) तथा अस्मिता और राग आदि क्लेशोंकी भी कारण है (योग० २। ४), इसके अतिरिक्त प्रमाणवृत्तिमें विपर्ययवृत्ति नहीं है, परंतु राग-द्वेषादि क्लेशोंका वहाँ भी सद्भाव है, इसलिये भी विपर्ययवृत्ति और अविद्याकी एकता नहीं हो सकती; क्योंकि विपर्ययवृत्ति तो कभी होती है और कभी नहीं होती, किंतु अविद्या तो कैवल्य-अवस्थाकी प्राप्तितक निरन्तर विद्यमान रहती है। उसका नाश होनेपर तो सभी वृत्तियोंका धर्मी स्वयं चित्त भी अपने कारणमें विलीन हो जाता है (योग० ४। ३२)। परंतु प्रमाणवृत्तिके समय विपर्ययवृत्तिका अभाव हो जानेपर भी न तो राग-द्वेषोंका नाश होता है तथा न द्रष्टा और दृश्यके संयोगका ही। इसके सिवा प्रमाणवृत्ति क्लिष्ट भी होती है; परंतु जिस यथार्थ ज्ञानसे अविद्याका नाश होता है, वह क्लिष्ट नहीं होता। अतः यही मानना ठीक है कि चित्तका धर्मरूप विपर्ययवृत्ति अन्य पदार्थ है तथा पुरुष और प्रकृतिके संयोगकी कारणरूपा अविद्या उससे सर्वथा भिन्न है॥ ८॥

सम्बन्ध—*अब विकल्पवृत्तिके लक्षण बतलाये जाते हैं*—

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः॥ ९॥

शब्दज्ञानानुपाती=जो ज्ञान शब्दजनित ज्ञानके साथ-साथ होनेवाला है;

बाढ़ आया देखकर दूर-देशमें वृष्टि होनेका ज्ञान होना—इत्यादि। इनमें भी जिन अनुमानोंसे मनुष्यको संसारके पदार्थोंकी अनित्यता, दुःखरूपता आदि दोषोंका ज्ञान होकर उनमें वैराग्य होता है और योगके साधनोंमें श्रद्धा बढ़ती है, जो आत्मज्ञानमें सहायक हैं, वे सब वृत्तियाँ तो अक्लिष्ट हैं और उनके विपरीत वृत्तियाँ क्लिष्ट हैं।

(३) आगम-प्रमाण—वेद, शास्त्र और आप्त (यथार्थ वक्ता) पुरुषोंके वचनको 'आगम' कहते हैं। जो पदार्थ मनुष्यके अन्तःकरण और इन्द्रियोंके प्रत्यक्ष नहीं है एवं जहाँ अनुमानकी भी पहुँच नहीं है, उसके स्वरूपका ज्ञान वेद, शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंसे होता है, वह आगमसे होनेवाली प्रमाणवृत्ति है। जिस आगम-प्रमाणसे मनुष्यका भोगोंमें वैराग्य होता है (गीता ५। २२) और योगसाधनोंमें श्रद्धा-उत्साह बढ़ते हैं, वह तो अक्लिष्ट है और जिस आगम-प्रमाणसे भोगोंमें प्रवृत्ति और योग-साधनोंमें अरुचि हो, जैसे स्वर्गलोकके भोगोंकी बड़ाई सुनकर उनमें और उनके साधनरूप सकाम कर्मोंमें आसक्ति और प्रवृत्ति होती है, वह क्लिष्ट है॥ ७॥

सम्बन्ध—प्रमाणवृत्तिके भेद बतलाकर अब विपर्ययवृत्तिके लक्षण बतलाते हैं—

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्॥ ८॥

अतद्रूपप्रतिष्ठम्=जो उस वस्तुके स्वरूपमें प्रतिष्ठित नहीं है, ऐसा; **मिथ्याज्ञानम्**=मिथ्या ज्ञान; **विपर्ययः**=विपर्यय है।

व्याख्या—किसी भी वस्तुके असली स्वरूपको न समझकर उसे दूसरी ही वस्तु समझ लेना—यह विपरीत ज्ञान ही विपर्ययवृत्ति है—जैसे सीपमें चाँदीकी प्रतीति। यह वृत्ति भी यदि भोगोंमें वैराग्य उत्पन्न करनेवाली और योगमार्गमें श्रद्धा-उत्साह बढ़ानेवाली हो तो अक्लिष्ट है, अन्यथा क्लिष्ट है।

जिन इन्द्रिय आदिके द्वारा वस्तुओंका यथार्थ ज्ञान होता है, उन्हींसे विपरीत ज्ञान भी होता है। यह मिथ्या ज्ञान भी कभी-कभी भोगोंमें वैराग्य करनेवाला हो जाता है। जैसे भोग्य पदार्थोंकी क्षणभङ्गुरताको देखकर,

अनुमान करके या सुनकर उनको सर्वथा मिथ्या मान लेना योग-सिद्धान्तके अनुसार विपरीतवृत्ति है; क्योंकि वे परिवर्तनशील होनेपर भी मिथ्या नहीं हैं तथापि यह मान्यता भोगीमें वैराग्य उत्पन्न करनेवाली होनेसे अक्लिष्ट है।

कुछ महानुभावोंके मतानुसार विपर्ययवृत्ति और अविद्या—दोनों एक ही हैं, परंतु यह युक्तिसङ्गत नहीं मालूम होता; क्योंकि अविद्याका नाश तो केवल असम्प्रज्ञातयोगसे ही होता है (योग० ४। २९-३०) जहाँ प्रमाणवृत्ति भी नहीं रहती। किंतु विपर्ययवृत्तिका नाश तो प्रमाणवृत्तिसे ही हो जाता है। इसके सिवा योगशास्त्रके मतानुसार विपर्यय ज्ञान चित्तकी वृत्ति है, किंतु अविद्या चित्तवृत्ति नहीं मानी गयी है; क्योंकि वह द्रष्टा और दृश्यके स्वरूपकी उपलब्धिमें हेतुभूत संयोगकी भी कारण है (योग० २। २३-२४) तथा अस्मिता और राग आदि क्लेशोंकी भी कारण है (योग० २। ४), इसके अतिरिक्त प्रमाणवृत्तिमें विपर्ययवृत्ति नहीं है, परंतु राग-द्वेषादि क्लेशोंका वहाँ भी सद्भाव है, इसलिये भी विपर्ययवृत्ति और अविद्याकी एकता नहीं हो सकती; क्योंकि विपर्ययवृत्ति तो कभी होती है और कभी नहीं होती, किंतु अविद्या तो कैवल्य-अवस्थाकी प्राप्तितक निरन्तर विद्यमान रहती है। उसका नाश होनेपर तो सभी वृत्तियोंका धर्मी स्वयं चित्त भी अपने कारणमें विलीन हो जाता है (योग० ४। ३२)। परंतु प्रमाणवृत्तिके समय विपर्ययवृत्तिका अभाव हो जानेपर भी न तो राग-द्वेषोंका नाश होता है तथा न द्रष्टा और दृश्यके संयोगका ही। इसके सिवा प्रमाणवृत्ति क्लिष्ट भी होती है; परंतु जिस यथार्थ ज्ञानसे अविद्याका नाश होता है, वह क्लिष्ट नहीं होता। अतः यही मानना ठीक है कि चित्तका धर्मरूप विपर्ययवृत्ति अन्य पदार्थ है तथा पुरुष और प्रकृतिके संयोगकी कारणरूपा अविद्या उससे सर्वथा भिन्न है॥ ८॥

सम्बन्ध—अब विकल्पवृत्तिके लक्षण बतलाये जाते हैं—

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः॥ ९॥

शब्दज्ञानानुपाती=जो ज्ञान शब्दजनित ज्ञानके साथ-साथ होनेवाला है;

(और) **वस्तुशून्यः**=जिसका विषय वास्तवमें नहीं है, वह; **विकल्पः**= विकल्प है ?

व्याख्या—केवल शब्दके आधारपर बिना हुए पदार्थकी कल्पना करनेवाली जो चित्तकी वृत्ति है, वह विकल्पवृत्ति है। यह भी यदि वैराग्यकी वृद्धिमें हेतु, योगसाधनोंमें श्रद्धा और उत्साह बढ़ानेवाली तथा आत्मज्ञानमें सहायक हो तो अक्लिष्ट है, अन्यथा क्लिष्ट है।

आगम-प्रमाणजनित वृत्तिसे होनेवाले विशुद्ध संकल्पोंके सिवा सुनी-सुनायी बातोंके आधारपर मनुष्य जो नाना प्रकारके व्यर्थ संकल्प करता रहता है, उन सबको विकल्पवृत्तिके ही अन्तर्गत समझना चाहिये।

विपर्ययवृत्तिमें तो विद्यमान वस्तुके स्वरूपका विपरीत ज्ञान होता है और विकल्पवृत्तिमें अविद्यमान वस्तुकी शब्दज्ञानके आधारपर कल्पना होती है, यहीं विपर्यय और विकल्पका भेद है।

जैसे कोई मनुष्य सुनी-सुनायी बातोंके आधारपर अपनी मान्यताके अनुसार भगवान्‌के रूपकी कल्पना करके भगवान्‌का ध्यान करता है, पर जिस स्वरूपका वह ध्यान करता है उसे न तो उसने देखा है, न वेद-शास्त्रसम्मत है और न वैसा कोई भगवान्‌का स्वरूप वास्तवमें है ही, केवल कल्पनामात्र ही है। यह विकल्पवृत्ति मनुष्यको भगवान्‌के चिन्तनमें लगानेवाली होनेसे अक्लिष्ट है; दूसरी जो भोगोंमें प्रवृत्त करनेवाली विकल्पवृत्तियाँ हैं, वे क्लिष्ट हैं। इसी प्रकार सभी वृत्तियोंमें क्लिष्ट और अक्लिष्टका भेद समझ लेना चाहिये ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—*अब निद्रावृत्तिके लक्षण बतलाये जाते हैं।*

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥

अभावप्रत्ययालम्बना=अभावके ज्ञानका अवलम्बन (ग्रहण) करनेवाली; **वृत्तिः**=वृत्ति; **निद्रा**=निद्रा है।

व्याख्या—जिस समय मनुष्यको किसी भी विषयका ज्ञान नहीं रहता;

केवलमात्र ज्ञानके अभावकी ही प्रतीति रहती है, वह ज्ञानके अभावका ज्ञान जिस चित्तवृत्तिके आश्रित रहता है, वह निद्रावृत्ति है।* निद्रा भी चित्तकी वृत्तिविशेष है, तभी तो मनुष्य गाढ़ निद्रासे उठकर कहता है कि मुझे आज ऐसी गाढ़ निद्रा आयी जिसमें किसी बातकी कोई खबर नहीं रही। इस स्मृतिवृत्तिसे ही यह सिद्ध होता है कि निद्रा भी एक वृत्ति है, नहीं तो जगनेपर उसकी स्मृति कैसे होती।

निद्रा भी क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो प्रकारकी होती है। जिस निद्रासे जगनेपर साधकके मन और इन्द्रियोंमें सात्त्विकभाव भर जाता है, आलस्यका नाम-निशान नहीं रहता तथा जो योगसाधनमें उपयोगी और आवश्यक मानी गयी है। (गीता ६। १७) †, वह अक्लिष्ट है, दूसरे प्रकारकी निद्रा उस अवस्थामें परिश्रमके अभावका बोध कराकर विश्रामजनित सुखमें आसक्ति उत्पन्न करनेवाली होनेसे क्लिष्ट है॥ १०॥

सम्बन्ध—*अब स्मृतिवृत्तिके लक्षण बतलाये जाते हैं*—

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः॥ ११॥

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः=अनुभव किये हुए विषयका न छिपना अर्थात् प्रकट हो जाना; **स्मृतिः**=स्मृति है।

व्याख्या—उपर्युक्त प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और निद्रा—इन चार प्रकारकी वृत्तियोंद्वारा अनुभवमें आये हुए विषयोंके जो संस्कार चित्तमें पड़े हैं, उनका पुनः किसी निमित्तको पाकर स्फुरित हो जाना ही स्मृति है। उपर्युक्त

---

* दूसरे दर्शनकार निद्राको वृत्ति नहीं मानते, सुषुप्ति-अवस्था मानते हैं; अतः यह लक्ष्य करानेके लिये 'निद्रा भी वृत्ति है', सूत्रमें 'वृत्तिः,' पदका प्रयोग किया गया है।

† युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥

दुःखोंका नाश करनेवाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका और सोने तथा जागनेवालेका ही सिद्ध होता है।

चार प्रकारकी वृत्तियोंके सिवा इस स्मृतिवृत्तिसे जो संस्कार चित्तपर पड़ते हैं उनमें भी पुनः स्मृतिवृत्ति उत्पन्न होती है। स्मृतिवृत्ति भी क्लिष्ट और अक्लिष्ट दोनों ही प्रकारकी होती है। जिस स्मरणसे मनुष्यका भोगोंमें वैराग्य होता है तथा जो योगसाधनोंमें श्रद्धा और उत्साह बढ़ानेवाला एवं आत्मज्ञानमें सहायक है, वह तो अक्लिष्ट है और जिससे भोगोंमें राग-द्वेष बढ़ता है, वह क्लिष्ट है।

स्वप्नको कोई-कोई स्मृतिवृत्ति मानते हैं, परंतु स्वप्नमें जाग्रत्‌की भाँति सभी वृत्तियोंका आविर्भाव देखा जाता है; अतः उसका किसी एक वृत्तिमें अन्तर्भाव मानना उचित प्रतीत नहीं होता॥ ११॥

सम्बन्ध—*यहाँतक योगकी कर्तव्यता, योगके लक्षण और चित्तवृत्तियोंके लक्षण बतलाये गये; अब उन चित्तवृत्तियोंके निरोधका उपाय बतलाते हैं—*

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥ १२॥

तन्निरोधः=उन (चित्तवृत्तियों) का निरोध; **अभ्यासवैराग्याभ्याम्**=अभ्यास और वैराग्यसे होता है।

व्याख्या—चित्तकी वृत्तियोंका सर्वथा निरोध करनेके लिये अभ्यास और वैराग्य—ये दो उपाय हैं। चित्तवृत्तियोंका प्रवाह परम्परागत संस्कारोंके बलसे सांसारिक भोगोंकी ओर चल रहा है। उस प्रवाहको रोकनेका उपाय वैराग्य है और उसे कल्याणमार्गमें ले जानेका उपाय अभ्यास है *॥ १२॥

सम्बन्ध—*उक्त दोनों उपायोंमेंसे पहले अभ्यासका लक्षण बतलाते हैं—*

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः॥ १३॥

तत्र=उन दोनोंमेंसे; **स्थितौ**=(चित्तकी) स्थिरताके लिये; **यत्नः**=जो

---

* गीतामें भी कहा है—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते (६। ३५)

'हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! अभ्यास अर्थात् स्थितिके लिये बारम्बार यत्न करनेसे और वैराग्यसे मन वशमें होता है, इसलिये इसको अवश्य वशमें करना चाहिये।

प्रयत्न करना है, वह; **अभ्यासः**=अभ्यास है।

व्याख्या—जो स्वभावसे ही चञ्चल है ऐसे मनको किसी एक ध्येयमें स्थिर करनेके लिये बारम्बार चेष्टा करते रहनेका नाम 'अभ्यास' है। इसके प्रकार शास्त्रोंमें बहुत बतलाये गये हैं; इसी पादके ३२ वें सूत्रसे ३९ वेंतक अभ्यासके कुछ भेदोंका वर्णन है; उनमेंसे जिस साधकके लिये जो सुगम हो, जिसमें उसकी स्वाभाविक रुचि और श्रद्धा हो उसके लिये वही ठीक है॥ १३॥

सम्बन्ध—अब अभ्यासके दृढ़ होनेका प्रकार बतलाते हैं—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः॥ १४॥

तु=परंतु; **सः**=वह (अभ्यास); **दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितः**=बहुत कालतक निरन्तर (लगातार) और आदरपूर्वक साङ्गोपाङ्ग सेवन किया जानेपर; **दृढभूमिः**=दृढ़ अवस्थावाला होता है।

व्याख्या—अपने साधनके अभ्यासको दृढ़ बनानेके लिये साधकको चाहिये कि साधनमें कभी उकतावे नहीं। यह दृढ़ विश्वास रखे कि किया हुआ अभ्यास कभी भी व्यर्थ नहीं हो सकता, अभ्यासके बलसे मनुष्य निःसंदेह अपने लक्ष्यकी प्राप्ति कर लेता है। यह समझकर अभ्यासके लिये कालकी अवधि न रखे, आजीवन अभ्यास करता रहे, साथ ही यह भी ध्यान रखे कि अभ्यासमें व्यवधान (अन्तर) न पड़ने पावे, निरन्तर (लगातार) अभ्यास चलता रहे तथा अभ्यासमें तुच्छ बुद्धि न करे, उसकी अवहेलना न करे, बल्कि अभ्यासको ही अपने जीवनका आधार बनाकर अत्यन्त आदर और प्रेमपूर्वक उसे साङ्गोपाङ्ग करता रहे। इस प्रकार किया हुआ अभ्यास दृढ़ होता है *॥ १४॥

---

* इस सूत्रका भाव गीतामें इस प्रकार आया है—

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥ (६। २३)

'अर्थात् उस योगका अभ्यास बिना उकताये हुए चित्तसे निष्ठापूर्वक करते रहना चाहिये।'

****

सम्बन्ध—*अब वैराग्यके लक्षण आरम्भ करते हुए पहले अपर-वैराग्यके लक्षण बतलाते हैं*—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥ १५ ॥

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य=देखे और सुने हुए विषयोंमें सर्वथा तृष्णारहित चित्तकी; **वशीकारसंज्ञा**=जो वशीकार नामक अवस्था है वह; **वैराग्यम्**=वैराग्य है।

व्याख्या—अन्तःकरण और इन्द्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेवाले इस लोकके समस्त भोगोंका समाहार यहाँ 'दृष्ट' शब्दमें किया गया है और जो प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं हैं, जिनकी बड़ाई वेद, शास्त्र और भोगोंका अनुभव करनेवाले पुरुषोंसे सुनी गयी है, ऐसे भोग्य विषयोंका समाहार 'आनुश्रविक' शब्दमें किया गया है। उपर्युक्त दोनों प्रकारके भोगोंसे जब चित्त भलीभाँति तृष्णारहित हो जाता है, जब उसको प्राप्त करनेकी इच्छाका सर्वथा नाश हो जाता है, ऐसे कामनारहित चित्तकी जो वशीकार नामक अवस्थाविशेष है, वह 'अपर-वैराग्य' है ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—*अब पर-वैराग्यके लक्षण बतलाते हैं*—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

पुरुषख्यातेः=पुरुषके ज्ञानसे; **गुणवैतृष्ण्यम्**=जो प्रकृतिके गुणोंमें तृष्णाका सर्वथा अभाव हो जाना है; **तत्**=वह; **परम्**=पर-वैराग्य है।

व्याख्या—पहले बतलाये हुए चित्तकी वशीकार-संज्ञारूप वैराग्यसे जब साधककी विषयकामनाका अभाव हो जाता है और उसके चित्तका प्रवाह समानभावसे अपने ध्येयके अनुभवमें एकाग्र हो जाता है (योग० ३। १२), उसके बाद समाधि परिपक्व होनेपर प्रकृति और पुरुषविषयक विवेकज्ञान प्रकट होता है (योग० ३। ३५), उसके होनेसे जब साधककी तीनों गुणोंमें और उनके कार्यमें किसी प्रकारकी किंचिन्मात्र भी तृष्णा नहीं रहती; (योग० ४। २६),

जब वह सर्वथा आप्तकाम निष्काम हो जाता है (योग० २ । २७), ऐसी सर्वथा रागरहित अवस्थाको 'पर-वैराग्य' कहते हैं * ॥ १६ ॥

सम्बन्ध—*इस प्रकार चित्तवृत्ति-निरोधके उपायोंका वर्णन करके अब चित्तवृत्ति-निरोधरूप निर्बीज-योगका स्वरूप बतलानेके लिये पहले उसके पूर्वकी अवस्थाका सम्प्रज्ञातयोगके नामसे अवान्तर भेदोंके सहित वर्णन करते हैं*—

वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्सम्प्रज्ञातः ॥ १७ ॥

वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्=वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता—इन चारोंके सम्बन्धसे युक्त (चित्तवृत्तिका समाधान); **सम्प्रज्ञातः**= सम्प्रज्ञातयोग है।

व्याख्या—सम्प्रज्ञातयोगके ध्येय पदार्थ तीन माने गये हैं—(१) ग्राह्य (इन्द्रियोंके स्थूल और सूक्ष्म विषय), (२) ग्रहण (इन्द्रियाँ और अन्तःकरण) तथा (३) ग्रहीता (बुद्धिके साथ एकरूप हुआ पुरुष) (योग० १ । ४१)। जब ग्राह्य पदार्थोंके स्थूलरूपमें समाधि की जाती है, उस समय समाधिमें जबतक शब्द, अर्थ और ज्ञानका विकल्प वर्तमान रहता है, तबतक तो वह सवितर्क समाधि है; और जब इनका विकल्प नहीं रहता, तब वही निर्वितर्क कही जाती है। इसी प्रकार जब ग्राह्य और ग्रहणके सूक्ष्मरूपमें समाधि की जाती है उस समय समाधिमें जबतक शब्द, अर्थ और ज्ञानका विकल्प रहता है, तबतक वह सविचार और जब इनका विकल्प नहीं रहता, तब वही निर्विचार कही जाती है। जब निर्विचार समाधिमें विचारका सम्बन्ध तो नहीं रहता, परंतु आनन्दका अनुभव और अहङ्कारका सम्बन्ध रहता है, तबतक वह

---

* गीतामें भी योगारूढ़-अवस्थाका वर्णन करते हुए कहा है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते॥

'जब योगी न तो इन्द्रियोंके विषयोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है तथा सब प्रकारके संकल्पोंका भलीभाँति त्याग कर देता है तब वह योगारूढ कहलाता है।'

आनन्दानुगता समाधि है और जब उसमें आनन्दकी प्रतीति भी लुप्त हो जाती है, तब वही केवल अस्मितानुगत समझी जाती है। यही निर्विचार समाधिकी निर्मलता है, इनका विस्तृत विचार इसी पादके ४१ वें सूत्रसे ४९ वेंतक किया गया है॥ १७॥

सम्बन्ध—*अब उस अन्तिम योगका स्वरूप बतलाते हैं, जिसके सिद्ध होनेपर द्रष्टाकी अपने स्वरूपमें स्थिति हो जाती है (योग० १। ३); जो कि इस शास्त्रका मुख्य प्रतिपाद्य है जिसे कैवल्य-अवस्था भी कहते हैं*—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः॥ १८॥

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः=विराम-प्रत्ययका अभ्यास जिसकी पूर्व-अवस्था है और; **संस्कारशेषः**=जिसमें चित्तका स्वरूप 'संस्कार' मात्र ही शेष रहता है, वह योग; **अन्यः**=अन्य है।

व्याख्या—साधकको जब पर-वैराग्यकी प्राप्ति हो जाती है, उस समय स्वभावसे ही चित्त संसारके पदार्थोंकी ओर नहीं जाता। वह उनसे अपने-आप उपरत हो जाता है। उस उपरत-अवस्थाकी प्रतीतिका नाम ही यहाँ विराम-प्रत्यय है। इस उपरतिकी प्रतीतिका अभ्यास-क्रम भी जब बंद हो जाता है, उस समय चित्तकी वृत्तियोंका सर्वथा अभाव हो जाता है (योग० १। ५१); केवलमात्र अन्तिम उपरत-अवस्थाके संस्कारोंसे युक्त चित्त रहता है (योग० ३। ९-१०)। फिर निरोध-संस्कारोंके क्रमकी समाप्ति होनेसे वह चित्त भी अपने कारणमें लीन हो जाता है (योग० ४। ३२—३४) अतः प्रकृतिके संयोगका अभाव हो जानेपर द्रष्टाकी अपने स्वरूपमें स्थिति हो जाती है। इसीको असम्प्रज्ञातयोग, निर्बीजसमाधि (योग० १। ५१) और कैवल्य-अवस्था (योग० २। २५; ३। ५५; ४। ३४) आदि नामोंसे कहा गया है॥ १८॥

सम्बन्ध—*यहाँतक योग और उसके साधनोंका संक्षेपमें वर्णन किया गया, अब किस प्रकारके साधकका उपर्युक्त योग शीघ्र-से-शीघ्र सिद्ध होता है, यह समझानेके लिये प्रकरण आरम्भ किया जाता है*—

****

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥ १९ ॥

विदेहप्रकृतिलयानाम्=विदेह और प्रकृतिलय योगियोंका (उपर्युक्त योग); **भवप्रत्ययः**=भवप्रत्यय कहलाता है।

व्याख्या—जो पूर्वजन्ममें योगका साधन करते-करते विदेह-अवस्थातक पहुँच चुके थे; अर्थात् शरीरके बन्धनसे छूटकर शरीरके बाहर स्थिर होनेका जिनका अभ्यास दृढ़ हो चुका था, जो 'महाविदेह' स्थितिको प्राप्त कर चुके थे (योग० ३।४३), एवं जो साधन करते-करते 'प्रकृतिलय' (योग० १।४५; ३।४८) तककी स्थिति प्राप्त कर चुके थे, किंतु कैवल्य-पदकी प्राप्ति होनेके पहले जिनकी मृत्यु हो गयी, उन दोनों प्रकारके योगियोंका जब पुनर्जन्म होता है, जब वे योगभ्रष्ट साधक पुनः योगिकुलमें जन्म ग्रहण करते हैं; तब उनको पूर्वजन्मके योगाभ्यास-विषयक संस्कारोंके प्रभावसे अपनी स्थितिका तत्काल ज्ञान हो जाता है (गीता ६।४२-४३) और वे साधनकी परम्पराके बिना ही निर्बीजसमाधि-अवस्थाको प्राप्त कर लेते हैं। उनकी निर्बीजसमाधि उपायजन्य नहीं है, अतः उसका नाम 'भवप्रत्यय' है अर्थात् वह ऐसी समाधि है कि जिसके सिद्ध होनेमें पुनः मनुष्यजन्म प्राप्त होना ही कारण है, साधनसमुदाय नहीं॥ १९ ॥

सम्बन्ध—*दूसरे साधकोंका योग कैसे सिद्ध होता है? सो बतलाते हैं*—

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

इतरेषाम्=दूसरे साधकोंका (निरोधरूप योग); **श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधि-प्रज्ञापूर्वकः**=श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक (क्रमसे) सिद्ध होता है।

व्याख्या—किसी भी साधनमें प्रवृत्त होनेका और अविचल भावसे उसमें लगे रहनेका मूल कारण श्रद्धा (भक्तिपूर्वक विश्वास) ही है। श्रद्धाकी कमीके कारण ही साधकके साधनकी उन्नतिमें विलम्ब होता है, अन्यथा कल्याणके साधनमें विलम्बका कोई कारण नहीं है। साधनके लिये किसी अप्राप्त योग्यता और परिस्थितिकी आवश्यकता नहीं है। इसीलिये सूत्रकारने

श्रद्धाको पहला स्थान दिया है। श्रद्धाके साथ साधकमें वीर्य अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीरका सामर्थ्य भी परम आवश्यक है; क्योंकि इसीसे साधकका उत्साह बढ़ता है। श्रद्धा और वीर्य—इन दोनोंका संयोग मिलनेपर साधककी स्मरणशक्ति बलवती हो जाती है तथा उसमें योगसाधनके संस्कारोंका ही बारम्बार प्राकट्य होता रहता है; अतः उसका मन विषयोंसे विरक्त होकर समाहित हो जाता है। इसीको समाधि कहते हैं (योग० १। ४६; ३। ३)। इससे अन्तःकरण स्वच्छ हो जानेपर साधककी बुद्धि 'ऋतम्भरा'—सत्यको धारण करनेवाली हो जाती है (योग० १। ४८)। इस बुद्धिका ही नाम समाधिप्रज्ञा है। अतएव पर-वैराग्यकी प्राप्तिपूर्वक साधकका निर्बीजसमाधिरूप योग सिद्ध हो जाता है। गीतामें भी कहा है—

'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥'

(४। ३९)

जितेन्द्रिय साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्बके—तत्काल ही परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है॥ २०॥

सम्बन्ध—*अब अभ्यास-वैराग्यकी अधिकताके कारण योगकी सिद्धि शीघ्र और अति शीघ्र होनेकी बात कहते हैं—*

तीव्रसंवेगानामासन्नः॥ २१॥

तीव्रसंवेगानाम्=जिनके साधनकी गति तीव्र हैं, उनकी (निर्बीज-समाधि); **आसन्नः**=शीघ्र (सिद्ध) होती है।

व्याख्या—जिन पुरुषोंका साधन (अभ्यास और वैराग्य) तेजीसे चलता है, जो सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओंको ठुकराकर अपने साधनमें तत्परतासे लगे रहते हैं, उनका योग शीघ्र सिद्ध होता है॥ २१॥

सम्बन्ध—*किंतु—*

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः॥ २२॥

****

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्=साधनकी मात्रा हलकी, मध्यम और उच्च होनेके कारण; **ततः**=तीव्र संवेगवालोंमें; **अपि**=भी; **विशेषः**=(कालका) भेद हो जाता है।

व्याख्या—किसका साधन किस दर्जेका है; इसपर भी योग-सिद्धिकी शीघ्रताका विभाग निर्भर करता है; क्योंकि क्रियात्मक अभ्यास और वैराग्य तीव्र होनेपर भी विवेक और भावकी न्यूनाधिकताके कारण समाधि सिद्ध होनेके कालमें भेद होना स्वाभाविक है। जिस साधकमें श्रद्धा, विवेकशक्ति और भाव कुछ उन्नत हैं, उसका साधन मध्यमात्रावाला है और जिस साधकमें श्रद्धा, विवेक और भाव अत्यन्त उन्नत हैं, उसका साधन अधिमात्रावाला है। साधनमें क्रियाकी अपेक्षा भावका अधिक महत्त्व है। अभ्यास और वैराग्यका जो क्रियात्मक बाह्य स्वरूप है, वह तो ऊपरवाले सूत्रमें 'वेग'के नामसे कहा गया है; और उनका जो भावात्मक आभ्यन्तर स्वरूप है, वह उनकी मात्रा यानी दर्जा है। व्यवहारमें भी देखा जाता है कि एक ही कामके लिये समानरूपसे परिश्रम किया जानेपर भी जो उसकी सिद्धिमें अधिक विश्वास रखता है, जिस मनुष्यको उस कामके करनेकी युक्तिका अधिक ज्ञान है एवं जो उसे प्रेम और उत्साहपूर्वक बिना उकताये करता रहता है; वह दूसरोंकी अपेक्षा उसे शीघ्र पूरा कर लेता है। वही बात समाधिकी सिद्धिमें भी समझ लेनी चाहिये।

समाधिकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवालोंमें जिसका साधन श्रद्धा, विवेकशक्ति और भाव आदिकी अधिकताके कारण जितने ऊँचे दर्जेका है और जिसकी चालका क्रम जितना तेज है, उसीके अनुसार वह शीघ्र या अतिशीघ्र समाधिकी प्राप्ति कर सकेगा। यही बात समझानेके लिये सूत्रकारने उपर्युक्त दो सूत्रोंकी रचना की है—ऐसा मालूम होता है। अतः साधकको चाहिये कि अपने साधनको सर्वथा निर्दोष बतानेकी चेष्टा रखे, उसमें किसी प्रकारकी शिथिलता न आने दे॥ २२॥

सम्बन्ध—अब पूर्वोक्त अभ्यास और वैराग्यकी अपेक्षा निर्बीज-समाधिका सुगम उपाय बतलाया जाता है—

****

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥

वा=इसके सिवा; **ईश्वरप्रणिधानात्**=ईश्वरप्रणिधानसे भी (निर्बीज-समाधिकी सिद्धि शीघ्र हो सकती है)।

व्याख्या—ईश्वरकी भक्ति यानी शरणागतिका नाम 'ईश्वरप्रणिधान' है (देखिये योग० २।१ की व्याख्या); इससे भी निर्बीज-समाधि शीघ्र सिद्ध हो सकती है (योग० २।४५), क्योंकि ईश्वर सर्वसमर्थ हैं, वे अपने शरणापन्न भक्तपर प्रसन्न होकर उसके भावानुसार सब कुछ प्रदान कर सकते हैं (गीता ४।११ *) ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—*अब उक्त ईश्वरके लक्षण बतलाते हैं*—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

क्लेशकर्मविपाकाशयैः=क्लेश, कर्म, विपाक और आशय—इन चारोंसे; **अपरामृष्टः**=जो सम्बन्धित नहीं है (तथा); **पुरुषविशेषः**=जो समस्त पुरुषोंसे उत्तम है, वह; **ईश्वरः**=ईश्वर है।

व्याख्या—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच 'क्लेश' हैं; इनका विस्तृत वर्णन दूसरे पादके तीसरे सूत्रसे नवेंतक है। 'कर्म' चार प्रकारके हैं—पुण्य, पाप, पुण्य और पापमिश्रित तथा पुण्य-पापसे रहित (योग० ४।७)। कर्मके फलका नाम 'विपाक' है (योग० २।१३) और कर्मसंस्कारोंके समुदायका नाम 'आशय' है (योग० २।१२)। समस्त जीवोंका इन चारोंसे अनादि सम्बन्ध है। यद्यपि मुक्त जीवोंका पीछे सम्बन्ध नहीं रहता तो भी पहले सम्बन्ध था ही; किंतु ईश्वरका तो कभी भी इनसे न सम्बन्ध था, न है और न होनेवाला है; इस कारण उन मुक्त पुरुषोंसे भी ईश्वर विशेष है, यह बात प्रकट करनेके लिये ही सूत्रकारने '**पुरुषविशेषः**' पदका प्रयोग किया है ॥ २४ ॥

---

* ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
'जो मेरेको जैसे भजते हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ।'

****

सम्बन्ध—*ईश्वरकी विशेषताका पुनः प्रतिपादन करते हैं—*

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥ २५ ॥

तत्र=उस (ईश्वर) में; **सर्वज्ञबीजम्**=सर्वज्ञताका बीज (कारण) अर्थात् ज्ञान; **निरतिशयम्**=निरतिशय है।

व्याख्या—जिससे बढ़कर कोई दूसरी वस्तु हो, वह सातिशय है और जिससे बड़ा कोई न हो वह निरतिशय है। ईश्वर ज्ञानकी अवधि है, उसका ज्ञान सबसे बढ़कर है; उसके ज्ञानसे बढ़कर किसीका भी ज्ञान नहीं है; इसलिये उसे निरतिशय कहा गया है। जिस प्रकार ईश्वरमें ज्ञानकी पराकाष्ठा है, उसी प्रकार धर्म, वैराग्य, यश और ऐश्वर्य आदिकी पराकाष्ठाका आधार भी उसीको समझना चाहिये ॥ २५ ॥

सम्बन्ध—*और भी उसकी विशेषताका प्रतिपादन करते हैं—*

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

(वह ईश्वर सबके) **पूर्वेषाम्**=पूर्वजोंका; **अपि**=भी; **गुरुः**=गुरु है; **कालेन अनवच्छेदात्**=क्योंकि उसका कालसे अवच्छेद नहीं है।

व्याख्या—सर्गके आदिमें उत्पन्न होनेके कारण सबका गुरु ब्रह्माको माना जाता है, परंतु उसका कालसे अवच्छेद है (गीता ८। १७)। ईश्वर स्वयं अनादि और अन्य सबका आदि है (गीता १०। २-३); वह कालकी सीमासे सर्वथा अतीत है, वहाँतक कालकी पहुँच नहीं है; क्योंकि वह कालका भी महाकाल है। इसलिये वह सम्पूर्ण पूर्वजोंका भी गुरु यानी सबसे बड़ा, सबसे पुराना और सबको शिक्षा देनेवाला है (श्वेता० ३। ४; ६। १८) ॥ २६ ॥

सम्बन्ध—*ईश्वरकी शरणागतिका प्रकार बतलानेके लिये उसके नामका वर्णन करते हैं—*

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

तस्य=उस ईश्वरका; **वाचकः**=वाचक (नाम); **प्रणवः**=प्रणव (ॐ कार) है।

****

व्याख्या—नाम और नामीका सम्बन्ध अनादि और बड़ा ही घनिष्ठ है। इसी कारण शास्त्रोंमें नाम-जपकी बड़ी महिमा है (तुलसी० बाल० दोहा १८ से २७), गीतामें भी जपयज्ञको सब यज्ञोंमें श्रेष्ठ बतलाया है (१०। २५), 'ॐ' उस परमेश्वरका वेदोक्त नाम होनेसे मुख्य है (गीता १७। २३; कठ० १। २। १५—१७); इस कारण यहाँ उसीका वर्णन किया गया है। इसी वर्णनसे श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि जितने भी ईश्वरके नाम हैं, उनके जपका भी माहात्म्य समझ लेना चाहिये॥ २७॥

सम्बन्ध—*ईश्वरका नाम बतलाकर अब उसके प्रयोगकी विधि बतलाते हैं*—

तज्जपस्तदर्थभावनम्॥ २८॥

तज्जपः=उस ॐकारका जप (और); **तदर्थभावनम्**=उसके अर्थस्वरूप परमेश्वरका चिन्तन (करना चाहिये)।

व्याख्या—साधकको ईश्वरके नामका जप और उसके स्वरूपका स्मरण-चिन्तन करना चाहिये।* इसीको पूर्वोक्त ईश्वरप्रणिधान अर्थात् ईश्वरकी भक्ति या शरणागति कहते हैं। ईश्वरकी भक्तिके और भी बहुत-से प्रकार हैं, परंतु जप और ध्यान सब साधनोंमें मुख्य होनेके कारण यहाँ सूत्रकारने केवल नाम और नामीके स्मरणरूप एक ही प्रकारका वर्णन किया है। गीतामें भी इसी तरह वर्णन आया है (८। १३)। इसे उपलक्षण मानकर भगवद्भक्तिके सभी साधनोंको ईश्वरकी प्रसन्नताके नाते निर्बीज समाधिकी सिद्धिमें हेतु समझना चाहिये अर्थात् ईश्वरकी भक्तिके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंका ईश्वरप्रणिधानमें अन्तर्भाव समझना चाहिये॥ २८॥

सम्बन्ध—*अब ईश्वरके नाम-जप और स्वरूपचिन्तनके फलका वर्णन करते हैं*—

---

* प्रश्नोपनिषद्के पाँचवें प्रश्नोत्तरमें और माण्डूक्योपनिषद्में ओंकारकी उपासनाका विषय विस्तारसे समझाया गया है।

****

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

ततः=उक्त साधनसे; **अन्तरायाभावः**=विघ्नोंका अभाव; **च**=और; **प्रत्यक्चेतनाधिगमः**=अन्तरात्माके स्वरूपका ज्ञान; **अपि**=भी (हो जाता है)।

व्याख्या—अगले दो सूत्रोंमें जिन विघ्नोंका वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है, ईश्वरके भजन-स्मरणसे उनका अपने-आप नाश हो जाता है और अन्तरात्माके (द्रष्टाके) स्वरूपका ज्ञान होकर कैवल्य-अवस्था भी उपलब्ध हो जाती है; अतः यह निर्बीज-समाधिकी प्राप्तिका बहुत ही सुगम उपाय है॥ २९॥

***सम्बन्ध**—पूर्वसूत्रमें जिन अन्तरायोंका अभाव होनेकी बात कही गयी है, उनके नाम बतलाये जाते हैं—*

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध-भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वान-वस्थितत्वानि=व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व—ये नौ; (जो कि) **चित्तविक्षेपाः**=चित्तके विक्षेप हैं; **ते**=वे ही; **अन्तरायाः**=अन्तराय (विघ्न) हैं।

व्याख्या—योगसाधनमें लगे हुए साधकके चित्तमें विक्षेप उत्पन्न करके उसको साधनसे विचलित करनेवाले ये नौ योगमार्गके विघ्न माने गये हैं।

(१) शरीर, इन्द्रियसमुदाय और चित्तमें किसी प्रकारका रोग उत्पन्न हो जाना 'व्याधि' है।

(२) अकर्मण्यता अर्थात् साधनोंमें प्रवृत्ति न होनेका स्वभाव 'स्त्यान' है।

(३) अपनी शक्तिमें या योगके फलमें संदेह हो जानेका नाम 'संशय' है।

(४) योगसाधनोंके अनुष्ठानकी अवहेलना (बे-परवाही) करते रहना 'प्रमाद' है।

(५) तमोगुणकी अधिकतासे चित्त और शरीरमें भारीपन हो जाना

और उसके कारण साधनमें प्रवृत्तिका न होना 'आलस्य' है।

(६) विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संयोग होनेसे उनमें आसक्ति हो जानेके कारण जो चित्तमें वैराग्यका अभाव हो जाता है, उसे 'अविरति' कहते हैं।

(७) योगके साधनोंको किसी कारणसे विपरीत समझना अर्थात् यह साधन ठीक नहीं, ऐसा मिथ्या ज्ञान हो जाना 'भ्रान्तिदर्शन' है।

(८) साधन करनेपर भी योगकी भूमिकाओंका अर्थात् साधनकी स्थितिका प्राप्त न होना—यह 'अलब्धभूमिकत्व' है; इससे साधकका उत्साह कम हो जाता है।

(९) योगसाधनसे किसी भूमिमें चित्तकी स्थिति होनेपर भी उसका न ठहरना 'अनवस्थितत्व' है।

इन नौ प्रकारके चित्तविक्षेपोंको ही अन्तराय, विघ्न और योगके प्रतिपक्षी आदि नामोंसे कहा जाता है॥ ३०॥

सम्बन्ध—*इनके साथ-साथ होनेवाले दूसरे विघ्नोंका वर्णन करते हैं*—

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः॥ ३१॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाः=दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास—ये पाँच विघ्न, **विक्षेपसहभुवः**=विक्षेपोंके साथ-साथ होनेवाले हैं।

व्याख्या—उपर्युक्त चित्तविक्षेपोंके साथ-साथ होनेवाले दूसरे पाँच विघ्न इस प्रकार हैं—

(१) दुःख—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—इस तरह दुःखके प्रधानतया तीन भेद माने गये हैं। काम-क्रोधादिके कारण व्याधि आदिके कारण या इन्द्रियोंमें किसी प्रकारकी विकलता होनेके कारण जो मन, इन्द्रिय या शरीरमें ताप या पीड़ा होती है, उसको 'आध्यात्मिक दुःख' कहते हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी, सिंह, व्याघ्र, मच्छर और अन्यान्य जीवोंके कारण होनेवाली पीड़ाका नाम 'आधिभौतिक दुःख' है तथा सर्दी, गर्मी, वर्षा, भूकम्प

आदि दैवी घटनासे होनेवाली पीड़ाका नाम 'आधिदैविक दुःख' है।

(२) **दौर्मनस्य**—इच्छाकी पूर्ति न होनेपर जो मनमें क्षोभ होता है, उसे 'दौर्मनस्य' कहते हैं।

(३) **अङ्गमेजयत्व**—शरीरके अङ्गोंमें कम्प होना, 'अङ्ग-मेजयत्व' है।

(४) **श्वास**—बिना इच्छाके बाहरकी वायुका भीतर प्रवेश कर जाना अर्थात् बाहरी कुम्भकमें विघ्न हो जाना 'श्वास' है।

(५) **प्रश्वास**—बिना इच्छाके ही भीतरकी वायुका बाहर निकल जाना अर्थात् भीतरी कुम्भकमें विघ्न हो जाना 'प्रश्वास' है।

ये पाँचों विक्षिप्त चित्तमें ही होते हैं, समाहित चित्तमें नहीं; इसलिये इनको 'विक्षेपसहभू' कहते हैं॥ ३१॥

सम्बन्ध—*उक्त विघ्नोंको दूर करनेका दूसरा उपाय बतलाते हैं*—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः॥ ३२॥

तत्प्रतिषेधार्थम्=उनको दूर करनेके लिये; **एकतत्त्वाभ्यासः**=एकतत्त्वका अभ्यास (करना चाहिये)।

व्याख्या—उपर्युक्त दोनों प्रकारके विघ्नोंका नाश ईश्वर-प्रणिधानसे तो होता ही है, उसके सिवा यह दूसरा उपाय बतलाया गया है। भाव यह कि किसी एक वस्तुमें चित्तको स्थित करनेका बार-बार प्रयत्न करनेसे भी एकाग्रता उत्पन्न होकर विघ्नोंका नाश हो जाता है; अतः यह साधन भी किया जा सकता है॥ ३२॥

सम्बन्ध—*चित्तके अन्तरालमें राग-द्वेषादि मल रहनेके कारण मलिन चित्त स्थिर नहीं होता, अतः चित्तको निर्मल बनानेका सुगम उपाय बतलाते हैं*—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥ ३३॥

सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणाम्=सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और

पापात्मा—ये चारों जिनके क्रमसे विषय हैं, ऐसी; **मैत्रीकरुणा-मुदितोपेक्षाणाम्**=मित्रता, दया, प्रसन्नता और उपेक्षाकी; **भावनातः**=भावनासे; **चित्तप्रसादनम्**=चित्त स्वच्छ हो जाता है।

व्याख्या—सुखी मनुष्योंमें मित्रताकी भावना करनेसे, दुःखी मनुष्योंमें दयाकी भावना करनेसे, पुण्यात्मा पुरुषोंमें प्रसन्नताकी भावना करनेसे और पापियोंमें उपेक्षाकी भावना करनेसे चित्तके राग, द्वेष, घृणा, ईर्ष्या और क्रोध आदि मलोंका नाश होकर चित्त शुद्ध—निर्मल हो जाता है। अतः साधकको इसका अभ्यास करना चाहिये॥ ३३॥

सम्बन्ध—*चित्तशुद्धिका दूसरा उपाय बतलाते हैं*—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य॥ ३४॥

वा=अथवा; **प्राणस्य**=प्राणवायुको; **प्रच्छर्दनविधारणाभ्याम्**=बारम्बार बाहर निकालने और रोकनेके अभ्याससे भी (चित्त निर्मल होता है)।

व्याख्या—बारम्बार प्राणवायुको शरीरसे बाहर निकालनेका तथा यथाशक्ति बाहर रोके रखनेका अभ्यास करनेसे मनमें निर्मलता आती है, इससे शरीरकी नाड़ियोंका भी मल नष्ट होता है॥ ३४॥

सम्बन्ध—*प्रसंगवश चित्तकी निर्मलताके उपाय बतलाकर, अब मनको स्थिर करनेवाला अन्य साधन बतलाते हैं*—

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी॥ ३५॥

विषयवती=विषयवाली; **प्रवृत्तिः**=प्रवृत्ति; **उत्पन्ना**=उत्पन्न होकर वह; **वा**=भी; **मनसः**=मनकी; **स्थितिनिबन्धनी**=स्थितिको बाँधनेवाली हो जाती है।

व्याख्या—अभ्यास करते-करते साधकको दिव्य विषयोंका साक्षात् हो जाता है, उन दिव्य विषयोंका अनुभव करनेवाली वृत्तिका नाम विषयवती प्रवृत्ति है (योग० ३। ३६)। ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न होनेसे साधकका योगमार्गमें विश्वास और उत्साह बढ़ जाता है, इस कारण यह आत्मचिन्तनके अभ्यासमें

भी मनको स्थिर करनेमें हेतु बन जाती है ॥ ३५ ॥

सम्बन्ध—*इसी प्रकारका और भी उपाय बतलाते हैं*—

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

वा=इसके सिवा [यदि]; **विशोका**=शोकरहित; **ज्योतिष्मती**=ज्योतिष्मती प्रवृत्ति [उत्पन्न हो जाय तो वह] भी मनकी स्थिति करनेवाली होती है।

व्याख्या—अभ्यास करते-करते साधकको यदि शोकरहित प्रकाशमय प्रवृत्तिका अनुभव हो जाय तो वह भी मनको स्थिर करनेवाली होती है ॥ ३६ ॥

सम्बन्ध—*अब चित्तकी स्थिरताका अन्य उपाय बतलाते हैं*—

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥ ३७ ॥

वीतरागविषयम्=वीतरागको विषय करनेवाला; **चित्तम्**=चित्त; **वा**=भी [स्थिर हो जाता है]।

व्याख्या—जिस पुरुषके राग-द्वेष सर्वथा नष्ट हो चुके हैं, ऐसे विरक्त पुरुषको ध्येय बनाकर अभ्यास करनेवाला अर्थात् उसके विरक्त भावका मनन करनेवाला चित्त भी स्थिर हो जाता है ॥ ३७ ॥

सम्बन्ध—*और भी अन्य उपाय बतलाते हैं*—

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८ ॥

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनम्=स्वप्न और निद्राके ज्ञानका अवलम्बन करनेवाला चित्त; **वा**=भी [स्थिर हो सकता है]।

व्याख्या—स्वप्नमें कोई अलौकिक अनुभव हुआ हो, जैसे अपने इष्टदेवका दर्शन आदि, तो उसको स्मरण करके वैसा ही चिन्तन करनेसे मन स्थिर हो जाता है तथा गाढ़ निद्रामें केवल चित्तकी वृत्तियोंके अभावका ही ज्ञान रहता है, किसी भी पदार्थकी प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार समस्त वृत्तियोंका बाध करके वृत्तियोंके अभावके ज्ञानका अवलम्बन करनेसे अर्थात्

उसीको लक्ष्य बनाकर अभ्यास करनेसे भी अनायास ही चित्त स्थिर हो सकता है। जिस कालमें तमोगुणका आविर्भाव होता है; उस समय 'यह अभ्यास नहीं करना चाहिये।' जिस समय चित्त और इन्द्रियोंमें सत्त्वगुण बढ़ा हुआ हो, उस समय यह साधन अधिक लाभप्रद हो सकता है॥ ३८॥

सम्बन्ध—*मनुष्योंकी रुचि भिन्न-भिन्न होती है; अतः अब सर्वसाधारणके उपयोगी साधनका वर्णन करते हुए इस प्रकरणका उपसंहार करते हैं—*

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥ ३९ ॥

यथाभिमतध्यानात्=जिसको जो अभिमत हो, उसके ध्यानसे; **वा**=भी [मन स्थिर हो जाता है]।

व्याख्या—उपर्युक्त साधनोंमेंसे कोई साधन किसी साधकके अनुकूल नहीं पड़ता हो तो उसे अपनी रुचिके अनुसार अपने इष्टका ध्यान करना चाहिये। अपनी रुचिके अनुसार अपने इष्टका ध्यान करनेसे मन स्थिर हो जाता है॥ ३९॥

सम्बन्ध—*चित्तकी स्थिरताके उपाय बतलाकर अब यह बतलाते हैं कि चित्तमें जब स्थिर होनेकी योग्यता परिपक्व हो जाती है, तब उसकी कैसी स्थिति होती है—*

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

(उस समय) **अस्य**=इसका; **परमाणुपरममहत्त्वान्तः**=परमाणुसे लेकर परम महत्त्वतक; **वशीकारः**=वशीकार (हो जाता है)।

व्याख्या—अभ्यास करते-करते जब साधकका चित्त भलीभाँति स्थितिकी योग्यता प्राप्त कर लेता है; उस समय साधक अपने चित्तको सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थोंसे लेकर बड़े-से-बड़े महान् पदार्थतक चाहे जहाँ, चाहे जब तत्काल स्थिर कर सकता है। उसका अपने चित्तपर पूर्ण अधिकार हो जाता है। चित्तमें स्थिर होनेकी योग्यता परिपक्व हो जानेकी पहचान भी यही है (गीता ६। १९)॥ ४०॥

****

सम्बन्ध—*पहले बतलाये हुए उपायोंसे जब साधकका अपने चित्तपर अधिकार हो जाता है और चित्त अत्यन्त निर्मल होकर उसमें समाधिकी योग्यता आ जाती है, इसके बाद किस प्रकार क्रमसे सम्प्रज्ञात निर्बीज-समाधि सिद्ध होती है, उसका वर्णन आरम्भ करते हैं—*

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु
तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

क्षीणवृत्तेः=जिसकी समस्त बाह्य वृत्तियाँ क्षीण हो चुकी हैं, ऐसे; **मणेः इव अभिजातस्य**=स्फटिकमणिकी भाँति निर्मल चित्तका; **ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु**=जो ग्रहीता (पुरुष), ग्रहण (अन्तःकरण और इन्द्रियाँ) तथा ग्राह्य-(पञ्चभूत और विषयों-)में; **तत्स्थतदञ्जनता**=स्थित हो जाना और तदाकार हो जाना है, यही; **समापत्तिः**=सम्प्रज्ञात समाधि है।

व्याख्या—पूर्वोक्त अभ्यास करते-करते जब साधकका चित्त स्वच्छ स्फटिकमणिकी भाँति अति निर्मल हो जाता है, जब उसकी ध्येयसे अतिरिक्त बाह्य वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, उस समय साधक इन्द्रियोंके स्थूल या सूक्ष्म विषयोंको (योग० ३।४४), या अन्तःकरण और इन्द्रियोंको (योग० ३।४७) अथवा बुद्धिस्थ पुरुषको (योग० ३।४९)—जिस किसी भी ध्येयको लक्ष्य बनाकर उसमें अपने चित्तको लगाता है तो वह चित्त उस ध्येय वस्तुमें स्थित होकर तदाकार हो जाता है। इसीको सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं, क्योंकि इस समाधिमें साधकको ध्येय वस्तुके स्वरूपका भली प्रकार ज्ञान हो जाता है, उसके विषयमें किसी प्रकारका संशय या भ्रम नहीं रहता है।*

सूत्रकारने अगले सूत्रोंमें न तो आनन्दानुगत समाधिकी चर्चा की है, न ग्रहण या इन्द्रियानुगतकी और न अस्मिता या पुरुषानुगतकी, इस कारण यद्यपि यह विषय स्पष्ट नहीं होता, परंतु सूक्ष्म विषयकी हद अलिङ्गपर्यन्त बतला दी,

---

* इसी समाधिका वर्णन पहले सतरहवें सूत्रमें भी आया है, वहाँ वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता—इन चारोंके सम्बन्धसे होनेवाले योगको सम्प्रज्ञात बतलाया है।

इससे मन, इन्द्रियाँ और अस्मिताका उसीमें अन्तर्भाव माना जा सकता है। सम्भव है, इसीसे उन्होंने इन्द्रियानुगत और अस्मितानुगत समाधिके भेदोंका अलग वर्णन न किया हो, क्योंकि तीसरे पादके ४४ वें, ४७ वें और ४९ वें सूत्रमें जहाँ ग्राह्यविषयक, ग्रहणविषयक और ग्रहीतृविषयक संयमका फल बताया है, वहाँ ग्राह्यके सूक्ष्मरूपमें तन्मात्राओंको और ग्रहणके सूक्ष्मरूपमें अस्मिताको ले लिया है। आनन्द भी मनका ग्राह्य विषय होनेके कारण इसको भी सूक्ष्म ग्राह्यविषयक समाधिके ही अन्तर्गत माना जा सकता है।*

अतः यहाँ यह मानना उचित मालूम होता है कि आकाशादि पञ्च महाभूत और उनका कार्य तो स्थूल ग्राह्य विषय है तथा तन्मात्रा और उनका सूक्ष्म कार्य सूक्ष्म ग्राह्य विषय है। इन्द्रियाँ और अन्तःकरण ग्रहणविषयक समाधिके अन्तर्गत हैं, वे ग्राह्यविषयक समाधिमें तो नहीं आते; परन्तु सूक्ष्म विषयकी हद अलिङ्गपर्यन्त बतला देनेसे ग्रहणविषयक समाधिका भी विचारानुगत समाधिमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार आनन्द नाम आह्लादका है। यह प्रकृति और पुरुषके संयोगसे उत्पन्न होनेवाला और मनके द्वारा ग्राह्य है। अतः वह सूक्ष्म विषयके अन्तर्गत आ जानेके कारण उसका ग्राह्य-समाधिमें अन्तर्भाव है। एवं यहाँ जो ग्रहीतृविषयक समाधि बतायी गयी है, वह भी तीसरे पादके पैंतीसवें सूत्रके अनुसार प्रकृति-पुरुषके संयोग-कालमें ही पुरुषके स्वरूपमें की जाती है। अतः वह अस्मितानुगत समाधि है, यह समझना चाहिये; क्योंकि उसका फल उसी सूत्रमें पुरुषका ज्ञान बतलाया गया है॥ ४१ ॥

---

* कुछ टीकाकारोंका कहना है कि वितर्क और विचारके स्थानपर तो यहाँ 'ग्राह्य' शब्द है, आनन्दकी जगह 'ग्रहण' शब्द है और अस्मिताकी जगह 'ग्रहीता' शब्द है। दोनों स्थलोंके वर्णनकी एकता करनेके लिये उन लोगोंने उस सूत्रकी टीकामें आनन्दका अर्थ इन्द्रियाँ किया है और इस सूत्रमें 'ग्रहीता' का अर्थ अस्मिता किया है, किन्तु व्यासभाष्यमें ऐसा नहीं किया गया है। उन्होंने वहाँ आनन्दका अर्थ आह्लाद और यहाँ 'ग्रहीता' का अर्थ साधारण पुरुष और मुक्त पुरुष—इस प्रकार किया है।

सम्बन्ध—*सामान्यरूपसे सम्प्रज्ञातसमाधिका स्वरूप बतला दिया, अब इसके भेदोंका वर्णन करते हैं—*

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

तत्र=उनमें; **शब्दार्थज्ञानविकल्पैः**=शब्द, अर्थ, ज्ञान—इन तीनोंके विकल्पोंसे; **संकीर्णा**=संकीर्ण—मिली हुई; **समापत्तिः**=समाधि; **सवितर्का**=सवितर्क है।

व्याख्या—ग्राह्य यानी मन और इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण करनेमें आनेवाले पदार्थ दो प्रकारके होते हैं—(१) स्थूल, (२) सूक्ष्म। इनमेंसे किसी एक स्थूल पदार्थको लक्ष्य बनाकर उसके स्वरूपको जाननेके लिये जब योगी अपने चित्तको उसमें लगाता है, तब पहले-पहल होनेवाले अनुभवमें उस वस्तुके नाम, रूप और ज्ञानके विकल्पोंका मिश्रण रहता है। अर्थात् उसके स्वरूपके साथ-साथ उसके नाम और प्रतीतिकी भी चित्तमें स्फुरणा रहती है। अतः इस समाधिको सवितर्क समाधि कहते हैं। इसीका दूसरा नाम सविकल्प योग भी है॥ ४२ ॥

सम्बन्ध—*इसके बाद—*

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

स्मृतिपरिशुद्धौ=(शब्द और प्रतीतिकी) स्मृतिके भलीभाँति लुप्त हो जानेपर; **स्वरूपशून्या**=अपने रूपसे शून्य हुईके; **इव**=सदृश; **अर्थमात्रनिर्भासा**=केवल ध्येयमात्रके स्वरूपको प्रत्यक्ष करानेवाली (चित्तकी स्थिति ही); **निर्वितर्का**=निर्वितर्क समाधि है।

व्याख्या—पहले बतलायी हुई स्थितिके बाद जब साधकके चित्तमें ध्येय वस्तुके नामकी स्मृति लुप्त हो जाती है और उसको विषय करनेवाली चित्तवृत्तिका भी स्मरण नहीं रहता, तब अपने (चित्तके) स्वरूपका भी भान न रहनेके कारण

उसके स्वरूपके अभावकी-सी स्थिति हो जाती है, उस समय सब प्रकारके विकल्पोंका अभाव हो जानेके कारण केवल ध्येय पदार्थके साथ तदाकार हुआ चित्त ध्येयको प्रकाशित करता है, उस अवस्थाका नाम 'निर्वितर्क' समाधि है। इसमें शब्द और प्रतीतिका कोई विकल्प नहीं रहता, अतः इसे 'निर्विकल्प' समाधि भी कहते हैं॥ ४३॥

सम्बन्ध—*इस प्रकार स्थूल-ध्येय पदार्थोंमें होनेवाली सम्प्रज्ञात समाधिका भेद बतलाकर अब सूक्ष्म ध्येयमें होनेवाली सम्प्रज्ञात समाधिके भेद बतलाते हैं*—

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता॥ ४४॥

एतया एव=इसीसे (पूर्वोक्त सवितर्क और निर्वितर्कके वर्णनसे ही); **सूक्ष्मविषया**=सूक्ष्म पदार्थोंमें की जानेवाली; **सविचारा**=सविचार (और); **निर्विचारा**=निर्विचार समाधिका; **च**=भी; **व्याख्याता**=वर्णन किया गया।

व्याख्या—जिस प्रकार स्थूल-ध्येय पदार्थोंमें की जानेवाली समाधिके दो भेद हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म-ध्येय पदार्थोंसे सम्बन्ध रखनेवाली समाधिके भी दो भेद समझ लेने चाहिये अर्थात् जब किसी सूक्ष्म-ध्येय पदार्थके स्वरूपका यथार्थ स्वरूप जाननेके लिये उसमें चित्तको स्थिर किया जाता है, तब पहले उसके नाम, रूप और ज्ञानके विकल्पोंसे मिला हुआ अनुभव होता है, वह स्थिति सविचार समाधि है; और उसके बाद जब नामका और ज्ञानका अर्थात् चित्तके निज स्वरूपका भी विस्मरण होकर केवल ध्येय पदार्थका ही अनुभव होता है, वह स्थिति निर्विचार समाधि है॥ ४४॥

सम्बन्ध—*अब सूक्ष्म पदार्थोंमें किन-किनकी गणना है, यह स्पष्ट करते हैं*—

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्॥ ४५॥

च=तथा; **सूक्ष्मविषयत्वम्**=सूक्ष्मविषयता; **अलिङ्गपर्यवसानम्**=प्रकृतिपर्यन्त है।

****

व्याख्या—पृथ्वीका सूक्ष्म विषय गन्धतन्मात्रा, जलका रसतन्मात्रा, तेजका रूपतन्मात्रा, वायुका स्पर्शतन्मात्रा और आकाशका शब्दतन्मात्रा है एवं उन सबका और मनसहित इन्द्रियोंका सूक्ष्म विषय अहंकार, अहंकारका महत्तत्त्व और महत्तत्त्वका सूक्ष्म विषय यानी कारण प्रकृति है। उससे आगे कोई सूक्ष्म पदार्थ नहीं है; वही सूक्ष्मताकी अवधि है। अतः प्रकृतिपर्यन्त किसी भी सूक्ष्म पदार्थको लक्ष्य बनाकर उसमें की हुई समाधिको सविचार और निर्विचार समाधिके अन्तर्गत समझ लेना चाहिये। यद्यपि पुरुष प्रकृतिसे भी सूक्ष्म है, पर वह दृश्य पदार्थोंमें नहीं है, अतः तद्विषयक समाधि इसमें नहीं आनी चाहिये; तथापि ग्रहीतृविषयक समाधि बुद्धिमें प्रतिबिम्बित पुरुषमें की जाती है (योग० ३। ३५)। अतः उसको निर्विचार समाधिके अन्तर्गत मान लेनेमें कोई आपत्ति मालूम नहीं होती। क्योंकि कठोपनिषद् (१। ३। १०) में जीवात्मासे प्रकृतिको 'पर' कहा गया है।

इस प्रकार यहाँ सूक्ष्म विषयकी सीमा प्रकृतिपर्यन्त बतला देनेके कारण मन, इन्द्रियाँ तथा आनन्द और अस्मिताका उसमें अन्तर्भाव प्रतीत होता है; फिर सतरहवें सूत्रमें कहे हुए आनन्द और अस्मिताको और इकतालीसवें सूत्रमें ग्रहण नामसे कहे हुए मन और इन्द्रियोंको और ग्रहीता नामसे कहे हुए प्रकृतिस्थ पुरुषको टीकाकारोंने 'विचार' शब्दवाच्य सूक्ष्म विषयसे अलग कैसे कहा—और सूत्रकारोंने तद्विषयक समाधिके भेदोंका वर्णन क्यों नहीं किया, यह विचारणीय है॥ ४५॥

सम्बन्ध—*इकतालीसवें सूत्रसे पैंतालीसवेंतक सम्प्रज्ञातसमाधिका भेद बतलाकर अब उन सब प्रकारकी समाधियोंका सहेतुक दूसरा नाम बतलाते हैं*—

ता एव सबीजः समाधिः॥ ४६॥

ता एव=वे सब-की-सब ही; **सबीजः**=सबीज; **समाधिः**=समाधि हैं।

व्याख्या—निर्वितर्क और निर्विचार समाधियाँ निर्विकल्प होनेपर भी निर्बीज नहीं हैं, ये सब-की-सब सबीज समाधि ही हैं; क्योंकि इनमें बीजरूपसे

किसी-न-किसी ध्येय पदार्थको विषय करनेवाली चित्तवृत्तिका अस्तित्व-सा रहता है। अतः सम्पूर्ण वृत्तियोंका पूर्णतया निरोध न होनेके कारण इन समाधियोंमें पुरुषको कैवल्य-अवस्थाका लाभ नहीं होता ॥ ४६ ॥

सम्बन्ध—*उक्त चार प्रकारकी समाधियोंमेंसे निर्विचार समाधि ही सबसे श्रेष्ठ है, यह प्रतिपादन करनेके लिये उसकी विशेष अवस्थाका फलसहित वर्णन करते हैं—*

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

निर्विचारवैशारद्ये=निर्विचार समाधि अत्यन्त निर्मल होनेपर (योगीको); **अध्यात्मप्रसादः**=अध्यात्मप्रसाद प्राप्त होता है।

व्याख्या—निर्विचार समाधिके अभ्याससे जब योगीके चित्तकी स्थिति सर्वथा परिपक्व हो जाती है, उसकी समाधि-स्थितिमें किसी प्रकारका किंचिन्मात्र भी दोष नहीं रहता (योग० १। ४०)। उस समय योगीकी बुद्धि अत्यन्त स्वच्छ—निर्मल हो जाती है (योग० ३। ५) ॥ ४७ ॥

सम्बन्ध—*अतः—*

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥

तत्र=उस समय (योगीकी); **प्रज्ञा**=बुद्धि; **ऋतम्भरा**=ऋतम्भरा होती है।

व्याख्या—उस अवस्थामें योगीकी बुद्धि वस्तुके सत्य (असली) स्वरूपको ग्रहण करनेवाली होती है; उसमें संशय और भ्रमका लेश भी नहीं रहता ॥ ४८ ॥

सम्बन्ध—*उक्त ऋतम्भरा प्रज्ञाकी विशेषताका वर्णन करते हैं—*

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ ४९ ॥

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्याम्=श्रवण और अनुमानसे होनेवाली बुद्धिकी अपेक्षा; **अन्यविषया**=इस बुद्धिका विषय भिन्न है; **विशेषार्थत्वात्**=क्योंकि यह विशेष अर्थवाली है।

व्याख्या—वेद, शास्त्र और आप्त पुरुषके वचनोंसे वस्तुका सामान्य

ज्ञान होता है, पूर्ण ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार अनुमानसे भी साधारण ज्ञान ही होता है। बहुत-से सूक्ष्म पदार्थोंमें तो अनुमानकी पहुँच ही नहीं है। अतः वेद-शास्त्रोंमें किसी वस्तुके स्वरूपका वर्णन सुननेसे जो तद्विषयक निश्चय होता है, वह श्रुतबुद्धि है; इसी प्रकार अनुमान (युक्ति) प्रमाणसे जो वस्तुके स्वरूपका निश्चय होता है, वह अनुमान बुद्धि है। ये दोनों प्रकारकी बुद्धि-वृत्तियाँ वस्तुके स्वरूपको सामान्यरूपसे ही विषय करती हैं, उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित उसका पूर्ण ज्ञान इनसे नहीं होता; किंतु ऋतम्भरा प्रज्ञासे वस्तुके स्वरूपका यथार्थ और पूर्ण (अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसहित) ज्ञान हो जाता है। अतः यह उन दोनों प्रकारकी बुद्धियोंसे भिन्न और अत्यन्त श्रेष्ठ है॥ ४९॥

सम्बन्ध—*इस ऋतम्भरा प्रज्ञाका और भी महत्त्व बतलाते हैं—*

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी॥ ५०॥

तज्जः=उससे उत्पन्न होनेवाला; **संस्कारः**=संस्कार; **अन्यसंस्कार-प्रतिबन्धी**=दूसरे संस्कारोंका बाध करनेवाला होता है।

व्याख्या—मनुष्य जिस किसी भी वस्तुका अनुभव करता है, जो कुछ भी क्रिया करता है, उन सबके संस्कार अन्तःकरणमें इकट्ठे हुए रहते हैं, इन्हींको योगशास्त्रमें कर्माशय (योग० २। १२) के नामसे कहा है। ये ही मनुष्यको संसारचक्रमें भटकानेवाले मुख्य कारण हैं (योग० २। १३); इनके नाशसे ही मनुष्य मुक्तिलाभ कर सकता है। अतः उक्त बुद्धिका महत्त्व प्रकट करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि इस बुद्धिके प्रकट होनेपर जब मनुष्यको प्रकृतिके यथार्थ रूपका भान हो जाता है; तब उसका प्रकृतिमें और उसके कार्योंमें स्वभावसे ही वैराग्य हो जाता है। उस वैराग्यके संस्कार पूर्व इकट्ठे हुए सब प्रकारके रागद्वेषमय संस्कारोंका नाश कर डालते हैं (योग० २। २६;३। ४९-५०), इससे योगी शीघ्र ही मुक्तावस्थाके समीप पहुँच जाता है॥ ५०॥

सम्बन्ध—*जब निर्बीज-समाधिरूप कैवल्य-अवस्थाका वर्णन करते हुए इस पादकी समाप्ति करते हैं—*

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

तस्य=उसका; **अपि**=भी; **निरोधे**=निरोध हो जानेपर; **सर्वनिरोधात्**=सबका निरोध हो जानेके कारण; **निर्बीजः**=निर्बीज; **समाधिः**=समाधि (हो जाती है) ।

व्याख्या—जब ऋतम्भरा प्रज्ञाजनित संस्कारके प्रभावसे अन्य सब प्रकारके संस्कारोंका अभाव हो जाता है, उसके बाद उस ऋतम्भरा प्रज्ञासे उत्पन्न संस्कारोंमें भी आसक्ति न रहनेके कारण उनका भी निरोध हो जाता है। उनका निरोध होते ही समस्त संस्कारोंका निरोध अपने-आप हो जाता है। अतः संस्कारके बीजका सर्वथा अभाव हो जानेसे इस अवस्थाका नाम निर्बीज-समाधि है। इसीको कैवल्य-अवस्था भी कहते हैं (योग० ३ । ५०) ॥ ५१ ॥

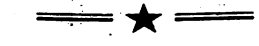

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

साधनपाद—२

सम्बन्ध—*पहले पादमें योगका स्वरूप, उसके भेद और उसके फलका संक्षेपमें वर्णन किया गया। साथ ही उसके उपायभूत अभ्यास और वैराग्यका तथा ईश्वरप्रणिधान आदि दूसरे साधनोंका भी वर्णन किया गया, किंतु उसमें बतलायी हुई रीतिसे निर्बीज-समाधि वही साधक प्राप्त कर सकता है, जिसका अन्तःकरण स्वभावसे ही शुद्ध है एवं जो योगसाधनामें तत्पर है। अतः अब साधारण साधकोंके लिये क्रमशः अन्तःकरणकी शुद्धिपूर्वक निर्बीज-समाधि प्राप्त करनेका उपाय बतलानेके लिये साधनपाद नामक दूसरे पादका आरम्भ किया जाता है—*

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि=तप-स्वाध्याय और ईश्वर-शरणागति—ये तीनों; **क्रियायोगः**=क्रियायोग हैं।

व्याख्या—(१) तप—अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और योग्यताके अनुसार स्वधर्मका पालन करना और उसके पालनमें जो शारीरिक या मानसिक अधिक-से-अधिक कष्ट प्राप्त हो, उसे सहर्ष सहन करना—इसका नाम 'तप' है। व्रत, उपवास आदि भी इसीमें आ जाते हैं। निष्कामभावसे इस तपका पालन करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण अनायास ही शुद्ध हो जाता है, यह गीतोक्त कर्मयोगका ही अङ्ग है।

(२) स्वाध्याय—जिनसे अपने कर्तव्य-अकर्तव्यका बोध हो सके, ऐसे वेद, शास्त्र, महापुरुषोंके लेख आदिका पठन-पाठन और भगवान्‌के ॐकार आदि किसी नामका या गायत्रीका और किसी भी इष्टदेवताके मन्त्रका जप करना 'स्वाध्याय' है। इसके सिवा अपने जीवनके अध्ययनका नाम भी स्वाध्याय है।

अतः साधकको प्राप्त विवेकके द्वारा अपने दोषोंको खोजकर निकालते रहना चाहिये।

(३) ईश्वर-प्रणिधान—ईश्वरके शरणापन्न हो जानेका नाम 'ईश्वर-प्रणिधान' है। उसके नाम, रूप, लीला, धाम, गुण और प्रभाव आदिका श्रवण, कीर्तन और मनन करना, समस्त कर्मोंको भगवान्‌के समर्पण कर देना, अपनेको भगवान्‌के हाथका यन्त्र बनाकर जिस प्रकार वह नचावे, वैसे ही नाचना, उसकी आज्ञाका पालन करना, उसीमें अनन्य प्रेम करना—ये सभी ईश्वर-प्रणिधानके अङ्ग हैं।

यद्यपि तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये तीनों ही यम, नियम आदि योगके अङ्गोंमें नियमोंके अन्तर्गत आ जाते हैं तथापि इन तीनों साधनोंका विशेष महत्त्व और इनकी सुगमता दिखलानेके लिये पहले क्रियायोगके नामसे इनका अलग वर्णन किया गया है॥ १॥

सम्बन्ध—*उपर्युक्त क्रियायोगका फल बतलाते हैं—*

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च॥ २॥

समाधिभावनार्थः=(यह क्रियायोग) समाधिकी सिद्धि करनेवाला; **च**=और; **क्लेशतनूकरणार्थः**=अविद्यादि क्लेशोंको क्षीण करनेवाला है।

व्याख्या—उपर्युक्त क्रियायोग अविद्यादि दोषोंको क्षीण करनेवाला और समाधिकी सिद्धि करनेवाला है अर्थात् इसके साधनसे साधकके अविद्यादि क्लेशोंका क्षय होकर उसको कैवल्य-अवस्थातक समाधिकी प्राप्ति हो सकती है॥ २॥

सम्बन्ध—*दूसरे सूत्रमें क्रियायोगका फल समाधिसिद्धि और क्लेशोंका क्षय बतलाया गया, उनमेंसे समाधिके लक्षण और फलका वर्णन तो पहले पादमें हो चुका है, परंतु क्लेश कितने हैं, उनके नाम क्या हैं, वे किस-किस अवस्थामें रहते हैं, उनका क्षय कैसे होता है और उनका नाश क्यों करना चाहिये—इन सब बातोंका वर्णन नहीं हुआ। अतः प्रसङ्गानुसार इस प्रकरणका आरम्भ करते हैं—*

****

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ ३ ॥

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः=अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश (ये पाँचों); **क्लेशाः**=क्लेश हैं।

व्याख्या—ये अविद्यादि पाँचों ही जीवमात्रको संसारचक्रमें घुमानेवाले महादुःखदायक हैं। इस कारण सूत्रकारने इनका नाम 'क्लेश' रखा है।

कितने ही टीकाकारोंका तो कहना है कि ये पाँचों क्लेश ही पाँच प्रकारका विपर्ययज्ञान है। कुछ इनमेंसे केवल अविद्या और विपर्ययवृत्तिकी ही एकता करते हैं; किंतु ये दोनों ही बातें युक्तिसंगत नहीं मालूम होतीं; क्योंकि प्रमाणवृत्तिमें विपर्ययवृत्तिका अभाव है, पर अविद्यादि पाँचों क्लेश वहाँ भी विद्यमान रहते हैं। ऋतम्भरा प्रज्ञामें विपर्ययका लेश भी नहीं स्वीकार किया जा सकता, परंतु जिस अविद्यारूप क्लेशको द्रष्टा और दृश्यके संयोगका हेतु माना गया है, वह तो वहाँ भी रहता ही है, अन्यथा संयोगके अभावसे हेयका नाश होकर साधकको उसी क्षण कैवल्य-अवस्थाकी प्राप्ति हो जानी चाहिये थी। इसके सिवा एक बात और भी है। इस ग्रन्थमें कैवल्य-स्थितिको प्राप्त सिद्ध योगीके कर्म अशुक्ल और अकृष्ण अर्थात् पुण्य-पापके संस्कारोंसे रहित माने गये हैं (योग० ४। ७), इससे यह सिद्ध होता है कि जीवन्मुक्त योगीद्वारा भी कर्म अवश्य किये जाते हैं। तब यह भी मानना पड़ेगा कि व्युत्थान-अवस्थामें जब वह कर्म करता है तो विपर्यय-वृत्तिका प्रादुर्भाव भी स्वाभाविक होता है; क्योंकि पाँचों ही वृत्तियाँ चित्तका धर्म हैं और व्युत्थान-अवस्थामें चित्त विद्यमान रहता है, यह स्वीकार करना ही पड़ेगा। किंतु जीवन्मुक्त योगीमें अविद्या भी रहती है, यह नहीं माना जा सकता, क्योंकि यदि अविद्या वर्तमान है तो वह जीवन्मुक्त ही कैसा; इसी तरह और भी बहुत-से कारण हैं (देखिये योग० १। ८ की टीका), जिनसे विपर्यय और अविद्याकी एकता माननेमें सिद्धान्तकी हानि होती है। अतः विद्वान् सज्जनोंको इसपर विचार करना चाहिये ॥ ३ ॥

****

सम्बन्ध—अब क्लेशोंकी अवस्थाके भेद बतलाते हुए यह बात कहते हैं कि इन सबका मूल कारण अविद्यारूप क्लेश है—

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्=जो प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार—(इस प्रकार चार) अवस्थाओंमें (वर्तमान) रहनेवाले हैं एवं; **उत्तरेषाम्**=जिनका वर्णन (तीसरे सूत्रमें) अविद्याके बाद किया गया है, उन (अस्मितादि चारों क्लेशों) का; **क्षेत्रम्**=कारण; **अविद्या**=अविद्या है।

व्याख्या—(१) प्रसुप्त—चित्तमें विद्यमान रहते हुए भी जिस समय जो क्लेश अपना कार्य नहीं करता, उस समय उसे प्रसुप्त कहा जाता है। प्रलयकाल और सुषुप्तिमें चारों ही क्लेशोंकी प्रसुप्त-अवस्था रहती है।

(२) तनु—क्लेशोंमें जो कार्य करनेकी शक्ति है, उसका जब योगके साधनोंद्वारा ह्रास कर दिया जाता है; तब वे हीन शक्तिवाले क्लेश 'तनु' कहलाते हैं। देखनेमें भी आता है कि ये राग-द्वेषादि क्लेश साधारण मनुष्योंकी भाँति साधकोंपर अपना आधिपत्य नहीं जमा सकते अर्थात् साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा साधकोंपर उनका प्रभाव बहुत कम पड़ता है।

(३) विच्छिन्न—जब कोई क्लेश उदार होता है, उस समय दूसरा क्लेश दब जाता है, वह उसकी 'विच्छिन्नावस्था' है, जैसे रागकी उदार-अवस्थाके क्षणमें द्वेष दब जाता है और द्वेषकी उदार-अवस्थाके क्षणमें राग दबा रहता है।

(४) उदार—जिस समय जो क्लेश अपना कार्य पूर्णतया कर रहा हो उस समय वही 'उदार' कहलाता है।

उपर्युक्त पाँच क्लेशोंमेंसे अस्मितादि चार क्लेशोंके ही प्रसुप्तादि चार अवस्थाभेद बतलाये गये हैं, अविद्याके नहीं; क्योंकि वह अन्य चारोंका कारण है, उसके नाशसे सबका सदाके लिये समूल नाश हो जाता है॥ ४॥

सम्बन्ध—अब अविद्याका स्वरूप बतलाते हैं—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

****

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु=अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मामें; **नित्यशुचिसुखात्मख्यातिः**=नित्य, पवित्र, सुख और आत्मभावकी अनुभूति; **अविद्या**='अविद्या' है।

व्याख्या—इस लोक और परलोकके समस्त भोग और भोगोंका आयतन यह मनुष्य शरीर भी अनित्य है, इस बातको प्रत्यक्षादि प्रमाणोंद्वारा समझकर भी जिसके प्रभावसे मनुष्य उनमें नित्यत्वबुद्धि करके राग-द्वेषादि कर लेता है, यह अनित्यमें नित्यकी अनुभूतिरूप अविद्या है।

इसी प्रकार हाड़, मांस, मज्जा आदि अपवित्र धातुओंके समुदायरूप अपने और स्त्री आदिके शरीरोंको प्रत्यक्षादि प्रमाणोंद्वारा अपवित्र समझते हुए भी जिसके कारण मनुष्य अपने शरीरमें पवित्रताका अभिमान करता है और स्त्री-पुत्र आदिके शरीरोंसे प्यार करता है, यह अपवित्रमें पवित्रकी अनुभूतिरूप अविद्या है।

वैसे ही प्रत्यक्षादि प्रमाणोंद्वारा विचार करनेपर सभी भोग दुःखरूप हैं—यह बात विचारशील साधककी समझमें आ जाती है (योग० २।१५)। इसपर भी मनुष्य उन भोगोंको सुखदायक समझकर उनके भोगनेमें प्रवृत्त हुआ रहता है, यही दुःखमें सुखकी अनुभूतिरूप अविद्या है।

यद्यपि यह बात थोड़ा-सा विचार करते ही समझमें आ जाती है कि जड शरीर आत्मा नहीं है तथापि मनुष्य इसीको अपना स्वरूप माने रहता है, आत्मा इससे सर्वथा असङ्ग और चेतन है—इस बातका अनुभव नहीं कर सकता, इसका नाम अनात्मामें आत्मभावका अनुभूतिरूप अविद्या है।

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम-प्रमाणसे वस्तुस्थितिका सामान्य ज्ञान हो जानेपर विपर्ययवृत्ति नहीं रहती, तो भी अविद्याका नाश नहीं होता; इससे यह सिद्ध होता है कि चित्तकी विपर्ययवृत्तिका नाम अविद्या नहीं है॥ ५॥

सम्बन्ध—*अब अस्मिताका स्वरूप बतलाते हैं*—

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता॥ ६॥

दृग्दर्शनशक्त्योः=दृक्-शक्ति और दर्शन-शक्ति इन दोनोंका; **एकात्मता इव**=एकरूप-सा हो जाना; **अस्मिता**='अस्मिता' है।

व्याख्या—दृक्-शक्ति अर्थात् द्रष्टा—पुरुष और दर्शन-शक्ति अर्थात् बुद्धि—ये दोनों सर्वथा भिन्न और विलक्षण हैं। द्रष्टा चेतन है और बुद्धि जड है। इनकी एकता हो ही नहीं सकती। तथापि अविद्याके कारण दोनोंकी एकता-सी हो रही है (योग० २। २४)। इसीको द्रष्टा और दृश्यका संयोग कहते हैं। यही प्रकृति और पुरुषके स्वरूपकी उपलब्धिका हेतु माना गया है (योग० २। २३)। इस संयोगके रहते हुए भी पुरुष और बुद्धिका भिन्न-भिन्न स्वरूप विचारके द्वारा और सम्प्रज्ञात-समाधिके द्वारा समझमें तो आता है; परंतु जबतक निर्बीज-समाधिद्वारा अविद्याका सर्वथा नाश नहीं कर दिया जाता, तबतक संयोगका अभाव नहीं होता है। इस कारण इनके शुद्ध स्वरूपका अनुभव नहीं होता (योग० ३। ३५)। अतः साधकको चाहिये कि तत्परतासे उत्साहपूर्वक योगसाधनमें लगकर शीघ्र ही अविद्याके नाशद्वारा संयोगरूप अस्मिता नामक क्लेशका नाश कर दे और कैवल्य-स्थितिको प्राप्त कर ले॥ ६॥

सम्बन्ध—*अब राग नामक क्लेशका स्वरूप बतलाते हैं*—

सुखानुशयी रागः॥ ७॥

सुखानुशयी=सुखकी प्रतीतिके पीछे रहनेवाला क्लेश; **रागः**='राग' है।

व्याख्या—प्रकृतिस्थ जीवको जब कभी जिस किसी अनुकूल पदार्थमें सुखकी प्रतीति हुई है या होती है, उसमें और उसके निमित्तोंमें उसकी आसक्ति (प्रीति) हो जाती है, उसीको 'राग' कहते हैं। अतः इस राग नामक क्लेशको सुखकी प्रतीतिके साथ-साथ रहनेवाला कहा गया है॥ ७॥

सम्बन्ध—*अब द्वेष नामक क्लेशका स्वरूप बतलाते हैं*—

दुःखानुशयी द्वेषः॥ ८॥

दुःखानुशयी=दुःखकी प्रतीतिके पीछे रहनेवाला क्लेश; **द्वेषः**='द्वेष' है।

****

व्याख्या—मनुष्यको जब कभी जिस किसी प्रतिकूल पदार्थमें दुःखकी प्रतीति हुई है या होती है, उसमें और उसके निमित्तोंमें उसका द्वेष हो जाता है; अतः यह द्वेषरूप क्लेश दुःखकी प्रतीतिके पीछे यानी साथ-साथ रहनेवाला है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—*अब अभिनिवेश नामक क्लेशका स्वरूप बतलाते हैं*—

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥

स्वरसवाही=जो परम्परागत स्वभावसे चला आ रहा है एवं; **विदुषः अपि तथारूढः**=जो मूढ़ोंकी भाँति विवेकशील पुरुषोंमें भी विद्यमान देखा जाता है, वह (मरणभयरूप क्लेश), **अभिनिवेशः**='अभिनिवेश' है।

व्याख्या—यह मरणभयरूप क्लेश सभी प्राणियोंमें अनादि कालसे स्वाभाविक है; अतः कोई भी जीव यह नहीं चाहता कि मैं न रहूँ, सभी अपनी विद्यमानता चाहते हैं। एक छोटे-से-छोटा कीट भी मरणसे डरकर अपनी रक्षाका उपाय करता है। (इससे पूर्वजन्मकी सिद्धि होती है; क्योंकि यदि मरण-दुःख पहले अनुभव किया हुआ नहीं होता तो उसका भय कैसे होता ?) यह मरणभय जीवोंके अन्तःकरणमें इतना गहरा बैठा हुआ है कि मूर्खके जैसा ही विवेकशीलपर भी इसका प्रभाव पड़ता है, इसीलिये इसका नाम 'अभिनिवेश' अर्थात् 'अत्यन्त गहराईमें प्रविष्ट' रखा गया है ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—*इन पाँच प्रकारके क्लेशोंको तनु अर्थात् सूक्ष्म बना देनेका उपाय—'क्रियायोग' पहले बतला चुके। 'क्रियायोग'के द्वारा सूक्ष्म किये हुए क्लेशोंका नाश किस उपायसे करना चाहिये, यह बात अगले सूत्रमें बतलाते हैं।*

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥

ते=वे; **सूक्ष्माः**=सूक्ष्मावस्थाको प्राप्त (क्लेश); **प्रतिप्रसवहेयाः**=चित्तको अपने कारणमें विलीन करनेके साधनद्वारा नष्ट करनेयोग्य हैं।

व्याख्या—क्रियायोग या ध्यानयोगद्वारा सूक्ष्म किये हुए क्लेशोंका नाश

निर्बीज समाधिके द्वारा चित्तको उसके कारणमें विलीन करके करना चाहिये; क्योंकि क्रियायोग या ध्यानद्वारा क्षीण कर दिये जानेपर भी जो लेशमात्र क्लेश शेष रह जाते हैं, उनका नाश द्रष्टा और दृश्यके संयोगका अभाव होनेपर ही होता है, उसके पहले क्लेशोंका सर्वथा नाश नहीं होता, यह भाव है ॥ १० ॥

सम्बन्ध—*अब क्लेशोंको क्षीण करनेका क्रियायोगसे अतिरिक्त दूसरा साधन बतलाते हैं*—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥

तद्वृत्तयः=उन क्लेशोंकी (स्थूल) वृत्तियाँ; **ध्यानहेयाः**=ध्यानके द्वारा नाश करनेयोग्य हैं।

व्याख्या—उन क्लेशोंकी जो स्थूल वृत्तियाँ हैं, उनका यदि पूर्वोक्त क्रियायोगके द्वारा नाश करके उन क्लेशोंको सूक्ष्म नहीं बना दिया गया हो तो पहले ध्यानके द्वारा उनकी स्थूल वृत्तियोंका नाश करके उनको सूक्ष्म बना लेना चाहिये, तभी निर्बीज-समाधिकी सिद्धि सुगमतासे हो सकेगी। उसके बाद निर्बीज-समाधिसे क्लेशोंका सर्वथा अभाव अपने-आप हो जायगा ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—*उपर्युक्त क्लेश किस प्रकार जीवके महान् दुःखोंके कारण हैं; इस बातको स्पष्ट करनेके लिये अलग प्रकरण आरम्भ किया जाता है*—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

क्लेशमूलः=क्लेशमूलक; **कर्माशयः**=कर्मसंस्कारोंका समुदाय; **दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः**=दृष्ट (वर्तमान) और अदृष्ट (भविष्यमें होनेवाले) दोनों प्रकारके ही जन्मोंमें भोगा जानेवाला है।

व्याख्या—कर्मोंके संस्कारोंकी जड़ उपर्युक्त पाँचों क्लेश ही हैं। अविद्यादि क्लेशोंके न रहनेपर किये हुए कर्मोंसे कर्माशय नहीं बनता, बल्कि वैसे राग-द्वेषरहित निष्काम कर्म तो पूर्वसंचित कर्माशयका भी नाश करनेवाले होते हैं (गीता ४। २३)। यही क्लेशमूलक कर्माशय जिस प्रकार इस जन्ममें

दुःख देता है, उस प्रकार भविष्यमें होनेवाले जन्मोंमें भी दुःखदायक है। अतः साधकको इसकी जड़ काट डालनी चाहिये अर्थात् पूर्वोक्त क्लेशोंका सर्वथा नाश कर देना चाहिये॥ १२॥

सम्बन्ध—*उस कर्माशयका फल कबतक मिलता रहता है और वह क्या है, इसको स्पष्ट करते हैं*—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः॥ १३॥

मूले सति=मूलके विद्यमान रहनेतक; **तद्विपाकः**=उस (कर्माशय) का परिणाम; **जात्यायुर्भोगाः**=पुनर्जन्म, आयु और भोग होता रहता है।

व्याख्या—जबतक क्लेशरूप जड़ विद्यमान रहती है, तबतक इस कर्मोंके संस्कार-समुदायरूप कर्माशयका विपाक यानी परिणाम—बार-बार अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म होना, वहाँपर निश्चित आयुतक जीते रहकर फिर मरण-दुःखको भोगना और जीवनावस्थामें जो विवेकदृष्टिसे सभी दुःखरूप हैं, ऐसे भोगोंका सम्बन्ध होना—ऐसे तीन प्रकारका होता रहता है॥ १३॥

सम्बन्ध—*वे जाति, आयु और भोगरूप परिणाम किस प्रकारके होते हैं, यह बतलाते हैं*—

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्॥ १४॥

ते=वे (जन्म, आयु और भोग); **ह्लादपरितापफलाः**=हर्ष और शोकरूप फलको देनेवाले होते हैं; **पुण्यापुण्यहेतुत्वात्**=क्योंकि उनके पुण्यकर्म और पापकर्म—दोनों ही कारण हैं।

व्याख्या—जो जन्म पुण्यकर्मका परिणाम है, वह सुखदायक होता है और जो पापकर्मका परिणाम है, वह दुःखदायक होता है। इसी प्रकार आयुका जितना समय शुभकर्मका परिणाम है, उतना समय सुखदायक होता है और जितना पापकर्मका परिणाम है, उतना दुःखदायक होता है। वैसे ही जो-जो भोग अर्थात् सांसारिक मनुष्योंके, अन्य प्राणियोंके पदार्थोंके और क्रिया एवं

परिस्थिति आदिके संयोग-वियोग पुण्यकर्मके परिणाम होते हैं, वे हर्षप्रद होते हैं और जो पापकर्मके परिणाम होते हैं, वे शोकप्रद होते हैं ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—*यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि यदि यही बात है तब तो जिसका परिणाम केवल दुःखप्रद फल (जन्म, आयु और भोग) हैं ऐसे कर्माशयका ही उसके मूलसहित नाश करना उचित है। उसके साथ सुखप्रद कर्माशयका नाश करनेकी बात क्यों कही ? इसपर कहते हैं—*

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥

परिणामतापसंस्कारदुःखैः=परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कार-दुःख—ऐसे तीन प्रकारके दुःख सबमें विद्यमान रहनेके कारण; **च**=और; **गुणवृत्तिविरोधात्**=तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेके कारण; **विवेकिनः**=विवेकीके लिये; **सर्वम्**=सब-के-सब (कर्मफल); **दुःखम् एव**=दुःखरूप ही हैं।

व्याख्या—(१) परिणामदुःख—जो 'कर्मविपाक' भोगकालमें स्थूल दृष्टिसे सुखप्रद प्रतीत होता है, उसका भी परिणाम (नतीजा) दुःख ही है। जैसे स्त्रीप्रसङ्गके समय मनुष्यको सुख भासता है; परंतु उसका परिणाम बल, वीर्य, तेज, स्मृति आदिका ह्रास प्रत्यक्ष देखनेमें आता है, ऐसे ही दूसरे भोगोंमें भी समझ लेना चाहिये।*

भोगोंको भोगते-भोगते मनुष्य थक जाता है, उन्हें भोगनेकी शक्ति उसमें नहीं रहती, परंतु तृष्णा बनी रहती है, इससे वह भोगरूप सुख भी दुःख ही है।

---

* गीतामें भी कहा है—

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ (१८।३८)

'जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होता है, वह यद्यपि भोगकालमें अमृतके सदृश भासता है; परंतु परिणाममें विषके सदृश है, इसलिये वह सुख राजस कहा गया है।'

यह भोगके अन्तमें अनुभव होनेवाला दुःख भी परिणाम-दुःखकी ही गणनामें है।

इन्द्रियों और पदार्थोंके सम्बन्धसे जब मनुष्यको किसी भी प्रकारके भोगमें सुखकी प्रतीति होती है, तब उसमें राग—आसक्ति अवश्य हो जाती है। इसलिये वह सुख रागरूप क्लेशसे मिला हुआ है। आसक्तिवश मनुष्य उस भोगकी प्राप्तिके साधनरूप अच्छे-बुरे कर्मोंका आरम्भ भी करेगा ही। भोग्यवस्तुओंकी प्राप्तिमें असमर्थ होनेसे या विघ्न आनेपर द्वेष होना भी अवश्यम्भावी है। इसके सिवा, प्राणियोंकी हिंसाके बिना भोगकी सिद्धि भी नहीं होती। अतः राग, द्वेष और हिंसादिका परिणाम अवश्य ही दुःख है। यह भी परिणाम-दुःखता है।

(२) तापदुःख—सभी प्रकारके भोगरूप सुख विनाशशील हैं; उनसे वियोग होना निश्चित है, अतः भोगकालमें उनके विनाशकी सम्भावनासे भयके कारण तापदुःख बना रहता है। इसी तरह मनुष्यको जो सुखकारक भोग प्राप्त होते हैं वे सातिशय ही होते हैं, अर्थात् उसे जो कुछ प्राप्त है, उससे बढ़कर दूसरोंको भी प्राप्त है यह देखकर वह ईर्ष्यासे जलता रहता है। यह भी तापदुःख है। तथा भोगकी अपूर्णतासे भी भोगकालमें संताप बना रहता है, यह भी तापदुःख है।

(३) संस्कारदुःख—जिन-जिन भोगोंमें मनुष्यको सुखका अनुभव होता है, उस अनुभवके संस्कार उसके हृदयमें जम जाते हैं। जब उन भोग-सामग्रियोंसे उसका वियोग हो जाता है, तब वे संस्कार पहलेके सुखभोगकी स्मृतिद्वारा महान् दुःखके हेतु हो जाते हैं। देखनेमें भी आता है कि जब किसी मनुष्यकी स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि भोगसामग्री नष्ट हो जाती है, तब वह उनको याद कर-करके रोता रहता है कि मेरी स्त्री मुझे अमुक-अमुक प्रकारसे सुख देती थी, मेरे पास इतना धन था, मैं अपने धनसे स्वयं सुख भोगता था और लोगोंको सुख पहुँचाता था, आज मेरी यह दशा है कि मैं भिखारी होकर लोगोंसे सहायता माँगता फिरता हूँ—इत्यादि। इसके सिवा, वे भोग-संस्कार,

भोगासक्तिकी वृद्धिमें कारण होनेसे जन्मान्तरमें भी दुःखके हेतु हैं।

(४) गुणवृत्तिविरोध—गुणोंके कार्यका नाम गुणवृत्ति है, गुणोंके कार्यमें परस्पर अत्यन्त विरोध है। जैसे सत्त्वगुणका कार्य प्रकाश, ज्ञान और सुख है, तो तमोगुणका कार्य अन्धकार, अज्ञान और दुःख है। इस प्रकार इनके कार्योंमें विरोध होनेके कारण दुविधा बनी रहती है; सुख-भोगकालमें भी शान्ति नहीं मिलती; क्योंकि तीनों गुण एक साथ रहनेवाले हैं। सुखके अनुभवकालमें सत्त्वगुणकी प्रधानता रहते हुए भी रजोगुण और तमोगुणका अभाव नहीं हो जाता, अतः उस समय भी दुःख और शोक विद्यमान रहते हैं; इसलिये भी वह दुःख ही है। जैसे ध्यानकालमें और सत्सङ्ग करते समय सत्त्वगुणकी प्रधानता रहती है, अतः सात्त्विक सुख होता है, परंतु वहाँ भी सांसारिक स्फुरणा और तन्द्रा उस सुखमें विघ्न कर देते हैं ऐसे ही अन्य कामोंमें भी समझ लेना चाहिये।

उपर्युक्त परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख तथा गुणवृत्तियोंके विरोधसे होनेवाले दुःखको विचारद्वारा विवेकी पुरुष समझता है। इस कारण उसकी दृष्टिमें सभी 'कर्मविपाक' दुःखरूप ही हैं अर्थात् साधारण मनुष्य-समुदाय जिन भोगोंको सुखरूप समझता है, विवेकीके लिये वे भी दुःख ही हैं* ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—*उपर्युक्त वर्णनसे यह सिद्ध हो गया है कि जन्म, आयु और भोगरूप*

---

* यह बात गीताके पाँचवें अध्यायके बाईसवें श्लोकमें इस प्रकार कही गयी है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

अर्थात् इन्द्रिय और विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले जितने भी भोग हैं, वे सब-के-सब दुःखोंके ही कारण हैं तथा सभी आदि और अन्तवाले हैं, अतः विवेकी मनुष्य उनमें नहीं रमता।

सभी कर्म-विपाक दुःखरूप हैं; इसलिये उनका मूलसहित उच्छेद करना मनुष्यका कर्तव्य है। अतः अब उनको त्याज्य (नाश करनेयोग्य) बतलाकर उनसे मुक्ति पानेका उपाय बतलाते हुए अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं—

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

अनागतम्=जो आया नहीं है—आनेवाला है वह; **दुःखम्**=दुःख; **हेयम्**=हेय (नष्ट करनेयोग्य) है।

व्याख्या—वर्तमान जन्मके पहले जो अनेक योनियोंमें दुःख भोगे जा चुके, वे तो अपने-आप समाप्त हो गये, उनके विषयमें कोई विचार नहीं करना है। तथा जो वर्तमान हैं वे भी भोग देकर दूसरे क्षणमें अपने-आप लुप्त हो जायँगे, उनके लिये भी उपायकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु जो दुःख अभीतक प्राप्त नहीं हुए हैं, भविष्यमें होनेवाले हैं, उनका नाश उपायद्वारा अवश्य-कर्तव्य है; इसलिये उन्हींको 'हेय' बतलाया गया है॥ १६॥

सम्बन्ध—*जिसका नाश करना हो, उसके मूल कारणको जाननेकी आवश्यकता है; क्योंकि मूल कारणके नाशसे ही उसका पूर्णतया नाश हो सकता है; नहीं तो वह पुनः उत्पन्न हो सकता है। अतः उक्त 'हेय'का हेतु (कारण) बतलाते हैं।*

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

द्रष्टृदृश्ययोः=द्रष्टा और दृश्यका; **संयोगः**=संयोग; **हेयहेतुः**=(उक्त) हेयका कारण है।

व्याख्या—ऊपर जो नाश करनेयोग्य आनेवाले दुःख बतलाये गये हैं, उनका मूल कारण द्रष्टा और दृश्यका अर्थात् पुरुष और प्रकृतिका संयोग यानी जड-चेतनकी ग्रन्थि है। अतः इस संयोगका नाश कर देनेसे मनुष्य सर्वथा दुःखोंसे निवृत्त हो सकता है॥ १७॥

सम्बन्ध—*पूर्व सूत्रमें द्रष्टा, दृश्य और उनका संयोग—इन तीनके नाम आये हैं, उनमेंसे पहले दृश्यका स्वभाव, स्वरूप और प्रयोजन बतलाते हैं—*

****

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

प्रकाशक्रियास्थितिशीलम्=प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है; **भूतेन्द्रियात्मकम्**=भूत और इन्द्रियाँ जिसका (प्रकट) स्वरूप है; **भोगापवर्गार्थम्**=(पुरुषके लिये) भोग और मुक्तिका सम्पादन करना ही जिसका प्रयोजन है, ऐसा; **दृश्यम्**=दृश्य है।

व्याख्या—सत्त्व, रज और तम—ये तीनों गुण और इनका कार्य जो कुछ भी देखने, सुनने और समझनेमें आता है, वह सब-का-सब दृश्यके अन्तर्गत है। सत्त्वगुणका मुख्य धर्म प्रकाश है, रजोगुणका मुख्य धर्म क्रिया (हलचल) है और तमोगुणका मुख्य धर्म स्थिति अर्थात् जडता और सुषुप्ति आदि है। इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाको ही प्रधान या प्रकृति कहते हैं। यह सांख्यका मत है। अतः सब अवस्थाओंमें अनुगत तीनों गुणोंका जो प्रकाश, क्रिया और स्थितिरूप स्वभाव है, वही दृश्यका स्वभाव है।

पाँच स्थूल भूत, पाँच तन्मात्रा, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं मन, बुद्धि और अहंकार—ये सब (तेईस तत्त्व) प्रकृतिके कार्य होनेसे उसके स्वरूप हैं।

भोगासक्त पुरुषको अपना स्वरूप दिखलाकर भोग प्रदान करना और मुक्ति चाहनेवाले योगीको द्रष्टाका स्वरूप दिखलाकर मुक्ति प्रदान करना दृश्यका प्रयोजन है। द्रष्टाको उसका निज स्वरूप दिखा देनेके बाद इसका कोई प्रयोजन नहीं रहता, उस पुरुषके लिये यह अस्त (लुप्त) हो जाता है (२।२२) ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—उक्त दृश्यके भेदोंका वर्णन अपने ग्रन्थकी परिभाषामें करते हैं—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि=विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग—ये चार; **गुणपर्वाणि**=(उपर्युक्त) सत्त्वादि गुणोंके भेद (अवस्थाएँ) हैं।

व्याख्या—(१) विशेष—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये

पाँच स्थूल भूत तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन—इस प्रकार सब मिलकर सोलहोंका नाम 'विशेष' है। गुणोंके विशेष धर्मोंकी अभिव्यक्ति (प्रकटता) इन्हींसे होती है, इसलिये इनको विशेष कहते हैं। सांख्यकारिकामें इनका नाम विकार रखा है (सां० का० ३)।

(२) अविशेष—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच तन्मात्राएँ हैं, इन्हींको सूक्ष्म महाभूत भी कहते हैं; क्योंकि ये स्थूल पञ्च महाभूतोंके कारण हैं तथा छठा अहंकार जो कि मन और इन्द्रियोंका कारण है, इन छहोंका नाम 'अविशेष' है। इनका स्वरूप इन्द्रियगोचर नहीं है, इसलिये इनको 'अविशेष' कहते हैं।

(३) लिङ्गमात्र—उपर्युक्त बाईस तत्त्वोंका कारणभूत जो महत्तत्त्व है, जिसका वर्णन उपनिषदोंमें और गीतामें बुद्धिके नामसे किया गया है, (कठ० १।३।१०; गीता १३।५) उसका नाम 'लिङ्गमात्र' है। इसकी उपलब्धि केवल सत्तामात्रसे ही होती है, इस कारण इसको 'लिङ्गमात्र' कहते हैं।

(४) अलिङ्ग—मूल प्रकृति, (सां० का०) जो कि तीनों गुणोंकी साम्यावस्था मानी गयी है, महत्तत्त्व जिसका पहला परिणाम (कार्य) है, उपनिषद् और गीतामें जिसका वर्णन अव्यक्त नामसे किया गया है (कठ० १।३।११; गीता १३।५) उसका नाम 'अलिङ्ग' है। साम्यावस्थाको प्राप्त गुणोंके स्वरूपकी अभिव्यक्ति नहीं होती, इसलिये प्रकृतिको चिह्नरहित (अव्यक्त) कहते हैं।

इस प्रकार चार अवस्थाओंमें विद्यमान रहनेवाले ये सत्त्वादि गुण ही दृश्य नामसे कहे गये हैं॥ १९॥

सम्बन्ध—*अब द्रष्टाके स्वरूपका वर्णन करते हैं*—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः॥ २०॥

दृशिमात्रः=चेतनमात्र (ज्ञानस्वरूप आत्मा); **द्रष्टा**=द्रष्टा; **शुद्धः अपि**=यद्यपि स्वभावसे सर्वथा शुद्ध (निर्विकार) है, तो भी; **प्रत्ययानुपश्यः**=(बुद्धिके सम्बन्धसे) बुद्धिवृत्तिके अनुरूप देखनेवाला है।

व्याख्या—केवल चेतनमात्र ही जिसका स्वरूप है, ऐसा आत्मतत्त्व स्वरूपसे सर्वथा शुद्ध, निर्विकार है तो भी बुद्धिके सम्बन्धसे बुद्धिवृत्तिके अनुरूप देखनेवाला होनेसे 'द्रष्टा' कहलाता है।

वास्तवमें द्रष्टा पुरुष (आत्मतत्त्व) सर्वथा शुद्ध, निर्विकार, कूटस्थ, असङ्ग है तथापि इसका सम्बन्ध प्रकृतिके साथ अनादिसिद्ध अविद्यासे माना जाता है। जबतक उस अविद्याके नाशद्वारा यह प्रकृतिसे अलग होकर अपने असली स्वरूपमें स्थित नहीं हो जाता तबतक बुद्धिके साथ एकताको प्राप्त हुआ-सा बुद्धिकी वृत्तियोंको देखता रहता है और जबतक उनको देखता है, तभीतक इसकी 'द्रष्टा' संज्ञा है। दृश्यका सम्बन्ध न रहनेपर द्रष्टा किसका ? फिर तो यह केवल चेतनमात्र, सर्वथा शुद्ध और निर्विकार है ही॥ २०॥

सम्बन्ध—*दृश्य और द्रष्टाके स्वरूपका वर्णन करनेके बाद अब दृश्यके स्वरूपकी सार्थकताका प्रतिपादन करते हैं—*

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा॥ २१॥

दृश्यस्य=(उक्त) दृश्यका; **आत्मा**=स्वरूप; **तदर्थः एव**=उस (द्रष्टा)के लिये ही है।

व्याख्या—उक्त द्रष्टाको अपने दर्शनद्वारा भोग प्रदान करनेके लिये और द्रष्टाके निज स्वरूपका दर्शन कराकर अपवर्ग (मुक्ति) प्रदान करनेके लिये—इस प्रकार पुरुषका प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये ही दृश्य है। इसीमें उसके होनेकी सार्थकता है। अठारहवें सूत्रमें दृश्यके लक्षणोंका वर्णन करते समय भी यही बात कही गयी है॥ २१॥

सम्बन्ध—*पुरुषको अपवर्ग प्रदान कर देनेके बाद प्रकृतिका कोई कार्य शेष नहीं रहता, फिर उसका बना रहना निरर्थक है; अतः उसका अभाव हो जाना चाहिये; इसपर कहते हैं—*

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्॥ २२॥

****

कृतार्थम् प्रति=जिसका भोग और अपवर्गरूप कार्य पूर्ण कर दिया, उस पुरुषके लिये; **नष्टम्**=नाशको प्राप्त हुई; **अपि**=भी (वह प्रकृति); **अनष्टम्**=नष्ट नहीं होती; **तत् अन्यसाधारणत्वात्**=क्योंकि दूसरोंके लिये भी वह समान है।

व्याख्या—प्रकृतिका प्रयोजन किसी एक ही पुरुषके लिये भोग और अपवर्ग प्रदान करना नहीं है, वह तो सभी पुरुषोंके लिये समान है। अतः जिसका कार्य वह कर चुकी, उस कृतार्थ—मुक्त पुरुषके लिये उसकी आवश्यकता न रहनेके कारण यद्यपि वह उसके लिये नष्ट हो जाती है, तो भी दूसरे सब जीवोंको भोग और अपवर्ग प्रदान करना तो शेष है ही। इसलिये उसका सर्वथा नाश नहीं होता, वह विद्यमान रहती है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि प्रकृति परिणामी होनेपर भी अनादि और नित्य है। यहाँ जो मुक्त पुरुषके लिये उसका नष्ट होना बतलाया गया है, वह भी अदृश्य होना ही बतलाया गया है; क्योंकि योगके सिद्धान्तमें किसी भी वस्तुका सर्वथा अभाव नहीं माना गया है॥ २२॥

सम्बन्ध—*अब संयोगके स्वरूपका वर्णन करते हैं*—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः॥ २३॥

स्वस्वामिशक्त्योः=स्वशक्ति (प्रकृति) और स्वामिशक्ति (पुरुष)—इन दोनोंके; **स्वरूपोपलब्धिहेतुः**=स्वरूपकी प्राप्तिका जो कारण है, वह; **संयोगः**='संयोग' है।

व्याख्या—दृश्यका स्वरूप द्रष्टाके ही लिये है, यह बात पहले कह आये हैं, इसी भावको लेकर इस सूत्रमें पुरुषको प्रकृतिका स्वामी बतलाया है और प्रकृतिको पुरुषका 'स्व' अर्थात् अपना यानी अधिकृत पदार्थ कहा है। उस प्रकृतिके साथ पुरुषका सम्बन्ध उन दोनोंके स्वरूपको जाननेके लिये ही है, अतः उस दर्शन (ज्ञान) शक्तिसे जबतक मनुष्य इस प्रकृतिके नाना रूपोंको देखता रहता है, तबतक तो भोगोंको भोगता रहता है। जब इनके

दर्शनसे विरक्त होकर अपने स्वरूप-दर्शनकी ओर झाँकता है, तब स्वरूपका दर्शन हो जाता है (योग० ३। ३५)। फिर संयोगकी कोई आवश्यकता न रहनेसे उसका अभाव हो जाता है। यही पुरुषकी 'कैवल्य' अवस्था है (योग० ३। ३४) ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—*अब उक्त संयोगका कारण बतलाते हैं—*

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

तस्य=उस संयोगका; **हेतुः**=कारण; **अविद्या**=अविद्या है।

व्याख्या—सर्वथा निर्विकार असङ्ग चेतन पुरुषका जो यह जड प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है यह अनादिसिद्ध अविद्यासे ही है, वास्तवमें नहीं है।

यहाँ अविद्या विपर्ययवृत्तिका नाम नहीं है, किंतु अपने स्वरूपके अनादिसिद्ध अज्ञानका नाम अविद्या है। इसीलिये अपने स्वरूपके ज्ञानसे इसका नाश हो जाता है और उसके बाद प्रयोजन न रहनेपर वह ज्ञान भी शान्त हो जाता है। यही पुरुषका 'कैवल्य' है ॥ २४ ॥

सम्बन्ध—*अब कारणसहित संयोगके अभावसे सिद्ध होनेवाले सर्वथा दुःखनाशरूप 'हान'का वर्णन करते हैं—*

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥

तदभावात्=उस (अविद्या) के अभावसे; **संयोगाभावः**=संयोगका अभाव (हो जाता है, यही); **हानम्**='हान' (पुनर्जन्मादि भावी दुःखोंका अत्यन्त अभाव) है (और); **तत्**=वही; **दृशेः**=चेतन आत्माका; **कैवल्यम्**='कैवल्य' है।

व्याख्या—जब आत्मदर्शनरूप ज्ञानसे अविद्याका यानी अज्ञानका सर्वथा अभाव हो जाता है, तब अज्ञानजनित संयोगका भी अपने-आप अभाव हो जाता है, फिर पुरुषका प्रकृतिसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता और उसके जन्म-मरण आदि सम्पूर्ण दुःखोंका सदाके लिये अत्यन्त अभाव हो जाता है तथा पुरुष अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है—यही उसका कैवल्य अर्थात् सर्वथा अकेलापन है ॥ २५ ॥

****

सम्बन्ध—अब उक्त दुःखोंके अत्यन्त अभावरूप 'हान'का उपाय बतलाते हैं—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥

अविप्लवा=निश्चल और निर्दोष; **विवेकख्यातिः**=विवेकज्ञान; **हानोपायः**=(उक्त) 'हान'का उपाय है।

व्याख्या—प्रकृति तथा उसके कार्य-बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियाँ और शरीर—इन सबके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान हो जानेसे तथा आत्मा इनसे सर्वथा भिन्न और असङ्ग है, आत्माका इनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, इस प्रकार पुरुषके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो जानेसे जो प्रकृति और पुरुषके स्वरूपका अलग-अलग यथार्थ ज्ञान होता है, इसीका नाम 'विवेकज्ञान' है (योग० ३। ५४)। उस समय चित्त विवेकज्ञानमें निमग्न और कैवल्यके अभिमुख रहता है। यह ज्ञान जब समाधिकी निर्मलता—स्वच्छता होनेपर पूर्ण और निश्चल हो जाता है, उसमें किसी प्रकारका भी मल नहीं रहता (योग० ४। ३१), तब वह अविप्लव विवेकज्ञान कहलाता है। ऐसा विवेकज्ञान ही समस्त दुःखोंके अत्यन्त अभावरूप मुक्तिका उपाय है। इससे संसारके बीज अविद्यादि क्लेशोंका और समस्त कर्मोंका सर्वथा अभाव हो जाता है (योग० ४। ३०)। उसके बाद चित्त अपने आश्रयरूप—महत्तत्त्व आदिके सहित अपने कारणमें विलीन हो जाता है तथा प्रकृतिका जो स्वाभाविक परिणाम-क्रम है, वह उसके लिये बंद हो जाता है (योग० ४। ३२) ॥ २६ ॥

सम्बन्ध—उक्त विवेकज्ञानके समय साधककी बुद्धि किस प्रकारकी होती है, यह बतलाते हैं—

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

तस्य=उस (विवेकज्ञानप्राप्त) पुरुषकी; **सप्तधा**=सात प्रकारकी; **प्रान्तभूमिः**=अन्तिम स्थितिवाली; **प्रज्ञा**=बुद्धि (होती है)।

व्याख्या—जब निर्मल और अचल विवेकख्यातिके द्वारा योगीके चित्तका आवरण और मल सर्वथा नष्ट हो जाता है (योग० ४। ३१) उस

समय उस चित्तमें दूसरे सांसारिक ज्ञानोंका उदय नहीं होता। अतः सात प्रकारकी उत्कर्ष अवस्थावाली प्रज्ञा (बुद्धि) उत्पन्न होती है। उनमें पहली चार प्रकारकी तो कार्यविमुक्तिकी द्योतक हैं, इस कारण वे 'कार्यविमुक्तिप्रज्ञा' कहलाती हैं और अन्तकी तीन चित्तविमुक्तिकी द्योतक हैं, इस कारण उनका नाम 'चित्तविमुक्तिप्रज्ञा' है।

कार्यविमुक्तिप्रज्ञा यानी कर्तव्यशून्य अवस्थाके चार भेद इस प्रकार हैं—

(१) ज्ञेयशून्य अवस्था—जो कुछ जानना था जान लिया; अब कुछ भी जानना शेष नहीं रहा अर्थात् जितना गुणमय दृश्य है (योग० २। १८, १९), वह सब अनित्य और परिणामी है यह पूर्णतया जान लिया।

(२) हेयशून्य अवस्था—जिसका अभाव करना था, उसका अभाव कर दिया; अर्थात् द्रष्टा और दृश्यके संयोगका, जो कि हेयका हेतु है, अभाव कर दिया, अब कुछ भी अभाव करनेयोग्य शेष नहीं रहा।

(३) प्राप्यप्राप्त अवस्था—जो कुछ प्राप्त करना था, प्राप्त कर लिया अर्थात् समाधिद्वारा केवल अवस्थाकी प्राप्ति हो चुकी; अतः अब कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहा।

(४) चिकीर्षाशून्य अवस्था—जो कुछ करना था, कर लिया अर्थात् हानका उपाय जो निर्मल और अचल विवेकज्ञान है, उसे सिद्ध कर लिया, अब और कुछ करना शेष नहीं रहा।

चित्तविमुक्तिप्रज्ञाके तीन भेद इस प्रकार हैं—

(१) चित्तकी कृतार्थता—चित्तने अपना अधिकार 'भोग और अपवर्ग' देना पूरा कर दिया, अब उसका कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा।

(२) गुणलीनता—चित्त अपने कारणरूप गुणोंमें लीन हो रहा है, क्योंकि अब उसका कोई कार्य शेष नहीं रहा।

(३) आत्मस्थिति—पुरुष सर्वथा गुणोंसे अतीत होकर अपने स्वरूपमें अचल भावसे स्थित हो गया।

इस सात प्रकारकी प्रान्तभूमिप्रज्ञाको अनुभव करनेवाला योगी कुशल (जीवन्मुक्त) कहलाता है और चित्त जब अपने कारणमें लीन हो जाता है, तब भी कुशल (विदेहमुक्त) कहलाता है॥ २७॥

सम्बन्ध—*अब उक्त निर्मल विवेकज्ञानकी प्राप्तिका उपाय बतलाते हैं*—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः॥ २८॥

योगाङ्गानुष्ठानात्=योगके अङ्गका अनुष्ठान करनेसे; **अशुद्धिक्षये**=अशुद्धिका नाश होनेपर; **ज्ञानदीप्तिः**=ज्ञानका प्रकाश; **आविवेकख्यातेः**=विवेकख्यातिपर्यन्त हो जाता है।

व्याख्या—आगे बतलाये जानेवाले योगके आठ अङ्गोंका अनुष्ठान करनेसे अर्थात् उनको आचरणमें लानेसे चित्तके मलका अभाव होकर वह सर्वथा निर्मल हो जाता है, उस समय योगीके ज्ञानका प्रकाश विवेकख्यातितक हो जाता है अर्थात् उसे आत्माका स्वरूप, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियोंसे सर्वथा भिन्न प्रत्यक्ष दिखलायी देता है॥ २८॥

सम्बन्ध—*उक्त योगाङ्गोंके नाम और उनकी संख्या बतलाते हैं*—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि॥ २९॥

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः=यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि; **अष्टौ**=ये आठ; **अङ्गानि**=(योगके) अङ्ग हैं।

व्याख्या—इन आठोंके लक्षण और फलोंका वर्णन अगले सूत्रोंमें स्वयं सूत्रकारने ही किया है, अतः यहाँ विस्तारकी आवश्यकता नहीं है॥ २९॥

सम्बन्ध—*पहले यमोंका वर्णन करते हैं*—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥ ३०॥

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः=अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरीका

अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रहका अभाव)—ये पाँच; **यमाः**=यम हैं।

व्याख्या—(१) अहिंसा—मन, वाणी और शरीरसे किसी प्राणीको कभी किसी प्रकार किंचिन्मात्र भी दुःख न देना 'अहिंसा' है, परदोष-दर्शनका सर्वथा त्याग भी इसीके अन्तर्गत है।

(२) सत्य—इन्द्रिय और मनसे प्रत्यक्ष देखकर, सुनकर या अनुमान करके जैसा अनुभव किया हो, ठीक वैसा-का-वैसा ही भाव प्रकट करनेके लिये प्रिय और हितकर तथा दूसरेको उद्वेग उत्पन्न न करनेवाले जो वचन बोले जाते हैं, उनका नाम 'सत्य' है। इसी प्रकार कपट और छलरहित व्यवहारका नाम सत्यव्यवहार समझना चाहिये।

(३) अस्तेय—दूसरेके स्वत्वका अपहरण करना, छलसे या अन्य किसी उपायसे अन्यायपूर्वक अपना बना लेना 'स्तेय' (चोरी) है, इसमें सरकारकी टैक्सकी चोरी और घूसखोरी भी सम्मिलित है; इन सब प्रकारकी चोरियोंके अभावका नाम 'अस्तेय' है।

(४) ब्रह्मचर्य—मन, वाणी और शरीरसे होनेवाले सब प्रकारके मैथुनोंका सब अवस्थाओंमें सदा त्याग करके सब प्रकारसे वीर्यकी रक्षा करना 'ब्रह्मचर्य' है।* अतः साधकको चाहिये कि न तो कामदीपन करनेवाले पदार्थोंका सेवन करे, न ऐसे दृश्योंको देखे, न ऐसी बातोंको सुने, न ऐसे साहित्यको पढ़े और न ऐसे विचारोंको ही मनमें लावे तथा स्त्रियोंका और स्त्री-आसक्त पुरुषोंका संग भी ब्रह्मचर्यमें बाधक है, अतः ऐसे संगसे सदा सावधानीके साथ अलग रहे।

(५) अपरिग्रह—अपने स्वार्थके लिये ममतापूर्वक धन, सम्पत्ति

---

* कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुनत्यागी ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते॥
(गरुड० पूर्व० आचार० २३८।६)

और भोग-सामग्रीका संचय करना 'परिग्रह' है, इसके अभावका नाम 'अपरिग्रह' है ॥ ३० ॥

सम्बन्ध—*उक्त यमोंकी सबसे ऊँची अवस्था बतलाते हैं*—

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः=(उक्त यम) जाति, देश, काल और निमित्तकी सीमासे रहित; **सार्वभौमाः**=सार्वभौम होनेपर; **महाव्रतम्**=महाव्रत हो जाते हैं।

व्याख्या—उक्त अहिंसादिका अनुष्ठान जब सार्वभौम अर्थात् सबके साथ, सब जगह और सब समय समानभावसे किया जाता है, तब ये महाव्रत हो जाते हैं। जैसे किसीने नियम लिया कि मछलीके सिवा अन्य जीवोंकी हिंसा नहीं करूँगा तो यह जाति-अवछिन्न अहिंसा है, इसी तरह कोई नियम ले कि मैं तीर्थोंमें हिंसा नहीं करूँगा तो यह देश-अवछिन्न अहिंसा है। कोई यह नियम करे कि मैं एकादशी, अमावास्या और पूर्णिमाको हिंसा नहीं करूँगा तो यह कालावच्छिन्न अहिंसा है। कोई नियम करे कि मैं विवाहके अवसरके सिवा अन्य किसी निमित्तसे हिंसा नहीं करूँगा तो यह समयावच्छिन्न (निमित्तसे सम्बन्धित) अहिंसा है। इसी प्रकार सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहके भी भेद समझ लेने चाहिये। ऐसे यम व्रत तो हैं, परंतु सार्वभौम न होनेके कारण महाव्रत नहीं हैं। उपर्युक्त प्रकारका प्रतिबन्ध न लगाकर जब सभी प्राणियोंके साथ सब देशोंमें सदा-सर्वदा इनका पालन किया जाय, किसी भी निमित्तसे इनमें शिथिलता आनेका अवकाश न दिया जाय, तब ये सार्वभौम होनेपर 'महाव्रत' कहलाते हैं ॥ ३१ ॥

सम्बन्ध—*यमोंका वर्णन करके अब नियमोंका वर्णन करते हैं*—

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि=शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय

और ईश्वर-शरणागति—(ये पाँच); **नियमाः**=नियम हैं।

व्याख्या—(१) शौच—जल, मृत्तिकादिके द्वारा शरीर, वस्त्र और मकान आदिके मलको दूर करना बाहरकी शुद्धि है, इसके सिवा अपने वर्णाश्रम और योग्यताके अनुसार न्यायपूर्वक धनको और शरीरनिर्वाहके लिये आवश्यक अन्न आदि पवित्र वस्तुओंको प्राप्त करके उनके द्वारा शास्त्रानुकूल शुद्ध भोजनादि करना तथा सबके साथ यथायोग्य पवित्र बर्ताव करना—यह भी बाहरी शुद्धिके ही अन्तर्गत है। जप, तप और शुद्ध विचारोंके द्वारा एवं मैत्री आदिकी भावनासे अन्तःकरणके राग-द्वेषादि मलोंका नाश करना भीतरकी पवित्रता है।

(२) संतोष—कर्तव्यकर्मका पालन करते हुए उसका जो कुछ परिणाम हो तथा प्रारब्धके अनुसार अपने-आप जो कुछ भी प्राप्त हो एवं जिस अवस्था और परिस्थितिमें रहनेका संयोग प्राप्त हो जाय, उसीमें संतुष्ट रहना और किसी प्रकारकी भी कामना या तृष्णा न करना 'संतोष' है।

(३) तप, (४) स्वाध्याय और (५) ईश्वर-प्रणिधान—इन तीनोंकी व्याख्या क्रियायोगके वर्णनमें कर चुके हैं (देखिये योग० २। १ की व्याख्या), उसी प्रकार यहाँ भी समझ लेना चाहिये॥ ३२॥

सम्बन्ध—*यम-नियमोंके अनुष्ठानमें विघ्न उपस्थित होनेपर उन विघ्नोंको हटानेका उपाय बतलाते हैं—*

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्॥ ३३॥

वितर्कबाधने=जब वितर्क (यम और नियमोंके विरोधी हिंसादिके भाव) यम-नियमके पालनमें बाधा पहुँचावें तब; **प्रतिपक्षभावनम्**=उनके प्रतिपक्षी विचारोंका बारम्बार चिन्तन करना (चाहिये)।

व्याख्या—जब कभी संगदोषसे या अन्यायपूर्वक किसीके द्वारा सताये जानेपर बदला लेनेके लिये या अन्य किसी भी कारणसे मनमें अहिंसादिके विरोधी भाव बाधा पहुँचावें अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी आदिमें प्रवृत्त होकर

****

यम-नियमादिका त्याग कर देनेकी परिस्थिति उत्पन्न कर दें तो उस समय उन विरोधी विचारोंका नाश करनेके लिये उन विचारोंमें दोषदर्शनरूप प्रतिपक्षकी भावना करनी चाहिये ॥ ३३ ॥

सम्बन्ध—*इस दोषदर्शनरूप प्रतिपक्षभावनाका ही अगले सूत्रोंमें वर्णन करते हैं—*

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोध-मोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३४ ॥

हिंसादयः=(यम और नियमोंके विरोधी) हिंसा आदि भाव; **वितर्काः**=वितर्क कहलाते हैं; (वे तीन प्रकारके होते हैं—) **कृतकारितानुमोदिताः**=स्वयं किये हुए, दूसरोंसे करवाये हुए और अनुमोदन किये हुए; **लोभक्रोधमोह-पूर्वकाः**=इनके कारण लोभ, क्रोध और मोह हैं; **मृदुमध्याधिमात्राः**=इनमें भी कोई छोटा, कोई मध्यम और कोई बहुत बड़ा होता है; **दुःखाज्ञानानन्तफलाः**=ये दुःख और अज्ञानरूप अनन्त फल देनेवाले हैं; **इति**=इस प्रकार (विचार करना ही); **प्रतिपक्षभावनम्**=प्रतिपक्षकी भावना है।

व्याख्या—स्वयं किये हुए, दूसरोंसे करवाये हुए, दूसरोंको करते देखकर अनुमोदन किये हुए—इस तरह तीन प्रकारसे होनेवाले हिंसा, झूठ, चोरी और व्यभिचार आदि अवगुण, जो कि यम-नियमोंके विरोधी हैं, उनका नाम 'वितर्क' है। ये दोष कभी लोभसे, कभी क्रोधसे और कभी मोहसे एवं कभी छोटे रूपमें, कभी मध्यम और कभी भयंकररूपमें साधकके सामने उपस्थित होकर उसे सताते हैं। उस समय साधकको सावधान होकर विचार करना चाहिये कि ये हिंसादि दोष महान् हानिकारक और नरकमें ले जानेवाले हैं, इनका परिणाम अनन्तकालतक बारम्बार दुःख भोगना और अज्ञानके वशमें होकर शूकर-कूकर आदि मूढ़ योनियोंमें पड़ना है, अतः इनसे सर्वथा दूर रहकर दृढ़तापूर्वक यम-नियमोंका पालन करते रहना चाहिये। इस प्रकारके विचारोंको बारम्बार करते रहना ही 'प्रतिपक्षकी भावना' है ॥ ३४ ॥

****

सम्बन्ध—*इस प्रकार यम-नियमोंके विरोधी हिंसादिको हटानेका उपाय उसमें दोष देखना बतलाकर अब यम-नियमोंमें प्रीति उत्पन्न करनेके लिये उनके पालनका भिन्न-भिन्न फल बतलाते हैं—*

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

अहिंसाप्रतिष्ठायाम्=अहिंसाकी दृढ़ स्थिति हो जानेपर; **तत्सन्निधौ**=उस योगीके निकट; **वैरत्यागः**=सब प्राणी वैरका त्याग कर देते हैं।

व्याख्या—जब योगीका अहिंसाभाव पूर्णतया दृढ़ स्थिर हो जाता है तब उसके निकटवर्ती हिंसक जीव भी वैरभावसे रहित हो जाते हैं। इतिहास-ग्रन्थोंमें जहाँ मुनियोंके आश्रमोंकी शोभाका वर्णन आता है, वहाँ वनचर जीवोंमें स्वाभाविक वैरका अभाव दिखलाया गया है, यह उन ऋषियोंके अहिंसाभावकी प्रतिष्ठाका द्योतक है * ॥ ३५ ॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

---

* वाल्मीकीय रामायणवनकाण्डमें अगस्त्याश्रमके वर्णनमें आता है—

यदाप्रभृति चाक्रान्ता दिगियं पुण्यकर्मणा।
तदाप्रभृति निर्वैराः प्रशान्ता रजनीचराः॥
अयं दीर्घायुषस्तस्य लोके विश्रुतकर्मणः।
अगस्त्यस्याश्रमः श्रीमान् विनीतमृगसेवितः॥
नात्र जीवन्मृषावादी क्रूरो वा यदि वा शठः।
नृशंसः पापवृत्तो वा मुनिरेष तथाविधः॥
(सर्ग ११।८३, ८६, ९०)

तुलसीकृत रामायणके अयोध्याकाण्डमें भी आया है—

खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं॥
(वाल्मीकि-आश्रमवर्णन)

तथा—

बयरु बिहाइ चरहिं एक संगा। जहँ तहँ मनहुँ सेन चतुरंगा॥
(चित्रकूटवर्णन)

****

सत्यप्रतिष्ठायाम्=सत्यकी दृढ़स्थिति हो जानेपर (योगीमें); **क्रिया-फलाश्रयत्वम्**=क्रियाफलके आश्रयका भाव (आ जाता है)।

व्याख्या—जब योगी सत्यका पालन करनेमें पूर्णतया परिपक्व हो जाता है, उसमें किसी प्रकारकी कमी नहीं रहती, उस समय वह योग कर्तव्यपालन-रूप क्रियाओंके फलका आश्रय बन जाता है। जो कर्म किसीने नहीं किया है, उसका भी फल उसे प्रदान कर देनेकी शक्ति उस योगीमें आ जाती है, अर्थात् जिसको जो वरदान, शाप या आशीर्वाद देता है, वह सत्य हो जाता है॥ ३६॥

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्॥ ३७॥

अस्तेयप्रतिष्ठायाम्=चोरीके अभावकी दृढ़ स्थिति हो जानेपर (उस योगीके सामने); **सर्वरत्नोपस्थानम्**=सब प्रकारके रत्न प्रकट हो जाते हैं।

व्याख्या—जब साधकमें चोरीका अभाव पूर्णतया प्रतिष्ठित हो जाता है, तब पृथ्वीमें जहाँ कहीं भी गुप्त स्थानमें पड़े हुए समस्त रत्न उसके सामने प्रकट हो जाते हैं अर्थात् उसकी जानकारीमें आ जाते हैं॥ ३७॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः॥ ३८॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायाम्=ब्रह्मचर्यकी दृढ़ स्थिति हो जानेपर; **वीर्यलाभः**=सामर्थ्यका लाभ होता है।

व्याख्या—जब साधकमें ब्रह्मचर्यकी पूर्णतया दृढ़ स्थिति हो जाती है, तब उसके मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीरमें अपूर्व शक्तिका प्रादुर्भाव हो जाता है, साधारण मनुष्य किसी काममें भी उसकी बराबरी नहीं कर सकते॥ ३८॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः॥ ३९॥

अपरिग्रस्थैर्ये=अपरिग्रहकी स्थिति हो जानेपर; **जन्मकथन्तासंबोधः**= पूर्वजन्म कैसे हुए थे? इस बातका भलीभाँति ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—जब योगीमें अपरिग्रहका भाव पूर्णतया स्थिर हो जाता है,

तब उसे अपने पूर्वजन्मोंकी और वर्तमान जन्मकी सब बातें मालूम हो जाती हैं अर्थात् मैं पहले किस योनिमें हुआ था, मैंने उस समय क्या-क्या काम किये, किस प्रकार रहा—ये सब स्मरण हो जाते हैं और इस जन्मकी भी बीती हुई सब बातें स्मरण हो जाती हैं। यह ज्ञान भी संसारमें वैराग्य उत्पन्न करनेवाला और जन्म-मरणसे छुटकारा पानेके लिये योगसाधनमें प्रवृत्त करनेवाला है।

यहाँतक यमोंकी सिद्धिका जो फल बतलाया गया है, उसके सिवा निष्कामभावसे यमोंका सेवन करनेसे कैवल्यकी प्राप्तिमें भी सहायता मिलती है॥ ३९॥

सम्बन्ध—*अब नियमोंके पालनका फल बतलाते हैं; परंतु इन सूत्रोंमें पूर्णप्रतिष्ठाकी शर्त नहीं रखी गयी है। इससे यह मालूम होता है कि साधक इनका जितना पालन करता है, उतना ही उसे लाभ मिलता चला जाता है। सबसे पहले अगले सूत्रमें बाह्य शौचका फल बतलाते हैं—*

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः॥ ४०॥

शौचात्=शौचके पालनसे; **स्वाङ्गजुगुप्सा**=अपने अङ्गोंमें वैराग्य (और); **परैः असंसर्गः**=दूसरोंसे संसर्ग न करनेकी इच्छा (उत्पन्न होती है)।

व्याख्या—बाह्य शुद्धिके पालनसे साधककी अपने शरीरमें अपवित्र बुद्धि होकर उसमें वैराग्य हो जाता है अर्थात् उसमें आसक्ति नहीं रहती और दूसरे सांसारिक मनुष्योंके साथ संसर्ग करनेकी इच्छा नहीं रहती अर्थात् उनके सङ्गमें भी प्रवृत्ति या आसक्ति नहीं रहती॥ ४०॥

सम्बन्ध—*भीतरकी शुद्धिका फल बतलाते हैं—*

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च॥ ४१॥

च=इसके सिवा; **सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि**=अन्तःकरणकी शुद्धि, मनमें प्रसन्नता; चित्तकी एकाग्रता, इन्द्रियोंका वशमें होना और आत्मसाक्षात्कारकी योग्यता—ये पाँचों भी होते हैं।

****

व्याख्या—मैत्री आदिकी भावनाके द्वारा अथवा जप, तप आदि अन्य किसी साधनद्वारा आन्तरिक शौचके लिये अभ्यास करनेसे राग-द्वेष, ईर्ष्या आदि मलोंका अभाव होकर मनुष्यका अन्तःकरण निर्मल और स्वच्छ हो जाता है। मनकी व्याकुलताका नाश होकर उसमें सदैव प्रसन्नता बनी रहती है; विक्षेप-दोषका नाश होकर एकाग्रता आ जाती है और सब इन्द्रियाँ मनके वशमें हो जाती हैं, अतः उसमें आत्मदर्शनकी योग्यता आ जाती है।

इस प्रकार इसके ऊपरवाले सूत्रमें तो बाह्य शौचका फल बतलाया गया है और इसमें भीतरकी शुद्धिका फल बतलाया गया है॥ ४१॥

संतोषादनुत्तमसुखलाभः॥ ४२॥

संतोषात्=संतोषसे; **अनुत्तमसुखलाभः**=जिससे उत्तम दूसरा कोई सुख नहीं है—ऐसे सर्वोत्तम सुखका लाभ होता है।

व्याख्या—संतोषसे अर्थात् चाहरहित होनेपर जो अनन्त सुख मिलता है, उसकी बराबरी दूसरा कोई सांसारिक सुख नहीं कर सकता। वह ही सर्वोत्तम सुख है॥ ४२॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः॥ ४३॥

तपसः=तपके प्रभावसे; **अशुद्धिक्षयात्**=जब अशुद्धिका नाश हो जाता है, तब; **कायेन्द्रियसिद्धिः**=शरीर और इन्द्रियोंकी सिद्धि हो जाती है।

व्याख्या—स्वधर्म-पालनके लिये व्रत-उपवास आदि करने या अन्य सब प्रकारके कष्ट सहन करनेका नाम 'तप' है (योग० २। १ की टीका)। इसके अभ्याससे शरीर और इन्द्रियोंके मलका नाश हो जाता है, तब योगीका शरीर स्वस्थ, स्वच्छ और हलका हो जाता है तथा तीसरे पादके पैंतालीसवें और छियालीसवें सूत्रमें बतलायी हुई काय-सम्पद्रूप शरीर-सम्बन्धी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं एवं सूक्ष्म, दूर देशमें और व्यवधानयुक्त स्थानमें स्थित विषयोंको देखना, सुनना आदि इन्द्रियसम्बन्धी सिद्धि भी प्राप्त हो जाती है॥ ४३॥

****

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥

स्वाध्यायात्=स्वाध्यायसे; **इष्टदेवतासम्प्रयोगः**=इष्टदेवताकी भलीभाँति प्राप्ति (साक्षात्कार) हो जाती है।

व्याख्या—शास्त्राभ्यास, मन्त्रजप और अपने जीवनका अध्ययनरूप स्वाध्यायके प्रभावसे योगी जिस इष्टदेवका दर्शन करना चाहता है, उसीका दर्शन हो जाता है॥ ४४ ॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

ईश्वरप्रणिधानात्=ईश्वर-प्रणिधानसे; **समाधिसिद्धिः**=समाधिकी सिद्धि हो जाती है।

व्याख्या—ईश्वरकी शरणागतिसे योगसाधनमें आनेवाले विघ्नोंका नाश होकर शीघ्र ही समाधि निष्पन्न हो जाती है (योग० १। २३), क्योंकि ईश्वरपर निर्भर रहनेवाला साधक तो केवल तत्परतासे साधन करता रहता है, उसे साधनके परिणामकी चिन्ता नहीं रहती। उसके साधनमें आनेवाले विघ्नोंको दूर करनेका और साधनकी सिद्धिका भार ईश्वरके जिम्मे पड़ जाता है, अतः साधनका अनायास और शीघ्र पूर्ण होना स्वाभाविक ही है॥ ४५॥

***सम्बन्ध**—यहाँतक यम और नियमोंका फलसहित वर्णन किया गया; अब आसनके लक्षण, उपाय और उसका फल क्रमसे बतलाते हैं—*

स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥

स्थिरसुखम्=निश्चल (हिलन-चलनसे रहित) सुखपूर्वक बैठनेका नाम; **आसनम्**='आसन' है।

व्याख्या—हठयोगमें आसनोंके बहुत भेद बतलाये गये हैं, परंतु यहाँ सूत्रकारने उनका वर्णन नहीं करके बैठनेका तरीका साधककी इच्छापर ही छोड़ दिया है। भाव यह है कि जो साधक अपनी योग्यताके अनुसार जिस रीतिसे बिना हिले-डुले स्थिरभावसे सुखपूर्वक बिना किसी प्रकारकी पीड़ाके बहुत समयतक बैठ सके वही आसन उसके लिये उपयुक्त है। इसके सिवा,

जिसपर बैठकर साधन किया जाता है, उसका नाम भी आसन है; अतः वह भी स्थिर और सुखपूर्वक बैठनेलायक होना चाहिये* ॥ ४६ ॥

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्= (उक्त आसन) प्रयत्नकी शिथिलतासे और अनन्त (परमात्मा)में मन लगानेसे (सिद्ध होता है)।

व्याख्या—शरीरको सीधा और स्थिर करके सुखपूर्वक बैठ जानेके बाद शरीर-सम्बन्धी सब प्रकारकी चेष्टाओंका त्याग कर देना ही प्रयत्नकी शिथिलता है, इससे और परमात्मामें मन लगानेसे—इन दो उपायोंसे आसनकी सिद्धि होती है।

यहाँ बहुत-से टीकाकारोंने अनन्तका अर्थ शेषनाग और समापत्तिका अर्थ समाधि किया है। भोजराजने अनन्तका अर्थ आकाशादि किया है और समापत्तिका अर्थ चित्तका तद्रूप हो जाना किया है; किंतु योगके अङ्गोंमें समाधि अन्तिम अङ्ग है, उसीके लिये आसन आदि अङ्गोंका अनुष्ठान है। आसनको समाधिका बहिरंग साधन भी बतलाया गया है। अतः किसी प्रकारकी भी समाधिको आसनकी स्थिरताका उपाय बतलाना युक्तिसंगत नहीं होता। सज्जन विद्वान् अनुभवी महानुभाव इसपर विचार करें॥ ४७ ॥

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

ततः=उस (आसनकी सिद्धि) से; **द्वन्द्वानभिघातः**= (शीत-उष्ण आदि) द्वन्द्वोंका आघात नहीं लगता।

---

* श्रीमद्भगवद्गीतामें जिस आसनपर बैठकर योगाभ्यास करनेके लिये कहा है, उसे स्थिर और अचल स्थापन करनेके लिये कहा है और उसपर बैठनेका तरीका इस प्रकार बतलाया है कि शरीर, गला और सिर—ये तीनों सीधे और स्थिर रहें, वहाँ भी किसी विशेष आसनका नाम नहीं दिया है (देखिये गीता अध्याय ६, श्लोक ११ से १३ तक तथा श्वेता० उ० २।८, १०)।

****

व्याख्या—आसन-सिद्धि हो जानेसे शरीरपर सर्दी, गर्मी आदि द्वन्द्वोंका प्रभाव नहीं पड़ता, शरीरमें उन सबको बिना किसी प्रकारकी पीड़ाके सहन करनेकी शक्ति आ जाती है। अतः वे द्वन्द्व चित्तको चञ्चल बनाकर साधनमें विघ्न नहीं डाल सकते॥ ४८॥

सम्बन्ध—*अब प्राणायामका सामान्य लक्षण बतलाते हैं*—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥ ४९॥

तस्मिन् सति=उस आसनकी सिद्धि होनेके बाद; **श्वासप्रश्वासयोः**=श्वास और प्रश्वासकी; **गतिविच्छेदः**=गतिका रुक जाना; **प्राणायामः**='प्राणायाम' है।

व्याख्या—प्राणवायुका शरीरमें प्रविष्ट होना श्वास है और बाहर निकलना प्रश्वास है। इन दोनोंकी गतिका रुक जाना अर्थात् प्राणवायुकी गमनागमनरूप क्रियाका बंद हो जाना ही प्राणायामका सामान्य लक्षण है।

यहाँ आसनकी सिद्धिके बाद प्राणायामका सम्पन्न होना बतलाया है। इसमें यह प्रतीत होता है कि आसनकी स्थिरताका अभ्यास किये बिना ही जो प्राणायाम करते हैं, वे गलत रास्तेपर हैं। प्राणायामका अभ्यास करते समय आसनकी स्थिरता परम आवश्यक है॥ ४९॥

सम्बन्ध—*उक्त प्राणायामके भेदोंको समझानेके लिये तीन प्रकारके प्राणायामोंका वर्णन करते हैं*—

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः॥ ५०॥

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः=(उक्त प्राणायाम) बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति (ऐसे तीन प्रकारका) होता है, (तथा वह); **देशकाल-संख्याभिः**=देश, काल और संख्याद्वारा; **परिदृष्टः**=भलीभाँति देखा जाता हुआ; **दीर्घसूक्ष्मः**=लम्बा और हलका (होता जाता है)।

व्याख्या—अगले सूत्रमें जिस प्राणायामके लक्षण किये गये हैं उसे

चौथा प्राणायाम बतलाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस सूत्रमें तीन प्रकारके प्राणायामोंका वर्णन है और उन तीनों प्रकारके ही प्राणायामोंको साधक देश, काल और संख्याद्वारा देखता रहता है कि वे किस अवस्थातक पहुँच चुके हैं। इस प्रकार परीक्षा करते-करते वे प्राणायाम जैसे-जैसे उन्नत होते जाते हैं वैसे-ही-वैसे उनमें लम्बाई और हलकापन बढ़ता चला जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि स्तम्भवृत्तिरूप तृतीय प्राणायाममें भी देशका सम्बन्ध रहता है, अन्यथा वह देश, काल और संख्याद्वारा परिदृष्ट कैसे होगा ? प्राणायामके तीन भेदोंको इस प्रकार समझना चाहिये।

(१) बाह्यवृत्ति—प्राणवायुको शरीरसे बाहर निकालकर बाहर ही जितने कालतक सुखपूर्वक रुक सके, रोके रहना और साथ-ही-साथ इस बातकी भी परीक्षा करते रहना कि वह बाहर आकर कहाँ ठहरा है, कितने समयतक ठहरा है और उतने समयमें स्वाभाविक प्राणकी गतिकी कितनी संख्या होती है। यह 'बाह्यवृत्ति' प्राणायाम है, इसे 'रेचक' भी कहते हैं; क्योंकि इसमें रेचनपूर्वक प्राणको रोका जाता है। अभ्यास करते-करते यह दीर्घ (लम्बा) अर्थात् बहुत कालतक रुके रहनेवाला और सूक्ष्म अर्थात् हलका अनायास साध्य हो जाता है।

(२) आभ्यन्तरवृत्ति—प्राणवायुको भीतर ले जाकर भीतर ही जितने कालतक सुखपूर्वक रुक सके, रोके रहना और साथ-ही-साथ यह देखते रहना कि आभ्यन्तर देशमें कहाँतक जाकर प्राण रुकता है; वहाँ कितने कालतक सुखपूर्वक ठहरता है और उतने समयमें प्राणकी स्वाभाविक गतिकी कितनी संख्या होती है। यह !'आभ्यन्तर' प्राणायाम है; इसे 'पूरक' प्राणायाम भी कहते हैं; क्योंकि इसमें शरीरके अंदर ले जाकर प्राणको रोका जाता है। अभ्यासबलसे यह भी दीर्घ और सूक्ष्म होता जाता है।

(३) स्तम्भवृत्ति—शरीरके भीतर जाने और बाहर निकलनेवाली जो प्राणोंकी स्वाभाविक गति है, उसे प्रयत्नपूर्वक बाहर या भीतर निकलने या ले

जानेका अभ्यास न करके प्राणवायु स्वभावसे बाहर निकला हो या भीतर गया हो, जहाँ हो, वहीं उसकी गतिको स्तम्भित कर देना (रोक देना) और यह देखते रहना कि प्राण किस देशमें रुके हैं, कितने समयतक सुखपूर्वक रुके रहते हैं, इस समयमें स्वाभाविक गतिकी कितनी संख्या होती है, यह 'स्तम्भवृत्ति' प्राणायाम है; इसे 'कुम्भक' प्राणायाम भी कहते हैं। अभ्यासबलसे यह भी दीर्घ और सूक्ष्म होता है। कोई-कोई टीकाकार इसे केवल 'कुम्भक' कहते हैं और कोई-कोई चौथे प्राणायामको केवल कुम्भक कहते हैं। इस तीसरे और अगले सूत्रमें बतलाये हुए चौथे प्राणायामके भेदका निर्णय करनेमें बहुत मतभेद है।

साधक किसी भी प्राणायामका अभ्यास करें, उसके साथ मन्त्र अवश्य रहना चाहिये॥ ५०॥

सम्बन्ध—*चौथे प्राणायामका वर्णन करते हैं*—

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः॥ ५१॥

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी=बाहर और भीतरके विषयोंका त्याग कर देनेसे अपने-आप होनेवाला; **चतुर्थः**=चौथा प्राणायाम है।

व्याख्या—बाहर और भीतरके विषयोंके चिन्तनका त्याग कर देनेसे अर्थात् इस समय प्राण बाहर निकल रहे हैं या भीतर जा रहे हैं अथवा चल रहे हैं कि ठहरे हुए हैं, इस जानकारीका त्याग करके मनको इष्टचिन्तनमें लगा देनेसे देश, काल और संख्याके ज्ञानके बिना ही अपने-आप जो प्राणोंकी गति जिस-किसी देशमें रुक जाती है; वह चौथा प्राणायाम है। यह पहले बतलाये हुए तीन प्रकारके प्राणायामोंसे सर्वथा भिन्न है, यह बात दिखलानेके लिये सूत्रमें '**चतुर्थः**' पदका प्रयोग किया गया है।

यह अनायास होनेवाला राजयोगका प्राणायाम है। इसमें मनकी चञ्चलता शान्त होनेके कारण अपने-आप प्राणोंकी गति रुकती है और पहले बतलाये हुए प्राणायामोंमें प्रयत्नद्वारा प्राणोंकी गतिको रोकनेका अभ्यास करते-

करते प्राणोंकी गतिका निरोध होता है, यही इसकी विशेषता है ॥ ५१ ॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ ५२ ॥

ततः=उस (प्राणायामके अभ्यास) से; **प्रकाशावरणम्**=प्रकाश (ज्ञान) का आवरण; **क्षीयते**=क्षीण हो जाता है।

व्याख्या—जैसे-जैसे मनुष्य प्राणायामका अभ्यास करता है, वैसे-ही-वैसे उसके संचित कर्म-संस्कार और अविद्यादि क्लेश दुर्बल होते चले जाते हैं। ये कर्म, संस्कार और अविद्यादि क्लेश ही ज्ञानका आवरण (परदा) है। इस परदेके कारण ही मनुष्यका ज्ञान ढका रहता है, अतः वह मोहित हुआ रहता है। जब यह परदा दुर्बल होते-होते सर्वथा क्षीण हो जाता है, तब साधकका ज्ञान सूर्यकी भाँति प्रकाशित हो जाता है (गीता ५। १६)। इसलिये साधकको प्राणायामका अभ्यास अवश्य करना चाहिये ॥ ५२ ॥

सम्बन्ध—*प्राणायामका दूसरा फल बतलाते हैं*—

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

च=तथा; **धारणासु**=धारणाओंमें; **मनसः**=मनकी; **योग्यता**=योग्यता (भी हो जाती है)।

व्याख्या—प्राणायामके अभ्याससे मनमें धारणाकी योग्यता भी आ जाती है, यानी उसे चाहे जिस जगह अनायास ही स्थिर किया जा सकता है ॥ ५३ ॥

सम्बन्ध—*अब प्रत्याहारके लक्षण बतलाते हैं*—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

स्वविषयासम्प्रयोगे=अपने विषयोंके सम्बन्धसे रहित होनेपर; **इन्द्रियाणाम्**=इन्द्रियोंका; **चित्तस्वरूपानुकारः इव**=जो चित्तके स्वरूपमें तदाकार-सा हो जाना है, वह; **प्रत्याहारः**=प्रत्याहार है।

व्याख्या—उक्त प्रकारसे प्राणायामका अभ्यास करते-करते मन और इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाते हैं, उसके बाद इन्द्रियोंकी बाह्यवृत्तिको सब ओरसे समेटकर मनमें विलीन करनेके अभ्यासका नाम 'प्रत्याहार' है। जब साधनकालमें साधक इन्द्रियोंके विषयोंका त्याग करके चित्तको अपने ध्येयमें लगाता है, उस समय जो इन्द्रियोंका विषयोंकी ओर न जाकर चित्तमें विलीन-सा हो जाना है, यह प्रत्याहार सिद्ध होनेकी पहचान है। यदि उस समय भी इन्द्रियाँ पहलेके अभ्याससे इसके सामने बाह्य विषयोंका चित्र उपस्थित करती रहें तो समझना चाहिये कि प्रत्याहार नहीं हुआ। उपनिषदोंमें भी 'वाक्' शब्दसे उपलक्षित इन्द्रियोंको मनमें निरुद्ध करनेकी बात कहकर यही भाव दिखलाया है* ॥ ५४ ॥

सम्बन्ध—*अब प्रत्याहारका फल बतलाकर इस द्वितीय पादकी समाप्ति करते हैं*—

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

ततः=उस (प्रत्याहार) से; **इन्द्रियाणाम्**=इन्द्रियोंकी; **परमा**=परम; **वश्यता**=वश्यता (हो जाती है)।

व्याख्या—प्रत्याहार सिद्ध हो जानेपर योगीकी इन्द्रियाँ उसके सर्वथा वशमें हो जाती हैं, उनकी स्वतन्त्रताका सर्वथा अभाव हो जाता है। प्रत्याहारकी सिद्धि हो जानेके बाद इन्द्रिय-विजयके लिये अन्य साधनकी आवश्यकता नहीं रहती ॥ ५५ ॥

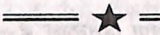

---

* यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः। (कठ० १।३।१३)

'बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि वह वाक् आदि इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर मनमें विलीन कर दे अर्थात् इनकी ऐसी स्थिति कर दे कि इनकी कोई भी क्रिया न हो—मनमें विषयोंकी स्फुरणा न रहे।'

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

विभूतिपाद—३

सम्बन्ध—*दूसरे पादमें योगाङ्गोंके वर्णनका आरम्भ करके यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—इन पाँच बहिरङ्ग-साधनोंका फलसहित वर्णन किया गया; शेष धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीन अन्तरङ्ग-साधनोंका वर्णन इस पादमें किया जाता है; क्योंकि ये तीनों जब किसी एक ध्येयमें पूर्णतया किये जाते हैं, तब इनका नाम संयम हो जाता है। योगकी विभूतियाँ प्राप्त करनेके लिये संयमकी आवश्यकता है, अतः इन अन्तरङ्ग-साधनोंका वर्णन साधनपादमें न करके इस विभूतिपादमें करते हुए पहले धारणाका स्वरूप बतलाते हैं—*

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

चित्तस्य देशबन्धः= (बाहर या शरीरके भीतर कहीं भी) किसी एक देशमें चित्तको ठहराना; **धारणा**=धारणा है।

व्याख्या—नाभिचक्र, हृदय-कमल आदि शरीरके भीतरी देश हैं और आकाश या सूर्य-चन्द्रमा आदि देवता या कोई भी मूर्ति तथा कोई भी पदार्थ बाहरके देश हैं, उनमेंसे किसी एक देशमें चित्तकी वृत्तिको लगानेका नाम 'धारणा' है॥ १॥

सम्बन्ध—*ध्यानका स्वरूप बतलाते हैं—*

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्॥ २॥

तत्र= (जहाँ चित्तको लगाया जाय) उसीमें; **प्रत्ययैकतानता**=वृत्तिका एकतार चलना, **ध्यानम्**=ध्यान है।

व्याख्या—जिस ध्येय वस्तुमें चित्तको लगाया जाय, उसीमें चित्तका एकाग्र हो जाना अर्थात् केवल ध्येयमात्रकी एक ही तरहकी वृत्तिका प्रवाह चलना, उसके बीचमें किसी भी दूसरी वृत्तिका न उठना 'ध्यान' है॥ २॥

****

सम्बन्ध—*समाधिका स्वरूप बतलाते हैं*—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

अर्थमात्रनिर्भासम्=जब (ध्यानमें) केवल ध्येयमात्रकी ही प्रतीति होती है और; **स्वरूपशून्यमिव**=चित्तका निज स्वरूप शून्य-सा हो जाता है, तब; **तदेव**=वही (ध्यान ही); **समाधिः**=समाधि हो जाता है।

व्याख्या—ध्यान करते-करते जब चित्त ध्येयाकारमें परिणत हो जाता है, उसके अपने स्वरूपका अभाव-सा हो जाता है, उसको ध्येयसे भिन्न उपलब्धि नहीं होती, उस समय उस ध्यानका ही नाम 'समाधि' हो जाता है। यह लक्षण निर्वितर्क समापत्तिके नामसे पहले पादमें किया गया है (योग० १। ४३) ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—*उक्त तीनों साधनोंका सांकेतिक नाम बतलाते हैं*—

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

एकत्र=किसी एक ध्येय-विषयमें; **त्रयम्**=तीनोंका होना; **संयमः**=संयम है।

व्याख्या—किसी एक ध्येय पदार्थमें धारणा, ध्यान और समाधि—ये तीनों होनेसे 'संयम' कहलाता है। अतः इस ग्रन्थमें जहाँ-तहाँ किसी विषयमें संयम करनेको कहा जाय या संयमका फल बतलाया जाय तो संयमके नामसे किसी एक ध्येयमें तीनोंका होना समझ लेना चाहिये ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—*संयमकी सिद्धिका फल बतलाते हैं*—

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥

तज्जयात्=उसको जीत लेनेसे; **प्रज्ञालोकः**=बुद्धिका प्रकाश होता है।

व्याख्या—साधन करते-करते जब योगी संयमपर विजय प्राप्त कर लेता है, अर्थात् चित्तमें ऐसी योग्यता प्राप्त कर लेता है कि जिस विषयमें वह संयम करना चाहे, उसीमें तत्काल संयम हो जाता है, उस समय योगीको बुद्धिका प्रकाश प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसकी बुद्धिमें अलौकिक ज्ञानशक्ति आ जाती है। इसीको प्रथम पादमें अध्यात्मप्रसादके और ऋतम्भरा प्रज्ञाके नामसे कहा है (योग० १। ४७-४८) ॥ ५ ॥

****

सम्बन्ध—*संयमके प्रयोगकी विधिका वर्णन करते हैं*—

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

तस्य=उस (संयम) का (क्रमसे); **भूमिषु**=भूमियोंमें; **विनियोगः**=विनियोग (करना चाहिये)।

व्याख्या—संयमका प्रयोग क्रमसे करना चाहिये अर्थात् पहले स्थूल विषयमें संयम करना चाहिये। वह स्थिर हो जानेपर सूक्ष्म विषयोंमें क्रमसे संयम करना चाहिये। इसी प्रकार जिस-जिस स्थलमें संयम स्थिर होता जाय, उस-उससे आगे बढ़ते रहना चाहिये॥ ६॥

सम्बन्ध—*उक्त तीनों साधनोंकी विशेषता बतलाते हैं*—

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

पूर्वेभ्यः=पहले कहे हुओंकी अपेक्षा; **त्रयम्**=ये तीनों (साधन); **अन्तरङ्गम्**=अन्तरङ्ग हैं।

व्याख्या—इसके पहले अर्थात् दूसरे पादमें जो योगके यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—ये पाँच अङ्ग बतलाये गये हैं, उनकी अपेक्षा उपर्युक्त धारणा, ध्यान और समाधि—ये तीनों साधन अन्तरङ्ग हैं; क्योंकि इन तीनोंका योग-सिद्धिके साथ निकटतम सम्बन्ध है॥ ७॥

सम्बन्ध—*निर्बीज समाधिकी विशेषताका वर्णन करते हैं*—

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

तदपि=वे (ऊपर कहे हुए धारणा आदि तीनों) भी; **निर्बीजस्य**=निर्बीज समाधिके; **बहिरङ्गम्**=बहिरङ्ग (साधन) हैं।

व्याख्या—पर-वैराग्यकी दृढ़तासे जब समाधिप्रज्ञाके संस्कारोंका भी निरोध हो जाता है, तब निर्बीज समाधि सिद्ध होती है (योग० १। ५१)। अतः धारणा, ध्यान और समाधि भी उसके अन्तरङ्ग साधन नहीं हो सकते; क्योंकि उसमें सब प्रकारकी वृत्तियोंका अभाव किया जाता है (योग० १। १८);

किसी भी ध्येयमें चित्तको स्थिर करनेका अभ्यास नहीं किया जाता ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—गुणोंका स्वभाव चञ्चल है, उनमें प्रतिक्षण परिणाम होता रहता है। चित्त गुणोंका ही कार्य है, अतः वह भी कभी एक अवस्थामें नहीं रह सकता। अतः निरोध-समाधिके समय उसका कैसा परिणाम होता है, यह बतलानेके लिये कहते हैं—

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षण-चित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोः अभिभवप्रादुर्भावौ=व्युत्थान-अवस्थाके संस्कारोंका दब जाना और निरोध-अवस्थाके संस्कारोंका प्रकट हो जाना—यह; **निरोधक्षणचित्तान्वयः**=निरोधकालमें चित्तका निरोध-संस्कारानुगत होना; **निरोधपरिणामः**=निरोधपरिणाम है।

व्याख्या—निरोधसमाधिमें चित्तकी सम्पूर्ण वृत्तियोंका अभाव हो जानेपर भी उनके संस्कारोंका नाश नहीं होता। उस कालमें केवल संस्कार ही शेष रहते हैं, यह बात पहले पादमें कही है (योग० १। १८)। अतः निरोधकालमें चित्त व्युत्थान और निरोध दोनों ही प्रकारके संस्कारमें व्याप्त रहता है, क्योंकि चित्त धर्मी है और संस्कार उसके धर्म हैं; धर्मी अपने धर्ममें सदैव व्याप्त रहता है यह नियम है (योग० ३। १४)। उस निरोधकालमें जो व्युत्थानके संस्कारोंका दब जाना और निरोधसंस्कारोंका प्रकट हो जाना है तथा चित्तका निरोध-संस्कारोंसे सम्बन्धित हो जाना है, यह व्युत्थानधर्मसे निरोधधर्ममें परिणत होनारूप निरोध-परिणाम है।* निरोध-समाधिकी अपेक्षा सम्प्रज्ञात-समाधि

---

* यहाँ समाधि-परिणाम और एकाग्रता-परिणामके लक्षण पहले न करके पहले निरोध-परिणामका स्वरूप बतलाया है। इसका यह कारण मालूम होता है कि आठवें सूत्रमें निरोधसमाधिका वर्णन आ गया। इसलिये पहले निरोध-परिणामका लक्षण बतलाना आवश्यक हो गया; क्योंकि पहले (योग० १। ५१ में) निरोध-समाधिका लक्षण करते हुए सब वृत्तियोंके निरोधसे निर्बीज-समाधिका होना बतलाया है। अतः उसमें परिणाम न होनेकी धारणा स्वाभाविक हो जाती है; परन्तु जबतक चित्तकी गुणोंसे भिन्न सत्ता रहती है,

भी व्युत्थान-अवस्था ही है (योग० ३।८)। अतः उसके संस्कारोंको यहाँ व्युत्थान-संस्कारोंके ही अन्तर्गत समझना चाहिये॥ ९॥

सम्बन्ध—*इसके बाद क्या होता है, सो बतलाते हैं*—

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्॥ १०॥

संस्कारात्=संस्कारबलसे; **तस्य**=उस (चित्त) की; **प्रशान्तवाहिता**=प्रशान्तवाहिता (स्थिति) होती है।

व्याख्या—'पहले सूत्रके कथनानुसार जब व्युत्थानके संस्कार सर्वथा दब जाते हैं और निरोधके संस्कार बढ़कर भरपूर हो जाते हैं, उस समय उस संस्कारमात्र शेष चित्तमें निरोध-संस्कारोंकी अधिकतासे केवल निर्मल निरोध-संस्कारधारा चलती रहती है अर्थात् केवल निरोध-संस्कारोंका ही प्रवाह चलता रहता है। यह निरुद्ध चित्तका अवस्था-परिणाम है॥ १०॥

सम्बन्ध—*अब सम्प्रज्ञात-समाधिमें चित्तका जैसा परिणाम होता है, उसका वर्णन करते हैं*—

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः॥ ११॥

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ=सब प्रकारके विषयोंका चिन्तन करनेकी वृत्तिका क्षय हो जाना और किसी एक ही ध्येय विषयको चिन्तन करनेवाली एकाग्रता-अवस्थाका उदय हो जाना—यह; **चित्तस्य**=चित्तका; **समाधि-परिणामः**=समाधि-परिणाम है।

व्याख्या—निरोध-समाधिके पहले जब योगीका सम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है, उस समय चित्तकी विक्षिप्तावस्थाका क्षय होकर एकाग्र-अवस्थाका उदय हो जाता है। निर्वितर्क और निर्विचार सम्प्रज्ञात-समाधिमें केवल ध्येयमात्रका ही ज्ञान रहता है, चित्तके निज स्वरूपतकका भान नहीं रहता

वह अपने कारणमें विलीन नहीं हो जाता, तबतक उसमें परिणामी होना अनिवार्य है। इसलिये निरोध-परिणाम किस प्रकार होता है, यह जाननेकी इच्छा स्वाभाविक हो जाती है।

(योग० १।४३); वह चित्तका विक्षिप्तावस्थासे एकाग्र-अवस्थामें परिणत हो जानारूप समाधि-परिणाम है॥ ११॥

सम्बन्ध—*उसके बादकी स्थितिका वर्णन करते हैं।*

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता-परिणामः॥ १२॥

ततः=उसके बाद; **पुनः**=फिर जब; **शान्तोदितौ**=शान्त होनेवाली और उदय होनेवाली; **तुल्यप्रत्ययौ**=दोनों ही वृत्तियाँ एक-सी हो जाती हैं, तब वह; **चित्तस्य**=चित्तका; **एकाग्रतापरिणामः**=एकाग्रता-परिणाम है।

व्याख्या—जब चित्त विक्षिप्त-अवस्थासे एकाग्र-अवस्थामें प्रवेश करता है, उस समय चित्तका जो परिणाम होता है उसका नाम समाधि-परिणाम है। जब चित्त भलीभाँति समाहित हो चुकता है, उसके बाद जो चित्तमें परिणाम होता रहता है, उसे एकाग्रता-परिणाम कहते हैं। उसमें शान्त होनेवाली वृत्ति और उदय होनेवाली वृत्ति एक-सी ही होती है।

पहले कहे हुए समाधि-परिणाममें तो शान्त होनेवाली और उदय होनेवाली वृत्तिमें भेद होता है, किन्तु इसमें शान्त होनेवाली और उदय होनेवाली वृत्तिमें भेद नहीं होता, यही समाधि-परिणाममें और एकाग्रता-परिणाममें अन्तर है। सम्प्रज्ञात-समाधिकी प्रथम अवस्थामें समाधि-परिणाम होता है और उसकी परिपक्व-अवस्थामें एकाग्रता-परिणाम होता है। इस एकाग्रता-परिणामके समय होनेवाली स्थितिको ही पहले पादमें निर्विचार-समाधिकी निर्मलताके नामसे कहा है (योग० १।४७)॥ १२॥

सम्बन्ध—*उपर्युक्त परिणामोंके नाम बतलाते हुए उनके उदाहरणसे अन्य समस्त वस्तुओंमें होनेवाले परिणामोंकी व्याख्या करते हैं—*

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः॥ १३॥

एतेन=(ऊपर जो चित्तके परिणाम बतला चुके हैं) इसीसे; **भूतेन्द्रियेषु**=पाँचों भूतोंमें और सब इन्द्रियोंमें होनेवाले; **धर्मलक्षणावस्था-परिणामाः**=धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम—(ये तीनों परिणाम); **व्याख्याताः**=कहे जा चुके।

व्याख्या—पहले नवें और दसवें सूत्रमें तो निरोध-समाधिके समय होनेवाले चित्तके धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणामका वर्णन किया गया है तथा ग्यारहवें और बारहवें सूत्रमें सम्प्रज्ञात-समाधिके समय होनेवाले चित्तके धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणामका वर्णन किया गया है। इसी तरह संसारकी समस्त वस्तुओंमें ये परिणाम बराबर होते रहते हैं; क्योंकि तीनों ही गुण परिणामी हैं, अतः उनके कार्योंमें परिवर्तन होते रहना अनिवार्य है। इसलिये इस सूत्रमें यह बात कही गयी है कि ऊपरके वर्णनसे ही पाँचों भूतोंमें और समस्त इन्द्रियोंमें होनेवाले धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणामोंको समझ लेना चाहिये। इनका भेद उदाहरणसहित समझाया जाता है।

यह ध्यानमें रखना चाहिये कि सांख्य और योगके सिद्धान्तमें कोई भी पदार्थ बिना हुए उत्पन्न नहीं होता। जो कुछ वस्तु उत्पन्न होती है, वह उत्पन्न होनेसे पहले भी अपने कारणमें विद्यमान थी और लुप्त होनेके बाद भी विद्यमान है (योग० ४। १२)।

(१) धर्म-परिणाम—जब किसी धर्मीमें एक धर्मका लय होकर दूसरे धर्मका उदय होता है, उसे 'धर्म-परिणाम' कहते हैं। जैसे नवें सूत्रमें चित्तरूप धर्मीके व्युत्थानसंस्काररूप धर्मका दब जाना और निरोधसंस्काररूप धर्मका प्रकट होना बतलाया गया है। यही धर्मोंमें विद्यमान रहनेवाले चित्तरूप धर्मीका धर्म-परिणाम है। इसी प्रकार ग्यारहवें सूत्रमें जो सर्वार्थतारूप धर्मका क्षय और एकाग्रतारूप धर्मका उदय बतलाया गया है, यह भी चित्तरूप धर्मीका धर्म-परिणाम है। इसी तरह मिट्टीमें पिण्डरूप धर्मका क्षय और घटरूप धर्मका

उदय होना, फिर घटरूप धर्मका क्षय और ठीकरी (फूटे हुए घटके टुकड़े) रूप धर्मका उदय होना—सब प्रकारके धर्मोंमें विद्यमान रहनेवाले मिट्टीरूप धर्मीका धर्म-परिणाम है। इसी तरह अन्य समस्त वस्तुओंमें भी समझ लेना चाहिये।

(२) लक्षण-परिणाम—यह परिणाम भी धर्म-परिणामके साथ-साथ हो जाता है। यह लक्षण-परिणाम धर्ममें होता है (योग० ४। १२)। वर्तमान धर्मका लुप्त हो जाना उसका अतीत लक्षण-परिणाम है, अनागत धर्मका प्रकट होना उसका वर्तमान लक्षण-परिणाम है और प्रकट होनेसे पहले वह अनागत लक्षणवाला रहता है। इन तीनोंको धर्मका 'लक्षण-परिणाम' कहते हैं। ग्यारहवें सूत्रमें जो चित्तके सर्वार्थता-धर्मका क्षय होना बतलाया गया है, वह उसका अतीत लक्षण-परिणाम है और जो एकाग्रतारूप धर्मका उदय होना बतलाया है, वह उसका वर्तमान लक्षण-परिणाम है। उदय होनेसे पहले वह अनागत लक्षण-परिणाममें था। इसी प्रकार दूसरी वस्तुओंके परिणामोंके विषयमें भी समझ लेना चाहिये।

(३) अवस्था-परिणाम—जो वर्तमान लक्षणयुक्त धर्ममें नयापनसे पुरानापन आता-जाता है, वह प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है और वर्तमान लक्षणको छोड़कर अतीत लक्षणमें चला जाता है, यह लक्षणका 'अवस्था-परिणाम' है। एकादश सूत्रके वर्णनानुसार जब चित्तरूप धर्मीका वर्तमान लक्षणवाला सर्वार्थतारूप धर्म दबकर अतीत लक्षणको प्राप्त होता है, उस वर्तमान कालमें जो उसके दबनेका क्रम है वह उसका अवस्था-परिणाम है और जो एकाग्रतारूप धर्म अनागत लक्षणसे वर्तमान लक्षणमें आता है तब उसका जो उदय होनेका क्रम है, वह भी अवस्था-परिणाम है। दसवें सूत्रमें निरुद्ध चित्तके अवस्था-परिणामका और बारहवेंमें एकाग्रचित्तके अवस्था-परिणामका वर्णन है। इस प्रकार यह एक अवस्थाको छोड़कर दूसरी अवस्थामें परिवर्तन होते जाना ही अवस्था-परिणाम है। यह अवस्था-परिणाम

प्रतिक्षण होता रहता है। कोई भी त्रिगुणमय वस्तु क्षणभर भी एक अवस्थामें नहीं रहती। यही बात दसवें और बारहवें सूत्रोंमें निरोधधर्मके और एकाग्रधर्मके वर्तमान लक्षण-परिणाममें एक प्रकारके संस्कार और वृत्तियोंका क्षय और उदय बतलाकर दिखलायी गयी है। हम बालकसे जवान और जवानसें बूढ़े किसी एक दिनमें या एक घड़ीमें नहीं हुए, हमारा यह अवस्था-परिणाम अर्थात् अवस्थाका परिवर्तन प्रतिक्षणमें होता हुआ ही यहाँतक पहुँचा है। इसीको अवस्था-परिणाम कहते हैं। यह परिणाम विचारद्वारा समझमें आता है, सहसा प्रतीत नहीं होता। आगे कहेंगे भी कि क्रमका ज्ञान परिणामके अवसानमें होता है (योग० ४। ३३)।

धर्मपरिणाममें तो धर्मीके धर्मका परिवर्तन होता है, लक्षण-परिणाममें पहले धर्मका अतीत हो जाना और नये धर्मका वर्तमान हो जाना—इस प्रकार धर्मका लक्षण बदलता है और अवस्था-परिणाममें धर्मके वर्तमान लक्षणसे युक्त रहते हुए ही उसकी अवस्था बदलती रहती है। पहले परिणामकी अपेक्षा दूसरा सूक्ष्म है और दूसरेकी अपेक्षा तीसरा सूक्ष्म है॥ १३॥

सम्बन्ध—धर्म और धर्मीका विवेचन करनेके लिये धर्मीका स्वरूप बतलाते हैं—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी॥ १४॥

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती=अतीत, वर्तमान और आनेवाले धर्मोंमें जो अनुगत (व्याप्त) रहता (आधाररूपमें विद्यमान रहता है) वह; **धर्मी**=धर्मी है।

व्याख्या—द्रव्यमें सदा विद्यमान रहनेवाली अनेकों शक्तियोंका नाम धर्म है और उसके आधारभूत द्रव्यका नाम धर्मी है। भाव यह है कि जिस कारणरूप पदार्थसे जो कुछ बन चुका है, जो बना हुआ है और जो बन सकता है; वे सब उसके धर्म हैं, वे एक धर्मीमें अनेक रहते हैं तथा अपने-अपने निमित्तोंके मिलनेपर प्रकट और शान्त होते रहते हैं। उनके तीन भेद इस प्रकार हैं—

(१) अव्यपदेश्य—जो धर्म धर्मीमें शक्तिरूपसे विद्यमान रहते हैं,

व्यवहारमें आने लायक न होनेके कारण जिनका निर्देश नहीं किया जा सकता, वे 'अव्यपदेश्य' कहलाते हैं। इन्हींको अनागत या आनेवाले भी कहते हैं। जैसे जलमें बर्फ और मिट्टीमें बर्तन अपना व्यापार करनेके लिये प्रकट होनेसे पहले शक्तिरूपमें छिपे रहते हैं।

(२) उदित—जो धर्म पहले शक्तिरूपसे धर्मीमें छिपे हुए थे, वे जब अपना कार्य करनेके लिये प्रकट हो जाते हैं, तब 'उदित' कहलाते हैं। इन्हींको 'वर्तमान' भी कहते हैं। जैसे जलमें शक्तिरूपसे विद्यमान बर्फका प्रकट होकर वर्तमानरूपमें आ जाना, मिट्टीमें शक्तिरूपसे विद्यमान बर्तनोंका प्रकट होकर वर्तमानरूपमें आ जाना।

(३) जो धर्म अपना व्यापार पूरा करके धर्मीमें विलीन हो जाते हैं, वे 'शान्त' कहलाते हैं, इन्हींको 'अतीत' भी कहते हैं। जैसे बर्फका गलकर जलमें विलीन हो जाना और घड़ेका फूटकर मिट्टीमें विलीन हो जाना।

धर्मोंकी शान्त, उदित और अव्यपदेश्य—इन तीनों स्थितियोंमें ही धर्मी सदा ही अनुगत रहता है। किसी कालमें धर्मीके बिना धर्म नहीं रहते॥ १४॥

सम्बन्ध—*एक ही धर्मीके भिन्न-भिन्न अनेक धर्म-परिणाम कैसे होते हैं, यह बतलाते हैं—*

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः॥ १५॥

परिणामान्यत्वे=परिणामकी भिन्नतामें; **क्रमान्यत्वम्**=क्रमकी भिन्नता; **हेतुः**=कारण है।

व्याख्या—एक ही द्रव्यका किसी एक क्रमसे जो परिणाम होता है, दूसरे क्रमसे उससे भिन्न दूसरा ही परिणाम होता है। अन्य प्रकारके क्रमसे तीसरा ही परिणाम होता है। जैसे हमें रूईसे वस्त्र बनाना है तो पहले रूईको धुनकर उसकी पूनी बनाकर चरखेपर कातकर उसका सूत बनाना पड़ेगा, फिर उस सूतका लम्बा ताना करेंगे, फिर उसे तानेमेंसे पार करके रोलपर चढ़ायेंगे, फिर 'वै' मेंसे पार करके उसके आधे तन्तुओंको ऊँपर उठायेंगे, आधोंको नीचे ले

जायँगे और बीचमें भरनीका सूत फेंककर उस धागेको यथास्थान बैठायेंगे, फिर ऊपरवाले धागोंको नीचे लायेंगे और नीचेवालोंको ऊपर ले जायँगे, इस तरह क्रमसे करते रहनेपर अन्तमें वस्त्ररूपमें रूईका परिणाम होगा। पर यदि हमें उसी रूईसे दीपककी बत्ती बनानी है तो उसे कुछ फैलाकर थोड़ा बट दे देनेसे तुरंत बन जायगी और यदि कुएँमेंसे जल निकालनेकी रस्सी बनानी है तो पहले सूत बनाकर उन धागोंको तीन या चार भागोंमें लम्बा करके बट लगानेसे रस्सी बन जायगी। इनमें भी जैसा वस्त्र या जैसी बत्ती या जिस प्रकारकी रस्सी बनानी है वैसे ही उनमें क्रमका भेद करना पड़ेगा। इसी तरह दूसरी वस्तुओंमें भी समझ लेना चाहिये।

इससे यह सिद्ध हो गया कि क्रममें परिवर्तन करनेसे एक ही धर्मी भिन्न-भिन्न नाम-रूपवाले धर्मीसे युक्त हो जाता है, उसके परिणामकी भिन्नताका कारण क्रमकी भिन्नता ही है, दूसरा कुछ नहीं। क्रमकी भिन्नता सहकारी कारणोंके सम्बन्धसे होती है। जैसे ठंडके सम्बन्धसे जलमें बर्फरूप धर्मके प्रकट होनेका क्रम चलता और गर्मीके संयोगसे स्टीम (भाप) बननेका क्रम आरम्भ हो जाता है॥ १५॥

सम्बन्ध—उक्त संयम किस ध्येय-वस्तुमें सिद्ध कर लेनेपर उससे क्या फल मिलता है; इसका वर्णन यहाँसे इस पादकी समाप्तिपर्यन्त किया गया है। इनको ही योगकी 'विभूति' अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकारका महत्त्व कहते हैं। (इन सबको समझकर योगीको चाहिये कि अपने लिये जो सबसे बढ़कर फल मालूम पड़े, उसे चुन ले।)

ऊपर तीन प्रकारके परिणामोंका वर्णन किया गया, अतः पहले इनमें संयम करनेका फल बतलाते हैं—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्॥ १६॥

परिणामत्रयसंयमात्=(उक्त) तीनों परिणामोंमें संयम करनेसे; **अतीतानागतज्ञानम्**=अतीत (भूत) और अनागत (भविष्य—होनहार) का ज्ञान (हो जाता है)।

व्याख्या—धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम—इस प्रकार जिन तीन परिणामोंका पहले वर्णन किया गया है, उन तीनों परिणामोंमें संयम अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि कर लेनेसे योगीको उनका साक्षात्कार होकर भूत और भविष्यका ज्ञान हो जाता है। अभिप्राय यह है कि जिस वर्तमान वस्तुके विषयमें योगी यह जानना चाहे कि इसका मूल कारण क्या है और यह किस ढंगसे बदलती हुई कितने कालमें वर्तमान रूपमें आयी है और भविष्यमें किस प्रकार बदलती हुई कितने कालमें किस प्रकार अपने कारणमें विलीन होगी ? तो ये सब बातें उक्त तीनों परिणामोंमें संयम करनेसे जान सकता है॥ १६॥

***सम्बन्ध**—इसी प्रकार अब दूसरी विभूतियोंका वर्णन करते हैं—*

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभाग-संयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्॥ १७॥

शब्दार्थप्रत्ययानाम्=शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनोंका; **इतरेतराध्यासात्**=जो एकमें दूसरेका अध्यास हो जानेके कारण; **संकरः**=मिश्रण हो रहा है; **तत्प्रविभागसंयमात्**=उसके विभागमें संयम करनेसे; **सर्वभूतरुतज्ञानम्**=सम्पूर्ण प्राणियोंकी वाणीका ज्ञान (हो जाता है)।

व्याख्या—वस्तुके नाम, रूप और ज्ञान—यह तीनों यद्यपि परस्पर भिन्न हैं, जैसे 'घट' यह शब्द मिट्टीसे बने हुए जिस पदार्थका संकेत करता है, उस पदार्थसे सर्वथा भिन्न वस्तु है। इसी प्रकार उस घटरूप पदार्थकी जो प्रतीति होती है, वह चित्तकी वृत्तिविशेष है। अतः वह भी घटरूप पदार्थसे सर्वथा भिन्न वस्तु है, क्योंकि शब्द वाणीका धर्म है, घटरूप पदार्थ मिट्टीका धर्म है और वृत्ति चित्तका धर्म है तथापि तीनोंका परस्पर अभ्यासके कारण मिश्रण हुआ रहता है। अतः जब योगी विचारद्वारा इनके विभागको समझकर उस विभागमें संयम कर लेता है, तब उसको समस्त प्राणियोंकी

वाणीके अर्थका ज्ञान हो जाता है * ॥ १७ ॥

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥

संस्कारसाक्षात्करणात्=(संयमद्वारा) संस्कारोंका साक्षात् कर लेनेसे; **पूर्वजातिज्ञानम्**=पूर्वजन्मका ज्ञान (हो जाता है)।

व्याख्या—प्राणी जो कुछ कर्म करता है एवं अपने इन्द्रियों और मन-बुद्धिद्वारा जो कुछ अनुभव करता है, वे सब उसके अन्तःकरणमें संस्काररूपमें संचित रहते हैं। उक्त संस्कार दो प्रकारके होते हैं—एक वासनारूप, जो कि स्मृतिके कारण हैं, दूसरे धर्माधर्मरूप जो कि जाति, आयु और भोगके कारण हैं—ये दोनों ही प्रकारके संस्कार अनेक जन्म-जन्मान्तरोंसे संगृहीत होते आ रहे हैं (योग० २।१२, ४।८ से ११)। उन संस्कारोंमें संयम करके उनको प्रत्यक्ष कर लेनेसे योगीको पूर्वजन्मका ज्ञान हो जाता है। जैसे अपने पूर्व संस्कारोंके साक्षात्कारसे अपने पूर्वजन्मका ज्ञान होता है, उसी प्रकार दूसरेके संस्कारोंमें संयम करनेसे उसके पूर्वजन्मका भी ज्ञान हो सकता है ॥ १८ ॥

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥

प्रत्ययस्य=दूसरेके चित्तका (संयमद्वारा साक्षात्कार कर लेनेसे); **परचित्तज्ञानम्**=दूसरेके चित्तका ज्ञान (हो जाता है)।

व्याख्या—श्रीविज्ञानभिक्षुका अर्थ है कि संयमद्वारा अपने चित्तकी वृत्तिका साक्षात्कार कर लेनेसे योगी संकल्पमात्रसे ही दूसरेके चित्तको जान

---

* सूत्रकारने जिस संयमका जो फल बतलाया है, उसका अनुवादमात्र मैंने कर दिया है। उस संयमका वह फल कैसे होता है और क्यों होता है—यह मेरी समझके बाहरकी बात है; क्योंकि मैं योगी नहीं हूँ और मैंने कभी किसी संयमको सिद्ध करके उसका फल प्राप्त भी नहीं किया है। इस परिस्थितिमें उसके विषयमें कुछ भी लिखना मेरी समझमें उचित नहीं है।

लेता है कि यह कुछ चिन्तन करनेमें लग रहा है या नहीं, इस समय यह प्रक्षिप्त है या मूढ़ है या प्रशान्त है इत्यादि। किंतु दूसरे टीकाकारोंने यह अर्थ स्वीकार नहीं किया है।

इस ग्रन्थमें प्रायः चित्तकी वृत्तिविशेषको या ज्ञानको ही प्रत्यय नामसे कहा गया है। किंतु यहाँ दूसरे टीकाकारोंने प्रत्ययका अर्थ चित्तवृत्ति न लेकर चित्त लिया है; क्योंकि इस सूत्रमें उसके साक्षात्कारका फल चित्तका ज्ञान कहा है और अगले सूत्रमें वृत्तिसहित ज्ञानका निषेध किया है तथा इस सूत्रमें यह स्पष्ट नहीं है कि किसके चित्तसाक्षात्कारका यह फल बतलाया गया है। किंतु फलमें 'पर' शब्दका प्रयोग देखकर साक्षात्कार भी दूसरेके ही चित्तका माना है। वास्तवमें क्या बात है, ठीक समझमें नहीं आती॥ १९॥

सम्बन्ध—*उसीको स्पष्ट करते हैं*—

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्॥ २०॥

च=किंतु; **तत्**=वह ज्ञान; **सालम्बनम्**=आलम्बनसहित; **न**=नहीं होता; **तस्य अविषयीभूतत्वात्**=क्योंकि (वैसा चित्त) योगीके चित्तका विषय नहीं है।

व्याख्या—चित्तके साक्षात्कारसे योगीको जो दूसरेके चित्तका ज्ञान होता है, वह केवल चित्तके स्वरूपमात्रका ही होता है, उस चित्तके सालम्बनका यानी उसका चित्त जिस वस्तुका चिन्तन कर रहा है, उसका ज्ञान नहीं होता, क्योंकि योगीके चित्तका विषय दूसरेका चित्त है, उसका आलम्बन नहीं॥ २०॥

सम्बन्ध—*अब दूसरी सिद्धिका वर्णन करते हैं*—

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्॥ २१॥

कायरूपसंयमात्=शरीरके रूपमें संयम कर लेनेसे; **तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे**=जब उसकी ग्राह्यशक्ति रोक ली जाती है, तब; **चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगे**=चक्षुके प्रकाशका उसके साथ सम्बन्ध न होनेके कारण; **अन्तर्धानम्**=योगी अन्तर्धान हो जाता है।

****

व्याख्या—जब योगी अपने शरीरके रूपमें संयम कर लेता है; तब वह दूसरेके देखनेमें आनेवाली शरीरकी दृश्यताशक्तिका संकल्पमात्रसे अवरोध कर सकता है; उसका अवरोध कर लेनेपर दूसरोंके नेत्रोंकी प्रकाशनशक्तिसे उसका सम्बन्ध नहीं होता, इस कारण उसे कोई नहीं देख सकता। इसका नाम अन्तर्धान है।

इसी तरह यदि योगी शब्दमें संयम कर लेता है तो उसके शब्दको कोई नहीं सुन सकता। यदि शरीरके स्पर्शमें संयम कर लेता है, तो उसे कोई छू नहीं सकता—इत्यादि सिद्धियाँ भी उपलक्षणसे समझ लेनी चाहिये॥ २१॥

सम्बन्ध—*अन्य सिद्धिका वर्णन करते हैं*—

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञान-मरिष्टेभ्यो वा॥ २२॥

सोपक्रमम्=उपक्रमसहित; **च**=और; **निरुपक्रमम्**=उपक्रमरहित—ऐसे दो प्रकारके; **कर्म**=कर्म होते हैं; **तत्संयमात्**=उनका संयम कर लेनेसे (योगीको); **अपरान्तज्ञानम्**=मृत्युका ज्ञान हो जाता है; **वा**=अथवा; **अरिष्टेभ्यः**=अरिष्टोंसे भी (मृत्युका ज्ञान हो जाता है)।

व्याख्या—जिन कर्मोंके फलस्वरूप मनुष्यकी आयुका निर्माण होता है, वे दो प्रकारके होते हैं—(१) सोपक्रम—जिनके फलका आरम्भ हो चुका है, जो कि अपना फल देनेमें लगे हुए हैं। (२) निरुपक्रम—जिसके फल-भोगका आरम्भ नहीं हुआ है। इन दोनों प्रकारके कर्मोंमें संयम करके जब मनुष्य इनको इस तरह प्रत्यक्ष कर लेता है कि कौन-कौन-से कर्म कितने अंशमें अपना फल दे चुके हैं और कौन-से कर्मोंका कितना फल-भोग बाकी है और इनकी गतिके हिसाबसे कितने कालमें दोनों प्रकारके समस्त कर्मोंकी समाप्ति हो जायगी, तब उसे अपनी मृत्युका अर्थात् शरीरनाशके समयका पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है।

इसके सिवा, अरिष्टोंसे अर्थात् बुरे चिह्नोंसे भी मृत्युका ज्ञान हो जाता है,

परंतु यह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है, अनुमान-ज्ञान है ॥ २२ ॥

मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥

मैत्री आदिषु=मैत्री आदि भावनाओंमें (संयम करनेसे) (मैत्री आदि विषयक); **बलानि**=बल मिलते हैं।

व्याख्या—पहले (योग० १। ३३ से) मैत्री, करुणा और मुदिता—इन तीन प्रकारकी भावनाओंका वर्णन है। चौथी जो उपेक्षा है, वह भावना नहीं है, भावनाका त्याग है। उनमेंसे पहली जो सुखी मनुष्योंमें मित्रताकी भावना है, उसमें संयम करनेसे योगीको मित्रताकी सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है अर्थात् वह सबका मित्र बनकर उनको सुख पहुँचानेमें समर्थ हो जाता है। दूसरी जो दुःखी मनुष्योंमें करुणाकी भावना है, उसमें संयम करनेसे योगीको करुणाबल प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसका स्वभाव परम दयालु हो जाता है और उसमें हरेक प्राणीके दुःखोंको दूर करनेकी सामर्थ्य आ जाती है। तीसरी जो पुण्यात्मा मनुष्योंमें मुदिताकी भावना है, उसमें संयम करनेसे मुदिताका बल प्राप्त हो जाता है अर्थात् वह ईर्ष्याके दोषसे सर्वथा शून्य हो जाता है और सदैव प्रसन्न रहता है। कोई भी परिस्थिति उसके मनमें किञ्चिन्मात्र भी चिन्ता, शोक या भयकी वृत्ति उत्पन्न नहीं कर सकती तथा वह दूसरोंको भी अपनी ही भाँति प्रसन्न बनानेमें समर्थ हो जाता है ॥ २३ ॥

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

बलेषु=(भिन्न-भिन्न) बलोंमें (संयम करनेसे); **हस्तिबलादीनि**=हाथी आदिके बलके सदृश (संयमके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारके) बल प्राप्त होते हैं।

व्याख्या—यदि वह हाथीके बलमें संयम करता है तो उसे हाथीके समान बल मिल जाता है। यदि गरुड़के बलमें संयम करता है तो गरुड़के समान बल मिल जाता है। यदि वायुके बलमें संयम करता है तो वायुके

समान बल मिलता है। इसी तरह जिसके बलमें संयम करता है, वैसा ही बल उसे प्राप्त हो जाता है॥ २४॥

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्॥ २५॥

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्=ज्योतिष्मती प्रवृत्तिका प्रकाश डालनेसे; **सूक्ष्म-व्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्**=सूक्ष्म व्यवधानयुक्त और दूर-देशमें स्थित वस्तुओंका ज्ञान (हो जाता है)।

व्याख्या—तीन प्रकारकी वस्तुओंका प्रत्यक्ष साधारणतया इन्द्रियोंसे नहीं हो सकता। एक तो जो वस्तु अत्यन्त सूक्ष्म होती है, जैसें परमाणु, महत्तत्त्व प्रकृति आदि; दूसरी व्यवहित अर्थात् जो किसी परदेमें छिपी हो, जैसे समुद्रमें रत्न, खानमें सुवर्ण, मणि आदि; तीसरी विप्रकृष्ट अर्थात् जो दूर-देशमें वर्तमान हो, जैसे हम आसाममें बैठे हैं और वस्तु मारवाड़में पड़ी है अथवा यों समझिये हि हम हिन्दुस्तानमें हैं और वस्तु अमेरिकामें पड़ी है। इनमें किसी भी वस्तुको जाननेके लिये जब योगी पहले पादके छत्तीसवें और सैंतालीसवें सूत्रमें तथा इस पादके पाँचवें सूत्रमें वर्णित ज्योतिष्मती अर्थात् प्रकाशवती प्रवृत्तिके प्रकाशको उसपर छोड़ता है, तब उसी समय वह योगीके प्रत्यक्ष हो जाती है॥ २५॥

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्॥ २६॥

सूर्ये=सूर्यमें; **संयमात्**=संयम करनेसे; **भुवनज्ञानम्**=समस्त लोकोंका ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—पुराणोंमें चौदहों भुवनोंका वर्णन आता है, उनमेंसे एक भूलोक है, उन चौदहों भुवनोंका ज्ञान सूर्यमें संयम करनेसे हो जाता है। व्यासभाष्यमें इन लोकोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, परंतु आध्यात्मिक साधनके लिये उपयोगी न समझकर मैंने यहाँ उनका वर्णन नहीं किया है। इनके सिवा यह बात भी है कि इनके विषयका वर्णन ठीक-ठीक समझमें भी नहीं आता॥ २६॥

****

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

चन्द्रे=चन्द्रमामें (संयम करनेसे); **ताराव्यूहज्ञानम्**=सब तारोंके व्यूह (स्थिति-विशेष) का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—चन्द्रमामें संयम करनेसे कौन तारा किस स्थानमें टिका है, इसका यथावत् ज्ञान हो जाता है॥ २७॥

सम्बन्ध—*उसके बाद*—

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

ध्रुवे=ध्रुवतारोंमें (संयम करनेसे); **तद्गतिज्ञानम्**=उन ताराओंकी गतिका ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—ध्रुवतारा निश्चल है और सब ताराओंकी गतिका उससे सम्बन्ध है, अतः उसमें संयम करनेसे समस्त ताराओंकी गतिका अर्थात् कौन तारा कितने समयमें किस राशि और नक्षत्रपर जायगा—इसका पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है॥ २८॥

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

नाभिचक्रे=नाभिचक्रमें (संयम करनेसे); **कायव्यूहज्ञानम्**=शरीरके व्यूह (उसकी स्थिति) का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—नाभिमें स्थित जो चक्र है, जिसमें शरीरकी समस्त नाड़ियाँ गुथी हुई हैं, उसमें संयम करनेसे शरीरके व्यूहका ज्ञान हो जाता है अर्थात् शरीरका संगठन किस प्रकार हुआ है, उसमें कौन-सी धातु किस प्रकार कहाँ स्थित है, इन सबका और समस्त नाड़ियोंका योगीको पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है॥ २९॥

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

कण्ठकूपे=कण्ठकूपमें (संयम करनेसे); **क्षुत्पिपासानिवृत्तिः**=भूख और प्यासकी निवृत्ति हो जाती है।

****

व्याख्या—जिह्वाके नीचे एक तन्तु है (जिसे जिह्वामूल भी कहते हैं), उसके नीचे कण्ठ है, उसके नीचे कूप (गड्ढा) है। उस कण्ठकूपमें संयम करनेसे भूख-प्यासकी बाधा मिट जाती है। इसमें यह कारण बतलाया जाता है कि उस कण्ठकूपसे प्राणवायु टकराती है, उसीसे भूख-प्यासकी बाधा होती है, उसमें संयम करनेके बाद वह नहीं होते॥ ३०॥

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्॥ ३१॥

कूर्मनाड्याम्=कूर्माकार (नाड़ीमें संयम करनेसे); **स्थैर्यम्**=स्थिरता होती है।

व्याख्या—उक्त कूपके नीचे वक्षःस्थलमें एक कछुएके आकारवाली नाड़ी है, उसमें संयम करनेसे स्थिर स्थितिकी प्राप्ति हो जाती है अर्थात् चित्त और शरीर—दोनों स्थिर हो जाते हैं॥ ३१॥

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्॥ ३२॥

मूर्धज्योतिषि=मूर्धाकी ज्योतिमें (संयम करनेसे); **सिद्धदर्शनम्**=सिद्ध पुरुषोंके दर्शन होते हैं।

व्याख्या—सिरके कपोलमें एक छिद्र है (इसीको ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं), वहाँ जो प्रकाशमयी ज्योति है, उसमें संयम करनेवालेको पृथ्वी और स्वर्गलोकके बीचमें विचरनेवाले सिद्धोंके दर्शन होते हैं॥ ३२॥

प्रातिभाद्वा सर्वम्॥ ३३॥

वा=अथवा; **प्रातिभात्**=प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होनेसे (बिना किसी संयमके ही); **सर्वम्**=(योगीको पहले कही हुई) सारी बातोंका ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—जिसका वर्णन इसी पादके ३६ वें सूत्रमें है, उसका नाम प्रातिभ ज्ञान है, यह विवेकजनित ज्ञानका पूर्णरूप है। अतः जिस प्रकार सूर्यकी प्रभासे जो कि सूर्योदयसे कुछ पहले प्रकट होता है, मनुष्य सब

वस्तुओंको देख सकता है, उसी प्रकार प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होनेसे योगी सब कुछ जान जाता है॥ ३३ ॥

हृदये चित्तसंवित्॥ ३४ ॥

हृदये=हृदयमें (संयम करनेसे); **चित्तसंवित्**=चित्तके स्वरूपका ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या—इस ब्रह्मपुर नामक हृदयदेशमें गर्त (गड्ढे) के आकारवाला कमल है, वह चित्तका स्थान है, उसमें संयम करनेसे वृत्तियोंसहित चित्तका ज्ञान हो जाता है॥ ३४ ॥

***सम्बन्ध**—चित्तके स्वरूपका ज्ञान होनेसे विवेक होते ही पुरुषके स्वरूपका ज्ञान हो जाता है। अतः अगले सूत्रमें कहते हैं—*

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्॥ ३५ ॥

सत्त्वपुरुषयोः अत्यन्तासंकीर्णयोः=सत्त्व (बुद्धि) और पुरुष जो कि दोनों परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं (किसी प्रकार भी सम्मिलित होनेवाले नहीं हैं)—इन दोनोंकी; **प्रत्ययाविशेषः**=जो प्रतीतिका अभेद है, वही; **भोगः**=भोग है, (उसमेंसे); **परार्थात् स्वार्थसंयमात्**=परार्थ-प्रतीतिसे भिन्न जो स्वार्थ-प्रतीति है, उसमें संयम करनेसे; **पुरुषज्ञानम्**=पुरुषका ज्ञान (होता है)।

व्याख्या—बुद्धि और पुरुष—दोनों सर्वथा भिन्न हैं, उनका कोई मेल नहीं है, क्योंकि बुद्धि परिणामशील, जड, भोग्य और चञ्चल है एवं पुरुष अपरिणामी, चेतन, भोक्ता और असङ्ग है। तथापि अविद्याके कारण उनकी एकता-सी हो रही है, इसीका नाम अस्मिता है (योग० २। ६)। इस एकताके कारण दोनोंका अलग-अलग ज्ञान नहीं होता, एक साथ मिला हुआ ज्ञान होता है, उस दशामें इस जड-बुद्धिमें (जो कि पुरुषकी चेतनासे चेतन-सी हो रही है) जो सुख-दुःख और मोहरूप नाना प्रकारकी वृत्तियोंका उदय होता है, वह वृत्ति

अविशेष (अभिन्न-मिश्रित) है, क्योंकि इससे चित्तके धर्म सुख-दुःख और मोह आदि चित्तमें प्रतिबिम्बित चैतन्य पुरुषमें अध्यारोपित होते हैं। यह अभेद-प्रतीति ही भोग है। यह अभेदरूप वृत्ति यद्यपि चित्तका धर्म है, परंतु पुरुषके लिये है, इस कारण परार्थ है और इसी दशामें जो इस भोगरूप वृत्तियोंसे भिन्न द्रष्टापुरुषके स्वरूपविषयक वृत्ति होती है, वह पौरुषेय वृत्ति स्वार्थ है, क्योंकि उसका विषय पुरुष है और वह है भी उसके लिये, अतः वह परार्थ नहीं है। इस स्वार्थवृत्तिमें संयम करनेसे पुरुषका ज्ञान होता है? यद्यपि ज्ञान बुद्धिका धर्म है, अतः उस बुद्धिके धर्मरूप ज्ञानसे पुरुष नहीं जाना जाता है, किन्तु बुद्धिमें जो पुरुषका चेतनरूप प्रतिबिम्बित है, उसको दर्पणमें अपना मुख देखनेकी भाँति पुरुष देखता है। इस प्रकार उक्त संयमसे योगीको पुरुषका ज्ञान होता है।*

यही प्रथम पादके इकतालीसवें सूत्रमें बतलायी हुई ग्रहीतृविषयक समाधि है। इस समाधिका ध्येय 'पुरुष' अस्मितासे सम्बन्धित होनेके कारण पहले पादके सतरहवें सूत्रमें इसको अस्मितानुगत समाधिके नामसे भी कहा है, ऐसा अनुमान किया जाता है, क्योंकि ऐसा माननेसे पूर्वापरका प्रसंग ठीक बैठ जाता है तथा ग्रहीतृविषयक समाधिका निर्विचारमें अन्तर्भाव मानना भी सुसंगत हो जाता है॥ ३५॥

सम्बन्ध—उक्त संयमसे पुरुषका ज्ञान होनेके पूर्व जो सिद्धियाँ योगीके सामने आती हैं, उनका वर्णन करते हैं—

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते॥ ३६॥

ततः=उस (स्वार्थ-संयम) से; **प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ताः**=

---

* यह विषय मैंने भाष्य और दूसरे-दूसरे टीकाकारोंका भाव लेकर लिखा है, परंतु यह तर्कसे समझमें आनेवाला विषय नहीं है। अतः अनुभवी सज्जनोंको इसपर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिये।

****

प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता—ये (छः सिद्धियाँ); **जायन्ते**=प्रकट होती हैं।

व्याख्या—ये छहों सिद्धियाँ ग्रहीतृविषयक समाधिके साधनमें लगे हुए साधकको पुरुषज्ञानके पहले प्राप्त होती हैं। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) प्रातिभ—इसका वर्णन तैंतीसवें सूत्रमें आया है। इससे भूत, भविष्य और वर्तमान एवं सूक्ष्म, ढकी हुई और दूर-देशमें स्थित वस्तुएँ प्रत्यक्ष हो जाती हैं।

(२) श्रावण—इससे दिव्य शब्द सुननेकी शक्ति आ जाती है।

(३) वेदन—इससे दिव्य स्पर्शका अनुभव करनेकी शक्ति आ जाती है।

(४) आदर्श—इससे दिव्य रूपका दर्शन करनेकी शक्ति आ जाती है।

(५) आस्वाद—इससे दिव्य रसका अनुभव करनेकी शक्ति आ जाती है।

(६) वार्ता—इससे दिव्य गन्धका अनुभव करनेकी शक्ति आ जाती है॥ ३६॥

सम्बन्ध—*इन सिद्धियोंमें वैराग्य करनेके लिये कहते हैं*—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः॥ ३७॥

ते=वे (उक्त छः प्रकारकी सिद्धियाँ); **समाधौ**=समाधिकी सिद्धिमें (पुरुषको ज्ञान प्राप्त करनेमें); **उपसर्गाः**=विघ्न हैं (और); **व्युत्थाने**=व्युत्थानमें; **सिद्धयः**=सिद्धियाँ हैं।

व्याख्या—उक्त छः प्रकारकी सिद्धियाँ साधकके सामने आयें तो इनका त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि ये उसके साधनमें विघ्नस्वरूप हैं। हाँ, जिसका चित्त चञ्चल है, जो साधक नहीं है, जो समाधिकी या आत्मोद्धारकी आवश्यकता नहीं समझता है, ऐसे मनुष्यको किसी कारणसे प्राप्त हो जायँ तो उसके लिये अवश्य ही ये सिद्धियाँ हैं॥ ३७॥

सम्बन्ध—*यहाँतक नाना प्रकारके संयमोंसे जो भिन्न-भिन्न ज्ञान होते हैं, उनका*

****

वर्णन पुरुषके ज्ञानपर्यन्त किया गया, अब भिन्न-भिन्न संयमोंसे जो भिन्न-भिन्न प्रकारकी क्रियाशक्तियाँ उपलब्ध होती हैं, उनका वर्णन अगले सूत्रोंमें किया जाता है—

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

बन्धकारणशैथिल्यात्=बन्धनके कारण (कर्म) की शिथिलतासे; **च**=और; **प्रचारसंवेदनात्**=चित्तकी गतिका भलीभाँति ज्ञान होनेसे; **चित्तस्य**=चित्तका; **परशरीरावेशः**=दूसरेके शरीरमें प्रवेश (किया जा सकता है)।

व्याख्या—चित्तके बन्धनका कारण कर्म-संस्कार है; कर्मोंका फल भुगतानेके लिये ही यह चित्त किसी एक शरीरमें बँधे रहनेके लिये बाध्य हो जाता है। उक्त बन्धनके कारणरूप कर्मसंस्कारोंको जब मनुष्य समाधिके अभ्यासद्वारा शिथिल करके चित्तको स्वच्छ बना लेता है और साथ ही जिन-जिन मार्गोंद्वारा चित्त शरीरमें विचरता है (जाता-आता है), उन मार्गोंको और चित्तकी गतिको भी भलीभाँति जान लेता है; तब उसमें यह सामर्थ्य आ जाती है कि वह अपने चित्तको शरीरसे बाहर करके दूसरेके (मृत या जीवित) किसी भी शरीरमें प्रविष्ट कर सकता है। चित्तके साथ-साथ इन्द्रियाँ भी जहाँ चित्त जाता है, वहाँ अपने-आप चली जाती हैं॥ ३८॥

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

उदानजयात्=उदान वायुको जीत लेनेसे; **जलपङ्ककण्टकादिषु**=जल, कीचड़, कण्टकादिसे; **असङ्गः**=उसके शरीरका संयोग नहीं होता; **च**=और; **उत्क्रान्तिः**=ऊर्ध्वगति भी होती है।

व्याख्या—शरीरके जीवनका आधार प्राण है, क्रियाभेदसे उसके प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान—ये पाँच नाम हैं। उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) प्राण—यह इन पाँचोंमें प्रधान है, इसकी गति मुख और

नासिकाद्वारा होती है। नासिकाके अग्रभागसे लेकर हृदयतक शरीरमें इसका देश है।

(२) अपान—यह नीचेकी ओर गमन करनेवाला है, नाभिसे लेकर पादतलतक इसका देश है। मूत्र, विष्ठा और गर्भ आदि इसीके वेगसे नीचे उतरते हैं।

(३) समान—हृदयसे लेकर नाभितक इसका देश है, खान-पानके रसको समस्त शरीरमें यथायोग्य पहुँचा देना इसका काम है, इसकी गति सम है।

(४) व्यान—यह समस्त शरीरमें व्याप्त रहता हुआ ही समस्त नाड़ियोंमें विचरता है।

(५) उदान—यह ऊपरकी ओर गमन करनेवाला है; कण्ठमें रहनेवाला और सिरतक गमन करनेवाला है। मृत्युके समय इसीके सहारे सूक्ष्म शरीरका गमन होता है। यह विषय प्रश्नोपनिषद् (३। ५ से ७) में देखना चाहिये।

जब योगी उक्त उदानवायुपर विजय प्राप्त कर लेता है, तब उसका शरीर धुनी हुई रूईकी भाँति अत्यन्त हलका हो जाता है, अतः पानी और कीचड़पर चलते हुए भी उसके पैर अन्दर नहीं जाते, काँटे आदि भी उसके शरीरमें प्रविष्ट नहीं हो सकते। इसके सिवा मरण-कालमें उसके प्राण ब्रह्मरन्ध्र (मूर्धाके छिद्र) द्वारा निकलते हैं; इस कारण ऐसे योगीकी शुक्लमार्गसे गति होती है। उपनिषदोंमें भी उक्त ऊर्ध्वगतिका वर्णन आया है (देखिये कठ० २। ३। १६) ॥ ३९ ॥

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

समानजयात्= (संयमद्वारा) समानवायुको जीत लेनेसे; **ज्वलनम्**= (योगीका शरीर) दीप्तिमान् हो जाता है।

व्याख्या—जब योगी संयमके द्वारा उपर्युक्त समानवायुको जीत लेता है, तब उसका शरीर अग्निके सदृश प्रज्वलित यानी अत्यन्त देदीप्यमान (प्रकाशयुक्त) हो जाता है; क्योंकि जठराग्नि और समानवायुका घनिष्ठ

सम्बन्ध है, अतः समानवायुको जीत लेनेपर योगी अपने शरीरमें रहनेवाले जठराग्निके आवरणको हटाकर अग्निके सदृश प्रकाशमान हो सकता है ॥ ४० ॥

सम्बन्ध—*पहले छत्तीसवें सूत्रमें जो छः सिद्धियाँ बतलायी गयी हैं, उनमेंसे श्रावण नामकी सिद्धिका साधन बतलाते हैं—*

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

श्रोत्राकाशयोः=श्रोत्र (कान) और आकाशके; **सम्बन्धसंयमात्**= सम्बन्धमें संयम कर लेनेसे (योगीके); **श्रोत्रम्**=श्रोत्र; **दिव्यम्**=दिव्य हो जाते हैं।

व्याख्या—शब्दको ग्रहण करनेवाली श्रोत्र-इन्द्रिय अहंकारसे उत्पन्न हुई है और आकाशकी उत्पत्ति अहंकारजनित शब्दतन्मात्रासे हुई है, अतः आकाश, शब्द और श्रोत्र-इन्द्रिय—इन तीनोंकी एकता है। इस श्रोत्र और आकाशके सम्बन्धको जब योगी संयमद्वारा प्रत्यक्ष कर लेता है तब उसकी श्रोत्र-इन्द्रियमें दिव्य शक्ति आ जाती है। फिर वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म शब्दको सुन सकता है तथा किसी वस्तुसे ढके हुए शब्दको भी सुन सकता है और जो शब्द कहीं दूर-देशमें बोला जाय, उसे भी सुन सकता है, क्योंकि आकाश विभु अर्थात् सर्वव्यापी है, इस कारण उसके अन्दर कहीं भी होनेवाला शब्द तत्काल ही सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। अतः जिसकी श्रोत्र-इन्द्रिय दिव्य यानी अलौकिक हो जाती है, वह चाहे जिस शब्दको, जहाँपर वह हो वहीं सुन सकता है ॥ ४१ ॥

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाश-गमनम् ॥ ४२ ॥

कायाकाशयोः=शरीर और आकाशके; **सम्बन्धसंयमात्**=सम्बन्धमें संयम करनेसे; **च**=और; **लघुतूलसमापत्तेः**=हलकी वस्तु (रूई आदि) में संयम करनेसे; **आकाशगमनम्**=आकाशमें चलनेकी शक्ति आ जाती है।

****

व्याख्या—शरीर और आकाशका जो सम्बन्ध है; उसे संयमद्वारा पूर्णतया प्रत्यक्ष कर लेनेपर योगी इस तत्त्वको भलीभाँति समझ लेता है कि शरीरके अङ्ग किस प्रकार सूक्ष्म-अवस्थासे स्थूल-अवस्थामें परिणत होते हैं और किस प्रकार पुनः स्थूलसे सूक्ष्म किये जा सकते हैं। अतः वह अपने शरीरको अत्यन्त हलका बनाकर आकाशमें गमन कर सकता है। इसी तरह योगी जब किसी भी सूक्ष्म (धुनी हुई रूई या बादल आदि) वस्तुमें संयम करके तद्रूप हो जाता है, तब उससे भी उसको आकाशगमनकी योग्यता मिल जाती है॥ ४२॥

***सम्बन्ध**—अब ज्ञानके आवरणका नाश जिस उपायसे किया जा सकता है; वह बतलाते हैं—*

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः॥ ४३॥

बहिरकल्पिता=शरीरके बाहर अकल्पित; **वृत्तिः**=स्थितिका नाम; **महाविदेहा**=महाविदेहा है; **ततः**=उस; **प्रकाशावरणक्षयः**=बुद्धिकी ज्ञानशक्तिके आवरणका क्षय हो जाता है।

व्याख्या—शरीरके बाहर जो मनकी स्थिति है, उसको विदेह-धारणा कहते हैं, वह जब मनके शरीरमें रहते हुए ही केवल भावनामात्रसे होती है, तब तो कल्पित है और जब शरीरसे सम्बन्ध छोड़कर बाहर निकले हुए मनकी बाहर स्थिति हो जाती है, तब अकल्पित होती है। कल्पित धारणाके अभ्याससे ही अकल्पित धारणा सिद्ध होती है। इसीको महाविदेहा कहते हैं, इससे योगीके ज्ञानका आवरण नष्ट हो जाता है। यह धारणा इन्द्रिय और मनकी स्वरूपावस्थामें संयम करनेसे होती है (योग० ३।४८)॥ ४३॥

***सम्बन्ध**—यहाँतक नाना प्रकारके संयमोंका फलसहित वर्णन किया, अब जो पहले पादके इकतालीसवें सूत्रमें ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीतामें की जानेवाली सबीज-समाधिके लक्षण बतलाये गये थे, उनका फल बतलानेके लिये पहले पाँच भूतोंमें और तज्जनित पदार्थोंमें की जानेवाली ग्राह्यविषयक समाधिका फल बतलाते हैं—*

****

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥ ४४ ॥

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमात्=(भूतोंकी) स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय, अर्थवत्त्व—इन पाँच प्रकारकी अवस्थाओंमें संयम करनेसे (योगीको); **भूतजयः**=पाँचों भूतोंपर विजय प्राप्त हो जाती है।

व्याख्या—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच भूत हैं। इनमेंसे हरेककी पाँच अवस्थाएँ होती हैं। जैसे—

(१) स्थूलावस्था—जिस रूपमें हम इनको अपनी इन्द्रियोंद्वारा अनुभव कर रहे हैं, जिनको गीतामें इन्द्रियगोचर नाम दिया है (१३।५), वे इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेवाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध नामवाले पाँचों विषय इनकी स्थूल अवस्था है।

(२) स्वरूपावस्था—इनके जो लक्षण हैं, वह इनकी स्वरूपावस्था है। जैसे पृथ्वीकी मूर्ति, जलका गीलापन, अग्निकी उष्णता और प्रकाश, वायुकी गति और कम्पन, आकाशका अवकाश—यह इनकी स्वरूपावस्था है, क्योंकि इन्हींसे इनके भिन्न-भिन्न सत्ताका अनुभव होता है।

(३) सूक्ष्मावस्था—इनकी जो कारण-अवस्था है, जिनको तन्मात्रा और सूक्ष्म महाभूत भी कहते हैं, वे इनकी सूक्ष्म-अवस्था हैं।

जैसे पृथ्वीकी गन्धतन्मात्रा, जलकी रसतन्मात्रा, अग्निकी रूपतन्मात्रा, वायुकी स्पर्शतन्मात्रा और आकाशकी शब्दतन्मात्रा।

(४) अन्वय-अवस्था—पाँचों भूतोंमें जो तीनों गुणोंका स्वभाव यानी प्रकाश, क्रिया और स्थिति व्याप्त है, वह इनकी अन्वय-अवस्था है।

(५) अर्थवत्त्व-अवस्था—ये पाँचों भूत पुरुषके भोग और अपवर्गके लिये हैं। यही इनकी अर्थवत्त्व (प्रयोजनता) अवस्था है।

इन पाँचों भूतोंको प्रत्येक अवस्थाके क्रमसे सम्पूर्ण अवस्थाओंमें भलीभाँति संयम करके जब योगी इनको प्रत्यक्ष कर लेता है, तब योगीका इन भूतोंपर पूरा अधिकार हो जाता है॥ ४४॥

****

सम्बन्ध—*इस प्रकार जब योगी भूतोंपर विजय प्राप्त कर लेता है, तब क्या होता है ? सो बतलाते हैं*—

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

ततः=उस (भूतजय) से; **अणिमादिप्रादुर्भावः**=अणिमादि आठ सिद्धियोंका प्रकट हो जाना; **कायसम्पत्**=कायसम्पत्की प्राप्ति; **च**=और; **तद्धर्मानभिघातः**=उन भूतोंके धर्मोंसे बाधा न होना—(ये तीनों होते हैं)।

व्याख्या—(क) ऊपर बतलायी हुई अणिमादि आठ सिद्धियोंके नाम और लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) अणिमा—अणुके समान सूक्ष्म रूप धारण कर लेना, जैसे हनुमान्‌जीने सुरसाके मुखमें एवं लङ्कामें प्रवेश करते समय किया था (वा० रामायण, सुन्दर० १।१५६, २।४७)।

(२) लघिमा—शरीरको हलका कर देना। इससे जल, पङ्क और कण्टकादिसे बाधा नहीं होती (योग० ३।३९) और आकाशमें गमन करनेकी शक्ति आ जाती है (योग० ३।४२)।

(३) महिमा—शरीरको बड़ा कर लेना। जैसे हनुमान्‌जीने सुरसाके सामने किया था (वा० रामायण, सुन्दर० १।१५४)।

(४) गरिमा—शरीरको भारी कर लेना। जैसे हनुमान्‌जीने भीमसेनके मार्गमें रुकावट डालते समय किया था (महा०, वन० १४६-१४७ वाँ अध्याय)।

(५) प्राप्ति—जिस किसी इच्छित भौतिक पदार्थको संकल्पमात्रसे ही प्राप्त कर लेना।

(६) प्राकाम्य—बिना रुकावट भौतिक पदार्थ-सम्बन्धी इच्छाकी पूर्ति अनायास हो जाना।

(७) वशित्व—पाँचों भूतोंका और तज्जन्य पदार्थोंका वशमें हो जाना।

(८) ईशित्व—उन भूत और भौतिक पदार्थोंका नानारूपोंमें उत्पन्न करनेकी और उनपर शासन करनेकी सामर्थ्य।

(ख) कायसम्पत्का विवरण अगले सूत्रमें आयेगा।

(ग) भूतोंके धर्मोंसे बाधा न होना—इसका यह भाव है कि भूतोंके धर्म उस योगीके काममें बाधा नहीं डाल सकते। वह पृथ्वीके अंदर भी उसी प्रकार प्रवेश कर सकता है, जैसे हरेक मनुष्य जलमें प्रवेश कर सकता है। पृथ्वीका धर्म स्थूलभाव (कड़ापन) उसे बाधा नहीं पहुँचा सकता। उसपर यदि पत्थरोंकी वर्षा की जाय तो वे उसके शरीरमें आघात नहीं पहुँचा सकते। इसी तरह जलका गीलापन उसके शरीरको गला नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकता अर्थात् सर्दी-गर्मी, वर्षा आदि कोई भी भूतोंके धर्म उसके शरीरमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं पहुँचा सकते।

ये सब सिद्धियाँ योगीको चौवालीसवें सूत्रके कथनानुसार भूतोंकी सब अवस्थाओंपर विजय प्राप्त कर लेनेपर मिलती हैं, यह भाव है॥ ४५॥

सम्बन्ध—*उक्त कायसम्पत्की व्याख्या सूत्रकार स्वयं करते हैं—*

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्॥ ४६॥

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि=रूप, लावण्य, बल और वज्रके समान संगठन—ये; **कायसम्पत्**=शरीरकी सम्पदाएँ हैं।

व्याख्या—अत्यन्त सुन्दर आकृति, समस्त अङ्गोंमें चमक, बलकी बहुलता तथा शरीरके समस्त अङ्गोंका वज्रकी भाँति दृढ़ और परिपूर्ण हो जाना—ये चारों शरीरसम्बन्धी सम्पदा हैं॥ ४६॥

सम्बन्ध—*अब मनसहित इन्द्रियोंमें की जानेवाली ग्रहणविषयक समाधिके फलका वर्णन करते हैं—*

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः॥ ४७॥

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमात्=ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व—इन पाँचों अवस्थाओंमें संयम करनेसे; **इन्द्रियजयः**=मनसहित समस्त इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त हो जाती है।

****

व्याख्या—मनसहित इन्द्रियोंकी पाँच अवस्थाएँ हैं। उनमें क्रमसे संयम करनेसे योगीका इन्द्रियोंपर पूर्ण अधिकार हो जाता है। उनकी अवस्थाओंके पाँच भेद इस प्रकार हैं—

(१) ग्रहण—विषयोंको ग्रहण करते समय जो वृत्तिके आकारमें मनसहित इन्द्रियोंकी अवस्था है, यह उनकी ग्रहण-अवस्था है।

(२) स्वरूप—मन और इन्द्रियोंका स्वाभाविक स्वरूप, जो कि अपने-अपने स्थानमें विद्यमान रहता है और लक्षण (संकेत) से जाननेमें आता है, यह उनकी स्वरूप-अवस्था है।

(३) अस्मिता—यह मनसहित इन्द्रियोंका सूक्ष्मरूप है। इसीसे मनसहित दसों इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। यह उनकी सूक्ष्मावस्था है।

(४) अन्वय—मनसहित सब इन्द्रियोंमें जो तीनों गुणोंका स्वभाव यानी प्रकाश, क्रिया और स्थिति व्याप्त है, वह इनकी अन्वय-अवस्था है।

(५) अर्थवत्त्व—ये मनसहित सब इन्द्रियाँ पुरुषके भोग और अपवर्गके लिये हैं, यही इनकी अर्थवत्त्व-अवस्था (सार्थकता) है।

इस प्रकार जब मन और दसों इन्द्रियोंकी पाँचों अवस्थाओंमें योगी क्रमसे संयम करके भलीभाँति उनको प्रत्यक्ष कर लेता है, तब इन सबपर उसका पूरा अधिकार हो जाता है।

इन्द्रियाँ और मन—ये सभी अहंकारसे उत्पन्न हैं तथा मन और इन्द्रियोंके मेलसे पुरुष विषयोंको ग्रहण करता है या अकेले मनके द्वारा करता है। अतः यहाँ इन्द्रियजयसे मनसहित सब इन्द्रियोंपर विजय समझनी चाहिये तथा मनमें की जानेवाली और अस्मितामें की जानेवाली समाधिको भी ग्रहणमें की जानेवाली समाधिके अन्तर्गत समझना चाहिये॥ ४७॥

सम्बन्ध—*उक्त इन्द्रियजयका फल बतलाते हैं*—

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च॥ ४८॥

ततः=उस (इन्द्रियजय) से; **मनोजवित्वम्**=मनके सदृश गति;

****

विकरणभावः=शरीरके बिना भी विषयोंका अनुभव करनेकी शक्ति; **च**=और; **प्रधानजयः**=प्रकृतिपर अधिकार—ये तीनों सिद्धियाँ मिलती हैं।

व्याख्या—इन तीनों सिद्धियोंका अलग-अलग स्वरूप इस प्रकार समझना चाहिये—

(१) मनोजवित्व—स्थूल शरीर और इन्द्रियोंके सहित मनकी तरह एक क्षणमें कहीं-से-कहीं दूर-देशमें जानेकी शक्तिको मनोजवित्व अर्थात् मनके सदृश गतिकी शक्ति कहते हैं। यह ग्रहण-अवस्थामें संयमका फल है।

(२) विकरणभाव—स्थूल शरीरके बिना ही दूर-देशमें स्थित वस्तुओंको प्रत्यक्ष कर लेनेकी शक्तिको विकरणभाव कहते हैं। जब योगीकी महाविदेहा धारणा (योग० ३।४३) सिद्ध हो जाती है, उस समय भी मन और इन्द्रियोंमें यही शक्ति काम करती है, उसीसे मनुष्य दूर-देशमें स्थित पर-शरीरको प्रत्यक्ष करके उसमें प्रविष्ट होता है (योग० ३।३८); यह स्वरूपावस्थामें संयमका फल है।

(३) प्रधानजय—कार्य और कारणरूपमें स्थिर प्रकृतिके सम्पूर्ण भेदोंपर पूरा अधिकार हो जाना 'प्रधानजय' है; यह अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व-अवस्थामें संयमका फल है। यह संयम ही प्रकृतिलय कहलाता है।

ये तीनों प्रकारकी सिद्धियाँ ग्रहणविषयक समाधि सिद्ध हो जानेपर अपने-आप मिल जाती हैं॥ ४८॥

***सम्बन्ध**—अब ग्रहीतामें होनेवाली ग्रहीतृविषयक समाधिका फलसहित वर्णन करते हैं—*

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च॥ ४९॥

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य=बुद्धि और पुरुष—इन दोनोंकी भिन्नतामात्रका ही जिसमें ज्ञान रहता है, ऐसी सबीज समाधिको प्राप्त योगीका; **सर्वभावाधिष्ठातृत्वम्**=सब भावोंपर स्वामिभाव; **च**=और; **सर्वज्ञातृत्वम्**=सर्वज्ञ भाव हो जाता है।

****

व्याख्या—ग्रहीतृविषयक समाधिसे जब बुद्धिके रजोगुण और तमोगुणसम्बन्धी संस्कार सर्वथा धुलकर उसमें शुद्ध सत्त्वगुणके ही संस्कार रह जाते हैं, उस समय केवलमात्र पुरुष और प्रकृतिकी भिन्नताका अनुभव करनेवाली वृत्ति रहती है, इसीको विवेकज्ञान भी कहते हैं (योग० ३। ५४, ४। २५)। इसीको पहले स्वार्थमें संयम करनेसे होनेवाले पुरुषज्ञानके नामसे कहा है (योग० ३। ३५)। ग्रहीतृविषयक समाधिके द्वारा जब यह स्थिति प्राप्त हो जाती है, उस समय योगीको समस्त भावोंपर स्वामिभाव प्राप्त हो जाता है, अर्थात् सम्पूर्ण गुण—जो कि कार्यका आरम्भ करनेमें लगे हुए हैं और जो अनारम्भ-अवस्थामें हैं वे सब दासकी भाँति आज्ञापालन करनेके लिये सर्वभावसे उपस्थित हो जाते हैं तथा उसे भूत, वर्तमान और भविष्य-अवस्थाओंमें स्थित समस्त गुणोंका एक साथ भलीभाँति ज्ञान हो जाता है। इसीसे वह योगी सर्वज्ञ कहलाता है, इसके बादकी अवस्था धर्ममेघसमाधि है (योग० ४। २९) ॥ ४९ ॥

***सम्बन्ध**—पहले पादके सैंतालीसवें सूत्रमें कही हुई ऊँची-से-ऊँची सबीज-समाधिको और अड़तालीसवें सूत्रमें कही हुई ऋतम्भरा प्रज्ञाको भी निर्बीज-समाधिका बहिरङ्ग साधन बतलाया है; अतः उपर्युक्त सिद्धिसे भी विरक्त होनेपर निर्बीज-समाधिरूप कैवल्यकी प्राप्ति बतलाते हैं—*

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

तद्वैराग्यात् अपि=उस (उपर्युक्त सिद्धि) में भी वैराग्य होनेसे; **दोषबीजक्षये**=दोषके बीजका नाश हो जानेपर; **कैवल्यम्**=कैवल्यकी प्राप्ति होती है।

व्याख्या—ग्रहीतृविषयक समाधिमें जब यह ज्ञान हो जाता है कि बुद्धि और पुरुष—दोनों अत्यन्त भिन्न हैं, इनका संयोग अविद्याकृत है वास्तविक नहीं है, उस समय उसके सामने पूर्व सूत्रमें बतायी हुई सिद्धियोंका प्रादुर्भाव होता है। उनमें न अटककर जो योगी पुरुषको सर्वथा असङ्ग, निर्विकार, कूटस्थ, आनन्दमय और चेतन तथा समस्त गुणों और उनके कार्योंको जड, दुःखप्रद

और प्रतिक्षण बदलनेवाले समझकर सम्पूर्ण गुणोंसे और उनके कार्योंसे अत्यन्त विरक्त हो जाता है (योग० १। १६), उक्त परवैराग्यसे जब दोषोंके बीजरूप अन्तिम वृत्तिका भी सर्वथा निरोध हो जाता है, तब निर्बीजसमाधि हो जाती है। इस अवस्थामें अपनी वृत्तियोंके संस्कारोंसहित चित्त अपने कारणमें विलीन हो जाता है और पुरुषकी अपने स्वरूपमें स्थिति हो जाती है (योग० ४। ३४)। यह पुरुषका गुणोंके साथ आत्यन्तिक वियोग है; इसीको कैवल्य कहते हैं॥ ५०॥

सम्बन्ध—*जब साधक कुछ उन्नत अवस्थामें जाने लगता है, तब उसके जीवनमें नाना प्रकारके विघ्न आया करते हैं, अतः उनसे बचनेके लिये सावधान करते हैं*—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्॥ ५१॥

स्थान्युपनिमन्त्रणे=लोकपाल देवताओंके बुलानेपर; **सङ्गस्मयाकरणम्**=न तो (उनके भोगोंमें) सङ्ग (राग) करना चाहिये और न अभिमान करना चाहिये; **पुनरनिष्टप्रसङ्गात्**=क्योंकि ऐसा करनेसे पुनः अनिष्ट होना सम्भव है।

व्याख्या—जब योगीकी अच्छी स्थिति हो जाती है, उस समय बड़े-बड़े लोकपाल अधिकारी देवता और सिद्धोंके प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं, उस समय देवतालोग उसे अपने लोकोंमें भोगोंका सुख दिखाकर नाना प्रकारसे उन भोगोंकी बड़ाई करके अपने पास बुलाया करते हैं। उस समय साधकको खूब सावधान रहना चाहिये, उनके प्रलोभनमें नहीं पड़ना चाहिये। अपने मनमें बार-बार यह भाव लाना चाहिये कि जन्म-जन्मान्तरमें कर्मोंका भोग करते-करते इस मनुष्य-शरीरमें बड़े सौभाग्यसे महापुरुषोंकी और ईश्वरकी परम दयासे यह स्थिति प्राप्त हुई है, इसके सामने ये नाना प्रकारके क्षणभङ्गुर भोग अत्यन्त तुच्छ हैं। इनके प्रलोभनमें पड़कर मैं अपने-आपको कैसे संसार-समुद्रमें डुबा सकता हूँ! मैंने तो इन सबका तत्त्व भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लिया है; इनमें सुखकी गन्ध भी नहीं है। इस प्रकारकी भावना करके उनसे विरक्त हो जाना चाहिये, उनमें जरा-सा भी अपने चित्तका रागयुक्त सम्बन्ध यानी आसक्ति

नहीं होने देनी चाहिये तथा इस बातका अभिमान भी अपने मनमें नहीं आने देना चाहिये कि मैं कैसी उच्च स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ, जिसके कारण बड़े-बड़े देवतालोग भी मेरा सत्कार करते हैं और मुझे अपने लोकोंमें बुलाते हैं; क्योंकि सङ्ग और अभिमान करनेसे साधकके पुनः संसारचक्रमें फँसनेका प्रसङ्ग (मौका) आ जाता है। अतः साधकको हर समय हरेक प्रकारके विघ्नसे खूब सावधान रहना चाहिये; यह भाव है॥ ५१॥

सम्बन्ध—*विवेकज्ञानकी उत्पत्तिका दूसरा उपाय बतलाते हैं*—

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्॥ ५२॥

क्षणतत्क्रमयोः=क्षण और उसके क्रममें; **संयमात्**=संयम करनेसे; **विवेकजम्**=विवेकजनित; **ज्ञानम्**=ज्ञान उत्पन्न होता है।

व्याख्या—कालका जो छोटे-से-छोटा हिस्सा है, जिससे छोटा विभाग हो ही नहीं सकता, उसे 'क्षण' कहते हैं; उसका जो एक क्षणके बाद दूसरे क्षणके प्रकट होनेका लगातार सिलसिला है, उसका नाम क्रम है। भाव यह है कि दो क्षण एक साथ नहीं रह सकते और दोनोंके बीचमें किसी औरका व्यवधान भी नहीं है, एकके पीछे दूसरे क्षणका सिलसिला चालू रहता है, इसीको 'क्रम' कहते हैं। अतः क्षण और उसके क्रममें संयम कर लेनेसे विवेकजन्य ज्ञान उत्पन्न हो जाता है॥ ५२॥

सम्बन्ध—*उस विवेकज्ञानका लक्षण कहते हैं*—

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः॥ ५३॥

जातिलक्षणदेशैः=(जिन वस्तुओंका) जाति, लक्षण और देशभेदसे; **अन्यतानवच्छेदात्**=भेद नहीं किया जा सकता, इस कारण; **तुल्ययोः**=जो दो वस्तुएँ तुल्य (एकके सदृश) प्रतीत होती हैं, उनके भेदकी; **प्रतिपत्तिः**=उपलब्धि; **ततः**=उस (विवेकज्ञान) से होती है।

व्याख्या—वस्तुओंका विवेचन करके उनका भेद समझानेके तीन

कारण हैं—(१) वस्तुकी जाति, (२) वस्तुका लक्षण अर्थात् वर्ण, आकृति आदि, (३) उसका देश अर्थात् स्थान—इन तीनोंके भेदसे वस्तुओंकी भिन्नताका विवेचन होता है, परंतु जिन दो वस्तुओंमें इनसे भेदकी उपलब्धि नहीं हो सके, उन एक-जैसी प्रतीत होनेवाली वस्तुओंके भेदको भी जो प्रत्यक्ष करा देनेवाला है, उनका नाम विवेक-ज्ञान है ॥ ५३ ॥

सम्बन्ध—*उस विवेक-ज्ञानकी विशेषताका वर्णन करते हैं*—

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

तारकम्=जो संसार-समुद्रसे तारनेवाला है; **सर्वविषयम्**=सबको जाननेवाला है; **सर्वथाविषयम्**=सब प्रकारसे जाननेवाला है; **च**=और; **अक्रमम्**=बिना क्रमके (पूर्वापरके) जाननेवाला है; **इति**=इस प्रकार वह; **विवेकजम्**=विवेकजनित; **ज्ञानम्**=ज्ञान है।

व्याख्या—यह ज्ञान परवैराग्यको उत्पन्न करके योगीकी कैवल्य-अवस्थाका सम्पादन करनेमें हेतु है, इसलिये इसको तारक अर्थात् संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला कहा है। इसके द्वारा योगी समस्त वस्तुओंको सब प्रकारसे जान सकता है, इस कारण यह '**सर्वविषयम्**' और '**सर्वथाविषयम्**' कहलाता है। इसके द्वारा योगी हरेक वस्तुको बिना क्रमके एक साथ जान सकता है, इस कारण इसको '**अक्रमम्**' भी कहते हैं। यह ज्ञानकी अन्तिम अवस्था है, इससे ऊँची कोई स्थिति नहीं है। '**अक्रमम्**'का यह भी भाव समझना चाहिये कि यह क्रमसे रहित है, अर्थात् दूसरे ज्ञानोंकी भाँति परिवर्तनशील नहीं है। इसी ज्ञानको पहले पादके सोलहवें सूत्रमें 'पुरुष-ख्याति'के नामसे परवैराग्यका हेतु बतलाया है ॥ ५४ ॥

सम्बन्ध—*ऊपर बतलाये हुए प्रकारसे विवेकज्ञान होनेपर ही कैवल्य हो, ऐसा नियम नहीं है। इसके सिवा दूसरे प्रकारसे भी विवेकज्ञान होकर कैवल्य प्राप्त हो सकता है। अतः उसके लिये जो बात अवश्य होनी चाहिये उसका वर्णन करते हैं*—

****

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम् ॥ ५५ ॥

सत्त्वपुरुषयोः=बुद्धि और पुरुष—इन दोनोंकी; **शुद्धिसाम्ये**=जब समानभावसे शुद्धि हो जाती है, तब; **कैवल्यम्**=कैवल्य होता है।

व्याख्या—इधर बुद्धि अत्यन्त निर्मल होकर अपने कारणमें विलीन होने लग जाती है और उधर पुरुषका जो बुद्धिके साथ अज्ञानकृत सम्बन्ध है, उसका और तज्जनित मल-विक्षेप-आवरणका अभाव होनेसे पुरुष भी निर्मल हो जाता है। इस प्रकार जब दोनोंकी समभावसे शुद्धि हो जाती है, तब कैवल्य होता है; वह चाहे किसी भी निमित्तसे किसी भी प्रकारसे क्यों न हो जाय ॥ ५५ ॥

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

कैवल्यपाद—४

पहले पादमें प्रधानतासे समाधिके स्वरूपका वर्णन है, इस कारण उसे 'समाधिपाद' कहते हैं। दूसरेमें प्रधानतासे समाधिके साधनोंका वर्णन है, इस कारण उसे 'साधनपाद' कहते हैं। तीसरेमें प्रधानतासे समाधिद्वारा प्राप्त होनेवाली नाना प्रकारकी सिद्धियोंका वर्णन है, अतः उसे 'विभूतिपाद' कहते हैं। इन तीनों पादोंमें समाधिके वास्तविक फल (कैवल्य) का वर्णन प्रसङ्गानुसार हुआ है, किंतु विवेचनपूर्वक नहीं हुआ; अतः उसका अच्छी तरह वर्णन करनेके लिये यह चौथा पाद आरम्भ किया गया है, इसीलिये इसका नाम 'कैवल्यपाद' रखा गया है।

सम्बन्ध—*तीसरे पादमें जो नाना प्रकारकी सिद्धियाँ बतलायी गयी हैं, वे केवल समाधिसे ही होती हैं, ऐसी बात नहीं है, उनमें दूसरे भी निमित्त हो सकते हैं। अतः उनका वर्णन करते हैं*—

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः=जन्मसे होनेवाली, ओषधिसे होनेवाली, मन्त्रसे होनेवाली, तपसे होनेवाली और समाधिसे होनेवाली (ऐसे पाँच प्रकारकी); **सिद्धयः**=सिद्धियाँ होती हैं।

व्याख्या—शरीर, इन्द्रियों और चित्तमें परिवर्तन होनेपर जो पहलेकी अपेक्षा विलक्षण (अलौकिक) शक्तियोंका प्रादुर्भाव हो जाता है, उसको सिद्धि कहते हैं। ये सिद्धियाँ पाँच कारणोंसे होती हैं। उनके भेद इस प्रकार हैं—

(१) जन्मसे होनेवाली सिद्धि—जब प्राणी मरकर एक योनिसे दूसरी योनिमें जाता है, तब उसके प्रारब्धानुसार शरीर, इन्द्रियों और चित्तका परिवर्तन होकर, उनमें अपूर्व शक्तियोंका प्रादुर्भाव हो जाता है (योग० १।१९)। जैसे—

मनुष्ययोनिसे देवादि योनियोंकी प्राप्ति होनेसे शरीर, इन्द्रियों और चित्तमें अपूर्व शक्ति आ जाती है, इसे 'जन्मजा' सिद्धि कहते हैं। कपिल, वेदव्यास, शुकदेव आदि महर्षियोंमें कई प्रकारकी जन्मसे होनेवाली सिद्धियोंका वर्णन इतिहास और पुराणोंमें देखा जाता है। इसी तरह जन्मसे होनेवाली दूसरे प्रकारकी सिद्धियोंको भी समझ लेना चाहिये।

(२) ओषधिसे होनेवाली सिद्धि—मनुष्य जब किसी ओषधिके सेवनसे अपने शरीरका कल्प कर लेता है तब उससे भी शरीरमें अपूर्व शक्तियोंका प्रादुर्भाव हो जाता है। इसे 'ओषधिजा' सिद्धि कहते हैं। ओषधि (भौतिक पदार्थों) द्वारा किसी नेत्र आदि इन्द्रियोंमें अद्भुत शक्तिका प्रादुर्भाव भी इसीमें आ जाता है। ओषधिसे केवल मनुष्यके ही शरीर आदिका परिवर्तन होता हो, ऐसी बात नहीं है; वृक्ष, लता और पशु-पक्षी आदिमें भी अपूर्व शक्ति आ सकती है तथा विभिन्न भौतिक विकास हो सकता है।

(३) मन्त्रसे होनेवाली सिद्धि—जब मनुष्य विलक्षण सामर्थ्य प्राप्त करनेके लिये किसी मन्त्रका विधिवत् अनुष्ठान करता है, तब उससे भी शरीर, इन्द्रियों और चित्तमें विलक्षण शक्तिका प्रादुर्भाव हो जाता है, इसे 'मन्त्रजा' सिद्धि कहते हैं (योग० २।४४)। इनका वर्णन वेदोंमें और तन्त्रशास्त्रोंमें विस्तारपूर्वक है।

(४) तपसे होनेवाली सिद्धि—जब मनुष्य शास्त्रोक्त तपका विधिवत् अनुष्ठान करता है, अथवा अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये भारी-से-भारी कष्ट सहर्ष सहन करता है, परंतु धर्मका त्याग नहीं करता, तब उस तपश्चर्यासे उसके शरीर, इन्द्रियों और चित्तके समस्त मल भस्म हो जाते हैं और उनमें अपूर्व शक्तियोंका प्रादुर्भाव हो जाता है, इसे 'तपजा' सिद्धि कहते हैं (योग० २।४३)। इतिहासग्रन्थोंमें इसका बहुत जगह वर्णन है। भरद्वाज और विश्वामित्र आदि अनेक ऋषियोंने तपसे प्राप्त सिद्धियोंका प्रयोग करके भी दिखाया है।

(५) समाधिसे होनेवाली सिद्धि—धारणा, ध्यान और समाधिके अभ्याससे जो शरीर, इन्द्रियों और चित्तमें अपूर्व शक्तियोंका प्रादुर्भाव होता है इसे 'समाधिजा' सिद्धि कहते हैं। इसका वर्णन तीसरे पादमें विस्तारपूर्वक स्वयं सूत्रकारने किया ही है।

उपर्युक्त सिद्धियोंकी प्राप्तिमें जो शरीर, इन्द्रियों और चित्तका एक प्रकारसे दूसरे प्रकारमें बदल जाना है, यही परिणामान्तर है, अतः इसीको 'जाति-अन्तर-परिणाम' कहते हैं॥ १॥

सम्बन्ध—*उक्त 'जात्यन्तरपरिणाम' किस प्रकार कैसे होता है, यह बतलाते हैं—*

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्॥ २॥

जात्यन्तरपरिणामः=(यह) एक जातिसे दूसरी जातिमें बदल जानारूप जात्यन्तरपरिणाम; **प्रकृत्यापूरात्**=प्रकृतिके पूर्ण होनेसे होता है।

व्याख्या—उक्त जाति-अन्तर-परिणामरूप परिवर्तनके लिये अर्थात् उन-उन विलक्षण शक्तियोंके प्रकट होनेके लिये जिन-जिन प्रकृतियोंकी अर्थात् जिन-जिन उपादान-कारणरूप तत्त्वोंकी आवश्यकता है, उनकी पूर्तिसे शरीर, इन्द्रियों और चित्तका एक जातिसे दूसरी जातिमें परिवर्तन होता है॥ २॥

सम्बन्ध—*यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जन्म, ओषधि आदि निमित्त कारण-प्रकृतियोंकी पूर्णता कैसे कर देते हैं; क्या वे प्रकृतियोंके प्रयोजक (चलानेवाले) हैं? इसपर कहते हैं—*

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्॥ ३॥

निमित्तम्=निमित्त; **प्रकृतीनाम्**=प्रकृतियोंको; **अप्रयोजकम्**=चलानेवाला नहीं है; **ततः**=उससे; **तु**=तो (केवल); **क्षेत्रिकवत्**=किसानकी भाँति; **वरणभेदः**=रुकावटका छेदन किया जाता है।

व्याख्या—पहले बतलाये हुए जो जन्म, ओषधि आदि निमित्त कारण हैं, वे प्रकृतियोंको एक स्थानसे दूसरे स्थानमें ले जानेवाले नहीं हैं, उनका काम

तो केवल रुकावटको दूर कर देनामात्र है, उसके बाद प्रकृतियोंकी पूर्ति तो अपने-आप हो जाती है। जैसे किसान एक खेतसे दूसरे खेतमें जल ले जाता है तो केवल उसकी रुकावटको ही दूर करता है, उस जलको चलानेका काम वह नहीं करता, रुकावट दूर होनेसे जल अपने-आप एक खेतसे दूसरे खेतमें चला जाता है, उसी प्रकार पहले बतलाये हुए जन्म आदि निमित्तोंद्वारा जब रुकावट दूर हो जाती है, तब शरीर, इन्द्रियाँ और चित्त—इन सबमें परिवर्तनके लिये जिन-जिन वस्तुओंकी आवश्यकता होती है, उन-उनकी पूर्ति अपने-आप हो जाती है। रुकावट दूर होनेपर कमीको पूर्ण कर देना प्रकृतिका स्वभाव है ॥ ३ ॥

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

निर्माणचित्तानि=बनाये हुए चित्त; **अस्मितामात्रात्**=केवल अस्मितासे होते हैं।

व्याख्या—चित्तका उपादान कारण स्मिता है, अतः निमित्त यानी बनाये हुए सब चित्त केवल अस्मितासे ही उत्पन्न होते हैं ॥ ४ ॥

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ५ ॥

अनेकेषाम्=अनेक चितोंको; **प्रवृत्तिभेदे**=नाना प्रकारकी प्रवृत्तियोंमें; **प्रयोजकम्**=नियुक्त करनेवाला; **एकम्**=एक; **चित्तम्**=चित्त (होता) है।

व्याख्या—जैसे अपने शरीरमें भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंको भिन्न-भिन्न कामोंमें नियुक्त करनेवाला एक चित्त रहता है, उसी प्रकार उन बनाये हुए चित्तोंको भिन्न-भिन्न कामोंमें नियुक्त करनेवाला संचालक एक ही चित्त होता है, जो कि योगीका स्वाभाविक चित्त है* ॥ ५ ॥

---

* यहाँ चौथे और पाँचवें सूत्रका जो अर्थ भाष्यकार और टीकाकारोंने बतलाया है, उसके अनुसार छठे सूत्रकी सङ्गति ठीक नहीं बैठती, इस कारण टीकाकारोंने अगले सूत्रका सम्बन्ध प्रथम सूत्रसे जोड़ा है तथा चौथे और पाँचवें सूत्रसे जिस प्रकारसे अनेक निर्माणचित्तोंकी बात कही है, वह भी यहाँके प्रसङ्गानुकूल नहीं प्रतीत होती; अतः वास्तवमें सूत्रकारका यहाँ क्या कहना है, यह विचारणीय विषय है। मैंने तो इन सूत्रोंका केवल शब्दानुवादमात्र कर दिया है।

****

सम्बन्ध—*पहले सूत्रमें बतलाये हुए पाँच प्रकारके सिद्ध चित्तोंमेंसे समाधिद्वारा सिद्ध हुए चित्तकी विशेषताका वर्णन करते हैं—*

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

तत्र=उनमेंसे; **ध्यानजम्**=जो ध्यानजनित चित्त होता है, वह; **अनाशयम्**=कर्म-संस्कारोंसे रहित होता है।

व्याख्या—जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधि—इन पाँच कारणोंसे शरीर, इन्द्रिय और चित्तका विलक्षण परिणाम होता है—यह बात पहले कही गयी। उन पाँच प्रकारसे उत्कर्षताको प्राप्त हुए चित्तोंमेंसे जो चित्त ध्यानसे उत्पन्न होता है अर्थात् समाधिद्वारा विलक्षण शक्तिवाला होता है, वह कर्मसंस्कारोंसे रहित होता है, अतः वही कैवल्यका हेतु हो सकता है, दूसरे जन्म, औषध आदिके द्वारा विलक्षण शक्तियुक्त चित्तोंमें कर्मोंके संस्कार रहते हैं, इस कारण वे कैवल्यके हेतु नहीं हो सकते ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—*अब कर्माशयशून्य सिद्ध योगीके कर्मोंकी विलक्षणताका प्रतिपादन करते हैं—*

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

योगिनः=योगीके; **कर्म**=कर्म; **अशुक्लाकृष्णम्**=अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं (तथा); **इतरेषाम्**=दूसरोंके; **त्रिविधम्**=तीन प्रकारके होते हैं।

व्याख्या—शुक्लकर्म उन कर्मोंको कहते हैं, जिनका फल सुखभोग होता है और कृष्णकर्म उनको कहते हैं, जो नरक आदि दुःखोंके कारण हैं अर्थात् पुण्यकर्मोंका नाम शुक्लकर्म है और पापकर्मोंका नाम कृष्णकर्म है, सिद्ध योगीके कर्म किसी प्रकारका भी भोग देनेवाले नहीं होते, क्योंकि उसका चित्त कर्मसंस्कारोंसे शून्य होता है यह बात पहले कह चुके हैं, इसलिये उन कर्मोंको अशुक्ल और अकृष्ण कहते हैं। योगीके सिवा साधारण मनुष्योंके कर्म तीन प्रकारके होते हैं—(१) शुक्ल अर्थात् पुण्यकर्म, (२) कृष्ण

अर्थात् पापकर्म और (३) शुक्लकृष्ण अर्थात् पुण्य और पाप मिले हुए ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—*अब साधारण मनुष्योंके उन तीन प्रकारके कर्मोंका भोग किस प्रकार होता है, यह बतलाते हैं—*

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥ ८ ॥

ततः=उन (तीन प्रकारके कर्मों) से; **तद्विपाकानुगुणानाम्**=उनके फलभोगानुकूल; **वासनानाम्**=वासनाओंकी; **एव**=ही; **अभिव्यक्तिः**=अभिव्यक्ति (उत्पत्ति) होती है।

व्याख्या—योग-साधनोंके द्वारा जिनका चित शुद्ध नहीं हुआ है, उन साधारण मनुष्योंके कर्म संस्काररूपसे अन्तःकरणमें संगृहीत (इकट्ठे हुए) रहते हैं, अतः उन कर्मोंमेंसे जो कर्म जिस समय फल-भोग करानेके लिये तैयार होता है, उस समय उस कर्मका जैसा फल होनेवाला है, वैसी ही वासना उत्पन्न होती है, अन्य कर्मोंके फलभोगकी नहीं ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—*कर्मसंस्कार तो अनेक जन्मोंके अनन्त होते हैं, उनमें देश, काल और जन्म-जन्मान्तरका अन्तर पड़ जाता है, इस स्थितिमें वर्तमान जन्मके अनुरूप फलभोगकी वासनाएँ कैसे उत्पन्न होती हैं, इसपर कहते हैं—*

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ९ ॥

जातिदेशकालव्यवहितानाम्=जाति, देश और काल—इन तीनोंका व्यवधान रहनेपर; **अपि**=भी; **आनन्तर्यम्**=कर्मके संस्कारोंमें व्यवधान नहीं होता है; **स्मृतिसंस्कारयोः**=क्योंकि स्मृति और संस्कार दोनोंका; **एकरूपत्वात्**=एक ही स्वरूप होता है।

व्याख्या—कोई कर्म किसी एक जन्ममें किया गया है और कोई कर्म किसी दूसरे जन्ममें किया गया है, यह उन कर्मोंमें जन्मका व्यवधान है। इसी तरह भिन्न-भिन्न कर्मोंमें देश और कालका भी व्यवधान होता है। इस प्रकार

जन्म, देश और कालका व्यवधान होते हुए भी जिस कर्मका फल प्राप्त होनेवाला है; उसके अनुसार भोगवासना उत्पन्न होनेमें कोई अड़चन नहीं पड़ती, क्योंकि स्मृति और संस्कार—ये दोनों एक ही हैं। जिस कर्मफलका उत्पादक निमित्त कारण आ जाता है, वैसी ही वासना प्रकट हो जाती है। यदि किसीको उसके पूर्वजन्मके कर्मका फल भोगनेके लिये गौकी योनि मिलनेवाली है, तो उसने गौकी योनि जब कभी पायी है, उसकी वासना प्रकट हो जायगी। भाव यह कि चाहे उस जन्मके बाद दूसरे कितने ही जन्म बीत चुके हों, कितना ही समय बीत चुका हो और वह किसी भी देशमें हुआ हो, उसकी वासना स्फुरित हो जायगी। स्मृति और संस्कारोंकी एकता होनेके कारण जो फल मिलता है, उसके अनुकूल भोगवासना यानी स्मृति पैदा हो जाती है॥ ९॥

सम्बन्ध—*यहाँतक शंका होती है कि जब वासनाओंके अनुसार ही जन्म होता है और कर्मोंके अनुसार वासना होती है, तब सबसे पहले जन्म देनेवाली वासना कहाँसे आयी? इसपर कहते हैं—*

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्॥ १०॥

तासाम्=उन वासनाओंकी; **अनादित्वम्**=अनादिता है; **आशिषः नित्यत्वात्**=क्योंकि प्राणीमें (अपने) बने रहनेकी इच्छा नित्य अर्थात् अनादिकालसे; **च**=ही है।

व्याख्या—प्रत्येक प्राणीको जीवनकी इच्छा नित्य बनी रहती है, मृत्युका भय तुरंत जन्मे हुए क्षुद्र-से-क्षुद्र जीवोंमें भी देखा जाता है, इससे पूर्वजन्मकी सिद्धि होती है। उस जन्ममें भी मरणभयकी व्याप्ति होनेसे जन्म-जन्मान्तरकी परम्परा अनादि सिद्ध हो जाती है। अतएव वासनाओंका अनादित्व भी अपने-आप सिद्ध हो जाता है॥ १०॥

सम्बन्ध—*इस प्रकार यदि वासनाएँ अनादि हैं, तब तो इनका अभाव भी नहीं होता होगा, फिर पुरुषकी मुक्ति कैसे होगी? इसपर कहते हैं—*

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः॥ ११॥

****

हेतुफलाश्रयालम्बनैः=हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन, इनसे; **संगृहीतत्वात्**=वासनाओंका संग्रह होता है, इसलिये; **एषाम्**=इन (चारों) का; **अभावे**=अभाव होनेसे; **तदभावः**=उन (वासनाओं) का भी (सर्वथा) अभाव हो जाता है।

व्याख्या—वासनाओंका हेतु अविद्यादि क्लेश और उनके रहते हुए होनेवाले कर्म हैं। इनका फल पुनर्जन्म, आयु और भोग है। आश्रय चित्त है और शब्दादि विषय आलम्बन हैं। वासनाएँ इनके सम्बन्धसे ही संगृहीत हो रही हैं। जब योगसाधनोंसे इनका अभाव हो जाता है अर्थात् जब विवेकज्ञानसे अविद्याका नाश हो जाता है (योग० ४। ३०) तब कर्मोंमें फल देनेकी सामर्थ्य नहीं रहती, चित्त अपने कारणमें विलीन हो जाता है (योग० ४। ३४)। उपर्युक्त साधनोंके न रहनेसे विषयोंके साथ पुरुषका सम्बन्ध नहीं होता। इस प्रकार हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन—इन चारोंका अभाव होनेसे वासनाओंका भाव अपने-आप हो जाता है, अतः योगीका पुनर्जन्म नहीं होता॥ ११॥

सम्बन्ध—*यदि सत् वस्तुका कभी अभाव होता ही नहीं तब वासनाओंका और उनके हेतु आदिका नाश होना कैसे सम्भव है। इसपर कहते हैं—*

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्॥ १२॥

धर्माणाम्=धर्मोंमें, **अध्वभेदात्**=कालका भेद होता है, इस कारण; **अतीतानागतम्**=जो धर्म (अविद्या, वासना, चित्त और चित्तकी वृत्तियाँ आदि) अतीत हो गये हैं और जो अनागत हैं—अभी प्रकट नहीं हुए हैं, वे भी; **स्वरूपतोऽस्ति**=स्वरूपसे विद्यमान रहते हैं।

व्याख्या—वस्तुका वास्तवमें अभाव कभी नहीं होता, वस्तुके धर्म चित्त और वासना आदि कुछ अनागत स्थितिमें रहते हैं, कुछ वर्तमान स्थितिमें और कुछ अतीत स्थितिमें। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि जो वर्तमान हैं, उन्हींकी सत्ता है दूसरोंकी नहीं, क्योंकि उनका स्वरूपसे अभाव नहीं होता है।

अतीत और अनागत-अवस्थामें वे अपने कारणोंमें रहते हैं, व्यक्त नहीं रहते। यह अपने कारणमें विलीन हो जाना ही उनका नाश या अभाव है (योग० ३। १३)। योगीका उन वासनादिके साथ सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, अतः वे योगीके पुनर्जन्ममें हेतु नहीं बन सकते॥ १२॥

सम्बन्ध—*धर्मोंका असली स्वरूप क्या है? सो बतलाते हैं—*

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः॥ १३॥

ते=वे (समस्त धर्म); **व्यक्तसूक्ष्माः**=व्यक्त स्थितिमें और सूक्ष्म स्थितिमें (सदैव); **गुणात्मानः**=गुणस्वरूप ही हैं।

व्याख्या—वे धर्म जिस समय वर्तमान हैं, उस समय भी अपने कारणरूप गुणोंसे भिन्न नहीं हैं तथा जिस समय अनागत और अतीत—इन दोनों प्रकारकी सूक्ष्म स्थितिमें हैं, तब भी गुणस्वरूप ही हैं; क्योंकि गुण उन धर्मरूप समस्त भिन्न-भिन्न वस्तुओंमें धर्मी (कारण) रूपसे सदैव अनुगत रहते हैं, उनका कभी अभाव नहीं होता, अतः वास्तवमें किसी भी वस्तुकी सत्ताका अभाव नहीं है। गुणस्वरूपसे वह सदैव विद्यमान है, परन्तु परिणामशील होनेके कारण उसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है॥ १३॥

सम्बन्ध—*यदि गुणोंका कार्य होनेसे वास्तवमें सब कुछ गुणस्वरूप ही है तो फिर भिन्न-भिन्न स्वभाववाले तीनों गुणोंसे एक-एक वस्तुकी उत्पत्ति कैसे हो जाती है, हरेकसे अलग-अलग वस्तुएँ होनी चाहिये थीं? इसपर कहते हैं—*

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्॥ १४॥

परिणामैकत्वात्=परिणामकी एकतासे; **वस्तुतत्त्वम्**=वस्तुका वैसा होना सम्भव है।

व्याख्या—परन्तु भिन्न स्वभाववाले गुणोंका जब एक परिणाम होता है, सब मिल-जुलकर जब किसी एक वस्तुके रूपमें परिणत होते हैं, तब वैसा होनेमें कोई विरोध नहीं है। भिन्न-भिन्न वस्तुओंके एक परिणामसे एक

वस्तुका प्रकट होना प्रत्यक्ष देखनेमें भी आता है। जैसे पृथ्वी और जल मिलकर सूर्य और चन्द्रमाकी रश्मियोंके सम्बन्धसे वृक्षके रूपमें परिणत हो जाते हैं और उसमें फिर नाना जाति, नाना आकार और नाना व्यक्तित्वका भेद हो जाता है परन्तु वस्तुतः वे अपने धर्मियोंसे सर्वथा अभिन्न हैं, उसी प्रकार सब वस्तुएँ गुणस्वरूप ही हैं, उनसे भिन्न नहीं हैं॥ १४॥

सम्बन्ध—*जो लोग यह मानते हैं कि दृश्य कोई वस्तु नहीं है वासनाके बलसे चित्त ही दृश्यरूपमें प्रतीत होने लग जाता है, उनकी मान्यता गलत है, क्योंकि—*

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः॥ १५॥

वस्तुसाम्ये=वस्तुकी एकतामें (भी), **चित्तभेदात्**=चित्तका भेद प्रत्यक्ष है, इसलिये; **तयोः**= (चित्त और उसके द्वारा देखी जानेवाली वस्तु) इन दोनोंका; **पन्थाः**= मार्ग; **विभक्तः**=अलग-अलग है।

व्याख्या—एक ही वस्तुमें मनुष्योंके चित्तोंकी वृत्तियाँ अलग-अलग होती हैं अर्थात् अनेक चित्तोंका विषय वह एक ही वस्तु विभिन्न प्रकारसे बनती है, यह प्रत्यक्ष है। इस परिस्थितिमें यदि वस्तु किसी एक चित्तकी कल्पनामात्र मानी जाय तो वह अनेक चित्तोंका विषय नहीं बन सकती। अतः सबको उसका स्वरूप नहीं दीखना चाहिये था, परंतु ऐसा नहीं होता, वह सबको ही दीखती है। इसके सिवा यदि उसको अनेक चित्तोंकी कल्पना मानी जाय, तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि वह वस्तु भिन्न-भिन्न कालमें अनेक चित्तोंका विषय बनती हुई देखी जाती है। इस परिस्थितिमें वह कौन-से अनेक चित्तोंकी कल्पना मानी जायगी? अतएव वस्तुकी एकता और उसे विषय करनेवाले चित्तोंकी अनेकता होनेके कारण दोनों अलग-अलग पदार्थ हैं— यह मान्यता ही समीचीन है॥ १५॥

सम्बन्ध—*पुनः पूर्वपक्षका खण्डन करनेके लिये दूसरा सूत्र कहते हैं—*

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्॥ १६॥

च=इसके सिवा; **वस्तु**=दृश्य वस्तु; **एकचित्ततन्त्रम्**=किसी एक चित्तके अधीन; **न**=नहीं है (क्योंकि); **तदप्रमाणकम्**=जब वह चित्तका विषय नहीं रहेगी; **तदा**=उस समय; **किं स्यात्**=वस्तुका क्या होगा ?

व्याख्या—इसके सिवा विद्यमान दृश्य वस्तु किसी एक चित्तके अधीन नहीं है, इसलिये भी कल्पनामात्र नहीं है, क्योंकि यदि कल्पनामात्र मानी जाय तो जब वह चित्त उसको विषय करना (देखना) छोड़ दे, उस समय वह नहीं रहनी चाहिये। परंतु ऐसा नहीं होता, वस्तु वैसी-की-वैसी ही विद्यमान रहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि दीखनेवाली वस्तु किसी एक चित्तके अधीन नहीं है तथा दृश्य वस्तु चित्तसे भिन्न है और वह सच्ची है॥ १६॥

***सम्बन्ध**—यदि बाहरकी दृश्य वस्तु अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखती है तो वह कभी दीखती है और कभी नहीं दीखती, इसमें क्या कारण है इसपर कहते हैं—*

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्॥ १७॥

चित्तस्य=चित्त; **तदुपरागापेक्षित्वात्**=वस्तुके उपराग (अपनेमें उसका प्रतिबिम्ब पड़ने) की अपेक्षावाला है, इस कारण (उसके द्वारा); **वस्तु**=वस्तु; **ज्ञाताज्ञातम्**=कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होती है यह सर्वथा उचित है।

व्याख्या—इन्द्रियोंकी समीपतासे जिस पदार्थकी चित्तमें परछाईं पड़ती है, उसी वस्तुको चित्त जान सकता है, अन्य वस्तुको नहीं। उसे वस्तुका ज्ञान प्राप्त करनेमें उसके उपराम (परछाईं प्रतिबिम्ब) की अपेक्षा है। अतः जब जिस वस्तुका उसमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, यानी इन्द्रियोंके द्वारा चित्तसे जब जिस वस्तुका सम्बन्ध होता है, उस समय वह वस्तु उसके ज्ञात है और जिस समय वह उसकी वृत्तिका विषय नहीं बनती अर्थात् चित्तमें उपरञ्जित नहीं होती, उस समय अज्ञात है॥ १७॥

***सम्बन्ध**—इस प्रकार दृश्य वस्तुओंसे चित्तकी भिन्न सत्ता सिद्ध करके अब द्रष्टा पुरुषसे भी चित्तकी भिन्न सत्ता सिद्ध करते हैं—*

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्॥ १८॥

****

तत्प्रभोः=उस (चित्त) का स्वामी; **पुरुषस्य**=पुरुष; **अपरिणामित्वात्**=परिणामी नहीं है, इसलिये; **चित्तवृत्तयः**=चित्तकी वृत्तियाँ (उसे); **सदा ज्ञाताः**=सदा ज्ञात रहती हैं।

व्याख्या—चित्त तो परिणामी है, इस कारण वह बाहरकी वस्तुओंको सदा नहीं देख सकता। जब जिस वस्तुका उसके साथ सम्बन्ध होता है, तभी उसे देखता है। किंतु उस चित्तका स्वामी जो पुरुष है वह अपरिणामी है। इस कारण वह चित्तकी वृत्तियोंको सदैव देखता रहता है। जिस समय जो वृत्ति चित्तमें उत्पन्न होती है और जो शान्त होती है, वे सभी उसे विदित रहती हैं॥ १८॥

सम्बन्ध—*चित्त जिस प्रकार वस्तुका प्रकाशक है, उसी प्रकार अपना भी है। फिर चित्तसे भिन्न दूसरेको द्रष्टा माननेकी क्या आवश्यकता है। इसपर कहते हैं*—

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्॥ १९॥

तत्=वह (चित्त); **स्वाभासम्**=स्वप्रकाश (प्रकाशस्वरूप); **न**=नहीं है; **दृश्यत्वात्**=क्योंकि वह दृश्य है।

व्याख्या—चित्त दृश्य है, इसलिये जड है। वह स्वप्रकाश यानी अपने-आपको जाननेवाला—प्रकाशस्वरूप नहीं है, उसमें जो चेतनता दिखलायी देती है, जिसके कारण वह किसी अंशमें चेतन कहा जाता है, वह चेतना उसमें चेतन पुरुषका प्रतिबिम्ब पड़नेसे है। जब चित्तमें बाह्य वस्तुएँ और चेतन पुरुष—इन दोनोंका प्रतिबिम्ब पड़ता है, उस समय पुरुष चित्तकी वृत्तियोंके रूपमें तद्रूप-सा हुआ रहता है (योग० १।४) और चित्त चेतन-सा प्रतीत होने लगता है; परंतु वास्तवमें जैसे इन्द्रियाँ और शब्द आदि विषय दृश्य होनेके कारण स्वप्रकाश नहीं हैं, उसी प्रकार चित्त भी दृश्य होनेके कारण स्वप्रकाश नहीं है॥ १९॥

सम्बन्ध—*चित्तको स्वप्रकाश माननेमें दूसरा दोष दिखाते हैं*—

एकसमये चोभयानवधारणम्॥ २०॥

च=तथा; **एकसमये**=एक कालमें; **उभयानवधारणम्**=(चित्त और उसका विषय)—इन दोनोंके स्वरूपको जानना भी नहीं हो सकता।

व्याख्या—बाहरके पदार्थका चित्तमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब द्रष्टा पुरुषको उस प्रतिबिम्बसहित चित्तका ज्ञान होना युक्तियुक्त है; क्योंकि वह अपरिणामी है। परंतु चित्त अपने स्वरूपको और दृश्य पदार्थके स्वरूपको एक साथ ही नहीं जान सकता; क्योंकि परिणामशील होनेके कारण उसे एक ही कालमें दो ज्ञान नहीं हो सकते। अतः यही समझना चाहिये कि चित्त स्वप्रकाश नहीं है। चित्तका काम केवल बाह्य पदार्थके स्वरूपको अपने स्वामी द्रष्टा पुरुषके सामने रख देना है; फिर उसे जाननेका काम तो पुरुषका है॥ २०॥

सम्बन्ध—*चित्तसे विषयका साक्षात्कार होता है और वह चित्त उस विषयसहित दूसरे चित्तसे देखा जाता है। इस प्रकार चित्तका और विषयका एक साथ ज्ञान हो जाता है। यह मान लिया जाय तो क्या हानि है। इसपर कहते हैं—*

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च॥ २१॥

चित्तान्तरदृश्ये=एक चित्तको दूसरे चित्तका दृश्य मान लेनेपर; **बुद्धिबुद्धेः अतिप्रसङ्गः**=वह चित्त फिर दूसरे चित्तका दृश्य होगा—इस प्रकार अनवस्था प्राप्त होगी; **च**=और; **स्मृतिसंकरः**=स्मृतिका भी मिश्रण हो जायगा।

व्याख्या—इस प्रकार एक चित्तको दूसरे चित्तका दृश्य मान लेनेसे एक तो अनवस्था दोष आता है, दूसरे स्मृतिके संकर हो जानेका दोष आता है; क्योंकि एक चित्तने तो किसी विषयको जाना, दूसरेने उस विषयसहित चित्तको जाना, इसी प्रकार दूसरेको तीसरेने, तीसरेको चौथेने इस तरह चलते रहनेपर तो एक वस्तुका ज्ञान भी कभी समाप्त नहीं होगा, यह अनवस्था दोष आयेगा और उन अनेक ज्ञानोंकी एक साथ स्मृति होनेपर यह निर्णय नहीं हो सकेगा कि कौन-से ज्ञानका क्या स्वरूप है, स्मृतिका मिश्रण हो जायगा, सो यह किसीके अनुभवकी बात नहीं है, सब कोई ऐसा ही स्मरण करते हैं कि अमुक पदार्थको मैंने जाना था। ऐसा कोई नहीं कहता कि अमुक पदार्थको, उसके

ज्ञानको, फिर उसके ज्ञानसहित ज्ञानको, फिर उसके भी ज्ञानसहित ज्ञानको मैंने जाना था—इत्यादि। अतः चित्तसे भिन्न द्रष्टाको मानना ही युक्तिसङ्गत है॥ २१॥

सम्बन्ध—चित्त स्वप्रकाश भी नहीं है और दूसरे चित्तका विषय भी नहीं है तो फिर यह बतलाना चाहिये कि चित्तका द्रष्टा कौन है, क्योंकि पुरुष तो असङ्ग और निर्विकार है, वह किसीका द्रष्टा और भोक्ता कैसे हो सकता है। इसपर कहते हैं—

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्॥ २२॥

चितेः अप्रतिसंक्रमायाः=यद्यपि चेतन-शक्ति (पुरुष) क्रियासे रहित और असङ्ग है, तो भी; **तदाकारापत्तौ**=तदाकार हो जानेपर; **स्वबुद्धिसंवेदनम्**=(उसे) अपनी बुद्धिका (चित्तका) ज्ञान होता है।

व्याख्या—चेतन पुरुष निर्विकार, अपरिणामी, क्रियाशून्य और असङ्ग है, इसमें कोई संदेह नहीं; परंतु विकारशील नाना प्रकारके दृश्य पदार्थोंके प्रतिबिम्बसे तदाकार हुए चित्तके सम्बन्धमें जब वह चित्तके आकारवाला-सा हो जाता है (योग० १।४), उस समय उसे वृत्तियोंसहित बुद्धिका ज्ञान होता है। अतः उसे अपनी बुद्धि और बुद्धिकी वृत्तियोंका ज्ञाता और भोक्ता कहा जाता है। वास्तवमें तो पुरुष न ज्ञाता ही है और न भोक्ता ही, वह तो सर्वथा निर्विकार, असङ्ग और स्वप्रकाश चेतनमात्र है (योग० २।२०)। भाव यह है कि चेतनके उपरागसे उपरञ्जित हुई बुद्धिका केवल अनुकरण करनेवाला-सा होनेके कारण ही चेतनको ज्ञाता कहा जाता है॥ २२॥

सम्बन्ध—ऐसा किस कारणसे होता है? यह बतलाते हैं—

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्॥ २३॥

द्रष्टृदृश्योपरक्तम्=द्रष्टा और दृश्य—इन दोनोंसे रँगा हुआ; **चित्तम्**=चित्त; **सर्वार्थम्**=सब अर्थवाला हो जाता है।

व्याख्या—यह चित्त जब दृश्य पदार्थसे रँगा हुआ; अपने स्वरूपके

सहित द्रष्टाका विषय (दृश्य) बनकर उससे सम्बन्धित होता है, तब द्रष्टा और दृश्य—इन दोनोंके रंगमें रँग जाता है अर्थात् उन दोनोंका प्रतिबिम्ब इसमें पड़नेके कारण यह दोनोंका आकार धारण कर लेता है और इसका निजी रूप भी वर्तमान रहता ही है, इस कारण यह चित्त ही सब अर्थवाला हो जाता है यानी दृश्य पदार्थके रूपवाला, द्रष्टा पुरुषके रूपवाला और अपने रूपवाला—इस प्रकार सर्वरूपवाला हो जाता है।

इसे इस प्रकार समझना चाहिये—

(१) चित्ततत्त्व या बुद्धितत्त्व जो कुछ कहिये—यह तीनों गुणोंका पहला और सात्त्विक परिणाम है। यह क्रियाशील, परिणामी और जड है किंतु सात्त्विक होनेके कारण स्फटिकमणिकी भाँति उज्ज्वल है; यह चित्तका अपना रूप है।

(२) इसके सामने जिस समय जैसा बाह्य पदार्थ आता है अर्थात् जिस पदार्थका सम्बन्ध होता है, उसके रंगमें रँगा हुआ यह तदाकार हो जाता है, इसलिये पदार्थके रूपमें प्रतीत होता है।

(३) पुरुषके साथ सम्बन्ध होनेके कारण वह द्रष्टा चेतन पुरुषके रंगमें रँगा हुआ रहता है, इसलिये यह तदाकार हुआ चेतनके रूपमें प्रतीत होने लगता है।

वास्तवमें चित्त उसमें प्रतिबिम्बित होनेवाले विषयोंसे और चेतन पुरुषसे सर्वथा भिन्न है तो भी भ्रान्तिसे उनके रूपमें प्रतीत होने लग जाता है। अतएव कई दर्शनकार तो चित्तको ही चेतन—द्रष्टा मानकर कहने लगते हैं कि चित्तसे भिन्न और कोई द्रष्टा नहीं है और दूसरे यह कहते हैं कि चित्तसे अतिरिक्त ये दीखनेवाले गौ, घट आदि और उसके कारणरूप पञ्चभूत आदि पदार्थ भी कुछ नहीं हैं, चित्त ही सब रूप होकर दिखलायी देता है। परंतु यह भ्रम समाधिके द्वारा पुरुषकी अपने स्वरूपमें स्थिति हो जानेपर नष्ट हो जाता है॥ २३॥

****

सम्बन्ध—अब चित्तसे भिन्न द्रष्टा पुरुषकी सत्ताको दृढ़ करनेके लिये दूसरा हेतु बतलाते हैं—

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

तत्=वह (चित्त); **असंख्येयवासनाभिः**=असंख्येय वासनाओंसे; **चित्रम् अपि**=चित्रित होनेपर भी; **परार्थम्**=दूसरेके लिये है; **संहत्यकारित्वात्**=क्योंकि यह संहत्यकारी (मिल-जुलकर कार्य करनेवाला) है।

व्याख्या—जो वस्तु बहुत पदार्थोंसे मिल-जुलकर कार्यमें समर्थ होती है; वह संहत्यकारी कहलाती है—जैसे मकान, भोजन आदि। ऐसी वस्तु अपनेसे भिन्न किसी दूसरेके लिये ही हुआ करती है, अपने लिये नहीं; अतः यह परार्थ कहलाती है। यह चित्त भी सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके मिश्रणसे उत्पन्न है तथा बाह्य पदार्थ और इन्द्रियोंके संयोगसे उनसे मिल-जुलकर कार्य करनेमें समर्थ होता है; अतः यह अपने लिये नहीं है, द्रष्टा पुरुषके लिये है तथा उसीके भोग और अपवर्गका सम्पादन करनेके लिये यह नाना वासनाओंसे चित्रित है।

भाव यह है कि यद्यपि चित्तमें ही सब बाह्य पदार्थोंके चित्र पड़ते हैं और वह अगणित वासनाओंसे रँगा हुआ है तो भी वह स्वयं-प्रकाश और द्रष्टा नहीं है; क्योंकि वह बाह्य पदार्थ और इन्द्रिय आदिसे मिल-जुलकर काम करनेवाला है, अतः दूसरेके लिये है॥ २४॥

सम्बन्ध—यहाँतक चित्त और आत्मा—इन दोनोंकी भिन्नताका युक्तियोंद्वारा प्रतिपादन किया; किन्तु युक्तियोंसे तो आत्माका स्वरूप सामान्यभावसे ही समझमें आता है, उसके स्वरूपका विशेष ज्ञान तो समाधिद्वारा ही हो सकता है। अतः समाधिमें होनेवाले विवेक-ज्ञानद्वारा जब योगी आत्मस्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन कर लेता है, तब उसकी क्या पहचान है ? यह बतलाते हैं—

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

विशेषदर्शिनः= (समाधिजनित विवेकज्ञानके द्वारा) चित्त और आत्माके भेदको प्रत्यक्ष कर लेनेवाले (योगी) की; **आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः**= आत्मभावविषयक भावना सर्वथा निवृत्त हो जाती है।

व्याख्या—अपने स्वरूपको जाननेके लिये जो इस प्रकारके संकल्प होते हैं कि मैं कौन हूँ, कैसा हूँ—इत्यादि, इसका नाम आत्मभाव भावना अर्थात् आत्मज्ञानके विषयका चिन्तन है। यह जबतक मनुष्यको आत्माके स्वरूपका ज्ञान नहीं होता, तबतक ऊँचे-से-ऊँचे साधकमें भी विद्यमान रहती है। परंतु जिसने विवेक-ज्ञानद्वारा इस भेदको भलीभाँति समझ लिया है कि शरीर और चित्त आदिसे आत्मा भिन्न है, जिसे अपने स्वरूपका संशयरहित प्रत्यक्ष अनुभव हो गया है, उसकी उपर्युक्त आत्मभावभावना सर्वथा मिट जाती है। यही उसकी पहचान है॥ २५॥

सम्बन्ध—*उस समय उस योगीके चित्तकी कैसी स्थिति रहती है? यह बतलाते हैं*—

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्॥ २६॥

तदा=उस समय (योगीका); **चित्तम्**=चित्त; **विवेकनिम्नम्**=विवेकमें झुका हुआ; **कैवल्यप्राग्भारम्**=कैवल्यके अभिमुख हो जाता है।

व्याख्या—अज्ञान-अवस्थामें साधारण मनुष्योंका चित्त अज्ञानमें निमग्न और विषय-परायण अर्थात् विषयोंके अभिमुख रहता है। परंतु जब विवेकज्ञानका उदय हो जाता है, उस समय योगीका चित्त निःसार संसारके विषयोंकी ओर नहीं जाता, उनसे सर्वथा विरक्त हो जाता है और उस विवेकज्ञानमें निरन्तर बहता है तथा कैवल्यके अभिमुख हो जाता है यानी अपने कारणमें विलीन होना आरम्भ कर देता है; क्योंकि चित्तका अपने कारणमें विलीन हो जाना और द्रष्टा-स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाना—यही कैवल्य है (योग० ४। ३४)॥ २६॥

सम्बन्ध—*यदि योगीका चित्त विवेकज्ञानमें झुका हुआ रहता है तथा अपने कारणमें विलीन होने लगता है तो फिर व्युत्थान-अवस्थामें उसकी दूसरी वृत्तियाँ कैसी होती होंगी? इसपर कहते हैं*—

****

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

तच्छिद्रेषु=उस (समाधि) के अन्तरालमें; **प्रत्ययान्तराणि**=दूसरे पदार्थोंका ज्ञान; **संस्कारेभ्यः**=पूर्वसंस्कारोंसे होता है।

व्याख्या—विवेकज्ञानमें निमग्न हुए चित्तमें व्युत्थान-अवस्थाओंके समय जो अन्य वस्तुओंकी प्रतीतिका व्यवहार देखनेमें आता है, वह दग्ध-बीजके सदृश विद्यमान पूर्वसंस्कारोंसे देखनेमें आता है॥ २७॥

सम्बन्ध—*उन संस्कारोंका सर्वथा नाश कब और कैसे होता है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं*—

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

एषाम्=इन संस्कारोंका; **हानम्**=विनाश; **क्लेशवत्**=क्लेशोंकी भाँति; **उक्तम्**=कहा गया है।

व्याख्या—दग्ध हुए बीजके सदृश जो सूक्ष्म क्लेश हैं, उनका अभाव जैसे प्रतिप्रसवसे अर्थात् कारणमें कार्यके लयसे बतलाया है (योग० २। १०), उसी प्रकार इनका भी समझ लेना चाहिये। जबतक किसी भी परिस्थितिमें चित्त वर्तमान है, तबतक संस्कारोंका सर्वथा नाश नहीं होता; उनका नाश तो चित्तके अपने कारण गुणोंमें विलीन होनेपर उसके साथ ही होता है, परंतु भूने हुए बीजके सदृश ज्ञानरूप अग्निसे जलाये हुए संस्कार विद्यमान रहकर भी पुनर्जन्मके हेतु नहीं बन सकते। अतः उनके कारण होनेवाला पदार्थोंका ज्ञान नये संस्कारोंका उत्पादक नहीं है (योग० ४। ६) ॥ २८॥

सम्बन्ध—*विवेकज्ञान प्राप्त होनेके बाद क्या होता है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं*—

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ॥ २९ ॥

प्रसंख्याने अपि अकुसीदस्य=जिस योगीका विवेकज्ञानकी महिमामें भी वैराग्य हो जाता है, उसका; **सर्वथा विवेकख्यातेः**=विवेकज्ञान सर्वथा प्रकाशमान रहनेके कारण उसको; **धर्ममेघः समाधिः**=धर्ममेघ समाधि प्राप्त हो जाती है।

****

व्याख्या—जब विवेकज्ञान उदय होता है, तब योगीके चित्तमें अत्यन्त स्वच्छता आ जाती है, अतः उसमें विलक्षण शक्ति आ जाती है, उस समय योगी सर्वज्ञ हो जाता है (योग० ३।४९)। ऐसी सामर्थ्य प्राप्त होनेपर भी जो योगी उस सामर्थ्यका उपभोग नहीं करता, सर्वज्ञतारूप ऐश्वर्यमें आसक्त नहीं होता, उससे सर्वथा विरक्त हो जाता है, तब उसके विवेकज्ञानमें किसी प्रकारका अन्तराय (विघ्न) नहीं पड़ सकता, वह निरन्तर उदित (प्रकाशमान) रहता है, इसलिये, तत्काल ही उस योगीको धर्ममेघ समाधि प्राप्त हो जाती है॥ २९॥

सम्बन्ध—उस धर्ममेघ समाधिसे क्या होता है, इसपर कहते हैं—

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः॥ ३०॥

ततः=उस (धर्ममेघ समाधि) से; **क्लेशकर्मनिवृत्तिः**=क्लेश और कर्मोंका सर्वथा नाश हो जाता है।

व्याख्या—उक्त प्रकारसे जब योगीकी धर्ममेघ समाधि सिद्ध हो जाती है, तब उस योगीके अविद्यादि पाँचों क्लेश तथा शुक्ल, कृष्ण और मिश्रित—ऐसे तीनों प्रकारके कर्मसंस्कार समूल नष्ट हो जाते हैं। अतः वह योगी जीवन्मुक्त कहलाता है॥ ३०॥

सम्बन्ध—उस समय योगीके ज्ञानका क्या स्वरूप होता है? यह बतलाते हैं—

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्॥ ३१॥

तदा=उस समय; **सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्य**=जिसके सब प्रकारके परदे और मल हट चुके हैं, ऐसा ज्ञान; **आनन्त्यात्**=अनन्त (सीमारहित) हो जाता है, इस कारण; **ज्ञेयम् अल्पम्**=ज्ञेय पदार्थ अल्प हो जाते हैं।

व्याख्या—विवेक-ज्ञानकी प्राप्तिके पहले ज्ञानको सीमाबद्ध करनेवाले जितने भी अविद्या आदि परदे रहते हैं एवं उसमें जितना भी कर्म-संस्काररूपमें संग्रह किया हुआ मल रहता है, वे सब-के-सब उपर्युक्त धर्ममेघ समाधिमें नष्ट हो जाते हैं। इस कारण योगीका ज्ञान अनन्त—सीमारहित हो जाता है,

तब दुनियाके जितने भी ज्ञेय पदार्थ हैं, वे ऐसे अल्प हो आते हैं, जिस प्रकार आकाशमें जुगनू (खद्योत), उस समय उस सिद्ध और मुक्त योगीसे कोई भी तत्त्व अज्ञात नहीं रह सकता ॥ ३१ ॥

सम्बन्ध—*यहाँ यह प्रश्न उठता है कि तीनों गुण परिणामशील हैं; अतः उनका परिणाम अवश्यम्भावी है, फिर वे योगीके लिये पुनर्जन्म देनेवाले क्यों नहीं होते, इसपर कहते हैं*—

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

ततः=उसके बाद; **कृतार्थानाम्**=अपने कामको पूरा कर चुकनेवाले; **गुणानाम्**=गुणोंके; **परिणामक्रमसमाप्तिः**=परिणामक्रम (परिणामसम्बन्धी सिलसिलेकी) समाप्ति हो जाती है।

व्याख्या—जब योगीको धर्ममेघ समाधिकी प्राप्ति हो जाती है, तब उसके लिये गुणोंका कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता, उनका काम जो पुरुषको भोग और अपवर्ग देना है; पूरा हो जाता है, इस कारण उनका जो निरन्तर परिवर्तन होते रहनारूप परिणामक्रम है वह उस योगीके लिये समाप्त हो जाता है। अतः वे भावी शरीरका निर्माण नहीं कर सकते ॥ ३२ ॥

सम्बन्ध—*प्रसंगवश क्रमका स्वरूप बतलाते हैं*—

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥ ३३ ॥

क्षणप्रतियोगी=जो क्षणोंका प्रतियोगी है, (और); **परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः**=जिसका स्वरूप परिणामके अन्तमें समझमें आता है, वह; **क्रमः**=क्रम है।

व्याख्या—कोई भी वस्तु जब किसी एक रूपसे दूसरे रूपमें बदलती है या एक रूपमें रहती हुई भी पुरानी होती चली जाती है, तब वह उसका परिणाम किसी एक दिनमें, एक घड़ीमें या एक पलमें नहीं हो जाता; उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है, परंतु जाननेमें नहीं आता। उस वस्तुका दूसरा परिणाम पूर्ण होनेसे यह अनुमानद्वारा जाना जाता है कि यह एक साथ नहीं

बदली है, क्रमसे बदलती रही है (योग० ३। १५ और ५२ की टीकामें भी क्रमका वर्णन आया है)। इस प्रकार क्रमका ज्ञान परिणामके अन्तमें होनेसे उसे यहाँ 'परिणामापरान्तनिर्ग्राह्य' कहा है और प्रत्येक क्षणसे इसका सम्बन्ध है। एक क्षणके बाद दूसरा क्षण, उसके बाद तीसरा क्षण—इस तरह क्षणोंके प्रवाहमें जो पूर्वापरका ज्ञापक (जाननेमें निमित्त) है, उसीको 'क्रम' कहते हैं। अतः इसको क्षणप्रतियोगी कहा गया है। क्षणप्रतियोगीका शब्दार्थ यह भी कहा जा सकता है कि जो क्षणोंका प्रतियोगी यानी विभाजक (विभाग करनेवाला) है, वह क्रम है॥ ३३॥

सम्बन्ध—*पहले बत्तीसवें सूत्रमें गुणोंके परिणामक्रमकी समाप्तिको कैवल्य नाम दिया गया है। उक्त कैवल्यके स्वरूपका प्रतिपादन करके इस शास्त्रकी समाप्ति करते हैं—*

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति॥ ३४॥

पुरुषार्थशून्यानाम्=जिनका पुरुषके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं रहा, ऐसे; **गुणानाम्**=गुणोंका; **प्रतिप्रसवः**=अपने कारणमें विलीन हो जाना; **कैवल्यम्**=कैवल्य है; **वा**=अथवा; **इति**=यों कहिये कि; **चितिशक्तेः**=द्रष्टाका; **स्वरूपप्रतिष्ठा**=अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाना (कैवल्य) है।

व्याख्या—गुणोंकी प्रवृत्ति पुरुषके भोग और अपवर्गका सम्पादन करनेके लिये है। इसी कामको पूरा करनेके लिये वे बुद्धि, अहंकार, तन्मात्रा, मन, इन्द्रियों और शब्दादि विषयोंके आकारमें परिणत होते हैं। जिस पुरुषके लिये ये गुण भोग भुगताकर अपवर्ग (मुक्ति) सम्पादन कर देते हैं, उसके लिये उनका कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता, तब वे अपने प्रयोजनको पूरा कर चुकनेवाले कार्य और कारणरूपमें विभक्त हुए गुण प्रतिलोमपरिणामको प्राप्त होकर अपने कारणमें विलीन हो जाते हैं, यही गुणोंका कैवल्य अर्थात् पुरुषसे अलग हो जाना है और उन गुणोंके साथ पुरुषका जो अनादिसिद्ध अविद्याकृत संयोग था, उसका अभाव हो जानेपर अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाना, यह पुरुषका कैवल्य अर्थात् प्रकृतिसे सर्वथा अलग हो जाना है (योग० २। २५)॥ ३४॥

पातञ्जलयोगदर्शनकी वर्णानुक्रमणिका

	पाद	सूत्र	पृष्ठ
[अ]			
अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ...	४	१२	११२
अथ योगानुशासनम् ...	१	१	१
अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्म-			
ख्यातिरविद्या ...	२	५	३६
अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ...	१	११	७
अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः ...	२	३९	५९
अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ...	१	१०	६
अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ...	१	१२	८
अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ...	२	३	३५
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्...	२	४	३६
अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ...	२	३७	५९
अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ...	२	३५	५८
अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ...	२	३०	५३
[ई]			
ईश्वरप्रणिधानाद्वा ...	१	२३	१६
[उ]			
उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ...	३	३९	९१
[ऋ]			
ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ...	१	४८	३०
[ए]			
एकसमये चोभयानवधारणम् ...	४	२०	११६
एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया			
व्याख्याता ...	१	४४	२८
एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा			
व्याख्याताः ...	३	१३	७४
[क]			
कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ...	३	३०	८६

		पाद	सूत्र	पृष्ठ
कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्	...	४	७	१०९
क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः	...	३	१५	७८
कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः-प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्	...	३	२१	८२
कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्	...	३	४२	९३
कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः	...	२	४३	६१
कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्	...	३	३१	८७
कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्	...	२	२२	४८
क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः	...	१	२४	१६
क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः	...	२	१२	४०
क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्	...	३	५२	१०२
क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः	...	४	३३	१२४
क्षीणवृतेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः	...	१	४१	२५
[ग]				
ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः	...	३	४७	९७
[च]				
चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्	...	३	२७	८६
चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च	...	४	२१	११७
चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धि-संवेदनम्	...	४	२२	११८
[ज]				
जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः	...	४	१	१०५
जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानान्तर्यं स्मृति-संस्कारयोरेकरूपत्वात्	...	४	९	११०
जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्	...	२	३१	५५

		पाद	सूत्र	पृष्ठ
जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः	...	३	५३	१०२
जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्	...	४	२	१०७
[त]				
तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः	...	४	२७	१२२
तज्जपस्तदर्थभावनम्	...	१	२८	१८
तज्जयात्प्रज्ञालोकः	...	३	५	७०
तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी	...	१	५०	३१
ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्	...	४	३२	१२४
ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः	...	४	३०	१२३
ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्	...	२	५५	६८
ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः	...	३	१२	७४
ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च	...	१	२९	१९
ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते	...	३	३६	८९
ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्	...	४	८	११०
ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्	...	२	५२	६७
ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च	...	३	४५	९६
ततो द्वन्द्वानभिघातः	...	२	४८	६३
ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च	...	३	४८	९८
तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्	...	१	१६	१०
तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः	...	१	३२	२१
तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम्	...	३	२	६९
तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः	...	१	१३	८
तत्र ध्यानजमनाशयम्	...	४	६	१०९
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्	...	१	२५	१७

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा

	पाद	सूत्र	पृष्ठ
सवितर्का समापत्तिः ...	१	४२	२७
तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ...	२	२१	४८
तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ...	३	८	७१
तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ...	२	२५	५०
तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्य-कारित्वात् ...	४	२४	१२०
तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ...	१	३	१
तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ...	४	२६	१२१
तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेय-मल्पम् ...	४	३१	१२३
तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ...	४	१७	११५
तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ...	३	३	७०
तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ...	३	५०	१००
तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ...	२	१	३३
तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ...	२	४९	६४
तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ...	३	१०	७३
तस्य भूमिषु विनियोगः ...	३	६	७१
तस्य वाचकः प्रणवः ...	१	२७	१७
तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ...	२	२७	५१
तस्य हेतुरविद्या ...	२	२४	५०
तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ...	१	५१	३२
ता एव सबीजः समाधिः ...	१	४६	२९
तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ...	३	५४	१०३
तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ...	४	१०	१११
तीव्रसंवेगानामासन्नः ...	१	२१	१४
ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ...	२	१०	३९
ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ...	२	१४	४१
ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ...	४	१३	११३

		पाद	सूत्र	पृष्ठ
ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः	...	३	३७	९०
त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः	...	३	७	७१
त्रयमेकत्र संयमः	...	३	४	७०
[द]				
द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः	...	२	२०	४७
द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः	...	२	१७	४५
द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्	...	४	२३	११८
दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः	...	१	३१	२०
दुःखानुशयी द्वेषः	...	२	८	३८
दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता	...	२	६	३७
दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्	...	१	१५	१०
देशबन्धश्चित्तस्य धारणा	...	३	१	६९
[ध]				
धारणासु च योग्यता मनसः	...	२	५३	६७
ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः	...	२	११	४०
ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्	...	३	२८	८६
[न]				
न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्	...	४	१६	११४
न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्	...	३	२०	८२
न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्	...	४	१९	११६
नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्	...	३	२९	८६
निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्	...	४	३	१०७
निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्	...	४	४	१०८
निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः	...	१	४७	३०
[प]				
परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः	...	१	४०	२४
परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च				

		पाद	सूत्र	पृष्ठ
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः	...	२	१५	४२
परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्	...	३	१६	७९
परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्	...	४	१४	११३
पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्तिशक्तेरिति	...	४	३४	१२५
पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्	...	१	२६	१७
प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्	...	२	१८	४६
प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य	...	१	३४	२२
प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि	...	१	७	३
प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्	...	३	१९	८१
प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः	...	१	६	३
प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्	...	२	४७	६३
प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्	...	४	५	१०८
प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्	...	३	२५	८५
प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथाविवेकख्याते-र्धर्ममेघः समाधिः	...	४	२९	१२२
प्रातिभाद्वा सर्वम्	...	३	३३	८७
[ब]				
बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः	...	३	३८	९१
ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः	...	२	३८	५९
बलेषु हस्तिबलादीनि	...	३	२४	८४
बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः	...	३	४३	९४
बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः	...	२	५०	६४
बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः	...	२	५१	६६
[भ]				
भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्	...	१	१९	१३

		पाद	सूत्र	पृष्ठ
भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्	...	३	२६	८५
[म]				
मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्	...	३	३२	८७
मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः	...	१	२२	१४
मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख-				
पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्	...	१	३३	२१
मैत्र्यादिषु बलानि	...	३	२३	८४
[य]				
यथाभिमतध्यानाद्वा	...	१	३९	२४
यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-				
समाधयोऽष्टावङ्गानि	...	२	२९	५३
योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः	...	१	२	१
योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्ति-				
राविवेकख्यातेः	...	२	२८	५३
[र]				
रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसंपत्	...	३	४६	९७
[व]				
वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्ततोर्विभक्तः पन्थाः	...	४	१५	११४
वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्	...	२	३३	५६
वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्सम्प्रज्ञातः	...	१	१७	११
वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभ-				
क्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञाना-				
नन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्	...	२	३४	५७
विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्	...	१	८	४
विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः	...	१	१८	१२
विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः	...	२	२६	५१
विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः	...	४	२५	१२०
विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि	...	२	१९	४६
विशोका वा ज्योतिष्मती	...	१	३६	२३
विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थिति-				
निबन्धनी	...	१	३५	२२

		पाद	सूत्र	पृष्ठ
वीतरागविषयं वा चित्तम्	...	१	३७	२३
वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः	...	१	५	२
वृत्तिसारूप्यमितरत्र	...	१	४	२
व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्ति-दर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्त-विक्षेपास्तेऽन्तरायाः	...	१	३०	१९
व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः	...	३	९	७२
[श]				
शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः	...	१	९	५
शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्र-विभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्	...	३	१७	८०
शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी	...	३	१४	७७
शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः	...	२	३२	५५
शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः	...	२	४०	६०
श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्	...	१	२०	१३
श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्	...	१	४९	३०
श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्	...	३	४१	९३
[स]				
सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः	...	२	१३	४१
स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः	...	१	१४	९
सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्	...	२	३६	५८
सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्	...	३	३५	८८
सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्	...	३	५५	१०४
सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृ-त्वं सर्वज्ञातृत्वं च	...	३	४९	९९
सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शन-योग्यत्वानि च	...	२	४१	६०
सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामि-				

		पाद	सूत्र	पृष्ठ
त्वात्	...	४	१८	११५
समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च	...	२	२	३४
समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्	...	२	४५	६२
समानजयाज्ज्वलनम्	...	३	४०	९२
संतोषादनुत्तमसुखलाभः	...	२	४२	६१
संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्	...	३	१८	८१
सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि-परिणामः	...	३	११	७३
सुखानुशयी रागः	...	२	७	३८
सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्	...	१	४५	२८
सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्त-ज्ञानमरिष्टेभ्यो वा	...	३	२२	८३
स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्ट-प्रसङ्गात्	...	३	५१	१०१
स्थिरसुखमासनम्	...	२	४६	६२
स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः	...	३	४४	९५
स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का	...	१	४३	२७
स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा	...	१	३८	२३
स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः	...	२	९	३९
स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः	...	२	५४	६७
स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः	...	२	२३	४९
स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः	...	२	४४	६२
[ह]				
हानमेषां क्लेशवदुक्तम्	...	४	२८	१२२
हृदये चित्तसंवित्	...	३	३४	८८
हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः	...	४	११	१११
हेयं दुःखमनागतम्	...	२	१६	४५

गीताप्रेसकी निजी दूकानें तथा स्टेशन-स्टाल

गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५, फोन (०५५१) ३३४७२१; फैक्स (०५५१) ३३६९९७

१. कलकत्ता- गोबिन्दभवन-कार्यालय ✆ (०३३) २३८६८९४
पिन-७००००७ १५१, महात्मा गाँधी रोड फैक्स (०३३) २३८०२५१

२. दिल्ली- गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; ✆ (०११) ३२६९६७८
पिन-११०००६ २६०९, नयी सड़क फैक्स (०११) ३२५९१४०

३. पटना- गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; ✆ (०६१२) ६६२८७९
पिन-८००००४ अशोकराजपथ, बड़े अस्पतालके सदर फाटकके सामने

४. कानपुर- गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; ✆ (०५१२) ३५२३५१
पिन-२०८००१ २४/५५, बिरहाना रोड फैक्स (०५१२) ३५२३५१

५. वाराणसी- गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; ✆ (०५४२) ३५३५५१
पिन-२२१००१ ५९/९, नीचीबाग

६. हरिद्वार- गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; ✆ (०१३३) ४२२६५७
पिन-२४९४०१ सब्जीमण्डी, मोतीबाजार

७. सूरत- गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; ✆ (०२६१) २३८०६५, २३७३६२
पिन-३९५००१ वैभव एपार्टमेन्ट, नूतन निवासके सामने; भटार रोड

८. चूरू- गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; ✆ (०१५६२) ५२६७४
पिन-३३१००१ ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम, पुरानी सड़क फुटकर बिक्री-केन्द्र

९. ऋषिकेश- गीताभवन, गङ्गापार, पो० स्वर्गाश्रम; ✆ (०१३५) ४३०१२२
पिन-२४९३०४ (मुनिकी रेती, ऋषिकेशमें भी फुटकर बिक्री-केन्द्र)

१०. कटक- गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान;
पिन-७५३०१२ भरतिया टावर्स, बादाम बाड़ी

११. इन्दौर- गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान; ✆ (०७३१) ५२६५१६
पिन-४५२००१ जी० ५ श्रीवर्धन, ४ आर. एन. टी. मार्ग

१२. हैदराबाद- गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-दूकान;
पिन-५०००९६ दूकान नं० ६, ४-४-१, दिलशाद प्लाजा, सुल्तान बाजार

स्टेशन-स्टाल [प्लेटफार्म नं० (कोष्ठ) में]

दिल्ली जंक्शन (प्लेटफार्म नं० १२); नयी दिल्ली (नं० ८-९); हजरत निजामुद्दीन [दिल्ली] (नं० ४-५); कोटा [राजस्थान] (नं० १); बीकानेर (नं० १); गोरखपुर [उ० प्र०] (नं० १); कानपुर (नं० १); लखनऊ [एन० ई० रेलवे]; वाराणसी (नं० ४-५); मुगलसराय जं० (नं० ३-४); हरिद्वार (नं० १); पटना जंक्शन (मुख्य प्रवेशद्वार); धनबाद (नं० २-३); मुजफ्फरपुर (नं० १); हावड़ा स्टेशन (नं० ८ तथा १८ दोनोंपर); सियालदा मेन (नं० ८); आसनसोल (नं० ५); औरंगाबाद [महाराष्ट्र] (नं० १); सिकन्दराबाद [आं० प्र०] (नं० १); गुवाहाटी जं० (मुसाफिरखाना) एवं अन्तर्राज्यीय बस-अड्डा, दिल्ली।

visit us at: www.gitapress.org | e-mail:gitapres@ndf.vsnl.net.in

योगदर्शनाङ्कः

सूर्योदयः

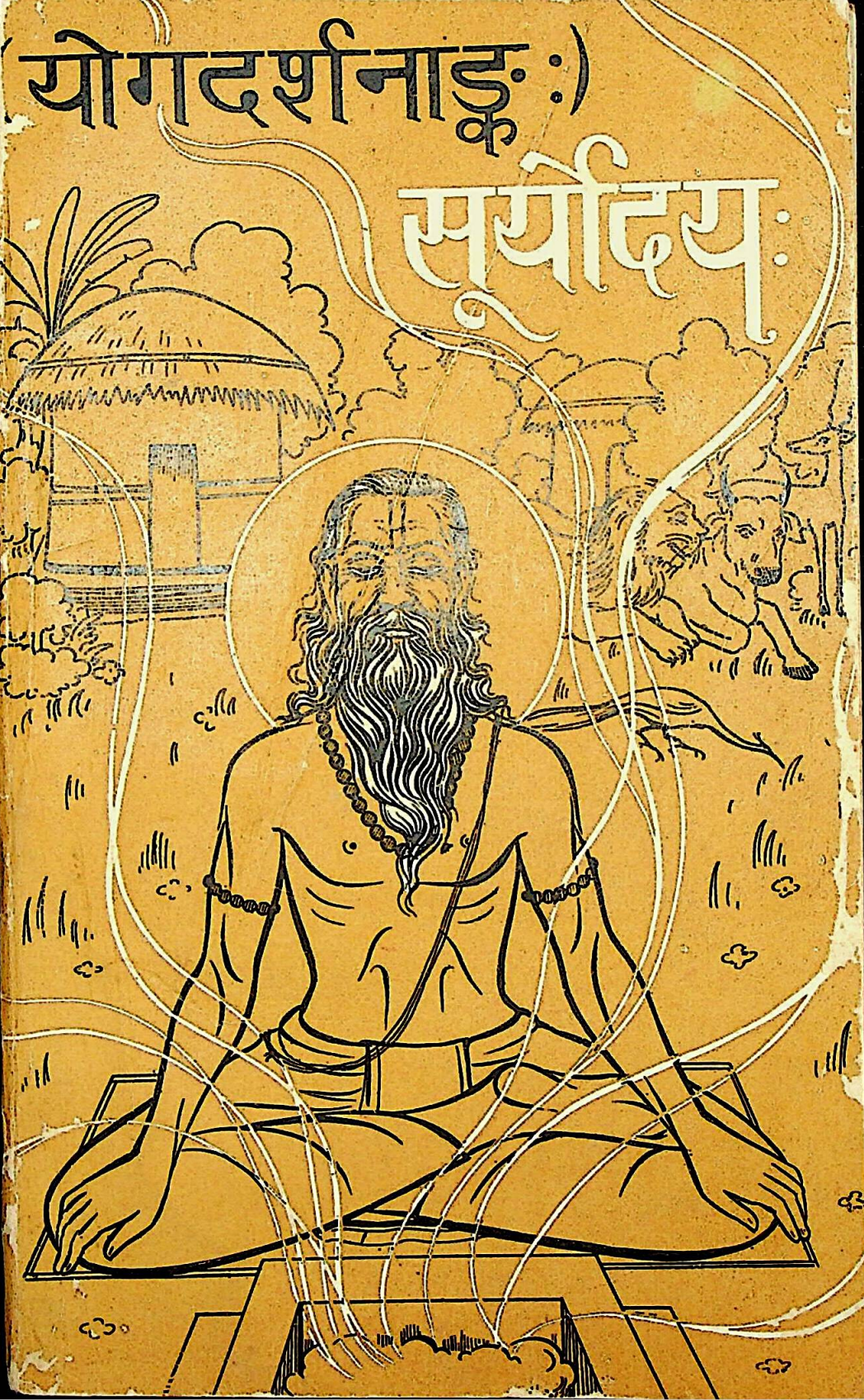

सूर्योदयस्य योगदर्शनाङ्कः

(द्विचत्वारिंशत्तम-वर्षाङ्कः)

★

सम्पादकः

गोविन्द नरहरि वैजापुरकरः

(एम० ए०, न्याय-वेदान्त-साहित्याचार्यः)

★

प्रकाशन-स्थलम्

भारतधर्म-महामण्डलम्

जगत्गंज, वाराणसी

★

अक्षयतृतीया, २०२१ वै०

वार्षिकं शुल्कम्ः
रूप्यक-पञ्चकम्

अस्याङ्कस्य मूल्यम्
रूप्यक-चतुष्टयम्

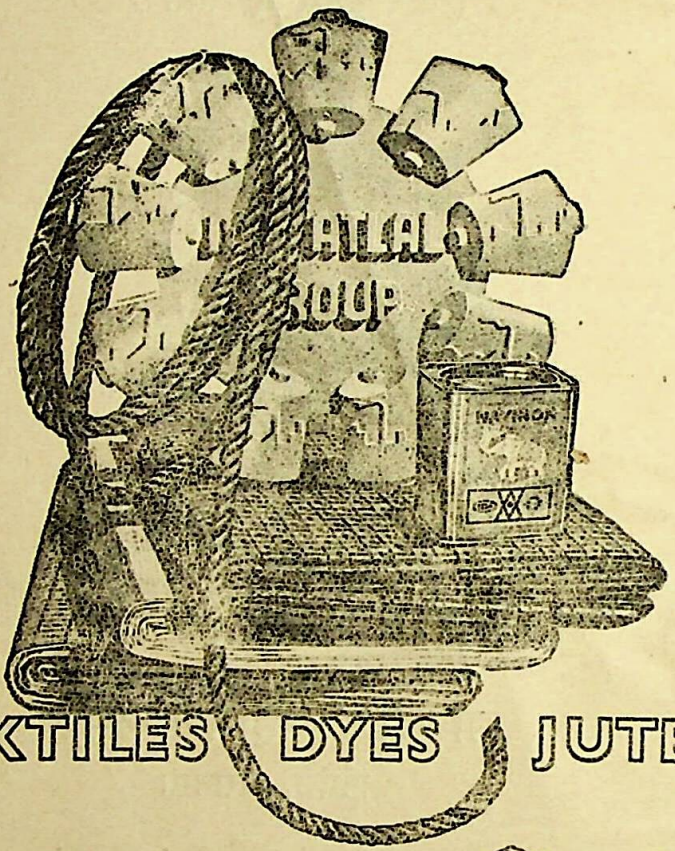

TEXTILES DYES JUTE

WITH THE COMPLIMENTS OF
MAFATLAL GROUP

शुभ-कामना:

सादरं नारायणस्मृतिपूर्वकं शुभाशीर्वादा: श्रीमज्जगद्गुरुचरणानां ज्योतिष्पीठाधीश्वर - शङ्कराचार्य - श्रीकृष्णबोधाश्रमस्वामिपादानाम् । सूर्योदयस्य योगदर्शन-विशेषाङ्को निस्सरिष्यतीति ज्ञात्वा भृशं मुदितैः श्रीचरणैस्तत्साफल्याय शुभाशंसनं प्रेष्यते ।

—आचार्यः श्यामलालशर्मा

५-५-'६४ (ज्योतिष्पीठ-शङ्कराचार्यसचिवः)

× × ×

महाशय

श्री ५ महाराजाधिराज सरकारका हजुरमा तपाईंले 'सूर्योदय' मासिक पत्रिकाको ४२सौं वर्षारम्भमा प्रकाशित विशेषांकको निमित्त मौसूफ सरकारको शुभकामना संदेश पाउँ भनि ता० ६-४-१९६४-मा चढाई पठाउनु भएको विन्तिपत्र प्राप्त भई मौसूफ सरकारका हजुरमा जाहेर भयो ।

उक्त पत्रिकाले ४२ वर्षसम्म पाठक वर्गहरूको निरन्तर सेवा गर्दै आएको सह्रानीय छ र अझ बढी सेवा गर्न सकोस् भन्ने मौसूफ सरकारबाट शुभकामना व्यक्त गरी बक्सेकोले तपाईंलाई सूचना गरेकोछु ।

—मी० सु० मधुसूदन राज

वैशाख ३१, २०२१ (श्री ५ महाराजाधिराज, नेपालको निजी सचिव)

× × ×

मुझे यह जानकर खुशी है कि आप 'सूर्योदय' के ४२ वें वर्षारम्भ पर 'योगदर्शनांक'-विशेषांक दिनांक १४ मई '६४ को प्रकाशित करनेवाले हैं ।

में आपके इस अंक की सफलता के लिए हार्दिक शुभ-कामनाएँ भेजता हूँ ।

—जाकिर हुसैन

१२-५-'६४ (उपराष्ट्रपति, भारत)

Dear sir,

I am delighted to know that you are bringing out a special number of 'Suryodaya' in May. I send my best wishes to your venture.

V. V. Giri

20-4-'64 **(Rajyapal, Keral.)**

× × ×

प्रिय महोदय,

मुझे आपके पत्र से यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि 'सूर्योदय' का 'योगदर्शन-विशेषांक' आगामी अक्षयतृतीया को प्रकाशित होने जा रहा है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि योगदर्शन के गूढ़ रहस्यों को सुलझाने में यह विशेषांक पूर्ण सफलता प्राप्त करेगा। योग संस्कृत-साहित्य की अनुपम निधि है। चाहे भारतीय परम्परा के और बहुत से विषय कितने भी विवादास्पद हों, योग एक ऐसा विषय है, जिसकी मूर्धन्यता परस्पर विरोधी मतावलम्बियों ने भी स्वीकार की है। ऐसे सर्वसम्मत विषय पर विशेषांक प्रकाशित करने का आपका संकल्प सर्वथा समर्थन के योग्य है। आपका यह आयोजन सभी दृष्टियों से सफल हो, एतदर्थ समस्त शुभकामनाओं के साथ--

—भक्तदर्शन

२१-४-'६४ **(उप-शिक्षामंत्री, भारत)**

× × ×

सूर्योदयस्य योगदर्शनाङ्क-नामा विशेषाङ्कः अक्षयतृतीयादिने प्रकाशितो भविता इति भवद्भिः सूचितम्। सूर्योदयद्वारा सततं गीर्वाणवाणीसेवायाम् भवन्तः यत्नशीलाः, तदर्थं धन्यवादाः। सांप्रतं संस्कृतविषये जनानां तथैव च शासकानाम् उत्साहो वर्धमानो दृश्यते। तस्य फलम् अचिरादेव सूर्योदयोऽपि लप्स्यत इति आशास्महे।

—(महामहोपाध्याय) दत्तो वामन पोतदार

२७-४-'६४ **(कुलगुरु : पुणें विद्यापीठ,**
अध्यक्ष : केन्द्रीय-संस्कृत समिति)

त्रैलोक्यं निखिलं करामलकवद् यत्र स्फुटं भासते
दिक्कालौ विजितौ यया जनयतो न क्वापि भेदव्यथाम् ।
सैषा योगपरम्परा विगलितध्वान्ताऽमृतस्यन्दिनी
जीयात् प्राचि निरन्तरं सुविमला भव्या ससूर्योदया ॥

—(डा०) रामकरण शर्मा
(विशेषाधिकारी—संस्कृत-
शिक्षा-मन्त्र्यालय, भारत)

१३-५-'६४

× × ×

अयं सूर्योदयः एकचत्वारिंशत्तमं वर्षमतीत्य अधुना द्विचत्वारिंशत्तमे वर्षे वैशाखशुक्लाक्षयतृतीयायां प्रविविक्षतीति कस्य सचेतसः हर्षाय न भविष्यति । तत्राधुना नववर्षप्रवेशे योगदर्शनाङ्केन सह प्रस्तुतो वर्तते इति अतीव प्रमोदावहम् । अहमस्य पत्रस्य हार्दिकीं वृद्धिं कामयमानः भगवतः विश्वनाथाद् अभ्युदयम् कामये ।

—सुरतिनारायणमणि त्रिपाठी
उप-कुलपतिः
वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य

२१-४-'६४

× × ×

सूर्योदयस्य योगदर्शन-विशेषाङ्क-प्रकाशनवृत्तमाकर्ण्य हार्दिकशुभ-कामनाप्रेषणे अतिप्रसन्नतां अनुभवामि । एष प्रयासः पूर्णरूपेण सफलतां प्राप्स्यतीति आशासे । अद्यतन-सम्पादकाः अभिनन्दनयोग्या अस्मिन् प्रयत्ने । यतस्तेषामेव बुद्धिमत्तायाः परिश्रमस्य च फलमिदं यत् सूर्योदये उच्च-विद्याविभूषितविदुषां प्रमाणिताः एवं शिक्षाप्रदाः लेखाः प्रकाश्यन्ते इति ।

—प्यारेकृष्ण कौलः
(अवसरप्राप्त जज, हाईकोर्ट)
चीफ सेक्रेटरी : भारतधर्ममहामण्डलम्

३०-४-'६४

संस्कृतविद्यायाः प्रधानकेन्द्रभूताद् वाराणसीनगरात् सुचिरात् प्रकाश्यमानस्य 'सूर्योदयः' इति प्रथितस्य संस्कृतमासिकस्य 'योग-दर्शनाङ्क'-संज्ञया अन्वर्थमर्थजातं पुरस्करिष्यन्तं विशेषाङ्कं प्रकाशयितु-मुद्यता भवन्त इति विजानन् नितरामानन्दमनुभवामि ।

अद्यत्वे नवनवकाव्यनिबन्धादि-प्रकाशनविधया गीर्वाणगिरः प्रसारे प्रवर्तमानानां संस्कृतपत्राणां मध्ये 'सूर्योदयस्य' प्रतिपादितविषय-प्रकाशनसौष्ठवादि-वैशिष्ट्यमधिकृत्य सुचिरागतं सुप्रतिष्ठितं च गौरवं वरीवर्ति । भारतीयसंस्कृतेः प्रतीकविशेषस्य च सतो योगदर्शनस्याऽपि अध्यात्मसम्पदतिरेकादनन्यसामान्यं महत्त्वं च सर्वसम्मतं बोभवीति । अतस्तदीयसारसंग्रहिलोऽयं विशेषाङ्कः स्व-विषय-महिम्ना रुचिमतां विपश्चितां सविशेषां मुदमादधानो भवतां सर्वदोषकपणक्षमे सम्पादकत्वे स्फुटमेव विशेषाङ्कतां प्रतिपत्स्यते इति दृढं विश्वसन् हृदाऽभिनन्दामि शिवं सङ्कल्पमिमं भावत्कमित्याख्याति—

—विश्वबन्धुः
(सम्पादकः 'विश्व-संस्कृतम्'
होशियारपुर)

२८-४-'६४

× × ×

भवतां लिपिं प्राप्य सुखीभवामि । श्रीभारतधर्म-महामण्डलेन परिचालितस्य 'सूर्योदय'स्य द्विचत्वारिंशत्तमं वर्षं प्रारब्धम् इति महत् आनन्दजनकं संस्कृतभाषानुरागिणाम् । आशास्महे यत् सूर्योदयस्य भास्वरत्वं उत्तरोत्तरं वर्धितं भविष्यति । भगवत्-पदान्ते पत्रस्य दीर्घायुः प्रार्थयाम इति ।

—चपलाकान्तभट्टाचार्यः
(भारतीय-संसत्सदस्यः)

× × ×

सूर्योदयस्य योगदर्शनाङ्क-प्रकाशनविषये भवतां पत्रमवाप्तम् । अस्मिन् संक्रमणकाले सांस्कृतिकोऽयं सुप्रयासः साधुवादार्हः ।

प्रकाशवीरशास्त्री
(भारतीय-संसत्सदस्यः)

११-५-'६४

अद्यत्वे भारतोत्तरखण्डे प्रचरत्सु सनातनधर्मतत्त्वादिप्रकाशकेषु संस्कृतभाषामयपत्रेषु काशीस्थ - भारतधर्म - महामण्डलसंसृष्टस्य "सूर्योदयाख्य" पत्रस्य महत्त्वं संस्कृतभाषारसिकानां विदुषां सुविदितमेव। साम्प्रतमस्य "योगदर्शनाख्यः" कश्चिद् विशेषाङ्कः प्राकाश्यमेष्यतीति विदित्वा चेतोऽस्माकं नितरां प्रसीदति। इत्थमेव तं तं विषयमुपजीव्य अन्तरान्तरा विशेषाङ्कप्रकाशनेन भारतीयसंस्कृतेर्विविधानामङ्गानां समालोचनेन विमर्शनादिद्वारा च सनातनधर्मस्य रहस्यमुन्मीलितं भवेत्, प्राकृतजनानां बहुधा कल्याणसिद्धिश्च स्यादित्याशास्महे। पत्रमिदं दीर्घजीवनमकुण्ठितप्रसारं चोपलभ्य समुचितप्रकारैर्विश्वहितं विदध्यादिति श्रीविश्वेश्वरचरणेष्वस्मदीया सनिर्बन्धा प्रार्थना।

श्रीआनन्दमयी-आश्रमः
पातालदेवी, अल्मोडा

—गोपीनाथ कविराज
१३-५-'६४

—×—

अनुक्रमः

प्रपानकः	पत्रपुटम्	परिवेपकः
श्री शूद्रकः	१	मङ्गलाचरणम्
'योगदर्शनाङ्क'-विषये किञ्चित्	२	सम्पादकीयम्
'योग'शब्दस्य व्यापकता	७	श्री कृष्णबोधाश्रमस्वामिनः
योगोक्त-विषयाणां परिचयः	११	श्री गोपीनाथकविराजाः
भारतीय-दर्शनानामुद्धारः संस्कारश्च	३३	श्री दयानन्दस्वामिनः
योग-दर्शनं किम् ? किं वाऽस्य दर्शनान्तरेभ्यो वैशिष्ट्यम् ?	४१	श्री ज्ञानानन्दस्वामिनः
सभाष्यं योगदर्शनम्	५५	श्री पतञ्जलिः भाष्यकारः श्री ज्ञानानन्दस्वामिनः
पाश्चात्यानां योग-विषयिणी दृष्टिः	२६३	श्री श्रीकृष्णदत्तभट्टः

सूर्योदयः

श्रीभारतधर्ममहामण्डलस्य मासिकं मुखपत्रम् ।

रागद्वेषनिशाटनं विधुरयन् मोहं तमो नाशयन्,
तामिस्रं जडवादकैरवकुलं ज्ञानत्विषा ग्लापयन् ।
विद्वत्कोकमशोकयन् नयसुधीरोलम्बमुन्मीलयन्,
सञ्जातः सुमनोमनो मधुरयन् सर्वत्र सूर्योदयः ॥

वाराणसी, वैशाखशुक्ला अक्षयतृतीया २०२१ : १४ मई १९६४

पर्यङ्कग्रन्थिबन्धद्विगुणितभुजगाश्लेषसंवीतजानो-
रन्तप्राणावरोधव्युपरतसकलज्ञानरुद्धेन्द्रियस्य ।
आत्मन्यात्मानमेव व्यपगतकरणं पश्यतस्तत्त्वदृष्ट्या
शम्भोर्वः पातु शून्येक्षणघटितलयब्रह्मलग्नः समाधिः ॥

—श्री शूद्रकः

सम्पादकीयम्

योगदर्शनाङ्क-विषये किञ्चित् !

भगवतः श्रीविश्वनाथस्य परमया कृपया 'सूर्योदय'स्य योगदर्शनाङ्कोऽयं तत्रभवतां करसरोरुहयोः उपायनीकुर्वतामस्माकं चेतः किमपि अनिर्वचनीयं समाधिसुखम् अनुभवति। अक्षयतृतीयादिने पुनरस्य समर्पणमिदं नूनमक्षय्याय फलाय प्रभवेदिति विश्वसिमः। तिथिरियं 'सूर्योदय'स्य प्राथमिकोन्मेषस्य दिवसः। १९८० मिते वैक्रमीये संवत्सरे अस्मिन्नेव शुभदिने उन्मिषितः सूर्योदयोऽविरतम् अद्यावधि प्रथमपृष्ठोल्लिखितश्लोकानुसारं राग-द्वेषविधूननादिकार्येषु यथाशक्ति प्रयतमानः आस्ते। अक्षयतृतीयायाः सद्यः फलं त्वनेन स्फुटमेवाधिगतं मन्महे यत्प्रायः कियत्कालमाविर्भूय तिरोधानस्वभावं दधतां संस्कृतपत्राणां मध्ये पत्रमिदं द्विचत्वारिंशत्तमम् आयुर्दायम् उपभुञ्जन् संस्कृतसाहितीरसचणानां तत्रभवतां सेवायै समुपस्थितमास्ते। अक्षयतृतीया नाम उत्पथगामिनां प्रजापीडकानां राजन्यानां त्रिःसप्तकृत्वः क्षयं विदधतः उत्साहावतारस्य लोकोत्तरपितृभक्तस्य परशुधारिणो रामान्यतमस्य जामदग्न्यस्य भगवतो विष्णोः भूमौ समवतरणतिथिः। अतोऽपि दिनेऽस्मिन् प्रादुर्भूय पत्रमिदं भगवतस्तस्य कियदपि उत्साहप्रवणता-ऽन्यायप्रतीकारदक्षतादिप्रभावस्य नूनं दायादं स्यात्। सत्यपि अक्षयतृतीयादिने आविर्भावे, व्यवस्थासौकर्याय अस्माभिः पत्रस्यास्य वर्षारम्भो जनवरीमासत एव व्यवह्रियते। 'वार्षिकविशेषाङ्कः' पुनरस्मिन्नेव दिने प्रकाशयिष्यते। नवं परिष्कृतं रूपमपि जनवरी('६२)-मासत एवानेन धृतम्। अतोऽपि ग्राहकादीनां व्यवहारादिकं जनवरीमासत एव भवेत्।

सुप्रसङ्गेऽस्मिन् सूर्योदयशुभचिन्तकैः कृपालुपाठकैः अमूल्यसहयोगदातृभिर्विद्वन्मूर्धन्यैः, विज्ञापनादिसाहाय्यमाचरद्भिर्व्यावसायिकैः,

संस्कृतप्रणयिसमाजेन, भारतशासनेन च पत्रं प्रति विधीयमानानां नैकश उपकाराणां स्मरणमत्यावश्यकम्। यदि तैस्तैः स्व-स्वमर्यादानुसारं पत्रमिदं नोपकृतमभविष्यत्, तदाऽस्य ईदृशी समुन्नतिरपि दुरापाऽभविष्यत्। एवमेव पूर्वतनसम्पादकैर्यावान् श्रमोऽस्य सुस्थितये चिरस्थितये च समाचरितः, तस्यापि स्मरणं कृतज्ञतायाः प्राथमिकी भूमिः खलु। नूनं तैर्यादृशं गभीरतमं चिरस्थायि च वाङ्मयं सूर्योदयमुखेन संस्कृतसमाजाय उपायनीकृतम्, तस्य मूल्यमापने विपश्चित एव प्रमाणम्। अयं जनोऽपि तेषामेव सरणिमाश्रित्य अग्रे सरति। भूतपूर्वसम्पादकेष्वन्यतमाः प्रथितवैदुष्याः श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादशास्त्रिणस्तु अद्याप्येनं भूयसा सहयोगेन उपकुर्वन्तीति सौभाग्यास्पदमेतत्। सूर्योदयस्य उत्तरोत्तरविकासाय सततं सक्रियं चिन्तयन्त्यः भारतधर्ममहामण्डलसञ्चालिकाः पूज्याः श्रीविद्यादेवीमहोदयाः, तासां सहयोगिन्यश्च आर्यमहिला-महाविद्यालयाध्यक्षाः श्रीसुन्दरीदेवीमहोदयाश्च सर्वस्यास्य उपक्रमस्य जीवितमेव। परमेशितुः अकल्प्यसङ्केतेन यथावत् सुसङ्घटितां सर्वामिमां सामग्रीमादाय संयोजकरूपेण यद्ययं जनः सूर्योदयममुं गीर्वाणवाणीरसिकेभ्यः प्रयच्छति चेत्, नात्र अस्य सुमहान् यशोभागः। तथापि ज्ञानतोऽज्ञानतो वा यद्यदत्र स्खलनं संवृत्तं स्यात्, तत्सर्वमस्यैव मत्वा नूनं क्षन्तव्यम्। यतो हि अयमपि केवलं सुरभारतीसमाराधनाय सर्वत्र चास्याः सविशेषप्रचाराय इत्थं प्रयतमान आस्ते इति।

प्रसङ्गेऽस्मिन् अन्यदपि एकं निवेदनं संस्कृतसमाजस्य कृते। 'सूर्योदय'स्तु यथाशक्ति नियमतः संस्कृतसमाजस्य सेवां विदधात्येव; परं तेन नैकाः विकासयोजनाः निर्ध्याताः सन्ति, याः किल सफलयितुं ग्राहकानां बलं सर्वतोऽधिकमपेक्ष्यते। यदि प्रत्येकं संस्कृतपाठशालाः, संस्कृतसंस्थानानि, आंग्लपाठशालीय-संस्कृतविभागाः, पुस्तकालय-वाचनालयाः समर्थाश्च विद्वांस एकैकं पत्रं सशुल्कं ग्रहिष्यन्ति, तदा समस्येयं सारल्येन लोकतान्त्रिक-प्रणाल्या च समाहिता भवेत्। अतो विषयेऽत्र सम्बद्धा जनाः सामान्यमुखेन प्रार्थ्यन्ते यत्तैरस्माकं प्रार्थनेयं त्वरितं पूरणीयेति।

इतः परं प्रस्तुताङ्कविषये किञ्चित्। योगदर्शनाङ्कोऽयं त्वरितं प्रकाशितः, यतो हि प्रकाशननिर्णय एव विलम्बेनाभवत्। अत एव समपेक्षितानां बहूनां विषयाणामत्र सन्निवेशनमशक्यं संवृत्तम्। प्रधानतोऽत्र पूज्यपादानां ब्रह्मीभूतगुरुदेव-ज्ञानानन्दस्वामिनां पातञ्जलयोगदर्शनीयं भाष्यमेव अशेषतः सङ्कलितमास्ते। तदुपष्टम्भकाः केचन अन्येऽपि परिगणिताः निबन्धाः सन्निवेशिताः। योगदर्शनाङ्कीयविषयेषु भगवतः पतञ्जलेर्योगसूत्राणां यथावद्विवरणं सर्वतः प्राथम्यमादधातीत्यत्र न विप्रतिपत्तिपदम्। तानि च योगदर्शनस्य मूलम्, 'मूलं नास्ति कुतः शाखाः' इति च सुप्रसिद्धेः। योगसूत्राणामेतेषां विवरणाय सत्स्वपि बहुषु ग्रन्थेषु समासतः सारल्येन च प्रमुखप्रामाणिकसम्प्रदायानुसारि विवरणं यथाऽत्र संग्रथितमास्ते, न तथा क्वचन उपलभ्यते। पूज्यश्रीस्वामिपादैः सर्वा एता असुविधा विचार्यैव सरलया भाषया आधुनिकतमोदाहरणादिमुखेन एतद् ग्रथितमासीत्। अस्य प्रकाशनेन विषयोऽयम् आदर्शायितो भवेदिति निर्ध्याय विशेषाङ्के एतदविकलं सङ्कलितम्। तत्रापि यत्र तत्र ऐच्छिकसन्धीनां परिहारेण सारल्यं बुद्ध्या संयोजितम्। सत्येवम् अङ्ककलेवरो गुरुतरः संवृत्तः। अत एव अन्यान् कतिपयानेव लेखान् सङ्कलय्य विशेषाङ्कोऽयं सम्पूरितः। यदि विज्ञा विद्वांसो विषयेऽत्र अन्यदपि गुरुतरं नूत्नं स्थायि च साहित्यं प्रेषयिष्यन्ति चेत्, तत्साधारणेषु अङ्केषु यथावकाशम् अस्माभिरवश्यं प्रकाशयिष्यते, सति सम्भवे परिशिष्टाङ्करूपेण क्रमशः प्रत्यङ्कं वा। विशेषाङ्कस्यास्य कृते यैः शासकश्रेणीयैः, अन्यैर्विद्वद्भिः, आचार्यैश्च याः शुभकामनाः प्रेषिताः, तदर्थं 'सूर्योदयः' तेषां हार्दिकीं सश्रद्धां कृतज्ञतां ज्ञापयति। अभिव्यनक्ति एतद् यदेते विद्वांसः अस्माकं शासकाश्च संस्कृतस्योन्नयने कियतीमसाधारणीं रुचिं जागरूकतां च बिभ्रतीति।

योगदर्शनस्य प्रायः सर्वे विषया प्रायोगिकाः। तत्र भावनायाः श्रद्धायाश्च अत्यल्पोऽवसरः। अत एव दर्शनमिदम् आस्तिक-नास्तिक-पाश्चात्त्य-पौर्वात्यादिभिः सर्वैरेव समं समादृतम्। अवान्तरविषयेषु स्यान्नाम

मतवैविध्यम्। लक्ष्यभेदोऽपि कुत्रचन नासम्भवी। परं क्रियांशानां प्रयोगे न कुत्रापि मतभेदः। नूनं योगदर्शनोक्ताः सिद्धीः आश्रित्य बहवो विप्रतिपद्यन्ते। केचन तासामस्तित्वमपि न स्वीकुर्वन्ति। परमेतत् आपातरमणीयम्। देश-कालसीमानौ अतीत्य सर्वत्र सर्वदा तादृशसिद्धिसम्पन्नानां दर्शनं जातम्, जायते सम्पत्स्यते च। ऐश्वर्यापरपर्यायास्ताः ईश्वरे नियमेन वर्तन्त एव। स च तस्य स्वभाव एव। अविद्याक्षये ईश्वरभावापन्नमात्मानम् अनिच्छन्तमपि स्वत एव ताश्छायावत् धावन्ति। वस्तुतः सर्वात्मता पूर्णाहन्ता वा महाविभूतिः, अणिमाद्याश्च तस्या अतिक्षुद्राः स्थूला अंशाः। जीवस्य साधनलक्ष्यम् आत्मस्वरूपोपलब्धिरेव। साधनद्वारा जीवो यदा ईश्वरभावं प्राप्नोति, तदैनाः उदयन्ति, पुनः कैवल्यपथेऽग्रेसरणेन विलयं यान्ति च। ततोऽनिर्वचनीयम्, अनाविलम्, अक्षुब्धम्, अक्षोभ्यम्, आत्मरूपमेव तिष्ठति। अतः सिद्धीनां नात्यन्तमभावो न च ताः सर्वथा हेया वा। अवस्थाविशेषे तत्तत्सिद्धीनां ग्रहणं त्यागो वाऽभिप्रेतः। एतच्च तत्र तत्र शास्त्रे प्रतिपादितम्। यथावसरमेतत् विवेचयिष्यते।

योगदर्शनकर्तुं पतञ्जलेरपि विषये विवेचनावसरः। 'योगेन चित्तस्य पदेन वाचाम्···' इत्यादिश्लोकानुसारं केचन योगसूत्रकर्तारम्, व्याकरणमहाभाष्यकारम्, आयुर्वेदाचार्यं चरकं च पतञ्जलिमेकमेव मन्वते। परमेतत् अपरे न क्षमन्ते। तैरनेकैः प्रमाणैः अनेकानि मतानि साधकबाधकयुक्तिभिः साधितानि। सर्वाण्येतानि मतानि परीक्ष्य अद्यतनीया विचारकाः आर्षकालभवः पुरुषः सामवेदीय-निदानसूत्रप्रवक्ता एव योगसूत्रकारः पतञ्जलिरित्यभ्युपगच्छन्ति। विषयोऽप्ययं विवादास्पदो विशेष-विमर्शसापेक्षश्च। वयं त्वत्र सर्वसिद्धं सरसं रसालफलमिव प्रमेयविवेचनमेवाश्रित्य प्रवृत्ताः, तत्पर्णगणनावत् नीरसविषयैः सम्प्रति तटस्था एव भवामः। प्रसङ्गतो विषयस्यास्य विचाराय सङ्केतमात्रः कृतः।

कुण्डलिनी-षट्चक्रादि-हठयोगीय-विषयेषु योगशास्त्रेऽस्मिन् न किमप्युल्लिखितम्, यद्यपि आधारशक्तिरूपायाः कुण्डलिन्या अपि गभीरं रहस्यमस्ति। नाथसम्प्रदायानुयायिभिः हठयोगिभिरत्र सविशेषं विवेचितमास्ते। परं सर्वमेतत् सीमितकाये विशेषाङ्के कथं सङ्कलयितुं शक्यमिति कृत्वा स मोहोऽपि समावृतः।

अन्ते साधनसौलभ्यानुसारं यावत्कर्तुं पारितम्, तत्कृत्वा विशेषाङ्कोऽयं पाठकेभ्यः सप्रश्रयं सप्रेम च उपायनीक्रियते। आशास्यते च ते अमुं विशेषाङ्कं सस्नेहं स्वीकरिष्यन्तीति।

पूज्य श्री कृष्णबोधाश्रम स्वामिपादाः
जगद्गुरुशङ्कराचार्य-ज्योतिष्पीठाधीश्वराः

'योग'शब्दस्य व्यापकता

अयं खलु 'योग'शब्दो न केवलं चित्तवृत्तिनिरोधार्थकः, अपि तु बहुष्वर्थेष्वपि अस्य वृत्तिः। योगदर्शनादिप्रयोगेषु समस्यमानोऽयं नानार्थकतामापन्न इव असमस्यमानावस्थायामपि बह्वर्थकतां न विजहाति। समाधिसंयमनार्थकयोः युज्-धात्वोः भावार्थक-घञ्प्रत्ययेन निष्पन्नस्यास्य शब्दस्य प्रेमार्थे प्रयोगो दृग्पथमवतरति। यथा देवीभागवते—

"स्वीयान् गुणान् प्रवितितान् प्रवदंस्तथासौ
तां प्रेमदामनुचकार स योगयुक्तः॥"

अत्र पद्ये प्रेमरज्ज्वाकृष्टस्य निष्क्रियस्य अनन्तानन्तब्रह्माण्डनायकस्य अनेक-गुणगणनिलयस्य तस्य प्रेम्णैव योगयुक्तता सङ्घटते।

ज्योतिश्शास्त्रे सप्तविंशतिसंख्यकेषु विष्कम्भादिषु अपि योगशब्दो वर्तते। तत्रैव ऋक्वाचामृतशब्दैः सह वर्तमानोऽयं योगशब्दः स्वस्य संहननार्थतां ख्यापयति।

अन्यत्रापि आध्यात्मिकविषयमधिकृत्य योगशब्दस्य अपरोऽर्थः। तथा हि—

"दुःखाम्बुमग्नाः पुरुषा प्राप्य ब्रह्म सनातनम्।
उत्तरेयुर्भवाम्भोधिं तथा तमनुचिन्तय॥
इत्युक्तः स तदा प्राह क्रियायोगं महात्मनाम्।
नराणामुपकाराय दुःखविच्छित्तिकारकम्॥"

अत्र क्रियायोगान्तर्गत-योगशब्दस्य आराधनमर्थः संविभाति। आध्यात्मिकाधिदैविकादि-विविधदुःखत्रातैः आपीड्यमानस्य पुंसो दुःखविच्छित्तये

परमस्य पुंसः समाराधनेन खेदात्यन्ताभावो भवतीति सुनिश्चितम्। अत एव अस्मिन्नेव प्रकरणे—

"तमाराध्य जगन्नाथं क्रियायोगेन वाडवाः।
अग्नौ मोक्षं परं जग्मुस्तस्मात् तन्मोक्षकारणम्॥"

इत्युक्तम्। अर्थात् विपश्चितो विद्वांसः संसारार्णवमग्नानां विषयोपहतचेतसां सचेतसां कृते हरितोषणाय परमया भक्त्याऽऽराधनरूपया अग्नौ तं परब्रह्म परमात्मानं भेजिरे। अतोऽयं क्रियायोगान्तर्गतो 'योग'शब्द आराधनरूपमर्थं गाहते। तेन चाराधनेन अशमवतां शमं यान्ति शोक-व्रातानि।

योग-साधनप्रभृतिषु शब्देषु अन्तर्गतस्य योगशब्दस्य ब्रह्मणि संयोगोऽर्थः। अत एव—

"आत्मप्रयत्नसापेक्षा विशिष्टा या मनोगतिः।
तस्या ब्रह्मणि संयोगो योग इत्यभिधीयते॥" इत्युक्तम्।

बन्ध-मोक्षकारणस्य विषयासक्ताऽनासक्तस्य बन्धमुक्तरूपस्य मनसो विषयेभ्यः समाहृत्य विज्ञानात्मनि प्रेरितस्य तस्य ब्रह्मभूये परमेश्वरे एकात्मभावनयनमेव योग-साधनम्। अनेन योगसाधनेन मनसोऽनेकात्मभावस्य निरसनपूर्वकं ब्रह्मभूयत्वमापद्यते।

क्वचित् योगशब्देन अष्टाङ्गयोगयुक्तेन मुक्तिलाभस्य चर्चा चर्चिता। तथा हि—

"मुक्तिरष्टाङ्गविज्ञानात् संक्षेपात् तद्वदामि ते।
यमाः पञ्च त्वहिंसाद्या अहिंसाऽप्राणिहिंसनम्॥
सत्यं भूतहितं वाक्यमस्तेयं स्वाग्रहं परम्।
अमैथुनं ब्रह्मचर्यं सर्वत्यागोऽपरिग्रहः॥"

इत्यादिभिः यम-नियमादिपुरस्सरं चित्तस्य शोधनम्। तदनु ब्रह्मात्मभावप्राप्तिः।

क्वचित् गीतादि-प्रबन्धेषु योगशब्दस्य—

"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योग-क्षेमं वहाम्यहम्॥"

इत्यत्र अप्राप्तस्य वस्तुनः प्राप्तिर्योगः, प्राप्तस्य वस्तुनो रक्षणं क्षेमः इति सन्दर्भेण प्राप्तिरर्थः ।

योगदर्शने च "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इति सूत्रयता भगवता पतञ्जलिना चित्तवृत्तीनां शुद्धाशुद्धानां सर्वासां निरोध एव योगपदार्थ उक्तः । तेन च 'तदा द्रष्टुः (परमात्मनः) स्वरूपेऽवस्थानम्' भवति ।

इतोऽपि योगशब्दस्य व्यापकमर्थं दिदर्शयिषुणा शास्त्रकारेण अभ्यधायि यत्—

"योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥
निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥
यदृच्छया मत्कथासु जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिरक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥" इति ।

अत्र 'योग'शब्देन ज्ञान-कर्म-भक्तीनां त्रिकाणां बोधो भवति । विषयेषु अनासक्तस्य निवृत्तेन्द्रियव्यापारस्य संन्यासिनो ज्ञानम् । यज्ञादिकर्मकलापेषु अनिवृत्तचित्तस्य विविधाभिलाषिणश्च पुंसः कर्मप्रवृत्तये शास्त्रस्योपदेशः, स च कर्मपदवाच्यः । भगवतो गुणगणश्रवणजस्नेहस्य तत्कथासु जातश्रद्धस्य नातिनिर्विण्णस्य नातिसक्तस्य पुरुषस्य निर्दिश्यते भक्तिः उपादेयत्वेन । अत एव भगवत्सम्बन्धिनीषु कथासु सश्रद्धं प्रवर्तमानस्य निष्कामकर्मयुक्तस्य स्वधर्मपालनैकपरायणस्य भगवति जायते अहैतुकी भक्तिः । निर्मलस्वान्तो निर्धूतमनोमलः, अत एव विशुद्धान्तःकरणो विशुद्धस्य ज्ञानस्य अवाप्तौ अधिकारतां प्राप्नोति ।

गीतायां बहुत्र स्थलेषु योगशब्दः प्रयुक्तो वर्तते—

"सांख्ययोगौ पृथक् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।"
"ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥"
"योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।"
"योगः कर्मसु कौशलम् ।" इत्यादि ।

इत्थं विविधप्रकरणेषु सांख्य-कर्म-ज्ञान-विज्ञानादिशब्दैः सह योगं भजमानो योगशब्द अनेकार्थतामवगाहमानः स्वार्थस्य व्यापकताम् अभिव्यनक्ति।

एवन्त्वे योगदर्शनस्थ-योगशब्दस्य चित्तवृत्तिनिरोध एवार्थः। निरुद्ध-चित्तवृत्तेः पुरुषस्य पुरुषसाक्षात्कारयोग्यता सम्पद्यते। अनेकासां विभूती-नामपि प्रादुर्भावो भवत्यञ्जसा। तथापि ज्ञानहेतुकायाः कैवल्यमुक्तेः ज्ञानेनैव सम्पाद्यमानत्वात् योगोऽयम् अवरकोटावेव। समाधिकाले समा-सादितायां ब्रह्मात्मैकभावनायामपि व्युत्थानदशायां तदपायात्। वेदान्तभते च जाग्रदादिषु निखिलप्रपञ्चस्य असत्यतया भाने समाधौ चापि ब्रह्मात्मकभानस्य वर्तमानत्वात् सर्वदा आत्मस्वरूपेऽवस्थितत्वा-न्नानिर्मुक्तिप्रसङ्गात्।

अतो योगशब्दस्य नानार्थकता ज्ञानकर्मोपासनादिपरेषु वाक्यकदम्ब-केषु स्फुटैव। शास्त्रचिन्तापरायत्तैकबुद्धिभिः स्वप्रयोजनपरवशतया यत्र यादृगर्थोऽपेक्ष्यते, तादृशेनार्थेन शास्त्रतात्पर्यमवगन्तव्यम्। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इत्यभियुक्तैर्निष्कण्टकः पन्थाः प्राणिनायि। किं बहुना।

—०:❀:०—

पद्मविभूषणाः महामहोपाध्यायाः

श्रीगोपीनाथ कविराज महोदयाः

योगोक्त-विषयाणां परिचयः

[भारतीयदर्शनागमशास्त्रेषु सविशेषवैदुष्यवतां श्रीकविराजमहोदयानां लेखोऽयं योगविषयाधिगमाय सुबहु साहाय्यं विधास्यतीति कृत्वाऽत्र प्रकाश्यते। एतादृशलेखप्रदानानुग्रहेण उपकृतः 'सूर्योदयः' सुचिरं सश्रद्धं तेषां कृतज्ञतां प्रकटयतीति। —सम्पादकः]

प्राचीनभारतीयवाङ्मये 'योग'शब्दो व्यापकेषु विभिन्नेष्वर्थेषु व्यवह्रियते। शब्दस्यास्य आध्यात्मिकेऽर्थे सत्यपि प्रकारभेदे अंशतो मौलिकं सामञ्जस्यं दरीदृश्यत एव। तस्य किमपि लक्षणं विधीयताम्—'जीवात्म-परमात्मनोः संयोगः, सूर्याचन्द्रमसोः सम्मेलनम्, शिव-शक्त्योः सामरस्यम्, चित्तवृत्तेर्निरोधो वा योगः' इति, अन्यद्वा किमपि लक्षणं क्रियताम्, मूलतो विशेषभेदो न स्यात्।

महायोगः पूर्णयोगश्च

योगशिखोपनिषदि सुविस्तृतं वर्णितमास्ते यत् स्वाभाविको योग एक एव, नाऽनेकः। साधकेषु 'महायोग'-नाम्ना स प्रथितः। अवस्थाभेदैर्महायोग एवायं मन्त्रयोग-हठयोग-लययोगापरपर्यायराजयोगरूपैः प्रकाशते।

मन्त्रयोगो जपयोगश्च

योगशास्त्रे 'मन्त्रयोग'-शब्दो यद्यपि तत्र तत्र नैकेष्वर्थेषु प्रयुक्तः, तथापि तस्य मुख्यं लक्षणं 'मन्त्रमाश्रित्य जीवात्म-परमात्मनोः सम्मिलनम्' इति स्वीक्रियेत, तदा तददुष्टं भवेत्। शब्दात्मकस्य मन्त्रस्य चेतनत्वे तत्साहाय्येन जीवः क्रमश ऊर्ध्वं गच्छन् शब्दातीते परमात्मधाम्नि स्थानं प्राप्नुयात्। वैखरीशब्दतः क्रमशो मध्यमामवस्थां भिन्दन् पश्यन्तीशब्दे

प्रवेश एव मन्त्रयोगस्य मुख्यमुद्देश्यम्। पश्यन्तीशब्दोऽयं स्वप्रकाशमानः चिदानन्दमयः। चिदात्मकस्य पुरुषस्य सैव अक्षया अमरा च षोडशी कला। तदेव आत्मज्ञानस्य इष्टदेवसाक्षात्कारस्य शब्दचैतन्यस्य वा प्रकृष्टं फलम्। अवस्थामिमाम् अधिगतो जीवः कृतकृत्यतां भजते। ततः परं स्वयमेव अव्यक्तो भावः समुदेति। सैव शब्दस्य तुरीयावस्था। मूलाधारतो निरन्तरं शब्दस्रोत ऊर्ध्वं गच्छति। अयमेव शब्दो निखिलस्य जगतः केन्द्रे नित्यं प्रतिष्ठितः। बहिर्मुखो जीव इन्द्रियवशवर्ती भूत्वा विषयेषु धावति। अत एव नैतत् स जानाति। यदा क्रियाकौशलविशेषेण अन्येन वा केनचन उपायेन इन्द्रियाणां बहिर्गतिः निरुद्ध्यते, प्राण-मनसी च स्तम्भिते भवतस्तदा साधकाः चेतनं शब्दममुं श्रोतुमधिकृता भवन्ति। षण्मुखीमुद्रया कृत्रिमोपायेन नादस्याय अनुसन्धानं चेष्ट्यते। नोदनेन अभिघातेन वा जनितस्य शब्दस्य अनाहतनादे लये असम्भाव्यमाने मन्त्रोऽयम् अक्षरसमष्टिरूपेणैव तिष्ठति। तस्य सामर्थ्यं प्रकाशश्च नानुभूयेते। इडा-पिङ्गलयोर्गतिः अवरुद्ध्य प्राण-मनसोः सुषुम्णायां प्रवेशे सम्पद्यमाने तदिदं नित्यं सारस्वत-स्रोतः अनुभूयते। इदमेव साधकम् आज्ञाचक्रं नयति, ततश्च विन्दुस्थानं विभेद्य क्रमशः सहस्रारकेन्द्रे महाविन्दुं यावत् प्रापयति। निरन्तरं श्वास-प्रश्वासैः जीवो यं 'हंस'मन्त्रं जपति, गुरुकृपया प्राणे विपरीतभावापन्ने सः 'सोऽहम्'-मन्त्ररूपेण परिणमते।

अस्पर्श-योगः

माण्डूक्य-कारिकायां श्रीमदाचार्यगौडपादैः 'अस्पर्श-योगः' समुल्लिखितः। यद्यपि तत्रायं न विवृतः, तथापि प्रसङ्गतो विशेषणमुखेन किञ्चित् तद्वर्णनं तत्र समुपलभ्यत एव। तेनेदं ज्ञायते यत् योगोऽयं नितरां दुर्लभः। साधारणो योगी विषयेऽत्र प्रवेष्टुं न शक्नोति। सर्वभूतानां मङ्गलस्य आनन्दस्य च निदानभूतोऽयं योगः सर्वविधं विरोधमतीत्य प्रतिष्ठितः, वस्तुतः 'अभयपद'शब्देन अभिधेयश्च। प्रसङ्गतो वेदान्तग्रन्थविशेषेऽपि अयं समुल्लिखितो दृश्यते। यैः कुयोगिभिः 'निरालम्ब-पद'मधिगन्तुम्

अधिकारो नासाद्यते, ते आत्मलोपाशङ्क्या निर्विकल्पायामस्यां परमभूमौ प्रवेष्टुं न क्षमाः, नापि वाञ्छन्ति च।

वस्तुतः 'अस्पर्शयोगो'ऽयम् असम्प्रज्ञातस्य निर्विकल्पस्य वा समाधेः अवस्थाविशेषः। नात्र संशीतिलेशोऽपि। इन्द्रियार्थसन्निकर्षरूपेण स्पर्शेण वृत्तिज्ञानं समुदेति। किन्तु बहिरिन्द्रियाणाम् अन्तःकरणस्य च सम्यक् निरोधे या अस्पर्शावस्थाऽनुभूयते, सा वृत्तिरहितां शुद्धचैतन्यभूमिमेव सूचयति। न्यायदर्शनानुसारमपि स्पर्शेन्द्रियेण त्वचा मनःसंयोगमन्तरा कस्यापि ज्ञानस्य प्राकट्यमसम्भवि। अयमेवात्र हेतुर्यत् मनोवहा ज्ञानवहाश्च नाड्यः त्वचमाश्रित्यैव प्राकट्यं यान्ति, ताश्च सर्वा वायवीयाः। स्पर्शश्च वायोर्धर्मः। अत एव अस्पर्शयोगावस्थायां वायोः स्पन्दननिरोधेन पूर्वोक्ता नाड्यो यदाऽव्यक्ततां गच्छन्ति, तदा एकत्र मनो वृत्तिशून्यं जायते, अपरत्र च इन्द्रियाण्यपि निरुद्ध्यन्ते। तदा आत्मा निजस्वरूपे प्रकाशते।

शब्दयोगो वाग्-योगश्च

प्राचीनेषु आगमशास्त्रेषु वाग्योगापरपर्याय-'शब्दयोग'नाम्ना या योगप्रणाली समुल्लिखिता, तत्तात्पर्यं रहस्यं च सम्प्रति बहवः प्रायो विस्मृतवन्तः। शैवागमान्तर्गते व्याकरणागमेऽपि योगसाधनस्यास्य परिचयो दृश्यते। भर्तृहरेः 'वाक्यपदीयम्' साम्प्रदायिकाश्च प्राचीनास्तद्व्याख्याः यैरनुशीलिताः, ते नूनं वाग्योगस्यास्य अभिज्ञाः स्युः। व्याकृतशब्दस्य वैखरीदशातो मध्यमामुत्तीर्य पश्यन्तीस्वरूपे प्रवेश एव योगसाधनस्यास्य मुख्यमुद्देश्यम्। पश्यन्तीदशातो परावस्थायाम् 'अव्याकृते पदे' गति-स्थिती स्वभावतो नियमेन स्वत एव जायेते। न ते कस्याश्चन साधनाया आन्तरिकं लक्ष्यम्। तत्र वैखर्याः स्थूलेन्द्रियग्राह्यशब्दविशेषाणां च मिश्रावस्थाया वर्तमानत्वाद् असंख्या आगन्तुका मलास्तिष्ठन्त्येव। गुरूपदिष्टप्रणाल्या साधनेऽनुष्ठीयमाने कोऽपि शब्दः स्थूलावस्थया विमोच्य विशुद्धः कर्तुं पार्यते। शोधन-क्रियैवेयं 'शब्द-संस्कारः' इति व्यपदिश्यते। यदा शब्दः

सम्यक् शुद्धः संस्कृतश्च जायते, तदा स दिव्यवाणीरूपेण, संस्कृतभाषारूपेण सृष्टिकारिब्राह्मीशक्तिरूपेण वा परिणमते। केवलमेकमपि शब्दं प्रणाल्याऽनया संशोद्ध्य जीव ऐकान्तिकीं कृतकृत्यतामासादयति।

'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः
स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति।'

ये ह्येकस्यापि शब्दस्य संस्कारे समर्थास्तेषां कस्याप्यभावो न जायते। एक एव शोधितः स शब्दः शक्तिरूपेण प्रकाश्य तेषां पुरतः कामधेनोराकारेण आविर्भवति। शब्दमर्मविदो वसिष्ठादयो महर्षयः अनेनैव उपायेन अलौकिकशक्तौ अधिकृताः समभूवन्। आवर्तनस्य जपयज्ञादेर्वा अभ्यासेन यदा वैखरीशब्दस्य समस्ता आगन्तुका मलाः प्रक्षाल्यन्ते, तदा इडा-पिङ्गलयोः सापेक्षं स्तम्भनं भवति, सुषुम्णापन्थाश्च कियान् उन्मुक्तो जायते। ततः प्राणशक्तेः साहाय्येन शोधिता शब्दशक्तिः सुषुम्णारूपं ब्रह्मपथमाश्रित्य क्रमश ऊर्ध्वगामिनी भवति। सैवेयं शब्दस्य सूक्ष्मा मध्यमा वाऽवस्था। अस्यामेव अवस्थायामनाहतनादः प्रकटते, स्थूलशब्दश्च विराट्प्रवाहेऽस्मिन् निमज्ज्य तेन पूर्यते, चैतन्यञ्च बिभर्ति। अयमेव मन्त्रचैतन्यस्य उन्मेषः। इमामवस्थां प्राप्तः साधको जीवमात्रस्य चित्तवृत्तीः अपरोक्षभावेन शब्दरूपेण जानाति। देश-कालव्यवधानं शब्दस्येमां स्फूर्तिं निरोद्धुं न क्षमम्। ततः परं प्रातःकालीनबालसूर्यवत् शब्दब्रह्मरूप आदित्यः साधकस्य आत्मरूपेण इष्टदेवतारूपेण वा प्रकाश्य अन्तराकाशस्थं तमो दूरीकरोति। आगमशास्त्रे इयमेव 'पश्यन्ती वाक्' उच्यते। प्राचीनवैदिकवाङ्मये 'ऋषित्वप्राप्तिः मन्त्रसाक्षात्कारः' इति वा नाम्ना यस्याः यत्र तत्र समुल्लेखो दृश्यते, सैवेयमवस्था नाम। आत्मदर्शनम्, इष्टदेवदर्शनम्, ज्ञानचक्षुष उन्मीलनम्, शिवनेत्रस्य विकासः, षोडशीकलाया उन्मेषः, सांख्योक्तस्य पुरुषस्य स्वरूपावस्थितिरूपं कैवल्यम्—सर्वमिदं पश्यन्तीभूमेर्विविधा अवस्थाः। पश्यन्त्यपेक्षया पराभूमेः पन्था अत्यन्तं गूढः। अत एवात्र तदालोचनम् अप्रासङ्गिकम्, अनधिकृतचेष्टितञ्च भवेत्।

योगमार्गो वियोगमार्गश्च

योगस्य वियोगस्य (विवेकस्य) वा मार्गयोः परस्परं को भेद इत्यत्र साधारणपाठकानां काचित् विशिष्टा धारणा स्यादिति तु न ज्ञायते। नूनमात्यन्तिकया परमार्थदृष्ट्या नास्ति कश्चिद् भेद इति तु सत्यमेव। किन्तु व्यावहारिकभूमौ तयोः परस्परं भेदो दरीदृश्यते, तदनुसारमेव च सिद्धावपि भेदो जायते। साधारणतो जीवो यस्यामवस्थायां संसारे परिभ्रमति, तत्र स्थूलसूक्ष्मभावौ परस्परं मिलितौ वर्तेते। न केवलमेतदेव, प्रत्युत सूक्ष्मभावे स्थूलस्यांशः स्थूलभावे च सूक्ष्मस्यांशोऽनिवार्यतया ओतप्रोतः। सुतरां विशुद्धदृष्ट्या दृश्यमाने उभयोरेकः कश्चिद् अपरं विहाय नैव स्थातुं क्षमः। दारुणि वह्निरिव, तिले तैलमिव, दुग्धे वा सर्पिरिव स्थूले सूक्ष्मतत्त्वं प्रच्छन्नतया निहितमास्ते। क्रियाविशेषेणास्य स्थूलतः पृथक्करणमावश्यकम्। सांख्यादिशास्त्रानुमोदिता साधनप्रणाली अस्यैव वियोगाख्यस्य विवेकाख्यस्य वा मार्गस्य समर्थिका। वेदान्तसिद्धः पञ्चकोषविवेकोऽपि प्रकारान्तरेण विवेकप्रथान्तर्गत एव। योगिनां मतमिदं यद्वियोगस्यास्य पूर्णतः सिद्धौ सत्याम् उभयत्र योगस्थापनमावश्यकं जायते। विवेकसाधनद्वारा परस्परं पृथग्रूपेण यौ द्वौ पदार्थौ उपलभ्येते, वस्तुतो न तौ पृथक्पदार्थौ। उभावपि एकस्यैव मूलभूतस्य पदार्थस्य पृथगवभासमात्रम्। तत्त्वस्यास्य उपलब्धये योगप्रक्रियाया अवलम्बनमन्तरा न निर्वाहः। स्थूलं लिङ्गं च परस्परमाश्लिष्य यदा चरमावस्थायाम् एकस्मिन् परमे पदार्थे परिणमतस्तदा प्रतीयते यदस्मात् मूलाद्वयभावत एव स्थूलसूक्ष्मयोर्भावयोः विकासः सम्पद्यते।

निदर्शनरूपेणात्र सर्वसुबोधभाषया तत्त्वस्यैकस्य उल्लेखः क्रियते। शास्त्रज्ञाः स्वल्पमात्रमपि आध्यात्मिकविषयज्ञाश्च जानन्ति यत् स्थूलशरीरवत् जीवस्यैकं सूक्ष्ममपि शरीरं भवति। शरीरमिदं साधारणतः स्थूलशरीरेण ईदृक् घनिष्ठतया समाश्लिष्टं वर्तते यद् दीर्घकालं यावद् अभ्यासमन्तरा मनुष्यः केवलमिच्छामात्रेण अमुं स्थूलशरीरतः पृथक्कर्तुं न

पार्येत। सत्यप्येवं स नैकैः कारणैः सहजत एव ततः पृथग्भावमनुभवितुं शक्नुयात्। स्वप्नादिषु, जीवितावस्थाया अनुभवविशेषे, सूक्ष्मदर्शिभिर्दृष्टे मृत्युकालीने अनुभवे वा सूक्ष्मशरीरस्य पृथक्सत्तां स्पष्टत एव अनुभवितुं शक्नुयात्। यथा मन्थनप्रक्रियया तैलपेषण्या तिलेभ्यस्तैलं निष्कास्यते, तथैव प्रक्रियाविशेषेण स्थूलशरीरतोऽपि सूक्ष्मशरीरं पृथक्कर्तुं शक्यते। कामं तत् पूर्णतो न स्यात्, अंशतस्तु प्रायः सर्वे एव अभ्यासिन एतत् कर्तुं शक्नुवन्ति। दशायामस्यां स्थूलशरीरमकर्मण्यवत् प्रस्तरखण्डमिव तिष्ठति, सूक्ष्मशरीरं पुनस्ततो बहिर्निर्गत्य नैकेषु स्थानेषु परिभ्रमद् अन्ते पुनर्यदा स्थूलशरीरं प्रविशति, तदा पुरुषश्चैतन्यमासादयति, तत्र पूर्ववदेव ज्ञान-क्रिये सञ्चरतः। सूक्ष्मशरीरमिदं भौतिकैरावरणैर्न प्रतिरुद्ध्यते, न वा स्थूलजगतः कश्चिदपि नियमस्तं प्रभावयति। केचन योगिनो गृहे बद्धाः स्थूलशरीरं तत्र स्थापयन्तोऽपि सूक्ष्मशरीरद्वारा भित्त्याद्यावरणसीमा अतिक्रम्य बहिर्जगति परिभ्रमितुं शक्नुवन्ति। तदा तेषां स्थूलशरीरं गृहे निष्क्रियं सद् आवद्धं तिष्ठति। कश्चिदपि स्वेन्द्रियैरमुं स्थूलशरीरमनुभवितुं शक्नोति।

निदर्शनेनैतेन सुस्पष्टं यद् गृहे आवद्धं शरीरं स्थूलशरीरम्, ततो निर्गत्य बहिरितस्ततो विचरणशीलञ्च सूक्ष्मं शरीरम्। परस्परसम्बद्धे अपि उभे पृथक् पृथक्। पार्थक्यमिदं वियोगमार्गेण समुपलभ्यते। तथापि एतादृशी अवस्थैका जायते, यदाऽस्य निर्णयो दुष्करो जायते यद् देहोऽयं स्थूलः सूक्ष्मो वा। यतो हि कुत्रचन इदमपि दृश्यते यत् कश्चिद् योगी गृहे आवद्धः सन्नपि यदा गृहान्निर्गतस्तदा गृहे पूर्ववत् स्थूलशरीरमासने समुपविष्टं नासीत्। अर्थात् स समग्रं शरीरमादाय निर्गतः, स्वेच्छया भ्रमन्नासीत्, कैश्चित् स दृष्टोऽपि। येन शरीरेण स गृहान्निर्गत्य भित्त्यादिकमावरणमतिक्रम्य बहिर्गतः, न तत् स्थूलशरीरम्, यतो हि तत् प्रतिघातधर्मविशिष्टं भित्त्यादिकं विभिद्य गन्तुमक्षमम्। परं तन्न सूक्ष्मशरीरम् इत्यपि निश्चितम्। यदि तत् सूक्ष्मशरीरं स्यात्तर्हि स्थूलशरीरस्य निष्क्रियरूपेण आसनसमुपवेशनमावश्यकं भवेत्। योगिन एता-

दृश्यं देहं 'सिद्धदेहा'ख्यया व्यपदिशन्ति। सिद्धिरियं स्थूल-सूक्ष्मयोः अत्यन्तघनसंश्लेषणेन लभ्यते। अत्र स्थूलसूक्ष्मयोर्धर्माः दृष्टिपथं यान्ति। अतोऽयं देहः प्रकारान्तरेण स्थूलः सूक्ष्मोऽपि वक्तुं शक्यः। किन्तु वस्तुतः स न स्थूलो नाऽपि सूक्ष्मः। अवस्थामिमामधिगन्तुं योगमार्गानुसरणमावश्यकम्। स्पष्टमेतद्, आरम्भे एतादृशो योगो न सम्भवी। आदौ वियोगमार्गसाधनद्वारा मिश्रसत्तायां वर्तमानयोः द्वयोः सत्तयोः पार्थक्यं करणीयं भवति। ततश्च योगमार्गसाधनेन उभयोः सम्मेलनपुरस्सरमेकीकरणं साधनीयं भवति।

योग-वियोगमार्गयोः समासत इदमेव रूपम्। इतोऽधिका विषयस्यास्य विवेचना अप्रासङ्गिकी भवेत्।

नादानुसन्धानम्

शब्दयोगस्य पूर्वोक्तविवेचनया नादानुसन्धानस्यापि तत्त्वमंशतोऽवगन्तुं शक्यम्। बद्धो जीवः श्वास-प्रश्वासाधीनो भूत्वा इडा-पिङ्गलामार्गेण गच्छति। तस्य सुषुम्णामार्गः प्रायोऽवरुद्धः। अत एव तस्य इन्द्रियाणि चित्तं च सर्वमपि बहिर्मुखम्। जगतः अन्तस्तले, आकाशमण्डले सततं ध्वन्यमानम् अखण्डनादं स चित्तस्य प्राणानां च विक्षेपेण श्रोतुं न पारयति। किन्तु यदा गुरुकृपातः क्रियाविशेषेण च सुषुम्णामार्गं उन्मुक्तो जायते, तदा प्राणः स्थिरां सूक्ष्मां चावस्थामासाद्य तत्र प्रविशति, तेन शून्यपथा च मन अनाहतध्वनिं शृणोति। निरन्तरं ध्वनेरस्य अनुसरणेन मनः क्रमशो निर्मलं शान्तं च जायते। यदा मनः पूर्णतः स्थैर्यं भजते, तदा नादध्वनिर्न श्रूयते। तदा चिदात्मक आत्मा स्वस्वरूपे स्थितो बाह्यप्रकृतिस्पर्शतो मुक्तिमासादयति।

मूलतो नादस्यैक्येऽपि औपाधिकसम्बन्धात्स विभिन्नस्तरेषु विभक्तः। योगिभिः साधारणतोऽस्य सप्त स्तराः समुल्लिखिताः। प्रणवः ॐ कारो वा उपाधिरहितं शब्दतत्त्वम्। वैयाकरणैः प्राचीनसाधकसम्प्रदायविशेषैश्च

'स्फोट'नाम्ना अस्य व्याख्यानं कृतमस्ति। स्फोट एवायम् अखण्डसत्तारूपस्य ब्रह्मतत्त्वस्य वाचकः। अर्थात् अनेनैव ब्रह्मभावस्य स्फूर्तिर्जायते। प्रणव ईश्वरस्य वाचक इत्यस्यापि इदमेव तात्पर्यम्। वाचकः स्फोटशब्दो 'ब्रह्म'रूपेण वाच्यसत्ता च 'परब्रह्म'रूपेण वर्णिता दृश्यते। अत एव प्रकारान्तरेणेदं वक्तुं शक्यं यत् ब्रह्म एव ब्रह्मणः प्रकाशकम्। स्वप्रकाशं ब्रह्म स्वस्वरूपातिरिक्तेन केनापि पदार्थेन प्रकाशितुमक्षममिति सुस्पष्टतरम्। किन्तु स्फोटः शब्दतत्त्वं वा यावत् जीवस्य कृते अव्यक्तम्, तावत् तेन तस्य किमपि प्रयोजनं न सिद्ध्यति। अत एव योगी यथाविधि ध्वनि-नादौ अवलम्ब्य एनमभिव्यनक्ति। कुण्डलिन्या उद्बोधनमपि अंशत एतादृशमेवास्ते। मूलाधारतो नादस्य उद्भवः प्रारभ्यते, सहस्रारे च गत्वा स लीयते। साधकस्य मनो यदि नादेनैतेन युक्तं सद् अनायासेन परब्रह्म यावत् गत्वा चिन्मयमाकारं विभर्ति, चैतन्ये च स्वात्मनो विलयनं वितनुते।

हठयोग-प्रदीपिकायाम्, योग-तारावली अन्येषु च नैकेषु ग्रन्थेषु नादानुसन्धानस्यास्य विस्तृतं वर्णनं दरीदृश्यते।

असम्प्रज्ञातः समाधिः

पातञ्जलयोगशास्त्रे असम्प्रज्ञातः समाधिर्द्विधा विभक्तः—१. भवप्रत्ययः, २. उपायप्रत्ययश्चेति भेदात्। चित्तवृत्तेः सम्यक् निरोध एव तस्य लक्षणम्। चित्तमात्मनो निकटतरम्, उभयोश्च स्वस्वामिभावसम्बन्धोऽपि। व्युत्थानदशायां द्रष्टा पुरुषः स्वस्वरूपं विस्मृत्य वृत्तिसङ्कुलेन चेतसा स्वात्मानमभिन्नं मनुते, वृत्त्याकारं च विभर्ति। किन्तु यदा वृत्तयो निरुद्ध्यन्ते, तदा तस्य कृते एतादृशं वृत्त्याकारधारणम् असम्भवि। वृत्तिहीनायामस्यां दशायां पुरुषः चैतन्यमासाद्य द्रष्टुः साक्षिणो वा रूपेऽवस्थितो भवति। अथवा गभीरेण अज्ञानेन आच्छन्नो भूत्वा एकतो यथा विषयज्ञानशून्यो भवति, तथैवापरतः स्वचित्स्वरूपोपलब्धितोऽपि वञ्चितो जायते। शास्त्रानुसारम् इयमेव प्रकृतिलय-दशा जडसमाधि-दशा वा। योगिभिर्नेयं

कदापि काम्या। वृत्तिशून्यत्वादियं यद्यपि असम्प्रज्ञात-समाध्यन्तर्गतैव, तथापि ज्ञानोन्मेषाभावात् नेयं योगावस्था। पतञ्जलिना अयमेव भवप्रत्ययाख्योऽसम्प्रज्ञातसमाधिरुच्यते। प्रकृतिलीनवदेव विदेहदेवता अपि अस्यामेव अवस्थायां तिष्ठन्ति।

साधक-समाजेषु योगिनां वास्तविकी योगावस्था उपायप्रत्ययात्मकेन असम्प्रज्ञातसमाधिरूपेणैव परिचीयते। अत्र उपायो नाम प्रज्ञा, अर्थात् शुद्धज्ञानमेवावधेयम्। सम्यग्ज्ञाने समुत्पद्य निरुद्धे सति योऽसम्प्रज्ञातसमाधिः आविर्भवति, न स ज्ञानानुदयकालीनेन असम्प्रज्ञातसमाधिना तुलनीयः। भवप्रत्ययावस्थायां कियत्कालं यावत् चित्ते निरुद्धे सत्यपि कालान्तरे तदुत्थानम् अवश्यम्भावि। यतो हि तावत्पर्यन्तं चित्तसंस्काराः पूर्णतया तिष्ठन्ति। किन्तु प्रज्ञायाः समुत्पत्तौ क्रमशः संस्कारदाहाद् योऽसम्प्रज्ञातसमाधिः प्रादुर्भवति, तत्र व्युत्थानस्य न काऽपि आशङ्का। वस्तुतः स एव प्रकारान्तरेण कैवल्यस्य पूर्वास्वादो वक्तुं शक्यः।

बौद्धैर्योगिभिः प्रतिसंख्या-ऽप्रतिसंख्यानामकौ निरोधस्य यौ द्वौ प्रकारौ वर्ण्येते, प्रायस्तौ उपायप्रत्ययरूपस्य असम्प्रज्ञातसमाधेस्तुल्यौ। सम्प्रज्ञातसमाधौ प्रवेशमन्तरा असम्प्रज्ञातसमाधेरधिगमः कदापि योगिभिर्न प्रार्थनीयः। अविद्यादिक्लेशान् अदग्ध्वा केवलं वृत्तिनिरोधकरणेनैव पुरुष आत्मस्वरूपेऽवस्थातुं क्षमो न भवति। ज्ञानमन्तरा अविद्याबीजनाशस्य न कोऽप्युपायो वरीवर्ति। क्रियायोगद्वारा अर्थात् तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानां यथाविधि अनुष्ठाने कृतेऽपि अविद्यासंस्कारा न दग्धुं शक्याः। किन्तु एतेन नेदं वक्तुं शक्यं यत् क्रियायोगो निष्फल इति। यतो हि क्रियायोगप्रभावादेव संस्काराणां स्थूलं रूपं छिद्यते, ते च सूक्ष्ममाकारं धारयन्ति। ततः परं प्रसंख्याने ज्ञानाग्नौ वा प्रज्वलिते तूर्णं ते दग्धा जायन्ते, पुनर्जागरणशक्त्या च रहिता भवन्ति। सम्प्रज्ञातसमाधेः प्रत्येकभूमिकायामेव तदाश्रयेण ज्ञानं विकसति। ततः सास्मितभूमौ सालम्बज्ञानस्य चरमा शुद्धिः सम्पद्यते। अस्यैव पारिभाषिकं नाम 'गृहीतसमापत्ति'रिति। श्रद्धा, वीर्यम्, स्मृतिः, समाधिः, प्रज्ञा चेति ज्ञानप्राप्तेः

स्वाभाविकः क्रमः। 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्' इति गीतोक्तवचनेऽपि ज्ञानप्राप्तिमूले श्रद्धैव प्रतिष्ठापिता। अत एव श्रद्धाहीनेन शतशः प्रयतितेऽपि ज्ञानप्राप्तेः सामर्थ्यं नाधिगम्यते। भवप्रत्ययरूपे असम्प्रज्ञातसमाधौ चित्तस्य निरोधे सत्यपि अविद्या न निवर्तते। अविद्यायास्तज्जनितसंज्ञायाश्च वर्तमानत्वे आत्मा न मुच्यत इति योगशास्त्रसिद्धान्तः।

निर्माणकायः, निर्माणचित्तं च

निर्माणकायः निर्माणचित्तं चेति विषयौ योगशास्त्रे सविशेषं समालोचितौ। उच्चकोटिका योगिनो बहुवारम् एते निर्माय यथावश्यकं कार्यं सम्पादयन्ति। साधारणतो बहवो जना आभ्यामपरिचिताः, यतो हि लौकिकसाहित्ये एतादृशस्य देहस्य चित्तस्य वा वर्णनं कुत्रापि नोपलभ्यते। जगति वयं साधारणतो यैर्देहैः परिचिताः, ते भौतिकदेहा एव। पञ्चभूतानि—ते उपादानरूपाः स्युः, एकमुपादानं शिष्टाश्च सर्वे उपष्टम्भका वा भवेयुः—परस्परं संश्लिष्य स्थूलदेहं विरचयन्ति। रचनाया अस्या मूले भौतिकसंयोगस्य वा मूले देहभृतां जीवानां पूर्वजन्मार्जितानि प्रारब्धानि भवन्ति। प्रारब्धकर्मणा देहोत्पत्तिः। देहस्य आयुः स्थितिकालो वा, तद्देहस्य च यावान् सुख-दुःखभोगो नियतः—एतत्सर्वं प्रारब्धकर्मणैव नियन्त्रितम्। किन्तु योगिनः केवलं स्वसङ्कल्पेनैव अर्थात् प्रारब्धसहयोगमन्तराऽपि देहं निर्मातुं क्षमाः, तथा तैः स निर्मीयतेऽपि। नूनमेतादृशदेहनिर्माणस्य नैकाः पद्धतयः। मन्त्रबलेन, द्रव्यविशेषप्रभावेण, तपसः फलेन, समाधिसिद्धयोगिनो योगप्रभावेण च एतादृशा देहाः निर्मातुं शक्याः। विशिष्टे प्राक्तने वा कर्मणि सति केवलं योनिविशेषे जन्मग्रहणादपि एतादृशो देहः प्राप्यते। दृष्टिभेदेन अमुं निर्माणदेहं केचन 'निर्माणचित्त'मपि व्याहरन्ति। न्यायकुसुमाञ्जलौ श्रीमदुदयनाचार्येण प्रथमस्तवकारम्भे पातञ्जलसम्प्रदायं निर्दिशता 'निर्माणकाय'शब्दः प्रयुक्तः। बौद्धशास्त्रेऽपि सर्वत्र धर्मकाय-सम्भोगकायाभ्यां सहैव निर्माणकायोऽपि समुल्लिखितो वर्तते। प्राचीनकाले मध्यकाले च बहुभिर्बौद्धपण्डितैः स्वस्वदार्शनिकग्रन्थेषु एतादृशानां विभिन्न-

देहानां विशेषतो वर्णनं कृतमस्ति। अन्वेषणेच्छुभिः आर्यमैत्रेयनाथा-ऽसङ्ग-वसुबन्धु-हरिभद्रादीनाम् आचार्याणां ग्रन्था अवलोकनीयाः। पञ्चशिखाचार्येण एकत्र लिखितमस्ति यत् परमर्षिः कपिलः करुणावशीभूतो निर्माणचित्तमवलम्ब्य स्वान्तेवासिनं जिज्ञासुम् आसुरिं षष्टितन्त्रमुपदिदेश। निर्माणकाये निर्माणचित्ते च वस्तुतो न कोऽपि भेदः। लौकिकदेहे लौकिकचित्ते च यादृशो भेदः समुपलभ्यते, योगिनः सङ्कल्पनिर्मिते देहे चित्ते च न तथा भेदः। यतो हि सिद्धयोगिनः सङ्कल्पाद् यादृश आकार उत्पद्यते, आपाततो देहसदृशोऽपि वस्तुतः स चित्तमन्तरा न किमपि वस्तु भवति। स इच्छाशक्तिप्रभावात् प्रभवतीति प्रसिद्धेः।

पूर्वोक्तस्य निर्माणचित्तस्य निर्माणदेहस्य वा ऐक्येऽपि व्यावहारिकदृष्ट्या तौ विभिन्नौ प्रतिपाद्येते। प्रयोजकचित्तम्, प्रयोज्यचित्तं चेति निर्माणचित्तस्य भेदद्वयं व्यवहारमूलकमेव। योगिनो योगबलेन यत् निर्माणचित्तं समुत्पद्यते, तस्य मुख्यं वैशिष्ट्यमिदमेव यत्तत्र शुक्लः, कृष्णः प्रकारान्तरयुक्तो वा कीदृशोऽपि कर्माशयो न तिष्ठति। उपायान्तरैः रचिते निर्माणचित्ते कीदृशोऽपि साकारः कर्मसंस्कारः संलग्न एव तिष्ठति। अत एव ज्ञानलिप्सोरधिकारिणः शिष्यस्य ज्ञानोपदेशकाले योगिनः एतादृशं चित्तं निर्माय उपदिशन्ति। निर्माण-देहमवलम्ब्य यत् ज्ञानोपदेशादिकं क्रियते, तत्र भ्रम-प्रमादादेः सम्भावना न जायते। वस्तुतोऽयमेव गुरुदेहः। भौतिकदेहेन तत्त्वज्ञानोपदेशः संशय-विपर्ययशून्यो न भवितुं शक्नोति। शुद्धेन अस्मितातत्त्वेन देहोऽयं निर्मीयते। जैनाचार्यैः आचार्यदेहरूपेण यो देहो वर्णितः, स प्रायश एतादृश एव।

ब्रह्मचर्यम्, ऊर्ध्वरेतस्त्वं च

आध्यात्मिक-साधनायाः समुन्नत्यर्थं ब्रह्मचर्यस्य विशेषतः पालनमत्यावश्यकम्। वैदिके, तान्त्रिके, बौद्धे, जैने च धर्मे विभिन्नदेशीयविभिन्नधर्मेषु सम्प्रदायेषु चापि अस्य अत्यावश्यकत्वं स्वीकृतमास्ते। आश्रमचतुष्टयस्य व्यवस्थापकैः ऋषिभिरपि बुद्ध्या सर्वप्रथमो ब्रह्मचर्याश्रम एव

परिगणितः। ब्रह्मचर्यपालनमन्तरा शारीरिकं मानसिकम् आध्यात्मिकं वा कीदृशमपि बलं न संगृह्यते। बलसञ्चयमन्तरा च कार्यसिद्ध्याशा गगन-कुसुमायिता। तथा चोक्तम्—"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इति। अत एव निःसन्दिग्धमेतत् यद् ब्रह्मचर्यमन्तरा नात्मन उपलब्धिः सम्भवेति। ब्रह्मचर्यस्य वास्तविकस्वरूपपर्यालोचनाय बहु वक्तव्यमपेक्ष्यते। लेखगौरवभयादत्र द्वित्राः विषया एव समुपस्थाप्यन्ते।

साधारणा जनाः वीर्यधारणमेव ब्रह्मचर्यमभ्युपगच्छन्ति। नूनं वीर्य-धारणं हि ब्रह्मचर्यस्य प्रधानमेकम् अङ्गम्। अस्य च सम्यक्परिपालनेन शिष्टानि सर्वाणि अङ्गानि अनायासेनैव सिद्ध्यन्ति। ये च अष्टाङ्गमैथुन-त्यागं ब्रह्मचर्यमामनन्ति, तेऽपि वीर्यरक्षामेव लक्ष्यीकृत्य एतादृशं लक्षणं निर्धारयन्ति। परिच्छिन्नमेतद् ब्रह्मचर्यं योगशास्त्रे यमान्तर्गतं स्वीकृतम्। बौद्धैरपि शीलसम्पत्तौ एतत् प्रधानतया परिगणितम्। जैनाद्यन्यशास्त्रेष्वपि प्राय ईदृगेवेदं दृष्टमास्ते। ऋषिप्रणीते धर्मशास्त्रे गृह्य-धर्मसूत्रादौ च ब्रह्मचारिण आदर्श-दिनचर्याविषये बहूक्तमस्ति।

ये हि ब्रह्मचर्यस्य रहस्यमन्वेष्टुं वाञ्छन्ति, ते साधारणानुसन्धानेन अनायासं ज्ञातुं शक्नुवन्ति यद् विन्दोः संरक्षणम्, संशोधनम्, उद्-बोधनं चेति त्रयमेव ब्रह्मचर्यस्य यथार्थम् उद्देश्यम्। येन ब्रह्मणि ब्रह्मपथे वा सञ्चारो न भवति, न तद् वास्तविकं ब्रह्मचर्यम्। ये शास्त्रसिद्धब्रह्म-चर्यसम्पन्नाः, वस्तुतस्ते केवलं ब्रह्मपथे एव सञ्चरन्ति। यतो हि वासनायाः, मिथ्यासङ्कल्पस्य, इन्द्रियचाञ्चल्यस्य, चित्तविक्षेपवृत्तेश्च निवृत्तौ सत्यां विन्दोर्या आपेक्षिकी साम्यावस्था भवति, सैव ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायाः प्रथमा भूमिः। विन्दुक्षरणात् संसारः, विन्दोश्च स्थैर्ये अमृतत्वं मोक्षो वा सिद्ध्यति। यथा गणितशास्त्रे वृत्त-त्रिकोणादीनां केन्द्रमेव 'विन्दु'रुच्यते, तथैव देह-तत्त्वज्ञैरपि देहस्य कोषाणां वा केन्द्रमेव 'विन्दुः'व्याह्रियते। अन्नमय-कोषः स्थूलशरीरं वा यत् समाश्रित्य प्रतितिष्ठते, तदेव अन्नमयकोषस्य केन्द्रं स्थूलविन्दुर्वा कथ्यते। एवमेव यान् प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमयकोषान्

आश्रित्य सूक्ष्मशरीरमिदं प्रतिष्ठितम्, तेषामपि केन्द्ररूपेण एकैको विन्दुर्वर्तते। वेदान्तपरिभाषया साधारणत आनन्दमयकोष एव 'कारणशरीरम्' उच्यते। अस्यापि केन्द्रं स एव अमृतविन्दुः। सर्वेऽपि इमे विन्दवः वस्तुत एकस्यैव महाविन्दोः देशगत-संस्कारगतभेदमात्रम्। यावद् औपाधिको भेदस्तिष्ठति, तावदयं भेदोऽनिवार्यः। अमुं भेदं स्वीकृत्यैव क्रमश एतदतिक्रमचेष्टा विधेया भवति। विन्दोः क्षरण-कारणम् अनिरुद्ध्य ऊर्ध्वगतिस्तु दुरापास्ता, तस्य स्थिरताऽपि असम्भवा। यावत् कोऽपि स्थिररेता न जायते, तावत् स ऊर्ध्वरेतोभूमिमारोढुं न क्षमः। ये च अव्याकृतस्य कामवीजस्य रहस्यं जानन्ति, यैश्च गुरूपदिष्टप्रणाल्या रसतत्त्वं सम्यक् परिशालितमास्ते, तेषां कृते स्फुटमिदं तत्त्वम्। साधारणतः हठयोगिनो वदन्ति यद् विन्दौ स्थिरे प्राणोऽपि स्थिरायते, प्राणे च सुस्थिरे विन्दुः कदापि अस्थिरो न तिष्ठति। एवमेव विन्दुना सह मनसः, मनसा च प्राणस्य परस्परं सम्बन्धो वेदितव्यः। कौशलेन तेषु कस्याप्येकस्य बन्धने साधिते शिष्टयोर्द्वयोः वशीकरणं सुकरं जायते। हठयोगशास्त्रेषु योगवासिष्ठे च एतद्विषयका अन्येऽपि विषयाः समुल्लिखिताः। शास्त्रसिद्धान्तोऽयम् अतितरां सारगर्भः। यतो हि उक्तपूर्वमेतद् यद् एक एव विन्दुः आधार-भेदे तत्र तत्र तेन तेन रूपेण प्रकाशित इति। अत एव साधकस्य पूर्व-संस्कार-योग्यतानुसारं यत्र स्थाने संयमः सम्भवेत्, तेनैव अन्यान्य-स्थानगतानां विक्षेपाणामपि निवृत्तिः सम्भवति, तत्र-तत्रस्थाः विन्दवोऽपि स्थैर्यमासादयन्ति च।

चक्षुर्यदा रूपं पश्यति, श्रवः शब्दं शृणोति, अन्यानि च इन्द्रियाणि यदा स्वस्वविषयान् गृह्णन्ति, तदा तदा वस्तुतो देहमध्यस्थितो विन्दुरेव क्षरितो भूत्वा तत्तत्स्थाने विषयप्रतिभासरूपेण जन्म लभते। विन्दोः क्षरण-मन्तरा विषय-ग्रहणमसम्भवि। अत एव यावद्वयं इन्द्रियमार्गैः विषयान् गृह्णीमः, तावत् लौकिकमान्यतानुसारं वीर्यरक्षायाः सम्भवेऽपि व्यभिचारो भवत्येव। विषयभेदे विनष्टे सति यदा सर्वत्र ब्रह्मसाक्षात्कारो जायते, तदैव मन्तव्यं यद् व्यभिचारो निवृत्तः, साधकश्च ब्रह्मचर्ये स्थित इति।

विन्दुक्षरणमन्तरा अखण्डस्य कूटस्थस्य ब्रह्मतत्त्वस्य अस्माकं पुरतः स्वयं-प्रकाशोऽसम्भवी। अत एव ब्रह्मणो या याः स्वयंप्रकाशावस्थाः वर्तन्ते, यासु च एकमात्रं विशुद्धं चैतन्यमेव स्वयमेव पुरः प्रकाशितं भवति, ता एव ब्रह्मचर्यस्य अवस्थाः। तासु अवस्थासु विन्दोः क्षरणेऽपि तत् सरलमार्गेण सम्पद्यते। तेन अद्वैतभावे व्याघातो न जायते, भेदप्रतीतिः नोत्पद्यते, विषयसत्ताऽपि च न भासते। अवस्थेयं रहस्यदृष्ट्या 'उप-कुर्वाणब्रह्मचर्य'स्य अवस्था। इमामेव अनुकृत्य समाजेऽपि उपकुर्वाणब्रह्म-चर्यस्य व्यवस्था विहिताऽऽस्ते। गुणभेदतः उपकुर्वाण-ब्रह्मचर्यस्य भेदत्रयम्—शुक्लम्, रक्तम्, कृष्णं चेति। नात्र एतद् विवेचनीयमस्ति। किन्तु यद्धि नैष्ठिकब्रह्मचर्यं कथ्यते, तत्र विन्दुक्षरणं सर्वथाऽसम्भवि, यतस्तत्र विन्दोः क्षरणं न भवति। अत एव सा निर्गुणब्रह्मचर्यावस्था अव्यक्तभावे परिगण्यते। सामाजिकदृष्ट्या विवाहत्यागो विवाहिते च स्वपत्न्या सह संयतवर्तनम्—उभयमेव ब्रह्मचर्यस्वरूपम्। चित्ते स्वल्पाऽपि परस्त्रीविषयिणी आसक्तिः ब्रह्मचर्यावस्थातः पतनहेतुः, यतो हि चित्तस्य सेयमवस्था व्यभिचारान्त-र्गता मता। स्वदारे निरतस्यापि चित्तसंयमतारतम्येन गृहस्थस्यापि ब्रह्म-चर्यं सात्त्विक-राजस-तामसभेदेन त्रिविधमाख्यातमास्ते।

सम्यक् शोधनमन्तरा अन्यक्रियाकौशलेन स्थिरीकृतेऽपि विन्दौ स्थैर्यस्थायित्वं न सम्भवति। यतो हि संस्कारात्मकस्य मलस्याकर्षणेन निर्दिष्टस्थितिकाले समतीते सति विन्दुः पुनः पूर्ववत् नीचैः गतिशीलो जायते। वैदिक्यां तान्त्रिक्यां च साधनपद्धतौ विन्दुशोधनस्य नैके प्रकाराः निर्दिष्टाः। महायान-साम्प्रदायिकेषु बौद्धेष्वपि वज्रयान-मन्त्र-यान-सहजयानसाधनमार्गेषु अस्य सूक्ष्मा अकृत्रिमाश्च उपाया वर्णिताः। हठयोगे विशेषाधिकारप्राप्तये विन्दोः स्थैर्यसाधकानामेषाम् उपायानाम् अवलम्बनमन्तरा कार्यं न सिद्ध्यति। विन्दौ शुद्धे सत्येव स्वभावतः स्थैर्यं जायते। स्थिरविन्दुरयं कयाचन अलौकिकप्रक्रियया विक्षुब्धः क्रियेत चेत्तदा स स्वभावत एव ऊर्ध्वं सञ्चरति। विन्दोः सेयम् ऊर्ध्वगतिः प्रबुद्ध-

कुण्डलिन्याः सहस्रारस्य आकर्षणाद् ऊर्ध्वप्रवाहस्य नामान्तरम्। विन्दुः क्रमशः स्थूलभावं परित्यज्य सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतमाः अवस्थाः प्राप्नोति, अन्ते च सहस्रदलकमलस्य कर्णिकायां स्थितेन महाविन्दुना सम्मिलति। अयमेव चिच्चन्द्रमसः षोडशीकलारूपः अमृतविन्दुः। नाभिग्रन्थिं विभिद्य विन्दोः ऊर्ध्वस्रोतसि संश्लेषकरणमेव उपनयनस्य दीक्षायाश्च वा वास्तविकं रहस्यम्। नाभिचक्रत उपरि उत्थानमन्तरा विन्दोः मध्याकर्षणचक्रे स्थितिरेव संसृतेरपरः पर्यायः। ब्रह्मचर्यसाधनया विन्दुं विषयजगद्भ्यः पृथक्कृत्य, तं च पावयित्वा ब्रह्ममार्गे नियोजनमेव संसारात् मुक्तिप्राप्तेः एकमात्रोपायः। विन्दुर्यदा विक्षुब्धो भूत्वा ऊर्ध्वं सञ्चरति, तदैव नादस्य विकासो जायते। अत एव नाभिचक्रादुपरि स्वाभाविकः खेलो नाद-ज्योतीरूपाभ्यामनुभूयते। इयमेव शब्दब्रह्मणः सञ्चारावस्था। इतः परं नाद-ज्योतिषादेः परिपूर्णतया परमभावस्य यः समुदयः, स एव निजबोध-रूपस्य आत्मज्ञानस्य विकासः। विषयस्यास्य विशेषविवरणं 'दीक्षातत्त्व'स्य तत्सम्बद्धायाः षडध्वशुद्धेश्च आलोचनाया अङ्गीभूतम्।

भगवता पतञ्जलिना निर्दिष्टमेतद् यद् ब्रह्मचर्यधारणया वीर्यप्राप्तिर्जायते इति। वस्तुतो ब्रह्मचारिणः अवस्थाया एव वर्णनं योगसूत्रे प्रकारान्तरेण श्रद्धारूपे कृतमस्ति। ब्रह्मचर्यपालनेन सम्भूतवीर्यस्य प्राप्तौ सत्यां देहे दिव्यतेजसो विद्युच्छक्तेर्वा विकासो जायते। तेजसोऽस्य आधिक्येन चित्तचाञ्चल्यं विनश्यति, प्राणानां गतिः स्थिरायते, चित्तस्य च ध्येये एकतानप्रवाहः प्रादुर्भवति। अस्यैव नामान्तरं ध्यानं स्मृतिर्वा। उपासनाया इदमेव स्वरूपम्। क्रमशः सर्वेषामेतेषां घनीभावे चित्तस्य समाधिदशा प्रादुर्भवति। समाहिते च चित्ते ध्येयवस्तु आवरणमुक्तं सद् उज्ज्वलरूपेण स्वज्योतिषा उद्भासितं प्रकाशितं च जायते। तदा चित्तं तिरोदधाति, केवलं ध्येयमेव तेनानुभूयते। ध्येयमिदं चित्तस्यैव आकारविशेषः, नैतत् चित्ताद् वस्त्वन्तरम्। प्रकाशोऽयं 'प्रज्ञायाः उन्मेषः' 'ज्ञानचक्षुषः अनावरणम्' वा कथ्यते। प्रज्ञायामस्यां निरुद्धायां यः असम्प्रज्ञातः समाधिः समुदेति,

वस्तुतः स एव 'योगा'भिधानार्हः। एतेन योगस्य पूर्णावस्थाप्राप्तये ब्रह्मचर्यं नितान्तमावश्यकमिति समासतः स्फुटीभवति।

सिद्धिभ्यः पारमार्थिक-हानिः

'आध्यात्मिकमार्गे सिद्धीनां किं स्थानम्? विषयेऽत्र विभिन्न-देशेषु विभिन्न-कालेषु च विभिन्ना विचारास्तैस्तैः प्रकटिताः। अत्र तेषां चर्चा अप्रासङ्गिकी भवेत्। तथापि सिद्धीनां किं सार्थक्यम्, का च सिद्धिः कदा आध्यात्मिकसाधनायां बाधिका मन्तव्या इत्यस्यात्र विवरणमावश्यकम्। बहुभिर्मन्यते यत् 'सिद्धिर्न वाञ्छनीया, तत्प्राप्त्या मुमुक्षु-योगिनः योगमार्गे अन्तराया आविर्भवन्ति' इति। धारणाया अस्या मूले किञ्चित्तथ्यं वर्तते, नास्त्यत्र संशीतिलेशः। किन्तु प्रायश इयं भ्रान्ता प्रतिभाति। यतो हि प्रत्येकस्य वस्तुनः सद् असत् चेति उभयविधो व्यवहारो भवितुं शक्नोति। व्यवहारदोषेण वस्तुसत्ता नाक्राम्यते। अग्नेर्निन्दनम्, तत्त्यागो वा न प्रेक्षावतः कर्म। स हि स्वभावानुसारमवश्यं कार्यं करिष्यति। किन्तु यः तत्स्वभावं ज्ञात्वा तन्नियन्त्रणं च विधाय स्वाभीष्टं साधयति, स एव विचक्षणः कथ्यते। अग्निना सद् असच्च उभयविधं कार्यं सम्पद्यते। किन्तु एतावता अग्निनिन्दया कार्यं न सेत्स्यति। शक्तिमात्रस्य इयमेव स्थितिर्विज्ञेया।

मधुमती भूमिः, योगविघ्नाश्च

भगवतः पतञ्जलेर्नाम येन योगसम्प्रदायेन संश्लिष्टम्, तत्र चतुर्विधा योगिनो निर्दिष्टाः। तेषु प्राथमिकावस्थो योगी 'प्रथमकल्पिकः' उच्यते। एते हि अष्टाङ्गयोगे सम्पन्ने सत्येव योगभूमिं सद्यः प्रविशन्ति। अत एव एते सर्वतो निम्नश्रेण्यां परिगण्यन्ते। एते स्थूलसमाधिसिद्धाः अर्थात् वितर्कानुगतसमाधौ अधिकृतत्वात् एषु अन्तर्ज्योतिषः स्फुरणं प्रारब्धमास्ते। चित्तेऽसमाहिते ज्योतिष उन्मेषोऽसम्भवी। किन्तु ज्योतिष आविर्भावे सत्यपि क्रमशस्तस्य शुद्धिरपेक्षिता। यावत् तन्न विशुद्ध्यति,

तावत् तत्त्वानि विजित्य (स्ववशीकृत्य) स्वयं योगस्य उच्चभूमिः नासादयितुं शक्या।

प्रथमकल्पिकावस्थायाः परं योगिनः 'मधुमती'नामिकायां द्वितीयायां योगभूमिकायां प्रविशन्ति। तदा तेषां चित्तं नितरां विशुद्धं भवति। अत एव पदस्थाः देवाः ऋषयः अप्सरस अन्ये च बहवोऽधिकारिणः तेषां पुरः समुपस्थाय विविधैः अलौकिकैः प्रलोभनैस्तान् लोभयितुं यतन्ते। एतादृश्यामवस्थायां साधारणस्य मानवस्य हृदि आसक्तेः अहङ्कारस्य वा उदयः स्वाभाविकः। किन्तु यो योगी गुणातीतात्मस्वरूपे प्रतिष्ठातुं समुद्यतः, तस्य कृते सर्वाणि क्षुद्राणि प्रलोभनानि सर्वथा समुपेक्ष्याणि। यदा ते संयता भूत्वा, चेतसि बलसञ्चयं कृत्वा साधनपथे अग्रेसरन्ति, तदा क्रमशस्ते भयैरेभिः मुच्यन्ते। इयं 'मधुमती'नामिका अवस्थैव योगिनां परीक्षावसरः। प्रथमावस्थायां चित्तं यतो न सम्यग् विशुद्ध्यति, अतस्तत्र देवतादिद्वारा एतादृशानि प्रलोभनानि न संभाव्यन्ते। तृतीयावस्थायां पुनः योगिनः स्वसङ्कल्पेनैव समस्तानि प्रलोभनीयानि वस्तूनि निर्मातुं शक्नुवन्ति, स्वयं साधको योगी दिव्यभावापन्नो भवति; अतस्तत्रापि योगिनां कृते प्रलोभनानामेतेषां विशेषत्त आशङ्का न भवति।

तृतीयावस्थायां योगिनः विशोधितेन प्रज्ञाज्योतिषा पञ्चभूतानां पञ्चावस्थाः, पञ्चेन्द्रियाणि तेषां पञ्चावस्थाश्च अधिकृत्य भूतजयिनः इन्द्रियजयिनश्च भवन्ति। भूतजयेन ते वज्रवत्-सिद्धदेहं प्राप्नुवन्ति। एतादृशानां योगिनां देहेषु पञ्चभूतकृतः आघातो न जायते, अर्थात् भौतिकपदार्थानां गुणाः योगिदेहे स्वीयाः क्रिया न कुर्वन्ति। इन्द्रियजयद्वारा मनोजयित्वं, विकरणभावश्च प्राप्यते, प्रधानं मूलप्रकृतिर्वा विजीयते। योगशास्त्रे सिद्धीनामासां वर्णनं 'मधुप्रतीक'नाम्ना कृतमस्ति। यैर्योगिभिः इन्द्रियजयित्वं मनोजयित्वं चासाद्य इत्थम् अलौकिक्यः सिद्धयः अधिगताः, प्रायशस्ते शक्तौ शुद्धौ च नूनं देवेभ्य उन्नताः। अत एव साधारणदेवताद्वारा तेषां विलोभनस्य सम्भावनैव न जागर्ति। विशेषतः

पञ्चभूतेषु पञ्चेन्द्रियेषु च अधिकृतत्वात् सृष्टिस्थितिसंहारशक्तिरपि एतादृशानां योगिनां करतलगता भवति। चित्ते विमलवैराग्यस्य समुदयात् ते कमपि अभावं नानुभवन्ति, यन्निवृत्तये तेषांप्रलोभनविशेषप्रस्तता सम्भाव्येत।

हठयोगः

कठिनतरमेतत् निरूपणं यत् हठयोगस्यास्य आद्या आचार्याः के आसन्निति। भारतीयानामाचार्याणां सिद्धान्तोऽयं यत् सर्वस्यापि शास्त्रस्य प्रथमा प्रवृत्तिः परमेश्वरादेव जायते। अतः हठयोगोऽपि ईश्वरप्रोक्तः कथ्यते। हठयोगिनः कथयन्ति यद् आदिनाथो भगवान् सदाशिव एव हठयोगस्य प्रवर्तक इति। येन अद्भुतेन उपायेन मत्स्येन्द्रनाथेन इयं विद्या अधिगता, तस्यैतिहासिकं कियत् मूल्यमिति वक्तुमशक्यम्। तथापि विषयेऽत्र हठयोगस्य बहुषु ग्रन्थेषु एका किंवदन्ती श्रूयते। मत्स्येन्द्रनाथवत् गोरक्षनाथ-चर्पटि-जालन्धर-कनेरी-चतुरङ्गी-विचारनाथप्रभृतिभिः नाथ-सम्प्रदायाचार्यैः हठयोगे निष्णातैर्भूत्वा जगत्ययं प्रचारितः। सम्प्रदायस्यास्य इतिहासशास्त्राणाम् आलोचनया हठविज्ञानस्य नैके ज्ञातव्या विषयाः अवगम्यन्ते। गोरक्षशतकम्, गोरक्षसंहिता, सिद्धसिद्धान्त-पद्धतिः, सिद्ध-सिद्धान्तसंग्रहः, गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहः, अमनस्कः, योगबीजम्, हठयोग-प्रदीपिका, हठतत्त्व-कौमुदी, घेरण्डसंहिता, निरञ्जनपुराणम् एवमाद्याः साम्प्रदायिका ग्रन्थाश्च अद्यापि समुपलभ्यन्ते।

मत्स्येन्द्रनाथ-गोरक्षनाथतः पूर्वमपि हठयोगः प्रचलित आसीदित्यत्र न सन्देहः। कथ्यते यत् पूर्वकाले मार्कण्डेयमुनिवराः योगस्यास्य साधका आसन्—

"द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधकैः।
अन्यो मृकण्डुपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः॥" इति।

श्रीगोरक्षोपदिष्टस्य हठयोगस्य षडङ्गानि—तत्र यमनियमौ न गृह्येते। किन्तु श्रीमार्कण्डेयमुनयः अष्टाङ्गहठयोगस्य पक्षपातिन आसन्। योगतत्त्वोपनिषद्यपि हठयोगस्य अष्टौ अङ्गानि प्रोक्तानि।

हठयोगस्य पूर्णपरिणती राजयोगः। पातञ्जलदर्शने अयमेव 'असम्प्रज्ञात-समाधि'-नाम्ना वर्णितः। हठयोगस्य नियमितानुष्ठानेन राजयोगः सिद्ध्यति। अत एव आचार्याः हठयोगं राजयोगस्य सोपानत्वेन वर्णयन्ति। राजयोग-प्रभावादेव साधनशीलो जीवः काल-पराक्रमतो मुच्यते। 'हठयोगप्रदीपिका'मतानुसारं समाधिः, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्वम्, लयः, तत्त्वम्, परमपदम्, अमनस्कम्, अद्वैतम्, निरालम्बः, निरञ्जनम्, जीवन्मुक्तिः, सहजस्थितिः, तुरीयस्थितिश्चेति—एतत्सर्वं राजयोगस्यैव पर्यायान्तरम्। स्वात्मारामेण स्पष्टमेवोक्तं यत् कुम्भकद्वारा प्राणस्य गतौ रुद्धायां चित्तं निरालम्बं जायते। ब्रह्मानन्देनापि स्वव्याख्यायां स्पष्टमुल्लिखितं यत् यदा सम्प्रज्ञात-समाध्युत्तरं ब्रह्माकारा स्थितिः समुदेति, तदा पर-वैराग्यधारणया चित्तस्य सम्यक् निरोधनमावश्यकं जायते। एतेनेदं स्फुटीभवति यत् हठयोगेन स्वभावतः राजयोगो विकसति।

देहशुद्धिः हठयोगस्य अव्यवहितमुद्देश्यम्। योगिपरिभाषानुसारम् इयं 'घटशुद्धि'नाम्ना प्रथिता। घेरण्डसंहितायामुक्तं यत् हठशास्त्रोक्तैः धौति-बस्ति-नेति-त्राटक-नौलि-कपालभाति-नामकैः षट्कर्मभिः देहः शुद्ध्यति। देहस्य दृढता स्थिरता च आसन-मुद्राभ्यासेन सिद्ध्यति। प्रत्याहार-प्राणायाम-ध्यान-समाध्यभ्यासेन च देहस्य क्रमशो धीरता, लघुता, आत्म-प्रत्यक्षम्, निर्लेपता च सुसम्पद्यते। अनेके आचार्याः प्रवदन्ति यद् आसनम्, प्राणायामः कुम्भको वा, मुद्राकरणं वा, नादानुसन्धानश्चेति चत्वारो हठयोगस्य प्रधानप्रतिपाद्या विषया इति। एषु आसनस्य विधि-वदभ्यासेन देहस्य स्थिरता, नीरोगता, लघुता च सम्पद्यते। 'आसनेन रजो हन्ति' सिद्धान्तोऽयं योगिसम्प्रदाये सुप्रसिद्धः। दीर्घकालं यावत् विधिवद् आसनाभ्यासेन रजोगुणजनिता देहस्य चञ्चलता मनसश्च अस्थिरता दूरीभवति। रोगो विक्षेपस्य प्रधानमेकं कारणम्, आसना-भ्यासेन च स निवर्तते। अभ्यासेनानेन तमोगुणक्रियया समुत्पन्ना देहस्य गुरुता दूरीभवति। देहे सात्त्विकतेजोवृद्ध्या तमोगुणो ह्रसति, स्वभाव-

तश्चैव देहो लघुतामापद्यते। पुनःपुनरभ्यासेन स्थिरीकृते आसने प्राणायामक्रिया सहजसाध्या जायते। किन्तु नाडीचक्रस्य विविधप्रकारैः आच्छन्नत्वाद् वायुः सुषुम्णामार्गे न प्रविशति। अत एव प्राणसंग्रहात् पूर्वं नाडीशोधनमावश्यकम्। नाड्या विशुद्धिमन्तरा उन्मनीभावस्य मनोनिवृत्तेर्वा न काऽप्याशा। विधिपूर्वकं प्राणायामसाधनेन सुषुम्णान्तर्गतः सकलोऽपि मलः क्षाल्यते। शाण्डिल्योपनिषदनुसारं नाडीशोधनप्राणायामो बहुमासं यावत् नित्यं द्विवारं विधेय इति[1]। देहस्य कृशता, कान्तिः, इच्छानुसारं वायुधारणसामर्थ्यम्, अग्निवृद्धिः, नादाभिव्यक्तिः, आरोग्यञ्चेति क्रमशो यदा सर्वाणीमानि लक्षणानि आविर्भवन्ति, तदा अवधेयं यत् सर्वा नाड्यः शुद्धा इति[2]। त्रिशिखब्राह्मणोपनिषदि चोक्तं यत् यम-नियमासनानाम् अशुद्धौ प्राणायामो यथार्थतया न कर्तुं शक्यः। अत एव तदा नाडीशुद्धेश्चेष्टा अनुचिता। वात-पित्त-कफेषु एकस्य द्वयोर्वा आधिक्ये षट्कर्मसाहाय्यमावश्यकम्। घटशुद्धिवत् स्थूलतानाशादिकमपि हठयोगस्यैकम् अव्यवहितं फलम्। याज्ञवल्क्यप्रभृतय आचार्याः प्रवदन्ति यत् यदा केवलं प्राणायामेनैव समस्ता मला क्षाल्यन्ते, तदा षट्कर्माणि नात्यन्तमावश्यकानीति।

मुद्रासाधनस्य उद्देश्योऽयं यदेतेन ब्रह्मद्वारेण सुषुम्णामुखेन वा निद्रिता कुल कुण्डलिनी जागृता भूत्वा ऊर्ध्वमुत्तिष्ठति। कुण्डलिनी-जागरणानन्तरं चक्राणां ग्रन्थीनाञ्च भेदनं भवति, प्राणोऽनायासं सुषुम्णां प्रविशति,

---

१. टीकाकृतां मतं यत् त्रिचत्वारिंशद्दिवसानि यावत्, मासत्रयम्, मासचतुष्टयम्, सप्तमासं वर्षं वा यावत् प्राणायामोऽयं विधेय इति।

२. हठयोगप्रदीपिकायां दशमोपनिषदि च कृशताविचारोऽयमुल्लिखितः। शाण्डिल्योपनिषदि कृशतास्थाने लघुता प्रयुक्ता वर्तते। योगतत्त्वोपनिषदि च कृशता-लघुते समभेव पठिते। शिवसंहितामतानुसारं नाडीशुद्धौ दोषाः नश्यन्ति; देहे साम्यम्, सुगन्धः कान्तिश्च प्रस्फुटन्ति; स्वरे च माधुर्यं सिद्ध्यतीति।

चित्तं निरालम्बं जायते, मृत्युभयं च दूरीभवति। आधारशक्तिरूपा कुण्डलिनी समस्तस्य योगाभ्यासस्य मूलमवलम्बनम्। मुद्रा चेयम् अष्टविधा। आसामभ्यासस्य फलम् अष्टैश्वर्यप्राप्तिश्चेति।

समासतो योगविषयविशेषाणामेतेषां गुरुशास्त्रगम्यं रहस्यं प्रकटयितुमत्र स्वल्पीयान् यत्नो विहितः। विशेषस्तु अनुभवैकगम्य इति कृतं तदधिकविवेचनेन।

—०:❀:०—

श्रीभारतधर्म-महामण्डल-शास्त्रप्रकाश-विभागद्वारा प्रकाशितानि पुस्तकानि

धर्मकल्पद्रुम—प्र० ख० २), द्वि० ख० १॥), तृ० ख० २), च० ख० २), प० ख० २), ष० ख० ३॥), स० ख० २), अ० ख० ३॥), धर्मकल्पद्रुम, प्रथम-द्वितीयखण्डे सहैव, रायल एडी०—५), प्रवीण दृष्टिमें नवीन भारत ख० प्र०द्वि २), नवीन दृष्टि में प्रवीण भारत १), साधनचन्द्रिका १॥), शास्त्र-चन्द्रिका १॥), धर्मचन्द्रिका १।), आर्यगौरव ॥), नीतिचन्द्रिका ॥), धर्म-प्रश्नोत्तरी ।), चतुर्दश-लोक-रहस्य ।), गीतार्थचन्द्रिका सजिल्द ३), अजिल्द २॥), सनातनधर्मदीपिका ।॥), धर्मविज्ञान प्र० ख० ५), द्वि० ख० ४), तृ० ख० ४), सती चरित्र-चन्द्रिका २), नित्यकर्म-चन्द्रिका ।), धर्मसोपान ।), धर्मकर्म-दीपिका ।), सदाचार-सोपान —), कन्याशिक्षा-सोपान —), ब्रह्मचर्य-सोपान ।), साधन-सोपान ॥), शास्त्र-सोपान ।), उपदेशपारि-जात ॥), कल्किपुराण १॥), पातञ्जलयोगदर्शन ३), महामंडल-रहस्य १॥) मन्त्रयोगसंहिता १), हठयोगसंहिता ॥), तत्त्वबोध =), स्तोत्र-कुसुमाञ्जलि ।), भगवद्गीता प्रथम खंड १), विष्णुगीता १), सूर्यगीता ॥), शक्तिगीता १), धीशगीता ।॥), शंभुगीता १), संन्यासगीता १), गुरुगीता ।), कर्ममीमांसादर्शन प्र० ख० १॥), द्वि० ख० २), तृ० ख० ५), कर्ममीमांसादर्शनम् संस्कृत—२), रामगीता २॥), कहावत-रत्नाकर साधा० रायल १०), रामायण तुलसीकृत १॥) दैवीमीमांसा-दर्शन प्र० भा० ३॥), द्वि० भा० ५), त्रिवेदी सन्ध्या ।=), गोव्रत-तीर्थमहिमा ॥), मार्कण्डेयपुराण प्र० ख० १), द्वितीय ख० १), तृ० ख० १), ऋजुपाणिनीयम् ।॥), संगीत-सुधाकर ।), पुराणरहस्य १॥) संन्यासधर्मपद्धति १॥), पातञ्जलयोगदर्शनम् संस्कृत—४)।

———

भारतीय-दर्शनानामुद्धारः संस्कारश्च

— श्री दयानन्दस्वामिनः —

शिल्पसमुन्नत्या बहिर्जगतः समुन्नतिरिव दर्शनशास्त्रसमुन्नयने मानवसमाजे अन्तर्जगतः समुन्नतिरवधार्यते। येन मनुष्यसमाजेन यदा यावती च शिल्पसमुन्नतिः संसाधिता, स हि तदानीं तावत्परिणामत एव बहिर्जगत्सम्बन्धीयसमुन्नतिमार्गेऽग्रेसर्तुं सामर्थ्यं लेभे। साकं शिल्पोन्नत्या मानवसमाजे पदार्थविज्ञानस्योन्नतिरपि नूनमेव सम्पद्यते। पदार्थविज्ञानसमुन्नतिर्यद्यपि न सर्वोच्चस्थानमधिकरोति, तथापि तदुन्नतिपरिणाममनुसृत्य मनुष्यसमाजे बहिर्जगदुन्नतिपरिणतिरनुमीयते।

सूक्ष्मातिसूक्ष्मस्यातीन्द्रियस्य आन्तरिकराज्यस्य कृते दर्शनशास्त्रमेव एकमवलम्बनम्। स्थूलराज्यातीतानन्तवैचित्र्यपरिपूर्ण-सूक्ष्मराज्यरूपानन्तपारावारावबोधाय ध्रुवतारायते किल दर्शनशास्त्रम्। सूक्ष्मराज्ये प्रविविक्षुभिर्जिज्ञासुभिः साधकैर्दर्शनशास्त्रसाहाय्येनैव सूक्ष्मराज्ये प्रवेष्टुं शक्यते। यथा किल नेत्रविरहितो मानवः स्थूलस्यापि जगतो न किमपि वस्तु द्रष्टुं पारयति, तथैव दर्शनशास्त्रानभिज्ञः सूक्ष्मस्य जगतः किञ्चिदपि वस्तु नैव परिज्ञातुं शक्नोति।

अतो ह्येतेन इदमवधार्यते यत् यद्धि सूक्ष्मस्य जगतो वास्तविकं तत्त्वमवबोधयति, तदेव दर्शनशास्त्रमित्युच्यते।

जागतिकेतिवृत्तपर्यालोचनेनेदं परिज्ञायते, यद् यदा मानवजातिराध्यात्मिके जगति अग्रेसर्तुमशक्नोत्, तदैव तत्र दर्शनशास्त्रालोचनं प्रारब्धम्। वैदिकधर्मावलम्बिनि मानवसमाजे यथा दर्शनशास्त्रसमुन्नतिर्न तथा कुत्रापि मनुष्यजातावितिं निश्चप्रचम्। सनातनधर्मावलम्बिनो मुनयो योगसाधनेन स्वान्तःकरणविशुद्धिमधिगम्य अन्तर्जगति प्रवेष्टुमचेष्टन्त। पूज्यचरणा महर्षयस्तपोयोगशक्तिसाहाय्येन अन्तर्दृष्टिं लब्ध्वा जगत्कल्याणाय सूत्राणि निर्माय दर्शनशास्त्राणि रचितवन्त आसन्। ते किल पूर्वमन्ताराज्याधिपत्यं स्थापयित्वा जिज्ञासुजनहित-

साधनाय दर्शनानि प्रणिन्युः। किन्तु जागतिक्यो विभिन्ना जातयः शिक्षिता अपि तथाकर्तुमपारयन्त्या दूरत एवान्तर्जगत ईषदवभासं प्राप्य तद्विषयक-वास्तविकसत्यमन्वेष्टुमचेष्टन्त। पृथ्वीतलनिवासिन्यः सकला अपि शिक्षितजातयो यथा बहिर्जगदाश्रयेण सूक्ष्मजगत्प्रवेशमकामयन्त, न तथा प्राचीना महर्षयः। तैस्तु प्रथममन्तर्जगतो विस्तृतं परिज्ञानमासाद्य सर्वसाधारणलोकहितकामनया तज्ज्ञानं बहिर्जगति प्रकाशयितुं यत्नोऽक्रियत। अत एव वैदिकदर्शनानि सप्तधा विभज्य परिपूर्णतामासादितवन्ति। परन्तु सांसारिकान्यान्यशिक्षितजाति-प्रादुर्भूतदर्शनशास्त्राणि वैचित्यमयानि असम्पूर्णानि चेति।

सृष्टितत्त्वपर्यालोचनेन इदमनायासेनैव परिज्ञातुं शक्यते यत् त्रिगुणमय्याः प्रकृतेः राज्येषु सर्वत्रैव त्रयो विभागा विद्यन्ते। वात-पित्त-कफ-नामतः शरीर-रक्षायास्त्रिविधा शक्तिः। त्रिविधं कर्मेत्यादि। एवं च सप्तभावावलम्बनतः सृष्टिराज्येषु सप्त धातवः, सप्त वर्णाः, सप्त वाराः, सप्त ऊर्ध्वलोकाः, सप्त अधो-लोकाः, सप्त रत्नानि, सप्त अज्ञानभूमयः, सप्त ज्ञानभूमयश्चेत्यादि सप्त विभागाः सर्वेष्वपि स्थानेषु परिलक्ष्यन्ते। एवं रीत्या सप्त ज्ञानभूमीरतिक्रम्य क्रमेण परमं पद-मधिकर्तुं यस्य वैदिकदर्शन-विज्ञानस्य आविर्भावः, तदपि सप्तधा विभक्तमव-धेयम्। एषु सप्तसु दर्शनेषु द्वे पदार्थवाद-दर्शने, द्वे सांख्यप्रवचन-दर्शने, त्रीणि मीमांसा-दर्शनानि च। आधुनिकेषु ग्रन्थेषु यत् षड्दर्शननामोल्लेखः, स हि जैन-बौद्धग्रन्थानुकरणपरिणामः। यतस्तदीयदर्शनानि षड्-दर्शननाम्ना अभिहितानि। अतो नास्तिकदर्शनानुकृत्या वैदिकदर्शनान्यपि षड्दर्शन-नाम्ना विख्यातानि बभूवुः। कुत्राप्यार्षग्रन्थेनैव आर्षदर्शनानां षड्दर्शनसंज्ञा समुपलभ्यते। बहुभ्यः शताब्दीभ्यो मध्यमीमांसादर्शनसिद्धान्तग्रन्थस्य लुप्तत्वात् नैव तस्य कोऽपि सिद्धान्तग्रन्थः समुपलभ्यते स्म। कारणादस्मादेव अज्ञानमूलकः षड्दर्शनशब्द आर्षसाहित्येऽपि प्रचचाल।

वस्तुतो न्याय-वैशेषिकौ पदार्थवाददर्शने, योग-सांख्यौ सांख्यप्रवचननामके, वेदोक्तकर्मोपासनाज्ञानं चेति त्रयमनुसृत्य कर्ममीमांसा दैवीमीमांसा-ब्रह्ममीमांसा चेति त्रयं मिलित्वा सप्त दर्शनानि स्वतः सिद्धयन्ति।

दर्शनग्रन्थानामभावात् दार्शनिकशिक्षाया विलोपाच्च सनातनधर्मस्य वर्तमाना दुर्गतिरभूत्। इदानीं किल स्वधर्मेऽविश्वासः, परधर्मग्रहणस्पृहा, सदाचार-वर्जनम्, पूज्यपाद-महर्षीणामादेशस्योपहासः, वेदेषु, पुराणेषु च श्रद्धाऽभावः, सम्प्रदायानां पारस्परिको विरोधः, अलौकिकेऽन्ताराज्येऽविश्वासः, पारलौकिकभयराहित्यम्, देवर्षि-पितॄणामस्तित्वे सन्देहः, कर्मकाण्डोपरि अनास्था, साधुषु ब्राह्मणेषु च भक्तेरभावः, वर्णाश्रमधर्मोपेक्षा, त्रिलोकपवित्रकारिणो हिन्दुस्त्री-धर्मस्य मूलच्छेदे प्रवृत्तिः, जप-ध्यानादिसाधनमार्गेषु अरुचिः, इत्यादय आर्यत्वनाशकारिणः प्रबला दोषा ये समुत्पद्यन्ते, ते किल वैदिकदर्शनशिक्षाभावादेव इत्यत्र नाणीयानपि संशयलेशः।

इदानीं किल न्यायदर्शन-शिक्षा नैव पूर्णरूपेण सम्पद्यते। पुरेव नैवेदानीं प्राचीनस्य न्यायस्य शिक्षापद्धतिः कुत्राप्यवलोक्यते। अत्र नात्युक्तिलेशोऽपि। सम्प्रति हि प्राचीनन्यायस्थाने नव्यन्यायस्यैवाधिकः प्रचारो दृश्यते। वैशेषिकदर्शनस्योपयोगिन आर्षभाष्यस्याभावात् तदीया चर्चा प्रायशो लुप्तप्रायैव प्रतिभाति।

योगदर्शनन्तु नितरां कठिनम्। तेन च सहान्तर्जगतो महिष्ठः सम्बन्धः। अतो याथातथ्येन तदध्ययनाध्यापने प्रायो निरस्तमासाते। यतो हि योगदर्शनाध्यापकेन नूनमेव योगिना भवितव्यम्। अद्यत्वे तादृशस्य वास्तविकयोगिनोऽभावात् योगदर्शनशिक्षाऽपि लुप्तंप्रायैव।

सांख्यदर्शनस्यावस्थाऽपि नितरां शोचनीयतामावहति। के चन तदाधुनिकदर्शनमामनन्ति। अपरे प्रक्षिप्तविषयपरिपूर्णं तदिति व्याहृत्य घृणां प्रकुर्वते। अन्ये नास्तिकं दर्शनं तदिति घोषयन्ति। अनेकसहस्रसंवत्सरेभ्यस्तदुपरि आर्षभाष्यानुपलब्ध्या, जैनधर्मावलम्बिना आचार्येण निर्मितस्य आधुनिकभाष्यस्योपलब्ध्या च एतादृशं विशृङ्खलत्वं समुपस्थितमिति निश्चप्रचम्। सांख्यदर्शनभाष्यकर्ता विज्ञानभिक्षुर्जैनाचार्यो बौद्धाचार्यो वेत्यत्र न कश्चन संशयः। यतोऽसौ येन भावेन भावितः सांख्यदर्शनभाष्यमरीरचत्, तेन सुस्पष्टमिदं ज्ञायते यदसौ सनातनधर्मावलम्बी नासीत्। तेनाप्रासङ्गिकीं रीतिमाश्रित्य वैदिकी हिंसा निन्दिता; लौकिकमलौकिकं च प्रत्यक्षविज्ञानं परिवर्तयता ईश्वरसिद्धिसम्बन्धे च अनुमिति-

सिद्धान्तं प्रतिपाद्य सनातनशास्त्रोक्त-देवतादिखण्डनं यत् समनुष्ठितं तदधीत्य निरपेक्षः कोऽपि दार्शनिक इदमङ्गीकरिष्यत्येव यदसौ सनातनधर्मविरोधिनः कस्याप्यन्यस्य सम्प्रदायस्य आचार्य आसीदिति। सांख्यदर्शनस्योपरि प्रकाशितानां टीकानां प्रणेतारोऽपि जैनाचार्यविज्ञानभिक्षुमतमेवानुसरन्तोऽभूवन्निति मन्महे।

दर्शनशास्त्रवास्तविकप्रचारं समनुष्ठातुं प्राचीनन्यायदर्शनस्य, महर्षीणामभिप्रायानुसारिणा भाष्येण संयोजितस्य वैशेषिकदर्शनस्य च विशिष्टप्रचारो नितरामावश्यकः। भगवद्व्यासकृत-भाष्यमवलम्ब्य योगिनो महापुरुषस्य द्वारा प्रणीतभाष्यसंवलितस्य योगदर्शनस्यापि प्रचार आवश्यकः। सांख्यदर्शनभाष्यमपि सूत्रकाराभिप्रायमनुसृत्य तत्त्वज्ञानिनो महात्मनः साहाय्येन नूतनपद्धत्या प्रणीय प्रचारणीयमास्ते।

त्रिष्वपि मीमांसादर्शनेषु घोरविप्लवः समुपस्थितो निभाल्यते। पूज्यचरणमहर्षिजैमिनिकृतं कर्ममीमांसा-दर्शनमतिविस्तृतमपि असम्पूर्णमेवास्ते। जैमिनीये कर्ममीमांसादर्शने तु वैदिककर्मकाण्डविज्ञानमेव सुचारुरूपतो वर्णितमालोक्यते। किन्तु वेदोक्तयज्ञानां प्रचारस्य लुप्तप्रायत्वादेतद्दर्शनेन नैवास्माकं कस्याप्युपकारस्य सम्भावना।

किं स्वरूपो धर्मः, साधारणविशेषधर्मयोः को भेदः, कश्चाश्रमधर्मः, पुरुषधर्मो नारीधर्मश्च कः, जन्मान्तरवादस्य किं विज्ञानम्, पारलौकिकी गतिश्च कीदृशी, किं च संसाररहस्यम्, षोडशसंस्कारविज्ञानं किम्, संस्कारशुद्धिद्वारा कथमिव क्रियाशुद्धिः, उदभिज्जादियोनिभ्यो मानवयोनिं यावत् क्रमशो जीवः कथमिव प्रवेशं प्राप्नोति, मानवः पुण्यकर्मणा कथमिवाभ्युदयं निःश्रेयसं चाधिगच्छति, कर्मणः कियन्तो भेदाः, क्रियाशुद्धिं द्वारीकृत्य मनुष्यः किमिव विमुच्यते—इत्यादयो विषयाः कर्ममीमांसादर्शन-प्रतिपाद्याः सन्ति। एतादृशमीमांसादर्शनस्य सिद्धान्तग्रन्थो बहोः कालाद् विलुप्तो बभूव। इदानीं काले किल श्रीभारतधर्ममहामण्डलनेतृणां सुप्रयत्नेनैकः सुविस्तृतः सूत्रग्रन्थः समुपलब्धः। तदीयं भाष्यं हि संस्कृतभाषया निबद्धं प्रकाशितं चापि।

यद्यपि कर्ममीमांसा विलुप्ताऽऽसीत्, किन्तु तदीयो ह्येको बृहदंशः समुपलब्धोऽभवत्। परन्तु दैवीमीमांसाया मध्यमीमांसाऽपरनामिकाया भक्तिमीमांसा-

पराभिधानाया वा कोऽपि ग्रन्थो नैव समुपलभ्यते स्म। अद्यत्वे तदीयोऽपि सिद्धान्तभूतः सूत्रग्रन्थः समुपलब्धः। तत्र संस्कृतभाष्यं प्रणीतं प्रकाशितञ्चापि। भक्तिः क्रियाख्या, तस्याश्च कति भेदप्रकाराः, उपासनया मुक्तेः कथमिव सम्भावना, भगवतः किमानन्दमयं स्वरूपम्, तस्य च ब्रह्मेशविराडिति रूपत्रितये को भेदः, भक्तेः प्रधानाचार्याणां महर्षीणां भक्तिविषये कानि कानि स्वतन्त्रमतानि, सर्गस्य किं सुविस्तृतं रहस्यम्, अध्यात्माधिदैवाधिभूतसृष्टिश्च का, के च ऋषयः, के च देवा देव्यश्च, के पितरः, तैश्च जगतः कीदृशः सम्बन्धः, अवताराः कति विधाः, भक्त्या मुक्तिः कथं सम्भवति, कानि च चतुःप्रकाराणि योगलक्षणानि, उपासनायाः कियन्तो भेदप्रकाराः, भक्त्युपासनाश्रयेण साधकः कथमिव मुक्तिं लभते, कर्ममीमांसा-दैवीमीमांसा-ब्रह्ममीमांसानां च प्रत्येकं किमन्तिमं लक्ष्यम्—इत्यादिविषया दर्शनशास्त्रेऽत्र समुपवर्णिताः। एतस्यैव दर्शनशास्त्रस्य लोपेन योगोपासनयोरैक्यं संसाधयितुं समुन्नता ज्ञानिनोऽपि भ्रान्ता अदृश्यन्त।

सप्तम-ज्ञानभूमेरन्तिमं दर्शनं हि वेदान्तापरनामकं ब्रह्ममीमांसादर्शनमास्ते। तत्रात्युत्तमं भाष्यं भगवता श्रीशङ्कराचार्येण प्रणीतमुपलभ्यते। किन्तु बहोः कालात् दैवीमीमांसादर्शनस्य लुप्तप्रायत्वात् उपासकसम्प्रदायाचार्या अद्वैतवादं द्वैतवादस्वरूपेण परिणमयितुमचेष्टन्त। अतः कारणात् वेदान्तविचारे बह्व्योऽसुविधाः समुत्पद्यन्त। यदि मध्वमीमांसापरनामकं दैवीमीमांसादर्शनं विलुप्तप्रायं नाभविष्यत्, तदा द्वैताद्वैतवादयोरेतावान् विरोधो न समुदैष्यत्।

न्यायदर्शनस्य आर्षभाष्यमतीव विस्तृतं समुपलभ्यते। वैशेषिकदर्शनस्य संस्कृतभाष्यं प्रणीयते। योगदर्शनस्य पूर्वप्रणीतविस्तृतभाष्यस्य केचनांशा 'विद्या-रत्नाकर'नाम्नि संस्कृत-मासिकपत्रे प्रागपि प्रकाशिता आसते।

सांख्यदर्शनस्य पूज्यपाद-महर्षिमतमनुसृत्य प्रणीतसंस्कृतभाष्यस्य कियानंशः पूर्वोक्तपत्रे प्रकाशितः, यमधीत्य शिक्षितमण्डली विस्मिता सती सम्प्रति स्वीकरोतीदं यत् सांख्यदर्शनमास्तिकदर्शनमास्ते। एतदिदानीं सर्वैरेव ऐकवाक्येन स्वीक्रियते। कर्ममीमांसादर्शनं संस्कृतभाष्यसंवलितं त्वरितमेव प्रकाशमेति। मध्वमीमांसापरनामकं दैवीमीमांसादर्शनं चापि ससंस्कृतभाष्यं

प्राकट्यं नीयते। वेदान्तदर्शनोपरि समन्वयनामकं भाष्यं संस्कृतभाषामाश्रित्य प्रकाशं नेष्यते। प्राचीनार्यमतसमुद्धरणपुरस्सरम् अन्यान्य-निम्नज्ञानभूमीनां समस्तदर्शनोक्तज्ञानभूमीनां च याथातथ्यविज्ञानमनुसृत्य सर्वाङ्गसुन्दरं वेदान्त-दर्शनभाष्यं निर्मातुं प्रयतिष्यते। एतेषां सप्तविधदर्शनानां प्रचाराय शिक्षणाय च सप्तदर्शन-संस्कृतभाष्य-प्रणयनकार्यमहरहोऽग्रेसरतां प्राप्नोति।

अनेकैर्विद्वद्भिरिदमाज्ञप्तं यत् ज्ञानभूमिक्रमानुसारेण पूर्वं न्यायवैशेषिकदर्शनयोः सभाष्यप्रकाशनमुचितमिति। किन्तु दर्शनद्वयस्यैतस्य हिन्दीभाष्यं सामान्यतः प्रचारितमास्ते। तथापि तस्य भाष्यद्वयस्य सविस्तरप्रकाशनावश्यकत्वेऽपि नैव तेन विद्वत्पाठकानां समुचितश्चित्तविनोदो भवितुमर्हति। विशेषतो योगदर्शनं सर्वदर्शनाविरुद्धम्। अतस्तस्यैव योगदर्शनस्य संस्कृतभाष्यं प्रकाश्यते।

उपर्युक्तसप्तदर्शनभाष्यग्रन्थप्रकाशनेन साकमेव योगस्य क्रियासिद्धांशसम्ब-न्धीयाः पञ्च ग्रन्था हिन्दीभाषानुवादसहिताः प्रकाशनीया सन्ति। तत्र मन्त्रयोग-संहिताया हिन्दीसंस्करणं समुदितमास्ते। उपासनामूलभित्तिरूपयोगस्य क्रियासि-द्धांशा मन्त्रयोग-हठयोग-लययोग-राजयोगाश्चेति चतुर्धा विभक्ताः। चतसृणामप्ये-तासां पद्धतीनां पृथक् पृथगङ्गानि ध्यानानि अधिकाराश्च निर्णीता विद्यन्ते।

नामरूपावलम्बनेन निर्णीता साधनपद्धतिर्मन्त्रयोगनाम्ना समाम्नाता। मन्त्र-योगस्याङ्गानि षोडशधा विभक्तानि। तदीयं ध्यानं स्थूलमित्युच्यते। स्थूलशरीर-साहाय्यतः चित्तवृत्तिनिरोधप्रकारो हठयोगः। स च सप्तधा विभक्तः। तदीयं ध्यानं ज्योतिर्ध्यानमभिधीयते। ततोऽपि समुन्नतो लययोगः। सकलशरीरेषु व्याप्नुवन्त्या जगत्प्रसविन्याः कुलकुण्डलिन्याः शक्तेर्गुरूपदेशं द्वारीकृत्य जागरणं विधाय सहस्रारे विलयेन चित्तवृत्तिनिरोधप्रकारो लययोग इत्यभिधीयते। स च नवधा विभक्तः। तदीयं ध्यानं बिन्दुध्याननाम्ना समाम्नातम्। राजयोगस्तु सर्वाभ्यर्हितः।

पूर्वोक्तास्त्रिविधा अपि साधकाः समुन्नतायामवस्थायां राजयोगसाहाय्य-माश्रयन्ति। राजयोगे केवलया विचारशक्त्यैव चित्तवृत्तिनिरोधः क्रियते। स हि षोडशभिरङ्गैर्विभक्तः, तस्य च ध्यानं ब्रह्मध्यानमित्युच्यते। उपर्युक्तत्रिविधयोग-पद्धतिसमाधिः सविकल्पः। केवलो राजयोगसमाधिरेव निर्विकल्पः समाम्नातः। चतुर्विधानामपि उपर्युक्त-योगपद्धतीनामङ्गोपाङ्गानि वेदार्षसंहिता-पुराण-तन्त्रादिषु

बहुत्र समुपलभ्यन्ते। परन्तु प्रत्येकस्याधिकारानुसारतः क्रियापद्धतयो यथाक्रमं न कुत्रापि समुपलभ्यन्ते स्म। पुरा किल गुरुशिष्यसम्प्रदायस्य समुन्नतत्वात् साधनविभागो नासीदावश्यकः। परमद्यत्वे तासां चतुर्विधसाधनप्रणालीनां पृथक् पृथक् सिद्धान्तग्रन्थानुपलब्ध्या योगपथपथिकेषु उपासकसम्प्रदायेषु च घोरातिघोरो विप्लवः समुपस्थितः।

सम्प्रति मन्त्र-हठ-लय-राजयोगानां पृथक् पृथक् योगसंहिता-सिद्धान्तग्रन्था गुरुकृपातः समुपलब्धाः। तेषु च प्रत्येकस्यापि साधनपद्धतयः सुचारुरूपतः सविस्तरं समुपवर्णिताः सन्ति।

तत्तद्योगपद्धतीनामवलम्बनपूर्वकं शिष्यशिक्षणाय 'योगप्रवेशिका'नाम चैको ग्रन्थोऽपि विरचितः। पूर्वोक्ता एते पञ्चापि ग्रन्था "विद्या-रत्नाकर"-नामक-संस्कृतमासिकपत्रे प्रकाशिताः। किन्तु हिन्दी-संस्कृतभाष्यसंयोजितास्ते पृथक् पृथगपि प्रकाशमेष्यन्ति।

सप्तानां दर्शनानां पञ्चानां योगग्रन्थानां च संस्कृत-हिन्दीभाष्यपूर्वकप्रकाशनेन दार्शनिकस्य जगतो सुमहती समुन्नतिः संसाधिता स्यादित्यत्र नाणीयानपि संशीतिलव इति।

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां
मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां
पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

भाष्यकाराः पूज्यपादाः

महर्षि-स्वामि-श्रीज्ञानानन्दमहाराजाः

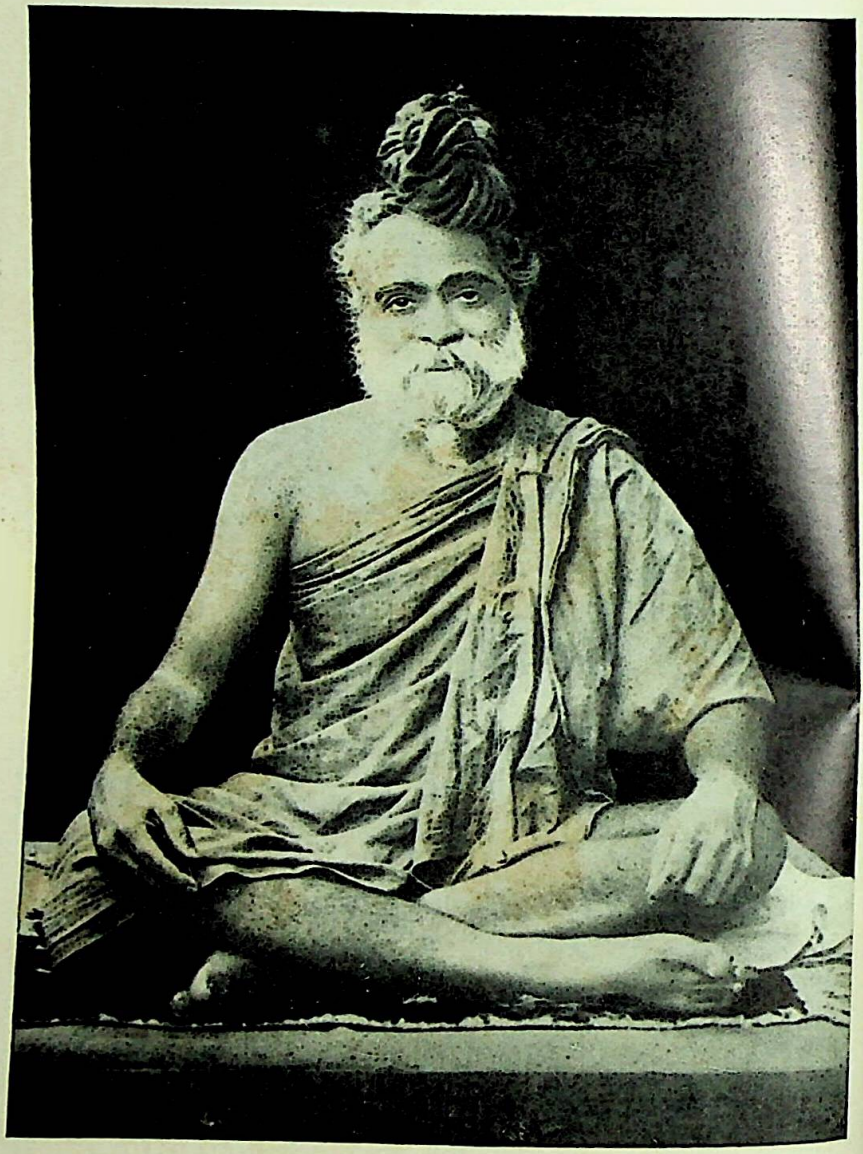

(श्रीभारतधर्म-महामण्डल-संस्थापकाः)

[आविर्भाव-कालः १९०२ वैं०] [तिरोभाव-कालः २००७ वैं०

योगदर्शनं किम्, किं वाऽस्य दर्शनान्तरेभ्यो वैशिष्ट्यम् ?

— श्री ज्ञानानन्दस्वामिनः —

सच्चिदानन्दमयमनाद्यनन्तं ब्रह्म सदैकरूपं ज्ञानस्वरूपं निष्क्रियं सृष्टेरतीतं च। नैव तत् का चित् क्रिया स्पृशति। न च तत्र कस्य चिदपि क्लेशस्य सम्भावना। भूतभविष्यद्वर्तमानकालेषु सदैकरूपं तत्। इच्छानिच्छारूपया तदीयेच्छामय्या शक्त्या सृष्टिस्थितिप्रलयाः सम्पद्यन्ते। सर्ग-स्थितिदशायां सर्वशक्तिसम्पन्नं तद् ब्रह्म यं भावमवलम्ब्य सर्गादिकार्यकलापं विधत्ते, तदवस्थानामैव ईश्वर इति। सर्गाभावदशायां निष्क्रियप्रशान्तावस्थाया ब्रह्मेति नामधेयम्, "अहं ममेतिवत्" अर्थात् अहं ममशक्तिश्चेति व्याह्रीयमाणे यथा शक्ति-शक्तिमतोरभेदः, तथैव ब्रह्मणि तदीयत्रिगुणमयशक्तौ च महर्षिभिरभेदोऽङ्गीकृतः प्रमाणितश्च।

संक्षेपतोऽवधेयमिदं यत् निर्गुणनिष्क्रियब्रह्मभावे ब्रह्मशक्तिः साम्यावस्थां प्राप्ता तिरोधत्ते। सगुणब्रह्मापरनामके ईश्वरभावे सा त्रिगुणरूपं बिभ्राणा प्रकाशमेति। लीलामयस्य सर्वशक्तेर्भगवतः परमेश्वरस्य या शक्तिः संसारमुत्पादयति, सैव महाशक्तिः, महाविद्या, प्रकृतिः, शक्तिश्चेत्युच्यते। सृष्टिप्रारम्भदशायां निष्क्रियरूप-शान्तावस्थायां वा क्रियास्वरूपसर्गे जायमाने यया कारणरूपिण्या शक्त्या कम्पनमाविर्भूतम्, तस्याः स्वतन्त्ररूपं सत्ताद्वयमवधार्यम्। यस्य सृष्टिविधातुः समीहया

सृष्टिरूपा क्रिया समुत्पद्यते, तस्यैव नाम परमेश्वर ईश्वरो वा। तस्य इच्छारूपशक्तेर्नाम प्रकृतिरिति[1]।

यथा समुद्रे तरङ्गेषु समुत्पद्यमानेषु तरङ्गाणां समुद्रस्य च पृथक् पृथक् सत्ताऽवधार्यते, तथैव समुद्रस्वरूपस्येश्वरस्य तरङ्गस्वरूपजीवानां च सत्ता स्वतन्त्ररूपेण प्रतिभाति। गम्भीरप्रशान्तसमुद्ररूपे परमेश्वरे तरङ्गस्वरूपजीवेषु च न कोऽपि वास्तविको भेदः। परमविद्यया हेतुभूतया प्रत्येकोऽपि तरङ्गरूपो जीवः स्वीयां स्वतन्त्रसत्तामभ्यमन्यत। चैतन्यस्वरूपो जीवोऽविद्यया यद्धि स्वीयां स्वतन्त्रसत्तामन्वभवत्, अहङ्कारवशगोऽसौ यद्धि स्वीयं स्वतन्त्रकेन्द्रं समस्थापयत्, अल्पज्ञरूपं तत् स्त्राधीनं केन्द्रमेव जीवस्य जीवत्वमिति। सर्वशक्तिशालिनः श्रीमतो भगवतः परमेश्वरस्याधीनत्वमधिगता विद्यारूपिणी महाशक्तिः किल सृष्टि-स्थिति-लयक्रियां विदधाति। परन्तु जीवदशा तद्भिन्नैव। जीवविमोहयित्र्या अविद्यायाः प्रभाववशगो जीवश्चैतन्यस्वरूपोऽपि सृष्टिपाशे प्रसज्जते, स्वयमात्मानं प्रकृतिवदभिमन्यते च। सत्त्वरजस्तमोरूपेषु त्रिष्वपि गुणेषु निमग्नो जीव आत्मानं त्रिगुणमयं मन्यते। सुतरां जीववन्धनकारिणी अनादिरविद्यैव। तयैव कारणभूतया जीवोऽल्पज्ञतां प्राप्तोऽहङ्कारवशवर्ती च भूत्वा निजां स्वाधीनसत्तामभिमन्यते। एतदवस्थानामैव जीव इति। फलतो जीवोऽविद्याग्रस्तः, विद्यां च स्ववशे स्थापयिता परमेश्वर ईश्वरो वेति। सुतरां प्रकृतेरधीनो जीवः, यदधीना प्रकृतिः स ईश्वरश्चेति।

---

१. प्रणवः किलैतत्कार्यसम्बन्धनिबन्धनः। यत्र किमपि कार्यं तत्र नूनं कम्पनेन भवितव्यम्। कम्पने जायमाने शब्दः समुत्पद्यते। सर्गादिकारणरूपकार्यस्य ध्वनिरेव ॐकारः। साम्यावस्थायां प्रकृतौ येन मनो नीयते, स एव योगी प्रणवध्वनिश्रवणाधिकारी भवति।

सर्वशक्तिसम्पन्नः परमात्मा यदा स्वीयाम् इच्छानिच्छारूपां विद्यारूपिणीं महाशक्तिं द्वारीकृत्य ब्रह्माण्डमसृजत्, तदानीं सर्वतः प्रथममाकाशः सम्भूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी च। एतत्समष्टिः पञ्चतत्त्वम्। एतेनैव संसारोत्पत्तिः। आदिकारणरूपिण्याः त्रिगुणमय्या अनादिप्रकृत्या एव पञ्चानां तत्त्वानां जायमानत्वात् तान्यपि त्रिगुणानि स्वतःसिद्धानि च। पञ्चतत्त्वानां सत्त्वांशतोऽन्तःकरणसमुत्पत्तिः। रजोंऽशतः पञ्चप्राणा अजायन्त। अन्तःकरणे चित्तं मनो बुद्धिरहङ्कारश्च अन्तर्भवन्ति। तत्र च चित्ताहङ्कारौ मनोबुद्ध्योरन्तर्विभागौ। अर्थात् मनसोऽन्तर्विभागश्चित्तम्, बुद्धेश्चान्तर्विभागोऽहङ्कारः। सुतरां मनोबुद्धिचित्ताहङ्काराणां समष्टिस्वरूपमन्तःकरणमुच्यते। अन्तःकरणस्यापि त्रिगुणात्मकत्वात् सूक्ष्मदर्शिनो योगिनस्तस्यापि चातुर्विध्यमाकलयन्ति। सत्त्वाद् बुद्धिः, रजसो मनः, तमसश्च चित्ताहङ्कारौ।

योगदर्शनं किल चित्तरूपान्तःकरणस्य मनो बुद्धिरहङ्कारश्चेति विभागत्रयमङ्गीकुरुते। पञ्चभूतानां गुणाः किल तन्मात्राशब्देनोच्यन्ते। अर्थात् आकाशस्य शब्दः, वायोः स्पर्शः, तेजसो रूपम्, जलस्य रसः, पृथिव्या गन्धश्च। इमे पञ्चगुणा एव पञ्चतन्मात्राः प्रोक्ताः। तन्मात्रासाहाय्येन सर्गो विस्तृतिमवाप। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धेभ्यः क्रमशः श्रोत्र-त्वक्-चक्षू-रस-जिह्वा-नामधेयानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि समाविर्भूतानि। एतानि ज्ञानेन्द्रियाणि तन्मात्रा सत्त्वांशतः समुदपद्यन्तेति विज्ञेयम्। एतत्तत्त्वानां रजोगुणांशतः पञ्च कर्मेन्द्रियाणां समुत्पत्तिः। अर्थात् आकाशस्य रजोंऽशतो वाक्, वायुरजोंऽशतः पाणी, तेजोरजोंऽशात् पादौ, जलस्य रजोंऽशत उपस्थम्, पृथिव्या रजसः अंशेन पायुरिति। एतत्पञ्चभूतविस्तृत्या समस्तसर्गो-

त्पत्तिः। यदैतानि पञ्चभूतानि सूक्ष्मावस्थायां पृथक् पृथक् तिष्ठन्ति, तदानीं तान्यगोचराणि अपञ्चीकृतानि मन्यन्ते। यदा तानि परस्परं सम्मिलन्ति, तर्हि स्थूलपञ्चभूतानि भूत्वा दृष्टिगोचरीभवन्ति। एकतत्त्वस्यार्धभागः, अन्येषां च प्रत्येकस्यैकैको भागो मिलित्वा पञ्चीकृत-पञ्चभूतान्युच्यन्ते। इमानि पञ्चीकृतमहाभूतानि स्थूलतां प्राप्य दृष्टिगोचरतामापद्यन्ते।

सगुण-ब्रह्मापरनामकस्य परमात्मनः पुरुषस्य वा त्रिगुणमय्या महामायायाः प्रकृतेर्वा समीहया सङ्कल्पा च सर्गः समुत्पद्यत इति वेदतत्सम्मतशास्त्राणि चैकवाक्यतया स्वीकुर्वन्ति। यद्यपि शास्त्रेषु विभिन्नरूपाणि वर्णानान्युपलभ्यन्ते, किन्तु सर्वेषामाशय एक एव। सर्वैरेव सर्वशक्तिसम्पन्नं पूर्णब्रह्म पुरुषो वा निष्क्रियः स्वतन्त्रश्च समाम्नातः; त्रिगुणमयी प्रकृतिरेव सृष्टिकारणभूता व्याख्याता। सांख्यदर्शनेन कारणरूपा प्रकृतिश्चतुर्विंशतिसंख्याकैस्तत्त्वैर्विभक्ता। एषा प्रकृतिर्विस्तृतिः वेदान्तदर्शनेन पञ्चकोषनाम्ना व्याख्याता। यथा सांख्यदर्शनेन चतुर्विंशतितत्त्वत उपरतिरेव मुक्तिः स्वीकृता, तथैव वेदान्तदर्शनेन पञ्चकोषेभ्य उपराम एव ब्रह्मसदभावः समाम्नातः। सर्वेषामपि शास्त्राणां लक्ष्यं सिद्धान्तो वा एक एव। केवलं साधनविभागः, अर्थात् मुक्तिपदप्राप्तेरुपायः शास्त्रैर्विभिन्नरूपेणाङ्गीकृतः। सर्वप्रथमं यदा चैतन्यरूपो जीवः अविद्यापाशबद्धो भूत्वा आत्मानं प्रकृतिवदभ्यमन्यत, तदा कारणशरीर-समुत्पत्तिः। अन्तःकरणम्, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, पञ्च प्राणाश्चेति मिलित्वा सूक्ष्मशरीरसंज्ञामलभन्त। सूक्ष्मपञ्चतत्त्वानां पञ्चीकरणप्रक्रियया समुत्पन्नैः पृथ्वी-जलाग्नि-वाय्वाकाशैः स्थूलपञ्चभूतैः स्थूलं किल शरीरं समुदपद्यत। स्थूलशरीरमिदं जीवस्य देहपातानन्तरं शवरूपमत्रैव तिष्ठति। सूक्ष्मशरीरविशिष्टो जीवो जन्मान्तरं प्रतिपद्यते। स्थूलं शरीरमेतत् सूक्ष्मशरीरविस्तार-

मात्रमवधेयम्। जीवो यानि कर्माणि करोति, भुङ्क्ते भविष्यद्भोगाय सञ्चिनोति वा, तेषां सर्वेषां कर्मणां हि संस्कारान् स्वीये सूक्ष्मशरीरे संगृह्णाति। ते च संस्कारा जीवान्तःकरणे तिष्ठन्ति। चैतन्यरूपो जीवो यावदात्मानमन्तःकरणस्वरूपं मन्यते, तावच्चान्तःकरणे बद्धस्तिष्ठति। यावच्चैष भ्रममूलकः सम्बन्धोऽस्य स्थिरः, न तावदस्य सुखदुःखरूपकर्मतो विमुक्तिः, नैव तावदस्य गमागमचक्र-भ्रमणविरामः।

जीवो ह्यविद्याग्रस्तः सन् परब्रह्मतः परमात्मनो भिन्नमिवात्मानं मन्यते। एतद्विभिन्नतामपहाय यतो ब्रह्मतो जीवो निर्गतस्तत्रैव तस्य पुनरानयनं योग इत्युच्यते। सुतरां जीवस्य परमात्मनि विलय एव योगः। एवं किल जीवं मुक्तिपदं प्रापयितुं वेदशास्त्रैर्यावन्ति साधनानि समुपवर्णितानि, तानि मन्त्रयोग-हठयोग-लययोग-राजयोगनाम्ना चतुर्धा विभक्तानि। शास्त्रोक्तानां नाममन्त्राणां जपेन भगवद्रूपाणां च ध्यानेन चित्तवृत्तिं निरुद्ध्य मुक्तिपथाग्रेसरणप्रकारो मन्त्रयोगः। शारीरिकक्रियाकलापैः चित्तवृत्तिनिरोधतो मुक्तिमार्गाश्रयणं हठयोगः। षट्चक्रभेदपूर्वकं बहिर्मुखीनां शक्तीनां ब्रह्माण्डे पिण्डे वा विलयनमेव लययोगः। केवलबुद्धिसाहाय्येन ब्रह्मविद्याविचारद्वारा चित्तवृत्तेरुपरमं विधाय मुक्तिपदप्राप्तिः किल राजयोग इति[1]।

उक्ताश्चत्वारः साधनमार्गा यत्र भित्तौ प्रतिष्ठितास्तद्विवरणं सप्तापि दर्शनानि पुष्णन्ति। तेषु महर्षिपतञ्जलिप्रणीतेन योगदर्शनेन योगसाधनमार्ग-क्रियासिद्धांशाः सार्वभौमदृष्ट्या सुनिरूपिताः सन्ति। महर्षि-पतञ्जलिना स्वीयं दर्शनं चतुर्भिः प्रकरणैर्विभक्तम्। प्रथमप्रकरणे योगसमाधिवर्णनम्, द्वितीये योगानुकूल-प्रतिकूल-गुण-क्रियाविवृतिः।

---

१. एतच्चतुर्विधयोगसाधनानां सुविस्तृतज्ञानाधिगमाय चत्वारस्तत्तद्योग-संहिताग्रन्था निभालनीयाः।

तृतीये योग-विभूतीनां चतुर्थे च कैवल्यस्य अर्थात् योगसाधनलक्ष्यस्य वर्णनमास्ते ।

सर्गकार्यंतो लयक्रिया विपरीता । अर्थात् अनुलोमतः सृष्टिः, विलोमतश्च लयः । सर्गारम्भकाले ईश्वरतः प्रकृतिः, प्रकृतेर्महत्तत्त्वम्, महत्तत्त्वादहंतत्त्वम्, अहंतत्त्वान्मनः, मनसः आकाशः, आकाशाद् वायुः, वायोस्तेजः, तेजसो जलम्, जलात् पृथ्वी च समजायन्त । किन्तु लयदशायां सर्वमेतद् वैपरीत्यं लभते । अर्थात् संसारे भावान्तरप्राप्ते पृथ्वी जले, जलमग्नौ, अग्निर्वायौ, वायुराकाशे, आकाशो मनसि, मनः अहंतत्त्वे, तत् महत्तत्त्वे, तत् प्रकृतौ, प्रकृतिश्चेश्वरे विलीय ब्रह्मत्वं प्रपद्यन्ते । योगशास्त्रे सृष्टिलयकारणमन्तःकरणमेव समाम्नातम् । यथा किलान्तःकरणवृत्तीनां बहिर्जगत्सम्बन्धसत्त्वात् सृष्टिविस्तारः, तथैव तासामेव वृत्तीनां निरोधतो लयरूपं मुक्तिपदमधिगम्यते ।

सृष्टिदशायामन्तःकरणस्य किं स्वरूपा वृत्तयो भवन्ति, योगशास्त्रोक्तमुक्तिपदमधिगन्तुं च कथमिव परिवर्तनं जायत इति विचारणीयम् । सदसत्स्वरूप-पुण्यपापविचारेण वृत्तीनां क्लिष्टा अक्लिष्टाश्चेति भेदद्वयम् । जीवो याभिः काम-क्रोध-हिंसा-ऽहंकार-द्वेषादीनां पापमूलकानां संग्रहं विधत्ते, ताः क्लिष्टाः । याभिश्च दया-मैत्री-मुदिता-सरलता-क्षमाशीलतादीनां सुखदायक-पुण्यानां सञ्चयं प्रकुरुते, ता अक्लिष्टा योगशास्त्रेऽङ्गीकृताः ।

यथा सदसद्भेदेन अन्तःकरणवृत्तीनां भेदद्वयमास्ते, तथैव गुणभेदेन अन्तःकरणस्य पञ्चावस्था भूमयो वा विद्यन्ते । प्रथमा तमोभूमिः साऽभिमता, यत्र मनसि ज्ञानांशोऽत्यल्पीयान् दृश्यते, मनश्च प्रग्रहहीनोऽश्व इवोन्मत्तीभूय इतस्ततो भ्राम्यति । तदवस्थं मनो मूढसंज्ञामवाप्नोति । द्वितीया रजोभूमिः, यत्र लक्ष्यविशेषावलम्बनेन मनो बुद्धियुक्तं सत्

सदसद्विचारे प्रवर्तमानमेकस्मिन्नेव कर्मणि संलग्नं तिष्ठति । तदवस्थं मनः क्षिप्तसंज्ञां प्राप्नोति । तृतीया सत्त्वगुणभूमिः सा निरूपिता, यत्रान्तःकरणं सर्वविधवृत्तिभ्यो विरहितं जायते, अर्थात् न तत्र मनस उन्मत्तता, नापि च बुद्धिविवेक एव जागर्ति । तदवस्थं मनो विक्षिप्तमित्युच्यते । विक्षिप्तभूमिरियं जीवे कदा कदा चिदाविर्भवति । मूढ-क्षिप्त-विक्षिप्तनामधेया अन्तःकरणस्य तिस्रो दशा भवन्ति । अर्थात् अन्तःकरणगुणानुरूपेण त्रिविधभूमीनां समुदयो वोभवीति । तामसिकेषु आलस्ययुक्तेषु पुरुषेषु मूढता, राजसिकेषु कर्मठपुरुषेषु क्षिप्तता, सात्त्विकेषु साधुपुरुषेषु च विक्षिप्तता मनसो दृश्यन्ते । क्लिष्टाभिः अक्लिष्टाभिश्च वृत्तिभिः साकं मूढ-क्षिप्त-विक्षिप्तभूमीनां सम्बन्धः । सद्रूपमसद्रूपं च सत्त्वं तमश्चेति गुणद्वयमेव प्रधानम् । रजस्तूभयोः सहायकमात्रम् । रजो यदा तमोऽभिमुखतां प्रपद्यते, तदानीमन्तःकरणे क्लिष्टनामधेयाः पापजनकवृत्तयः समुदयन्ति । यदा च रजोगुणः सत्त्वगुणाभिमुखतां प्रपद्यते, तदा अन्तःकरणेऽक्लिष्टा वृत्तयः समुत्पद्यन्ते । यदा चान्तःकरणे मूढ-क्षिप्त-विक्षिप्तभूमिषु काश्चिदपि पुण्यपापजनकवृत्तयोऽन्तःकरणेषु नोत्पद्येरन्, वृत्तिशून्यं तदवस्थं मनो निरुद्धसंज्ञामवाप्नोति । निरुद्धावस्थया मुक्तिरधिगम्यते ।

एवं किल मुक्तिपदसाधनीभूत-निरुद्धदशाधिगमाय योगशास्त्रेण चैका मनस एकाग्रदशाऽपि स्वीकृता । इयं दशा पञ्चमी । इयमवस्था साधकेष्वेव जागर्ति । अन्तःकरणे यदा ध्यातृ-ध्येय-ध्यानव्यतिरिक्तं न किञ्चिदप्यनुभूयते, अन्तःकरणस्य सुस्थिराऽवस्थेयम् एकाग्रनाम्ना प्रणिगद्यते । एकाग्रभूम्यां दृढतां प्राप्तायां शनैःशनैरन्तःकरणे ध्यातृ-ध्येय-ध्यानरूपत्रिपुटीनाशेन निरुद्धावस्था प्राप्यते । निरुद्धावस्थायामन्तःकरणस्य वृत्तिशून्यत्वात् निर्मलत्वाच्च जीवो भगवत्साक्षा-

त्कृत्या मुक्तिमधिगच्छति । एवं हि स्वाभाविक-त्रिगुणमयवृत्तीरेकाग्रता-रूपयोगसाधनेन प्रणश्य निरुद्धावस्थामधिगम्य योगक्रियया जीवो मुक्तिं लभते । यद्यन्तःकरणं बहिर्मुखं सत् तन्मात्रेन्द्रियसाहाय्येन विषयेष्वासज्यते, तर्हि विषयाकारतां प्रतिपद्यमानं तत् विषयपाशेषु निपतितं बोभोति । परन्तु यदैकाग्रतासाधनेन चाञ्चल्यरहितमन्तःकरणं बहिर्मुखं न भवितुमर्हति, ततोऽन्तःकरणे स्थैर्यमापन्ने निरुद्धभावोदयेन आत्मसाक्षात्कारः सिद्ध्यति । एकाग्रभूमौ समागत्य निरुद्धभूमिरधिगम एव योगः प्रोक्तः ।

यथा पक्षी पक्षद्वयसद्भावेनैव उड्डयने प्रभुस्तथैव साधकः साधन-वैराग्याभ्यामेव मुक्तिमार्गेऽग्रे सर्तुं प्रभवति । प्रकृतेः परिवर्तनशीलत्वात् तन्निर्मितसंसारोऽपि क्षणभङ्गुर एव । इहलोक-परलोकादयस्तत्रत्यभोग-पदार्था अपि प्राकृतिकत्वात् त्रैगुण्याच्चानित्याः सन्तीति विभाव्य ऐहिकपारलौकिकानि सुखानि मिथ्याभूतान्यवधार्य साधकान्तःकरणं तेभ्यो विरमति । अन्तःकरणस्य विषयरागरहितदशेयं वैराग्यनाम्ना समाख्याता ।

शास्त्रकारैः वैराग्यस्य चातुर्विध्यं प्रोक्तम् । वैराग्यस्य प्रथमदशायां विवेकरूपसात्त्विकबुद्धेः समुदयेन साधको ह्येतदवधारयति यत् सर्वमिदं मायाक्रीडनं मिथ्याभूतम्, अतो मुक्तिपदमेव आश्रयणीयम् । द्वितीयावस्थायां विवेकी साधको विषय-क्षणभङ्गुरतादिदोषं विचारयन् तदपास्तौ यत्नमनुतिष्ठति । तृतीयावस्थायां साधकोऽसौ वैराग्यबुद्धेर्दार्ढ्येन निखिलानेव पदार्थान् दुःखमयानवधारयति । यथा जीवो बलाद् विषपानेन क्लेशमनुभवति, तथैव सर्वविधमेव सुखं दुःखमयं विषतुल्यमनुभवति । अवस्थायामस्यां विषयसेवाया अत्यन्तनाशेऽपि विषयाणां संस्काराः शिष्यन्ते । चतुर्थ्यां दशायां सर्वश्रेष्ठवैराग्यावस्थामधिगम्य

साधको वैराग्यसाधनेन पूर्णतां प्राप्य संसारतः स्वीयं मुखं नितरां संहरते। यदा परवैराग्योदयेन अन्तःकरणं पूर्णरूपेण इच्छाशून्यं जायते, तदानीमसौ संसारमुपेक्षते। योगपथाभिमुखमग्रेसरद्भिः बहुविधाः दिव्याः सिद्धयः प्राप्यन्ते, याभिर्योगिभिः सर्वमेव समनुष्ठातुं शक्यते। परन्तु परवैराग्यशक्त्यैव तैः पुनः सिद्धिस्वरूपविषयेषु न निमज्ज्यते। सुतरां वैराग्यपूर्णावस्थापरनामक-परवैराग्यम्, साधनपूर्णदशानामकम् अन्तःकरणस्य निरुद्धत्वं चोभयोरेकमेव लक्षणम्। एवं किल क्लिष्टरूप-पापजनकवृत्तयः शनैः शनैरक्लिष्टरूप-पुण्यजनकवृत्तिभिः प्रणाश्याः। पुनश्च परवैराग्याभ्यासतोऽक्लिष्टवृत्तीनामपि समूलं हानं विधाय मुक्तिपदं प्राप्तुं शक्यते।

योगशास्त्रेण साधन-वैराग्ययुक्तपुरुषार्थस्य अष्टौ भेदाः प्रकीर्तिताः। त एव योगस्य अष्टावङ्गानि प्रोक्तानि। तानि यथा—१. यमः, २. नियमः, ३. आसनम्, ४. प्राणायामः, ५. प्रत्याहारः, ६. धारणा, ७. ध्यानम्, ८. समाधिश्चेति।

अहिंसासत्यास्तेयापरिग्रहा यमाः। शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। यमनियमपालनेन अन्तःकरणवृत्तिशुद्धौ सत्यां योगमार्गेऽग्रेसर्तुं शक्यते। स्थिरसुखमासनम्, अर्थात् ययोपवेशनक्रियया शरीरं मनश्च नैवोद्विग्नतां प्रपद्येते, सैवासनशब्दवाच्या। सुतरां यया सुगमरीत्या उपवेशनतो योगसाधनं समीचीनं भवेत्, तदेवासनमित्यर्थः। रेचक-पूरक-कुम्भकैः शनैःशनैः प्राणवायौ आधिपत्यस्थापनं प्राणायामः। मनसा वायोः साक्षात्सम्बन्धः। अतः प्राणवायौ वशीभूते मनः स्वयमेव वशीभवति। कूर्मो निजाङ्गानामिव विषयेभ्य इन्द्रियाणां सङ्कोच एव प्रत्याहारः। पञ्चतत्त्वादिसूक्ष्मविषयेषु (हृत्पुण्डरीके वा) मनसश्चिरकालस्थापनं धारणा। धारणाभ्यासकालेऽन्तर्जगति योगिनो

भ्रमन्ति। भगवत्स्वरूपस्य मनसा चिन्तनमेव ध्यानम्। ध्यानदशायां ध्यातुर्ध्येयस्य च भानं तिष्ठति। इयमेव ध्यानस्य द्वैतावस्था। यदा धारणा-ध्यान-समाधिरूपाभिस्तिसृभिः साधनक्रियाभिः साधक एकस्मिन्नेव पदार्थविशेषेषु युक्तो जायते तदा साधकस्यावस्थेयं संयमः प्रोच्यते, "त्रयमेकत्र संयमः" इति योगसूत्राभिधानात्। सविकल्पे समाधौ संयमो जायते। संयमसाधनशक्त्यैव महर्षयस्त्रिकालदर्शिनो बभूवुः। विनैव बहिश्चेष्टया महर्षयः केवलं संयमेनैव नानाविधानि शारीरज्ञानानि ज्योतिरायुर्वेदादि-बहिर्ज्ञानानि आविश्चक्रुः। संयमसम्बन्धिसाधनवर्णनं योगदर्शनस्यास्य विभूतिपादे द्रष्टव्यम्। ध्यातृ-ध्यान-ध्येयस्वरूपत्रिपुट्याः स्वतन्त्रसत्तानाशपूर्वकम् एकरूपताप्राप्तिरेव समाधिः। अत्र परमात्मानमन्तरेण नान्यभावसत्ता। एवं हि यम-नियमा-ऽऽसन-प्राणायामाश्चेति चत्वारो बहिर्जगतः साधनानि, प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधयोऽन्तर्जगत्साधनान्यवधेयानि। सुतरां योगस्य अष्टानामङ्गानां साधनेन निजान्तःकरणं निरुद्धावस्थां प्रापय्य साधकेन कैवल्यरूपं मुक्तिपदमासाद्यते।

पूज्यपादेन महर्षिपतञ्जलिना कृतं योगदर्शनं किल सकलसाधनानां सार्वभौमभित्तिः। मन्त्रयोगस्य, हठयोगस्य, लयलोगस्य राजयोगस्य वा पृथक् पृथगधिकारिणः भक्ताः त्यागिनो वा ज्ञानिनो वा भवेयुः। सर्वेषामेव कृते दर्शनमिदं कल्याणमार्गं दर्शयति। चतुर्विध-योगसाधनप्रकाराः, अनेके साम्प्रदायिक-साधनमार्गाः, भक्तिसाधनपद्धतयश्च एतद्योगशास्त्रप्रदर्शितभित्तौ प्रतिष्ठिताः सन्ति। अष्टाङ्गयोगातिरिक्तानां विविधयोगमार्गाणां वर्णनमपि एतद्योगसूत्रेषु समुपलभ्यते। जीवहितैषिणा महर्षिणा प्रमाणितमिदं यद् अष्टाङ्गयोगः सरलः साधारणश्च पन्थाः। तदतिरिक्ते असाधारणे मार्गे ईश्वरभक्तेरभ्यासः, प्रणवादि-

मन्त्राणां जपः, प्राणायाम-साधनम्, पञ्चतन्मात्रास्वरूप-दिव्यविषयेषु मनसो लयः, भगवद्रूप-ध्यानम्, मनसः शून्यताभ्यासः, स्वीयसमीहानुसारेण शास्त्रीयमूर्तिषु मनोयोगपूर्वकं ध्यानम्—इत्यादिभिरेकाग्रतां प्राप्तमन्तःकरणं निरुद्धावस्थां प्रापय्य जीवो मुक्तिपदमधिगच्छति। योगशास्त्रनिर्दिष्टैकाग्रभूमितो निरुद्धभूमिप्राप्तिरेव साधनं नाम।

समाधिर्द्विविधः—सविकल्पो निर्विकल्पश्चेति। सविकल्पे समाधौ निरुद्धं साधकान्तःकरणं भगवन्तं साक्षात्करोति, किन्तु द्वैतभेदस्तिष्ठत्येव। निर्विकल्पे समाधौ प्रकृतेः पूर्णरूपेण विलयत्वात् जीवब्रह्मणोरैक्यमभेदो वा जायते। एकमद्वितीयं सच्चिदानन्दमयं परमात्मानं व्यतिरिच्य न किमपि भासते। एतदेव योगमार्गस्य कैवल्यरूपं निर्वाणपदम्। अत्र सर्वेषामेव वेदोक्तमतानामैकमत्यम्। इयमेव दशा वेदान्तस्य ब्रह्मसद्भावः, भक्तिमार्गस्य परा भक्तिः, इयमेव सांख्यानामत्यन्तदुःखनिवृत्तिः, वेदोक्त आत्मसाक्षात्कारश्चेति। अस्यामवस्थायां जीवस्य जीवत्वनाशः, स च यतः समागतस्तत्र विलीयते। जीवः शिवत्वमेति। अनादिकालतः समुत्पन्ना, अनन्तकालपर्यन्तं स्थायिनी च सृष्टिक्रिया यद्यपि तदानीमपि तिष्ठति, किन्तु योगसाधनपुरुषार्थमाचरन् जीवो मोक्षं लभते। मुक्तौ लब्धायां जीवप्रकृतिर्महाप्रकृतौ लीनतां प्रपद्यते। समुद्रे वारिबिन्दुरिव जीवः परमात्मनि विलयमेति। मनोवागगोचरा मुक्तावस्थेयं योगसाधनलक्ष्यभूता वेदितव्या।

ज्ञानभूमीनां सप्तभेदानुसारेण वैदिकदर्शनान्यपि सप्तधा विभक्तानि। यद्यपि महर्षिपतञ्जलिकृतं योगदर्शनं स्वकीयां ज्ञानभूमिं सम्यक् प्रकाशयति, किन्त्वेतस्य वैशिष्ट्यमिदं यत् कस्यापि दर्शनस्य ज्ञानभूम्या इहास्य नास्ति विरोधः। प्रायेण दर्शनमेकं स्वकीयज्ञानभूमिदृढता-

सम्पादनाय अन्यदर्शनज्ञानभूमिमाक्षिपति । यद्यपि चैवंप्रकारेण परकीयपक्षनिरसनपूर्वकं स्वकीयपक्षमण्डनेन ज्ञानभूमितारतम्यानुसारेण दार्शनिकबोधशैली परिपोषमेति, तथापि योगदर्शनेऽत्र तादृशखण्डनमण्डनप्रणाली लेशतोऽपि नास्ति । एतदेव परमोपयोगिनो दर्शनस्यैतस्य समदर्शितायाः सर्वहितकारितायाश्च सर्वाग्रहितं निदर्शनम् ।

योगदर्शनस्य सांख्यदर्शनविज्ञानेन साकं घनिष्ठः सम्बन्धः । योगदर्शनविज्ञानं वैदिककाण्डत्रयप्रतिपादक-मीमांसात्रयस्य परमं सहायकम्, यौगिकक्रियाकलापस्य मौलिक आधारश्च । एतेन सर्वविधोपासनापरिपाटीषु विशिष्टं साहाय्यं लभ्यते ।

अन्यदर्शनापेक्षया योगदर्शनस्येदमप्येकं वैशिष्ट्यं यदत्र दृष्टजन्मवेदनीयम्, अदृष्टजन्म-वेदनीयमिति द्विविधमेव कर्म समाम्नातम्, येन पुरुषार्थवादिनां कृतेऽस्य परमोपकारिता । एतद्दर्शनमतमनुसृत्य स्वीयपुरुषार्थप्रभावतो योगी सर्वमपि विधेयं सुविधातुमर्हति । अन्यदर्शनेषु मुमुक्षवः साधकाः शनैः शनैः स्वाधिकारानुरूपे समुन्नतिमार्गेऽग्रेसरति । परन्तु योगदर्शनमेतत् स्वकीयालौकिकयोगशक्तिद्वारा सर्वेभ्यः सर्वविधमधिकारं प्रयच्छति । कुत्र चिद् दर्शने ईश्वरो नोपलभ्यते, अन्यत्र अनुमानद्वारा ईश्वरसत्तासद्भावो दृश्यते; परन्तु योगदर्शनस्यैतत् परमं महत्त्वं यत् एतद्द्वारीकृत्य ईश्वरराज्यस्य अणिमादिविभूतिपर्यन्तमधिगन्तुं शक्यते । अन्यदर्शनेषु विचारसाहाय्येन अध्यात्मपथे मुमुक्षवः क्रमशोऽग्रे सरन्ति । परन्तु योगदर्शने तत्तदवलम्बनातिरिक्तं पुरुषार्थप्रधानसाधनप्रयोगैः सह साधनक्रियासमुत्पन्नप्रत्यक्षफलोपलब्धिरपि दृश्यते । येन योगदर्शनपथविचरणशील-मुमुक्षुजनहृदयेषु श्रद्धा-विश्वासदृढता सदैव विराजते । योगदर्शनज्ञानभूमिं प्रति साधकान्तःकरणेषु सर्वदैव परमा

प्रीतिः सञ्चरति । यया अध्यात्मज्ञानोन्नतिपुरस्सरं स्वरूपस्थितिरनायासेन सम्पद्यते। सर्वमिदं योगदर्शनस्य अन्यदर्शनेभ्यो वैशिष्ट्यमवधेयम्।

योगदर्शने चित्तान्तःकरणशब्दौ पर्यायवाचकौ । स्मर्यतेऽत्र—

"मनो महान् मतिर्ब्रह्मा अन्तःकरणमेव च ।
प्रज्ञा संविच्चितिर्मेधा पूर्वद्धिस्मृतिश्चञ्चलाः ।
पर्यायवाचकाः शब्दा मनसः परिकीर्तिताः ।।" इति ।

चित्तं वाऽन्तःकरणं वा यम-नियमादिभिः ईश्वरप्रणिधानादिभिः ध्यानाद्यसाधारणोपायैर्वा निरुद्ध्य पुरुषः प्रकृतिबन्धनान्मुक्तः स्वस्वरूपं प्राप्नोति । अयमेव दर्शनस्यास्य चरमो राद्धान्तः ।

न्याय-वैशेषिकदर्शनभूमिद्वयमतिक्रम्य योगदर्शनभूमिरासाद्यते । योगदर्शनस्य सांख्यदर्शनस्य च भूमिः प्रायेणैकप्रकारैव । उभयोरेतावानेव भेदो यत् सांख्यं पंचविंशतितत्त्वानि स्वीकरोति, योगदर्शनं तु तेभ्योऽतिरिक्तमीश्वरमपि स्वीकरोति । नैतेन एतदभ्युपगन्तव्यं यत् सांख्यमीश्वरं नाङ्गीकरोतीति । तेन "ईश्वरासिद्धेः" इति सूत्रेणेश्वरसिद्धिः संसाधिता । यतो लौकिकपुरुषार्थद्वारा ईश्वरस्य असिद्धिः, किन्तु योगरूपेण अलौकिकेन पुरुषार्थेन तु ईश्वरस्य सिद्धिर्भवत्येवेति तन्मतम्। सांख्यदर्शनभूमौ अलौकिकपुरुषार्थप्रयोजनाभावः । अतस्तत्र ईश्वरस्वीकारस्य नास्ति प्रयोजनम्। तथापि सांख्यमीश्वरं मन्यते। योगदर्शनस्यालौकिकयोगशक्त्या सम्बन्धः । अतो योगदर्शने ईश्वरोऽङ्गीकृतः । एष एवोभयोर्भेदः । यदि सांख्यदर्शने ईश्वरोऽङ्गीकृतो न भवेत् , तर्हि "ईश्वरासिद्धेः" इति सूत्रस्थाने "ईश्वराभावात्" इति सूत्रं स्यात् ।

अतः सांख्यदर्शनं योगदर्शनं चेति द्वयमेव आस्तिकदर्शनमित्यत्र न मनागपि सन्देहलेशः ।

भाष्येऽत्र भगवद्व्यासकृतयोगदर्शनभाष्य-व्याख्यापद्धतिरेव अवलम्बिता । व्यासकृतं भाष्यमतिसंक्षिप्तं दुर्बोधं च । अतस्तदत्र सविस्तरं विवेचितम् । व्यासभाष्यानुकूला अन्यान्य-टीका-वृत्तिकार-सिद्धान्ता अप्यत्र सन्निवेशिताः । एतद्भाष्याध्ययनेन अध्यापनेन च जिज्ञासवः परितृप्तिमेष्यन्तीत्याशास्महे ।

— श्री ज्ञानानन्दस्वामी

ॐ नमः परमात्मने

योग-दर्शनम्

१. समाधिपादः

अथ योगानुशासनम् ॥ १ ॥

इदानीं योगस्य अनुशासनमुच्यते। अथ शब्दो माङ्गलिको विघ्नविनाशनश्च। निर्विघ्नपरिसमाप्तिरूपमङ्गलार्थम् 'अथ'शब्दप्रयोगः। स्मृतावुक्तं च—

'ॐकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ ॥' इति।

अथशब्दप्रयोगोऽधिकारार्थकोऽपि। तत्त्वज्ञानं प्रकाशयितुमधिकारनिर्णयोऽप्यावश्यकः। अतोऽधिकारार्थकोऽप्यथशब्दप्रयोगः।

आनन्तर्यार्थे चाप्यथशब्दः प्रयुज्यते। अर्थात् राजानुशासनशब्दानुशासनानन्तरमेव योगानुशासनस्याऽऽरम्भः। प्रकृतेस्त्रैगुण्यात् मानवबुद्धेरपि त्रैविध्यमुक्तम्। तथा हि भगवद्गीतायाम्—

'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥' इति।

आवरणाधिक्यात् राजदण्डेन समाजदण्डेन वा तामसिकबुद्धिर्न्यायपथे प्रवर्तयितुं शक्यते। राजसबुद्धेः संशययुक्तत्वाद् वेदशास्त्राचार्योपदेशास्तत्सन्देहं निराकुर्वते। तामसिक-राजसिकबुद्धियुक्तानां कृते राजानु-

शासनं शब्दानुशासनं च हिताधायके। सात्त्विकबुद्धेर्मालिन्यमुक्तत्वात् स्वच्छत्वाच्च योगानुशासनमेव हितसाधकम्। सात्त्विकबुद्धिसम्पन्नः साधको गुरूपदिष्टेन अष्टाङ्गयोगसाधनेन चित्तवृत्तिं निरुद्ध्य अनायासेन स्वरूपं साक्षात्कर्तुं प्रभवति। अतोऽथशब्दस्य अधिकारानुसारेण आनन्तर्यार्थे प्रयोगो युक्तियुक्त एव।

युज्-धातुनिष्पन्नत्वात् योगशब्दः समाधिवाचकः। समाधिर्द्विविधः—सम्प्रज्ञातः, असम्प्रज्ञातश्च। तटस्थभूमितः स्वरूपभूमिपर्यन्तं सर्वोऽपि चित्तपरिणामो योगशब्दवाच्यः।

अनुशासनशब्द आज्ञासूचकः। अर्थात् अधिकारिनिर्णयानन्तरं योगसाधनाय आज्ञा प्रदीयते। दर्शनशास्त्राणि वेदार्थावबोधाय नेत्ररूपाणि। प्रत्येकमपि दर्शनं वेदाशयविभिन्नस्वरूपप्रकाशकम्। एतन्नियमानुसारेण महर्षि-पतञ्जलिकृतं योगदर्शनं योगपथानां निदर्शकम्। पूज्यपादः पतञ्जलिर्नैतद्योगदर्शनसृष्टिकर्ता। स हि वैदिकयोगांशानां प्रकाशकः। अतस्तेन अनुशासनशब्दः प्रयुक्तः।

अन्यच्च, योगशास्त्रं सार्वभौममतसंवलितम्; अतोऽप्यनुशासनशब्दप्रयोगः। सुतरां तामसबुद्धि-राजसबुद्धिहितसाधनाय क्रमशः राजानुशासनं शब्दानुशासनं च विहिते। केवलं सात्त्विकबुद्धिसम्पन्न-समुन्नतमानवहितायैव योगानुशासनविज्ञानमुपदिष्टम्। एतदेव प्रथमसूत्रस्य तात्पर्यम्॥ १॥

अनुशिष्यमाणो योगः किं स्वरूप इत्युच्यते—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥ २॥

अन्तःकरणापरनामक-चित्तवृत्तीनां निरोधः प्रतिलोमविधिना स्वकारणे विलयः किल योगः। अन्तःकरणभूमिमनुसृत्य लयो द्विविधः—आद्यस्त्रिपुटीसूक्ष्मास्तित्वरूपः सम्प्रज्ञाते समाधौ जायते। द्वितीयस्तु असम्प्रज्ञातसमाधौ त्रिपुट्याः पूर्णविलयस्वरूपः।

योगाचार्यैरन्तःकरणस्य मूढ-क्षिप्त-विक्षिप्तैकाग्र-निरुद्धनामधेयाः पञ्च भूमयः समाम्नाताः—(१) यदाऽन्तःकरणं सदसद्विचारहीनमालस्यविस्मृतिवशगं सत् प्रग्रहहीनघोटकवद् उन्मत्तमितस्ततो धावति चञ्चलमनु-

चितं नृत्यति च, तदा तदवस्थं तत् 'मूढमि'त्युच्यते। मूढभूमिस्तमोगुण-सम्बन्धनिबन्धना। (२) यदा च चित्तं कुत्रापि कार्ये सँलग्नं प्रग्रहयुक्तोऽश्व इव बुद्धिसाहाय्येन विचारशीलं कस्य चिल्लक्ष्यस्य साधने प्रवर्तते, तदा तदवस्थं तत् 'क्षिप्त'संज्ञां लभते। क्षिप्तभूमिः राजसिकी। (३) एतदतिरिक्ता 'विक्षिप्ता'भिधा सात्त्विकभूमिः। अस्यामन्तःकरणं सुख-दुःख-विचारा-ऽऽलस्यादितमोरजोवृत्तीर्विरहय्य शून्यावस्थां प्रतिपद्यते। मानवेषु दृश्येयं स्वल्पकालकृते यदा कदा चित् समुत्पद्यते। अन्तःकरणस्य अवस्थात्रयमिदं गुणभेदमनुसृत्य न्यूनाधिकरूपेण सर्वेष्वपि मानवेषु समुपलभ्यते। (४) एतत्त्रितयातिरिक्ता निरुद्धभूमिर्विज्ञेया, यत्र मानवहृदयं स्थिरतां प्रपद्यमानं सर्वविधवृत्तिशून्यं जायते। एतदेव योगशास्त्रलक्ष्यभूतम्। इमामेव निरुद्धभूमिमधिगन्तुं श्रीगुरूपदेशद्वारा साधनविशेषानुष्ठानेन शास्त्रोक्तोपायं समाश्रयन् साधक एकाग्रभूमेरधिकारं लभते। (५) यदा चित्ते ध्यातृ-ध्यान-ध्येयव्यतिरिक्तं न किञ्चिदन्यद् भासते, ध्यानद्वारा ध्येय-पदार्थे एव ध्यातुर्मनो निविशते, तदैव एकाग्रभूमेरुदयः। एवं हि मूढक्षिप्त-विक्षिप्तनामधेयास्तिस्रः साधारणवृत्तयः, एकाग्र-निरुद्धनामधेये असाधारणे द्वे भूमी च मिलित्वा अन्तःकरणस्य पञ्चभूमयः संवृत्ताः।

प्रथमोक्तास्तिस्रो भूमयः सर्वमानवेषु प्रादुर्भवन्ति। किन्तु अग्रिमे द्वे भूमी योगानुशासनाधिकारिषु साधकेष्वेव प्रादुर्भवतः। एकाग्रभूमौ साधनानि कुर्वन् ध्याता साधको यदा सिद्धावस्थां प्रपद्यते तदानीं ध्यातृ-ध्यान-ध्येयस्वरूपास्तिस्रो दशा एकीभवन्ति। एकाग्रभूमिसाधनाभ्यासं कुर्वन् योगी क्रमशः तटस्थाधिकारतः स्वरूपाधिकारमधिगच्छति। एकाग्र-दशायां त्रिपुटी तिष्ठति, परन्तु क्रमेण साधनसमुन्नत्या निरुद्धभूमिमासादयतः साधकस्य त्रिपुटी तटस्थज्ञानं च विलीयेते। एतस्यामन्तिमायां निरुद्धभूमौ समाधिपूर्णता लभ्यते।

इयमेव निरुद्धावस्था योगलक्ष्यभूताऽवगन्तव्या। निरुद्धभूमेरुदयेन योगी प्रथमतः सम्प्रज्ञातसमाधिं लभते। तत्र सत्यपि त्रिपुटीलये त्रिपुट्याः अतिसूक्ष्मावस्था तिष्ठत्येव।

अनन्तरं च तस्याः अतिसूक्ष्मसत्ताया अपि नाशेन विकल्परहिता स्वरूपावस्था समुदेति। इयमवस्था असम्प्रज्ञातसमाधिनाम्ना प्रोक्ता। अत्र संस्कारलेशस्याप्यभावात् दशेयं 'निर्बीज'-संज्ञामपि लभते। अस्यां पूर्णरूप-विवेकोदयात् तस्याः 'धर्ममेघ'-संज्ञाऽपि। इदमेव चित्तवृत्तिनिरोधरूप-योगलक्षणमवधेयम्॥ २॥

चित्तवृत्तिनिरोधतो जायमाना दशा प्रोच्यते—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥ ३॥

चित्तवृत्तिनिरोधे सति द्रष्टुः पुरुषस्य स्वरूपे स्थितिर्जायते। अन्तःकर-णेन साकं पुरुषस्वरूपचैतन्यस्य सम्बन्धसत्त्वात्पुरुषः स्व-स्वरूपमन्तःकरणञ्च अभिन्नमभिमन्यते। एतदेव अज्ञानबन्धनहेतुभूतमवधेयम्। मनो बुद्धिरह-ङ्कारश्चेति अन्तःकरणं त्रिधा विभक्तम्। स्वकीयं लक्ष्यं न स्थिरीकृत्य विष-याद् विषयान्तरं धावमानमन्तःकरणं 'मनः' इत्युच्यते। सद्सद्विचारे संलग्नमेकत्र पदार्थे स्थिरीभूतं च तत् 'बुद्धि'शब्देन व्यपदिश्यते। निजां स्वतन्त्रसत्तामभ्युपगम्यमानं स्वस्वरूपानुरूप-सृष्टिक्रियाविस्तार-कारणीभूतं स्वकीयोत्पत्त्या च चैतन्यमविद्यापाशे निपातयत् तदेव 'अहङ्कार'शब्द-वाच्यं जायते। एतत्त्रितयरूपान्तःकरणस्य[1] चाञ्चल्यप्रभावादेव पूर्णज्ञान-रूपमपि चैतन्यं नानुभवति नैजं स्वरूपम्।

वस्तुतस्तु पुरुषो नित्यशुद्धमुक्तस्वभावः। बन्धनं यदि तस्य स्वाभाविको धर्मश्चेत् तर्हि यावद्द्रव्यभावित्वसम्बन्धहेतुत्वान्नैव स्यात् तन्मुक्तिः। प्रकृतिसम्बन्धात् पुरुषस्य केवलमौपचारिको बन्धः। जवाकुसुमसंसर्गात् स्फटिकमणौ लौहित्यसञ्चार इव पुरुषे प्रकृतिसंसर्गजन्यमाभिमानिकबन्धन-मवधेयम्।

---

१. मतान्तरेण मनो बुद्धिश्चित्तमहङ्कारश्चेत्यन्तःकरणस्य चत्वारो भेदाः समा-म्नाताः। चित्तं हि संस्काराश्रयीभूतम्। तद्गतसंस्कार एव स्मृतिमुत्पाद्य जीवं कर्मचक्रे ह्यावर्तयतीत्येत् तन्मतसिद्धान्तः। किन्तु दर्शनेऽत्र चित्तस्य मनसोऽन्त-र्गतत्वान्न तस्य पृथङ्निर्देशः।

योगसाधनेन अन्तःकरणवृत्तौ निरुद्धायां द्रष्टृरूपसाक्षिभूतं चैतन्यं स्वरूपमनुभवति। ज्ञानस्वरूपचैतन्यप्रभावादेव अन्तःकरणं कर्मसु प्रवर्तते, यतश्चैतन्यशक्त्यैव तत् चेतनतां प्राप्तं सत् पूर्वोक्त-सत्त्वरजस्तमसां वृत्तिभिर्नानाविधं कर्मकलापमनुतिष्ठति। योगसाधनेन अन्तःकरणे निरुद्धे तद्गतवृत्तिषु निरुद्धासु चैतन्यरूपपुरुषस्य पाशबन्धनकारकं न किमपि सम्भवेत्। तदानीं चैतन्यस्वरूपः पुरुषः स्वीयं स्वरूपं प्रतिपद्यते।

अन्तःकरणं दर्पणवत् विद्यते। नानावर्णसान्निध्यात् दर्पणोऽपि यथा नानावर्णस्वरूपतां धारयति, तथैव अन्तकरणमप्यवधेयम्। यथा तरङ्गिते जलाशये न मुखाकृतिः सुस्पष्टं परिलक्ष्यते, तथैव नानावृत्तिसंकुले अन्तःकरणे नैव द्रष्टृरूपचैतन्यं यथावत् प्रतिभासते। चैतन्यस्य पूर्णरूपेण प्रतिभानमेव योगसाधनलक्ष्यमास्ते। अतः सच्चिदानन्दरूपचैतन्यस्य स्वस्वरूपोपलब्धिरेव मोक्ष इति॥ ३॥

अस्वरूपावस्थायां पुरुषदशा निरूप्यते—

वृत्तिसारूप्यमितरत्र॥ ४॥

इतरत्र स्वरूपावस्थाऽभावे वृत्तिसारूप्यं वृत्तिनां सरूपतां धारयति पुरुष इति। यदि योगसाधनेन चैतन्यस्य स्वीयस्वरूपोपलब्धिर्न स्यात् तर्हि तत् चैतन्यम् अन्तःकरणवृत्तिस्वरूपं भजति। सुतरां वृत्तिचाञ्चल्यदशायां जीवो वृत्तितन्मयतां प्राप्नोति। इयमेव जीवबन्धनावस्था। सर्वेष्वपि जीवेषु दशेयं संतिष्ठते। विज्ञानविदो योगिनो निखिलानपि जीवान् वृत्तिसमष्टिपुत्तालिकावत् परिपश्यन्ति।

चैतन्यं किल वृत्तिभिः कथं सङ्गच्छते इति प्रश्नः समाधीयते। तथा हि—अविद्यया हेतुभूतया मोहयुक्तं चैतन्यं प्रथममन्तःकरणमेव निजस्वरूपमवधारयति। तन्मात्राभिरिन्द्रियैश्च अन्तःकरणस्य सम्बन्धे जाते तत्प्रतिबिम्बितः पुरुषस्तत्सुख-दुःखस्वरूपवृत्तिषु पतितः सन् कर्तृत्व-भोक्तृत्वभावं प्राप्नोति। यथा कस्य चित् पुरुषस्य दृष्टिपथे अतिमनोहरपदार्थः समापतति, तदा तत्पदार्थचित्रं तन्मात्रा इन्द्रियाणि च द्वारीकृत्य तदन्तः-

करणे चित्रितं वोभोति । तदानीमन्तःकरणं प्रफुल्लितं जायते । अस्यामवस्थायां शरीरस्थचैतन्यम् अन्तःकरणस्थ-सुखदुःखान् आत्मनि मन्यते । अस्यामेव भ्रान्तिदशायां चैतन्यमयो जीवः सदैव पापत्यते ।

एतादृशाभिः शान्त-घोर-मूढस्वभाववृत्तिभिः साकं संयोगः पुरुषस्य कुतः समयादभूदिति प्रश्न-समाहितिः भगवता श्रीवेदव्यासेन स्वरचितयोग-दर्शनभाष्ये एवं कृता—बीजाङ्करवद् अविद्यावासनासम्बन्धस्य अनादि-त्वात् नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभावस्य पुरुषस्य बन्धनकारिण्या प्रकृत्या सहा-नादिसम्बन्धः । एतस्या एवानादेरविद्यायाः संयोगतो मुक्तस्वभावोऽपि पुरुषः प्रकृतिगतं सुखदुःखादिकमात्मनि आरोपितं विधाय व्युत्थानदशायां वृत्तिरूपतां प्रपद्यते । एतदेव पुरुषस्य औपचारिकं बन्धनमवधेयम् ॥ ४ ॥

इदानीं जीवबन्धनकारि-वृत्तिभेदानाचष्टे—

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाश्च ॥ ५ ॥

पञ्चतय्यः पञ्चावयवा वृत्तयः क्लिष्टरूपा अक्लिष्टस्वरूपाश्च द्विप्रकाराः । अन्तःकरणचाञ्चल्यमूलकः परिणामविशेषो वृत्तिशब्दवाच्यः । त्रिगुण-भेदाद् अन्तःकरणवृत्तीनामानन्त्येऽपि सर्वास्ताः सूक्ष्मदृशा पञ्चावयवेषु विभक्ताः कर्तुं शक्यन्ते ।

प्रमाण-विपर्यय-विकल्पादयः पञ्चावयवा अग्रे वक्ष्यन्ते । हिंसा-द्वेष-क्रोधादयः क्लिष्टवृत्तयः पापजानन्योऽन्तःकरणे दुःखमुत्पादयन्ति । वैराग्य-दया-सरलतादयः पुण्योत्पादिका अक्लिष्टवृत्तयः अन्तःकरणसुखदायिन्यः सन्ति । क्लिष्टवृत्तीनामुदयेऽक्लिष्टवृत्तीनां तिरोभावो जायते । अक्लिष्टवृत्तीनां च समुत्पत्तौ क्लिष्टवृत्तयः तिरोभवन्तीत्यवधेयम् । अतः क्लिष्टवृत्त्याधिक्यः पुमान् पापीयान् सम्भवति ।

ज्ञानाज्ञान-दिनरात्रि-रागद्वेष-सुखदुःखादिद्वन्द्वमूलकः संसारो वर्तते । एतेनैव स्वाभाविकेन हेतुनाऽन्तःकरणे सत्त्वप्रधानस्तमःप्रधानश्चेति द्वौ भावावुत्पद्येते । अन्तकरणरूप-जलाशयस्य तरङ्गायितवृत्तयो यदा सत्त्वाभि-मुखं धावन्ति, तदा ता अक्लिष्टसंज्ञां बिभ्रति । यदा च तमोऽभिमुखं प्रयान्ति,

तदा क्लिष्टाः कथ्यन्ते। अक्लिष्टाभिः पुण्यं क्लिष्टाभिश्च पापमुत्पद्यते। एतद्-द्वयपरिणामः स्वर्ग-नरकाधिगमः। स्वर्गे सुखं नरके च दुखमनुभूयते। एतद्-द्वितयविभिन्नो योगलक्ष्यभूतो मोक्षः। अतो मोक्षमार्गऽग्रे सरता साधकेन पूर्वमक्लिष्टवृत्तिभिः क्लिष्टवृत्तयो निरोद्धव्याः, अन्ते च परवैराग्येण क्लिष्टाक्लिष्ट-रूपाणां सर्वासामपि वृत्तीनां विनाशो विधातव्य इति वक्ष्यते॥ ५॥

वृत्तीनां पञ्चावयवा निरुच्यन्ते—

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः॥ ६॥

अन्तःकरणानन्तवृत्तीनां सूक्ष्मदृशा विभागे क्रियमाणे ताः प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयश्चेति पञ्चधा विभक्तुं शक्यन्ते। अन्तःकरण-समुदीयमानागणित-क्लिष्टाक्लिष्टजातीयवृत्तीनां संक्षेपतः अयमेव पञ्चावयव-विभागः। संसारस्य द्वन्द्वमूलकत्वात् सृष्टेरादिकारणे पुरुष-प्रकृतिरूप-द्वैतस्य विद्यमानतया चेतन-जडात्मिकां ज्ञानाज्ञानभावमूलिकां दशामवल-म्ब्यैव अन्तःकरणस्वरूपजलाशये तरङ्गरूपाश्चित्तवृत्तय उद्यन्ति।

एतासां दशाद्वयम्—कारणरूपा कार्यरूपा च। कार्यावस्थायां वृत्तयो-ऽनन्तरूपतां बिभ्रति। अतः शास्त्रोक्ता अन्तःकरणवृत्तयो बहव्यः सन्ति। हिंसाद्वेषादयो ह्यनन्ताः पापजनकवृत्तयः। प्रेमदयाप्रभृतयः पुण्यजनकवृत्तयो ऽप्यनन्ता एव समाख्याताः। कारणावस्थायां पाञ्चभौतिकमन्तःकरणं पञ्चैव कारणवृत्तीरुत्पादयति। एतद्वर्णनमग्रिमसूत्रेषु विधास्यते॥ ६॥

पञ्चावयवेषु प्रथमं प्रमाणं निरूप्यते—

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि॥ ७॥

यथार्थज्ञानं प्रमा, तत्करणं प्रमाणम्। अर्थात् यथार्थज्ञानसिद्धि-साधनरूपं प्रमाणशब्दवाच्यम्। तच्च प्रत्यक्षानुमानागमरूपेण त्रिविधम्। मीमांसादर्शने प्रत्यक्षानुमानागमोपमानानुपलब्ध्यर्थापत्तिभेदात् प्रमाणस्य षड्विधत्वमुक्तम्। न्यायदर्शने प्रत्यक्षानुमानागमोपमानसंज्ञया प्रमाणस्य चातुर्विध्यमुक्तम्। सांख्य-योगदर्शनाभ्यामेतत्सूत्रोक्तं प्रमाणत्रैविध्यमेव स्वीक्रियते। सूक्ष्मेक्षिकया विचार्यमाणे दर्शनान्तरप्रोक्तानि षड्विधप्रमा-

णानि एतत्त्रितयविस्तारमात्राणि। वेदार्थप्रमाणार्थैव सप्तानां दर्शनानामाविर्भावः। तानि वेदार्थप्रमाणार्थं तिस्रो गतीरवलम्बन्ते। उत्तरमीमांसा-दैवीमीमांसा-पूर्वमीमांसानां गतिरेकरूपा, न्याय-वैशेषिकयोश्च गतिः समाना, सांख्य-पातञ्जलयोश्चैकप्रकाराऽऽस्ते। प्रत्येकविभागदर्शनानि एकस्मिन्नेव पथि प्रचलन्ति।

प्रत्यक्षं किमित्युच्यते—'इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। ज्ञानेन्द्रियैः सह वस्तूनां व्यवधानरहितसम्बन्धो हि प्रत्यक्षप्रमाणवाच्यो भवति। अर्थात् प्रत्यक्षे इन्द्रियाणि वस्तूनां साक्षादनुभवं कुर्वन्ति। यथा नेत्रसन्निधाने दीपशिखा। अनुमानादीनां प्रत्यक्षमूलकत्वात् प्रमाणान्तराभ्यर्हितं प्रत्यक्षम्। अत एवैतत् सर्वप्रथमं निर्दिष्टम्।

अनुमान-प्रमाणलक्षणं यथा—कस्य चिद् वस्तुनः पूर्वत एव ज्ञाने विद्यमाने सति च तल्लक्षणज्ञाने वस्तुदर्शनराहित्येऽपि तल्लक्षणज्ञानादेव तद्वस्तुसत्ता-परिज्ञानमनुमानमुच्यते। यथा दूरवर्तिनि पर्वते धूमदर्शनेनैव अग्नेर्ज्ञानमनुमानत एव जायते।

आप्तप्रमाणं हि आगमप्रमाणशब्देनाख्यायते। भ्रमरहितः सत्पदार्थज्ञाता महापुरुष एव आप्त आख्यातः। तदुपदिष्टसिद्धान्तः प्रमाणकोटीमाटीकते। आगमनिगमशब्दौ सर्वत्रैव महर्षिभिः प्रोक्तौ। तत्रागमः शास्त्राणि, निगमो वेदः। शास्त्रप्रमाणं वेदप्रमाणं च आगमप्रमाणशब्देनात्र प्रोक्तमवधेयम्। ईश्वरनिःश्वसितरूपो वेदः, ऋतम्भरया प्रज्ञया ऋषिभिः समुपलब्धानि शास्त्राणि चाभ्रान्तानि सन्ति।

उपर्युक्तैस्त्रिविधैः प्रमाणैरेव सर्वपदार्थज्ञानाधिगम इति योगदर्शनसिद्धान्तः। पञ्चावयववृत्तिषु प्रमाणवृत्तिमहत्त्वसिद्धावपि प्रमेयसम्बन्धेनैव प्रत्यक्षप्रमाणज्ञानसत्त्वादेतत्प्रमाणं हि तटस्थज्ञानकोटीप्रविष्टमवगन्तव्यम्। अतस्तटस्थदशाऽतीते स्वस्वरूपे पुरुषप्रतिष्ठालाभाय प्रमाणवृत्तेर्निरोध अत्यावश्यक इत्यत्र नास्ति संशीतिलवः॥ ७॥

द्वितीयावयवरूपा विपर्ययवृत्तिर्लक्ष्यते—

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमद्रूपप्रतिष्ठितम्॥ ८॥

यथा रज्जौ सर्पभ्रान्तिः, मृगस्य मरीचिकायां भ्रमः, शुक्तौ च रजत-भ्रमोत्पत्तिस्तथैव भ्रमपूर्णज्ञानं विपर्ययशब्देन प्रणिगद्यते। सन्देहपरिपूर्ण-ज्ञानं विपर्ययनाम्ना समाम्नातम्। प्रमाणज्ञानेन विपर्ययज्ञानं खण्ड्यते। यस्य वस्तूनो यद्धि वास्तविकं स्वरूपं तद्विरुद्ध-सन्देहाभावे तदनुभव एव अतद्रूपप्रतिष्ठितशब्दार्थः। यथैकस्मिन् चन्द्रमसि द्विचन्द्रदर्शनम्, आत्मनि अनात्मनि वा सुखे दुःखे च संशयः।

श्रीमता भगवता व्यासेनेदं मिथ्याज्ञानं पञ्चावयवैर्विभक्तम्। तथा हि—

'तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः।
अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः॥' इति।

समस्तक्लेशमूलस्वरूपेषु अनित्याशुचिदुःखादिषु विपरीतज्ञानमूलिका अविद्यैव तम उच्यते। बुद्धिप्रतिबिम्बितस्य चैतन्यस्य प्रकृतिसङ्गवशात् स्वस्य प्रकृत्यभिन्नतास्वीकृतिरूपा अस्मितैव मोहः। संयमादिशून्यपुरुषस्य 'सर्वं मम सुखकरं स्यात्' इति राग एव महामोहः। दुःखानेककारण-विद्यमानतायामपि 'मम दुःखं न स्यात्' इति द्वेषमूलको विपर्ययभाव एव तामिस्रशब्दवाच्यः। जीवशरीरस्यानित्यत्वेऽपि 'मम मृत्युर्न भवेत्' इति मरणत्रासरूपोऽभिनिवेश एव अन्धतामिस्रनाम्ना प्रोक्तः। एवं किल पञ्च-पर्वविभक्तविपर्ययज्ञानेन अनेकानि मिथ्याज्ञानान्युत्पद्य जीवं संसारचक्रे भ्रामयन्ति। अतो हि पुरुषस्य स्वरूपप्रतिष्ठाधिगमाय विपर्ययज्ञाननिरोधो ऽत्यावश्यकः॥ ८॥

तृतीयावयवरूपां विकल्पवृत्तिं निर्णयति—

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः॥ ९॥

यथार्थभावशून्या केवलशब्दज्ञानमात्रेण निश्चयकारिका परा वृत्ति-र्विकल्पशब्देन आख्यायते। कमपि पदार्थं श्रुत्वैव तदीयसत्यताऽसत्यता-विषये बुद्धिज्ञानमन्तरेण यथाश्रुतं स्वीकरणमेव विकल्पसंज्ञकम्। 'प्रातः-काले सूर्यो निःसरति, सन्ध्याकाले चास्तमेति' इति लोकोक्तिमाकर्ण्यैव भगवतः सूर्यस्य निःसरणास्तगमनस्वीकृतिरेव विकल्पज्ञानम्। यतो वस्तुतः

सूर्यदेवो न निःसरति, नैव चास्तमेति। पृथिवीगतिवशादेवं प्रतिभाति।

ननु विकल्पवृत्त्या साकं शब्दज्ञानसम्बन्धसत्त्वात् विकल्पवृत्तिः प्रमाणवृत्तावेव कथं नान्तर्भवति ? किं वा यथार्थसत्ताशून्यत्वाद् विपर्ययवृत्तितोऽस्याः कथं पृथक् सत्ता स्वीक्रियेत ?

अत्र समाधानम्—विकल्पवृत्त्या सह शब्दज्ञानसम्बन्धेऽपि शशशृङ्गवद् यथार्थभावशून्यस्य विकल्पस्य यथार्थज्ञानमूलके प्रमाणकोटौ नान्तर्भावो भवितुमर्हति। अन्यच्च—विकल्पवृत्तेर्मिथ्याज्ञानरूपत्वात् शब्दज्ञानेन सह तत्सम्बन्धाच्च शब्दज्ञानसम्पर्कशून्यविपर्ययवृत्तितः विकल्पवृत्तेः पार्थक्यं सिद्धमेव। अत उल्लिखितलक्षणयुक्ता विकल्पवृत्तिः प्रमाणविपर्ययाभ्यां वृत्तिभ्यां भिन्ना तृतीया वृत्तिः।

एतद्विकल्पज्ञानमपि प्रमाणज्ञानतो विनश्यति। तदनन्तरं च समस्तवृत्तीनां निरोधेन पुरुषस्य स्वस्वरूपप्रतिष्ठा जायते॥ ९॥

चतुर्थावयवरूपा निद्रावृत्तिर्निरूप्यते—

अभावप्रत्ययावलम्बना वृत्तिर्निद्रा॥ १०॥

अन्तःकरणस्य प्रमाणविपर्ययादिवृत्तयस्तावदेव जागर्ति प्रपद्यन्ते, यावद्धि मनसो विषयरूपावलम्बनं तिष्ठति। परन्तु यदाऽन्तःकरणे तमोगुणाधिक्यं प्रपद्यमाने पूर्वोक्ता वृत्तयो नैजमवलम्बनं विरहन्ति, तदानीं तदभावप्रत्ययीभूतकारणस्वरूपतमोगुणाश्रयेण यस्याः समुदयः सैव वृत्तिर्निद्रानाम।

ननु निद्रावस्थायां विषयसम्बन्धाभावात् कथं निद्राया वृत्तीनामन्तर्गतत्वम् ? उच्यतेऽत्र भगवता श्रीवेदव्यासेन—'निद्रान्ते सुखमहमस्वाप्सम्, प्रसन्नं मे मनः; दुःखमहमस्वाप्सम्, स्त्यानं मे मनः; मूढोऽहमस्वाप्सम् क्लान्तं मे मनः' इति त्रिगुणतारतम्यानुसारेण निद्रावस्थायां त्रिविधाः स्मृतयोऽनुभूयन्ते। अतो निद्रावस्थायामनुभवसत्त्वाद् वृत्तिरेव निद्रा बोद्धव्या।

परन्तु निद्रायां स्वप्नदशाया जायमानत्वेन नासौ वास्तविकी निद्रा स्वप्नावस्था जाग्रत्सुषुप्तिमध्यवर्तिनी। यतः जाग्रद्दशायां प्रमाण-विपर्यय-

विकल्पाख्यवृत्तयो गुणभेदेन अन्तःकरणेऽनुभूयन्ते, अतः स्वप्नोऽपि त्रिविधः, सात्त्विको राजसिकस्तामसिकश्चेति। सत्फलाधायकः सात्त्विकः, अतोऽसौ उत्तमः। तद्वर्णनं शकुनादिशास्त्रेषु उपलभ्यते। राजसिकस्वप्ने जाग्रद्दशायां दृष्टिगोचरीभूताः पदार्थाः परिदृश्यन्ते। स्वप्नोऽयं मध्यमः। तमःप्रधाने स्वप्ने दृश्यविचित्रता निभाल्यते। प्रायो विषयवासनाग्रस्ताः जीवास्तामसिकं स्वप्नं परिपश्यन्ति। स्वप्नोऽयमधमः समाम्नातः। योगदर्शनकर्तुर्महर्षिणो मतमिदं यत् स्वप्नावस्था प्रमाण-विपर्यय-विकल्पवृत्तितो विरहिता नास्ति। परन्तु निद्रैका स्वतन्त्रा वृत्तिः, नात्र पूर्वोक्ता वृत्तयो जाग्रति।

ननु निद्रारूपवृत्तेरुदयेन प्रमाण-विपर्ययादिवृत्तीनामभावात् अन्तःकरणं विषयभावरहितं सद् यद्येकाग्रतां प्राप्नोति, 'इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्येतं ब्रह्मलोकम्' यद्येतत् श्रुत्याऽपि प्रतिपाद्यते, तर्हि निद्रावृत्तिः समाधिवाधिका कथमिति ? प्रश्नस्यैतदुत्तरं यत् निद्रावस्थायां विषयज्ञानरहितमन्तःकरणं स्वकारणे विलीयते। अविद्यावहुलतमोगुणद्वारा लयोऽन्तःकरणस्य सम्पद्यते। अविद्यासहितलयेनैतेन विवेकपरिपाकरूप-समाधिजनितस्वरूपस्थितिर्नैव भवितुमर्हति। अत एव सुषुप्तिदशायां नित्यं ब्रह्मलोके प्रस्थितोऽपि जीवस्ततो निवर्तते, विषयेषु निमज्जति च। श्रुत्याऽप्युक्तम्—

'सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखमेति रूपम्' इति। सुतरां निद्रावृत्तेरुदयेन एकाग्रतां प्राप्तस्यापि अन्तःकरणस्य ऐकान्तिकी एकाग्रता आत्यन्तिकदुःखनाशश्च नैव सम्पद्यते। अतः पुरुषेण स्वरूपप्रतिष्ठामधिगन्तुं निद्रावृत्तिनिरोधः करणीय एवेति ॥ १० ॥

इदानीं पञ्चमावयवरूपा स्मृतिर्लक्ष्यते—

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥

अनुभूतानां विषयाणामन्तःकरणादविलोप एव स्मृतिरुच्यते। जाग्रदवस्थाकालीनाः प्रमाण-विपर्यय-विकल्पवृत्तयोऽन्तःकरणे यदा नोत्पद्यन्ते तदवस्थानाम निद्रेति। किन्तु तदवस्थाचतुष्क-स्मृतिकर्त्री वृत्तिः स्मृतिरभिधीयते। अर्थात् चतसृष्ववस्थासु सम्प्राप्तस्वतन्त्ररूपानुभवानामन्तः-

करणे स्थापनम्, तेषामन्तःकरणादविलोपो वा स्मृतिरिति। किञ्च अन्तःकरणेऽनुभूयमानसंस्काराणां स्मरणं स्मृतिः।

अभावितस्मर्तव्या, भावितस्मर्तव्या चेति भेदेन सा स्मृतिर्द्विविधा। प्रमाण-विपर्यय-विकल्पवृत्तिभिः समुत्पन्नविषयसंस्काराणां जाग्रद्दशागता स्मृतिः अभावितस्मर्तव्येति कथ्यते। जाग्रद्दशागतविषयाणां स्वप्ने स्मृतिर्भावितस्मर्तव्येति निरुच्यते। सुषुप्तिकाले प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-वृत्तीनामभावेऽपि निद्रायां सुखपूर्वकशयनस्य यो ह्यनुभवोऽन्तःकरणे स्थितो जाग्रद्दशायामुद्बुध्यते तन्नामैव निद्रावृत्तिकृता स्मृतिरिति। अनुभवात् स्मृतिर्भिन्ना। यतोऽनुभवोऽज्ञातविषयाणां जायते, परन्तु स्मृतिस्तु ज्ञातविषयाणामेव भवति।

सूत्रेऽत्र असम्प्रमोषशब्दः प्रयुक्तः, प्रमाण-विपर्ययादयो निखिला वृत्तयः सुख-दुःखमोहोत्पादकत्वात् क्लेशान्तर्गता एव। अतः स्वरूपप्रतिष्ठाप्राप्त्यै तन्निरोध आवश्यक इति॥ ११॥

वृत्तिनिरोधप्रकारं वर्णयित्वा तन्निरोधोपायो वर्ण्यते—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥ १२॥

अभ्यासेन वैराग्येण च वृत्तीनां निरोधो भवितुमर्हतीत्यर्थः। पूर्व-सूत्रेषु महर्षिणा सूत्रकृता अन्तःकरणस्था अनन्तवृत्तयः पञ्चधा विभक्ताः। इदानीं तन्निरोधोपायः प्रदर्श्यते।

अन्तःकरणे उदीयमाना अखिला वृत्तयः सत्त्व-रज-स्तमोभेदेन राग-द्वेष-मोहभेदेन वा समुत्पद्यन्ते। अतो वृत्तीनामनुत्पत्तिरेव योगस्य मोक्षस्य वा लक्ष्यभूता। अवस्थेयं साधनवैराग्याभ्यामुपलभ्यते। साधनवैराग्या-भ्याससमये तमोजनितो मोहो विनश्यति, किन्तु रजोमिश्रितः सत्त्व-गुणस्तिष्ठत्येव। यावत् साधनवैराग्याभ्यासः पूर्णावस्थां न प्राप्नुयात्, तावत् अन्तःकरणवृत्तीनां निरोधेन कैवल्याधिगमो न भवेत्।

अन्तःकरणरूपस्य जलाशयस्य प्रवाहद्वयमवधेयम्—एकः प्रवाहः कैवल्य-रूप-समुन्नतपर्वतात् निर्गत्य विवेकभूमौ प्रवहन् परमकल्याणरूपसागरं

सङ्गच्छते। अन्यश्च संसाररूपाद्रेर्निर्गत्य अज्ञानभूमौ धावन् अधर्मसमुद्रे सम्मिलति। जलाशये जलमेकमेव, किन्तु धाराद्वयं तस्य विद्यते। यावत् सांसारिकपर्वत-जलप्रवाहः प्रवहति, तावत् कैवल्यरूपपर्वत-जलप्रवाहः शुष्कतामेति। किन्तु वैराग्यरूपबन्धेन संसाररूपपर्वत-जलप्रवाहो यथा यथा निरुद्धः स्यात्, साधनैश्चायं प्रवाहो यथा यथा कैवल्यपर्वत-जल-प्रवाहाभिमुखं प्रवहेत्, तथा तथा कैवल्यपर्वत-जलप्रवाहोऽतिवेगात् विवेकभूमौ धावमानः कल्याणसागरे मिलित्वा जीवस्य परमं कल्याणं साधयेत्।

रूपकेनैतेन एतदवधेयं यत् चित्तवृत्तिप्रवाहस्तमोभिमुखं प्रवहन् क्रमशो जडत्वरूपामधोगतिं प्रापयति। यदि च सत्त्वाभिमुखं प्रवहेत् तर्हि स एव परमज्ञानरूपं कैवल्यपदमधिगमयति। वेदसम्मतोऽयं सिद्धान्तो यत् यथा चैकेन पक्षेण पक्षिणो गतिर्नास्ति, तदुद्दयने पक्षद्वयस्यापेक्षा, तथैव केवलेन साधनाभ्यासेन वैराग्याभ्यासेन वा नार्हति जीवो मुक्ति-मधिगन्तुम्। वैराग्यं किल संसारबन्धनं शिथिलयति। साधनं च साधकं मुक्तिमार्गेऽग्रे सारयति। यावद् बहिर्बन्धनं शिथिलं न स्यात्, न तावदसौ साधकः अन्तरात्माभिमुखं गन्तुं शक्नुयात्। बन्धने शैथिल्यमापन्नेऽपि गमनशक्तेरभावान्नासौ अन्तरात्मनोऽभिमुखं गन्तुं प्रभवति। अतश्चित्त-वृत्तिनिरोधरूपमोक्षमधिगन्तुं साधनवैराग्ययोरुभयोरप्यपेक्षा। उक्तं च गीतोपनिषदि—

"अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।" इति।

उभयत्र वैराग्यस्य पूर्वमावश्यकत्वम्। यतो यावद् विषयदोषदर्शनरूप-वैराग्यद्वारा चित्तबहिर्मुखतायाः प्रणाशो न भवति, न तावच्चित्तान्त-र्मुखताभ्यासः सम्भवति। अतो वैराग्येण विषयेभ्योऽपहृत्य अभ्यासेन निरोधभूमौ अन्तःकरणस्य प्रापणमेव योगसाधनलक्ष्यमवधेयम्॥ १२॥

अभ्यासः किंस्वरूप इत्युच्यते—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः॥ १३॥

तत्र स्थितौ स्वरूपोपलब्धौ, यत्नः प्रयत्न एव अभ्यासः प्रोक्तः। चञ्चलमन्तःकरणं सच्चिदानन्दरूपपरमात्मनो निश्चलभावं नैव ग्रहीतुं शक्नोति। शनैः शनैरभ्यासद्वारा निर्वातदीपवत् प्रशान्तेऽन्तःकरणे परमतत्त्वं प्रकाशमेति। क्रमशस्तदभ्यासस्यैव नाम साधनम्, येनान्तःकरणं बलोत्साहयत्नपूर्वकं तत्रैव परमाराध्ये परमात्मनि संलगति। ग्रन्थिकरणं ग्रन्थिविमोचनमुभयमपि कर्मैव। उभयत्रापि हस्तसञ्चालनं क्रियते। किन्तु आद्येन पदार्थो बन्धनमेति, अपरेण च बद्धपदार्थो विमुच्यते। तथैव जीवस्य स्वाभाविकं कर्म साधनकर्मापि समानमेव कर्मशब्दवाच्यम्। परन्तु जीवस्त्रिगुणकारिते स्वाभाविके कर्मणि ग्रस्यमानो गमागमरूपाद् भ्रमान्न निःसरति। किन्तु वेदविहितसाधनकर्मणा स मुक्तिभूमावग्रे सरन् मोक्षमधिगच्छति।

योगलक्ष्यभूतमुक्तिपदाधिगमाय क्रियमाणं यत् किमपि सुकौशलपूर्णं कर्म 'अभ्यास'पदेन व्यपदिश्यते। अभ्यासः साधनं वाऽधिकारभेदेन अनेकविधम्। सोपानद्वारा सौधपृष्ठमारोढुकामः पुरुषः किमपि सोपानम् आरोहति। किन्त्वसौ सौधपृष्ठमारोहतीत्येव मन्यते, सोपानपरम्पराभेदस्तु तिष्ठत्येव। तथैव साधनसुकौशलपूर्णकर्मसु परम्पराभूमिभेदोऽधिकारभेदश्च आवश्यकः। परन्तु स्वरूपोपलब्धिभूमौ अग्रे सारयितुं सर्वोऽपि कर्मकलापः साधनशब्देन निरुच्यते। एतद्विज्ञानमाश्रित्यैव सनातने कर्मण्यनेकेऽधिकारभेदाः साधनभेदाश्च निर्णीताः॥ १३॥

अभ्यासदार्ढ्योपाय उपदिश्यते—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिः॥ १४॥

सोऽभ्यासो दीर्घकालपर्यन्तं निरन्तरतया सत्कारेण श्रद्धाब्रह्मचर्यादिना सेवितः सन् दृढभूमित्वं प्रपद्यते। नियमितोऽभ्यासः स्वभावे परिणमति अतो दृढताविरहितं साधनं फलदायकं न भवति। दृढतापूर्वकसाधनेन सम्पद्यमानो नियमोऽभ्यासेन स्वाभाविको जायते।

शास्त्रैर्निर्दिश्यते यत् प्रथमं किल सदाचारसाधनेन मनुष्यो मनुष्यत्वं लभते। पुनर्वर्णाश्रमधर्माभ्यासेन समुन्नतां ज्ञानभूमिमधिगच्छति

ज्ञानाधिगमेन च सदसदोर्ब्रह्मसर्गयोर्विज्ञानात् संसारबन्धनाद् विमुच्यते। ततश्च श्रीमद्गुरुदेवदयया अष्टाङ्गयोगमूलकानां मन्त्र-हठ-लय-राजाख्यानां चतुर्णां योगानां साधनैश्चित्तवृत्तिं निरुद्ध्य मुक्तिपदमधिकर्तुं शक्नोति। अतः साधने दीर्घकालस्य आवश्यकत्वम्। नियमिताभ्यासेनैव जीवप्रकृतिः परिवर्तते। ततश्च बहिर्दृष्टिर्विलीयते, अन्तर्दृष्टिश्चोत्पद्यते। यदि नियमितोऽभ्यासो न स्यात्, अर्थात् मध्ये मध्येऽभ्यासः खण्डितो भवेत् तर्हि तादृशाभ्यासेन तत्प्रकृतिर्न परिवर्तितुं शक्नुयात्। यतः साधकदृष्टिर्यदाऽन्तर्मुखतो बहिर्मुखतां प्रपद्येत चेत्तदानीं पूर्ववदसौ विषयपाशे पतति। अतोऽखण्डितरूपं क्रियमाणं साधनं फलाय कल्पते।

यावच्च शास्त्र-गुरुवाक्ययोः साधनेषु च साधकस्य श्रद्धा न स्यात्, तावन्नासौ नियमितं साधनं कर्तुं प्रभवेत्। अतः श्रद्धाया अत्यावश्यकता। शास्त्रेषु श्रद्धा त्रेधा विभक्ता। तथा हि--

"त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिप्रकृतिभेदतः।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसीति बुभुत्सवः॥
तासां तु लक्षणं विप्राः शृणुध्वं भक्तिभावतः।
श्रद्धा सा सात्त्विकी ज्ञेया विशुद्धज्ञानमूलिका॥
प्रवृत्तिमूलिका चैव जिज्ञासामूलिकाऽपरा।
विचारहीनसंस्कारमूलिका त्वन्तिमा मता॥" इति।

सात्त्विकश्रद्धायाः श्रेष्ठत्वमुक्तम्। अतश्चित्तवृत्तिनिरोधाय अभ्यासदृढतासम्पादनाय च श्रद्धया साकं दीर्घकालपर्य्यन्तं निरन्तरं साधनस्य परमावश्यकत्वमवगन्तव्यम्॥ १४॥

सम्प्रति वैराग्यलक्षणमाचष्टे--

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥ १५॥

दृष्टम् = ऐहलौकिकं सुखम्, यद् ज्ञानेन्द्रियैरनुभवन् तन्निमग्नः सन् जीवस्तदधिगन्तुं समीहते। पुत्र-कलत्र-धनैश्वर्यादिसुखमत्र अन्तर्भवति।

तत्र स्थितौ स्वरूपोपलब्धौ, यत्नः प्रयत्न एव अभ्यासः प्रोक्तः। चञ्चलमन्तःकरणं सच्चिदानन्दरूपपरमात्मनो निश्चलभावं नैव ग्रहीतुं शक्नोति। शनैः शनैरभ्यासद्वारा निर्वातदीपवत् प्रशान्तेऽन्तःकरणे परमतत्त्वं प्रकाशमेति। क्रमशस्तदभ्यासस्यैव नाम साधनम्, येनान्तःकरणं बलोत्साहयत्नपूर्वकं तत्रैव परमाराध्ये परमात्मनि संलगति। ग्रन्थिकरणं ग्रन्थिविमोचनमुभयमपि कर्मैव। उभयत्रापि हस्तसञ्चालनं क्रियते। किन्तु आद्येन पदार्थो बन्धनमेति, अपरेण च बद्धपदार्थो विमुच्यते। तथैव जीवस्य स्वाभाविकं कर्म साधनकर्मापि समानमेव कर्मशब्दवाच्यम्। परन्तु जीवस्त्रिगुणकारिते स्वाभाविके कर्मणि ग्रस्यमानो गमागमरूपाद् भ्रमान्न निःसरति। किन्तु वेदविहितसाधनकर्मणा स मुक्तिभूमावग्रे सरन् मोक्षमधिगच्छति।

योगलक्ष्यभूतमुक्तिपदाधिगमाय क्रियमाणं यत् किमपि सुकौशलपूर्णं कर्म 'अभ्यास'पदेन व्यपदिश्यते। अभ्यासः साधनं वाऽधिकारभेदेन अनेकविधम्। सोपानद्वारा सौधपृष्ठमारोढुकामः पुरुषः किमपि सोपानम् आरोहति। किन्त्वसौ सौधपृष्ठमारोहतीत्येव मन्यते, सोपानपरम्पराभेदस्तु तिष्ठत्येव। तथैव साधनसुकौशलपूर्णकर्मसु परम्पराभूमिभेदोऽधिकारभेदश्च आवश्यकः। परन्तु स्वरूपोपलब्धिभूमौ अग्रे सारयितुं सर्वोऽपि कर्मकलापः साधनशब्देन निरुच्यते। एतद्विज्ञानमाश्रित्यैव सनातने कर्मण्यनेकेऽधिकारभेदाः साधनभेदाश्च निर्णीताः॥ १३॥

अभ्यासदार्ढ्योपाय उपदिश्यते—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारसेवितो दृढभूमिः॥ १४॥

सोऽभ्यासो दीर्घकालपर्यन्तं निरन्तरतया सत्कारेण श्रद्धाब्रह्मचर्यादिना सेवितः सन् दृढभूमित्वं प्रपद्यते। नियमितोऽभ्यासः स्वभावे परिणमति। अतो दृढताविरहितं साधनं फलदायकं न भवति। दृढतापूर्वकसाधनेन सम्पद्यमानो नियमोऽभ्यासेन स्वाभाविको जायते।

शास्त्रैर्निर्दिश्यते यत् प्रथमं किल सदाचारसाधनेन मनुष्यो मनुष्यत्वं लभते। पुनर्वर्णाश्रमधर्माभ्यासेन समुन्नतां ज्ञानभूमिमधिगच्छति।

ज्ञानाधिगमेन च सदसदोर्ब्रह्मसर्गयोर्विज्ञानात् संसारबन्धनाद् विमुच्यते। ततश्च श्रीमद्गुरुदेवदयया अष्टाङ्गयोगमूलकानां मन्त्र-हठ-लय-राजाख्यानां चतुर्णां योगानां साधनैश्चित्तवृत्तिं निरुद्ध्य मुक्तिपदमधिकर्तुं शक्नोति। अतः साधने दीर्घकालस्य आवश्यकत्वम्। नियमिताभ्यासेनैव जीवप्रकृतिः परिवर्तते। ततश्च बहिर्दृष्टिर्विलीयते, अन्तर्दृष्टिश्चोत्पद्यते। यदि नियमितोऽभ्यासो न स्यात्, अर्थात् मध्ये मध्येऽभ्यासः खण्डितो भवेत् तर्हि तादृशाभ्यासेन तत्प्रकृतिर्न परिवर्तितुं शक्नुयात्। यतः साधकदृष्टिर्यदाऽन्तर्मुखतो बहिर्मुखतां प्रपद्येत चेत्तदानीं पूर्ववदसौ विषयपाशे पतति। अतोऽखण्डितरूपं क्रियमाणं साधनं फलाय कल्पते।

यावच्च शास्त्र-गुरुवाक्ययोः साधनेषु च साधकस्य श्रद्धा न स्यात्, तावन्नासौ नियमितं साधनं कर्तुं प्रभवेत्। अतः श्रद्धाया अत्यावश्यकता। शास्त्रेषु श्रद्धा त्रेधा विभक्ता। तथा हि--

"त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिप्रकृतिभेदतः।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसीति बुभुत्सवः॥
तासां तु लक्षणं विप्राः शृणुध्वं भक्तिभावतः।
श्रद्धा सा सात्त्विकी ज्ञेया विशुद्धज्ञानमूलिका॥
प्रवृत्तिमूलिका चैव जिज्ञासामूलिकाऽपरा।
विचारहीनसंस्कारमूलिका त्वन्तिमा मता॥" इति।

सात्त्विकश्रद्धायाः श्रेष्ठत्वमुक्तम्। अतश्चित्तवृत्तिनिरोधाय अभ्यासदृढतासम्पादनाय च श्रद्धया साकं दीर्घकालपर्य्यन्तं निरन्तरं साधनस्य परमावश्यकत्वमवगन्तव्यम्॥ १४॥

सम्प्रति वैराग्यलक्षणमाचष्टे--

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥ १५॥

दृष्टम् = ऐहलौकिकं सुखम्, यद् ज्ञानेन्द्रियैरनुभवन् तन्निमग्नः सन् जीवस्तदधिगन्तुं समीहते। पुत्र-कलत्र-धनैश्वर्यादिसुखमत्र अन्तर्भवति।

आनुश्रविकं पारलौकिकसुखम्, यद्वर्णनं शास्त्रेषु समुपलभ्यते, शरीरत्यागानन्तरं यदधिगतिश्च। अत्रैव स्वर्गादिदिव्यानि सुखानि अन्तर्भवन्ति। इहलोकस्य परलोकस्य वा सर्वाण्यपि सुखानि मायारचितानि विद्यन्ते। तानि च क्षणभङ्गराणि सन्ति। अतः सुविचारदृष्टेरुदयेन चैद्द्विप्रकारकसुखस्य समीहाभावः प्रसज्यते। अन्तःकरणं च ततो विरक्तिमनुभवति। तदानीमेव मुमुक्षुचित्ते वशीकारसंज्ञा समुत्पद्यते। अर्थात् 'विषया मदधीनाः, नाहं विषयाधीनः' इति भावः समुदयति। एतदेव वैराग्यम्।

योगाचार्यैर्वैराग्यभूमौ क्रमोन्नतिमनुष्ठातुं चतस्रो दशा वर्णिताः। तथा हि—यतमानसंज्ञा, व्यतिरेक-संज्ञा, एकेन्द्रिय-संज्ञा, वशीकारसंज्ञा चेति। गुरु-शास्त्र-वाक्यसाहाय्येन जगति सारासारविचारे यत्न एव चित्तस्य यतमानावस्था। 'मानसिका एते दोषा विनष्टाः, एते चावशिष्यन्ते' इति विवेचनं हि व्यतिरेकावस्था। विषरूपविषयेषु दुःखज्ञानद्वारा इन्द्रियाणामप्रवृत्त्यां सत्यामपि स्वान्तःकरणे विषयतृष्णास्थितिरेव एकेन्द्रियावस्था प्रोच्यते। अन्ते चान्तःकरणस्य विषयतृष्णायाः समूलनाशेन चित्तस्य याऽवस्था, सैव वशीकारसंज्ञां लभते।

एतदवस्थाचतुष्क-विचारानुसारेण वैराग्यस्यापि योगशास्त्रे चत्वारो भेदाः प्रोक्ताः। तथा हि—१. मृदुवैराग्यम्, २. मध्यवैराग्यम्, ३. अधिमात्रवैराग्यम्, ४. परवैराग्यं चेति। यदा च विवेकवतो मानवस्य विवेकयुक्तान्तःकरणेन ऐहलौकिकविषयेषु दोषोऽनुभूयते, तदेतद् मृदुवैराग्यमित्युच्यते। ततश्च विवेकभूमावग्रे सरतः साधकस्य अन्तःकरणे ऐहलौकिक-पारलौकिकविषयान् प्रत्यरुचिरुत्पद्यते। तदानीं तदुन्नततरदशानाम मध्यवैराग्यम्। यदा च विवेकवता पुरुषेण विषयभोगेषु प्रत्यक्षतो दुःखमनुभूयते, तदानीं दुःखदायिषु पदार्थेषु चित्तासक्तेरसम्भवेन विषयान् प्रति दुःखदायको भावः साधकस्यान्तःकरणे प्रतिष्ठितो जायते, येन विषयसम्बन्धः स्वत एव निरस्यते। वैराग्यस्यास्य उन्नततमावस्थाया नाम अधिमात्रवैराग्यमिति। दशायामत्र स्थूलेन्द्रियाणां विषयेष्वनासक्तावपि तदन्तःकरणे विषयसुखस्य सूक्ष्मसंस्कारस्तिष्ठत्येव। यदा चैहलौकिक-

पारलौकिकविषयेभ्यो योगयुक्तसाधकस्य अन्तःकरणं विषयसंस्कारात्यन्त-शून्यतां भजति, ततश्च साधकचित्तं नितरां विरक्तं भवति, तदा एतद्-वस्थाया नाम परवैराग्यमिति ।

पूर्वोक्ताभिरन्तःकरणस्य चतसृभिर्भूमिभिः चतुर्विधवैराग्यसमन्वयेन सिद्धान्तोऽयं स्थिरीक्रियते यत् यतमानावस्थया मृदुवैराग्यस्य, व्यतिरेका-वस्थया मध्यवैराग्यस्य एकेन्द्रियावस्थया अधिमात्रवैराग्यस्य वशीकारा-वस्थया च परवैराग्यस्य सम्बन्धः । इदमेव चतुर्विधवैराग्यलक्षण-मवधेयमिति ॥ १५ ॥

परवैराग्यस्य विशिष्टं कारणमभिधत्ते—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥ १६ ॥

तद् वैराग्यं परं परमोत्कृष्टमवगन्तव्यं यत्र स्वरूपप्रकाशशालित्वात् पुरुषस्य प्राकृतिकगुणेषु पूर्णरूपेण अरुचिरुत्पद्यते । सत्त्वं रजस्तमश्चेति प्रकृतेर्गुणत्रयम् , पुरुषश्च त्रिगुणातीतः । यदा चान्तःकरणं बाह्यजगतः पराङ्मुखतां प्राप्य अन्तर्मुखीनं जायते, तदानीं तत्र पुरुषस्य प्रकाशः प्रादुर्भवति । तदा च नैव तद्बाह्यरूपं प्रकृतिगुणं द्रष्टुमिच्छति । ज्ञानो-दयेन यदा तेन प्रत्यक्षमिदमनुभूयते यत् प्रकृतिरेव दुःखरूपसृष्टिहेतुः, शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः पुरुषस्तद्भिन्नः, यथार्थं सुखं तु तत्रैवाऽऽस्ते, तदा-ऽन्तःकरणं पुनः कथं प्रकृतिगुणमुपभोक्तुमर्हेत् ?

यावदेतादृशं ज्ञानं नैव परिपूर्णतां भजति, अर्थात् यदाऽन्तःकरणं बाह्यतोऽभ्यन्तराभिमुखं प्रपन्नमपि पूर्वाभ्यासतो यदा कदा बाह्यविषयेषु आसज्जते, तदानीमेतादृशावस्थाया नाम अपरवैराग्यमिति । परन्तु यदा ज्ञानस्वरूपावस्था पूर्णतां प्राप्ता सती, परिपूर्णज्ञाननिर्विघ्नस्थितेर्नैव विचा-ल्यते, तदा तन्नाम परवैराग्यम् । वैराग्यस्येयं चरमावस्था ॥ १६ ॥

अभ्यासवैराग्याभ्यां चित्तवृत्तिनिरोधानन्तरं योगिना समधिगतदशाया वर्णनमातनोति—

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥ १७ ॥

वितर्कस्य विचारस्य आनन्दस्य अस्मितायाश्च स्वरूपानुभवात् सम्प्रज्ञातः समाधिरुत्पद्यते। समाधिर्द्विविधः—१. सम्प्रज्ञातः, २. असम्प्रज्ञातश्च, सविकल्पो निर्विकल्पो वेति। प्रशस्तो निर्विकल्पः असम्प्रज्ञातो वा अग्रे वक्ष्यते। सविकल्पे समाधौ ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयरूपा त्रिपुटी भासते। अत्रावस्थायां वितर्के सति वितर्कानुगता, विचारे विद्यमाने विचारानुगता, आनन्देऽनुभूयमाने आनन्दानुगता, अस्मितायां सत्यामस्मितानुगता अवस्थाऽभिधीयते।

उक्तं च योगशास्त्रे—

"समाधिभूमौ प्रथमं वितर्कः किल जायते।
ततो विचार आनन्दानुगता तत्परा मता।
अस्मितानुगता नाम ततोऽवस्था प्रजायते॥" इति।

सम्प्रज्ञातसमाधौ यद्यप्यन्तःकरणवृत्तयो निरुद्धतामापद्यन्ते, तथापि तद्धि नैव वृत्तिनिर्बीजत्वमधिगच्छति। अन्तःकरणं सूक्ष्मरूपेण भासते। अत एव ज्ञातृज्ञेयज्ञानानां स्वतन्त्रसत्ता तिष्ठति। वेदान्तदर्शनोक्त्या मायया सांख्यदर्शनोक्त्या प्रकृत्या वा दृश्यमानमिदं जगत् सृष्टम्। येषां वेदान्ते पञ्चकोपनाम्ना सांख्ये पञ्चविंशतितत्त्वनामतो वा वर्णनमुपक्रान्तम्, तेषां सर्वेषां सिद्धान्तोऽयं यत् स्थूलजगत्-सृष्टिकर्त्री प्रकृतिः, पुरुषः परमात्मा वा ततो भिन्नः। स्थूलसृष्टिसम्बन्धिनि विचारे क्रियमाणे तद्भिन्नस्य परमात्मनोऽनुभवो जायते। अर्थात् समाधिस्थितौ सत्यां सर्गस्य उत्पत्ति-स्थित्योः बुद्धिं गमयित्वा तद्भिन्नपरमात्मविचारप्रवृत्तिरेव वितर्कानुगता अवस्था विज्ञेया।

किं वा कारणान्वेषणपुरस्सरं स्थूलात् सूक्ष्मे प्रवेश एव वितर्क उच्यते। अर्थात् दशायामत्र वितर्कः, विचार, आनन्दः, अस्मिता चेति चतस्रो दशास्तिष्ठन्ति। केवलं सूक्ष्मविचार एव विचारानुगतावस्था कथ्यते। दशायामत्र बहिर्विषयस्य स्थूलविषयस्य वा धारणा न तिष्ठति। सूक्ष्मरूपेण

केवलं ज्ञातुर्जीवस्य ज्ञानस्य ज्ञानशक्तेर्ज्ञेयस्य परमात्मनश्चेति त्रयाणां विचार एव तिष्ठति। अस्यां दशायां विचारः, आनन्दः, अस्मिता चेति-त्रितयस्य सद्भावः। इयं हि विचारानुगता दशा। आनन्दरूपायामस्यां तृतीयादशायां विचाररहित आनन्दोऽनुभूयते। अर्थादवस्थायामत्र आनन्दः अस्मिता च केवलं तिष्ठतः। इयमवस्था उपर्युक्तावस्थाद्वयतः समुन्नता। इयमानन्दानुगता अवस्थोच्यते। चतुर्थदशायां केवलमस्मिता-ज्ञानमेव तिष्ठति। केवलं स्वसत्ताभानातिरिक्तं नान्यत् किञ्चन अवबुद्ध्यते। इयमवस्था पूर्वोक्तदशात्रयादुन्नता। एषा किल अस्मितानुगतावस्था प्रतिपाद्यते।

आनन्दास्मितानुगतावस्थयोः सम्यक् परिज्ञानार्थम् अध्यात्मतत्त्वस्य किञ्चिद् रहस्यमवश्यमेवावगन्तव्यम्। अन्यथा एतयोः सम्यक् ज्ञानं न भवितुमर्हति। सत् चित् आनन्दश्चेति त्रिभावपरिपूर्णमात्मस्वरूपम्। अतो ब्रह्मपदमपि सच्चिदानन्दमयमस्ति। एषु त्रिष्वपि सत् चित् चेत्युभौ स्वप्रकाशकौ। अत एव जगत्यत्र जडचेतनौ द्वौ भावौ प्राकट्यं गच्छतः। परमानन्दभाव उभयत्र व्यापकत्वात् उभयसाहाय्येन व्यक्तिं गच्छति। अतो वेदस्य उपासनाकाण्डम् आनन्दविकासमेव जगत्सृष्टिकारणं मनुते। चिद्भावसाहाय्येन सद्भावे, सद्भावसाहाय्येन च चिद्भावे आनन्दः प्राकट्यमेति। अतो विषयानन्द आत्मानन्दश्चेत्युभावेव आत्मन आनन्द-रूपौ। एष च दर्शनशास्त्रसिद्धः सिद्धान्तः। अत आनन्दानुगतावस्थायां अस्मितानुगतावस्थातश्चित्तवृत्तेः सूक्ष्मता किञ्चिन्न्यूना भवति।

वस्तुतस्तु सविकल्पसमाधौ केवलमानन्दस्यैवानुभवात् सच्चित्पार्थक्यं समधिकमनुभूयते। अस्मितानुगतावस्थायामुभयोः पार्थक्यं न तथा प्रतीयत इति।

कदाचिदस्मितानुगतावस्थायां विचारे क्रियमाणे जिज्ञासुजनमानसे सन्देहोऽयमुत्पत्स्यते यद् यद्यवस्थायामस्यां केवलमस्मिताया एव सत्ता चेत्तर्हि ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयत्रयसम्भावना कथम्? समाधत्ते—यद्यपि कार्यतः

ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयत्रयस्वरूपं न परिदृश्यते, किन्तु बीजे वृक्ष इव कारणरूपेण तेषां त्रयाणां स्थितिस्तिष्ठत्येव। सूक्ष्मेक्षिकया विचारे क्रियमाणे तत्त्रयानुभवोऽपि जायते।

इमाश्चतस्रो दशाः सम्प्रज्ञातसमाधौ अन्तर्भवन्ति। तदनन्तरं हि असम्प्रज्ञातसमाधिदशा प्रादुर्भवति। दशेयमग्रे वक्ष्यते॥ १७॥

चित्तवृत्तिनिरोधानन्तरं प्राप्तव्यद्वितीयावस्थालक्षणमुपवर्ण्यते—

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः॥ १८॥

पूर्ववर्णिते सम्प्रज्ञातसमाधौ ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयरूपत्रिपुटयाः सूक्ष्मास्तित्वं तिष्ठति। परन्तु एतत्सूत्रोक्ते असम्प्रज्ञातसमाधौ तत्त्रितयविनाशात् केवलं पूर्णज्ञानरूपं चैतन्यमेवावशिष्यते, अभ्यासवैराग्यस्वरूपं वर्णयता महर्षिणा सूत्रकृता प्रकाशितमेतद् यद् अभ्यासपरिपूर्णतया परवैराग्येण च अन्तःकरणं पूर्णरूपेण सृष्टेर्बहिर्जगतो निवृत्तं जायते। बहिर्जगत्सम्बद्धा इन्द्रियविषया एवान्तःकरणे वृत्तिरूपां चञ्चलतामुद्भावयन्ति स्म। अन्तःकरणे बहिर्जगतः पूर्णरूपेण निवृत्ते सति वृत्तयो नाविर्भवन्ति। वृत्तिरूपतरङ्गाणां पूर्णतया विनाशे अभ्यास-परवैराग्ययोः पूर्णावस्थया च असम्प्रज्ञातसमाधिरुदेति।

अस्यामवस्थायां वृत्तीनां लेशतोऽपि सद्भावो न स्यात्। सर्वतः पृथग्भूतं चैतन्यं स्वरूपमधिगच्छति। इयं दशा निर्बीजसंज्ञामधिगच्छति। इयं योगस्य परिपूर्णावस्था। अयमेव निर्विकल्पः समाधिः। एष एव वेदान्तस्य ब्रह्मसद्भावः। इयमेव भक्तिमार्गस्य परा भक्तिः। एतदेव कैवल्यमिति वर्णितम्। स्मर्यते चात्र—

"परं ज्ञानं परं सांख्यं परं कर्मविरागता।
परा भक्तिः समाधिश्च योगपर्यायवाचकाः॥
भक्तेस्तु या परा काष्ठा सैव ज्ञानं प्रकीर्तितम्।
वैराग्यस्य च सीमा सा ज्ञाने तदुभयं यतः॥" इति।

असम्प्रज्ञातसमाधेरपि भेदद्वयं शास्त्रे समुपवर्णितम्। अवस्थाद्वयमिदमतिसूक्ष्मम्, साधारणबुद्धेरगम्यं चापि। तद्भावभाविता योगिन एवावस्थाद्वयमनुभवन्ति। अवस्थाद्वयस्यैतस्य बाह्यलक्षणैरपि किञ्चित्परिज्ञानं कर्तुं शक्यते। यदा योगस्य परां काष्ठां प्राप्य असम्प्रज्ञातसमाधिमधिरुह्य च महात्मान आत्मारामा भवन्तो बहिर्जगतः सर्वविधमपि स्वसम्बन्धं विरहय्य उन्मत्ताः स्तब्धाः निष्क्रियाश्च भवन्ति, तदा तेषामवस्था 'ब्रह्मकोटि'नाम्ना व्यवह्रियते। यदा च ते योगस्य परिपूर्णदशामवाप्य, असम्प्रज्ञातसमाधिमारुह्य च सर्वशक्तिमतो जगदीश्वरस्य समीहया लोकोपकारिकार्यकलापेषु, निष्कामव्रतधारि - संसारोपकारपरायण - पूर्वकालीनमहर्षिवत् प्रवर्तमानास्तिष्ठन्ति, तदा महापुरुषदशेयम् 'ईशकोटि'नाम्ना समाख्यायते।

प्रचलन् स्थिरश्च वायुर्द्विविधः, तथैव निष्क्रियः संसारोपकारी चेत्युभावपि महापुरुषौ सिद्धौ स्तः। केवलमुभयोर्बाह्यलक्षणो भेदः। निष्कर्षोऽयं यत् ब्रह्मकोटिजीवन्मुक्तयोगिभिः संसारोपकारसम्भावना नास्ति। जागतिकोपकारा यावन्तोऽभवन्, भवन्ति, भविष्यन्ति च, सर्वे ते ईशकोटिजीवन्मुक्तैरेवेति निश्चप्रचम्। यथा चोक्तं स्मृतौ—

"परहंसस्य प्रारब्धकर्मवैचित्र्यदर्शनात्।
ईशकोटिर्ब्रह्मकोटिरिति द्वे नामनी श्रुते॥
परहंसो ब्रह्मकोटेर्मूकस्तब्धो जडस्तथा।
उन्मत्तो बालचेष्टश्च न जगत्तोन लाभवत्॥
परहंसस्त्वीशकोटेः परां काष्ठां गतोऽनिशम्।
निष्कामस्य व्रतस्यात्र जगज्जन्मादिशक्तिमत्॥
जगदीशप्रतिनिधिर्भूत्वा तत्कर्मसंरतः।
जगद्धितार्थं विप्रर्षे! एवं विद्धीशरूपिणम्॥" इति।

एतत्सूत्रोक्तस्य वृत्तिनाशरूपसंस्कारावशेषस्य असम्प्रज्ञातसंज्ञकनिर्विकल्पसमाधेरिदमेव तात्पर्यं यत् सुवर्णमिश्रितः सीसकोऽग्नौ प्रक्षिपो सुवर्णमलं ज्वालयित्वा स्वयमपि ज्वलितो भवति, तथैव निरोधसंस्कारः पूर्णरूपेण

चित्तवृत्तीः प्रणाश्य स्वयमपि प्रणश्यति। अनन्तरं कोऽपि संस्कारो नैव तिष्ठति। केवलमन्ते स एव निर्लिप्तः सच्चिदानन्दस्वरूपः परमात्मैव अवशिष्यते। समाधिस्थो महात्मा स्वविग्रहेण यत् किमप्यनुतिष्ठति, तदीयक्रियमाणकर्मणां संस्कारो निर्वासनं तदन्तःकरणं न स्पृशति। व्युत्थानदशायाः तदीयाः सर्वेऽपि संस्कारा वह्निभृष्टबीजवत् व्यर्थतां प्रयान्ति। अस्यां दशायां तस्य कार्याकार्यं शरीरस्य स्थितिरस्थितिर्वा समानतां प्रयाति। अयमसंप्रज्ञातसमाधिर्योगस्य चरमसीमा, साधनस्य चान्तिमं लक्ष्यमवधेयम्॥ १८॥

इदानीमसंप्रज्ञातसमाधिं निर्विघ्नमनुष्ठातुं सम्प्रज्ञातसमाधिविघ्नं निराकर्तुमुच्यते—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्॥ १९॥

देहाध्यासशून्यतया महत्तत्त्वादिविकारेषु अव्यक्तप्रकृतौ च विलयेन संस्कारकारणरूपो भवप्रत्ययो नाम समाधिविघ्नः समुदेति। महर्षिणा सूत्रकारेण समाधेर्भेदद्वयमुपवर्ण्य तं च निर्विघ्नमनुष्ठातुं विघ्नवर्णनमनुष्ठीयते। अर्थात् कैवल्यमार्गेऽग्रेसर्तुं पुरुषार्थभेदेन समाधिस्थः साधको यान् विघ्नान् अधिगच्छति, ते साम्प्रतं सविस्तरमुपवर्ण्यन्ते।

के चन योगिनो महात्मानो योगलक्ष्यभूतस्य असम्प्रज्ञातसमाधेः पूर्णावस्थाभिमुखं प्रयान्तो मध्य एव तिष्ठन्ति, नान्तं गच्छन्ति। यद्यपि ते विजित्येन्द्रियाणि विषयवैराग्ययुक्ताः सम्पद्यन्ते, तथापि निजान्तःकरणनिरोधरूप-संस्कारसाहाय्येन देहाध्यासशून्याः सन्तो महत्तत्त्वादप्रकृतिविकारेषु विलीयन्ते, किं वा स्वकीयानर्भलान्तःकरणेन माक्षानन्दवत् स्वान्तःकरणप्रतिबिम्बितचैतन्याभाससुखं भुञ्जते। अथात् प्रकृतौ लीना अपि प्रकृतिद्वारा कैवल्यसुखानुरूपसुखे निमग्नास्तिष्ठन्ति। द्विप्रकाराऽपि लयावस्थेयं 'भवप्रत्यया'ख्या संसारकारणरूपयोगविघ्नकारिणी दशा मन्यते। द्विविधदशायामपि प्रकृतेः सूक्ष्मावस्थान्तर्गतस्थितित्वात् तस्याः पुनर्विस्तारः सम्भवति। अर्थात् स्वपूर्वावस्थां तदन्तःकरणमधिगच्छति। अतोऽवस्थेयं योगसाधनविघ्नस्वरूपा अवगन्तव्या। सा च मुमुक्षूणां नैव हितायिका। उपर्युक्तो द्विविधोऽपि विघ्नो भवप्रत्ययदशायामुत्पद्यते।

विज्ञानमिदं सुस्पष्टमवधारयितुमिदमुच्यते यद् योगिनो योगस्य सप्तभूमीरतिक्रामन्तो यदाऽष्टमीं समाधिभूमिमाश्रयन्ति, तदानीं यदि साधनवेगस्य वैराग्यस्य च परिपूर्णता न स्यात्, तर्हि ते देहाध्यासरहिता अपि महत्तत्त्वादिसूक्ष्मविचारेषु निमज्जन्ति, किं वा कारणप्रकृतौ विलीनाः सन्तो निजान्तःकरणप्रतिबिम्बितचैतन्यमेव आत्मस्वरूपं मन्यमानास्तृप्तिमापद्यन्ते। सुतरां तादृशविघ्ने समुपस्थिते साधनतीव्रतायाः परवैराग्यस्य चाभावेन समुन्नतसमाधिभूमिमासादयन्तोऽपि निरुद्धास्ते नाग्रेसरन्ति। तदानीं तेषां कैवल्यमार्गाग्रेसरणं निरुद्ध्यते।

योगस्य चतुर्विध-क्रियासिद्धांशानां मन्त्रयोग-हठयोग-लययोग-राजयोगानां साधनप्रणालीपर्यालोचनया योगाचार्यैरिदं निश्चीयते यत् आत्मानुसन्धानपूर्णं राजयोगं विरहय्य त्रिविधास्वन्यासु साधनप्रणालीषु तादृशविघ्नसम्भावना तिष्ठति। राजयोगे तत्त्वज्ञानस्य वासनाक्षयस्य मनोनाशस्य च सहैव जायमानत्वात् तद्विघ्नसम्भावना न तिष्ठति। मन्त्र-हठ-लयनामकेषु योगेषु बहिःसाधनानां समधिकसम्बन्धसत्त्वात् योगत्रितयसमधिगतायां सम्प्रज्ञातसमाधिदशायां तादृशविघ्नप्राप्तेः समधिकसम्भावना। मन्त्रयोगे रूपमन्त्रयोरद्वैततया समाधिः समवाप्यते। अतोऽत्र महत्तत्त्वादिविकारेषु विलयः समधिकः सम्भाव्यते। हठयोगसमाधेर्वायुनिरोधद्वारा सम्पद्यमानत्वात् लययोगसमाधेश्च नादबिन्दोरद्वैततया समधिगतत्वाच्च उभयत्रापि सूक्ष्मप्रकृतिसाहाय्येन प्रतिबिम्बित आत्मस्वरूपे विलयनात् समुन्नतिनिरोधः सम्भाव्यते। अत एव हठयोगे जडसमाधिरूपा नानाविधा योगविघ्नाः समुद्यन्ति। कैवल्याभिलाषिणो योगिनः स्वसाधनदृढतायां परवैराग्यपूर्णतायां च परिपूर्णं नैजं ध्यानं ददतो भवप्रत्ययदशायामेव न निरुद्धा भवेयुरित्येतत्सूत्रतात्पर्यम्। अतोऽसम्प्रज्ञातसमाधेः पूर्णावस्थारूपं कैवल्यपदमधिगन्तुमीहमानैः एतदवस्थापरित्यागो नूनमनुष्ठातव्यः। अन्यथा तैर्मध्य एव निरुद्धैर्भवितुं शक्यते॥ १९॥

विघ्नरहितां द्वितीयामवस्थां वर्णयति —

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥ २० ॥

उपर्युक्तविघ्नविरहितयोगिभिरसम्प्रज्ञातसमाधिः श्रद्धा-वीर्य-स्मृतिसमाधि-प्रज्ञापूर्वकोऽधिगम्यते ।

पूर्वसूत्रे भवप्रत्ययदशां वर्णयित्वा महर्षिणा सूत्रकृता उपायप्रत्ययावस्था इदानीं वर्ण्यते । दृढविश्वासेन कुत्र चित् पदार्थे प्रीतिविशेष एव 'श्रद्धा' । इयं प्रागपि निरूपिता । श्रद्धायां द्रढीभूतायां तत्प्राप्तये योगिनो दृढोत्साह एव 'वीर्य'मभिधीयते । उत्साहयुक्तसाधनानि समनुतिष्ठता साधकेन यदा ब्रह्मानन्दपथेऽग्रेसरेण भूयते, तदा उत्तरोत्तरमानन्दोऽभिवर्धते । तस्य स्मरणमेव 'स्मृति'रभिधीयते । एतस्याः स्मृतेः स्थिरतायां सत्यां यदन्तःकरणमानन्दमयं जायते, तन्नामैवात्र सूत्रे प्रोक्तः 'समाधि'रवधेयः । एवं किल श्रद्धोत्साहस्मृतिसमाधिसाहाय्येन अन्तःकरणं परिपूर्णानन्दमयं प्रकाशं यदधिगच्छति, तत्परिपूर्णावस्थैव योगशास्त्रे 'प्रज्ञा'ऽभिधीयते । अस्यां प्रज्ञायां स्थिरीभूतायाम् 'असम्प्रज्ञातसमाधि'रुत्पद्यते । तं च 'निर्विकल्पा'परनामकं समाधिमधिगच्छन् योगिराजो 'जीवन्मुक्त'संज्ञां लभते ।

दशायामस्यां योगिराजस्यान्तःकरणं कदापि प्रज्ञां न विरहति । तस्याद्वैतस्थितिः सदैव तिष्ठति । अतः पूर्वसूत्रविघ्ननिराकरणेन साधनतीव्रतायाः परवैराग्यस्य चावलम्बनेन योगिराजः श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञासाहाय्येन स्वमार्गं विघ्नविरहितमनुतिष्ठन् कृतकृत्यतां प्रपद्यते । इयमेव द्वितीया श्रेष्ठदशा । एतदनवरोधसंज्ञकमार्गस्य नाम 'उपायप्रत्ययावस्थे'ति । अत्र प्रथमत एव वैराग्यसम्बन्धः । शेषे वैराग्यपूर्णावस्थारूप-परवैराग्यसाहाय्येन साधकः प्रज्ञामधिगत्य कैवल्यपदमधिकरोति ॥ २० ॥

विघ्नरहितसरलमार्गे प्रस्थितस्य समाधिसिद्धिलाभायोपाय उपदिश्यते—

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥

तीव्रः संवेगो येषां तेषां समाधिरासन्न इत्यर्थः । पूर्वसूत्रोक्तसाधनक्रमेण

असम्प्रज्ञातसमाधिदशाऽधिगन्यते। किन्तु अनुष्ठीयमानोपायवेगो यावान् अधिकः साधके दृश्यते, तावत्सत्वरमसौ समाधिपदमधिकुरुते। वैराग्येण यथा विषयबन्धनं शिथिलायते, तथैव साधनोपायसंवेगलक्ष्यस्य समाधेरभिमुखमाकर्षणं साधके प्रवर्धते।

साधके संवेगस्रोतसस्तीव्रताऽवश्यम्भाविनी। तदैवासौ विविधविघ्नान् निरस्यन् साधनपरमलक्ष्यम् असम्प्रज्ञातसमाधिमधिकरोति। आरम्भत एव यदि परवैराग्यं लक्ष्यभूतं भवेत्, तथैव साधनसहायकानां श्रद्धावीर्यादीनां संवेगोऽपि तीव्रतमो भवेत्, तर्हि भवप्रत्ययसम्बन्धीयविघ्नानां नास्ति सम्भावना। नासौ योगिराजः सिद्धिविघ्नग्रस्तो मध्येमार्गं निरुद्ध्यते। तदानीं तदीयः पन्था निष्कण्टकतां भजति॥ २१॥

संवेगभेदमाचष्टे—

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः॥ २२॥

साधनोपायसंवेग-स्रोतोवेगविचारतः संवेगोऽसौ त्रिधा विभक्तः—मृदुपायः, मध्योपायः अधिमात्रोपायश्चेति भेदात्। यदा पूर्वोक्तानां चतुर्णामुपायानां वेगो मृदुः स्यात्, तदाऽसौ मृदूपायसंवेगः प्रोक्तः। यदि मध्यस्तदाऽसौ मृदुतः समधिको मध्योपायसंवेग उक्तः। यदि चोपायानां संवेगोऽतितीव्रस्तदाऽसौ अधिमात्रोपायसंवेगोऽभिधीयते।

त्रयोऽप्येते मृदूपायप्रभृतयः संवेगा नवधा विभक्ताः। तथा हि—१. मृदुमृदूपायः, २. मृदुमध्योपायः, ३. मृदुतीव्रोपायः, ४. मध्यमृदूपायः, ५. मध्यमध्योपायः, ६. मध्यतीव्रोपायः, ७. अधिमात्रमृदूपायः, ८. अधिमात्रमध्योपायः, ९. अधिमात्रतीव्रोपायश्चेति।

नवस्वप्येतेषु अधिमात्रतीव्रोपायसंवेग एव सर्वाभ्यर्हितः। तस्यैवोदयेन साधकस्त्वरितमेव स्वकीयं लक्ष्यभूतं कैवल्यमासादयितुमर्हः। सूत्रमिदमभ्यासवैराग्याभ्यां समाधिप्राप्तेरन्तिमं समवधेयम्। सुतरां योगिनो महात्मानो मृदु-मध्यसंवेगौ अपहाय केवलमधिमात्रसंवेगमाश्रयन्तः स्वीयं योगमार्गं निष्कण्टकं सरलं च विदध्युः॥ २२॥

समाधिसाधनाय पूर्वोक्तोपायव्यतिरिक्तान् सरलोपायान् वर्णयति—

ईश्वरप्रणिधानाद् वा ॥ २३ ॥

सूत्रकारो महर्षिः प्रथमं किल चित्तवृत्तिनिरोधरूपयौगिकसाधारणोपायेन मुक्तिपदाधिगमोपायान् वर्णयित्वा निःश्रेयसलाभाय उपायान्तरमपि व्याहरति। महर्षेरिदमेव तात्पर्यं यत् अष्टाङ्गयोगरूपसाधारणसाधनेन चित्तवृत्तिनिरोधे सति मुक्तिस्तु लभ्यत एव। किन्तु वक्ष्यमाणप्रकारया ईश्वरभक्त्या बहुविधोपायतत्याऽपि समाधिसिद्धिरूपं कैवल्यमधिगन्तुं पार्यते।

सूत्रेऽत्र केवलमीश्वरप्रणिधानेनैव समाधिप्राप्तिरुपवर्णिता। परमगुरौ ईश्वरे सर्वकर्मसमर्पणपूर्वकं भक्तिरेव प्रणिधानशब्दार्थः। भक्तिमार्गप्रधानाचार्यैः देवर्षिनारदेन महर्षिभ्यां शाण्डिल्याङ्गिरोभ्याञ्च ईश्वरे परमानुराग एव भक्तिशब्दार्थः प्रोक्तः। यदा साधकचित्ते तादृशो विश्वासो भवेत् यत् सर्गेऽत्र सर्वविधकार्यकलापविधायकः सर्वशक्तिः केवलं परमेश्वर एव। 'यदपि किञ्चिद् भवति, भवतु' इति विमृश्य भक्तिमान् साधकः परमपितुर्ध्याने निमग्नः सृष्टितो मुखं परावर्तयन् परमात्माभिमुखमेव निरीक्षमाणः सर्वशक्तिमय-गुणातीतगुणानेव संस्मरन् केवलमीश्वरे एव प्रेममग्नस्तिष्ठति, तदानीं तद्भक्तिरेव परमेश्वरभक्तिनाम्ना प्रोच्यते।

अहङ्कार एव जीवं कर्मणि निबध्नाति। यतो जीवः स्वीययोग्यतायां विश्वसन् निजपुरुषार्थेनैव दुःखनिवृत्तिं सुखोपलब्धिं च मनुते। एतादृशाहङ्कारेणैवासौ त्रितापदुःखरूपं बन्धनमधिगतः। परन्तु भक्तौ उदीयमानायां यदा साधकः केवलमीश्वरमेव अवलम्बमानः सदसद्विषयेभ्य निवर्तमानः परमेश्वरप्रणिधान एव निमग्नस्तिष्ठति, तदानीं स्वत एव तदन्तःकरणात् तमोरूपाहङ्कारस्तिरोदधाति। तदीयानि च विषयवासनारूपाणि बन्धनानि शैथिल्यं प्राप्नुवन्ति। ईश्वरप्रणिधानेन चित्तवृत्तिं निरोधयन् परमेश्वरध्यानं कुर्वन् साधकः समाधिमधिगच्छति।

सूत्रेणैतेन महर्षिः सूत्रकारो योगेन भक्त्या सम्बन्धं प्रदर्शयन् प्रमाणितवान् यत् साधकाः भक्तिसाधनेन कैवल्यरूपं परमानन्दपदमधिगन्तुमर्हन्तीति। वेदकाण्डत्रयमध्यस्थमुपासनाकाण्डीयं दैवीमीमांसादर्शनं यद्धि कैवल्यप्राप्तिप्रधानसहायकमस्ति, योगदर्शनेन सह तस्य समन्वयोऽप्यनेन सूत्रेण सम्यग् बोभवीति। उपासनायाः कृते भगवद्भक्तिः प्राणरूपा, योगश्चाङ्गस्वरूपोऽवधेयः। अत एव भगवद्भक्तिसम्बन्ध ईदृग् दृढीयान् दर्शनसिद्धान्तेऽत्र सुनिरूपितः।

अधिकारभेदमनुसृत्य भगवद्भक्तिर्द्विविधा—१. गौणी, २. परा चेति। पराभक्तिमधिगन्तुं शरीरेण मनसा च प्रथमतः साध्यमाना भक्तिर्गौणीति कथ्यते। गौण्या अपि भेदद्वयम्—वैधी रागात्मिका चेति। गुरोराज्ञामधिगत्य विधिना साध्यमाना भक्तिर्वैधीत्युच्यते। भक्तिभावप्रधान-रसास्वादनपुरस्सरं स्वकीयप्रकृतिप्रवृत्त्यनुसारेण भक्तिरसेषु चैकस्मिन् भावे निमग्नो भक्तो रागात्मिकाया भक्तेरधिकारं प्रपद्यते। सुतरां भक्तिरससागरे भक्तं निमज्जयन्ती उन्मज्जयन्ती च भक्तिरेव रागात्मिकेत्युच्यते। उपासनासम्बन्धीयदर्शनशास्त्रे समस्ता अपि भक्तिभेदाः सम्यगुपवर्णिताः सन्ति। एवं किल गौण्या भक्तेः साधनेन साधकः समुन्नतां भूमिमधिगच्छन् भगवत्प्रीतौ तन्मयो भूत्वा यथास्वरूपं साक्षात्करुते सैव पराभक्तेरवस्था। पराभक्तिर्निर्विकल्पसमाधिश्चेत्युभयम् एकमेव वस्तु॥ २३॥

इदानीमीश्वरो लक्ष्यते—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः॥ २४॥

यत्र क्लेशाः, कर्माणि, कर्मफलानि, संस्काराश्च न विद्यन्ते, तादृशः पुरुषविशेष एवेश्वरशब्दवाच्यः। अविद्यासमुत्पन्न-विषयबन्धनेन राग-द्वेषसाहाय्यतश्चित्तवैक्लव्यमेव क्लेशः। क्लेशा अग्रिमसूत्रे वक्ष्यन्ते। यानि वेदविहितनिषिद्धकर्माणि मनोवचनशरीरकृतानि शुभाशुभानि पुण्यपापजनकानि, तानि कर्माण्यभिधीयन्ते। एतैरेव कर्मभिर्यदा फलान्यु-

त्पद्यन्ते, अर्थात् शुभकर्मभिः समुत्पद्यमानं सुखमशुभकर्मजनितं दुःखं च यज्जीवोऽनुभवति, तन्नामैव कर्मफलरूपो विपाकः। अन्तःकरणविद्यमान-कर्मसंस्कारत एव वासना समुत्पद्यते। तद्वासनामूलभूतः संस्काराख्य आशयः। सुतरां क्लेश-कर्म-विपाकाख्य-कर्मफलसंस्कारापरनामा-ऽऽशयै-रसंस्पृष्ट ईश्वर इत्युच्यते। जीवे चैते चत्वारः संलग्नाः सन्ति, परन्तु सर्व-शक्तिः परमेश्वरस्तदसंस्पृष्ट इत्यर्थः।

अविद्यावशगो जीव आत्मानं कर्तारं मन्यते। लोहितवर्णप्रतिबिम्बितः स्फटिकमणिर्यथा लोहितायते, तथैव प्रकृतिक्रियमाणकर्माणि निर्लिप्तः पुरुषः स्वकीयानि मन्यते। एतदविद्यारूपभ्रमवशीभूतो जीवः प्रकृतिजनित-नानाकर्मज-सुखदुःखेषु ग्रस्तो जायते। अतोऽविद्यैव जीवस्य जीवत्वहेतुः।

पूर्णप्रकाशः परिपूर्णज्ञानः पूर्णशक्तिर्निर्लिप्त ईश्वरोऽविद्यान्धकारविरहित-त्वात् क्लेश-कर्म-विपाका-ऽऽशयरूप-बन्धनव्यतिरिक्तः। ईश्वरः सर्वत्र व्याप्नोति। विराड्रूपपरमेश्वरे समस्तसंसारो विराजते। अर्थात् पर-मात्मा सर्वत्र विद्यते, परमात्मनि च सर्वाणि जगन्ति विराजन्ते, किन्तु स सर्वतो निर्लिप्तः। तदीयशक्त्यैव विविधानि संसारकार्याणि प्रचलन्ति। परमाणुरपि तदाज्ञा-नियमनिबद्ध एव। पूर्णशक्तित्वात् पूर्णज्ञानरूप-विद्याधिपतित्वाच्चासौ निर्लिप्तः। संख्यातीताः श्रेष्ठपुरुषाः जीवावस्थायां विद्यमाना अपि साधनद्वारा परिपूर्णज्ञानमधिगच्छन्तो मुक्तिमासादयन्ति। परन्तु न तथेश्वरो मन्तव्यः। अर्वादीश्वरे बन्धनमल्पज्ञानं वा लेशतोऽपि नास्ति। स हि त्रिष्वपि कालेष्वेकरूपः परिपूर्णैश्वर्यशाली। तदीयैश्व-र्याणां न्यूनाधिक्याभावः। अतोऽसौ जीवस्वरूपभिन्नः संसारोत्पत्ति-स्थिति-लयविधाता जेगीयते।

सांख्यप्रतिपादितः पुरुषस्तु स्वरूपतो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो वर्तते, किन्तु प्रकृतिसम्पर्कतः कर्तृत्व-भोक्तृत्वाभिमानेन तत्रौपचारिको बन्धन-सम्बन्धस्तिष्ठत्येव। परं परमेश्वरे प्राकृतिको बन्धनाभासोऽपि नास्ति। अत ईश्वरः सदैव क्लेशकर्मादिसम्बन्धशून्यः। अतः सांख्यीयपुरुष-

वैशिष्ट्यद्योतनार्थम् ईश्वरः 'पुरुषविशेषः' प्रतिपादितः। सांख्यशास्त्रीय-बहुपुरुषवादः प्रत्येकशरीरानुमेयः, पुरुषभावसिद्धश्च। परन्तु योगशास्त्रस्य एकोऽद्वितीयश्च पुरुषविशेषस्तद्भावभिन्नत्वात् पुरुषविशेषशब्दवाच्यतायाः सर्वथा योग्य एव। जीवपिण्डेषु कूटस्थचैतन्यरूप-बहुपुरुषदर्शनं लौकिक-प्रत्यक्षगम्यम्। किन्तु सर्वत्रैवानुस्यूतस्य एकस्याद्वितीयस्य व्यापक-पुरुषविशेषस्यानुभवो यौगिकालौकिक-प्रत्यक्षगम्य इति पूज्यपादमहर्षिणा पुरुषविशेषशब्दो व्यवहृत इति॥ २४॥

तस्य द्वितीयलक्षणमुच्यते—

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्॥ २५॥

तत्र ईश्वरे समस्तज्ञानबीजं निभाल्यते। पदार्थो यो ह्रसति वर्धते च, लघुर्गुरुर्वा वोभवीति, तदवधिरवश्यम्भावी। जीवे प्रतीयमानो ज्ञानांशस्तदन्तःकरणचञ्चलता - तारतम्यतो न्यूनोऽधिकश्च जायते। विषयसम्बन्धेनान्तःकरणं विषयस्वरूपतां प्रपद्यमानं चाञ्चल्यमावहति। यत्रान्तःकरणे यावान् विषयसम्बन्धस्तत्र चाञ्चल्यमपि तावदेव। अतश्चञ्चलतानुसारत एव ज्ञानप्रकाशो न्यूनोऽधिको वा सम्भवी। अन्तःकरणे च विषयसम्बन्धह्रासेन चञ्चलत्वन्यूनत्वेन ज्ञानरूपप्रकाशोऽधिकायते। सुतरां जीवान्तःकरणचञ्चलता-तारतम्यत एव ज्ञानन्यूनाधिक्यं प्रतिपद्यते।

पूर्वोक्तसिद्धान्तेन सिद्धमिदं यत् जीवे ज्ञानस्य न्यूनाधिक्यं तिष्ठति। अविद्यावशवर्तित्वात् जीवान्तःकरणमेकदेशदर्शि। अर्थादविद्यया हेतुभूतया जीवः सुखदुःखस्वरूपमात्मानमनुभवति। अतस्तदन्तःकरणं देशकालपरिच्छिन्नम्। सुतरां जीवे ज्ञानपूर्णताऽभावः। अविद्याशक्तिवशगो जीवः। त्रिगुणस्वरूपा विद्यारूपिणी महाशक्तिः सदैवेश्वराधीना। अत एवेश्वरो निर्लिप्तः। प्रकृतिगुणग्रस्तो जीवोऽल्पज्ञतां प्राप्नोति। तदीयं ज्ञानं विकासमेति ह्रसति च। किन्तु विद्यारूपिण्याः प्रकृतेरीश्वराधीनत्वात् तत्र परिवर्तनाभावात् ज्ञानस्य पराकाष्ठा। अतोऽसौ सदैव परिपूर्णज्ञानस्वरूपः। स्वीयान्तःकरणेन अल्पज्ञजीवो ज्ञानमधिकमपि समुपार्जयितु-

महति । किन्तु तदीयमन्तःकरणं देशकालपरिच्छिन्नत्वादसम्पूर्णमेव तिष्ठति । परमीश्वरो न तथाविधः । अतोऽसौ निर्लिप्तः । तं हि देशकालौ नैव कदापि स्पृशतः ।

सर्वव्यापकः सर्वशक्तिः परिपूर्णज्ञानस्वरूपः परमेश्वरो जीवनमनोभावं सर्वं विजानाति । सम्पूर्णमपि ज्ञेयं वस्तु नैव तदीयज्ञानतो व्यतिरिच्यते । कालत्रयेऽप्येकरूपस्य ईश्वरस्य ज्ञानपरिपूर्णत्वमेव ईश्वरीयसर्वज्ञत्वमवधेयम् ॥ २५ ॥

तस्य तृतीयलक्षणं व्यनक्ति—

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

कालकृतसीमराहित्यादसौ एव पूर्वेषां प्राचीनानामपि गुरुस्थानीयः । अनन्तकालत आरभ्य इदानीं यावद् ये किल ज्ञानप्रकाशका महापुरुषा जन्मानि लेभिरे, ते सर्व एव परमात्मविभूतयः । ये महर्षय आचार्यचरणाश्च शास्त्राणि द्वारीकृत्य जगति ज्ञानज्योतिर्विस्तरयामासुस्ते सर्व एव तदंशरूपत्वाद् भगवद्विभूतय एव मन्तव्याः ।

महात्मानो महर्षयः समुन्नत-ज्ञान-विज्ञानशालिनोऽपि ईश्वरीयविभूतय एव विज्ञायन्ते । ते च परमेश्वरशिष्यस्वरूपा एव । महर्षिसमूहजनितप्रकाशः किल पूर्णज्योतिर्मयस्य अनन्तकिरणधारिणः सूर्यस्वरूपस्य परमपितुरेकैकं किरणमात्रमेवावधेयम् । ते हि परमेश्वराधिगतमेव ज्ञानं संसारे प्रकटयाञ्चक्रिरे । पूर्वजमहर्षीणां पूर्वापरसम्बन्धस्तिष्ठति । तेषां गुरवः परम्परया श्रूयन्ते । अतस्ते सर्वेऽपि कालावच्छिन्नाः । परमीश्वरो न कालावच्छिन्नः, यतः सर्वशक्तिः सर्वज्ञाता त्रिकालव्यापी परमेश्वरः सर्वेषामप्यादिगुरुः । स च त्रिष्वपि कालेषु चैकरूपेण वर्तमानः सर्वविधज्ञानाधारः सर्वोपदेष्टा ज्ञानगुरुराम्नायते ॥ २६ ॥

लक्षणवर्णनानन्तरं साधननिर्देशाय ईश्वरस्य वाचकं व्याचष्टे—

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७ ॥

प्रणवः ॐकारस्तस्य परमेश्वरस्य वाचको मन्यते। येन पदार्थो विज्ञायते अर्थात् यः पदार्थं वक्ति, स वाचकः प्रोच्यते। ज्ञातुं वक्तुं वा योग्यो हि 'वाच्य'शब्देनाभिधीयते। सुतराम् ईश्वरो वाच्यः, प्रणवो वाचकश्च। अर्थात् प्रणवद्वारा परमात्मा विज्ञायत इत्यर्थः।

एकस्थानस्थितयोः पितृपुत्रयोरेकतरो यदि द्वितीयं पितरमभिदधाति चेत्तर्हि अभिधायकः पुत्रोऽभिधेयश्च पिता विज्ञायते। पुत्रोच्चारितपितृशब्दो वाचको व्यक्तिविशेषं पितरं वाच्यमवबोधयति। पितृपुत्रसम्बन्धः स्वाभाविकः साङ्केतिकश्च। परन्तु प्रणवेश्वरसम्बन्धस्तथा साङ्केतिकः काल्पनिको वा नास्ति। अत्र वाच्यवाचकयोरनादिसम्बन्धो विज्ञेयः। शास्त्रेषु यदि चाप्येतद्वर्णनं बहुत्र समुपलभ्यते यत् स्थिरीकृतया चित्तवृत्त्यैव प्रणवध्वनिः श्रोतुं योग्यः, मुखतस्तद्यथार्थोच्चारणमसम्भवम्; तथापि गौणरूपेण प्रोच्चरितः प्रणवमन्त्रः, अ, उ, म्, इति त्र्यक्षरमयो रजःसत्त्वतमोगुणाधिष्ठाता ब्रह्म-विष्णु-शिववाचकश्च। सर्वशक्तिरीश्वरो यया त्रिगुणशक्त्या सृष्टि-स्थिति-संहारान् विधत्ते, सा त्रिगुणमयी शक्तिः प्रणवेऽपि वर्तते। अतः किल प्रणव ईश्वरस्वरूपः।

प्रणवस्य वैज्ञानिको हेतुरयं यत् यत्र किमपि कार्यं तत्र कम्पनेनावश्यं भवितव्यम्। यत्र कम्पनं तत्र शब्दोऽप्यवश्यंभावी। परमेश्वरीये विराड्देहे तदिच्छया सृष्टिस्वरूप-त्रिगुणात्मके कार्ये सूक्ष्मरूपेण समुत्पद्यमाने तत्र समुत्पन्नः शब्दः किल प्रणव एव। यथा हि विराडेव परमेश्वरीयं स्वरूपम्, तथैव ॐकाररूप-वाचकेन परमात्मा विज्ञायते। तत्रोक्तमपि योगाचार्यैः—

"कार्यं यत्र विभाव्यते किमपि तत् स्पन्देन सव्यापकम्,
स्पन्दश्चापि तथा जगत्सु विदितः शब्दान्वयी सर्वदा।
सृष्टिश्चापि तथादिमाकृतिविशेषत्वादभूत् स्पन्दिनी,
शब्दश्चोदभवत् तदा प्रणव इत्योंकाररूपः शिवः॥" इति।

कारणस्वरूप-विराड्पुरुषेण साकं कार्यशब्दरूपप्रणवध्वनेरविमिश्रसम्बन्ध-

सत्त्वात् प्रणवध्वनिरूप-ध्वन्यात्मकशब्दस्य स्वरूपो वर्णात्मकः प्रतिशब्दः। अतः शाब्दिक ॐकारः शब्दातीतः प्रणवो वा उभयमेव पूर्वापरसम्बन्धेन परमेश्वरवाचकत्वात् प्रणवशब्देनैव समाम्नायते।

योगाचार्यैः सिद्धान्ततमिदं यत् प्रणवो ध्वन्यात्मकः। तदीयं किमप्यङ्गं मुखेनोच्चारयितुं न शक्यते। योगी सदा स्वीयमन्तःकरणं भक्तियोग-साहाय्येन साम्यावस्थामधिगतायाः प्रकृतेर्नैकट्यं प्रापयति, तदैव तदन्तः-करणे प्रणवध्वनिः श्रूयते। तद्ध्वन्यात्मकप्रकृतेरादिशब्द ईश्वरवाचक-प्रणवस्य वर्णात्मकः प्रतिशब्दः उपासनाकाण्डसंसिद्ध्यै प्रादुरभूत्। स एव वर्णात्मकः प्रणवप्रतिशब्द ॐकार इत्युच्यते। अ-उ-म् इत्यक्षरत्रयसम्बन्धेन ॐकारापरनामकः वर्णात्मकः प्रणवः स एव समाख्यातः। स एव हि शास्त्रेषु रजः-सत्त्व-तमोरूपत्रिगुणात्मक-ब्रह्म-विष्णु-महेशरूपत्रिदेवात्मकः शब्दो ब्रह्मरूपेण पूज्यते। अत एव ईश्वरप्रणवयोरभेदसम्बन्धः। वाच्ये जगदीश्वरे वाचके च प्रणवे पारस्परिकोऽनादिरविमिश्रश्च सम्बन्धः स्वीकृत आस्ते॥ २७॥

प्रणवसाधनविधिरुच्यते—

तज्जपस्तदर्थभावनम्॥ २८॥

तस्य प्रणवस्य जपस्तदर्थभावनमपि समाधिहेतुरुच्यते। सम्प्रति प्रणव-जपविधिस्तदीयं फलं च निरुच्यते। ईश्वरे प्रणवे चाविमिश्रोऽनादि-सम्बन्ध इति पूर्वसूत्रे प्रमाणितम्। अतः प्रणवजपेन नूनमेव अन्तःकरण-मीश्वरं साक्षात्कर्तुं शक्नोति।

वाचनिकः उपांशुर्मानसश्चेति जपस्त्रिविधः। यस्य मन्त्रस्य जपध्वनिः स्वस्यान्यस्य च कर्णकुहरे प्रविशन् समुच्चारितशब्देन चित्तं स्थिरीकुर्यात्, स हि वाचनिकः स्मृतः। यस्य मन्त्रस्य सूक्ष्मध्वनिः केवलं स्वस्यैव कर्णरन्ध्रे प्रविशन् मनः स्थिरीकुर्यात्, जपोऽसौ उपांशुः प्रोच्यते। यस्य च मन्त्रस्य सूक्ष्मध्वनिः केवलं मनसैव समुत्पद्यमानश्चित्तं स्थिरी-कुर्याद्, असौ जपो मानसिकः प्रोक्तः। त्रिविधजपस्य शक्तिप्रभावो यादृशो

मनसि निपतति, तत्तारतम्यमनुसृत्य मानसिक उत्तमः, उपांशुर्मध्यमः, वाचनिकश्चाधम इति व्याहर्तुं शक्यते। यद्यपि प्रणवौंकारौ एकार्थवाचकौ, तथापि पूर्वापरावस्थाभेदेन कारणप्रकृतेर्ध्वन्यात्मकः शब्दः प्रणवः, वर्णात्मकः प्रतिशब्दश्च ॐकार इत्यभिधीयते। अतो ध्वन्यात्मकप्रणवजपः केवलं साम्यावस्थामधिगतेन मनसा कर्तुं शक्यते। पूर्वोक्तस्त्रिविधो जपः किल वर्णात्मकस्य ॐकारस्यैव कर्तुं शक्यते।

ध्वन्यात्मको वर्णात्मकश्चेति प्रणवद्वयमपि एकभावमयमेव; तथापि पूर्वापरावस्थाभेदेन एको मुख्योऽपरो गौणः। उभावपि परमात्मवाचकौ। यदि योगी स्वकीयप्राथमिकक्रियायां योग्यतां लभमानो मनश्च साम्यावस्थायाः प्रकृतेः सन्निधौ प्रापयितुं शक्तिमधिगच्छन् प्रणवध्वनौ मनसो विलयं कुर्यात्, तदाऽसौ स्वत एव साम्यावस्थायां प्रकृतौ निलीयमानो द्रष्टारं भगवन्तं परमात्मानं साक्षात्कर्तुं शक्नोति। यतः पूर्वमेवेदं सिद्धान्तितं यत् शान्ततरङ्गे जलाशये यथा सूर्यप्रतिबिम्बं सुस्पष्टं दरीदृश्यते, तथैव प्रशान्तवृत्तिसमूहे अन्तःकरणे द्रष्टा स्वयमेव प्रकाशते। अतः प्रणवसाहाय्येन अन्तःकरणवृत्तौ प्रशान्तायां योगी निर्विकल्पसमाधिमधिगच्छन् स्वस्वरूपमुपलभते। एतदेव आदिशब्दस्वरूप-ध्वन्यात्मकस्य ईश्वरवाचकस्य प्रणवस्यावलम्बनेन वाच्यरूपस्वरूपोपलब्धेर्वैज्ञानिकं रहस्यमवगन्तव्यम्। वर्णात्मकप्रणवसाहाय्येनापि परम्परया क्रमश इदमेव फलमवसीयते।

भावेन सह शब्दस्येव शब्देन साकमक्षरस्यापि सम्बन्धः। यतो ध्वन्यात्मकशब्दस्य प्रतिशब्द एव वर्णात्मकः शब्दः। उभयत्र इयानेव भेदो यत् ध्वन्यात्मकः शब्दो वागिन्द्रियातीतः, वर्णात्मकस्तु वागिन्द्रियसाहाय्येन कार्यकारितां प्रपद्यते। अतः प्रथमावस्थायां योगी वर्णात्मकप्रणवसाहाय्येन वाचनिकमुपांशुं च जपमनुतिष्ठन् प्रत्याहारभूमितो धारणाभूमौ अग्रेसरन् ततश्च मानसिकजपाधिकारमासाद्य ध्यानभूमिं समाधिभूमिं च क्रमशोऽधिगच्छन् ध्वन्यात्मकप्रणवजपस्य अधिकारमधिकुर्वन् स्वरूपोप-

लङ्घि कुरुते। प्रणवसाहाय्येन एतेऽधिकाराः स्वत एवोपलभ्यन्ते। यदि प्रणवेन साकमीश्वरस्य अनादिरविभिश्रश्च सम्बन्धः प्रमाणितस्तदानीं किल वाचकस्वरूपमोङ्कारं जपतः उत्तमावस्थामधिगत्य वाचकरूपप्रणवध्वनौ नैजान्तःकरणविलयं विदधतः साधकस्यान्तःकरणं वाच्यरूपिणमीश्वरमधिगच्छत्येव। यथा भयविमोहितस्तैलपायी कीटस्तस्य कञ्चुकिनः कीटस्य रूपं ध्यायन् अन्ते कञ्चुकी कीटो जायते, तथैव यदि जीवो भगवद्गुणस्मरणद्वारा परमेश्वरध्यानमनुतिष्ठेत्, तर्हि तस्य स्वत एव स्वाभाविकचञ्चलवृत्तीनां विनाशो भवेत्। स च भगवन्तं ध्यायन् मुक्तिमधिगच्छेत्, नात्र संशीतिलेशोऽपि।

अत एव योगाचार्यैः प्रणवत एव विविधवीजमन्त्राणां सृष्टिरुक्ता। तथा हि—

"साम्यस्थप्रकृतेर्यथैव विदितः शब्दो महानोमिति,
ब्रह्मादित्रितयात्मकस्य परमं रूपं शिवं ब्रह्मणः।
वैषम्ये प्रकृतेस्तथैव बहुधा शब्दाः श्रुताः कालतः,
ते मन्त्राः समुपासनार्थमभवन् वीजानि नाम्ना तथा॥"

"मन्त्राणां प्रणवः सेतुः।"

"माङ्गल्यं पावनं धर्म्यं सर्वकामप्रसाधनम्।
ॐकारः परमं ब्रह्म सर्वमन्त्रेषु नायकम्॥" इत्यादि।

प्रणवातिरिक्ता यावन्तो वीजमन्त्राः सन्ति, ते सर्वेऽपि वैषम्यावस्थायाः प्रकृतेर्विशेषविभागैः सह सम्बध्नन्ति, तद्भिन्नाः (वीजमन्त्रभिन्नाः) शाखापल्लवयुक्तमन्त्रा भावप्रधाना वैषम्यावस्थाप्रकृतिसमुत्पन्ना भावराज्यप्रकाशका वेद्याः। अतस्तेषु देशकालभावपरिच्छिन्नता विलोक्यते। यत्र देशकालभाव-परिच्छिन्नता, तत्र पूर्णशक्तेः सर्वव्यापकतायाश्चाभाव इत्यत्र कः सन्देहः? सेतुसाहाय्येन यथा पन्था बाधाविरहितः सरलश्च विधीयते, तथैव देशकालापरिच्छिन्नस्य परिपूर्णशक्तेर्भगवतः परमेशितुर्वाचकः पूर्णशक्तिशाली प्रणवोऽपि सर्वविधवीजमन्त्राणां शाखापल्लवयुक्तमन्त्राणां

मार्गं बाधारहितं सरलं च विदधत् तत्तच्छक्तीर्लक्ष्यस्थलं प्रापयति। अत आत्मसाक्षात्कारपरायणानामधिकारिणां कृते प्रणवसाहाय्यमतिहिताधायकमास्ते। अतः किल महर्षिसूत्रकारस्य एतत्सूत्रेणेदमेव तात्पर्यं यत् वाचकरूपप्रणवस्य जपं भगवद्गुणवर्णनं स्मरणं च कुर्वन् साधकः समाधिस्थो भवन् आत्मदर्शनं विधत्ते॥ २८॥

प्रणवसाधनाफलं निर्वक्ति—

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥ २९॥

तदानीं प्रत्यगात्मस्वरूपपुरुषस्य परिज्ञानं विघ्ननाशश्च वोभोति। अर्थात् प्रणवसाधनेन स्वचित्तवृत्तिषु समुपरतासु जीवान्तःकरणं समाधिमधिगच्छति। अन्तःकरणेऽसमाधिस्थे सति तद्गतवृत्तयो बहिर्मुख्यो विषयसम्बद्धाः स्वान्तःकरणं चञ्चलीकुर्वन्ति। चञ्चलतेयं समाधिविघ्नकारिणी। यदा च प्रणवसाधनेन चित्तवृत्तौ निरुद्धायामेकाग्रमन्तःकरणं भगवद्भावे निलीयते तदानीं स्वत एव विघ्नानां विनाशो जायते। एतदवस्थमन्तःकरणं निर्मलं वोभूयमानं प्रज्ञारूपयथार्थज्ञानोदयस्य हेतुतां प्रपद्यते। ततः परिपूर्णज्ञानमधिगच्छन् साधक आत्मसाक्षात्कारं लभमानो बन्धनाद् विमुच्यते। वक्ष्यमाणसूत्रोक्तेभ्यः समस्तान्तरायेभ्यो विनिवर्तते।

सूत्रमिदं प्रणवजपपूर्वकस्य ईश्वरप्रणिधानस्य परिपूर्णमहत्त्वप्रकाशकं निष्कण्टकपथप्रदर्शकं च। अन्यविधजपसाधनेषु विघ्नसम्भावनायास्तदीयमार्गे च विघ्नबाधासमुत्पत्तेरवसरस्तिष्ठति। किन्तु प्रणवजपपूर्वकेश्वरप्रणिधानरूपसाधनेषु नास्त्येव सम्भावना विघ्नादीनाम्। ईश्वरेण सह प्रणवस्य साक्षात्सम्बन्धः। अतः केवलप्रणवसाहाय्येनैव योगिनोऽन्तःकरणं निर्बाधं भगवच्चरणकमलयोः समुपढौकते। पूर्ववर्णिताः सविकल्पसमाधिप्रत्यूहाः समुद्बोभूयमानानां वक्ष्यमाणस्वरूपाणां वृत्तीनामन्तरायाश्च प्रणवजपकारिणो भगवद्भक्तस्य योगिनो नैव कामपि बाधां जनयितुमर्हन्ति। अतोऽत्र एतत्साधनस्य सर्वश्रेष्ठतायाः आस्तिक्यमूलतायाश्च महत्त्वं प्रतिपादितम्॥ २९॥

पूर्वसूत्रोक्ता अन्तराया वर्ण्यन्ते—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध-भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

व्याधिः, स्त्यानम्, संशयः, प्रमादः, आलस्यम्, अविरतिः, भ्रान्ति-दर्शनम्, अलब्धभूमिकत्वम्, अनवस्थितत्वं चेति चित्तविक्षेपजनका योग-विघ्ना अवगन्तव्याः। इदानीं सूत्रकृन्महर्षिः अन्तःकरणविक्षेपकरान् योगसम्बद्धान् अन्तरायान् वर्णयति। इमे हि अन्तःकरणस्य योगयुक्तताया बाधकाः सन्ति। एत एव साधकस्य योगावस्थाधिगमे विघ्नकारिणः सन्ति। शरीरान्तःकरणयोरन्योन्यम् अविमिश्रसम्बन्ध इति तु स्पष्टमेव।

संसारेऽत्र प्रत्येकस्यापि मौलिकपदार्थस्य त्रयः सप्त च भेदाः सन्ति। प्रकृतिराज्यस्य सूक्ष्मभावेषु सत्त्वं रजस्तम इति त्रयो गुणाः सप्त व्याहृ-तयश्चेत्यादयः सप्त विभागाः। तथैव पिण्डरूपे जीवशरीरे वात-पित्त-कफा-त्मिका त्रिविधा प्रकृतिः, रस-रक्त-मांसास्थि-मज्जादयः सप्त धातवश्च समा-म्नाताः। यावच्च त्रिविधप्रकृतिसाम्यम्, धातुषु च विकाराभावस्तावत् किल पिण्डरूप-जीवशरीरं स्वस्थमनुभूयते। नैव तत्र कोऽपि रोगो विकारो वा समुत्पद्यते। किन्तु तेषु वैषम्ये समुपस्थिते विकृतिरामयाश्च समुद्-बोभूयन्ते। एतन्नामैव व्याधिरिति।

अन्तःकरणवृत्तयो यदा तामसिककर्माभिमुखिन्यो भवेयुः, तामसिक-कार्याण्येव कुर्युः, अन्यथा कर्मरहितप्रवृत्तीः प्रदर्शयेयुः, तदानीमन्तःकरण-स्यैतत् तामसिकवृत्तिनाम स्त्यानमिति। जीवमात्रस्य स्वाभाविकी गतिः सत्त्वगुणाभिमुखी दृश्यते। अत एव जीव उद्भिज्जात् स्वेदजम्, ततश्च अण्डजम्, ततोऽपि च जरायुजं शरीरमुपढौकमानः क्रमशः सत्त्वानुगामी भवन् सत्त्वगुणाधिकारस्थानभूतां मानवयोनिं प्रपद्यते। मनुष्ययोनौ च क्रमशः सत्त्वगुणमभिवर्धयन् सत्त्वगुणपरिपूर्णावस्थायां मुक्तिपदमधिगच्छति। सुतरां मनुष्येषु तमोगुणवृद्धिः पतनहेतुः। अतस्तमोगुणवर्धकं स्त्यानं किल योगान्तराय इत्यत्र नास्ति सन्देहलेशः।

द्वयोरपि पदार्थयोरेकत्रापि निश्चयबुद्धेरभावः सन्देह इत्युच्यते। अर्थात् पदार्थद्वये विचार्यमाणे भ्रमग्रहग्रस्ता बुद्धिः कदाप्येकं कदाचित् अपरं च सत्यत्वेन स्वीकरोति। तदा तादृशचलायमाना वृत्तिरेव संशय-शब्देन उच्यते।

समाधिपूर्णावस्थामधिगन्तुं साधकसमाधिस्थतासम्पादका ये ह्युपाया वर्णितास्तेषु अन्तःकरणस्थैर्याभावः किल प्रमाद उच्यते। पूर्वं किल महर्षिणा सूत्रकारेण योगयुक्तताया: श्रद्धैव प्रथमावलम्बनभूता प्रोक्ता। तादृशश्रद्धाविरोधिनी, यौगिकक्रियासु अन्तःकरणस्थैर्यसम्पादिकायाः श्रद्धाया विरोधिनी अन्तःकरणदृढताविघातकवृत्तिः किल प्रमादशब्देन आख्यायते।

तमोगुणे प्रवर्धमाने शरीरमनसोः कार्यकर्तृताभावः आलस्यमिति। तामसिकगुरुतयाऽन्तःकरणे शरीरे च जडता समुत्पद्यते। स्फूर्तिहीनमन्तः-करणं शरीरं च परिश्रमतो विरमतः। अन्तःकरणशरीरयोः एतादृगवस्थैव आलस्यशब्देन समाम्नायते।

यदा चान्तःकरणं तन्मात्रेन्द्रियसाहाय्येन कुत्रापि विषये संलग्नं तञ्च विषयं स्वस्मिन् आरोपयत् आत्मना संयुनक्ति, तर्हि अवस्थेयम् अविरति-रित्युच्यते। आत्मा किल अविद्यया हेतुभूतया स्वकीयान्तःकरणतो-ऽभिन्नमात्मानमभिमन्यते। अन्तःकरणस्य स्वाभाविक्यो वृत्तयो या विषयैः सह सङ्गत्य स्वं स्वरूपं विषयाभिन्नम् आमनन्त्यः आत्मानं मोहयन्ति प्रलोभयन्ति वा, ता एव अविरतिशब्दवाच्या अवधेयाः।

शुक्तौ रजतावबोधः छायादिषु च प्रेतबुद्धिः, इत्यादिकं विपरीतज्ञानमेव भ्रान्तिः।

समाधिपूर्णावस्थामुपढौकमानम् अन्तःकरणं समाधिपूर्णावस्थातः प्रागेव कुत्र चिन्मध्ये संसक्तं सत् स्वकीयनिर्मलत्वसाहाय्येन आत्माभाससख-मेव स्वात्मस्वरूपयथार्थसुखमभिमन्य मौनमानन्दाभास एव निमज्जति, यथा जडसमाधौ साधकेनानुभूयते। तादृशकैवल्यविघ्नदायिनी दशैव अलब्धभूमिकत्वशब्दवाच्या।

साधकान्तःकरणं यदा किल यौगिकपरिपूर्णभूमिस्वरूपाऽसम्प्रज्ञात-समाधिदशासीमसान्निध्यमासादयत्, तत्र च स्थैर्यमलभमानं निम्नभूमा-वतरति, अर्थात् अन्तःकरणदृढताऽसद्भावात् योगप्रधानलक्ष्यभूतस्य असम्प्रज्ञातापरनामकस्य निर्विकल्पसमाधेः सीमानमासादयदपि न तत्र स्थैर्यमासादयति, साधकस्य दौर्बल्यमेतत् अनवस्थितत्वमाख्यायते।

सूत्रोक्ता नवाऽपि विषया अन्तःकरणविक्षेपकराः। समाधिगतिविरो-धित्वादन्तःकरणं प्रकृतेराभिमुख्यं प्राप्नोति। तेन च साधकः योगप्रधानलक्ष्य-भूतकैवल्यपदमधिगन्तुं नार्हति। इमे नव योगान्तराया वेद्या इति॥ ३०॥

इदानीमन्यविधाः योगप्रत्यूहा निरुच्यन्ते—

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः॥ ३१॥

दुःखम्, दौर्मनस्यम्, अङ्गमेजयत्वम्, श्वासः, प्रश्वासश्चेति पञ्च चित्तविक्षेपेण सहैवोत्पद्यन्ते। पूर्वसूत्रे योगविघ्नानां केषामपि वर्णनमनु-ष्ठाय महर्षिः सूत्रकृत् अन्यविधानां योगविघ्नजनकानां वर्णनमुपक्रमते। पूर्वोक्ता अन्तराया विक्षेपकारिणः सन्ति, एतत्सूत्रोक्तास्तु विक्षेपसहायका मन्यन्ते। उभयेऽपि योगान्तरायभूताः समाम्नाताः। परन्तु पूर्वापर-सम्बन्धविचारेण विक्षेपाः पूर्वमुपवर्णिताः, तत्सहायकास्तु परस्तान्निरूप्यन्ते।

आध्यात्मिकम्, आधिदैविकम्, आधिभौतिकं चेति दुःखं त्रिविधम्। अन्तःकरणशरीरसम्बन्धनिबन्धनमाध्यात्मिकम्। दैवात् सहसैव महामारी-वज्रपातादिसमुत्पन्नमाधिदैविकम्। कुटिलमानव-हिंस्रकजन्तुप्रभृतिजीव-समुत्थं चाधिभौतिकमाख्यायते। वासनाया अपूर्णतया समीहाभङ्गतो मनःशरीरयोरवसादरूपः समुदीयमानः क्षोभः किल दौर्मनस्यमाख्यायते। भयप्रभृतिवृत्तिवशीभूतत्वेन मनःशरीरतदङ्गेषु कम्पनम् अङ्गमेजयत्वमभि-धीयते। यो हि प्राणवायुर्बहिःस्थितं वायुमभ्यन्तरमाकर्षति, स श्वासः। यश्च अभ्यन्तरस्थं बहिर्विकर्षति, स प्रश्वासो नाम।

दुःखत्रयम्, दौर्मनस्यम्, अङ्गमेजयत्वं चेति त्रितयम् आन्तःकरणिक-विक्षेपसहायकम्। अन्तःकरणस्य चञ्चलतया श्वास-प्रश्वासगतिर्वर्धते,

स्थैर्यमापन्ने चान्तःकरणे तयोर्गतिः स्थिरतामभ्युपैति। अत एतत्सूत्रोक्ताः पञ्चापि वृत्तयः अन्तःकरणविक्षेपसहायकाः समुदीरिताः। ईश्वरप्रणिधानेन साधनस्वरूपे प्रणवजपाभ्यासेन चैतत्सूत्रोक्तान् पञ्चापि विक्षेपवृत्तिसहायकान् अवरुद्ध्य स्वान्तःकरणपरिशोधनं साधकेन नूनमेव समनुष्ठेयमिति ॥ ३१ ॥

अन्तरायनिरसनोपाया निर्दिश्यन्ते—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

तेषां विक्षेपकरयोगविघ्नानां प्रतिषेधार्थं निवृत्तये चैकतत्त्वस्याभ्यासः समुचितः। चित्तवृत्तीर्निरुद्ध्य योगसाधनेन कैवल्याधिगमस्य अभ्यासवैराग्ये प्रधानसाधनभूते समुपवर्ण्य पूज्यपादेन महर्षिणा सूत्रकारेण तद्भिन्नमीश्वरप्रणिधानमप्येकं साधनमुपवर्णितम्।

वस्तुतो वैराग्यसहिताष्टाङ्गयोगाभ्यासः कैवल्यावाप्तेर्विशिष्टं साधनम्, किन्तु प्रणवजपाद्यङ्गसंवलितमीश्वरप्रणिधानमपि कैवल्यप्राप्तेरुपायान्तरमास्ते। अभ्यासवैराग्याभ्यामीश्वरप्रणिधानेन च कैवल्यं सिद्ध्यतीति पूर्वोक्तसूत्रे सिद्धान्तितम्। कैवल्यभूमावग्रेसर्तुम् उदीयमाना अन्तरायाः प्रधानतः प्रणवजपेन अपास्तुं शक्यन्ते। किन्तु तद्भिन्नैकतत्त्वाभ्यासेनापि विघ्ना निवर्तन्ते इति एतत्सूत्रतात्पर्यमवधेयम्। उभयोरियानेव भेदो यत् प्रणवजप आस्तिकोपायः, किन्तु वक्ष्यमाणस्वरूपैकतत्त्वाभ्यासादयो न तथेश्वरसम्बन्धनिबन्धना उपाया इति व्याहर्तुं शक्यते। एकतत्त्वाभ्यासेन अन्तःकरणविक्षेपकारिण्यो निखिला अपि बाधाः प्रशाम्यन्ति। एकतत्त्वं किमिति प्रश्नेऽन्तःकरणैकाग्र्यमेव तदित्यवधारय।

सन्दिह्यतेऽत्र, तथा हि—विविधविषयेषु बम्भ्रम्यमाणमन्तःकरणमवलोक्य अनुभूयत इदं यत् बहुविधविषयेषु भ्रमणमेव तदीयो गुणः। अतस्तस्य ज्ञाताज्ञातविषयेषु स्थैर्यमसम्भवम्। नानाविषयग्राहिणोऽन्तःकरणस्य प्रवाहः क्षणिक एव। क्षणिके वस्तुन्येकाग्रता कुतः सम्भवेदिति ?

उत्तीर्यते—प्रत्यक्षमिदमनुभूयते यद् रजोगुणेन अन्तःकरणं कार्यकारि। तच्च नियमितरूपेण कार्यासक्तं चेन्नैव तत्र क्षणिकत्वम्। साधनेन बहुकालपर्यन्तमपि तदेकाग्रं स्थाप्यते। तदानीं तद् एकस्मिन्नेव पदार्थे स्थिरीभवति, तद्विहाय नान्यत्र कुत्रापि गच्छति। एतेन सिद्धमिदं यत् बहुषु विषयेषु परिभ्रमस्तदीयः स्वाभाविको गुणो नास्ति। अन्यथा तस्यैकाग्रतास्थापनं नैव भवितुमर्हति। अर्हति चेत्तर्हि तदीयैकाग्र्यदशा तदर्थं क्लेशहेतुः सम्भवेत्। प्रत्यक्षे प्रमाणे नास्ति सन्देहसद्भावना। अतः सुसिद्धान्तितमिदं यदन्तःकरणमेकाग्रं भवितुमर्हति। तदेकाग्रतयैव एकतत्त्वाधिगतिः। "मम शरीरं समीचीनम्" इत्युच्यमाने शरीरद्रष्टा कोऽपि स्वतन्त्रपदार्थः सिद्ध्यति। स हि स्वतन्त्रपदार्थः अन्तःकरणमेव। तदेव शरीरसमीचीनतामनुभवति। "ममान्तःकरणं प्रसन्नमि"त्यभिधीयमाने पुरुषोऽसौ अहंपदवाच्यः अन्तःकरणतो भिन्नं स्वस्वरूपं मन्यमानो 'ममान्तःकरण'मित्यनुभवन् अन्तःकरणभिन्नः स्वतन्त्रः सिद्धयति।

विवेचनयाऽनया इदं सिद्धयति यत् अहंपदवाच्यः पुरुषोऽन्तःकरणं चेति द्वयोरेव सत्ता विद्यते इति। द्वयोरपि परस्परं सन्निकटः सम्बन्धः। यदा चान्तःकरणं पुरुषतो विमुखीभवद् विषयानुधावति, तदानीं बहुरूपतां प्रपद्यते। अन्तःकरणस्य दशेयं स्वाभाविकी। अर्थात् बहुरूपेणावभासमानमन्तःकरणमाख्यायते। यदा च तदेकाग्रतास्थापनपूर्वकं पूर्णरूपेण एकाग्रं वोभवीति, तर्हि तदेव एकतत्त्वमभिधीयते। अर्थात् स्वीयबहिर्मुखदशातः परिवर्तमानं स्वकीयविषयवतीरनन्तधाराः संनिरुध्य आत्मनोऽभिमुखमेकधारया सम्मुखीनं भवेत्, तर्हि सेयमन्तःकरणावस्था एकतत्त्वशब्देन समाम्नाता। बहिर्मुखीनमन्तःकरणं विविधविषयावलम्बनेन नानात्वं प्रतिपद्यते। किन्तु यदा तत् विषयेभ्यो विमुखीभवत् आत्मराज्याभिमुखमग्रेसरति तदाऽद्वैतधाराकारतां भजदेकतत्त्वदशामधिगच्छति। परिशुद्धान्तःकरणदशेयमेकतत्त्वशब्देन आख्यायते। तामेतामेकतत्त्वदशामधिगत्य अन्तःकरणं पूर्वोक्तविक्षेपान् परिहृत्यैकाग्रं सत् परमानन्दमधिगच्छति॥ ३२॥

एकतत्त्वप्राप्तिसहायकसाधनेषु प्रथममुपवर्ण्यते—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥ ३३ ॥

सुखवत्सु प्रीतिम्, दुःखवत्सु दयाम्, पुण्यात्मभिर्मैत्रीम्; पापीयोभिरुदासीनतामुपेक्षामिति यावत्, क्रियमाणानामन्तःकरणं प्रसीदति। पूर्वोक्ते सूत्रे महर्षिणा सूत्रकृता एकतत्त्वाभ्यासमुपवर्ण्य साम्प्रतमेकतत्त्वप्राप्तिसहायकवृत्तयो वर्ण्यन्ते।

क्लिष्टाक्लिष्टवृत्तयः तमःसत्त्वशीला अज्ञानज्ञानप्रकाशनपराः क्लेशानन्ददायिन्य इति तु पूर्वमेव निर्णीतम्। सुखिनं मानवमवलोक्य तमोगुणवत्सु ईर्ष्यारूपा क्लिष्टवृत्तिरुदेति। परन्तु यदि सुखशालिनं प्रति मनुतनुजनुष्षु अभ्याससाधनेनान्तःकरणे प्रीतिः सञ्चरेत्, तदा तदन्तःकरणं विचलितं भवितुं नार्हति। एवं हि सुखिनं मानवं दृष्ट्वा साधकहृदये निष्ठुरतारूपक्लिष्टवृत्तिविनाशपूर्वकं दयोद्रेकः, पुण्यशालिनमवलोक्य दम्भेर्ष्याप्रभृतिक्लिष्टवृत्तिहानपुरस्सरं मैत्री समुदयेत्, पापीयसो विलोक्य तत्पापकर्मानुमोदनं वर्जयित्वा विरोधं परित्यज्य च मानवान्तःकरणमुदासीनतामुपेक्षां च भजेत्। अर्थात् साधको ह्येवं विचारयेत् यत् 'स्वस्वकर्म अनुसृत्य जीवस्य गतिः, गुणमनुसृत्य कर्म समुदयति, यः किल यदिच्छेत् तत्कुर्यात्, ममात्र हस्तक्षेपोऽनुचितः' इति। विचार्यैवं यदि स पापनिन्दामकुर्वाणो द्वेषं च परित्यजन् पापीयोभ्य उदासीनतामवलम्बेत, तदा तदन्तःकरणं विचलितं न भवितुमर्हति, प्रसीदति, एकतत्त्वदशाभिमुखमग्रे सरति च। सुतराम्, एतत्सूत्रतात्पर्यमिदं यत् सुखिषु प्रीत्या, दुःखिषु दयया, पुण्यात्मसु मैत्र्या, पापिषु उदासीनतया अन्तःकरणमविचलितं सत् शनैः शनैरेकाग्रतां भजत् एकतत्त्वस्वरूपपरमात्मभावं प्रपद्यमानं कैवल्यभूमावग्रेसरति ॥ ३३ ॥

द्वितीयं साधनमाचष्टे—

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥

किं वा प्राणस्य वायोः प्रच्छर्दन-विधारणक्रियाभ्यामपि एकतत्त्वमधिगम्यते। सूत्रेणैतेन सूत्रकृता महर्षिणा एकतत्त्वाधिगतेर्द्वितीय उपाय उपवर्ण्यते।

आभ्यन्तस्य वायोर्नासिकया वहिर्गतिः प्रच्छर्दनमुच्यते। वायोर्धारणं हि विधारणमाख्यायते। एवं किल प्राणवायो रेचनविधारणाभ्यासेन एकाग्रमन्तःकरणं विदधता साधकेन एकतत्त्वमधिगम्यते।

मनो वायुर्वीर्यं चेति त्रितयमेक एव पदार्थः। मनः कारणम्, वायुः सूक्ष्मरूपः, वीर्यं च स्थूलम्। त्रिषु अपि एकं वशीकुर्वतः साधकस्य त्रयोऽप्येते वशतामुपयान्ति। अत एतत्प्रमाणितं यत् साधनेन वशीभूते प्राणवायौ मनः (अन्तःकरणम्) एकतत्त्वम् अधिगच्छति। नासापुटतो गच्छन्नागच्छन् यो हि प्राणवायुः, स कार्यस्वरूपः, प्राणशक्तिश्च कारणरूपा, प्राणचाञ्चल्यहेतुका शरीररक्षाकार्यफलस्वरूपा प्राणवायु-गतागतपद्धतिरेव श्वास-प्रश्वासशब्दवाच्या। स्थूलो वायुः कार्यरूपः, प्राणशक्तिश्च कारणस्वरूपेति प्रागपि निर्णीतम्। यया शक्त्या स्थूलयोः श्वास-प्रश्वासयोः समता समुदीयते, तथैव प्राणशक्तिरपि स्थैर्यमवाप्नोति। कार्यकारणसम्बन्धनिबन्धनत्वात् प्राणशक्तौ स्थिरतामभ्युपेतायां स्थिरीभूतेनान्तःकरणेन एकतत्त्वमधिगम्यते।

स्थूलप्राणवायु-चञ्चलतानिरोधस्य को ह्युपाय इति विचारणीयम्। यावद्धि प्राणवायोर्गमागमरूपा श्वासप्रश्वासप्रक्रिया तिष्ठति, तावत् किल प्राणशक्तेर्मनसश्च चाञ्चल्यमवश्यम्भावि। प्राणवायुनिरोधोपायस्त्रिविधः समाख्यातः—वहिर्गच्छतः प्राणवायोर्निरोधः प्रथमः। अभ्यन्तरं प्रविशतः प्राणवायोर्निरोधो द्वितीयः। केनाप्यन्यकारणविशेषेण श्वास-प्रश्वासस्वाभाविकक्रियायां भेदे समुपस्थिते प्राणवायोर्निरोधस्तृतीय उपायः। सुतरां यदा प्राणवायुरभ्यन्तरतो वहिर्निर्गच्छति, तत्कालसन्धिकृतः प्राणनिरोधः प्रथमः। बाह्यवायोराभ्यन्तराकर्षणक्रियाया यदा समाप्तिः, तत्समय सन्धिकृतः प्राणानिरोधो द्वितीयः। सुषुम्नोदयकाले

स्वभावत एव ईषत्कालकृते श्वासप्रश्वासगतिर्यदा शिथिलायते, तदानीं समनुष्ठीयमानस्तृतीय उपायोऽवगन्तव्यः । विचारशालिभिरिदमनुभूयते यत् यदा इडातः पिङ्गलायां पिङ्गलातश्च इडायाम्, अर्थात् वामनासिकातो दक्षिणनासिकायाम्, दक्षिणनासिकातश्च वामनासिकायाम्, प्राणवायु-सञ्चारसन्धौ उपस्थिते श्वासप्रश्वासगतेः स्वाभाविकोऽवरोधः सम्पद्यते ।

निष्कर्षोऽयं यत् श्वासस्य बहिर्गमनकालिके सन्धौ, तस्य चाभ्यन्तर-प्रवेशकालसन्धौ च स्वमनसः स्थिरीकरणेन साधकान्तःकरणे एकतत्त्वं समुदेति । किन्तु सुषुम्नोदयकाले स्वभावत एव एकतत्त्वमुदयति । तिसृष्वपि उक्तदशासु सुषुम्नादशायामेकतत्त्वाभ्यासो नितरां सुगम इति योगाचार्यैः समाम्नातम् । सुषुम्नायामेकतत्त्वाभ्यासः सर्वोत्तम उपायः । प्राणवायौ बहिर्गते सति साध्यमानप्राणवायुनिरोधो मध्यमोपायः, आभ्यन्तर-प्रविष्टे च प्राणवायौ तन्निरोधप्रकारोऽधम उपायो निर्णीतः । सुतरां त्रिष्वप्युपायेषु एकमप्युपायमवलम्ब्य पुरुषार्थमात्ररतेन साधकेन एकतत्त्व-मधिगन्तुं शक्यते ॥ ३४ ॥

तृतीयं साधनमुदीरयति—

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी ॥ ३५ ॥

अथवा समुत्पन्नायां विषयवत्यां प्रवृत्त्याम् अन्तःकरणस्यावस्थित्याऽपि एकतत्त्वाधिगतिर्भवितुमर्हति । पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाः पञ्च भूतानि । तद्विषयाश्च गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्दाः । स्थूलतः सूक्ष्माभिमुखभाने तु मुक्त-पञ्चभूतानां स्वाभाविकदिव्यदेशेषु चैकत्र अन्तःकरणसंस्थापनेनापि एक-तत्त्वाधिगमः सम्भवति । नासिकाग्रभागस्वाभाविकदिव्यगन्धे, रसनाग्रदेशे रसस्वरूपविषये चान्तःकरणसंस्थापने न शनैः शनैरेकतत्त्वलाभः सम्पद्यते ।

यद्यप्यन्तःकरणस्थिरतायै प्रोक्ताः समग्रा अपि क्रियाकलापाः स्वाभा-विकाः, तथापि तादृशक्रियासाधने शास्त्रगुरूपदेशयोरत्यावश्यकत्वम् । यतो हि अप्रत्यक्षं देशमुपलब्धुं प्रत्यक्षसाधनप्रवृत्तिदार्ढ्यं नैव तावत् कदापि

भवितुमर्हति, यावत् तन्निश्चयकारकः कश्चित् प्रत्यक्षोपदेशको वा गुरुर्नासाद्यते। दृढतैव फलप्राप्तेः एकमात्रोपायः। अत उपदेशकाद् ऋते यदि दृढता न सम्भवेत्, तर्हि उपदेष्टारमन्तरेण साधने साफल्यमपि असम्भवमेव मन्तव्यम्।

सूत्रेऽत्र यद्विषयेषु मनःस्थिरीकरणोपायाः उपवर्णिताः, तद्विवेकतयैव विविधसाधनमार्गेषु बहुविधाः क्रियाकलापा विहिताः। एतस्य सूत्रस्याशयोऽयमेव यद् अन्तःकरणं स्थूलतः सूक्ष्मतायामानीय तन्मात्ररूपस्य कस्य चिदेकभूतस्य कुत्र चिद् विषयेऽन्तःकरणलयाभ्यासतः शनैः शनैः एकतत्त्वमधिगन्तुं शक्यते। तेन च साधकः क्रमशः परमकल्याणपदं प्राप्तुमर्हति। एतद्विज्ञानतात्पर्यमिदमेव यत् जीवो यैः कारणकलापैर्विषयविमुग्धो विषयवत् प्रतीयते, ते यदि न स्युस्तदानीमन्तःकरणं स्वकीयां स्वाभाविकीं दशां प्रपद्यमानमेकतत्त्वाधीनतां भजत्येव।

विज्ञानमिदं सुस्पष्टं बोधयितुं जीवस्य विषयपाशपतनप्रकारो विवेचनीयः। तथा हि—कश्चित् पुमान् यदि स्त्रीरूपविषये निमग्नस्तदानीं तदन्तःकरणं रूपतन्मात्रासाहाय्येन दर्शनेन्द्रियान्तर्गतं भवत् स्त्रीरूपे विषये तदाकारितां प्रपद्यते। तस्मिन् काले स्त्रीरूपविषयः चक्षुर्गोलकसाहाय्येन रूपतन्मात्रया निजभावभावितमन्तःकरणं विधत्ते। विषयिणो विषयवत्प्रतीतेरियं साधारणी रीतिः। परन्तु यदि युक्तो योगी गुरुकृपया एतद्विज्ञानरहस्यमवगत्य नैजमन्तःकरणं विषयमगमयित्वा केवलमिन्द्रियाणां शुद्धविषयवत्प्रवृत्तावेव संस्थाप्य विषयदर्शनशून्यं विदध्यात्, तर्हि तस्य योगिनोऽन्तःकरणमन्तर्मुखतां प्राप्नुवद् आत्मनि एकतानतामधिगच्छद् एकतत्त्वाधिकारं लब्धुं शक्नुयात्॥ ३५॥

चतुर्थं साधनमुच्यते—

विशोका वा ज्योतिष्मती॥ ३६॥

किं वा विशोका शोकरहिता, ज्योतिष्मती ज्योतिःशीलिनी प्रवृत्तिरेकतत्त्वसाधिका। अर्थात् शोकरहिते प्रकाशे युक्ततया एकतत्त्वमधिगम्यते।

अन्तःकरणं ज्ञानरूपशुद्धसत्त्वगुणे यदा स्थिरतामापद्यते, अर्थात् यदा गुरूपदेशद्वारेण तस्य निश्चयात्मकज्ञानप्रकाशरूपज्योतिषो दर्शनं साधकेन क्रियते, यस्य स्वरूपं शास्त्रेषु सूर्य-चन्द्र-मणिसमानं निरूपितम्, तदाऽपि एकतत्त्वं प्राप्यते। अर्थात् तस्य शोकरहितस्य परमानन्दकरस्य ज्योतिषो दर्शनं कुर्वता साधकेन यदा तत्रैव ज्योतिषि निजान्तःकरणविलयो विधीयेत, तदाऽप्येकतत्त्वाधिगतिः सम्भवेत्।

शास्त्रेषु तज्ज्योतिषो वर्णनमेतादृशमपि लभ्यते। तथा हि—ज्योतिर्मयं हि साम्यावस्थाप्रकृतिस्वरूपम्। वेदसिद्ध-गायत्रीमन्त्रे यद् ध्यानमुपवर्णितं तन् किल तस्या एव ज्योतिर्मय्या महाविद्यारूपिण्याः प्रकृतेः स्वरूपम्। यत्र सदैव सत्त्वरजस्तमसां त्रिगुणानां तरङ्गाः समुदीयमानास्तिष्ठन्ति, तद्धि वैषम्यावस्थायाः प्रकृतेः स्वरूपम्। साम्यावस्थायां प्रकृतौ तु त्रिगुणवीचयः शुद्धे सत्त्वगुणे विलीयन्ते। यत्र त्रिगुणवीचीनामत्यन्ताभावः स्यात्, केवलं प्रकाशरूपः सत्त्वगुण एव भासेत, सैव दशा साम्यावस्थायाः प्रकृतेर्विज्ञेया। सैव 'विद्या'शब्देन 'शोकरहित-प्रकाशावस्था'-शब्देन 'ज्ञानयुक्तावस्था'ख्यया वा प्रणिगद्यते। एतदवस्थाभिमुखमन्तःकरणं यथा यथा प्रवर्धते, तथा तथैव तत्र शुद्धसत्त्वगुणप्रकाशोऽत्यधिकं भासते।

एतत्सूत्रतात्पर्यमिदमेव यत् ज्योतिषि परिदृश्यमाने तत्रैवान्तःकरणमेकाग्रं कुर्वता साधकेन शनैः शनैरेकतत्त्वमधिगन्तुं शक्यते। ज्योतिर्ब्रह्म, महामायालिङ्गितं सगुणं ब्रह्म, परमात्मनो विद्यारूपिणी परा प्रकृतिर्वा वेदोक्तगायत्रीमन्त्रे 'भर्ग'शब्देनाभिधीयते। ब्रह्मप्रकृतेर्द्विविधो भेदः—तदीयं तमोमयं स्वरूपं धारयन्ती अविद्या, शुद्धं च सत्त्वमयं स्वरूपं बिभ्रती विद्या समाम्नाता। अज्ञानरूपया अविद्यया नानारूपं जगत्परिदृश्यते, शुद्धसत्त्वगुणमय्याश्च प्रकृतेः साम्यावस्थायाः विद्याशब्दवाच्यायाः साहाय्येन साधकः अद्वितीयात्मस्वरूपाभिमुखमुपढौकते। यद्यपि विद्यायाः स्वरूपं ज्ञानमयमेव, परन्तु शोकरहिता ज्योतिष्मती प्रकृतिस्तस्या एव सत्त्वगुणमय्याया विद्यायाः स्थूलं स्वरूपम्। योगिनोऽन्तःकरणं यदा साधनद्वारा

तमो रजश्चातिक्रामति, शुद्धे सत्त्वगुणे च स्थितिं लभते तदैव तत्र ज्योतिष्मत्याः प्रकाशः समुपलभ्यते।

प्रथमावस्थायां योगिनोऽन्तःकरणे प्रकाशोऽयं कदा कदाऽपि सहसैव प्राकट्यमभ्युपैति। तं च प्रकाशं शनैः शनैरभ्यासद्वारेण योगी यावदधिकं स्थितिशीलं विदधाति, तावदधिकाधिकमसौ ज्योतिर्मयबिन्दुरूपेण स्थायित्वं प्रपद्यते। एवमन्ते तत्प्रकाशसाहाय्येन साधको योगी समाधिप्राप्ति-हेतुभूतमेकतत्त्वमधिगन्तुं सामर्थ्यं लभते॥ ३६॥

पञ्चमं साधनमुदीर्यते—

वीतरागविषयं वा चित्तम्॥ ३७॥

वीता अतीताः, रागविषया यतस्तादृशं चित्तमवलम्ब्यापि एकतत्त्वाधिगम इत्यर्थः। वासनयैव रजस्तमसोरुत्पत्तिः। वीतरागे वैराग्ययुक्ते चान्तःकरणे केवलं सत्त्वमेवाभिवर्धते। परमपवित्रायामत्र भारतावनौ कालत्रयेऽपि वीतरागमहात्मनामभावो न जायते। पूर्वस्मिन् काले सनक-सनन्दनादयो देवर्षयः, वेदव्यास-शुकादयो ब्रह्मर्षयः, जनकप्रभृतयो राजर्षयश्च संख्यातीताः समुपलभ्यन्ते किल निदर्शनस्वरूपाः। इमे किल भविष्यतां मुमुक्षूणां कृते स्वीयं सुन्दरं चरित्रं दृष्टान्तस्वरूपेण उदाजह्रुः। तेषामेव महात्मनां विषयरागरहितान्तःकरणे स्वान्तःकरणस्थापनेन नैजमन्तःकरणमपि क्रमशो विषयवैराग्यसंयुक्तं भवदन्ते ह्येकाग्रतां प्रापद् एकतत्त्वमधिकरोति।

यद्वा एतदप्यभिधातुं शक्यते यत् साधको योगी यदा क्रमशो विषयरागरहितदशामधिगच्छन् परिपूर्णवैराग्यभूमौ अवतिष्ठते, तदाऽप्यसौ एकतत्त्वमधिगन्तुं शक्नोति। मानवान्तःकरणं वृत्तीनामिन्द्रियाणां च साहाय्येन विषयस्वरूपं दधद् विषयेषु पापत्यते। इयमेव समाधिविघ्नावस्था। वैराग्यपरिपूर्णावस्थायां विषया नैव योगिनोऽन्तःकरणमात्मसात्कर्तुं प्रभवन्ति। एतादृशविषयरागरहितदशायां विषयेभ्यो विनिवर्तमानस्य योगिनोऽन्तःकरणगतिः स्वभावत एवात्मनोऽभिमुखं प्रवहति।

अन्तःकरणस्य द्वे गती समाम्नाते—एका वृत्तीर्द्वारीकृत्य विषयाभिमुखं धावन्ती, द्वितीया च वृत्तीः परित्यज्य आत्मनोऽभिमुखं प्रवर्तमानेति। यदा वैराग्यप्राप्तिद्वारा विषयवती गतिर्विनश्यति, तदानीं स्वत एवात्माभिमुखगतिरधिगम्यते। ततश्चासौ योगी एकतत्त्वप्राप्तेरधिकारं लभते।

निष्कर्षोऽयं यद् योगी साधकः प्रथितवीतराग-महापुरुषान्तःकरण-संयमेन स्वीयमन्तःकरणं वैराग्यस्योच्चदशां प्रापयेत्, किं वा वैराग्याभ्यासेन स्वयमेव वीतरागो भवेत्, प्रकारद्वयेनाऽप्यसौ एकतत्त्वाधिकारमधिकरोत्यत्र नास्ति सन्देहलेशोऽपीति॥ ३७॥

षष्ठं साधनमुच्यते—

स्वप्ननिद्राज्ञानावलम्बनं वा॥ ३८॥

स्वप्ननिद्रयोर्मध्यस्थं यज्ज्ञानं तस्यावलम्बनेन तत्रान्तःकरणविलयेनेति यावत्, एकतत्त्वमधिगम्यते। यत्रान्तःकरणं तमोगुणमाश्रयद् बहिर्ज्ञानराहित्यं भजदपि किमप्यनुतिष्ठति, सैव स्वप्नावस्था। निद्रावस्थायां त्वन्तःकरणं प्रसुप्तं न किञ्चिदपि विधातुं पारयति। उभयोरपि स्वप्ननिद्रयोः सविस्तरवर्णनं प्रागनुष्ठितम्। जाग्रद्दशायां मानवा इन्द्रियाणां साहाय्येन विषयानवलम्बमानाः सन्तिष्ठन्ते। स्वप्नावस्थायां तु स्थूलविषया लयमुपयान्ति, किन्तु मनःकल्पिता विषयास्तिष्ठन्त्येव। सुषुप्तिनामकनिद्रावस्थायां किल स्थूला मनःकल्पिताश्चापि विषया विलीयन्ते। अतः स्वभावत एव जाग्रत्-स्वप्नसन्धौ स्वप्न-सुषुप्तिसन्धौ च योगिना साधकेन विषयविरहितस्य आत्मोन्मुखस्य अन्तःकरणस्य गतिमासादयितुमवसरो लभ्यते। जाग्रद्दशातः स्वप्नावस्थाग्रहणकाले, स्वप्नावस्थातश्च निद्रादशासादनसमये च उभयोरेव मध्यावस्थायामन्तःकरणं शून्यतामापद्यमानं तिष्ठति।

एतदनुभवितुमिदमपि अभिधातुं शक्यते यत् स्वप्न-जाग्रद्दशान्तर्वर्तिनी यथा तन्द्रावस्था भवति, तथैव स्वप्न-सुषुप्तिसन्धिदशायां सावधानतया तत्रैव ज्ञानयुक्तशून्यावस्थायां निजान्तःकरणविलयेन एकतत्त्वमासाद्यते। सूत्रस्यैतस्य तात्पर्यमिदमेव यत् बाह्यज्ञानरहितायां परमन्तर्ज्ञानसहितायां

स्वप्नावस्थायां, किं वा निद्रायाः शून्यावस्थायां चान्तःकरणविलयेन शनैः शनैरन्तःकरणम् एकतत्त्वपदमधिगन्तुमर्हति ॥ ३८ ॥

सप्तमं साधनमुच्यते—

यथाभिमतध्यानाद् वा ॥ ३९ ॥

इच्छानुकूले कुत्र चिदेकस्मिन् रूपेऽन्तःकरणलयेन एकतत्त्वमधिगम्यते। पूर्वोक्तसूत्रैरेकतत्त्वाधिगतेः बहुविधसाधनवर्णनमनुष्ठाय साम्प्रतं सार्वभौमस्वरूपं साधारणं साधनमेकतत्त्वमधिगन्तुमुपवर्ण्यते। स्वतन्त्रप्रकृतयः किल जीवा भवन्ति। अत एकविधं साधनं न सर्वहिताधायकम्। तस्मादेव सूत्रकारेण महर्षिणा विचारदृष्ट्या सप्तममिदं साधनं समुपवर्णितम्।

साधकानां प्रकृति-प्रवृत्ति-रुचीरनुसृत्य श्रीगुरुदेवो यस्य यादृशं साधनं सप्तस्वपि हिताधायकं समुपदेष्टुमावश्यकं च मंस्यते, तेन साधककल्याणमवश्यम्भावि। प्रकृतिगुणानुसारेण साधकस्य मनः कुत्रापि विषये संलग्नं भवत्येव। स्वस्वाभाविकेन गुणेन यत्र पदार्थे मनः संलग्नं जायेत, तत्रैव तन्निरुद्ध्येत चेत्—अर्थात् साधको यद्रूपं वहु मन्येत तस्यैव ध्याने यदि मनो व्यापारयेत्, तत्र च स्थिरीभवेत्—तदानीमपि एकतत्त्वमधिगन्तुं शक्येत। एकाग्रमन्तःकरणं प्रज्ञास्वरूपं परिपूर्णज्ञानमधिगच्छद् योगयुक्ततां प्रपद्यत इति पूर्वमेव प्रपञ्चितम्। एवमभिमतध्यानं द्वारीकृत्यापि योगी साधक एकतत्त्वमधिगच्छन् विमुच्यते। मानवस्य प्रकृतिप्रवृत्तिवैचित्र्यमनुसृत्यैव सनातने धर्मे पञ्चोपासनामाहात्म्यं विविधदेवदेवीनां चानेकानि रूपाणि समुपवर्णितानि। सुतरां साधकेन स्वरुचिमनुसृत्य अभिमतरूपध्यानद्वारा स्वीयं कल्याणं साधयितुं शक्यते।

अभिमतध्यानशब्दस्यैतत् कदापि तात्पर्यं नास्ति यत् मानवः स्वीयविषयसम्भोगप्रवृत्त्यनुसारेण कस्याश्चन कामिन्याः ध्यानेनापि एकतत्त्वमधिगन्तुं शक्यत इति। विषयभोगबुद्ध्या यदि कस्य चन विषयस्य ध्यानमन्तःकरणेन विधास्यते, तदा तदीयमन्तःकरणं विषयभोगजनितं नानाचाञ्चल्यमवाप्स्यति। विषयभोगसङ्कल्पेन चाञ्चल्यं विषयत्यागसङ्कल्पेन च धैर्यमवा-

प्यते। अतो भोगोत्पत्तिकरविषयध्यानेन एकतत्त्वं कथमपि नैवावाप्तुं शक्यत इति न कदापि विस्मरणीयम्। विषयभोगसमीहा-समुत्पत्तिसहायकः कश्चनापि व्यापारो नैव भवितुमर्हति साधनस्यैतस्य उपयोगी। केवलं शास्त्रीयरूपसमूहा अन्तःकरणशुद्धरतिसमुत्पादकाश्च विषयसमूहा एव महर्षि-सूत्रकारतात्पर्यविषया बोद्धव्याः। येषु च साधकस्य स्वत एव प्रबला समीहा समुत्पद्यते, तेषां परिशुद्धविषयाणां शास्त्रीयरूपाणां च ध्याना-भ्यासेन प्रथमतो जागतिका विषया विनिवर्तन्ते। ततश्च प्रत्याहारवृत्तयः समुत्पद्यन्ते। ततोऽपि च ध्येयरूपिणि विषये मनसो रतिर्दृढायते। तत्पश्चाच्चान्तःकरणतो ध्यानवृत्तयो विलीयन्ते। एवं हि क्रमशः साधकान्तः-करणं शान्तं भवदेकतत्त्वमधिगन्तुं सामर्थ्यं लभते॥ ३९॥

एकतत्त्व-प्राप्तिनिमित्तसाधनस्य द्वितीयं फलं निर्वक्ति—

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः॥ ४०॥

परमाणुमारभ्य महास्थूलपदार्थं यावत् सर्वत्रैव अन्तःकरणस्थायित्व-सम्पादिका शक्तिरुदेति। पूर्वसूत्रेषु सप्तप्रकारान् साधनोपायान् वर्णयित्वा सूत्रकृन्महर्षिस्तेषां साधनानां द्वितीयं फलमाचष्टे। एकतत्त्वसाधनं द्वारीकृत्य साधको योगी सर्वानपि योगप्रत्यूहान् निरस्य समाधिभूमि-मासादयतीति प्रथमं फलमेकतत्त्वप्राप्तेरवगन्तव्यम्। एतत्सूत्रवर्णनं द्वितीय-फलविषयकमवधेयम्।

स्थूलसूक्ष्मभेदेन पदार्थद्वयमास्ते। स्थूलसूक्ष्मयोर्द्वयोरेव पदार्थयोरव-लम्बनेन अन्तःकरणं चाञ्चल्यमासादयति। यदि चापि साधकेन पूर्वो-क्तानि साधनानि स्थूलपदार्थरूपपरिदृश्यमानानां किं वा सूक्ष्मपदार्थ-स्वरूपतन्मात्रा - परमाणुप्रभृतीनामवलम्बनेन अनुष्ठातुं शक्यन्ते, किन्तु यावदन्तःकरणवृत्तयः सर्वा अपि सहैव निरुद्धतां नाप्नुयुस्तावत् स्थूलेषु सूक्ष्मेषु वा पदार्थेषु निपत्य पतनसम्भावना विद्यते। अतः साधनानुष्ठान-काले कस्य चनापि पदार्थस्य अवलम्बनेन अन्तःकरणमेकाग्रतामधिगन्तुं चेष्टेत। किन्तु स्वकीयं लक्ष्यं तदैवासादयेत्, यदा तदवस्थाद्वयतः समतीतं

भवेत्। अर्थात् एकाग्रतावृत्तिसाधनेन यदा तत्रैकाग्रतायाः पूर्णोदयः स्यात्, तदैव स्थूलेभ्यः सूक्ष्मेभ्यश्च पदार्थेभ्यः स्वतन्त्रं सदन्तःकरणमेकतत्त्वाधिगमेन समाधिभूमिमुपढौकमानं परमात्मानं साक्षात्कर्तुं पारयेत्।

एतत्सूत्रनिर्गलितार्थोऽयमेव यत् एकतत्त्वसमाधिगतो योगी समुन्नतामवस्थां प्राप्तः सूक्ष्मतमेषु स्थूलतमेषु वा वस्तुषु सर्वत्रैव अन्तःकरणं वशीकारयोगं द्वारीकृत्य स्थिरीकर्तुमर्हति। यौगिकेषु महत्तमाधिकारेषु एकतत्त्वाधिगम एकः सुमहानधिकारो वेद्यः। सर्वविधयौगिकप्रत्यूहविनाशकमेतदीयं सर्वोत्तमं फलं पूर्वसूत्रेषु उपवर्णितमेव। अनेन सूत्रेण ततोऽप्युन्नतमेकं फलं निर्दिष्टमास्ते। एकतत्त्वसाधनावस्थायामेव स्वकीययोगविघ्नविनाशकं सामर्थ्यं योगिना साधकेन समधिगम्यते। ततश्चैकतत्त्वसाधने सिद्धौ लब्धायां योगिनोऽन्तःकरणबलमेतावत् प्रवर्धते यदसौ निजान्तःकरणवृत्तिसम्बन्धिनीं चञ्चलतां स्वेच्छयैव निरुद्ध्य प्राकृतिकेषु स्थूलेषु सूक्ष्मेषु च राज्येषु यत्रैव समीहते, तत्रैव स्वीयमन्तःकरणं स्थिरीकर्तुं पारयति। ततश्चासौ विविधा आध्यात्मिकीः शक्तीः समधिगत्य तासु समाधिभूमिषु विचरणशीलो वोभवीति, यासां वर्णनमग्रिमसूत्रेषु वक्ष्यते॥ ४०॥

स्थितिप्राप्ते चेतसि सम्प्रज्ञातसमाधिः कथमुदेतीत्यधो निर्दिश्यते—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः॥ ४१॥

प्रक्षीणवृत्तेरन्तःकरणस्य 'अभिजाता'ख्या स्वभावनिर्मला स्फटिकमणिसमाना दशा जायते। यथा स्फटिकमणिः स्वभावनिर्मलः समीपस्थपदार्थवर्णं गृह्णाति, तथैव योगिनोऽन्तःकरणं निर्मलं सद् ग्रहीतृरूपस्य आत्मनो ग्रहणरूपस्य इन्द्रियस्य ग्राह्यस्वरूपस्य च विषयस्य सहयोगतस्तदाकारतां प्रपद्यते। एतदवस्थानाम समापत्तिरिति। वृत्तौ परिक्षीणायाम् अर्थाद् एकतत्त्वसाधनेन चाञ्चल्यं परिहरति शुद्धे चान्तःकरणे सति तदृशा

शुद्धा स्फटिकमणिसदृशी जायते। स्वरूपतः स्वच्छः स्फटिकमणिः स्वसमीपस्थपदार्थवर्णस्वरूपतां धत्ते, तथैव यदि साधकस्यान्तःकरणं कुत्रापि स्थूले सूक्ष्मे वा भूते एकाग्रतां भजति, एतदैकाग्र्यसाधनान्ते समापत्तिदशामधिगत्य स्वीयध्येयरूपं स्थूलं सूक्ष्मं वा स्वकीयं लक्ष्यभूतं वस्तुरूपं समधिगच्छति। अर्थात् तादृशेऽन्तःकरणे तदाकारभानव्यतिरिक्तं न किमपि भानान्तरं भासते। इयं हि तदाकारवृत्तिरूपा 'समापत्ति'वाच्यासविकल्पसमाधिदशैव एकतत्त्वस्वरूप-योगसाधनस्य समुन्नततरं तृतीयं फलमवगन्तव्यम्। एतदवस्थयैव क्रमशः प्रज्ञां लभमानः सविकल्पसमाधिद्वारेण निर्विकल्पसमाधिमासादयन् साधको मुक्तिपदं लभते।

तामेतामवस्थामवगमयितुं साधकेषु एकतत्त्वाधिगमेन स्वभावतो या समापत्तिरुत्पद्यते, सा समुचितरूपेणावश्यमेव वेदनीया। यतस्तदवधारणमन्तरेण योगी साधको जीवस्य साधारणीं दशां योगिनो विशेषावस्थां च परिज्ञाय स्वकीयां क्रमोन्नतिं स्थायिनीं विधातुं न शक्नोति। एकतायामधिगतायां क्रमश एकतत्त्वाधिगमेन साधकेन स्वत एव समाधिभूमिरासाद्यते। साधकस्य समाधिदशेयं सविकल्पा प्रोच्यते, पुष्पादिरमणीयपदार्थदर्शनेन, रागादिमनोहरविषयाणां श्रवणेन, नारीप्रभृतिसङ्गोत्पन्नस्पृश्यविषयानुभवेन, मिष्टान्नादि-रसनेन्द्रियतृप्तिकरपदार्थनिषेवणेन, सुगन्धमय-पुष्पादिपदार्थपरिघ्राणेन चानन्दमधिगच्छत् साधकान्तःकरणं स्वभावत एव तत्तद्वैषयिकीमेकाग्रतामधिगत्य सविकल्पसमाधिं प्राप्नोति।

यद्यपि अविद्यान्धकारग्रहग्रस्तो जीवः स्वकीयामिमां सविकल्पसमाधिदशां नानुभवति, तथापि तदीयचेतसि आनन्दस्योदयेन तदन्तःकरणं स्वाभाविकरूपेण समाधिमधिगच्छत्येव। तदन्तःकरणे यो ह्यानन्दोदयः, स हि परमात्मनो ब्रह्मानन्द एव। अतो विषयानन्दो ब्रह्मानन्दसहोदरो मतः। विषयाकारवृत्त्या स्वत एव क्षणिककालकृते विषयभोगपरायणस्य जीवस्य अन्तःकरणं योगिजनदुर्लभमेकतत्त्वं प्राप्नोति। एकतत्त्वाधिगत्या तदन्तःकरणवृत्तिषु प्रक्षीणासु सर्वव्यापको निर्मलशान्त आत्मा स्फटिकमणि-

सदृशो विषयिणः पुरुषस्यान्तःकरणे प्रतिफलति, येनाऽऽत्मनो ब्रह्मानन्दो विषयानन्दस्वरूपं भजन् जीवं सुखयति।

विज्ञानेनैतेन सुस्पष्टमिदं सिद्ध्यति यज्जीवेन स्वभावत एव विषयाकार-वृत्तावपि एकतत्त्वाधिगमेन सविकल्पसमाधिरधिगम्यते। विज्ञानमिदमवधारयन् गुरुभक्तिपरायणो योगी पूर्वोदीरितसाधनेष्वेकतरां ततोऽधिकां वा योगक्रियामभ्यस्यन् ज्ञानपुरस्सरमेकतत्त्वभूमितो यदि सविकल्पसमाधि-भूमिमासादयेत्, तर्हि स्वीययोगसाधनक्रमोन्नतिं स्थायिनीं विदधत् क्रमशः समाधिभूमौ उत्तरोत्तरमग्रेसरतां प्रपद्यते।

एकतत्त्वसाधने सिद्धिं लभमानेन आत्मानात्मविवेकसम्पन्नेन योगिना तादृशसमुन्नताधिकाररूपं सविकल्पसमाधिसमापत्तिदशा किमिव लभ्यते, तदेतत्सूत्रे अत एव निर्णीतं यत् स्वीयां स्थितिं परिज्ञाय साधकेन निजक्रमोन्नतिः स्थायिनी क्रियताम्। यदि साधारणविषयभोगी जीव इव योगी साधकः समापत्तिरूप-समुन्नतदशामधिगत्यापि असावधानो भवति, तर्हि तस्य उत्तरोत्तरसमुन्नतिर्नैव सम्भवितुमर्हति। अतः सूत्रेऽत्र समापत्तिस्वरूपमुपवर्ण्य तद्भेदा अग्रे वक्ष्यन्ते॥ ४१॥

क्रमप्राप्तायाः समापत्तेर्भेदा वर्ण्यन्ते—

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः॥ ४२॥

शब्दार्थज्ञानानां विकल्पेन सङ्कीर्णा मिश्रिता समापत्तिः सवितर्का प्रोच्यते। इदानीं पूर्वोक्तसमापत्तिदशायाः प्रथमावस्था वर्ण्यते। यदा समापत्ति-समुत्पत्तिकरावलम्बनस्य शाब्दिकी संज्ञा, तदर्थस्तज्ज्ञानं च विकल्पस्वरूपतोऽन्तःकरणे तिष्ठति, तदानीमियं प्रथमावस्था समुदीर्यते।

उदाहरणेन विज्ञानमिदमवधारयितुमुभयतश्च परिज्ञातुमुचितमास्ते, प्रथमं बहिर्विषयतो द्वितीयमन्तर्विषयतश्च। बहिर्विषयतोऽवधारयितुं कमलपुष्पस्योदाहरणं प्रदीयते—'कमलपुष्पमि'ति कथ्यमानो कमलपुष्प-शब्दोऽन्तःकरणे प्रविष्टः। ततश्च तदर्थावबोधः। ततो नु कमलपुष्पज्ञानं

चान्तःकरणे समजायत। त्रिष्वप्येतेषु अन्तःकरणे समुदीयमानेषु विकल्प साहाय्येन त्रयाणामपि स्वरूपं तत्र पृथक् पृथक् प्राकट्यमाप्नम्। त्रयाणामेतेषां पृथक् पृथक् प्राकट्येन यद्यप्यन्तःकरणमेकतत्त्वाभिमुखमग्रेसरति, तथापि तत्रान्तःकरणसमापत्तिदशा नैव परिपूर्णतामवाप्नोति।

एवं हि यदाऽन्तःकरणस्य सूक्ष्मातिसूक्ष्मावलम्बनवर्णनं क्रियेत, तदा इदमुदाहरणं दातुं शक्यते यत् "सच्चिदानन्दमयं ब्रह्म" इत्युच्चार्यमाणे सच्चिदानन्दमयब्रह्मशब्दः, तदर्थस्तज्ज्ञानं च सहैव अन्तःकरणे समुदीयमाने भवेताम्। तदा विकल्पसाहाय्येन यावत् त्रयाणामपि पारस्परिको भेदस्तिष्ठेत्, तावत् समापत्तिदशा सवितर्का वक्तुं शक्यते। दशायामत्र नैव समापत्तिपूर्णता भवितुमर्हति, नापि चान्तःकरणवृत्तयः स्वीयस्वरूपतः शून्यतां प्राप्नुवन्त्योऽन्तःकरणभूमिमतिनिर्मलां प्रशान्तां वा कर्तुं शक्नुवन्ति।

निष्कर्षोऽयं यद् दशायामत्र अन्तःकरणवृत्तयो लयाभिमुखमुपढौकमाना अपि एकतत्त्वोदयहेतुतां प्रपद्यन्ते। परन्तु दशेयं समाधिभूमावग्रेसरणशीलैव। इतोऽपि समुन्नताया द्वितीयदशाया वर्णनमग्रे वक्ष्यते॥ ४२॥

निर्वितर्क-समापत्तिरुच्यते—

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का॥ ४३॥

शब्दार्थज्ञानमूलकस्मृतौ परिशुद्धायां स्वरूपरहितसमानभासमाना ध्येयाकारभावयुक्तेति यावत्, समापत्तिर्निर्वितर्का प्रोच्यते। निर्वितर्कसमापत्तौ शब्दसङ्केतेन शब्दानुमानेन ज्ञानरूपविकल्पेन च संयुक्ता स्मृतिर्नावभासते। केवलं ग्राह्यपदार्थरूपे पदार्थवत् प्रतीयमाना बुद्धिरेवावशिष्यते। पूर्वसूत्रोक्तायाः सवितर्कसमापत्तेरवस्थायाः साधनद्वारा विलये प्राप्ते चित्तम् एकलक्ष्यरूपिणीमवस्थां धत्ते, तादृशैकाकारदशाया नाम निर्वितर्कसमापत्तिरिति। स्थूलस्य सूक्ष्मस्य वा वस्तुनः कुत्र चिदेकतरसाहाय्येन समापत्तिर्लभ्यत इति प्रागेवोक्तम्।

समापत्ति-पूर्वावस्था सवितर्का समापत्तिः। सा किल निकृष्टा। दृढी-

भूतायामेकाग्रतायां परिपूर्णावस्थामधिगता समापत्तिर्निर्वितर्का बोद्धव्या। सा समुत्कृष्टाऽवधेया। पूर्वोक्तसवितर्कसमापत्तौ श्रूयमाणः पठ्यमानश्च शब्दस्तदर्थस्तच्छब्दविचाररूपं ज्ञानं च तदीयस्मृतिं द्वारीकृत्य विकल्पदशायां किञ्चित् पृथक् पृथग् वृत्तिस्वरूपं धारयन्ति, अतोऽन्तःकरणे समापत्तिर्नैव परिपूर्णतामधिगच्छति। परन्तु सर्वोत्तमदशायां ध्येयवस्तुनि चित्तैकाग्रतायाः परिवर्धमानत्वात् शब्दस्तदर्थः, शब्दार्थज्ञानं च स्मृतिद्वारा पृथक् पृथक् नैव तिष्ठन्ति। एकस्य स्मृतिर्द्वितीये द्वितीयस्य तृतीये विलयमुपगच्छति। दशायामस्यां शब्दं तदर्थं च द्वारीकृत्य समुत्पन्ने ध्येयज्ञाने, तत्रैव हि ध्येयस्वरूपे चित्तवृत्तिर्निर्मला सती ऐकाग्र्यमासाद्य स्थिरीभवति। तदानीं ध्येयं स्थूलं सूक्ष्मं वा भवेत्, तद्व्यतिरिक्तं योगिना साधकेन नैव किञ्चिदवबुद्ध्यते। स्थूलानां सूक्ष्माणां वा विषयाणां परिदृश्यमानपञ्चभूतानाम् अदृश्यमानतन्मात्राणां सूक्ष्मभावस्य वा साहाय्येन निर्वितर्का समापत्तिर्जायते।

समापत्तिपूर्णावस्थायामेकमात्रं ज्ञानरूप-लयव्यतिरिक्तं न किञ्चिदन्यदवभासते। तथापि पाञ्चभौतिकाः पदार्था विषया एव सन्ति, प्राकृतिकमवलम्बनमनित्यमेव। अतः एकाग्रताचरमसीमस्वरूपां निर्वितर्कसमापत्तिदशामधिगत्यापि तिष्ठत्येव प्रकृतिसम्बन्धः। तत्परवर्तिन्यामवस्थायां समाधिमधिगच्छता साधकेन प्रकृतिसङ्गं विरहय्य परमात्मरूपपुरुषसङ्गं भजता तत्स्वरूपमासाद्य बन्धनाद् विमुच्यते॥ ४३॥

सूक्ष्मविषयावलम्बनेन क्रमप्राप्तं द्विविधसमापत्तिवर्णनमुपक्रामति—

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता॥ ४४॥

यथा उत्कृष्टा निकृष्टा चेत्यवस्थाभेदेन एकाग्रतास्थापनकारिण्याः समापत्तेर्भेदद्वयं पूर्वसूत्रेषु उपवर्णितम्, तथैव आत्मदर्शनरूपसमाधिप्रथमदशाया अपि सविचार-निर्विचारभेदाद् भेदद्वयमाम्नातम्। पूर्वोक्तदशाद्वयेऽवलम्बनभूता प्रकृतिरेवास्ते। परन्त्वेतत्सूत्रप्रतिपादिते अवस्थाद्वये पूर्वोक्तदशाद्वयतोऽप्यग्रिमस्वरूपे परमात्मैवावलम्बनस्वरूपो वरीवृत्यते।

सा किल सविचारावस्था प्रणिगद्यते, यत्र साधकः समाधिं द्वारीकृत्य सूक्ष्मभूताश्रयेण देश-काल-निमित्तसंयुक्तो भूत्वा आत्मनोऽनुभवमात्रमनुष्ठातुं शक्नोति। दशायामत्र भावस्यावलम्बनेन साधको योगी अग्रेसरतां प्रपद्यते। निर्विचारावस्थायां तु सूक्ष्मभूतादीनां सम्बन्धो न तिष्ठति, केवलं परमात्मन एव सम्बन्धेन समाधिरनुष्ठीयते। दशायामत्र भावद्वारा समधिगतोऽनुभवः सुस्थिरीभवति। दशाद्वितयेऽप्यत्र ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयभेदेन आत्मा साक्षात्क्रियते।

सविचाराख्या निकृष्टा दशा प्रोक्ता। अस्यां किल सूक्ष्मप्रकृतिसम्बन्धसत्त्वाद् आत्मनोऽप्रत्यक्षरूपोऽनुभवो जायते। निर्विचाराख्या तु उत्कृष्टा दशा, यस्यां प्रकृतिभानराहित्यात् ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयवृत्तेरनुसारतः परमात्मनः साक्षात् सम्बन्धो बोभूयते।

भेदद्वयमप्येतत् सविकल्पसमाधेरवगन्तव्यम्। निर्विकल्पसमाधिदशा किलैतदधिकारतोऽपि अग्रिमावस्थायामधिगम्यते। ततश्च निर्विकल्पसमाधिपरिपूर्णावस्थामधिगत्य साधको विमुच्यते॥ ४४॥

सूक्ष्मविषयस्य अवधिरुच्यते—

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्॥ ४५॥

सूक्ष्मविषयावधिश्च अलिङ्गपर्यवसानो विज्ञेयः। सूत्रेणैतेन पूर्वसूत्रोक्तविज्ञानान्तःकरणसूक्ष्मावस्थानां च प्रकाशने प्रयासोऽनुष्ठितः। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशपरमाणूनां गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्दाः क्रमशः सूक्ष्मविषया विद्यन्ते। सूक्ष्मविषया इमे तन्मात्राशब्देन समाख्यायन्ते। व्याप्ताहङ्कारान्तःकरणे तन्मात्राणां लिङ्गं चिह्नमिति सूक्ष्मस्वरूपेण तिष्ठति। अहङ्कृतिभाजां सूक्ष्मातिसूक्ष्मविषयाणामग्रे न किञ्चिदप्यवशिष्यते। तदानीं तदेवालिङ्गशब्देन उच्यते।

इयमवस्था निम्ननिर्दिष्टरीत्याऽपि समवधारयितुं शक्यते। तथा हि, गुणविपरिणतिविचारेण स्थूलसूक्ष्मविचारेण लिङ्गस्य भेदचतुष्टयमवधेयम्—

१. विशिष्टलिङ्गम्, २. अविशिष्टलिङ्गम्, ३. लिङ्गम्, ४. अलिङ्गं चेति। स्थूलभूतानि इन्द्रियाणि च विशिष्टलिङ्गानि। सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राश्च अविशिष्टलिङ्गशब्देनोच्यन्ते। बुद्धिरूपेण शुद्धमन्तःकरणमेव लिङ्गमाख्यातम्। अन्तःकरणातीतं प्रधानं चालिङ्गं समाम्नातम्।

एभ्यः परः पुरुषस्ततोऽपि सूक्ष्मः कथं नेति शङ्कायां समाधत्ते। तथा हि—यथा लिङ्गावस्थातोऽपि परस्यालिङ्गस्य सूक्ष्मभानम्, न तथा पुरुषे विद्यते। यथा लिङ्गावस्थाया लिङ्गदशा समवायिकारणभूता, न तादृशसम्बन्धोऽलिङ्गावस्थायाः पुरुषेण साकं वर्तते। पुरुषो हि प्रकृतितः पूर्णरूपेण स्वतन्त्रः। किन्तु प्रधानं यावत्-प्रकृतिराज्यम्। अतोऽलिङ्गसूक्ष्मकारणं पुरुषो भवितुं नार्हतीति।

एतत्सूत्रस्य तात्पर्यमिदं यत् स्थूलं जगदारभ्य अलिङ्गाख्यं प्रधानं यावत् विषयाणां सत्ता विद्यते। शेषावस्थात्मकेऽलिङ्गे विषयाः सूक्ष्मातिसूक्ष्मतामापद्यन्ते। अतः परं सूक्ष्मताया नैव सम्भावना। निर्विकल्पे समाधौ न तिष्ठति प्रकृतिसम्बन्धः। दृश्येयं तदवस्थातः परवर्तिनीति॥ ४५॥

सर्वस्य कियदवधिकोटिरित्युच्यते—

ता एव सबीजः समाधिः॥ ४६॥

स्पष्टोऽर्थः। पूर्वसूत्रप्रतिपादिताः सवितर्क-निर्वितर्क-सविचार-निर्विचाराख्याश्चतस्रः समापत्तयः 'सबीजसमाधि'नाम्ना प्रोच्यन्ते। चतसृष्वप्येतासु दशासु ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयरूपमवलम्बनं तिष्ठति। अवलम्बनसत्त्वाद् बीजस्यापि सद्भावः। अतो दृश्येयं सबीजा प्रोक्ता। प्रकृतेः परिणामित्वात् दृश्यरूपं जगदुत्पद्यते। दृश्यप्रपञ्चरूपं जगत् प्रकृतिकार्यम्। पुरुषो निष्क्रियो निःसङ्गः शुद्धो मुक्तस्वभावश्च। प्रकृतिपरिणामतो वृत्तिसारूप्यमधिगच्छन् स बद्ध्यते। प्रकृतिपरिणामस्वरूप-समुद्बोभूयमानेषु वृत्तितरङ्गेषु प्रतिफलितः पुरुषो बद्ध इव प्रतीयते। स्वच्छमणिसन्निधाने रञ्जितपदार्थस्थापनेन मणिरपि तद्वदेव रञ्जितो निभाल्यते। पुरुषबन्धनस्य सुस्पष्टमेतदुदाहरणम्।

अष्टाङ्गयोगसाधनेन उपायान्तरेण वा पूर्णरूपेण एकतत्त्वमभ्यस्यन् योगी नैजमन्तःकरणं सर्वथा वृत्तिविरहितं विदधत्, सवितर्कावस्थातो निर्वितर्कावस्थाम्, ततोऽपि सविचाराम्, ततोऽपि च निर्विचारां दशामुपढौकते। तदानीं तदीयमन्तःकरणं क्रमशः स्थूलतः सूक्ष्माभिमुखमग्रेसरत् परिशुद्धं निर्मलं वृत्तिविरहितं च सञ्जायते। तत्क्रममनुसृत्यैव तदीयमन्तःकरणं क्रमशो विशेषदशातोऽविशेषाम्, ततश्च लिङ्गदशाम्, ततोऽपि चालिङ्गावस्थां प्रापत् निस्तरङ्गतडागवत् निर्मलं विशुद्धं च बोभवीति। तदा किल द्रष्टुः पुरुषस्य वृत्तिरूपतरङ्गेषु निलीयमानं यथार्थस्वरूपं प्रकाशमेति। तदैव च निर्बीजसमाधिभूतिमधिगच्छन् योगी मुक्तिभूमिं प्राप्नोति।

एकतत्त्वमभ्यसन् योगी स्वकीययोगाभ्यासतः क्रमेण पूर्वोक्ताः सर्वा अप्यवस्था अधिगच्छन् अन्ते च समुन्नतभूमिमासादयन् परमात्मनः परमपुरुषस्य या अलौकिकीः शक्तीः समाप्नोति, तद्वर्णनं वक्ष्यते॥ ४६॥

निर्विचारसमापत्ति-परिणामो निर्दिश्यते—

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः॥ ४७॥

निर्विचारसमापत्तौ समधिगतायाम् आत्मनः प्रसादः समुदेति। पूर्वप्रतिपादितसिद्धान्तेन निर्णीतमिदं यत् सवितर्कातो निर्वितर्का, ततश्च सविचारा, ततोऽपि च निर्विचारा समापत्तिः क्रमशः समुन्नता। अन्तिमदशास्वरूपे निर्विचारसमाधौ सम्पूर्णरूपेण प्रकृतेः परिशुद्धत्वात् रजस्तमसी लयं प्राप्नुतः, सत्त्वस्य च परिपूर्णप्रकाशेन अन्तःकरणेऽध्यात्मप्रसादः समुदेति।

परमपुरुषाख्यं ब्रह्म सच्चिदानन्दमयम्। एकस्मिन् तदद्वैतभावे सच्चिदानन्दरूपास्त्रिभावा विद्यन्ते। तत्सत्तयैव सत्तावती प्रकृतिः परिणामिनी सती यदा जगत् प्रसूते, तदानीं ब्रह्मानन्दः सच्चिद्रूपजडचेतनाश्रयेण अविद्यामय-द्रष्टृ-दृश्याभिनिवेशरूप-विषयानन्दरूपेण परिणमति। तेनैव जीवो विमुह्यति। एतदेव जीवबन्धनदशायाः सूक्ष्मं रहस्यम्। अज्ञान-

जन्यविषयानन्दे निमग्नो जीवो गतागतचक्रे वभ्रम्यमाणस्तिष्ठति। यद्यपि विषयानन्देऽपि ब्रह्मानन्द एव परिव्याप्नोति, परन्तु विषयानन्दोऽज्ञानजन्यत्वात् क्षणभङ्गुरो मिथ्याभूतश्च। सविकल्पसमाधेः सर्वोत्तमदशायामत्र योगसाधनेन एकत्वाभ्यासस्य फले समुदीयमानेऽन्तःकरणं वृत्तिराहित्यं निर्मलत्वं च प्रपद्यते। योगिराजस्य विशुद्धेऽन्तःकरणेऽत्र स्वत एव परमानन्दप्रदो ब्रह्मानन्दाभासः प्रतिफलति। अयमेव अध्यात्मप्रसाद उच्यते। दुःखकारणभूते रजस्तमसी मते। अतस्तयोर्विलये योगिना साधकेन परिमुक्तसर्वदुःखेन परमानन्दमय-परमात्मसान्निध्येन आत्मप्रसादस्वरूपः परमानन्दोऽनुभूयते॥ ४७॥

तदानीं किं दशेत्युच्यते—

ऋतम्भरेति तत्र प्रज्ञा॥ ४८॥

तत्र दशायाम्, ऋतम्भरा प्रज्ञा समुदेति। 'ऋतं सत्यं बिभर्ति धारयतीति ऋतम्भरा।' यस्यां बुद्धौ सत्यं समुदेति, सैव ऋतम्भरा समाख्याता। पूर्वसूत्रप्रतिपादितदशायां सत्त्वगुणस्य पूर्णोदयेन बुद्धिः सात्त्विकी सञ्जायते। अन्तःकरणे रजस्तमसोर्विद्यमानत्वे चाञ्चल्यवशाद् बुद्धिः पूर्णरूपेण नैव प्रकाशते। निर्विचारसमाधिदशायां रजस्तमसोर्विलयेन बुद्धिचाञ्चल्यं प्रणश्यति। तदानीमन्तःकरणे विपर्ययादिमिथ्याज्ञानस्य नास्ति सम्भावना। सर्वेऽपि पदार्थाः यथावत् स्वस्वरूपतः प्रतीयन्ते।

इयमेव बुद्धिर्वेदान्तशास्त्रे 'प्रबोध'नाम्ना, योगशास्त्रे च 'ऋतम्भरा' इति समाख्यायते। निर्विचारसमाधिपरिपूर्णतायां योगिनामन्तःकरणेषु एतादृश्येव सत्यसुधाकरकिरणजालमण्डिता अमृतमयी प्रज्ञा समुदयति। अत एवेयं प्रज्ञा योगिराजेन पतञ्जलिना 'ऋतम्भरा' समाख्याता॥ ४८॥

अन्यविधप्रज्ञापेक्षया ऋतम्भरायाः किं वैशिष्ट्यमित्युच्यते—

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषयाविशेषार्थत्वात्॥ ४९॥

विशेषार्थत्वात् विलक्षणविषयज्ञापकत्वात् श्रुतानुमानबुद्धितः अन्यविषया भिन्नरूपा ऋतम्भरा भवति। शब्दश्रवणजन्यं ज्ञानं परिपूर्णं न

सम्भवति। शब्दद्वारा प्राकट्यं नीयमानेऽपि भावे विषयस्य सूक्ष्मता, भावविस्तरः, गुणक्रमाश्च नैव याथातथ्येनानुभूयन्ते।

अनुमानज्ञानमपि नैव परिपूर्णम्। यद्यपि दूरवर्तिनि पर्वते धूमदर्शनेन अग्नेरनुमानं सिद्ध्यति, किन्तु स किंपदार्थजन्यः कियान् वेति सूक्ष्मकारणज्ञानमनुमित्या न भवितुमर्हति। शब्दानुमानयोर्यावदवधिगतिरस्ति, तावदवधिपर्यन्तमेव ज्ञानमनुभावयितुं शक्नुतस्ते। ततोऽग्रे न किमपि बोधयितुमर्हतः। इन्द्रियग्राह्याः लौकिकप्रत्यक्षपदार्था एव शब्दानुमानाभ्यां प्रकाशयितुं शक्यन्ते। सूक्ष्मातिसूक्ष्मपदार्थप्रकाशने तयोः सामर्थ्याभावः। पूर्वसूत्रवर्णितायां समाधिगतबुद्धौ तादृग् असम्पूर्णत्वं नास्ति। सत्त्वगुणस्वरूपज्ञानस्य परिपूर्णप्रकाशेन तद्बुद्धेरगोचराः केऽपि विषया न सन्ति। ऋतम्भरां बुद्धिमधिगत्य समाधिस्थेन साधकेन स्थूलस्थूलाः सूक्ष्मसूक्ष्माश्चापि विषया यथावत् परिज्ञातुं शक्यन्ते। अत एवैषा सर्वविधप्रज्ञाविलक्षणरूपा विद्यते।

अन्तःकरणविभागेषु बुद्धिसहचरोऽहङ्कार एव। मानवो यादृशमहङ्कारं धारयति, तद्बुद्धिरपि तादृशी भवति। तदीयसिद्धान्तोऽपि तादृश एव। नरा नार्यः, राजानः प्रजाश्च नैजाहङ्कृतिप्रसूतभावानुसारेण स्वबुद्ध्या विचारयन्ति। अतः साधारणी प्रज्ञा परिपूर्णा भवितुं नार्हति। एकतत्त्वाभ्यासेन निर्मलीभूतचेतसो योगिनोऽन्तःकरणं रजस्तमोमलं निराकृत्य यदा विशुद्धतां भजति, तदा तत्र पूर्वोक्ताया असम्पूर्णतायाः कापि सम्भावना नास्ति। तदानीं योगिनोऽन्तःकरणं विशुद्धं व्यापकं च जायते। तदीया बुद्धिरपि विशुद्धा व्यापिका च सम्पद्यते। तदन्तःकरणे ज्ञानबाधकोऽहङ्कारो नावशिष्यते।

विशुद्धचित्स्वरूपायाः परिशुद्ध-भगवद्बुद्धिरूपिण्या ऋतम्भरायाः प्रज्ञायाः साहाय्येन योगी निखिलानपि पदार्थान् याथातथ्यरूपेण परिद्रष्टुं शक्नोति। लौकिकजगतः सूक्ष्मपदार्थानां दैवजगतोऽध्यात्मराज्यस्य च सूक्ष्मातिसूक्ष्मविषयाणां विज्ञानं तदन्तःकरणप्रतिफलितम् ऋतम्भरया प्रज्ञया योगी सम्यग् विजानाति॥ ४९॥

ततः किमित्युच्यते —

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥

स्पष्टोऽर्थः। पूर्वसूत्रे ऋतम्भराया बुद्धेर्विशिष्टलक्षणगुणान् वर्णयित्वा सम्प्रति तज्जा विशिष्टफलावाप्तिरुच्यते। ऋतम्भराप्रज्ञाप्राप्तिदशायामन्तःकरणे समुदीयमानाः संस्कारा अन्तःकरणस्थपूर्वसंस्कारविनाशका भवन्ति। सर्वविध-विषयसंस्कारेषु नाशमुपगतेषु विषयज्ञानमपि प्रणश्यति। ततश्च निर्विषया परिशुद्धा ऋतम्भरा प्रज्ञा समुदेति। तदानीं तत्र समाधिस्थबुद्धि-संस्कारव्यतिरिक्ता व्युत्थानदशा-संस्कारा नावशिष्यन्ते। अन्तःकरणे पूर्णरूपेण प्रणष्टा वैषयिकसंस्कारा न पुनरुद्भवन्ति। एवम् ऋतम्भराबुद्धि-रूपनिर्मलप्रवाहद्वारेण चित्तरूप-शिलातो व्युत्थानसंस्काररूप-मलचिह्ना-न्यपि परिपूर्णरूपेण प्रक्षाल्यन्ते।

तटस्थ-स्वरूपभेदेन ज्ञानं द्विविधम्। यत्र ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयरूपा त्रिपुटी विद्यते, तत् तटस्थज्ञानम्। यत्र च त्रिपुटी विनश्यति, अन्तःकरणमेका-न्ततो व्युत्थानदशासंस्कारविरहितं निर्मलं सद् विलीयते, तद्विलय-समकालमेव स्वरूपज्ञानमुदयति। एतदेव आत्मज्ञानमुच्यते। ज्ञानमिद-मासाद्य आत्मा ज्ञानस्वरूपो विख्यायते। सवीजसमाधितो निर्वीजसमाधौ आसादिते त्रिपुटीजनिताः दृश्यप्रपञ्चसम्बन्धनिबन्धनाः व्युत्थानदशायाः सर्वेऽपि संस्कारा विलयमुपयान्ति। एतदवस्थाया विवृतिरग्रे वक्ष्यते ॥५०॥

योगफलस्वरूपोऽसम्प्रज्ञातसमाधिर्निरूप्यते—

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

तन्निरोधेन सवीजसमाधि-समस्तसंस्कारेषु निरुद्धेषु निर्बीजः समाधि-राविर्भवति। एवमन्तःकरणे वृत्तिषु पूर्णरूपेण निरुद्धासु सविकल्पसमाधि-पूर्णाम् अवस्थामधिगतवति साधके निर्बीजाख्यो निर्विकल्पः समाधिः समुद-यति। दशायामत्र संप्रज्ञातसंस्कारा नितरां विलीयन्ते। ततः पूर्वमेव अन्तःकरणवृत्तयः समस्ताः स्वस्वकारणे विलीयमानाः सम्प्रज्ञातसंस्कारे

विलयमुपाढौकन्ते। अतोऽवस्थायामत्र पुरुषः पूर्णरूपेण निर्मलः सन् स्वीयं स्वरूपमधिगच्छति। एतदवस्था-नामैव पुरुषस्य स्वरूपाधिगतिः। जीवात्मनः परमात्मनि विलयो मुक्तिः कैवल्यं वा समुदीर्यते। वृत्तिसारूप्याधिगमो जीवभावः। योगसाधनद्वारा चित्तवृत्तिनिरोधेन द्रष्टुः पुरुषस्य स्वरूपप्राप्तिरेव योगफलम्। एतदेव च मुक्तिपदमाम्नातम्।

तथा चायं निर्गलितः पाद-सारांशः—

चित्तवृत्तिनिरोधरूप-योगप्राप्तये अभ्यास-वैराग्ये प्रथमावलम्बनभूते समाम्नाते। वैराग्येण दृश्यप्रपञ्चबन्धनं प्रणश्यति, अभ्यासेन च क्रमशः चित्तवृत्तिनिरोधपूर्वकं निर्बीजः समाधिरासाद्यते। सर्वात्मनि परमपुरुषे ईश्वरे भक्तिपुरस्सरं चित्तसंयमरूपं प्रणिधानमपि कैवल्यप्राप्तिकारणम्। परन्तु तत्र पूर्णरीत्या साफल्याधिगमे निर्बीजसमाधिप्राप्तिरूप-मुक्तिपदासादने वा बहवोऽन्तरायाः सन्ति। तांश्च विनाशयितुं प्रणवजपेन बहुविधसाधनेन चैकतत्त्वमधिगम्यते। एकतत्त्वलाभेन सर्वानन्तरायान् विनाशयन् साधको योगी क्रमशः सबीजसमाधेरनेकाः भूमिका अतिक्रामन् अन्ते आत्मप्रसादम् ऋतम्भरां प्रज्ञां च समासाद्य निर्बीजसमाधिदशामधिगच्छन् जीवन्नेव विमुच्यते। तदानीं भाग्यवतः सिद्धमहात्मनो योगिराजस्य नैव भवति पुनर्दृश्यप्रपञ्चनिपातेन बन्धनसम्भावना।

आत्मा किल नित्यमुक्तः, शुद्धः, अद्वितीयः, द्वैतप्रपञ्चविरहितो ज्ञानस्वरूपश्च। वृत्तीनामावरणेन अन्तःकरणं चाञ्चल्यमासादयद् आत्मस्वरूपमाच्छादयति। सबीजसमाधितः क्रमेण निर्बीजसमाधावधिगते स्वत एवाऽऽत्मस्वरूपं प्रकाशते। ततश्च न पुनरज्ञानबन्धनं वा स्थातुमर्हति। निर्बीजसमाधिप्राप्तिपूर्वकं कैवल्याधिगमस्य एतदेव रहस्यमवधेयम्॥ ५१॥

२. साधनपादः

आत्मसाक्षात्कारेण योगानुशासनस्य परिपूर्णोऽधिकारोऽधिगम्यते। यत्र सात्त्विकबुद्धिपूर्णरूपाया ऋतम्भरायाः प्रज्ञायाः समुदयः, स एव योगानुशासनस्य पूर्णोऽधिकारी। सात्त्विकबुद्धिसम्पन्नस्य साधकस्य हेतवे एवेदमनुशासनं विहितम्। अतस्तदनुशासनाधिकारनिर्णयम्, तत्परिपूर्णतोषाप्तिदशावर्णनम्, तदीयं चरमं फलम्, योगाधिगमोपायविज्ञानं च सविस्तरं प्रथमपादे समुपवर्ण्य सूत्रकृन्महर्षिः योगपथप्रवृत्तस्य योगानुशासनफलाकाङ्क्षिणः चित्तवृत्तिनिरोधेच्छोः साधकस्य कृते योगसाधनस्य विविधोपायान् वर्णयति—

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

तपः, स्वाध्यायः, ईश्वरप्रणिधानं चेत्येतानि 'क्रियायोग'शब्देनोच्यन्ते। प्रथमपादे सूत्रकृता महर्षिणा स्थिरीभूतान्तःकरण-सावधानसाधकहिताय सम्प्रज्ञातादियोगा व्याख्याताः। साधनपादनाम्नि द्वितीयपादेऽत्र विविधाः साधनोपायाः समुपवर्ण्यन्ते।

येषां ज्ञानिसाधकानामन्तःकरणं समुन्नतभूमिमधिगच्छद् अस्थैर्यञ्च पर्यत्यजत्, तेषां हिताय पूर्वपादप्रोक्तसाधनान्येव हिताधायकानि। परन्तु ये किल अनिर्मलीभूतचेतसो मुमुक्षवो निम्नाधिकारवन्तः साधकाः सन्ति, ते हि यथाक्रमं तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि समाचरन्तः शनैः शनैः समुन्नतभूमिमासाद्य समाधिस्थाः सन्तः कैवल्यपदमधिगच्छन्तो विमुच्यन्ते।

शरीरमनोवचसाम् अनर्गलप्रवृत्तिनिरोधपूर्वकं विषयसम्बन्धविरह एव तप इत्युच्यते। यथा नियमावरुद्धाः श्वानः शक्तिशालिनः सन्तो मृगयाविशेषसहायका भवन्ति, तथैव शरीरमनोवाचां विषयवत्यः शक्तयस्तपसा सुसंयताः प्रावल्यमापद्यन्ते। तपस्विनस्तपसैव अनेका अलौकिकसिद्धीः समधिगच्छन्ति। तपसैव साधका असीमधर्मफलमासादयन्ति।

अतो योगमार्गे साफल्याधिगमाय तपो हि सर्वाभ्यर्हितं प्रधानं सहायकम्। तपोविरहितानां पुरुषाणां योगसिद्धिरसम्भवा। यतोऽनादिकर्मावि द्या-प्रभृति-क्लेशवासनासमुत्पन्न-विषयजालम् अन्तःकरणमलं च तपःसाधनाद्दते नैव क्षीणतामासादयतः। तपसैव अन्तःकरणं परिशुद्धं सत् साधनशक्तिप्राप्तियोग्यतां लभते। प्रणवादिसिद्धमन्त्राणां जपो मोक्षप्रदशास्त्राणामध्ययनं च 'स्वाध्यायः' उच्यते। स्वाध्यायेन अन्तःकरणज्ञानभूमिः समुन्नमति, साधकश्च स्वीयं लक्ष्यं स्थिरीकृत्य क्रमशोऽग्रेसरति।

ईश्वरप्रणिधानस्वरूपं पूर्वपादे सविस्तरं प्रपञ्चितम्। एतत्सूत्रोक्तेन ईश्वरप्रणिधान-शब्देन गौणी भक्तिर्निर्दिष्टा। गौण्या भक्तेः साधनेन क्रमशः परा भक्तिरासाद्यते। ईश्वर-तद्गतभावरूप-पराभक्ति-प्राप्तये भक्तिशास्त्रेषु यानि श्रवण-कीर्तनादिसाधनानि वर्णितानि, तान्येव 'गौणीभक्ति'नाम्ना प्रोच्यन्ते। गौणी-पराभेदेन भगवद्भक्तिर्द्विविधा। पराभक्तिरूपमभ्यर्हितम् ईश्वरप्रणिधानं समाधेः साक्षात् कारणभूतमिति पूर्वमेव समुदीरितम्। वैधी रागात्मिका, चेति भेदद्वयसम्पन्ना गौणीनामिका प्रथमदशाया भगवद्भक्तिः योगपथपथिकाय योगशक्तिं वितरति।

फलनिरपेक्षतया परमगुरवे श्रीमति परमेश्वरे सर्वकर्मफलसमर्पणम् ईश्वरप्रणिधानशब्दार्थ इति निरूपितपूर्वम्। प्रणिधानप्रथमावस्थायां कर्मफलसमर्पणबुद्धि-प्राप्तिचेष्टा, तदर्थं विधिनिषेधात्मकानि च साधनानि समपेक्षितानि, एतदेव क्रियायोगान्तर्गतस्य ईश्वरप्रणिधानस्य तात्पर्यम्। एवं हि तपःस्वाध्यायादिसाहाय्येन समुन्नमन्तः साधकाः समाधेरभिमुखमग्रेसरन्ति॥ १॥

एवं समनुष्ठित-क्रियायोगलक्षणमुच्यते—

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च॥ २॥

पूर्वसूत्रप्रतिपादितः क्रियायोगक्रमः समाधिप्राप्तये क्लेशनाशार्थञ्चापि समनुष्ठीयते। पूर्णतामधिगतः क्रियायोगो बहुविधवृत्तियुक्तान्तःकरणस्य

नानाक्लेशान् दग्धबीजवद् विनाशयति। ईश्वरप्रणिधानसाधकसद्गतित्वं सप्रमाणं पूर्वसूत्रे प्रतिपादितम्। साधकहृदये भगवत्-प्रेम्णः समुदये जाते खत एव सर्वेऽपि क्लेशा विनिवर्तन्ते। अविद्यादयः पञ्च क्लेशा व्युत्थानदशायां विषयप्रवृत्तस्य जीवस्य चेतः परिखेदयन्ति। अतस्तपः-स्वाध्यायादिसाधनैः व्युत्थानदशाया निरोधः समाधिदशायाः समुदयश्च यावान् समुदेष्यति, तावानेव क्लेशक्षयो भविष्यतीत्यत्र नाणीयानपि संशीतिलवः।

सुखदुःखादिद्वन्द्वग्रस्तो जीवो दुर्दमनीयान् क्लेशाननुभवति। तपसा द्वन्द्वसहिष्णुर्भूत्वा साधकः क्लेशमूलं शिथिलयितुं सामर्थ्यं लभते। ईश्वरप्रणिधानं क्रमशः साधकं समाधिभूमावग्रे सारयति। स्वाध्यायः उभयसहायकः। अतो योगपथपथिकस्य कृते तत्त्रिविधसाधनानामाश्रयणं समुचितम्। एवं किल साधकः समुन्नतमधिकारमासादयन् क्रमेण निर्विकिल्पसमाधिमधिगच्छन् विमुच्यते॥ २॥

इदानीं क्लेशा निरुच्यन्ते—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः॥ ३॥

स्पष्टोऽर्थः। आनन्दावरोधिन्यो वृत्तयः 'क्लेश'शब्देनोच्यन्ते। निष्कामो भावो भगवद्भक्तिर्ज्ञानं चेत्यादीनि ब्रह्मानन्दं प्रकाशयन्ति। ब्रह्मानन्द-माच्छादयन्ती तं वा विषयानन्दस्वरूपेण परिवर्तयन्ती अज्ञानजन्या वृत्ति-ततिः सूत्रकृता योगाचार्येण पञ्चधा विभक्ता, क्लेशसंज्ञया समाख्याता च। पञ्चविधक्लेशसंज्ञकं दुःखोत्पादकं मिथ्याज्ञानमेतद् यथा यथा परिवर्धते, तथा तथैव तमोगुणवृद्धिद्वारेण अहङ्कृतिं समेधयत् जीवान्तःकरणे जाड्य-मभिवर्धयति। एवंरीत्या सांसारिकसुखदुःखरूपिण्यौ द्वे नद्यौ परस्परं साहाय्यमाचरन्त्यौ प्रबलवेगेन प्रवहमाणे जीवं विनिमज्जयतः। पञ्चविध-क्लेशस्वरूपस्य विवृत्तिरग्रिमसूत्रेषु समनुष्ठास्यते॥ ३॥

पञ्चस्वपि क्लेशेषु अविद्याप्राधान्यं निरूप्यते—

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्॥ ४॥

प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्नोदारसंज्ञया चतुर्विधविभक्तानां क्लेशानामविद्यैव मूलकारणम्। अविद्यैव सृष्टिरुत्पद्यते। तयैव जीवो जडमयं निजस्वरूपमवगच्छन् मायाजाले निमग्नः। चतुर्विधक्लेशहेतुरविद्यैव।

प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्नोदारसंज्ञकाः क्लेशानां चतस्रो भूमयः। प्रसुप्तत्वं नाम निद्रितत्वम्। अस्मितादिक्लेशा निद्रितरूपेण अन्तःकरणे निवसन्ति। तत्सम्बन्धो बाह्यजगतो न तावत्प्रतीयते, यावत् ते केनापि कारणविशेषेण जागृता न भवेयुः। यथा बालकस्यान्तःकरणे क्लेशादिवृत्तीनां विद्यमानत्वेऽपि सदानन्दमये बालके तत्स्फूर्तिर्न तावद् भवति, यावदसौ बालो बाह्यकारणकलापेन क्लेशितो न स्यात्। क्लेशानामियं दशा प्रसुप्तेति कथ्यते। मनुष्येषु सर्वा अपि क्लेशवृत्तयः सदैवानुभूयन्ते, परन्तु बालके ताः प्रसुप्ताः सन्ति। बालकेन ताः स्वयं वृत्तिरूपेण नानुभूयन्ते। केनापि बाह्यकारणेन चालिताः समुत्तेजिताः सन्तः क्लेशा वस्तुतो जाग्रदवस्थायां परिलक्ष्यन्ते।

कृशत्वमेव तनुत्वं नाम। अर्थादेका वृत्तिरपरवृत्तिभारेण समाक्रान्ता प्रक्षीयते। क्लेशदशेयं तनुनाम्ना समाम्नाता।

यदा साधन-स्वाध्याय-विचार-तपोभिः सात्त्विकवृत्तिषु समुदीयमानासु राग-द्वेषादिमूलकास्तामसिकवृत्तयः प्रक्षीयन्ते, तदानीं क्लेशमूलकवृत्तयस्ता व्यक्तिविशेषे नूनमेव तिष्ठन्ति, किन्तु सत्सङ्ग-सच्चर्चाप्रभावतः प्रक्षीणतामापद्यन्ते। पार्थक्यं हि विच्छिन्नत्वम्। अर्थात् परस्परसहयोगिवृत्तिद्वयोदयकाले एकवृत्तेः पश्चादपरवृत्तेरनुभवो जायते। यथा कामेन क्रोधस्योत्पत्तिः। परन्तु क्रोधवृत्तौ समुदीयमानायां कामवृत्तिः पार्थक्यं भजति। इयमवस्थैव विच्छिन्ननामिका। उदाहरणेनैतदवधेयं यत् कस्यापि प्रेमिकस्य कोमला प्रेमवृत्तिः स्वकीयप्रेमपात्रे निजस्वार्थविपरीतदोषदर्शनेन अन्तःकरणे तिरोदधाति। तदानीं च प्रेमपात्रोपरि क्रोधस्य द्वेषस्य च वृत्तिः समुदेति। तदा स्वयमेव तदीयपूर्वकालिकप्रेमवृत्तिर्विच्छिन्नदशामधिगच्छति।

सांसारिकसाधारणकर्मप्रतीयमानाया वृत्तेः परिपूर्णादशा उदारशब्दे-

नाख्यायते। उदारावस्थायामस्यां वृत्तयः जीवं विमोहयन्त्यः स्वीयपूर्व-स्वरूपेण समुद्भूतां पूर्णां क्रियामुत्पादयन्ति। सुतरां प्रसुप्त-तनु-विच्छिन्नो-दारचतुर्विधदशायुक्तानाम् अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाख्यानां पञ्चा-नामपि क्लेशानामविद्यैव उत्पत्तिनिदानभूता। पूर्वमेवेदं निर्णीतं यत् यथा क्षुद्रोऽपि वटबीजो महतो वटवृक्षस्य करणरूपस्तथैव नानावृत्तिमयसृष्टिनिदा-नमविद्याबीजमेवास्ते। यथा बीजे नष्टे न वृक्षसम्भावना, तथैव ज्ञानाग्निना अविद्यारूपे बीजे दग्धे न पुनर्नानावृत्तिमयसृष्टिसम्भावना। सूत्रेऽत्र अविद्याया मौलिकप्राधान्यमुपवर्णितम्। तल्लक्षणमग्रिमसूत्रे वक्ष्यते॥ ४॥

अविद्या लक्ष्यते—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या॥५॥

अनित्येषु पदार्थेषु नित्यत्वस्य, अशुचिषु शुचित्वस्य, दुःखदेषु सुख-त्वस्य, अनात्मसु च आत्मनो बुद्धिरविद्या प्रोच्यते। अविद्यया विपरीत-ज्ञानमुत्पद्यते। यस्य वस्तुनो वास्तविकं यत्स्वरूपम्, तद् विरह्य्य विपरीत-ज्ञानं या प्रकाशयति सैवाविद्या। अविद्ययैव हेतुभूतया विनश्वरेषु संसार-रूपैहलौकिकेषु स्वर्गादिपारलौकिकेषु च सुखेषु जीवस्य नित्यत्वबुद्धिः। अविद्ययैव मूत्रपुरीषाद्यपावनपदार्थसम्भृतशरीरे पवित्रताप्रतीतिः, मांस-वसाविकृतिरूपे रमणीदेहे च रामणीयत्वज्ञानम्। अविद्ययैव नाशशीलेषु परमदुःखदेषु विषयेषु जीवस्य सुखदातृत्वपरिज्ञानम्। तथैव च अनात्मनि जडरूपे पाञ्चभौतिकशरीरे जीवस्य चेतनस्वरूपस्यात्मनो बुद्धिरुत्पद्यते। एवंविधनानारूपमिथ्याज्ञानेषु जीवस्य निपातहेतुरविद्यैव।

ब्रह्मशक्तेर्महामायाया ज्ञानाज्ञानसम्बन्धतो भेदद्वयमाम्नातम्। ज्ञान-प्रसविनी विद्या, अज्ञानजननी चाविद्या प्रतिपादिता। स्मर्यते चात्र—

"विद्याऽविद्येति तस्या द्वे रूपे जानीहि पार्थिव।
विद्यया मुच्यते जन्तुर्बद्ध्यतेऽविद्यया पुनः॥" इति।

अविद्या हि विपरीतभावप्रदर्शनपुरस्सरं समुत्पादितसृष्टिजाले जीवं सुदृढं निबध्नाति। कालान्तरे च सोऽभ्यासवैराग्यप्रभावतो योगानुशासनपथ-

पथिको ज्ञानप्रसविन्या विद्याया उपासनया अविद्याबन्धनानि समूलं नाशयित्वा परमं पदमधिगच्छति। अतो ज्ञानजननी विद्या यावन्नोदेति, न तावज्जीवोऽविद्याजनितं क्लेशम् एकान्ततः परित्यक्तुं शक्नोति। तयैव विमोहितो जीवः सदैव अनित्ये नित्यत्वबुद्धिम्, अपवित्रे पवित्रबुद्धिम्, दुःखे सुखबुद्धिम्, अनात्मनि चात्मबुद्धिं प्रकुर्वाणस्तिष्ठति। अविद्ययैव कारणभूतया मोहमुपगतो जीवः पापं पुण्यरूपेण अधर्मं च धर्मरूपेण मन्यमानः सदैव दुःखेषु पापत्यमानस्तिष्ठति॥ ५॥

अविद्यालक्षणं वर्णयित्वा तद्भिन्नचतुर्विधक्लेशाः क्रमशोऽधो निर्दिश्यन्ते—

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतैवास्मिता॥ ६॥

दृक्छक्तौ दर्शनशक्तौ चान्योन्यमभेदप्रतीतिः अस्मिता प्रोच्यते। पुरुषे ज्ञानकारिणी दर्शनशक्तिर्विद्यते। बुद्धिरूपेऽन्तःकरणे दर्शनदातृत्वशक्तिर्वर्तते। द्रष्टा दर्शनयन्त्रं च नैकः पदार्थः। परन्तु येन द्रष्टरि पुरुषे दर्शनयन्त्रस्वरूपेऽन्तःकरणे चैकत्वप्रतीतिः, तस्यैव मायाप्रभावस्य नाम अस्मितेति। सर्वशक्तिः पूर्णज्ञानमयः परमेश्वरोऽस्मिताविरहितः, अतस्तत्र नास्ति भ्रमलेशोऽपि। परन्तु जीवस्य ज्ञानांशो जीवेऽन्तःकरणे चैक्यं स्थापयति। अतः कारणात् जडरूपान्तःकरणक्रियमाणकर्मकलापस्य चेतनरूपो जीवात्मा कर्तारं भोक्तारं चात्मानं मन्यते। एतद्भ्रमज्ञानवशादेव स्वस्वरूपेऽन्तःकरणे चाभेदं मन्यमानो जीवात्मा सर्वविधमपि सुखदुःखमुपभुङ्क्ते। परमात्मनः परमपुरुषस्य स्वरूपे सच्चिदानन्दभावस्यैव अद्वैतरूपतः स्थितत्वात् न तत्रास्मिता स्थातुमर्हति। यदा च अस्ति-भाति-स्वरूपसच्चिद्भावयोः पृथक्त्वेनानुभवस्तदैव द्वैतभावप्रबोधिन्या अस्मितायाः समुदयो जायते। एतदेव जीवब्रह्मभेदकारिण्या अद्वैतभावोत्पादिन्या अस्मितायाः स्वरूपम्। चित्तवृत्तिनिरोधस्य चरमफलरूपनिर्विकल्पसमाधेरुदये सति विद्याशक्तिबलेन स्वकारणीभूतयाऽविद्यया सह यदाऽस्मिताऽन्तर्दधाति, तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं जायते।

पुरुषस्य बुद्धेश्चैकात्मता न तात्त्विकीति ज्ञापनार्थम् 'एव'शब्द-प्रयोगः। अनाद्यविवेकेन उभयोर्भोक्तृभोग्यभावः केवलमौपचारिक एव। स च विवेकोदयेन प्रणश्यति, पुरुषश्च स्वीयं ज्ञानमयं स्वरूपमवबुद्ध्य विमुच्यते॥ ६॥

रागरूपस्य तृतीयक्लेशस्य वर्णनमनुतिष्ठति—

सुखानुशयी रागः॥ ७॥

सुखस्य भोगानन्तरं तत् स्मृत्वा सुखवृत्तिलोभेच्छैव रागः। अनेनैव रागेण अन्तःकरणरूपजलाशये बहुविधास्तरङ्गा आविर्भूयन्ते। वासना-जनितसंसारप्रपञ्चस्य प्रधानहेतू राग एव। वासनया रागस्तेन वासनेति कर्मणामनन्तधाराः प्रवाहयन् जीवो गमागमचक्रे निरन्तरं परिभ्राम्यति। रागो रजोमूलकः, स्तेनैव च संसारप्रपञ्चोत्पत्तिः। संसारोत्पत्तौ रागस्यैव जनकत्वपदमास्ते। रागेणैव निम्नगामिनः स्नेहस्य, उच्चगामिन्याः श्रद्धायाः, समानगामिनः प्रेम्णश्चोत्पत्तिः। एवं रागपाशबद्धा जीवाः संसारेऽत्र नानारूपेषु वम्भ्रम्यन्ते, रागेच्छयैव जीवो विषयरूपपाशेषु निपतति॥ ७॥

दुःखरूपश्चतुर्थः क्लेशो निरूप्यते—

दुःखानुशयी द्वेषः॥ ८॥

दुःखस्य अनुस्मरणपूर्वकं तत्रोत्पन्नविरुद्धभावनैव द्वेषः। दुःखज्ञातृषु दुःखानुस्मरणेन दुःखे तत्साधने वा क्रोधवृत्तिसमतुल्या रागवृत्तिविपरीता वृत्तिरेव द्वेषनाम्ना प्रोच्यते। दुःखलक्षणं पूर्वसूत्रे वर्णितम्, अत एव न पुनस्तदुच्यते। तद्दुःखस्य स्मरणेन भयेन च रागवृत्तिविपरीता तीव्रा अनिच्छावृत्तिरेव द्वेषाख्याऽवधेया। द्वेषस्तु तमोमूलको रागवृत्तिविरोधी च विद्यते। इमे एव राग-द्वेषवृत्ती आकर्षण-विकर्षणशक्तिमुद्भावयन्त्यौ समस्तस्यापि ब्रह्माण्डस्य सृष्टिस्थितिलयकर्मसु साहाय्यमाचरतः। रागेण सृष्टिः, द्वेषेण लयः, उभयसमतायां च स्थितिर्जायते। अतो रागे रजोगुणः, द्वेषे तमोगुणः, उभयसमतायां च सत्त्वगुणः समुदेति। रागद्वेषावुभावेव अविद्यासहायकौ, उभयोः समता विद्यासहायिका। जीवस्य बन्धनप्राप्ति-

विषये रागद्वेषौ समानौ स्तः। रागमन्तरेण द्वेषस्य द्वेषमन्तरा रागस्य च स्थितिरसम्भवा। सांसारिका द्वन्द्वप्रपञ्चा रागद्वेषमूलकाः। अतः क्लेशेषु द्वेषोऽपि पूर्णशक्तिशाली विज्ञातव्यः॥ ८॥

पञ्चमं क्लेशं निर्वक्ति—

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः॥ ९॥

मूर्खे पण्डिते वा, ज्ञानिन्यज्ञानवति वा, निरक्षरे किराते वेदपाठिनि विप्रे वा सर्वत्रैव समानरूपेण विद्यमाना आत्महितचिन्तनरूपिणी वृत्तिरेव अभिनिवेशसंज्ञया समाम्नाता। जन्मजन्मान्तरेषु पौनःपुन्येन समधिगतत्वात् मरणदुःखानुभवरूपा जीवितेच्छाजनिताः संस्कारसमूहा एव-स्वरस शब्देन प्रतिपादिताः। स्वरससंज्ञकसंस्काराणां वहनशीलत्वादभिनिवेशः स्वरसवाही प्रोक्तः। अभिनिवेशः किल किमिति मूर्खेषु, विद्वत्स्वपि दरीदृश्यते। अतः सूत्रे अपिशब्दः प्रयुक्तः। सर्वोऽपि प्राणी आत्महितचिन्तनपरायणः। "मया न मर्तव्यम्" इति समीहा विद्वस्वपि दृश्यते। मृत्युरूप-दुःखभोगादृते जीवस्य आत्महितचिन्तनमसम्भवम्। मरणेऽनिच्छारूपायाश्चिरायुष्ट्वे चेच्छारूपाया जीवसामान्यवृत्तेः कारणं मृत्युभयमेव। यतः पूर्वजन्मसु मरणकाले समधिगतनानाक्लेशानुभवेन मृत्यौ जीवस्यानिच्छा दृश्यते।

एतदपि पुनर्जन्मसिद्धिप्रमाणम्। सद्यः प्रसूते बाले ज्ञानविरहिते कीटपतङ्गे च यन्मृत्युभयं विलोक्यते, तत्तदीयपूर्वजन्मसंस्कारविजृम्भितम्। प्रत्यक्षानुमानशब्दप्रमाणैरज्ञातेष्वपि मरणजनितदुःखेषु तद्भयसमुत्पत्त्या सिद्ध्यतीदं यदत्र किञ्चित् पूर्वकारणं नूनमेव वर्तत इति। पुनर्जन्मैव एतत्पूर्वजन्मकारणम्। पूर्वजन्मानुभूतविषयाः संस्काराधीनत्वादस्मिन् जन्मन्यप्यनुभूयन्ते। सा हि मृत्युभयरूपक्लेशहेतुभूता स्वजीवनसमीहारूपिणी वृत्तिरेव अभिनिवेशनाम्ना समाख्याता॥ ९॥

वर्णितक्लेशानां विलयप्रकारः प्रोच्यते—

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः॥ १०॥

ते सूक्ष्माः पञ्चक्लेशाः प्रतिप्रसवहेयाः, अर्थात् क्रियायोगेन प्रतिलोमपरिणामद्वारा चित्तलयेन सह विलीयन्ते। पञ्चक्लेशाः पूर्वसूत्रेषूपवर्णिताः। समाधिपादोपवर्णितानां व्याधिप्रभृति-चित्तविक्षेपकरयोगविघ्नसमूहानां मूले पञ्चक्लेशा विराजन्ते। अतो महर्षिणा सूत्रकृता पूर्वं पञ्चक्लेशलक्षणानि वर्णयित्वा तन्नाशोपायाः प्रदर्श्यन्ते। योगाभिलाषिणा सर्वप्रथमं क्लेशाः परित्यक्तव्याः। यथार्थस्वरूपपरिज्ञानमन्तरेण कस्यापि पदार्थस्य हेयोपादेयता न सम्भवति, अतः पूर्वसूत्रेषु पञ्चानामपि क्लेशानां लक्षणोद्देश्योत्पत्तिस्थानानि समुपवर्ण्य तत्त्यागोपायोऽधुना प्रदर्श्यते।

सूक्ष्म-स्थूलभेदेन पञ्चापि क्लेशा द्विधा विभक्ताः। अन्तःकरणे कारणरूपेण विद्यमानाः सूक्ष्माः, विस्तृतिमापन्नाश्च स्थूलाः। सूक्ष्मावस्थापन्नाः क्लेशा बीजप्रणाशवत् योगेऽन्तःकरणविलयेन सहैवास्तं गच्छन्ति। स्थितौ च न पुनः प्रादुर्भवन्ति। स्थूलक्लेशलयोपाया अग्रे वक्ष्यन्ते। परन्तु सूक्ष्मक्लेशविषये ह्येतावदेवोक्तं यत् ते स्वकारणरूपेऽन्तःकरण एव प्रतिलोमविधिमनुसृत्य अन्तःकरणनिरोधात् लयमुपगच्छन्ति। पञ्चक्लेशा वृत्तयो न सन्ति। ते किल वृत्तिनिदानरूपाः चित्तगताः सूक्ष्माभावा एव। अतो वृत्तिविलयप्रकारत एतल्लयप्रकारो भिन्नः। समाधिनाऽन्तःकरणे विलीयमाने तेनैव साकं पञ्च क्लेशा अपि समूलं विलयमुपयान्ति॥ १०॥

स्थूलभावापन्न-क्लेशलयोपायं व्याचष्टे—

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः॥ ११॥

तद्वृत्तयः, तेषां क्लेशानां स्थूलावस्थागता वृत्तयो ध्यानेन हेयाः परित्याज्या भवन्ति। पूर्वसूत्रे पञ्चक्लेशसूक्ष्मदशानाशोपायं प्रदर्श्य सूत्रेऽत्र तत्स्थूलावस्थानाशोपाया उपवर्ण्यन्ते। सूक्ष्मभावमयी क्लेशानां सूक्ष्मदशा यदा कार्यरूपेण परिणमति, तदा सा वृत्तिरूपं विभ्राणा अन्तःकरणं विचालयति। येषां क्लेशानां कर्म प्रारब्धम्, तादृशोदारावस्थाप्राप्ता विस्तृतवृत्तय एव स्थूला वृत्तय इत्यवधेयम्। सुखदुःखमोहादिदायिन्यः स्थूलवृत्तयोऽन्तःकरणे स्वाधिपत्यमकार्षुः, अतोऽन्तःकरणं यावद्

ध्यानादियोगक्रियाभिर्न निरुद्ध्यते, न तावत्ता निरुद्धा भवितुमर्हन्ति। अतः स्थूलवृत्तयो ध्यानरूपक्रियायोगेनैव प्रणाशनीयाः। यया जीवोऽन्तःकरणेन असद्वस्तु सद्रूपेण पापं च पुण्यात्मना विचारयति, सैव वृत्तिरविद्यानाम। यया किल जीवः शरीरमात्मस्वरूपेण विजानाति, सा वृत्तिरस्मिता गीयते। यदा च रागेण प्रीत्यादयो द्वेषेण च शत्रुताप्रभृतयो वृत्तयः समुदीयमानाः अन्तःकरणस्य चञ्चलतां जनयन्ति, तदानीं ता एव रागद्वेषाख्यया प्रोच्यन्ते। इयं किल रागद्वेषयोरुदारा स्थूलावस्था। जीवनेच्छाभयजनितविशेषवृत्तयः समुदीय अन्तःकरणं विमोहयन्ति, तदा ता एव अभिनिवेशस्य उदारावस्थासंज्ञया प्रख्यायन्ते।

एतत्स्थूलदशाविलयोऽन्यापेक्षया सुकरोऽवधेयः। ध्यातृध्यानध्येयाख्यां त्रिपुटीं द्वारीकृत्य यदाऽन्तःकरणं वशमानीयते, तदा स्थूलवृत्तयस्ता निजान्तःकरणतः तिरोदधति। यतो ध्यानदशायां त्रिपुटीव्यतिरिक्तं नैव किञ्चिदपि प्रतीयते अतः स्थूलवृत्तयः स्वत एव विलीयन्ते। यथा च वस्त्रस्य मलं स्थूलं जलेन अपसार्यते, सूक्ष्मं च क्षारादिनाऽपनीयते, तथैव ध्यानादिक्रियाकलापेन अन्तःकरणे स्थिरीकृते तत्कालमेव स्थूलवृत्तयो विलयमुपयान्ति। यथाकथञ्चिद् विद्यमानाः सूक्ष्मवृत्तयोऽप्यन्तःकरणे समाधिस्थे सति विलयमुपढौकन्ते। सूत्रस्यैतस्य निर्गलितार्थोऽयमेव यत् निरन्तरध्यानादिसाधनेन महाक्लेशदायकाः स्थूलवृत्तयः प्रक्षीणाः सत्योऽन्तःकरणे विलीयन्ते। ततश्च साधको महाशत्रुभिर्नाक्रम्यते॥ ११॥

क्लेशैरेभिः कस्योत्पत्तिरित्यधो विविच्यते—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः॥ १२॥

क्लेशा एव मूलं यस्य तादृशः कर्माशयो दृष्टेऽदृष्टे च जन्मनि वेदनीयो भोगयोग्यतां धत्ते। सूत्रकृता महर्षिणा पूर्वसूत्रैः क्लेशभेदास्तन्निवृत्त्युपायाश्च समुपवर्णिताः। साम्प्रतमेतत्सूत्रद्वारा क्लेशोद्भूतः कर्माशयः प्रतिपाद्यते।

शुभाशुभकर्मानुष्ठानजन्यो वासनात्मको धर्माधर्मस्वरूपः संस्कारराशिरेव

कर्माशयाख्यया प्रोच्यते। फलोत्पत्तिकालपर्यन्तं संस्काररूपेण चित्तभूमौ कर्मस्थितिरिति आशयशब्दः प्रयुक्तः। पञ्चक्लेशहेतुनैव शुभाशुभकर्मात्मकः कर्माशयः समुत्पद्यते। दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयत्वेन कर्मणां भेदद्वयमवधार्यम्। येषां कर्मणां फलोपभोगो वर्तमानजन्मनि सम्पद्यते, तानि दृष्टजन्मवेदनीयानि, येषां च परजन्मनि, तानि अदृष्टजन्मवेदनीयानि प्रोच्यन्ते। पञ्चक्लेशप्रभावप्रत्युद्गतवृत्तिवीचिचिह्नस्वरूपाः संस्कारा यत्रान्तःकरणाकाशेऽङ्किताः, स एव कर्माशयोऽवधेयः। सूक्ष्मेण स्थूलेन वा देहेन जीवेन अनुष्ठीयमानकर्मवृक्षसंस्कारस्वरूपो बीजस्तदन्तःकरणचित्ताकाशे राशीभूतो जन्मान्तरीयकर्मभोगमुत्पादयति। असमुत्पन्नकर्मभोगोऽदृष्टजन्मवेदनीयः, समुत्पन्नकर्मभोगश्च संस्कारो दृष्टजन्मवेदनीयो वेद्यः। सदसद्रूपाणि दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयानि कर्माणि तीव्रां लघ्वीं वा गतिमनुसृत्य जायन्ते। यानि प्रबलकर्माणि सदसद्रूपाणि जीवस्य विद्यमानजन्मकर्मफलं निरुद्ध्य स्वीयं फलमुत्पादयन्ति, तानि दृष्टजन्मवेदनीयानि।

महात्मा नन्दीश्वरो देवाधिदेवमहादेवप्रीतये तीव्रं तपः समाचरन् इहैव जन्मनि मानवत्वाद् देवत्वं प्रपेदे। नहुषश्च असत्कर्मप्रभावतो ह्येकस्मिन्नेव जन्मनि तिर्यग्योनिमाससाद। यद्यपि चैतत्कर्मफलानि प्रायशो जन्मान्तरभोग्यानि, तथापि तान्युग्रवेगानि जन्मन्यस्मिन्नेव फलदानि जायन्ते। तादृशालौकिककर्मविशेषावस्था दृष्टजन्मवेदनीयत्वेनाऽऽख्यायते। अदृष्टजन्मवेदनीयकर्मस्वरूपं नासाधारणम्, यतः साधारणेषु जीवेषु तादृशकर्मणामेव प्रावल्यमवलोक्यते। अन्यथा जीवानुष्ठितपुण्यपापकर्मणां शुभाशुभफलानि सपद्येवाधिगतानि भवेयुः। प्रायशः साम्प्रतिक-कर्मसंस्कारा जीवान्तःकरणे बीजरूपेण तिष्ठन्तो जन्मान्तरे वृक्षस्वरूपतां दधते।

यद्यपि सूत्रकारो महर्षिर्दृष्टादृष्टभेदेन कर्मणां भेदद्वयमेवाङ्गीकृतवान्, परन्तु वेदान्तादिषु तेषां भेदत्रयमाम्नातम्। एतदवधानात् सूत्रार्थः सुस्पष्टः स्यात्। तथा हि—सञ्चित-क्रियमाण-प्रारब्धभेदेन कर्मणां त्रयो भेदाः। अनन्तजन्मसु विहितः फलोत्पत्तिविरहितः केवलं संस्काररूपेण

जीवकर्माशये विद्यमानः कर्मकलापः सञ्चितनाम्ना व्यपदिश्यते। विद्यमानशरीरेण नवसभीहया समनुष्ठीयमानो नूतनसंस्कारोत्पादकः कर्मराशिः क्रियमाणपदेनाऽऽख्यायते। कर्माशयसंगृहीतानन्तकर्मराशिभ्यः समाकृष्टो यो हि प्रबलः कर्मसमूहो विद्यमानजन्मफलोत्पत्तिजनकः, स प्रारब्धशब्देनाख्यायते। प्रारब्धकर्मणामिहैव जन्मनि फलावाप्तिः, सञ्चित-क्रियमाणानां च जन्मान्तरेषु इति साधारणो नियमः। किन्तु प्रबलक्रियमाणकर्माणि प्रारब्धतामुपेत्य इहैव जन्मनि फलमाविर्भावयन्तीति सूत्रेऽत्रोक्तमवधेयम्। अतः शास्त्रोक्तां योगभूमिमनुसृत्य इहैव जन्मनि भोगोत्पादको दृष्टजन्मवेदनीयः, जन्मान्तरभोगजनकश्च कर्मकलापोऽदृष्टजन्मवेदनीय इति कर्मणां भेदद्वयं सूत्रकृन्महर्षिमते समाम्नातम्।

अन्यदर्शनानि कर्मत्रैविध्यमङ्गीकुर्वते, तत्कथमिदं योगदर्शनं कर्मणां द्वैविध्यमेव सम्मनुते इति शङ्कायां इदमेव समाधानं यद् यौगिकः पुरुषार्थः सर्वत्रैव विषये नैजमलौकिकत्वमाविष्करोति। विचाररूपज्ञानेन मोक्षलाभ इति दर्शनान्तरमतम्। किन्तु योगदर्शनप्रोक्ता मुक्तिप्राप्तिपद्धतिः सर्वविलक्षणा। अलौकिकैकतत्त्वाभ्यासेन निर्वाणप्रत्यूहप्रणाशपूर्वकं निर्विकल्पसमाधिद्वारा मुक्तिपदमासाद्यत इति योगदर्शनसिद्धान्तः। अन्यदर्शनानि केवलं लौकिकप्रत्यक्षमेव सर्वतोऽभ्यर्हितं समामनन्ति, किन्तु योगदर्शनमेतत् स्वकीयलोकोत्तरपुरुषार्थपद्धत्या अलौकिकप्रत्यक्षसाहाय्येन दैवानि जगन्त्यपि परिचाययति। अन्यदर्शनानि कर्मणि पूर्णरूपेण स्वीयप्रभावविद्योतनशीलां पद्धतिं न परिदर्शयन्ति। परं योगदर्शनविज्ञानमिदं संयमशक्तिप्रभाव-परिज्ञानपूर्वकं बहुविधसिद्धीनामधिकारमर्पयद् योगिभ्यो निजामलौकिकीं शक्तिं प्रयच्छति, यया ते स्वीयेन संयमबलेन दृष्टमदृष्टरूपेण अदृष्टं च दृष्टरूपेण परिणमयितुं प्रभवन्ति। एतद्धि दर्शनस्यैतस्य वैचित्र्यमलौकिकत्वं च। अत एवैतद् दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयत्वेन कर्मणो द्वैविध्यमेव अङ्गीकुरुते ॥ १२ ॥

तत्परिणतिमाख्याति—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥

क्लेशानां कर्माशयमूले विद्यमानत्वात् तद्विपाकरूपा जात्यायुर्भोगा उद्भवन्ति। कर्मसंस्काररशिरेव कर्माशय इति प्रागुक्तम्। कर्माशयस्थ-कर्मरूपबीजेन भोगस्वरूप-द्रुमोत्पत्तिः विपाकनाम्ना प्रोच्यते। यथा सतुष-धान्यवपनेन अङ्कुरोत्पत्तिस्तथैव साधनैः पञ्चानां क्लेशानां यावत् समूलं प्रणाशो न क्रियते, तावत्ते विपाकरूपं कर्मफलं जनयन्त्येव।

जातिः, आयुः, भोगश्चेति त्रिविधो विपाकः। समानगुणप्रसवव्यक्ति-समष्टिरेव जातिः। गुणानां कर्मसहायकत्वात् गुणकर्मभेदादेव जातिभेदः। यथा च चतुर्विधभूतसमूहे उद्भिज्ज-स्वेदजा-ऽण्डज-जरायुजभेदाः, मानवेषु आर्या-ऽनार्यभेदाः, आर्येष्वपि ब्राह्मणादिभेदाः सन्ति, तथैव दैवे जगति देवर्षिपितृजातयः, देवेषु चापि गन्धर्व-किन्नर-विद्याधरप्रभृतयो जाति-भेदा विलसन्ति। स्थूलशरीरसाहाय्येनैव जीवानां कर्मभोगः। एकेन स्थूल-शरीरेण जीवसम्बन्ध एव आयुरुच्यते। तच्च जन्मतो मृत्युपर्यन्तमास्ते। शरीरविषयेन्द्रियतन्मात्रासाहाय्येन अन्तःकरणे सुखदुःखभानं भोगः।

आयुः कथमुत्पद्यत इति नूनमत्र विवेचनीयम्। मानवेतरजीवानामायुः समष्टिप्रकृत्यधीनमित्यलं तद्विवेचनेन। परन्तु मनुष्यायुर्निश्चयस्य अयं क्रमो यत् स्थूलशरीरपरित्यागकाले शरीरान्तरधारणादर्वाक् कर्माशयस्थ-पुरातनसञ्चितसंस्काररशिषु अङ्कुरोन्मुखसंस्काराः स्वीयफलोत्पत्तिपर्यन्तं जीवानामायुर्निर्धारयन्ति। यथा सप्तधातुमध्ये स्थापितं चुम्बकं केवलं लौहमेव समाकर्षति, तथैव स्थूलविग्रहमेकं परित्यज्य स्थूलविग्रहान्तर-ग्रहणकालेऽङ्कुरोन्मुखः प्रबलः संस्काररशिः सञ्चितकर्मराशितः समा-कृष्यमाणः शरीरान्तरप्राप्तिहेतुतां व्रजति। तत्फलमेव जात्यायुर्भोगा इति। भोगसमयनिर्धारणमेवायुः। यथा गभीरजलाशयान्तःस्थितो जलसमूहो न प्रत्यक्षीभवति, केवलं जलाशयस्योपरि विद्यमान एव दृष्टिगोचरतामभ्यु-पैति, तथैव चिदाकाशाङ्कितोऽनन्तकर्मकलापो यथास्थानमेव संतिष्ठते, केवलं देहान्तरप्राप्तिकाले यावान् संस्काररशिश्चिदाकाशसमाकृष्टो मानवचित्ताकाशमाश्रयति, तेनैव जात्यायुर्भोगसमुत्पत्तिः। तद्भोग-काल एव आयुर्व्यपदिश्यते।

मानवस्य मानसिकी शारीरिकी च प्रकृतिर्विषयश्चेति त्रिभ्यो योग-सम्बन्धः। विरक्तानां साधुसंन्यासिनामनुरक्तानां भूपतीनां च मानसिक-प्रकृतितारतम्येन विषयभोगेऽपि नूनं तारतम्यसम्भावना। एवमेव तामसिक-सात्त्विकयोः पुरुषयोः शारीरिक्यां प्रकृतौ महदन्तरेण भोगेऽपि सुमहदन्तरं प्रतीयते। विषयभेदेन भोगभेदः सम्भव एव। अतो भोगोत्पत्तौ पूर्वोक्तास्त्रयो विषया ध्रुवमेव अवस्थान्तरं जनयन्ति। एवं हि कर्माशय-स्वरूपकर्मबीजतः समुत्पद्यमानस्य विपाकवृक्षस्य जात्यायुर्भोगाश्चेति फलत्रय-मवगन्तव्यम्।

कर्माशयतः कर्मविपाकसमुत्पत्तिसम्बन्धे जिज्ञासूनामयं सन्देहो जागर्ति यत् कर्मेदं एकस्य अनेकस्य वा जन्मनः कारणम्? तथैव च अनेकानि कर्माणि एकस्य अनेकस्य वा जन्मनः कारणानि? इति। सन्देहोऽयं समाधीयते—एकं कर्म एकजन्मकारणं भवितुं नार्हति। यतो ह्यनादि-कालाद् अनादिसृष्टिद्वारा संख्यातीतकर्मसमूहेभ्यः कर्मणैकेन जन्मैकं परमेश्वरः प्रयच्छति चेत्तर्हि कर्मणां संग्रहे नियमव्याघातो दुर्निवारः। यत एकस्मिन्नेव दिवसे स्वल्पसमये वा मानवो देव-मनुष्य-पश्वादियोन्युप-योगिनं कर्मकलापं संगृह्णाति। तदेतत्क्रमानुसारेण जन्मनाऽपि भवि-तव्यम्। किन्तु नैतत्सम्भाव्यते। भगवतोऽभ्रान्तनियमेषु च भ्रान्ते-रुत्पत्तिः स्यात्। एकस्मिन् दिवसे मानवैः देव-पशु-मनुष्य-तिर्यग्योनियोग्य-कर्माणि संगृह्यन्ते, तर्हि तैः कुत्र कुत्र योनौ क्रमशो गन्तव्यमित्यसम्भव-मेतत्। कर्मणा चैकेन अनेकजन्माधिगमस्वीकारे प्राक्कृतानन्तकर्माणि विफ-लतां प्राप्नुयुः। एकेन कर्मणाऽनेकजन्मोत्पत्त्या पूर्वानुष्ठितानेकर्मणां फला-वाप्तिसमय एव नासादितः स्यात्। अनेककर्माणि चानेकजन्मकारणान्यपि नैव भवितुमर्हन्ति, यतश्चैककाले अनेकजन्मसम्भवोऽसम्भवः।

अतः सिद्धान्तोऽयं विचारकोटीमाटीकते यत् समनुष्ठितः समनुष्ठीय-मानश्च कर्मकलापः कर्माशयस्वरूपस्थाने चैकत्र सम्मिलितः क्रमशः प्राधान्याप्राधान्येन फलं प्रयच्छन् दृष्टादृष्टरूपेण जन्मनो जन्मान्तरस्य च हेतुतामुपढौकते। अर्थात् सञ्चितेषु अङ्कुरोन्मुखप्रधानकर्माणि,

क्रियमाणकर्माणि च महोग्राणि जात्यायुर्भोगरूपैकजन्मफलानि प्रयच्छन्तीति पूर्वोक्तसूत्रसिद्धान्तः।

एवं हि सञ्चिताप्रधानकर्मसु शरीरान्ते प्रधानीभूतकर्माणि पुनर्जन्मान्तर-सृष्टिकराणि जायन्ते। योगदर्शनमिदं ह्येतन्निश्चिनोति यद् योगशक्त्या साधकः स्वीयप्राचीनकर्मराशिभ्योऽनेकान् संस्कारान् समाकृष्य नूतनकर्म-कलापान् अवरुद्ध्य च जात्यायुर्भोगरूपानधिकारान् न्यूनाधिकान् विधातुमर्हति। मानवोऽपि नन्दीश्वरः स्वकीयया ऽलौकिक्या तपश्चर्यया दैवीं जातिमासाद्य देवभोगानध्यगच्छत्। राजर्षिर्विश्वामित्रोऽपि लोकोत्तर-योगसाधनादितपसा स्वीयां मानसिकीं शारीरिकीं प्रकृतिं चावधूय जन्मन्येकत्रैव ब्रह्मर्षित्वं प्रपेदे। इयमेव एतस्य योगदर्शनविज्ञानस्य अलौ-किकता वेद्या॥ १३॥

तदुदर्कं निश्चिनोति—

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्॥ १४॥

ते जात्यायुर्भोगाः पुण्य-पापजनकत्वात् शुभाशुभफलोत्पादकाः समा-म्नाताः। पुण्य-पापभेदेन कर्मणो द्वैविध्यमास्ते। अतो जात्यायुर्भोगजनकः कर्मविपाकः सुख-दुःखदायको बोध्यः। पुण्यार्जिता जात्यायुर्भोगाः सुखो-दर्काः, पापार्जिताश्च दुःखोत्तरफलाः सन्ति।

एतत्संस्कारजन्य-भोगवैचित्र्यहेतुना सुख-दुःखदायकानां स्वर्ग-नरक-लोकानां क्लेशमयप्रेतलोक-शान्तिपूर्णपितृलोकादीनां सृष्टिः। इमे भोग-लोकाः कर्माशयक्रियाभिः सम्बन्धनिबन्धनाः। स्थूललोकेऽप्यत्र ज्ञानिनो-ऽज्ञानिनश्चेत्यादिभेदाः कर्माशयप्रभावोत्पन्ना वेदितव्याः। सुख-दुःख-स्वरूपो भ्रान्तोऽनुभव आकीटपतङ्गेभ्यो मानवपर्यन्तं दरीदृश्यते। परन्तु ज्ञानपरायणयोगिभिः किञ्चिदन्यदेवानुभूयते। तद्वर्णनमग्रे वक्ष्यते॥ १४॥

विवेकवतां सर्वं दुःखमयमिति निरूपयति—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिरोधाच्च
दुःखमेव सर्वं विवेकिनः॥ १५॥

विषयसुखैः साकं परिणाम-ताप-संस्कार-दुःखसत्त्वात् सत्त्वरजस्तमोगुणजनितानां सुखदुःखदायकवृत्तीनां चान्योन्यविरोधाद् विवेकवन्तः सर्वं दुःखमयमेव मन्यन्ते। रागद्वेषहेतुत्वात् किल सर्वैरपि जीवैः सुखदुःखमनुभूयते। रागद्वेषवृत्ती परस्परं विरोधिन्यौ। रागोत्पन्नं रागजं द्वेषप्रादुर्भूतं च द्वेषजं कर्म सुखदुःखदायके मन्येते।

सूक्ष्मेक्षिकया विचारे क्रियमाणे इदमेव निश्चीयते यद् इन्द्रियतृप्तिजनकं कर्म सुखाधायकं तद्भिन्नं च दुःखकरमिति। विषयभोगपरिश्रान्तानि इन्द्रियाणि स्वयं शान्तिमापद्यन्त इति देहात्मवादिजल्पनं सारशून्यमवधेयम्। त्रिगुणमयी प्रकृतिरस्थिरा निरन्तरमवस्थान्तरं धत्ते। विषयभोगेन इन्द्रियाणि तमोगुणहेतुना शान्तवत्प्रतीयन्ते। तदीयशान्तिहेतुस्तमोगुण एव। परन्तु स्वाभाविकनियमद्वारा गुणपरिवर्तने सम्पद्यमाने तमःस्थाने रजःस्फूर्तिरवश्यम्भाविनी। ततस्तानीन्द्रियाणि कार्यपटूनि भूत्वा पुनरपि स्वविधेयविधाने व्याप्रियन्ते। यथा किल घृताहुत्या क्षणाय शान्तिमापन्नोऽग्निः पुनरपि तीव्रतामुपैति, तथैव इन्द्रियाण्यपि विषयभोगेन न शान्तिमाप्नुवन्ति। प्रत्युत पुनःपुनरभ्यासदार्ढ्यात् प्रावल्यमासाद्य विषयभोगे नितरामेव प्रसज्जन्ते। अतो योगिभिः सुखमपि दुःखोदर्कमनुभूयते।

यथा शारीरिकामयविध्वंसी आयुर्वेदो रोगः, रोगहेतुः, आरोग्यम्, चिकित्सा चेति व्यूहचतुष्टयेन रोगनाशं विधत्ते, तथैव भवरोगहरं योगशास्त्रमपि हेय-हेयहेतु-हान-हानोपायाख्यैश्चतुर्व्यूहैः जीवानां भवरोगं शमयति। दुःखबहुलः संसारोऽयं हेयः, प्रकृतिपुरुषसंयोगो हेयहेतुः, तत्संयोगस्य आत्यन्तिकनिवृत्तिर्हानम्, विवेकेन पुरुषसाक्षात्कारश्च हानोपायः स्वीकृतः। सुखाभावरूपं दुःखं दुःखाभावरूपं च सुखमिति सुखदुःखस्वरूपं निर्णीतवन्तः सर्वजीवहितैषिणो महर्षयो दर्शनशास्त्रेषु। इन्द्रियेषु विषयसुखप्राप्त्यर्थं चञ्चलतां प्रपन्नेषु तच्चाञ्चल्यजनितम् अन्तःकरणवैकल्यमेव दुःखम्। स्वकीयलक्ष्यासादनेन विषयसुखप्राप्त्या इन्द्रियाणां चाञ्चल्यराहित्याद् अन्तःकरणस्य शान्तिरेव सुखम्। विषयाणां क्षणभङ्गुरत्वेन तद-

वस्थापरिवर्तनमवश्यम्भावि। अवलम्बनानाशेन पूर्ववत् चाञ्चल्यमासादयत्सु इन्द्रियेषु दुःखोत्पत्तिरित्येव सुखदुःखाधिगमक्रमः। अतो योगिभिरन्योऽन्यं कारणीभूतमुभयमपि दुःखमेवानुभूयते।

ताप-परिणाम-संस्कारभेदेन तद्दुःखं त्रिविधमुदीर्यते।

स्वसमानं सुखिनमवलोक्य ईर्ष्यायाः, निकृष्टं च परिलक्ष्य घृणायाः समुत्पत्तिस्तापः। सुखभोगकाले सुखसाधनपूर्णतायाः अभावेन सुखविरोधिपदार्थानामस्तितया तां प्रति द्वेषेण च सुखाभावाशङ्काभिः सुखसमृद्धिचिन्ताभिश्च सुखप्रयासिना विषयिणा पुरुषेण यद् दुःखमासाद्यते, तदपि तापदुःखान्तर्गतमेव।

सुखभोगपरिणामे हुतघृतः पावक इव भोगतृष्णा न निवर्तते, प्रत्युत क्रमशः प्रवर्धते। तया ह्यशान्तिचाञ्चल्यप्रादुर्भूतमसुखमुत्पद्यते। तदपि परिणामदुःखेऽन्तर्भवति। यं च विषयमधिगन्तुम् इन्द्रियाण्यधावन्, तद्विषये परिपूर्णतामुपगते (अर्थाद् रत्यन्ते) यो हि वैकल्योदयः, सोऽपि परिणामदुःखशब्दवाच्यः।

सुखदुःखाधायक-वस्तुसमुदयेन भोगद्वारा रागद्वेषजनितसंस्कारोत्पत्त्या वासनोदये जाते सुखं प्रति रागो दुःखं प्रति द्वेषश्च समुत्पद्यते। एवं संस्कारधाराया अविरामगत्या गतागतचक्रेऽत्र जीवान्तःकरणे यद्दुःखमाविर्भवति, तद्धि संस्कारदुःखमाख्यायते। विषयभोगकाले समतीते पुनस्तत्प्राप्तिनिराशस्य वृद्धावस्थोपभुक्त - पूर्वसुखस्मृत्या यद् दुःखमुत्पद्यते, तदपि संस्कारदुःखमेव।

प्रकृतेस्त्रैगुण्यात् परिवर्तनशीलत्वाच्च सत्त्वरजस्तमोगुणैः सुखदुःखमोहजनिकाश्चित्तवृत्तयो विषयिणामन्तःकरणे सदैव जागर्तिमापद्यन्ते। सुखदुःखमोहात्मिकासु वृत्तिषु परस्परं विरोधसम्बन्धात् एकस्याः समुदयावसरेऽन्ययोर्द्वयोः पराभवेन विषयिणो जीवस्य चित्ते गुणवृत्तिरोधजन्यमसुखं सदैव सन्तिष्ठते। त्रिविधदुःखपरिणामो गुणवृत्तिनिरोधजन्यं दुःखं च प्रत्येकेनापि सुखेन सह संलग्नमास्ते। एवं विचार्य प्रज्ञावन्तो योगिनो

विषयसम्बद्धं सुखमसुखं च सुवर्ण-लौहशृङ्खलावन्मन्यमानाः परिणाम-बन्धनकरं दुखदमेव मन्यन्ते। वैषयिकसुखेषु दुःखावबोधो विवेकिभिरेव अनुभूयते। विषयविषसेवापरायणैरविवेकिभिस्तु किमपि दुःखं नानुभूय विषयविमुग्धैरेव भूयते। अत एव सूत्रेऽत्र 'विवेकि'शब्दप्रयोगः।

ऊर्णातन्तुः देहान्यभागपतितः सन् दुःखदायको न जायते। किन्तु स एव नेत्रनिपतितः सुमहान्तं क्लेशमुत्पादयन् मानवमन्धीकुरुते। तथैव विषयसुखस्य अवश्यम्भाविपरिणामदुःखवत्त्वेन यद्यपि अविवेकिनो मानसे किञ्चिदपि दुःखं नोत्पद्यते, किन्तु विवेकिपुरुषैस्तेन दुःखमेवानुभूयते। मिथ्याज्ञानरूपिणी अविद्या क्लेशकर्म-तत्फलस्वरूपहेतुरिति निर्णीतपूर्वम्। सूत्रेणैतेन महर्षिणा सूत्रकृता निर्णीतमिदं यत् सुखदुःखफलोत्पत्तिमूले-ऽविद्याया विद्यमानत्वात् तदुभयमपि दुःखाकरमेवेति त्याज्यमेव योगयुक्त-ज्ञानिभिरिति॥ १५॥

चतुर्थं हेयस्वरूपं निरूपयति—

हेयं दुःखमनागतम्॥ १६॥

अनागतं दुःखं हेयमेव। भुक्ते भुज्यमाने च दुःखे न किमपि विचा-रणीयम्, यतो द्विविधमेतत् जीवानुभवगोचरम्। भविष्यत्कालजन्यम् अनारब्धभोगदुःखमेवात्र विविच्यते। अप्राप्तदुःखं हेयमवगत्य तत्त्यागे योगपरायणैः पुरुषार्थो वितन्यते। अप्राप्तदुःखं त्याज्यमनुभूय साधकैः साधनमाचरणीयमिति महर्षिसूत्रकृतस्तात्पर्यम्। विवेकोदयेन समुत्पत्स्य-मानानाम् अध्यात्माधिदैवाधिभूतदुःखानां बीजनाशे नष्टबन्धनो जीवः स्वरूपं प्रतिपद्यते। अतोऽनागतदुःखनिवृत्तये योगिभिः पुरुषार्थोऽनुष्ठेयः।

स्थूलेन सूक्ष्मेण च शरीरेण समुत्पन्नं शारीरिकं मानसिकं च दुःख-माध्यात्मिकमुच्यते। दैवप्रेरणया वज्रपातादिना समुद्गतमाधिदैविक-माख्यायते। प्राणिनो द्वारीकृत्य आविर्भूतमाधिभौतिकमाम्नायते। सर्वेषां कर्मजन्यत्वेऽपि जीवस्वपिण्डोत्पन्नमाध्यात्मिकम्, दैवोत्पादितमाधिदैविकम्, अन्यजीवपिण्डप्रभवं चाधिभौतिकं प्रणिगद्यते।

यद्यपि देवा एव निखिलकर्मप्रेरकाः, किन्तु निमित्तभेदात् कर्मभेदः। त्रिविधदुःखानामेषां पृथक् पृथक् स्वरूपं पूर्वसूत्रैः समुपवर्णितमेव। सुतरां तत्त्वज्ञैः विचारपूर्वकं दुःखस्वरूपं तदवस्थां च निर्णयद्भिः सर्वविधमेव दुःखं हेयमवधार्य तत्परित्यागे यत्नोऽनुष्ठीयते ॥ १६ ॥

हेयहेतुं निर्णयति—

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

द्रष्टृदृश्ययोरेकत्वसम्बन्ध एव त्रिविधदुःखमय-संसारहेतुः। द्रष्टा पुमान् दृश्येन बुद्धितत्त्वस्वरूपान्तःकरणेन सह अविद्यया सम्बद्धः स्वरूपमन्तःकरणाभिन्नम् अनुभवति, तत्प्रतिपत्तिरेव द्रष्टृदृश्ययोरेकत्वसम्बन्धः। शुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपश्चेतनः अनाद्यविद्यया नैजं स्वरूपमन्तःकरणाभिन्नं मन्यते। तदानीं जडरूपायास्त्रिगुणमय्याः प्रकृतेः स्वाभाविकैर्गुणैरन्तःकरणेऽपि परिवर्तनं जायते। अर्थात् विषयाविष्टमन्तःकरणं विषयवत् प्रतीयमानं तज्जन्यसुखःदुखक्लेशानुभवति। चैतन्यस्वरूपः पुरुषोऽपि निजस्वरूपमन्तःकरणाभिन्नं स्वीकुरुते। यथा संसारेऽत्र अनेकबालकेषु रोगग्रहग्रस्तेषु सत्स्वपि नैजमेव शिशुं पीडया परिपीड्यमानं निभाल्य स्नेहमयी तज्जननी स्वयं क्लिश्यति, तथैव नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपः पुरुषोऽपि नैजं स्वरूपं जडमयमन्तःकरणम् अविद्यया मन्यमानः स्वीयान्तःकरणानुभूतं क्लेशराशिमपि स्वयमनुभवति। हेयहेतु-विचारप्रवृत्तस्तत्त्वज्ञानी अज्ञानजनन्या अविद्यायाः प्रभावेण चिज्जडग्रन्थिरूप-द्रष्टृ-दृश्यमिथ्यासम्बन्धो जातः, स एव दुःखमूलमित्यवबुद्ध्यते।

द्रष्टा किल शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो दुःखातीतश्च, दृश्यरूपा प्रकृतिः परिणामिनी दुःखप्रसविनी च। उभयोरज्ञानोत्पन्नो मिथ्यासम्बन्ध एव दुःखनिदानम्। अत एतन्मिथ्यासम्बन्धनिराकृतौ तत्त्वज्ञैर्योगानुशासनरतैर्वोभूयते। सूत्रकारमहर्षितात्पर्यमेतद् यत् द्रष्टुः पुरुषस्य दृश्यरूपान्तःकरणेन यो हि मिथ्याभूतः एकत्वसम्बन्धः, स एव सर्वविधक्लेशहेतुः। अतो मुमुक्षुभिर्द्रष्टृदृश्यैकत्वसम्बन्धः परिहर्तव्य इति ॥ १७ ॥

इदानीं हानस्वरूपपरिज्ञानाय दृश्यरूपं विविनक्ति—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

प्रकाशः सत्त्वस्य स्वभावः, रजसः क्रिया, तमसश्च स्थितिरालस्यमिति यावत्। इमे त्रयस्त्रिगुणात्मिकायाः प्रकृतेः स्वभावसिद्धगुणाः परस्परं न भिद्यन्ते। यत्र यस्य प्राधान्यं तत्र तस्य गुणस्यैव कार्यं मन्यते। अत एव सत्त्वरजस्तमोगुणमयं दृश्यं प्रकाश-क्रिया-स्थितिशीलमुदीरितम्।

भूतपदेन पृथिव्यादिपञ्च, पञ्चतन्मात्राश्चेति दश गृह्यन्ते। इन्द्रियशब्देन च पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, अन्तःकरणावच्छिन्नानि अहङ्कृति-बुद्धि-मनांसि चेति त्रयोदश गृह्यन्ते। सर्वाणीमानि मिलित्वा त्रयोविंशतितत्त्वानि दृश्यपदेनाऽऽख्यायन्ते। तदेतद् दृश्यं त्रिगुणवैषम्यजनितं बोध्यम्। त्रिगुणसाम्यदशा प्रकृतिरभिधीयते। प्रकृतिविकाररूपदृश्येन साकमौपचारिकसम्बन्धेन पुरुषो दृश्यभोक्ता मन्यते। एतद्दृश्यस्वरूपपरिज्ञानात् पुरुषोऽपवर्गं लभते।

दृश्यं किल भोगापवर्गार्थम् इति सूत्रे निर्दिष्टम्। भोगोऽपवर्गश्च अर्थः प्रयोजनं यस्य तद् दृश्यम्। पुरुषस्य कृते भोगश्च अपवर्गश्चेति उभावपि हेतुभूतौ समाम्नातौ। स्वीयत्रिगुणवैषम्यहेतुना प्रकृतिर्हि परिणामिनी भूत्वा चतुर्विंशतितत्त्वविभक्ता अविद्यानाम धत्ते। प्रकृतेर्वैषम्यावस्थेयं बन्धनहेतुः। यदा च सा स्वीयां परिणामदशां परित्यजन्ती पूर्वोक्तांस्त्रयोविंशतिविकारान् आत्मसात्कृत्वा चतुर्विंशतिरूपां साम्यावस्थामासादयन्ती शुद्धसत्त्वमयी भवति, तदाऽसौ 'विद्या'शब्दसमाख्याता जीवस्य मुक्तिहेतुतां प्रपद्यते। अतो दृश्यं हि भोगापवर्गार्थमिति सूत्रे व्याख्यातम्।

संसारः किल त्रिगुणमय्याः प्रकृतेर्विस्तारस्वरूपः। जिह्वा-नासिका-कर्ण-नेत्र-त्वगरूपाणां पञ्चेन्द्रियाणां रस-गन्ध-शब्द-रूप-स्पर्शस्वरूपाणां पञ्चतन्मात्राणां च साहाय्येन त्रिगुणमयमन्तःकरणं बाह्यविषयान् गृह्णन्

गुणानां प्राधान्यात् सर्गप्रक्रियां वितनुते। अतः सर्गसङ्घातोऽयं त्रिगुणमय्याः प्रकृतेर्विस्ताररूप एव। निष्क्रियोऽपि पुरुषः अविद्ययैव नैजं स्वरूपमन्तःकरणाभिन्नं मन्यत इति प्रागेव प्रपञ्चितम्। यथा सैनिकसमनुष्ठितस्य विजय-पराजयरूपकार्यकलापस्य फलभोक्ता राजा मन्यते, तथैव प्रकृतिकृतबन्धन-मोक्षकर्मफलभोक्ता पुरुषो ज्ञायते। द्रष्टा पुरुषः, दृश्या च प्रकृतिः। अविद्यया यावदयं द्रष्टृ-दृश्यसम्बन्धस्तावदेव संसारो भोगश्च। एतत्सम्बन्धविच्छेदेन पुरुषो हि प्रकृतिपाशविमुक्तः स्वरूपं प्रतिपद्यते॥ १८॥

दृश्यं लक्षयित्वा तदवस्थाचतुष्टयं निर्दिशति—

विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि॥ १९॥

विशेषः, अविशेषः, लिङ्गम्, अलिङ्गं चेति गुणानामवस्थाचतुष्टयमुच्यते। दृश्यस्वरूपायाः प्रकृतेर्विशिष्टस्वरूपनिर्णयार्थं सूत्रेऽत्र तद्दशाचतुष्टयं निरूपितम्।

सांख्यदर्शनप्रणेत्रा महर्षिणा कपिलेन त्रिगुणमयी प्रकृतिश्चतुर्विंशतितत्त्वैर्विभक्ता। तथा हि—आकाशः, वायुः, अग्निः, जलम्, पृथ्वी चेति पञ्चभूतानि। शब्दः, स्पर्शः, रूपम्, रसः, गन्धश्चेति पञ्च तन्मात्राः। कर्णः, त्वक्, नेत्रम्, जिह्वा, नासिका चेति पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि। वाक् पाणिः, पादः, उपस्थः, गुदा चेति पञ्च कर्मेन्द्रियाणि। एतत्सर्वाधारस्वरूपस्य अन्तःकरणस्य मनः, बुद्धिः, अहङ्कारश्चेति त्रयो भेदाः। अव्यक्ता प्रकृतिश्चेति चतुर्विंशतितत्त्वानि।

चतुर्विंशतितत्त्वानाम् एतेषां स्थूल-सूक्ष्म-कारणभेदेन दशात्रयम्, अव्यक्ता प्रकृतिश्चेति मिलित्वा गुणानां चत्वारो भेदाः समाम्नाताः। तथा हि—१. भूतानि पञ्च, कर्मेन्द्रियाणि पञ्च, ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च, मनश्चेति विशेषावस्था। २. पञ्चतन्मात्रा अहङ्कारश्चेति अविशेषावस्था। ३. ज्ञानाधारस्वरूपं महत्तत्त्वमेव लिङ्गावस्था। ४. साम्यावस्थायुक्तस्य प्रकृत्यपरनामकस्य प्रधानस्य दशैव अलिङ्गावस्था बोध्या। एतदवस्थाचतुष्टयपरिज्ञानं योगिभिरवश्यमेव सम्पादनीयम्।

चतस्रो दशाश्चेमा हेयान्तर्गताः। अवस्थाचतुष्टयसंवलितस्य दृश्यस्य परिबोधेन द्रष्टा पुरुषः स्वरूपे सन्तिष्ठते। बन्धनकारिस्वरूपपरिज्ञानादेव पुरुषो दृश्यप्रपञ्चतो विमुच्यते ॥ १९ ॥

हेयरूपं दृश्यमुपवर्ण्य द्रष्टृस्वरूपं व्याचष्टे—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

द्रष्टा पुरुषश्चेतनमात्रः शुद्धोऽपि बुद्धिवृत्त्युपरक्तो दृश्यवत् प्रतीयते। ज्ञानात्मिकया बुद्ध्यैव जीवः सदसत् कर्म निर्णयति। जीवाधारस्थलस्य अन्तःकरणस्य प्रधानवृत्तिर्बुद्धिरेव। बुद्धिर्हि पुरुषनैकट्यसम्बन्धवती। पुरुषः स्वीयधिषणयैव सदसद् विचारयतीति हेतोस्तद्विचारितस्य सदसद्वस्तुनो विवेकी पुरुष एवेति निर्णीतम्। बहिर्दृष्टिपरायणत्वात् चाञ्चल्यमापन्नायां बुद्धौ न सदसद्विचारप्रादुर्भावः। स्थैर्यमुपगतायां तस्यां पुरुषसाहाय्येन सद्विचारयोग्यता समुदेति। यथा यथा पुरुषसम्बन्धो बुद्धौ प्रवर्धते, तथा तथा ज्ञानशक्तिरपि बुद्धेः समेधते। अतो बुद्धेः पुरुषस्य च स्वातन्त्र्यं सिद्ध्यति। द्रष्टा पुरुषः शुद्धः साक्षी चिन्मयश्च। प्रकृतिसङ्गदोषप्रभावादेव तत्र दोषो भासते।

पुरुषस्य विशुद्धचैतन्यस्वरूपनिर्णयार्थं 'मात्र'शब्दप्रयोगः। चैतन्यधर्मवान् पुरुषो नास्ति, स च चैतन्यस्वरूप एव। अतो धर्मधर्मिभावनिरासार्थं सूत्रेऽत्र मात्रशब्दः प्रयुक्तः।

परिणामादिधर्मरहितत्वमेव शुद्धत्वम्। प्रत्ययाख्यया बुद्धिवृत्त्याऽनुसृतश्चैतन्यरूपो धर्मधर्मिभावविरहितः उदासीनोऽपि पुरुषो द्रष्टा प्रतीयते। अयमेव सूत्रगत-'प्रत्ययानुपश्य' शब्दार्थः। बुद्धिप्रतिबिम्बितस्य पुरुषस्य द्रष्टृरूपेण आत्मनः प्रतिभानमेव बन्धनम्, विवेकद्वारा चैतन्यमयोदासीननिजस्वरूपावगतिर्मुक्तिः। यथा निर्मलः शुद्धोऽपि स्फटिकमणी रञ्जितवस्तुसाहचर्याद् रञ्जितः प्रतीयते, तथैव शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः परिणामादिरहितः पुरुषोऽपि प्रकृतिजन्यदृश्यसम्पर्कतो द्रष्टृरूपं धत्ते। द्रष्टृदृश्ययोः यथार्थरूपपरिज्ञानं मोक्षः ॥ २० ॥

द्रष्टृदृश्यस्वरूपं निरूप्य तयोः परस्परापेक्षित्वसम्बन्धो निरूप्यते—

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

दृश्यस्य आत्मा तदर्थ एव = तस्य द्रष्टुः पुरुषस्य भोगापवर्गार्थ एव वेद्यः। सृष्टिक्रियेयं दृश्यस्वरूपप्रकृतिजन्या, पुरुषो निष्क्रिय एव। परन्तु द्रष्टृ-दृश्ययोरेकत्र सम्बन्धसत्त्वात् दृश्यकार्यं द्रष्टा स्वकीयमवधारयति इति पूर्वमेव सुनिर्णीतम्। सूत्रेऽत्र इदं निर्णीयते यत् प्रकृतिविधीयमानं विधेयजातं सर्वमपि पुरुषस्य भोगापवर्गार्थमेव। पुत्रे जाते मातुस्तनयोर्दुग्धसमुत्पत्तिः स्वाभाविकी। दुग्धमेतत् पुत्रोपभोगार्थम्। पुरुषसद्भावात् प्रकृतिसद्भावः, पुरुषास्तिताभावे प्रकृतेरस्तिता कदापि न सम्भवा। यथा निष्क्रियचुम्बक-सान्निध्येन अयसि क्रियोत्पत्तिस्तथैव निष्क्रियपुरुषसामीप्यात् दृश्यप्रादु-र्भूततन्मात्रेन्द्रियादिविकारः पुरुषभोगापवर्गार्थ एव, न दृश्यार्थ इति। एतदेव सूत्रगतस्य 'एव'शब्दस्य तात्पर्यम्।

प्रकृतिविकृतिमवेक्षमाणः पुरुषस्ततो विरक्तो यदा स्वरूपे तिष्ठति, न तदानीं तदर्थं प्रकृतेरस्तित्वप्रयोजनम्। स्वरूपस्थितस्य पुरुषस्य कृते तत्-प्रकृतिर्लयत्वमुपैति। प्रकृतेरस्तिता पुरुषबन्धनदशासमपेक्षिता। मुक्तदशायां तदस्तिता निष्प्रयोजना। पराधीना जडा प्रकृतिश्चैतन्यमयस्वाधीनपुरुष-सत्तां निर्विभर्ति। पुरुषसत्तयैव प्रकृतिसत्तेति निर्गलितोऽर्थः। अतो दृश्य-सद्भावः पुरुषभोगापवर्गार्थ एवेति सिद्धम्॥ २१ ॥

मुक्तामुक्तपुरुषस्य कृते दृश्यस्थितिं व्याचष्टे—

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

मुक्तपुरुषं प्रति नष्टमपि प्रधानं नैव प्रणश्यति, यतस्तदन्यत्र प्रतीयते। पुरुषहेतव एव दृश्यप्रयोजनमिति पूर्वसूत्रे निश्चितम्। किं तर्हि दृश्यस्य परिणतिराहित्याद् जागतिकाः सर्वेऽपि द्रष्टारो विमुच्यन्त इति ? समाधत्ते— ज्ञानोदयेन अविद्याजनिते भ्रमे विनष्टे दृश्यपदार्थाः प्रणश्यन्त्येवेति निश्चि-तम्, परमियं स्थितिरेकस्य मुक्तपुरुषस्य कृत एव वेद्या। परिपूर्णज्ञानरूपाया ऋतम्भरायाः प्रज्ञायाः समुदयो दृश्यस्वरूपप्रकृतिनाशश्च एकस्मिन्नेव

जीवपिण्डे जायते। असंख्यजीवपिण्डेषु प्रकृतिपुरुषयोरनाद्यनन्तसम्बन्धस्तिष्ठत्येव। अतो मुक्तिमापन्नस्य द्रष्टुर्दृश्यं विनश्यति, परन्तु द्रष्टृदृश्यसम्बन्धावच्छिन्ना अनन्तजीवा अनादितोऽनन्तकालपर्यन्तं तिष्ठन्त्येव। जीवसर्गप्रवाहोऽनादिरनन्तश्च। मुक्तपुरुषप्रकृतिरेव प्रणाशमुपगच्छति, अनन्तजीवप्रकृतिस्तिष्ठत्येव। एकत्र जीवपिण्डे प्राप्ततत्त्वज्ञानस्य पुरुषस्य दृश्यबन्धनविमुक्तत्वेऽपि संख्यातीत-जीवपिण्डप्रकृतिवैभवो यथापूर्वं तिष्ठत्येवेति॥ २२॥

अनन्तजीवेषु अनादिसंयोगं व्याकरोति—

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः॥ २३॥

दृश्यद्रष्टृस्वभावयोरविद्याजनितो भोग्यभोक्तृरूपसम्बन्धः संयोगः। अविद्याया अनादित्वात् तन्मूलकः प्रकृतिपुरुषसंयोगोऽयमनादिः, वियोगपर्यन्तं स्थितिशीलश्च। द्रष्टा पुरुषः प्रकृतेस्त्रिगुणमयं स्वरूपं परिचीय यदा तत उपरमति, तदैव भोग्यभोक्तृभावनाशेन स्वीये रूपे सन्तिष्ठते। सूत्रेऽस्मिन् प्रकृतिपुरुषस्वरूपोपलब्धिः संयोगहेतुरिति निर्दिष्टम्। दृश्यद्रष्ट्रोरुभयोरेव सम्बन्धनिबन्धनत्वात् स्वरूपशब्द उभयवाचकः। पूर्वोक्तसूत्रेण पुरुषविमुक्तिसिद्धान्ते सुनिश्चितेऽपि प्रकृतेरनाद्यनन्तत्वमपि प्रमाणितमेव। तस्या अनाद्यनन्तत्वे सिद्धे तदुत्पन्नजीवसृष्टिप्रवाहोऽप्यनादिरनन्तश्च सिद्ध्यति चेत् हेयहेतुकसृष्टिप्रवाहसमुत्पत्तिकारणं किमिति शङ्कानिराकृतये महर्षिणैतत्सूत्रमाविष्कृतम्। परमात्मनः परमपुरुषस्य मूलप्रकृतिर्महामाया स्वीयत्रिगुणजनितस्वभावतः परिणामिनी सती अनाद्यनन्तां सृष्टिधारां प्रवाहयति, यत्रेश्वरांशस्वरूपा अनन्ता जीवा अविद्याजालपतिताः सदैवोत्पद्यन्ते। चिज्जडग्रन्थिरूप-जीवभावोत्पत्तिकरः अविद्याजनितः संयोगोऽयं यथा मूलप्रकृतेः स्वभावः, तथैव विद्यारूपेण द्रष्टृदृश्यसम्बन्धं परिधूय जीवमुक्तिदायकोऽपि तत्स्वभावः परिज्ञातव्यः। त्रिगुणमयीयं मूलप्रकृतिः रजस्तमोभ्यां जीवधारां समुत्पाद्य सत्त्वगुणेन च स्वकीयं परमपुरुषस्य च स्वरूपं निदर्शयन्ती जीवान् विमोचयति। स्वशक्तिरूपदृश्यस्य

स्वामिशक्तिस्वरूपस्य च द्रष्टुः स्वरूपोपलब्धिकरं किल अघटनघटनापटीयस्या मूलप्रकृतेः संयोगक्रियाप्रयोजनं सर्वैरपि दार्शनिकैरभ्युपगन्तव्यमेव। इदमेवालौकिकं सृष्टितत्त्वरहस्यम्॥ २३॥

हानस्वरूपनिदर्शनाय संयोगमूलकारणं व्याकरोति—

तस्य हेतुरविद्या॥ २४॥

तस्य = संयोगस्य, हेतुरविद्यैव विद्यते। अविद्यास्वरूपं पूर्वमेव उपवर्णितम्। विपरीतज्ञानवासनासंभृतबुद्धिः कदाप्यात्मज्ञानमाविर्भावयितुं नार्हति। वासनायुक्तमन्तःकरणं निर्विषयं मोक्षपदमर्पयितुं नैव शक्नोति। विपर्ययज्ञानस्वरूपाऽविद्यैव विवेकख्यातिहेतुरूपसंयोगस्य निदानमास्ते। सुतरामनाद्यनन्तसर्गप्रवाहोत्पत्तिकरः प्रकृतेः स्वभावः। द्रष्टृदृश्यसम्बन्धस्थापनपुरस्सरं पुरुषबन्धनदशाप्राप्तिमूलहेतुरविद्यैव। अविद्यानाशादेव द्रष्टृदृश्यसम्बन्धः प्रणश्यति, नान्यथेति॥ २४॥

इदानीमधो हानस्वरूपं निर्दिशति—

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्॥ २५॥

तस्या अविद्याया अभावात् संयोगाभाव एव हानम्। एतदेव पुरुषस्यापि कैवल्यं बोध्यम्। तस्या अविद्याया अभावात् अन्तःकरणेनात्मनः संयोगोऽपि प्रणश्यति। अन्तःकरणरूपदृश्याभिन्नमात्मानं मन्यमानस्य शुद्धबुद्धमुक्तस्यात्मनो भ्रमनिरासेन बन्धननिवृत्तौ कैवल्यमासाद्यते। ऋतम्भराप्रज्ञापरनामक-परिपूर्णज्ञानोदयेन मिथ्याज्ञानाख्याया अविद्यायाः प्रणाशात् द्रष्टृदृश्यसंयोगाभावः किल हानस्वरूपम्। एतदनन्तरं निर्विकल्पसमाधिजनित-कैवल्याधिगमः। अविद्यारूपमिथ्याज्ञानेनैव असत्यमपि सत्यवन्मत्वा अज्ञानजन्यचिज्जडग्रन्थिसमुत्पत्त्या द्रष्टृदृश्यसंयोगाज्जीवभावाविर्भावः। योगमार्गसाफल्याधिगमेन ऋतम्भरायाः प्रज्ञायाः साहाय्येन चाविद्यानाशाद् द्रष्टृदृश्यसंयोगस्वरूपचिज्जडग्रन्थिः प्रणाशमेति। एतदवस्थायाः शब्दद्वारेण विवृत्तिर्दुःशका। निरवयवस्य रूपरहितस्य वस्तुनो

विभागो न कर्तुं शक्यते। विवेकख्यातौ समुत्पन्नायामज्ञानजनितपूर्वोक्त-संयोगः स्वयमेव विनश्यति। एतदेव हानरूपम्, येन पुरुषः कैवल्यमधि-करोति॥ २५॥

सम्प्रति हानोपाय उपवर्ण्यते—

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः॥ २६॥

मिथ्याज्ञानरहिता विवेकख्यातिरेव हानोपायः। मूलप्रकृतेरविद्या-रूपधारणेन चिज्जडग्रन्थिसमुत्पत्त्या द्रष्टृदृश्यसम्बन्धस्थापनमेव जीववन्ध-नम्। तस्याश्च ज्ञानप्रसविन्या विद्यास्वरूपधारणात् चिज्जडग्रन्थिविनाश-हेतुना द्रष्टृदृश्यमिथ्यासम्बन्धहानमेव कैवल्यम्। रजस्तमसो न्यूनाधिक्येन जीवबुद्धौ ज्ञानशक्तितारतम्यं स्वाभाविकम्। सुतरां सत्त्वगुणाधिक्ये-नैव बुद्धिस्तीव्रतां धत्ते। रजस्तमोभ्यां च मालिन्यमुपढौकते। बुद्धौ परिवर्तनमवश्यम्भावि। रजसस्तमसश्च उपरता कर्तृत्व-भोक्तृत्वाभिमान-शून्या शुद्धसत्त्वस्वरूपं धारयन्ती निश्चलाऽन्तर्मुखी परिपूर्णविवेकवती विप्लव-रूपमिथ्याज्ञानविरहिता स्थिरप्रज्ञैव हानदशाप्राप्तेरुपायभूता समाम्नाता।

तात्पर्यमिदं यत् विवेकख्यात्यपरनामिकायाः स्थिरनिर्मलपरिपूर्णज्ञान-वत्या असम्भावितपरिवर्तनाया बुद्धेः समुदयेनैव मिथ्याज्ञानस्वरूपिण्या अविद्याया बीजप्रणाशः। एतादृशहानोपाय-दशाधिगमेन जीवो बन्धनाद् विमुच्यते॥ २६॥

विवेकख्यातेर्दशासप्तकं विविच्यते—

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा॥ २७॥

तस्य विवेकख्यातिनिष्ठस्य पुरुषस्य प्रज्ञा उत्तरोत्तरसमुन्नतिशीला सप्तधा सप्तभूमिविभक्ता वेद्या। पूर्वसूत्रोक्तां हानोपायरूपां विवेकख्याति-मधिगतवतो योगिनः स्वरूपप्रतिष्ठाहेतवे शनैः शनैर्यादृशी प्रज्ञा समुदेति, या च पुरुषकैवल्यप्रदत्वात् प्रान्तभूमिस्वरूपोत्तमपरिणामशालिनी समा-ख्याता, सा शास्त्रकारैः सप्तधा विभक्ता।

पुनरपि दशासप्तकस्य भेदद्वयमुररीकृतम्। तत्र प्रथमे वर्गे चतस्रो भूमयः, द्वितीये च तिस्रो भूमयो ज्ञेयाः।

'पूर्वस्मिन् समये हेयविषयकज्ञानस्य आवश्यकत्वमासीत्, तदिदानीं नास्ती'ति साधकावबोधः प्रथम दशा। 'प्राक् किल त्यक्तव्याः कामाद्यनेके हेयविषया आसन्, सम्प्रति ते नावशिष्यन्ते' इति परिज्ञानं द्वितीया दशा। पुरा हि 'हानविषया अनेके प्राप्तव्याः सन्ति स्म, परमधुना न किञ्चिदपि हातव्यं वस्तु अवशिष्यते' इति विवेकस्तृतीया दशा। सम्प्रज्ञातसमाधौ विवेकख्यातिरधिगता, एतर्हि भावनीयो विषयः कोऽपि न विद्यते' इति विचारश्चतुर्थी दशा। प्रथमवर्गीयदशाचतुष्टयस्यास्य नाम 'कार्यविमुक्ति'-रिति।

'पूर्वमनेकवासनायुक्तबुद्ध्या मम विविधदुःखेषु विनिपातः समभूत्, सम्प्रति तु सर्वाण्यपि दुःखानि क्षयमुपगतानि, मदीयमन्तःकरणं शाश्वतिक-शान्तिशीलमि'त्यनुभवः पञ्चमी दशा। 'मदन्तःकरणस्थाः सर्वे गुणदोषा दग्धबीजसमानतामुपगताः, नैव पुनस्तेऽङ्कुरितुं प्रभवः' इत्यनुभूतिः षष्ठी दशा। अन्तःकरणविलयेन आत्मस्वरूपाधिगत्या सर्वज्ञताप्राप्तिः सप्तमी दशा। सेयं कैवल्यान्नातिरिच्यते। पञ्चमादिसप्तमान्ता दशा द्वितीयवर्गा-न्तर्गता 'चित्तविमुक्त्य'परनामिका च। उत्तरोत्तरं समुन्नतः साधकः क्रमशः सप्तसु भूमिषु अग्रेसरन् अन्ते कैवल्यमासादयति॥ २७॥

एवं सप्तधा विभक्ताया विवेकख्यातेः कथमुदय इति निर्दिश्यते—

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये विज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः॥ २८॥

अष्टाङ्गयोगसाधनेन चित्तमालिन्यविनाशात् विवेकख्यातिपर्यन्तस्य ज्ञानस्याभिव्यक्तिर्जायते। सूत्रकृता महर्षिणा पूर्वसूत्रेण विवेकख्यातिदशां सुनिरूपयता सम्प्रति तदुत्पत्तेरुपायः समुपवर्ण्यते। ग्रन्थिबन्धनं यथा कर्म, तथैव ग्रन्थिविमोकोऽपि। जीवानां साधारणकर्मवद् अष्टाङ्गयोग-साधनमपि कर्मैव। यथा ग्रन्थिबन्धनेन पदार्थबन्धः, ग्रन्थिविमोकतश्च पदार्थमोक्षः, तथैव असाधारणेन कर्मणा जीवा बद्ध्यन्ते; अष्टाङ्गयोगसाधन-

रूपकर्मणा च बन्धनाद् विमुच्यन्ते। यथा यथा यमाद्यनुष्ठानेन साधकोऽग्रिमसाधनाधिकारितां प्रपद्यते, तथा तथा नैजमन्तःकरणमलं निराकुर्वन् ज्ञानदीप्तिदीप्तः स पूर्णज्ञानरूपाया विवेकख्यातेः परिपूर्णां दशामधिगच्छन् कैवल्यमाप्नोति। यथा मानवः क्रमशः सोपानाश्रयेण सौधपृष्ठभागमधिरोहति, तथैव योगसाधनसुकौशलपूर्णप्रक्रियाभिः अष्टाङ्गयोगसाहाय्येन निर्मलां विवेकख्यातिमधिगत्य अन्ते मोक्षपदं लभते ॥ २८ ॥

योगस्य अष्टौ अङ्गानि निर्वक्ति—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥

यमादीनि समाध्यन्तानि योगस्य अष्टौ अङ्गान्यवधेयानि। कैवल्यप्रदयोगसाधनस्य अष्टावपि विभागा अङ्गानि कथ्यन्ते। एकैकाङ्गसाधनेन साधकः क्रमशः समुन्नताङ्गसाधनाधिकारमधिगच्छति।

अष्टानामङ्गानां बहिरङ्गभूमिः, अन्तरङ्गभूमिश्चेति भेदेन भेदद्वयम्। यम - नियमा-ऽऽसन - प्राणायामाः बहिरङ्गभूमयः, प्रत्याहार - धारणाध्यान-समाधयश्च अन्तरङ्गभूमयो वेदितव्याः। बहिरङ्गसाधने अन्तःकरणनैर्मल्ये सति योगसाधने रुचिर्वर्धते। बहिरङ्गानुष्ठानं मुक्तेर्न साक्षात् कारणम्। अन्तरङ्गसाधनेन अन्तःकरणमैकाग्र्यं भजते। अत एतदेव मोक्षस्य साक्षाद्धेतुभूतम्। अष्टानामङ्गानां विस्तृतविवृत्तिरग्रिमसूत्रेषु विविच्यते ॥ २९ ॥

यमो निरूप्यते —

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥

कदापि केनाऽपि कारणेन द्वेषबुद्ध्या दुःखादानमहिंसा। आत्मवत् सर्वभूतेषु दयादृष्टिः अहिंसा व्यपदिश्यते। मनसा निश्चितस्य वचसा यथावत् प्रकाशनं सत्यम्। छल-कपट-भ्रमादिशून्यमनिरर्थकं सर्वोपकारकमक्लेशजनकं वाक्यमेव सत्यमिति भगवान् वेदव्यासः। परकीयादत्त-

वस्तुग्रहणं स्तेयम्। अस्तेयं तदभावः। मनोदमनपूर्वकमुपस्थेन्द्रियवशीकारेण वीर्यरक्षणं ब्रह्मचर्यमुच्यते। स्मरण-कीर्तनाद्यष्टविधमैथुन-परित्यागोऽत्रैव अन्तर्भवति। सम्पत्तेः संग्रह-रक्षण-नाशतः हिंसादिदोषदर्शनेन तत्परित्यागः अपरिग्रहः। पञ्चधा विभक्तस्यास्य यमस्यानुष्ठानेन साधको योगस्य प्रथमाधिकारं लभते ॥ ३० ॥

प्रथमाङ्गभूतस्य यमस्य वैशिष्ट्यं निदर्शयति—

एते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥

जाति-देश-काल-समयविचारपरित्यागपूर्वकं समदर्शिताधिगमेन परमकल्याणप्राप्तिरेव महाव्रतम्। यथा जातिविचारेण गो-ब्राह्मणानां वधः, देशविचारतः काशीप्रभृतितीर्थेषु हिंसा, कालविवेकतः पर्वणि जीवहिंसनम्, समयविवेकेन च सन्ध्यादिसमये प्राणिवधश्चेत्यादिकं मानवैरनुचितं मन्यते, एतद् व्रतम्। परन्तु सर्वथा पक्षपातपरित्यागेन सार्वभौमहितदृष्ट्या जातिदेशकाल-समयविचारविरहितो दृढप्रतिज्ञः साधकोऽहिंसको महाव्रतधारी समाख्यायते। एवमेव सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहादीनां जाति-देश-काल-समयविवेकपरित्यागपुरस्सरं साधनं महाव्रतमाम्नायते।

तात्पर्यमिदं यत् सांसारिकैर्जीवैः जातिदेशकाल-समयानुरोधेनैव शनैः शनैर्यमसाधनं क्रियते। तच्च तेषां हिताधायकमपि। तथापि नियमोऽयं गौणः। दृढव्रतत्वेन सर्वत्रैव सार्वभौमदृष्ट्या यमानुष्ठानेन यथार्थकल्याणाधिगमो जायते। नियमोऽयं सर्वाभ्यर्हितोऽनुष्ठेयश्च। स्वार्थपरत्वमेव जीवभावः, परार्थपरत्वमीश्वरभावः। सुतरां जीवो यदा तादात्म्यभावेन स्वीयमन्तःकरणं सर्वत्र नियुनक्ति, तदैवासौ महाव्रती भूत्वा भगवद्राज्ये प्रविश्य योगानुशासनस्वरूपमुक्तिभूमिमधिकरोति ॥ ३१ ॥

नियमं निर्दिशति—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

वाह्यमान्तरिकं चेति शौचं द्विविधम्। स्नान-मार्जनादिप्रक्रियाभिः शुद्धिसम्पादनं वाह्यशौचलक्षणम्। मैत्री-सरलताप्रभृतिभिश्च मनोमालिन्यापसारणमान्तरिकं शौचमभिधीयते। सर्वावस्थासु सुखित्वभावना सन्तोषः। उभयोरेव सुखदुःखयोः क्षणभङ्गुरत्वेन सर्वास्वपि दशासु ज्ञानवतः साधकस्य अविचलत्वमेव सन्तोषः। शीतोष्णताप्रावल्येन जायमानक्लेशस्य सहिष्णुता बुभुक्षा-पिपासादिप्रादुर्भूतवैक्लव्याभावश्च तपः। कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तपनानशनादिव्रतानि तपसि एवान्तर्गतानि। तपसो विस्तृतं सूक्ष्मलक्षणं प्रागेवोदीरितम्। अत्रोक्तं तपः शरीरसम्बद्धमवगन्तव्यम्। मोक्षधर्मनिर्देशकानां शास्त्राणामध्ययनं मननं च स्वाध्याय उच्यते। जगत्कर्तरि परमेश्वरेऽविचला भक्तिः, स्वानुष्ठितसत्कर्मफलानां तच्चरणसरसीरुहे समर्पणं च ईश्वरप्रणिधानमवधेयम्।

ईश्वरप्रणिधाने सविस्तरं प्राग् विवृतेऽपि नात्र पुनरुक्तिराशङ्कनीया। अत्र वैध्या भक्त्यैव तत्सम्बन्धः। एवं शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानरूप-नियमानुष्ठानेन शुद्धचित्तः साधको योगसमुन्नताधिकारमधिगच्छति ॥ ३२ ॥

यमनियम-विरोधिनीनां वृत्तीनामुदयेन किमनुष्ठेयमित्युच्यते—

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥ ३३ ॥

वितर्कबाधने अर्थात् योगविरुद्धहिंसादिवृत्त्या यमादियोगाङ्गानाम् उच्छेदशङ्कासमुदये सति प्रतिपक्षभावनम्, अर्थात् तत्तद्धिंसादिवृत्तिप्रतिपक्षभावना कर्तव्या।

यमनियमादिसाधनेनैव हिंसादिवृत्तयो विनश्यन्तीति न मन्तव्यम्। प्रतिकूलवृत्तिवाधनेनैव यमनियमानुष्ठाने साफल्यमधिगम्यते। प्राणिहिंसा, निजेन्द्रियसुखाप्तये असत्यभाषणम्, स्वीयसुखसाधनाय परकीयवस्तूनामपहरणम्, विषयवासनातृप्तये व्यभिचारः धर्माधर्मविचारराहित्येन दानादानम्, शौचविरोधिन्या अशुचितायाः समुदयः, सन्तोषविरोधिनः

असन्तापस्य प्रादुर्भावः, तपोनाशप्रवृत्तिः, स्वाध्याये अश्रद्धा, नास्तिक्यभावनादयो भावा यदि साधकान्तःकरणेषु जागृता भवेयुः, तदानीं गुरूपदेशादिना साधकेन तत्तद्विरुद्धवृत्तीनां संस्मरणमनुष्ठातव्यम्, येनान्तःकरणेषूद्दीयमानाः पापकारिण्यः प्रतिकूलवृत्तयो निरुद्धाः स्युः।

प्रतिक्रियाभावनया हिंसादिनाशो वोभवीति। अर्थात् 'हिंसानुष्ठानेन ममापि जन्मान्तरे हिंसनं भविष्यती'ति विरुद्धभावनया साधको हिंसातो विनिवृत्तो जायते। एवं हि कर्मविपाकरूप-नरकादिदुःखभयेन विरुद्धवृत्तीनां निरोधः साधकेन गुरूपदेशतो नूनमनुष्ठेयः, येनासौ योगपथेऽग्रेसरः स्यात्॥ ३३॥

वितर्कस्वरूपक्रमस्तत्प्रतिपक्षभावना च विविच्यते—

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्॥ ३४॥

वितर्काः = हिंसादयः, ते च कृताः कारिताः अनुमोदिताः, लोभ-क्रोध-मोहोत्पादकाः मृदुमध्याधिमात्रस्वरूपाः, दुःखमज्ञानमेव अनन्तफलं येषां तथाभूता भवन्तीति प्रतिपक्षभावना बोध्या। महर्षिणा सूत्रकारेण योगाङ्गेषु प्रथमप्रोक्तौ यम-नियमौ तत्साधनोपायांश्च वर्णयित्वा सूत्रेणैतेन तद्विरोधिवृत्तिभेदाः तद्दशाश्च वर्ण्यन्ते।

कृता, कारिता, अनुमोदिता चेति त्रिविधाऽपि हिंसा लोभक्रोधमोहजनिता भवति। मांसादिहेतवे समनुष्ठिता लोभजा, पूर्ववैरप्रतिशोधबुद्ध्या समनुष्ठीयमाना क्रोधजा। 'एतदीयहननं मम धर्मः' इति विचिन्त्य विहिता मोहजा। त्रिप्रकाराया अप्येतस्या मृदु-मध्य-तीव्रभेदात् त्रैविध्यमवधेयम्। एवंरूपतो हिंसायाः सप्तविंशतिभेदाः संवृत्ता। प्रकृतिभेदतः प्राणिनां संख्यातीतभेदवद् गुणानां तारतम्यमनुसृत्य हिंसारूपपापस्य सप्तविंशतिभेदानामपि आनन्त्यमवसीयते। एवम् असत्यादिवृत्तीनामपि अनन्तभेदाः।

एतासां हिंसादियोगविरोधिवृत्तीनां दमनाय किमिव प्रतिपक्षभावना समनुष्ठातव्येति विविच्यते। कस्य चन वधावसरे तद्बलपराक्रमयोर्निन्दा, ततः क्लेशप्रदानम्, हत्या चेत्येवंक्रमेण निजानुष्ठित-पापकर्मफलान्यपि मानवैर्लभ्यन्ते। बलपराक्रमनिन्दनेन परजन्मनि वीर्यराहित्यम्, दुःख-प्रदानेन दुःखाधिगमः, हत्यया च मनुष्यस्य तस्य हननमपि भवत्येव। स्मर्यते चात्र—

"योऽयं हन्ति विना वैरं प्रकामं सहसा पुनः।
हन्तारं हन्ति तं प्राप्य मानवो जननान्तरे॥" इति।

कर्मणां गहनगतिं विचार्य स्वकृतपापस्य दुःखफलप्राप्तिर्दुर्निवारा। एवं शास्त्रोक्तपुण्यविचारेण प्राणिहिंसया पारलौकिकसुखाधिगमेऽपि मानवो-ऽल्पायुष्ट्वमधिगच्छति। हिंसादितामसिक-पापकर्मानुष्ठानेन घोराज्ञान-तमसाच्छन्नान्तःकरणा घोरामधोगतिं नरकयन्त्रणां च लभन्ते। एवं किल हिंसादियोगविरोधिवृत्तीनां निवारणाय तत्प्रतिकूलविवेक एव प्रतिपक्ष-भावनायाः स्वरूपम्। सुतरां वितर्काणां भेदानन्त्यात् तैरन्तकाले दुःख-प्राप्तिर्निश्चप्रचा। अतो योगप्रत्यूहकारिणीनां वृत्तीनां प्रतिपक्षभावनया विनाशो नितरामावश्यक इति॥ ३४॥

योगानुरूपाहिंसानुष्ठानेन सिद्धीनां प्राप्तिर्निरुच्यते—

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः॥ ३५॥

पूर्णरूपेण अहिंसायां प्रतिष्ठितायां साधकस्याभ्यर्णम् उपागताः प्राणि-नोऽपि स्वीयं वैरभावं परित्यजन्ति। व्याघ्रादिहिंसकप्राणिनां स्वभाव एव जीवहिंसनम्। तत्कथं तैः स्वकीयः प्राकृतिकः स्वभावो हेय इति चेत्, श्रूयताम्—

व्याघ्रादीनां प्राणिहिंसनं स्वभावश्चेत् कथं तैः स्वपुत्रकलत्रादयो न हन्यन्ते? तेषु तमःप्रभावाधिक्यात् स्वल्पेनैव कारणेन तमोगुणस्योत्पत्ति-र्जायते। अयमेव हिंसाधिक्यहेतुः। कारणाभावे न कार्योत्पत्तिरिति न्यायेन

अहिंसापरायण-साधुसङ्गत्या हिंसकाः पशवोऽपि हिंसावृत्तिं परित्यजन्ति। हिंसकान् प्राणिनो दृष्ट्वैव तेषां व्याघ्रादीनां परहिंसानुष्ठाने प्रवृत्तिर्जागर्ति। साधूनामन्तःकरणे हिंसावृत्तेरभावात्, तत्सन्निधाने हिंसका व्याघ्रादयोऽपि हिंसावृत्तिं परित्यजन्ति।

विज्ञानमिदं सूक्ष्मदृष्ट्या विवेचनीयम्। तथा हि—हृदयाकाशं ब्रह्माण्डे पिण्डे च व्याप्नोति। अन्तःकरणं हि व्यापकं तत्त्वम्। एकस्य ब्रह्माण्डस्य अन्तःकरणसमष्टिः ब्रह्मणोऽन्तःकरणमवधेयम्। प्रत्येकस्य जीवस्य व्यष्टिस्वरूपमन्तःकरणं 'चित्ताकाश'नाम्ना व्यपदिश्यते। अन्तःकरणसमष्टिः किल 'चिदाकाशा'भिधानेन व्याख्यायते। समष्टि-व्यष्टिसम्बन्धेन उभावपि परस्परं सम्बद्धौ वर्तेते। अत एव प्रेमपरायणानां प्राणिनां प्रीतिः अन्योन्यान्तःकरणे प्रतिफलति, योगिनश्च परकीयान्तःकरणभावमवगच्छन्ति। देवैश्चापि मानवानां शारीरिकमानसिक-कर्मणामवगतिः सम्यक् क्रियते। योगिनामन्तःकरणेषु अहिंसावृत्तौ प्रतिष्ठितायां-अर्थात् हिंसानुकूले आघाते जातेऽपि नैवोदेति हिंसावृत्तितदानीं—सन्निहितान्तःकरणेष्वपि स एव भावः प्रतिफलति। अतो हिंस्रपशूनामन्तःकरणमपि हिंसावृत्तिं परित्यजति। गुरुशक्तिर्लघुशक्तिं पराजयते। अतो लघुशक्तिविशिष्टस्य पशोरन्तःकरणं गुरुशक्तिविशिष्टयोगिनः अन्तःकरणप्रभावात् स्वतः शान्तिमापद्यते॥ ३५॥

अन्यच्च—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्॥ ३६॥

सत्यस्य प्रतिष्ठायां सम्पादितायां क्रियाया अभावेऽपि क्रियाफलाश्रयत्वं जायते। सूत्रेणैतेन पूर्णरूपेण सत्ये प्रतिष्ठिते सति किं फलमासाद्यते इति निरूपयति। असत्यवचनोच्चारणाभावाद् यदा योगी सत्यताऽभ्यासे सुदृढो जायते, तदानीं तेन वाक्सिद्धिरवाप्यते। तन्मुखाद् यत् किमपि निःसरति, तत्फलमवश्यम्भावि। तद्वाक्योच्चारणमात्रेणैव मूर्खः पण्डितत्वं दरिद्रश्च धनिकत्वं प्रपद्यते। किं बहुना, वन्ध्याऽपि पुत्रं सूते। अन्तःकरणविशुद्ध्या

स्वभावस्य सत्यमयत्वाच्च योगी यत्किमपि वक्ति, तत् सर्वमेव सत्यतामुपढौकते। तदन्तःकरणं भवितव्यमनुभवति। अतस्तेन यत् किमप्युच्यते, तद् भवत्येव ॥ ३६ ॥

तथैव च—

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

चौर्याभावे सम्यक् प्रतिष्ठिते सर्वाणि रत्नानि स्वत एवोपतिष्ठन्ति। लोभं विजयमानस्य साधकस्यान्तःकरणे कदा चिदपि चौर्यवृत्तिः नोदेति। तदानीं तदनिच्छयाऽपि सर्वे पदार्थाः स्वत एव समुपढौकन्ते। यथा अहिंसावृत्तेरुदयेन तत्सन्निधाने हिंस्रपशवो व्याघ्रादयोऽपि अहिंसावृत्तिं धारयन्ति, तथैव अस्तेयवृत्तेः सम्यगुदयेन अविश्वासिनोऽपि जनास्तं विश्वसन्ति। मानवः स्वकीयया समीहयैव अभावमनुभवति। लोभेच्छायां दूरीभूतायां साधकेन नाभावोऽनुभूयते। संसारस्य कोऽपि पदार्थस्तस्य अप्राप्तो न जायते।

सिद्धान्तोऽयं प्रकारान्तरेणापि विविच्यते—पूर्वजन्मकर्मणैव मानवेन अभावोऽनुभूयते। पूर्वजन्मनि यस्य पदार्थस्य दुरुपयोगः, अयथासङ्ग्रहो वाऽनुष्ठितः, तत्पदार्थाभाव एवेदानीं मानवैरनुभूयते। अन्तःकरणे अस्तेयवृत्तौ प्रतिष्ठितायाम् अभावोत्पादककर्मबीजं समूलं प्रणश्यति। अत एव संसारेऽत्र योगिराजस्य केनापि पदार्थेन अलभ्येन न भूयते इति ॥ ३७ ॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

ब्रह्मचर्ये पूर्णरूपेण प्रतिष्ठिते सति साधकेन शारीरिकं मानसिकं च वीर्यमासाद्यते। शरीरे किल वीर्यं नाम सर्वाभ्यर्हितः सप्तमो धातुः। उक्तं चाऽऽयुर्वेदे—

"रसाद् रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदः प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जायाः शुक्रसम्भवः॥" इति।

रेतसः संरक्षणेन शरीरं पूर्णतां प्रतिपद्यते। ब्रह्मचर्यसाधनेन पूर्णोपयोगितामधिगतं शरीरं न कदापि केनापि विचाल्यते। प्रधानेन धातुना

परिपूर्णे देहे सर्वेऽन्ये धातवः परिपुष्टतामुपयान्ति। शरीरमनसोः घनिष्ठः सम्बन्धः। देहे वीर्यवति मनोऽपि प्रावल्यमासादयति। मनोवायुवीर्याणां परस्परं घनिष्ठसम्बन्धात् सृष्टिक्रियायां मनसः कर्तृत्वं रेतसश्च कारणत्वं समाम्नातम्। "ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत" इत्युक्तं श्रुतौ। ब्रह्मचर्यसाधनेन बलवन्मनो यदिच्छेत्, तदेव विधातुमर्हति॥ ३८॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः॥ ३९॥

विषयप्राप्तिसमीहा-राहित्यात् लोभशून्ये पूर्णवैराग्यसंयुक्ते अन्तःकरणे परिपूर्णा शान्तिमासादयति सति अपरिग्रहस्य सर्वाभ्यहितावस्था समुदेति। अपरिग्रहस्यैतस्य पूर्णदशायां साधकेन पूर्वजन्मज्ञानमधिगम्यते। 'पूर्वजन्मनि कोऽहम्, कानि च कर्माणि समनुष्ठितानि मये'ति सर्वं साधकोऽवगच्छति। तीव्रवैराग्योदयेन विषयवासनाविरहितं शान्तिमापन्नं सर्वविधपदार्थबन्धनरहितमन्तःकरणं बहिर्मुखप्रवृत्तिशून्यं सद् विशुद्धज्ञानसाहाय्येन निखिलमेव विषयसमूहं सम्यगवगच्छति।

पूर्वजन्मकृतकर्मसंस्कारा जीवचित्ते सन्तिष्ठते। परन्तु ते नानावृत्तिभिः चित्तचाञ्चल्यात् नावबुद्ध्यन्ते। अपरिग्रहस्थैर्येण स्थिरीभूते चित्ते सर्व एव संस्काराः स्मृतिपथमारोहन्ति। अत एव जीवस्य पूर्वजन्मसंस्काराणां स्मृतिर्जायते॥ ३९॥

यमाङ्गान्तर्गतां सिद्धिं वर्णयित्वा नियमसाधनजनिताः सिद्धयो वर्ण्यन्ते—

शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गश्च॥ ४०॥

शौचेन स्वाङ्गेषु घृणा परैरसंसर्गश्च समुदेति। शौचाभ्यासत तच्चरमसीमानमधिरोहता साधकेन शरीरस्य अपवित्रताऽनुभूयते। शरीरसङ्गोऽपवित्रताहेतुः। देहाध्यासो हि जीवबन्धनहेतुः। देहोऽयं नितरामपवित्र इति मन्यमाने, शरीरं प्रति समधिगततीव्रद्वेषबुद्धौ जीवे मोक्षसाधनसमीहा प्रवलायते। स्वीयशरीरे द्वेषबुद्धौ सत्यां परकीये देहे द्वेषबुद्धिः, तत्संसर्गसमीहा-विनिवृत्तिश्च सम्भवत एव।

विज्ञानमिदं सुस्पष्टयितुं शौचलक्षणं स्मार्यते । स्थूलदेहसम्बद्धा-ऽपवित्रमलादिनिवृत्त्या बहिःशौचसम्पन्नताऽधिगम्यते । पापजनकक्लिष्टवृत्तौ अरुच्या पुण्यजनकाक्लिष्टवृत्तिभिश्च अन्तःकरणपरिपूर्णतासम्पादनेन अन्तः-शौचमासाद्यते चेत्तर्हि स्वीकर्तव्यमेवैतद् यद् अपवित्रादसतः पवित्रसद्-भिमुखं शौचसाधनतत्परस्य योगिनो गतिः प्रवृत्तिश्च सर्वदैव सन्तिष्ठते । शरीरस्य क्षणभङ्गुरत्वे विषयसुखालीकत्वे च समनुभूते साधकचित्ते स्वकीयशारीरिकासक्तेरभावः, अन्यदेहतः सम्बन्धस्थापने अरुचिश्च स्वय-मुत्पद्यत इत्यत्र नाणीयानपि सन्देहः ॥ ४० ॥

शौचसिद्ध्यः फलान्तरमाह—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शन-योग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

शौचशुद्ध्या सत्त्वशुद्धिः, मनःप्रसादः, एकाग्रता, इन्द्रियजयः, आत्म-दर्शनयोग्यता च समधिगम्यते ।

अन्तःकरणमलिनतामपसृत्य सत्त्वगुणविशेषप्रकाशात् ज्ञानाधिक्य-हेतुना क्लिष्टवृत्तिरूपं तमोऽपसरति । दृश्येयं सत्त्वशुद्धिरुच्यते । मलरूपक्लिष्ट-वृत्तिनाशेन जायमाना मानसिकसुखोत्पत्तिः मनःप्रसादापरपर्यायं सौमनस्य-मभिधीयते । यत्र सत्त्वशुद्धिस्तत्र सौमनस्यमपि स्वतःसिद्धम् । शुद्धं मनः स्थैर्यमभ्युपैति । एतदेव एकाग्रत्वम् । विषयाप्रसक्तिरेव इन्द्रियजयः । अर्थात् शौचसाधनेन देहेष्वेव प्रीतेरभावात्, इन्द्रियाणां विषयेषु प्रीति-र्विनिवर्तते । सुतरां विषयपराङ्मुखतैव इन्द्रियजयो बोध्यः । एवं हि वृत्ति-शून्यतामापन्ने अन्तःकरणे आत्मदर्शनं जायते । सूत्रस्थैतस्य इदमेव तात्पर्यं यत् शौचसाधनस्य पूर्णत्वेन न केवलं पूर्वोक्तमेकमेव फलमासाद्यते, किन्तु सत्त्वशुद्धि-चित्तप्रसादैकाग्र्याऽऽत्मदर्शनयोग्यता अपि समधि-गम्यन्ते ॥ ४१ ॥

सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः ॥ ४२ ॥

सन्तोषात् किल सर्वाभ्यर्हितस्य सुखस्योपलब्धिर्जायते। उक्तं च भगवता व्यासेन—

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥" इति।

वासनैव सर्वदुःखनिदानम्। सन्तोषोदयेन इच्छाया असद्भावात् सर्वमपि सुखमयमेव प्रतीयते। अतः सन्तोषः परमसुखस्वरूपः। सुखस्वरूपे विचार्यमाणे इदमेव सिद्ध्यति यद् विषयाः सुखं न प्रयच्छन्ति। किन्तु विषयावलम्बनेन ऐकाग्र्यमासादयति अन्तःकरणे आत्मनः प्रतिविम्बस्यावभासाद् विषयिणः सुखानुभूतिः। विषयस्य क्षणभङ्गुरत्वात् परिणामशीलत्वाच्च ऐकाग्र्यस्यापि क्षणभङ्गुरत्वेन विषयसंयोगसमुत्पन्नस्य आत्मप्रतिविम्बजनितस्य सुखस्याधिगमोऽपि क्षणभङ्गुर एव। तृष्णाक्षयेण सन्तोषावाप्त्या चेतसश्चाञ्चल्यं प्रणश्यति। एकाग्रे चेतसि आत्मनः प्रतिविम्बं सदावभासते, येन सन्तोषिणा पुरुषेण अत्युत्तममविनश्वरं सुखमधिगम्यते॥४२॥

अन्यदपि—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः॥ ४३॥

तपसः = तपोरूपकारणाद् अशुद्धिक्षयात् कायसिद्धिः इन्द्रियसिद्धिश्च सम्पद्येते। रजस्तमोजनित-मलावरणाद्यशुद्धिद्वारैव जीवस्य आभ्यन्तरिकाः समस्तशक्तयः कुण्ठितास्तिष्ठन्ति। तपसोऽनुष्ठानात् सर्वविधाशुद्धीनां प्रणाशेन अणिम-लघिमाद्यो बहुविधाः शरीरसम्बद्धाः शक्तयो योगिभिरासाद्यन्ते। इयमेव कायसिद्धिः। तपःसाधनेन सुदृढं विशुद्धं चान्तःकरणमेकाग्रतां प्रतिपद्यते, येन परिपूर्णेन्द्रियशक्तिर्योगी दूरदर्शनश्रवणादिशक्तीः अधिकरोति।

तपसाऽशुद्धिक्षयादेव कायसिद्धेरिन्द्रियसिद्धेश्चाधिगमः। रजस्तमसोः मलसद्भावात् जीवसद्भावः। निर्मलमन्तःकरणम् ईश्वरसान्निध्यं भजते। अत एव ईश्वरीयभावराज्यनिमग्ने निर्मलेऽन्तःकरणे विविधसिद्धीनां प्रकाशः

सम्भव एव। तस्माद् एवंविधक्रियाकलाप-कुशलिनां योगिनां स्थूलकाय-सिद्धिः, सूक्ष्मराज्यविषयक-ज्ञानेन्द्रियसिद्धिश्च स्वतःसिद्धा ॥ ४३ ॥

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥

वेद-तत्सम्मताभ्युदयनिःश्रेयसप्रद-शास्त्राध्ययनं तन्मननं मन्त्रजपश्च स्वाध्याय उच्यते। एतत्साधनपरिपूर्णतया अभिलषितदेवतासान्निध्यं जायते। मोक्षरूपाभिलाषपूर्तिकर्ता महात्मा गुरुदेवः इष्टदेवो वा साधक-कल्याणप्रदो ज्ञेयः। मोक्षप्रदशास्त्राध्ययनेन विशुद्धान्तःकरणेन पुंसा साधवो महात्मानो गुरुदेवो वा दृश्यन्ते। वेदादिमुक्तिप्रद-शास्त्रमननकर्ता साधकः पूर्णं ज्ञानमधिगत्य प्रकृति-परमात्मस्वरूपपार्थक्यं विन्दते। तदानीमेव तदन्तःकरणे भक्तमनोरञ्जनो देवदेव इष्टदेवो भगवानाविर्भवति।

प्रणवरूपमन्त्रजपाद् भगवद्दर्शनप्रकार उक्तपूर्वः। सगुणोपासनायामपि स्वस्व-साम्प्रदायिकगुरूपदिष्टमन्त्रजपेन, अर्थानुगमपूर्वकं स्वस्व-साम्प्र-दायिक-गीतादिशास्त्राध्ययनेन ज्ञानक्रियाशक्तिसाहाय्येन स्वेष्टदेवाधिगम इति भावः ॥ ४४ ॥

अपि च—

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥

ईश्वरप्रणिधानेन भगवद्भक्त्याऽपि समाधिः सिद्ध्यति। ईश्वरस्य प्रणि-धानस्वरूपभक्त्या निर्विकल्पसमाधिमधिगत्य साधकः कथङ्कारं विमुच्यते इति प्रथमपादे सम्यग् विवेचितम्। यदा भक्तशिरोमणिः साधको भगवद्-भक्तिपरिपूर्णतामधिगत्य पराभक्तिराज्यमासादयन् स्वकीयप्रियतमहृदयनाथ-प्रीतये स्वीयं सर्वं कर्मफलं समर्पयति, प्रेम्णा च उन्मत्तो भूत्वा बहिरभ्यन्तरं जडचेतने, सुखदुःखे सर्वत्र सर्वावस्थायामेव भगवन्तमीक्षते, तदैव भक्त-कुलतिलकोऽसौ कैवल्यपदप्रदं समाधिमासादयति।

समाधिभूमौ अग्रेसरता साधकेन संयमेन सिद्धिः, एकतत्त्वेन च निर्विकल्पः समाधिः सौविध्येनाधिगम्यते। ईश्वरप्रणिधानेन एकतत्त्वं स्वतो

लभ्यते। एवं किलैकतत्त्वं योगिराजं यदि निर्विकल्पसमाधिभूमिं प्रापयति चेत् तर्हि तद् ईश्वरप्रणिधानरूपस्य निर्विकल्पसमाधेः परमं सहायकमित्यत्र नाणीयानपि संशीतिलेशः।

सूत्रकृन्महर्षिणा पूर्वोक्तयमनियमादिप्रत्येकाङ्गपरिपूर्णाभ्यासेन फलप्राप्तेः स्वतन्त्ररूपेण वर्णनमनुष्ठितम्। यमनियमसाधनावस्थायां पूर्णतेयं नासाद्यते। योगमार्गेऽग्रे सरता साधकेन तत्फलान्यवाप्यन्ते॥ ४५॥

योगस्य तृतीयमङ्गम् आसनं निर्णयति—

स्थिरसुखमासनम्॥ ४६॥

स्थिरं सुखं येन तद् आसनमुच्यते। यया शरीरचेष्टया शारीरिकं सुखं मनसः स्थैर्यमात्मनः प्रसन्नता च समधिगम्यते, सैव आसनशब्दवाच्या। एकावस्थायां मानवेन न सुखमनुभूयते। अत एवासौ शयनोत्थानोपवेशनेषु सदैव परिवर्तनमनुतिष्ठति। शरीरचाञ्चल्यात् मनोऽपि चाञ्चल्यमभ्युपैति। अतस्त्रिकालदर्शिभिः महर्षिभिर्योगाचार्यैः अनेका उपवेशनपद्धतयो निर्दिष्टाः, याभिरभ्यस्ताभिः शनैः शनैः शरीरं मनश्च शान्तिमासादयतः। शान्तं मनो योगसाधनोपयोगितां प्रपद्यते।

स्थूलं शरीरमेतत् सूक्ष्मस्यैव शरीरस्य विस्तारमात्रम्। स्थूलशरीरचाञ्चल्येन तन्मूलभूतं सूक्ष्मं शरीरमपि चाञ्चल्यमुपढौकते। केनापि प्रक्रियाविशेषेण स्थूले शरीरे सुखीक्रियमाणे मनस्यपि सुखोदय इत्यत्र न सन्देह इति।

योगशास्त्राचार्यैर्बहुविधानि आसनानि समुपवर्णितानि। तत्तत्फलान्यपि उपवर्णितानि। चतुर्विधयोगसाधनेषु हठयोगाचार्यैः चतुरशीतिसंख्यकानि आसनानि निर्दिष्टानि। लययोगनिष्णातैस्तु केवलं चत्वार्येव अङ्गीकृतानि। योगशास्त्रे चतुर्विंशतिमुद्राणामपि वर्णनं लभ्यते। आसु मुद्रासु काश्चन आसनेषु, काश्चित् प्राणायामे, काश्चिच्च प्रत्याहारे, धारणायां स्थूलध्याने ज्योतिर्ध्याने च साहाय्यमाचरन्ति॥ ४६॥

आसनसिद्धेरुपायो निर्दिश्यते—

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥

प्रयत्नशैथिल्यं च अनन्तसमापत्तिश्च ताभ्यामासनसिद्धिरित्यर्थः। आसनमभ्यस्यतः साधकस्य यदा तत् स्वाभाविकं भवेत् अर्थात् देहाध्यास-विचारराहित्यात् पूर्णरूपेण आसनेषु प्रयत्नशिथिलता सम्पद्येत, तदैव तस्य सिद्धावस्थाऽवगन्तव्या। एवमासनाभ्यासेन मनस एकाग्रतामधि-गच्छन् योगी स्वचित्ताकाशं चिदाकाशे तमपि च महाकाशे नियोजयति। तदानीमेवासौ अनन्तशेषस्वरूपानन्ताकाशशायिनि परमात्मनि स्वचित्त-मेकतानीकरोति। एतन्नाम अनन्तसमापत्तिरिति। एवम् आसनाभ्या-सतः शरीरमनःस्थिरतया पूर्वोक्ता अङ्गमेजयत्वादयः समस्ता योगप्रत्यूहा निरस्यन्ते। आसनसिद्धेरमुम् उपायं समनुतिष्ठता साधकेन योगसाधने साहाय्यमधिगम्यत इति ॥ ४७ ॥

आसनसिद्धेः फलं निर्दिशति—

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥

तत आसनसिद्धेरनन्तरं द्वन्द्वस्य अभिघातो नोत्पद्यते। एकस्मिन् अन्यतरस्याभावो द्वन्द्वानभिघातः। ग्रीष्मे शीतस्य, शीते च ग्रीष्मस्य, दुःखे सुखस्य सुखे च दुःखस्याभावो द्वन्द्वबाधा। आसनसाधनेन सिद्धौ लब्धायां शरीरे स्थिरतामुपेयुषि मनसि च निश्चलतां प्राप्ते शीतोष्णादि-द्वन्द्वप्रभावः देहचित्तयोरुपरि भवितुं नार्हति। मनश्च अनन्तभावे विलीयते। सिद्धासनो धीरो योगी साधकोऽनायासेन अध्यात्मपथेऽग्रेसरन् द्वन्द्व-बाधातो विनिवर्तत इति सूत्रनिर्गलितार्थः ॥ ४८ ॥

आसनसिद्ध्या प्राणायामसम्बन्धं दर्शयति—

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

आसनसिद्धेरभावेन मनसश्चाञ्चल्यम्, तेन च प्राणवायुः चञ्चलायते। चञ्चलमनाः प्राणायामसाधने नाधिकृतः। बाह्याभ्यन्तर-गतिशीलयोः

श्वास-प्रश्वासयोरवरोधः प्राणायाम उदीर्यते। यावता मानवेन का चिदपि गम्भीरचिन्ता न कर्तुं शक्यत इति प्रत्यक्षसिद्धम्। मनःसंयमाय शारीरिक-निश्चलतासम्पादनमावश्यकम्। सुतराम् आसनदार्ढ्यमन्तरेण मनोजय-कारिण्याः प्राणायामक्रियायाः सम्पादनमसम्भवम्। प्राणायामोऽयं श्वास-प्रश्वासयोर्गतिविच्छेदात् सिद्ध्यतीत्यग्रिमसूत्रेषु सविस्तरं वर्ण्यते॥ ४९॥

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः॥ ५०॥

पूरकः श्वासग्रहणं वा आभ्यन्तरवृत्तिः, रेचकः प्रश्वासप्रक्षेपो वा बाह्य-वृत्तिः। श्वास-प्रश्वासयोः स्तम्भनवृत्तिः कुम्भकः। रेचक-पूरक-कुम्भक-क्रियाभिः प्राणायामः साध्यते। परन्त्वत्र कुम्भक एव लक्ष्यभूतः। प्राण-वायुस्थैर्यादेव प्राणायामसिद्धिः। शरीरस्य स्थानविशेषेषु प्राणवायोः स्तम्भनविधेः सत्त्वाद् देशसम्बन्धः, रेचक-पूरक-कुम्भकेषु च समयभेदः। अतस्तत्र कालसंख्याद्वारा प्राणायामसाधनाभ्यासनियमः संरक्ष्यते। एवं हि देश-काल-संख्यासाहाय्येन कुम्भकमभ्यसतः साधकस्य प्राणायामः सिद्ध्यति।

पूर्वं प्राणायामानुष्ठानकाले प्राणवायुः सवेगं चलति, कुम्भकाभ्यासेन तद्गतिर्मन्दायते, सूक्ष्मतां च प्रपद्यते। तद्गतेः सूक्ष्मतया अन्तःकरण-वृत्तयः स्तम्भिता जायन्ते॥ ५०॥

तथा च—

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः॥ ५१॥

बाह्याभ्यन्तरविषयाणां यत्र परित्यागः सा चतुर्थी दशा विज्ञेया। प्राणायामक्रियागतयश्चतुर्धा विभक्तुं शक्यन्ते—रेचक-पूरक-कुम्भकानां तिस्रो गतयः, तद्भिन्ना चैका। योगशास्त्रस्य तेषु तेषु ग्रन्थेषु प्राणायाम-क्रियायाः सहिता, सूर्यभेदी, भ्रामरी, शीतली, भस्त्रिका, उज्जायी, मूर्च्छा, केवली चेत्यष्टौ नामानि समुपलभ्यन्ते। एतद्गतयः सूत्रत्रयोक्तोपायान्न

निर्विभर्ति। अर्थात् कुत्र चित् रेचक-कुम्भकयोः नियमबद्धताविधानम्, कुत्र चन च कुम्भक एव समधिको विचारः, क चन साधने कुम्भकस्य परामवस्थामधिगत्य उभाभ्यामपि पूरक-कुम्भकाभ्यामुपरत्या शान्तेर्दशायाः प्राप्तिर्लक्ष्यभूता निर्धारिता।

प्राणायामसम्बद्धाः के चिद् विषयाः पूर्वस्मिन् पादेऽपि प्रदर्शिताः। अदसीयं सविस्तरज्ञानं शब्दान् द्वारीकृत्य भवितुं नार्हति। तद्धि क्रिया-सिद्धस्य श्रीगुरुदेवस्य क्रियोपदेशादेव लब्धुं शक्यते।

सूत्रतात्पर्यमेतद् यत् रेचक-पूरक-कुम्भकरूपप्राणवायोः सुकौशलपूर्ण-प्रक्रियानुष्ठानेन प्राणापानक्रियागतिच्छेदे संवृत्ते साधकस्य अन्तःकरणं स्थैर्यमासाद्य बाह्याभ्यन्तरविषयशून्यतां प्रपद्यते। प्राणायामस्येयं चतुर्थी दशा रेचक-पूरक-कुम्भकानामुत्कृष्टा वेदितव्या॥ ५१॥

प्राणायामसाधन-परिणामं निर्दिशति—

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्॥ ५२॥

ततः=प्राणायामसिद्ध्या, प्रकाशस्य=ज्ञानस्य, आवरणम्=मलम्, क्षीयते=प्रणश्यति। चाञ्चल्यमेव अन्तःकरणस्य ज्ञानावरणकारकम्। चञ्चलायां बुद्धौ ज्ञानप्रकाशोऽपि प्रक्षीण एव। तस्याः स्थिरतायां तु स्वरूपाधिगमो बोभूयते। आन्तःकरणिकवृत्तिषु शान्तिमापद्यमानासु बुद्धेस्तमोमलमपसरति, सा च परिपूर्णतामासादयति। मनोवायुवीर्याणामैक्यं पूर्वसूत्रेषु समुपवर्णितम्। प्राणायामसिद्धौ सत्यां प्राणापानगतिरोधेन प्राणवायौ सुस्थिरे मनसो वायोश्च अन्योन्यसम्बन्धात् अन्तःकरणं स्थिरत्वमासादयति। वृत्तीनां स्थैर्यात् मलापसरणेन बुद्धिर्नितरां प्रकाशते॥ ५२॥

फलान्तरं व्याचष्टे—

धारणासु च योग्यता मनसः॥ ५३॥

प्राणायामसाधनेन अन्तःकरणशुद्ध्या मनसः एकाग्रतासम्पादिका धारणाशक्तिः प्रवर्धते। सूत्रस्यास्य एतत्तात्पर्यं यत् प्राणायामसाधनादर्वाग्

योगी बहिर्जगत्येव वम्भ्रम्यते। परन्तु प्राणायामसिद्ध्या साधको मनोराज्यरूपेऽन्तर्जगत्यपि स्वाधिकारं संस्थापयति। प्राणायामः किल तदनन्तरप्राप्तस्य प्रत्याहारस्यैव केवलं न साहाय्यमनुतिष्ठति, प्रत्युत मनोयोग्यतामुन्नमयन् धारणाया अपि सहायको जायते ॥ ५३ ॥

क्रमप्राप्तं पञ्चमाङ्ग-प्रत्याहारस्वरूपं निर्दिशति—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

इन्द्रियाणां स्वविषयपरित्यागपूर्वकं चित्तस्वरूपानुकरणमेव प्रत्याहारः। तन्मात्राशक्तिं द्वारीकृत्य इन्द्रियसंलग्नं मनो विषयान् गृह्णद् यदा विषयवत् प्रतीयते, तदाऽन्तःकरणमपि बद्धतां प्रपद्यते। येन क्रियाविशेषानुष्ठानेन इन्द्रियाणि विषयेभ्यः पराङ्मुखीभूय बुद्धितत्त्वमनुसरेयुः, तत्साधनं नाम प्रत्याहार इति। यथा कूर्मो बाह्यविषयतो निजाङ्गानि सङ्कोचयति, तथैव इन्द्रियाणि यया प्रक्रियया विषयेभ्यो व्यावृत्त्य अन्तःकरणाभिमुखं प्रचलन्ति, तत्प्रक्रियानाम प्रत्याहारः।

प्राणायामसाधनवत् प्रत्याहारसाधनस्यापि बह्व्यः क्रियाः सन्ति, परन्तु क्रियासिद्धांशत्वात् ताः श्रीगुरुदेवोपदेशलभ्या विज्ञातव्याः। यथा राज्ञीं मधुमक्षिकामेव साधारणाः सर्वा अपि मधुमक्षिका अनुसरन्ति, तथैव मनसोऽनुकूलमेव इन्द्रियाणि सर्वाणि विषयेषु प्रवर्तन्ते। प्रत्याहारो मनोराज्यसाधनम्। प्रत्याहारक्रियया मनस इन्द्रियसम्बन्धो विच्छिद्यते। इन्द्रियाणि चान्तःकरणे विलीयन्त इति सर्वः प्रत्याहारप्रभावः ॥ ५४ ॥

प्रत्याहार-साधनफलं दर्शयति—

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥ ५५ ॥

ततः=प्रत्याहारसाधनाद् इन्द्रियाणां परमा वश्यता जायते, अर्थात् इन्द्रियाणि वश्यतां प्रपद्यन्ते। शब्दादिविषयपराङ्मुखत्वमेव इन्द्रिय-जयः।

अनादिकालत एव विषयैः सह इन्द्रियसम्बन्धसत्त्वाद् विषयेषु इन्द्रियाणां स्वत एव अप्रवर्तनमसम्भवम्। अतः स्वभावसिद्धेयं विषयवती शक्तिः इन्द्रियाणां व्यसनमित्युच्यते। एतद्व्यसनध्वंसः इन्द्रियाणां पुरुषार्थहीनतामपेक्षते।

तन्मात्राणामुत्तेजनया मनो यदा इन्द्रियैः साकं सङ्गच्छते, तदानीमेव इन्द्रियाणि विषयाभिमुखं धावन्ति। परन्तु यदा प्रत्याहारसाधनेन वशीभूतं विरक्तमन्तःकरणं विषयमुपभोक्तुम् इन्द्रियैः सह सम्बन्धमेव न स्थापयति, तदानीं स्वत एवेन्द्रियाणि पुरुषार्थहीनतां प्रपद्यन्ते। इयमेव प्रत्याहारसाधनस्य परिपूर्णावस्था। एतस्यामवस्थायां सिद्धायां विषयसम्बन्धसत्त्वेऽपि न पुनस्तानि विकृतिमापद्यन्ते। प्रत्याहारसाधनसिद्धावस्थायामस्यां साधको विषयपराङ्मुखः पूर्णरूपेण जितेन्द्रियत्वमासादयति॥ ५५॥

३. विभूतिपादः

प्रथमपादे योगस्वरूपं विवेचितम्। द्वितीयपादे च योगसाधनानि, तदवान्तरभेदाङ्गप्रत्यङ्गानि वर्णितानि। पादेऽस्मिन् सूत्रकारस्तत्फलाफल-वर्णनं प्रक्रामति। यमनियमादिरूपबीजतः प्रादुर्भूतः क्रियायोगस्वरूपो महान् कल्पवृक्षः। आसन-प्राणायामादयस्तदङ्कुराः। प्रत्याहारादयस्तस्य कुसुमानि। धारणा-ध्यानप्रभृतीनि च तत्फलान्यवगन्तव्यानि। अतः साधनपादे यम-नियमा-ऽऽसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-साधनानि वर्णयित्वा साम्प्रतं क्रमप्राप्तं धारणा-स्वरूपमाह—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

देशे = अन्तर्जगतः स्थानविशेषे, बन्धः = स्थापनं चित्तस्य 'धारणा' प्रोच्यते। प्रागुक्तसाधनसमूहैः बहिर्जगद् विजित्य साधकः प्रत्याहार-साधनेन अन्तर्जगति विचरति। अन्तर्जगतः स्थानविशेषेषु स्वाधिकार-स्थापनं धारणा समाम्नायते।

प्राणायामादिवद् एतस्या अपि अनेके साधनभेदाः श्रीगुरुदेवदया-लभ्याः सन्ति। स्थूल-सूक्ष्मभेदेन धारणाऽपि द्विविधा। नाभिप्रभृतिशरीरा-ङ्गेषु क्रियमाणा स्थूला, सूक्ष्मपञ्चमहाभूतेषु समनुष्ठीयमाना च सूक्ष्मा। बाह्याभ्यन्तरभेदेन पुनस्तस्या भेदद्वयम्। प्रथमाधिकारिहितसाधनार्थं बहिर्वस्तुषु अभ्यस्यमाना बाह्यधारणा। पूर्वोक्ता च किल अन्तर्धारणा वेद्या। धारणायां साफल्यमुपगतस्य योगिनः पौनःपुन्येन प्रत्याहारसाधनं नावश्यकम्, यतोऽसौ बहिर्जगद्भ्यः समुपरतोऽन्तर्जगत्येव निजान्तःकरणं संस्थापयितुमर्हतामधिकरोति। धारणावस्थायां सिद्धायां समाधिपथे बहिर्विषया नैव बाधां प्रकुर्वते। धारणा-साधनं समाधि-सौधप्रवेशे प्रथमं द्वारमवगन्तव्यम्॥ १ ॥

ध्यानं निरूप्यते—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

ध्येयाकारे चित्तवृत्तिस्थैर्यं ध्यानमुच्यते। धारणाक्रियाभ्यासानन्तरं तेषु तेषु ध्येयवस्तुषु मनस एकतानतास्थापनं ध्यानम्। अर्थात् ध्येयावलम्बनेन तदनुपमज्ञानस्य स्थायिसम्बन्धविधानं ध्यानम्। पूर्वसाधनवद् ध्यानस्याप्यनेके भेदाः श्रीगुरुदेवगम्या एव।

पूर्वमुपवर्णितानां योगमार्गाणां यथा चत्वारो भेदास्तथैव स्थूल-ज्योतिर्-विन्दु-ब्रह्मनाम्ना ध्यानस्यापि चातुर्विध्यम्। स्थूलध्यानसाधको योगी स्वीयेष्टदेवस्य सर्वाङ्गसुन्दरां स्थूलमूर्तिं स्वहृत्पटले निरीक्षमाणोऽन्तःकरणे तन्मूर्तौ धारणामुत्पादयति। तत्र ध्येयाकारधारिणी मनसो वृत्तिरेव ध्यानम्। सगुणत्वात् ज्योतिर्ध्याने विन्दुध्याने चेयमेव रीतिराश्रीयते। परन्तु ब्रह्मध्यानप्रकारस्तद्विलक्षण एव। सर्वाभ्यर्हित-ब्रह्मध्यानानुष्ठानावसरे योगिराजः प्रथमं सच्चिदानन्दमयं भावत्रयमनुसृत्य स्वकीयमन्तःकरणं ब्रह्मधारणया संयुनक्ति। ततश्च त्रिभावमय्या ब्रह्मधारणया संयुक्तमन्तःकरणं त्रिभावावलम्बनेन लीनं सद् ब्रह्मस्वरूपध्याने सामर्थ्यं लभते।

ध्यानसाधनमेतत् समाधिप्रवेशे द्वितीयं द्वारम्। अर्थात् ध्यानसाधने सिद्धे समाधिभूमिरासाद्यते ॥ २ ॥

इदानीं समाधिं वर्णयति—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

ध्येयमात्रस्फूर्तियुक्तं तदेव ध्यानं स्वरूपशून्यं सत् समाधिनाम्नाऽभिधीयते। ध्यातृ-ध्यान-ध्येयानां पृथक् पृथगवभासो ध्यानलक्षणम्। एतत्त्रितयस्य स्वतन्त्रसत्ताविनाशः समाधिरुच्यते।

साधारण्येन समाधेस्तिस्रो दशा वेदितव्याः—साधारणसमाधिदशा प्रथमा, सविकल्पसमाधिदशा द्वितीया, तृतीया च निर्विकल्पसमाधिदशेति। अवस्थात्रयमिदम् एकतः समनन्तरं क्रमशः समुदयति।

समाधेः प्रथमावस्थायां ध्यानस्वरूपा स्वतन्त्रा वृत्तिर्ध्येयरूपेण प्रतीयते। अर्थात् ध्यानस्वरूपं तदानीं न प्रतीयते। ध्यातर्येव ध्येयस्वरूपावेशः किल समाधिप्रथमदशायां बोभूयते। सम्प्रज्ञातसमाधिनामक-द्वितीयावस्थायां त्रिपुट्या विद्यमानत्वेऽपि साधकोऽगम्यविषयान् परिज्ञातुं प्रभवति। निर्विकल्पनामक-समाधेस्तृतीयदशायां कैवल्यमधिगम्यते। प्रथमोक्त-साधारणसमाधिगतो मानवोऽग्रिमभूमिद्वयेऽग्रेसरति।

अयं प्राथमिकः साधारणसमाधिः सर्वत्रैव मानवे समुदेति। काव्य-भावभावितः कविः कदाऽपि अगम्यविषयानपि साक्षात्कृत्य विलिखति। कस्य चिच्चेतसि वक्ष्यमाणलक्षणसंयमं विधाय योगी प्राथमिकसमाधि-द्वारैव परकीयमन्तःकरणं निरीक्ष्यते। सर्वविधयोगसिद्ध्यधिगमे प्रथमः समाधिरेव साफल्यमधिगच्छति।

सगुणोपासनायाः सर्वविधध्यानपद्धत्या प्राप्तसमाधेर्नाम 'महाभावः' इति। हठयोगस्य वायुनिरोधद्वारा समधिगतः समाधिः 'महाबोध'नाम्ना समाम्नातः। लययोग-प्रणाल्यां द्वारीकृत्य नादबिन्दोरेकीकरणेन समनुष्ठीय-मानो 'महालय'-नाम्ना विश्रुतः। समाधिस्वरूपत्रयमपीदं सविकल्पसमाधौ अन्तर्भवति। ज्ञानमय-राजयोग-साहाय्येन आत्मज्ञानोपलब्धिजनितो विकल्पशून्यः समाधिः 'निर्विकल्प'संज्ञया समाख्यातः।

प्रथमः समाधिः संयममूलकः, द्वितीयश्चैकतत्त्वमूलकः। प्रथमसमाधे-रनुभवो न जायते, किन्तु तत्कार्यं भवति। द्वितीयश्च समाधिरनुभूयते। परमयं विकल्पशून्यश्चिरस्थायी च न भवति। विकल्परहितस्तृतीयः समाधि-श्चिरं स्थितिशाली भूत्वा अद्वैतदशामाविष्करोति। सूत्रेऽत्र प्रथमश्रेणी-दशावधारणार्थमेव एतादृशं समाधिलक्षणं व्याकृतम्॥ ३॥

त्रयाणां सह प्रयोगेण किं फलमित्युच्यते—

त्रयमेकत्र संयमः॥ ४॥

पूर्वोक्तानां त्रयाणाम्=धारणा-ध्यान-समाधीनाम्, एकत्र अनुष्ठानं संयमः समाम्नातः। अर्थात् क्व चनैकत्र विषये त्रयाणामेकत्र समावेशः

संयम उच्यते। एकतत्त्वस्य विवृतिः प्रदर्शितपूर्वा। तया साकं समाधि-सम्बन्धोऽपि व्याकृतः। इदानीं संयमस्वरूपं निर्णीय समाधिना तत्सम्बन्धं निर्दिशति। एकतत्त्वाभ्यासेन द्वैतभानं प्रणश्यति, ततश्च सविकल्पतो निर्विकल्पसमाधिमासादयता साधकेन अद्वैतमात्मस्वरूपमुपलभ्यते। एकतत्त्वेन अन्तःकरणवृत्तयो निरुद्धतां प्रपद्यन्ते, अन्तःकरणं च द्वैतभावं सर्वथा परिजहाति। परन्तु संयमसम्बन्धनिबन्धनः साधारणः समाधिः धारणा-ध्येय-ध्यानविशिष्ट एव। अन्यथाऽलौकिक्यो योगसिद्धयः किमिव समधिगम्येरन्। अतः समाधिरयं द्वैतभावपूर्णो ज्ञातव्यः।

स्मर्यते चात्र—

संयमश्चैकशक्तिश्च शक्तिद्वयमलौकिकम्।
पुरो वो वर्णितं देवा मया सम्यक्तयाऽनघाः॥
जायते संयमस्तत्र धारणाभूमितो ध्रुवम्।
ध्यानभूम्यास्तु भो देवा एकतत्त्वं प्रजायते॥
त्रयं हि धारणाध्यानसमाधीति क्रियात्मकम्।
दृश्याश्रयात्प्रयुक्तं सन्निर्जराः! संयमो भवेत्॥
यदा त्वात्मानमुद्दिश्य त्रयमेतत्प्रयुज्यते।
एकतत्त्वं तदोदेति ह्येषा वैदान्तिकी श्रुतिः॥" इति।

एकतत्त्वमूलकः समाधिः सविकल्पो निर्विकल्पो वा भवेत्, किन्तु तत्र धारणा-ध्यानभूमिसम्बन्धाभावाद् इदं सिद्ध्यति यदेकतत्त्वं ध्यानात्परं समुदेति। परन्तु संयमेन धारणासम्बन्धसत्त्वात् संयमक्रिया धारणाभूमेराविर्भूय धारणा-ध्यान-समाधिभूमिभिः तिसृभिर्मिलित्वा पूर्णबलशालिनी फलमुत्पादयति। संयमः कथमनुष्ठीयते, तेन च कथमिव दिव्यफलोदय इत्यग्रिमसूत्रैर्वीक्ष्यते॥ ४॥

संयमाभ्यासफलं निर्वक्ति—

तज्जयात् प्रज्ञालोकः॥ ५॥

तस्य जयेन प्रज्ञायाः प्रकाशो जायते। संयमस्य परिपूर्णरूपेणाभ्यासात् समाधिविषयकबुद्धिः प्रकाशते। संयमस्थैर्येण पूर्णज्ञानमयस्य परमात्मनः कृपया समाधिविषयिणी दिव्या बुद्धिरधिगम्यते। बुद्धिरियं भ्रमशून्या योगसिद्धिजनिकेति हेतोः संयमेनैव समुदेति ॥ ५ ॥

संयम-प्रयोगविधिं निर्दिशति—

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

तस्य = योगस्य, भूमिषु संयमस्य विनियोगो विज्ञेयः। खण्डद्वय-संयुक्ताया अट्टालिकायाः प्रथमखण्डमतिक्रम्यैव मानवो द्वितीयखण्ड-मधिरोहति। तथैव योगी योगस्य प्रथमां भूमिं विजित्य द्वितीयामुत्तमां भूमिमासादयति। भगवतः कृपावलेन उच्चतरभूमिमधिकृतवता साध-केन निम्नतरा समासाद्यते। तात्पर्यमिदं यद् योगावस्थायां योगेनैव परो योगः समधिगम्यते। अर्थात् समुन्नतायां भूमौ भगवत्प्रकाशरूप-समाधिज्ञानमेव संयमक्रियासंयुक्तं सत् निम्नावस्थातः समुन्नतां दशामधि-गमयति। सुतरां धारणा-ध्यान-समाधिरूपं भूमित्रयमेव संयमक्रियायाः प्रयोगस्थानम्। संयमक्रिया किल विषयधारणातः प्रकटीभूय विषयाकार-वृत्तितश्च ध्यानभूमिं ततश्च समाधिभूमिमासाद्य सिद्धिं प्रयच्छति। संयमक्रिया हि धारणाभूमौ अङ्कुरायते, समाधिभूमौ च सिद्धिफलं प्रसूते ॥ ६ ॥

अष्टस्वङ्गेषु त्रितयवैशिष्ट्यं विविनक्ति—

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥

पूर्वेभ्यः = यम-नियमा-ऽऽसन-प्राणायाम-प्रत्याहारेभ्यः त्रयमेतद् धारणा-ध्यान-समाधिनामकम् अन्तरङ्गमवगन्तव्यम्।

विभूतिपादेऽत्र कथं त्रयाणामेव समावेशो नान्येषामिति सन्देहो निराक्रियते। तथा हि—योगसाधनस्य अष्टाङ्गत्वाद् अष्टानां क्रिया-भूमीनां सद्भावः स्वतः सिद्ध्यति। अष्टाङ्गेषु यमादयः पञ्च बाह्यजगद्-विजयार्थकाः। अन्तर्जगता साकं न तेषां कोऽपि साक्षात् सम्बन्धः।

प्रत्याहारेण योगी साधको वहिर्जगद् विस्मृत्य अन्तर्जगति उपढौकते। अतः पूर्वे पञ्च अन्तर्जगतः क्रियायां कस्यामपि नैव साक्षात्सम्बन्धवन्तो विद्यन्ते। धारणाध्यानसमाधिनाम्न्यः तिस्रो भूमय एव अन्तर्जगत्सम्बन्धवत्यो वेदितव्याः। संयमेन सह तासामेव सम्बन्धः। संयमक्रियाविस्तृतिः धारणा-ध्यान-समाधिभूमिपर्यन्तमवसीयते। अष्टस्वप्यङ्गेषु पञ्चानां पूर्वोक्तानां वहिर्जगता सम्बन्ध इति द्वितीयपादे वर्णितम्। परन्तु धारणा-ध्यान-समाधीनां त्रयाणाम् अन्तर्जगता विशिष्टसम्बन्ध इति विभूतिपादेऽत्र सम्प्रज्ञातसाधनस्वरूपे वर्णनमुपक्रान्तम्। तात्पर्यमेतद् यद् योगाङ्गेषु प्रथमप्रोक्तानि पञ्चाङ्गानि वहिरङ्गसाधनानि, अन्तिमानि च त्रीणि सम्प्रज्ञातयोगसाधनस्य अन्तरङ्गरूपाणि ॥ ७ ॥

असम्प्रज्ञातसमाधिना तत्सम्बन्धं निरूपयति—

तदपि वहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥

निर्बीजस्य = असम्प्रज्ञातसमाधेः तदपि वहिरङ्गमवगन्तव्यम्। यथा योगाङ्गप्रोक्तानि प्रथमपञ्चाङ्गानि वहिर्जगत्सम्बन्धनिबन्धनत्वात् अन्तर्जगतो धारणा-ध्यान-समाधीनां वहिरङ्गभूतानि, तथैव धारणा-ध्यान-समाधिरूप-संयमक्रियया सम्पादिता सम्प्रज्ञातयोगदशा निर्बीजस्वरूपा असम्प्रज्ञात-योगावस्थाया वहिरङ्गरूपा अवगन्तव्या। सम्प्रज्ञातयोगे सविकल्पसमाधौ ध्यातृ-ध्यान-ध्येयावभाससत्ता तिष्ठति। तत्र अवलम्बनसत्त्वात् प्रकृतिबीज-सद्भावः। परन्तु असम्प्रज्ञातयोगरूपनिर्विकल्पसमाधौ बीजस्यापि विनाशो जायते। अतो निर्बीजासम्प्रज्ञातसमाधेः सबीजः सम्प्रज्ञातसमाधिः वहि-रङ्गतां प्रपद्यते। स्मर्यते चात्र—

"प्रोद्बोधयति जीवेषु नानाशक्तिर्हि संयमः।
ऐशीनैवात्र सन्देहो नाऽलं मोचयितुं त्वसौ ॥
अविद्यापाशसन्नद्धान् जीवांस्तान् पाशबन्धनात्।
एकतत्त्वं तु शक्नोति भक्तान् दृश्यप्रपञ्चतः ॥

हठादाकृष्य तेभ्यो हि शिवत्वं दातुमद्भुतम्।
साधनं संयमोपेतं योगस्याभ्युदयप्रदम्॥
केवलं त्वेकतत्त्वस्य साहाय्यात् साध्यते तु यत्।
साधनं तद्धि योगस्य निःश्रेयसकरं ध्रुवम्॥
एतदेवास्ति योगस्य रहस्यं श्रुतिमूलकम्।
योगस्य साधनानां हि तत्त्वज्ञानप्रकाशकम्॥" इति।

तात्पर्यमिदं यत् सम्प्रज्ञातसमाधिनैव संयमक्रियाफलसम्बन्धः, न निर्विकल्पसमाधिना। मोक्षस्वरूपायाः परायाः सिद्धेरधिगमस्तु निर्बीजसमाधेरुदर्कः। परन्तु सर्वविधा दिव्यैश्वर्यरूपिण्योऽपराः सिद्धयः सम्प्रज्ञातसमाधिसम्बद्धा वेद्याः। अतोऽवस्थेयं निर्बीजसमाधेर्बहिरङ्गभूतेति मुमुक्षुभिः योगिभिः न कदापि विस्मरणीयमिति॥ ८॥

निर्बीजसमाधेरन्तरङ्गभूतो निरोधपरिणाम उच्यते—

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः॥ ९॥

यदाऽन्तःकरणं स्वाभाविकैर्गुणैः अभ्याससंस्कारवशवर्तित्वेन स्वविधेयव्यापृतं सन् नरीनृत्यते, तदानीं तदवस्था व्युत्थानसंस्कारसम्बद्धा प्रोच्यते। यदा चैकतत्त्वाभ्यासेन तत् स्वाभाविकं स्वीयं चाञ्चल्यं दूरीकरोति, तदानीं तदृशा निरुद्धसंस्कारान्तर्गता आम्नायते।

व्युत्थानदशायां निरोधावस्था तिरोदधाति। निरोधावस्थोदये च व्युत्थानसंस्कारा विलीयन्ते। एतदुभयदशामध्यवर्तिनि अन्तःकरणे जायमानाया दशाया नाम 'निरोधपरिणाम'इति। यदा चान्तःकरणं चञ्चलरूपव्युत्थानसंस्कारतः चाञ्चल्यविरहित-निरोधसंस्कारस्वरूपं धत्ते, एतदृशाद्वयमध्ये अन्तःकरणवृत्तिषु निरुद्धास्वपि तद्बीजप्रणाशो न जायते। अतः सबीजावस्था 'निरोधपरिणाम'शब्देन समाख्यायते। अर्थात् यदाऽन्तःकरणे व्युत्थानसंस्काराणां लयो निरोधसंस्काराणामाविर्भावश्च जायते, तेन च

अवस्थाद्वयसंयुक्तमपि तन्निरुद्धवत् प्रतीयते, तदानीम् अन्तःकरणदृश्यं 'निरोधपरिणाम'नाम्ना प्रोच्यते।

निरोधपरिणामावस्थायां प्रपन्नो निर्बीजसमाधौ वर्तमानो जीवन्मुक्तो योगिराजः केवलं प्रारब्धमेव उपभुङ्क्ते। तदानीमेकतत्त्वसिद्ध्या ऋतम्भरायाः प्रज्ञायाः समुदयेन ज्ञानाग्निना सर्वेऽपि सञ्चिताः क्रियमाणाश्च संस्काराः प्रणश्यन्ति। अर्थात् सञ्चितैः सम्बन्धः प्रणष्टः, क्रियमाणाश्च न सङ्गृह्यन्ते। केवलं निरोधपरिणामं द्वारीकृत्य समागताः शरीरोत्पादकसंस्काराः अन्तःकरणे तिष्ठन्ति, तत्फलं च भुज्यते ॥ ९ ॥

- निरोध-परिणामफलमुच्यते—

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥

निरोधसंस्काराद् अन्तःकरणे शान्तिः प्रवहति। निरोधसंस्कारावस्थायां योगिराजस्य न प्राक्कालीनकार्यकलापे आसक्तिः, नापि च समुत्पत्स्यमानाः वासना एव तिष्ठन्ति। यत आत्मज्ञानेन आसक्तिनाशे पूर्वसम्बन्धो नश्यति, वासनाक्षयेण च भाविनी समीहाऽपि नोदेति। तदानीं निर्विकल्पसमाधिस्थितस्य योगिराजस्य निरोधपरिणामजनिताः क्रमप्राप्ताः शारीरिकप्रारब्धभोगजन्याः संस्कारा एव कार्यमनुतिष्ठन्ति। एतादृश्याः सर्वोत्तमज्ञानस्वरूपायाः ऋतम्भरायाः प्रज्ञायाः समुदयेन तमोरजसी विलीयेते, तेनान्तःकरणे ज्ञानपरमानन्दपरिपूर्णा शान्ति-मन्दाकिनी निरवच्छिन्नरूपा प्रवहति ॥ १० ॥

असम्प्रज्ञातसमुद्भूत-निरोधपरिणामं वर्णयित्वा साम्प्रतं सम्प्रज्ञातोत्पन्नसमाधिपरिणामं व्याचष्टे—

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

चित्तस्य सर्वार्थतायाः क्षयः, एकाग्रतायाश्च उदय एव समाधिपरिणामः प्रोक्तः। संयमलक्षणं तदुपयोगित्वं च वर्णयित्वा निर्बीजसमाध्यधिगमाय निरोधपरिणामं तत्फलं च मुमुक्षोर्योगिनो लक्ष्यं स्थिरीकर्तुं समभिधाय

सवीजसमाधौ संयमसाहाय्येन प्राप्तव्यस्य समाधिपरिणामस्य समुपवर्णनं प्रक्रामति सूत्रकृन्महर्षिः।

विविधविषयसंस्कारैः समुत्पन्ना अन्तःकरणचञ्चलतैव 'सर्वार्थता' प्रतिपाद्यते। सर्वार्थता एकाग्रता च उभयमेव अन्तःकरणस्य गुणस्वरूपम्। सर्वार्थतायां विलीनायामन्तःकरणे एकाग्रता समुदेति। एवं सर्वार्थतायाः क्षयेण एकाग्रतायाश्च समुदयेन अन्तःकरणे समुत्पद्यमान-परिणामोदय एव समाधिपरिणामो व्याह्रियते। समुन्नतभूम्यधिगतं ज्ञानमेव साधकम् अत्युन्नततरां श्रेष्ठभूमिं प्रापयतीति पूर्वमेव प्रतिपादितम्। एवमेकाग्रतायाः समुन्नतभूमिमासादयद् अन्तःकरणं स्वत एव समाधिभूमिमधिगच्छति। तदानीं निरोधपरिणाममप्राप्य वासनाजनितसंस्कारबीजाश्रयेण सविकल्पसमाधिदशायाम् अन्तःकरणे प्रादुर्भूतः परिणाम एव समाधिपरिणामः प्रोच्यते। स एव ऐशीनां सिद्धीनां मूलहेतुः॥ ११॥

समाधिपरिणामं द्वारीकृत्य सिद्ध्यधिगमाय समाधिपरिणामानन्तरं परिणामान्तरस्वरूपं निर्दिशति—

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता-परिणामः॥ १२॥

ध्यान-धारणाभ्याम् एकतत्त्व-संयमयोरुत्पत्तिः। एकतत्त्वसाहाय्येनैव अन्तःकरणं वासनाबीजविरहितं निर्विकल्पसमाधिं प्रसूते। परन्तु धारणाभूमित एव सिद्धिवासनाबीजं सहैव नीयमाना संयमक्रिया समुत्पद्य ध्यानभूमितः समाधिभूमिमासाद्य एकाग्रता-समाधिपरिणामाभ्याम् ऐशीः सिद्धीर्योगिने प्रयच्छति।

ऐश्यः सिद्धयो ह्यनेकविधाः, 'अपरासिद्धि'नामतोऽपि ताः समाम्नाताः। सकामा योगिनो यां सिद्धिं कामयन्ते, तत्स्वरूपाधिगमहेतुभूतां सुकौशलपूर्णां धारणामन्तःकरणे स्थापयन्तो धारणा-ध्यान-समाधिरूपसंयमक्रियासाहाय्येन ते समाधिशक्तियुक्ता एकाग्रतापरिणामद्वारा अपराः सिद्धीरधिगन्तुं सामर्थ्यं लभन्ते। एकाग्रतापरिणामश्च शान्तोदितप्रत्ययतुल्यता-

संयुक्त आविर्भवति। एकाग्रतापरिणामे सिद्धिं समीहमानस्य योगिनोऽन्तः-करणं निस्तरङ्गजलाशयवत् समानवृत्तिसर्वार्थताविरहितं सत् शान्ति-मापद्यते। दशेयं 'शान्तप्रत्यय'नामतोऽभिधीयते। सिद्धिसमीहाजनित-वासनाबीजवेगजायमानसिद्धेः अभिमुखीभूतान्तःकरणदशैव 'उदितप्रत्यय'-नामतो व्याह्रियते। युगपदवस्थाद्वयं संधृत्य एकाग्रतापरिणामसाहाय्येन योगिनः ऐशीः सिद्धीः समधिगच्छन्ति॥ १२॥

एकाग्रतापरिणामान्तर्गता अन्ये परिणामा वर्ण्यन्ते—

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः॥ १३॥

एतेन स्थूलसूक्ष्मभूतेषु इन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थानां परिणामा अपि प्रोक्ताः। पूर्वसूत्रोक्तान्तःकरणपरिणामे एव स्थूलसूक्ष्मभूतेन्द्रियत्रिविध-परिणामा अन्तर्भवन्तीति वेद्यम्। अन्तःकरणोत्पन्न-व्युत्थाननिरोधरूप-धर्मस्य आविर्भाव-तिरोभावस्वरूपं परिवर्तनमेव 'धर्मपरिणाम' उच्यते।

अन्तःकरणसम्बद्धः लक्षणपरिणामस्त्रिविधः—अनागतलक्षणपरित्याग-पूर्वकम् अतीतलक्षणानुसरणं 'भूतलक्षणपरिणाम'नाम्ना प्रोच्यते। भूत-लक्षणपरिणामेऽत्र अतीतलक्षणपरिणामः अन्यकालपरिणामतो नाभिन्नः। यतोऽत्र वर्तमानलक्षणपरिणामस्य अनागतलक्षणपरिणामस्य चांशः तिष्ठत्येव। एवमेव 'वर्तमानलक्षणपरिणामः' 'अनागतलक्षणपरिणाम'श्चापि अवगन्तव्यः। यदि च समाधिदशां निरोधदशां वा प्राप्तं योगिनश्चित्तं चञ्चलतां प्रपद्येत, तर्हि भूत-भविष्यद्-वर्तमानभेदेन तदवस्थात्रयं बोभवीति। यस्मिन् क्षणे निरोधसंस्कारोदयेन व्युत्थानसंस्कारबलं क्षीयते, तदवस्थैव तृतीया बोद्धव्या। एवं किल धर्मिण्यन्तःकरणे उत्पत्ति-स्थिति-लयक्रियां धारयन्त-स्त्रयोऽपीमे धर्मलक्षणावस्थापरिणामा बोभूयन्ते। त्रिष्वपि परिणामेष्वेषु नैव शून्यतामधिगच्छति अन्तःकरणमित्यवधेयम्।

यथा त्रिगुणमयप्रकृत्यधीनस्य अन्तःकरणस्य उपर्युक्तास्त्रयः परिणामाः स्वतः सिद्ध्यन्ति, तथैव त्रिगुणात्मकत्वात् सर्वेऽपि प्राकृतिकाः पदार्थाः परि-णामिनः। यथा चित्ते धर्मलक्षणावस्थाभेदेन परिणामत्रयम्, तथैव समस्ते-

ष्वपि स्थूलसूक्ष्मभूतेषु इन्द्रियेषु च धर्मधर्मिभावतो धर्मलक्षणावस्थानामानस्त्रिविधाः परिणामा बोद्धव्याः। यथा पृथ्वीरूपधर्मिणि घटरूपविकारो धर्मपरिणाम आख्यायते, यतस्तत्र पिण्डाकार-धर्मतिरोभावपूर्वकं घटाकारभावः प्रादुर्भवति। घटस्य अनागतलक्षण-त्यागपुरस्सरं वर्तमानलक्षणवतो घटरूपधर्मस्य 'लक्षणपरिणामः', अथ च वर्तमानलक्षणवतो घटस्य नूतनत्वं क्षणे क्षणे च पुरातनत्वम् 'अवस्थापरिणाम'नामतो व्याख्यायते। अयमेव भूतेषु त्रिविधपरिणाम-दृष्टान्तोऽवधेयः।

एवमेव इन्द्रियेष्वपि विमर्शोऽनुष्ठेयः। इन्द्रियाणां नीलादिविषयपरिज्ञानं धर्मपरिणामः। नीलादिज्ञानस्य या हि वर्तमानलक्षणवत्ता स्वीकृतिः, तन्नाम लक्षणपरिणामः। वर्तमानदशायां तदस्फुटत्वं स्फुटत्वं च, तन्नाम अवस्थापरिणाम इति।

एवमेव अन्तःकरणस्य पूर्वोक्तत्रिविधपरिणामवत् स्थूलसूक्ष्मेषु समस्तभूतेषु इन्द्रियेषु च त्रिविधः धर्मलक्षणावस्थानामानः परिणामा बोभूयन्ते।

वस्तुत एक एव परिणामो धर्मधर्मिभेदेन अनेकधा विभिद्यते। अर्थात् धर्म एव रूपान्तरं प्राप्नोति। सुवर्णमयपात्रं त्रोटयित्वा तेनैव अलङ्काराणां पदार्थान्तरस्य वा निर्माणरूपपरिणामेन केवलं पदार्थस्वरूपे एव परिवर्तनं जायते, सुवर्णस्वरूपे नाणीयानपि भेद इति।

ननु एकस्मिन्नेव व्यक्तिविशेषे भूत-भविष्यद्-वर्तमानलक्षणसम्भवाद् अध्वसङ्करता-दोषः सम्भवेत्?

समाधत्ते—ते परिणामा एकस्मिन्नेव काले न जायन्ते, प्रत्युत यथाक्रममेव सम्भवन्ति। यथा कुत्रापि मानवे रागोत्पत्तिदशायां क्रोधो नास्तीति न वक्तुं शक्यते। तथापि राग-क्रोधयोः समकालम् आविर्भावो न दृश्यते। यथा कश्चित् कामुकः कस्यामपि स्त्रियामनुरक्तः अन्यस्त्रीषु विरक्ततां न व्रजति, तथैव पूर्वोक्तपरिणामेषु सङ्करदोषो न भवितुं शक्नुयात्। यतः परिणामः किल धर्मिणो धर्म एव, न धर्मलक्षणे सम्भवः, धर्मपरिणामस्तु एक एवेति॥ १३॥

यत्र धर्मे एतावन्तः परिणामास्तल्लक्षणमुच्यते—

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

शान्तोदिताव्यपदेश्यापरपर्याय-भूत-वर्तमान-भविष्यद्धर्मेषु अनुपाती अनुगतो धर्मी बोद्धव्यः। स्वीयकार्यमनुष्ठाय अतीतमार्गे प्रविष्टः 'शान्त' उच्यते। अर्थात् वर्तमानकाले नैव तेन किमपि क्रियते, न वा भविष्यति तस्य किमपि कर्तव्यमवशिष्यते। भग्नो घटः, अङ्कुरितं वा बीजं निदर्शनमत्र अवधेयम्। मृत्पिण्डस्य शान्तधर्मो घटः, अङ्कुरस्य च शान्तधर्मो बीजम्। यश्च भविष्यति न प्रकटितः, किन्तु वर्तमाने मार्गे स्वीयं विधेयमनुतिष्ठति, स 'उदित'संज्ञां लभते। यथा घटकाले घटः, बीजकाले च बीजम्; उभावपि उदितधर्माणौ बोद्धव्यौ। मृत्पिण्डे बीजे वा या किल प्रच्छन्ना शक्तिः, यया च भविष्यत्काले मृदा घटो बीजाच्च वृक्षः समुत्पद्यते, सैव 'अव्यपदेश्य'धर्माख्यया समाम्नाता। अथवा सञ्चिते धने शक्तिरस्ति, किन्तु न तया किमपि कार्यं सम्पद्यते, साऽपि अव्यपदेश्य-धर्मस्वरूपिणी।

नियमितकार्यकारणरूप-शक्तिसंयुक्तो धर्मः, तत्त्रिविधधर्म-ग्रहणशीलश्च धर्मी प्रोक्तः। यथा मृत्तिकारूपेण धर्मिणा प्रथमं चूर्णरूपो विकारः समुत्पद्यते, ततश्च पिण्डरूपता, ततो नु च घटस्वरूपता। निर्माणमापद्यमानेन चूर्णेन निर्मितं वर्तमानदशाप्राप्तं मृत्पिण्डम् अतीतावस्थावता चूर्णेन, अनागतावस्थावता घटेन विभिन्नतां भजति, परन्तु तत् मृत्तिकातो न विभिद्यते; यतः सा सर्वत्र उपादानरूपेण तिष्ठत्येव। अतश्चूर्ण-पिण्ड-घटरूपाणां धर्माणां विभिन्नत्वेऽपि अभिन्नरूपेण सर्वत्रैवानुगता मृत्तिका धर्मिशब्दवाच्या।

सूत्रस्यैतस्य प्रयोजनमिदं यत् सिद्धिं समीहमानो योगी संयमक्रियायां प्रवर्तमानो धर्मधर्मिणोरन्योन्यभिन्नतामवधारयेत्। अन्यथा धर्मधर्मिभावपार्थक्यबोधाभावेन भ्रमाच्च अन्योन्यसम्बन्धपरिज्ञानेन संयमसमुत्पन्ना ज्ञानदृष्टिर्विनश्येत्। विपदैतया योगिनं रक्षयितुमेव एतत्सूत्राविर्भाव इति ॥ १४ ॥

एकस्य धर्मिणोऽनेकपरिणामोत्पत्तिहेतुं ब्रूते—

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥

क्रमभेद एव परिणामभेदे हेतुः। धर्मिण एक एव परिणामः सर्वेऽपि वा परिणामाः समकालमुत्पद्यन्ते इति मीमांसायाम् एतत्सूत्राविर्भावः। क्रमपरिवर्तनेन परिणामपरिवर्तनमपि अवश्यम्भावि। यथा पूर्वं मृत्परमाणवः, पुनश्च मृत्पिण्डम्, तेन च घटोत्पत्तिः। पुनर्घटस्य भेदे कपालः, तेन च कपालखण्डाः, ते च पुनः परमाणुरूपं धारयन्तो मृत्स्वरूपं लभन्ते। तथैव पूर्ववृत्तिः उत्तरवृत्तेः पूर्वकारणत्वं भजन्ती क्रममनुसृत्य धर्मान्तरपरिणामं धारयति।

घटस्य अनागतभावापेक्षया वर्तमानभावः 'क्रमः' प्रोच्यते। वर्तमानभावाद् अतीतभावोऽपि क्रम एव। परन्तु अतीतभावस्य क्रमो नास्ति, यतः क्रमोऽसौ पूर्वापरसम्बन्धं निर्विभर्ति। घटपरिणामवत् पूर्वसूत्रोक्तानाम् अतीतादिपरिणामानां हेतुः क्रमपरिणाम एव ज्ञातव्यः। अर्थात् प्रकृतितरङ्गपरिवर्तनम्, अन्तःकरण-सुखदुःखादिधर्मपरिवर्तनं चोभयमेव क्रमनियमं निर्विभर्ति ॥ १५ ॥

संयमलक्षणं तद्विधिं च निरूप्य संयमोत्पन्नसिद्धयो वक्ष्यन्ते—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

पूर्वप्रतिपादितेषु धर्म-लक्षणा-ऽवस्थापरिणामेषु संयमेन अतीतस्य अनागतस्य च परिज्ञानं योगिनो जायते। संयमस्वरूपमुक्तपूर्वम्। एवं हि सिद्धिं कामयमानेन साधकेन त्रिषु अपि परिणामेषु संयममनुतिष्ठता कालज्ञानं समासाद्यते। अर्थात् धर्मपरिणामसंयमेन भूतज्ञानम्, लक्षणपरिणामसंयमेन वर्तमानज्ञानम्, अवस्थापरिणामसंयमेन च भविष्यत्कालज्ञानं समधिगत्य योगी त्रिकालदर्शी भवितुमर्हति, सदसद्विषयं चानुसन्दधानो भाविनः प्रत्यूहान् अपाकर्तुं तीव्रं पुरुषार्थमाचरन् दृष्टं कर्म स्रष्टुमर्हति।

उक्तं चापि—

"सर्वास्वभ्युदयस्यापि बीजेषु योगसिद्धिषु।
मत्सायुज्यदशाप्राप्तौ बाधिकास्ता न साधिकाः॥" इति।

तात्पर्यमिदं यत् सिद्धयो मुमुक्षूणां कृते बाधिका एव, न साधिकाः। ताभिः सकामसाधकस्य अभ्युदयोऽवश्यम्भावी। अन्यच्च, ताः प्रबलयोगान्तरायविनाशे समर्थाश्च। त्रिकालज्ञानाधिगमेन सर्वेऽपि योगविघ्ना निराकर्तुं शक्यन्ते। सिद्धिषु त्रिकालज्ञानस्य सर्वोत्कृष्टत्वात् तद्वर्णनं प्रागेव समनुष्ठितम्॥ १६॥

द्वितीयां सिद्धिं व्याचष्टे—

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् सङ्करस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्॥ १७॥

शब्दश्च अर्थश्च प्रत्ययश्च तेषामितरेतराध्यासात् सङ्करो घनिष्ठं सम्मिलनम्, तत्र संयमेन सर्वप्राणिनां रुतस्य परिज्ञानं जायते।

शब्दार्थप्रत्ययविवेकतो वाणी किल अक्षरेष्वेव अर्थयुक्ता बोभवीति। यतो वास्तविकीम् अक्षरयोजनामन्तरेण न शब्दार्थः स्फुटीभवति। श्रोत्रं वाक्यध्वनिमाकर्ण्य तं निजान्तःकरणे प्रवेशयति, ततश्च बुद्धिर्ध्वनिक्रमावबोधेन शब्दार्थं गृह्णाति। न च शब्दाक्षराणि समकालमेव उत्पद्यन्ते। प्रथमाक्षरे स्वावबोधमुत्पाद्य प्रणष्टे द्वितीयमक्षरमाविर्भवति। एवमेव प्रत्येकाक्षरस्य आविर्भावः। सर्वाण्यपि अक्षराण्येतानि स्वीयैः सहकारिभिः अक्षरैः सम्बध्नन्ति।

यथा 'गौः' इत्युच्चरितशब्दे गकारः, औकारो विसर्गश्चेति त्रयः स्व-स्वक्रमोच्चरिताः सन्तः शब्दस्वरूपं धृत्वा स्वीयां शक्तिं परस्परं मेलयित्वा यं किलैकं ध्वनिविशेषं समुत्पादयन्ति, तेनैव ध्वनिविशेषेण जीवविशेषस्य परिज्ञानं जायते। यथा प्रत्येकाक्षरीय-ध्वनिव्यष्टितः समुत्पन्नसमष्टिरूपगोशब्दस्य ध्वनिना सम्बन्धस्तथैव गोशब्दध्वनिना गोरूपस्य जीवस्यापि

सम्बन्धः। अर्थात् गोशब्दोच्चारणमात्रेणैव गोस्वरूपस्य प्राणिनो बोधो जायते। 'गामानय' इत्युक्तः कोऽपि मूर्खो गोरूपशब्दश्रवणद्वारा शीघ्रमेव गामानयति। परन्तु गोशब्दे कियन्तो वर्णाः सन्तीति पृष्टोऽसौ नैव किञ्चिदुत्तरति। यथा व्यष्टिरूपवर्णस्य ध्वनिना सम्बन्धस्तथैव समष्टिरूपशब्दध्वनिना शब्दज्ञानसम्बन्धः। अतः शब्दे अक्षरे ज्ञाने च परस्परमभेदात् शब्दविभागे संयमस्यानुष्ठानेन योगिना सर्वभूतरुतज्ञानं कर्तुं शक्यते।

यथा मानवो जीवविशेषस्तथैव अन्येऽपि प्राणिनः। मानवे तु ज्ञानाधिक्यरूपो भेदः। यथा मनुष्यो वाचा स्वीयामन्तर्वृत्तिं प्रकाशयति, तथैवान्येऽपि प्राणिनः। यथा अङ्गस्फुरण-छिक्काप्रभृतिभिः प्राकृतैरिङ्गितैर्जीवस्य भविष्यज्ज्ञानं जायते, तथैव नानाजीवोच्चरित-ध्वनिद्वारेणापि भविष्यज्ज्ञानं बोभूयते। यथाकालं जीवैर्ज्ञानकृताः स्वकीया मनोवृत्तयः प्रकाश्यन्ते, परन्तु बुद्धेरभावाद् बहिःप्रकृतिशक्तिवशीभूतास्ते यथासमयं प्राकृतिकानि इङ्गितानि प्रकाशयन्ति। इयं हि प्रकृतीङ्गितप्रकाशशक्तिः गुणभेदमनुसृत्य विशिष्टेषु प्राणिषु विशिष्टस्वरूपेण बोभवीति। अतो जीवोच्चारितध्वनिविभागसंयमेन योगिभिः प्राणिनः स्वाभाविकेन ध्वनिना तदीयान्तःकरणभावो ज्ञायते, अस्वाभाविकेन च ध्वनिना भविष्यन्तीनां घटनावलीनामनुमानं क्रियते।

स्वाभाविकास्वाभाविकभेदेन मनुष्योच्चारितशब्दो द्विविधः। प्रणवो बीजमन्त्रादयश्च स्वाभाविकाः, अन्ये च लौकिकाः साधारणशब्दा अस्वाभाविकाः परिज्ञेयाः। इयानेव भेदो यद् अन्तःकरणानुभूताः प्रणवादिशब्दाः, किं वा अन्तःकरणभावद्वारा विशिष्टस्वभावतः प्राकट्यमुपगताः शब्दाश्च स्वाभाविका बोद्धव्याः। बाह्यविषयमनुभूय तदर्थयोग्य-शब्दनिर्माणपूर्वकं व्यवहारसमागता गोप्रभृतिशब्दा अस्वाभाविकाः। पूर्वत्र प्रत्ययस्वरूपज्ञानस्य भावस्य वाऽनुभवः आभ्यन्तरविषयतः सम्पद्यते। द्वितीये तु शब्दसृष्टिकाले विषयानुभवो बाह्ये जगति बोभूयते।

परन्तु ज्ञानम्, अर्थः, शब्दश्च अथवा भावो वृत्तिः शब्दश्चेति क्रममनुसृत्य शब्देन तत्सम्बन्धयुक्तभावस्य ज्ञानस्य वा बोधो जायते।

मानवोच्चारितशब्दस्य ध्वनिवैचित्र्यसंयमेन तत्क्षणमेव योगिभिः मानव-चित्तस्थानेके भावा एकस्यैव शब्दस्य विभिन्नोच्चारणपद्धत्या अवगम्यन्ते। अस्वाभाविके शब्द एव नियमोऽयं सम्भवति। विविधजीवजन्तुशब्दा अपि तथैव बोद्धव्याः।

अन्ये प्राणिनो यदा कामक्रोधादिजनित-स्वीयस्वाभाविकदशायां विद्यमाना यं शब्दमुच्चारयन्ति, स हि तेषां स्वाभाविकः शब्दः। यदा च ते समष्टिप्रकृतिप्रेरणया विशिष्टे देशे काले च शब्दविशेषमुच्चारयन्ति, तदानीं तेषामयमस्वाभाविकः शब्दः। एतैरेवास्वाभाविकैः शब्दैः शकुनादीनां सम्बन्धः शास्त्रेषु निर्धारितः। यथा मानवानां स्वाभाविकेऽस्वाभाविके च शब्दे संयमेन शब्दार्थप्रतिपादकज्ञानस्य शब्दद्वारा प्रणोदितभावस्य वाऽनुभवो लोकैः क्रियते, तथैव विविधप्राणिनां तदीय-स्वाभाविकशब्दं द्वारीकृत्य तदन्तःकरणभावपरिज्ञानं किं वा तदीया-स्वाभाविकशब्दद्वारा मूलप्रकृतेः इङ्गितज्ञानं योगिना कर्तुं शक्यते। शब्दस्य गुरुत्व-लघुत्व-देशकालोच्चारणरीत्यादिभिः साकं चित्तसंयममनु-तिष्ठता पूर्वोक्तसन्धिषु जीवप्रकृतौ संयममारोपयता च योगिना साधकेन सकलजीवभाषा-परिज्ञानं क्रियते॥ १७॥

तृतीया सिद्धिर्निर्दिश्यते—

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्॥ १८॥

संस्काराणां प्रत्यक्षेण पूर्वजातिज्ञानं सञ्जायते।

पूर्वजन्मसंस्काराः प्रबला मन्दाश्चेति द्विविधाः। यान् द्वारीकृत्य कर्मविपाकाः समुपस्थाय प्रसह्य कर्माणि कारयन्ति, ते प्रबला ज्ञातव्याः। ते च संस्कारा मन्दाः परिज्ञातव्याः, येषां द्वारेण इच्छारूपिणी वासना समुपस्थाय जीवान्तःकरणे क्लेशमुत्पादयति। पूर्वजन्म-कर्मफलस्वरूपेषु संस्कारेषु संयमेन पूर्वजन्मज्ञानम्, परसंस्कारसंयमेन च परजन्मज्ञानं योगिना कर्तुं शक्यते। यतः संस्काराः कर्मजन्याः, अर्थात् ते किल कृत-कर्मणां छायारूपचिह्नविशेषाः।

यथा वैज्ञानिकाः यन्त्रद्वारा मानवानां छायारूपचिह्नानां धारणशक्तिं समुत्पाद्य 'फोटोग्राफ'-नाम्नि यन्त्रे मनुष्यमूर्तिं यथावत् प्रकाशयन्ति, तथैव योगिजनैरपि संस्कारेषु संयमेन संस्कारकारणरूपाणां कर्मणां याथातथ्येन परिज्ञानं कर्तुं पार्यते।

यथा वा वटबीजे वटवृक्षस्य सर्वोऽप्याकारः अप्रकाशितरूपेण वर्तते, तथैव कर्मबीजस्वरूपसंस्कारेषु कर्मणां सम्पूर्णमपि स्वरूपं निहितं तिष्ठति। अतो योगिनो यदि स्वीयां ज्ञानशक्तिं द्वारीकृत्य मानवीयवर्तमानजीवनपर्यालोचनां कुर्वन्तः तदीयजीवनस्वरूपाणि अङ्कुरितकर्माणि तदीया वृत्तीर्वा अवलोक्य समन्विष्टसंस्कारेषु संयमेन तत्पूर्वजातिपरिज्ञानं कर्तुं शक्नुवन्ति।

यथा वृक्षाद् बीजं बीजाच्च वृक्षः समुत्पद्यते, तथैव संस्कारकर्मणां कार्य-कारणपरम्परा बोध्या। विवेकतः समन्विष्यमाणसंस्कारेषु संयमः अर्थात् केन कर्मणा संस्कारोऽयं समुत्पन्न इति विवेको योगिनोऽन्तःकरणे स्वयमेव उदेति॥ १८॥

चतुर्थीं सिद्धिं व्याहरति—

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्॥ १९॥

प्रत्ययस्य = ज्ञानस्य, संयमेन परकीयचेतसो ज्ञानं जायते। सर्वाण्यपि अन्तःकरणानि समानजातीयानि। सर्ववस्तुपरिज्ञानं च ज्ञानेनैव जायते। अन्तःकरणस्थं सर्वमपि ज्ञानं सजातीयमेव। केवलमहङ्कारेणैव स्वतन्त्रवत् प्रतिभाति। एतेनैव कारणेन एकस्य ज्ञानस्य परकीयज्ञानग्रहणे सामर्थ्यं न दृश्यते। परन्तु ज्ञाने संयममनुतिष्ठन् योगी स्वीयान्तःकरणं परकीयान्तःकरणसम्बद्धं विधाय परेषामन्तःकरणभावं ग्रहीतुं शक्नोति।

एवं बुद्धिसंयमेन योगिना परचित्तज्ञानं कर्तुं शक्यते। स्वरूपज्ञानं परमात्मसम्बद्धम्, तटस्थज्ञानं तु जीवान्तःकरणसम्बद्धं विज्ञेयम्। स्वरूपज्ञानम् आत्मस्वरूपधर्मः, तटस्थज्ञानं च जीवान्तःकरणधर्मः। अन्तःकरणस्य मनोबुद्धिचित्ताहङ्काराख्य-चतुर्विभागसत्त्वेऽपि बुद्धेः प्राधान्यमास्ते। अतोऽन्तःकरणे ज्ञानव्यापकता नित्यं स्थिता। तटस्थज्ञाने त्रिपुटेः स्वाभाविक-

सम्बन्धस्य विद्यमानतया जैवान्तःकरणगुणपरिणामम् अनुसृत्य अन्तःकरणावच्छिन्नज्ञानस्थितिः। फलतः कस्यापि जीवविशेषस्य अन्तःकरणभावं जिज्ञासमानो योगी तदीयज्ञानविशेषे संयमं विदधन् योगयुक्तः तज्जीवान्तःकरणवृत्तान्तं ज्ञातुमर्हति ॥ १९ ॥

तत्र वैशिष्ट्यं प्रदर्शयति —

न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ २० ॥

ज्ञानसंयमेन परचित्तज्ञानं जायत इति पूर्वसूत्रे प्रतिपादितम्। परन्तु एतत्सूत्रेण सूत्रकृन्महर्षिः स्पष्टयति यत् तेन परकीयचित्तपरिज्ञाने जातेऽपि न सर्वांशतः पूर्णरूपेण परकीयान्तःकरणज्ञानं सम्भवति। तेन समष्टिरूपान्तःकरण-साधारणज्ञानमुदेति। परन्तु विशेषज्ञानस्य कृते स्थानान्तरेऽपि संयमस्य प्रयोजनीयता समापतति।

योगी यदा संयमं द्वारीकृत्य परकीयमन्तःकरणं प्रविशति, ततश्च स्वीयं संयमं विस्तारयति, तदैवाऽसौ सुविस्तृतं ज्ञानं कर्तुमर्हति। सुतरां योगपरायणः साधकः प्रथमं ज्ञानसंयमद्वारा परकीयमन्तःकरणं प्रविशति। पुनस्तद्विषयेषु संयमं कुर्वाणः परकीयचित्तस्य सुविस्तृतं परिज्ञानं कर्तुं पारयति। 'एतेन व्यक्तिविशेषेण एतत् पापकर्म कृतं न वे'ति परिज्ञातुमिच्छुर्योगी तद् व्यक्तिज्ञानसंयमेनैव ज्ञातुं शक्नोति। परन्तु यद्यसौ तस्य पापनिरतव्यक्तिविशेषस्य पापकर्मसम्बन्धे देश-काल-पात्रविचारतः समधिकं ज्ञातुमीहेत चेत्तर्हि तत्कर्मसम्बन्धयुक्तविषयान्तरेषु च संयमवान् भवेत् ॥ २० ॥

पञ्चमीं सिद्धिं प्रतिपादयति—

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥ २१ ॥

कायरूपसंयमेन तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे जाते परकीयचक्षुःप्रकाशस्य असम्प्रयोगात् योगिनोऽन्तर्धानं जायते। पाञ्चभौतिकमिदं शरीरं रूपव-

न्नेत्रजन्यज्ञानविषयम्। अथात् रूपद्वारैव शरीरं चक्षुर्ग्राह्यं भवति। अतः स्वीयशरीरगतरूपे संयमेन तदीयशरीरग्राह्यशक्तिर्नान्यस्य नेत्रपथमायाति। एवंप्रकारतो यदा द्रष्टुर्दृक्शक्तिः स्तम्भिता जायते, स्वयमसौ द्रष्टा नामुं योगिनं द्रष्टुं पारयति। अतः स्वीयकायरूपसंयमेन योगी परकीयदृष्टितोऽन्तर्दधाति।

संसारेऽत्र दृक्शक्तिस्तम्भनप्रक्रिया प्रायशो दृश्यते। कदा चिद् उन्मीलितनेत्रोऽपि पुमान् स्तम्भितदृष्टिशक्तिर्न किञ्चिदपि समीक्षते। ऐन्द्रजालिकक्रियासु प्रायः एतद् विलोक्यते। इन्द्रजाल-क्रीडाप्रदर्शकः अनेकपदार्थसंयोग-वियोगरूपिणीं क्रियां प्रदर्शयन् इन्द्रजालविद्यया दर्शकदर्शनानि स्तम्भयति, येन द्रष्टारो नैव तत्तत्पदार्थसंयोग-वियोगकार्यकलापान्वेषणे समर्था भवन्ति। यदा इन्द्रजालस्य साधारणप्रक्रियया दृष्टिशक्तिः स्तम्भिता जायते, तदानीं योगिराजमहात्मनां संयमक्रियया किं न भवितुमर्हति?

यथा रूपविषयकसंयमेन योगिनः शरीरस्वरूपं नैव केनापि द्रष्टुं शक्यते, तथैव शब्दविषयकसंयमेन श्रोत्रग्राह्यशक्तिरपि स्तम्भिता जायते, येन श्रोत्रस्य शब्दसन्निकर्षात् योगिनः समुच्चरितशब्दमपि न कोऽपि श्रोतुमर्हति। एवमेव स्पर्श-रस-गन्धविषयेऽप्यवधेयम्। सुतरां शब्दादिपञ्चविषयसंयमेन योगिनः शरीरस्य शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धविषयानपि समीपस्थः पुरुषो न द्रष्टुमर्हति॥ २१॥

षष्ठी सिद्धिः प्रस्तूयते—

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा॥ २२॥

सोपक्रमं निरुपक्रमं च द्विविधं कर्म, तत्संयमाद् अपरान्तस्य मृत्योर्ज्ञानं जायते। वा = किं वा। त्रिप्रकारकेभ्यः अरिष्टेभ्योऽपि वा तत्सम्भवति।

प्रथमपादीयसूत्रैः कर्मविपाकतो ह्यायुषः स्थिरत्वं प्रतिपादितम्। येन कर्मफलेन आयुः स्थिरीक्रियते, तत् सोपक्रम-निरुपक्रमभेदेन द्विविधम्। यथा आर्द्रवस्त्रतो जलीयांशनिस्सारणेन तद्वस्त्रं शीघ्रं शुष्कतामेति, यथा

च शुष्ककाष्ठेषु पावकप्रक्षेपेण काष्ठानि द्रुतमेव भस्मीभवन्ति, तथैव यानि कर्माणि अतितीव्रतया त्वरितमेव फलमाविर्भावयन्ति, तानि 'सोपक्रम'संज्ञां लभन्ते। यथा च जलार्द्रीभूतं पिण्डीकृतं च वस्त्रं वहोः कालात् शुष्कत्वं प्रयाति, यथा वा आर्द्रेन्धनसमूहो वह्निप्रक्षेपेण बहुसमयानन्तरं भस्मतां प्रपद्यते, तथैव ये कर्मविपाकाः मन्दतया विलम्बेन फलं प्रयच्छन्ति, ते 'निरुपक्रम'संज्ञां लभन्ते। द्विविधेऽपि कर्मविपाकेऽत्र संयमेन मृत्युः कदा कुत्र कया रीत्या वा भावीति योगिना सर्वं ज्ञातुं शक्यते।

सहजम्, ऐशम् जैवं चेति त्रिविधं कर्म मीमांसाशास्त्रे स्वीकृतम्। सहजम् ऐशं चेति कर्मद्वयं मनुष्यजीवने परम्परया उपयोगितां प्रपद्यते। जैवमेव स्वाधीनं मानवीयं कर्म।

सञ्चित-क्रियमाण-प्रारब्धभेदेन जैवमपि त्रिविधम्। सञ्चितकर्मसम्बन्धो भविष्यत्कालगर्भे निभृतस्तिष्ठति। प्राधान्येन प्रारब्धे कर्मणि गौणतया च क्रियमाणकर्मणि आयुर्निर्णयार्थं योगिभिः संयमः क्रियते। प्रबलमेव क्रियमाणं कर्म सदसत्स्वरूपमायुर्वर्धयति सङ्कोचयति वा। अन्यथा दुर्बलं क्रियमाणं कर्म सञ्चिते कर्मणि सम्मिलति। अतो मनुष्याणां कानि क्रियमाण-कर्माणि प्रबलानि सन्तीति तद्गतौ संयमः क्रियते। अथ च मानवजीवने प्राकट्यमुपगच्छतः प्रारब्धकर्मणो लाघवं गौरवं चानुशीलयता योगिराजेन यदि संयमः क्रियते, तर्हि मानवीयमायुर्निर्धारयितुं शक्यते। यथा च पूर्व-ज्ञाने, ततश्च विशिष्टवृत्तिषु संयमेन जैवान्तःकरणभावः परिज्ञायते, तथैव प्रारब्धकर्मणि प्रबलक्रियमाणकर्मणि च संयमेन मृत्युकालो निश्चीयते योगिना। तदनन्तरं च तदीयानुषङ्गिक-सूक्ष्मतायां विचारपूर्वकसंयमेन मृत्युकालिक्या अवस्थाया गतेश्च ज्ञानं क्रियते।

यथा सोपक्रम-निरुपक्रमरूप-कर्मविपाकसंयमेन योगिभिः साधकैर्मृत्यु-ज्ञानं क्रियते, तथैव तेन आध्यात्मिका-ऽऽधिदैविका-ऽऽधिभौतिकेषु अरिष्टे-ष्वपि संयमेन मृत्युज्ञानं कर्तुं शक्यते।

आध्यात्मिकेन अरिष्टेन ज्ञानेन्द्रियशक्तौ आन्तरिकी निर्बलता समा-गच्छति। उदाहरणस्वरूपतः शास्त्रेष्वेवं प्रतिपादितमुपलभ्यते यत् श्रोत्रे-

न्द्रिये पिहिते यः शब्दध्वनिरेकः श्रूयते, स नैव श्रुतिगोचरः स्यात्, नेत्रेन्द्रिये च पिहिते बहूनि अन्तर्ज्योतींषि दृश्यन्ते, तानि न दृष्टिगोचराणि स्युः" इत्यादिकमान्तरिकशक्तिहीनतारूपम् आध्यात्मिकमरिष्टं विज्ञेयम्। कारणमन्तरेणैव यदि यमदूताः पितरश्च दृष्टिगोचरतामापद्येरन्, तदाऽलौकिकलक्षणमेतद् आधिदैविकमरिष्टमवधेयम्। एवं किल कारणविशेषाभावेऽपि यदि सुखप्रदलोकानां दिव्यदेवशरीराणां च दर्शनं स्यात्, तर्हि तत्तदैवलक्षणान्यपि आधिदैविकारिष्टेऽन्तर्भवन्ति। दैहिकव्याधिविशेषलक्षणानि, आहारव्यवहारविशेषलक्षणानि चाधिभौतिके अरिष्टेऽन्तर्गतानि। एवमेव बलवतो निर्बलत्वं स्थूलकायस्य चातिकृशत्वमित्यादीनि लक्षणान्यपि आधिभौतिकारिष्टेऽन्तर्भवन्ति।

आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकारिष्टेषु संयमेन मृत्योर्ज्ञानं जायते। परन्तु अरिष्टान्येतानि मृत्युकाले निकटवर्तिन्येव दृश्यन्ते। अतस्ततो बहुकालात् पूर्वं मृत्युज्ञानं न सम्भाव्यते। परन्तु पूर्वोक्तसोपक्रम-निरुपक्रमविपाकसंयमेन यथेच्छं योगिना मृत्युज्ञानं कर्तुं पार्यते इति विवेकः॥ २२॥

सप्तमी सिद्धिर्वर्ण्यते—

मैत्र्यादिषु बलानि॥ २३॥

मैत्र्यादिषु संयमेन बलानि प्राप्यन्ते। मैत्री, मुदिता, करुणा, उपेक्षेति चतस्रो मानसिक्यो भावना अभ्यर्हिताः समाम्नाताः। धर्मात्मनि मैत्री, सुखिनि मुदिता, दुःखिजने करुणा, पापपरायणे चोपेक्षा योगिभिरनुष्ठेयेति पूर्वमेव प्रतिपादितम्। एवमभ्यस्यन् योगी योगमार्गेऽग्रेसरति। चतसृष्वपि संयमेन साधको योगी क्रमशो मैत्रीबलम्, मुदितावलम्, करुणाबलम्, उपेक्षाबलं च समधिगच्छति। तदानीं योगिनोऽन्तःकरणे न किमपि प्रतिबन्धनं स्थातुमर्हति।

आत्मबलं किल सर्वबलमूलमाम्नातम्। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इति श्रुतिरपि आत्मज्ञाने आत्मबलं सर्वोपरि मन्यते। एतादृगात्मज्ञानाधिगमाय यस्यात्मबलस्य आवश्यकत्वम्, तद्धि विशुद्धं तेजः प्रतिपाद्यते।

या किल शक्तिरन्तःकरणस्य इन्द्रियाभिमुखतां निवारयन्ती अन्तःकरणं स्वरूपाभिमुखं प्रकुरुते, सैव तेजः आत्मबलं वा प्रणिगद्यते। पूर्वोक्तश्रेणीनां शुद्धशक्तिषु संयमं विदधतः, तासु च नैजमन्तःकरणं प्रतिष्ठापयतो योगिनः न कदापि कथमपि केनापि तच्चित्तमधः पातयितुं शक्यते। एतदात्मबलं योगिना समधिगम्यते ॥ २३ ॥

अष्टमीं सिद्धिं वर्णयति—

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

बलेषु संयमेन हस्तिबलादीनि प्राप्यन्ते। बलं द्विविधम्—आत्मिकं शारीरिकं च। आत्मबलप्राप्तिसिद्धिः पूर्वं निरूपिता। इदानीं स्थूलदैहिक-बलप्राप्तिसिद्धिर्वर्ण्यते। समानमेकरूपमपि बलं प्रकृतिभेदाद् भिद्यते। सिंहानां करीणां खेचरपक्षिणां जलचरग्राहादीनां च बलं प्रकृतिमनुसृत्य भिद्यते। यादृशबलस्य आवश्यकत्वम्, तादृशप्राणिबलेषु संयमेन तथा-विधं बलमधिगम्यते। वायोः सर्वबलाधारत्वात् तत्र संयमेन बलाधिक्यं प्राप्यते। वायुसंयमस्य परमहिताधायकत्वेऽपि विशिष्टपशुजातीयबलाधि-गमाय तत्पशुबलदृशापर्यालोचनपूर्वकं तत्तत्पशुविशेषबलेषु संयमेन योगिना गजसमानबलमधिगम्यते ॥ २४ ॥

नवमीं सिद्धिं निर्णयति—

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

प्रथमपादे प्रतिपादितायाः साम्यावस्थायुक्ताया ज्योतिष्मत्याः प्रवृत्तेः प्रकाशं सूक्ष्मादिवस्तुषु विन्यस्य तत्र संयमेन सूक्ष्म-गुप्त-दूरस्थपदार्थाना-मवबोधो जायते। पूर्णप्रकाशस्वरूपस्य सत्त्वगुणस्य परिपूर्णप्रकाशेन पूर्णं ज्ञानमुदेति। अतः सात्त्विके तेजसि संयमेन तत्साहाय्येन च योगी, अति-गुप्तातिसूक्ष्मातिदूरस्थानामपि पदार्थानां सम्यग् बोधमनुष्ठातुं प्रभवति। अर्थात् सात्त्विकप्रकाशरूपा ज्योतिष्मतीप्रवृत्तिरेव साम्यावस्थारूपसत्त्व-गुणस्वरूपिणी। तत्साहाय्येन चान्विष्यन् योगी साधकः सूक्ष्मातिसूक्ष्मं

परमाणुमपि द्रष्टुमर्हति। भूमौ निहितान् अतिगुप्तपदार्थानपि परिज्ञातुं शक्नोति। अतिदूरवर्तिवस्तून्यपि विज्ञातुं प्रभवति।

योगसाधनस्य क्रियासिद्धांशमनुसृत्य मन्त्र-हठ-लय-राजाख्याभिर्योग-साधनं चतुर्धा विभक्तम्। मन्त्रयोगे मनःकल्पितमूर्तिध्यानम्, हठयोगे मनः-कल्पितस्य स्थूलज्योतिषो ध्यानम्, लययोगे विशिष्टसाधनानि द्वारीकृत्य सत्त्वगुणमयसूक्ष्मप्रकृतिसमुत्पन्न-ज्योतिष्मन्नामविन्दुध्यानम्, राजयोगे च प्रज्ञासमुत्पन्नमात्मध्यानं व्यवस्थापितम्। लययोगप्रतिपादितानि विविध-साधनान्यनुसृत्य स्वीयाभ्यन्तरराज्यशारीरिकद्विदलस्थाने शुद्धं तेजःपूर्णं विन्दुं योगी परिपश्यति। सा किल ज्योतिष्मती प्रवृत्तिः विन्दुरूपेण समाविर्भूता यदा स्थिरायते, सैव विन्दुध्यानस्य सिद्धावस्था।

सकामो योगी स्वीयां समीहामनुसृत्य तद्विन्दुसहायतया स्वशरीर-स्थानां विभिन्नसूक्ष्मनाडीषट्चक्रादीनां नानापीठानां दर्शने सामर्थ्यं लभते। एवं हि सकामोऽसौ योगी यथेच्छं तद्विन्दुविस्तृतिमुपढौकमानः स्वीयसंयमशक्तेः साहाय्येन ज्योतिष्मत्प्रवृत्तिसहयोगितया च अनेकान् गुप्तविषयान् जलमग्नं धरागर्भस्थं विविधं दृश्यसमूहं चावलोकयितुं प्रभवति॥ २५॥

दशमी सिद्धिरुच्यते—

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्॥ २६॥

सूर्ये संयमेन भुवनज्ञानं जायते। अर्थात् सूर्यस्य द्विविधरूपे संयमात् स्थूलसूक्ष्मलोकानामवगतिर्वोभूयते। प्राधान्येनायं मृत्युलोक एव स्थूलो लोकः, सप्त स्वर्गलोकाः सप्त पातालाख्याश्च सूक्ष्मलोका उच्यन्ते। अन्यान्य-निकटस्थ-ब्रह्माण्डपरिज्ञानमपि सूक्ष्मलोकतो नातिरिच्यते। ऊर्ध्वस्थसप्त-लोकेषु प्रथमो भूर्लोकश्चतुर्धा विभक्तः। स्मर्यते चात्र—

"अहं चतुर्दशानां हि भुवनानां स्वधाभुजः।
पञ्चानां चैव कोषाणां सम्बन्धादद्य वो ब्रुवे॥

प्राधान्यं देववृन्दस्य श्रूयतां सुसमाहितैः।
दैवसृष्टिरहस्यं स्यात् ज्ञातं येन यथार्थतः॥
ब्रह्मविष्णुमहेशाख्यं त्रिमूर्तिं त्रिगुणात्मकम्।
यदाऽहं पितरो धृत्वा स्वशक्तेरवलम्बनात्॥
आददे सगुणं रूपं तिस्रस्ता एव मूर्तयः।
प्राधान्यं सर्वदेवेषु धरन्त्योऽलं भवन्ति ते॥
ब्रह्माण्डे किल प्रत्येकं मुख्या देवा न संशयः।
आवहन्तस्त्रिदेवाख्यां प्राशस्त्यं यान्ति सर्वथा॥
अस्य मूर्तित्रयस्यास्ते प्रतिब्रह्माण्डवर्तिनः।
नैव भेदो मया सार्धं वस्तुतः कश्चिदप्यणु॥
एतदेवाधिदैवं हि मुख्यं मूर्तित्रयं मम।
प्रोच्यते पितरो विज्ञैः प्रतिब्रह्माण्डमीश्वरः॥
ब्रह्मण्याध्यात्मशक्तिर्मे ह्यधिदैव्यपि भाति वै।
लोकस्रष्टृत्वतो वोऽयं नायकोऽस्ति तथाऽप्यहो॥
तथा शिवेऽधिभूतायामाधिदैव्याञ्च पूर्णतः।
शक्तौ विकासितायां हि सत्यामपि स्वधाभुजः॥
नायको ज्ञानदातृत्वाद् ऋषीणामेव मन्यते।
संविकाशितयोः शक्त्योः पूर्णाध्यात्माधिभूतयोः॥
विष्णौ सत्योस्तथाप्येष वर्तते देवनायकः।
दैवशक्तिकदम्बस्य केन्द्रीभूतो यतोऽस्त्ययम्॥
पितरो वोऽधिकारोऽस्ति स्थूले जगति केवलम्।
पिण्डपुञ्जेऽपि मर्त्यानां पिण्डेष्वेव विशेषतः॥
केवलं ज्ञानिजीवेषु त्वधिकारस्तथाऽस्त्यलम्।
ऋषीणां नात्र सन्देहः किन्तु देवगणस्य वै॥
ब्रह्माण्डानां हि सर्वेषां भागेष्वास्तेऽखिलेषु च।
अधिकारोऽस्त्यतस्तेषां देवानां सर्वमान्यता॥

पितरः पञ्चकोषाश्च भुवनानि चतुर्दश ।
समष्टिव्यष्टिरूपायां पिण्डब्रह्माण्डसंहतौ ॥
ओतप्रोतस्वरूपेण संतिष्ठन्ते न संशयः ।
मम ब्रह्माण्डरूपस्य विराड्देहस्य कल्यादाः ॥
लोकाः सप्तोर्द्ध्वगा नाभिमुपर्युपरि सन्त्यहो ।
अधोऽधः सप्त वर्तन्ते ध्रुवं नाभिं च संस्थिताः ॥
अतः समष्टिरूपेऽस्मिन् ब्रह्माण्डे वै चतुर्दश ।
भुवनानि प्रधानानि विद्यन्ते नात्र संशयः ॥
पञ्चकोषास्तु तिष्ठन्ति व्याप्ता गौणतयाऽत्र हि ।
जीवदेहस्वरूपेषु कोषाः पिण्डेषु पञ्च च ॥
प्रधानाः सन्ति तेषां हि सम्बन्धाच्च चतुर्दश ।
भुवनान्यप्रधानानि संतिष्ठन्ते निरन्तरम् ॥
अतो मे ज्ञानिनो भक्ता ऐशीं शक्तिं समाश्रिताः ।
स्वपिण्डेष्वपि तिष्ठन्तः सूक्ष्मैर्नानाविधैर्वृतम् ॥
संस्थापयितुमर्हन्ति देवलोकैः सहान्वयम् ।
अन्यान्यसूक्ष्मलोकेषु निवसन्तोऽप्यतस्तथा ॥
संस्थापयितुमर्हन्ति स्वाधिपत्यं स्वधाभुजः ।
देवासुरगणाः सर्वे जीवपिण्डेष्वनुक्षणम् ॥
पितरः पञ्चकोषा हि सर्वपिण्डप्रतिष्ठिताः ।
आवृण्वन्तो विराजन्ते मत्स्वरूपं न संशयः ॥
मध्यमासु कनिष्ठासु तथोच्चैर्देवयोनिषु ।
सर्वास्वप्यवतिष्ठन्ते पञ्चकोषा न संशयः ॥
एतावांस्तत्र भेदोऽस्ति नूनं निम्नासु योनिषु ।
पञ्चकोषा विकाशन्ते नैव सामान्यतोऽखिलाः ॥
निखिलानां तु कोषाणां मर्त्यपिण्डेषु निश्चितम् ।
विकाशः सर्वतः सम्यग् जायते नाऽत्र संशयः ॥

ततोऽपि देवपिण्डेषु विकाशन्ते हि शक्तयः।
अधिकं खलु पञ्चानां कोषाणां नात्र संशयः॥

पाञ्चकौषिकभूमीनां समानानां स्वभावतः।
सम्बन्धः सर्वपिण्डानां भूमिभिः सह वर्तते॥

ऋषयोऽतो भवन्तश्च ममोपासकयोगिनः।
देवाः शक्तिविशेषैश्च विधातुं शक्नुवन्त्यलम्॥

कार्यं कोषविशेषस्य पिण्डेष्वन्येषु चैकतः।
नैवात्र संशयः कश्चित् सत्यं जानीत सत्तमाः॥

वसन्ति देवाः पितरः ऊर्ध्वलोकेषु सप्तसु।
संतिष्ठन्तेऽसुराः सर्वे ह्यधोलोकेषु सप्तसु॥

तमोमुख्यतया सृष्टेरसुराणां हि सप्तमे।
लोकेऽस्त्यसुरराजस्य राजधानी त्वधस्तने॥

दैव्याः सत्त्वप्रधानत्वात् सृष्टे राजानुशासनम्।
उच्चैर्देवेषु लोकेषु नैवावश्यकमस्त्यहो॥

अस्त्यतो देवराजस्य राजधानी तृतीयके।
ऊर्ध्वलोके स्थिता नित्यं नात्र कार्या विचारणा॥

विशेषतोऽसुराः सर्वे सदा प्राबल्यसञ्जुषः।
कुर्वाणा विप्लवं दैवे राज्ये सृष्टेः प्रबाधितुम्॥

सामञ्जस्यं विचेष्टन्ते नितान्तं सन्ततं बहु।
अतोऽपि देवराजस्य राजधानी तृतीयके॥

ऊर्ध्वलोके स्थिता नित्यं विद्यते पितरो ध्रुवम्।
उन्नतेषूर्ध्वलोकेषु प्रवेशोऽप्यस्त्यसम्भवः॥

असुराणामतोऽप्येषु देवराजानुशासनम्।
नावश्यकत्वमाप्नोति विशेषेण कदा चन॥

विभिन्नोपासकेभ्यो हि स्वरूपं सगुणं धरन्।
सालोक्यं चैव सामीप्यं सारूप्यं पितरस्तथा॥

दातुं मोक्षं च सायुज्यं नानारूपैर्हि सप्तमे।
ऊर्ध्वलोके तथा षष्ठे विराजेऽहमनुक्षणम्॥

उन्नतेषूर्ध्वलोकेषु सात्त्विकेषु स्वधाभुजः।
राजानुशासनस्थातः का वार्ता वर्तते खलु॥

शब्दानुशासनस्यापि नास्ति तेषु प्रयोजनम्।
विचित्रो मध्यवर्त्यस्ति मृत्युलोको विभूतिदाः॥

यथा गार्हस्थ्यमाश्रित्य पुष्टाः स्युः सर्व आश्रमाः।
मृत्युलोकं समाश्रित्य भुवनानि चतुर्दश॥

स्वातन्त्र्यं पूर्णमत्रास्ति कर्मसम्पादने यतः।
मृत्युलोकप्रतिष्ठाऽतो विद्यते निखिलोपरि॥

यद्यप्युत्पद्यते मोक्षफलमुद्यान उत्तमे।
मृत्युलोके न सन्देहस्तद्बीजं किन्तु लभ्यते॥

आर्यावर्तप्रदेशे हि कर्मभूमिस्वरूपिणी।
विशुद्धे याज्ञिके रम्ये सर्वर्तुव्रातशोभिते॥

का वार्ताऽतोऽस्ति देवानामवतारीयविग्रहम्।
आविर्भवितुमिच्छाम्यप्यार्यावर्तेऽहमाश्रयन्॥

मृत्युलोकस्य भूलोकान्तर्गतस्यास्ति विस्तृतिः।
महती नात्र सन्देहस्तद्विभागश्चतुर्विधः॥

एको वः पितृलोकोऽस्ति मृत्युलोको द्वितीयकः।
प्रेतलोकस्तृतीयोऽस्ति चतुर्थो नरकाभिधः॥

भूलोके भवतामेष लोकः स्वर्गः सुखप्रदः।
वस्तुतो नात्र सन्देहो विधातव्यः स्वधाभुजः॥

कर्मभूर्भृत्युलोकोऽस्ति कर्मक्षेत्रं च यं जगुः।
प्रेतलोकस्तथैवास्ते लोकोऽपि नरकाभिधः॥

दुःखदावानलज्वालापूरितौ भीषणावलम्।
प्रेतलोकोऽस्ति संश्लिष्टो मृत्युलोकेन सर्वथा॥

भुवर्लोकादयोऽन्ये वो लोकादूर्ध्वमवस्थिताः।
अस्त्यतश्चोर्ध्वलोकानामधोलोकव्रजस्य च॥

वैलक्षण्येन सार्धं वः सम्यक् परिचयो न हि।
यद्यस्यां हि चतुर्लोक्यां धर्मराजानुशासनम्॥

वरीवर्त्येव विस्तीर्णं नास्ति कोऽप्यत्र संशयः।
दृढं प्रकुर्याच्चेद् यत्नं पितरो यूयमन्वहम्॥

यमदण्डस्य साहाय्यमन्तरेणैव तर्ह्यलम्।
कृतार्था भवितुं सृष्टेः सामञ्जस्यस्य रक्षणे॥

दण्डेनैव प्रजाः सर्वाः कर्तुं धर्मपरायणाः।
यत्नो यद्यपि वर्तेत निस्सन्देहं शुभावहः॥

किन्त्वहो येन यत्नेन प्रजाः सर्वाः कदा चन।
दण्डार्हा एव नैव स्युः सयत्नो ज्ञानिसन्निधौ॥

प्रजाकल्याणवृद्ध्यर्थमधिकं स्यात् सुखप्रदः।
नास्ति कोऽप्यत्र सन्देहः सत्यमेतद् ब्रवीमि वः॥

मृत्युलोकाधिकारोऽस्ति सर्वलोकहितप्रदः।
यतो देवासुरैः सर्वैः पितरः कर्मभूमितः॥

मानवाल्लोकतो गत्वा प्राप्यन्ते चोक्तयोनयः।
भोगावसानजे जाते पाते तेषां स्वलोकतः॥

भूयोऽप्यभ्युदयं प्राप्तुं मृत्युलोकोऽयमेव वै।
भवेदाश्रयणीयो हि सर्वथैव न संशयः॥

अस्त्यङ्गं प्रेतलोकस्तु मृत्युलोकस्य निश्चितम्।
मृत्युलोकेन सम्बद्धौ लोकौ च द्विविधौ परौ॥

ऊर्द्ध्वाधःसंस्थितौ पितृनरकाख्यौ यथाक्रमम्।
आश्रये मृत्युलोकस्य संस्थितौ नात्र संशयः॥

आशाते खलु तौ यस्माद् भोगलोकावुभावपि।
मृत्युलोकव्यवस्थातो जायन्तेऽतः स्वधाभुजः॥

स्वतो व्यवस्थितानीह भुवनानि चतुर्दश।
पूर्णधर्मस्वरूपस्य विकाशेन निरन्तरम्॥
आत्मज्ञानप्रकाशस्य सहजं स्थानमुत्तमम्।
नन्वार्यावर्त एवास्ते कर्मभूमिर्न संशयः॥" इति।

ज्योतिःशास्त्रमिदं प्रमाणयति यद् विभिन्नग्रहोपग्रहाणां केन्द्रभूतः सूर्य एव। एतस्यैव प्रकाशेन स्वर्ग-मर्त्य-पातालादीनि सौरजगन्ति प्रकाशितानि भवन्ति। यथा स्वीयसौरजगतः केन्द्ररूपः स्वकीयः सूर्यो वर्तते, तथैव बहूनां सौरजगतां केन्द्रस्वरूपः एको महान् सूर्यो वर्तते। एवमेव अगणितबृहत्सौरजगतामपि एकः केन्द्रभूतो विराट् सूर्यो वेदितव्यः। एवमुत्तरोत्तरं विसृतिमापन्नोऽनन्तः सृष्टिप्रवाहः। यतो हि पूर्वापर-विराट्सूर्येण बृहत्सूर्यसम्बन्धः, तेन चास्मदीयस्य सूर्यस्य सम्बन्धः, अथ च अस्मदीयसौरजगतो ग्रहोपग्रहाणामस्मत्सूर्यत एव सम्बन्धो वरीवृत्यते, अस्मद्दृष्टिगोचरीभूतो रविरेव अस्मत्सौरजगतः केन्द्रभूतः, त्रिभुवनतेजःशक्तिप्रकाशकश्च; अतो योगिना तत्रैव संयमं कुर्वता भूर्भुवःस्वर्लोकस्थितानां समस्तभुवनानां ग्रहोपग्रहादीनां च सम्यक् परिज्ञानं कर्तुं शक्यते।

अध्यात्माधिदैवाधिभूतभेदेन त्रिविधं सूर्यस्वरूपम्, ज्योतिषामपि ज्योतिः, ज्योतिष्मत्याः प्रवृत्तेः कारणस्वरूपः शुद्धः प्रकाश एव अध्यात्मसूर्योऽवगन्तव्यः। सूर्यमण्डलान्तर्वर्तिनी अधिदैवशक्तिरेव अधिदैवसूर्यस्वरूपा विज्ञेया। अस्मद्दृग्गोचरीभूतं स्थूलं रविमण्डलमेव सूर्यस्य अधिभूतस्वरूपमाम्नातम्।

परिदृश्यमानः संसारोऽप्ययं स्थूलसूक्ष्मभेदेन द्विविधः—अस्मद्धरायाः प्रत्येकग्रहोपग्रहे च विद्यमानो लोक एव स्थूलः, उपरिस्थिताः सप्त लोकाः सप्त पातालाश्च सूक्ष्मलोकेऽन्तर्भवन्ति। सूर्यस्य अध्यात्मस्वरूपे संयमेन जागतिकसमस्तज्ञानं समधिगम्यते। अधिभूतस्वरूपसंयमाय सैव रीतिरनुसर्तव्या, यया ज्ञानसंयमात् परचित्तज्ञानं जायते। यथा तत्र योगी परचित्तसाधारणस्थूलज्ञानाधिगमाय संयमनुतिष्ठति, विशिष्टज्ञानावाप्तये च प्रकारान्तरतः सूक्ष्मराज्ये संयमं विधत्ते, तथैव समुन्नतो योगी सिद्धिलाभ-

समीहया पूर्वं स्वब्रह्माण्डीय-सूर्यमण्डले संयममनुष्ठाय साधीयसीं योग्यतामधिगत्य ततश्च सूर्यस्य अध्यात्मस्वरूपसंयमात् सूक्ष्माणि जगन्त्यपि परिद्रष्टुमर्हति ॥ २६ ॥

एकादशी सिद्धिर्वर्ण्यते—

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥

चन्द्रमसि संयमेन नक्षत्रव्यूहस्य परिज्ञानं जायते। स्वीयसूर्येण साकं तारागणानां प्रत्यक्षसम्बन्धो नास्ति। यद्येवं स्यात् तर्हि सूर्यसंयमेनैव नक्षत्राणामपि अवगतिर्भवेत्। नक्षत्रराशिभिः साकं चन्द्रमसः कोऽपि विलक्षणः सम्बन्धो वरीवृत्यते। अत एव चन्द्रमसि संयमेन योगी नक्षत्रपरिज्ञानं कर्तुं पार्यते।

भूमिरियं होराद्वयं प्रत्येकराशिं विलोकयन्ती एकस्मिन् वासरे द्वादशराशीन् परिक्रामति। परमुपग्रहोऽयं चन्द्रः प्रतिदिनमेकवारं धरायाः परिक्रमां विधत्ते, स्वकीये केन्द्रे ह्यनेकवारं भ्राम्यति च। सुतरामसौ एकेन दिवसेन राशिनामनेकवारं दर्शनमनुतिष्ठति। अत एव चन्द्रलोके संयमेन योगिना राशिचक्रज्ञानमनायासेनैव अनुष्ठातुं शक्यते। राशिविषये चन्द्रमस एतदेव वैशिष्ट्यम्।

ज्योतिःशास्त्रसिद्धान्तमनुसृत्य निश्चितमिदं यत् सर्वग्रहोपग्रहापेक्षया शशी राशावेकत्र स्वल्पकालं यावत् तिष्ठति, अनया रीत्याऽपि प्रत्येकताराव्यूहस्वरूपस्य राशेः आकर्षण-विकर्षणशक्त्या साकं चन्द्रमसोऽतिघनिष्ठः सम्बन्धः। अतस्तदाकर्षणशक्तेः अवलम्बनेन ताराव्यूहान्वेषणे चन्द्रसाहाय्यं नितरां सौविध्याधायकमवगन्तव्यम् ॥ २७ ॥

द्वादशी सिद्धिर्वर्ण्यते—

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥ २८ ॥

ध्रुवे संयमेन तारागतिज्ञानमासाद्यते। यथा स्वकीयेन वासरमणिना साकं ग्रहाणां सम्बन्धः, तथैव ध्रुवापरपर्यायेण महासूर्येण नक्षत्राणां सम्बन्धः। अतो ध्रुवसंयमेन नक्षत्रगतिज्ञानं जायते।

ध्रुवो निश्चलो ह्युत्तरदिशि विराजते। यदि च प्रकृतिनियममनुसृत्य ग्रहोपग्रह-महासूर्य-नक्षत्र-धूमकेतुप्रभृतयः सर्वे एव ग्रहाः स्वस्वरीत्या स्वकीये मार्गे परिभ्राम्यन्ति; एतच्च परिभ्रमणं नियति-दुर्दमनीय-नियमसिद्धम्। किन्तु ध्रुवलोकोऽयम् अस्मत्सौरजगदपेक्षया एतावन्महद्दूरे विराजते, यदस्माभिश्चलोऽप्ययं निश्चलवदनुभूयते। यथाऽस्माभिः दूरदेशस्थिता पावकशिखा चञ्चलाऽपि अचञ्चला ज्योतिर्मयी च विभाव्यते, एवमेव ध्रुवेऽप्यवगन्तव्यम्।

परन्तु नक्षत्राणां ध्रुवेण साकं निकटवर्ती सम्बन्धः। प्रत्येकनक्षत्र-राश्यन्तर्गता यावन्त्यस्ताराः सन्ति, ताः सर्वा अपि एकैकस्य ब्रह्माण्डस्य सूर्यस्वरूपा अवगन्तव्याः। अस्मदाश्रयीभूत-ब्रह्माण्डस्य चतुर्दिक्षु अनेकानि ब्रह्माण्डानि समुज्ज्वलन्ति। अत एव अस्मद्धरया सह राशि-नक्षत्राणां घनिष्ठः सम्बन्धः। परितोऽस्मद्ब्रह्माण्डं वम्भ्रम्यमाणा ब्रह्माण्डसमूहाः सहैव मिलित्वा गोलाकाररूपं बिभ्रतो महासूर्यस्वरूपं ध्रुवं समन्ततो भ्राम्यन्ति। अतो ध्रुवलोकेन सार्धमस्मत्पृथिव्या अस्मदाश्रयीभूत-ब्रह्माण्डस्य वा यादृशः सम्बन्धः, तादृशस्ताराभिरपि वर्तते। अतो निखिलकेन्द्र-स्वरूपध्रुवलोकसंयमेन सम्यक्तया नक्षत्राणां गतिज्ञानमवश्यम्भावि॥ २८॥

त्रयोदशी सिद्धिरुच्यते—

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥

नाभिचक्रे संयमेन कायव्यूहस्य परिज्ञानं जायते। शरीरेऽत्र सप्तसु स्थानेषु कमलस्वरूपाणि सप्तचक्राणि विलसन्ति। एषु षट्सु चक्रेषु साधनया सिद्धौ अधिगतायां सप्तमं चक्रमुपढौकमानो मुक्तिं लभते। अतश्चतुर्विध-योगेषु लययोगसाधकाः षट्चक्रभेदनक्रियामेव प्रधानस्वरूपां मन्यन्ते। षट्सु चक्रेष्वेषु नाभिनिकटस्थिते तृतीये चक्रे संयमेन योगी शरीरस्य विशिष्टं ज्ञानं कर्तुं पारयति।

देहेऽत्र के के पदार्थाः प्राधान्येन विलसन्ति, किञ्च वात-पित्त-कफात्मकं दोषत्रयम्, रस-रक्त-मांस-मेदो-ऽस्थि-मज्जा-शुक्रादयश्च के सप्त

धातवः, धमन्यश्च किंस्वरूपाः ? इत्यादिकं सर्वमपि नाभिचक्रसंयमेन योगिना साधकेन परिज्ञातुं शक्यते । नाभिस्थानमेव प्राणवायोः, अपानवायोः, उद्ध्वंशक्तेः, अधःशक्तेश्च मध्यस्थानम् । अतः केन्द्र-स्थानेऽत्र संयमेन समस्तानां शारीरिकपदार्थानामवगतिः सम्यक्तरत्वेन भवितुमर्हति ।

"पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः ।
वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत् ॥"

इत्यायुर्वेदशास्त्रोक्तदिशा वायोरेव प्राधान्यम् । वायुविकारत एव नानाधातुविकाराः प्रादुर्भवन्ति । अतो जीवनी शक्तिर्वायुं निर्विभर्ति । एतस्या जीवनशक्तेरधऊद्ध्वंगतिकेन्द्ररूपे नाभिचक्रे संयमेन जीवनशक्ति-गतिज्ञानाधायकानां शारीरिकपदार्थानामवगमः सम्यगूरूपेण भवितु-मर्हति ॥ २९ ॥

चतुर्दशी सिद्धिरुदाह्रियते—

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

कण्ठकूपे संयमेन क्षुत्-पिपासयोः निवृत्तिर्जायते । सकामसाधकहिताय नानाविधसिद्धीनां वर्णनं शास्त्रेषु उपलभ्यते । सिद्धीनामनेकेषु भेदेषु सत्स्वपि त्रयस्त्रिंशद्भेदाः शास्त्रकारैः समाम्नाताः । तास्वष्टौ सिद्धयो मुख्या वक्ष्यन्ते । त्रयस्त्रिंशत्-सिद्धीनां नामानि प्रोक्तानि स्मृतिशास्त्रे—

"अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा ।
वशित्वं गरिमेशित्वे तथा कामावसायिता ॥
दूरश्रवणमेवालं परकायप्रवेशनम् ।
मनोयायित्वमेवेति सर्वज्ञत्वमभीप्सितम् ॥
वह्निस्तम्भो जलस्तम्भः चिरजीवित्वमेव वा ।
वायुस्तम्भः क्षुत्पिपासा-निद्रास्तम्भनमेव च ॥
कायव्यूहश्च वाक्सिद्धिर्मृतानयनमीप्सितम् ।
सृष्टिसंहारकर्तृत्वं प्राणाकर्षणमेव च ॥

प्राणानां च प्रदानं च लोभादीनां च स्तम्भनम्।
इन्द्रियाणां स्तम्भनं च बुद्धिस्तम्भनमेव च।
कल्पवृक्षत्व - सत्यानुसन्धाने ह्यमरत्वकम्॥" इति।

एषु क्षुत्पिपासा-जयकारिण्योः सिद्ध्योः प्राप्तेरुपायः सूत्रेऽत्र वर्ण्यते।

उदरे वाय्वाहारप्रवेशार्थं यत् कण्ठच्छिद्रं तदेव 'कण्ठकूप'नाम्ना निर्दिष्टम्। तत्र संयमेन क्षुधः पिपासायाश्च निवृत्तिर्जायते। यथा नाभि-समस्थाने तृतीयं चक्रं तथैव कण्ठकूपसमानस्थाने पञ्चमं चक्रं स्थितमास्ते। चक्रेणैतेन क्षुत्पिपासयोः घनिष्ठः सम्बन्धः। अतः कण्ठकूपस्थितचक्रे संयमेन योगी क्षुधं पिपासां च जयति॥ ३०॥

पञ्चदशी सिद्धिर्निरूप्यते—

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्॥ ३१॥

कूर्मनाड्यां संयमेन स्थैर्यमासाद्यते। क्रियासिद्धांशविषया गुरुदेव-दयावगम्या इति पूर्वमेव प्रतिपादितम्। इडा-पिङ्गला-सुषुम्नाप्रभृतीनां स्थानानि गतयश्च, कूर्मनाडीनां स्थानं षट्चक्रविशेषविवृतिश्चेति सर्वेऽपि क्रियासिद्धांशाः गुरुदेवकृपां बिभ्रति।

यद्यपि प्रत्यक्षपदार्थाः प्रत्यक्षं शब्देनापि वक्तुं शक्यन्ते, किन्तु प्रत्यक्षतः प्रदर्शनेन अभ्रान्तोऽनुभवो जायते। पूर्वोक्तकण्ठकूपे कच्छपाकृतिः एका-नाडी वर्तते, सैव कूर्मनाडीत्यभिधीयते। तया किल शारीरिकगतेर्विशिष्टः सम्बन्धः। अत एव तस्यां संयमेन शरीरं स्थैर्यमासादयति। शरीरस्य स्थैर्येण मनोऽपि स्थिरायते।

कण्ठ-कूपसमस्थाने मेरुदण्डस्थितं पञ्चमं चक्रम्। तदुपरि सन्निकट एव कूर्मनाडीस्थानम्। कूर्मो मन्दराचलमिव शिरोधारणे एतस्याः सहाय-कत्वम्। एतस्याः साहाय्येन बहुविधलययोगक्रियाः योगशास्त्रे समुप-वर्णिता निभाल्यन्ते। शरीरत्यागकाले मृत्युसमये समुपस्थिते योगिनो धैर्य-प्रदानाय क्रियाकलापाः आज्ञाचक्र-कूर्मनाडीसाहाय्येनैव समनुष्ठीयन्ते।

मेरुदण्डस्य शरीरधारणशीलत्वात् तत्र धृतिमुत्पादयितुं कूर्मनाडीशक्तिः सर्वाभ्यर्हिता अवगन्तव्या ।

अतो मस्तिष्केन, मेरुदण्डेन, सकलशरीर-वायवीयशक्त्या च साकं विशिष्टसम्बन्धसत्त्वात् कूर्मनाडीसंयमेन स्थूले सूक्ष्मे च शरीरे स्थैर्यमुत्पद्यते । सर्पो गोधा वा स्वीयं विवरमासाद्य चञ्चलतां क्रूरतां च परित्यजन्ति, तथैव योगिमनः कूर्मनाडीं प्रविशदेव स्वीयां स्वाभाविकीं चञ्चलतां परिजहाति ॥ ३१ ॥

षोडशीं सिद्धिं निर्वक्ति—

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

कपालज्योतिषि संयमेन सिद्धा दृश्यन्ते । मस्तकाभ्यन्तरकपालनिम्नभागे 'ब्रह्मरन्ध्र'नामकमेकं छिद्रमास्ते । तत्र मनसः स्थापनेन दृष्टिगोचरीभूते ज्योतिषि संयमेन योगिभिर्महात्मनां सिद्धानां दर्शनमधिगम्यते । यः किल सात्त्विकः प्रकाशो वर्णितपूर्वः, स च ब्रह्मरन्ध्रेऽपि परिदृश्यते । रन्ध्रेऽत्र प्रकाशांशो नित्यं विराजते । बहिःप्रकाशनित्यत्वेन सह अन्तःप्रकाशनित्यतायाः नित्यसम्बन्धः ।

ऐशीं विभूतिं धारयन्तो जीवकोटित उपरताः महात्मानः केवलं सृष्टिमङ्गलकामनयैव सिद्धाश्चतुर्दशभुवनेषु विराजन्ते, त एवात्र सूत्रेऽभिप्रेताः । यथा उपरिस्थसप्तभुवनेषु देवाः भूर्लोकान्तर्गत-पितृलोके पितरश्च विराजन्ते; तथैव ज्ञानराज्यप्रवर्तका ऋषयोऽपि चतुर्दशसु भुवनेषु निवसन्ति । एतेषां गतिः सर्वत्रैव अप्रतिहता । एतादृशाः सिद्धमहात्मानो महर्षिकोटीमाटीकमाना उच्चलोके निवसन्तोऽपि स्वेच्छया भुवनान्तरेष्वपि भ्राम्यन्ति । समष्टिव्यष्टिविचारतो ब्रह्माण्ड-पिण्डयोः एकत्वसम्बन्धात् तद्दर्शनं ब्रह्मरन्ध्रज्योतिषि कर्तुं शक्यते । बाह्याभ्यन्तरज्योतिषोः सम्बन्धाद् ब्रह्मरन्ध्रस्थितज्योतिषि संयमेन साधकेन योगिना सिद्धा महात्मानो दृश्यन्ते ॥ ३२ ॥

सप्तदशी सिद्धिरुदाह्रियते—

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

योगसाधनमनुतिष्ठता योगिना ध्यानावस्थायामेका ज्योतिर्मयी तारा दृश्यते, तन्नाम 'प्रातिभ' इति। ज्योतिर्मय्यां प्रातिभ-तारायां संयमेन योगिजनेन परिपूर्णं ज्ञानमधिगम्यते। शास्त्रेष्वेवं प्रमाणितं यत् चञ्चल-बुद्धयो मानवाः प्रातिभदर्शनं नानुष्ठातुमर्हन्ति। भगवतः श्रीगुरुदेवस्य च कृपया योगमार्गे साधकोऽग्रेसरन् बुद्धेः स्थैर्यमासादयति। प्रातिभदर्शनं स्थिरबुद्धित्वस्य पूर्वलक्षणम्। अतः प्रातिभसंयमेन योगिना द्रुतमेव पूर्णं ज्ञानमासाद्यते।

योगयुक्तसाधकस्य मनसः स्थिरत्वलक्षणं नादश्रवणमेव। स्थैर्यमभ्युपगते योगिनो मनसि तत्पिण्डे प्रणवध्वनिरूपो नादः श्रूयते। एवमेव यदा योगिनो विशुद्धा बुद्धिः सत्त्वगुणमधिगच्छति, तदानीमेव भाग्यशालिना तेन प्रातिभदर्शनमनुष्ठीयते। तदीयान्तराज्ये च प्रातिभस्थिरता सम्पद्यते। यथा मनःस्थैर्यलक्षणीभूत-नादश्रवणेन परमोच्चकोटिक-सिद्धिसम्बन्धः, तथैव प्रातिभस्थिरतया बुद्धिसम्बन्धिनीनां सिद्धीनां सम्बन्धः। स्थिरे प्रातिभेऽत्र संयमेन योगिना यथाक्रमं ज्ञानराज्यस्य सर्वा अपि सिद्धयो अधिगन्तुं शक्यन्ते। इमामेव प्रातिभसिद्धिं द्वारीकृत्य पूज्यचरणा महर्षयो मन्त्रद्रष्टृत्वं प्रपेदिरे, ज्ञानराज्यं च करतलामलकवत् परिदृदृशुः ॥ ३३ ॥

अष्टादशी सिद्धिरुदीर्यते—

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

हृदये संयमेन चित्तस्य ज्ञानं जायते। षट्चक्रेषु चतुर्थं चक्रं हृदय-समस्थाने तिष्ठति। 'हृत्कमल'मपि तदीयं नाम। कमलेनैतेन अन्तःकरणस्य विलक्षणः सम्बन्धः। अत्र संयमेन निजान्तःकरणस्य सम्पूर्णोऽवबोधो योगिना अनुष्ठातुं पार्यते। पूर्वस्मिन् सूत्रे द्विदलस्थस्य प्रातिभस्य दर्शनेन तत्र संयमेन च बुद्धिराज्यविषयकज्ञानाधिगममार्गं प्रदर्श्य सूत्रेणैतेन महर्षिणा हृदयचक्रसंयमेन मनोराज्यविज्ञानाधिगतेरुपायो निर्दिश्यते।

चित्तं मनश्च अन्योन्यसम्बद्धम्। चित्ते नूतनाः प्राचीनाश्च सर्वे कर्मसंस्कारास्तिष्ठन्ति। अतश्चित्तस्य नृत्यमानत्वे मनोऽपि नृत्यति। मानसिकक्रियासु चित्तस्य प्राधान्यम्। निजसूक्ष्मशरीराङ्गत्वे सत्यपि तत्पूर्णस्वरूपं महामायामायया जीवेन नैव परिज्ञातुं शक्यते। चित्तेन साकं विलक्षणसम्बन्धवति चक्रेऽत्र संयमेन योगी स्वचित्तस्य परिपूर्णं ज्ञानं कर्तुं शक्नोति॥ ३४॥

ऊनविंशीं सिद्धिं निर्णयति—

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थान्यस्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्॥ ३५॥

बुद्धिः पुरुषश्च परस्परं भिन्नौ, तयोरभिन्नतया भोगोत्पत्तिः। परार्था बुद्धिः, तद्भिन्ने स्वार्थे अर्थाद् अहङ्कारशून्ये चित्प्रतिबिम्बे संयमेन पुरुषज्ञानं जायते। सत्त्वतमसोः प्राधान्येन वैधर्म्यभावाधिकतया पुरुषतोऽत्यन्तभिन्ना बुद्धिः। सत्त्वगुणयुक्तायामपि बुद्धौ आत्मनः प्रतिबिम्बसत्त्वादपि परिणामादिविकारवशवर्तितया बुद्धितत्त्वं कूटस्थपुरुषाद् अत्यन्तभिन्नम्। एवमत्यन्तासङ्कीर्णयोः बुद्धिपुरुषयोः यत् परस्परप्रतिबिम्बसम्बन्धद्वारेण अभेदज्ञानम्, तदेव पुरुषनिष्ठ-भोगशब्देन आख्यायते। बुद्धेर्दृश्यत्वात् तदुपभोगस्वरूपः प्रत्ययपदार्थः पुरुषहेतुकः। परार्थभिन्नस्वार्थप्रत्ययमूलके बुद्धिप्रतिबिम्बितचित्सत्ताम् अवलम्बमाने चिन्मात्रस्वरूपे संयमेन योगी नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं विज्ञातुं पारयति।

प्रकृतिः पुरुषश्च उभावपि स्वतन्त्रस्वरूपौ। एतयोरुभयोः सम्बन्धत एव दृश्यरूपं जगदुत्पद्यते। तदेव द्वैतरूपबन्धनकारणम्। पुरुषो निर्लिप्तो निर्विकारश्च। पराधीनायाः परिणामिन्याः लिप्तायाः विकारमय्याः प्रकृतेः प्रथमपरिणामभूतं महत्तत्त्वं बुद्धिपदवाच्यमवगन्तव्यम्। महत्तत्त्वरूपिणी बुद्धिरेव निर्लिप्तं पुरुषं बन्धनदशां प्रापयति। महत्तत्त्वस्वरूपा बुद्धिः पुरुषस्वरूपतो नितरां भिन्नाऽपि अघटनघटनापटीयस्याः प्रकृतेः स्वभावत

एव उभयोरभेदः प्रतीयते, तदैव भोगरूपबन्धनदशायाः समुत्पत्तिः। एतदेव सृष्टिरहस्यं बन्धनदशायाश्च वैज्ञानिकं स्वरूपम्।

महत्तत्त्वस्वरूपाया बुद्धेः स्वातन्त्र्यात् सा परार्थैव मन्यते। यतः प्रकृतिपरिणामाः पुरुषकृत एव बोभूयन्ते। पुरुषस्वार्थदशा तद्भिन्ना। अविद्याप्रादुर्भूतभोगपरार्थदशाविलक्षणा विद्याकृपासमुत्पन्ना जैवाहङ्कार-शून्या चिद्विलासरूपैका स्वाभाविकी दशैव 'स्वार्थदशा'शब्दवाच्या अवगन्तव्या। बुद्धिमलिनभावविरहितायां शुद्धभावमय्यां जैवाहङ्कृति-रहितायाम्, आत्मज्ञानसम्भूत-चिद्भावदशायां ज्ञानपूर्वकं संयमेन पुरुषस्य स्वरूपावबोधो जायते।

सिद्धिरियं सर्वाभ्यर्हिता, परायाः सिद्धेर्जननी च। उक्तमपि स्मृतौ—

"अतो विज्ञवरा अत्र प्रकृतेर्मे दशाद्वये।
मम सिद्धिस्वरूपस्य विकाशोऽपि द्विधा भवेत्॥
अपरा सिद्धिरेकाऽस्ति द्वितीया च पराभिधा।
नैकोक्तसिद्धिरूपाणि नानारूपाणि बिभ्रती॥
सिद्धिर्मेऽस्त्यपरा नाम्नी नात्र वः संशयो भवेत्।
ज्ञानाधिकारिणो विप्राः पूज्या सिद्धिः पराभिधा॥
चिन्मयी सात्त्विकी नित्या हिताऽद्वैतविधायिनी।
स्वरूपानन्दसन्दोहद्योतिनी सा प्रकीर्तिता॥" इति॥३५॥

पूर्वसूत्रप्रतिपादितायाः परासिद्धेः उपयोगिनीं योग्यतामधिगतवता योगिना व्युत्थानदशाप्राप्तौ याः सिद्धयोऽधिगम्यन्ते, तन्निर्देशः क्रियते—

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते॥ ३६॥

पूर्वसूत्रेषु स्वार्थसंयमजनित-सिद्धिवर्णनमनुष्ठाय इदानीं सूत्रकृता महर्षिणा तदवान्तरफलानि वर्ण्यन्ते। पूर्वनिर्धारितपद्धत्या अहङ्काररहित-चिन्मात्रस्वार्थप्रत्यये संयममनुतिष्ठता योगिनाऽग्रेसरता प्रातिभादयः सिद्धयोऽधिगम्यन्ते।

अतीतानागत-विप्रकृष्ट-सूक्ष्मातिसूक्ष्म-पदार्थज्ञानसम्पादिका प्रातिभ-सिद्धिः। श्रावणसिद्ध्या च दिव्यश्रवणज्ञानस्य परिपूर्णता जायते। वेदनासिद्धिः दिव्यस्पर्शज्ञानपरिपूर्णत्वं प्रयच्छति। आदर्शसिद्ध्या दिव्य-पदार्थाः परिदृश्यन्ते। आदर्शसिद्धिः दिव्यस्य दर्शनस्य परिज्ञानं करोति। आस्वादसिद्ध्या दिव्यरसज्ञानपरिपूर्णता जायते। वार्तासिद्ध्या च दिव्यगन्धज्ञानपरिपूर्णत्वमधिगम्यते। एताः सिद्धयः स्वार्थसंयमस्य आनु-षङ्गिकं फलम्।

निष्कर्षोऽयं यत् योगसाधनेन स्वरूपज्ञानस्वरूप-पुरुषज्ञानोपलब्धौ जातायां पूर्वसंस्कारजन्यां व्युत्थानदशामधिगतवता योगिना पूर्वोक्ताः सिद्धयः स्वत एव प्राप्यन्ते। एताश्च स्वाभाविका विज्ञेयाः। स्वरूपज्ञान-मधिगतवतः पुरुषोपलब्धौ सामर्थ्यवतः आत्मज्ञानिनो योगिराजस्य दशा-त्रयवर्णनं शास्त्रेषु उपलभ्यते। तिस्रोऽपि दशाः पूर्वसंस्कारजन्या भवन्ति। एतदवस्थातारतम्यमनुसृत्य पूर्वोक्तव्युत्थानदशा-तारतम्यमपि जायते। एतत्सिद्ध्यधिगतिः प्रारब्धसंस्कारजनिता विज्ञेया॥ ३६॥

योगिनं सावधानं कर्तुमुच्यते—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः॥ ३७॥

पूर्वोक्ताः सिद्धयः समाधिजन्ये मुक्तिपदे उपसर्गभूताः = विघ्नकारिण्य इत्यर्थः। मानवजीवानामैश्वर्यादीनि, देवानां दैव्यः सिद्धयश्च, सर्वमप्येतत् प्रकृतेरेव विचित्र-विलसितम्। भिन्नरुचिर्हि लोकः। तिष्ठन्तो वासना नून-मेव पूरयितव्या। अतः चञ्चलचेतसो योगिनः सिद्धिमपेक्षन्ते। तदर्थमेव दयामयेन महर्षिणा सूत्रकृताऽध्यायेऽत्र अनेके सिद्धिभेदाः समुपवर्णिताः। विशेषतो व्युत्थानदशायां योगिभिः पूर्वनिर्दिष्टाः स्वाभाविकसिद्धयः स्वत एव प्राप्यन्ते। ताः सर्वा अपि प्रकृतिपरिणामप्रादुर्भूताः क्षणभङ्गुराः समाधेः नित्यानन्दशुद्धाद्वैतदशायां प्रत्यूहकारिण्य एव। अतो महर्षिणा सूत्रकारेण योगिराजं सावधानीकर्तुं सूत्रमेतदाविष्कृतम्।

यद्यपि स्वरूपोपलब्धौ सत्यां योगिराजः प्रकृति-लीलया न पुनर्ग्रस्यते, परन्तु व्युत्थानदशाजनितासु पूर्वोक्तसिद्धिषु समाकृष्टः सन् स जडभरतवद् विपन्नो भवितुमर्हति। अतः प्राधान्येन समुन्नतयोगिनं सावधानीकर्तुं सिद्धान्तोऽयं निर्णीतः।

वस्तुतस्तु लौकिक्योऽलौकिक्यश्च सर्वविधा अपि सिद्धयो मुमुक्षुभिः हेयैवाऽऽस्ते। यथा चोक्तं योगशास्त्रतात्पर्यं श्रीधीशगीतायाम्—

अघट्यघटनायां या प्रकृतिर्मे गरीयसी।
जगद्विमोहिनी सैव महामाया पराभिधा॥
महतो ज्ञानिनश्चैवं योगिनोऽपि तपस्विनः।
सिद्धिसार्थैरनेकैर्हि मोहयन्ती निरन्तरम्॥
आवागमनचक्रेऽस्मिन् स्वविलासात्मके मुहुः।
मोक्षमार्गं च रुन्धाना घूर्णयेत समन्ततः॥
ब्राह्मणाः! प्रकृतिर्मेऽसौ महामाया पराभिधा।
किन्तु मे ज्ञानिनो भक्तान् मोहितुं न कदाप्यलम्॥
कुलाङ्गनानां साध्वीनामङ्गानामिव दर्शनम्।
ज्ञानिनां मम भक्तानां भवेत् सिद्धिप्रकाशनम्॥
पुरुषांश्चापरान् कांश्चिद् यथा काश्चित् कुलाङ्गनाः।
दर्शनाय निजाङ्गानां न क्षमन्ते कदा चन॥
भवन्त्युत्कण्ठिताः किन्तु सर्वथा जनसंसदि।
दर्शनाय निजाङ्गानां निर्लज्जाः कुटला मुहुः॥
सर्वसामर्थ्यवन्तोऽपि मद्भक्ता ज्ञानिनस्तथा।
सिद्धिं स्वां नैव भो विप्राः! द्योतयन्ते कदा चन॥
योगिनो भक्तिहीनाश्च लक्ष्यहीनास्तपस्विनः।
साधका उग्रकर्माणो ज्ञानहीनास्तथा द्विजाः॥
स्वीयाः सिद्धिर्वणिग्वृत्त्या सम्प्रकाश्य पतन्त्यलम्।
प्रकाश्याः सिद्धयो नैव सर्वथाऽतो महात्मभिः॥

कदाचिद् भ्रातरः पुत्रा आत्मीयाः स्वजना उत ।
दैवादनिच्छयेक्षेरन् यथाऽङ्गानि कुलस्त्रियः ॥
ज्ञानिनां मम भक्तानां सिद्धीनां वैभवं तथा ।
प्रकटत्वं हठाद् याति दैवाल्लोके कदाचन ॥" इति ॥३७॥

विंशी सिद्धिर्वर्ण्यते—

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

बन्धनस्य शिथिलतया संयमं द्वारीकृत्य प्रचारस्य संवेदनाच्च अर्थात् प्रवेशनिर्गममार्गयोः या नाड्यस्तासां ज्ञानेन च चित्तस्य परशरीरे प्रवेशः सम्भवति । चाञ्चल्यमधिगतवतोऽस्थिरस्य मनसः शरीरे द्वन्द्वाशक्तिजन्यं बन्धनं जायते । समाधेरधिगत्या क्रमशः स्थूलशरीरात् सूक्ष्मशरीरस्य बन्धनं शैथिल्यमाप्नोति, संयमसाहाय्येन चेतसो गमनागमनमार्गीय-धमनीनां परिज्ञानेन स्वत एव सूक्ष्मशरीरस्य कुत्रापि प्रापणरूपायाः प्रवेशक्रियायाः, तस्य कुतश्चित् समानयनरूपनिर्गमक्रियायाश्च परिज्ञानं योगिनो जायते । तदानीं यथेच्छं योगी स्वशरीराद् विनिर्गम्य परशरीरे प्रवेष्टुमर्हति ।

योगी साधकः पूर्वं सविकल्पसमाधौ अग्रेसरन् वितर्क-विचाररूप-समाधिभूमिमतिक्रमन् यदा अस्मितानुगतं समाधिमासादयति, तदैव परकायप्रवेशयोग्यतामधिकरोति । तदा यम-नियमादिसमुत्पन्नम् आत्मबलं समधिगम्य शारीरिके द्वन्द्वासक्तौ विजयमानोऽवशिष्टसिद्धिवासनो निजा-सनजयेन स्थूलशरीरं विजित्य प्राणायामेन प्राणांश्च जित्वा प्राणमय-कोषहितं सूक्ष्मदेहं विद्यमानस्थूलदेहात् निस्सार्य प्राणशक्तिद्वारा परकीय-कायप्रवेशस्य ततो निर्गमस्य च योग्यता योगिना लभ्यते ।

यथा राज्ञी मधुमक्षिका यत्रैव गच्छति, तत्रान्या अपि मधुमक्षिकाः सहैव गच्छन्ति, तथैव परकीयशरीरप्रवेशकाले जीवेन साकं तदीयानि

इन्द्रियाण्यपि गच्छन्ति । परस्य काये प्रविष्टो योगी तत्र स्वशरीरवद् व्यवहरति, यतश्चित्तमात्मा च व्यापकं वस्तु । भोगतृष्णाया विनाशे सर्वत्रैव आनन्दोऽनुभूयते, यतो भोगसाधक-कर्मशैथिल्यात् सर्वत्रैव सुखाधिगमः । एवंरीत्या संयमेन बन्धनशैथिल्ये सति योगिना परकायप्रवेशशक्तिरासाद्यते ॥ ३८ ॥

एकविंशी सिद्धिरुदीर्यते—

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

उदानस्य वायोर्विजयेन जल-पङ्क-कण्टकादिपदार्थानां स्पर्शाभावो मृत्युश्च साधकस्य योगिनो वशमेति ॥ ३९ ॥

द्वाविंशी सिद्धिरुच्यते—

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

समानस्य वायोर्जयेन शरीरं ज्योतिर्मयं जायते । शारीरिकी तेजःशक्तिरेव जीवनक्रियासाम्यावस्थाहेतुः । अतः सा शक्तिः समानवायोरधीना विज्ञेया । संयमद्वारा समानवायोर्विजयेन योगी तेजःपुञ्जमयो जायते । समानो वायुः समत्वमुत्पादयति ।

यत्र समत्वम्, तत्रैव सर्वाः शक्तयः समाकृष्यन्ते । यथा मर्यादावान् समभावापन्नो जलनिधिः पृथ्वीस्थितान् जलराशीन् नदीरूपतः समाकर्षति, यथा च समदर्शी भगवान् सूर्यः स्वीयसमभावापन्नकिरणैः इतस्ततो विकीर्णान् असमभावापन्नान् रसान् आकर्षति, तथैव पिण्डस्थितः समानो वायुर्यथार्थस्वरूपतो वियुज्यमानः चतुर्दिक्षु विकीर्णां तेजःशक्तिं समाकृष्य योगिनः शरीरं तेजोमयं विधत्ते । यथा दैवशरीरतस्तेजोमयाः किरणाः प्रकाशन्ते, तथैव योगी समानवायुविजयेन दैवं तेजः समधिगच्छति ॥ ४० ॥

त्रयोविंशी सिद्धिरुदीर्यते—

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

श्रोत्राकाशयोः आश्रयाश्रयिरूपसम्बन्धसंयमात् दिव्यश्रोत्रमधिगम्यते। निखिलानामपि प्राणिनां कर्णेन्द्रियाधार आकाश एव, तथैव समस्तशब्दाधारोऽपि स एव। आकाशादेव एकस्थानसमुच्चरितः शब्दः स्थानान्तरं गच्छति। यतो द्वयोरपि मध्ये आकाशातिरिक्तं किमप्यन्यत् नास्ति। अतः शब्दाधार आकाश एवेति सिद्ध्यति। कर्णेन्द्रियस्य आकाशसम्बन्धादेव शब्दः श्रूयते। पिहिते श्रवणेन्द्रिये आकाशसम्बन्धाभावान्न शब्दः समाकर्ण्यते। अत इदं निश्चीयते यद् आकाशात् कर्णेन्द्रियस्य साक्षात् सम्बन्धः, आकाशस्य च आवरणराहित्यमपि सिद्ध्यति। आकाशस्य सर्वव्यापित्वे नास्ति सन्देहलेशोऽपि। एवञ्च कर्णेन्द्रियाकाशयोः आश्रयाश्रयिभावसम्बन्धे संयमेन योगिना दिव्या शक्तिरधिगम्यते।

सूक्ष्मादतिसूक्ष्मो निगूढादपि निगूढः अतिदूरवर्त्यपि शब्दः श्रूयते योगिना, यतो हि शब्दो भूतो भवत् भविष्यच्च आकाशसम्बद्ध इति नास्ति संशयलेशः। आकाशस्य शब्दगुणत्वं प्रसिद्धम्। दाहिकया शक्त्या साकं यथा पावकसम्बन्धः, तथैव शब्देन सह आकाशसम्बन्धो विद्यते। गुणिन्येव गुणस्थितिः। उभयोरपि दिव्यलौकिकशब्दयोराधार आकाश एव। आकाशस्य सूक्ष्मातिसूक्ष्मसीम्ना सह पिण्डस्थितश्रोत्रेन्द्रियस्य साक्षात् सम्बन्धः। उभयोरेव सीमस्थिताश्रयाश्रयिसम्बन्धे संयममनुतिष्ठन् योगी सूक्ष्मातिसूक्ष्मं दिव्यं श्रवणं स्वत एव प्राप्स्यतीत्यत्र न सन्देहः॥ ४१॥

चतुर्विंशी सिद्धिरुदाह्रियते—

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्॥ ४२॥

शरीराकाशयोः सम्बन्धे संयमेन लघुतूलादि-पदार्थधारणया च आकाशे गमनं सम्भवति। यत्र यत्र शरीरं गच्छति, तत्र तत्र सर्वव्यापिन आकाशस्य स्थितिः सिद्ध्यति। चलनादिरूप-क्रियाकलापे आकाशः अवकाशं प्रयच्छति। शरीराकाशयोः व्याप्यव्यापकभाव-सम्बन्धः। सर्वभूतापेक्षया आकाशः सूक्ष्मो व्यापकश्च। अतो योगी स्थूलशरीराकाशयोः

सम्बन्धे संयममनुतिष्ठन् तदानीमेव लघुतरतूलादिपदार्थेषु धारणामां कुर्यात्, तदा क्रियथैतया तस्मिन् लघुत्वसिद्धिर्जायते। अर्थात् योगी यथेच्छमाकाशे भ्राम्यति, तिष्ठति च। अनयैव सिद्ध्या महात्मानो वियति विचरन्तः स्थानात् स्थानान्तरं गन्तुं प्रभवन्ति ॥ ४२ ॥

पञ्चविंशी सिद्धिर्निर्दिश्यते—

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥ ४३ ॥

स्थूलशरीरतो बहिः अकल्पिता शरीराश्रयापेक्षाहीना मनसः स्वाभाविकी वृत्तिः 'महाविदेहा' प्रतिपाद्यते। तया चाहङ्कृतिर्नश्यति। तस्यां वृत्तौ संयमेन प्रकाशावरणं तिरोदधाति। अर्थाद् अन्तःकरणसात्त्विकतायाः आच्छादका अविद्यादिकर्मक्लेशा विलीयन्ते।

निष्कर्षोऽयं यद् यावत् शरीराहङ्कारस्तिष्ठति, तावन्मनसो बाह्यवृत्तिरपि तिष्ठत्येव। परन्तु यदा शरीराहङ्कारपरित्यागपूर्वकं स्वतन्त्रभावेन सा बहिर्विचरति, तदैव योगिनोऽन्तःकरणं मलरहितं निस्सङ्गं च जायते। शरीरसम्बद्धा मनसो बाह्यवृत्तिः 'कल्पिता'नाम। परन्तु शरीरापेक्षाविरहिता निराश्रया मनसः स्वाभाविकी बाह्यवृत्तिः 'अकल्पिते'त्युच्यते। तत्र च कल्पितां परित्यज्य 'अकल्पितां' 'महाविदेहा'ख्यां वृत्तिं साधयन् तत्सिद्धौ च प्रकाशस्वरूपाया बुद्धेः सम्पूर्णः प्रकाशः सञ्जायते। तदानीम् अहङ्कारसमुत्पन्नानां क्लेशकर्मविपाकानां सम्बन्धतः साधको विमुच्यते। तमोरजस्समुत्पन्नानि आवरणानि समूलं विनश्यन्ति। इयमतीव समुन्नता अवस्था।

पूर्वसूत्रेषु महर्षिणा सूत्रकारेण यथेच्छं स्थूलशरीरस्य नयनप्रयोजकाः सिद्धयो वर्णिताः। एतेन च सूत्रेण समीहानुसारं अन्तःकरणस्य नयनसिद्धिर्निरूपिता। महर्षिणा सूत्रकृता सिद्धयः सर्वा अपि त्रिधा विभक्ताः। प्राक् किल प्रथमप्रकाराः सिद्धीर्वर्णयित्वा तासु च योगिनो प्रस्तुतां निषिद्ध्य तदनन्तरं मध्यमप्रकाराः सिद्धयो वर्णिताः, अग्रे चोत्तमसिद्धीनां विविधोपाया वक्ष्यन्ते ॥ ४३ ॥

षड्विंशी सिद्धिराख्यायते—

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥ ४४ ॥

पञ्चतत्त्वानां स्थूलम्, स्वरूपम्, सूक्ष्मम्, अन्वयः, अर्थवत्त्वं चेति अवस्थाविशेषाः सन्ति। तेषु संयमेन भूतानां पञ्चानामपि जयो जायते। सृष्टिप्रकाशिन्या अनादिकारणरूपायाः प्रकृतेर्विस्तारस्वरूपाणि पञ्चभूतानि। सृष्टिरियं पञ्चभूतविस्तारमात्रम्। अत एवैतेषां जयेन प्रकृतिजयः सम्पद्यते।

सूक्ष्मेक्षिकया निरीक्ष्यमाणे पाञ्चभौतिकी सृष्टिः पञ्चधा विभक्तुं शक्यते। तथा हि—१. स्थूलावस्था, २. स्वरूपावस्था, ३. सूक्ष्मावस्था, ४. अन्वयावस्था, ५. अर्थवत्त्वावस्था चेति। दृश्यमानैव स्थूलावस्था। द्वितीया स्थूले गुणरूपेण दृष्टा; यथा तेजसि उष्णत्वम्। तन्मात्राणामवस्था तृतीया। सत्त्वरजस्तमसां व्यापकत्वदशैव चतुर्थी। फलदायिनी च पञ्चमी अवस्था।

प्रकारान्तरेणापि विविच्यते—अनुभूयमानानि पञ्चभूतानि प्रथमावस्था। उष्णतया तेजोऽनुभवो द्वितीया। भूतानां तन्मात्रानुभवस्तृतीया; यथा शब्देन आकाशानुभवः। तत्त्वख्यातिप्रकाशक्रिया स्थितिस्वभावगुणश्चेति अतिसूक्ष्मावस्था चतुर्थी। सूक्ष्मातिसूक्ष्म-भोगमोक्षदायिनी शक्तिमती अवस्थैव पञ्चमी।

आसु आद्यं दशात्रयं स्थूलस्वरूपम्, अन्तिमं च दशाद्वयं सूक्ष्मम्। स्थूलस्वरूपं साधारणबुद्धिगम्यम्, सूक्ष्मं च योगबुद्ध्याऽवगम्यते। यदा योगी एतद्दशापरिज्ञानपूर्वकं संयमेन भूतानां विजयं प्रकुरुते, तदानीं स्वत एव प्रकृतिस्तदधीनतां प्रपद्यते। यथा गावः स्ववत्सान् स्वतो दुग्धं पाययन्ति, तथैव पञ्चभूतविजयेन वशीभूता प्रकृतिः स्वयमेव योगिनं सेवते। यथा सर्वशक्तिमतो भगवतः, किं वा तदीयसाक्षाद्विभूतिस्वरूपाणां ब्रह्मविष्णुमहेशानां प्रकृतिरधीनतां भजते, तथैव सा योगिनोऽप्यधीना जायते। ऐश्यः सिद्धय इमाः प्रख्यायन्ते। सविस्तरवर्णनमस्य अग्रे विधास्यते॥ ४४॥

भूतजयस्य फलमुच्यते—

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥ ४५ ॥

पञ्चभूतविजयानन्तरं योगिनोऽणिमादिसिद्धीनाम् अधिगतिर्जायते। अष्टौ सिद्धयः, तथा हि—

"अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः॥" इति।

१. इच्छयैव शरीरस्य अणुतासम्पादनम् अणिमा। २. महत्त्वसम्पादनं महिमा। ३. स्थूलस्यापि शरीरस्य लघुत्वसम्पादनं लघिमा। एतयैव सिद्ध्या योगिनो वियति भ्राम्यन्ति। ४. देहस्य यथेच्छगुरुत्वसम्पादनं गरिमा। ५. स्वेच्छयैव लोकाल्लोकान्तरगमनं प्राप्तिः। एतत्सिद्धिबलेन ग्रहोपग्रहेषु सूर्य-महासूर्यादिलोकेषु च योगिनो गन्तुं शक्नुवन्ति। ६. यथेच्छं सर्वपदार्थाधिगतिरेव प्राकाम्यम्। एतया सिद्ध्या त्रिलोके कोऽपि पदार्थो योगिदुर्लभो न भवति। ७. पञ्चभूतानां स्ववशीकार एव वशित्वसिद्धिः। एतया सिद्ध्या योगिनः पञ्चभूतैर्यथेच्छं कार्याणि कारयितुं प्रभवन्ति। स्वयं कस्यापि वशेऽविद्यमानाः सर्वानपि स्ववशे कुर्वन्ति। ८. सर्वेषामपि भौतिकपदार्थानाम् उत्पत्तिस्थितिप्रलयविधायिनी शक्तिः किल ईशित्वम्। सिद्ध्यैतया योगिनो नूतनां सृष्टिमपि कर्तुं सामर्थ्यवन्तो जायन्ते। इमा अष्टौ सिद्धय ईश्वरीयाः। एताभिर्योगिन ईश्वरस्वरूपतां प्रपद्यन्ते। ईश्वरानुकम्पयैव सर्वाभ्यर्हिताः सिद्धय एताः समधिगम्यन्ते।

ननु सिद्धिभिराभिः किं योगी द्वितीय ईश्वरो जायते? अत्रोच्यते—योगी द्वितीय ईश्वरो न भवति, परन्तु तद्गतो भूत्वा परमेश्वरे सम्मिलति। अतोऽसौ परमेश्वरनियमविरुद्धं नाचरति, ऐशीं विभूतिं द्वारीकृत्य योगिना यत् किमपि क्रियते, तत्सर्वमपि परमेश्वराज्ञानुकूलमेव मन्तव्यम्। सिद्धीरेताः प्राप्य योगिना सर्वं कर्तुं पार्यते। पाषाणे प्रवेष्टुं शक्यते, आवरणरहिते वियत्यपि तिरोहितेन भूयते। पञ्चान्यपि भूतानि क्लेशदानि न भवन्ति। माता प्रकृतिः परमं पितरं परमेश्वरमिव योगिनं सदैव सेवते।

भूतजयेन कायसम्पदपि अधिगम्यते, तदग्रे वक्ष्यते। तदानीं भूतजयिना योगिना रूपादिशरीरधर्मानभिघातोऽपि समधिगम्यते। अर्थात् पृथिव्यादि-पञ्चभूतानि योगिनः कामपि शारीरिकीं क्रियां न निरोद्धुं पारयन्ति। स शिलायां प्रवेष्टुमर्हति। जलं तम् आर्द्रं कर्तुं न शक्नोति। पावकः तदीयं शरीरं न दहति। न च वायुः प्रकम्पितं शुष्कं वा कर्तुमर्हति। इमाः सर्वा भूतजयकृताः सिद्धयो ज्ञेयाः॥ ४५॥

पूर्वोक्ता कायसम्पद् वर्ण्यते—

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्॥ ४६॥

रूपम्, लावण्यम्, बलम्, वज्रतुल्यदृढत्वं चेति कायसम्पदः सन्ति। भूतजयेन योगी प्रकृत्या मुक्तः तज्जयेन च यामद्भुताम् ऐशीं शक्तिमधिगत्य अन्तःकरणबलमासादयति, तत्सर्वं पूर्वस्मिन् सूत्रे प्रतिपाद्य सूत्रकारो महर्षिः पञ्चभूतजयेन योगिना साधकेन या किल शारीरिकी विशिष्टयोग्यता समधिगम्यते, तद्वर्णनमारभते।

स्थूलशरीरस्य दिव्यसौन्दर्यधारणं 'रूपलावण्य'शब्देन समाख्यायते। यद् विलोक्यैव देवाः मानवाः पशुप्रभृतयश्चान्ये प्राणिनोऽपि मुग्धतां भजन्ते, योगी तादृशं सर्वाभ्यर्हितं बलमधिगच्छति, येन प्रकृतिरपि वशतामभ्युपैति। तादृशबलस्य संसारे तुलनैव न विद्यते। वज्रसंहननत्वस्य तात्पर्यमिदं यत् योगिनः शरीरं सर्वविधशस्त्र-महातीव्रवज्रवत् सुदृढं सम्पद्यते। एतादृशं दिव्यशरीरं योगी समधिगच्छति।

पूर्वसूत्रप्रोक्तसिद्धीः आविर्भावयितुं योगिराजेन स्वेच्छाशक्तेः संयमस्य च प्रयोगः क्रियते। किन्तु एतत्सिद्धिसमधिगमो योगिप्रयत्नानपेक्षः। पूर्वोक्ताः सिद्धयो येन योगिराजेन आसाद्यन्ते, तेन एतत्सूत्रप्रतिपादितोऽधिकारः स्वत एव लभ्यते। अत एवैतस्य सूत्रस्य स्वातन्त्र्येणाविर्भावः॥ ४६॥

सप्तविंशी सिद्धिरुदीर्यते —

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः॥ ४७॥

ग्रहणम्, स्वरूपम्, अस्मिता, अन्वयः, अर्थवत्त्वं चेति इन्द्रियाणां पञ्चवृत्तयः। तेषु संयमेन इन्द्रिय-जयो जायते।

१. सामान्यतो विशेषतश्च शब्दादयो बहिर्विषया 'ग्राह्याः' प्रोच्यन्ते। तेषु ग्राह्यविषयेषु गच्छन्ती इन्द्रियवृत्तिरेव 'ग्रहण'शब्देन उच्यते। २. विचारमन्तरेणैव अकस्मात् संगृहीतविषयेषु मनसः प्रथमविवेक एव स्वरूपवृत्तिः। ३. तादृशावस्थायाम् अहङ्कृतिमिश्रितो भाव एव अस्मितावृत्तिः। ४. सदसत्सामान्य-विशेषादिविचारशालिन्या बुद्धेर्वृत्तिः अन्वयः प्रोच्यते। ५. नानाविषयान् प्रकाशयन्ती स्थितिशीला साहङ्कारा सर्वेन्द्रियव्यापिका वृत्तिरेव पञ्चमी अर्थवत्त्ववृत्तिरवगन्तव्या। एतासु इन्द्रियपञ्चवृत्तिषु संयमेन तद्वशवर्तितासम्पादनेन इन्द्रियगणस्य पूर्णो विजयो बोभूयते।

पूर्वोक्तेन्द्रियजयाद् भिन्नोऽयं विषयः। पूर्वसूत्रवर्णितम् इन्द्रियदमनं सामान्यमवधेयम्। परमेतद्रीत्या समधिगता सिद्धिर्विलक्षणैव। अनया योगी न केनापि विषयेण विचालयितुं शक्यते। स च जितेन्द्रियतायाः पूर्णामवस्थाम् अधिकरोतीति ॥ ४७ ॥

इन्द्रिय-जयस्योदर्कं निरूपयति—

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥ ४८ ॥

इन्द्रियजयानन्तरं योगिना मनोजवित्वम्, विकरणभावः, प्रधानजयश्च समधिगम्यते। १. मनसो गतिरिव शरीरगतिप्राप्तिरेव 'मनोजवित्व'-मुच्यते। अर्थात् मनो यथा अनन्तयोजनव्यवहितदेशे द्रुततरमेव गच्छति, तथैव शरीरस्यापि सामर्थ्यप्राप्तिः मनोजवित्वम्। २. शरीरसम्बन्धपरित्याग-पूर्वकम् इन्द्रियवृत्तिप्राप्तिः 'विकरणभाव' उच्यते। अर्थात् यथाभिलषित-देशकालविषयादिषु शरीरं विनैव चक्षुरादीन्द्रियाणां गमनं विकरणभावः प्रोच्यते। एतेन योगिना एकत्र स्थाने स्थितवता अन्येषां दूरवर्तिस्थानानां दृश्यं द्रष्टुं पार्यते। ३. प्रकृतिविकार-मूलकारणजयो हि 'प्रधानजयत्व'-माख्यायते। एतेन सर्ववशित्वमधिगम्यते।

एवं मनोजवित्वेन, विकरणभावेन, प्रधानजयेन च योगिना पूर्णरूपेण सिद्धयः समासाद्यन्ते। 'मधुप्रतीक'नाम्नीयं दशा। पूर्वसूत्रोक्तसमुन्नत-सिद्ध्यधिगमेन सिद्धिरियं स्वत एवोपलभ्यते। अत एव महर्षिणा सूत्रकृता एतत्सूत्रोक्तसिद्धिप्राप्तेः उपायो न निर्दिष्ट इति तत्त्वम्॥ ४८॥

अष्टाविंशी सिद्धिर्निदिश्यते—

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च॥ ४९॥

बुद्धि-पुरुषयोः पार्थक्यज्ञानवता सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं चाधिगम्यते। पूर्वोक्तसूत्रेषु विविधाः सिद्धीः वर्णयित्वा सूत्रकारेण महर्षिणा निर्णीयत इदं यत् स्वान्तःकरणस्वच्छतया स्वयमेव परमात्मनो निर्मलः प्रकाशः प्रादुर्भवति, योगिना च बुद्धिरूपे दृश्ये पुरुषस्वरूपे द्रष्टरि च स्थितस्य सात्त्विकभेदस्य सुस्पष्टतयाऽनुभवः क्रियते। तदानीमसौ निखिलभावानां स्वामी सकलविषयाणां परिज्ञाता च सम्पद्यते। योगिराजो यदा स्वीयेन्द्रियाणि विजित्य तत्स्वामितां प्रपद्यते, तदानीं स्वत एवासौ महात्मा बुद्धेस्तत्परपारस्थितस्य पुरुषस्य च पार्थक्यापरोक्षानुभूतौ सामर्थ्यं लभते। इयमेव 'परासिद्धि'राख्यायते।

परा अपरेति भेदेन सिद्धिर्द्विविधा। विषयसम्बधिन्य उत्तममध्यमाधमा अपराः सिद्धयो मुमुक्षुभिर्हेयाः। स्व-स्वरूपानुभवोपयोगिनी परा सिद्धि-राख्यायते। परासिद्धेरुपयोगिन्यः सिद्धय एव योगिराजस्य उपादेयाः।

सिद्धिपथपथिकान् विमोहयितुम् उभयतः पन्थानम् उत्तमोत्तमभोग-वस्तूनि विद्यन्ते। यदि साधकपथिकः तीव्रवैराग्यसंयुक्तो मनसः सुदृढ-तया पन्थानमुभयतो भ्रमोत्पादकेभ्यो विक्षिप्तैश्वर्येभ्यो मुखं परावर्तयन् तानि नावलोकयति तर्हि स्वत एव शान्तिमयं तत्स्थानं प्राप्नोति, यत्रागमनेन निखिला अपि मनोवासनाः पूर्णतामापद्यन्ते, साधकश्च भगवद्दर्शन-सामर्थ्यं लभते। सत्त्वगुणप्रभावेण रजस्तमोमले अपसारिते, अन्तःकरणे च

स्वच्छतामधिगते ऋतम्भराख्या पूर्णज्ञानमयी बुद्धिरुदयति। मलमलीमसे अन्तःकरणे भगवत्साक्षात्कारो न जायते। मलराहित्यात् स्वच्छमन्तःकरणं भगवद्दर्शनसमर्थं जायते। योगिनोऽवस्थेयं 'विशोका' शोकरहिता समाम्नाता॥ ४९॥

विशोकावस्थायाः परिणाम उच्यते—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्॥ ५०॥

विवेकख्यातिजनितवैराग्येण दोषबीजे प्रणष्टे कैवल्याधिगमः। साधन-वैराग्याभ्यां पक्षाभ्यामुड्डीयमानः साधको हंसो विशोकावस्थामधिगत्य आत्मदर्शनसामर्थ्यं लभमानः तीव्रवैराग्यकारणात् मार्गोपलब्धे विविध-चाकचिक्ये यदा ग्रस्तो न जायते, तदा शनैः शनैः भगवत्साक्षात्कार-कृपाया अधिकारी भवन् मुक्तिस्वरूपं कैवल्यपदमासादयति। यदा योगी पूर्वोक्तामवस्थामधिगत्य क्लेशरूपकर्मभ्यः पृथग्भूत्वा परिपूर्ण-सत्त्वरूपिणीम् अभ्रान्तां बुद्धिं प्राप्य जीवावस्थातः अवस्थान्तरमासाद्य च स्वकीयान्तः-करणसङ्कल्पविकल्पविरहितः पूर्णानन्दमधिगच्छति, तदानीं पुनरसौ अधि-भूताधिदैवाध्यात्मरूपे तापत्रये न कदापि ग्रस्तो भवति, परमकल्याण-स्वरूपं कैवल्यपदं चासादयति।

उत्तमः, मध्यमः, अधमश्चेति साधकस्त्रिविधः। साधनपथेऽग्रेसरन् सिद्धिभोगी साधकोऽधमः। सिद्धिरवलोकमानोऽपि तद्भोगपराङ्मुखो मध्यमः। यस्तु कथञ्चिदपि सिद्धिर्नेक्षते, नैव च समीहते स उत्तमः। अतः परवैराग्ययुक्तः उत्तमसाधक एव मुक्तिपदस्य सर्वाभ्यर्हितोऽधिकारी। तेनैव त्वरितं मुक्तिपदमासाद्यते॥ ५०॥

समाधिभूमि-विघ्नान् वर्णयति—

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्॥ ५१॥

स्थानिनाम् = उच्चस्थानप्राप्तदेवानाम्, उपनिमन्त्रणे = समीपमागत्य प्रार्थनायाम्, सङ्गस्य = आसक्तेः, स्मयस्य = अभिमानस्य, करणम् = अनुष्ठानं न युज्यते, यतस्तेन पुनरनिष्टप्राप्तिः सम्भवेत्यर्थः।

कालिपकः मधुप्रतीकः भूतेन्द्रियजयी, अतिक्रान्तभावनीयश्चेति योगी चतुर्विधः। अष्टाङ्गयोगसाधनतः अग्रेसरन् योगी 'कालिपक' उच्यते। ऋतम्भराप्रज्ञाप्राप्तश्च 'मधुप्रतीकः'। भूतेषु पूर्णाधिकारवान् 'भूतेन्द्रियजयी', कैवल्यभूमिमुपढौकमानश्च 'अतिक्रान्तभावनीयः' प्रख्यायते।

चतुर्थावस्थायाः सप्तभूमयः। प्रथमत एव योगिनो विघ्नभयं विद्यत एव। अतो वैराग्यमन्तरेण साधकोऽग्रेसर्तुं नार्हति। परन्तु चतुर्थावस्थायाः सप्तभूमिभ्यः साधकस्य विशिष्टं भयमास्ते। शास्त्रेष्वेतत् समुपलभ्यते यत् अतिक्रान्तभावनीयदशायां देवा योगिसम्मुखमागत्य बहुविधान् दिव्यपदार्थान्, नानाविधभोग्यवस्तूनि, मनोहारिणीः स्त्रियः, सुन्दरं स्थानम्, बहुप्रकाराः सिद्धा ओषधीश्च प्रदाय स्वात्मसात्कर्तुमभिलषन्ति। यदि योगी तेषु तेषु पदार्थेषु ग्रस्तोऽभिमानयुक्तश्च तैरेव समधिगतपदार्थैरात्मानं कृतकृत्यं मन्यते, तर्हि तदधोगतिर्दुर्निवारा। अन्यथा परवैराग्ययुक्तोऽसौ सप्तापि भूमीरतिक्रमन् कैवल्यपदमारूढो विमुच्यते।

प्रत्येकमपि ब्रह्माण्डं चतुर्दशभुवनविभक्तम्। ऊर्ध्वस्थसप्तभुवनेषु देवानाम्, निम्नस्थसप्तलोकेषु च असुराणां निवासः। असुरा अपि देवयोनय एव। प्रत्येकेनापि पिण्डेन साकं ब्रह्माण्डवत् चतुर्दशभुवनसम्बन्धो विद्यते। मानवपिण्डे देवपिण्डेऽपि च पञ्चकोषा समाना एव। पञ्चकोषेषु आधिपत्यं कुर्वाणो योगी प्राणमयादिकोषसाहाय्येन स्वकीये पिण्ड एव देवलोकमनुभवति। समुन्नतस्य योगिराजस्य अन्तःकरणं देवलोकसम्बद्धं बोभवीति। तदानीं नानाभोगप्रदानकारिणां देवानां दर्शनं जायते। तद्दर्शनेन परवैराग्यसंयुक्तस्य योगिराजस्य चित्तं न विचलति। इयमतीव समुन्नता अवस्था वर्तते॥ ५१॥

एकोनत्रिंशी सिद्धिरुच्यते—

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद् विवेकजं ज्ञानम्॥ ५२॥

यावता कालेन परमाणुः परिवर्तते, तन्नाम 'क्षण'मिति। तदवच्छिन्नप्रवाहः 'क्रमः'। तयोः [संयमेन विवेकः, अनुभवसिद्धं ज्ञानमुत्पद्यते।

भौतिकपदार्थस्य सूक्ष्मातिसूक्ष्मतमो भागः 'परमाणुः' उच्यते। कालस्यापि सूक्ष्मातिसूक्ष्मतमो भागः 'क्षणम्' इत्युच्यते। यावता कालेन परमाणुरेकं पूर्वस्थानं परित्यज्य अग्रिमं स्थानं प्राप्नोति, तावत्कालविभागस्य नाम क्षणमिति। तत्परमाणुगतिप्रवाह एव 'क्रम' इति महर्षिसूत्रकृतस्तात्पर्यम्। क्षणक्रमयोरेकत्र स्थितिरसम्भवा। परन्तु क्षणादिव्यवहारवती बुद्धिरेव स्वीयस्थिरतया मुहूर्त-दिन-रात्रि-वर्षादीनां व्यवस्थां विदधाति। वस्तुतः कालो हि वस्तुशून्यं द्रव्यम्, केवलं बुद्धेः परिणाममात्रं च। वस्तुशून्योऽपि कालः सांसारिकैर्मानवैः वस्तुसमानवत् परिज्ञायते। परन्तु योगिनस्तम् अन्यथैव पश्यन्ति। क्षणेनैव क्रमज्ञानम्। कालज्ञा योगिनः तं कालं निर्दिशन्ति।

वस्तुतः काल एक एव। यतो हि वर्तमानक्षणस्य पूर्वक्षणमुत्तरक्षणं चेति भेदद्वयम्। एतदपि वक्तुं शक्यते यत् भूतक्षणस्य परिणामो वर्तमानक्षणम्, तस्य च परिणामो भविष्यत्-क्षणमिति। अतस्त्रयमपि एकरूपम्, एकस्यैव रूपत्रयं वा। एतद्विचारमनुसृत्य सर्वोऽपि काल एकस्यैव क्षणस्य परिणामभूतः। समस्तब्रह्माण्डानामपि सर्गक्रिया एकस्यैव परिणामरूपा।

एवं योगबुद्ध्या क्षणक्रमयोः संयमेन, तयोः साक्षात् ज्ञानलाभेन च विवेकस्वरूपस्य अभ्रान्तपरिपूर्णसर्वव्यापकस्य ज्ञानस्य प्राप्तिर्जायते। एतादृशज्ञानोदयेन योगिनामन्तःकरणतोऽखिलोऽपि सन्देहोऽपास्यते। अतो योगिना यथेच्छं सर्ववस्तुयथार्थरूपं परिदृश्यते। योगी यत्रैव स्वीयां ज्ञानदृष्टिं प्रसारयति, तत्रैव तस्य बुद्धिः देशकालापरिच्छिन्ना अभ्रान्ता सती प्रयाति। योगिनोऽवस्थेयं 'त्रिकालदर्शिनी' प्रोच्यते॥ ५२॥

विवेकज्ञानस्य परिणाममुदीरयति—

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रवृत्तिः॥ ५३॥

पदार्थानां भेदहेतुः जाति-लक्षण-देशाः। अर्थात् एतैस्त्रिभिरेव पदार्थेषु भेदो विज्ञायते। जात्या भेदो यथा—गोमहिष्योः गोत्व-महिषीत्वरूपजातिभेदः। कुत्र चिल्लक्षणभेदेन भेदः, यथा—गोषु एका कृष्णा, द्वितीया च

रक्ता। एवं लक्षणभेदतो वस्तुभेदोऽवधार्यते। यथा—पदार्थद्वये जाति-लक्षणयोरैक्ये प्राप्तेऽपि तदनैक्यं देशप्रादुर्भूतम्। यथा—समानप्रमाणाम-लक्ष्योः भेदः स्थलविशेषप्रादुर्भूतः।

किन्तु यत्र एकदेशे एकजात्येकलक्षणयुक्तं परमाणुद्वयं वर्तते, तदानीं तत्र भेदभावोऽसम्भवः। किन्तु पूर्वसूत्रे यो हि विवेकज्ञानविधिः प्रदर्शितः, तस्य साहाय्येन जाति-लक्षण-देशानां पूर्णाभेदज्ञानप्राप्तिः सम्भवा। अर्थात् एवंरीत्या भेदेषु संयमेन योगी तत्त्वानां सूक्ष्मातिसूक्ष्मभेदान् परिज्ञातुं शक्नोति। सूक्ष्मतत्त्वेषु यत् ज्ञानमुत्पद्यते, तस्य 'विशेष'संज्ञा अग्रे वक्ष्यते॥ ५३॥

विवेकज्ञानस्य वैशिष्ट्यं निरूपयति—

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्॥ ५४॥

तद्धि 'तारक'मुच्यते, येन जीवः संसारसागरमुत्तरति। पूर्वोक्तविवेकज-ज्ञानेन संसारसिन्धुसन्तरणात् तत् 'तारक'मुच्यते। विवेकजेन ज्ञानेन निखिलाः पदार्था याथातथ्येन ज्ञानगोचरीभवन्ति। अतस्तत् 'सर्वविषयं' 'सर्वथाविषयं' वा प्रोक्तम्। अक्रमस्य तात्पर्यमिदं यत् पूर्वोक्तविवेकज्ञानेन क्रमं विनैव जागतिकं सर्वपदार्थकार्यजातं योगी पूर्णरूपेण ज्ञातुमर्हति। अर्थात् भूत-भविष्यद्-वर्तमानकालेषु सम्भूतं सम्भविष्यन्तं सम्भवन्तं च कार्यकलापं योगी परिज्ञातुमर्हति।

एतदेव ज्ञानमासाद्य त्रिकालदर्शिनो महर्षयो वेदानां संग्रहं विभागं च चक्रिरे। एतदेव ज्ञानमधिगच्छन्तस्ते पूज्यपादा दर्शनोपवेदस्मृतिपुराण-तन्त्रादिनानाशास्त्राणि स्वां स्वां रीतिं लक्ष्यं चानुसृत्य जीवोपकाराय प्रणीत-वन्तः। विवेकजं पूर्णज्ञानमेव निःसहायजीवान् संसारसागरतस्तारयित्वा भगवत्पदं प्रापयति। अतस्तस्य 'तारकं' नाम। इयमेव परा सिद्धिः॥ ५४॥

परम्परासम्बन्धेन कैवल्यहेतुभूतान् निरूप्य अन्ते साक्षात् कैवल्यसाधनं वर्णयति—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति॥ ५५॥

पूर्वोक्ततारकबुद्धेः अधिगमेन यत्फलमुदेति, तस्यैव वर्णनमिदानीं सूत्रकृता महर्षिणा क्रियते। यदा सत्त्वगुणस्य प्रबलप्रवाहाद् रजस्तमसोः मलं पूर्णरूपेणापसर्पति, तयोर्नाममात्राऽनवशेषाद् बुद्धिः विमलत्वं प्रपद्यते। पुरुषभिन्नो योऽधिकारः, स सर्वोऽपि विलयं प्रपद्यते। तदैव पुरुषः स्वीयं यथार्थस्वरूपमधिगच्छति। पुरुषस्य भोगाभाव एव मुक्तेरवस्था। दशायामत्र द्वैतस्य भानं सर्वथा विनश्यति। एकमेवाद्वितीयम् अवशिष्यते। द्वैताभावे विषयभानमपि नास्ति। विषयनिवृत्त्या सर्वक्लेश निवृत्तिः। क्लेशलयेन कर्मफलनिवृत्त्या एकमात्रपुरुषोऽवशिष्यते। सूत्रेऽत्र बुद्धिशुद्धिः, बुद्धौ वृत्त्यभावः, पुरुषशुद्धिश्च पुरुषे चित्तधर्मानारोपद्वारा स्वरूपावस्थानम्। शुद्धिद्वयस्य समतायां कैवल्याधिगमः इत्युक्तम्।

प्रकारान्तरेणापि विषयोऽयं विविच्यते—तटस्थज्ञानम्, स्वरूपज्ञानं चेति भेदाद् बुद्धिर्द्विविधा। यावदहङ्कारसम्भवस्तावत् ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयरूपां त्रिपुटीं द्वारीकृत्य अन्तःकरणवृत्तयस्तिष्ठन्ति। योगिनोऽन्तःकरणे रजस्तमसोः नाशपूर्वकं यथा यथा सत्त्वगुणो विकसति, तथा तथा त्रिपुटीलयेन बुद्धिर्विशुद्ध्यति, अन्ते च पूर्णसत्त्वगुणोदयेन त्रिपुटीनाशतः स्वरूपज्ञानमुदेति।

अन्यच्च—बुद्धिशुद्धयभावे अन्तःकरणवृत्तयः पूर्णरूपेण नैव विनाशमायान्ति। वृत्तीनां प्रतिबिम्बितत्वात् पुरुषः स्वरूपं नाधिगच्छति। योगिनः समुन्नतदशायां वृत्तीनामभावात् पुरुषस्य यथार्थस्वरूपं प्रकाशते। तदानीं द्रष्टा स्वीये स्वरूपेऽद्वैतभावे स्थितो जायते। दशेयं 'बुद्धिशुद्धिः', 'पुरुषशुद्धि'श्चेत्युच्यते। पुरुषस्य एतदवस्थानामैव योगसाधनलक्ष्यं 'कैवल्यपदम्'। एतदेव परमपुरुषार्थस्य चरमं फलम्। एतस्य कैवल्यपदस्य विस्तृतं विवरणमग्रे वक्ष्यते। इतिशब्दः पादसमाप्तिपरिचायकोऽवधेयः॥ ५५॥

४. कैवल्यपादः

प्राथमिकपादत्रये यथाक्रमं समाधिस्वरूपं तदर्थसाधनम्, योगैश्वर्यं च वर्णयित्वा सम्प्रति योगस्य अन्तिमफलरूपस्य कैवल्यस्याधिगमाय कैवल्यपादं वर्णयितुमुपक्रामति। परन्तु यावत् कैवल्ययोग्यचित्तस्य क्षणिकविज्ञानातिरिक्तात्मप्रसंख्यातपराकाष्ठाप्रभृतिविषयाणां प्रतिपादनं न भवति, न तावत् कैवल्यस्य यथार्थस्वरूपनिर्णयो भवितुमर्हति। अतः पादेऽत्र तानि सर्वाणि क्रमशो निरूप्यन्ते—

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

पूर्वपादे विविधाः सिद्धयो वर्णिताः। यद्यपि ता मुक्तिपदे प्रतिष्ठमानेन योगिना मार्गे एव लभ्यन्ते, तथापि सर्वविधप्राप्तसिद्धीनां सविस्तरवर्णनं सम्प्रति सूत्रकारेण महर्षिणा क्रियते।

सिद्धिर्जन्मतः समुत्पद्यते। यथा—परमहंसशुकदेवे महर्षिकपिलादौ च जन्मत एव सिद्धिरुत्पन्ना। औषधादिद्वारेणापि सिद्धयः समुत्पद्यन्ते। यथा—रसायनप्रभृत्यौषधैः ताम्रसुवर्णनिर्माणम्, कायाकल्पकरैः औषधैश्च जरानाशपूर्वकदीर्घायुष्ट्वप्राप्तिः। मन्त्रैरपि सिद्धिः प्राप्यते। यथा—गुटिकादिसिद्धिद्वारा आकाशगमनम्, तान्त्रिकमन्त्रसाधनेन मारणम्, वशीकरणम्, उच्चाटनादिकार्यं चेति। तपसाऽपि सिद्धिरधिगम्यते। यथा—तपःसाधनेन विश्वामित्रस्य ब्राह्मणत्वाधिगमः, भक्तप्रधानस्य नन्दिकेश्वरस्य च मनुष्यतो देवत्वप्राप्तिः। समाधितः सर्वविधसिद्धिप्राप्तेः सविस्तृतं वर्णनं तृतीयपादे प्रदर्शितमेव।

ओषध्या, मन्त्रेण, तपसा च प्राप्ताः सर्वा अपि सिद्धयः समाधिसिद्धेः निम्नस्वरूपा इति वक्तुं शक्यन्ते। तासां सर्वासामपि पूर्वकारणं साहाय्यकारिसाधनं च समाधिरेव। जन्मतो या सिद्धिः प्राप्यते, तस्याः पूर्वकारणं

साधनमेव। यतः शुकदेवादिभिः प्राक् साधनानि कृतानि, अतो वर्तमान-जन्मनि स्वतः सिद्धिरधिगता। औषधादिद्रव्ययोगेन या सिद्धिरासाद्यते, तयाऽपि शरीरं तादृशमेवोपयोगि जायते, यादृशं समाधिना सम्पद्यते। एवमेव मन्त्रतपःसिद्धयोऽप्यवगन्तव्याः। यतो मन्त्रतपःसाधनद्वारा शनैः शनैः साधकस्य शरीरं मनश्च तादृशमेवोपयोगि भवति, यथा समाधिना भवितुमर्हति।

विषयेऽत्र शास्त्रप्रमाणानि यथा—

"जन्मौषधिपदोपास्ति - तपोमन्त्रसमाधितः।
संयमेनापि लभ्यन्ते सिद्धयोऽलौकिका द्विजाः॥
अष्टोपायाः प्रधाना हि सन्तीमे सिद्धिलब्धये।
सन्ति जातिस्मरत्वादिसिद्धयो जन्मसिद्धयः॥
या सिद्धगुटिका कायकल्पैश्चैव रसायनम्।
अन्या चैवंविधा सिद्धिरोषधीसिद्धिरुच्यते।
नैमित्तिक्यश्च या देवशक्त्यो राजशक्तयः।
अन्याश्चैवंविधाः सर्वाः शक्तयः पदसिद्धयः॥
उपास्तेः सिद्धयः सन्ति देवतादर्शनादयः।
यासु सिद्धिषु लब्धासु जायतेऽभ्युदयो ध्रुवम्॥
षड्वशीकरणादीनि यानि कर्माणि सन्ति च।
अन्यान्यन्तर्भवन्त्येवं मन्त्रसिद्धौ न संशयः॥
नैवास्त्येवंविधा सिद्धिर्दैवी वा काऽप्यलौकिकी।
या संयमसमाधिभ्यां लभ्यते तपसा न वा॥
चतुर्विधा हि लभ्यन्ते सिद्धयो निश्चितं द्विजाः।
उपायैरष्टभिः प्रोक्तैर्नात्र कार्या विचारणा॥
अनन्ताः सिद्धयो याश्च लोके मच्छक्तिसम्भवाः।
विभक्ताः सन्ति ताः सर्वाश्चतुर्धैव मया पुरा॥
तासां च लब्धये नूनमुपाया अष्टनिर्मिताः।
तैरेव ताश्च प्राप्यन्ते निश्चितं विप्रपुङ्गवाः॥

कुर्वाणा लौकिकं कार्यं सन्ति याः सिद्धियोऽखिलाः।
ता ज्ञेया निखिला विप्रा आधिभौतिकसिद्धयः॥
या दैवकार्यकारिण्यः सिद्धयः सम्प्रकीर्तिताः।
ता ज्ञेया आधिदैविक्यः सिद्धयो निखिलाः खलु॥
सिद्धयो ज्ञानविज्ञानप्रकाशिन्यश्च या इह।
नैवात्र विस्मयः कार्यो भवद्भिर्विप्रपुङ्गवाः॥
सहजाख्या तु या सिद्धिर्वर्तते विज्ञसत्तमाः।
एताभ्यः सर्वसिद्धिभ्यः सा नितान्तमलौकिकी॥
ममावतारवृन्देषु स्वयमेव प्रकाशते।
तत्त्वज्ञानैर्महात्मानो मनोनाशेन वै ध्रुवम्॥
निर्वासनतया चैवोन्मूलयन्तः स्वजीवताम्।
शिवरूपी भवन्तश्च समाधौ निर्विकल्पके॥
तिष्ठन्तो यान्ति मय्येव लयमेकान्ततो यदा।
मदिच्छया तदा तेषु सहजा कर्हि चिद् भवेत्॥" इति।

सिद्धयस्तु सिद्धय एव। नात्र मुमुक्षुभिर्ध्यानं देयमिति॥ १॥

यदि जन्मान्तरे परिपाकप्राप्तसुकृतिवशतः सिद्धयोऽधिगम्यन्ते चेत्तर्हि नन्दीश्वरादीनां जात्यन्तरपरिणामः अस्मिन्नेव जन्मनि कथं सम्पद्यते इति शङ्कां समाधातुं प्रोच्यते—

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्॥ २॥

प्रकृतेरनुप्रवेशकारणात् जात्यन्तरपरिणामो वोभवीति। विस्तृतरूपेण पूर्वविवृतसिद्धिषु असाधारणपरिवर्तनेन प्रकृतौ कथमिव तादृशं परिवर्तनं सम्भवमिति शङ्कां सूत्रकृन्महर्षिः समाधत्ते।

तथाहि—प्रकृतिपरिणामेनैव सर्वं सम्पद्यते। प्रकृतौ परिणामे सति शरीरेन्द्रियेष्वपि परिणामो नूनं भावी। शरीरोपादानकारणरूपपञ्चभूतानाम्, इन्द्रियोपादानकारणरूपसूक्ष्मतत्त्वानां चानुप्रवेशत एकस्मिन्नेव जन्मनि शरीरान्तरस्य जात्यन्तरस्य चाधिगमो नासम्भवः। यदा एकस्माज्जन्मनो

जन्मान्तरप्राप्तिर्जायते, तदानीमेकस्याः प्रकृतेः प्रकृत्यन्तरपरिवर्तनं सम्पद्यत एव। अर्थात् कोऽपि जीवो यदि प्रथमे जन्मनि मनुष्यः, परन्तु द्वितीयस्मिन् जन्मनि स वै देवोऽजायत, तदा तस्य तज्जन्मपरिवर्तनेन मनुष्यप्रकृतिः परिवर्तिता सती दैवीं प्रकृतिं प्रापत्। अतो जन्मद्वारा प्रकृतिपरिवर्तनं सिद्धमेव। यथा एकप्रकृतियोगाद् अपरा प्रकृतिः परिवर्तते, यथा विषप्रयोगेण सुन्दरमपि शरीरं गलित्वा विनश्यति, तथैव द्रव्ययोगरूपौषधिं द्वारीकृत्य मानवो निजामेकां प्रकृतिं प्रकृत्यन्तरपरिणतां कुर्वन् सिद्धिमधिगन्तुं शक्ष्यति। मन्त्रतपःसाधनादिना प्रकृतौ आधिपत्येन समाधिसिद्ध्या वा प्रकृतौ आधिपत्यतः कथमिवैका प्रकृतिः अन्यत्र प्रकृतौ परिवर्तिता क्रियत इत्यस्य प्रमाणं नितरां सरलमास्ते। विवरणमप्यस्य प्रागपि सुप्रपञ्चितमेव। अतः सर्वविधसिद्धयः प्राकृतिकपरिणामेनैव समुत्पद्यन्ते, तदसाधारणपरिणामेन च नन्दीश्वरस्येव एकस्मिन्नेव जन्मनि जातेः शरीरस्य च परिवर्तनं सिद्ध्यति।

विषयमिमं प्रकारान्तरेणपि स्पष्टयति यदेको जीवो जन्मान्तरेण मनुष्यतो देवत्वं प्रपद्यते किं वा क्षत्रियाद् ब्राह्मणत्वमासादयति, तदानीं तदीयकर्मवेगेन शरीरान्तरप्राप्तिकाले तस्य परिवर्तितदशामनुसृत्य स्थूलं शरीरमधिगम्यते। यतो हि स्थूलं शरीरं गुणाधाररूपं विद्यते। जीवानां क्रमोन्नतेरयमेव साधारणः क्रमः। योगी यदा सिद्धिर्द्वारीकृत्य स्वकीयप्रकृतौ असाधारणं परिवर्तनं चिकीर्षति, एकस्मिन्नेव जन्मनि मानवतो देवत्वस्य क्षत्रियतो ब्राह्मणत्वस्य गुणं प्राप्तुं समीहते, तदानीमिहैव जन्मनि मानससृष्टिवत् स्वकीयान्तःकरणप्रबलवेगेन निजदेहपरमाणुषु जन्मान्तरप्राप्तिवत् परिवर्तनमनुष्ठातुमर्हति। तदानीं तादृशी प्रकृतिस्तादृशा गुणाश्च स्वत एव प्राकट्यमाप्नुवन्ति॥ २॥

प्रकृतेरापूरणे धर्मादेः प्रवर्तकत्वं विद्यते न वेति शङ्कां समाधातुमुच्यते —

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्॥ ३॥

धर्मादीनां निमित्तत्वं प्रकृतिप्रयोजकं नास्ति, आवरणनिवृत्तिः कृषकवत् विज्ञातव्या। पूर्वसूत्रे प्रमाणितं यत् सिद्धिद्वारा ऐश्वर्यमधिगम्यते। तच्च सर्वं प्रकृतिपरिणामजन्यमेव। निमित्तभूतौ धर्माधर्मौ प्रकृतिपरिणाम-प्रयोजकौ भवितुमर्हतो न वा, तयोः प्रकृत्या कः सम्बन्धः, धर्माधर्मरूपकार्येण च किं फलमिति विचारवतः पुरुषस्य शङ्काया उत्तरे महर्षिणा सूत्रकृता प्रोच्यते यत् धर्माधर्मनिमित्तं प्रकृतिप्रयोजकं नास्ति, यतः कार्येण कारणं नोत्पद्यते इति।

यथा—कश्चित्कृषक उन्नतायां निम्नायां वा प्रणाल्यां यदा जलमानेतु-मिच्छति, तदानीं तस्याः प्रणाल्या उन्नतत्वावनतत्वानुसारेण बन्धं निर्माति। तदानीं बन्धे समतलत्वमापन्ने प्रणाल्यां जलं स्वयमेव प्रवहमाण-मापतति। तथैव यदा प्रकृतेः आवरणरूपमधर्मं प्राकृतिको धर्मः कर्तयित्वा प्रकृतिपथं सरलीकरिष्यति, तदा प्रकृतिः स्वत एव कार्योपयोगिनं परिणामं धारयन्ती तदवस्थानुरूपतां प्रतिपत्स्यते। अधर्मनाशाद् धर्मसाहाय्येन प्रकृतिः परिणामं धत्ते, अतोऽधर्मनिवृत्तिकारणत्वं धर्मस्यैव। अर्थात् कस्या-श्चन सिद्धेः प्राप्तौ धर्मद्वारेण अधर्मनाशपूर्वकं प्रकृतिः सिद्धीनामैश्वर्यप्राप्तेः उपयोगिनी जायते। अत्र यथार्थतो धर्मादीनां कारणता नास्ति। धर्मः किल अधर्मनिवृत्तेः साक्षात्कारणम्; परन्तु तस्य प्रकृतिपरिणामसाक्षा-त्कारणत्वं नोपपद्यत इति॥ ३॥

अनेकशरीरैः सह अनेकचित्तप्राप्तिर्निरूप्यते—

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्॥ ४॥

चित्तोत्पत्तिकारिणी केवलमस्मितैवेति सूत्रभावार्थः। यदि तत्त्वज्ञाता योगी बहूनां कर्मणाम् एकस्मिन्नेव काले फलभोगाय स्वीयां सिद्धिं प्रकाशयन् अनेकदेहधारणं समीहेत, तदा तस्य एकमन्तःकरणं कथमनेकत्वं प्राप्स्यतीति प्रश्नं समाधत्ते महर्षिः सूत्रकारः एतेन सूत्रेण।

केवलमस्मितैव अन्तःकरणकारणभूता समुत्पादयति अन्तःकरणम्। अर्थाद् अस्मितयैव प्राणी अन्तःकरणवान् जायते। यथा चैकोऽग्निस्फुलिङ्गः

अनेकान् अग्निस्फुलिङ्गानुत्पादयति, तथैव योगबलेन एकमन्तःकरणम् अनेकत्वं प्रपद्यते। महत्तत्त्वमधिकुर्वन् योगी यथेच्छम् अनेकानि अन्तःकरणानि स्रष्टुमर्हति। सञ्चित-क्रियमाण-प्रारब्धेषु प्रारब्धं कर्मैव मानवपिण्डकारणम्। अत एकस्य शरीरस्यानन्तरं द्वितीयशरीरस्य उपलब्धिरिति साधारणो नियमः। किन्तु योगदर्शनसिद्धान्तमनुसृत्य यदा योगिराजः अदृष्टजन्मवेदनीयकर्माणि दृष्टजन्मवेदनीयकर्मरूपेण परिणमयति, तदानीम् एकस्मिन्नेव जन्मनि सञ्चितकर्माणि प्रारब्धकर्मरूपेण परिणमयन् सः अनेकशरीरधारण-योग्यताम् अधिकरोतीत्यत्र नास्ति सन्देहलेशः।

स्थूलं शरीरमनेकत्वं प्रपद्यते, किन्तु तत्केन्द्रमन्तःकरणं कथमनेकताम् अधिकरोतीति शङ्कायाः समाधानं सूत्रेणैतेन अनुष्ठितम्। आत्मनो व्यापकत्वमस्त्येव। केवलमन्तःकरणरूपम् आत्मनः प्रतिबिम्बधारकं यन्त्रमेव यदि नानात्वं भजते तर्हि तेषु आत्मनः प्रतिबिम्बं प्रतिफलितं भवत् अनेकत्वं प्राप्स्यत एवेत्यत्र कः सन्देहः? स्वकीयेऽन्तःकरणे संयमेन योगी स्वान्तःकरणास्थामस्मिताम् अनेकधा विभाजयितुं शक्नुयात्, तर्हि तदन्तःकरणमपि अनेकत्वं प्रतिपद्यमानं भविष्यत्येव। तेषु च चित्प्रतिबिम्बानां पृथक्त्वेन प्रतिफलितत्वात् स्वतन्त्रेषु केन्द्रेषु स्थूलसूक्ष्मशरीरचालनोपयोगीनि कर्माणि यानि अदृष्टजन्मवेदनीयानि सन्ति, तानि दृष्टजन्मवेदनीयस्वरूपं धारयिष्यन्त्येव। इत्थम् अस्मितया विविधकारणशरीरप्रादुर्भावः स्वतः सिद्ध्यति॥ ४॥

चिन्तानेकत्वे अभिप्रायानेकत्वाद् व्यवहारः कथं सिद्ध्यतीत्युच्यते—

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्॥ ५॥

प्रवृत्तिभेदे सति एकमेव चित्तमनेकेषां चित्तानां प्रयोजकत्वमापद्यते, यदैको योगी सिद्धिं द्वारीकृत्य अनेकप्राणिरूपतां प्रपद्यते, तेषु प्राणिषु अनेकान्तःकरणसत्त्वाद् एष प्रश्नः समुदेति यत् सर्वेष्वन्तःकरणेषु स्वतन्त्ररूपैः संस्कारैर्भवितव्यम्, किं वा योगी स्वयमेव केनापि प्रकारेण तेषु प्रेरणां विदध्यात्? इति।

अत्र समाधत्ते सूत्रकारः—नवीनोत्पन्नान्तःकरणेषु स्वतन्त्रसंस्काराणामसम्भवत्वमेव, किन्तु अन्तःकरणमेकम् अनेकेषामन्तःकरणानां प्रयोजकं भवितुमर्हति। अर्थात् सर्वेषाम् अन्तःकरणानाम् अधिष्ठातृरूपमेकमेव योगिनोऽन्तःकरणमास्ते। यदि योगिनः शक्त्यैव विविधशरीरेन्द्रियान्तःकरणानां सृष्टिस्तदा तदीयमन्तःकरणमेव सर्वेषु चाप्यन्तःकरणेषु कार्यारम्भकं भवेत्। अस्यामवस्थायां योगिराजः स्वीयां संयमशक्तिं द्वारीकृत्य निजकर्माशयतः सञ्चितकर्मणां बहून् अंशानाकृष्य प्रारब्धरूपे परिणमयितुमर्हति। ततश्च नूतनसमागतान् प्रारब्धकर्मराशीन् स्वेच्छाशक्त्या स्वतन्त्रानेकशरीरभोगोपयोगिविभागेषु विभक्तान् विधत्ते। सुतरां योगिराजस्य एकमेवान्तःकरणं वस्तुतः प्रथमं संयमशक्तेः, ततश्च इच्छाशक्तेः प्रयोगद्वारा स्वीयकर्मणां विभागेन बहुशरीरप्रयोजकं वोभवीति ॥ ५ ॥

परायाः सिद्धेरधिकारं प्राप्तस्य समाधिसंस्कृतचित्तस्य वैलक्षण्यं प्रतिपादयति—

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥ ६ ॥

तत्र यद् ध्यानसमुत्पन्नं तदेव चित्तं रागद्वेषविरहितं भवितुमर्हति। धारणाभूमिसमुत्पन्नः संयमः, एकतत्त्वं च ध्यानभूमिसमुत्पन्नम्। सकामो योगी यदा अपरायां सिद्धौ प्रवर्तते, तदानीं धारणासमुत्पन्नायाः धारणाध्यानसमाधिरूपसंयमशक्तेः बलेन सः अपरां सिद्धिमधिगच्छति। परन्तु निष्कामः समुन्नतो योगिराजः संयमप्रयोगमकृत्वा केवलमेकतत्त्वाश्रयेण ध्यानयोगयुक्तो भवन् समाधेः समुन्नतामवस्थामधिकरोति। इयमेव परायाः सिद्धेरवस्था। दशायामस्यां रागद्वेषयोः सद्भावोऽसम्भवः।

समाधिसिद्ध्या योगयुक्तमन्तःकरणमेव रागद्वेषादिवृत्तिविरहितं भवितुमर्हति। यतः क्लेशप्रहाणशक्तिः समाधावेव सम्भवा। अतो योगयुक्तं समाधिस्थमन्तःकरणं यदा पापपुण्यभानं सुखदुःखानुभवं प्रवृत्तिनिवृत्तिसम्बन्धं च परित्यज्य नैर्मल्यमासादयति, तदैव तत्र पूर्वोक्तसमुन्नतसिद्धीनां सद्भावः सम्भवः। अर्थात् तदैवासौ मुक्तो योगिराज ईश्वरीय-

शक्तिमधिगच्छन् ईश्वरेच्छया यथेच्छमनुष्ठातुं प्रभवति। एतादृशसमुन्नतपरासिद्ध्यधिकारवतो महापुरुषस्य जीवन्मुक्तयोगिराजस्य कृते संयमक्रियासमुत्पन्ना अपरा सिद्धिर्नावश्यकी। तस्मिन् कदाचित् कस्याश्चन सिद्धेराविर्भावः परमेश्वरसमीहया सहजसमुत्पन्न एव मन्तव्यः। इयमेका विलक्षणावस्था ॥ ६ ॥

चित्तस्येव कर्मणो वैशिष्ट्यं विविनक्ति—

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

योगिनः कर्म अशुक्लम् अकृष्णं च ; इतरेषां तु तत् त्रिविधमवगन्तव्यम्। पूर्वसूत्रेण समाधिस्थस्य योगिनोऽन्तःकरणस्य अपूर्वत्वमुपवर्ण्य, अनेन सूत्रेण सूत्रकारेण महर्षिणा समाधिस्थस्य योगिनः कर्मणामपि अद्भुतत्वमुपवर्ण्यते। प्रागेव एतन्निर्णीतं यद् बहूनां सिद्धीनामधिगतिः जन्मादिपञ्चप्रकारेण सम्पद्यते ; किन्तु समाधिस्थस्य योगिनो यदन्तःकरणवैशिष्ट्यं तदन्यत्र सिद्धिषु नैव भवितुं शक्नोति। साम्प्रतम् एतन्निर्णीयते यद् यथाविधं कर्म अन्ये जीवाः समनुतिष्ठन्ति, नैव तथाविधं परां सिद्धिं प्राप्तेन समाधिस्थेन योगिना समनुष्ठातुं शक्यते। तस्य कर्म वैलक्षण्यमावहति।

सत्त्वरजस्तमोरूपत्रिगुणभेदेन साधारणजीवानां कर्म त्रिविधमवधेयम्—शुक्लम्, मिश्रितम्, कृष्णं चेति भेदात्। पुण्यात्मसात्त्विकमनुष्याणां शुक्लं कर्म, मध्यवर्तिनां राजसिकानां मिश्रितं कर्म, निकृष्टानां तामसिकानां मानवानां च कृष्णं कर्म अभिधीयते। एतत् त्रिविधगुणविचारेणैव लोकादीनामपि सृष्टिः। यथा—शुक्लकर्मविशिष्टानाम् ऊर्ध्वलोकाः, मिश्रितकर्मणां मृत्युलोकः, कृष्णकर्मविशिष्टानां चाधोलोकाः सन्ति। गुणभेदमनुसृत्यैव कर्मणां विभागः। वासनयैव संस्काराणामुत्पत्ति-स्थितयो जायन्ते। परन्तु योगिषु नैतत्सम्भवति। यदा समाधिसाधनद्वारा योगिनोऽन्तःकरणं निर्मलत्वमुपैति, तदा तत्र वासनाराहित्यात् त्रिविधकर्मणां लेशमात्रमपि नावशिष्यते। तत्कर्मणामेका विलक्षणावस्था जायते।

अस्मितयैव अन्तःकरणेषु संस्काराः संगृह्यन्ते। अर्थाद् अस्मितयैव हेतुभूतया जीवाः शरीराद्यन्तःकरणान्तानि आत्मवन्मन्यन्ते। अतस्तदनुष्ठितकर्मसंस्काराः तदीयचित्तेषु तिष्ठन्ति। एतदेव त्रिविधसृष्टिकारणम्। परन्तु समाधिस्थजीवन्मुक्तमहात्मसु नैतादृशं सम्भवति। अस्मितानाशेन तदीयमन्तःकरणं सर्गक्रियानुपयोगित्वं प्रपद्यते। वासनाविनाशान्न तत्र संस्काराः संगृह्यन्ते। सर्वमनुतिष्ठतामपि समाधिस्थमहात्मनां कर्माणि दग्धबीजवत् नाङ्कुरोत्पत्तिसामर्थ्यं भजन्ति। अर्थात् तैरपि कर्माण्यनुष्ठीयन्ते। परन्तु संस्कारावद्धतया तदीयनिर्बीजकर्माणि तान् योगिनो नाश्रयन्ति। सबीजकर्माणि यथा जीवाननुसरन्ति, न तथा निर्बीजकर्माणि तान् योगिन इति भावः। श्रीभगवताऽपि गीतायामुक्तम्—

"कर्मण्यकर्म यः पश्चेदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥" इति।

अन्यदपि प्रतिपादितं तेनैव तत्र—

"योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥"
"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥" इति च।

अत एव सूत्रेऽत्र तदीयं कर्म अशुक्लमित्युक्तम्। तदीयशुद्धबुद्ध्या तामसिककर्मणो लेशमात्रमपि नोत्पद्यत इति हेतोस्तत्कर्म अकृष्णमप्युच्यते।

भगवद्विभूतिधारणेन महात्मानोऽपि भगवत्स्वरूपतां भजन्ते। समस्तान्यपि ब्रह्माण्डानि भगवत्येव तिष्ठन्ति। ब्रह्माण्डानां निर्माता परमेश्वर एव। किन्तु ब्रह्माण्डानि तत्कर्माणि च तं नाश्रयन्ति। तथैव अस्मिताशून्यं निष्कामं जितेन्द्रियं जीवन्मुक्तं योगिगणं तत्कृतकर्माणि नाश्रयन्ति। अतो योगिनां कर्मानुष्ठानं किमपि वैलक्षण्यमावहति। तेषां शारीरिकाध्यात्मिककर्माणि, नानाविभूतिसम्बद्धानि, तत्तदैशसिद्धिप्रकाशकानि सर्व-

विधान्यपि कर्माणि वैलक्षण्येन सर्वाण्यपि तानि तदिच्छानिच्छारूप-भगवदिच्छया क्रियमाणानि संसारकल्याणसाधकानि भवन्ति, परन्तु नैव तान् लेशमात्रमपि स्पृशन्ति।

ईशकोटिमहात्मनां विषये भगवदुक्तिर्यथा—

"त ईशप्रतिमाः सन्तो भगवत्कार्यरूपतः।
संरक्ता विश्वकल्याणे सन्तिष्ठन्ते महीतले॥
विश्वमेवंविधैरेव ह्येकमात्रं स्वधाभुजः।
भवत्युपकृतं धन्यं जीवन्मुक्तैर्महात्मभिः॥
सन्ति भागवता एवं भगवद्रूपिणो ध्रुवम्।
तेषां सततयुक्तानां मयैव पितृपुङ्गवाः॥
चित्ते सर्वज्ञतावीजं भवत्यारोपितं खलु।
मत्कार्यतत्परांस्तांश्च सर्वथा मत्परायणान्॥
देशकालौ न बाधेते कथञ्चित्किल कर्हि चित्।
जीवन्मुक्ता महात्मान ईशकोटिं समाश्रिताः॥
यत् किञ्चनेह संसारे कार्यं कुर्वन्ति सन्ततम्।
कार्यं ममैव तत्सर्वं कुर्वते पितृपुङ्गवाः।'
यतोऽन्तःकरणं तेषां जैवाहङ्कारवर्जितम्।
पूर्यते समदर्शित्वनिरासक्त्यादिभिस्तदा॥
भगवत्कार्यबुद्ध्यैव निरीक्ष्यन्ते निरन्तरम्।
सर्वस्मिन् समये ते च परार्थे केवलं रताः॥" इति॥७॥

त्रिविधकर्मणां फलं निर्दिशति—

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्॥ ८॥

ततः=तदनन्तरं तेषां त्रिविधकर्मणां विपाकानुगुणानां वासनानाम् अभिव्यक्तिः प्राकट्यं जायते। योगिकर्मवैलक्षण्यमुदीर्य सम्प्रति महर्षिः सूत्रकारः सविस्तरं कर्मणां विवरणं निर्वक्ति। सहजम्, जैवम्, ऐशमिति त्रिविधं कर्म। उद्भिज्जादिस्वाभाविकसृष्टिप्रदं सहजं कर्म; ऐशशक्ति-

सम्बन्धनिबन्धनम् ऐशम्; मनुष्यादिसम्बन्धयुक्तं च जैवमुच्यते। सञ्चित-क्रियमाण-प्रारब्धभेदेन जैवं कर्म त्रिप्रकारकम्। एतत्त्रितयमपि कृष्ण-शुक्ल-मिश्रभेदात् त्रिधा विभक्तम्। एषु यस्य प्रावल्यं तदेव क्रियाशीलतां भजते। अर्थात् शुक्लकर्मणः प्रावल्ये कृष्णं मिश्रितं च तिरोहिते तिष्ठतः, शुक्लस्यैव च कर्मणः फलं प्राकट्यमेति।

पूर्वं किल दृष्टादृष्टभेदेन द्विविधकर्मगतिवर्णनं सविस्तरं प्रपञ्चितम्। कर्मबीजं संस्कार इत्युच्यते। यथा बीजाद् वृक्षस्तस्माच्च बीजमुत्पद्यते, ततश्च सृष्टिधारा प्रवहति, तथैव कर्मणः संस्कारः, संस्काराच्च कर्म समुत्पद्यते। संस्काररूपबीजाद् अङ्कुरादिसमुत्पत्तिक्रम एव 'विपाक'शब्देन अभिधीयते। तस्य विपाकस्य क्रमोऽप्येवंविधः— पूर्वं वासना समुत्पद्यते, ततः प्रवृत्तिः। वासनाया अप्रावल्ये प्रवृत्तिर्नाग्रेसरति। वासनायाः प्रावल्यादेव प्रवृत्तेरग्रेसरत्वं सिद्ध्यति। स्मृतिरपि संस्कारादेव जायते। प्रवृत्तेरग्रेसरत्वे कर्मविपाकः फलं प्रसूते। अदृष्टाद् दृष्टोत्पत्तौ सर्वमिदं वोभूयते। एवं किल सत्त्वरजस्तमोविशिष्टानि शुक्ल-कृष्ण-मिश्रितकर्माणि नूतनवासनाः नवीनकर्माणि च समुत्पाद्य अग्रेसरतां प्रपद्यन्ते। एतदेव वासनारूप-कर्मणाम् आनन्त्यमवधेयम्। एतद्भ्रान्तितो जीवनिःसृतिः दुःसाध्या। तद्भ्रान्तेर्निःसरणमेव मोक्ष इति॥ ८॥

शक्तिभेदमनुसृत्य संस्कारोदयस्य क्रमो निर्दिश्यते —

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयो-रेकरूपत्वात्॥ ९॥

याः किल कर्मवासनाः जन्मदेशकालव्यवहिताः सन्ति, तासामपि क्रमपूर्वकः समुदयो जायते, यतः स्मृतिसंस्कारा एकरूपा एव सन्ति। प्रागेवोक्तमिदं यत् तीव्रतया मन्दतया च यथा कर्मणो दृष्टादृष्टत्वं जायते, तथैव शक्तिभेदमनुसृत्य सर्वाणि चापि कर्माणि स्मृतिसंस्कारदशामधि-गच्छन्ति। जीवेन यत् कर्म, अनुष्ठीयते, तस्य स्मृतिः संस्कारश्च तस्य चेतसि

प्रतिफलति। यद्यपि दर्शनेऽत्र चित्तशब्देन अन्तःकरणं गृह्यते, तथापि चित्तमन्तःकरणस्यैको विभागो यत्र संस्कारबीजं सञ्चितं तिष्ठति।

सञ्चितस्य संस्काररूपबीजस्य स्मृतिस्वरूपं दृश्यं तिष्ठति, तच्च कदाचिद् उदेति, कदा चिच्च नोदेति; यथा बहोः कालस्य वृत्तान्तं जीवो विस्मरति, किं वा जन्मान्तरकर्माणि न संस्मरति। परन्तु तत्संस्काराणां स्थायिता अवश्यम्भाविनी। एष एव स्मृतिसंस्कारयोर्भेदः।

केवलं कर्मणां शक्तिभेदमात्रेणैव दशाभेदोऽयमवगन्तव्यः। अतो महर्षिणा सूत्रकृता एतन्निर्णीयते यद् यदि चापि जन्म-देश-कालभेदेन कर्मणां पार्थक्यं बोभवीति, किन्तु स्मृतिसंस्कारदृष्ट्या एकत्वेन तानि सर्वाणि कर्माणि स्वीयक्रमानुसारेण उदयमेष्यत्येव। उदाहरणेनैतदवधेयं यद् यद्येको जीवो गुणभेदात् शुक्लं देवशरीरोपयोगि, मिश्रितं मानवयान्युपयोगि, कृष्णं च पश्वादिशरीरोपयोगि कर्म सङ्गृह्णन् कर्माशयं पूरयति; यथा चोष्मताप्रभावेण आकाशस्थितपवनस्य तरलांश उपरि, गम्भीरांशश्च नीचैरापतति, तथैव कर्मणां शक्तितारतम्येन किमपि कर्म प्रबलं किमपि च दुर्बलं बोभूयमानं तेषु कर्मसु जन्म-देश-कालानाम् अन्तरमासाद्यते। तत्र च तीव्रो मन्दो वा संस्कारस्तु संस्कार एव। तत्समूहः स्वीये काले यथाक्रममुदयं प्राप्नोत्येव।

एकस्य जीवस्य देवयोनियोग्यं मानवशरीरोचितं वा कर्म अनेकविधं समुपस्थितमस्ति। परमेकस्मात् शरीरात् शरीरान्तरग्रहणकाले तीव्रसंस्काराः शुक्लकृष्णमिश्रितकर्मणां प्राबल्यमनुसृत्य देवत्वं पशुत्वं मानवत्वं च प्रापयन्तो जन्मदेशकालभेदान् प्राप्नुवन्ति। शुक्लकृष्णमिश्रितसंस्काराणां ये च दुर्बलाः संस्कारास्ते स्वस्वक्रमस्योदये नैजं फलं प्रकाशयिष्यन्त्येव। एवं हि संस्कारात् स्मृतेः, ततश्च संस्कारस्य, स्मृतितरङ्गानन्तरं संस्कारतरङ्गस्य, संस्कारतरङ्गानन्तरं स्मृतितरङ्गस्य च आविर्भावो बोभूयमानो जीवम् अनाद्यनन्तकर्मसमुद्रे प्रवाहयति। एष एवानन्तसृष्टेः अनन्तविस्तारः॥ ९॥

क्रमविन्याससिद्धये वासनास्वरूपमुच्यते—

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्॥ १०॥

वासनानामनादित्वम्, स्वकल्याणेच्छाया नित्यत्वात्। पूर्वमेवेदं सिद्धान्तितं यद् यथा तरङ्गाणामाघात-प्रतिघातैः अनन्ततरङ्गा आविर्भवन्ति, ते च जलाशयमाच्छादयन्ति, पुनश्च घातप्रतिघातैः क्रमागतास्तरङ्गाः प्रादुर्भवन्तो वोभूयन्ते, तथैव वासनोत्पत्त्या दृष्टादृष्टकर्मघात-प्रतिघाततो जीवाः कर्मस्रोतसि प्रवहन्तस्तिष्ठन्ति।

ननु पूर्वापरसम्बन्धस्य अवश्यम्भावित्वात् सर्वप्रथमसमुत्पन्नवासनायाः कारणभूता काऽन्या वासनेति? प्रश्नस्यास्य समाधानायैव सूत्रकारो महर्षिर्निर्वक्ति यत् प्रत्येकजीवस्य स्वकीयकल्याणेच्छारूपवासनायाः स्वाभाविकत्वाद् वासना अनादिरेव सिद्ध्यति। 'अहं चिरजीवी भूयासम्, मम शुभं भूयात्' एतादृगात्माशीर्वादात्मिका वासना आपिपीलिकाया मानवपर्यन्तम्, मुमूर्षुर्वृद्धादारभ्य सद्यःप्रसूतबालकं यावत् सर्वत्रैव परिदृश्यते। एतादृश्याः स्वाभाविक्यः सर्वव्यापिकाया वासनायाः किमादिकारणमिति विचार्यमाणे इदमेव निश्चेतुं शक्यते यद् आत्माशीर्वादात्मिका वासनाऽनादिरेव। इत्थं वासनाया अनादित्वावगमात् पूर्वोक्तः प्रश्नो नोदेतुं शक्ष्यति।

केचित् सुधिय एवं सन्दिहन्ते यत् सृष्टेः किमादिकारणम्? अर्थादीश्वरः कथं सृष्टिमकार्षीत्? इत्यादि। किन्तु वासनाया अनादित्वाद् एतादृशः सन्देहो निरर्थक एव। यथा घटस्थदीपकज्योतिः घटाकाशमेव प्रकाशयति, तच्च बहिर्निःसारितं सत् बाह्यवस्तूनि चापि प्रकाशयति, तद्वद् अन्तःकरणमपि सङ्कोच-विकासभावं समासादयति। योगिनामिदमेव मतं यदन्तःकरणस्य व्यापकत्वात् तद्वासनाऽपि व्यापिका। केवलं गतेः प्रभावादियं विकासं सङ्कोचं च प्राप्नोति। प्रकृतिरिव वासनाऽप्यनादिः। वासनयैव संसारसत्ता। अतः प्रकृतिवासनयोरनादिता सिद्धा॥ १०॥

अनादित्वाद् वासनाया अभावो न भवितुं शक्नोति इति शङ्कां समाधत्ते—

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः॥ ११॥

हेतुः, फलम्, आश्रयः, आलम्बनं च एभिर्वासना संगृह्यते। एतेषामभावे तस्या अपि अभावः सम्पद्यते। पूर्वसूत्रेण वासनाया अनादित्वं संसिद्ध्यति। एवञ्च तस्या अनादित्वात् तन्नाशः कथं सम्भवतीति शङ्कां निराकर्तुं महर्षिः सूत्रकारो व्याख्याति यत् मूलकारणतोऽनादित्वं वासनायाः, परमसौ हेतुफलाश्रयावलम्बनसंग्रहीता पुरस्तात् प्रवर्धते। अतस्तेषां नाशेन तस्या अपि विनाशः सुतरां सम्भव इति।

यथा स्थूलशरीरे चैतन्यस्य अजरामरत्वं सिद्धम्; किन्तु तेन सम्बद्धस्य शरीरस्य अन्नसम्बन्धाद् अन्नाभावे शरीरं नश्यति। तथैव अनादिरपि वासना हेतुफलाश्रयावलम्बनैः परिपुष्टाऽपि तेषामभावेन नाशं प्राप्नोति। वासनाया हेतुरनुभवः, तस्य कारणं रागादिकम्, तस्यापि मूलकारणमविद्या। एवं किल वासनाफलं शरीरादिकमवगम्यते। स्मृतिः संस्कारश्च वासनामाश्रयतः। बुद्धिरेव अवलम्बनभूता। एवं किल अनाद्यनन्तवासना हेतुफलाश्रयावलम्बनद्वारा जीवति। परन्तु यदा समाधिना वासनापोषकगणस्य विनाशो जायते, तदा तद्विरहेण साऽपि विनाशं प्राप्नोति। इत्थं वासनानाशेन कैवल्याधिगमो जायते।

अविद्येव वासनापि अनादिः सान्ता च। ज्ञानविहीनजीवस्य अनादिवासना सदैव जीवति। सूर्यस्योदयेन अन्धकार इव आत्मज्ञानोदयेन वासना नाशमेति। तन्नाशान्मनस्तत्त्वं विनश्यति, तदभावात् चित्तवृत्तीनां विनाशः। वृत्तिविरहितचित्ते स्वरूपोदयः स्वभावसिद्धः। एतदेव मुक्तिपदमुच्यते॥ ११॥

सद्रूपेण विद्यमानाया वासनाया कथङ्कारं विनाश इति शङ्कां निराकर्तुमाह—

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्॥ १२॥

वासना तत्फलं च कार्य-कारणभावतस्तिष्ठतः, परस्परं विभिद्येते चेति कथं ते ऐक्यं भजतः? अर्थादन्तःकरणं यदा प्रतिपलं वासनोत्पत्त्या तद्वासनाविलयेन च विनश्यति तदा तस्यैकत्वसंस्थानं कथं सम्भवम्?

किं वा भूतभविष्यद्वासनायां कार्यकारणभावः सदा तिष्ठति चेत्तर्हि समूलवासनानाशेन विमुक्तिः कथं सम्भवेति शङ्कासमाहितये महर्षिः सूत्रकारो ब्रूते—

भूतो भविष्यन् वर्तमानश्च कालो गुणभेदाद् विभिन्नरूपः। परन्तु वस्तुतस्त्वसौ एक एव। यस्मिन्नन्तःकरणे स प्राकट्यं गच्छति, तदप्येकमेव। मोक्षपर्यन्तं च तस्यैकत्वं न प्रणश्यति। गुणभेदनाशेन भविष्यन् वर्तमानश्च कालो यदा भूतकाले परिणमति, तदैव मुक्तेरुदयः। यतस्तत्त्वज्ञानं द्वारीकृत्य वासनायाः प्रणाशाद् यदा वर्तमाने भविष्यति च योगिनोऽन्तःकरणे काऽपि समीहा नोत्पद्यते, तदा तत्त्वतो वर्तमानो भविष्यन् च कालो भूतकाले एव विलीयेत इत्यवधारयितुं शक्यते।

कालः किल आकाशवत् निर्लिप्तः पदार्थः। यथाऽन्यतत्त्वसम्बन्धाद् रङ्गविरहितोऽप्याकाशो नीलवर्ण इव परिदृश्यते, तथैव धर्मद्वारा त्रिविधः कालो विभिन्नः प्रतीयते, तत्त्वतस्त्वसौ एक एव। तत्समयधर्माभावात् तस्य त्रैविध्यं विनश्यति, स चैक एव तिष्ठति। व्यतीतः कालो भूतशब्देनोच्यते, यतस्तदनुभवो जातोऽस्ति। स्वीयां क्रियां कुर्वन् कालो वर्तमान इत्युच्यते। भविष्यत्काल एव अनागतशब्दप्रतिपाद्यः। त्रिविधोऽप्ययं वस्तुज्ञानविषये प्रथमं ज्ञेयः, अर्थात् कालज्ञानमन्तरेण कस्यापि वस्तुनो ज्ञानं न सम्भवति। परन्तु विचारेणैतद् अनुभूयते यद् गुणवान् कमप्यपूर्वं गुणं नोत्पादयति। अनेके गुणा एकस्मिन्नेव गुणे प्रकाशमायान्ति। तद्वद् भूतकालगुणो वर्तमानकाले वर्तमानकालगुणश्च भविष्यत्काले प्रकाशितो जायते।

सिद्धान्तेनैतेन एतन्निर्णीयते यत् प्रत्येककालः प्रत्येककाले तिष्ठति। अन्तःकरणं कालभेदेन गुणभेदं तदैवानुभवति, यदा कारणेन कार्यमुत्पद्यते। अवस्थाभेदोऽयमतात्त्विकः। भविष्यत्कालः किल केवलं भूतकालस्य परिणामोऽवधार्यः। यदि समाधिसाधनेन एतादृक् परिणामोद्भवो न स्यात्, अर्थात् वर्तमान-भविष्यत्कालौ भूतकाल एव विलीयेयाताम्, तदानीं यथा दग्धबीजं नाङ्कुराय प्रकल्पते, तथैव वासना चैका

वासनोत्पादनशक्तितत्त्वज्ञानद्वारा गतवासनायामेव विलयं गमिष्यति। परिणामक्रमादिदं सिद्ध्यति यन्मोक्षपर्यन्तं धर्मी धर्मस्य नानास्वरूपमधिगतोऽपि स्वस्यैकतां न जहाति। अर्थात् नानावृत्तीः धारयद् अन्तःकरणं कार्यकारणभावतो मोक्षदशाप्राप्तिपर्यन्तमेकमेव तिष्ठति। एतदपि सिद्धं यददो गुणविकारविरहितं भवत् कालविकारेणापि विरहितं भवति। इयमेव मनोनाशावस्था। फलतो यदा भूतकाल एव वर्तमानभविष्यत्कालजनकः, तदा चित्तविमुक्तिदशायां भूतकालतो वासनापरिणामानुत्पत्त्या स्वयमेव वासना पूर्णविलयं प्रपत्स्यते। अवस्थायामस्याम् अन्तःकरणं पूर्णरूपेण मुक्तं जायते। एतया दशया कैवल्यमधिगम्यते॥ १२॥

सम्प्रति पूर्वोक्तं धर्मस्वरूपमाह—

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः॥ १३॥

ते व्यक्ताः सूक्ष्माश्चिगुणात्मकाश्च भवन्ति। सूत्रेणैतेन महर्षिणा सूत्रकृता धर्मस्य धर्मिणश्च विस्तृतं स्वरूपमुपवर्ण्यते। यस्य सत्तायाः अभावेन पदार्थसत्ता प्रणश्यति, स धर्मः। एवं किल जडमारभ्य चेतनपर्यन्तं परमाणुमारभ्य ब्रह्माण्डपर्यन्तं च सर्वत्रैव धर्मसत्ता समुपलभ्यते। सर्वत्रैव धर्मस्यैव सत्तया धर्मिणः सत्ता समनुभूयते। धर्माधर्मस्वरूपमेतेन विज्ञानेन निर्णीतमास्ते। अर्थात् यस्य वस्तुनः सत्तां स्थायिनीमनुष्ठातुं या शक्तिः कार्यकारिणी जायते, सैव धर्मः। वस्तुनः सत्तानाशकारिणी शक्तिरेव अधर्मः। धर्मिणो धर्मो यदा बीजरूपेण तिष्ठति, तदाऽसौ सूक्ष्मः प्रोच्यते। यदा च वृक्षरूपेण विस्तृतिमधिगच्छति, तदा व्यक्तोऽभिधीयते।

धर्मे विद्यमानस्य मार्गत्रयस्य विस्तृता विवृतिरुक्ता पूर्वस्मिन् सूत्रे। पूर्वोक्तां रीतिमनुसृत्य प्रत्यक्षाप्रत्यक्षभावात् तौ सत्त्वरजस्तमोभिर्गुणैः साकं तत्परिणामं तत्स्वभावं च प्राप्नुतः। यतः सत्त्वरजस्तमोगुणैरेव धर्मिणि धर्मो व्यक्ताव्यक्तरूपेण दृष्टिगोचरतामापद्यते। यो यदनुगामी, स तत्परिणामं प्राप्नोति। यथा—मृदा घटसम्बन्धः, यतो हि घटः किल मृदः परिणामभूतः। एवं प्रकारेण सत्त्वरजस्तमोरूपेण गुणपरिणामेन धर्मस्वरूपं

समुदेति। अलं प्रपञ्चबाहुल्येन। निष्कर्षोऽयं यद् धर्मस्वरूपं व्यक्तसूक्ष्म-श्रेणीद्वयं स्वीकुर्वत् त्रिगुणात्मकतां भजते ॥ १३ ॥

त्रिगुणपरिणामजन्यत्वेऽपि वस्तुनः कथमेकत्वमिति शङ्कां समाधत्ते—

परिणामैकत्वाद् वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

परिणामैक्याद् वस्तुतत्त्वं विज्ञायते। परां सिद्धिमधिगतस्य योगि-राजस्य बुद्धिं विशुद्धसत्त्वाभिमुखं नीत्वा एकतत्त्वसाहाय्येन निर्विकल्प-समाधिमधिगन्तुं गुणत्रयेण धर्मस्यैकत्वं प्रापयितुं ततश्च धर्मेण धर्मिणः स्वरूपे तेन च पुरुषस्वरूपे प्रापयितुं पादस्यैतस्य पुरुषार्थोऽवगन्तव्यः।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणत्रयमेव सर्वत्र सर्वकार्येषु कारणस्वरूपमिति पूर्वसूत्रे निर्णीतम्। इदानीं महर्षिः सूत्रकारः सूत्रेणैतेन इदं निर्वक्ति यद् यद्यपि गुणास्त्रयः सन्ति, तथापि ते परिणामरूपेण एकमेव अङ्गादिभावं धारयन्ति। अर्थात् कदा चित् सत्त्वगुणोऽङ्गी, रजस्तमसी चाङ्गभूते; कदापि रजोऽङ्गभूतम्, सत्त्वतमसी चाङ्गरूपे; कदा चिच्च तमोगुणोऽङ्गी, रजःसत्त्वे चाङ्गरूपतां धत्तः। एवमेव सर्वेषां परिणामैकत्वमवसीयते। निष्कर्षोऽयं यद् एको गुणः स्वतन्त्ररूपेण नैव कार्यकारित्वं भजति। त्रयश्चापि गुणाः परस्परं मिश्रिताः सन्ति।

इयानेव भेदो यत् त्रिषु प्रधानगुणोऽङ्गी भवति, अवशिष्टौ द्वौ अङ्ग-रूपेण तिरोहितौ तिष्ठतः। उदाहरणरूपेण विचारणीयमिदं यद् यद्यपि पृथ्वीतत्त्वे अन्यान्यपि चत्वारि तत्त्वानि मिश्रितानि सन्ति, किन्तु प्राधान्यं पृथ्वीतत्त्वस्यैव। पुनरवधेयं यद् यथा महत्तत्त्वे सत्त्वस्यैव प्राधान्यम्, रजस्तमसी तिरोदधतः। ततश्च महत्तत्त्वाद् अहङ्कारोत्पत्तौ सृष्टिविस्तार-दशायां रजस्तमसी क्रमशः प्रधानतां प्राप्नुतः, तदानीं सत्त्वं तिरोधत्ते। एवं हि त्रयो गुणाः मिश्रिताः सन्तिष्ठन्ते। स्व-स्व-प्राधान्यात् स्वतन्त्रभावं दधतः स्वाधीनां संज्ञां बिभ्रति च।

एतेन एतदवसितं यत् त्रयाणामपि गुणानामेकतैव। त्रयाणां त्रिविध-परिवर्तनं परस्परसहायकभावेन एकत्वं साधयति। यतस्तेषां परिणामे

एकत्वं सिद्ध्यति। यावद् गुणानां विभिन्नसत्तायां बुद्धिर्ग्रस्ता तिष्ठति, न तावत् सा एकतत्त्वोदये साहाय्यमनुतिष्ठति। वस्तुनो यथार्थस्वरूपमनुभूयते, अतो गुणपरिणामस्य एकत्वेनैव वस्तुनः याथातथ्यतत्त्वमभिज्ञायते॥ १४॥

सूक्ष्मराज्ये प्रवेष्टुं वस्तुज्ञानपार्थक्यं निर्दिश्यते—

वस्तुसाम्येऽपि चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः॥ १५॥

वस्तूनामेकत्वेऽपि अन्तःकरणभेदेन तेषु भेदः प्रतीयते। यथा कामपि रूपलावण्यवतीं स्त्रियमालोक्य कश्चित् सुखमधिगच्छति, कोऽपि लोभेर्ष्यावशीभूतो दुःखमनुभवति, कश्चिच्च विचारयुक्तो वैराग्यस्वरूपिणीं निरपेक्षवृत्तिमाश्रयति। सुन्दरी युवती एकैव, किन्तु अन्तःकरणभेदेन भोगलोलुपः कामी तां सुखकारणं मन्यते। सपत्नीस्तां विलोक्य दुःखमधिगच्छति, संन्यासी च तां निरीक्ष्य विरक्तस्ततो मुखं निवर्तयति। एवमेव प्रत्येकवस्तुनि अन्तःकरणभेदात् नानात्वं प्रतीयते। अतो वस्तुन्येकस्मिन् बहुविधभानं सृष्टिवैलक्षण्यम्। कार्यभेदेऽस्वीकृते जगद्वैलक्षण्यं न सम्भवम्। अन्तःकरणभेदास्वीकृतौ जगतो हेतुराहित्यं भवेत्।

इत्थं विवेकतः स्वतः सिद्ध्यति यत् यथा सत्त्वरजस्तमोभिः विषयास्त्रिगुणात्मकाः, तथैव अन्तःकरणमपि। तत्र पदार्थज्ञानमुत्पद्यते। तस्य च ज्ञानस्य धर्मादयः सहकारिणः कारणभूताः। अर्थात् तस्य धर्मस्य प्रादुर्भावतिरोभावाभ्याम् अन्तःकरणमपि तद्धर्मरूपेण भासते। एवं हि वस्त्वेकत्वेऽपि चित्तभेदात् तन्मार्गे विभेदः समुत्पद्यते। प्रकृतिरेका, पुरुषोऽपि तथैव। परन्तु त्रिगुणमयप्रकृतिसङ्गतः पुरुषः प्रकृतिभावं दधद् अन्तःकरणविशिष्टं धर्मित्वं प्रपद्यते। प्रकृतेस्त्रिगुणमयत्वेन प्रत्येकमन्तःकरणं विषयाश्च सर्वमेव त्रिगुणमयम्। अतः पूर्वोक्तप्रमाणेन यत्र वस्तूनामेकत्वं तत्रान्तःकरणभेदाद् वस्तुज्ञानयोः मार्गोऽपि विभिन्नोऽनुभूयते। पूर्वसूत्रेषु सूत्रकृता महर्षिणा धर्मसम्बन्धेन एकत्वं प्रतिष्ठापितम्, ततश्च त्रिगुणैक्यमुद्भाव्य एकत्वं प्रतिष्ठापितम्। इदानीं वस्तूनामैक्यं संसाध्य अन्तःकरणविशिष्टधर्मि-

ज्ञानेन साकं वस्तुतः पार्थक्यं विज्ञाप्यते। एवं किल तेन अन्तर्जगति विशेषरूपतः एकत्वप्रतिष्ठा क्रियते ॥ १५ ॥

एकत्वं किल विशिष्य सूक्ष्मराज्ये प्रापयितुमाह—

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ॥ १६ ॥

वृत्तिस्वरूपदशायाम् अन्तःकरणे चिदाभासपूर्णो धर्मी नानात्वं भजते। एतद्धि नानात्वभावपूर्णमन्तःकरणं जलाशये एकस्य तरङ्गस्यानन्तरम् अपरतरङ्गस्य उत्थानमिव आन्दोलितं चञ्चलं च तिष्ठति। अत एव निर्लिप्तस्य निर्विकारस्य पुरुषस्य स्वरूपमप्रकाशितं निभाल्यते। क्रमशश्च एकत्वसाहाय्येन योगिराजस्तस्य नानात्वस्य विस्तृतिं योगसाधनं द्वारीकृत्य प्रथमतो यथाक्रमं सङ्कोचयति। ततश्च समाधिभूमिमासाद्य एकतत्त्वमन्तःकरणस्य सूक्ष्मापि सूक्ष्मतरे राज्ये प्रापयन् अन्ते तस्य सर्वाङ्गीणां पूर्णां प्रतिष्ठां विधाय यदा तत् निर्मलीकुरुते, तदा आत्मस्वरूपेऽवतिष्ठते। निर्विकल्पसमाधिपूर्णतासम्पादनार्थं महर्षिः सूत्रकारोऽधिकाधिकं सूक्ष्मराज्ये ज्ञाने चैकतत्त्वप्रतिष्ठां विधत्ते।

पूर्वोक्तं विज्ञानमधिकं सुस्पष्टयति—बाह्यविषया एकस्यैवान्तःकरणस्य विषयीभूताः सन्तीत्यपि वक्तुं न शक्यते। एकदा एकमन्तःकरणं यदा तमेव विषयं पश्यति तदैतदपि सम्भवति, यद् द्वितीयमन्तःकरणमपि तद्वस्तु तेनैव प्रकारेण पश्येत्। यदा एकमन्तःकरणं तद्वस्तु न समनुभवति, तदैतदपि सम्भवं यत्तदनन्तरं द्वितीयमन्तकरणं पुनस्तदनुभवितुं शक्नुयात्। एतदपि नासम्भवं यत् तत्पदार्थं प्रागनुभवदपि अन्तःकरणं परस्तात् नानुभवेत्, अनन्तरं च पुनरनुभवेत्।

एतावता इदमेव सिद्ध्यति यद् विषया एकस्यैव अन्तःकरणस्य परिणामभूता न सन्ति, न चाप्येतद् वक्तुं शक्यते यत् ते अन्तःकरणतः स्वतन्त्रपदार्था न सन्तीति। अर्थात् त्रिगुणात्मका विषया अपि स्वतन्त्राः-त्रिगुणात्मकं चान्तःकरणं स्वतन्त्रमेव। एतद्द्वितयसम्बन्धेन विलक्षणा बोधप्रतीतिरेव पुरुषस्य भोगो विज्ञेयः। एकतत्त्वस्य ज्ञाने प्रतिष्ठया, एतदेव

अनुभूयते यद् विषयास्त्रिगुणात्मकत्वाद् अनेके, त्रिगुणात्मकं च अन्तःकरणमपि अनेकम्। सुतराम्, अनेकत्वभानसम्बन्धो विषयान्तःकरणजन्यः आस्ते। पुरुषभोगसम्बन्धस्तु केवलेन ज्ञानेनैव। सुतरां पुरुषभोगजन्यं ज्ञानम् एकमेवेति यदा योगी समनुभवति, तदा ज्ञानेऽपि एकतत्त्वप्रतिष्ठां लभते॥ १६॥

नित्यज्ञानमयपुरुषस्य उपलब्धये अन्तःकरणसम्बन्धेन ज्ञानाज्ञानदशां निरूपयति—

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्॥ १७॥

ज्ञेयवस्तुनः प्रतिविम्बपातेन चित्ते ज्ञानाज्ञानाविर्भावः। ज्ञेयपदार्थापरनामानो विषयाः चुम्बकसमानाः, अन्तःकरणं च लौहवदवगन्तव्यम्। यथा चुम्बकेन लौहसम्बन्धे जाते लौहः समाकृष्टश्चुम्बकेन सम्मिलति, तथैव अन्तःकरणस्य विषयैः सम्बन्धे अन्तःकरणं विषयसमाकृष्टं विषयवत् प्रतीयते। यथा रक्तवस्त्रेण असति दर्पणसम्बन्धे दर्पणः स्वीयस्वच्छतास्वरूपं धत्ते, किन्तु रक्तवस्त्रसम्बद्धो दर्पणो वस्त्ररक्ततां गृह्णाति, तथैव अन्तःकरणविषयाणाम् अन्योन्यपार्थक्येऽपि अन्तःकरणं हेतुभूतया अविद्यया विषयान् पश्यदेव विषयस्वरूपं धारयति। यथा रक्तं वस्तु स्वीयं प्रतिविम्बं पातयित्वा दर्पणमपि रक्तं सम्पादयति, तथैव विषया अपि स्वच्छेऽन्तःकरणे प्रतिफलिता अन्तःकरणमपि स्वीयं स्वरूपं ग्राहयन्ति। यथा दर्पणसम्मुखे रक्तवस्तुस्थापनेन दर्पणोऽपि रक्ताभो भवति, यावच्च तदभिमुखतः पुनस्तद्वस्तु अपसार्य अन्यवर्णवस्तु न स्थाप्यते तावद् दर्पणो रक्ततां न विजहाति, न चापि वर्णान्तरं धारयति; तथैव अन्तःकरणे यो हि विषयः प्रतिफलितस्तमेव विषयमन्तःकरणं विजानाति; तदानीं च यः किल विषयो न प्रतिफलितो नैव तमवबुद्ध्यते; तथैव ज्ञेयरूपस्य वस्तुनः प्रतिविम्बसत्त्वासत्त्वाद् अन्तःकरणं तस्य वस्तुनो ज्ञानाज्ञानमधिगच्छति। पूर्वसूत्रेण अन्तःकरणस्य व्यापकत्वं विषयाणां चान्तःकरणभिन्नत्वं प्रतिपादितम्। व्यापकमन्तःकरणं

समस्तानपि विषयान् एकदैव ग्रहीतुं शक्नोतीति सन्देहः सूत्रेणैतेन निराकृतः, यतोऽन्तःकरणं स्वसम्बद्धविषयमेव ग्रहीतुं शक्नोतीति।

विज्ञानमिदं प्रकारान्तरेणाऽपि बोधयति—पुरुषप्रकाशेन प्रकाशिते अन्तःकरणयन्त्रे प्रतिफलितो विषय एव प्रतिभासितो भवति। पुनश्च तद्विम्बाङ्कितः संस्कारः किल 'कर्मसंस्कार'शब्देन उच्यते। अङ्कितस्य कर्मसंस्कारस्य अन्तःकरणेऽनुभूतिरेव 'स्मृति'रुच्यते। परमेतद् अवश्यमेवाभ्युपगन्तव्यं यत् सावधानमन्तःकरणमेव विषयसम्बद्धं सद् विषयमनुभवति, तदैव च स्मृतिसंस्काराणां समुदयः सम्भवति, नान्यथेति। अतो ज्ञेयवस्तुनि प्रतिबिम्बिते सत्येव अन्तःकरणे तज्ज्ञानं जायते। ज्ञाने एकतत्त्वप्रतिष्ठास्वरूपं पूर्वसूत्रे प्रदर्शितम्। अन्तःकरणतः पुरुषः स्वतन्त्रस्वरूपः। "यो बुद्धेः परतस्तु सः" इति श्रुतिवचसः चरितार्थतायै सूत्रेणैतेन एतत् प्रदर्शितं यद् ज्ञानाज्ञानदशा अन्तःकरणसम्बद्धा, पुरुषस्तु ततः परोऽवधेयः॥ १७॥

नित्यज्ञानस्थितिरुच्यते—

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्॥ १८॥

वृत्तीनां स्वामी पुरुषः परिणामहीनः, अतः सदैव चित्तवृत्तयो ज्ञातास्तिष्ठन्ति। पूर्वसूत्रेषु अन्तःकरणस्य विषयरूपप्रकृतेश्च विस्तारं सम्यङ् निरूप्य सूत्रेऽत्र महर्षिः सूत्रकारो ज्ञानसम्बन्धेन नित्यज्ञानमयस्य पुरुषस्य स्वरूपं वर्णयति। स एतदपि प्रदर्शयति यत् पुरुषः सर्वदैव एकरूपः परिणामहीनश्च। अतोऽन्तःकरणवृत्तयो यथावत् प्रतीयन्ते। यद्येतद्वैपरीत्यमालोच्येत यद् अन्तःकरणवदात्मनोऽपि परिणामित्वम्, अर्थात् यथा विषयसङ्गेन वृत्तिप्रभावेण चान्तःकरणं नानाभावं भजते, तथैव आत्मनश्चाञ्चल्ये निश्चितमेव तज्ज्ञानवृत्तिषु परिवर्तनं सम्पद्येत; तदा चित्तवृत्तयो यथावन्न विज्ञायेरन्। परन्तु दृश्यते यदन्तःकरणवृत्तयो यथावद् विज्ञायन्ते इति। एतेन प्रमाणितं भवति यत् पुरुषे न कोऽपि परिणामः सम्भवः। अन्तःकरणस्वामिनः पुरुषस्य परिणामराहित्येन अन्तःकरणवृत्तयो याथा-

तथ्येन विज्ञायन्ते। चैतन्यम् अपरिणामि, एकरसं च। तदीयैकरूपाधिष्ठानान्तरङ्गे निर्मलसत्त्वं सदा विराजते। यतो नित्यवस्तुनो गुणा अपि नित्या एव। अतः सत्त्वरूपप्रकाशस्य सदैकरूप्याद् यद्यद् भवति, तत्सर्वमेव यथावद् दृश्यते।

विज्ञानमिदं प्रकारान्तरेणापि अवबोधयति यद् यदाऽन्तःकरणं प्रकृतिमयत्वात् जडस्वरूपं तर्हि तत्र चेतनसत्तायाः सम्भावना नास्ति। पुरुषरूपचैतन्यस्य ज्ञानमेव स्वरूपम्। तदीयज्ञानरूपप्रकाशेन यदा अन्तःकरणं प्रकाशितं जायते, तदानीं तत् चैतन्यवत् प्रतीयते। वृत्तयोऽन्तःकरणतरङ्गरूपाः। ज्ञानं किल अच्छ्वलस्य सदैकरूपे वर्तमानस्य प्रकाशः। अतोऽन्तःकरणस्य चाञ्चल्येऽपि पुरुषस्य अचञ्चलत्वेन अन्तःकरणवृत्तितरङ्गा याथातथ्येन दृष्टिगोचरतामायान्ति। एतेन सिद्धमेतद् यत् परिणामिन एकरूपस्य पुरुषस्य प्रभावतः अन्तःकरणनानावृत्तयो ज्ञायन्ते॥ १८॥

स्वाभासस्य विषयाभासस्य च हेतुश्चित्तमेव, एवञ्च तद्भिन्नपुरुषाङ्गीकारः कथमावश्यक इति सन्देहं निराकुरुते—

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्॥ १९॥

चित्तं स्वप्रकाशं नास्ति, यतस्तद् दृश्यरूपम्। पूर्वसूत्रे सिद्धान्तितमिदं यत् पुरुषः सदैवापरिणामी भिन्नोऽन्तःकरणात्। सूत्रेणैतेन महर्षिः सूत्रकार इदं निर्वक्ति यदन्तःकरणं न स्वप्रकाशरूपम्। तच्च पुरुषप्रकाशितत्वाद् दृश्यं ज्ञेयमित्यर्थः।

अन्तःकरणस्य प्रधानमङ्गद्वयं मनो बुद्धिश्च सत्पथे गच्छतो न वेति कथनेन स्वतःसिद्धमिदं यत् विचारकर्ता मनोबुद्धिरूपान्तःकरणतो भिन्नपदार्थः। सुतरामन्तःकरणं पुरुषस्य दृश्यमिति निर्णीतम्। यथा इन्द्रियाणि तन्मात्राश्च अन्तःकरणेनैव ज्ञायन्ते, अतस्ताः न स्वप्रकाशाः, तथैवान्तःकरणमपि पुरुषेण विज्ञायते, अतस्तत् न स्वप्रकाशम्। यथा च जडोऽग्निः स्वस्वरूपं न प्रकाशयति, तथैवान्तःकरणमपि विज्ञेयम्। प्रकाश्य-प्रकाशकसंयोगेनैव तस्य प्रकाशः परिदृश्यते, स्वरूपमात्रेण प्रकाशकं न विलोक्यते। पुरुषान्तः-

करणयोः अयमेव प्रकाशकप्रकाश्यसम्बन्धः। तद्विपरीतविवृत्तिरग्रिमसूत्रे वक्ष्यते ॥ १९ ॥

अपि च—

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

एकस्मिन् क्षणे द्विविधज्ञानमसम्भवम्। एककाले अन्तःकरण-पदार्थयोः सह ज्ञानमसम्भवम्। एकस्मिन् समये विषयरूपस्य पदार्थस्य किं वा स्वमनसः परिबोधो भवितुमर्हति। यदि क्षणिकवादिन इदं ब्रूयुः यद् उत्पत्ति-क्रिययोरभेदात् अन्तःकरणं क्षणिकमिति, तदा तत्सन्देहनिराकृतये शक्यते व्याहर्तुमिदं यत् यद्येवमभविष्यत् तदा एकचित्तं केन चिद् द्वितीयचित्तेन, तच्च केनाप्यपरचित्तेन समग्रहिष्यत्। किं च यद्येकचित्तं परचित्तप्रकाशक-मङ्गीक्रियेत, तर्हि तदेककालावच्छेदेन स्वकीयं परकीयं च प्रकाशयितु-मर्हेत्। परमेतत्सूत्रोक्तयुक्त्या असम्भवमेतत्। अतः प्रश्नोऽयं व्यर्थः।

पूर्वोक्तसूत्रविचारं द्रढीकर्तुमन्यदपि विविच्यते यद् यदा पूर्वोक्तव्यापार-मुत्पद्य तत्फलज्ञानतो बहिर्मुखं भूत्वा चित्तं विस्तृतिमाप्नोति, तदानीमिदं विज्ञायते यद् बुद्धिज्ञानमेव सुखदुःखहेतुतां व्रजति। "अहमेतस्य सुखस्य दुःखस्य वा भोक्ताऽस्मि" इति ज्ञानजनकत्वं बुद्धेर्नास्ति। यतः सुखदुःखे परस्परमत्यन्तविरोधिस्वरूपे। एककालावच्छेदेन ते नानुभूयेते। परन्तु चित्तवृत्तिषु सुखदुःखपरीक्षणं समकालमपि नासम्भवम्। अतः चित्तापरनामकम् अन्तःकरणमेकस्मिन् काले विरुद्धधर्मावलम्बिनीनां वृत्तीनां परीक्षणं कर्तुं न पारयति तदैतत् कथं सम्भवम्? अतः प्रमाणितमिदं यत् तद्विचारदाता कश्चिदन्य एव। अर्थात् अन्तःकरणं स्वयं प्रकाश-शीलं नास्ति, तत्प्रकाशकर्ता कश्चिदपर एव, येनैते अवस्थाभेदा अनुभूयन्ते। स चान्तःकरणप्रकाशकः अन्तःकरणभिन्नश्चैतन्यवान् पुरुष एव सिद्ध्यति।

एतत्सूत्रोक्तेन विचारेण पूर्वं स्वपक्ष-परपक्षविवेकसिद्धान्तमनुष्ठाय पुनश्चान्यद् विविनक्ति यद् अन्तःकरणं विषयाननुभवति, पुरुषेण चान्तः-

करणमनुभूयते। 'कमलपुष्पमतिसुन्दरम्' इत्युक्ते कमलपुष्पम् अन्तःकरणेन अनुभूतमिति सिद्धम्। 'मदीयं चित्तं नाद्य समीचीनम्' इत्युक्ते अन्तःकरणानुभवभानं पुरुषस्यैव जातमिति सिद्ध्यति। परन्तु यदा एतदभ्युपगम्यते यद् द्विविधमपि भानमन्योऽन्यं विभिन्नम्, तदनुभवश्च नैकस्मिन् काले सम्पद्यते, तदाऽन्तःकरणतो भिन्नः पुरुषः स्फुटं सिद्ध्यति॥ २०॥

यद्यपि एतच्चित्तद्वारा स्वप्राकाश्यं न स्यात्, तथापि चित्तान्तरेण तद्ग्राह्यता सिद्धा भवितुमर्हति। एवञ्च पृथक्पुरुषस्वीकारस्य काऽऽवश्यकता? इति। शङ्काया अस्याः समाधानाय प्राह—

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च॥ २१॥

पूर्वोक्तविचारं सुस्पष्टयितुं महर्षिः सूत्रकारो ब्रूते—यदि अन्तःकरणस्य अनेकत्वाङ्गीकारः, एकस्य चान्यदीयदृश्यत्वस्वीकृतिः स्यात्, तर्हि बुद्धौ अतिप्रसङ्गदोषः, स्मृतिशक्तौ च सङ्करदोषः समापतेत्। अत एतन्न सम्भवम्। एकं चित्तं चित्तान्तरेण यदि गृहीतं भवेत्, तदानीं पूर्वापरसम्बन्धो दृढः स्यात्। अर्थात् एकं चित्तं द्वितीयस्य, द्वितीयं च तृतीयस्य, तृतीयं च चतुर्थस्य चित्तस्य ग्राहकं सम्भवेत्। यद्येकमन्तःकरणम् अन्तःकरणान्तरेण गृह्यते इति मन्येत चेत्तर्हि बुद्धिरपि अपरबुद्ध्या गृहीता भवेदिति बुद्धौ अतिप्रसङ्गदोषः प्रसज्येत। अतोऽन्तःकरणस्य संख्यातीतत्वमभ्युपगतं स्यात्। अन्तःकरणस्य संख्यायामज्ञातायां ज्ञेयस्य ज्ञातुश्चाभ्युपगमः कथं स्यात्। एवमभ्युपगमेन स्मृतिशक्तौ विरोधः समापतेत्। तेन च स्मृतेर्यथार्थस्वरूपोदयोऽसम्भवः स्यात्। यावत्यो बुद्धयस्तावन्तोऽनुभवा इति हेतोः स्मृतिशक्तिः स्वयमेव विनङ्क्ष्यति।

प्रकारान्तरेणापि एतद् विविच्यते—रूप-रसादिज्ञानोत्पत्तिकारिणी बुद्धिः यदा उदेष्यति, तदा बुद्धेरानन्त्यात् स्मृतेरप्यनन्तता प्रसज्येत। एकस्मिन् काले अनेकबुद्धयः अनन्तस्मृतयश्च समुत्पद्येरन्। तदा ज्ञानमिदमसम्भवं स्याद् यत् स्मृतिरियं रससम्बन्धिनी, रूपसम्बन्धिनी वा।

अनुभवेनैतेन एतादृशो विप्लवः सम्भाव्येत यद् आधुनिकः सत्त्वगुणावलम्बी योगी क्षणान्तर एव घोरतमोगुणाश्रितो नास्तिको भवितुमर्हति। अर्थात् बुद्धेः स्मृतेश्च विस्ताराधिक्यात् पूर्वापरशृङ्खलैव नङ्क्ष्यति। अत एकं चित्तं चित्तान्तरस्य दृश्यमिति स्वीकृतिः विज्ञानविरुद्धेति ॥ २१ ॥

तदा बुद्धेः संवेदनं कथं स्यादित्युच्यते—

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

पूर्वसूत्रेषु महर्षिणा सूत्रकृतैतत् सिद्धान्तितं यत् स्वयंप्रकाशस्वरूपा बुद्धिर्नास्ति, नानाबुद्धिकल्पनाऽपि असङ्गता। अतो विषयसंवेदनं कथमिति शङ्कां निराकर्तुं सूत्रमिदमाह।

अयं भावः—पुरुषस्तु चैतन्यरूपः, तदीयचैतन्यसत्तायां कदापि भेदो न सम्पत्स्यते। यथैको गुणः प्रधानस्य अपरगुणस्य अङ्गतां प्रपद्यते, तदानीं तेष्वङ्गेषु सङ्करभावोऽवश्यम्भावी, परन्तु न तथा पुरुषचैतन्यभावे भेदः। यथा प्रकृतिः चाञ्चल्यविकारविस्तारभावमधिगच्छति, न तथा चैतन्यरूपः पुरुषः। स च सदा चैतन्यवान् एकरूपश्च। अतस्तदीयचितिशक्तेः यदा बुद्धिः साम्मुख्यं भजते, अर्थात् अन्तःकरणे स्थिरे सति यदा बुद्धौ पुरुष-प्रकाशो यथावद् भासमानो भवति, तदैव तेन स्व-स्वरूपज्ञानमासाद्यते। एतेन प्रकारेणैव संवेदनमनुभूयते।

विज्ञानमिदं प्रकारान्तरेणापि अवबोधयति—भोक्तुः पुरुषस्य शक्तिः परिणामविरहा; किन्तु परिणामिषु चञ्चलेषु च विषयेषु पतिता पुरुषदृष्टि-श्चञ्चला प्रतीयते। अत एव तद्वृत्तिसंयोगाधिगमेन बुद्धिवृत्तेः मलयुक्तया ज्ञानवृत्तिर्भिन्ना प्रतीयते—"यो बुद्धेः परतस्तु सः।" अतो बुद्ध्या पुरुषस्य साक्षात्सम्बन्ध इति वेदादिनानाशास्त्रेषु सिद्धान्तितम्। श्रीमता व्यासदेवेन उदीरितं यत् कुत्रापि स्थानविशेषे ब्रह्म प्रतिष्ठितं नास्ति, येन जीवः समीहमान एव तद् द्रष्टुमर्हति। केवलं बुद्धिनिर्मलतयैव तदनुभवितुं शक्यते। समलायां बुद्धौ प्रकाशन्यूनतया नानाविकाराः प्रादुर्भवन्ति। परमन्तःकरणे स्थैर्यमापन्ने पुरुषस्याभ्यर्णं तदाकारतां प्राप्तायां बुद्धौ

स्वस्वरूपमवगम्यते। अर्थात् स्थिरतया निर्मलतया च बुद्धिर्यदा चैतन्यस्वरूपपुरुषस्य सामीप्यमासादयति, तदानीं तत्र परमात्मनो याथातथ्यज्ञानमनुभूयते।

अन्तःकरणं किल पुरुषभिन्नमिति पूर्वसूत्रे निर्णीतम्। सूत्रेऽत्र अन्तःकरणस्य ज्ञानशक्तिः सविस्तरमुपवर्णिता। पुरुषो हि चैतन्ययुक्तः अपरिवर्तनस्वभावश्च। स केवलमन्तकरणे प्रतिबिम्बितं सदन्तःकरणं प्रकाशशीलं विधत्ते। तदैव तत् पुनर्विषयसंयुक्तमसंख्यवृत्तीः परिदधत् परिदृश्यते। पुरुषप्रतिबिम्बप्रकाशिता अन्तःकरणस्थिता बुद्धिश्चैतन्ययुक्ता ज्ञानाज्ञानक्रियां विधत्ते। साधारण्येन पुरुषप्रतिबिम्बमनिवेद्य यदि चुम्बकवदाकर्षणशक्तिविशिष्टं प्रतिबिम्बं मानवोऽवधारयेत्, तदा विमर्शचिन्तनादिषु साहाय्यमासाद्येत। अर्थात् यथा यथा बुद्धिर्निर्मलत्वं भजते, तथा तथा पुरुषः स्वसमीपवर्तिनीं बुद्धिमनुतिष्ठन् तस्यां च स्वस्वरूपं प्रकाशयति ॥ २२ ॥

विज्ञानमिदं पुनरवधारयितुं चित्तस्य सर्वार्थकता प्रतिपाद्यते—

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

द्रष्टृदृश्ययोः सम्बद्धं चित्तं सर्वावभासकतां प्रपद्यते। यथा निर्मल एव स्फटिकमणिः दर्पणो वा प्रतिबिम्बग्रहणे समर्थो नान्यः, तथैव रजस्तमोभ्यां विरहितेन शुद्धसत्त्वगुणसंयुक्तेन अन्तःकरणेनैव बुद्धिर्निर्मला सती याथातथ्येन प्रतिबिम्बग्रहणं कर्तुं शक्नोति। एतेन एतदवधारणीयं यद् यदा रजस्तमसी शुद्धे सत्त्वगुणे विलयनमापद्येते, तदानीं निर्वातप्रदीपवद् अचला बुद्धिः सदैव एकरूपा भगवत्स्वरूपदर्शने सामर्थ्यं लभते। तस्या इयमवस्था मुक्तिपदप्रतिष्ठां यावद् विद्यमाना तिष्ठति।

अन्तःकरणस्य सा विपरीतदशा उच्यते, यदा तद् इन्द्रियद्वारा विषयैः सह सम्बद्धं सद् विषयवत्प्रतीयते। यथा स्फटिकमणिः रक्तवस्तुसाहचर्यं भजन् रक्तवत् प्रतीयते, तथैव अन्तःकरणमपि विषयग्रस्तं विषयवत् जडरूपं प्रतिभासते। यदा चान्तःकरणं विशुद्धं सद् भगवद्दर्शनमनुतिष्ठति,

तदानीं तदीया 'एकचेतनदशा' प्रोच्यते। इयमेकतत्त्वावस्था वर्णितपूर्वा। यदा चान्तःकरणं विषयग्रस्तं जडतां प्रपद्यते, तदैषा तदवस्था 'विगत-चेतना' प्रणिगद्यते।

अन्तःकरणमध्यवर्तिस्थानं तदवधेयम्, यस्य एकतः पुरुषोऽपरतश्च विषयास्तिष्ठन्ति। उभयसम्बद्धं तत् सृष्टिक्रियायां ग्रहीतृ-ग्राह्य-ग्रहणमूलकेषु सर्वविधविषयेषु प्रवर्तमानमास्ते। पितामहो ब्रह्मा यथा चत्वारि मुखानि धारयित्वा सृष्टिकार्यं विधत्ते, तथैव अन्तःकरणमपि मनो-बुद्धि-चित्ता-ऽहङ्काररूपाणि चतुरङ्गानि धारयत् सृष्टिकार्ये प्रवर्तते। परन्तु तदेव नीचै-रुपढौकमानं विषयग्रस्तमचेतनत्वं भजते। यदा च तद् योगसाधनरूपं पुरुषार्थं द्वारीकृत्य ऊर्ध्वमुखं सत् निम्नस्थमलेभ्यः समुपरतं जायते, तदानी-मेकतत्त्वसाहाय्येन चैतन्यसंयुक्तं परमात्मदर्शनसामर्थ्यं लभते॥ २३॥

यदि चित्तेनैव सकलोऽपि व्यवहारो निष्पद्यते, तर्हि स्वतन्त्रपुरुषाङ्गी-कारो व्यर्थ इति समाधत्ते—

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्॥ २४॥

असंख्यवासनाभिः चित्रितमपि चित्तं पुरुषभोगापवर्ग-नैमित्तिकमेव यतस्तत् परेण संहत्य कार्यमनुतिष्ठति। पूर्वसूत्रेणैतत् सिद्धान्तितं यद् अन्तःकरणस्यैव सर्वकारिता, तदा पुरुषस्वीकारे सन्दिहानस्य जिज्ञासोः सन्तोषाय विज्ञानमिदं सुस्पष्टयति महर्षिः सूत्रकारः सूत्रेणैतेनेति।

अयं भावः—संख्यातीतवासनासंवलितमपि अन्तःकरणं यद्यद् अनु-तिष्ठति, तत्सर्वमेव सेवकवत् प्रभुहितार्थं विदधाति। यदि पूर्वालोचनया निर्णीतमिदं यत् पुरुषभोगार्थमेव प्रकृतिः सर्वं विधत्ते, तर्हि निश्चितमिदं यत् सवासनमन्तःकरणं यत्किमप्यनुतिष्ठति, तत्सर्वमपि पुरुषकृत एव। यथार्थतस्तत्कार्येषु ईषदपि तदीया स्वार्थपरता नास्ति। पूर्वालोचित-विमर्शतः अनुभूतमिदं यद् धृतबहुरूपमन्तःकरणं नानाभोगान् उत्पादयदपि परसाहचर्येणैव तत्सर्वमनुतिष्ठति—पुरुषभोगसाधनार्थमेव विदधाति। केवलं पुरुषभोगसाधकमेव अन्तःकरणम्, तद्भिन्नं नान्यत् किमपि।

यथा शय्याऽऽसनादिपदार्था गृहमेधिभोग्याः, तथैव अन्तःकरणानुष्ठिताः पुरुषार्थाः पुरुषभोगसाधका एव। जडरूपमन्तःकरणं पुरुषचैतन्यसंवलितं सत् सर्वं विधत्ते। अतस्तदीयं सर्वमप्यनुष्ठानं स्वीयप्रभुस्वरूपस्य पुरुषस्य कृत एवावगन्तव्यम्।

सूत्रकारमहर्षिप्रयुक्तः 'चित्त'शब्दः अन्तःकरणार्थक एव। सांख्यदर्शने महर्षिणा कपिलेन यत्र यत्र यथा 'प्रकृति'शब्दः प्रयुक्तः तथैवात्र महर्षिणा सूत्रकृता योगदर्शने 'चित्त'शब्दस्य प्रयोगो विहितः। 'चित्ता'परनामकम् अन्तःकरणं वासनास्थानं पुरुषभोगोत्पादकं च। तच्च केवलं पुरुषस्वरूपचैतन्यप्रतिबिम्बधारकं यन्त्रमिवावधेयम्। सुतरां तत् पुरुषभोगार्थकमेव केवलं विद्यते।

एकतत्त्वसाहाय्येन बुद्धिपर्यन्तं कैवल्यसाधकयोगिनाम् आनयनानन्तरं प्रागनेकसूत्रैः बहुविधाः सन्देहा निराकृताः। स्वरूपज्ञानसंयुक्तः पुरुषो बुद्धेः पर इति वैदिको राद्धान्तः। अतो बुद्धिराज्यस्य परे पारे स्थितस्य पुरुषस्य स्वरूपावधारणपूर्वं यैर्यैः विचारविमर्शादिभिः मुमुक्षवो विचलतामापद्यन्ते, तत्समाधानं पूर्वोक्तसूत्रैरनुष्ठितम्। प्रागुक्तसूत्रेषु महर्षिणा सूत्रकारेण विविधवैज्ञानिकविचारनिर्णयम्, अन्तःकरणस्य पुरुषस्य च स्वरूपम्, उभयस्वातन्त्र्यं चेत्यादि सविशेषं वर्णयित्वा अग्रिमसूत्रेषु कैवल्यस्वरूपयोगस्य लक्ष्यं सविस्तरं वर्णयिष्यते।

शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावश्चैतन्यस्वरूपः पुरुषो अन्तःकरणतो भिन्नः। सः अन्तःकरणेन सह स्वसम्बन्धं संस्थाप्य तत्र प्रतिबिम्बितः सन् अन्तःकरणाभिन्नमात्मानं मन्यते। एतदेव पुरुषस्वरूपविस्मृतिकारणम्। अन्तःकरणं किल पुरुषभिन्नं वस्तु। तच्च यद्यदनुतिष्ठति, तत् सर्वं पुरुषभोगसम्पादनार्थमेव। एतेनैतदेव सिद्ध्यति यत् पुरुषस्वरूपविस्मारकम् अन्तःकरणमेव। तदेव विषयैः सह पुरुषसंयोगं विधत्ते। सिद्धान्तमिमं द्वारीकृत्य महर्षिणा सूत्रकारेणैतत् निर्णीतं यद् यावत् पुरुषान्तःकरणयोः यथावत्स्वरूपम् उभयोः सम्बन्धः स्वातन्त्र्यं च जिज्ञासुहितसाधनाय न वर्णयिष्यते, तावत्

पुरुषस्य मुक्तदशापरनामक-कैवल्यपदमर्मं याथातथ्येन नावधारयितुं शक्ष्यते। अतो महर्षिस्तत्सर्वं सविस्तरं वर्णयित्वा वक्ष्यमाणसूत्रेषु कैवल्यपदं सम्यग् विवेचयिष्यति।

यद्यपि तद्विवृतिः यत्र तत्र प्रागप्यनुष्ठिता, तथापि कैवल्यपदविरुद्धदशाभिः पुरुषस्य साक्षात् सम्बन्धसत्त्वात् तेऽन्तरायाः प्राक् प्रपञ्चिताः। इदानीं योगसाधनलक्ष्यं मुक्तिरूपकैवल्यपदं वक्ष्यते। पूर्वं प्रतिकूलदशाप्रदर्शनमनुष्ठाय ततश्च अनुकूलस्वाभाविकदशाप्रदर्शनेन त्वरितमेव तत्त्वावबोध इति हेतुना प्राक् तत्सविस्तरस्वरूपं विविच्य, अग्रे मुक्तिपदरूपं कैवल्यं वक्ष्यते इति॥ २४॥

चित्त-पुरुषविवेकशीलस्य योगिनोऽवस्था निर्दिश्यते—

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः॥ २५॥

विशेषदर्शिन आत्मभावस्य भावनाया विनिवृत्तिर्जायते। नानाविषयबद्धाः साधारणदर्शिनो जीवा इव एकतत्त्वसाहाय्येन परां सिद्धिमधिगता विशेषदर्शिनो योगिनः संसारमिमं नानुभवन्ति। आत्मदर्शिनो योगिनः पूर्वोक्तपद्धतिमनुसृत्य जगदिदम् अन्यथैव पश्यन्ति। अत एव ते 'विशेषदर्शिन' आख्यायन्ते।

योगसाधनेन निर्मलान्तःकरणाः पूर्णं ज्ञानमधिगतवन्तो योगिनः चित्तं पुरुषश्चेति उभौ भिन्नपदार्थाविति मन्यन्ते। एतादृशज्ञानोदयेन तदन्तःकरणस्य शरीरादिविषयिणी मिथ्याभावना निवर्तते, ते च यन्त्रवदन्तःकरणस्य कर्तृत्वमवधारयन्ति। अतः शनैः शनैः योगिराजानां तेषां शारीरिको भावो विनिवर्तते। यथा वर्षर्तुनिपतितैः नवनीरदवारिबिन्दुभिः अङ्कुरितदूर्वादलावलोकनेन तन्मूलसत्तासद्भावोऽनुभूयते, तथैव अन्तर्वहिर्भावतः परिज्ञातप्रकृति-पुरुषभेदाः समधिगतमोक्षमार्गा योगिनः परिचीयन्ते। प्रकृतेः पुरुषस्य पारस्परिकस्वातन्त्र्यानुभवाद् देहाध्याससम्बन्धराहित्यात् जगदिदं तुच्छं मिथ्याभूतमवधारयन्तस्ते परमात्मानमेव केवलं सत्यमाम-

नन्ति। अत एव ईश्वरीयज्ञान-चर्चायां भगवत्कथोपासना-भक्तिकार्येषु नित्याभिरुचिः निष्कामजगत्सेवास्वाभाविकप्रवृत्तिश्च तेषु दृश्यते। यदा महात्मसु चैतल्लभ्येत चेद् यत् तेषामन्तःकरणवृत्तय आत्मज्ञानविचारे, तत्त्वोपदेशे, भगवद्गुणगाने, परमेश्वरमहिमप्रचारे च सदैव संलग्नास्तिष्ठन्ति, यदा च योगिषु विलोक्येत यत्ते मोक्षमार्गवर्णने, भगवद्गुणश्रवणे रतिं दधानाः परमेश्वरं भजन्तो रोमाञ्चिता जायन्ते, परमानन्दस्वरूपभगवद्भावस्मरणमात्रेणैव यदा आनन्दाश्रूणि ते प्रवाहयेरन्, तदैव ज्ञातव्यं यत्तेषु परमानन्दमयं परमात्मज्योतिः प्रकाशते। तदैवावधेयं यत्ते मायापाशं समूलमुन्मूलयन्तः परमेशितुः परब्रह्मणः सच्चिदानन्दमयमधिकारं प्राप्नुवन् इति। इमामेव अवस्थाम् अधिकृत्य योगिनः कैवल्यस्वरूपं मुक्तिपदमधिकुर्वन्ति।

एतदशापूर्णज्ञानोदयेन योगिराजेन ज्ञायते यदसौ क आसीत्, कश्च जातः; इदानीं कोऽस्ति, कुत्र च तेन गन्तव्यमास्ते, इत्यादि। इयं हि योगिनो विशिष्टदर्शनदशा। अस्यामवस्थायां नश्यति अविद्यारूपी भ्रमः, योगी च दिव्यं ज्ञानमधिकृत्य चित्तधर्मतो ह्युपरतः कैवल्यभूमिमासादयति। अर्थात् पुरुषान्तःकरणयोः पारस्परिकस्तात्त्विको भेदः परिज्ञायते, येन तदीयोऽनुरागः परमपदमुपढौकते, तदीया दृष्टिश्च संसारतः परावृत्त्य कैवल्यस्वरूपं मुक्तिपदमुपसर्पति। परमेण वैराग्येण यदा अन्तःकरणवृत्तीनामुन्मेष एव न जायते, तदानीमन्तःकरणं स्वयमेव शाम्यति, पुरुषश्च स्व-स्वरूपमधिगच्छति॥ २५॥

तदानीं कीदृशी चित्त-दशेति निरूप्यते—

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्॥ २६॥

तदा=तस्मिन् काले, विशेषदर्शितायामधिगतायां पूर्णज्ञानं चित्तं विवेकनिम्नम्=विवेकपथवाही, कैवल्यप्राग्भारम्=कैवल्याभिमुखं प्रसर्पति। चित्तं किल पूर्वोक्तावस्थातः प्राक् विविधविषयभारैः आक्रान्तमासीत्।

तदेवेदानीं विषयाणां पूर्णहानात् त्यक्तभारं ज्ञानस्वरूपाकर्षणतेजसा समाकृष्टं कैवल्यपदपरमात्माभिमुखं प्रतिष्ठते।

विज्ञानमिदं प्रकारान्तरेणापि अवबोधयति। तथा हि—अन्तःकरणस्यैकतो विषयाः अपरतश्च परमात्मा। यावदन्तःकरणं विषयाभिमुखं तावद् दृष्टिः पुरुषतो व्यावृत्ता सांसारिकविषयेषु ग्रस्ता तिष्ठति। परन्तु यदाऽन्तःकरणस्य विषयवासनाः समूलं विनश्यन्ति, तदा विशेषदर्शिनो योगिनश्चित्तं विषयविमुखं सत् कैवल्यपदं परमात्मस्वरूपमेव निर्निमेषं निरीक्षते। तद्धि कैवल्यमधिगच्छति। उक्तमपि गीतोपनिषदि—

"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥" इति।

शमो हि समाध्यपरपर्यायः। समाधेः दशात्रैविध्यम्, यथोक्तं महर्षिणाऽङ्गिरसा—"तदेवेदम्, इदं तत्, तदेवाहम्" इति। प्रथमायामवस्थायां जगदेव ब्रह्मेति भासते। द्वितीयायां ब्रह्मैव जगदिति। तृतीयायां च दशायाम् 'अहमस्मि सच्चिदेकं ब्रह्मे'ति बोधः समुज्जृम्भते॥ २६॥

अत्र अवस्थाभेदमप्याह—

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः॥ २७॥

पूर्वसंस्काराद्धेतोः समाधिदशायामपि कदा कदाऽपि योगिनो मिथ्याज्ञानमुत्पद्यते। कैवल्यपदरूपसमाधिदशायां प्रथमायां यद्यपि योगिना परिपूर्णं ज्ञानमासाद्यते, तथापि तदीयसमाधिदशायामस्यां स्वीयान्तःकरणसंस्कारेभ्यः कैवल्यानुभवव्यतिरिक्तं प्रकारान्तरसृष्टिसम्बन्धिमिथ्याज्ञानमपि कदा कदाऽपि समुदेति।

यद्यपीदं योगिसमाधिप्रत्यूहरूपम्, किन्तु नैतेन योगिनः काऽपि हानिः। संस्कारास्ते दग्धबीजवत् नाङ्कुराय प्रभवन्ति। समाधिस्थितयोगिनो विविधपूर्वसंस्कारैः क्षणिकमिथ्याज्ञाने समुत्पन्ने सति बाह्यलक्षणैरसौ बद्धजीव इव प्रतीयते; परन्तु यथा पक्षिपालहस्तेन बद्धरज्जुपाशः पक्षी

वियति उड्डयमानोऽपि पक्षिपालकरे एव समागत्य विश्राम्यति, तथैव समधिगतसमाधेर्योगिनः अन्तःकरणे पूर्वसंस्कारैर्विषयप्रवृत्तौ समुद्गतायामपि क्षणेनैव तद्विषयप्रवृत्तिः विनश्यति। तत्प्रवृत्तिहानाय उपायानुष्ठानमावश्यकं न वेति प्रश्नस्योत्तरं सूत्रेऽग्रिमे वक्ष्यते॥ २७॥

एतदवस्थाहानं निर्दिशति—

हानमेषां क्लेशवदुक्तम्॥ २८॥

स्पष्टोऽर्थः। प्रथमपादप्रतिपादिताऽविद्यादिक्लेशनाशवत् एतादृशविषयाकारवृत्तिदशानाशोऽपि अवधेयः। यथा क्लेशबीजनाशेन न पुनः क्लेशाः प्रादुर्भवन्ति, तथैव ज्ञानाग्निदग्धाः संस्काराः समाधिस्थस्य योगिनोऽन्तःकरणे पुनर्नूतनं संस्कारं नैव प्रादुर्भावयितुमर्हन्ति। निर्विकल्पसमाधिभूमिमारूढस्य आत्मज्ञानं प्राप्नवतो योगिराजस्यान्तःकरणे विद्यायाः परिपूर्णविकाससत्त्वात् पूर्वप्रबलसंस्कारबलेन कदाचिद् विषयाकारप्रवृत्तौ सत्यामपि क्षणान्तरेणैव सा विषयप्रवृत्तिः स्वयमेव विनश्यति। अतो न तेन कापि भयसम्भावनेति भावः॥ २८॥

ततः समाधेरुदयो निर्दिश्यते—

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः॥ २९॥

प्रसंख्यानेऽपि = विवेकज्ञानेऽपि, अकुसीदस्य = समीहारहितस्य योगिनश्चेतसि सर्वथा विवेकख्यातेः सत्त्वात् धर्ममेघः समाधिरधिगम्यते इत्यर्थः। पूर्वोक्तरीत्या यदा योगी विवेकपूर्णतामधिगच्छति, अत्युत्कृष्टवैराग्यवशात् पूर्णज्ञानदशायाम् अकुसीदः = इच्छारहितस्तिष्ठति, तदा तत्र प्रागुक्तसंस्कारमिश्रितदशा पूर्णरूपेण प्रणाशमेति, तदैव च योगी निश्चलम् अद्वितीयभावमासाद्य ज्ञानस्वरूपतां प्रपद्यते।

दर्शेयं महर्षिणा सूत्रकारेण "धर्ममेघ"समाधिनाम्ना समाम्नाता। यथा मेघो जलं वर्षति, तथैव समाधिरप्ययं क्लेशकर्मादिक्षयकारकम्

अविद्यानाशकम् अपवर्गसाधकं धर्मं वर्षति। अत एवायं 'धर्ममेघः' समाधिः। एतादृशसमुन्नताधिकारवतां लक्षणानि शास्त्रेऽभिहितानि। तथा हि—

"तदन्तिके तदा सर्वे धर्ममार्गा भजन्त्यहो।
वात्सल्यं हि यथा पुत्राः पौत्राश्च सन्निधौ पितुः॥

ममैव ज्ञानिनो भक्ता धर्मं साधारणं किल।
अधिकर्तुं क्षमन्ते वै पूर्णतो नात्र संशयः॥

मद्भक्ता ज्ञानिनो विज्ञाः! धर्मज्ञानाब्धिपारगाः।
सार्धं केनापि धर्मेण विरोधं नैव कुर्वते॥

साधारणे विशेषे च धर्मेऽसाधारणे तथा।
सम्प्रदायेषु सर्वेषु भक्ता ज्ञानिन एव मे॥

ममैवेच्छास्वरूपिण्या धर्मशक्तेः स्वधाभुजः।
सर्वव्यापकमद्वैतं रूपं नन्वीक्षितुं क्षमाः॥
संसारेऽत्राभिधीयन्ते श्रीजगद्गुरवो ध्रुवम्॥" इति।

अयमेव समाधिः पूर्णज्ञानस्य सार्वभौमधर्मस्य हेतुः। इयं भूमिरेव कैवल्यपदस्य द्वाररूपा। इयं दशैव परमवैराग्यस्य फलम्। अत्र योगविघ्ना नावशिष्यन्ते। एतदनन्तरं कैवल्यपदमास्ते॥ २९॥

तदनन्तरं किमित्युच्यते—

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः॥ ३०॥

ततो धर्ममेघ-समाधितः क्लेशकर्मणां हानिर्जायते। कर्मक्लेशनाशेन योगी जीवन्मुक्तो भवति। क्लेशकर्मणां जीवन्मुक्तदशायाश्च सविस्तरवर्णनं प्रपञ्चितपूर्वम्। नात्र पुनरुक्तिरुचिता। जीवन्मुक्तदशामधिगत्य योगिनो निःशेषं मायाबन्धनं विमुञ्चन्ति। तदानीं ते सर्वं कुर्वन्तोऽपि न किमपि कुर्वन्ति॥ ३०॥

अनन्तरं सम्पद्यमानं प्रतिपाद्यते—

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ॥ ३१ ॥

तदानीं सर्वावरणरूपं यन्मलं तेन अपेतस्य ज्ञानस्य आनन्त्यं ज्ञेयमल्पम् अवशिष्यते। यदा समाधिस्थस्य योगिनः सर्वमलमावरणरूपं दूरीभवति, तदा तस्यान्तःकरणम् अनन्तज्ञानेन परिपूर्णं जायते। रजस्तमसोः शुद्धे सत्त्वे पूर्णविलयेन योगिनोऽन्तःकरणे ज्ञानविघ्नकारकं न किमप्यवशिष्यते। इयमेव ज्ञानस्य अनन्तपूर्णता। दशायामेतस्यां योगिना न किञ्चिदपि परिज्ञातुमवशिष्यते। अर्थात् ज्ञानस्य परिपूर्णतया ज्ञानस्येहा विलयमुपढौकते। सेयं योगिनः सर्वज्ञावस्था। तदानीं योगी यत्रैव दृष्टिं प्रेरयति, सर्वमवगच्छति। एतदवस्थाविशेषवर्णनम् उक्तपूर्वम्। तस्य पुनरुक्तिर्व्यर्था। कैवल्यपादे तत्सम्बन्धिनः यावतो विवरणस्य आवश्यकत्वम्, तावदेवात्र इङ्गितमात्रेण प्रदर्शितम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तरं च किं भवतीति प्रतिपाद्यते —

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ॥ ३२ ॥

तदनन्तरं कृतार्थानां गुणानां परिणामक्रमोऽपि समाप्यते। पूर्वोक्तपूर्णज्ञानदशायाम् उदीयमानायां प्राकृतिकसत्त्वरजस्तमसां क्रमोऽपि समाप्तिं गच्छति। बन्धनावस्थायां यथा सत्त्वरजस्तमांसि स्वीयभोगादिप्रयोजनसमुत्पादनेन परिणामतः अनुलोमविलोमभावद्वारा सृष्टिस्थितिलयक्रियामकुर्वन्, न तथा मोक्षावस्थायामिति भावः। एकतत्त्वपूर्णोदयेन योगिराजस्य बुद्धितत्त्वं मनोविरहितं सत् विकसितविशुद्धज्ञानं जायते। तदानीमसौ योगिराजः शिवसायुज्यं समधिगच्छन् प्रकृतिद्रष्टा बोभवीति। तस्मिन् काले प्रकृतेस्त्रयो गुणा न तं स्ववशमानेतुं प्रभवन्ति। प्रत्येकगुणसमुत्पत्ति-विलयक्रमो यदा योगिराजदृष्टिमतीत्य न वर्तते, तदा कोऽपि गुणः स्वपाशे तं पातयितुं नार्हति। त्रिगुणानां शक्तिहीनत्वे तत्क्रमस्य च

विलये जाते योगी त्रिगुणमुक्तो जायते। इयमेव पुरुषस्य प्रकृतिविमुक्तेः अवस्था॥ ३२॥

क्रमोऽयं किंस्वरूप इति निरूप्यते—

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः॥ ३३॥

कालसूक्ष्मभागेन निरूप्यमाणः परिणामावसानविज्ञेयः 'क्रम' इत्युच्यते। पूर्वसूत्रार्थस्य सारल्यमनुष्ठातुं महर्षिः सूत्रकारः क्रमलक्षणं निर्दिशति। अत्यन्तसूक्ष्मकालः 'क्षणः' प्रोच्यते। एकस्यानन्तरं द्वितीयक्षणस्य अवबोधः 'क्रम' आख्यायते।

प्रसङ्गतोऽत्र उदीयमानानां शङ्कानां निवृत्तिरपि समासतः क्रियते।

ननु वर्तमानस्य क्षणस्य पश्चात् काले यः परिणामः, तस्य पूर्वापरगतिः 'क्रम'शब्देन अभिधीयते इति यदुक्तं तदसत्। यतो हि, यथा वस्त्रस्य प्राचीनत्वं वस्त्रनाशरूपपरिणामे न ज्ञातुं शक्यते, तथैव क्रमलक्षणमपीति चेत्?

अत्र समाधत्ते—अनित्यपदार्थक्रमे यथा विशुद्धता, न तथा नित्यपदार्थक्रमेऽवगन्तव्या। नित्यपदार्थानां नित्यतया क्रमः साधुरीत्या अवगन्तुं शक्यते। विषयोऽयम् उदाहरणेनानेन अवधेयः—वस्त्रादिनाशवतः पदार्थस्य विनाशे पदार्थोऽसौ मृत्स्वरूपं धत्ते, किन्तु न तथा त्रिगुणपरिणामः। त्रिगुणपरिणामे एकगुणस्य प्रधानत्वे अपरौ गुणौ तिरोधत्तः, यथाक्रममाविर्भावं तिरोभावं च भजतः।

नित्यपदार्थानां क्रमोऽप्ययं कथं नित्य इति चेद्?

उच्यते; नित्यता द्विविधा—१. कूटस्थ-नित्यता, २. परिणाम-नित्यता चेति। पुरुषस्य तु कूटस्थनित्यता, गुणानां पुनः परिणामनित्यता वेद्या। पुरुषनित्यतायां विमर्शो नावश्यकः। गुणानां नित्यतायामयं विचारो यद् यदा परिणतौ तत्त्वानि न नश्यन्ति, तदा तानि नित्यान्येव। यस्य कार्यकारणरूपतत्त्वस्य नाशो न स्यात्, स नित्य एव।

परिणामिनो वस्तुनः कथं नित्यतेति चेत् ?

श्रूयताम्—गुणेषु नित्यत्वम्, बुद्ध्यादिषु च अन्तदशावधेयः क्रमस्तिष्ठति। नित्यायाः प्रकृतेः साम्यावस्थायां त्रयो गुणा विलीयन्ते, वैषम्यावस्थायां तु ते पार्थक्येनैव दृष्टिगोचरतामायान्ति। अग्नौ दाहिका शक्तिरिव प्रकृतौ गुणानां सत्ता नूनं भाविनी। त्रिष्वपि गुणेषु चैकतरं प्रबलम् अभ्यर्णमुपस्थितमेव बुद्धिर्गृह्णाति। परन्तु नित्यगुणेषु यः क्रमस्तिष्ठति, तस्यान्तो जायते। गुणानां नित्यत्वेन परिणामोऽप्यसौ नित्य एवेति वक्तुं शक्यते। विकारविरहितकूटस्थनित्यपदार्थेषु यः क्रमस्तस्य नित्यतायां सन्देहो न भवितुमर्हतीति।

ननु संसारस्य स्थितौ प्रलये च विद्यमानगुणक्रमस्य समाप्तिर्भवति न वेति प्रश्न एकदेशीयः। अतस्तदुत्तरमपि एकदेशीयं भवितुमर्हति। गुणक्रमेण सृष्टिस्थितिप्रलयाः क्रममनुसृत्य भवन्त्येव। सृष्टेः पश्चात् स्थितिः, तस्या अनन्तरं प्रलयः, तदनन्तरं पुनः सृष्टिर्भवति भविष्यति च। परन्तु सिद्धान्तोऽयं निश्चप्रचो यद् येषां विषयसम्बन्धिनी तृष्णा नाशमुपगता, ते योगिनो ज्ञानवन्तो न पुनरुत्पत्स्यन्ते। तेषां विभागस्य त्रिगुणमयी प्रकृतिः क्रमसहिता विलयं गच्छति।

विचारैरेतैः बहुषु शङ्कासु दूरीभूतास्वपि महती चैका शङ्का जागर्ति यद् यदि कूटस्थस्य परिणामस्य चेत्युभयोः नित्यता स्वीक्रियेत, तर्हि संसारोऽयम् अनन्तः सान्तो वा वक्तुं शक्यः, अर्थादियं त्रिगुणमयी प्रकृतिलीला, सृष्टिक्रियेति यावत्, नाशवती नित्या वा ? शङ्केयं नूनमतिगहना। इयं किल जिज्ञासुगणेषु प्रायशो जागर्ति, एतयैव नानामत-मतान्तरेषु विरोधः प्रादुर्भवति, मानवबुद्धिश्च प्रायशः परिवर्तते। किन्तु त्रिकालदर्शिनो महर्षयो न किञ्चिदपि परित्यक्तवन्तः। जीवहितसाधनाय तैः सर्वमपि उक्तमास्ते। भ्रमः, ज्ञानविपर्ययः, व्यर्थसन्देहश्च जीवानामज्ञानविजृम्भिताः। अविश्वासिनामधिकारिणां ध्यानपुरस्सरशास्त्रानालोचनयैव ते समुत्तिष्ठन्ते।

यद्यप्येतादृशभ्रमसन्देहस्य समाधानं किञ्चिद् विवृतपूर्वम्, किन्त्वत्रापि तत्समाधानं प्रोच्यते। तथा हि—कैवल्यपदजुषां मुक्तयोगिनां दृष्टौ संसारस्य विलयो जायते। परन्तु साधारणजीवानां कृते संसारनित्यता तिष्ठत्येव। यदा जीवः स्वीयपुरुषार्थं द्वारीकृत्य अविद्याबन्धनाद् विमुच्यते, तदा तदंशप्रकृतिः सान्ता सती महाप्रकृतौ विलीयते। इयमेव प्रकृतेरन्तता, संसारस्य नाशो वा। परन्तु एकस्य योगिनः अंशभूतायाः प्रकृतेर्विलयेऽपि अनन्तब्रह्माण्डीयानन्तजीवप्रकृतिः अनन्ता तिष्ठति। इयमेव प्रकृतेरनन्तता, इयमेव महामायास्वरूपिण्या महाशक्तेर्नित्यता च। अत एव महर्षिणाऽङ्गरसा प्रोक्तम्—

"अनाद्यनन्ताऽध्यात्मिकी सृष्टिः।" "प्रकृतेश्च तथात्वम्।"

"आधिदैविकाधिभौतिकसृष्टिः सादिसान्ता।"

"ततो ब्रह्माण्डपिण्डे नश्वरे।" इति।

ब्रह्मणः प्रकृतेरानन्त्यात् प्रवाहस्वरूपसृष्टिक्रियामयी अनन्तकोटिब्रह्माण्डसृष्टिः अनाद्यनन्ता। अतः प्रकृतेरपि तथात्वमवधेयम्। किन्तु प्रत्येकं पिण्डं ब्रह्माण्डं च सादि सान्तम्। अतः संसारस्य समष्टिरूपेण अनन्तता, व्यष्टिरूपेण च सान्ततेति उभयमपि सिद्ध्यति। सृष्टेः सादित्वस्य अनादित्वस्य चावबोधे काठिन्यमापतति, अर्थात् क्षणक्रमविचारेण पूर्वापरान्वेषणे आदिक्षणस्य विचारप्रयोजनमापतति।

सिद्धान्तोऽयं यद्यपि प्रागपि प्रपञ्चितः, किन्तु मूलसन्देहनिवारणाय अत्रापि किञ्चिदुच्यते—सृष्टिरनादिरेव, सृष्टिकारणभूतप्रकृतेः अनादित्वात्। परन्तु गम्भीरविज्ञानप्रबोधाय ब्रह्मणः सृष्टिसमुत्पत्तिः, तया च सृष्टेरादित्वं साधनीयमेव भवति। यत्रास्माभिर्गन्तव्यमास्ते, तदारभ्य स्थानं स्वनिकटपर्यन्तमार्गस्य यदि याथातथ्येनानुभवो नास्ति, तर्हि कदापि गन्तव्यस्थलं नासादयितुं शक्यते। एवमेव वेदोक्तविचारे बुद्ध्या विविच्यमाने न कुत्रापि सिद्धान्तविरोधस्य मतभेदस्य वा सम्भावना।

शास्त्रोक्तिर्न कुत्रापि परित्यक्तलक्ष्या। सत्त्वरजस्तमसां त्रिगुणानां वैषम्यावस्था प्रकृतौ दृश्यते। साम्यावस्थायां प्रकृतौ त्रयो गुणा न पार्थक्येन दृष्टिगोचरतामापद्यन्ते। अतो विज्ञानसिद्धमेतद् यत् साम्यावस्थायाः प्रकृतेर्दशायां गुणपरिणामक्रमस्य अस्तित्वं न तिष्ठति। साम्यावस्थां भजन्त्यां मुक्तात्मनः प्रकृतौ गुणपरिणाम-क्रमस्य सम्भावनैव नास्ति। तां प्रकृतेः साम्यावस्थां प्राप्य प्रकृतिस्थो योगिराजः स्वरूपोपलब्ध्या जीवपरमाराध्यदशां यामधिगच्छति, साऽग्रिमसूत्रे वक्ष्यते॥ ३३॥

इदानीं योगपरमफलं कैवल्यस्वरूपमाह—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चिच्छक्तिरिति॥ ३४॥

पुरुषार्थरहितगुणानां परिणामद्वारा विलयः कैवल्यम्, किं वा पुरुषस्य स्वरूपेऽवस्थानमपि कैवल्यमवधेयम्। कैवल्यं मोक्षो वेत्युभौ पर्यायवाचकौ। येषां गुणानां फलं जीवैर्भुज्यते, तेषां सृष्टिकारकगुणानां प्रतिलोमद्वारा लयेन तेभ्य उपरमो मोक्षः। अर्थात् प्राकृतिकत्रिगुणपाशविमुक्तिरेव मोक्षः। बुद्धिस्वरूपान्तःकरणसम्बन्धराहित्येन पुरुषस्य निजस्वरूपेऽवस्थितिः स्वातन्त्र्यं वा मोक्ष इत्येतत्सूत्रोक्तस्वरूपप्रतिष्ठार्थः। पूर्वोक्तसूत्रप्रतिपादितासु अवस्थासु प्रविशतो योगिनः अन्ते निर्विकल्पाख्यस्य असम्प्रज्ञातस्य समाधेः परिपूर्णावस्थायाः प्राप्तिरेव मोक्षः कैवल्यं वा। एकतत्त्वसाहाय्येन योगिराजः क्रमशः स्वस्याभिमुखं नैजमन्तःकरणमग्रे सारयन् वैषम्यावस्थां प्रकृतिं यदैव साम्यावस्थायां परिणमयति, तदैव स्वरूपप्रतिष्ठाद्वारेण स कैवल्यमधिगच्छति। समाधिभूमौ केन प्रकारेण एकतत्त्ववृद्धिः क्रियते, तत्सम्यगुपवर्ण्य ततश्च ज्ञानप्रतिष्ठायै

प्रयोजनीयविचारसिद्धान्तं निर्णीय सूत्रेणैतेन कैवल्यपदस्य यथार्थस्वरूपं निर्णीतम्।

पुरुषार्थशून्यगुणानां विलोम एव कैवल्यम्।

विज्ञानमिदमवधारयितुं पूर्वमेतद् विचारणीयं यत् पुरुषार्थयुक्तगुणानां कीदृशी स्थितिरिति? जीवो यावत् समष्टिब्रह्माण्डसम्बन्धेन व्यष्टिरूपे स्वीयं स्वतन्त्रसम्बन्धं संस्थाप्य अद्वितीयपूर्णचेतनमयब्रह्मसत्तात आत्मानं पृथगवधार्य जीवकेन्द्रमेकं स्थापयति। यावच्च जीवकेन्द्रस्य तस्य स्थायित्वं तावदेव पुरुषार्थस्य स्थितेः प्रयोजनीयता। निर्लिप्ते द्रष्टृरूपपरमपुरुषे न कापि पुरुषार्थसम्भावना। सुतरां यावद् अज्ञानजनितजैवभावसद्भावः, तावदेव पुरुषार्थस्वातन्त्र्यमपि अवधेयम्। यावदन्तःकरणवृत्तिचाञ्चल्येन बुद्धिस्तरङ्गायिता तिष्ठति, न तावत् द्रष्टुः पुरुषस्य स्वरूपावस्थानं सम्भवम्। समाधिदशायां पुरुषार्थस्य चरमदशामधिगत्य योगिराज एकतत्त्वस्य परिपूर्णोदयेन पुरुषार्थसीमानमतिक्रामति। तदानीं पुरुषार्थन वैषम्यावस्थां प्राप्ता योगिराजस्य नैजा प्रकृतिः साम्यावस्थामधिगच्छति, तदीयास्त्रिगुणाश्च स्वकीयस्वभावसिद्धां विलोमदशां प्राप्य स्वभावे विलीयन्ते। मूलप्रकृतौ स्वस्याः प्रकृतेर्विलयेन पुरुषस्य द्रष्टृरूपे अवस्थानं जायते।

योगदर्शनेऽत्र पुरुष-प्रकृत्योः स्वाधीनसत्ता स्वतन्त्रगतिश्च उपवर्णिता। पुरुषहेतव एव प्रकृतिः क्रियाकलापं विधत्ते। यदा कैवल्यपदोदयेन पुरुषः स्व-स्वरूपं प्रतिपद्यते, तदानीं स्वत एव प्रकृति-पुरुषयोः सम्बन्धविच्छेदात् प्रकृतिः क्रियाहीनतां प्राप्ता विलीयते। इयमवस्थैव वेदान्तस्य अद्वैतभावः, शास्त्रान्तरस्य आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिः, ज्ञानमार्गस्य ब्रह्मसद्भावः, भक्तिशास्त्रस्य पराभक्तिः, योगशास्त्रस्यैतस्य कैवल्यं चेति। पुरुषस्य स्वरूपे अवस्थानम्, पूर्ववत् सृष्टिलयेऽपि पुरुषस्य स्वरूपे प्रतिष्ठा, स्वपूर्वस्वरूपा-

धिगम एव मोक्षः कैवल्यं वा। तटस्थज्ञानातीता पूर्णज्ञानदशैव कैवल्यम्। द्वैतभावविरहिता अद्वैतावस्थैव कैवल्यम्। इमामेवावस्थाम् अधिगत्य अल्पज्ञानवान् जीवः सर्वज्ञ-परमपुरुष-साक्षात्कारेण समुद्रे तरङ्गवत् पुरुषे परमे विलीयते। यत्परो नास्तीति दशैव कैवल्यम्। इयं वाङ्मनोबुद्ध्यगोचरावस्थैव मोक्षः। इयमेव कैवल्यदशा सर्वेषां साधनानां लक्ष्यभूता। एतत्कैवल्यमेव वेदसिद्धान्तः। इदमेव कैवल्यं योगसाधनस्य चरमं लक्ष्यमिति तत्त्वन्॥ ३४॥

॥ समाप्तमिदं योगदर्शनम्॥

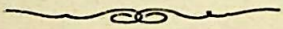

पाश्चात्यानां योगविषयिणी दृष्टिः

— श्री श्रीकृष्णदत्त भट्टः —

[मन्त्री—अ० भा० सर्व-सेवा-सङ्घ-प्रकाशनस्य, वाराणसी]

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'

योगो नाम चित्तस्य वृत्तीनां निरोधः।

चित्तस्य पञ्च वृत्तयः काः काः ? तासां लक्षणं किम् ? तासां निरोधस्य साधने अभ्यासो वैराग्यं च के ? समाधिः कः ? ईश्वर-प्रणिधानं किम् ? चित्तस्य के के विक्षेपाः ? तेषां नाशः कथं क्रियेत ? क्रियायोगस्य स्वरूपं किम् ? पञ्च क्लेशाः के ? तेषां नाशस्य कानि साधनानि ? अष्टाङ्गयोगः कः ? तेषां पञ्च बाह्याङ्गानां कानि लक्षणानि ? तेषाम् अनुष्ठानं सिद्धयश्च कीदृश्यः ? त्रीणि अन्तरङ्गसाधनानि—धारणा, ध्यानम्, समाधिश्च = संयमाश्च के ? संयमेन योगविभूतयः कथं प्राप्यन्ते ? सिद्धयः साधकस्य आत्मोद्धारे किमिति उपसर्गभूताः ? धर्ममेघसमाधिः कः ? कैवल्यप्राप्तिश्च कथं जायते ? पतञ्जलिना योगदर्शने सर्वस्याऽस्य सूत्ररूपेण वर्णनं कृतमस्ति—समाधिपादः, साधनपादः, विभूतिपादः, कैवल्यपादश्चेति पादचतुष्टयेन।

योगस्य परिज्ञानं नहि सरलं वस्तु।

शब्दानां परिज्ञानेन योगो बुद्धौ समारोढुं शक्यः—कल्पनेयं न साधीयसी। अन्यच्च, शब्दानाम् अनेकार्थाः। सूत्रकृता कस्मिन् अर्थे कः शब्दः प्रयुक्तः इति वक्तुमशक्यम्। योगसूत्राणि भारतवासिना पतञ्जलिमुनिना विरचितानि। तेषां परिज्ञानाय भारतस्य, भारतीयसंस्कृतेः, भारतीयपरम्परायाः, भारतीय-दार्शनिक-पृष्ठभूमेश्च सम्यक् परिज्ञानमावश्यकम्। वैदेशिकम् उपनेत्रं परिधाय यदि कश्चिद् योगस्य रहस्यग्रन्थीः विभेदयितुं कामयेत, तर्हि तथ्यस्य मर्मावाप्तिः नूनं तस्य असम्भविनी स्यात्।

योगपरा वैदेशिकानां ग्रन्थाः

योगविषये वैदेशिकानां बहु आकर्षणं समभवत्, अद्यापि वर्तते च। तेषां कथैव का, ये किल योगं केवलं चमत्कारमेव मन्वते। तत्त्वतस्ते योगस्य प्राथमिकानि वर्णान्यपि न जानन्ति। ये पुनः योगं गभीरया दृशा अवलोकयन्ति, तेष्वपि सन्ति बहव एतादृशाः ये योगस्य मौलिकमर्थं न परिज्ञातवन्तः। तेषुः के चन एतादृशा अपि भविष्यन्ति, येषां मनसि भारतस्य कस्मिन्नपि वस्तुनि यथार्थः समादरो न वर्तते। तैः सूत्राणां कपोल-कल्पितमर्थं कृत्वा नूनमन्यायः कृतः।

वैदेशिकैः योगविषयकं यावद् वाङ्मयं विरचितम्, तत्र कतिपये मुख्या ग्रन्था इमे सन्ति—

एनीबेसेण्ट	: इन्ट्रोडक्शन टु योग।
आर्नोल्ड सी० एच०	: ११० ईयर्स आफ यूथ थ्रू योग।
वेली, एलीस	: लाइट आफ दि सोल।
वेहनान, के० टी	: योग : ए साइण्टिफिक इवैलुएशन।
वरनार्ड, टी०	: हठ-योग।
कोस्टर, जी०	: योग : एण्ड वैस्टर्न साइकोलाजी।
डेनीलो, जे०	: योग : दि मेथड आफ रि-इण्टेग्रेशन।
लॉसबेरी, जी० सी०	: बुद्धीस्ट मैडिटेशन इन दि सदर्न स्कूल।
स्पीगेलबर्ग, एफ०	: स्पिरिचुएल प्रैक्टिसेज आफ इण्डिया।
वुड, अर्नेस्ट	: प्रैक्टिकल योग : एनश्येण्ट एण्ड माडर्न।
,,	: ग्रेट सिस्टम आफ योग।
,,	: योग।
,,	: योग-डिक्शनरी।
,,	: आकल्ट ट्रेनिंग आफ दि हिन्दूज।
,,	: माइण्ड एण्ड मैमरी ट्रेनिंग।
,,	: कानसेनट्रेशन, ए प्रैक्टिकल कोर्स।

वुड्रफ, सर जान : दि गारलैण्ड आफ लैटर्स।
" : शक्ति एण्ड शाक्त।
" : दि सर्पेण्ट पावर।
वुड्स, जे० एच० : योग-सिस्टम आफ पतंजलि।
येसूदियन एण्ड हेच : योग एण्ड हेल्थ।

एतेषां कतिपयानामत्र विचारं कुर्मः।

वेहनानस्य ग्रन्थः

डाक्टर के० टी० वेहनानस्यैकं पुस्तकमस्ति—Yaga : A Scientific Evaluation (योग : ए साइण्टिफिक इवैलुएशन)। अयं महाभागः 'येल-विश्वविद्यालयस्य स्नातकत्वमासाद्य योगविषयकं ज्ञानमधिगन्तुं भारत-स्थिते 'लोनावला'-स्थाने श्रीस्वामिकुवलयानन्दानां सविधे समागतः। किन्तु अनेन स्वकीयः शोधग्रन्थः स्वामिपादानां तत्त्वावधाने न सम्पादितः। प्रत्युत अमेरिकादेशे परावृत्य एकस्य मनोविज्ञानविशेषज्ञस्य तत्त्वावधाने सम्पादितः। अतः स्वाभाविकमेतत् यत् पतञ्जलेः हार्दपरिज्ञाने स पदे पदे भ्रान्तिं गत इति।

वुड्स-महाभागस्य अनुवादः

हार्वर्ड-विश्वविद्यालयस्य प्राध्यापकेन जे० एच० वुड्स महाभागेन योगसूत्रस्य, व्यासभाष्यस्य, तट्टीकायाश्च अनुवादो विहितः। उक्तविश्वविद्यालयेन ग्रन्थोऽयं भव्यरूपेण प्रकाशितः। अस्य प्रणयने, मुद्रणादौ च अतितरां व्ययः कृतः। अयं योगसूत्रस्य प्रामाणिकोऽनुवादो मन्यते। भारतीयविश्वविद्यालयेष्वपि सविशेषं मान्यतां गतोऽसौ ग्रन्थः। किन्तु सूक्ष्मेक्षिकया विचार्यमाणे जिज्ञासुभिः बहुमान्येऽस्मिन् ग्रन्थेऽपि यत्र तत्र प्रमादाः समुपलभ्यन्ते। यथा—

'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।' (१।२९)

"There after comes the right knowledge of

him who thinks in an inverse way and the removal of obsta cles."

'श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ।' (१।४९)

"Has another object than the insight resulting from things heard or from inferences, in as much as its intended object is a particular."

'प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ।' (२।१८)

"With a disposition to brightness and to activity and to inertia and with the elements and organs as its essence, and with its purpose, the experience and the liberation (of the self), this the object-of-sight".

'बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ।' (३।४३)

"An outwardly unadjusted fluctuation is the Great discarnate, as a result of this dwindling of the covering to the brightness."

'प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ।' (४।२९)

"For one who is not usurious even in respect of elevation, there follows in every case, as a result of discriminative discernment, the concentration (called) Rain cloud of (knowable) things".

The Yoga system of Patanjali. (Harward)

श्रीकृष्णाजी केशव कोल्हटकर-महोदयो लिखति यद् यदि कश्चिद् भारतीयो जिज्ञासुः श्रीवुडमहोदयप्रणीतग्रन्थमाधृत्य योगस्य अभ्यासं

चिकीर्षेत, तर्हि युक्तमिदं भवेद् यत् स मौलिकसंस्कृतग्रन्थानाम् अध्ययनं कुर्यात्। अन्यथा स नूनं भ्रान्तो भवेत्'[1] इति।

अर्नेस्ट-वुड्कृता व्याख्या

अर्नेस्ट ई० वुडमहाभागेन योगदर्शनस्य गभीरमध्ययनं कृतमस्ति। Practical Yoga : Ancient and Modern (प्रैक्टिकल योग : एनश्येण्ट एण्ड माडर्न) ग्रन्थे तेन योगसूत्रस्य विस्तृतोऽनुवादो विहितः। महाभागस्यास्य अनुवादोऽयं साधीयान्। तथापि यत्र तत्र विचारणीयोऽपि वर्तते। यथा—

'शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।' (२।४०)

"From (external) cleanliness arises protectiveness of the body and detachment from others."

'परैरसंसर्गः' इत्यस्य व्याख्यां कुर्वन् स कथयति—

The word in the original here comes from a root which means, according to context, "to protect" or "to Censure or despise." I have chosen the former rendering, as it accords with practice. It would be strange indeed that dislike of the body should arise from the habit of cleanliness. Desire to protect it from dirt and "had living magnetism" is much more logical. I knew one Yogi who had built for himself in a garden a room of bars appearing not unlike a cage at a Zoo, in the middle of which he used to sit, so that when visitors come—some of whom would

१. कोल्हटकर : पातञ्जल-योगदर्शन, भूमिका, पृ० २०८-११।

have undesirable emanations—they would be kept at a little distance.....Practical Yoga, 1952, page 112.

'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता संबोधः ।' (२।३९)

"When non-greed is accomplished, there arises perception of the method of births."

श्री 'अप्रबुद्ध'-महाभागेन 'दि साइन्स आफ योग' ग्रन्थस्य द्वितीये खण्डे श्री अर्नेस्ट वुड्महोदयस्य 'प्रैक्टिकल योग'ग्रन्थस्य तदन्तर्गतायाः श्री'पाल ब्रंटन'कृत-भूमिकायाश्च कियन्ति स्थलानि सविस्तरं विवेचितानि। श्रीवुड्महोदयेन 'अन्तर्धानम्' इत्यस्य 'internal states' इति, 'भुवनम्' इत्यस्य 'inhabited regions' इति, एवमाद्याः अनेक-शब्दानां स्वकल्पिता अर्थाः कृताः। श्रीअप्रबुद्धैर्मन्यते यद् वुड्महा-भागस्य वैदुष्यं निर्विचिकित्सं किल। किन्तु तैः पतञ्जलेः हार्दं प्रति अप्रामाणिकैर्भूत्वा प्रचाराय विज्ञानस्य बलिः प्रदत्त इति। श्रीअप्रबुद्धाः कथयन्ति—

"One cannot but be sorry to find how with all his admirable capacities, Mr. Wood has, instead of remaining true to the original as advertised, sacrificed science to propoganda."[1]

इत्थं सूक्ष्मेक्षिकया विलोक्यमाने स्फुटीभवति यत् पाश्चिमात्यै-र्विद्वद्भिः योगविषये यत्किमपि लिखितम्, तत्र पदे पदे भूयांसो गुरुतराः प्रमादाः सम्भूताः। कोऽत्र हेतुः स्यादिति तु वक्तुं दुःशकम्। यथावद् विषयाकलनक्षमताया अभाव एवास्य प्रधानं कारणं मन्तुं शक्यम्। व्यक्तिविशेषस्य विषये इदमपि वक्तव्यं भवति यत् तेन वर्ण-विद्वेषवशादेव

१. अप्रबुद्ध : दि साइन्स आफ योग, खण्डम् २, भूमिका पृ० ३०-३२।

—ज्ञान-दाये केवलं श्वेताङ्गा एवाधिकृता इति मत्वा—योगसूत्राणां स्वकपोलकल्पितः अर्थः कृतः। दृष्टिभेदेन नासम्भवि एतत्। न्यायाधीशः श्रीवुड्रफमहाभागः सत्यमेव वदति यत् 'पाश्चिमात्याः यावत् स्वात्मानं भारतीयस्थितौ निवेश्य भारतीयज्ञानस्य अनुशीलनं न विधास्यन्ति, तावत् ते तस्य मौलिकं हार्दमभिप्रायं नावगमिष्यन्ती'ति—

"In giving an account of Indian beliefs and practices, We, who are foreigners, must place ourselves in the skin of the Hindu and must look at their doctrine and ritual through their eyes and not our own. It is difficult, I know for most to do this; but, until they can, their work lacks real value. And this is why, depsite their industry and learning, the accounts given by western authors of Eastern beliefs so generally fail to give their true meanings. Many I think do not even make an attempt. They look at the matter from the point of view of their own creed, or (What is much worse), racial prejudice may stand in their way of the admission of any excellence or superiority in a coloured people."—Shakti and Skakta 2nd edition. Preface, pp. viii and ix.

योगो मनोविज्ञानं च

श्रीमत्या गेरल्डाइनकोस्टर-महोदयया 'योगः पाश्चात्यमनोविज्ञानं च' विषयेऽस्मिन् पुस्तकमेकं लिखितमस्ति—Yoga and western psychology (योग एण्ड वैस्टर्न साइकोलाजी)। तया उच्यते यत्

पश्चिमदेशेषु योगस्य महती तृष्णा वर्तते। धर्मेण जना न तृप्यन्ति। अत एव ते योगमनुधावन्ति। सा लिखति—

"Yoga is of practical interest and value to those for whom religion in the ordinary sense of the world has no appeal."

किन्तु अत्र विदुष्या अनया 'वैराग्यम्' 'असन्तोष'त्वेन परिगृहीतम्। सा लिखति—

The sudent of yoga is necessarily one who is dissatisfied. With his own adaptation of life and to external work. He is likely to be one who suffers from the nesions fatigue, ill health and ill-success in ordinary life."

कीदृशी विडम्बनेयम्! श्रीमती कोस्टरमहोदया मनुते यत् 'जीवनेन असन्तुष्टो रुग्णोऽसफलो वा जनो योगे उन्मुखीभवती'ति। योगरहस्यं मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिदेव ज्ञातुं शक्तः। अद्यतनीयाः भौतिकवादिनो यदि नाम तं यथार्थतो ज्ञातुं न प्रभवन्ति चेत्, न तत्र किमपि विस्मयकरं वस्तु।

साम्प्रतं पाश्चात्त्यजगति मनोविज्ञानं सुबहु प्रगतमास्ते, किन्तु योगो नाम ततः कियदपि उच्चतमं वस्तु। पाश्चात्त्यविपश्चितोऽपि इदं स्वीकुर्वन्ति। डाक्टर वेहनानमहोदयः स्वीये 'योग'ग्रन्थे लिखति यत् 'योगो मनोविश्लेषणं च उभेऽपि मानवीय-चिकित्सापद्धती। किन्तु तयोः योगः उच्चतरं वस्तु' इति—

'Yoga and Pycho-analysis are both therapentic systems. Yoga goes much further than that.'

श्रीमती कोस्टर-महोदया लिखति—'मानसविकासस्य व्यावहारिकी पद्धतिर्नाम योगः। चिकित्सानिदानवद् व्यावहारिकोऽयम्। विश्वविद्यालय-

यीयो मनोविज्ञानपाठ्यक्रमो यावान् जीवनसम्बद्धः, योगस्ततोऽपि अतितरां जीवनेन सम्बद्धः। अतिविज्ञाः मानसचिकित्सका अद्यापि यानि वस्तूनि अन्वेषयन्ति, योगसूत्रे तानि पूर्वत एव समुल्लिखितानि सन्ति। योगस्य पद्धतिरियं वैज्ञानिकी वास्तविक्रप्रयोगाधृता चास्ति—

'Yoga is a practical method of mind development, as practical as analytical therapy and for more closely related to real life than overage University course of Psychology. Yoga-Sutras do contain information which the most advanced Psycho-therapists are seeking···The approach is Scientific and based on actual experiments."

—Yoga and Western Psychology PP. 245-246.

श्री डाक्टर विष्णु महादेव भट-महोदयेन युक्तमेव लिखितं यत् मनोविज्ञाने भारतीयमानसशास्त्ररूपे योगे च द्यावाभूम्नोः अन्तरं वर्तते। अस्य कारणद्वयम्—

(१) योगो हि चित्तनिरोधस्य शास्त्रम्। पाश्चिमात्यमनोविज्ञाने पुनः मनसि जायमानानां द्वन्द्वानां सङ्कर्षाणां च विवेचनमस्ति।

(२) योगे चित्तस्य ऐकाग्र्यं तन्निरोधश्च सर्वाधिकौ अभिमतौ। मनोविज्ञानस्य पुनः चित्तस्य अवस्थाद्वयेनानेन लेशतोऽपि न सम्बन्धः[1]।

चित्तस्य पञ्च अवस्थाः—१. क्षिप्ता, २. विक्षिप्ता, ३. मूढा, ४. एकाग्रता, ५. निरुद्धा चेति भेदात्। मनोविज्ञानं हि एतासामेव विवेचनं विश्लेषणं च विदधाति। ततोऽग्रेसरणं तत् न जानात्येव। किन्तु योगस्य आरम्भ एव ऐकाग्र्यस्थित्या जायते; धारणा-ध्यान-समाधिद्वारा च

१. वि० म० भट : यौगिक पावर्स एण्ड गॉड रियलाइजेशन, १९६०, पृ० ६३-६४।

स चित्तनिरोधसीमानमपि समाक्रामति। जीवस्य अन्तिमलक्ष्यभूतस्य कैवल्यस्य अयमेव पन्थाः।

अत एव कोस्टर-पालब्रंटन-सरअलेक्जेण्डर-केननप्रभृतयः पाश्चात्त्य-विपश्चित एकस्वरेण कथयन्ति यत् पाश्चिमात्यं मनोविज्ञानं यत्र परिसमाप्यते, तत एव भारतीयमनोविज्ञानस्य श्रीगणेशः—

Indian Psychology begins where Western Psychology ends.'[1]

वैज्ञानिकानां दृष्टिः

कतिपये वैज्ञानिकाः योगस्य चमत्काराणां गभीरमध्ययनं विदधति। तैः नैकैः प्रयोगैस्तेषां विश्लेषणं चेष्टितम्, अन्ते च योगस्य महत्त्वं प्रामाणिकतया स्वीकृतम्। एतेषु डाक्टर एलेक्सिस कारेल, हैरी प्राइस, प्रोफेसर जोरनेल, डाक्टर रिचेट, डाक्टर ओस्टी, सर ओलिवर लाज, सर विलियम क्रुक्स, डाक्टर जेम्स, डाक्टर राइन, डाक्टर मैकडूगल एवमाद्याः प्रमुखाः सन्ति[2]।

किन्तु वैज्ञानिकेष्वपि सङ्कुचितवृत्तीनां नाल्पता। एतादृशाः सत्यं सत्यत्वेन स्वीकर्तुं त्रसन्ति। अत एव वेकननामकेन पाश्चात्त्येन कदापि न स्वीकृतं यत् पृथ्वी सूर्यस्य परितः परिभ्रामतीति। एतदेव तत्त्वं प्रकटयितुं गैलीलियो-महाशयस्य कृते कारावासः समापतितः। सर विलियम बैरेट-महाशयेन 'ब्रिटिश एसोसियेशन'संस्थायाः पुरतः Thought Transference (विचाराणामेकतः अपरत्र परिनयनम्) विषये एको निबन्धः पठितः, परं संस्थया तया तस्य प्रकाशनं नानुमतम्। सर विलियमक्रुक्स-महाभागेन 'रायल सोसाइटी'-संस्थाया मन्त्री निवेदितो यत् स Psychical Research Society (साइकिकल रिसर्च सोसाइटी) संस्थायाः अधिवेशने समागच्छतु इति, परं यस्तेन सोऽनु-

१. वि० म० भट : यौगिक पावर्स एण्ड गॉड रियलाइजेशन, पृ० ६४।

२. तत्रैव, पृ० २२-२३।

रोधः सावहेलमस्वीकृतः। 'फिफ्टी ईयर्स ऑफ साइकिकल रिसर्च'-ग्रन्थस्य लेखकेन हैरीप्राइस-महोदयेन यदा 'लन्दन-विश्वविद्यालयः' अनुरुद्धो यत् भवत्संस्थाने विषयस्यास्य अन्वेषणव्यवस्था भाव्या इति, तदा 'लन्दन-टाइम्स'पत्रे 'भूतानामध्ययनम्' (chair in Ghosts) इत्युक्त्वा विचारस्यास्य उपहासोऽक्रियत।

किन्तु एतादृशाः सङ्कुचिता व्यवहारा न चिरस्थायिनः। अन्ते सत्यस्य प्रकटनं सुनिश्चप्रचम्। सम्प्रति यूरोपीयेषु अमेरिकीयेषु च नैकेषु विश्वविद्यालयेषु विषयाणामेतेषां सर्वेषां गवेषणस्य व्यवस्था सम्पन्ना, सम्पद्यते सम्पत्स्यते च। निखिलेऽपि विश्वस्मिन् पक्षपातशून्यज्ञानस्य गवेषणम् अद्यतनीयमावश्यकं वृत्तम्।

भारतीयोगस्य परिज्ञानं नितरां दुरूहम्। अद्यावधि पाश्चात्त्यैर्यथावत् एष नावगतः। विषय एवायम् एतादृशो यदस्य कृते भगवता श्रीकृष्णेन गीतायां स्फुटमुक्तम्—

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।' इति।

निरहङ्कारभावेन वास्तविक-जिज्ञासुवृत्त्यैव योगसदृशस्य दुरूह-विषयस्य अध्ययनं करणीयम्। 'थियासफी'-सम्प्रदायस्य मुख्यातैः विद्वद्भिः— मैडम ब्लावट्स्की, डाक्टर एनी बेसेंट, कर्नल अलकाट, पादरी लीडबीटर आदिभिः—योगविषयमधिकृत्य अनेके आश्चर्यप्रदा अनुभवाः समुल्लिखिताः। अर्नेस्टवुडसदृशैः कतिपयैः विद्वद्भिः विषयेऽत्र सुबहु प्रयतितम्। तेषां 'योग'–'प्रैक्टिकलयोग-'कन्सेण्ट्रेशन'-प्रभृतिग्रन्थेषु योग-सम्बद्धा अनेके साधीयांसो विचाराः सन्तीति प्रामाणिकतया अस्माभिः स्वीकरणीयम्। भ्रमश्च सद्भावपुरस्सरं निराकरणीयः। तदैव योगसदृशेन परमोपयोगिना शास्त्रेण मानवताया शुभं भवेदिति।

सम्पादकः, प्रकाशकः, मुद्रकश्च : गोविन्द नरहरि वैजापुरकरः,
श्रीभारतधर्ममहामण्डलम्,
जगतगंज, वाराणसी कैन्ट।

मुद्रण-स्थलम् : मनोहर प्रेस, जतनबर, वाराणसी।

आवरणपृष्ठमुद्रक : खण्डेलवाल प्रेस, वाराणसी।

मुखपृष्ठचित्रकार : वैजनाथ वर्मा, वाराणसी।

★ ★ ★

सूर्योदयस्य नियमाः

१. 'सूर्योदय-मासिकपत्रस्य वार्षिकं मूल्यं धनादेश (मनीआर्डर)-द्वारैव प्रेषणीयम्। वी० पी० द्वारा प्रेषणे ५० पणाः पृथक् प्रदेयाः स्युः।

२. आवर्षं गम्भीरसाहित्यसमन्विताः १२ अङ्काः प्रकाश्यन्ते। नवीन-ग्राहकत्वं प्रथमाङ्कतः (जनवरी-अंकतः) एव स्वीकृतं भवति। माध्य-मिकेन केनापि अङ्केन ग्राहकत्वं न स्वीक्रियेत।

३. आंग्लमासस्य प्रथमदिनाङ्के 'सूर्योदयः' प्रकाशितो भवति, परं तत्प्रेषणं द्वित्रदिवसैः अर्वागेव जायते। वारद्वयं संशोध्य ग्राहकेभ्यः स प्रेष्यते। अतस्तदलाभे पूर्वं स्वकीय-पत्रालयतस्तदनागमनस्य निश्चयं कृत्वैव १० दिनाङ्कानन्तरं वयं सूचनीयाः।

४. लेख-कवितादीनां भाषा संयता, सरला, शुद्धा च भाव्या। प्रकाश-नीय-लेखादीनां स्पष्टाक्षरैः कर्गजस्यैकपृष्ठे एव लेखनमावश्यकम्। अस्वीकृता लेखादयः पोस्टविभागीय--चिटिका (टिकट)-प्राप्त्यनन्तरं परावर्तयितुं शक्यन्ते।

५. सूर्योदय'स्य वार्षिकं शुल्कं रूप्यकपञ्चकं वर्तते।

६. सूर्योदय-सम्बद्धः कीदृशोऽपि पत्र-व्यवहारः 'सूर्योदय-कार्या ध्यः, श्रीभारतधर्ममहामण्डलम्, जगत्गंज, वाराणसी' इति क्लेतेन करणीयः। सम्पादकीय-विषयसम्बद्धे पत्र-व्यवहारे 'सम्पादकः' इति, व्यवस्थाविभागीय-पत्रव्यवहारे च 'व्यवस्थापकः' इति च स्पष्टं लेखनीयम्। तेन उत्तरलाभे मुधा विलम्बो न भवेत्।

सुर्योदय-कार्यालय :
भारत धर्म महामण्डलम्
जगत्गंज वाराणसी।

कल्याण

उपनिषद् अंक

वर्ष २३] [अङ्क १

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय ।
उमा रमा ब्रह्माणी जय जय, राधा सीता रुक्मिणि जय जय ॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर ।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर ॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जय-जय दुर्गा, जय मा तारा । जय गणेश, जय शुभ-आगार ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । गौरी-शंकर सीता-राम ॥
जय रघुनन्दन जय सिया-राम । व्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीता-राम ॥

कोई सज्जन विज्ञापन भेजनेका कष्ट न उठावें ।

कल्याणमें बाहरके विज्ञापन नहीं छपते ।

समालोचनार्थ पुस्तकें कृपया न भेजें ।

कल्याणमें समालोचनाका स्तम्भ नहीं है ।

वार्षिक मूल्य
भारतमें ६॥)
विदेशमें ८॥=)
(१२ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

इस अङ्कका
मूल्य १॥)
विदेशमें ८॥=)
(१२ शिलिङ्ग)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

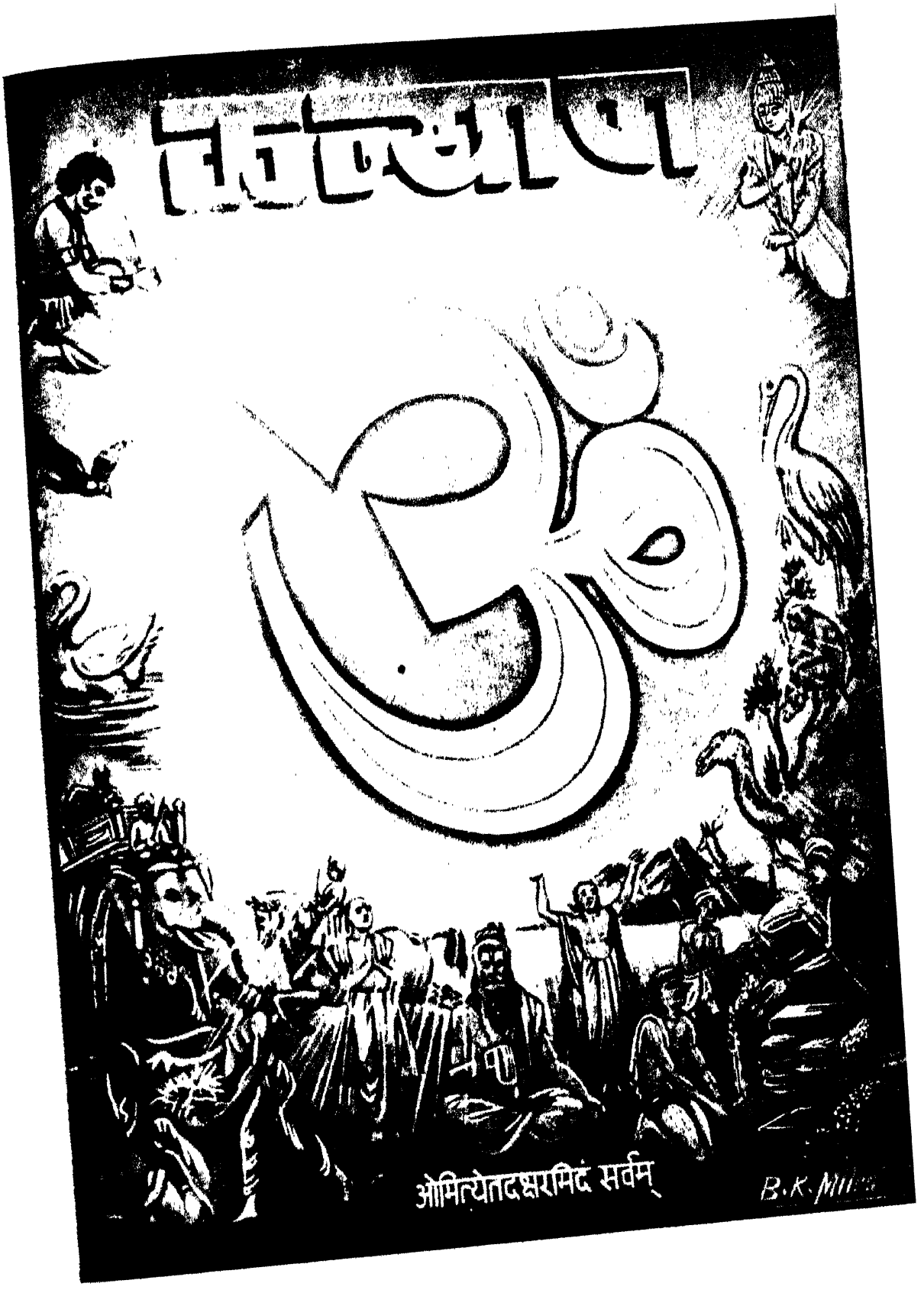
ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्

कल्याण-प्रेमियों तथा ग्राहकोंसे निवेदन

१- इस 'उपनिषद्-अङ्क'में चित्रोंसमेत सब मिलाकर करीब ८३० पृष्ठ दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त ३ बड़े साइजके यन्त्र हैं। रंगीन चित्र जितने सम्भव थे, दिये गये हैं।

२- जिन सज्जनोंके रुपये मनीआर्डरद्वारा आ गये होंगे, उनके अङ्क जानेके बाद शेष ग्राहकोंके नाम वी० पी० भेजी जा सकेगी। अतः जिनको ग्राहक न रहना हो, वे कृपा करके मनाहीका एक कार्ड तुरंत डाल दें ताकि वी० पी० भेजकर 'कल्याण' को व्यर्थका नुकसान न उठाना पड़े। उनके दो पैसेके खर्चसे 'कल्याण' के कई आने बच जायँगे। आशा है, पुराने सम्बन्धके नाते वे इतना त्याग अवश्य स्वीकार करेंगे।

३- इस विशेषाङ्कका अलग मूल्य भी ६॥) ही है। अतः पूरे वर्षके लिये ही ग्राहक बनना चाहिये। आजकल नये-नये उपद्रव तथा अशान्तिके कारण बन रहे हैं। इसलिये यदि किसी कारणवश आगेके अङ्क पूरे वर्षतक न भेजे जा सकें तो जितने अङ्क पहुँचें, उतनेमें ही मूल्य पूरा समझनेकी कृपा करें।

४ मनीआर्डर-कूपनमें अपना पता और ग्राहक-नंबर जरूर लिखें। ग्राहक-नंबर याद न हो तो कम-से-कम 'पुराना ग्राहक' अवश्य लिख दें। नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' लिखनेकी कृपा करें।

५ ग्राहक-नंबर न लिखनेसे आपका नाम 'नये ग्राहकों'में दर्ज हो जायगा। इससे आपकी सेवामें 'उपनिषद्-अङ्क' नये नंबरोंसे पहुँच जायगा और पुराने नंबरकी वी० पी० दुबारा जायगी। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आपने रुपये भेजे हों और उनके हमारे पास पहुँचनेके पहले ही आपके नाम वी० पी० चली जाय। दोनों ही सूरतोंमें आपसे यह प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक वी० पी० लौटावें नहीं, चेष्टा करके कृपया नया ग्राहक बनाकर उनके नाम-पते साफ-साफ हमें लिखनेकी कृपा करें। आप ऐसा करेंगे तो आपका 'कल्याण' नुकसानसे बचेगा और आप 'कल्याण' के प्रचारमें सहायता करके पुण्यके भागी बनेंगे। अगर नया ग्राहक न मिले तो वी० पी० नहीं छुड़ानी चाहिये।

६ 'उपनिषद्-अङ्क' सब ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड पोस्टसे जायगा। सब अङ्कोंके जानेमें लगभग दो महीने लग जाते हैं; क्योंकि पोस्ट-आफिसवाले प्रतिदिन अधिक संख्यामें रजिस्टर्ड पैकेट नहीं ले पाते। इसलिये ग्राहक महोदयोंकी सेवामें विशेषाङ्क क्रमसे जायगा। परिस्थिति समझकर कृपालु ग्राहकोंको हमें क्षमा करना चाहिये और धैर्य रखना चाहिये।

७- जिन कल्याण-प्रेमी महानुभावोंने 'कल्याण'के नये ग्राहक बनाये हैं और बना रहे हैं, उनके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। इस बार कल्याण-प्रेमी सज्जनोंको 'कल्याण'के नये ग्राहक बनानेकी फिर सफल चेष्टा करनी चाहिये। धर्मपर इस समय बड़ी विपत्ति आयी हुई है। ऐसे समयमें शुद्ध धर्म-सेवा समझकर 'कल्याण'का प्रचार बढ़ानेमें सभीको सहायक होना चाहिये।

गीताप्रेस पोस्ट-आफिस अब 'डिलेवरी आफिस' हो गया है। अतः 'कल्याण' व्यवस्था-विभाग तथा सम्पादन-विभाग और 'गीताप्रेस' तथा 'गीता-रामायण-परीक्षा-समिति'के नाम भेजे जानेवाले सभी पत्र, पारसल, पैकेट, रजिस्ट्री, बीमा आदिपर केवल गोरखपुर न लिखकर पो० गीताप्रेस (गोरखपुर) इस प्रकार लिखना चाहिये।

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

॥ श्रीहरिः ॥

उपनिषद्-अङ्कको विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

१—उपनिषद् (पूज्य श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य अनन्तश्रीविभूषित श्रीमज्ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराज) ··· ५

२—उपनिषदोंका एक अर्थ है, एक परमार्थ है (श्रीकाञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्यजी महाराज) ··· ९

३—उपनिषदोंकी श्रेष्ठता (श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीद्वारकाशारदापीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्रीअभिनवसच्चिदानन्दतीर्थजी महाराज) ··· १३

४—उपनिषदुक्त ज्ञानसे ही सच्ची शान्ति (श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमद्रसालपुरवराधीश्वर अनन्तश्री स्वामीजी श्रीपुरुषोत्तम नरसिंह भारतीजी महाराज) ··· ··· १७

५—उपनिषद्का तात्पर्य (श्री १००८ श्रीपूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज) ··· १८

६—अपौरुषेयताका अभिप्राय (स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज) ··· २१

७—उपनिषद्का अमर उपदेश (माननीय गवर्नर-जनरल चक्रवर्ती श्रीराजगोपालाचारी महोदय) २६

८—दार्शनिक ज्ञानका मूल स्रोत (माननीय पं० श्रीगोविन्दवल्लभजी पन्त, प्रधान मन्त्री, युक्तप्रदेश) २६

९—उपनिषदोंका आध्यात्मिक प्रभाव (बिहारके गवर्नर माननीय श्री एम्० एस्० अणे महोदय) २६

१०—गीतोपनिषद्की श्रेष्ठता और उसके कारण (माननीय डा० श्रीकैलासनाथजी काटजू, गवर्नर, बंगप्रान्त) ··· ··· २७

११—उपनिषदोंमें सनातन सत्य (माननीय पं० श्रीरविशङ्करजी शुक्ल, प्रधान मन्त्री, मध्यप्रान्त-बरार) ··· ··· २९

१२—उपनिषद् और कर्तव्याकर्तव्यविवेक (माननीय बाबू श्रीसम्पूर्णानन्दजी, शिक्षा-सचिव, युक्तप्रान्त) ३०

१३—उपनिषद्की दिव्य शिक्षा (आचार्य श्रीअक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय, एम्० ए०) ··· ३६

पृष्ठ-संख्या

१४—उपनिषद्-रहस्य (आचार्य श्रीक्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, एम्० ए०) ··· ··· ४१

१५—उपनिषद्में ज्ञानकी पराकाष्ठा (महामहोपाध्याय शास्त्ररत्नाकर पं० श्री अ० चिन्नस्वामी शास्त्री) ४९

१६—ब्रह्मविद्या (श्रीमज्जगद्गुरु श्रीरामानुजसम्प्रदायाचार्य आचार्यपीठाधिपति श्रीराघवाचार्यजी स्वामी महाराज) ··· ··· ५४

१७—उपनिषत्तत्त्व (श्रीमहामण्डलेश्वर एक साधु-सेवक) ५६

१८—औपनिषद-सिद्धान्त (श्रीश्रीस्वामीजी श्रीविशुद्धानन्दजी परिव्राजक) ··· ··· ५८

१९—उपनिषत्तत्त्व (पं० श्रीज्ञानकीनाथजी शर्मा) ६०

२०—तैत्तिरीयोपनिषद् और ब्रह्मसूत्र (प्रो० पं० श्रीजीवनशङ्करजी याज्ञिक, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· ··· ६४

२१—उपनिषदोंका सारसर्वस्व ब्रह्मसूत्र (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, आचार्य) ६७

२२—उपनिषदोंमें भेद और अभेद उपासना (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ६८

२३—ईशोपनिषद्में 'शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' (श्री १००८ स्वामीजी महाराज) ··· ७८

२४—ब्रह्म और ईश्वरसम्बन्धी औपनिषदिक विचार (दीवानबहादुर श्री के० एस्० रामस्वामी शास्त्री) ८१

२५—पाश्चात्य विद्वानोंपर उपनिषदोंका प्रभाव (श्रीयुत वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, एम्० ए०) ··· ८५

२६—उपनिषदोंमें औदार्य (महामहोपाध्याय डा० पी० के० आचार्य, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०) ··· ··· ८७

२७—उपनिषद् और अद्वैतवाद (पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी, वेदान्तशास्त्री) ··· ८९

२८—उपनिषदोंका नवीन वैज्ञानिक तथ्य (पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा) ··· ··· ९४

२९—उपनिषद् और रामानुजवेदान्तदर्शन (वेदान्ताचार्य पं० श्रीरामकृष्णजी शास्त्री, बी० ए०) ··· ··· ९७

३०—उपनिषद् गुरुवाक्य है (श्रीदक्षमती श्रोत्रिय, एम्० ए०, साहित्याचार्य, विद्याभूषण) ९९

पृष्ठ-संख्या

३१–गीतोपनिषद् (स्वामी श्रीराजेश्वरानन्दजी) ··· १०१
३२–जीवात्मा और परमात्माकी एकता (पण्डित श्रीहरिकृष्णजी झा, व्याकरण-वेदान्ताचार्य, वेद-शास्त्री, साहित्यालङ्कार) ··· ··· १०३
३३–पाश्चात्य पण्डितोंपर उपनिषद्का प्रभाव (श्रीरासमोहन चक्रवर्ती, पी-एच्० बी०, पुराण-रत्न, विद्याविनोद) ··· ··· १०४
३४–उपनिषदोंमें वाक्का स्वरूप (पं० श्रीरामसुरेशजी त्रिपाठी, एम्० ए०) ··· १०६
३५–वैष्णव-उपनिषद् (पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य) ··· १०९
३६–औपनिषद आत्मतत्त्व (याज्ञिक पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य, वेदरत्न) ··· ११२
३७–उपनिषदोंका महत्त्व और उद्देश्य (श्रीताराचन्द्रजी पाण्ड्या, बी० ए०) ··· ··· ११८
३८–उपनिषद्-ग्रन्थोंका रचनाकाल (ज्यो० भू० पं० श्रीइन्द्रनारायणजी द्विवेदी) ··· ११९
३९–वेदों और उपनिषदोंमें मांस-भक्षण और अश्लीलता नहीं है (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायण-दत्तजी शास्त्री 'राम') ··· ··· १२१
४०–उपनिषद्में युगल स्वरूप ··· ··· १२८
४१–उपनिषदोंसे मैंने क्या सीखा ? (पं० श्रीहरिभाऊजी उपाध्याय) ··· ··· १३२
४२–उपनिषद्की व्युत्पत्ति और अर्थ (पं० श्रीगोविन्दनारायणजी आसोपा, बी० ए०) ··· १३२
४३–कल्याण-मार्ग (श्रीयोगेन्द्रनाथजी, बी० एस्-सी०) १३३
४४–भगवान् श्रीरामचन्द्र और औपनिषद ब्रह्म (पं० श्रीरामकिङ्करजी उपाध्याय) ··· १४१
४५–भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और औपनिषद ब्रह्म ··· १४७
४६–उपनिषत् (श्रीसुदर्शनसिंहजी) ··· १५२
४७–उपलब्ध उपनिषद्-ग्रन्थोंकी सूची ··· १५३
४८–उपनिषद् हिंदू-जातिके प्राण हैं (भक्त रामशरणदासजी) ··· ··· १५६
४९–बृहदारण्यकोपनिषद्में ऐतिहासिक अध्ययनकी सामग्री (आचार्य बी० आर० श्रीरामचन्द्र दीक्षितार, एम्० ए०) ··· ··· १५८
५०–ईशावास्योपनिषद् ··· ··· १६१
५१–केनोपनिषद् ··· ··· १७२
(१) प्रथम खण्ड ··· ··· १७२
(२) द्वितीय खण्ड ··· ··· १७५
(३) तृतीय खण्ड ··· ··· १७७
(४) चतुर्थ खण्ड ··· ··· १८१
५२–कठोपनिषद् ··· ··· १८५
(१) प्रथम अध्याय ··· ··· १८५
१. प्रथम वल्ली ··· ··· १८५
२. द्वितीय वल्ली ··· ··· १९५
३. तृतीय वल्ली ··· ··· २०६
(२) द्वितीय अध्याय ··· ··· २१५
१. प्रथम वल्ली ··· ··· २१५
२. द्वितीय वल्ली ··· ··· २२१
३. तृतीय वल्ली ··· ··· २२६
५३–प्रश्नोपनिषद् ··· ··· २३४
(१) प्रथम प्रश्न ··· ··· २३५
(२) द्वितीय प्रश्न ··· ··· २४१
(३) तृतीय प्रश्न ··· ··· २४५
(४) चतुर्थ प्रश्न ··· ··· २४९
(५) पञ्चम प्रश्न ··· ··· २५४
(६) षष्ठ प्रश्न ··· ··· २५७
५४–मुण्डकोपनिषद् ··· ··· २६२
(१) प्रथम मुण्डक ··· ··· २६२
१. प्रथम खण्ड ··· ··· २६२
२. द्वितीय खण्ड ··· ··· २६६
(२) द्वितीय मुण्डक ··· ··· २७२
१. प्रथम खण्ड ··· ··· २७२
२. द्वितीय खण्ड ··· ··· २७६
(३) तृतीय मुण्डक ··· ··· २८०
१. प्रथम खण्ड ··· ··· २८०
२. द्वितीय खण्ड ··· ··· २८४
५५–माण्डूक्योपनिषद् ··· ··· २८९
५६–ऐतरेयोपनिषद् ··· ··· २९७
(१) प्रथम अध्याय ··· ··· २९८
१. प्रथम खण्ड ··· ··· २९८
२. द्वितीय खण्ड ··· ··· ३००
३. तृतीय खण्ड ··· ··· ३०२
(२) द्वितीय अध्याय ··· ··· ३०७
(३) तृतीय अध्याय ··· ··· ३१०

पृष्ठ-संख्या

१२. अश्वपति और औपमन्यवका संवाद ··· ४३७
१३. अश्वपति और सत्ययज्ञका संवाद ··· ४३७
१४. अश्वपति और इन्द्रद्युम्नका संवाद ··· ४३७
१५. अश्वपति और जनका संवाद ··· ४३७
१६. अश्वपति और बुडिलका संवाद ··· ४३८
१७. अश्वपति और उद्दालकका संवाद ··· ४३८
१८. अश्वपतिका वैश्वानर आत्माके सम्बन्धमें उपदेश ··· ··· ४३८
१९. 'प्राणाय स्वाहा' से पहली आहुति ··· ४३८
२०. 'व्यानाय स्वाहा' से दूसरी आहुति ··· ४३८
२१. 'अपानाय स्वाहा' से तीसरी आहुति ४३९
२२. 'समानाय स्वाहा' से चौथी आहुति ४३९
२३. 'उदानाय स्वाहा'से पाँचवीं आहुति ४३९
२४. भोजनकी अग्निहोत्रत्वसिद्धिके लिये इस प्रकार हवन करनेका फल ··· ४३९

(६) षष्ठ अध्याय ··· ··· ४४०
१. आरुणिका अपने पुत्र श्वेतकेतुसे प्रश्न ४४०
२. सत्‌रूप परमात्मासे जगत्‌की उत्पत्ति ··· ४४०
३. आण्डज, जीवज और उद्भिज्जरूपमें त्रिविध सृष्टि ··· ··· ४४०
४. त्रिवृत्करण ··· ··· ४४१
५. मन अन्नमय, प्राण जलमय और वाक् तेजोमय है ··· ··· ४४१
६. मथे जाते हुए दहीका दृष्टान्त ··· ४४१
७. मनकी अन्नमयताका निश्चय ··· ४४२
८. सत्—आत्मा ही सबका मूल है ··· ४४२
९. मधुका दृष्टान्त ··· ··· ४४३
१०. नदियोंका दृष्टान्त ··· ··· ४४३
११. वृक्षका दृष्टान्त ··· ··· ४४३
१२. वट-बीजका दृष्टान्त ··· ··· ४४३
१३. नमकका दृष्टान्त ··· ··· ४४४
१४. आँख बँधे हुए पुरुषका दृष्टान्त ··· ४४४
१५. मुमूर्षुका दृष्टान्त ··· ··· ४४४
१६. मिथ्या ज्ञानी और सच्चे ज्ञानीकी पहचान ··· ··· ४४५

(७) सप्तम अध्याय ··· ··· ४४६
१. नामकी ब्रह्मरूपमें उपासना ··· ४४६
२. वाक्‌की ,, ,, ··· ४४६
३. मनकी ब्रह्मरूपमें उपासना ··· ४४६
४. सङ्कल्पकी ,, ,, ··· ४४७
५. चित्तकी ,, ,, ··· ४४७
६. ध्यानकी ,, ,, ··· ४४७
७. विज्ञानकी ,, ,, ··· ४४८
८. बलकी ,, ,, ··· ४४८
९. अन्नकी ,, ,, ··· ४४८
१०. जलकी ,, ,, ··· ४४९
११. तेजकी ,, ,, ··· ४४९
१२. आकाशकी ,, ,, ··· ४४९
१३. स्मरणकी ,, ,, ··· ४४९
१४. आशाकी ब्रह्मरूपसे उपासना ··· ४५०
१५. प्राणकी ,, ,, ··· ४५०
१६. सत्य ही विशेषरूपसे जिज्ञास्य है ··· ४५०
१७. विज्ञान ही ,, ,, ··· ४५०
१८. मति ही ,, ,, ··· ४५१
१९. श्रद्धा ही ,, ,, ··· ४५१
२०. निष्ठा ही ,, ,, ··· ४५१
२१. कृति ही ,, ,, ··· ४५१
२२. सुख ही ,, ,, ··· ४५१
२३. भूमा ही ,, ,, ··· ४५१
२४. भूमा ही अमृत है ··· ··· ४५१
२५. भूमा ही सर्वत्र सब कुछ और आत्मा है ··· ··· ४५२
२६. आत्मदर्शनसे सबकी प्राप्ति; आहारशुद्धि-से क्रमशः अविद्याकी निवृत्ति ··· ४५२

(८) अष्टम अध्याय ··· ··· ४५३
१. आत्मा ही सत्य है ··· ··· ४५३
२. आत्मज्ञानीकी सङ्कल्पसिद्धि ··· ४५३
३. ब्रह्मकी प्राप्तिसे सबकी प्राप्ति, ब्रह्म हृदयमें ही है ··· ··· ४५४
४. आत्माकी महिमा और ब्रह्मचर्यसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति ··· ४५४
५. ब्रह्मचर्यकी महिमा ··· ४५४
६. हृदयगत नाडियाँ ही उत्क्रमणका मार्ग हैं ४५५
७. इन्द्र और विरोचनको प्रजापतिका उपदेश ··· ··· ४५५
८. विरोचनका भ्रमपूर्ण सिद्धान्त लेकर लौट जाना ··· ··· ४५६

पृष्ठ-संख्या

९. इन्द्रका प्रजापतिके पास पुनः आगमन और प्रश्न ४५६
१०. स्वप्नके दृष्टान्तसे आत्माके स्वरूपका कथन ४५६
११. इन्द्र एक सौ एक वर्षके ब्रह्मचर्यके बाद उपदेशके अधिकारी हुए ... ४५७
१२. इन्द्रके प्रति प्रजापतिका उपदेश ... ४५७
१३. श्याम ब्रह्मसे शबल ब्रह्मकी प्राप्तिका उपदेश ४५८
१४. आकाशनामक ब्रह्मका उपदेश ... ४५८
१५. आत्मज्ञानकी परम्परा, नियम और उसका फल ४५८

६०. बृहदारण्यकोपनिषद् ४५९
(१) प्रथम अध्याय ४५९
१. यज्ञकी अश्वके रूपमें कल्पना ... ४५९
२. प्रलयके अनन्तर सृष्टिकी उत्पत्ति ... ४५९
३. प्राण-महिमा ४६०
४. ब्रह्मकी सर्वरूपता और चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि ४६३
५. अन्नकी उत्पत्ति और उपासना; मन, वाणी और प्राणके रूपमें सृष्टिका विभाग ४६५
६. नाम-रूप और कर्म ... ४६८
(२) द्वितीय अध्याय ४६९
१. गार्ग्य और अजातशत्रुका संवाद; अजातशत्रुका गार्ग्यको आत्माका स्वरूप समझाना ४६९
२. शिशु नामसे मध्यम प्राणकी उपासना ... ४७०
३. ब्रह्मके दो रूप ४७१
४. याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद; याज्ञवल्क्यका मैत्रेयीको अमृतत्वके साधनरूपमें परमात्मतत्त्वका उपदेश ... ४७१
५. मधु-विद्याका उपदेश; आत्माका विविध रूपोंमें वर्णन ४७३
६. मधु-विद्याकी परम्पराका वर्णन ... ४७४
(३) तृतीय अध्याय ४७६
१. जनकके यज्ञमें याज्ञवल्क्य और अश्वलका संवाद ४७६
२. याज्ञवल्क्य और आर्तभागका संवाद ... ४७७
३. याज्ञवल्क्य और लाह्यायनि भुज्युका संवाद ४७८

पृष्ठ-संख्या

४. याज्ञवल्क्य और चाक्रायण उषस्तका संवाद ४७८
५. याज्ञवल्क्य और कहोलका संवाद; ब्रह्म और आत्माकी व्याख्या ... ४७८
६. याज्ञवल्क्य और गार्गीका संवाद ... ४७९
७. याज्ञवल्क्य तथा आरुणि उद्दालकका संवाद; आत्माके स्वरूपका वर्णन ... ४७९
८. याज्ञवल्क्य-गार्गीका संवाद; अक्षरके नामसे आत्मस्वरूपका वर्णन ... ४८१
९. याज्ञवल्क्य-शाकल्यका संवाद और याज्ञवल्क्यकी विजय ४८२
(४) चतुर्थ अध्याय ४८६
१. जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद ... ४८६
२. याज्ञवल्क्यका जनकको उपदेश ... ४८८
३. याज्ञवल्क्यके द्वारा आत्माके स्वरूपका कथन ४८८
४. कामना-नाशसे ब्रह्म-प्राप्ति ... ४९१
५. याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद ... ४९४
६. याज्ञवल्कीय काण्डकी परम्परा ... ४९५
(५) पञ्चम अध्याय ४९७
१. आकाशकी ब्रह्मरूपमें उपासना ... ४९७
२. 'द-द-द'से दम, दान और दयाका उपदेश ४९७
३. हृदयकी ब्रह्मरूपसे उपासना ... ४९७
४. सत्यकी ब्रह्मरूपसे उपासना ... ४९७
५. सत्यकी आदित्यरूपमें उपासना ... ४९८
६. मनोमय पुरुषकी उपासना ... ४९८
७. विद्युत्‌की ब्रह्मरूपमें उपासना ... ४९८
८. वाक्‌की धेनुरूपमें उपासना ... ४९८
९. अन्तरस्थ वैश्वानर अग्नि ... ४९८
१०. मरणोत्तर ऊर्ध्वगतिका वर्णन ... ४९९
११. व्याधिमें और मृतपुरुषके श्मशान-गमन आदिमें तपकी भावनाका फल ... ४९९
१२. अन्न एवं प्राणकी ब्रह्मरूपसे उपासना ४९९
१३. प्राणकी विविध रूपोंमें उपासना ... ४९९
१४. गायत्री-उपासना ५००
१५. अन्तसमयकी प्रार्थना ... ५०१
(६) षष्ठ अध्याय ५०२
१. प्राणकी सर्वश्रेष्ठता ५०२

पृष्ठ-संख्या

२. पञ्चाग्निविद्या और उसे जाननेका फल; त्रिविध गतिका वर्णन ... ५०३
३. मन्थ-विद्या और उसकी परम्परा ... ५०५
४. सन्तानोत्पत्ति-विज्ञान ५०६
५. समस्त प्रवचनकी परम्पराका वर्णन ... ५०९

६१-कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् ... ५११
(१) प्रथम अध्याय ५११
पर्यङ्क-विद्या ५११
(२) द्वितीय अध्याय ५१५
प्राणोपासना ५१५
आध्यात्मिक अग्निहोत्र ... ५१६
विविध उपासनाओंका वर्णन ... ५१७
दैवपरिमररूपमें प्राणकी उपासना ... ५१९
मोक्षके लिये सर्वश्रेष्ठ प्राणकी उपासना ५२०
प्राणोपासकका सम्प्रदान-कर्म ... ५२१
(३) तृतीय अध्याय ५२३
इन्द्र-प्रतर्दन-संवाद; प्रज्ञास्वरूप प्राणकी महिमा ५२३
(४) चतुर्थ अध्याय ५२७
अजातशत्रु और गार्ग्यका संवाद ... ५२७

६२-श्रीरामपूर्वतापनीयोपनिषद् ... ५३१
१. राम-नामके विविध अर्थ; भगवान्‌के साकार तत्त्वकी व्याख्या; मन्त्र एवं यन्त्रका माहात्म्य ५३१
२. श्रीरामके स्वरूपका कथन; राम-बीजकी व्याख्या ५३२
३. राम-मन्त्रकी व्याख्या; जपकी प्रक्रिया तथा ध्यान ५३२
४. षडक्षर-मन्त्रका स्वरूप; भगवान् श्रीरामका स्तवन ५३३
५. खरके वधसे लेकर वाली-वधतकका संक्षिप्त चरित्र ५३४
६. शेष चरित्रका संक्षिप्त वर्णन; आवरण-पूजाके लिये यन्त्रस्थ देवताओंका निरूपण ... ५३४
७. पूजा-यन्त्रका विस्तृत वर्णन ... ५३६
८. पूजा-यन्त्रके अगले अङ्गोंका वर्णन ... ५३६
९. पूजा-यन्त्रके शेषभागका वर्णन तथा श्रीरामके माला-मन्त्रका स्वरूप एवं माहात्म्य ... ५३७
१०. पूजाकी सविस्तर विधि ५३८

पृष्ठ-संख्या

६३-श्रीरामोत्तरतापनीयोपनिषद् ... ५४२
काशी एवं तारक-मन्त्रकी महिमा; ॐकार-रूप पुरुषोत्तम रामके चार पाद ... ५४२

६४-गोपालपूर्वतापनीयोपनिषद् ... ५५१
१. श्रीकृष्णका परब्रह्मत्व, उनका ध्यान करने-योग्य रूप तथा अष्टादशाक्षर मन्त्र ... ५५१
२. श्रीकृष्णोपासनाकी विधि तथा यन्त्र-निर्माणका प्रकार ५५२
३. अष्टादशाक्षरका अर्थ ५५५
४. गोपाल-मन्त्रके जपकी महिमा; उससे गो-लोक-धामकी प्राप्ति ५५६
५. श्रीकृष्णका स्वरूप एवं उनका स्तवन ... ५५६

६५-गोपालोत्तरतापनीयोपनिषद् ... ५५९
राधा आदि गोपियोंका दुर्वासासे संवाद; दुर्वासाके द्वारा श्रीकृष्णके स्वरूपका वर्णन ... ५५९

६६-नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद् ... ५६७
१. नरसिंह-मन्त्रराजकी महिमा तथा उसके अङ्गोंका वर्णन ५६७
२. मन्त्रराजकी शरण लेनेका फल; उसके अङ्गोंका विशद वर्णन; न्यासकी विधि तथा मन्त्रके प्रत्येक पदकी व्याख्या ५६९
३. मन्त्रराज आनुष्टुभकी शक्ति तथा बीज ... ५७३
४. मन्त्रराज आनुष्टुभके अङ्गभूत मन्त्र; प्रणव-वाच्यरूप भगवान् नृसिंहदेवके चार पाद; स्तुतिके मन्त्र ५७३
५. आनुष्टुभ मन्त्रराजके सुदर्शननामक महाचक्रका वर्णन; मन्त्रराजके जपका फल ... ५७७

६७-नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद् ... ५८०
(१) 'ॐ' नामसे परमात्म-तत्त्वका तथा उसके चार पादोंका वर्णन; चौथे पादके चार भेद ... ५८०
(२) परमात्माके चार पादोंकी ओंकारकी मात्राओंके साथ एकता; मन्त्रराज आनुष्टुभके द्वारा तुरीय परमात्माका ज्ञान ... ५८२
३. अनुष्टुपमन्त्रराजके पादोंके अलग-अलग जप तथा ध्यानकी विधि ५८५
४. अपने आत्माका पहले तुरीय-तुरीयरूपमें और पीछे भगवान् नृसिंहके रूपमें ध्यान करके ब्रह्मके साथ अपने-आपको एकीभूत करनेकी विधि ५९१

पृष्ठ-संख्या

५. अनुष्टुप्-मन्त्रका ओंकारमें अन्तर्भाव करके उसीके द्वारा परमात्माके चिन्तनकी विधि ··· ५९२
६. अपने-आपको प्रणवके वाच्यार्थ परब्रह्ममें विलीन करनेकी विधि ··· ··· ५९४
७. परमात्मा तथा आत्माकी एकताका अनुभव एवं चिन्तन करनेका प्रकार ··· ५९५
८. भयरहित ब्रह्मरूप हो जानेकी विधि ··· ५९७
९. प्रणवके द्वारा आत्माको जानकर साक्षिरूपसे स्थित होनेकी विधि ··· ··· ५९९

६८–महोपनिषद् ··· ··· ६०३
१. सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन ··· ६०३
२. शुकदेवजीको आत्माके सम्बन्धमें जनकका उपदेश; जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिका स्वरूप ६०४
३. निदाघके वैराग्यपूर्ण उद्गार ··· ६०७
४. निदाघके प्रति उनके पिता ऋभुका उपदेश ··· ६०९
५. ऋभुका उपदेश चालू, अज्ञान एवं ज्ञानकी सात भूमिकाएँ ··· ··· ६१४
६. ऋभुका उपदेश चालू ··· ··· ६२०

६९–मुक्तिकोपनिषद् ··· ··· ६२३
१. श्रीराम और हनुमान्‌का संवाद, वेदान्तकी महिमा, मुक्तिके भेद, १०८ उपनिषदोंकी नामावली तथा वेदोंके अनुसार विभाग, उपनिषदोंके पाठका माहात्म्य तथा उनके श्रवणके अधिकारी ··· ··· ६२३
२. जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्तिका स्वरूप, उनके होनेमें प्रमाण, उनकी सिद्धिका उपाय तथा प्रयोजन ··· ··· ··· ६२६

७०–गर्भोपनिषद् ··· ··· ६३०
गर्भकी उत्पत्ति एवं वृद्धिके प्रकार ··· ६३०

७१–कैवल्योपनिषद् ··· ··· ६३२
आत्माका स्वरूप तथा उसे जाननेका उपाय ··· ६३२

७२–कठरुद्रोपनिषद् ··· ··· ६३४
संन्यासकी विधि और आत्मतत्त्वका वर्णन ··· ६३४

७३–रुद्रहृदयोपनिषद् ··· ··· ६३७
भगवान् रुद्रकी सर्वश्रेष्ठता, सर्वस्वरूपता और ब्रह्मस्वरूपता ··· ··· ६३७

७४–नीलरुद्रोपनिषद् ··· ··· ६४०
भगवान् नीलरुद्रकी महिमा और शिव-विष्णुकी एकता ··· ··· ६४०

७५–सरस्वतीरहस्योपनिषद् ··· ··· ६४२
दस बीजमन्त्रोंसे युक्त ऋग्वेदके मन्त्रोंसे सरस्वती देवीकी स्तुति, उसका फल; नाम-रूप-

पृष्ठ-संख्या

के सम्बन्धसे ब्रह्मकी जगत्-स्वरूपता और समाधिका वर्णन ··· ··· ६४२

७६–देव्युपनिषद् ··· ··· ६४६
देवीकी ब्रह्मस्वरूपता, देवताओंद्वारा देवीकी स्तुति, देवी-महिमा और इसके पाठका फल ··· ६४६

७७–बह्वृचोपनिषद् ··· ··· ६४९
देवीसे सबकी उत्पत्ति और देवीकी ब्रह्मरूपता ६४९

७८–सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् ··· ६५०
१. श्रीमहालक्ष्मीका श्रीसूक्तके अनुसार ध्यान, न्यास, पूजन और यन्त्रकी विधि ··· ६५०
२. योगसम्बन्धी उपदेश ··· ६५२
३. नवचक्र-विवेक ··· ··· ६५३
४. श्रीसूक्त ··· ··· ६५५

७९ सीतोपनिषद् ··· ··· ६५७
श्रीसीताजीके स्वरूपका तात्त्विक वर्णन ··· ६५७

८०–श्रीराधिकातापनीयोपनिषद् ··· ६६०
श्रुतियोंद्वारा श्रीराधिकाजीकी उपासना और स्तुति ··· ···· ६६०

८१–श्रीराधोपनिषद् ··· ··· ६६२
श्रीराधाजीके स्वरूप तथा नामोंका वर्णन ··· ६६२

८२–ब्रह्मबिन्दूपनिषद् ··· ··· ६६४
मनके लयका साधन; आत्माका स्वरूप तथा ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय ··· ··· ६६४

८३–ध्यानबिन्दूपनिषद् ··· ··· ६६६
ध्यानयोगकी महिमा तथा स्वरूप ··· ६६६

८४–तेजोबिन्दूपनिषद् ··· ··· ६६८
प्रणवस्वरूप तेजोमय बिन्दुके ध्यानकी महिमा तथा उसके अधिकारी एवं अनधिकारी ··· ६६८

८५–नादबिन्दूपनिषद् ··· ··· ६६९
(१) प्रथम अध्याय ··· ··· ६६९
१. ॐकारकी हंसरूपमें उपासना ··· ६६९
२. ॐकारकी बारह मात्राएँ और उनमें प्राणवियोगका फल ··· ६६९
३. योगयुक्त स्थितिका वर्णन ··· ६७०
(२) द्वितीय अध्याय ··· ··· ६७०
१. ज्ञानीके लिये प्रारब्ध नहीं रह जाता ··· ६७०
२. नादके अनेक प्रकार ··· ६७१
३. नादानुसन्धान ··· ··· ६७१
(३) तृतीय अध्याय ··· ··· ६७१
१. नादके द्वारा मन कैसे वशीभूत होता है ६७१
२. नादमें मनका लय ··· ६७२
३. मनके अमन हो जानेकी स्थितिका वर्णन ६७२

पृष्ठ-संख्या

८६-अमृतनादोपनिषद् ६७३
प्रणवोपासना; योगके छः अङ्ग; प्राणायामकी विधि; योग-साधनका फल; पाँचों प्राणोंका रंग ६७३
८७-मुद्गलोपनिषद् ६७६
१. पुरुषसूक्तका संक्षिप्त विषय-निरूपण ... ६७६
२. महापुरुषका रूप-धारण ... ६७६
३. उपासकोंद्वारा अनेक रूपमें देखे गये महापुरुषमें आत्मत्वकी भावनासे उनके स्वरूपकी प्राप्ति ६७७
४. ब्रह्मका स्वरूप तथा उपनिषद्के अध्ययनका माहात्म्य; सूक्तके अनधिकारी तथा उसके उपदेशकी विधि ... ६७७
५. पुरुषसूक्त ६७९
८८-सावित्र्युपनिषद् ६८२
सविता एवं सावित्रीकी सर्वव्यापकता; सावित्री-के चार पाद; सावित्रीको जाननेका फल; बला-अतिबला विद्याओंकी उपासना ... ६८२
८९-सूर्योपनिषद् ६८४
आदित्यकी सर्वव्यापकता; सूर्य-मन्त्रके जपका माहात्म्य ६८४
९०-अक्ष्युपनिषद् ६८६
१. नेत्ररोगहरी विद्या ६८६
२. ब्रह्मविद्याका उपदेश ६८६
९१-चाक्षुषोपनिषद् ६८९
चाक्षुषी विद्या ६८९
९२-नारायणोपनिषद् ६९१
भगवान् नारायणकी सर्वकारणता एवं सर्वरूपता; अष्टाक्षर नारायण-मन्त्रका स्वरूप और महिमा ६९१
९३-श्रीरामोपनिषद् ६९३
१. श्रीरामका स्वरूप, उनके अङ्ग, राम-मन्त्रका माहात्म्य ६९३
२. श्रीरामकी प्राप्तिके साधन ... ६९४
९४-श्रीकृष्णोपनिषद् ६९५
श्रीकृष्णके परिवारोंके रूपमें विभिन्न देवी-देवताओंका अवतरण, श्रीकृष्णके साथ उनकी एकरूपता ६९५
९५-कलिसंतरणोपनिषद् ६९७
'हरे राम' आदि सोलह नामोंके मन्त्रका अद्भुत माहात्म्य ६९७
९६-गणपत्युपनिषद् ६९८
भगवान् गणनायककी स्तुति; उनके बीजमन्त्र, महामन्त्र तथा गायत्री; उपनिषद्के पाठका तथा गणपति-पूजनका माहात्म्य ... ६९८
९७-जाबालदर्शनोपनिषद् ७००
१. योगके आठ अङ्ग और दस यमोंका वर्णन ७००
२. दस नियमोंका वर्णन ... ७०१
३. नौ प्रकारके यौगिक आसनोंका वर्णन ... ७०२
४. नाड़ी-परिचय तथा आत्मतीर्थ और आत्मज्ञानकी महिमा ७०२
५. नाड़ी-शोधन एवं आत्मशोधनकी विधियाँ ७०५
६. प्राणायामकी विधि, उसके प्रकार, फल तथा विनियोग ७०५
७. प्रत्याहारके विविध प्रकार तथा फल ... ७०७
८. धारणाके दो प्रकार ७०८
९. दो प्रकारके ध्यान तथा उनका फल ... ७०८
१०. समाधि एवं उसका फल ... ७०९
९८-शुकरहस्योपनिषद् ७१०
१. भगवान् शङ्करका शुकदेवजीको उपदेश; 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके षडङ्गन्यास ७१०
२. 'तत्त्वमसि' महावाक्यके प्रत्येक पदके पृथक्-पृथक् षडङ्गन्यास ... ७११
३. चारों महावाक्योंकी पदविन्यासपूर्वक व्याख्या ... ७१२
९९-त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद् ... ७१४
(१) पूर्वकाण्ड ७१४
१. पाद-चतुष्टयके स्वरूपका निर्णय ... ७१४
२. साकार-निराकार परब्रह्मके स्वरूपका निरूपण ७१६
३. मूलाविद्या और प्रलयके स्वरूपका निरूपण ७१८
४. महामायातीत अखण्ड अद्वैत परमानन्दमय परतत्त्व-स्वरूपका निरूपण ... ७१९
(२) उत्तरकाण्ड ७२१
५. संसारसे तरनेका उपाय और मोक्षमार्गका निरूपण ७२१
६. मोक्षमार्गके स्वरूपका निरूपण ... ७२३
७. महानारायण-यन्त्रका वर्णन ... ७२६
८. परम सायुज्य-मुक्तिके स्वरूपका निरूपण ७३२
१००-नारदपरिव्राजकोपनिषद् ... ७३५
१. नारद-शौनक-संवाद ७३५
२. संन्यास-ग्रहणका क्रम ७३६
३. संन्यासके अधिकारी, स्वरूप, विधि, नियम एवं आचार आदिका निरूपण ... ७३७

पृष्ठ-संख्या

४. संन्यास-धर्मके पालनका महत्त्व तथा संन्यास-ग्रहणकी शास्त्रीय विधि ७४२
५. संन्यास और संन्यासीके भेद तथा संन्यास-धर्म और उसके पालनका महत्त्व ... ७४६
६. तुरीयातीत पद और उसकी प्राप्तिके उपाय तथा यतिकी जीवनचर्या ७५१
७. संन्यासीके सामान्य नियम और कुटीचक आदि-के विशेष नियम ७५४
८. प्रणवके स्वरूपका विवेचन ७५५
९. ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन; आत्मवेत्ता संन्यासीके लक्षण ७५९

१०१–आरुणिकोपनिषद् ७६२
संन्यास-ग्रहणकी विधि तथा संन्यासके नियम ७६२

१०२–जाबाल्युपनिषद् ७६४
पाशुपत-मतके अनुसार तत्त्व-विचार; भस्म-धारणकी विधि तथा माहात्म्य; त्रिपुण्ड्रकी तीन रेखाओंका अर्थ ७६४

१०३–वासुदेवोपनिषद् ७६६
गोपीचन्दनका महत्त्व, उसके धारणकी विधि और फल ७६६

१०४–उपनिषदोंमें श्रीसर्वेश्वर (विद्याभूषण, सांख्य-साहित्य-वेदान्ततीर्थ श्रीव्रजवल्लभशरणजी वेदान्ताचार्य) ७६९

१०५–उपनिषदोंमें आत्मानुभव (श्रीबाबूलालजी गुप्त 'श्याम') ७७२

१०६–निवेदन और क्षमा-प्रार्थना ... ७७५

संगृहीत

१–चित्त ही संसार है (मैत्रेयी०) ... २९
२–संसारमें ऐसे दो प्रकारके पुरुष बिरले ही होते हैं ४०
३–साधुका स्वभाव ९६
४–ब्रह्मका स्मरण करो और आसक्तिका त्याग करो १११
५–रोग और मृत्युको तप समझनेसे महान् लाभ (बृहदारण्यक०) ५५०
६–परम पद (बृहज्जाबाल०) ५६६
७–सत्यकी जय है (मुण्डक०) ६०२
८–मन ही बन्ध-मोक्षका कारण है (ब्रह्मबिन्दु०) ६२९
९–ज्ञानमयी दृष्टि ... ६३३
१०–देहनाशसे आत्माका नाश नहीं (आत्मप्रबोध०) ६३६
११–आठ गुणोंसे युक्त आत्माको जाननेका फल (छान्दोग्य०) ६३९
१२–सब ब्रह्म है (छान्दोग्य०) ६४८
१३–सङ्गका त्याग ही मोक्ष है (अन्नपूर्णोपनिषद्) ६५६
१४–एकमात्र श्रीकृष्ण ही भजनीय हैं (गोपालपूर्व०) ६६३
१५–निश्चयके अनुसार ब्रह्मकी प्राप्ति (छान्दोग्य०) ६६५
१६–ब्रह्मज्ञानसे ब्रह्मत्वकी प्राप्ति (बृहदारण्यक०) ६६७
१७–भीतर-बाहर नारायण ही व्याप्त हैं (नारायणोप०) ६७५
१८–विषय-त्याग (आत्मप्रबोध०) ... ६८१
१९–ब्रह्मको ढूँढ़ना चाहिये (छान्दोग्य०) ... ६८३
२०–जगत्की दुःखमयता और आनन्दमयता (वराहोपनिषद्) ... ६८५
२१–परमात्माका चिन्तन करो (अध्यात्म०) ... ६८८
२२–श्रीनारायणके ध्यानसे मुक्ति (आत्मप्रबोध०) ६९२
२३–अमृतत्वकी प्राप्तिका साधन (क्षुरिक०) ... ७६१
२४–दो विद्याएँ (ब्रह्मबिन्दु०) ७६३
२५–शिवका उपासक धन्य है (दक्षिणामूर्ति०) ... ७६५

कविता

१–शरणागति (उपनिषद्के एक मन्त्रका पद्यानुवाद) १
२–औपनिषद-ब्रह्मका सर्वातीत और सर्वकारण-स्वरूप तथा उसके जाननेका फल (उपनिषदों-के ११ मन्त्रोंका पद्यानुवाद) २
३–उपनिषन्महत्ता (विद्याभूषण कविवर श्री-ओंकार मिश्र 'प्रणव' व्या० सा० योगशास्त्री सिद्धान्तशास्त्री) ८
४–ज्योतिपुंज वह पाया मैंने (श्रीभागवतप्रसाद-सिंहजी) १२
५–शिव और शक्ति (श्रीलक्ष्मीनारायणजी शर्मा 'मुकुर') १६
६–उपनिषद् (पुरोहित श्रीप्रतापनारायणजी) ... १७
७–रसब्रह्म (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') २०
८–मुक्तिके द्वार (श्रीलक्ष्मीप्रसादजी मिश्री 'रमा') २५
९–त्वमेव सर्वम् (श्रीभगवतीप्रसादजी त्रिपाठी, विशारद, काव्यतीर्थ, एम्० ए०, एल्-एल्०बी०) १००

पृष्ठ-संख्या

१०—औपनिषद-सिद्धान्त ··· ··· १२०
११—जाऊँ कैसे ? (श्रीप्रबोध, बी० ए० (आनर्स), साहित्यरत्न, साहित्यालङ्कार) ··· १३१
१२—उपनिषत्सार (श्रीभवदेवजी झा) ··· १४०
१३—जैन उपनिषदोंका सार (श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी') ··· १४६
१४—अध्यात्मवाद (पं० श्रीरघुनाथप्रसादजी शास्त्री 'साधक') ··· ··· १५७

चित्र-सूची

पृष्ठ-संख्या

रंगीन

१—उपनिषद्-अङ्कका टाइटल ···मुखपृष्ठ
२—दिव्यलोकमें श्रीकृष्ण ··· ··· १
३—प्रार्थना ··· ··· १६१
४—पिप्पलादके आश्रममें सुकेशादि मुनि ··· २६०
५—अङ्गिरस और शौनक ··· ··· २६०
६—यज्ञशालामें उषस्ति ··· ··· ४२७
७—रैक्व और जानश्रुति ··· ··· ४२७
८—भगवान् श्रीरामचन्द्र ··· ··· ५३३
९—भगवान् श्रीगोविन्द ··· ··· ५६३
१०—सच्चिदानन्द नारायण ··· ··· ५६३
११—श्रीसरस्वती ··· ··· ६४४
१२—सच्चिदानन्दमयी देवी ··· ··· ६४७
१३—श्रीश्रीमहालक्ष्मी ··· ··· ६५१
१४—श्रीगणपति ··· ··· ६९२

इकरंगे

१५—देवताओंके सामने यक्षका प्राकट्य ··· १७८
१६—अग्निकी असमर्थता ··· ··· १७८
१७—भगवती उमा और इन्द्र ··· १८१
१८—नचिकेताको मृत्युके अर्पण करना ··· १८८
१९—यमराज और नचिकेता ··· ··· १८८
२०—वरुण और भृगु ··· ··· ३६३
२१—जगत्कारण-मीमांसा ··· ··· ३६३
२२—सत्यकाम और उपकोशल ··· ··· ४३६
२३—राजा अश्वपतिके भवनमें उद्दालक ··· ४३६
२४—सनत्कुमार-नारद-संवाद ··· ··· ४४९
२५—मैत्रेयीको उपदेश ··· ··· ४४९
२६—ब्रह्मचारियोंको याज्ञवल्क्यका आदेश ··· ४७६
२७—जनक-याज्ञवल्क्य ··· ··· ४८८
२८—श्रीराम-यन्त्र ··· ··· ५३६
२९—गोपाल-यन्त्र ··· ··· ५५२
३०—सुदर्शनमहाचक्र ··· ··· ५७६

कल्याणके पुराने प्राप्य अङ्क

(इनमें ग्राहकोंको कमीशन नहीं दिया जायगा। डाकखर्च हमारा लगेगा।)

संक्षिप्त पद्मपुराणाङ्क

पूरी फाइल, पृष्ठ-संख्या ९७८, रङ्गीन चित्र २१, लाइन चित्र २४१, मूल्य ४≡)

पुराने वर्षोंके साधारण अङ्क आधे मूल्यमें

२१ वें वर्षके साधारण अङ्क २, ३, ४, ५, ९, १०, ११, १२ कुल आठ अङ्क एक साथ मूल्य १।), रजिस्ट्री-खर्च ।) कुल १॥)

२२ वें वर्षके साधारण अङ्क ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १० कुल आठ अङ्क एक साथ मूल्य १।), रजिस्ट्री-खर्च ।) कुल १॥)

उपर्युक्त दोनों वर्षोंके कुल १६ अङ्क एक साथ रजिस्ट्री खर्चसहित मूल्य २॥।)

व्यवस्थापक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

दिव्यलोकमें श्रीकृष्ण

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् । द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ॥
गोपगोपाङ्गनावीतं सुरद्रुमतलाश्रितम् । दिव्यालङ्करणोपेतं रत्नपङ्कजमध्यगम् ॥
कालिन्दीजलकल्लोलासङ्गिमारुतसेवितम् । चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः ॥
(गो० पू०)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने । कालिन्दीकूललीलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥
वल्लवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने । नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥

वर्ष २३ | गोरखपुर, सौर माघ २००५, जनवरी १९४९ | संख्या १ पूर्ण संख्या २६६

शरणागति

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाꣳश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तꣳ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

(श्वेताश्वतर० ६ । १८)

जिन परमेश्वरने ब्रह्माको सर्वप्रथम उत्पन्न किया ।
जिनने उनको अमित ज्ञानका आकर अपना वेद दिया ॥
आत्मबुद्धिके विमल विकाशक अखिल विश्वमें रहे विराज ।
मैं मुमुक्षु उन परम देवकी शरण ग्रहण करता हूँ आज ॥

औपनिषद-ब्रह्मका सर्वातीत और सर्वकारण-स्वरूप तथा उसके जाननेका फल

(१)

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं
निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥

योनि-योनि—कारण-कारणके जो हैं एक अधिष्ठाता,
जिनमें सब विलीन होता जग, जिनसे यह उद्भव पाता ।
वे आराध्य वरद ईश्वर हैं, वे ही देव—अलौकिक कान्ति,
उन्हें तत्त्वसे जान यहाँ मानव पाता है शाश्वत शान्ति ॥

(२)

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥

परम सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, हृदयकी गह्वन गुफामें छिप जाते,
अति महान् वे, घेर विश्वको एकमात्र हैं छवि पाते ।
वे ही एक जगत्-स्रष्टा हैं, विविध रूपमें वे आते,
जान उन्हीं मङ्गलमय प्रभुको शान्ति सनातन नर पाते ॥

(३)

स एव काले भुवनस्य गोप्ता
विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः ।
यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च
तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥

वे ही स्थितिके समय भुवनके संरक्षक, जगके स्वामी,
सब भूतोंमें छिपे हुए हैं, वे ही बन अन्तर्यामी ।
उनका ही ब्रह्मर्षि, देवगण एक चित्त हो धरते ध्यान,
जान उन्हें यों मनुज मृत्युके तोड़ डालता पाश महान ॥

(४)

घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं
ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

माखनमें स्थित सारभाग-से परम सूक्ष्म जो अतिशय सार,
एकमात्र सब ओर व्याप्त जो घेरे हुए सकल संसार ।

सब भूतोंमें छिपे हुए हैं शिव—कल्याणगुणोंसे युक्त,
जान उन्हीं प्रभुको होता नर सब भवके बन्धनसे मुक्त ॥

(५)

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

ये ही देव विश्वकर्मा हैं परमात्मा सबके स्वामी,
सब मनुजोंके सदा हृदयमें बसे हुए अन्तर्यामी ।
हृदय, बुद्धि, मनसे चिन्तन हो, तब इनका हो साक्षात्कार,
इस रहस्यको जान गये जो जन्म-मृत्युसे होते पार ॥

(६)

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ता-
द्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥

इन्द्र आदि लोकेश्वर जिनको परम महेश्वर जान रहे,
अन्य देवगण भी जिनको निज परम देव हैं मान रहे ।
पतियोंके भी पूज्य परम पति जगदीश्वर जो स्तुत्य महान्,
उन प्रकाशमय परमदेवको समझा हमने सर्वप्रधान ॥

(७)

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥

देह और इन्द्रियसे उनका है सम्बन्ध नहीं कोई,
अधिक कहाँ, उनके सम भी तो दीख रहा न कहीं कोई ।
ज्ञानरूप, बलरूप, क्रियामय, उनकी परा शक्ति भारी,
विविध रूपमें सुनी गयी है, स्वाभाविक उनमें सारी ॥

(८)

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् ।
स कारणं करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥

वे ही पति, इस जगमें कोई उनका अधिपति शेष नहीं,
शासक भी न, कहींपर उनका कोई चिह्न-विशेष नहीं।
वे ही एक परम कारण हैं, इन्द्रिय-देवोंके अधिनाथ,
जनक न उनका, अधिप न कोई, उनसे ही सब विश्व सनाथ॥

(९)

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

सब भूतोंमें छिपे हुए वे एक देव हैं परमात्मा,
सबमें व्यापक, सब जीवोंके वे अन्तर्यामी आत्मा।
कर्मोंके अधिपति, फलदाता, सबके ही आश्रय-आवास,
साक्षी हैं, केवल, निर्गुण हैं, चेतन हैं—चैतन्य-प्रकाश॥

(१०)

एको वशी निष्क्रियाणां बहूना-
मेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

जो असंख्य निष्क्रिय जीवोंके शासक और नियन्ता एक,
एकमात्र इस प्रकृति बीजको देते हैं जो रूप अनेक।
उन प्रभुको निज हृदयस्थित जो सदा देखते धीर प्रवीन,
उन्हें सनातन सुख मिलता है, नहीं उन्हें जो साधनहीन॥

(११)

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥*

चेतन परम चेतनोंमें, नित्योंमें भी जो नित्य महान्,
करते एक अनेक जीवके कर्मफलोंका भोग-विधान।
वे सबके कारण हैं, होता सांख्ययोगसे उनका ज्ञान,
पाता मोक्ष सभी बन्धनसे नर उन परमदेवको जान॥

* ये सभी मन्त्र श्वेताश्वतर-उपनिषद्के हैं; इनमें पहले मन्त्रकी संख्या ४। ११, दूसरेसे पाँचवेंतककी ४। १४ से ४। १७, छठेसे आठवेंतककी ६। ७ से ६। ९ और नवेंसे ग्यारहवेंतककी मन्त्रसंख्या ६। ११ से ६। १३ है।

उपनिषद्

(पूज्य-श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य अनन्तश्रीविभूषित श्रीमज्ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराज)

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं सन्दधीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥

उपनिषद् अध्यात्मविद्या अथवा ब्रह्मविद्याको कहते हैं। वेदका अन्तिम भाग होनेसे इसे वेदान्त भी कहा जाता है और वेदान्तसम्बन्धी श्रुति-संग्रह-ग्रन्थोंके लिये भी उपनिषच्छब्दका प्रयोग होता है।

उपनिषद् वेदका ज्ञानकाण्ड है। यह चिरप्रदीप्त वह ज्ञानदीपक है जो सृष्टिके आदिसे प्रकाश देता चला आ रहा है और लयपर्यन्त पूर्ववत् प्रकाशित रहेगा। इसके प्रकाशमें वह अमरत्व है, जिसने सनातनधर्मके मूलका सिञ्चन किया है। यह जगत्कल्याणकारी भारतकी अपनी निधि है; जिसके सम्मुख विश्वका प्रत्येक स्वाभिमानी सभ्य राष्ट्र श्रद्धासे नतमस्तक रहा है और सदा रहेगा। अपौरुषेय वेदका अन्तिम अध्यायरूप यह उपनिषद्, ज्ञानका आदिस्रोत और विद्याका अक्षय्य भण्डार है। वेद-विद्याके चरम सिद्धान्त—

'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन ।'
(त्रिपाद्विभूतिमहाना० ३ । ३)

—का प्रतिपादन कर उपनिषद् जीवको अल्पज्ञानसे अनन्त ज्ञानकी ओर, अल्पसत्ता और सीमित सामर्थ्यसे अनन्त सत्ता और अनन्त शक्तिकी ओर, जगद्दुःखोंसे अनन्तानन्दकी ओर और जन्म-मृत्यु-बन्धनसे अनन्त स्वातन्त्र्यमय शाश्वती शान्तिकी ओर ले जाती है।

उपनिषद् सद्गुरुओंसे प्राप्त करनेकी वस्तु है। वैसे तो अधिकारानधिकारपर विचार न करके स्वेच्छया ग्रन्थरूपमें उपनिषदोंका कोई भी अध्ययन कर सकता है; किंतु इस प्रकारसे किसीको ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अनधिकारीके साधनसम्पत्तिहीन वासनावासित अन्तःकरणमें ब्रह्मविद्याका प्रकाश नहीं होता। जिस प्रकार मलिन वस्त्रपर रंग ठीक नहीं चढ़ता और जिस प्रकार बंजर भूमिमें, जहाँ लंबी-लंबी जड़ोंवाली घास पहलेसे जमी हुई है, धान्यबीज अङ्कुरित नहीं होता और कुछ अङ्कुरित हो भी जाय तो वृद्धिङ्गत होकर फलित नहीं होता, उसी प्रकार अनधिकारीके वासनापूर्ण अन्तःकरणमें ब्रह्मविद्याका उपदेशबीज अङ्कुरित नहीं होता और यदि कुछ अङ्कुरित हो भी जाय तो उसमें आत्मनिष्ठारूपी वृद्धि और जीवन्मुक्तिरूपी फलकी प्राप्ति नहीं होती। इसीलिये शास्त्रोंमें सर्वत्र अधिकारीरूपी क्षेत्रकी सम्यक् परीक्षाका विधान है। श्रुतिका आदेश है—

नापुत्राय दातव्यं नाशिष्याय दातव्यम्।
सम्यक् परीक्ष्य दातव्यं मासं षण्मासवत्सरम् ॥

जिस प्रकार गुरुके लिये शिष्यकी परीक्षाका विधान है, उसी प्रकार शिष्यके लिये भी गुरुके लक्षणोंका स्पष्ट निर्देश करते हुए उपनिषद्का उपदेश है—

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥' (मुण्डक० १ । २ । १२)

भगवद्गीता भी विधान करती है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

श्रोत्रिय अर्थात् वेदवेदार्थके ज्ञाता और ब्रह्मनिष्ठ अपरोक्षज्ञानी तत्त्वदर्शी गुरुको प्रसन्न करके उनसे उपनिषद्का उपदेश श्रवण करनेका विधान है।

श्रवणं तु गुरोः पूर्वं मननं तदनन्तरम्।
निदिध्यासनमित्येतत्पूर्णबोधस्य कारणम् ॥
(शुकरहस्य० ३ । १३)

साधनचतुष्टयसम्पन्न जिज्ञासु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुके द्वारा उपनिषत्तत्त्वका उपदेश श्रवण कर तार्किक युक्तियोंद्वारा उसपर प्रगाढ़ मनन करते हुए गुरूपदिष्ट ध्यानादिके अभ्यासद्वारा निदिध्यासनपूर्वक 'अहं ब्रह्मास्मि' आदिका निरन्तर विचार करते हुए उसपर निष्ठारूढ़ होकर सम्यक् तत्त्वज्ञानविज्ञानस्वरूप परब्रह्मसत्तामें प्रवेश करके तद्रूप हो जाता है—

'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'

उपनिषद्का यह उपदेश जीवके लिये परमसौभाग्यास्पद अमूल्य निधि है।

उपनिषत्तत्त्वोपदेशके निष्कर्षमें जीव-ब्रह्मैक्यप्रतिपादन करते हुए पूर्वाचार्योंने संक्षेपमें कह दिया है—

'जीवो ब्रह्मैव नापरः'

अर्थात् जीव ब्रह्म ही है, ब्रह्मसे पृथक नहीं है। उपनिषद्का उपदेश

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'तत्त्वमसि'

यह समस्त (भासमान द्वैतप्रपञ्च) वास्तवमें ब्रह्म ही है। वही (ब्रह्म) तू है।

यह उपनिषद्के तत्त्वज्ञानोपदेशका सारांश है। इसमें निष्ठा न होना ही अज्ञान है। जीव ब्रह्मसे अभिन्न होते हुए भी अविद्याके कारण अपने वास्तविक, अजन्मा, अविनाशी, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सच्चिदानन्दमय आत्मस्वरूपको विस्मृत कर अपनेको जन्म-मरणधर्मा, कर्ता, भोक्ता, सुखदुःखवान् मान बैठा है और मिथ्या जगत्में सत्यबुद्धि करके स्वनिर्मित कर्मपाशमें स्वयं बँधकर जन्म-मरण-संसृतिमें फँसा हुआ अनन्त दुःख भोग रहा है। जीवके सकल दुःखोंके कारण—इस अविद्याकी निवृत्तिके लिये उपनिषदोंमें जीव-ब्रह्मकी एकताके प्रतिपादनके साथ-साथ जगत्के मिथ्यात्वका उपदेश भी हुआ है, जिसे पूर्वाचार्योंने—

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'

—इन सरल शब्दोंमें स्पष्ट कर दिया है।

ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है। जिस प्रकार मन्दान्धकारमें रज्जु ही सर्परूप दिखलायी देती है, उसी प्रकार अविद्यामें निर्गुण निराकार ब्रह्म-सत्ता ही सगुण साकार जगद्रूप दिखलायी देती है। जिस प्रकार मन्दान्धकारके कारण वास्तविक रज्जु नहीं दिखलायी पड़ती, प्रत्युत वास्तविक सत्ताहीन सर्प ही प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार अविद्याके कारण वास्तविक (पारमार्थिक) सत्तामय ब्रह्म नहीं प्रतीत होता और वास्तविक सत्ताहीन व्यावहारिक जगत् ही प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। वस्तु एक ही है—जो रज्जु है, वही (भ्रमावस्थामें) सर्परूप है। उसी प्रकार (ज्ञानावस्थामें) जो ब्रह्म है वही (भ्रमावस्था, अज्ञानकी अवस्थामें) जगद्रूप है। जगत्की सत्य-प्रतीति और ब्रह्मकी अप्रतीति तबतक होती रहती है, जबतक अविद्यान्धकारकी निवृत्ति नहीं होती। विद्यारूपी प्रकाशद्वारा अधिष्ठानका निश्चय होते ही स्पष्ट हो जाता है कि सर्वाधिष्ठान ब्रह्मसत्ता ही (पारमार्थिक) सत्य है और रज्जुमें अध्यस्त सर्पके समान ब्रह्ममें अध्यस्त जगत् मिथ्या है।

इस प्रकार सद्गुरुओंसे दृष्टान्तादिके द्वारा औपनिषद-ज्ञान भलीप्रकार श्रवण कर जिज्ञासु उसपर मनन करते हुए वैराग्यादि साधन-सम्पत्तिके सहयोगसे जगत्के मिथ्यात्वकी पुष्टि और निदिध्यासनादि अन्तरङ्ग साधनोंके सहयोगसे जीवब्रह्मैक्यनिष्ठा-सम्पादनद्वारा स्वात्मानुभूतिमय ज्ञानदीपक प्रदीप्त कर अनादिकालीन अविद्यान्धकारकी निवृत्तिद्वारा निश्चय कर लेता है कि एकमात्र अद्वितीय स्वगत-सजातीय-विजातीय भेदशून्य त्रिकालाबाधित ब्रह्मसत्ता ही सत्य है। उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी पारमार्थिक सत्य नहीं है। इस प्रकार दृढ़ बोधवान् ज्ञानीके लिये अन्य कुछ ज्ञातव्य एवं प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता। कृतकृत्य होकर वह नित्य-बोधमय निजस्वरूपमें प्रतिष्ठित हो सच्चिदानन्दका सर्वत्र अनुभव करता हुआ जीवन्मुक्तिका परमानन्द लाभ कर ब्रह्मकी अद्वितीय चिन्मय सत्तामें प्रवेश कर जाता है। ऐसे ब्रह्म-स्वरूप विज्ञानीके लिये उपनिषद्का निश्चय है कि—

'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।'

(बृहदा० ४। ४। ६)

जीव-ब्रह्मैक्य-ज्ञान-निष्ठाकी यह चरम सीमा ही औपनिषद-ज्ञानकी पराकाष्ठा है।

उपनिषत्तत्त्व निर्गुण निराकार ब्रह्म अवाङ्मनसगोचर है। श्रुति उसके लिये कहती है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'

इसी अवाङ्मनसगोचर परमाद्वितीय निर्गुण परम तत्त्वका बोध करानेके लिये उपनिषच्छ्रुतियाँ—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते—'

—इत्यादिके द्वारा इस नानागुणधर्मवान् इन्द्रियग्राह्य (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदिमय) जगत्प्रपञ्चका ब्रह्ममें अध्यारोप करती हैं और फिर इन्हीं इन्द्रियग्राह्य (एवं इन्द्रियानुभवद्वारा परिचित) गुणधर्मोंके निषेधरूपमें उस निर्गुण निर्व्यपदेश्य निर्विशेष ब्रह्म-सत्ताका परिचय कराती हैं। उदाहरणार्थ कठश्रुति उसे अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस आदि कहकर उसका उपदेश करती है—

'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं

तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्—.....'

इसी प्रकार माण्डूक्य श्रुति उसके सम्बन्धमें कहती है—

'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।'

'अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म-प्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।'

इसी प्रकार अन्यत्र भी उपनिषदोंमें निषेधरूपमें ही उस

निर्गुण निरञ्जनके सम्बन्धमें उपदेश हुआ है और अन्तमें श्रुति 'नेति-नेति' (यह नहीं, यह नहीं) कहकर उसके सम्बन्धमें समस्त उक्तियोंका खण्डन कर उसे सर्वथा निर्गुण निर्विशेष अवाङ्मनसगोचर प्रतिपादन करती है। इस प्रकार अध्यारोपके सहारे ब्रह्मका परिचय कराती हुई श्रुतियाँ अध्यारोपित समस्त जगत्‌की वास्तविक सत्ताके निरासार्थ ही बार-बार उपदेश करती हैं कि—

'आत्मैवेदं सर्वम्' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति'—इत्यादि।

इस प्रकार अध्यारोपित जगत्‌का सर्वथा अपवाद करती हुई श्रुतियाँ एक अद्वितीय अखण्ड ब्रह्मसत्ताका प्रतिपादन करती हैं। इससे यह स्पष्ट ही है कि उपनिषदोंमें यत्र-तत्र जगत्‌की सृष्टि, स्थिति, लय आदि-सम्बन्धी जो द्वैतबोधक श्रुतियाँ पायी जाती हैं, उनका प्रयोजन द्वैतप्रपञ्चके प्रतिपादनमें नहीं है; किंतु शुद्ध ब्रह्ममें जगत्‌का अध्यारोप करके उसके अपवादद्वारा एक अखण्ड अद्वितीय निर्गुण ब्रह्मसत्ताकी सिद्धि ही उनका लक्ष्य है।

उपनिषद्‌के उपदेशक्रममें—

'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते।'

यही सिद्धान्त कार्यान्वित हुआ है। इसके अतिरिक्त तत्त्वोपदेशका और कोई प्रकार नहीं है कि जिसके द्वारा (परमार्थदृष्ट्या जीवके अपने ही एक अद्वितीय अखण्डस्वरूपमें अनादि कालसे चला आता हुआ यह) जगद्‌भ्रम निवृत्त हो सके और जीव अपने वास्तविक अद्वितीय, अखण्डस्वरूपमें प्रतिष्ठित होकर शाश्वत शान्ति प्राप्त कर सके।

ज्ञानस्वरूप नित्यबोधमय निजरूप आत्मामें प्रतिष्ठित होकर शाश्वत शान्तिमय हो जाना ही जीवका परम पुरुषार्थ है। इस परम पुरुषार्थकी प्राप्ति औपनिषद-ज्ञाननिष्ठाद्वारा ही होती है। बिना तत्त्वनिष्ठ हुए कैवल्यकी प्राप्ति नहीं होती, यही उपनिषद्‌का सिद्धान्त है—

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'

उपनिषत्तत्त्वज्ञानकी महिमा वर्णन करते हुए मुण्डक-श्रुति कहती है—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥
(३।२।६)

इसी प्रकार कठ-श्रुतियाँ अपरोक्ष आत्मज्ञानीके लिये ही शाश्वत सुख-शान्तिकी प्राप्तिका निर्देश करती हैं और अन्यके लिये उसका सर्वथा निषेध करती हुई कहती हैं—

'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्'
'.....तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।'

इस प्रकार उपनिषद्‌का स्पष्ट उपदेश है कि यदि जीव स्थायी सुख-शान्तिकी प्राप्ति करना चाहता है तो उसे आत्मानुभूतिके लिये प्रयत्नशील होना पड़ेगा, अध्यात्मकी ओर बढ़े बिना स्थायी सुख-शान्तिकी प्राप्ति असम्भव है।

इसीलिये सर्वकल्याणकारी वेद जीवको कर्म, उपासना और ज्ञानके उपदेशद्वारा अध्यात्म-पथपर आगे बढ़ाता है। जो जिस अवस्थामें है, उसे उसी अवस्थामें अध्यात्मकी ओर नियोजित करना ही वेदका लक्ष्य है। वेदके कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्डका चरम उद्देश्य है कि जीव अधिकारानुसार कर्मोपासनामें प्रवृत्त होकर अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा तत्त्व-ज्ञानका अधिकारी बने और परमात्मनिष्ठावान् होकर शाश्वत सुख-शान्ति प्राप्त करे। इस सर्वकल्याणकारी वैदिक उद्देश्यकी पूर्तिके लिये ही वेदमूलक वर्णाश्रम-व्यवस्था है। वर्णाश्रम-व्यवस्थामें वैदिक सिद्धान्तोंका सक्रिय व्यावहारिक रूप निष्पन्न हुआ है। जगतीतलपर समाज-व्यवस्थाका उज्ज्वल आदर्श-रूप भारतीय वर्णाश्रम-धर्म-व्यवस्था, सामाजिक व्यवहारको उत्तमताके उत्कृष्ट शिखरपर रखती हुई उसे ही परमार्थका साधन बनाकर जीवको सततोन्नतिके पथपर प्रतिष्ठित रखकर उसे पूर्णताकी ओर ले जाती है। वेदमूलक धर्मशास्त्र वर्णाश्रम-धर्मोंका इस प्रकारसे विधान करता है कि जो जिस श्रेणीमें, जिस अवस्थामें, जहाँ है, वहीं अपना धर्म पालन करता हुआ स्वाभाविक रूपसे अध्यात्मकी ओर बढ़ता जाय। इसीलिये उपनिषन्मूलक भगवद्गीताका उपदेश है कि धर्मशास्त्रके अनुसार—

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः॥'
(१८।४५)

और—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

(१६। २३-२४)

इस प्रकार कर्मक्षेत्रमें, शास्त्रोक्त स्वधर्म-पालन ही समस्त वेदोक्त ज्ञानका सार और सर्वोन्नतिका मूल है। इसीलिये सामान्य धर्म, विशेष धर्म और आपद्धर्म आदिका स्पष्ट वर्णन करता हुआ वेदमूलक सनातन धर्मशास्त्र प्रत्येक जीवको व्यष्टि-रूपमें और समस्त विश्वको समष्टिरूपमें वेदका यह सनातन सन्देश दे रहा है कि यदि सुख-शान्ति चाहते हो तो स्वधर्म-पालन करते हुए अध्यात्मपथपर आगे बढ़ो।

भगवती श्रुति प्रत्येक जीवको प्रत्येक अवस्थामें अपने पवित्र अङ्कमें उठाकर अध्यात्ममें प्रतिष्ठित करनेको तत्पर है। भारतीयो! जागो, श्रुति भगवती तुम्हें जगा रही है —

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।'

पवित्र भूखण्ड भारतमें तुम्हारा जन्म हुआ है, अध्यात्म-विद्या—ब्रह्मविद्या—तुम्हारे घरकी वस्तु है, उसका समुचित लाभ उठाकर स्वयं शाश्वत सुख-शान्ति प्राप्त करो और दुःख-पङ्कनिमग्न विश्वको सुख-शान्तिका परमोज्ज्वल पथ प्रदर्शित करो, अन्यथा तुम्हारे हाथमें उपनिषद्की यह ज्ञानराशि कलङ्कित हो रही है।

उपनिषन्महत्ता

(रचयिता—विद्याभूषण, कविवर, श्रीओंकार मिश्र 'प्रणव', व्या० सा० योगशास्त्री, सिद्धान्तशास्त्री)

उपनिषद्की साधना श्रुतिगान मङ्गल-माधुरी है॥
शुचि सत्यताका स्रोत निर्मल मन्द मञ्जुल बह रहा है।
कर पान अमृत ज्ञान अविरल, विश्व प्रमुदित हो रहा है॥
परिपूर्ण पुण्य पवित्रताकी सत्क्रियाका फल कहा है।
जो मौन मुनि-मण्डल महत्ताकी चमत्कृत चातुरी है॥ १॥

यह ध्यानियोंके ध्येय धृतिकी है धवल ध्रुव-धारणा।
प्रिय पारदर्शी परम पुरुषोंकी अटल व्रत-पारणा॥
'वद केन रचितं' प्रश्नकी उत्तरभरी सुख-सारणा।
उस ईशके कैवल्य-गृहकी वीथि दुर्गम साँकुरी है॥ २॥

इसकी अनेक विचारणामें एकताका रूप है।
सिद्धान्त वैदिक 'तत्त्वमसि' का दर्शनीय अनूप है॥
चितिचिन्तनाका लक्ष्य केवल जग-अचिन्त्य स्वरूप है।
दुर्लभ्य परमानन्दको यह कर रही अति आतुरी है॥ ३॥

सत्यं शिवं सौन्दर्यमय जो श्रेय-प्रेय वितान है।
उद्गीथकी है गूँज गुरु-गम्भीर ब्रह्म विधान है॥
ऋषि याज्ञवल्क्य, उषस्ति, वाजश्रवसके आख्यान है।
नृप-अश्वपतिकी कीर्ति-स्वरमें बज रही वर बाँसुरी है॥ ४॥

जिसकी महत्तापर कि दारा, मुग्ध शोपनहार है।
मन मूल मानी मूलशंकर हो रहे बलिहार है॥
प्रतिक्षण प्रशंसामें 'प्रणव' हृद्वीण-नादित तार है।
वह मुक्ति-नभ-आरोहणाको जीव-खगकी पाँखुरी है॥ ५॥

उपनिषदोंका एक अर्थ है, एक परमार्थ है

(लेखक—श्रीकाञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्यजी महाराज)

प्राणियोंके बाह्य अर्थोंका प्रकाश करनेवाली तथा नाना प्रकारसे उपकार करनेवाली अनेक विद्याएँ हैं; परंतु परम पुरुषार्थको प्रकाशित करनेवाली, परमार्थको दिखलानेवाली तथा परम उपकारिणी विद्या उपनिषद् है। जिससे तत्त्व-जिज्ञासु पुरुषोंको परम शान्ति प्राप्त होती है, वह परमार्थ कहलाता है। क्लेशग्रस्त जीवोंके समस्त क्लेशोंका निवारण जिससे हो, वह परम उपकार कहलाता है।

'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।'

यह ईशावास्योपनिषद्वाक्य एकत्वके साक्षात्काररूपी उपनिषद्विद्यासे युक्त पुरुषके समूल शोकनाशको उद्घोषित करता है।

'मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः।'

(गौड़० आग० १७)

तथा—

'तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि।' (छान्दोग्य० ६। ८। ७)

—इत्यादि श्रुतियाँ उस उपनिषद्विद्याकी परमार्थताको घोषित करती हैं।

फिर यह उपनिषद्विद्या क्लेशोंके पात्र सांसारिक प्राणियोंको हठात् प्राप्त होनेवाले क्लेशोंका उन्मूलन किस प्रकार करती है? इसका उत्तर श्वेताश्वतर उपनिषद् देती है—

'ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।'

(१। ११)

'परमात्मदेवको जानकर सारे बन्धन कट जाते हैं, क्लेशोंके क्षीण होनेपर जन्म और मृत्युसे छुटकारा मिल जाता है।'

दुःखोंके मूलका नाश हुए बिना दुःखोंका आत्यन्तिक नाश नहीं बनता। यद्यपि कर्म-उपासना आदि धर्म अथवा खेत-घर आदि विषय तत्काल प्राप्त होनेवाले कुछ-न-कुछ दुःखोंकी निवृत्ति तो करते हैं, तथापि जिससे दुःखकी पुनः उत्पत्ति न हो, इस प्रकारकी समस्त दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति तो त्रिविध दुःखोंके मूलकी निवृत्ति हुए बिना संभव नहीं।

दुःखका मूल क्या है? विचारक लोग कहते हैं कि दुःखका मूल जन्म है।

'न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति।'

(छान्दोग्य० ९। १२। १)

'निश्चयपूर्वक जबतक यह शरीर बना हुआ है तबतक सुख और दुःखका निवारण नहीं हो सकता।'

इस प्रकार श्रुति मुख्यतः जन्मको ही दुःखका मूल कारण प्रतिपादन करती है।

तब फिर जन्मका मूल कारण क्या है? वे ही तत्त्व-परीक्षक उत्तर देते हैं कि जन्मका मूल कर्म है। यदि मनुष्य कर्मसे विराम ले ले, तो उसके लिये अत्यन्त दुःख-निवृत्ति हस्तामलकवत् हो जाय। अतः मुमुक्षुजनोंको दूसरे उपायोंके अनुसरणमें संलग्न नहीं होना चाहिये; परंतु इसमें यह संदेह उठ सकता है कि पूर्वजन्मोंमें और इस जन्ममें अबतक किये जानेवाले कर्मोंका जो मूल है उसका नाश किये बिना कर्मविरामका सङ्कल्प केवल कथनमात्र ही रह जायगा।

तब सामान्यतः कर्मका मूल क्या है? इसके उत्तरमें रागका नाम लिया जाता है। राग और उससे उपलक्षित द्वेष, भय आदिको भी दोष शब्दसे ग्रहण करते हैं। जिस किसी वस्तुमें जबतक राग या द्वेष होता है, तबतक उस वस्तुकी प्राप्ति या परित्यागके लिये प्रयत्नरूप कर्म करते हुए ही लोग देखे जाते हैं; जिस प्रकार जबतक भय रहता है, तबतक मनुष्य उस भयसे छुटकारा पानेके लिये प्रयत्न करता ही है।

इस दोषका मूल क्या है? अपनेसे अतिरिक्त दूसरेका भान होना ही दोषका मूल है, ऐसा ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं। जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद्का वाक्य है—

'द्वितीयाद्वै भयं भवति।' (१। ४। २)

'निश्चय ही दूसरेसे भय होता है।' यदि दूसरी वस्तुका भान ही नहीं होगा तो कर्मके मूलभूत भय, द्वेष अथवा रागका कोई आधार न रह जानेके कारण भय आदिका प्रसङ्ग ही नहीं प्राप्त होगा।

'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्, तत्केन कं जिघ्रेत्, तत्केन कं शृणुयात्, तत्केन कं विजानीयात्।'

(२। ४। १४)

'जिस अवस्थामें इसके लिये सब कुछ आत्मा ही हो जाता है, उस समय किसके द्वारा किसको देखे, किसके द्वारा किसको सूँघे, किसके द्वारा किसको सुने तथा किसके

द्वारा किसको जाने'—यह बात भी वही (बृहदारण्यक) उपनिषद् कहती है।

तब द्वैतके भानका हेतु क्या है ? तत्त्वपरीक्षक कहते हैं कि द्वैतभानका हेतु मिथ्या ज्ञान है और वह मिथ्या ज्ञान ही समस्त संसारका बीज है, ऐसा न्यायवेत्ता आचार्योंने निश्चय किया है। इसका निवारण एकत्वदर्शनरूपी औपनिषद ज्ञानके द्वारा ही होता है; इसलिये यह उपनिषद्-विद्या प्राणियोंका परम उपकार करती है। ज्ञान ही अज्ञानका विरोधी है। द्वितीय वस्तुकी प्रतीतिमें कारणभूत अज्ञानको दूर करनेवाला एकत्वसाक्षात्काररूप ज्ञान ही है। मनोनिग्रह और भगवदुपासना आदि अन्य सारे ही शास्त्रप्रसिद्ध साधन एकत्वसाक्षात्कारकी उत्पत्तिमें ही प्रयोजक होनेके कारण पहली सीढ़ीमें आते हैं।

'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि।'

—इस श्रुतिवाक्यमें जिसकी जिज्ञासा की गयी है, वह उपनिषद्वर्णित ब्रह्मतत्त्व—

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।' (छान्दोग्य० ३। १४। १)

'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।' (तैत्तिरीय० ३। ६। १)

तथा—

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।' (बृहदारण्यक० ३। ९। २८)

—इत्यादि श्रुतियोंद्वारा बारंबार गाया जानेवाला परम आनन्दघन ही है, अतः यह प्राणियोंके लिये परम पुरुषार्थ-स्वरूप है। इसका ज्ञान करानेवाली उपनिषद् भी प्राणियोंके लिये सहस्रों माता-पिताओंकी अपेक्षा भी परम प्रिय है, अतएव परम उपकार करनेवाली है।

सहस्रों माता-पिताकी अपेक्षा भी मनुष्यका परम हित चाहनेवाली उपनिषद्-विद्या स्वयं ही औपनिषद ब्रह्मतत्त्वकी नित्यता एवं यथार्थतामें इस प्रकार उपपत्ति (युक्ति) प्रदर्शित करती है। कारणसे कार्यमें जो भेद जान पड़ता है, वह केवल नाम और रूपको लेकर ही है। 'घट' यह नाम-भेद है और 'मोटी पेंदी एवं पेटवाला' यह आकारभेद है। यही नाम और रूप श्रुतियोंमें भिन्न-भिन्न स्थलोंपर त्याग देने योग्य बताये गये हैं—सर्वत्र इनको त्यागनेके लिये ही सूचित किया गया है।

'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म।' (छान्दोग्य० ८। १४। १)

'निश्चयपूर्वक आकाश ही नाम और रूपका निर्वाह करनेवाला अर्थात् उनका आधार है, वे दोनों जिसके भीतर हैं, वह ब्रह्म है।'

'नामरूपे व्याकरवाणि।' (छान्दोग्य० ६। ३। २)

'मैं नामरूपको विशेषरूपसे व्यक्त करूँ।' तथा—

सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते।

'बुद्धि-प्रेरक परमेश्वर सब रूपोंकी रचना करके उनके नाम रखकर उन नामोंके द्वारा स्वयं ही व्यवहार करता हुआ स्थित है।'

मृत्तिका ही घट है, कारण ही कार्य है। नाम-भेद अथवा आकार-भेद केवल काल्पनिक है। अतएव श्रुति कहती है—

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।'

(छान्दोग्य० ६। १। ४)

'विकार (कार्य) वाणीका विलासमात्र है, वह नाम-मात्र-के लिये है। वास्तवमें वह घटरूप विकार नहीं, केवल मृत्तिका ही है—ऐसा मानना ही सत्य है।'

'मृत्तिकेत्येव' इस पदमें 'एव' शब्दसे समस्त विकारोंका मिथ्यात्व तथा कारणका सत्यत्व स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार कारण-परम्पराका विचार करते-करते सबका परम कारण ब्रह्म ही है, यह निश्चित होता है। एकमात्र ब्रह्म ही बिना किसी उपचारके परमार्थ सत्य है तथा ब्रह्मके अतिरिक्त समस्त पदार्थ मिथ्या एवं कल्पित हैं। यह बात श्रुतिके द्वारा तात्पर्यनिर्णय करनेवाली युक्तियोंके प्रदर्शनपूर्वक स्पष्टरूपसे कह दी गयी है। परमार्थका ज्ञान और पुरुषार्थका अनुभव करानेके कारण हमपर उपनिषदोंका परम उपकार सिद्ध होता है। सारी विद्याओंके ज्ञाता देवर्षि नारदजी भी जन्मजात महासिद्ध योगी सनत्कुमारके पास ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके लिये गये—इस छान्दोग्योपनिषद्की आख्यायिकासे तथा—

'स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्।'

—इस मुण्डकोपनिषद्के वाक्यसे भी यह सिद्ध होता है कि परमार्थरूप परम पुरुषार्थका अनुभव करानेके कारण उपनिषद्-विद्या परम उपकारिणी है।

बादरायण मुनि श्रीव्यासजीने ब्रह्मसूत्रमें कहा है—

'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्।'

पूर्वजन्मके शास्त्राभ्याससे स्वतः प्राप्त हुई ज्ञान-दृष्टिसे भी उपदेश करना सम्भव है, जैसे वामदेव मुनिने

उपदेश किया था । शास्त्रदृष्टिका अर्थ है 'तत्त्वमसि' 'सोऽहमस्मि' आदि महावाक्योंसे उत्पन्न अखण्ड परा बुद्धि । वेदोंके पूर्व भागमें अर्थात् कर्मकाण्डमें ज्ञानसे भिन्न कर्ममात्रका वर्णन है । वे समस्त कर्म क्रियामात्र हैं, उन्हें 'दृष्टि' नहीं कह सकते । सब प्रकारकी उपासनाएँ भी क्रियामात्र ही हैं, 'दृष्टि' नहीं । कर्मकाण्डोक्त क्रियाओंसे ध्यानादि उपासनाओंमें इतना ही अन्तर है कि वे मानसिक क्रियाएँ हैं; इन्हें श्रेष्ठ महात्मा पुरुषोंने दृष्टान्तपूर्वक सिद्ध किया है। वे क्रियाएँ की जा सकती हैं, अन्यथा की जा सकती हैं, और नहीं भी की जा सकती हैं । उनका अनुष्ठान विकल्पयुक्त है; परंतु दृष्टि वस्तुके अधीन होती है, अतएव उसमें विकल्प सम्भव नहीं है । उपर्युक्त ब्रह्मसूत्रमें शास्त्रदृष्टिके दृष्टान्तरूपमें वामदेवका नाम आया है । यजुर्वेदीय उपनिषद् (बृहदारण्यक० १ । ४ । १०) में वामदेवको ऐसी दृष्टि प्राप्त होनेका वर्णन मिलता है, जो उनके लिये सूर्य और मनुके साथ अपना अत्यन्त अभेद सूचित करनेवाली थी । जिस प्रकार देह-देहीका सम्बन्ध होता है, तदनुसार यह दृष्टि नहीं उत्पन्न होती । वामदेव मुनि सूर्य और मनुके शरीर हैं, ऐसा मानना यहाँ अभिप्रेत नहीं है और न यही अभीष्ट है कि वामदेवके ही ये दोनों शरीर थे । शास्त्ररूप उपनिषद्के यथार्थ ज्ञानसे प्राप्त होनेवाली जो परमार्थदृष्टि है, वह सबमें आत्मदर्शनको लेकर है, यही मानना अभीष्ट है । उस दृष्टिके अनुसार सबका आत्मरूपमें ही बोध होता है । वामदेवके सर्वात्मा होनेपर ही उनकी मनु और सूर्यसे अभिन्नता होनी सम्भव है । 'शास्त्रदृष्ट्या तु' कहनेसे लोकदृष्टिका बाध हो जाता है । देह और देही (आत्मा) में अभेद-प्रतीतिकी रीतिसे जो कहीं-कहीं ब्रह्म और आत्मामें विशिष्ट-अद्वैतभावका उल्लेख किया जाता है, उस प्रकारके अभेदरूप अर्थका भान तो लोकदृष्टिसे ही सम्भव होता है । इस विषयमें यह दृष्टान्त दिया जाता है—'जैसे मैं मोटा हूँ, मैं श्याम हूँ' इत्यादि । ऐसे स्थलोंमें शरीरमें ही आत्मदृष्टि होनेके कारण देहात्मवादका भ्रम होता है, जो सर्वथा हेय है, यह बन्धनका ही हेतु है । यह बात लोकदृष्टिसे भी सिद्ध ही बतायी गयी है । देह-देहीमें अभिन्नताका बोध त्याज्य है, क्योंकि यह मोक्षके लिये उपयोगी नहीं है । शास्त्र शब्दका मुख्य अर्थ साक्षात् उपनिषद् ही है, ऐसा उक्त ब्रह्मसूत्रसे अभिव्यक्त होता है । उससे भिन्न जो शास्त्र है, वह तत्त्व-साक्षात्कार करानेमें समर्थ नहीं है । जिस प्रकार 'अहं वै त्वमसि' (मैं ही तुम हो) यह महावाक्य है, उसी प्रकार 'त्वं वा अहमस्मि' यह भी है । ऐसी ही 'भगवो देवता' इत्यादि श्रुति भी है । यह श्रुति परस्पर व्यतिहारसे अर्थात् आत्माके स्थानपर ब्रह्मको और ब्रह्मके स्थानपर आत्माको रखनेसे दोनोंकी एकता सिद्ध करती हुई उनमें देह-देहि-सम्बन्धकी कल्पनाका विरोध करती है; क्योंकि उस देह-देहि-सम्बन्धकी कल्पना करनेपर तो अवश्य ही ईश्वर भी शरीररूप माना जायगा तथा जीवात्मा भी उस ईश्वरमय शरीरका शरीरी (आत्मा) माना जाने लगेगा । इस तरहकी अनेकों असङ्गत आपत्तियाँ उठ खड़ी होंगी । यदि कहें, तब तो कर्ममार्गकी कोई उपयोगिता नहीं है, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि जैसे मनुष्य पहले असत्य मार्गपर खड़ा होकर ही सत्यको प्राप्त करनेकी चेष्टा करता है, उसी प्रकार पहले कर्ममार्गपर चलनेवाला साधक कर्मद्वारा अन्तःशुद्धिका सम्पादन करके फिर सत्यस्वरूप ज्ञानका आश्रय ले उपनिषद्-गति (वेदान्तवेद्य ब्रह्म) को प्राप्त कर लेता है । सारी श्रुतियोंका एक ही तात्पर्य है; यह बात कठोपनिषद्ने यमराजके मुखसे कहलायी है । यथा—

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति···तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि; ओमित्येतत् ।'

'सम्पूर्ण वेद जिस पदका बारंबार प्रतिपादन करते हैं उस पदको संक्षेपसे तुम्हें बतलाता हूँ । वह ओम् है'—इस वाक्यद्वारा समस्त श्रुतियोंकी एकार्थताका स्पष्टतः प्रतिपादन किया गया है । माण्डूक्योपनिषद्का उद्देश्य एकमात्र ॐकारके अर्थका विवेचन करना ही है । उसमें अ, उ और म—इन तीन मात्राओंके विवेचनके बाद जो चतुर्थ पादका वर्णन आया है, उसका वास्तविक अर्थ इस प्रकार बताया गया है—'वह ब्रह्म परम शान्त, परम कल्याणमय तथा अद्वैत (भेद-शून्य) है । वही आत्मा है ।' क्योंकि वह आत्मा सैकड़ों उपनिषदोंके द्वारा भी एक रूपसे ही जानने योग्य है । जो ब्रह्मको जानता है वह निश्चय ब्रह्म ही हो जाता है ।

सारे वेदोंका एक ही तात्पर्य है, जैसा कि **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'** इस कठोपनिषद्की श्रुतिसे सिद्ध होता है । कहाँतक कहा जाय, श्रुतिके शीर्ष-स्थानमें अवस्थित समस्त उपनिषदोंका तात्पर्य एक तत्त्वमें ही है । यदि पूछो, वह तात्पर्य कहाँ है ? तो इसका उत्तर यह है कि 'प्रणवमें ही है'—यही भाव कठोपनिषद्का वाक्य भी व्यक्त करता है । जैसे—

'तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि; ओमित्येतत् ।'

और उस प्रणवका तात्पर्य किसमें है ? अद्वैत शिव-तत्त्वमें। क्योंकि एकमात्र प्रणवके अर्थका ही निरूपण करनेवाली माण्डूक्योपनिषद् प्रणवके चतुर्थ पादके अर्थका उपसंहार करती हुई कहती है—

'शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः।'

'जो शान्त, शिव, अद्वैत ब्रह्म है, उसीको ज्ञानीजन प्रणवस्वरूप परमात्माका चतुर्थ पाद मानते हैं। वह आत्मा है, और वही जानने योग्य है।'

इसलिये—

'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि।'[1]

—इस वाक्यद्वारा बृहदारण्यक-उपनिषद्में जिसके लिये प्रस्ताव किया गया है,

'वेदान्तेषु[2] यमाहुरेकपुरुषम्।'

—इस श्लोकद्वारा महाकवि कालिदासने जिसका अनुवाद किया है,

'स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम उमां हैमवतीं तां होवाच किमेतद् यक्षमिति। सा ब्रह्मेति होवाच[3]।'

इस केनोपनिषद्के प्रसङ्गमें जिसका 'ब्रह्म' के नामसे उपदेश किया गया है तथा उपर्युक्त माण्डूक्योपनिषद्में जिसका चतुर्थ पादके रूपमें उपसंहार किया गया है, उस परम कल्याणमय अद्वैत ब्रह्ममें ही सम्पूर्ण उपनिषदोंका परम तात्पर्य है।

ज्योति-पुंज वह पाया मैंने

(रचयिता—श्रीभागवतप्रसादसिंहजी)

रक्त, मांस, हड्डीसे निर्मित काया जिसको दुलराया था;
समझ रहा था जिसको अपना जीवन तक आश्रय पाया था।
था मेरा संसार मनोरम, लघुतम थे जब जीवनके क्षण,
कण-कणको चूमा था मैंने, उलझा था कुन्तलमें यौवन।
कितने बार चला छुप-छुपकर, जब थी तितली रानी मेरी,
नेह लगाया निर्मम मिट्टीसे जब थी नादानी मेरी।
आज खुलीं आँखें, पाता हूँ दिग-दिगन्तमें अन्धकार वन,
समझ सका हूँ आज, नहीं कुछ भी अपना, वे थे स्वप्निल क्षण।
दूर हुआ ज्यों ही, भूला वह, जिसको मैंने प्यार किया था,
उसे देखता नहीं कहीं अब, जिसपर सब कुछ वार दिया था।
आज दूर मैं उस मिट्टीसे एकाकी पथपर जाता हूँ,
शून्य मार्ग, आधार नहीं कुछ, कहीं न आदि-अन्त पाता हूँ।
मेरे पद-तलमें आलोकित हैं ये सारे रवि, शशि, उडुगण,
दूर व्योमकी किरण-डोरसे सभी बँधे पाते हैं जीवन।
डोर पकड़ ली मैंने भी वह, अपना मार्ग बनाया मैंने,
खोज रहा था जिसे तिमिरमें, ज्योति-पुंज वह पाया मैंने।

---

१. आपसे उस उपनिषत्प्रतिपाद्य परम पुरुषके विषयमें प्रश्न करता हूँ।

२. वेदान्तों (उपनिषदों) में जिन्हें एकमात्र अद्वितीय 'पुरुष' कहा गया है।

३. वे इन्द्र उसी आकाशमें, जहाँ यक्ष अन्तर्धान हुआ था, एक स्त्रीके पास आ पहुँचे। वह स्त्री साक्षात् हिमवान्-कुमारी उमा थीं; उनसे इन्द्रने पूछा—'यह यक्ष कौन था ?' उन्होंने कहा—'वे परब्रह्म हैं।'

उपनिषदोंकी श्रेष्ठता

(श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीद्वारकाशारदापीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्रीअभिनव सच्चिदानन्दतीर्थजी महाराज)

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार प्रकारके पुरुषार्थोंमें परम निःश्रेयसरूप मोक्ष ही मनुष्यका अन्तिम लक्ष्य है—यह सबके द्वारा सुनिश्चित सिद्धान्त है। चौरासी लाख योनियोंमें बारंबार जन्म-मरणकी प्राप्तिरूप घोर संसारसे पार होनेके लिये मनुष्यको परम शान्तिस्वरूप मोक्षकी प्राप्तिके निमित्त सतत प्रयत्न करना चाहिये। मोक्ष अमृतत्वरूप है। उसकी प्राप्तिके लिये मानव-जन्म स्वर्ण-सुयोग है; क्योंकि मनुष्यके सिवा और किसी प्राणीको उस योनिमें रहते हुए कैवल्य-मोक्षकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसीलिये शास्त्रोंमें मानव-जन्मको अत्यन्त दुर्लभ बताया गया है—

'जन्तूनां नरजन्म दुर्लभतरम्'

—इत्यादि। अतः प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह अपने जन्मके प्रधानतम लक्ष्य मोक्षकी सिद्धिके लिये दिन-रात प्रयत्न करे। यदि वह ऐसा यत्न नहीं करता, विषय-भोगोंमें फँसकर राग-द्वेषके वशीभूत हो उन विषयभोगोंकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता रहता है तो निश्चय ही उसे दो पैरोंका पशु कहना चाहिये।

लब्ध्वा कथंचिन्नरजन्म दुर्लभं
तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्।
यस्त्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात्॥

'यदि किसी प्रकार (पुण्यविशेषसे) परम दुर्लभ मानव-जन्म पाकर उसमें भी सम्पूर्ण श्रुतियोंका आद्योपान्त अनुशीलन करनेवाले पुरुष-शरीरको पा लेनेपर भी जो मूढचित्त मानव अपनी मुक्तिके लिये प्रयत्न नहीं करता, वह आत्महत्यारा है। वह अनित्य भोगोंमें फँसे रहनेके कारण अपने-आपको विनाशके गर्तमें गिरा रहा है।'

—इत्यादि वचनोंके अनुसार मनुष्य अज्ञानके द्वारा अपनी हत्या ही करता है। अतः अपना कल्याण चाहनेवाले प्रत्येक पुरुषका कर्तव्य है कि वह क्षणमात्र सुख देनेवाले अनित्य सांसारिक विषय-भोगमें न फँसकर आध्यात्मिक साधनमें संलग्न हो सदा आत्मतत्त्वके बोधके लिये ही प्रयत्नशील बना रहे।

'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'

—इस श्रुतिके द्वारा आत्मज्ञानके लिये श्रवण, मनन और निदिध्यासन—ये तीन साधन बताये गये हैं।

पहले—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

'कर्मतः प्राप्त हुए लोकोंकी परीक्षा करके (अर्थात् उनकी अनित्यताको भलीभाँति समझकर) ब्राह्मण उनसे विरक्त हो जाय; क्योंकि कृत (अनित्य कर्म) से अकृत (नित्य आत्मतत्त्व) की प्राप्ति नहीं हो सकती। वह आत्मज्ञानके लिये हाथमें समिधा लेकर ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरुकी ही शरणमें जाय।'

—इत्यादि शास्त्रवचनोंके अनुसार ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरण लेकर और उनके समीप रहकर वेदोक्त आत्मतत्त्वका, जो दम्भ-अहङ्कार आदि विकारोंसे रहित है, श्रवण करे। वेदके चार भाग बताये जाते हैं—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। संहिता आदि भागोंमें कर्म, उपासना आदि मार्गोंका उल्लेख हुआ है। उपनिषद्में केवल ज्ञानका ही प्रतिपादन है। अतएव उपनिषद्-विद्या अन्य विद्याओंकी अपेक्षा प्रधानतम एवं गौरवमयी है। इसी विद्याको लक्ष्य करके कहा जाता है कि **'सा विद्या या विमुक्तये'** (वही वास्तविक विद्या है, जो मोक्ष दिलानेमें सहायक हो)।

अध्यात्मविद्या विद्यानाम्। (गीता १०। ३२)

भगवान् कहते हैं—'मैं विद्याओंमें अध्यात्मविद्या हूँ।'

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। (मुण्डक०)

'परा विद्या वह है, जिससे उस अविनाशी ब्रह्मका ज्ञान होता है।' इत्यादि सब श्रुतियोंद्वारा इसीको 'मोक्षदायिनी विद्या' 'अध्यात्मविद्या' तथा 'परा विद्या' आदि नाम दिये गये हैं तथा यही विद्या सब अनर्थोंके मूलभूत संसारकी निवृत्ति करती हुई परमानन्दरूप मोक्षकी प्राप्तिका मुख्य कारण बतायी गयी है। इसीलिये इसे सबसे श्रेष्ठ कहा गया है।

दार्शनिक विद्वान् 'उपनिषद्' शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार बतलाते हैं—'उप + नि' इन दो उपसर्गोंके साथ 'सद्' धातुसे 'क्विप्' प्रत्यय करनेपर 'उपनिषद्' इस रूपकी सिद्धि होती है। सद् धातुके तीन अर्थ हैं—विशरण (विनाश), गति (ज्ञान और प्राप्ति) तथा अवसादन (शिथिल करना)। इन अर्थोंके अनुसार—

उपनिषादयति सर्वानर्थकरसंसारं विनाशयति, संसारकारणभूतामविद्यां च शिथिलयति, ब्रह्म च गमयति इति उपनिषद्।

'जो समस्त अनर्थोंको उत्पन्न करनेवाले संसारका नाश करती, संसारकी कारणभूत अविद्याको शिथिल करती तथा ब्रह्मकी प्राप्ति कराती है, वह उपनिषद् है।' इस प्रकार ब्रह्मविद्याको ही 'उपनिषद्' नामसे कहा गया है तथा इसका यह 'उपनिषद्' नाम सर्वथा सार्थक है। 'उपनिषद्' का दूसरा नाम 'वेदान्त' भी है। यह वेदके अन्तमें है, इसलिये वेदान्त है अथवा वेदका सिद्धान्त—चरम तात्पर्य उपनिषद्में ही वर्णित हुआ है; इस कारण इसे 'वेदान्त' नाम दिया गया है। रहस्यके अर्थमें भी 'उपनिषद्' शब्दका प्रयोग हुआ है। जैसे 'इत्युपनिषत्' (तै०) अर्थात् यह उपनिषद् है—परम रहस्यभूत आत्मतत्त्वका बोध करानेवाली विद्या है। यह आत्मतत्त्व अन्य सब रहस्योंसे अधिक रहस्यभूत है; क्योंकि यह हमारे भीतर अत्यन्त निकट है। तथापि मनुष्य मायासे मोहित होनेके कारण इसे नहीं जान पाता। इसके सिवा इस आत्मतत्त्वरूपी रहस्यका ज्ञान हो जानेपर संसारमें दूसरी कोई वस्तु जानने योग्य शेष नहीं रह जाती। जैसा कि श्वेताश्वतर-उपनिषद्में कहा है—

'एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं
नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।'

छान्दोग्यमें भी कहा है—एक आत्माको भलीभाँति जान लेनेपर यहाँ सब कुछ ज्ञात हो जाता है।* ऐसा ही अन्य श्रुतियाँ भी कहती हैं।

चारों वेदोंकी प्रत्येक शाखासे सम्बन्ध रखनेवाली एक-एक उपनिषद् है। वेद स्वयं अनन्त हैं; अतः उनकी शाखाएँ भी अनन्त ही होंगी। शाखाओंकी अनन्तताके कारण उपनिषदोंकी भी अनन्तता ही सिद्ध होती है। वेदोंकी अनेक शाखाएँ इस समय विलुप्त हैं तथा उनसे सम्बन्ध रखनेवाली बहुत-सी उपनिषदें भी आज उपलब्ध नहीं हैं। इस समय एक सौ आठ उपनिषदें प्रकाशित हैं *। उनमें ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक—ये दस उपनिषदें ही गम्भीरतर अर्थका प्रतिपादन करनेवाली हैं तथा इन्हींको सब आचार्योंने ब्रह्मविद्याके लिये प्रमाणभूत माना है। इन दसोंमें माण्डूक्य उपनिषद् सबसे छोटी और बृहदारण्यकोपनिषद् सबसे बड़ी है। सभी उपनिषदें सरल और रोचक हैं तथा सभी प्रायः अध्यात्मतत्त्वका ही बोध कराती हैं। बृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषद्में यद्यपि कुछ अन्य उपासनाओंका भी उल्लेख है, तथापि ब्रह्म और आत्माके एकत्वका बोध ही प्रधान रूपसे उनका भी विषय है। सबसे अधिक रहस्यभूत आत्मतत्त्वका बोध करानेके कारण ही उपनिषदोंका स्थान सब शास्त्रोंसे अधिक ऊँचा है। उपनिषदोंमें प्रतिपादित ज्ञान ही सबसे उत्कृष्ट है। उपनिषदोंमें जिस तत्त्व-ज्ञानका विवेचन हुआ है, उससे आगे एक पग भी अबतक कोई तत्त्वज्ञानी नहीं **बढ़ सका है। ऐसी उपनिषदोंके अपार ज्ञानकी निधिसे परिपूर्ण** होनेके कारण ही 'यह भारतवर्ष आज सब देशोंसे परम श्रेष्ठ है' इस बातको निष्पक्ष-बुद्धि रखनेवाले पाश्चात्य विद्वान् भी पूर्णतः स्वीकार करते हैं।

इस समय संसारमें भौतिकवाद और नास्तिकताके भाव बढ़ गये हैं। इससे शान्तिका कहीं दर्शन नहीं होता। यदि वर्तमान समयमें तथा आगे भी जगत्में पूर्णरूपमें वास्तविक शान्ति अपेक्षित है तो उसके लिये उपनिषदोंकी ही शरण लेनी चाहिये। उनमें बताये हुए साधनोंको ही अपनाना उचित है। जबतक उपनिषदोंके श्रवण, मनन और निदिध्यासन होते थे, तबतक देशमें सर्वत्र सुख-शान्तिमयी संपदा सुशोभित होती थी। जबसे भारतवर्ष उपनिषदोंके उपदेशपर ध्यान न देकर पाश्चात्त्य राष्ट्रोंकी भाँति भौतिकवाद और नास्तिकताका अन्धानुकरण करनेमें तत्पर हुआ; तभीसे यहाँ दरिद्रता, राग-द्वेष आदि दोष, अशान्ति तथा दुःखमय कोलाहल बढ़ने लगे हैं। यदि अब भी भारतके मनुष्य समझसे काम लेकर अपने पूर्वज महर्षियोंके बताये हुए मार्गका आश्रय लें और उपनिषदोंकी शरण ग्रहण करें तो निश्चय ही सब प्रकारकी उन्नति और परम शान्ति उन्हें प्राप्त हो सकती है।

उपनिषदोंमें ब्रह्मका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

* एकस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।

* अडियारसे लगभग १७९ उपनिषदोंका प्रकाशन अबतक हो चुका है—सम्पादक

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।' (तैत्तिरीय०)

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व ।'

(तैत्तिरीय० ३ । १ । १)

'ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त हैं ।' 'जिनसे ये सम्पूर्ण प्राणी जन्म लेते, जन्म लेकर जिनसे जीवन धारण करते तथा प्रलयके समय जिनमें पूर्णतः प्रवेश कर जाते हैं, वे ब्रह्म हैं, उनको जाननेकी इच्छा करो ।'

'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् । नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं ··· परिपश्यन्ति धीराः ॥'

(मुण्डक० १ । १ । ६)

'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि ॥'

(केन० १ । ५)

'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।' (मुण्डक० २ । २ । ११)

'जिसका नेत्रोंद्वारा दर्शन तथा हाथोंद्वारा ग्रहण नहीं हो सकता, जिसमें कोई रूप-रंग नहीं है, जो आँख-कान और हाथ-पैर आदिसे रहित है, उस नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म एवं अविनाशी ब्रह्मतत्त्वको धीर पुरुष ही सब ओर देखते हैं ।' 'जिसका मनके द्वारा मनन नहीं होता, जिसकी शक्तिसे ही मन मनन-व्यापारमें समर्थ होता है, उसीको तुम ब्रह्म जानो ।' 'यह सब कुछ अमृतमय ब्रह्म ही है । आगे ब्रह्म है, पीछे ब्रह्म है तथा दायें और बायें भी ब्रह्म है ।'

उपनिषदोंमें जीव और ब्रह्मका सम्बन्ध इस प्रकार बताया गया है—

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥

(मुण्डक० २ । १ । १)

'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ··· ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि'

(छान्दोग्य०)

'जैसे जलती हुई आगसे उसीके समान रूपवाली सहस्रों चिनगारियाँ निकलती रहती हैं, उसी प्रकार हे सोम्य! अविनाशी ब्रह्मसे नाना प्रकारके भाव (जीव) उत्पन्न होते और उन्हींमें लीन होते हैं ।' ''हे सोम्य ! ये सारी प्रजा 'सत्' रूपी कारणसे ही उत्पन्न हुई हैं, 'सत्'में ही निवास करती हैं और अन्तमें भी 'सत्'में ही प्रतिष्ठित होती हैं ।'' 'यह सब कुछ ब्रह्मरूप ही है । वह ब्रह्म ही सत्य है, वही आत्मा है । वह ब्रह्म तू है ।'

जीव और जगत्के सम्बन्धको लेकर उपनिषदोंका कथन इस प्रकार है—'जैसे मकड़ी अपने स्वरूपसे ही जालेको बनाती और पुनः उसे निगल लेती है, जैसे पृथ्वीसे अन्न आदि ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं, जैसे जीवित पुरुषसे ही केश-लोम आदि उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अक्षर-ब्रह्मसे यहाँ सम्पूर्ण जगत् प्रकट होता है ।' (मुण्डक०) 'यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म ही है ।' (मुण्डक०) 'यह सब कुछ एतदात्मक (ब्रह्मस्वरूप) है ।' (छान्दोग्य०)

उपनिषदोंमें 'अक्षि' ब्रह्म और 'आकाश' ब्रह्मकी उपासना आदि साधनोंका भी वर्णन हुआ है । आत्मतत्त्वका सुगमतापूर्वक बोध हो, इसके लिये परम सुन्दर, बोधसुलभ आख्यायिकाओं और दृष्टान्तोंका उल्लेख किया गया है । इस प्रकार सर्वाङ्ग-परिपूर्ण, सर्वसुलभ और सबके लिये हितकर इन उपनिषदोंका आश्रय लेना सबका कर्तव्य है । उपनिषदोंके अर्थका निर्णय करनेके लिये महर्षि बादरायण (व्यास)ने ब्रह्मसूत्रोंका निर्माण किया है तथा श्रीशङ्कर भगवत्पाद आचार्यने इन उपनिषदोंपर भाष्य लिखे हैं । इन्हीं उपनिषदोंके सारभूत अर्थका भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको गीतामें उपदेश दिया है । उपनिषदोंका अभिप्राय सब लोग सुगमतापूर्वक समझ सकें—इसीके लिये पुराण-इतिहास आदि ग्रन्थोंका प्राकट्य हुआ है ।

उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, गीता—ये वेदान्त-दर्शनके तीन प्रस्थान हैं । इन्हें प्रस्थानत्रयी कहते हैं । इनमें उपनिषद् श्रवणात्मक, ब्रह्मसूत्र मननात्मक और गीता निदिध्यासनात्मक है ।

उपनिषदोंमें मुख्यतः आत्मज्ञानका निरूपण होनेपर भी द्विजके लिये उनमें जिन कर्तव्योंका उपदेश दिया गया है, वे निश्चय ही सबके लिये परम हितकर हैं । तैत्तिरीय उपनिषद्में उनका बहुत सुन्दर रूपसे वर्णन हुआ है । इस लेखके अन्तमें उन उपदेशोंका स्मरण कराया जाता है—

वेदका भलीभाँति अध्ययन कराकर आचार्य अपने शिष्यको उपदेश देते हैं—१. सत्य बोलो । २. धर्मका आचरण करो । ३. स्वाध्यायसे कभी न चूको । ४. आचार्यके लिये

दक्षिणाके रूपमें वाञ्छित धन लाकर दो, फिर उनकी आज्ञा-से गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करके संतानपरम्पराको चालू रक्खो, उसका उच्छेद न करना। ५. सत्यसे कभी नहीं डिगना चाहिये। ६. धर्मसे नहीं डिगना चाहिये। ७. शुभ कर्मोंसे कभी नहीं चूकना चाहिये। ८. उन्नतिके साधनोंसे कभी नहीं चूकना चाहिये। ९. वेदोंके पढ़ने और पढ़ानेमें कभी भूल नहीं करनी चाहिये। १०. देवकार्य और पितृकार्यकी ओरसे कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। ११. तुम मातामें देवबुद्धि करनेवाले बनो। १२. पिताको देवरूप समझनेवाले बनो। १३. आचार्यमें देव-बुद्धि रखनेवाले बनो। १४. अतिथिको देवतुल्य समझनेवाले बनो। १५. जो-जो निर्दोष कर्म हैं। १६. उन्हींका तुम्हें सेवन करना चाहिये। १७. दूसरोंका नहीं। १८. जो कोई भी तुमसे श्रेष्ठ गुरुजन या ब्राह्मण आयें। १९. उनको तुम्हें आसन आदिके द्वारा सेवा करके विश्राम देना चाहिये। २०. श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिये। २१. बिना श्रद्धाके नहीं देना चाहिये। २२. आर्थिक स्थितिके अनुसार देना चाहिये। २३. लज्जा (संकोच) पूर्वक देना चाहिये। २४. भयसे देना चाहिये। २५. विवेकपूर्वक देना चाहिये। २६. इसके बाद यदि तुमको कर्तव्यका निर्णय करनेमें किसी प्रकारकी शङ्का हो अथवा सदाचारके विषयमें कोई शङ्का हो। २७. तो वहाँ जो-जो उत्तम विचारवाले ब्राह्मण हों। २८. जो कि परामर्श देनेमें कुशल हों; कर्म और सदाचारमें पूर्णतया संलग्न हों। २९. स्निग्ध स्वभाववाले तथा एकमात्र धर्मके अभिलाषी हों। ३०. वे जिस प्रकार उन कर्मों और आचरणों-में बर्ताव करें। ३१. वैसा ही उनमें तुमको भी बर्ताव करना चाहिये। ३२. तथा यदि किसी दोषसे लाञ्छित मनुष्योंके साथ बर्ताव करनेमें सन्देह उत्पन्न हो जाय तो भी। ३३. जो वह उत्तम विचारवाले ब्राह्मण हों। ३४. जो कि परामर्श देनेमें कुशल हों, कर्म और सदाचारमें पूर्णतया संलग्न हों। ३५. रूखेपनसे रहित और धर्मके अभिलाषी हों। ३६. वे उनके साथ जैसा बर्ताव करते हों। ३७. तुम भी उनके साथ वैसा ही बर्ताव करो। ३८. यह शास्त्रकी आज्ञा है। ३९. यही गुरु-जनोंका शिष्योंके प्रति उपदेश है। ४०. यह वेदोंका रहस्य है। ४१. यह परम्परागत शिक्षा है। ४२. इसी प्रकार तुमको अनुष्ठान करना चाहिये। ४३. निश्चय इसी प्रकार यह अनुष्ठान करना चाहिये।

इस वर्ष कल्याणका विशेषाङ्क 'उपनिषद्-अङ्क' रूपसे प्रकाशित हो रहा है, यह बड़ा ही उत्तम और योग्य कार्य है। जिज्ञासु पुरुषोंको चाहिये कि वे उपनिषदोंके तत्त्वको समझ-कर परम कल्याण प्राप्त करें।

प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचरनिकर-
व्यापिभिर्व्याप्य लोकान्
भुक्त्वा भोगान् स्थविष्ठान् पुनरपि धिषणो-
द्भासितान् कामजन्यान्।
पीत्वा सर्वान् विशेषान् स्वपिति मधुरभुङ्
मायया भोजयन्नो
मायासंख्यातुरीयं परममृतमजं
ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि॥
अजमपि जनियोगं प्रापदैश्वर्ययोगा-
दगति च गतिमत्तां प्रापदेकं ह्यनेकम्।
विविधविषयधर्मग्राहि मुग्धेक्षणानां
प्रणतभयविहन्तृ ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि॥

शिव और शक्ति

(रचयिता—श्रीलक्ष्मीनारायणजी शर्मा 'मुकुर')

अग्नि व्याप्त ज्यों शमी, अरणि में,
ज्योतिर्मय त्यों चित्-स्वरूप में,
परिव्याप्त शिव विश्व-तरणि में।
होती ज्यों उद्भूत अग्नि है,
उत्तर-अधरारणि-घर्षण से,
होती आद्याशक्ति विकीरण,
त्यों है शिव-तप के मंथन से।
किन्तु नहीं शिव-शक्ति भिन्न है,
एक तत्त्व के महा रूप दो,
शिव चिति है, चैतन्य अन्य है।
शक्ति और शिव-तत्त्व-रूप चिति,
सकल और निष्कल स्वरूप में,
निरुपाधिक चिति भासित होती,
सोपाधिक चैतन्य रूप में।
जगन्मात्र चिन्मय, चितिमय है,
चितिका प्रकटित रूप, तन्य है,
गुप्त, तन्य का रूप अन्य है।

उपनिषदुक्त ज्ञानसें ही सच्ची शान्ति

(श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीभद्रसालपुरवराधीश्वर अनन्तश्री स्वामीजी श्रीपुरुषोत्तमनरसिंह भारतीजी महाराज)

इस समय चारों ओर अनेकों राजनीतिक और आर्थिक वादोंका ऐसा भयङ्कर जाल फैल गया है जिसके कारण जिन महान् दार्शनिक वादोंने हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवनको चिन्तनशील एवं विचारशील बनाकर आध्यात्मिक उत्कृष्टताकी ओर प्रवृत्त कर रक्खा था, उनकी चर्चा ही बंद हो गयी है। इसीके परिणामस्वरूप आज चारों ओर राग-द्वेष और हिंसा-प्रतिहिंसाका प्रबल प्रवाह बह रहा है एवं समाजकी भयानक दुर्दशा हमारे सामने प्रत्यक्ष हो रही है।

बाह्य विज्ञानसे मनुष्यको सच्ची शान्ति कभी नहीं मिल सकती। उपनिषदुक्त आत्मस्वरूपके सम्यक् ज्ञानसे ही मनुष्य शोक-मोहसे निवृत्त होकर शाश्वती शान्तिको प्राप्त होता है।

'तरति शोकमात्मवित्', 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः', 'ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति'

—इत्यादि अनेकों उपनिषद्-वाक्य तथा तदनुसार चलकर शान्तिको प्राप्त करनेवाले महापुरुषोंके पवित्र जीवन इसके प्रमाण हैं।

उपनिषद्का अर्थ है—अध्यात्मविद्या। 'उप' तथा 'नि' उपसर्गपूर्वक सद् धातुमें क्विप् प्रत्यय जोड़नेपर 'उपनिषद्' शब्द निष्पन्न होता है। जिसके परिशीलनसे संसारकी कारणभूता अविद्याका नाश हो जाता है, गर्भवासादि दुःखोंसे सर्वथा छुटकारा मिल जाता है और परब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है, उसीका नाम उपनिषद् है।

हमें बड़ा संतोष है कि बहुत ही उपयुक्त समयपर 'कल्याण' का यह 'उपनिषद्-अङ्क' प्रकाशित हो रहा है। आशा है, इस अङ्कके पठन तथा चिन्तनसे भारतीयोंको अत्यधिक लाभ होगा।

अन्तमें हमारी अपने उपास्यदैवत श्रीराजराजेश्वरी, चन्द्रचूड, लक्ष्मी-नृसिंहके चरणारविन्दोंमें यही प्रार्थना है कि मुमुक्षुजनोंके उपनिषद्-चिन्तनमें आनेवाले समस्त विघ्नोंको दूर करके उन्हें अपने सच्चिदानन्द-स्वरूपका साक्षात्कार करा दें, जिससे पृथिवीपर सच्ची शान्तिके साम्राज्यकी शुभ स्थापना हो। जय सच्चिदानन्द भगवान्!

उपनिषद्

(रचयिता—पुरोहित श्रीप्रतापनारायणजी)

निर्गुण है या सगुण रूप क्या परमात्माका।
क्या है कारण, सूक्ष्म, स्थूल तन इस आत्माका॥
क्या लीला है ललित, मोहिनी क्या माया है।
किन तत्त्वोंसे बनी हुई सबकी काया है॥
पंचभूत हैं कौनसे, क्या, क्या इनका काम है।
सत्य-चेतनानन्दका कहाँ और क्या धाम है॥ १॥

ऐसे-ऐसे गूढ़ प्रश्न समझाने वाले।
प्रकृति पुरुष सम्बन्ध, भेद बतलाने वाले॥
वैदिक ब्रह्मज्ञान सु-मनमें भरने वाले।
मुक्तिमार्गको सरल, सुगमतम करने वाले॥
सभी उपनिषद् धन्य हैं, ऐसे कहीं न अन्य हैं।
इनके कर्त्ता धन्य हैं, वक्ता श्रोता धन्य हैं॥ २॥

उपनिषद्का तात्पर्य

(श्री १००८ श्रीपूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न परब्रह्मको प्राप्त अथवा व्यक्त करानेवाली, निःसन्धिबन्धनात्मिका चिज्जडग्रन्थिस्वरूपा अविद्याको शिथिल करनेवाली अविचारितरमणीय नामरूप-क्रियात्मक मायामय विश्वप्रपञ्चको समूलोन्मूलन करके जीवकी ब्रह्मात्मताको बोधित करनेवाली ब्रह्मविद्या ही उपनिषद् है। उसके उत्पादक एवं व्यञ्जक होनेसे ईशावास्य, केन, कठ आदि मन्त्र-ब्राह्मण वेदशीर्ष ग्रन्थ भी उपनिषत्पदवाच्य होते हैं। अतएव मन्त्र एवं ब्राह्मण उभयस्वरूप वेदशीर्ष उपनिषद् हैं और वे सब-के-सब ही अनादि अविच्छिन्न सम्प्रदाय-परम्परया प्राप्त तथा अस्मर्यमाणकर्तृक होनेसे अपौरुषेय वेदस्वरूप ही हैं। ('तुल्यं साम्प्रदायिकम्' जै० सू०) अतएव प्रमाणान्तरोंसे अर्थोपलम्भपूर्वक विरचितत्व अथवा पूर्वानुपूर्वीनिरपेक्षोच्चरितत्वरूप पौरुषेयत्व न होनेसे पुरुषाश्रित भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा-करणापाटवादि दोषोंसे असंस्पृष्ट अपास्तसमस्तपुंदोषशङ्काकलङ्क उपनिषदोंका प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्ममें परम प्रामाण्य है। यद्यपि उपनिषदें वेदशीर्ष या वेदसार हैं तथापि वे वेदसे पृथक् नहीं हैं। अतएव वे भी परमेश्वरके निःश्वासभूत तथा अनादि ही हैं। अतएव वेदकाल, उपनिषत्काल आदि आधुनिक कालभेद-कल्पनाएँ व्यर्थ एवं निराधार हैं। पौरुषेय वस्तुओंमें ही ज्ञान, क्रिया, शक्तिके विकासकी कल्पना सम्भव है। उपनिषदोंका सार होनेसे ही गीतामें भी गीतोपनिषद्का व्यवहार होता है। गीताका भी मूल होनेसे उपनिषदोंकी महिमा अत्यन्त प्रख्यात है, यद्यपि जैसे इक्षुदण्डकी अपेक्षा भी उसके सारभूत शर्करा-सिता आदिकी मधुरताके समान उपनिषदोंसे भी अधिक मधुरता गीतामें है। अतएव उपनिषद्रूप गौओंका अमृतमय दुग्ध गीताको कहा है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

—तथापि कारण होनेसे उपनिषदोंका महत्त्व अत्यन्त अनुपेक्षणीय है। जैसे गौ न होनेसे दुग्ध एवं इक्षुदण्ड न होनेसे सिता-शर्करा दुर्लभ हैं, वैसे ही उपनिषदोंके न होनेपर गीता भी दुर्लभ ही होती। यद्यपि कहा जाता है कि उपनिषद् तो भगवान्के निःश्वास हैं जो कि सावधान-असावधान, सुप्त-प्रबुद्ध किसी भी अवस्थामें प्रकट होते रहते हैं, परंतु गीता पद्मनाभ भगवान्के मुखपद्मसे प्रकट हुई है। तत्रापि योगयुक्त परम सावधान भगवान्के मुखपद्मसे गीताका प्रादुर्भाव है, इसलिये गीताकी महिमा अधिक है; तथापि भगवान्का निःश्वास होनेसे ही उपनिषदोंकी विशेषता है। सुप्त-प्रबुद्ध, सावधान-असावधान प्रत्येक अवस्थावालेसे श्वास प्रकट होते हैं, इसलिये ही उसमें बुद्धि और प्रयत्नकी निरपेक्षता और सहज अकृत्रिमता सिद्ध होती है। इसीलिये पुरुषाश्रित भ्रम-प्रमादादि दूषणोंका असंस्पर्श होनेसे उपनिषदोंका स्वतःप्रामाण्य सिद्ध होता है। जीवकी कौन कहे, परमेश्वरके भी प्रयत्न और बुद्धिका उपयोग उपनिषदोंके निर्माणमें नहीं हुआ; किंतु वह अकृत्रिम अपौरुषेय निःश्वासवत् सहज प्रकट होते हैं। हाँ, सर्वज्ञ परमेश्वरकी बुद्धि और प्रयत्नका उपयोग उपनिषदोंका अर्थ निर्णय करनेमें ही होता है। अतएव उपनिषदोंके सहज एवं अकृत्रिम होनेसे उनका स्वतःप्रामाण्य है, परंतु गीताका प्रामाण्य उपनिषद्-मूलक होनेसे ही है। भगवान् श्रीकृष्ण परमेश्वर ही हैं, तथापि तन्मुखविनिःसृत गीताका ईश्वरोक्तत्वात् प्रामाण्य नहीं, किंतु वेदमूलक होनेसे ही है। अन्यथा बुद्धदेवकी उक्तिको भी ईश्वरोक्तत्वात् प्रमाण मानना पड़ता; परंतु आस्तिकोंने वेदविरुद्धत्वात् उनकी उक्तिको प्रमाण नहीं माना। वेदसार होनेसे उपनिषदोंमें भी कर्म, उपासना एवं ज्ञानका वर्णन है। तत्सारभूत होनेसे गीतामें भी ये ही तीनों विषय वर्णित हैं। वेद, उपनिषद्, गीता—इन सभीका अवान्तर तात्पर्य कर्म और उपासनामें होते हुए भी महातात्पर्य स्वप्रकाश प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परात्पर परब्रह्ममें ही है। जन्मना ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं अनादि अविच्छिन्न उपनीत पितृ-पितामहादि-परम्परामें उत्पन्न एवं विधिवदुपनीत ही वेदों और उपनिषदोंके अध्ययनका अधिकारी होता है। यह पूर्वोत्तर-मीमांसामें स्पष्ट है। उपनिषदोंमें कर्मका दिङ्मात्र प्रदर्शन किया गया है। उपासना और विशेषतः ज्ञानका ही प्रतिपादन किया गया है। अतएव नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थ फल-भोग-वैराग्य, शान्ति, दान्ति, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान तथा तीव्र मुमुक्षाके होनेपर ही उपनीत द्विजाति उपनिषदोंके विचारात्मक श्रवणका अधिकारी होता है। जैसे आलोकादिसहकारिसहकृत मनःसंयुक्त निर्दोष चक्षुसे ही रूपका बोध होता है, अन्यथा नहीं, और तादृक् चक्षुसे रूपका बोध अवश्य ही होता है; इसी प्रकार साधनचतुष्टयसम्पन्न अधिकारीको ही उपक्रमोपसंहारादि

षड्विध लिङ्गोंद्वारा ब्रह्ममें तात्पर्य-निर्धारणरूप उपनिषत्-श्रवणसे ही ब्रह्मका साक्षात्कार होता है, अन्य किसी साधनसे नहीं। पूर्वोक्त कारणकलापसहित उपनिषत्-श्रवणसे अवश्य ही ब्रह्मसाक्षात्कार होता है। जैसे श्मशानकी अग्नि और गार्हपत्य अग्निमें पवित्रता-अपवित्रताका महान् अन्तर होता है, वैसे ही मनमानी रेडियो सुनकर या अखबार आदि पढ़कर उत्पन्न ज्ञान और ब्रह्मचर्य-व्रत गुरुशुश्रूषादि शास्त्रोक्त नियमोंके साथ उत्पन्न ज्ञानमें पवित्रता-अपवित्रता, निर्वीर्यता-वीर्यवत्तरता आदिका महान् अन्तर रहता है। इसीलिये सदाचार स्वधर्म-निष्ठा, तपस्या, उपासना, ब्रह्मचर्य, गुरु-शुश्रूषादि नियमोंके साथ अधिकारीको ही उपनिषदोंका विचार लाभदायक होता है, अन्यथा नहीं। अनधिकारीको तो हानि भी हो सकती है। अज्ञ अर्धबुद्धको उपनिषदोंके महावाक्योंका उपदेश अनर्थकारक होता है—

अज्ञस्याल्पप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्।
महानिरयजालेषु स तेन विनियोजितः॥

उपनिषदोंके महातात्पर्यका विषय अदृश्य अग्राह्य अलक्षण अचिन्त्य अव्यपदेश्य परात्पर शुद्ध ब्रह्म ही है। वही अचिन्त्य अनिर्वाच्य लीलाशक्तिके योगसे अनन्तकल्याणगुणगण-निलय, सगुण एवं सौन्दर्य-माधुर्य-सौरस्य-सौगन्ध्य-सुधाजल-निधि, अनन्तकोटिकन्दर्प-दर्पदमनपटीयान् साकार भी होता है। सदाशिव, श्रीमन्नारायण, श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण, उमा, रमा, सीता, राधा आदि अनेक रूप उसी परब्रह्मके हैं। इसी-लिये उपनिषदर्थनिर्णायक ब्रह्मसूत्रोंद्वारा विभिन्न आचार्योंने विभिन्न स्वरूपोंसे उसी ब्रह्मका प्रतिपादन किया है। गुरु एवं इष्टकी तथा श्रद्धा, ध्यान, पराभक्तिकी तत्त्वसाक्षात्कारमें अत्यन्त आवश्यकता होती है।

'यस्य देवे परा भक्तिः' 'श्रद्धाभक्तिज्ञानयोगादवेहि'

जिससे अनन्तकोटिब्रह्माण्डात्मक विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलय होता है, वही उपनिषदर्थ ब्रह्म है। आकाशका कारण अहम्, अहंका भी कारण महान्, महान्का भी कारण अव्यक्त है। अव्यक्त उपनिषदर्थ ब्रह्मसे उत्पन्न या उसमें ही अध्यस्त होता है। 'तदैक्षत', 'एकोऽहम्' इत्यादिक ईक्षण और अहं ही 'महान्' और 'अहं' हैं। अहं, महान्, ईक्षण, निद्रा और अव्यक्त—इन सबका साक्षी, भासक, निर्दृश्यमान ही उपनिषदर्थ ब्रह्म है। उस अखण्डबोधस्वरूप भानकी अत्यन्त अबाध्यता ही सद्रूपता, सद्रूप उसी तत्त्वकी अवेद्यत्वे सति अपरोक्षता ही चिद्रूपता और सच्चिद्रूप उसी परमात्मतत्त्वकी सर्वोपप्लव-विवर्जितता ही आनन्दरूपता है। सम्पूर्ण पुरुषार्थोंका चरम लक्ष्य अनर्थवर्जन एवं आनन्दप्राप्ति है। निरुपप्लव निरवधि, निःसीम, आनन्द ही ब्रह्म है। सर्वबाधावधि अत्यन्ताबाध्यता ही उसकी अमृतता एवं सत्यता है। अग्नि, चन्द्र, विद्युत् सूर्यसे भी सूक्ष्म अन्तरङ्ग प्रकाश चक्षुरादि इन्द्रियाँ हैं एवं उनसे भी सूक्ष्म मन, बुद्धि एवं अहमर्थ हैं; परंतु उन सबका प्रकाशक सबसे सूक्ष्म भान ज्ञानस्वरूप आत्मा है। जैसे दर्पणभानके अनन्तर तत्स्थ प्रतिबिम्ब भासित होता है, अथवा सौरादि आलोकके भानके अनन्तर नील-पीत आदि रूप भासित होते हैं, वैसे ही शुद्ध भानस्वरूप प्रत्यग् ब्रह्म-भानके अनन्तर ही अहमर्थ, ईक्षण, अव्यक्त आदि भासित होते हैं।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

घटादिकी अपरोक्षता मनश्चक्षु-आलोकादिसापेक्ष है; परंतु प्रत्यक्की अपरोक्षता सर्वनिरपेक्ष स्वतः है। **'यत्साक्षाद-परोक्षाद्ब्रह्म'** सर्वकारण सर्वाधिष्ठानस्वरूप प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परब्रह्मसे भिन्न सम्पूर्ण जगत् उसी प्रकार मिथ्या है, जैसे रज्जुमें कल्पित सर्पादि रज्जुसे भिन्न होकर सर्वथा मिथ्या हैं। जैसे मृत्तिका ही घट-शरावादिरूपेण, सुवर्ण ही कटक-मुकुट-कुण्डलादिरूपेण, जल ही तरङ्गादिरूपेण प्रतीत होते हैं, वैसे ही भगवान् भी प्रपञ्चरूपेण प्रतीत होते हैं। आरम्भवाद, परिणामवाद भी तत्त्वनिश्चयके लिये किसी कक्षामें मान्य होते हैं; परंतु क्षपितकल्मष विद्वान् तो विवर्त ही समझता है। जगदाकारेण परिणममाना मायाका अधिष्ठानभूत ब्रह्म ही दृष्टिभेदसे मायाके कारण ही अतात्त्विक अतएव असमसत्ताक अन्यथाभावापन्न होनेसे विवर्ताधिष्ठान कहलाता है। रूपान्तर-से चित्तचाञ्चल्यके कारण भी उसमें मिथ्या द्वैत-प्रतिभास होता है। वस्तुतः कार्यकारणातीत नित्यनिरस्तनिखिलप्रपञ्च-विभ्रम, अज, अनिद्र, अस्वप्न, स्वप्रकाश, अपार, अनन्त सद्घन चिद्घन आनन्दघन ब्रह्म ही सब कुछ है। जैसे बिम्ब-प्रति-बिम्बका भेद प्रतीत होते हुए भी वास्तवमें वह भेद मिथ्या है। बिम्बसे अतिरिक्त प्रतिबिम्ब कोई वस्तु नहीं है। बिम्ब ही प्रतिबिम्बात्मना प्रतीत होता है, वैसे ही जीवात्मा-परमात्माका भेद भी मिथ्या है। वस्तुतः परमात्मा ही उपाधिके द्वारा जीवात्मस्वरूपसे प्रतीत होता है। इसी तरह अहङ्कारादि उपाधिके कारण ही आत्मामें मिथ्या-कर्तृत्व उसी प्रकार प्रतीत होता है जैसे जपाकुसुमादिके संसर्गसे स्वच्छ स्फटिकमें लौहित्य प्रतीत होता है। जिस प्रकार घट-मठ आदि उपाधिमें रहता हुआ भी आकाश वस्तुतः सर्वथा असङ्ग ही रहता है, तद्वत

गुणों और दूषणोंसे वह लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार देहादि उपाधियोंमें रहता हुआ भी आत्मा उपाधियोंके तत्तद्गुणों और दूषणोंसे भूषित और दूषित नहीं होता। उत्पत्तिविपरीत-क्रमेण सम्पूर्ण प्रपञ्चको अधिष्ठानस्वरूप प्रत्यग् ब्रह्ममें लय कर देनेसे ब्रह्म ही अवशिष्ट रह जाता है, अथवा वागुपलक्षित बाह्येन्द्रियोंको मनमें, मनको ज्ञानात्मा अहमर्थमें, उसे अस्मिता-मात्रमें, उसे शान्तशुद्ध चिद्घनमें प्रतिसंहृत कर लेनेपर फिर शुद्ध अद्वितीय ब्रह्म ही स्फुरित होता है।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

इसी वस्तुस्थितिको एकमेवके 'एव' से दृढ़ किया गया है। इसीको **'नेह नानास्ति किञ्चन'**, **'नात्र काचन भिदा'** के **'किञ्चन'** एवं **'काचन'** से स्पष्ट किया गया है। अचिन्त्यानिर्वाच्य मायाके कारण सकल वाङ्मनसव्यपदेशभाक् प्रत्यक् चिति ही सकल-मनोवचनप्रपञ्चातिगता है। यही उपनिषदोंका सार है। फिर भी पूर्णरूपेण वर्णाश्रमानुसारी, धर्मानुष्ठान एवं परा भगवद्भक्ति-के बिना उपनिषदर्थबोध एवं तन्निष्ठा अत्यन्त दुर्लभ है। इसीलिये—

तमेतमात्मानं ब्राह्मणा यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन विविदिषन्ति।

—इत्यादि वचनोंद्वारा वेदनेच्छा या इष्यमाण वेदनमें यज्ञ-तप-दानादिका उपयोग बतलाया गया है। ब्रह्मचर्य, सदुपासना, सदाचार आदिका पद-पदपर उपनिषदोंमें समर्थन मिलता है। पञ्चाग्नि-विद्या, वैश्वानर-विद्या, दहर-विद्या आदि अनेक उपासनाओंका प्रतिपादन भी ब्रह्मसाक्षात्कारकी सुविधाके लिये ही किया गया है। लय एवं विक्षेप दोनों ही अवस्थाओंमें तत्त्वसाक्षात्कारमें कठिनाई पड़ती है। सुषुप्तिकी निद्रा एवं जाग्रत्-स्वप्नका द्वैतदर्शन अवरुद्ध हो, तब निश्चल अनिद्र प्रबुद्ध अविक्षिप्त चित्तपर प्रत्यग्ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। यत्नातिशयसाध्य निर्विकल्प समाधान अथवा सुषुप्ति-प्रबोध-सन्धि, वृत्तिसन्धि तथा दण्डायमान दीर्घनिर्विषयवृत्तिपर युक्तिसे ब्रह्मानुभव किया जा सकता है। फिर भी उपनिषन्मानापनोद्य ब्रह्माश्रय ब्रह्मविषयक मूलाज्ञानके नाशार्थ उपनिषद्विचार अत्यन्त अपेक्षित हैं। परम्परासे जो विधिवत् उपनीत नहीं हैं या उपनयनके अधिकारी नहीं हैं, उन्हें गीता, वाशिष्ठ, भागवत, विष्णुपुराणादिके श्रवणद्वारा भी तत्त्वबोध प्राप्त हो सकता है।

रस-ब्रह्म

(रचयिता—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

कोई शम-दममें नियममें निरत कोई
जप-तप व्रत-उपवासनामें रत हैं।
आसन बिछाये पद्मासन लगाये दृढ
कोई श्वास-वायुकी ही शासनामें रत हैं॥
होके यज्ञ-यागमें प्रवृत्त सानुराग कोई
स्वर्गके निवासकी ही वासनामें रत हैं।
कोई शब्द-ब्रह्म कोई अर्थ-ब्रह्म ढूँढ़ा करें
हम रस-ब्रह्मकी उपासनामें रत हैं॥
बतला रही है नित्य-मुक्त वेदवानी जिसे
देखो नन्दरानीने उलूखलमें बाँधा है।
पूरन अकाम, लिये प्रकट सकाम-भाव
प्याती जिसे प्रणयसुधाका रस राधा है॥
जगको नचाता वही नाचता निकुञ्ज-बीच
गोप-गोपियोंने इस भाँति उसे साधा है।
वेदोंमें न ढूँढ़, उपनिषद्-निगूढ रस
व्रज-सरबस बस एक वही काँधा है॥

अपौरुषेयताका अभिप्राय

(लेखक—स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज)

वेद शब्दका अर्थ ज्ञान है। वेद-पुरुषके शिरोभागको उपनिषद् कहते हैं। उप (व्यवधानरहित) नि (सम्पूर्ण) षद्[1] (ज्ञान) ही उसके अवयवार्थ हैं। अर्थात् वह सर्वोत्तम ज्ञान जो ज्ञेयसे अभिन्न एवं देश, काल, वस्तुके परिच्छेदसे रहित परिपूर्ण ब्रह्म है, 'उपनिषद्' पदका अभिप्रेत अर्थ है। इसलिये जबतक ज्ञानके स्वरूपका ठीक-ठीक विचार न कर लिया जायगा, तबतक उपनिषद् क्या हैं, यह बात स्पष्ट नहीं हो सकेगी।

पहली बात—ज्ञान स्वतःप्रमाण है, परतःप्रमाण नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि किसी भी पदार्थका यथार्थ निश्चय करनेमें ज्ञान ही अन्तिम निर्णायक होगा। सम्पूर्ण व्यवहार अपने ज्ञानके आधारपर ही चलता है। किसी भी विषयके होने एवं न होनेका निर्णय करनेमें ज्ञान ही अन्तिम कारण होगा। उदाहरणार्थ—विषयकी सत्ता इन्द्रियोंसे, इन्द्रियोंकी मनसे, मनकी बुद्धिसे और बुद्धिकी ज्ञानस्वरूप आत्मासे निश्चित होती है। अज्ञानका अनुभव भी ज्ञान ही है; परंतु ज्ञानको प्रमाणित करनेके लिये क्या ज्ञानसे भिन्न पदार्थकी आवश्यकता होगी ? कदापि नहीं।

प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेयकी त्रिपुटी ज्ञानके द्वारा ही प्रकाशित होती है। इसलिये ज्ञानकी सिद्धिके लिये उनकी कोई अपेक्षा नहीं है। यों भी कह सकते हैं कि इस त्रिपुटीके भाव और अभावका प्रकाशक ज्ञान ही है। वे रहें तब भी ज्ञान है और न रहें तब भी ज्ञान है। ज्ञानके बिना उन्हें अनुभव ही कौन करेगा। त्रिपुटीमें ज्ञानका अन्वय है और ज्ञान त्रिपुटीसे व्यतिरिक्त है। इसलिये ज्ञानकी सत्ता अखण्ड है। प्रमाणोंके द्वारा ज्ञानकी सिद्धि नहीं होती। ज्ञानसे ही समस्त प्रमाण, प्रमेय आदि व्यवहार सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह कि ज्ञानका प्रामाण्य स्वतः है, परतः नहीं।

दूसरी बात—ज्ञान स्वयंप्रकाश है। यह कर्ता, करण, क्रिया एवं फलके अधीन नहीं है। कर्ता करोड़ प्रयत्न करके भी स्थाणु-ज्ञानको पुरुष-ज्ञान नहीं बना सकता। मान्यता कर्ताके अधीन होती है। वह अपनी मानी हुई वस्तुको गणेश माने, सूर्य माने, बादमें फेरफार कर दे या बिल्कुल ही छोड़ दे—इन सब बातोंमें स्वतन्त्र होता है। परंतु यह ज्ञान नहीं है, यह तो कर्ताकी कृति है, जिसको वह स्वयं गढ़ता है और बादमें स्वतन्त्र मान लेता है। ये मान्यताएँ प्रत्येक कर्ताकी, सम्प्रदायकी, जातिकी और राष्ट्रकी अलग-अलग हो सकती हैं और होती हैं; परंतु ज्ञान सबका एक होता है। स्थाणुको भिन्न-भिन्न मनुष्य चोर, सिपाही अथवा भूतके रूपमें मान सकते हैं। परंतु ज्ञान सबका एक ही होगा कि यह स्थाणु है। पुरुष-भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं हो सकता। क्योंकि किसी भी पुरुषके द्वारा अथवा पुरुषविशेषद्वारा ज्ञानका निर्माण अथवा रचना नहीं होती। यहाँतक कि ईश्वर भी ज्ञानका कर्ता नहीं होता। वह तो स्वयं ज्ञानस्वरूप है। यदि ईश्वर ज्ञानका कर्ता हो तो ज्ञानरूप कर्मके पूर्व ईश्वरमें ज्ञानका अभाव स्वीकार करना पड़ेगा। परंतु ज्ञानका अभाव किसी भी प्रमाण अथवा अनुभवसे सिद्ध नहीं हो सकता। वह प्रमाण या अनुभव भी तो ज्ञानरूप ही होगा। अभिप्राय यह है कि ज्ञान साधन-साध्य नहीं है, सिद्ध है। उसके कारणके रूपमें अज्ञानकी अथवा ज्ञानान्तरकी कल्पना नितान्त असंगत है। इसलिये ज्ञान स्वयंप्रकाश है।

तीसरी बात—ज्ञान काल-परिच्छिन्न नहीं है। जब हम यह सोचने लगते हैं कि यह ज्ञान भूत है और यह ज्ञान भविष्य है, तब हम मानो यह स्वीकार कर लेते हैं कि कालकी धारामें ज्ञानका उदय एवं विलय हुआ करता है अर्थात् ज्ञान क्षणिक है। परंतु यह क्षण ही क्या है जिसकी पृथक्ताका आरोप ज्ञानपर किया जाता है। प्रश्न यह है कि काल सावयव है अथवा निरवयव ? यदि निरवयव है तो उसमें भूत-भविष्य एवं कला-काष्ठा आदिके भेद ही सम्भव नहीं हैं, वह ब्रह्म ही है। यदि सावयव है तो ज्ञान उसके भिन्न-भिन्न अवयवोंका प्रकाशक मात्र होगा और प्रकाश्यगत भेद प्रकाशकपर आरोपित नहीं किया जा सकेगा। जैसे घट-पटादिके भिन्न-भिन्न होनेपर भी उनको प्रकाशित करनेवाले प्रकाशमें भेद-कल्पनाका कोई प्रसंग नहीं है, ऐसे ही कला-काष्ठा आदिरूप कालके अवयवोंमें भेद होनेपर भी उनके प्रकाशक ज्ञानमें भेद-कल्पनाका अवसर नहीं है। सच्ची बात तो यह है कि काल-भेदकी कल्पना ही निर्मूल है। कल्पना करें कि क्या कभी कालका अभाव था या कालका अभाव होगा; जिस कालमें

१. गत्यर्थक षद् धातु।

हम कालके अभावकी कल्पना करेंगे, वह भी काल ही होगा और कालके अभावकी कल्पनाको निवृत्त कर देगा। अभाव-रहित वस्तु निरंश होती है। गुणन अथवा विभाजन केवल सांश वस्तुमें हो सकता है, निरंशमें नहीं। इसलिये अभाव-रहित कालमें कला-काष्ठादिरूप अवयवके आधारपर भूत-भविष्यकी कल्पना करना निःसार है। तब ये जो भूत-भविष्य मालूम पड़ते हैं, वे हैं क्या ? संविन्मात्र हैं ! कोई भी संवि-न्मात्र वस्तु संवित्को परिच्छिन्न नहीं बना सकती। इसलिये ज्ञान कालपरिच्छिन्न नहीं है।

चौथी बात—ज्ञानमें देश-परिच्छेद भी नहीं है। ज्ञानमें कालपरिच्छेदका निषेध करते समय यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि यह जो धारा अथवा क्रमकी संवित् है, यह कालनिष्ठ नहीं है, संविन्मात्र ही है। जैसे स्वप्नके पचासों वर्ष कालके अवयव नहीं हैं, संविद्रूप ही हैं, उनमें भूतकी स्मृति, भविष्यत्की कल्पना और ज्ञानके द्वितीयत्व-सद्वितीयत्व-की प्रतीति संविन्मात्र ही है, वैसे ही यह जो दैर्घ्य-विस्तार-की कल्पना हो रही है, सो भी संवित्से भिन्न नहीं है।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर आदिके रूपमें प्रतीयमान देशभेद देशनिष्ठ हैं अथवा पृथ्वी, सूर्य, ध्रुव आदि ग्रहनक्षत्रनिष्ठ हैं ? यह स्पष्ट है कि इस भेद-कल्पनाका कारण ध्रुवादि ग्रहनक्षत्र हैं, देश नहीं। तब क्या अन्यगत भेदका अन्यपर आरोपित करना न्यायोचित है ? कदापि नहीं। कालके समान ही कहीं भी देशका अभाव नहीं है। जिस देशमें देशके अभाव-की कल्पना की जायगी, वह भी देश ही होगा। अभावरहित देश ब्रह्म है। पूर्व, पश्चिम आदि एवं दैर्घ्य-विस्तार आदिकी कल्पना वस्तुनिष्ठ नहीं, संविन्मात्र है, ठीक वैसी ही जैसी स्वप्न-देशकी लंबाई-चौड़ाई। स्वयंप्रकाश ज्ञानके द्वारा प्रकाशित देशभेद ज्ञानका भेदक नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञान देश-परिच्छेदसे रहित है।

पाँचवीं बात—विषयपरिच्छेद भी ज्ञानका परिच्छेदक नहीं है, सबसे पहले तो यह विचार करनेयोग्य है कि विषय देश-काल-परिच्छेदके आश्रित हैं या नहीं ? जब भी कोई विषय प्रकाशित होगा, अपनेको किसी-न-किसी काल और देशमें ही प्रकाशित करेगा। देश और कालभेदकी कल्पनाके बिना विषयकी प्रतीति ही नहीं हो सकती। ठीक इसी प्रकार विषयभेदके बिना देश और कालकी भी प्रतीति नहीं हो सकती। जब देश और कालके भेद ही कल्पित हैं, तब उनके आश्रयसे प्रतीत होनेवाले विषय अकल्पित कैसे हो सकते हैं ?

ये पृथक्-पृथक् प्रतीयमान विषय सन्मात्र ही हैं या और कुछ ? यदि ये सन्मात्र ही हैं तो इनमें भेदकी कल्पनाका क्या आधार है, फिर तो इन्हें त्रिकालाबाध्य सत्तासे भिन्न समझा ही नहीं जा सकता। और यदि ये सन्मात्रसे भिन्न हैं तो इन्हें नितान्त असत् कहनेमें क्या आपत्ति है ? सत् और असत्, भाव और अभावका मिश्रण तो कभी हो ही नहीं सकता। अब यह कल्पना करें कि ये भिन्न-भिन्न विषय सत्ताके विशेष-विशेष रूप हैं; परंतु यह बात भी निराधार है। बिना देश-कालका भेद सिद्ध हुए सत्तामें भेद सिद्ध करनेकी कोई युक्ति नहीं है। सत्ताका परिणाम स्वीकार करनेपर भी परिणाम-की पूर्वावस्था, उत्तरावस्था, क्रम आदि अपेक्षित होंगे। इस प्रकार तो सत्ताका त्रिकालाबाध्यत्व ही कट जायगा और शून्य-वाद, क्षणिकविज्ञानवाद अथवा सर्वोच्छेदवादका प्रसङ्ग होगा। यदि यह कल्पना करें कि सत्ताका एक अंश तो स्थिर है और दूसरे अंशमें वह विषयोंका आरम्भ कर रही है या उनके रूपमें परिणत हो रही है तो यह अंशभेदकी कल्पना सर्वथा उपहासास्पद होगी। जो वस्तु एक अंशमें विदीर्ण हो रही है, वह दूसरे अंशमें नित्य नहीं हो सकती। अंशभेद तो असिद्ध है ही। इसलिये सत्तामें विशेष भी उपपन्न नहीं होता। विषयों-की उत्पत्ति सत्से, असत्से, सदसत्से अथवा उनसे भिन्नसे किसी भी प्रकार संगत नहीं है। जिनकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय ही असिद्ध है, जिनका स्वयं अपने अधिष्ठानमें ही अत्यन्ताभाव है, ज्ञानके बिना जिनकी कल्पना ही नहीं हो सकती, ऐसे विषयोंके द्वारा भी ज्ञान परिच्छिन्न नहीं हो सकता।

छठी बात—ज्ञानमें ज्ञातृत्व और ज्ञेयत्वका भेद भी औपाधिक ही है। देश-काल और वस्तुभेदका निषेध हो जाने-पर ज्ञानसे पृथक् ज्ञेयकी उपस्थिति अपने-आप ही कट जाती है। ज्ञेयके बिना ज्ञातृत्वके व्यवहारकी सिद्धि नहीं हो सकती। ज्ञेय और ज्ञाता दोनों ही एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हैं; परंतु ज्ञान दोनोंकी, दोनोंमेंसे किसी एककी अथवा और किसी अन्य-की अपेक्षा रक्खे बिना स्वतः सिद्ध है। यदि ज्ञेयरूप विषय भी ज्ञानसे पूर्व सिद्ध हैं, ऐसा माना जाय तो अननुभूत होनेके कारण वह केवल कल्पना होगी। अनुभवके बिना पदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती। यह जो भिन्न-भिन्न विषय और इनकी समष्टि ज्ञेयरूपसे पृथक् प्रतीत होती है, वह क्या ज्ञानसे बहिर्देश-में है अथवा ज्ञानके अन्तर्देशमें ? पहली बात तो यह है कि ज्ञानमें बहिर्देश और अन्तर्देशकी कल्पना नितान्त असंगत है। दूसरी यह कि ज्ञेय विषयको बहिर्देशमें माननेपर उसके साथ

ज्ञानका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि अन्तर्देशमें ही माने तो ज्ञानके साथ व्यापक-व्याप्य-भाव सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ेगा। यह सम्बन्ध भी ज्ञानको विषयका उपादान कारण माने बिना सम्भव नहीं है। तब क्या ज्ञान परिणामको प्राप्त होकर विषयका रूप ग्रहण करता है? ऐसी स्थितिमें परिणामकी एक धारा अथवा क्रम स्वीकार करना पड़ेगा। यह बात तभी स्वीकार की जा सकती है, जब कालकी क्षणिकताका आरोप उसके प्रकाशक ज्ञानपर किया जाय; परंतु अध्यस्तके गुण-दोष अधिष्ठानका स्पर्श भी नहीं कर सकते। आदिरहित, अन्तरहित ज्ञानमें विषयकी उपस्थितिके लिये एक क्षण अथवा भिन्न-भिन्न क्षण हैं ही नहीं। यह भी एक प्रश्न है कि विषय सम्पूर्ण ज्ञानमें हैं अथवा ज्ञानके एक अंशमें। ज्ञानमें अंशता, पूर्णता आदि तो कल्पित हैं। फिर यदि ज्ञानका परिणाम मानें भी तो क्या उसका कोई आकार है जो दूधसे दहीके समान रूपान्तरित होगा और क्या वह रूपान्तर भी ज्ञानस्वरूप नहीं होगा? ऐसी स्थितिमें प्रथमरूप द्वितीयरूपका भेद विचारहीनों-के द्वारा कल्पित एवं केवल विवर्तमात्र होगा। ज्ञेय विषयका निराकरण हो जानेपर ज्ञातृत्वकी कल्पनाका कोई कारण ही नहीं है।

सातवीं बात—ज्ञान हेतुफलात्मक नहीं है। ज्ञानकी उत्पत्ति स्वीकार करनेपर उसके प्रागभावकी अर्थात् उसकी उत्पत्तिके पहलेकी स्थिति बतानी पड़ेगी। परंतु ज्ञानके बिना उसकी भी स्थिति नहीं बतलायी जा सकती। अभिप्राय यह है कि ज्ञानका जन्म नहीं होता। अन्तःकरणकी शुद्ध स्थिति अथवा निर्विषयता भी ज्ञानकी जननी नहीं है, विचारकी जननी है। विचारके द्वारा वृत्त्यात्मक ज्ञान परिपुष्ट होता है और दृढ़ होनेपर वह अज्ञानका नहीं, अज्ञान-भ्रान्तिका निवर्तक होता है। प्रक्रिया ग्रन्थोंके अनुसार यह वृत्त्यात्मक ज्ञान भी दूसरे क्षणमें नहीं रहता है। यह क्षणसहित वृत्तिको और अपने व्यक्तित्वको भी बाधित कर देता है। जब यह स्वयं बाधित होता है तब कोई अपना कार्य या फल छोड़कर बाधित हो और वह ज्ञान-वृत्तिकी निवृत्तिके अनन्तर रहे, तब तो द्वैत बना ही रहा। इसलिये हेतुता और फलताकी कल्पना ही मिटती है। हेतु और फल तो कुछ है ही नहीं, जिनकी ज्ञानसे निवृत्ति होती हो। अज्ञान घटके उपादानकारण मृत्तिकाके समान जगत्का उपादान नहीं है। वह तो जगत्की व्यवस्थाकी सिद्धिके लिये कल्पित है। अज्ञान है—यह कल्पना भी ज्ञानका विवर्त ही है। इसलिये ज्ञानवृत्तिसे अज्ञानका ध्वंस नहीं होता, प्रत्युत कल्पना ही बाधित होती है। यह निवर्त्य-निवर्तक भावकी कल्पना अविचार दशामें ही है। ज्ञानदृष्टिसे हेतुफलात्मक भेद सर्वथा ही असिद्ध है।

आठवीं बात—ज्ञानमें यथार्थ-अयथार्थ और परोक्ष-अपरोक्षका भेद भी नहीं है। व्यवहारमें जो ज्ञानमें यथार्थता आदि भेद किये जाते हैं, यदि वास्तवमें विचार करके देखें तो कल्पित विषयगत भेद ही ज्ञानपर आरोपित होते हैं। स्वप्नका हाथी झूठा है। परंतु स्वप्नमें हाथीका देखना झूठा नहीं है। 'हाथी नहीं था' हमारी जाग्रत्कालीन स्मृतिका यही स्वरूप है। हाथी देखा ही नहीं था, यह नहीं। हाथीकी असत्ता ज्ञानकी असत्ताकी प्रयोजक नहीं हो सकती। अविचार दशामें हाथीकी अयथार्थताका आरोप ज्ञानपर कर दिया जाता है। इसी प्रकार ज्ञानकी परोक्षता भी विचारणीय है। परोक्ष-अपरोक्षका भेद घटादि पदार्थोंमें होता है या उनके ज्ञानमें? क्या ज्ञान भी कभी अपनेसे दूर होता है। यदि ऐसा मान लें 'पृथ्वीपर घट है और अन्तःकरणमें ज्ञान' तब भी तो घट-ज्ञान अपने अन्तःकरणमें ही रहा। उसकी परोक्षता कहाँ हुई। घटगत परोक्षताका ही आरोप ज्ञानपर हुआ। यह तो छोटी बात है। आश्रयत्व, विषयत्व आदि विभागसे रहित अद्वितीय चित्स्वरूप ज्ञानमें अयथार्थता और परोक्षताकी कथा-का कोई प्रसंग ही नहीं है।

नवीं बात—ज्ञान सर्वथा अबाध्य है। ज्ञानका कोई भी प्रतियोगी या विरोधी नहीं है। स्वयं अज्ञान भी ज्ञानके द्वारा ही प्रकाशित होता है। 'मैं अज्ञ हूँ' यह भाव भी एक प्रकारका ज्ञान ही है। ज्ञानमें यह प्रकारभेद भी विचार न करनेसे जान पड़ता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि सन्धिहीन होनेके कारण ज्ञान और अज्ञानका भेद कल्पित है। इसलिये अज्ञान ज्ञानका बाध नहीं कर सकता। ज्ञानके बाधकी कल्पना करनेपर यह प्रश्न होता है कि ज्ञानका बाध ज्ञात होगा या अज्ञात, वह ससाक्षिक होगा अथवा निःसाक्षिक। अज्ञात और असाक्षिक होनेपर ज्ञानका बाध होनेमें कोई प्रमाण नहीं है। ज्ञात और ससाक्षिक स्वीकार करनेपर ज्ञानकी सत्ता—ज्ञान-स्वरूप सत्, अक्षुण्ण एवं अखण्ड सिद्ध हो जाता है।

दसवीं बात—ज्ञानका स्वरूप अनिर्वचनीय है। जब हम किसी पदार्थका निर्वचन करने लगते हैं, तब उसमें दृश्यता, अन्यता आदिका आरोप अवश्य करते हैं। कोई भी निर्वचनाई वस्तु इदन्तासे आक्रान्त ही होगी। इसलिये मन-वाणीका विषय भी अवश्य होगी। ऐसी स्थितिमें विषय-विषयिभाव भी

अनिवार्य होगा। यही कारण है कि ज्ञानको उत्पाद्य अथवा आत्माका समवायी माननेवालोंने उसके जो-जो निर्वचन किये हैं, उन्हींकी रीतिसे वेदान्तीलोग उनका निषेध करते हैं। अनिर्वचनीयता भी परमत रीतिसे है। अनिर्वचनीयताका अभिप्राय केवल इतना ही है कि यह ज्ञानस्वरूपसे भिन्न नहीं है। अबाध्यता, स्वयंप्रकाशता, अपरिच्छिन्नता आदि जो लक्षण हैं, वे अन्य पदार्थमें, चाहे उसका नाम कुछ भी क्यों न रक्खें, पूरे नहीं उतर सकते। एक पर-रूप अपरिच्छिन्न स्वप्रकाश एवं अबाध्य हो तथा दूसरा स्वस्वरूप, वह भी हो और मैं भी होऊँ, यह बात अनुभूतिका विश्लेषण करनेपर सिद्ध नहीं होती। अज्ञेय और अनिर्वचनीय शब्द पर्यायवाची नहीं हैं। विदित और अविदितसे विलक्षण अन्य नहीं हो सकता। इसलिये अनिर्वचनीय पद समस्त निर्वचनोंका निषेध करके अनिरुक्त स्वात्मामें ही विश्रान्ति लाभ करता है।

ग्यारहवीं बात—सत्य, अहिंसा, ध्यान, उपासना, परत्व, कारणत्व आदि ज्ञानके ही उपलक्षण हैं। मुमुक्षु और मुक्तके व्यावहारिक भेदको सामने रखकर यदि सत्य, अहिंसा आदि सद्गुणोंके स्वरूपपर विचार किया जाय तो किसी भी गुणमें सत् होनेका निर्देश सच्चित्स्वरूप आत्माके सामीप्यके कारण ही करते हैं। जितना-जितना आत्म-सामीप्य जिस-जिस वृत्तिमें है, वह-वह वृत्ति उतना ही उतना अधिक शोधनद्वारा आत्मसाक्षात्कारका अथवा अज्ञान-निवृत्तिका उपाय है। उदाहरणार्थ—सत्य, अहिंसा आदि सद्गुणरूप वृत्तियोंको ही ले लीजिये। असत्य रूप दुर्गुण अनेकरूप होगा। उसके आचरण-भाषण आदिकी वृत्तियाँ भिन्न-भिन्न विषयोंके एवं चिन्ताके भारसे ग्रस्त होंगी। इसके विपरीत सत्य वृत्तिके लिये किसी चिन्ता—बनावट या विषय-चिन्तनकी आवश्यकता नहीं होगी। मुमुक्षुपुरुष सरल स्वभावसे विषयरहित सत्य वृत्तिमें स्थित रह सकेगा और वास्तवमें वह आत्मस्थिति ही होगी। अज्ञान-निवृत्ति होनेपर स्थितिके लिये उसे किसी प्रयासकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ आदि दुर्गुणकी वृत्तियाँ भी सगर्भ एवं सविषय ही होती हैं। किसके प्रति काम है, किसपर क्रोध है, क्या चाहिये—यह निश्चय करके तदाकार हुए बिना इन दुर्गुणोंकी स्थिति नहीं हो सकती। इसके विपरीत निष्कामता, अक्रोध एवं निर्लोभता आदि वृत्तियाँ यह अपेक्षा नहीं रखतीं कि हम किसके प्रति हैं। विषयहीन वृत्ति अपने आश्रयभूत प्रत्यगात्मासे अपनेको पृथक् नहीं दिखाती है—इसलिये आत्मविषयक अज्ञान-निवृत्तिकी प्रतिबन्धकतासे रहित होती है। सविषय स्थिति ही मुमुक्षुको सत्से भिन्न प्रतीत होती है। निर्विषय वृत्ति तो सद्रूप ही प्रतीत होती है—यही आत्म-सामीप्य ज्ञानस्वरूप आत्माका उपलक्षण है। अभिप्राय यह है कि ये वृत्तियाँ भी असत्य, हिंसा आदिके अभावरूप होनेके कारण स्वतः भावरूप नहीं, ज्ञानरूप हैं; अनेक नहीं, अद्वितीय हैं। ध्यान, उपासना आदि भी अनेकविषयक वृत्तियोंको व्यावृत करनेके लिये ही हैं; क्योंकि एक वस्तुमें एकतानता ही उनका स्वरूप है।

ज्ञानस्वरूप परमात्मामें कार्य-कारणकी कल्पना अथवा भोक्तृ-भोग्य भेदभावकी कल्पना असंगत है। श्रुतिने—

'न तस्य कश्चिज्जनिता' 'न तस्य कार्यम्' 'न तदश्नाति कश्चन' 'न तदश्नाति किञ्चन'

—आदि वाक्योंके द्वारा इसी अर्थका प्रतिपादन किया है। इस बातको ध्यानमें रखकर जब कार्य-कारण-भाव वर्णन करनेवाली श्रुतियोंको पढ़ते हैं, तब स्पष्ट रूपसे उनका अन्य अभिप्राय ज्ञात होता है। यथा—

१—दृश्य-प्रपञ्चमें नित्यताकी भ्रान्ति निवारण करनेके लिये इसकी उत्पत्ति-प्रलयका वर्णन है।

२—परमाणु, प्रकृति आदि अन्यकारणताका निषेध करनेके लिये ज्ञानस्वरूप परमात्मामें कारणत्वका अध्यारोप किया गया है।

३—निमित्तकारण और उपादानकारणका भेद मिटानेके लिये ऊर्णनाभि, विस्फुलिङ्ग आदिके दृष्टान्त हैं एवं एक विज्ञानसे सर्व विज्ञानकी उपपत्ति दिखायी गयी है। 'वही सब हो गया', 'मैं एकसे बहुत होऊँ' इत्यादि वचनोंका अभिप्राय उपादान और निमित्त कारणके भेदकी निवृत्तिमात्र ही है, परिणाम नहीं।

४—परिणामका निषेध करनेके लिये ही परमात्माके अद्वितीय अज-स्वरूपका वर्णन करते हुए 'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' अर्थात् जो कुछ बाह्यत्वेन अथवा आभ्यन्तरत्वेन प्रतीत हो रहा है वह अज ही है, ऐसा कहा गया है और दृश्य-प्रपञ्चकी उपपत्तिके लिये परमात्मामें मायाका अध्यारोप किया गया है।

५—**'न तु तद्द्वितीयमस्ति' 'विकल्पो न हि वस्तु'** इन श्रुतियोंसे अध्यारोपित मायाका भी अपवाद कर देते हैं। **'सद्धीदं सर्वम्' 'चिद्धीदं सर्वम्' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** इत्यादि श्रुतियाँ परमात्मासे भिन्न और कुछ नहीं है—यह प्रतिपादन करती हैं।

यह सब कारणत्व आदिका आरोप मुमुक्षुओंके हितार्थ अज्ञान-निवृत्तिके लिये ही किया गया है। इसलिये इन सबका अन्तिम पर्यवसान ज्ञानमें ही है।

परत्व, आन्तरतमत्व आदिका अभिप्राय भी ज्ञानस्वरूप आत्मामें ही पर्यवसित होता है। इन्द्रियोंसे परे पञ्चतन्मात्रा, तन्मात्रासे परे मन, मनसे परे बुद्धि—इस प्रकार एककी अपेक्षा दूसरा आन्तर है। बाह्य-बाह्यका परित्याग करते-करते आन्तर-आन्तरके ज्ञानकी ओर अग्रसर होना ही इसका लक्ष्य है। बुद्धिसे परे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे परे अव्यक्त और अव्यक्तसे परे पुरुष—यही परत्व अथवा आन्तरतमत्वकी विश्रान्ति है, यही पराकाष्ठा और परागति है। इस पुरुषसे परे कुछ भी नहीं है। यह आत्माके एकत्वका एक उज्ज्वल उदाहरण है। उपनिषद्गत लयप्रक्रिया भी शान्त आत्माको ही लयकी अवधि बतलाती है।

बारहवीं बात—अपरिच्छेद-रूप लक्षणके एकरूप होनेके कारण 'ज्ञान', 'आत्मा', 'ब्रह्म' और 'विश्व' आदि शब्द पर्यायवाची हैं और एक ही अर्थके बोधक हैं। यथा—

१—**'प्रज्ञानं ब्रह्म'** प्रज्ञान अपरिच्छिन्न ब्रह्म है।

२—**'अयमात्मा ब्रह्म'** यह आत्मा अपरिच्छिन्न ब्रह्म है।

३—**'ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्'** यह सम्पूर्ण विश्व अपरिच्छिन्न ब्रह्म ही है।

४—**'सर्वं यदयमात्मा'** यह सब जो कुछ है, आत्मा ही है।

५—**'अहमेवेदं सर्वम्'** मैं ही यह सब हूँ।

६—**'प्रतिबोधविदितं मतम्'** प्रत्येक ज्ञान ही उसका ज्ञान है।

७—**'कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव'** सम्पूर्ण प्रज्ञान घन ही है।

८—**'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** विज्ञान और आनन्द ब्रह्म ही है।

गीतामें **'ज्ञानं ज्ञेयम्'**, श्रीमद्भागवतमें **'विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति'**, विष्णुपुराणमें **'ज्ञानस्वरूपमेवाद्युर्जगदेतत्'** इत्यादि वचनोंसे उपर्युक्त अर्थकी पुष्टि होती है।

इस प्रकार उपनिषद्का प्रतिपाद्य अर्थ **'अहम्'**, **'इदम्'**, **'प्रत्यगात्मा'** एवं **'विश्वम्'** की ब्रह्मरूपता है। अब यह ब्रह्म क्या है, इसको उपनिषद्के मुखसे ही सुन लीजिये—

'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्। अयमात्मा ब्रह्म। सर्वानुभूरित्यनुशासनम्।'

इसका अभिप्राय है कि जो देश, काल, वस्तु-परिच्छेदसे रहित सर्वानुभवस्वरूप अपना आत्मा है वही ब्रह्म है।

'यत् साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि'

—इत्यादि अवान्तर वाक्य एवं महावाक्य दृश्य-द्रष्टा, तुम, मैं, वह आदिके रूपसे प्रतीयमान समस्त पद-पदार्थ एवं पदार्थ-ज्ञानको अपरिच्छिन्न ब्रह्म ही निरूपण करते हैं। परिच्छेदं सामान्याभावोपलक्षित ब्रह्मतत्त्वमें दृश्यता, अनेकता, परिणामिता, अन्यता आदिका कथा-प्रसङ्ग स्वयं ही अनुत्थान-पराहत है। यह तत्त्वका ज्ञान नहीं है, तत्त्वरूप ज्ञान है। इसका वेत्ता ब्रह्मका वेत्ता नहीं, ब्रह्मरूप वेत्ता है।

ज्ञानके इस स्वरूपके निरूपणसे वेद अथवा उपनिषद्की अपौरुषेयताका अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। ज्ञान ज्ञान ही है, वह किसी पुरुषकी अनुभूति, भावना, स्मृति अथवा कल्पना नहीं है। ज्ञान स्वयंप्रकाश, सर्वानुभवस्वरूप, सृष्टि-प्रलय, समाधि-विक्षेप आदि समस्त प्रतीयमान व्यवहारोंका प्रकाशक, अखण्ड, अजन्मा एवं स्वतःप्रमाण है। इसका सम्बन्ध भूत, भविष्य, वर्तमान, देश, वस्तु आदि किसीके साथ नहीं है और सब कुछ यही है। यह ज्ञान है, यह जानना है। कुछ भी जानना यही है, 'कुछ' नहीं जानना है, 'कुछ' भी यही है।

ऐसे ज्ञानका प्रतिपादक, अस्मर्यमाण-कर्तृक, अनादि सम्प्रदायाविच्छेदसे प्राप्त नियतानुपूर्वीक जो ग्रन्थविशेष है उसे भी अपौरुषेय कहते हैं। वह एकार्थक है, एकात्मक है, एक वाक्य है, उसके अवान्तर तात्पर्यमें भले ही भेद जान पड़ते हों परंतु परम तात्पर्यमें कोई भेद नहीं है। वेद-पुरुषका शिरोभाग अर्थात् मस्तिष्क उपनिषद् है। वह शाखा-भेदसे पृथक्-पृथक् प्रतीयमान होनेपर भी एक ही है। ज्ञान अद्वितीय है—यही अपौरुषेयताका अभिप्राय है।

मुक्तिके द्वार

वेदोंके सुअंग प्रतिमूर्ति हैं परमात्माकी, साधना-उपासनाके उत्तम अगार हैं।
भरे हैं वेदान्तके सिद्धान्त भी इन्हींमें सब, पातक-विनाशनको भागीरथी-धार हैं॥
मानवीय त्रयताप हरनेके हेतु तात! विश्वमें ये स्वतः 'रमा' प्रणव-ओंकार हैं।
पठन-मननसे है होता आत्मज्ञान सदा, अखिल उपनिषद मुक्तिके ही द्वार हैं॥

—लक्ष्मीप्रसाद मिस्त्री 'रमा'

उपनिषद्का अमर उपदेश

(माननीय वायसराय चक्रवर्ती श्रीराजगोपालाचारी महोदय)

उपनिषद्के सार-तत्त्वको वेदान्त कहते हैं। ज्ञान, भक्ति और अपने सम्पूर्ण कर्मोंमें भगवच्छरणागति-का भाव—यही उपनिषदोंका मथितार्थ है। ज्ञानका अर्थ प्रचुर अध्ययनसे होनेवाला गम्भीर आध्यात्मिक ज्ञान नहीं, अपितु अनुभव तथा गुरुजनोंके उपदेश एवं आचरणपर ध्यान देनेसे प्राप्त होनेवाली सम्यग् दृष्टि है। सत् क्या है और असत् क्या है, महान् क्या है और क्षुद्र क्या है, हमें क्या स्मरण रखना चाहिये और क्या भूल जाना चाहिये—इस बातको जानना आवश्यक है। इसीका नाम ज्ञान है और यह ज्ञान हमारी समस्त क्रियाओंका सूत्रधार होना चाहिये। इससे कर्ममें अनासक्तिका भाव आता है। हम कर्तव्यसे मुँह न मोड़ें, अपितु समस्त प्राप्त कर्म अनासक्त होकर तथा इस बातपर दृष्टि रहते हुए कि, किस बातमें जगत्का हित है और किसमें अहित है—करते रहें। हमारी क्रिया स्वार्थके लिये—अपने लाभके लिये न हो।

भक्ति संकल्पकी दृढ़ता, विनयशीलता तथा श्रद्धाका वह समन्वित रूप है, जिसके द्वारा हमारा कर्म और हमारी उपासना दूसरोंके लिये तथा अपने लिये भी कल्याणकारक एवं सफल होते हैं। भक्ति-शून्य कर्म अहङ्कारका प्रतीक है और भक्तिरहित उपासना दम्भका नामान्तर है।

भगवान्के शरण हुए बिना शोक एवं विफलतासे छुटकारा नहीं मिल सकता और न चित्तकी शान्ति ही सम्भव है। आनन्दकी प्राप्ति करानेवाला वेदान्तका यही अन्तिम उपदेश है।

दार्शनिक ज्ञानका मूल स्रोत

(माननीय पं० श्रीगोविन्दवल्लभजी पंत, प्रधानमन्त्री युक्तप्रदेश)

उपनिषद् सनातन दार्शनिक ज्ञानके मूल स्रोत हैं। वे केवल प्रखरतम बुद्धिके ही परिणाम नहीं हैं अपितु प्राचीन ऋषियोंकी अनुभूतिके फल हैं। उपनिषदोंका जनतामें प्रचार करनेका आप जो प्रयत्न कर रहे हैं, उसकी सफलता सब प्रकारसे वाञ्छनीय है।

उपनिषदोंका आध्यात्मिक प्रभाव

(बिहारके गवर्नर माननीय श्री एम्० एस्० अणे महोदय)

पाठकोंको अनुवाद एवं व्याख्यासहित भेंट देनेवाले उपनिषत्सम्बन्धी 'कल्याण'के विशेषाङ्कका समस्त हिंदी पढ़नेवाली जनता स्वागत करेगी। उपनिषद् शान्ति और विश्वप्रेमका जो महान् संदेश देना चाहते हैं, उसे प्रस्तुत अङ्क गरीबोंकी झोंपड़ियोंतक पहुँचा देगा। शोपनहर-जैसे दार्शनिकको भी उपनिषदों-से शान्ति एवं आश्वासन प्राप्त हुआ है। जिनका चित्त अशान्त है, उन्हें चित्तकी सान्त्वनाके लिये उपनिषदोंसे बढ़कर कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं मिल सकता। इनके अध्ययनसे मनुष्यके विचार एवं हृदयत भाव संयत होते हैं और सामान्यतः उनका मनुष्यपर महान् आध्यात्मिक प्रभाव पड़ता है। अतः आप एवं आपके सहयोगी इस विशेषाङ्कको निकालनेके लिये जो प्रयत्न कर रहे हैं, उसका मैं अत्यन्त आदर करता हूँ। मैं आपकी सर्वांशमें सफलता चाहता हूँ।

गीतोपनिषद्‌की श्रेष्ठता और उसके कारण

(लेखक—माननीय डा० श्रीकैलासनाथजी काटजू, गवर्नर, बंगप्रान्त)

गीताप्रेसके द्वारा प्रकाशित होनेवाले 'उपनिषद्-अङ्क'में बहुतसे विद्वान् एवं गम्भीर चिन्तनामें लगे हुए लोगोंके निबन्ध रहेंगे। ये परम विज्ञ लेखक निश्चय ही इन महान् उपनिषदोंके सिद्धान्तोंकी श्रेष्ठताका विवेचन करेंगे। हिंदुओंके विचारका सर्वोच्च स्तर हमें उपनिषदोंमें प्राप्त होता है। उपनिषद् हमारे उत्कृष्ट भारतीय ज्ञानकी परिणति हैं। उन्होंने सभी देशोंके विद्वान् दार्शनिकोंका आदर एवं सम्मान सहज ही प्राप्त किया है, और गत दो हजार वर्षोंमें उपनिषदोंपर सैकड़ों टीकाएँ लिखी गयी हैं। अतीतकालमें हमारी जातिके जितने भी दार्शनिकों एवं आचार्योंने प्राचीन सिद्धान्तको विशुद्धरूपमें पुनः प्रतिष्ठित करनेका प्रयास किया है, उन सभीने एक या अधिक उपनिषदोंका आश्रय लेकर अपना तथा अपने मतका समर्थन करनेकी चेष्टा की है। उपनिषदोंमें हिंदूधर्मका निचोड़ है; हमारे धर्मकी ऊँची-से-ऊँची और उत्तम-से-उत्तम शिक्षा इनमें है। बहुधा इनकी भाषा सूत्रों-जैसी और इनकी वर्णनशैली गहन है। इसीलिये टीकाओंका लिखा जाना आवश्यक था और इसीलिये उनपर इतनी अधिक टीकाएँ लिखी गयीं।

मेरे-जैसे व्यक्तिको, जो अपनी प्राचीन भाषा संस्कृतसे अनभिज्ञ है और जिसकी रुचि दर्शनशास्त्रकी अपेक्षा इतिहासके अध्ययनकी ओर अधिक रही है, उपनिषद् कभी-कभी गूढ़ एवं दुरूह प्रतीत होते हैं। मेरे लिये उपनिषदोंके सिद्धान्तोंको समझानेकी बात मनमें भी लाना अथवा उनके उच्च विचारोंके औदात्यकी प्रशंसा करना एक प्रकारसे धृष्टता ही होगी। यह कार्य ऐसा है, जिसे विभुत एवं विज्ञ विद्वान् ही कर सकते हैं। मेरी जीवन-यात्राका बहुत बड़ा भाग बीत चुका है और हमारे उपनिषत्कालीन प्राचीन ऋषियोंने जिन विविध मार्गोंसे एक ही लक्ष्यको प्राप्त किया है, उन सबको बोधगम्य करनेमें शक्तिको व्यय करनेकी अपेक्षा मेरी चेष्टा उस लक्ष्यपर ही अपनी दृष्टिको केन्द्रित करनेकी रही है। भगवद्गीताको सभीने सम्पूर्ण वेदों एवं उपनिषदोंका सार कहकर उसका बखान किया है और मेरी चेष्टा यथाशक्ति गीताके मुख्य उपदेशपर ही अपनी दृष्टिको जमाये रखने एवं उसे अपने जीवन-व्यवहारका आधार माननेकी रही है। मनुष्यके जीवनमें—यदि वह ज्ञान-प्राप्तिका सच्चा मार्ग पकड़े रहे—एक समय ऐसा आता है, जब कि केवल शास्त्र-ज्ञानके अर्जनकी ओरसे उसकी प्रवृत्ति हट जाती है। यह सिद्धान्त मुझे बहुत सत्य जँचा है। विभिन्न मतवादोंसे और कभी-कभी एक ही सिद्धान्तको अलग-अलग भाषामें व्यक्त करनेसे साधारण मनुष्यके चित्तमें संशय और भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। इसलिये सार-वस्तुपर अपनी दृष्टि स्थिर रखना और उसी मुख्य सिद्धान्तके अनुसार अपने जीवनको कसना अधिक निरापद मार्ग है। इसी भावसे उपनिषदोंके साररूपमें मैं अपने करोड़ों हिंदू भाई-बहिनोंके साथ गीताकी पूजा करता हूँ। उन्हींकी भाँति मेरी दृष्टिमें भी गीता अकेली ही हमारी जीवनयात्रामें प्रशस्त पथ दिखलानेके लिये पर्याप्त है।

हमारे राष्ट्रीय इतिहासके प्रारम्भसे ही गीताको इस प्रकार उपनिषदोंके साररूपमें स्वीकार किया गया है। विगत दो सहस्राब्दियोंमें उसपर सचमुच सैकड़ों ही टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। दुर्भाग्यवश उनमेंसे अधिकांश इस समय सर्वथा लुप्त हो गयी हैं। उपलब्ध टीकाओंसे कुछ तो इस सुदीर्घ-कालकी सीमाको पार करके आयी हैं और उनमें इस महान् उपदेशकी जिस पटुता एवं कौशलके साथ विभिन्न प्रकारसे व्याख्या की गयी है, उसे देखकर हमारे मनमें सात्त्विक ईर्ष्या एवं श्रद्धा होती है। प्रत्येक मरजीवेने ज्ञानके इस महान् सागरमें गोता लगाया है और वह एक या एकसे अधिक अमूल्य रत्न निकालकर लाया है। अबतक भगवद्गीता विज्ञ पण्डितोंकी ही सम्पत्ति थी; परंतु पिछले साठ वर्षोंमें इसके चमत्कारपूर्ण प्रचारका विस्तार हुआ है और आज भगवद्गीता प्रत्येक आस्तिक हिंदूकी बहुमूल्य निधि बन गयी है। राजप्रासादसे लेकर कृषककी कुटीरतकमें उसका प्रवेश हो गया है, और करोड़ों हिंदुओंके दैनिक जीवनका यह मूलमन्त्र बन गयी है। यह सर्वश्रेष्ठ उपनिषद् जो प्राच्य जगत्‌के पुरातन ज्ञान-भण्डारकी कुञ्जी है, आज भगवान्‌की कृपासे केवल भारतके ही नहीं, अपितु बाहरके भी अगणित नर-नारियोंके जीवनकी बागडोर बन गयी है।

इस बीसवीं शताब्दीमें विचार-जगत्‌के अंदर जो यह चमत्कार हुआ है, उसका क्या कारण है? छोटे-छोटे अठारह अध्यायोंके इस लघु-कलेवर ग्रन्थमें, जिसकी अवतारणा

युद्धक्षेत्रकी अनोखी रङ्गभूमिमें हुई, ऐसी कौन-सी बात है, जिसे अखिल विश्वके नर-नारी इस संसाररूप पहेलीकी कुञ्जीके रूपमें उत्तरोत्तर अधिक संख्यामें स्वीकार कर रहे हैं ? सर्वसाधारणकी बुद्धि सूक्ष्म विचारोंको ग्रहण नहीं कर सकती । वह केवल मुख्य बातोंको पकड़ती है और उनसे दृढ़तापूर्वक चिपट जाती है । कभी-कभी थोड़े समयके लिये उन्हें लुभावने एवं भ्रामक वाक्योंद्वारा बहकाया जा सकता है। परंतु अन्ततोगत्वा वह सदा सत्य वस्तुओंपर और सम्पूर्ण सत्सिद्धान्तोंके सार-तत्त्वपर ही स्थिर हो जाती है । उपनिषदोंके भी महान् उपनिषद् इस गीतामें ऐसी क्या वस्तु है, जिसे हमारे इस भारतवर्षमें तथा उत्तरोत्तर बढ़ती संख्यामें भारतवर्षके बाहर भी सर्वसाधारणकी बुद्धिने जीवनके तत्त्वरूपमें आग्रहपूर्वक ग्रहण किया है ? मेरा विनीत मत यह है कि साधारण हिंदू जनता, जिसमें मैं भी अन्तर्भूत हूँ, गीतासे दो सिद्धान्तोंको उत्तरोत्तर अधिक संख्यामें ग्रहण कर रही है । पहला सिद्धान्त मृत्युसे अभय हो जाना है । मृत्यु अनिवार्य है; जिसने भी जन्म लिया है उसका अवसान मृत्यु ही है । शरीर नश्वर है परंतु आत्मा अमर है, अतः जीवनके प्रति सम्पूर्ण आसक्ति और मृत्युका सारा भय ऐसी भूल है जिससे सदा बचे रहना चाहिये । एक महान् शिक्षा तो यह है । दूसरी शिक्षा यह है कि एकाकी ध्यान अथवा भक्तिपूर्ण उपासनाके मार्गका अनुसरण करनेसे चित्तकी आन्तरिक शान्ति—वह शान्ति जिसे पाकर मनुष्य सारे मात्रास्पर्शों एवं बाह्य सुख-दुःखोंसे अलिप्त रहता है, अवश्य मिल सकती है; परंतु सर्वश्रेष्ठ मार्ग सर्वभूतहितके लिये निरन्तर निष्कामभावसे कर्ममें लगे रहना है । यहाँ यह कहा जा सकता है कि इस कर्मके मार्गपर चलना कभी-कभी जलमें रहते हुए उससे अलग रहनेके समान कठिन हो जाता है । यह मार्ग सङ्कीर्ण अवश्य है; परंतु साथ ही श्रेष्ठ भी है । यही शिक्षा आज हिंदुओंके मनपर अधिकार कर रही है, जिस शिक्षाके अनुसार मानव-जातिके कल्याणके लिये कर्मफलकी आसक्तिको त्यागकर कर्म करना सर्वोत्तम योग है । मैं इसे जीता-जागता चमत्कार मानता हूँ, क्योंकि हम भारतीयोंको इस कर्मयोगके सिद्धान्तकी नितान्त आवश्यकता है । इस उपदेशको भुला देनेसे ही हमने अपनी स्वाधीनता और स्वतन्त्रता खो दी थी । हिंदुओंकी बुद्धि जन्म-मरणके इस चक्रसे, जो देखनेमें शाश्वत प्रतीत होता है, छूटनेका साधन निरन्तर खोजती रहती है । हमलोग इस चक्रको भेदकर उससे मुक्त होना चाहते हैं, और कुछ काल पूर्वतक सर्वसाधारण हिंदू जनता इस भ्रममें थी कि यह छुटकारा संसारसे अलग हो जानेपर ही सम्भव है । चाहे आप ध्यानयोगका आश्रय लेकर अथवा ईश्वरकी उपासनामें लगकर और उन्हें अपने हृदयके आसनपर बिठाकर अलग हों, आप अलग तो होते ही हैं और इस मुक्तिकी खोजमें संसारकी प्रत्येक वस्तु नगण्य हो जाती है, और इस दृष्टिकोणको ग्रहण करनेमें भय यह है कि देशकी पराधीनता अथवा स्वाधीनताका प्रश्न भी बहुत कुछ गौण हो जा सकता है; परंतु इस समय भगवद्गीताने सर्वसाधारण हिंदूकी बुद्धिको खींचकर सर्वथा एक दूसरे ही नवीन मार्गमें लगा दिया है । ध्येय वही-का-वही है—मुक्तिकी प्राप्ति, जन्म-मृत्युके उस शाश्वत प्रतीत होनेवाले चक्रका भेदन । परंतु आप उस व्यक्तिगत ध्येयको संसारमें बने रहकर अनवरत निष्काम कर्ममें लगे रहकर प्राप्त कर सकते हैं ।

मुझे गीताके अन्य महान् सिद्धान्तोंका विवेचन करनेकी आवश्यकता नहीं है । गौतम बुद्धने पता लगाया कि जीवनकी वासना, जीनेकी कामना ही दुःखका मूल है । 'कामनाओंको जीत लो, और तुम दुःखपर विजय पा लोगे' यह बुद्धका कहना है । उसी महान् सत्यको गीताके दृढतापूर्ण किंतु सूत्रसदृश शब्दोंमें बार-बार कहा गया है । भगवान्का भक्त वही है जो आसक्ति एवं कामनासे मुक्त है और जिसका अहङ्कार सर्वथा नष्ट हो गया है । साथ ही, भगवान् एक और अखण्ड हैं तथा समस्त रूपों एवं आकृतियोंमें प्रकट हैं । इस बातको गीताने उदात्त एवं सुन्दर भाषामें व्यक्त किया है । सच पूछिये तो गीतामें जीवनके एक सर्वाङ्गपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्तका समावेश हुआ है; परंतु गीताके उपदेशका मूल मन्त्र है—कर्म और अविराम कर्म । आलस्य एवं दीर्घसूत्रताका पापकी भाँति परित्याग कर देना चाहिये । कर्मयोग ही हमारे सामने आदर्शके रूपमें रक्खा गया है, और मैं फिर कहता हूँ कि कर्मका ही अन्तःकरणकी शुद्धि एवं परमपुरुषार्थकी प्राप्तिके साधनरूपमें विधान किया गया है, उस पुरुषार्थको हम मुक्ति कहें, कल्याण कहें अथवा निर्वाण । गीता न होती तो हिंदुओंकी प्रवृत्ति कर्ममात्रको प्रलोभनका कारण, सांसारिक बन्धनका हेतु और इस प्रकार आध्यात्मिक उन्नतिका बड़ा विघ्न कहकर उससे घृणा करनेकी होती । विश्वके समस्त धर्मग्रन्थोंमें, जिनसे मेरा परिचय है, एकमात्र गीताने ही इस प्रश्नपर यथार्थ दृष्टिसे विचार किया है और हमें बतलाया है

कि कर्म बुरा नहीं है, कर्ममें और कर्मफलमें आसक्ति तथा फलकी कामना ही—जिस फलको प्राप्त करनेके लिये मनुष्यमात्र लालायित रहता है, दोषका कारण है । कर्मको कर्मफलसे अलग करते ही आप अनुभव करेंगे कि कर्म स्वरूपतः व्यक्तिको ही नहीं, अपितु समाजको भी ऊपर उठाता है । कहा जाता है कि सभी भगवत्प्राप्त पुरुष जन्म-मृत्युका उल्लङ्घन करनेके पश्चात् भी, मनुष्यमात्रको संसाररूप इस महान् बन्धनसे मुक्त करनेके लिये स्वेच्छासे जीवनके साथ लगे हुए बड़े-से-बड़े क्लेशोंको सहन करना स्वीकार करते हैं । गीता ही कर्मको आध्यात्मिक उन्नतिका सर्वश्रेष्ठ साधन कहकर उसकी प्रशंसा करती है और मेरा विश्वास है हमारे इस प्रिय भारतवर्षका भविष्य बहुत ही उज्ज्वल है। इसका एक अत्यन्त सुदृढ़ प्रमाण यह है कि निष्काम कर्मयोगका यह सिद्धान्त सर्वसाधारण हिंदूकी बुद्धिमें व्यापकरूपसे प्रवेश कर रहा है । जिस किसी परिस्थितिमें हम हों, सम्पूर्ण व्यक्तिगत हेतुओं, यहाँतक कि जीवनतकका विचार छोड़कर अपने कर्तव्यका पालन करना ही चाहिये । यह सिद्धान्त निश्चय ही हमारे लिये सबसे बड़ा रक्षाका साधन प्रमाणित होगा । ध्यान रहे कि यह कर्मयोग संग्राममें जूझनेवाले सैनिकके लिये ही नहीं है अपितु प्रत्येक नर-नारीके लिये, जिस किसी परिस्थितिमें वह हो, जीवनभर साधन करनेका है । निष्कामकर्म हमारे राष्ट्रका प्राण बन जाना चाहिये और जबतक हमारे शरीरमें यह प्राण रहेगा तबतक हमारी मृत्यु नहीं हो सकती ।

उपनिषदोंमें सनातन सत्य

(माननीय पं० श्रीरविशङ्करजी शुक्ल, प्रधानमन्त्री मध्यप्रान्त-बरार)

'कल्याण'की सेवाओंसे प्रत्येक भारतीय कृतार्थ हुआ है । 'कल्याण'के विशेषाङ्क भारतीय साहित्य और विचार-जगत्‌की एक महत्त्वपूर्ण घटना होते हैं । उपनिषद् हमारे युग-युगोंकी सबसे मूल्यवान् धरोहर हैं । मुझे विश्वास है 'कल्याण'का 'उपनिषद्-अङ्क' प्रत्येक घरमें एक सम्माननीय स्थान प्राप्त करेगा और सनातन सत्यका प्रकाश फैलाकर यथार्थमें कल्याणदायी सिद्ध होगा ।

चित्त ही संसार है

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् । यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत् सनातनम् ॥
चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम् । प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमक्षयमश्नुते ॥
समासक्तं यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरम् । यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥

(मैत्रेयी० ५–७)

चित्त ही संसार है; अतः प्रयत्नपूर्वक उसको शुद्ध करना चाहिये । जिसका जैसा चित्त होता है, वैसा ही वह बन जाता है । यह सनातन रहस्य है । चित्तके प्रशान्त हो जानेपर शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं; और प्रशान्त मनवाला पुरुष जब आत्मामें स्थितिलाभ करता है, तब उसे अक्षय आनन्दकी प्राप्ति होती है । मनुष्यका चित्त जितना इन्द्रियोंके विषयोंमें समासक्त होता है, उतना यदि परब्रह्ममें हो जाय तो बन्धनसे कौन न मुक्त हो जाय ।

उपनिषद् और कर्तव्याकर्तव्य-विवेक

(लेखक—माननीय बाबू श्रीसम्पूर्णानन्दजी, शिक्षा-सचिव, युक्तप्रान्त)

भारतीय दर्शनके पाश्चात्य आलोचकोंने इस बातकी ओर बराबर ध्यान आकृष्ट किया है कि उन विचार-शास्त्रोंमें, जो वेदमूलक हैं, कर्तव्याकर्तव्यकी विवेचना नहीं की गयी है। इस दृष्टिसे भारतीय होते हुए भी बौद्धदर्शनकी परम्परा भिन्न है। उसमें जिस मध्यम मार्गका प्रतिपादन किया गया है, वह यूरोपीय विचारकोंको स्वभावतः अपनी ओर खींचता है। उनको उसमें चरित्रनिर्माण और समाज-संव्यूहनका वह बीजक मिलता है, जिसके सहारे आजके परितप्त जगत्को शान्ति दी जा सकती है। जिस समय बुद्धदेव भारतीय जगत्में अवतरित हुए थे, उन दिनों सद्धर्मका एक प्रकारसे लोप हो गया था। सहस्र-संख्यक निरीह पशुओंके आलभन और तामस तपसे समाजका आत्मा क्षुब्ध हो उठा था। इसकी ही प्रतिक्रियाके स्वरूपमें मध्यम मार्गकी प्रतिष्ठा लोकसम्मत हुई। उस प्रारम्भिक कालमें न तो ऐसे मन्दिर थे, न किन्हीं देव-देवियोंकी पूजा होती थी। इसलिये भी मध्यम मार्गके उपदेशकोंको प्रश्रय मिला। बादमें तो उसका नाममात्र अवशिष्ट रह गया; क्योंकि महायान सम्प्रदायने आध्यात्मिक जगत्में इतने बुद्धों, बोधिसत्त्वों, देवों और देवियोंको ला बिठाया था कि किसीको मध्यम मार्गपर चलनेका कष्ट करनेकी आवश्यकता ही नहीं रह गयी।

इसके विपरीत यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैदिक विचारधारामें चरित्रशुद्धि और कृत्याकृत्यविवेकको कभी भी महत्त्वका स्थान नहीं दिया गया। पूर्वमीमांसा कर्मशास्त्र तो है, परंतु उसको भी पाश्चात्य ईथिक्स-विषयक ग्रन्थोंकी भाँति कर्तव्यशास्त्र नहीं कह सकते। 'कर्तव्य' और 'धर्म' शब्दोंको समानार्थक मान लेनेपर भी काम नहीं चलता। जैमिनिके अनुसार 'चोदनालक्षणोऽर्थः धर्मः' इसके आगे वह कहते हैं, 'तद्वचनादाम्नायस्यप्रामाण्यम्' इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिसकी चोदना, घोषणा, विधि वेदमें की गयी हो, वह धर्म है। इसीमें वेदकी प्रामाणिकता है। यह परिभाषा चाहे व्यवहारदृष्टिसे उपयोगी भी हो परंतु दार्शनिक दृष्टिसे सन्तोषजनक नहीं है। जिन कामोंको वेदने वैध ठहराया है, उनके सम्बन्धमें यह प्रश्न बराबर हो सकता है कि उनको क्यों किया जाय। भले ही वेद अपौरुषेय हों, ईश्वरकृत हों, परंतु ईश्वरकी आज्ञा क्यों मानी जाय? यह हो सकता है कि ईश्वरमें निग्रहानुग्रहकी शक्ति हो; परंतु पुरस्कारकी आशा या दण्डके भयसे किया गया काम वस्तुतः उत्कृष्ट नहीं होता। लोकमें भी ऐसे काम प्रशस्त नहीं माने जाते। कर्मविशेषकी करणीयता या अकरणीयताका निर्णय उसके स्वरूपके आधारपर होना चाहिये न कि कर्ताके अतिरिक्त किसी शक्तिशाली व्यक्तिकी इच्छापर। कणादने इससे अच्छी परिभाषा की है। वे कहते हैं—

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

'जिस कर्मसे अभ्युदय—इहलोक और परलोकमें कल्याण और मोक्षकी सिद्धि हो, वह धर्म है।' इससे धर्माचरणके परिणामका परिचय तो मिलता है; परंतु परखनेकी कसौटी नहीं दी गयी। बादके विद्वानोंने तो इतना भी विचार नहीं किया है। जगत्-सम्बन्धी अनेक सूक्ष्म और स्थूल प्रश्नोंकी समीक्षा की गयी; परंतु कर्मके सम्बन्धमें केवल इतना ही कह दिया जाता था कि जो आचरण वेदविहित है, वह करणीय है और जो निषिद्ध है वह अकरणीय है। यदि किसी विद्वान्को किसी ऐसे कृत्यके विषयमें व्यवस्था देनी होती थी जिसका स्पष्ट उल्लेख श्रुतिमें नहीं मिलता तो वह इसी बातका प्रयत्न करता था कि उसको स्वरूप-साम्यके आधारपर वेदमें दी हुई किसी-न-किसी कर्मसूचीमें बिठा दे। इसको स्वतन्त्र विचार नहीं कह सकते।

ऐसी आलोचनाका प्रभाव भारतीयोंपर पड़ना स्वाभाविक है। आलोचनाका उत्तर देनेकी सामग्री भी उसके पास नहीं थी। विदेशी शासनके प्रभावने उनके आत्मविश्वासको लुप्तप्राय कर दिया था। अतः जिस किसी वस्तुकी शिकायत विदेशी करते थे, वह उनकी आँखोंमें भी खटकने लगती थी।

यह बिल्कुल ठीक है कि भारतीय दर्शनमें सत्कर्ममीमांसाको वह स्थान नहीं दिया गया है जो उसे पश्चिममें प्राप्त है; परंतु इसमें लज्जित होनेकी कोई बात नहीं। यहूदी, ईसाई और इस्लाम-धर्म एकेश्वरवादी ही नहीं, प्रत्युत एकोपास्यवादी हैं। ईश्वर जगत्का स्रष्टा, पालक और संहर्ता है। जगत् उसकी इच्छाकी अभिव्यक्ति, उसकी लीला है। वह सर्वथा 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' समर्थ है। किसी और-की उपासना उसके लिये असह्य है। उसने मूसासे स्वयं कहा था कि 'मैं तेरा ईश्वर ईर्ष्यालु हूँ।' वह और सब अपराधोंको

क्षमा कर सकता है; परंतु शिर्क और इनकार, उसके सिवा किसी और उपास्यकी सत्ताको मानना या स्वयं उसकी सत्ताको न मानना अक्षम्य अपराध है। यह तो इन धर्मोंका मूलरूप है। ईसाई-धर्मपर उसके शैशव-कालमें ही यूनानी दर्शनका प्रभाव पड़ा। इस समन्वयके कारण उसकी कट्टरता बहुत कुछ कम हो गयी। बाइबिलका वह भाग जिसमें ईसा और उनके शिष्य जॉन तथा सेंट पालके उपदेश अङ्कित हैं, उदार आत्मज्ञानमूलक वाक्योंसे परिपूर्ण हैं। जो ईसाई 'मैं आल्फा और ओमेगा—वर्णमालाका प्रथम और अन्तिम अक्षर हूँ' तथा 'मैं अपने पितासे अभिन्न हूँ'-जैसे वाक्योंके अर्थपर मनन करेगा वह विशिष्टाद्वैत अनुभूतिका निश्चय ही अधिकारी बन सकेगा।

इस्लामपर भी यूनानी दर्शन और ईरान पहुँचनेपर भारतीय दर्शनका प्रभाव पड़ा। इसीके फलस्वरूप सूफी सम्प्रदायका जन्म हुआ। कोई सूफी कहता है 'हमः अज़ोस्त' सब कुछ उससे निकला है। उपनिषद्के शब्दोंमें 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च', जैसे मकड़ी अपने शरीरसे तन्तु निकालती है और फिर अपनेमें खींच लेती है। कोई सूफी इससे भी आगे जाता है। वह 'हमः ओस्त' सब कुछ वही है—कहता है। वह ऐसा मानता है कि 'हम बन्दः हम मौलास्तम'—'मैं सेवक भी हूँ और सेव्य भी हूँ।' परंतु ईसाई और सूफी साधक इस बातको नहीं भूल सकता कि—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥

'हे नाथ! सचमुच भेद दूर होनेपर भी मैं आपका हूँ, आप मेरे नहीं। तरङ्ग समुद्रसे निकली है, कभी समुद्र तरङ्गसे नहीं निकलता।' वह उस पदकी बात नहीं करता, जहाँ सेवकके साथ-साथ सेव्यकी सत्ता भी किसी 'तत्' में विलीन हो जाती है।

जिन विचारधाराओंमें प्रतीयमान जगत्का मूल कोई सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर माना जाता है, उनमें स्वभावतः इस बातपर बहुत जोर दिया जाता है कि मनुष्यको ईश्वरकी आज्ञाका आँख बंद करके पालन करना चाहिये। कविके लिये असह्य है कि कोई व्यक्ति उसकी कृतिको विकृत कर दे। अनन्त ज्ञानसम्पन्न ईश्वरने ऐसे नियम बनाये हैं, जिनके अनुसार मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है। यदि वह इन नियमोंका पालन नहीं करता, तो वह ईश्वरके काममें बाधा डालता है और दण्डका भागी बनता है। उसमें इतनी शक्ति नहीं है कि इन नियमोंको अपनी बुद्धिके बलसे ढूँढ़ निकाले। यह हो सकता है कि यदि वह प्रपन्न होकर ईश्वरकी शरण जाय तो उसकी बुद्धिमें ईश्वरकी बुद्धिकी छाया अवतरित हो और ईश्वरकी इच्छाकी झलक मिलती रहे; परंतु यह सब तभी हो सकता है, जब कि वह ईश्वरचोदित विधि-निषेधकी परिधिके बाहर जानेका क्षण भरके लिये भी दुःसाहस न करे। सत्कर्मका अर्थ ईश्वराज्ञाका पालनमात्र रह जाता है।

ईसाने कहा है—दूसरोंके साथ वैसा बर्ताव करो, जैसा बर्ताव तुम अपने लिये पसंद करोगे। इस आदेशमें बुद्धिके ऊपर बहुत बड़ा दायित्व आ जाता है, 'दूसरा' शब्दका क्या अर्थ है? मैं अपने साथ कैसा बर्ताव पसंद करता हूँ—का विशद रूप यह हो जाता है कि मुझे अपने साथ कैसा बर्ताव पसंद करना चाहिये। ऐसे प्रश्नका यथार्थ उत्तर देनेके लिये बर्तावकी कोई-न-कोई कसौटी होनी चाहिये। यही कर्तव्यमीमांसाका उद्गम-स्थान है। पाश्चात्य दर्शनशास्त्री बाइबिलकी व्याख्या भले ही न करते हों, परंतु उनके ऊपर उस वातावरणका प्रभाव तो पड़ता ही है, जिसमें उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई है। इसके सिवा उनके सामने यह प्रश्न तो बराबर ही रहता था और है कि समाजका सञ्चालन सुचारुरूपसे तभी हो सकता है, जब समाजके सब अङ्ग एक-दूसरेके साथ यथोचित आचरण करें। यथोचित आचरण क्या है, जाननेके लिये उनको सदाचरणकी कसौटी ढूँढ़नी पड़ी है। इस कसौटी-की खोजमें उनको जगत्के स्वरूपको पहचाननेका भी यत्न करना पड़ता है। इसीलिये वह 'The good' के बाद 'The true' 'शिव'के बाद 'सत्यम्'का नाम लेते हैं।

भारतीय दर्शनका स्रोत इससे सर्वदा भिन्न और विपरीत है। भारतीय विचारक ऐसा मानता है कि मनुष्यकी सारी विपत्तियों, सारी कठिनाइयोंका मूल अविद्या—अज्ञान है। जहाँ विद्या है, वहीं शक्ति है। अतः वह ज्ञानकी खोज करता है। ज्ञानका क्षेत्र अनन्त है। जिस किसी पदार्थकी सत्ता है, वह ज्ञानका विषय है। यदि ईश्वरका अस्तित्व है तो वह भी ज्ञेय है। ज्ञेयत्वकी दृष्टिसे छोटे-से-छोटे कीड़े-मकोड़ेका वही स्थान है, जो ईश्वरका है। विभिन्न विद्वानोंने अविद्या और ज्ञाता तथा ज्ञेयके स्वरूपका विभिन्न प्रकारसे वर्णन किया है। इन सबकी पराकाष्ठा शाङ्कर-अद्वैतवाद अर्थात् मायावाद है। इसके अनुसार जगत् मिथ्या है। इसका अर्थ यह नहीं है कि जगत् असत् है। यदि किसीको पृथ्वीपर पड़ी रस्सी सर्प प्रतीत होती है तो यह प्रतीयमान

सर्प तो मिथ्या है, पर रस्सी सत्य है। जगत्के मिथ्यात्वका यही अर्थ है। जगत् जगत्-रूपसे असत्य है, ब्रह्मरूपसे सत्य है। ब्रह्म ईश्वर नहीं है। वह चेतन नहीं, चित् है। न उसमें इच्छा है, न सङ्कल्प है। न उसमें कोई परिवर्तन होता है। न उसमें क्रिया करनेकी सम्भावना है। जिस अज्ञानके कारण उसमें जगत्की प्रतीति होती है, उसका दूर हो जाना मोक्ष है।

भारतीय दर्शनमें 'पुनर्जन्म' सिद्धान्तका बहुत बड़ा स्थान है। अपने कर्म-संस्कारोंके कारण प्राणी एकके बाद दूसरे शरीरको धारण करता है। उसके सुख-दुःखका कारण किसी ईश्वरकी इच्छा नहीं, वरं स्वयं उसका कर्म है। जब जीवनका सबसे बड़ा उद्देश्य, परम पुरुषार्थ मोक्ष है तो फिर किसी सर्वशक्तिमान् व्यक्तिकी खुशामद करनेकी, किसी ईश्वरकी आँख बंदकर आज्ञा माननेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। वेदादि ग्रन्थ निश्चय ही विधि-निषेधकी घोषणा करते हैं; परंतु उनके आदेश उसी प्रकारके हैं, जैसे कि बड़ा भाई छोटे भाईको देता है। देवगण और ऋषिगण भी जीव हैं। वे भी नीचेसे ऊपर उठे हैं। जो जीव आज उनकी आज्ञाओंका पालन करता है, वह ज्ञानकी वृद्धिके साथ-साथ उन आज्ञाओंके औचित्यका स्वयं अनुभव करने लगेगा और एक दिन उस पदवीको प्राप्त कर लेगा, जब उसको किसी उपदेष्टाकी आवश्यकता न रह जायगी। वह स्वयं परमर्षि महादेव हो जायेगा। उसके मन और शरीरसे सत्कर्म उसी प्रकार होंगे, जिस प्रकार कि बादलसे अनायास जलकी वृष्टि होती है। इसीलिये इस अवस्थाको धर्ममेघ कहते हैं। जिस परमात्माकी ओर इन शास्त्रोंमें संकेत है, वह अल्लाहसे बहुत भिन्न है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक होते हुए भी कर्मके अटल सिद्धान्तको किसी भी अंशमें बदल नहीं सकता। उसका दूसरा नाम मायाशबल ब्रह्म है। अर्थात् यह ब्रह्मका वह रूप है जिसकी अनुभूति मायाके झीने परदेके भीतरसे होती है।

यह स्पष्ट है कि इस विचारशैलीमें प्रधान स्थान ज्ञान—विद्याका ही हो सकता है; क्योंकि अविद्याके दूर होनेसे ही मोक्ष हो सकता है अर्थात् जीव इस प्रतीयमान जगत्को अपने जीवत्वके, जीवेश्वर-भेदके ऊपर उठकर आत्मस्वरूप अर्थात् अखण्ड, अद्वय, सत्, चिन्मात्र, अनिर्वचनीय ब्रह्म-पदमें स्थिर हो सकता है। अविद्याका विनाश विद्यासे हो सकता है, कर्मसे नहीं। कर्म उत्कृष्ट-से-उत्कृष्ट क्यों न हो, वह द्वैतकी सत्ताको स्वीकार करके ही किया जा सकता है और इस दृष्टिसे जीव और मोक्षके बीचकी दीवारको दृढ़ करता है। शृङ्खला भले ही सोनेकी हो, परंतु कोई बुद्धिमान् उससे बँधना पसंद न करेगा। इसीलिये हमारे दर्शनोंमें कर्तव्यशास्त्रको प्राधान्य नहीं दिया जा सकता। हम 'शिवम्'का नाम लेते भी हैं तो 'सत्यम्'के बाद।

मोक्षानुभूति अर्थात् साक्षात्कार समाधिसे होता है और समाधिके लिये अभ्यास एवं वैराग्यकी आवश्यकता है। विक्षिप्त चित्त प्रतिक्षण इधर-उधर भटका फिरता है। स्थिर सत्यका अनुभव नहीं कर सकता। ऐसे अनुभवके लिये चित्तको वासनाविरहित करना होगा। कठोपनिषद्के शब्दोंमें—

'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति।' (२।३।१४)

इसका तात्पर्य यह हुआ कि कर्म किये तो जायँ परंतु निष्काम होकर; वासनाओंकी तृप्तिके लिये नहीं, वरं उनके उपशमके लिये। भारतीय दर्शनमें यही स्थल कर्तव्यशास्त्रका उद्गम-स्थान है। ईशावास्य-उपनिषद् विशेषरूपसे विचारणीय है—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ १-२॥

पहले द्वितीय मन्त्रको लीजिये। इस प्रकार कर्म करते हुए वह अर्थात् उनके सुख-दुःख, आशा-भय आदिके संस्कार उसको लिप्त न कर सकें। मनुष्य सौ वर्ष अर्थात् पूर्णायु जीवे। शुक्ल यजुर्वेदके छत्तीसवें अध्यायका चौबीसवाँ मन्त्र इस सौ वर्षकी पूर्ण आयुका रूप बतलाता है—

'पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्।'

'हम सौ वर्षतक जीते रहें, हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ सौ वर्षतक काम करती रहें। (वैदिक वाङ्मयमें चक्षुको सब ज्ञानेन्द्रियोंका और वाणीको सब कर्मेन्द्रियोंका उपलक्षण मानते हैं।) सौ वर्षतक ज्ञानका सञ्चय करते रहें (वेदको श्रुति कहते हैं इसलिये 'हम सुनते रहें' का अर्थ है हमको ज्ञानकी प्राप्ति होती रहे) और हम सौ वर्षतक अदीन रहें।' पहला मन्त्र यह बतलाता है कि किस प्रकारका आचरण करनेसे मनुष्य कर्म-फलसे अलिप्त रह सकता है। समस्त जगत्को ईश्वरसे आच्छादित करना चाहिये। ऐसा मानना चाहिये कि समस्त जगत्में ईश्वर भीतर और बाहर व्याप्त है।

समस्त जगत् उसकी अभिव्यक्ति है। ऐसी अवस्थामें एक वस्तुको पसंद करने और दूसरीको नापसंद करनेका प्रश्न ही नहीं उठ सकता। इसलिये जो कुछ यदृच्छया प्राप्त हो जाय, उसका त्यागके द्वारा असङ्ग भावसे उपभोग करना चाहिये। त्याग सक्रिय भाव है। हम उसकी व्याख्या आगे चलकर करेंगे। अन्तमें मन्त्र यह कहता है कि किसीके अर्थात् दूसरोंके धनकी लालच मत करो। यह सुननेमें बड़ी स्थूल-सी बात प्रतीत होती है, परंतु इसका वास्तविक आशय यह है कि मनुष्यको चाहिये कि विषयोंकी, जो दूसरों अर्थात् इन्द्रियोंके धन हैं, कामना न करे। यदि ध्यानसे देखा जाय तो सारी भगवद्गीता इन दोनों मन्त्रोंकी व्याख्यामात्र है।

कठोपनिषद्की दूसरी वल्लीने परम पुरुषार्थ और सदाचारके सम्बन्धमें एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कही है। जिसके बारेमें पाश्चात्य विद्वानोंको भी बराबर विचार करते रहना पड़ता है। **अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳ सिनीतः। तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥**

(कठ० १। २। १)

श्रेय प्रेयसे भिन्न है। इन दोनोंके अर्थ अर्थात् विषय भिन्न हैं और ये मानो जीवको अलग-अलग प्रकारसे बाँधते हैं। जो श्रेयको चुनता है, उसका कल्याण होता है; परंतु जो प्रेयको चुनता है, वह पुरुषार्थसे दूर हो जाता है। इसके आगे चलकर कहा गया है—

'तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः।'

(कठ० १। २। २०)

जो व्यक्ति फलकी कामनाको छोड़कर कर्म करता है, जो शोकका अतिक्रमण कर गया है, वह धातुके प्रसादसे आत्माकी महिमाका अनुभव करता है। यहाँ 'धातु'का तात्पर्य अन्तःकरण और उसके उपकरणों अर्थात् इन्द्रियोंसे है। अन्तःकरणके प्रसादकी प्राप्तिका उपाय पातञ्जलयोग-दर्शनमें इस प्रकार बताया गया है—

'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयेषु भावनातश्चित्तप्रसादनम्।'

चित्तका प्रसाद प्राप्त करनेके लिये सुखके प्रति मैत्रीका अर्थात् संसारमें सुखकी मात्राको बढ़ानेका, दुःखके प्रति करुणाका, अर्थात् संसारमें दुःखकी मात्रा घटानेका, पुण्यके प्रति मुदिताका अर्थात् संसारमें पुण्यकी मात्रा बढ़ानेका और अपुण्यके प्रति उपेक्षाका, अर्थात् दुराचारीसे द्वेष न करते हुए दुराचारको दूर करनेका, सतत अभ्यास करना होगा। अपनी शारीरिक और बौद्धिक विभूतियोंको इस प्रयासमें लगाना ही त्याग है। इस वल्लीका एक और मन्त्र कहता है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

(कठ० १। २। २४)

'जो दुश्चरितसे विरत नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, जिसका चित्त समाधिमें स्थिर नहीं है, उसको इस सत् पदार्थका ज्ञान नहीं हो सकता।' केनोपनिषद्में कर्मको विद्याके आधारों—वर्तनोंमें परिगणित किया है।

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्। (केन० खण्ड ४ मन्त्र ८)

भारतीय आचार्योंने कर्मका क्षेत्र कभी भी मनुष्यतक सीमित नहीं किया। इस जगत्में ब्रह्मदेवसे लेकर कीटाणुतक जितने भी प्राणी हैं, उन सबसे हमारा सम्बन्ध है, उन सबका हमारे ऊपर ऋण है, उन सबके ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोगसे ही हमारा कल्याण हो रहा है। अतः उन सबके प्रति हमारा कुछ-न-कुछ कर्तव्य है। न तो हम उन सबको पहचानते हैं, जो निरन्तर हमारा उपकार कर रहे हैं और न उन सबकी किसी प्रकारकी सेवा ही कर सकते हैं, परंतु इस बातका अनुभव भी हमारे चरित्रको उठाता है कि हम पदे-पदे दूसरोंके ऋणी हैं।

बृहदारण्यक-उपनिषद्के पहले अध्यायके चौथे ब्राह्मणका सोलहवाँ मन्त्र कहता है—

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितृणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयाꣳस्यापिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोको यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवꣳ हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति।

'कर्ममें लगा हुआ यह आत्मा सब प्राणियोंका लोक अर्थात् आश्रय है। अपने यज्ञ और पूजनसे वह देवोंका लोक होता है। अपने अध्ययन और अनुशिक्षणसे ऋषियोंका, पितरोंके लिये बलि देने और सन्तान छोड़ जानेकी इच्छा करनेसे पितरोंका, मनुष्योंको भोजनादि देनेसे मनुष्योंका,

तृणोदक देनेसे पशुओंका तथा उन कुत्तों, चिड़ियों और चींटी आदि छोटे प्राणियोंका लोक हो जाता है, जो उसके घरमें रहते हैं और उसके सहारे जीते हैं । जिस प्रकार सब लोग अपने शरीरका भला चाहते हैं, इसी प्रकार सब प्राणी उसका भला चाहते हैं, जिसका ज्ञान और कर्म इस प्रकारका होता है ।'

जो मनुष्य जगत्में जलसे अलिप्त कमलके पत्तेके समान रहना चाहता है, उसके लिये पाँचवें अध्यायके दूसरे ब्राह्मणमें दी हुई कथा रोचक होनेके साथ ही बहुत ही उपदेशपूर्ण भी है । एक बार प्रजापतिके तीनों प्रकारके पुत्र अर्थात् देव, असुर और मनुष्य उनकी सेवामें उपस्थित हुए । उनकी दीर्घकालीन अर्चासे प्रजापति प्रसन्न हुए । उपासकोंको आकाशमें गम्भीर नादके रूपमें 'द' अक्षर सुन पड़ा । 'द' का अर्थ देवोंके लिये दाम्यत 'दमन करो', मनुष्यके लिये दत्त 'दो' और असुरोंके लिये दयध्वम् 'दया करो' था । देव और असुर सौतेले भाई दोनों ही प्रजापतिकी सन्तान हैं, बलवान् हैं, तप कर सकते हैं अर्थात् विक्षेपको छोड़कर किसी एक काममें अपनी सारी शक्ति लगा सकते हैं और जिस काममें लग जाते हैं, उसमें प्रायः सफलता प्राप्त करके ही छोड़ते हैं । दोनोंमें बराबर संघर्ष होता रहता है । बहुधा ऐसा भी होता है कि असुरगण देवगणको जीत लेते हैं । परंतु पराशक्ति फिर देवोंको विजय प्रदान करती है । कभी-कभी देवोंको ऐसी विजयपर गर्व भी हो जाता है, परंतु जैसा कि केनोपनिषद्का 'यक्षोपाख्यान' दिखलाता है, यह अभिमान नीचे गिरानेवाला है । ऐसा नम्रतापूर्वक समझ लेनेमें कि उनको पराशक्तिसे ही स्फूर्ति मिलती है, उनका कल्याण है । सप्तशतीमें इस बातकी ओर सङ्केत है कि असुरगण देवीके हाथों मारे तो जाते हैं, परंतु इस प्रक्रियासे पवित्र होकर उनको देवलोककी प्राप्ति होती है । यह तो स्पष्ट ही है कि ऐतिहासिक दृष्टिसे देव और असुर कोई भी रहे हों, परंतु ऐसे दार्शनिक प्रसङ्गोंमें ये दोनों शब्द परार्थमूलक और स्वार्थमूलक प्रवृत्तियों और वासनाओंके लिये प्रयुक्त होते हैं । परार्थमूलक प्रवृत्तियाँ अच्छी हैं परंतु उनके ऊपर बुद्धिका अङ्कुश रहना चाहिये । अन्यथा भलाईके स्थानमें संसारका अहित हो सकता है । इसीलिये देवोंको 'दाम्यत' का उपदेश दिया गया । अपने स्वार्थकी सिद्धिमें कभी-कभी सैकड़ों और हजारों व्यक्तियोंको घोर हानि पहुँचायी जाती है । उतने दामोंमें जो सुख मिलता है, उसका न मिलना ही अच्छा है । और फिर विषय-सुख तो उस कड़ुवी वस्तुके समान होते हैं, जिसके ऊपर धोखा देनेके लिये चीनी लगी होती है । मुँहपर रखते ही मीठा स्वाद कड़वेपनमें बदल जाता है, इसीलिये असुरोंके प्रति 'दयध्वम्' कहा गया है । प्रवृत्त होनेके पहले यह सोच लो कि तुम्हारे द्वारा कर्ता तथा दूसरोंका कितना बड़ा अनिष्ट होगा । मनुष्यके लिये तो 'दत्त' से अच्छा उपदेश हो ही क्या सकता है । तुम्हारा जो कुछ है, सब लोक-संग्रहमें—परार्थ-सेवनमें अर्पित कर दो ।

देव-विजेता असुर देवीके हाथसे मारे जाकर देवलोकको प्राप्त हुए । इसका तात्पर्य यह है कि जो प्रवृत्तियाँ मनुष्यको नीचे गिराती हैं, यदि उनका दमन किया जाय तो वही पवित्र होकर मनुष्यको पावन बननेमें सहायता देती हैं । कामवासना स्वतः बुरी चीज हो सकती है; परंतु उन्नमित काम कविकी लेखनीमें चमत्कार ला देता है और मीरा-जैसे भक्त और गिरधरनागरके बीचमें सम्बन्धसूत्र बनता है । इसीलिये शृङ्गारको 'ब्रह्मानन्दसहोदर' कहा जाता है । इसी बातको सामने रखकर बार-बार यह उपदेश दिया जाता है कि 'यज्ञभावसे कर्म करना चाहिये ।' यज्ञमें बलिपशुमें देवता अवतरित होती है और बलिकर्मके बाद उसकी शक्ति यजमानमें प्रवेश कर जाती है । लोकसंग्रह-भावसे, ईशावास्य-उपनिषद्के शब्दोंमें ईशसे आच्छादित करके कर्म करनेसे, अपनी कुप्रवृत्तियोंका संहार हो जाता है और जो शक्ति उनको तृप्त करनेमें लगती थी, वह जीवको ऊपर उठानेमें लग जाती है । जो अन्तःकरण इन्द्रियोंके पीछे बहिर्मुख दौड़ता था, वही अन्तर्मुख होकर आत्मसाक्षात्कारका साधन बन जाता है ।

उपनिषदोंने सत्कर्मोंकी सूची देनेका प्रयत्न नहीं किया है, फिर भी उन्होंने उन एक-दो बातोंपर बारंबार जोर दिया है, जिनको हम सदाचारका मूल या प्रधान अङ्ग कह सकते हैं । 'सत्य' और 'ब्रह्मचर्य' की प्रशंसामें सैकड़ों वाक्य मिलते हैं । छान्दोग्य-उपनिषद्के शब्दोंमें **'यद् यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्'** जिसको यज्ञ कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही है । इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद्में ऋषि सत्यकी इस प्रकार महिमा गाता है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥
सत्यमेव जयति नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥
(३ । १ । ५-६)

'इस शुद्ध ज्योतिर्मय आत्माको, जिसको क्षीणदोष यति-लोग अपने भीतर देखते हैं, सत्य, तप, ज्ञान और ब्रह्मचर्यके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। सत्यकी ही विजय होती है, झूठकी नहीं। वह देवयान-मार्ग, जिससे आप्तकाम ऋषिगण सत्यके उस परम निधानपर पहुँचते हैं, सत्यके द्वारा ही खुलता है।' बार-बार यह कहा गया है—**'सत्यप्रिया हि देवाः'** देवोंको सत्य ही प्रिय है। किसी भी कर्मकी सिद्धि इस बात-पर निर्भर करती है कि उसके करनेमें कितनी सचाईसे काम लिया जाता है। सचाईके अभावमें अच्छा-से-अच्छा काम तामस-कर्म हो जाता है। इसीलिये ऋषियोंका आदेश था कि यज्ञात्मक कामोंके आरम्भमें यह सङ्कल्प किया जाय। **'इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि'** 'यह मैं झूठको छोड़कर सत्यको ग्रहण करता हूँ।'

इस प्रकारके वाक्योंके अर्थपर मनन करनेसे यह बात समझमें आ जाती है कि भारतीय दर्शनमें कर्मका क्या स्थान है और किस प्रकारके आचरणको सदाचरण कहा जा सकता है; परंतु अभीतक मैंने स्पष्ट-रूपसे यह नहीं बतलाया कि भारतीय विचारधाराके अनुसार सत्कर्मकी कसौटी क्या हो सकती है। वह कौन-सा लक्षण होना चाहिये, जिसके अभावमें किसी कर्म-विशेषको सत्कर्म नहीं कहा जा सकता। अज्ञानके कारण आत्मा अपने स्वरूपको भुलाकर जीव बन रहा है। जिस प्रकार पानीमें गिरे हुए व्यक्तिको किनारेपर पहुँचनेके लिये पानीका उपयोग करना पड़ता है, उसी प्रकार अज्ञानसे छुटकारा पानेके लिये इस अज्ञानमूलक जगत्से काम लेना पड़ता है। कर्मसे तो नितान्त छुटकारा नहीं मिल सकता, परंतु इस प्रकार कर्म करना श्रेयस्कर होगा कि अज्ञानका बन्धन क्षीण हो। जबतक अज्ञान है, तबतक नानात्वकी प्रतीति होती रहेगी। उपनिषद् पुकार-पुकारकर कहते हैं—

'नेह नानास्ति किञ्चन, द्वितीयाद्वै भयं भवति'

'यहाँ जरा भी नानात्व नहीं है। द्वैतसे निश्चय ही भय होता है।' परंतु केवल वाक्योंकी आवृत्ति करने या तर्क करनेसे अखण्ड एकरस अद्वय ब्रह्म-सत्ताकी अनुभूति नहीं हो सकती। उसके लिये चित्तका समाहित होना अनिवार्यतया आवश्यक है। परंतु थोड़ी देरतक पद्मादि आसन लगाकर बैठ जाने और प्राणायाम-मुद्रा आदिका अभ्यास करनेसे ही समाधिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। उसके लिये तो जाग्रत् अवस्थामें भी प्रयत्नशील रहना चाहिये। दूसरे प्राणियोंसे अभेद स्थापित करना ही इस दिशामें यथार्थ प्रयत्न है। जिस हदतक कोई मनुष्य दूसरेके दुःख-सुखको अपना दुःख-सुख बना सकता है—उसके साथ सह-अनुभूति प्राप्त कर सकता है, उस हदतक वह अज्ञानकी निवृत्तिके पथपर अग्रसर होता है। माताको अपनी सन्तानके साथ और दम्पतिको एक दूसरेके साथ भी ऐसी सह-अनुभूति, ऐसी अभेद-भावना हो सकती है, परंतु इस अभेद-भावनाके साथ एक प्रबल भेद-भावना भी लगी रहती है। जितना ही एकके साथ अभेद होता है, उतना ही दूसरोंके साथ भेद होता है। इसलिये इस भावनासे प्रेरित होकर जो कर्म किये जाते हैं, वे अज्ञानको दूर करनेमें सहायक नहीं हो सकते। परंतु जिस समय कोई व्यक्ति किसी डूबतेको या आगमें जलते हुएको बचानेके लिये कूद पड़ता है, उस समय उसको उसके साथ तादात्म्यका अनुभव तो होता है; परंतु किसी औरके साथ भेदका अनुभव नहीं होता। उस क्षणमें उसके लिये भेदका अभाव हो जाता है और उसको उस आनन्द-की झलक मिलती है, जिसको योगी समाधिकी अवस्थामें प्राप्त करता है, समाधिका अभ्यास ऐसे कामोंकी ओर प्रवृत्ति होने-की प्रेरणा देता है और ऐसे कामोंमें लगना समाधिके लिये अधिकार प्रदान करता है। इसका फलितार्थ यह निकला कि जो काम अभेद-भावनाकी ओर ले जाता है, वह सत्कर्म है, कर्तव्य है, करणीय है। जो काम भेद-भावनापर अवलम्बित है और भेद-भावनाको पुष्ट करता है, वह अकरणीय है, दुष्कर्म है। पाश्चात्य विद्वानोंने सत्कर्मके जितने भी लक्षण बताये हैं, वे सब इसके अन्तर्गत आ जाते हैं।

वेदको प्रमाण माननेवाले भारतीय दर्शनशास्त्रोंने उपनिषदोंको ही अपना आधार माना है। इसीलिये मैंने यह दिखलानेका प्रयत्न किया है कि यद्यपि भारतीय दर्शनमें कर्मको ज्ञानकी अपेक्षा गौण स्थान ही दिया जा सकता है; परंतु उपनिषदोंमें वे सिद्धान्त स्पष्ट रूपसे दिये हुए हैं, जिनके आधारपर कोई भी विचारशील मनुष्य अपने लिये कर्तव्यका निश्चय कर सकता है। इस पथपर चलनेवाला अपने लिये तो निःश्रेयसका द्वार खोल ही लेगा, उसके तपःपूत व्यक्तित्वके प्रकाशमें मानव-समाज भी अभ्युदयके पथपर आरूढ़ हो सकेगा।

उपनिषद्‌की दिव्य शिक्षा

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०)

मानव-चेतना स्वभावतः इन्द्रिय और मनके अनुगत होकर विश्व-जगत्‌में परिचय प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करती है। इससे मानव-चेतनाके क्रमशः विकाशशील ज्ञानके सामने यह विश्व-जगत् देशकालाधीन शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-विशिष्ट नित्य परिवर्तनशील असंख्य खण्ड पदार्थोंके समष्टिरूपमें ही प्रतीत होता है। किंतु मानव-चेतनाकी अन्तःप्रवृत्तिमें, जाने क्या एक प्रेरणा है, जिसके कारण विश्व-जगत्‌के इस बाहरी परिचयसे वह तृप्त नहीं हो सकती। इन्द्रियसमूह और मन इस जगत्‌का जो परिचय मानव-चैतन्यके सामने उपस्थित करते हैं, वह मानो उसका सच्चा परिचय नहीं है, उसके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान नहीं है—इस प्रकारकी एक अनुभूति मानव-चेतनाको सदा-सर्वदा इस जगत्‌का और भी निगूढ़, निगूढ़तर और निगूढ़तम ज्ञान प्राप्त करनेके लिये उद्दीप्त करती रहती है। जगत्‌के इस बाह्य खण्ड-परिचयपर निर्भर करके मनुष्य कर्म और भोगमें प्रवृत्त होता है। पर इस प्रकारके कर्म और भोगसे उसे शान्ति नहीं मिलती। इसमें उसकी अबाध स्वाधीनताकी अनुभूति नहीं है, पूर्णताका आस्वादन नहीं है। इस प्रकारके ज्ञान, कर्म और भोगमें वह अपनेको पूर्णरूपसे उपलब्ध नहीं कर पाता; उसकी चेतनामें सभी अवस्थाओंमें अभावबोध, दुःखबोध और अशान्तिकी ज्वाला बनी रहती है। इस अभाव, दुःख और अशान्तिको दूर करनेके लिये वह उच्चतर ज्ञानभूमि, कर्मभूमि और भोगभूमिका अनुसन्धान करता है, विश्व-जगत्‌के साथ निविडतर परिचयके लिये आग्रहशील होता है।

इन्द्रिय और मनका अनुवर्तन करके मानव-चैतन्य जितना ही अग्रसर होता है, उतना ही उसे अनुभव होता है कि इस मार्गमें ज्ञानकी, कर्मकी और आनन्दकी पूर्णता नहीं है। परंतु इसी प्रयत्नके द्वारा चेतनाका क्रम-विकास होता रहता है। मानव-चेतना जब पूर्णरूपसे विकसित हो जाती है, सम्यक्‌रूपसे जाग्रत् और प्रबुद्ध हो जाती है; तब वह अपने ज्ञान, कर्म और भोगको इन्द्रिय और मनकी अधीनतासे मुक्त करनेके लिये प्रयास करती है, अपने स्वरूपभूत चित्-ज्योतिके प्रकाशसे इस विश्व-जगत्‌के यथार्थ स्वरूपका साक्षात् परिचय प्राप्त करनेमें अपनेको संलग्न कर देती है। इन्द्रिय-मनोनिरपेक्ष सम्यक् प्रकारसे सम्बुद्ध मानव-चेतनाके अपरोक्ष ज्ञानमें विश्व-जगत्‌का जो स्वरूप प्रत्यक्ष होता है, वही इस विश्व-जगत्‌का पारमार्थिक स्वरूप है। ऐसा उसे अनुभव होता है। इस ज्ञानमें मानव-चेतना और विश्व-जगत्‌के सारे भेद, व्यवधान और विसंवाद मिट जाते हैं। मानव-चेतनाकी अपूर्णताकी अनुभूति भी मिट जाती है, अपने साथ जगत्‌की एकात्मताका अनुभव करके वह अपने खण्ड, अपूर्ण और निरानन्दभावसे मुक्त हो जाती है एवं कर्ममें स्वाधीन तथा सम्भोगमें आनन्दमय बन जाती है।

यह जो इन्द्रिय-मनकी अधीनतासे मुक्त सम्यक्-प्रबुद्ध मानव-चेतना है, इसीका नाम 'ऋषिचेतना' है। इस ऋषि-चेतनाके द्वारा विश्व-जगत्‌के अन्तर्निहित तत्त्वके सम्बन्धमें जो अपरोक्ष अनुभूति होती है, उसीका नाम उपनिषद्-ज्ञान है। ऋषि-चेतनामें जो सत्य प्रकाशित होता है, वही सम्पूर्ण जीव और जगत्‌का मूल-तत्त्व और यथार्थ स्वरूप है। वह ऋषिचेतना समस्त जीवों (चेतन) का और जडका अबाध मिलनक्षेत्र है। उस ऋषिचेतनाकी प्राप्ति होनेपर मनुष्यके ज्ञानकी, स्वाधीनताकी, आनन्दकी और कल्याणकी पूर्णता हो जाती है। मनुष्यकी चेतना उस समय देश-कालकी सीमाका अतिक्रमण कर, कार्य-कारण-शृङ्खलाके बन्धनसे छूटकर, राग-द्वेष, भय-भावनासे ऊपर उठकर, सब प्रकारके आवरण और विक्षेपसे मुक्ति पाकर विश्व-जगत्‌के यथार्थ स्वरूपको देखती है और अपने यथार्थ स्वरूपमें प्रतिष्ठित होती है। ऋषिगण जब इस अनुभूतिकी बातें बताते हैं, उस समय इन्द्रिय-मनकी शृङ्खलामें बँधे हुए ज्ञानपिपासु व्यक्ति बड़े आश्चर्यसे उन्हें सुनते हैं, परंतु वे सम्यक्‌रूपसे उनकी धारणा नहीं कर सकते। इन बातोंको वे अस्पष्ट भावसे ज्ञानके आदर्शरूपमें अनुभव करते हैं और इस स्थितिको प्राप्त करनेके लिये इन्द्रिय-मनकी अधीनतासे छूटनेकी साधना करते हैं।

प्राचीन भारतमें जिन असाधारण महामानव पुरुषोंने ऋषिचेतना प्राप्त करके अतीन्द्रिय और अतिमानस ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण जीव-जगत्‌के पारमार्थिक स्वरूपको प्रत्यक्ष देखा था; जिनकी सम्यक्-सम्बुद्ध चेतनाके सामने परम सत्यने अनावृत और अविक्षिप्त रूपसे अपने स्वरूपको प्रकट कर दिया था; उनकी दिव्य वाणियाँ ही संकलित और संग्रथित होकर उपनिषद्-ग्रन्थके रूपमें मानव-समाजमें प्रचारित हैं। गुरु-शिष्य-परम्पराके क्रमसे उन वाणियोंका तत्त्व-ज्ञानके पिपासु साधक-

सम्प्रदायमें प्रसार हुआ है। इन्हीं सब वाणियोंका आश्रय लेकर ज्ञान-पिपासु, आनन्द-पिपासु और मुक्ति-पिपासु अगणित साधकोंने अपनी स्वाभाविक ज्ञानशक्ति, कर्मशक्ति और चित्तवृत्तियोंका भलीभाँति नियन्त्रण करके अपनी चेतनाको इन्द्रिय-मनकी अधीनतासे मुक्त किया है। और उस मुक्त चेतनाके द्वारा उन सब दिव्य वाणियोंके अनुसार अपरोक्ष अनुभव प्राप्त करके वे कृतकृत्य हुए हैं। उन साधकोंके जीवनकी कृतार्थताको देखकर समाजके सभी श्रेणीके नर-नारियोंको उन वाणियोंकी सत्यताके सम्बन्धमें संदेहरहित दृढ़ विश्वास हो गया। दार्शनिक आचार्योंने इन्द्रिय-मनकी अधीनता-शृङ्खलामें बँधे हुए प्रत्यक्षादि सब प्रकारके लौकिक प्रमाणों और तदनुगत समस्त युक्ति-तर्कोंको परम तत्त्वके प्रकाशनमें असमर्थ पाकर, जीव-जगत्‌को पारमार्थिक परिचय प्रदान करनेके लिये उपनिषद्-वाणीको ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण माना, और इन्हीं सब वाणियोंका तात्पर्य ढूँढ़ निकालनेमें उन्होंने प्रधानतया अपनी मनीषा और विचारशक्तिका बड़ी निपुणताके साथ प्रयोग किया। सम्बुद्ध चेतन तत्त्वदर्शी ऋषियोंकी अपरोक्षानुभूतिसे उत्पन्न दिव्य वाणियोंको श्रद्धापूर्वक सुनकर ही जीव-जगत्‌के यथार्थ स्वरूपका सच्चा ज्ञान प्राप्त करनेके लिये मनुष्यकी स्वाभाविक ज्ञानशक्तिको नियोजित करना पड़ेगा—इसी हेतुसे इसको 'श्रुतिप्रमाण' कहा जाता है। भारतके सर्वश्रेष्ठ मनीषियोंके द्वारा रचित और प्रचारित जितने भी स्मृति, पुराण, दर्शन, तन्त्र और महाकाव्य आदि हैं, सभी इस 'श्रुति'के द्वारा ही अनुप्राणित हैं और वे समाजके सभी स्तरोंमें उस 'श्रुति' की भावधाराको ही वहन कर रहे हैं।

कहना नहीं होगा कि इस प्रकार ऋषिचेतनाकी प्राप्ति और अतीन्द्रिय एवं अतिमानस सत्यका अपरोक्ष साक्षात्कार केवल प्राचीन भारतके ही कुछ अनन्यसाधारण महापुरुषोंको हुआ था, ऐसी बात नहीं है। सभी युगों और सभी देशोंमें सभी प्रकारकी पारिपार्श्विक अवस्थामें अनन्य सत्यपिपासु पुरुषोंके द्वारा सत्यका अपरोक्ष साक्षात्कार सम्भव है। भारतमें युग-युगान्तरसे ऐसे असंख्य ऋषियोंका आविर्भाव होता रहा है। उन सभीने अपनी-अपनी सत्यानुभूतिके द्वारा उपनिषद्-वाणियोंकी यथार्थताका समर्थन किया है और उसे विभिन्न भावोंसे विभिन्न भाषामें मानव-समाजमें प्रचारित किया है। सभी देशोंके अपरोक्षानुभूति-सम्पन्न महापुरुषोंने ऐसा ही किया है। भारतीय संस्कृतिकी यह विशेषता है कि इस विशाल देशकी बहुमुखी साधना और सभ्यता उस ऋषिचेतना-लब्ध तत्त्वानुभूतिके ऊपर प्रतिष्ठित है। भारतका साहित्य और शिल्प, विज्ञान और दर्शन, कुल-धर्म, जाति-धर्म और समाज-धर्म, राष्ट्र-नीति, अर्थ-नीति, स्वास्थ्य-नीति और व्यवहार-नीति—इन सभीका निर्माण और प्रसार उपनिषद्-ज्ञानको मानव-जीवनके परम आदर्शरूपमें मानकर ही हुआ है। उपनिषद् ही भारतीय संस्कृतिके प्राणस्वरूप हैं। इसीसे भारतीय संस्कृतिको 'आर्य-संस्कृति' कहा जाता है। समस्त वेदोंका अर्थात् समस्त ज्ञानका जो चरम सत्य है, वही उपनिषदोंमें समुज्ज्वल रूपमें प्रकट है; इसीसे उपनिषद्‌का प्रसिद्ध नाम वेदान्त (वेद या ज्ञानका अन्त अथवा शिरोभाग) है, एवं वेदान्त ही सब प्रकारकी भारतीय साधनाओंकी भित्ति है। इसीसे जगत्‌में भारतीय वेदान्ती-जातिके नामसे विख्यात हैं।

राग-द्वेषशून्य, हिंसा-घृणा-भय-विरहित, देहेन्द्रिय-मनकी अधीनतासे मुक्त, जात्यभिमान-सम्प्रदायाभिमान प्रभृति सङ्कीर्णताओंसे अतीत, शुद्धहृदय, शुद्धबुद्धि, समाहितचित्त ऋषियोंकी भ्रम-प्रमादादिशून्य दिव्य सत्यानुभूतिको केन्द्र बनाकर ही भारतीय संस्कृति और सभ्यता युग-युगान्तरोंमें निर्मित हुई है। यही भारतीय संस्कृति और सभ्यताका प्रधान गौरव है। सहस्रों वर्षोंसे लगातार यह औपनिषद ज्ञान भारतीय साधनाक्षेत्रमें समस्त नर-नारियोंके अशेष विचित्रतामय जीवनमें सब प्रकारके जागतिक ज्ञान, लौकिक कर्म और हृदयगत भावप्रवाहको आश्चर्यजनक रूपसे अनुप्राणित करता आ रहा है। सभीपर इसका अक्षुण्ण शासन है। यहाँतक कि, इस देशके राग-द्वेषादियुक्त देहेन्द्रिय-मन-बुद्धि-हृदयपर भी औपनिषद आदर्शका असीम प्रभाव है। भारतीय जीवनके सभी विभागोंमें उपनिषद् चिरञ्जीवी है। जान या अनजानमें प्रत्येक नर-नारीके जीवनपर इसका अचिन्त्य प्रभाव है। भारतका सम्पूर्ण वातावरण ही उपनिषद्‌के ज्ञानादर्शके द्वारा संजीवित है।

सभी युगोंकी सम्यक् प्रबुद्ध ऋषि-चेतनामें विश्व-जगत्‌का यथार्थ स्वरूप प्रतिभात होता है और इन कतिपय उपनिषद्-ग्रन्थोंमें वाणीरूपमें वही स्वरूप प्रकट हुआ है, इस सम्बन्धमें किञ्चित् आभास इस लेखके द्वारा मिल सकता है।

प्रथमतः हमारे इन्द्रिय-मनके द्वारा उपलब्ध ज्ञानने इस विश्व-जगत्‌को अनन्त विषमताओंसे पूर्ण देख पाया है। उसने समझा है कि विभिन्न स्वभावयुक्त असंख्य पदार्थोंके संघर्ष और समन्वयसे ही इस जगत्‌का संगठन हुआ है; इसमें

इतने भेद हैं, इतने द्वन्द्व हैं, इतने कार्यकारण-सम्बन्ध और इतनी नियम-शृङ्खलाएँ हैं कि जिनका कहीं भी कोई अन्त नहीं मिलता; परंतु ऋषियोंकी अतीन्द्रिय और अतिमानस विशुद्ध चेतनाको दिखायी देता है कि यह विश्व-जगत् मूलतः या तत्त्वतः एक है, एक ही अखण्ड सत्ता विभिन्न सत्ताओंके रूपमें इन्द्रिय-मनके सम्मुख प्रतीत होती है—इन्द्रिय-मनोगोचर जितने भी विभिन्न पदार्थ हैं, सब एक अद्वितीय नित्य सत्य निर्विकार तत्त्वके ही विभिन्न रूपों और विभिन्न नामोंमें आत्मप्रकाश हैं, एकहीसे सबका प्राकट्य है, एकके ही आश्रयसे सबकी स्थिति है, एककी सत्तासे ही सब नियन्त्रित हैं और परिणाममें सब एकमें ही विलीन हो जाते हैं, एकके अतिरिक्त दूसरा कोई स्वतन्त्र पदार्थ है ही नहीं। इस प्रकार वे स्थावर-जङ्गम सभी पदार्थोंमें नित्य सत्य एक अद्वितीय वस्तु-तत्त्वको देखते हैं। उनकी चेतनासे भेदज्ञान सर्वथा दूर हो जाता है। एक ही बहुका—अनन्तका यथार्थ स्वरूप है—यह उपनिषद्का प्रथम सत्य है।

द्वितीयतः हमारे ज्ञानमें जीव और जडका—चेतन और अचेतनका भेद है। हम कभी इसका अतिक्रम नहीं कर सकते। पर ऋषियोंका अनुभव है कि यह विश्व-जगत् तत्त्वतः चैतन्यमय है। जिस एक अद्वितीय सद्वस्तुकी सत्तासे विश्व-जगत् सत्तावान् है, वही सद्वस्तु चित्-स्वरूप है—स्वयंप्रकाश है। दूसरेके प्रकाशसे जिसका प्रकाश हो, दूसरेके सम्बन्धसे ही जिसका परिचय हो और दूसरेके ज्ञानमें प्रतिभात होनेसे ही जिसकी सत्ता हो, उसीको 'जड' कहते हैं। चेतनके आश्रय और सत्तासे ही जडका प्रकाश और सत्ता है। समस्त विश्व-जगत्के मूलमें जो एक वस्तु है, जिसका दूसरा कोई न आश्रय है और न प्रकाशक है, अपनी सत्तासे ही जिसकी सत्ता है, अपने प्रकाशसे ही जिसका प्रकाश है, जो अपनेको ही अपना अनन्त विभिन्नतामय विश्व-जगत्के रूपमें परिचय दे रहा है,—वह अद्वितीय तत्त्व निश्चय ही स्वप्रकाश चैतन्यमय है। ऋषि-चेतना सम्पूर्ण जडमें उस एक चैतन्यस्वरूपको ही देखती है। ऋषिगण, एक अद्वितीय नित्य चैतन्यमय सद्वस्तुको ही इन्द्रिय-मनके सम्मुख विभिन्न जीवों और जड-पदार्थोंके रूपमें—चेतनाचेतन अनन्त विचित्र वस्तुओंके रूपमें लीला करते देखते हैं। चेतन ही जडका यथार्थ स्वरूप है, यही उपनिषद्का द्वितीय सत्य है।

तृतीयतः हमारे साधारण ज्ञानमें सभी विषय ससीम, सादि (आदिवान्) और सान्त (अन्तवान्) हैं। इन्द्रिय-मनकी अधीनताके पाशमें बँधी हुई हमारी चेतनाके सम्मुख असीम, अनादि और अनन्त कभी वास्तविक सत्यके रूपमें प्रतीत होता ही नहीं। अपनी ज्ञानलब्ध ससीमता, सादित्व और सान्तत्वका निषेध करके हम असीमत्व, अनादित्व और अनन्तत्वकी एक अभावात्मक कल्पना किया करते हैं। इस कल्पित असीम, अनादि और अनन्तमें और वास्तविक ससीम, सादि और सान्तमें एक भारी भेद है, इस कल्पनाका भी हम अतिक्रमण नहीं कर पाते। अगणित देशकाल-परिच्छिन्न ससीम, सादि और सान्त पदार्थोंकी समष्टि-कल्पना करनेपर हमारे लिये देश-कालातीत असीम अनादि और अनन्तकी धारणा करना सम्भव नहीं होता। ऋषि-चेतनाकी अतीन्द्रिय अतिमानस अनुभूतिमें साधारण ज्ञानकी यह असमर्थता नहीं रहती। इस चेतनामें देशकालातीत असीम अनादि अनन्त एक अद्वितीय अपरिणामी तत्त्व समुज्ज्वल-रूपसे प्रकट रहता है—अभावरूपमें नहीं, भावरूपमें—ज्ञानगोचर वास्तवको निषेध करके नहीं, वास्तवसमूहको कल्पनासे समष्टिबद्ध करके भी नहीं; सर्वव्यापी, सबमें अनुस्यूत, सभी भावोंमें लीलायमान, सर्वान्तरात्मा एक अखण्ड स्वप्रकाश वास्तवतम सत्यके रूपमें। असीम ही समस्त ससीमका पारमार्थिक तत्त्व है, अनादि-अनन्त ही सम्पूर्ण सादि-सान्तका तात्त्विक स्वरूप है, देश-कालातीत अपरिणामी निर्विकार एक अखण्ड चैतन्यमय परमात्मा ही देश-कालाधीन परिणामी उत्पत्ति-स्थिति-विनाशशील प्रत्येक खण्डपदार्थ-मात्रके अंदर विभिन्न विचित्र रूपोंमें लीला कर रहा है—इस अपरोक्ष-अनुभूति—प्रत्यक्ष दर्शनसे ऋषि-चेतना भरपूर हो जाती है। उन्हें ससीममात्रमें एक असीम, सादिमात्रमें एक अनादि, सान्तमात्रमें एक अनन्त, परिणाम और विकार-मात्रमें एक नित्य सत्य, अपूर्णमात्रमें एक नित्य पूर्ण सर्वत्र सदा चमकता हुआ दिखलायी पड़ता है। ससीम और असीमका भेद, सादि और अनादिका भेद, सान्त और अनन्तका भेद, इस दिव्यज्ञानमें—औपनिषद ज्ञानमें—मानो मिथ्या हो जाता है,—वह ज्ञानके निम्नस्तरमें—इन्द्रिय और मनके स्तरमें ही पड़ा रह जाता है। देशकालातीत और देश-कालाधीन असीम अनन्त एवं ससीम सान्त—नित्य और अनित्यका यह पारमार्थिक ऐक्य-दर्शन ही उपनिषद्का तृतीय सत्य है।

चतुर्थतः हमारा इन्द्रिय-मनोगोचर साधारण ज्ञान आत्मा और अनात्माके भेदको—मैं और अन्यके भेदको—व्यक्ति

और विश्वके भेदको—ज्ञाता और भोक्ता एवं ज्ञेय और भोग्य जगत्‌के भेदको तथा विभिन्न व्यक्तियोंके पारस्परिक भेदको कभी अतिक्रमण नहीं करता; परंतु ऋषि-चेतना अपने आत्मामें और अन्य समस्त मनुष्य तथा प्राणीमात्रके आत्मामें एवं समग्र विश्व-जगत्‌के आत्मामें पारमार्थिक एकत्वकी उपलब्धि करती है। वह अपनेको सभी मनुष्य, सभी प्राणी और समस्त विश्व-प्रपञ्चमें; और सब मनुष्यों, सब प्राणियों और सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्चको अपनेमें देखती है। एक आत्मा ही विभिन्न स्थावर-जङ्गम शरीरोंमें विभिन्न नाम-रूपोंमें, विभिन्न आकृति-प्रकृतिमें प्रतिभात हो रहा है। प्रबुद्ध ऋषि-चेतना इस सत्यका प्रत्यक्ष अनुभव करती है। अतएव इस चेतनामें अभिमान और ममता, राग और द्वेष, शत्रु-मित्रका भेदबोध, अपने-परायेका भेदभाव, हिंसा-घृणा-भय और विषय-विशेषके प्रति कामना प्रभृति कुछ भी नहीं रह सकते। इस अनुभूतिके फलस्वरूप सबके प्रति अहैतुक प्रेम और सबके प्रति आत्मबोध स्वभावसिद्ध हो जाता है। यह विश्वात्मभाव और सर्वात्मभाव उपनिषद्‌का चतुर्थ सत्य है।

जिस किसी देशमें, जिस किसी कालमें, जिस किसी पारिपार्श्विक अवस्थामें, जो कोई भी व्यक्ति राग-द्वेष-कुसंस्कारादि-से रहित होकर उपयुक्त साधनाके द्वारा इन्द्रिय-मनकी अधीनतासे अपनेको छुड़ा लेता है, उसीकी विशुद्ध चेतनाके सम्मुख विश्व-जगत्‌का और अपना यह पारमार्थिक सत्यस्वरूप प्रकट हो जाता है। यह सत्य ही सनातन सत्य है और इस सत्य-दृष्टिका अनुवर्तन करनेके लिये मनुष्यके व्यष्टि-जीवन और समष्टि-जीवनको भीतर तथा बाहरसे जिस प्रणालीके अनुसार सुनियन्त्रित होना चाहिये, उस प्रणालीका नाम ही सनातन धर्म है। सनातन धर्म विश्वजनीन है, विश्वमानवका धर्म है,—विश्वके सभी श्रेणीके नर-नारियोंको सत्यदृष्टिमें प्रतिष्ठित करानेवाला धर्म है। यह विश्वजनीन सनातन सत्य और सनातन धर्म ही विभिन्न सम्यक् सम्बुद्ध ऋषियोंके मुखोंसे विभिन्न छन्दों—विचित्र कवित्वपूर्ण गम्भीरार्थव्यञ्जक भाषाके द्वारा उपनिषद्-ग्रन्थोंमें प्रकाशित है। इन्द्रिय-मन-शृङ्खलित बुद्धिके ऊर्ध्व स्तरमें विशुद्ध चेतनाकी तत्त्वानुभूतिको इन्द्रिय-मन-बुद्धिके स्तरकी भाषामें व्यक्त किया गया है। जो सत्यपिपासु लोग इन उपनिषद्-वाणियोंके गूढ़ तात्पर्यके अनुसन्धान-पथपर चलना चाहते हैं, उन्हें अपनी चेतनाको इन्द्रिय-मन-बुद्धिके स्तरसे ऊपर ले जानेकी चेष्टा करनी पड़ेगी और ऊपर ले जाकर ही इन वाणियोंके यथार्थ तात्पर्यको समझना होगा। केवल शाब्दिक अर्थ एवं युक्ति-तर्कोंके बलपर उपनिषद्‌की वाणियोंके तात्पर्यको कभी हृदयङ्गम नहीं किया जा सकता।

सम्यक्-प्रबुद्ध ऋषि-चेतनामें प्रतिभात चरम सत्यको ही उपनिषदोंके ऋषियोंने 'ब्रह्म' कहा है। 'ब्रह्म' शब्दका शाब्दिक अर्थ है—'बृहत्तम' (बहुत बड़ा), जिससे बृहत्तरकी कोई कल्पना ही नहीं हो सकती। देशगत, काल-गत, गुणगत, शक्तिगत, सत्तागत और अवस्थागत किसी भी प्रकारकी सीमा, परिधि या शेषकी, जिसके सम्बन्धमें कोई कल्पना नहीं की जा सकती, पाश्चात्त्य-दर्शनमें जिसको Infinite Eternal Absolute कहा जाता है,—उसीका नाम 'ब्रह्म' है। 'ब्रह्म' मानवकी बौद्ध-चेतना (Intellectual Conciousness) का चरम आदर्श है, समस्त दार्शनिक ज्ञान (Philosophical Knowledge) का चरम अनुसन्धेय है। जबतक इस ब्रह्मको ज्ञानगोचर नहीं कर लिया जाता, तबतक बुद्धि कभी तृप्त नहीं हो सकती; दार्शनिक-विद्याका अनुशीलन कभी चरम सिद्धिको प्राप्त नहीं हो सकता। अथ च, बुद्धि (Intellect) स्वभावतः ही ब्रह्मका कभी साक्षात्कार नहीं कर सकती, दार्शनिक युक्तितर्क निःसन्दिग्धरूपसे कभी भी इस ब्रह्मको ज्ञानमें प्रतिष्ठित नहीं कर सकते; परंतु मानव-चेतनामें सामर्थ्य है—वह युक्तितर्कके अतीत—बुद्धिके अतीत—पारमार्थिक ज्ञानभूमिकामें उपनीत होकर ब्रह्मका साक्षात्कार कर सकती है। उस इन्द्रिय-मन-बुद्धिसे अतीत ज्ञानभूमिकी अनुभूतिका, उस ब्रह्मोपलब्धिकी भाषामयी मूर्तिका ही उपनिषदोंकी वाणीमें संग्रह किया गया है।

उपनिषदोंके ऋषियोंने यह उपलब्ध किया कि 'ब्रह्म' केवल बुद्धिका एक अनधिगम्य चरम आदर्श नहीं है, एक अवाङ्मनसगोचर अज्ञेय; किंतु आकाङ्क्षणीय तत्त्वमात्र ही नहीं है;—ब्रह्म प्रत्यक्ष सत्य है। यही नहीं, ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। इन्द्रिय-मनोबुद्धि-गोचर विश्व-जगत् और तदङ्गीभूत समस्त चेतनाचेतन पदार्थोंका (**'यत् किञ्च जगत्यां जगत्'**) एक-मात्र यथार्थ स्वरूप ही है—ब्रह्म। ऋषियोंने प्रत्यक्ष अनुभव-के बलसे बलवान् होकर ही दृढ़ताके साथ यह घोषणा की—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'**। विश्वनिवासी नर-नारीमात्रको ऊँचे स्वरसे पुकारकर उपनिषद्‌के ऋषियोंने कहा—**'शृण्वन्तु**

विश्वे अमृतस्य पुत्राः' देखो, तुम जिस जगत्‌में निवास करते हो, उसका यथार्थ स्वरूप देखो—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥
(मुण्डक० २ । २ । ११)

अमृतस्वरूप (मृत्युरहित, विकाररहित, दुःखदैन्यरहित, नित्यसत्य परमानन्दघन) ब्रह्म ही इस विश्वके रूपमें लीला करता हुआ हमारे सामने, पीछे, दाहिने, बायें, ऊपर-नीचे सर्वत्र प्रसारित हो रहा है। ब्रह्म ही इस विश्वका यथार्थ स्वरूप है और ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ वरणीय (जीवनका आराध्यतम आकाङ्क्षणीयतम सत्य) है। समस्त विश्वमें ब्रह्मस्वरूपकी साक्षात् उपलब्धि करनेसे ही मानव-जीवन परम कल्याणमें प्रतिष्ठित होता है।

ऋषि जब अपनी ओर देखते हैं तब अनुभव करते हैं—'**अहं ब्रह्मास्मि**' (मैं ब्रह्म हूँ।) अर्थात् मैं क्षुद्र देह-विशिष्ट, दुर्बलमनोविशिष्ट, सुख-दुःखसमन्वित, देश-काला-वस्थापरिच्छिन्न एक जीवमात्र नहीं हूँ, मैं तत्त्वतः ब्रह्म हूँ, मेरी चित् सत्ता विश्वव्यापी है, सभी मनुष्यों, सभी जीवों और सभी जड पदार्थोंकी सत्ता मेरी सत्ताके साथ नित्य एकीभूत है। मेरा भागीदार कोई नहीं है, मुझसे बड़ा या छोटा कोई नहीं है, सभी मेरी सत्ताकी कुक्षिमें हैं, कोई सुख-दुःख, जय-पराजय और अभाव-अभियोग मेरा स्पर्श नहीं कर सकता। मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव हूँ। सम्यक् सम्बुद्धचेतन उपनिषदनुभूतिसम्पन्न महामानव समस्त विश्व-जगत्‌के साथ अपनी चैतन्यमयी एकताका अनुभव करके आत्माके परम गौरवकी प्रतिष्ठा करता है। उपनिषद्‌ने मानवात्माकी इस गौरव-वाणीका समस्त विश्वके मानवोंमें प्रचार किया है।

ऋषियोंने जैसे अपनेको ब्रह्मस्वरूप अनुभव किया, वैसे ही सभी मनुष्यों और सभी जीवोंमें ब्रह्मका दर्शन करके प्रत्येकको प्रकटरूपसे उन्होंने यही कहा—'तत्त्वमसि' (तुम वही ब्रह्म हो)। उन्होंने मानवमात्रके चित्तमें ब्रह्म-चेतनाको जाग्रत् करनेका प्रयास किया। ब्रह्म-चेतनाके जाग्रत् होनेपर मनुष्योंमें परस्पर भेद-विसंवाद नहीं रह सकता। सभी शरीरोंमें एक ही आत्माकी अनुभूति होनेपर मन-बुद्धि-हृदय अभेदज्ञान एवं प्रेमसे भर जाते हैं। जाति-भेद, सम्प्रदाय-भेद, उच्च-नीच-भेद, हेयोपादेय-भेद सभी मनसे मिट जाते हैं। समस्त विश्व ब्रह्मधाम, सच्चिदानन्दधाम, सौन्दर्य-माधुर्य-सिन्धु बनकर आस्वाद्य हो जाता है। उपनिषद् विश्वके सभी नर-नारियोंको ब्रह्मभावसे भावित होकर प्रेमानन्दमय ब्रह्मधामके निवासी होनेके लिये आह्वान कर रहे हैं।

प्रत्येक मनुष्य, प्रत्येक जीव, प्रत्येक पदार्थ और भूत-भविष्य-वर्तमानके समस्त मनुष्य, सभी प्राणी और सभी पदार्थोंके समष्टिभूत विश्व-जगत्‌के यथार्थ तात्त्विक स्वरूपको उपनिषदोंने जैसे '**सत्यं ज्ञानमनन्तम्**' (सत्य, ज्ञान और अनन्त) बतलाया है, वैसे ही उसे 'रसमय' मानकर आस्वादन किया है,—'**रसो वै सः**।' ब्रह्म रसस्वरूप है, परमास्वाद्य-स्वरूप है, परम सौन्दर्य-माधुर्य-निकेतन है, परम प्रेमास्पद है। यह रसस्वरूप ब्रह्म ही वैचित्र्यमय जगत्‌में विभिन्न रूपोंमें प्रकट होकर अनादि-अनन्तकाल आत्मरमण, आत्मविलास, आत्म-रसास्वादन कर रहा है। विश्व-जगत्‌में सर्वत्र ही रसका विलास है, सर्वत्र ही आनन्दकी क्रीड़ा है। विश्वमें जितने भी संघर्ष, जीवन-संग्राम, घात-प्रतिघात और आपात-बीभत्सतामय युद्ध-विग्रह प्रभृति होते हैं, उन सबमें भी एक अनन्त चैतन्य-घन रसस्वरूप ब्रह्मका ही विचित्र रसविलास चलता है—उसीका रस-प्रवाह बहता है। उपनिषद्‌की दृष्टिमें सभी रस-मय हैं, सभी सुन्दर हैं, सभी आस्वाद्य हैं। आनन्दरूपमें, विज्ञानरूपमें, मनरूपमें, प्राणरूपमें, अन्न या भोग्य जड पदार्थरूपमें भी एक रसामृतसिन्धु ब्रह्मकी ही आत्माभिव्यक्ति और आत्मास्वादन हो रहा है (**'आनन्दं ब्रह्म' 'विज्ञानं ब्रह्म,' 'मनो ब्रह्म,' 'प्राणो ब्रह्म,' 'अन्नं ब्रह्म'**) सम्बुद्ध मानव-चेतनाकी अनुभूतिमें समस्त विश्व-जगत् ही प्रेम और आनन्दके सहित आस्वाद्य है।

संसारमें ऐसे दो प्रकारके पुरुष बिरले ही होते हैं

१—जिसने जो माँगा, उसको वही दे देनेवाले।

२—स्वयं कभी किसीसे कुछ भी न माँगनेवाले।

उपनिषद्-रहस्य

(लेखक—आचार्य श्रीक्षेत्रलाल साहा, एम्० ए०)

हमलोग पाश्चात्य विज्ञानकी बातें सोच-सोचकर आश्चर्यमें डूब जाते हैं। इसीसे आज पाश्चात्य वैज्ञानिकोंके गौरव-गानसे भारतका गगनमण्डल मुखरित है। सैकड़ों-सहस्रों परीक्षालय और सैकड़ों-सहस्रों लेबोरेटरियाँ बनी हैं; अपूर्व अगणित यन्त्रसमूह, सुन्दर-सुन्दर एपारेटस स्थान-स्थानपर सजे रक्खे हैं; विचित्र विद्युदाधार, विपुल रासायनिक सामग्रियाँ, प्रकाण्ड दूरवीक्षणयन्त्र, निपुणनिर्मित अणु-वीक्षणयन्त्र—सारांश यह कि चारों ओर विशाल विज्ञान-समारोह है। महान् आयोजन है!

इस विज्ञानयज्ञके धूम्रसे, धूसर छायासे और इसके अकल्याणमय आलोकसे संसार परिपूर्ण है, और साथ ही भारतवर्ष भी। इस अमङ्गल-विज्ञान-व्यापारके विपरीत एक महान् व्यापार प्राचीन कालके भारतवर्षमें था और अब भी है। यह भी एक सुमहान् विज्ञान-आयोजन है। ज्ञान-विज्ञानकी अति महती सामग्री-सज्जा है। महान् गभीर विज्ञान-विद्यानुशीलन—दिग्दिगन्तव्यापी विज्ञानाभियान है। जल-स्थल, जड-चेतन, चर-अचर, अनिल-अनल, सरित्-सागर, ग्रह-नक्षत्र, विद्युत्-नीहारिका, तरु-लता, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, प्राण-मन, मस्तिष्क-हृदय, यहाँतक कि शरीरके प्रत्येक स्नायुमें यह विशाल विज्ञान-अनुसन्धान प्रचलित था, अब भी समाप्त नहीं हुआ है—इस भारतवर्षमें।

इस अनुसन्धानके और इस अनुसन्धानसे उपलब्ध ज्ञान-विज्ञान और प्रज्ञानराज्यके जीवन्त, ज्वलन्त, अनन्त इतिहास, आख्यान, व्याख्यान, वितर्क-विचार, विवरण-विश्लेषण हैं—भारतके वेद, उपनिषद्, पुराण, तन्त्र और दर्शनादि शास्त्र। पाश्चात्य विज्ञान है—जडविज्ञान, प्रपञ्च-विज्ञान और बाह्य जगत्का विज्ञान। तथाकथित मनोविज्ञान, प्राणविज्ञान आदि जो कुछ है, सभी वह बाह्य विज्ञान—जडविज्ञान है, जिसका निश्चित फल है—अन्धकारमें प्रवेश, अन्तरके समस्त अमृत-आलोकका निर्वाण एवं नित्य मृत्युके दासत्वकी प्राप्ति। यही बाइबिल-कथित ज्ञानवृक्षका फल है। जो खायेगा, उसीको मृत्युका किङ्कर बनना पड़ेगा!

परंतु भारतवर्षकी जो असंख्य प्रवाहमयी विज्ञानविद्या है, वह जडविज्ञान नहीं है; वह है चिद्विज्ञान; बाह्य वस्तु-विज्ञान नहीं है, वह है—आध्यात्मिक विज्ञान, नित्य तत्त्व-विज्ञान, सच्चिदानन्द-विज्ञान, अमृत-विज्ञान, आत्म-विज्ञान, ब्रह्म-विज्ञान और भगवद्-विज्ञान। वह है—सृष्टि-स्थिति, प्रलय, भूर्भुवःस्वरादि लोक, देव-दानव-गन्धर्वादि जीव-जाति, जन्म-जरा-मृत्यु, सुख-दुःख, पाप-पुण्य और भगवत्स्वरूप-धाम-लीला-परिकर आदिका परमाश्चर्य-विज्ञान; एवं वह है इन उपनिषद्-पुराणादि शास्त्रोंमें! यहाँ जो 'विज्ञान' शब्दका व्यवहार किया गया है, सो यह शब्दमात्र नहीं है। फिजिक्स, केमिस्ट्री आदि जिस अर्थमें विज्ञान हैं, उपनिषद्-पुराण-तन्त्रादि भी उसी अर्थमें विज्ञान हैं। यह कल्पना नहीं है, स्वप्न नहीं है। यह सत्य है, अभ्रान्त सत्य है। यह परीक्षित वस्तुसत्ताकी अव्यभिचारिता है, जिसका न व्यत्यय है, न व्यतिक्रम है। जिसकी नीति-प्रणालीमें भी अन्यथा नहीं है। नियमित नित्यताबद्ध विषय है। यही विज्ञानका अर्थ है। गभीर भावसे विचार करनेपर भारतीय अध्यात्म-विज्ञान इसी अर्थसे युक्त है। श्रीमद्भागवतमें वेदको 'प्रपञ्चनिर्माणविधि' बतलाया गया है। अर्थात् वेदमें प्रकृतिके नियमोंका विचार-विवेचन भरा है। अतएव वेदादि शास्त्र विज्ञानशास्त्र हैं।

पाश्चात्य-विज्ञान-परीक्षागार 'यन्त्रयोग'को अर्थात् एक्स-पेरिमेंटको लेकर चलता है और यह भारतीय विज्ञान विशोधित चित्तागार 'योगयन्त्र'को अर्थात् यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-ध्यान-धारणा-समाधिके उस आश्चर्यमय अव्यर्थ एक्सपेरिमेंटको लेकर चलता है, जो अपने निर्मल आलोकसे दसों दिशाओंको उद्भासित करके अचिन्तितपूर्व सत्यसमूहको प्रकाशित करता है—समस्त भ्रान्तियोंको दूर करता है। पाश्चात्य-विज्ञान प्रपञ्च-सर्वस्व है अर्थात् इस दृश्यमान जगत्के अतिरिक्त अन्य किसीके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करता। कठोपनिषद्की भाषामें वह—

'अयं लोको नास्ति पर इति मानी' (१।२।६)

—है। भारतीय विज्ञान इस विश्व-जगत्को तामसिक सत्य मानता है, तम समझता है, प्रकाश होनेपर भी यह अनाद्यनन्त ज्योतिकी तुलनामें तमोवत् है। यथार्थ सत्य और ज्योतिर्मय जगत् इस तमोयवनिकासे आच्छन्न है।—

'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।' (श्वेताश्वतर० ३।८)

—उस सहस्रों सूर्यसदृश ज्योतिकी एक किरणमात्र भी दीख जाती है तो मर्त्य जीव अमृत हो जाता है।

'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति ।' (श्वेताश्वतर० ३ । ८)

—भारतीय विज्ञान इस अमृत-ज्योतिर्जगत्‌को लेकर चलता है । कम-से-कम दस सहस्र वर्ष हो गये—शत सहस्र कहें तो भी क्षति नहीं है । पाश्चात्य इतिहासकी दृष्टि तो अत्यन्त ह्रस्व है ।

इस उपनिषद्-निबन्धके लिये यह यत्किञ्चित् भूमिका है । हाँ उपनिषद्‌के काल-निर्णयकी कोई चेष्टा नहीं की जायगी; क्योंकि यह बहुत बड़ा विषय है । एक बृहत् ग्रन्थमें भी उसकी यत्किञ्चित् ही आलोचना हो सकती है । उपनिषदें इतनी प्राचीन हैं कि वे ऐतिहासिक भावनाके अतीत हैं । चपलचित्त पण्डित जो कुछ भी कहें । समग्रतः उपनिषदोंके पन्ने उलटनेपर उनमें एक सुदीर्घ विकास-विवर्त्तधारा दृष्टिगोचर होती है । एक महान् एवोल्यूशन है । विशाल विज्ञानपट है । एक विचित्र चिद्‌विद्या-चित्रपट धीरे-धीरे खुल रहा है । इसका आरम्भ होता है छान्दोग्योपनिषद्‌से । छान्दोग्योपनिषद् ही समस्त उपनिषद्-शास्त्रकी भित्तिभूमि है । उपनिषद्‌का क्या उद्देश्य है, औपनिषदिक अध्यात्म-अनुसन्धानकी कौन-कौन-सी प्रणाली-पद्धति है, उपनिषद्-विज्ञानसे उपलब्ध अर्थनियम किस प्रकारके हैं, और उपनिषद्‌की अन्वेषणविधि किस प्रकार आगे चलती है—छान्दोग्योपनिषद्‌के अध्ययनसे हम इन समस्त विषयोंकी प्रत्यक्ष धारणा कर सकते हैं । छान्दोग्यकी प्रणाली विशेषरूपसे प्रतिलोम-प्रणाली है । यह ग्रन्थ एक उत्कृष्ट Inductive Spiritual Science है ।

एषां भूतानां पृथिवी रसः । पृथिव्या आपो रसः । अपामोषधयो रसः । (छान्दोग्य० १ । १ । २)

इस प्रकार अनुसन्धान आरम्भ होता है और यह अनुसन्धान समाप्त होता है—

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्ये—

(छान्दोग्य० ८ । १३ । १)

—इत्यादिमें जाकर । पृथिवीके जल-वायु-तरु-लताको ढूँढ़-ढूँढ़कर, बार-बार निरीक्षण कर, चित्रपटकी लैबोरेटरीमें पुनः-पुनः एक्सपेरिमेंट कर, आकाश-वायु-मेघ-विद्युत्-चन्द्र-सूर्य-ग्रह-नक्षत्र, जीवके देह-इन्द्रिय-मन-प्राणके कोने-कोनेमें घूम-घूमकर अन्तरके अन्तस्तलमें श्यामवर्ण परब्रह्म परमात्माके दर्शन किये थे छान्दोग्यके ऋषि-वैज्ञानिकने ।

उनका क्या उद्देश्य था, वे क्या आविष्कार करना चाहते थे, इसपर उन्होंने स्पष्ट कहा है—

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति । (छान्दोग्य० ८ । १ । १)

'यह मानव-शरीर ब्रह्मपुर है । इसके भीतर एक क्षुद्र कमलकुसुमाकार गृह है । उसके भीतर एक छोटा-सा आकाश है । उसके अंदर एक निगूढ़ रहस्य है, उसीको जानना होगा । उसीका अन्वेषण करना होगा ।' यह अनुसन्धान उपनिषद्‌में सर्वत्र है । यह है सत्यानुसन्धान, तत्त्वानुसन्धान, ब्रह्मानुसन्धान या आत्मानुसन्धान । छान्दोग्यकी प्रणाली केवल प्रतिलोम—इंडक्टिव ही है । इसके पश्चात् सर्वत्र प्रतिलोम-अनुलोम, इंडक्टिव-डिडक्टिव मिश्रित है; किंतु अनुलोम-प्रधान है ।

छान्दोग्यके पश्चात् छान्दोग्यके समीपवर्ती राज्यमें बृहदारण्यक है ।

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधःXXX (१ । ४ । १)
स वै नैव रेमेXX स द्वितीयमैच्छत्XX । (१ । ४ । ३)
द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं चXXX (२ । ३ । १)
'तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम् । यथा माहारजनं वासो यथा पाण्डवाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृदविद्युत् ।' (२ । ३ । ६)

'सृष्टिसे पूर्व यह विश्व पुरुषरूपमें था । पुरुष बिल्कुल अकेला था । अकेलेमें उसे कोई आनन्द नहीं था, उसने दूसरेके संगकी कामना की । परब्रह्मके दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त । अर्थात् दृश्य और अदृश्य । परब्रह्म पुरुषका रूप है जैसे उज्ज्वल पीतवर्ण, उसका परिधान है पाण्डुवर्ण, कभी वह इन्द्रगोप (लाल रंगका एक कीट) कीटके सदृश लाल वर्णका प्रतीत होता है । कभी अग्निकी ज्वालाके वर्णका, कभी कमल-वर्णका और फिर कभी अचञ्चल बिजलीके समान चमकदार[1] ।'

दीर्घकालव्यापी अनुसन्धानके बाद जो सन्धान प्राप्त कर चुके हैं, देख चुके हैं, वे ही इस प्रकारका स्पष्ट वर्णन कर सकते हैं । छान्दोग्यके परवर्ती बृहदारण्यककी ब्रह्मोपलब्धिका यह परिचय है । अन्वेषणके तीन स्तर हैं—अनुसन्धान, अनुभव और उपलब्धि । ज्ञानाकाङ्क्षा, ज्ञान और विज्ञान । कभी-कभी तीनों वृत्तियाँ एक साथ ही चलती हैं—

१. ऋषिको क्या श्रीराधाकृष्णके रूपका दूराभास हो रहा था । बिल्वमङ्गल कहते हैं—'मारः स्वयं नु मधुरद्युतिमण्डलं नु माधुर्यमेव नु मनोनयनामृतं नु ।'

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मधु । अस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु । यश्चायं अस्मिन् वायौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः । अयमेव स योऽयमात्मा । इदममृतम् । इदं ब्रह्मेदं सर्वम् ॥ (२ । ५ । ४)

'वायु समस्त भूतोंका मधु है । समस्त भूत इस वायुके मधु हैं । इस वायुके अंदर एक तेजोमय पुरुष विराजित हैं, उनके अन्तरतरमें एक तेजोमय अमृतमय पुरुष विद्यमान हैं । उनके भी प्राणस्वरूप एक तेजोमय अमृतमय पुरुष हैं, वे ही आत्मा हैं, वे ही अमृत हैं, वे ही ब्रह्म हैं, वे ही सब हैं ।'

ऐसी बात नहीं है कि छान्दोग्यमें स्पष्ट प्रकाश नहीं है; परंतु साधारणतः छान्दोग्यकी किरणें कुछ छायासे ढकी हैं । किञ्चित् परोक्ष-भावापन्न हैं । ऋषि और परब्रह्म परमात्माके बीचमें जगत्-प्रपञ्चकी यवनिका है । यवनिकाका आवरण सूक्ष्म और स्वच्छ हो गया है । ब्रह्मज्योतिकी रश्मिराशि यवनिकाका भेद करके ऋषिके नेत्रोंमें घन-घन प्रकाशित होती है । यवनिका उठी तो है ही नहीं, कहीं तनिक-सी फटी भी नहीं है । इसीसे ब्रह्मका कोई भी वैभव साक्षात् रूपमें नहीं दिखायी देता है । केवल प्रकाश, अस्फुट स्फटिकीकृत जगत्से विकीर्ण आभाससमूह ही चारों ओर चमक रहा है ।

ऋषि देख रहे हैं कि सूर्य देवताओंका मधुभाण्ड है । किरणें मधुकोष (छत्ते) हैं जो पूर्व दिशासे विच्छुरित हो रही हैं । ऋक्के मन्त्र मधुमक्षिका हैं । ऋग्वेदोक्त यज्ञ मधुपूर्ण पुष्प हैं । यज्ञसे उत्पन्न शक्ति, यश, तेज, वीर्य आदिकी उज्ज्वल छटाको ऋषियोंने देखा सूर्यके लोहितरूपमें । दक्षिण दिशाकी किरणराशि दक्षिणका मधुकोष है । यजुःके मन्त्र मधुमक्षिका हैं । यजुर्वेदोक्त यज्ञ मधुपूर्ण पुष्प हैं । सूर्यकी शुक्ल ज्योतिराशि ऋषियोंके देह-मन-प्राणकी दीप्ति है । यज्ञ सम्पादनजनित ब्रह्मवर्चस् है । पश्चिम दिशामें सूर्य-किरणोंकी कृष्ण प्रभा है । उत्तरमें और भी घनतर कृष्ण वर्ण है । (छान्दोग्य० ३ । १ । ४) । सूर्य-ज्योति अमृतमय है । वसुगण सूर्यका लोहित वर्ण अमृत-रस पान करते हैं । देवगण अमृतको देखकर ही तृप्त होते हैं । आदित्यगण सूर्यकी कृष्णवर्ण किरणोंमें परिप्लुत अमृतका पान करते हैं । मरुद्गण घन-कृष्णज्योति अमृत-पान करते हैं । इस प्रकार विभिन्न रूपसे नाना प्रकारसे प्रतिबिम्बित, विकीर्ण, विच्छुरित और विक्षिप्त हुई ब्रह्मज्योति ऋषियोंके देह-मन-प्राण और अन्तर्हृदयमें अविरत झाँकी दे रही है । यह कल्पना नहीं है, कवित्व नहीं है । ज्ञानघन विज्ञानदीप्त अनुभव है । दिव्य उपलब्धि है । ऋषियोंने ब्रह्मप्रतिविम्ब-प्रभाको, सुरम्य अतीन्द्रियग्राह्य इन्द्रधनुषकी वर्णच्छटाको जैसा-जैसा देखा है, वैसा-वैसा ही लिखा है । यह सब तत्त्व प्राकृत इन्द्रियगोचर नहीं होता । ध्यान, धारणा और समाधिके मार्गसे प्राप्त होता है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ॥
(श्वेताश्वतर० १ । ३)

दिव्यशक्ति आत्मशक्ति ब्रह्मशक्ति त्रिगुणमय भूतसमुदायके द्वारा आच्छादित हो रही है । उसीकी विच्छुरित विभाको ध्यानदृष्टिके द्वारा ऋषियोंने देखा था ।

हम उपनिषत्-साहित्यविज्ञानके क्रम-विकासकी बात कहते हैं। छान्दोग्यके बाद बृहदारण्यक है । बीचमें 'ऐतरेय' और 'प्रश्न' हैं । छान्दोग्यकी दृष्टि समष्टि-दृष्टि है, विश्व-दृष्टि है, अखण्ड ज्ञानसम्पत्, अविभक्त भाव-वैभव है । उद्गीथोपासना, सामोपासना, प्राणोपासना, मधुविद्या, गायत्रीविद्या, पञ्चाहुतिविद्या, दहरविद्या—इस प्रकार छान्दोग्यके ऋषिने जिस किसी भी विज्ञान-विषयका अवलम्बन किया है, उसीमें समग्रता ला दी है । उसीको विश्वग्राही बना दिया है । मातृ-गर्भसे जो सन्तानकी उत्पत्ति होती है, उसके पीछे जो ब्रह्मभाव है, उसके अनुभवके लिये महर्षिने एक विराट् भावशृङ्खलाका आविष्कार किया है ।

निगूढ सम्बन्धयुक्त पाँच यज्ञ हैं, पाँच आहुति हैं । नक्षत्रलोक अग्नि है, सूर्य उसका समिध् है । देवगण श्रद्धापूर्वक सूक्ष्माहुति रसपूर्ण स्निग्ध अमृतके द्वारा यज्ञसम्पादन करते हैं । सोमराज चन्द्रका अर्थात् रसाधिदेवताका जन्म होता है । पर्जन्य अर्थात् सलिल शोषणशक्ति अग्नि है, वायु उसका समिध्—यज्ञकाष्ठ है । देवतागण उसमें राजा सोमकी—जो चन्द्रशक्ति है उसीकी आहुति देते हैं, वही वृष्टिका कारण होता है । पृथिवी अग्नि है, संवत्सर अर्थात् षड्ऋतु समिध् है । देवता वर्षाकी आहुति देकर यज्ञ करते हैं । उससे अन्नकी उत्पत्ति होती है । पुरुष अग्नि है । वाक् समिध् है, देवतागण अन्नकी आहुति देकर यज्ञ करते हैं । स्त्री अग्नि है । पुरुष समिध् है । देवतागण शुक्रसिञ्चनरूप आहुति देकर यज्ञ करते हैं, उससे शिशुकी उत्पत्ति होती है । (५ । ५—८) यह दर्शन, विज्ञान और कवित्व है ।

ऐतरेय उपनिषद्का ब्रह्मज्ञान असीम आकाशसे उतरकर नीचे नहीं आता । यहाँ दृष्टिका दिङ्मण्डल सीमाबद्ध हो गया

है। ऋषि परमपुरुषके सृष्टिलीला-तत्त्वको देख रहे हैं। विराट् पुरुषके आविर्भावको देख रहे हैं।

'सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत्।'

(ऐतरेय० १। ३)

परम पुरुषकी इच्छाके प्रभावसे अखिल वेद-विद्या-विभावित अखिल सृष्टि-शक्तिसमन्वित विराट् पुरुष अनन्त विस्तारवाले कारण-सलिलसे आविर्भूत होकर मूर्तिमान् हो गया है। यह अन्वेषणकी बात नहीं है, आविष्कारकी बात है। ज्ञानकी बात है। अनुमानकी बात नहीं है, प्रत्यक्षकी बात है। भूतेन्द्रिय देवतामयी त्रिविध सृष्टि है। अग्नि-वाक्-मुख, वायु-प्राण-नासिका, आदित्य-दृष्टिशक्ति-चक्षु इत्यादि क्रमसे समष्टि पुरुषके अङ्ग-प्रत्यङ्गकी उत्पत्ति होती है। विश्वमें चक्षुशक्ति एक है। वही शक्ति सभी चक्षुओंकी—सभी आँखोंकी सृष्टि करती है। इसी प्रकार श्रवणशक्ति, घ्राणशक्ति, वाक्शक्ति प्रभृति एक-एक शक्ति समष्टि-रूपिणी है। शक्तिमात्र ही व्यक्ति और देवता है। समष्टिशक्ति, व्यष्टिशक्ति, इन्द्रियादिको उद्भावित करती है। ऋषिने धीरे-धीरे मन-बुद्धि-हृदयका प्राकट्य देखा। तदनन्तर हृदय और मनसे आत्माका आभास प्राप्त किया। पश्चात् आत्मज्योतिने जिन-जिन भावों-रूपोंमें आत्मप्रकाश किया उसको भी देखा। बस, अज्ञान दूर हो गया। अब संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, धृति, मति, मनीषा, स्मृति, सङ्कल्प, क्रतु और काम आदि आत्माकी रश्मियाँ दृष्टिगोचर होने लगीं।

छान्दोग्यके ऋषिने सुदूर दर्शनदृष्टिसे नक्षत्र-नभोमण्डलमें शिशुका जन्म देखा था, ऐतरेयके वैज्ञानिकने पृथिवीके घर-घरमें शिशुका जन्म देखा। केवल गर्भ नहीं, माताकी गोदमें कुमार-का हँसता हुआ मुख देखा। दम्पतिकी प्रीति देखी।

'सा भावयित्री भावयितव्या भवति।'

(ऐतरेय० ४। ३)

परंतु उनकी ब्रह्मदृष्टि वैसी ही बनी है। ब्रह्मसूत्रके रचयिता श्रीबादरायण कहते हैं—

'ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्।' (४। १। ५)

—इस ऋषिके अन्तरमें भी यही बात है—

'यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं ·····प्रज्ञानं ब्रह्म।'

(ऐतरेय० ५। ३)

प्रश्नोपनिषद्में मिलती है एक ओर जिज्ञासा और दूसरी ओर ज्ञान-विज्ञान। दोनोंका सम्मिलन है। प्रश्नके बाद प्रश्न, उत्तरके बाद उत्तर हैं। जीवगण कहाँसे आते हैं? प्रजापतिने सर्वप्रथम रयि और प्राणकी सृष्टि की। प्राण आदित्य है या आदित्यमें है। रयि चन्द्रमा है या चन्द्रमामें है। उत्पत्तिकी बात संक्षेपसे कहकर ऋषिने उत्क्रमणकी अर्थात् जीवनान्तमें जीवगतिकी बात कही। दूसरा प्रश्न है—प्रजाकी रक्षा कौन करता है? जीवनी शक्ति कौन देता है? इन्द्रियाधिपति देवता हैं। प्राणाधिपति सबमें श्रेष्ठ है। सभी प्राणके अधीन हैं। आदित्य, वायु, अग्नि, इन्द्र, वरुणादि देवता जीव-जीवनकी रक्षा करते हैं। प्राण कहाँसे आता है? जीव देहमें किस प्रकारसे रहता है? प्राणमें कौन-कौन-सी क्रियाएँ हैं? प्राण-अपान-समान-उदान-व्यान कौन क्या करता है? नाड़ीजालके साथ प्राणका घनिष्ठ सम्बन्ध है। तदनन्तर जागरण, स्वप्न, सुषुप्तिका प्रसंग है। ऋषिकी दृष्टि सदा ही सुदूरगामिनी है।

मनो ह वाव यजमान इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति। (प्रश्न० ४। ४)

इसके पश्चात् ओंकारका प्रसङ्ग है और तद्भावनाके द्वारा किस प्रकार कौन-कौनसे लोक जय किये जाते हैं।

माण्डूक्योपनिषद्में विज्ञान और भी अन्तरतर और अन्तर्मुखी है। ॐकार एवं आत्माकी बात है।

'सर्वमोङ्कार एव।' 'सर्वं ह्येतद्ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात्।' 'जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः।' 'स्वप्न-स्थानोऽन्तःप्रज्ञः।' 'सुषुप्तस्थानः एकीभूतः प्रज्ञानघनः।' 'नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनम्।' 'एकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थम्।'

आत्माकी यह तुरीयावस्था है। छान्दोग्यके उद्दालक-श्वेतकेतु-संवाद और नारद-सनत्कुमार-संवादमें जिस आत्म-तत्त्वपर विचार किया गया है वह दिग्दिगन्तव्यापिनी समीक्षासे युक्त है। अविरत एक्सपेरिमेंटका प्रवाह चल रहा है। अभ्युपगम सिद्धान्तको ग्रहण करके महर्षिगण सुदूरगामी अनुमान-प्रमाणके पथपर चल रहे हैं। बहिर्जगत्, अन्तर्जगत् और तदन्तर्गत जो कुछ भी है, सबकी पूरी-पूरी खोज की है और तत्तद्रूपसे आत्मतत्त्व—ब्रह्मतत्त्वको समझा है। उन-उन सिद्धान्तोंके साथ माण्डूक्यादिके सिद्धान्तमें बड़ा भेद है। छान्दोग्यके—

स य एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्। तत् सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो। (छान्दोग्य० ६। ८। ७)

'वह जो यह अणिमा है, एतद्रूप ही यह सब है। यह सत्य है, आत्मा है और श्वेतकेतो! वही तू है।'

इस सिद्धान्तकी प्रकृति माण्डूक्यके इस सिद्धान्तकी प्रकृतिसे भिन्न है—

सुषुप्तस्थानः·····प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः। (माण्डूक्य० ५)

'सुषुप्तस्थान प्रज्ञानघन है, एकमात्र आनन्दमय ही है, प्रकाशमुख है और आनन्दका भोक्ता है।'

और प्रश्नोपनिषद्में तो है—

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परे अक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते।

(प्रश्न० ४। ९)

'यह देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, स्वाद चखनेवाला, मनन करनेवाला, जाननेवाला, कर्म करनेवाला विज्ञानात्मा पुरुष है। वह अविनाशी परमात्मामें प्रतिष्ठित है।'

विज्ञानाभियान अनुमान-उपमान-शब्द-प्रमाणादिके पथसे खोज-खोजकर—देख-देखकर बहुत दूर अग्रसर हो आया है, तब भी अनुसन्धान चल रहा है समीपमें, अन्तर्देशमें। तैत्तिरीयोपनिषद्में इसका अनुभव प्राप्त होता है। पहले ही देखनेमें आता है कि ऋषि अपनी उपलब्धि-लब्ध सम्पदाओंको सजा-सजाकर विशेषरूपसे समझ ले रहे हैं। Realization हो चुका है। Recapitulation हो रहा है। शिक्षावल्लीके शेषमें ऋषि सहसा दिव्यज्ञानके व्योमयानपर चढ़कर असीम आकाशमें एक चक्कर लगाते हैं। अपूर्व सुन्दर है।

'आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्मा प्राणारामं मन आनन्दम्। शान्तिसमृद्धिरमृतम्।' (तैत्तिरीय० १। ६। ३)

द्वितीय वल्लीमें ऐसी ही और भी मनोरम बात कहते हैं—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।'

(तैत्तिरीय० २। १। १)

छान्दोग्योपनिषद्से वेदान्त-विद्याका शुभ आरम्भ है। श्रीमद्भागवतमें उसकी परम पवित्र परिसमाप्ति है। इस बातको जिन्होंने नहीं समझा है, उनका वेदान्त-अध्ययन अपूर्ण ही रह गया है। वेदान्तवर्त्म सहस्रयोजनव्यापी है। काल-क्रमानुसार विज्ञान-विकाश-विवर्तकी आनुमानिक अग्रगतिके प्रसङ्गमें यहाँ पाँच उपनिषदोंकी यत्किञ्चित् आलोचना की गयी है। तैत्तिरीयकी बात चल रही है। इसके बाद है कठ, फिर केन, तदनन्तर ईश, तत्पश्चात् क्रमशः मुण्डक, श्वेताश्वतर और कौषीतकि। काल तथा तत्त्वोपलब्धिके क्रमसे ये बारह हैं। खूब सम्भव है ये सबसे प्राचीन हैं। क्रमशः ये नाना मार्गोंसे श्रीमद्भागवतके राज्यकी ओर अग्रसर हुए हैं।

इनके अतिरिक्त जो रामतापनी, गोपालतापनी, नारायणोपनिषद्, रामरहस्योपनिषद्, कालाग्निरुद्रोपनिषद्, पञ्चब्रह्मोपनिषद्, कृष्णोपनिषद्, सूर्योपनिषद्, दत्तात्रेयोपनिषद्, बृहज्जाबालोपनिषद्, मुक्तिकोपनिषद्, गर्भोपनिषद् आदि उपनिषद् हैं, उनके कालक्रम या क्रमविकासधाराका निरूपण करना बहुत कठिन है। छान्दोग्य, ऐतरेय और गर्भ—इन तीन उपनिषदोंमें गर्भविषयक ज्ञानका क्रमविकास स्पष्ट है। इन सब उपनिषदोंको साम्प्रदायिक समझकर जो लोग इनकी अवज्ञा करते हैं, उनके अतिपाण्डित्यकी प्रशंसा हम नहीं करते। सभी उपनिषद् स्वाभाविक विकासकी धाराको पकड़कर चले हैं। ये उपनिषद् नाना प्रकारसे विशाल पुराण-साहित्यकी उपक्रमणिका और भूमिका बने हुए हैं। पुराण और उपनिषद्का सम्बन्ध आगे चलकर दिखाया जायगा।

तैत्तिरीय-उपनिषद्में मिलता है—

'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।'

(२। १। १)

उपनिषद्में यह नयी बात है। आत्मवित् निर्गुण निर्विकार निर्विकल्प आत्मा हो जाता है। **'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति।' 'शान्तं शिवमद्वैतम्'** तत्त्व हो जाता है। **'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।'** परंतु श्रुति यहाँ इसकी ही बात कह रही है। परब्रह्मके साथ मिलकर वे समस्त कामनाओंके काम्यका उपभोग करते हैं, जिन्होंने इसी जीवनमें परब्रह्मको हृदयङ्गम किया है; किंतु क्षण-कालके लिये कौन जानता है कि शुभ्र ब्रह्मज्योतिके राज्यमें बैठकर ऋषिने रूपब्रह्मके रसराज्यकी एक झलकको किस शुभक्षणमें देख पाया था। मुण्डकोपनिषद्में है—

'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।'

(२। २। ७)

जिसके अमृत आनन्दरूपका दर्शन ऋषि कर रहे हैं वह अवाङ्मनसगोचर अवर्ण ब्रह्म नहीं है, रूपवर्ण-रसमय भगवान् है। तैत्तिरीय श्रुतिने इस रसब्रह्मके आभासको और भी स्पष्ट कर दिया है।

'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।'

(२। ७)

परब्रह्म रसब्रह्म है। रसब्रह्म रूपब्रह्म है। जिस ब्रह्ममें रूप-रस हैं, वह अनन्तकालतक आनन्द-प्रेममय जीवनयापन

करता है। उसका सीमाहीन धाम है। चिदानन्दमय सुख-दुःख है अर्थात् लीला है। वह लीला-पुरुषोत्तम है।

किंतु ऋषिका चित्त 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' भावनामय है। अतः वे विश्वयवनिकाको छिन्न नहीं कर पाते हैं। सच्चिदानन्दमयकी स्वरूप-शक्तिके तरङ्गविलास-वैचित्र्यकी वर्णच्छटा देखकर भी वे उसे हृदयमें धारण नहीं कर पाते हैं; किंतु पूर्ण-दर्शन या नित्य-दर्शनकी आशाका भी त्याग नहीं करते हैं। कठोपनिषद्में कहा है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम्॥

(१।२।२२)

'मेरी अपनी कुछ भी सामर्थ्य नहीं है। वे कृपा करके यदि मुझे वरण कर लेते हैं, यदि कृपा करके उस सकल सुन्दर-सन्निवेश-अमृतोज्ज्वल तनुको मेरे नेत्रोंमें प्रकाशित कर देते हैं तो मैं कृतार्थ हो जाता हूँ।' ऋषिका यही मनोभाव है। कठोपनिषद्के शेषमें (२।२।१३) एक गूढार्थ-पूर्ण बात है—

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।

इसे देखकर रासपञ्चाध्यायीका एक श्लोक स्मरण हो आता है—

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः।
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया॥

(१०।३३।२०)

ब्रह्मज्ञानानुशीलनसे ऋषियोंका चित्त जितना ही स्वच्छ होता चला जा रहा है, उतनी ही चिदानन्दलीलाराज्यसे रस-रश्मियाँ आ-आकर उनके नेत्रोंमें झलक दिखा जा रही हैं।

केवल ज्ञानसे उस रागरञ्जित आकाशका आभास नहीं मिलता। अनुरागका स्पर्श आवश्यक है। ऋषियोंके हृदय कभी भी अनुरागशून्य नहीं हैं। केनोपनिषद्के ब्रह्मानुसन्धानमें अनुरागका रंग लग गया है।

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्
वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।

(१।१)

यह अनुरागकी भाषा है। केनोपनिषद्का ज्ञान 'विशुद्धं केवलं ज्ञानम्' नहीं है। ज्ञानकी शुभ्र वाष्पपर प्रेमकी रवि-रश्मि पड़ जानेके कारण यहाँ इन्द्रधनुषका वर्ण प्रस्फुटित हो उठा है। ब्रह्म अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस नहीं है। ब्रह्म यहाँ ब्रह्मवादी देवताओंके नयनगोचर होता है। इतनेपर भी वह अपूर्व, अज्ञेय है।

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव। तन्न व्यजानन्त किमिदं यक्षमिति। (केन० ३।२)

यह लीलाकी प्रभात-किरण है। उपनिषद् पुराणके उस स्वर्गकी ओर अव्याहत गतिसे बढ़ा चला जा रहा है जहाँ शुष्क ज्ञान शोभा-सुषमामय दिव्य जीवन-तरङ्गोंमें उछलता रहता है।

ब्रह्म आभास देकर देवताओंको मुग्ध करके अन्तर्धान हो जाता है; परंतु ब्रह्मकी योगमायाशक्ति अपनी रूप-लावण्यमयी मूर्तिको प्रकट करके देवताओंके अज्ञानान्धकारको दूर कर देती है। इन्द्र देखते हैं—

तस्मिन्नेवाकाशे×× बहुशोभमानाम् उमां हैमवतीम्।

(३।१२)

दुर्गासप्तशतीमें चण्ड-मुण्ड अम्बिकाके सुमनोहर रूपको देखते हैं—

ततोऽम्बिकां परं रूपं बिभ्राणां सुमनोहरम्।
ददर्श चण्डो मुण्डश्च ..... ॥

(५।८९)

पुराण उपनिषद्का ही विकसित रूप है। उपनिषद् सतेज तरुण सुन्दर ब्रह्मज्ञान-महीरुह है और पुराण विवृद्ध श्यामशाखाप्रतान-पल्लवित-पुष्पित-फलित-प्रेमभक्ति-कल्पतरु है। उसमें भारतका ज्ञान-विज्ञान-दर्शन-भक्ति, प्रेम-साधना अखण्ड और अव्याहत है। जो लोग पुराणको अधःपतित युगका साहित्य समझते हैं वे वस्तुतः ज्ञानहीन और कुसंस्काराच्छन्न हैं। इस कुसंस्कारका तत्त्व और इतिहास हम जानते हैं।

छान्दोग्य-उपनिषद् गायत्री नामक कार्य-ब्रह्मके प्रसङ्गमें कहता है—

तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

(३।१२।६)

उपनिषद् और पुराणका सम्बन्ध-रहस्य इस मन्त्रमें छिपा है। परब्रह्मका एक पाद यह विश्वभुवन है और शेष तीन पाद उसके स्वरूपान्तर्गत हैं, उसकी त्रिपाद्विभूति हैं। एकपाद्-विभूति त्रिपाद्विभूतिके आकाशमें सूक्ष्म वाष्पकी भाँति लहरा रही है। उपनिषद् एकपाद्विभूतिभूत विश्वमण्डलमें त्रिपाद्विभूतिके छिटके हुए किरण-कणोंके अनुसन्धानमें

संलग्न है। उपनिषद्में त्रिपाद्विभूतिका प्राकट्य नहीं है। उपनिषद्में त्रिपाद्विभूतिके किसी भी भावका आविष्कार नहीं हुआ है। धाम, लीला, परिकर आदि कुछ भी स्पष्टतया उपनिषद्में नहीं है। कौषीतकि-उपनिषद्में ब्रह्मलोकका अर्थात् हिरण्यगर्भलोकका अपूर्व सुन्दर वर्णन है; किंतु वह भी एकपाद्विभूतिके अन्तर्गत है। वह अतीन्द्रिय विश्वकी सर्वोत्तम सम्पदा है तथापि त्रिपाद्विभूति नहीं है। स्वयं लीला-पुरुषोत्तम गीताके वक्ता हैं, पर गीता भी एकपाद्-विभूतिकी सीमाके अन्तर्गत ही है। कारण, गीता उपनिषद् है। भगवान् स्वयं ही महायोगेश्वर हरि होकर भी अमृताक्षर हर हो गये हैं। इस रहस्यको गोपन नहीं रक्खा गया है। वे कहते हैं—**'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्'** अतएव श्रीकृष्ण नहीं हैं। विश्वव्यापारमें और जीव-हृदयके अन्तरतम प्रदेशमें ब्रह्मका अन्वेषण करनेमें उपनिषद् नित्य संलग्न हैं। पुराणका प्रतिपाद्य है त्रिपाद्विभूति। एकपाद्विभूति अर्थात् विश्व-व्यापार भी पुराणमें है; किंतु पुराणका लक्ष्य है—लीला, धाम, परिकर अर्थात् त्रिपाद्विभूति, भक्तानुग्रह, नीति-धर्म, जीव-जीवनका कर्तव्य, भक्तितत्त्व और मोक्षविज्ञान।

उपनिषद्में जिसका आभास प्राप्त होता है, पुराणमें वह विस्तारित और विकसित हो गया है। उपनिषद्में—

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगा-
द्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।

(श्वेताश्वतर० ४। १)

उपनिषद्में वह प्रधानतः अवर्ण है। उसने जो विश्वमें और परव्योममें शत-सहस्र वर्णविलसित व्यापारका विधान किया है, उसका इतिहास और विवरण समस्त पुराणोंमें है।

'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।'

(श्वेताश्वतर० ४। १०)

और—

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' (श्वेताश्वतर० ४। ५)

—प्रभृति आभासमात्र उपनिषद्में है। मार्कण्डेय-चण्डी आदिमें हम पाते हैं इस विषयका विशाल विस्तार और विज्ञान-विभावना। ऐतरेय उपनिषद्ने सृष्टितत्त्वकी जो संक्षिप्त व्यञ्जना दी है, श्रीमद्भागवतके तृतीय स्कन्धके पञ्चम-षष्ठ आदि अध्यायोंमें उसीका सुविस्तृत वैज्ञानिक वर्णन है। पाश्चात्य वैज्ञानिकोंको इधर ध्यान देना चाहिये। पुराण माइथोलॉजी (Mythology) नहीं है। पुराण उपनिषद्का उच्चतर विकासस्तर है।

कुसंस्कार सर्वत्र छाया है। ज्ञान, विज्ञान और दर्शनके राज्यमें भी सर्वत्र ही कुसंस्कार है—वहाँ भी भ्रान्ति-भूतका भय है। 'उपनिषद्की दृष्टिमें ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, जगत् मिथ्या है।' ऐसी जो एक धारणा है यह एक बुरा कुसंस्कार है। बृहत् मिथ्या है। जगत् मिथ्या है—यह बात उपनिषद्के ऋषिने कभी भ्रमसे भी नहीं लिखी। परमेश्वर परब्रह्मने निज सत्तासे, अपनी अव्यय भाववस्तुसे विश्वका सृजन किया है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरी बात श्रुति-देवियोंने कभी नहीं सुनी। उपनिषद्से आँखें मूँदकर इसके सैकड़ों प्रमाण दिये जा सकते हैं—

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः××।'

'स तपस्तप्त्वा इदꣳ सर्वमसृजत यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। ××सत्यमभवत्। यदिदं किञ्च।'

(तैत्तिरीय० २। ६। १)

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। 'तज्जलानिति शान्त उपासीत।'

(छान्दोग्य० ३। १४। १)

'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।'

(श्वेताश्वतर० ४। २)

इस प्रकार सैकड़ों-सहस्रों श्रुति-वचन जगत्की सत्यताकी साक्षी दे रहे हैं। जगत् मिथ्या है, यह बात श्रुति नहीं कहती।

महान् आचार्य श्रीशङ्कराचार्यके मायावादकी आलोचना-का यहाँ स्थान नहीं है। आचार्यकी अपनी वाक्यावलीमें ही मायावाद-खण्डनके अस्त्र भरे पड़े हैं। पण्डितोंका दूसरा यह कुसंस्कार है कि 'केवल जगत् ही मिथ्या नहीं है, जीवात्मा भी मिथ्या है'। यह एक उत्कट मिथ्या है। 'तत्त्वमसि'—एवं

'नामरूपे विहाय×××परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।'

(मुण्डकोपनिषद् ४। ८)

—इत्यादि श्रुति-वाक्योंके दोनों प्रकारके अर्थ हो सकते हैं; किंतु जीव और ब्रह्मका पार्थक्य अर्थात् द्वैत, उपनिषद्में सर्वत्र अत्यन्त परिस्फुट रूपमें पुनः-पुनः उपदिष्ट है।

'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥' (१। ६)

'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।' (१। १२)

(श्वेताश्वतर०)

भोग्य जगत्, भोक्ता जीव और प्रेरणकर्ता परमात्मा परब्रह्म—ये तीन विभाव ब्रह्मके ही हैं।

श्रीबादरायणने वेदान्तसूत्रमें सनिर्बन्धरूपसे पुनः-पुनः घोषणा की है कि जीव और ब्रह्म एक नहीं हैं।

'भेदव्यपदेशाच्च' (१ । १ । १८)

'अधिकं तु भेदनिर्देशात् ।' (२ । १ । २१)

जीव और ब्रह्म तत्त्वतः एक होकर भी, अंशांशी होकर भी वस्तुतः विभिन्न हैं; भावतः विभिन्न हैं । आत्मज्ञ, त्रैगुण्य-निर्मुक्त जीव, सर्वभूतात्मभूतात्मा जीव भी देहपात होनेपर ब्रह्म नहीं हो जाता । श्रीबादरायणने ब्रह्मसूत्रमें इस तत्त्वपर स्पष्टरूपसे विचार किया है । मुक्त जीव ब्रह्म हो जाता है, इत्यादि बातोंका उल्लेखमात्र भी न करके उन्होंने इस बातपर विचार किया है कि 'मुक्त जीवके देह रहती है या नहीं'—

'तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ।' (४ । ४ । १३)

—मुक्त जीवका जीवन कभी स्वप्नवत् होता है, कभी जाग्रद्वत् । जब स्वप्नवत् होता है तब स्वरूपदेह अप्रकट रहता है और जब जाग्रद्वत् होता है तब प्रकट रहता है ।

'भावे जाग्रद्वत्' (४ । ४ । १४) ।

—श्रुतिके तात्पर्यको ब्रह्मसूत्रमें निश्चितरूपसे स्पष्टाक्षरोंमें लिपिबद्ध किया गया है । ब्रह्मसूत्रमें जगन्मिथ्यावादका खण्डन किया गया है—

'आत्मकृतेः परिणामात् ।' (१ । ४ । २६)

'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः' (२ । १ । १४)

—इत्यादि सूत्र देखें । मृत्तिका जैसे घटका कारण है, सुवर्ण जैसे अलङ्कारका कारण है, वैसे ही ब्रह्म जगत्का कारण है । जब कारण सत्य है, तब कार्य भी सत्य है । ब्रह्म सत्य है । जगत् सत्य है । बौद्धोंने ब्रह्म एवं आत्माको असत्य समझा था, इसीलिये उनका जगत् भी असत्य—शून्यमय हो गया ।

'शून्यं तत्त्वम् । भावो विनश्यति ।'

—उपनिषद्-दर्शन विशुद्धाद्वैतदर्शन है, इस बातको आचार्य श्रीशङ्करके अनुयायियोंके अतिरिक्त अन्य किसीने भी नहीं माना । आचार्य श्रीरामानुज विशिष्टाद्वैतवादी हैं । परमेश्वर, जीव और जड—परब्रह्म इन तीन वैभवोंसे सम्पन्न हैं ।

'त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ।' 'त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ।'

—यही श्रुतिप्रतिपादित है । निम्बार्क द्वैताद्वैतवादी हैं । यह अति निर्मल निःसंशय मतवाद है । श्रीमध्वाचार्य और गौड़ीय वैष्णवोंने अचिन्त्यभेदाभेदवादकी स्थापना की । ब्रह्म, माया, जीव, कर्म और काल—ये पाँच तत्त्व भिन्न होकर भी अभिन्न हैं, अभिन्न होकर भी भिन्न हैं । यह चिन्तातीत विश्वरहस्य है ।

केनोपनिषद्में भी अनुसन्धान है । एक्सपेरिमेंट है । यह पहले ही कहा जा चुका है । ईशोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद् सम्पूर्ण सिद्धान्तके शैलशिखरपर समारूढ़ हैं । यहाँ समस्त समीक्षाओंका अन्वीक्षण आदि समाप्त हो गया है । ऋषिगण यहाँ ज्ञान-विज्ञानसंच्छिन्नसंशय होकर तत्त्व-विमानपर विचरण करते हैं । वे तत्त्वज्ञानके सीमाशैलपर आ पहुँचे हैं । जो कुछ जाना जाता है, सब जान चुके हैं, प्राप्त कर चुके हैं, देख चुके हैं । ज्ञानाभियानकी समाप्ति कहाँ है, यह भी जान चुके हैं—

'अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्'

यह समझ चुके हैं—

'यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः'

(केन० २ । ११)

जो कहते हैं कि हम ब्रह्मतत्त्वको ठीक नहीं समझ सके हैं, वे ठीक समझ गये हैं, और जो कहते हैं कि हमने ठीक समझ लिया है, वे कुछ भी नहीं समझे हैं । यह ज्ञानीकी बात है । भगवद्विषय कुछ भी नहीं समझा जाता—यह मूर्खकी बात है । उसने भगवत्कृपाका स्पर्श नहीं पाया है । भगवद्विषय सारा समझा जा सकता है, यह भी मिथ्या कथन है ।

'अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्'

(ईशोपनिषद् ४)

एवं—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥

(श्वेताश्वतर० ६ । ११)

—इत्यादि वचन ईशोपनिषद् और श्वेताश्वतरोपनिषद्में सर्वत्र हैं । उपनिषद्का ज्ञानाभियान यहाँ अन्वेषण समाप्त करके तत्त्वदर्शन और सिद्धान्तकी भूमिपर आरोहण कर चुका है । छान्दोग्यका—

'अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच'

(छान्दोग्य० १ । ९ । १)

इत्यादि काल और भाव दोनोंके ही दूरत्वसे बहुत दूर रह गये हैं ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् अतुलनीय है । इसके अनेक कारण हैं । विशुद्ध अद्वैतवाद, मायावाद, जगन्मिथ्यावाद, जीव-ब्रह्मवाद आदि समस्त कल्पनावाद श्वेताश्वतरके सुदृढ़ विज्ञानगात्रसे आहत होकर चूरमूर हो गये हैं । **'या ते रुद्र शिवा तनूः'** प्रभृति वाक्य उपनिषद्की ज्ञान-तरणीको पुराणके तटपर पहुँचा देते हैं । श्वेताश्वतरका ब्रह्म रुद्र, हर, गिरीश,

शिव हो गया है। गीता-उपनिषद्का भी श्वेताश्वतरसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। गीताके भाव, तत्त्व, विन्यासविधि, 'सर्वेन्द्रिय-गुणाभासम्' आदि वाक्य एवं तत्त्वदर्शन अधिकांशमें श्वेताश्वतर-से अभिन्न हैं। श्वेताश्वतरमें सर्वप्रथम सांख्यदर्शनकी भूमिका है। 'तमेकनेमिम्' श्लोक और—

'स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।'
(श्वेताश्वतर० ५। १२)

—इत्यादि सांख्यतत्त्व है। श्वेताश्वतरके द्वितीय अध्यायमें पातञ्जलयोग-दर्शन एवं गीताके ध्यानयोगका आभास है। भक्तिके बिना कोई भी ज्ञान अन्तरमें उद्भासित नहीं होता, यह महावाक्य श्वेताश्वतरमें ही सर्वप्रथम ध्वनित हुआ है।

कौषीतकि-उपनिषद्के उज्ज्वल राज्यमें प्रवेश करनेपर प्रतीत होता है कि पुराणका शोभा-सौन्दर्यसमन्वित असीम देश अब अधिक दूर नहीं है। गोपालतापनी और कृष्णोप-निषद् श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराणादिकी ओर मार्ग खोल देते हैं। रामतापनी उपनिषद्का उद्देश्य ज्ञान नहीं है, भक्ति है। यह श्रीरामोपासनाका ग्रन्थ है। साधन-भजनके उपदेशसे पूर्ण है। मन्त्रमयी उपनिषद् है। इसका पथनिर्देश तन्त्रकी ओर है।

वैदिक साधना देवता-विज्ञानात्मिका है। सकाम याग-यज्ञ क्रियामयी है। औपनिषदिक साधना विश्वप्रपञ्चमें सगुण-निर्गुण-द्वैताद्वैत-ब्रह्मानुसन्धानात्मिका है। पौराणिक साधना भगवद्भावना भगवदनुरागमयी भक्तिसाधना है, अमृतरूप रसकी साधना है। वह चिन्मयी सत्ताके, परमानन्दवस्तु-सत्ताके, नित्य-प्रेम-सुखमय सत्य-साम्राज्यके प्रवेशपथका अनुसन्धान करनेमें संलग्न है। तन्त्र प्रधानतः शक्ति-साधनामयी विद्या है। तन्त्रमें अध्यात्म, योग, कर्म, ज्ञान, भक्ति, मुक्ति, सभी कुछ हैं। तन्त्र सिद्धिकामी है। तान्त्रिक शक्तिसाधक है—मन्त्रतत्त्वविद् है। हिंदू-शास्त्र—हिंदू-धर्म आश्चर्य अपरिमेय है, इसका आदि-अन्त नहीं है। यह अगाध अपार ज्ञान-विज्ञान-दर्शन-प्रेम-भक्ति पारावार है। यदि पुण्य-मरण प्राप्त करना चाहते हो तो आओ, कूद पड़ो इस दिव्य सुधा-सलिल-सागरमें। यही अमृत-मरण है!

उपनिषद्में ज्ञानकी पराकाष्ठा

(लेखक—महामहोपाध्याय शास्त्ररत्नाकर पं० श्रीअ० चिन्नस्वामी शास्त्री)

जगत्स्थितिलयोद्भूतिहेतवे निखिलात्मने।
सच्चिदानन्दरूपाय परस्मै ब्रह्मणे नमः॥

'संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लयके कारण तथा सबके आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्मको नमस्कार है।'

इस जगत्में सभी सुख चाहते हैं, दुःखके त्यागकी इच्छा करते हैं। उसमें भी निरतिशय सुखमें सबका अधिक प्रेम होता है। यद्यपि आधुनिक समयमें जिस किसी प्रकारसे भी की हुई इन्द्रिय-तृप्तिको ही वर्तमान जन्मकी परम सफलता माननेवाले तथा इस इन्द्रिय-तृप्तिके साधनभूत विषयोंके उपभोग-में ही मनको लगाये रखनेवाले मनुष्य उन विषयोंकी प्राप्ति करानेवाली अति महान् धनराशिका किसी भी उपायसे अर्जन करना ही आत्यन्तिक पुरुषार्थ समझते हैं और उससे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं है, ऐसा मानते हैं। धनी तथा अधिकारी पुरुष ही समाजमें गिना जाता है, वही सब जगह अगुआ हो जाता है। उसकी कही हुई सभी बातें समीचीन ही मानी जाती हैं। उसका सारा मत ही सर्वोत्तम मत है—ऐसा लोग मानते हैं; परंतु प्राचीन कालमें हमारे महर्षिगण विषय-भोगको अति तुच्छ समझते थे तथा उसके साधनभूत धन-अधिकारादिको तृणके समान मानकर आत्मज्ञानको ही सर्वोत्कृष्ट जान उसकी प्राप्ति-के लिये ही निरन्तर यत्न करते रहते थे।

इस समय भी ऐसे अनेकों श्रेष्ठ पुरुष हैं जो आज भी उसी वेदादि शास्त्रानुमोदित महर्षियोंके द्वारा संसेवित प्राचीन-तम मार्गका विशेषरूपसे समादर करते हैं। महर्षिलोग लौकिक विषयोंके विज्ञानकी अपेक्षा परम पुरुषार्थके साधनरूप पारमार्थिक आत्मज्ञानको अत्यन्त उत्कृष्ट मानते थे। इसीके द्वारा उन्होंने सम्पूर्ण स्वर्गादि लोकोंपर विजय प्राप्त की थी और परम श्रेय अर्थात् मुक्तिको प्राप्त किया था। अपनी उत्प्रेक्षा-शक्ति (अत्यन्त विवेकशील बुद्धि)के द्वारा प्राप्त तेजसे परम कल्याणके पथपर, जहाँतक वे पहुँच सके थे, दूसरे लोग उसकी कल्पना करनेमें भी समर्थ नहीं हो सकते। इस बातको पाश्चात्य देशों-के विद्वानोंने भी आश्चर्यचकित चित्तसे मुक्तकण्ठ हो स्वीकार किया है। इस प्रकारका आत्मज्ञानजनित गौरव, जो हम भारतीयोंको प्राप्त हो सका था, हमारे उपनिषद्-ग्रन्थोंके अनुशीलनसे ही उपलब्ध हुआ था।

यद्यपि वेदोंके पूर्वकाण्ड (कर्मकाण्ड)में तथा वेदोंका ही आश्रय लेकर चलनेवाली दूसरी विद्याओंमें भी आत्मस्वरूप

और उसके नित्यत्व आदिका वर्णन किया गया है तथा कर्मकाण्डकी जो कुछ और जितनी भी प्रवृत्ति है, वह सब आत्मा और उसकी नित्यताका अवलम्बन लेकर ही है; तथापि वैदिक कर्मकाण्ड आदिके द्वारा आत्माकी नित्य, निरतिशय, आनन्दमय, प्रकाशमय सर्वात्मरूपताका ज्ञान नहीं हो सकता। केवल आत्माकी नित्यताका प्रतिपादन करनेमात्रसे कर्मकाण्डका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। इसके सिवा आत्माकी सर्वात्मता और एकताका प्रतिपादन कर्मकाण्डके विरुद्ध भी पड़ता है। अतएव आत्माके एकत्वका प्रतिपादन करना भेदको औपाधिक बतलाना, जीवात्मा और परमात्मामें भी वास्तविक भेदका अभाव बतलाना, आत्माकी अखण्ड चिदानन्दैक-रसरूपताका अनुभव कराना—आदि सब कुछ उपनिषदोंका कार्य है। इसीमें सारी उपनिषदोंका, विशेषतः 'ईशावास्य'से लेकर 'कैवल्य' पर्यन्त द्वादश उपनिषदोंका परम तात्पर्य है। आचार्य शङ्कर भगवत्पादने भी अपने भाष्यमें इसी अभिप्रायको अभिव्यक्त किया है—

सैन्धवघनवद् अनन्तरमबाह्यमेकरसं ब्रह्मेति विज्ञानं सर्वस्यामुपनिषदि प्रतिपिपादयिषितोऽर्थः।.....तथा सर्वशाखोपनिषत्सु च ब्रह्मैकत्वविज्ञानं निश्चितोऽर्थः।

(बृहदारण्यक० १।४।१०)

तथा—

इष्यते च सर्वोपनिषदां सर्वात्मैक्यप्रतिपादकत्वम्।

(माण्डूक्य० १।३)

'ब्रह्म नमकके डलेके समान अन्तररहित (व्यवधानशून्य अविच्छिन्न) है, वह बाह्यभेदसे रहित है अर्थात् बाहरसे कुछ और भीतरसे कुछ—ऐसा नहीं है तथा सर्वदा एकरस है। सम्पूर्ण उपनिषद्में इसी विज्ञानका प्रतिपादन करना अभीष्ट है।'

'इसी प्रकार सम्पूर्ण शाखाओंकी उपनिषदोंमें भी 'ब्रह्मकी एकताका विज्ञान' ही सिद्धान्तभूत अर्थ है।'

सारी उपनिषदें सबके आत्माकी एकताका ही प्रतिपादन करनेवाली हैं; यही मानना अभीष्ट है।

इस भाष्यपर विवृति लिखते हुए आनन्दगिरि कहते हैं—

उपक्रमोपसंहारैकरूप्यादिना सर्वासामुपनिषदां सर्वेषु देहेषु आत्मैक्यप्रतिपादनपरत्वमिष्टम्।

'उपक्रम और उपसंहारकी एकरूपता आदि तात्पर्य-निर्णयके छः हेतुओंको दृष्टिमें रखते हुए यही मानना इष्ट है कि सम्पूर्ण उपनिषदें सब देहोंमें स्थित आत्माकी एकताका ही प्रतिपादन करनेमें तत्पर हैं।' इस विषयमें अर्थात् जीवात्मा और परमात्माकी एकता तथा सब जीवोंकी परस्पर एकताके प्रतिपादनमें और आत्मा अखण्डानन्दरूप, चिन्मय एवं एकरस है—इस तथ्यके वर्णनमें इन सभी उपनिषदोंका कण्ठस्वर एक है। इस विषयको लेकर उनमें तनिक भी मतभेद नहीं है। यह बात नीचे उद्धृत किये हुए वचनोंसे स्पष्टतः जानी जा सकती है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

(ईश० ६)

'जो सब भूतोंको आत्मामें ही देखता है तथा सब भूतोंमें आत्माको ही देखता है; वह इस सर्वात्मभावके दर्शनके कारण किसीसे भी घृणा नहीं करता।'

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

(केन० १।४)

'जो वाणीके द्वारा अभिव्यक्त नहीं होता। जिसके द्वारा वाणी अभिव्यक्त होती है, उसे ही तुम ब्रह्म जानो। अज्ञानीजन जिस देश-कालादिसे परिच्छिन्न वस्तुकी उपासना करते हैं, यह ब्रह्म नहीं है।'

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

(कठ० २।२।१२)

'जो एक, सबको अपने वशमें रखनेवाला और सब प्राणियोंका अन्तरात्मा है तथा जो अपने एक रूपको ही नाना रूपोंमें व्यक्त करता है—अपनी बुद्धिमें स्थित उस आत्मदेवको जो धीर (विवेकी) पुरुष देखते हैं, उन्हींको शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है, दूसरोंको नहीं।'

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः॥

(कठ० २।१।१३)

'वह पुरुष अङ्गुष्ठमात्र तथा धूमविहीन ज्योतिके समान है। वह जो कुछ हुआ है तथा होनेवाला है, सबका शासक है, वही आज है और वही कल भी रहेगा।'

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य। स सर्वज्ञः सर्वो भवति।

(प्रश्न० ४।१०)

'हे सोम्य ! वह जो निश्चयपूर्वक उस तमोविहीन, शरीर-रहित, लोहितादि गुणोंसे शून्य, शुद्ध एवं अविनाशी पुरुष (आत्मा) को जानता है, वह उस परम अक्षरब्रह्मको ही प्राप्त होता है। वह सर्वज्ञ और सर्वरूप हो जाता है।'

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
यच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥
(मुण्डक० २। २। ९)

'वह निर्मल तथा निष्कल (अवयवरहित) ब्रह्म हिरण्मय (ज्योतिर्मय) परम कोशमें स्थित है। वह शुद्ध तथा समस्त ज्योतिर्मय पदार्थोंका भी प्रकाशक है और वही परम तत्त्व है, जिसे आत्मज्ञानी जानते हैं।'

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः। (माण्डूक्य० ७

'वह अन्तःप्रज्ञ अर्थात् तैजसस्वरूप नहीं है, बहिःप्रज्ञ अर्थात् विश्वरूप भी नहीं है। अन्तर्बहिःप्रज्ञ अर्थात् जाग्रत् और स्वप्नकी अन्तराल-अवस्थारूप भी नहीं है, प्रज्ञानघन अर्थात् सुषुप्तावस्थारूप नहीं है। प्रज्ञ अर्थात् एक साथ सब विषयोंका प्रज्ञाता, निरा चेतनरूप नहीं है। अप्रज्ञ अर्थात् अचेतनरूप नहीं है। वह दृष्टिका विषय नहीं, व्यवहारका विषय नहीं, उसे हाथोंद्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। उसकी परिभाषा नहीं हो सकती। वह अचिन्त्य है, अनिर्वचनीय है, जाग्रदादि सभी अवस्थाओंमें एकात्म-प्रत्ययरूप है, प्रपञ्च-कृत धर्मोंका वहाँ अभाव है, वह शान्त है, शिव है, अद्वैत है—ऐसे उस परम तत्त्वको ज्ञानीजन परमात्माका चतुर्थ पाद मानते हैं। वही आत्मा है, वही जाननेयोग्य है।'

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः।
(तैत्तिरीय० २। ८। ५)

'वह जो यह पुरुषमें (पञ्चकोशात्मक देहमें) है, और वह जो आदित्यमें है—वह एक है।'

यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म। (ऐतरेय० ३। ३)

'जो कुछ यह जङ्गम जीवसमुदाय है, जो पक्षी हैं, जो यह स्थावर जगत् है, वह प्रज्ञानेत्र है अर्थात् प्रज्ञामें दृष्ट होता है। प्रज्ञानमें ही प्रतिष्ठित है। लोक प्रज्ञानेत्र है, प्रज्ञा ही उसकी प्रतिष्ठा है। प्रज्ञान ही ब्रह्म है।'

ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो। (छान्दोग्य० ६। ८। ७)

'हे श्वेतकेतु ! एतद्रूप ही यह सब कुछ है, यह सत्य है, यह आत्मा है, वह तुम हो।'

यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्॥
(बृहदारण्यक० ४। ४। १७)

तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः। (बृहदारण्यक० २। ५। १९)

'जिसमें पाँच पञ्चजन (गन्धर्व, पितर, देवता, असुर और राक्षस अथवा ब्राह्मणादि वर्ण और निषाद) तथा अव्याकृत प्रकाश प्रतिष्ठित है, उस आत्माको ही मैं अमृत ब्रह्म मानता हूँ। उस ब्रह्मको जाननेवाला मैं अमृत ही हूँ।' 'वह यह ब्रह्म पूर्व और अपर—कारण और कार्यसे रहित है, अन्तर-विजातीय द्रव्यसे शून्य है और अबाह्य है (बाह्य आदिके भेदसे रहित है), यह आत्मा ही सबका अनुभव करनेवाला ब्रह्म है।'

निष्कलं निष्क्रियꣳ शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परꣳ सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्॥
(श्वेताश्वतर० ६। १९)

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥
(श्वेताश्वतर० ६। १२)

'जो कला अर्थात् अवयवरहित है, निष्क्रिय है, शान्त, निर्दोष और निर्लेप है, जो अमृतका सर्वोत्तम सेतु है और जिसका ईंधन जल चुका है, उस धूमादिशून्य अग्निके समान दीप्तिमान् है।' 'उसको जो धीर अपने आत्मा (अन्तःकरण) में स्थित देखते हैं उन्हींको शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है, दूसरोंको नहीं।'

यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं स त्वमेव त्वमेव तत्॥
(कैवल्य० १। १६)

'जो परब्रह्म सबका आत्मा, विश्वका महान् आयतन, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर और नित्य है; वह तुम्हीं हो, तुम्हीं वह हो।'

यहाँ इन थोड़े-से वचनोंद्वारा दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। इन उपनिषदोंमें इस प्रकारके अर्थवाले सैकड़ों वचन हैं, जिनका परम तात्पर्यस्वरूप एक ही अर्थ है—'एकरस अखण्ड

आनन्दस्वरूप ब्रह्म और आत्माकी एकताका निरूपण करना।' उनमें ध्यानयोग उपासनादि तथा सृष्टिमें अनुप्रवेशादि अन्य विषय भी प्रतिपादित हुए हैं; परंतु उनका मुख्यतः प्रतिपादन नहीं हुआ है, प्रकृत अर्थको अभिव्यञ्जित करनेके लिये ही उनका प्रतिपादन हुआ है। इनका मुख्य प्रयोजन है—भेद-बुद्धिका निवारण करना।

यद्यपि लोकमें एक सौ आठ उपनिषदें प्रचलित हैं और मुक्तिकोपनिषद्में भी वे नाम ले-लेकर गिनी गयी हैं तथापि उनमें उपर्युक्त बारह उपनिषदोंकी ही प्रधानता तथा सर्वोपादेयता है। इनमें बतलाये हुए अर्थका ही बहुतेरी उपनिषदें अनुवाद करती हैं। दूसरी कुछ उपनिषदें ऐसी भी हैं जो देवता-विशेषका नाम लेकर उसके स्वरूप-माहात्म्यादिका निरूपण करती हैं; परंतु वे समयाचारके प्रतिपादक (साम्प्रदायिक) ग्रन्थोंकी कोटिमें आकर सर्वत्र तथा सर्वजनोंमें आदर नहीं प्राप्त करतीं; परंतु ये द्वादश उपनिषदें साम्प्रदायिक विषयोंमें तनिक भी न पड़कर सबके लिये उपादेय बनती हैं। केवल अखण्डैकरस, निर्गुण, क्रियाकारकसे शून्य, पर, एक, सर्वात्मा, सच्चिदानन्दघनमें परम तात्पर्य रखना ही इनकी सर्वोत्तमता और सर्वादरणीयताका मुख्य कारण है। वस्तुतः अखण्ड-आनन्दैकरसस्वरूप ब्रह्म ही उपनिषद्-प्रतिपादित तत्त्व है, ऐसा श्रुतिने ही कहा है। बृहदारण्यक-उपनिषद्में कथा है कि महाराज जनकने 'कौन सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता है' यह जाननेके लिये एक सहस्र गोदानकी शर्त की। उस समय भगवान् याज्ञवल्क्यने उन सहस्रों गौओंको अपने अधिकारमें कर लिया, इसपर राजसभामें बैठे हुए विद्वान् कुपित होकर उनसे अनेक प्रकारके प्रश्न करने लगे। उनमें एक शाकल्य भी था। उसके अनेक प्रश्नोंका उत्तर देनेके पश्चात् अन्तमें महर्षि याज्ञवल्क्यने भी उससे पूछा—

'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि, तं चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति।' (बृहदारण्यक० ३। ९। २६)

'शाकल्य! मैं तुमसे उस उपनिषद्-प्रतिपादित पुरुषको पूछता हूँ, यदि मुझसे उसको नहीं बतलाओगे तो तुम्हारा सिर गिर जायगा।'

शाकल्य इसका उत्तर नहीं जानता था, अतः उससे उत्तर न बन पड़ा, इस कारण उसका सिर गिर गया। इस आख्यायिका-को कहकर अन्तमें औपनिषद-पदके अर्थको श्रुतिने स्वयं ही खोला है।

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणम्।'
(बृहदारण्यक० ३। ९। २८)

'ब्रह्म विज्ञानानन्दस्वरूप है, वह धन देनेवाले यजमानकी परम गति है।' यहाँ भगवान् शङ्कराचार्यजी अपने भाष्यमें कहते हैं—

''अतिक्रान्तवानुपाधिधर्मं हृदयाद्यात्मत्वं स्वेनैवात्मना व्यवस्थितो य औपनिषदः पुरुषः अशनायादिवर्जितः उपनिषत्स्वेव विज्ञेयो नान्यप्रमाणगम्यः तं त्वां विद्याभिमानिनं पुरुषं पृच्छामि इति।''

''विज्ञानं विज्ञप्तिः विज्ञानं तच्चानन्दं न विषयविज्ञानवद् दुःखानुविद्धम्। किं तर्हि प्रसन्नं शिवमतुलमनायासं नित्यतृप्तमेकरसमित्यर्थः।''

'हृदयादिको ही आत्मा माननारूप जो उपाधि-धर्म है, उसको अतिक्रान्त करनेवाला अपने आत्मरूपसे ही व्यवस्थित, क्षुधा-पिपासा आदि धर्मोंसे वर्जित, उपनिषदोंमें ही जाननेयोग्य तथा दूसरे प्रमाणोंके द्वारा जाननेमें नहीं आ सकनेवाला जो औपनिषद पुरुष है, उस पुरुषके विषयमें मैं विद्याका अभिमान रखनेवाले तुमसे पूछता हूँ।'

'विज्ञप्ति (बोध) का ही नाम विज्ञान है, वही आनन्द भी है। ब्रह्म-विज्ञान विषय-विज्ञानकी भाँति दुःखसे व्याप्त नहीं है। तो फिर कैसा है? प्रसन्न, कल्याणमय, अनुपम, आयास-रहित, नित्यतृप्त और एकरस है। ऐसा इसका तात्पर्य है।'

इस सन्दर्भके द्वारा यह स्पष्टरूपसे ज्ञात होता है कि पूर्वनिर्दिष्ट आत्मस्वरूप एकमात्र उपनिषदोंके द्वारा ही प्राप्त होने योग्य है। अतएव उसको औपनिषद पुरुष कहते हैं।

यहाँ 'शिव' शब्द सगुणब्रह्मका वाचक नहीं है, बल्कि माण्डूक्योपनिषद्में उल्लिखित **'शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते'** इस वाक्यगत शिवका ही पुनः निर्देश यहाँ भाष्य-कारने किया है। वहाँ माण्डूक्योपनिषद्में 'शिवम्' पदके द्वारा सगुणब्रह्मके उपादानकी लेशमात्र भी गन्ध नहीं है, क्योंकि 'वह अद्वैत है' यह बात आगे स्पष्टरूपसे कही गयी है। इसका विवरणभाष्य करते हुए कहा गया है—**'शिवं परिशुद्धं परमानन्दबोधम्'** अर्थात् 'शिव'का अभिप्राय है 'परिशुद्ध परम आनन्दमय बोध।'

इस प्रकार इन मुख्य-मुख्य उपनिषदोंका स्वतः प्रतीत होनेवाला अभिप्राय नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निर्गुण, एकरस, निरतिशय अखण्ड-आनन्दस्वरूप, अद्वैत आत्माका बोध कराना ही है। कहीं-कहीं द्वैत—सगुण आदि तथा अन्यत्र भी जो इनकी प्रवृत्ति दीख पड़ती है, वह भी अद्वैततत्त्वके साधन-रूपमें ही है, न कि परम तात्पर्यरूपमें। अतएव किसी अग्रगण्य विद्वान्ने कहा है—

'तस्माद् बहून् पश्यन्त्या बहुभिर्भाषमाणाया अपि पतिव्रताया हृदयं स्वपताविव बहुभिर्वचनैरितस्ततो नीयमानानामपि भगवतीनामुपनिषदां नित्यनिरतिशयाखण्डानन्दचिद्‌घनरूपात्मैकत्व एव हृदयमवतिष्ठते' इति।

'जिस प्रकार बहुतसे पुरुषोंकी ओर देखती और बहुतोंसे बातें करती रहनेपर भी पतिव्रता स्त्रीका हृदय अपने पतिमें ही लीन रहता है, उसी प्रकार अनेकों वाक्योंद्वारा इधर-उधर लगायी जानेपर भी भगवती उपनिषद्-विद्याका हृदय नित्य, निरतिशय अखण्ड-आनन्द-चिद्‌घनरूप आत्मैकत्वमें ही स्थित रहता है।' उस प्रकारकी एकात्मरूपमें जो अवस्थिति है, वही मोक्ष है। उसीको ब्रह्मसाक्षात्कार कहते हैं। और वही अपुनरावृत्तिरूप परम पुरुषार्थ है। उसी स्थितिको लक्ष्य करके भगवान् वासुदेवने भी कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(गीता ६। २९)

'सर्वत्र समदृष्टि रखनेवाला योगयुक्त पुरुष सब भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सब भूतोंको देखता है।' और उसी सर्वात्मभावमें स्थित होकर महर्षि वामदेव अपनेको सर्वरूप देखते हैं—**'अहं मनुरभवं सूर्यश्च'** मैं मनु हो गया और सूर्य हो गया। न केवल एक महर्षि वामदेवको ही ऐसा ज्ञान हुआ, बल्कि अन्य महर्षियों तथा साधारण मनुष्योंमें भी जिसको ऐसा ज्ञान हुआ है, उसने भी अपनी सर्वात्मताका ही दर्शन किया है। आज भी वैसा ज्ञानी पुरुष वैसी ही स्थितिमें आ सकता है। यह बात भगवती श्रुति ही आग्रहपूर्वक कह रही है—

तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं
ब्रह्मास्मीति स इदꣳ सर्वं भवति।

(बृहदारण्यक० १। ४। १०)

"इस समय भी जो इसको इस प्रकार जानता है अर्थात् 'मैं ही ब्रह्म हूँ' ऐसा जो अनुभव करता है वह यह सर्वरूप हो जाता है।" गीताके आचार्य भगवान् श्रीकृष्ण भी कहते हैं—

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः॥

(गीता ४। १०)

'ज्ञान और तपस्यासे पवित्र हुए बहुतेरे महात्माजन मेरे स्वरूपको प्राप्त हो चुके हैं।' इस प्रकारके आत्मसाक्षात्कारकी प्राप्तिसे ही पूर्वकालमें महर्षिलोग सब प्रकारकी आसक्तियोंका त्याग करके संन्यास ग्रहण करते थे। यह श्रुति ही कहती है—

एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।

(बृहदारण्यक० ३। ५। १)

तमेतं वै आत्मानं स्वं तत्त्वं विदित्वा ज्ञात्वा अयमहमस्मि परं ब्रह्म सदा सर्वसंसारविनिर्मुक्तं नित्यतृप्तम्' इति।

(शाङ्करभाष्य)

"शोक-मोह-जरा-मृत्यु-भूख-प्यास आदिसे रहित उस इस आत्माको ही जानकर ब्राह्मणलोग पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणासे ऊपर उठकर भिक्षाचर्यासे विचरते हैं—भिक्षाजीवी संन्यासी हो जाते हैं उस इस आत्माको—अपने तात्त्विक स्वरूपको सदा संपूर्ण संसार-धर्मोंसे रहित नित्यतृप्त परब्रह्मके रूपमें जानकर 'यह मैं हूँ'—ऐसा समझकर—ऐसा **'तमात्मानं विदित्वा'** पर श्रीशङ्कर भगवत्पादका भाष्य है। भगवान् याज्ञवल्क्यने इसी आत्मतत्त्वका उपदेश अपनी पत्नी मैत्रेयीसे किया था—

स एष नेति नेत्यात्मा, अगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यते। असङ्गो न हि सज्यते।

तथा—

यत्र सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्—इत्यादि।

(बृहदारण्यक० ४। ५। १५)

'वह यह 'नेति-नेति' इस प्रकार निर्देश किया जानेवाला आत्मा अगृह्य है—ग्रहण नहीं किया जा सकता। अविनाशी है—विनष्ट नहीं हो सकता। असङ्ग है—आसक्तिमें नहीं पड़ सकता।' तथा 'जहाँ सब कुछ आत्मा ही हो गया, वहाँ किससे किसको देखे।'

इसी आत्मतत्त्वका उपदेश भगवान् वैवस्वत धर्मराजने अपने प्रिय शिष्य नचिकेताको साग्रह आत्मतत्त्वकी जिज्ञासाके उत्तरमें दिया है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(कठ० १। २। १५)

'सम्पूर्ण वेद जिस पदका प्रतिपादन करते हैं, सारी तपश्चर्याओंको जिसकी प्राप्तिका साधन बताया जाता है, जिसकी इच्छा करते हुए मुमुक्षुजन ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, उस पदको मैं तुमसे संक्षेपमें कहता हूँ, 'ओम्' यही वह पद है।'

अत्यन्त गहन, अत्यन्त दुर्लभ, अतिनिगूढ़ आत्मतत्त्वका प्रतिपादन करनेसे ही इन उपनिषदोंको रहस्यात्मक माना गया है तथा उन-उन ग्रन्थोंमें वैसा कहा भी गया है। तात्पर्य यह है कि रहस्यके अर्थमें 'उपनिषद्' शब्दका प्रयोग प्रायः भिन्न-भिन्न उपनिषद्-ग्रन्थोंमें देखा गया है। उपनिषदोंमें नाना प्रकारकी जो अनेकों आख्यायिकाएँ गुरु-शिष्य-संवादरूप-

में, विद्वानोंके पारस्परिक प्रश्नोत्तरके रूपमें तथा उपदेशरूपमें प्राप्त होती हैं, उन सबका उद्देश्य है ब्रह्मविद्याकी सर्व-श्रेष्ठता तथा सर्वापेक्षा अधिक उपादेयताका प्रतिपादन करना। अनित्य वस्तुओंकी ओरसे पुरुषोंमें वैराग्य उत्पादन कर ब्रह्मविद्याकी ओर स्वतः उन्हें उन्मुख करना उनका लक्ष्य है। अतएव वे आख्यायिकाएँ सत्य हैं या असत्य—इस बातका अधिक आग्रह नहीं करना चाहिये। इसीलिये भिन्न-भिन्न स्थलोंपर कहते हैं—

आख्यायिका तु विद्याग्रहणविधिप्रदर्शनार्था विधिस्तुत्यर्था च राजसेवितं पानीयमितिवत्।

तथा—

विद्याप्राप्त्युपायप्रदर्शनार्थैवाख्यायिका।

आख्यायिका तो विद्याग्रहणकी विधि प्रदर्शित करनेके लिये तथा विधिकी प्रशंसा करनेके लिये है। जैसे किसी जलको श्रेष्ठ बतानेके लिये यह कह दिया जाय कि यहाँका पानी तो राजा भी ग्रहण कर चुके हैं। इसके सिवा, विद्याकी प्राप्तिका उपाय क्या है यह दिखलानेके लिये भी आख्यायिका दी जाती है। इसी प्रकार उन उपनिषदोंमें पञ्चाग्नि-विद्या, दहर-विद्या, संवर्ग-विद्या, प्राणाग्निहोत्र-विद्या आदि विद्याओंमें तथा मनुष्य-से लेकर ब्रह्मातक आनन्दके तारतम्यका निर्देश, प्राण आदिकी श्रेष्ठता और कनिष्ठताका कथन, जीवकी विश्व तैजस प्राज्ञ इन तीन अवस्थाओंका निरूपण करना और गुरु-शिष्योंके वंश-वर्णन आदि विषयोंमें भी वही दृष्टि रखनी चाहिये। सर्वदा अनादि अविद्याके विलासमें विकसित तथा क्रिया, कारक और फलादिरूपसे भासित होनेवाले इस मिथ्या प्रपञ्चको विद्याके द्वारा तिरोहित करके नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सच्चिदानन्दैकरस अद्वैत ब्रह्मके रूपमें अवस्थित होना ही परम पुरुषार्थ है, उसकी प्राप्तिमें ही पुरुषकी कृतकृत्यता है—इसके प्रतिपादनके लिये ही उपनिषदें प्रवृत्त होती हैं, यही निगूढ़ रहस्य—तत्त्व उपनिषदोंमें वर्णित है। इस प्रकार उनमें सब कुछ उत्तम-ही-उत्तम है।

ब्रह्मविद्या

(ले०—श्रीमज्जगद्गुरु श्रीरामानुजसम्प्रदायाचार्य आचार्यपीठाधिपति श्रीराघवाचार्यजी स्वामी महाराज)

अनन्त अपौरुषेय वेदवाङ्मयका ज्ञानकाण्ड है वह उपनिषत्साहित्य, जिसके बलपर अध्यात्मवादियोंने घोषणा की थी—

तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये।

कर्म वह है जो बन्धनके लिये न हो और विद्या वह है जो बन्धनसे मुक्त कर दे। ऋषियोंने इसी विद्याके प्रकाशमें अनन्त सच्चिदानन्द परब्रह्मका साक्षात्कार किया, कराया और इस विद्याको ब्रह्मविद्या कहकर परमतत्त्व (ब्रह्म) के साथ रहनेवाले उसके सम्बन्धको भी स्पष्ट कर दिया। प्रतिपादनपद्धति, विशेष ज्ञातव्य, परम्परा, आदिके भेदसे उसके अनेक रूप स्वाभाविक थे, जो विविध उपनिषदोंमें तथा एक ही उपनिषद्के विविध भागोंमें परिगृहीत होकर साधकोंके लिये प्रत्यक्ष भी हुए; तथापि ब्रह्मविद्याके इन विविध रूपोंके अन्तस्तलमें रहनेवाली स्वरूपगत एकता मिट न सकी, प्रत्युत सुस्थिर बनी रही। इसका श्रेय था मीमांसाकी उस पद्धतिके लिये, जिसने इन सभी ब्रह्मविद्याओंका—ब्रह्मविद्याके विविध रूपोंका समन्वय किया था। इसी पद्धतिका आश्रय लेकर ब्रह्मसूत्रकारने प्रमुख मानी जानेवाली बत्तीसों ब्रह्मविद्याओं-की चर्चा की और उनके सामञ्जस्यका विवेचन किया। विहङ्गम दृष्टिसे अवलोकन करनेपर १—सद्विद्या (छा०), २—आनन्दविद्या (तै०), ३—अन्तरादित्यविद्या (छा०), ४—आकाशविद्या (छा०), ५—प्राणविद्या (छा०), ६—गायत्री—ज्योतिर्विद्या (छा०), ७—इन्द्रप्राण-विद्या (छा० कौ०), ८—शाण्डिल्यविद्या (छा०, बृ० अग्नि-रहस्य), ९—नाचिकेतसविद्या (कठ०), १०—उपकोसल-विद्या (छा०), ११—अन्तर्यामिविद्या (बृ०), १२—अक्षरविद्या (मु०), १३—वैश्वानरविद्या (छा०), १४—भूमविद्या (छा०), १५—गार्ग्यक्षरविद्या (बृ०), १६—प्रणवोपास्य परमपुरुषविद्या (प्र०), १७—दहरविद्या (छा०, बृ०, तै०), १८—अङ्गुष्ठप्रमित विद्या (क०, श्वे०), १९—देवोपास्यज्योतिर्विद्या (बृ०), २०—मधुविद्या (छा०), २१—संवर्गविद्या (छा०), २२—अजाशरीरकविद्या (श्वे०, तै०), २३—बालाकिविद्या (कौ०, बृ०), २४—मैत्रेयीविद्या (बृ०), २५—दुहिणरुद्रादिशरीरकविद्या, २६—पञ्चाग्निविद्या (छा०, बृ०), २७—आदित्यस्थाहर्नामक विद्या (बृ०), २८—अक्षिस्थाहन्नामक विद्या (बृ०), २९—पुरुषविद्या (छा०, तै०), ३०—ईशावास्यविद्या (ई०), ३१—उपस्ति-कहोलविद्या (बृ०) और ३२—व्याहृतिशरीरकविद्या—ये बत्तीस विद्याएँ हैं।

ये विद्याएँ क्रमशः बताती हैं कि (१) परब्रह्म अपने

सङ्कल्पानुसार सबके कारण हैं, (२) वे कल्याणगुणाकर वैभवसम्पन्न आनन्दमय हैं, (३) उनका रूप दिव्य है, (४) उपाधिरहित होकर वे सबके प्रकाशक हैं, (५) वे चराचरके प्राण हैं, (६) वे प्रकाशमान हैं, (७) वे इन्द्र, प्राण आदि चेतनाचेतनोंके आत्मा हैं, (८) प्रत्येक पदार्थकी सत्ता, स्थिति एवं यत्न उनके ही अधीन हैं, (९) समस्त संसारको लीन कर लेनेकी सामर्थ्य उनमें है, (१०) उनकी नित्य स्थिति नेत्रमें है, (११) जगत् उनका शरीर है, (१२) उनके विराट् रूपकी कल्पनामें अग्नि आदि अङ्ग बनकर रहते हैं, (१३) स्वर्लोक, आदित्य आदिके अङ्गी बने हुए वे वैश्वानर हैं, (१४) वे अनन्त ऐश्वर्यसम्पन्न हैं, (१५) वे नियन्ता हैं, (१६) वे मुक्त पुरुषोंके भोग्य हैं, (१७) वे सबके आधार हैं, (१८) वे अन्तर्यामीरूपसे सबके हृदय-में विराजमान हैं, (१९) वे सभी देवताओंके उपास्य हैं, (२०) वे वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् और साध्योंके आत्माके रूपमें उपास्य हैं, (२१) अधिकारानुसार वे सभीके उपासनीय हैं, (२२) वे प्रकृतितत्त्वके नियन्ता हैं, (२३) समस्त जगत् उनका कार्य है, (२४) उनका साक्षात्कार कर लेना मोक्षका साधन है, (२५) ब्रह्मा, रुद्र आदि-आदि देवताओंके अन्तर्यामी होनेके कारण उन-उन देवताओंकी उपासनाके द्वारा वे प्राप्त होते हैं, (२६) संसारके बन्धन-से मुक्ति उनके अधीन है, (२७) वे आदित्यमण्डलस्थ हैं, (२८) वे पुण्डरीकाक्ष हैं, (२९) वे परम पुरुष (पुरुषोत्तम) हैं, (३०) वे कर्मसहित उपासनात्मक ज्ञानके द्वारा प्राप्त होनेवाले हैं, (३१) उनके प्राप्त करनेमें अनिवार्य होते हैं अन्य भोजनादिविषयक नियम भी और (३२) व्याहृतियोंकी आत्मा बनकर वे मन्त्रमय हैं ।

यह हृदयङ्गम कर लेनेपर परब्रह्मके स्वरूप, रूप, गुण, विभव आदिके सम्बन्धमें उठ सकनेवाली सभी शङ्काओंका समाधान हो जाता है । सगुण-निर्गुण, भेद-अभेद, द्वैत-अद्वैत, नित्यविभूति-लीलाविभूतिकी उलझनें भी सुलझ जाती हैं; किंतु पृथक्-पृथक् ब्रह्मविद्याओंमें परब्रह्मके पृथक्-पृथक् नाम-करण तथा ब्रह्मविद्याओंके मौलिक स्वरूप संदेहके कारण बन सकते थे, इसके लिये शेषावतार श्रीरामानुजमुनीन्द्रने ब्रह्मसूत्रके लिङ्गभूयस्त्वाधिकरणमें तैत्तिरीयोपनिषद्के नारायणानुवाकको उपस्थित करते हुए लिखा है—

परविद्यासु अक्षरशिवशम्भुपरब्रह्मपरज्योतिपरतत्त्व-परमात्मादिशब्दनिर्दिष्टम् उपास्यं वस्तु इह तैः एव शब्दैः अनूद्य तस्य नारायणत्वं विधीयते । (श्रीभाष्य)

ब्रह्मविद्याओंमें जो अक्षर, शिव, शम्भु, परब्रह्म, परज्योति, परतत्त्व, परमात्मा आदि शब्द आये हैं, उन्हीं शब्दोंमें यहाँ (नारायणानुवाकमें) उपास्य परमतत्त्वका निर्देश करते हुए उनके नारायण होनेका विधान किया गया है । साथ ही—

अतो वाक्यार्थज्ञानादन्यदेव ध्यानोपासनादिशब्द-वाच्यं ज्ञानं वेदान्तवाक्यैर्विधिप्सितम् ।

—लिखकर ब्रह्मविद्यासे होनेवाले ज्ञानको वाक्यार्थज्ञान-तक सीमित न कर उसे ध्यान, उपासना आदि शब्दोंका वाच्य ठहराया है । इस प्रकार निर्णय करनेमें श्रीभाष्यकारको पाञ्च-रात्र आगम और भगवद्गीताका समर्थन तथा सर्वश्रीबोधायन, टङ्क, द्रमिडाचार्यकी परम्पराका बल भी प्राप्त हुआ था । कहना न होगा कि जहाँ पाञ्चरात्र आगमने ज्ञानकाण्डको आराध्यपरक और कर्मकाण्डको आराधनपरक बताकर भगवदाराधनमें सम्पूर्ण वेदवाङ्मयका विनियोग किया तथा गीता-चार्यने ज्ञान-कर्मानुगृहीत भक्तियोगका उपदेश देकर ज्ञानकाण्डके उपासनात्मक स्वरूपको जाग्रत् किया; वहाँ महर्षि बोधायनकी परम्पराने कर्ममीमांसा, दैवतमीमांसा और ब्रह्ममीमांसाका सम्मेलन कर सर्वकर्मसमाराध्य सर्वदेवान्तर्यामी परब्रह्मकी उपासनाको परमपुरुषार्थका साधन स्थिर करके ब्रह्ममीमांसाकी प्रधानता स्थापित की । इस प्रकार ब्रह्मविद्याओंका जो मौलिक उपासनात्मक स्वरूप सामने आता है, उसको साध्यभक्ति समझ लेनेपर यह भी कह देना आवश्यक हो जाता है कि ब्रह्मविद्याओंके मौलिक स्वरूपके अन्तर्भूत सिद्धभक्तिका संदेश भी श्रीरामानुज-मुनीन्द्रने दिया है । शरण्य-परमतत्त्वके माहात्म्यके रूपमें यद्यपि प्रत्येक ब्रह्मविद्यामें इस सिद्ध-भक्तिकी झाँकी दिखायी देती है, तथापि पृथक् न्यासविद्या (तै० श्वे०) के रूपमें उसे वह स्वतन्त्र स्थान भी मिला है, जो बत्तीसों ब्रह्मविद्याओंसे समानता ही नहीं करता, अपितु विशेषता भी ग्रहण करता है । यही 'न्यास-विद्या' है । परमगुह्यतम वह शरणागति-मार्ग, जिसमें परमपुरुष-की कृपाके सहारे साधक कृतार्थ और कृतकृत्य हो जाता है । अन्य विद्याओंके रूपमें ब्रह्मविद्या ब्रह्मको प्राप्त करानेवाली विद्या है; परंतु न्यासविद्याके रूपमें वह परब्रह्मकी अपनी दयामयी विद्या है, जो साधनकी सारी कठिनाइयोंको दूरकर और सारी बाधाओंको मिटाकर अकिञ्चन अनन्यगति साधक-को स्वयं परब्रह्मतक पहुँचा देती है । उपनिषद्-अङ्कके लिये मङ्गलाशासन करते हुए हम शरण्य परमपुरुषसे प्रार्थना करते हैं कि वे अपनी करुणा-दृष्टिसे शरण देकर समस्त प्राणियोंका परम कल्याण करें ।

उपनिषत्तत्त्व

(श्रीमहामण्डलके एक साधु-सेवकद्वारा लिखित)

सम्पूर्ण वेद तीन भागोंमें विभक्त हैं। यथा—उपनिषद्-भाग, मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग। उपनिषद्भाग वेदके ज्ञानकाण्डका प्रकाशक है। इस मन्वन्तरमें वेदकी ११८० शाखाएँ आविर्भूत हुईं। इतनी ही संख्यामें उपनिषद्, ब्राह्मण और मन्त्रभाग भी प्रकट हुए। पुराणों और उपनिषदोंमें वेदकी यह संख्या पायी जाती है। कलिकालके प्रभावसे इस संख्यामेंसे सहस्रांश भी इस समय नहीं मिलता है। उपनिषदोंके तुल्य ग्रन्थ पुराणोंमें भी मिलते हैं। जैसे कि महाभारतमें श्रीमद्भगवद्गीता, जो कि उपनिषदोंका सार कही जाती है।

वेद अनादि है। सृष्टिके प्रारम्भमें हमारे ब्रह्माण्डमें जितना वेद प्रकट हुआ है, उसकी स्थिति सदा हमारे ब्राह्म-सर्गमें बनी रहती है। हमारे मृत्युलोकरूपी भारतवर्षमें वेदोंका आविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है। सृष्टिकी प्रारम्भिक दशामें महर्षियोंके अन्तःकरणोंमें वेद ज्यों-का-त्यों सुनायी देता है, जैसे रेडियो-यन्त्रद्वारा हजारों कोसोंके शब्द ज्यों-के-त्यों सुनायी देते हैं, उसी प्रकार महर्षियोंके अन्तः-करणोंमें श्रुतियाँ अपने स्वरूपमें यथावत् प्रकट होती हैं। जिन पूज्यपाद महापुरुषोंके हृदयोंमें वेद आविर्भूत होते हैं, वे ही महर्षि कहलाते हैं। कितना ही बड़ा ज्ञानी पुरुष क्यों न हो, वह मन्त्रद्रष्टा न होनेसे महर्षि नहीं कहला सकता। वेद-मन्त्रोंके द्रष्टा ही ऋषि अथवा महर्षिपद-वाच्य हो सकते हैं।

शास्त्रोंमें ऐसा प्रमाण मिलता है कि प्रत्येक सत्ययुगमें सम्पूर्ण वेदोंका आविर्भाव मोक्षभूमिरूप भारतखण्डमें हुआ करता है और प्रत्येक कलियुगमें वेदोंका ह्रास होते-होते इस मृत्यु-लोकसे वेद ब्रह्मलोकमें चले जाते हैं। यही वेदके आविर्भाव और तिरोभावका रहस्य है। वेदका स्वरूप समझनेके लिये सबसे पहले देश-कालका ज्ञान अवश्य होना चाहिये। वेदके साथ अनादि-अनन्तकाल और ब्रह्माण्डरूपी देश तथा ब्रह्मके सदृश सत्, चित् और आनन्दभावका कैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसके समझे बिना वेदका स्वरूप ठीक-ठीक समझमें नहीं आता। ब्रह्मका स्व-स्वरूप त्रिभावात्मक है। इस कारण मीमांसाशास्त्र कहता है कि वेद भी तीन भावोंसे पूर्ण हैं और ब्रह्मकी स्वभावरूपिणी प्रकृति जब त्रिगुणमयी हैं तो शब्द-ब्रह्मरूपी वेद भी तीन गुणोंसे पूर्ण हैं। वेद त्रिभावात्मक होनेके कारण वेदका मन्त्रभाग, ब्राह्मणभाग और उपनिषद्भाग भी प्रत्येक त्रिभावात्मक है और उनकी प्रत्येक श्रुतिका तीन प्रकारसे अर्थ होना निश्चित है। इसी कारण स्मृतिशास्त्र कहता है कि जैसे चावल, दुग्ध और शर्करा—तीनों मिलकर परम पवित्र सुमिष्ट परमान्न बनता है, वैसे ही प्रत्येक श्रुति त्रिभावात्मक होकर सब प्रकारके कल्याणका कारण होती है। अतः जबतक त्रिभाव-रहस्य और त्रिगुण-रहस्यका ज्ञान साधकको नहीं होता और जबतक शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—ये छः वेदाङ्ग तथा न्यायदर्शन और वैशेषिक-दर्शन—ये दोनों पदार्थवाददर्शन, योगदर्शन और सांख्यदर्शन—ये दोनों सांख्यप्रवचनदर्शन और वेदके कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्डके तीन मीमांसादर्शन—इस प्रकारके सात वैदिक दर्शनोंका अच्छी तरहसे अनुशीलन साधक नहीं करता और साथ-ही-साथ भगवद्-उपासनाके द्वारा योगयुक्त अन्तर्मुखवृत्ति नहीं प्राप्त कर लेता, तबतक वेदार्थ समझनेमें साधक समर्थ नहीं होता।

उपनिषद्-ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सृष्टिज्ञान और देश-कालका ज्ञान प्राप्त करना अत्यावश्यक है। सृष्टिके साथ जो कालका सम्बन्ध है, उसके विषयमें जैसा सुन्दर, विस्तृत और अलौकिक वर्णन वेद और शास्त्रोंमें पाया जाता है, वैसा और कहीं देखने अथवा सुननेमें नहीं आता। हमारे इस मृत्युलोक भारतवर्षकी आयुके निर्णय करनेमें अनेक पदार्थ-विद्यासेवी (साइंटिस्ट) विद्वानोंने अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ की हैं। उन्होंने सृष्टिकी उत्पत्तिके विषयमें, मनुष्य-सृष्टिके विषयमें, वेदके आविर्भावके विषयमें और इसी प्रकारसे नाना देश और नाना पर्वत आदिकी सृष्टिके स्तरोंके विषयमें नाना कल्पनाएँ भी की हैं। किसीने इसकी दो-चार हजार वर्षोंकी ही गणना की है। अब वह गणना कुछ आगे अवश्य बढ़ी है; किंतु उसके साथ भारतवर्षके प्राचीन सिद्धान्तोंको मिलानेपर एक कौतुक-सा मालूम होता है। सनातन-धर्मके प्राचीन ग्रन्थोंमें एक ब्रह्माण्डकी आयुका निर्णय करनेमें इस प्रकारकी गणना पायी जाती है कि १०० त्रुटिका एक पर, ३० परका एक निमेष, १८ निमेषोंकी एक काष्ठा, २० काष्ठाओंकी एक कला, ३० कलाओंकी एक घटिका, दो घटिकाओंका एक क्षण, ३०

क्षणोंका एक अहोरात्र अर्थात् मनुष्यका पूरा दिन-रात होता है। इसी संख्यासे मानववर्ष-गणना की जाती है। इस हिसाबसे १७२८००० मानववर्षोंका सत्ययुग, १२९६००० मानववर्षोंका त्रेतायुग, ८६४००० वर्षोंका द्वापरयुग और ४३२००० वर्षोंका कलियुग है और ४३२०००० मानववर्षोंका महायुग होता है। ७१ महायुगोंका अर्थात् ३०६७२०००० वर्षोंका एक मन्वन्तर होता है और ८६४०००००० वर्षोंका ब्रह्माका एक दिन-रात अर्थात् एक कल्प होता है।

३११०४०००००००० मानववर्षोंमें एक ब्रह्मापदधारी बदल जाते हैं। १८६६२४०००००००००००० मानववर्षोंमें एक विष्णुपदधारी बदल जाते हैं। इसी प्रकार ४४७८९७६०००००००००००००००००० मानववर्षोंकी भगवान् शिवकी आयु समझी जाती है, जो ब्रह्माण्डका प्रलय करके ब्रह्ममें लय हो जाते हैं। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-भाण्डोदरी ब्रह्मशक्ति जगदम्बाकी एक त्रुटिके शिवजीके पाँच करोड़ निमेष होते हैं। इससे एक ब्रह्माण्डके लय होनेका समय निर्धारित किया जा सकता है। इससे यह तात्पर्य है कि जगदम्बाकी एक त्रुटिमें एक ब्रह्माण्डका सम्पूर्ण प्रलय हो जाता है। जैसे ब्रह्मा-विष्णु-महेशरूपी त्रिमूर्तिके प्रकट होनेसे पहले प्राकृतिक सृष्टि होती है और उसमें ब्रह्माण्डके उपादानरूपी परमाणु-पुञ्जोंको एकत्र करनेमें समय लगता है, उसी प्रकार भगवान् शिव जीवोंका प्रलय करके ब्रह्मीभूत हो जाते हैं। उसके बाद भी परमाणुपुञ्जोंके बिखरनेमें समय लगता है। सृष्टिके और प्रलयके सब कार्य जिस समयमें हों, उस समयको ब्रह्माण्डकी आयु कह सकते हैं और वह ब्रह्माण्डकी आयुका काल श्रीजगदम्बाकी एक त्रुटि समझी जा सकती है। *

श्रीमार्कण्डेय आदि पुराणोंमें १४ मन्वन्तरोंका संक्षिप्त वर्णन है और यह भी स्पष्ट वर्णन है कि ७१ महायुगोंका एक मन्वन्तर होता है। प्रत्येक मन्वन्तरमें देवराज इन्द्रपदधारी देवता भी कालराज मनुके साथ ही बदल जाते हैं। उस समय भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक—तीनोंके बड़े-बड़े पदधारी सब देवता बदल जाते हैं। कर्मके चालक देवता, ज्ञानके चालक ऋषि और स्थूल शरीर आदिके सञ्चालक पितृगण, जो तीनों ही तीन श्रेणीके देवता हैं, इनके जितने बड़े-बड़े पदधारी हैं, वे सब प्रत्येक मन्वन्तरमें बदल जाया करते हैं। इस कारण भूः, भुवः, स्वः—इन तीनों लोकोंकी शृङ्खला और सभ्यता आदिमें बड़ा अन्तर पड़ जाता है। प्रत्येक मन्वन्तरमें जो परिवर्तन होता है, वह भूः, भुवः, स्वःरूपी त्रिलोकमें होता है। मन्वन्तरमें कभी पूरा प्रलय नहीं होता, खण्ड-प्रलय होता है और देवपदधारी तो अवश्य ही बदल जाते हैं। ये सब बातें प्राचीन आर्योंके वेद और शास्त्रोंसे भलीभाँति प्रमाणित हैं। इन सब कालके विभागोंकी संख्याके देखनेपर दैवीजगत्के माननेवाले विद्वान् तो आनन्दित होते ही हैं; किंतु जो दैवीजगत्पर आस्था न भी रखते हों, वे विद्वान् भी प्राचीन आर्योंके कालके सम्बन्धके इन हिसाबोंको देखकर चकित हुए बिना न रहेंगे। उपनिषदोंके देश-काल-ज्ञान प्राप्त करनेके लिये शास्त्रोक्त दो मतोंका जानना परमावश्यक है। एक 'योगी-मत' और दूसरा 'वैष्णव-मत।' योगी-मतमें—एक अद्वितीय ब्रह्मसे ब्रह्माण्डकी सृष्टि होती है और पुनः उसीमें ब्रह्माण्डका लय हो जाता है। यह मत अद्वैतवादका पोषक है। दूसरा मत वैष्णव-मत कहलाता है। उसके अनुसार सृष्टि प्रवाह-रूपसे अनादि अनन्तरूप है। ब्रह्माण्ड कितने हैं, इसकी गणना कोई नहीं कर सकता। ऐसे अगणित ब्रह्माण्डोंके बीचमें एक गोलोक-धामका होना यह मत मानता है। उस गोलोकधाममें अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक श्रीकृष्णचन्द्र विराजते हैं और वहाँ रास-महोत्सवका निरन्तर होना माना जाता है। वे यह भी मानते हैं कि पूर्णावतार श्रीकृष्णने भक्तोंके ऊपर कृपा करके इस महारास-महोत्सवका नमूना व्रजगोपिकाओंको दिखाया था। ऐसे दूसरे मतवाले जब अनादि अनन्त सृष्टि-प्रवाहको मानते हैं तो स्वतः ही अद्वैतवादियोंकी तरह वे मुक्ति नहीं मानते हैं। उपनिषदोंमें अधिकतर पहले मतका और कहीं-कहीं दूसरे मतका आभास मिलता है।

जब कोई ब्रह्माण्ड प्रथम उत्पन्न होता है, तब उस ब्रह्माण्डके परमाणुपुञ्ज प्रकृति माताकी आकर्षणशक्तिके अनुसार एकत्रित होकर जीववासोपयोगी स्थूल या सूक्ष्म लोकोंको उत्पन्न करते हैं। उस समय एक ब्रह्माण्डके अधिष्ठाता भगवान् ब्रह्मा, भगवान् विष्णु और भगवान् शिवका आविर्भाव नहीं रहता है। उस समय चाहे देवलोकसमूह हों अथवा हमारा मृत्युलोक हो, इन सबका केवल गोलक बनता है। इसी दशाको प्राकृतिक सृष्टि कहते हैं। क्योंकि ये सब ब्रह्मप्रकृति त्रिगुणमयी जगदम्बाके स्वाभाविक नियमके अनुसार ब्रह्माण्ड-गोलक

---

* (१) चतुर्युगसहस्राणि दिनं पैतामहं भवेत्।
पितामहसहस्राणि विष्णोश्च घटिका मता॥
विष्णोर्द्वादशलक्षाणि कलार्धं रौद्रमुच्यते।
(दैवीमीमांसा भाष्य, उत्पत्तिपादसूत्र ४)

(२) चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिनमुच्यते।
पितामहसहस्राणि विष्णोरेका घटी मता॥
विष्णोर्द्वादशलक्षाणि निमेषार्धं महेशितुः।
दश कोट्यो महेशानां श्रीमातुस्त्रुटिरूपकाः॥
(शक्तिरहस्य)

बन जाते हैं। उस समय उनमें जीवोंका वास नहीं रहता। इस विषयमें पूज्यपाद प्राचीन ऋषिगण और आजकलके पदार्थविद्या (साइंस) के विद्वज्जन दोनों एकमत हैं। पदार्थ-विद्यासेवी (साइंटिस्ट) भी साधारणतः यही कहते हैं कि हमारी पृथिवी पहले जीववासोपयोगी नहीं थी। इसी जीववासोपयोगी बननेसे पहलेकी अवस्थाका नाम 'प्राकृतिक सृष्टि' है। उसके अनन्तर सर्वशक्तिमान् भगवान्‌की इच्छासे जब ब्रह्मा-विष्णु-महेशरूपी त्रिमूर्तिका आविर्भाव होता है और भगवान् ब्रह्मा अपनी इच्छाशक्तिसे जीव-सृष्टिका प्रारम्भ करते हैं और देवसृष्टि प्रारम्भ हो जाती है, उसीको 'ब्राह्मी-सृष्टि' कहते हैं। उसके अनन्तर प्रजापतिगण उत्पन्न होकर विस्तृत सृष्टि-को केवल अपनी मानसशक्तिसे उत्पन्न करते हैं, वही 'मानस-सृष्टि' कहाती है। यह सृष्टि भी देवताओंकी ओरसे ही होती है। उसके अनन्तर स्त्री-पुरुषके संयोगसे जो सृष्टि होती है, वह 'वैजी-सृष्टि' है। यही चार प्रकारका सृष्टिप्रकरण है, जो प्राचीन वेद और शास्त्रोंमें पाया जाता है।

वेदके मन्त्रभाग और ब्राह्मणभागके सब मन्त्रोंमें यद्यपि त्रिभावात्मक तीन प्रकारके प्रयोग हो सकते हैं; परंतु उपनिषदों-में, जो वेदके ज्ञानकाण्डके प्रकाशक हैं, इन तीन भावोंका अद्‌भुत रहस्य प्रकाशित है। बृहदारण्यक आदि उपनिषदोंके पाठक इसको अच्छी तरह समझ सकते हैं। यद्यपि इस समय केवल १०८ के लगभग उपनिषद्-ग्रन्थ मिलते हैं। शेष सहस्राधिक लुप्त हो गये हैं; तो भी जो उपनिषद्-ग्रन्थ मिलते हैं, वे परमानन्दप्रद हैं। पञ्चम वेदरूपी महाभारतकी श्रीमद्‌भगवद्-गीताके पाठ करनेसे भावुक भक्त यह समझ सकते हैं कि वह जिन उपनिषदोंका सार कही जाती है, उनकी ज्ञान-गरिमा कैसी है। उपनिषदोंके द्वारा काल-ज्ञान, चतुर्दशभुवन-रूपी देश-ज्ञान, दैवी जगत्‌का विस्तृत ज्ञान, देवपदधारियोंका ज्ञान, सब वैदिक दर्शनोंका ज्ञान और कर्मका ज्ञान, जो कर्म ब्रह्मके सच्चिदानन्दभावके त्यागका कारण होता है, उसका रहस्य तथा अन्तिम वैदिक मीमांसाका सिद्धान्त, यथा—जगत् ही ब्रह्म है, ब्रह्म ही जगत् है, जीव ही ब्रह्म है इत्यादि आध्यात्मिक रहस्यपूर्ण सभी सिद्धान्त मिलते हैं और वैदिक उपनिषदोंमें सब प्रकारके ज्ञानका बीज कैसे पाया जाता है। इसका दिग्दर्शन श्रीमद्‌भगवद्‌गीता कराती है, जिसके महत्त्व-के विषयमें सारा संसार एकमत है। यही उपनिषत्तत्त्व है।

औपनिषद-सिद्धान्त

(श्रीश्रीस्वामीजी श्रीविशुद्धानन्दजी परिव्राजक)

विश्वके समस्त मानव-समाजको नव चेतना देकर आत्यन्तिक शान्ति प्रदान करनेका श्रेय हमारे औपनिषद-सिद्धान्तको है। उपनिषदें साक्षात् कामधेनु हैं। ब्रह्मसूत्रोंकी रचना इन्हींके आधारपर हुई है तथा श्रीमद्भगवद्गीता भी गोपालनन्दनद्वारा दोहन किया हुआ इन्हींका परम मधुर दुग्धा-मृत है। भारतवर्षके जितने भी आस्तिक सम्प्रदाय हैं, सबके आधार ये ही तीन ग्रन्थरत्न हैं, जो 'प्रस्थानत्रयी'के नामसे प्रख्यात हैं। सभी सम्प्रदायों—अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत और शिवाद्वैतादिकी आधारभूता प्रस्थानत्रयी है। इस प्रस्थानत्रयीके आधारपर ही सभी सम्प्रदायाचार्योंने अपने-अपने विचारानुसार विवेचनात्मक व्याख्या करके परम सत्यका अन्वेषण किया है।

उपनिषदोंका प्रादुर्भाव वेदके अत्युच्च शीर्षस्थानीय भाग-से हुआ है, जिन्हें प्रायः वेदान्त, ब्रह्मविद्या या आम्नाय-मस्तक कहते हैं। वस्तुतः उपनिषद् ही ब्रह्मविद्याके आदि-स्रोत हैं। उनसे निकलकर ही विविध वाङ्मयके रूपमें विकसित हुई ज्ञान-गङ्गा जीवोंके पाप-तापको शमन करती है। जिनके मन्त्रोंके पाठमात्रसे ही हृदय एक अपूर्व मस्तीका अनुभव करने लगता है, उन उपनिषदोंकी महिमा वर्णन करना सूर्यको दीपक दिखानेके समान है। हमारा उपनिषत्-सिद्धान्त ब्रह्मविद्याके जिज्ञासुओंको आत्मज्ञ होनेका आदेश देता है, न कि अशेषविद्या-महार्णवसम्पन्न केवल शास्त्रज्ञ होनेका! क्योंकि केवल शास्त्रज्ञ होनेसे संसृतिचक्ररूप शोक-समुद्रको पार नहीं किया जा सकता; इसके लिये तो अनुभव-युक्त आत्मवेत्ता होनेकी ही आवश्यकता है। इसीलिये उपनिषदोंमें अनेक आख्यायिकाओंद्वारा सृष्टि-प्रपञ्चका निरसन करके जिज्ञासुओंकी बुद्धिमें अभेद-ज्ञान स्थिर करनेके लिये **'एकमेवाद्वितीयम्' 'इदं सर्वं यदयमात्मा' 'उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति'** आदि अनेक श्रुतियोंसे अभेददर्शीकी प्रशंसा और भेददर्शीकी भर्त्सना की गयी है।

अद्वैत वेदान्त-प्रक्रियानुसार जीव अविद्याकी तीन शक्तियों 'मल, विक्षेप और आवरण' से आवृत है। इनमें मल—

अन्तःकरणके मलिन संस्कारजनित दोषोंकी निवृत्ति निष्काम-कर्मसे होती है, विक्षेप (चित्तचाञ्चल्य) का नाश उपासनासे होता है और आवरण (स्वरूप-विस्मृति) का नाश तत्त्वज्ञान-से होता है, अर्थात् चित्तके इन त्रिविध दोषोंके लिये उपनिषदोंमें अलग-अलग ओषधियाँ बतायी गयी हैं; जिनसे तीन ही प्रकारकी गतियाँ होती हैं। सकामकर्मी लोग धूममार्ग-से स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होकर पुण्य क्षीण होनेपर पुनः जन्म लेते हैं और निष्कामकर्मी उपासक अर्चिरादिमार्ग-से अपने उपास्यदेवके लोकमें जाकर अधिकारानुसार 'सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य या सायुज्य' मुक्तिविशेष प्राप्त करते हैं। इन दोनों सकाम और निष्कामकर्मियोंसे भिन्न जो तत्त्वज्ञानी होते हैं, उनके प्राणोंका उत्क्रमण—लोकान्तरगमन नहीं होता अर्थात् उनके शरीर अपने-अपने तत्त्वोंमें लीन हो जानेसे उन्हें कैवल्यपद प्राप्त हो जाता है।

अस्तु, इस प्रकार हमारे अनादि उपनिषद् उस परब्रह्म-के स्वरूपका विशद और स्फुट निरूपण कर हमारी हृदय-भूमिको इस योग्य बनाते हैं कि जिससे उसमें तत्त्वज्ञानरूप अङ्कुर शीघ्र ही प्रस्फुटित हो जाय एवं किसी भी कल्याण-कारिणी विद्याको ग्रहण करनेके लिये मनुष्यको कितने सत्य, तप, सेवा, त्याग, श्रद्धा और विनय आदिकी आवश्यकता है—यह बात उपनिषदोंकी कई आख्यायिकाओंद्वारा प्रदर्शित की गयी है। इतना ही नहीं, बल्कि ब्रह्मनिष्ठकी अभय-प्राप्ति-निरूपणके साथ-साथ ब्रह्मके सर्वान्तर्यामित्व और सर्वशासकत्व-का वर्णन करते हुए ब्रह्मवेत्ताके आनन्दकी सर्वोत्कृष्टता अनेक स्थलोंमें दिखलायी गयी है। तात्पर्य यह है कि प्रधानतया उपनिषदोंका लक्ष्य ब्रह्मविद्या-उपलब्धिकी ही ओर है, इसीलिये तत्त्वज्ञान एवं तदुपयोगी कर्म और उपासनाओंका विशद तथा विस्तृत वर्णन किया गया है।

ब्रह्मविद्याके प्रसादसे समत्वंदर्शन होता है। अज्ञानकी ग्रन्थियोंका भेदन होकर समस्त संशयोंका विघात हो जाता है एवं कर्मचाञ्चल्य सुसंयत होकर चित्त अन्तर्मुखी हो जाता है। ब्रह्मविद्यासे ही मिथ्यानुभूतिका नाश होकर स्वयंप्रकाश अवाङ्मनसगोचर चेतनानन्दरसैकघन विज्ञानस्वरूप परब्रह्म-का साक्षात्कार होता है। ब्रह्मविद्यारूप अमृतपानका अकथनीय महत्त्व है, जिसने इस अमृततत्त्वका पान किया, वह निहाल हो गया; उसे फिर न कुछ कर्तव्य है, न प्राप्तव्य। ब्रह्मवेत्ता-की दृष्टिमें सारे प्रपञ्च-प्रसारका विलय होकर सच्चिदानन्द-स्वरूप हो जाता है, उसे असत् जड और दुःखरूप प्रतीत नहीं होता। उसकी दृष्टिमें तो द्रष्टा, दृश्य और दर्शन-रूप त्रिपुटीका भी विलय हो जाता है, वह एक निश्चल, निर्बाध, निष्कल और चिदानन्दघन-सत्तामात्र रह जाता है। उसके द्वारा जो भी आदर्श कार्य होते हैं, वे अन्य लोगोंकी दृष्टिमें ही होते हैं। ब्रह्मवेत्ताकी दृष्टिमें तो न कोई कार्य है और न कोई करनेवाला ही। क्योंकि तत्त्वदर्शी लोगोंको जल और वीचिमें अन्तर नहीं दीखता। वह भिन्नत्व तो बाह्यदर्शी लोगों-की दृष्टिमें ही प्रतीत होता है, जिससे प्रेरित होकर वे कहते हैं कि जलमें तरङ्गें उठती हैं; किंतु जलने उन तरङ्ग-वीचियोंको कब देखकर उनकी गणना की है? कहनेका तात्पर्य यह है कि 'एक अखण्ड चिद्घन वस्तुको छोड़कर उत्पत्ति, प्रलय, बद्ध, साधक, मुमुक्षु और मुक्त आदि किसी भी प्रकारका व्यवहार ही नहीं है।' ब्रह्मतत्त्व अत्यन्त ही दुर्दर्श है; क्योंकि निरन्तर व्यवहारमें ही रत रहनेवाले विषयी जीवोंकी दृष्टि इस व्यवहारातीत लक्ष्यतक पहुँचनी अत्यन्त कठिन है। जिन वेदके पारगामी मुनिजनोंके राग, द्वेष, लोभ, भय और क्रोधादि विकार श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुकी कृपासे सर्वथा निवृत्त हो गये हैं, उन्हींको इस प्रपञ्चातीत अद्वयपदका बोध होता है। इस विशुद्ध तत्त्वका बोध हो जानेपर वह महात्मा सर्वथा निर्द्वन्द्व और निर्भय हो जाता है एवं स्तुति, नमस्कार और स्वधाकारादि कर्मश्रेणीसे ऊपर उठकर यदृच्छा-लाभ-सन्तुष्ट हो जाता है। फिर बाहर-भीतर—सर्वत्र एक आत्म-तत्त्वको ओतप्रोत देख उसीमें रमण करता हुआ कभी तत्त्व-च्युत नहीं होता। यही बोधस्थिति है, इसीके लिये जिज्ञासुओं-का सारा प्रयत्न होता है और इसी स्थितिको प्राप्त होनेपर प्राणी कृतकृत्य होता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि 'औपनिषद-दर्शन ही सम्यग्दर्शन है, जिसके प्रसादसे भव-भयका निरसन होकर आत्यन्तिक आनन्दकी प्राप्ति होती है।' इस विशुद्ध दृष्टिको प्राप्त कर लेना ही मनुष्य-जीवनका परम उद्देश्य है। एवं गहनतामें अनुप्रविष्ट हुए इस औपनिषद-सिद्धान्त-को प्राप्त किये बिना जीवन व्यर्थ है। इसे प्राप्त न करना ही सबसे बड़ी हानि है। अतः इस प्रस्तुत उपनिषद्-अङ्कसे इस दृष्टिको पानेके लिये प्रत्येक कल्याणकामी पाठकको प्राणपणसे प्रयत्न करना चाहिये, जिससे वह उपनिषद्के महान् और गूढ़तम सिद्धान्तको धारण करनेकी क्षमता प्राप्त कर सके।

उपनिषत्तत्त्व

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

सर्ववेदान्तप्रतिपाद्य परब्रह्म ही उपनिषदोंका चरम तत्त्व है; किंतु इस तत्त्वको हृदयङ्गम करना अत्यन्त दुरूह है। बिना अधिकारीके तत्त्वका साक्षात्कार भी नहीं होता। इसीलिये उपनिषदोंमें सर्वत्र ही अधिकारकी चर्चा आयी है।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

'आचार्यवान् पुरुषो वेद', 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्', 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

—आदि उपनिषन्मन्त्रों एवं गीताके शब्दोंमें तत्त्वज्ञान-प्राप्तिके लिये अधिकारीके निमित्त गुरूपसदनादि कुछ विशिष्ट नियम भी बतलाये गये हैं। श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है कि वेदान्तके श्रवण-मननादिसे तथा भगवान्‌के गुणोंके बार-बार श्रवण करनेसे भगवद्ध्यानादिके द्वारा कामादि दोषोंका शीघ्र ही उपशमन होता है। इस तरह इन अमङ्गल-जनक वस्तुओंके नष्टप्राय हो जानेपर श्रेष्ठ पुरुषोंकी नित्य सङ्गति प्राप्त करनेसे भगवान्‌में नैष्ठिकी भक्ति उत्पन्न होती है। ऐसी परिस्थितिमें कामादि दोषोंके शान्त पड़ जानेपर निर्विघ्न चित्तमें केवल सत्त्वगुणकी स्थिति होती है, और चित्त प्रसन्नताको प्राप्त होता है। इस तरह मुक्तात्मा प्रसन्नमन पुरुषके हृदयमें भगवद्भक्तिके योगसे भगवत्तत्त्वका विज्ञान उदय होता है—

शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति॥
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते॥

(श्रीमद्भा० १। २। १७–२०)

तत्त्वज्ञानकी फलश्रुतिमें कहा गया है कि आत्मामें ही ईश्वरके दर्शन होनेपर हृदयकी ग्रन्थि कट जाती है, सारे संशय विलीन हो जाते हैं और सारे कर्म नष्ट हो जाते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥

(श्रीमद्भा० १। २। २१)

यही बात कुछ अन्तरसे मुण्डकोपनिषद्‌के द्वितीय खण्डमें कही गयी है।

'तत्त्वं किम्'—तत्त्व क्या है—इस जिज्ञासासे यदि उपनिषदोंका आलोडन या श्रवण-मनन किया जाय तो **'यहाँ ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ नहीं है' 'यथार्थतः वह ब्रह्म ही सत्य है' और 'एकमात्र वही है'** यही तत्त्व उपलब्ध होता है।

'ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्', 'यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः', 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो', 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्', 'सर्वं ह्येतद्ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति', 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः', 'द्वितीयाद्वै भयं भवति'

—आदि श्रुतियाँ इस तत्त्वको स्पष्टतः प्रतिपादित करती हैं। और—

'वासुदेवः सर्वमिदम्', 'समं पश्यन्हि सर्वत्र', 'यो मां पश्यति सर्वत्र' 'सकलमिदमहं च वासुदेवः', 'एकः स आत्मा पुरुषः पुराणः', 'सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरम्'

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥

—आदि वचनोंसे अन्यत्र भी यही कहा गया है। कुछ लोग—

'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ' 'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः', 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम्।'

—आदि श्रुतियोंको सिद्धान्त मान बैठते हैं; किंतु यों सिद्धान्ततः तत्त्वनिरूपणकी बात नहीं है। ऐसे तो उपनिषदोंमें नचिकेता, यमराज, जनक, याज्ञवल्क्य आदि कितनोंके नाम आये हैं, पर किसीका नाम आ जानेसे किन्हीं शब्दोंकी

पुनरुक्तियाँ मिल जानेसे उन्हें ही तत्त्व नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि विशिष्टाद्वैतसम्प्रदायाग्रणी भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यने भी श्रीसुरसुरानन्दजीके 'तत्त्वं किम्' इस प्रश्नके उत्तरमें—

विश्वं जातं यतोऽद्धा यदवितमखिलं लीनमप्यस्ति यस्मिन्
सूर्यो यत्तेजसेन्दुः सकलमविरतं भासयत्येतदेषः।
यद्भीत्या वाति वातोऽवनिरपि सुतलं याति नैवेश्वरो ज्ञः
साक्षी कूटस्थ एको बहुशुभगुणवानव्ययो विश्वभर्ता॥

इस प्रकार ही तत्त्वका निरूपण किया है। इस श्लोकमें स्पष्ट है कि—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।
(तैत्ति० ३। १। १)

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।
(श्वेता० ६। १४)

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥
(गीता १५। १२)

तथा—

भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः। (तैत्ति० २। ८। १)

'एवं यः सर्वज्ञः स सर्ववित्'

—आदि मन्त्रोंका ही भाव व्यक्त किया गया है।

इसपर आजकलके कुछ उपनिषच्चिन्तन करनेवाले वेदान्तियोंका कथन है कि श्रीरामानन्दाचार्य आदि विद्वानोंने तो इन लक्षणोंको श्रीरामचन्द्रादिमें घटाया है; किंतु वह ब्रह्म तो अवतार नहीं लेता, क्योंकि वह आकाशकी भाँति सर्वत्र व्याप्त है, सर्वदेशीय है—

'ईश्वरो नावतरति व्यापकत्वाद् आकाशवत्'

इस अनुमानसे ईश्वरका अवतार बाधित होता है; किंतु न तो यह अनुमान ही सही है न इसका दृष्टान्त ही; क्योंकि आकाश भी वायुरूपमें अवतीर्ण होता है एवं पुनरपि उसका तेज, जल और पृथ्वीरूपमें अवतरण होता है। सर्वोपनिषद्रूपी गौओंके दोग्धा श्रीगोपालनन्दनका कथन है कि 'मैं अज, अव्ययात्मा एवं सभी भूतोंका ईश्वर होता हुआ भी आत्ममायासे अवतीर्ण होता हूँ'—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥
(गीता ४। ६)

यह बात अवश्य है कि भगवान्का आत्ममायामय शरीर तथा जन्म-कर्म साधारण देहधारियोंकी भाँति नहीं होता। श्रीमद्भागवतमें तभी तो भगवान्के सभी स्वरूपोंको मायातीत, अनन्य सच्चिदानन्दरूप, अतुल माहात्म्ययुक्त तथा सर्वथा अस्पृष्ट कहा गया है—

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। ५४)

तभी तो जब विदेहराज श्रीजनकने भगवान् श्रीरामचन्द्रके स्वरूपका प्रथम बार दर्शन किया तो इनका सारा ब्रह्मज्ञान एवं वैराग्य हवा हो गया—

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
ताते प्रभु पूछउँ सति भाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

—इत्यादि उद्गार उनके मुखसे हठात् निकल पड़े। यह दशा उनकी कई बार हुई। वनवासके समय भगवान् श्रीरामचन्द्रसे मिलकर तो इनकी दशा देखते ही बनती थी। गोस्वामीजी विभोर होकर लिखते हैं—

जासु ग्यान रबि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥
तेहि कि मोह ममता निअराई। यह सिय राम सनेह बड़ाई॥
बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥
राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभाँ बड़ आदर तासू॥
सोह न राम प्रेम बिनु ग्यानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥

यही बात भागवतमें भी—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं
न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
(श्रीमद्भा० १। ५। १२

—आदि श्लोकोंमें दर्शायी गयी है।

इसपर कुछ लोग—

मायाख्यायाः कामधेनोर्जीवेशौ वत्सकावुभौ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि॥

(माया नामकी कामधेनुके जीव, ईश्वर दोनों बछड़े हैं। यथेच्छ द्वैतको दोनों ही पी लें; पर तत्त्व तो अद्वैत ही है।) इत्यादि वचनोंको पढ़कर भगवान्के सगुण स्वरूपसे घृणा करने लग जाते हैं; पर उन्हें समझ रखना चाहिये कि द्वैत तभीतक मोहजनक होता है, जबतक ज्ञान नहीं होता। जब विचारद्वारा बोधकी प्राप्ति हो जाती है, उस समय भक्तिके लिये कल्पना किया गया द्वैत तो अद्वैतकी अपेक्षा भी सुन्दर

है। यदि पारमार्थिक अद्वैत-बुद्धि रहते हुए भजनके लिये द्वैत-बुद्धि रक्खी जाय तो ऐसी भक्ति सैकड़ों मुक्तियोंसे भी बढ़कर है—

द्वैतं मोहाय बोधात्प्राग् जाते बोधे मनीषया।
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥
अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं भजनहेतवे।
तादृशी यदि भक्तिश्चेत्सा तु मुक्तिशताधिका॥

कुछ लोगोंका कहना है कि मधुसूदन स्वामीने माना है कि अवतार नहीं होता; किंतु भक्तकी भावनासे विधुर-परिभावित कामिनी-साक्षात्कारके समान श्रीकृष्ण आदिका स्वरूप दिखलायी पड़ता है; किंतु यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि गीता (४। ६) की टीकामें उन्होंने भगवदवतारको बहुत प्रयत्नसे सिद्ध किया है और—

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥
अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥

—आदि भागवतके श्लोकोंको सादर प्रमाणरूपसे उपन्यस्त किया है। इतना ही क्यों ? तत्त्वविषयक प्रश्नपर तो वे स्पष्ट कहते हैं कि मैं श्रीकृष्णसे बढ़कर और किसी तत्त्वको नहीं जानता—

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणविम्बफलाधरोष्ठात्।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने॥

अधिक क्या, अद्वैतसम्प्रदायाग्रगण्य भगवान् शङ्कर भी कहते हैं कि जिसने ब्रह्माको अद्भुत, अनन्त ब्रह्माण्ड दिखलाये, वत्सोंसहित सभी गोपोंको विष्णुरूपमें दिखलाया, भगवान् शङ्कर जिनके चरणावनेजन-जलको अपने मस्तकपर धारण करते हैं, वे श्रीकृष्ण तो ब्रह्मा, विष्णु, शिव—इन तीनोंसे परे कोई अविकृत चिदानन्दघन ही हैं—

ब्रह्माण्डानि बहूनि पङ्कजभवान् प्रत्यण्डमत्यद्भुतान्
गोपान्वत्सयुतानदर्शयदजं विष्णूनशेषांश्च यः।
शम्भुर्यच्चरणोदकं स्वशिरसा धत्ते च मूर्तित्रयात्-
कृष्णोऽयं पृथगस्ति कोऽप्यविकृतः सच्चिन्मयो नीलिमा॥

आनन्दसे विभोर होकर एक गोपी अपनी सखीसे कहती है कि 'ऐ सखि ! सुन, मैंने श्रीनन्दके आँगनमें एक विचित्र कौतुक देखा है।' सखी पूछती है कि 'वह क्या ?' भगवद्दर्शनके आनन्दसे आह्लादित हुई गोपिका उत्तर देती है कि—'सकल-वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्म वहाँ गोधूलिसे सना हुआ नृत्य कर रहा है—

श्रृणु सखि कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गने मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसराङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥

इसी प्रकार एक अन्य प्रेममग्न भक्तके हृदयोद्गार हैं। वह कहता है—

वृन्दारण्यनिविष्टं विलुठितमाभीरधीरनारीभिः।
सत्यच्चिदानन्दघनं ब्रह्म नराकारमालम्बे॥

मैं वृन्दावनमें प्रविष्ट परम बुद्धिमती आभीर-नारियोंके सङ्गमें लुठित नराकार सच्चिदानन्दघन ब्रह्मका अवलम्बन लेता हूँ—शरण ग्रहण करता हूँ। जब ऐसी बात है तभी तो श्रीब्रह्माजी भी कहते हैं कि व्रजमें कीटादि होकर भी जन्म ग्रहण करना बड़े भाग्यकी बात है; क्योंकि उस श्रीचरणकमलकी रज, जिसे सर्वदा श्रुतियाँ ढूँढ़ती हैं, यहाँ सहज ही उपलब्ध होती है—

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान्मुकुन्द-
स्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ३४)

यहाँ 'अद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव' यह पद ध्यान देने योग्य है। ब्रह्माजीका तात्पर्य है यहाँ श्रुतिरूपा गोपियोंसे। वे अब इस बातको समझ चुके हैं कि श्रुतिप्रतिपाद्य यह ब्रह्म ही यहाँ व्रजमें अवतीर्ण हुआ है, और इसकी प्रतिपादिका श्रुतियाँ भी यहाँ गोपिकारूपमें अवतरित हुई हैं। 'सर्वे वै देवताप्रायाः' यह प्रसिद्ध है। इस विषयमें उपनिषदोंका ही प्रमाण देखनेयोग्य है।

उपनिषदें कहती हैं कि 'एक बार श्रीरामचन्द्रजी ऋषि-मुनियोंके दर्शनार्थ जङ्गलमें गये। महाविष्णु, सच्चिदानन्द-लक्षण सर्वाङ्गसुन्दर भगवान् श्रीरामचन्द्रको देखकर सभी वनवासी मुनि विस्मित हो गये। उन ऋषियोंने उनके शरीर-स्पर्शकी कामना प्रकट की। भगवान्ने अन्यावतारमें उनकी इच्छा पूर्ण करनेका वचन दिया—

श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दरं मुनयो वनवासिनो विस्मिता बभूवुः। तं होचुर्नोऽवद्यमवतारान्वै गण्यन्ते आलिङ्गामो भवन्तमिति॥

उन सभी देवताओं तथा ऋषियोंकी प्रार्थना स्वीकृत

हुई। वे सभी कृतकृत्य हो गये। कालान्तरमें भगवान्‌का प्राकट्य हुआ। भगवान्‌का स्वरूपभूत परमानन्द ही नन्द हुआ, ब्रह्मविद्या यशोदा हुई। ब्रह्मपुत्रा गायत्री देवकी हुई, स्वयं निगम ही वसुदेव हुए, वेदकी ऋचाएँ ही गोपियों तथा गौओंके रूपमें अवतीर्ण हुईं। भगवान्‌के मनोहर संस्पर्शके निमित्त ब्रह्मा भी मनोहर यष्टि हुए, भगवान् रुद्र सप्त-स्वरानुवादी वेणु होकर, इन्द्र गवयशृङ्ग होकर श्रीहस्तमें सुशोभित हुए और पाप ही असुर हुए—

यो नन्दः परमानन्दः यशोदा मुक्तिगेहिनी।
गोप्यो गाव ऋचस्तस्य यष्टिका कमलासनः॥
वंशस्तु भगवान् रुद्रो शृङ्गमिन्द्रस्त्वघोऽसुरः।

इसके अतिरिक्त वैकुण्ठ गोकुलवनके रूपमें अवतरित हुआ, तपस्वीगण वृक्षोंके रूपमें अवतीर्ण हुए, क्रोध-लोभादि दैत्य हुए तथा मायासे विग्रह धारण करनेवाले साक्षात् श्रीहरि ही गोपरूपसे अवतीर्ण हुए। श्रीशेषनाग बलराम हुए और शाश्वत ब्रह्म ही श्रीकृष्ण हुआ। सोलह हजार एक सौ आठ पत्नियोंके रूपमें ब्रह्मरूपा वेदोंकी ऋचाएँ तथा उपनिषदें प्रकट हुईं—

गोकुलं वनवैकुण्ठं तापसास्तत्र ते द्रुमाः।
लोभक्रोधादयो दैत्याः कलिकालतिरस्कृतः॥
गोपरूपो हरिः साक्षान्मायाविग्रहधारणः।
शेषनागोऽभवद्रामः कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम्॥
अष्टावष्टसहस्रे द्वे शताधिक्यः स्त्रियस्तथा।
ऋचोपनिषदस्ता वै ब्रह्मरूपा ऋचः स्त्रियः॥

यहाँतक कि द्वेष ही चाणूर मल्लरूपमें अवतीर्ण हुआ, मत्सर ही अजेय मुष्टिक हुआ, दर्प कुवलयापीड़ हाथी तथा गर्व वकासुर राक्षस हुआ। दया रोहिणी माताके रूपमें अवतीर्ण हुई, धरा सत्यभामा हुई, महाव्याधि अघासुर बना तथा कलि कंसरूपमें अवतीर्ण हुआ। शम मित्र सुदामा हुए, सत्य अक्रूर हुआ तथा दम उद्धव हुआ एवं सर्वदा संस्पर्श पानेके लिये साक्षात् भगवान् विष्णु ही शङ्खरूपमें अवतीर्ण हुए—

द्वेषश्चाणूरमल्लोऽयं मत्सरो मुष्टिकोऽजयः।
दर्पः कुवलयापीडो गर्वो रक्षः खगो वकः॥
दया सा रोहिणी माता सत्यभामा धरेति वै।
अघासुरो महाव्याधिः कलिः कंसः स भूपतिः॥
शमो मित्रः सुदामा च सत्याक्रूरोद्धवो दमः।
यः शङ्खः स स्वयं विष्णुर्लक्ष्मीरूपो व्यवस्थितः॥

इसी प्रकार आगे चलकर कहा गया है कि जिस प्रकार भगवान् पहले आनन्दपूर्वक क्षीरसमुद्रमें क्रीडन करते थे, वैसा ही आनन्द लेनेके लिये उन्होंने क्षीरसमुद्रको दधि-दुग्धके भाण्डोंमें स्थापित किया एवं शकटभञ्जन आदि लीलाएँ रचीं। गणेशजी चक्ररूपमें अवतीर्ण हुए, स्वयं वायु ही चमर हुए एवं अग्निके समान प्रकाशवाले तलवाररूपमें स्वयं भगवान् महेश्वर आविर्भूत हुए। श्रीकश्यपजी उलूखल हुए, देवमाता अदिति रज्जु हुईं। इस प्रकार भगवान्‌के समस्त परिकरके रूपमें वे ही सब देवगण अवतीर्ण हुए जिन्हें सभी सादर नित्य नमस्कार करते हैं, इसमें किसी प्रकार भी संशय नहीं करना चाहिये। सर्वशत्रुनिबर्हिणी साक्षात् कालिका गदा-रूपमें अवतीर्ण हुईं और भगवान्‌की वैष्णवी माया शार्ङ्ग-धनुषरूपमें उनके करकमलमें आ विराजीं। शरद्-ऋतु भगवान्‌के सुन्दर भोजनोंके रूपमें प्रकट हुआ। श्रीगरुड़जी भाण्डीरवट हुए तथा नारद मुनि श्रीदामानामक उनके सहचर-गोपाल हुए। भक्ति वृन्दा हुईं।

दुग्धोदधिः कृतस्तेन भग्नभाण्डो दधिग्रहे।
क्रीडते बालको भूत्वा पूर्ववत्सुमहोदधौ॥
संहारार्थं च शत्रूणां रक्षणाय च संस्थितः।
यत्खण्डुमीश्वरेणासीत्तच्चक्रं ब्रह्मरूपधृक्।
जयन्तीसम्भवो वायुश्चमरो धर्मसंज्ञितः॥
यस्यासौ ज्वलनाभासः खड्गरूपो महेश्वरः।
कश्यपोलूखलः ख्यातो रज्जुर्मातादितिस्तथा॥
यावन्ति देवरूपाणि वदन्ति विबुधा जनाः।
नमन्ति देवरूपेभ्य एवमादि न संशयः॥
गदा च कालिका साक्षात्सर्वशत्रुनिबर्हिणी।
धनुः शार्ङ्गं स्वमाया च शरत्कालः सुभोजनः॥
गरुडो वटभाण्डीरः श्रीदामा नारदो मुनिः।
वृन्दा भक्तिः क्रिया बुद्धिः सर्वजन्तुप्रकाशिनी॥

इस तरह—

'नन्दाद्या ये व्रजे गोपाः याश्चामीषां च योषितः।
वृष्णयो वसुदेवाद्या देवक्याद्या यदुस्त्रियः॥
सर्वे वै देवताप्रायाः'

यह श्रीनारदकी उक्ति सर्वथा सत्य सिद्ध हुई—

ऊपरके वर्णनसे यह सिद्ध हो गया कि परम पुरुष ही, जो उपनिषदोंका चरमतत्त्व है, श्रीकृष्ण तथा श्रीरामादि रूपोंसे विवक्षित है। वेदोंमें भी—

'इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्', 'त्रीणि पदानि विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्',

'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते,' 'नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः'

—आदि बहुतसे मन्त्र भगवान्‌के सगुण स्वरूपको सिद्ध करते हैं। श्रीनीलकण्ठ सूरिने तो श्रीहरिवंशपर्वके विष्णुपर्वके कई अध्यायोंकी टीकामें वेदोंमें व्रजलीलाको दर्शाया है एवं सर्वत्र यह स्पष्ट लिखा है कि यह लीला वेदके अमुक मन्त्रका उपबृंहण करती है। 'कल्याण' के गत वर्षके ४-५ अङ्कोंमें बहुत कुछ लिखा भी गया है। सच्ची बात तो यह है कि वेदोंका यथार्थ तात्पर्य इतिहास-पुराणोंके अध्ययनसे ही लगाया जा सकता है—अन्यथा वेदेतिहासोंसे अनभिज्ञ पुरुष तो उनका अनर्थ ही कर डालता है—

बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।

इस तरह स्पष्ट है कि जो उपनिषदोंका तत्त्व है, वही पुराणेतिहासों तथा सभी सज्जनोंका भी परमाराध्य तत्त्व है। सभी योगी-मुनि उसकी ही वन्दना करते हैं। ब्रह्मादि सभी देवतागण सर्वदा उसीका ध्यान करते हैं। श्रुतियाँ 'नेति-नेति' कहकर सर्वदा उसीका यशोगान करती हैं। उससे संसार-में कोई भी वस्तु न तो भिन्न ही है और न अभिन्न ही।

तस्माद्भिन्नं न चाभिन्नमाभिर्भिन्नं न वै विभुः।

और यदि ध्यानसे देखा जाय तो उपनिषदोंमें ही नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद, सम्पूर्ण पुराण तथा रामायण एवं महाभारतके आदि, मध्य और अवसानमें सर्वत्र ही वह गीयमान है—वह सभीका चरम तत्त्व है—

वेदे रामायणे पुण्ये पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते॥

तैत्तिरीयोपनिषद् और ब्रह्मसूत्र

(लेखक—प्रो० पं० श्रीजीवनशङ्करजी याज्ञिक, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०)

पूज्यपाद भगवान् आद्य शङ्कराचार्यने संन्यास-आश्रमके दस सम्प्रदाय स्थापित किये प्रत्येक सम्प्रदायका अपना एक विशेष उपनिषद् कहा जाता है, जिसके अध्ययन और विचारसे ब्रह्मज्ञानप्राप्तिकी चेष्टा अनुयायी करते हैं। भगवान् वेदव्यास-ने ब्रह्मसूत्रमें यावत् उपनिषदोंकी मीमांसा की है, ऐसा माना जाता है। इसीसे उपनिषद् और गीताके साथ ब्रह्मसूत्रकी गणना प्रस्थानत्रयीमें होती है, सभी उपनिषदोंका पठन तथा मनन कदाचित् सम्भव न हो, इसीलिये सम्प्रदायोंके लिये विशेष-विशेष उपनिषदोंकी प्रधानता स्वीकार की गयी है। परंतु ब्रह्मसूत्रको समझनेके लिये सभी उपनिषदोंका यथावत् ज्ञान होना आवश्यक माना जाय तो वेदव्यासजीकी अमर-कृति बहुत अंशमें अगम्य हो जाय। किंतु बात ऐसी नहीं है। विचार-पूर्वक देखनेसे पता चलता है कि वेदव्यासजीने एक ही उपनिषद्‌को आधाररूप स्वीकार कर उसीपर अपने सूत्रोंकी रचना की है। वह आधार है कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयोपनिषद्, जिसमें वेदान्तसिद्धान्तोंका पूर्णरूपेण समावेश है। वेदव्यासजी-की दृष्टिमें इस उपनिषद्‌का कितना महत्त्व था, इसी बातसे स्पष्ट हो जाता कि उसको केवल आधार बनाकर ही सूत्रों-की रचना नहीं की, बल्कि आदिसे अन्ततक प्रत्येक सूत्रको इसी उपनिषद्‌पर अवलम्बित रक्खा।

इस उपनिषद्‌में तीन वल्लियाँ हैं जो शीक्षा, ब्रह्मानन्द और भृगु नामसे प्रसिद्ध हैं। प्रथम वल्लीमें उपासना और शिष्टाचारकी शिक्षा शिष्यको दी गयी है और अन्य दोनोंमें ब्रह्मविद्याका निरूपण और ब्रह्मप्राप्तिके उपाय वरुण और उनके जिज्ञासु पुत्र भृगुके संवादरूपसे बताये गये हैं।

भृगु अपने पिता वरुणसे विद्या प्राप्त कर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते हैं। गृहस्थोचित धर्मका पालनकर देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋणसे मनुष्य उऋण होता है और समाजमें एक उपयोगी व्यक्ति बना रहता है। अन्य धर्मकार्यों-के साथ शम-दमादिका साधन और स्वाध्याय-प्रवचनादिरूपी तप घरमें रहकर होते हैं। अन्तमें ये ही ब्रह्मको जाननेके साधन होंगे। प्रथम वल्लीके अन्तमें समावर्तनके समय शिष्यको गुरु जो उपदेश देकर विदा करते हैं, उससे बढ़कर उपदेश गृहस्थ-के लिये हो नहीं सकता। भारतीय सभ्यता और उसके आदर्शकी अपूर्व झाँकी उसमें मिलती है—

सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव·····।

(तैत्ति० १। ११। १-२

और अन्तमें कहते हैं कि यह उपदेश है, वेदका रहस्य है और आज्ञा है। इसी प्रकार उपासना करनी चाहिये। ऐसा ही आचरण करना चाहिये।

वेदाध्ययन गुरुकुलमें समाप्त कर ऐसा जीवन व्यतीत करनेवाले गृहस्थाश्रमीके लिये तो घर ही साधन-धाम और तपोभूमि बन जाता है। संसारमें लिप्त होकर और उसीमें यावत् सुख माननेवालेकी गति दूसरी होती है। आदर्श गृहस्थके लिये ऐसी शङ्का नहीं रहती और यह भी एक भ्रामक कल्पना है कि हिंदू-धर्म अधिकारभेदका विचार किये बिना मनुष्यको सांसारिक कर्तव्यसे विमुख करता है। धर्मपरायण आदर्श गृहस्थको सुख अनित्य और दुःख अनिवार्यकी भावना बराबर दृढ़ होती जाती है। जो संसारमें निमग्न हैं, उनकी तो सतत यह निष्फल चेष्टा रहती है कि दुःखसे निवृत्ति हो तथा सुख स्थायी हो, और सच्चे ब्राह्मणको सुख-दुःखसे अतीत अवस्थाकी जिज्ञासा होती है। निर्वेद हुए बिना अक्षय सुख या आनन्दकी खोज आरम्भ नहीं होती। तीनों एषणाओंका त्याग और कर्म-संन्याससे अध्यात्म-जगत्में प्रवेश होता है। संन्यासकी शान्तिका वही अधिकारी बनता है, जिसकी विवेक-बुद्धि जागती है। क्योंकि 'अनित्यम् असुखं लोकम्'की भावना तभी दृढ़ होती है। इस प्रकार संसार-सुखसे अतृप्त रहकर एक अभावका अनुभव कर भृगु अपने पिताके पास जंगलमें जाता है और जिस ब्रह्मकी केवल चर्चामात्र वेदाध्ययनके समय सुनी थी, उसको भली प्रकार जाननेके लिये प्रश्न करता है। जबतक पूर्णरूपसे जिज्ञासा शान्त नहीं होती, भृगु बार-बार अरण्यको जाकर प्रश्न करते हैं। ब्रह्मनिरूपणके बाद घर लौटकर उनका जाना सूचित नहीं किया गया। इशारा है कि वे भी ब्रह्मप्राप्तिके पश्चात् अरण्यवासी, गृहत्यागी हो गये। सूत्रकारने पहले ही सूत्रमें बड़ा चमत्कार दिखाया है। तीनों वल्लियोंका ध्यान रखकर, भृगुके निर्वेदकी ओर सङ्केत कर अन्तिम ध्येयतककी बात कह डाली है और एक सूत्रमें रचना-चातुर्यसे अनुबन्धचतुष्टय भी दर्शा दिया है। केवल चार शब्दोंके छोटे सूत्रमें इतनी बातोंको समाविष्ट कर मानो गागरमें सागर भर दिया है। सूत्र है—

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'

वल्ली	सूत्रके पद	अनुबन्धचतुष्टय
१ शीक्षावल्ली	अथ	अधिकारी
२ ब्रह्मानन्दवल्ली	अतः	प्रयोजन
३ भृगुवल्ली	ब्रह्म	विषय
४ भृगुवल्ली	जिज्ञासा	सम्बन्ध

ब्रह्मविद्याका अधिकारी कौन होता है? जो भृगुजीकी तरह वेदाध्ययनके पश्चात् गृहस्थाश्रमके धर्मोंका यथावत् पालन कर, घरमें ही रहकर स्वाध्याय-प्रवचनरूपी तप और शम-दमादि साधन-सम्पत्तिसे युक्त होकर सांसारिक सुखोंकी अनित्यताका अनुभव कर लेता है और किसी अक्षय वस्तुकी खोजमें घरसे निकलकर त्यागी ब्रह्मज्ञानीके पास जाता है और 'परिप्रश्नेन सेवया' ब्रह्मप्राप्ति करता है। सूत्रमें 'अथ' शब्द जिसका अर्थ 'अनन्तर' भी है। इन सब अवस्थाओंको और जिज्ञासुके अधिकारको सूचित करता है। प्रथम वल्ली 'अथ' में समा गयी।

ब्रह्मानन्दवल्लीमें प्रयोजनकी बात कही गयी है। भृगुको अरण्यमें जानेका प्रयोजन है अक्षय वस्तुकी खोज। जो पदार्थ सुख-दुःखसे भी परे है या विलक्षण है। **'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'**। यदि संसारसुखको सब कुछ मानकर उसीसे तृप्ति हो जाती तो फिर घरसे बाहर जाकर किसी अन्य वस्तुकी खोजका कुछ प्रयोजन ही न रहता। अभावके अनुभवने 'परम्'की जिज्ञासा जाग्रत् की और उसकी उपलब्धिके लिये सचेष्ट किया। 'अतः' शब्द इन्हीं भावोंका सूचक होकर ब्रह्मानन्दवल्लीका साररूप है।

ब्रह्म 'विषय' है जिसका निरूपण किया गया है—

भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। (तैत्ति० ३।१।१)

इस प्रकार भृगु अपने पिता वरुणके पास जाकर ब्रह्मका बोध करानेकी प्रार्थना करते हैं। जिज्ञासाका विषय स्पष्ट ही ब्रह्म है। ब्रह्मको पूछा क्यों? वेदाध्ययनके समय कुछ चर्चा सुन चुके हैं। शिष्यभावसे पिताके पास जाकर पूछना उचित ही है, साथ ही दो बातें भी लक्षित हैं कि केवल स्वाध्याय और प्रवचनसे यह वारुणी विद्या प्राप्त नहीं हो सकी। स्वाध्याय और प्रवचन सहायक अवश्य हैं और साधनरूपसे बराबर स्वीकार करने पड़े। भृगुको पिताके उपदेशसे बार-बार तपस्या करनी पड़ी। परंतु यह 'उपनिषद्'की बात है। गुरुके समीप जाकर प्रत्यक्ष उपदेशसे प्राप्त होती है, केवल तप और स्वाध्यायसे नहीं।

'सम्बन्ध' भी भृगुवल्लीमें स्पष्टतः दिया हुआ है और वह है पिता-पुत्र अथवा गुरु-शिष्यका। उपदेश तीन भावोंसे दिया जाता है—कान्तभाव, सखिभाव और प्रभुभावसे। यहाँ प्रभुभावका उपदेश ग्राह्य है। सूत्रकारने 'जिज्ञासा' शब्द दिया है; क्योंकि ब्रह्मप्राप्ति किसी कर्मका फल नहीं है। कर्मका

फल तो अनित्य होगा और यहाँ अक्षय पदार्थकी प्राप्तिकी बात है। ब्रह्मके विषयमें चिकीर्षाको स्थान नहीं, केवल जिज्ञासा चाहिये। श्रद्धापूर्वक प्रश्न-परिप्रश्न और श्रवण-मनन-निदिध्यासनकी ही आवश्यकता है। कर्म क्षेत्रमें—गृहस्थाश्रममें ही समाप्त हो चुका और ब्रह्म तो सुख-दुःख—अर्थात् कर्म-फलसे अतीत या परे है, जीवन्मुक्तावस्थामें सुख-दुःख समान हो जाते हैं और विदेहमें दोनों नहीं रहते।

प्रथम सूत्रकी वाक्यपूर्तिमें 'भवति' शब्द जोड़ना चाहिये। भाव यह है कि जिज्ञासा उत्पन्न नहीं की जाती, स्वतः होती है यदि विधिवत् गृहस्थाश्रमका निर्वाह हो तो।

जिज्ञासा होनेपर प्रश्न होता है कि ब्रह्म क्या है? उपनिषद्का उत्तर है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति। (तैत्ति० ३।१।१)

इसपर वेदव्यासजीने दूसरा सूत्र बनाया—**'जन्माद्यस्य यतः'**। इसकी वाक्यपूर्ति करनेपर सूत्रका रूप होगा—

'यतः जन्मादि अस्य भवति तद्ब्रह्म सत्यं भवति'।

सृष्टि, स्थिति, प्रलय और मोक्ष जिससे होते हैं वह ब्रह्म है, **'जन्मादि'** का यह अर्थ हुआ। जगत्के साथ देहधारी या जीवका भी विचार इसमें ग्राह्य होना उचित है; क्योंकि यदि केवल **'यत्प्रयन्ति'** ही कहा होता तो लय ही अर्थ होता। जगत् ब्रह्ममें लीन होकर पुनः प्रकट होता रहता है और जीवोंका भी यही हाल है कि प्रलयके बाद फिर सृष्टिमें आते हैं। साथमें **'अभिसंविशन्ति'** शब्द भी दिया गया है। उपनिषद् इस शब्दको देकर मोक्षकी सूचना देता है। मुक्त जीव पूर्णरूपसे ब्रह्ममें सदाके लिये लीन हो जाते हैं, **'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति'**। केवल लीन होना परम वस्तु नहीं है और चाहिये 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने इसी बातको कहा है—

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(१८।५५)

और समुद्रमें नदियोंके समा जानेकी उपमा देकर **'प्रविशन्ति'** पद दिया है।

'अस्य' शब्दका अर्थ सूत्रकारके अनुसार है प्रत्यक्ष जगत्, जो इन्द्रियोंद्वारा अनुभवमें आता है अर्थात् जो अप्रत्यक्ष ब्रह्मसे विलक्षण है। सूचित यह कर दिया कि ब्रह्मके अस्तित्वमें इन्द्रियाँ साक्षी नहीं हो सकतीं।

'यतः' का भाव है कि ब्रह्म आप ही जगत्का निमित्त और उपादान कारण है। वही सब कुछ बन गया है और वह भी अपने ही लिये। आप ही करनेवाला, आप ही बननेवाला, अपने ही लिये और अपनेसे ही—ये सब भाव 'यतः' शब्दमें व्याकरणकी दृष्टिसे भी आ जाते हैं। सृष्टि, स्थिति और प्रलय प्रकृतिमें निरन्तर होते रहते हैं; अतएव सत्य हैं; परंतु ये विकारी सत्य हैं और ब्रह्म अविकारी सत्य है। वास्तवमें सत्य तो वही है जो अविकारी हो और सदा-सर्वदा एकरस हो। वैचित्र्य यही है कि ब्रह्म सदा अविकारी होते हुए और रहते हुए भी इस विकारी जगत्का अधिष्ठान है; अतएव ब्रह्म ही सत्य है। ब्रह्मका तटस्थ लक्षण बताया सृष्टि आदि। उसका सम्बन्ध कहकर उपनिषद्ने स्वरूपलक्षण कहा है—**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**। इस प्रकार व्यासजीने दूसरे सूत्रमें तटस्थ लक्षण और तीन स्वरूपलक्षणोंमेंसे **'सत्यम्'** को कह दिया। अब रह गये दो स्वरूपलक्षण **'ज्ञानम्'** और **'अनन्तम्'**। उनको अगले दो सूत्रोंमें क्रमसे कहते हैं।

तीसरा सूत्र है—**'शास्त्रयोनित्वात्'** जिसका रूप वाक्यपूर्ति-पूर होता है—

'शास्त्रयोनित्वात् तद्ब्रह्म ज्ञानं भवति।'

इस सूत्रका आधार उपनिषद्वाक्य है—

भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति।

(तैत्ति० २।८।१)

'उस ब्रह्मके भयसे वायु चलता है। इसीके भयसे सूर्य उदय होता है तथा इसीके भयसे अग्नि, इन्द्र और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है अर्थात् ब्रह्म ही समस्त सृष्टिका शासनकर्ता है। वह सब तत्त्व और उनके देवताओंको जानता है। वह ज्ञानस्वरूप है, मनुष्य ज्ञानी है, परंतु वह ज्ञानस्वरूप या ज्ञान है। मनुष्यको तामस ज्ञान हुआ तो वह अज्ञानी कहा जाता है। इस प्रकार अज्ञानीको भी ज्ञान तो रहता ही है; परंतु ब्रह्म ज्ञानी नहीं, ज्ञानस्वरूप है। सृष्टिका कार्य उसके शासनसे होता है, वह स्वयं नहीं करता। सृष्टिमें जो नियमका पालन हो रहा है, उन सबका मूल कारण ब्रह्म ही है।

स्वरूपलक्षण 'अनन्तम्' भी उपनिषद्ने बताया है। उसके आधारपर व्यासजीने चौथा सूत्र बनाया—'तत्तु समन्वयात्।' जिसकी वाक्यपूर्ति करनेपर स्वरूप बना—

'समन्वयात् तत्तु ब्रह्म अनन्तं भवति'

अर्थात् वह ब्रह्म अनन्त है; क्योंकि सभी सृष्ट पदार्थोंमें

वह निश्चय ही भली प्रकार अनुस्यूत है। इस सूत्रका आधार उपनिषद्का निम्नाङ्कित वचन है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा।

(तैत्ति० २। १। १)

ब्रह्मसे आकाशादि सब क्रमसे निकले और सृष्टि हुई। और सृष्टि होनेके साथ ही ब्रह्म भी सृष्ट पदार्थोंमें प्रविष्ट होता गया। **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'**। और अन्तमें ब्रह्मसे ब्रह्ममें ही पहुँच गया। अर्थात् चक्रवत् व्यापार चला और जैसे चक्रका अन्त नहीं वैसे ही सृष्टिमें अनुस्यूत होनेसे आप ही चक्र पूरा कर प्रतिष्ठित रहा। अतएव वह अन्तरहित या अनन्त है। और आत्मा ही ब्रह्म है, यह भी उपनिषद्ने बता दिया। सूत्रमें **'सम्'** पद आया है, वह भली प्रकार या अच्छी तरहका भाव दर्शाता है। अर्थात् सृष्टिके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें ब्रह्म समाया हुआ है। कणमें अल्प और पर्वतमें विशेष नहीं। सर्वत्र समान रूपसे। और वही ब्रह्म आत्मा है। भृगुवल्लीकी शिक्षा दो सूत्रोंमें आ गयी।

इस प्रकार- तैत्तिरीयोपनिषद्की तीनों वल्लियोंको प्रथम चार सूत्रोंमें बाँधकर वेदव्यासजीने रख दिया। ब्रह्मजिज्ञासा क्यों और किसको होती है, उसका कौन अधिकारी है और ब्रह्मका तटस्थ और स्वरूपलक्षण बताकर उसका निरूपण कर दिया। जैसे उपनिषद्ने ब्रह्मप्राप्तिकी युक्ति बतायी है, उसीके आधारपर आगे भी सूत्र है।

केवल चतुःसूत्री ही नहीं; समस्त ब्रह्मसूत्रकी रचना तैत्तिरीयोपनिषद्पर अवलम्बित है और इस उपनिषद्में ब्रह्मज्ञानसम्बन्धी समस्त सिद्धान्तोंका समावेश होनेसे वेदव्यास भगवान्ने इसको इतना महत्त्व दिया है।

उपनिषदोंका सारसर्वस्व ब्रह्मसूत्र

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज एम्० ए०, आचार्य)

'उपनिषद्' शब्दका मुख्य अर्थ है उपासना। इस विश्वके उदय, विभव और लयकी लीला[1]में लीन परमात्माके निरतिशय ऐश्वर्यसे विमुग्ध प्राचीन ऋषि-मुनियोंकी भक्तिभावभरित भावनाओंके शब्दचित्रोंके समुदायका नाम ही उपनिषद् है। प्रसङ्गतः अन्यान्य विषयोंका भी समावेश यद्यपि उपनिषद्-ग्रन्थोंमें है, तथापि मुख्य प्रतिपाद्य विषय उपासना ही है। ब्रह्मका साक्षात्कार करनेवाले ब्रह्मर्षियोंने उस परमतत्त्वका प्रतिपादन करना चाहा, वाणीसे अतीतका वाणीद्वारा वर्णन करना चाहा तो अपने उस अलौकिक देवताकी वाङ्मयी आराधनामें वे लौकिक पदावलीका ही प्रयोग कर सके। परमेश्वरकी ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दिव्यताको प्रकट करनेके लिये उन्हें अपने कोषमें प्राण[2], ज्योति[3] और आकाश[4] जैसे शब्दोंसे बढ़कर शब्द न मिल सके; अतएव उन्हीं पदोंके प्रयोगसे उन्हें सन्तोष करना पड़ा, किंतु साधारण जनताने प्राणादि शब्दोंका लौकिक अर्थ करना प्रारम्भ किया तो आवश्यकता इस बातकी हुई कि इस प्रकारके विरोधका परिहार किया जाय। ऐसे-ऐसे संशयास्पद स्थलोंका परमात्मपरक अर्थ दिखानेके लिये एवं ऐसी ही अन्यान्य पारमार्थिक शङ्काओंके निरासके साथ-साथ सत्सिद्धान्तके निरूपणके लिये कृष्णद्वैपायन वेदव्यासजीने एक सूत्रमयी रचना की। उसीका नाम ब्रह्मसूत्र है। वेदान्तसूत्र और भिक्षुसूत्र भी इसके पर्याय हैं। गीताकी रचनासे पूर्व ही इन सूत्रोंका निर्माण हो चुका था। इन सूत्रोंको उपनिषदोंका सार कहना युक्तियुक्त है। विभिन्न आचार्योंने अपने-अपने मतके अनुसार ब्रह्मसूत्रपर भाष्य किये हैं जो सभी अपने-अपने दृष्टिकोणोंसे उपादेय हैं। पुराणशिरोमणि श्रीमद्भागवत ब्रह्मसूत्र-प्रतिपादित अर्थका ही समर्थक है; जैसी कि सूक्ति है—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणाम्।

---

१. लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्। (ब्रह्मसूत्र २। १। ३३)
२. अत एव प्राणः। (ब्रह्मसूत्र १। १। २४)
३. ज्योतिश्चरणाभिधानात्। (ब्रह्मसूत्र १। १। २५)
४. आकाशस्तल्लिङ्गात्। (ब्रह्मसूत्र १। १। २३)
५. ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः। (गीता १३। ४)

उपनिषदोंमें भेद और अभेद-उपासना

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ (बृहदारण्यक० ५ । १ । १)

'वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा अपने-आपसे परिपूर्ण है, यह संसार भी उस परमात्मासे परिपूर्ण है; क्योंकि उस पूर्ण ब्रह्म परमात्मासे ही यह पूर्ण (संसार) प्रकट हुआ है; पूर्ण (संसार) के पूर्ण (पूरक परमात्मा) को स्वीकार करके उसमें स्थित होनेसे उस साधकके लिये एक पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ही अवशेष रह जाता है ।'

हिंदू-शास्त्रोंका मूल वेद है, वेद अनन्त ज्ञानके भण्डार हैं, वेदोंका ज्ञानकाण्ड उसका शीर्षस्थानीय या अन्त है, वही उपनिषद् या वेदान्तके नामसे ख्यात है । उपनिषदोंमें ब्रह्मके स्वरूपका यथार्थ निर्णय किया गया है और साथ ही उसकी प्राप्तिके लिये विभिन्न रुचि और स्थितिके साधकोंके लिये विभिन्न उपासनाओंका प्रतिपादन किया गया है । उनमें जो प्रतीकोपासनाका वर्णन है, उसे भी एकदेशीय और सर्व-देशीय—दोनों ही प्रकारसे करनेको कहा गया है । ऐसी उपासना स्त्री, पुत्र, धन, अन्न, पशु आदि इस लोकके भोगोंकी तथा नन्दनवन, अप्सराएँ और अमृतपान आदि स्वर्गीय भोगोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे करनेका भी प्रतिपादन किया गया है एवं साथ ही परमात्माकी प्राप्तिके लिये भी अनेक प्रकारकी उपासनाएँ बतलायी गयी हैं । उनमेंसे इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे की जानेवाली उपासनाओंके सम्बन्धमें यहाँ कुछ लिखनेका अवसर नहीं है । उपनिषदोंमें परमात्माकी प्राप्तिविषयक उपासनाओंके जो विस्तृत विवेचन हैं, उन्हींका यहाँ बहुत संक्षेपमें कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है ।

उपनिषदोंमें परमात्माकी प्राप्तिके लिये दृष्टान्त, उदाहरण, रूपक, संकेत तथा विधि-निषेधात्मक विविध वाक्योंके द्वारा विविध युक्तियोंसे विभिन्न साधन बतलाये गये हैं; उनमेंसे किसी भी एक साधनके अनुसार संलग्न होकर अनुष्ठान करनेपर मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है । उपनिषदुक्त सभी साधन १. भेदोपासना, और २. अभेदोपासना—इन दो उपासनाओंके अन्तर्गत आ जाते हैं । भेदोपासनाके भी दो प्रकार हैं । एक तो वह, जिसमें साधनमें भेदभावना रहती है और फलमें भी भेदरूप ही रहता है; और दूसरी वह, जिसमें साधनकालमें तो भेद रहता है, परंतु फलमें अभेद होता है । पहले क्रमशः हम भेदोपासनापर ही विचार करते हैं ।

भेदोपासना

भेदोपासनामें तीन पदार्थ अनादि माने जाते हैं—१. माया (प्रकृति), २. जीव और ३. मायापति परमेश्वर । इनका वर्णन उपनिषदोंमें कई जगह आता है । प्रकृति जड है और उसका कार्यरूप दृश्यवर्ग क्षणिक, नाशवान् और परिणामी है । जीवात्मा और परमेश्वर—दोनों ही नित्य चेतन और आनन्दस्वरूप हैं; किंतु जीवात्मा अल्पज्ञ है और परमेश्वर सर्वज्ञ हैं; जीव असमर्थ है और परमेश्वर सर्वसमर्थ हैं, जीव अंश है और परमेश्वर अंशी हैं; जीव भोक्ता है और परमेश्वर साक्षी हैं एवं जीव उपासक है और परमेश्वर उपास्य हैं । वे परमेश्वर समय-समयपर प्रकट होकर जीवोंके कल्याणके लिये उपदेश भी देते हैं ।

इस विषयमें केनोपनिषद्में एक इतिहास आता है । एक समय परमेश्वरके प्रतापसे स्वर्गके देवताओंने असुरोंपर विजय प्राप्त की । पर देवता अज्ञानसे अभिमानवश यह मानने लगे कि हमारे ही प्रभावसे यह विजय हुई है । देवताओंके इस अज्ञानपूर्ण अभिमानको दूर कर उनका हित करनेके लिये स्वयं सच्चिदानन्दघन परमात्मा उन देवताओंके निकट सगुण-साकार यक्षरूपमें प्रकट हुए । यक्षका परिचय जाननेके लिये इन्द्रादि देवताओंने पहले अग्निको भेजा । यक्षने अग्निसे पूछा—'तुम कौन हो और तुम्हारा क्या सामर्थ्य है ?' उन्होंने उत्तर दिया कि 'मैं जातवेदा अग्नि हूँ और चाहूँ तो सारे ब्रह्माण्डको जला सकता हूँ ।' यक्षने एक तिनका रक्खा और उसे जलानेको कहा; किंतु अग्नि उसको नहीं जला सके एवं लौटकर देवताओंसे बोले—'मैं यह नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है ।' तदनन्तर देवताओंके भेजे हुए वायुदेव गये । उनसे भी यक्षने यही पूछा कि 'तुम कौन हो और तुम्हारा क्या सामर्थ्य है ?' उन्होंने कहा—'मैं मातरिश्वा वायु हूँ और चाहूँ तो सारे ब्रह्माण्डको उड़ा सकता हूँ ।'

तब यक्षने उनके सामने भी एक तिनका रक्खा किंतु वे उसे उड़ा नहीं सके और लौटकर उन्होंने भी देवताओंसे यही कहा कि 'मैं इसको नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है ?' तत्पश्चात् स्वयं इन्द्रदेव गये, तब यक्ष अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर इन्द्रने उसी आकाशमें हैमवती उमादेवीको देखकर उनसे यक्षका परिचय पूछा। उमादेवीने बतलाया कि 'वह ब्रह्म था और उस ब्रह्मकी ही इस विजयमें तुम अपनी विजय मानने लगे थे।' इस उपदेशसे ही इन्द्रने समझ लिया कि 'यह ब्रह्म है।' फिर अग्नि और वायु भी उस ब्रह्मको जान गये। इन्होंने ब्रह्मको सर्वप्रथम जाना, इसलिये इन्द्र, अग्नि और वायुदेवता अन्य देवताओंसे श्रेष्ठ माने गये।

इस कथासे यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्राणियोंमें जो कुछ भी बल, बुद्धि, तेज एवं विभूति है, सब परमेश्वरसे ही है। गीतामें भी श्रीभगवान्‌ने कहा है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥
(१०।४१)

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उसको तू मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान।'

इस प्रकार उपनिषदोंमें कहीं साकाररूपसे और कहीं निराकाररूपसे, कहीं सगुणरूपसे और कहीं निर्गुणरूपसे भेद-उपासनाका वर्णन आता है। वहाँ यह भी बतलाया है कि उपासक अपने उपास्यदेवकी जिस भावसे उपासना करता है, उसके उद्देश्यके अनुसार ही उसकी कार्य-सिद्धि हो जाती है। कठोपनिषद्‌में सगुण-निर्गुणरूप ओंकारकी उपासनाका भेद-रूपसे वर्णन करते हुए यमराज नचिकेताके प्रति कहते हैं—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥
एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥
(१।२।१६-१७)

'यह अक्षर ही तो ब्रह्म है और अक्षर ही परब्रह्म है; इसी अक्षरको जानकर जो जिसको चाहता है, उसको वही मिल जाता है। यही उत्तम आलम्बन है, यही सबका अन्तिम आश्रय है। इस आलम्बनको भलीभाँति जानकर साधक ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है।'

इसलिये कल्याणकामी मनुष्योंको इस दुःखरूप संसार-सागरसे सदाके लिये पार होकर परमेश्वरको प्राप्त करनेके लिये ही उनकी उपासना करनी चाहिये, सांसारिक पदार्थोंके लिये नहीं। वे परमेश्वर इस शरीरके अंदर सबके हृदयमें निराकार-रूपसे सदा-सर्वदा विराजमान हैं, परंतु उनको न जाननेके कारण ही लोग दुःखित हो रहे हैं। जो उन परमेश्वरकी उपासना करता है, वह उन्हें जान लेता है और इसलिये सम्पूर्ण दुःखों और शोकसमूहोंसे निवृत्त होकर परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है। मुण्डकोपनिषद्‌में भी बतलाया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः॥
यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥
(३।१।१-३)

'एक साथ रहनेवाले तथा परस्पर सखाभाव रखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर रहते हैं, उन दोनोंमेंसे एक तो उस वृक्षके कर्मरूप फलोंका स्वाद ले-लेकर उपभोग करता है; किंतु दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है। इस शरीररूपी समान वृक्षपर रहनेवाला जीवात्मा शरीरकी गहरी आसक्तिमें डूबा हुआ है और असमर्थतारूप दीनताका अनुभव करता हुआ मोहित होकर शोक करता रहता है; किंतु जब कभी भगवान्‌की अहैतुकी दयासे भक्तोंद्वारा नित्यसेवित तथा अपनेसे भिन्न परमेश्वरको और उनकी महिमाको यह प्रत्यक्ष कर लेता है, तब सर्वथा शोकरहित हो जाता है तथा जब यह द्रष्टा (जीवात्मा) सबके शासक, ब्रह्माके भी आदिकारण, सम्पूर्ण जगत्‌के रचयिता, दिव्यप्रकाशस्वरूप परमपुरुषको प्रत्यक्ष कर लेता है, उस समय पुण्य-पाप—दोनोंसे रहित होकर निर्मल हुआ वह ज्ञानी भक्त सर्वोत्तम समताको प्राप्त कर लेता है।'

वह सगुण-निर्गुणरूप परमेश्वर सब इन्द्रियोंसे रहित होकर भी इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है। वह सबकी उत्पत्ति

और पालन करनेवाला होकर भी अकर्ता ही है। उस सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, अकारण दयालु और परम प्रेमी हृदयस्थित निराकार परमेश्वरकी स्तुति-प्रार्थना करनी चाहिये। उस भजनेयोग्य परमात्माकी शरण लेनेसे मनुष्य सारे दुःख, क्लेश, पाप और विकारोंसे छूटकर परम शान्ति और परम गतिस्वरूप मुक्तिको प्राप्त करता है। इसलिये सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वव्यापी, सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान्-से-महान् उस सर्वसुहृद् परमेश्वरको तत्त्वसे जानकर उसे प्राप्त करनेके लिये सब प्रकारसे उसीकी शरण लेनी चाहिये।

श्वेताश्वतरोपनिषद्में परमेश्वरकी भेदरूपसे उपासनाका वर्णन विस्तारसहित आता है; उसमेंसे कुछ मन्त्र यहाँ दिये जाते हैं—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्॥

(३। १७)

'जो परमपुरुष परमेश्वर समस्त इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी समस्त इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है तथा सबका स्वामी, सबका शासक और सबसे बड़ा आश्रय है, उसकी शरण जाना चाहिये।'

अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्॥

(३। २०)

'वह सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म तथा बड़ेसे भी बहुत बड़ा परमात्मा इस जीवकी हृदयरूप गुफामें छिपा हुआ है, सबकी रचना करनेवाले परमेश्वरकी कृपासे जो मनुष्य उस संकल्परहित परमेश्वरको और उसकी महिमाको देख लेता है, वह सब प्रकारके दुःखोंसे रहित होकर आनन्दस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है।'

और भी कहा है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥
यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥

(४। १०-११)

'माया तो प्रकृतिको समझना चाहिये और महेश्वरको मायापति समझना चाहिये; उस परमेश्वरकी शक्तिरूपा प्रकृतिके ही अङ्गभूत कारण-कार्यसमुदायसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है। जो अकेला ही प्रत्येक योनिका अधिष्ठाता हो रहा है, जिसमें यह समस्त जगत् प्रलयकालमें विलीन हो जाता है, और सृष्टिकालमें विविध रूपोंमें प्रकट भी हो जाता है, उस सर्वनियन्ता, वरदायक, स्तुति करनेयोग्य परमदेव परमेश्वरको तत्त्वसे जानकर मनुष्य निरन्तर बनी रहनेवाली इस मुक्तिरूप शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥

(४। १४)

'जो सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म, हृदयगुहारूप गुह्यस्थानके भीतर स्थित, अखिल विश्वकी रचना करनेवाला, अनेक रूप धारण करनेवाला तथा समस्त जगत्को सब ओरसे घेरे रखनेवाला है, उस एक अद्वितीय कल्याणस्वरूप महेश्वरको जानकर मनुष्य सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त होता है।'

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥
एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

(६। ११-१२)

'वह एक देव ही सब प्राणियोंमें छिपा हुआ सर्वव्यापी और समस्त प्राणियोंका अन्तर्यामी परमात्मा है, वही सबके कर्मोंका अधिष्ठाता, सम्पूर्ण भूतोंका निवासस्थान, सबका साक्षी, चेतनस्वरूप, सर्वथा विशुद्ध और गुणातीत है तथा जो अकेला ही बहुत-से वास्तवमें अक्रिय जीवोंका शासक है और एक प्रकृतिरूप बीजको अनेक रूपोंमें परिणत कर देता है, उस हृदयस्थित परमेश्वरका जो धीर पुरुष निरन्तर अनुभव करते हैं, उन्हींको सदा रहनेवाला परमानन्द प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं।'

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

(६। १८)

'जो परमेश्वर निश्चय ही सबसे पहले ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो निश्चय ही उस ब्रह्माको समस्त वेदोंका ज्ञान प्रदान करता है, उस परमात्मविषयक बुद्धिको प्रकट करनेवाले प्रसिद्ध देव परमेश्वरकी मैं मोक्षकी इच्छावाला साधक शरण लेता हूँ।'

जिसमें साधनमें भी भेद हो और फलमें भी भेद हो, ऐसी भेदोपासनाका वर्णन ऊपर किया गया; अब साधनमें तो भेद हो, किंतु फलमें अभेद ऐसी उपासनापर विचार किया जाता है।

शास्त्रोंमें भेदोपासनाके अनुसार चार प्रकारकी मुक्ति बतलायी गयी है—१. सालोक्य, २. सामीप्य, ३. सारूप्य और ४. सायुज्य। इनमेंसे पहली तीन तो साधनमें भी भेद और फलमें भी भेदवाली हैं; किंतु सायुज्य-मुक्तिमें साधनमें तो भेद है, पर फलमें भेद नहीं रहता। भगवान्‌के परम धाममें जाकर वहाँ निवास करनेको 'सालोक्य' मुक्ति कहते हैं; जो वात्सल्य आदि भावसे भगवान्‌की उपासना करते हैं,वे 'सालोक्य' मुक्तिको पाते हैं। भगवान्‌के परम धाममें जाकर उनके समीप निवास करनेको 'सामीप्य' मुक्ति कहते हैं; जो दासभावसे या माधुर्यभावसे भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे 'सामीप्य' मुक्तिको प्राप्त होते हैं। भगवान्‌के परम धाममें जाकर भगवान्‌के जैसे स्वरूपवाले होकर निवास करनेको 'सारूप्य' मुक्ति कहते हैं; जो सखाभावसे भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे 'सारूप्य' मुक्ति पाते हैं। इन सब भक्तोंमें सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और पालनरूप भगवत्सामर्थ्यके सिवा भगवान्‌के सब गुण आ जाते हैं। भगवान्‌के स्वरूपमें अभेदरूपसे विलीन हो जानेको 'सायुज्य' मुक्ति कहते हैं। जो शान्तभावसे (ज्ञानमिश्रित भक्तिसे) भगवान्‌की उपासना करते हैं, वे 'सायुज्य' मुक्तिको प्राप्त होते हैं तथा जो वैरसे, द्वेषसे अथवा भयसे भगवान्‌को भजते हैं, वे भी 'सायुज्य' मुक्तिको पाते हैं। जिस प्रकार नदियोंका जल अपने नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें मिलकर समुद्र ही हो जाता है, इसी प्रकार ऐसे साधक भगवान्‌में लीन होकर भगवत्स्वरूप ही हो जाते हैं। इसके लिये उपनिषदोंमें तथा अन्य शास्त्रोंमें जगह-जगह अनेक प्रमाण मिलते हैं। कठोपनिषद्‌में यमराज नचिकेतासे कहते हैं—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥

(२।१।१५)

'जिस प्रकार निर्मल जलमें मेघोंद्वारा सब ओरसे बरसाया हुआ निर्मल जल वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार हे गौतमवंशीय नचिकेता! एकमात्र परब्रह्म पुरुषोत्तम ही सब कुछ है—इस प्रकार जाननेवाले मुनिका आत्मा परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है अर्थात् परमेश्वरमें मिलकर तद्रूप हो जाता है।'

मुण्डकोपनिषद्‌में भी कहा है—

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥

(३।२।१)

'वह निष्काम-भाववाला पुरुष इस परम विशुद्ध (प्रकाशमान) ब्रह्मधामको जान लेता है, जिसमें सम्पूर्ण जगत् स्थित हुआ प्रतीत होता है; जो भी कोई निष्काम साधक परम पुरुषकी उपासना करते हैं, वे बुद्धिमान् रजोवीर्यमय इस जगत्‌को अतिक्रमण कर जाते हैं।'

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति। (३।२।८-९)

'जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी महात्मा नाम-रूपसे रहित होकर उत्तम-से-उत्तम दिव्य परम पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है। निश्चय ही जो कोई भी उस परब्रह्म परमात्माको जान लेता है, वह महात्मा ब्रह्म ही हो जाता है; उसके कुलमें ब्रह्मको न जाननेवाला नहीं होता; वह शोकसे पार हो जाता है, पाप-समुदायसे तर जाता है, हृदयकी गाँठोंसे सर्वथा छूटकर अमृत हो जाता है अर्थात् जन्म-मृत्युसे रहित होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।'

जो मनुष्य माया (प्रकृति), जीव और परमेश्वरको भिन्न-भिन्न समझकर उपासना करता है और यह समझता है कि ईश्वरकी यह प्रकृति ईश्वरसे अभिन्न है, क्योंकि शक्ति शक्तिमान्‌से अभिन्न होती है एवं जीव भिन्न होते हुए भी ईश्वरका अंश होनेके कारण अभिन्न ही हैं; इसलिये प्रकृति और जीव—दोनोंसे परमात्मा भिन्न होते हुए भी अभिन्न ही हैं। वह पुरुष भेदरूपसे साधन करता हुआ भी अन्तमें अभेदरूपसे ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है। यह बात भी शास्त्रोंमें तथा उपनिषदोंमें अनेक स्थानोंमें मिलती है। जैसे—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशा-
वजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता
त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्॥

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः
क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावा-
द्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥
(श्वेताश्वतर० १ । ९-१०)

'सर्वज्ञ और अल्पज्ञ, सर्वसमर्थ और असमर्थ—ये दोनों परमात्मा और जीवात्मा अजन्मा हैं तथा भोगनेवाले जीवात्माके लिये उपयुक्त भोग्य-सामग्रीसे युक्त और अनादि प्रकृति एक तीसरी शक्ति है; (इन तीनोंमें जो ईश्वर-तत्त्व है, वह शेष दोसे विलक्षण है) क्योंकि वह परमात्मा अनन्त, सम्पूर्ण रूपोंवाला और कर्तापनके अभिमानसे रहित है । जब मनुष्य इस प्रकार ईश्वर, जीव और प्रकृति—इन तीनोंको ब्रह्मरूपमें प्राप्त कर लेता है (तब वह सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है) । तथा प्रकृति तो विनाशशील है, इसको भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है; इन विनाशशील जड-तत्त्व और चेतन आत्मा—दोनोंको एक ईश्वर अपने शासनमें रखता है, इस प्रकार जानकर उसका निरन्तर ध्यान करनेसे, मनको उसमें लगाये रहनेसे तथा तन्मय हो जानेसे अन्तमें उसीको प्राप्त हो जाता है; फिर समस्त मायाकी निवृत्ति हो जाती है ।'

यहाँतक भेदोपासनाके दोनों प्रकारोंको उपनिषद्के अनुसार संक्षेपमें बतलाकर अब अभेदोपासनापर विचार करते हैं—

अभेदोपासना

अभेद-उपासनाके भी प्रधान चार भेद हैं । उनमेंसे पहले दो भेद 'तत्' पदको और बादके दो भेद 'त्वम्' पदको लक्ष्य करके संक्षेपमें नीचे बतलाये जाते हैं—

१. इस चराचर जगत्में जो कुछ प्रतीत होता है, सब ब्रह्म ही है; कोई भी वस्तु एक सच्चिदानन्दघन परमात्मासे भिन्न नहीं है । इस प्रकार उपासना करे ।

२. वह निर्गुण निराकार निष्क्रिय निर्विकार परमात्मा इस क्षणभङ्गुर नाशवान् जड दृश्यवर्ग मायासे सर्वथा अतीत है—इस प्रकार उपासना करे ।

३. जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम सम्पूर्ण चराचर जगत् एक ब्रह्म है और वह ब्रह्म मैं हूँ । इसलिये सब मेरा ही स्वरूप है—इस प्रकार उपासना करे ।

४. जो नाशवान् क्षणभङ्गुर मायामय दृश्यवर्गसे अतीत, निराकार, निर्विकार, नित्य विज्ञानानन्दघन निर्विशेष परब्रह्म परमात्मा है, वह मेरा ही आत्मा है अर्थात् मेरा ही स्वरूप है—इस प्रकार उपासना करे ।

अब इनको अच्छी प्रकार समझनेके लिये उपनिषदोंके प्रमाण देकर कुछ विस्तारसे विचार किया जाता है ।

(१) सर्गके आदिमें एक सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही थे । उन्होंने विचार किया कि 'मैं प्रकट होऊँ और अनेक नाम-रूप धारण करके बहुत हो जाऊँ' 'सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेयेति' (तैत्तिरीयोपनिषद् २ । ६) इस प्रकार वह ब्रह्म एक ही बहुत रूपोंमें हो गये । इसलिये यह जो कुछ भी जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम जगत् है, वह परमात्माका ही स्वरूप है । श्रुति कहती है—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म
पश्माद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मै-
वेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥
(मुण्डक० २ । २ । ११)

'यह अमृतस्वरूप परब्रह्म ही सामने है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दायीं ओर तथा बायीं ओर, नीचेकी ओर तथा ऊपरकी ओर भी फैला हुआ है; यह जो सम्पूर्ण जगत् है, यह सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है ।'

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः
कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥
(मुण्डक० ३ । २ । ५)

'सर्वथा आसक्तिरहित और विशुद्ध अन्तःकरणवाले ऋषिलोग इस परमात्माको पूर्णतया प्राप्त होकर ज्ञानसे तृप्त एवं परम शान्त हो जाते हैं, अपने-आपको परमात्मामें संयुक्त कर देनेवाले वे ज्ञानीजन सर्वव्यापी परमात्माको सब ओरसे प्राप्त करके सर्वरूप परमात्मामें ही प्रविष्ट हो जाते हैं ।'

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ।
(माण्डूक्य० २)

'क्योंकि यह सब-का-सब जगत् परब्रह्म परमात्मा है तथा जो यह चार चरणोंवाला आत्मा है, वह आत्मा भी परब्रह्म परमात्मा है ।'

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ।
(छान्दोग्योपनिषद् ३ । १४ । १)

'यह समस्त जगत् निश्चय ही ब्रह्म है, इसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय—उस ब्रह्मसे ही है—इस प्रकार समझकर शान्तचित्त हुआ उपासना करे।'

(२) 'तत्' पदके लक्ष्य ब्रह्मके स्वरूपका, जो कुछ जड-चेतन, स्थावर-जङ्गम चराचर संसार है, वह सब ब्रह्म ही है, इस प्रकार निरूपण किया गया। अब उसी 'तत्' पदके लक्ष्यार्थ ब्रह्मके निर्विशेष स्वरूपका वर्णन किया जाता है। वह निर्गुण-निराकार अक्रिय निर्विकार परमात्मा इस क्षणभङ्गुर नाशवान् जड दृश्यवर्ग मायासे सर्वथा अतीत है। जो कुछ यह दृश्यवर्ग प्रतीत होता है, वह सब अज्ञानमूलक है। वास्तवमें एक विज्ञानानन्दघन अनन्त निर्विशेष ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस प्रकारके अनुभवसे वह इस जन्म-मृत्युरूप संसारसे मुक्त होकर अनन्त विज्ञान आनन्दघन ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। यह बात शास्त्रोंमें तथा उपनिषदोंमें अनेक जगह बतलायी गयी है।

कठोपनिषद्में परब्रह्मके स्वरूपका वर्णन करते हुए यमराज कहते हैं—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥
(१। ३। १५)

'जो शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रसरहित और गन्धरहित है तथा जो अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त (असीम) महत्तत्त्वसे परे एवं सर्वथा सत्य तत्त्व है, उस परमात्माको जानकर मनुष्य मृत्युके मुखसे सदाके लिये छूट जाता है।'

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥
(२। १। ११)

'यह परमात्मतत्त्व शुद्ध मनसे ही प्राप्त किये जानेयोग्य है; इस जगत्में एक परमात्माके अतिरिक्त नाना—भिन्न-भिन्न भाव कुछ भी नहीं है; इसलिये जो इस जगत्में नानाकी भाँति देखता है, वह मनुष्य मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है अर्थात् बार-बार जन्मता-मरता रहता है।'

मुण्डकोपनिषद्में भी कहा है—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥
(३। १। ८)

'वह निर्गुण निराकार परब्रह्म परमात्मा न तो नेत्रोंसे, न वाणीसे और न दूसरी इन्द्रियोंसे ही ग्रहण करनेमें आता है तथा तपसे अथवा कर्मोंसे भी वह ग्रहण नहीं किया जा सकता; उस अवयवरहित परमात्माको तो विशुद्ध अन्तःकरणवाला साधक उस विशुद्ध अन्तःकरणसे निरन्तर उसका ध्यान करता हुआ ही ज्ञानकी निर्मलतासे देख पाता है।'

तैत्तिरीयोपनिषद्में भी कहा है—

ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। (२। १। १)

'ब्रह्मज्ञानी परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है; उसी भावको व्यक्त करनेवाली यह श्रुति कही गयी है—ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है।'

(३) 'तत्' पदकी उपासनाके प्रकारका वर्णन करके अब 'त्वम्' पदकी उपासनाका प्रकार बतलाया जाता है। जो कुछ जड-चेतन स्थावर-जङ्गम प्रतीत होता है, वह सब ब्रह्म है और जो ब्रह्म है, वह मैं हूँ। इसलिये मनुष्यको सम्पूर्ण भूतोंमें अपने आत्माको अर्थात् अपने-आपको और आत्मामें सम्पूर्ण भूतोंको ओतप्रोत देखना चाहिये। अभिप्राय यह है कि 'जो भी कुछ है, सब मेरा ही स्वरूप है' इस प्रकारका अभ्यास करनेवाला साधक शोक और मोहसे पार होकर विज्ञान-आनन्दघन ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है। यह बात शास्त्रोंमें तथा उपनिषदोंमें जगह-जगह मिलती है। गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥
(६। २९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखता है।'

ईशावास्योपनिषद्में भी कहा है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥
यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
(६-७)

'परन्तु जो मनुष्य सम्पूर्ण प्राणियोंको आत्मामें ही देखता है और आत्माको सारे भूतोंमें देखता है अर्थात् सम्पूर्ण भूतोंको अपना आत्मा ही समझता है, वह फिर किसीसे घृणा नहीं करता—सबको अपना आत्मा समझनेवाला किससे कैसे घृणा करे ?

इस प्रकारसे जब आत्मतत्त्वको जाननेवाले महात्माके लिये सब आत्मा ही हो जाता है, तब फिर एकत्वका अर्थात् सबमें एक आत्माका अनुभव करनेवाले उस मनुष्यको कहाँ मोह है और कहाँ शोक है अर्थात् सबमें एक विज्ञान आनन्दमय परब्रह्म परमात्माका अनुभव करनेवाले पुरुषके शोक-मोह आदि विकारोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है।'

इस विषयका रहस्य समझानेके लिये छान्दोग्य-उपनिषद्में एक इतिहास आता है। अरुणका पौत्र और उद्दालकका पुत्र श्वेतकेतु बारह वर्षकी अवस्थामें गुरुके पास विद्यालाभके लिये गया और वहाँसे वह विद्या पढ़कर चौबीस वर्षकी अवस्था होनेपर घर लौटा। वह अपनेको बुद्धिमान् और व्याख्यानदाता मानता हुआ अनम्रभावसे ही घरपर आया तथा उसने बुद्धिके अभिमानवश पिताको प्रणाम नहीं किया। इसपर उसके पिताने उससे पूछा—

श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः। येनाश्रुतꣳ श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति। (६।१।२–३)

'हे श्वेतकेतु ! हे सोम्य ! तू जो अपनेको ऐसा महामना और पण्डित मानकर अविनीत हो रहा है, सो क्या तूने वह आदेश आचार्यसे पूछा है, जिस आदेशसे अश्रुत श्रुत हो जाता है, बिना विचारा हुआ विचारमें आ जाता है अर्थात् बिना निश्चय किया हुआ निश्चित हो जाता है और बिना जाना हुआ ही विशेषरूपसे जाना हुआ हो जाता है।'

इसपर श्वेतकेतुने कहा कि 'भगवन् ! वह आदेश कैसा है।' तब उद्दालक बोले—

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातꣳस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। (६।१।४)

'सोम्य ! जिस प्रकार एक मृत्तिकाके पिण्डके द्वारा समस्त मृत्तिकामय पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है कि विकार केवल वाणीके आश्रयभूत नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है।'

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣳस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम्। (६।१।५)

'सोम्य ! जिस प्रकार एक लोहमणि (सुवर्ण) का ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण सुवर्णमय पदार्थ जान लिये जाते हैं; क्योंकि विकार वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, सत्य केवल सुवर्ण ही है।'

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातꣳस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवꣳ सोम्य स आदेशो भवतीति। (६।१।६)

'सोम्य ! जिस प्रकार एक नखनिकृन्तन (नहन्ना) अर्थात् लोहेके ज्ञानसे सम्पूर्ण लोहेके पदार्थ जान लिये जाते हैं, क्योंकि विकार वाणीपर अवलम्बित केवल नाममात्र है, सत्य केवल लोहा ही है; हे सोम्य ! ऐसा ही वह आदेश है।'

यह सुनकर श्वेतकेतु बोला—

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवाꣳस्त्वेव मे तद्ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच। (६।१।७)

'निश्चय ही वे मेरे पूज्य गुरुदेव इसे नहीं जानते थे। यदि वे जानते तो मुझसे क्यों न कहते। अब आप ही मुझे अच्छी तरह बतलाइये।' तब पिताने कहा—'अच्छा सोम्य ! बतलाता हूँ।'

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। (६।२।१)

'हे सोम्य ! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था।'

इसपर श्वेतकेतुने कहा—'हे पिताजी ! मुझको यह विषय और स्पष्ट करके समझाइये।' उद्दालक आरुणि बोले—"हे सोम्य ! जैसे दही मथनेसे उसका सूक्ष्मसार तत्त्व नवनीत ऊपर तैर आता है, इसी प्रकार जो अन्न खाया जाता है, उसका सूक्ष्म सार अंश मन बनता है। जलका सूक्ष्म अंश प्राण और तेजका सूक्ष्म अंश वाक् बनता है। असलमें ये मन, प्राण और वाणी तथा इनके कारण अन्नादि कार्यकारणपरम्परासे मूलमें एक ही सत् वस्तु ठहरते हैं। सबका मूल कारण सत् है, वही परम आश्रय और अधिष्ठान है। सत्के कार्य नाना प्रकारकी आकृतियाँ सब वाणीके विकार हैं, नाममात्र हैं। यह सत् अणुकी भाँति सूक्ष्म है, समस्त जगत्का आत्मारूप है। हे श्वेतकेतु ! वह 'सत्' वस्तु तू ही है—'तत्त्वमसि'।"

श्वेतकेतुने कहा—'भगवन्! मुझे फिर समझाइये।' पिता आरुणिने कहा—'अच्छा, एक वट-वृक्षका फल तोड़कर ला! फिर तुझे समझाऊँगा।' श्वेतकेतु फल ले आया। पिताने कहा—'इसे तोड़कर देख, इसमें क्या है?' श्वेतकेतुने फल तोड़कर कहा—'भगवन्! इसमें छोटे-छोटे बीज हैं।' ऋषि उद्दालक बोले—'अच्छा, एक बीजको तोड़कर देख, उसमें क्या है?' श्वेतकेतुने बीजको तोड़कर कहा—'इसमें तो कुछ भी नहीं दीखता।' तब पिता आरुणि बोले—'हे सोम्य! तू इस वट-बीजके सूक्ष्म तत्त्वको नहीं देखता, इस अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्वसे ही महान् वटका वृक्ष निकलता है। बस, जैसे यह अत्यन्त सूक्ष्म वट-बीज बड़े भारी वटके वृक्षका आधार है, इसी प्रकार सूक्ष्म सत् आत्मा इस समस्त स्थूल जगत्का आधार है। हे सोम्य! मैं सत्य कहता हूँ, तू मेरे वचनमें श्रद्धा रख। यह जो सूक्ष्म तत्त्व आत्मा है, वह सत् है और यही आत्मा है। हे श्वेतकेतु! वह 'सत्' तू ही है—'तत्त्वमसि'' (६। १२। ३)।

इस प्रकार उद्दालकने अनेक दृष्टान्त और युक्तियोंसे इस तत्त्वको विस्तारसे समझाया है, किंतु यहाँ उसका कुछ दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। पूरा वर्णन देखना हो तो छान्दोग्य-उपनिषद्में देखना चाहिये।

उपर्युक्त विषयके सम्बन्धमें बृहदारण्यक-उपनिषद्में भी इस प्रकार कहा है—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेत्। अहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत्सर्वमभवत्तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवꣳसूर्यश्चेति। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳ सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते। आत्मा ह्येषाꣳ स भवति। (१। ४। १०)

"पहले यह ब्रह्म ही था; उसने अपनेको ही जाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ'। अतः वह सर्व हो गया। उसे देवोंमेंसे जिस-जिसने जाना वही तद्रूप हो गया। इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्योंमेंसे भी जिसने उसे जाना, वह तद्रूप हो गया। उसे आत्मरूपसे देखते हुए ऋषि वामदेवने जाना—'मैं मनु हुआ और सूर्य भी'। उस इस ब्रह्मको इस समय भी जो इस प्रकार जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ', वह यह सर्व हो जाता है। उसके पराभवमें देवता भी समर्थ नहीं होते; क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है।"

उपर्युक्त विषयका रहस्य समझानेके लिये बृहदारण्यक-उपनिषद्में भी एक इतिहास मिलता है। महर्षि याज्ञवल्क्यके दो स्त्रियाँ थीं—एक मैत्रेयी और दूसरी कात्यायनी। महर्षि याज्ञवल्क्यने संन्यास ग्रहण करते समय मैत्रेयीसे कहा—'मैं इस गृहस्थाश्रमसे ऊपर संन्यास-आश्रममें जानेवाला हूँ, अतः सम्पत्तिका बँटवारा करके तुमको और कात्यायनीको दे दूँ तो ठीक है।' मैत्रेयीने कहा—'भगवन्! यदि यह धनसे सम्पन्न सारी पृथ्वी मेरी हो जाय तो क्या मैं उससे किसी प्रकार अमृतस्वरूप हो सकती हूँ?' याज्ञवल्क्यने कहा—'नहीं, भोग-सामग्रियोंसे सम्पन्न मनुष्योंका जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा जीवन हो जायगा। धनसे अमृतत्वकी तो आशा है नहीं।' मैत्रेयीने कहा—'जिससे मैं अमृतस्वरूप नहीं हो सकती, उसे लेकर क्या करूँगी? श्रीमान्! जो कुछ अमृतत्वका साधन हो, वही मुझे बतलायें।' इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—'धन्य है! अरी मैत्रेयी! तू पहले भी मेरी प्रिया रही है और अब भी तू प्रिय बात कह रही है। अच्छा, मैं तुझे उसकी व्याख्या करके समझाऊँगा। तू मेरे वाक्योंके अभिप्रायका चिन्तन करना।'

याज्ञवल्क्यने फिर कहा—

'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम्।' (२। ४। ५)

'अरी मैत्रेयी! सबके प्रयोजनके लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये सब प्रिय होते हैं। यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। हे मैत्रेयी! इस आत्माके ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञानसे इस सबका ज्ञान हो जाता है।'

तथा—

'इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा।' (२। ४। ६)

हे मैत्रेयी! यह ब्राह्मणजाति, यह क्षत्रियजाति, ये लोक, ये देवगण, ये भूतगण और यह सब जो कुछ भी है, सब आत्मा ही है।'

एवं—

'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत् तत्केन कं पश्येत्तत्केन कꣳ

शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयात्। येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति।' (२।४।१४)

'जहाँ (अविद्यावस्थामें) द्वैत-सा होता है, वहीं अन्य अन्यको सूँघता है, अन्य अन्यको देखता है, अन्य अन्यको सुनता है, अन्य अन्यका अभिवादन करता है, अन्य अन्यका मनन करता है तथा अन्य अन्यको जानता है; किंतु जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ किसके द्वारा किसे सूँघे, किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सुने, किसके द्वारा किसका अभिवादन करे, किसके द्वारा किसका मनन करे और किसके द्वारा किसे जाने? जिसके द्वारा इस सबको जानता है, उसको किसके द्वारा जाने? हे मैत्रेयी! विज्ञाताको किसके द्वारा जाने?'

इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद्के दूसरे तथा चौथे अध्यायमें यह प्रसङ्ग विस्तारसे आया है, यहाँ तो उसका कुछ अंश ही दिया गया है।

(४) जो नाशवान्, क्षणभङ्गुर, मायामय दृश्यवर्गसे रहित निराकार, निर्विकार, नित्य, विज्ञानानन्दघन निर्विशेष परब्रह्म परमात्मा है, वह मेरा ही आत्मा है अर्थात् मेरा ही स्वरूप है; इस प्रकार उस निराकार निर्विशेष विज्ञानानन्दघन परमात्माको एकीभावसे जानकर मनुष्य उसे प्राप्त हो जाता है। श्रुति कहती है—

योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।

(बृहदारण्यक० ४।४।६)

'जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता; वह ब्रह्म ही होकर ब्रह्मको प्राप्त होता है।'

इस विषयका रहस्य समझानेके लिये—

बृहदारण्यक उपनिषद्में एक इतिहास मिलता है। एक बार राजा जनकने एक बड़ी दक्षिणावाला यज्ञ किया। उसमें कुरु और पाञ्चाल देशोंके बहुत-से ब्राह्मण एकत्रित हुए। उस समय राजा जनकने यह जाननेकी इच्छासे कि इन ब्राह्मणोंमें कौन सबसे बढ़कर प्रवचन करनेवाला है, अपनी गोशालामें ऐसी दस हजार गौएँ दान देनेके लिये रोक लीं, जिनमेंसे प्रत्येकके सींगोंमें दस-दस पाद सुवर्ण बँधा था और उन ब्राह्मणोंसे कहा—'पूजनीय ब्राह्मणो! आपमें जो ब्रह्मिष्ठ हों, वे इन गौओंको ले जायँ।' ब्राह्मणोंने राजाकी बात सुन ली; किंतु उनमें किसीका साहस नहीं हुआ। तब याज्ञवल्क्यने अपने ब्रह्मचारीसे उन गौओंको ले जानेके लिये कहा। वह उन्हें ले चला। इससे वे सब ब्राह्मण कुपित हो गये और जनकके होता अश्वलने याज्ञवल्क्यसे पूछा—'याज्ञवल्क्य! हम सबमें क्या तुम ही ब्रह्मिष्ठ हो?' याज्ञवल्क्यने कहा—'ब्रह्मिष्ठको तो हम नमस्कार करते हैं, हम तो गौओंकी ही इच्छावाले हैं।' यह सुनकर क्रमशः अश्वल, आर्तभाग और भुज्युने उनसे अनेकों प्रश्न किये और महर्षि याज्ञवल्क्यने उनका भलीभाँति समाधान किया।

फिर चाक्रायण उषस्तने याज्ञवल्क्यसे पूछा—'हे याज्ञवल्क्य! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी मेरे प्रति व्याख्या करो।' याज्ञवल्क्यने कहा—

एष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानिति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानिति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः। (३।४।१)

'यह तेरा आत्मा ही सर्वान्तर है।' उषस्तने पूछा—'वह सर्वान्तर कौन-सा है?' याज्ञवल्क्यने कहा—'जो प्राणसे प्राणक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, जो अपानसे अपानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, जो व्यानसे व्यानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, जो उदानसे उदानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है।'

उषस्तने फिर पूछा कि वह सर्वान्तर कौन-सा है। तब याज्ञवल्क्य पुनः बोले—

'...सर्वान्तरः। न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारꣳ शृणुया न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः। एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम।' (३।४।२)

'यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है। तू उस दृष्टिके द्रष्टाको नहीं देख सकता, श्रुतिके श्रोताको नहीं सुन सकता, मतिके मन्ताका मनन नहीं कर सकता, विज्ञातिके विज्ञाताको नहीं जान सकता। तेरा यह आत्मा सर्वान्तर है, इससे भिन्न आर्त (नाशवान्) है।' यह सुनकर चाक्रायण उषस्त चुप हो गया।

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे

व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः । कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति ।

(३ । ५ । १)

'इसके पश्चात् कौषीतकेय कहोलने 'हे याज्ञवल्क्य !' (इस प्रकार सम्बोधित करके) कहा—'जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी तुम मेरे प्रति व्याख्या करो ।' इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—'यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है ।' कहोलने पूछा—'याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्तर कौन-सा है ।' तब याज्ञवल्क्यने कहा—'जो क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्युसे परे है (वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है) ।'

फिर आरुणि उद्दालकने याज्ञवल्क्यसे कहा—'यदि तुम उस सूत्र और अन्तर्यामीको नहीं जानते हो और फिर भी ब्रह्मवेत्ताकी स्वभूत गौओंको ले जाओगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा ।' याज्ञवल्क्यने उत्तरमें कहा—'मैं उस सूत्र और अन्तर्यामीको जानता हूँ ।

हे गौतम ! वायु ही वह सूत्र है, इस वायुरूप सूत्रके द्वारा ही यह लोक, परलोक और समस्त भूतसमुदाय गुँथे हुए हैं ।' तब इसका समर्थन करते हुए उद्दालकने अन्तर्यामीका वर्णन करनेको कहा ।

याज्ञवल्क्यने कहा—

'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।'

(३ । ७ । ३)

'जो पृथ्वीमें रहनेवाला पृथ्वीके भीतर है; जिसे पृथ्वी नहीं जानती, जिसका पृथ्वी शरीर है और जो भीतर रहकर पृथ्वीका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।

तथा—

'अदृष्टो द्रष्टाश्रुतः श्रोतामतो मन्ताविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ।'

(३ । ७ । २३)

'वह दिखायी न देनेवाला किंतु देखनेवाला है, सुनायी न देनेवाला किंतु सुननेवाला है, मननका विषय न होनेवाला किंतु मनन करनेवाला है और विशेषतया ज्ञात न होनेवाला किंतु विशेषरूपसे जाननेवाला है । यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है । इससे भिन्न सब नाशवान् है ।' यह सुनकर अरुणपुत्र उद्दालक प्रश्न करनेसे निवृत्त हो गया ।

तदनन्तर वाचक्नवी गार्गीने तथा शाकल्य विदग्धने अनेकों प्रश्न किये, जिनके उत्तर याज्ञवल्क्यजीने तुरंत दे दिये । अन्तमें उन्होंने शाकल्यसे कहा—'अब मैं तुमसे उस औपनिषद पुरुषको पूछता हूँ, यदि तुम मुझे उसे स्पष्टतया नहीं बतला सकोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा ।' किंतु शाकल्य उसे नहीं जानता था, इसलिये उसका मस्तक गिर गया ।

फिर याज्ञवल्क्यने कहा—'पूज्य ब्राह्मणगण ! आपमेंसे जिसकी इच्छा हो, वह मुझसे प्रश्न करे अथवा आपसे मैं प्रश्न करूँ ।' किंतु उन ब्राह्मणोंका साहस न हुआ ।

इस विषयका रहस्य समझानेके लिये बृहदारण्यक-उपनिषद्में और भी कहा है—

स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयꣳ हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद । (४ । ४ । २५)

'वह यह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमृत, अभय एवं ब्रह्म है, निश्चय ही ब्रह्म अभय है, जो इस प्रकार जानता है, वह अवश्य अभय ब्रह्म ही हो जाता है ।'

यह 'त्वम्' पदके लक्ष्यार्थ समस्त दृश्यवर्गसे अतीत आत्मस्वरूप निर्विशेष ब्रह्मकी उपासनापर संक्षिप्त विचार हुआ ।

ऊपर बतलायी हुई इन उपासनाओंमेंसे किसीका भी भलीभाँति अनुष्ठान करनेपर मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है । पहले साधक भेद या अभेद—जिस भावसे उपासना करता है, वह अपनी रुचि, समझ तथा किसीके द्वारा उपदिष्ट होकर साधन आरम्भ करता है, परन्तु यदि उसका लक्ष्य सचमुच भगवान्को प्राप्त करना है; तो वह चाहे जिस भावसे उपासना करे, अन्तमें उसे भगवान्की प्राप्ति हो जाती है; क्योंकि सबका अन्तिम परिणाम एक ही है । गीतामें भी भगवान्ने बतलाया है—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

(५ । ५)

'ज्ञानयोगियोंके द्वारा जो परमधाम प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगियोंद्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है । इसलिये

जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोगको फलरूपमें एक देखता है, वही यथार्थ देखता है।'

और भी कहा है—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
(१३।२४)

'उस परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं; अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा और दूसरे कितने ही कर्मयोगके द्वारा देखते हैं अर्थात् प्राप्त करते हैं।'

गीता, उपनिषद् आदि शास्त्रोंमें जितने साधन बतलाये हैं, उन सबका फल—अन्तिम परिणाम एक ही है और वह अनिर्वचनीय है, जिसे कोई किसी प्रकार भी बतला नहीं सकता। जो कुछ भी बतलाया जाता है, उससे वह अत्यन्त विलक्षण है।

इस प्रकार यहाँ सगुण-निर्गुणरूप सच्चिदानन्दघन परमात्माकी भेदोपासना एवं अभेदोपासनापर बहुत ही संक्षेपसे विचार किया गया है। उपनिषदुक्त उपासनाका विषय बहुत ही विस्तृत और अत्यन्त गहन है। स्थान-सङ्कोचसे यहाँ केवल दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। सुरुचि-सम्पन्न जिज्ञासु पाठक इस विषयको विशेषरूपसे जानना चाहें तो वे उपनिषदोंमें ही उसे देखें और उसका यथायोग्य मनन एवं धारण कर जीवनको सफल करें।

ईशोपनिषद्में 'शक्तिकारणवाद'

(लेखक—श्री १०८ स्वामीजी महाराज)

सृष्टिके आदिकालसे ही मनुष्य अक्षय सुख और शान्तिकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करता रहा है। उसीका परिणाम धार्मिक जगत्में विस्तृत भिन्न-भिन्न सिद्धान्त एवं पन्थभेद हैं। प्रारम्भकालमें प्रत्येक पन्थमें अनेकता देखनेमें आती है। पर जब सतत अभ्याससे राग-द्वेष, आग्रह-अहङ्कार आदि अज्ञानजन्य दोष निवृत्त हो जाते हैं तथा वास्तविकता झलकने लगती है, तब भेदभावका मूल्य जाता रहता है और सर्वत्र एक तत्त्वका ही अनुगम होने लगता है। इस प्रसङ्गको वैदिक साहित्यके मूर्धन्य उपनिषद्-ग्रन्थोंमें जिस प्रकारसे उपस्थित किया गया है, वैसा अन्यत्र कहीं भी मिलना अत्यन्त दुर्लभ है।

सनातन कालसे ही तत्त्वज्ञानियोंने परमतत्त्वको भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंसे अनुभव किया है एवं उसीके अनुसार चलकर उन्होंने सिद्धि प्राप्त की है; क्योंकि चरम लक्ष्यकी प्राप्ति उसी परम तत्त्वकी उपलब्धिमें है और उसीमें अक्षय सुख एवं शान्ति है। पिता, बन्धु, सखा आदि भावोंके आलम्बनसे जिस प्रकार सम्बन्ध जोड़कर हम उसे पहचानते हैं, वैसे ही मातृभावसे भी उसे प्राप्त करते हैं, इसीका परिणाम शक्तिकी उपासना है जो कि सनातन कालसे ही हमारे देशमें प्रचलित है और कृपा, दया, करुणा, स्नेह आदि भावोंकी अभिव्यक्तिके लिये उपासनामार्गमें अपना श्रेष्ठ स्थान रखती है। स्वामी श्रीरामतीर्थजीने अपने अमेरिकाके एक व्याख्यानमें इसे बड़े ही सुन्दर शब्दोंमें यों कहा है—

"In this country you worship God as the Father—'My Father which art in Heaven'. But in India God is worshipped not only as the Father but as the Mother also. The Mother is the dearest word in the Indian language (Mātājī), the blessed God the dearest God."

"इस देशमें आप सब ईश्वरकी उपासना पिताके रूपमें करते हैं, जो कि स्वर्गमें रहता है; पर हिंदुस्थानमें पिताके ही रूपमें उसकी उपासना नहीं होती है, बल्कि उसे माताके रूपमें भी पूजते हैं। भारतीय भाषामें 'माताजी' यह अत्यन्त प्रिय शब्द है। यह परम कल्याणका करनेवाला परम प्रिय ईश्वरतत्त्व है!"

शक्तितत्त्व

नाम-रूपसे व्यक्त सभी पदार्थोंमें शक्तितत्त्व धर्म या गुणरूपसे व्यक्त हो रहा है, इसीसे पदार्थका परिचय होता है और उसका व्यवहार किया जाता है। यह तत्त्व परम सत्ता—ब्रह्ममें अपृथक् रूपसे विद्यमान है। उपनिषद्के ऋषियोंने बतलाया है—**'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्'** वास्तवमें यह तत्त्व देवकी स्वरूपशक्ति है। देवको अचलरूपसे अपनी सत्तामें धारण किये हुए है। यह पदार्थ शक्तिके सिवा भिन्न नहीं हो सकता। इसीलिये आचार्यप्रवर श्रीशङ्करस्वामीने कहा है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं

न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि।
(सौ० ल०)

शक्तियुक्त ब्रह्म ही कार्य करनेमें समर्थ होता है, अन्यथा वह कुछ भी नहीं कर सकता। ब्रह्मवाद निरीह, निष्क्रिय, निरञ्जन आदि लक्षणोंवाले परम तत्त्वको बतलाता है; परंतु ऐसे लक्षणोंवाले तत्त्वसे सृष्टि-कार्य नहीं हो सकता, न उससे सृष्टिका संकल्प ही बन सकता है, न उसमें आविर्भाव-तिरोभाव ही हो सकते हैं। अतएव शक्ति-पदार्थको ही जगत्का कारण मानना पड़ता है। इस मतमें ब्रह्म जीवको भी अन्ततोगत्वा धर्मी शक्तिके रूपमें अङ्गीकार कर लिया गया है। इस प्रकार सारा विश्व शक्तिमयके रूपमें ही दृष्टिगोचर होता है—

'सर्वं शाक्तमजीजनत्' (बह्वृच०)

इस श्रुतिका भाव ही सर्वत्र अनुभूत होता है। 'ईशावास्यमिदम्' इसी अभिप्रायका द्योतक है। इसलिये शक्तिकारणवाद ही युक्तिसङ्गत सिद्धान्त है। 'तदेजति तन्नैजति' इत्यादि मन्त्रका अर्थ ब्रह्मवादसे ठीक सङ्गत नहीं लग सकता, क्योंकि 'एजृ कम्पने'का अर्थ क्रियापरक ही है। निष्क्रिय ब्रह्मवादमें यह असम्भव है। इसकी यथार्थ सङ्गति शक्तिकारणवादसे ही लग सकती है। इसी प्रकार अन्य मन्त्रोंका अर्थ भी समझना चाहिये। द्वैत-विशिष्टाद्वैतवादोंमें तो शक्तिपदार्थ माना ही जाता है। शक्तिवादके सर्वथा विपरीत मायावादमें भी इसे मानना ही पड़ा है। स्वामी श्रीविद्यारण्यने कहा है—

वस्तुधर्मा नियम्येरन् शक्त्या नैव यदा तदा।
अन्योन्यधर्मसाङ्कर्यादविप्लवेत् जगत्खलु॥
(पं० द० ३।३९)

'वस्तुधर्मको नियमन करनेवाली यदि शक्ति न हो तो परस्पर अन्योन्य धर्मका संकर होकर जगत् नष्ट हो जायगा।' शक्तिपदार्थ स्वसत्ताशून्य मिथ्या होकर जगत्का नियामक कैसे हो सकता है, यह एक विचारणीय बात इस मतमें है। शाक्तसिद्धान्तमें शक्तिपदार्थ स्वतन्त्र सच्चिदानन्दस्वरूप माना गया है। इसीके अनुसार ईशोपनिषद्का अर्थ कैसे संगत होता है, इसे यहाँ बताते हैं।

उपनिषदर्थ-संगति

काण्व-माध्यन्दिनी दोनों शाखाओंके पाठानुसार इस उपनिषद्में एक ही तत्त्वका प्रतिपादन हुआ है। यद्यपि दोनोंके पाठोंमें शब्दकृत अनेक भेद हैं तथापि मौलिक अर्थमें भेद नहीं है। उपक्रमोपसंहारन्यायसे एक ही पराशक्तिसे आरम्भ करके उसीमें उपसंहार किया गया है। 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' इस मन्त्रमें 'ईशाया आवास्यम्' ऐसा अर्थ लेनेसे 'ईशा' पराशक्तिरूप परब्रह्मका अभिन्न रूप ही यहाँ अभिप्रेत होता है; इसी पराशक्तिका यह सारा संसार वासस्थान है। इसमें त्याग-रूपसे अर्थात् उसीका सब कुछ है, उसके प्रसादरूपसे ही भोग्य-वस्तुओंका ग्रहण कर मुमुक्षुको अपना निर्वाह करना चाहिये। 'ददाति प्रतिगृह्णाति'के अनुसार ही परम सिद्धि प्राप्त होती है। यह अर्थ उपक्रमसे कथन कर उपसंहारमें 'योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि' (१६) इस मन्त्रांशके द्वारा पराशक्तिमें ही उपसंहार किया गया है। 'सोऽहम्' यह पराशक्तिका वाचक है।

सकारः शक्तिरूपः स्याद्धकारः शिवरूपकः।
उभयोरैक्यमादाय पराशक्तिरुदीर्यते॥

इस तन्त्रवचनसे यह स्फुट होता है। प्रथम मन्त्रमें जो तत्त्व कहा गया है उसे जान लेनेपर संसारमें कर्म करते हुए भी साधक निर्लिप्त रहता है, यह दूसरे मन्त्रका अर्थ है। तीसरे मन्त्रमें आत्मज्ञानकी आवश्यकता बतायी गयी है। चौथे-पाँचवें मन्त्रोंमें परमात्माका स्वरूपलक्षण बताया गया है, छठे-सातवेंमें आत्मज्ञानका फल शोक-मोहकी निवृत्तिरूप कहा गया है। आठवेंमें जगत्के सञ्चालक सगुण रूपको बताया गया है। इस प्रकार प्रथम वर्णके आठ मन्त्रोंका है। शक्तिका निर्देश प्रायः स्त्रीलिङ्ग शब्दोंसे ही होता है; परंतु यह नियम नहीं है कि पुँल्लिङ्ग, नपुंसकलिङ्गका प्रयोग उसके विषयमें वर्जित हो। कवि कालिदासने कहा है—

न त्वमम्ब पुरुषो न चाङ्गना चित्स्वरूपिणि न षण्ढतापि ते।
नापि भर्तुरपि ते त्रिलिङ्गिता त्वां विना न तदपि स्फुरेदयम्॥

इसलिये इन उक्त आठों मन्त्रोंमें पुँल्लिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग शब्दोंका प्रयोग उक्त अर्थकी सिद्धिमें विरुद्धताका आपादक नहीं हो सकता।

दूसरे वर्णकमें विद्या-अविद्या, सम्भूति-असम्भूतिके रहस्यका वर्णन छः मन्त्रोंमें किया गया है। निर्देश तथा अर्थके अनुसार यह अर्थ शक्तिपरक ही है। शेष तीन मन्त्रोंमें उक्त अर्थका उपसंहार करके शक्ति-तत्त्वमें पर्यवसान किया गया है; एवं अद्वैतकी सिद्धिके लिये जीव-तत्त्वका अभेद 'अस्मि' क्रियापदसे बताया गया है। अन्तिम मन्त्रमें क्रममुक्तिके प्रापक मार्ग (देवयान)को बताया है, जो मध्यमाधिकारियोंके लिये कहा गया है। ईशा, विद्या, अविद्या, सम्भूति, असम्भूति, सोऽहम् आदि शक्तिवाचक अनेकों पदोंका प्रयोग उक्त अर्थको

निःसन्दिग्धरूपसे सिद्ध करता है, जिससे ईशोपनिषद्का तात्पर्य 'शक्ति-कारणवादमें' स्पष्ट हो जाता है।

विद्या, अविद्या, सम्भूति, असम्भूति

'विद्या-अविद्या' आदि प्रतिपादन करनेवाले छः मन्त्रोंके अर्थ उपनिषद्के भाष्यकारोंने भिन्न-भिन्न रीतिसे परस्पर विलक्षण रूपसे किये हैं। कोई समुच्चयवादके अनुसार, कोई क्रमसमुच्चयके अनुसार, तो कोई कुछ, तो कोई कुछ। सम्भूति-असम्भूतिका भी अर्थ ऐसे ही किया गया है—कोई विज्ञानवादके खण्डनमें करते हैं, तो कोई प्रतिमा-पूजनके निषेधमें। इन अर्थोंपर दृष्टि डालते हैं तो इनका अभिप्राय समझना एक दुरूह कार्य प्रतीत होता है। 'ललितासहस्रनाम'के 'सौभाग्य-भास्कर' भाष्य करनेवाले स्वनामधन्य आचार्य भास्करररायने 'विद्याविद्यास्वरूपिणी' इस नामकी जो विलक्षण व्याख्या की है उसे यहाँ देते हैं, जिससे इसका यथार्थ अर्थ समझा जा सकता है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

इति श्रुतौ प्रसिद्धे विद्याविद्ये, विद्या स्वात्मरूपं ज्ञानम् अविद्या चरमवृत्तिरूपं ज्ञानं तदुभयं स्वरूपमस्याः। उक्तं च बृहन्नारदीये—

तस्य शक्तिः परा विष्णोर्जगत्कार्यपरिक्षमा।
भावाभावस्वरूपा सा विद्याविद्येति गीयते॥

इति देवीभागवतेऽपि ब्रह्मैव सातिदुष्प्रापा विद्याविद्यास्वरूपिणीति। तत्रैव स्थलान्तरे 'विद्याविद्येति देव्या द्वे रूपे जानीहि पार्थिव। एकया मुच्यते जन्तुरन्यया बध्यते पुनरिति। यद्वा विद्यैव चरमवृत्तिरूपं ज्ञानम्, अविद्या भेदभ्रान्तिरूपं ज्ञानं स्वपरब्रह्मात्मकं ज्ञानम्। स्वपदस्यात्मवाचित्वात् स्वं ज्ञातावात्मनीति कोशात्, एतत्त्रयं रूपमस्याः। उक्तं च लैङ्गे—

भ्रान्तिर्विद्या परं चेति शिवरूपमिदं त्रयम्।
अर्थेषु भिन्नरूपेषु विज्ञानं भ्रान्तिरुच्यते॥
आत्माकारेण संवित्तिर्बुधैर्विद्येति कथ्यते।
विकल्परहितं तत्त्वं परमित्यभिधीयते॥
इति।

अर्थात् 'विद्यां चाविद्यां च' इस मन्त्रमें विद्याविद्या प्रसिद्ध है। विद्या स्वात्मरूप ज्ञान और अविद्या चरमवृत्तिरूप 'अहं ब्रह्मास्मि' का ज्ञान—ये दोनों जिसके स्वरूप हैं, उसे विद्याविद्या कहते हैं। परोक्षापरोक्ष ज्ञान भी वेदान्तमें इसकी संज्ञा है। बृहन्नारदीयमें कहा है—'उस परमात्माकी पराशक्ति जगत्कार्य करनेमें समर्थ है। वह भाव-अभाव रूपवाली विद्या-विद्या शब्दसे कही जाती है।' देवीभागवतमें भी कहा है—'वह दुष्प्राप्य पराशक्ति ब्रह्म ही है। वह विद्याविद्यास्वरूपवाली है।' वहीं दूसरे स्थलपर कहा है—'हे राजन्! विद्याविद्या दो रूप देवीके हैं, एकसे प्राणी मुक्त होता है और दूसरेसे बँधता है। अथवा विद्या ही चरमवृत्तिरूप ज्ञान है। भेद-भ्रान्तिरूप ज्ञान अविद्या है, 'स्व' परब्रह्म ज्ञान—ये तीनों जिसके स्वरूप हैं 'स्व'पद आत्माका वाचक है।' लिङ्गपुराणमें कहा है—'भ्रान्ति, विद्या और पर—ये तीन रूप शिवके हैं। पदार्थोंमें भेदबुद्धिरूप जो ज्ञान है, वह 'भ्रान्ति' है। आत्माकार अनुभव 'विद्या' है, विकल्परहित तत्त्व 'पर' है।' इन पुराण-वचनोंसे विद्याविद्याका अर्थ व्यक्त हो जाता है, जिसे महर्षि व्यासने भिन्न-भिन्न प्रसङ्गोंपर पुराणोंमें व्याख्यान किया है—

सम्भूति-असम्भूति साकार-निराकार उपासनाके द्योतक हैं। उत्तरगीतामें इसी रूपमें माना गया है। जिस तरह परोक्षापरोक्ष ज्ञानका साहचर्य है, ऐसा ही सम्भूति-असम्भूतिका भी साहचर्य अभिप्रेत है। ऐसा अर्थ माननेपर स्वाभाविक अर्थसंगति लग जाती है। लिङ्गपुराणमें ज्ञानके जो तीन भेद कहे गये हैं, उनकी संगति इस उपनिषद्में बैठ जाती है। आठ मन्त्रतक तत्त्व-ज्ञान, छः मन्त्रोंमें विद्याविद्याका ज्ञान और शेष अविद्यामें ही पर्यवसित हैं।

उपसंहार

संक्षिप्त रूपमें पराशक्तिका ईशोपनिषत्प्रतिपादित जो क्रम यहाँ बताया गया है, उसका समन्वय वेदान्तवाक्योंमें भी है, जिसे देवीभागवत आदि शक्तिके पुराण-ग्रन्थ एवं तन्त्रोंमें माना गया है। उसके अध्ययन करनेवाले पाठक इससे भलीभाँति परिचित हैं। इस संकेतमात्रसे यद्यपि सर्वथा समाधान होना अशक्य है, तथापि विचारकोंके लिये एक मार्ग अवश्य निर्दिष्ट हो जाता है; जिसे कोई समानधर्मा पूर्ण कर सकेगा। ॐ शम्।

प्रेषक—पं० श्रीरेवाशंकरजी त्रिपाठी, श्रीपीताम्बरापीठ

ब्रह्म और ईश्वरसम्बन्धी औपनिषदिक विचार

(लेखक—दीवानबहादुर श्री के० एस्० रामस्वामी शास्त्री)

आज दो ऐसी धारणाओंका अस्तित्व देखनेमें आ रहा है, जिनसे हिंदुत्वके अन्तःप्रासादमें भी दरारें पड़ गयी हैं। उनसे हिंदुत्वकी अखण्डता संत्रस्त हो रही है। यहाँ उन्हींकी समीक्षा करनेका विचार है। पहली धारणा यह है कि श्रीशङ्कराचार्यके अद्वैत-वेदान्तने हिंदूधर्ममें एक नये सम्प्रदाय-को जन्म दिया और यह प्रस्थानत्रयके तीनों अङ्ग उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीतामेंसे किसीके द्वारा भी अनुमोदित नहीं है। दूसरी धारणा यह है कि हिंदू-दर्शनके अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और द्वैत—ये तीनों सम्प्रदाय परस्परविरोधी हैं, और हिंदूधर्मका कोई अविकल रूप नहीं है वरं कई बेमेल मान्यताओंका यह एक अदृढ समुदायमात्र है। शक्तिहीन और अब अस्तित्वहीन राष्ट्रसङ्घ (League of Nations) के ही समरूप यह एक दुर्बल धर्मसङ्घ है। पर यथार्थ तो कुछ और ही है। ये दोनों धारणाएँ बिल्कुल झूठी हैं। सम्प्रदाय और श्रुति दोनों अद्वैत-वेदान्तका पूर्णरूपसे अनुमोदन करते हैं और अद्वैत, विशिष्टाद्वैत एवं द्वैत—ये तीनों ही किसी अखण्ड और एक ही धर्मके विभिन्न अङ्ग हैं, ठीक उसी तरह, जैसे शिव, विष्णु और ब्रह्मा—ये त्रिमूर्तियाँ वास्तवमें तीन रूपोंवाली एक ही मूर्ति हैं (कालिदास कुमारसम्भवमें कहते हैं—**'एकैव मूर्तिर्बिभिदे त्रिधा सा'**)। इस एक मूर्तिकी सबसे सुन्दर अभिव्यञ्जना शायद भगवान् दत्तात्रेयके सम्मिलित रूपमें हुई है।

पहले पहली धारणाको कसौटीपर रखते हैं। वास्तविक बात तो यह है कि श्रीशङ्कराचार्यजीने स्वयं सम्प्रदायके अनुगमनमें विशेष गौरव माना है। वे कहते हैं—

असम्प्रदायवित् सर्वशास्त्रविदपि मूर्खवदुपेक्षणीयः।

'सम्प्रदायको न जाननेवाला सब शास्त्रोंका पण्डित भी मूर्खके समान उपेक्षणीय है।' अपने तैत्तिरीयोपनिषद्के भाष्यारम्भमें वे कहते हैं—

यैरिमे गुरुभिः पूर्वं पदवाक्यप्रमाणतः।
व्याख्याताः सर्ववेदान्तास्तान्नित्यं प्रणतोऽस्म्यहम्॥

पूर्वकालमें जिन गुरुजनोंने पद, वाक्य और प्रमाणोंके विवेचनपूर्वक इन सम्पूर्ण वेदान्तों (उपनिषदों) की व्याख्या की है, उन्हें मैं सर्वदा नमस्कार करता हूँ। उनके कथनानुसार सूत्रोंमें श्रुतिका सार है और उनके भाष्यमें प्रस्थानत्रयकी सम्प्रदायगत व्याख्याको ही प्रकट किया गया है।

'वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात् सूत्राणाम्।'

(सूत्रभाष्य)

'तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूते दुर्विज्ञेयार्थम्'

(गीताभाष्य)

फिर श्रीशङ्कराचार्यने बार-बार इस बातको आग्रह-पूर्वक कहा है कि ईश्वरविषयक ज्ञानका एकमात्र एवं सर्वश्रेष्ठ साधन श्रुति है। इसका अनुकूल तर्कसे समर्थन प्राप्त होना चाहिये तथा जिज्ञासुको अनुभव, अवगति अथवा साक्षात्कार आदि नामोंसे वाच्य स्थितिको प्राप्त करा देनेकी इसमें शक्ति होनी चाहिये। वे वेदोंको स्वतःप्रकाश और स्वतःप्रमाण मानते थे और इसकी घोषणा भी करते थे।

'वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव रूपविषये।'

शङ्करके मतमें निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म एक ही वस्तु-के दो रूप हैं। स्वरूप-दृष्टिसे वे निर्गुण हैं और जगत्के सम्बन्धसे वे सगुण हैं। अपने स्वरूपलक्षण तथा तटस्थलक्षणके सिद्धान्तद्वारा वे एक अनन्त, सनातन आनन्दतत्त्वमें द्वैतकी उद्भावना किये बिना भी विभेदकी स्थापना करनेमें समर्थ हुए हैं। निम्नलिखित श्रुतिवाक्योंसे इस विषयका यथार्थ निर्णय हो जाता है। विशिष्टाद्वैती अथवा द्वैती इनकी किसी और प्रकारसे व्याख्या नहीं कर सकते।

यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्
.....केन कं विजानीयात्।

(बृहदारण्यक० ४। ५। १५)

'जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ किसके द्वारा किसे देखे..... और किसके द्वारा किसे जाने।'

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

(छान्दोग्य० ६। १। ४)

'विकार केवल वाणीके आश्रयभूत नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है।'

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति

स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद् विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् ।

(छान्दोग्य० ७ । २४ । १)

'जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता तथा कुछ और नहीं जानता—वह भूमा है; किंतु जहाँ कुछ और देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ और जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है, वही अमृत है और जो अल्प है, वही मर्त्य है ।'

इदꣳ सर्वं यदयमात्मा ।

(बृहदारण्यक० २ । ४ । ६; ४ । ५ । ७)

'यह सब आत्मा ही है ।'

आत्मैवेदं सर्वम् । (छान्दोग्य० ७ । २५ । २)

'आत्मा ही यह सब है ।'

ब्रह्मैवेदꣳ सर्वम् । (नृसिंह० ७ । ३)

'ब्रह्म ही यह सब है ।'

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।

(छान्दोग्य० ६ । २ । १)

'हे सोम्य ! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था ।'

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।

(केन० १ । ५ । ८)

'उसीको तू ब्रह्म जान । जिसकी लोक उपासना करता है, वह ब्रह्म नहीं है ।'

प्रज्ञानं ब्रह्म । (शु० र० २ । १)

'प्रज्ञान ही ब्रह्म है ।'

तत्त्वमसि ।

(छान्दोग्य० ६ । ८ । ७; ६ । ९ । ४; ६ । १४ । ३)

'वही तू है ।'

अयमात्मा ब्रह्म । (बृहदारण्यक० २ । ५ । १९)

'यह आत्मा ही ब्रह्म है ।'

अहं ब्रह्मास्मि । (बृहदारण्यक० १ । ४ । १०)

'मैं ब्रह्म '

इसी प्रकार यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि बादरायणके ब्रह्मसूत्र इस बातपर जोर देते हैं कि परमात्मा ही जगत्का स्रष्टा, पालक और संहारकर्ता है और जीवात्मा परमात्मासे प्रेरित एवं नियन्त्रित हुआ गतागतके चक्रमें तबतक घूमा करता है जबतक कि ब्रह्मलोकमें पहुँचकर अनावृत्तिको नहीं प्राप्त हो जाता । पर वे आत्मा एवं परमात्माकी आत्यन्तिक, वास्तविक, आन्तरिक एवं नैसर्गिक एकतापर भी जोर देते हैं और इस बातकी घोषणा करते हैं कि जगत्की प्रातिभासिक सत्ता ब्रह्मकी पारमार्थिक सत्तापर अवलम्बित है तथा मूलतः दोनों एक ही हैं ।

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः । (ब्रह्म० २ । १ । १४)

—सूत्रकी व्याख्या करते हुए अपने भाष्यमें श्रीशङ्कराचार्यजी कहते हैं—

तस्माद् यथा घटकरकाद्याकाशानां महाकाशानन्यत्वम्, यथा च मृगतृष्णिकोदकादीनामूषरादिभ्योऽनन्यत्वं दृष्टस्वरूपत्वात् स्वरूपेणानुपाख्यत्वात्, एवमस्य भोग्यभोक्त्रादिप्रपञ्चजातस्य ब्रह्मव्यतिरेकेणाभाव इति द्रष्टव्यम् । ·····सूत्रकारोऽपि परमार्थाभिप्रायेण तदनन्यत्वमित्याह ।··· ····· अप्रत्याख्यायैव कार्यप्रपञ्चं परिणामप्रक्रियां चाश्रयति ।

इसलिये जैसे घटाकाश, करकाकाश आदि महाकाशसे अभिन्न हैं, जैसे जल-सी भासनेवाली मृगतृष्णा ऊषरसे अभिन्न है, क्योंकि उनका स्वरूप दृष्टिगोचर होकर नष्ट हो जाता है और वे सत्तारहित हैं, उसी प्रकार यह भोक्तृ, भोग्य आदि प्रपञ्च ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, ऐसा समझना चाहिये । ··· सूत्रकार भी परमार्थके अभिप्रायसे 'तदनन्यत्वम्०' (कार्य-कारणका अनन्यत्व—अभेद है) ऐसा सूत्रमें कहते हैं ।····· और कार्य-प्रपञ्चका प्रत्याख्यान किये बिना परिणाम-प्रक्रियाका आश्रयण करते हैं ।

श्रीभगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत । (१३ । २)

'हे अर्जुन ! तू सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझे ही जान ।'

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः । (१० । २०)

'हे अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ ।'

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ (१३ । १२)

'वह अनादिवाला परमब्रह्म न सत् ही कहा जाता है, न असत् ही ।'

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः । (१३ । ३१)

'हे अर्जुन ! अनादि होनेसे और निर्गुण होनेसे यह अविनाशी परमात्मा शरीरमें स्थित होनेपर भी वास्तवमें न तो कुछ करता है और न लिप्त ही होता है ।'

इस प्रकार निर्गुण ब्रह्मकी सत्ताको स्वीकार करते हुए भी जिसकी स्वीकृति हमें कांट, हेगेल, शोपेनहर, ब्रैड्ले, बोसैन्के प्रभृति पश्चिमी विचारकोंके दर्शनोंमें भी मिलती है, श्रीशङ्करको सगुण ब्रह्मकी भक्तिकी परम महिमाको स्वीकार करनेमें कोई कठिनाई नहीं हुई। वास्तवमें वे भगवान्‌के सबसे बड़े भक्त हैं। 'भज गोविन्दम्, हरिमीडे' आदि अपने भक्तिपूर्ण स्तोत्रोंमें ही नहीं, वरं अपने प्रकरण-ग्रन्थोंमें भी उन्होंने इस सत्यको निर्भ्रान्तरूपसे स्पष्ट कर दिया है। उनके प्रबोध-सुधाकरमें श्रीकृष्णका परमानन्दसे ओतप्रोत वर्णन और स्तवन है। उसी ग्रन्थमें वे आगे चलकर ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्गका अन्तर बतलाते हुए कहते हैं कि दूसरेकी अपेक्षा पहला मार्ग दुर्गम और जटिल है, पर दोनोंसे जिस-जिस आनन्दकी प्राप्ति होती है वे दो प्रकारके होते हुए भी अनन्त, भेदरहित, परम और सनातन हैं। श्रीकृष्ण ही मूर्तब्रह्म भी हैं और अमूर्तब्रह्म भी। इसलिये हमारी इच्छा या योग्यताके अनुरूप वे हमें या तो सायुज्य प्रदान करते हैं, या कैवल्य।

मूर्तं चैवामूर्तं द्वे एव ब्रह्मणो रूपे ॥१६९॥
इत्युपनिषत्तयोर्वा द्वौ भक्तौ भगवदुपदिष्टौ।
क्लेशादक्लेशाद्वा मुक्तिः स्यादेतयोर्मध्ये ॥१७०॥
.....

श्रुतिभिर्महापुराणैः सगुणगुणातीतयोरैक्यम्।
यत्प्रोक्तं गूढतया तदहं वक्ष्येऽतिविशदार्थम् ॥१९४॥
भूतेष्वन्तर्यामी ज्ञानमयः सच्चिदानन्दः।
प्रकृतेः परः परात्मा यदुकुलतिलकः स एवायम् ॥१९५॥
.....

यद्यपि साकारोऽयं तथैकदेशी विभाति यदुनाथः।
सर्वगतः सर्वात्मा तथाप्ययं सच्चिदानन्दः ॥२००॥

'मूर्त (साकार) और अमूर्त (निराकार) दोनों ही ब्रह्मके रूप हैं—ऐसा उपनिषद् कहते हैं, और भगवान्‌ने भी उन दोनों रूपोंके (व्यक्तोपासक तथा अव्यक्तोपासकभेदसे) दो प्रकारके भक्त बताये हैं। इनमेंसे एक अव्यक्तोपासकको क्लेशसे और दूसरे व्यक्तोपासकको सुगमतासे मुक्ति मिलती है।'

'श्रुतियों और महापुराणोंने जो सगुण और निर्गुणकी एकता गूढभावसे कही है, उसीको मैं स्पष्ट करके बतलाता हूँ। जो ज्ञानस्वरूप, सच्चिदानन्द, प्रकृतिसे परे परमात्मा सब भूतोंमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित है, ये यदुकुलभूषण श्रीकृष्ण वही तो हैं।'

'यदुनाथ श्रीकृष्णचन्द्र यद्यपि साकार हैं और एकदेशी-से दिखायी देते हैं, तथापि सर्वव्यापी, सर्वात्मा और सच्चिदानन्द-स्वरूप ही हैं।'

इसको मैं गीताके इन दो प्रसिद्ध श्लोकोंकी सर्वोत्तम व्याख्या समझता हूँ।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
(१२ । ४-५)

'वे सम्पूर्ण भूतोंके हितमें रत योगी मुझको ही प्राप्त होते हैं। किंतु उन सच्चिदानन्दघन निराकार ब्रह्ममें आसक्तचित्त-वाले पुरुषोंके साधनमें परिश्रम विशेष है।'

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
(१४ । २७)

'उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य-धर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका आश्रय मैं (श्रीकृष्ण) हूँ।'

इस छोटे-से लेखमें दूसरी भ्रामक धारणाका भी थोड़ेमें ही निराकरण करके सन्तोष करना है। जैसे त्रिमूर्तियाँ एक-दूसरेके प्रति विरुद्ध और संघर्षशील नहीं हैं, उसी प्रकार अद्वैत, विशिष्टाद्वैत एवं द्वैत भी परस्पर विरोधी अथवा एक-दूसरेके प्रति प्रहार करनेवाले सम्प्रदाय नहीं हैं। त्रिमूर्तियोंके पारस्परिक युद्ध-सम्बन्धी पुराणोंमें वर्णित कुछ कथाओंका प्रयोजन अन्धानुगमन और कट्टरताको प्रोत्साहन देना नहीं, वरं एक ही सच्चिदानन्दघन भगवान्‌के विभिन्न रूपोंमेंसे अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार माने हुए रूपविशेषमें भक्तिको घनीभूत करना है। श्रीव्यासजीने इन कथाओंको इसलिये नहीं लिखा है कि लोग उन्हें पढ़कर आपसमें सरफोड़ी करें, या एक-दूसरेको बुरा-भला कहें और ललकारते फिरें। उन्होंने तो केवल उसी विचार-बीजको विभिन्न रूपोंमें विस्तारके साथ पल्लवित किया है, जिससे प्रेरित होकर उपनिषदोंके द्रष्टा ऋषियोंने केनोपनिषद्‌में यह कहा था कि इन्द्र तथा अन्य देवताओंको परब्रह्मका ज्ञान उमाने कराया था। ब्रह्मकी एकताको ऋग्वेद बहुत पहले ही घोषित कर चुका था—**'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'** (एक ही सत्यको विद्वान् लोग अलग-अलग पुकारते हैं)। त्रिमूर्तियों-में व्यवहारको लेकर जो भेद है, वह उनकी तात्त्विक एकता-का बाध नहीं करता। यह बात वैसी ही है, जैसे वायसराय और गवर्नर-जनरलके कार्य अलग-अलग होते हुए भी वे इन

पदोंके अधिकारीकी एकताको नहीं मिटाते या जैसे जिला-न्यायाधीश और सेशन्स-जजके कार्य अलग-अलग होते हुए भी इन पदोंपर आसीन एक ही अधिकारीकी एकताको नहीं नष्ट करते।

मेरे विचारसे इसी प्रकार अद्वैत, विशिष्टाद्वैत एवं द्वैत सिद्धान्तोंकी एकता भी अक्षुण्ण है। यहाँ भी श्रीकृष्णकी वाणी सदाकी भाँति हमें समन्वयकी कुञ्जी प्रदान करती है—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥
(गीता ९। १५)

'दूसरे ज्ञानयोगी मुझ निर्गुण निराकार ब्रह्मका ज्ञानयज्ञके द्वारा अभिन्नभावसे पूजन करते हुए भी मेरी उपासना करते हैं, और दूसरे मनुष्य बहुत प्रकारसे स्थित मुझ विराट्‌रूप परमेश्वरकी पृथग्भावसे उपासना करते हैं।' सायुज्य और कैवल्यके स्वरूपमें कोई भेद नहीं है। विशिष्टाद्वैतीकी विदेह-मुक्ति अद्वैतीकी जीवन्मुक्तिका निराकरण नहीं करती। द्वैती तब भूल करता है, जब वह नित्यबद्ध और नित्य संसारी जीवोंकी बात कहता है। मोक्षके अधिकारी सभी हैं; परंतु इतना तो हम समझ सकते हैं कि जबतक प्राकृत शरीरका अध्यास बना है, तबतक श्रेणीविभाजन रहेगा ही और शुद्ध सात्त्विक अप्राकृत देहका अभिमान हो जानेपर श्रेणीविभाजन नहीं रहेगा, अपितु साम्यके रूपमें एकता हो जायगी (निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति)। किंतु इन अवस्थाओंका अनुभव असंप्रज्ञात समाधिमें निष्पन्न होनेवाली परमात्माके साथ आत्माकी अविकल एकाकारताके अनुभवका निराकरण नहीं करता। श्रीरामकृष्ण परमहंसके शब्दोंमें तालाबमें छोड़ देनेपर बिल्कुल भीग जानेपर भी कपड़ेकी गुड़िया अपनी आकृतिको बनाये रक्खेगी; परंतु चीनी अथवा नमककी गुड़िया अपने भिन्न आकारको तो खो ही देगी, वह तड़ागमें घुल-मिलकर उसीमें विलीन भी हो जायगी।

मेरी समझसे निम्नाङ्कित दो प्रसिद्ध श्लोक हमें उस धरातलपर पहुँचा देते हैं जहाँसे हम, जिन्हें आजकल लोग परस्पर प्रतिकूल, विरोधी और विनाशी समझते हैं, उनमें सामञ्जस्य, समता और एकताका अवलोकन कर सकते हैं।

दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत्।
देहबुद्ध्या तु दासोऽहं जीवबुद्ध्या त्वदंशकः।
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः॥

'आँखोंमें ज्ञानाञ्जन लगाकर संसारको ब्रह्ममय देखना चाहिये।'

'देहबुद्धिसे तो मैं दास हूँ, जीवबुद्धिसे आपका अंश ही हूँ और आत्म-बुद्धिसे मैं वही हूँ जो आप हैं। यही मेरी निश्चित मति है।'

इसीलिये तो ब्रह्मसूत्रके अध्याय दो, पाद तीनमें आत्माकी परमात्मासे पृथक्‌ता और उसपर निर्भरता बताकर सूत्रकार कहते हैं—

'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च।' (४। १। ३)

इस सूत्रपर भाष्य करते हुए श्रीशङ्कराचार्यजी अन्तमें कहते हैं—

'तस्मादात्मेत्येवेश्वरे मनो दधीत।'

इस कारण यह मेरा आत्मा ही है, इस प्रकार ईश्वरमें मन लगाना चाहिये।'

इस दृष्टिकोणके द्वारा सूत्रकारने बादरिकी इस मान्यताका कि, मोक्षकी अवस्थामें जीवात्माका मन और इन्द्रियोंसे सम्बन्ध छूट जाता है, जैमिनिके इस मतके साथ कि यह सम्बन्ध उस अवस्थामें भी बना रह सकता है, समन्वय किया है। बादरायण कहते हैं कि परमानन्द दो प्रकारका अर्थात् उभयविध होता है।

अभावं बादरिराह ह्येवम्॥ ४। ४। १०॥
भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्॥ ४। ४। ११॥
द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः॥ ४। ४। १२॥

श्रीशङ्कराचार्यजी इसपर अपने भाष्यमें स्पष्ट कहते हैं—

'बादरायणः पुनराचार्योऽत एवोभयलिङ्गश्रुतिदर्शनादुभयविधत्वं साधु मन्यते यदा सशरीरतां संकल्पयति, तदा सशरीरो भवति, यदा त्वशरीरतां तदाऽशरीर इति। सत्यसंकल्पत्वात्, संकल्पवैचित्र्याच्च।'

'परंतु बादरायण आचार्य इसीसे उभयलिङ्गकी श्रुति देखनेसे उभय प्रकारको साधु—उचित मानते हैं। जब सशरीरताका सङ्कल्प करता है, तब सशरीर होता है और जब अशरीरताका सङ्कल्प करता है तब अशरीर होता है, क्योंकि उसका सङ्कल्प सत्य है और सङ्कल्पका वैचित्र्य है।'

ऐसे प्रकरणोंके रहते हुए हमारे मध्यकालीन एवं अर्वाचीन सभी विवादोंका अन्त हो जाना चाहिये। हमें वास्तविक, अखण्ड, समग्र, प्रगतिशील महान् हिंदूधर्मका ज्ञान प्राप्त कर उसीका अनुगमन करना चाहिये।

पाश्चात्य विद्वानोंपर उपनिषदोंका प्रभाव

(लेखक—श्रीयुत बसन्तकुमार चट्टोपाध्याय एम्० ए०)

उपनिषदोंके सिद्धान्त इतने गूढ़ और सार्वभौम हैं कि उनका विद्वानोंपर, चाहे वे किसी देशके निवासी और किसी भी धर्मके अनुयायी क्यों न हों, गहरा प्रभाव पड़ा है। किसी दूसरे धर्मग्रन्थको इतर धर्मावलम्बियोंसे ऐसा हार्दिक और अकृत्रिम आदर नहीं प्राप्त हुआ है। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि उपनिषद् हिंदुओंके सर्वश्रेष्ठ धार्मिक ग्रन्थ हैं। प्रत्येक हिंदू, चाहे वह वैष्णव, शैव, शाक्त आदि किसी सम्प्रदायका क्यों न हो, उपनिषदोंको सबसे प्रामाणिक ग्रन्थके रूपमें अवश्य स्वीकार करता है। प्रत्येक हिंदूके धार्मिक विश्वासका आधार वेद हैं। वे अपौरुषेय हैं; अतएव उनमें भ्रम एवं प्रमादकी तनिक भी सम्भावना नहीं की जा सकती। और उपनिषद् वेदोंके सारभाग हैं। वेदोंके 'संहिता' एवं 'ब्राह्मण' भागोंमें अधिकतर छोटे-मोटे देवताओंका और बहुत थोड़े स्थलोंमें परब्रह्मका उल्लेख है; परंतु उपनिषद् तो परब्रह्म, उनके स्वरूप, जीवात्माके स्वरूप, ब्रह्मसाक्षात्कारके उपाय तथा ब्रह्मसाक्षात्कारके बाद जीवात्माकी स्थिति आदिके वर्णनसे भरे पड़े हैं। विदेशी विद्वान् उपनिषदोंमें बहुत-से ऐसे प्रश्नोंका समाधान पाकर चकित रह गये हैं, जिनका उत्तर अन्य धर्मों तथा दर्शनोंमें या तो उन्हें मिला ही न था और यदि मिला भी तो बहुत असंतोषजनक रूपमें। उदाहरणार्थ—ब्रह्म अथवा ईश्वरका स्वरूप क्या है? जीवात्मा किस तत्त्वसे बना है? संसारकी रचना किस तत्त्वसे हुई है? जीवकी स्वर्ग या नरकमें स्थिति कितने कालतक रहती है? उसके बाद क्या होता है? देहकी रचनाके पूर्व भी देहीका अस्तित्व था क्या? कुछ लोग जन्मसे ही सुखी और कुछ जन्मसे ही दुखी क्यों होते हैं? ये तथा इसी ढंगके कई अन्य प्रश्न ऐसे हैं जो सूक्ष्मदृष्टिसे दर्शनशास्त्रका अध्ययन करनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके मनमें अवश्य उठते हैं। वेदान्तदर्शनमें इनका इतना पूर्ण वैज्ञानिक एवं संतोषप्रद उत्तर है कि जिसका प्रत्येक जिज्ञासुके मनपर प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकता।

वेदान्तदर्शनकी महिमापर मुग्ध होनेवाले विदेशी विद्वानोंमें सबसे पहले थे—अरबदेशीय विद्वान् अलबेरूनी। ये ग्यारहवीं शताब्दीमें भारतमें आये थे। यहाँ आकर इन्होंने संस्कृत-भाषाका अध्ययन किया और उपनिषदोंकी सारस्वरूपा गीतापर ये लट्टू हो गये। यह ज्ञात नहीं कि इन्होंने उपनिषदोंका अध्ययन किया था या नहीं, पर गीताकी जो प्रशंसा इन्होंने की है, उसे उपनिषदोंकी ही तो प्रशंसा समझनी चाहिये।

मुगल-सम्राट् शाहजहाँका ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह अपने भाई औरंगजेबके समान कट्टर मुसल्मान नहीं था। उपनिषदोंकी कीर्ति सुनकर वह इतना प्रभावित हुआ कि उसने कई उपनिषदोंका फारसीमें अनुवाद करा डाला। इस फारसी अनुवादका फ्रांसीसी भाषामें पुनः अनुवाद हुआ। इस फ्रांसीसी अनुवादकी एक प्रति जर्मनीके प्रसिद्ध विद्वान् शोपेनहरके हाथ लगी। समस्त विदेशी विद्वानोंमें इन्होंने इन ग्रन्थोंकी सबसे अधिक प्रशंसा की है। वे कहते हैं—'सम्पूर्ण विश्वमें उपनिषदोंके समान जीवनको ऊँचा उठानेवाला कोई दूसरा अध्ययनका विषय नहीं है। उनसे मेरे जीवनको शान्ति मिली है। उन्हींसे मुझे मृत्युमें भी शान्ति मिलेगी[1]।' शोपेनहरके इन्हीं शब्दोंको उद्धृत करते हुए मैक्समूलरने कहा है—'शोपेनहरके इन शब्दोंके लिये यदि किसी समर्थनकी आवश्यकता हो तो अपने जीवनभरके अध्ययनके आधारपर मैं उनका प्रसन्नतापूर्वक समर्थन करूँगा[2]।' उपनिषदोंमें पाये जानेवाले अद्भुत सिद्धान्तोंका उल्लेख करते हुए शोपेनहरने फिर कहा है—'ये सिद्धान्त ऐसे हैं जो एक प्रकारसे अपौरुषेय ही हैं। ये जिनके मस्तिष्ककी उपज हैं, उन्हें निरे मनुष्य कहना कठिन है[3]।' वेद मनुष्यरचित नहीं हैं—अपितु अपौरुषेय हैं—इस मान्यताका कैसा अनूठा अनुमोदन है। पाल डायसन (Paul Deussen) नामक जर्मनीके एक अन्य विद्वान्ने उपनिषदोंका मूल संस्कृतमें अध्ययन करके उपनिषद्-दर्शन (Philosophy of the Upaniṣads) नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तकका निर्माण किया। उन्होंने लिखा है कि उपनिषदोंके भीतर, जो दार्शनिक कल्पना है, वह भारतमें तो अद्वितीय है ही,

1. "In the whole world, there is no study so elevating as that of the Upaniṣads. It has been the solace of my life. It will be the solace of my death."

2. "If these words of Schopenhauer required any confirmation I would willingly give it as a result of my life-long study."

3. "Almost superhuman conceptions whose originators can hardly be said to be mere men."

सम्भवतः सम्पूर्ण विश्वमें अतुलनीय है।[1] डायसनने यह भी कहा कि कांट और शोपेनहरके विचारोंकी उपनिषदोंने बहुत पहले ही कल्पना कर ली थी तथा सनातन दार्शनिक सत्यकी अभिव्यञ्जना मुक्तिदायिनी आत्मविद्याके सिद्धान्तोंसे बढ़कर निश्चयात्मक और प्रभावपूर्ण रूपमें कदाचित् ही कहीं हुई हो[2]।—(उपनिषद्-दर्शन Philosophy of the Upaniṣads) मैक्डानेलने लिखा है—'मानवीय चिन्तनाके इतिहासमें पहले-पहल बृहदारण्यक उपनिषद्में ही ब्रह्म अथवा पूर्ण तत्त्वको ग्रहण करके उसकी यथार्थ व्यञ्जना हुई है[3]।' फ्रांसीसी दार्शनिक विक्टर कजिन्स् लिखते हैं, जब हम पूर्वकी और उनमें भी शिरोमणिस्वरूपा भारतीय साहित्यिक एवं दार्शनिक महान् कृतियोंका अवलोकन करते हैं, तब हमें ऐसे अनेक गम्भीर सत्योंका पता चलता है, जिनकी उन निष्कर्षोंसे तुलना करनेपर, जहाँ पहुँचकर यूरोपीय प्रतिभा कभी-कभी रुक गयी है, हमें पूर्वके तत्त्वज्ञानके आगे घुटना टेक देना पड़ता है[4]।

जर्मनीके एक दूसरे लेखक और विद्वान् फ्रेडरिक श्लेगेल लिखते हैं—'पूर्वीय आदर्शवादके प्रचुर प्रकाशपुञ्जकी तुलनामें यूरोपवासियोंका उच्चतम तत्त्वज्ञान ऐसा ही लगता है, जैसे मध्याह्न-सूर्यके व्योमव्यापी प्रतापकी पूर्ण प्रखरतामें टिमटिमाती हुई अनलशिखाकी कोई आदि किरण, जिसकी अस्थिर और निस्तेज ज्योति ऐसी हो रही हो मानो अब बुझी कि तब।'[5]

उपनिषदोंके उदात्त विचारोंसे प्रभावित होनेवाले यूरोपके अत्यन्त अर्वाचीन लेखकोंमें ऐल्डूज़ हक्स्लेका नाम उल्लेखनीय है। उनका शाश्वत दर्शन (Perennial Philosophy) उनकी स्वीय अवगतिके अनुसार सनातन-धर्मकी ही एक व्याख्या है। उपनिषदोंके 'तत्त्वमसि'—इन शब्दोंने उन्हें अत्यन्त प्रभावित किया है। इनमें उन्हें जो विचार और जो आदर्श मिला है, वह किसी अन्य दर्शनशास्त्रमें नहीं प्राप्त हुआ।

पाश्चात्य विद्वानोंद्वारा उपनिषदोंकी प्रशंसाके विषयमें इस एक बातको समझ लेना आवश्यक है। यद्यपि उन्होंने आत्माकी सार्वभौम सत्ता आदि सत्य-सिद्धान्तोंकी सराहना की है पर कुछ विद्वानोंने उपनिषदोंके कई अंश तथा उपनिषदोंके अङ्गी वेदोंके भी कितने भागोंको नहीं समझ पाया है। इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है, क्योंकि वेदोंके सम्यक् ज्ञानके लिये केवल बुद्धि और विद्वत्ताकी (जो यूरोपीय विद्वानोंको प्राप्त है) ही आवश्यकता नहीं है, वरं आध्यात्मिक साधना एवं वेदाध्ययनकी परम्परा भी (जिनका यूरोपीय विद्वानोंके पास अभाव है) अपेक्षित है। उन्हें वैदिक-संस्कृतिकी परम्पराका परिचय नहीं है, और उनके अपने कुछ ऐसे प्राक्कल्पित विचार हैं, जिनके बन्धनसे वे मुक्त नहीं हो पाते। कुछकी तो कर्मकाण्डोंके प्रति बड़ी अपधारणा है तथा यज्ञोंके प्रति तो और भी। वैदिक देवताओंकी सत्तामें उन्हें स्वाभाविक ही विश्वास नहीं हो सकता। वैदिक देवताओं एवं यज्ञोंके प्रति अपनी अपधारणाका आरोप उन्होंने उपनिषदोंके द्रष्टा ऋषियोंमें भी कर डाला है। यद्यपि उपनिषदोंमें वैदिक देवताओंका उल्लेख भरा हुआ है तथा यह स्पष्ट लिखा है कि यज्ञोंके अनुष्ठानसे स्वर्गकी प्राप्ति हो सकती है और उनका निष्काम आचरण करके मनको शुद्ध एवं भगवत्साक्षात्कारके योग्य भी बनाया जा सकता है। फिर भी, अनेक यूरोपीय विद्वानोंका कथन है कि उपनिषदोंके ऋषियोंको वैदिक देवताओंकी सत्ता अथवा वैदिक यज्ञोंकी फलवत्तामें कोई विश्वास नहीं था। ऐसी उक्तियोंसे वेदोंकी निर्भ्रान्त सत्यताके सिद्धान्तको धक्का लगता है, जहाँसे वैदिक तत्त्वज्ञान और हिंदू-धर्मका प्रारम्भ होता है। शोक इस बातका है कि आधुनिक भारतीय विद्वानोंने भी, पाश्चात्योंके इन विचारोंकी बिना यथार्थताकी उचित परीक्षा किये ही पुनरावृत्ति की है। अतएव अपने उपनिषदोंका ज्ञान प्राप्त

1. "Philosophical conceptions unequalled in India, or perhaps anywhere else in the world."

2. "Eternal Philosophical truth has seldom found more decisive and striking expression than in the doctrine of the emancipating knowledge of the Ātmā."

3. "Brahman or Absolute is grasped and definitely expressed for the first time in the history of human thought in the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*."

4. "When we read the poetical and philosophical monuments of the East, above all those of India, we discover there many truths so profound and which make such a contrast with the results at which the European genius has sometimes stopped that we are constrained to bend the knee before the Philosophy of the East."

5. "Even the loftiest philosophy of the Europeans appears in comparison with the abundant light of ioxental idealism like a feeble Promethean spark in the full flood of the heavenly glory of the noonday sun—faltering and feeble and ever ready to be extinguished."

करनेके लिये हमें पाश्चात्य विद्वानोंके पास नहीं जाना चाहिये। इस कामके लिये हमें श्रीशंकर एवं श्रीरामानुज आदि महान् आचार्योंके ग्रन्थोंका अध्ययन करना चाहिये और किसी ऐसे गुरुकी सहायता लेनी चाहिये, जिसने विदेशी पद्धतिपर स्थापित विश्वविद्यालयोंमें नहीं, वरं प्राचीन परिपाटीके अनुसार शिक्षा देनेवाली भारतीय संस्थाओंमें उपनिषदोंका ज्ञान प्राप्त किया हो।

उपनिषदोंमें औदार्य

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० पी० के० आचार्य एम्० ए० (कलकत्ता), पी-एच्० डी० (लीडेन), डी-लिट्० (लंदन))

'ब्राह्मण' नामक कर्मकाण्डविषयक धार्मिक ग्रन्थ हैं। कर्मकाण्डकी पवित्रता व्यक्त करना ही उनका मुख्य उद्देश्य है। उनमें यज्ञोंके अनुष्ठानकी विधियाँ तथा वस्तुतत्त्वकी शास्त्रीय, पौराणिक धार्मिक अथवा दार्शनिक व्याख्या दी गयी है। इनमेंसे ब्राह्मणोंका पहला विषय कर्मकाण्ड है और दूसरा ज्ञानकाण्ड। पिछला भाग ब्राह्मणोंके अन्तमें आरण्यक नामसे जोड़ा गया है। आरण्यकोंका अध्ययन वानप्रस्थाश्रममें वनमें जाकर करनेका है, गाँवोंमें नहीं—जहाँ ब्रह्मचारी अपनी शिक्षा आरम्भ करता है तथा गृहस्थ अपने सांसारिक कर्तव्योंका पालन करता है। वास्तविक ब्राह्मणग्रन्थोंके प्रतिपाद्य विषयसे इन आरण्यकोंका मुख्य विषय भिन्न है। आरण्यकोंमें यज्ञानुष्ठानकी विधि और कर्मकाण्डकी व्याख्या नहीं है। इनमें तो यज्ञों और उनके करानेवाले ऋषियोंके दार्शनिक सिद्धान्तका आधिदैविक एवं आध्यात्मिक निरूपण है। प्राचीनतम उपनिषदोंमेंसे कुछ तो इन्हीं आरण्यकोंके अन्तर्गत हैं और कुछ उनके परिशिष्टस्वरूप हैं। और बहुधा आरण्यकों और उपनिषदोंके बीचकी सीमा निर्धारित करना बड़ा कठिन है।

ये ही ग्रन्थ वेदान्त अर्थात् वेदोंके अन्तिम भागके नामसे प्रसिद्ध हुए। यह नाम पड़नेका एक कारण यह है कि इनमेंसे अधिकांशकी रचना पीछेकी है और समयकी दृष्टिसे उनका स्थान वैदिक कालके अन्तमें पड़ता है। दूसरे, जिन गूढतम रहस्यों तथा आधिदैविक एवं दार्शनिक सिद्धान्तोंका आरण्यकों और उपनिषदोंमें प्रतिपादन हुआ है, उनका अध्ययन-अध्यापन स्वाभाविक ही शिक्षा-कालके अन्तिम भागमें होता था। तीसरे, वेदपाठके अन्तमें इनके पाठको एक पवित्र और धार्मिक कर्तव्य माना गया है। चौथे, पीछेके दार्शनिकोंको उपनिषदोंके सिद्धान्तोंमें वेदोंका अन्त नहीं, वरं उनका चरम तात्पर्य दिखायी दिया।

आरण्यकों और उपनिषदोंकी भाषा प्राचीन लौकिक संस्कृतसे बहुत मिलती-जुलती है। वेदों और ब्राह्मणोंकी भाँति इन्हें स्वरसहित पढ़नेका विधान नहीं है। भाषाकी दृष्टिसे प्राचीनतम उपनिषदोंका स्थान ब्राह्मणों एवं सूत्रग्रन्थोंके मध्यमें आता है।

कालकी दृष्टिसे उपनिषदोंको चार वर्गोंमें विभक्त किया गया है। जो इनमें सबसे पुराने हैं, उनको तो ईस्वी सन्-से ६०० वर्ष पहलेका माना जाता है, क्योंकि बौद्धधर्मने उनके कुछ मुख्य सिद्धान्तोंको आधाररूपमें मान लिया है। कालकी दृष्टिसे सबसे प्राचीन वर्गमें आनेवाले उपनिषद् हैं,—बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय और कौषीतकि—ये गद्यमें हैं, जिसकी शैली ब्राह्मणोंकी शैलीकी भाँति ही अपरिष्कृत है। दूसरी श्रेणीमें कठ, ईश, श्वेताश्वतर, मुण्डक और महानारायणको गिना जाता है। ये सब पद्यमय हैं। केन—जिसका कुछ अंश गद्यमय है और कुछ पद्यमय—इन दोनों श्रेणियोंके बीचका है। इनमें उपनिषदोंका सिद्धान्त विकासोन्मुख अवस्थामें नहीं है वरं विकसित होकर स्थिर हो गया है। तीसरी श्रेणीके प्रश्न, मैत्रायणीय और माण्डूक्य उपनिषदोंकी भाषा फिर गद्यमय हो गयी है; पर पहली श्रेणी-के उपनिषदों-जैसी अपरिष्कृत नहीं है और प्राचीन लौकिक संस्कृतके अधिक निकट है। चौथी श्रेणीमें परकालीन अथर्ववेदीय उपनिषदोंकी गणना है। इनमेंसे कुछ गद्यमें हैं और कुछ पद्यमें।

सबसे पीछेके उपनिषदोंका, जिनकी संख्या दो सौसे अधिक है, वर्गीकरण उनके प्रयोजन और विषयके अनुसार किया गया है—(१) सामान्य वेदान्त-उपनिषद्, जिनमें वेदान्तके सिद्धान्तोंका वर्णन है, (२) योगकी शिक्षा देनेवाले योग-उपनिषद्, (३) संन्यासकी प्रशंसा करनेवाले संन्यास-उपनिषद्, (४) विष्णुके महत्त्वका प्रतिपादन करने-वाले वैष्णव-उपनिषद्, (५) शिवके महत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले शैव-उपनिषद्, (६) शाक्तोंके शाक्त-उपनिषद् तथा

इतर सम्प्रदायोंके अन्यान्य उपनिषद्, इनमें सर्वसमन्वयता है। योग तथा अन्य उपायोंसे ये सभी ब्रह्मविद्याका ही उपदेश करते हैं, इस दृष्टिसे इनकी उदारता अस्फुट रूपसे वर्तमान है ही। इन उपनिषदोंमेंसे कुछ गद्यमय हैं, कुछमें गद्य-पद्य दोनोंका मिश्रण है और कुछमें पुराणोंकी शैलीके श्लोक हैं।

प्रथम श्रेणीके ऐतरेयोपनिषद्में तीन छोटे-छोटे अध्यायोंमें उपनिषदोंकी शिक्षाका सारांश दिया गया है। पहले अध्यायमें संसारकी उत्पत्ति आत्मासे (जिसे ब्रह्म भी कहा है) मानी गयी है। और मनुष्योंको आत्माकी सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति बताया है। यह वर्णन ऋग्वेदके पुरुषसूक्तके आधारपर है, पर उपनिषद्में विराट् पुरुषका जन्म उस जलसे होना बताया गया है, जिसकी सृष्टि आत्माके द्वारा हुई है। मानव-शरीरमें आत्माके तीन आवसथ अर्थात् निवासस्थल बताये गये हैं—इन्द्रिय, मन और हृदय; जिनमें वह आत्मा क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिनामक अवस्थाओंमें वर्तमान रहता है। दूसरे अध्यायमें आत्माके त्रिविध जन्मका वर्णन है। आवागमनका अन्त मोक्षमें होता है। परमधाममें शाश्वत निवासका नाम मोक्ष है। आत्मस्वरूपका निरूपण करनेवाले अन्तिम अध्यायमें 'प्रज्ञान' को ब्रह्म कहा है।

उपनिषदोंके सिद्धान्तोंमें जो नये-से-नया विकास हुआ है, प्रायः उस सबका सारांश गौड़पादकी कारिकाने अपने चार प्रकरणोंमें प्रस्तुत कर दिया है।

'जैसे यूनानी दार्शनिक प्लेटोने पार्मेनिडीजकी शिक्षाओंको एक व्यवस्थित रूप प्रदान किया, उसी प्रकार गौड़पादके सिद्धान्तोंको एक निश्चित मतवादका रूप प्रदान करनेका श्रेय यदि किसीको दिया जा सकता है तो श्रीशङ्कराचार्यको। श्रीशङ्कराचार्य (८०० ई०), जिन्होंने वेदान्तपर प्रसिद्ध भाष्यकी रचना की है, गोविन्दभगवत्पादके शिष्य थे, जिनके आचार्य ये ही गौड़पाद प्रतीत होते हैं। शङ्करका मत मुख्य रूपसे वही है, जो गौड़पादका है और बहुतसे विचार तथा रूपक, जिनकी झलक गौड़पादके ग्रन्थमें मिलती है, शङ्करके भाष्योंमें बार-बार आये हैं।

गौड़पादकी कारिकाके चारों प्रकरण उपनिषदोंकी चारों श्रेणियोंके रूपमें गिने जाते हैं। पहला प्रकरण तो एक प्रकारसे माण्डूक्योपनिषद्का ही छन्दोबद्ध अनुवाद है। उसमें जो विलक्षण बात कही गयी है, यह है कि जगत् न तो माया है, न किसी प्रकारका परिणाम ही है, अपितु यह ब्रह्मका स्वभाव ही है—ठीक उसी प्रकार, जैसे ज्योतिःस्वरूप सूर्यकी किरणें सूर्यसे भिन्न नहीं होतीं। दूसरे प्रकरणका नाम वैतथ्य-प्रकरण है, उसमें जगत्को सत्य माननेवाले सिद्धान्तके मिथ्यात्वका प्रतिपादन है। जैसे अन्धकार रहनेपर रज्जुमें सर्पका भ्रम होता है, उसी प्रकार अज्ञानरूप अन्धकारसे आवृत आत्माको भ्रमसे जगत् मान लिया जाता है। तीसरा अद्वैत-प्रकरण है। घटाकाश और महाकाशके दृष्टान्तसे जीवात्माके साथ परमात्माकी एकताको समझाया गया है। ग्रन्थकारने सृष्टिकी उत्पत्ति और नानात्मवादके सिद्धान्तका खण्डन किया है। 'सतो जन्म' सम्भव नहीं; क्योंकि ऐसा होनेसे जो पहलेसे वर्तमान है उसीका जन्म मानना पड़ेगा, और 'असतो जन्म' भी सम्भव नहीं, क्योंकि जो वन्ध्यापुत्रकी भाँति है ही नहीं, उसका जन्म कहाँसे होगा। अन्तिम प्रकरणका नाम 'अलातशान्ति' है। इसमें सृष्टिकी उत्पत्ति और नानात्वकी संसारमें कैसे प्रतीति होती है, इसको समझानेके लिये एक नये ढंगकी उपमाका प्रयोग किया गया है, यदि एक छड़ीको, जिसका एक छोर जल रहा हो, इधर-उधर घुमाया जाय तो उस जलते हुए छोरमें बिना किसी वस्तुका संयोग किये अथवा उसमेंसे कोई नयी वस्तु प्रकट हुए बिना ही अनलरेखा अथवा अनल-वृत्त बन जायगा। उस अनलरेखा या वृत्तका अस्तित्व केवल विज्ञानमें है। इसी प्रकार जगत्के असंख्य रूप विज्ञानके स्पन्दनमात्र हैं और वह विज्ञान एक है।

आत्माके स्वरूपका निरूपण ही उपनिषदोंका मुख्य विषय है। ऋग्वेदके पुरुषसे आत्मातक तथा स्रष्टा पुरुष प्रजापतिसे सम्पूर्ण जगत्के निर्विशेष कारणतक जो विकासकी परम्परा दृष्टिगोचर होती है, उपनिषदोंका आत्मा उसकी अन्तिम सीमा है।

उपनिषदोंके सिद्धान्तोंका उपदेश करनेका अधिकारी किन्हें समझा गया, इसपर विचार करनेसे भी उनकी उदारताका सङ्केत मिलता है। कतिपय अपवादोंको छोड़कर यज्ञोंके ऋत्विज् तथा वैदिक मन्त्रोंके ऋषि प्रायः ब्राह्मण ही होते थे; किंतु उपनिषदोंके अनेक स्थलोंसे यह सिद्ध होता है कि वैदिक कालके बौद्धिक जीवन एवं साहित्यिक क्षेत्रसे क्षत्रिय जातिका घनिष्ठ सम्बन्ध था। कौषीतकिब्राह्मण (२६।५) में प्रतर्दन नामके राजाका यज्ञोंके विषयमें ऋत्विजोंके साथ प्रश्नोत्तर होता है। शतपथब्राह्मणमें राजा जनकका बार-बार उल्लेख आया है, वे अपने शास्त्रीय ज्ञानसे सारे ऋत्विजोंको चकित कर देते हैं। वह स्थल, जहाँ जनक ऋत्विज् बने हुए श्वेतकेतु, सोमशुष्म एवं याज्ञवल्क्यसे अग्निहोत्र-विधिके विषयमें प्रश्न करते हैं, सुप्रसिद्ध एवं उपदेशपूर्ण है। तीनोंमेंसे कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाता। फिर भी याज्ञवल्क्यको जनकसे

सौ गौएँ प्राप्त होती हैं, क्योंकि उन्होंने यज्ञके अर्थपर सबसे गहरा विचार किया है, यद्यपि जनकके कथनानुसार अग्निहोत्रका वास्तविक अर्थ अभी याज्ञवल्क्यको भी नहीं खुल पाया था।

उपनिषद्के अनुसार राजा ही नहीं, वरं स्त्रियाँ भी, यहाँतक कि सन्दिग्ध वर्णके लोग भी साहित्यिक एवं दार्शनिक प्रतिद्वन्द्विताओंमें भाग लेते थे और बहुधा ज्ञानकी पराकाष्ठाको पहुँचे रहते थे। उदाहरणार्थ—बृहदारण्यकोपनिषद्में गार्गी विस्तारपूर्वक याज्ञवल्क्यसे समस्त जगत्के कारणके विषयमें प्रश्न करती है। यहाँतक कि याज्ञवल्क्यको कहना पड़ता है—'गार्गी! अतिप्रश्न मत करो, प्रश्नकी सीमाको मत लाँघो; कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारा सिर फट जाय। सचमुच परमात्मतत्त्वके विषयमें किसीको अतिप्रश्न नहीं करना चाहिये।' जबालाके पुत्र सत्यकामकी कथा और भी तत्त्वपूर्ण है। उसने अपनी मासे पूछा—'मैं एक ब्राह्मण आचार्यके यहाँ ब्रह्मचारी होकर रहना चाहता हूँ, परंतु वे निम्न जातिके शिष्योंको ग्रहण नहीं करते। मा! मैं किस गोत्रका हूँ?' माताने उत्तर दिया—'वत्स! मुझे तो गोत्रका पता नहीं। युवावस्थामें जब मैं परिचारिकावृत्तिका अवलम्बन करके इधर-उधर रहा करती थी, तभी तुम मेरे गर्भमें आ गये थे। अपने गुरुसे कहो कि तुम सत्यकाम जाबाल (जबालाके पुत्र) हो।' आचार्य गौतम हारिद्रुमत अपने भावी शिष्यकी इस स्पष्टवादितापर प्रसन्न हुए और बोले—एक सच्चे ब्राह्मणके सिवा कोई दूसरा इस प्रकार नहीं कह सकता। सोम्य! जाओ, समिधा ले आओ। मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा। तुम सत्यसे विचलित नहीं हुए हो।' उपनिषदोंमें यह बार-बार आया है कि पराविद्याकी प्राप्तिके लिये ब्राह्मणलोग क्षत्रियोंके उपसन्न हुए हैं। उदाहरणार्थ—श्वेतकेतुके पिता गौतम ब्राह्मण परतत्त्वविषयक उपदेशके लिये राजा प्रवाहणके समीप जाते हैं।

इस प्रकार जब कि, ब्राह्मणलोग अन्धश्रद्धासे प्रेरित होकर यज्ञके अनुष्ठानमें लगे थे, इतरवर्गोंके लोग उन महत्तम प्रश्नोंपर विचार करने लगे थे, जिनका उपनिषदोंमें जाकर बड़ी सुन्दरतासे समाधान हुआ है। मानव-चिन्तनाके इतिहासमें उपनिषदोंका बड़ा महत्त्व है। उपनिषदोंके गूढ़ सिद्धान्तोंसे लेकर ईरानके सूफी मततक, नवप्लैटानिकों तथा अलैक्जैंड्रियन क्रिश्चियनके रहस्यमय थियोसाफिकल 'लोगोस'के सिद्धान्ततक और ईसाई रहस्यवादी एरवार्ट एवं टालरके उपदेशोंतक और अन्ततोगत्वा १९वीं शताब्दीके महान् रहस्यवादी जर्मन विचारक शोपेनहरके दर्शनतक चिन्तनकी एक ही धारा अनुस्यूत है।

उपनिषद् और अद्वैतवाद

(लेखक—पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी, वेदान्तशास्त्री)

'वेदान्तसार'में सदानन्द योगीन्द्रने लिखा है—

वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च।

अर्थात् मुख्य और गौणके भेदसे 'वेदान्त' शब्दके दो अर्थ हैं—'वेदका अन्त वेदान्त है', इस व्युत्पत्तिके अनुसार वेदान्त शब्दका मुख्य अर्थ उपनिषद् है और उपनिषद्के अर्थबोधके अनुकूल अथवा उसमें सहायक शारीरकसूत्र आदि तथा उपनिषदर्थ-संग्राहक भागवत-गीता आदि गौण अर्थ है। अतः प्रमुख वेदान्त उपनिषद्को ही जानना चाहिये।

वेद-भाष्यमें आपस्तम्ब ऋषिका यह वचन उद्धृत है—

'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।'

अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण—इन दो भागोंमें वेद विभक्त है। इन दोनोंका अन्त उपनिषद् है। कोई उपनिषद् मन्त्रभागके अन्तर्गत है और कोई ब्राह्मणभागके। शुक्ल यजुर्वेदीय माध्यन्दिन-संहिताका अन्तिम अंश ईशावास्योपनिषद् है और कृष्ण यजुर्वेदीय श्वेताश्वतर-संहिता (जो अप्राप्य है) का शेष भाग श्वेताश्वतरोपनिषद् है। सामवेदीय कौथुम शाखाके ताण्ड्य वा पञ्चविंश ब्राह्मणके अन्तिम आठ भाग छान्दोग्योपनिषद् हैं और शुक्ल यजुर्वेदीय काण्वसंहिताके शतपथब्राह्मणके शेष छः अध्याय बृहदारण्यकोपनिषद् हैं। इसी प्रकार सभी उपनिषदें वेदके अन्तिम भाग हैं। यहाँ अब यह भी सन्देह नहीं रह जाता कि उपनिषदें वेद हैं। वस्तुतः उपनिषदें वेद और वेदान्त दोनों हैं। इसीसे उपनिषदोंका इतना महत्त्व है।

मन्त्रभागीय उपनिषदोंमें मन्त्र-स्वर और ब्राह्मणभागीय उपनिषदोंमें ब्राह्मण-स्वर रहते हैं और इसीके अनुसार इनका अध्ययन भी किया जाता है। स्वर-विशेषके अनुसार ही अर्थ-विशेष किया जाता है। आचार्य शङ्करने ऐसा ही किया है। यही शिष्ट-प्रणाली भी है। प्रायः सारे वैदिक-साहित्यका अर्थ स्वराधीन ही होता है। स्वरमुक्तिवादी एक वैदिक सम्प्रदाय भी है।

वेदान्ताचार्योंने आगे चलकर वेदान्तशास्त्रको तीन प्रस्थानोंमें विभक्त किया है—श्रुति, स्मृति और न्याय। उपनिषद्भाग श्रुति-प्रस्थान है, भागवत, गीता, सनत्सुजातसंहिता आदि स्मृति-प्रस्थान हैं और ब्रह्मसूत्र आदि न्याय-प्रस्थान हैं।

वेदका ज्ञानकाण्ड होनेसे उपनिषद्को ब्रह्मविद्या कहा जाता है। ब्रह्मविद्या ही पराविद्या वा श्रेष्ठविद्या है। उपनिषदों-में जो ब्रह्मविषयक विज्ञान प्रतिपादित किया गया है, वही पराविद्या है। शेष कर्मविषयक विज्ञान अपराविद्या है। इसे कर्म-विद्या भी कहते हैं। कर्मविद्या तत्काल फल नहीं देती, कालान्तरमें उसका फल मिलता है। कर्मफल विनाशी भी होता है। इसके विपरीत ब्रह्मविद्या तत्काल फल देती है और यह फल अविनाशी होता है। इसीलिये ब्रह्मविद्या श्रेष्ठ है। यही ब्रह्मविद्या मुक्तिका एकमात्र कारण है। कर्मविद्या मुक्ति-का कारण नहीं है; हाँ, ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिमें हेतु अवश्य है। इसीलिये कहा गया है कि, 'जो ब्रह्मविद्या अथवा आत्मतत्त्वज्ञान नहीं जानता, वह परमात्माको नहीं जान सकता'—

'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्।'

'जो वेदका ज्ञाता नहीं है, वह उस ब्रह्मको नहीं समझ सकता।' उपनिषद् वेद है, यह पहले ही कहा गया है।

श्रीशङ्कराचार्यके मतसे अद्वैतवाद ही सारी उपनिषदोंका तात्पर्य है। एक ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है। दृश्यमान जगत् परमार्थ सत्य नहीं है, सपनेमें देखे गये पदार्थकी तरह मिथ्या है, जीवात्मा और ब्रह्म एक ही हैं, दो नहीं। यही उपनिषत्सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्तको एक श्लोकार्द्धमें कहा गया है—

श्लोकार्द्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

परंतु शङ्कराचार्यसे विरुद्ध मत रखनेवाले वैष्णवाचार्य कहते हैं कि 'द्वैतवाद ही प्राचीन सिद्धान्त है, अद्वैतवाद तो नवीन सिद्धान्त है, जिसके जन्मदाता शङ्कराचार्य हैं। इनके पहले अद्वैतवाद था ही नहीं।' परंतु बात ऐसी नहीं है। अद्वैतवाद प्राचीन ही नहीं, प्राचीनतम वाद है। ऋग्वेदके प्रसिद्ध 'नासदीय सूक्त'में अद्वैतवादका ही उल्लेख है, वहाँ द्वैतवादका तो कहीं नाम-लेश भी नहीं है। छान्दोग्योपनिषद् (६। २। १) और बृहदारण्यकोपनिषद् (४। ४। १९) में स्पष्ट ही अद्वैतवादका वर्णन है। सांख्यसूत्रों (१। २१–२४ और ३। २। ८ और १९) में अद्वैतवाद ही वेदान्तमत माना गया है। 'न्यायसूत्र'के **'तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः'** सूत्रके भाष्यमें भी अद्वैतवाद ही वेदान्त-सिद्धान्त स्वीकृत हुआ है। कविवर भवभूतिकी भी—

'एको रसः करुण एव विवर्तभेदात्।'

तथा—

'ब्रह्मणीव विवर्तानां क्वापि विप्रलयः कृतः॥'

—अनेक उक्तियोंमें अद्वैतवादका सिद्धान्त ही उपलब्ध होता है। पुराणोंमें तो जहाँ-कहीं भी वेदान्तका उल्लेख है, वहाँ अद्वैतवादके सिद्धान्तका ही प्रतिपादन है। 'सूत-संहिता' और 'योगवासिष्ठ'—जैसे प्राचीन ग्रन्थोंमें अद्वैतवाद भरा पड़ा है। 'नैषधचरित' (२१। ८८) में तो बुद्धको भी 'अद्वयवादी' कहा गया है। शान्तरक्षितके 'तत्त्व-संग्रह' (३२८। १२९) में अद्वैतवादका उल्लेख है। दिगम्बराचार्य सामन्तभद्रने 'आप्तमीमांसा' (२४ श्लोक) में अद्वैतवादकी चर्चा की है। स्थानसंकोचके कारण इस प्रकारकी उक्तियोंका यहाँ अधिक उल्लेख नहीं किया जा सकता। मुख्य बात यह समझिये कि अद्वैतवाद अत्यन्त प्राचीन सिद्धान्त है और अनेक आचार्योंके मतसे तो यह अनादि सिद्धान्त है।

परंतु अद्वैतवादके विरोधी अपने पक्षके समर्थनमें कठोपनिषद्का यह मन्त्र उपस्थित करते हैं—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥

'इस शरीरमें एक अपने कर्मका फल भोग करता है और दूसरा भोग कराता है। दोनों ही हृदयाकाश और बुद्धिमें प्रविष्ट हैं। इनमें एक (जीवात्मा) संसारी है, दूसरा (परमात्मा) असंसारी है। इसीलिये ब्रह्मज्ञाता और गृहस्थ इन दोनोंको छाया और आतप (धूप) के समान विलक्षण कहते हैं।'

अद्वैतवादके खण्डनमें दूसरा प्रमाण यह दिया जाता है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥
(मुण्डक० ३। १। १)

अर्थात् 'सहचर और सखा दो पक्षी एक वृक्षका आश्रय

करके रहते हैं। इनमेंसे एक नानाविध फलका भक्षण करता है और दूसरा कुछ नहीं खाता, केवल देखता है।'

इस मन्त्रसे स्पष्ट जाना जाता है कि यह शरीर वृक्ष है और जीवात्मा तथा परमात्मा पक्षी हैं। सुख-दुःख-भोग ही फल-भक्षण है।

द्वैतवादी कहते हैं कि जीवात्मा और परमात्मा एक नहीं हैं, परस्पर भिन्न हैं—इस विषयमें उक्त दोनों मन्त्र अकाट्य प्रमाण हैं। द्वैतवादके समर्थनमें इन मन्त्रोंसे बढ़कर उत्कृष्ट प्रमाण नहीं मिल सकता—किसी भी उपनिषद्में इन मन्त्रोंके समान द्वैतवादका स्पष्ट समर्थन नहीं है। अवश्य ही ऊपरसे देखने-सुननेमें ऐसा ही विदित होता है; परंतु जरा गहराईमें उतरकर विचार करनेपर ज्ञात होता है कि इन मन्त्रोंमें न तो द्वैतवादका समर्थन ही है, न अद्वैतवादका खण्डन ही है। क्यों और कैसे ? नीचेकी पङ्क्तियाँ पढ़कर पाठक ही निर्णय करें।

अद्वैतवादी भी द्वैत-प्रपञ्चका सर्वांशतः अपलाप नहीं करते। वे भी शास्त्र मानते हैं, गुरु-शिष्यरूपसे आत्मविद्याका अनुशीलन करते हैं, सत्त्व-शुद्धिके लिये कर्म करते हैं और चित्तकी एकाग्रताके लिये उपासना करते हैं। वे उपास्य-उपासकरूपसे जीव-ब्रह्मका औपाधिक भेद स्वीकार करते हैं और आत्मसाक्षात्कारके लिये योगमार्गका आश्रय ग्रहण करते हैं। वे केवल द्वैत-प्रपञ्चकी सत्यता और पारमार्थिकताको स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं—'यह द्वैत-प्रपञ्च व्यावहारिक और मायामय है तथा अद्वैत ही पारमार्थिक सत्य है।' इसलिये अद्वैतवादियोंके मतसे भी उपनिषदोंमें द्वैत-प्रपञ्चका उल्लेख हो सकता है, परंतु 'द्वैत-प्रपञ्च सत्य है' ऐसा उपदेश किसी भी उपनिषद्का नहीं है। हाँ, द्वैत-प्रपञ्चका मायामयत्व उपनिषदोंमें ही अवश्य ही उपदिष्ट है। उपनिषद्का स्पष्ट ही आदेश है—'मायाद्वारा परमेश्वर अनेक रूपोंमें दृष्ट होते हैं—

'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।'

कठोपनिषद्के 'ऋतं पिबन्तौ' मन्त्रमें आत्माका, उपाधि-भेदसे, जीवात्मा और परमात्माके रूपमें, भेद प्रतिपादित किया गया है—जीवात्मा और परमात्मा वस्तुतः भिन्न हैं, यह नहीं कहा गया है। इस मन्त्रमें भेदका सत्यताबोधक कोई भी शब्द नहीं है। इस मन्त्रका प्रसङ्ग देखनेसे बात स्पष्ट हो जायगी।

मृत्युने नचिकेताको तीन वर देनेका वचन दिया था। इसके अनुसार नचिकेताने प्रथम वरमें पिताकी अनुकूलता माँगी और द्वितीय वरमें अग्निविद्याके लिये प्रार्थना की। दोनों वरोंके मिल जानेपर नचिकेताने पुनः प्रार्थना की, 'कृपया मुझे यह समझा दीजिये कि आत्मा देहेन्द्रियोंसे भिन्न है कि नहीं।' मृत्युने अनेक प्रलोभन दिखाकर नचिकेताको इस वर-प्रार्थनासे निवृत्त होनेका अनुरोध किया; परंतु नचिकेता किसी भी प्रलोभनमें नहीं आये—उन्होंने एक भी नहीं सुनी। नचिकेताकी निःस्पृहता देखकर मृत्युने उनकी बड़ी प्रशंसा की और 'आत्मज्ञान होनेपर परमपुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है', यह भी कहा। नचिकेताने कहा—'आत्माका यथार्थ स्वरूप क्या है ?' इसके उत्तरमें मृत्युने आत्माकी देहेन्द्रियभिन्नता बतायी और आत्माके यथार्थ स्वरूपकी व्याख्या की। 'आत्मा क्योंकर अपने यथार्थ स्वरूपको जान सकता है', यह भी मृत्युने बताया। नचिकेताके प्रश्नके उत्तरमें 'ऋतं पिबन्तौ' मन्त्र मृत्युकी उक्ति है।

नचिकेताने पूछा था जीवात्माका विषय। तब मृत्यु परमात्माका विषय कैसे कहने लगते ? यह तो अप्रासङ्गिक होता। जीवात्माका यथार्थ स्वरूप परमात्माके यथार्थ स्वरूपसे भिन्न नहीं है, जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं, केवल उपाधिभेदसे, घटाकाश, मठाकाश आदिकी तरह दोनोंका भेद मालूम पड़ता है। जीवात्माका संसारीपन अविद्याकृत है; अविद्याके अभावके कारण परमात्मामें संसारीपन नहीं है—इन्हीं अभिप्रायोंसे नचिकेताके जीवात्मविषयक प्रश्नके उत्तरमें मृत्युने जीवात्मा और परमात्माकी बात कही। नचिकेताका प्रश्न यह है—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः॥

(कठ० १। १। २०)

'कोई कहता है, मृत्युके अनन्तर भी देहातिरिक्त आत्माका अस्तित्व रहता है और कोई कहता है, नहीं। यह भारी संशय है। तुम्हारे उपदेशसे मैं इसे जानना चाहता हूँ। यह मेरा तीसरा वर है।'

इसका उत्तर पानेके पहले ही नचिकेता परमात्मविषयक एक और असङ्गत प्रश्न कैसे कर बैठते ? मृत्यु तो इसी प्रश्नको जटिल समझते थे। इसी बीच परमात्मसम्बन्धी एक अन्य महान् विकट प्रश्न कैसे किया जा सकता था ? मृत्युने

उक्त प्रश्नको ही सुनकर उत्तर देनेमें बड़ी आनाकानी की। मृत्युने स्पष्ट ही कहा—'यह दुर्विज्ञेय है, देवोंको भी इस विषयमें सन्देह हो जाता है। इसलिये इसके उत्तरके लिये आग्रह मत करो—दूसरा वर माँगो।' इस तरह मृत्युने उत्तर देनेमें बड़ी आपत्ति की, प्रलोभनतक दिखाकर अन्य वर माँगनेका बहुत तरहसे अनुरोध किया। परंतु नचिकेता जरा भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने स्पष्ट ही कहा—'जिस विषयमें देवता भी सन्दिहान हैं और जो दुर्विज्ञेय है, उस विषयमें तुम्हारे समान न तो कोई उत्तरदाता ही मिलेगा, न इसके बराबर कोई दूसरा वर ही होगा। इसलिये चाहे यह वर कितना भी दुर्विज्ञेय हो, इसके सिवा मैं अन्य वर नहीं माँग सकता।'

मृत्युने नचिकेताकी दृढता और लोभशून्यता देखकर उनकी, उनके प्रश्नकी और आत्मतत्त्वज्ञानकी प्रशंसा की। अनन्तर नचिकेताने आत्माका परमार्थ-स्वरूप जानना चाहा। आत्माके यथार्थ रूपको जाननेका अनुरोध करना, प्रकारान्तरसे, पूर्व प्रश्नका व्याख्यानमात्र है। वह इस प्रकार कि आत्माके देहादि स्वरूप होनेपर मृत्युके पश्चात् आत्माका अस्तित्व नहीं रह सकता और देहादिसे भिन्न होनेपर मरणानन्तर भी आत्माका अस्तित्व रह सकता है। परंतु नचिकेताकी यथार्थ आत्मस्वरूपकी जिज्ञासा परमात्मविषयक प्रश्न है, यह कल्पना नितान्त अलीक है। कारण, मृत्यु प्रार्थित वरको दुर्विज्ञेय कहकर उत्तर-प्रदान करनेमें ही जब कि आपत्ति करते हैं, तब नचिकेताका एक अन्य दुर्विज्ञेय प्रश्न कर बैठना असम्भव है—यह बात पहले ही लिखी जा चुकी है। मृत्युने जिस प्रकार नचिकेताको उत्तर दिया है, उसकी सूक्ष्मतया परीक्षा करनेपर स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि, जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं, भिन्न नहीं, मृत्युको यही अभिप्रेत है। आगे दिये जानेवाले उत्तरके आरम्भमें मृत्युने कहा है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्
(कठ० १।२।१५)

'जिस पदका प्रतिपादन सारे वेद करते हैं, जिस पद-प्राप्तिका साधन सारी तपस्याएँ हैं और जिस स्थानकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचर्यका पालन किया जाता है, मैं संक्षेपसे वही पद कहता हूँ। वह है ओंकार।'

ओंकार ईश्वरका नाम और प्रतीक है। श्रुतिका यही मत है। योगी याज्ञवल्क्यने कहा है—

'वाच्यः स ईश्वरः प्रोक्तो वाचकः प्रणवः स्मृतः॥'

'प्रणव वा ओंकार परमात्माका प्रतिपादक है।' ठीक ऐसा ही योगदर्शनमें पतञ्जलि ऋषिने भी कहा है—**'तस्य वाचकः प्रणवः।'** आगे चलकर मृत्युने जीवात्मा और परमात्माकी अभिन्नता दिखायी है। यही उचित उत्तरका क्रम है।

यदि नचिकेताने जीवात्मविषयक प्रश्नका उत्तर पानेके पहले ही परमात्मविषयक असङ्गत प्रश्न किया होता, तो मृत्युने जीवात्मविषयक उत्तर देनेके बाद परमात्मविषयक उत्तर दिया होता। तब यह कैसे सम्भव था कि पहले ही परमात्मसम्बन्धी बातें कह दी जातीं और पृथक् रूपसे जीवात्माका उल्लेखतक नहीं होता?

आगे चलकर तो इसी उपनिषद्में द्वैत-वादका खण्डन भी है—

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥
(२।१।११)

'शास्त्र और आचार्यके द्वारा सुसंस्कृत मनसे ही ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। इस ब्रह्ममें अणुमात्र भी भेद नहीं है। जो ब्रह्ममें भेद या नानापन देखता है, वह बार-बार मृत्युको प्राप्त होता है।'

कठवल्लीको द्वैतवाद अभीष्ट रहता, तो यहाँ उसका खण्डन क्यों किया जाता? परस्पर-विरोध कैसे उपस्थित होता? इसलिये यह निष्कर्ष निकला कि कठोपनिषद्का प्रतिपाद्य अद्वैतवाद है, द्वैतवाद नहीं।

मुण्डकोपनिषद्का 'द्वा सुपर्णा' मन्त्र भी द्वैतवादका प्रतिपादक नहीं है। यह भी 'ऋतं पिबन्तौ' की तरह ही है। 'द्वा सुपर्णा' मन्त्र जीवात्मा और परमात्माके भेदका 'अकाट्य' प्रमाण तो क्या होगा, साधारण प्रमाण-कोटिमें भी नहीं आता। आश्चर्य है कि द्वैतवादी धीर-गम्भीर शैलीसे इसपर विचार नहीं करते।

वस्तुतः यह मन्त्र अन्तःकरण (सत्त्व) और जीवात्माका प्रतिपादक है। 'पैङ्गि-रहस्यब्राह्मण'में इसकी व्याख्या इस तरह की गयी है—

'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वम् अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीत्यनश्नन्योऽभिपश्यति क्षेत्रज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञाविति।'

अर्थात् **'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति'** से सत्त्व वा अन्तःकरणका फल-भोक्तृत्व कहा गया है। **'अनश्नन्नन्योऽभिचाक-**

शीति' से जीवात्माको द्रष्टा कहा गया है। इसलिये यह मन्त्र जीवात्मा और परमात्माका नहीं—अन्तःकरण और जीवात्माका प्रतिपादक है।

इसी ब्राह्मणमें आगे चलकर कहा गया है—

'तदेतत्सत्त्वं येन स्वप्नं पश्यति। अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञाविति।'

'जिसके द्वारा स्वप्न देखा जाता है उसका नाम सत्त्व वा अन्तःकरण है। जो 'शारीर' वा जीवात्मा द्रष्टा है, उसका नाम क्षेत्रज्ञ है।' अचेतन अन्तःकरणका भोक्तृत्व कैसे सम्भव है। इसका उत्तर शङ्कराचार्यने यों दिया है—

'नेयं श्रुतिश्चेतनस्य सत्त्वस्य भोक्तृत्वं वक्ष्यामीति प्रवृत्ता किन्तर्हि? चेतनस्य क्षेत्रज्ञस्याभोक्तृत्वं ब्रह्मस्वभावतां च वक्ष्यामीति। तदर्थं सुखादिविक्रियावति सत्त्वे भोक्तृत्वमध्यारोपयति।'

अर्थात् अचेतन अन्तःकरणका भोक्तृत्व बताना मन्त्रका उद्देश्य नहीं है। चेतन क्षेत्रज्ञका अभोक्तृत्व और ब्रह्मस्वभावत्वका प्रतिपादन करना ही मन्त्रका लक्ष्य है। इसी अभोक्तापन और ब्रह्मकी स्वभावताको समझानेके लिये क्षेत्रज्ञके उपाधिभूत और सुखादिके विकारसे युक्त अन्तःकरणमें भोक्तृत्वका आरोप किया गया है, क्योंकि अन्तःकरण और क्षेत्रज्ञके अविवेकके कारण क्षेत्रज्ञमें कर्तृत्व और भोक्तृत्वकी कल्पना की जाती है। सुखादि विकारोंसे युक्त सत्त्व (अन्तःकरण) में चित्प्रतिबिम्ब पतित होनेपर चित्का भोक्तृत्व मालूम पड़ता है। फलतः वह अविद्याजन्य है, पारमार्थिक नहीं।

कदाचित् यहाँ यह लिखनेकी आवश्यकता नहीं कि वेदमन्त्रोंका यथार्थ अर्थ समझनेके लिये कितनी धीरता, सावधानता और बहुदर्शिताकी आवश्यकता होती है और इस दिशामें जरा-सी भी त्रुटि कितना बड़ा अनर्थ कर सकती है। वेदवेत्ताओंके मतसे जो वाक्य जीवके ब्रह्मभावका बोधक है वही वाक्य जीव और ब्रह्मके भेदका बोधक मालूम पड़ जाता है—अर्थका अनर्थ उपस्थित कर देता है। इसीलिये वेदमन्त्रोंका रहस्य समझनेवालोंने कहा है—

'बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।'

अल्पविद्य (नीम हकीम) से वेद इसलिये डरता है कि वह मुझे मार डालेगा। वेदज्ञोंने और भी कहा है—

'पौर्वापर्यापरामृष्टः शब्दोऽन्यां कुरुते मतिम्।'

'पूर्वापरकी आलोचना नहीं करनेसे शब्द विपरीत अर्थ-बोधका कारण होता है।'

एक बात और। वन्ध्यापुत्र, कूर्मरोम, शशशृङ्ग वा गगन-कमलिनीके समान द्वैत-प्रपञ्चको अद्वैतवादी तुच्छ वा अलीक नहीं कहते। वे केवल इतना ही कहते हैं कि 'जैसे मनुष्यके निद्रादोषके कारण स्वप्नमें देखा गया पदार्थ मिथ्या है, वैसे ही अविद्यारूप दोषके कारण जाग्रदवस्थामें देखा गया पदार्थ भी मिथ्या है। एकमात्र ब्रह्म ही परमार्थ सत्य है। ब्रह्मके अतिरिक्त कोई भी पदार्थ 'परमार्थ सत्य' नहीं है; परंतु पारमार्थिक सत्ता नहीं होनेपर भी संसारी पदार्थोंकी व्यावहारिक सत्ता और स्वप्नमें देखे पदार्थोंकी प्रातीतिक वा प्रातिभासिक सत्ता है। सपनेमें देखे पदार्थ जैसे स्वप्नकालमें यथार्थ मालूम पड़ते हैं, वैसे ही जागतिक पदार्थ व्यवहार-दशामें यथार्थ ज्ञात होते हैं। ब्रह्मवादियोंने कहा भी है—

देहात्मप्रत्ययो यद्वत् प्रमाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवेदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात्॥

अर्थात् शरीरमें आत्मबुद्धि वस्तुतः मिथ्या है तो भी देह-भिन्न आत्माके ज्ञानके पहले सत्य विदित होती है। इसी तरह सारी लौकिक वस्तुओंके मिथ्या होनेपर भी आत्मनिश्चयतक वे सच्ची मालूम पड़ती हैं। **'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते'**—आत्मतत्त्वज्ञान होनेपर द्वैत नहीं रहता।

निष्कर्ष यह है कि व्यवहार-दशामें अद्वैतवादी भी जीवेश्वर-भेद, द्वैत-प्रपञ्च तथा परमात्मा और जीवात्माका उपास्य-उपासक भाव स्वीकार करते हैं। वेदान्तवेत्ताओंने ठीक ही कहा है—

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सौ जीवेश्वरावुभौ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि॥

'माया नामकी कामधेनुके दो बछड़े हैं—जीव और ईश्वर। ये दोनों इच्छानुसार द्वैतरूप दुग्धका पान करें, परन्तु परमार्थ-तत्त्व तो अद्वैत ही है।'

पारमार्थिक और व्यावहारिक भावोंके उदाहरण संसारमें भी देखे जाते हैं। जिसके साथ वास्तविक आत्मीयता नहीं है, उसके साथ भी लोग बाध्य होकर आत्मीयके समान व्यवहार करते हैं। यह केवल व्यावहारिक आत्मीयता है, पारमार्थिक नहीं। अगले मन्त्रमें इस बातको बड़ी स्पष्टतासे कहा गया है—

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति। यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत्॥

'जबतक द्वैत रहता है, तबतक एक दूसरेको देखता

है और जब कि सारे पदार्थ आत्मरूप हो जाते हैं तब कौन किसको देख सकता है ?'

मुख्य बात यह है कि अद्वैतवाद और व्यावहारिक द्वैतवाद—दोनों ही वेदसम्मत हैं। इसलिये उपनिषदोंमें उपास्य-उपासक-भावसे परमात्मा और जीवात्माका निर्देश रहना कुछ विचित्र बात नहीं है। इससे अद्वैतवादकी कोई हानि भी नहीं है। व्यावहारिक द्वैतावस्था माननेके कारण उपनिषदोंके द्वैतवादी वाक्योंके द्वारा अद्वैतवादका खण्डन नहीं हो सकता। व्यावहारिक द्वैतावस्था अद्वैतावस्थाकी विरोधिनी हो ही नहीं सकती।

फलतः अद्वैतवादके सम्बन्धमें द्वैतवादियोंकी आपत्तियाँ निर्मूल हैं और उपनिषदोंके अनुसार अद्वैतवाद ही परमार्थ सत्य है। किसी भी उपनिषद्के किसी भी मन्त्रसे द्वैतवाद परमार्थ सत्य सिद्ध नहीं होता।

उपनिषदोंका नवीन वैज्ञानिक तथ्य

(लेखक—पण्डित श्रीरामनिवासजी शर्मा)

वस्तुका तत्त्वतः नाश (Annihilation) नहीं होता, अपितु उसका रूपान्तर होता है—यह एक आधुनिक सत्य है, किंतु वैदिक ऋषियोंको आजसे बहुत पहले इसका पता था। वे इस बातको अच्छी तरह समझते थे कि वस्तुका आविर्भाव और तिरोभाव ही होता है, न कि नाश (Annihilation)। उनकी भाषाकी 'जनी' और 'णश्' धातुएँ इस सत्यकी प्रतिपादक हैं; क्योंकि इनका अर्थ क्रमशः आविर्भाव और तिरोभाव ही है। किंतु इसमें एक विशेष और विलक्षण बात भी है, वह यह कि वैदिक ऋषि न केवल तत्त्वतः अपितु स्वरूपतः भी प्राकृतिक वस्तुओंका नाश नहीं मानते थे। न केवल व्यष्टि-समूहका प्रत्युत समष्टि-समूहका भी। यह सत्य 'नारायण और महानारायण उपनिषद्'के निम्नलिखित प्रवचनसे पूर्णतः स्पष्ट होता है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥

अर्थात् विधाताने सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक, पृथिवी और अन्तरिक्षकी रचना पूर्व-सृष्टि-क्रमके अनुसार ही की है।

उपनिषत्प्राण श्रीमद्भगवद्गीता इस सत्यका समधिक स्पष्टीकरण है। उससे पूर्णतः यह सिद्ध हो जाता है कि वस्तुतः सृष्टि नयी नहीं बनती और न नष्ट ही होती है, प्रत्युत अव्यक्तसे व्यक्त होती है और व्यक्तसे अव्यक्त। उसके अपने शब्द इस प्रकार हैं—

अव्यक्तादीनि भूतानि[1] व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

(गीता २। २८)

छान्दोग्य-उपनिषद् भी इसी सत्यको प्रकारान्तरसे इस तरह स्पष्ट करता है—

प्राकृतिक शक्तियाँ द्युलोकस्थ अग्निमें परमाणुरूप साहित्यका हवन करती रहती हैं, जिससे इस निःसीम आकाश-प्राङ्गणमें नित्य ही आह्लादजनक विश्व-ब्रह्माण्डों और वस्तुओंका प्राकट्य होता रहता है। प्रत्येक वस्तु अपने अव्यक्तरूपसे व्यक्तरूपमें आती रहती है। यह बृहद् यज्ञ परमात्माकी ओरसे प्रकृति-प्रवाहमें सदैव होता रहता है।[1]

यह सृष्टि किन-किन तत्त्वों और साधनोंसे अव्यक्तसे व्यक्त-दशामें आती है—इसकी रूपकालङ्कार-सम्मत संक्षिप्त उपनिषत्तालिका इस प्रकार है—

संक्षिप्त तालिका

१. द्युलोक	... ...	अग्नि-कुण्ड
२. द्युलोकस्थ शक्ति	... ...	प्रथमाग्नि
३. आदित्य	... ...	समिधा
४. हवनीय द्रव्य	... ...	परमाणु
५. हवन-कर्ता देवता	... ...	प्राकृतिक शक्तियाँ
६. अध्वर्यु	... ...	परमात्म-तत्त्व
७. वसन्त-ऋतु	... ...	घृत-स्थानीय
८. ग्रीष्म-ऋतु	... ...	समित्स्थानीय
९. शरद्-ऋतु	... ...	हवि
१०. यज्ञ-नाम	... ...	प्राकृतिक

यहाँ यह कहते हुए आश्चर्य होता है कि यह उपनिषदात्मक किंतु व्यक्ताव्यक्तविषयक विश्व-दुर्लभ सत्य इस समय भी भारतीय घर-आँगनकी वस्तु बना हुआ है। आज भी सन्ध्या-वन्दनके समय कोटि-कोटि कण्ठोंसे अघमर्षणमें इस प्रकार दुहराया जाता है—

१. पृथिवीजलतेजोवायुगगनरूपेषु गन्धादिविशेषवस्तुषु जन्तुषु प्राणिषु च। श० भ०

१. छा० खण्ड ४। महामहोपाध्याय श्रीआर्यमुनिकृत-भाष्य।

ॐ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवञ्च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥

इस तरह हम देखते हैं कि उपलब्ध उपनिषद्वाक्य आज भी वैज्ञानिक संसारको यह बता रहा है कि व्यष्टि और समष्टि विश्व न केवल तत्त्वतः अपितु स्वरूपतः भी नाश-रहित है।

परंतु यह कहते हुए भी दुःख होता है कि आजके वैदिक विद्वानोंकी दृष्टिमें यह सत्य पूर्णतः स्पष्ट नहीं है; किंतु यह जानकर थोड़ा सन्तोष होता है कि इस सत्यके सक्रिय मर्मको जाननेवाले व्यक्ति अभी सर्वथा नाम-शेष नहीं हुए हैं। आज भी गिरि-गुहाओंमें ऐसे लोग मौजूद हैं जो इस सत्यके क्रियात्मक पक्षको स्वयं भी समझते और दूसरोंको भी समझा सकते हैं; ऐसे ही महात्माओंके एक स्वर्गीय शिष्य श्रीस्वामी विशुद्धानन्दजी परमहंस भी थे। उनका भी यह विश्वास था कि वस्तु स्वरूपतः भी विनश्वर नहीं है। न केवल विश्वास, अपितु वे प्रायः एक प्रकारके फूलको दूसरे प्रकारके फूलोंमें परिणत कर दिखाया भी करते थे। वैज्ञानिक शब्दोंमें इसी-को इस तरह भी कहा जा सकता है कि—

उनमें एक प्रकारके फूलको तिरोहित कर उसमेंसे अव्यक्त नवीन फूलको व्यक्त कर दिखानेका सामर्थ्य था। यही नहीं, प्रत्युत वे प्राकृतिक विकारों (वस्तुओं) के अनुलोमज और विलोमज दोनों प्रकारोंकी क्रमशः विकासात्मक और लयात्मक प्रक्रियाओंको भी अच्छी तरह समझते थे। साथ ही वे अनुलोमज क्रियात्मक परीक्षणके साथ-साथ विलोमज परीक्षण-को भी दिखा सकते थे। इस विषयपर उनके अपने शब्द इस प्रकार हैं—

'वत्स! वस्तुके अनुलोमज और विलोमज दोनों प्रकार-का विकास और लय सत्य है। उदाहरणार्थ दूधसे दही, दहीसे नवनीत और नवनीतसे घृत उत्पन्न होता है; परंतु घृतमें नवनीत, नवनीतमें दही और दहीमें दूधके उपादान अव्यक्त रूपसे रहते हैं। वास्तविक योगी या वैदिक विज्ञान-वेत्ता इन अदृष्ट उपादानोंको विलोम प्रक्रियासे घृतको नवनीत-में, नवनीतको दहीमें और दहीको दूधमें परिणत कर सकता है। इतना ही नहीं, अपितु योगी दुग्धको भी विलोम क्रिया-के द्वारा तृण-राशिमें भी परिवर्तित कर सकता है[1]।'

स्वामीजी ऐसा कहते ही न थे, प्रत्युत वे योग्य अधि-कारियोंको कभी-कभी इस विलोम प्रक्रियाके प्रयोग भी दिखा दिया करते थे।

यह सत्य केवल वैदिक ही नहीं है, अपितु दार्शनिक भी है। इसका प्रमाण यह है कि इस सत्यको आजसे बहुत पहले हमारे दर्शनकारोंने भी प्रकारान्तरसे समझने-समझानेकी कोशिश की थी। महर्षि पतञ्जलिने भी अपने पातञ्जल-दर्शनके कैवल्य-पादमें इस विषयको इस तरह स्पष्ट किया है—

'जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्।'

अर्थात् प्रकृतिके आपूरणसे जात्यन्तर-परिणाम होता है, किंतु वह क्यों और कैसे होता है? इस विषयको उन्होंने निम्नलिखित सूत्रद्वारा समझाया है—

'निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्।'

तात्पर्य यह है कि धर्मादि निमित्त प्रयोजक कारण उपादान-स्वरूप प्रकृतिको प्रेरित नहीं करते, वे तो केवल प्रकृतिस्थ आवरणको ही दूर कर सकते हैं, परंतु प्रकृति आवरणसे उन्मुक्त होकर स्वतः अपने विकारों—विभिन्न रूपोंमें परिणत होने लगती है। उदाहरणके लिये रजतमें जो स्वर्ण-प्रकृति है, वह आवरणसे आवृत है और रजत-प्रकृति आवरणसे मुक्त है; किंतु यदि स्वर्ण-प्रकृतिका यह आवरण किसी उपायसे हटा दिया जाय तो रजत-प्रकृति तिरोहित हो जायगी और स्वर्ण-प्रकृति-धारामें विकार उत्पन्न करेगी[1]। इस तरह रजत-प्रकृति अव्यक्त स्वर्ण-प्रकृतिमें व्यक्त हो जायगी अर्थात् रजत स्वर्णमें बदल जायगा। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि धर्मादि प्रयोजक कारणसे ही ऐसा होता है, अपितु प्रकृति स्वयं भी अपनी लयोन्मुखता और विकासोन्मुखताके कारण क्रमशः अनन्त विकारों और वस्तुओं-में विकासोन्मुख और लयोन्मुख होती रहती है। इसी सत्यको महर्षि व्यासने अपने भाष्यमें इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्। न हि धर्मादिनिमित्तं तत्प्रयोजकं भवति प्रकृतीनाम्। न कार्येण कारणं प्रावर्त्यत इति। कथं तर्हि? वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्। यथा क्षेत्रिकः केदारादपां पूर्णात्केदारान्तरं पिप्लावयिषुः समं निम्नं निम्नतरं वा नापः पाणिनापकर्ष-त्यावरणं त्वासां भिनत्ति तस्मिन्भिन्ने स्वयमेवापः केदारान्तर-माप्लावयन्ति तथा धर्मः प्रकृतीनामावरणधर्मं भिनत्ति तस्मिन्भिन्ने स्वयमेव प्रकृतयः स्वं स्वं विकारमाप्लावयन्ति।'

महाभारत भी इस सत्यका इस प्रकार समर्थन करता है—

१. श्रीश्रीविशुद्धानन्दप्रसङ्ग। महामहोपाध्याय श्रीगोपीनाथ कविराजकृत।

१. म. म. गो. ना. द्वारा समर्थित और उदाहृत।

'अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः।'

अर्थात् सभी कुछ अदर्शन (अव्यक्त) से दर्शन (व्यक्त) और दर्शन (व्यक्त) से अदर्शन (अव्यक्त) अवस्थाओंमें परिवर्तित होते रहते हैं। अभावसे भाव और भावसे अभाव-की उत्पत्ति कदापि नहीं होती।

इस उपनिषदात्मक सत्यका संस्कृत काव्योंसे भी समर्थन होता है। निम्न पद्य-खण्ड इसके दिग्दर्शन हैं।

'स्पर्शानुकूला अपि सूर्यकान्ताः
स्वकीयतेजोऽभिभवाद् दहन्ति।'

'शमप्रधानेषु तपोधनेषु
गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः॥'

अर्थात् सूर्यकान्त-मणिमें अव्यक्त तेज सूर्य-किरणके स्पर्श-से व्यक्त होता है, वैसे ही शान्ति-प्रधान तपोवनमें दाहात्मक तेज अव्यक्त-अवस्थामें रहता है।

हमारा पुराण-साहित्य भी इस सत्यका साक्षी है। उसमें न केवल प्राकृतिक विकारोंके व्यक्ताव्यक्त भावोंपर ही प्रकाश डाला गया है, प्रत्युत यह भी बताया गया है कि योग-बल-रूप निमित्तको प्राप्तकर बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धा-वस्था भी एक दूसरीमें परिणत हो जाती हैं। साथ ही आकार-प्रकार और रूप-रंग भी एक दूसरेमें परिणत किये जा सकते हैं। कहा जाता है, चीनके लामा लोग इस समय भी ऐसे परीक्षण किया करते हैं। श्रीमती नील अपने यात्रा-वृत्तान्तमें लिखती हैं—

'मैं चुपचाप बैठी हुई लामाको देखती रही। उनमें किसी तरहकी हरकत नहीं थी और वह जडवत् प्रतीत होते थे। मैंने देखा कि धीरे-धीरे उनकी आकृति बदल रही है, उनके चेहरेपर झुर्रियाँ पैदा हो रही हैं और चेहरेपर ऐसा भाव प्रकट हो रहा है, जो मैंने उनमें कभी नहीं देखा था। उन्होंने अपनी आँखें खोलीं और प्रिंस आश्चर्यसे काँप उठे।'

'हमलोग जिस आदमीको देख रहे थे, वह डालिंगके गोमचेन नहीं थे। यह कोई दूसरा ही आदमी था, जिसे हम नहीं जानते थे। बड़ी कठिनाईसे इस व्यक्तिने अपना मुँह खोला और डालिंगसे भिन्न वाणीमें बोला।'

'इसके बाद उसने धीरे-धीरे अपनी आँखें बंद कर लीं, फिर उसकी आकृति बदलने लगी और डालिंग लामाके रूपमें आ गयी।'

हमारी प्रान्तीय भाषाओंमें भी हमें इस सत्यके प्रकारान्तर-से दर्शन होते हैं, प्रायः लोग कहा करते हैं—

१. पिण्डे सो ब्रह्माण्डे।

२. ब्रह्माण्डे सो पिण्डे।

३. सबमें सो हममें और हममें सो सबमें।

इन वाक्योंका यही अभिप्राय है कि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक वस्तुमें मौजूद है। अन्तर केवल इतना ही है कि एक वस्तु व्यक्त है किंतु उसीमें अनन्त अव्यक्त वस्तुएँ (प्राकृतिक विकार-भेद) विद्यमान हैं; परंतु वे नैमित्तिक (Incidental) उपायोंसे स्वप्रकृतिवश व्यक्त हो उठती हैं; किंतु इसका यह भाव कदापि नहीं है कि नैमित्तिक उपाय स्वयं अव्यक्त वस्तुओंका रूप धारण कर लेते हैं। इसलिये कि वस्तु-प्रकृतिमें स्वतः व्यक्त होनेकी सत्ता विद्यमान है; किंतु है वह पुरुष-साध्य। फिर पुरुष ब्रह्म हो या व्यक्तिविशेष वैज्ञानिक। इसी रहस्यको आँग्ल-भाषामें एक भाष्यकारने इस तरह समझाया है—

The creative-causes are not moved into-action by any incidental causes; but that pierces the obstacles from it like the husband man.

साधुका स्वभाव

नान्तर्विचिन्तयति किञ्चिदपि प्रतीप-
माकोपितोऽपि सुजनः पिशुनेन पापम्।
अर्कद्विषोऽपि हि मुखे पतिताग्रभागा-
स्तारापतेरमृतमेव कराः किरन्ति॥

चुगली खानेवाले दुष्ट मनुष्यके द्वारा क्रोध दिलानेपर भी साधुपुरुष उसके विरुद्ध अमङ्गलमय प्रतिशोधकी बात अपने मनमें नहीं लाते। राहु चन्द्रमाका सहज विद्वेषी है; किंतु चन्द्रमाकी सुधामयी किरणें उसके मुखमें पड़कर भी अमृतकी ही वर्षा करती हैं।

उपनिषद् और रामानुज-वेदान्तदर्शन

(लेखक—वेदान्ताचार्य पं० श्रीरामकृष्णजी शास्त्री, बी० ए०)

उपनिषदोंको ही वेदान्त कहा जाता है; क्योंकि प्रथम तो ये वेदके संहिता आदि भागोंके अन्तिम अध्याय हैं, जैसे माध्यन्दिनीय संहिताका अन्तिम अध्याय ईशावास्योपनिषद् है; दूसरे वे वेदका अन्त अर्थात् सार हैं, वेदका वास्तविक प्रतिपाद्य विषय ब्रह्मज्ञान इनमें प्रत्यक्ष रूपसे निहित है। वेदके अवशिष्ट भागमें तो कर्मकाण्ड, यज्ञ, देवप्रशंसा आदिके रूपमें अप्रत्यक्ष रूपसे ही ब्रह्मज्ञान कराया गया है।

उपनिषदोंके अर्थको भलीभाँति समझानेके लिये और उपनिषदोंके वर्णनीय विषयको एक तर्कपूर्ण तथा वैज्ञानिक रीतिसे क्रमबद्ध करनेके लिये महर्षि वेदव्यासजीने ब्रह्मसूत्रोंका प्रणयन किया। इन ब्रह्मसूत्रोंको वेदान्तदर्शन कहते हैं और वेदके उत्तर भागकी मीमांसा होनेके कारण इनको उत्तर-मीमांसा भी कहते हैं। साथ ही ब्रह्मकी मीमांसा होनेके कारण इन्हें ब्रह्ममीमांसा भी कहा जाता है।

ब्रह्मसूत्रोंके अर्थको स्पष्ट करनेके लिये और ब्रह्मसूत्रों तथा उनके विषय उपनिषद् या श्रुतियोंका परस्पर सामञ्जस्य दिखलानेके लिये विभिन्न आचार्यपादोंने ब्रह्मसूत्रोंपर भाष्योंकी रचना की है, जिनके द्वारा उपनिषदोंके प्रतिपाद्य विषयको अवगत कराया गया है और ब्रह्मसूत्र उन अर्थोंके साक्षी हो जाते हैं, उपनिषदोंका वास्तविक अर्थ ब्रह्मसूत्रोंमें निहित है; किंतु संक्षिप्तरूपसे है। उस अर्थको विस्तृत कर देना मात्र भाष्योंका कार्य है। इस परम्परासे भाष्य उपनिषदोंके ही अर्थको दार्शनिक रीतिसे क्रमबद्धरूपमें अवगत कराते हैं। इन भाष्योंका निर्माण करनेसे पूर्व आचार्योंने उपनिषत्प्रतिपादित तत्त्वको विभिन्न रूपसे देखा है, जैसे श्रीशङ्कराचार्यजीने अद्वैतरूपसे, श्रीरामानुजाचार्यजीने विशिष्टाद्वैतरूपसे और श्रीवल्लभाचार्यजीने शुद्धाद्वैतरूपसे आदि।

उसी तत्त्वको अपने दृष्टिकोणमें रखते हुए उसे विस्तृत रूपसे अपने-अपने भाष्योंमें प्रतिपादित किया है और उस तत्त्वका ब्रह्मसूत्रोंसे सामञ्जस्य दिखलाया है। इस प्रकार श्रुति, सूत्र और भाष्य—ये तीनों एक पूर्ण दर्शन हो जाते हैं और भाष्योंके अनुसार ही उनके नाम निर्देश किये जाते हैं—जैसे शाङ्कर-वेदान्त, रामानुज-वेदान्त, माध्व-वेदान्त और वल्लभ-वेदान्त। इन्हींको क्रमशः अद्वैत-वेदान्त, विशिष्टाद्वैत-वेदान्त, द्वैत-वेदान्त और शुद्धाद्वैत-वेदान्त कहा जाता है। इन्हींमें 'दर्शन' शब्द जोड़कर इनको शाङ्कर-वेदान्तदर्शन या शाङ्कर-दर्शन आदि कहा जाता है। इन्हीं दर्शनोंमेंसे एक रामानुज-वेदान्त-दर्शन है।

यहाँपर हमें केवल यह दिखाना है कि उपनिषदोंमें और रामानुज-वेदान्तदर्शनमें सामञ्जस्य किस प्रकार है अर्थात् उपनिषदोंको रामानुज-वेदान्तदर्शनमें किस प्रकार लगाया गया है।

उपनिषदोंमें सामान्य रूपसे चार प्रकारकी श्रुतियाँ मिलती हैं—निर्गुणका प्रतिपादन करनेवाली, सगुणका प्रतिपादन करनेवाली, अभेदवादिनी तथा भेदवादिनी। निर्गुणप्रतिपादक तथा सगुणप्रतिपादक श्रुतियोंमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है। इसी प्रकार अभेदवादिनी और भेदवादिनी श्रुतियोंमें भी परस्पर विरोध दीखता है। इनका परस्पर सामञ्जस्य ही रामानुज-वेदान्तदर्शन है।

जो निर्गुणप्रतिपादक श्रुतियाँ हैं। जैसे—

'निष्कलम्' 'निरञ्जनम्' 'निर्गुणम्' 'अप्रतर्क्यम्' 'अविज्ञेयम्' 'एष आत्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघित्सोऽपिपासः।'

—आदि। इनका यह तात्पर्य है कि परब्रह्ममें काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, राग, शोक, बुभुक्षा, पिपासा, जरा, मृत्यु आदि हेय या त्याज्य गुण या विशेषण नहीं हैं, (गुण शब्द विशेषणमात्रका द्योतक है चाहे विशेषण सत् हो या असत्) अतः वह निर्गुण या निर्विशेष है। जो सगुणप्रतिपादक श्रुतियाँ हैं, जैसे—

'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।'

'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' 'कविर्मनीषी' 'सोऽकामयत' 'सर्वगन्धः सर्वरसः'

—आदि। इनका यह तात्पर्य है कि परब्रह्ममें ज्ञानबलैश्वर्य, वीर्य, शक्ति, तेज, सौशील्य, मार्दव, आर्जव, दया, क्षमा, औदार्य, करुणा, प्रेम, वात्सल्य, सर्वलोकशरण्यत्व, सत्यकामत्व, सत्यसङ्कल्पत्व आदि असंख्येय, अनन्त कल्याण-गुण हैं। इस प्रकार परस्पर सामञ्जस्य करनेपर रामानुजदर्शनमें ब्रह्मका स्वरूप निर्धारित किया गया है कि ब्रह्म एकमात्र अनन्त

ज्ञानानन्दस्वरूप, समस्त त्याज्य दोषोंसे सर्वथा शून्य एवं अनन्त कल्याणमय गुणोंसे युक्त है।

जो अद्वैत या अभेदका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ हैं, जैसे—

'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' 'शान्तं शिवमद्वैतम्'

—आदि। उनका तात्पर्य है कि चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मको छोड़कर और कुछ भी नहीं है। चित् अर्थात् जीव, अचित् अर्थात् प्रकृति आदि अचेतन पदार्थ ब्रह्मके शरीर हैं और ब्रह्म इनका आत्मा है। चेतन तथा अचेतन नित्य हैं, उनसे ब्रह्म सर्वदा विशिष्ट रहता है, क्योंकि चिदचित्पदार्थोंके नित्य होनेके कारण उनकी सत्ता अवश्य कहीं-न-कहीं रहेगी और जहाँ उनकी सत्ता रहेगी, वहाँ ब्रह्म भी अवश्य रहेगा; क्योंकि वह अनन्त है, सर्वदा सर्वत्र विराजमान है। इसके साथ ब्रह्म उनमें आत्मरूपसे प्रविष्ट रहता है और चेतन-अचेतनका उसी प्रकार नियन्त्रण करता है, जिस प्रकार जीव अपने शरीरका करता है। जीव कर्मवश होनेके कारण स्वेच्छापूर्वक अपने शरीरका प्रयोग किसी कालमें न भी कर सके, किंतु ब्रह्म स्वतन्त्र और अनन्त ज्ञान तथा शक्तिसे युक्त होनेके कारण यथेच्छ प्रयोग कर सकता है। जिस प्रकार शरीरविशिष्ट आत्माको देवदत्त आदि नामोंसे पुकारते हैं और 'पुण्यवान् देवदत्त स्वर्गको जायगा' आदि-आदि प्रकारसे आत्माका निर्देश करते हैं, और शरीर आत्माका विशेषण होनेके कारण आत्माके साथ ही एकताके व्यवहारमें आता है। उसी प्रकार चेतनाचेतनशरीरक ब्रह्म एक ही हुआ। विशेष्यसे विशेषण पृथक् नहीं गिना जा सकता। यहाँ यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि गुण ही विशेषण होता है, चेतनाचेतन तो द्रव्य हैं, वे विशेषण कैसे हुए, क्योंकि विशेषण उसीको कहते हैं जो विशेष्यसे पृथक् रहनेमें असमर्थ हो। न यही शङ्का करनी चाहिये कि शरीर भोगायतन होता है; क्योंकि वस्तुतः शरीर उस द्रव्यका नाम है जो अपने शरीरीसे अपृथक् रहते हुए उसके द्वारा धारित, नियन्त्रित किये जाते हुए शरीरीका सर्वतोभावेन शेष हो।

चेतनाचेतनको ब्रह्मका शरीर श्रुतियाँ ही कहती हैं, जैसे—

'यस्यात्मा शरीरम्' 'यस्य पृथिवी शरीरम्' 'यस्याक्षरं शरीरम्'

—आदि। इस प्रकार सकल विश्व ब्रह्मका शरीर होनेके कारण ब्रह्म ही कहा जाता है, इसीलिये भगवती श्रुति कहती है कि **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** अर्थात् सर्वको पृथक् मत समझो; किंतु यह ब्रह्म है। यही भाव **'सोऽहमस्मि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'तत्त्वमसि'** आदि श्रुतियोंका है कि जिस प्रकार शरीरको शरीरीके द्वारा निर्दिष्ट होना पड़ता है, उसी प्रकार चेतन या अचेतन ब्रह्मका शरीर होनेके कारण अपनी पृथक् सत्ता स्थापित नहीं रख सकता; किंतु उसे यही कहना पड़ेगा कि मैं ब्रह्म हूँ। इस प्रकार अभेदवादिनी श्रुतियोंका अर्थ है कि चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मसे व्यतिरिक्त कुछ नहीं है। एकमात्र वही है।

भेदवादिनी श्रुतियाँ, जैसे—

'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा'

'नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्'

—आदि हैं। वे चेतन, अचेतन और ब्रह्म—इन तीनों तत्त्वोंका पृथक्-पृथक् निरूपणमात्र कर देती हैं, जिससे ब्रह्म और उसका शरीर सुविधासे समझा जा सके। इन तीनोंके सम्बन्धको 'यस्यात्मा शरीरम्' आदि घटक श्रुतियाँ बतलाती हैं और अभेदवादिनी श्रुतियाँ चेतनाचेतनसे विशिष्ट ब्रह्मको बतलाती हैं। अतः तीनों प्रकारकी श्रुतियों (—द्वैतपरक, घटक, अद्वैतपरक) का सामञ्जस्य हो जाता है। और पूर्वोक्त चारों प्रकारकी श्रुतियाँ भी इस प्रकार रामानुज-दर्शनमें समञ्जस हो जाती हैं। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** श्रुति ब्रह्मस्वरूपको उपस्थापित करती है। सगुण-निर्गुण, भेद-अभेद बतलानेवाली श्रुतियोंका सामञ्जस्य भी वहीं हो जाता है, तब यह निष्कर्ष निकलता है कि सत्य, अनन्तज्ञानानन्दैकस्वरूप, अखिलहेयप्रत्यनीक, सकलकल्याणगुणसागर, चिदचिच्छरीरक एक परब्रह्म ही वस्तु-तत्त्व है। इससे अतिरिक्त सब मिथ्या है। पूर्वोक्त गुणविशिष्ट सूक्ष्मचिदचिच्छरीरक ब्रह्म कारण है और पूर्वोक्त गुणविशिष्ट स्थूलचिदचिच्छरीरक ब्रह्म कार्य है। कारण और कार्यमें अभेद ही इस प्रकार हुआ। अतएव दोनों विशिष्टों—सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म और स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्ममें अद्वैत होनेके कारण ब्रह्मको विशिष्टाद्वैत और तत्प्रतिपादक सिद्धान्तको विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त कहते हैं।

जो चेतन अपनी इस स्थितिको समझ लेता है, उसे 'ज्ञानी' कहते हैं। जो समझकर अपने अन्तर्यामीकी ओर आकृष्ट होता है, उसे 'भक्त' कहते हैं। वही अपना उपाय समझनेवाला 'शरणागत या प्रपन्न' कहलाता है। शरणागति ही प्रभुको समझनेके लिये, उसे प्राप्त करनेके लिये एकमात्र उपाय है। शरणागतिका यह तात्पर्य है कि शरणागतिको भी उपाय न समझकर केवल प्रभुके चरणारविन्दोंको प्रभुपदकमलसेवाकी प्राप्तिका उपाय समझना। प्रभुचरणकैङ्कर्य ही प्राप्य

है। यहाँ किञ्चित् दिग्दर्शनमात्र करा दिया गया है, स्थानाभावसे अधिक विस्तार नहीं किया जा सका। अब हम उपनिषद् और श्रीरामानुज-वेदान्तदर्शनका सामञ्जस्य बतलानेवाले एक श्लोकको उद्धृत कर विराम लेते हैं—

नित्यं हेयगुणावधूननपरा नैर्गुण्यवादाः श्रुतौ
मुख्यार्थाः सगुणोक्तयः शुभगुणप्रख्यापनाद् ब्रह्मणः।
अद्वैतश्रुतयो विशिष्टविषया निष्कृष्टरूपाश्रया
भेदोक्तिस्तदिहाखिलश्रुतिहितं रामानुजीयं मतम्॥

श्रुतिमें जो निर्गुण स्वरूपके प्रतिपादक वचन हैं, उनका तात्पर्य परमात्मामें हेय (त्याज्य) गुणोंका नित्य निराकरणमात्र है। सगुण स्वरूपके प्रतिपादक वचन अपने मुख्य अर्थमें ही तात्पर्य रखते हैं; क्योंकि वे ब्रह्मके नित्य कल्याणमय गुणोंका ही बखान करनेवाले हैं। अद्वैत-श्रुतियाँ चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मसे सम्बन्ध रखती हैं अर्थात् चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मसे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है, यह बताती हैं। तथा भेद-प्रतिपादक श्रुति ब्रह्मके ही चित्-अचित् आदि स्वरूपोंका पृथक्-पृथक् निरूपणमात्र करनेवाली है। इस प्रकार श्रीरामानुजाचार्यका मत सर्वश्रुति-सम्मत है।

उपनिषद् गुरु-वाक्य हैं

(लेखक—श्रीदशरथजी श्रोत्रिय एम्० ए०, साहित्याचार्य, विद्याभूषण)

१—हमारे यहाँ सम्पूर्ण वाङ्मयको साधारण रीतिसे तीन विभागोंमें बाँट दिया गया है। सम्पूर्ण वाङ्मय वाक्यमय है। अतः इन विभागोंको भी वाक्य कहा गया है। वे तीन विभाग ये हैं—प्रभु-वाक्य, मित्र-वाक्य, कान्ता-वाक्य।

२—वेदोंका तथा पाठकोंका सम्बन्ध प्रभु-भृत्यका सम्बन्ध है। जिस प्रकार भृत्यका कर्तव्य प्रभुके वाक्योंका शब्दशः—अक्षरशः पालन करना है। प्रभुके वाक्य उसके लिये आदेश-मात्र हैं। उसे उनमें हेर-फेर ननु-नच करनेका अधिकार नहीं। इसी तरह वेद-वाक्यों (मन्त्रों) में भी पाठकों या श्रोताओंको ननु-नच नहीं करना चाहिये। इसी कारण वेद-वाङ्मयको 'प्रभु-वाक्य' कहा गया है। वे 'स्वतःप्रमाण' हैं।

३—पुराणों तथा स्मृतियोंके साथ पाठकोंका मित्र-मित्रका सम्बन्ध है। जिस प्रकार मित्रके वाक्यों (उपदेशों, परामर्शों) की सर्वथा परीक्षा करना योग्य है तथा हित-वाक्योंका अनुगमन और अहित-वाक्योंकी उपेक्षा करना सर्वथा उचित है; उसी प्रकार पुराण-वाक्यों (इन्हींमें इतिहासोंका भी अन्तर्भाव है) एवं स्मृति-वाक्योंकी भी सुतर्कोंसे आलोचना करके उचितानुचित ग्राह्याग्राह्यका विवेक करना चाहिये। इस आलोचनाकी कसौटी वेद माने गये हैं। अतः पुराण-स्मृति-वाङ्मयको 'मित्र-वाक्य' कहा गया है। वे 'परतः प्रमाण' हैं।

४—वेद-स्मृति-पुराण-वाङ्मयके अतिरिक्त जो उपयोगी वाङ्मय (वाक्यसमूह) अवशिष्ट रह जाता है, उसको साहित्य कहा जाता है। साहित्यका तथा पाठकोंका परस्पर सम्बन्ध कान्ता-कान्त-सम्बन्ध रहता है। साहित्यकी निस्सृति हृदय-प्रधान बुद्धिसे होती है। अतः साहित्यानुशीलनके समय पाठककी बुद्धि कुण्ठित-सी हो जाती है। कान्ता (प्रिया-सुन्दरी) के मधुर, वक्र तथा हाव-विलसित वाक्योंसे जिस प्रकार प्रेमी तत्क्षण अभिभूत हो जाता है, उसी प्रकार साहित्यका भी पाठकोंपर वाञ्छनीय मनोमोहक प्रभाव अवश्यम्भावी है। इसी कारण साहित्य-वाङ्मयको 'कान्ता-वाक्य' कहा गया है। वहाँ प्रमाणाप्रमाणका प्रश्न ही नहीं उठता।

५—इन तीनों वाङ्मय-विभागोंको यथावत् समझते और अनुगमन करते हुए हम संसारमें सब प्रकारके अभ्युदयके भागी हो सकते हैं। अतः इन तीनों वाक्यों (विभागों) को अर्थात् सांसारिक सम्पूर्ण वाङ्मयको हम एक नाम 'अभ्युदय-वाक्य' भी दे सकते हैं। अभ्युदय-वाक्य (वाङ्मय) को ही शास्त्रोंमें 'अपरा विद्या' कहा गया है। इसकी उपयोगिता मायामय जगत्तक ही सीमित है। मायातीत लोकमें (उस स्थितिको सुबोधताकी दृष्टिसे ही हमने लोक कहा है) इसकी कोई उपयोगिता नहीं। इसीको लक्ष्य करके भगवान् श्रीकृष्ण अपने अनन्य भक्तको उपदेश करते हैं—

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
(गीता २। ४५)

अर्थात् अर्जुन! संसारके हेतु उपयोगी सम्पूर्ण ज्ञान (यहाँतक कि वेद भी) मायाविषयक है। तुझे तो इससे परे मायातीत अवस्थामें पहुँचनेके लिये मायातीत ज्ञानका उपार्जन करना चाहिये।

६—मायातीत ज्ञानके स्रोत उपनिषद् हैं। उपनिषदोंको ही वेदान्त कहा गया है। वेदान्त-ज्ञानसे परे कोई ज्ञान नहीं तथा वेदान्त-वाङ्मयसे परे कोई वाङ्मय नहीं। तो फिर इस वाङ्मयका भी कुछ नाम होना चाहिये। इसको हम 'गुरु-वाक्य' कह सकते हैं। यह नाम सर्वथा उचित एवं युक्ति-

सङ्गत है। गुरुकी स्थिति प्रभुसे, मित्रसे सर्वथा भिन्न है। एक अर्थमें गुरु प्रभुसे भी बड़ा है। कबीरजी तो स्पष्ट कहते हैं—

गुरु साहब दोनों खड़े, काके लागूँ पाइ।
बलिहारी गुरुदेवकी, जिन साहब दियो दिखाइ॥

७—फिर तत्त्वातत्त्वदर्शी गुरुकी कृपासे ही तो हम तत्त्वको और अतत्त्वको देख सकेंगे—जान सकेंगे; अतः गुरुकी कक्षा इस संसारमें सबसे ऊँची है। गुरुसे ही हमें 'उपनयन' द्वारा माया-विषयक (संसारोपयोगी) ज्ञान प्राप्त होता है और गुरुसे ही हमें 'उपनिषद्' द्वारा मायातीत ज्ञान प्राप्त होता है। कहा भी है—'बिन गुरु होइ न ज्ञान।' उपनिषद् भी कहती है—'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इत्यादि। इसीको लक्ष्य करके भगवान् श्रीकृष्ण भी अर्जुनको लोक-शिक्षार्थ उपदेश करते हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४। ३४)

'अर्जुन! तू उस तत्त्वज्ञानको तत्त्वदर्शी ज्ञानी गुरुओंके समीप जाकर प्रणामपूर्वक युक्त प्रश्नद्वारा तथा उनकी सेवा करते हुए प्राप्त कर।' इस प्रकार वे अवश्य तुझे तत्त्व-ज्ञानका उपदेश करेंगे। वस्तुतः गुरु-कृपासे सब कुछ सुलभ है। प्रभु परमेश्वरकी कृपाका आधार भी गुरु-कृपा ही है। बिना गुरुकी कृपाके परम प्रभुकी कृपा नहीं होती, और बिना प्रभुकी कृपा तत्त्वज्ञान नहीं मिलता। उपनिषद्का स्पष्ट प्रवचन है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष
आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम्॥

(कठ० १। २। २३)

अर्थात् यह परमात्मा जिसके ऊपर कृपा करता है, वही इसे प्राप्त कर पाता है। उसीके लिये यह अपने यथार्थस्वरूप-को प्रकाशित कर देता है।

८—इस प्रकार हमने देखा कि गुरुकी महिमा अनन्त है। उपनिषद्-वाङ्मय अनेक तत्त्वदर्शी गुरुओंके वाक्य ही तो हैं जो कि भिन्न-भिन्न कालोंमें भिन्न-भिन्न रीतियोंसे उसी एक तत्त्वज्ञानका उपदेश कर रहे हैं। हमें गुरूपदेशके समान श्रद्धापूर्वक औपनिषदिक वाक्योंका अनुशीलन करना चाहिये। इतस्ततः उठी हुई शङ्काओंके उत्तर भी श्रद्धापूर्वक उन्हींमें इतस्ततः खोजने चाहिये। अथवा किसी ज्ञानी गुरुसे उन शङ्काओंका निवारण करना चाहिये। यदि श्रद्धा है तो अवश्य ही शङ्काओंका समाधान होता जायगा—यह मेरा दृढ़ विश्वास है। भगवान् श्रीकृष्णजीके द्वारा कितना दृढ़ आश्वासन दिया गया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

(गीता ४। ३९)

'ज्ञान-परायण, जितेन्द्रिय पुरुष, यदि श्रद्धावान् है, तो अवश्य तत्त्वज्ञानको प्राप्त करता है। ज्ञानको प्राप्त करके वह शीघ्र ही परम शान्तिको भी पाता है।'

९—सारांश यह कि उपनिषद्-वाङ्मयसे पाठकोंका सम्बन्ध गुरु-शिष्य-सम्बन्ध होना चाहिये। शङ्काएँ उठें, कोई चिन्ता नहीं! धैर्यपूर्वक श्रद्धा-समन्वित होकर उनका समाधान प्राप्त करनेकी उत्कण्ठा रक्खे, समाधान अवश्य प्राप्त होगा—शीघ्र ही प्राप्त होगा। श्रद्धाकी महिमा अपार है। अतः उपनिषद् (वेदान्त) के वाक्य साक्षात् गुरुवाक्य हैं। इसी-को निःश्रेयस-वाक्य भी कह सकते हैं। यही परा विद्या है। यह आत्मानुभव प्रमाण है। इसको जानकर फिर कुछ जानना शेष नहीं रहता। यही जानना परम-प्रयोजनरूप मोक्षका साधन है।

त्वमेव सर्वम्

(रचयिता—श्रीभगवतीप्रसादजी त्रिपाठी, विशारद, काव्यतीर्थ, एम्०ए०, एल्-एल्० बी०)

यात्री तुम्हीं भवसागर केवट पोत तुम्हीं पतवार तुम्हीं हो।
दर्शक दृश्य तुम्हीं नटनागर नायक नाटककार तुम्हीं हो॥
व्यष्टि समष्टि अहंकृति हो मन बुद्धि तुम्हीं हो, विचार तुम्हीं हो।
जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति तुरीय अकार उकार मकार तुम्हीं हो॥१॥
विष्णु पुकारते कोई तुम्हें शिव कोई हैं शक्ति महा बतलाते।
ईश्वर कोई परंरस कारण ब्रह्म हैं कोई तुम्हें ठहराते॥
शंकर एक ही राम कभी घनश्याम स्वरूप तुम्हीं बन जाते।
बुद्बुद वीचि प्रवाह यथा जल एक अनेक स्वरूपमें पाते॥२॥

गीतोपनिषद्

(लेखक—स्वामी श्रीराजेश्वरानन्दजी)

भगवान् श्रीकृष्णने भारतवर्षके कुरुक्षेत्र नामक रण-प्राङ्गणमें अर्जुनको अपनी भगवद्गीता सुनायी और यों अर्जुनको निमित्त बनाकर सारे संसारको वह दिव्य उपदेश प्रदान किया।

गीताका मूल स्रोत महाभारत नामक महाकाव्य है, जो एक प्रकारका विश्वकोश है।

गीता महाभारतकी मुकुट-मणि है। गीता विश्वसंस्कृतिकी कुंजी है, और गीताके प्रकाशक स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं। यह समूची मानव-जातिका धर्मग्रन्थ है। यह एक उपनिषद् है; ज्ञानका उज्ज्वल प्रदीप है। यही ब्रह्मविद्या है, योगशास्त्र है एवं आध्यात्मिक जीवनका दिव्य संदेश है। यह श्रीकृष्ण और अर्जुन (नारायण और नर) का संवाद है। गीता मनुष्यको भगवान्‌का साक्षात्कार कराती है तथा जीवनमें सरसता एवं सरलता प्रवाहित करती है। अर्जुनके व्यष्टि चैतन्यका परिच्छिन्न भवन तोड़ देनेपर स्वयं श्रीकृष्ण ही सामने उपस्थित हो जाते हैं। समस्त जीवात्माओंके सामान्य केन्द्र भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीकृष्ण पृथिवीके लिये स्वर्गका द्वार खोल देते हैं और बिना जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, देश या स्त्री-पुरुषके भेदके जीवमात्रको अपने राज्यमें प्रवेश करनेकी अनुमति प्रदान करते हैं। गीताकी सर्वतोमुखी शिक्षा, जीवनके प्रत्येक क्षेत्रसे लोगोंको उन्नतिकी ओर ले जानेवाली ज्योति है। श्रीकृष्ण जगद्गुरु हैं। वे विश्वात्मा हैं, दिव्य प्रेरणा तथा आध्यात्मिक प्रकाशके केन्द्र हैं।

यद्यपि गीता ऊपरसे जगत्कल्याणकी भावनाको लेकर लोकसंग्रहका निष्काम सेवाके सिद्धान्तके रूपमें उपदेश देती है, तथापि उसका हृद्गत ध्येय भगवत्प्राप्ति है। अतएव गीता मानवताको भगवत्तासे ऊपर स्थान नहीं देती, और न उसे भगवान्‌के स्थानपर ही बिठाती है। गीताकी दृष्टिमें मानव-सेवा माधव-सेवा नहीं है, वरं वह माधव-सेवामें ही मानव-सेवा मानती है। भगवत्प्राप्त पुरुष ही मनुष्योंकी यथार्थ सेवा कर सकता है। मन, वाणी और कर्मसे दिव्य तत्त्वका अनुभव एवं अभिव्यञ्जन ही जीवनका लक्ष्य है, वही जीवात्माका गन्तव्य स्थान है।

कर्तव्यके लिये कर्तव्यका अनुष्ठान, केवल समाज-सेवा, लोकहितके कार्य, शाब्दिक सहानुभूति तथा इसी प्रकारके अन्य सिद्धान्त गीताकी सार्वभौम-शिक्षाको विकृत और सीमाबद्ध कर देते हैं। भगवत्-स्वरूपकी अभिव्यक्ति ही इसका मूल मन्त्र है, समाज-पूजा नहीं।

व्यावहारिक दृष्टिसे जीवनको साधनके द्वारा सुव्यवस्थित बनाने और अपने स्वधर्मका ज्ञान प्राप्त करनेमें, अपने अधिक-से-अधिक अनुकूल पद्धतिके द्वारा अग्रसर होनेमें एवं अपने स्वधर्मका निर्णय करके उसका तदनुसार अनुष्ठान करनेमें गीताके उपदेशोंसे बड़ी सहायता मिलती है। अपने स्वरूपके अनुकूल होनेके कारण स्वधर्म स्वभावरूप होता है और अपने वास्तविक स्वरूपका अभिव्यञ्जक होनेके कारण वह सहज होता है। स्वधर्ममें सर्वश्रेष्ठ भगवत्ता है और उसीमें भगवदीय श्रेष्ठता रहती है। उसमें नित्य-पूर्णता विद्यमान रहती है। वह भगवान्‌की मुरलीके स्वर-में-स्वर मिलाकर जीवनके उद्देश्यको पूरा करता है और इस प्रकार मर्त्यलोकमें दिव्यताको उतार देता है। वह व्यक्तिके समग्र जीवनको भगवान्‌के एक दिव्य मधुर सङ्गीतमें परिणत कर देता है, क्योंकि वह विश्वात्मा सभी देशों और सभी जातियोंके मनुष्योंमें समान रूपसे व्याप्त है।

गीता मनुष्यकी इन्द्रियोंको उसके अधीन करके उसे उनका स्वामी बनाती है। उसका यह स्वामित्व नष्ट न होने पाये, इसके लिये गीता चाहती है कि वह भगवान्‌के बनाये हुए नियमोंका दृढ़तासे निरन्तर पालन करे। इस प्रकार चलनेवाले मनुष्यमें एक उज्ज्वल सौम्यता एवं सौम्य कान्ति झलकती है। उसके कर्मोंमें योगियोंका-सा, उपासनामें देवताओंका-सा एवं ज्ञानमें ऋषियोंका-सा तेज तथा गौरव दिखायी पड़ता है। गीता बाह्य उपरामताको धार्मिकताके रूपमें नहीं सजाती। प्रकृतिमें अचलता नहीं है। मनुष्य अचानक अथवा एकाएक बादलोंसे नहीं टपक पड़ता। वह यन्त्र भी नहीं है। प्रत्येकका जन्म किसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये होता है; जिसके लिये उसे भगवदीय शक्तिका साहाय्य मिलता रहता है। जिन प्रश्नोंको हल करनेमें मानवीय बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, उनपर गीता प्रचुर प्रकाश डालती है। वह विश्वका नियमन करनेवाले आध्यात्मिक, नैतिक, मानसिक एवं भौतिक नियमोंका निर्देश करती है। गीता अपना निराला तेज एवं प्रभाव रखनेवाली जीवन-सुधा है।

इस सार्वभौम शास्त्रके विचारपूर्ण अध्ययनसे अहिंसाका मूल तत्त्व प्रकट होता है । श्रीकृष्णने अर्जुनके अज्ञानजनित मोहका नाश करके उसके संकुचित स्वजन-अभिमानको दूर कर दिया । युद्धारम्भ-जैसे अवसरपर अपनेको भगवदीय न्यायकी प्रतिष्ठामें निमित्त न मानना ही उनका अज्ञान था । श्रीकृष्ण अर्जुनके भय, शोक, अमर्ष, द्वेष, कामना और राग आदि उन दोषोंको हर लेते हैं, जो हिंसाके दुष्ट सहचर हैं । बाहरसे देखनेमें हिंसाका स्थूल आवरण अक्षुण्ण बनाये रख-कर भगवान्‌ने अर्जुनके आध्यात्मिक आधारको सर्वथा परिवर्तित कर उन्हें अहिंसाकी प्रतिमूर्ति बना दिया । इस प्रकार केवल भगवान्‌के आश्रित होकर, बिना किसी पुरस्कारकी आशाके तथा उनके प्रति आत्मसमर्पणकी भावनामें स्थिर हुआ अर्जुन कर्म करता हुआ भी नहीं करता, मारता हुआ भी नहीं मारता; क्योंकि गीतामें उसकी क्रियाएँ अब अहङ्कारके विषैले दंशसे मुक्त हो गयी हैं । अहिंसा और अमरता गीतामें साथ-साथ चलती हैं । कूटस्थ साक्षीके रूपमें रहना अर्थात् संसारमें रहता हुआ प्रतीत होनेपर भी उससे बिल्कुल निर्लिप्त रहना ही वह अमर जीवन है । इसी स्थितिमें अकर्ममें कर्म और कर्ममें अकर्मका विज्ञान प्रकट होता है ।

श्रीकृष्ण साक्षात् वह आत्मतत्त्व हैं, जो समस्त ज्ञानका केन्द्र एवं परिधि दोनों है । जगत्‌की लौकिकताके मोहक स्वरूपके परे दृष्टि डालना; अपने स्वरूपके, अपनी स्वाभाविक चरित्रगत विशेषताओंके, सहज प्रवृत्तियोंके सम्बन्धमें विचार करना; नैसर्गिक प्रेरणाओंका तथा एकता एवं सामञ्जस्य उत्पन्न करनेवाले रचनात्मक गुणोंका अध्ययन कर उनपर सार्वभौम दृष्टिसे विचार करना; विशाल मानवताके धरातलपर खड़े होकर सुख-दुःखका अनुभव करना और अपने अंदर भगवत्तत्त्वको अभिव्यक्त करना सीखो । यही मानव-जातिके प्रति श्रीकृष्णका सनातन सन्देश है । इस प्रकार गीता धर्म और अध्यात्मको हमारे दैनन्दिन जीवनसे वियुक्त नहीं करती ।

संसारमें आज एक धार्मिक भूकम्प हो रहा है । भौतिक-वादपर अवलम्बित वर्तमान वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे उत्पन्न हुई कृत्रिम जीवनचर्याका अनुगमन धर्मके उच्चतर आदर्शोंको पीछे ढकेल देना और सुखकी मृगतृष्णाके पीछे दौड़ना है । धर्म व्यापारकी वस्तु नहीं है । धर्म विनिमयका सिद्धान्त नहीं है, सट्टे-बजारमें होनेवाला मानवीय सौदा नहीं है । धर्म तो जीवनको दिव्य बनानेका एक शक्तिशाली साधन है । धर्म ही वह शक्ति है जो दिनके प्रकाशमें भी तनकर चलती है, जब कि अन्य समस्त विज्ञान रात्रिके अन्धकारमें भी आँखें बचाते हुए टेढ़े-मेढ़े मार्गोंसे छिपकर चलते हैं । धर्मकी अधिदेवता ही मनुष्यकी भगवत्ताका दावेके साथ प्रतिपादन करके मानव-जातिकी समस्याओंका निश्चयात्मक समाधान करती है । वही अलौकिक जगत्‌से परेका तत्त्व है और वही मनुष्यके भीतर रहनेवाली वस्तु है । धर्मका बाह्य रूप केवल छिलका और भूसी है । यथार्थ आध्यात्मिक जीवन सनातन तत्त्वमें स्थित और अनन्तमें प्रतिष्ठित है । वह सदा अमर और नित्य वर्तमान है । वह सर्वदा पूर्ण है, जब कि अनित्य एवं क्षणभङ्गुर प्रातिभासिक जीवनकी स्थिति इस परिवर्तनशील जगत्‌में है, वह प्रकृति एवं मनतक पङ्कमें डूबा हुआ है । अतएव यह जीवन प्रतिक्षण होनेवाली मृत्यु है । मृत्युमें ही जीना है । धर्म ही संतोंका संतपना है, ज्ञानियोंका ज्ञान है और बलवानोंका बल है । यही परात्पर शान्ति है; यही व्यक्तियों एवं राष्ट्रोंकी पीड़ा-यन्त्रणाकी महौषध है । यह संसारको, सारे राष्ट्रों एवं समस्त जातियोंको मनुष्योंके परस्पर भ्रातृत्व तथा भगवान्‌के पितृत्वसे भी आगे एकमात्र आत्मभावनाकी ओर ले जाता है । संक्षेपमें आजके विच्छिन्न एवं भ्रान्त जगत्‌के लिये यही एक ध्रुव आशा है । संसारके घावोंको केवल यही निश्चितरूपसे भर सकता है ।

कहा जाता है कि गायत्री-मन्त्रके प्रत्येक अक्षरके पीछे एक-एकके हिसाबसे श्रीकृष्णने चौबीस गीताएँ कही हैं; परंतु उनमेंसे केवल भगवद्गीता तथा उत्तरगीता ही संसारमें प्रसिद्ध हो पायीं । भगवद्गीताका संसारकी प्रायः सभी भाषाओंमें अनुवाद और व्याख्या हो चुकी है ।

गीताके आध्यात्मिक अर्थ बाह्याचरणोंके आडम्बरपूर्ण त्याग नहीं हैं । संसारका चरम तत्त्व मानव है । मनुष्यके चरम तत्त्व भगवान् हैं । और भगवान्‌का चरम तत्त्व है—'मैं' एवं 'मेरा' के त्यागद्वारा, सदसद्विवेकके द्वारा तथा एक अद्वितीय निर्गुण सत्ताके अपरोक्षानुभवके द्वारा उनकी प्राप्ति । आत्मतत्त्व (ब्रह्मतत्त्व) का ज्ञान, जिसकी भूख मनुष्यको सदा बनी रहती है, उसके क्षुद्र अहङ्कारकी सीमामें नहीं ठहरता । अहङ्कारी जीव उसको ग्रहण ही नहीं कर सकता । वह अहङ्कारके परे है । सभी साधनों और फलोंके अन्तर्गत भी है तथा उन सबका चरम फल भी वही है । इसकी प्रतीति होती है एकत्वकी अनुभूतिमें, उस नैसर्गिक एवं विशुद्ध ज्ञानकी अवस्थामें, जो अन्तरतम एवं अपरोक्ष है, जहाँ जाननेका अर्थ है वही बन जाना और वही बन जाना ही जानना है ।

प्रतिदिन प्रातःकाल एवं सायंकाल गीताके एक या दो ही श्लोकोंके भावका मनन, चिन्तन एवं ध्यान मनुष्यके जीवनमें दिव्य सुधाधाराका सञ्चार करानेमें बहुत बड़ा निमित्त बन जाता है।

यदि इन पंक्तियोंको पढ़कर किसीके मनमें भगवान्‌के लिये तीव्र लालसा जाग उठे और वह सचाईके साथ विस्तारपूर्वक भगवद्गीताके गम्भीर अध्ययनमें लग जाय तो इस क्षुद्र लेखके उद्देश्यकी उचित रीतिसे पूर्ति हो जायगी।

भगवान् श्रीकृष्ण सबके सखा, तत्त्वोपदेशक और मार्गदर्शक बनें।

जीवात्मा और परमात्माकी एकता

(लेखक—पं० श्रीहरिकृष्णजी झा, व्याकरण-वेदान्ताचार्य, वेद-शास्त्री, साहित्यालङ्कार)

[तत्त्वमसि]

'उपनिषद्' शब्दका अर्थ है—उप समीपं निषीदति प्राप्नोति—इति उपनिषद् अर्थात् जिसके द्वारा परम समीपभूत ब्रह्मका साक्षात्कार हो, वह हुआ उपनिषद्। 'तत्त्वमसि' इस उपनिषद्-महावाक्यमें 'तत्, त्वम्, असि' शब्दत्रयका सम्मिश्रण है। 'तत्' अर्थात् वह परवाचक शब्द है, 'त्वम्' (तू) यह स्वबोधार्थक है, 'असि' (हो)—यह शब्द 'तत्' और 'त्वम्' दोनोंकी एकताका प्रतिपादक है। जहत्-अजहत्-भागत्यागके भेदसे लक्षणा तीन प्रकारकी होती है। जिसमें कहे हुएको छोड़कर तथा उससे सम्बन्धित दूसरोंका ग्रहण किया जाय उसे जहल्लक्षणा कहते हैं। यथा 'गङ्गायां यज्ञदत्तस्तिष्ठति' यहाँपर गङ्गाको छोड़कर तत्रस्थ गृहका बोध होता है। जिसमें कहे हुए और उससे सम्बन्ध रखनेवालेका भी ग्रहण हो, उसे अजहल्लक्षणा कहते हैं। यथा—'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'—अर्थात् कौओंसे दहीकी रक्षा कीजिये। यहाँ काकातिरिक्त जीवमात्रका भी बोध होता है। भागत्यागलक्षणा उसे कहते हैं, जिसमें उपाधि छोड़कर सत्यांशका ग्रहण हो। यथा 'अयं मनुष्यः स एव'—यह मनुष्य वही है। इसमें मनुष्यमात्रका ग्रहण होता है। भूत और वर्तमानकालिक उपाधि त्याज्य हैं।

अब 'तत्', 'त्वम्' 'असि'में 'सोऽयं देवदत्तः'के समान भागत्यागलक्षणाकी ही प्राप्ति होती है, क्योंकि शुद्ध सत्त्वगुण, और मलिन सत्त्वगुण, इन्हीं उपाधियोंसे जीवात्मा और परमात्माके भेद कल्पित हैं। अर्थात् शुद्ध सत्त्वगुणमें पड़ा हुआ बिम्ब मायाको स्वाधीन करनेसे हिरण्यगर्भताको प्राप्त होकर जगत्का उपादान कारण है। इसी निमित्त-उपादानात्मकको 'तत् ब्रह्म' कहते हैं। फिर वही बिम्ब जो कि मलिन सत्त्वगुणमें पड़ता है, अविद्याके वशीभूत होकर विविध कामनाओं तथा कर्मोंसे दूषित होनेसे 'त्वम्' जीव शब्दसे व्यवहृत होता है। इन परस्परविरोधिनी शुद्ध सत्त्व और मलिन सत्त्वरूप उपाधियोंको छोड़ देनेसे 'त्वम्' (जीव) तथा तत् (ईश्वर) की एकता होती है। पुनः शुद्ध सत्त्वगुण उपाधिरहित ईश्वर और मलिन सत्त्वगुण उपाधिरहित जीवका अद्वितीय सच्चिदानन्द परब्रह्ममें ही समावेश होता है। इस प्रकार माया और अविद्यारूपी उपाधिको त्याग करके ही अखण्ड सच्चिदानन्द 'तत्त्वमसि' इत्यादि वेदान्त-महावाक्यसे लक्षित होता है; इस प्रकार जीवात्मा और परमात्माकी एकता होती है।

मायाविद्ये विहायैवमुपाधी परजीवयोः।
अखण्डं सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते॥

इस एकताकी प्रक्रिया यों है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः आत्मसाक्षात्कारः कर्तव्यः।

अर्थात् अध्यात्मनिष्ठ गुरुदेवके पास जाकर उक्त तत्त्वमस्यादि वाक्योंका अर्थाध्ययन कर चित्तमें स्थिर रखना 'श्रवण' शब्दसे कथित है। श्रुत पदार्थका सयुक्तिक पुनः-पुनः विचार करना 'मनन' है। मनन और श्रवणद्वारा निस्सन्देह हुई चित्तकी एकाकार वृत्तिको 'निदिध्यासन' कहते हैं—

तास्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते॥

जब पवनरहित दीपकके तुल्य ध्येयमें ही चित्त हो, ध्याता और ध्यानका ज्ञान न रह जाय, उसे समाधि कहते हैं।

समाधिका दूसरा नाम

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद् ध्येयैकगोचरम्।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते॥

समाधिका अन्य नाम धर्ममेघ भी है, क्योंकि इससे धर्म-

की सैकड़ों धाराएँ निकली हैं। समाधिसे सञ्चित कर्म नष्ट होते हैं तथा निर्मल धर्मकी वृद्धि होती है। प्रथम समाधिद्वारा परोक्ष ब्रह्मज्ञान होता है, तदनन्तर अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान होता है। सद्गुरुओंकी कृपासे महावाक्योंद्वारा प्राप्त परोक्ष ज्ञान अग्निसदृश सम्पूर्ण पातकोंको जलाकर भस्म करता है। अपरोक्ष ज्ञान तो इस संसारसे उत्पन्न अज्ञानरूपी अन्धकारको नष्ट करनेवाला सूर्य ही है। इस रीतिसे 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों-द्वारा जीवात्मैक्यकी अपूर्वानुभूति होती है।

पाश्चात्त्य पण्डितोंपर उपनिषद्का प्रभाव

(लेखक—श्रीरासमोहन चक्रवर्ती पी-एच्० बी०, पुराणरत्न, विद्याविनोद)

वैदिक साहित्यके साथ पाश्चात्त्य जातिका प्रथम परिचय होता है उपनिषदोंके द्वारा। सम्राट् शाहजहाँके ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह अपनी धर्मसम्बन्धी उदारताके लिये भारतके इतिहासमें प्रसिद्ध हैं। उन्होंने हिंदू तथा मुसल्मान-धर्मके समन्वयके लिये विशेष चेष्टा की थी और इसलिये उन्होंने फारसीमें 'मज़मा-उल-बहरैन'* नामक एक ग्रन्थका भी निर्माण किया था। सन् १६४० ईस्वीमें, जब दारा काश्मीर-में थे तब उन्हें सर्वप्रथम उपनिषदोंकी महिमाका पता लगा। उन्होंने काशीसे कुछ पण्डितोंको बुलाया और उनकी सहायतासे पचास उपनिषदोंका फारसीमें अनुवाद किया। १६५७ ईस्वीमें यह अनुवाद पूरा हुआ। इसके प्रायः तीन वर्षके बाद सन् १६५९ ईस्वीमें औरंगजेबके द्वारा दाराशिकोह मारे गये।

अकबरके राजत्वकालमें भी (१५५६—१५८५) कुछ उपनिषदोंका अनुवाद हुआ था; परंतु अकबर अथवा दारा-के द्वारा सम्पादित इन अनुवादोंके प्रति सन् १७७५ ईस्वीसे पहलेतक किसी भी पाश्चात्त्य विद्वान्की दृष्टि आकर्षित नहीं हुई। अयोध्याके नवाब सुजाउद्दौलाकी राजसभाके फरासी रेजिडेंट श्री एम० गेंटिल (M. Gentil) ने सन् १७७५में प्रसिद्ध यात्री और जिन्दावस्ताके आविष्कारक एंक्वेटिल डुपेर्रन (Anquetil Duperron) को दाराशिकोहके द्वारा सम्पादित उक्त फारसी अनुवादकी एक पाण्डुलिपि भेजी। एंक्वेटिल डुपेर्रनने कहींसे एक दूसरी पाण्डुलिपि प्राप्त की और दोनोंको मिलाकर फ्रेंच तथा लैटिन भाषामें उस फारसी अनुवादका पुनः अनुवाद किया। लैटिन अनुवाद सन् १८०१-२ में 'औपनेखत' (Oupnekhat). नाम-से प्रकाशित हुआ। फ्रेंच अनुवाद नहीं छपा।

उक्त लैटिन अनुवादके प्रकाशित होनेपर पाश्चात्त्य पण्डितोंकी दृष्टि इधर कुछ आकर्षित तो हुई, किंतु अनुवाद-का अनुवाद होनेके कारण वह इतना अस्पष्ट और दुर्बोध हो गया था कि उसका मर्म समझकर रसास्वादन करना सहज नहीं था। इसी समय सारस्वत क्षेत्रके अक्लान्तकर्मी एक सूक्ष्मदर्शी दार्शनिक 'औपनेखत'की आलोचनामें लगे और गम्भीर अध्यवसायके साथ दुर्बोध्य भाषाके कठिन पर्देको फाड़कर उन्होंने अन्तर्वाहिनी पीयूषधाराका आविष्कार किया। ये महाशय थे—जर्मनीके सुप्रसिद्ध दार्शनिक श्रीअर्थर शोपेनहर (Aurther Schopenhauer)। (सन् १७८८—१८६०) शोपेनहरने बहुत कठिन परिश्रम करके उक्त अनुवादका अध्ययन किया और मुक्तकण्ठसे यह घोषणा की कि, 'मेरा अपना दार्शनिक मत उपनिषद्के मूल तत्त्वोंके द्वारा विशेषरूपसे प्रभावित है।' इस प्रसङ्गमें मनीषी शोपेन-हरने उपनिषद्के महत्त्व और प्रभावके सम्बन्धमें जो कुछ कहा है, वह विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है—

'मैं समझता हूँ कि उपनिषद्के द्वारा वैदिक साहित्यके साथ परिचय लाभ होना वर्तमान शताब्दी (१८१८) का सबसे अधिक परम लाभ है जो इसके पहले किन्हीं भी शताब्दियोंको नहीं मिला। मुझे आशा है, चौदहवीं शताब्दी-में ग्रीक-साहित्यके पुनरभ्युदयसे यूरोपीय साहित्यकी जो उन्नति हुई थी, संस्कृत-साहित्यका प्रभाव उसकी अपेक्षा कम फल उत्पन्न करनेवाला नहीं होगा। यदि पाठक प्राचीन भारतीय विद्यामें दीक्षित हो सकें और गम्भीर उदारताके साथ उसे ग्रहण कर सकें तो मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, उसे वे अच्छी तरह समझ सकेंगे। उपनिषद्में सर्वत्र कितनी सुन्दरता-के साथ वेदोंके भाव प्रकाशित हैं। जो कोई भी उक्त फारसी-लैटिन (Persian-Latin) अनुवादका ध्यान देकर अध्ययन करके उपनिषद्की अनुपम भावधारासे परिचित होगा, उसीकी आत्माके गम्भीरतम प्रदेशतकमें एक हलचल मच जायगी। एक-एक पंक्ति कितना दृढ़, सुनिर्दिष्ट और

* 'Majma-ul-Bahrain'—(एसियाटिक सोसायटी बंगाल, कलकत्ताके द्वारा प्रकाशित १९२९)

सुसमञ्जस अर्थ प्रकट कर रही है। प्रत्येक वाक्यसे कितना गभीर, मौलिक और गम्भीरतापूर्ण विचारसमूह प्रकट हो रहा है, सम्पूर्ण ग्रन्थ कैसे उच्च, पवित्र और ऐकान्तिक भावोंसे ओतप्रोत है। × × × सारे पृथ्वीमण्डलमें मूल उपनिषद्-के समान इतना फलोत्पादक और उच्च भावोद्दीपक ग्रन्थ कहीं भी नहीं है। इसने मुझको जीवनमें शान्ति प्रदान की है और मरणमें भी यह शान्ति देगा[1]।'

जिस देशमें उपनिषद्के गम्भीर सत्यसमूहका प्रचार था, उस देशमें ईसाई-धर्मके प्रचारका प्रयत्न व्यर्थ होगा और निकट भविष्यमें यूरोपीय विचारधारा उक्त उपनिषद्के द्वारा पूर्णरूपसे प्रभावित हो जायगी—इस सम्बन्धमें शोपेनहरने कहा था—

'भारतमें हमारे धर्मकी जड़ कभी नहीं गड़ेगी। मानव-जातिकी 'पुराणी प्रज्ञा' गैलिलिकी घटनाओंसे कभी निराकृत नहीं होगी। वरं भारतीय प्रज्ञाकी धारा यूरोपमें प्रवाहित होगी एवं हमारे ज्ञान और विचारमें आमूल परिवर्तन ला देगी[2]।'

उनकी यह भविष्य-वाणी सफल हुई। स्वामी विवेकानन्द-की अमेरिकन शिष्या 'सारा बुल' (Sarra Bull) ने अपने एक पत्रमें लिखा था कि 'जर्मनीका दार्शनिक सम्प्रदाय, इंग्लैंडके प्राच्य पण्डित और हमारे अपने देशके एमरसन आदि साक्षी दे रहे हैं कि पाश्चात्त्य विचार आजकल सचमुच ही वेदान्तके द्वारा अनुप्राणित हैं।'[3]

सन् १८४४ में बर्लिनमें श्री शेलिंग (Schelling) महोदयकी उपनिषत्संम्बन्धी व्याख्यान-मालाको सुनकर प्रसिद्ध पाश्चात्त्य पण्डित श्रीमैक्समूलर (Max Muller) का ध्यान सबसे पहले संस्कृत साहित्यकी ओर आकृष्ट हुआ। उपनिषदोंके सम्बन्धमें विचार आरम्भ करते ही उन्होंने अनुभव किया कि उपनिषदोंका यथार्थ मर्म समझनेके लिये पहले उनसे पूर्वरचित वेद-मन्त्र और ब्राह्मणभागपर विचार करना आवश्यक है। इस प्रकार उपनिषदोंसे उन्होंने वेद-चर्चाके लिये प्रेरणा प्राप्त की। शोपेनहरके बाद अनेकों पाश्चात्त्य विद्वानोंने उपनिषद्पर विचार करके विभिन्न प्रकार-से उसकी महिमा गायी है। किसी-किसीने तो उपनिषद्को 'मानव-चेतनाका सर्वोच्च फल' बतलाया है।[1]

उपनिषत्-प्रतिपादित वैदान्तिक धर्म ही देर-सबेर सम्पूर्ण पृथ्वीका धर्म होगा—बहुतसे मनीषियोंने ऐसी भविष्य-वाणी की है। शोपेनहरने 'उन्नीसवीं शताब्दी'के प्रथम भागमें लिखा है—"It is destined sooner or later to become the faith of the people." विश्वकवि रवीन्द्रनाथने कहा है—'चक्षुसम्पन्न व्यक्ति देखेंगे कि भारत-का ब्रह्मज्ञान समस्त पृथिवीका धर्म बनने लगा है। प्रातः-कालीन सूर्यकी अरुण किरणोंसे पूर्वदिशा आलोकित होने लगी है, परंतु जब वह सूर्य मध्याह्न-गगनमें प्रकाशित होगा, उस समय उसकी दीप्तिसे समग्र भूमण्डल दीप्तिमय हो उठेगा।'

स्वामी विवेकानन्दने वर्तमान भारतके जीवनमें उपनिषद्-की कार्यकारिताकी मुक्तकण्ठसे घोषणा की है। गत सहस्रों वर्षोंसे हमारे जातीय जीवनमें जो दोष-दौर्बल्य आ गया है, जिसने हमको नितान्त निर्वीर्य बना डाला है, उसको हटाने-में एकमात्र उपनिषद्के महान् वीर्यप्रद सत्य ही समर्थ हैं। 'भारतीय जीवनमें वेदान्तकी कार्यकारिता' नामक व्याख्यान-में स्वामीजीने कहा है—

'बन्धुओ! स्वदेशवासियो! मैं जितना ही उपनिषदोंको पढ़ता हूँ, उतना ही तुमलोगोंके लिये आँसू बहाता हूँ। हमारे लिये यह आवश्यक हो गया है कि उपनिषदुक्त तेजस्विताको ही हम अपने जीवनमें विशेषरूपसे परिणत करें। शक्ति,—बस, शक्ति ही हमें चाहिये, हमें शक्तिकी विशेष आवश्यकता आ पड़ी है। हमें कौन शक्ति देगा?। × × ×

उपनिषदें शक्तिकी महान् खानें हैं। उपनिषद् जिस शक्तिका सञ्चार करनेमें समर्थ है, वह ऐसी है कि सम्पूर्ण

1. From every sentence deep, original and sublime thoughts arise, and the whole is pervaded by a high and holy and earnest spirit.....In the whole world there is no study, except that of the originals, so beneficial and so elevating as that of the Oupnekhat. It has been the solace of my life, it will be the solace of my death.

2. In India our religion will now and never strike root. The primitive wisdom of the human race will never be pushed aside by the events of Galilee. On the contrary, Indian wisdom will flow back upon Europe, and produce a thorough change in our knowing and thinking.

3. The German schools, the English Orientalists and our own Emerson testify the fact that it is literally true that Vedantic thoughts pervade the Western thought of today.

1. 'Personally I regard the Upanisads as the highest product of the human mind, the crystallized wisdom of divinely illumined men.'

Dr. Annie Besant.

जगत्‌को पुनर्जीवन, शक्ति और शौर्य-वीर्य प्रदान करनेमें समर्थ है। जगत्‌की समस्त जातियों, समस्त मतों और सभी सम्प्रदायोंके दीन, दुर्बल, दुखी और पददलित प्राणियोंको पुकार-पुकारकर कह रही है कि 'सभी अपने पैरोंपर खड़े होकर मुक्त हो जाओ।' मुक्ति या स्वाधीनता—दैहिक स्वाधीनता, मानसिक स्वाधीनता और आध्यात्मिक स्वाधीनता—यही उपनिषद्‌का मूल मन्त्र है। जगत्‌भरमें यही एकमात्र शास्त्र है जो उद्धार (Salvation) की बात नहीं कहता, मुक्तिकी बात कहता है। यथार्थ बन्धनसे मुक्त होओ, दुर्बलतासे मुक्त होओ।'

उपनिषदोंमें वाक्‌का स्वरूप

(लेखक—पं० श्रीरामसुरेशजी त्रिपाठी, एम्० ए०)

वाणी चेतनाकी अमर देन है। वाणीके बिना जगत् सूना है, जीवन पङ्गु है। संसारके प्रायः सारे व्यवहार वाणी-व्यापारपर ही निर्भर हैं। सभ्यता और संस्कृति इसकी गोदमें फूलती-फलती हैं। वाणी केवल विचारोंके विनिमयका ही माध्यम नहीं, अपितु विश्वमें जो कुछ सत्य है, शिव है, सुन्दर है, उन सबका भी व्यञ्जक है। इस वाणीकी दूसरी प्राचीन संज्ञा वाक् है। वाक्‌के विषयमें उपनिषदोंमें मधुर उद्गार तथा युक्तिपूर्ण विचार भरे पड़े हैं; साथ ही इसके भौतिक, दैविक तथा आध्यात्मिक रूपकी रेखा भी खींची गयी है, जिसे देख आजका भाषा-विज्ञानका विद्यार्थी भी एक बार चकित रह जाता है।

उपनिषत्-कालीन वाक्‌के स्वरूपकी पीठिका वेदोंमें ही तैयार हो गयी थी और उसी समय इसे रहस्यकी कोटिमें डाल दिया गया था। जलमें, थलमें, ओषधियोंमें—सबमें दैवी सत्ताको परखनेवाले वैदिक ऋषि वाक्‌को अनुकरणमूलक (Onomatopoeic) या मनोराग-व्यञ्जक (Interjectional) कैसे मान सकते थे। ऋग्वेदके अनुसार वाक्‌को देवोंने पैदा किया—

'देवीं वाचमजनयन्त देवाः।'

(ऋक्‌संहिता, निरुक्त ११। २९ में उद्धृत)

इस वाक्‌के चार विभाग हैं—

'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि।'

(ऋक्‌संहिता १। १६४। ४५)

महाभाष्यकार पतञ्जलिने इन चारसे नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपातका ग्रहण किया है। वाक्‌के परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूपका संकेत भी इसी मन्त्रमें माना जाता है। ब्राह्मणग्रन्थोंमें चार प्रकारके विभागको दूसरे रूपोंमें भी व्यक्त किया है (देखिये निरुक्त १३। ९)। ऋग्वेदके दसवें मण्डलके १२५वें सूक्तकी द्रष्टा 'वाक्' नामकी एक विदुषी है। वह अम्भृण महर्षिकी पुत्री थी। उसने स्वयं अपनी (वाक्‌की) स्तुति परमात्माके रूपमें की है। इस सूक्तमें वाक्‌के अलौकिक रूपकी झलक है। पर साथ ही वैदिक ऋषियोंने वाक्‌के लौकिक रूपकी भी उपेक्षा नहीं की है। वाक्‌में निष्णात व्यक्तियोंकी प्रचुर महिमा गायी गयी है। 'वाक्‌को कोई देखते हुए भी नहीं देखता, सुनते हुए भी नहीं सुनता। पर कुछ लोग वाक्‌को निकटसे जानते हैं और उनके सामने वाक् अपना रहस्य वैसे ही खोल देती है जैसे कोई सुसज्जित, उत्कण्ठित पत्नी अपने-आपको अपने पतिके सामने डाल देती है।' (ऋक्‌संहिता १०। ६१। ४) विशुद्ध वाक्‌के व्यवहार करनेवालोंके बारेमें निम्नलिखित मन्त्र प्रसिद्ध है—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो
यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते
भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि॥

(ऋक्‌संहिता १०। ६१। २)

'जिस तरह चलनीसे सत्तूको शुद्ध करते हैं, उसी तरह जो विद्वान् ज्ञानसे वाणीको शुद्ध कर उसका प्रयोग करते हैं, वे लोकमें मित्र होते हैं, मित्रताका सुख पाते हैं, उनकी वाणीमें कल्याणमयी रमणीयता रहती है।' (इस मन्त्रके तृतीय पादकी व्याख्या पतञ्जलि, दुर्गाचार्य, सायण और नागेशने भिन्न-भिन्न रूपसे की है, जिसे उनके ग्रन्थोंमें देखना चाहिये।)

वेदोंमें वाक्‌के जो स्वरूप मिलते हैं, वे उपनिषदोंमें विकसित रूपमें देख पड़ते हैं। वैदिक कवियोंके हृदयमें जो भावना उठी, वह शब्दोंके रूपमें बाहर आ गयी। वहाँ बनावट नहीं, अतः किसी वस्तुके परीक्षणकी इच्छाका भी अभाव है। उनकी अधिकांश समस्याएँ द्वन्द्वमय जीवनके बाह्यरूपसे सम्बन्ध रखती हैं, जीवनसे परेकी केवल उनमें जिज्ञासा है। सत्यकी

ओर उनकी पहुँच बहुत कुछ प्रातिभज्ञानके द्वारा है। उपनिषद्के ऋषियोंके सामने बाह्य-जीवनकी समस्याएँ नहीं थीं। उनका मुख्य उद्देश्य सत्यकी खोज था। अतः उनकी विचारपरम्परामें तारतम्यका सौष्ठव है। उनकी रहस्यानुभूति-तकमें तर्ककी छाया देख पड़ती है। उन्होंने जीवनको गति देनेवाले अन्न, प्राण, मन आदि जो कुछ हैं, उन सबके याथार्थ्यकी बारी-बारीसे समीक्षा की है। उपनिषदोंमें वाक्के स्वरूपका निर्देश भी इसी समीक्षाका फल है। मोटेरूपमें उपनिषत्-कालीन वाक् शब्दकी व्युत्पत्ति वही है, जो वेदोंमें देख पड़ती है अर्थात् वाक् वह है, जो बोली जाय (वाक् कस्माद्, वचेः—निरुक्त २।२२।२)। जिस-किसी भी शब्द-को वाक् कहते हैं (यः कश्च शब्दः वागेव सा—बृहदारण्यक उपनिषद् १।५।३) (तैत्तिरीय उपनिषद् १।३।५) के 'वाक् सन्धिः, जिह्वा सन्धानम्' यह वाक्य वाक् और जिह्वा-के सम्बन्धका स्पष्ट संकेत कर रहा है। उपनिषद्के ऋषियों-ने इस जिह्वा-व्यापारके पीछे छिपी हुई प्राणशक्ति और मानसिक शक्तिका भी सङ्केत किया है, जिनका अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन बादके उपनिषदों और तान्त्रिक ग्रन्थोंमें बीज, बिन्दु, नाद आदिके रूपमें और व्याकरण-दर्शनमें स्फोटके रूपमें किया गया है।

यह वाक् लोक-यात्रामें अद्वितीय सहायक है। जनकने याज्ञवल्क्यसे पूछा—'जब सूर्य अस्त हो जाता है, चन्द्रमाकी चाँदनी भी नहीं रहती, जब आग भी बुझी रहती है, उस समय मानवको प्रकाश देनेवाली कौन-सी वस्तु है?' उत्तर मिला 'वह वाक् है। वाक् ही पुरुषका प्रकाशक है' (बृहदा-रण्यक उपनिषद् ४।३।५)। 'यदि वाक्की सृष्टि न होती तो धर्म-अधर्मका ज्ञान न होता, साँच-झूठका पता न चलता; कौन साधु है और कौन असाधु है, कौन सहृदय है और कौन अनुभूति-शून्य है—इसकी जानकारी न होती। वाक् ही इन सबको सूचित करती है। वाक्की उपासना करो' (छान्दोग्य उपनिषद् ७।२)। 'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदका ज्ञान वाक्से ही होता है। इतिहास, पुराण और अनेक विद्याएँ वाक्से ही जानी जाती हैं। उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान और अनुव्याख्यान वाक्के ही विषय हैं। जो कुछ हवन किया गया, खाया गया, पीया गया—ये सभी वाक्से ही ज्ञात होते हैं। इस लोकका, परलोकका, सम्पूर्ण भूतोंका ज्ञान वाक्से ही होता है।' (बृहदारण्यक उपनिषद् ४।१।२)। ज्ञानका एकमात्र अधिष्ठान वाक् है (सर्वेषां वेदानां वागेवायतनम्—बृहदारण्यक उपनिषद् २।४।११)।

उपनिषदोंमें वाक् और विचारके परस्पर सम्बन्धकी भी व्यञ्जना है। बिना भाषाके विचार सम्भव है कि नहीं, यह एक विवादात्मक प्रश्न है। भाषाविज्ञानके भाषाकी उत्पत्ति-विषयक कुछ मत भाषा और विचारके परस्पर सम्बन्धपर ही आश्रित हैं। हेस (Heyse) और मैक्समूलर (Max Muller) इसी मतके समर्थक हैं। प्राचीन आचार्योंमें भर्तृहरिका भी यही मत है। 'संसारमें ऐसा कोई ज्ञान (प्रत्यय) नहीं जो शब्दके बिना जाना जा सके' (वाक्यपदीय १।१२४)। पतञ्जलिके 'नित्ये शब्दार्थसम्बन्धे' और कालिदासके 'वागर्थाविव संपृक्तौ' में भी वाक् और विचारके नित्य सम्बन्धकी अभिव्यक्ति है। उपर्युक्त प्रश्नका उत्तर यदि उपनिषदोंमें ढूँढ़ा जाय तो समाधानके दो पहलू दिखायी देंगे। पहला यह कि विचार अथवा ज्ञान वाक्की सहायताके बिना भी सम्भव है। ज्ञान इस कोटिका भी हो सकता है जो वाक्से परे हो। जब उपनिषद्के ऋषि यह उद्घोषित करते हैं कि **'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्'** मैं उस परम पुरुषको जानता हूँ और दूसरे क्षण यह कहते हैं कि **'नैव वाचा न मनसा'** (कठोपनिषद् ६।१३) वह न तो वाणीसे न मनसे जाना जा सकता है तो इससे स्पष्ट है कि ज्ञानकी गहराईतक वाणी-की पहुँच नहीं। यह भी कहा गया है—

वाग्वै मनसो ह्वसीयसी। अपरिमिततरमिव हि मनः। परिमिततरेव वाक्। (शतपथब्राह्मण १।३।६)

अर्थात् वाक् विचारसे हलकी है। विचार असीम-सा है, जब कि वाक् सीमित-सी है। समाधानका दूसरा पहलू यह है कि वाक् और विचारका घना सम्बन्ध है। सृष्टिक्रममें मन और वाक्के, विचार और वाणीके परस्पर संक्रमणका उल्लेख उपनिषदोंमें मिलता है (स मनसा वाचं मिथुनं समभवत्—बृहदारण्यक उपनिषद् १।२।४)। एक स्थानपर कहा गया है कि वाक् धेनु है, प्राण इसका ऋषभ (साँड़) है और मन (विचार) इसका वत्स है (बृहदा-रण्यक उपनिषद् ५।८।१)। वाक् और विचारके परस्पर सहयोगकी अनिवार्यता देखकर ही कहा गया था—

वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्।
(ऐतरेय उपनिषद्, अन्तिम अंश)

अस्तु, उपनिषद् वाक् और विचारके सम्बन्धको, उनके असम्बन्धको और वाक्के मूलमें स्थित मानसिक क्रियाको अच्छी तरह प्रकट करते हैं।

उपनिषदोंमें वाक्‌के कलापक्षकी भी अभिव्यञ्जना है। वाक् स्वयं एक प्रकारकी अभिव्यक्ति है। प्रभावान्वित अभिव्यक्तिका नाम कला है। अतः जब वाक्‌की अभिव्यक्ति संवेदनशील हो उठती है, जब वाक् आह्लादकता, माधुर्यभाव या सत्त्वोद्रेकको जगानेमें समर्थ होती है, उसका कलात्मक रूप निखर उठता है, जिसके भीतर रस और बाहर सौन्दर्य लहराता रहता है। वाक्‌की सौन्दर्य-मीमांसामें कहा गया—

वाच ऋग्रसः, ऋचः साम रसः, साम्न उद्गीथो रसः।

(छान्दोग्य उपनिषद् १। १। २)

वाक्‌का रस (सौन्दर्य) ऋक् (कविता) है। ऋक्‌का रस साम (लय-नाद-सौन्दर्य या समरसता) है। सामका रस उद्गीथ है। (उद्गीथ सामवेदका द्वितीय भाग, छान्दोग्य उपनिषद्‌में उद्गीथसे प्रणवका ग्रहण किया गया है।)

भाव यह है कि वाक्‌का सौन्दर्य छन्दका परिधान पाकर चमक उठता है। तब वाक् ऋक्, छन्द, श्लोक अथवा कविताके नामसे पुकारी जाती है। कविता वाक्‌का निष्पन्द है। गीतोंमें एक समरसता (एक संतुलन) देख पड़ती है, जिससे उनका सौन्दर्य कविताके क्षेत्रमें बढ़ जाता है। साम-गानमें केवल स्वरोंका ही सामञ्जस्य नहीं लाना पड़ता, अपितु बाहरके नाद-सौन्दर्यका भीतरकी प्राण-शक्तिके साथ ऐक्य स्थापित करना पड़ता है। कविताके बाह्य और आभ्यन्तरिक गुणोंका गीतोंमें स्वभावतः समन्वय हो जाया करता है। गीत कविताके शृङ्गार हैं। उद्गीथ गीतोंका परिपाक है। यह गीत (साम) के आह्लादक स्वरूपका द्योतक है। आह्लादकतामें माधुर्य और माधुर्यमें रस है। रसका ही नाम आनन्द है। अतः वाक्‌के कला-पक्षकी विश्रान्ति आनन्दमें ही होती है।

उपर्युक्त बातें वाक्‌के भौतिक स्वरूपको सामने रखकर कही गयी हैं। उपनिषदोंमें वाक्‌की अधिदैवत व्याख्या भी मिलती है। 'वाक् ही यज्ञका होता है, वही अग्नि है, वही मुक्ति है, वही अतिमुक्ति है' (बृहदारण्यक ३। १। ३)। 'वह दैवी वाक् है, जिससे जो कहा जाय, हो जाता है' (बृहदारण्यक उपनिषद् १। ५। १८)। 'वाक् ब्रह्मका चतुर्थ पाद है' (छान्दोग्य-उपनिषद् ३। १८)।

इससे कुछ और गहराईमें उतरकर उपनिषद्‌के ऋषियों-ने वाक्‌के उस स्वरूपके भी दर्शन किये हैं, जिसे हम रहस्यात्मक कह सकते हैं। यहाँ वाक् न तो एक साधारण बोलचालकी वस्तु है और न ज्ञानका असाधारण साधन है। वह साधारण-असाधारण दोनोंसे परे है। वह सूक्ष्म है। नित्य है। अनन्त है। सम्पूर्ण विश्वका विकास वाक्‌से हुआ है। बृहदारण्यक-उपनिषद्‌में उल्लेख है कि वाक्‌के द्वारा सृष्टि की गयी।

स तया वाचा तेनात्मना इदं सर्वमसृजत्।

वाक्‌से सृष्टि हुई इसकी पोषक श्रुति भी है—

वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे। आचार्य शङ्कर-जैसे दार्शनिक भी इस मतका अनुमोदन करते हैं। 'हम सभी इस बातको जानते हैं कि मनुष्य जो कुछ करता है, उसके वाचक शब्द उसके मनमें पहले आते हैं, बादमें वह उस कामको करता है। इसी तरह सृष्टि रचनेके पूर्व प्रजापतिके मनमें भी वैदिक शब्दोंका आभास हुआ, पीछे उन शब्दोंके अनुरूप वस्तुओंकी उन्होंने रचना की'—(वेदान्तसूत्र १। ३। २८ पर शाङ्करभाष्य)। वाक्‌के रहस्यात्मक स्वरूपका निर्देशक प्रणव है। प्रणव वाक्‌का मूल तत्त्व है। वाक्‌का सम्पूर्ण वैभव प्रणवका विलास है। जो उद्गीथ है, वही प्रणव है। जो प्रणव है, वही ओम् है। 'यह ओ३म् अक्षर है। यह सब कुछ—भूत, भविष्य और वर्तमान—ओंकार ही है और जो इन तीन कालोंसे परे है वह भी ओम् ही है (माण्डूक्य-उपनिषद् १। १)। इतनी दूर आ जानेपर उपनिषद्‌के ऋषियोंको यह कहनेमें कोई उलझन न रही कि 'वाक् ही परम ब्रह्म है' ('वाग् वै सम्राट् परमं ब्रह्म' बृहदारण्यक उपनिषद् ४। १। २)।

वाक्‌का यह रहस्यात्मक रूप अवश्य ही दैनिक व्यवहार-के वाक्‌से दूरका जान पड़ेगा। परंतु विचार करनेपर ऐसा लगता है कि वाक्‌को जो यह उच्चतम आसन दिया गया है, वह साधार है। इस गतिशील संसारमें किसी भी पदार्थका सत्य जगत्‌के किसी दूसरे पदार्थद्वारा ठीक-ठीक जाना नहीं जा सकता, क्योंकि वह मापक पदार्थ स्वयं गतिशील है। अन्तमें हमें वहाँतक जाना पड़ेगा, जहाँसे सभी गतिशील पदार्थोंको—जगत्‌को गति मिलती है। वह, जहाँसे सभी गति पाते हैं, अवश्य ही जगत्‌से तटस्थ होगा, साथ ही स्थिर भी होगा। पर गति देनेके कारण जगत्‌से उसका एक सम्बन्ध हो जाता है। और इस सम्बन्धके सहारे प्रत्येक गतिशील पदार्थ उस स्थिर विन्दुसे अपना नाता जोड़ सकता है। जगत्‌से तटस्थ होनेका अभिप्राय यह नहीं कि जगत्‌की कोई सीमा है और स्थिर-विन्दु उससे कहीं परे है। गतिशीलता ही जगत् है और उसमें जो तटस्थ है, वही स्थिर-विन्दु है। दूसरे शब्दोंमें प्रत्येक परिवर्तनशील पदार्थमें कुछ ऐसा है जो अपरिवर्तनशील है। यही अपरिवर्तनशीलता उसका स्थिर-विन्दु है। चाहे कोई इसे शक्ति, एनर्जी, चिति या ब्रह्म कहे, इससे उसके रूपमें कोई अन्तर नहीं आता। पर बात यहीं

समाप्त नहीं होती। हम यह भी देख सकते हैं कि उस परिवर्तनशील वस्तु और उस स्थिर-विन्दुमें कोई तात्त्विक भेद नहीं है। केवल इतना ही है कि एक अपने शुद्ध रूपमें है और दूसरा विकृत रूपमें। यदि उसकी विकृतिको परिशुद्ध कर दिया जाय तो केवल एक ही शुद्ध रूप रह जाता है। अभी कलतक इस चिर-प्रतिपादित सिद्धान्तको केवल दार्शनिकोंकी कल्पना समझा जाता था। परंतु आजका भौतिक-विज्ञान यह सिद्ध कर रहा है कि भौतिक पदार्थ (मैटर) को शक्ति (फोर्स) के रूपमें परिणत किया जा सकता है। 'अणु बम' इस परिवर्तनका प्रत्यक्ष प्रमाण है। साथ ही यह भी ध्यान देनेकी बात है कि वह स्थिर-विन्दु या यों कहिये कि वह शक्ति जो प्रत्येक पदार्थमें अपरिवर्तनीय और अविनाशी है, दो नहीं हो सकती। दो पदार्थोंकी शक्तियोंमें मात्राका (डिग्रीका) अन्तर हो सकता है, पर स्वभावका (नेचरका) भेद नहीं हो सकता। अस्तु, 'यह सब ब्रह्म है' के पीछे एक दृढ़ सिद्धान्त है और इसी दृष्टिसे वाक् भी ब्रह्म है। वाक् सूक्ष्म ब्रह्मसे भिन्न कोई दूसरी वस्तु हो ही नहीं सकता। स्थूल जगत् ब्रह्मका विवर्त है। स्थूल-जगत् वाक्का विकार है; क्योंकि रूप और नाम एकहीके दो पहलू हैं। उनमें कोई भेद नहीं। अतः वाक् और ब्रह्ममें भी कोई भेद नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदोंमें जहाँ जीव और जगत्-सम्बन्धी अनेक गूढ़ तथ्योंका विवेचन है, वहाँ वाक्पर भी प्रकाश डाला ही गया है। अवश्य ही विचार-शैली भिन्न होनेके कारण और वाक्का मुख्य विषय न होनेके कारण किसी एक स्थानपर वाक्पर क्रम-बद्ध गवेषणा नहीं मिलती। फिर भी जहाँ-तहाँ जो विचार बिखरे पड़े हैं, उन्हींके सहारे हम देख रहे हैं कि उपनिषदोंमें वाक्के प्रायः प्रत्येक अङ्गपर दृष्टि डाली गयी है। लोक-जीवनमें वाक्का जितना महत्त्व उपनिषद्के ऋषियोंने दिखाया है, उससे अधिक कोई क्या कह सकता है! उनके लिये वाक् केवल जिह्वा-व्यापार न होकर अन्तरात्माकी पुकार है। वह दैवी है। आजका भौतिक-विज्ञान ध्वनि (साउंड) के अनेकानेक व्यापक रहस्योंका उद्घाटन-कर हमारे जीवनमें प्रतिदिन नया रूप-रङ्ग डाल रहा है। भाषाविज्ञान वाक्के नित्य-नवीन विश्लेषणमें निरत है। पर उपनिषदोंमें जो वाक्का स्वरूप है, उसकी महत्ता ज्यों-की-त्यों है। वाक्की उपासना होती आ रही है और होती रहेगी।

'विन्देय देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्'। (भवभूति)

हम आत्माकी कलास्वरूप शाश्वत दैवी वाक्को पावें।

वैष्णव-उपनिषद्

(लेखक—पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य)

भारतीय धर्म तथा दर्शनके विकासका अनुशीलन हमें इसी सिद्धान्तपर पहुँचाता है कि उनके बीज उपनिषदोंमें संकेतरूपसे निहित हैं। वैष्णव-धर्मके मूलरूपके अध्ययनकी सामग्री इन उपादेय उपनिषदोंमें ही बिखरी हुई है, परंतु कतिपय उपनिषद् तो सर्वथा विष्णु तथा उनके विभिन्न अवतारोंके रहस्योंके प्रतिपादनमें ही व्यस्त दीख पड़ते हैं। इन्हीं उपनिषदोंका संक्षिप्त परिचय कराना इस छोटे लेखका उद्देश्य है।

वैष्णव-उपनिषद् संख्यामें चौदह हैं और इन सबका एक सम्पुटमें प्रकाशन थियासोफिकल सोसाइटीने अड्यार (मद्रास) से किया है। अक्षर-क्रमसे इनका सामान्य निर्देश इस प्रकार है—

१. अव्यक्तोपनिषद्—इस उपनिषद्में सात खण्ड हैं। विषय है अव्यक्त पुरुषको व्यक्तरूपकी प्राप्ति। इसमें 'आनुष्टुभी-विद्या' के स्वरूप तथा फलका पर्याप्त निर्णय किया गया है। इसीके बलपर परमेष्ठीको नृसिंहका दर्शन होता है और वे जगत्की सृष्टिमें समर्थ तथा सफल होते हैं।

२. कलिसन्तरणोपनिषद्—इस उपनिषद्में नारदजी-के प्रार्थना करनेपर हिरण्यगर्भने कलिके प्रपञ्चोंको पार करनेवाला उपाय बतलाया है। यह उपाय है भगवान्का षोडश नामवाला मन्त्र—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस मन्त्रका एक रहस्य है। जीव षोडश कलाओंसे आवृत रहता है। इसीलिये उसकी प्रत्येक कलाको दूर करनेके लिये सोलह नामवाला मन्त्र अतीव समर्थ बतलाया गया है।

इति षोडशकं नाम्नां कलिकल्मषनाशनम्।
नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु दृश्यते॥
इति षोडशकलावृतस्य जीवस्यावरणविनाशनम्।
ततः प्रकाशते परं ब्रह्म मेघापाये रविरश्मिमण्डलीवेति॥

३. कृष्णोपनिषद्—यह उपनिषद् बहुत ही छोटा है। इसमें श्रीकृष्णकी भगवत्ताका परम प्रामाणिक वर्णन किया गया है। भगवान् श्रीकृष्णने भक्तोंके ऊपर अनुग्रह करनेके

लिये ही समग्र वैकुण्ठको ही अपने साथ इस भूतलपर अवतीर्ण किया था; इसका रोचक वर्णन यहाँ उपलब्ध होता है। श्रीकृष्णके जीवनके आध्यात्मिक रूप जाननेके लिये इस उपनिषद्की महती उपयोगिता है। श्रीकृष्ण तो स्वयं शाश्वत ब्रह्म ही हैं और उनकी सेविका गोपिकाएँ तथा सोलह हजार एक सौ आठ रानियाँ उपनिषद्की ऋचाएँ ही हैं—

अष्टावष्टसहस्रे द्वे शताधिक्यः स्त्रियस्तथा।
ऋचोपनिषदस्ता वै ब्रह्मरूपा ऋचः स्त्रियः॥

४. गरुडोपनिषद्—इस स्वल्पकाय उपनिषद्में गारुडी विद्याके रहस्यका उद्घाटन है। गरुडके स्वरूपका आध्यात्मिक रीतिसे विवेचन इस ग्रन्थकी विशिष्टता है।

५. गोपालतापिनी-उपनिषद्—इस ग्रन्थके दो भाग हैं—(क) पूर्व, (ख) उत्तर। पूर्वतापिनीके छः अध्याय हैं जिनमें गोपाल कृष्णके अष्टादश अक्षरवाले मन्त्रके रूप, फल तथा जपविधानका पूर्णतया विस्तृत वर्णन है। उत्तर-तापिनीमें अनेक आध्यात्मिक रहस्योंका वर्णन है। मथुराके आध्यात्मिक रूपका निर्णय बड़ा ही मार्मिक है। इस उपनिषद्में गोविन्दकी बड़ी ही सुन्दर स्तुति उपलब्ध होती है—

नमो विज्ञानरूपाय परमानन्दरूपिणे।
कृष्णाय गोपीनाथाय गोविन्दाय नमो नमः॥
श्रीकृष्ण रुक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर।
संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो॥

६. तारसारोपनिषद्—इसमें तारक मन्त्रके स्वरूपका निर्णय किया गया है। भगवान् नारायणके अष्टाक्षर मन्त्रका विस्तारके साथ उपदेश-कथन है।

७. त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्—यह उपनिषद् वैष्णव उपनिषदोंमें सबसे बड़ा है। महत्त्व तथा विस्तार दोनोंकी दृष्टिमें इस उपनिषद्को गौरव प्राप्त है। इसमें आठ अध्याय हैं। प्रथम अध्यायमें परमेष्ठीने भगवान् नारायणसे ब्रह्मस्वरूपकी जिज्ञासा की और इसी जिज्ञासाकी पूर्तिके लिये इस उपनिषद्का उपदेश है। ब्रह्मके चार पाद बतलाये गये हैं—(क) अविद्यापाद, (ख) विद्यापाद, (ग) आनन्दपाद और (घ) तुर्यपाद। प्रथम पादमें अविद्याका संसर्ग रहता है। अन्तिम पाद इससे नितान्त विशुद्ध रहते हैं। विद्यापाद तथा आनन्दपादमें अमित तेजः-प्रवाहके रूपमें नित्य वैकुण्ठ विराजता है और यहीं तुरीय ब्रह्म अपने समग्र तेज तथा वैभवके साथ स्थित रहते हैं। अन्य अध्यायोंमें साकार तथा निराकार शब्दोंकी व्याख्या है। ब्रह्म स्वतः अपरिच्छिन्न है। अतः वह साकार होते हुए भी निराकार रहता है और इन दोनोंसे भी परे वर्तमान रहता है। महामायाका ही यह जगत् विलास है और अन्तमें यह जगत् महाविष्णुमें लीन हो जाता है। पञ्चम अध्यायमें मोक्षके उपायका कथन है। मुक्ति तत्त्वज्ञानके लाभसे ही होती है और उस ज्ञानका परिपाक भक्ति तथा वैराग्यके कारण सम्पन्न होता है। षष्ठ अध्यायमें ब्रह्माण्डके स्वरूपका परिचय कराया गया है तथा विष्णुके विभिन्न रूपोंकी उपासनासे भिन्न-भिन्न लोकोंकी प्राप्तिका निर्देश किया गया है। सप्तम अध्यायमें नारायणके यन्त्रका वर्णन है। अन्तिम अध्यायमें आदि नारायण ही गुरुरूपसे निर्दिष्ट किये गये हैं जिनकी एकमात्र निष्ठा करनेसे ही प्रपञ्चका उपशम होता है। इस उपनिषद्के मूल सिद्धान्त पुरुषसूक्तमें उल्लिखित हैं। रामानुजदर्शन तथा अन्य वैष्णवदर्शनोंपर इस उपनिषद्का प्रचुर प्रभाव पड़ा है। रामानुजके अनुसार अचित् तत्त्वके तीन प्रकारोंमें प्रथम भेद है—शुद्धसत्त्व और यही शुद्धसत्त्व त्रिपाद्विभूति, परमपद, परमव्योम, अयोध्या आदि शब्दोंके द्वारा व्यवहृत होता है। (द्रष्टव्य मेरा भारतीय दर्शन पृ० ४७२–४७३)

८. दत्तात्रेयोपनिषद्—इसमें दत्तात्रेयकी उपासनाका वर्णन है तथा तत्सम्बद्ध नाना मन्त्रोंके वर्णन तथा विधान-का कथन है। दत्तात्रेयके मन्त्रके बीजकी भी विशिष्ट व्याख्या है। उपनिषद् छोटा ही है।

९. नारायणोपनिषद्—यह उपनिषद् परिमाणमें बहुत छोटा है। इसमें चार खण्ड हैं जिनमें नारायणके अष्टाक्षर मन्त्रका उद्धार तथा माहात्म्य प्रतिपादित किया गया है।

१०. नृसिंहतापिनी-उपनिषद्—इस उपनिषद्के दो खण्ड हैं—पूर्व और उत्तर। इसमें नृसिंहके रूप तथा मन्त्रका विस्तृत वर्णन है। नृसिंहकी तान्त्रिकी पूजाका रहस्य इसमें विस्तारसे उद्घाटित किया है। इस प्रकार तान्त्रिक उपनिषदोंमें यह उपनिषद् महत्त्वपूर्ण तथा महनीय है। इसके ऊपर शङ्कराचार्यकी भी टीका मिलती है, जिसे अनेक आलोचक आद्य शङ्कराचार्यकी रचना माननेमें संकोच करते हैं। नृसिंह-के महाचक्रका वर्णन पूर्वतापिनीके पञ्चम उपनिषद्में विस्तारके साथ किया गया है। उत्तरतापिनीमें नव खण्ड हैं जिनमें

निर्विशेष ब्रह्मके स्वरूपका प्रामाणिक विवेचन है। अष्टम खण्ड तुर्य ब्रह्मकी महनीयता तथा व्यापकताके वर्णनमें समाप्त हुआ है। नवम खण्डमें जीव तथा मायाके साथ ब्रह्मके सम्बन्धका प्रतिपादन है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अद्वैततत्त्वके सिद्धान्तोंकी जानकारीके लिये नितान्त प्रौढ तथा उपादेय है।

११. रामतापिनी-उपनिषद्—इसके भी दो खण्ड हैं जिनमें रामकी तान्त्रिक उपासनाका विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। राम तथा सीताके मन्त्र तथा मन्त्रके क्रमशः उद्धार तथा लेखनप्रकारका वर्णन है। रामका षडक्षर मन्त्र यन्त्रमें किस प्रकार निविष्ट किया जा सकता है तथा उसका पूजन किस विधिसे किया जाता है, इसी विषयका यहाँ प्रामाणिक प्रतिपादन है। योगीलोग जिस परमात्मामें रमण करते हैं वही 'राम' शब्दके द्वारा अभिहित किया जाता है—

रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥

राम-मन्त्रका बीज है—रां और इसीके भीतर देवत्रय तथा उनकी शक्तियोंका समुच्चय विद्यमान रहता है। रेफसे ब्रह्माका, तदनन्तर आकारसे विष्णुका तथा मकारसे शिवका तात्पर्य माना जाता है और इस प्रकार इन तीनों देवताओंकी शक्तियाँ—सरस्वती, लक्ष्मी तथा गौरी इस बीजमें विद्यमान रहती हैं—

तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्।
रेफारूढा मूर्तयः स्युः शक्तयस्तिस्र एव च॥

तदनन्तर राममन्त्रके उद्धारका विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। उत्तरतापिनीमें राम-मन्त्रके तारकत्व तथा जपके फलका निर्देश है। प्रणवका अर्थ 'राम'में बड़ी युक्तिसे सिद्ध किया गया है। रामके साक्षात्कार करा देनेवाले मन्त्रोंका भी यहाँ निर्देश मिलता है। राम-मन्त्रके माहात्म्यका प्रतिपादन कर यह उपनिषद् समाप्त होता है। 'उपनिषद् ब्रह्मयोगी'की व्याख्याके अतिरिक्त 'आनन्दवन' नामक ग्रन्थकारने भी बड़ी सुबोध टीका इस ग्रन्थपर लिखी है। यह टीका मूल ग्रन्थके साथ सरस्वती-भवन ग्रन्थमाला (नं० २४)में काशीसे १९२७ ई० में प्रकाशित हुई है।

१२. रामरहस्य-उपनिषद्—इस उपनिषद्का विषय है रामकी पूजाका प्रतिपादन तथा तदुपयोगी मन्त्रों तथा विधानोंका विवेचन। राम-मन्त्र एक अक्षरसे आरम्भ होकर इकतीस अक्षरोंतकका होता है। इसका पर्याप्त वर्णन यहाँ मिलता है। इसके अतिरिक्त सीता, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न तथा हनुमान्‌के मन्त्रोंका भी वर्णन है। राम-मन्त्रके पुरश्चरणका भी विधान यहाँ किया गया है।

१३. वासुदेवोपनिषद्—इसमें वासुदेवकी महिमा बतलाकर गोपीचन्दनके धारण करनेका विशिष्ट वर्णन है। वैष्णवजनोंके मस्तकपर विराजमान त्रिपुण्ड्र, ब्रह्मादि देवतात्रय, तीन व्याहृति, तीन छन्द, तीन अग्नि, तीन काल, तीन अवस्था, प्रणवके तीनों अक्षरोंका प्रतीक बतलाया गया है। वासुदेव जगत्‌के आत्मस्वरूप हैं। उनका ध्यान प्रत्येक भक्तको करना चाहिये।

१४. हयग्रीवोपनिषद्—हयग्रीव भगवान्‌के नाना मन्त्रोंके उद्धारका प्रकार इस छोटे उपनिषद्में विशेषरूपसे किया गया है।

वैष्णव-उपनिषदोंका यही संक्षिप्त वर्णन है। इसके अनुशीलनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैष्णवमतके नाना सम्प्रदायोंमें जो उपासना-विधि इस समय प्रचलित है, उसका मूलरूप हमें यहाँ उपलब्ध होता है। इन्हीं उपनिषदोंके आधारपर ही पिछले मतोंका विकास सम्पन्न हुआ है। अतः वैष्णवमतके रहस्योंको भलीभाँति जाननेके लिये इन ग्रन्थरत्नोंका अनुशीलन नितान्त आवश्यक है।

ब्रह्मका स्मरण करो और आसक्तिका त्याग करो

अहो नु चित्रं यत्सत्यं ब्रह्म तद् विस्मृतं नृणाम्। तिष्ठतस्तव कार्येषु मास्तु रागानुरञ्जना॥

अहो! यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि जो परब्रह्म परमात्मा नितान्त सत्य हैं, उन्हींको मनुष्योंने भुला दिया है। भाई! कर्मोंमें लगे रहनेपर भी तुम्हारे मनमें रागानुरञ्जना—उन कर्मोंमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये।

औपनिषद आत्मतत्त्व

(लेखक—याज्ञिक पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य, वेदरत्न)

(१) वाङ्मय, मानवकी विशेषताओंका (आदर्श) पुञ्ज है। आहार-विहारपर्यन्त ही अपनी चर्याको सीमित न करते हुए, भावीकी ओर अग्रसर रहना, उसके लिये सतत प्रयत्न करना, मानव-जीवनकी एक विशेषता है। यह उसकी जन्म-जात कला है। वाङ्मयमें इसी कलाका सङ्कलन रहता है। जिसका आकलन कर अन्य मानव अपने लिये गतिपथ पाते हैं। वह कला साहित्यिक हो, आलङ्कारिक हो, भौतिक हो अथवा आध्यात्मिक हो, मानवके जीवन-विकासमें पर्यायेण आवश्यक हैं। प्रत्येक कलाका अपना वाङ्मय अपने विषयमें अवश्य सराहनीय है, तथापि अध्यात्मविवेक-कलापूर्ण वाङ्मय-का स्थान सर्वोच्च है। क्योंकि प्रत्येक वस्तु जो कि विश्वकी रङ्गभूमिपर प्रस्तुत हुई हो अथवा होनेवाली हो, दीप-ज्योतिके समान इस अध्यात्मसे ही, आत्मसत्त्व किंवा आत्मप्रकाश प्राप्त करती है। यह बात स्पष्ट ही है कि जगत्का कोई भी व्यवहार 'मैं' इस आत्मतत्त्वके बिना नहीं चल सकता। जगत्के किसी भी देश एवं कालका उच्चकोटिका दार्शनिक हो, चाहे **'आत्मानं सततं रक्षेत्'** कहनेवाला कोई महास्वार्थी व्यवहारी पुरुष हो, दोनों आत्मसापेक्ष हैं। इसीलिये अध्यात्म—वाङ्मय किसी भी देश-कालका हो, प्रशंसनीय है, सबके लिये आदरणीय है, संग्राह्य है, ज्ञेय है। उपनिषद्-वाङ्मय यह एक ऐसा अद्भुत वाङ्मय है जो अध्यात्मका प्रकाश देनेवाला है। इस दिशामें विश्वकी यह अद्वितीय वस्तु है। इस बातको सभी विद्वान् मानते हैं। बस, हम यहाँ उपनिषद्के उसी अध्यात्म-तत्त्वका दिग्दर्शन उपस्थित करना चाहते हैं।

(२) उपनिषदोंका क्या विषय है या होना चाहिये, इसमें कोई विवाद नहीं; क्योंकि इस बातको सभी जानते हैं तथा मानते हैं कि उपनिषद्का मुख्य विषय 'ब्रह्म' है। और मुख्य प्रयोजन **'ब्रह्मज्ञान'** है, जिससे कि ब्रह्म-प्राप्तिरूप मोक्ष मिलता है। उपनिषद् शब्द—उप-उपसर्गपूर्वक तथा नि उपसर्गपूर्वक 'षद्ऌ विशरणगत्यवसादनेषु' धातुसे निष्पन्न है, यही अर्थ बतलाता है। निःशेषतया आत्मतत्त्वके समीप पहुँचा देनेवाली विद्या, इस अर्थमें उपनिषद् शब्द यथार्थ है।

विवाद यदि है तो केवल इस विषयमें ही कि—वह ब्रह्म क्या है, ब्रह्म शब्दका अर्थ क्या लिया जाय अथवा उसका लक्षण क्या किया जाय ? इसका कारण यह है कि—'ब्रह्म' शब्द जिस प्रकार उलझी हुई वर्णमालासे बना है, उसी प्रकार वह अर्थके सम्बन्धमें भी गुथा हुआ है।

'ब्रह्म' शब्द निम्नलिखित अर्थोंमें व्यवहृत है—परमात्मा, जीव, जगत्कारण, जड-प्रकृति, परमाणु, शब्द और विद्या।

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' 'जन्माद्यस्य यतः' 'तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः'—

यहाँ 'ब्रह्म' शब्द परमेश्वरवाचक है।

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।

(गीता १४। ३)

यहाँपर जड-प्रकृति तथा परमाणु अर्थमें 'ब्रह्म' शब्द मतभेदसे माना जाता है। **'ब्रह्म एवेदमग्र आसीत्'** यहाँपर जगत्कारण (उपादान) ब्रह्म-शब्दार्थ है।

'सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।'

यहाँ विद्या, शब्द (वेद) आदि अर्थ है। उपनिषदोंमें 'जगत्कारण' इस अर्थमें ब्रह्म शब्द लेना उचित है (यह वाक्य-शेष आदि प्रमाणसे सङ्गत है)।

इसपर भी शङ्का अवश्य है कि 'जगत्-कारण जड प्रकृत्यादि लिये जायँ अथवा चेतन आत्मा ?' इसका समाधान भी अति सरल है। उसी ब्रह्मके बारेमें वहीं मिलता है—

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' अर्थात् उस ब्रह्मने इच्छा की कि 'मैं सृष्टि करूँ' इस प्रकारकी इच्छा किंवा मनन जड-प्रकृतिमें सम्भव नहीं है, अतः 'ब्रह्म' शब्दसे चेतन आत्मा लेना ही उचित है। **'अयमात्मा ब्रह्म'** इन समानाधिकरण शब्दोंका भी यही स्वारस्य है।

यही चेतन आत्मा स्वयंप्रकाश है। इसे ही ब्रह्म, औपनिषद पुरुष किंवा उपनिषत्प्रतिपाद्य आत्मतत्त्व कहते हैं। इस उपनिषत्प्रतिपाद्य आत्मतत्त्वके स्वरूपके विषयमें उपनिषदों-के आधारपर ही वादियोंके अनेक मत हैं। उनपर सप्रमाण समालोचना करते हुए हम कुछ लिखना उचित समझते हैं, जिससे उपनिषत्प्रतिपाद्य आत्मतत्त्वका वास्तविक स्वरूप स्फुट हो सके।

(३) औपनिषद आत्मतत्त्वसम्बन्धी निम्न प्रकारकी विप्रतिपत्तियाँ उपस्थित की जा सकती हैं—

१–औपनिषद आत्मतत्त्व शरीरादि (भौतिक तत्त्व) से विलक्षण है या नहीं ?

२– ,, विभु किंवा अणु ?

३– ,, परिणामी सावयव किं वा नहीं ?

४– ,, ज्ञानादि का आश्रय किं वा तत्स्वरूप ?

५– ,, जगत्का उपादानकारण किं वा निमित्त ?

६– ,, अद्वितीय ही कारण, किं वा अनेक अन्य भी ?

७– ,, का जीवसे भेद किं वा अभेद ?

१. आत्मतत्त्व शरीरादिसे विलक्षण

पूर्वपक्ष—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।'

(ईश० २)

कर्म करते हुए ही सैकड़ों वर्ष जीवनेच्छाका आदेश देते हुए यह श्रुति बतलाती है कि 'जीवन ही सब कुछ है और मरनेके बाद कुछ नहीं है ।' इसलिये इस प्रकारके कर्म करो जिससे तुम्हारा जीवन, जो कि पृथिव्यादि जड़तत्त्वोंके समुदायमें **'किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत्'** है, बहुत समयतक रहे । यदि शरीरादिसे विलक्षण आत्मा हो और मरनेपर भी वह विद्यमान हो, तो फिर सैकड़ों वर्ष जीवित रहनेकी इच्छाका क्या महत्त्व ? जब कि वृद्धावस्था भी सन्निकट ही रहती है । शरीरमें कष्ट होनेपर उसके रक्षणका भी क्यों उपाय करें, यदि आत्माका कुछ बिगड़ता न हो ।

'यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यः तेजः समुद्भूतम्,··· स्त्रियां सिञ्चति सास्यैतमात्मानम् अग्रगतं भावयति ।'

(ऐतरेय०)

'वीर्यस्वरूप आत्मा स्त्रीमें सिञ्चित होता है और स्त्री उसे (पतिकी) आत्मा मानकर पालती है ।'

'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते' (कठोपनिषद्)

'अथ चैनं नित्यजातम्' (गीता २ । २६)

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म' (गीता २ । २७)

उपर्युक्त वचनोंसे भी यही ज्ञात होता है कि आत्मा भौतिक तत्त्व है, शरीरादिसे विलक्षण नहीं है ।

उत्तरपक्ष—**'कुर्वन्नेवेह'** इस श्रुतिका पूर्वोक्त तात्पर्य नहीं है । आत्मतत्त्वको समझकर पुत्रैषणादिको छोड़कर संसारसे परे जो निरतिशय सुख प्राप्त नहीं कर सकता, वह अनात्मज्ञ पुरुष यज्ञादि शुभ कर्म करते हुए ही अपना आयुष्य पूर्ण करे । यही तात्पर्य है । रेतःसिञ्चनको प्रथम जन्म एवं उत्पत्तिको द्वितीय जन्म जो कहा है, वह आत्माके प्राकट्यके अवच्छेदक शरीरके सम्बन्धमें है, आत्मामें औपचारिक कथन है ।

इसी शरीरात्माका निराकरण यमराजने नचिकेताके प्रश्नोत्तरमें किया है—

'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।'

(कठोपनिषद् १ । १ । २०)

'मनुष्य मरनेके बाद रहता है या नहीं ?' इस प्रश्नका उत्तर यमराजने यही दिया कि—

'तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥'

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

(कठोपनिषद् १ । २ । १५, १८)

यहाँ यही आत्माका लक्षण बतलाते हुए सिद्ध कर दिया कि शरीरादि भौतिक तत्त्व सब विनाशी हैं । वे आत्मा नहीं हैं; क्योंकि आत्मा अजर-अमर है । अर्थात् वह **'जायते'** आदि षड्भावोंसे रहित है ।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥

(कठोपनिषद् १ । ३ । १०)

वह आत्मा इन्द्रिय, पृथिव्यादि विषय, अन्तःकरणादि सबसे भिन्न है । शरीरसे सुतरां विलक्षण है ।

२. औ० आत्मतत्त्व विभु

पूर्वपक्ष—शरीरादि विलक्षण आत्मा अणु है, ऐसा सम्प्रदायाचार्यादि मानते हैं । उनका आशय है कि—

'अणोरणीयान्' (कठोपनिषद् १ । २ । २०)

यह आत्माका स्वरूप है ।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽनन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।

(कठोपनिषद् २ । ३ । १७)

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा···तमात्मस्थम् ॥

(कठोपनिषद् २ । २ । १२)

इन श्रुतियोंसे आत्माका परिमाण अङ्गुष्ठमात्र ही मालूम होता है ।

'वालाग्रशतभागस्य' (श्वेताश्वतर० ५ । ९) इस मन्त्रमें आत्माका अणु परिमाण स्पष्ट ही बतलाया है, एवं अणु परिमाण आत्माका तत्तल्लोकगमन भी सम्भव है । अतः आत्माका परिमाण अणु है—

उत्तरपक्ष—'**अणोरणीयान्**' इस मन्त्रवर्णसे जो 'अणुसे भी अणु' ऐसा आत्माका स्वरूप कहा है, यह उसकी स्तुतिमात्र है, परिमाण-निर्णय नहीं ।

अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा ।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः ॥

ये अष्टसिद्धियाँ आत्मामें बतलायी गयी हैं । इसीलिये आगे '**महतो महीयान्**' (बड़े-से-बड़ा) यह वाक्य-शेष भी संगत होगा, अन्यथा परस्पर व्याघात उपस्थित होगा । जो अणु है वह महान् कैसे ? यदि माना जाय तो परिमाणभेदसे आत्मामें भी भेद माना जायगा, जिससे कि आत्माको अनित्य मानना अनिवार्य हो जायगा । अस्तु, अङ्गुष्ठादिमात्रस्वरूपका जो कथन है वह लिङ्ग-शरीरादिके तात्पर्यसे है । आत्मामें औपचारिक है । इस प्रकार विपक्षका बाधन करके स्वपक्ष-(विभुत्व) साधनार्थ श्रुतियोंको प्रमाणरूपेण देते हैं—

'**एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा**' (कठोपनिषद् १ । ३ । १२)

यहाँ बतलाया गया है कि प्रच्छन्नतया सर्वभूतोंमें आत्मा स्थित है । यह बात बिना आत्माके विभु माने नहीं घटित हो सकती है । इसलिये आत्मा विभु है ।

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
(ईशोपनिषद् १)

सारा जगत् परमेश्वरेण (ईशा) व्याप्त है—आच्छादित है (वास्यम्) ।

'**एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः ।**'

आत्मासे विभु आकाश प्रकट हुआ । अणु आत्मासे विभु आकाशका होना सम्भव नहीं है ।

'**अयमात्मा ब्रह्म**' '**एकमेवाद्वितीयम्**'

ब्रह्म शब्दका ही अर्थ व्यापक है । ब्रह्मपदाभिधेय आत्मा अणु कैसा ? अद्वितीयता तथा एकताके बिना विभुताका सम्भव नहीं है ।

'**तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्**' (श्वेताश्वतरोपनिषद्)

उस पुरुषको अनादि और महान् कहा है ।

'**अस्थूलमनण्वह्रस्वम्**' (बृहदारण्यक०)

यहाँ अणुताका शब्दशः प्रतिषेध भी मिलता है । अतः औपनिषद आत्मा अणु नहीं, प्रत्युत विभु है, सर्वान्तर्यामी है ।

३. आत्मा परिणामी तथा सावयव नहीं

पूर्वपक्ष—कायाकार परिणामी आत्मा है । यह सावयव होनेपर भी कथञ्चित् नित्य ही है । उनका कहना है कि जिस पदार्थके गुण जहाँ उपलब्ध हों, उस परिधिमें ही वह पदार्थ मानना उचित है । आत्माके ज्ञानादि गुणोंकी उपलब्धि यदि शरीरावच्छेदेन ही है तो शरीरव्यापी ही आत्मा मानना चाहिये । न अणु और न विभु । अवयवोंमें संकोच-विकास होता है, अतः चींटीकी आत्मा हस्ति-शरीरमें व्याप्त हो सकती है और हस्तीकी आत्मा चींटीमें भी । ये उपनिषद्को प्रमाण न माननेवाले कुतार्किकोंमेंसे हैं । (जैन)

उत्तरपक्ष—यह सिद्धान्त युक्त्या और श्रुत्या दोनोंके विरुद्ध है । संकोच-विकास ये परिमाणभेद एक वस्तुमें सम्भव नहीं । यदि माना जाय तो आत्माको उत्पाद-विनाशशाली मानना पड़ेगा । जिससे कृतहानि और अकृताभ्यागमरूप दोष आ सकेंगे ।

अवस्थान्तरापत्तिको परिणाम कहते हैं । नित्य आत्माका अवस्थान्तर प्राप्त करना भी संगत नहीं है । उपनिषदोंमें कूटस्थता बतायी है ।

'**ध्रुवं तत्**' (कठोपनिषद्)

'**न जायते म्रियते वा०**' (कठोपनिषद् १ । २ । १८)

'**अविकार्योऽयमुच्यते**' (गीता २ । २५)

इस प्रकार औपनिषद आत्मतत्त्व आत्मा परिणामी किंवा सावयव भी नहीं है, यही ठीक है ।

४. आत्मा ज्ञानस्वरूप, ज्ञानाश्रय नहीं

पूर्वपक्ष—न्यायादि दर्शनोंमें आत्माका यही मुख्य लक्षण माना गया है कि आत्मा वही है जो ज्ञानाधार है । आत्मा स्वतन्त्र द्रव्य है, उसमें समवायसे ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा आदि चतुर्दश गुण उत्पन्न होते हैं और कार्यकारणभावके पौर्वापर्य नियमके (Theory of Causation) अनुसार युक्ति भी सङ्गत है । प्रमाण, प्रमिति, प्रमेय, प्रमाता—इनमें भेद आवश्यक है । इसी प्रकार यदि ज्ञान ही आत्मा है तो घटविषयक ज्ञान आत्मा है या पटविषयक ? यह प्रश्न निरुत्तर रहेगा ।

'**यः सर्वज्ञः सर्ववित्**' इस श्रुतिमें 'सर्वज्ञ' शब्दका यही अर्थ है कि 'सर्वपदार्थविषयक ज्ञानवान्' । यहाँ आधारका

बोध अनिवार्य है। इसी प्रकार **'असुखम्'** इस श्रुतिका भी 'आत्मा सुखभिन्न है' यह अर्थ मानना चाहिये।

उत्तरपक्ष—आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है। ज्ञानभिन्न सभी पदार्थ जड़ होते हैं और आत्माको जड़ मानना महामूर्खताका लक्षण है। उपनिषदोंमें कहा है—

'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' (बृहदारण्यकोपनिषद्)
'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्तिरीयोपनिषद्)
'अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृहदारण्यकोपनिषद्)
'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (")

इन वाक्योंमें आत्माको ज्ञानस्वरूप कहा है। **'विज्ञानम्'** इस वाक्यमें विशेषेण ज्ञान जिसका है, इत्यादि रीतिसे व्याख्यान स्वरशास्त्रके विपरीत होनेके कारण नहीं माना जा सकता। इसलिये औपनिषद आत्मा ज्ञानस्वरूप है यह मानना उचित है। घटविषयक विज्ञान आत्मा है किंवा पटविषयक ? इस प्रश्नका यही उत्तर है कि—**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** (तैत्तिरीय०) यहाँपर सभी पद लक्षणवृत्तिसे स्वार्थेतर-व्यावृत्त वस्तुस्वरूपके बोधक हैं।

ज्ञान शब्द ज्ञानेतरव्यावृत्त ब्रह्मका बोधक है। अर्थात् ब्रह्म अज्ञानरूप नहीं है अथवा सर्वविषयक ज्ञानको आत्मा कहा जाय तो कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि प्रत्येक सर्वज्ञ इसलिये नहीं हो सकेगा कि वह उपाधिपरिच्छिन्न है। एवं ज्ञानके साधन जो कि अन्तःकरणवृत्त्यादिक हैं, वे सन्निहित नहीं होते, जिस विषयके लिये सामग्री होती है उस विषयमें ज्ञान अवश्य ही होता है।

५. आत्मा उपादान-कारण और निमित्त-कारण

पूर्वपक्ष—**'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म।'**

—इत्यादि श्रुतियोंसे जगत्का कारण 'ब्रह्मात्मतत्त्व' है, यह अवगत हुआ। यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि घटकी मृत्तिकाके समान उपादान-कारण है किं वा घटके प्रति कुलालके समान निमित्तकारण है ? उचित यही होगा कि उसे 'निमित्त-कारण' माना जाय। क्योंकि उस ब्रह्मके विषयमें उपनिषद्में कहा गया है कि—**'स ऐक्षत ईक्षाञ्चक्रे'** (प्रश्नोपनिषद्) (सृष्टिकी उसने इच्छा की)। इच्छा तथा मननपूर्वक कार्य करना यह निमित्त-कारणका ही लक्षण है। आदान कारणके गुणधर्मोंके कार्यमें अनुवृत्ति पायी जाती है। यदि चेतन आत्माको जगत्का उपादान कहा जाय तो जगत्में कुछ भी जड़ न होकर सब चेतनस्वरूप ही होना चाहिये।

उत्तरपक्ष—यह ठीक है कि ईक्षण करनेवाला ब्रह्म जगत्का कारण है, किंतु उपादान भी मानना चाहिये। जो गुणधर्मके अनुवर्तनका प्रश्न है वह विवर्त माननेसे समाहित हो सकता है। जगत् अविद्याका परिणाम है और ब्रह्मात्मतत्त्वका विवर्त्त है। किसी निश्चयात्मक वस्तुका यदि अन्य रूपसे भान होने लगे तो उसे 'विवर्त्त' कहते हैं। जिस प्रकार रज्जुका सर्पाकार भान होता है। उपादानके ज्ञानसे कार्यका भी ज्ञान सरल होता है, यह विषय आत्माके सम्बन्धमें भी उपपन्न है।

उपनिषद्में प्रश्न किया गया है कि—

'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति।'

'किसके ज्ञानसे यह सब जाना जा सकता है।'

इस प्रश्नका उत्तर यही है कि—

आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदꣳ सर्वं विदितं भवतीति।

आत्मतत्त्वके श्रवण-मननादिसे यह सर्व जगत् ज्ञात हो सकता है। यह भान बिना आत्मानुवृत्ति (आत्माव्यतिरेकिता) के नहीं हो सकता, और अव्यतिरेकिता आत्माको उपादान माने बिना नहीं आ सकती। अतः आत्माको उपादान मानना भी आवश्यक है।

६. औपनिषद आत्मा ही केवल जगत्कारण

जो भी यह कार्यजाल दिखायी दे रहा है इस सबका कारण वह एक आत्मा ही है और कोई अन्य उसे अपेक्षित नहीं है। ऐतरेयोपनिषद्में कहा गया है कि—

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, नान्यत्किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति।

(१।१।१)

'यह सारा जगत् पूर्वमें आत्मा ही था, अन्य कोई और तत्त्व नहीं था, उस आत्माने अपनी इच्छासे लोकका सर्जन किया।'

इससे यह सिद्ध है कि सृष्टिके मूलमें एक ब्रह्म-तत्त्व ही रहा है। सर्व जगत् उसका विवर्त्त है, इसलिये उससे विरूप है।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

(कठोपनिषद्)

यह एक कारणवाद युक्तिसङ्गत भी है, दर्शनशास्त्रका उद्देश्य मूलतत्त्वका परिचय कराना ही है; क्योंकि मानव-

की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह अनेकोंमें एकता देखना चाहता है। अनेक वस्तुओंका भी किसी रूपसे एकीकरण चाहता है। उदाहरणके रूपमें देखिये—

राम, शिव, यज्ञदत्त, देवदत्त नामक व्यक्ति जब हमारे सम्मुख आते हैं तो हमारे अन्तस्तलमें प्रश्न उपस्थित होता है कि 'ये भिन्न ही हैं किं वा किसी रूपसे एक भी हैं?' उत्तर मिलेगा—'ये सब पुरुष हैं।' इसी प्रकार सीता, सावित्री, गोमती, रम्भा आदिमें भी शङ्का होगी। फलतः स्त्रीरूपसे उन्हें एक मान सकते हैं। इन स्त्री-पुरुषसमुदायमें भी मनुष्यत्वेन एकता मिलती है। यह मनुष्यसमूह, दूसरी ओर पशुसमूह, अन्य पक्षिसमूह और कुक्कुरसमूह—इनमें यदि भेद-शङ्का हो तो उसका समाधान है—'ये सब सजीव हैं', अर्थात् प्राणित्वेन (आत्मत्वेन) सबको एक कहेंगे।

इस ओर आत्मा हैं, कुछ जड़ पदार्थ भी हैं, इनमें भेदाभेद-विचारमें ही समस्त दार्शनिकोंका मस्तिष्क स्फोट है। कोई भी इनका एकीकरण नहीं कर पाते तथा जडोंके लिये एक प्रकृति-तत्त्व पृथक् भी मानते हैं, किंतु उपनिषद्की विचारधारामें—इसमें सन्तोष करना उचित नहीं माना गया तथा जड और आत्मा—इनमें भी एकताका अनुभव चाहा और सकल जडको भी **'आत्मैवेदमग्र आसीत्'** कहकर आत्मामें समाविष्ट किया गया। इस प्रकार आत्मा एक ही मूल कारण सिद्ध हुआ, यह श्रुति-सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि युक्तियुक्त भी है। जैसा कि पूर्वमें आत्माको कारण सिद्ध किया जा चुका है। लोक-व्यवहारमें भी यह 'न्यूनतम कारणवाद' (Law of parsimony of causes) तथा सृष्टिकी मितव्ययिता (Law of economy of nature) प्रसिद्ध ही है। हम किसी कार्यकी उत्पत्ति यदि स्वल्प कारणोंसे कर सकें तो अधिक एकत्रित (सामग्री) करना उचित नहीं मानते। प्रत्युत ऐसा करनेवालेको 'अविद्वान्' कहते हैं।

इस प्रकार आत्मतत्त्व ही केवल जगत्का उपादान माना जाय, यह श्रुतिसम्मत ही नहीं, प्रत्युत युक्तिसम्मत भी है।

७. आत्मा और जीवमें अद्वैत

उपनिषत्प्रतिपाद्य आत्मतत्त्वका उसके कार्यभूत जगत्से तथा जीवसे भेद है अथवा अभेद? इस दिशामें उपनिषत्-सिद्धान्त तो यही है कि आत्मतत्त्व और जीवतत्त्व—इनमें भेद नहीं है और जगत् भी उससे वस्तुतः भिन्न नहीं है। इस विषयमें महान् मतभेद हैं—

पूर्वपक्ष—कुछ दार्शनिक प्रत्येक शरीरमें भिन्न-भिन्न आत्मा हैं और ईश्वर नहीं है, ऐसा मानते हैं। उनका कहना है कि यदि आत्मा एक हो तो एक ही आत्मामें एक काल-में भिन्न-भिन्न विरोधी गुण कैसे आ सकते हैं।

कुछ अन्य दार्शनिक ईश्वरको मानते हुए भी आत्माओंसे उसी प्रकार भिन्न मानते हैं, जिस प्रकार आत्माएँ सब परस्पर भिन्न हैं। मुण्डकोपनिषद्में कहा है कि—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (३ । १ । १)

यहाँपर ईश्वर और जीवके अभिप्रायसे ही 'द्वि' शब्दका प्रयोग किया गया है।

'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति'

आत्मा निरञ्जन होकर परमेश्वरकी समानता प्राप्त करता है। वह समानता दो भिन्न तत्त्वोंके ही व्यवहारमें आ सकती है।

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥
(कठोपनिषद् १ । ३ । १)

संसारमें सुकृतके फलका पान करते हुए यद्यपि जीव और ईश्वर—ये दोनों ही फल पान नहीं करते, तथापि जीवसे सम्बन्ध होनेके कारण **'पिबन्तौ'** कहा है।

छाया तथा आतपके समान विलक्षण अर्थात् जीव संसारी और ईश्वर असंसारी है—ऐसा ब्रह्मज्ञजन कहते हैं। इस अर्थमें जीवेश्वर-भेद स्फुट बतलाया है।

× × ×

इसी प्रकार अन्य उपनिषदोंमें भी अनेक प्रकारसे आत्मतत्त्वका निर्देश है।

१. कर्ता-भोक्ता संसारी पुरुष है।
२. साक्षी जीव कर्मफलदाता ईश्वर है।
३. **'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह, नेति नेति'** आदि वचनोंसे बोध्य असंसारी आत्मा। (ऐतरेयोपनिषद्-शाङ्करभाष्यके अनुसार)

× × ×

१. **विश्व**—जागरितावस्थामें जिसको बाह्यका ज्ञान होता है। (माण्डूक्योपनिषद्)
२. **तैजस**—स्वप्नावस्थामें जिसको आभ्यन्तरका ज्ञान होता है। (माण्डूक्योपनिषद्)

३. **प्राज्ञ**—सुषुप्तावस्थामें जिसे कुछ भी भान नहीं होता है। (माण्डूक्योपनिषद्)

४. **तुरीय**—सर्वथा ईश्वर सर्वज्ञ अन्तर्यामी चतुर्थ है। (माण्डूक्योपनिषद्)

जब कि आत्माके ये भेद उपलब्ध हैं, तो एकात्मवाद (अद्वैत) कैसे समझा जाय ? यदि कहा जाय कि—

'तत्सत्यम्.....स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'

इस छान्दोग्योपनिषद्में तत्=ब्रह्मके साथ 'त्वम्' पदार्थ जीवका अभेद बताया है, तो द्वैत कैसे माना जाय ? ठीक है, किंतु यह अर्थ ठीक नहीं है। तत् शब्द सत्यका परामर्श करता है और 'तत्त्वमसि'का प्रसङ्गसे यही अर्थ होगा कि—'हे श्वेतकेतो ! तू सत्य है, तेरे बिना यह शरीर आदि सब शून्य हैं। अब अद्वैत कैसे माना जाय ?'

यदि कहा जाय कि—**'एकमेवाद्वितीयम्'** यहाँ अद्वितीय तत्त्वका उल्लेख है, तो फिर जीव भिन्न कहाँसे रहेंगे ? यह भी ठीक नहीं। यहाँ 'एक' शब्दसे एक जातीय भी ले सकते हैं, जैसे समस्त घट एकजातीय मृत्तिकासे जायमान हैं न कि एक ही मृत्तिकासे समस्त घट बनें। यह अनुचित भी है, क्योंकि एक ही मृत्तिकासे नाना घट कैसे बन सकते हैं ?

उत्तरपक्ष—पूर्वोक्त विषय उपनिषत्-सिद्धान्तके प्रतिकूल है तथा आपातरमणीय भी है। जो हमें प्रति शरीरमें आत्मभेदका अनुभव होता है वह शरीरके भेदसे ही है, जैसा कि एक ही आकाशके घट, मठ आदि उपाधि-भेदसे भेद व्यवहारमें आता है, वस्तुतः भेद नहीं होता है।

जो यह कहा गया कि विपरीत गुणोंका समावेश कैसे ? उसका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है कि आत्मा निर्गुण है। सभी गुण अन्तःकरणके ही आत्मामें प्रतिफलित होते हैं। आत्माके लिये कहा गया है कि **'असङ्गो हि सः'** (वह असङ्ग=गुणादि धर्मरहित है।) बृहदारण्यकोपनिषद्में कहा है कि—

'कामो विचिकित्सा ह्रीर्धीरित्येतत्सर्वं मन एव।'

इससे यह सिद्ध है कि—आत्मामें ये सब धर्म नहीं हैं, सुख-दुःखादि सब गुण अन्तःकरणमें ही हैं।

'द्वा सुपर्णा' आदि वाक्योंमें जो जीवेश्वर-भेदकी कल्पना बतलायी है, वह भी औपचारिक है, वास्तविक नहीं है।

कर्ता, ईश्वर, असंसारी, प्राज्ञ, विश्व, तैजस, तुरीय आदि एक ही आत्माकी औपाधिक दशाएँ हैं, न कि इन नामवाले कोई भिन्न आत्मा हैं।

तत्सत्यम्.....स आत्मा..... तत्त्वमसि।'

—का जो आधुनिक आर्यजन अर्थ करते हैं, वह ठीक नहीं है; क्योंकि उससे प्रकरणसङ्गति नहीं बैठती।

तत् सत्यम्=वह ब्रह्म सत्य है (असत्यव्यावृत्त है)। **स आत्मा**=वही ब्रह्म आत्मा है। **तत्त्वम्**=तुम भी वही ब्रह्म हो, तत् शब्दसे विशेषणवाच्य सत्यका परामर्श करना अनुचित है। इससे जीवब्रह्मैक्य सिद्ध है।

'एकमेवाद्वितीयम्' यहाँ 'एक' शब्दका अर्थ 'कैवल्य' है, जो कि 'सजातीय, विजातीय और स्वगतभेदशून्य' अर्थमें आता है। यदि पूर्वोक्त ही अर्थ माना जाय तो **'नेह नानास्ति किञ्चन'** इत्यादि वचन भी असङ्गत होंगे। निम्नलिखित वाक्योंसे भी अद्वैत कथित है—

'यथाग्नेः क्षुद्राः स्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेवास्मादात्मनः सर्वे आत्मानो व्युच्चरन्ति।'

(बृहदारण्यकोपनिषद्)

प्रथमावस्थामें एक ही आत्मतत्त्व है और उसीके समस्त अग्निकणके समान भेद हैं।

'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्।'	(छान्दोग्योपनिषद्)
'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्।'	(,,)
'अहं ब्रह्मास्मि।'	(,,)
'अयमात्मा ब्रह्म।'	(,,)

इन वाक्योंसे जीव और ब्रह्मकी वास्तविक एकता स्फुट ही है।

× × ×

'नेति' 'यतो वाचो निवर्तन्ते' आदि वाक्योंसे भी पूर्वोक्त अद्वितीय आत्मतत्त्व ही प्रतिपाद्य है। जैसे—एक अपराधी मुग्ध-पुरुषसे उसका स्वामी कह दे कि 'तुझे धिक्कार है, तू मनुष्य नहीं है।' यह सुनकर मुग्ध पुरुष सन्दिग्ध होकर अन्य किसी विज्ञके पास जाकर अपने स्वरूपके सम्बन्धमें पूछने लगे कि 'कृपया मुझे बतलाइये मैं कौन हूँ।' वह विज्ञ पुरुष उसकी मुग्धतापर मन-ही-मन हँसकर उससे कहेगा कि—'मैं क्रमशः तुझे समझा दूँगा।' इतना कहकर वह विज्ञ पुरुष मुक्त पुरुषको समझावेगा कि 'तू घट, पट, पृथिवी, शरीर आदि नहीं है, न पाषाण है, न जल है और

न तेज है अर्थात् तू अमनुष्य नहीं है।' इस प्रकार विज्ञ पुरुषद्वारा अमनुष्य प्रतिषेधरूपसे 'तू मनुष्य है' यह समझाया जा सकता है; किंतु वह मुग्ध पुरुष यदि समझदार होगा तभी समझ सकेगा न कि मुग्धावस्थामें।

इसी प्रकार 'नेति' शास्त्र संसारकी दृश्य सकल वस्तुओंका प्रतिषेध करते हुए ब्रह्मस्वरूपका परिचय कराते हैं। किंतु इन वाक्योंसे आत्मावबोध अन्तःशुद्धि होनेपर ही होगा, न कि उस मुग्ध पुरुषकी तरह जिसे 'तू अमनुष्य नहीं' यह कहनेपर तो क्या, किंतु 'तू मनुष्य है' यह कहनेपर भी बोध नहीं हो पाता, अपवित्र रहनेपर।

इस प्रकार पूर्व शङ्का-समाधानोंसे औपनिषद आत्मतत्त्वका संक्षिप्त परिचय कराया जा सकता है। वस्तुतः वह असंसारी, अनिर्वचनीय अद्वितीय है। लेखके कलेवरवृद्धिके भयसे इस विषयको यहीं समाप्त किया जाता है। यदि इस लेखके द्वारा पाठकोंका किञ्चिन्मात्र भी लाभ होगा तो लेखक अपना परिश्रम सफल समझेगा।

उपनिषदोंका महत्त्व और उद्देश्य

(लेखक—श्रीताराचन्द्रजी पाण्ड्या, बी० ए०)

वेदोंके कर्मकाण्ड-भागकी तो गीताने अप्रशंसा-सी ही की है (श्रीमद्भगवद्गीता २। ४२–४५; ९। २०-२१), परंतु उपनिषदोंसे ही तो गीताकी उत्पत्ति हुई है—वह उपनिषद्-रूपी गायोंका दूध है और जैसा कि गीताके प्रत्येक अध्यायको समाप्त करनेवाले शब्दोंसे सूचित है, गीता स्वयं भी एक उपनिषद् है। उपनिषदोंके अनेक मन्त्र प्रायः ज्यों-के-त्यों गीतामें गुम्फित हैं।

अशाश्वत, जड, परस्वरूप सांसारिक पदार्थोंको छोड़कर शाश्वत, विज्ञानघन, आनन्दमय, निजस्वरूप आत्माको पहचाननेका और उससे तन्मय हो जानेका जो दिव्य और सनातन ज्ञान आदिम कालमें उद्भूत—अवतरित—हुआ था, वह उपनिषदोंमें निहित है। उपनिषदोंका लक्ष्य है—**'आत्मानं विद्धि'**—आत्माको—अपने आपको जानो—पहचानो। जो इस आत्माको नहीं जानते और उसके स्वरूपसे विमुख रहते हैं। वे आत्मघाती हैं, उनकी अधोगति होती है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
(ईशावास्योपनिषद् ३)

आत्मज्ञानको ही विद्या माना है और शेषको अविद्या। अविद्यासे मोहजनक विनश्वर लौकिक सुख भले ही प्राप्त हो जायँ, परंतु अनन्त और वास्तविक आनन्द (अमृतत्व) तो विद्यासे ही उपलब्ध हो सकता है। जो विद्यासे रहित है, वह न तो स्वयं कल्याण-पथपर चल सकता है और न दूसरोंका ही मार्ग-प्रदर्शन कर सकता है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
(कठोपनिषद् १। २। ५)

किंतु विद्या वही सुफल दे सकती है जो सच्ची और हार्दिक हो; मिथ्या या कपटपूर्ण (Hypocritical) होनेपर तो वह विद्या (या विद्याभास) अविद्यासे भी अधिक अनर्थकारिणी हो जाती है—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳरताः॥
(ईशावास्योपनिषद् ९)

विद्या श्रेय है और अविद्या प्रेय है। प्रेयसे श्रेय अधिक उपादेय है। जो विद्या और अविद्याकी भिन्न-भिन्न सिद्धियोंको समझता है और अपने उच्चतर एवं एकमात्र लक्ष्य आत्मोपलब्धिसे च्युत नहीं होता, वह दोनोंका सदुपयोग करके लाभ उठा सकता है अर्थात् अविद्यासे मृत्यु अर्थात् लौकिक कष्टोंको दूर करके और इस प्रकार अपेक्षाकृत सुखपूर्वक विद्याका साधन करके अमृतत्वको प्राप्त कर सकता है—

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।
(ईशावास्य० १४)

परंतु यथार्थ और एकमात्र उद्देश्य तो अमृतत्वकी प्राप्ति ही रखना चाहिये और अन्य सब कामनाओंको हेय ही समझना चाहिये।

पराचः कामाननुयन्ति बाला-
स्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥
(कठोपनिषद् २। १। २)

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥
(कठोपनिषद् २ । ३ । १४)

आत्माके लिये शरीर है, न कि शरीरके लिये आत्मा । शरीर तो आत्माकी गति (ऊर्ध्वगति या अधोगति) के लिये एक साधन है । इसका उपयोग करनेवाला इससे भिन्न है ।

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

नचिकेता, जाबाल आदिकी अनेक कथाओंसे उपनिषदोंकी प्रभावकता और भी अधिक बढ़ी हुई है। ये सुन्दर, सरल और हृदयस्पर्शी कथाएँ जिस सात्त्विक प्राचीन कालकी घटनाओंका वर्णन करती हैं, उसे मानो हजारों और लाखों वर्षोंके व्यवधानको दूर करती हुई आँखोंके सामने ले आती हैं और उसकी पवित्रताकी सुगन्ध हृदयमें भर देती हैं ।

उच्च आध्यात्मिक ज्ञानके विषयवाले होनेपर भी उपनिषदोंके अनेक वाक्य निम्नस्तरके दैनिक जीवनके लिये भी अत्युपयोगी हैं । **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' 'मा विद्विषावहै'** आदि वचनोंके अनुसरणकी वर्तमान जगत्के हित, सुख तथा रक्षाके लिये कितनी आवश्यकता है, यह सूर्य-प्रकाशवत् इतना सुस्पष्ट है कि इसको बतानेकी आवश्यकता नहीं है ।

उपनिषद्-ग्रन्थोंका रचनाकाल

(लेखक—ज्यो० भू० पं० श्रीइन्द्रनारायणजी द्विवेदी)

संस्कृत साहित्यमें उपनिषद्-ग्रन्थोंका स्थान बहुत ऊँचा है । यहाँतक कि वेदोंके शिरोभागके नामसे उपनिषदोंका परिचय दिया जाता है और अध्यात्मज्ञानके लिये उपनिषद्-ग्रन्थ ही एकमात्र साधन हैं । वेदान्तसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता आदि समस्त गीताएँ उपनिषदोंके ही ज्ञानरत्नोंसे परिपूर्ण हैं । अवश्य ही हमारे उपनिषद्-ग्रन्थोंमें सबसे अधिक मान उन उपनिषदोंका है, जो संहिता अथवा ब्राह्मणरूप वेदोंके अन्तर्गत हैं; किंतु उन उपनिषदोंका भी मान है, जिनके मूल वेद और ब्राह्मणके उपलब्ध भागोंमें हमको वर्तमान समयमें नहीं मिलते और वेदानुयायी पौराणिक साहित्यमें जिनके प्रमाण मिलते हैं । ये सब उपनिषद्-ग्रन्थ, संस्कृत-साहित्यमें हम भारतीयोंके ज्ञानकाण्डके भण्डार माने जाते हैं ।

हमारे उपनिषद्-ग्रन्थोंका इस प्रकार मान देखकर किसी चाटुकारने अकबरके समयमें 'अल्लोपनिषद्' नामकी एक छोटी-सी पुस्तिका लिखी थी, जिसमें अर्बी और संस्कृतकी मिश्रित भाषामें दस गद्य हैं और रसूल, महम्मद, अकबर आदि शब्द आये हैं; किंतु इतने स्पष्ट प्रमाणोंके होते हुए भी इस समयके एक इतिहासके विद्वान्के मुखसे उसकी गणना वैदिक साहित्यमें कराके मुसल्मानोंके पुष्टीकरणकी नीतिसे चाटुकारी दोहरायी गयी है—यह कितने आश्चर्यकी बात है । इतना ही नहीं, हमारे उपनिषद्-ग्रन्थोंकी ओरसे श्रद्धा हटानेके अभिप्रायसे प्रो० मैक्समूलर-जैसे विद्वान्ने एक 'मक्स्योपनिषद्' नामकी पुस्तिका रची थी और लोगोंके आपत्ति करनेपर प्रोफेसर साहबने लिखा था कि हमने मज़ाकके तौरपर इसकी रचना की है । प्रोफेसर साहबका वह पत्र 'सरस्वती' मासिक-पत्रिका (प्रयाग) में छपा था । सम्भवतः इसी प्रकार दूसरे चाटुकार, मज़ाकी अथवा अपने धार्मिक मतके समर्थनमें उपनिषद्नामसे कुछ पुस्तकें लिखनेकी चेष्टा करनेवाले और भी हुए हों अथवा भविष्यमें हों, जिनकी रचनासे लोगोंको उपनिषद्-ग्रन्थोंके विषयमें सन्देह हो । अतएव केवल उपनिषद् नामपर नहीं—उसके आधार और ज्ञानोपदेशपर विचार करके हमको निश्चय करना चाहिये कि ये ग्रन्थ वस्तुतः उपनिषद्-ग्रन्थ हैं अथवा चाटुकारों और धूर्तोंकी कपोल-कल्पना है ।

जिन उपनिषद्-ग्रन्थोंका हमारे संस्कृत-साहित्यमें सर्वोच्च स्थान है और जिनका अस्तित्व हमारे वैदिक साहित्यमें उपलब्ध है, आज हम उन्हीं उपनिषद्-ग्रन्थोंके रचना-कालपर विचार करना चाहते हैं । मैत्रायणीशाखामें अपाणिनीय शब्दोंको देखकर कुछ लोगोंका मत है कि वह शाखा पाणिनिके पूर्वकी है । अतएव मैत्र्युपनिषद् भी पाणिनिके पूर्वकालकी है, किंतु भाषातत्त्वके विद्वानोंके इस मतसे हम सहमत नहीं कि किसी ग्रन्थमें अपाणिनीय शब्दके प्रयोगसे उसको हम पाणिनिसे पूर्वका ग्रन्थ मान लें, अथवा उसके आधारपर पाणिनिके समयको हम पीछे हटानेकी चेष्टा करें; क्योंकि संस्कृत-साहित्यमें न जाने कितने आधुनिक ग्रन्थ भी ऐसे हैं, जिनमें अपाणिनीय शब्दोंके प्रयोग अधिकतासे मिलते हैं ।

अवश्य ही मैत्र्युपनिषद् (६ । १४) में ज्यौतिष-सम्बन्धी 'मघाद्यं श्रविष्टार्द्धम्'के रूपमें दक्षिणायनका वर्णन आया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि उस समय आधे धनिष्ठासे उत्तरायण (मकरका आरम्भ) होता था। स्व० बा० लोकमान्यतिलकने गीतारहस्य (पृ० ५५२) में लिखा है कि 'मैत्र्युपनिषद् ईसाके पहले १८८० से १६८० वर्षके बीच कभी-न-कभी बना होगा। क्योंकि लोकमान्यके मतसे वेदाङ्ग ज्यौतिष-कालका उदगयन, मैत्र्युपनिषद्-कालीन उदगयनकी अपेक्षा लगभग आधे नक्षत्रसे पीछे हट आया था। ज्योतिर्गणितसे यह सिद्ध होता है कि वेदाङ्ग-ज्यौतिषमें कही गयी उदगयन-स्थिति ईसाई सन्के लगभग १२०० या १४०० वर्ष पहलेकी है' (गीतारहस्य पृ० ५५२)। सारांश यह कि लोकमान्यके मतसे मैत्र्युपनिषद् ग्रन्थका रचनाकाल, ईसासे पूर्व कम-से-कम १२०० वर्ष सिद्ध होता है।

मैत्र्युपनिषद्-ग्रन्थमें अनेक स्थलोंमें छान्दोग्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, कठ और ईशावास्य-उपनिषदोंके वाक्य तथा श्लोक प्रमाणार्थ उद्धृत किये गये हैं। अतएव यह स्वयंसिद्ध है कि छान्दोग्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, कठ और ईशावास्य उपनिषद्ग्रन्थ ईसाके पूर्व १२००-१४०० वर्ष (मैत्र्युपनिषद्-ग्रन्थ रचनाकाल) के भी बहुत पहलेके हैं। अवश्य ही ज्यौतिषगणितके अनुसार लोकमान्यतिलकने जो समय निश्चित किये हैं, वे समय वस्तुतः निश्चित ही हैं—यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि आधुनिक गणितज्ञोंके मतसे ज्यौतिषकी वही स्थिति जो मैत्र्युपनिषद्-ग्रन्थमें कही गयी है—आधे धनिष्ठासे उत्तरायणका आरम्भ, ईसासे पूर्व जिस प्रकार १८८०-१६८० वर्ष पूर्व हुई होगी, ठीक उसी प्रकारकी स्थिति ईसासे २७८८०-२७१६८० वर्ष पूर्व भी थी और उसके पूर्व भी २६०००-२६००० वर्ष पूर्व होती रही है। अतएव हम इस बातको माननेके लिये बाध्य नहीं कि हमारे वैदिक साहित्यके शिरोभाग उपनिषद्-ग्रन्थ ईसासे पूर्व १८८०-१६८० वर्षमें ही रचे गये हैं। अवश्य ही जिन पाश्चात्य विद्वानोंके धर्म-ग्रन्थानुसार मानव-सृष्टिका आरम्भ ही ईसासे पूर्व लगभग ४००० वर्षसे माना जाता है, वे उपनिषद्-ग्रन्थोंके उत्तरायण-वर्णनसे अन्तिम काल ईसासे पूर्व १८८०-१६८० उपनिषद्-ग्रन्थोंका रचनाकाल मानें तो इसमें आश्चर्यकी बात नहीं है; किंतु वैदिकधर्मके माननेवाले भारतवासी हम जिनके सृष्टिका आरम्भकाल इस समय विक्रम संवत् २००५ के १९५५८८५०४९ वर्ष पूर्व माना गया है; और जिनके सिद्धान्त ज्यौतिषके गणित सहस्र चतुर्युगीय कल्पके आधारपर किये गये हैं; अपने उपनिषद्-ग्रन्थोंका रचनाकाल नहीं, आविर्भावकाल उस समयको मानेंगे जो मघा-नक्षत्रसे दक्षिणायन और आधे धनिष्ठा नक्षत्रसे उत्तरायणका समय वर्तमान सृष्टिमें (जिसके छः मन्वन्तर बीत चुके हैं और सातवें मन्वन्तरके अट्ठाईसवें कलियुगके ५०४९ वर्ष भी बीत चुके हैं) सबसे प्रथम आया होगा।

सारांश यह कि हमारे उपनिषद्-ग्रन्थोंका रचनाकाल, आधुनिक गणितज्ञोंके गणितसे ही अतिप्राचीन सिद्ध होता है और यदि पुरातत्त्वज्ञानके प्रचारसे पाश्चात्य विद्वानोंको अपने मानव-सृष्टिकालके आरम्भकालकी त्रुटि विदित हो गयी और वैदिक सृष्टिकी ओरसे अविश्वास हट गया तो वे भी यह बात मान लेंगे कि हमारे वैदिक साहित्यके शिरोभाग-उपनिषद्-ग्रन्थों-का रचनाकाल शताब्दियोंमें नहीं गिना जा सकता। हम आशा करेंगे कि पक्षपात और धर्मविरोधी भावनाको त्यागकर ऐतिहासिक जन हमारे इस विचारकी ओर अवश्य ध्यान देंगे कि उपनिषद्ग्रन्थोंके समय-निरूपणमें सबसे प्रथम धनिष्ठार्द्धके उत्तरायणको न मानकर सबसे अन्तके धनिष्ठार्द्धके उत्तरायण-को माननेके लिये क्या कोई प्रमाण है? और यदि नहीं तो, हमारा मत अवश्य सर्वमान्य होना चाहिये।

औपनिषद सिद्धान्त

ब्रह्म, सगुण, निर्गुण तथा निराकार, साकार। परमात्मा, परमेश, विभु, विश्व, विश्व-आधार॥
प्रणव, यज्ञ, यज्ञेश, सब प्रकृति, पुरुष, पर, वेद। भेदरहित, नित भेदमय, संयुत भेदाभेद॥
सर्वरूप, शुचि, सर्वमय, शाश्वत, सर्वातीत। शुद्ध सत्त्व; पुनि त्रिगुणमय, यद्यपि त्रिगुणातीत॥
नारायण, नरसिंह, श्रीकृष्ण, राम, गोपाल। सूर्य, शक्ति, गणनाथ, शिव, रुद्र, स्वयम्भू, काल॥
नाम-रूप-लीला विविध तत्त्व एक वेदान्त। वाणी-मन-मतिसे परे औपनिषद सिद्धान्त॥

वेदों और उपनिषदोंमें मांस-भक्षण और अश्लीलता नहीं है

(लेखक—पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम')

वेद अपौरुषेय हैं—परमात्माके निःश्वासरूप हैं। वे ज्ञानके अक्षय एवं अगाध भण्डार हैं। वेदवेद्य परमात्मा और वेद दोनों ही 'ब्रह्म' नामसे प्रतिपादित होते हैं। वेद ज्ञानमय हैं और ज्ञान ही ब्रह्मका स्वरूप है। अतः वेद ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं। ब्रह्मके लिये विज्ञान, आनन्द, सत्य एवं अनन्त आदि विशेषण प्रयुक्त होते हैं; ये सभी वेदमें भी गतार्थ हो जाते हैं। यद्यपि ब्रह्म निर्विशेष है—अनिर्वचनीय है, तथापि जब हम वाणीद्वारा उसके स्वरूपके सम्बन्धमें कुछ कहनेको प्रस्तुत होते हैं, तब हम उसे सविशेष कर ही देते हैं। यह ब्रह्मकी न्यूनता नहीं, हमारी अपनी असमर्थता है। जैसे ब्रह्म अनवद्य और अनामय है, वैसे ही वेद भी हैं; अतः वेदमें कोई ऐसी बात नहीं हो सकती जो मनुष्यके लिये परम कल्याणमयी न हो। जब ब्रह्म ही शान्त और शिवरूप है तब उसीका ज्ञान वेद अशिवरूप कैसे हो सकता है? वेदका शिरोभाग है उपनिषद्, जो केवल ज्ञानप्रधान होनेसे 'ज्ञानकाण्ड' कहलाती है। वेदोंका अन्त अथवा वेदोंका चरम सिद्धान्तरूप होनेसे उपनिषद्को वेदान्त-शास्त्र भी कहते हैं। जीवमात्रके अकारण सुहृद् परमात्माने अपने स्वरूपभूत वैदिक ज्ञानका आलोक इसीलिये प्रकाशित किया कि सब लोग इस तमोमय जगत्से निकलकर प्रकाशमय परमात्मपदकी ओर बढ़ें। असत्से सत्की ओर और मृत्युसे अमृतपदकी ओर प्रगति कर सकें।

इतनेपर भी कुछ लोगोंने वेदोंपर लाञ्छन लगानेकी चेष्टाएँ की हैं, उनपर दोषारोपणका दुःसाहस किया है। उनकी समझमें वेदोंसे मांस-भक्षणकी प्रवृत्तिको प्रोत्साहन मिलता है और वेदोंमें उन्हें अश्लीलता भी दिखायी देती है। यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि प्रकाशमें तम नहीं रह सकता। फिर भी, जब हम प्रकाशमें खड़े होते हैं तो हमें वहाँ अपनी ही छाया दीख पड़ती है। निर्मल जल या स्वच्छ दर्पणमें निकटसे देखनेपर हमें अपने ही प्रतिबिम्बका दर्शन होता है। यदि हम उस काली छायाको भी प्रकाशका अङ्ग तथा प्रतिबिम्बको भी जल और दर्पणका अवयवविशेष मान लें तो इससे हमारे ही अज्ञानका परिचय मिलेगा; इससे उन प्रकाशादि वस्तुओंकी निर्मलतामें दोष नहीं आ सकता। यही दशा उपर्युक्त आरोपोंकी भी है। वेदोंमें न मांसकी विधि है, न अश्लीलताका नग्न चित्रण ही। यह सब हमें अपने परिवर्तित दृष्टिकोणके कारण दृष्टिगोचर होता है। जैसे सब प्रकारकी आसक्तियोंके त्यागपूर्वक भगवान्के अनन्यशरण होनेसे ही श्रद्धालु भक्तको उनके यथार्थ तत्त्वका बोध या साक्षात् उनके स्वरूपकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार मत-मतान्तरोंके आग्रहसे रहित हो भक्तिभावसे वेद भगवान्की शरणमें जानेसे ही वेदके यथार्थ तत्त्वकी उपलब्धि हो सकती है। **'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'**—'वेद अथवा भगवान् स्वयं ही दया करके जिसे अपना लें, उसीको वे प्राप्त होते हैं।' अतः केवल मेधावी पण्डित होनेसे या बहुतसे शास्त्रोंका अध्ययन कर लेनेमात्रसे अहङ्कारवश कोई वेदके यथार्थ तत्त्वको पूर्णतया नहीं जान सकता—**'न मेधया न बहुना श्रुतेन।'**

मनुष्योंमें अनेक प्रकृतिके लोग होते हैं; गीतामें उनको दो भागोंमें विभक्त किया गया है—एक दैवी प्रकृति और दूसरी आसुरी प्रकृति—

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।

भयका अभाव, अन्तःकरणकी स्वच्छता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर स्थिति, दान, इन्द्रियसंयम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोधका अभाव, त्याग, शान्ति, चुगली न खाना, समस्त प्राणियोंपर दया, अलोलुपता, मृदुता, लज्जा, अचञ्चलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, कहीं भी वैरभाव न होना तथा अभिमानका अभाव—ये सब दैवी प्रकृतिके लोगोंमें विकसित होनेवाले सद्गुण हैं।

आसुरी प्रकृतिके लोग इनसे सर्वथा विपरीत होते हैं। कौन-सा काम करना चाहिये और कौन-सा नहीं—हम किसमें लगें और किस कार्यसे अलग रहें—इन सब बातोंको वे बिल्कुल नहीं समझते। शौच, सदाचार और सत्य तो उनमें रहता ही नहीं। वे जगत्को बिना ईश्वरके ही उत्पन्न हुआ मानते हैं। इसके मूलमें कोई सत्य है, इसका कोई नित्य चेतन आधार है—इन सब बातोंको वे नहीं स्वीकार करते। उनकी समझमें केवल काम ही इस जगत्का हेतु है और यह स्त्री-पुरुषोंके संयोगसे ही सतत उत्पन्न होता है। इस मिथ्या ज्ञानका आश्रय लेनेसे उनका सत्स्वरूप आत्मा तिरोहित-सा हो जाता है; वे अल्पबुद्धि होनेके कारण सबका अहित करनेवाले

क्रूरकर्मी बन जाते हैं और जगत्‌के विनाशमें ही कारण बनते हैं। वे अपने मनमें ऐसी-ऐसी कामनाएँ पालते हैं, जो कभी पूर्ण न हो सकें। वे दम्भ, मान और मदसे उन्मत्त होते हैं और मोहवश मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहण करके भ्रष्टाचारसे संयुक्त हो स्वेच्छाचारपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। मरण-पर्यन्त अनन्त चिन्ताओंमें डूबे रहते हैं। सदा कामोपभोगमें संलग्न होकर—इतना ही सुख है—ऐसा मानते रहते हैं। सैकड़ों आशाके बन्धनोंमें बँधकर, काम-क्रोधपरायण हो, काम-भोगके लिये ही वे अन्यायपूर्वक धनसंचय करना चाहते हैं। आज यह पा लिया, कलको अमुक मनोरथ सिद्ध करूँगा, इतना धन तो मेरे पास है ही, फिर यह भी मेरा ही हो जायगा। अमुक शत्रुको तो मार डाला और दूसरे जो बचे हैं, उनका भी सफाया करके छोड़ूँगा। मेरी शक्ति किसीसे कम नहीं है—मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, मैं सिद्ध, बलवान् और सुखी हूँ। धनी और जनताका नेता हूँ; संसारमें दूसरा कौन है जो मेरी बराबरी कर सके। मैं इच्छानुसार यज्ञ, दान और आनन्दोपभोग करूँगा। ये ही सब उनके मुखसे निकले हुए उद्‌गार हैं। वे अपने ही बड़प्पनकी डींग मारनेवाले, घमंडी तथा धन और मानके मदसे उन्मत्त होते हैं; और पाखण्डपूर्ण नाममात्रके यज्ञों-द्वारा अविधिपूर्वक यजन करते हैं। अहङ्कार, बल, दर्प, काम और क्रोधका आश्रय ले अपने और दूसरेके शरीरमें स्थित अन्तर्यामी परमेश्वरसे द्वेष करते और उनकी नित्य निन्दा करते हैं। तथा इसीलिये वे अन्ततोगत्वा बार-बार आसुरी योनि और नरकमें पड़ते हैं। (गीता अध्याय १६)

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि प्रायः ऐसे आसुरी प्रकृतिके लोग ही मांस और अश्लील सेवनकी रुचि रखते हैं और अधिकांशमें ऐसे ही लोगोंने अर्थका अनर्थ करके सर्वत्र मद्य, मांस और मैथुनकी प्रवृत्तियोंको प्रसारित करने-की चेष्टाएँ की हैं।* कहा जाता है, वेदोंमें यज्ञके लिये पशुहिंसाकी विधि है। अतः वेदोंका मान रखनेके लिये कुछ लोग **'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति।'** वेदविहित हिंसाका नाम हिंसा ही नहीं है, ऐसा कहा करते हैं। परंतु हिंसा हिंसा ही है, फिर वह चाहे कैसी ही हो। वेदोंकी तो **यह** स्पष्ट आज्ञा है—**'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि।'** (किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे।) फिर वैदिकी हिंसा क्या वस्तु है। जगत्‌के प्राणियोंको कष्ट देनेवाले दस्युओं, आततायियों तथा पापियोंके लिये जो प्राणदण्डका आदेश मिलता है; वह हिंसा नहीं, दण्ड है। दण्ड अपराधीको ही दिया जाता है, निरपराधको नहीं। 'दस्युता', 'आततायीपन' अपराध है; अतः इनके लिये दण्डका औचित्य है; किंतु उन भेड़-बकरे आदि पशुओंका क्या अपराध है, जिनको दण्ड दिया जाय। वह भी यज्ञके नामपर। यज्ञ परमेश्वरकी आराधना है। परमेश्वर विश्वके पालक और शिवरूप हैं। अतः विश्वके संरक्षण और कल्याणमें योग देना ही परमेश्वरकी यथार्थ पूजा अथवा यज्ञ है। किसी निरपराध पशुके रक्त-मांससे परमेश्वरको तृप्त करनेकी कल्पना कितनी बीभत्स है! यह तो—

मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।

—के अनुसार स्पष्टतः ईश्वरद्रोह है। यह ईश्वरद्रोह ही जिनकी प्रकृति है, उन असुरोंने ही समय-समयपर वेदोंके अर्थोंको बदलनेकी चेष्टा की है। बृहदारण्यकोपनिषद्‌में प्रथम अध्यायके तृतीय ब्राह्मणमें कथा आती है कि प्रजापतिके ज्येष्ठ पुत्रों—देवताओंने 'वाक्' आदि प्राणोंसे कहा, 'तुम हमारे लिये उद्‌गान करो।' उन्होंने वैसा ही किया। तब असुरोंने समझा कि इस प्रकार तो ये देवता हमें पराजित ही कर देंगे, अतः उन्होंने उन वाक् आदिको पापसे विद्ध कर दिया—**'पाप्मना-विध्यन्।'** इससे उनमें असत्य-भाषण आदिका दोष आ गया। जो असुर हमारी इन्द्रियोंपर भी अपने संस्कार डाल सकते हैं; उन्होंने ग्रन्थोंमें कुछ मिलानेकी चेष्टा की हो तो क्या आश्चर्य। इसीलिये कहा जाता है कि मांस खानेकी प्रवृत्ति मनुष्यमें स्वाभाविक नहीं; यह तो निशाचरोंके प्रयत्नसे हुई है—

मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम्।

महाभारत अनुशासनपर्वमें कहा गया है कि प्राचीन कालमें मनुष्योंके यज्ञ-यागादि केवल अन्नसे ही हुआ करते थे। मद्य-मांस आदिकी प्रथा तो पीछेसे धूर्त असुरोंने चला

* यह सत्य है कि इधरके कुछ परम आदरणीय आचार्यों और महानुभावोंने भी किन्हीं-किन्हीं शब्दोंका मांसपरक अर्थ किया है। इसका प्रधान कारण यह है कि उनमेंसे अधिकांश परमार्थवादी महापुरुष थे। गूढ़ आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विषयोंपर विशेष दृष्टि रखकर उनका विशद अर्थ करनेपर उनका जितना ध्यान था, उतना लौकिक विषयोंपर नहीं था। इसीसे उन्होंने ऐसे विषयोंका वही अर्थ लिख दिया जो देशकी परिस्थितिविशेषके कारण उस समय अधिकांशमें प्रचलित था।

दी। वेदमें इन वस्तुओंका विधान नहीं है।* असुर शब्दका अर्थ है—प्राणका पोषण करनेवाला। जो अपने सुखके लिये दूसरे प्राणियोंकी हिंसा करते हैं, वे सभी असुर हैं। आसुरी प्रकृतिके मनुष्य पढ़-लिखकर विद्वान् हो जानेपर भी देहासक्ति और देहाभिमान नहीं छोड़ पाते। वे शास्त्र इसीलिये पढ़ते हैं कि शास्त्रका मनमाना अर्थ करके अपने मतकी पुष्टि कर सकें। अतः शास्त्रसे वे यथार्थ ज्ञानको नहीं ग्रहण कर पाते। केवल शब्दोंकी व्युत्पत्ति करके खींचतानसे चाहे जो अर्थ निकाल लेना अपनेको और दूसरोंको भी धोखा देना है। वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं। महर्षियों तथा मेधावी महात्माओंने वेदार्थको समझनेके लिये भी कुछ पद्धतियाँ निश्चित की हैं; उन्हींके अनुसार चलकर हमें श्रद्धापूर्वक वेदार्थको समझनेका यत्न करना चाहिये। भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये कि वे अन्तःकरणमें स्थित होकर कृपापूर्वक वेदोंके सत्य अर्थको प्रकट कर दें। भगवान्‌का आश्रय लेकर यदि वेदार्थका विचार किया जाय तो भगवत्कृपासे निश्चय ही सत्य अर्थका साक्षात्कार हो सकता है।

ऋग्वेदमें लिखा है—**'यज्ञेन वाचं पदवीयमानम्'** अर्थात् समस्त वेदवाणी यज्ञके द्वारा ही स्थान पाती है। अतः वेदका जो भी अर्थ किया जाय, वह यज्ञमें कहीं-न-कहीं अवश्य उपयुक्त होता हो—यह ध्यान रखना आवश्यक है। वेदार्थके औचित्यकी दूसरी कसौटी यह है—

बुद्धिपूर्वा वाक्प्रकृतिर्वेदे । (वैशेषिकदर्शन)

अर्थात् वेदवाणीकी प्रकृति बुद्धिपूर्वक है। अतः वेदमन्त्रका अपना किया हुआ अर्थ बुद्धिके विपरीत न हो—बुद्धिमें बैठने योग्य हो, इस बातपर भी ध्यान रखनेकी आवश्यकता है। साथ ही यह भी देखना उचित है कि हमने जो अर्थ किया है, वह तर्कसे सिद्ध तो होता है न? हमारा अर्थ तर्कसे असङ्गत तो नहीं ठहरता? निरुक्तकार कहते हैं—ऋषियोंके उत्क्रमण करनेपर मनुष्योंने देवताओंसे पूछा—'अब हमारा ऋषि कौन होगा? कौन हमें वेदका अर्थ निश्चित करके बतावेगा? तब देवताओंने उन्हें तर्क नामक ऋषि प्रदान किया।'* अतः तर्कसे गवेषणापूर्वक निश्चित किया हुआ अर्थ ऋषियोंके अनुकूल ही होगा। स्मृतिकार भी कहते हैं—

यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नापरः ।

'जो तर्कसे वेदार्थका अनुसन्धान करता है, वही धर्मको जानता है, दूसरा नहीं।' अतः समुचित तर्कसे समीक्षा करना वेदार्थके परीक्षणका तीसरा मार्ग है। चौथी रीति यह है कि इस बातपर दृष्टि रक्खी जाय कि हमारा किया हुआ अर्थ शब्दके मूलधातुके विपरीत तो नहीं है; क्योंकि निरुक्तकारने धातुज अर्थको ही ग्रहण किया है। पतञ्जलिने भी अपने महाभाष्यमें इसकी चर्चा की है—**'नाम च धातुजमाह निरुक्ते।'** इन चारों हेतुओंको सामने रखकर यदि वेदार्थपर विचार किया जाय तो भ्रमकी सम्भावना नहीं रहेगी।

प्रकृति स्वभावतः निम्नगामिनी होती है; अतः प्रकृतिके वशमें रहनेवाले मनुष्यकी प्रवृत्ति स्वभावतः विषयभोगकी ओर होती है। शास्त्र ईश्वरीय ज्ञान हैं; वे मनुष्यकी उच्छृङ्खल प्रवृत्तिको रोकने और उसे धर्म एवं सदाचारमें प्रतिष्ठित करनेके लिये ही अवतीर्ण हुए हैं। वेद तो साक्षात् भगवान्‌की वाणी हैं; अतः उनमें कोई ऐसी बात हो ही नहीं सकती, जो मनुष्यको अनर्गल विषयभोग एवं हिंसाकी ओर जानेके लिये प्रोत्साहन देती हो। वह तो असत्‌से सत्‌की ओर जानेकी ही प्रेरणा देती है। अतः तर्क और बुद्धिसे यही ठीक जान पड़ता है कि वेद हिंसात्मक या अनाचारात्मक कार्योंके लिये आदेश नहीं दे सकते। यदि कहीं कोई ऐसी बात मिलती है तो वह अर्थ करनेवालोंकी ही भूल है। प्रायः यज्ञमें पशु-वधकी बात बतायी जाती है। परंतु यज्ञके ही जो प्राचीन नाम मिलते हैं, उनसे यह सिद्ध हो जाता है कि यज्ञ सर्वथा अहिंसात्मक होते आये हैं। 'ध्वर' शब्दका अर्थ है हिंसा। जहाँ ध्वर अर्थात् हिंसा न हो, उसीका नाम 'अध्वर' है। यह 'अध्वर' शब्द यज्ञका ही पर्याय है। अतः हिंसात्मक कृत्य कभी यज्ञ नहीं माना जा सकता। 'यज' धातुसे 'यज्ञ' बनता है। इसका अर्थ है—देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान। इनमेंसे किसीके द्वारा भी हिंसाका समर्थन नहीं प्राप्त होता। गोयज्ञमें गायोंकी पूजा ही होती है, जहाँ असुर सदासे गाय आदि पशुओंको मारकर अपनी रक्त-पिपासा शान्त करते आये हैं, वहीं देवयज्ञमें गौओंको 'अघ्न्या' (न मारने योग्य) बताकर पूज्य ठहराया गया है। आज भी देवताओंके वंशज गोपूजक हैं।

---

* श्रूयते हि पुरा कल्पे नृणां व्रीहिमयः पशुः।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः॥
(महा० अनु० ११५। ५६)
सुरां मत्स्यान् मधु मांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्॥
(महा० शान्ति० २६५। ९)

* मनुष्या वा ऋषिपूल्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भवतीति।
तेभ्य एतं तर्कऋषिं प्रायच्छन्.....(निरुक्त २। १२)

वैदिक यज्ञोंमें तो मांसका इतना विरोध है कि मांस जलानेवाली आगको सर्वथा त्याज्य निश्चित कर दिया गया है। प्रायः चिताग्नि ही मांस जलानेवाली होती है। जहाँ अपनी मृत्युसे मरे हुए मनुष्योंके अन्त्येष्टि-संस्कारमें उपयोग की हुई आगका भी बहिष्कार है, वहाँ पावन वेदीपर प्रतिष्ठापित विशुद्ध अग्निमें अपने मारे हुए पशुके होमका विधान कैसे हो सकता है ? आज भी जब वेदीपर अग्निकी स्थापना होती है, तो उसमेंसे थोड़ी-सी आग निकालकर बाहर कर दी जाती है। इसलिये कि कहीं उसमें क्रव्याद (मांस-भक्षी या मांस जलानेवाली आग) के परमाणु न मिल गये हों। अतएव **'क्रव्यादांशं त्यक्त्वा'** (क्रव्यादका अंश निकालकर ही) होमकी विधि है। ऋग्वेदका वचन है—

क्रव्यादमग्निं प्रहिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः।
इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥

(ऋ० ७। ६। २१। ९)

'मैं मांस खाने या जलानेवाली आगको दूर हटाता हूँ, यह पापका भार ढोनेवाली है; अतः यमराजके घरमें जाय। इससे भिन्न जो ये दूसरे पवित्र और सर्वज्ञ अग्निदेव हैं, इनको ही यहाँ स्थापित करता हूँ। ये इस हविष्यको देवताओंके समीप पहुँचायें; क्योंकि ये सब देवताओंको जाननेवाले हैं।'

यजुर्वेदके अनेक मन्त्रोंमें भगवान्‌से प्रार्थना की गयी है कि वे हमारे पुत्रों, पशुओं—गाय और घोड़ोंको हिंसाजनित मृत्युसे बचावें—

'मा नस्तनये मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।'

कुछ मन्त्रोंके वाक्यांश इस प्रकार हैं—

पशून् पाहि, गां मा हिंसीः, अजां मा हिंसीः, अविं मा हिंसीः। इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम्, मा हिंसीरेकशफं पशुम्, मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि।

'पशुओंकी रक्षा करो।' 'गायको न मारो।' 'बकरीको न मारो।' 'भेड़को न मारो।' 'इन दो पैरवाले प्राणियोंको न मारो।' 'एक खुरवाले घोड़े-गधे आदि पशुओंको न मारो।' 'किसी भी प्राणीकी हिंसा न करो।'

ऋग्वेदमें तो यहाँतक कहा गया है कि जो राक्षस मनुष्य, घोड़े और गायका मांस खाता हो तथा गायके दूधको चुरा लेता हो, उसका मस्तक काट डालो—

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः।
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च॥

(८। ४। ८। १६)

अब प्रश्न होता है कि वेदमें यदि मांसका वाचक या पशुहिंसाका बोधक कोई शब्द ही प्रयुक्त न हुआ होता तो कोई भी कैसे उस तरहका अर्थ निकाल सकता था ? इसके उत्तरमें हम महाभारतसे एक प्रसङ्ग उद्धृत कर देना चाहते हैं। एक बार ऋषियों तथा दूसरे लोगोंमें 'अज' शब्दके अर्थपर विवाद हुआ। एक पक्ष कहता था **'अजेन यष्टव्यम्'** का अर्थ है "अन्नसे यज्ञ करना चाहिये। अजका अर्थ है—उत्पत्तिरहित; अन्नका बीज ही अनादि-परम्परासे चला आ रहा है; अतः वही 'अज' का मुख्य अर्थ है; इसकी उत्पत्तिका समय किसीको ज्ञात नहीं है; अतः वही अज है।" दूसरा पक्ष अजका अर्थ बकरा करता था। पहला पक्ष ऋषियोंका था। दोनों राजा वसुके पास निर्णय करानेके लिये गये। वसु अनेक यज्ञ कर चुका था। उसके किसी भी यज्ञमें मांसका उपयोग नहीं हुआ था। वह सदा अन्नमय यज्ञ ही करता था, परंतु म्लेच्छोंके संसर्गसे पीछे चलकर वह ऋषियोंका द्वेषी बन गया था। ऋषि उसकी बदली हुई मनोवृत्तिसे परिचित न थे। वे विश्वास करके गये। राजा सहसा निर्णय न दे सका। उसने पूछा 'किसका क्या पक्ष है ?' जब उसे मालूम हुआ कि ऋषिलोग 'अज'का अर्थ अन्न करते हैं, तो उसने उनके विरोधी पक्षका ही समर्थन करते हुए कहा **'छागेनाजेन यष्टव्यम्।'** असुर तो यह चाहते ही थे। वे उसके प्रचारक बन गये; परंतु ऋषियोंने उस मतको ग्रहण नहीं किया; क्योंकि वह पूर्वोक्त चारों हेतुओंसे असङ्गत ठहरता है।

संस्कृत-वाङ्मयमें अनेकार्थक शब्द बहुत हैं। **'शब्दाः कामधेनवः'** यह प्रसिद्ध है। उनसे अनन्त अर्थोंका दोहन होता है। परंतु कौन-सा अर्थ कहाँ लेना ठीक है; इसका निश्चय विवेकशील विद्वान् ही कर सकते हैं। कोई यात्रापर जा रहा हो और सवारीके लिये 'सैन्धव' लानेका आदेश दे तो, उस समय नमक लानेवाला मनुष्य मूर्ख समझा जाता है, वहाँ सिन्धुदेशीय अश्व ही लाना उचित होगा। इसी प्रकार भोजनमें सैन्धव डालनेका आदेश देनेपर नमक ही डाला जायगा, अश्व नहीं। इसी प्रकार वेदके यज्ञ-प्रकरणमें आये हुए शब्दका वहाँके सात्त्विक वातावरणके अनुरूप ही अर्थ ठीक हो सकता है। जहाँ दवा बनानेके लिये **'प्रस्थं कुमारिकामांसम्'** की आज्ञा है; वहाँ सेरभर घीकुआँरका गूदा ही डाला जायगा। कुमारी-कन्याका एक सेर मांस डालनेकी बात तो कोई पिशाच ही सोच सकता है।

यज्ञमें पशु बाँधनेकी बात आती है। प्रश्न होता है, वह

पशु क्या है ? इसका उत्तर शतपथ-ब्राह्मणके एक प्रश्नोत्तरसे स्पष्ट हो जाता है—**'कतमः प्रजापतिः ?'** प्रजापति अर्थात् प्रजाका पालन करनेवाला कौन है ? उत्तर मिलता है—**'पशुरिति'**—पशु ही प्रजापालक है । तात्पर्य यह कि जो पदार्थ या शक्तियाँ प्रजाका पोषण करनेवाली हैं; उन्हें पशु कहा गया है । इसीलिये भिन्न-भिन्न प्रकारके पशुओंकी यज्ञमें चर्चा की गयी है । **'नृणां व्रीहिमयः पशुः'**—मनुष्योंके यज्ञमें अन्नमय पशुका उपयोग होता आया है । **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'** देवताओंने यज्ञसे ही यज्ञ किया था; उनका यज्ञमय पशु था । निरुक्तमें इस मन्त्रका अर्थ करते हुए यास्काचार्यने लिखा है—**'अग्निः पशुरासीत्तं देवा अलभन्त'** 'अग्नि ही पशु था, उसीको देवता प्राप्त हुए ।' इतना ही नहीं, अग्नि, वायु और सूर्यको भी 'पशु' नाम दिया गया है—

अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त । वायुः पशुरासीत्तेनायजन्त । सूर्यः पशुरासीत्तेनायजन्त ।

'अबध्नन् पुरुषं पशुम्' इस मन्त्रमें पुरुषको ही पशु कहा गया है। वहाँ सात परिधि और इक्कीस समिधाओंकी भी चर्चा है—

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिःसप्त समिधः कृताः ।

इसके दो अर्थ किये जाते हैं—शरीरगत सात धातु ही सात परिधि हैं और पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, दस प्राण और एक मन—ये ही इक्कीस समिधाएँ हैं; इनको लेकर 'आत्मा' रूपी पुरुषसे देवताओंने 'शरीर-यज्ञ' किया । इन सबके सहयोगसे ही मानव-शरीरकी सम्यक् सृष्टि हुई । दूसरा अर्थ सङ्गीत-यज्ञपरक होता है । उसमें सात स्वर ही सात परिधि और इक्कीस मूर्छनाएँ ही समिधाएँ हैं । नाद ही वहाँ पशु है । इनसे 'सङ्गीत-यज्ञ' सम्पन्न होता है ।

इसी प्रकार यदि विवेकको साथ रखते हुए वेदार्थपर विचार किया जायगा तो वेद भगवान् ही ऐसी सामग्री प्रस्तुत कर देंगे, जिससे सत्य अर्थका भान हो जाय । जहाँ द्व्यर्थक शब्दोंके कारण भ्रम होनेकी सम्भावना हो सकती है, वहाँ बहुतेरे स्थलोंपर स्वयं वेदने ही अर्थका स्पष्टीकरण कर दिया है—

'धाता धेनुरभवद्, वत्सोऽस्यास्तिलः ।'

(अथर्ववेद १८ । ४ । ३२)

अर्थात् धान ही धेनु है और तिल ही उसका बछड़ा हुआ है । अथर्ववेदके ११ । ३ । ५ तथा ११ । ३ । ७ मन्त्रमें कहा है—चावलके कण ही अश्व हैं । चावल ही गौ हैं । भूसी ही मशक है । चावलोंका जो श्यामभाग है, वह मांस है और लालभाग ही रुधिर है* । यहाँ दिग्दर्शनमात्र कराया गया है ।

इन सब प्रमाणोंसे सिद्ध है कि हवन-प्रकरणमें जहाँ कहीं भी अश्व, गौ, अजा, मांस, अस्थि और मज्जा आदि शब्द आते हैं, उनसे अन्नका ही ग्रहण होता है; पशुओं और उनके अवयवोंका नहीं । 'शतपथ ब्राह्मण' आदिमें भी ऐसे स्थलोंका स्पष्टीकरण किया गया है—केवल पीसा हुआ सूखा आटा 'लोम' है । पानी मिलानेपर वह 'चर्म' कहलाता है । गूँधनेपर उसकी 'मांस' संज्ञा होती है । तपानेपर उसीको 'अस्थि' कहते हैं । घी डालनेपर उसीका 'मज्जा' नाम होता है । इस प्रकार पककर जो पदार्थ बनता है, उसका नाम 'पाक्तपशु' होता है।† अथर्ववेदके अनुसार व्रीहि और यव क्रमशः प्राण और अपान हैं‡ । 'अनड्वान्' भी प्राणका नाम है । अतः अनड्वान् शब्दसे भी जौको ग्रहण किया जा सकता है । मीमांसासूत्रमें तो पशु-हिंसा और मांस-पाकका स्पष्टतः निषेध मिलता है—

मांसपाकप्रतिषेधश्च तद्वत् । (१२ । २ । २)

'यज्ञमें जैसे पशुहिंसाका निषेध है, उसी प्रकार मांस-पाकका भी निषेध है ।' **'धेनुवच्च अश्वदक्षिणा'** (मीमांसा० १० । ३ । ६५) 'गौकी भाँति घोड़ा भी यज्ञमें दक्षिणाके लिये ही उपयोगमें लाया जाता है ।'

अपि वा दानमात्रं स्याद् भक्षशब्दानभिसम्बन्धनात् ।

(मीमांसा० १० । ७ । १५)

'अथवा वह केवल दानमात्रके लिये ही है; क्योंकि गौकी

---

* अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः ।
श्याममयोऽस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम् ॥

† 'यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति । यदाप आनयत्यथ त्वग् भवति । यदा स यौत्यथ मांसं भवति । संतत इव हि तर्हि भवति संततमिव हि मांसम् । यदा शृतोऽथास्थि भवति । दारुण इव तर्हि भवति । दारुणमित्यस्थि । अथ यदुद्गासयन्नभिधारयति तं मज्जानं ददाति । एषा सा संपद् यदाहुः पाक्तः पशुरिति ।' ऐतरेय ब्राह्मणमें भी इसी तरहका स्पष्टीकरण देखा जाता है—'स वा एष पशुरेवालभ्यते यत्पुरोडाशस्तस्य । यानि किंशारूपाणि तानि रोमाणि । ये तुषाः सा त्वक् । ये फलीकरणास्तद् असृग् यत्पिष्टं तन्मांसम् । एष पशूनां मेधेन यजते ।' इस मन्त्रमें पुरोडाशके अन्तर्गत जो अन्नके दाने हैं, उन्हें अन्नमय पशुका रोंम, भूसीको त्वचा, टुकड़ोंको सींग और आटेको मांस नाम दिया गया है ।

‡ प्राणापानौ व्रीहियवौ अनड्वान् प्राण उच्यते ।

(अथर्ववेद ११ । ४ । १३)

ही भाँति अश्वके लिये भी कहीं 'भक्षण' शब्द नहीं आया है।' (तात्पर्य यह कि मनुष्यके भोजनमें केवल अन्नका ही उपयोग होता है, गौ और अश्व आदिका नहीं।) आश्वलायन-सूत्रमें स्पष्ट कहा गया है कि हवन-सामग्री मांससे वर्जित होती है—**'होमियं च मांसवर्जम्।'** कात्यायनका भी यही मत है—**'आहवनीये मांसप्रतिषेधः।'**

उपर्युक्त प्रमाणोंसे सिद्ध है कि यज्ञमें मांसका उपयोग कभी शिष्टपुरुषोंद्वारा स्वीकृत नहीं हुआ। कुछ लोग बलि, आलम्भ, मधुपर्क और गोघ्न आदि शब्दोंसे पशु-हिंसाका अर्थ निकालते हैं; परंतु प्राचीन साहित्य या मध्यकालीन साहित्यमें भी इन शब्दोंका कभी हिंसापरक अर्थ नहीं स्वीकृत किया गया है। बलिवैश्वदेवमें जो बलि दी जाती है; वहाँ किसीकी हिंसा नहीं की जाती, अपितु सम्पूर्ण विश्वके प्राणियोंको तृप्त करनेकी भावनासे उन्हें अन्न और जल अर्पण किया जाता है। बलिका अर्थ किरण और कर (टैक्स या लगान) भी होता है। जीव-हिंसाके अर्थमें 'बलि' शब्दका प्रयोग तो पीछे हुआ है और वह भी मांसभक्षी लोगोंके अपने व्यवहारसे। बलिका अर्थ त्याग ही शिष्टसम्मत है। इसी प्रकार 'आलभन' शब्द भी स्पर्श और प्राप्ति-अर्थमें आता है। मीमांसासूत्र (२। ३। १७) की सुबोधिनी टीकामें लिखा है **'आलम्भः स्पर्शो भवति'** अर्थात् स्पर्शका नाम आलम्भ है। यज्ञोपवीत और विवाह-संस्कारमें **'हृदयमालभते'** का प्रयोग आता है। वहाँ गुरु शिष्यके और वर वधूके हृदयका स्पर्शमात्र ही करता है—छातीमें छुरा नहीं भोंकता। 'स्पर्श'शब्द दानके अर्थमें भी आता है। महाकवि कालिदासने **'गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोघ्नीः'** इस पद्यमें 'स्पर्शयता'का प्रयोग 'ददता'के अर्थमें ही किया है। महाभारत अनुशासनपर्वमें स्पर्श-यज्ञकी चर्चा देखी जाती है। पहले जब अवर्षण होता था तो लोग पशु-स्पर्श-यज्ञ करते थे *। यही 'पशुका आलम्भन' या 'स्पर्श' कहलाता था। आजकल भी लोग अन्न और पशु आदि छूकर ब्राह्मणोंको देते हैं। यह उसी आलम्भन या स्पर्शयज्ञका एक रूप है। पशुका ही आलम्भन (छूकर छोड़ देना या दान देना) अधिक प्रचलित था; अतः जहाँ अन्नका स्पर्श, दान या हवन होता है; उस यज्ञमें अन्न ही पशु है, यह रूपक दिया गया है। इसीलिये महाभारत अनुशासनपर्वमें कहा गया है—

'श्रूयते हि पुरा कल्पे नृणां व्रीहिमयः पशुः।'

इसी प्रकार मधुपर्क भी सर्वथा हिंसारहित और निर्दोष है। तीन भाग दही, एक भाग शहद और एक भाग घीको काँसेके पात्रमें रखनेपर उसकी 'मधुपर्क' संज्ञा होती है। 'मधुपर्क' नाम ही मधुर पदार्थोंका सम्पर्क सूचित करता है। अब रही **'गोघ्नोऽतिथिः'** की बात। इसका अर्थ लोग भ्रमवश ऐसा मानने लगे हैं कि अतिथिके लिये गाय मारी जाती थी; परंतु बात ऐसी नहीं है। हन् धातुका प्रयोग हिंसा और गति अर्थमें होता है। गतिके भी ज्ञान, गमन और प्राप्ति आदि अनेक अर्थ हैं। इनमेंसे प्राप्ति अर्थको लेकर ही यहाँ 'गोघ्न'का प्रयोग होता है। वह अतिथि जिसे गौकी प्राप्ति हो—जिसे गाय दी जाय वह 'गोघ्न' कहलाता है। व्याकरणके आदि आचार्य महर्षि पाणिनिने अपने एक सूत्रद्वारा इसी अभिप्रायकी पुष्टि की है। वह सूत्र है—**'दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने'** (३।४।७३) इसके द्वारा सम्प्रदान अर्थमें 'दाश' और 'गोघ्न' शब्द सिद्ध होते हैं। यदि यहाँ चतुर्थीमात्र ही अभीष्ट होता—अर्थात् अतिथिके उद्देश्यसे गायको मारना ही सूचित करना होता तो **'सम्प्रदाने'** न कहकर **'तस्मै'** इस विभक्तिप्रतिरूपक अव्ययका ही प्रयोग कर देते; परंतु ऐसा न करके **'सम्प्रदाने'** लिखा है; इससे यहाँ दानार्थकी अभिव्यक्ति सूचित होती है। अतः जिसे गाय दी जाय, उस अतिथिको ही 'गोघ्न' कह सकते हैं। पूर्वकालमें अतिथिको गौ देनेकी साधारण परिपाटी थी। आज भी प्राचीन प्रथाके अनुसार विवाहमें घरपर पधारे हुए वरको आतिथ्यके लिये गोदान किया जाता है। आयुर्वेदमें जो मांसप्रधान ओषधियाँ हैं, उन्हें भी द्विजोंने कभी नहीं स्वीकृत किया था; अतएव चरकने लिखा है—द्विजोंकी पुष्टिके लिये तो मिश्रीयुक्त घी और दूध ही औषध है*। मांस तो **'यक्षरक्षःपिशाचान्नम्'**—(यक्ष, राक्षस और पिशाचोंका भोजन है)। यज्ञके नामपर की जानेवाली हिंसाको लक्ष्य करके विष्णुशर्माने पञ्चतन्त्रमें लिखा है कि 'यदि यही स्वर्गका मार्ग है तो नरकमें कौन जायगा?† अतः यही मानना

* यदि द्वादशवर्षाणि न वर्षिष्यति वासवः।
स्पर्शयज्ञं करिष्यामि विधिरेष सनातनः॥

* द्विजानामोषधीसिद्धं घृतं मांसविवृद्धये।
सितायुक्तं प्रदातव्यं गव्येन पयसा भृशम्॥
(चरक चि० ८। १४९)

† वृक्षांश्छित्त्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्।
यद्येवं गम्यते स्वर्गं नरके केन गम्यते॥

चाहिये कि वेदों और उपनिषदोंमें यज्ञ अथवा भोजनके प्रसंग-में जहाँ कहीं भी 'पशु'वाचक शब्द आये हैं, उन सबका अर्थ अन्न अथवा औषध है।

उदाहरणके लिये बृहदारण्यक उपनिषद्के (६।४।१८ वें) मन्त्रपर दृष्टिपात कीजिये। वहाँ सुयोग्य और विद्वान् पुत्र उत्पन्न करनेके लिये दम्पतिको औक्ष अथवा आर्षभके साथ पकायी हुई खिचड़ी खानेका आदेश किया गया है। प्रायः मूँग या उड़दकी दाल मिलाकर ही खिचड़ी बनती है। मूँगकी खिचड़ीको 'मुद्गौदन' और उड़दमिश्रित खिचड़ीको 'माषौदन' कहते हैं। इस 'माषौदन' को संभवतः किन्हीं मांस-प्रेमियोंने 'मांसौदन' कर दिया है। यदि किसीका यही आग्रह हो कि वहाँ 'मांसौदन' ही पाठ है, तो भी उसका अर्थ वहाँ औषध या अन्न ही है। यह बात पहलेके विवेचनके अनुसार माननी ही होगी। औक्ष या आर्षभ-मिश्रित ओदनके लिये 'माषौदन' या 'मांसौदन' नाम आया है; यही मानना प्रकरणसङ्गत है। अब औक्ष या आर्षभका तात्पर्य क्या है, यह जान लेना आवश्यक है। 'उक्षा' और 'ऋषभ' नामक औषध ही यहाँ 'औक्ष' और 'आर्षभ' नामसे प्रतिपादित हुआ है, उक्षा ऋषभका पर्याय है और सोमको भी उक्ष कहते हैं। 'ऋषभ' एक प्रकारका कन्द है; इसकी जड़ लहसुनसे मिलती-जुलती है। सुश्रुत और भावप्रकाश आदिमें इसके नाम, रूप, गुण और पर्यायोंका विशेष विवरण दिया गया है। इस अङ्कके बृहदारण्यकमें, जहाँ वह प्रसङ्ग है; कुछ प्रमाण भी उद्धृत कर दिये गये हैं। ऋषभके* वृषभ, वीर, विषाणी, गोपति, वृष, शृङ्गी, ककुद्मान् आदि जितने भी नाम आये हैं, सब वृषभ या बैलका अर्थ रखते हैं। इसी भ्रमसे कुछ लोगोंने वहाँ 'वृषभ-मांस' की बीभत्स कल्पना की है, जो **'प्रस्थं कुमारिकामांसम्'** के अनुसार 'एक सेर कुमारीकन्याके मांस' की कल्पनासे ही मेल खाती है। वैद्यक-ग्रन्थोंमें बहुतसे पशु-पक्षियोंके-से नामवाले औषध देखे जाते हैं। उदाहरणके लिये वृषभ (ऋषभकन्द), श्वान (ग्रन्थिपर्ण या कुत्ता-घास), मार्जार (चित्ता), अश्व (अश्वगन्धा), अज (आजमोदा), सर्प (सर्पगन्धा), मयूरक (अपामार्ग), मयूरी (अजमोदा), कुक्कुटी (शाल्मली), मेष (जीवशाक), नकुल (नाकुली बूटी), गौ (गौलोमी), खर (खरपर्णिनी), काक (काकमाची), वाराह (वाराहीकन्द), महिष (गुग्गुल) आदि शब्द द्रष्टव्य हैं। यह भी सबको जानना चाहिये कि फलोंके गूदेको 'मांस', छालको 'चर्म', गुठलीको 'अस्थि', मेदाको 'मेद' और रेशाको 'स्नायु' कहते हैं।*

वेदों और उपनिषदोंपर अश्लीलताका भी आरोप लगाया जाता है; परंतु पशुवध और मांससम्बन्धी आरोपोंकी भाँति यह आरोप भी निराधार है। पहले अश्लीलता क्या है, यह समझ लेनेकी आवश्यकता है। एक आदमी जब सभ्य-समाजमें कहीं अपने गुप्ताङ्गों या इन्द्रियोंको दिखाता या निर्लज्जतावश कुत्सित चर्चाएँ करता है तो यह सब अश्लील समझा जाता है। परंतु एक रोगी मनुष्य जब डाक्टरके सामने नंगा खड़ा होता है, तो उसकी यह क्रिया अश्लील नहीं समझी जाती। वैद्यक या डाक्टरीके ग्रन्थोंमें, जहाँ प्रत्येक अवयवका—गुप्त अङ्गका भी स्पष्ट वर्णन होता है, वह अश्लील नहीं माना जाता। एक व्याख्याता समाज-सुधारके लिये बुराइयोंका नग्न चित्र उपस्थित करता है, उस समय उसकी वह बात अश्लील नहीं समझी जाती। क्रिया एक ही है, पर कहीं वह दोषरूप है और कहीं गुणरूप। अतः यही निष्कर्ष निकलता है कि स्वरूपतः अश्लील कार्य भी भाव और दृष्टिकोणकी शुद्धिसे शुद्ध बन जाता है और स्वरूपसे अच्छा कार्य भी भावदोषसे दूषित हो जाता है। शल्यचिकित्सादिके लिये विद्यार्थीको स्त्री तथा पुरुषके प्रत्येक अवयवका ही नहीं, उसके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विभागका भी वर्णन पढ़ना पड़ता है, पर वह कभी अश्लील नहीं माना जाता। इसी प्रकार वेद इस विषयकी पूर्ण शिक्षाके लिये ही ऐसी बातें प्रस्तुत करते हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद्में छठे अध्यायके चतुर्थ ब्राह्मणमें स्त्रियोंके गुप्ताङ्गोंकी और मैथुन-कर्मकी चर्चा आयी है; परंतु वह गर्भाधानका प्रकरण है। मनुष्यकी उत्पत्तिका प्रारम्भिक कृत्य वही है। यदि वही ठीक तरहसे न हो तो अच्छी सन्तान कैसे हो सकती है? प्रकरणके अनुसार वहाँ लिखी हुई सभी बातोंका महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। मनुष्य

* ऋषभो गोपतिर्वीरो विषाणी धूर्धरो वृषः।
ककुद्मान् पुङ्गवो वोढा शृङ्गी धुर्यश्च भूपतिः॥
(राजनिघण्टु)

* सुश्रुतमें आमके प्रसङ्गमें आया है—
अपक्वे चूतफले स्नाय्वस्थिमज्जानः सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते पक्वे त्वाविर्भूता उपलभ्यन्ते॥
'आमके कच्चे फलमें सूक्ष्म होनेके कारण स्नायु, हड्डी और मज्जा नहीं दिखायी देतीं; परंतु पकनेपर ये सब प्रकट हो जाती हैं।'

कामान्ध होकर विवेक खो बैठते और मर्यादाका त्याग करके पशुवत् आचरण करने लगते हैं। इससे जो सन्तान उत्पन्न होती हैं, उनमें भी वैसे ही दुर्गुण भर जाते हैं। अतः वैदिक रीतिसे गर्भाधान आदि सभी संस्कारोंको करना चाहिये; इसीसे श्रेष्ठ मानवकी, जो अपने बल, पौरुष, ज्ञान और विज्ञानसे स्वयं अपने जीवनको सफल करता है और संसारकी बड़ी भारी सेवा करता है, उत्पत्ति हो सकती है। वेदोंमें जो कुछ कहा गया है, वह सब जगत्के कल्याणके लिये ही है। वेदोंके तात्पर्यपर विचार करनेवाले विद्वानोंको उचित है कि वे मनमाना अर्थ न करके वेद-वेदाङ्गोंके अनुशीलनपूर्वक महर्षियोंद्वारा निर्धारित शैलीके अनुसार वेदरूपी कामधेनुसे कल्याणमय अर्थका ही दोहन करें। वेदके कितने ही मन्त्र काव्यमय हैं। वहाँ रसोद्रेकके लिये सरस रूपकोंका आश्रय लिया गया है। ऐसे स्थलोंपर अश्लीलताका आरोप न करके यथार्थ मर्मको समझनेका प्रयास करना चाहिये।

उपनिषद्में युगल स्वरूप

भारतके आर्य-सनातनधर्ममें जितने भी उपासक-सम्प्रदाय हैं, सभी विभिन्न नाम-रूपों तथा विभिन्न उपासना-पद्धतियोंके द्वारा वस्तुतः एक ही शक्तिसमन्वित भगवान्की उपासना करते हैं। अवश्य ही कोई तो शक्तिको स्वीकार करते हैं और कोई नहीं करते। भगवान्के इस शक्तिसमन्वित रूपको ही युगल-स्वरूप कहा जाता है। निराकारवादी उपासक भगवान्को सर्वशक्तिमान् बताते हैं और साकारवादी भक्त उमा-महेश्वर, लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम, राधा-कृष्ण आदि मङ्गलमय स्वरूपोंमें उनका भजन करते हैं। महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती, दुर्गा, तारा, उमा, अन्नपूर्णा, सीता, राधा आदि स्वरूप एक ही भगवत्स्वरूपा शक्तिके हैं, जो लीलावैचित्र्यकी सिद्धिके लिये विभिन्न रूपोंमें अपने-अपने धामविशेषमें नित्य विराजित हैं। यह शक्ति नित्य शक्तिमान्के साथ है और शक्ति है इसीसे वह शक्तिमान् है। और इसलिये वह नित्य युगलस्वरूप है। पर यह युगलस्वरूप वैसा नहीं है, जैसे दो परस्पर-निरपेक्ष सम्पूर्ण स्वतन्त्र व्यक्ति या पदार्थ किसी एक स्थानपर स्थित हों। ये वस्तुतः एक होकर ही पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। इनमेंसे एकका त्याग कर देनेपर दूसरेके अस्तित्वका परिचय नहीं मिलता। वस्तु और उसकी शक्ति, तत्त्व और उसका प्रकाश, विशेष्य और उसके विशेषणसमूह, पद और उसका अर्थ, सूर्य और उसका तेज, अग्नि और उसका दाहकत्व—इनमें जैसे नित्य युगलभाव विद्यमान है, वैसे ही ब्रह्ममें भी युगलभाव है। जो नित्य दो होकर भी नित्य एक हैं और नित्य एक होकर भी नित्य दो हैं; जो नित्य भिन्न होकर भी नित्य अभिन्न हैं और नित्य अभिन्न होकर भी नित्य भिन्न हैं। जो एकमें ही सदा दो हैं और दोमें ही सदा एक हैं। जो स्वरूपतः एक होकर भी द्वैधभावके पारस्परिक सम्बन्धके द्वारा ही अपना परिचय देते और अपनेको प्रकट करते हैं। यह एक ऐसा रहस्यमय परम विलक्षण तत्त्व है कि दो अयुतसिद्ध रूपोंमें ही जिसके स्वरूपका प्रकाश होता है, जिसका परिचय प्राप्त होता है और जिसकी उपलब्धि होती है।

वेदमूलक उपनिषद्में ही इस युगल स्वरूपका प्रथम और स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। उपनिषद् जिस परम तत्त्वका वर्णन करते हैं, उसके मुख्यतया दो स्वरूप हैं—एक 'सर्वातीत' और दूसरा 'सर्वकारणात्मक'। सर्वकारणात्मक स्वरूपके द्वारा ही सर्वातीतका सन्धान प्राप्त होता है और सर्वातीत स्वरूप ही सर्वकारणात्मक स्वरूपका आश्रय है। सर्वातीत स्वरूपको छोड़ दिया जाय तो जगत्की कार्य-कारण-शृङ्खला ही टूट जाय; उसमें अप्रतिष्ठा और अनवस्थाका दोष आ जाय। फिर जगत्के किसी मूलका ही पता न लगे। और सर्वकारणात्मक स्वरूपको न माना जाय तो सर्वातीतकी सत्ता कहीं नहीं मिले। वस्तुतः ब्रह्मकी अद्वैतपूर्ण सत्ता इन दोनों स्वरूपोंको लेकर ही है। उपनिषद्के दिव्य-दृष्टिसम्पन्न ऋषियोंने जहाँ विश्वके चरम और परम तत्त्व एक, अद्वितीय, देशकाल-अवस्था-परिणामसे सर्वथा अनवच्छिन्न सच्चिदानन्द-स्वरूपको देखा, वहीं उन्होंने उस अद्वैत परब्रह्मको ही उसकी अपनी ही विचित्र अचिन्त्य शक्तिके द्वारा अपनेको अनन्त विचित्र रूपोंमें प्रकट भी देखा और यह भी देखा कि वही समस्त देशों, समस्त कालों, समस्त अवस्थाओं और समस्त परिणामोंके अंदर छिपा हुआ अपने स्वतन्त्र सच्चिदानन्दमय स्वरूपकी, अपनी नित्य सत्ता, चेतना और आनन्दकी मनोहर झाँकी करा रहा है। ऋषियोंने जहाँ देशकाल-अवस्था-परिणामसे परिच्छिन्न अपूर्ण पदार्थोंको 'यह वह नहीं है, यह

वह नहीं है' (नेति-नेति) कहकर और उनसे विरागी होकर यह अनुभव किया कि—'वह परमतत्त्व ऐसा है जो न कभी देखा जा सकता है, न ग्रहण किया जा सकता है, न उसका कोई गोत्र है, न उसका कोई वर्ण है, न उसके चक्षु-कर्ण और हाथ-पैर आदि हैं।' 'वह न भीतर प्रज्ञावाला है, न बाहर प्रज्ञावाला है, न दोनों प्रकारकी प्रज्ञावाला है, न प्रज्ञान-घन है, न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ है; वह न देखनेमें आता है, न उससे कोई व्यवहार किया जा सकता है, न वह पकड़में आता है, न उसका कोई लक्षण (चिह्न) है; जिसके सम्बन्ध-में न चित्तसे कुछ सोचा जा सकता है और न वाणीसे कुछ कहा ही जा सकता है। जो आत्मप्रत्ययका सार है, प्रपञ्चसे रहित है; शान्त, शिव और अद्वैत है'—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणि-पादम्। (मुण्डक० १।१।६)

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्य-मव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिव-मद्वैतम्।.....

(माण्डूक्य० ७)

किसी भी दृश्य, ग्राह्य, कथन करनेयोग्य, चिन्तन करने-योग्य और धारणामें लानेयोग्य पदार्थके साथ उसका कोई भी सम्बन्ध या सादृश्य नहीं है। इसीके साथ, वहीं, उसी क्षण उन्होंने उसी देश-कालातीत, अवस्था-परिणाम-शून्य, इन्द्रिय-मन-बुद्धिके अगोचर शान्त शिव अनन्त एकमात्र सत्तास्वरूप अक्षर परमात्माको ही सर्वकालमें और समस्त देशोंमें नित्य विराजित देखा और कहा कि—'धीर साधक पुरुष उस नित्य पूर्ण, सर्वव्यापक, अत्यन्त सूक्ष्म, अविनाशी और समस्त भूतों-के कारण परमात्माको देखते हैं'—

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं
तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥

(मुण्डक० १।१।६)

उन्होंने यह भी अनुभव किया कि 'जब वह द्रष्टा उस सबके ईश्वर, ब्रह्माके भी आदिकारण सम्पूर्ण विश्वके स्रष्टा, दिव्य प्रकाशस्वरूप परम पुरुषको देख लेता है, तब वह निर्मल हृदय महात्मा पाप-पुण्यसे छूटकर परम साम्यको प्राप्त हो जाता है—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

(मुण्डक० ३।१।३)

यहाँतक कि उन्होंने ध्यानयोगमें स्थित होकर परमदेव परमात्माकी उस दिव्य अचिन्त्य स्वरूपभूत शक्तिका भी प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया जो अपने ही गुणोंसे छिपी हुई है। तब उन्होंने यह निर्णय किया कि कालसे लेकर आत्मातक (काल, स्वभाव, नियति, अकस्मात्, पञ्चमहाभूत, योनि और जीवात्मा) सम्पूर्ण कारणोंका स्वामी प्रेरक सबका परम कारण एकमात्र परमात्मा ही है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥

(श्वेताश्वतर० १।३)

ऋषियोंने यह अनुभव किया कि वह सर्वातीत परमात्मा ही सर्वकारण-कारण, सर्वगत, सबमें अनुस्यूत और सबका अन्तर्यामी है। वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म, भेदरहित, परिणामशून्य, अद्वय परमतत्त्व ही चराचर भूतमात्रकी योनि है, एवं अनन्त विचित्र पदार्थोंका वही एकमात्र अभिन्न निमित्तोपादान-कारण है। उन्होंने अपनी निर्भ्रान्त निर्मल दृष्टिसे यह देखा कि जो विश्वातीत तत्त्व है, वही विश्वकृत् है, वही विश्ववित् है और वही विश्व है। विश्वमें उसीकी अनन्त सत्ताका; अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त ज्ञान और अनन्त शक्तिका प्रकाश है। विश्व-सृजनकी लीला करके विश्वके समस्त वैचित्र्यको, विश्वमें विकसित अखिल ऐश्वर्य, ज्ञान और शक्तिको आलिङ्गन किये हुए ही वह नित्य विश्वके ऊर्ध्वमें विराजित है। उपनिषद्के मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंने अपनी सर्वकालव्यापिनी दिव्य दृष्टिसे देखकर कहा—'सोम्य! इस नामरूपात्मक विश्वकी सृष्टिसे पूर्व एक अद्वितीय सत् ही था'—

'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।'

(छान्दोग्य० ६।२।१)

परंतु इसीके साथ तुरंत ही मुक्तकण्ठसे यह भी कह दिया कि 'उस सत् परमात्माने ईक्षण किया—इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ, अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊँ'—

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति' (छान्दोग्य० ६।२।३)

यहाँ बहुतोंको यह बात समझमें नहीं आती कि जो 'सबसे अतीत' है, वही 'सर्वरूप' कैसे हो सकता है, परंतु

औपनिषद-दृष्टिसे इसमें कोई भी विरोध या असामञ्जस्य नहीं है। भगवान्‌का नित्य एक रहना, नित्य बहुत-से रूपोंमें अपने आस्वादनकी कामना करना और नित्य बहुत-से रूपोंमें अपनेको आप ही प्रकट करना एवं सम्भोग करना—यह सब उनके एक नित्यस्वरूपके ही अन्तर्गत है। कामना, ईक्षण और आस्वादन—ये सभी उनकी निरवच्छिन्न पूर्ण चेतनाके क्षेत्रमें समान अर्थ ही रखते हैं। भगवान् वस्तुतः न तो एक अवस्थासे किसी दूसरी अवस्थाविशेषमें जानेकी कामना ही करते हैं और न उनकी सहज नित्य स्वरूप-स्थितिमें कभी कोई परिवर्तन ही होता है। उनके बहुत रूपोंमें प्रकट होनेका यह अर्थ नहीं है कि वे एकत्वकी अवस्थासे बहुत्वकी अवस्थामें, अथवा अद्वैत-स्थितिसे द्वैतस्थितिमें चलकर जाते हैं। उनकी सत्ता तथा स्वरूपपर कालका कोई भी प्रभाव नहीं है और इसीलिये विश्वके प्रकट होनेसे पूर्वकी या पीछेकी अवस्थामें जो भेद दिखायी देता है, वह उनकी सत्ता और स्वरूपका स्पर्श भी नहीं कर पाता। अवस्था-भेदकी कल्पना तो जड जगत्‌में है। स्थिति और गति, अव्यक्त और व्यक्त, निवृत्ति और प्रवृत्ति, विरति और भोग, साधन और सिद्धि, कामना और परिणाम, भूत और भविष्य, दूर और समीप एवं एक और बहुत—ये सभी भेद वस्तुतः जड-जगत्‌के संकीर्ण धरातलमें ही हैं। विशुद्ध पूर्ण सच्चिदानन्द-सत्ता तो सर्वथा भेदशून्य है। वह विशुद्ध अभेद भूमि है। वहाँ स्थिति और गति, अव्यक्त और व्यक्त, निष्क्रियता और सक्रियतामें अभेद है। इसी प्रकार एक और बहुत, साधना और सिद्धि, कामना और भोग, भूत-भविष्य-वर्तमान तथा दूर और निकट भी अभेदरूप ही हैं। इस अभेदभूमिमें चैतन्यघन पूर्ण परमात्मा परस्परविरोधी धर्मोंको आलिङ्गन किये नित्य विराजित हैं। वे चलते हैं और नहीं चलते; वे दूर भी हैं, समीप भी हैं; वे सबके भीतर भी हैं और सबके बाहर भी हैं—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

(ईशावास्योपनिषद् ५)

वे अपने विश्वातीत रूपमें स्थित रहते हुए ही अपनी वैचित्र्यप्रसविनी कर्मशीला अचिन्त्य शक्तिके द्वारा विश्वका सृजन करके अनादि अनन्तकाल उसीके द्वारा अपने विश्वातीत स्वरूपकी उपलब्धि और उसका सम्भोग करते रहते हैं। उपनिषद्‌में जो यह आया है कि वह ब्रह्म पहले अकेला था, वह रमण नहीं करता था। इसी कारण आज भी एकाकी पुरुष रमण नहीं करता। उसने दूसरेकी इच्छा की···उसने अपनेको ही एकसे दो कर दिया···वे पति-पत्नी हो गये। ·····

'स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्·····स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्।·····' (बृहदारण्यक० १। ४। ३)

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इससे पूर्व वे अकेले थे और अकेलेपनमें रमणका अभाव प्रतीत होनेके कारण वे मिथुन (युगल) हो गये। क्योंकि कालपरम्पराके क्रमसे अवस्थाभेदको प्राप्त हो जाना ब्रह्मके लिये सम्भव नहीं है। वे नित्य मिथुन (युगल) हैं और इस नित्य युगलत्वमें ही उनका पूर्ण एकत्व है। उनका अपने स्वरूपमें ही नित्य अपने ही साथ नित्य रमण—अपनी अनन्त सत्ता, अनन्त ज्ञान, अनन्त ऐश्वर्य और अनन्त माधुर्यका अनवरत आस्वादन चल रहा है। उनके इस स्वरूपगत आत्ममैथुन, आत्मरमण और आत्मास्वादनसे ही अनादि-अनन्तकाल अनादि-अनन्त देशोंमें अनन्त विचित्रतामण्डित, अनन्त रससमन्वित विश्वके सृजन, पालन और संहारका लीला-प्रवाह चल रहा है। इस युगल रूपमें ही ब्रह्मके अद्वैतस्वरूपका परमोत्कृष्ट परिचय प्राप्त होता है। अतएव श्रीउमा-महेश्वर, श्रीलक्ष्मी-नारायण, श्रीसीता-राम, श्रीराधा-कृष्ण, श्रीकाली-रुद्र आदि सभी युगल स्वरूप नित्य सत्य और प्रकारान्तरसे उपनिषत्-प्रतिपादित हैं। उपनिषद्‌ने एक ही साथ सर्वातीत और सर्वकारणरूपमें, स्थितिशील और गतिशीलरूपमें, निष्क्रिय और सक्रियरूपमें, अव्यक्त और व्यक्तरूपमें एवं सच्चिदानन्दघन पुरुष और विश्वजननी नारी-रूपमें इसी युगल स्वरूपका विवरण किया है। परंतु यह विषय है बहुत ही गहन। यह वस्तुतः अनुभवगम्य रहस्य है। प्रगाढ़ अनुभूति जब तार्किकी बुद्धिकी द्वन्द्वमयी सीमाका सर्वथा अतिक्रमण कर जाती है—तभी सक्रियत्व और निष्क्रियत्व, साकारत्व और निराकारत्व, परिणामत्व और अपरिणामत्व एवं बहुरूपत्व और एकरूपत्वके एक ही समय एक ही साथ सर्वाङ्गीण मिलनका रहस्य खुलता है—तभी इसका यथार्थ अनुभव प्राप्त होता है।

यद्यपि विशुद्ध तत्त्वमय चैतन्य-राज्यमें प्राकृत पुरुष और नारीके सदृश देहेन्द्रियादिगत भेद एवं तदनुकूल किसी लौकिक या जडीय सम्बन्धकी सम्भावना नहीं है, तथापि—जब अप्राकृत तत्त्वकी प्राकृत मन-बुद्धि एवं इन्द्रियोंके द्वारा

उपासना करनी पड़ती है, तब प्राकृत उपमा और प्राकृत संज्ञा देनी ही पड़ती है। प्राकृत पुरुष और प्राकृत नारी एवं उनके प्रगाढ़ सम्बन्धका सहारा लेकर ही परम चित्तत्वके स्वरूपगत युगल-भावको समझनेका प्रयत्न करना पड़ता है। वस्तुतः पुरुषरूपमें ब्रह्मका सर्वातीत निर्विकार निष्क्रिय भाव है, और नारीरूपमें उन्हींकी सर्वकारणात्मिका अनन्त लीला वैचित्र्यमयी स्वरूपा शक्तिका सक्रिय भाव है। पुरुषमूर्तिमें भगवान् विश्वातीत हैं, एक हैं और सर्वथा निष्क्रिय हैं, एवं नारीमूर्तिमें वे ही विश्वजननी, बहुप्रसविनी, लीलाविलासिनी रूपमें प्रकाशित हैं। पुरुष-विग्रहमें वे सच्चिदानन्दस्वरूप हैं और नारी-विग्रहमें उन्हींकी सत्ताका विचित्र प्रकाश, उन्हींके चैतन्यकी विचित्र उपलब्धि तथा उन्हींके आनन्दका विचित्र आस्वादन है। अपने इस नारी-भावके संयोगसे ही वे परम पुरुष ज्ञाता, कर्ता और भोक्ता हैं,—सृजनकर्ता, पालनकर्ता और संहारकर्ता हैं। नारीभावके सहयोगसे ही उनके स्वरूपगत, स्वभावगत अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त वीर्य, अनन्त सौन्दर्य और अनन्त माधुर्यका प्रकाश है; इसीमें उनकी भगवत्ताका परिचय है। पुरुषरूपसे वे नित्य-निरन्तर अपने अभिन्न नारीरूपका आस्वादन करते हैं और नारी (शक्ति) रूपसे अपनेको ही आप अनन्त आकार-प्रकारोंमें लीलारूपमें प्रकट करके नित्य चिद्रूपमें उसकी उपलब्धि और सम्भोग करते हैं—इसीलिये ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वलोकमहेश्वर, षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् हैं। सच्चिदानन्दमयी अनन्त-वैचित्र्यप्रसविनी लीला-विलासिनी महाशक्ति ब्रह्मकी स्वरूपभूता हैं; ब्रह्मके विश्वातीत, देशकालातीत अपरिणामी सच्चिदानन्दस्वरूपके साथ नित्य मिथुनीभूता हैं। ब्रह्मकी सर्वपरिच्छेदरहित सत्ता, चेतनता और आनन्दको अगणित स्तरोंके सत्-पदार्थरूपमें, असंख्य प्रकारकी चेतना तथा ज्ञानके रूपमें एवं असंख्य प्रकारके रस—आनन्दके रूपमें विलसित करके उनको आस्वादनके योग्य बना देना इस महाशक्तिका कार्य है। स्वरूपगत महाशक्ति इस प्रकार अनादि-अनन्तकाल ब्रह्मके स्वरूपगत चित्‌की सेवा करती रहती हैं। उनका यह शक्तिरूप तथा शक्तिके समस्त परिणाम (लीला) और कार्य स्वरूपतः उस चित्तत्वसे अभिन्न हैं। यह नारीभाव उस पुरुषभावसे अभिन्न है, यह परिणामशील दिखायी देनेवाला अनन्त विचित्र लीलाविलास उनके कूटस्थ नित्यभावसे अभिन्न है। इस प्रकार उभयभाव अभिन्न होकर ही भिन्नरूपमें परस्पर आलिङ्गन किये हुए एक दूसरेका प्रकाश, सेवा और आस्वादन करते हुए एक दूसरेको आनन्द-रसमें आप्लावित करते हुए नित्य-निरन्तर ब्रह्मके पूर्ण स्वरूपका परिचय दे रहे हैं। परम पुरुष और उनकी महाशक्ति—भगवान् और उनकी प्रियतमा भगवती भिन्नाभिन्नरूपसे एक ही ब्रह्मस्वरूपमें स्वरूपतः प्रतिष्ठित हैं। इसीलिये ब्रह्म पूर्ण सच्चिदानन्द हैं और साथ ही नित्य आस्वादनमय हैं। यही विचित्र महारास है जो अनादि, अनन्तकाल बिना विराम चल रहा है। उपनिषदोंने ब्रह्मके इसी स्वरूपका और उनकी इसी नित्य लीलाका विविध दार्शनिक शब्दोंमें परिचय दिया है और इसी स्वरूपको जानने, समझने, उपलब्ध करने और सम्भोग करनेकी विविध प्रक्रियाएँ, विद्याएँ और साधनाएँ अनुभवी ऋषियोंकी दिव्य वाणीके द्वारा उनमें प्रकट हुई हैं।*

जाऊँ कैसे ?

(रचयिता—श्रीप्रबोध, बी० ए० (आनर्स), साहित्यरत्न, साहित्यालङ्कार)

इंगित पानी दूर क्षितिज से, जाऊँ कैसे ?—हूँ निःसम्बल !
पथ में झंझावात, शत-शत विद्युत् के कटु घात
क्षुद्र क्रोड़ में जिनके खिलते उल्का के उत्पात
और अति भीषण कोलाहल !
अगणित हैं इस कठिन मार्ग में सरित, गिरि, वन, दल-दल,
इन सरिताओं में कूल कहाँ ?—केवल हैं आवर्त्त
और ये निठुर प्रखरतर धार, जो बहती हैं खल-खल !!
किसी भाँति चल गिरूँ उपल-सी छू लूँ प्रिय पद पिघल-पिघल !
और छू, जन्म-मरण से परे उसी क्षण हो जाऊँ निश्चल !!

* आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्यायके एक निबन्धके आधारपर।

उपनिषदोंसे मैंने क्या सीखा ?

(लेखक—पं० श्रीहरिभाऊजी उपाध्याय)

उपनिषदोंसे मैंने यह सीखा कि सबमें एक ही आत्मा समाया हुआ है। अतः मुझे सबके साथ समान भावसे बर्तना चाहिये; परंतु यह भूमिका सहजसाध्य नहीं। यह आत्म-विकासकी अपेक्षा रखती है और सतत साधनासे ही प्राप्त हो सकती है। इसकी पहली सीढ़ीके रूपमें मुझे अपने प्रति कठोर और दूसरोंके प्रति उदार और सहनशील रहना आवश्यक मालूम होता है। अपने प्रति कठोर रहना तप है और दूसरेके प्रति उदार रहना अहिंसा है। इस तरह आत्मतत्त्वकी प्राप्तिके लिये तप और अहिंसा अनिवार्य हो जाते हैं।

आत्मसिद्धि या आत्मस्थितिके बाद क्या हो ? आत्मस्थ कैसा व्यवहार करे ? इसका सही उत्तर आत्मस्थ ही दे सकता है। साधक इस चर्चासे उदासीन रहे तो अच्छा ही है। उस स्थितिमें पहुँचनेपर उसे अपने-आप सूझता जायगा कि उसे क्या करना चाहिये और कैसे रहना चाहिये। इतना अवश्य है कि वह मनुष्य-समाजके बनाये नियमोंसे परे हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह उन नियमोंका पालन नहीं करेगा। बल्कि यह कि वह उन्हें अपने लिये बन्धनकारक नहीं समझेगा। वह उसके लिये नियम नहीं रहेगा, स्वभाव हो जायगा। वह शासन और नियमसे ऊपर उठकर सहज जीवनमें ओतप्रोत रहेगा।

उपनिषदोंने जो हमें दिया है वह संसारके किसी ग्रन्थने शायद उससे पहले नहीं दिया था। उसी आत्मतत्त्वका हम सदैव स्मरण करें, मनन करें, ध्यान करें और उसीकी साधनामें जीवनके प्रत्येक कर्मकी आहुति दें।

उपनिषद्की व्युत्पत्ति और अर्थ

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दनारायणजी आसोपा, बी० ए०)

'षदॢ विशरणगत्यवसादनेषु' धातुके पहले 'उप' और 'नि' ये दो उपसर्ग और अन्तमें 'क्विप्' प्रत्यय लगानेसे उपनिषद् शब्द बनता है।

'उपनिषद्यते—प्राप्यते ब्रह्मात्मभावोऽनया इति उपनिषद्।'

इसका अर्थ है—जिससे ब्रह्मका साक्षात्कार किया जा सके, वह उपनिषद् कहाती है। उपनिषदोंमें ब्रह्मज्ञान अथवा ब्रह्मविद्याका ही प्रधानतासे विवेचन तथा वर्णन किया हुआ है जिससे उपनिषद्को अध्यात्मविद्या भी कहते हैं। ब्रह्मके प्रतिपादक वेदके शिरोभाग अथवा अन्तमें होनेसे ये वेदान्त या उत्तरमीमांसा भी कही जाती हैं। ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, तत्त्वज्ञान और ब्रह्मविद्या—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। वेदके अङ्गभूत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यकमेंसे ही ब्रह्मज्ञानप्रतिपादक भागोंको पृथक् कर उनको 'उपनिषद्' नाम दिया गया है। अकेले अथर्ववेदमें ५२ उपनिषद् हैं। मुक्तिकोपनिषद्में १०८ उपनिषदोंकी गणना हुई है।

अमरकोषकार उपनिषद् शब्दका अर्थ—'धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्' लिखते हैं, इसके अनुसार 'उपनिषत्' शब्द गूढ़ धर्म एवं रहस्यके अर्थमें प्रयुक्त होता है।

कल्याण-मार्ग

(लेखक—श्रीयोगेन्द्रनाथजी बी० एस्-सी०)

कठोपनिषद्में कहा है—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय-
स्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳसिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु-
र्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥
(१ । २ । १)

'प्रेय और श्रेय दो पृथक्-पृथक् मार्ग हैं, ये दोनों विभिन्न फल देनेवाले साधन मनुष्यको बन्धनमें डालते हैं। प्रेय लोकोन्नतिका मार्ग है और श्रेय परलोकोन्नतिका मार्ग है। इनमेंसे श्रेयके ग्रहण करनेवालेका कल्याण होता है; प्रेयको ग्रहण करनेवाला पतित हो जाता है।

दूरमेते विपरीते विषूची
अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये
न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥
अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥
न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥
(कठ० १ । २ । ४–६)

'ये दोनों मार्ग एक-दूसरेसे विपरीत, विरुद्धार्थसूचक और दूर हैं। ये अविद्या और विद्या इस नामसे जाने गये हैं। तुम नचिकेताको मैं विद्याका चाहनेवाला मानता हूँ। तुमको बहुत-सी कामनाएँ प्रलोभित नहीं करती हैं। अविद्यामें पड़े हुए अपनेको धीर और विद्वान् माननेवाले लोग उल्टे रास्तों-पर चलते हैं और वे मूढ़ अन्धेके द्वारा ले जाये जानेवाले अन्धेकी भाँति भटकते रहते हैं। धनके मोहसे मूढ़, प्रमादपूर्ण, विवेकरहित पुरुषको परलोककी बात पसंद नहीं आती। यही लोक है, परलोक कुछ नहीं। ऐसा माननेवाला बार-बार मृत्युके वशमें आता है।'

ईशोपनिषद्के ११ वें मन्त्रमें कहा है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

'जो विद्या और अविद्या इन दोनोंको साथ-साथ जानता है, वह अविद्यासे मृत्युको तरकर ज्ञानसे अमरताको प्राप्त कर लेता है।'

प्रत्येक कल्याणपथके पथिकका उद्देश्य श्रेय होना चाहिये, और प्रेयका इस प्रकार उपयोग करना चाहिये कि वह श्रेय-का साधन बन जाय। जिस मनुष्यको हरद्वार जाना है, उसे अपने उद्देश्यकी पूर्तिके लिये इतना-सा धन चाहिये, जिससे उसका मार्ग-व्यय आदि सध जाय और यदि वह अपने समस्त धनको साथ लेकर हरद्वार जाना चाहेगा, तो वह उसके उद्देश्यकी पूर्तिका बाधक ही होगा। उसे अपने सारे आराम-के प्रलोभनोंको त्यागकर उद्देश्यकी ओर अग्रसर होना पड़ेगा। इसी प्रकार जीवको श्रेयमार्गके अनुसरणमें धन-संग्रह इत्यादि लोकोन्नतिके मार्गको केवल साधन समझना चाहिये। ये प्रेय वस्तुएँ जहाँ साध्य हुईं कि मनुष्य अपने मार्गसे च्युत हुआ। अतः धन आदिको केवल अपने आत्मकल्याणका ही साधन बनाना चाहिये। जो लोग विषयभोगकी दृष्टिसे केवल लोकोन्नतिको अपना लक्ष्य बना लेते हैं और श्रेयकी कुछ भी चिन्ता नहीं करते, वे दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्तिरूप मानव-जीवनके यथार्थ ध्येयसे च्युत हो जाते हैं।

इस सम्बन्धमें एक बड़ी शिक्षाप्रद आख्यायिका प्रसिद्ध है। एक युवक भावावेशमें आत्मज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे गुरुके पास आया। गुरुने उसको अनधिकारी समझकर उपदेश नहीं दिया, परंतु वह आग्रह करता ही रहा। एक दिन उसे साथ लेकर गुरु घूमने गये। रास्तेसे कुछ ही दूरीपर एक गाँव दिखायी दिया। गुरुजीको प्यास लगी। युवक गाँवसे पानी लाने गया। कुएँपर एक सुन्दरी युवती पानी भर रही थी। युवकको उसने पानी दे दिया; परंतु युवक उसके रूपपर मोहित होकर गुरुके प्यासकी बात भूल गया और उस युवती-के पीछे-पीछे उसके घर पहुँचा। वह अविवाहिता थी, अतः उसके पिताने युवकको योग्य समझकर उसका विवाह युवकके साथ कर दिया। विवाहके बाद वह गृहस्थ बनकर वहीं रहने लगा। क्रमशः उसके तीन पुत्र हुए। युवतीका पिता मर चुका था। कुछ समय बाद नदीमें बाढ़ आनेसे ग्राममें

पानी आ गया। चारों ओर तो जल-ही-जल था। उसने अपनी स्त्री और तीनों बच्चोंको लेकर प्राण बचानेके लिये गाँव-से बाहर निकलनेका प्रयत्न किया। पानीका वेग बढ़ता ही जाता था। बड़ी भारी सावधानी करनेपर भी एक-एक करके उसके तीनों पुत्र और स्त्री पानीमें बह गये। वह बड़ा दुखी हुआ और कठिनतासे प्राण बचाकर उस स्थानपर पहुँचा, जहाँसे गुरुजीके लिये जल लेने चला था। वहाँ पहुँचनेपर उसको यह स्मरण आया 'मैं अपने उद्देश्यसे पतित होकर किस प्रकार 'प्रेयके मार्गपर' चल दिया था।'

प्रेयको साध्य समझकर महमूद गजनवी रोता हुआ संसार-से गया। जीवनभर लूट-खसोटसे एकत्रित धनके कोषको मृत्युके समय अपने सामने जमा कराकर लालसापूर्ण दृष्टि डालता हुआ वह निराश होकर संसारसे चला गया। मृत्युने बलपूर्वक प्रिय वस्तुओंसे उसको अलग कर दिया। इधर कणाद ऋषि कटे हुए खेतसे कण-कण अन्न बीनकर जीवन-निर्वाह करते थे। जब राजा धनकी भेंट लेकर जाते तो कहते थे कि इसे दरिद्रोंको बाँट दो। प्रेयको त्यागकर श्रेयका इससे अनुपम उदाहरण क्या होगा। यही कणाद ऋषि वैशेषिक-दर्शनके रचयिता थे।

यमाचार्यने उपर्युक्त मन्त्रोंमें नचिकेताको तपका स्वरूप बतलाया। तपका जीवन प्रलोभनोंसे बचकर चलनेका है, प्रेय-से लगातार युद्ध करनेका है। प्रेयसे युद्ध करके ही मनुष्यकी गति ऊपरको हो सकती है। नचिकेताके तीसरे वरके उत्तर-में यमराजने प्रलोभन देते हुए उसे पुत्र, पौत्र, घोड़े, हाथी, सुवर्ण, चक्रवर्ती राज्य माँगनेको कहा, संसारमें दुर्लभ-से-दुर्लभ कामनाओंकी पूर्ति करनेका वचन दिया; परंतु नचिकेताने 'भोगोंसे मनुष्य कभी तृप्त नहीं हो सकता और भोग विनाशी है'—यह समझकर तुरंत सबको ठुकरा दिया। उस समय यमने मरनेके पश्चात् जीवकी क्या गति होती है, इसका उपदेश दिया। परंतु इस उपदेशसे पूर्व यमने नचिकेताके तपस्वी—अधिकारी होनेकी पूरी परीक्षा कर ली।

अनन्त नित्य और पूर्ण सुखकी प्राप्ति ही श्रेय है। प्रत्येक मनुष्यकी स्वाभाविक इच्छा सुखप्राप्तिकी होती है; परंतु सुख क्या है? नारदजीने सनत्कुमारसे यही प्रश्न (छान्दोग्य उपनिषद्में) किया—

'सुखं भगवो विजिज्ञासे' इति।

(७। २२। १)

'भगवन्! मैं सुखका स्वरूप जानना चाहता हूँ।' बहुत ही टेढ़ा प्रश्न है। बच्चा खिलौना देखकर रोता है। जब खिलौना मिल जाता है तो समझता है कि मैं सुखी हो गया परंतु कुछ देर खेलनेके पश्चात् उसका जी ऊब जाता है और वह खिलौनेको फेंककर रोने लगता है। अब उसे उस खिलौनेमें सुख नहीं मिलता। वस्तुतः खिलौनेमें सुख समझना उसका बालपन ही था। खिलौनेमें असली सुख नहीं था। इसी प्रकार धन आदि संसारके पदार्थोंका हाल है। फिर प्रश्न होता है कि तो फिर 'सुख क्या है?' सनत्कुमारने उत्तर दिया—

'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति।

(छान्दोग्य० ७। २३। १)

'भूमा ही सुख है, अल्पमें सुख नहीं है। भूमाको ही समझना चाहिये।' नारदने फिर पूछा, 'महाराज! भूमा क्या है।' सनत्कुमारने उत्तर दिया—

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद् विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।

(छान्दोग्य० ७। २४। १)

'भूमा वह है, जिसमें अन्यको नहीं देखता, अन्यको नहीं सुनता, अन्यको नहीं जानता। वह अल्प है जहाँ अन्यको देखता है, अन्यको सुनता है, अन्यको जानता है। भूमा ही अमृत है। अल्प ही दुःख है।' संसारमें दो प्रकारकी मनोवृत्तियोंके मनुष्य हैं—एक तो वे जो अस्थिर वस्तुओंमें सुख देखते हैं। दूसरे वे जो विवेकके द्वारा अनित्य पदार्थोंकी निःसारता और दुःख-परिणामताको देखकर नित्य अखण्ड सुखरूप भूमाको चाहते हैं। जो लोग अनित्य पदार्थोंमें सुख मानते हैं, उनको कभी स्थायी सुख नहीं मिलता। क्षणिक सुखके बाद दुःख आ जाता है। संसारमें प्राकृतिक पदार्थोंसे सुख-प्राप्तिकी आशा इसी प्रकार है। इसमें एकके बाद दूसरी, दूसरीके बाद तीसरी—इस तरह सुख प्राप्त करनेवाली वस्तुओंकी खोज होती रहती है। अभी एक पुरुष हजार रुपयोंकी प्राप्तिमें सुख समझता है। उसकी प्राप्तिपर दस हजारमें सुख समझता है। होते-होते उसको लाखों-करोड़ोंकी प्राप्तिके पश्चात् भी सुख नहीं होता। एक मनुष्य सुस्वादु भोजनका आनन्द ले रहा है इतनेमें ही उसे अपने युवक पुत्रकी मृत्युका समाचार मिलता है। अब उसे भोजनमें कोई आनन्द

नहीं रहता। यही अल्प है। भूमामें पहुँचकर सुख क्षणिक नहीं होता। वहाँ किसी भी अन्य वस्तुकी प्राप्तिका मनोरथ सुखका हेतु नहीं रह जाता। वह सुख किसी अन्य वस्तुसे बाधित नहीं होता। भूमामें ही सतत शान्ति है। भूमा ही श्रेय है। अल्प ही प्रेय है।

नारदजीने प्रश्न किया, 'भूमा किसके सहारे है ?' सनत्कुमारने उत्तर दिया, 'भूमा अपनी महिमामें ठहरा हुआ है।' यों भी कह सकते हैं, वह किसीके आश्रय नहीं है। संसारमें गौ, घोड़े, हाथी, सोना, नौकर आदिके अर्थहीमें महिमाको लेते हैं, परंतु ये एक दूसरेके ऊपर प्रतिष्ठित हैं। यह महिमा कैसी ? भूमा अपनेमें ही प्रतिष्ठित है। भूमा ही अमृत है।

सनत्कुमारजी कहते हैं—भूमा स्वयं अपना आधार है। वही नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे है, वही आगे है। वही दायें-बायें है। वही सब कुछ है। अब यदि इस भूमाको 'मैं' कहकर पुकारो तो ऐसा कहेंगे कि 'मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही पीछे, मैं ही आगे, मैं ही दायें, मैं ही बायें हूँ। मैं ही सब कुछ हूँ।' (छान्दोग्य० ७। २५। १)

अर्थात्—

अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदꣳ सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति।

(छान्दोग्य० ७। २५। २)

"अब यदि उसको 'आत्मा' कहकर पुकारें तो कहेंगे कि आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है। आत्मा ही दायें है, आत्मा ही बायें है। आत्मा ही सब कुछ है। जो इस प्रकार जानता है, वह अपनेहीमें रमण करता है, अपनेहीमें खेलता है, अपने ही साथ आप रहता है। अपनेमें ही आनन्द लेता है। वही स्वराट् है। सब लोकोंमें उसकी कामना पूरी होती है; परंतु जो लोग उसके विपरीत भावना रखते हैं, उनका किया-कराया नाशको प्राप्त होता है। उनकी भावनाएँ कहीं पूरी नहीं होतीं। उनको कहीं सुख प्राप्त नहीं होता।"

यहाँ भूमा, श्रेय, आत्मा शब्दोंसे एक ही तात्पर्य है। प्राकृतिक जगत्‌को अपने कार्यका ध्येय बनाना 'अल्पता' है, प्रेय है और आत्माको ध्येय बनाना भूमापन है। इन दोनोंका समन्वय करते हुए आत्मोन्नति करनेका उदाहरण विदेहराज महाराज जनकका जीवन है।

बृहदारण्यक उपनिषद्‌में याज्ञवल्क्य ऋषि मैत्रेयीको उपदेश देते हुए कहते हैं—

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति। आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति। आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति।

× × × × ×

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि आत्मनि खलु अरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदꣳ सर्वं विदितम्।

'अरी मैत्रेयी ! पतिके लिये पति प्यारा नहीं होता, आत्माके लिये पति प्यारा होता है। स्त्रीके लिये स्त्री प्यारी नहीं होती, आत्माके लिये स्त्री प्यारी होती है।

× × × × ×

सबके लिये सब प्यारा नहीं होता, आत्माके लिये सब प्यारा होता है। इसलिये हे मैत्रेयी ! आत्माको ही देखने, सुनने, सोचने और जाननेसे सब कुछ समझमें आ जाता है।'

मनुष्यको अपने जीवनके सब विभागोंमें कार्य करते हुए आत्माको ही ध्येय बनाये रखना चाहिये। परंतु यह ध्येय बने कैसे ? मनकी प्रवृत्ति श्रेय-मार्गकी ओर हो कैसे ?

(२)

प्रश्न यह होता है कि क्या कारण है कि इतने उपदेशोंके होते हुए भी मनुष्यकी आत्मोन्नतिकी ओर प्रवृत्ति नहीं होती। जिनका इधर ध्यान जाता भी है, वे भी सफल नहीं होते हैं। साधकको परमपदकी प्राप्तिके लिये सबसे प्रथम आरम्भ कहाँसे करना चाहिये। सनत्कुमार बतलाते हैं—

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तꣳस्कन्द इत्याचक्षते तꣳस्कन्द इत्याचक्षते। (छान्दोग्य० ७। २६। २)

'आहारके शुद्ध होनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर स्मृति दृढ़ हो जाती है और स्मृति-प्राप्तिपर हृदयकी समस्त गाँठें खुल जाती हैं। भगवान् सनत्कुमारने (राग-द्वेषरूप) दोष मल दिये (विनष्ट कर दिये)। नारद-

को अन्धकारका परला किनारा दिखा दिया। उस सनत्कुमार-को लोग स्कन्द कहते हैं।'

सनत्कुमारने उपर्युक्त प्रश्नका मूल कारण आहार बताया है। शरीरकी सबसे पहली आवश्यकता 'आहार' अर्थात् भोजन है। जैसा भोजन मिलेगा, वैसा ही शरीर बनेगा, वैसा ही मन बनेगा, वैसी ही बुद्धि होगी। यदि भोजन शुद्ध होगा तो बुद्धि शुद्ध होगी। बुद्धिके शुद्ध होनेपर शङ्कारूपी गाँठें खुल जाती हैं। सत्यपर विश्वास और श्रद्धा दृढ़ होती है और मोक्ष-की प्राप्ति हो जाती है।

भोजनसे ही मन बनता है। जैसा भोजन होगा वैसा ही मन होगा, वैसा ही स्वभाव होगा। डारविनका कथन है कि 'मुझे किसी भी प्राणीका भोजन बताओ, और मैं उसका स्वभाव बता दूँगा।' इसी सिद्धान्तको उन्होंने खद्योत (जुगनू) आदि कीड़ोंका उनके भोज्य-पदार्थोंद्वारा स्वभाव बताकर पुष्ट किया है। यदि हमारा भोजन मनको चञ्चल करनेवाला होगा तो हमारी गति आत्मदर्शनकी ओर नहीं हो सकेगी। मांस-मद्य तथा अन्य मादक द्रव्योंके सेवनसे तमोगुण बढ़ता है, और विचार भी मलिन होते हैं। मन भी अशान्त रहता है। अनेक प्रकार-के शारीरिक और मानसिक रोग पीछे लग जाते हैं। अण्डे, प्याज इत्यादि सेवन करनेवाला मनुष्य ब्रह्मचर्यका साधन कभी नहीं कर सकता। मांस इत्यादि हिंसासे प्राप्त पदार्थोंका सेवन करनेवाला घोर स्वार्थी कामी और क्रोधी (Passionate) हो जाता है। वास्तवमें जिस भोजनसे ब्रह्मचर्यकी सिद्धि हो, वही भोजन हितकर है। वेद कहते हैं—

'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।'

'ब्रह्मचर्यके तपसे देवता मृत्युको जीत लेते हैं।' ब्रह्मचारी-को मरनेके समय कष्ट नहीं होता। जिस प्रकार एक मनुष्य पुराने कपड़ेको छोड़ देता है, इसी प्रकार ब्रह्मचारी अपने शरीरको छोड़ देता है। परंतु साधारण लोगोंकी अवस्था एक बोझसे लदी गाड़ीके समान है जो चूँ-चूँ करती हुई बड़े कष्टसे धीरे-धीरे बढ़ती है। उनका आत्मा बड़े कष्टसे शरीरसे निकलता है।

भोजन-शुद्धिमें ईमानदारीसे कमाये हुए अर्थसे प्राप्त भोजन भी सम्मिलित है। वह भोजन जिसमें एक मनुष्यने केवल अपना ही भाग ग्रहण किया है अर्थात् आजीविका भी शुद्ध हो और अपनी आजीविकामेंसे यथायोग्य भाग अपने परिवारके व्यक्तियों अथवा आश्रितोंको देकर तत्पश्चात् शेष भागको स्वयं ग्रहण करे। यही यज्ञशिष्ट अमृतभोजन है। गीता-में कहा है कि 'जो केवल अपने लिये ही कमाते-खाते हैं, वे तो पाप खाते हैं।' ईशोपनिषद्में कहा है—

'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।'

'किसीके धन और भोगको लोभवश मत लो।'

किसीके भागको छलसे स्वयं ग्रहण कर लेना ही चोरी है। योगदर्शनमें बताया है कि चोरी न करनेवाली प्रवृत्ति—अस्तेय-की प्रवृत्तिको सिद्ध कर लेनेसे सब रत्नोंकी प्राप्ति होती है। अतः कहा है कि उत्तम वस्तु खाओ और धर्मपूर्वक उपार्जित की हुई वस्तु ही खाओ।

शुद्ध आहारके सेवनसे अन्तःकरण शुद्ध होता है। जब अन्तःकरण शुद्ध होगा तो भगवत्-कथा कहने-सुनने और उसके अनुकूल आचरण करनेमें भी मन लगेगा। चालाक मनुष्य, जो धर्मपर नहीं चलता है और जिसका मन विषयोंमें लगा रहता है, अपने अन्तःकरणको बिगाड़ लेता है। ऐसे मनुष्यको भगवत्-चर्चामें कोई आनन्द नहीं आता। परमपदकी प्राप्ति एक ऊँचे पर्वतके उच्च शिखरपर चढ़नेके समान है, जो शनैः-शनैः सदाचरण करनेसे हो सकती है।

(३)

बृहदारण्यक उपनिषद्के पञ्चम अध्यायमें एक सुन्दर कथा आयी है। प्रजापतिकी तीन संतान 'देव', 'मनुष्य' और 'असुर' उनके पास उपदेश ग्रहण करने गये। प्रजापतिने तीनों-को एक अक्षर 'द'का उपदेश दिया और उनसे पूछा कि 'इसका अभिप्राय समझ लिया?' देवताओंने उत्तर दिया 'हमने यह समझा है कि—

दाम्यत इति न आत्थ इति।

(बृहदारण्यक० ५। २। १)

दम—इन्द्रियोंको दमन करो।' प्रजापतिने उत्तर दिया कि 'ठीक समझ गये।' मनुष्योंने उत्तर दिया—'हमने समझा है—

दत्त इति न आत्थ इति।

(बृहदारण्यक० ५। २। २)

—दान करो।' प्रजापतिने कहा 'हाँ, तुम भी समझ गये।' फिर असुरोंसे पूछनेपर उन्होंने उत्तर दिया—'हमने यह समझा है कि—'दयध्वम् इति' दया करो।' प्रजापतिने उनको भी सही बतलाया। इस प्रकार तीन शिक्षाएँ मिलीं। 'दम, दान और दया' अर्थात् इन्द्रियोंका दमन करो, दान करो और दया करो।

संसारमें तीन प्रकारके मनुष्य हैं। देव, मनुष्य और

असुर। तीनों प्रजापतिकी संतान हैं। परंतु अपने संस्कारोंसे (कर्मोंके द्वारा स्वभाव बन जानेसे) देव श्रेष्ठ हैं; मनुष्य साधारण हैं, और असुर निकृष्ट हैं। जैसे संस्कार पूर्वजन्ममें होते हैं, वैसा ही स्वभाव इस जन्ममें होता है। परंतु जो ईश्वर-के उपदेशको सुनते हैं, उसपर ध्यान देते हैं, उनकी उन्नति हो जाया करती है। असुर इसी उपदेशके प्रभावसे मनुष्य बनता है और मनुष्य देवता बन जाता है।

असुर वे हैं जो अपने लाभके सामने किसी दूसरेके लाभ-की परवा ही नहीं करते। स्वार्थसिद्धि ही उनका परम ध्येय है। अपने लाभके लिये वे दूसरोंको मारने-लूटने अथवा अन्य प्रकारसे हानि पहुँचानेमें जरा भी सङ्कोच नहीं करते। वे प्रकृतिमेंसे अपने लाभके लिये हिंसक पशुओंके उदाहरण इकट्ठे कर रखते हैं, जो दूसरोंकी हानि करके अपना पेट भरते हैं। एक कसाई चार पैसेके लिये बकरे या गायको मार डालता है और उसके मांसको प्रसन्न होकर बाजारमें बेचता है। यह है कसाईका असुरपन। एक मनुष्य जीभके स्वादके लिये एक पक्षीकी गर्दन मरोड़ देता है। यह है उस मनुष्यका असुरपन। रावणने सीताहरणके समय कब सीताजीके कष्टोंकी परवा की थी। भरी सभामें द्रौपदीको अपमानित करके दुर्योधनने असुरपनका ही परिचय दिया था। इन क्रूर-हृदय प्राणियोंके लिये 'दया'से बढ़कर उत्तम और कौन उपदेश हो सकता है? इनका मानसिक रोग ही निर्दयता है। ये दूसरे प्राणीको अपने-जैसा नहीं समझते। इसका उपचार दया है। जब 'दया' का भाव उदय होगा तो कसाईकी छुरी कुण्ठित हो जायगी। डाकूका पैर दया-भाव उदय होनेपर आगे ही न बढ़ सकेगा। इसके उदाहरण महात्मा बुद्धके जीवनमें मिलते हैं। महान् घातकों और डाकुओंका भगवान् बुद्धसे सम्पर्क हुआ और महात्मा बुद्धने प्रजापतिके इस 'द'का उच्चारण किया और उनका जीवन शुद्ध हो गया।

साधारण मनुष्य निर्दयी नहीं होते; परंतु वे दूसरेके कष्टोंको दूर करनेके लिये त्याग नहीं करते। उनका मत है 'प्रत्येक मनुष्य अपने लिये है और परमात्मा सबके लिये।' उनकी मनोवृत्ति बहुत संकुचित रहती है। यदि उनमें थोड़ा-सा कष्ट उठाकर दूसरोंके कष्ट दूर करनेका स्वभाव आ जाय, तो दया-का भाव सार्थक हो जाय। दूसरोंके कष्ट दूर करनेके भावसे हमारा आत्मा उच्च हो जाता है और हममें विशालताके भाव आ जाते हैं। यही यज्ञ है। इसीके प्रभावसे मनुष्य देवता बन जाते हैं।

शतपथ ब्राह्मणमें कहा है—

देवाश्च वा असुराश्च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। ततोऽसुरा अतिमानेन एव 'कस्मिन् नु वयं जुहुयाम' इति स्वेषु एव आस्येषु जुह्वतः चेरुः। ते अतिमानेन एव पराबभूवुः तस्मात् न अतिमन्येत। पराभवस्य ह एतत् मुखं यत् अति-मानः। अथ देवाः अन्योन्यस्मिन् एव जुह्वतः चेरुः। देवेभ्यः प्रजापतिः आत्मानं प्रददौ। यज्ञो ह एषाम् आस, यज्ञो ह देवानामन्नम्॥

(शतपथकाण्ड ५ ब्राह्मण १। १-२)

प्रजापतिके दोनों पुत्र देव और असुर आपसमें लड़ पड़े। उनमें असुर अति अभिमानी थे। वे कहने लगे हमें औरोंकी क्या परवा है। इसलिये वे अपने ही मुँहमें आहुतियाँ डालने लगे। इस अभिमानके कारण वे परास्त हो गये। अभिमान नहीं करना चाहिये। यह पराजयका मूल है। देवता अपने मुँहमें न डालकर प्रत्येक दूसरेके मुँहमें आहुतियाँ डालने लगे। प्रजापति उनसे प्रसन्न हो गये, और अपने-आपको उनके भेंट कर दिया। उनका यज्ञ हो गया। यज्ञ ही देवोंका अन्न है। अर्थात् जो यज्ञ करता है वह देव हो जाता है। अपने स्वार्थ-को छोड़कर दूसरेका उपकार करना ही यज्ञ है।

दया जब एक कक्षा और आगे बढ़ जाती है तो वह दान-के रूपमें परिवर्तित हो जाती है। दान वही है जिससे हम अन्य प्राणियोंके कष्टोंको दूर कर सकें। कहीं धनका देना दान है, कहीं विद्याका देना दान है। कहीं अन्य शारीरिक सहायता देना दान है। रोगीको ओषधि देना दान है। भूखेको अन्न देना दान है। परंतु दान वह है जिसमें अन्य लोगोंके कल्याण-की भावना हो। दान इस प्रकारसे दे कि लेनेवाला भी ऊपर उठे, पतित न हो जाय। यही भावना उस दानकी है, जो देवोंने किया। इस दानसे देवोंमें पारस्परिक त्रुटियाँ दूर हुईं, लोगोंके व्यक्तिगत कष्ट और विपत्तियाँ कम हुईं। क्रमशः उनका संघटन दृढ़ हुआ और समाज बलवान् हो गया। असुर इस कामको न कर सके। उनमेंसे प्रत्येकने यही चाहा कि 'सारे भोग मैं ही भोगूँ, सबका स्वामी मैं ही बनूँ।' वे ऐसा ही करने लगे। प्रत्येक असुर सब भोगोंको स्वयं ही भोगकर दूसरोंको वञ्चित करने लगे। असुर परास्त हो गये। असुरोंका यह काण्ड इस समय यूरोपके अंदर घटित हो रहा है। प्रत्येक राष्ट्र सारी वस्तुएँ स्वयं ही हड़प लेना चाहता है। प्रजापति उनसे विमुख हो जायगा और वे पराभवको प्राप्त होंगे।

[सच कहा जाय तो एक यूरोप ही क्यों, आजका प्राय

सारा मानव-समाज बड़े वेगसे इसी असुरभावकी ओर दौड़ रहा है। व्यक्तिगत संकुचित स्वार्थने उसको महान् लक्ष्यसे च्युत कर दिया है। पता नहीं इसका क्या परिणाम होगा! गीताके १६वें अध्यायमें वर्णित असुर-मानवके लक्षणोंका मिलान करनेसे आजका मानव-समाज उसमें प्रायः पूरा उतरता है।]

दया और दानके पश्चात् एक त्रुटि शेष रह जाती है। वह है इन्द्रियनिग्रह। देवता अपने देवत्वके पदसे इसीके अभावमें गिर जाता है। एक कामी पुरुषका कहीं मान नहीं होगा। जब इन्द्रियाँ अपने विषयसे पृथक् होने लगती हैं तो उनकी अन्तर्वृत्ति हो जाती है। गीताके १६ वें अध्यायमें कहा है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(२१)

'काम, क्रोध और लोभ तीनों आत्माके नाशक और नरकके द्वार हैं। इसलिये इनको त्यागना ही चाहिये।'

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
(गीता १६। २३)

'जो वेद-शास्त्रविहित विधिको छोड़कर (कामनासे प्रेरित होकर) मनमाना काम करते हैं, उनको न तो फलकी सिद्धि होती है, न सुख मिलता है, न मोक्षकी ही प्राप्ति होती है।'

(४)

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः। अत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति, ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति। (छान्दोग्य० २। २३। १)

धर्मके तीन भाग हैं। यज्ञ, स्वाध्याय और दान मिलकर प्रथम स्कन्ध या भाग होता है। तपस्या ही दूसरा भाग है। आचार्यकुलमें रहता हुआ अपनेको जो तपस्वी बनाता है यह तीसरा भाग है। वे सभी पुण्यलोकवाले होते हैं; परंतु इनमेंसे ब्रह्मनिष्ठ मुक्तिको पाता है।

यज्ञ

यज्ञके सम्बन्धमें मुण्डकोपनिषद्में उपदेश है—

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत्॥

'जब अग्नि भलीभाँति जलायी जा चुके और उसमें लौ उठने लगे तब उसमें घी, सामग्री आदिकी आहुतियाँ श्रद्धापूर्वक देनी चाहिये।' क्योंकि हवनको जलानेवाली अग्नि 'हव्यवाहन' है। अर्थात् हविको सूक्ष्म करके वायुमण्डलमें फैला देती है। इससे वायु शुद्ध होकर रोगके कीटाणु नष्ट हो जाते हैं, और स्वास्थ्यको लाभ पहुँचता है। यज्ञके रसायनशास्त्र (Chemistry के अनुसार Aldehydes नामक वायु (Gas) पैदा होती है, जो रोगोंको दूर करनेवाली तथा स्वास्थ्यवर्द्धक होती है।

आश्वलायन-गृह्यसूत्रमें यज्ञके ये लाभ बतलाये हैं—

ॐ अर्यत इध्म आत्मा जातवेदस्तेन इध्यस्व वर्धस्व च इद्धय वर्धय चास्मान् प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन अन्नाद्येन समेधय स्वाहा। (१। १०। १२)

'हे अग्नि! तू प्रज्वलित होकर हमको प्रज्वलित कर। तू बढ़ और हमको भी बढ़ा प्रजया अर्थात् संतानसे, पशुओंसे, आत्मज्ञानसे तथा अन्नसे। यज्ञसे इन चारों पदार्थोंकी प्राप्ति हो जाती है।'

यज्ञसे हव्य पदार्थ सूक्ष्म होकर रोगोंको नाश करते हुए, पुष्टिदायक पदार्थोंसे शरीरको पुष्ट करते हैं। पहले हलवाई कभी भी दुबले नहीं देखे जाते थे। क्योंकि वे कढ़ाईके पास बैठकर असली घीकी वाष्पको बराबर ग्रहण करते रहनेसे पुष्ट हो जाते थे। यह है घीके वाष्पका प्रभाव। जब यह वाष्प अन्य ओषधियों तथा सौम्य पदार्थोंके वाष्पसे युक्त होकर शरीरमें प्रवेश करेगी तो उसके लाभसे शरीर तथा मस्तिष्क पुष्ट होगा और मन शान्त होगा। इनके शान्त होनेपर उपर्युक्त लाभ अर्थात् सन्तान, पशु आदि ऐश्वर्यशाली पदार्थोंकी प्राप्ति होती ही है।

मुण्डकोपनिषद्में कहते हैं—

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमास-
मचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुत-
मासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति॥
काली कराली च मनोजवा च
सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी
लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः॥
एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु
यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो
यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः॥

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः
सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति ।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य
एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥
(१ । २ । ३–६)

'यज्ञ कई प्रकारके हैं । अग्निहोत्र जिसका नित्य सायं और प्रातः करनेका विधान है । दूसरी दर्श-इष्टि, जो अमावस्याको की जाती है, और पौर्णमास-इष्टि जो पूर्णिमाको की जाती है । तीसरी चातुर्मास्य-इष्टि जो वर्षाऋतुमें की जाती है । चौथी आग्रयण-इष्टि, पाँचवाँ अतिथि-यज्ञ, छठा वैश्वदेवयज्ञ है। जो गृहस्थ इन यज्ञोंको नहीं करता, उसके सात लोक नष्ट हो जाते हैं । काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गिनी, विश्वरुची—ये अग्निकी सात जिह्वाएँ हैं । जो लोग इस प्रकार प्रदीप्त अग्निमें आहुतियाँ देते हैं, उनकी आहुतियोंको सूर्यकी किरणें उस स्थानपर पहुँचा देती हैं, जहाँ देवोंके पति अर्थात् ब्रह्मका निवास है । ये आहुतियाँ सूर्यकी किरणोंके साथ चलती हुई मानो यजमानको बड़ी मीठी बोलीमें पुण्यलोककी ओर बुलाती हैं । तात्पर्य यह है कि नित्य श्रद्धाके साथ यज्ञ करनेसे जीवन पवित्र होता है और परलोक बनता है ।'

अध्ययन

तैत्तिरीय उपनिषद्में शिक्षाका विषय मुख्यतया प्रतिपादित किया है । उसमें स्वाध्यायके विषयमें लिखा है—

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च । तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च । दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च । अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च । मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च । प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च । सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः । तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः । स्वाध्याय-प्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः । तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥
(१ । ९ । १)

'ऋत अर्थात् सृष्टिके नियमोंको यानी विज्ञान (Science) को पढ़ो-पढ़ाओ । स्वाध्याय कहते हैं स्वयं पढ़नेको एवं प्रवचन कहते हैं दूसरोंके पढ़ानेको । तपके साथ पढ़ो-पढ़ाओ । तप कहते हैं सात्त्विक श्रमको । इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए पढ़ो-पढ़ाओ । शान्तिपूर्वक पढ़ो-पढ़ाओ । अग्नि (शक्ति 'Power' अर्थात् भौतिक विज्ञान एवं इंजिनियरिंग) को पढ़ो-पढ़ाओ । अग्निहोत्रको करते हुए पढ़ो-पढ़ाओ । अतिथिकी सेवा करते हुए पढ़ो-पढ़ाओ । मनुष्यमात्रके कल्याणपर विचार करते हुए पढ़ो-पढ़ाओ । प्रजा अर्थात् सर्वसाधारणके हितका ध्यान करते हुए पढ़ो-पढ़ाओ । प्रजन अर्थात् सन्तानवृद्धिकी समस्याओंपर विचार करते हुए पढ़ो-पढ़ाओ । इसके अन्तर्गत केवल मनुष्यकी नहीं वरं पशु-पक्षी तथा वृक्षादिकी उत्पत्ति तथा वृद्धिके नियम भी आ जाते हैं । अपनी जातिके हितकी कामनासे पढ़े । राथीतर आचार्यका मत है कि सत्यभाषण सबसे बड़ी चीज है । सत्यभाषण कभी न छोड़ना चाहिये । पौरुशिष्टि आचार्यका कथन है कि तप मुख्य है, तपपर बल देना चाहिये । मुद्गल आचार्यके शिष्य नाक-स्वाध्याय और प्रवचन-पर बहुत बल देते हैं ।'

स्वाध्यायसे मस्तिष्कवृद्धिके साथ-साथ आत्मिक उन्नति भी होती है । जैसा मन सोचता है, वैसा बोलता है । जैसा बोलता है, वैसा करता है । दूसरे, पुराना अनुभव बराबर प्राप्त होता रहता है और हमें क्षेत्र मिलता है कि उन अनुभवोंमें हम वृद्धि कर सकें । जहाँ पठन-पाठनकी क्रिया नहीं है, वहाँ पैतृक अनुभव न प्राप्त होनेसे क्रमशः ज्ञान-वृद्धि रुक जाती है । यही ऋषि-ऋण है, जो तीन ऋणोंमेंसे एक है; जिसके पालनार्थ हम यज्ञोपवीत धारण करते हैं । गृहस्थियोंको प्रतिदिन थोड़ा-थोड़ा स्वाध्याय करते रहना चाहिये । कभी छोड़ना नहीं चाहिये ।

दान

धर्मकी तीसरी शाखा दान है । उपनिषदोंमें कहा है—

श्रद्धया देयम् । अश्रद्धया देयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् ।

'श्रद्धासे देना चाहिये, अश्रद्धासे देना चाहिये । सौन्दर्यसे देना चाहिये । लोक-लजासे देना चाहिये । भय अर्थात् पाप-पुण्यके विचारसे देना चाहिये । संविदा अर्थात् ज्ञानपूर्वक दो ।' अर्थात् जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्यमात्रके कल्याणको समझकर देना चाहिये । दान पापोंकी वृद्धि करनेवाला न हो ।

धर्मका दूसरा स्कन्ध तप है । अर्थात् इन्द्रियदमनके साथ-साथ आत्मोन्नतिके लिये घोर परिश्रम करना तप है । तीसरा स्कन्ध है कि नियमके साथ आचार्यकुलमें नियमित समयके लिये निवास करना । गृहस्थ अपनी सन्तान तथा अन्य बालकोंको शिक्षा-दान कराकर इस नियमका पालन कर सकते हैं ।

आध्यात्मिक मार्गमें अग्रसर होनेके लिये आहारशुद्धिसे चलना चाहिये। और अपने अंदर दया, दान और इन्द्रियदमनकी भावनाको बढ़ाना चाहिये। निरन्तर यज्ञ करते हुए अध्ययनको भी बराबर करते रहना चाहिये। आहारशुद्धि, यज्ञ और दान कर्म हैं, जिनको प्रयत्नसे कर सकते हैं। दया स्वयं आहारशुद्धिसे पैदा होने लगती है। आहारका प्रभाव इन्द्रियदमनपर पड़ता है। दूसरे, अध्ययन मनोविचारोंको भी शुद्ध करता है। स्वामी दयानन्दसे जब बंगालके प्रसिद्ध नेता अश्विनीकुमार-ने ब्रह्मचर्यके साधनोंपर प्रश्न करते हुए पूछा कि 'महाराज! आपने यह ऊँची स्थिति किस साधना और किस उपायसे प्राप्त की है।' तो उन्होंने बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया कि 'इसका उपाय बड़ा सरल है। मैं कभी अपने मनको खाली नहीं रहने देता। मैं हर समय किसी-न-किसी काममें लगा रहता हूँ। कभी वेदभाष्य, कभी वेदाङ्गप्रकाश लिखना, कभी दर्शकोंके प्रश्नोंका समाधान, कभी शास्त्रार्थ और कभी पत्रोत्तर लिखवाता हूँ। जब कोई और काम नहीं होता तो ओंकारका (भगवन्नामका) जाप कर रहा होता हूँ। काम आता होगा तो मेरे मनकी ड्योढ़ीको बंद पाकर लौट जाता होगा।' अतः मनको खाली न रखना सबसे उत्तम ब्रह्मचर्यका साधन है।

इन साधनोंको अपनानेसे मनुष्यका कल्याण होता है, और राष्ट्रका भी कल्याण होता है। एक विद्वान् धर्मात्मा योगी राष्ट्रकी गतिविधिको बदल देता है। ऐसे पुरुष देवता हो जाते हैं। जिनमें दिव्य गुण हो, वह देवता हैं। धन्य है वह राष्ट्र जहाँ ऐसा देव-समाज प्रमुख हो। जहाँ असुर अर्थात् स्वार्थी, क्रूरकर्मा तथा दुराचारी व्यक्तियोंका प्राधान्य है, वहीं कष्ट है, दुःख है और निश्चित पराभव है। हमारे राष्ट्रके नेता, हमारे राज्यके सूत्रधार इसी उपनिषद्-धर्मको पालन करते हुए राष्ट्रको परमोन्नत दशामें पहुँचा सकते हैं। **'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति'**। वेद कहता है कि 'ब्रह्मचर्य और तपसे राजा राष्ट्रकी रक्षा करता है।' धर्मके इन नियमोंपर चलना ही ब्रह्मचर्य है, तप है। ये ही नियम महाराज जनककी तरह व्यक्तिको विदेह बना सकते हैं।

उपनिषत्सार

(रचयिता—श्रीभवदेवजी झा)

यही सब उपनिषदोंका सार।
सार-रूप केवल ईश्वर है, यह संसार असार ॥ १ ॥
क्षणभङ्गुर दुर्लभ मानव-तन, विषय सभी निस्सार।
बरबस इस मनको वशमें कर, करो आत्म-उद्धार ॥ २ ॥
भूमण्डलके कण-कणमें है, विभुका ही विस्तार।
सबमें जीव समान जानकर, करो तुल्य-व्यवहार ॥ ३ ॥
अनासक्त होकर करना है, निज आहार-विहार।
अहंकार-परिहार न जबतक, नहीं कर्म-निस्तार ॥ ४ ॥
सत्य-शोध ही भव-रोगोंका, एक मात्र उपचार।
आत्म-बोध ही पहुँचाता है, जगन्मुक्तिके द्वार ॥ ५ ॥
देही अजर-अमर-अक्षर है, देह विकारागार।
यही देह-देही-विवेक ही, देता पार उतार ॥ ६ ॥
है स्वरूप-विस्मृति ही माया, और ब्रह्म ओंकार।
निर्गुण-सगुण एक ईश्वर है, निराकार-साकार ॥ ७ ॥
'मैं' हूँ निर्व्यापार। न मेरा, नाम-रूप-आकार।
'मैं' भी वही ब्रह्म हूँ, सत्-चित्-सुखका पारावार ॥ ८ ॥

भगवान् श्रीरामचन्द्र और औपनिषद ब्रह्म

(लेखक—पं० श्रीरामकिङ्करजी उपाध्याय)

गिरिराज हिमालयके सर्वोच्च शिखरका नाम है—कैलास (आनन्दका निवास-स्थान)। सचमुच आनन्द यहाँ मूर्तिमान् होकर निवास करता है। यह है भगवान् भूतभावन शिवकी क्रीडास्थली। इस शिखरके ही एकान्त-शान्त प्रदेशमें एक है विशाल वट-वृक्ष, जिसे भगवान् शिवका विश्रामस्थल कहा जाता है। पर यह विश्राम शब्द भी है सांकेतिक ही—

सो सुख धाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥

—मानकर शम्भु विश्रामके मिस यहाँ आकर प्रभु-प्रेममें तन्मय हो उनके नाम-रूपका स्मरण करते रहते हैं।

एक दिन शशाङ्कशेखर अपने गणोंसे बिना कुछ कहे ही वटकी सुशीतल छायामें व्याघ्रचर्म बिछा सहज ही जा विराजे। गिरिराज-नन्दिनी भवानी सुअवसर देख अनिमन्त्रित होनेपर भी भगवान् शिवके चरणोंमें जाकर प्रणत हुईं। परम कृपालु महेशने उनके मानरहित प्रेमको देखकर उनका सत्कार करते हुए बैठनेको आसन दिया। शैलजाके हृदयमें पूर्वजन्मसे ही एक संदेह गूँज रहा था। उसको पूर्ण रीतिसे निवृत्त कर लेना ही उन्हें उचित जान पड़ा। प्रमथेशकी आज्ञा पाकर उन्होंने प्रश्न किया—'प्रभु! मैंने वेदवक्ता मुनियोंके मुखसे ब्रह्मका जो वर्णन सुना है, उसमें उन्हें व्यापक, विरज, अज, अकल, अनीह और अभेद आदि नामोंसे सम्बोधित किया गया है। क्या ऐसे ब्रह्मका अवतार सम्भव है?'

ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद।
सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥

हाँ, त्रैलोक्य-पालक भगवान् विष्णुका अवतार राम-रूपमें होता है। यह मैंने ऋषियोंके मुखसे सुना है। परंतु ब्रह्मका अवतार तो बुद्धिमें न आनेवाली बात है। उपनिषदोंमें भी विशेषरूपसे निर्गुण-निर्विशेषका वर्णन आता है, यह भी मैंने सुना है। क्या उपनिषत्-कथित निर्गुण-निर्विशेष ब्रह्म और रघुवंशशिरोमणि राममें कोई भेद नहीं? आस्तिकोंके लिये तो श्रुति ही परम प्रमाण है। और जब वह निर्गुण ब्रह्मके वर्णनको ही विशेषरूपसे अपना लक्ष्य बनाती है, तब सगुण-साकार रामके प्रति आपका यह प्रेममय भाव कुछ समझमें नहीं आता। राम ही ब्रह्म है, क्या यह आपका स्वतन्त्र मत है? आपसे बढ़कर वेदार्थका ज्ञाता और कौन है?

तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना। आन जीव पाँवर का जाना॥

अस्तु।

प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहँ ब्रह्म अनादी॥
रामु सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई॥
जौं अनीह ब्यापक बिभु कोऊ। कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ॥

अपर्णाकी छलविहीन वाणी सुनकर कामारि परम प्रसन्न हुए; क्योंकि इसी मिससे उन्हें प्रभुके गुणानुवाद गानेका एक सुअवसर प्राप्त हो गया। प्रभुके रूप-गुणका स्मरण होते ही गङ्गाधरके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु छलक पड़े। हृदयसे भक्तिकी एक नव-मन्दाकिनी निकलकर भगवती भवानीको आप्लावित और शीतल करने लगी—

मगन ध्यानरस दंड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह।
रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह॥

उत्तर देते हुए भगवान् शिवने कहा—उमा! प्रभु-विषयक प्रश्न तो सदा ही परम कल्याणकारी है। पर तुम्हारा यह कहना मुझे रुचिकर नहीं लगा कि क्या 'वेद-प्रतिपादित ब्रह्म ही राम हैं?' ऐसा संदेह तो वेदार्थका ठीक ज्ञान न रखनेवाले ही करते हैं।

कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाषंडी हरि-पद-बिमुख जानहिं झूठ न साँच॥

शिवे! वास्तवमें 'ब्रह्म-तत्त्व' अचिन्त्य ही है। इसीलिये वेदोंने भी उसका वर्णन 'नेति, नेति' रूपसे ही किया है।

नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि निरूपा॥

तुमने कहा कि 'राम ही ब्रह्म हैं। क्या यह आपका स्वतन्त्र मत है?' पर तुम्हारा यह कथन समीचीन नहीं। श्रुति-विरुद्ध तो भगवत्-कथन भी आस्तिकोंको मान्य नहीं। इसीसे तो बुद्ध भगवान्‌के प्रति श्रद्धाका भाव रखते हुए भी उनकी वेद-विरुद्ध कथित बातोंको कोई भी आस्तिक स्वीकार नहीं करता—

अतुलित महिमा बेद की तुलसी कीन्ह बिचार।
बेदनिन्द निन्दित भयो बिदित बुद्ध अवतार॥

इसलिये मैं जो कुछ कहूँगा, वह श्रुति-सम्मत ही कहूँगा। जैसा मैंने पूर्वमें ही कहा कि वेद भी उस ब्रह्मके स्वरूपका यथार्थ निर्देश करनेमें मौन ही रहते हैं। तुम्हारा यह कथन किसी अंशमें यद्यपि ठीक ही है कि उपनिषदोंमें निर्गुण अचिन्त्यरूपका

ही विशेषरूपसे निर्देश किया गया है। पर यह तो असमर्थताके कारण ही; क्योंकि निर्गुण व्यापक रूपसे तो उसका समझाना कुछ सरल भी है। पर उसके दिव्य चिदानन्दमय सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा-समुद्र सगुण-साकार मंगल-विग्रहके असमोर्ध्व अचिन्त्यानन्त कल्याण-गुणगण और उसकी मुनि-मन-हारिणी कमनीय रूप-माधुरीका न तो यथार्थतः वर्णन ही किया जा सकता है, न उसे समझाया ही जा सकता है—

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन न जानइ कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

निर्गुण रूप तो विचारगम्य है और विचारका उत्पादन साधनोंसे संभव है। पर सगुण स्वरूप तो बिना प्रेमके समझा ही नहीं जा सकता। और प्रेम साधनसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता। वह तो प्रभु-कृपासे ही सम्भव है। इसलिये जहाँ-तक साधन-बल है, वहाँतकके स्वरूपका निर्देश कर सगुण-स्वरूपका केवल संकेत करते हुए ही उपनिषद् मौन हो जाते हैं। वेद तो स्वयं श्रीभगवान्‌के दर्शन एवं उनके प्रेमकी सदा आकाङ्क्षा करते रहते हैं। इसीलिये तो भूपालचूडामणि मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराघवेन्द्रके राज्याभिषेकके अवसर-पर चारों वेद 'बंदी बेष' में प्रभुके स्वरूपका विशद विवेचन करते हुए अन्तमें कहते हैं—

जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मन-पर ध्यावहीं।
ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥
करुनायतन प्रभु सद्गुनाकर देव यह बर माँगहीं।
मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥

वास्तवमें प्राकृतगुणरहित सगुण ब्रह्म वर्ण्य है ही नहीं। वे तो प्रेम ही करनेयोग्य हैं। वर्णन तो निर्गुणका ही सम्भव है। इसीसे अगस्त्यजीने प्रभुके चिन्मय स्वरूपका विवेचन करते हुए अन्तमें कहा—

जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥
अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥

जबतक प्रभु-कृपा किंवा संत-कृपासे हृदयमें प्रेमका प्राकट्य न हो जाय, तबतक प्रभुकी मङ्गलमयी लीलाका वर्णन सार्थक नहीं। गिरिजे! मैं स्वयं भी अनधिकारीके प्रति इसका उपदेश नहीं करता। तुम्हें मैं अपनी एक चोरी बता रहा हूँ। बात उस समयकी है, जब तुम दक्ष-तनया सतीके रूपमें मेरे निकट थीं, उस समय तुम्हारा चित्त बड़ा ही संशय-ग्रस्त था। इसीसे जब मैंने सुना कि प्रभु अपनी दिव्य लीलाका प्राकट्य करनेके लिये अयोध्यामें अवतरित हो गये हैं, तब मैंने इस सुसंवादका सुनाना तुमसे उचित न समझा। क्योंकि रसका प्रसङ्ग सच्चा रसिक ही समझ सकता है। हाँ, मैंने परमप्रभु-प्रेमी काकभुशुण्डिको अवश्य ही साथ ले लिया।

औरउ एकु कहउँ निज चोरी। सुनि गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी॥
काकभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुज रूप जानइ नहिं कोऊ॥
परमानंद प्रेम सुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले॥

पर अयोध्याकी बीथियोंमें विहरण करनेपर भी बिना प्रभु-दर्शनके हमारी तृप्ति न हुई। तब हम दोनोंने गुरु-शिष्य-रूपसे ज्योतिषीका बाना बनाया और अपने गुणका ख्यापन करनेके लिये अयोध्याके राजप्रासादकी दासियोंके पुत्रोंके हाथ देखने प्रारम्भ किये। अन्तमें दासियोंने जाकर कौसल्या अम्बासे इसकी सूचना दी—

अवध आजु आगमि एक आयो।
बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो॥

अन्तमें हम दोनोंकी मनोकामना पूर्ण हुई और कौसल्या अम्बाने अपने लालका भविष्य जाननेकी इच्छासे हमें भीतर बुलवा लिया। गिरिजे! शिशु-ब्रह्मके इस नव-नील-नीरद दिव्य वपुषको निहारकर नेत्रोंको जो आनन्द हुआ, वह वर्णनातीत है। वह उपनिषत्-कथित व्यापक ब्रह्म कौसल्या अम्बाकी नन्ही-सी गोदीमें पड़ा मन्द-मन्द मुसकरा रहा था। सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रकी यह प्रेमपराधीनता देख मेरे मुखसे बरबस ही निकल पड़ा कि—

व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद।
सो अज प्रेम-भगति-बस कौसल्या कें गोद॥

प्रिये! शिशु-ब्रह्मकी यह अद्भुत झाँकी, वाणीका नहीं, नेत्रका विषय है।

रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा। सो जानइ सपनेहुँ जेहिं देखा॥
प्रभु सोभा सुख जानहिं नयना। कहि किमि सकहिं तिन्हहि नहिं बयना॥

मङ्गलमय प्रभुके श्रीकरारविन्दोंको अपने हाथमें ले मैंने कालातीत प्रभुका भविष्य-कथन भी कर डाला। इस सौभाग्य-सुखसे मैं कुछ कालमें वञ्चित कर दिया गया। क्यों, उन-अनीह प्रभु लीला-प्रेम-विहारीको बुभुक्षा सता रही थी और वह पूर्णकाम वात्सल्य-सुधापरिपूर्ण पवित्र मातृ-स्तनोंका पान करनेके लिये अत्यन्त लालायित हो रहा था। प्रभुकी इस परम कौतूहलमयी लीलाका बार-बार स्मरण करता हुआ मैं कैलास-शिखरपर लौट आया। पर लौटनेपर भी यह रहस्य मैंने उस समय तुम (सती)से छिपा ही रक्खा और आज उसे तब व्यक्त कर रहा हूँ, जब तुम्हारे हृदयमें प्रभुको पहचाननेकी सच्ची जिज्ञासा जाग्रत् हो गयी है।

निर्गुण निराकार ब्रह्मकी उपनिषत्-कथित पद्धतिसे उपासनाके पश्चात् ही प्रभुके पुनीत पाद-पद्मोंमें प्रेम उत्पन्न होता है। उपनिषद्-ज्ञानकी परिसमाप्तिपर ही प्रभु-प्रेमका पावन प्रारम्भ होता है—

जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥
सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई। रामकृपा काहू इक पाई॥

ज्ञान-वैराग्यके द्वारा जिन्होंने अपने सच्चे नेत्रोंको प्राप्त कर लिया है, उपनिषद् केवल उन्हींको रघुवंशमणिके इस स्वरूपका संकेत करते हैं।

अब मैं तुम्हारे प्रश्नोंकी ओर आता हूँ। तुम्हारा यह कथन 'अगुण सगुण कैसे हो सकता है?' इसके लिये केवल जलका उदाहरण देना पर्याप्त है। जैसे जल बर्फ रूपमें परिणत होकर भी जल ही रहता है—उसमें कोई विकृति नहीं आती, उसी तरह निर्गुणका सगुण रूपमें परिणत होना है—

जो गुनरहित सगुन सोइ कैसे। जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥

तुम्हारा यह कथन भी सर्वथा भ्रान्त ही है—'व्यापक एकदेशीय हुए बिना अवतरित कैसे हो सकता है?' वास्तवमें अवतरित होनेपर भी सर्व देश उनमें ही निवास करते हैं। एक देशमें उनका दर्शन तो हमारे नेत्रकी सीमित शक्तिके कारण ही प्रतीत होता है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो सर्वव्यापकताकी सच्ची सिद्धि तो प्रभुके प्राकट्यकालमें ही सम्भव है; क्योंकि निर्गुण-निराकार रूपसे वह सर्वत्र है ही, इसका क्या प्रमाण? उसका होना तो केवल माना हुआ ही है; क्योंकि वह रूपवान् तो है नहीं। अवतारकालमें एक देशमें प्रतीत होते हुए भी 'सर्वदेश उसमें है और वह सर्वदेशमें है' यह स्पष्ट रूपसे सिद्ध हो जाता है। एक बार परम भक्त कागजीको ऐसा ही संदेह हो गया था।

श्रीदशरथजीके मणिमय प्राङ्गणमें शिशु-ब्रह्म बाल-क्रीड़ामें निमग्न था। महाभाग काग भी कौसल्यानन्दनकी इस मङ्गलमय लीलाका आनन्द लेनेके लिये 'लघु बायस बपु' धारण कर उनके निकट ही विचरण कर रहा था। अचानक प्रभुको एक विनोद सूझा। कागको और भी निकट बुलानेके लिये अपने हाथका मालपुआ उसकी ओर बढ़ा दिया। पर ज्यों ही प्रसादके लोभसे भुशुण्डि निकट आया, त्यों ही प्रभुने अपने श्रीकरारविन्दोंको खींच लिया। इस प्रकारका विनोद कुछ क्षणोंतक चलता रहा। कागके हृदयमें एक नवीन प्रश्न उठ खड़ा हुआ, प्रभुको न पकड़ सकनेकी इस असमर्थताको देखकर—

प्राकृत सिसु इव लीला देखि भयउ मोहि मोह।
कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंद-संदोह॥

फिर क्या था। प्रभुने अपनी भुजाएँ फैला दीं पकड़नेके लिये और काग भी अपनी सम्पूर्ण शक्तिके साथ उड़ चला। अपनी इस अवस्थाका वर्णन उसने इन शब्दोंमें किया है—

सप्ताबरन भेद करि जहाँ लगे गति मोरि।
गयउँ तहाँ प्रभु भुज निरखि ब्याकुल भयउँ बहोरि॥

लौटकर आना पड़ा प्रभुके उन्हीं अभयद चरणोंमें। पर प्रभुने सोचा सर्वव्यापकताके दर्शनको अधूरा ही क्यों छोड़ा जाय।

मुसकराकर राघवेन्द्रने मुँह खोला और तुरंत कागको उदरस्थ कर लिया। तब दिखायी पड़ा कागको वह आश्चर्यमय कौतुक, जिसका वर्णन उसने इन शब्दोंमें किया है—

उदर माझ सुनु अंडजराया। देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया॥
अति बिचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका॥
कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा। अगनित उडगन रबि रजनीसा॥
अगनित लोकपाल जम काला। अगनित भूधर भूमि बिसाला॥
सागर सरि सर बिपिन अपारा। नाना भाँति सृष्टि बिस्तारा॥
सुर मुनि सिद्ध नाग नर किन्नर। चारि प्रकार जीव सचराचर॥
जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूँ न समाइ।
सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ॥
एक एक ब्रह्मांड महुँ रहउँ बरष सत एक।
एहि बिधि देखत फिरउँ मैं अंड कटाह अनेक॥

इस प्रकार रामने भक्त कागको अपनी सर्वकारणता और सर्वाश्रयता दिखला दी।

× × × ×

वास्तवमें अवतार-कालमें भी ब्रह्म एक देशमें सीमित नहीं हो जाता। जैसे सूर्यमण्डल उतना लघु नहीं, जितना हमारे लघु नेत्रोंसे दीखता है, वह तो अकेला ही समग्र ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता रहता है। उसी तरह ब्रह्मका एक देशमें प्रतीत होनेमें भी अपना भ्रम ही मानना चाहिये। वहाँ भी वह सर्वदेशीय ही है, एकदेशीय नहीं।

रबिमंडल देखत लघु लागा। उदयँ तासु तिभुवन तम भागा॥

तुम्हारा यह कथन कि वह देह कैसे धारण कर सकता है? यह भी ब्रह्म रामके देहका ठीक स्वरूप न जाननेके कारण ही है। क्या उसका शरीर साधारण प्राणियोंका-सा पञ्चतत्त्वोंसे निर्मित है? वास्तवमें प्रभुमें तो देह-देहीका कोई भेद है ही नहीं, इसीलिये उनके देहको भी सच्चिदानन्दघन-विग्रह कहा जाता है।

चिदानंदमय देह तुम्हारी । बिगत बिकार जान अधिकारी ॥

सच्चिदानन्दमय होनेसे उनको इन मायिक नेत्रोंसे देखा भी नहीं जा सकता । प्रभुका स्वरूप इन्द्रियोंका विषय है ही नहीं, इसीसे वाल्मीकिजीने प्रभुकी वन्दना करते हुए कहा—

राम सरूप तुम्हार बचन अगोचर बुद्धिपर ।
अबिगत अकथ अपार नेति नेति नित निगम कह ॥

गिरिजे ! सृष्टिकी एक भी वस्तुका समग्र रूपसे वर्णन नहीं किया जा सकता; फिर सर्वमय और सर्वकारण एवं साथ ही सर्वपर तथा सब कार्यकारणातीत ब्रह्म रामका विवेचन बुद्धि या वाणीसे कैसे सम्भव है। प्रकाश्य प्रकाशकको प्रकाशित करे, क्या यह कभी देखा-सुना गया है ? राम तो इन्द्रिय, मन, देवता—सभीके प्रकाशक, जीवके भी परम प्रकाशक हैं। फिर अपनी उस बुद्धिसे हम उनके ठीक स्वरूप समझने या समझानेकी चेष्टा करें, यह कितनी हास्यास्पद बात है ?

बिषय करन सुर जीव समेता । सकल एक ते एक सचेता ॥
सब कर परम प्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ॥

इसीलिये कहना पड़ता है—

राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी । मत हमार अस सुनहु भवानी ॥

वे अवतार ही क्यों लेते हैं ? इसका भी ठीक उत्तर नहीं दिया जा सकता ? यह है भी उनके स्वरूपके अनुरूप ही । यदि ठीक बताया जा सकता तो वे भी ज्ञात विषयोंकी श्रेणीमें आ जाते । उनके अवतरित होनेके विषयमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी भावनाके अनुरूप ही अर्थ लेता है । देवता समझते हैं—हमारी रक्षाके लिये, धार्मिक मुनि समझते हैं धर्मरक्षाके लिये और राक्षसोंको भी यह सोचनेका अधिकार है कि वे उन्हें गति देनेके लिये आते हैं । वास्तवमें देखा जाय तो प्रभुके अवतार लेनेसे सभी जीवोंको कुछ-न-कुछ प्राप्त होता है । वे तो कारणातीत होनेसे सहज ही अवतरित होते हैं, पर उनके इस सहज कारुण्यसे असंख्य जीवोंको सन्मार्ग और कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है ।

अथवा यह भी कहा जा सकता है कि जिन अमलात्मा परमहंसोंने निर्गुणोपासनासे अपने कर्म-बन्धनोंका सर्वथा उच्छेद कर डाला है और ज्ञाननिष्ठामें सर्वथा परिनिष्ठित हैं, उनके ऊपर प्रसन्न होकर उनको अपने इस सच्चिदानन्द-विग्रहका प्रत्यक्ष दर्शन और भक्तियोगमें प्रवृत्त करानेके लिये ही प्रभु अवतरित होते हैं ।

शुभे ! सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमारोंको तो तुम जानती ही हो, उनका दिव्य-देह भौतिक नहीं; जिनकी सदा एकही-सी बाल्यावस्था बनी रहती है और नित्य-निरन्तर ब्रह्मानन्दमें सर्वथा परिनिष्ठ हैं, जिन्हें मूर्तिमान् वेद कहना भी अत्युक्ति न होगी—

ब्रह्मानंद सदा लयलीना । देखत बालक बहुकालीना ॥
रूप धरे जनु चारिउ बेदा । समदरसी मुनि बिगत बिभेदा ॥

उन्होंने भी जिस समय आनन्दकन्द प्रभुका श्रीअवध-धाममें दर्शन किया, सारी ज्ञाननिष्ठाको बहा दिया । करते भी क्या, प्रभुके कोटि-कन्दर्प-कमनीय श्रीअङ्गके दर्शनका प्रभाव ही ऐसा है । उन्होंने मनको निष्ठायुक्त बनाये रखनेकी बड़ी चेष्टा की; पर—

मुनि रघुबर छबि अतुल बिलोकी ।
भए मगन मन सके न रोकी ॥

नेत्र स्थिर हो गये, पलकें भी नहीं गिरतीं, प्रेमसे प्रभुके श्रीचरणोंमें बार-बार प्रणाम करते हैं और फिर तो उन्हें इस स्वरूपमें इतना अधिक आनन्द आया कि उन्होंने सदा-सर्वदाके लिये प्रभुसे प्रेमभक्तिकी ही कामना की ।

परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम ।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम ॥

क्या ब्रह्मविद्वरिष्ठ सनकादि-जैसे परम तत्त्वज्ञ और वेदार्थके यथार्थ ज्ञाता किसी साधारण राजकुमारको किंवा किसी लौकिक रूपको देखकर इस प्रकार विह्वल हो सकते हैं ? इससे तुम समझ सकती हो कि मैं ही नहीं, अपितु अन्य सभी वेदान्तपरिनिष्ठ महापुरुष रघुवंशशिरोमणि सच्चिदानन्दविग्रह भगवान् श्रीराघवेन्द्रको ब्रह्मसे अभिन्न ही नहीं—उनसे बढ़कर मानते हैं और ब्रह्मानन्दको भुलाकर उनकी भक्तिमें संलग्न हो जाते हैं ।

भेद तो उनको ही जान पड़ता है जो वासनामलिन और ज्ञाननेत्रविहीन हैं । यदि ऐसे लोग वेदका नाम लेकर भी वेदका प्रतिपादन करें तो उन्हें नास्तिक और वेदज्ञानशून्य ही समझना चाहिये । उनकी बातपर ध्यान न देना ही उचित है ।

अग्य अकोबिद अंध अभागी । काई बिषय मुकुर मन लागी ॥
लंपट कपटी कुटिल बिसेषी । सपनेहु संत सभा नहिं देखी ॥
कहहिं ते बेद असंमत बानी । जिन्ह के सूझ न लाभ न हानी ॥

और तब भगवान् पञ्चमुख शङ्करने अपना दृढ़ मत व्यक्त करते हुए पाँचों मुखोंसे कहा कि 'जिन्हें वेद ऐसा

कहते हैं, वे ही रघुवंश-शिरोमणि राम मेरे स्वामी हैं'—

(१) पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिवँ नायउ माथ॥

(२) बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥

(३) जौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई॥
जासु कृपाँ अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई

(४) बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना॥
आननरहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बक्ता बड़ जोगी॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा। गहइ घ्रान बिनु बास असेषा॥
जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान॥

(५) कासीं मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ बिसोकी॥
सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी॥

और अन्तमें उपसंहार करते हुए भगवान् शङ्करने कहा—

अस निज हृदय बिचारि तज संसय भजु राम पद।
सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम-तम रबिकर बचन मम॥

कल्याणमय शिवकी भ्रमभञ्जक वचनावलीको सुनकर गिरिराजनन्दिनीका सारा संदेह जाता रहा और राघवेन्द्र श्रीरामके श्रीचरणोंमें उन्हें अनुपम अनुराग हो गया। भगवान् शङ्करके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए वे बोलीं—

ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥
तुम्ह कृपाल सबु संसउ हरेऊ। राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ॥
नाथ कृपाँ अब गयउ बिषादा। सुखी भयउँ प्रभु चरन प्रसादा॥

श्रीपार्वतीजी ही नहीं, भूतभावन भगवान् शिवके इस पवित्र भाषणसे वहाँका कण-कण अपनेको कृतकृत्य अनुभव करने लगा।

उपर्युक्त विवेचनसे अवधेशशिरोमणि भगवान् श्रीरामका औपनिषद ब्रह्मसे अभेद ही नहीं सिद्ध होता, बल्कि उनके विशेषत्वका भी प्रतिपादन होता है। श्रीरामचरितमानसमें ऐसे प्रसंग और भी हैं, उनमेंसे एक प्रसंगको संक्षेपमें लिखकर लेख समाप्त किया जाता है।

भगवान् श्रीराघवेन्द्र तथा उनके अनुज श्रीलक्ष्मणजी महामुनि गुरु विश्वामित्रजीके साथ मिथिला पधारते हैं। विश्वामित्रजीकी आज्ञासे नगरसे बाहर सभी एक सुन्दर आम्रवाटिकामें ठहरते हैं। यह समाचार जब श्रीमिथिलेशको मिलता है तो वे परम प्रसन्न होकर पवित्र मन्त्री, सैनिक, ब्राह्मण, श्रेष्ठ गुरु और जातिके सरदारोंको साथ लेकर मुनिराजके दर्शनार्थ पधारते हैं। उस समय श्रीराघवेन्द्र अनुज श्रीलक्ष्मणजीके साथ पुष्पवाटिका देखने गये हुए थे। उनके पीछेसे सौभाग्यशाली महाराज जनक मुनिराजको साष्टाङ्ग प्रणाम करके और उनका आशीर्वाद प्राप्त करके एवं अन्यान्य ब्राह्मणोंको सादर नमस्कार करके मुनिकी आज्ञासे वहाँ बैठ जाते हैं। इतनेमें ही मृदु-वयस किशोर, नेत्रानन्द-दाता, विश्वचित्त-चौर श्याम-गौर दोनों भ्राता वहाँ आ पहुँचते हैं। उनके वहाँ पहुँचते ही इतना सहज प्रभाव पड़ता है कि सभी तेज-ज्ञान-वयोवृद्ध, योगीन्द्र, मुनीन्द्र, वीरेन्द्र, विप्रेन्द्र आदिके सहित जीवन्मुक्त-शिरोमणि तथा सच्चे जिज्ञासुओंको ब्रह्म-तत्त्वका उपदेश देनेवाले विदेहराज जनक सहसा उठ खड़े होते हैं और अपने-आप बैठना भूल जाते हैं। मुनि विश्वामित्रके बैठानेपर बैठते हैं। उस समय सबकी क्या दशा होती है और प्रेम-सुधा-सागर-निमग्न विदेहराज मुनिराजसे क्या पूछते हैं, इसको रामचरितमानसकी भाषामें ही सुनिये—

भए सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता॥
मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥
प्रेममगन मनु जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर।
बोलेउ मुनि पद नाइ सिरु गदगद गिरा गभीर॥
कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद-चकोरा॥
इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

जिनके दिव्य मधुर सौन्दर्यके दर्शनमात्रसे सहज वैराग्यमय चित्तवाले जनक चकोर बनकर श्रीराघवेन्द्रके मुखचन्द्रको निर्निमेष देखते रह जाते हैं, इतना आत्यन्तिक प्रेमानन्द उत्पन्न होता है कि उनका ब्रह्मानन्दमें नित्य-निमग्न मन उसे छोड़ देनेको बाध्य होता है और आँखोंसे आँसू बहाते हुए गद्गद होकर वे बड़ी गम्भीरताके साथ जिन सौन्दर्य-सुधा-निधिका सच्चा परिचय जानना चाहते हैं, वे रामचरितमानसके श्रीराघवेन्द्र साक्षात् औपनिषद ब्रह्म हैं या ब्रह्मसे भी बढ़कर कोई परम तत्त्वविशेष हैं, इसका विचार विज्ञ और रसिक पाठक ही करें।

जैन उपनिषदोंका सार

(रचयिता—श्रीसूरजचंदजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी')

आनन्द शान्तिमय हम, मंगल-स्वरूप पायें।
अविचल विमल सुपदमें अविलम्ब जा समायें ॥ध्रु०॥

कल्याणमय शरण है परमात्म-भाव अपना।
जगका ममत्व सारा, समझा अनित्य सपना॥

हम हैं सदा अकेले, क्यों मुग्ध मन बनायें।
अविचल विमल सुपदमें अविलम्ब जा समायें॥ १॥

अपवित्र देहमें अब आसक्ति छोड़ देंगे।
मिथ्यात्व अव्रतोंसे निज वृत्ति मोड़ देंगे॥

सम्यक्त्व धर्म संयम तपमें हृदय रमायें।
अविचल विमल सुपदमें अविलम्ब जा समायें॥ २॥

परदेश लोक सारा, निज देश सिद्धि-थल है।
लोकाग्र स्थित हमारा प्यारा अनन्त बल है॥

निर्ग्रन्थ गुरु मिले जब सत्पन्थ क्यों भुलायें।
अविचल विमल सुपदमें अविलम्ब जा समायें॥ ३॥

अर्हन्त देवका जब रूपस्थ ध्यान ध्याया।
पद और पिंडको भी उस रूपमें मिलाया॥

सब नाम रूप तज कर फिर लोकमें न आयें।
अविचल विमल सुपदमें अविलम्ब जा समायें॥ ४॥

निश्चय अवाच्य ही है, व्यवहार सब कथन है।
पर्य्याय दृष्टिसे ही, यह आगमन गमन है॥

द्रव्यार्थ नय अपेक्षा हम मुक्त ही कहायें।
अविचल विमल सुपदमें अविलम्ब जा समायें॥ ५॥

जब तक स्वदेहमें हम, तब तक न ध्येय पूरा।
आलस्य भावसे क्यों, कर्तव्य हो अधूरा॥

पर तुच्छ वासनाका बन्धन नहीं लगायें।
अविचल विमल सुपदमें अविलम्ब जा समायें॥ ६॥

क्या सूर्य-चन्द्रने भी कुछ अंधकार जाना।
अज्ञान तम हटाया, यह लोक शब्द माना॥

निजमें अकर्म बनकर, भव कर्म भय मिटायें।
अविचल विमल सुपदमें अविलम्ब जा समायें॥ ७॥

आनन्द शान्तिमय हम, मंगल-स्वरूप पायें।
अविचल विमल सुपदमें अविलम्ब जा समायें॥

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और औपनिषद ब्रह्म

पद्मयोनि, प्रपञ्चनिर्माता पितामहके नेत्रोंसे अश्रुके निर्झर झर रहे थे। व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके नवजलधर श्याम अङ्ग, अङ्गोंमें विद्युत्प्रभ पीताम्बर, कर्णयुगलमें गुञ्जानिर्मित अवतंस, चूडापर राजित मयूरपिच्छ, वक्षःस्थलपर वनमाला, हस्तपुटमें दधिमिश्रित ग्रास, काँखमें दबे हुए वेत्र एवं शृङ्ग, कटिफेंटमें खोंसी हुई मुरली, सुकोमल चरण-सरोज—इनकी शोभा, इनके आलोकमें वेद-उपनिषद् ज्ञानके प्रथम अनुभवी उन आदि-ऋषि ब्रह्माका समस्त सञ्चित ज्ञान हतप्रभ हो चुका था। जिनके स्वरूपका साक्षात् वर्णन करनेमें श्रुतियाँ सर्वथा असमर्थ हैं, केवलमात्र स्वरूपसे अतिरिक्त वस्तुओंका निषेध-मात्र करती हैं—

अस्थूलमनण्वहस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमो-ऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनो-ऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यम्।

(बृहदारण्यक० ३। ८। ८)

'वह न स्थूल है, न अणु है, न क्षुद्र है, न विशाल है, न अरुण है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न सङ्ग है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कर्ण है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, उसमें न अन्तर है, न बाहर है।'

—इस प्रकार निरसन करते-करते जहाँ जाकर वे परिसमाप्त हो जाती हैं; जिनमें अपने आपको खो बैठती हैं, जिनमें अपना अस्तित्व विलीन कर सफल हो जाती हैं—

यच्छ्रुतयस्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः।

(श्रीमद्भागवत वेदस्तुति १०। ८७। ४१)

—वे आज स्वयं ब्रह्माके सामने दृष्टिके विषय होकर खड़े थे। इतना ही नहीं; क्षणभर-पूर्व उनके अपने निर्निमेष नयनोंने देखा था—व्रजेन्द्रतनयके पार्श्ववर्ती वे समस्त गोवत्स, गोपशिशु, नव-नील-नीरद-वर्ण, पीतपट्टाम्बर-परिशोभित शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म-करधारी, मणिमुकुटधारी, मणिकुण्डल-मुक्ताहारशोभित, वनमाली चतुर्भुजके रूपमें परिणत हो गये थे। उनमेंसे प्रत्येक मूर्तिके वक्षःस्थलमें श्रीवत्स, भुजाओंमें अङ्गद, हाथोंमें रत्नमय वलय एवं कङ्कण, चरणोंमें नुपूर एवं कड़े, कटिदेशमें करधनी, अङ्गुलियोंमें अङ्गुरीयक (अँगूठी) विराजित थी। अतिशय भाग्यशाली भक्तोंके द्वारा समर्पित नव-तुलसीकी मालाएँ नख-से-सिखपर्यन्त समस्त अङ्गोंमें आभरण बनी थीं; चन्द्रज्योत्स्ना-सी मन्द मुसकान अधरोंपर नृत्य कर रही थी। अरुणिम नेत्रोंकी चितवनसे मधु झर रहा था। अरुण नेत्र मानो रजके प्रतीक थे, भक्तोंके अन्तस्तलमें, क्षण-क्षणमें नव-नव मनोरथ (सेवा-वासना) का सृजन कर रहे थे और वह उज्ज्वल हास मानो सत्त्वका प्रतीक था, जो अधरोंपर नाच-नाचकर भक्तोंके मनोरथका पालन कर रहा था। फिर अगणित असंख्य ब्रह्मा वहाँ उपस्थित थे; ब्रह्मा ही नहीं, उनसे लेकर तृणपर्यन्त समस्त चराचर जीव मूर्तिमान् होकर उपस्थित थे और नृत्य-गीत-सहित यथायोग्य विविध उपहार समर्पित करते हुए उन अनन्त चतुर्भुज मूर्तियोंकी उपासना कर रहे थे। अणिमादि सिद्धियाँ, माया विद्या आदि विविध शक्तियाँ, महत्तत्त्व आदि चौबीस तत्त्वोंके अधिष्ठातृदेवता—सभी सेवाकी प्रतीक्षामें उन्हें घेरे खड़े थे। प्रकृति-क्षोभमें हेतु काल, प्रकृति-परिणाममें हेतु स्वभाव, वासनाका उद्बोधक संस्कार, काम, कर्म, गुण आदि—इन सबके अधिष्ठातृदेवता उन प्रत्येक भगवद्रूपकी अर्चना कर रहे थे। भगवत्-प्रभावके समक्ष उन देवोंकी सत्ता-महत्ता नगण्य बन चुकी थी। ब्रह्माने देखा—वे अगणित भगवत्स्वरूप—ओह! सब-के-सब त्रिकालाबाधित सत्य हैं। ज्ञान-स्वरूप—स्वप्रकाश हैं। अनन्त हैं। आनन्दस्वरूप हैं। एक-रस हैं। इनके अचिन्त्य, अनन्त, माहात्म्यकी उपलब्धि तो उपनिषद्—आत्मज्ञानकी दृष्टि रखनेवाले पुरुषोंके लिये भी सम्भव नहीं—

सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः ।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम्॥

(श्रीमद्भा० १०। १३। ५४)

आज ब्रह्मा **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** * परब्रह्म सत्य है, ज्ञानस्वरूप है, अनन्तस्वरूप है, **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'**† परब्रह्म विज्ञानस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है, इन श्रुतियोंसे प्रतिपाद्य तत्त्वको प्रत्यक्ष देख चुके थे। जिन परब्रह्मात्मक गोपेशतनय श्रीकृष्णचन्द्रकी स्वप्रकाश-शक्तिसे यह परिदृश्यमान सचराचर विश्व प्रकाशित होता है, उनके नित्य पार्षद—गोपशिशुओं-को, गोवत्सोंको ब्रह्माने आज उपर्युक्त रूपमें एक साथ एक समय देखा था—

---

* तैत्तिरीय० २। १। १

† बृहदारण्यक० ३। ९। २८

एवं सकृद्दृशाजः परब्रह्मात्मनोऽखिलान्।
यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। ५५)

यह देखकर उनकी क्या दशा हुई थी, यह वे ही जानते थे। फिर तो उनकी दशासे करुणार्द्र हुए श्रीकृष्णचन्द्रने अपनी योग-मायाकी यवनिका हटा दी थी और तब उन्होंने देखा था—वही वृन्दावन है, वहाँ ठीक पहलेकी भाँति अद्वय, अनन्त, ज्ञानस्वरूप परब्रह्म अपने प्रिय गोप-शिशुओंको, गोवत्सोंको ढूँढ़ता फिर रहा है, लीलारस-पानमें प्रमत्त है, दधिमिश्रित ग्रास भी कर-कमलोंमें ठीक वैसे ही सुशोभित है—

तत्रोद्वहत्पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं
ब्रह्माद्वयं परमनन्तमगाधबोधम्।
वत्सान् सखीनिव पुरा परितो विचिन्व-
देकं सपाणिकवलं परमेष्ठ्यचष्ट॥
(श्रीमद्भा० १०। १३। ६१)

पितामह देखकर विह्वल हो गये। श्रीकृष्णचन्द्रको असंख्य प्रणाम कर चुकनेपर उन्हें कहीं धैर्य आया था। फिर भी आँखोंसे अनर्गल अश्रु-प्रवाह बह रहा था तथा अश्रुपूरित कण्ठसे वे व्रजेन्द्रनन्दन—नराकृति परब्रह्मका स्तवन कर रहे थे।

अन्तस्तलमें पश्चात्तापकी ज्वाला जल रही थी—'आह! कहाँ इतना क्षुद्र मैं, और कहाँ इतने महान् नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र! मैं अपनी क्षुद्र मायासे इतने महान्‌को मोहित करने चला था। इस गुरु अपराधके लिये क्षमा कैसे मिलेगी?' पर नहीं।—आशाकी एक किरण परमेष्ठीके अन्तस्तलमें सञ्चित एक श्रुतिने जगा दी।

'यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितम्।'*

इस परब्रह्मका जो कुछ भी यहाँ है और जो कुछ भी नहीं है, वह सब सम्यक् प्रकारसे इसीमें स्थित है। वेदगर्भ आनन्दप्लुत होकर स्तुतिमें पुकार उठे—"अधोक्षज! शिशु अपनी जननीके गर्भमें रहता है, अज्ञानवश न जाने कितनी बार चरणोंसे प्रहार करता है; किंतु माता क्या इससे रुष्ट होती है! फिर तुम्हीं बताओ श्रीकृष्णचन्द्र! 'है' और 'नहीं है' इन शब्दोंसे लक्षित कोई भी वस्तु तुम्हारी कुक्षि—उदरसे बाहर है क्या? अनन्त ब्रह्माण्ड, ब्रह्माण्डगत समस्त जीव-समुदाय, समस्त वस्तुएँ—सब कुछ तो तुम्हारे भीतर अवस्थित है। तुम्हारे किसी एक क्षुद्रतम देशमें अवस्थित प्राणीको तुम्हारी अनन्त महिमा, अनन्त स्वरूपका ज्ञान हो, यह भी कभी सम्भव है? तुम्हें न जानकर तुम्हारे प्रति जो कोई भी कुछ सोच लेगा, कर लेगा—वह अनुचित, अयथार्थ होनेपर तुम क्या रुष्ट हो जाओगे? नहीं, कदापि नहीं। अबोध शिशुकी भाँति ही, तुम्हारी महिमासे अनभिज्ञ रहकर मैंने यह अपराध किया है, तुम मुझे निश्चय क्षमा करोगे"—

उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः
किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे।
किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं
तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। १२)

विधाताने सारा वेदज्ञान लगा दिया था इस प्रयासमें कि कदाचित् किसी अंशमें व्रजेन्द्रनन्दनकी महिमाके क्षुद्रतम अंशको भी वे स्पर्श कर सकें। कहते-कहते वे श्रान्त नहीं होते थे; किंतु सहसा अब उनके चित्तमें व्रजवासियोंका स्फुरण हो आया। वे व्रजवासियोंकी महिमाका कीर्तन करने लगे—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ३२)

'अहो! व्रजराज, व्रजवासी गोपोंका ही भाग्य धन्य है। वस्तुतः उनका ही अहोभाग्य है। परमानन्दस्वरूप सनातन परिपूर्ण ब्रह्म जिनका सुहृद्, मित्र, पुत्र, कलत्र, प्रियजन होकर रहे, उनके अनन्त असीम सौभाग्यका क्या कहना!'

फिर तो पितामहमें एक ही चाह बची थी और उसे पूर्ण करनेके लिये वे प्रार्थना कर रहे थे—

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्द-
स्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ३४)

'गोपेन्द्रतनय! अनादिकालसे अबतक श्रुतियाँ तुम्हारी चरणधूलिकी खोज कर रही हैं, किंतु पा नहीं रही हैं। फिर साक्षात् तुम्हें कैसे पा सकेंगी? पर इन व्रजवासियोंने तुम्हें पा लिया। पाकर एकमात्र तुम्हें ही अपना जीवनसर्वस्व बनाया। अतः प्रभो! मेरे लिये परम सौभाग्यकी बात एक ही है। वह यह कि मनुष्यलोकमें और फिर वृन्दावनमें, और वहाँ भी नन्दगोकुलमें कीट, पतङ्ग, तृण, गुल्म आदिमें-

* छान्दोग्योपनिषद् ८। १। ३

से कुछ भी होकर—किसी योनिका कुछ भी बनकर मेरा जन्म हो जाय तथा इन व्रजवासियोंमेंसे किसी एककी भी चरणधूलि-कणका स्पर्श पाकर मैं कृतार्थ हो जाऊँ, ब्रह्मपद मुझे नहीं चाहिये नाथ !'—

कहु मोहिं ब्रज-रेनु देहु बृंदाबन बासा ।
माँगौं यहै प्रसाद और मेरैं नहिं आसा ॥
जोइ भावै सोइ करहु तुम, लता सिला द्रुम, गेहु ।
ग्वाल गाइ कौ भृत करौ, मानि सत्य ब्रत एहु ॥
जो दरसन नर नाग अमर सुरपतिहुँ न पायौ ।
खोजत जुग गए बीति अंत मोहूँ न लखायौ ॥
इहिं ब्रज यह रस नित्य है, मैं अब समुझ्यौं आइ ।
दावन-ब्रज ह्वै रहौं, ब्रह्म लोक न सुहाइ ॥

जगद्विधाताने उन परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्रकी तीन परिक्रमा की और वे अपने धामकी ओर चल पड़े । यह है उपनिषत्-प्रतिपादित परब्रह्मकी एक झाँकी, जो एक बार वेदज्ञानके आदि-आचार्य, आदि-ऋषि ब्रह्माको हुई थी ।

एक बार देवर्षि नारदको भी परब्रह्मकी विचित्र ही झाँकी हुई थी । नन्दप्राङ्गणकी धूलिमें परब्रह्म लोट रहा था, एवं समीपमें खड़ी यशोदारानी हँस रही थीं । वीणाकी झंकार करते, हरिगुण गाते देवर्षि सौभाग्यसे वहीं जा पहुँचे । वहाँ जो कुछ देखा, उसपर न्यौछावर हो गये । बोल उठे—

किं ब्रूमस्त्वां यशोदे कति कति सुकृतक्षेत्रवृन्दानि पूर्वं गत्वा कीदृग्विधानैः कति कति सुकृतान्यर्जितानि त्वयैव ।
नो शक्रो न स्वयम्भूर्न च मदनरिपुर्यस्य लेभे प्रसादं तत् पूर्णं ब्रह्म भूमौ विलुठति विलपत् क्रोडमारोढुकामम् ॥

'यशोदे ! व्रजेश्वरि ! तुम्हें क्या कहूँ, न जाने तुमने किन-किन पुण्यक्षेत्रोंमें जाकर किन-किन विधि-विधानोंसे कितने-कितने पुण्य सञ्चय किये हैं, जिसके फलस्वरूप तुम्हें यह अनुपम सौभाग्य प्राप्त हुआ । सुरेन्द्रने जिसके कृपाकटाक्षके दर्शन नहीं पाये, कमलयोनिने जिसकी कृपा नहीं पायी, मदनारि महादेवने जिसकी अनुभूति नहीं की, वह कृपा, वह प्रसाद तुम्हें मिला । ओह ! वह पूर्णब्रह्म तुम्हारी गोदमें चढ़नेके लिये रो-रोकर पृथिवीपर लोट रहा है और तुम उसे उठा नहीं रही हो । तुम्हारे सौभाग्यकी यही तो चरम सीमा है व्रजरानी !'

अस्तु, ब्रह्मको क्रन्दन करते देखकर देवर्षिका रोम-रोम खिल उठा, हरिगुणके स्थानपर वे यशोदारानीका सुयश गाते चल पड़े ।

लीलाशुकको भी एक झाँकी मिली । उन्होंने देखा—आगे-आगे परब्रह्म भागा जा रहा है, पीछे-पीछे गोपमहिषी श्रीयशोदा उसे पकड़नेके लिये, हाथमें छड़ी लेकर दौड़ी जा रही हैं । शुकने एक दृष्टि परब्रह्मकी ओर डाली और फिर परब्रह्मकी जननीकी ओर । परब्रह्म एवं जननीकी चालमें अन्तर अवश्य था; वह उस दौड़में आगे बढ़ रहा था, जननी श्रीअङ्गोंकी स्थूलताके कारण अस्त-व्यस्त होकर पीछे होती जा रही थीं—

जसु पै तैसें जाइ न जाइ, श्रोनी-भर अरु कोमल गाइ ।
खसत जु सिर तैं सुमन सुदेस, जनु चालन पर रीझे केस ।
आगे फूल की बरषा करैं, तिन पर ब्रजरानी पग धरैं ।

पर इससे क्या हुआ । जननीने परब्रह्मके हाथ पकड़ ही लिये—

जोगीजन-मन जहाँ न जाहीं, इत सब बेद पचे बिललाहीं ॥
ताहि जसोमति पकरति भई, रहपट एक बदन पर दई ॥

तथा फिर ? उसे पकड़कर ऊखलसे बाँध दिया—

जद्यपि अस ईश्वर जगदीस, जाके बस बिधि, बिष्नु, गिरीस ।
ताहि जसोमति बाँधति भई, रसना प्रेममई दिढ़ नई ॥

× × × ×

जिन बाँध्यो सुर असुर नाग मुनि प्रबल कर्मकी डोरी ।
सोइ अबिच्छिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरी ॥

× × × ×

निगम सार देखौ गोकुल हरि ।
जाकौ दूरि दरस देवनिकौं, सो बाँध्यौ जसुमति ऊखल धरि ॥

लीलाशुक इस झाँकीपर न्यौछावर हो गये । पुकार उठे—

परमिममुपदेशमाद्रियध्वं
निगमवनेषु नितान्तखेदखिन्नाः ।
विचिनुत भवनेषु वल्लवीना-
मुपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम् ॥

'अरे, ओ ब्रह्मको ढूँढ़नेवालो ! इधर सुनो, वेदान्त-वन-में परब्रह्मको ढूँढ़ते-ढूँढ़ते तुम उसे न पाकर दुःखसे अतिशय खिन्न हो रहे हो । इधर आ जाओ, मैं तुम्हें परम उपदेश दे रहा हूँ, उसका आदर करो । सुनो । गोपसुन्दरियोंके भवनोंमें उसे ढूँढ़ो । यह देखो—यहाँ उपनिषद्का अर्थ उलूखलमें बँधा पड़ा है ! इसे ढूँढ़ लो, पा लो ।'

शुकका यह उपदेश अनन्त आकाशमें विलीन हो गया । पर नष्ट नहीं हो गया । उसके अक्षर-अक्षर वर्तमान हैं । इसलिये

किसी श्रान्त पथिकने, परब्रह्मके अन्वेषणमें निराश हुए किसी मनीषीने इसे हठात् सुन लिया। इस ओर आया और उसे परब्रह्म मिल गये। आनन्दोन्मत्त हुए उसके प्राण गाने लगे—

निगमतरोः प्रतिशाखं मृगितं
मिलितं न तत्परं ब्रह्म।
मिलितं मिलितमिदानीं
गोपवधूटीपटाञ्चले नद्धम्॥

'ओह! कितना परिश्रम किया था, वेदान्त-वृक्षकी प्रत्येक शाखा ढूँढ़ ली थी, पर वह परब्रह्म तो नहीं ही मिला। पर देखो! देखो! मिल गया! मिल गया! अब मिला है, वह रहा, गोपसुन्दरीके अञ्चलसे संनद्ध होकर वह परब्रह्म अवस्थित है!'

एकने परब्रह्मकी अनुभूति ऐसे की थी—वह चित्सरोवरमें निमग्न हो चुका था। सहसा अनुभूति हुई—मैं हूँ, मेरी एक देह भी है, मन भी है, बुद्धि भी है, प्राण भी है। ये देह आदि तत्त्वतः क्या हैं? चिदानन्दसरोवरकी लहरें हैं, इतना ही कहना सम्भव है, वस्तुतः अचिन्त्य हैं, अतर्क्य हैं, अनिर्वचनीय हैं। अस्तु, उसने अनुभव किया—'हैं! मैं तो एक गोपसुन्दरी हूँ! ठीक, ये कौन हैं? मेरी सखियाँ हैं। और यह क्या है? उस गोपसुन्दरीने उस ओर देखा। देखते ही वह दृश्य नेत्रोंमें, प्राणोंमें समा गया। विक्षिप्त-सी हुई वह दौड़ चली। उसकी सखियाँ उससे पूछ रही थीं, पर उसे बाह्यज्ञान नहीं था। बड़ी देरके पश्चात् बाह्यचेतनाका सञ्चार हुआ और वह बोली—

शृणु सखि! कौतुकमेकं नन्दनिकेताङ्गने मया दृष्टम्।
गोधूलिधूसरिताङ्गो नृत्यति वेदान्तसिद्धान्तः॥

'री सखि! सुन! मैंने एक कौतुक देखा है। नन्द-प्रासादके प्राङ्गणमें चली गयी थी। वहाँ देखा—अरे! यहाँ तो वेदान्तका सिद्धान्त नृत्य कर रहा है! आह बहिन! और क्या बताऊँ! नृत्यशील उस परब्रह्मके नवमेघश्यामल अङ्ग गोधूलिसे सन रहे थे, समस्त अङ्ग धूलिधूसरित थे। उस छबिको कैसे बताऊँ!'

एक और भाग्यवान्‌ने नन्दभवनमें परब्रह्मको देखा था। वह तो लौटा नहीं। उसके प्राकृत शरीरके मन, प्राण, इन्द्रियोंमें उस अनुभूतिकी छाया पड़ी और वाणी बोल उठी—

श्रुतिमपरे स्मृतिमपरे भारतमपरे भजन्तु भवभीताः।
अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म॥

'जो संसारके भयसे डरे हुए हों, वे भले ही कोई तो श्रुतिका, कोई स्मृतिका, कोई महाभारतका भजन करें। मैं तो नन्दबाबाका भजन करता हूँ, उन्हें प्रणाम करता हूँ जिनके अलिन्ददेश (बाहरके चबूतरे) पर साक्षात् परब्रह्म विराजित हैं।'

उसीकी चित्तभूमिपर परब्रह्मकी एक और अभिनव झाँकीकी छाया पड़ी और वह गाने लगा—

कं प्रति कथयितुमीशे सम्प्रति को वा प्रतीतिमायातु।
गोपतितनयाकुञ्जे गोपवधूटीविटं ब्रह्म॥

'किससे जाकर कहूँ? और कह देनेपर भी मेरी इस विचित्र अनुभूतिपर विश्वास हीं कौन करने लगा; किंतु मत करें, सत्य तो सत्य ही रहेगा। ओह! मैंने देखा है—रविनन्दिनी श्रीयमुनाके पुलिनपर एक निकुञ्जमें एक गोपसुन्दरीके विशुद्ध प्रेमामृतके पानसे मत्त हुआ, रसलम्पट हुआ, परब्रह्म क्रीड़ामें संलग्न है।'

भक्त रसखानने भी परब्रह्मका अनुभव किया। आत्मविस्मृत हो गये। उस अनुभूतिका रस इतना मादक था कि वाणी नियन्त्रणमें न रही। बुद्धि विशुद्ध हो, इन्द्रियाँ संयमित हों, दिनचर्या परम सात्त्विक हो, विषय छूट गये हों, राग-द्वेषका अभाव हो गया हो, ब्रह्मकी ओर वृत्ति सदा एकतान लगी हो, उत्कट वैराग्य हो; अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध, परिग्रह, ममतासे मन सर्वथा अलग हो गया हो, नित्य शान्तिकी धारा अन्तःकरणको प्लावित करती हो*—उसके सामने यह अनुभूति प्रकाशित करनेमें आपत्ति नहीं; किंतु इससे पूर्व तो इस अनुभूतिको सुनकर कोई समझेगा ही नहीं, सुनना भी नहीं चाहेगा और कदाचित् सुनकर, दुर्बलतावश दुरुपयोग भी कर लेगा। पर 'रसखान' स्वयं तो कहते समय, मन-इन्द्रियोंसे सदाके लिये सम्बन्ध तोड़ चुके थे, अवश्य ही लोकदृष्टिमें ज्यों-के-त्यों थे। किसीने पूछा उनसे परब्रह्मका पता और ब्रह्मरसमें निमग्न रसखानकी वाणी सरलतावश सङ्केत कर बैठी—

ब्रह्म मैं ढूँढ्यो पुरानन गानन, बेद रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूँ न कितू, वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन॥
टेरत हेरत हारि पर्‌यो रसखानि, बतायो न लोग लुगायन।
देखो, दुर्‌यो वह कुंज-कुटीरमें, बैठो पलोटत राधिका पायन॥

* बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
(गीता १८। ५१—५३)

भक्त सूरदासकी ज्योतिहीन आँखोंमें भी परब्रह्मकी ज्योति जाग उठी और उन्होंने भी—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥
(मुण्डक० ३ । २ । ८)

'जिस प्रकार निरन्तर बहती हुई नदियाँ अपने नाम-रूपको त्यागकर समुद्रमें अस्त हो जाती हैं उसी प्रकार विद्वान् नाम-रूपसे मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुषको प्राप्त हो जाता है।'

—ऐसा ही वर्णन अपने एक गीतमें सुनाया। वे गाने लगे—

जैसे सरिता मिली सिंधुसों उलटि प्रवाह न आवे हो ।
तैसे सूर कमल-मुख निरखत चित इत उत न डुलावे हो ॥
× × × ×
सरिता निकट तड़ागके हो दीनों कूप बिदारि ।
नाम मिट्यौ सरिता भई अब कौन निबेरे बारि ॥
× × × ×
बिधि भाजन ओछो रच्यो हो लीलासिंधु अपार ।
उलटि मगन तामें भयौ अब कौन निकासनहार ॥

परब्रह्मका वास्तविक पूर्ण अनुभव तो वहाँ ही है, जहाँ हमारा मन, हमारी इन्द्रियाँ मरें नहीं, अपितु उस चिदानन्द-रसका स्पर्श पाकर अमर हो जायँ। परब्रह्म रसस्वरूप है, उस रसको पाकर ही पुरुष आनन्दका अनुभव करता है—

रसो वै सः । रसꣳह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ।
(तैत्तिरीय० २ । ७)

फिर वह किसीको मारे, यह सम्भव नहीं। यह सत्य है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।'*

इन्द्रियोंके सहित मन परब्रह्मको न पाकर लौट आता है; किंतु यदि वह स्वयं मन-इन्द्रियोंमें उतर आवे तो उसे कौन रोक सकता है ? क्या उसपर भी कोई बन्धन है ? और वास्तवमें तो वह मिलता ही है उसे, जिसे वह स्वयं वरण करता है, वरण करके अपने स्वरूपको उसके प्रति अभिव्यक्त कर देता है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳस्वाम् ॥
(कठ० १ । २ । २३)

अतः यह तो वरण करनेवालेकी इच्छा है कि वह अपने किस स्वरूपमें किसका वरण करे। वह तो सर्वतन्त्रस्वतन्त्र है, श्रुतियोंकी सीमामें नहीं है। इसीलिये कभी-कभी वह मन-इन्द्रियोंमें भी अपना चिदानन्दमय रस भरकर वहाँ क्रीड़ा करने लग जाता है। नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्रने तो यही किया। चाहनेवालेके मन-इन्द्रियोंमें भी वे अपना स्वरूपभूत रस देकर स्वयं उसका रस लेने लगे—

परम रस पायो ब्रजकी नारि ।
जो रस ब्रह्मादिकको दुर्लभ सो रस दियो मुरारि ॥
दरसन सुख नयननको दीनों रसनाको गुन गान ।
बचन सुनन श्रवननको दीनों बदन अधर-रस पान ॥
आलिंगन दीनो सब अंगन भुजन दियो भुजबंध ।
दीनी चरन बिबिध गति रसकी नासाको सुख गंध ॥
दियो काम सुख भोग परमफल त्वचा रोम आनंद ।
ढिंग बैठिबो दियो नितंबन लै उछंग नँदनंद ॥
मनको दियो सदा रस-भावन सुख-समूहकी खान ।
रसिक-चरन-रज ब्रजयुवतिनकी अति दुर्लभ जिय जान ॥

ऐसे रसमय परब्रह्म नन्दनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रसे चित्तवृत्तिका जुड़ जाना ही उपनिषद्के स्वाध्यायका फल है।

यही उपनिषद्-ज्ञानका मधुर परिणाम है। सच्ची बात तो यह है कि उपनिषद्की ज्ञानसरिताएँ जब प्रेम-समुद्रमें जाकर—उसमें घुल-मिलकर अपने पृथक् अस्तित्वको सर्वथा छिपा लेती हैं, तभी नित्य-नवीन, सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा-रस-सिन्धु योगीन्द्र-मुनीन्द्र-परिसेवित-पादारविन्द परब्रह्म मदनमोहन व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रके दिव्य नित्य चिदानन्दरसमय स्वरूप-साम्राज्यमें प्रवेशका पथ मिलता है। इस रस-साम्राज्यमें किञ्चित् प्रवेश पाकर किन्हीं एक परम विद्वान् महात्माने मुक्तकण्ठसे कहा था—

ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते ।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनोदरे किमपि यन्नीलं महो धावति ॥
वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्
पीताम्बरादरुणबिम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्
कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥*

'यदि योगीजन ध्यानके अभ्याससे वशमें किये हुए मनके द्वारा उस निर्गुण, निष्क्रिय एवं अनिर्वचनीय परम ज्योतिका दर्शन करते हैं तो वे करते रहें, हमारे नेत्रोंमें तो वह एकमात्र श्याममय प्रकाश ही चिरन्तन कालतक चमत्कार उत्पन्न करता

* तैत्तिरीय० २ । ४

* देखिये गीता मधुसूदनी टीका अध्याय १३ और १५ की टीका

रहे, जो कि श्रीयमुनाजीके उभय तटोंके भीतर इधर-उधर दौड़ता फिरता है।'

'जिसके दोनों हाथ बाँसुरी बजाते हुए शोभा पा रहे हैं, श्रीअङ्गोंकी कान्ति नूतन जलधरके समान श्याम है, शरीरपर पीताम्बर सुशोभित है, ओष्ठ पके हुए बिम्बाफलके समान लाल-लाल हैं, परम सुन्दर मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान आनन्ददायक है और नेत्र विकसित कमलकी-सी शोभा धारण करते हैं, उस श्रीकृष्णसे बढ़कर या उससे परे किसी श्रेष्ठ तत्त्वको मैं नहीं जानता।'

यही नहीं; श्रीकृष्णके प्रेम-साम्राज्यमें अन्तमें क्या दशा हो जाती है, एक अनुभवीकी वाणी सुनिये—

अद्वैतवीथीपथिकैरुपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः।
शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन॥

'अद्वैतकी वीथियोंमें विचरनेवाले पथिक (साधक) जिनको अपना उपास्य गुरुदेव मानते हैं तथा आत्मराज्यके सिंहासनपर जिनका अभिषेक हो चुका है; ऐसे होते हुए भी हमें गोपाङ्गनाओंसे प्रेम रखनेवाले किसी छलियेने हठपूर्वक अपना दास बना लिया है'—

यह तो बड़ोंकी बातें हैं। हमारे-जैसे लोगोंकी तो एकमात्र यही आकाङ्क्षा होनी चाहिये कि हमारी चित्त-चकई भवसागरके तटसे उड़कर अनन्त पारावाररहित श्रीकृष्ण-रस-सिन्धुके तटपर अपना नित्य निवास बना ले, बस—

चकई री चल चरन-सरोवर जहँ नहिं प्रेम-बियोग।
जहँ भ्रम-निसा होत नहिं कबहूँ सो सायर सुख-जोग॥
सनक-से हंस, मीन सिव-मुनिजन, नख रबिप्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल निमिष नहिं ससि ऊर गुंजत निगम सुबास॥
जेहि सर सुभग मुक्ति मुक्ताफल बिमल सुकृत-जल पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि बिहंगम इहाँ रहे कहा कीजै॥
जहँ श्री सहस सहित हरि क्रीड़त सोभित सूरजदास।
अब न सुहाय बिषय-रस छीलर वह समुद्रकी आस॥

उपनिषत्

उप—समीप, निषत्—निषीदति—बैठनेवाला। जो उस परमतत्त्वके समीप पहुँचाकर चुपचाप बैठ जाता है, वह उपनिषद् है। परमतत्त्व अवर्णनीय है, नाना प्रकारके वर्णनोंका अभिप्राय 'नेति-नेति' में है। वर्णन और बोध—ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयकी त्रिपुटीसे परे अनुभूति-स्वरूप परमतत्त्व है। उपनिषद्-ज्ञानकी परिसमाप्ति अनुभूतिके क्षेत्रमें होती है।

भगवान् आद्य शङ्कराचार्यके दो वाक्य स्मरण आ रहे हैं—

'ईश्वरानुग्रहादेव पुमानद्वैतवासना'

और—

'कथं त्वत्कटाक्षं विना तत्त्वबोधः'

अनुभूति—आवरणका विनाश—त्रिपुटीकी परिसमाप्ति तो भगवदनुग्रहसे ही सम्भव है।

जहाँ उपनिषद्की समाप्ति होती है, वहींसे अनुग्रहकी प्रतीक्षा—उपासनाका प्रारम्भ होता है। अनुग्रहकी प्रतीक्षारूप उपासना भगवान्को अत्यन्त समीप ला देती है।

वेदत्रयी कर्मकाण्ड है। कर्मके द्वारा मलकी निवृत्ति होनेपर एकाग्रताकी प्राप्तिके लिये ज्ञानकाण्ड—उपनिषद्का विधान है। यह विक्षेप-चाञ्चल्यकी निवृत्ति करेगा। जहाँ विविधता, अनेकता है ही नहीं, वहाँ चञ्चलता क्यों? किसलिये? कहाँ? स्थैर्यकी प्रतिष्ठा होनेपर भावका उद्रेक होता है। उपासना आरम्भ होती है। उसका रूप है—भगवत्कृपाकी प्रतीक्षा। कृपाके बिना आवरण निवृत्त जो नहीं होता। यों तो प्रत्येक साधन अपनेमें पूर्ण है निष्ठाका आधार मिलनेपर; किंतु क्रम भी होता ही है।

उपनिषद्का लक्ष्य?—परनिर्वाणकी प्राप्ति, अभेद! सायुज्य कहें तो भी बाधा नहीं। अन्तर इतना ही है कि उपनिषद् परनिर्वाणकी प्राप्ति श्रवण-मनन-निदिध्यासनसे कराता है और असुर द्वेषसे सायुज्य प्राप्त करते हैं—अभेद; दूरी है उसमें। नित्य सान्निध्य—भागवतीय शान, वह तो उपनिषद्की समाप्तिसे प्रारम्भ होता है। वहाँ तो—

'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥'

'मुकुति निरादरि भगति लुभाने' है।

—सुदर्शन

उपलब्ध उपनिषद्-ग्रन्थोंकी सूची

उपनिषदोंकी बड़ी महिमा है। ज्ञानकी चरम सीमा ही उपनिषद्के नामसे प्रसिद्ध हुई है। वैदिक वाङ्मयका शीर्ष-स्थान उपनिषद् है—इस कथनमात्रसे ही उपनिषदोंकी लोकोत्तर महत्ता स्पष्ट हो जाती है। प्राचीन कालमें औपनिषद ज्ञानका बड़ा महत्त्व था। ऊँचे-से-ऊँचे अधिकारी ही इस विद्यामें पारङ्गत होते थे। वैदिक कालसे ही उपनिषदोंके स्वाध्याय-की परम्परा प्रचलित हुई है। अतः कुछ उपनिषद् तो वेदके ही अंशविशेष हैं। कुछ ब्राह्मणभाग और आरण्यकोंके अन्तर्गत हैं। कुछ इनकी अपेक्षा अर्वाचीन होनेपर भी आजसे बहुत प्राचीन कालके हैं तथा कुछ उपनिषद्-ग्रन्थ ऐसे भी हैं, जिनपर विशेष देश, काल, परिस्थिति तथा मतका प्रभाव पड़ा जान पड़ता है। उपनिषद्-ग्रन्थ प्राचीन हों या अर्वाचीन—सभी ज्ञानप्रधान हैं। सबका आविर्भाव किसी-न-किसी गूढ तत्त्व या रहस्यका प्रकाशन करनेके लिये ही हुआ है। अतः इनके स्वाध्यायसे ज्ञानकी वृद्धि ही होती है—यह निश्चितरूपसे कहा जा सकता है। मुक्तिकोपनिषद्में एक सौ आठ उपनिषदोंके नाम आते हैं। वे सभी 'निर्णयसागर प्रेस' बम्बईसे मूल गुटका-के रूपमें प्रकाशित हैं। इसके सिवा, 'अडियार लाइब्रेरी' मद्राससे भी उपनिषदोंका एक संग्रह प्रकाशित हुआ है, जो अनेक भागोंमें विभक्त है। उस संग्रहमें लगभग १७९ उपनिषदोंका प्रकाशन हो गया है। इसके अतिरिक्त 'गुजराती प्रिंटिंग प्रेस' बम्बईसे मुद्रित उपनिषद्-वाक्य-महाकोषमें २२३ उपनिषदों-की नामावली दी गयी है। इनमें दो उपनिषद्—१ उपनिष-त्स्तुति तथा २ देव्युपनिषद् नं० २ की चर्चा शिवरहस्यनामक ग्रन्थमें की गयी है। ये दोनों अभीतक उपलब्ध न हो सकी हैं। शेष २२१ उपनिषदोंके वाक्यांश इस महाकोषमें संकलित हुए हैं। इनमें भी माण्डूक्यकारिकाके चार प्रकरण चार जगह गिने गये हैं; इन सबकी एक संख्या मानें तो २१८ ही संख्या होती है। कई उपनिषदें एक ही नामकी दो-तीन जगह आयी हैं; पर वे स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। इस प्रकार सबपर दृष्टिपात करनेसे यह निश्चित होता है कि अबतक लगभग २२० उपनिषदें प्रकाशमें आ चुकी हैं। और भी प्रकाशित हुई होंगी तथा कितनी ही अब भी अप्रकाशित रूपमें उपलब्ध हो सकती हैं। प्राचीन कालसे ही अद्वितीय ज्ञान-विज्ञानशाली भारतवर्षमें ज्ञान-विज्ञानकी अपरिमित ग्रन्थ-राशिका होना आश्चर्यकी बात नहीं है। भारतपर एक-एक करके अनेक बार विदेशी दस्युओंके आक्रमण हुए और उनके द्वारा हमारी प्राचीन हस्तलिखित कितनी ही पुस्तकों तथा पुस्तकालयोंको भस्मावशेष कर दिया गया। इतनेपर भी जो कुछ शेष है, उसका भी यदि भारतीय जन आदरपूर्वक अनुशीलन करें तो पूर्वजोंकी ज्ञान-ज्योति अब भी इस देशमें प्रकाशित हो सकती है। यहाँ उपर्युक्त २२० उपनिषदोंकी नामावली अकारादि क्रमसे दी जा रही है—

१. अक्षमालोपनिषद्
२. अक्षि-उपनिषद्
३. अथर्वशिखोपनिषद्
४. अथर्वशिर उपनिषद्
५. अद्वयतारकोपनिषद्
६. अद्वैतोपनिषद्
७. अद्वैतभावनोपनिषद्
८. अध्यात्मोपनिषद्
९. अनुभवसारोपनिषद्
१०. अन्नपूर्णोपनिषद्
११. अमनस्कोपनिषद्
१२. अमृतनादोपनिषद्
१३. अमृतबिन्दूपनिषद् (ब्रह्मबिन्दूपनिषद्)
१४. अरुणोपनिषद्
१५. अल्लोपनिषद्
१६. अवधूतोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)
१७. अवधूतोपनिषद् (पद्यात्मक)
१८. अव्यक्तोपनिषद्
१९. आचमनोपनिषद्
२०. आत्मपूजोपनिषद्
२१. आत्मप्रबोधोपनिषद् (आत्मबोधोपनिषद्)
२२. आत्मोपनिषद् (वाक्यात्मक)
२३. आत्मोपनिषद् (पद्यात्मक)
२४. आथर्वणद्वितीयोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं मन्त्रात्मक)
२५. आयुर्वेदोपनिषद्
२६. आरुणिकोपनिषद् (आरुणेय्युपनिषद्)
२७. आर्षेयोपनिषद्
२८. आश्रमोपनिषद्
२९. इतिहासोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)
३०. ईशावास्योपनिषद्
उपनिषत्स्तुति (शिवरहस्यान्तर्गत, अभीतक अनु-पलब्ध)
३१. ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)
३२. एकाक्षरोपनिषद्

३३. ऐतरेयोपनिषद् (अध्यायात्मक)
३४. ऐतरेयोपनिषद् (खण्डात्मक)
३५. ऐतरेयोपनिषद् (अध्यायात्मक)
३६. कठरुद्रोपनिषद् (कण्ठोपनिषद्)
३७. कठोपनिषद्
३८. कठश्रुत्युपनिषद्
३९. कलिसंतरणोपनिषद् (हरिनामोपनिषद्)
४०. कात्यायनोपनिषद्
४१. कामराजकीलितोद्धारोपनिषद्
४२. कालाग्निरुद्रोपनिषद्
४३. कालिकोपनिषद्
४४. कालीमेधादीक्षितोपनिषद्
४५. कुण्डिकोपनिषद्
४६. कृष्णोपनिषद्
४७. केनोपनिषद्
४८. कैवल्योपनिषद्
४९. कौलोपनिषद्
५०. कौपीतकिब्राह्मणोपनिषद्
५१. क्षुरिकोपनिषद्
५२. गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद्
५३. गणेशपूर्वतापिन्युपनिषद् (वरदपूर्वतापिन्युपनिषद्)
५४. गणेशोत्तरतापिन्युपनिषद् (वरदोत्तरतापिन्युपनिषद्)
५५. गर्भोपनिषद्
५६. गान्धर्वोपनिषद्
५७. गायत्र्युपनिषद्
५८. गायत्रीरहस्योपनिषद्
५९. गारुडोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं मन्त्रात्मक)
६०. गुह्यकाल्युपनिषद्
६१. गुह्यषोढान्यासोपनिषद्
६२. गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्
६३. गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्
६४. गोपीचन्दनोपनिषद्
६५. चतुर्वेदोपनिषद्
६६. चाक्षुषोपनिषद् (चक्षुरुपनिषद्, चक्षूरोगोपनिषद्, नेत्रोपनिषद्)
६७. चित्त्युपनिषद्
६८. छागलेयोपनिषद्
६९. छान्दोग्योपनिषद्
७०. जाबालदर्शनोपनिषद्
७१. जाबालोपनिषद्
७२. जाबाल्युपनिषद्
७३. तारसारोपनिषद्
७४. तारोपनिषद्
७५. तुरीयातीतोपनिषद् (तीतावधूतो०)
७६. तुरीयोपनिषद्
७७. तुलस्युपनिषद्
७८. तेजोबिन्दूपनिषद्
७९. तैत्तिरीयोपनिषद्
८०. त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्
८१. त्रिपुरातापिन्युपनिषद्
८२. त्रिपुरोपनिषद्
८३. त्रिपुरामहोपनिषद्
८४. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्
८५. त्रिसुपर्णोपनिषद्
८६. दक्षिणामूर्त्युपनिषद्
८७. दत्तात्रेयोपनिषद्
८८. दत्तोपनिषद्
८९. दुर्वासोपनिषद्
९०. (१) देव्युपनिषद् (पद्यात्मक एवं मन्त्रात्मक)
(२) देव्युपनिषद् (शिवरहस्यान्तर्गत—अनुपलब्ध)
९१. द्वयोपनिषद्
९२. ध्यानबिन्दूपनिषद्
९३. नादबिन्दूपनिषद्
९४. नारदपरिव्राजकोपनिषद्
९५. नारदोपनिषद्
९६. नारायणपूर्वतापिन्युपनिषद्
९७. नारायणोत्तरतापिन्युपनिषद्
९८. नारायणोपनिषद् (नारायणाथर्वशीर्ष)
९९. निरालम्बोपनिषद्
१००. निरुक्तोपनिषद्
१०१. निर्वाणोपनिषद्
१०२. नीलरुद्रोपनिषद्
१०३. नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्
१०४. नृसिंहषट्चक्रोपनिषद्
१०५. नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्
१०६. पञ्चब्रह्मोपनिषद्
१०७. परब्रह्मोपनिषद्
१०८. परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्
१०९. परमहंसोपनिषद्
११०. पारमात्मिकोपनिषद्
१११. पारायणोपनिषद्
११२. पाशुपतब्रह्मोपनिषद्
११३. पिण्डोपनिषद्
११४. पीताम्बरोपनिषद्

११५. पुरुषसूक्तोपनिषद्
११६. पैङ्गलोपनिषद्
११७. प्रणवोपनिषद् (पद्यात्मक)
११८. प्रणवोपनिषद् (वाक्यात्मक)
११९. प्रश्नोपनिषद्
१२०. प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्
१२१. बटुकोपनिषद् (वटुकोपनिषद्)
१२२. बह्वृचोपनिषद्
१२३. बाष्कलमन्त्रोपनिषद्
१२४. बिल्वोपनिषद् (पद्यात्मक)
१२५. ,, (वाक्यात्मक)
१२६. बृहज्जाबालोपनिषद्
१२७. बृहदारण्यकोपनिषद्
१२८. ब्रह्मविद्योपनिषद्
१२९. ब्रह्मोपनिषद्
१३०. भगवद्गीतोपनिषद्
१३१. भस्मसंधारणोपनिषद्
१३२. भस्मजाबालोपनिषद्
१३३. भावनोपनिषद् (कापिलोपनिषद्)
१३४. भिक्षुकोपनिषद्
१३५. मठाम्नायोपनिषद्
१३६. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्
१३७. मन्त्रिकोपनिषद् (चूलिकोपनिषद्)
१३८. मल्लायुपनिषद्
१३९. महानारायणोपनिषद् (बृहन्नारायणोपनिषद्, उत्तर-नारायणोपनिषद्)
१४०. महावाक्योपनिषद्
१४१. महोपनिषद्
१४२. माण्डूक्योपनिषद्
१४३. माण्डूक्योपनिषत्कारिका
(क) आगम
(ख) अलातशान्ति
(ग) वैतथ्य
(घ) अद्वैत
१४४. मुक्तिकोपनिषद्
१४५. मुण्डकोपनिषद्
१४६. मुद्गलोपनिषद्
१४७. मृत्युलाङ्गूलोपनिषद्
१४८. मैत्रायण्युपनिषद्
१४९. मैत्रेय्युपनिषद्
१५०. यज्ञोपवीतोपनिषद्
१५१. याज्ञवल्क्योपनिषद्
१५२. योगकुण्डल्युपनिषद्
१५३. योगचूडामण्युपनिषद्
१५४. (१) योगतत्त्वोपनिषद्
१५५. (२) योगतत्त्वोपनिषद्
१५६. योगराजोपनिषद्
१५७. योगशिखोपनिषद्
१५८. योगोपनिषद्
१५९. राजश्यामलारहस्योपनिषद्
१६०. राधिकोपनिषद् (वाक्यात्मक)
१६१. राधोपनिषद् (प्रपाठात्मक)
१६२. रामपूर्वतापिन्युपनिषद्
१६३. रामरहस्योपनिषद्
१६४. रामोत्तरतापिन्युपनिषद्
१६५. रुद्रहृदयोपनिषद्
१६६. रुद्राक्षजाबालोपनिषद्
१६७. रुद्रोपनिषद्
१६८. लक्ष्म्युपनिषद्
१६९. लाङ्गूलोपनिषद्
१७०. लिङ्गोपनिषद्
१७१. वज्रपञ्जरोपनिषद्
१७२. वज्रसूचिकोपनिषद्
१७३. वनदुर्गोपनिषद्
१७४. वराहोपनिषद्
१७५. वासुदेवोपनिषद्
१७६. विश्रामोपनिषद्
१७७. विष्णुहृदयोपनिषद्
१७८. शरभोपनिषद्
१७९. शाट्यायनीयोपनिषद्
१८०. शाण्डिल्योपनिषद्
१८१. शारीरकोपनिषद्
१८२. (१) शिवसङ्कल्पोपनिषद्
१८३. (२) शिवसङ्कल्पोपनिषद्
१८४. शिवोपनिषद्
१८५. शुकरहस्योपनिषद्
१८६. शौनकोपनिषद्
१८७. श्यामोपनिषद्
१८८. श्रीकृष्णपुरुषोत्तमसिद्धान्तोपनिषद्
१८९. श्रीचक्रोपनिषद्
१९०. श्रीविद्यातारकोपनिषद्
१९१. श्रीसूक्तम्
१९२. श्वेताश्वतरोपनिषद्

१९३. षोढोपनिषद्
१९४. सङ्कर्षणोपनिषद्
१९५. सदानन्दोपनिषद्
१९६. सन्ध्योपनिषद्
१९७. संन्यासोपनिषद् (अध्यायात्मक)
१९८. ,, (वाक्यात्मक)
१९९. सरस्वतीरहस्योपनिषद्
२००. सर्वसारोपनिषद् (सर्वोप०)
२०१. स ह वै उपनिषद्
२०२. संहितोपनिषद्
२०३. सामरहस्योपनिषद्
२०४. सावित्र्युपनिषद्
२०५. सिद्धान्तविद्वलोपनिषद्
२०६. सिद्धान्तशिखोपनिषद्
२०७. सिद्धान्तसारोपनिषद्
२०८. सीतोपनिषद्
२०९. सुदर्शनोपनिषद्
२१०. सुबालोपनिषद्
२११. सुमुख्युपनिषद्
२१२. सूर्यतापिन्युपनिषद्
२१३. सूर्योपनिषद्
२१४. सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्
२१५. स्कन्दोपनिषद्
२१६. स्वसंवेद्योपनिषद्
२१७. हयग्रीवोपनिषद्
२१८. हंसषोढोपनिषद्
२१९. हंसोपनिषद्
२२०. हेरम्बोपनिषद्

उपनिषद् हिंदू-जातिके प्राण हैं

(लेखक—भक्त रामशरणदासजी)

उपनिषद् हिंदू-जातिके प्राण हैं। यदि हिंदू-जाति जीवित रह सकती है तो वह उपनिषदोंके द्वारा ही रह सकती है। जिस समय भारतकी प्रत्येक सन्तान उपनिषदोंकी इस शिक्षाको कि, आत्मा अमर है—कभी मरता नहीं, याद रखता था और आत्माकी अमरतामें विश्वास रखता था; उस समय वह धर्म, गौ, स्वजाति, स्वधर्म और सभ्यता-संस्कृतिकी रक्षाके लिये उल्लासके साथ मृत्युका आलिङ्गन करता था और प्राण देकर उन्हें बचाता था। इस प्रकार वह हिंदूधर्मकी पताकाको शानसे फहराता था, कभी झुकने नहीं देता था। यवनकालमें हजारों-लाखों क्षत्रियोंने धर्मरक्षा, चोटी-जनेऊकी रक्षाके लिये सिर दे दिये। श्रीगुरुगोविन्दसिंहजीके लाल दीवारोंमें हँसते-हँसते चुने गये। मतीराम आरेसे चीरे जानेपर भी हँसते रहे। बंदाबीरका मांस नोचवाया गया, पर उसने उफ् तक नहीं की। यह सब क्या था? यह था उपनिषदोंकी शिक्षाका चमत्कार, जिससे आत्माकी अमरतामें विश्वास कर भारतीयोंने धर्म-देशके लिये मर-मिटना सीखा था। जिस दिनसे हमने उपनिषदोंसे मुख मोड़ा और गंदे साहित्यको अपनाया, तभीसे हमारा घोर पतन हो गया। अतः यदि फिरसे भारतका और हिंदू-जातिका उत्थान करना है तो उपनिषदोंकी शरणमें आना होगा और आत्माकी अमरतामें और विश्वमें एक ही परमात्माकी व्यापकतापर विश्वास कर शरीरका मोह दूर करना होगा। महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्यदेवने भी हिंदू-जातिका घोर पतन होते देख कलि-संतरणोपनिषद्का सहारा ले उसके बताये हुए महामन्त्र—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—का जप और इसीका कीर्तन कराकर लोगोंको जगाया। श्रीहरिनामके बलपर हिंदू-जातिका कल्याण कर दिखाया। कलिपावनावतार गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराजने श्रीरामनाम-महिमाको जान स्वयं तो प्रभु श्रीरामका साक्षात्कार किया ही, लाखोंको श्रीरामनाम-मन्त्र देकर सन्मार्गपर लगाया और देश-धर्मकी डूबती नैयाको बचाया। इस प्रकार हिंदू-जाति जिस समय उपनिषदोंके बताये मार्गपर चलती थी, उन्नतिके शिखरपर थी और जिस दिन इसने इनसे मुख मोड़ा, इसका पतन हो गया। आज भी यदि हिंदू-जाति अपनी भूलको समझ ले और उपनिषदोंके मार्गपर चले तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि यह पुनः सच्ची उन्नतिके शिखरपर पहुँच जायगी।

अध्यात्मवाद

(रचयिता—पं० श्रीरघुनाथप्रसादजी शास्त्री 'साधक')

जागो पुनः अमर भारतमें, ओ अजेय अध्यात्मवाद !
देश-जाति-जनता-उर-नभमें, आज घिरे घन-सघन-विषाद ।

अनाचार, अतिचार, पाप, पर-पीडनकी रणभेरी है ।
अपना स्वत्व सुरक्षित करने, पर-विनाशकी ढेरी है ।

सर्व-स्वत्व-संरक्षित करने, हरने आततायी अतिवाद ,
निर्भय रण-प्रांगणमें आकर, गाओ ब्राह्मी-विजयनिनाद ।

ओ अजेय अध्यात्मवाद !

भेद-भाव बहु भाँति भरे हैं, बन्धु-भावना लुप्त हुई ।
सहयोगिता, सुसेवा, समता, प्रेम-भावना सुप्त हुई ।

अन्तर्दाह कलह-कायरता, कलुषित काम-क्रोध दुर्वाद ।
आकर शीघ्र समाज जातिके, दूर करो सब निंद्य विवाद ।

ओ अजेय अध्यात्मवाद !

विविध मतोंके पन्थ-प्रवर्तन, गतिमय बहु विध अग जगमें ।
व्यापक, शास्त्र, समर्थन करते स्वयं सिद्ध बन प्रति पगमें ।

किन्तु मानवोंको कर पाये वे गत-संशय तनिक न आज ।
ओ वेदान्तकेसरी ! गर्जन करो, मिटा दो गीदड़-गाज ।

ओ अजेय अध्यात्मवाद !

वर्गवाद, श्रमवाद अनेकों, वर्तमान जगतीतलमें ।
हैं संघर्ष-भूमिका रचते, नित उत्पाती प्रतिपलमें ।

शान्त, महाप्रभु शंकरके ओ ! चिरपरिचित अद्वैतवाद ।
करो समन्वय सभी वर्गके, करके यावत् शान्त विवाद ।

ओ अजेय अध्यात्मवाद !

व्यापक आत्म-तत्त्व चेतनका, मानवको दे करके ज्ञान ।
ऐक्य-भावना-निष्ठ, इष्ट हो, 'साधक' विश्व-जगत् उत्थान ।

आदिस्रोत कल्याण ! ध्यानमय श्रवण समुत्सुक शुभ संवाद ।
सरस-सुधा-सम-वरद प्राप्त कर सरसित, सागर-सम आह्लाद ।
जागो पुनः अमर भारतमें—ओ अजेय अध्यात्मवाद !

ओ अजेय अध्यात्मवाद !

बृहदारण्यकोपनिषद्में ऐतिहासिक अध्ययनकी सामग्री

(लेखक—आचार्य बी० आर० श्रीरामचन्द्र दीक्षितार एम्० ए०)

भारतवर्षकी वास्तविक प्रतिभा यहाँके प्राचीन ऋषि-मुनियोंमें पायी जाती है। उनकी दृष्टि बड़ी दूरदर्शिनी थी। वे वस्तुओंको उनके वास्तविक रूपमें देखते थे। इन्हीं ऋषि-मुनियोंकी कृपासे वह वैदिक एवं वैदान्तिक वाङ्मय उपलब्ध हुआ है, जिसे आज हम बड़ी रुचिके साथ एक निधिके रूपमें सँजोते हैं। इस वाङ्मयमें उपनिषद्-साहित्यका बहुत ऊँचा स्थान है और उसका यह गौरव न्याय्य भी है। उपनिषदोंमें बृहदारण्यकोपनिषद् एक विशेष स्थान रखता है।

उपनिषदोंकी महत्ताका पार पाना दुष्कर है। उनकी गणना उस श्रेणीके साहित्यमें की जा सकती है, जिसका सृजन तब होता था, जब देशके गण्यमान्य व्यक्ति—प्रधानतया राजा तथा ऊँची श्रेणीके राजनीतिज्ञ अपने कठिन कर्मठ जीवनके बाद वन्य आश्रमोंमें चले जाते थे और मोक्षकी आकाङ्क्षासे अपने जीवनके सन्ध्याकालको भजन-ध्यानमें व्यतीत करते थे। उन आश्रमोंमें उन शिष्ट नरेशों एवं विद्वान् ब्राह्मणोंके बीच जो वार्तालाप होता था, उसे भावी सन्ततिके हितार्थ लिपिबद्ध कर लिया जाता था। उपनिषद् शब्दके वाच्यार्थ निकट उपवेशनसे ही उपनिषदोंके उद्भवकी उपर्युक्त सम्भावनाका सङ्केत मिल जाता है। उपनिषदोंके नामोंसे ही उनको जन्म देनेवाले भौगोलिक प्रदेशोंका भी सङ्केत मिलता है और यह भी पता चलता है कि सबका लक्ष्य उसी एक दुरधिगम महान् तत्त्व अर्थात् आत्म-साक्षात्कारका ही विवेचन और निर्णय करना है। उपनिषदोंमें मुख्यतया पुनर्जन्मके सिद्धान्तका प्रतिपादन हुआ है। इस सिद्धान्तका धर्म अथवा इतिहासकी अपेक्षा हिंदू-दर्शनसे अधिक सम्बन्ध है। संक्षेपमें यह सिद्धान्त हमें बतलाता है कि सभी प्राणियोंके हृदयमें एक ही परमात्माका निवास है, जो अमर और अविनाशी है। शरीरके शान्त हो जानेपर उसमें रहनेवाला देही उसको त्यागकर दूसरे शरीरमें प्रवेश कर जाता है। इसलिये वास्तवमें मृत्यु शरीरकी होती है, आत्माकी नहीं। इस तथ्यका अर्थात् आत्माकी अमरताका जिसको ज्ञान हो जाता है, वह जीवन-मरणके चक्करसे छूटकर ब्रह्मसे एकत्व प्राप्त कर लेता है।

बृहदारण्यकका शाब्दिक अर्थ है एक विशाल वनसे सम्बन्धित। ऐसा अनुमान होता है कि किसी आत्मदर्शनाभिलाषी विद्वत्समाजने इस ग्रन्थरत्नको किसी बृहद्वनमें जन्म दिया होगा, जो प्राचीन भारतमें पर्याप्त प्रसिद्ध था। आज यह कहना सम्भव नहीं है कि वह वन कौन-सा था तथा किस युगमें यह ग्रन्थ लिखा गया था। यह प्रमाणभूत वैदिक ग्रन्थ माध्यन्दिन और काण्व नामक दो शाखाओंमें प्राप्त है, पर श्रीशङ्कराचार्यजीने अपनी भाष्यरचनाके लिये काण्व शाखाके पाठको ही ग्रहण किया है। यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण उपनिषदोंकी कोटिमें आता है। मधु, याज्ञवल्क्य और खिल नामसे इसके तीन खण्ड हैं। पर हम इस उपनिषद्में यत्र-तत्र प्राप्य ऐतिहासिक सामग्रीपर ही विचार करेंगे।

अश्वमेध

प्रथम अध्यायके आरम्भमें ही अश्वमेध यज्ञका उल्लेख है। वास्तवमें प्रथम अध्यायके अन्तर्गत प्रथम खण्डका नाम ही अश्वब्राह्मण है। इसमें यज्ञीय अश्वके शरीरको यज्ञके अधिष्ठातृ देवता प्रजापतिका विराट् देह मानकर वर्णन किया गया है। अश्वमेध एक वैदिक यज्ञ है। ऊर्ध्वलोकोंमें सबसे ऊँचे ब्रह्मलोककी प्राप्ति ही इसके अनुष्ठानका उद्देश्य होता है। पर यह स्थिति नित्य नहीं है। यज्ञ करनेवालेको फिर जन्म लेना पड़ता है और आवागमनसे उसे तबतक मुक्ति नहीं मिलती, जबतक कि वह अज्ञानपर विजय पाकर ब्रह्मके साथ एकाकार नहीं हो जाता।

वैदिक संहिताओंमें उल्लिखित तीन कर्म ऐसे हैं, जिनका स्वरूप राजनीतिक है। इन कर्मोंका राज्याभिषेक-संस्कारसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। राजसूय-यज्ञके अनुष्ठानसे मनुष्य राजा बनता है। इसलिये जैसा कि मैंने अपने 'Hindu Administrative Institutions' नामक ग्रन्थमें कहा है, यह यज्ञ राजाके लिये राज्याधिकार-ग्रहण-संस्कार है। वाजपेय-यज्ञका करनेवाला सम्राट्की पदवी प्राप्त करता है। स्मृतिकार[1] कात्यायनने राजसूयसे वाजपेय-यज्ञकी श्रेष्ठता बतायी है। शतपथ-ब्राह्मणमें[2] राजसूय-यज्ञका विस्तृत वर्णन मिलता है। वाजपेयकी महत्ताका वर्णन भी इस ग्रन्थमें[3] पाया जाता है।

अश्वमेधका उद्देश्य भी राजनीतिक होता था। प्रत्येक प्रतापी नरेशसे यह आशा की जाती थी कि वह इस इन्द्रपद

(१) १५. १. १. २; (२) ५. २; (३) ५. १. १. ८;

प्रदान करनेवाले यज्ञका अनुष्ठान करे। यद्यपि इस यज्ञका स्वरूप बड़ा जटिल है, फिर भी एग्गेलिंग (Eggeling) के शब्दोंमें यह एक राजकीय महोत्सव था। इस यज्ञके मूलका हमें कोई पता नहीं है। पर ऋग्वेदमें, यहाँतक कि पहले ही मण्डल (१। १६२-१६३) में इसका उल्लेख मिलता है। अश्वमेधका, जिसका शतपथब्राह्मणके १३ वें खण्डमें निरूपण किया गया है, महाभारतमें भी रोचक वर्णन मिलता है। वहाँ पाण्डवोंने बड़े समारोहसे इसे किया है। उक्त इतिहास-ग्रन्थमें इस प्रसङ्गके अन्तमें लिखा है 'अश्वमेध यजमानको समस्त पाप-कर्मों और दुष्कृतोंसे मुक्त कर देता है।' पर प्रायः इसका अनुष्ठान विश्व-विजय कर लेनेके उपरान्त ही होता था। दूसरे शब्दोंमें इसका यह अर्थ है कि प्राचीन हिन्दू राजा भारतवर्ष-को अपने शासनाधीन भूमण्डलका एक प्रदेश तथा अपनेको अखिल पृथ्वीका अधिपति मानते थे।[1]

उपनिषदोंका प्रधान विषय ब्रह्मज्ञान है और इसको प्राप्त करनेके लिये उन विधियों और साधनोंका उल्लेख किया गया है, जिनसे हम आत्म-सम्बन्धी अपने अज्ञानको मिटाकर ब्रह्मत्व लाभ करें। प्रथम अध्यायके दूसरे खण्डका नाम अग्नि-ब्राह्मण है। इसमें अश्वमेधमें प्रयुक्त होनेवाली अग्निकी उत्पत्ति और स्वरूपका वर्णन है। यहाँ ध्यानपर भी जोर दिया गया है। जैसे यज्ञीय अश्वका प्रजापतिके रूपमें ध्यान किया जाता है, वैसे ही अग्निका भी उसी रूपमें ध्यान करना चाहिये। बृहदारण्यकोपनिषद्ने इस वैदिक अनुष्ठानको प्रत्येक सच्चे क्षत्रियके लिये विधेय बताया है। ऐतिहासिक कालमें भी पुष्यमित्र, शुङ्ग और समुद्रगुप्त आदि राजाओंने इस महान् यज्ञको किया था और इस प्रकार विजित प्रदेशोंपर अपने चक्रवर्तित्वकी प्रतिष्ठा की थी। इसका अनुष्ठान ईस्वी सन्की दसवीं शताब्दीके आसपास बंद हुआ प्रतीत होता है।

धर्म

'धर्म' शब्द बड़ा व्यापक और विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। इससे सदाचारके विविध स्वरूपोंका बोध होता है। प्रत्येक मत एवं सम्प्रदायका एक विशिष्ट धर्म होता है। इसीको हम हिंदू-धर्म, बौद्ध-धर्म या जैन-धर्म आदि नामोंसे पुकारते हैं। परंतु एक हिंदूके लिये सभी कुछ धर्म है; क्योंकि उसका सत्यमें विश्वास है। संसारकी सृष्टिके समय केवल मात्र एक विराट् था। इस विराट्ने अपनेको एकाकी पाया और अपने हितके लिये एवं परिणामतः जगत्के हितार्थ उसने न केवल स्त्री-पुरुषोंकी वरं इतर जीवों तथा अन्य पदार्थोंकी सृष्टि की। फिर भी उसको संतोष नहीं हुआ, तब उसने ब्राह्मण जातिकी रचना की। तत्पश्चात् क्षत्रियोंकी उत्पत्ति हुई, जिन्हें रक्षाका भार सौंपा गया। क्षत्रियोंको ऐसे विशेष गुणोंसे विभूषित किया गया, जिनकी ब्राह्मण भी प्रशंसा करते हैं। राजसूय यज्ञमें ब्राह्मणका आसन सदैव नीचे रहता है, यद्यपि क्षत्रियोंको प्रकट उन्होंने ही किया है। यज्ञके समाप्त हो जानेपर क्षत्रिय यजमान ब्राह्मणको प्रणाम करता था। ऐसा किये बिना वह अपने मूलको ही नष्ट करनेवाला हो जायगा। क्षत्रियकी राजाके रूपमें प्रतिष्ठा होती थी। इस वर्णकी भी सृष्टिके बाद धनका अभाव प्रतीत हुआ, जिसके बिना यज्ञादिका संपूर्ण होना असंभव था। अतः वैश्योंकी उत्पत्ति हुई। किंतु विराट्को जीवनमें ऐश्वर्यसम्पन्न होनेके लिये एक भृत्यकी भी आवश्यकताका अनुभव हुआ। अतएव शूद्र जातिका आविर्भाव हुआ। इस वर्णके अधिष्ठातृ देवता पूषण हैं। इसका वाच्यार्थ है 'पोषण करनेवाला।'

यह वर्णधर्मका ही वर्णन है। इससे हमें यह मान लेना चाहिये कि समाजका चार वर्णोंमें विभाजन एक वैदिक व्यवस्था है; और हिंदू होनेके नाते हमें यह भी मानना चाहिये कि यह मनुष्यकृत नहीं, भगवत्कृत है। ऋग्वेदके पुरुषसूक्तसे ही इस बातका प्रमाण मिल जाता है। वैदिक कालके बादके साहित्यमें एतद्विषयक प्रचुर प्रमाणोंका तो कहना ही क्या है। इसीलिये श्रीकृष्ण महाराज भगवद्गीतामें कहते हैं—

'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।'

आधुनिक विद्वान् 'सृष्टम्' शब्दके वास्तविक तात्पर्यको बिना समझे ही इसकी इस प्रकारसे असदालोचना करते हैं—मानो यह व्यवस्था भगवान्की नहीं, बल्कि भारतीय प्राचीन पूर्वजोंकी बनायी हुई हो। यदि और कुछ नहीं तब भी यह एक दृढ़ आर्थिक व्यवस्था थी, जिसमें आधुनिक सभ्यताके प्रतियोगिता, योग्यतमावशेष आदि कई निकृष्ट दोषोंका सर्वथा अभाव था। दुःखकी बात है कि यह व्यवस्था धीरे-धीरे मिट रही है और अव्यवस्थाग्रस्त जगत्की दुरवस्था और भी बढ़ती जा रही है। जबतक हम ऐसी ही किसी व्यवस्थाका, जिसको संसार स्वीकार कर ले, पुनर्निर्माण नहीं कर लेंगे तबतक विश्वके अनेक आर्थिक और सामाजिक दोषोंका, जो आज हमारे सामने उपस्थित है, सन्तोषजनक परिहार नहीं होगा, चाहे हम कितने ही सभा-सम्मेलन कर लें।

(१) शतपथब्राह्मण १२. ७. १.

(१) १. ४. १०. १.

बृहदारण्यकोपनिषद्में लिखा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र आदि चारों वर्णोंकी सृष्टि कर लेनेके बाद भी विराट्को पूर्ण संतोष नहीं प्राप्त हुआ। उसके मनमें यह आशङ्का छिपी हुई थी कि क्षत्रिय लोग उच्छृङ्खल हो जायँगे। उनको नियन्त्रणमें तथा अपने उचित स्थानपर स्थिर रखनेके लिये धर्मकी उत्पत्ति हुई और सच्चे क्षत्रियको बताया गया कि धर्म ही राजाओंका भी राजा है। दूसरे शब्दोंमें धर्मसे बड़ा और कुछ नहीं था। चाहे कोई राजा कितना भी शक्तिशाली हो, धर्मका अनुशासन मानना उसके लिये अनिवार्य था। दुर्बल व्यक्ति भी धर्मकी शरणमें जाकर त्राण पा सकते थे। उपनिषदोंके अनुसार धर्म ही सत्य है और सत्य ही धर्म है। किसी वस्तुके सैद्धान्तिक ज्ञानका नाम सत्य है; पर आचरणमें लानेपर वही धर्म कहा जाता है। किसी विशेष धर्मका आचरण करनेके लिये मनुष्यको पहले चारों वर्णोंमेंसे किसी एकसे सम्बन्ध स्थिर करना चाहिये; क्योंकि प्रत्येक वर्णका अपना विशेष धर्म है।

यह कहा जा चुका है कि धर्मसे बढ़कर कुछ नहीं है और धर्म ही राजाओंका भी राजा है। इसका यह अर्थ हुआ कि राजाओंका कर्तव्य नयी धाराओंको बनाना नहीं है, वरं पूर्वनिश्चित नियमोंको ही शासनव्यवहारमें लाना है। अतः राजाका कर्तव्य धर्मकी व्याख्या करके निर्णय देना है। इससे यह प्रकट होता है कि हिंदू-कालके भारतवर्षमें कोई धारासभा नहीं थी। वास्तवमें उल्लेखके योग्य कोई धारा-निर्माण-विभाग नहीं था। राजाको अनीति-मार्गपर जानेसे रोकनेके कई उपायोंमेंसे एक यह भी था कि उसे देशके विधानोंके अनुसार ही शासन करनेको बाध्य किया जाता था। इन विधानोंके निर्माणका कार्य आर्थिक बुद्धिवाले व्यक्तियोंके (ब्राह्मणोंके) हाथमें था।

उपनिषद्में आये हुए कुछ नाम

बृहदारण्यकोपनिषद्में आये हुए कई नामोंमेंसे याज्ञवल्क्य एवं जनक वैदेहका नाम मुख्यरूपसे उल्लेखनीय है। गर्ग कुलके भी एक वंशजका उल्लेख है, जिसने काशीके किन्हीं राजा अजातशत्रुसे मिलकर उन्हें ब्रह्मसम्बन्धी वास्तविक सत्यका उपदेश किया था (अध्याय २-१)। कुछ अन्य व्यक्तियोंके नाम भी हैं जैसे विश्वामित्र और जमदग्नि, गौतम और भरद्वाज, वसिष्ठ और कश्यप, अत्रि और मैत्रेयी। यह मैत्रेयी याज्ञवल्क्य ऋषिकी पत्नी थी। उपनिषद्के दूसरे अध्यायके चौथे ब्राह्मणमें जो कथा है, उसका समावेश आत्म-विद्याकी प्राप्तिके लिये त्यागकी आवश्यकता बतानेके लिये किया गया है, याज्ञवल्क्य और मैत्रेयीका संवाद है। इस संलापका निष्कर्ष यह है कि केवल आत्मा ही ध्यानीय है। एक इतिहासका विद्यार्थी इससे इस निश्चयपर पहुँचता है कि ये व्यक्ति बृहदारण्यकोपनिषद्की रचनाके पूर्वके एक युगमें विद्यमान थे। उनमेंसे कुछ प्रसिद्ध वैदिक ऋषि हैं। मैत्रेयी इस बातके उदाहरणके रूपमें उपस्थित की जा सकती हैं कि वैदिक कालमें भारतवर्षमें स्त्रियाँ न केवल शिक्षित और संस्कृत ही होती थीं, परंतु वे आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें भी स्वतन्त्र थीं। यह कहना भूल है कि वे अशिक्षित, अज्ञ और पराधीन थीं। यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि क्या याज्ञवल्क्य-स्मृतिकी रचना करनेवाले ही वे ऋषि हैं, जिनका उल्लेख उपनिषद्में हुआ है। याज्ञवल्क्य-स्मृतिको ध्यानसे देखनेपर यह पता चलता है कि इसका आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त नामक तीन खण्डोंमें विभाजन एक ऐसी प्रणाली है जो पीछेकी अपेक्षा प्राचीन धर्म-शास्त्रोंमें ही अधिक पायी जाती है। मेरी सम्मतिमें यह स्मृति जिस रूपमें प्राप्त है, वह पर्याप्त पहलेकी रचना है, सम्भवतः कौटिल्यके अर्थशास्त्रसे भी पूर्वकी। यद्यपि अपने वर्तमान स्वरूपमें यह ग्रन्थ आदिसे अन्ततक ऋषि याज्ञवल्क्यकी ही रचना न भी हो, पर यह बिल्कुल सम्भव है कि यह याज्ञवल्क्यके सम्प्रदायकी वस्तु हो और सम्भवतः उनके किसी उत्साही शिष्यद्वारा लिपिबद्ध हुई हो।

बृहदारण्यकके स्वरूप, इसके विषय तथा शतपथ ब्राह्मणका अन्तिम भाग होनेके कारण आधुनिक विद्वानोंकी सम्मतिमें इसके रचना-कालको आठवीं और सातवीं शताब्दी ईसापूर्व माना जाता है। परंतु इसका रचनाकाल चाहे जो भी हो, यह ग्रन्थ है अत्यन्त प्राचीन। विश्वमें व्याप्त मायापर विजय पानेका सर्वोत्तम साधन क्या है--यही इसका प्रतिपाद्य विषय है और अन्तमें यह इस निष्कर्षपर पहुँचता है कि परमात्माका ज्ञान हुए बिना मायापर विजय सम्भव नहीं।

(१) उसी ग्रन्थमें १. ४. १४—१५

प्रार्थना

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह ।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥
(ईशा० १६)

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

ईशावास्योपनिषद्

यह ईशावास्योपनिषद् शुक्लयजुर्वेदसंहिताका चालीसवाँ अध्याय है। मन्त्र-भागका अंश होनेसे इसका विशेष महत्त्व है। इसीको सबसे पहली उपनिषद् माना जाता है। शुक्लयजुर्वेदके प्रथम उनतालीस अध्यायोंमें कर्मकाण्डका निरूपण हुआ है। यह उस काण्डका अन्तिम अध्याय है और इसमें भगवत्तत्त्वरूप ज्ञानकाण्डका निरूपण किया गया है। इसके पहले मन्त्रमें 'ईशा वास्यम्' वाक्य आनेसे इसका नाम 'ईशावास्य' माना गया है।

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ *

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ॐ=सच्चिदानन्दघन; **अदः**=वह परब्रह्म; **पूर्णम्**=सब प्रकारसे पूर्ण है; **इदम्**=यह (जगत् भी); **पूर्णम्**=पूर्ण (ही) है; (क्योंकि) **पूर्णात्**=उस पूर्ण (परब्रह्म)से ही; **पूर्णम्**=यह पूर्ण; **उदच्यते**=उत्पन्न हुआ है; **पूर्णस्य**=पूर्णके; **पूर्णम्**=पूर्णको; **आदाय**=निकाल लेनेपर (भी); **पूर्णम्**=पूर्ण; **एव**=ही; **अवशिष्यते**=बच रहता है।

व्याख्या—वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म पुरुषोत्तम सब प्रकारसे सदा-सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत् भी उस परब्रह्मसे पूर्ण ही है; क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तमसे ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्मकी पूर्णतासे जगत् पूर्ण होनेपर भी वह परब्रह्म परिपूर्ण है। उस पूर्णमेंसे पूर्णको निकाल लेनेपर भी वह पूर्ण ही बच रहता है।

त्रिविध तापकी शान्ति हो।

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम् ॥ १ ॥

जगत्याम्=अखिल ब्रह्माण्डमें; **यत् किं च**=जो कुछ भी; **जगत्**=जड-चेतनस्वरूप जगत् है; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=समस्त; **ईशा**=ईश्वरसे; **वास्यम्**=व्याप्त है; **तेन**=उस ईश्वरको साथ रखते हुए; **त्यक्तेन**=त्यागपूर्वक; **भुञ्जीथाः**=(इसे) भोगते रहो; **मा गृधः**=(इसमें) आसक्त मत होओ; (क्योंकि) **धनम्**=धन—भोग्य-पदार्थ; **कस्य स्वित्**= किसका है अर्थात् किसीका भी नहीं है ॥ १ ॥

व्याख्या—मनुष्योंके प्रति वेद भगवान्का पवित्र आदेश है कि अखिल विश्व-ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी यह चराचरात्मक जगत् तुम्हारे देखने-सुननेमें आ रहा है, सब-का-सब सर्वाधार, सर्वनियन्ता, सर्वाधिपति, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वकल्याण-गुणस्वरूप परमेश्वरसे व्याप्त है; सदा सर्वत्र उन्हींसे परिपूर्ण है (गीता ९। ४)। इसका कोई भी अंश उनसे रहित नहीं है (गीता १०। ३९,४२)। ऐसा समझकर उन ईश्वरको निरन्तर अपने साथ रखते हुए—सदा-सर्वदा उनका स्मरण करते हुए ही तुम इस जगत्में त्यागभावसे केवल कर्तव्यपालनके लिये ही विषयोंका यथाविधि उपभोग करो अर्थात् यज्ञार्थ—विश्वरूप ईश्वरकी पूजाके लिये ही कर्मोंका आचरण करो। विषयोंमें मनको मत फँसने दो, इसीमें तुम्हारा निश्चित कल्याण है (गीता २। ६४; ३। ९; १८। ४६)। वस्तुतः ये भोग्य-पदार्थ किसीके भी नहीं हैं। मनुष्य भूलसे ही इनमें

* यह मन्त्र बृहदारण्यक उपनिषद्के पाँचवें अध्यायके प्रथम ब्राह्मणकी प्रथम कण्डिकाका पूर्वार्द्धरूप है।

ममता और आसक्ति कर बैठता है। ये सब परमेश्वरके हैं और उन्हींके लिये इनका उपयोग होना चाहिये * ॥ १ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

कर्माणि=शास्त्रनियत कर्मोंको; **कुर्वन्**=(ईश्वरपूजार्थ) करते हुए; **एव**=ही; **इह**=इस जगत्‌में; **शतम् समाः**=सौ वर्षोंतक; **जिजीविषेत्**=जीनेकी इच्छा करनी चाहिये; **एवम्**=इस प्रकार (त्यागभावसे, परमेश्वरके लिये); **कर्म**=किये जानेवाले कर्म; **त्वयि**=तुझ; **नरे**=मनुष्यमें; **न लिप्यते**=लिप्त नहीं होंगे; **इतः**=इससे (भिन्न); **अन्यथा**=अन्य कोई प्रकार अर्थात् मार्ग; **न अस्ति**=नहीं है (जिससे कि मनुष्य कर्मसे मुक्त हो सके) ॥ २ ॥

व्याख्या—अतएव समस्त जगत्‌के एकमात्र कर्ता, धर्ता, हर्ता, सर्वशक्तिमान् सर्वमय परमेश्वरका सतत स्मरण रखते हुए सब कुछ उन्हींका समझकर उन्हींकी पूजाके लिये शास्त्रनियत कर्तव्यकर्मोंका आचरण करते हुए ही सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा करो—इस प्रकार अपने पूरे जीवनको परमेश्वरके प्रति समर्पण कर दो। ऐसा समझो कि शास्त्रोक्त स्वकर्मका आचरण करते हुए जीवन-निर्वाह करना केवल यज्ञार्थ—परमेश्वरकी पूजाके लिये ही है; अपने लिये नहीं—भोग भोगनेके लिये नहीं। कर्म करते हुए कर्मोंमें लिप्त न होनेका यही एकमात्र मार्ग है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी मार्ग कर्मबन्धनसे मुक्त होनेका नहीं है (गीता २। ५०, ५१; ५। १०) ॥ २ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मफलरूप जन्मबन्धनसे मुक्त होनेके निश्चित मार्गका निर्देश करके अब इसके विपरीत मार्गपर चलनेवाले मनुष्योंकी गतिका वर्णन करते हैं—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

असुर्याः=असुरोंके; (जो) **नाम**=प्रसिद्ध; **लोकाः**=नाना प्रकारकी योनियाँ एवं नरकरूप लोक हैं; **ते**=वे सभी; **अन्धेन तमसा**=अज्ञान तथा दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे; **आवृताः**=आच्छादित हैं; **ये के च**=जो कोई भी; **आत्महनः**=आत्माकी हत्या करनेवाले; **जनाः**=मनुष्य हों; **ते**=वे; **प्रेत्य**=मरकर; **तान्**=उन्हीं भयङ्कर लोकोंको; **अभिगच्छन्ति**=बार-बार प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या—मानव-शरीर अन्य सभी शरीरोंसे श्रेष्ठ और परम दुर्लभ है एवं वह जीवको भगवान्‌की विशेष कृपासे जन्म-मृत्युरूप संसार-समुद्रसे तरनेके लिये ही मिलता है। ऐसे शरीरको पाकर भी जो मनुष्य अपने कर्मसमूहको ईश्वर-पूजाके लिये समर्पण नहीं करते और कामोपभोगको ही जीवनका परम ध्येय मानकर विषयोंकी आसक्ति और कामनावश जिस किसी प्रकारसे भी केवल विषयोंकी प्राप्ति और उनके यथेच्छ उपभोगमें ही लगे रहते हैं, वे वस्तुतः आत्माकी हत्या करनेवाले ही हैं; क्योंकि इस प्रकार अपना पतन करनेवाले वे लोग अपने जीवनको केवल व्यर्थ ही नहीं खो रहे हैं वरं अपनेको और भी अधिक कर्मबन्धनमें जकड़ रहे हैं। इन काम-भोग-परायण लोगोंको,—चाहे वे कोई भी क्यों न हों, उन्हें चाहे संसारमें कितने ही विशाल नाम, यश, वैभव या अधिकार प्राप्त हों,—मरनेके बाद उन कर्मोंके फलस्वरूप बार-बार कूकर-शूकर, कीट-पतंगादि विभिन्न शोक-सन्तापपूर्ण आसुरी योनियोंमें और भयानक नरकोंमें भटकना पड़ता है। (गीता १६। १६, १९, २०) इसीलिये श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है कि मनुष्यको अपनेद्वारा अपना उद्धार करना चाहिये, अपना पतन नहीं करना चाहिये (गीता ६। ५) ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—जो परमेश्वर सम्पूर्ण जगत्‌में व्याप्त हैं, जिनका सतत स्मरण करते हुए तथा जिनकी पूजाके लिये ही समस्त कर्म करने चाहिये, वे कैसे हैं ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

---

* कुछ आदरणीय विद्वानोंने इसका भावार्थ ऐसा माना है—

इस ब्रह्माण्डमें जो कुछ यह जगत् है, सब ईश्वरसे व्याप्त है। उस ईश्वरके द्वारा तुम्हारे लिये जो त्याग किया गया है अर्थात् प्रदान किया गया है, उसीको अनासक्तरूपसे भोगो। किसीके भी धनकी इच्छा मत करो।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

(**तत्**)=वे परमेश्वर; **अनेजत्**=अचल; **एकम्**=एक; (और) **मनसः**=मनसे (भी); **जवीयः**=अधिक तीव्र गतियुक्त हैं; **पूर्वम्**=सबके आदि; **अर्षत्**=ज्ञानस्वरूप या सबके जाननेवाले हैं; **एनत्**=इन परमेश्वरको; **देवाः**=इन्द्रादि देवता भी; **न आप्नुवन्**=नहीं पा सके या जान सके हैं; **तत्**=वे (परब्रह्म पुरुषोत्तम); **अन्यान्**=दूसरे, **धावतः**=दौड़नेवालोंको; **तिष्ठत्**=(स्वयं) स्थित रहते हुए ही; **अत्येति**=अतिक्रमण कर जाते हैं; **तस्मिन्**=उनके होनेपर ही—उन्हींकी सत्ता-शक्तिसे; **मातरिश्वा**=वायु आदि देवता; **अपः**=जलवर्षा, जीवकी प्राणधारणादि क्रिया प्रभृति कर्म; **दधाति**=सम्पादन करनेमें समर्थ होते हैं ॥ ४ ॥

व्याख्या—वे सर्वान्तर्यामी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर अचल और एक हैं, तथापि मनसे भी अधिक तीव्र वेगयुक्त हैं। जहाँतक मनकी गति है, वे उससे भी कहीं आगे पहलेसे ही विद्यमान हैं। मन तो वहाँतक पहुँच ही नहीं पाता। वे सबके आदि और ज्ञानस्वरूप हैं अथवा सबके आदि होनेके कारण सबको पहलेसे ही जानते हैं। पर उनको देवता तथा महर्षिगण भी पूर्णरूपसे नहीं जान सकते (गीता १० । २)। जितने भी तीव्र वेगयुक्त बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ अथवा वायु आदि देवता हैं, अपनी शक्तिभर परमेश्वरके अनुसंधानमें सदा दौड़ लगाते रहते हैं; परंतु परमेश्वर नित्य अचल रहते हुए ही उन सबको पार करके आगे निकल जाते हैं। वे सब वहाँतक पहुँच ही नहीं पाते। असीमकी सीमाका पता ससीमको कैसे लग सकता है ? बल्कि वायु आदि देवताओंमें जो शक्ति है, जिसके द्वारा वे जलवर्षण, प्रकाशन, प्राणि-प्राणधारण आदि कर्म करनेमें समर्थ होते हैं, वह इन अचिन्त्यशक्ति परमेश्वरकी शक्तिका एक अंशमात्र ही है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब परमेश्वरकी अचिन्त्यशक्तिमत्ता तथा व्यापकताका प्रकारान्तरसे पुनः वर्णन करते हैं—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

तत्=वे; **एजति**=चलते हैं; **तत्**=वे; **न एजति**=नहीं चलते; **तत्**=वे; **दूरे**=दूरसे भी दूर हैं; **तत्**=वे; **उ अन्तिके**=अत्यन्त समीप हैं; **तत्**=वे; **अस्य**=इस; **सर्वस्य**=समस्त जगत्के; **अन्तः**=भीतर परिपूर्ण हैं; (और) **तत्**=वे; **अस्य**=इस; **सर्वस्य**=समस्त जगत्के; **उ बाह्यतः**=बाहर भी हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—वे परमेश्वर चलते भी हैं और नहीं भी चलते; एक ही कालमें परस्परविरोधी भाव, गुण तथा क्रिया जिनमें रह सकती हैं, वे ही तो परमेश्वर हैं। यह उनकी अचिन्त्य शक्तिकी महिमा है। दूसरे प्रकारसे यह भी कहा जा सकता है कि भगवान् जो अपने दिव्य परम धाममें और लीलाधाममें अपने प्रिय भक्तोंको सुख पहुँचानेके लिये अप्राकृत सगुण-साकार रूपमें प्रकट रहकर लीला किया करते हैं, यह उनका चलना है; और निर्गुणरूपसे जो सदा-सर्वथा अचल स्थित हैं, यह उनका न चलना है। इसी प्रकार वे श्रद्धा-प्रेमसे रहित मनुष्योंको कभी दर्शन ही नहीं देते, अतः उनके लिये दूर-से-दूर हैं; और प्रेमकी पुकार सुनते ही जिन प्रेमीजनोंके सामने चाहे जहाँ उसी क्षण प्रकट हो जाते हैं, उनके लिये वे समीप-से-समीप हैं। इसके अतिरिक्त वे सदा-सर्वत्र परिपूर्ण हैं, इसलिये दूर-से-दूर भी वही हैं और समीप-से-समीप भी वही हैं; क्योंकि ऐसा कोई स्थान ही नहीं है, जहाँ वे न हों। सबके अन्तर्यामी होनेके कारण भी वे अत्यन्त समीप हैं; पर जो अज्ञानी लोग उन्हें इस रूपमें नहीं पहचानते, उनके लिये वे बहुत दूर हैं। वस्तुतः वे इस समस्त जगत्के परम आधार हैं और परम कारण हैं; इसलिये बाहर-भीतर सभी जगह वे ही परिपूर्ण हैं। * (गीता ७ । ७) ॥ ५ ॥

---

* कुछ आदरणीय विद्वानोंने इसका भावार्थ इस प्रकार माना है—

यह आत्मतत्त्व अचल रहकर ही चलता हुआ-सा जान पड़ता है, अज्ञानियोंके लिये अप्राप्य होनेसे बहुत दूर है और ज्ञानियोंका आत्मा होनेसे समीप है। महाकाशमें घटाकाशकी भाँति भीतर और बाहर भी वही है।

एक दूसरे विद्वान् यह अर्थ करते हैं—

सम्बन्ध—अब अगले दो मन्त्रोंमें इन परब्रह्म परमेश्वरको जाननेवाले महापुरुषकी स्थितिका वर्णन किया जाता है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥

तु=परंतु; **यः**=जो मनुष्य; **सर्वाणि**=सम्पूर्ण; **भूतानि**=प्राणियोंको; **आत्मनि**=परमात्मामें; **एव**=ही; **अनुपश्यति**=निरन्तर देखता है; **च**=और; **सर्वभूतेषु**=सम्पूर्ण प्राणियोंमें; **आत्मानम्**=परमात्माको (देखता है); **ततः**=उसके पश्चात् (वह कभी भी); **न विजुगुप्सते**=किसीसे घृणा नहीं करता ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस प्रकार जो मनुष्य प्राणिमात्रको सर्वाधार परब्रह्म पुरुषोत्तम परमात्मामें देखता है और सर्वान्तर्यामी परम प्रभु परमात्माको प्राणिमात्रमें देखता है, वह कैसे किससे घृणा या द्वेष कर सकता है ? वह तो सदा सर्वत्र अपने परम प्रभुके ही दर्शन करता हुआ (गीता ६ । २९-३०) मन-ही-मन सबको प्रणाम करता रहता है तथा सबकी सब प्रकार सेवा करना और उन्हें सुख पहुँचाना चाहता है * ॥ ६ ॥

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

यस्मिन्=जिस स्थितिमें; **विजानतः**=परब्रह्म परमेश्वरको भलीभाँति जाननेवाले महापुरुषके (अनुभवमें); **सर्वाणि**=सम्पूर्ण; **भूतानि**=प्राणी; **आत्मा**=एकमात्र परमात्मस्वरूप; **एव**=ही; **अभूत्**=हो चुकते हैं; **तत्र**=उस अवस्थामें; (उस) **एकत्वम्**=एकताका—एकमात्र परमेश्वरका; **अनुपश्यतः**=निरन्तर साक्षात् करनेवाले पुरुषके लिये; **कः**=कौन-सा; **मोहः**=मोह (रह जाता है और); **कः**=कौन-सा; **शोकः**=शोक ? (वह शोक-मोहसे सर्वथा रहित, आनन्दपरिपूर्ण हो जाता है) ॥ ७ ॥

व्याख्या—इस प्रकार जब मनुष्य परमात्माको भलीभाँति पहचान लेता है, तब उसकी सर्वत्र भगवद्दृष्टि हो जाती है—तब वह प्राणिमात्रमें एकमात्र तत्त्व श्रीपरमात्माको ही देखता है । उसे सदा-सर्वत्र परमात्माके दर्शन होते रहते हैं और इस कारण वह इतना आनन्दमग्न हो जाता है कि शोक-मोहादि विकारोंकी छाया भी कहीं उसके चित्तप्रदेशमें नहीं रह जाती । लोगोंके देखनेमें वह सब कुछ करता हुआ भी वस्तुतः अपने प्रभुमें ही क्रीड़ा करता है (गीता ६ । ३१) । उसके लिये प्रभु और प्रभुकी लीलाके अतिरिक्त अन्य कुछ रह ही नहीं जाता † ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अब इस प्रकार परमप्रभु परमेश्वरको तत्त्वसे जाननेका तथा सर्वत्र देखनेका फल बतलाते हैं—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

सः=वह महापुरुष; **शुक्रम्**=(उन) परम तेजोमय; **अकायम्**=सूक्ष्मशरीरसे रहित; **अव्रणम्**=छिद्ररहित या क्षत-रहित; **अस्नाविरम्**=शिराओंसे रहित—स्थूल पाञ्चभौतिक शरीरसे रहित; **शुद्धम्**=अप्राकृत दिव्य सच्चिदानन्दस्वरूप; **अपाप-**

दूसरे सब उससे भय-प्रकम्पित रहते हैं, पर वे किसीके भयसे नहीं काँपते । वे दूर भी हैं, समीप भी हैं, सबके भीतर भी हैं और बाहर भी ।

* कुछ आदरणीय विद्वान् इस मन्त्रका भावार्थ इस प्रकार करते हैं—

(१) जो मुमुक्षु सम्पूर्ण प्राणियोंको अपने आत्मासे पृथक् नहीं देखता और उन प्राणियोंके आत्माको अपना ही आत्मा जानता है, वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपने आत्मस्वरूपको देखनेवाला पुरुष किसीसे भी घृणा नहीं करता ।

(२) जो पुरुष सब प्राणियोंको परमात्मामें और सब प्राणियोंमें परमात्माको देखता है, वह निर्भय हो जाता है । फिर वह अपनी रक्षाकी कोई चिन्ता नहीं करता ।

† कुछ आदरणीय विद्वान् इसका ऐसा भावार्थ मानते हैं—

जिस समय आत्मस्वरूपमें परमार्थतत्त्वको जाननेवालेकी दृष्टिमें समस्त प्राणी आत्मभावको ही प्राप्त हो गये होते हैं, उस समय अथवा उस आत्मामें कहाँ मोह रह सकता है और कहाँ शोक ?

विद्धम्=शुभाशुभकर्म-सम्पर्कशून्य परमेश्वरको; **पर्यगात्**=प्राप्त हो जाता है; (जो) **कविः**=सर्वद्रष्टा; **मनीषी**=सर्वज्ञ एवं ज्ञानस्वरूप; **परिभूः**=सर्वोपरि विद्यमान एवं सर्वनियन्ता; **स्वयम्भूः**=स्वेच्छासे प्रकट होनेवाले हैं (और); **शाश्वतीभ्यः**= अनादि; **समाभ्यः**=कालसे; **याथातथ्यतः**=सब प्राणियोंके कर्मानुसार यथायोग्य; **अर्थान्**=सम्पूर्ण पदार्थोंकी; **व्यदधात्**= रचना करते आये हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त वर्णनके अनुसार परमेश्वरको सर्वत्र जानने-देखनेवाला महापुरुष उन परब्रह्म पुरुषोत्तम सर्वेश्वरको प्राप्त होता है, जो शुभाशुभ कर्मजनित प्राकृत सूक्ष्म देह तथा पाञ्चभौतिक अस्थि-शिरा-मांसादिमय षड्विकारयुक्त स्थूल देहसे रहित, छिद्ररहित, दिव्य शुद्ध सच्चिदानन्दघन हैं; एवं जो क्रान्तदर्शी—सर्वद्रष्टा हैं, सबके ज्ञाता, सबको अपने नियन्त्रणमें रखनेवाले सर्वाधिपति और कर्मपरवश नहीं, वरं स्वेच्छासे प्रकट होनेवाले हैं। तथा जो सनातन कालसे सब प्राणियोंके लिये उनके कर्मानुसार समस्त पदार्थोंकी यथायोग्य रचना और विभाग-व्यवस्था करते आये हैं * ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—अब अगले तीन मन्त्रोंमें विद्या और अविद्याका तत्त्व समझाया जायगा। इस प्रकरणमें परब्रह्म परमेश्वरकी प्राप्तिके साधन 'ज्ञान'को विद्याके नामसे कहा गया है और स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति अथवा इस लोकके विविध भोगैश्वर्यकी प्राप्तिके साधन 'कर्म'को अविद्याके नामसे। इन ज्ञान और कर्म—दोनोंके तत्त्वको भलीभाँति समझकर उनका अनुष्ठान करनेवाला मनुष्य ही इन दोनों साधनोंके द्वारा सर्वोत्तम तथा वास्तविक फल प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं—इस रहस्यको समझानेके लिये पहले उन दोनोंके यथार्थ स्वरूपको न समझकर अनुष्ठान करनेवालोंकी दुर्गतिका वर्णन करते हैं—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥ ९ ॥

ये=जो मनुष्य; **अविद्याम्**=अविद्याकी; **उपासते**=उपासना करते हैं; **ते**=वे; **अन्धम्**=अज्ञानस्वरूप; **तमः**=घोर अन्धकारमें; **प्रविशन्ति**=प्रवेश करते हैं; (और) **ये**=जो मनुष्य; **विद्यायाम्**=विद्यामें; **रताः**=रत हैं अर्थात् ज्ञानके मिथ्याभिमानमें मत्त हैं; **ते**=वे; **ततः**=उससे; **उ**=भी; **भूयः इव**=मानो अधिकतर; **तमः**=अन्धकारमें (प्रवेश करते हैं) ॥ ९ ॥

व्याख्या—जो मनुष्य भोगोंमें आसक्त होकर उनकी प्राप्तिके साधनरूप अविद्याका—विविध प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, वे उन कर्मोंके फलस्वरूप अज्ञानान्धकारसे परिपूर्ण विविध योनियों और भोगोंको ही प्राप्त होते हैं। वे मनुष्य-जन्मके चरम और परम लक्ष्य श्रीपरमेश्वरको न पाकर निरन्तर जन्म-मृत्युरूप संसारके प्रवाहमें पड़े हुए विविध तापोंसे संतप्त होते रहते हैं।

दूसरे जो मनुष्य न तो अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्तापनके अभिमानसे रहित कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं और न विवेक-वैराग्यादि ज्ञानके प्राथमिक साधनोंका ही सेवन करते हैं, परंतु केवल शास्त्रोंको पढ़-सुनकर अपनेमें विद्याका—ज्ञानका मिथ्या आरोप करके ज्ञानाभिमानी बन बैठते हैं, ऐसे मिथ्याज्ञानी मनुष्य अपनेको ज्ञानी मानकर, 'हमारे लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है' इस प्रकार कहते हुए कर्तव्यकर्मोंका त्याग कर देते हैं और इन्द्रियोंके वशमें होकर शास्त्रविधिसे विपरीत मनमाना आचरण करने लगते हैं। इससे वे लोग सकामभावसे कर्म करनेवाले विषयासक्त मनुष्योंकी अपेक्षा भी अधिकतर अन्धकारको—पशु-पक्षी, शूकर-कूकर आदि नीच योनियोंको और रौरव-कुम्भीपाकादि घोर नरकोंको प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—शास्त्रके यथार्थ तात्पर्यको समझकर ज्ञान तथा कर्मका अनुष्ठान करनेसे जो सर्वोत्तम परिणाम होता है, उसका संकेतसे वर्णन करते हैं—

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

---

* इस मन्त्रका भावार्थ कुछ आदरणीय महानुभावोंने इस प्रकार भी किया है—

वह पूर्वोक्त निर्विशेष आत्मा आकाशके सदृश सर्वव्यापक, दीप्तिमान्, अशरीरी, अक्षत, स्नायुरहित (स्थूलशरीरसे रहित) तथा धर्माधर्मरूप पापसे रहित है। वह सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ, सबके ऊपर और स्वयं ही सब कुछ है। उस नित्यमुक्त ईश्वरने संवत्सर नामक प्रजापतियोंको उनकी योग्यताके अनुसार अर्थोंका—कर्तव्य-पदार्थोंका—यथायोग्य विभाग कर दिया है।

विद्यया=ज्ञानके यथार्थ अनुष्ठानसे; **अन्यत् एव**=दूसरा ही फल; **आहुः**=बतलाते हैं; (और) **अविद्यया**=कर्मोंके यथार्थ अनुष्ठानसे; **अन्यत्**=दूसरा (ही) फल; **आहुः**=बतलाते हैं; **इति**=इस प्रकार; (हमने) **धीराणाम्**=(उन) धीर पुरुषोंके; **शुश्रुम**=वचन सुने हैं; **ये**=जिन्होंने; **नः**=हमें; **तत्**=उस विषयको; **विचचक्षिरे**=व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था ॥ १० ॥

व्याख्या—सर्वोत्तम फल प्राप्त करानेवाले ज्ञानका यथार्थ स्वरूप है—नित्यानित्यवस्तुका विवेक, क्षणभङ्गुर विनाशशील अनित्य इहलौकिक और पारलौकिक भोगसामग्रियों और उनके साधनोंसे पूर्ण विरक्ति, संयमित पवित्र जीवन और एकमात्र सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्मके चिन्तनमें अखण्ड संलग्नता । इसके अनुष्ठानसे परब्रह्म पुरुषोत्तमका यथार्थ ज्ञान होता है और उसके अनन्तर उनकी प्राप्ति होती है (गीता १८ । ४९—५५) । ज्ञानाभिमानमें रत स्वेच्छाचारी मनुष्योंको जो दुर्गतिरूप फल मिलता है, यथार्थ ज्ञानका यह सर्वोत्तम फल उससे सर्वथा भिन्न और विलक्षण है ।

इसी प्रकार सर्वोत्तम फल प्राप्त करानेवाले कर्मका स्वरूप है—कर्ममें कर्तापनके अभिमानका अभाव, राग-द्वेष और फलकामनाका अभाव एवं अपने वर्णाश्रम तथा परिस्थितिके अनुरूप केवल भगवत्-सेवाके भावसे श्रद्धापूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंका यथायोग्य सेवन । इसके अनुष्ठानसे समस्त दुर्गुण और दुराचारोंका अशेष रूपसे नाश हो जाता है और हर्ष-शोकादि समस्त विकारोंसे रहित होकर साधक मृत्युमय संसार-सागरसे तर जाता है । सकामभावसे किये जानेवाले कर्मोंका जो फल उन कर्ताओंको मिलता है, उससे इस यथार्थ कर्म-सेवनका यह फल सर्वथा भिन्न और विलक्षण है ।

इस प्रकार हमने उन परम ज्ञानी महापुरुषोंसे सुना है, जिन्होंने हमें यह विषय पृथक्-पृथक् रूपसे व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था ॥ १० ॥

सम्बन्ध—अब उपर्युक्त प्रकारसे ज्ञान और कर्म—दोनोंके तत्त्वको एक साथ भलीभाँति समझनेका फल स्पष्ट शब्दोंमें बतलाते हैं—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

यः=जो मनुष्य; **तत् उभयम्**=उन दोनोंको; (अर्थात्) **विद्याम्**=ज्ञानके तत्त्वको; **च**=और; **अविद्याम्**=कर्मके तत्त्वको; **च**=भी; **सह**=साथ-साथ; **वेद**=यथार्थतः जान लेता है; **अविद्यया**=(वह) कर्मोंके अनुष्ठानसे; **मृत्युम्**=मृत्युको; **तीर्त्वा**=पार करके; **विद्यया**=ज्ञानके अनुष्ठानसे; **अमृतम्**=अमृतको; **अश्नुते**=भोगता है अर्थात् अविनाशी आनन्दमय परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्रत्यक्ष प्राप्त हो जाता है ॥ ११ ॥

व्याख्या—कर्म और अकर्मका वास्तविक रहस्य समझनेमें बड़े-बड़े बुद्धिमान् पुरुष भी भूल कर बैठते हैं (गीता ४ । १६) । इसी कारण कर्म-रहस्यसे अनभिज्ञ ज्ञानाभिमानी मनुष्य कर्मको ब्रह्मज्ञानमें बाधक समझ लेते हैं और अपने वर्णाश्रमोचित अवश्यकर्तव्य कर्मोंका त्याग कर देते हैं; परंतु इस प्रकारके त्यागसे उन्हें त्यागका यथार्थ फल—कर्मबन्धनसे छुटकारा नहीं मिलता (गीता १८ । ८) । इसी प्रकार ज्ञान (अकर्मावस्था—नैष्कर्म्य) का तत्त्व न समझनेके कारण मनुष्य अपनेको ज्ञानी तथा संसारसे ऊपर उठे हुए मान लेते हैं । अतः वे या तो अपनेको पुण्य-पापसे अलिप्त मानकर मनमाने कर्माचरणमें प्रवृत्त हो जाते हैं, या कर्मोंको भाररूप समझकर उन्हें छोड़ देते हैं और आलस्य, निद्रा तथा प्रमादमें अपने दुर्लभ मानव-जीवनके अमूल्य समयको नष्ट कर देते हैं ।

इन दोनों प्रकारके अनर्थोंसे बचनेका एकमात्र उपाय कर्म और ज्ञानके रहस्यको साथ-साथ समझकर उनका यथायोग्य अनुष्ठान करना ही है । इसीलिये इस मन्त्रमें यह कहा गया है कि जो मनुष्य इन दोनोंके तत्त्वको एक ही साथ भलीभाँति समझ लेता है, वह अपने वर्णाश्रम और परिस्थितिके अनुरूप शास्त्रविहित कर्मोंका स्वरूपतः त्याग नहीं करता, बल्कि उनमें कर्तापनके अभिमानसे तथा राग-द्वेष और फलकामनासे रहित होकर उनका यथायोग्य आचरण करता है । इससे उसकी जीवनयात्रा भी सुखपूर्वक चलती है और इस भावसे कर्मानुष्ठान करनेके फलस्वरूप उसका अन्तःकरण समस्त

दुर्गुणों एवं विकारोंसे रहित होकर अत्यन्त निर्मल हो जाता है और भगवत्कृपासे वह मृत्युमय संसारसे सहज ही तर जाता है । इस कर्मसाधनके साथ-ही-साथ विवेक-वैराग्यसम्पन्न होकर निरन्तर ब्रह्मविचाररूप ज्ञानाभ्यास करते रहनेसे श्री-परमेश्वरके यथार्थ ज्ञानका उदय होनेपर वह शीघ्र ही परब्रह्म परमेश्वरको साक्षात् प्राप्त कर लेता है * ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—अब अगले तीन मन्त्रोंमें असम्भूति और सम्भूतिका तत्त्व बतलाया जायगा । इस प्रकरणमें 'असम्भूति' शब्दका अर्थ है—जिनकी पूर्णरूपसे सत्ता न हो, ऐसी विनाशशील देव, पितर और मनुष्यादि योनियाँ एवं उनकी भोगसामग्रियाँ । इसीलिये चौदहवें मन्त्रमें 'असम्भूति'के स्थानपर स्पष्टतया 'विनाश' शब्दका प्रयोग किया गया है । इसी प्रकार 'सम्भूति' शब्दका अर्थ है—सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाला अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तम (गीता ७ । ६-७) ।

देव, पितर और मनुष्यादिकी उपासना किस प्रकार करनी चाहिये और अविनाशी परब्रह्मकी किस प्रकार—इस तत्त्वको समझकर उनका अनुष्ठान करनेवाले मनुष्य ही उनके सर्वोत्तम फलोंको प्राप्त हो सकते हैं, अन्यथा नहीं । इस भावको समझानेके लिये, पहले, उन दोनोंके यथार्थ स्वरूपको न समझकर अनुष्ठान करनेवालोंकी दुर्गतिका वर्णन करते हैं—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः ॥ १२ ॥

ये=जो मनुष्य; **असम्भूतिम्**=विनाशशील देव-पितरादिकी; **उपासते**=उपासना करते हैं; (**ते**)=वे; **अन्धम्**=अज्ञानरूप; **तमः**=घोर अन्धकारमें; **प्रविशन्ति**=प्रवेश करते हैं; (और) **ये**=जो; **सम्भूत्याम्**=अविनाशी परमेश्वरमें; **रताः**=रत हैं अर्थात् उनकी उपासनाके मिथ्याभिमानमें मत्त हैं; **ते**=वे; **ततः**=उनसे; **उ**=भी; **भूयः इव**=मानो अधिकतर; **तमः**=अन्धकारमें (प्रवेश करते हैं) ॥ १२ ॥

व्याख्या—जो मनुष्य विनाशशील स्त्री, पुत्र, धन, मान, कीर्ति, अधिकार आदि इस लोक और परलोककी भोग-सामग्रियोंमें आसक्त होकर उन्हींको सुखका हेतु समझते हैं तथा उन्हींके अर्जन-सेवनमें सदा संलग्न रहते हैं एवं इन भोग-सामग्रियोंकी प्राप्ति, संरक्षण तथा वृद्धिके लिये उन विभिन्न देवता, पितर और मनुष्यादिकी उपासना करते हैं जो स्वयं जन्म-मरणके चक्रमें पड़े हुए होनेके कारण शरीरकी दृष्टिसे विनाशशील हैं । ऐसे वे भोगासक्त मनुष्य अपनी उपासनाके फलस्वरूप विभिन्न देवताओंके लोकोंको और विभिन्न भोगयोनियोंको प्राप्त होते हैं । यही उनका अज्ञानरूप घोर अन्धकारमें प्रवेश करना है ।

दूसरे जो मनुष्य शास्त्रके तात्पर्यको तथा भगवान्के दिव्य गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको न समझनेके कारण न तो भगवान्का भजन-ध्यान ही करते हैं और न श्रद्धाके अभाव तथा भोगासक्तिके कारण लोकसेवा और शास्त्रविहित देवोपासनामें ही प्रवृत्त होते हैं, ऐसे वे विषयासक्त मनुष्य झूठ-मूठ ही अपनेको ईश्वरोपासक बतलाकर सरलहृदय जनतासे अपनी पूजा कराने लगते हैं । ये लोग मिथ्या अभिमानके कारण देवताओंको तुच्छ बतलाते हैं और शास्त्रानुसार अवश्यकर्तव्य देवपूजा तथा गुरुजनोंका सम्मान-सत्कार करना भी छोड़ देते हैं । इतना ही नहीं, दूसरोंको भी अपने वाग्-जालमें फँसाकर उनके मनोंमें भी देवोपासना आदिमें अश्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं । ये लोग अपनेको ही ईश्वरके समकक्ष मानते-मनवाते हुए मनमाने दुराचरणमें प्रवृत्त हो जाते हैं । ऐसे दम्भी मनुष्योंको अपने दुष्कर्मोंका कुफल भोगनेके लिये बाध्य होकर कूकर-शूकर आदि नीच योनियोंमें और रौरव-कुम्भीपाकादि नरकोंमें जाकर भीषण यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ती हैं । यही उनका विनाशशील देवताओंकी उपासना करनेवालोंकी अपेक्षा भी अधिकतर घोर अन्धकारमें प्रवेश करना है ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—शास्त्रके यथार्थ तात्पर्यको समझकर सम्भूति और असम्भूतिकी उपासना करनेसे जो सर्वोत्तम परिणाम होता है, अब संकेतसे उसका वर्णन करते हैं—

---

* कुछ महानुभावोंने इसका यह भावार्थ माना है—

अविद्या अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्म यानी 'मृत्यु' शब्दवाच्य स्वाभाविक कर्म और ज्ञान—इन दोनोंको तरकर, विद्या अर्थात् देवताज्ञानसे अमृत यानी देवात्मभावको प्राप्त हो जाता है । इस देवात्मभावकी प्राप्तिको ही अमृत कहा जाता है ।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

सम्भवात्=अविनाशी ब्रह्मकी उपासनासे; **अन्यत् एव**=दूसरा ही फल; **आहुः**=बतलाते हैं; (और) **असम्भवात्**=विनाशशील देव-पितरादिकी उपासनासे; **अन्यत्**=दूसरा (ही) फल; **आहुः**=बतलाते हैं; **इति**=इस प्रकार; (हमने) **धीराणाम्**=(उन) धीर पुरुषोंके; **शुश्रुम**=वचन सुने हैं; **ये**=जिन्होंने; **नः**=हमें; **तत्**=उस विषयको; **विचचक्षिरे**=व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था ॥ १३ ॥

व्याख्या—अविनाशी ब्रह्मकी उपासनाका यथार्थ स्वरूप है—परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वाधार, सर्वमय, सम्पूर्ण संसारके कर्ता, धर्ता, हर्ता, नित्य अविनाशी समझना और भक्ति-श्रद्धा तथा प्रेमपरिपूरित हृदयसे नित्य-निरन्तर उनके दिव्य परम मधुर नाम, रूप, लीला, धाम तथा प्राकृत गुणरहित एवं दिव्य गुणगणमय सच्चिदानन्द-घन स्वरूपका श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि करते रहना । इस प्रकारकी सच्ची उपासनासे उपासकको शीघ्र ही अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तमकी प्राप्ति हो जाती है (गीता ९ । ३४) । ईश्वरोपासनाका मिथ्या स्वाँग भरनेवाले दम्भियों-को जो फल मिलता है, उससे इन सच्चे उपासकोंको मिलनेवाला यह फल सर्वथा भिन्न और विलक्षण है ।

इसी प्रकार विनाशी देवता आदिकी उपासनाका यथार्थ स्वरूप है—शास्त्रोंके एवं श्रीभगवान्‌के आज्ञानुसार (गीता १७ । १४) देवता, पितर, ब्राह्मण, माता-पिता, आचार्य और ज्ञानी महापुरुषोंकी अवश्यकर्तव्य समझकर सेवा-पूजादि करना और उसको भगवान्‌की आज्ञाका पालन एवं उनकी परम सेवा समझना । इस प्रकार निष्कामभावसे अन्य देवताओंकी सेवा-पूजा करनेवालोंके अन्तःकरणकी शुद्धि होती है तथा श्रीभगवान्‌की कृपा एवं प्रसन्नता प्राप्त होती है, जिससे वे मृत्युमय संसारसागरसे तर जाते हैं । विनाशशील देवता आदिकी सकाम उपासनासे जो फल मिलता है, उससे यह फल सर्वथा भिन्न और विलक्षण है ।

इस प्रकार हमने उन धीर तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंसे सुना है, जिन्होंने हमें यह विषय पृथक्-पृथक् रूपसे व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—अब उपर्युक्त प्रकारसे सम्भूति और असम्भूति दोनोंके तत्त्वको एक साथ भलीभाँति समझनेका फल स्पष्ट बतलाते हैं—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

यः=जो मनुष्य; **तत् उभयम्**=उन दोनोंको; (अर्थात्) **सम्भूतिम्**=अविनाशी परमेश्वरको; **च**=और; **विनाशम्**=विनाशशील देवादिको; **च**=भी; **सह**=साथ-साथ; **वेद**=यथार्थतः जान लेता है; **विनाशेन**=(वह) विनाशशील देवादिकी उपासनासे; **मृत्युम्**=मृत्युको; **तीर्त्वा**=पार करके; **सम्भूत्या**=अविनाशी परमेश्वरकी उपासनासे; **अमृतम्**=अमृत-को; **अश्नुते**=भोग करता है अर्थात् अविनाशी आनन्दमय परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्रत्यक्ष प्राप्त हो जाता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—जो मनुष्य यह समझ लेता है कि परब्रह्म पुरुषोत्तम नित्य अविनाशी, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वाधिपति, सर्वात्मा और सर्वश्रेष्ठ हैं, वे परमेश्वर नित्य निर्गुण (प्राकृत गुणोंसे सर्वथा रहित) और नित्य सगुण (स्वरूप-भूत दिव्यकल्याणगुणगणविभूषित) हैं । और इसीके साथ जो यह भी समझ लेता है कि देवता, पितर, मनुष्य आदि जितनी भी योनियाँ तथा भोगसामग्रियाँ हैं, सभी विनाशशील, क्षणभङ्गुर और जन्म-मृत्युशील होनेके कारण महान् दुःखकी कारण हैं; तथापि इनमें जो सत्ता-स्फूर्ति तथा शक्ति है, वह सभी भगवान्‌की है और भगवान्‌के जगच्चक्रके सुचारुरूपसे चलते रहनेके लिये भगवत्प्रीत्यर्थ ही इनकी यथास्थान यथायोग्य सेवा-पूजा आदि करनेकी शास्त्रोंने आज्ञा दी है और शास्त्र भगवान्‌की ही वाणी हैं । वह मनुष्य इहलौकिक तथा पारलौकिक देव-पितरादि लोकोंके भोगोंमें आसक्त न होकर कामना-ममता आदिको हृदयसे निकालकर इन सबकी यथायोग्य शास्त्रविहित सेवा-पूजादि करता है । इससे उसकी जीवन-

यात्रा सुखपूर्वक चलती है,* और उसके आभ्यन्तरिक विकारोंका नाश होकर अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है एवं भगवत्कृपासे वह सहज ही मृत्युमय संसार-सागरको तर जाता है। विनाशशील देवता आदिकी निष्काम उपासनाके साथ-ही-साथ अविनाशी परात्पर प्रभुकी उपासनासे वह शीघ्र ही अमृतरूप परमेश्वरको प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेता है † ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—श्रीपरमेश्वरकी उपासना करनेवालेको परमेश्वरकी प्राप्ति होती है, यह कहा गया है। अतः भगवान्‌के भक्तको अन्तकालमें परमेश्वरसे उनकी प्राप्तिके लिये किस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

पूषन्=हे सबका भरण-पोषण करनेवाले परमेश्वर; **सत्यस्य**=सत्यस्वरूप आप सर्वेश्वरका; **मुखम्**=श्रीमुख; **हिरण्मयेन**=ज्योतिर्मय सूर्यमण्डलरूप; **पात्रेण**=पात्रसे; **अपिहितम्**=ढका हुआ है; **सत्यधर्माय**=आपकी भक्तिरूप सत्य-धर्मका अनुष्ठान करनेवाले मुझको; **दृष्टये**=अपने दर्शन करानेके लिये; **तत्**=उस आवरणको; **त्वम्**=आप; **अपावृणु**=हटा लीजिये ॥ १५ ॥

व्याख्या—भक्त इस प्रकार प्रार्थना करे कि हे भगवन्! आप अखिल ब्रह्माण्डके पोषक हैं, आपसे ही सबको पुष्टि प्राप्त होती है। आपकी भक्ति ही सत्य धर्म है और मैं उसमें लगा हुआ हूँ; अतएव मेरी पुष्टि—मेरे मनोरथकी पूर्ति तो आप अवश्य ही करेंगे। आपका दिव्य श्रीमुख—सच्चिदानन्दस्वरूप प्रकाशमय सूर्यमण्डलसे चमचमाती हुई ज्योतिर्मयी यवनिकासे आवृत है। मैं आपका निरावरण प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहता हूँ, अतएव आपके पास पहुँचकर आपका निरावरण दर्शन करनेमें बाधा देनेवाले जितने भी, जो भी आवरण—प्रतिबन्धक हों, उन सबको मेरे लिये आप हटा लीजिये! अपने सच्चिदानन्दस्वरूपको प्रत्यक्ष प्रकट कीजिये ‡ ॥ १५ ॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

पूषन्=हे भक्तोंका पोषण करनेवाले; **एकर्षे**=हे मुख्य ज्ञानस्वरूप; **यम**=हे सबके नियन्ता; **सूर्य**=हे भक्तों या ज्ञानियों (सूरियों) के परम लक्ष्यरूप; **प्राजापत्य**=हे प्रजापतिके प्रिय; **रश्मीन्**=इन रश्मियोंको; **व्यूह**=एकत्र कीजिये या हटा लीजिये; **तेजः**=इस तेजको; **समूह**=समेट लीजिये या अपने तेजमें मिला लीजिये; **यत्**=जो; **ते**=आपका; **कल्याणतमम्**=अतिशय कल्याणमय; **रूपम्**=दिव्य स्वरूप है; **तत्**=उस; **ते**=आपके दिव्य स्वरूपको; **पश्यामि**=मैं आपकी कृपासे ध्यानके द्वारा देख रहा हूँ; **यः**=जो; **असौ**=वह (सूर्यका आत्मा) है; **असौ**=वह; **पुरुषः**=परम पुरुष (आपका ही स्वरूप है); **अहम्**=मैं (भी); **सः अस्मि**=वही हूँ ॥ १६ ॥

व्याख्या—भगवन्! आप अपनी सहज कृपासे भक्तोंके भक्ति-साधनमें पुष्टि प्रदान करके उनका पोषण करनेवाले हैं; आप समस्त ज्ञानियोंमें अग्रगण्य, परम ज्ञानस्वरूप तथा अपने भक्तोंको अपने स्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्रदान करनेवाले हैं (गीता १० । १२); आप सबका यथायोग्य नियमन, नियन्त्रण और शासन करनेवाले हैं; आप ही भक्तों या ज्ञानी महापुरुषोंके लक्ष्य हैं और अविज्ञेय होनेपर भी अपने भक्तवत्सल स्वभावके कारण भक्तिके द्वारा उनके जाननेमें आ

---

* कई आदरणीय महानुभावोंने असम्भूतिका अर्थ 'अव्याकृत प्रकृति' और सम्भूतिका अर्थ 'कार्यब्रह्म' किया है। एवं कहा है कि कार्यब्रह्मकी उपासनासे अधर्म तथा कामनादि दोषजनित अनैश्वर्यरूप मृत्युको पार करके, हिरण्यगर्भकी उपासनासे अणिमादि ऐश्वर्यकी प्राप्तिरूप फल मिलता है। अतएव उससे अनैश्वर्य आदि मृत्युको पार करके इस अव्यक्तोपासनासे प्रकृतिलयरूप अमृत प्राप्त कर लेता है।

† कुछ अन्य महानुभावोंने असम्भूतिका अर्थ 'संहारकर्त्ता' और सम्भूतिका 'सृष्टिकर्त्ता' माना है।

‡ एक महानुभावने इस मन्त्रका यह अर्थ किया है—

हे पूर्ण परमात्मन्! सोनेके ढकनेसे (सोनेके समान मन-लुभावने विषयरूपी मायाके परदेसे) तुझ सत्यका मुख ढका हुआ है अर्थात् हम विषयोंमें फँसे हुए हैं। हे सबके पोषक! उस ढकनेको मुझ सत्य-परायण साधकके लिये तू उठा दे, जिससे मैं दर्शन कर सकूँ।

जाते हैं; आप प्रजापतिके भी प्रिय हैं। हे प्रभो! इस सूर्यमण्डलकी तप्त रश्मियोंको एकत्र करके अपनेमें लुप्त कर लीजिये। इसके उग्र तेजको समेटकर अपनेमें मिला लीजिये और मुझे अपने दिव्यरूपके प्रत्यक्ष दर्शन कराइये। अभी तो मैं आपकी कृपासे आपके सौन्दर्य-माधुर्य-निधि दिव्य परम कल्याणरूप सच्चिदानन्दस्वरूपका ध्यान-दृष्टिसे दर्शन कर रहा हूँ, साथ ही बुद्धिके द्वारा समझ भी रहा हूँ कि वही आप परम पुरुष इस सूर्यके और समस्त विश्वके आत्मा हैं। अतः आपके लिये जो वह सूर्यमण्डलस्थ पुरुष है, वही मैं भी हूँ। उस पुरुषमें और मुझमें किसी प्रकारका भेद नहीं है *॥ १६ ॥

सम्बन्ध—ध्यानके द्वारा भगवान्‌के दिव्य मङ्गलमय स्वरूपके दर्शन करता हुआ साधक अब भगवान्‌की साक्षात् सेवामें पहुँचनेके लिये व्यग्र हो रहा है और शरीरका त्याग करते समय सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरके सर्वथा विघटनकी भावना करता हुआ भगवान्‌से प्रार्थना करता है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।
ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर ॥ १७ ॥

अथ=अब; **वायुः**=ये प्राण और इन्द्रियाँ; **अमृतम्**=अविनाशी; **अनिलम्**=समष्टि वायु-तत्त्वमें; (**प्रविशतु**=प्रविष्ट हो जायँ;) **इदम्**=यह; **शरीरम्**=स्थूल शरीर; **भस्मान्तम्**=अग्निमें जलकर भस्मरूप; (**भूयात्**=हो जाय;) **ॐ**=हे सच्चिदानन्दघन; **क्रतो**=यज्ञमय भगवन्; **स्मर**=(आप मुझ भक्तको) स्मरण करें; **कृतम्**=मेरे द्वारा किये हुए कर्मोंका; **स्मर**=स्मरण करें; **क्रतो**=हे यज्ञमय भगवन्; **स्मर**=(आप मुझ भक्तको) स्मरण करें; **कृतम्**=(मेरे) कर्मोंको; **स्मर**=स्मरण करें ॥ १७ ॥

व्याख्या—परमधामका यात्री वह साधक अपने प्राण, इन्द्रिय और शरीरको अपनेसे सर्वथा भिन्न समझकर उन सबको उनके अपने-अपने उपादान तत्त्वोंमें सदाके लिये विलीन करना एवं सूक्ष्म और स्थूल-शरीरका सर्वथा विघटन करना चाहता है। इसलिये कहता है कि प्राणादि समष्टिवायु आदिमें प्रविष्ट हो जायँ और स्थूल शरीर जलकर भस्म हो जाय। फिर वह अपने आराध्य देव परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीभगवान्‌से प्रार्थना करता है कि हे यज्ञमय विष्णु—सच्चिदानन्द विज्ञानस्वरूप परमेश्वर! आप अपने निजजन मुझको और मेरे कर्मोंको स्मरण कीजिये। आप स्वभावसे ही मेरा और मेरे द्वारा बने हुए भक्तिरूप कार्योंका स्मरण करेंगे; क्योंकि आपने कहा है, 'अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्'—मैं अपने भक्तका स्मरण करता हूँ और उसे परम गतिमें पहुँचा देता हूँ, अपनी सेवामें स्वीकार कर लेता हूँ; क्योंकि यही सर्वश्रेष्ठ गति है।

इसी अभिप्रायसे भक्त यहाँ दूसरी बार फिर कहता है कि भगवन्! आप मेरा और मेरे कर्मोंका स्मरण कीजिये। अन्तकालमें मैं आपकी स्मृतिमें आ गया तो फिर निश्चय ही आपकी सेवामें शीघ्र पहुँच जाऊँगा † ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अपने आराध्यदेव परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्‌से प्रार्थना करके अब साधक अपुनरावर्ती अर्चि आदि मार्गके द्वारा परम धाममें जाते समय उस मार्गके अग्नि-अभिमानी देवतासे प्रार्थना करता है—

एक आदरणीय विद्वान्‌ने १६ वें मन्त्रका यह अर्थ किया है—

हे जगत्‌का पोषण करनेवाले पूषन्! अकेले विचरण करनेवाले एकर्षे! सबका नियमन करनेवाले यम! प्राण और रसोंका शोषण करनेवाले सूर्य! प्रजापति-पुत्र प्राजापत्य! अपनी किरणोंको हटा लो, अपने तेजको समेट लो। तुम्हारा जो परम कल्याणमय और अत्यन्त शोभन स्वरूप है, उसे तुम आत्माकी कृपासे मैं देखता हूँ। तथा यह मैं तुमसे सेवककी भाँति याचना नहीं करता; क्योंकि यह जो व्याहृतिरूप अङ्गोंवाला आदित्यमण्डलस्थ पुरुष है—जो पुरुषाकार होनेसे अथवा जो प्राण और बुद्धिरूपसे सम्पूर्ण जगत्‌को पूर्ण किये हुए है या जो शरीररूप पुरमें शयन करनेके कारण पुरुष है—वह मैं ही हूँ ॥ १६ ॥

अनुसार सत्यात्मक अग्निनामक ब्रह्म ही अभेदरूपसे कहा गया है; क्योंकि ॐ उसका प्रतीक है। हे क्रतो—संकल्पात्मक मन! तू इस समय जो मेरा स्मरणीय है, उसका स्मरण कर; अब यह उसका समय उपस्थित हो गया है, अतः तू स्मरण कर। 'क्रतो स्मर कृतं स्मर'की पुनरुक्ति यहाँ आदरके लिये है।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥ १८ ॥

अग्ने=हे अग्निके अधिष्ठातृ देवता !; **अस्मान्**=हमें; **राये**=परम धनरूप परमेश्वरकी सेवामें पहुँचानेके लिये; **सुपथा**=सुन्दर शुभ (उत्तरायण) मार्गसे; **नय**=(आप) ले चलिये; **देव**=हे देव; (आप हमारे) **विश्वानि**=सम्पूर्ण; **वयुनानि**=कर्मोंको; **विद्वान्**=जाननेवाले हैं; (अतः) **अस्मत्**=हमारे; **जुहुराणम्**=इस मार्गके प्रतिबन्धक; **एनः**=(यदि कोई) पाप हैं (तो उन सबको); **युयोधि**=(आप) दूर कर दीजिये; **ते**=आपको; **भूयिष्ठाम्**=बार-बार; **नमउक्तिम्**=नमस्कारके वचन; **विधेम**=(हम) कहते हैं—बार-बार नमस्कार करते हैं ॥ १८ ॥

व्याख्या—साधक कहता है—हे अग्निदेवता ! मैं अब अपने परम प्रभु भगवान्‌की सेवामें पहुँचना और सदाके लिये उन्हींकी सेवामें रहना चाहता हूँ। आप शीघ्र ही मुझे परम सुन्दर मङ्गलमय उत्तरायणमार्गसे भगवान्‌के परमधाममें पहुँचा दीजिये। आप मेरे कर्मोंको जानते हैं। मैंने जीवनमें भगवान्‌की भक्ति की है और उनकी कृपासे इस समय भी मैं ध्याननेत्रोंसे उनके दिव्य स्वरूपके दर्शन और उनके नामोंका उच्चारण कर रहा हूँ। मेरा अधिकार है कि मैं इसी मार्गसे जाऊँ। तथापि यदि आपके ध्यानमें मेरा कोई ऐसा कर्म शेष हो, जो इस मार्गमें प्रतिबन्धकरूप हो, तो आप कृपा करके उसे नष्ट कर दीजिये। मैं आपको बार-बार विनयपूर्वक नमस्कार करता हूँ *-† ॥ १८ ॥

॥ यजुर्वेदीय ईशावास्योपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः

इसका अर्थ ईशावास्योपनिषद्‌के प्रारम्भमें दिया जा चुका है।

---

* इस मन्त्रका भावार्थ एक सज्जन इस प्रकार करते हैं—

हे सबके अग्रणी (जगद्गुरो) ! तू हमें धनके लिये—लोक और परलोकके सुखके लिये नेकीके रास्तेसे चला। हे सबके अन्तर्यामी प्रकाशमान ! तू हमारे सब ज्ञानोंको जाननेवाला है। हमसे अच्छे मार्गमें बाधा देनेवाले कुटिल पापको दूर कर। हम तुझे बार-बार नमस्कार करते हैं।

† इस उपनिषद्‌का पंद्रहवाँ और सोलहवाँ मन्त्र सबके लिये मननीय है। उन मन्त्रोंके भावके अनुसार सबको भगवान्‌से दर्शन देनेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये। 'सत्यधर्माय दृष्टये' का यह भाव भी समझना चाहिये कि भगवन् ! आप अपने स्वरूपका वह आवरण—वह परदा हटा दीजिये, जिससे सत्यधर्मरूप आप परमेश्वरकी प्राप्ति तथा आपके मङ्गलमय श्रीविग्रहका दर्शन हो सके। इसी प्रकार सत्रहवें और अठारहवें मन्त्रके भावका भी प्रत्येक मनुष्यको विशेषतः मुमूर्षु अवस्थामें अवश्य स्मरण करना चाहिये। इन मन्त्रोंके अनुसार अन्तकालमें भगवान्‌की प्रार्थना करनेसे मनुष्यमात्रका कल्याण हो सकता है। भगवान्‌ने स्वयं भी गीतामें कहा है—'अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥' मुमूर्षुमात्रके लाभके लिये इन दो मन्त्रोंका भावार्थ इस प्रकार है—'हे परमात्मन् ! मेरे ये इन्द्रिय और प्राण आदि अपने-अपने कारण-तत्त्वोंमें लीन हो जायँ और मेरा यह स्थूल शरीर भी भस्म हो जाय। इनके प्रति मेरे मनमें किञ्चित् भी आसक्ति न रहे। हे यशमय विष्णो ! आप कृपा करके मेरा और मेरे कर्मोंका स्मरण करें। आपके स्मरण कर लेनेसे मैं और मेरे कर्म सब पवित्र हो जायँगे। फिर तो मैं अवश्य ही आपके चरणोंकी सेवामें पहुँच जाऊँगा ॥ १७ ॥ हे अग्निस्वरूप परमेश्वर ! आप ही मेरे धन हैं—सर्वस्व हैं, अतः आपकी ही प्राप्तिके लिये आप मुझे उत्तम मार्गसे अपने चरणोंके समीप पहुँचाइये। मेरे जितने भी शुभाशुभ कर्म हैं, वे आपसे छिपे नहीं हैं, आप सबको जानते हैं, मैं उन कर्मोंके बलपर आपको नहीं पा सकता; आप स्वयं ही दया करके मुझे अपना लीजिये। आपकी प्राप्तिमें जो भी प्रतिबन्धक पाप हों उन सबको आप दूर कर दें; मैं बारंबार आपको नमस्कार करता हूँ ॥ १८ ॥'

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

केनोपनिषद्

यह उपनिषद् सामवेदके 'तलवकार ब्राह्मण'के अन्तर्गत है। तलवकारको जैमिनीय उपनिषद् भी कहते हैं। 'तलवकार ब्राह्मण' के अस्तित्वके सम्बन्धमें कुछ पाश्चात्य विद्वानोंको सन्देह हो गया था, परन्तु डा० बर्नेलको कहींसे एक प्राचीन प्रति मिल गयी, तबसे वह सन्देह जाता रहा। इस उपनिषद्में सबसे पहले 'केन' शब्द आया है, इसीसे इसका 'केनोपनिषद्' नाम पड़ गया। इसे 'तलवकार उपनिषद्' और 'ब्राह्मणोपनिषद्' भी कहते हैं। तलवकार ब्राह्मणका यह नवम अध्याय है। इसके पूर्वके आठ अध्यायोंमें अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये विभिन्न कर्म और उपासनाओंका वर्णन है। इस उपनिषद्का प्रतिपाद्य विषय परब्रह्म-तत्त्व बहुत ही गहन है, अतएव उसको भलीभाँति समझानेके लिये गुरु-शिष्य-संवादके रूपमें तत्त्वका विवेचन किया गया है।

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ॐ=हे परब्रह्म परमात्मन्; **मम**=मेरे; **अङ्गानि**=सम्पूर्ण अङ्ग; **वाक्**=वाणी; **प्राणः**=प्राण; **चक्षुः**=नेत्र; **श्रोत्रम्**=कान; **च**=और; **सर्वाणि**=सब; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियाँ; **अथो**=तथा; **बलम्**=शक्ति; **आप्यायन्तु**=परिपुष्ट हों; **सर्वम्**=(यह जो) सर्वरूप; **औपनिषदम्**=उपनिषद्-प्रतिपादित; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **अहम्**=मैं; **ब्रह्म**=इस ब्रह्मको; **मा निराकुर्याम्**=अस्वीकार न करूँ; (और) **ब्रह्म**=ब्रह्म; **मा**=मुझको; **मा निराकरोत्**=परित्याग न करे; **अनिराकरणम्**=(उसके साथ मेरा) अटूट सम्बन्ध; **अस्तु**=हो; **मे**=मेरे साथ; **अनिराकरणम्**=(उसका) अटूट सम्बन्ध; **अस्तु**=हो; **उपनिषत्सु**=उपनिषदोंमें प्रतिपादित; **ये**=जो; **धर्माः**=धर्मसमूह हैं; **ते**=वे सब; **तदात्मनि**=उस परमात्मामें; **निरते**=लगे हुए; **मयि**=मुझमें; **सन्तु**=हों; **ते**=वे सब; **मयि**=मुझमें; **सन्तु**=हों। **ॐ**=हे परमात्मन्; **शान्तिः शान्तिः शान्तिः**=त्रिविध तापोंकी निवृत्ति हो।

व्याख्या—हे परमात्मन्! मेरे सारे अङ्ग, वाणी, नेत्र-श्रोत्र आदि सभी कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राणसमूह, शारीरिक और मानसिक शक्ति तथा ओज—सब पुष्टि एवं वृद्धिको प्राप्त हों। उपनिषदोंमें सर्वरूप ब्रह्मका जो स्वरूप वर्णित है, उसे मैं कभी अस्वीकार न करूँ और वह ब्रह्म भी मेरा कभी प्रत्याख्यान न करे। मुझे सदा अपनाये रक्खे। मेरे साथ ब्रह्मका और ब्रह्मके साथ मेरा नित्य सम्बन्ध बना रहे। उपनिषदोंमें जिन धर्मोंका प्रतिपादन किया गया है, वे सारे धर्म, उपनिषदोंके एकमात्र लक्ष्य परब्रह्म परमात्मामें निरन्तर लगे हुए मुझ साधकमें सदा प्रकाशित रहें, मुझमें नित्य-निरन्तर बने रहें। और मेरे त्रिविध तापोंकी निवृत्ति हो।

सम्बन्ध—शिष्य गुरुदेवसे पूछता है—

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥ १ ॥

केन=किसके द्वारा; **इषितम्**=सत्ता-स्फूर्ति पाकर; (और) **प्रेषितम्**=प्रेरित—सञ्चालित होकर (यह); **मनः**=मन (अन्तःकरण); **पतति**=अपने विषयोंमें गिरता है—उनतक पहुँचता है; **केन**=किसके द्वारा; **युक्तः**=नियुक्त होकर; **प्रथमः**=अन्य सबसे श्रेष्ठ; **प्राणः**=प्राण; **प्रैति**=चलता है; **केन**=किसके द्वारा; **इषिताम्**=क्रियाशील की हुई; **इमाम्**=इस;

वाचम्=वाणीको; **वदन्ति**=लोग बोलते हैं; **कः**=(और) कौन; **उ**=प्रसिद्ध; **देवः**=देव; **चक्षुः**=नेत्रेन्द्रिय (और); **श्रोत्रम्**=कर्णेन्द्रियको; **युनक्ति**=नियुक्त करता है (अपने-अपने विषयोंके अनुभवमें लगाता है) ॥ १ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें चार प्रश्न हैं। इनमें प्रकारान्तरसे यह पूछा गया है कि जडरूप अन्तःकरण, प्राण, वाणी आदि कर्मेन्द्रिय और चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियोंको अपना-अपना कार्य करनेकी योग्यता प्रदान करनेवाला और उन्हें अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त करनेवाला जो कोई एक सर्वशक्तिमान् चेतन है, वह कौन है ? और कैसा है ? ॥ १ ॥

सम्बन्ध—इसके उत्तरमें गुरु कहते हैं—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचꣳ स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ २ ॥

यत्=जो; **मनसः**=मनका; **मनः**=मन अर्थात् कारण है; **प्राणस्य**=प्राणका; **प्राणः**=प्राण है; **वाचः**=वाक्-इन्द्रियका; **वाचम्**=वाक् है; **श्रोत्रस्य**=श्रोत्रेन्द्रियका; **श्रोत्रम्**=श्रोत्र है; **उ**=और; **चक्षुषः**=चक्षु-इन्द्रियका; **चक्षुः**=चक्षु है; **सः**=वह; **ह**=ही (इन सबका प्रेरक परमात्मा है); **धीराः**=ज्ञानीजन (उसे जानकर); **अतिमुच्य**=जीवन्मुक्त होकर; **अस्मात्**=इस; **लोकात्**=लोकसे; **प्रेत्य**=जानेके बाद (मृत्युके अनन्तर); **अमृताः**=अमर (जन्म-मृत्युसे रहित); **भवन्ति**=हो जाते हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें गुरु शिष्यके प्रश्नोंका स्पष्ट उत्तर न देकर 'जो श्रोत्रका भी श्रोत्र है' इत्यादि शब्दोंके द्वारा संकेतसे समझा रहे हैं कि जो इन मन, प्राण और सम्पूर्ण इन्द्रियोंका—समस्त जगत्का परम कारण है, जिससे ये सब उत्पन्न हुए हैं, जिसकी शक्तिको पाकर ये सब अपना-अपना कार्य करनेमें समर्थ हो रहे हैं और जो इन सबको जाननेवाला है, वह परब्रह्म पुरुषोत्तम ही इन सबका प्रेरक है। उसे जानकर ज्ञानीजन जीवन्मुक्त होकर इस लोकसे प्रयाण करनेके अनन्तर अमृतस्वरूप—विदेहमुक्त हो जाते हैं अर्थात् जन्म-मृत्युसे सदाके लिये छूट जाते हैं ॥ २ ॥

सम्बन्ध—वह मन, प्राण और इन्द्रियोंका प्रेरक ब्रह्म 'ऐसा' है, इस प्रकार स्पष्ट न कहकर संकेतसे ही क्यों समझाया ?—इस जिज्ञासापर पुनः गुरु कहते हैं—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥ ३ ॥

तत्र=वहाँ (उस ब्रह्मतक); **न**=न तो; **चक्षुः**=चक्षु-इन्द्रिय (आदि सब ज्ञानेन्द्रियाँ); **गच्छति**=पहुँच सकती हैं; **न**=न; **वाक्**=वाक्-इन्द्रिय (आदि कर्मेन्द्रियाँ); **गच्छति**=पहुँच सकती हैं (और); **नो**=न; **मनः**=मन (अन्तःकरण) ही; (अतः) **यथा**=जिस प्रकार; **एतत्**=इस (ब्रह्मके स्वरूप) को; **अनुशिष्यात्**=बतलाया जाय कि वह ऐसा है; **न विद्मः**=(इस बातको) न तो हम स्वयं अपनी बुद्धिसे जानते हैं (और); **न विजानीमः**=न दूसरोंसे सुनकर ही जानते हैं; (क्योंकि) **तत्**=वह; **विदितात्**=जाने हुए (जाननेमें आनेवाले) पदार्थसमुदायसे; **अन्यत् एव**=भिन्न ही है; **अथो**=और; **अविदितात्**=(मन-इन्द्रियोंद्वारा) न जाने हुए (जाननेमें न आनेवाले) से (भी); **अधि**=ऊपर है; **इति**=यह; **पूर्वेषाम्**=अपने पूर्वाचार्योंके मुखसे; **शुश्रुम**=सुना है; **ये**=जिन्होंने; **नः**=हमें; **तत्**=उस ब्रह्मका तत्त्व; **व्याचचक्षिरे**=भलीभाँति व्याख्या करके समझाया था ॥ ३ ॥

व्याख्या—उन सच्चिदानन्दघन परब्रह्मको प्राकृत अन्तःकरण और इन्द्रियाँ नहीं जान सकतीं। ये वहाँतक पहुँच ही नहीं पातीं। उस अलौकिक दिव्य तत्त्वमें इनका प्रवेश ही नहीं हो सकता। बल्कि इनमें जो चेतना और क्रिया प्रतीत होती है, यह उसी ब्रह्मकी प्रेरणासे और उसीकी शक्तिसे होती है। ऐसी अवस्थामें मन-इन्द्रियोंके द्वारा कोई कैसे बतलाये कि वह ब्रह्म 'ऐसा है'। इस प्रकार ब्रह्मतत्त्वके उपदेशका कोई तरीका न तो हमने किसीके भी द्वारा सुनकर समझा है और न हम स्वयं अपनी बुद्धिसे ही विचारके द्वारा समझ रहे हैं। हमने तो जिन महापुरुषोंसे इस गूढ़ तत्त्वका उपदेश प्राप्त किया है,

उनसे यही सुना है कि वह परब्रह्म परमेश्वर जड-चेतन दोनोंसे ही भिन्न है—जाननेमें आनेवाले सम्पूर्ण दृश्य जड-वर्ग (क्षर) से तो वह सर्वथा भिन्न है और इस जड-वर्गको जाननेवाले परंतु स्वयं जाननेमें न आनेवाले जीवात्मा (अक्षर) से भी उत्तम है। ऐसी स्थितिमें उसके स्वरूपतत्त्वको वाणीके द्वारा व्यक्त करना कदापि सम्भव नहीं है। इसीसे उसको समझानेके लिये संकेतका ही आश्रय लेना पड़ता है ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—अब उसी ब्रह्मको प्रश्नोंके अनुसार पुनः पाँच मन्त्रोंमें समझाते हैं—

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ४ ॥

यत्=जो; **वाचा**=वाणीके द्वारा; **अनभ्युदितम्**=नहीं बतलाया गया है; [**अपि तु**=बल्कि;] **येन**=जिससे; **वाक्**=वाणी; **अभ्युद्यते**=बोली जाती है अर्थात् जिसकी शक्तिसे वक्ता बोलनेमें समर्थ होता है; **तत्**=उसको; **एव**=ही; **त्वम्**=तू; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **विद्धि**=जान; **इदम् यत्**=वाणीके द्वारा बतानेमें आनेवाले जिस तत्त्वकी; **उपासते**=(लोग) उपासना करते हैं; **इदम्**=यह; **न**=ब्रह्म नहीं है ४

व्याख्या—वाणीके द्वारा जो कुछ भी व्यक्त किया जा सकता है तथा प्राकृत वाणीसे बतलाये हुए जिस तत्त्वकी उपासना की जाती है, वह ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप नहीं है। ब्रह्मतत्त्व वाणीसे सर्वथा अतीत है। उसके विषयमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जिसकी शक्तिके किसी अंशसे वाणीमें प्रकाशित होनेकी—बोलनेकी शक्ति आयी है, जो वाणीका भी ज्ञाता, प्रेरक और प्रवर्तक है, वह ब्रह्म है। इस मन्त्रमें 'जिसकी प्रेरणासे वाणी बोली जाती है, वह कौन है ?' इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है ॥ ४ ॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ५ ॥

यत्=जिसको; (कोई भी) **मनसा**=मनसे (अन्तःकरणके द्वारा); **न**=नहीं; **मनुते**=समझ सकता; [**अपि तु**=बल्कि;] **येन**=जिससे; **मनः**=मन; **मतम्**=(मनुष्यका) जाना हुआ हो जाता है; **आहुः**=ऐसा कहते हैं; **तत्**=उसको; **एव**=ही; **त्वम्**=तू; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **विद्धि**=जान; **इदम् यत्**=मन और बुद्धिके द्वारा जाननेमें आनेवाले जिस तत्त्वकी; **उपासते**=(लोग) उपासना करते हैं; **इदम्**=यह; **न**=ब्रह्म नहीं है ॥ ५ ॥

व्याख्या—बुद्धि और मनका जो कुछ भी विषय है, जो इनके द्वारा जाननेमें आ सकता है तथा प्राकृत मन-बुद्धिसे जाने हुए जिस तत्त्वकी उपासना की जाती है, वह ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप नहीं है। परब्रह्म परमेश्वर मन और बुद्धिसे सर्वथा अतीत है। उसके विषयमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जो मन-बुद्धिका ज्ञाता, उनमें मनन और निश्चय करनेकी शक्ति देनेवाला तथा मनन और निश्चय करनेमें नियुक्त करनेवाला है तथा जिसकी शक्तिके किसी अंशसे बुद्धिमें निश्चय करनेकी सामर्थ्य और मनमें मनन करनेकी सामर्थ्य आयी है, वह ब्रह्म है। इस मन्त्रमें 'जिसकी शक्ति और प्रेरणाको पाकर मन अपने ज्ञेय पदार्थोंको जानता है, वह कौन है ?' इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है ॥ ५ ॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ६ ॥

यत्=जिसको (कोई भी); **चक्षुषा**=चक्षुके द्वारा; **न**=नहीं; **पश्यति**=देख सकता; [**अपि तु**=बल्कि;] **येन**=जिससे; **चक्षूंषि**=चक्षु; (अपने विषयोंको) **पश्यति**=देखता है; **तत्**=उसको; **एव**=ही; **त्वम्**=तू; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **विद्धि**=जान; **इदम् यत्**=चक्षुके द्वारा देखनेमें आनेवाले जिस दृश्यवर्गकी; **उपासते**=(लोग) उपासना करते हैं; **इदम्**=यह; **न**=ब्रह्म नहीं है ॥ ६ ॥

व्याख्या—चक्षुका जो कुछ भी विषय है, जो इसके द्वारा देखने-जाननेमें आ सकता है तथा प्राकृत आँखोंसे देखे जानेवाले जिस पदार्थसमूहकी उपासना की जाती है, वह ब्रह्मका वास्तविक रूप नहीं है। परब्रह्म परमेश्वर चक्षु आदि इन्द्रियोंसे सर्वथा अतीत है। उसके विषयमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जिसकी शक्ति और प्रेरणासे चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयको प्रत्यक्ष करनेमें समर्थ होती हैं, जो इनको जाननेवाला और इन्हें अपने विषयोंको जाननेमें प्रवृत्त करनेवाला

है तथा जिसकी शक्तिके किसी अंशका यह प्रभाव है, वह ब्रह्म है। इस मन्त्रमें 'जिसकी शक्ति और प्रेरणासे चक्षु अपने विषयोंको देखता है, वह कौन है ?' इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है ॥ ६ ॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदꣳ श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ७ ॥

यत्=जिसको (कोई भी); **श्रोत्रेण**=श्रोत्रके द्वारा; **न**=नहीं; **शृणोति**=सुन सकता; [**अपि तु**=बल्कि;] **येन**=जिससे; **इदम्**=यह; **श्रोत्रम्**=श्रोत्र-इन्द्रिय; **श्रुतम्**=सुनी हुई है; **तत्**=उसको; **एव**=ही; **त्वम्**=तू; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **विद्धि**=जान; **इदम् यत्**=श्रोत्र-इन्द्रियके द्वारा जाननेमें आनेवाले जिस तत्त्वकी; **उपासते**=(लोग) उपासना करते हैं; **इदम्**=यह; **न**=ब्रह्म नहीं है ॥ ७ ॥

व्याख्या—जो कुछ भी सुननेमें आनेवाला पदार्थ है तथा प्राकृत कानोंसे सुने जानेवाले जिस वस्तु-समुदायकी उपासना की जाती है, वह ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप नहीं है। परब्रह्म परमेश्वर श्रोत्रेन्द्रियसे सर्वथा अतीत है। उसके विषयमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जो श्रोत्र-इन्द्रियका ज्ञाता, प्रेरक और उसमें सुननेकी शक्ति देनेवाला है तथा जिसकी शक्तिके किसी अंशसे श्रोत्र-इन्द्रियमें शब्दको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य आयी है, वह ब्रह्म है। इस मन्त्रमें 'जिसकी शक्ति और प्रेरणासे श्रोत्र अपने विषयोंको सुननेमें प्रवृत्त होता है, वह कौन है ?' इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है ॥ ७ ॥

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ८ ॥

यत्=जो; **प्राणेन**=प्राणके द्वारा; **न प्राणिति**=चेष्टायुक्त नहीं होता; [**अपि तु**=बल्कि;] **येन**=जिससे; **प्राणः**=प्राण; **प्रणीयते**=चेष्टायुक्त होता है; **तत्**=उसको; **एव**=ही; **त्वम्**=तू; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **विद्धि**=जान; **इदम् यत्**=प्राणोंकी शक्तिसे चेष्टायुक्त दीखनेवाले जिन तत्त्वोंकी; **उपासते**=(लोग) उपासना करते हैं; **इदम्**=ये; **न**=ब्रह्म नहीं हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या—प्राणके द्वारा जो कुछ भी चेष्टायुक्त की जानेवाली वस्तु है, तथा प्राकृत प्राणोंसे अनुप्राणित जिस तत्त्वकी उपासना की जाती है, वह ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप नहीं है। परब्रह्म परमेश्वर उनसे सर्वथा अतीत है। उसके विषयमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जो प्राणका ज्ञाता, प्रेरक और उसमें शक्ति देनेवाला है, जिसकी शक्तिके किसी अंशको प्राप्त करके और जिसकी प्रेरणासे यह प्रधान प्राण सबको चेष्टायुक्त करनेमें समर्थ होता है, वही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ब्रह्म है। इस मन्त्रमें 'जिसकी प्रेरणासे प्राण विचरता है, वह कौन है ?' इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है।

सारांश यह कि प्राकृत मन, प्राण तथा इन्द्रियोंसे जिन विषयोंकी उपलब्धि होती है, वे सभी प्राकृत होते हैं; अतएव उनको परब्रह्म परमेश्वर परात्पर पुरुषोत्तमका वास्तविक स्वरूप नहीं माना जा सकता। इसलिये उनकी उपासना भी परब्रह्म परमेश्वरकी उपासना नहीं है। परब्रह्म परमेश्वरके मन-बुद्धि आदिसे अतीत स्वरूपको सांकेतिक भाषामें समझानेके लिये ही यहाँ गुरुने इन सबके ज्ञाता, शक्तिप्रदाता, स्वामी, प्रेरक, प्रवर्तक, सर्वशक्तिमान्, नित्य, अप्राकृत परम तत्त्वको ब्रह्म बतलाया है ॥ ८ ॥

प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।
यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमाꣳस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥ १ ॥

यदि=यदि; **त्वम्**=तू; **इति**=यह; **मन्यसे**=मानता है (कि); **सुवेद**=(मैं ब्रह्मको) भलीभाँति जान गया हूँ; **अपि**=तो; **नूनम्**=निश्चय ही; **ब्रह्मणः**=ब्रह्मका; **रूपम्**=स्वरूप; **दभ्रम्**=थोड़ा-सा; **एव**=ही; (तू) **वेत्थ**=जानता है; (क्योंकि) **अस्य**=इस (परब्रह्म परमेश्वर) का; **यत्**=जो (आंशिक) स्वरूप; **त्वम्**=तू है; (और) **अस्य**=इसका; **यत्**=जो (आंशिक) स्वरूप; **देवेषु**=देवताओंमें है; [**तत् अल्पम् एव**=वह सब मिलकर भी अल्प ही है;] **अथ नु**=इसीलिये; **मन्ये**=मैं मानता हूँ कि; **ते विदितम्**=तेरा जाना हुआ; (स्वरूप) **मीमांस्यम् एव**=निस्सन्देह विचारणीय है ॥ १ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें गुरु अपने शिष्यको सावधान करते हुए कहते हैं कि 'हमारे द्वारा संकेतसे बतलाये हुए ब्रह्मतत्त्वको सुनकर यदि तू ऐसा मानता है कि मैं उस ब्रह्मको भलीभाँति जान गया हूँ तो यह निश्चित है कि तूने ब्रह्मके स्वरूपको बहुत थोड़ा जाना है; क्योंकि उस परब्रह्मका अंशभूत जो जीवात्मा है, उसीको, अथवा समस्त देवताओंमें—यानी मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय आदिमें जो ब्रह्मका अंश है, जिससे वे अपना काम करनेमें समर्थ हो रहे हैं, उसको यदि तू ब्रह्म समझता है तो तेरा यह समझना यथार्थ नहीं है। ब्रह्म इतना ही नहीं है। इस जीवात्माको और समस्त विश्व-ब्रह्माण्डमें व्याप्त जो ब्रह्मकी शक्ति है, उस सबको मिलाकर भी देखा जाय तो वह ब्रह्मका एक अंश ही है। अतएव तेरा समझा हुआ यह ब्रह्मतत्त्व तेरे लिये पुनः विचारणीय है, ऐसा मैं मानता हूँ' ॥ १ ॥

सम्बन्ध—गुरुदेवके उपदेशपर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेके अनन्तर शिष्य उनके सामने अपना विचार प्रकट करता है—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥ २ ॥

अहम्=मैं; **सुवेद**=ब्रह्मको भलीभाँति जान गया हूँ; **इति न मन्ये**=यों नहीं मानता; (और) **नो**=न; **इति**=ऐसा (ही मानता हूँ कि); **न वेद**=नहीं जानता; (क्योंकि) **वेद च**=जानता भी हूँ; (किन्तु यह जानना विलक्षण है) **नः**=हम शिष्योंमेंसे; **यः**=जो कोई भी; **तत्**=उस ब्रह्मको; **वेद**=जानता है; **तत्**=(वही) मेरे उक्त वचनके अभिप्रायको; **च**=भी; **वेद**=जानता है; (कि) **वेद**=मैं जानता हूँ; (और) **न वेद**=नहीं जानता; **इति**=ये दोनों ही; **नो**=नहीं हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें शिष्यने अपने गुरुदेवके प्रति संकेतसे अपना अनुभव इस प्रकार प्रकट किया है कि "उस ब्रह्मको मैं भलीभाँति जानता हूँ, यह मैं नहीं मानता और न यह ही मानता हूँ कि मैं उसे नहीं जानता। क्योंकि मैं जानता भी हूँ। तथापि मेरा यह जानना वैसा नहीं है, जैसा कि किसी ज्ञाताका किसी ज्ञेय वस्तुको जानना है। यह उससे सर्वथा विलक्षण और अलौकिक है। इसलिये मैं जो यह कह रहा हूँ कि 'मैं उसे नहीं जानता ऐसा भी नहीं, और जानता हूँ ऐसा भी नहीं; तो भी मैं उसे जानता हूँ।' मेरे इस कथनके रहस्यको हम शिष्योंमेंसे वही ठीक समझ सकता है, जो उस ब्रह्मको जानता है" ॥२॥

सम्बन्ध—अब श्रुति स्वयं उपर्युक्त गुरु-शिष्य-संवादका निष्कर्ष कहती है—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥ ३ ॥

यस्य अमतम्=जिसका यह मानना है कि ब्रह्म जाननेमें नहीं आता; **तस्य**=उसका; **मतम्**=(तो वह) जाना हुआ है; (और) **यस्य**=जिसका; **मतम्**=यह मानना है कि ब्रह्म मेरा जाना हुआ है; **सः**=वह; **न**=नहीं; **वेद**=जानता; (क्योंकि) **विजानताम्**=जाननेका अभिमान रखनेवालोंके लिये; **अविज्ञातम्**=(वह ब्रह्मतत्त्व) बिना जाना हुआ है; (और) **अविजानताम्**=जिनमें ज्ञातापनका अभिमान नहीं है, उनका; **विज्ञातम्**=(वह ब्रह्मतत्त्व) जाना हुआ है अर्थात् उनके लिये वह अपरोक्ष है ॥ ३ ॥

व्याख्या—जो महापुरुष परब्रह्म परमेश्वरका साक्षात् कर लेते हैं, उनमें किञ्चिन्मात्र भी ऐसा अभिमान नहीं रह जाता कि हमने परमेश्वरको जान लिया है। वे परमात्माके अनन्त असीम महिमा-महार्णवमें निमग्न हुए यही समझते हैं कि परमात्मा स्वयं ही अपनेको जानते हैं। दूसरा कोई भी ऐसा नहीं है, जो उनका पार पा सके। भला, असीमकी सीमा ससीम कहाँ पा सकता है? अतएव जो यह मानता है कि मैंने ब्रह्मको जान लिया है, मैं ज्ञानी हूँ, परमेश्वर मेरे ज्ञेय हैं, वह वस्तुतः सर्वथा भ्रममें है। क्योंकि ब्रह्म इस प्रकार ज्ञानका विषय नहीं है। जितने भी ज्ञानके साधन हैं, उनमेंसे एक भी ऐसा नहीं जो ब्रह्मतक पहुँच सके। अतएव इस प्रकारके जाननेवालोंके लिये परमात्मा सदा अज्ञात हैं; जबतक जाननेका अभिमान रहता है, तबतक परमेश्वरका साक्षात्कार नहीं होता। परमेश्वरका साक्षात्कार उन्हीं भाग्यवान् महापुरुषोंको होता है, जिनमें जाननेका अभिमान किञ्चित् भी नहीं रह गया है ॥ ३ ॥

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥ ४ ॥

प्रतिबोधविदितम्=उपर्युक्त प्रतिबोध (संकेत) से उत्पन्न ज्ञान ही; **मतम्**=वास्तविक ज्ञान है; **हि**=क्योंकि इससे; **अमृतत्वम्**=अमृतस्वरूप परमात्माको; **विन्दते**=मनुष्य प्राप्त करता है; **आत्मना**=अन्तर्यामी परमात्मासे; **वीर्यम्**=परमात्माको जाननेकी शक्ति (ज्ञान); **विन्दते**=प्राप्त करता है; (और उस) **विद्यया**=विद्या—ज्ञानसे; **अमृतम्**=अमृतरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमको; **विन्दते**=प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त वर्णनमें परमात्माके जिस स्वरूपका लक्ष्य कराया गया था, उसको भलीभाँति समझ लेना ही वास्तविक ज्ञान है और इसी ज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति होती है । परमात्माका ज्ञान करानेकी यह जो ज्ञानरूपा शक्ति है, यह मनुष्यको अन्तर्यामी परमात्मासे ही मिलती है । मन्त्रमें 'विद्यासे अमृतरूप परब्रह्मकी प्राप्ति होती है' यह इसीलिये कहा गया है कि जिससे मनुष्यमें परब्रह्म पुरुषोत्तमके यथार्थ स्वरूपको जाननेके लिये रुचि और उत्साहकी वृद्धि हो ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब उस ब्रह्मतत्त्वको इसी जन्ममें जान लेना अत्यन्त प्रयोजनीय है, यह बतलाकर इस प्रकरणका उपसंहार किया जाता है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ ५ ॥

चेत्=यदि; **इह**=इस मनुष्यशरीरमें; **अवेदीत्**=(परब्रह्मको) जान लिया; **अथ**=तब तो; **सत्यम्**=बहुत कुशल; **अस्ति**=है; **चेत्**=यदि; **इह**=इस शरीरके रहते-रहते; **न अवेदीत्**=(उसे) नहीं जान पाया (तो); **महती**=महान्; **विनष्टिः**=विनाश है; (यही सोचकर) **धीराः**=बुद्धिमान् पुरुष; **भूतेषु भूतेषु**=प्राणी-प्राणीमें (प्राणिमात्रमें); **विचित्य**=(परब्रह्म पुरुषोत्तमको) समझकर; **अस्मात्**=इस; **लोकात्**=लोकसे; **प्रेत्य**=प्रयाण करके; **अमृताः**=अमर (परमेश्वरको प्राप्त); **भवन्ति**=हो जाते हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—मानव-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है । इसे पाकर जो मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें तत्परताके साथ नहीं लग जाता, वह बहुत बड़ी भूल करता है । अतएव श्रुति कहती है कि 'जबतक यह दुर्लभ मानवशरीर विद्यमान है, भगवत्कृपासे प्राप्त साधनसामग्री उपलब्ध है, तभीतक शीघ्र-से-शीघ्र परमात्माको जान लिया जाय तो सब प्रकारसे कुशल है—मानव-जन्मकी परम सार्थकता है । यदि यह अवसर हाथसे निकल गया तो फिर महान् विनाश हो जायगा—बार-बार मृत्युरूप संसारके प्रवाहमें बहना पड़ेगा । फिर, रो-रोकर पश्चात्ताप करनेके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रह जायगा । संसारके त्रिविध तापों और विविध शूलोंसे बचनेका यही एक परम साधन है कि जीव मानव-जन्ममें दक्षताके साथ साधनपरायण होकर अपने जीवनको सदाके लिये सार्थक कर ले । मनुष्यजन्मके सिवा जितनी और योनियाँ हैं, सभी केवल कर्मोंका फल भोगनेके लिये ही मिलती हैं । उनमें जीव परमात्माको प्राप्त करनेका कोई साधन नहीं कर सकता । बुद्धिमान् पुरुष इस बातको समझ लेते हैं और इसीसे वे प्रत्येक जातिके प्रत्येक प्राणीमें परमात्माका साक्षात्कार करते हुए सदाके लिये जन्म-मृत्युके चक्रसे छूटकर अमर हो जाते हैं ॥५॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय खण्ड

सम्बन्ध—प्रथम प्रकरणमें ब्रह्मका स्वरूप-तत्त्व समझानेके लिये उसकी शक्तिका सांकेतिक भाषामें विभिन्न प्रकारसे दिग्दर्शन कराया गया । द्वितीय प्रकरणमें ब्रह्मज्ञानकी विलक्षणता बतलानेके लिये यह कहा गया कि प्रथम प्रकरणके वर्णनसे आपाततः ब्रह्मका जैसा स्वरूप समझमें आता है, वस्तुतः उसका पूर्णस्वरूप वही नहीं है । वह तो उसकी महिमाका अंशमात्र है । जीवात्मा, मन, प्राण, इन्द्रियादि तथा उनके देवता—सभी उसीसे अनुप्राणित, प्रेरित और शक्तिमान् होकर कार्यक्षम होते हैं । अब इस तीसरे प्रकरणमें दृष्टान्तके द्वारा यह समझाया जाता है कि विश्वमें जो कोई भी प्राणी या पदार्थ शक्तिमान्, सुन्दर और प्रिय-प्रतीत होते हैं, उनके जीवनमें जो सफलता दीखती है, वह सभी उस परब्रह्म परमेश्वरके एक अंशकी ही महिमा है (गीता १० । ४१) । इनपर यदि कोई अभिमान करता है तो वह बहुत बड़ी भूल करता है—

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥ १ ॥

ब्रह्म=परब्रह्म परमेश्वरने; **ह**=ही; **देवेभ्यः**=देवताओंके लिये (उनको निमित्त बनाकर); **विजिग्ये**=(असुरोंपर) विजय प्राप्त की; **ह**=किन्तु; **तस्य**=उस; **ब्रह्मणः**=परब्रह्म पुरुषोत्तमकी; **विजये**=विजयमें; **देवाः**=इन्द्रादि देवताओंने; **अमहीयन्त**=अपनेमें महत्त्वका अभिमान कर लिया; **ते**=वे; **इति**=ऐसा; **ऐक्षन्त**=समझने लगे (कि); **अयम्**=यह; **अस्माकम् एव**=हमारी ही; **विजयः**=विजय है; (और) **अयम्**=यह; **अस्माकम् एव**=हमारी ही; **महिमा**=महिमा है ॥ १ ॥

व्याख्या—परब्रह्म पुरुषोत्तमने देवोंपर कृपा करके उन्हें शक्ति प्रदान की, जिससे उन्होंने असुरोंपर विजय प्राप्त कर ली। यह विजय वस्तुतः भगवान्‌की ही थी, देवता तो केवल निमित्तमात्र थे; परंतु इस ओर देवताओंका ध्यान नहीं गया और वे भगवान्‌की कृपाकी ओर लक्ष्य न करके भगवान्‌की महिमाको अपनी महिमा समझ बैठे और अभिमानवश यह मानने लगे कि हम बड़े भारी शक्तिशाली हैं एवं हमने अपने ही बल-पौरुषसे असुरोंको पराजित किया है ॥ १ ॥

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ॥ २ ॥

ह तत्=प्रसिद्ध है कि उस परब्रह्मने; **एषाम्**=इन देवताओंके; (अभिमानको) **विजज्ञौ**=जान लिया (और कृपा-पूर्वक उनका अभिमान नष्ट करनेके लिये वह); **तेभ्यः**=उनके सामने; **ह**=ही; **प्रादुर्बभूव**=साकाररूपमें प्रकट हो गया; **तत्**=उसको (यक्षरूपमें प्रकट हुआ देखकर भी); **इदम्**=यह; **यक्षम्**=दिव्य यक्ष; **किम् इति**=कौन है, इस बातको; **न व्यजानत**=(देवताओंने) नहीं जाना ॥ २ ॥

व्याख्या—देवताओंके मिथ्याभिमानको करुणावरुणालय भगवान् समझ गये। भक्त-कल्याणकारी भगवान्‌ने सोचा कि यह अभिमान बना रहा तो इनका पतन हो जायगा। भक्त-सुहृद् भगवान् भक्तोंका पतन कैसे सह सकते थे। अतः देवताओं-पर कृपा करके उनका दर्प चूर्ण करनेके लिये वे उनके सामने दिव्य साकार यक्षरूपमें प्रकट हो गये। देवता आश्चर्यचकित होकर उस अत्यन्त अद्‌भुत विशाल रूपको देखने और विचार करने लगे कि यह दिव्य यक्ष कौन है; पर वे उसको पहचान नहीं सके ॥ २ ॥

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमिदं यक्षमिति तथेति ॥ ३ ॥

ते=उन इन्द्रादि देवताओंने; **अग्निम्**=अग्निदेवसे; **इति**=इस प्रकार; **अब्रुवन्**=कहा; **जातवेदः**=हे जातवेदा; (आप जाकर) **एतत्**=इस बातको; **विजानीहि**=जानिये—इसका भलीभाँति पता लगाइये (कि); **इदम् यक्षम्**=यह दिव्य यक्ष; **किम् इति**=कौन है; (अग्निने कहा) **तथा इति**=बहुत अच्छा ॥ ३ ॥

व्याख्या—देवता उस अति विचित्र महाकाय दिव्य यक्षको देखकर मन-ही-मन सहम-से गये और उसका परिचय जाननेके लिये व्यग्र हो उठे। अग्निदेवता परम तेजस्वी हैं, वेदार्थके ज्ञाता हैं, समस्त जातपदार्थोंका पता रखते हैं और सर्वज्ञ-से हैं। इसीसे उनका गौरवयुक्त नाम 'जातवेदा' है। देवताओंने इस कार्यके लिये अग्निको ही उपयुक्त समझा और उन्होंने कहा—'हे जातवेदा! आप जाकर इस यक्षका पूरा पता लगाइये कि यह कौन है।' अग्निदेवताको अपनी बुद्धि-शक्तिका गर्व था। अतः उन्होंने कहा—'अच्छी बात है, अभी पता लगाता हूँ' ॥ ३ ॥

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वा अहमसीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमसीति ॥ ४ ॥

तत्=उसके समीप; (अग्निदेव) **अभ्यद्रवत्**=दौड़कर गया; **तम्**=उस अग्निदेवसे; **अभ्यवदत्**=(उस दिव्य यक्षने) पूछा; **कः असि इति**=(कि तुम) कौन हो; **अब्रवीत्**=(अग्निने) यह कहा (कि); **अहम्**=मैं; **वै अग्निः**=प्रसिद्ध अग्निदेव; **अस्मि इति**=हूँ; (और यह कि) **अहम् वै**=मैं ही; **जातवेदाः**=जातवेदाके नामसे; **अस्मि इति**=प्रसिद्ध हूँ ॥ ४ ॥

व्याख्या—अग्निदेवताने सोचा, इसमें कौन बड़ी बात है; और इसलिये वे तुरंत यक्षके समीप जा पहुँचे। उन्हें अपने समीप खड़ा देखकर यक्षने पूछा—आप कौन हैं? अग्निने सोचा—मेरे तेजःपुञ्ज स्वरूपको सभी पहचानते हैं, इसने कैसे नहीं जाना; अतः उन्होंने तमककर उत्तर दिया—'मैं प्रसिद्ध अग्नि हूँ, मेरा ही गौरवमय और रहस्यपूर्ण नाम जातवेदा है' ॥४॥

सम्बन्ध—तब यक्षरूपी ब्रह्मने अग्निसे पूछा—

तस्मिꣳस्त्वयि किं वीर्यमिति । अपीदꣳ सर्वं दहेयम्, यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ५ ॥

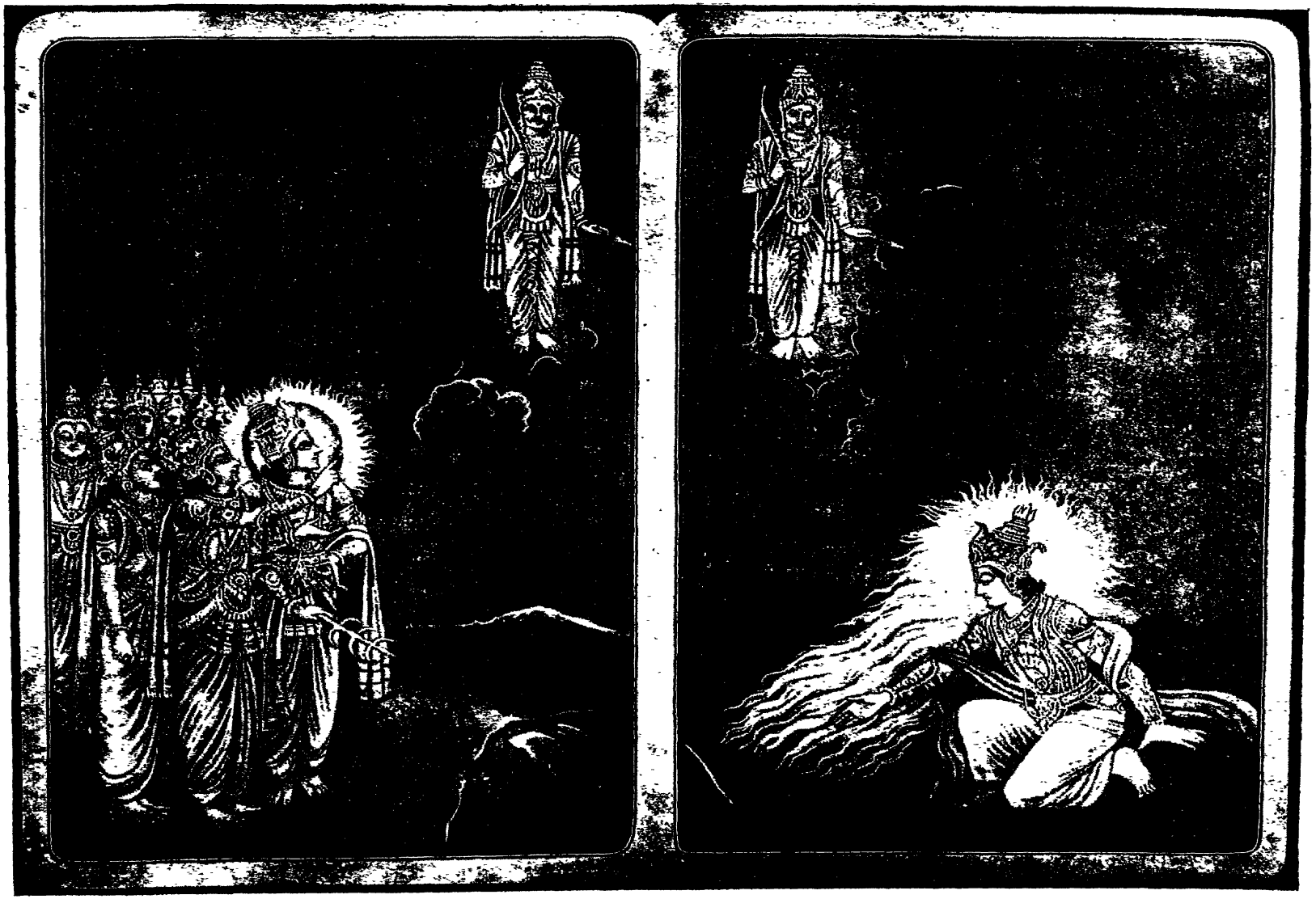

देवताओंके सामने यक्षका प्राकट्य

अग्निकी असमर्थता

तस्मिन् त्वयि=उक्त नामोंवाले **तुझ** अग्निमें; **किं वीर्यम्**=क्या सामर्थ्य है; **इति**=यह बता; (तब अग्निने यह उत्तर दिया कि) **अपि**=यदि (मैं चाहूँ तो); **पृथिव्याम्**=पृथ्वीमें; **यत् इदम्**=यह जो **कुछ** भी है; **इदम् सर्वम्**=इस सबको; **दहेयम् इति**=जलाकर भस्म कर दूँ ॥ ५ ॥

व्याख्या—अग्निकी गर्वोक्ति सुनकर ब्रह्मने अनजानकी भाँति कहा—'अच्छा ! आप अग्निदेवता हैं और जातवेदा—सबका ज्ञान रखनेवाले भी आप ही हैं ? बड़ी अच्छी बात है; पर यह तो बताइये कि आपमें क्या शक्ति है, आप क्या कर सकते हैं ।' इसपर अग्निने पुनः सगर्व उत्तर दिया—'मैं क्या कर सकता हूँ, इसे आप जानना चाहते हैं ? अरे, मैं चाहूँ तो इस सारे भूमण्डलमें जो कुछ भी देखनेमें आ रहा है, सबको जलाकर अभी राखका ढेर कर दूँ' ॥ ५ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥ ६ ॥

(तब उस दिव्य यक्षने); **तस्मै**=उस अग्निदेवके सामने; **तृणम्**=एक तिनका; **निदधौ**=रख दिया; (और यह कहा कि) **एतत्**=इस तिनकेको; **दह इति**=जला दो; **सः**=वह (अग्नि); **सर्वजवेन**=पूर्ण शक्ति लगाकर; **तत् उपप्रेयाय**=उस तिनकेपर टूट पड़ा (परंतु); **तत्**=उसको; **दग्धुम्**=जलानेमें; **न एव शशाक**=किसी प्रकार समर्थ नहीं हुआ; **ततः**=(तब लज्जित होकर) वहाँसे; **निववृते**=लौट गया (और देवताओंसे बोला); **एतत्**=यह; **विज्ञातुम्**=जाननेमें; **न अशकम्**=मैं समर्थ नहीं हो सका (कि वस्तुतः); **एतत्**=यह; **यक्षम्**=दिव्य यक्ष; **यत् इति**=कौन है ॥ ६ ॥

व्याख्या—अग्निदेवताकी पुनः गर्वोक्ति सुनकर सबको सत्ता-शक्ति देनेवाले यक्षरूपी परब्रह्म परमेश्वरने उनके आगे एक सूखा तिनका डालकर कहा—'आप तो सभीको जला सकते हैं, तनिक-सा बल लगाकर इस सूखे तृणको जला दीजिये ।' अग्निदेवताने मानो इसको अपना अपमान समझा और वे सहज ही उस तृणके पास पहुँचे । जलाना चाहा; जब नहीं जला तो उन्होंने उसे जलानेके लिये अपनी पूरी शक्ति लगा दी । पर उसको तनिक-सी आँच भी नहीं लगी । आँच लगती कैसे । अग्निमें जो अग्नित्व है—दाहिका शक्ति है, वह तो शक्तिके मूल भंडार परमात्मासे ही मिली हुई है । वे यदि उस शक्ति-स्रोतको रोक दें तो फिर शक्ति कहाँसे आयेगी । अग्निदेव इस बातको न समझकर ही डींग हाँक रहे थे । पर जब ब्रह्मने अपनी शक्तिको रोक लिया, सूखा तिनका नहीं जल सका, तब तो उनका सिर लज्जासे झुक गया और वे हतप्रतिज्ञ और हतप्रभ होकर चुपचाप देवताओंके पास लौट आये और बोले कि 'मैं तो भलीभाँति नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है' ॥ ६ ॥

अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति तथेति ॥ ७ ॥

अथ=तब; **वायुम्**=वायुदेवतासे; **अब्रुवन्**=(देवताओंने) कहा; **वायो**=हे वायुदेव ! (जाकर); **एतत्**=इस बातको; **विजानीहि**=आप जानिये—इसका भलीभाँति पता लगाइये (कि); **एतत्**=यह; **यक्षम्**=दिव्य यक्ष; **किम् इति**=कौन है; (वायुने कहा) **तथा इति**=बहुत अच्छा ! ॥ ७ ॥

व्याख्या—जब अग्निदेव असफल होकर लौट आये, तब देवताओंने इस कार्यके लिये अप्रतिमशक्ति वायुदेवको चुना और उनसे कहा कि 'वायुदेव ! आप जाकर इस यक्षका पूरा पता लगाइये कि यह कौन है ।' वायुदेवको भी अपनी बुद्धि-शक्तिका गर्व था; अतः उन्होंने भी कहा—'अच्छी बात है, अभी पता लगाता हूँ' ॥ ७ ॥

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीति । वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥ ८ ॥

तत्=उसके समीप; **अभ्यद्रवत्**=(वायुदेवता) दौड़कर गया; **तम्**=उससे (भी); **अभ्यवदत्**=(उस दिव्य यक्षने) पूछा; **कः असि इति**=(कि तुम) कौन हो; **अब्रवीत्**=(तब वायुने) यह कहा (कि); **अहम्**=मैं; **वै वायुः**=प्रसिद्ध वायुदेव; **अस्मि इति**=हूँ; (और यह कि) **अहम् वै**=मैं ही; **मातरिश्वा**=मातरिश्वाके नामसे; **अस्मि इति**=प्रसिद्ध हूँ ॥ ८ ॥

व्याख्या—वायुदेवताने सोचा, 'अग्नि कहीं भूल कर गये होंगे; नहीं तो यक्षका परिचय जानना कौन बड़ी बात थी । अस्तु, इस सफलताका श्रेय मुझको ही मिलेगा ।' यह सोचकर वे तुरंत यक्षके समीप जा पहुँचे । उन्हें अपने समीप

खड़ा देखकर यक्षने पूछा—'आप कौन हैं?' वायुने भी अपने गुण-गौरवके गर्वसे तमककर उत्तर दिया 'मैं प्रसिद्ध वायु हूँ, मेरा ही गौरवमय और रहस्यपूर्ण नाम मातरिश्वा है' ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—यक्षरूपी ब्रह्मने वायुसे पूछा—

तस्मिꣳस्त्वयि किं वीर्यमिति ? अपीदꣳ सर्वमाददीयम्, यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ९ ॥

तस्मिन् त्वयि=उक्त नामोंवाले तुझ वायुमें; **किं वीर्यम्**=क्या सामर्थ्य है; **इति**=यह बता; (तब वायुने यह उत्तर दिया कि) **अपि**=यदि (मैं चाहूँ तो); **पृथिव्याम्**=पृथ्वीमें; **यत् इदम्**=यह जो कुछ भी है; **इदम् सर्वम्**=इस सबको; **आददीयम् इति**=उठा लूँ—आकाशमें उड़ा दूँ ॥ ९ ॥

व्याख्या—वायुकी भी वैसी ही गर्वोक्ति सुनकर ब्रह्मने इनसे भी वैसे ही अनजानकी भाँति कहा—'अच्छा ! आप वायुदेवता हैं और मातरिश्वा—अन्तरिक्षमें बिना ही आधारके विचरण करनेवाले भी आप ही हैं ? बड़ी अच्छी बात है ! पर यह तो बताइये कि आपमें क्या शक्ति है—आप क्या कर सकते हैं ?' इसपर वायुने भी अग्निकी भाँति ही पुनः सगर्व उत्तर दिया कि 'मैं चाहूँ तो इस सारे भूमण्डलमें जो कुछ भी देखनेमें आ रहा है, सबको बिना आधारके उठा लूँ—उड़ा दूँ' ॥ ९ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्षमिति ॥ १० ॥

तस्मै=(तब उस दिव्य यक्षने) उस वायुदेवके सामने; **तृणम्**=एक तिनका; **निदधौ**=रख दिया; (और यह कहा कि) **एतत्**=इस तिनकेको; **आदत्स्व इति**=उठा लो—उड़ा दो; **सः**=वह (वायु); **सर्वजवेन**=पूर्ण शक्ति लगाकर; **तत् उपप्रेयाय**=उस तिनकेपर झपटा (परंतु); **तत्**=उसको; **आदातुम्**=उड़ानेमें; **न एव शशाक**=किसी प्रकार भी समर्थ नहीं हुआ; **ततः**=(तब लज्जित होकर) वहाँसे; **निववृते**=लौट गया (और देवताओंसे बोला); **एतत्**=यह; **विज्ञातुम्**=जाननेमें; **न अशकम्**=मैं समर्थ नहीं हो सका (कि वस्तुतः); **एतत्**=यह; **यक्षम्**=दिव्य यक्ष; **यत् इति**=कौन है ॥ १० ॥

व्याख्या—वायुदेवताकी भी पुनः वैसी ही गर्वोक्ति सुनकर सबको सत्ता-शक्ति देनेवाले परब्रह्म परमेश्वरने उनके आगे भी एक सूखा तिनका डालकर कहा—'आप तो सभीको उड़ा सकते हैं, तनिक-सा बल लगाकर इस सूखे तृणको उड़ा दीजिये ।' वायुदेवताने भी मानो इसको अपना अपमान समझा और वे सहज ही उस तृणके पास पहुँचे, उसे उड़ाना चाहा; जब नहीं उड़ा तो उन्होंने अपनी पूरी शक्ति लगा दी । परंतु शक्तिमान् परमात्माके द्वारा शक्ति रोक लिये जानेके कारण वे उसे तनिक-सा हिला भी नहीं सके और अग्निकी ही भाँति हतप्रतिज्ञ और हतप्रभ होकर लज्जासे सिर झुकाये वहाँसे लौट आये एवं देवताओंसे बोले कि 'मैं तो भलीभाँति नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है ।' ॥ १० ॥

अथेन्द्रमब्रुवन् मघवन्नेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति । तथेति । तदभ्यद्रवत् । तस्मात् तिरोदधे ॥ ११ ॥

अथ=तदनन्तर; **इन्द्रम्**=इन्द्रसे; **अब्रुवन्**=(देवताओंने) यह कहा; **मघवन्**=हे इन्द्रदेव; **एतत्**=इस बातको; **विजानीहि**=आप जानिये—भलीभाँति पता लगाइये (कि); **एतत्**=यह; **यक्षम्**=दिव्य यक्ष; **किम् इति**=कौन है; (तब इन्द्रने यह कहा) **तथा इति**=बहुत अच्छा; **तत् अभ्यद्रवत्**=(और वे) उस यक्षकी ओर दौड़कर गये (परंतु वह दिव्य यक्ष); **तस्मात्**=उनके सामनेसे; **तिरोदधे**=अन्तर्धान हो गया ॥ ११ ॥

व्याख्या—जब अग्नि और वायु-सरीखे अप्रतिम शक्ति और बुद्धिसम्पन्न देवता असफल होकर लौट आये और उन्होंने कोई कारण भी नहीं बताया, तब देवताओंने विचार करके स्वयं देवराज इन्द्रको इस कार्यके लिये चुना और उन्होंने कहा—'हे महान् बलशाली देवराज ! अब आप ही जाकर पूरा पता लगाइये कि यह यक्ष कौन है । आपके सिवा अन्य किसीसे इस काममें सफल होनेकी सम्भावना नहीं है ।' इन्द्र 'बहुत अच्छा' कहकर तुरंत यक्षके पास गये, पर उनके वहाँ पहुँचते ही वह उनके सामनेसे अन्तर्धान हो गया । इन्द्रमें इन देवताओंसे अधिक अभिमान था; इसलिये ब्रह्मने उनको

भगवती उमा और इन्द्र

वार्तालापका तो अवसर नहीं दिया । परन्तु इस एक दोषके अतिरिक्त अन्य सब प्रकारसे इन्द्र अधिकारी थे, अतः उन्हें ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान कराना आवश्यक समझकर इसीकी व्यवस्थाके लिये वे स्वयं अन्तर्धान हो गये ॥ ११ ॥

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवतीं ताꣳहोवाच किमेतद् यक्षमिति ॥१२॥

सः=वे इन्द्र; **तस्मिन् एव**=उसी; **आकाशे**=आकाशप्रदेशमें (यक्षके स्थानपर ही); **बहुशोभमानाम्**= अतिशय सुन्दरी; **स्त्रियम्**=देवी; **हैमवतीम्**=हिमाचलकुमारी; **उमाम्**=उमाके पास; **आजगाम**=आ पहुँचे (और); **ताम्**= उनसे; **ह उवाच**=(सादर) यह बोले (देवि !); **एतत्**=यह; **यक्षम्**=दिव्य यक्ष; **किम् इति**=कौन था ॥ १२ ॥

व्याख्या—यक्षके अन्तर्धान हो जानेपर इन्द्र वहीं खड़े रहे, अग्नि-वायुकी भाँति वहाँसे लौटे नहीं । इतनेमें ही उन्होंने देखा कि जहाँ दिव्य यक्ष था, ठीक उसी जगह अत्यन्त शोभामयी हिमाचलकुमारी उमादेवी प्रकट हो गयी हैं । उन्हें देखकर इन्द्र उनके पास चले गये । इन्द्रपर कृपा करके करुणामय परब्रह्म पुरुषोत्तमने ही उमारूपा साक्षात् ब्रह्मविद्याको प्रकट किया था । इन्द्रने भक्तिपूर्वक उनसे कहा—'भगवती ! आप सर्वज्ञशिरोमणि ईश्वर श्रीशङ्करकी स्वरूपा-शक्ति हैं । अतः आपको अवश्य ही सब बातोंका पता है । कृपापूर्वक मुझे बतलाइये कि यह दिव्य यक्ष, जो दर्शन देकर तुरंत ही छिप गया, वस्तुतः कौन है और किस हेतुसे यहाँ प्रकट हुआ था' ॥ १२ ॥

॥ तृतीय खण्ड समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थ खण्ड

सा ब्रह्मेति होवाच । ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति, ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥१॥

सा=उस (भगवती उमा देवी) ने; **ह उवाच**=स्पष्ट उत्तर दिया कि; **ब्रह्म इति**=(वे तो) परब्रह्म परमात्मा हैं; **ब्रह्मणः वै**=उन परमात्माकी ही; **एतद्विजये**=इस विजयमें; **महीयध्वम् इति**=तुम अपनी महिमा मानने लगे थे; **ततः एव**= उमाके इस कथनसे ही; **ह**=निश्चयपूर्वक; **विदाञ्चकार**=(इन्द्रने) समझ लिया (कि); **ब्रह्म इति**=(यह) ब्रह्म है ॥ १ ॥

व्याख्या—देवराज इन्द्रके पूछनेपर भगवती उमादेवीने इन्द्रसे कहा कि तुम जिन दिव्य यक्षको देख रहे थे और जो इस समय अन्तर्धान हो गये हैं, वे साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर हैं । तुमलोगोंने जो असुरोंपर विजय प्राप्त की है, यह उन ब्रह्मकी शक्तिसे ही की है; अतएव वस्तुतः यह उन परब्रह्मकी ही विजय है । तुम तो इसमें निमित्तमात्र थे । परंतु तुमलोगोंने ब्रह्मकी इस विजयको अपनी विजय मान लिया और उनकी महिमाको अपनी महिमा समझने लगे । यह तुम्हारा मिथ्याभिमान था और जिन परम कारुणिक परमात्माने तुमलोगोंपर कृपा करके असुरोंपर तुम्हें विजय प्रदान करायी, उन्हीं परमात्माने तुम्हारे मिथ्याभिमानका नाश करके तुम्हारा कल्याण करनेके लिये यक्षके रूपमें प्रकट होकर अग्नि और वायुका गर्व चूर्ण किया एवं तुम्हें वास्तविक ज्ञान देनेके लिये मुझे प्रेरित किया। अतएव तुम अपनी स्वतन्त्र शक्तिके सारे अभिमानका त्याग करके, जिन ब्रह्मकी महिमासे महिमान्वित और शक्तिमान् बने हो, उन्हींकी महिमा समझो । स्वप्नमें भी यह भावना मत करो कि ब्रह्मकी शक्तिके बिना अपनी स्वतन्त्र शक्तिसे कोई भी कुछ कर सकता है । उमाके इस उत्तरसे देवताओंमें सबसे पहले इन्द्रको यह निश्चय हुआ कि यक्षके रूपमें स्वयं ब्रह्म ही उन लोगोंके सामने प्रकट हुए थे ॥ १ ॥

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ २ ॥

तस्मात् वै=इसीलिये; **एते देवाः**=ये तीनों देवता; **यत्**=जो कि; **अग्निः**=अग्नि; **वायुः**=वायु (और); **इन्द्रः**=इन्द्रके नामसे प्रसिद्ध हैं; **अन्यान्**=दूसरे (चन्द्रमा आदि); **देवान्**=देवोंकी अपेक्षा; **अतितराम् इव**=मानो अतिशय श्रेष्ठ हैं; **हि**=क्योंकि; **ते**=उन्होंने ही; **एनत् नेदिष्ठम्**=इन अत्यन्त प्रिय और समीपस्थ परमेश्वरको; **पस्पृशुः**= (दर्शनद्वारा) स्पर्श किया है; **ते हि**=(और) उन्होंने ही; **एनत्**=इनको; **प्रथमः**=सबसे पहले; **विदाञ्चकार**=जाना है (कि); **ब्रह्म इति**=ये साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—समस्त देवताओंमें अग्नि, वायु और इन्द्रको ही परम श्रेष्ठ मानना चाहिये; क्योंकि उन्हीं तीनोंने ब्रह्मका संस्पर्श प्राप्त किया है। परब्रह्म परमात्माके दर्शनका, उनका परिचय प्राप्त करनेके प्रयत्नमें प्रवृत्त होनेका और उनके साथ वार्तालापका परम सौभाग्य उन्हींको प्राप्त हुआ और उन्होंने ही सबसे पहले इस सत्यको समझा कि हमलोगोंने जिनका दर्शन प्राप्त किया है, जिनसे वार्तालाप किया है और जिनकी शक्तिसे असुरोंपर विजय प्राप्त की है, वे ही साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं।

सारांश यह कि जिन सौभाग्यशाली महापुरुषको किसी भी कारणसे भगवान्‌के दिव्य संस्पर्शका सौभाग्य प्राप्त हो गया है, जो उनके दर्शन, स्पर्श और उनके साथ सदालाप करनेका सुअवसर पा चुके हैं, उनकी महिमा इस मन्त्रमें इन्द्रादि देवताओंका उदाहरण देकर की गयी है ॥ २ ॥

सम्बन्ध—अब यह कहते हैं कि इन तीनों देवताओंमें भी अग्नि और वायुकी अपेक्षा देवराज इन्द्र श्रेष्ठ हैं—

तस्माद् वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान् देवान् स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श, स ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ ३ ॥

तस्मात् वै=इसीलिये; **इन्द्रः**=इन्द्र; **अन्यान् देवान्**=दूसरे देवताओंकी अपेक्षा; **अतितराम् इव**=मानो अतिशय श्रेष्ठ है; **हि**=क्योंकि; **सः**=उसने; **एनत् नेदिष्ठम्**=इन अत्यन्त प्रिय और समीपस्थ परमेश्वरको; **पस्पर्श**=(उमादेवीसे सुनकर सबसे पहले) मनके द्वारा स्पर्श किया; **स हि**=(और) उसीने; **एनत्**=इनको; **प्रथमः**=अन्यान्य देवताओंसे पहले; **विदाञ्चकार**=भलीभाँति जाना है (कि); **ब्रह्म इति**=ये साक्षात् परब्रह्म पुरुषोत्तम हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या—अग्नि तथा वायुने दिव्य यक्षके रूपमें ब्रह्मका दर्शन और उसके साथ वार्तालापका सौभाग्य तो प्राप्त किया था; परंतु उन्हें उसके स्वरूपका ज्ञान नहीं हुआ था। भगवती उमाके द्वारा सबसे पहले देवराज इन्द्रको सर्वशक्तिमान् परब्रह्म पुरुषोत्तमके तत्त्वका ज्ञान हुआ। तदनन्तर इन्द्रके बतलानेपर अग्नि और वायुको उनके स्वरूपका पता लगा और उसके बाद इनके द्वारा अन्य सब देवताओंने यह जाना कि हमें जो दिव्य यक्ष दिखलायी दे रहे थे, वे साक्षात् परब्रह्म पुरुषोत्तम ही हैं। इस प्रकार अन्यान्य देवताओंने केवल सुनकर जाना; परंतु उन्हें परमब्रह्म पुरुषोत्तमके साथ न तो वार्तालाप करनेका सौभाग्य मिला और न उनके तत्त्वको समझनेका ही। अतएव उन सब देवताओंसे तो अग्नि, वायु और इन्द्र श्रेष्ठ हैं; क्योंकि इन तीनोंको ब्रह्मका दर्शन और तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हुई। परंतु इन्द्रने सबसे पहले उनके तत्त्वको समझा, इसलिये इन्द्र सबसे श्रेष्ठ माने गये ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—अब उपर्युक्त ब्रह्मतत्त्वको आधिदैविक दृष्टान्तके द्वारा सङ्केतसे समझाते हैं—

तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो व्यद्युतदा इतीन्न्यमीमिषदा इत्यधिदैवतम् ॥ ४ ॥

तस्य=उस ब्रह्मका; **एषः**=यह; **आदेशः**=साङ्केतिक उपदेश है; **यत्**=जो कि; **एतत्**=यह; **विद्युतः**=बिजलीका; **व्यद्युतत् आ**=चमकना-सा है; **इति**=इस प्रकार (क्षणस्थायी है); **इत्**=तथा जो; **न्यमीमिषत् आ**=नेत्रोंका झपकना-सा है; **इति**=इस प्रकार; **अधिदैवतम्**=यह आधिदैविक उपदेश है ॥ ४ ॥

व्याख्या—जब साधकके हृदयमें ब्रह्मको साक्षात् करनेकी तीव्र अभिलाषा जाग उठती है, तब भगवान् उसकी उत्कण्ठाको और भी तीव्रतम तथा उत्कट बनानेके लिये बिजलीके चमकने और आँखोंके झपकनेकी भाँति अपने स्वरूपकी क्षणिक झाँकी दिखलाकर छिप जाया करते हैं। पूर्वोक्त आख्यायिकामें इसी प्रकार इन्द्रके सामनेसे दिव्य यक्षके अन्तर्धान हो जानेकी बात आयी है। देवर्षि नारदको भी उनके पूर्वजन्ममें क्षणभरके लिये अपनी दिव्य झाँकी दिखलाकर भगवान् अन्तर्धान हो गये थे। यह कथा श्रीमद्भागवत (स्कं० १। ६। १९-२०)में आती है। जब साधकके नेत्रोंके सामने या उसके हृदय-देशमें पहले-पहल भगवान्‌के साकार या निराकार स्वरूपका दर्शन या अनुभव होता है, तब वह आनन्दाश्चर्यसे चकित-सा हो जाता है। इससे उसके हृदयमें अपने आराध्यदेवको नित्य-निरन्तर देखते रहने या अनुभव करते रहनेकी अनिवार्य और परम उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। फिर उसे क्षणभरके लिये भी इष्ट-साक्षात्कारके बिना शान्ति नहीं मिलती। यही बात इस मन्त्रमें आधिदैविक उदाहरणसे समझायी गयी है—ऐसा प्रतीत होता है। वस्तुतः यहाँ बड़ी ही

गोपनीय रीतिसे ऐसे शब्दोंमें ब्रह्मतत्त्वका संकेत किया गया है कि जिसे कोई अनुभवी संत-महात्मा ही बतला सकते हैं। शब्दोंका अर्थ तो अपनी-अपनी भावनाके अनुसार विभिन्न प्रकारसे लगाया जा सकता है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब इसी बातको आध्यात्मिक भावसे समझाते हैं—

अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णꣳ सङ्कल्पः ॥ ५ ॥

अथ=अब; **अध्यात्मम्**=आध्यात्मिक (उदाहरण दिया जाता है); **यत्**=जो कि; **मनः**=(हमारा) मन; **एतत्**=इस (ब्रह्म) के समीप; **गच्छति इव**=जाता हुआ-सा प्रतीत होता है; **च**=तथा; **एतत्**=इस ब्रह्मको; **अभीक्ष्णम्**=निरन्तर; **उपस्मरति**=अतिशय प्रेमपूर्वक स्मरण करता है; **अनेन**=इस मनके द्वारा (ही); **संकल्पः च**=संकल्प अर्थात् उस ब्रह्मके साक्षात्कारकी उत्कट अभिलाषा भी (होती है) ॥ ५ ॥

व्याख्या—जब साधकको अपना मन आराध्यदेव श्रीभगवान्‌के समीपतक पहुँचता हुआ-सा दीखता है, वह अपने मनसे भगवान्‌के निर्गुण या सगुण—जिस स्वरूपका भी चिन्तन करता है, उसकी जब प्रत्यक्ष अनुभूति-सी होती है, तब स्वाभाविक ही उसका अपने उस इष्टमें अत्यन्त प्रेम हो जाता है। फिर वह क्षणभरके लिये भी अपने इष्टदेवकी विस्मृतिको सहन नहीं कर सकता। उस समय वह अतिशय व्याकुल हो जाता है ('तद्विस्मरणे परमव्याकुलता'—नारदभक्तिसूत्र १९)। वह नित्य-निरन्तर प्रेमपूर्वक उसका स्मरण करता रहता है और उसके मनमें अपने इष्टको प्राप्त करनेकी अनिवार्य और परम उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। पिछले मन्त्रमें जो बात आधिदैविक दृष्टिसे कही गयी थी, वही इसमें आध्यात्मिक दृष्टिसे कही गयी है ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—अब उस ब्रह्मकी उपासनाका प्रकार और उसका फल बतलाते हैं—

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाभि हैनꣳ सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥६॥

तत्=वह परब्रह्म परमात्मा; **तद्वनम्**=(प्राणिमात्रका प्रापणीय होनेके कारण) 'तद्वन'; **नाम ह**=नामसे प्रसिद्ध है; (अतः) **तद्वनम्**=वह आनन्दघन परमात्मा प्राणिमात्रकी अभिलाषाका विषय और सबका परम प्रिय है; **इति**=इस भावसे; **उपासितव्यम्**=उसकी उपासना करनी चाहिये; **सः यः**=वह जो भी साधक; **एतत्**=उस ब्रह्मको; **एवम्**=इस प्रकार (उपासनाके द्वारा); **वेद**=जान लेता है; **एनम् ह**=उसको निस्सन्देह; **सर्वाणि**=सम्पूर्ण; **भूतानि**=प्राणी; **अभि**=सब ओरसे; **संवाञ्छन्ति**=हृदयसे चाहते हैं अर्थात् वह प्राणिमात्रका प्रिय हो जाता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—वह आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर सभीका अत्यन्त प्रिय है। सभी प्राणी किसी-न-किसी प्रकारसे उसी-को चाहते हैं, परंतु पहचानते नहीं; इसीलिये वे सुखके रूपमें उसे खोजते हुए दुःखरूप विषयोंमें भटकते रहते हैं, उसे पा नहीं सकते। इस रहस्यको समझकर साधकको चाहिये कि उस परब्रह्म परमात्माको प्राणिमात्रका प्रिय समझकर उसके नित्य अचल अमल अनन्त परम आनन्दस्वरूपका नित्य-निरन्तर चिन्तन करता रहे। ऐसा करते-करते जब वह आनन्दस्वरूप सर्वप्रिय परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है, तब वह स्वयं भी आनन्दमय हो जाता है। अतः जगत्‌के सभी प्राणी उसे अपना परम आत्मीय समझकर उसके साथ हृदयसे प्रेम करने लगते हैं ॥ ६ ॥

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥ ७ ॥

भोः=हे गुरुदेव; **उपनिषदम्**=ब्रह्मसम्बन्धी रहस्यमयी विद्याका; **ब्रूहि**=उपदेश कीजिये; **इति**=इस प्रकार (शिष्यके प्रार्थना करनेपर गुरुदेव कहते हैं कि); **ते**=तुझको (हमने); **उपनिषत्**=रहस्यमयी ब्रह्मविद्या; **उक्ता**=बतला दी; **ते**=तुझको (हम); **वाव**=निश्चय ही; **ब्राह्मीम्**=ब्रह्मविषयक; **उपनिषदम्**=रहस्यमयी विद्या; **अब्रूम**=बतला चुके हैं। **इति**=इस प्रकार (तुम्हें समझना चाहिये) ॥ ७ ॥

व्याख्या—गुरुदेवसे सांकेतिक भाषामें ब्रह्मविद्याका श्रेष्ठ उपदेश सुनकर शिष्य उसको पूर्णरूपसे हृदयङ्गम नहीं कर सका; इसलिये उसने प्रार्थना की कि 'भगवन्! मुझे उपनिषद्—रहस्यमयी ब्रह्मविद्याका उपदेश कीजिये।' इसपर गुरुदेवने कहा—'वत्स! हम तुम्हें ब्रह्मविद्याका उपदेश कर चुके हैं। तुम्हारे प्रश्नके उत्तरमें 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' से लेकर उपर्युक्त मन्त्रतक

जो कुछ उपदेश किया है, तुम यह दृढ़रूपसे समझ लो कि वह सुनिश्चित रहस्यमयी ब्रह्मविद्याका ही उपदेश है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—ब्रह्मविद्याके सुननेमात्रसे ही ब्रह्मके स्वरूपका रहस्य समझमें नहीं आता, इसके लिये विशेष साधनोंकी आवश्यकता होती है; इसलिये अब उन प्रधान साधनोंका वर्णन करते हैं—

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥ ८ ॥

तस्यै=उस रहस्यमयी ब्रह्मविद्याके; **तपः**=तपस्या; **दमः**=मन-इन्द्रियोंका नियन्त्रण; **कर्म**=निष्काम कर्म; **इति**=ये तीनों; **प्रतिष्ठाः**=आधार हैं; **वेदाः**=वेद; **सर्वाङ्गानि**=उस विद्याके सम्पूर्ण अङ्ग हैं अर्थात् वेदमें उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंका सविस्तर वर्णन है; **सत्यम्**=सत्यस्वरूप परमेश्वर; **आयतनम्**=उसका अधिष्ठान—प्राप्तव्य है ॥ ८ ॥

व्याख्या—सुन-पढ़कर रट लिया और ब्रह्मज्ञानी हो गये । यह तो ब्रह्मविद्याका उपहास है और अपने-आपको धोखा देना है । ब्रह्मविद्यारूपी प्रासादकी नींव है—तप, दम और कर्म आदि साधन । इन्हींपर वह रहस्यमयी ब्रह्मविद्या स्थिर हो सकती है । जो साधक साधन-सम्पत्तिकी रक्षा, वृद्धि तथा स्वधर्मपालनके लिये कठिन-से-कठिन कष्टको सहर्ष स्वीकार नहीं करते, जो मन और इन्द्रियोंको भलीभाँति वशमें नहीं कर लेते और जो निष्कामभावसे अनासक्त होकर वर्णाश्रमोचित अवश्यकर्तव्य कर्मका अनुष्ठान नहीं करते, वे ब्रह्मविद्याका यथार्थ रहस्य नहीं जान पाते; क्योंकि ये ही उसे जाननेके प्रधान आधार हैं । साथ ही यह भी जानना चाहिये कि वेद उस ब्रह्मविद्याके समस्त अङ्ग हैं । वेदमें ही ब्रह्मविद्याके समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी विशद व्याख्या है, अतएव वेदोंका उसके अङ्गोंसहित अध्ययन करना चाहिये । और सत्यस्वरूप परमेश्वर अर्थात् त्रिकालाबाधित सच्चिदानन्दघन परमेश्वर ही उस ब्रह्मविद्याका परम अधिष्ठान, आश्रयस्थल और परम लक्ष्य है । अतएव उस ब्रह्मको लक्ष्य करके जो वेदानुसार उसके तत्त्वका अनुशीलन करते हुए तप, दम और निष्काम कर्म आदिका आचरण करते हुए साधन करते हैं, वे ही ब्रह्मविद्याके सार रहस्य परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्राप्त कर सकते हैं ॥ ८ ॥

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥ ९ ॥

यः=जो कोई भी; **एताम् वै**=इस प्रसिद्ध ब्रह्मविद्याको; **एवम्**=पूर्वोक्त प्रकारसे भलीभाँति; **वेद**=जान लेता है; [**सः**=वह;] **पाप्मानम्**=समस्त पापसमूहको; **अपहत्य**=नष्ट करके; **अनन्ते**=अविनाशी, असीम; **ज्येये**=सर्वश्रेष्ठ; **स्वर्गे लोके**=परम धाममें; **प्रतितिष्ठति**=प्रतिष्ठित हो जाता है; **प्रतितिष्ठति**=सदाके लिये स्थित हो जाता है ॥ ९ ॥

व्याख्या—ऊपर बतलाये हुए प्रकारसे जो उपनिषद्रूपा ब्रह्मविद्याके रहस्यको जान लेता है अर्थात् तदनुसार साधनमें प्रवृत्त हो जाता है, वह समस्त पापोंका—परमात्म-साक्षात्कारमें प्रतिबन्धकरूप समस्त शुभाशुभ कर्मोंका अशेषरूपसे नाश करके नित्य-सत्य सर्वश्रेष्ठ परमधाममें स्थित हो जाता है, कभी वहाँसे लौटता नहीं, सदाके लिये वहाँ प्रतिष्ठित हो जाता है । यहाँ 'प्रतितिष्ठति'पदका पुनः उच्चारण ग्रन्थ-समाप्तिका सूचक तो है ही, साथ ही उपदेशकी निश्चितताका प्रतिपादक भी है ॥ ९ ॥

॥ चतुर्थ खण्ड समाप्त ॥ ४ ॥

॥ सामवेदीय केनोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि । सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

इसका अर्थ केनोपनिषद्के प्रारम्भमें दिया जा चुका है ।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कठोपनिषद्

कठोपनिषद् उपनिषदोंमें बहुत प्रसिद्ध है। यह कृष्णयजुर्वेदकी कठ-शाखाके अन्तर्गत है। इसमें नचिकेता और यमके संवादरूपमें परमात्माके रहस्यमय तत्त्वका बड़ा ही उपयोगी और विशद वर्णन है। इसमें दो अध्याय हैं और प्रत्येक अध्यायमें तीन-तीन वल्लियाँ हैं।

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ॐ=पूर्णब्रह्म परमात्मन्; (आप) **नौ**=हम दोनों (गुरु-शिष्य) की; **सह**=साथ-साथ; **अवतु**=रक्षा करें; **नौ**=हम दोनोंका; **सह**=साथ-साथ; **भुनक्तु**=पालन करें; **सह**=(हम दोनों) साथ-साथ ही; **वीर्यम्**=शक्ति; **करवावहै**=प्राप्त करें; **नौ**=हम दोनोंकी; **अधीतम्**=पढ़ी हुई विद्या; **तेजस्वि**=तेजोमयी; **अस्तु**=हो; **मा विद्विषावहै**=हम दोनों परस्पर द्वेष न करें।

व्याख्या—हे परमात्मन्! आप हम गुरु-शिष्य दोनोंकी साथ-साथ सब प्रकारसे रक्षा करें, हम दोनोंका आप साथ-साथ समुचितरूपसे पालन-पोषण करें, हम दोनों साथ-ही-साथ सब प्रकारसे बल प्राप्त करें, हम दोनोंकी अध्ययन की हुई विद्या तेजपूर्ण हो—कहीं किसीसे हम विद्यामें परास्त न हों और हम दोनों जीवनभर परस्पर स्नेह-सूत्रसे बँधे रहें, हमारे अंदर परस्पर कभी द्वेष न हो। हे परमात्मन्! तीनों तापोंकी निवृत्ति हो।

प्रथम अध्याय

ॐ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ। तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥ १ ॥

ॐ=सच्चिदानन्दघन परमात्माका एक नाम; **ह वै**=प्रसिद्ध है कि; **उशन्**=यज्ञका फल चाहनेवाले; **वाजश्रवसः**=वाजश्रवाके पुत्र (उद्दालक) ने; **सर्ववेदसम्**=(विश्वजित् यज्ञमें) अपना सारा धन; **ददौ**=(ब्राह्मणोंको) दे दिया; **तस्य**=उसका; **नचिकेता**=नचिकेता; **नाम ह**=नामसे प्रसिद्ध; **पुत्रः**=एक पुत्र; **आस**=था ॥ १ ॥

व्याख्या—ग्रन्थके आरम्भमें परमात्माका स्मरण मङ्गलकारक है, इसलिये यहाँ सर्वप्रथम 'ॐ' कारका उच्चारण करके उपनिषद्का आरम्भ हुआ है। जिस समय भारतवर्षका पवित्र आकाश यज्ञधूम और उसके पवित्र सौरभसे परिपूर्ण रहता था, त्यागमूर्ति ऋषि-महर्षियोंके द्वारा गाये हुए वेद-मन्त्रोंकी दिव्य ध्वनिसे सभी दिशाएँ गूँजती रहती थीं, उसी समयका यह प्रसिद्ध इतिहास है। गौतमवंशीय वाजश्रवात्मज महर्षि अरुणके पुत्र अथवा अन्नके प्रचुर दानसे महान् कीर्ति पाये हुए (वाज=अन्न, श्रव=उसके दानसे प्राप्त यश) महर्षि अरुणके पुत्र उद्दालक ऋषिने फलकी कामनासे विश्वजित् नामक एक महान् यज्ञ किया। इस यज्ञमें सर्वस्व दान करना पड़ता है। अतएव उद्दालकने भी अपना सारा धन ऋत्विजों और सदस्योंको दक्षिणामें दे दिया। उद्दालकजीके नचिकेता नामसे प्रसिद्ध एक पुत्र था ॥ १ ॥

तꣳह कुमारꣳसन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ॥ २ ॥

दक्षिणासु नीयमानासु=(जिस समय ब्राह्मणोंको) दक्षिणाके रूपमें देनेके लिये (गौएँ) लायी जा रही थीं, उस समय; **कुमारम्**=छोटा बालक; **सन्तम्**=होनेपर भी; **तम् ह**=उस (नचिकेता) में; **श्रद्धा**=श्रद्धा (आस्तिक बुद्धि) का; **आविवेश**=आवेश हो गया (और); **सः**=(उन जराजीर्ण गायोंको देखकर) वह; **अमन्यत**=विचार करने लगा ॥ २ ॥

व्याख्या—उस समय गो-धन ही प्रधान धन था और वाजश्रवस उद्दालकके घरमें इस धनकी प्रचुरता थी। ऐसा माना गया है कि होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता—ये चार प्रधान ऋत्विज होते हैं, इनको सबसे अधिक गौएँ दी जाती हैं; प्रशास्ता,

प्रतिप्रस्थाता, ब्राह्मणाच्छंसी और प्रस्तोता—इन चार गौण ऋत्विजोंको मुख्य ऋत्विजोंकी अपेक्षा आधी; अच्छावाक, नेष्टा, आग्नीध्र और प्रतिहर्ता—इन चार गौण ऋत्विजोंको मुख्य ऋत्विजोंकी अपेक्षा तिहाई एवं ग्रावस्तुत्, नेता, होता और सुब्रह्मण्य—इन चार गौण ऋत्विजोंको मुख्य ऋत्विजोंकी अपेक्षा चौथाई गौएँ दी जाती हैं। नियमानुसार जब इन सबको दक्षिणाके रूपमें देनेके लिये गौएँ लायी जा रही थीं, उस समय बालक नचिकेताने उनको देख लिया। उनकी दयनीय दशा देखते ही उसके निर्मल अन्तःकरणमें श्रद्धा—आस्तिकताने प्रवेश किया और वह सोचने लगा—॥ २ ॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ॥ ३ ॥

पीतोदकाः=जो (अन्तिम बार) जल पी चुकी हैं; **जग्धतृणाः**=जिनका घास खाना समाप्त हो गया है; **दुग्धदोहाः**=जिनका दूध (अन्तिम बार) दुह लिया गया है; **निरिन्द्रियाः**=जिनकी इन्द्रियाँ नष्ट हो चुकी हैं; **ताः**=ऐसी (निरर्थक मरणासन्न) गौओंको; **ददत्**=देनेवाला; **सः**=वह दाता (तो); **ते लोकाः**=वे (शूकर-कूकरादि नीच योनियाँ और नरकादि) लोक; **अनन्दाः**=जो सब प्रकारके सुखोंसे शून्य; **नाम**=प्रसिद्ध हैं; **तान्**=उनको; **गच्छति**=प्राप्त होता है (अतः पिताजीको सावधान करना चाहिये) ॥ ३ ॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति। द्वितीयं तृतीयं तꣳ होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥ ४ ॥

सः ह=यह सोचकर वह; **पितरम्**=अपने पितासे; **उवाच**=बोला कि; **तत (तात)**=हे प्यारे पिताजी !; **माम्**=मुझे; **कस्मै**=(आप) किसको; **दास्यसि इति**=देंगे ?; (उत्तर न मिलनेपर उसने वही बात) **द्वितीयम्**=दुबारा; **तृतीयम्**=तिबारा (कही); **तम् ह**=(तब पिताने) उससे; **उवाच**=(इस प्रकार क्रोधपूर्वक) कहा; **त्वा**=तुझे (मैं); **मृत्यवे**=मृत्युको; **ददामि इति**=देता हूँ ॥ ४ ॥

व्याख्या—पिताजी ये कैसी गौएँ दक्षिणामें दे रहे हैं ! अब इनमें न तो झुककर जल पीनेकी शक्ति रही है, न इनके मुखमें घास चबानेके लिये दाँत ही रह गये हैं और न इनके स्तनोंमें तनिक-सा दूध ही बचा है। अधिक क्या, इनकी तो इन्द्रियाँ भी निश्चेष्ट हो चुकी हैं—इनमें गर्भधारण करनेतककी भी सामर्थ्य नहीं है ! भला, ऐसी निरर्थक और मृत्युके समीप पहुँची हुई गौएँ जिन ब्राह्मणोंके घर जायँगी, उनको दुःखके सिवा ये और क्या देंगी ? दान तो उसी वस्तुका करना चाहिये, जो अपनेको सुख देनेवाली हो, प्रिय हो और उपयोगी हो तथा वह जिनको दी जाय उन्हें भी सुख और लाभ पहुँचानेवाली हो। दुःखदायिनी अनुपयोगी वस्तुओंको दानके नामपर देना तो दानके व्याजसे अपनी विपद् टालना है और दान ग्रहण करनेवालोंको धोखा देना है। इस प्रकारके दानसे दाताको वे नीच योनियाँ और नरकादि लोक मिलते हैं, जिनमें सुखका कहीं लेश भी नहीं है। पिताजी इस दानसे क्या सुख पायेंगे ? यह तो यज्ञमें वैगुण्य है, जो इन्होंने सर्वस्व-दानरूपी यज्ञ करके भी उपयोगी गौओंको मेरे नामपर रख लिया है; और सर्वस्वमें तो मैं भी हूँ, मुझको तो इन्होंने दानमें दिया नहीं। पर मैं इनका पुत्र हूँ, अतएव मैं पिताजीको इस अनिष्टकारी परिणामसे बचानेके लिये अपना बलिदान कर दूँगा। यही मेरा धर्म है। यह निश्चय करके उसने अपने पितासे कहा—'पिताजी ! मैं भी तो आपका धन हूँ, आप मुझे किसको देते हैं ?' पिताने कोई उत्तर नहीं दिया, तब नचिकेताने फिर कहा—'पिताजी ! मुझे किसको देते हैं ?' पिताने इस बार भी उपेक्षा की। पर धर्मभीरु और पुत्रका कर्तव्य जाननेवाले नचिकेतासे नहीं रहा गया। उसने तीसरी बार फिर वही कहा—'पिताजी ! आप मुझे किसको देते हैं ?' अब ऋषिको क्रोध आ गया और उन्होंने आवेशमें आकर कहा—'तुझे देता हूँ मृत्युको !' ॥ ३-४ ॥

सम्बन्ध—यह सुनकर नचिकेता मन-ही-मन विचारने लगा कि—

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किꣳस्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥ ५ ॥

बहूनाम्=मैं बहुत-से शिष्योंमें तो; **प्रथमः**=प्रथम श्रेणीके आचरणपर; **एमि**=चलता आया हूँ (और); **बहूनाम्**=बहुतोंमें; **मध्यमः**=मध्यम श्रेणीके आचारपर; **एमि**=चलता हूँ (कभी भी नीची श्रेणीके आचरणको मैंने नहीं अपनाया, फिर

पिताजीने ऐसा क्यों कहा !); **यमस्य**=यमका; **किम् स्वित् कर्तव्यम्**=ऐसा कौन-सा कार्य हो सकता है; **यत् अद्य**=जिसे आज; **मया**=मेरेद्वारा (मुझे देकर); **करिष्यति**=(पिताजी) पूरा करेंगे ॥ ५ ॥

व्याख्या—शिष्यों और पुत्रोंकी तीन श्रेणियाँ होती हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। जो गुरु या पिताका मनोरथ समझकर उनकी आज्ञाकी प्रतीक्षा किये बिना ही उनकी रुचिके अनुसार कार्य करने लगते हैं, वे उत्तम हैं। जो आज्ञा पानेपर कार्य करते हैं, वे मध्यम हैं और जो मनोरथ जान लेने और स्पष्ट आदेश सुन लेनेपर भी तदनुसार कार्य नहीं करते, वे अधम हैं। मैं बहुत-से शिष्योंमें तो प्रथम श्रेणीका हूँ, प्रथम श्रेणीके आचरणपर चलनेवाला हूँ, क्योंकि उनसे पहले ही मनोरथ समझकर कार्य कर देता हूँ; बहुत-से शिष्योंसे मध्यम श्रेणीका भी हूँ, मध्यम श्रेणीके आचारपर भी चलता आया हूँ; परंतु अधम श्रेणीका तो हूँ ही नहीं। आज्ञा मिले और सेवा न करूँ, ऐसा तो मैंने कभी किया ही नहीं। फिर, पता नहीं, पिताजीने मुझे ऐसा क्यों कहा ? मृत्युदेवताका भी ऐसा कौन-सा प्रयोजन है, जिसको पिताजी आज मुझे उनको देकर पूरा करना चाहते हैं ? ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—सम्भव है, पिताजीने क्रोधके आवेशमें ही ऐसा कह दिया हो; परंतु जो कुछ भी हो, पिताजीका वचन तो सत्य करना ही है। इधर ऐसा दीख रहा है कि पिताजी अब पश्चात्ताप कर रहे हैं, अतएव उन्हें सान्त्वना देना भी आवश्यक है। यह विचारकर नचिकेता एकान्तमें पिताके पास जाकर उनकी शोकनिवृत्तिके लिये इस प्रकार आश्वासनपूर्ण वचन बोला—

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥ ६ ॥

पूर्वे=आपके पूर्वज पितामह आदि; **यथा**=जिस प्रकारका आचरण करते आये हैं; **अनुपश्य**=उसपर विचार कीजिये (और); **अपरे**=(वर्तमानमें भी) दूसरे श्रेष्ठ लोग; [**यथा** =जैसा आचरण कर रहे हैं;] **तथा प्रतिपश्य**=उसपर भी दृष्टिपात कर लीजिये (फिर आप अपने कर्तव्यका निश्चय कीजिये); **मर्त्यः**=(यह) मरणधर्मा मनुष्य; **सस्यम् इव**= अनाजकी तरह; **पच्यते**=पकता है अर्थात् जराजीर्ण होकर मर जाता है (तथा); **सस्यम् इव**=अनाजकी भाँति ही; **पुनः**= फिर; **आजायते**=उत्पन्न हो जाता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—पिताजी ! अपने पितामहादि पूर्वजोंका आचरण देखिये और इस समयके दूसरे श्रेष्ठ पुरुषोंका आचरण देखिये। उनके चरित्रमें न कभी पहले असत्य था, न अब है। असाधु मनुष्य ही असत्यका आचरण किया करते हैं; परंतु उस असत्यसे कोई अजर-अमर नहीं हो सकता। मनुष्य मरणधर्मा है। यह अनाजकी भाँति जरा-जीर्ण होकर मर जाता है और अनाजकी भाँति ही कर्मवश पुनः जन्म ले लेता है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—अतएव इस अनित्य जीवनके लिये मनुष्यको कभी कर्तव्यका त्याग करके मिथ्या आचरण नहीं करना चाहिये। आप शोकका त्याग कीजिये और अपने सत्यका पालन कर मुझे मृत्यु (यमराज) के पास जानेकी अनुमति दीजिये। पुत्रके वचन सुनकर उद्दालकको दुःख हुआ; परंतु नचिकेताकी सत्यपरायणता देखकर उन्होंने उसे यमराजके पास भेज दिया। नचिकेताको यमसदन पहुँचनेपर पता लगा कि यमराज कहीं बाहर गये हुए हैं; अतएव नचिकेता तीन दिनोंतक अन्न-जल ग्रहण किये बिना ही यमराजकी प्रतीक्षा करता रहा। यमराजके लौटनेपर उनकी पत्नीने कहा—

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैताः शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥ ७ ॥

वैवस्वत=हे सूर्यपुत्र; **वैश्वानरः**=स्वयं अग्निदेवता (ही); **ब्राह्मणः अतिथिः**=ब्राह्मण अतिथिके रूपमें; **गृहान्**=(गृहस्थके) घरोंमें; **प्रविशति**=पधारते हैं; **तस्य**=उनकी; (साधुपुरुष) **एताम्**=ऐसी (अर्थात् अर्घ्य-पाद-आसन आदिके द्वारा); **शान्तिम्**=शान्ति; **कुर्वन्ति**=किया करते हैं; (अतः आप) **उदकम् हर**=(उनके पाद-प्रक्षालनादिके लिये) जल ले जाइये ॥ ७ ॥

व्याख्या—साक्षात् अग्नि ही मानो तेजसे प्रज्वलित होकर ब्राह्मण-अतिथिके रूपमें गृहस्थके घरपर पधारते हैं। साधुहृदय गृहस्थ अपने कल्याणके लिये उस अतिथिरूप अग्निके दाहकी शान्तिके लिये उसे जल (पाद्य-अर्घ्य आदि) दिया करते हैं; अतएव हे सूर्यपुत्र ! आप उस ब्राह्मण-बालकके पैर धोनेके लिये तुरंत जल ले जाइये। वह अतिथि लगातार तीन दिनोंसे आपकी प्रतीक्षामें अनशन किये बैठा है; आप स्वयं उसकी सेवा करेंगे, तभी वह शान्त होगा ॥ ७ ॥

आशाप्रतीक्षे संगतꣳ सूनृतां च इष्टापूर्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥

यस्य= जिसके; **गृहे**=घरमें; **ब्राह्मणः**=ब्राह्मण अतिथि; **अनश्नन्**=बिना भोजन किये; **वसति**=निवास करता है; [**तस्य**=उस;] **अल्पमेधसः**=मन्दबुद्धि; **पुरुषस्य**=मनुष्यकी; **आशाप्रतीक्षे**=नाना प्रकारकी आशा और प्रतीक्षा; **संगतम्**= उनकी पूर्तिसे होनेवाले सब प्रकारके सुख; **सूनृताम् च**=सुन्दर भाषणके फल एवं; **इष्टापूर्ते च**=यज्ञ, दान आदि शुभ कर्मोंके और कुआँ, बगीचा, तालाब आदि निर्माण करानेके फल तथा; **सर्वान् पुत्रपशून्**=समस्त पुत्र और पशु; **एतद् वृङ्क्ते**= इन सबको (वह) नष्ट कर देता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—जिसके घरपर अतिथि ब्राह्मण भूखा बैठा रहता है, उस मन्दबुद्धि मनुष्यको न तो वे इच्छित पदार्थ मिलते हैं, जिनके मिलनेकी उसे पूरी आशा थी; न वे ही पदार्थ मिलते हैं, जिनके मिलनेका निश्चय था और वह बाट ही देख रहा था; कभी कोई पदार्थ मिल भी गया तो उससे सुखकी प्राप्ति नहीं होती। उसकी वाणीमेंसे सौन्दर्य, सत्य और माधुर्य निकल जाते हैं; अतः सुन्दर वाणीसे प्राप्त होनेवाला सुख भी उसे नहीं मिलता; उसके यज्ञ-दानादि इष्ट-कर्म और कूप, तालाब, धर्मशाला आदिके निर्माणरूप पूर्तकर्म एवं उनके फल नष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं, अतिथिका असत्कार उसके पूर्वपुण्यसे प्राप्त पुत्र और पशु आदि धनको भी नष्ट कर देता है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—पत्नीके वचन सुनकर धर्ममूर्ति यमराज तुरंत नचिकेताके पास गये और पाद्य-अर्घ्य आदिके द्वारा विधिवत् उसकी पूजा करके कहने लगे—

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे अनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥ ९ ॥

ब्रह्मन्=हे ब्राह्मणदेवता; **नमस्यः अतिथिः**=आप नमस्कार करनेयोग्य अतिथि हैं; **ते**=आपको; **नमः अस्तु**= नमस्कार हो; **ब्रह्मन्**=हे ब्राह्मण; **मे स्वस्ति**=मेरा कल्याण; **अस्तु**=हो; **यत्**=आपने जो; **तिस्रः**=तीन; **रात्रीः**=रात्रियोंतक; **मे**=मेरे; **गृहे**=घरपर; **अनश्नन्**=बिना भोजन किये; **अवात्सीः**=निवास किया है; **तस्मात्**=इसलिये (आप मुझसे); **प्रति**= प्रत्येक रात्रिके बदले (एक-एक करके); **त्रीन् वरान्**=तीन वरदान; **वृणीष्व**=माँग लीजिये ॥ ९ ॥

व्याख्या—'ब्राह्मणदेवता ! आप नमस्कारादि सत्कारके योग्य मेरे माननीय अतिथि हैं; कहाँ तो मुझे चाहिये था कि मैं आपका यथायोग्य पूजन-सेवन करके आपको सन्तुष्ट करता, और कहाँ मेरे प्रमादसे आप लगातार तीन रात्रियोंसे भूखे बैठे हैं। मुझसे यह बड़ा अपराध हो गया है। आपको नमस्कार है। भगवन् ! इस मेरे दोषकी निवृत्ति होकर मेरा कल्याण हो। आप प्रत्येक रात्रिके बदले एक-एक करके मुझसे अपनी इच्छाके अनुरूप तीन वर माँग लीजिये' ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—तपोमूर्ति अतिथि ब्राह्मण-बालकके अनशनसे भयभीत होकर धर्मज्ञ यमराजने जब इस प्रकार कहा, तब पिताको सुख पहुँचानेकी इच्छासे नचिकेता बोला—

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥

मृत्यो=हे मृत्युदेव; **यथा**=जिस प्रकार; **गौतमः**=(मेरे पिता) गौतमवंशीय उद्दालक; **मा अभि**=मेरे प्रति; **शान्तसंकल्पः**=शान्त संकल्पवाले; **सुमनाः**=प्रसन्नचित्त (और); **वीतमन्युः**=क्रोध एवं खेदसे रहित; **स्यात्**=हो जायँ (तथा);

नचिकेताको मृत्युके अर्पण करना

यमराज और नचिकेता

त्वत्प्रसृष्टम्=आपके द्वारा वापस भेजा जानेपर जब मैं उनके पास जाऊँ तो; **मा प्रतीतः**=वे मुझपर विश्वास करके (यह वही मेरा पुत्र नचिकेता है, ऐसा भाव रखकर); **अभिवदेत्**=मेरे साथ प्रेमपूर्वक बातचीत करें; **एतत्**=यह; **त्रयाणाम्**= अपने तीनों वरोंमेंसे; **प्रथमम् वरम्**=पहला वर; **वृणे**=मैं माँगता हूँ ॥ १० ॥

व्याख्या—मृत्युदेव ! तीन वरोंमेंसे मैं प्रथम वर यही माँगता हूँ कि मेरे गौतमवंशीय पिता उद्दालक, जो क्रोधके आवेशमें मुझे आपके पास भेजकर अब अशान्त और दुखी हो रहे हैं, मेरे प्रति क्रोधरहित, शान्तचित्त और सर्वथा सन्तुष्ट हो जायँ । और आपके द्वारा अनुमति पाकर जब मैं घर जाऊँ, तब वे मुझे अपने पुत्र नचिकेताके रूपमें पहचानकर मेरे साथ पूर्ववत् बड़े स्नेहसे बातचीत करें ॥ १० ॥

सम्बन्ध—यमराजने कहा—

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः ।
सुखꣳ रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥ ११ ॥

त्वाम्=तुमको; **मृत्युमुखात्**=मृत्युके मुखसे; **प्रमुक्तम्**=छूटा हुआ; **ददृशिवान्**=देखकर; **मत्प्रसृष्टः**=मुझसे प्रेरित; **आरुणिः**=(तुम्हारे पिता) अरुण-पुत्र; **औद्दालकिः**=उद्दालक; **यथा पुरस्तात्**=पहलेकी भाँति ही; **प्रतीतः**=यह मेरा पुत्र नचिकेता ही है, ऐसा विश्वास करके; **वीतमन्युः**=दुःख और क्रोधसे रहित; **भविता**=हो जायँगे; **रात्रीः**=(और वे अपनी आयुकी शेष) रात्रियोंमें; **सुखम्**=सुखपूर्वक; **शयिता**=शयन करेंगे ॥ ११ ॥

व्याख्या—तुमको मृत्युके मुखसे छूटकर घर लौटा हुआ देखकर मेरी प्रेरणासे तुम्हारे पिता अरुणपुत्र उद्दालक बड़े प्रसन्न होंगे, तुमको अपने पुत्ररूपमें पहचानकर तुमसे पूर्ववत् प्रेम करेंगे, तथा उनका दुःख और क्रोध सर्वथा शान्त हो जायगा । तुम्हें पाकर अब वे जीवनभर सुखकी नींद सोयेंगे ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—इस वरदानको पाकर नचिकेता बोला, हे यमराज !—

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥

स्वर्गे लोके=स्वर्गलोकमें; **किंचन भयम्**=किंचिन्मात्र भी भय; **न अस्ति**=नहीं है; **तत्र त्वम् न**=वहाँ मृत्युरूप स्वयं आप भी नहीं हैं; **जरया न बिभेति**=वहाँ कोई बुढ़ापेसे भी भय नहीं करता; **स्वर्गलोके**=स्वर्गलोकके निवासी; **अशनायापिपासे**=भूख और प्यास; **उभे तीर्त्वा**=इन दोनोंसे पार होकर; **शोकातिगः**=दुःखोंसे दूर रहकर; **मोदते**= आनन्द भोगते हैं ॥ १२ ॥

स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वꣳ श्रद्दधानाय मह्यम् ।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥

मृत्यो=हे मृत्युदेव; **सः त्वम्**=वे आप; **स्वर्ग्यम् अग्निम्**=उपर्युक्त स्वर्गकी प्राप्तिके साधनरूप अग्निको; **अध्येषि**= जानते हैं (अतः); **त्वम्**=आप; **मह्यम्**=मुझ; **श्रद्दधानाय**=श्रद्धालुको (वह अग्निविद्या); **प्रब्रूहि**=भलीभाँति समझा-कर कहिये; **स्वर्गलोकाः**=स्वर्गलोकके निवासी; **अमृतत्वम्**=अमरत्वको; **भजन्ते**=प्राप्त होते हैं (इसलिये); **एतत्**=यह (मैं); **द्वितीयेन वरेण**=दूसरे वरके रूपमें; **वृणे**=माँगता हूँ ॥ १३ ॥

व्याख्या—मैं जानता हूँ कि स्वर्गलोक बड़ा सुखकर है, वहाँ किसी प्रकारका भी भय नहीं है । स्वर्गमें न तो कोई वृद्धावस्थाको प्राप्त होता है और न, जैसे मर्त्यलोकमें आप (मृत्यु) के द्वारा लोग मारे जाते हैं वैसे, कोई मारा ही जाता है । वहाँ मृत्युकालीन सङ्कट नहीं है । यहाँ जैसे प्रत्येक प्राणी भूख और प्यास दोनोंकी ज्वालासे जलते हैं, वैसे वहाँ नहीं जलना पड़ता । वहाँके निवासी शोकसे तरकर सदा आनन्द भोगते हैं । परन्तु वह स्वर्ग अग्निविज्ञानको जाने बिना नहीं मिलता । हे मृत्युदेव ! आप उस स्वर्गके साधनभूत अग्निको यथार्थरूपसे जानते हैं । मेरी उस अग्निविद्यामें और आपमें श्रद्धा है,

श्रद्धावान् तत्त्वका अधिकारी होता है; अतः आप कृपया मुझको उस अग्निविद्याका उपदेश कीजिये, जिसे जानकर लोग स्वर्गलोकमें रहकर अमृतत्वको—देवत्वको प्राप्त होते हैं। यह मैं आपसे दूसरा वर माँगता हूँ ॥ १२-१३ ॥

सम्बन्ध—तब यमराज बोले—

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥ १४ ॥

नचिकेतः=हे नचिकेता; **स्वर्ग्यम् अग्निम्**=स्वर्गदायिनी अग्निविद्याको; **प्रजानन्**=अच्छी तरह जाननेवाला मैं; **प्रब्रवीमि**=तुम्हारे लिये उसे भलीभाँति बतलाता हूँ; **तत् उ मे निबोध**=(तुम) उसे मुझसे भलीभाँति समझ लो; **त्वम् एतम्**=तुम इस विद्याको; **अनन्तलोकाप्तिम्**=अविनाशी लोककी प्राप्ति करानेवाली; **प्रतिष्ठाम्**=उसकी आधारस्वरूपा; **अथो**=और; **गुहायाम् निहितम्**=बुद्धिरूप गुफामें छिपी हुई; **विद्धि**=समझो ॥ १४ ॥

व्याख्या—नचिकेता ! मैं उस स्वर्गकी साधनरूपा अग्निविद्याको भलीभाँति जानता हूँ और तुमको यथार्थरूपसे बतलाता हूँ। तुम इसको अच्छी तरहसे सुनो। यह अग्निविद्या अनन्त—विनाशरहित लोककी प्राप्ति करानेवाली है और उसकी आधारस्वरूपा है। पर तुम ऐसा समझो कि यह है अत्यन्त गुप्त। विद्वानोंकी हृदय-गुफामें छिपी रहती है ॥ १४ ॥

सम्बन्ध=इतना कहकर यमराजने—

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥ १५ ॥

तम् लोकादिम्=उस स्वर्गलोककी कारणरूपा; **अग्निम्**=अग्निविद्याका; **तस्मै उवाच**=उस नचिकेताको उपदेश दिया; **याः वा यावतीः**=उसमें कुण्डनिर्माण आदिके लिये जो-जो और जितनी; **इष्टकाः**=ईंटें आदि आवश्यक होती हैं; **वा यथा**=तथा जिस प्रकार उनका चयन किया जाता है (वे सब बातें भी बतायीं); **च सः अपि**=तथा उस नचिकेताने भी; **तत् यथोक्तम्**=वह जैसा सुना था, ठीक उसी प्रकार समझकर; **प्रत्यवदत्**= यमराजको पुनः सुना दिया; **अथ**=उसके बाद; **मृत्युः अस्य तुष्टः**=यमराज उसपर सन्तुष्ट होकर; **पुनः एव आह**=फिर बोले—॥ १५ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त प्रकारसे अग्निविद्याकी महत्ता और गोपनीयता बतलाकर यमराजने स्वर्गलोककी कारणरूपा अग्निविद्याका रहस्य नचिकेताको समझाया। अग्निके लिये कुण्ड-निर्माणादिमें किस आकारकी, कैसी और कितनी ईंटें चाहिये एवं अग्निका चयन किस प्रकार किया जाना चाहिये—यह सब भलीभाँति समझाया। तदनन्तर नचिकेताकी बुद्धि तथा स्मृतिकी परीक्षाके लिये यमराजने नचिकेतासे पूछा कि तुमने जो कुछ समझा हो, वह मुझे सुनाओ। तीक्ष्णबुद्धि नचिकेताने सुनकर जैसा यथार्थ समझा था, सब ज्यों-का-त्यों सुना दिया। यमराज उसकी विलक्षण स्मृति और प्रतिभाको देखकर बड़े ही प्रसन्न हुए और बोले—॥ १५ ॥

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥ १६ ॥

प्रीयमाणः= (उसकी अलौकिक बुद्धि देखकर) प्रसन्न हुए; **महात्मा**=महात्मा यमराज; **तम्**=उस नचिकेतासे; **अब्रवीत्**=बोले; **अद्य**=अब मैं; **तव**=तुमको; **इह**=यहाँ; **भूयः वरम्**=पुनः यह (अतिरिक्त) वर; **ददामि**= देता हूँ कि; **अयम् अग्निः**=यह अग्निविद्या; **तव एव नाम्ना**=तुम्हारे ही नामसे; **भविता**=प्रसिद्ध होगी; **च इमाम्**=तथा इस; **अनेकरूपाम् सृङ्काम्**=अनेक रूपोंवाली रत्नोंकी मालाको भी; **गृहाण**=तुम स्वीकार करो ॥ १६ ॥

व्याख्या—महात्मा यमराजने प्रसन्न होकर नचिकेतासे कहा—तुम्हारी अप्रतिम योग्यता देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है, इससे अब मैं तुम्हें एक वर और तुम्हारे बिना माँगे ही देता हूँ। वह यह कि यह अग्नि, जिसका मैंने तुमको उपदेश किया है, तुम्हारे ही नामसे प्रसिद्ध होगी। और साथ ही, यह लो, मैं तुम्हें तुम्हारे देवत्वकी सिद्धिके लिये यह अनेक रूपोंवाली विविध यज्ञ-विज्ञानरूपी रत्नोंकी माला देता हूँ। इसे स्वीकार करो ॥ १६ ॥

सम्बन्ध—उस अग्निविद्याका फल बतलाते हुए यमराज कहते हैं—

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य संधिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू ।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाꣳ शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १७ ॥

त्रिणाचिकेतः=इस अग्निका (शास्त्रोक्त रीतिसे) तीन बार अनुष्ठान करनेवाला; **त्रिभिः सन्धिम् एत्य**= तीनों (ऋक्, साम, यजुर्वेद) के साथ सम्बन्ध जोड़कर; **त्रिकर्मकृत्**=यज्ञ, दान और तपरूप तीनों कर्मोंको निष्कामभावसे करता रहनेवाला मनुष्य; **जन्ममृत्यू तरति**=जन्म-मृत्युसे तर जाता है; **ब्रह्मजज्ञम्**=(वह) ब्रह्मासे उत्पन्न सृष्टिके जाननेवाले; **ईड्यम् देवम्**=स्तवनीय इस अग्निदेवको; **विदित्वा**=जानकर तथा; **निचाय्य**=इसका निष्कामभावसे चयन करके; **इमाम् अत्यन्तम् शान्तिम् एति**=इस अनन्त शान्तिको पा जाता है (जो मुझको प्राप्त है) ॥ १७ ॥

व्याख्या—इस अग्निका तीन बार अनुष्ठान करनेवाला पुरुष ऋक्, यजुः, साम—तीनों वेदोंसे सम्बन्ध जोड़कर, तीनों वेदोंके तत्त्व-रहस्यमें निष्णात होकर, निष्कामभावसे यज्ञ, दान और तपरूप तीनों कर्मोंको करता हुआ जन्म-मृत्युसे तर जाता है । वह ब्रह्मासे उत्पन्न सृष्टिको जाननेवाले स्तवनीय इस अग्निदेवको भलीभाँति जानकर इसका निष्कामभावसे चयन करके उस अनन्त शान्तिको प्राप्त हो जाता है, जो मुझको प्राप्त है ॥ १७ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वाꣳश्चिनुते नाचिकेतम् ।
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १८ ॥

एतत् त्रयम्=ईंटोंके स्वरूप, संख्या और अग्नि-चयन-विधि—इन तीनों बातोंको; **विदित्वा**=जानकर; **त्रिणाचिकेतः**= तीन बार नाचिकेत-अग्निविद्याका अनुष्ठान करनेवाला तथा; **यः एवम्**=जो कोई भी इस प्रकार; **विद्वान्**=जाननेवाला पुरुष; **नाचिकेतम्**=इस नाचिकेत-अग्निका; **चिनुते**=चयन करता है; **सः मृत्युपाशान्**=वह मृत्युके पाशको; **पुरतः प्रणोद्य**= अपने सामने ही (मनुष्य-शरीरमें ही) काटकर; **शोकातिगः**=शोकसे पार होकर; **स्वर्गलोके मोदते**=स्वर्गलोकमें आनन्द-का अनुभव करता है ॥ १८ ॥

व्याख्या—किस आकारकी कैसी ईंटें हों और कितनी संख्यामें हों एवं किस प्रकारसे अग्निका चयन किया जाय—इन तीनों बातोंको जानकर जो विद्वान् तीन बार नाचिकेत अग्निविद्याका निष्कामभावसे अनुष्ठान करता है—अग्निका चयन करता है, वह देहपातसे पहले ही (जन्म-)मृत्युके पाशको तोड़कर शोकरहित होकर अन्तमें स्वर्गलोकके (अविनाशी ऊर्ध्वलोकके) आनन्दका अनुभव करता है ॥ १८ ॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण ।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥ १९ ॥

नचिकेतः=हे नचिकेता; **एषः ते**=यह तुम्हें बतलायी हुई; **स्वर्ग्यः अग्निः**=स्वर्ग प्रदान करनेवाली अग्निविद्या है; **यम् द्वितीयेन वरेण अवृणीथाः**=जिसको तुमने दूसरे वरसे माँगा था; **एतम् अग्निम्**=इस अग्निको (अबसे); **जनासः**= लोग; **तव एव**=तुम्हारे ही नामसे; **प्रवक्ष्यन्ति**=कहा करेंगे; **नचिकेतः**=हे नचिकेता; **तृतीयम् वरम् वृणीष्व**= (अब तुम) तीसरा वर माँगो ॥ १९ ॥

व्याख्या—यमराज कहते हैं—नचिकेता ! तुम्हें यह उसी स्वर्गकी साधनरूपा अग्निविद्याका उपदेश दिया गया है, जिसके लिये तुमने दूसरे वरमें याचना की थी । अबसे लोग तुम्हारे ही नामसे इस अग्निको पुकारा करेंगे । नचिकेता ! अब तुम तीसरा वर माँगो ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—नचिकेता तीसरा वर माँगता है—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ २० ॥

प्रेते मनुष्ये=मरे हुए मनुष्यके विषयमें; **या इयम्**=जो यह; **विचिकित्सा**=संशय है; **एके (आहुः) अयम् अस्ति इति**=कोई तो ऐसा कहते हैं कि मरनेके बाद यह आत्मा रहता है; **च एके (आहुः) न अस्ति इति**=और कोई ऐसा कहते हैं कि नहीं रहता; **त्वया अनुशिष्टः**=आपके द्वारा उपदेश पाया हुआ; **अहम् एतत् विद्याम्**=मैं इसका निर्णय भलीभाँति समझ लूँ; **एषः वराणाम्**=यही तीनों वरोंमेंसे; **तृतीयः वरः**=तीसरा वर है ॥ २० ॥

व्याख्या—इस लोकके कल्याणके लिये पिताकी सन्तुष्टिका वर और परलोकके लिये स्वर्गके साधनरूप अग्निविज्ञानका वर प्राप्त करके अब नचिकेता आत्माके यथार्थ स्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय जाननेके लिये यमराजके सामने दूसरे लोगोंके दो मत उपस्थित करके उसपर उनका अनुभूत विचार सुनना चाहता है। इसलिये नचिकेता कहता है कि भगवन्! मृत मनुष्यके सम्बन्धमें यह एक बड़ा सन्देह फैला हुआ है। कुछ लोग तो कहते हैं कि मृत्युके बाद भी आत्माका अस्तित्व रहता है और कुछ लोग कहते हैं, नहीं रहता। इस विषयमें आपका जो अनुभव हो, वह मुझे बतलाइये।* आप मुझे अपना अनुभूत विचार बतलायेंगे, तभी मैं इस रहस्यको भलीभाँति समझ पाऊँगा। बस, तीनों वरोंमेंसे यही मेरा अभीष्ट तीसरा वर है ॥२०॥

सम्बन्ध—नचिकेताका महत्त्वपूर्ण प्रश्न सुनकर यमराजने मन-ही-मन उसकी प्रशंसा की। सोचा कि ऋषिकुमार बालक होनेपर भी बड़ा प्रतिभाशाली है, कैसे गोपनीय विषयको जानना चाहता है; परंतु आत्मतत्त्व उपयुक्त अधिकारीको ही बतलाना चाहिये। अनधिकारीके प्रति आत्मतत्त्वका उपदेश करना हानिकर होता है, अतएव पहले पात्र-परीक्षाकी आवश्यकता है। यों विचारकर यमराजने इस तत्त्वकी कठिनताका वर्णन करके नचिकेताको टालना चाहा और कहा—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ २१ ॥

नचिकेतः=हे नचिकेता!; **अत्र पुरा**=इस विषयमें पहले; **देवैः अपि**=देवताओंने भी; **विचिकित्सितम्**=संदेह किया था (परंतु उनकी भी समझमें नहीं आया); **हि एषः धर्मः अणुः न सुविज्ञेयम्**=क्योंकि यह विषय बड़ा सूक्ष्म है, सहज ही समझमें आनेवाला नहीं है (इसलिये); **अन्यम् वरम् वृणीष्व**=तुम दूसरा वर माँग लो; **मा मा उपरोत्सीः**=मुझपर दबाव मत डालो; **एनम् मा**=इस आत्मज्ञानसम्बन्धी वरको मुझे; **अतिसृज**=लौटा दो ॥ २१ ॥

व्याख्या—नचिकेता! यह आत्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म विषय है। इसका समझना सहज नहीं है। पहले देवताओंको भी इस विषयमें सन्देह हुआ था। उनमें भी बहुत विचार-विनिमय हुआ था; परन्तु वे भी इसको जान नहीं पाये। अतएव तुम दूसरा वर माँग लो। मैं तुम्हें तीन वर देनेका वचन दे चुका हूँ, अतएव तुम्हारा ऋणी हूँ; पर तुम इस वरके लिये, जैसे महाजन ऋणीको दबाता है वैसे, मुझको मत दबाओ। इस आत्मतत्त्वविषयक वरको मुझे लौटा दो। इसके लिये मुझे छोड़ दो ॥ २१ ॥

सम्बन्ध—नचिकेता आत्मतत्त्वकी कठिनताका नाम सुनकर तनिक भी घबराया नहीं, न उसका उत्साह ही मन्द हुआ, वरं उसने और भी दृढ़ताके साथ कहा—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥ २२ ॥

---

* मृत्युके पश्चात् आत्माका अस्तित्व रहता है या नहीं, इस सम्बन्धमें नचिकेताको स्वयं कोई सन्देह नहीं है। पिताको दक्षिणामें जराजीर्ण गौएँ देते देखकर नचिकेताने स्पष्ट कहा था कि ऐसी गौओंका दान करनेवाले आनन्दरहित (अनन्दाः) नरकादि लोकोंको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार दूसरे वरमें नचिकेताने स्वर्गसुखोंका वर्णन करके स्वर्गप्राप्तिके साधनरूप अग्निविद्याके उपदेशकी प्रार्थना की थी। इससे सिद्ध है कि वह स्वर्ग और नरकमें विश्वास करता था। स्वर्ग-नरकादि लोकोंकी प्राप्ति मरनेके पश्चात् ही होती है। आत्माका अस्तित्व न हो तो ये लोक किसको प्राप्त हों। यहाँ इसीलिये नचिकेताने अपना मत न बताकर कहा है कि कुछ लोग मरनेके बाद आत्माका अस्तित्व मानते हैं और कुछ लोग नहीं मानते। यह प्रश्नका एक ऐसा सुन्दर प्रकार है कि जिसके उत्तरमें आत्माकी नित्य सत्ता, उसके स्वरूप, गुण और परमलक्ष्य परमात्माकी प्राप्तिके साधनोंका विवरण अपने-आप ही आ जाता है। अतः यह प्रश्न आत्मज्ञान-विषयक है, न कि आत्माके अस्तित्वमें सन्देहविषयक। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें नचिकेताका जो इतिहास मिलता है, उसमें तो नचिकेताने तीसरे वरमें पुनर्मृत्यु (जन्म-मृत्यु) पर विजय पानेका—मुक्तिका साधन जानना चाहा है (तृतीयं वृणीष्वेति। पुनर्मृत्योर्मेऽपचितिं ब्रूहि)।

मृत्यो=हे यमराज; **त्वम् यत् आत्थ**=आपने जो यह कहा कि; **अत्र किल देवैः अपि**=इस विषयपर देवताओंने भी; **विचिकित्सितम्**=विचार किया था (परंतु वे निर्णय नहीं कर पाये); **च न सुविज्ञेयम्**=और यह सुविज्ञेय भी नहीं है; **च त्वादृक्**=इसके सिवा आपके-जैसा; **अस्य वक्ता**=इस विषयका कहनेवाला भी; **अन्यः न लभ्यः**=दूसरा नहीं मिल सकता; [**अतः**=इसलिये मेरी समझमें तो;] **एतस्य तुल्यः**=इसके समान; **अन्यः कश्चित्**=दूसरा कोई भी; **वरः न**=वर नहीं है ॥२२॥

व्याख्या—हे मृत्यो ! पूर्वकालमें देवताओंने भी जब इस विषयपर विचार-विनिमय किया था तथा वे भी इसे जान नहीं पाये थे और आप भी कहते हैं कि यह विषय सहज नहीं है, बड़ा ही सूक्ष्म है, तब यह तो सिद्ध ही है कि यह बड़े ही महत्त्वका विषय है और ऐसे महत्त्वपूर्ण विषयको समझानेवाला आपके समान अनुभवी वक्ता मुझे ढूँढ़नेपर भी कोई नहीं मिल सकता। आप कहते हैं, इसे छोड़कर दूसरा वर माँग लो। परन्तु मैं तो समझता हूँ कि इसकी तुलनाका दूसरा कोई वर है ही नहीं। अतएव कृपापूर्वक मुझे इसीका उपदेश कीजिये ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—विषयकी कठिनतासे नचिकेता नहीं घबराया, वह अपने निश्चयपर ज्यों-का-त्यों दृढ़ रहा। इस एक परीक्षामें वह उत्तीर्ण हो गया। अब यमराजने दूसरी परीक्षाके रूपमें उसके सामने विभिन्न प्रकारके प्रलोभन रखनेकी बात सोचकर उससे कहते हैं—

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥ २३ ॥

शतायुषः=सैकड़ों वर्षोंकी आयुवाले; **पुत्रपौत्रान्**=बेटे और पोतोंको (तथा); **बहून् पशून्**=बहुत-से गौ आदि पशुओंको (एवं); **हस्तिहिरण्यम्**=हाथी, सुवर्ण और; **अश्वान् वृणीष्व**=घोड़ोंको माँग लो; **भूमेः महत् आयतनम्**=भूमिके बड़े विस्तारवाले मण्डल (साम्राज्य) को; **वृणीष्व**=माँग लो; **स्वयम् च**=तुम स्वयं भी; **यावत् शरदः**=जितने वर्षोंतक; **इच्छसि**=चाहो; **जीव**=जीते रहो ॥ २३ ॥

व्याख्या—नचिकेता ! तुम बड़े भोले हो। क्या करोगे इस वरको लेकर। तुम ग्रहण करो इन सबकी विशाल सामग्रियोंको। इस सौ-सौ वर्ष जीनेवाले पुत्र-पौत्रादि बड़े परिवारको माँग लो। गौ आदि बहुत-से उपयोगी पशु, हाथी, सुवर्ण, घोड़े और विशाल भूमण्डलके महान् साम्राज्यको माँग लो और इन सबको भोगनेके लिये जितने वर्षोंतक जीनेकी इच्छा हो, उतने ही वर्षोंतक जीते रहो ॥ २३ ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥ २४ ॥

नचिकेतः=हे नचिकेता; **वित्तम् चिरजीविकाम्**=धन, सम्पत्ति और अनन्त कालतक जीनेके साधनोंको; **यदि त्वम्**=यदि तुम; **एतत्तुल्यम्**=इस आत्मज्ञानविषयक वरदानके समान; **वरम् मन्यसे वृणीष्व**=वर मानते हो तो माँग लो; **च महाभूमौ**=और तुम इस पृथिवीलोकमें; **एधि**=बड़े भारी सम्राट् बन जाओ; **त्वा कामानाम्**=(मैं) तुम्हें सम्पूर्ण भोगोंमेंसे; **कामभाजम्**=अति उत्तम भोगोंका पात्र; **करोमि**=बना देता हूँ ॥ २४ ॥

व्याख्या—नचिकेता ! यदि तुम प्रचुर धन-सम्पत्ति, दीर्घजीवनके लिये उपयोगी सुख-सामग्रियाँ अथवा और भी जितने भोग मनुष्य भोग सकता है, उन सबको मिलाकर उस आत्मतत्त्व-विषयक वरके समान समझते हो तो इन सबको माँग लो। तुम इस विशाल भूमिके सम्राट् बन जाओ। मैं तुम्हें समस्त भोगोंको इच्छानुसार भोगनेवाला बनाये देता हूँ।' इस प्रकार यहाँ यमराजने वाक्चातुर्यसे आत्मतत्त्वका महत्त्व बढ़ाते हुए नचिकेताको विशाल भोगोंका प्रलोभन दिया ॥ २४ ॥

सम्बन्ध—इतनेपर भी नचिकेता अपने निश्चयपर अटल रहा, तब स्वर्गके दैवी भोगोंका प्रलोभन देते हुए यमराजने कहा—

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामाꣳश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥ २५ ॥

ये ये कामाः=जो-जो भोग; **मर्त्यलोके**=मनुष्यलोकमें; **दुर्लभाः**=दुर्लभ हैं; **सर्वान् कामान्**=उन सम्पूर्ण भोगोंको; **छन्दतः प्रार्थयस्व**=इच्छानुसार माँग लो; **सरथाः सतूर्याः इमाः रामाः**=रथ और नाना प्रकारके बाजोंके सहित इन स्वर्गकी अप्सराओंको (अपने साथ ले जाओ); **मनुष्यैः ईदृशाः**=मनुष्योंको ऐसी स्त्रियाँ; **न हि लम्भनीयाः**=अलभ्य हैं; **मत्प्रत्ताभिः**=मेरे द्वारा दी हुई; **आभिः**=इन स्त्रियोंसे; **परिचारयस्व**=तुम अपनी सेवा कराओ; **नचिकेतः**=हे नचिकेता; **मरणम्**=मरनेके बाद आत्माका क्या होता है; **मा अनुप्राक्षीः**=इस बातको मत पूछो ! ॥ २५ ॥

व्याख्या—नचिकेता ! जो-जो भोग मृत्युलोकमें दुर्लभ हैं, उन सबको तुम अपने इच्छानुसार माँग लो । ये रथों और विविध प्रकारके वाद्योंसहित जो स्वर्गकी सुन्दरी रमणियाँ हैं, ऐसी रमणियाँ मनुष्योंमें कहीं नहीं मिल सकतीं । बड़े-बड़े ऋषि-मुनि इनके लिये ललचाते रहते हैं । मैं इन सबको तुम्हें सहज ही दे रहा हूँ । तुम इन्हें ले जाओ और इनसे अपनी सेवा कराओ; परन्तु नचिकेता ! आत्मतत्त्व-विषयक प्रश्न मत पूछो ॥ २५ ॥

सम्बन्ध—यमराज शिष्यपर स्वाभाविक ही दया करनेवाले महान् अनुभवी आचार्य हैं । इन्होंने अधिकारि-परीक्षाके साथ ही इस प्रकार भय और एकके बाद एक उत्तम भोगोंका प्रलोभन दिखाकर, जैसे खंभेको हिला-हिलाकर दृढ़ किया जाता है, वैसे ही नचिकेताके वैराग्यसम्पन्न निश्चयको और भी दृढ़ किया । पहले कठिनताका भय दिखाया, फिर इस लोकके एक-से-एक बढ़कर भोगोंके चित्र उसके सामने रक्खे और अन्तमें स्वर्गलोकमें भी उसका वैराग्य करा देनेके लिये स्वर्गके दैवी भोगोंका चित्र उपस्थित किया और कहा कि इनको यदि तुम अपने उस आत्मतत्त्वसम्बन्धी वरके समान समझते हो तो इन्हें माँग लो । परंतु नचिकेता तो दृढनिश्चयी और सच्चा अधिकारी था । वह जानता था कि इस लोक और परलोकके बड़े-से-बड़े भोग-सुखकी आत्मज्ञानके सुखके किसी क्षुद्रतम अंशके साथ भी तुलना नहीं की जा सकती । अतएव उसने अपने निश्चयका युक्तिपूर्वक समर्थन करते हुए पूर्ण वैराग्ययुक्त वचनोंमें यमराजसे कहा—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥

अन्तक=हे यमराज (जिन भोगोंका आपने वर्णन किया वे); **श्वोभावाः**=क्षणभङ्गुर भोग (और उनसे प्राप्त होनेवाले सुख); **मर्त्यस्य**=मनुष्यके; **सर्वेन्द्रियाणाम्**=अन्तःकरणसहित सम्पूर्ण इन्द्रियोंका; **यत् तेजः**=जो तेज है; **एतत्**=उसको; **जरयन्ति**=क्षीण कर डालते हैं; **अपि सर्वम्**=(इसके सिवा) समस्त; **जीवितम्**=आयु, चाहे वह कितनी भी बड़ी क्यों न हो; **अल्पम् एव**=अल्प ही है, इसलिये; **तव वाहाः**=ये आपके रथ आदि वाहन और; **नृत्यगीते**=ये अप्सराओंके नाच-गान; **तव एव**=आपके ही पास रहें (मुझे नहीं चाहिये) ॥ २६ ॥

व्याख्या—हे सबका अन्त करनेवाले यमराज ! आपने जिन भोग्य वस्तुओंकी महिमाके पुल बाँधे हैं, ये सभी क्षणभङ्गुर हैं । कलतक रहेंगी या नहीं, इसमें भी सन्देह है । इनके संयोगसे प्राप्त होनेवाला सुख वास्तवमें सुख ही नहीं है, वह तो दुःख ही है (गीता ५ । २२) । ये भोग्यवस्तुएँ कोई लाभ तो देती ही नहीं, वरं मनुष्यकी इन्द्रियोंके तेज और धर्मको हरण कर लेती हैं । आपने जो दीर्घजीवन देना चाहा है, वह भी अनन्तकालकी तुलनामें अत्यन्त अल्प ही है । जब ब्रह्मा आदि देवताओंका जीवन भी अल्पकालका है—एक दिन उन्हें भी मरना पड़ता है, तब औरोंकी तो बात ही क्या है ? अतएव मैं यह सब नहीं चाहता । ये आपके रथ, हाथी, घोड़े, ये रमणियाँ और इनके नाच-गान आप अपने ही पास रक्खें ॥ २६ ॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

मनुष्यः=मनुष्य; **वित्तेन**=धनसे; **तर्पणीयः न**=कभी भी तृप्त किये जाने योग्य नहीं है; **चेत्**=जब कि (हमने); **त्वा अद्राक्ष्म**=आपके दर्शन पा लिये हैं, (तब); **वित्तम्**=धनको; **लप्स्यामहे**=(तो हम) पा ही लेंगे; (और) **त्वम् यावत्**=आप जबतक; **ईशिष्यसि**=शासन करते रहेंगे, तबतक तो; **जीविष्यामः**=हम जीते ही रहेंगे (इन सबको भी क्या माँगना है, अतः); **मे वरणीयः वरः तु**= मेरे माँगने लायक वर तो; **सः एव**=वह (आत्मज्ञान) ही है ॥ २७ ॥

व्याख्या—आप जानते ही हैं, धनसे मनुष्य कभी तृप्त नहीं हो सकता। आगमें घी-ईंधन डालनेसे जैसे आग जोरोंसे भड़कती है, उसी प्रकार धन और भोगोंकी प्राप्तिसे भोग-कामनाका और भी विस्तार होता है। वहाँ तृप्ति कैसी? वहाँ तो दिन-रात अपूर्णता और अभावकी अग्निमें ही जलना पड़ता है। ऐसे दुःखमय धन और भोगोंको कोई भी बुद्धिमान् पुरुष नहीं माँग सकता। मुझे अपने जीवननिर्वाहके लिये जितने धनकी आवश्यकता होगी, उतना तो आपके दर्शनसे ही प्राप्त हो जायगा। रही दीर्घजीवनकी बात, सो जबतक मृत्युके पदपर आपका शासन है, तबतक मुझे मरनेका भी भय क्यों होने लगा। अतएव किसी भी दृष्टिसे दूसरा वर माँगना उचित नहीं मालूम होता। इसलिये मेरा प्रार्थनीय तो वह आत्मतत्त्व-विषयक वर ही है। मैं उसे लौटा नहीं सकता ॥ २७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार भोगोंकी तुच्छताका वर्णन करके अब नचिकेता अपने वरका महत्त्व बतलाता हुआ उसीको प्रदान करनेके लिये दृढ़तापूर्वक निवेदन करता है—

अजीर्यतामृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥

जीर्यन् मर्त्यः=यह मनुष्य जीर्ण होनेवाला और मरणधर्मा है; **प्रजानन्**=इस तत्त्वको भलीभाँति समझनेवाला; **क्वधःस्थः**=मनुष्यलोकका निवासी; **कः**=कौन (ऐसा) मनुष्य है (जो कि); **अजीर्यताम्**=बुढ़ापेसे रहित; **अमृतानाम्**=न मरनेवाले (आप-सदृश) महात्माओंका; **उपेत्य**=सङ्ग पाकर भी; **वर्णरतिप्रमोदान्**=(स्त्रियोंके) सौन्दर्य, क्रीड़ा और आमोद-प्रमोदका; **अभिध्यायन्**=बार-बार चिन्तन करता हुआ; **अतिदीर्घे**=बहुत कालतक; **जीविते**=जीवित रहनेमें; **रमेत**=प्रेम करेगा ॥ २८ ॥

व्याख्या—हे यमराज! आप ही बताइये, भला आप-सरीखे अजर-अमर महात्मा देवताओंका दुर्लभ एवं अमोघ सङ्ग प्राप्त करके मृत्युलोकका जरामरणशील ऐसा कौन बुद्धिमान् मनुष्य होगा जो स्त्रियोंके सौन्दर्य, क्रीड़ा और आमोद-प्रमोदमें आसक्त होकर उनकी ओर दृष्टिपात करेगा और इस लोकमें दीर्घकालतक जीवित रहनेमें आनन्द मानेगा? ॥ २८ ॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २९ ॥

मृत्यो=हे यमराज; **यस्मिन्**=जिस; **महति साम्पराये**=महान् आश्चर्यमय परलोकसम्बन्धी आत्मज्ञानके विषयमें; **इदम् विचिकित्सन्ति**=(लोग) यह शङ्का करते हैं कि यह आत्मा मरनेके बाद रहता है या नहीं; **(तत्र) यत्**=उसमें जो निर्णय है; **तत् नः ब्रूहि**=वह आप हमें बतलाइये; **यः अयम्**=जो यह; **गूढम् अनुप्रविष्टः वरः**=अत्यन्त गम्भीरताको प्राप्त हुआ वर है; **तस्मात्**=इससे; **अन्यम्**=दूसरा वर; **नचिकेताः**=नचिकेता; **न वृणीते**=नहीं माँगता ॥ २९ ॥

व्याख्या—नचिकेता कहता है—हे यमराज! जिस आत्मतत्त्व-सम्बन्धी महान् ज्ञानके विषयमें लोग यह शङ्का करते हैं कि मरनेके बाद आत्माका अस्तित्व रहता है या नहीं, उसके सम्बन्धमें निर्णयात्मक जो आपका अनुभूत ज्ञान हो, मुझे कृपापूर्वक उसीका उपदेश कीजिये। यह आत्मतत्त्वसम्बन्धी वर अत्यन्त गूढ़ है—यह सत्य है; पर आपका शिष्य यह नचिकेता इसके अतिरिक्त दूसरा कोई वर नहीं चाहता! ॥ २९ ॥

॥ प्रथम वल्ली समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय वल्ली

सम्बन्ध—इस प्रकार परीक्षा करके जब यमराजने समझ लिया कि नचिकेता दृढ़निश्चयी, परम वैराग्यवान् एवं निर्भीक है, अतः ब्रह्मविद्याका उत्तम अधिकारी है, तब ब्रह्मविद्याका उपदेश आरम्भ करनेके पहले उसका महत्त्व प्रकट करते हुए यमराज बोले—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳ सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ १ ॥

श्रेयः=कल्याणका साधन; **अन्यत्**=अलग है; **उत**=और; **प्रेयः**=प्रिय लगनेवाले भोगोंका साधनः **अन्यत् एव**=

अलग ही है; **ते**=वे; **नानार्थे**=भिन्न-भिन्न फल देनेवाले; **उभे**=दोनों साधन; **पुरुषम्**=मनुष्यको; **सिनीतः**=बाँधते हैं—अपनी-अपनी ओर आकर्षित करते हैं; **तयोः**=उन दोनोंमेंसे; **श्रेयः**=कल्याणके साधनको; **आददानस्य**=ग्रहण करनेवालेका; **साधु भवति**=कल्याण होता है; **उ यः**=परंतु जो; **प्रेयः वृणीते**=सांसारिक उन्नतिके साधनको स्वीकार करता है; **[सः**=वह :] **अर्थात्**=यथार्थ लाभसे; **हीयते**=भ्रष्ट हो जाता है ॥ १ ॥

व्याख्या—मनुष्य-शरीर अन्यान्य योनियोंकी भाँति केवल कर्मोंका फल भोगनेके लिये ही नहीं मिला है। इसमें मनुष्य भविष्यमें सुख देनेवाले साधनका अनुष्ठान भी कर सकता है। वेदोंमें सुखके साधन दो बताये गये हैं—(१) श्रेय अर्थात् सदाके लिये सब प्रकारके दुःखोंसे सर्वथा छूटकर नित्य आनन्दस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्राप्त करनेका उपाय और (२) प्रेय अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन, मकान, सम्मान, यश आदि इस लोककी और स्वर्गलोककी जितनी भी प्राकृत सुख-भोगकी सामग्रियाँ हैं, उनकी प्राप्तिका उपाय। इस प्रकार अपने-अपने ढंगसे मनुष्यको सुख पहुँचा सकनेवाले ये दोनों साधन मनुष्यको बाँधते हैं—उसे अपनी-अपनी ओर खींचते हैं। अधिकांश लोग तो 'भोगोंमें प्रत्यक्ष और तत्काल सुख मिलता है' इस प्रतीतिके कारण उसका परिणाम सोचे-समझे बिना ही प्रेयकी ओर खिंच जाते हैं। परंतु कोई-कोई भाग्यवान् मनुष्य भगवान्‌की दयासे प्राकृत भोगोंकी आपातरमणीयता एवं परिणामदुःखताका रहस्य जानकर उनकी ओरसे विरक्त हो श्रेयकी ओर आकर्षित हो जाता है। इन दोनों प्रकारके मनुष्योंमेंसे जो भगवान्‌की कृपाका पात्र होकर श्रेयको अपना लेता है और तत्परताके साथ उसके साधनमें लग जाता है, उसका तो सब प्रकारसे कल्याण हो जाता है। वह सदाके लिये सब प्रकारके दुःखोंसे सर्वथा छूटकर अनन्त असीम आनन्दस्वरूप परमात्माको पा लेता है। परंतु जो सांसारिक सुखके साधनोंमें लग जाता है, वह अपने मानव-जीवनके परम लक्ष्य परमात्माकी प्राप्तिरूप यथार्थ प्रयोजनको सिद्ध नहीं कर पाता; इसलिये उसे आत्यन्तिक और नित्य सुख नहीं मिलता। उसे तो भ्रमवश सुखरूप प्रतीत होनेवाले वे अनित्य भोग मिलते हैं, जो वास्तवमें दुःखरूप ही हैं। अतः वह वास्तविक सुखसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ १ ॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥ २ ॥

श्रेयः च प्रेयः च=श्रेय और प्रेय—ये दोनों ही; **मनुष्यम् एतः**=मनुष्यके सामने आते हैं; **धीरः**=बुद्धिमान् मनुष्य; **तौ**=उन दोनोंके स्वरूपपर; **सम्परीत्य**=भलीभाँति विचार करके; **विविनक्ति**=उनको पृथक्-पृथक् समझ लेता है; (और) **धीरः**=वह श्रेष्ठबुद्धि मनुष्य; **श्रेयः हि**=परम कल्याणके साधनको ही; **प्रेयसः**=भोग-साधनकी अपेक्षा; **अभिवृणीते**=श्रेष्ठ समझकर ग्रहण करता है (परंतु); **मन्दः**=मन्दबुद्धिवाला मनुष्य; **योगक्षेमात्**=लौकिक योगक्षेमकी इच्छासे; **प्रेयः वृणीते**=भोगोंके साधनरूप प्रेयको अपनाता है ॥ २ ॥

व्याख्या—अधिकांश मनुष्य तो पुनर्जन्ममें विश्वास न होनेके कारण इस विषयमें विचार ही नहीं करते, वे भोगोंमें आसक्त होकर अपने देवदुर्लभ मनुष्य-जीवनको पशुवत् भोगोंके भोगनेमें ही समाप्त कर देते हैं। किंतु जिनका पुनर्जन्ममें और परलोकमें विश्वास है, उन विचारशील मनुष्योंके सामने जब ये श्रेय और प्रेय दोनों आते हैं, तब वे इन दोनोंके गुण-दोषोंपर विचार करके दोनोंको पृथक्-पृथक् समझनेकी चेष्टा करते हैं। इनमें जो श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न होता है, वह तो दोनोंके तत्त्वको पूर्णतया समझकर नीर-क्षीर-विवेकी हंसकी तरह प्रेयकी उपेक्षा करके श्रेयको ही ग्रहण करता है। परंतु जो मनुष्य अल्पबुद्धि है, जिसकी बुद्धिमें विवेकशक्तिका अभाव है, वह श्रेयके फलमें अविश्वास करके प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले लौकिक योगक्षेमकी सिद्धिके लिये प्रेयको अपनाता है; वह इतना ही समझता है कि जो कुछ भोगपदार्थ प्राप्त हैं, वे सुरक्षित बने रहें और जो अप्राप्त हैं, वे प्रचुर मात्रामें मिल जायँ। यही योगक्षेम है ॥ २ ॥

सम्बन्ध—परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप श्रेयकी प्रशंसा करके अब यमराज साधारण मनुष्योंसे नचिकेताकी विशेषता दिखलाते हुए उसके वैराग्यकी प्रशंसा करते हैं—

स त्वं प्रियान् प्रियरूपाꣳश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।
नैताꣳ सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥ ३ ॥

नचिकेतः=हे नचिकेता ! (उन्हीं मनुष्योंमें); **सः त्वम्**=तुम (ऐसे निःस्पृह हो कि); **प्रियान् च**=प्रिय लगनेवाले और; **प्रियरूपान्**=अत्यन्त सुन्दर रूपवाले; **कामान्**=इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंको; **अभिध्यायन्**=भलीभाँति सोच-समझकर; **अत्यस्राक्षीः**=तुमने छोड़ दिया; **एताम् वित्तमयीम् सृङ्काम्**=इस सम्पत्तिरूप शृङ्खला (बेड़ी) को; **न अवाप्तः**=(तुम) नहीं प्राप्त हुए (इसके बन्धनमें नहीं फँसे); **यस्याम्**=जिसमें; **बहवः मनुष्याः**=बहुत-से मनुष्य; **मज्जन्ति**= फँस जाते हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या—यमराज कहते हैं—'हे नचिकेता ! तुम्हारी परीक्षा करके मैंने अच्छी तरह देख लिया कि तुम बड़े बुद्धिमान्, विवेकी तथा वैराग्यसम्पन्न हो । अपनेको बहुत बड़े चतुर, विवेकी और तार्किक माननेवाले लोग भी जिस चमक-दमकवाली सम्पत्तिके मोहजालमें फँस जाया करते हैं, उसे भी तुमने स्वीकार नहीं किया । मैंने बड़ी ही लुभावनी भाषामें तुम्हें बार-बार पुत्र, पौत्र, हाथी, घोड़े, गौएँ, धन, सम्पत्ति, भूमि आदि अनेकों दुष्प्राप्य और लोभनीय भोगोंका प्रलोभन दिया; इतना ही नहीं, स्वर्गके दिव्य भोगों और अप्रतिम सुन्दरी स्वर्गीय रमणियोंके चिर-भोगसुखका लालच दिया; परंतु तुमने सहज ही उन सबकी उपेक्षा कर दी । अतः तुम अवश्य ही परमात्मतत्त्वका श्रवण करनेके सर्वोत्तम अधिकारी हो ॥ ३ ॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥ ४ ॥

या अविद्या=जो कि अविद्या; **च विद्या इति ज्ञाता**=और विद्या नामसे विख्यात हैं; **एते**=ये दोनों; **दूरम् विपरीते**= परस्पर अत्यन्त विपरीत (और); **विषूची**=भिन्न-भिन्न फल देनेवाली हैं; **नचिकेतसम्**=तुम नचिकेताको; **विद्याभीप्सिनम् मन्ये**=मैं विद्याका ही अभिलाषी मानता हूँ, (क्योंकि); **त्वा बहवः कामाः**=तुमको बहुत-से भोग; **न अलोलुपन्त**= (किसी प्रकार भी) नहीं लुभा सके ॥ ४ ॥

व्याख्या—ये अविद्या और विद्या नामसे प्रसिद्ध दो साधन पृथक्-पृथक् फल देनेवाले हैं और परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हैं । जिसकी भोगोंमें आसक्ति है, वह कल्याण-साधनमें आगे नहीं बढ़ सकता और जो कल्याण-मार्गका पथिक है, वह भोगोंकी ओर दृष्टि नहीं डालता । वह सब प्रकारके भोगोंको दुःखरूप मानकर उनका परित्याग कर देता है । हे नचिकेता ! मैं मानता हूँ कि तुम विद्याके ही अभिलाषी हो; क्योंकि बहुत-से बड़े-बड़े भोग भी तुम्हारे मनमें किञ्चिन्मात्र भी लोभ नहीं उत्पन्न कर सके ॥ ४ ॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ५ ॥

अविद्यायाम् अन्तरे वर्तमानाः=अविद्याके भीतर स्थित होकर (भी); **स्वयं धीराः**=अपने-आपको बुद्धिमान् (और); **पण्डितम् मन्यमानाः**=विद्वान् माननेवाले; **मूढाः**=(भोगकी इच्छा करनेवाले) वे मूर्खलोग; **दन्द्रम्यमाणाः**=नाना योनियोंमें चारों ओर भटकते हुए; **(तथा) परियन्ति**=ठीक वैसे ही ठोकरें खाते भटकते रहते हैं; **यथा**=जैसे; **अन्धेन एव नीयमानाः**=अन्धे मनुष्यके द्वारा चलाये जानेवाले; **अन्धाः**=अन्धे (अपने लक्ष्यतक न पहुँचकर इधर-उधर भटकते और कष्ट भोगते हैं) ॥५॥

व्याख्या—जब अन्धे मनुष्यको मार्ग दिखलानेवाला भी अन्धा ही मिल जाता है, तब जैसे वह अपने अभीष्ट स्थान-पर नहीं पहुँच पाता, बीचमें ही ठोकरें खाता भटकता है और काँटे-कंकड़ोंसे बिंधकर या गहरे गड्ढे आदिमें गिरकर अथवा किसी चट्टान, दीवाल और पशु आदिसे टकराकर नाना प्रकारके कष्ट भोगता है । वैसे ही उस मूर्खको भी पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि विविध दुःखपूर्ण योनियोंमें एवं नरकादिमें प्रवेश करके अनन्त जन्मोंतक अनन्त यन्त्रणाओंका भोग करना पड़ता है, जो अपने-आपको ही बुद्धिमान् और विद्वान् समझता है, विद्या-बुद्धिके मिथ्याभिमानमें शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंकी कुछ भी परवा न करके उनकी अवहेलना करता और प्रत्यक्ष सुखरूप प्रतीत होनेवाले भोगोंको भोग करनेमें तथा उनके उपार्जनमें ही निरन्तर संलग्न रहकर मनुष्यजीवनका अमूल्य समय व्यर्थ नष्ट करता रहता है ॥ ५ ॥

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ ॥

वित्तमोहेन मूढम्=इस प्रकार सम्पत्तिके मोहसे मोहित; **प्रमाद्यन्तम् बालम्**=निरन्तर प्रमाद करनेवाले अज्ञानीको; **साम्परायः**=परलोक; **न प्रतिभाति**=नहीं सूझता; **अयम् लोकः**=वह समझता है कि यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला लोक ही सत्य है; **परः न अस्ति**=इसके सिवा दूसरा (स्वर्ग-नरक आदि लोक) कुछ भी नहीं है; **इति मानी**=इस प्रकार माननेवाला अभिमानी मनुष्य; **पुनः पुनः**=बार-बार; **मे वशम्**=मेरे (यमराजके) वशमें; **आपद्यते**=आता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस प्रकार मनुष्य-जीवनके महत्त्वको नहीं समझनेवाला अभिमानी मनुष्य सांसारिक भोग सम्पत्तिकी प्राप्तिके साधनरूप धनादिके मोहसे मोहित हुआ रहता है; अतएव भोगोंमें आसक्त होकर वह प्रमादपूर्वक मनमाना आचरण करने लगता

वर्णन करनेवाले पुरुषोंकी दुर्लभताका वर्णन करते हैं—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥

यः बहुभिः=जो (आत्मतत्त्व) बहुतोंको तो; **श्रवणाय अपि**=सुननेके लिये भी; **न लभ्यः**=नहीं मिलता; **यम्**=जिसको; **बहवः**=बहुत-से लोग; **शृण्वन्तः अपि**=सुनकर भी; **न विद्युः**=नहीं समझ सकते; **अस्य**=ऐसे इस गूढ़ आत्मतत्त्वका; **वक्ता आश्चर्यः**=वर्णन करनेवाला महापुरुष आश्चर्यमय है (बड़ा दुर्लभ है); **लब्धा कुशलः**=उसे प्राप्त करनेवाला भी बड़ा कुशल (सफलजीवन) कोई एक ही होता है; **कुशलानुशिष्टः**=और जिसे तत्त्वकी उपलब्धि हो गयी है, ऐसे ज्ञानी महापुरुषके द्वारा शिक्षा प्राप्त किया हुआ; **ज्ञाता**=आत्मतत्त्वका ज्ञाता भी; **आश्चर्यः**=आश्चर्यमय है (परम दुर्लभ है) ॥ ७ ॥

व्याख्या—आत्मतत्त्वकी दुर्लभता बतलानेके हेतुसे यमराजने कहा—नचिकेता ! आत्मतत्त्व कोई साधारण-सी बात नहीं है। जगत्‌में अधिकांश मनुष्य तो ऐसे हैं—जिनको आत्मकल्याणकी चर्चातक सुननेको नहीं मिलती। वे ऐसे वातावरणमें रहते हैं कि जहाँ प्रातःकाल जागनेसे लेकर रात्रिको सोनेतक केवल विषय-चर्चा ही हुआ करती है, जिससे उनका मन आठों पहर विषय-चिन्तनमें डूबा रहता है। उनके मनमें आत्मतत्त्व सुनने-समझनेकी कभी कल्पना ही नहीं आती, और भूले-भटके यदि ऐसा कोई प्रसङ्ग आ जाता है तो उन्हें विषय-सेवनसे अवकाश नहीं मिलता। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो सुनना-समझना उत्तम समझकर सुनते तो हैं, परंतु उनके विषयाभिभूत मनमें उसकी धारणा नहीं हो पाती अथवा मन्दबुद्धिके कारण वे उसे समझ नहीं पाते। जो तीक्ष्णबुद्धि पुरुष समझ लेते हैं, उनमें भी ऐसे आश्चर्यमय महापुरुष कोई विरले ही होते हैं, जो उस आत्मतत्त्वका यथार्थरूपसे वर्णन करनेवाले समर्थ वक्ता हों। एवं ऐसे पुरुष भी कोई एक ही होते हैं जिन्होंने आत्मतत्त्वको प्राप्त करके जीवनकी सफलता सम्पन्न की हो; और भलीभाँति समझाकर वर्णन करनेवाले सफलजीवन अनुभवी आत्मदर्शी आचार्यके द्वारा उपदेश प्राप्त करके उसके अनुसार मनन-निदिध्यासन करते-करते तत्त्वका साक्षात्कार करनेवाले पुरुष भी जगत्‌में कोई विरले ही होते हैं। अतः इसमें सर्वत्र ही दुर्लभता है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अब आत्मज्ञानकी दुर्लभताका कारण बताते हैं—

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ ॥

अवरेण नरेण प्रोक्तः=अल्पज्ञ मनुष्यके द्वारा बतलाये जानेपर; **बहुधा चिन्त्यमानः**=(और उसके अनुसार)

बहुत प्रकारसे चिन्तन किये जानेपर भी; **एषः**=यह आत्मतत्त्व; **सुविज्ञेयः**=सहज ही समझमें आ जाय; **न**=ऐसा नहीं है; **अनन्यप्रोक्ते**=किसी दूसरे ज्ञानी पुरुषके द्वारा उपदेश न किये जानेपर; **अत्र गतिः न अस्ति**=इस विषयमें मनुष्यका प्रवेश नहीं होता; **हि अणुप्रमाणात्**=क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म वस्तुसे भी; **अणीयान्**=अधिक सूक्ष्म है; **अतर्क्यम्**=(इसलिये) तर्कसे अतीत है ॥ ८ ॥

व्याख्या—प्रकृतिपर्यन्त जो भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है, यह आत्मतत्त्व उससे भी सूक्ष्म है। यह इतना गहन है कि जबतक इसे यथार्थरूपसे समझानेवाले कोई महापुरुष नहीं मिलते, तबतक मनुष्यका इसमें प्रवेश पाना अत्यन्त ही कठिन है। अल्पज्ञ—साधारण ज्ञानवाले मनुष्य यदि इसे बतलाते हैं और उसके अनुसार यदि कोई विविध प्रकारसे इसके चिन्तनका अभ्यास करता है, तो उसका आत्मज्ञानरूपी फल नहीं होता। आत्मतत्त्व तनिक-सा भी समझमें नहीं आता। न यह ऐसा ही है कि दूसरेसे सुने बिना केवल अपने आप तर्क-वितर्कयुक्त विचार करनेसे समझमें आ जाय। सुनना आवश्यक है; पर सुनना उनसे है, जो इसे भलीभाँति जाननेवाले महापुरुष हों। तभी इस तर्कसे सर्वथा अतीत विषयमें जानकारी हो सकती है ॥ ८ ॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥

प्रेष्ठ=हे प्रियतम !; **याम् त्वम् आपः**=जिसको तुमने पाया है; **एषा मतिः**=यह बुद्धि; **तर्केण न आपनेया**=तर्कसे नहीं मिल सकती (यह तो); **अन्येन प्रोक्ता एव**=दूसरेके द्वारा कही हुई ही; **सुज्ञानाय**=आत्मज्ञानमें निमित्त; **[भवति**=होती है;] **बत**=सचमुच ही; (तुम) **सत्यधृतिः**=उत्तम धैर्यवाले; **असि**=हो; **नचिकेतः**=हे नचिकेता ! (हम चाहते हैं कि); **त्वादृक्**=तुम्हारे-जैसे ही; **प्रष्टा**=पूछनेवाले; **नः भूयात्**=हमें मिला करें ॥ ९ ॥

व्याख्या—नचिकेताकी प्रशंसा करते हुए यमराज फिर कहते हैं कि हे प्रियतम ! तुम्हारी इस पवित्र मति—निर्मल निष्ठाको देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। ऐसी निष्ठा तर्कसे कभी नहीं मिल सकती। यह तो तभी उत्पन्न होती है, जब भगवत्कृपासे किसी महापुरुषका सङ्ग प्राप्त होता है और उनके द्वारा लगातार परमात्माके महत्त्वका विशद विवेचन सुननेका सौभाग्य मिलता है। ऐसी निष्ठा ही मनुष्यको आत्मज्ञानके लिये प्रयत्न करनेमें प्रवृत्त करती है। इतना प्रलोभन दिये जानेपर तुम अपनी निष्ठापर दृढ़ रहे—इससे यह सिद्ध है कि वस्तुतः तुम सच्ची धारणासे सम्पन्न हो। नचिकेता ! हमें तुम-जैसे ही पूछनेवाले जिज्ञासु मिला करें ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—अब यमराज अपने उदाहरणसे निष्काम भावकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥ १० ॥

अहम् जानामि=मैं जानता हूँ कि; **शेवधिः**=कर्मफलरूप निधि; **अनित्यम् इति**=अनित्य है; **हि अध्रुवैः**=क्योंकि अनित्य (विनाशशील) वस्तुओंसे; **तत् ध्रुवम्**=वह नित्य पदार्थ (परमात्मा); **न हि प्राप्यते**=नहीं मिल सकता; **ततः**=इसलिये; **मया**=मेरे द्वारा (कर्तव्यबुद्धिसे); **अनित्यैः द्रव्यैः**=अनित्य पदार्थोंके द्वारा; **नाचिकेतः**=नाचिकेत नामक; **अग्निः चितः**=अग्निका चयन किया गया (अनित्य भोगोंकी प्राप्तिके लिये नहीं, अतः उस निष्काम भावकी अपूर्व शक्तिसे मैं); **नित्यम्**=नित्य वस्तु परमात्माको; **प्राप्तवान्**=प्राप्त हो गया; **अस्मि**=हूँ ॥ १० ॥

व्याख्या—नचिकेता ! मैं इस बातको भलीभाँति जानता हूँ कि कर्मोंके फलस्वरूप इस लोक और परलोकके भोगसमूहकी जो निधि मिलती है, वह चाहे कितनी ही महान् क्यों न हो, एक दिन उसका विनाश निश्चित है; अतएव वह अनित्य है। और यह सिद्ध है कि अनित्य साधनोंसे नित्य पदार्थकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस रहस्यको जानकर ही मैंने नाचिकेत अग्निके चयनादिरूपसे जो कुछ यज्ञादि कर्म अनित्य वस्तुओंके द्वारा किये, सब-के-सब कामना और आसक्तिसे रहित होकर केवल कर्तव्यबुद्धिसे किये। इस निष्काम भावकी ही यह महिमा है कि अनित्य पदार्थोंके द्वारा यजन करके भी मैंने नित्य सुखरूप परमात्माको प्राप्त कर लिया* ॥ १० ॥

* कुछ आदरणीय महानुभावोंने इसका यह अर्थ किया है—

सम्बन्ध—नचिकेतामें वह निष्कामभाव पूर्णरूपसे है, इसलिये यमराज उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् ।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥ ११ ॥

नचिकेतः=हे नचिकेता !; **कामस्य आप्तिम्**=जिसमें सब प्रकारके भोग मिल सकते हैं; **जगतः प्रतिष्ठाम्**=जो जगत्का आधार; **क्रतोः अनन्त्यम्**=यज्ञका चिरस्थायी फल; **अभयस्य पारम्**=निर्भयताकी अवधि और; **स्तोममहत्**=स्तुति करनेयोग्य एवं महत्त्वपूर्ण है (तथा); **उरुगायम्**=वेदोंमें जिसके गुण नाना प्रकारसे गाये गये हैं; **प्रतिष्ठाम्**=(और) जो दीर्घकालतककी स्थितिसे सम्पन्न है, ऐसे स्वर्गलोकको; **दृष्ट्वा धृत्या**=देखकर भी तुमने धैर्यपूर्वक; **अत्यस्राक्षीः**=उसका त्याग कर दिया; [**अतः**=इसलिये मैं समझता हूँ कि]; **धीरः (असि)**=तुम बहुत ही बुद्धिमान् हो ॥ ११ ॥

व्याख्या—नचिकेता ! तुम सब प्रकारसे श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न और निष्काम हो । मैंने तुम्हारे सामने वरदानके रूपमें उस स्वर्गलोकको रक्खा, जो सब प्रकारके भोगोंसे परिपूर्ण, जगत्का आधारस्वरूप, यज्ञादि शुभकर्मोंका अन्तरहित फल, सब प्रकारके दुःख और भयसे रहित, स्तुति करनेयोग्य और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । वेदोंने भाँति-भाँतिसे उसकी शोभाके गुणगान किये हैं और वह दीर्घकालतक स्थित रहनेवाला है; तुमने उसके महत्त्वको समझकर भी बड़े धैर्यके साथ उसका परित्याग कर दिया, तुम्हारा मन तनिक भी उसमें आसक्त नहीं हुआ; तुम अपने निश्चयपर दृढ़ और अटल रहे । यह साधारण बात नहीं है । इसलिये मैं यह मानता हूँ कि तुम बड़े ही बुद्धिमान्, अनासक्त और आत्मतत्त्वको जाननेके अधिकारी हो* ॥११॥

सम्बन्ध—इस प्रकार नचिकेताके निष्कामभावको देखकर यमराजने निश्चय कर लिया कि यह परमात्माके तत्त्वज्ञानका यथार्थ अधिकारी है; अतः उसके अन्तःकरणमें परब्रह्म पुरुषोत्तमके तत्त्वकी जिज्ञासा उत्पन्न करनेके लिये यमराज अब दो मन्त्रोंमें परब्रह्म परमात्माकी महिमाका वर्णन करते हैं—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥

गूढम्=जो योगमायाके पर्देमें छिपा हुआ; **अनुप्रविष्टम्**=सर्वव्यापी; **गुहाहितम्**=सबके हृदयरूप गुफामें स्थित (अतएव); **गह्वरेष्ठम्**=संसाररूप गहन वनमें रहनेवाला; **पुराणम्**=सनातन है, ऐसे; **तम् दुर्दर्शम् देवम्**=उस कठिनतासे देखे जानेवाले परमात्मदेवको; **धीरः**=शुद्ध बुद्धियुक्त साधक; **अध्यात्मयोगाधिगमेन**=अध्यात्मयोगकी प्राप्तिके द्वारा; **मत्वा**=समझकर; **हर्षशोकौ जहाति**=हर्ष और शोकको त्याग देता है ॥ १२ ॥

व्याख्या—यह सम्पूर्ण जगत् एक अत्यन्त दुर्गम गहन वनके सदृश है, परंतु यह परब्रह्म परमेश्वरसे परिपूर्ण है । वह सर्वव्यापी इसमें सर्वत्र प्रविष्ट है (गीता ९ । ४) । वह सबके हृदयरूपी गुफामें स्थित है । (गीता १३ । १८; १५ । १५;

मैं जानता हूँ कि कर्मफलरूप निधि अनित्य है; क्योंकि अनित्य साधनोंसे परमात्मारूपी नित्य निधि नहीं मिल सकती । यह जानते हुए भी मैंने स्वर्गके साधनभूत नाचिकेत अग्निका अनित्य पदार्थोंके द्वारा चयन किया था; उसीसे मैंने अधिकारसम्पन्न होकर यह आपेक्षिक नित्य (दूसरे पदोंकी अपेक्षा अधिक कालतक रहनेवाला तथा श्रेष्ठ) यमराजका पद प्राप्त किया ।

* १—इसका अर्थ एक आदरणीय महानुभाव इस प्रकार करते हैं—

नचिकेता ! तुमने उस परमपदार्थ परमात्माके सम्मुख जगत्की चरम सीमाके भोग, प्रतिष्ठा, यज्ञका अनन्त फलरूप हिरण्यगर्भका पद, अभयकी मर्यादा (चिरकालस्थायी दीर्घजीवन), स्तुत्य और महान् अणिमादि ऐश्वर्य, शुभफल और अत्युत्तम गति—इन सभीको हेय समझकर धैर्यके द्वारा त्याग दिया है । इसलिये तुम बड़े ही बुद्धिमान् हो ।

२—एक दूसरे महानुभावने इसका अर्थ यों किया है—

जहाँ कामनाकी परिसमाप्ति हो जाती है, जो जगत्का आधार है, जहाँ ज्ञानकी अनन्तता है, जो अभयकी सीमा है, जो सबके द्वारा स्तुतिके योग्य है, जो सबसे महान् है, जिसकी सब स्तुति करते हैं और जो आप ही अपनी प्रतिष्ठा है, उस परमात्माको देखकर—उसको सामने रखकर बड़े धैर्यके साथ तुमने इस अनित्य निधिका त्याग कर दिया है; इसलिये तुम बड़े बुद्धिमान् हो ।

१८ । ६१) । इस प्रकार नित्य साथ रहनेपर भी लोग उसे सहजमें देख नहीं पाते; क्योंकि वह अपनी योगमायाके पर्देमें छिपा है (गीता ७ । २५), इसलिये अत्यन्त गुप्त है । उसके दर्शन बहुत ही दुर्लभ हैं । जो शुद्ध-बुद्धिसम्पन्न साधक अपने मन-बुद्धिको नित्य निरन्तर उसके चिन्तनमें संलग्न रखता है, वह उस सनातन देवको प्राप्त करके सदाके लिये हर्ष-शोकसे रहित हो जाता है । उसके अन्तःकरणमेंसे हर्ष-शोकादिके विकार समूल नष्ट हो जाते हैं* ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।
स मोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा विवृतꣳ सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥ १३ ॥

मर्त्यः=मनुष्य (जब); **एतत्**=इस; **धर्म्यम्**=धर्ममय (उपदेश) को; **श्रुत्वा**=सुनकर; **सम्परिगृह्य**=भलीभाँति ग्रहण करके; **प्रवृह्य**=(और) उसपर विवेकपूर्वक विचार करके; **एतम्**=इस; **अणुम्**=सूक्ष्म आत्मतत्त्वको; **आप्य**=जानकर अनुभव कर लेता है, (तब); **सः**=वह; **मोदनीयम्**=आनन्दस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमको; **लब्ध्वा**=पाकर; **मोदते हि**= आनन्दमें ही मग्न हो जाता है; **नचिकेतसम्**=तुम नचिकेताके लिये; **विवृतम् सद्म मन्ये**=(मैं) परमधामका द्वार खुला हुआ मानता हूँ ॥ १३ ॥

व्याख्या—इस अध्यात्मविषयक धर्ममय उपदेशको पहले तो अनुभवी महापुरुषके द्वारा अतिशय श्रद्धापूर्वक सुनना चाहिये, सुनकर उसका मनन करना चाहिये । तदनन्तर एकान्तमें उसपर विचार करके बुद्धिमें उसको स्थिर करना चाहिये । इस प्रकार साधन करनेपर जब मनुष्यको आत्मस्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है अर्थात् जब वह आत्माको तत्त्वसे समझ लेता है, तब आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है । उस आनन्दके महान् समुद्रको पाकर वह उसमें निमग्न हो जाता है । हे नचिकेता ! तुम्हारे लिये उस परमधामका द्वार खुला हुआ है । तुमको वहाँ जानेसे कोई रोक नहीं सकता । तुम ब्रह्म-प्राप्तिके उत्तम अधिकारी हो, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—यमराजके मुखसे परब्रह्म पुरुषोत्तमकी महिमा सुनकर और अपनेको उसका अधिकारी जानकर नचिकेताके मनमें परमात्मतत्त्वकी जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी । साथ ही उसे यमराजके द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर साधु-सम्मत सङ्कोच भी हुआ । इसलिये उसने यमराजसे बीचमें ही पूछा—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥

यत् तत्=जिस उस परमेश्वरको; **धर्मात् अन्यत्र**=धर्मसे अतीत; **अधर्मात् अन्यत्र**=अधर्मसे भी अतीत; **च**=तथा; **अस्मात् कृताकृतात्**=इस कार्य और कारणरूप सम्पूर्ण जगत्से भी; **अन्यत्र च**=भिन्न और; **भूतात् भव्यात्**= भूत, वर्तमान एवं भविष्यत्—तीनों कालोंसे तथा इनसे सम्बन्धित पदार्थोंसे भी; **अन्यत्र**=पृथक्; **पश्यसि**=(आप) जानते हैं; **तत्**=उसे; **वद**=बतलाइये ॥ १४ ॥

व्याख्या—नचिकेता कहता है—भगवन् ! आप यदि मुझपर प्रसन्न हैं तो धर्म और अधर्मके सम्बन्धसे रहित, कार्य-कारणरूप प्रकृतिसे पृथक् एवं भूत, वर्तमान और भविष्यत्—इन सबसे भिन्न जिस परमात्मतत्त्वको आप जानते हैं, उसे मुझको बतलाइये† ॥ १४ ॥

---

* १—कुछ आदरणीय महानुभावोंने इसका अर्थ यों किया है कि—

'उस दुर्दर्श, शब्दादि प्राकृत विषयविकाररूप विज्ञानसे छिपे हुए, बुद्धिमें स्थित, अनेक अनर्थोंसे व्याप्त देहमें स्थित, चिरन्तन—पुरातन देवको जो अध्यात्मयोगकी प्राप्तिके द्वारा जान लेता है, वह धीर पुरुष हर्ष-शोकका परित्याग कर देता है ।

२—प्रातःस्मरणीय भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्यजीने भी ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें इस प्रकरणको परमात्मविषयक माना है ('प्रकरणं चेदं परमात्मनः'—देखिये ब्रह्मसूत्र अध्याय १ पा० २, के १२ वें सूत्रका भाष्य) ।

† भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्यजीने इस प्रकरणको भी अपने ब्रह्मसूत्रभाष्यमें परमेश्वरविषयक ही माना है ('पृष्टं चेह ब्रह्म'—देखिये ब्रह्मसूत्र अध्याय १ पा० ३ के २४ वें सूत्रका भाष्य) ।

सम्बन्ध—नचिकेताके इस प्रकार पूछनेपर यमराज उस ब्रह्मतत्त्वके वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उपदेश आरम्भ करते हैं—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ ॥

सर्वे वेदाः=सम्पूर्ण वेद; **यत् पदम्**=जिस परम पदका; **आमनन्ति**=बारंबार प्रतिपादन करते हैं; **च**=और; **सर्वाणि**=सम्पूर्ण; **तपांसि**=तप; **यत्**=जिस पदका; **वदन्ति**=लक्ष्य कराते हैं अर्थात् वे जिसके साधन हैं; **यत् इच्छन्तः**=जिसको चाहनेवाले साधकगण; **ब्रह्मचर्यम्**=ब्रह्मचर्यका; **चरन्ति**=पालन करते हैं; **तत् पदम्**=वह पद; **ते**=तुम्हें; **संग्रहेण**=संक्षेपसे; **ब्रवीमि**=(मैं) बतलाता हूँ; (वह है) **ओम्**=ओम्; **इति**=ऐसा; **एतत्**=यह (एक अक्षर) ॥ १५ ॥

व्याख्या—यमराज यहाँ परब्रह्म पुरुषोत्तमको परमप्राप्य बतलाकर, उसके वाचक ॐकारको प्रतीकरूपसे उसका स्वरूप बतलाते हैं । वे कहते हैं कि समस्त वेद नाना प्रकार और नाना छन्दोंसे जिसका प्रतिपादन करते हैं, सम्पूर्ण तप आदि साधनोंका जो एकमात्र परम और चरम लक्ष्य है तथा जिसको प्राप्त करनेकी इच्छासे साधक निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान किया करते हैं, उस पुरुषोत्तम भगवान्‌का परमतत्त्व मैं तुम्हें संक्षेपमें बतलाता हूँ । वह है 'ॐ' यह एक अक्षर ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—नामरहित होनेपर भी परमात्मा अनेक नामोंसे पुकारे जाते हैं । उनके सब नामोंमेंसे 'ओम्' सर्वश्रेष्ठ माना गया है; अतः यहाँ नाम और नामीका अभेद मानकर 'प्रणव'को परब्रह्म पुरुषोत्तमके स्थानमें वर्णन करते हुए यमराज कहते हैं—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १६ ॥

एतत्=यह; **अक्षरम् एव हि ब्रह्म**=अक्षर ही तो ब्रह्म है (और); **एतत्**=यह; **अक्षरम् एव हि**=अक्षर ही; **परम्**=परब्रह्म है; **एतत् एव हि**=इसी; **अक्षरम्**=अक्षरको; **ज्ञात्वा**=जानकर; **यः**=जो; **यत्**=जिसको; **इच्छति**=चाहता है; **तस्य**=उसको; **तत्**=वही (मिल जाता है) ॥ १६ ॥

व्याख्या—यह अविनाशी प्रणव—ॐकार ही तो ब्रह्म (परमात्मा) का निर्विशेष स्वरूप है और यही स्वयं समग्र ब्रह्म परम पुरुष पुरुषोत्तम है अर्थात् उस ब्रह्म और परब्रह्म दोनोंका ही नाम ॐकार है । अतः इस तत्त्वको समझकर साधक इसके द्वारा दोनोंमेंसे किसी भी अभीष्ट रूपको प्राप्त कर सकता है * ॥ १६ ॥

एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥

एतत्=यही; **श्रेष्ठम्**=अत्युत्तम; **आलम्बनम्**=आलम्बन है; **एतत्**=यही (सबका); **परम् आलम्बनम्**=अन्तिम आश्रय है; **एतत्**=इस; **आलम्बनम्**=आलम्बनको; **ज्ञात्वा**=भलीभाँति जानकर; **ब्रह्मलोके**=ब्रह्मलोकमें; **महीयते**=(साधक) महिमान्वित होता है ॥ १७ ॥

व्याख्या—यह ॐकार ही परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारके आलम्बनोंमेंसे सबसे श्रेष्ठ आलम्बन है और यही चरम आलम्बन है । इससे परे और कोई आलम्बन नहीं है अर्थात् परमात्माके श्रेष्ठ नामकी शरण हो जाना ही उनकी प्राप्तिका सर्वोत्तम एवं अमोघ साधन है । इस रहस्यको समझकर जो साधक श्रद्धा और प्रेमपूर्वक इसपर निर्भर करता है, वह निस्सन्देह परमात्माकी प्राप्तिका परम गौरव लाभ करता है ॥ १७ ॥

---

* इस मन्त्रका यह अर्थ भी किया गया है—

यह अक्षर ही अपर ब्रह्म है और यह अक्षर ही परब्रह्म है । यह दोनोंका ही प्रतीक है । इसीको उपास्य ब्रह्म जानकर जो 'पर' अथवा—'अपर' जिस ब्रह्मकी इच्छा करता है वह उसीको प्राप्त हो जाता है । यदि उसका उपास्य परब्रह्म (निर्विशेष आत्मा) हो तो वह केवल जाना जा सकता है और यदि अपरब्रह्म (सविशेष सगुण) हो तो प्राप्त किया जा सकता है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार ॐकारको ब्रह्म और परब्रह्म इन दोनोंका प्रतीक बताकर अब नचिकेताके प्रश्नानुसार यमराज पहले आत्माके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ ॥

विपश्चित्=नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा; **न जायते**=न तो जन्मता है; **वा न म्रियते**=और न मरता ही है; **अयम् न**=यह न तो स्वयं; **कुतश्चित्**=किसीसे हुआ है; [**न**=न (इससे);] **कश्चित्**=कोई भी; **बभूव**=हुआ है अर्थात् यह न तो किसीका कार्य है और न कारण ही है; **अयम्**=यह; **अजः**=अजन्मा; **नित्यः**=नित्य; **शाश्वतः**=सदा एकरस रहनेवाला (और); **पुराणः**=पुरातन है अर्थात् क्षय और वृद्धिसे रहित है; **शरीरे हन्यमाने**=शरीरके नाश किये जानेपर भी (इसका); **न हन्यते**=नाश नहीं किया जा सकता* ॥ १८ ॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

चेत्=यदि कोई; **हन्ता**=मारनेवाला व्यक्ति; **हन्तुम्**=अपनेको मारनेमें समर्थ; **मन्यते**=मानता है (और); **चेत्**=यदि; **हतः**=(कोई) मारा जानेवाला व्यक्ति; **हतम्**=अपनेको मारा गया; **मन्यते**=समझता है (तो); **तौ उभौ**=वे दोनों ही; **न विजानीतः**=(आत्मस्वरूपको) नहीं जानते (क्योंकि); **अयम्**=यह आत्मा; **न हन्ति**=न तो (किसीको) मारता है (और); **न हन्यते**=न मारा (ही) जाता है† ॥ १९ ॥

व्याख्या—यमराज यहाँ आत्माके शुद्ध स्वरूपका और उसकी नित्यताका निरूपण करते हैं; क्योंकि जबतक साधकको अपनी नित्यता और निर्विकारताका अनुभव नहीं हो जाता एवं वह जबतक अपनेको शरीर आदि अनित्य वस्तुओंसे भिन्न नहीं समझ लेता, तबतक इन अनित्य पदार्थोंसे उसका वैराग्य होकर उसके अन्तःकरणमें नित्य तत्त्वकी अभिलाषा उत्पन्न नहीं होती। उसको यह दृढ़ अनुभूति होनी चाहिये कि जीवात्मा नित्य चेतन ज्ञानस्वरूप है; अनित्य, विनाशी, जड शरीर और भोगोंसे वास्तवमें इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह अनादि और अनन्त है, न तो इसका कोई कारण है और न कार्य ही; अतः यह जन्म-मरणसे सर्वथा रहित, सदा एकरस, सर्वथा निर्विकार है। शरीरके नाशसे इसका नाश नहीं होता। जो लोग इसको मारनेवाला या मरनेवाला मानते हैं, वे वस्तुतः आत्मस्वरूपको जानते ही नहीं; वे सर्वथा भ्रान्त हैं। उनकी बातोंपर ध्यान नहीं देना चाहिये। वस्तुतः आत्मा न तो किसीको मारता है और न इसे कोई मार ही सकता है।

साधकको शरीर और भोगोंकी अनित्यता और अपने आत्माकी नित्यतापर विचार करके, इन अनित्य भोगोंसे सुखकी आशाका त्याग करके सदा अपने साथ रहनेवाले नित्य सुखस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्राप्त करनेका अभिलाषी बनना चाहिये ॥ १८-१९ ॥

---

* गीतामें इस मन्त्रके भावको इस प्रकार समझाया गया है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ (२ । २०)

'यह आत्मा किसी भी कालमें न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है। क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

† गीतामें इस मन्त्रके भावको और भी स्पष्टरूपसे व्यक्त किया गया है—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् । उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ (२ । १९)

'जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मारा गया मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है, न किसीके द्वारा मारा जाता है।'

सम्बन्ध—इस प्रकार आत्मतत्त्वके वर्णनद्वारा नचिकेताके अन्तःकरणमें परब्रह्म पुरुषोत्तमके तत्त्वकी जिज्ञासा उत्पन्न करके यमराज अब परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २० ॥

अस्य=इस; **जन्तोः**=जीवात्माके; **गुहायाम्**=हृदयरूप गुफामें; **निहितः**=रहनेवाला; **आत्मा**=परमात्मा; **अणोः अणीयान्**=सूक्ष्मसे अति सूक्ष्म (और); **महतः महीयान्**=महान्‌से भी महान् है; **आत्मनः तम् महिमानम्**=परमात्माकी उस महिमाको; **अक्रतुः**=कामनारहित (और); **वीतशोकः**=चिन्तारहित कोई बिरला साधक; **धातुप्रसादात्**=सर्वाधार परब्रह्म परमेश्वरकी कृपासे ही; **पश्यति**=देख पाता है ॥ २० ॥

व्याख्या—इससे पहले जीवात्माके शुद्ध स्वरूपका वर्णन किया गया है, उसीको इस मन्त्रमें 'जन्तु' नाम देकर उसकी बद्धावस्था व्यक्त की गयी है। भाव यह कि यद्यपि परब्रह्म पुरुषोत्तम उस जीवात्माके अत्यन्त समीप—जहाँ यह स्वयं रहता है, वहीं हृदयमें छिपे हुए हैं, तो भी यह उनकी ओर नहीं देखता। मोहवश भोगोंमें भूला रहता है। इसी कारण यह 'जन्तु' है—मनुष्य-शरीर पाकर भी कीट-पतङ्ग आदि तुच्छ प्राणियोंकी भाँति अपना दुर्लभ जीवन व्यर्थ नष्ट कर रहा है। जो साधक पूर्वोक्त विवेचनके अनुसार अपने-आपको नित्य चेतनस्वरूप समझकर सब प्रकारके भोगोंकी कामनासे रहित और शोकरहित हो जाता है, वह परमात्माकी कृपासे यह अनुभव करता है कि परब्रह्म पुरुषोत्तम अणुसे भी अणु और महान्‌से भी महान्—सर्वव्यापी हैं और इस प्रकार उनकी महिमाको समझकर उनका साक्षात्कार कर लेता है। (यहाँ 'धातुप्रसादात्'का अर्थ 'परमेश्वरकी कृपा' किया गया है। 'धातु' शब्दका अर्थ सर्वधारक परमात्मा माना गया है। विष्णुसहस्रनाममें भी 'अनादिनिधनो धाता विधाता धातुरुत्तमः'—'धातु'को भगवान्‌का एक नाम माना गया है* ॥ २० ॥

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ २१ ॥

आसीनः=(वह परमेश्वर) बैठा हुआ ही; **दूरम् व्रजति**=दूर पहुँच जाता है; **शयानः**=सोता हुआ (भी); **सर्वतः**=सब ओर; **याति**=चलता रहता है; **तम् मदामदम् देवम्**=उस ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त न होनेवाले देवको; **मदन्यः कः**=मुझसे भिन्न दूसरा कौन; **ज्ञातुम्**=जाननेमें; **अर्हति**=समर्थ है ॥ २१ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्मा अचिन्त्यशक्ति हैं और विरुद्धधर्माश्रय हैं। एक ही समयमें उनमें विरुद्ध धर्मोंकी लीला होती है। इसीसे वे एक ही साथ सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान्-से-महान् बताये गये हैं। यहाँ यह कहते हैं कि वे परमेश्वर अपने नित्य परमधाममें विराजमान रहते हुए ही भक्ताधीनतावश उनकी पुकार सुनते ही दूर-से-दूर चले जाते हैं। परम धाममें निवास करनेवाले पार्षद भक्तोंकी दृष्टिमें वहाँ शयन करते हुए ही वे सब ओर चलते रहते हैं। अथवा वे परमात्मा सदा-सर्वदा सर्वत्र स्थित हैं। उनकी सर्वव्यापकता ऐसी है कि बैठे भी वही हैं, दूर देशमें चलते भी वही हैं, सोते भी वही हैं और सब ओर जाते-आते भी वही हैं। वे सर्वत्र सब रूपोंमें नित्य अपनी महिमामें स्थित हैं। इस प्रकार अलौकिक परमैश्वर्यस्वरूप होनेपर भी उन्हें अपने ऐश्वर्यका तनिक भी अभिमान नहीं है। उन परमदेवको जाननेका अधिकारी उनका कृपापात्र मेरे (आत्मतत्त्वज्ञ यमराजके सदृश अधिकारियोंके) सिवा दूसरा कौन हो सकता है?† ॥ २१ ॥

---

* एक आदरणीय महानुभावने इसका निम्नलिखित अर्थ करते हुए 'धातुप्रसादात्'का अर्थ 'इन्द्रियोंको निर्मलता' माना है—

'.....यह आत्मा ही सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर और महान्-से-महान् है; क्योंकि नाम-रूपवाली सभी वस्तुएँ इसकी उपाधि हैं। बाह्य विषयोंसे उपरत दृष्टिवाला निष्काम साधक अपनी इन्द्रियों—जो शरीरको धारण करनेके कारण 'धातु' कहलाती हैं—के प्रसाद—निर्मलतासे उस आत्माकी कर्मनिमित्तक वृद्धि और क्षयसे रहित महिमाको देखता है, अर्थात् इस बातको साक्षात् जानता है कि यह मैं हूँ, तदनन्तर वह शोकरहित हो जाता है।

† कुछ आदरणीय महानुभावोंने ऐसा अर्थ किया है—

वह अचल होकर भी दूर चला जाता है तथा शयन करता हुआ भी सब ओर पहुँचता है, इस प्रकार वह आत्मा समद और

सम्बन्ध—अब इस प्रकार उन परमेश्वरकी महिमाको समझनेवाले पुरुषकी पहचान बताते हैं—

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २२ ॥

अनवस्थेषु=(जो) स्थिर न रहनेवाले (विनाशशील); **शरीरेषु**=शरीरोंमें; **अशरीरम्**=शरीररहित (एवं); **अवस्थितम्**=अविचलभावसे स्थित है; **महान्तम्**=(उस) महान्; **विभुम्**=सर्वव्यापी; **आत्मानम्**=परमात्माको; **मत्वा**=जानकर; **धीरः**=बुद्धिमान् महापुरुष; **न शोचति**=(कभी किसी भी कारणसे) शोक नहीं करता ॥ २२ ॥

व्याख्या—प्राणियोंके शरीर अनित्य और विनाशशील हैं, इनमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है । इन सबमें समभावसे स्थित परब्रह्म पुरुषोत्तम इन शरीरोंसे सर्वथा रहित, अशरीरी हैं । इसी कारण वे नित्य और अचल हैं । प्राकृत देश-काल-गुणादिसे अपरिच्छिन्न उन महान्, सर्वव्यापी, सबके आत्मरूप परमेश्वरको जान लेनेके बाद वह ज्ञानी महापुरुष कभी किसी भी कारणसे किञ्चिन्मात्र भी शोक नहीं करता । यही उसकी पहचान है* ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—अब यह बतलाते हैं कि वे परमात्मा अपने पुरुषार्थसे नहीं मिलते, वरं उसीको मिलते हैं, जिसको वे स्वीकार कर लेते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम् ॥ २३ ॥

अयम्=यह; **आत्मा न**=परब्रह्म परमात्मा न तो; **प्रवचनेन**=प्रवचनसे; **न मेधया**=न बुद्धिसे (और); **न बहुना श्रुतेन**=न बहुत सुननेसे ही; **लभ्यः**=प्राप्त हो सकता है; **यम्**=जिसको; **एषः**=यह; **वृणुते**=स्वीकार कर लेता है; **तेन एव लभ्यः**=उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है (क्योंकि); **एषः आत्मा**=यह परमात्मा; **तस्य**=उसके लिये; **स्वाम् तनूम्**=अपने यथार्थ स्वरूपको; **विवृणुते**=प्रकट कर देता है ॥ २३ ॥

व्याख्या—जिन परमेश्वरकी महिमाका वर्णन मैं कर रहा हूँ, वे न तो उनको मिलते हैं, जो शास्त्रोंको पढ़-सुनकर लच्छेदार भाषामें परमात्म-तत्त्वका नाना प्रकारसे वर्णन करते हैं; न उन तर्कशील बुद्धिमान् मनुष्योंको ही मिलते हैं, जो बुद्धिके अभिमानमें प्रमत्त हुए तर्कके द्वारा विवेचन करके उन्हें समझनेकी चेष्टा करते हैं; और न उनको ही मिलते हैं, जो परमात्माके विषयमें बहुत कुछ सुनते रहते हैं । वे तो उसीको प्राप्त होते हैं, जिसको वे स्वयं स्वीकार कर लेते हैं और वे स्वीकार उसीको करते हैं, जिसको उनके लिये उत्कट इच्छा होती है, जो उनके बिना रह नहीं सकता । परंतु जो अपनी बुद्धि या साधनपर भरोसा न करके केवल उनकी कृपाकी ही प्रतीक्षा करता रहता है, ऐसे कृपा-निर्भर साधकपर परमात्मा कृपा करते हैं और योगमायाका परदा हटाकर उसके सामने अपने सच्चिदानन्दघन स्वरूपमें प्रकट हो जाते हैं† ॥ २३ ॥

सम्बन्ध—अब यह बतलाते हैं कि परमात्मा किसको प्राप्त नहीं होते—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २४ ॥

अमद—हर्षसहित और हर्षरहित—इस प्रकार विरुद्ध धर्मवाला है । उस मदयुक्त और मदरहित देवको मेरे सिवा और कौन जान सकता है ?

* इस मन्त्रका यह अर्थ भी माना गया है—

आत्मा अपने स्वरूपसे आकाशके समान है, अतः देव, पितृ और मनुष्यादि शरीरोंमें शरीररहित है, अवस्थितिरहित—अनित्योंमें अवस्थित नित्य अविकारी है; उस महान् और सर्वव्यापक आत्माको 'यही मैं हूँ' ऐसा जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ।

† इस मन्त्रका यह अर्थ भी माना गया है—

यह आत्मा वेदोंके प्रवचनसे विदित होने योग्य नहीं है, न मेधा—ग्रन्थ-धारणकी शक्तिसे ही, और न केवल बहुत श्रवण करनेसे

प्रज्ञानेन=सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा; **अपि**=भी; **एनम्**=इस परमात्माको; **न दुश्चरितात् अविरतः आप्नुयात्**=न तो वह मनुष्य प्राप्त कर सकता है, जो बुरे आचरणोंसे निवृत्त नहीं हुआ है; **न अशान्तः**=न वह प्राप्त कर सकता है, जो अशान्त है; **न असमाहितः**=न वह कि जिसके मन, इन्द्रियाँ संयमित नहीं हैं; **वा**=और; **न अशान्तमानसः (आप्नुयात्)**=न वही प्राप्त करता है, जिसका मन चञ्चल है ॥ २४ ॥

व्याख्या—जो मनुष्य बुरे आचरणोंसे घृणा करके उनका त्याग नहीं कर देता, जिसका मन परमात्माको छोड़कर दिन-रात सांसारिक भोगोंमें भटकता रहता है, परमात्मापर विश्वास न होनेके कारण जो सदा अशान्त रहता है, जिसका मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ वशमें की हुई नहीं हैं; ऐसा मनुष्य सूक्ष्म बुद्धिद्वारा आत्मविचार करते रहनेपर भी परमात्माको नहीं पा सकता। क्योंकि वह परमात्माकी असीम कृपाका आदर नहीं करता, उसकी अवहेलना करता रहता है; अतः वह उनकी कृपाका अधिकारी नहीं होता ॥ २४ ॥

सम्बन्ध—उस परब्रह्म परमेश्वरके तत्त्वको सुनकर और बुद्धिद्वारा विचार करके भी मनुष्य उसे क्यों नहीं जान सकता ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ २५ ॥

यस्य=(संहारकालमें) जिस परमेश्वरके; **ब्रह्म च क्षत्रम् च उभे**=ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये दोनों ही अर्थात् सम्पूर्ण प्राणिमात्र; **ओदनः**=भोजन; **भवतः**=बन जाते हैं (तथा); **मृत्युः यस्य**=सबका संहार करनेवाली मृत्यु (भी) जिसका; **उपसेचनम्**=उपसेचन (भोज्य वस्तुके साथ लगाकर खानेका व्यञ्जन, तरकारी आदि); [**भवति** =बन जाती है;] **सः यत्र**=वह परमेश्वर जहाँ (और); **इत्था**=जैसा है, यह ठीक-ठीक; **कः वेद**=कौन जानता है ॥ २५ ॥

व्याख्या—मनुष्य-शरीरमें भी धर्मशील ब्राह्मण और धर्मरक्षक क्षत्रियका शरीर परमात्माकी प्राप्तिके लिये अधिक उत्तम माना गया है; किंतु वे भी उन कालस्वरूप परमेश्वरके भोजन बन जाते हैं, फिर अन्य साधारण मनुष्य-शरीरोंकी तो बात ही क्या है। जो सबको मारनेवाले मृत्युदेव हैं, वे भी उन परमेश्वरके उपसेचन अर्थात् भोजनके साथ लगाकर खाये जानेवाले व्यञ्जन—चटनी-तरकारी आदिकी भाँति हैं। ऐसे ब्राह्मण-क्षत्रियादि समस्त प्राणियोंके और स्वयं मृत्युके संहारक अथवा आश्रयदाता परमेश्वरको भला, कोई भी मनुष्य इन अनित्य मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा अन्य ज्ञेय वस्तुओंकी भाँति कैसे जान सकता है। किसकी सामर्थ्य है, जो सबके जाननेवालेको जान ले। अतः (पूर्वोक्त २३ वें मन्त्रके अनुसार) जिसको परमात्मा अपनी कृपाका पात्र बनाकर अपना तत्त्व समझाना चाहते हैं, वही उनको जान सकता है। अपनी शक्तिसे उन्हें कोई भी यथार्थ रूपमें नहीं जान सकता, क्योंकि वे लौकिक ज्ञेय वस्तुओंकी भाँति बुद्धिके द्वारा जाननेमें आनेवाले नहीं हैं ॥ २५ ॥

॥ द्वितीय वल्ली समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय वल्ली

सम्बन्ध—द्वितीय वल्लीमें जीवात्मा और परमात्माके स्वरूपका पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया और उनको जानकर परब्रह्मको प्राप्त कर लेनेका फल भी बतलाया गया। संक्षेपमें यह बात भी कही गयी कि जिसको वे परमात्मा स्वीकार करते हैं, वही उन्हें जान सकता है; परंतु परमात्माको प्राप्त करनेके साधनोंका वहाँ स्पष्टरूपसे वर्णन नहीं हुआ; अतः साधनोंका वर्णन करनेके लिये तृतीय वल्लीका आरम्भ करते हुए यमराज पहले मन्त्रमें जीवात्मा और परमात्माका नित्य सम्बन्ध और निवास-स्थान बतलाते हैं—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥

ही जाना जा सकता है। साधक जिस आत्माका वरण करता है, उस वरण करनेवाले आत्माके द्वारा यह आत्मा स्वयं ही प्राप्त किया जाता है। उस आत्मकामीके प्रति वह आत्मा अपने पारमार्थिक स्वरूपको यथार्थ रूपमें प्रकट कर देता है।

सुकृतस्य लोके=शुभ कर्मोंके फलस्वरूप मनुष्य-शरीरमें; **परमे परार्धे**=परब्रह्मके उत्तम निवास-स्थान (हृदय-आकाश) में; **गुहाम् प्रविष्टौ**=बुद्धिरूप गुफामें छिपे हुए; **ऋतम् पिबन्तौ**=सत्यका पान करनेवाले (दो हैं); **छायातपौ**= (वे) छाया और आतपकी भाँति परस्पर भिन्न हैं; (यह बात) **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महापुरुष; **वदन्ति**=कहते हैं; **च ये**=तथा जो; **त्रिणाचिकेताः**=तीन बार नाचिकेत अग्निका चयन कर लेनेवाले (और); **पञ्चाग्नयः**=पञ्चाग्निसम्पन्न गृहस्थ हैं; [**ते वदन्ति**=वे भी यही बात कहते हैं] ॥ १ ॥

व्याख्या—यमराजने यहाँ जीवात्मा और परमात्माके नित्य सम्बन्धका परिचय देते हुए कहा कि ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महानुभाव तथा यज्ञादि शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले आस्तिक सज्जन—सभी एक स्वरसे यही कहते हैं कि यह मनुष्य-शरीर बहुत ही दुर्लभ है। पूर्वजन्मार्जित अनेकों पुण्यकर्मोंको निमित्त बनाकर परम कृपालु परमात्मा कृपापरवश हो जीवको उसके कल्याण-सम्पादनके लिये यह श्रेष्ठ शरीर प्रदान करते हैं और फिर उस जीवात्माके साथ ही स्वयं भी उसीके हृदयके अन्तस्तलमें—परब्रह्मके निवासस्वरूप श्रेष्ठ स्थानमें अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हो रहते हैं। इतना ही नहीं, वे दोनों साथ-ही-साथ वहाँ सत्यका पान करते हैं—शुभ कर्मोंके अवश्यम्भावी सत्फलका भोग करते हैं (गीता ५-२९)। अवश्य ही दोनोंके भोगमें बड़ा अन्तर है। परमात्मा असंग और अभोक्ता हैं; उनका प्रत्येक प्राणीके हृदयमें निवास करके उसके शुभकर्मोंके फलका उपभोग करना उनकी वैसी ही लीला है, जैसी अजन्मा होकर जन्म ग्रहण करना। इसलिये यह कहा जाता है कि वे भोगते हुए भी वस्तुतः नहीं भोगते। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि परमात्मा सत्यको पिलाते हैं—शुभ कर्मका फल भुगताते हैं, और जीवात्मा पीता है—फल भोगता है। परंतु जीवात्मा फलभोगके समय असंग नहीं रहता। वह अभिमानवश उसमें सुखका उपभोग करता है। इस प्रकार साथ रहनेपर भी जीवात्मा और परमात्मा दोनों छाया और धूपकी भाँति परस्पर भिन्न हैं। जीवात्मा छायाकी भाँति अल्पप्रकाश—अल्पज्ञ है, और परमात्मा धूपकी भाँति पूर्णप्रकाश—सर्वज्ञ। परन्तु जीवात्मामें जो कुछ अल्पज्ञान है, वह भी परमात्माका ही है, जैसे छायामें अल्पप्रकाश पूर्णप्रकाशरूप धूपका ही होता है।*

इस रहस्यको समझकर मनुष्यको अपनेमें किसी प्रकारकी भी शक्ति-सामर्थ्यका अभिमान नहीं करना चाहिये, और अन्तर्यामीरूपसे सदा-सर्वदा अपने हृदयमें रहनेवाले परम आत्मीय परम कृपालु परमात्माका नित्य निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये ॥ १ ॥

सम्बन्ध—परमात्माको जानने और प्राप्त करनेका जो सर्वोत्तम साधन 'उन्हें जानने और पानेकी शक्ति प्रदान करनेके लिये उन्हींसे प्रार्थना करना है' इस बातको यमराज स्वयं प्रार्थना करते हुए बतलाते हैं—

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतꣳ शकेमहि ॥ २ ॥

ईजानानाम्=यज्ञ करनेवालोंके लिये; **यः सेतुः**=जो दुःख-समुद्रसे पार पहुँचा देने योग्य सेतु है; (**तम्**) **नाचिकेतम्**= उस नाचिकेत अग्निको (और); **पारम् तितीर्षताम्**=संसार-समुद्रसे पार होनेकी इच्छावालोंके लिये; **यत् अभयम्**=जो भयरहित पद है; (**तत्**) **अक्षरम्**=उस अविनाशी; **परम् ब्रह्म**=परब्रह्म पुरुषोत्तमको; **शकेमहि**=जानने और प्राप्त करनेमें भी हम समर्थ हों ॥ २ ॥

व्याख्या—यमराज कहते हैं कि हे परमात्मन्! आप हमें वह सामर्थ्य दीजिये, जिससे हम निष्कामभावसे यज्ञादि शुभ कर्म करनेकी विधिको भलीभाँति जान सकें और आपके आज्ञापालनार्थ उनका अनुष्ठान करके आपकी प्रसन्नता प्राप्त कर सकें। तथा जो संसार-समुद्रसे पार होनेकी इच्छावाले विरक्त पुरुषोंके लिये निर्भयपद है, उस परम अविनाशी आप परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्‌को भी जानने और प्राप्त करनेके योग्य बन जायँ।

इस मन्त्रमें यमराजने परमात्मासे उन्हें जाननेकी शक्ति प्रदान करनेके लिये प्रार्थना करके यह भाव दिखलाया है कि परब्रह्म पुरुषोत्तमको जानने और प्राप्त करनेका सबसे उत्तम और सरल साधन उनसे प्रार्थना करना ही है ॥ २ ॥

---

* इस मन्त्रमें 'जीवात्मा' और 'परमात्मा'को ही गुहामें प्रविष्ट बतलाया गया है, 'बुद्धि' और 'जीव'को नहीं। 'गुहाहितत्वं तु····· परमात्मन एव दृश्यते' (देखिये—ब्रह्मसूत्र अध्याय १ पाद २ सू० ११ का शाङ्करभाष्य)।

सम्बन्ध—अब उस परब्रह्म पुरुषोत्तमके परमधाममें किन साधनोंसे सम्पन्न मनुष्य पहुँच सकता है, यह बात रथ और रथी-के रूपककी कल्पना करके समझायी जाती है—

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥

आत्मानम्=(हे नचिकेता ! तुम) जीवात्माको तो; **रथिनम्**=रथका स्वामी (उसमें बैठकर चलनेवाला); **विद्धि**=समझो; **तु**=और; **शरीरम् एव**=शरीरको ही; **रथम्**=रथ (समझो); **तु बुद्धिम्**=तथा बुद्धिको; **सारथिम्**=सारथि (रथको चलानेवाला); **विद्धि**=समझो; **च मनः एव**=और मनको ही; **प्रग्रहम्**=लगाम (समझो) ॥ ३ ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥

मनीषिणः=ज्ञानीजन (इस रूपकमें); **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियोंको; **हयान्**=घोड़े; **आहुः**=बतलाते हैं (और); **विषयान्**=विषयोंको; **तेषु गोचरान्**=उन घोड़ोंके विचरनेका मार्ग (बतलाते हैं); **आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्**=(तथा) शरीर, इन्द्रिय और मन—इन सबके साथ रहनेवाला जीवात्मा ही; **भोक्ता**=भोक्ता है; **इति आहुः**=यों कहते हैं ॥ ४ ॥

व्याख्या—जीवात्मा परमात्मासे बिछुड़ा हुआ है अनन्त कालसे, वह अनवरत संसाररूपी बीहड़ वनमें इधर-उधर सुखकी खोजमें भटक रहा है । सुख समझकर जहाँ भी जाता है, वहीं धोखा खाता है । सर्वथा साधनहीन और दयनीय है । जबतक वह परम सुखस्वरूप परमात्माके समीप नहीं पहुँच जाता, तबतक उसे सुख-शान्ति कभी नहीं मिल सकती । उसकी इस दयनीय दशाको देखकर दयामय परमात्माने उसे मानव-शरीररूपी सुन्दर सर्वसाधनसम्पन्न रथ दिया । इन्द्रियरूप बलवान् घोड़े दिये । उनके मनरूपी लगाम लगाकर उसे बुद्धिरूपी सारथिके हाथोंमें सौंप दिया और जीवात्माको उस रथमें बैठाकर—उसका स्वामी बनाकर यह बतला दिया कि वह निरन्तर बुद्धिको प्रेरणा करता रहे और परमात्माकी ओर ले जानेवाले भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम आदिके श्रवण, कीर्तन, मननादि विषयरूप प्रशस्त और सहज मार्गपर चलकर शीघ्र परमात्माके धाममें पहुँच जाय ।

जीवात्मा यदि ऐसा करता तो वह शीघ्र ही परमात्मातक पहुँच जाता; परंतु वह अपने परमानन्दमय भगवत्प्राप्तिरूप इस महान् लक्ष्यको मोहवश भूल गया । उसने बुद्धिको प्रेरणा देना बंद कर दिया, जिससे बुद्धिरूपी सारथि असावधान हो गया, उसने मनरूपी लगामको इन्द्रियरूपी दुष्ट घोड़ोंकी इच्छापर छोड़ दिया । परिणाम यह हुआ कि जीवात्मा विषयप्रवण इन्द्रियोंके अधीन होकर सतत संसार-चक्रमें डालनेवाले लौकिक शब्द-स्पर्शादि विषयोंमें भटकने लगा । अर्थात् वह जिन शरीर, इन्द्रिय, मनके सहयोगसे भगवान्‌को प्राप्त करता, उन्हींके साथ युक्त होकर वह विषय-विषके उपभोगमें लग गया ॥ ३-४ ॥

सम्बन्ध—परमात्माकी ओर न जाकर उसकी इन्द्रियाँ लौकिक विषयोंमें क्यों लग गयीं, इसका कारण बतलाते हैं—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥

यः सदा=जो सदा; **अविज्ञानवान् तु**=विवेकहीन बुद्धिवाला (और); **अयुक्तेन**=अवशीभूत (चञ्चल); **मनसा**=मनसे (युक्त); **भवति**=रहता है; **तस्य**=उसकी; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियाँ; **सारथेः**=असावधान सारथिके; **दुष्टाश्वाः इव**=दुष्ट घोड़ोंकी भाँति; **अवश्यानि**=वशमें न रहनेवाली; [**भवन्ति**=हो जाती हैं] ॥ ५ ॥

व्याख्या—रथको घोड़े ही चलाते हैं; परंतु उन घोड़ोंको चाहे जिस ओर, चाहे जिस मार्गपर ले जाना—लगाम हाथमें थामे हुए बुद्धिमान् सारथिका काम है । इन्द्रियरूपी बलवान् और दुर्धर्ष घोड़े स्वाभाविक ही आपातरमणीय विषयोंसे भरे संसाररूप हरी-हरी घासके जंगलकी ओर मनमाना दौड़ना चाहते हैं; परंतु यदि बुद्धिरूप सारथि मनरूपी लगामको जोरसे

खींचकर उन्हें अपने वशमें कर लेता है तो फिर घोड़े मनरूपी लगामके सहारे बिना चाहे जिस ओर नहीं जा सकते। यह सभी जानते हैं कि इन्द्रियाँ विषयोंका ग्रहण तभी कर सकती हैं, जब मन उनके साथ होता है। घोड़े उसी ओर दौड़ते हैं, जिस ओर लगामका सहारा होता है; पर इस लगामको ठीक रखना सारथिकी बल-बुद्धिपर निर्भर करता है। यदि बुद्धिरूपी सारथि विवेकयुक्त, स्वामीका आज्ञाकारी, लक्ष्यपर सदा स्थिर, बलवान्, मार्गके ज्ञानसे सम्पन्न और इन्द्रियरूपी घोड़ोंको चलानेमें दक्ष नहीं होता तो इन्द्रियरूपी दुष्ट घोड़े उसके वशमें न रहकर लगामके सहारे सारे रथको ही अपने वशमें कर लेते हैं और फलस्वरूप रथी और सारथिसमेत उस रथको लिये हुए गहरे गड्ढेमें गिर पड़ते हैं! बुद्धिके नियन्त्रणसे रहित इन्द्रियाँ उत्तरोत्तर उच्छृङ्खल ही होती चली जाती हैं ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—अब स्वयं सावधान रहकर अपनी बुद्धिको विवेकशील बनानेसे होनेवाला लाभ बतलाते हैं—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥

तु यः सदा=परंतु जो सदा; **विज्ञानवान्**=विवेकयुक्त बुद्धिवाला (और); **युक्तेन**=वशमें किये हुए; **मनसा**=मनसे सम्पन्न; **भवति**=रहता है; **तस्य**=उसकी; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियाँ; **सारथेः**=सावधान सारथिके; **सदश्वाः इव**=अच्छे घोड़ोंकी भाँति; **वश्यानि**=वशमें; [**भवन्ति**=रहती हैं] ॥ ६ ॥

व्याख्या—जो जीवात्मा अपनी बुद्धिको विवेकसम्पन्न बना लेता है—जिसकी बुद्धि अपने लक्ष्यकी ओर ध्यान रखती हुई नित्य-निरन्तर निपुणताके साथ इन्द्रियोंको सन्मार्गपर चलानेके लिये मनको वाध्य किये रखती है, उसका मन भी लक्ष्यकी ओर लगा रहता है एवं उसकी इन्द्रियाँ निश्चयात्मिका बुद्धिके अधीन रहकर भगवत्सम्बन्धी पवित्र विषयोंके सेवनमें उसी प्रकार संलग्न रहती हैं, जैसे श्रेष्ठ अश्व सावधान सारथिके अधीन रहकर उसके निर्दिष्ट मार्गपर चलते हैं ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—पाँचवें मन्त्रके अनुसार जिसके बुद्धि और मन आदि विवेक और संयमसे हीन होते हैं, उसकी क्या गति होती है—इसे बतलाते हैं—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥

यः तु सदा=जो कोई सदा; **अविज्ञानवान्**=विवेकहीन बुद्धिवाला; **अमनस्कः**=असंयतचित्त और; **अशुचिः**=अपवित्र; **भवति**=रहता है; **सः तत्पदम्**=वह उस परमपदको; **न आप्नोति**=नहीं पा सकता; **च**=अपितु; **संसारम् अधिगच्छति**=बार-बार जन्म-मृत्युरूप संसार-चक्रमें ही भटकता रहता है ॥ ७ ॥

व्याख्या—जिसकी बुद्धि सदा ही विवेक—कर्तव्याकर्तव्यके ज्ञानसे रहित और मनको वशमें रखनेमें असमर्थ रहती है, जिसका मन निग्रहरहित—असंयत और जिसका विचार दूषित रहता है और जिसकी इन्द्रियाँ निरन्तर दुराचारमें प्रवृत्त रहती हैं, ऐसे बुद्धिशक्तिसे रहित मन-इन्द्रियोंके वशमें रहनेवाले मनुष्यका जीवन कभी पवित्र नहीं रह पाता और इसलिये वह मानव-शरीरसे प्राप्त होनेयोग्य परमपदको नहीं पा सकता, वरं अपने दुष्कर्मोंके परिणामस्वरूप अनवरत इस संसार-चक्रमें ही भटकता रहता है—शूकर-कूकरादि विभिन्न योनियोंमें जन्मता एवं मरता रहता है ॥ ७ ॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ ८ ॥

तु यः सदा=परंतु जो सदा; **विज्ञानवान्**=विवेकशील बुद्धिसे युक्त; **समनस्कः**=संयतचित्त (और); **शुचिः**=पवित्र; **भवति**=रहता है; **सः तु**=वह तो; **तत्पदम्**=उस परमपदको; **आप्नोति**=प्राप्त हो जाता है; **यस्मात् भूयः**=जहाँसे (लौटकर) पुनः; **न जायते**=जन्म नहीं लेता ॥ ८ ॥

व्याख्या—इसके विपरीत जो छठे मन्त्रके अनुसार स्वयं सावधान होकर अपनी बुद्धिको निरन्तर विवेकशील बनाये

रखता है और उसके द्वारा मनको रोककर इन्द्रियोंके द्वारा भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार पवित्र कर्मोंका निष्कामभावसे आचरण करता है तथा भगवान्‌को अर्पण किये हुए भोगोंका राग-द्वेषसे रहित हो निष्काम भावसे शरीरनिर्वाहके लिये उपभोग करता रहता है, वह परमेश्वरके उस परमधामको प्राप्त कर लेता है, जहाँसे फिर लौटना नहीं होता ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—आठवें मन्त्रमें कही हुई बातको फिरसे स्पष्ट करते हुए रथके रूपकका उपसंहार करते हैं—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥

यः नरः=जो (कोई) मनुष्य; **विज्ञानसारथिः तु**=विवेकशील बुद्धिरूप सारथिसे सम्पन्न (और); **मनःप्रग्रहवान्**=मनरूप लगामको वशमें रखनेवाला है; **सः**=वह; **अध्वनः**=संसार-मार्गके; **पारम्**=पार पहुँचकर; **विष्णोः**=परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्‌के; **तत् परमम् पदम्**=उस सुप्रसिद्ध परमपदको; **आप्नोति**=प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

व्याख्या—तृतीय मन्त्रसे नवम मन्त्रतक—सात मन्त्रोंमें रथके रूपकसे यह बात समझायी गयी है कि यह अति दुर्लभ मनुष्य-शरीर जिस जीवात्माको परमात्माकी कृपासे मिल गया है, उसे शीघ्र सचेत होकर भगवत्प्राप्तिके मार्गमें लग जाना चाहिये । शरीर अनित्य है, प्रतिक्षण इसका ह्रास हो रहा है । यदि अपने जीवनके इस अमूल्य समयको पशुओंकी भाँति सांसारिक भोगोंके भोगनेमें ही नष्ट कर दिया गया तो फिर बारंबार जन्म-मृत्युरूप संसारचक्रमें घूमनेको बाध्य होना पड़ेगा । जिस महान् कार्यकी सिद्धिके लिये यह दुर्लभ मनुष्य-शरीर मिला था, वह पूरा नहीं होगा । अतः मनुष्यको भगवान्‌की कृपासे मिली हुई विवेकशक्तिका उपयोग करना चाहिये । संसारकी अनित्यताको और इन आपातरमणीय विषय-जनित सुखोंकी यथार्थ दुःखरूपताको समझकर इनके चिन्तन और उपभोगसे सर्वथा उपरत हो जाना चाहिये । केवल शरीर-निर्वाहके उपयुक्त कर्तव्यकर्मोंका निष्कामभावसे भगवान्‌की आज्ञा समझकर अनुष्ठान करते हुए अपनी बुद्धिमें भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम तथा उनकी अलौकिक शक्ति और अहैतुकी दयापर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करना चाहिये और सर्वतोभावसे भगवान्‌पर ही निर्भर हो जाना चाहिये । अपने मनको भगवान्‌के तत्त्व-चिन्तनमें, वाणीको उनके गुण-वर्णनमें, नेत्रोंको उनके दर्शनमें तथा कानोंको उनकी महिमा-श्रवणमें लगाना चाहिये । इस प्रकार सारी इन्द्रियोंका सम्बन्ध भगवान्‌से जोड़ देना चाहिये । जीवनका एक क्षण भी भगवान्‌की स्मृतिके बिना न बीतने पाये । इसीमें मनुष्य-जीवनकी सार्थकता है । जो ऐसा करता है, वह निश्चय ही परब्रह्म पुरुषोत्तमके अचिन्त्य परमपदको प्राप्त होकर सदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त वर्णनमें रथके रूपककी कल्पना करके भगवत्प्राप्तिके लिये जो साधन बतलाया गया, उसमें विवेकशील बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके, इन्द्रियोंको विपरीत मार्गसे हटाकर, भगवत्प्राप्तिके मार्गमें लगानेकी बात कही गयी । इसपर यह जिज्ञासा होती है कि स्वभावसे ही दुष्ट और बलवान् इन्द्रियोंको उनके प्रिय और अभ्यस्त असत्-मार्गसे किस प्रकार हटाया जाय; अतः इस बातका तात्त्विक विवेचन करके इन्द्रियोंको असत्-मार्गसे रोककर भगवान्‌की ओर लगानेका प्रकार बतलाते हैं—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ १० ॥

हि इन्द्रियेभ्यः=क्योंकि इन्द्रियोंसे; **अर्थाः**=शब्दादि विषय; **पराः च**=बलवान् हैं और; **अर्थेभ्यः**=शब्दादि विषयोंसे; **मनः**=मन; **परम्**=पर (प्रबल) है; **तु मनसः**=और मनसे भी; **बुद्धिः**=बुद्धि; **परा**=पर (बलवती) है; **बुद्धेः**= (तथा) बुद्धिसे; **महान् आत्मा**=महान् आत्मा, (उन सबका स्वामी होनेके कारण); **परः**=अत्यन्त श्रेष्ठ और बलवान् है ॥ १० ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें 'पर' शब्दका प्रयोग बलवान्‌के अर्थमें हुआ है, यह बात समझ लेनी चाहिये; क्योंकि कार्य-कारणभावसे या सूक्ष्मताकी दृष्टिसे इन्द्रियोंकी अपेक्षा शब्दादि विषयोंको श्रेष्ठ बतलाना युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार 'महान्' विशेषणके सहित 'आत्मा' शब्द भी 'जीवात्मा'का वाचक है, 'महत्तत्त्व'का नहीं । जीवात्मा इन सबका स्वामी है, अतः उसके लिये 'महान्' विशेषण देना उचित ही है । यदि महत्तत्त्वके अर्थमें इसका प्रयोग होता तो 'आत्मा' शब्दके प्रयोगकी कोई आवश्यकता ही नहीं थी । दूसरी बात यह भी है कि बुद्धि-तत्त्व ही महत्तत्त्व है । तत्त्व-विचारकालमें

इसमें भेद नहीं माना जाता। इसके सिवा आगे चलकर जहाँ निरोध (एक तत्त्वको दूसरेमें लीन करने) का प्रसङ्ग है, वहाँ भी बुद्धिका निरोध 'महान् आत्मा'में करनेके लिये कहा है। इन सब कारणोंसे तथा ब्रह्मसूत्रकारको सांख्यमतानुसार महत्तत्त्व और अव्यक्त प्रकृतिरूप अर्थ स्वीकार न होनेसे भी यही मानना चाहिये कि यहाँ 'महान्' विशेषणके सहित 'आत्मा' पदका अर्थ जीवात्मा ही है।* इसलिये मन्त्रका सारांश यह है कि इन्द्रियोंसे अर्थ (विषय) बलवान् हैं। वे साधककी इन्द्रियोंको बलपूर्वक अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं; अतः साधकको उचित है कि इन्द्रियोंको विषयोंसे दूर रक्खे। विषयोंसे बलवान् मन है। यदि मनकी विषयोंमें आसक्ति न रहे तो इन्द्रियाँ और विषय—ये दोनों साधककी कुछ भी हानि नहीं कर सकते। मनसे भी बुद्धि बलवान् है; अतः बुद्धिके द्वारा विचार करके मनको राग-द्वेषरहित बनाकर अपने वशमें कर लेना चाहिये। एवं बुद्धिसे भी इन सबका स्वामी 'महान् आत्मा' बलवान् है। उसकी आज्ञा माननेके लिये ये सभी बाध्य हैं; अतः मनुष्यको आत्मशक्तिका अनुभव करके उसके द्वारा बुद्धि आदि सबको नियन्त्रणमें रखना चाहिये ॥ १० ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ११ ॥

महतः=उस जीवात्मासे; **परम्**=बलवती है; **अव्यक्तम्**=भगवान्‌की माया; **अव्यक्तात्**=अव्यक्त मायासे भी; **परः**=श्रेष्ठ है; **पुरुषः**=परमपुरुष (स्वयं परमेश्वर); **पुरुषात्**=परम पुरुष भगवान्‌से; **परम्**=श्रेष्ठ और बलवान्; **किञ्चित्**=कुछ भी; **न**=नहीं है; **सा काष्ठा**=वही सबकी परम अवधि (और); **सा परा गतिः**=वही परम गति है ॥ ११ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें 'अव्यक्त' शब्द भगवान्‌की उस त्रिगुणमयी दैवी मायाशक्तिके लिये प्रयुक्त हुआ है, जो गीतामें दुरत्यय (अति दुस्तर) बतायी गयी है (७। १४), जिससे मोहित हुए जीव भगवान्‌को नहीं जानते (गीता ७। १३)। यही जीवात्मा और परमात्माके बीचमें परदा है, जिसके कारण जीव सर्वव्यापी अन्तर्यामी परमेश्वरको नित्य समीप होनेपर भी नहीं देख पाता। इसे इस प्रकरणमें जीवसे भी बलवान् बतलानेका यह भाव है कि जीव अपनी शक्तिसे इस मायाको नहीं हटा सकता, भगवान्‌की शरण ग्रहण करनेपर भगवान्‌की दयाके बलसे ही मनुष्य इससे पार हो सकता है (गीता ७। १४)। यहाँ 'अव्यक्त' शब्दसे सांख्यमतावलम्बियोंका 'प्रधान तत्त्व' नहीं ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि उनके मतमें 'प्रधान' स्वतन्त्र है, वह आत्मासे पर नहीं है; तथा आत्माको भोग और मुक्ति—दोनों वस्तुएँ देकर उसका प्रयोजन सिद्ध करनेवाला है। परंतु उपनिषद् और गीतामें इस अव्यक्त प्रकृतिको कहीं भी मुक्ति देनेमें समर्थ नहीं माना है। अतः इस मन्त्रका तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन सबपर आत्माका अधिकार है; अतः यह स्वयं उनको वशमें करके भगवान्‌की ओर बढ़ सकता है। परंतु इस आत्मासे भी बलवान् एक और तत्त्व है, जिसका नाम 'अव्यक्त' है। कोई उसे प्रकृति और कोई माया भी कहते हैं। इसीसे सब जीवसमुदाय मोहित होकर उसके वशमें हो रहा है। इसको हटाना जीवके अधिकारकी बात नहीं है; अतः इससे भी बलवान् जो इसके स्वामी परमपुरुष परमेश्वर हैं—जो बल, क्रिया और ज्ञान आदि सभी शक्तियोंकी अन्तिम अवधि और परम आधार हैं,—उन्हींकी शरण लेनी चाहिये। जब वे दया करके इस मायारूप परदेको स्वयं हटा लेंगे, तब उसी क्षण वहीं भगवान्‌की प्राप्ति हो जायगी; क्योंकि वे तो सदासे ही सर्वत्र विद्यमान हैं† ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—यही भाव अगले मन्त्रमें स्पष्ट करते हैं—

---

* भाष्यकार प्रातःस्मरणीय स्वामी शंकराचार्यजीने भी यहाँ 'महान् आत्मा'को जीवात्मा ही माना है, महत्तत्त्व नहीं (देखिये ब्रह्मसूत्र अ० १ पा० ४ सू० १ का शाङ्करभाष्य)।

† इन (१०-११) मन्त्रोंके कुछ आदरणीय विद्वानोंद्वारा निम्नलिखित अर्थ भी किये गये हैं—

(१) इन्द्रियोंसे उनके विषय सूक्ष्म, महान् और प्रत्यगात्मस्वरूप हैं; विषयोंसे सूक्ष्म महान् और प्रत्यगात्मस्वरूप मन है; मनसे सूक्ष्मतर, महत्तर और प्रत्यगात्मस्वरूप बुद्धिशब्दवाच्य भूतसूक्ष्म है; उस बुद्धिसे सूक्ष्म और महान् है सबसे पहले उत्पन्न होनेवाला हिरण्यगर्भ-तत्त्व महान् आत्मा (महत्तत्त्व); इस महत्‌से सूक्ष्मतर प्रत्यगात्मस्वरूप और सबसे महान् अव्यक्त (मूल प्रकृति) है; इस अव्यक्त-की अपेक्षा समस्त कारणोंका कारण और प्रत्यगात्मस्वरूप होनेसे पुरुष सूक्ष्मतर और महान् है।.....इस चिद्घनमात्र वस्तुसे भिन्न और कुछ भी नहीं है, इसलिये यही सूक्ष्मत्व, महत्त्व और प्रत्यगात्मत्वकी पराकाष्ठाका स्थिति या पर्यवसान है और यही उत्कृष्ट गति है।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ १२ ॥

एषः आत्मा=यह सबका आत्मरूप परमपुरुष; **सर्वेषु भूतेषु**=समस्त प्राणियोंमें रहता हुआ भी; **गूढः**=मायाके परदेमें छिपा रहनेके कारण; **न प्रकाशते**=सबके प्रत्यक्ष नहीं होता; **तु सूक्ष्मदर्शिभिः**=केवल सूक्ष्मतत्त्वोंको समझनेवाले पुरुषोंद्वारा ही; **सूक्ष्मया अग्र्यया बुद्ध्या**=अति सूक्ष्म तीक्ष्ण बुद्धिसे; **दृश्यते**=देखा जाता है ॥ १२ ॥

व्याख्या—ये परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् सबके अन्तर्यामी हैं, अतः सब प्राणियोंके हृदयमें विराजमान हैं; परंतु अपनी मायाके परदेमें छिपे हुए हैं, इस कारण उनके जाननेमें नहीं आते । जिन्होंने भगवान्‌का आश्रय लेकर अपनी बुद्धिको तीक्ष्ण बना लिया है, वे सूक्ष्मदर्शी ही भगवान्‌की दयासे सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा उन्हें देख पाते हैं ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—विवेकशील मनुष्यको भगवान्‌के शरण होकर किस प्रकार भगवान्‌की प्राप्तिके लिये साधन करना चाहिये ?—इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१३॥

प्राज्ञः=बुद्धिमान् साधकको चाहिये कि; **वाक्**=(पहले) वाक् आदि (समस्त इन्द्रियों) को; **मनसी**=मनमें; **यच्छेत्**=निरुद्ध करे; **तत्**=उस मनको; **ज्ञाने आत्मनि**=ज्ञानस्वरूप बुद्धिमें; **यच्छेत्**=विलीन करे; **ज्ञानम्**=ज्ञानस्वरूप बुद्धिको; **महति आत्मनि**=महान् आत्मामें; **नियच्छेत्**=विलीन करे (और); **तत्**=उसको; **शान्ते आत्मनि**=शान्तस्वरूप परमपुरुष परमात्मामें; **यच्छेत्**=विलीन करे ॥ १३ ॥

व्याख्या—बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि वह पहले तो वाक् आदि इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर मनमें विलीन कर दे अर्थात् इनकी ऐसी स्थिति कर दे कि इनकी कोई भी क्रिया न हो—मनमें विषयोंकी स्फुरणा न रहे । जब यह साधन भलीभाँति होने लगे, तब मनको ज्ञानस्वरूप बुद्धिमें विलीन कर दे अर्थात् एकमात्र विज्ञानस्वरूप निश्चयात्मिका बुद्धिकी वृत्तिके सिवा मनकी भिन्न सत्ता न रहे, किसी प्रकारका अन्य कोई भी चिन्तन न रहे । जब यहाँतक दृढ़ अभ्यास हो जाय, तदनन्तर उस ज्ञानस्वरूपा बुद्धिको भी जीवात्माके शुद्ध स्वरूपमें विलीन कर दे । अर्थात् ऐसी स्थितिमें स्थित हो जाय, जहाँ एकमात्र आत्मतत्त्वके सिवा—अपनेसे भिन्न किसी भी वस्तुकी सत्ता या स्मृति नहीं रह जाती । इसके पश्चात् अपने-आपको भी पूर्व निश्चयके अनुसार शान्त आत्मारूप परब्रह्म पुरुषोत्तममें विलीन कर दे* ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार परमात्माके स्वरूपका वर्णन, तथा उसकी प्राप्तिका महत्त्व और साधन बतलाकर अब श्रुति मनुष्योंको सावधान करती हुई कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४ ॥

---

(२) इन्द्रियोंकी अधिष्ठात्री देवता सोम, कुबेर, सूर्य, वरुण, अश्विनी, अग्नि, इन्द्र, जयन्त, यम और दक्षकी अपेक्षा अर्थ (विषयों)के अधिष्ठात्री देवता सौपर्णी, वारुणी और उमा (शब्द-स्पर्शकी अधिष्ठात्री सौपर्णी, रूप-रसकी वारुणी और गन्धकी उमा हैं) श्रेष्ठ हैं; इनसे मनके अधिष्ठात्री देवता रुद्र, वीन्द्र(पक्षिराज गरुड़) और शेष श्रेष्ठ हैं; मनके देवताओंसे बुद्धिकी अधिष्ठात्री देवता सरस्वती श्रेष्ठ हैं;सरस्वतीसे महत्तत्त्वके अधिष्ठात्री देवता ब्रह्मा श्रेष्ठ हैं; ब्रह्मासे अव्यक्तकी अधिष्ठात्री देवता श्री या रमा श्रेष्ठ हैं और उनसे श्रेष्ठ पुरुषशब्दवाच्य विष्णु हैं । वे परिपूर्ण हैं, उनके तुल्य ही कोई नहीं है, फिर उनसे श्रेष्ठ तो कैसे हो ?

* इसका यह अर्थ भी किया गया है—

विवेकी पुरुष वाक्-इन्द्रियका मनमें उपसंहार करे; यहाँ वाक् शब्द उपलक्षणमात्र है, तात्पर्य यह है कि समस्त इन्द्रियोंको मनके अधीन करे; उस मनको ज्ञान शब्दवाच्य बुद्धिरूप आत्मामें संयत करे; उस बुद्धिको हिरण्यगर्भकी उपाधिस्वरूप महत्तत्त्वमें लीन करे और महत्तत्त्वको भी शान्त (निष्क्रिय) आत्मामें निरोध करे ।

उत्तिष्ठत=(हे मनुष्यो !) उठो; **जाग्रत**=जागो (सावधान हो जाओ और); **वरान्**=श्रेष्ठ महापुरुषोंके; **प्राप्य**=पास जाकर (उनके द्वारा); **निबोधत**=उस परब्रह्म परमेश्वरको जान लो (क्योंकि); **कवयः**=त्रिकालज्ञ ज्ञानीजन; **तत् पथः**=उस तत्त्वज्ञानके मार्गको; **क्षुरस्य**=छूरेकी; **निशिता दुरत्यया**=तीक्ष्ण एवं दुस्तर; **धारा (इव)**=धारके सदृश; **दुर्गम्**=दुर्गम (अत्यन्त कठिन); **वदन्ति**=बतलाते हैं ॥ १४ ॥

व्याख्या—हे मनुष्यो ! तुम जन्म-जन्मान्तरसे अज्ञाननिद्रामें सो रहे हो। अब तुम्हें परमात्माकी दयासे यह दुर्लभ मनुष्य-शरीर मिला है। इसे पाकर अब एक क्षण भी प्रमादमें मत खोओ। शीघ्र सावधान हो जाओ। श्रेष्ठ महापुरुषोंके पास जाकर उनके उपदेशद्वारा अपने कल्याणका मार्ग और परमात्माका रहस्य समझ लो। परमात्माका तत्त्व बड़ा गहन है; उसके स्वरूपका ज्ञान, उसकी प्राप्तिका मार्ग महापुरुषोंकी सहायता और परमात्माकी कृपाके बिना वैसा ही दुस्तर है, जिस प्रकार छूरेकी तेज धारपर चलना। ऐसे दुस्तर मार्गसे सुगमतापूर्वक पार होनेका सरल उपाय वे अनुभवी महापुरुष ही बता सकते हैं, जो स्वयं इसे पार कर चुके हैं ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—ब्रह्मप्राप्तिका मार्ग इतना दुस्तर क्यों है ?—इस जिज्ञासापर परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हुए उसको जाननेका फल बतलाते हैं—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ १५ ॥

यत्=जो; **अशब्दम्**=शब्दरहित; **अस्पर्शम्**=स्पर्शरहित; **अरूपम्**=रूपरहित; **अरसम्**=रसरहित; **च**=और; **अगन्धवत्**=बिना गन्धवाला है; **तथा**=तथा (जो); **अव्ययम्**=अविनाशी; **नित्यम्**=नित्य; **अनादि**=अनादि; **अनन्तम्**=अनन्त (असीम); **महतः परम्**=महान् आत्मासे श्रेष्ठ (एवं); **ध्रुवम्**=सर्वथा सत्य तत्त्व है; **तत्**=उस परमात्माको; **निचाय्य**=जानकर (मनुष्य); **मृत्युमुखात्**=मृत्युके मुखसे; **प्रमुच्यते**=सदाके लिये छूट जाता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें उस परब्रह्म परमात्माको प्राकृत शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धसे रहित बतलाकर यह दिखलाया गया है कि सांसारिक विषयोंको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंकी वहाँ पहुँच नहीं है। वे नित्य, अनादि और असीम हैं। जीवात्मासे भी श्रेष्ठ और सर्वथा सत्य हैं। उन्हें जानकर मनुष्य सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाता है* ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—यहाँतक एक अध्यायके उपदेशको पूर्ण करके अब इस आख्यानके श्रवण और वर्णनका माहात्म्य बतलाते हैं—

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम् ।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥

मेधावी=बुद्धिमान् मनुष्य; **मृत्युप्रोक्तम्**=यमराजके द्वारा कहे हुए; **नाचिकेतम्**=नचिकेताके; **सनातनम्**=(इस) सनातन; **उपाख्यानम्**=उपाख्यानका; **उक्त्वा**=वर्णन करके; **च**=और; **श्रुत्वा**=श्रवण करके; **ब्रह्मलोके**=ब्रह्मलोकमें; **महीयते**=महिमान्वित होता है (प्रतिष्ठित होता है) ॥ १६ ॥

व्याख्या—यह जो इस अध्यायमें नचिकेताके प्रति यमराजका उपदेश है, यह कोई नयी बात नहीं है; यह परम्परागत सनातन उपाख्यान है। इसका वर्णन करनेवाला और श्रवण करनेवाला मनुष्य ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठावाला होता है ॥ १६ ॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि ।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते
तदानन्त्याय कल्पत इति ॥ १७ ॥

---

* एक आदरणीय महानुभावने इसका यह अर्थ किया है—

जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, नित्य और अगन्ध है, जो अनादि, अनन्त, महत्तत्त्वसे भी विलक्षण और कूटस्थ नित्य है, उस ब्रह्म आत्माको जानकर पुरुष मृत्युके मुखसे छूट जाता है।

यः=जो मनुष्य; **प्रयतः**=सर्वथा शुद्ध होकर; **इमम्**=इस; **परमम् गुह्यम्**=परम गुह्य रहस्यमय प्रसङ्गको; **ब्रह्मसंसदि**=ब्राह्मणोंकी सभामें; **श्रावयेत्**=सुनाता है; **वा**=अथवा; **श्राद्धकाले**=श्राद्धकालमें; **श्रावयेत्**=(भोजन करनेवालोंको) सुनाता है; **तत्**=(उसका) वह श्रवण करानारूप कर्म; **आनन्त्याय कल्पते**=अनन्त होनेमें (अविनाशी फल देनेमें) समर्थ होता है; **तत् आनन्त्याय कल्पते इति**=वह अनन्त होनेमें समर्थ होता है ॥ १७ ॥

व्याख्या—जो मनुष्य विशुद्ध होकर सावधानतापूर्वक इस परम रहस्यमय प्रसङ्गको तत्त्वविवेचनपूर्वक भगवत्प्रेमी शुद्धबुद्धि ब्राह्मणोंकी सभामें सुनाता है अथवा श्राद्धकालमें भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंको सुनाता है, उसका वह वर्णनरूप कर्म अनन्त फल देनेवाला होता है । अनन्त होनेमें समर्थ होता है । दुबारा कहकर इस सिद्धान्तकी निश्चितता और अध्यायकी समाप्तिका लक्ष्य कराया गया है ॥ १७ ॥

॥ तृतीय वल्ली समाप्त ॥ ३ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

ॐ

द्वितीय अध्याय

प्रथम वल्ली

सम्बन्ध—तृतीय वल्लीमें यह बतलाया गया कि वे परब्रह्म परमेश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंमें वर्तमान हैं, परंतु सबको दीखते नहीं। कोई विरला ही उन्हें सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा देख सकता है। इसपर यह प्रश्न होता है कि जब वे ब्रह्म अपने ही हृदयमें हैं तो उन्हें सभी लोग अपनी बुद्धिरूप नेत्रोंद्वारा क्यों नहीं देख लेते ? कोई विरला ही क्यों देखता है ? इसपर कहते हैं—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ १॥

स्वयंभूः=स्वयं प्रकट होनेवाले परमेश्वरने; **खानि**=समस्त इन्द्रियोंको; **पराञ्चि**=बाहरकी ओर जानेवाली ही; **व्यतृणत्**=बनाया है; **तस्मात्**=इसलिये (मनुष्य इन्द्रियोंके द्वारा प्रायः); **पराङ्**=बाहरकी वस्तुओंको ही; **पश्यति**=देखता है; **अन्तरात्मन्**=अन्तरात्माको; **न**=नहीं; **कश्चित्**=किसी भाग्यशाली; **धीरः**=बुद्धिमान् मनुष्यने ही; **अमृतत्वम्**=अमर पदको; **इच्छन्**=पानेकी इच्छा करके; **आवृत्तचक्षुः**=चक्षु आदि इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंकी ओरसे लौटाकर; **प्रत्यगात्मानम्**=अन्तरात्माको; **ऐक्षत्**=देखा है॥ १॥

व्याख्या—शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध—इन्द्रियोंके ये सभी स्थूल विषय बाहर हैं। इनका यथार्थ ज्ञान करानेके लिये इन्द्रियोंकी रचना हुई है। क्योंकि इनका ज्ञान हुए बिना न तो मनुष्य किसी विषयके स्वरूप और गुणको ही जान सकता है और न उसका यथायोग्य त्याग एवं ग्रहण करके भगवान्‌के इन्द्रिय-निर्माणके उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये उनके द्वारा नवीन शुभ कर्मोंका सम्पादन ही कर सकता है। इन्द्रिय-निर्माण इसीलिये है कि मनुष्य इन्द्रियोंके द्वारा स्वास्थ्यकर, सुबुद्धिदायक, विशुद्ध विषयोंका ग्रहण करके सुखमय जीवन बिताते हुए परमात्माकी ओर अग्रसर हो। इसीलिये स्वयंभू भगवान्‌ने इन्द्रियोंका मुख बाहरकी ओर बनाया; परंतु विवेकके अभावसे अधिकांश मनुष्य इस बातको नहीं जानते और विषयासक्ति-वश उन्मत्तकी भाँति आपातरमणीय परंतु परिणाममें भगवान्‌से हटाकर दुःखशोकमय नरकोंमें पहुँचानेवाले अशुद्ध विषय-भोगोंमें ही रचे-पचे रहते हैं। वे अन्तर्यामी परमात्माकी ओर देखते ही नहीं। कोई विरला ही बुद्धिमान् मनुष्य ऐसा होता है जो सत्संग, स्वाध्याय तथा भगवत्कृपासे अशुद्ध विषयभोगोंकी परिणामदुःखताको जानकर अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त करनेकी इच्छासे इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे लौटाकर, उन्हें भगवत्सम्बन्धी विषयोंमें लगाकर, अन्तरात्माको—अन्तर्यामी परमात्माको देखता है* ॥ १॥

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥ २॥

(ये) बालाः=(परंतु) जो मूर्ख; **पराचः**=बाह्य; **कामान्**=भोगोंका; **अनुयन्ति**=अनुसरण करते हैं (उन्हींमें रचे-पचे रहते हैं); **ते**=वे; **विततस्य**=सर्वत्र फैले हुए; **मृत्योः**=मृत्युके; **पाशम्**=बन्धनमें; **यन्ति**=पड़ते हैं; **अथ**=किंतु; **धीराः**=बुद्धिमान् मनुष्य; **ध्रुवम्**=नित्य; **अमृतत्वम्**=अमरपदको; **विदित्वा**=विवेकद्वारा जानकर; **इह**=इस जगत्‌में; **अध्रुवेषु**=अनित्य भोगोंमेंसे किसीको (भी); **न प्रार्थयन्ते**=नहीं चाहते अर्थात् उनमें आसक्त नहीं होते॥ २॥

---

* एक महानुभावने ऐसा अर्थ किया है—

स्वयम्भू भगवान्‌ने कृपा करके (उस भक्तके) बाहरकी ओर जानेवाले इन्द्रिय-प्रवाहको रोक दिया—भीतरकी ओर मोड़ दिया। अतएव वह पुरुष बाहरकी वस्तुओंको नहीं देखता, अन्तरात्माको देखता है। अमृतत्वकी इच्छा करनेवाला कोई शान्तस्वभाव संत ही भगवत्कृपासे इस प्रकार बहिर्विषयोंसे चक्षु आदि इन्द्रियोंको मोड़कर अन्तर्यामी परमात्माको देखता है।

व्याख्या—जो बाह्य (भगवद्-विमुख) विषयोंकी चमक-दमक और आपातरमणीयताको देखकर उनमें आसक्त हुए रहते हैं और उनके पाने तथा भोगनेमें ही दुर्लभ एवं अमूल्य मनुष्यजीवनको खो देते हैं, वे मूर्ख हैं। निश्चय ही वे सर्वकालव्यापी मृत्युके पाशमें बँध जाते हैं; दीर्घकालतक नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म धारण करके बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं; परंतु जो बुद्धिमान् हैं वे इस विषयपर गहराईसे यों विचार करते हैं कि 'ये इन्द्रियोंके भोग तो जीवको दूसरी योनियोंमें भी पर्याप्त मिल सकते हैं। मनुष्य-शरीर उन सबसे विलक्षण है। इसका वास्तविक उद्देश्य विषयोपभोग कभी नहीं हो सकता।' इस प्रकार विचार करनेपर जब यह बात उनकी समझमें आ जाती है कि इसका उद्देश्य अमृतस्वरूप नित्य परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति करना है और वह इसी शरीरमें प्राप्त की जा सकती है, तब वे सर्वतोभावसे उसीकी ओर लग जाते हैं। फिर वे इस विनाशशील जगत्‌में क्षणभङ्गुर भोगोंको प्राप्त करनेकी चेष्टा नहीं करते; इनसे सर्वथा विरक्त होकर सावधानीके साथ परमार्थ-साधनमें लग जाते हैं॥ २॥

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते। एतद्वै तत्॥ ३॥

येन=जिसके अनुग्रहसे मनुष्य; **शब्दान्**=शब्दोंको; **स्पर्शान्**=स्पर्शोंको; **रूपम्**=रूप-समुदायको; **रसम्**=रस-समुदायको; **गन्धम्**=गन्ध-समुदायको; **च**=और; **मैथुनान्**=स्त्री-प्रसंग आदिके सुखोंको; **विजानाति**=अनुभव करता है (और); **एतेन एव**=इसीके अनुग्रहसे यह भी जानता है कि; **अत्र किम्**=यहाँ क्या; **परिशिष्यते**=शेष रह जाता है; **एतत् वै**=यह ही है; **तत्**=वह परमात्मा (जिसके विषयमें तुमने पूछा था।)॥ ३॥

व्याख्या—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धात्मक सब प्रकारके विषयोंका और स्त्री-सहवासादिसे होनेवाले सुखोंका मनुष्य जिस परम देवसे मिली हुई ज्ञानशक्तिके द्वारा अनुभव करता है, उन्हींकी दी हुई शक्तिसे इनकी क्षणभङ्गुरताको देखकर वह यह भी समझ सकता है कि इन सबमेंसे ऐसी कौन वस्तु है, जो यहाँ शेष रहेगी? विचार करनेपर यही समझमें आता है कि ये सभी पदार्थ प्रतिक्षण बदलनेवाले होनेसे विनाशशील हैं। इन सबके परम कारण एकमात्र परब्रह्म परमेश्वर ही नित्य हैं। वे पहले भी थे और पीछे भी रहेंगे। अतः हे नचिकेता! तुम्हारा पूछा हुआ वह ब्रह्मतत्त्व यही है जो सबका शेषी है, सबका पर्यवसान है, सबकी अवधि और सबकी परम गति है॥ ३॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ ४॥

स्वप्नान्तम् च=स्वप्नके दृश्यों और; **जागरितान्तम्**=जाग्रत्-अवस्थाके दृश्यों; **उभौ**=इन दोनोंको (मनुष्य); **येन**=जिससे; **अनुपश्यति**=बार-बार देखता है; [**तम्**=उस;] **महान्तम्**=सर्वश्रेष्ठ; **विभुम्**=सर्वव्यापी; **आत्मानम्**=सबके आत्माको; **मत्वा**=जानकर; **धीरः**=बुद्धिमान् मनुष्य; **न शोचति**=शोक नहीं करता॥ ४॥

व्याख्या—जिस परमात्माके द्वारा यह जीवात्मा स्वप्नमें और जाग्रत्‌में होनेवाली समस्त घटनाओंका बारंबार अनुभव करता रहता है, इन सबको जाननेकी शक्ति इसको जिस परब्रह्म परमेश्वरसे मिली है; जिसकी कृपासे ही इस जीवको उस (परमात्मा)की विज्ञानशक्तिका एक अंश प्राप्त हुआ है, उस सबकी अपेक्षा महान् सदा-सर्वदा सर्वत्र व्याप्त परब्रह्म परमात्माको जानकर धीर पुरुष कभी, किसी भी कारणसे, किञ्चिन्मात्र भी शोक नहीं करता *॥ ४॥

---

* कुछ आदरणीय महानुभावोंने इस मन्त्रका निम्नलिखित भावार्थ माना है—

१—जिस आत्माके द्वारा स्वप्न तथा जाग्रत् अवस्थाके अन्तर्गत दीखनेवाले पदार्थोंको मनुष्य देखता है, उस महान् और विभु आत्माको जानकर अर्थात् वह 'परमात्मा मैं ही हूँ' ऐसा आत्मभावसे साक्षात् अनुभव कर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता।

२—निद्राके अन्त और जाग्रदवस्थाके अन्तमें अर्थात् नींदसे जागनेपर और सोनेसे पहले जो उस महान् सर्वव्यापी परमात्मामें मन लगाकर उसीको देखता है—उसीकी स्तुति-उपासना कर अपना सारा दायित्व उसीपर छोड़ उसीके अनन्य आश्रित हो रहता है, उस बुद्धिमान् पुरुषको कोई शोक नहीं होता।

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ॥ ५ ॥

यः=जो मनुष्य; **मध्वदम्**=कर्मफलदाता; **जीवम्***=सबको जीवन प्रदान करनेवाले; (तथा) **भूतभव्यस्य**=भूत, वर्तमान और भविष्यका; **ईशानम्**=शासन करनेवाले; **इमम्**=इस; **आत्मानम्**=परमात्माको; **अन्तिकात् वेद**=(अपने) समीप जानता है; **ततः (सः)**=उसके बाद वह; **न विजुगुप्सते**=(कभी) किसीकी निन्दा नहीं करता; **एतत् वै**=यह ही (है); **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ५ ॥

व्याख्या—जो साधक सबको जीवन प्रदान करनेवाले, जीवोंके परम जीवन और उन्हें उनके कर्मोंका फल भुगतानेवाले तथा भूत, वर्तमान और भावी जगत्का एकमात्र शासन करनेवाले उस परब्रह्म परमेश्वरको इस प्रकार समझ लेता है कि 'वह अन्तर्यामीरूपसे निरन्तर मेरे समीप—मेरे हृदयमें ही स्थित है,' और इससे स्वाभाविक ही यह अनुमान कर लेता है कि इसी प्रकार वे सर्वनियन्ता परमात्मा सबके हृदयमें स्थित हैं; वह फिर उनके इस महिमामय स्वरूपको कभी नहीं भूल सकता । इसलिये वह कभी किसीकी निन्दा नहीं करता या किसीसे भी घृणा नहीं करता । नचिकेता ! तुमने जिस ब्रह्मके विषयमें पूछा था, वह यही है, जिसका मैंने ऊपर वर्णन किया है † ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—अब यह बतलाते हैं कि ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त प्राणी उन परब्रह्म परमेश्वरसे ही उत्पन्न हुए हैं; अतः जो कुछ भी है, सब उन्हींका रूपविशेष है । उनसे भिन्न यहाँ कुछ भी नहीं है; क्योंकि इस सम्पूर्ण जगत्के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण एकमात्र परमेश्वर ही हैं, वे एक ही अनेक रूपोंमें स्थित हैं ।

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत ॥ एतद्वै तत् ॥ ६ ॥

यः=जो; **अद्भ्यः**=जलसे; **पूर्वम्**=पहले; **अजायत**=हिरण्यगर्भरूपमें प्रकट हुआ था; **[तम्]**=उस; **पूर्वम्**=सबसे पहले; **तपसः जातम्**=तपसे उत्पन्न; **गुहाम् प्रविश्य**=हृदय-गुफामें प्रवेश करके; **भूतेभिः (सह)**=जीवात्माओंके साथ; **तिष्ठन्तम्**=स्थित रहनेवाले परमेश्वरको; **यः**=जो पुरुष; **व्यपश्यत**=देखता है (वही ठीक देखता है); **एतत् वै**=यह ही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ६ ॥

व्याख्या—जो जलसे उपलक्षित पाँचों महाभूतोंसे पहले हिरण्यगर्भ ब्रह्माके रूपमें प्रकट हुए थे, उन अपने ही सङ्कल्परूप तपसे प्रकट होनेवाले और सब जीवोंके हृदयरूप गुफामें प्रविष्ट होकर उनके साथ रहनेवाले परमेश्वरको जो इस प्रकार जानता है कि 'सबके हृदयमें निवास करनेवाले सबके अन्तर्यामी परमेश्वर एक ही हैं, यह सम्पूर्ण जगत् उन्हींकी महिमाका प्रकाश करता है,' वही यथार्थ जानता है । वे सदा सबके हृदयमें रहनेवाले ही ये तुम्हारे पूछे हुए परब्रह्म परमेश्वर हैं ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—उन्हीं परब्रह्मका अब अदितिदेवीके रूपसे वर्णन करते हैं—

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत ॥ एतद्वै तत् ॥ ७ ॥

---

* यहाँ 'जीव' शब्द परमात्माके लिये ही प्रयुक्त हुआ है; क्योंकि भूत, भविष्य और वर्तमानका शासक जीव नहीं हो सकता । और प्रकरण भी यहाँ परमात्माका है, जीवका नहीं (देखिये ब्रह्मसूत्र १ । ३ । २४ का शाङ्करभाष्य) ।

† कुछ विद्वानोंने इसका यह अर्थ किया है—

१—जो पुरुष कर्मफलभोक्ता और प्राणधारक इस जीवात्माको अपने समीप भूत और भविष्यका (त्रिकालका) ईश्वर समझता है, वह फिर किसी भयसे अपनेको छिपाकर नहीं रखता । (एक ब्रह्मसत्ताका ज्ञान होनेपर फिर कोई भय नहीं रहता; क्योंकि दूसरेकी सत्ता माननेसे ही भय होता है ।)

२—जो मनुष्य मधु अर्थात् आनन्दके उपभोक्ता, भूत और भविष्यके शासक, जीवके नित्य समीप रहनेवाले, जीवके जीवन परमात्माको जान लेता है, वह फिर किसीसे भय नहीं करता ।

या=जो; **देवतामयी**=देवतामयी; **अदितिः**=अदिति; **प्राणेन**=प्राणोंके सहित; **संभवति**=उत्पन्न होती है; **या**=जो; **भूतेभिः**=प्राणियोंके सहित; **व्यजायत**=उत्पन्न हुई है; (तथा जो) **गुहाम्**=हृदयरूपी गुफामें; **प्रविश्य**=प्रवेश करके; **तिष्ठन्तीम्**=वहीं रहती है; (उसे जो पुरुष देखता है, वही यथार्थ देखता है,) **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ७ ॥

व्याख्या—जो सर्वदेवतामयी भगवती अदितिदेवी पहले-पहल उस परब्रह्मके सङ्कल्पसे सब जगत्‌की जीवनी-शक्तिके सहित उत्पन्न होती है, तथा जो सम्पूर्ण प्राणियोंको बीजरूपसे अपने साथ लेकर प्रकट हुई थी, हृदयरूपी गुहामें प्रविष्ट होकर वहीं रहनेवाली वह भगवती—भगवान्‌की अचिन्त्यमहाशक्ति भगवान्‌से सर्वथा अभिन्न है, भगवान् और उनकी शक्तिमें कोई भेद नहीं है, भगवान् ही शक्तिरूपसे सबके हृदयमें प्रवेश किये हुए हैं। हे नचिकेता ! वही ये ब्रह्म हैं, जिनके विषयमें तुमने पूछा था।

अथवा—जननीरूपमें समस्त देवताओंका सृजन करनेवाली होनेके कारण जो सर्वदेवतामयी हैं, शब्दादि समस्त भोगसमूहका अदन—भक्षण करनेवाली होनेसे भी जिनका नाम अदिति है, जो हिरण्यगर्भरूप प्राणोंके सहित प्रकट होती हैं और समस्त भूतप्राणियोंके साथ ही जिनका प्रादुर्भाव होता है तथा जो सम्पूर्ण भूतप्राणियोंकी हृदय-गुफामें प्रविष्ट होकर वहाँ स्थित रहती हैं, वे परमेश्वरकी महाशक्ति वस्तुतः उनकी प्रतीक ही हैं। स्वयं परमेश्वर ही इस रूपमें अपनेको प्रकट करते हैं। यही वह ब्रह्म हैं, जिनके सम्बन्धमें नचिकेता ! तुमने पूछा था ॥ ७ ॥

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः ।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥ एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

(यः)=जो; **जातवेदाः**=सर्वज्ञ; **अग्निः**=अग्निदेवता; **गर्भिणीभिः**=गर्भिणी स्त्रियोंद्वारा; **सुभृतः**=उपयुक्त अन्नपानादिके द्वारा भलीभाँति परिपुष्ट हुआ; **गर्भः**=गर्भकी; **इव**=भाँति; **अरण्योः**=दो अरणियोंमें; **निहितः**=सुरक्षित है—छिपा है (तथा जो); **जागृवद्भिः**=सावधान (और); **हविष्मद्भिः**=हवन करनेयोग्य सामग्रियोंसे (युक्त); **मनुष्येभिः**=मनुष्योंद्वारा; **दिवे दिवे**=प्रतिदिन; **ईड्यः**=स्तुति करनेयोग्य (है); **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था)॥८॥

व्याख्या—जिस प्रकार गर्भिणी स्त्रीके द्वारा शुद्ध अन्न-पानादिसे परिपुष्ट होकर बालक गर्भमें छिपा रहता है और श्रद्धा, प्रीति एवं प्रसवकालीन क्लेशरूप मन्थनके द्वारा समयपर प्रकट होता है, उसी प्रकार अधर और उत्तर अरणि (ऊपर-नीचेके काष्ठखण्ड) के अंदर अग्नि देवता छिपे हुए रहते हैं एवं इनके उपासक प्रमादरहित होकर एकाग्रता, श्रद्धा तथा प्रीतिके साथ स्तुति करते हुए अरणि-मन्थनके द्वारा इन्हें प्रकट करते हैं। तदनन्तर आज्यादि विविध हवनसामग्रियोंके द्वारा इन्हें सन्तुष्ट करते हैं। ये अग्निदेवता सर्वज्ञ परमेश्वरके ही प्रतीक हैं। नचिकेता ! ये ही वे तुम्हारे पूछे हुए ब्रह्म हैं ॥८॥

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥ ९ ॥

यतः=जहाँसे; **सूर्यः**=सूर्यदेव; **उदेति**=उदय होते हैं; **च**=और; **यत्र**=जहाँ; **अस्तम् च**=अस्तभावको भी; **गच्छति**=प्राप्त होते हैं; **सर्वे**=सभी; **देवाः**=देवता; **तम्**=उसीमें; **अर्पिताः**=समर्पित हैं। **तत् उ**=उस परमेश्वरको; **कश्चन**=कोई (कभी भी); **न अत्येति**=नहीं लाँघ सकता; **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ९ ॥

व्याख्या—जिन परमेश्वरसे सूर्यदेव प्रकट होते हैं और जिनमें जाकर विलीन हो जाते हैं, जिनकी महिमामें ही यह सूर्यदेवताकी उदय-अस्तलीला नियमपूर्वक चलती है, उन परब्रह्ममें ही सम्पूर्ण देवता प्रविष्ट हैं—सब उन्हींमें ठहरे हुए हैं। ऐसा कोई भी नहीं है, जो उन सर्वात्मक, सर्वमय, सबके आदि-अन्त-आश्रयस्थल परमेश्वरकी महिमा और व्यवस्थाका उल्लङ्घन कर सके। सर्वतोभावसे सभी सर्वदा उनके अधीन और उन्हींके अनुशासनमें रहते हैं। कोई भी उनकी महिमाका पार नहीं पा सकता। वे सर्वशक्तिमान् परब्रह्म पुरुषोत्तम ही तुम्हारे पूछे हुए ब्रह्म हैं ॥ ९ ॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥१०॥

यत् इह=जो परब्रह्म यहाँ (है); **तत् एव अमुत्र**=वही वहाँ (परलोकमें भी है); **यत् अमुत्र**=जो वहाँ (है); **तत् अनु इह**=वही यहाँ (इस लोकमें) भी है; **सः मृत्योः**=वह मनुष्य मृत्युसे; **मृत्युम्**=मृत्युको (अर्थात् बारंबार जन्म-मरणको); **आप्नोति**=प्राप्त होता है; **यः**=जो; **इह**=इस जगत्में; **नाना इव**=(उस परमात्माको) अनेककी भाँति; **पश्यति**=देखता है ॥१०॥

व्याख्या—जो सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सर्वरूप, सबके परम कारण, परब्रह्म पुरुषोत्तम यहाँ इस पृथ्वीलोकमें हैं, वही वहाँ परलोकमें अर्थात् देव-गन्धर्वादि विभिन्न अनन्त लोकोंमें भी हैं; तथा जो वहाँ हैं, वही यहाँ भी हैं । एक ही परमात्मा अखिल ब्रह्माण्डमें व्याप्त हैं । जो उन एक ही परब्रह्मको लीलासे नाना नामों और रूपोंमें प्रकाशित देखकर मोहवश उनमें नानात्वकी कल्पना करता है, उसे पुनः-पुनः मृत्युके अधीन होना पड़ता है, उसके जन्म-मरणका चक्र सहज ही नहीं छूटता । अतः दृढ़रूपसे यही समझना चाहिये कि वे एक ही परब्रह्म परमेश्वर अपनी अचिन्त्य शक्तिके सहित नाना रूपोंमें प्रकट हैं और यह सारा जगत् बाहर-भीतर उन एक परमात्मासे ही व्याप्त होनेके कारण उन्हींका स्वरूप है ॥ १० ॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥११॥

मनसा एव=(शुद्ध) मनसे ही; **इदम् आप्तव्यम्**=यह परमात्मतत्त्व प्राप्त किये जानेयोग्य है; **इह**=इस जगत्में (एक परमात्मासे अतिरिक्त); **नाना**=नाना (भिन्न-भिन्न भाव); **किंचन**=कुछ भी; **न अस्ति**=नहीं है; (इसलिये) **यः इह**= जो इस जगत्में; **नाना इव**=नानाकी भाँति; **पश्यति**=देखता है; **सः**=वह मनुष्य; **मृत्योः**=मृत्युसे; **मृत्युम् गच्छति**=मृत्युको प्राप्त होता है अर्थात् बार-बार जन्मता-मरता रहता है ॥ ११ ॥

व्याख्या—परमात्माका परमतत्त्व शुद्ध मनसे ही इस प्रकार जाना जा सकता है कि इस जगत्में एकमात्र पूर्णब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं । सब कुछ उन्हींका स्वरूप है । यहाँ परमात्मासे भिन्न कुछ भी नहीं है । जो यहाँ विभिन्नताकी झलक देखता है, वह मनुष्य मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है अर्थात् बार-बार जन्मता-मरता रहता है ॥ ११ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ एतद्वै तत् ॥१२॥

अङ्गुष्ठमात्रः=अङ्गुष्ठमात्र (परिमाणवाला); **पुरुषः**=परम पुरुष (परमात्मा); **आत्मनि मध्ये**=शरीरके मध्यभाग—हृदयाकाशमें; **तिष्ठति**=स्थित है; **भूतभव्यस्य**=जो कि भूत, (वर्तमान) और भविष्यका; **ईशानः**=शासन करनेवाला (है); **ततः**=उसे जान लेनेके बाद (वह); **न विजुगुप्सते**=किसीकी भी निन्दा नहीं करता; **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ १२ ॥

व्याख्या—यद्यपि अन्तर्यामी परमेश्वर समानभावसे सर्वदा सर्वत्र परिपूर्ण हैं, तथापि हृदयमें उनका विशेष स्थान माना गया है । परमेश्वर किसी स्थूल-सूक्ष्म आकार-विशेषवाले नहीं हैं, परंतु स्थितिके अनुसार वे सभी आकारोंसे सम्पन्न हैं । क्षुद्र चींटीके हृदयदेशमें वे चींटीके हृदय-परिमाणके अनुसार परिमाणवाले हैं और विशालकाय हाथीके हृदयमें उसके हृदय-परिमाणवाले बनकर विराजित हैं । मनुष्यका हृदय अङ्गुष्ठ-परिमाणका है, और मानवशरीर ही परमात्माकी प्राप्तिका अधिकारी माना गया है । अतः मनुष्यका हृदय ही परब्रह्म परमेश्वरकी उपलब्धिका स्थान समझा जाता है । इसलिये यहाँ मनुष्यके हृदय-परिमाणके अनुसार परमेश्वरको अङ्गुष्ठमात्रपरिमाणका कहा गया है । इस प्रकार परमेश्वरको अपने हृदयमें स्थित देखनेवाला स्वाभाविक ही यह जानता है कि इसी भाँति वे सबके हृदयमें स्थित हैं, अतएव वह फिर किसीकी निन्दा नहीं करता अथवा किसीसे घृणा नहीं करता । नचिकेता ! यही वह ब्रह्म हैं, जिनके विषयमें तुमने पूछा था ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ॥ एतद्वै तत् ॥१३॥

अङ्गुष्ठमात्रः=अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला; **पुरुषः**=परमपुरुष परमात्मा; **अधूमकः**=धूमरहित; **ज्योतिः इव**=ज्योतिकी भाँति है; **भूतभव्यस्य**=भूत, (वर्तमान और) भविष्यपर; **ईशानः**=शासन करनेवाला; **सः एव अद्य**=वह परमात्मा ही आज है; **उ**=और; **सः (एव) श्वः**=वही कल भी है (अर्थात् वह नित्य, सनातन है); **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ १३ ॥

व्याख्या—मनुष्यकी हृदय-गुफामें स्थित ये अङ्गुष्ठमात्र पुरुष भूत, भविष्य और वर्तमानका नियन्त्रण करनेवाले स्वतन्त्र शासक हैं। ये ज्योतिर्मय हैं। सूर्य, अग्निकी भाँति उष्ण प्रकाशवाले नहीं; परंतु दिव्य, निर्मल और शान्त प्रकाशस्वरूप हैं। लौकिक ज्योतियोंमें धूम्ररूप दोष होता है; ये धूम्ररहित—दोषरहित, सर्वथा विशुद्ध हैं। अन्य ज्योतियाँ घटती-बढ़ती हैं और समयपर बुझ जाती हैं; परंतु ये जैसे आज हैं, वैसे ही कल भी हैं। इनकी एकरसता नित्य अक्षुण्ण है। ये कभी न तो घटते-बढ़ते हैं और न कभी मिटते ही हैं। नचिकेता! ये परिवर्तनरहित अविनाशी परमेश्वर ही वे ब्रह्म हैं, जिनके सम्बन्धमें तुमने पूछा था* ॥ १३ ॥

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्मान् पृथक्पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥१४॥

यथा=जिस प्रकार; **दुर्गे**=ऊँचे शिखरपर; **वृष्टम्**=बरसा हुआ; **उदकम्**=जल; **पर्वतेषु**=पहाड़के नाना स्थलोंमें; **विधावति**=चारों ओर चला जाता है; **एवम्**=उसी प्रकार; **धर्मान्**=भिन्न-भिन्न धर्मों (स्वभावों) से युक्त देव, असुर, मनुष्य आदिको; **पृथक्**=परमात्मासे पृथक्; **पश्यन्**=देखकर (उनका सेवन करनेवाला मनुष्य); **तान् एव**=उन्हींके; **अनुविधावति**=पीछे दौड़ता रहता है (उन्हींके शुभाशुभ लोकोंमें और नाना उच्च-नीच योनियोंमें भटकता रहता है) ॥ १४ ॥

व्याख्या—वर्षाका जल एक ही है; पर वह जब ऊँचे पर्वतकी ऊबड़-खाबड़ चोटीपर बरसता है तो वहाँ ठहरता नहीं, तुरंत ही नीचेकी ओर बहकर विभिन्न वर्ण, आकार और गन्धको धारण करके पर्वतमें चारों ओर बिखर जाता है। इसी प्रकार एक ही परमात्मासे प्रवृत्त विभिन्न स्वभाववाले देव-असुर-मनुष्यादिको जो परमात्मासे पृथक् मानता है और पृथक् मानकर ही उनका सेवन करता है, उसे भी बिखरे हुए जलकी भाँति ही विभिन्न देव-असुरादिके लोकोंमें एवं नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकना पड़ता है, वह ब्रह्मको प्राप्त नहीं हो सकता ॥ १४ ॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥१५॥

यथा=(परंतु) जिस प्रकार; **शुद्धे (उदके)**=निर्मल जलमें; **आसिक्तम्**=(मेघोंद्वारा) सब ओरसे बरसाया हुआ; **शुद्धम्**=निर्मल; **उदकम्**=जल; **तादृक् एव**=वैसा ही; **भवति**=हो जाता है; **एवम्**=उसी प्रकार; **गौतम**=हे गौतमवंशी नचिकेता; **विजानतः**=(एकमात्र परब्रह्म पुरुषोत्तम ही सब कुछ है, इस प्रकार) जाननेवाले; **मुनेः**=मुनिका (अर्थात् संसारसे उपरत हुए महापुरुषका); **आत्मा**=आत्मा; **भवति**=(ब्रह्मको प्राप्त) हो जाता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—परंतु वही वर्षाका निर्मल जल यदि निर्मल जलमें ही बरसता है तो वह उसी क्षण निर्मल जल ही हो जाता है। उसमें न तो कोई विकार उत्पन्न होता है और न वह कहीं बिखरता ही है। इसी प्रकार, हे गौतमवंशीय नचिकेता! जो इस बातको भलीभाँति जान गया है कि जो कुछ है, वह सब परब्रह्म पुरुषोत्तम ही है, उस मननशील—संसारके बाहरी स्वरूपसे उपरत पुरुषका आत्मा परब्रह्ममें मिलकर उसके साथ तादात्म्यभावको प्राप्त हो जाता है ॥ १५ ॥

प्रथम वल्ली समाप्त ॥ १ ॥ (४)

* यहाँ 'अङ्गुष्ठमात्र' शब्द परमात्माका वाचक है, जीवका नहीं। प्रातःस्मरणीय आचार्यने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—"परमात्मैवायमङ्गुष्ठमात्रपरिमितः पुरुषो भवितुमर्हति। कस्मात्? शब्दात्—'ईशानो भूतभव्यस्य' इति। न ह्यन्यः परमेश्वराद् भूतभव्यस्य निरङ्कुशमीशिता।" अर्थात् यहाँ अङ्गुष्ठमात्र-परिमाण पुरुष परमात्मा ही है। कैसे जाना? 'ईशानो' आदि श्रुतिसे। भूत और भव्यका निरङ्कुश नियन्ता परमेश्वरके सिवा दूसरा नहीं हो सकता। (देखिये ब्रह्मसूत्र १। ३। २४ का शाङ्करभाष्य)

द्वितीय वल्ली

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ॥ एतद्वै तत् ॥ १ ॥

अवक्रचेतसः=सरल, विशुद्ध ज्ञानस्वरूप; **अजस्य**=अजन्मा परमेश्वरका; **एकादशद्वारम्**=ग्यारह द्वारोंवाला (मनुष्य-शरीररूप); **पुरम्**=पुर (नगर); (**अस्ति**)=है (इसके रहते हुए ही); **अनुष्ठाय**=(परमेश्वरका ध्यान आदि) साधन करके; **न शोचति**=(मनुष्य) कभी शोक नहीं करता; **च**=अपि तु; **विमुक्तः**=जीवन्मुक्त होकर; **विमुच्यते**=(मरनेके बाद) विदेहमुक्त हो जाता है; **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ १ ॥

व्याख्या—यह मनुष्य-शरीररूपी पुर दो आँख, दो कान, दो नासिकाके छिद्र, एक मुख, ब्रह्मरन्ध्र, नाभि, गुदा और शिश्न—इन ग्यारह द्वारोंवाला है। यह सर्वव्यापी, अविनाशी, अजन्मा, नित्य निर्विकार, एकरस, विशुद्ध ज्ञानस्वरूप परमेश्वरकी नगरी है। वे सर्वत्र समभावसे सदा परिपूर्ण रहते हुए भी अपनी राजधानीरूप इस मनुष्यशरीरके हृदय-प्रासादमें राजाकी भाँति विशेषरूपसे विराजित रहते हैं। इस रहस्यको समझकर मनुष्यशरीरके रहते हुए ही—जीते-जी जो मनुष्य भजन-स्मरणादि साधन करता है, नगरके महान् स्वामी परमेश्वरका निरन्तर चिन्तन और ध्यान करता है, वह कभी शोक नहीं करता; वह शोकके कारणरूप संसार-बन्धनसे छूटकर जीवन्मुक्त हो जाता है और शरीर छूटनेके पश्चात् विदेहमुक्त हो जाता है—परमात्माका साक्षात्कार करके जन्म-मृत्युके चक्रसे सदाके लिये छूट जाता है। यह जो सर्वव्यापक ब्रह्म है, यही वह हैं, जिनके सम्बन्धमें तुमने पूछा था ॥ १ ॥

सम्बन्ध—अब उस परमेश्वरकी सर्वरूपताका स्पष्टीकरण करते हैं—

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ २ ॥

शुचिषत्=जो विशुद्ध परमधाममें रहनेवाला; **हंसः**=स्वयंप्रकाश पुरुषोत्तम है (वही); **अन्तरिक्षसत्**=अन्तरिक्षमें निवास करनेवाला; **वसुः**=वसु है; **दुरोणसत्**=घरोंमें उपस्थित होनेवाला; **अतिथिः**=अतिथि है (और); **वेदिषत् होता**=यज्ञकी वेदीपर स्थापित अग्निस्वरूप तथा उसमें आहुति डालनेवाला 'होता' है (तथा); **नृषत्**=समस्त मनुष्योंमें रहनेवाला; **वरसत्**=मनुष्योंसे श्रेष्ठ देवताओंमें रहनेवाला; **ऋतसत्**=सत्यमें रहनेवाला और; **व्योमसत्**=आकाशमें रहनेवाला (है तथा); **अब्जाः**=जलोंमें नाना रूपोंसे प्रकट होनेवाला; **गोजाः**=पृथिवीमें नानारूपोंसे प्रकट होनेवाला; **ऋतजाः**=सत्कर्मोंमें प्रकट होनेवाला (और); **अद्रिजाः**=पर्वतोंमें नानारूपसे प्रकट होनेवाला (है); **बृहत् ऋतम्**=सबसे बड़ा परम सत्य है ॥ २ ॥

व्याख्या—जो प्राकृतिक गुणोंसे सर्वथा अतीत दिव्य विशुद्ध परमधाममें विराजित स्वयंप्रकाश परब्रह्म पुरुषोत्तम हैं, वही अन्तरिक्षमें विचरनेवाले वसु नामक देवता हैं, वही अतिथिके रूपमें गृहस्थके घरोंमें उपस्थित होते हैं, वही यज्ञकी वेदीपर प्रतिष्ठित ज्योतिर्मय अग्नि तथा उसमें आहुति प्रदान करनेवाले होते हैं, वही समस्त मनुष्योंके रूपमें स्थित हैं; मनुष्योंकी अपेक्षा श्रेष्ठ देवता और पितृ आदि रूपमें स्थित, आकाशमें स्थित और सत्यमें प्रतिष्ठित हैं; वही जलोंमें मत्स्य, शङ्ख, शुक्ति आदिके रूपमें प्रकट होते हैं; पृथिवीमें वृक्ष, अङ्कुर, अन्न, ओषधि आदिके रूपमें, यज्ञादि सत्कर्मोंमें नाना प्रकारके यज्ञफलादिके रूपमें और पर्वतोंमें नद-नदी आदिके रूपमें प्रकट होते हैं। वे सभी दृष्टियोंसे सभीकी अपेक्षा श्रेष्ठ, महान् और परम सत्य तत्त्व हैं* ॥२॥

---

* कुछ आदरणीय महानुभावोंने इस मन्त्रके ये अर्थ किये हैं—

१—जो सर्वथा दोषहीन सर्वसाररूप 'हंस' हैं (हं चासौ—दोषहीनश्चासौ, सश्च साररूपश्च इति हंसः), विशुद्ध (वायु) में स्थित शुचिषद् हैं, अन्तरिक्षमें स्थित सर्वोपरि सुखस्वरूप वसु (व=वरं, सु+सुखं, यस्य स वसुः) हैं, समस्त इन्द्रियोंके नियन्ता होता हैं, सबके द्वारा सम्मान्य वेद्य वेदिषत् हैं, घरोंमें अतिथि हैं या महान् ऐश्वर्यस्वरूप (अति—महान्, थ—सम्पत्ति-ऐश्वर्य) हैं, सोमरूपसे कलशमें स्थित दुरोणसत् हैं; जो मनुष्योंमें हैं, उनसे श्रेष्ठ देवताओंमें हैं, वेदोंमें ऋत या सत्यरूप हैं, महान् प्रकृतिमें या श्रीमें हैं, जलसे उत्पन्न

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥ ३ ॥

प्राणम्=(जो) प्राणको; **ऊर्ध्वम्**=ऊपरकी ओर; **उन्नयति**=उठाता है (और); **अपानम्**=अपानको; **प्रत्यक् अस्यति**=नीचे ढकेलता है; **मध्ये**=शरीरके मध्य (हृदय) में; **आसीनम्**=बैठे हुए (उस); **वामनम्**=सर्वश्रेष्ठ भजनेयोग्य परमात्माकी; **विश्वे देवाः**=सभी देवता; **उपासते**=उपासना करते हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या—शरीरमें नियमितरूपसे अनवरत प्राण-अपानादिकी क्रिया हो रही है; इन जड पदार्थोंमें जो क्रियाशीलता आ रही है, वह उन परमात्माकी शक्ति और प्रेरणासे ही आ रही है। वे ही मानव-हृदयमें राजाकी भाँति विराजित रहकर प्राणको ऊपरकी ओर चढ़ा रहे हैं और अपानको नीचेकी ओर ढकेल रहे हैं। इस प्रकार शरीरके अंदर होनेवाले सारे व्यापारोंका सुचारुरूपसे सम्पादन कर रहे हैं। उन हृदयस्थित परम भजनीय परब्रह्म पुरुषोत्तमकी सभी देवता उपासना कर रहे हैं—शरीरस्थित प्राण-मन-बुद्धि-इन्द्रियादिके सभी अधिष्ठातृ-देवता उन परमेश्वरकी प्रसन्नताके लिये उन्हींकी प्रेरणाके अनुसार नित्य सावधानीके साथ समस्त कार्योंका यथाविधि सम्पादन करते रहते हैं ॥ ३ ॥

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ॥ एतद्वै तत् ॥ ४ ॥

अस्य=इस; **शरीरस्थस्य**=शरीरमें स्थित; **विस्रंसमानस्य**=एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेवाले; **देहिनः**=जीवात्माके; **देहात्**=शरीरसे; **विमुच्यमानस्य**=निकल जानेपर; **अत्र**=यहाँ (इस शरीरमें); **किम् परिशिष्यते**=क्या शेष रहता है; **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ४ ॥

व्याख्या—यह एक शरीरसे दूसरे शरीरमें गमन करनेके स्वभाववाला देही (जीवात्मा) जब इस वर्तमान शरीरसे निकलकर चला जाता है और उसके साथ ही जब इन्द्रिय, प्राण आदि भी चले जाते हैं, तब इस मृत शरीरमें क्या बच रहता है ? देखनेमें तो कुछ भी नहीं रहता; पर वह परब्रह्म परमेश्वर, जो सदा-सर्वदा समानभावसे सर्वत्र परिपूर्ण है, जो चेतन जीव तथा जड प्रकृति—सभीमें सदा व्याप्त है, वह रह जाता है। यही वह ब्रह्म है, जिसके सम्बन्धमें तुमने पूछा था ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब निम्नाङ्कित दो मन्त्रोंमें यमराज नचिकेताके पूछे हुए तत्त्वको पुनः दूसरे प्रकारसे वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥
हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ ६ ॥

कश्चन=कोई भी; **मर्त्यः**=मरणधर्मा प्राणी; **न प्राणेन**=न तो प्राणसे (जीता है और); **न अपानेन**=न अपानसे (ही); **जीवति**=जीता है; **तु**=किंतु; **यस्मिन्**=जिसमें; **एतौ उपाश्रितौ**=(प्राण और अपान) ये दोनों आश्रय पाये हुए हैं; **इतरेण**=(ऐसे किसी) दूसरेसे ही; **जीवन्ति**=(सब) जीते हैं; **गौतम**=हे गौतमवंशीय; **गुह्यम् सनातनम्**=(वह) रहस्यमय

मत्स्यादिमें हैं, पृथ्वीसे उत्पन्न वृक्ष-अन्नादिमें हैं, पर्वतोंसे उत्पन्न नदी आदिमें हैं; जो मुक्त पुरुषोंमें हैं (मुक्तोंको 'ऋता' कहते हैं; उनमें रहकर जो उनका नियन्त्रण करता है, वह ऋतजाः है), और परम सत्य हैं तथा सब गुणोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं।

२—जो गमन करनेवाला है, आकाशमें चलनेवाला सूर्य है, आकाशमें व्याप्त वायु है, पृथ्वीमें रहनेवाला होता—अग्नि है, कलशमें स्थित सोम है, घरोंमें रहनेवाला ब्राह्मण अतिथि है, मनुष्योंमें गमन करनेवाला, देवताओंमें जानेवाला, यज्ञ या सत्यमें निवास करनेवाला, आकाशमें चलनेवाला, जलमें शंख-सीपी आदि रूपोंमें उत्पन्न होनेवाला, पृथ्वीमें अन्नादिरूपसे उत्पन्न होनेवाला, यज्ञरूपसे उत्पन्न होनेवाला, पर्वतोंसे नदी आदिके रूपमें उत्पन्न होनेवाला, सत्यस्वरूप और महान् है अर्थात् जगत्का एकमात्र सर्वव्यापक आत्मा है।

सनातन; **ब्रह्म**=ब्रह्म (जैसा है); **च**=और; **आत्मा**=जीवात्मा; **मरणम् प्राप्य**=मरकर; **यथा**=जिस प्रकारसे; **भवति**=रहता है; **इदम् ते**=यह बात तुम्हें; **हन्त प्रवक्ष्यामि**=मैं अब फिरसे बतलाऊँगा ॥ ५-६ ॥

व्याख्या—यमराज कहते हैं—नचिकेता ! एक दिन निश्चय ही मृत्युके मुखमें जानेवाले ये मनुष्यादि प्राणी न तो प्राणकी शक्तिसे जीवित रहते हैं और न अपानकी शक्तिसे ही । इन्हें जीवित रखनेवाला तो कोई दूसरा ही चेतन तत्त्व है और वह है जीवात्मा । ये प्राण-अपान दोनों उस जीवात्माके ही आश्रित हैं । जीवात्माके बिना एक क्षण भी ये नहीं रह सकते; जब जीवात्मा जाता है, तब केवल ये ही नहीं, इन्हींके साथ इन्द्रियादि सभी उसका अनुसरण करते हुए चले जाते हैं । अब मैं तुमको यह बतलाऊँगा कि मनुष्यके मरनेके बाद इस जीवात्माका क्या होता है, यह कहाँ जाता है, तथा किस प्रकार रहता है और साथ ही यह भी बतलाऊँगा कि उस परम रहस्यमय सर्वव्यापी सर्वाधार सर्वाधिपति परब्रह्म परमेश्वरका क्या स्वरूप है ॥ ५-६ ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥

यथाकर्म=जिसका जैसा कर्म होता है; **यथाश्रुतम्**=और शास्त्रादिके श्रवणद्वारा जिसको जैसा भाव प्राप्त हुआ है (उन्हींके अनुसार); **शरीरत्वाय**=शरीर धारण करनेके लिये; **अन्ये**=कितने ही; **देहिनः**=जीवात्मा तो; **योनिम्**=(नाना प्रकारकी जङ्गम) योनियोंको; **प्रपद्यन्ते**=प्राप्त हो जाते हैं और; **अन्ये**=दूसरे (कितने ही); **स्थाणुम्**=स्थाणु (स्थावर) भावका; **अनुसंयन्ति**=अनुसरण करते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या—यमराज कहते हैं कि अपने-अपने शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार और शास्त्र, गुरु, सङ्ग, शिक्षा, व्यवसाय आदिके द्वारा देखे-सुने हुए भावोंसे निर्मित अन्तःकालीन वासनाके अनुसार मरनेके पश्चात् कितने ही जीवात्मा तो दूसरा शरीर धारण करनेके लिये शुक्रके साथ माताकी योनिमें प्रवेश कर जाते हैं । इनमें जिनके पुण्य-पाप समान होते हैं, वे मनुष्यका, और जिनके पुण्य कम तथा पाप अधिक होते हैं, वे पशु-पक्षीका शरीर धारण करके उत्पन्न होते हैं और कितने ही, जिनके पाप अत्यधिक होते हैं, वे स्थावरभावको प्राप्त होते हैं अर्थात् वृक्ष, लता, तृण, पर्वत आदि जड शरीरोंमें उत्पन्न होते हैं ॥७॥

सम्बन्ध—यमराजने जीवात्माकी गति और परमात्माका स्वरूप—इन दो बातोंको बतलानेकी प्रतिज्ञा की थी; इनमें 'मरनेके बाद जीवात्माकी क्या गति होती है, इसको बतलाकर अब वे दूसरी बात बतलाते हैं—

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

यः एषः=जो यह; **कामम् कामम्**=(जीवोंके कर्मानुसार) नाना प्रकारके भोगोंका; **निर्मिमाणः**=निर्माण करनेवाला; **पुरुषः**=परमपुरुष परमेश्वर; **सुप्तेषु**=(प्रलयकालमें सबके) सो जानेपर भी; **जागर्ति**=जागता रहता है; **तत् एव**=वही; **शुक्रम्**=परम विशुद्ध तत्त्व है; **तत् ब्रह्म**=वही ब्रह्म है; **तत् एव**=वही; **अमृतम्**=अमृत; **उच्यते**=कहलाता है; (तथा) **तस्मिन्**=उसीमें; **सर्वे**=सम्पूर्ण; **लोकाः श्रिताः**=लोक आश्रय पाये हुए हैं; **तत् कश्चन उ**=उसे कोई भी; **न अत्येति**= अतिक्रमण नहीं कर सकता; **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ८ ॥

व्याख्या—जीवात्माओंके कर्मानुसार उनके लिये नाना प्रकारके भोगोंका निर्माण करनेवाला तथा उनकी यथायोग्य व्यवस्था करनेवाला जो यह परमपुरुष परमेश्वर समस्त जीवोंके सो जानेपर अर्थात् प्रलयकालमें सबका ज्ञान लुप्त हो जानेपर भी अपनी महिमामें नित्य जागता रहता है, जो स्वयं ज्ञानस्वरूप है, जिसका ज्ञान सदैव एकरस रहता है, कभी अधिक-न्यून या लुप्त नहीं होता, वही परम विशुद्ध दिव्य तत्त्व है, वही परब्रह्म है; उसीको ज्ञानी महापुरुषोंके द्वारा प्राप्य परम अमृतस्वरूप परमानन्द कहा जाता है । ये सम्पूर्ण लोक उसीके आश्रित हैं । उसे कोई भी नहीं लाँघ सकता—कोई भी उसके नियमोंका अतिक्रमण नहीं कर सकता । सभी सदा-सर्वदा एकमात्र उसीके शासनमें रहनेवाले और उसीके अधीन हैं । कोई भी उसकी महिमाका पार नहीं पा सकता । यही है वह ब्रह्म-तत्त्व, जिसके विषयमें तुमने पूछा था ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—अब अग्निके दृष्टान्तसे उस परब्रह्म परमेश्वरकी व्यापकता और निर्लेपताका वर्णन करते हैं—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥

यथा=जिस प्रकार; **भुवनम्**=समस्त ब्रह्माण्डमें; **प्रविष्टः**=प्रविष्ट; **एकः अग्निः**=एक ही अग्नि; **रूपम् रूपम्**=नाना रूपोंमें; **प्रतिरूपः**=उनके समान रूपवाला ही; **बभूव**=हो रहा है; **तथा**=वैसे (ही); **सर्वभूतान्तरात्मा**=समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा परब्रह्म; **एकः (सन्)**=एक होते हुए भी; **रूपम् रूपम्**=नाना रूपोंमें; **प्रतिरूपः**=उन्हींके-जैसे रूपवाला (हो रहा है); **च बहिः**=और उनके बाहर भी है ॥ ९ ॥

व्याख्या—एक ही अग्नि निराकाररूपसे सारे ब्रह्माण्डमें व्याप्त है, उसमें कोई भेद नहीं है; परंतु जब वह साकाररूपसे प्रज्वलित होता है, तब उन आधारभूत वस्तुओंका जैसा आकार होता है, वैसा ही आकार अग्निका भी दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी परमेश्वर एक हैं और सबमें समभावसे व्याप्त हैं, उनमें किसी प्रकारका कोई भेद नहीं है; तथापि वे भिन्न-भिन्न प्राणियोंमें उन-उन प्राणियोंके अनुरूप नाना रूपोंमें प्रकाशित होते हैं। भाव यह कि आधारभूत वस्तुके अनुरूप ही उनकी महिमाका प्राकट्य होता है। वास्तवमें उन परमेश्वरकी महत्ता इतनी ही नहीं है, इससे बहुत अधिक और विलक्षण है। उनकी अनन्त शक्तिके एक क्षुद्रतम अंशसे ही यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड नाना प्रकारकी आश्चर्यमय शक्तियोंसे सम्पन्न हो रहा है ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—वही बात वायुके दृष्टान्तसे कहते हैं—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥१०॥

यथा=जिस प्रकार; **भुवनम्**=समस्त ब्रह्माण्डमें; **प्रविष्टः**=प्रविष्ट; **एकः वायुः**=एक (ही) वायु; **रूपम् रूपम्**=नाना रूपोंमें; **प्रतिरूपः**=उनके समान रूपवाला ही; **बभूव**=हो रहा है; **तथा**=वैसे (ही;) **सर्वभूतान्तरात्मा**=सब प्राणियोंका अन्तरात्मा परब्रह्म; **एकः (सन् अपि)**=एक होते हुए भी; **रूपम् रूपम्**=नाना रूपोंमें; **प्रतिरूपः**=उन्हींके-जैसे रूपवाला (हो रहा है); **बहिः च**=और उनके बाहर भी है ॥ १० ॥

व्याख्या—एक ही वायु अव्यक्तरूपसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें व्याप्त है, तथापि व्यक्तमें भिन्न-भिन्न वस्तुओंके संयोगसे उन-उन वस्तुओंके अनुरूप गति और शक्तिवाला दिखलायी देता है। उसी प्रकार समस्त प्राणियोंका अन्तर्यामी परमेश्वर एक होते हुए भी उन-उन प्राणियोंके सम्बन्धसे पृथक्-पृथक् शक्ति और गतिवाला दीखता है; किंतु वह उतना ही नहीं है, उन सबके बाहर भी अनन्त—असीम एवं विलक्षण रूपसे स्थित है। (नवम मन्त्रकी व्याख्याके अनुसार इसे भी समझ लेना चाहिये)॥ १० ॥

सम्बन्ध—इस मन्त्रमें सूर्यके दृष्टान्तसे परमात्माकी निर्लेपता दिखलाते हैं—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥११॥

यथा=जिस प्रकार; **सर्वलोकस्य**=समस्त ब्रह्माण्डका; **चक्षुः सूर्यः**=प्रकाशक सूर्य देवता; **चाक्षुषैः**=लोगोंकी आँखोंसे होनेवाले; **बाह्यदोषैः**=बाहरके दोषोंसे; **न लिप्यते**=लिप्त नहीं होता; **तथा**=उसी प्रकार; **सर्वभूतान्तरात्मा**=सब प्राणियोंका अन्तरात्मा परमात्मा; **एकः**=एक है; (तो भी) **लोकदुःखेन**=लोगोंके दुःखोंसे; **न लिप्यते**=लिप्त नहीं होता; **[यतः]**=क्योंकि; **बाह्यः**=सबमें रहता हुआ भी वह सबसे अलग है ॥ ११ ॥

व्याख्या—एक ही सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है। उसका प्रकाश प्राणिमात्रकी आँखोंका सहायक है। उस प्रकाशकी ही सहायता लेकर लोग नाना प्रकारके गुणदोषमय कर्म करते हैं; परंतु सूर्य उनके नेत्रोंद्वारा किये

जानेवाले नाना प्रकारके बाह्य कर्मरूप दोषोंसे तनिक भी लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार सबके अन्तर्यामी भगवान् परब्रह्म पुरुषोत्तम एक हैं; उन्हींकी शक्तिसे शक्तियुक्त होकर मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा मनुष्य नाना प्रकारके शुभाशुभ कर्म करते हैं तथा उनका फलरूप सुख-दुःखादि भोगते हैं। परंतु वे परमेश्वर उनके कर्म और दुःखोंसे लिप्त नहीं होते; क्योंकि वे सबमें रहते हुए भी सबसे पृथक् और सर्वथा असङ्ग हैं ॥ ११ ॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥

यः=जो; **सर्वभूतान्तरात्मा**=सब प्राणियोंका अन्तर्यामी; **एकः वशी**=अद्वितीय एवं सबको वशमें रखनेवाला (परमात्मा); **एकम् रूपम्**=(अपने) एक ही रूपको; **बहुधा**=बहुत प्रकारसे; **करोति**=बना लेता है; **तम् आत्मस्थम्**=उस अपने अंदर रहनेवाले (परमात्मा) को; **ये धीराः**=जो ज्ञानी पुरुष; **अनुपश्यन्ति**=निरन्तर देखते रहते हैं; **तेषाम्**=उन्हींको; **शाश्वतम् सुखम्**=सदा अटल रहनेवाला परमानन्दस्वरूप वास्तविक सुख (मिलता है); **इतरेषाम् न**=दूसरोंको नहीं ॥१२॥

व्याख्या—जो परमात्मा सदा सबके अन्तरात्मारूपसे स्थित हैं, जो अद्वितीय हैं और सम्पूर्ण जगत्में देव-मनुष्यादि सभीको सदा अपने वशमें रखते हैं, वे ही सर्वशक्तिमान् सर्वभवनसमर्थ परमेश्वर अपने एक ही रूपको अपनी लीलासे बहुत प्रकारका बना लेते हैं। उन परमात्माको जो ज्ञानी महापुरुष निरन्तर अपने अंदर स्थित देखते हैं, उन्हींको सदा स्थिर रहनेवाला—सनातन परमानन्द मिलता है, दूसरोंको नहीं ॥ १२ ॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥१३॥

यः=जो; **नित्यानाम्***=नित्योंका (भी); **नित्यः**=नित्य (है); **चेतनानाम्**=चेतनोंका (भी); **चेतनः**=चेतन है (और); **एकः बहूनाम्**=एक होते हुए भी इन अनेक (जीवों)की; **कामान्**=कामनाओंको; **विदधाति**=पूर्ण करता है; **तम् आत्मस्थम्**= उस अपने अंदर रहनेवाले (पुरुषोत्तमको); **ये धीराः**=जो ज्ञानी; **अनुपश्यन्ति**=निरन्तर देखते रहते हैं; **तेषाम्**=उन्हींको; **शाश्वती शान्तिः**=सदा अटल रहनेवाली शान्ति (प्राप्त होती है); **इतरेषाम् न**=दूसरोंको नहीं ॥ १३ ॥

व्याख्या—जो समस्त नित्य चेतन आत्माओंके भी नित्य चेतन आत्मा हैं और जो स्वयं एक होते हुए ही अनन्त जीवोंके भोगोंका उन-उनके कर्मानुसार निर्माण करते हैं, उन सर्वशक्तिमान् परब्रह्म पुरुषोत्तमको जो ज्ञानी महापुरुष अपने अंदर निरन्तर स्थित देखते हैं, उन्हींको सदा स्थिर रहनेवाली—सनातनी परम शान्ति मिलती है, दूसरोंको नहीं †॥ १३ ॥

सम्बन्ध—जिज्ञासु नचिकेता इस प्रकार उस ब्रह्मप्राप्तिके आनन्द और शान्तिकी महिमा सुनकर मन-ही-मन विचार करने लगा—

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥१४॥

---

* कुछ लोगोंने 'नित्यः अनित्यानाम्' पाठ मानकर उसका अर्थ यह किया है कि यह आत्मा जितने भी विनाशशील भाव-पदार्थ हैं, उनमें अविनाशी है। अर्थात् यह 'शक्तिशेषलयका आधार' है। जब समस्त पदार्थोंका लय हो जाता है, तब उस लयको भी अपने अंदर विलीन करनेवाला, लयका भी साक्षी आत्मा रह जाता है। इसलिये वह अनित्योंमें नित्य है।

† कुछ महानुभावोंने इस मन्त्रका ऐसा अर्थ किया है—

जो आकाश, काल आदि नित्यके नामसे प्रसिद्ध पदार्थोंको नित्यत्व प्रदान करनेवाला परम नित्य है और जो ब्रह्मादि चेतनोंको भी चेतनत्व प्रदान करनेवाला चेतन है, जो अकेला ही अनेकोंकी कामनाएँ पूर्ण करता है, अपनी बुद्धिमें स्थित उस आत्माको जो विवेकशील पुरुष देखते हैं, उन्हींको नित्य शान्ति प्राप्त होती है, दूसरोंको नहीं।

तत्=वह; **अनिर्देश्यम्**=अनिर्वचनीय; **परमम्**=परम; **सुखम्**=सुख; **एतत्**=यह (परमात्मा ही है); **इति**=यों; **मन्यन्ते**=(ज्ञानीजन) मानते हैं; **तत्**=उसको; **कथम् नु**=किस प्रकारसे; **विजानीयाम्**=मैं भलीभाँति समझूँ; **किमु**=क्या वह; **भाति**=प्रकाशित होता है; **वा**=या; **विभाति**=अनुभवमें आता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—उस सनातन परम आनन्द और परम शान्तिको प्राप्त ज्ञानी महात्माजन ऐसा मानते हैं कि परब्रह्म पुरुषोत्तम ही वह अलौकिक सर्वोपरि आनन्द है, जिसका निर्देश मन-वाणीसे नहीं किया जा सकता। उस परमानन्दस्वरूप परमेश्वरको मैं अपरोक्षरूपसे किस प्रकार जानूँ ? क्या वह प्रत्यक्ष प्रकट होता है ? या अनुभवमें आता है ? उसका ज्ञान किस प्रकारसे होता है ? ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—नचिकेताके आन्तरिक भावको समझकर यमराजने कहा—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१५॥

तत्र=वहाँ; **न सूर्यः भाति**=न (तो) सूर्य प्रकाशित होता है; **न चन्द्रतारकम्**=न चन्द्रमा और तारोंका समुदाय (ही प्रकाशित होता है); **न इमाः विद्युतः भान्ति**=(और) न ये बिजलियाँ ही (वहाँ) प्रकाशित होती है; **अयम् अग्निः कुतः**=फिर यह (लौकिक) अग्नि कैसे (प्रकाशित हो सकता है क्योंकि); **तम्**=उसके; **भान्तम् एव**=प्रकाशित होनेपर ही (उसीके प्रकाशसे); **सर्वम्**=ऊपर बतलाये हुए सूर्यादि सब; **अनुभाति**=प्रकाशित होते हैं; **तस्य भासा**=उसीके प्रकाशसे; **इदम् सर्वम्**=यह सम्पूर्ण जगत्; **विभाति**=प्रकाशित होता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—उस स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरके समीप यह सूर्य नहीं प्रकाशित होता। जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश प्रकट होनेपर खद्योतका प्रकाश लुप्त हो जाता है, वैसे ही सूर्यका आंशिक तेज भी उस असीम तेजके सामने लुप्त हो जाता है। चन्द्रमा, तारागण और बिजली भी वहाँ नहीं चमकते; फिर इस लौकिक अग्निकी तो बात ही क्या है। क्योंकि प्राकृत जगत्में जो कुछ भी तत्त्व प्रकाशशील हैं, सब उस परब्रह्म परमेश्वरकी प्रकाश-शक्तिके अंशको पाकर ही प्रकाशित हैं। वे अपने प्रकाशकके समीप अपना प्रकाश कैसे फैला सकते हैं। सारांश यह कि यह सम्पूर्ण जगत् उस जगदात्मा पुरुषोत्तमके प्रकाशसे अथवा उस प्रकाशके एक क्षुद्रतम अंशसे प्रकाशित हो रहा है ॥ १५ ॥

॥ द्वितीय वल्ली समाप्त ॥ २ ॥ (५)

तृतीय वल्ली

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥ १ ॥

ऊर्ध्वमूलः=ऊपरकी ओर मूलवाला; **अवाक्शाखः**=नीचेकी ओर शाखावाला; **एषः**=यह (प्रत्यक्ष जगत्); **सनातनः अश्वत्थः**=सनातन पीपलका वृक्ष है। [**तन्मूलम्**=इसका मूलभूत;] **तत् एव शुक्रम्**=वह (परमेश्वर) ही विशुद्ध तत्त्व है; **तत् ब्रह्म**=वही ब्रह्म है (और); **तत् एव**=वही; **अमृतम् उच्यते**=अमृत कहलाता है; **सर्वे लोकाः**=सब लोक; **तस्मिन्**=उसीके; **श्रिताः**=आश्रित हैं; **कश्चन उ**=कोई भी; **तत्**=उसको; **न अत्येति**=लाँघ नहीं सकता; **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ १ ॥

व्याख्या—जिसका मूलभूत परब्रह्म पुरुषोत्तम ऊपर है अर्थात् सर्वश्रेष्ठ, सबसे सूक्ष्म और सर्वशक्तिमान् है और जिसकी प्रधान शाखा ब्रह्मा तथा अवान्तर शाखाएँ देव, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि क्रमसे नीचे हैं, ऐसा यह ब्रह्माण्डरूप पीपल-वृक्ष अनादिकालीन—सदासे है। कभी प्रकटरूपमें और कभी अप्रकटरूपसे अपने कारणरूप परब्रह्ममें नित्य स्थित रहता है, अतः

सनातन है। इसका जो मूल कारण है, जिससे यह उत्पन्न होता है, जिससे सुरक्षित है और जिसमें विलीन होता है, वही विशुद्ध दिव्य तत्त्व है, वही ब्रह्म है, उसीको अमृत कहते हैं, तथा सब लोक उसीके आश्रित हैं। कोई भी उसका अतिक्रमण करनेमें समर्थ नहीं है। नचिकेता! यही है वह तत्त्व, जिसके सम्बन्धमें तुमने पूछा था ॥ १ ॥

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ ॥

निःसृतम्=(परब्रह्म परमेश्वरसे) निकला हुआ; **इदम् यत् किं च**=यह जो कुछ भी; **सर्वम् जगत्**=सम्पूर्ण जगत् है; **प्राणे एजति**=उस प्राणस्वरूप परमेश्वरमें ही चेष्टा करता है; **एतत्**=इस; **उद्यतम् वज्रम्**=उठे हुए वज्रके समान; **महत् भयम्**=महान् भयस्वरूप (सर्वशक्तिमान्) परमेश्वरको; **ये विदुः**=जो जानते हैं; **ते**=वे; **अमृताः भवन्ति**=अमर हो जाते हैं अर्थात् जन्म-मरणसे छूट जाते हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—यह जो कुछ भी इन्द्रिय, मन और बुद्धिके द्वारा देखने, सुनने और समझनेमें आनेवाला सम्पूर्ण चराचर जगत् है, सब अपने परम कारणरूप जिन परब्रह्म पुरुषोत्तमसे प्रकट हुआ है, उन्हीं प्राणस्वरूप परमेश्वरमें चेष्टा करता है। अर्थात् इसकी चेष्टाओंके आधार एवं नियामक भी वे परमेश्वर ही हैं। वे परमेश्वर परम दयालु होते हुए भी महान् भयरूप हैं—छोटे-बड़े सभी उनसे भय मानते हैं। साथ ही वे उठे हुए वज्रके समान हैं। जिस प्रकार हाथमें वज्र लिये हुए प्रभुको देखकर सभी सेवक यथाविधि निरन्तर आज्ञापालनमें तत्पर रहते हैं, उसी प्रकार समस्त देवता सदा-सर्वदा नियमानुसार इन परमेश्वरके आज्ञापालनमें नियुक्त रहते हैं। इस परब्रह्मको जो जानते हैं, वे तत्त्वज्ञ पुरुष अमर हो जाते हैं—जन्म-मृत्युके चक्रसे छूट जाते हैं ॥ २ ॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३ ॥

अस्य भयात्=इसीके भयसे; **अग्निः तपति**=अग्नि तपता है; **भयात्**=(इसीके) भयसे; **सूर्यः तपति**=सूर्य तपता है; **च**=तथा; (**अस्य**) **भयात्**=इसीके भयसे; **इन्द्रः वायुः**=इन्द्र, वायु; **च**=और; **पञ्चमः मृत्युः**=पाँचवें मृत्यु देवता; **धावति**=(अपने-अपने काममें) प्रवृत्त हो रहे हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या—सबपर शासन करनेवाले और सबको नियन्त्रणमें रखकर नियमानुसार चलानेवाले इन परमेश्वरके भयसे ही अग्नि तपता है, इन्हींके भयसे सूर्य तप रहा है; इन्हींके भयसे इन्द्र, वायु और पाँचवें मृत्यु देवता दौड़-दौड़कर जल आदि बरसाना, चलना, जीवोंके शरीरोंका अन्त करना आदि अपना-अपना काम त्वरापूर्वक कर रहे हैं। सारांश यह कि इस जगत्में देवसमुदायके द्वारा सारे कार्य जो नियमित रूपसे सम्पन्न हो रहे हैं, वे इन सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, सबके शासक एवं नियन्ता परमेश्वरके अमोघ शासनसे ही हो रहे हैं ॥ ३ ॥

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥

चेत्=यदि; **शरीरस्य**=शरीरका; **विस्रसः**=पतन होनेसे; **प्राक्**=पहले-पहले; **इह**=इस मनुष्यशरीरमें ही (साधक); **बोद्धुम्**=परमात्माका साक्षात्; **अशकत्**=कर सका (तब तो ठीक है); **ततः**=नहीं तो फिर; **सर्गेषु**=अनेक कल्पोंतक; **लोकेषु**=नाना लोक और योनियोंमें; **शरीरत्वाय कल्पते**=शरीर धारण करनेको विवश होता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—इस सर्वशक्तिमान्, सबके प्रेरक और सबपर शासन करनेवाले परमेश्वरको यदि कोई साधक इस दुर्लभ मनुष्यशरीरका नाश होनेसे पहले ही जान लेता है, अर्थात् जबतक इसमें भजन-स्मरण आदि साधन करनेकी शक्ति बनी हुई है और जबतक यह मृत्युके मुखमें नहीं चला जाता, तभीतक (इसके रहते-रहते ही) सावधानीके साथ प्रयत्न करके परमात्माके तत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब तो उसका जीवन सफल हो जाता है; अनादिकालसे जन्म-मृत्युके प्रवाहमें पड़ा हुआ वह जीव उससे छुटकारा पा जाता है। नहीं तो, फिर उसे अनेक कल्पोंतक विभिन्न लोकों और योनियोंमें शरीर धारण करनेके

लिये बाध्य होना पड़ता है । अतएव मनुष्यको मृत्युसे पहले-पहले ही परमात्माको जान लेना चाहिये* ॥ ४ ॥

यथाऽऽदर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥

यथा आदर्शे=जैसे दर्पणमें (सामने आयी हुई वस्तु दीखती है); **तथा आत्मनि**=वैसे ही शुद्ध अन्तःकरणमें (ब्रह्मके दर्शन होते हैं); **यथा स्वप्ने**=जैसे स्वप्नमें (वस्तु अस्पष्ट दिखलायी देती है); **तथा पितृलोके**=उसी प्रकार पितृलोकमें (परमेश्वर दीखता है); **यथा अप्सु**=जैसे जलमें (वस्तुके रूपकी झलक पड़ती है); **तथा गन्धर्वलोके**=उसी प्रकार गन्धर्वलोकमें; **परि ददृशे इव**=परमात्माकी झलक-सी पड़ती है (और); **ब्रह्मलोके**=ब्रह्मलोकमें (तो); **छायातपयोः इव**=छाया और धूपकी भाँति (आत्मा और परमात्मा दोनोंका स्वरूप पृथक्-पृथक् स्पष्ट दिखलायी देता है) ॥ ५ ॥

व्याख्या—जैसे मलरहित दर्पणमें उसके सामने आयी हुई वस्तु दर्पणसे विलक्षण और स्पष्ट दिखलायी देती है, उसी प्रकार ज्ञानी महापुरुषोंके विशुद्ध अन्तःकरणमें वे परमेश्वर उससे विलक्षण एवं स्पष्ट दिखलायी देते हैं । जैसे स्वप्नमें वस्तुसमूह यथार्थरूपमें न दीखकर स्वप्नद्रष्टा मनुष्यकी वासना और विविध संस्कारोंके अनुसार कहींकी वस्तु कहीं विशृङ्खलरूपसे अस्पष्ट दिखायी देती है, वैसे ही पितृलोकमें परमेश्वरका स्वरूप यथावत् स्पष्ट न दीखकर अस्पष्ट ही दीखता है; क्योंकि पितृलोकको प्राप्त प्राणी पूर्व-जन्मकी स्मृति और वहाँके सम्बन्धियोंका पूर्ववत् ज्ञान होनेके कारण तदनुरूप वासनाजालमें आबद्ध रहते हैं । गन्धर्वलोक पितृलोककी अपेक्षा कुछ श्रेष्ठ है; इसलिये जैसे स्वप्नकी अपेक्षा जाग्रत् अवस्थामें जलके अंदर देखनेपर प्रतिबिम्ब कुछ-का-कुछ न दीखकर यथावत् तो दीखता है, परंतु जलकी लहरोंके कारण हिलता हुआ-सा प्रतीत होता है, स्पष्ट नहीं दीखता, वैसे ही गन्धर्वलोकमें भी भोग-लहरियोंमें लहराते हुए चित्तसे युक्त वहाँके निवासियोंको भगवान्‌के सर्वथा स्पष्ट दर्शन नहीं होते । किंतु ब्रह्मलोकमें वहाँ रहनेवालोंको छाया और धूपकी तरह अपना और उन परब्रह्म परमेश्वरका ज्ञान प्रत्यक्ष और सुस्पष्ट होता है । वहाँ किसी प्रकारका भ्रम नहीं रहता । तीसरी वल्लीके पहले मन्त्रमें बतलाया गया है कि यह मनुष्यशरीर भी एक लोक है, इसमें परब्रह्म परमेश्वर और जीवात्मा—दोनों छाया और धूपकी तरह हृदयरूप गुफामें रहते हैं । अतः मनुष्यको दूसरे लोकोंकी कामना न करके इस मनुष्यशरीरके रहते-रहते ही उस परब्रह्म परमेश्वरको जान लेना चाहिये । यही इसका अभिप्राय है† ॥ ५ ॥

---

* एक महानुभावने इस मन्त्रमें 'सर्गेषु'के स्थानपर 'स्वर्गेषु' पाठ मानकर इस प्रकार अर्थ किया है—

यदि इस शरीरका पतन होनेसे पहले ही कोई भगवान्‌को जान लेता है तो वह फिर स्वर्ग नामसे ख्यात वैकुण्ठादि दिव्य लोकों-में अप्राकृत चिदानन्दात्मक शरीर प्राप्त करनेमें समर्थ होता है ।

† इस मन्त्रका भावार्थ निम्नलिखित रूपोंमें भी किया गया है—

१—जैसे दर्पणमें मुखमण्डल स्पष्ट दीखता है, वैसे ही महापुरुषोंको ज्ञाननेत्रोंके द्वारा अपने अंदर भगवान्‌के स्पष्ट दर्शन होते हैं । लोकोंमें प्रायः इस प्रकारका स्पष्ट ज्ञान नहीं होता । पितृलोकमें वैसे ही अस्पष्ट ज्ञान होता है, जैसा स्वप्नमें होता है; गन्धर्वलोकका स्तर ज्ञानमें पितृलोककी अपेक्षा कहीं ऊँचा है, इसलिये वहाँ पितृलोककी अपेक्षा कुछ अधिक स्पष्ट ज्ञान होता है—वैसे ही जैसे लहराते हुए जलमें अस्पष्ट मुख दीखता है । ब्रह्मलोकमें अधिक स्पष्ट ज्ञान होता है—वैसे ही जैसे छाया-धूपके बीचमें प्रभातके समय, जब न तो दुपहरीका प्रकाश रहता है और न रात्रिका अन्धकार होता है एवं वस्तु स्पष्ट दीखती है ।

२—जैसा काँच होता है, उसके सामने आयी हुई वस्तु उसीके अनुसार छोटी-बड़ी, दूर-समीप या लाल-पीली दिखलायी देती है । वैसे ही इस लोकमें मनुष्यका जैसा—मलिन, मिश्रित अथवा स्वच्छ अन्तःकरण होता है, वैसा ही उसके द्वारा भगवान्‌का रूप समझमें आता है । पितृलोक अपेक्षाकृत शुद्ध है; इसलिये वहाँ, जैसे स्वप्नमें वस्तु विशृङ्खल दीखनेपर भी कुछ स्पष्ट दीखती है, वैसे ही पितृलोकमें परमेश्वरके रूपका ज्ञान होता है । गन्धर्वलोकमें, निर्मल जलमें दीखनेवाले रूपकी भाँति और भी स्पष्ट दिखायी देता है एवं ब्रह्मलोकमें तो छाया तथा धूपकी भाँति बहुत स्पष्ट रूपमें ऐसा ज्ञान होता है कि पूर्णप्रकाश परमेश्वरके साथ ही उसीके आधारपर अल्पप्रकाश जीवात्मा भी स्थित है अर्थात् एक ही परमात्मा दो रूपोंमें प्रकट हैं ।

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६ ॥

पृथक्=(अपने-अपने कारणसे) भिन्न-भिन्न रूपोंमें; **उत्पद्यमानानाम्**= उत्पन्न हुई; **इन्द्रियाणाम्**= इन्द्रियोंकी; **यत्**= जो; **पृथक् भावम्**=पृथक्-पृथक् सत्ता है; **च**=और; [**यत्**=जो उनका;] **उदयास्तमयौ**=उदय हो जाना और लय हो जाना-रूप स्वभाव है; [**तत्**=उसे]; **मत्वा**=जानकर; **धीरः**=(आत्माका स्वरूप उनसे विलक्षण समझनेवाला) धीर पुरुष; **न शोचति**=शोक नहीं करता ॥ ६ ॥

व्याख्या—शब्द-स्पर्शादि विषयोंके अनुभवरूप पृथक्-पृथक् कार्य करनेके लिये भिन्न-भिन्न रूपमें उत्पन्न हुई इन्द्रियोंके जो पृथक्-पृथक् भाव हैं तथा जाग्रत् अवस्थामें कार्यशील हो जाना और सुषुप्तिकालमें लय हो जाना रूप जो उनकी परिवर्तन-शीलता है, इनपर विचार करके जब बुद्धिमान् मनुष्य इस रहस्यको समझ लेता है कि 'ये इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि या इनका सङ्घातरूप यह शरीर मैं नहीं हूँ, मैं इनसे सर्वथा विलक्षण नित्य चेतन हूँ, सर्वथा विशुद्ध एवं सदा एकरस हूँ,' तब वह किसी प्रकारका शोक नहीं करता। सदाके लिये दुःख और शोकसे रहित हो जाता है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—इस मन्त्रमें तत्त्वविचार करते हैं—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥

इन्द्रियेभ्यः=इन्द्रियोंसे (तो); **मनः**=मन; **परम्**=श्रेष्ठ है; **मनसः**=मनसे; **सत्त्वम्**=बुद्धि; **उत्तमम्**=उत्तम है; **सत्त्वात्**=बुद्धिसे; **महान् आत्मा**=उसका स्वामी जीवात्मा; **अधि**=ऊँचा है और; **महतः**=जीवात्मासे; **अव्यक्तम्**=अव्यक्त शक्ति; **उत्तमम्**=उत्तम है ॥ ७ ॥

व्याख्या—इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि उत्तम है, बुद्धिसे उनका स्वामी जीवात्मा ऊँचा है; क्योंकि उन सबपर उसका अधिकार है। वे सभी उसकी आज्ञा पालन करनेवाले हैं और यह इनका शासक है, अतः उनसे सर्वथा विलक्षण है। इस जीवात्मासे भी इसका अव्यक्त शरीर—भगवान्‌की वह प्रकृति प्रबल है, जिसने इसको बन्धनमें डाल रक्खा है। तुलसीदास-जीने भी कहा है 'जेहि बस कीन्हे जीव निकाया'। गीतामें भी प्रकृतिजनित तीनों गुणोंके द्वारा जीवात्माके बाँधे जानेकी बात कही गयी है (१४। ५) ॥ ७ ॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥

तु=परन्तु; **अव्यक्तात्**=अव्यक्तसे (भी वह); **व्यापकः**=व्यापक; **च**=और; **अलिङ्गः एव**=सर्वथा आकाररहित; **पुरुषः**=परम पुरुष; **परः**=श्रेष्ठ है; **यम्**=जिसको; **ज्ञात्वा**=जानकर; **जन्तुः**=जीवात्मा; **मुच्यते**=मुक्त हो जाता है; **च**=और; **अमृतत्वम्**=अमृतस्वरूप आनन्दमय ब्रह्मको; **गच्छति**=प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—परंतु इस प्रकृतिसे भी इसके स्वामी परमपुरुष परमात्मा श्रेष्ठ हैं, जो निराकाररूपसे सर्वत्र व्यापक हैं (गीता ९। ४)। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह इस प्रकृतिके बन्धनसे छूटनेके लिये इसके स्वामी परब्रह्म पुरुषोत्तमकी शरण ग्रहण करे। परमात्मा जब इस जीवपर दया करके मायाके परदेको हटा लेते हैं, तभी इसको उनकी प्राप्ति होती है। नहीं तो, यह भाग्यहीन जीव सर्वदा अपने समीप रहते हुए भी उन परमेश्वरको पहचान नहीं पाता, जिनको जानकर यह जीवात्मा प्रकृतिके बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाता है और अमृतस्वरूप परमानन्दको पा लेता है ॥ ८ ॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥

अस्य=इस परमेश्वरका; **रूपम्**=वास्तविक स्वरूप; **संदृशे**=अपने सामने प्रत्यक्ष विषयके रूपमें; **न तिष्ठति**=नहीं ठहरता

एनम्=इसको; **कश्चन**=कोई भी; **चक्षुषा**=चर्मचक्षुओंद्वारा; **न पश्यति**=नहीं देख पाता; **मनसा**=मनसे; **अभिक्लृप्तः**=बारंबार चिन्तन करके ध्यानमें लाया हुआ (वह परमात्मा); **हृदा**=निर्मल और निश्चल हृदयसे; **मनीषा**=(और) विशुद्ध बुद्धिके द्वारा; [**दृश्यते**=देखनेमें आता है;] **ये एतत् विदुः**=जो इसको जानते हैं; **ते अमृताः भवन्ति**=वे अमृत (आनन्द) स्वरूप हो जाते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या—इन परब्रह्म परमेश्वरका दिव्य स्वरूप प्रत्यक्ष विषयके रूपमें अपने सामने नहीं ठहरता; परमात्माके दिव्य-रूपको कोई भी मनुष्य प्राकृत चर्मचक्षुओंके द्वारा नहीं देख सकता। जो भाग्यवान् साधक निरन्तर प्रेमपूर्वक मनसे उनका चिन्तन करता रहता है, उसके हृदयमें जब भगवान्‌के उस दिव्य स्वरूपका ध्यान प्रगाढ़ होता है, उस समय उस साधकका हृदय भगवान्‌के ध्यानजनित स्वरूपमें निश्चल हो जाता है। ऐसे निश्चल हृदयसे ही वह साधक विशुद्ध बुद्धिरूप नेत्रोंके द्वारा परमात्माके उस दिव्य स्वरूपकी झाँकी करता है। जो इन परमेश्वरको जान लेते हैं, वे अमृत हो जाते हैं, अर्थात् परमानन्द-स्वरूप बन जाते हैं ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—योगधारणाके द्वारा मन और इन्द्रियोंको रोककर परमात्माको प्राप्त करनेका दूसरा साधन बतलाते हैं—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥१०॥

यदा=जब; **मनसा सह**=मनके सहित; **पञ्च ज्ञानानि**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ; **अवतिष्ठन्ते**=भलीभाँति स्थिर हो जाती हैं; **बुद्धिः च**=और बुद्धि भी; **न विचेष्टति**=किसी प्रकारकी चेष्टा नहीं करती; **ताम्**=उस स्थितिको; **परमाम् गतिम् आहुः**=(योगी) परमगति कहते हैं ॥ १० ॥

व्याख्या—योगाभ्यास करते-करते जब मनके सहित पाँचों इन्द्रियाँ भलीभाँति स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी एक परमात्माके स्वरूपमें इस प्रकार स्थित हो जाती है, जिससे उसको परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुका तनिक भी ज्ञान नहीं रहता, उससे कोई भी चेष्टा नहीं बनती, उस स्थितिको योगीगण परमगति—योगकी सर्वोत्तम स्थिति—बतलाते हैं ॥१०॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥११॥

ताम्=उस; **स्थिराम् इन्द्रियधारणाम्**=इन्द्रियोंकी स्थिर धारणाको ही; **योगम् इति**='योग'; **मन्यन्ते**=मानते हैं; **तदा**=उस समय; **अप्रमत्तः**=(साधक) प्रमादरहित; **भवति**=हो जाता है; **हि योगः**=क्योंकि योग; **प्रभवाप्ययौ**=उदय और अस्त होनेवाला है ॥ ११ ॥

व्याख्या—इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी स्थिर धारणाका ही नाम योग है—ऐसा अनुभवी योगी महानुभाव मानते हैं; क्योंकि उस समय साधक विषयदर्शनरूप सब प्रकारके प्रमादसे सर्वथा रहित हो जाता है। परंतु यह योग उदय और अस्त होनेवाला है; अतः परमात्माको प्राप्त करनेकी इच्छावाले साधकको निरन्तर योगयुक्त रहनेका दृढ़ अभ्यास करते रहना चाहिये ॥ ११ ॥

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१२॥

न वाचा=(वह परब्रह्म परमेश्वर) न तो वाणीसे; **न मनसा**=न मनसे (और); **न चक्षुषा एव**=न नेत्रोंसे ही; **प्राप्तुम् शक्यः**=प्राप्त किया जा सकता है (फिर); **तत् अस्ति**=वह 'अवश्य है'; **इति ब्रुवतः अन्यत्र**=इस प्रकार कहनेवालेके अतिरिक्त दूसरेको; **कथम् उपलभ्यते**=कैसे मिल सकता है ? ॥ १२ ॥

व्याख्या—वह परब्रह्म परमात्मा वाणी आदि कर्मेन्द्रियोंसे, चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियोंसे और मन-बुद्धिरूप अन्तःकरणसे

भी प्राप्त नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह इन सबकी पहुँचसे परे है। परंतु वह है अवश्य और उसे प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा रखनेवालेको वह अवश्य मिलता है—इस बातको जो नहीं कहता, नहीं स्वीकार करता अर्थात् इसपर जिसका दृढ़ विश्वास नहीं है, उसको वह कैसे मिल सकता है ? अतः पूर्व मन्त्रोंमें बतलायी हुई रीतिके अनुसार इन्द्रिय-मन आदि सबको योगाभ्यासके द्वारा रोककर 'वह अवश्य है और साधकको मिलता है' ऐसे दृढ़तम निश्चयसे निरन्तर उसकी प्राप्तिके लिये परम उत्कण्ठाके साथ प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥ १२ ॥

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥१३॥

अस्ति=(अतः उस परमात्माको पहले तो) 'वह अवश्य है'; **इति एव**=इस प्रकार निश्चयपूर्वक; **उपलब्धव्यः**=ग्रहण करना चाहिये, अर्थात् पहले उसके अस्तित्वका दृढ निश्चय करना चाहिये; [**तदनु**=तदनन्तर;] **तत्त्वभावेन**=तत्त्वभावसे भी; [**उपलब्धव्यः**=उसे प्राप्त करना चाहिये;] **उभयोः**=इन दोनों प्रकारोंमेंसे; **अस्ति इति एव**='वह अवश्य है' इस प्रकार निश्चयपूर्वक; **उपलब्धस्य**=परमात्माकी सत्ताको स्वीकार करनेवाले साधकके लिये; **तत्त्वभावः**=परमात्माका तात्त्विक स्वरूप (अपने-आप); **प्रसीदति**=(शुद्ध हृदयमें) प्रत्यक्ष हो जाता है ॥ १३ ॥

व्याख्या—साधकको चाहिये कि पहले तो वह इस बातका दृढ़ निश्चय करे कि 'परमेश्वर अवश्य हैं और वे साधकको अवश्य मिलते हैं;' फिर इसी विश्वाससे उन्हें स्वीकार करे और उसके पश्चात् तात्त्विक विवेचनपूर्वक निरन्तर उनका ध्यान करके उन्हें प्राप्त करे। जब साधक इस निश्चित विश्वाससे भगवान्‌को स्वीकार कर लेता है कि 'वे अवश्य हैं और अपने हृदयमें ही विराजमान हैं, यत्नशीलको उनकी प्राप्ति अवश्य होती है,' तो परमात्माका वह तात्त्विक दिव्य स्वरूप उसके विशुद्ध हृदयमें अपने-आप प्रकट हो जाता है, उसका प्रत्यक्ष हो जाता है ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—अब निष्कामभावकी महिमा बतलाते हैं—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥१४॥

अस्य=इस (साधक) के; **हृदि श्रिताः**=हृदयमें स्थित; **ये कामाः**=जो कामनाएँ (हैं); **सर्वे यदा**=(वे) सब-की-सब जब; **प्रमुच्यन्ते**=समूल नष्ट हो जाती हैं; **अथ**=तब; **मर्त्यः**=मरणधर्मा मनुष्य; **अमृतः**=अमर; **भवति**=हो जाता है (और); **अत्र**=(वह) यहीं; **ब्रह्म समश्नुते**=ब्रह्मका भलीभाँति अनुभव कर लेता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—मनुष्यका हृदय नित्य-निरन्तर विभिन्न प्रकारकी इहलौकिक और पारलौकिक कामनाओंसे भरा रहता है; इसी कारण न तो वह कभी यह विचार ही करता है कि परम आनन्दस्वरूप परमेश्वरको किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है और न काम्यविषयोंकी आसक्तिके कारण वह परमात्माको पानेकी अभिलाषा ही करता है। ये सारी कामनाएँ साधक पुरुषके हृदयसे जब समूल नष्ट हो जाती हैं, तब वह—जो सदासे मरणधर्मा था—अमर हो जाता है और यहीं—इस मनुष्य-शरीरमें ही उस परब्रह्म परमेश्वरका भलीभाँति साक्षात् अनुभव कर लेता है ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—संशयरहित दृढ़ निश्चयकी महिमा बतलाते हैं—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥१५॥

यदा=जब (इसके); **हृदयस्य**=हृदयकी; **सर्वे**=सम्पूर्ण; **ग्रन्थयः**=ग्रन्थियाँ; **प्रभिद्यन्ते**=भलीभाँति खुल जाती हैं; **अथ**=तब; **मर्त्यः**=वह मरणधर्मा मनुष्य; **इह**=इसी शरीरमें; **अमृतः**=अमर; **भवति**=हो जाता है; **हि एतावत्**=बस, इतना ही; **अनुशासनम्**=सनातन उपदेश है ॥ १५ ॥

व्याख्या—जब साधकके हृदयकी अहंता-ममतारूप समस्त अज्ञान-ग्रन्थियाँ भलीभाँति कट जाती हैं, उसके सब प्रकारके संशय सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और उपर्युक्त उपदेशके अनुसार उसे यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि 'परब्रह्म परमेश्वर अवश्य हैं और वे निश्चय ही मिलते हैं,' तब वह इस शरीरमें रहते हुए ही परमात्माका साक्षात् करके अमर हो जाता है। बस, इतना ही वेदान्तका सनातन उपदेश है ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—अब मरनेके बाद होनेवाली जीवात्माकी गतिका वर्णन करते हैं—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥१६॥

हृदयस्य=हृदयकी; **शतम् च एका च**=(कुल मिलाकर) एक सौ एक; **नाड्यः**=नाड़ियाँ हैं; **तासाम्**=उनमेंसे; **एका**=एक; **मूर्धानम्**=मूर्धा (कपाल)की ओर; **अभिनिःसृता**=निकली हुई है (इसे ही सुषुम्णा कहते हैं); **तया**=उसके द्वारा; **ऊर्ध्वम्**=ऊपरके लोकोंमें; **आयन्**=जाकर (मनुष्य); **अमृतत्वम्**=अमृतभावको; **एति**=प्राप्त हो जाता है; **अन्याः**=दूसरी एक सौ नाड़ियाँ; **उत्क्रमणे**=मरणकालमें (जीवको); **विष्वङ्**=नाना प्रकारकी योनियोंमें ले जानेकी हेतु; **भवन्ति**=होती हैं ॥ १६ ॥

व्याख्या—हृदयमें एक सौ एक प्रधान नाड़ियाँ हैं, जो वहाँसे सब ओर फैली हुई हैं। उनमेंसे एक नाड़ी, जिसको सुषुम्णा कहते हैं, हृदयसे मस्तककी ओर गयी है। भगवान्‌के परमधाममें जानेका अधिकारी उस नाड़ीके द्वारा शरीरसे बाहर निकलकर सबसे ऊँचे लोकमें अर्थात् भगवान्‌के परमधाममें जाकर अमृतस्वरूप परमानन्दमय परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है; और दूसरे जीव मरणकालमें दूसरी नाड़ियोंके द्वारा शरीरसे बाहर निकलकर अपने-अपने कर्म और वासनाके अनुसार नाना योनियोंको प्राप्त होते हैं ॥ १६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
तं स्माच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥१७॥

अन्तरात्मा=सबका अन्तर्यामी; **अङ्गुष्ठमात्रः**=अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला; **पुरुषः**=परम पुरुष; **सदा**=सदैव; **जनानाम्**=मनुष्योंके; **हृदये**=हृदयमें; **सन्निविष्टः**=भलीभाँति प्रविष्ट है; **तम्**=उसको; **मुञ्जात्**=मूँजसे; **इषीकाम् इव**=सींककी भाँति; **स्वात्**=अपनेसे (और); **शरीरात्**=शरीरसे; **धैर्येण**=धीरतापूर्वक; **प्रवृहेत्**=पृथक् करके देखे; **तम्**=उसीको; **शुक्रम् अमृतम् विद्यात्**=विशुद्ध अमृतस्वरूप समझे; **तम् शुक्रम् अमृतम् विद्यात्**=(और) उसीको विशुद्ध अमृतस्वरूप समझे ॥ १७ ॥

व्याख्या—सबके अन्तर्यामी परमपुरुष परमेश्वर हृदयके अनुरूप अङ्गुष्ठमात्र रूपवाले होकर सदैव सभी मनुष्योंके भीतर निवास करते हैं, तो भी मनुष्य उनकी ओर देखतातक नहीं! जो प्रमादरहित होकर उनकी प्राप्तिके साधनमें लगे हैं, उन मनुष्योंको चाहिये कि उन शरीरस्थ परमेश्वरको इस शरीरसे और अपने-आपसे भी उसी तरह पृथक् और विलक्षण समझें, जैसे साधारण लोग मूँजसे सींकको पृथक् देखते हैं। अर्थात् जिस प्रकार मूँजमें रहनेवाली सींक मूँजसे विलक्षण और पृथक् है, उसी प्रकार वह शरीर और आत्माके भीतर रहनेवाला परमेश्वर उन दोनोंसे सर्वथा विलक्षण है। वही विशुद्ध अमृत है, वही विशुद्ध अमृत है। यहाँ यह वाक्यकी पुनरावृत्ति उपदेशकी समाप्ति एवं सिद्धान्तकी निश्चितताको सूचित करती है* ॥ १७ ॥

* इसका अन्य आदरणीय महानुभावोंने यह अर्थ किया है—

"अङ्गुष्ठमात्र पुरुष, जो जीवोंके हृदयमें स्थित उनका अन्तरात्मा है, उसे धैर्य—अप्रमादपूर्वक मूँजसे सींकके निकालनेके समान शरीरसे बाहर निकालकर पृथक् करे। शरीरसे पृथक् किये हुए उस अङ्गुष्ठमात्र पुरुषको ही चिन्मात्र विशुद्ध और अमृतमय ब्रह्म जाने। यहाँ 'तं विद्याच्छुक्रममृतम्' इस पदकी द्विरुक्ति और 'इति' उपनिषद्की समाप्तिके लिये है।"

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् ।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥१८॥

अथ=इस प्रकार उपदेश सुननेके अनन्तर; **नचिकेताः**=नचिकेता; **मृत्युप्रोक्ताम्**=यमराजद्वारा बतलायी हुई; **एताम्**=इस; **विद्याम् च**=विद्याको और; **कृत्स्नम्**=सम्पूर्ण; **योगविधिम्**=योगकी विधिको; **लब्ध्वा**=प्राप्त करके; **विमृत्युः**=मृत्युसे रहित (और); **विरजः(सन्)**=विशुद्ध—सब प्रकारके विकारोंसे शून्य होकर; **ब्रह्मप्राप्तः अभूत्**=ब्रह्मको प्राप्त हो गया; **अन्यः अपि यः**=दूसरा भी जो कोई; **(इदम्) अध्यात्मम् एवं वित्**=इस अध्यात्मविद्याको इसी प्रकार जाननेवाला है; **(सः अपि एवम्) एव (भवति)**=वह भी ऐसा ही हो जाता है अर्थात् मृत्यु और विकारोंसे रहित होकर ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ १८ ॥

व्याख्या—इस प्रकार यमराजके द्वारा उपदिष्ट समस्त विवेचनको श्रद्धापूर्वक सुननेके पश्चात् नचिकेता उनके द्वारा बतायी हुई सम्पूर्ण विद्या और योगकी विधिको प्राप्त करके जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त, सब प्रकारके विकारोंसे रहित एवं सर्वथा विशुद्ध होकर परब्रह्म परमेश्वरको प्राप्त हो गया । दूसरा भी जो कोई इस अध्यात्मविद्याको इस प्रकार नचिकेताकी भाँति ठीक-ठीक जाननेवाला और श्रद्धापूर्वक उसे धारण करनेवाला है, वह भी नचिकेताकी भाँति सब विकारोंसे रहित तथा जन्म-मृत्युसे मुक्त होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ १८ ॥

॥ तृतीय वल्ली समाप्त ॥ ३ ॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय कठोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ कठोपनिषद्के आरम्भमें दिया जा चुका है ।

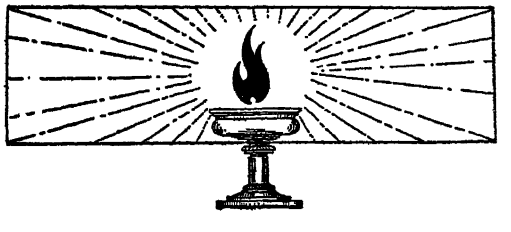

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

प्रश्नोपनिषद्

प्रश्नोपनिषद् अथर्ववेदके पिप्पलाद-शाखीय ब्राह्मणभागके अन्तर्गत है। इस उपनिषद्में पिप्पलाद ऋषिने सुकेशा आदि छः ऋषियोंके छः प्रश्नोंका क्रमसे उत्तर दिया है; इसलिये इसका नाम प्रश्नोपनिषद् हो गया।

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

देवाः=हे देवगण !; **(वयम्) यजत्राः (सन्तः)**=हम भगवान्‌का यजन (आराधन) करते हुए; **कर्णेभिः**=कानोंसे; **भद्रम्**=कल्याणमय वचन; **शृणुयाम**=सुनें; **अक्षभिः**=नेत्रोंसे; **भद्रम्**=कल्याण (ही); **पश्येम**=देखें; **स्थिरैः**=सुदृढ़; **अङ्गैः**=अङ्गों; **तनूभिः**=एवं शरीरसे; **तुष्टुवांसः (वयम्)**=भगवान्‌की स्तुति करते हुए हमलोग; **यत्**=जो; **आयुः**=आयु; **देवहितम्**=आराध्यदेव परमात्माके काम आ सके; **(तत्)**=उसका; **व्यशेम**=उपभोग करें; **वृद्धश्रवाः**=सब ओर फैले हुए सुयशवाले; **इन्द्रः**=इन्द्र; **नः**=हमारे लिये; **स्वस्ति दधातु**=कल्याणका पोषण करें; **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण विश्वका ज्ञान रखनेवाले; **पूषा**=पूषा; **नः**=हमारे लिये; **स्वस्ति (दधातु)**=कल्याणका पोषण करें; **अरिष्टनेमिः**=अरिष्टोंको मिटानेके लिये चक्रसदृश शक्तिशाली; **तार्क्ष्यः**=गरुड़देव; **नः**=हमारे लिये; **स्वस्ति (दधातु)**=कल्याणका पोषण करें; [**तथा**=तथा;] **बृहस्पतिः**=(बुद्धिके स्वामी) बृहस्पति भी; **नः**=हमारे लिये; **स्वस्ति (दधातु)**=कल्याणकी पुष्टि करें; **ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः**=परमात्मन् ! हमारे त्रिविध तापकी शान्ति हो।

व्याख्या—गुरुके यहाँ अध्ययन करनेवाले शिष्य अपने गुरु, सहपाठी तथा मानवमात्रका कल्याण-चिन्तन करते हुए देवताओंसे प्रार्थना करते हैं कि 'हे देवगण ! हम अपने कानोंसे शुभ—कल्याणकारी वचन ही सुनें। निन्दा, चुगली, गाली या दूसरी-दूसरी पापकी बातें हमारे कानोंमें न पड़ें और हमारा अपना जीवन यजन-परायण हो—हम सदा भगवान्‌की आराधनामें ही लगे रहें। न केवल कानोंसे सुनें, नेत्रोंसे भी हम सदा कल्याणका ही दर्शन करें। किसी अमङ्गलकारी अथवा पतनकी ओर ले जानेवाले दृश्योंकी ओर हमारी दृष्टिका आकर्षण कभी न हो। हमारा शरीर, हमारा एक-एक अवयव सुदृढ एवं सुपुष्ट हो—वह भी इसलिये कि हम उनके द्वारा भगवान्‌का स्तवन करते रहें। हमारी आयु भोग-विलास या प्रमादमें न बीते। हमें ऐसी आयु मिले, जो भगवान्‌के कार्यमें आ सके। [देवता हमारी प्रत्येक इन्द्रियमें व्याप्त रहकर उसका संरक्षण और संचालन करते हैं। उनके अनुकूल रहनेसे हमारी इन्द्रियाँ सुगमतापूर्वक सन्मार्गमें लगी रह सकती हैं; अतः उनसे प्रार्थना करनी उचित ही है।] जिनका सुयश सब ओर फैला है, वे देवराज इन्द्र, सर्वज्ञ पूषा, अरिष्टनिवारक तार्क्ष्य (गरुड़) और बुद्धिके स्वामी बृहस्पति—ये सभी देवता भगवान्‌की दिव्य विभूतियाँ हैं। ये सदा हमारे कल्याणका पोषण करें। इनकी कृपासे हमारे साथ प्राणिमात्रका कल्याण होता रहे। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—सभी प्रकारके तापोंकी शान्ति हो।

प्रथम प्रश्न

ॐ सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ॥ १ ॥

ॐ=ॐ इस परमात्माके नामका स्मरण करके उपनिषद्का आरम्भ करते हैं; **भारद्वाजः सुकेशा=**भरद्वाज-पुत्र सुकेशा; **च शैब्यः सत्यकामः=**और शिबिकुमार सत्यकाम; **च गार्ग्यः सौर्यायणी=**तथा गर्ग-गोत्रमें उत्पन्न सौर्यायणी; **च कौसल्यः आश्वलायनः=**एवं कोसलदेशीय आश्वलायन; **च वैदर्भिः भार्गवः=**तथा विदर्भनिवासी भार्गव; **(च) कात्यायनः कबन्धी=**और कत्य ऋषिका प्रपौत्र कबन्धी; **ते एते ह ब्रह्मपराः=**वे ये छः प्रसिद्ध ऋषि जो कि वेदपरायण (और); **ब्रह्मनिष्ठाः=**वेदमें निष्ठा रखनेवाले थे; **ते ह=**वे सब-के-सब; **परम् ब्रह्म=**परब्रह्मकी; **अन्वेषमाणाः=**खोज करते हुए; **एषः ह वै तत् सर्वम् वक्ष्यति इति=**यह समझकर कि ये (पिप्पलाद ऋषि) निश्चय ही उस ब्रह्मके विषयमें सारी बातें बतायेंगे; **समित्पाणयः=**हाथमें समिधा लिये हुए; **भगवन्तम् पिप्पलादम् उपसन्नाः=**भगवान् पिप्पलाद ऋषिके पास गये ॥ १ ॥

व्याख्या—ओंकारस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्माका स्मरण करके उपनिषद्का आरम्भ किया जाता है । प्रसिद्ध है कि भरद्वाजके पुत्र सुकेशा, शिबिकुमार सत्यकाम, गर्गगोत्रमें उत्पन्न सौर्यायणी, कोसलदेश-निवासी आश्वलायन, विदर्भदेशीय भार्गव और कत्यके प्रपौत्र कबन्धी—ये वेदाभ्यासके परायण और ब्रह्मनिष्ठ अर्थात् श्रद्धापूर्वक वेदानुकूल आचरण करनेवाले थे । एक बार ये छहों ऋषि परब्रह्म परमेश्वरकी जिज्ञासासे एक साथ बाहर निकले । इन्होंने सुना था कि पिप्पलाद ऋषि इस विषयको विशेषरूपसे जानते हैं; अतः यह सोचकर कि 'परब्रह्मके सम्बन्धमें हम जो कुछ जानना चाहते हैं, वह सब वे हमें बता देंगे' वे लोग जिज्ञासुके वेषमें हाथमें समिधा लिये हुए महर्षि पिप्पलादके पास गये ॥ १ ॥

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥ २ ॥

तान् सः ह=उन सुकेशा आदि ऋषियोंसे वे प्रसिद्ध; **ऋषिः उवाच=**(पिप्पलाद) ऋषि बोले—; **भूयः एव=**तुमलोग पुनः; **श्रद्धया=**श्रद्धाके साथ; **ब्रह्मचर्येण=**ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए; (और) **तपसा=**तपस्यापूर्वक; **संवत्सरम्=**एक वर्षतक (यहाँ); **संवत्स्यथ=**भलीभाँति निवास करो; **यथाकामम्=**(उसके बाद) अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार; **प्रश्नान् पृच्छत=**प्रश्न पूछना; **यदि विज्ञास्यामः=**यदि (तुम्हारी पूछी हुई बातोंको) मैं जानता होऊँगा; **ह सर्वम्=**तो निस्सन्देह वे सब बातें; **वः वक्ष्यामः इति=**तुमलोगोंको बताऊँगा ॥ २ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त छहों ऋषियोंको परब्रह्मकी जिज्ञासासे अपने पास आया देखकर महर्षि पिप्पलादने उनसे कहा—तुमलोग तपस्वी हो, तुमने ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़े हैं; तथापि मेरे आश्रममें रहकर पुनः एक वर्षतक श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए तपश्चर्या करो । उसके बाद तुमलोग जो चाहो, मुझसे प्रश्न करना । यदि तुम्हारे पूछे हुए विषयका मुझे ज्ञान होगा तो निस्सन्देह तुम्हें सब बातें भलीभाँति समझाकर बतलाऊँगा ॥ २ ॥

सम्बन्ध—ऋषिके आज्ञानुसार सबने श्रद्धा, ब्रह्मचर्य और तपस्याके साथ विधिपूर्वक एक वर्षतक वहाँ निवास किया ।

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ । भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ ३ ॥

अथ=तदनन्तर (उनमेंसे); **कात्यायनः कबन्धी=**कत्य ऋषिके प्रपौत्र कबन्धीने; **उपेत्य=**(पिप्पलाद ऋषिके) पास जाकर; **पप्रच्छ=**पूछा—; **भगवन्=**भगवन् !; **कुतः ह वै=**किस प्रसिद्ध और सुनिश्चित कारणविशेषसे; **इमाः प्रजाः=**यह सम्पूर्ण प्रजा; **प्रजायन्ते=**नाना रूपोंमें उत्पन्न होती है; **इति=**यह मेरा प्रश्न है ॥ ३ ॥

व्याख्या—महर्षि पिप्पलादकी आज्ञा पाकर वे लोग श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए वहीं तपश्चर्या करने लगे। महर्षिकी देख-रेखमें संयमपूर्वक रहकर एक वर्षतक उन्होंने त्यागमय जीवन बिताया। उसके बाद वे सब पुनः पिप्पलाद ऋषिके पास गये तथा उनमेंसे सर्वप्रथम कत्यऋषिके प्रपौत्र कबन्धीने श्रद्धा और विनयपूर्वक पूछा—'भगवन्! जिससे ये सम्पूर्ण चराचर जीव नाना रूपोंमें उत्पन्न होते हैं, जो इनका सुनिश्चित परम कारण है, वह कौन है?' ॥ ३ ॥

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ॥ ४ ॥

तस्मै सः ह उवाच=उससे वे प्रसिद्ध महर्षि बोले—; **वै प्रजाकामः**=निश्चय ही प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छावाला (जो); **प्रजापतिः**=प्रजापति है; **सः तपः अतप्यत**=उसने तप किया; **स तपः तप्त्वा**=उसने तपस्या करके (सृष्टि आरम्भ की, उस समय पहले); **सः**=उसने; **रयिम् च**=एक तो रयि (चन्द्रमा) तथा; **प्राणम् च**=दूसरा प्राण (सूर्य) भी; **इति मिथुनम्**=यह जोड़ा; **उत्पादयते**=उत्पन्न किया; **एतौ मे**=(इन्हें उत्पन्न करनेका उद्देश्य यह था) कि ये (दोनों मिलकर) मेरी; **बहुधा**=नाना प्रकारकी; **प्रजाः**=प्रजाओंको; **करिष्यतः इति**=उत्पन्न करेंगे ॥ ४ ॥

व्याख्या—कबन्धी ऋषिका यह प्रश्न सुनकर महर्षि पिप्पलाद बोले—हे कात्यायन! यह बात वेदोंमें प्रसिद्ध है कि सम्पूर्ण जीवोंके स्वामी परमेश्वरको सृष्टिके आदिमें जब प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छा हुई तो उन्होंने संकल्परूप तप किया। तपसे उन्होंने सर्वप्रथम रयि और प्राण—इन दोनोंका एक जोड़ा उत्पन्न किया। उसे उत्पन्न करनेका उद्देश्य यह था कि ये दोनों मिलकर मेरे लिये नाना प्रकारकी सृष्टि उत्पन्न करेंगे। इस मन्त्रमें सबको जीवन प्रदान करनेवाली जो समष्टि जीवनी-शक्ति है, उसे ही 'प्राण' नाम दिया गया है। इस जीवनी शक्तिसे ही प्रकृतिके स्थूल स्वरूपमें—समस्त पदार्थोंमें जीवन, स्थिति और यथा-योग्य सामञ्जस्य आता है एवं स्थूल भूत-समुदायका नाम 'रयि' रक्खा गया है, जो प्राणरूप जीवनी शक्तिसे अनुप्राणित होकर कार्यक्षम होता है। प्राण चेतना है, रयि शक्ति या आकृति है। धनात्मक और ऋणात्मक दो तत्त्वोंकी भाँति प्राण और रयिके संयोगसे ही सृष्टिका समस्त कार्य सम्पन्न होता है। इन्हींको अन्यत्र अग्नि और सोमके एवं पुरुष तथा प्रकृतिके नामसे भी कहा गया है ॥ ४ ॥

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत् सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥५॥

ह=यह निश्चय है कि; **आदित्यः वै**=सूर्य ही; **प्राणः**=प्राण हैं (और); **चन्द्रमाः एव**=चन्द्रमा ही; **रयिः**=रयि है; **यत् मूर्तम् च**=जो कुछ आकारवाला है (पृथ्वी, जल और तेज); **अमूर्तम् च**=और जो आकाररहित है (आकाश और वायु); **एतत् सर्वम् वै**=यह सभी कुछ; **रयिः**=रयि है; **तस्मात्**=इसलिये; **मूर्तिः एव**=मूर्तमात्र ही अर्थात् देखने तथा जाननेमें आनेवाली सभी वस्तुएँ; **रयिः**=रयि हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें उपर्युक्त प्राण और रयिका स्वरूप समझाया गया है। पिप्पलाद कहते हैं कि यह दीखनेवाला सम्पूर्ण जगत् प्राण और रयि—इन दोनों तत्त्वोंके संयोग या सम्मिश्रणसे बना है; इसलिये यद्यपि इन्हें पृथक्-पृथक् करके नहीं बताया जा सकता, तथापि तुम इस प्रकार समझो—यह सूर्य, जो हमें प्रत्यक्ष दिखलायी देता है, यही प्राण है; क्योंकि इसीमें सबको जीवन प्रदान करनेवाली चेतना-शक्तिकी प्रधानता और अधिकता है। यह सूर्य उस सूक्ष्म जीवनी शक्तिका घनीभूत स्वरूप है। उसी प्रकार यह चन्द्रमा ही 'रयि' है; क्योंकि इसमें स्थूल तत्त्वोंको पुष्ट करनेवाली भूत-तन्मात्राओंकी ही अधिकता है। समस्त प्राणियोंके स्थूल-शरीरोंका पोषण इस चन्द्रमाकी शक्तिको पाकर ही होता है। हमारे शरीरोंमें ये दोनों शक्तियाँ प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गमें व्याप्त हैं। उनमें जीवनी-शक्तिका सम्बन्ध सूर्यसे है और मांस, मेद आदि स्थूल तत्त्वोंका सम्बन्ध चन्द्रमासे है॥५॥

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ ६ ॥

अथ=रात्रिके अनन्तर; **उदयन्**=उदय होता हुआ; **आदित्यः**=सूर्य; **यत् प्राचीम् दिशम्**=जो पूर्व दिशामें; **प्रविशति**=प्रवेश करता है; **तेन प्राच्यान् प्राणान्**=उससे पूर्व दिशाके प्राणोंको; **रश्मिषु**=अपनी किरणोंमें; **संनिधत्ते**=धारण करता है (उसी प्रकार); **यत् दक्षिणाम्**=जो दक्षिण दिशाको; **यत् प्रतीचीम्**=जो पश्चिम दिशाको; **यत् उदीचीम्**=जो उत्तर दिशाको; **यत् अधः**=जो नीचेके लोकोंको; **यत् ऊर्ध्वम्**=जो ऊपरके लोकोंको; **यत् अन्तरा दिशः**=जो दिशाओंके बीचके भागों (कोणों) को (और); **यत् सर्वम्**=जो अन्य सबको; **प्रकाशयति**=प्रकाशित करता है; **तेन सर्वान् प्राणान्**=उससे समस्त प्राणोंको अर्थात् सम्पूर्ण जगत्के प्राणोंको; **रश्मिषु संनिधत्ते**=अपनी किरणोंमें धारण करता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंमें जो जीवनी-शक्ति है, उसके साथ सूर्यका सम्बन्ध दिखलाया गया है। भाव यह है कि रात्रिके बाद जब सूर्य उदय होकर पूर्वदिशामें अपना प्रकाश फैलाता है, उस समय वहाँके प्राणियोंके प्राणोंको अपनी किरणोंमें धारण करता है अर्थात् उनकी जीवनी-शक्तिका सूर्यकी किरणोंसे सम्बन्ध होकर उसमें नवीन स्फूर्ति आ जाती है। उसी प्रकार जिस समय जिस दिशामें जहाँ-जहाँ सूर्य अपना प्रकाश फैलाता है, वहाँ-वहाँके प्राणियोंको स्फूर्ति देता रहता है; अतः सूर्य ही समस्त प्राणियोंका प्राण है ॥ ६ ॥

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

सः एषः=वह यह सूर्य ही; **उदयते**=उदय होता है; **वैश्वानरः अग्निः**=(जो कि) वैश्वानर अग्नि (जठराग्नि) और; **विश्वरूपः प्राणः**=विश्वरूप प्राण है, **तत् एतत्**=वही यह बात; **ऋचा**=ऋचाद्वारा; **अभ्युक्तम्**=आगे कही गयी है॥७॥

व्याख्या—प्राणियोंके शरीरमें जो वैश्वानर नामसे कही जानेवाली जठराग्नि है, जिससे अन्नका पाचन होता है (गीता १५। १४), वह सूर्यका ही अंश है; अतः सूर्य ही है। तथा जो प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान—इन पाँच रूपोंमें विभक्त प्राण है, वह भी इस उदय होनेवाले सूर्यका ही अंश है; अतः सूर्य ही है। यही बात अगली ऋचाद्वारा समझायी गयी है ॥ ७ ॥

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥

विश्वरूपम्=सम्पूर्ण रूपोंके केन्द्र; **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ; **परायणम्**=सर्वाधार; **ज्योतिः**=प्रकाशमय; **तपन्तम्**=तपते हुए; **हरिणम्**=किरणोंवाले सूर्यको; **एकम्**=अद्वितीय (बतलाते हैं); **एषः**=यह; **सहस्ररश्मिः**=सहस्रों किरणोंवाला; **सूर्यः**=सूर्य; **शतधा वर्तमानः**=सैकड़ों प्रकारसे बर्तता हुआ; **प्रजानाम्**=समस्त जीवोंका; **प्राणः**=प्राण (जीवनदाता) होकर; **उदयति**=उदय होता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—इस सूर्यके तत्त्वको जाननेवालोंका कहना है कि यह किरणजालसे मण्डित एवं प्रकाशमय, तपता हुआ सूर्य विश्वके समस्त रूपोंका केन्द्र है। सभी रूप (रंग और आकृतियाँ) सूर्यसे उत्पन्न और प्रकाशित होते हैं। यह सविता ही सबका उत्पत्तिस्थान है और यही सबकी जीवन-ज्योतिका मूलस्रोत है। यह सर्वज्ञ और सर्वाधार है, वैश्वानर अग्नि और प्राण-शक्तिके रूपमें सर्वत्र व्याप्त है और सबको धारण किये हुए है। समस्त जगत्का प्राणरूप सूर्य एक ही है—इसके समान इस जगत्में दूसरी कोई भी जीवनी-शक्ति नहीं है। यह सहस्रों किरणोंवाला सूर्य हमारे सैकड़ों प्रकारके व्यवहार सिद्ध करता हुआ उदय होता है। जगत्में उष्णता और प्रकाश फैलाना, सबको जीवन प्रदान करना, ऋतुओंका परिवर्तन करना आदि हमारी सैकड़ों प्रकारकी आवश्यकताओंको पूर्ण करता हुआ सम्पूर्ण सृष्टिका जीवनदाता प्राण ही सूर्यके रूपमें उदित होता है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार यहाँतक कात्यायन कबन्धीके प्रश्नानुसार संक्षेपमें यह बताया गया कि उस सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वरसे ही उसके सङ्कल्पद्वारा प्राण और रयिके संयोगसे इस सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति आदि होती है। अब इस प्राणशक्ति और रयि-शक्तिके सम्बन्धसे परमेश्वरकी उपासनाका प्रकार और उसका फल बतलानेके लिये दूसरा प्रकरण आरम्भ करते हैं—

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च। तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥ ९ ॥

संवत्सरः वै=संवत्सर (बारह महीनोंवाला काल) ही; **प्रजापतिः**=प्रजापति है; **तस्य अयने**=उसके दो अयन हैं—; **दक्षिणम् च**=एक दक्षिण और; **उत्तरम् च**=दूसरा उत्तर; **तत् ये ह**=वहाँ मनुष्योंमें जो लोग निश्चयपूर्वक; **तत् इष्टापूर्ते वै**=(केवल) उन इष्ट और पूर्त कर्मोंको ही; **कृतम् इति**=करने योग्य कर्म मानकर (सकाम भावसे); **उपासते**=उनकी उपासना करते हैं (उन्हींके अनुष्ठानमें लगे रहते हैं); **ते चान्द्रमसम्**=वे चन्द्रमाके; **लोकम् एव**=लोकको ही; **अभिजयन्ते**=जीतते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं (और); **ते एव**=वे ही; **पुनः आवर्तन्ते**=पुनः (वहाँसे) लौटकर आते हैं; **तस्मात् एते**=इसलिये ये; **प्रजाकामाः ऋषयः**=संतानकी कामनावाले ऋषिगण; **दक्षिणम् प्रतिपद्यन्ते**=दक्षिण (मार्ग) को प्राप्त होते हैं; **ह एषः वै रयिः**=निस्सन्देह यही वह रयि है; **यः पितृयाणः**=जो 'पितृयान' नामक मार्ग है ॥ ९ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें संवत्सरको परमात्माका प्रतीक बताकर उसके रयिस्थानीय भोग्य पदार्थोंकी उपासना और उसका फल बताते हैं। भाव यह है कि बारह महीनोंका यह संवत्सररूप काल ही मानो सृष्टिके स्वामी परमेश्वरका स्वरूप है। इसके दो अयन हैं—दक्षिण और उत्तर। दक्षिणायनके जो छः महीने हैं, जिनमें सूर्य दक्षिणकी ओर घूमता है—ये मानो इसके दक्षिण अङ्ग हैं और उत्तरायणके छः महीने ही उत्तर अङ्ग हैं। उनमें उत्तर अङ्ग तो प्राण है अर्थात् इस विश्वके आत्मारूप उस परमेश्वरका सर्वान्तर्यामी स्वरूप है और दक्षिण अङ्ग रयि अर्थात् उसका बाह्य भोग्य स्वरूप है। इस जगत्में जो संतानकी कामनावाले ऋषि स्वर्गादि सांसारिक भोगोंमें आसक्त हैं, वे यज्ञादिद्वारा देवताओंका पूजन करना, ब्राह्मण एवं श्रेष्ठ पुरुषोंका धनादिसे सत्कार करना, दुखी प्राणियोंकी सेवा करना आदि इष्टकर्म तथा कुँआ, बावली, तालाब, बगीचा, धर्मशाला, विद्यालय, औषधालय, पुस्तकालय आदि लोकोपकारी चिरस्थायी स्मारकोंकी स्थापना करना आदि पूर्तकर्मोंको श्रेष्ठ समझते हैं और इनके फलस्वरूप इस लोक तथा परलोकके भोगोंके उद्देश्यसे इनकी उपासना अर्थात् विधिवत् अनुष्ठान करते हैं; यह उस संवत्सररूप परमेश्वरके दक्षिण अङ्गकी उपासना है। इसीको ईशावास्य-उपनिषद्में असम्भूतिकी उपासनाके नामसे देव, पितर, मनुष्य आदि शरीरोंकी सेवा बताया है। इसके प्रभावसे वे चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं और वहाँ अपने कर्मोंका फल भोगकर पुनः इस लोकमें लौट आते हैं; यही पितृयाण मार्ग है ॥ ९ ॥

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते। एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः ॥ १० ॥

अथ=किंतु (जो); **तपसा**=तपस्याके साथ; **ब्रह्मचर्येण**=ब्रह्मचर्यपूर्वक (और); **श्रद्धया**=श्रद्धासे युक्त होकर; **विद्यया**=अध्यात्मविद्याके द्वारा; **आत्मानम्**=(सूर्यरूप) परमात्माकी; **अन्विष्य**=खोज करके (जीवन सार्थक करते हैं, वे); **उत्तरेण**=उत्तरायण-मार्गसे; **आदित्यम्**=सूर्यलोकको; **अभिजयन्ते**=जीत लेते हैं (प्राप्त करते हैं); **एतत् वै**=यह (सूर्य) ही; **प्राणानाम्**=प्राणोंका; **आयतनम्**=केन्द्र है; **एतत् अमृतम्**=यह अमृत (अविनाशी) और; **अभयम्**=निर्भय पद है; **एतत् परायणम्**=यह परमगति है; **एतस्मात्**=इससे; **न पुनः आवर्तन्ते**=पुनः लौटकर नहीं आते; **इति एषः**=इस प्रकार यह; **निरोधः**=निरोध (पुनरावृत्तिका निवारक) है; **तत् एषः**=इस बातको स्पष्ट करनेवाला यह (अगला); **श्लोकः**=श्लोक है ॥ १० ॥

व्याख्या—उपर्युक्त सकाम उपासकोंसे भिन्न जो कल्याणकामी साधक हैं, वे इन सांसारिक भोगोंकी अनित्यता और दुःखरूपताको समझकर इनसे सर्वथा विरक्त हो जाते हैं। वे श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए संयमके साथ त्यागमय जीवन बिताते हैं और अध्यात्मविद्याके द्वारा अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले किसी भी अनुकूल साधनद्वारा सबके आत्मस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरकी निष्काम उपासना करते हैं। यह मानो उस संवत्सररूप प्रजापतिके उत्तर अङ्गकी उपासना है। इसको ईशावास्य-उपनिषद्में संभूतिकी उपासना कहा है। इसके उपासक उत्तरायण-मार्गसे सूर्यलोकमें जाकर सूर्यके आत्मारूप

परब्रह्म परमेश्वरको प्राप्त हो जाते हैं। यह सूर्य ही समस्त जगत्के प्राणोंका केन्द्र है। यही अमृत—अविनाशी और निर्भय पद है। यही परम गति है। इसे प्राप्त हुए महापुरुष फिर लौटकर नहीं आते। यह निरोध अर्थात् पुनर्जन्मको रोकनेवाला आत्यन्तिक प्रलय है। इस मन्त्रमें सूर्यको परमेश्वरका स्वरूप मानकर ही सब बातें कही गयी हैं। इसी बातको अगले मन्त्रमें स्पष्ट किया गया है॥ १०॥

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्। अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति॥ ११॥

(कितने ही लोग तो इस सूर्यको)—**पञ्चपादम्**=पाँच चरणोंवाला; **पितरम्**=सबका पिता; **द्वादशाकृतिम्**=बारह आकृतियोंवाला; **पुरीषिणम्**=जलका उत्पादक; **दिवः परे अर्धे**=(और) स्वर्गलोकसे भी ऊपरके स्थानमें (स्थित); **आहुः**=बतलाते हैं; **अथ इमे**=तथा ये; **अन्ये उ**=दूसरे कितने ही लोग; **परे**=विशुद्ध; **सप्तचक्रे**=सात पहियोंवाले (और); **षडरे**=छः अरोंवाले (रथमें); **अर्पितम्**=बैठा हुआ (एवं); **विचक्षणम्**=सबको भलीभाँति जाननेवाला है; **इति आहुः**=ऐसा बतलाते हैं॥ ११॥

व्याख्या—परब्रह्म परमेश्वरके प्रत्यक्ष—दृष्टिगोचर स्वरूप इस सूर्यके विषयमें कितने ही तत्त्ववेत्ता तो यों कहते हैं कि इसके पाँच पैर हैं। अर्थात् छः ऋतुओंमेंसे हेमन्त और शिशिर—इन दो ऋतुओंकी एकता करके पाँच ऋतुओंको वे इस सूर्यके पाँच चरण बतलाते हैं; तथा यह भी कहते हैं कि बारह महीने ही इसकी बारह आकृतियाँ अर्थात् बारह शरीर हैं। इसका स्थान स्वर्गलोकसे भी ऊँचा है। स्वर्गलोक भी इसीके आलोकसे प्रकाशित है। इस लोकमें जो जल बरसता है, उस जलकी उत्पत्ति इसीसे होती है। अतः सबको जलरूप जीवन प्रदान करनेवाला होनेसे यह सबका पिता है। दूसरे ज्ञानी पुरुषोंका कहना है कि लाल, पीले आदि सात रंगोंकी किरणोंसे युक्त तथा वसन्त आदि छः ऋतुओंके हेतुभूत इस विशुद्ध प्रकाशमय सूर्यमण्डलमें—जिसे सात चक्र एवं छः अरोंवाला रथ कहा गया है—बैठा हुआ इसका आत्मारूप, सबको भलीभाँति जाननेवाला सर्वज्ञ परमेश्वर ही उपास्य है। यह स्थूल नेत्रोंसे दिखायी देनेवाला सूर्यमण्डल उसका शरीर है। इसलिये यह उसीकी महिमा है॥ ११॥

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेत ऋषयः शुक्ल इष्टं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन्॥ १२॥

मासः वै=महीना ही; **प्रजापतिः**=प्रजापति है; **तस्य**=उसका; **कृष्णपक्षः एव**=कृष्णपक्ष ही; **रयिः**=रयि है और; **शुक्लः प्राणः**=शुक्लपक्ष प्राण है; **तस्मात्**=इसलिये; **एते ऋषयः**=ये (कल्याणकामी) ऋषिगण; **शुक्ले**=शुक्ल-पक्षमें (निष्कामभावसे); **इष्टम्**=यज्ञादि कर्तव्य-कर्म; **कुर्वन्ति**=किया करते हैं; (तथा) **इतरे**=दूसरे (जो सांसारिक भोगोंको चाहते हैं); **इतरस्मिन्**=दूसरे पक्षमें—कृष्णपक्षमें (सकाममावसे यज्ञादि शुभकर्मोंका अनुष्ठान किया करते हैं)॥ १२॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें महीनेको प्रजापतिका रूप देकर परमेश्वरकी कर्मोंद्वारा उपासना करनेका रहस्य बताया गया है। भाव यह है कि प्रत्येक महीना ही मानो प्रजापति है, उसमें कृष्णपक्षके पंद्रह दिन तो उस परमात्माका दाहिना अङ्ग हैं; इसे रयि (स्थूलभूत-समुदायका कारण) समझना चाहिये। यह उस परमेश्वरका शक्तिस्वरूप भोगमय रूप है। और शुक्ल-पक्षके पंद्रह दिन ही मानो उत्तर अङ्ग हैं। यही प्राण अर्थात् सबको जीवन प्रदान करनेवाले परमात्माका सर्वान्तर्यामी रूप है। इसलिये जो कल्याणकामी ऋषि हैं, अर्थात् जो रयिस्थानीय भोग-पदार्थोंसे विरक्त होकर प्राणस्थानीय सर्वात्मरूप परब्रह्म-को चाहनेवाले हैं, वे अपने समस्त शुभ कर्मोंको शुक्लपक्षमें करते हैं अर्थात् शुक्लपक्षस्थानीय प्राणाधार परब्रह्म परमेश्वरके अर्पण करके करते हैं—स्वयं उसका कोई फल नहीं चाहते; यही गीतोक्त कर्मयोग है। इनसे भिन्न जो भोगासक्त मनुष्य हैं, वे कृष्णपक्षमें अर्थात् कृष्णपक्ष-स्थानीय स्थूल पदार्थोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे सब प्रकारके कर्म किया करते हैं। इनका वर्णन गीतामें 'स्वर्गपराः'के नामसे हुआ है (गीता २। ४२—४४)॥ १२॥

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥ १३ ॥

अहोरात्रः वै=दिन और रातका जोड़ा ही; **प्रजापतिः**=प्रजापति है; **तस्य**=उसका; **अहः एव**=दिन ही; **प्राणः**=प्राण है (और); **रात्रिः एव**=रात्रि ही; **रयिः**=रयि है; **ये दिवा**=(अतः) जो दिनमें; **रत्या संयुज्यन्ते**=स्त्री-सहवास करते हैं; **एते**=ये लोग; **वै प्राणम्**=सचमुच अपने प्राणोंको ही; **प्रस्कन्दन्ति**=क्षीण करते हैं तथा (मनुष्य); **यत् रात्रौ**=जो रात्रिमें; **रत्या संयुज्यन्ते**=स्त्री-सहवास करते हैं; **तत् ब्रह्मचर्यम् एव**=वह ब्रह्मचर्य ही है ॥ १३ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें दिन और रात्रिरूप चौबीस घंटेके कालरूपमें परमेश्वरके स्वरूपकी कल्पना करके जीवनोपयोगी कर्मोंका रहस्य समझाया गया है। भाव यह है कि ये दिन और रात मिलकर जगत्पति परमेश्वरका पूर्णरूप हैं। उसका यह दिन तो मानो प्राण अर्थात् सबको जीवन देनेवाला प्रकाशमय विशुद्ध स्वरूप है और रात्रि ही भोगरूप रयि है। अतः जो मनुष्य दिनमें स्त्री-प्रसङ्ग करते हैं अर्थात् परमात्माके विशुद्ध स्वरूपको प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रकाशमय मार्गमें चलना प्रारम्भ करके भी स्त्री-प्रसङ्ग आदि विलासमें आसक्त हो जाते हैं, वे अपने लक्ष्यतक न पहुँचकर इस अमूल्य जीवनको व्यर्थ खो देते हैं। उनसे भिन्न जो सांसारिक उन्नति चाहनेवाले हैं, वे यदि शास्त्रके नियमानुसार ऋतुकालमें रात्रिके समय नियमानुकूल स्त्री-प्रसङ्ग करते हैं तो वे शास्त्रकी आज्ञाका पालन करनेके कारण ब्रह्मचारीके तुल्य ही हैं। लौकिक दृष्टिसे यों कह सकते हैं कि इस मन्त्रमें गृहस्थोंको दिनमें स्त्री-प्रसङ्ग कदापि न करनेका और विहित रात्रियोंमें शास्त्रानुसार नियमित और संयमितरूपमें केवल सन्तानकी इच्छासे करनेका उपदेश दिया गया है। तभी वह ब्रह्मचर्यकी गणनामें आ सकता है* ॥ १३ ॥

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ १४ ॥

अन्नम् वै=अन्न ही; **प्रजापतिः**=प्रजापति है; **ह ततः वै**=क्योंकि उसीसे; **तत् रेतः**=वह वीर्य (उत्पन्न होता है); **तस्मात्**=उस वीर्यसे; **इमाः प्रजाः**=ये सम्पूर्ण चराचर प्राणी; **प्रजायन्ते इति**=उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें अन्नको प्रजापतिका स्वरूप बताकर अन्नकी महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि यह सब प्राणियोंका आहाररूप अन्न ही प्रजापति है, क्योंकि इसीसे वीर्य उत्पन्न होता है और वीर्यसे समस्त चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं। इस कारण इस अन्नको भी प्रकारान्तरसे प्रजापति माना गया है ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—अब पहले बतलाये हुए दो प्रकारके साधकोंको मिलनेवाले पृथक्-पृथक् फलका वर्णन करते हैं—

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते। तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

तत् ये ह वै=जो कोई भी निश्चयपूर्वक; **तत् प्रजापतिव्रतम्**=उस प्रजापति-व्रतका; **चरन्ति**=अनुष्ठान करते हैं; **ते मिथुनम्**=वे जोड़ेको; **उत्पादयन्ते**=उत्पन्न करते हैं; **येषाम् तपः**=जिनमें तप (और); **ब्रह्मचर्यम्**=ब्रह्मचर्य (है); **येषु सत्यम्**=जिनमें सत्य; **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित है; **तेषाम् एव**=उन्हींको; **एषः ब्रह्मलोकः**=यह ब्रह्मलोक मिलता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—जो लोग सन्तानोत्पत्तिरूप प्रजापतिके व्रतका अनुष्ठान करते हैं अर्थात् स्वर्गादि लोकोंके भोगकी प्राप्तिके लिये शास्त्रविहित शुभ कर्मोंका आचरण करते हुए नियमानुसार स्त्री-प्रसङ्ग आदि भोगोंका उपभोग करते हैं, वे तो पुत्र और कन्यारूप जोड़ेको उत्पन्न करके प्रजाकी वृद्धि करते हैं। और जो उनसे भिन्न हैं, जिनमें ब्रह्मचर्य और तप भरा हुआ है,

---

* रजोदर्शनके दिनसे लेकर सोलह दिनोंतक स्वाभाविक ऋतुकाल कहलाता है। इनमें पहली चार रात्रियाँ तथा ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रियाँ सर्वथा वर्जित हैं। शेष दस रात्रियोंमें पर्व-(एकादशी, अमावस्या, पूर्णिमा, ग्रहण, व्यतिपात, संक्रान्ति, जन्माष्टमी, शिवरात्रि, रामनवमी आदि) दिनोंको छोड़कर पत्नीकी रतिकामनासे जो पुरुष महीनेमें केवल दो रात्रि स्त्री-सहवास करता है, वह गृहस्थाश्रममें रहता हुआ ही ब्रह्मचारी माना जाता है। (मनुस्मृति ३। ४५—४७, ५०)

जिनका जीवन सत्यमय है तथा जो सत्यस्वरूप परमेश्वरको अपने हृदयमें नित्य स्थित देखते हैं, उन्हींको वह ब्रह्मलोक (परम पद, परमगति) मिलता है, दूसरोंको नहीं ॥ १५ ॥

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥ १६ ॥

येषु न=जिनमें न तो; **जिह्मम्**=कुटिलता (और); **अनृतम्**=झूठ है; **च न**=तथा न; **माया**=माया (कपट) ही है; **तेषाम्**=उन्हींको; **असौ**=वह; **विरजः**=विशुद्ध, विकाररहित; **ब्रह्मलोकः इति**=ब्रह्मलोक (मिलता है) ॥ १६ ॥

व्याख्या—जिनमें कुटिलताका लेश भी नहीं है, जो स्वप्नमें भी मिथ्या-भाषण नहीं करते और असत्यमय आचरणसे सदा दूर रहते हैं, जिनमें राग-द्वेषादि विकारोंका सर्वथा अभाव है, जो सब प्रकारके छल-कपटसे शून्य हैं, उन्हींको वह विशुद्ध विकाररहित ब्रह्मलोक मिलता है । जो इनसे विपरीत लक्षणोंवाले हैं, उनको नहीं मिलता ॥ १६ ॥

॥ प्रथम प्रश्न समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय प्रश्न

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ । भगवन्कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते कतर एतत्प्रकाशयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ॥ १ ॥

अथ ह एनम्=इसके पश्चात् इन प्रसिद्ध (महात्मा पिप्पलाद) ऋषिसे; **वैदर्भिः भार्गवः**=विदर्भदेशीय भार्गवने; **पप्रच्छ**=पूछा; **भगवन्**=भगवन्; **कति देवाः एव**=कुल कितने देवता; **प्रजां विधारयन्ते**=प्रजाको धारण करते हैं; **कतरे एतत्**=उनमेंसे कौन-कौन इसे; **प्रकाशयन्ते**=प्रकाशित करते हैं; **पुनः**=फिर (यह भी बतलाइये कि); **एषाम्**=इन सबमें; **कः**=कौन; **वरिष्ठः**=सर्वश्रेष्ठ है; **इति**=यही (मेरा प्रश्न है) ॥ १ ॥

व्याख्या—इन भार्गव ऋषिने महर्षि पिप्पलादसे तीन बातें पूछी हैं—(१) प्रजाको यानी प्राणियोंके शरीरको धारण करनेवाले कुल कितने देवता हैं ? (२) उनमेंसे कौन-कौन इसको प्रकाशित करनेवाले हैं ? (३) इन सबमें अत्यन्त श्रेष्ठ कौन है ? ॥ १ ॥

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च । ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥ २ ॥

सः ह=उन प्रसिद्ध महर्षि (पिप्पलाद) ने; **तस्मै उवाच**=उन भार्गवसे कहा; **ह आकाशः वै**=निश्चय ही वह प्रसिद्ध आकाश; **एषः देवः**=यह देवता है (तथा); **वायुः**=वायु; **अग्निः**=अग्नि; **आपः**=जल; **पृथिवी**=पृथ्वी; **वाक्**=वाणी (कर्मेन्द्रियाँ); **चक्षुः च श्रोत्रम् मनः**=नेत्र और श्रोत्र (ज्ञानेन्द्रियाँ) तथा मन (अन्तःकरण) भी [देवता हैं]; **ते प्रकाश्य**=वे सब (अपनी-अपनी शक्ति) प्रकट करके; **अभिवदन्ति**=अभिमानपूर्वक कहने लगे; **वयम् एतत् बाणम्**=हमने इस शरीरको; **अवष्टभ्य**=आश्रय देकर; **विधारयामः**=धारण कर रक्खा है ॥ २ ॥

व्याख्या—इस प्रकार भार्गवके पूछनेपर महर्षि पिप्पलाद उत्तर देते हैं । यहाँ दो प्रश्नोंका उत्तर एक ही साथ दे दिया गया है । वे कहते हैं कि सबका आधार तो वैसे आकाशरूप देवता ही है; परंतु उससे उत्पन्न होनेवाले वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये चारों महाभूत भी शरीरको धारण किये रहते हैं । यह स्थूलशरीर इन्हींसे बना है । इसलिये ये धारक देवता हैं । वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, नेत्र और कान आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं मन आदि अन्तःकरण—ये चौदह देवता इस शरीरके प्रकाशक हैं । ये देवता देहको धारण और प्रकाशित करते हैं, इसलिये ये प्रकाशक देवता कहलाते हैं । ये इस देहको प्रकाशित करके आपसमें झगड़ पड़े और अभिमानपूर्वक परस्पर कहने लगे कि 'हमने इस शरीरको आश्रय देकर धारण कर रक्खा है' ॥ २ ॥

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच । मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति तेऽश्रद्दधाना बभूवुः ॥ ३ ॥

तान् वरिष्ठः प्राणः=उनसे सर्वश्रेष्ठ प्राण; **उवाच**=बोला; **मोहम्**=(तुमलोग) मोहमें; **मा आपद्यथ**=न पड़ो; **अहम् एव**=मैं ही; **एतत् आत्मानम्**=अपने इस स्वरूपको; **पञ्चधा प्रविभज्य**=पाँच भागोंमें विभक्त करके; **एतत् बाणम्**=इस शरीरको; **अवष्टभ्य**=आश्रय देकर; **विधारयामि**=धारण करता हूँ; **इति ते**=यह (सुनकर भी) वे; **अश्रद्दधानाः**=अविश्वासी ही; **बभूवुः**=बने रहे ॥ ३ ॥

व्याख्या—इस प्रकार जब सम्पूर्ण महाभूत, इन्द्रियाँ और अन्तःकरणरूप देवता परस्पर विवाद करने लगे, तब सर्वश्रेष्ठ प्राणने उनसे कहा—'तुमलोग अज्ञानवश आपसमें विवाद मत करो; तुममेंसे किसीमें भी इस शरीरको धारण करने या सुरक्षित रखनेकी शक्ति नहीं है । इसे तो मैंने ही अपनेको (प्राण, अपान, समान, व्यान और उदानरूप) पाँच भागोंमें विभक्त करके आश्रय देते हुए धारण कर रक्खा है और मुझसे ही यह सुरक्षित है ।' प्राणकी यह बात सुनकर भी उन देवताओंने उसपर विश्वास नहीं किया; वे अविश्वासी ही बने रहे ॥ ३ ॥

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते । तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥ ४ ॥

सः=(तब) वह प्राण; **अभिमानात्**=अभिमानपूर्वक; **ऊर्ध्वम् उत्क्रमते इव**=मानो (उस शरीरसे) ऊपरकी ओर बाहर निकलने लगा; **तस्मिन् उत्क्रामति**=उसके बाहर निकलनेपर; **अथ इतरे सर्वे एव**=उसीके साथ-ही-साथ अन्य सब भी; **उत्क्रामन्ते च**=शरीरसे बाहर निकलने लगे और; **तस्मिन् प्रतिष्ठमाने**=(शरीरमें लौटकर) उसके ठहर जानेपर; **सर्वे एव प्रातिष्ठन्ते**=और सब देवता भी ठहर गये; **तत् यथा**=तब जैसे (मधुके छत्तेसे); **मधुकरराजानम्**=मधुमक्खियोंके राजाके; **उत्क्रामन्तम्**=निकलनेपर उसीके साथ-साथ; **सर्वाः एव**=सारी ही; **मक्षिकाः**=मधुमक्खियाँ; **उत्क्रामन्ते**=बाहर निकल जाती हैं; **च तस्मिन्**=और उसके; **प्रतिष्ठमाने**=बैठ जानेपर; **सर्वाः एव**=सब-की-सब; **प्रातिष्ठन्ते**=बैठ जाती हैं; **एवम्**=ऐसी ही दशा (इन सबकी हुई); **वाक् चक्षुः श्रोत्रम् च मनः**=अतः वाणी, नेत्र, श्रोत्र और मन; **ते**=वे (सभी); **प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति**=(प्राणकी श्रेष्ठताका अनुभव करके) प्रसन्न होकर प्राणकी स्तुति करने लगे ॥ ४ ॥

व्याख्या—तब उनको अपना प्रभाव दिखलाकर सावधान करनेके लिये वह सर्वश्रेष्ठ प्राण अभिमानमें ठेस लगनेसे मानो रूठकर इस शरीरसे बाहर निकलनेके लिये ऊपरकी ओर उठने लगा । फिर तो सब-के-सब देवता विवश होकर उसीके साथ बाहर निकलने लगे; कोई भी स्थिर नहीं रह सका । जब वह पुनः लौटकर अपने स्थानपर स्थित हो गया, तब अन्य सब भी स्थित हो गये । जैसे मधुमक्खियोंका राजा जब अपने स्थानसे उड़ता है, तब उसके साथ ही वहाँ बैठी हुई अन्य सब मधुमक्खियाँ भी उड़ जाती हैं, और जब वह बैठ जाता है तो अन्य सब भी बैठ जाती हैं, ऐसी ही दशा इन सब वागादि देवताओंकी भी हुई । यह देखकर वाणी, चक्षु, श्रोत्र आदि सब इन्द्रियोंको और मन आदि अन्तःकरणकी वृत्तियोंको भी यह विश्वास हो गया कि हम सबमें प्राण ही श्रेष्ठ है; अतः वे सब प्रसन्नतापूर्वक निम्न प्रकारसे प्राणकी स्तुति करने लगे ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—प्राणको ही परब्रह्म परमेश्वरका स्वरूप मानकर उपासना करनेके लिये उसका सर्वात्मरूपसे महत्त्व बतलाया जाता है—

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः ।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥ ५ ॥

एषः अग्निः तपति=यह प्राण अग्निरूपसे तपता है; **एषः सूर्यः**=यही सूर्य है; **एषः पर्जन्यः**=यही मेघ है; **(एषः) मघवान्**=यही इन्द्र है; **एषः वायुः**=यही वायु है (तथा); **एषः देवः**=यह प्राणरूप देव ही; **पृथिवी**=पृथ्वी (एवं); **रयिः**=रयि है; (तथा) **यत्**=जो कुछ; **सत्**=सत्; **च**=और; **असत्**=असत् है; **च**=तथा; [**यत्**=जो;] **अमृतम्**=अमृत कहा जाता है, वह भी है ॥ ५ ॥

व्याख्या—वे वाणी आदि सब देवता स्तुति करते हुए बोले—'यह प्राण ही अग्निरूप धारण करके तपता है और यही सूर्य है। यही मेघ, इन्द्र और वायु है। यही देव पृथ्वी और रयि (भूतसमुदाय) है। तथा सत् और असत् एवं उससे भी श्रेष्ठ जो अमृतस्वरूप परमात्मा है, वह भी यह प्राण ही है ॥ ५ ॥

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ ६ ॥

रथनाभौ=रथके पहियेकी नाभिमें लगे हुए; **अराः इव**=अरोंकी भाँति; **ऋचः यजूंषि**=ऋग्वेदकी सम्पूर्ण ऋचाएँ, यजुर्वेदके मन्त्र (तथा); **सामानि**=सामवेदके मन्त्र; **यज्ञः च**=यज्ञ और; **ब्रह्म, क्षत्रम्**=(यज्ञ करनेवाले) ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि अधिकारिवर्ग; **सर्वम्**=ये सब-के-सब; **प्राणे**=(इस) प्राणमें; **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित हैं ॥ ६ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार रथके पहियेकी नाभिमें लगे हुए अरे नाभिके ही आश्रित रहते हैं, उसी प्रकार ऋग्वेदकी सब ऋचाएँ, यजुर्वेदके समस्त मन्त्र, सब-का-सब सामवेद, उनके द्वारा सिद्ध होनेवाले यज्ञादि शुभ कर्म और यज्ञादि शुभ कर्म करनेवाले ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि अधिकारिवर्ग—ये सब-के-सब प्राणके आधारपर ही टिके हुए हैं; सबका आश्रय प्राण ही है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार प्राणका महत्त्व बतलाकर अब उसकी स्तुति की जाती है—

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे। तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥ ७ ॥

प्राण=हे प्राण; [**त्वम् एव**=तू ही;] **प्रजापतिः**=प्रजापति है; **त्वम् एव**=तू ही; **गर्भे चरसि**=गर्भमें विचरता है; **प्रतिजायसे**=(और तू ही) माता-पिताके अनुरूप होकर जन्म लेता है; **तु**=निश्चय ही; **इमाः**=ये सब; **प्रजाः**=जीव; **तुभ्यम्**=तुझे; **बलिम् हरन्ति**=भेंट समर्पण करते हैं; **यः**=जो तू; **प्राणैः प्रतितिष्ठसि**=(अपानादि अन्य) प्राणोंके साथ-साथ स्थित हो रहा है ॥ ७ ॥

व्याख्या—हे प्राण ! तू ही प्रजापति (प्राणियोंका ईश्वर) है, तू ही गर्भमें विचरनेवाला और माता-पिताके अनुरूप संतानके रूपमें जन्म लेनेवाला है। ये सब जीव तुझे ही भेंट समर्पण करते हैं। तू ही अपानादि सब प्राणोंके सहित सबके शरीर-में स्थित हो रहा है ॥ ७ ॥

देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥ ८ ॥

(हे प्राण !) **देवानाम्**=(तू) देवताओंके लिये; **वह्नितमः**=उत्तम अग्नि है; **पितॄणाम्**= पितरोंके लिये; **प्रथमा स्वधा**=पहली स्वधा है; **अथर्वाङ्गिरसाम्**=अथर्वाङ्गिरस् आदि; **ऋषीणाम्**=ऋषियोंके द्वारा; **चरितम्**=आचरित; **सत्यम्**=सत्य; **असि**=है ॥ ८ ॥

व्याख्या—हे प्राण ! तू देवताओंके लिये हवि पहुँचानेवाला उत्तम अग्नि है। पितरोंके लिये पहली स्वधा है। अथर्वाङ्गिरस् आदि ऋषियोंके द्वारा आचरित (अनुभूत) सत्य भी तू ही है ॥ ८ ॥

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥ ९ ॥

प्राण=हे प्राण; **त्वम् तेजसा**=तू तेजसे (सम्पन्न); **इन्द्रः**=इन्द्र; **रुद्रः**=रुद्र (और); **परिरक्षिता**= रक्षा करनेवाला; **असि**=है; **त्वम्**=तू ही; **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्षमें; **चरसि**=विचरता है (और); **त्वम्**=तू ही; **ज्योतिषां पतिः**=समस्त ज्योतिर्मण्डलोंका स्वामी; **सूर्यः**=सूर्य है ॥ ९ ॥

व्याख्या—हे प्राण ! तू सब प्रकारके तेज (शक्तियों) से सम्पन्न, तीनों लोकोंका स्वामी इन्द्र है। तू ही प्रलयकालमें सबका संहार करनेवाला रुद्र है और तू ही सबकी भलीभाँति यथायोग्य रक्षा करनेवाला है। तू ही अन्तरिक्षमें (पृथ्वी और स्वर्गके बीचमें) विचरनेवाला वायु है तथा तू ही अग्नि, चन्द्र, तारे आदि समस्त ज्योतिर्गणोंका स्वामी सूर्य है॥९॥

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥१०॥

प्राण=हे प्राण; **यदा त्वम्**=जब तू; **अभिवर्षसि**=भलीभाँति वर्षा करता है; **अथ**=उस समय; **ते इमाः प्रजाः**=तेरी यह सम्पूर्ण प्रजा; **कामाय**=यथेष्ट; **अन्नम्**=अन्न; **भविष्यति**=उत्पन्न होगा; **इति**=यह समझकर; **आनन्दरूपाः**=आनन्दमय; **तिष्ठन्ति**=हो जाती है ॥ १० ॥

व्याख्या—हे प्राण ! जब तू मेघरूप होकर पृथ्वीलोकमें सब ओर वर्षा करता है, तब तेरी यह सम्पूर्ण प्रजा 'हमलोगोंके जीवननिर्वाहके लिये यथेष्ट अन्न उत्पन्न होगा'—ऐसी आशा करती हुई आनन्दमें मग्न हो जाती है ॥ १० ॥

व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः ॥११॥

प्राण=हे प्राण; **त्वम्**=तू; **व्रात्यः**=संस्काररहित (होते हुए भी); **एकर्षिः**=एकमात्र सर्वश्रेष्ठ ऋषि है (तथा); **वयम्**=हमलोग (तेरे लिये); **आद्यस्य**=भोजनको; **दातारः**=देनेवाले हैं (और तू); **अत्ता**=भोक्ता (खानेवाला) है; **विश्वस्य**=समस्त जगत्का; **सत्पतिः**=(तू ही) श्रेष्ठ स्वामी है; **मातरिश्व**=हे आकाशमें विचरनेवाले वायुदेव; **त्वम्**=तू; **नः**=हमारा; **पिता**=पिता है ॥ ११ ॥

व्याख्या—हे प्राण ! तू संस्काररहित होकर भी एकमात्र सर्वश्रेष्ठ ऋषि है। तात्पर्य यह कि तू स्वभावसे ही शुद्ध है, अतः तुझे संस्कारद्वारा शुद्धिकी आवश्यकता नहीं है; प्रत्युत तू ही सबको पवित्र करनेवाला एकमात्र सर्वश्रेष्ठ ऋषि है। हमलोग (सब इन्द्रियाँ और मन आदि) तेरे लिये नाना प्रकारकी भोजन-सामग्री अर्पण करनेवाले हैं और तू उसे खानेवाला है। तू ही समस्त विश्वका उत्तम स्वामी है। हे आकाशचारी समष्टिवायुस्वरूप प्राण ! तू हमारा पिता है; क्योंकि तुझसे ही हम सबकी उत्पत्ति हुई है ॥ ११ ॥

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥१२॥

(हे प्राण !) **या ते तनूः**=जो तेरा स्वरूप; **वाचि**=वाणीमें; **प्रतिष्ठिता च**=स्थित है, तथा; **या श्रोत्रे**=जो श्रोत्रमें; **या चक्षुषि च**=जो चक्षुमें और; **या मनसि**=जो मनमें; **संतता**=व्याप्त है; **ताम्**=उसको; **शिवाम्**=कल्याणमय; **कुरु**=बना ले; **मा उत्क्रमीः**=(तू) उत्क्रमण न कर ॥ १२ ॥

व्याख्या—हे प्राण ! जो तेरा स्वरूप वाणी, श्रोत्र, चक्षु आदि समस्त इन्द्रियोंमें और मन आदि अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें व्याप्त है, उसे तू कल्याणमय बना ले। अर्थात् तुझमें जो हमें सावधान करनेके लिये आवेश आया है, उसे शान्त कर ले और तू शरीरसे उठकर बाहर न जा। यह हमलोगोंकी प्रार्थना है ॥ १२ ॥

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥१३॥

इदम्=यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला जगत् (और); **यत् त्रिदिवे**=जो कुछ स्वर्गलोकमें; **प्रतिष्ठितम्**=स्थित है; **सर्वम्**=वह सब-का-सब; **प्राणस्य**=प्राणके; **वशे**=अधीन है (हे प्राण !); **माता पुत्रान् इव**=जैसे माता अपने पुत्रोंकी रक्षा करती है, उसी प्रकार (तू हमारी); **रक्षस्व**=रक्षा कर; **च**=तथा; **नः श्रीः च**=हमें कान्ति और; **प्रज्ञाम्**=बुद्धि; **विधेहि**=प्रदान कर; **इति**=इस प्रकार यह दूसरा प्रश्न समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

व्याख्या—प्रत्यक्ष दीखनेवाले इस लोकमें जितने भी पदार्थ हैं और जो कुछ स्वर्गमें स्थित हैं, वे सब-के-सब इस प्राणके ही अधीन हैं। यह सोचकर वे इन्द्रियादि देवगण अन्तमें प्राणसे प्रार्थना करते हैं—'हे प्राण! जिस प्रकार माता अपने पुत्रोंकी रक्षा करती है, उसी प्रकार तू हमारी रक्षा कर तथा तू हमलोगोंको श्री अर्थात् कार्य करनेकी शक्ति और प्रज्ञा (ज्ञान) प्रदान कर।'

इस प्रकार इस प्रकरणमें भार्गव ऋषिद्वारा पूछे हुए तीन प्रश्नोंका उत्तर देते हुए महर्षि पिप्पलादने यह बात समझायी कि समस्त प्राणियोंके शरीरोंको अवकाश देकर बाहर और भीतरसे धारण करनेवाला आकाश-तत्त्व है। साथ ही इस शरीरके अवयवोंकी पूर्ति करनेवाले वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये चार तत्त्व हैं। दस इन्द्रियाँ और अन्तःकरण—ये इसको प्रकाश देकर क्रियाशील बनानेवाले हैं। इन सबसे श्रेष्ठ प्राण है। अतएव प्राण ही वास्तवमें इस शरीरको धारण करनेवाला है, प्राणके बिना शरीरको धारण करनेकी शक्ति किसीमें नहीं है। अन्य सब इन्द्रिय आदिमें इसीकी शक्ति अनुस्यूत है, इसीकी शक्ति पाकर वे शरीरको धारण करते हैं। इसी प्रकार प्राणकी श्रेष्ठताका वर्णन छान्दोग्य-उपनिषद्के पाँचवें अध्यायके आरम्भमें और बृहदारण्यक-उपनिषद्के छठे अध्यायके आरम्भमें आया है। इस प्रकरणमें प्राणकी स्तुतिका प्रसङ्ग अधिक है॥ १३॥

॥ द्वितीय प्रश्न समाप्त॥ २॥

तृतीय प्रश्न

अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ भगवन्कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिञ्शरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति॥ १॥

अथ ह एनम्=उसके बाद इन प्रसिद्ध महात्मा (पिप्पलाद) से; **कौसल्यः आश्वलायनः**=कोसलदेशीय आश्वलायनने; **च**=भी; **पप्रच्छ**=पूछा; **भगवन्**=भगवन्; **एषः प्राणः**=यह प्राण; **कुतः जायते**=किससे उत्पन्न होता है; **अस्मिन् शरीरे**=इस शरीरमें; **कथम् आयाति**=कैसे आता है; **वा आत्मानम्**=तथा अपनेको; **प्रविभज्य**=विभाजित करके; **कथम् प्रातिष्ठते**=किस प्रकार स्थित होता है; **केन उत्क्रमते**=किस ढंगसे उत्क्रमण करता—शरीरसे बाहर निकलता है; **कथम् बाह्यम्**=किस प्रकार बाह्य जगत्को; **अभिधत्ते**=भलीभाँति धारण करता है (और); **कथम् अध्यात्मम्**=किस प्रकार मन और इन्द्रिय आदि शरीरके भीतर रहनेवाले जगत्को; **इति**=यही (मेरा प्रश्न है)॥ १॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें आश्वलायन मुनिने महर्षि पिप्पलादसे कुल छः बातें पूछी हैं—(१) जिस प्राणकी महिमाका आपने वर्णन किया, वह प्राण किससे उत्पन्न होता है? (२) वह इस मनुष्य-शरीरमें कैसे प्रवेश करता है? (३) अपनेको विभाजित करके किस प्रकार शरीरमें स्थित रहता है? (४) एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाते समय पहले शरीरसे किस प्रकार निकलता है? (५) इस बाह्य (पाञ्चभौतिक) जगत्को किस प्रकार धारण करता है? तथा (६) मन और इन्द्रिय आदि आध्यात्मिक (आन्तरिक) जगत्को किस प्रकार धारण करता है? यहाँ प्राणके विषयमें वे ही बातें पूछी गयी हैं, जिनका वर्णन पहले उत्तरमें नहीं आया है और जो पहले प्रश्नके उत्तरको सुनकर ही स्फुरित हुई हैं; इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रश्नोत्तरके समय सुकेशादि छहों ऋषि वहाँ साथ-साथ बैठे सुन रहे थे॥ १॥

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि॥ २॥

तस्मै सः ह उवाच=उनसे उन प्रसिद्ध महर्षिने कहा; **अतिप्रश्नान् पृच्छसि**=तू बड़े कठिन प्रश्न पूछ रहा है (किन्तु); **ब्रह्मिष्ठः असि इति**=वेदोंको अच्छी तरह जाननेवाला है; **तस्मात्**=अतः; **अहम्**=मैं; **ते**=तेरे; **ब्रवीमि**=प्रश्नोंका उत्तर देता हूँ॥ २॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें महर्षि पिप्पलादने आश्वलायन मुनिके प्रश्नोंको कठिन बतलाकर उनकी बुद्धिमत्ता और

तर्कशीलताकी प्रशंसा की है और साथ ही यह भाव भी दिखलाया है कि 'तू जिस ढंगसे पूछ रहा है, उसे देखते हुए तो मुझे तेरे प्रश्नोंका उत्तर नहीं देना चाहिये। परंतु मैं जानता हूँ कि तू तर्कबुद्धिसे नहीं पूछ रहा है, तू श्रद्धालु है, वेदोंमें निष्णात है; अतः मैं तेरे प्रश्नोंका उत्तर दे रहा हूँ' ॥ २ ॥

आत्मन एष प्राणो जायते यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्शरीरे ॥ ३ ॥

एषः प्राणः=यह प्राण; **आत्मनः**=परमात्मासे; **जायते**=उत्पन्न होता है; **यथा**=जिस प्रकार; **एषा छाया**=यह छाया; **पुरुषे**=पुरुषके होनेपर (ही होती है); [**तथा** =उसी प्रकार;] **एतत्**=यह (प्राण); **एतस्मिन्**=इस (परमात्मा) के ही; **आततम्**=आश्रित है (और); **अस्मिन् शरीरे**=इस शरीरमें; **मनोकृतेन**=मनके किये हुए (संकल्प) से; **आयाति**=आता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—यहाँ महर्षि पिप्पलादने क्रमसे आश्वलायन ऋषिके दो प्रश्नोंका उत्तर दिया है। पहले प्रश्नका उत्तर तो यह है कि जिसका प्रकरण चल रहा है, वह सर्वश्रेष्ठ प्राण परमात्मासे उत्पन्न हुआ है। वह परब्रह्म परमेश्वर ही इसका उपादानकारण है और वही इसकी रचना करनेवाला है; अतः इसकी स्थिति उस सर्वात्मा महेश्वरके अधीन—उसीके आश्रित है—ठीक जिस प्रकार किसी मनुष्यकी छाया उसके अधीन रहती है। दूसरे प्रश्नका उत्तर यह है कि यह मनद्वारा किये हुए संकल्पसे किसी शरीरमें प्रवेश करता है। भाव यह कि मरते समय प्राणीके मनमें उसके कर्मानुसार जैसा संकल्प होता है, उसे वैसा ही शरीर मिलता है; अतः प्राणोंका शरीरमें प्रवेश मनके संकल्पसे ही होता है ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—अब आश्वलायनके तीसरे प्रश्नका उत्तर विस्तारपूर्वक आरम्भ किया जाता है—

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते ॥ ४ ॥

यथा=जिस प्रकार; **सम्राट् एव**=चक्रवर्ती महाराज स्वयं ही; **एतान् ग्रामान् एतान् ग्रामान् अधितिष्ठस्व**=इन गाँवोंमें (तुम रहो,)इन गाँवोंमें तुम रहो; **इति**=इस प्रकार; **अधिकृतान्**=अधिकारियोंको; **विनियुङ्क्ते**=अलग-अलग नियुक्त करता है; **एवम् एव**=इसी प्रकार; **एषः प्राणः**=यह मुख्य प्राण; **इतरान्**=दूसरे; **प्राणान्**=प्राणोंको; **पृथक् पृथक् एव**=पृथक्-पृथक् ही; **संनिधत्ते**=स्थापित करता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—यहाँ महर्षि उदाहरणद्वारा तीसरे प्रश्नका समाधान करते हुए कहते हैं—'जिस प्रकार भूमण्डलका चक्रवर्ती महाराज भिन्न-भिन्न ग्राम, मण्डल और जनपद आदिमें पृथक्-पृथक् अधिकारियोंकी नियुक्ति करता है और उनका कार्य बाँट देता है, उसी प्रकार यह सर्वश्रेष्ठ प्राण भी अपने अङ्गस्वरूप अपान, व्यान आदि दूसरे प्राणोंको शरीरके पृथक-पृथक स्थानोंमें पृथक्-पृथक् कार्यके लिये नियुक्त कर देता है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब मुख्य प्राण, अपान और समान—इन तीनोंका वासस्थान और कार्य बतलाया जाता है—

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः । एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥ ५ ॥

प्राणः=(वह) प्राण; **पायूपस्थे**=गुदा और उपस्थमें; **अपानम्** (**नियुङ्क्ते**)=अपानको रखता है; **स्वयम्**=स्वयं; **मुखनासिकाभ्याम्**=मुख और नासिकाद्वारा (विचरता हुआ); **चक्षुःश्रोत्रे**=नेत्र और श्रोत्रमें; **प्रातिष्ठते**=स्थित रहता है; **तु मध्ये**=और शरीरके मध्यभागमें; **समानः**=समान (रहता है); **एषः हि**=यह (समान वायु) ही; **एतत् हुतम् अन्नम्**=इस प्राणाग्निमें हवन किये हुए अन्नको; **समम् नयति**=समस्त शरीरमें यथायोग्य समभावसे पहुँचाता है; **तस्मात्**=उससे; **एताः सप्त**=ये सात; **अर्चिषः**=ज्वालाएँ (विषयोंको प्रकाशित करनेवाले ऊपरके द्वार); **भवन्ति**=उत्पन्न होती हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—यह स्वयं तो मुख और नासिकाद्वारा विचरता हुआ नेत्र और श्रोत्रमें स्थित रहता है, तथा गुदा और

उपस्थमें अपानको स्थापित करता है। उसका काम मल-मूत्रको शरीरके बाहर निकाल देना है; रज-वीर्य और गर्भको बाहर करना भी इसीका काम है। शरीरके मध्य भाग—नाभिमें समानको रखता है। यह समान वायु ही प्राणरूप अग्निमें हवन किये हुए— उदरमें डाले हुए अन्नको अर्थात् उसके सारको सम्पूर्ण शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें यथायोग्य समभावसे पहुँचाता है। उस अन्नके सारभूत रससे ही इस शरीरमें ये सात ज्वालाएँ अर्थात् समस्त विषयोंको प्रकाशित करनेवाले दो नेत्र, दो कान, दो नासिकाएँ और एक मुख (रसना)—ये सात द्वार उत्पन्न होते हैं; उस रससे पुष्ट होकर ही ये अपना-अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—अब व्यानकी गतिका वर्णन किया जाता है—

हृदि ह्येष आत्मा अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥ ६ ॥

एषः हि=यह प्रसिद्ध; **आत्मा**=जीवात्मा; **हृदि**=हृदयदेशमें रहता है; **अत्र**=इस (हृदय) में; **एतत्**=यह; **नाडीनाम् एकशतम्**=मूलरूपसे एक सौ नाड़ियोंका समुदाय है; **तासाम्**=उनमेंसे; **एकैकस्याम्**=एक-एक नाड़ीमें; **शतम् शतम्**=एक-एक सौ (शाखाएँ) हैं (प्रत्येक शाखा-नाड़ीकी); **द्वासप्ततिः द्वासप्ततिः**=बहत्तर-बहत्तर; **प्रतिशाखानाडीसहस्राणि**=हजार प्रतिशाखा-नाड़ियाँ; **भवन्ति**=होती हैं; **आसु**=इनमें; **व्यानः**=व्यानवायु; **चरति**=विचरण करता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस शरीरमें जो हृदयप्रदेश है, जो जीवात्माका निवासस्थान है, उसमें एक सौ मूलभूत नाड़ियाँ हैं; उनमेंसे प्रत्येक नाड़ीकी एक-एक सौ शाखा-नाड़ियाँ हैं और प्रत्येक शाखा-नाड़ीकी बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखा-नाड़ियाँ हैं। इस प्रकार इस शरीरमें कुल बहत्तर करोड़ नाड़ियाँ हैं; इन सबमें व्यानवायु विचरण करता है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—अब उदानका स्थान और कार्य बतलाते हैं, साथ ही आश्वलायनके चौथे प्रश्नका उत्तर भी देते हैं—

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥ ७ ॥

अथ=तथा; **एकया**=जो एक नाड़ी और है, उसके द्वारा; **उदानः ऊर्ध्वः**=उदान वायु ऊपरकी ओर; [**चरति**=विचरता है;](**सः**) **पुण्येन**=वह पुण्यकर्मोंके द्वारा; [**मनुष्यम्**=मनुष्यको;] **पुण्यम् लोकम्**=पुण्यलोकोंमें; **नयति**=ले जाता है; **पापेन**=पापकर्मोंके कारण (उसे); **पापम् नयति**=पापयोनियोंमें ले जाता है (तथा); **उभाभ्याम् एव**=पाप और पुण्य दोनों प्रकारके कर्मोंद्वारा (जीवको); **मनुष्यलोकम्**=मनुष्य-शरीरमें; [**नयति**=ले जाता है] ॥ ७ ॥

व्याख्या—इन ऊपर बतलायी हुई बहत्तर करोड़ नाड़ियोंसे भिन्न एक नाड़ी और है, जिसको 'सुषुम्णा' कहते हैं, जो हृदयसे निकलकर ऊपर मस्तकमें गयी है। उसके द्वारा उदान वायु शरीरमें ऊपरकी ओर विचरण करता है। (इस प्रकार आश्वलायनके तीसरे प्रश्नका समाधान करके अब महर्षि उसके चौथे प्रश्नका उत्तर संक्षेपमें देते हैं—) जो मनुष्य पुण्यशील होता है, जिसके शुभकर्मोंके भोग उदय हो जाते हैं, उसे यह उदान वायु ही अन्य सब प्राण और इन्द्रियोंके सहित वर्तमान शरीरसे निकालकर पुण्यलोकोंमें अर्थात् स्वर्गादि उच्च लोकोंमें ले जाता है। पापकर्मोंसे युक्त मनुष्यको शूकर-कूकर आदि पाप-योनियोंमें और रौरवादि नरकोंमें ले जाता है तथा जो पाप और पुण्य—दोनों प्रकारके कर्मोंका मिश्रित फल भोगनेके लिये अभिमुख हुए रहते हैं, उनको मनुष्य-शरीरमें ले जाता है * ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अब दो मन्त्रोंमें आश्वलायनके पाँचवें और छठे प्रश्नका उत्तर देते हुए जीवात्माके प्राण और इन्द्रियोंसहित एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेकी बात भी स्पष्ट करते हैं—

* एक शरीरसे निकलकर जब मुख्य प्राण उदानको साथ लेकर उसके द्वारा दूसरे शरीरमें जाता है, तब अपने भूतसूक्ष्म समान आदि प्राणोंको तथा इन्द्रिय और मनको तो साथ ले ही जाता है, इन सबका स्वामी जीवात्मा भी उसीके साथ जाता है—यह बात यहाँ कहनी थी; इसीलिये पूर्वमन्त्रमें जीवात्माका स्थान हृदय बतलाया गया है।

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः । पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ॥ ८ ॥

ह=यह निश्चय है कि; **आदित्यः वै**=सूर्य ही; **बाह्यः प्राणः**=बाह्य प्राण है; **एषः हि**=यही; **एनम् चाक्षुषम्**=इस नेत्रसम्बन्धी; **प्राणम्**=प्राणपर; **अनुगृह्णानः**=अनुग्रह करता हुआ; **उदयति**=उदित होता है; **पृथिव्याम्**=पृथ्वीमें; **या देवता**=जो (अपान वायुकी शक्तिरूप) देवता है; **सा एषा**=वही यह; **पुरुषस्य**=मनुष्यके; **अपानम्**=अपान वायुको; **अवष्टभ्य**=स्थिर किये; [**वर्तते**=रहता है;] **अन्तरा**=पृथ्वी और स्वर्गके बीच; **यत् आकाशः**=जो आकाश (अन्तरिक्षलोक) है; **सः समानः**=वह समान है; **वायुः व्यानः**=वायु ही व्यान है ॥ ८ ॥

व्याख्या—यह निश्चयपूर्वक समझना चाहिये कि सूर्य ही सबका बाह्य प्राण है । यह मुख्य प्राण सूर्यरूपसे उदय होकर इस शरीरके बाह्य अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको पुष्ट करता है और नेत्र-इन्द्रियरूप आध्यात्मिक शरीरपर अनुग्रह करता है—उसे देखनेकी शक्ति अर्थात् प्रकाश देता है । पृथ्वीमें जो देवता अर्थात् अपान वायुकी शक्ति है, वह इस मनुष्यके भीतर रहनेवाले अपान वायुको आश्रय देती है—टिकाये रखती है । यह अपान वायुकी शक्ति गुदा और उपस्थ इन्द्रियोंकी सहायक है तथा इनके बाहरी स्थूल आकारको धारण करती है । पृथ्वी और स्वर्गलोकके बीचका जो आकाश है, वही समान वायुका बाह्य स्वरूप है । वह इस शरीरके बाहरी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको अवकाश देकर इसकी रक्षा करता है और शरीरके भीतर रहनेवाले समान वायुको विचरनेके लिये शरीरमें अवकाश देता है; इसीकी सहायतासे श्रोत्र-इन्द्रिय शब्द सुन सकती है । आकाशमें विचरनेवाला प्रत्यक्ष वायु ही व्यानका बाह्य स्वरूप है, यह इस शरीरके बाहरी अङ्ग-प्रत्यङ्गको चेष्टाशील करता है और शान्ति प्रदान करता है; भीतरी व्यान वायुको नाड़ियोंमें संचारित करने तथा त्वचा-इन्द्रियको स्पर्शका ज्ञान करानेमें भी यह सहायक है ॥८॥

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः ॥ ९ ॥

ह तेजः वै=प्रसिद्ध तेज (गर्मी) ही; **उदानः**=उदान है; **तस्मात्**=इसीलिये; **उपशान्ततेजाः**=जिसके शरीरका तेज शान्त हो जाता है, वह (जीवात्मा); **मनसि**=मनमें; **सम्पद्यमानैः**=विलीन हुई; **इन्द्रियैः**=इन्द्रियोंके साथ; **पुनर्भवम्**=पुनर्जन्मको (प्राप्त होता है) ॥ ९ ॥

व्याख्या—सूर्य और अग्निका जो बाहरी तेज अर्थात् उष्णत्व है, वही उदानका बाह्य स्वरूप है । वह शरीरके बाहरी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको ठंडा नहीं होने देता और शरीरके भीतरकी ऊष्माको भी स्थिर रखता है । जिसके शरीरसे उदान वायु निकल जाता है, उसका शरीर गरम नहीं रहता । अतः शरीरकी गर्मी शान्त हो जाते ही उसमें रहनेवाला जीवात्मा मनमें विलीन हुई इन्द्रियोंको साथ लेकर उदान वायुके साथ-साथ दूसरे शरीरमें चला जाता है ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—अब आश्वलायनके चौथे प्रश्नमें आयी हुई एक शरीरसे निकलकर दूसरे शरीरमें या लोकोंमें प्रवेश करनेकी बातका पुनः स्पष्टीकरण किया जाता है—

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥ १० ॥

एषः=यह (जीवात्मा); **यच्चित्तः**=जिस सङ्कल्पवाला होता है; **तेन**=उस सङ्कल्पके साथ; **प्राणम्**=मुख्य प्राणमें; **आयाति**=स्थित हो जाता है; **प्राणः**=मुख्य प्राण; **तेजसा युक्तः**=तेज (उदान) से युक्त हो; **आत्मना सह**=मन, इन्द्रियोंसे युक्त (जीवात्माको); **यथासंकल्पितम्**=उसके संकल्पानुसार; **लोकम्**=भिन्न-भिन्न लोक अथवा योनिको; **नयति**=ले जाता है ॥ १० ॥

व्याख्या—मरते समय इस आत्माका जैसा संकल्प होता है, इसका मन अन्तिम क्षणमें जिस भावका चिन्तन करता है (गीता ८ । ६), उस सङ्कल्पके सहित मन, इन्द्रियोंको साथ लिये हुए यह मुख्य प्राणमें स्थित हो जाता है । वह मुख्य प्राण उदान वायुसे मिलकर मन और इन्द्रियोंके सहित जीवात्माको उस अन्तिम संकल्पके अनुसार यथायोग्य भिन्न-भिन्न लोक अथवा योनिमें ले जाता है । अतः मनुष्यको उचित है कि अपने मनमें निरन्तर एक भगवान्‌का ही चिन्तन रक्खे, दूसरा

संकल्प न आने दे। क्योंकि जीवन अल्प और अनित्य है; न जाने कब अचानक इस शरीरका अन्त हो जाय। यदि उस समय भगवान्‌का चिन्तन न होकर कोई दूसरा सङ्कल्प आ गया तो सदाकी भाँति पुनः चौरासी लाख योनियोंमें भटकना पड़ेगा ॥ १० ॥

सम्बन्ध—अब प्राणविषयक ज्ञानका सांसारिक और पारलौकिक फल बतलाते हैं—

य एवं विद्वान्प्राणं वेद न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥ ११ ॥

यः विद्वान्=जो कोई विद्वान्; **एवम् प्राणम्**=इस प्रकार प्राण (के रहस्य) को; **वेद**=जानता है; **अस्य**=उसकी; **प्रजा**=सन्तानपरम्परा; **न ह हीयते**=कदापि नष्ट नहीं होती; **अमृतः**=(वह) अमर; **भवति**=हो जाता है; **तत् एषः**=इस विषयका यह (अगला); **श्लोकः**=श्लोक (है) ॥ ११ ॥

व्याख्या—जो कोई विद्वान् इस प्रकार इस प्राणके रहस्यको समझ लेता है, प्राणके महत्त्वको समझकर हर प्रकारसे उसे सुरक्षित रखता है, उसकी अवहेलना नहीं करता, उसकी सन्तानपरम्परा कभी नष्ट नहीं होती; क्योंकि उसका वीर्य अमोघ और अद्भुत शक्तिसम्पन्न हो जाता है। और वह यदि उसके आध्यात्मिक रहस्यको समझकर अपने जीवनको सार्थक बना लेता है, एक क्षण भी भगवान्‌के चिन्तनसे शून्य नहीं रहने देता, तो सदाके लिये अमर हो जाता है अर्थात् जन्म-मरणरूप संसारसे मुक्त हो जाता है। इस विषयपर निम्नलिखित ऋचा है ॥ ११ ॥

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते विज्ञायामृतमश्नुत इति ॥ १२ ॥

प्राणस्य=प्राणकी; **उत्पत्तिम्**=उत्पत्ति; **आयतिम्**=आगम; **स्थानम्**=स्थान; **विभुत्वम् एव**=और व्यापकताको भी; **च**=तथा; **(बाह्यम्) एव अध्यात्मम् पञ्चधा च**=बाह्य एवं आध्यात्मिक पाँच भेदोंको भी; **विज्ञाय**=भलीभाँति जानकर; **अमृतम् अश्नुते**=(मनुष्य) अमृतका अनुभव करता है; **विज्ञाय अमृतम् अश्नुते इति**=जानकर अमृतका अनुभव करता है(यह पुनरुक्ति प्रश्नकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है) ॥ १२ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त विवेचनके अनुसार जो मनुष्य प्राणकी उत्पत्तिको अर्थात् यह जिससे और जिस प्रकार उत्पन्न होता है—इस रहस्यको जानता है, शरीरमें उसके प्रवेश करनेकी प्रक्रियाका तथा इसकी व्यापकताका ज्ञान रखता है तथा जो प्राणकी स्थितिको अर्थात् बाहर और भीतर—कहाँ-कहाँ वह रहता है, इस रहस्यको तथा इसके बाहरी और भीतरी अर्थात् आधिभौतिक और आध्यात्मिक पाँचों भेदोंके रहस्यको भलीभाँति समझ लेता है, वह अमृतस्वरूप परमानन्दमय परब्रह्म परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है तथा उस आनन्दमयके संयोग-सुखका निरन्तर अनुभव करता है ॥ १२ ॥

॥ तृतीय प्रश्न समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थ प्रश्न

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिञ्जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति कस्यैतत्सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥ १ ॥

अथ=तदनन्तर; **ह एनम्**=इन प्रसिद्ध महात्मा (पिप्पलाद मुनि)से; **गार्ग्यः**=गर्ग गोत्रमें उत्पन्न; **सौर्यायणी पप्रच्छ**=सौर्यायणी ऋषिने पूछा; **भगवन्**=भगवन्; **एतस्मिन् पुरुषे**=इस मनुष्य-शरीरमें; **कानि स्वपन्ति**=कौन-कौन सोते हैं; **अस्मिन् कानि**=इसमें कौन-कौन; **जाग्रति**=जागते रहते हैं; **एषः कतरः देवः**=यह कौन देवता; **स्वप्नान् पश्यति**=स्वप्नोंको देखता है; **एतत् सुखम्**=यह सुख; **कस्य भवति**=किसको होता है; **सर्वे**=(और) ये सब-के-सब; **कस्मिन्**=किसमें; **नु**=निश्चितरूपसे; **सम्प्रतिष्ठिताः**=सम्पूर्णतया स्थित; **भवन्ति इति**=रहते हैं, यह (मेरा प्रश्न है) ॥ १ ॥

व्याख्या—यहाँ गार्ग्य मुनिने महात्मा पिप्पलादसे पाँच बातें पूछी हैं—(१) गाढ़ निद्राके समय इस मनुष्य-शरीर-में रहनेवाले पूर्वोक्त देवताओंमेंसे कौन-कौन सोते हैं ? (२) कौन-कौन जागते रहते हैं ? (३) स्वप्न-अवस्थामें इनमेंसे कौन देवता स्वप्नकी घटनाओंको देखता रहता है ? (४) निद्रा-अवस्थामें सुखका अनुभव किसको होता है ? और (५) ये सब-के-सब देवता सर्वभावसे किसमें स्थित हैं अर्थात् किसके आश्रित हैं ? इस प्रकार इस प्रश्नमें गार्ग्य मुनिने जीवात्मा और परमात्माका पूरा-पूरा तत्त्व पूछ लिया ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति। ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ॥ २ ॥

तस्मै सः ह उवाच=उससे उन सुप्रसिद्ध महर्षिने कहा; **गार्ग्य यथा**=हे गार्ग्य ! जिस प्रकार; **अस्तम् गच्छतः**=अस्त होते हुए; **अर्कस्य मरीचयः**=सूर्यकी किरणें; **एतस्मिन् तेजोमण्डले**=इस तेजोमण्डलमें; **सर्वाः एकीभवन्ति**=सब-की-सब एक हो जाती हैं (फिर); **उदयतः ताः**=उदय होनेपर वे (सब); **पुनः पुनः**=पुनः-पुनः; **प्रचरन्ति**=सब ओर फैलती रहती हैं; **ह एवम् वै**=ठीक ऐसे ही (निद्राके समय); **तत् सर्वम्**=वे सब इन्द्रियाँ (भी); **परे देवे मनसि**=परम देव मनमें; **एकीभवति**=एक हो जाती हैं; **तेन तर्हि एषः पुरुषः**=इस कारण उस समय यह जीवात्मा; **न शृणोति**=न (तो) सुनता है; **न पश्यति**=न देखता है; **न जिघ्रति**=न सूँघता है; **न रसयते**=न स्वाद लेता है; **न स्पृशते**=न स्पर्श करता है; **न अभिवदते**=न बोलता है; **न आदत्ते न आनन्दयते**=न ग्रहण करता है, न मैथुनका आनन्द भोगता है; **न विसृजते न इयायते**=न मल-मूत्रका त्याग करता है और न चलता ही है; **स्वपिति इति आचक्षते**= उस समय 'वह सो रहा है' यों (लोग) कहते हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें महात्मा पिप्पलाद ऋषिने गार्ग्यके पहले प्रश्नका इस प्रकार उत्तर दिया है—'गार्ग्य ! जब सूर्य अस्त होता है, उस समय उसकी सब ओर फैली हुई सम्पूर्ण किरणें जिस प्रकार उस तेजःपुञ्जमें मिलकर एक हो जाती हैं, ठीक उसी प्रकार गाढ़ निद्राके समय तुम्हारे पूछे हुए सब देवता अर्थात् सब-की-सब इन्द्रियाँ उन सबसे श्रेष्ठ जो मनरूप देव है, उसमें विलीन होकर तद्रूप हो जाती हैं। इसलिये उस समय यह जीवात्मा न तो सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न स्वाद लेता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न चलता है, न मल-मूत्रका त्याग करता है और न मैथुनका सुख ही भोगता है। भाव यह है कि उस समय दसों इन्द्रियोंका कार्य सर्वथा बंद रहता है। केवल लोग कहते हैं कि इस समय यह पुरुष सो रहा है।* उसके जागनेपर पुनः वे सब इन्द्रियाँ मनसे पृथक् होकर अपना-अपना कार्य करने लगती हैं—ठीक वैसे ही, जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेपर उसकी किरणें पुनः सब ओर फैल जाती हैं ॥ २ ॥

सम्बन्ध—अब गार्ग्यके प्रश्नका संक्षेपमें उत्तर देकर दो मन्त्रोंद्वारा यह भी बतलाते हैं कि सब इन्द्रियोंके लय होनेपर मनकी कैसी स्थिति रहती है—

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात् प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥ ३ ॥

एतस्मिन् पुरे=इस शरीररूप नगरमें; **प्राणाग्नयः एव**=पाँच प्राणरूप अग्नियाँ ही; **जाग्रति**=जागती रहती हैं; **ह**

* यहाँ सुषुप्तिकालमें मनका व्यापार चालू रहता है या नहीं, इस विषयमें कुछ नहीं कहा। सब इन्द्रियोंका मनमें विलीन हो जाना तो बताया गया, किंतु मन भी किसीमें विलीन हो जाता है—यह बात नहीं कही गयी। महर्षि पतञ्जलि भी निद्राको चित्तकी एक वृत्ति मानते हैं (पा० यो०)। इससे तो यह जान पड़ता है कि मन विलीन नहीं होता। परंतु अगले मन्त्रमें पञ्चवृत्त्यात्मक प्राणको ही जागनेवाला बताया गया है, मनको नहीं; अतः मनका लय होता है या नहीं—यह बात स्पष्ट नहीं होती। पुनः चतुर्थ मन्त्रमें मनको यजमान बताकर उसके ब्रह्मलोकमें जानेकी बात कही गयी है। इससे यह कहा जा सकता है कि मनका भी लय हो जाता है।

एषः अपानः वै=यह प्रसिद्ध अपान ही; **गार्हपत्यः**=गार्हपत्य अग्नि है; **व्यानः**=व्यान; **अन्वाहार्यपचनः**=अन्वाहार्य पचन-नामक अग्नि (दक्षिणाग्नि) है; **गार्हपत्यात् यत् प्रणीयते**=गार्हपत्य अग्निसे जो उठाकर ले जायी जाती है (वह); **आहवनीयः**=आहवनीय अग्नि; **प्रणयनात्**=प्रणयन (उठाकर ले जाये जाने) के कारण ही; **प्राणः**=प्राणरूप है ॥ ३ ॥

व्याख्या—उस समय इस मनुष्य-शरीररूप नगरमें पाँच प्राणरूप अग्नियाँ ही जागती रहती हैं। यह गार्ग्यद्वारा पूछे हुए दूसरे प्रश्नका संक्षेपमें उत्तर है। यहाँ निद्राको यज्ञका रूप देनेके लिये पाँचों प्राणोंको अग्निरूप बतलाया है। यज्ञमें अग्निकी प्रधानता होती है, इसलिये यहाँ संक्षेपतः प्राणमात्रको अग्निके नामसे कह दिया। परंतु आगे इस यज्ञके रूपकमें किस प्राणवृत्तिकी किसके स्थानमें कल्पना करनी चाहिये, इसका स्पष्टीकरण करते हैं। कहना यह है कि शरीरमें जो प्राणकी अपान-वृत्ति है, यही मानो उस यज्ञकी 'गार्हपत्य' अग्नि है; 'व्यान' दक्षिणाग्नि है; गार्हपत्य अग्निरूप व्यानसे प्राण उठते हैं, इस कारण मुख्य प्राण ही इस यज्ञकी कल्पनामें आहवनीय अग्नि है। क्योंकि यज्ञमें आहवनीय अग्नि गार्हपत्यसे उठाकर लायी जाती है। पहले तीसरे प्रश्नके प्रसङ्गमें भी प्राणको 'अन्नरूप आहुति जिसमें हवन की जाती है' इस व्युत्पत्तिद्वारा आहवनीय अग्नि ही बताया है (३ । ५) ॥ ३ ॥

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः । मनो ह वाव यजमानः इष्टफलमेवोदानः । स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥ ४ ॥

यत् उच्छ्वासनिःश्वासौ=जो ऊर्ध्वश्वास और अधःश्वास हैं; **एतौ**=ये दोनों (मानो); **आहुती**=(अग्निहोत्रकी) दो आहुतियाँ हैं; [**एतौ यः**=इनको जो;] **समम्**=समभावसे (सब ओर); **नयति इति सः समानः**=पहुँचाता है और इसीलिये जो 'समान' कहलाता है, वही; [**होता**=हवन करनेवाला ऋत्विक् है;] **ह मनः वाव**=यह प्रसिद्ध मन ही; **यजमानः**=यजमान है; **इष्टफलम् एव**=अभीष्ट फल ही; **उदानः**=उदान है; **सः एनम्**=वह (उदान) ही इस; **यजमानम् अहः अहः**=मनरूप यजमानको प्रतिदिन (निद्राके समय); **ब्रह्म गमयति**=ब्रह्मलोकमें भेजता है अर्थात् हृदय-गुहामें ले जाता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—यह जो मुख्य प्राणका श्वास-प्रश्वासके रूपमें शरीरके बाहर निकलना और भीतर लौट जाना है, वही मानो इस यज्ञमें आहुतियाँ पड़ती हैं; इन आहुतियोंद्वारा जो शरीरके पोषक तत्त्व शरीरमें प्रवेश कराये जाते हैं, वे ही हवि हैं। उस हविको समस्त शरीरमें आवश्यकतानुसार समभावसे पहुँचानेका कार्य समान वायुका है; इसलिये उसे समान कहते हैं। वही इस रूपकमें मानो 'होता' अर्थात् हवन करनेवाला ऋत्विक् है। अग्निरूप होनेपर भी आहुतियोंको पहुँचानेका कार्य करनेके कारण इसे 'होता' कहा गया है। पहले बताया हुआ मन ही मानो यजमान है, और उदान वायु ही मानो उस यजमानका अभीष्ट फल है; क्योंकि जिस प्रकार अग्निहोत्र करनेवाले यजमानको उसका अभीष्ट फल उसे अपनी ओर आकर्षित करके कर्मफल भुगतानेके लिये कर्मानुसार स्वर्गादि लोकोंमें ले जाता है, उसी प्रकार यह उदान वायु मनको प्रतिदिन निद्राके समय उसके कर्मफलके भोगस्वरूप ब्रह्मलोकमें—परमात्माके निवासस्थानरूप हृदयगुहामें ले जाता है। वहाँ इस मनके द्वारा जीवात्मा निद्राजनित विश्रामरूप सुखका अनुभव करता है; क्योंकि जीवात्माका निवासस्थान भी वही है। यह बात छठे मन्त्रमें कही है। यहाँ 'ब्रह्म गमयति' से यह बात नहीं समझनी चाहिये कि निद्राजनित सुख ब्रह्मप्राप्तिके सुखकी किसी भी अंशमें समानता कर सकता है; क्योंकि यह तो तामस सुख है और परब्रह्म परमेश्वरकी प्राप्तिका सुख तीनों गुणोंसे अतीत है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब तीसरे प्रश्नका उत्तर देते हैं—

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति । यद् दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति । देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥ ५ ॥

अत्र स्वप्ने=इस स्वप्न-अवस्थामें; **एषः देवः**=यह देव (जीवात्मा); **महिमानम्**=अपनी विभूतिका; **अनुभवति**=

अनुभव करता है; **यत् दृष्टम् दृष्टम्**=जो बार-बार देखा हुआ है; **अनुपश्यति**=उसीको बार-बार देखता है; **श्रुतम् श्रुतम् एव अर्थम् अनुशृणोति**=बार-बार सुनी हुई बातोंको ही पुनः-पुनः सुनता है; **देशदिगन्तरैः च**=नाना देश और दिशाओंमें; **प्रत्यनुभूतम्**=बार-बार अनुभव किये हुए विषयोंको; **पुनः पुनः**=पुनः-पुनः; **प्रत्यनुभवति**=अनुभव करता है (इतना ही नहीं); **दृष्टम् च अदृष्टम् च**=देखे हुए और न देखे हुएको भी; **श्रुतम् च अश्रुतम् च**=सुने हुए और न सुने हुएको भी; **अनुभूतम् च**=अनुभव किये हुए और; **अननुभूतम् च**=अनुभव न किये हुएको भी; **सत् च असत् च**=विद्यमान और अविद्यमानको भी (इस प्रकार); **सर्वम् पश्यति**=सारी घटनाओंको देखता है;(तथा) **सर्वः (सन्)**= स्वयं सब कुछ बनकर; **पश्यति**=देखता है ॥ ५ ॥

व्याख्या—गार्ग्य मुनिने जो यह तीसरा प्रश्न किया था कि 'कौन देवता स्वप्नोंको देखता है ?' उसका उत्तर महर्षि पिप्पलाद इस प्रकार देते हैं। इस स्वप्न-अवस्थामें जीवात्मा ही मन और सूक्ष्म इन्द्रियोंद्वारा अपनी विभूतिका अनुभव करता है। इसका पहले जहाँ कहीं भी जो कुछ बार-बार देखा, सुना और अनुभव किया हुआ है, उसीको यह स्वप्नमें बार-बार देखता, सुनता और अनुभव करता रहता है। परंतु यह नियम नहीं है कि जाग्रत्-अवस्थामें इसने जिस प्रकार, जिस ढंगसे और जिस जगह जो घटना देखी, सुनी और अनुभव की है, उसी प्रकार यह स्वप्नमें भी अनुभव करता है। अपितु स्वप्नमें जाग्रत्की किसी घटनाका कोई अंश किसी दूसरी घटनाके किसी अंशके साथ मिलकर एक नये ही रूपमें इसके अनुभवमें आता है; अतः कहा जाता है कि स्वप्नकालमें यह देखे और न देखे हुएको भी देखता है, सुने और न सुने हुएको भी सुनता है, अनुभव किये हुए और अनुभव न किये हुएको भी अनुभव करता है। जो वस्तु वास्तवमें है उसे, और जो नहीं है उसे भी, स्वप्नमें देख लेता है। इस प्रकार स्वप्नमें यह विचित्र ढंगसे सब घटनाओंका बार-बार अनुभव करता रहता है, और स्वयं ही सब कुछ बनकर देखता है। उस समय जीवात्माके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं रहती ॥ ५ ॥

स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्शरीर एतत्सुखं भवति ॥६॥

सः यदा=वह (मन) जब; **तेजसा अभिभूतः**=तेज (उदान वायु)से अभिभूत; **भवति**=हो जाता है;* **अत्र एषः देवः**=इस स्थितिमें यह जीवात्मारूप देवता; **स्वप्नान्**=स्वप्नोंको; **न पश्यति**=नहीं देखता; **अथ**=तथा; **तदा**=उस समय; **एतस्मिन् शरीरे**=इस मनुष्य-शरीरमें (जीवात्माको); **एतत्**=इस; **सुखम्**=सुषुप्तिके सुखका अनुभव; **भवति**= होता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—गार्ग्य मुनिने चौथी बात यह पूछी थी कि 'निद्रामें सुखका अनुभव किसको होता है' ? उसका उत्तर महर्षि इस प्रकार देते हैं। जब निद्राके समय यह मन उदान वायुके अधीन हो जाता है, अर्थात् जब उदान वायु इस मनको जीवात्माके निवासस्थान हृदयमें पहुँचाकर मोहित कर देता है, उस निद्रा-अवस्थामें यह जीवात्मा मनके द्वारा स्वप्नकी घटनाओंको नहीं देखता। उस समय निद्राजनित सुखका अनुभव जीवात्माको ही होता है। इस शरीरमें सुख-दुःखोंको भोगनेवाला प्रत्येक अवस्थामें प्रकृतिस्थ पुरुष अर्थात् जीवात्मा ही है (गीता १३ । २१) ॥ ६ ॥

स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ७ ॥

सः=(पाँचवीं बात जो तुमने पूछी थी) वह (इस प्रकार समझनी चाहिये); **सोम्य**=हे प्रिय; **यथा**=जिस प्रकार; **वयांसि**=बहुत-से पक्षी (सायंकालमें); **वासोवृक्षम्**=अपने निवासरूप वृक्षपर (आकर); **संप्रतिष्ठन्ते**=आरामसे ठहरते हैं (बसेरा लेते हैं); **ह एवम् वै तत् सर्वम्**=ठीक वैसे ही, वे (आगेबताये जानेवाले पृथिवी आदि तत्त्वोंसे लेकर प्राणतक) सब-के-सब; **परे आत्मनि**=परमात्मामें; **संप्रतिष्ठते**=सुखपूर्वक आश्रय पाते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या—गार्ग्य मुनिने जो यह पाँचवीं बात पूछी थी कि 'ये मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और प्राण—सब-के-सब किसमें

* पहले तीसरे प्रकरणमें (३ । ९-१०) बतला आये हैं कि उदान वायुका नाम तेज है। इस प्रकरणमें भी कहा गया है कि उदान वायु ही मनको ब्रह्मलोकमें अर्थात् हृदयमें ले जाता है, अतः यहाँ तेजसे अभिभूत होनेका अर्थ जीवका उदान वायुसे आक्रान्त हो जाना है—यह बात समझनी चाहिये।

स्थित हैं—किसके आश्रित हैं ?' उसका उत्तर महर्षि इस प्रकार देते हैं—'प्यारे गार्ग्य ! आकाशमें उड़नेवाले पक्षिगण जिस प्रकार सायंकालमें लौटकर अपने निवासभूत वृक्षपर आरामसे बसेरा लेते हैं, ठीक उसी प्रकार आगे बतलाये जानेवाले पृथ्वीसे लेकर प्राणतक जितने तत्त्व हैं, वे सब-के-सब परब्रह्म पुरुषोत्तममें, जो कि सबके आत्मा हैं, आश्रय लेते हैं; क्योंकि वही इन सबके परम आश्रय हैं ॥ ७ ॥

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक्च स्पशयितव्यं च वाक्च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥ ८ ॥

पृथिवी च=पृथिवी और; **पृथिवीमात्रा च**=उसकी तन्मात्रा (सूक्ष्म गन्ध) भी; **आपः च आपोमात्रा च**=जल और रसतन्मात्रा भी; **तेजः च तेजोमात्रा च**=तेज और रूप-तन्मात्रा भी; **वायुः च वायुमात्रा च**=वायु और स्पर्श-तन्मात्रा भी; **आकाशः च आकाशमात्रा च**=आकाश और शब्द-तन्मात्रा भी; **चक्षुः च द्रष्टव्यम् च**=नेत्र-इन्द्रिय और देखनेमें आनेवाली वस्तु भी; **श्रोत्रम् च श्रोतव्यम् च**=श्रोत्र-इन्द्रिय और सुननेमें आनेवाली वस्तु भी; **घ्राणम् च घ्रातव्यम् च**=घ्राणेन्द्रिय और सूँघनेमें आनेवाली वस्तु भी; **रसः च रसयितव्यम् च**=रसना-इन्द्रिय और रसनाके विषय भी; **त्वक् च स्पर्शयितव्यम् च**=त्वक्-इन्द्रिय और स्पर्शमें आनेवाली वस्तु भी; **वाक् च वक्तव्यम् च**=वाक-इन्द्रिय और बोलनेमें आनेवाला शब्द भी; **हस्तौ च आदातव्यम् च**=दोनों हाथ और पकड़नेमें आनेवाली वस्तु भी; **उपस्थः च आनन्दयितव्यम् च**=उपस्थ-इन्द्रिय और उसका विषय भी; **पायुः च विसर्जयितव्यम् च**=गुदा-इन्द्रिय और उसके द्वारा परित्यागयोग्य वस्तु भी; **पादौ च गन्तव्यम् च**=दोनों चरण और गन्तव्य स्थान भी; **मनः च मन्तव्यम् च**=मन और मननमें आनेवाली वस्तु भी; **बुद्धिः च बोद्धव्यम् च**=बुद्धि और जाननेमें आनेवाली वस्तु भी; **अहंकारः च अहंकर्तव्यम् च**=अहंकार और उसका विषय भी; **चित्तं च चेतयितव्यम् च**=चित्त और चिन्तनमें आनेवाली वस्तु भी; **तेजः च विद्योतयितव्यम् च**=प्रभाव और उसका विषय भी; **प्राणः च विधारयितव्यम् च**=प्राण और प्राणके द्वारा धारण किये जानेवाले पदार्थ भी (ये सब-के-सब परमात्माके आश्रित हैं) ॥ ८ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें यह बात कही गयी है कि स्थूल और सूक्ष्म पाँचों महाभूत, दसों इन्द्रियाँ और उनके विषय, चारों प्रकारके अन्तःकरण और उनके विषय तथा पाँच भेदोंवाला प्राण-वायु—सब-के-सब परमात्माके ही आश्रित हैं । कहना यह है कि स्थूल पृथ्वी और उसका कारण गन्ध-तन्मात्रा, स्थूल जल-तत्त्व और उसका कारण रस-तन्मात्रा, स्थूल तेज-तत्त्व और उसका कारण रूप-तन्मात्रा, स्थूल वायु-तत्त्व और उसका कारण स्पर्श-तन्मात्रा, स्थूल आकाश और उसका कारण शब्द-तन्मात्रा—इस प्रकार अपने कारणोंसहित पाँचों भूत तथा नेत्र-इन्द्रिय और उसके द्वारा देखनेमें आनेवाली वस्तुएँ, श्रोत्र-इन्द्रिय और उसके द्वारा जो कुछ सुना जा सकता है वह सब, घ्राणेन्द्रिय और उसके द्वारा सूँघनेमें आनेवाले पदार्थ, रसना-इन्द्रिय और उसके द्वारा आस्वादनमें आनेवाले खट्टे-मीठे आदि सब प्रकारके रस, त्वचा-इन्द्रिय और उसके द्वारा स्पर्श करनेमें आनेवाले सब पदार्थ, वाक्-इन्द्रिय और उसके द्वारा बोले जानेवाले शब्द, दोनों हाथ और उनके द्वारा पकड़नेमें आनेवाली सब वस्तुएँ, दोनों पैर और उनके गन्तव्य स्थान, उपस्थ-इन्द्रिय और मैथुनका सुख, गुदा-इन्द्रिय और उसके द्वारा त्यागा जानेवाला मल, मन और उसके द्वारा मनन करनेमें आनेवाले सब पदार्थ, बुद्धि और उसके द्वारा जाननेमें आनेवाले सब पदार्थ, अहंकार और उसके विषय, चित्त और चित्तके द्वारा चिन्तनमें आनेवाले पदार्थ, प्रभाव और प्रभावसे प्रभावित होनेवाले, पाँच वृत्तिवाला प्राण और उसके द्वारा जीवन देकर धारण किये जानेवाले सब शरीर—ये सब-के-सब इनके कारणभूत परमेश्वरके ही आश्रित हैं ॥ ८ ॥

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ९ ॥

एषः=यह जो; **द्रष्टा स्प्रष्टा**=देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला; **श्रोता घ्राता**=सुननेवाला, सूँघनेवाला; **रसयिता मन्ता**=स्वाद लेनेवाला, मनन करनेवाला; **बोद्धा कर्ता**=जाननेवाला तथा कर्म करनेवाला; **विज्ञानात्मा**=विज्ञानस्वरूप; **पुरुषः**=पुरुष (जीवात्मा) है; **सः हि**=वह भी; **अक्षरे**=अविनाशी; **परे आत्मनि**=परमात्मामें; **संप्रतिष्ठते**=भलीभाँति स्थित है ॥ ९ ॥

व्याख्या—देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, स्वाद लेनेवाला, मनन करनेवाला, जाननेवाला तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों और मनके द्वारा समस्त कर्म करनेवाला जो यह विज्ञानस्वरूप पुरुष—जीवात्मा है, यह भी उन परम अविनाशी सबके आत्मा परब्रह्म पुरुषोत्तममें ही स्थिति पाता है । उन्हें प्राप्त कर लेनेपर ही इसे वास्तविक शान्ति मिलती है; अतः इसके भी परम आश्रय वे परमेश्वर ही हैं ॥ ९ ॥

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य । स सर्वज्ञः सर्वो भवति । तदेष श्लोकः ॥ १० ॥

ह यः वै=निश्चय ही जो कोई भी; **तत् अच्छायम्**=उस छायारहित; **अशरीरम्**=शरीररहित; **अलोहितम्**=लाल, पीले आदि रंगोंसे रहित; **शुभ्रम् अक्षरम्**=विशुद्ध अविनाशी पुरुषको; **वेदयते**=जानता है; **सः**=वह; **परम् अक्षरम् एव**=परम अविनाशी परमात्माको ही; **प्रतिपद्यते**=प्राप्त हो जाता है; **सोम्य**=हे प्रिय ! **यः तु (एवम्)**=जो कोई ऐसा है; **सः सर्वज्ञः**=वह सर्वज्ञ (और); **सर्वः भवति**=सर्वरूप हो जाता है; **तत् एषः**=उस विषयमें यह (अगला); **श्लोकः**=श्लोक (है) ॥ १० ॥

व्याख्या—यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि जो कोई भी मनुष्य उन छायारहित, शरीररहित, लाल-पीले आदि सब रंगोंसे रहित, विशुद्ध अविनाशी परमात्माको जान लेता है, वह परम अक्षर परमात्माको ही प्राप्त हो जाता है—इसमें तनिक भी संशय नहीं है । हे सोम्य ! जो कोई भी ऐसा है, अर्थात् जो भी उस परब्रह्म परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है, वह सर्वज्ञ और सर्वरूप हो जाता है । इस विषयमें निम्नलिखित ऋचा है ॥ १० ॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र ।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥११॥

यत्र=जिसमें; **प्राणाः**=समस्त प्राण (और); **भूतानि च**=पाँचों भूत तथा; **सर्वैः देवैः सह**=सम्पूर्ण इन्द्रिय और अन्तःकरणके सहित; **विज्ञानात्मा**=विज्ञानस्वरूप आत्मा; **संप्रतिष्ठन्ति**=आश्रय लेते हैं; **सोम्य**=हे प्रिय ! **तत् अक्षरम्**=उस अविनाशी परमात्माको; **यः तु वेदयते**=जो कोई जान लेता है, **सः सर्वज्ञः**=वह सर्वज्ञ है; **सर्वम् एव**=(वह) सर्वस्वरूप परमेश्वरमें; **आविवेश**=प्रविष्ट हो जाता है; **इति**=इस प्रकार (इस प्रश्नका उत्तर समाप्त हुआ) ॥ ११ ॥

व्याख्या—सबके परम कारण जिन परमेश्वरका समस्त प्राण और पाँचों महाभूत तथा समस्त इन्द्रियाँ और अन्तःकरणके सहित स्वयं विज्ञानस्वरूप जीवात्मा—ये सब आश्रय लेते हैं, उन परम अक्षर अविनाशी परमात्माको जो कोई जान लेता है, वह सर्वज्ञ है तथा सर्वरूप परमेश्वरमें प्रविष्ट हो जाता है । इस प्रकार यह चतुर्थ प्रश्न समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

॥ चतुर्थ प्रश्न समाप्त ॥ ४ ॥

पञ्चम प्रश्न

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ । स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत । कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥ १ ॥

अथ ह एनम्=उसके बाद इन ख्यातनामा महर्षि पिप्पलादसे; **शैब्यः सत्यकामः**=शिबिपुत्र सत्यकामने; **पप्रच्छ**=पूछा; **भगवन्**=भगवन् ; **मनुष्येषु**=मनुष्योंमेंसे; **सः यः ह वै**=वह जो कोई भी; **प्रायणान्तम्**=मृत्युपर्यन्त; **तत् ओंकारम्**=

उस ओंकारका; **अभिध्यायीत**=भलीभाँति ध्यान करता है; **सः तेन**=वह उस उपासनाके बलसे; **कतमम्**=किस; **लोकम्**=लोकको; **वाव जयति**=निस्सन्देह जीत लेता है; **इति**=यह (मेरा प्रश्न है) ॥ १ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें सत्यकामने ओंकारकी उपासनाके विषयमें प्रश्न किया है। उसने यही जिज्ञासा की है कि जो मनुष्य आजीवन ओंकारकी भलीभाँति उपासना करता है, उसे उस उपासनाके द्वारा कौन-से लोककी प्राप्ति होती है, अर्थात् उसका क्या फल मिलता है ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः। तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥ २ ॥

तस्मै सः ह उवाच=उससे उन प्रसिद्ध महर्षिने कहा; **सत्यकाम**=हे सत्यकाम; **एतत् वै**=निश्चय ही यह; **यत् ओंकारः**=जो ओंकार है; **परम् ब्रह्म च अपरम् च**=(वही) परब्रह्म और अपर ब्रह्म भी है; **तस्मात्**=इसलिये; **विद्वान्**=इस प्रकारका ज्ञान रखनेवाला मनुष्य; **एतेन एव**=इस एक ही; **आयतनेन**=अवलम्बसे (अर्थात् प्रणवमात्रके चिन्तनसे); **एकतरम्**=अपर और परब्रह्ममेंसे किसी एकका; **अन्वेति**=(अपनी श्रद्धाके अनुसार) अनुसरण करता है ॥ २ ॥

व्याख्या—इसके उत्तरमें महर्षि पिप्पलाद 'ओम्' इस अक्षरकी उसके लक्ष्यभूत परब्रह्म पुरुषोत्तमके साथ एकता करते हुए कहते हैं—सत्यकाम ! यह जो 'ॐ' है, वह अपने लक्ष्यभूत परब्रह्म परमेश्वरसे भिन्न नहीं है। इसलिये यही परब्रह्म है और यही उन परब्रह्मसे प्रकट हुआ उनका विराट्-स्वरूप—अपर ब्रह्म भी है। केवल इसी एक ओंकारका जप, स्मरण और चिन्तन करके उसके द्वारा अपने इष्टको चाहनेवाला विज्ञानसम्पन्न मनुष्य उसे पा लेता है। भाव यह है कि जो मनुष्य परमेश्वरके विराट्-स्वरूप—इस जगत्के ऐश्वर्यमय किसी भी अङ्गको प्राप्त करनेकी इच्छासे ओंकारकी उपासना करता है, वह अपनी भावनाके अनुसार विराट्-स्वरूप परमेश्वरके किसी एक अङ्गको प्राप्त करता है और जो इसके अन्तर्यामी आत्मा पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तमको लक्ष्य बनाकर उनको पानेके लिये निष्कामभावसे इसकी उपासना करता है, वह परब्रह्म पुरुषोत्तमको पा लेता है। यही बात अगले मन्त्रोंमें भी स्पष्ट की गयी है ॥ २ ॥

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥ ३ ॥

सः यदि=वह उपासक यदि; **एकमात्रम्**=एक मात्रासे युक्त ओंकारका; **अभिध्यायीत**=भलीभाँति ध्यान करे तो; **सः तेन एव**=वह उस उपासनासे ही; **संवेदितः**=अपने ध्येयकी ओर प्रेरित किया हुआ; **तूर्णम् एव**=शीघ्र ही; **जगत्याम्**=पृथ्वीमें; **अभिसंपद्यते**=उत्पन्न हो जाता है; **तम् ऋचः**=उसको ऋग्वेदकी ऋचाएँ; **मनुष्यलोकम्**=मनुष्य-शरीर; **उपनयन्ते**=प्राप्त करा देती हैं; **तत्र सः**=वहाँ वह उपासक; **तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नः**=तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धासे सम्पन्न होकर; **महिमानम्**=महिमाका; **अनुभवति**=अनुभव करता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—ओंकारका चिन्तन करनेवाला मनुष्य यदि विराट् परमेश्वरके भूः, भुवः और स्वः—इन तीनों रूपोंमेंसे भूलोकके ऐश्वर्यमें आसक्त होकर उसकी प्राप्तिके लिये ओंकारकी उपासना करता है तो वह मरनेके बाद अपने प्रापणीय ऐश्वर्यकी ओर प्रेरित होकर तत्काल पृथ्वीलोकमें आ जाता है। ॐकारकी पहली मात्रा ऋग्वेदस्वरूपा है, उसका पृथ्वीलोकसे सम्बन्ध है; अतः उसके चिन्तनसे साधकको ऋग्वेदकी ऋचाएँ पुनः मनुष्य-शरीरमें प्रविष्ट करा देती हैं। वह उस नवीन मनुष्य-जन्ममें तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धासे सम्पन्न उत्तम आचरणोंवाला श्रेष्ठ मनुष्य बनकर उपयुक्त ऐश्वर्यका उपभोग करता है। अर्थात् उसे नीची योनियोंमें नहीं भटकना पड़ता, वह मरनेके बाद मनुष्य होकर पुनः शुभ कर्म करनेमें समर्थ हो जाता है और वहाँ नाना प्रकारके सुखोंका उपभोग करता है ॥ ३ ॥

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम् स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ॥ ४ ॥

अथ यदि=परंतु यदि; **द्विमात्रेण**=दो मात्राओंसे युक्त (ओंकारका); [**अभिध्यायीत**=अच्छी प्रकार ध्यान

करता है तो (उससे);] **मनसि**=मनोमय चन्द्रलोकको; **संपद्यते**=प्राप्त होता है; **सः यजुर्भिः**=वह यजुर्वेदके मन्त्रोंद्वारा; **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षमें स्थित; **सोमलोकम्**=चन्द्रलोकको; **उन्नीयते**=ऊपरकी ओर ले जाया जाता है; **सः सोमलोके**=वह चन्द्रलोकमें; **विभूतिम्**=वहाँके ऐश्वर्यका; **अनुभूय**=अनुभव करके; **पुनः आवर्तते**=पुनः इस लोकमें लौट आता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—यदि साधक दो मात्रावाले ओंकारकी उपासना करता है, अर्थात् उस विराट्स्वरूप परमेश्वरकी भूः और भुवः—इन दो मात्राओंकी अर्थात् स्वर्गलोकतकके ऐश्वर्यकी अभिलाषासे उसीको लक्ष्य बनाकर ओंकारकी उपासना करता है तो वह मनोमय चन्द्रलोकको प्राप्त होता है; उसको यजुर्वेदके मन्त्र अन्तरिक्षमें ऊपरकी ओर चन्द्रलोकमें पहुँचा देते हैं। उस विनाशशील स्वर्गलोकमें नाना प्रकारके ऐश्वर्यका उपभोग करके अपनी उपासनाके पुण्यका क्षय हो जानेपर पुनः मृत्युलोकमें आ जाता है। वहाँ उसे अपने पूर्व-कर्मानुसार मनुष्य-शरीर या उससे कोई नीची योनि मिल जाती है ॥ ४ ॥

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥ ५ ॥

पुनः यः=परंतु जो; **त्रिमात्रेण**=तीन मात्राओंवाले; **ओम् इति**='ओम्'रूप; **एतेन**=इस; **अक्षरेण एव**=अक्षरके द्वारा ही; **एतम् परम्**=इस परम; **पुरुषम्**=पुरुषका; **अभिध्यायीत**=निरन्तर ध्यान करता है; **सः तेजसि**=वह तेजोमय; **सूर्ये सम्पन्नः**=सूर्यलोकमें जाता है; (तथा) **यथा पादोदरः**=जिस प्रकार सर्प; **त्वचा विनिर्मुच्यते**=केंचुलीसे अलग हो जाता है; **एवम् ह वै**=ठीक उसी तरह; **सः पाप्मना**=वह पापोंसे; **विनिर्मुक्तः**=सर्वथा मुक्त हो जाता है; **सः**=(इसके बाद) वह; **सामभिः**=सामवेदकी श्रुतियोंद्वारा; **ब्रह्मलोकम् उन्नीयते**=ऊपर ब्रह्मलोकमें ले जाया जाता है; **सः एतस्मात्**=वह इस; **जीवघनात्**=जीवसमुदायरूप; **परात् परम्**=परतत्त्वसे अत्यन्त श्रेष्ठ; **पुरिशयम्**=अन्तर्यामी; **पुरुषम्**=परमपुरुष पुरुषोत्तमको; **ईक्षते**=साक्षात् कर लेता है; **तत् एतौ**=इस विषयमें ये (अगले); **श्लोकौ भवतः**=दो श्लोक (हैं) ॥ ५ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें 'पुनः' शब्दके प्रयोगसे यह सूचित होता है कि उपर्युक्त कथनके अनुसार इस लोक और स्वर्गलोकतकके ऐश्वर्यकी अभिलाषासे अपर ब्रह्मको लक्ष्य बनाकर ओंकारकी उपासना करनेवाले साधकोंसे विलक्षण साधकका यहाँ वर्णन किया गया है। उपासनाका सर्वोत्तम प्रकार यही है—यह भाव प्रकट करनेके लिये ही इस मन्त्रमें 'यदि' पदका प्रयोग भी नहीं किया गया है; क्योंकि इसमें कोई विकल्प नहीं है। इस मन्त्रमें यह भी स्पष्टरूपसे बतला दिया गया है कि ओंकार उस परब्रह्मका नाम है, इसके द्वारा उस परब्रह्म परमेश्वरकी उपासना की जाती है। मन्त्रमें कहा गया है कि जो कोई साधक इन तीन मात्राओंवाले ओंकारस्वरूप अक्षरद्वारा परब्रह्म परमेश्वरकी उपासना करता है, वह जैसे सर्प केंचुलीसे अलग हो जाता है—उसी प्रकार सब प्रकारके कर्मबन्धनोंसे छूटकर सर्वथा निर्विकार हो जाता है। उसे सामवेदके मन्त्र तेजोमय सूर्यमण्डलमेंसे ले जाकर सर्वोपरि ब्रह्मलोकमें पहुँचा देते हैं। वहाँ वह जीव-समुदायरूप चेतनतत्त्वसे अत्यन्त श्रेष्ठ उन परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्राप्त हो जाता है, जो सम्पूर्ण जगत्को अपनी शक्तिके किसी एक अंशमें धारण किये हुए हैं और सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हैं। इसी विषयको स्पष्ट करनेवाले ये दो आगे कहे हुए श्लोक हैं ॥ ५ ॥

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥ ६ ॥

तिस्रः मात्राः=ओंकारकी तीनों मात्राएँ ('अ', 'उ' तथा 'म'); **अन्योन्यसक्ताः**=एक दूसरीसे संयुक्त रहकर; **प्रयुक्ताः**=प्रयुक्त की गयी हों; **अनविप्रयुक्ताः**=या पृथक्-पृथक् एक-एक ध्येयके चिन्तनमें इनका प्रयोग किया जाय (दोनों प्रकारसे ही वे); **मृत्युमत्यः**=मृत्युयुक्त हैं; **बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु**=बाहर, भीतर और बीचकी; **क्रियासु**=क्रियाओंमें; **सम्यक्प्रयुक्तासु**=पूर्णतया इन मात्राओंका प्रयोग किये जानेपर; **ज्ञः न कम्पते**=उस परमेश्वरको जाननेवाला ज्ञानी विचलित नहीं होता ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें यह भाव दिखाया गया है कि ओंकारवाच्य परब्रह्म परमेश्वरका जो यह जगत्रूप विराट्स्वरूप

है अर्थात् जो कुछ देखने, सुनने और समझनेमें आता है, यह उसका वास्तविक परम अविनाशी स्वरूप नहीं है, यह परिवर्तनशील है; अतः इसमें रहनेवाला जीव अमर नहीं होता। वह चाहे ऊँची-से-ऊँची योनिको प्राप्त कर ले, परंतु जन्म-मृत्युके चक्रसे नहीं छूटता। इसके एक अङ्ग पृथ्वीलोककी या पृथ्वी और अन्तरिक्ष इन दोनों लोकोंकी अथवा तीनों लोकोंको मिलाकर सम्पूर्ण जगत्की अभिलाषा रखते हुए जो उपासना करता है, जिसका इस जगत्के आत्मरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमकी ओर लक्ष्य नहीं है, वरं जो जगत्के बाह्य स्वरूपमें ही आसक्त हो रहा है, वह उन्हें नहीं पाता, अतः बार-बार जन्मता-मरता रहता है। उन्हें तो वही साधक पा सकता है, जो अपने शरीरके बाहर, भीतर और शरीरके मध्यस्थान—हृदयदेशमें एवं उसके द्वारा की जानेवाली बाहरी, भीतरी और बीचकी समस्त क्रियाओंमें सर्वत्र ओंकारके वाच्यार्थरूप एकमात्र परब्रह्म पुरुषोत्तमको व्याप्त समझता है और ओंकारके द्वारा उनकी उपासना करता है—उन्हें पानेकी ही अभिलाषासे ओंकारका जप, स्मरण और चिन्तन करता है, वह ज्ञानी परमात्माको पाकर फिर कभी अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होता ॥ ६ ॥

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते।
तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥ ७ ॥

ऋग्भिः=(एक मात्राकी उपासनासे उपासक) ऋचाओंद्वारा; **एतम्**=इस मनुष्यलोकमें (पहुँचाया जाता है); **यजुर्भिः**=(दूसरा दो मात्राओंकी उपासना करनेवाला) यजुःश्रुतियोंद्वारा; **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षमें (चन्द्रलोकतक पहुँचाया जाता है); **सामभिः**=(पूर्णरूपसे ओंकारकी उपासना करनेवाला) सामश्रुतियोंद्वारा; **तत्**=उस ब्रह्मलोकमें (पहुँचाया जाता है); **यत्**=जिसको; **कवयः**=ज्ञानीजन; **वेदयन्ते**=जानते हैं; **विद्वान्**=विवेकशील साधक; **ओङ्कारेण एव**=केवल ओंकाररूप; **आयतनेन**=अवलम्बनके द्वारा ही; **तम्**=उस परब्रह्म पुरुषोत्तमको; **अन्वेति**=पा लेता है; **यत्**=जो; **तत्**=वह; **शान्तम्**=परम शान्त; **अजरम्**=जरारहित; **अमृतम्**=मृत्युरहित; **अभयम्**=भयरहित; **च**=और; **परम् इति**=सर्वश्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें तीसरे, चौथे और पाँचवें मन्त्रोंके भावका संक्षेपमें वर्णन करके ब्राह्मण-ग्रन्थके वाक्योंमें कही हुई बातका समर्थन किया गया है। भाव यह है कि एक मात्रा अर्थात् एक अङ्गको लक्ष्य बनाकर उपासना करनेवाले साधकको ऋग्वेदकी ऋचाएँ मनुष्यलोकमें पहुँचा देती हैं। दो मात्राकी उपासना करनेवालेको अर्थात् जगत्के ऊँचे-से-ऊँचे—स्वर्गीय ऐश्वर्यको लक्ष्य बनाकर ओंकारकी उपासना करनेवालेको यजुर्वेदके मन्त्र चन्द्रलोकमें ले जाते हैं और जो इन सबमें परिपूर्ण इनके आत्मरूप परमेश्वरकी ओंकारके द्वारा उपासना करता है, उसको सामवेदके मन्त्र उस ब्रह्मलोकमें पहुँचा देते हैं, जिसे ज्ञानीजन जानते हैं। सम्पूर्ण रहस्यको समझनेवाले बुद्धिमान् मनुष्य बाह्य जगत्में आसक्त न होकर ओंकारकी उपासनाद्वारा समस्त जगत्के आत्मरूप उन परब्रह्म परमात्माको पा लेते हैं, जो परम शान्त और सब प्रकारके विकारोंसे रहित हैं; जहाँ न बुढ़ापा है, न मृत्यु है; जो अजर, अमर, निर्भय, सर्वश्रेष्ठ एवं परम पुरुषोत्तम हैं ॥ ७ ॥

॥ पञ्चम प्रश्न समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठ प्रश्न

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ—भगवन्हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो माम्युपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत। षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ। तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्। स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ॥ १ ॥

अथ=फिर; **ह एनम्**=इन प्रसिद्ध महात्मा (पिप्पलाद) से; **भारद्वाजः**=भरद्वाजपुत्र; **सुकेशा**=सुकेशाने; **पप्रच्छ**=पूछा—; **भगवन्**=भगवन्; **कौसल्यः**=कोसलदेशीय; **राजपुत्रः**=राजकुमार; **हिरण्यनाभः**=हिरण्यनाभने; **माम् उपेत्य**=मेरे पास आकर; **एतम् प्रश्नम्**=यह प्रश्न; **अपृच्छत**=पूछा; **भारद्वाज**=हे भारद्वाज! (क्या तुम); **षोडश-**

कलम्=सोलह कलाओंवाले; **पुरुषम्**=पुरुषको; **वेत्थ**=जानते हो; **तम् कुमारम्**=(तब) उस राजकुमारसे; **अहम्**=मैंने; **अब्रुवम्**=कहा—;**अहम्**=मैं; **इमम्**=इसे; **न वेद**=नहीं जानता; **यदि**=यदि; **अहम्**=मैं; **इमम् अवेदिषम्**=इसे जानता होता (तो); **ते**=तुझे; **कथम् न अवक्ष्यम् इति**=क्यों नहीं बताता; **एषः वै**=वह मनुष्य अवश्य; **समूलः**=मूलके सहित; **परिशुष्यति**=सर्वथा सूख जाता है (नष्ट हो जाता है); **यः**=जो; **अनृतम्**=झूठ; **अभिवदति**=बोलता है; **तस्मात्**=इसलिये (मैं); **अनृतम्**=झूठ; **वक्तुम्**=बोलनेमें; **न अर्हामि**=समर्थ नहीं हूँ; **सः**=वह राजकुमार (मेरा उत्तर सुनकर); **तूष्णीम्**=चुपचाप; **रथम्**=रथपर; **आरुह्य**=सवार होकर; **प्रवव्राज**=चला गया; **तम्**=उसीको; **त्वा पृच्छामि**=मैं आपसे पूछ रहा हूँ; **असौ**=वह (सोलह कलाओंवाला); **पुरुषः**=पुरुष; **क्व इति**=कहाँ है ? ॥ १ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें सुकेशा ऋषिने अपनी अल्पज्ञता और सत्य-भाषणका महत्त्व प्रकट करते हुए सोलह कलाओंवाले पुरुषके विषयमें प्रश्न किया है। वे बोले—"भगवन्! एक बार कोसलदेशका राजकुमार हिरण्यनाभ मेरे पास आया था। उसने मुझसे पूछा—'भारद्वाज! क्या तुम सोलह कलाओंवाले पुरुषके विषयमें जानते हो?' मैंने उससे स्पष्ट कह दिया—'भाई! मैं उसे नहीं जानता; जानता होता तो तुम्हें अवश्य बता देता। न बतानेका कोई कारण नहीं है। तुम अपने मनमें यह न समझना कि मैंने बहाना करके तुम्हारे प्रश्नको टाल दिया है, क्योंकि मैं झूठ नहीं बोलता। झूठ बोलनेवालेका मूलोच्छेद हो जाता है, वह इस लोकमें या परलोकमें कहीं भी प्रतिष्ठा नहीं पा सकता।' मेरी इस बातको सुनकर राजकुमार चुपचाप रथपर सवार होकर जैसे आया था, वैसे ही लौट गया। अब मैं आपके द्वारा उसी सोलह कलाओंवाले पुरुषका तत्त्व जानना चाहता हूँ; कृपया आप मुझे बतलायें कि वह कहाँ है और उसका स्वरूप क्या है?" ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच। इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीति ॥ २ ॥

तस्मै=उससे; **सः ह**=वे सुप्रसिद्ध महर्षि; **उवाच**=बोले; **सोम्य**=हे प्रिय!; **इह**=यहाँ; **अन्तःशरीरे**=इस शरीरके भीतर; **एव**=ही; **सः**=वह; **पुरुषः**=पुरुष है; **यस्मिन्**=जिसमें; **एताः**=ये; **षोडश**=सोलह; **कलाः**=कलाएँ; **प्रभवन्ति इति**=प्रकट होती हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें उस सोलह कलाओंवाले पुरुषका संकेतमात्र किया गया है। महर्षि पिप्पलाद कहते हैं—'प्रिय सुकेशा! जिन परमेश्वरसे सोलह कलाओंका समुदाय सम्पूर्ण जगद्रूप उनका विराट् शरीर उत्पन्न हुआ है, वे ही पुरुष हैं, उनको खोजनेके लिये कहीं अन्यत्र नहीं जाना है, वे हमारे इस शरीरके भीतर ही विराजमान हैं।' भाव यह है कि जब मनुष्यके हृदयमें परमात्माको पानेके लिये उत्कट अभिलाषा जाग्रत् हो जाती है, तब वे उसे वहीं उसके हृदयमें ही मिल जाते हैं ॥ २ ॥

सम्बन्ध—उन परब्रह्म पुरुषोत्तमका तत्त्व समझानेके लिये संक्षेपसे सृष्टिक्रमका वर्णन करते हैं—

स ईक्षांचक्रे। कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ॥ ३ ॥

सः=उसने; **ईक्षांचक्रे**=विचार किया (कि); **कस्मिन्**=(शरीरसे) किसके; **उत्क्रान्ते**=निकल जानेपर; **अहम् उत्क्रान्तः**=मैं (भी) निकला हुआ (-सा); **भविष्यामि**=हो जाऊँगा; **वा**=तथा; **कस्मिन् प्रतिष्ठिते**=किसके स्थित रहनेपर; **प्रतिष्ठास्यामि इति**=मैं स्थित रहूँगा ॥ ३ ॥

व्याख्या—महासर्गके आदिमें जगत्की रचना करनेवाले परम पुरुष परमेश्वरने विचार किया कि 'मैं जिस ब्रह्माण्डकी रचना करना चाहता हूँ, उसमें एक ऐसा कौन-सा तत्त्व डाला जाय कि जिसके न रहनेपर मैं स्वयं भी उसमें न रह सकूँ अर्थात् मेरी सत्ता स्पष्टरूपसे व्यक्त न रहे और जिसके रहनेपर मेरी सत्ता स्पष्ट प्रतीत होती रहे' ॥ ३ ॥

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च ॥ ४ ॥

सः=उसने; **प्राणम् असृजत**=(यह सोचकर सबसे पहले) प्राणकी रचना की; **प्राणात् श्रद्धाम्**=प्राणके बाद श्रद्धाको (उत्पन्न किया); **खम् वायुः ज्योतिः आपः पृथिवी**=(उसके बाद क्रमशः) आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी (ये पाँच महाभूत प्रकट हुए; फिर); **मनः इन्द्रियम्**=मन (अन्तःकरण) और इन्द्रियसमुदाय (की उत्पत्ति हुई); **अन्नम्**=(अनन्तर) अन्न हुआ; **अन्नात्**=अन्नसे; **वीर्यम्**=वीर्य (की रचना हुई, फिर); **तपः**=तप; **मन्त्राः**=नाना प्रकारके मन्त्र; **कर्म**=नाना प्रकारके कर्म; **च लोकाः**=और उनके फलरूप भिन्न-भिन्न लोकों (का निर्माण हुआ); **च**=और; **लोकेषु**=उन लोकोंमें; **नाम**=नाम (की रचना हुई) ॥ ४ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमेश्वरने सर्वप्रथम सबके प्राणरूप सर्वात्मा हिरण्यगर्भको बनाया। उसके बाद शुभकर्ममें प्रवृत्त करानेवाली श्रद्धा अर्थात् आस्तिक-बुद्धिको प्रकट करके फिर क्रमशः शरीरके उपादानभूत आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—इन पाँच महाभूतोंकी सृष्टि की। इन पाँच महाभूतोंका कार्य ही यह दृश्यमान सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। पाँच महाभूतोंके बाद परमेश्वरने मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—इन चारोंके समुदायरूप अन्तःकरणको रचा। फिर विषयोंके ज्ञान एवं कर्मके लिये पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियोंको उत्पन्न किया, फिर प्राणियोंके शरीरकी स्थितिके लिये अन्नकी और अन्नके परिपाकद्वारा बलकी सृष्टि की। उसके बाद अन्तःकरण और इन्द्रियोंके संयमरूप तपका प्रादुर्भाव किया। उपासनाके लिये भिन्न-भिन्न मन्त्रोंकी कल्पना की। अन्तःकरणके संयोगसे इन्द्रियोंद्वारा किये जानेवाले कर्मोंका निर्माण किया। उनके भिन्न-भिन्न फलरूप लोकोंको बनाया और उन सबके नाम-रूपोंकी रचना की। इस प्रकार सोलह कलाओंसे युक्त इस ब्रह्माण्डकी रचना करके जीवात्माके सहित परमेश्वर स्वयं इसमें प्रविष्ट हो गये; इसीलिये वे सोलह कलाओंवाले पुरुष कहलाते हैं। हमारा यह मनुष्य-शरीर भी ब्रह्माण्डका ही एक छोटा-सा नमूना है, अतः परमेश्वर जिस प्रकार इस सारे ब्रह्माण्डमें हैं, उसी प्रकार हमारे इस शरीरमें भी हैं और इस शरीरमें भी वे सोलह कलाएँ वर्तमान हैं। उन हृदयस्थ परमदेव पुरुषोत्तमको जान लेना ही उस सोलह कलावाले पुरुषको जान लेना है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—सर्गके आरम्भका वर्णन करके जिन परब्रह्मका लक्ष्य कराया गया, उन्हींका अब प्रलयके वर्णनसे लक्ष्य कराते हैं—

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥ ५ ॥

सः=वह (प्रलयका दृष्टान्त) इस प्रकार है; **यथा**=जिस प्रकार; **इमाः**=ये; **नद्यः**=नदियाँ; **समुद्रायणाः**=समुद्रकी ओर लक्ष्य करके जाती; **स्यन्दमानाः**=(और) बहती हुई; **समुद्रम्**=समुद्रको; **प्राप्य**=पाकर; **अस्तम् गच्छन्ति**=(उसीमें)विलीन हो जाती हैं; **तासाम् नामरूपे**=उनके नाम और रूप; **भिद्येते**=नष्ट हो जाते हैं; **समुद्रः इति एवम्**=(फिर) समुद्र इस एक नामसे ही; **प्रोच्यते**=पुकारी जाती हैं; **एवम् एव**=इसी प्रकार; **अस्य परिद्रष्टुः**=सब ओरसे पूर्णतया देखनेवाले इन परमेश्वरकी; **इमाः**=ये (ऊपर बतायी हुई); **षोडश कलाः**=सोलह कलाएँ; **पुरुषायणाः**=जिनका परमाधार और परमगति पुरुष है; **पुरुषम् प्राप्य**=(प्रलयकालमें) परम पुरुष परमात्माको पाकर; **अस्तम् गच्छन्ति**=(उन्हींमें) विलीन हो जाती हैं; **च**=तथा; **आसाम्**=इन सबके; **नामरूपे**=(पृथक्-पृथक्) नाम और रूप; **भिद्येते**=नष्ट हो जाते हैं; **पुरुषः इति एवम्**=फिर 'पुरुष' इस एक नामसे ही; **प्रोच्यते**=पुकारी जाती हैं; **सः**=वही; **एषः**=यह; **अकलः**=कलारहित (और); **अमृतः**=अमर परमात्मा; **भवति**=है; **तत्**=उसके विषयमें; **एषः**=यह (अगला); **श्लोकः**=श्लोक है ॥ ५ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नाम और रूपोंवाली ये बहुत-सी नदियाँ अपने उद्गमस्थान समुद्रकी ओर दौड़ती हुई समुद्रमें पहुँचकर उसीमें विलीन हो जाती हैं, उनका समुद्रसे पृथक कोई नाम-रूप नहीं रहता—वे समुद्र ही बन जाती हैं, उसी प्रकार सर्वसाक्षी सबके आत्मरूप परमात्मासे उत्पन्न हुई ये सोलह कलाएँ (अर्थात् यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड) प्रलयकालमें अपने परमाधार परम पुरुष परमेश्वरमें जाकर उसीमें विलीन हो जाती हैं। फिर इन सबके अलग-अलग नाम-रूप नहीं रहते।

एकमात्र परम पुरुष परमेश्वरके स्वरूपमें ये तदाकार हो जाती हैं। अतः उन्हींके नामसे, उन्हींके वर्णनसे इनका वर्णन होता है, अलग नहीं। उस समय परमात्मामें किसी प्रकारका संकल्प नहीं रहता। अतः वे सब कलाओंसे रहित, अमृतस्वरूप कहे जाते हैं। इस तत्त्वको समझनेवाला मनुष्य भी उन परब्रह्मको प्राप्त होकर अकल और अमर हो जाता है। इस विषयपर आगे कहा जानेवाला मन्त्र है ॥ ५ ॥

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः ।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥ ६ ॥

रथनाभौ=रथ-चक्रकी नाभिके आधारपर; **अराः इव**=जिस प्रकार अरे स्थित होते हैं (वैसे ही); **यस्मिन्**=जिसमें; **कलाः**=(ऊपर बतायी हुई सब) कलाएँ; **प्रतिष्ठिताः**=सर्वथा स्थित हैं; **तम् वेद्यम् पुरुषम्**=उस जाननेयोग्य (सबके आधारभूत) परम पुरुष परमेश्वरको; **वेद**=जानना चाहिये; **यथा**=जिससे (हे शिष्यगण); **वः**=तुमलोगोंको; **मृत्युः**=मृत्यु; **मा परिव्यथाः इति**=दुःख न दे सके ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें सर्वाधार परमेश्वरको जाननेके लिये प्रेरणा करके उसका फल जन्म-मृत्युसे रहित हो जाना बताया गया है। महर्षि पिप्पलाद अपने शिष्योंसे कहते हैं—'जिस प्रकार रथके पहियेमें लगे रहनेवाले सब अरे उस पहियेके मध्यस्थ नाभिमें प्रविष्ट रहते हैं, उन सबका आधार नाभि है— नाभिके बिना वे टिक ही नहीं सकते, उसी प्रकार ऊपर बतायी हुई प्राण आदि सोलह कलाओंके जो आधार हैं, ये सब कलाएँ जिनके आश्रित हैं, जिनसे उत्पन्न होती हैं और जिनमें विलीन हो जाती हैं, वे ही जानने योग्य परब्रह्म परमेश्वर हैं। उन सर्वाधार परमात्माको जानना चाहिये। उन्हें जान लेनेके बाद तुम्हें मौतका डर नहीं रहेगा, फिर मृत्यु तुमको इस जन्म-मृत्युयुक्त संसारमें डालकर दुखी नहीं कर सकेगी। तुमलोग सदाके लिये अमर हो जाओगे' ॥ ६ ॥

तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद । नातः परमस्तीति ॥ ७ ॥

ह=(तत्पश्चात्) उन प्रसिद्ध महर्षि पिप्पलादने; **तान् उवाच**=उन सबसे कहा; **एतत्**=इस; **परम् ब्रह्म**=परम ब्रह्मको; **अहम्**=मैं; **एतावत्**=इतना; **एव**=ही; **वेद**=जानता हूँ; **अतः परम्**=इससे पर (उत्कृष्ट तत्त्व); **न**=नहीं; **अस्ति इति**=है ॥ ७ ॥

व्याख्या—इतना उपदेश करनेके बाद महर्षि पिप्पलादने परम भाग्यवान् सुकेशा आदि छहों ऋषियोंको सम्बोधन करके कहा—'ऋषियो ! इन परब्रह्म परमेश्वरके विषयमें मैं इतना ही जानता हूँ। इनसे पर अर्थात् श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है।' मैंने तुमलोगोंसे उनके विषयमें जो कुछ कहना था, वह कह दिया ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अन्तमें कृतज्ञता प्रकट करते हुए वे शिष्यगण महर्षिको बारंबार प्रणाम करते हुए कहते हैं—

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥ ८ ॥

ते=उन छहों ऋषियोंने; **तम् अर्चयन्तः**=पिप्पलादकी पूजा की (और कहा); **त्वम्**=आप; **हि**=ही; **नः**=हमारे; **पिता**=पिता (हैं); **यः**=जिन्होंने; **अस्माकम्**=हमलोगोंको; **अविद्यायाः परम् पारम्**=अविद्याके दूसरे पार; **तारयसि इति**=पहुँचा दिया है; **नमः परमऋषिभ्यः**=आप परम ऋषिको नमस्कार है; **नमः परमऋषिभ्यः**=परम ऋषिको नमस्कार है ॥ ८ ॥

व्याख्या—इस प्रकार आचार्य पिप्पलादसे ब्रह्मका उपदेश पाकर उन छहों ऋषियोंने पिप्पलादकी पूजा की और कहा—'भगवन् ! आप ही हमारे वास्तविक पिता हैं, जिन्होंने हमें इस संसार-समुद्रके पार पहुँचा दिया। ऐसे गुरुसे

पिप्पलादके आश्रममें सुकेशादि मुनि

अङ्गिरस और शौनक

बढ़कर दूसरा कोई हो ही कैसे सकता है। आप परम ऋषि हैं, ज्ञानस्वरूप हैं। आपको नमस्कार है, नमस्कार है, बार-बार नमस्कार है। अन्तिम वाक्यकी पुनरावृत्ति ग्रन्थकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ॥ ८ ॥

॥ षष्ठ प्रश्न समाप्त ॥ ६ ॥

॥ अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ प्रश्नोपनिषद्के आरम्भमें दिया जा चुका है।

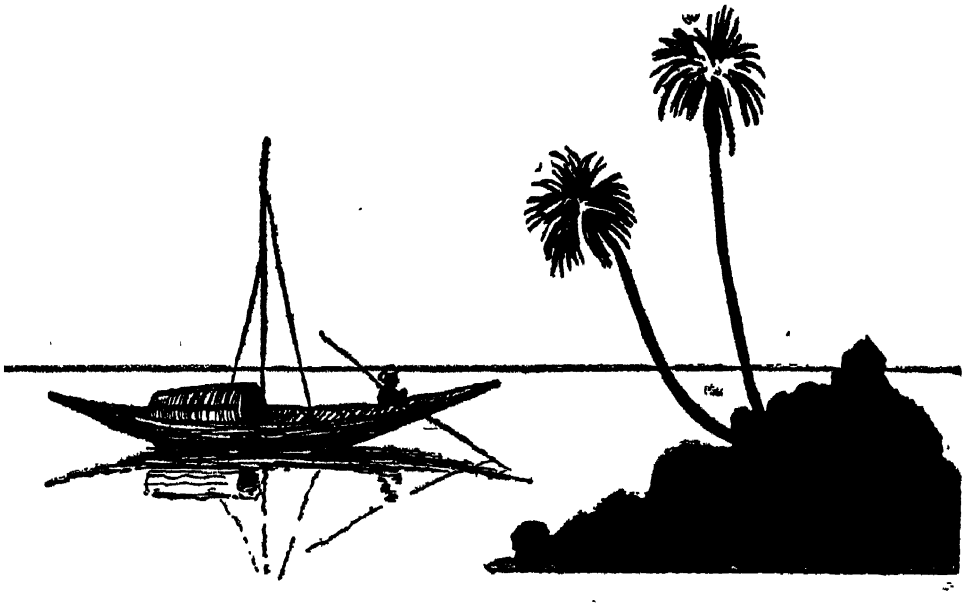

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

मुण्डकोपनिषद्

यह उपनिषद् अथर्ववेदकी शौनकी शाखामें है ।

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ प्रश्नोपनिषद्में दिया जा चुका है ।

प्रथम मुण्डक

प्रथम खण्ड

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ १ ॥

'ॐ' इस परमेश्वरके नामका स्मरण करके उपनिषद्का आरम्भ किया जाता है । इसके द्वारा यहाँ यह सूचित किया गया है कि मनुष्यको प्रत्येक कार्यके आरम्भमें ईश्वरका स्मरण तथा उनके नामका उच्चारण अवश्य करना चाहिये ।

विश्वस्य कर्ता=सम्पूर्ण जगत्के रचयिता (और); **भुवनस्य गोप्ता**=सब लोकोंकी रक्षा करनेवाले; **ब्रह्मा**= (चतुर्मुख) ब्रह्माजी; **देवानाम्**=सब देवताओंमें; **प्रथमः**=पहले; **सम्बभूव**=प्रकट हुए; **सः**=उन्होंने; **ज्येष्ठपुत्राय अथर्वाय**=सबसे बड़े पुत्र अथर्वाको; **सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्**= समस्त विद्याओंकी आधारभूता; **ब्रह्मविद्याम् प्राह**= ब्रह्मविद्याका भलीभाँति उपदेश किया ॥ १ ॥

व्याख्या—सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वरसे देवताओंमें सर्वप्रथम ब्रह्मा प्रकट हुए । फिर इन्होंने ही सब देवताओं, महर्षियों और मरीचि आदि प्रजापतियोंको उत्पन्न किया । साथ ही, समस्त लोकोंकी रचना भी की तथा उन सबकी रक्षाके सुदृढ़ नियम आदि बनाये । उनके सबसे बड़े पुत्र महर्षि अथर्वा थे; उन्हींको सबसे पहले ब्रह्माजीने ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया था । जिस विद्यासे ब्रह्मके पर और अपर—दोनों स्वरूपोंका पूर्णतया ज्ञान हो, उसे ब्रह्मविद्या कहते हैं; यह सम्पूर्ण विद्याओंकी आश्रय है ॥ १ ॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् ।
स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥ २ ॥

ब्रह्मा=ब्रह्माने; **याम्**=जिस विद्याका; **अथर्वणे**=अथर्वाको; **प्रवदेत**=उपदेश दिया था; **ताम् ब्रह्मविद्याम्**=वही ब्रह्मविद्या; **अथर्वा**=अथर्वाने; **पुरा**=पहले; **अङ्गिरे**=अङ्गी ऋषिसे; **उवाच**=कही; **सः**=उन अङ्गी ऋषिने; **भारद्वाजाय**=भरद्वाज-गोत्री; **सत्यवहाय**=सत्यवह नामक ऋषिको; **प्राह**=बतलायी; **भारद्वाजः**=भारद्वाजने; **परावराम्**=पहलेवालोंसे पीछेवालोंको प्राप्त हुई उस परम्परागत विद्याको; **अङ्गिरसे**=अङ्गिरा नामक ऋषिसे; [**प्राह**=कहा] ॥ २ ॥

व्याख्या—अथर्वा ऋषिको जो ब्रह्मविद्या ब्रह्मासे मिली थी, वही ब्रह्मविद्या उन्होंने अङ्गी ऋषिको बतलायी और अङ्गीने भरद्वाज-गोत्रमें उत्पन्न सत्यवह नामक ऋषिको कही। भारद्वाज ऋषिने परम्परासे चली आती हुई ब्रह्मके पर और अपर—दोनों स्वरूपोंका ज्ञान करानेवाली इस ब्रह्मविद्याका उपदेश अङ्गिरा नामक ऋषिको दिया ॥ २ ॥

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ । कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥ ३ ॥

ह=विख्यात है (कि); **शौनकः वै**=शौनक नामसे प्रसिद्ध मुनिने; **महाशालः**=जो अति बृहत् विद्यालय (ऋषिकुल) के अधिष्ठाता थे; **विधिवत्**=शास्त्रविधिके अनुसार; **अङ्गिरसम् उपसन्नः**=महर्षि अङ्गिराकी शरण ली; (और उनसे) **पप्रच्छ**=(विनयपूर्वक) पूछा; **भगवः**=भगवन्; **नु**=निश्चयपूर्वक; **कस्मिन् विज्ञाते**=किसके जान लिये जानेपर; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=सब कुछ; **विज्ञातम्**=जाना हुआ; **भवति**=हो जाता है; **इति**=यह (मेरा प्रश्न है) ॥ ३ ॥

व्याख्या—शौनक नामसे प्रसिद्ध एक महर्षि थे, जो बड़े भारी विश्वविद्यालयके अधिष्ठाता थे; पुराणोंके अनुसार उनके ऋषिकुलमें अट्ठासी हजार ऋषि रहते थे। वे उपर्युक्त ब्रह्मविद्याको जाननेके लिये शास्त्रविधिके अनुसार हाथमें समिधा लेकर श्रद्धापूर्वक महर्षि अङ्गिराकी शरणमें आये। उन्होंने अत्यन्त विनयपूर्वक महर्षिसे पूछा—'भगवन्! जिसको भलीभाँति जान लेनेपर यह जो कुछ देखने, सुनने और अनुमान करनेमें आता है, सब-का-सब जान लिया जाता है, वह परम तत्त्व क्या है? कृपया बतलाइये कि उसे कैसे जाना जाय' ॥ ३ ॥

तस्मै स होवाच । द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥ ४ ॥

तस्मै=उन शौनक मुनिसे; **सः ह**=वे विख्यात महर्षि अङ्गिरा; **उवाच**=बोले; **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मको जाननेवाले; **इति**=इस प्रकार; **ह**=निश्चयपूर्वक; **वदन्ति स्म यत्**=कहते आये हैं कि; **द्वे विद्ये**=दो विद्याएँ; **एव**=ही; **वेदितव्ये**=जानने योग्य हैं; **परा**=एक परा; **च**=और; **अपरा**=दूसरी अपरा; **च**=भी ॥ ४ ॥

व्याख्या—इस प्रकार शौनकके पूछनेपर महर्षि अङ्गिरा बोले—'शौनक! ब्रह्मको जाननेवाले महर्षियोंका कहना है कि मनुष्यके लिये जाननेयोग्य दो विद्याएँ हैं—एक तो परा और दूसरी अपरा ॥ ४ ॥

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥ ५ ॥

तत्र=उन दोनोंमेंसे; **ऋग्वेदः**=ऋग्वेद; **यजुर्वेदः**=यजुर्वेद; **सामवेदः**=सामवेद; (तथा) **अथर्ववेदः**=अथर्ववेद; **शिक्षा**=शिक्षा; **कल्पः**=कल्प; **व्याकरणम्**=व्याकरण; **निरुक्तम्**=निरुक्त; **छन्दः**=छन्द; **ज्योतिषम्**=ज्योतिष; **इति अपरा**=ये (सब तो) अपरा विद्या (के अन्तर्गत हैं); **अथ**=तथा; **यया**=जिससे; **तत्**=वह; **अक्षरम्**=अविनाशी परब्रह्म; **अधिगम्यते**=तत्त्वसे जाना जाता है; [**सा**=वह;] **परा**=परा विद्या (है) ॥ ५ ॥

व्याख्या—उन दोनोंमेंसे जिसके द्वारा इस लोक और परलोकसम्बन्धी भोगों तथा उनकी प्राप्तिके साधनोंका ज्ञान प्राप्त किया जाता है, जिसमें भोगोंकी स्थिति, भोगोंके उपभोग करनेके प्रकार, भोग-सामग्रीकी रचना और उनको उपलब्ध करनेके नाना साधन आदिका वर्णन है, वह तो अपरा विद्या है; जैसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये चारों वेद। इनमें नाना प्रकारके यज्ञोंकी विधिका और उनके फलका विस्तारपूर्वक वर्णन है। जगत्के सभी पदार्थोंका एवं विषयोंका वेदोंमें भलीभाँति वर्णन किया गया है। यह अवश्य है कि इस समय वेदकी सब शाखाएँ उपलब्ध नहीं हैं और

उनमें वर्णित विविध विज्ञानसम्बन्धी बातोंको समझनेवाले भी नहीं हैं। वेदोंका पाठ अर्थात् यथार्थ उच्चारण करनेकी विधिका उपदेश 'शिक्षा' है। जिसमें यज्ञ-याग आदिकी विधि बतलायी गयी है, उसे 'कल्प' कहते हैं (गृह्यसूत्र आदिकी गणना कल्पमें ही है)। वैदिक और लौकिक शब्दोंके अनुशासनका—प्रकृति-प्रत्यय-विभागपूर्वक शब्द-साधनकी प्रक्रिया, शब्दार्थ-बोधके प्रकार एवं शब्दप्रयोग आदिके नियमोंके उपदेशका नाम 'व्याकरण' है। वैदिक शब्दोंका जो कोष है, जिसमें अमुक पद अमुक वस्तुका वाचक है—यह बात कारणसहित बतायी गयी है, उसको 'निरुक्त' कहते हैं। वैदिक छन्दोंकी जाति और भेद बतलानेवाली विद्या 'छन्द' कहलाती है। ग्रह और नक्षत्रोंकी स्थिति, गति और उनके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है—इन सब बातोंपर जिसमें विचार किया गया है, वह 'ज्यौतिष' विद्या है। इस प्रकार चार वेद और छः वेदाङ्ग—इन दसका नाम अपरा विद्या है; और जिसके द्वारा परब्रह्म अविनाशी परमात्माका तत्त्वज्ञान होता है, वह परा विद्या है। उसका वर्णन भी वेदोंमें ही है, अतः उतने अंशको छोड़कर अन्य सब वेद और वेदाङ्गोंको अपरा विद्याके अन्तर्गत समझना चाहिये ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—ऊपर बतलायी हुई परा विद्याके द्वारा जिसका ज्ञान होता है, वह अविनाशी ब्रह्म कैसा है—इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ ६ ॥

तत्=वह; **यत्**=जो; **अद्रेश्यम्**=जाननेमें न आनेवाला; **अग्राह्यम्**=पकड़नेमें न आनेवाला; **अगोत्रम्**=गोत्र आदिसे रहित; **अवर्णम्**=रंग और आकृतिसे रहित; **अचक्षुःश्रोत्रम्**=नेत्र, कान आदि ज्ञानेन्द्रियोंसे रहित; (और) **अपाणिपादम्**=(और) हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियोंसे (भी) रहित है; [**तथा**=तथा;] **तत्**=वह; **यत्**= जो; **नित्यम्**=नित्य; **विभुम्**=सर्वव्यापी; **सर्वगतम्**=सबमें फैला हुआ; **सुसूक्ष्मम्**=अत्यन्त सूक्ष्म (और); **अव्ययम्**=अविनाशी परब्रह्म है; **तत्**=उस; **भूतयोनिम्**=समस्त प्राणियोंके परम कारणको; **धीराः**=ज्ञानीजन; **परिपश्यन्ति**=सर्वत्र परिपूर्ण देखते हैं ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें परब्रह्म परमेश्वरके निराकार स्वरूपका वर्णन किया गया है। सारांश यह है कि वे परब्रह्म परमेश्वर ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा जाननेमें नहीं आते, न कर्मेन्द्रियोंद्वारा पकड़नेमें ही आते हैं। वे गोत्र आदि उपाधियोंसे रहित, तथा ब्राह्मण आदि वर्णगतभेदसे एवं रंग और आकृतिसे भी सर्वथा रहित हैं। वे नेत्र, कान आदि ज्ञानेन्द्रियोंसे और हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियोंसे भी रहित हैं। तथा वे अत्यन्त सूक्ष्म, व्यापक, अन्तरात्मारूपसे सबमें फैले हुए और कभी नाश न होनेवाले सर्वथा नित्य हैं। समस्त प्राणियोंके उन परम कारणको ज्ञानीजन सर्वत्र परिपूर्ण देखते हैं ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—वे जगदात्मा परमेश्वर समस्त भूतोंके परम कारण कैसे हैं, सम्पूर्ण जगत् उनसे किस प्रकार उत्पन्न होता है, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥ ७ ॥

यथा=जिस प्रकार; **ऊर्णनाभिः**=मकड़ी; **सृजते**=(जालेको) बनाती है; **च**=और; **गृह्णते**=निगल जाती है (तथा); **यथा**=जिस प्रकार; **पृथिव्याम्**=पृथ्वीमें; **ओषधयः**=नाना प्रकारकी ओषधियाँ; **सम्भवन्ति**=उत्पन्न होती हैं (और); **यथा**=जिस प्रकार; **सतः पुरुषात्**=जीवित मनुष्यसे; **केशलोमानि**=केश और रोएँ (उत्पन्न होते हैं); **तथा**=उसी प्रकार; **अक्षरात्**=अविनाशी परब्रह्मसे; **इह**=यहाँ—इस सृष्टिमें; **विश्वम्**=सब कुछ; **सम्भवति**=उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें तीन दृष्टान्तोंद्वारा यह बात समझायी गयी है कि परब्रह्म परमेश्वर ही इस जड-चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत्के निमित्त और उपादान कारण हैं। पहले मकड़ीके दृष्टान्तसे यह बात कही गयी है कि जिस प्रकार मकड़ी अपने पेटमें स्थित जालेको बाहर निकालकर फैलाती है और फिर उसे निगल जाती है, उसी प्रकार वह परब्रह्म परमेश्वर अपने अंदर सूक्ष्मरूपसे लीन हुए जड-चेतनरूप जगत्को सृष्टिके आरम्भमें नाना प्रकारसे उत्पन्न करके फैलाते हैं और प्रलय-कालमें पुनः उसे अपनेमें लीन कर लेते हैं (गीता ९। ७-८)। दूसरे उदाहरणसे यह बात समझायी है कि जिस प्रकार

पृथ्वीमें जिस-जिस प्रकारकी अन्न, तृण, वृक्ष, लता आदि ओषधियोंके बीज पड़ते हैं, उसी प्रकारकी भिन्न-भिन्न भेदोंवाली ओषधियाँ वहाँ उत्पन्न हो जाती हैं—उसमें पृथ्वीका कोई पक्षपात नहीं है, उसी प्रकार जीवोंके नाना प्रकारके कर्मरूप बीजोंके अनुसार ही भगवान् उनको भिन्न-भिन्न योनियोंमें उत्पन्न करते हैं; अतः उनमें किसी प्रकारकी विषमता और निर्दयताका दोष नहीं है (ब्रह्मसूत्र २ । १ । ३४) । तीसरे मनुष्य-शरीरके उदाहरणसे यह बात समझायी गयी है कि जिस प्रकार मनुष्यके जीवित शरीरसे सर्वथा विलक्षण केश, रोएँ और नख अपने-आप उत्पन्न होते और बढ़ते रहते हैं—उसके लिये उसको कोई कार्य नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार परब्रह्म परमेश्वरसे यह जगत् स्वभावसे ही समयपर उत्पन्न हो जाता है और विस्तारको प्राप्त होता है; इसके लिये भगवान्‌को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता । इसीलिये भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि 'मैं इस जगत्‌को बनानेवाला होनेपर भी अकर्ता ही हूँ' (गीता ४ । १३), 'उदासीनकी तरह स्थित रहनेवाले मुझ परमेश्वरको वे कर्म लिप्त नहीं करते' (गीता ९ । १०) इत्यादि ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अब संक्षेपमें जगत्‌की उत्पत्तिका क्रम बतलाते हैं—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥ ८ ॥

ब्रह्म=परब्रह्म; **तपसा**=विज्ञानमय तपसे; **चीयते**=उपचय (वृद्धि) को प्राप्त होता है; **ततः**=उससे; **अन्नम्**=अन्न; **अभिजायते**=उत्पन्न होता है; **अन्नात्**=अन्नसे (क्रमशः); **प्राणः**=प्राण; **मनः**=मन; **सत्यम्**=सत्य (स्थूलभूत); **लोकाः**=समस्त लोक (और कर्म); **च**=तथा; **कर्मसु**=कर्मोंसे; **अमृतम्**=अवश्यम्भावी सुख-दुःखरूप फल उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—जब जगत्‌की रचनाका समय आता है, उस समय परब्रह्म परमेश्वर अपने संकल्परूप तपसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं, अर्थात् उनमें विविध रूपोंवाली सृष्टिके निर्माणका संकल्प उठता है । जीवोंके कर्मानुसार उन परब्रह्म पुरुषोत्तममें जो सृष्टिके आदिमें स्फुरणा होती है, वही मानो उनका तप है; उस स्फुरणाके होते ही भगवान्, जो पहले अत्यन्त सूक्ष्मरूपमें रहते हैं, (जिसका वर्णन छठे मन्त्रमें आ चुका है) उसकी अपेक्षा स्थूल हो जाते हैं अर्थात् वे सृष्टिकर्ता ब्रह्माका रूप धारण कर लेते हैं । ब्रह्मासे सब प्राणियोंकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाला अन्न उत्पन्न होता है । फिर अन्नसे क्रमशः प्राण, मन, कार्यरूप पाँच महाभूत, समस्त प्राणी और उनके वासस्थान, उनके भिन्न-भिन्न कर्म और उन कर्मोंसे उनका अवश्यम्भावी सुख-दुःखरूप फल—इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—अब परमेश्वरकी महिमाका वर्णन करते हुए इस प्रकरणका उपसंहार करते हैं—

यः सर्वज्ञः सर्ववित्स्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥ ९ ॥

यः=जो; **सर्वज्ञः**=सर्वज्ञ (तथा); **सर्ववित्**=सबको जाननेवाला (है); **यस्य**=जिसका; **ज्ञानमयम्**=ज्ञानमय; **तपः**=तप (है); **तस्मात्**=उसी परमेश्वरसे; **एतत्**=यह; **ब्रह्म**=विराट्स्वरूप जगत्; **च**=तथा; **नाम**=नाम; **रूपम्**=रूप; (और) **अन्नम्**=भोजन; **जायते**=उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या—वे सम्पूर्ण जगत्‌के कारणभूत परम पुरुष परमेश्वर साधारणरूपसे तथा विशेषरूपसे भी सबको भलीभाँति जानते हैं; उन परब्रह्मका एकमात्र ज्ञान ही तप है । उन्हें साधारण मनुष्योंकी भाँति जगत्‌की उत्पत्तिके लिये कष्ट-सहनरूप तप नहीं करना पड़ता । उन सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वरके संकल्पमात्रसे ही यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला विराट्स्वरूप जगत् (जिसे अपर ब्रह्म कहते हैं) अपने-आप प्रकट हो जाता है और समस्त प्राणियों तथा लोकोंके नाम, रूप और आहार आदि भी उत्पन्न हो जाते हैं ।

शौनक ऋषिने यह पूछा था कि 'किसको जाननेसे यह सब कुछ जान लिया जाता है ?' इसके उत्तरमें समस्त जगत्‌के

परम कारण परब्रह्म परमात्मासे जगत्‌की उत्पत्ति बतलाकर संक्षेपमें यह बात समझायी गयी कि उन सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सबके कर्ता-धर्ता परमेश्वरको जान लेनेपर यह सब कुछ ज्ञात हो जाता है ॥ ९ ॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

सम्बन्ध—पहले खण्डके चौथे मन्त्रमें परा और अपरा—इन दो विद्याओंको जाननेयोग्य बताया था, उनमेंसे अब इस खण्डमें अपरा विद्याका स्वरूप और फल बतलाकर परा विद्याकी जिज्ञासा उत्पन्न की जाती है—

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि । तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥ १ ॥

तत्=वह; **एतत्**=यह; **सत्यम्**=सत्य है कि; **कवयः**=बुद्धिमान् ऋषियोंने; **यानि**=जिन; **कर्माणि**=कर्मोंको; **मन्त्रेषु**=वेद-मन्त्रोंमें; **अपश्यन्**=देखा था; **तानि**=वे; **त्रेतायाम्**=तीनों वेदोंमें; **बहुधा**=बहुत प्रकारसे; **संततानि**=व्याप्त हैं; **सत्यकामाः**=हे सत्यको चाहनेवाले मनुष्यो; (तुमलोग) **तानि**=उनका; **नियतम्**=नियमपूर्वक; **आचरथ**=अनुष्ठान करो; **लोके**=इस मनुष्य-शरीरमें; **वः**=तुम्हारे लिये; **एषः**=यही; **सुकृतस्य**=शुभ कर्मकी फल-प्राप्तिका; **पन्थाः**=मार्ग है ॥ १ ॥

व्याख्या—यह सर्वथा सत्य है कि बुद्धिमान् महर्षियोंने जिन उन्नतिके साधनरूप यज्ञादि नाना प्रकारके कर्मोंको वेद-मन्त्रोंमें पहले देखा था, वे कर्म ऋक्, यजुः और साम—इन तीनों वेदोंमें बहुत प्रकारसे विस्तारपूर्वक वर्णित हैं (गीता ४ । ३२) ।* अतः जागतिक उन्नति चाहनेवाले मनुष्योंको उन्हें भलीभाँति जानकर नियमपूर्वक उन कर्मोंको करते रहना चाहिये । इस मनुष्यशरीरमें यही उन्नतिका सुन्दर मार्ग है । आलस्य और प्रमादमें या भोगोंको भोगनेमें पशुओंकी भाँति जीवन बिता देना मनुष्यशरीरके उपयुक्त नहीं है । यही इस मन्त्रका भाव है ॥ १ ॥

सम्बन्ध—वेदोक्त अनेक प्रकारके कर्मोंमेंसे उपलक्षणरूपसे प्रधान अग्निहोत्ररूप कर्मका वर्णन आरम्भ करते हैं—

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने ।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत् ॥ २ ॥

यदा हि=जिस समय; **हव्यवाहने समिद्धे**=हविष्यको देवताओंके पास पहुँचानेवाली अग्निके प्रदीप्त हो जानेपर; **अर्चिः**=(उसमें) ज्वालाएँ; **लेलायते**=लपलपाने लगती हैं; **तदा**=उस समय; **आज्यभागौ अन्तरेण**=आज्यभागके† बीचमें; **आहुतीः**=अन्य आहुतियोंको; **प्रतिपादयेत्**=डाले ॥ २ ॥

व्याख्या—अधिकारी मनुष्योंको नित्यप्रति अग्निहोत्र करना चाहिये । जब देवताओंको हविष्य पहुँचानेवाली अग्नि अग्निहोत्रकी वेदीमें भलीभाँति प्रज्वलित हो जाय, उसमेंसे लपटें निकलने लगें, उस समय आज्यभागके स्थानको छोड़कर मध्यमें आहुतियाँ डालनी चाहिये । क्योंकि नित्य अग्निहोत्रमें आज्यभागकी दो आहुतियाँ देनेका नियम नहीं है । इससे यह बात भी समझायी गयी है कि जबतक अग्नि प्रदीप्त न हो, उसमेंसे लपटें न निकलने लगें, तबतक या निकलकर शान्त हो जायँ, उस समय अग्निमें आहुति नहीं डालनी चाहिये । अग्निको अच्छी तरह प्रज्वलित करके ही अग्निहोत्र करना चाहिये ॥ २ ॥

---

* प्रधानरूपसे वेदोंकी संख्या तीन ही मानी गयी है । जहाँ-तहाँ 'वेदत्रयी' आदि नामोंसे ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—इन तीनका ही उल्लेख मिलता है । ऐसे स्थलोंमें चौथे अथर्ववेदको उक्त तीनोंके अन्तर्गत ही मानना चाहिये ।

† यजुर्वेदके अनुसार प्रजापतिके लिये मौनभावसे एक आहुति और इन्द्रके लिये 'आघार'नामकी दो घृताहुतियाँ देनेके पश्चात् जो अग्नि और सोम देवताओंके लिये पृथक्-पृथक् दो आहुतियाँ दी जाती हैं, उनका नाम 'आज्यभाग' है। 'ॐ अग्नये स्वाहा' कहकर उत्तर-पूर्वार्धमें और 'ॐ सोमाय स्वाहा' कहकर दक्षिण-पूर्वार्धमें ये आहुतियाँ डाली जाती हैं; इनके बीचमें शेष आहुतियाँ डालनी चाहिये ।

सम्बन्ध—नित्य अग्निहोत्र करनेवाले मनुष्यको उसके साथ-साथ और क्या-क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च ।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति ॥ ३ ॥

यस्य=जिसका; **अग्निहोत्रम्**=अग्निहोत्र; **अदर्शम्**=दर्शनामक यज्ञसे रहित है; **अपौर्णमासम्**=पौर्णमासनामक यज्ञसे रहित है; **अचातुर्मास्यम्**=चातुर्मास्यनामक यज्ञसे रहित है; **अनाग्रयणम्**=आग्रयण कर्मसे रहित है; **च**=तथा; **अतिथिवर्जितम्**=जिसमें अतिथि-सत्कार नहीं किया जाता; **अहुतम्**=जिसमें समयपर आहुति नहीं दी जाती; **अवैश्वदेवम्**=जो बलिवैश्वदेवनामक कर्मसे रहित है; (तथा) **अविधिना हुतम्**=जिसमें शास्त्र-विधिकी अवहेलना करके हवन किया गया है; ऐसा अग्निहोत्र; **तस्य**=उस अग्निहोत्रीके; **आसप्तमान्**=सातों; **लोकान्**=पुण्य लोकोंका; **हिनस्ति**=नाश कर देता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—नित्य अग्निहोत्र करनेवाला मनुष्य यदि दर्श* और पौर्णमासयज्ञ† नहीं करता या चातुर्मास्य यज्ञ‡ नहीं करता अथवा शरद् और वसन्त ऋतुओंमें की जानेवाली नवीन अन्नकी इष्टिरूप आग्रयण यज्ञ नहीं करता, यदि उसकी यज्ञशालामें अतिथियोंका विधिपूर्वक सत्कार नहीं किया जाता, या वह नित्य अग्निहोत्रमें ठीक समयपर और शास्त्रविधिके अनुसार हवन नहीं करता एवं बलिवैश्वदेव-कर्म नहीं करता, तो उस अग्निहोत्र करनेवाले मनुष्यके सातों लोकोंको वह अङ्गहीन अग्निहोत्र नष्ट कर देता है । अर्थात् उस यज्ञके द्वारा उसे मिलनेवाले जो पृथ्वीलोकसे लेकर सत्यलोकतक सातों लोकोंमें प्राप्त होने योग्य भोग हैं, उनसे वह वञ्चित रह जाता है ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—दूसरे मन्त्रमें यह बात कही गयी थी कि जब अग्निमें लपटें निकलने लगें, तब आहुति देनी चाहिये; अतः अब उन लपटोंके प्रकार-भेद और नाम बतलाते हैं—

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥ ४ ॥

या=जो; **काली**=काली; **कराली**=कराली; **च**=तथा; **मनोजवा**=मनोजवा; **च**=और; **सुलोहिता**=सुलोहिता; **च**=तथा; **सुधूम्रवर्णा**=सुधूम्रवर्णा; **स्फुलिङ्गिनी**=स्फुलिङ्गिनी; **च**=तथा; **विश्वरुची देवी**=विश्वरुची देवी; **इति**=ये (अग्निकी); **सप्त**=सात; **लेलायमानाः**=लपलपाती हुई; **जिह्वाः**=जिह्वाएँ हैं ॥ ४ ॥

व्याख्या—काली—काले रंगवाली, कराली—अति उग्र (जिसमें आग लग जानेका डर रहता है), मनोजवा—मनकी भाँति अत्यन्त चञ्चल, सुलोहिता—सुन्दर लाली लिये हुए, सुधूम्रवर्णा—सुन्दर धूएँके-से रंगवाली, स्फुलिङ्गिनी—चिनगारियोंवाली तथा विश्वरुची देवी—सब ओरसे प्रकाशित, देदीप्यमान—इस प्रकार ये सात तरहकी लपटें मानो अग्निदेवकी हविको ग्रहण करनेके लिये लपलपाती हुई सात जिह्वाएँ हैं । अतः जब इस प्रकार अग्निदेवता आहुतिरूप भोजन ग्रहण करनेके लिये तैयार हों, उसी समय भोजनरूप आहुतियाँ प्रदान करनी चाहिये; अन्यथा अप्रज्वलित अथवा बुझी हुई अग्निमें दी हुई आहुति राखमें मिलकर व्यर्थ नष्ट हो जाती है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे प्रदीप्त अग्निमें नियमपूर्वक नित्यप्रति हवन करनेका फल बतलाते हैं—

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन् ।
तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥ ५ ॥

यः च=जो कोई भी अग्निहोत्री; **एतेषु भ्राजमानेषु**=इन देदीप्यमान ज्वालाओंमें; **यथाकालम्**=ठीक समयपर;

* प्रत्येक अमावस्याको की जानेवाली इष्टि ।
† प्रत्येक पूर्णिमाको की जानेवाली इष्टि ।
‡ चार महीनोंमें पूरा होनेवाला एक श्रौत यागविशेष ।

चरते=अग्निहोत्र करता है; **तम्**=उस अग्निहोत्रीको; **हि**=निश्चय ही; **आददायन्**=अपने साथ लेकर; **एताः**=ये; **आहुतयः**=आहुतियाँ; **सूर्यस्य**=सूर्यकी; **रश्मयः [भूत्वा]**=किरणें (बनकर); **नयन्ति**=(वहाँ) पहुँचा देती हैं; **यत्र**=जहाँ; **देवानाम्**=देवताओंका; **एकः**=एकमात्र; **पतिः**=स्वामी (इन्द्र); **अधिवासः**=निवास करता है ॥ ५ ॥

व्याख्या—जो कोई भी साधक पूर्वमन्त्रमें बतलायी हुई सात प्रकारकी लपटोंसे युक्त भलीभाँति प्रज्वलित अग्निमें ठीक समयपर शास्त्रविधिके अनुसार नित्यप्रति आहुति देकर अग्निहोत्र करता है, उसे मरणकालमें अपने साथ लेकर ये आहुतियाँ सूर्यकी किरणें बनकर वहाँ पहुँचा देती हैं, जहाँ देवताओंका एकमात्र स्वामी इन्द्र निवास करता है। तात्पर्य यह कि अग्निहोत्र स्वर्गके सुखोंकी प्राप्तिका अमोघ उपाय है ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—किस प्रकार ये आहुतियाँ सूर्य-किरणोंद्वारा यजमानको इन्द्रलोकमें ले जाती हैं—ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥ ६ ॥

सुवर्चसः=(वे) देदीप्यमान; **आहुतयः**=आहुतियाँ; **एहि एहि**=आओ, आओ; **एषः**=यह; **वः**=तुम्हारे; **सुकृतः**=शुभ कर्मोंसे प्राप्त; **पुण्यः**=पवित्र; **ब्रह्मलोकः**=ब्रह्मलोक (स्वर्ग) है; **इति**=इस प्रकारकी; **प्रियाम्**=प्रिय; **वाचम्**=वाणी; **अभिवदन्त्यः**=बार-बार कहती हुई (और); **अर्चयन्त्यः**=उसका आदर-सत्कार करती हुई; **तम्**=उस; **यजमानम्**=यजमानको; **सूर्यस्य**=सूर्यकी; **रश्मिभिः**=रश्मियोंद्वारा; **वहन्ति**=ले जाती हैं ॥ ६ ॥

व्याख्या—उन प्रदीप्त ज्वालाओंमें दी हुई आहुतियाँ सूर्यकी किरणोंके रूपमें परिणत होकर मरणकालमें उस साधकसे कहती हैं—'आओ, आओ, यह तुम्हारे शुभ कर्मोंका फलस्वरूप ब्रह्मलोक अर्थात् भोगरूप सुखोंको भोगनेका स्थान स्वर्गलोक है।' इस प्रकारकी प्रिय वाणी बार-बार कहती हुई आदर-सत्कारपूर्वक उसे सूर्यकी किरणोंके मार्गसे ले जाकर स्वर्गलोकमें पहुँचा देती हैं। यहाँ स्वर्गको ब्रह्मलोक कहनेका यह भाव मालूम होता है कि स्वर्गके अधिपति इन्द्र भी भगवान्‌के ही अपर स्वरूप हैं, अतः प्रकारान्तरसे ब्रह्म ही हैं ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—अब सांसारिक भोगोंमें वैराग्यकी और परम आनन्दस्वरूप परमेश्वरको पानेकी अभिलाषा उत्पन्न करनेके लिये उपर्युक्त स्वर्गलोकके साधनरूप यज्ञादि सकाम कर्म और उनके फलरूप लौकिक एवं पारलौकिक भोगोंकी तुच्छता बतलाते हैं—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥ ७ ॥

हि=निश्चय ही; **एते**=ये; **यज्ञरूपाः**=यज्ञरूप; **अष्टादश प्लवाः**=अठारह नौकाएँ; **अदृढाः**=अदृढ (अस्थिर) हैं; **येषु**=जिनमें; **अवरम्**=नीची श्रेणीका; **कर्म**=उपासनारहित सकाम कर्म; **उक्तम्**=बताया गया है; **ये**=जो; **मूढाः**=मूर्ख; **एतत् [एव]**=यही; **श्रेयः**=कल्याणका मार्ग है (यों मानकर); **अभिनन्दन्ति**=इसकी प्रशंसा करते हैं; **ते**=वे; **पुनः अपि**=बारंबार; **एव**=निःसंदेह; **जरामृत्युम्**=वृद्धावस्था और मृत्युको; **यन्ति**=प्राप्त होते रहते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें यज्ञको नौकाका रूप दिया गया है और उनकी संख्या अठारह बतलायी गयी है; इससे अनुमान होता है कि नित्य, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य आदि भेदोंसे यज्ञके अठारह प्रधान भेद होते हैं। कहना यह है कि जिनमें उपासनारहित सकाम कर्मोंका वर्णन है, ऐसी ये यज्ञरूप अठारह नौकाएँ हैं, जो कि दृढ़ नहीं हैं। इनके द्वारा संसार-समुद्रसे पार होना तो दूर रहा, इस लोकके वर्तमान दुःखरूप छोटी-सी नदीसे पार होकर स्वर्गतक पहुँचनेमें भी संदेह है; क्योंकि तीसरे मन्त्रके वर्णनानुसार किसी भी अङ्गकी कमी रह जानेपर वे साधकको स्वर्गमें नहीं पहुँचा सकतीं, बीचमें ही छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। इसलिये ये अदृढ अर्थात् अस्थिर हैं। इस रहस्यको न समझकर जो मूर्खलोग इन सकाम कर्मोंको ही कल्याणका उपाय समझकर—इनके ही फलको परम सुख मानकर इनकी प्रशंसा करते रहते हैं, उन्हें निःसंदेह बारंबार वृद्धावस्था और मरणके दुःख भोगने पड़ते हैं ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—वे किस प्रकार दुःख भोगते हैं, इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ८ ॥

अविद्यायाम् अन्तरे=अविद्याके भीतर; **वर्तमानाः**=स्थित होकर (भी); **स्वयंधीराः**=अपने-आप बुद्धिमान् बननेवाले (और); **पण्डितम् मन्यमानाः**=अपनेको विद्वान् माननेवाले; **मूढाः**=वे मूर्खलोग; **जङ्घन्यमानाः**=बार-बार आघात (कष्ट) सहन करते हुए; **परियन्ति**=(ठीक वैसे ही) भटकते रहते हैं; **यथा**=जैसे; **अन्धेन एव**=अन्धेके द्वारा ही; **नीयमानाः**=चलाये जानेवाले; **अन्धाः**=अंधे (अपने लक्ष्यतक न पहुँचकर बीचमें ही इधर-उधर भटकते और कष्ट भोगते रहते हैं) ॥ ८ ॥

व्याख्या—जब अन्धे मनुष्यको मार्ग दिखलानेवाला भी अन्धा ही मिल जाता है, तब जैसे वह अपने अभीष्ट स्थानपर नहीं पहुँच पाता, बीचमें ही ठोकरें खाता भटकता है और काँटे-कंकड़ोंसे बिंधकर या गहरे गड्ढे आदिमें गिरकर अथवा किसी चट्टान, दीवाल और पशु आदिसे टकराकर नाना प्रकारके कष्ट भोगता है, वैसे ही उस मूर्खको भी पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि विविध दुःखपूर्ण योनियोंमें एवं नरकादिमें प्रवेश करके अनन्त जन्मोंतक अनन्त यन्त्रणाओंका भोग करना पड़ता है, जो अपने-आपको ही बुद्धिमान् और विद्वान् समझता है, विद्या-बुद्धिके मिथ्याभिमानमें शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंकी कुछ भी परवा न करके उनकी अवहेलना करता और प्रत्यक्ष सुखरूप प्रतीत होनेवाले भोगोंको भोग करनेमें तथा उनके उपार्जनमें ही निरन्तर संलग्न रहकर मनुष्यजीवनका अमूल्य समय व्यर्थ नष्ट करता रहता है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—वे लोग बारंबार दुःखोंमें पड़कर भी चेतते क्यों नहीं, कल्याणके लिये चेष्टा क्यों नहीं करते, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ ९ ॥

बालाः=वे मूर्खलोग; **अविद्यायाम्**=उपासनारहित सकाम कर्मोंमें; **बहुधा**=बहुत प्रकारसे; **वर्तमानाः**=बर्तते हुए; **वयम्**=हम; **कृतार्थाः**=कृतार्थ हो गये; **इति अभिमन्यन्ति**=ऐसा अभिमान कर लेते हैं; **यत्**=क्योंकि; **कर्मिणः**=वे सकाम कर्म करनेवाले लोग; **रागात्**=विषयोंकी आसक्तिके कारण; **न प्रवेदयन्ति**=कल्याणके मार्गको नहीं जान पाते; **तेन**=इस कारण; **आतुराः**=बारंबार दुःखसे आतुर हो; **क्षीणलोकाः**=पुण्योपार्जित लोकोंसे हटाये जाकर; **च्यवन्ते**=नीचे गिर जाते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या—पूर्वमन्त्रमें कहे हुए प्रकारसे जो इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये सांसारिक उन्नतिके साधनरूप नाना प्रकारके सकाम कर्मोंमें ही बहुत प्रकारसे लगे रहते हैं, वे अविद्यामें निमग्न अज्ञानी मनुष्य समझते हैं कि 'हमने अपने कर्तव्यका पालन कर लिया।' उन सांसारिक कर्मोंमें लगे हुए मनुष्योंकी भोगोंमें अत्यन्त आसक्ति होती है, इस कारण वे सांसारिक उन्नतिके सिवा कल्याणकी ओर दृष्टि ही नहीं डालते। उन्हें इस बातका पता ही नहीं रहता कि परमानन्दके समुद्र कोई परमात्मा हैं और मनुष्य उन्हें पा सकता है। इसलिये वे उन परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये चेष्टा न करके बारंबार दुखी होते रहते हैं और पुण्यकर्मोंका फल पूरा होनेपर वे स्वर्गादि लोकोंसे नीचे गिर जाते हैं ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—ऊपर कही हुई बातको ही और भी स्पष्ट करते हैं—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥ १० ॥

इष्टापूर्तम्=इष्ट और पूर्त* (सकाम) कर्मोंको ही; **वरिष्ठम्**=श्रेष्ठ; **मन्यमानाः**=माननेवाले; **प्रमूढाः**=अत्यन्त मूर्खलोग; **अन्यत्**=उससे भिन्न; **श्रेयः**=वास्तविक श्रेयको; **न वेदयन्ते**=नहीं जानते; **ते**=वे; **सुकृते**=पुण्यकर्मोंके

* यज्ञ-यागादि श्रौत कर्मोंको 'इष्ट' तथा बावली, कुआँ खुदवाना और बगीचे लगाना आदि स्मृतिविहित कर्मको 'पूर्त' कहते हैं।

फलस्वरूप; **नाकस्य पृष्ठे**=स्वर्गके उच्चतम स्थानमें; **अनुभूत्वा**=(जाकर श्रेष्ठ कर्मोंके फलस्वरूप) वहाँके भोगोंका अनुभव करके; **इमम् लोकम्**=इस मनुष्यलोकमें; **वा**=अथवा; **हीनतरम्**=इससे भी अत्यन्त हीन योनियोंमें; **विशन्ति**=प्रवेश करते हैं ॥ १० ॥

व्याख्या—वे अतिशय मूर्ख भोगासक्त मनुष्य इष्ट और पूर्तको अर्थात् वेद और स्मृति आदि शास्त्रोंमें सांसारिक सुखोंकी प्राप्तिके जितने भी साधन बताये गये हैं, उन्हींको सर्वश्रेष्ठ कल्याण-साधन मानते हैं। इसलिये उनसे भिन्न अर्थात् परमेश्वरका भजन, ध्यान और निष्कामभावसे कर्तव्यपालन करना एवं परमपुरुष परमात्माको जाननेके लिये तीव्र जिज्ञासापूर्वक चेष्टा करना आदि जितने भी परम कल्याणके साधन हैं, उन्हें वे नहीं जानते, उन कल्याण-साधनोंकी ओर लक्ष्य-तक नहीं करते। अतः वे अपने पुण्यकर्मोंके फलरूप स्वर्गलोकतकके सुखोंको भोगकर पुण्य क्षय होनेपर पुनः इस मनुष्यलोकमें अथवा इससे भी नीची शूकर-कूकर, कीट-पतङ्ग आदि योनियोंमें या रौरवादि घोर नरकोंमें चले जाते हैं। (गीता ९। २०-२१) ॥ १० ॥

सम्बन्ध—ऊपर बतलाये हुए सांसारिक भोगोंसे विरक्त मनुष्योंके आचार-व्यवहार और उनके फलका वर्णन करते हैं—

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥११॥

हि=किन्तु; **ये**=जो; **अरण्ये [स्थिताः]**=वनमें रहनेवाले; **शान्ताः**=शान्त स्वभाववाले; **विद्वांसः**=विद्वान्; **भैक्ष्यचर्याम् चरन्तः**=तथा भिक्षाके लिये विचरनेवाले; **तपःश्रद्धे**=संयमरूप तप तथा श्रद्धाका; **उपवसन्ति**=सेवन करते हैं; **ते**=वे; **विरजाः**=रजोगुणरहित; **सूर्यद्वारेण**=सूर्यके मार्गसे; **[तत्र] प्रयान्ति**=वहाँ चले जाते हैं; **यत्र हि**=जहाँपर; **सः**=वह; **अमृतः**=जन्म-मृत्युसे रहित; **अव्ययात्मा**=नित्य, अविनाशी; **पुरुषः**=परम पुरुष (रहता है) ॥ ११ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त भोगासक्त मनुष्योंसे जो सर्वथा भिन्न हैं, मनुष्यशरीरका महत्त्व समझ लेनेके कारण जिनके अन्तःकरणमें परमात्माका तत्त्व जाननेकी और परमेश्वरको प्राप्त करनेकी इच्छा जग उठी है, वे चाहे वनमें निवास करनेवाले वानप्रस्थ हों, शान्त स्वभाववाले विद्वान् सदाचारी गृहस्थ हों या भिक्षासे निर्वाह करनेवाले ब्रह्मचारी अथवा संन्यासी हों, वे तो निरन्तर तप और श्रद्धाका ही सेवन किया करते हैं, अर्थात् अपने-अपने वर्ण, आश्रम तथा परिस्थितिके अनुसार जिस समय जो कर्तव्य होता है, उसका शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार बिना किसी प्रकारकी कामनाके पालन करते रहते हैं और संयमपूर्वक शम-दमादि साधनोंसे सम्पन्न होकर परम श्रद्धाके साथ परमेश्वरको जानने और प्राप्त करनेके साधनोंमें लगे रहते हैं। इसलिये तम और रजोगुणके विकारोंसे सर्वथा शून्य निर्मल सत्त्वगुणमें स्थित वे सज्जन सूर्यलोकमें होते हुए वहाँ चले जाते हैं, जहाँ उनके परम प्राप्य अमृतस्वरूप नित्य अविनाशी परमपुरुष पुरुषोत्तम निवास करते हैं ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—उन परब्रह्म परमेश्वरको जानने और प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥१२॥

कर्मचितान्=कर्मसे प्राप्त किये जानेवाले; **लोकान् परीक्ष्य**=लोकोंकी परीक्षा करके; **ब्राह्मणः**=ब्राह्मण; **निर्वेदम्**=वैराग्यको; **आयात्**=प्राप्त हो जाय (यह समझ ले कि); **कृतेन**=किये जानेवाले सकाम कर्मोंसे; **अकृतः**=स्वतःसिद्ध नित्य परमेश्वर; **न अस्ति**=नहीं मिल सकता; **सः**=वह; **तद्विज्ञानार्थम्**=उस परब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये; **समित्पाणिः**=हाथमें समिधा लेकर; **श्रोत्रियम्**=वेदको भलीभाँति जाननेवाले (और); **ब्रह्मनिष्ठम्**=परब्रह्म परमात्मामें स्थित; **गुरुम्**=गुरुके पास; **एव**=ही; **अभिगच्छेत्**=विनयपूर्वक जाय ॥ १२ ॥

व्याख्या—अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको पहले बतलाये हुए सकाम कर्मोंके फलस्वरूप इस लोक और परलोकके

समस्त सांसारिक सुखोंकी भलीभाँति परीक्षा करके अर्थात् विवेकपूर्वक उनकी अनित्यता और दुःखरूपताको समझकर सब प्रकारके भोगोंसे सर्वथा विरक्त हो जाना चाहिये। यह निश्चय कर लेना चाहिये कि कर्तापनके अभिमानपूर्वक सकामभावसे किये जानेवाले कर्म अनित्य फलको देनेवाले तथा स्वयं भी अनित्य हैं। अतः जो सर्वथा अकृत है अर्थात् क्रियासाध्य नहीं है, ऐसे नित्य परमेश्वरकी प्राप्ति वे नहीं करा सकते। यह सोचकर उस जिज्ञासुको परमात्माका वास्तविक तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके लिये हाथमें समिधा लेकर श्रद्धा और विनयभावके सहित ऐसे सद्गुरुकी शरणमें जाना चाहिये, जो वेदोंके रहस्यको भलीभाँति जानते हों और परब्रह्म परमात्मामें स्थित हों ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—ऊपर बतलाये हुए लक्षणोंवाला कोई शिष्य यदि गुरुके पास आ जाय तो गुरुको क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥१३॥

सः=वह; **विद्वान्**=ज्ञानी महात्मा; **उपसन्नाय**=शरणमें आये हुए; **सम्यक्प्रशान्तचित्ताय**=पूर्णतया शान्त-चित्तवाले; **शमान्विताय**=मन और इन्द्रियोंपर विजय पाये हुए; **तस्मै**=उस शिष्यको; **ताम् ब्रह्मविद्याम्**=उस ब्रह्मविद्याका; **तत्त्वतः**=तत्त्व-विवेचनपूर्वक; **प्रोवाच**=भलीभाँति उपदेश करे; **येन [सः]**=जिससे वह शिष्य; **अक्षरम्**=अविनाशी; **सत्यम्**=नित्य; **पुरुषम्**=परमपुरुषको; **वेद**=जान ले ॥ १३ ॥

व्याख्या—उन श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्माको भी चाहिये कि अपनी शरणमें आये हुए ऐसे शिष्यको, जिसका चित्त पूर्णतया शान्त—निश्चल हो चुका हो, सांसारिक भोगोंमें सर्वथा वैराग्य हो जानेके कारण जिसके चित्तमें किसी प्रकारकी चिन्ता, व्याकुलता या विकार नहीं रह गये हों, जिसने अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको भलीभाँति वशमें कर लिया हो, उस ब्रह्मविद्याका तत्त्व-विवेचनपूर्वक भलीभाँति समझाकर उपदेश करे, जिससे वह शिष्य नित्य अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तमका ज्ञान प्राप्त कर सके ॥ १३ ॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥ २ ॥

॥ प्रथम मुण्डक समाप्त ॥ १ ॥

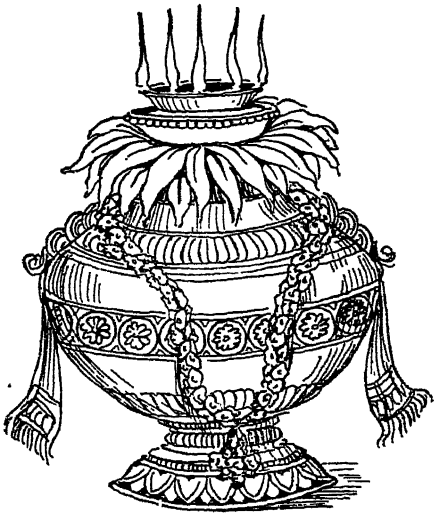

द्वितीय मुण्डक

प्रथम खण्ड

सम्बन्ध—प्रथम मुण्डकके द्वितीय खण्डमें अपर विद्याका स्वरूप और फल बतलाया तथा उसकी तुच्छता दिखाते हुए उससे विरक्त होनेकी बात कहकर परविद्या प्राप्त करनेके लिये सद्गुरुकी शरणमें जानेको कहा। अब परविद्याका वर्णन करनेके लिये प्रकरण आरम्भ करते हैं—

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥ १॥

सोम्य=हे प्रिय!; **तत्**=वह; **सत्यम्**=सत्य; **एतत्**=यह है; **यथा**=जिस प्रकार; **सुदीप्तात् पावकात्**=प्रज्वलित अग्निमेंसे; **सरूपाः**=उसीके समान रूपवाली; **सहस्रशः**=हजारों; **विस्फुलिङ्गाः**=चिनगारियाँ; **प्रभवन्ते**=नाना प्रकारसे प्रकट होती हैं; **तथा**=उसी प्रकार; **अक्षरात्**=अविनाशी ब्रह्मसे; **विविधाः**=नाना प्रकारके; **भावाः**=भाव; **प्रजायन्ते**=उत्पन्न होते हैं; **च**=और; **तत्र एव**=उसीमें; **अपियन्ति**=विलीन हो जाते हैं* ॥ १॥

व्याख्या—महर्षि अङ्गिरा कहते हैं—प्रिय शौनक! मैंने तुमको पहले परब्रह्म परमेश्वरके स्वरूपका वर्णन करते हुए (पूर्व प्रकरणके पहले खण्डमें छठे मन्त्रसे नवेंतक) जो रहस्य बतलाया था, वह सर्वथा सत्य है; अब उसीको पुनः समझाता हूँ, तुम ध्यानपूर्वक सुनो। जिस प्रकार प्रज्वलित अग्निमेंसे उसीके-जैसे रूप-रंगवाली हजारों चिनगारियाँ चारों ओर निकलती हैं, उसी प्रकार परमपुरुष अविनाशी ब्रह्मसे सृष्टिकालमें नाना प्रकारके भाव—मूर्त-अमूर्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं और प्रलयकालमें पुनः उन्हींमें लीन हो जाते हैं। यहाँ भावोंके प्रकट होनेकी बात समझानेके लिये ही अग्नि और चिनगारियोंका दृष्टान्त दिया गया है। उनके विलीन होनेकी बात दृष्टान्तसे स्पष्ट नहीं होती॥ १॥

सम्बन्ध—जिन परब्रह्म अविनाशी पुरुषोत्तमसे यह जगत् उत्पन्न होकर पुनः उन्हींमें विलीन हो जाता है, वे स्वयं कैसे हैं—इस जिज्ञासापर कहते हैं—

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥ २॥

हि=निश्चय ही; **दिव्यः**=दिव्य; **पुरुषः**=पूर्णपुरुष; **अमूर्तः**=आकाररहित; **सबाह्याभ्यन्तरः हि**=समस्त जगत्के बाहर और भीतर भी व्याप्त; **अजः**=जन्मादि विकारोंसे अतीत; **अप्राणः**=प्राणरहित; **अमनाः**=मनरहित; **हि**=होनेके कारण; **शुभ्रः**=सर्वथा विशुद्ध है (तथा); **हि**=इसीलिये; **अक्षरात्**=अविनाशी जीवात्मासे; **परतः परः**=अत्यन्त श्रेष्ठ है॥ २॥

व्याख्या—वे दिव्य पुरुष परमात्मा निःसन्देह आकाररहित और समस्त जगत्के बाहर एवं भीतर भी परिपूर्ण हैं। वे जन्म आदि विकारोंसे रहित, सर्वथा विशुद्ध हैं; क्योंकि उनके न तो प्राण हैं, न इन्द्रियाँ हैं और न मन ही है। वे इन सबके बिना ही सब कुछ करनेमें समर्थ हैं; इसीलिये वे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर अविनाशी जीवात्मासे अत्यन्त श्रेष्ठ—सर्वथा उत्तम हैं॥ २॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त लक्षणोंवाले निराकार परमेश्वरसे यह साकार जगत् किस प्रकार उत्पन्न हो जाता है, इस जिज्ञासापर उनकी सर्वशक्तिमत्ताका वर्णन करते हैं—

---

* प्रथम मुण्डकके प्रथम खण्डके सातवें मन्त्रमें मकड़ी, पृथ्वी और मनुष्य-शरीरके दृष्टान्तसे जो बात कही थी, वही बात इस मन्त्रमें अग्निके दृष्टान्तसे समझायी गयी है।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ ३ ॥

एतस्मात्=इसी परमेश्वरसे; **प्राणः**=प्राण; **जायते**=उत्पन्न होता है (तथा); **मनः**=मन (अन्तःकरण); **सर्वेन्द्रियाणि**=समस्त इन्द्रियाँ; **खम्**=आकाश; **वायुः**=वायु; **ज्योतिः**=तेज; **आपः**=जल; **च**=और; **विश्वस्य धारिणी**=सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करनेवाली; **पृथिवी**=पृथ्वी (ये सब उत्पन्न होते हैं) ॥ ३ ॥

व्याख्या—यद्यपि वे परब्रह्म पुरुषोत्तम निराकार और मन, इन्द्रिय आदि करण-समुदायसे सर्वथा रहित हैं, तथापि सब कुछ करनेमें समर्थ हैं । इन सर्वशक्तिमान् परब्रह्म पुरुषोत्तमसे ही सृष्टिकालमें प्राण, मन (अन्तःकरण) और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ तथा आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये पाँचों महाभूत, सब-के-सब उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार संक्षेपमें परमेश्वरसे सूक्ष्म तत्त्वोंकी उत्पत्तिका प्रकार बतलाकर अब इस जगत्में भगवान्का विराट्रूप देखनेका प्रकार बतलाते हैं—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ ४ ॥

अस्य=इस परमेश्वरका; **अग्निः**=अग्नि; **मूर्धा**=मस्तक है; **चन्द्रसूर्यौ**=चन्द्रमा और सूर्य; **चक्षुषी**=दोनों नेत्र हैं; **दिशः**=सब दिशाएँ; **श्रोत्रे**=दोनों कान हैं; **च**=और; **विवृताः वेदाः**=प्रकट वेद; **वाक्**=वाणी हैं (तथा); **वायुः प्राणः**=वायु प्राण है; **विश्वम् हृदयम्**=जगत् हृदय है; **पद्भ्याम्**=इसके दोनों पैरोंसे; **पृथिवी**=पृथ्वी उत्पन्न हुई है; **एषः हि**=यही; **सर्वभूतान्तरात्मा**=समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा है ॥ ४ ॥

व्याख्या—दूसरे मन्त्रमें जिन परमेश्वरके निराकार स्वरूपका वर्णन किया गया है, उन्हीं परब्रह्मका यह प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला जगत् विराट्रूप है । इन विराट्स्वरूप परमेश्वरका अग्नि अर्थात् द्युलोक ही मानो मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य दोनों नेत्र हैं, समस्त दिशाएँ कान हैं, नाना छन्द और ऋचाओंके रूपमें विस्तृत चारों वेद वाणी हैं, वायु प्राण है, सम्पूर्ण चराचर जगत् हृदय है, पृथ्वी मानो उनके पैर है । यही परब्रह्म परमेश्वर समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी परमात्मा हैं ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—उन परमात्मासे इस चराचर जगत्की उत्पत्ति किस क्रमसे होती है, इस जिज्ञासापर प्रकारान्तरसे जगत्की उत्पत्तिका क्रम बतलाते हैं—

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् ।
पुमान्रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्सम्प्रसूताः ॥ ५ ॥

तस्मात्=उससे ही; **अग्निः**=अग्निदेव प्रकट हुआ; **यस्य समिधः**=जिसकी समिधा; **सूर्यः**=सूर्य है; (उस अग्निसे सोम उत्पन्न हुआ) **सोमात्**=सोमसे; **पर्जन्यः**=मेघ उत्पन्न हुए (और मेघोंसे वर्षाद्वारा); **पृथिव्याम्**=पृथ्वीमें; **ओषधयः**=नाना प्रकारकी ओषधियाँ उत्पन्न हुईं; **रेतः**=(ओषधियोंके भक्षणसे उत्पन्न हुए) वीर्यको; **पुमान्**=पुरुष; **योषितायाम्**=स्त्रीमें; **सिञ्चति**=सिंचन करता है (जिससे संतान उत्पन्न होती है); [**एवम्**=इस प्रकार;] **पुरुषात्**=उस परम पुरुषसे ही; **बह्वीः प्रजाः**=नाना प्रकारके जीव; **सम्प्रसूताः**=नियमपूर्वक उत्पन्न हुए हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—जब-जब परमेश्वरसे यह जगत् उत्पन्न होता है, तब-तब सदैव एक प्रकारसे ही होता हो—ऐसा नियम नहीं है । वे जब जैसा संकल्प करते हैं, उसी प्रकार उसी क्रमसे जगत् उत्पन्न हो जाता है । इसी भावको प्रकट करनेके लिये यहाँ प्रकारान्तरसे सृष्टिकी उत्पत्ति बतलायी गयी है । मन्त्रका सरांश यह है कि परब्रह्म पुरुषोत्तमसे सर्वप्रथम तो उनकी अचिन्त्य शक्तिका एक अंश अद्भुत अग्नितत्त्व उत्पन्न हुआ, जिसकी समिधा (इंधन) सूर्य है, अर्थात् जो सूर्यबिम्बके रूपमें

प्रज्वलित रहती है; अग्निसे चन्द्रमा उत्पन्न हुआ; चन्द्रमासे (सूर्यकी रश्मियोंमें सूक्ष्मरूपसे स्थित जलमें कुछ शीतलता आ जानेके कारण) मेघ उत्पन्न हुए। मेघोंसे वर्षाद्वारा पृथ्वीमें नाना प्रकारकी ओषधियाँ उत्पन्न हुईं। उन ओषधियोंके भक्षणसे उत्पन्न हुए वीर्यको जब पुरुष अपनी जातिकी स्त्रीमें सिंचन करता है, तब उससे सन्तान उत्पन्न होती है। इस प्रकार परमपुरुष परमेश्वरसे ये नाना प्रकारके चराचर जीव उत्पन्न हुए हैं ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिका क्रम बतलाकर अब उन सबकी रक्षाके लिये किये जानेवाले यज्ञादि, उनके साधन और फल भी उन्हीं परमेश्वरसे प्रकट होते हैं—यह बात बतायी जाती है—

तस्माद्दचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥ ६ ॥

तस्मात्=उस परमेश्वरसे ही; **ऋचः**=ऋग्वेदकी ऋचाएँ; **साम**=सामवेदके मन्त्र; **यजूंषि**=यजुर्वेदकी श्रुतियाँ; [**च**=और;] **दीक्षा**=दीक्षा; **च**=तथा; **सर्वे**=समस्त; **यज्ञाः**=यज्ञ; **क्रतवः**=क्रतु; **च**=एवं; **दक्षिणाः**=दक्षिणाएँ; **च**=तथा; **संवत्सरः**=संवत्सररूप काल; **यजमानः**=यजमान; **च**=और; **लोकाः**=सब लोक (उत्पन्न हुए हैं); **यत्र**=जहाँ; **सोमः**=चन्द्रमा; **पवते**=प्रकाश फैलाता है (और); **यत्र**=जहाँ; **सूर्यः**=सूर्य; [**पवते**=प्रकाश देता है] ॥ ६ ॥

व्याख्या—उन परमेश्वरसे ही ऋग्वेदकी ऋचाएँ, सामवेदके मन्त्र और यजुर्वेदकी श्रुतियाँ एवं यज्ञादि कर्मोंकी दीक्षा,* सब प्रकारके यज्ञ और क्रतु,†उनमें दी जानेवाली दक्षिणाएँ, जिसमें वे किये जाते हैं—वह संवत्सररूप काल, उनको करनेका अधिकारी यजमान, उनके फलस्वरूप वे सब लोक, जहाँ चन्द्रमा और सूर्य प्रकाश फैलाते हैं,—ये सब उत्पन्न हुए हैं ॥६॥

सम्बन्ध—अब देवादि समस्त प्राणियोंके भेद और सब प्रकारके सदाचार भी उन्हीं ब्रह्मसे उत्पन्न हुए हैं, यह बतलाते हैं—

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ ७ ॥

च=तथा; **तस्मात्**=उसी परमेश्वरसे; **बहुधा**=अनेक भेदोंवाले; **देवाः**=देवतालोग; **सम्प्रसूताः**=उत्पन्न हुए; **साध्याः**=साध्यगण; **मनुष्याः**=मनुष्य; **पशवः वयांसि**=पशु-पक्षी; **प्राणापानौ**=प्राण-अपान वायु; **व्रीहियवौ**=धान, जौ आदि अन्न; **च**=तथा; **तपः**=तप; **श्रद्धा**=श्रद्धा; **सत्यम्**=सत्य (और); **ब्रह्मचर्यम्**=ब्रह्मचर्य; **च**=एवं; **विधिः**=यज्ञ आदिके अनुष्ठानकी विधि भी; [**एते सम्प्रसूताः**=ये सब-के-सब उत्पन्न हुए हैं] ॥ ७ ॥

व्याख्या—उन परब्रह्म परमेश्वरसे ही वसु, रुद्र आदि अनेक भेदोंवाले देवतालोग उत्पन्न हुए हैं। उन्हींसे साध्यगण, नाना प्रकारके मनुष्य, विभिन्न जातियोंके पशु, विविध भाँतिके पक्षी और अन्य सब प्राणी उत्पन्न हुए हैं। सबके जीवनरूप प्राण और अपान तथा सब प्राणियोंके आहाररूप धान, जौ आदि अनेक प्रकारके अन्न भी उन्हींसे उत्पन्न हुए हैं। उन्हींसे तप, श्रद्धा, सत्य और ब्रह्मचर्य प्रकट हुए हैं तथा यज्ञादि कर्म करनेकी विधि भी उन परमेश्वरसे ही प्रकट हुई है। तात्पर्य यह कि सब कुछ उन्हींसे उत्पन्न हुआ है। वे ही सबके परम कारण हैं ॥ ७ ॥

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥ ८ ॥

तस्मात्=उसी परमेश्वरसे; **सप्त**=सात; **प्राणाः**=प्राण; **प्रभवन्ति**=उत्पन्न होते हैं (तथा); **सप्त अर्चिषः**=अग्निकी (काली-कराली आदि) सात लपटें; [**सप्त**] **समिधः**=सात (विषयरूपी) समिधाएँ; **सप्त**=सात प्रकारके; **होमाः**=हवन (तथा); **इमे सप्त लोकाः**=ये सात लोक—इन्द्रियोंके सात द्वार (उसीसे उत्पन्न होते हैं); **येषु**=जिनमें; **प्राणाः**=प्राण;

* शास्त्रविधिके अनुसार किसी यज्ञका आरम्भ करते समय यजमान जो संकल्पके साथ उसके अनुष्ठानसम्बन्धी नियमोंके पालनका व्रत लेता है, उसका नाम 'दीक्षा' है।

† यज्ञ और क्रतु—ये यज्ञके ही दो भेद हैं। जिन यज्ञोंमें यूप बनानेकी विधि है, उन्हें 'क्रतु' कहते हैं।

चरन्ति=विचरते हैं; **गुहाशयाः**=हृदयरूप गुफामें शयन करनेवाले ये; **सप्त सप्त**=सात-सातके समुदाय; **निहिताः**=(उसीके द्वारा) सब प्राणियोंमें स्थापित किये हुए हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या—उन्हीं परमेश्वरसे सात प्राण अर्थात् जिनमें विषयोंको प्रकाशित करनेकी विशेष शक्ति है, ऐसी सात इन्द्रियाँ—कान, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण तथा वाणी एवं मन; * मन और इन्द्रियोंकी मनन करना, सुनना, स्पर्श करना, देखना, स्वाद लेना, सूँघना और बोलना इस प्रकार सात वृत्तियाँ अर्थात् विषय ग्रहण करनेवाली शक्तियाँ; उन इन्द्रियोंके विषयरूप सात समिधाएँ; सात प्रकारका हवन अर्थात् बाह्यविषयरूप समिधाओंका इन्द्रियरूप अग्नियोंमें निक्षेपरूप क्रिया और इन इन्द्रियोंके वासस्थानरूप सात लोक, जिनमें रहकर ये इन्द्रियरूप सात प्राण अपना-अपना कार्य करते हैं,—निद्राके समय मनके साथ एक होकर हृदयरूप गुफामें शयन करनेवाले ये सात-सातके समुदाय परमेश्वरके द्वारा ही समस्त प्राणियोंमें स्थापित किये हैं ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार आध्यात्मिक वस्तुओंकी उत्पत्ति और स्थिति परमेश्वरसे बतलाकर अब बाह्य जगत्की उत्पत्ति भी उसीसे बताते हुए प्रकरणका उपसंहार करते हैं—

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥ ९ ॥

अतः=इसीसे; **सर्वे**=समस्त; **समुद्राः**=समुद्र; **च**=और; **गिरयः**=पर्वत (उत्पन्न हुए हैं); **अस्मात्**=इसीसे (प्रकट होकर); **सर्वरूपाः**=अनेक रूपोंवाली; **सिन्धवः**=नदियाँ; **स्यन्दन्ते**=बहती हैं; **च**=तथा; **अतः**=इसीसे; **सर्वाः**=सम्पूर्ण; **ओषधयः**=ओषधियाँ; **च**=और; **रसः**=रस (उत्पन्न हुए हैं); **येन**=जिस रससे (पुष्ट हुए शरीरोंमें); **हि**=ही; **एषः**=वह; **अन्तरात्मा**=(सबका) अन्तरात्मा (परमेश्वर); **भूतैः**=सब प्राणियों (की आत्मा)के सहित; **तिष्ठते**=(उन-उनके हृदयमें) स्थित है ॥ ९ ॥

व्याख्या—इन्हीं परमेश्वरसे समस्त समुद्र और पर्वत उत्पन्न हुए हैं, इन्हींसे निकलकर अनेक आकारवाली नदियाँ बह रही हैं, इन्हींसे समस्त ओषधियाँ और वह रस भी उत्पन्न हुआ है, जिससे पुष्ट हुए शरीरोंमें वे सबके अन्तरात्मा परमेश्वर उन सब प्राणियोंकी आत्माके सहित उन-उनके हृदयमें रहते हैं ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—उन परमेश्वरसे सबकी उत्पत्ति होनेके कारण सब उन्हींका स्वरूप है, यह कहकर उनको जाननेका फल बताते हुए इस खण्डकी समाप्ति करते हैं—

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् । एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥ १० ॥

तपः=तप; **कर्म**=कर्म (और); **परामृतम्**=परम अमृतरूप; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **इदम्**=यह; **विश्वम्**=सब कुछ; **पुरुषः एव**=परमपुरुष पुरुषोत्तम ही है; **सोम्य**=हे प्रिय; **एतत्**=इस; **गुहायाम्**=हृदयरूप गुफामें; **निहितम्**=स्थित अन्तर्यामी परमपुरुषको; **यः**=जो; **वेद**=जानता है; **सः**=वह; **इह** [**एव**]=यहाँ (इस मनुष्यशरीरमें) ही; **अविद्याग्रन्थिम्**=अविद्याजनित गाँठको; **विकिरति**=खोल डालता है ॥ १० ॥

व्याख्या—तप अर्थात् संयमरूप साधन, कर्म अर्थात् बाह्य साधनोंद्वारा किये जानेवाले कृत्य तथा परम अमृत ब्रह्म—यह सब कुछ परम पुरुष पुरुषोत्तम ही है। प्रिय शौनक! हृदयरूप गुफामें छिपे हुए इन अन्तर्यामी परमेश्वरको जो जान लेता है, वह इस मनुष्यशरीरमें ही अविद्याजनित अन्तःकरणकी गाँठका भेदन कर देता है अर्थात् सब प्रकारके संशय और भ्रमसे रहित होकर परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्राप्त हो जाता है ॥ १० ॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

---

* ब्रह्मसूत्रमें इस विषयपर विचार किया गया है कि यहाँ इन्द्रियाँ सात ही क्यों बतलायी गयी हैं। वहाँ कहा गया है कि इन सातके अतिरिक्त हाथ, पैर, उपस्थ तथा गुदा भी इन्द्रियाँ हैं; अतः मनसहित कुल ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। यहाँ प्रधानतासे सातका वर्णन है (ब्रह्मसूत्र २। ४। ५, ६)।

द्वितीय खण्ड

आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम् । एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥ १ ॥

आविः=(जो) प्रकाशस्वरूप; **सन्निहितम्**=अत्यन्त समीपस्थ; **गुहाचरम् नाम**=(हृदयरूप गुहामें स्थित होनेके कारण) गुहाचर नामसे प्रसिद्ध; **महत् पदम्**=(और) महान् पद (परम प्राप्य) है; **यत्**= जितने भी; **एजत्**= चेष्टा करनेवाले; **प्राणत्**= श्वास लेनेवाले; **च**=और; **निमिषत्**= आँखोंको खोलने-मूँदनेवाले प्राणी हैं; **एतत्**= ये (सब-के-सब); **अत्र**=इसीमें; **समर्पितम्**=समर्पित (प्रतिष्ठित) हैं; **एतत्**= इस परमेश्वरको; **जानथ**= तुमलोग जानो; **यत्**=जो; **सत्**= सत्; **असत्**= (और) असत् है; **वरेण्यम्**=सबके द्वारा वरण करने योग्य (और); **वरिष्ठम्**=अतिशय श्रेष्ठ है (तथा); **प्रजानाम्**= समस्त प्राणियोंकी; **विज्ञानात्**=बुद्धिसे; **परम्**=परे अर्थात् जाननेमें न आनेवाला है ॥ १ ॥

व्याख्या—सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वव्यापी परमेश्वर प्रकाशस्वरूप हैं। समस्त प्राणियोंके अत्यन्त समीप उन्हींके हृदयरूप गुहामें छिपे रहनेके कारण ही ये गुहाचर नामसे प्रसिद्ध हैं। जितने भी हिलने-चलनेवाले, श्वास लेनेवाले और आँख खोलने-मूँदनेवाले प्राणी हैं, उन सबका समुदाय इन्हीं परमेश्वरमें समर्पित अर्थात् स्थित है। सबके आश्रय ये परमात्मा ही हैं। तुम इनको जानो। ये सत् और असत् अर्थात् कार्य और कारण एवं प्रकट और अप्रकट—सब कुछ हैं। सबके द्वारा वरण करने योग्य और अत्यन्त श्रेष्ठ हैं तथा समस्त प्राणियोंकी बुद्धिसे परे अर्थात् बुद्धिद्वारा अज्ञेय हैं ॥ १ ॥

सम्बन्ध—उन्हीं परब्रह्म परमेश्वरको समझानेके लिये पुनः उसके स्वरूपका दूसरे शब्दोंमें वर्णन करते हैं—

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च । तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः । तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ॥ २ ॥

यत्= जो; **अर्चिमत्**= दीप्तिमान् है; **च**= और; **यत्**= जो; **अणुभ्यः**= सूक्ष्मोंसे भी; **अणु**= सूक्ष्म है; **यस्मिन्**= जिसमें; **लोकाः**= समस्त लोक; **च**= और; **लोकिनः**= उन लोकोंमें रहनेवाले प्राणी; **निहिताः**=स्थित हैं; **तत्**= वही; **एतत्**= यह; **अक्षरम्**= अविनाशी; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **सः**= वही; **प्राणः**=प्राण है; **तत् उ**=वही; **वाक्**=वाणी; **मनः**=(और) मन है; **तत्**= वही; **एतत्**= यह; **सत्यम्**=सत्य है; **तत्**=वह; **अमृतम्**=अमृत है; **सोम्य**= हे प्यारे; **तत्**= उस; **वेद्धव्यम्**=बेधने योग्य लक्ष्यको; **विद्धि**= तू बेध ॥ २ ॥

व्याख्या—जो परब्रह्म परमेश्वर अतिशय देदीप्यमान—प्रकाशस्वरूप हैं, जो सूक्ष्मोंसे भी अतिशय सूक्ष्म हैं, जिनमें समस्त लोक और उन लोकोंमें रहनेवाले समस्त प्राणी स्थित हैं अर्थात् ये सब जिनके आश्रित हैं, वे ही परम अक्षर ब्रह्म हैं, वे ही सबके जीवनदाता प्राण हैं, वे ही सबकी वाणी और मन अर्थात् समस्त जगत्के इन्द्रिय और अन्तःकरणरूपमें प्रकट हैं। वे ही यह परम सत्य और अमृत—अविनाशी तत्त्व हैं। प्रिय शौनक ! उस बेधने योग्य लक्ष्यको तू बेध अर्थात् आगे बतायें जानेवाले प्रकारसे साधन करके उसमें तन्मय हो जा ॥ २ ॥

सम्बन्ध—लक्ष्यको बेधनेके लिये धनुष और बाण चाहिये; अतः इस रूपककी पूर्णताके लिये सारी सामग्रीका वर्णन करते हैं—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥ ३ ॥

औपनिषदम्=उपनिषद्में वर्णित प्रणवरूप; **महास्त्रम्**=महान् अस्त्र; **धनुः**=धनुषको; **गृहीत्वा**= लेकर (उसपर); **हि**= निश्चय ही; **उपासानिशितम्**=उपासनाद्वारा तीक्ष्ण किया हुआ; **शरम्**= बाण; **संधयीत**= चढ़ाये; **भावगतेन**=(फिर) भावपूर्ण; **चेतसा**=चित्तके द्वारा; **तत्**=उस बाणको; **आयम्य**=खींचकर; **सोम्य**=हे प्रिय; **तत्**= उस; **अक्षरम्**= परम अक्षर पुरुषोत्तमको; **एव**=ही; **लक्ष्यम्**= लक्ष्य मानकर; **विद्धि**= बेधे ॥ ३ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार किसी बाणको लक्ष्यपर छोड़नेसे पहले उसकी नोकको सानपर धरकर तेज किया जाता है, उसपर चढ़े हुए मोरचे आदिको दूर करके उसे उज्ज्वल एवं चमकीला बनाया जाता है, उसी प्रकार आत्मारूपी बाणको उपासनाद्वारा निर्मल एवं शुद्ध बनाकर उसका प्रणवरूप धनुषपर भलीभाँति संधान करना चाहिये। अर्थात् आत्माको प्रणवके उच्चारण एवं उसके अर्थरूप परमात्माके चिन्तनमें सम्यक् प्रकारसे लगाना चाहिये। इसके अनन्तर जैसे धनुषको पूरी शक्तिसे खींचकर बाणको लक्ष्यपर छोड़ा जाता है, जिससे वह पूरी तरहसे लक्ष्यको बेध सके, उसी प्रकार यहाँ भावपूर्ण चित्तसे ओंकारका अधिक-से-अधिक लंबा उच्चारण एवं उसके अर्थका प्रगाढ़ एवं सुदीर्घ कालतक चिन्तन करनेके लिये कहा गया है, जिससे आत्मा निश्चितरूपसे परमात्मामें प्रवेश कर जाय, उसमें एकीभावसे अविचल स्थिति प्राप्त कर ले। दूसरे शब्दोंमें, ओंकारका प्रेमपूर्वक उच्चारण एवं उसके अर्थरूप परमात्माका प्रगाढ़ चिन्तन ही उनकी प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय है ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—पूर्वमन्त्रमें कहे हुए रूपकको यहाँ स्पष्ट करते हैं—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ ४ ॥

प्रणवः=(यहाँ) ओंकार ही; **धनुः**=धनुष है; **आत्मा**=आत्मा; **हि**=ही; **शरः**=बाण है (और); **ब्रह्म**=परब्रह्म परमेश्वर ही; **तल्लक्ष्यम्**=उसका लक्ष्य; **उच्यते**=कहा जाता है; **अप्रमत्तेन**=(वह) प्रमादरहित मनुष्यद्वारा ही; **वेद्धव्यम्**=बींधा जाने योग्य है (अतः); **शरवत्**=(उसे बेधकर) बाणकी तरह; **तन्मयः**=(उस लक्ष्यमें) तन्मय; **भवेत्**=हो जाना चाहिये ॥ ४ ॥

व्याख्या—ऊपर बतलाये हुए रूपकमें परमेश्वरका वाचक प्रणव (ओंकार) ही मानो धनुष है, यह जीवात्मा ही बाण है और परब्रह्म परमेश्वर ही उसके लक्ष्य हैं। प्रमादरहित तत्परतासे उनकी उपासना करनेवाले साधकद्वारा ही वह लक्ष्य बेधा जा सकता है; इसलिये हे सोम्य ! तुझे पूर्वोक्तरूपसे उस लक्ष्यको बेधकर बाणकी ही भाँति उसमें तन्मय हो जाना चाहिये ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—पुनः परमेश्वरके स्वरूपका वर्णन करते हुए प्रमादरहित और विरक्त होकर उसे जाननेके लिये श्रुति कहती है—

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥ ५ ॥

यस्मिन्=जिसमें; **द्यौः**=स्वर्ग; **पृथिवी**=पृथ्वी; **च**=और; **अन्तरिक्षम्**=उनके बीचका आकाश; **च**=तथा; **सर्वैः प्राणैः सह**=समस्त प्राणोंके सहित; **मनः**=मन; **ओतम्**=गुँथा हुआ है; **तम् एव**=उसी; **एकम्**=एक; **आत्मानम्**=सबके आत्मरूप परमेश्वरको; **जानथ**=जानो; **अन्याः**=दूसरी; **वाचः**=सब बातोंको; **विमुञ्चथ**=सर्वथा छोड़ दो; **एषः**=यही; **अमृतस्य**=अमृतका; **सेतुः**=सेतु है ॥ ५ ॥

व्याख्या—जिन परब्रह्म परमात्मामें स्वर्ग, पृथ्वी तथा उनके बीचका सम्पूर्ण आकाश एवं समस्त प्राण और इन्द्रियोंके सहित मन-बुद्धिरूप अन्तःकरण सब-के-सब ओतप्रोत हैं, उन्हीं एक सर्वात्मा परमेश्वरको तुम पूर्वोक्त उपायके द्वारा जानो; दूसरी सब बातोंको—ग्राम्यचर्चाको सर्वथा छोड़ दो। वे सब तुम्हारे साधनमें विघ्न हैं; अतः उनसे सर्वथा विरक्त होकर साधनमें तत्पर हो जाओ। यही अमृतका सेतु है, अर्थात् संसार-समुद्रसे पार होकर अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त करनेके लिये पुलके सदृश है ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—पुनः परमेश्वरके स्वरूपका वर्णन करते हुए उनकी प्राप्तिका साधन बताते हैं—

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥ ६ ॥

रथनाभौ=रथकी नाभिमें (जुड़े हुए); **अराः इव**=अरोंकी भाँति; **यत्र**=जिसमें; **नाड्यः**=समस्त देहव्यापिनी नाड़ियाँ; **संहताः**=एकत्र स्थित हैं; (उसी हृदयमें) **सः**=वह; **बहुधा**=बहुत प्रकारसे; **जायमानः**=उत्पन्न होनेवाला; **एषः**=यह (अन्तर्यामी परमेश्वर); **अन्तः**=मध्यभागमें; **चरते**=रहता है; [**एनम्**=इस;] **आत्मानम्**=सर्वात्मा परमात्माका; **ओम्**=ओम्; **इति एवम्**=इस नामके द्वारा ही; **ध्यायथ**=ध्यान करो; **तमसः परस्तात्**=अज्ञानमय अन्धकारसे अतीत; **पाराय**=(तथा) भवसागरके अन्तिम तटरूप पुरुषोत्तमकी प्राप्तिके लिये (साधन करनेमें); **वः**=तुमलोगोंका; **स्वस्ति**=कल्याण; [**अस्तु**=हो] ॥ ६ ॥

व्याख्या—'जिस प्रकार रथके पहियेके केन्द्रमें अरे लगे रहते हैं, उसी प्रकार शरीरकी समस्त नाड़ियाँ जिस हृदयदेशमें एकत्र स्थित हैं, उसी हृदयमें नाना रूपसे प्रकट होनेवाले परब्रह्म परमात्मा अन्तर्यामीरूपसे रहते हैं। इन सबके आत्मा पुरुषोत्तमका 'ओम्' इस नामके उच्चारणके साथ-साथ निरन्तर ध्यान करते रहो। इस प्रकार परमात्माके 'ओम्' इस नामका जप और उसके अर्थभूत परमात्माका ध्यान करते रहनेसे तुम उन परमात्माको प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाओगे, जो अज्ञानरूप अन्धकारसे सर्वथा अतीत और संसार-समुद्रके दूसरे पार हैं। तुम्हारा कल्याण हो।' इस प्रकार आचार्य उपर्युक्त विधिसे साधन करनेवाले शिष्योंको आशीर्वाद देते हैं ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—पुनः परमेश्वरके स्वरूपका ही वर्णन करते हैं—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि ।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥
मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ ७ ॥

यः सर्वज्ञः=जो सर्वदा जाननेवाला (और); **सर्ववित्**=सब ओरसे सबको जाननेवाला है; **यस्य**=जिसकी; **भुवि**=जगत्में; **एषः**=यह; **महिमा**=महिमा है; **एषः हि आत्मा**=यह प्रसिद्ध सबका आत्मा परमेश्वर; **दिव्ये व्योम्नि**=दिव्य आकाशरूप; **ब्रह्मपुरे**=ब्रह्मलोकमें; **प्रतिष्ठितः**=स्वरूपसे स्थित है; **प्राणशरीरनेता**=सबके प्राण और शरीरका नेता; **मनोमयः**=(यह परमात्मा मनमें व्याप्त होनेके कारण) मनोमय है; **हृदयं संनिधाय**=(यही) हृदयकमलका आश्रय लेकर; **अन्ने**=अन्नमय स्थूल शरीरमें; **प्रतिष्ठितः**=प्रतिष्ठित है; **यत्**=जो; **आनन्दरूपम्**=आनन्दस्वरूप; **अमृतम्**=अविनाशी परब्रह्म; **विभाति**=सर्वत्र प्रकाशित है; **धीराः**=बुद्धिमान् मनुष्य; **विज्ञानेन**=विज्ञानके द्वारा; **तत्**=उसको; **परिपश्यन्ति**=भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लेते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या—जो परब्रह्म परमेश्वर सर्वज्ञ—सर्वदा जाननेवाले और सब ओरसे सबको भलीभाँति जाननेवाले हैं, अर्थात् जिनकी ज्ञानशक्ति देश-कालसे बाधित नहीं है, जिनकी यह आश्चर्यमयी महिमा जगत्में प्रकट है, वे सबके आत्मा परमेश्वर परम व्योम नामसे प्रसिद्ध दिव्य आकाशरूप ब्रह्मलोकमें स्वरूपसे स्थित हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके प्राण और शरीरका नियमन करनेवाले ये परमेश्वर मनमें व्याप्त होनेके कारण मनोमय कहलाते हैं और सब प्राणियोंके हृदयकमलका आश्रय लेकर अन्नमय स्थूलशरीरमें प्रतिष्ठित हैं। बुद्धिमान् मनुष्य विज्ञानद्वारा उन परब्रह्मको भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लेते हैं, जो आनन्दमय अविनाशीरूपसे सर्वत्र प्रकाशित हैं ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अब परमात्माके ज्ञानका फल बताते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ ८ ॥

तस्मिन् परावरे दृष्टे=कार्यकारणस्वरूप उस परात्पर पुरुषोत्तमको तत्त्वसे जान लेनेपर; **अस्य हृदयग्रन्थिः**=इस (जीवात्मा) के हृदयकी गाँठ; **भिद्यते**=खुल जाती है; **सर्वसंशयाः**=सम्पूर्ण संशय; **छिद्यन्ते**=कट जाते हैं; **च**=और; **कर्माणि**=समस्त शुभाशुभ कर्म; **क्षीयन्ते**=नष्ट हो जाते हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या—कार्य और कारणस्वरूप उन परात्पर परब्रह्म पुरुषोत्तमको तत्त्वसे जान लेनेपर इस जीवके हृदयकी

अविद्यारूप गाँठ खुल जाती है, जिसके कारण इसने इस जड शरीरको ही अपना स्वरूप मान रक्खा है। इतना ही नहीं, इसके समस्त संशय सर्वथा कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् यह जीव सब बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त होकर परमानन्दस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—उन परब्रह्मके स्थान और स्वरूपका वर्णन करते हुए उन्हें जाननेका महत्त्व बताते हैं—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥ ९ ॥

तत्=वह; **विरजम्**=निर्मल; **निष्कलम्**=अवयवरहित; **ब्रह्म**=परब्रह्म; **हिरण्मये परे कोशे**=प्रकाशमय परम कोशमें—परमधाममें (विराजमान है); **तत्**=वह; **शुभ्रम्**=सर्वथा विशुद्ध; **ज्योतिषाम्**=समस्त ज्योतियोंकी भी; **ज्योतिः**=ज्योति है; **यत्**=जिसको; **आत्मविदः**=आत्मज्ञानी; **विदुः**=जानते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या—वे निर्मल—निर्विकार और अवयवरहित—अखण्ड परमात्मा प्रकाशमय परमधाममें विराजमान हैं; वे सर्वथा विशुद्ध और समस्त प्रकाशयुक्त पदार्थोंके भी प्रकाशक हैं तथा उन्हें आत्मज्ञानी महात्माजन ही जानते हैं ॥ ९ ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१०॥

तत्र=वहाँ; **न**=न (तो); **सूर्यः**=सूर्य; **भाति**=प्रकाशित होता है; **न**=न; **चन्द्रतारकम्**=चन्द्रमा और तारागण ही; **न**=(तथा) न; **इमाः**=ये; **विद्युतः**=बिजलियाँ ही; **भान्ति**=(वहाँ) कौंधती हैं; **अयम् अग्निः कुतः**=फिर इस अग्निके लिये तो कहना ही क्या है; **तम् भान्तम् एव**=(क्योंकि) उसके प्रकाशित होनेपर ही (उसीके प्रकाशसे); **सर्वम्**=सब; **अनुभाति**=प्रकाशित होते हैं; **तस्य**=उसीके; **भासा**=प्रकाशसे; **इदम् सर्वम्**=यह सम्पूर्ण जगत्; **विभाति**=प्रकाशित होता है ॥ १० ॥

व्याख्या—उन स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरके समीप यह सूर्य नहीं प्रकाशित होता। जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश प्रकट होनेपर खद्योतका प्रकाश लुप्त हो जाता है, वैसे ही सूर्यका आंशिक तेज भी उस असीम तेजके सामने लुप्त हो जाता है। चन्द्रमा, तारागण और बिजली भी वहाँ नहीं चमकते; फिर इस लौकिक अग्निकी तो बात ही क्या है। क्योंकि प्राकृत जगत्में जो कुछ भी तत्त्व प्रकाशशील हैं, सब उन परब्रह्म परमेश्वरकी प्रकाश-शक्तिके अंशको पाकर ही प्रकाशित हैं। वे अपने प्रकाशकके समीप अपना प्रकाश कैसे फैला सकते हैं। सारांश यह कि यह सम्पूर्ण जगत् उन जगदात्मा पुरुषोत्तमके प्रकाशसे अथवा उस प्रकाशके एक क्षुद्रतम अंशसे प्रकाशित हो रहा है ॥ १० ॥

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्माद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥११॥

इदम्=यह; **अमृतम्**=अमृतस्वरूप; **ब्रह्म**=परब्रह्म; **एव**=ही; **पुरस्तात्**=सामने है; **ब्रह्म**=ब्रह्म ही; **पश्चात्**=पीछे है; **ब्रह्म**=ब्रह्म ही; **दक्षिणतः**=दायीं ओर; **च**=तथा; **उत्तरेण**=बायीं ओर; **अधः**=नीचेकी ओर; **च**=तथा; **ऊर्ध्वम्**=ऊपरकी ओर; **च**=भी; **प्रसृतम्**=फैला हुआ है; **इदम् [यद्]**=यह जो; **विश्वम्**=सम्पूर्ण जगत् है; **इदम्**=यह; **वरिष्ठम्**=सर्वश्रेष्ठ; **ब्रह्म एव**=ब्रह्म ही है ॥ ११ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें परमात्माकी सर्वव्यापकता और सर्वरूपताका प्रतिपादन किया गया है। सारांश यह कि ये अमृतस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही आगे-पीछे, दायें-बायें, बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे—सर्वत्र फैले हुए हैं; इस विश्व-ब्रह्माण्डके रूपमें ये सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही प्रत्यक्ष दिखायी दे रहे हैं ॥ ११ ॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥ २ ॥
॥ द्वितीय मुण्डक समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय मुण्डक

प्रथम खण्ड

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ १ ॥

सयुजा=एक साथ रहनेवाले (तथा); **सखाया**=परस्पर सखाभाव रखनेवाले; **द्वा**=दो; **सुपर्णा**=पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा); **समानम् वृक्षम् परिषस्वजाते**=एक ही वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर रहते हैं; **तयोः**=उन दोनोंमेंसे; **अन्यः**=एक तो; **पिप्पलम्**=उस वृक्षके कर्मरूप फलोंका; **स्वादु**=स्वाद ले-लेकर; **अत्ति**=उपभोग करता है (किंतु); **अन्यः**=दूसरा; **अनश्नन्**=न खाता हुआ; **अभिचाकशीति**=केवल देखता रहता है ॥ १ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार गीतामें जगत्का अश्वत्थ (पीपल) वृक्षके रूपमें वर्णन किया गया है, उसी प्रकार इस मन्त्रमें शरीरको पीपलके वृक्षका और जीवात्मा तथा परमात्माको पक्षियोंका रूप देकर वर्णन किया गया है । इसी तरहका वर्णन कठोपनिषद्में भी गुहामें प्रविष्ट छाया और धूपके नामसे आया है । भाव दोनों जगह प्रायः एक ही है । मन्त्रका सारांश यह है कि यह मनुष्य-शरीर मानो एक वृक्ष है । ईश्वर और जीव—ये सदा साथ रहनेवाले दो मित्र पक्षी हैं । ये इस शरीररूप वृक्षमें एक साथ एक ही हृदयरूप घोंसलेमें निवास करते हैं । इन दोनोंमें एक—जीवात्मा तो उस वृक्षके फलरूप अपने कर्म-फलोंको अर्थात् प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए सुख-दुःखोंको आसक्ति एवं द्वेषपूर्वक भोगता है और दूसरा—ईश्वर उन कर्म-फलोंसे किसी प्रकारका किञ्चित् भी सम्बन्ध न जोड़कर केवल देखता रहता है ॥ १ ॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ २ ॥

समाने वृक्षे=पूर्वोक्त शरीररूपी समान वृक्षपर (रहनेवाला); **पुरुषः**=जीवात्मा; **निमग्नः**=(शरीरकी गहरी आसक्तिमें) डूबा हुआ है; **अनीशया**=असमर्थतारूप दीनताका अनुभव करता हुआ; **मुह्यमानः**=मोहित होकर; **शोचति**=शोक करता रहता है; **यदा**=जब कभी (भगवान्की अहैतुकी दयासे); **जुष्टम्**=(भक्तोंद्वारा नित्य) सेवित (तथा); **अन्यम्**=अपनेसे भिन्न; **ईशम्**=परमेश्वरको (और); **अस्य महिमानम्**=उनकी महिमाको; **पश्यति**=यह प्रत्यक्ष कर लेता है; **इति**=तब; **वीतशोकः**=सर्वथा शोकरहित हो जाता है ॥ २ ॥

व्याख्या—पहले वर्णन किये हुए शरीररूप एक ही वृक्षपर हृदयरूप घोंसलेमें रहनेवाला यह जीवात्मा जबतक अपने साथ रहनेवाले उन परम सुहृद् परमेश्वरकी ओर नहीं देखता, शरीरमें ही आसक्त होकर इसीमें निमग्न हुआ रहता है अर्थात् शरीरमें अतिशय ममता करके उसके द्वारा भोगोंके भोगनेमें ही रचा-पचा रहता है, तबतक असमर्थतारूप दीनतासे मोहित होकर वह नाना प्रकारके दुःख भोगता रहता है । जब कभी भगवान्की निर्हैतुकी दयासे अपनेसे भिन्न, नित्य अपने ही समीप रहनेवाले, परम सुहृद्, परमप्रिय और भक्तोंद्वारा सेवित ईश्वरको और उनकी आश्चर्यमयी महिमाको, जो जगत्में सर्वत्र भिन्न-भिन्न प्रकारसे प्रकट हो रही है, प्रत्यक्ष कर लेता है, तब तत्काल ही वह सर्वथा शोकरहित हो जाता है ॥ २ ॥

सम्बन्ध—ईश्वरके स्वरूपका वर्णन करते हुए उन्हें जान लेनेका फल बताते हैं—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ ३ ॥

यदा=जब; **पश्यः**=यह द्रष्टा (जीवात्मा); **ईशम्**=सबके शासक; **ब्रह्मयोनिम्**=ब्रह्माके भी आदि कारण; **कर्तारम्**=सम्पूर्ण जगत्के रचयिता; **रुक्मवर्णम्**=दिव्य प्रकाशस्वरूप; **पुरुषम्**=परमपुरुषको; **पश्यते**=प्रत्यक्ष कर

लेता है; **तदा**=उस समय; **पुण्यपापे**=पुण्य-पाप दोनोंको; **विधूय**=भलीभाँति हटाकर; **निरञ्जनः**=निर्मल हुआ; **विद्वान्**=वह ज्ञानी महात्मा; **परमम्**=सर्वोत्तम; **साम्यम्**=समताको; **उपैति**=प्राप्त कर लेता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—पूर्वोक्त प्रकारसे परमेश्वरकी आश्चर्यमयी महिमाकी ओर दृष्टिपात करके उनके सम्मुख जानेवाला द्रष्टा (जीवात्मा) जब सबके नियन्ता, ब्रह्माके भी आदि कारण, सम्पूर्ण जगत्‌की रचना करनेवाले, दिव्य प्रकाश-स्वरूप परमपुरुष परमेश्वरका साक्षात् कर लेता है, उस समय वह अपने समस्त पुण्य-पापरूप कर्मोंका समूल नाशकर उनसे सर्वथा सम्बन्धरहित होकर परम निर्मल हुआ ज्ञानी भक्त सर्वोत्तम समताको प्राप्त हो जाता है। गीताके बारहवें अध्यायमें श्लोक १३ से १९ तक इस समताका कई प्रकारसे वर्णन किया गया है ॥ ३ ॥

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ ४ ॥

एषः=यह (परमेश्वर); **हि**=ही; **प्राणः**=प्राण है; **यः**=जो; **सर्वभूतैः**= सब प्राणियोंके द्वारा; **विभाति**=प्रकाशित हो रहा है; **विजानन्**=(इसको) जाननेवाला; **विद्वान्**=ज्ञानी; **अतिवादी**=अभिमानपूर्वक बढ़-बढ़कर बातें करनेवाला; **न भवते**=नहीं होता (किंतु वह); **क्रियावान्**=यथायोग्य भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करता हुआ; **आत्मक्रीडः**=सबके आत्मरूप अन्तर्यामी परमेश्वरमें क्रीडा करता रहता है (और); **आत्मरतिः**=सबके आत्मा अन्तर्यामी परमेश्वरमें ही रमण करता रहता है; **एषः**=यह (ज्ञानी भक्त); **ब्रह्मविदाम्**=ब्रह्मवेत्ताओंमें भी; **वरिष्ठः**= श्रेष्ठ है ॥ ४ ॥

व्याख्या—ये सर्वव्यापी परमेश्वर ही सबके प्राण हैं; जिस प्रकार शरीरकी सारी चेष्टाएँ प्राणके द्वारा होती हैं, उसी प्रकार इस विश्वमें भी जो कुछ हो रहा है, परमात्माकी शक्तिसे ही हो रहा है। समस्त प्राणियोंमें भी उन्हींका प्रकाश है, वे ही उन प्राणियोंके द्वारा प्रकाशित हो रहे हैं। इस बातको समझनेवाला ज्ञानी भक्त कभी बढ़-बढ़कर बातें नहीं करता। क्योंकि वह जानता है कि उसके अंदर भी उन सर्वव्यापक परमात्माकी ही शक्ति अभिव्यक्त है; फिर वह किस बातपर अभिमान करे। वह तो लोकसंग्रहके लिये भगवदाज्ञानुसार अपने वर्ण, आश्रमके अनुकूल कर्म करता हुआ सबके आत्मा अन्तर्यामी भगवान्‌में ही क्रीड़ा करता है। वह सदा भगवान्‌में ही रमण करता है। ऐसा यह भगवान्‌का ज्ञानी भक्त ब्रह्मवेत्ताओंमें भी अति श्रेष्ठ है। गीतामें भी सबको वासुदेवरूप देखनेवाले ज्ञानी भक्तको महात्मा और सुदुर्लभ बताया गया है (७। १९) ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—उन परमात्माकी प्राप्तिके साधन बताते हैं—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ ५ ॥

एषः=यह; **अन्तःशरीरे हि**=शरीरके भीतर ही (हृदयमें विराजमान); **ज्योतिर्मयः**=प्रकाशस्वरूप (और); **शुभ्रः**=परम विशुद्ध; **आत्मा**=परमात्मा; **हि**=निस्संदेह; **सत्येन**=सत्य-भाषण; **तपसा**=तप (और); **ब्रह्मचर्येण**=ब्रह्मचर्य-पूर्वक; **सम्यग्ज्ञानेन**=यथार्थ ज्ञानसे ही; **नित्यम्**=सदा; **लभ्यः**=प्राप्त होनेवाला है; **यम्**=जिसे; **क्षीणदोषाः**=सब प्रकारके दोषोंसे रहित हुए; **यतयः**=यत्नशील साधक ही; **पश्यन्ति**=देख पाते हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—सबके शरीरके भीतर हृदयमें विराजमान परम विशुद्ध प्रकाशमय ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा, जिनको सब प्रकारके दोषोंसे रहित हुए प्रयत्नशील साधक ही जान सकते हैं, सदैव सत्य-भाषण, तपश्चर्या, संयम और स्वार्थत्याग तथा ब्रह्मचर्यके पालनसे उत्पन्न यथार्थ ज्ञानद्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं। इनसे रहित होकर जो भोगोंमें आसक्त हैं, भोगोंकी प्राप्तिके लिये नाना प्रकारके मिथ्याभाषण करते हैं और आसक्तिवश नियमपूर्वक अपने वीर्यकी रक्षा नहीं कर सकते, वे स्वार्थपरायण अविवेकी मनुष्य उन परमात्माका अनुभव नहीं कर सकते; क्योंकि वे उनको चाहते ही नहीं ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—पूर्वोक्त साधनोंमेंसे सत्यकी महिमा बताते हैं—

सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥ ६ ॥

सत्यम्=सत्य; **एव**=ही; **जयति**=विजयी होता है; **अनृतम्**=झूठ; **न**=नहीं; **हि**=क्योंकि; **देवयानः**=वह देवयान नामक; **पन्थाः**=मार्ग; **सत्येन**=सत्यसे; **विततः**=परिपूर्ण है; **येन**=जिससे; **आप्तकामाः**=पूर्णकाम; **ऋषयः**=ऋषिलोग (वहाँ); **आक्रमन्ति**=गमन करते हैं; **यत्र**=जहाँ; **तत्**=वह; **सत्यस्य**=सत्यस्वरूप परब्रह्म परमात्माका; **परमम्**=उत्कृष्ट; **निधानम्**=धाम है ॥ ६ ॥

व्याख्या—सत्यकी ही विजय होती है, झूठकी नहीं। अभिप्राय यह है कि परमात्मा सत्यस्वरूप हैं; अतः उनकी प्राप्तिके लिये मनुष्यमें सत्यकी प्रतिष्ठा होनी चाहिये। परमात्मप्राप्तिके लिये तो सत्य अनिवार्य साधन है ही; जगत्‌में दूसरे सब कार्योंमें भी अन्ततः सत्यकी ही विजय होती है, झूठकी नहीं। जो लोग मिथ्या-भाषण, दम्भ और कपटसे उन्नतिकी आशा रखते हैं, वे अन्तमें बुरी तरहसे निराश होते हैं। मिथ्या-भाषण और मिथ्या आचरणोंमें भी जो सत्यका आभास है, जिसके कारण दूसरे लोग उसे किसी अंशमें सत्य मान लेते हैं, उसीसे कुछ क्षणिक लाभ-सा हो जाता है। परंतु उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। अन्तमें सत्य सत्य ही रहता है और झूठ झूठ ही। इसीसे बुद्धिमान् मनुष्य सत्यभाषण और सदाचारको ही अपनाते हैं, झूठको नहीं; क्योंकि जिनकी भोग-वासना नष्ट हो गयी है, ऐसे पूर्णकाम ऋषिलोग जिस मार्गसे वहाँ पहुँचते हैं, जहाँ इस सत्यके परमाधार परब्रह्म परमात्मा स्थित हैं, वह देवयान मार्ग अर्थात् उन परमदेव परमात्माको प्राप्त करनेका साधनरूप मार्ग सत्यसे ही परिपूर्ण है; उसमें असत्य-भाषण और दम्भ, कपट आदि असत् आचरणोंके लिये स्थान नहीं है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त साधनोंसे प्राप्त होनेवाले परमात्माके स्वरूपका पुनः वर्णन करते हैं—

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥ ७ ॥

तत्=वह परब्रह्म; **बृहत्**=महान्; **दिव्यम्**=दिव्य; **च**=और; **अचिन्त्यरूपम्**=अचिन्त्यस्वरूप है; **च**=तथा; **तत्**=वह; **सूक्ष्मात्**=सूक्ष्मसे भी; **सूक्ष्मतरम्**=अत्यन्त सूक्ष्मरूपमें; **विभाति**=प्रकाशित होता है; **तत्**=(तथा) वह; **दूरात्**=दूरसे भी; **सुदूरे**=अत्यन्त दूर है; **च**=और; **इह**=इस (शरीर) में रहकर; **अन्तिके च**=अति समीप भी है; **इह**=यहाँ; **पश्यत्सु**=देखनेवालोंके भीतर; **एव**=ही; **गुहायाम्**=उनकी हृदयरूपी गुफामें; **निहितम्**=स्थित है ॥ ७ ॥

व्याख्या—वे परब्रह्म परमात्मा सबसे महान्, दिव्य—अलौकिक और अचिन्त्यस्वरूप हैं अर्थात् उनका स्वरूप मनके द्वारा चिन्तनमें आनेवाला नहीं है। अतः मनुष्यको श्रद्धापूर्वक परमात्माकी प्राप्तिके पूर्वकथित साधनोंमें लगे रहना चाहिये। साधन करते-करते वे परमात्मा अचिन्त्य एवं सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म होनेपर भी स्वयं अपने स्वरूपको हृदयमें प्रकाशित कर देते हैं। परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण हैं; ऐसा कोई भी स्थान नहीं, जहाँ वे न हों। अतः वे दूरसे भी दूर हैं, अर्थात् जहाँतक हमलोग दूरका अनुभव करते हैं, वहाँ भी वे हैं और निकटसे भी निकट, यहीं अपने भीतर ही हैं। अधिक क्या, देखनेवालोंमें ही उनके हृदयरूप गुफामें छिपे हुए हैं। अतः उन्हें खोजनेके लिये कहीं दूसरी जगह जानेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ७ ॥

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥ ८ ॥

न चक्षुषा=(वह परमात्मा) न तो नेत्रोंसे; **न वाचा**=न वाणीसे (और); **न अन्यैः**=न दूसरी; **देवैः**=इन्द्रियोंसे; **अपि**=ही; **गृह्यते**=ग्रहण करनेमें आता है (तथा); **तपसा**=तपसे; **वा**=अथवा; **कर्मणा**=कर्मोंसे भी (वह); [**न गृह्यते**=ग्रहण नहीं किया जा सकता;] **तम्**=उस; **निष्कलम्**=अवयवरहित (परमात्मा) को; **तु**=तो; **विशुद्धसत्त्वः**=विशुद्ध अन्तःकरणवाला (साधक); **ततः**=उस विशुद्ध अन्तःकरणसे; **ध्यायमानः**=(निरन्तर उसका) ध्यान करता हुआ ही; **ज्ञानप्रसादेन**=ज्ञानकी निर्मलतासे; **पश्यते**=देख पाता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—उन परब्रह्मको मनुष्य इन आँखोंसे नहीं देख सकता; इतना ही नहीं, वाणी आदि अन्य इन्द्रियोंद्वारा भी वे पकड़में नहीं आ सकते। तथा नाना प्रकारकी तपश्चर्या और कर्मोंके द्वारा भी मनुष्य उन्हें नहीं पा सकता। उन अवयवरहित परम विशुद्ध परमात्माको तो मनुष्य सब भोगोंसे मुख मोड़कर, निःस्पृह होकर विशुद्ध अन्तःकरणके द्वारा निरन्तर एकमात्र उन्हींका ध्यान करते-करते ज्ञानकी निर्मलतासे ही देख सकता है। अतः जो उन परमात्माको पाना चाहे, उसे उचित है कि संसारके भोगोंसे सर्वथा विरक्त होकर उन सबकी कामनाका त्याग करके एकमात्र परब्रह्म परमात्माको ही पानेके लिये उन्हींके चिन्तनमें निमग्न हो जाय॥ ८॥

सम्बन्ध—जब वे परब्रह्म परमात्मा सबके हृदयमें रहते हैं, तब सभी जीव उन्हें क्यों नहीं जानते? शुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष ही क्यों जानता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥ ९॥

यस्मिन्=जिसमें; **पञ्चधा**=पाँच भेदोंवाला; **प्राणः**=प्राण; **संविवेश**=भलीभाँति प्रविष्ट है (उसी शरीरमें रहनेवाला); **एषः**=यह; **अणुः**=सूक्ष्म; **आत्मा**=आत्मा; **चेतसा**=मनसे; **वेदितव्यः**=जाननेमें आनेवाला है; **प्रजानाम्**=प्राणियोंका (वह); **सर्वम्**=सम्पूर्ण; **चित्तम्**=चित्त; **प्राणैः**=प्राणोंसे; **ओतम्**=व्याप्त है; **यस्मिन् विशुद्धे**=जिस अन्तःकरणके विशुद्ध होनेपर; **एषः**=यह; **आत्मा**=आत्मा; **विभवति**=सब प्रकारसे समर्थ होता है॥ ९॥

व्याख्या—जिस शरीरमें प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान—इन पाँच भेदोंवाला प्राण प्रविष्ट होकर उसे चेष्टायुक्त कर रहा है, उसी शरीरके भीतर हृदयके मध्यभागमें मनद्वारा ज्ञातारूपसे जाननेमें आनेवाला यह सूक्ष्म जीवात्मा भी रहता है। परंतु समस्त प्राणियोंके समस्त अन्तःकरण प्राणोंसे ओतप्रोत हो रहे हैं, अर्थात् इन प्राण और इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिये उत्पन्न हुई नाना प्रकारकी भोगवासनाओंसे मलिन और क्षुब्ध हो रहे हैं; इस कारण सब लोग परमात्माको नहीं जान पाते। अन्तःकरणके विशुद्ध होनेपर ही यह जीवात्मा सब प्रकारसे समर्थ होता है। अतः यदि भोगोंसे विरक्त होकर यह परमात्माके चिन्तनमें लग जाता है, तब तो परमात्माको प्राप्त कर लेता है; और यदि भोगोंकी कामना करता है तो इच्छित भोगोंको प्राप्त कर लेता है॥ ९॥

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः॥१०॥

विशुद्धसत्त्वः=विशुद्ध अन्तःकरणवाला (मनुष्य); **यम् यम्**=जिस-जिस; **लोकम्**=लोकको; **मनसा**=मनसे; **संविभाति**=चिन्तन करता है; **च**=तथा; **यान् कामान् कामयते**=जिन भोगोंकी कामना करता है; **तम् तम्**=उन-उन; **लोकम्**=लोकोंको; **जयते**=जीत लेता है; **च**=और; **तान् कामान्**=उन (इच्छित) भोगोंको भी; [**जयते**=प्राप्त कर लेता है;] **तस्मात् ह्**=इसीलिये; **भूतिकामः**=ऐश्वर्यकी कामनावाला मनुष्य; **आत्मज्ञम्**=शरीरसे भिन्न आत्माको जाननेवाले महात्माका; **अर्चयेत्**=सत्कार करे॥ १०॥

व्याख्या—विशुद्ध अन्तःकरणवाला मनुष्य यदि भोगोंसे सर्वथा विरक्त होकर उस निर्मल अन्तःकरणद्वारा निरन्तर परब्रह्म परमेश्वरका ध्यान करता है—तब तो उन्हें प्राप्त कर लेता है, यह बात आठवें मन्त्रमें कही जा चुकी है; परंतु यदि वह सर्वथा निष्काम नहीं होता तो जिस-जिस लोकका मनसे चिन्तन करता है तथा जिन-जिन भोगोंको चाहता है, उन-उन लोकोंको ही जीतता है—उन्हीं लोकोंमें जाता है तथा उन-उन भोगोंको ही प्राप्त करता है; इसलिये ऐश्वर्यकी कामनावाले मनुष्यको शरीरसे भिन्न आत्माको जाननेवाले विशुद्ध अन्तःकरणयुक्त विवेकी पुरुषकी सेवा-पूजा (आदर-सत्कार) करनी चाहिये; क्योंकि वह अपने लिये और दूसरोंके लिये भी जो-जो कामना करता है, वह पूर्ण हो जाती है॥ १०॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त॥ १॥

द्वितीय खण्ड

सम्बन्ध—पूर्व प्रकरणमें विशुद्ध अन्तःकरणवाले साधककी सामर्थ्यका वर्णन करनेके लिये प्रसङ्गवश कामनाओंकी पूर्तिकी बात आ गयी थी; अतः निष्कामभावकी प्रशंसा और सकामभावकी निन्दा करते हुए पुनः प्रकरण आरम्भ करते हैं—

स वेदैतत्परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥ १॥

सः=वह (निष्काम भाववाला पुरुष); **एतत्**=इस; **परमम्**=परम; **शुभ्रम्**=विशुद्ध (प्रकाशमान); **ब्रह्मधाम**=ब्रह्मधामको; **वेद**=जान लेता है; **यत्र**=जिसमें; **विश्वम्**=सम्पूर्ण जगत्; **निहितम्**=स्थित हुआ; **भाति**=प्रतीत होता है; **ये हि**=जो भी कोई; **अकामाः**=निष्काम साधक; **पुरुषम् उपासते**=परम पुरुषकी उपासना करते हैं; **ते**=वे; **धीराः**=बुद्धिमान्; **शुक्रम्**=रजोवीर्यमय; **एतत्**=इस जगत्को; **अतिवर्तन्ति**=अतिक्रमण कर जाते हैं॥ १॥

व्याख्या—थोड़ा-सा विचार करनेपर प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्यकी समझमें यह बात आ जाती है कि इस प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले जगत्के रचयिता और परमाधार कोई एक परमेश्वर अवश्य हैं। इस प्रकार जिनमें यह सम्पूर्ण जगत् स्थित हुआ प्रतीत होता है, उन परम विशुद्ध प्रकाशमय धामस्वरूप परब्रह्म परमात्माको समस्त भोगोंकी कामनाका त्याग करके निरन्तर उनका ध्यान करनेवाला साधक जान लेता है। यह बात निश्चित है कि जो मनुष्य उन परम पुरुष परमात्माकी उपासना करते, एकमात्र उन्हींको चाहते हैं, वे इस रजोवीर्यमय (भोगमय) जगत्को लाँघ जाते हैं, किसी प्रकारके भोगोंमें उनका मन नहीं अटकता, वे सर्वथा पूर्ण निष्काम होकर रहते हैं। इसीलिये उन्हें बुद्धिमान् कहा गया है; क्योंकि जो सार वस्तुके लिये असारको त्याग दे, वही बुद्धिमान् है* ॥ १॥

सम्बन्ध—अब सकाम पुरुषकी निन्दा करते हुए ऊपर कही हुई बातको स्पष्ट करते हैं—

कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्विहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥ २॥

यः=जो; **कामान्**=भोगोंको; **मन्यमानः**=आदर देनेवाला मानव; **कामयते**=(उनकी) कामना करता है; **सः**=वह; **कामभिः**=उन कामनाओंके कारण; **तत्र तत्र**=उन-उन स्थानोंमें; **जायते**=उत्पन्न होता है (जहाँ वे उपलब्ध हो सकें); **तु**=परंतु; **पर्याप्तकामस्य**=जो पूर्णकाम हो चुका है, उस; **कृतात्मनः**=विशुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुषकी; **सर्वे**=सम्पूर्ण; **कामाः**=कामनाएँ; **इह एव**=यहीं; **प्रविलीयन्ति**=सर्वथा विलीन हो जाती हैं॥ २॥

व्याख्या—जो भोगोंको आदर देनेवाला है, जिसकी दृष्टिमें इस लोक और परलोकके भोग सुखके हेतु हैं, वही भोगोंकी कामना करता है और नाना प्रकारकी कामनाओंके कारण ही जहाँ-जहाँ भोग उपलब्ध हो सकते हैं, वहाँ-वहाँ कर्मानुसार उत्पन्न होता है; परंतु जो भगवान्को चाहनेवाले भगवान्के प्रेमी भक्त पूर्णकाम हो गये हैं, इस जगत्के भोगोंसे ऊब गये हैं, उन विशुद्ध अन्तःकरणवाले भक्तोंकी समस्त कामनाएँ इस शरीरमें ही विलीन हो जाती हैं। स्वप्नमें भी उनकी दृष्टि भोगोंकी ओर नहीं जाती। फलतः उन्हें शरीर छोड़नेपर नवीन जन्म नहीं धारण करना पड़ता। वे भगवान्को पाकर जन्म-मृत्युके बन्धनसे सदाके लिये छूट जाते हैं॥ २॥

---

* एक आदरणीय महानुभावने यह अर्थ किया है—

'वह (आत्मज्ञ) समस्त कामनाओंके उत्कृष्ट आश्रयभूत उस ब्रह्मको जानता है, जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् अर्पित है और जो स्वयं शुद्धरूपसे प्रकाशित हो रहा है। उस इस प्रकारके आत्मज्ञ पुरुषकी भी जो लोग निष्काम भावसे मुमुक्षु होकर परमदेवके समान उपासना करते हैं, वे बुद्धिमान् पुरुष शरीरके उपादान कारणरूप मनुष्यदेहके बीजको अतिक्रमण कर जाते हैं अर्थात् फिर योनिमें प्रवेश नहीं करते.....।'

सम्बन्ध—पहले दो मन्त्रोंमें भगवान्‌के परम दुलारे जिन प्रेमी भक्तोंका वर्णन किया गया है, उन्हींको वे सर्वात्मा परब्रह्म पुरुषोत्तम दर्शन देते हैं—यह बात अब अगले मन्त्रमें कहते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥ ३ ॥

अयम्=यह; **आत्मा**=परब्रह्म परमात्मा; **न प्रवचनेन**=न तो प्रवचनसे; **न मेधया**=न बुद्धिसे (और); **न बहुना श्रुतेन**=न बहुत सुननेसे ही; **लभ्यः**=प्राप्त हो सकता है; **एषः**=यह; **यम्**=जिसको; **वृणुते**=स्वीकार कर लेता है; **तेन एव**=उसके द्वारा ही; **लभ्यः**=प्राप्त किया जा सकता है; (क्योंकि) **एषः**=यह; **आत्मा**=परमात्मा; **तस्य**=उसके लिये; **स्वाम् तनुम्**=अपने यथार्थ स्वरूपको; **विवृणुते**=प्रकट कर देता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें यह बात समझायी गयी है कि वे परमात्मा न तो उनको मिलते हैं, जो शास्त्रोंको पढ़-सुनकर लच्छेदार भाषामें परमात्म-तत्त्वका नाना प्रकारसे वर्णन करते हैं; न उन तर्कशील बुद्धिमान् मनुष्योंको ही मिलते हैं, जो बुद्धिके अभिमानमें प्रमत्त हुए तर्कके द्वारा विवेचन करके उन्हें समझनेकी चेष्टा करते हैं; और न उनको ही मिलते हैं, जो परमात्माके विषयमें बहुत कुछ सुनते रहते हैं। वे तो उसीको प्राप्त होते हैं, जिसको वे स्वयं स्वीकार कर लेते हैं और वे स्वीकार उसीको करते हैं, जिसको उनके लिये उत्कट इच्छा होती है, जो उनके बिना रह नहीं सकता। परंतु जो अपनी बुद्धि या साधनपर भरोसा न करके केवल उनकी कृपाकी ही प्रतीक्षा करता रहता है, ऐसे कृपा-निर्भर साधकपर परमात्मा कृपा करते हैं और योगमायाका परदा हटाकर उसके सामने अपने सच्चिदानन्दघन स्वरूपमें प्रकट हो जाते हैं* ॥ ३ ॥

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥ ४ ॥

अयम्=यह; **आत्मा**=परमात्मा; **बलहीनेन**=बलहीन मनुष्यद्वारा; **न लभ्यः**=नहीं प्राप्त किया जा सकता; **च**=तथा; **प्रमादात्**=प्रमादसे; **वा**=अथवा; **अलिङ्गात्**=लक्षणरहित; **तपसः**=तपसे; **अपि**=भी; **न [लभ्यः]**=नहीं प्राप्त किया जा सकता; **तु**=किंतु; **यः**=जो; **विद्वान्**=बुद्धिमान् साधक; **एतैः**=इन; **उपायैः**=उपायोंके द्वारा; **यतते**=प्रयत्न करता है; **तस्य**=उसका; **एषः**=यह; **आत्मा**=आत्मा; **ब्रह्मधाम**=ब्रह्मधाममें; **विशते**=प्रविष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—इस प्रकरणमें बताये हुए सबके आत्मारूप परब्रह्म परमेश्वर उपासनारूप बलसे रहित मनुष्यद्वारा नहीं प्राप्त किये जा सकते। समस्त भोगोंकी आशा छोड़कर एकमात्र परमात्माकी ही उत्कट अभिलाषा रखते हुए निरन्तर विशुद्धभावसे अपने इष्टदेवका चिन्तन करना—यही उपासनारूपी बलका संचय करना है। ऐसे बलसे रहित पुरुषको वे नहीं मिलते। इसी प्रकार कर्तव्यत्यागरूप प्रमादसे भी नहीं मिलते तथा सात्त्विक लक्षणोंसे रहित संयमरूप तपसे भी किसी साधकद्वारा नहीं प्राप्त किये जा सकते। किंतु जो बुद्धिमान् साधक इन पूर्वोक्त उपायोंसे प्रयत्न करता है, अर्थात् प्रमादरहित होकर उत्कट अभिलाषाके साथ निरन्तर उन परमेश्वरकी उपासना करता है, उसका आत्मा परब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें प्रविष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषोंके लक्षण बतलाते हैं—

---

* एक आदरणीय महानुभावने इसका यह अर्थ माना है—

'यह आत्मा न तो वेद-शास्त्रके अधिक अध्ययनरूप प्रवचनसे प्राप्त होनेयोग्य है, न ग्रन्थके अर्थको धारण करनेकी शक्ति मेधासे अथवा न अधिक शास्त्र-श्रवणसे ही। यह विद्वान् जिस परमात्माको वरण करता—प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, उस इच्छासे ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। नित्य प्राप्त होनेके कारण अन्य किसी साधनसे वह प्राप्त नहीं हो सकता। यह आत्मा उसके प्रति अपने आत्मस्वरूपको प्रकट कर देता है। जिस प्रकार प्रकाशमें घटादिकी अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार विद्याकी प्राप्ति होनेपर आत्माका आविर्भाव हो जाता है।.....'

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥ ५ ॥

वीतरागाः=सर्वथा आसक्तिरहित; **कृतात्मानः**=(और) विशुद्ध अन्तःकरणवाले; **ऋषयः**=ऋषिलोग; **एनम्**=इस परमात्माको; **सम्प्राप्य**=पूर्णतया प्राप्त होकर; **ज्ञानतृप्ताः**=ज्ञानसे तृप्त (एवं); **प्रशान्ताः**=परम शान्त (हो जाते हैं); **युक्तात्मानः**=अपने-आपको परमात्मामें संयुक्त कर देनेवाले; **ते**=वे; **धीराः**=ज्ञानीजन; **सर्वगम्**=सर्वव्यापी परमात्माको; **सर्वतः**=सब ओरसे; **प्राप्य**=प्राप्त करके; **सर्वम् एव**=सर्वरूप परमात्मामें ही; **आविशन्ति**=प्रविष्ट हो जाते हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—वे विशुद्ध अन्तःकरणवाले सर्वथा आसक्तिरहित महर्षिगण उपर्युक्त प्रकारसे इन परब्रह्म परमात्माको भलीभाँति प्राप्त होकर ज्ञानसे तृप्त हो जाते हैं। उन्हें किसी प्रकारके अभावका बोध नहीं होता, वे पूर्णकाम हो जाते हैं। वे अपने-आपको परमात्मामें लगा देनेवाले ज्ञानीजन सर्वव्यापी परमात्माको सब ओरसे प्राप्त करके सर्वरूप परमात्मामें ही पूर्णतया प्रविष्ट हो जाते हैं ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषोंकी महिमाका वर्णन करके अब ब्रह्मलोकमें जानेवाले महापुरुषोंकी मुक्तिका वर्णन करते हैं—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ ६ ॥

[**ये**] **वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः**=जिन्होंने वेदान्त (उपनिषद्) शास्त्रके विज्ञानद्वारा उसके अर्थभूत परमात्माको पूर्ण निश्चयपूर्वक जान लिया है (तथा); **संन्यासयोगात्**=कर्मफल और आसक्तिके त्यागरूप योगसे; **शुद्धसत्त्वाः**=जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है; **ते**=वे; **सर्वे**=समस्त; **यतयः**=प्रयत्नशील साधकगण; **परान्तकाले**=मरणकालमें (शरीर त्यागकर); **ब्रह्मलोकेषु**=ब्रह्मलोकमें (जाते हैं और वहाँ); **परामृताः**=परम अमृतस्वरूप होकर; **परिमुच्यन्ति**=सर्वथा मुक्त हो जाते हैं ॥ ६ ॥

व्याख्या—जिन्होंने वेदान्तशास्त्रके सम्यक् ज्ञानद्वारा उसके अर्थस्वरूप परमात्माको भलीभाँति निश्चयपूर्वक जान लिया है तथा कर्मफल और कर्मासक्तिके त्यागरूप योगसे जिनका अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो गया है, ऐसे सभी प्रयत्नशील साधक मरणकालमें शरीरका त्याग करके परब्रह्म परमात्माके परम धाममें जाते हैं और वहाँ परम अमृतस्वरूप होकर संसार-बन्धनसे सदाके लिये सर्वथा मुक्त हो जाते हैं ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—जिनको परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति इसी शरीरमें हो जाती है, उनकी अन्तकालमें कैसी स्थिति होती है—इस जिज्ञासापर कहते हैं—

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥ ७ ॥

पञ्चदश=पंद्रह; **कलाः**=कलाएँ; **च**=और; **सर्वे**=सम्पूर्ण; **देवाः**=देवता अर्थात् इन्द्रियाँ; **प्रतिदेवतासु**=अपने-अपने अभिमानी देवताओंमें; **गताः**=जाकर; **प्रतिष्ठाः**=स्थित हो जाते हैं; **कर्माणि**=(फिर) समस्त कर्म; **च**=और; **विज्ञानमयः**=विज्ञानमय; **आत्मा**=जीवात्मा; **सर्वे**=ये सब-के-सब; **परे अव्यये**=परम अविनाशी परब्रह्ममें; **एकीभवन्ति**=एक हो जाते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या—उस महापुरुषका जब देहपात होता है, उस समय पंद्रह कलाएँ * और मनसहित सब इन्द्रियोंके देवता—

* पंद्रह कलाएँ ये हैं—श्रद्धा, आकाशादि पञ्च महाभूत, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक तथा नाम (देखिये प्रश्नोपनिषद् ६ । ४)

ये सब अपने-अपने अभिमानी समष्टि देवताओंमें जाकर स्थित हो जाते हैं। उनके साथ उस जीवन्मुक्तका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उसके बाद उसके समस्त कर्म और विज्ञानमय जीवात्मा—सब-के-सब परम अविनाशी परब्रह्ममें लीन हो जाते हैं॥७॥

सम्बन्ध—किस प्रकार लीन हो जाते हैं, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥८॥

यथा=जिस प्रकार; **स्यन्दमानाः**=बहती हुई; **नद्यः**=नदियाँ; **नामरूपे**=नाम-रूपको; **विहाय**=छोड़कर; **समुद्रे**=समुद्रमें; **अस्तम् गच्छन्ति**=विलीन हो जाती हैं; **तथा**=वैसे ही; **विद्वान्**=ज्ञानी महात्मा; **नामरूपात्**=नाम-रूपसे; **विमुक्तः**=रहित होकर; **परात् परम्**=उत्तम-से-उत्तम; **दिव्यम्**=दिव्य; **पुरुषम्**=परमपुरुष परमात्माको; **उपैति**=प्राप्त हो जाता है॥८॥

व्याख्या—जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपना-अपना नाम-रूप छोड़कर समुद्रमें विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी महापुरुष नाम-रूपसे रहित होकर परात्पर दिव्य पुरुष परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है—सर्वतोभावसे उन्हींमें विलीन हो जाता है॥८॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥९॥

ह=निश्चय ही; **यः वै**=जो कोई भी; **तत्**=उस; **परमम् ब्रह्म**=परमब्रह्म परमात्माको; **वेद**=जान लेता है; **सः**=वह महात्मा; **ब्रह्म एव**=ब्रह्म ही; **भवति**=हो जाता है; **अस्य**=इसके; **कुले**=कुलमें; **अब्रह्मवित्**=ब्रह्मको न जाननेवाला; **न भवति**=नहीं होता; **शोकम् तरति**=(वह) शोकसे पार हो जाता है; **पाप्मानम् तरति**=पाप-समुदायसे तर जाता है; **गुहाग्रन्थिभ्यः**=हृदयकी गाँठोंसे; **विमुक्तः**=सर्वथा छूटकर; **अमृतः**=अमर; **भवति**=हो जाता है॥९॥

व्याख्या—यह बिल्कुल सच्ची बात है कि जो कोई भी उस परब्रह्म परमात्माको जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। उसके कुलमें अर्थात् उसकी संतानोंमें कोई भी मनुष्य ब्रह्मको न जाननेवाला नहीं होता। वह सब प्रकारके शोक और चिन्ताओंसे सर्वथा पार हो जाता है, सम्पूर्ण पाप-समुदायसे सर्वथा तर जाता है, हृदयमें स्थित सब प्रकारके संशय, विपर्यय देहाभिमान, विषयासक्ति आदि ग्रन्थियोंसे सर्वथा छूटकर अमर हो जाता है—जन्म-मृत्युसे रहित हो जाता है॥९॥

सम्बन्ध—इस ब्रह्मविद्याके अधिकारीका वर्णन करते हैं—

तदेतदृचाभ्युक्तम्—
क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्॥१०॥

तत्=उस ब्रह्मविद्याके विषयमें; **एतत्**=यह बात; **ऋचा अभ्युक्तम्**=ऋचाद्वारा कही गयी है; **क्रियावन्तः**=जो निष्कामभावसे कर्म करनेवाले; **श्रोत्रियाः**=वेदके अर्थके ज्ञाता (तथा); **ब्रह्मनिष्ठाः**=ब्रह्मके उपासक हैं (और); **श्रद्धयन्तः**=श्रद्धा रखते हुए; **स्वम्**=स्वयं; **एकर्षिम्**='एकर्षि' नामवाले प्रज्वलित अग्निमें; **जुह्वते**=नियमानुसार हवन करते हैं; **तु**=तथा; **यैः**=जिन्होंने; **विधिवत्**=विधिपूर्वक; **शिरोव्रतम्**=सर्वश्रेष्ठ व्रतका; **चीर्णम्**=पालन किया है; **तेषाम् एव**=उन्हींको; **एताम्**=यह; **ब्रह्मविद्याम्**=ब्रह्मविद्या; **वदेत**=बतलानी चाहिये॥१०॥

व्याख्या—जिसका इस उपनिषद्में वर्णन हुआ है, उस ब्रह्मविद्याके विषयमें यह बात ऋचाद्वारा कही गयी है कि जो अपने-अपने वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुसार निष्कामभावसे यथायोग्य कर्म करनेवाले, वेदके यथार्थ अभिप्रायको समझनेवाले, परब्रह्म परमात्मामें श्रद्धा रखनेवाले और उनके जिज्ञासु हैं, जो स्वयं 'एकर्षि' नामसे प्रसिद्ध प्रज्वलित अग्निमें

शास्त्रविधिके अनुसार हवन करते हैं तथा जिन्होंने विधिपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया है, उन्हींको यह ब्रह्मविद्या बतलानी चाहिये ॥ १० ॥

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते । नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥ ११ ॥

तत्=उसी; **एतत्**=इस; **सत्यम्**=सत्यको अर्थात् यथार्थ विद्याको; **पुरा**=पहले; **अङ्गिराः ऋषिः**=अङ्गिरा ऋषिने; **उवाच**=कहा था; **अचीर्णव्रतः**=जिसने ब्रह्मचर्यव्रतका पालन नहीं किया है; **एतत्**=(वह) इसे; **न**=नहीं; **अधीते**=पढ़ सकता; **परमऋषिभ्यः नमः**=परम ऋषियोंको नमस्कार है; **परमऋषिभ्यः नमः**= परम ऋषियोंको नमस्कार है ॥ ११ ॥

व्याख्या—उस ब्रह्मविद्यारूप इस सत्यका पहले महर्षि अङ्गिराने उपर्युक्त प्रकारसे शौनक ऋषिको उपदेश दिया था । जिसने विधिपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन नहीं किया हो, वह इसे नहीं पढ़ पाता अर्थात् इसका गूढ़ अभिप्राय नहीं समझ सकता । परम ऋषियोंको नमस्कार है, परम ऋषियोंको नमस्कार है । इस प्रकार दो बार ऋषियोंको नमस्कार करके ग्रन्थ-समाप्तिकी सूचना दी गयी है ॥ ११ ॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥ २ ॥

॥ तृतीय मुण्डक समाप्त ॥ ३ ॥

॥ अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ प्रश्नोपनिषद्के प्रारम्भमें दिया जा चुका है ।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

माण्डूक्योपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ प्रश्नोपनिषद्में दिया जा चुका है ।

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥ १ ॥

ॐ=ॐ; **इति**= इस प्रकारका; **एतत्**=यह; **अक्षरम्**=अक्षर (अविनाशी परमात्मा) है; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=सम्पूर्ण जगत्; **तस्य**=उसका ही; **उपव्याख्यानम्**=उपव्याख्यान अर्थात् उसीकी निकटतम महिमाका लक्ष्य करानेवाला है; **भूतम्**=भूत (जो हो चुका); **भवत्**=वर्तमान (और); **भविष्यत्**=भविष्यत् (जो होनेवाला है); **इति**=यह; **सर्वम्**=सब-का-सब जगत्; **ओंकारः**=ओंकार; **एव**=ही है; **च**=तथा; **यत्**=जो; **त्रिकालातीतम्**= ऊपर कहे हुए तीनों कालोंसे अतीत; **अन्यत्**=दूसरा (कोई तत्त्व है); **तत्**=वह; **अपि**=भी; **ओंकारः**=ओंकार; **एव**=ही है ॥ १ ॥

व्याख्या—इस उपनिषद्में परब्रह्म परमात्माके समग्र रूपका तत्त्व समझानेके लिये उनके चार पादोंकी कल्पना की गयी है । नाम और नामीकी एकताका प्रतिपादन करनेके लिये प्रणवकी अ, उ और म्—इन तीन मात्राओंके साथ और मात्रा-रहित उसके अव्यक्तरूपके साथ परब्रह्म परमात्माके एक-एक पादकी समता दिखलायी गयी है । इस प्रकार इस मन्त्रमें परब्रह्म परमात्माका नाम जो ओंकार है, उसको समग्र पुरुषोत्तमसे अभिन्न मानकर यह कहा गया है कि 'ओम्' यह अक्षर ही पूर्णब्रह्म अविनाशी परमात्मा है । यह प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला जड-चेतनका समुदायरूप सम्पूर्ण जगत् उन्हींका उपव्याख्यानी अर्थात् उन्हींकी निकटतम महिमाका निदर्शक है । जो स्थूल और सूक्ष्म जगत् पहले उत्पन्न होकर उनमें विलीन हो चुका है और जो इस समय वर्तमान है, तथा जो उनसे उत्पन्न होनेवाला है—वह सब-का-सब ओंकार ही है अर्थात् परब्रह्म परमात्मा ही है । तथा जो तीनों कालोंसे अतीत इससे भिन्न है, वह भी ओंकार ही है । अर्थात् कारण, सूक्ष्म और स्थूल—इन तीन भेदों-वाला जगत् और इसको धारण करनेवाले परब्रह्मके जिस अंशकी इसके आत्मारूपमें और आधाररूपमें अभिव्यक्ति होती है, उतना ही उन परमात्माका स्वरूप नहीं है; इससे अलग भी वे हैं । अतः उनका अभिव्यक्त अंश और उससे अतीत भी जो कुछ है, वह सब मिलकर ही परब्रह्म परमात्माका समग्र रूप है ।

अभिप्राय यह है कि जो कोई परब्रह्मको केवल साकार मानते हैं या निराकार मानते हैं वा सर्वथा निर्विशेष मानते हैं—उन्हें सर्वज्ञता, सर्वाधारता, सर्वकारणता, सर्वेश्वरता, आनन्द, विज्ञान आदि कल्याणमय गुणोंसे सम्पन्न नहीं मानते, वे सब उन परब्रह्मके एक-एक अंशको ही परमात्मा मानते हैं । पूर्णब्रह्म परमात्मा साकार भी हैं, निराकार भी हैं तथा साकार-निराकार

दोनोंसे रहित भी हैं। सम्पूर्ण जगत् उन्हींका स्वरूप है और वे इससे सर्वथा अलग भी हैं। वे सर्वगुणोंसे रहित, निर्विशेष भी हैं और सर्वगुणसम्पन्न भी हैं—यह मानना ही उन्हें सर्वाङ्गपूर्ण मानना है ॥ १ ॥

सम्बन्ध—सब कुछ ओंकार कैसे है, यह कहते हैं—

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥ २ ॥

हि=क्योंकि; **एतत्**=यह; **सर्वम्**=सब-का-सब; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **अयम्**=यह; **आत्मा**=परमात्मा(जो इस दृश्य-जगत्-परिपूर्ण है); **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **सः**=वह; **अयम्**=यह; **आत्मा**=परमात्मा; **चतुष्पात्**=चार चरणोंवाला है ॥ २ ॥

व्याख्या—यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मसे भिन्न कुछ नहीं है, सब-का-सब ब्रह्म है और ओंकार उनका नाम होनेके कारण नामीसे अभिन्न है, इसलिये सब कुछ ओंकार है—यह बात पहले मन्त्रमें कही गयी है; क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् उन परब्रह्म परमात्माका शरीर है और वे इसके अन्तर्यामी आत्मा हैं (अन्तर्यामिब्राह्मण बृ० उ०), इसलिये ये सर्वात्मा ही ब्रह्म हैं। वे सर्वात्मा परब्रह्म आगे बताये हुए प्रकारसे चार पादवाले हैं। वास्तवमें उन अखण्ड निरवयव परब्रह्म परमात्माको चार पादोंवाला कहना नहीं बनता; तथापि उनके समग्ररूपकी व्याख्या करनेके लिये उनकी अभिव्यक्तिके प्रकार-भेदोंको लेकर श्रुतियोंमें जगह-जगह उनके चार पादोंकी कल्पना की गयी है। उसी दृष्टिसे यहाँ भी श्रुति कहती है ॥ २ ॥

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

जागरितस्थानः=जाग्रत्-अवस्थाकी भाँति यह सम्पूर्ण स्थूल जगत् जिसका स्थान अर्थात् शरीर है; **बहिष्प्रज्ञः**=जिसका ज्ञान इस बाह्य जगत्में फैला हुआ है; **सप्ताङ्गः**=भूः, भुवः आदि सात लोक ही जिसके सात अङ्ग हैं; **एकोनविंशतिमुखः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण—ये उन्नीस विषयोंको ग्रहण करनेवाले समष्टि 'करण' ही जिसके उन्नीस मुख हैं; **स्थूलभुक्**=जो इस स्थूल जगत्का भोक्ता—इसको अनुभव करनेवाला तथा जाननेवाला है, वह; **वैश्वानरः**=वैश्वानर (विश्वको धारण करनेवाला) परमात्मा; **प्रथमः**=पहला; **पादः**=पाद है ॥ ३ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्माके वे चार पाद कैसे और किस प्रकार हैं—यह बात समझानेके लिये जीवात्मा तथा उसके स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीरोंके उदाहरण देते हुए उन परमात्माके तीन पादोंका वर्णन क्रमशः किया गया है। उनमेंसे पहले पादका इस मन्त्रमें वर्णन है। भाव यह है कि जिस प्रकार जाग्रत्-अवस्थामें इस स्थूल शरीरका अभिमानी जीवात्मा सिरसे लेकर पैरतक सात अङ्गोंसे युक्त होकर स्थूल विषयोंके उपभोगके द्वाररूप दस इन्द्रिय, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण—इस प्रकार इन उन्नीस मुखोंसे विषयोंका उपभोग करता है और उसका विज्ञान बाह्य जगत्में फैला रहता है, उसी प्रकार सात लोकरूप सात अङ्गों और समष्टि इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण—इस प्रकार उन्नीस मुखोंसे युक्त इस स्थूल जगत्रूप शरीरका आत्मा—जो सम्पूर्ण देवता, पितर, मनुष्य आदि समस्त प्राणियोंका प्रेरक और स्वामी होनेके कारण इस स्थूल जगत्का ज्ञाता और भोक्ता है (गीता ५। २९; ९। २४), जिसकी अभिव्यक्ति इस बाह्य स्थूल जगत्में हो रही है,—वह सर्वरूप वैश्वानर उन पूर्णब्रह्म परमात्माका पहला पाद है।

जो विश्व अर्थात् बहुत भी हो और नर भी हो, उसे वैश्वानर कहते हैं—इस व्युत्पत्तिके अनुसार स्थूल जगत्रूप शरीरवाले सर्वरूप परमेश्वरको यहाँ वैश्वानर कहा गया है। ब्रह्मसूत्र अध्याय १, पाद २, सूत्र २४ में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि आत्मा और ब्रह्म—इन दोनोंका वाचक जहाँ 'वैश्वानर' पद आये, वहाँ वह जीवात्माका या अग्निका नाम नहीं है। वह परब्रह्म परमेश्वरका ही वाचक है, यों समझना चाहिये। वैश्वानर-विद्यामें भी इसी प्रकार परमात्माको वैश्वानर बताया गया है (छा० ५। ११। १—६)। अतः यहाँ 'जागरितस्थानः' इस पदके बलपर जाग्रत्-अवस्थाके अभिमानी जीवात्माको ब्रह्मका पहला पाद या वैश्वानर मानना ठीक नहीं मालूम होता; क्योंकि तीन अवस्थाओंके दृष्टान्तसे ब्रह्मके तीन पादोंका वर्णन करनेके पश्चात् छठे मन्त्रमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जिनको इन तीनों अवस्थाओंमें स्थित बताया गया है, वे सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, सम्पूर्ण जगत्के कारण तथा समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं। ये लक्षण जीवात्मामें नहीं घट सकते। इसलिये भी यहाँ सर्वात्मा वैश्वानर परमेश्वरको ही परब्रह्मका एक पाद कहा गया है, यही मानना युक्तिसङ्गत मालूम होता है ॥ ३ ॥

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥

स्वप्नस्थानः=स्वप्नकी भाँति सूक्ष्म जगत् ही जिसका स्थान है; **अन्तःप्रज्ञः**=जिसका ज्ञान सूक्ष्म जगत्में व्याप्त है; **सप्ताङ्गः**= पूर्वोक्त सात अङ्गोंवाला (और); **एकोनविंशतिमुखः**=उन्नीस मुखोंवाला; **प्रविविक्तभुक्**=सूक्ष्म जगत्का भोक्ता; **तैजसः**=तैजस—प्रकाशका स्वामी सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ; **द्वितीयः पादः**=उस पूर्णब्रह्म परमात्माका दूसरा पाद है ॥ ४ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें पूर्णब्रह्म परमात्माके दूसरे पादका वर्णन है। भाव यह है कि जिस प्रकार स्वप्न-अवस्थामें सूक्ष्मशरीरका अभिमानी जीवात्मा पहले बतलाये हुए सूक्ष्म सात अङ्गोंवाला और उन्नीस मुखोंवाला होकर सूक्ष्म विषयोंका उपभोग करता है और उसीमें उसका ज्ञान फैला रहता है, उसी प्रकार जो स्थूल अवस्थासे भिन्न सूक्ष्मरूपमें परिणत हुए सात लोकरूप सात अङ्ग तथा इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरणरूप उन्नीस मुखोंसे युक्त सूक्ष्म जगत्रूप शरीरमें स्थित, उसका आत्मा हिरण्यगर्भ है, वह समस्त जड-चेतनात्मक सूक्ष्म जगत्के समस्त तत्त्वोंका नियन्ता, ज्ञाता और सबको अपनेमें प्रविष्ट किये हुए है, इसलिये उसका भोक्ता और जाननेवाला कहा जाता है। वह तैजस अर्थात् सूक्ष्म प्रकाशमय हिरण्यगर्भ उन पूर्णब्रह्म परमात्माका दूसरा पाद है।

समस्त ज्योतियोंकी ज्योति, सबको प्रकाशित करनेवाले, परम प्रकाशमय हिरण्यगर्भरूप परमेश्वरका ही वर्णन यहाँ तैजस नामसे हुआ है। ब्रह्मसूत्रके 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' (१।१।२४) इस सूत्रमें यह बात स्पष्ट की गयी है कि पुरुषके प्रकरणमें आया हुआ 'ज्योतिः' वा 'तेजः' शब्द ब्रह्मका वाचक ही समझना चाहिये। जहाँ ब्रह्मके पादोंका वर्णन हो, वहाँ तो दूसरा अर्थ—जीव या प्रकाश आदि मानना किसी तरह भी उचित नहीं है। उपनिषदोंमें बहुत जगह परमेश्वरका वर्णन 'ज्योतिः' (अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते—छा० उ० ३।१३।७) और 'तेजस' (येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः तै० ब्रा० ३।१२।९।७) के नामसे हुआ है। इसलिये यहाँ केवल 'स्वप्नस्थानः' पदके बलपर स्वप्नावस्थाके अभिमानी जीवात्माको ब्रह्मका दूसरा पाद मान लेना उचित नहीं मालूम होता। इसमें तीसरे मन्त्रकी व्याख्यामें बताये हुए कारण तो हैं ही। उनके सिवा यह एक कारण और भी है कि स्वप्नावस्थामें जीवात्माका ज्ञान जाग्रत्-अवस्थाकी अपेक्षा कम हो जाता है; किंतु यहाँ जिसका वर्णन तैजसके नामसे किया गया है, उस दूसरे पादरूप हिरण्यगर्भका ज्ञान जाग्रत्की अपेक्षा अधिक विकसित होता है। इसीलिये इसको तैजस अर्थात् ज्ञानस्वरूप बतलाया है और दसवें मन्त्रमें ओंकारकी दूसरी मात्रा 'उ'-के साथ इसकी एकता करते हुए इसको उत्कृष्ट (श्रेष्ठ) बताया है और इसके जाननेका फल ज्ञान-परम्पराकी वृद्धि और जाननेवालेकी संतानका ज्ञानी होना कहा है। स्वप्नाभिमानी जीवात्माके ज्ञानका ऐसा फल नहीं हो सकता, इसलिये भी तैजसका वाच्यार्थ सूक्ष्म जगत्के स्वामी हिरण्यगर्भको ही मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है ॥ ४ ॥

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

यत्र=जिस अवस्थामें; **सुप्तः**=सोया हुआ (मनुष्य); **कञ्चन**=किसी भी; **कामम् न कामयते**=भोगकी कामना नहीं करता; **कञ्चन**=कोई भी; **स्वप्नम्**=स्वप्न; **न**=नहीं; **पश्यति**=देखता; **तत्**=वह; **सुषुप्तम्**=सुषुप्ति-अवस्था है; **सुषुप्तस्थानः**=ऐसी सुषुप्ति अर्थात् जगत्की प्रलय-अवस्था, अथवा कारण-अवस्था ही जिसका शरीर है; **एकीभूतः**=जो एकरूप हो रहा है; **प्रज्ञानघनः एव**=जो एकमात्र घनीभूत विज्ञानस्वरूप है; **आनन्दमयः हि**=जो एकमात्र आनन्दमय अर्थात् आनन्दस्वरूप ही है; **चेतोमुखः**=प्रकाश ही जिसका मुख है; **आनन्दभुक्**=जो एकमात्र आनन्दका ही भोक्ता है (वह); **प्राज्ञः**=प्राज्ञ; **तृतीयः पादः**=(ब्रह्मका) तीसरा पाद है ॥ ५ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें जाग्रत्की कारण और लय-अवस्थारूप सुषुप्तिके साथ प्रलयकालमें स्थित कारणरूपसे जगत्की समानता दिखानेके लिये पहले सुप्रसिद्ध सुषुप्ति-अवस्थाके लक्षण बतलाकर उसके बाद पूर्णब्रह्म परमात्माके तीसरे पादका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि जिस अवस्थामें सोया हुआ मनुष्य किसी प्रकारके किसी भी भोगकी न तो कामना करता है और न अनुभव ही करता है तथा किसी प्रकारका स्वप्न भी नहीं देखता, ऐसी अवस्थाको सुषुप्ति कहते हैं। इस सुषुप्ति-अवस्थाके सदृश जो प्रलयकालमें जगत्की कारण-अवस्था है, जिसमें नाना 'रूपों'का प्राकट्य नहीं हुआ है—

ऐसी अव्याकृत प्रकृति ही जिसका शरीर है, तथा जो एक अद्वितीयरूपमें स्थित है, उपनिषदोंमें जिसका वर्णन कहीं सत्के नामसे ('सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' छा० उ० ६ । २ । १) और कहीं आत्माके नामसे ('एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते') आया है, जिसका एकमात्र चेतना (प्रकाश) ही मुख है और आनन्द ही भोजन है, वह विज्ञानघन, आनन्दमय प्राज्ञ ही उन पूर्णब्रह्मका तीसरा पाद है ।

यहाँ प्राज्ञ नामसे भी सृष्टिके कारण सर्वज्ञ परमेश्वरका ही वर्णन है । ब्रह्मसूत्र प्रथम अध्यायके चौथे पादके अन्तर्गत पाँचवें सूत्रमें 'प्राज्ञ' शब्द ईश्वरके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, इसके सिवा और भी बहुत-से सूत्रोंमें ईश्वरके स्थानपर 'प्राज्ञ' शब्दका प्रयोग किया गया है । पूज्यपाद स्वामी शङ्कराचार्यने तो ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें स्थान-स्थानपर परमेश्वरके बदले 'प्राज्ञ' शब्दका ही प्रयोग किया है । उपनिषदोंमें भी अनेक स्थलोंपर 'प्राज्ञ' शब्दका परमेश्वरके स्थानमें प्रयोग किया गया है (बृ० उ० ४ । ३ । २१ और ४ । ३ । ३५) । प्रस्तुत मन्त्रमें साथ-ही-साथ ईश्वरसे भिन्न शरीराभिमानी जीवात्माका भी वर्णन है । यहाँ प्रकरण भी सुषुप्तिका है; इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी दृष्टिसे 'प्राज्ञ' शब्द जीवात्माका वाचक नहीं है । ब्रह्मसूत्र (१ । ३ । ४२) के भाष्यमें स्वयं शङ्कराचार्यजीने लिखा है कि 'सर्वज्ञतारूप प्रज्ञासे नित्य संयुक्त होनेके कारण 'प्राज्ञ' नाम परमेश्वरका ही है, अतः उपर्युक्त उपनिषद्-मन्त्रमें परमेश्वरका ही वर्णन है ।' इसलिये यहाँ केवल 'सुषुप्तस्थानः' पदके बलपर सुषुप्ति-अभिमानी जीवात्माको ब्रह्मका तीसरा पाद मान लेना उचित नहीं मालूम होता; क्योंकि इसके बाद अगले मन्त्रमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इन तीनों अवस्थाओंमें स्थित तीन पादोंके नामसे जिनका वर्णन हुआ है, वे सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, सम्पूर्ण जगत्के कारण और समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं । इसके सिवा ग्यारहवें मन्त्रमें ओंकारकी तीसरी मात्राके साथ तीसरे पादकी एकता करके उसे जाननेका फल सबको जानना और सम्पूर्ण जगत्को विलीन कर लेना बताया है; इसलिये भी 'प्राज्ञः' पदका वाच्यार्थ कारण-जगत्के अधिष्ठाता परमेश्वरको ही समझना चाहिये । वह प्राज्ञ ही पूर्णब्रह्म परमात्माका तीसरा पाद है ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—ऊपर बतलाये हुए ब्रह्मके पाद वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ किसके नाम हैं, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥ ६ ॥

एषः=यह; **सर्वेश्वरः**=सबका ईश्वर है; **एषः**=यह; **सर्वज्ञः**=सर्वज्ञ है; **एषः**=यह; **अन्तर्यामी**=सबका अन्तर्यामी है; **एषः**=यह; **सर्वस्य**=सम्पूर्ण जगत्का; **योनिः**=कारण है; **हि**=क्योंकि; **भूतानाम्**=समस्त प्राणियोंका; **प्रभवाप्ययौ**=उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका स्थान यही है ॥ ६ ॥

व्याख्या—जिन परमेश्वरका तीनों पादोंके रूपमें वर्णन किया गया है, ये सम्पूर्ण ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं । ये ही सर्वज्ञ और सबके अन्तर्यामी हैं । ये ही सम्पूर्ण जगत्के कारण हैं; क्योंकि सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके स्थान ये ही हैं । प्रश्नोपनिषद्में तीनों मात्राओंसे युक्त ओंकारके द्वारा परम पुरुष परमेश्वरका ध्यान करनेकी बात कहकर उसका फल समस्त पापोंसे रहित हो अविनाशी परात्पर पुरुषोत्तमको प्राप्त कर लेना बताया गया है (५ । ५) । अतः पूर्ववर्णित वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ परमेश्वरके ही नाम हैं । अलग-अलग स्थितिमें उन्हींका वर्णन भिन्न-भिन्न नामोंसे किया गया है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—अब पूर्णब्रह्म परमात्माके चौथे पादका वर्णन करते हैं—

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

न अन्तःप्रज्ञम्=जो न भीतरकी ओर प्रज्ञावाला है; **न बहिष्प्रज्ञम्**=न बाहरकी ओर प्रज्ञावाला है; **न उभयतःप्रज्ञम्**=न दोनों ओर प्रज्ञावाला है; **न प्रज्ञानघनम्**=न प्रज्ञानघन है; **न प्रज्ञम्**=न जाननेवाला है; **न अप्रज्ञम्**=न नहीं जाननेवाला है; **अदृष्टम्**=जो देखा नहीं गया हो; **अव्यवहार्यम्**=जो व्यवहारमें नहीं लाया जा सकता;

अग्राह्यम्=जो पकड़नेमें नहीं आ सकता; **अलक्षणम्**=जिसका कोई लक्षण (चिह्न) नहीं है; **अचिन्त्यम्**=जो चिन्तन करनेमें नहीं आ सकता; **अव्यपदेश्यम्**=जो बतलानेमें नहीं आ सकता; **एकात्मप्रत्ययसारम्**=एकमात्र आत्मसत्ताकी प्रतीति ही जिसका सार (प्रमाण) है; **प्रपञ्चोपशमम्**=जिसमें प्रपञ्चका सर्वथा अभाव है, ऐसा; **शान्तम्**=सर्वथा शान्त; **शिवम्**=कल्याणमय; **अद्वैतम्**=अद्वितीय तत्त्व; **चतुर्थम्**=(परब्रह्म परमात्माका) चौथा पाद है; **मन्यन्ते**= (इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी) मानते हैं; **सः आत्मा**=वह परमात्मा (है); **सः विज्ञेयः**=वह जाननेयोग्य (है) ॥ ७ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें निर्गुण-निराकार निर्विशेष स्वरूपको पूर्णब्रह्म परमात्माका चौथा पाद बताया गया है। भाव यह है कि जिसका ज्ञान न तो बाहरकी ओर है, न भीतरकी ओर है और न दोनों ही ओर है; जो न ज्ञानस्वरूप है, न जाननेवाला है और न नहीं जाननेवाला ही है; जो न देखनेमें आ सकता है, न व्यवहारमें लाया जा सकता है, न ग्रहण करनेमें आ सकता है, न चिन्तन करनेमें, न बतलानेमें आ सकता है और न जिसका कोई लक्षण ही है, जिसमें समस्त प्रपञ्चका अभाव है, एकमात्र परमात्मसत्ताकी प्रतीति ही जिसमें सार (प्रमाण) है—ऐसा सर्वथा शान्त, कल्याणमय, अद्वितीय तत्त्व पूर्णब्रह्मका चौथा पाद माना जाता है। इस प्रकार जिनका चार पादोंमें विभाग करके वर्णन किया गया, वे ही पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं; उन्हींको जानना चाहिये।

इस मन्त्रमें 'चतुर्थम् मन्यन्ते' पदके प्रयोगसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ परब्रह्म परमात्माके चार पादोंकी कल्पना केवल उनका तत्त्व समझानेके लिये ही की गयी है। वास्तवमें अवयवरहित परमात्माके कोई भाग नहीं हैं। जो पूर्ण-ब्रह्म परमात्मा स्थूल जगत्में परिपूर्ण हैं, वे ही सूक्ष्म और कारण-जगत्के अन्तर्यामी और अधिष्ठाता भी हैं; तथा वे ही इन सबसे अलग निर्विशेष परमात्मा हैं। वे सर्वशक्तिमान् भी हैं और सब शक्तियोंसे रहित भी हैं। वे सगुण भी हैं और निर्गुण भी। वे साकार भी हैं और निराकार भी। वास्तवमें वे हमारी बुद्धि और तर्कसे सर्वथा अतीत हैं ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—उक्त परब्रह्म परमात्माकी उनके वाचक प्रणवके साथ एकता करते हुए कहते हैं—

सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

सः=वह (जिसको चार पादवाला बताया गया है); **अयम्**=यह; **आत्मा**=परमात्मा; **अध्यक्षरम्**=(उसके वाचक) प्रणवके अधिकारमें (प्रकरणमें) वर्णित होनेके कारण; **अधिमात्रम्**=तीन मात्राओंसे युक्त; **ओंकारः**=ओंकार है; **अकारः**='अ'; **उकारः**='उ' (और); **मकारः**='म'; **इति**=ये (तीनों); **मात्राः**=मात्राएँ ही; **पादाः**=(तीन) पाद हैं; **च**=और; **पादाः**=(उस ब्रह्मके तीन) पाद ही; **मात्राः**=(तीन) मात्राएँ हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या—वे परब्रह्म परमात्मा, जिनके चार पादोंका वर्णन किया गया है, यहाँ अक्षरके प्रकरणमें अपने नामसे अभिन्न होनेके कारण तीन मात्राओंवाला ओंकार हैं। 'अ', 'उ' और 'म'—ये तीनों मात्राएँ ही उनके उपर्युक्त तीन पाद हैं। और उनके तीनों पाद ही ओंकारकी तीन मात्राएँ हैं। जिस प्रकार ओंकार अपनी मात्राओंसे अलग नहीं है, उसी प्रकार अपने पादोंसे परमात्मा अलग नहीं हैं। यहाँ पाद और मात्राकी एकता ओंकारके द्वारा परब्रह्म परमात्माकी उपासनाके लिये की गयी है—ऐसा मालूम होता है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—ओंकारकी किस मात्रासे ब्रह्मके किस पादकी एकता है और वह क्यों है, इस जिज्ञासापर तीन मात्राओंका रहस्य समझानेके लिये प्रथम पहले पाद और पहली मात्राकी एकताका प्रतिपादन करते हैं—

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

प्रथमा=(ओंकारकी) पहली; **मात्रा**=मात्रा; **अकारः**=अकार ही; **आप्तेः**=(समस्त जगत्के नामोंमें अर्थात् शब्दमात्रमें) व्याप्त होनेके कारण; **वा**=और; **आदिमत्त्वात्**=आदिवाला होनेके कारण; **जागरितस्थानः**=जाग्रत्की भाँति स्थूल जगत्रूप शरीरवाला; **वैश्वानरः**=वैश्वानर नामक पहला पाद है; **यः**=जो; **एवम्**=इस प्रकार; **वेद**=

जानता है; [**सः**] **ह वै**=वह अवश्य ही; **सर्वान्**=सम्पूर्ण; **कामान्**=भोगोंको; **आप्नोति**=प्राप्त कर लेता है; **च**=और; **आदिः**=सबका आदि (प्रधान); **भवति**=बन जाता है ॥ ९ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्माके नामात्मक ओंकारकी जो पहली मात्रा 'अ' है, यह समस्त जगत्‌के नामोंमें अर्थात् किसी भी अर्थको बतलानेवाले जितने भी शब्द हैं, उन सबमें व्याप्त है। स्वर अथवा व्यञ्जन—कोई भी वर्ण अकारसे रहित नहीं है। श्रुति भी कहती है—'अकारो वै सर्वा वाक्' (ऐतरेय आरण्यक० २ । ३ । ६)। गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है कि अक्षरोंमें (वर्णोंमें) मैं 'अ' हूँ (१० । ३३)। तथा समस्त वर्णोंमें 'अ' ही पहला वर्ण है। इसी प्रकार इस स्थूल जगत्‌रूप विराट-शरीरमें वे वैश्वानररूप अन्तर्यामी परमेश्वर व्याप्त हैं और विराट्‌रूपसे सबके पहले स्वयं प्रकट होनेके कारण इस जगत्‌के आदि भी वे ही हैं। इस प्रकार 'अ' की और जाग्रत्‌की भाँति प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले इस स्थूल जगत्‌रूप शरीरमें व्याप्त वैश्वानर नामक प्रथम पादकी एकता होनेके कारण 'अ' ही पूर्णब्रह्म परमेश्वरका पहला पाद है। जो मनुष्य इस प्रकार अकार और विराट् शरीरके आत्मा परमेश्वरकी एकताको जानता है और उनकी उपासना करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको अर्थात् इच्छित पदार्थोंको पा लेता है और जगत्‌में प्रधान—सर्वमान्य हो जाता है ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—अब दूसरे पादकी और दूसरी मात्राकी एकताका प्रतिपादन करते हैं—

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥ १० ॥

द्वितीया=(ओंकारकी) दूसरी; **मात्रा**=मात्रा; **उकारः**='उ'; **उत्कर्षात्**=('अ' से) उत्कृष्ट होनेके कारण; **वा**=और; **उभयत्वात्**=दोनों भाववाला होनेके कारण; **स्वप्नस्थानः**=स्वप्नकी भाँति सूक्ष्म जगत्‌रूप शरीरवाला; **तैजसः**=तैजस नामक (दूसरा पाद) है; **यः**=जो; **एवम्**=इस प्रकार; **वेद**=जानता है; [**सः**] **ह वै**=वह अवश्य ही; **ज्ञान-संततिम्**=ज्ञानकी परम्पराको; **उत्कर्षति**=उन्नत करता है; **च**=और; **समानः**=समान भाववाला; **भवति**=हो जाता है; **अस्य**=इसके; **कुले**=कुलमें; **अब्रह्मवित्**=वेदरूप ब्रह्मको न जाननेवाला; **न**=नहीं; **भवति**=होता ॥ १० ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्माके नामात्मक ओंकारकी दूसरी मात्रा जो 'उ' है, यह 'अ' से उत्कृष्ट (ऊपर उठा हुआ) होनेके कारण श्रेष्ठ है तथा 'अ' और 'म' इन दोनोंके बीचमें होनेके कारण उन दोनोंके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है; अतः यह उभयस्वरूप है। इसी प्रकार वैश्वानरसे तैजस (हिरण्यगर्भ) उत्कृष्ट है तथा वैश्वानर और प्राज्ञके मध्यगत होनेसे वह उभयसम्बन्धी भी है। इस समानताके कारण ही 'उ' को 'तैजस' नामक द्वितीय पाद कहा गया है। भाव यह है कि इस स्थूल जगत्‌के प्राकट्यसे पहले परमेश्वरके आदि संकल्पद्वारा जो सूक्ष्म सृष्टि उत्पन्न होती है, जिसका वर्णन मानस सृष्टिके नामसे आता है, जिसमें समस्त तत्त्व तन्मात्राओंके रूपमें रहते हैं, स्थूलरूपमें परिणत नहीं होते, उस सूक्ष्म जगत्‌रूप शरीरमें चेतन प्रकाशस्वरूप हिरण्यगर्भ परमेश्वर इसके अधिष्ठाता होकर रहते हैं। तथा कारण-जगत् और स्थूल-जगत्—इन दोनोंसे ही सूक्ष्म जगत्‌का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिये वे कारण और स्थूल दोनों रूपवाले हैं। इस तरह 'उ' की और मानसिक सृष्टिके अधिष्ठाता तैजसरूप दूसरे पादकी समानता होनेके कारण 'उ' ही पूर्णब्रह्म परमात्माका दूसरा पाद है। जो मनुष्य इस प्रकार 'उ' और तेजोमय हिरण्यगर्भ-स्वरूपकी एकताके रहस्यको समझ लेता है, वह स्वयं इस जगत्‌के सूक्ष्म तत्त्वोंको भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लेता है, इस कारण इस ज्ञानकी परम्पराको उन्नत करता है—उसे बढ़ाता है तथा सर्वत्र समभाववाला हो जाता है; क्योंकि जगत्‌के सूक्ष्म तत्त्वोंको समझ लेनेके कारण उसका वास्तविक रहस्य समझमें आ जानेसे उसकी विषमताका नाश हो जाता है। इसलिये उससे उत्पन्न हुई संतान भी कोई ऐसी नहीं होती, जिसको हिरण्यगर्भरूप परमेश्वरके उपर्युक्त रहस्यका ज्ञान न हो जाय ॥ १० ॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

तृतीया=(ओंकारकी) तीसरी; **मात्रा**=मात्रा; **मकारः**='म' ही; **मितेः**=माप करनेवाला (जाननेवाला) होनेके कारण; **वा**=और; **अपीतेः**=विलीन करनेवाला होनेसे; **सुषुप्तस्थानः**=सुषुप्तिकी भाँति कारणमें विलीन जगत् ही जिसका शरीर है; **प्राज्ञः**=प्राज्ञ नामक तीसरा पाद है; **यः**=जो; **एवम्**=इस प्रकार; **वेद**=जानता है; [**सः**] **ह वै**=वह अवश्य ही; **इदम्**=इस; **सर्वम्**=सम्पूर्ण कारण-जगत्को; **मिनोति**=माप लेता है अर्थात् भलीभाँति जान लेता है; **च**=और; **अपीतिः**=सबको अपनेमें विलीन करनेवाला; **भवति**=हो जाता है ॥ ११ ॥

व्याख्या—परमात्माके नामात्मक ओंकारकी जो तीसरी मात्रा 'म' है, यह 'मा' धातुसे बना है। 'मा' धातुका अर्थ माप लेना यानी अमुक वस्तु इतनी है, यह समझ लेना है। यह 'म' ओंकारकी अन्तिम मात्रा है; 'अ' और 'उ' के पीछे उच्चरित होती है—इस कारण दोनोंका माप इसमें आ जाता है; अतः यह उनको जाननेवाला है। तथा 'म' का उच्चारण होते-होते मुख बंद हो जाता है, 'अ' और 'उ' दोनों उसमें विलीन हो जाते हैं; अतः वह उन दोनों मात्राओंको अन्तमें विलीन करनेवाला भी है। इसी प्रकार सुषुप्तस्थानीय कारण-जगत्का अधिष्ठाता प्राज्ञ भी सर्वज्ञ है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों अवस्थाओंमें स्थित जगत्को जाननेवाला है। कारण-जगत्से ही सूक्ष्म और स्थूल जगत्की उत्पत्ति होती है और उसीमें उनका लय भी होता है। इस प्रकार 'म' की और कारण-जगत्के अधिष्ठाता प्राज्ञ नामक तीसरे पादकी समता होनेके कारण 'म' रूप तीसरी मात्रा ही पूर्ण ब्रह्मका तीसरा पाद है। जो मनुष्य इस प्रकार 'म' और 'प्राज्ञ' स्वरूप परमेश्वरकी एकताको जानता है—इस रहस्यको समझकर ओंकारके स्मरणद्वारा परमेश्वरका चिन्तन करता है, वह इस मूलसहित सम्पूर्ण जगत्को भली प्रकार जान लेता है और सबको विलीन करनेवाला हो जाता है, अर्थात् उसकी बाह्य दृष्टि निवृत्त हो जाती है। अतः वह सर्वत्र एक परब्रह्म परमेश्वरको ही देखनेवाला बन जाता है ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—मात्रारहित ओंकारकी चौथे पादके साथ एकताका प्रतिपादन करते हुए इस उपनिषद्का उपसंहार करते हैं—

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥ १२ ॥

एवम्=इसी प्रकार; **अमात्रः**=मात्रारहित; **ओंकारः**=प्रणव ही; **अव्यवहार्यः**=व्यवहारमें न आनेवाला; **प्रपञ्चोपशमः**=प्रपञ्चसे अतीत; **शिवः**=कल्याणमय; **अद्वैतः**=अद्वितीय; **चतुर्थः**= पूर्ण ब्रह्मका चौथा पाद है; [**सः**] **आत्मा**=वह आत्मा; **एव**=अवश्य ही; **आत्मना**=आत्माके द्वारा; **आत्मानम्**=परात्पर ब्रह्म परमात्मामें; **संविशति**=पूर्णतया प्रविष्ट हो जाता है; **यः**=जो; **एवम्**=इस प्रकार; **वेद**=जानता है; **यः एवम् वेद**=जो इस प्रकार जानता है ॥ १२ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्माके नामात्मक ओंकारका जो मात्रारहित, बोलनेमें न आनेवाला, निराकार स्वरूप है, वही मन-वाणीका अविषय होनेसे व्यवहारमें न लाया जा सकनेवाला, प्रपञ्चसे अतीत, कल्याणमय, अद्वितीय—निर्गुण-निराकाररूप चौथा पाद है। भाव यह है कि जिस प्रकार तीन मात्राओंकी पहले बतायें हुए तीन पादोंके साथ समता है, उसी प्रकार ओंकारके निराकार स्वरूपकी परब्रह्म परमात्माके निर्गुण-निराकार निर्विशेषरूप चौथे पादके साथ समता है। जो मनुष्य इस प्रकार ओंकार और परब्रह्म परमात्माकी अर्थात् नाम और नामीकी एकताके रहस्यको समझकर परब्रह्म परमात्माको पानेके लिये उनके नाम-जपका अवलम्ब लेकर तत्परतासे साधन करता है, वह निस्सन्देह आत्मासे आत्मामें अर्थात् परात्पर परब्रह्म परमात्मामें प्रविष्ट हो जाता है। 'जो इस प्रकार जानता है' इस वाक्यको दो बार कहकर उपनिषद्की समाप्ति सूचित की गयी है।

परब्रह्म परमात्मा और उनके नामकी महिमा अपार है, उसका कोई पार नहीं पा सकता। इस प्रकरणमें उन असीम पूर्णब्रह्म परमात्माके चार पादोंकी कल्पना उनके स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों सगुण रूपोंकी और निर्गुण-निराकार स्वरूपकी एकता दिखानेके लिये तथा नाम और नामीकी सब प्रकारसे एकता दिखानेके लिये एवं उनकी सर्वभवन-

सामर्थ्यरूप जो अचिन्त्य शक्ति है, वह उनसे सर्वथा अभिन्न है—यह भाव दिखानेके लिये की गयी है, ऐसा अनुमान होता है ॥ १२ ॥

॥ अथर्ववेदीय माण्डूक्योपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ प्रश्नोपनिषद्में दिया जा चुका है ।

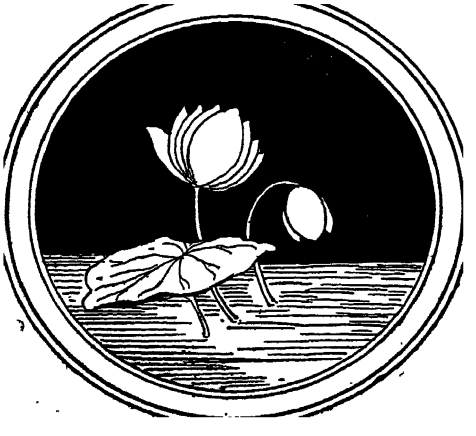

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

ऐतरेयोपनिषद्

ऋग्वेदीय ऐतरेय आरण्यकमें दूसरे आरण्यकके चौथे, पाँचवें और छठे अध्यायोंको ऐतरेय-उपनिषद्के नामसे कहा गया है। इन तीन अध्यायोंमें ब्रह्मविद्याकी प्रधानता है, इस कारण इन्हींको 'उपनिषद्' माना है।

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः। शान्तिः॥ शान्तिः॥॥

ॐ=हे सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन्; **मे**=मेरी; **वाक्**=वाक्-इन्द्रिय; **मनसि**=मनमें; **प्रतिष्ठिता**=स्थित हो जाय; **मे**=मेरा; **मनः**=मन; **वाचि**=वाक्-इन्द्रियमें; **प्रतिष्ठितम्**=स्थित हो जाय; **आविः**=हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर; **मे**=मेरे लिये; **आवीः एधि**=(तू) प्रकट हो; **मे**=(हे मन और वाणी! तुम दोनों) मेरे लिये; **वेदस्य**=वेदविषयक ज्ञानको; **आणीस्थः**=लानेवाले बनो; **मे**=मेरा; **श्रुतम्**=सुना हुआ ज्ञान; **मा प्रहासीः**=(मुझे) न छोड़े; **अनेन अधीतेन**=इस अध्ययनके द्वारा; **अहोरात्रान्**=(मैं) दिन और रात्रियोंको; **संदधामि**=एक कर दूँ; **ऋतम्**=(मैं) श्रेष्ठ शब्दोंको ही; **वदिष्यामि**=बोलूँगा; **सत्यम्**=सत्य ही; **वदिष्यामि**=बोला करूँगा; **तत्**=वह (ब्रह्म); **माम् अवतु**=मेरी रक्षा करे; **तत्**=वह (ब्रह्म); **वक्तारम् अवतु**=आचार्यकी रक्षा करे; **अवतु माम्**=रक्षा करे मेरी (और); **अवतु वक्तारम्**=रक्षा करे (मेरे) आचार्यकी; **अवतु वक्तारम्**=रक्षा करे (मेरे) आचार्यकी; **ओम् शान्तिः**=भगवान् शान्तिस्वरूप हैं; **शान्तिः**=शान्तिस्वरूप हैं; **शान्तिः**=शान्तिस्वरूप हैं।

व्याख्या—इस शान्तिपाठमें सब प्रकारके विघ्नोंकी शान्तिके लिये परमात्मासे प्रार्थना की गयी है। प्रार्थनाका भाव यह है कि 'हे सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन्! मेरी वाणी मनमें स्थित हो जाय और मन वाणीमें स्थित हो जाय, अर्थात् मेरे मन-वाणी दोनों एक हो जायँ! ऐसा न हो कि मैं वाणीसे एक पाठ पढ़ता रहूँ और मन दूसरा ही चिन्तन करता रहे, या मनमें दूसरा ही भाव रहे और वाणीद्वारा दूसरा प्रकट करूँ। मेरे संकल्प और वचन दोनों विशुद्ध होकर एक हो जायँ। हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर! आप मेरे लिये प्रकट हो जाइये—अपनी योगमायाका पर्दा मेरे सामनेसे हटा लीजिये। (इस प्रकार परमात्मासे प्रार्थना करके अब उपासक अपने मन और वाणीसे कहता है कि) हे मन और वाणी! तुम दोनों मेरे लिये वेदविषयक ज्ञानकी प्राप्ति करानेवाले बनो—तुम्हारी सहायतासे मैं वेदविषयक ज्ञान प्राप्त कर सकूँ। मेरा गुरुमुखसे सुना हुआ और अनुभवमें आया हुआ ज्ञान मेरा त्याग न करे अर्थात् वह सर्वदा मुझे स्मरण रहे—मैं उसे कभी न भूलूँ। मेरी इच्छा है कि अपने अध्ययनद्वारा मैं दिन और रात एक कर दूँ। अर्थात् रात-दिन निरन्तर ब्रह्मविद्याका पठन और चिन्तन ही करता रहूँ। मेरे समयका एक क्षण भी व्यर्थ न बीते। मैं अपनी वाणीसे सदा ऐसे ही शब्दोंका उच्चारण करूँगा, जो सर्वथा उत्तम हों, जिनमें किसी प्रकारका दोष न हो; तथा जो कुछ बोलूँगा, सर्वथा सत्य बोलूँगा—जैसा देखा, सुना और समझा हुआ भाव है, ठीक वही भाव वाणीद्वारा प्रकट करूँगा। उसमें किसी प्रकारका छल नहीं करूँगा। (इस प्रकार अपने मन और वाणीको दृढ़ बनाकर अब पुनः परमात्मासे प्रार्थना करता है—) वे परब्रह्म परमात्मा मेरी रक्षा करें। वे परमेश्वर मुझे ब्रह्मविद्या सिखानेवाले आचार्यकी रक्षा करें। वे रक्षा करें मेरी और मेरे आचार्यकी, जिससे मेरे अध्ययनमें किसी प्रकारका विघ्न उपस्थित न

हो। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—तीनों प्रकारके विघ्नोंकी सर्वथा निवृत्तिके लिये तीन बार 'शान्तिः' पदका उच्चारण किया गया है। भगवान् शान्तिस्वरूप हैं, इसलिये उनके स्मरणसे शान्ति निश्चित है।

प्रथम अध्याय

प्रथम खण्ड

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥१॥

ॐ=ॐ; **इदम्**=यह जगत्; **अग्रे**=(प्रकट होनेसे) पहले; **एकः**=एकमात्र; **आत्मा**=परमात्मा; **वै**=ही; **आसीत्**=था; **अन्यत्**=(उसके सिवा) दूसरा; **किंचन**=कोई; **एव**=भी; **मिषत्**=चेष्टा करनेवाला; **न**=नहीं था; **सः**=उस (परम पुरुष परमात्मा)ने; **नु**=(मैं) निश्चय ही; **लोकान् सृजै**=लोकोंकी रचना करूँ; **इति**=इस प्रकार; **ईक्षत**=विचार किया ॥१॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें परमात्माके सृष्टि-रचना-विषयक प्रथम संकल्पका वर्णन है। भाव यह है कि देखने, सुनने और समझनेमें आनेवाले जड-चेतनमय प्रत्यक्ष जगत्के इस रूपमें प्रकट होनेसे पहले कारण-अवस्थामें एकमात्र परमात्मा ही थे। उस समय इसमें भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंकी अभिव्यक्ति नहीं थी। उस समय उन परब्रह्म परमात्माके सिवा दूसरा कोई भी चेष्टा करनेवाला नहीं था। सृष्टिके आदिमें उन परम पुरुष परमात्माने यह विचार किया कि 'मैं प्राणियोंके कर्म-फल-भोगार्थ भिन्न-भिन्न लोकोंकी रचना करूँ' ॥ १ ॥

स इमाँल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः ॥ २ ॥

सः=उसने; **अम्भः**=अम्भ (द्युलोक तथा उसके ऊपरके लोक); **मरीचीः**=मरीचि (अन्तरिक्ष); **मरम्**=मर (मर्त्यलोक) और; **आपः**=जल (पृथ्वीके नीचेके लोक); **इमान्**=इन सब; **लोकान् असृजत**=लोकोंकी रचना की; **दिवम् परेण**=द्युलोक—स्वर्गलोकसे ऊपरके लोक; **प्रतिष्ठा**=(तथा) उनका आधारभूत; **द्यौः**=द्युलोक भी; **अदः**=वे सब; **अम्भः**='अम्भ' के नामसे कहे गये हैं; **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष लोक (भुवर्लोक) ही; **मरीचयः**=मरीचि है (तथा); **पृथिवी**=यह पृथ्वी ही; **मरः**=मर—मृत्युलोकके नामसे कही गयी है (और); **याः**=जो; **अधस्तात्**=(पृथ्वीके) नीचे—भीतरी भागमें (स्थूल पातालादि लोक) हैं; **ताः**=वे; **आपः**=जलके नामसे कहे गये हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—यह विचार करके परब्रह्म परमेश्वरने अम्भ, मरीचि, मर और जल—इन लोकोंकी रचना की। इन शब्दोंको स्पष्ट करनेके लिये आगे श्रुतिमें ही कहा गया है कि स्वर्गलोकसे ऊपर जो महः, जनः, तपः और सत्य लोक हैं, वे और उनका आधार द्युलोक—इन पाँचों लोकोंको यहाँ 'अम्भः' नामसे कहा गया है। उसके नीचे जो अन्तरिक्षलोक (भुवर्लोक) है, जिसमें सूर्य, चन्द्र और तारागण—ये सब किरणोंवाले लोकविशेष हैं, उसका वर्णन यहाँ मरीचि नामसे किया गया है। उसके नीचे जो यह पृथ्वीलोक है—जिसको मृत्युलोक भी कहते हैं, वह यहाँ 'मर'के नामसे कहा गया है और उसके नीचे अर्थात् पृथ्वीके भीतर जो पातालादि लोक हैं, वे 'आपः' के नामसे कहे गये हैं। तात्पर्य यह कि जगत्में जितने भी लोक त्रिलोकी, चतुर्दश भुवन एवं सप्त लोकोंके नामसे प्रसिद्ध हैं, उन सब लोकोंकी परमात्माने रचना की ॥ २ ॥

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत् ॥ ३ ॥

सः=उसने; **ईक्षत**=फिर विचार किया; **इमे**=ये; **नु**=तो हुए; **लोकाः**=लोक; (अब) **लोकपालान् नु सृजै**=लोकपालोंकी भी रचना मुझे अवश्य करनी चाहिये; **इति**=यह विचार करके; **सः**=उसने; **अद्भ्यः**=जलसे; **एव**=ही; **पुरुषम्**=हिरण्यगर्भरूप पुरुषको; **समुद्धृत्य**=निकालकर; **अमूर्छयत्**=उसे मूर्तिमान् बनाया ॥ ३ ॥

व्याख्या—इस प्रकार इन समस्त लोकोंकी रचना करनेके अनन्तर परमेश्वरने फिर विचार किया कि 'ये सब लोक तो रचे गये। अब इन लोकोंकी रक्षा करनेवाले लोकपालोंकी रचना भी मुझे अवश्य करनी चाहिये, अन्यथा बिना रक्षकके ये सब लोक सुरक्षित नहीं रह सकेंगे।' यह सोचकर उन्होंने जलमेंसे अर्थात् जल आदि सूक्ष्म महाभूतोंमेंसे हिरण्मय

पुरुषको निकालकर उसको समस्त अङ्ग-उपाङ्गोंसे युक्त करके मूर्तिमान् बनाया। यहाँ 'पुरुष' शब्दसे सृष्टिकालमें सबसे पहले प्रकट किये जानेवाले ब्रह्माका वर्णन किया गया है; क्योंकि ब्रह्मासे ही सब लोकपालोंकी और प्रजाको बढ़ानेवाले प्रजापतियोंकी उत्पत्ति हुई है—यह विस्तृत वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है और ब्रह्माकी उत्पत्ति जलके भीतरसे—कमलनालसे हुई, ऐसा भी वर्णन आता है। अतः यहाँ 'पुरुष' शब्दका अर्थ ब्रह्मा मान लेना उचित जान पड़ता है ॥ ३ ॥

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डं मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ् निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः ॥ ४ ॥

(परमात्माने) **तम्**=उस (हिरण्यगर्भरूप पुरुष) को लक्ष्य करके; **अभ्यतपत्**=संकल्परूप तप किया; **अभितप्तस्य**=उस तपसे तपे हुए; **तस्य**=हिरण्यगर्भके शरीरसे; **यथाण्डम्**=(पहले) अण्डेकी तरह (फूटकर); **मुखम्**=मुख-छिद्र; **निरभिद्यत**=प्रकट हुआ; **मुखात्**=मुखसे; **वाक्**=वाक्-इन्द्रिय (और); **वाचः**=वाक्-इन्द्रियसे; **अग्निः**=अग्निदेवता प्रकट हुआ (फिर); **नासिके**=नासिकाके दोनों छिद्र; **निरभिद्येताम्**=प्रकट हुए; **नासिकाभ्याम्**=नासिका-छिद्रोंमेंसे; **प्राणः**=प्राण उत्पन्न हुआ (और); **प्राणात्**=प्राणसे; **वायुः**=वायुदेवता उत्पन्न हुआ (फिर); **अक्षिणी**=दोनों आँखोंके छिद्र; **निरभिद्येताम्**=प्रकट हुए; **अक्षिभ्याम्**=आँखोंके छिद्रोंमेंसे; **चक्षुः**=नेत्र-इन्द्रिय प्रकट हुई (और); **चक्षुषः**=नेत्र-इन्द्रियसे; **आदित्यः**=सूर्य प्रकट हुआ; (फिर) **कर्णौ**=दोनों कानोंके छिद्र; **निरभिद्येताम्**=प्रकट हुए; **कर्णाभ्याम्**=कानोंसे; **श्रोत्रम्**=श्रोत्र-इन्द्रिय प्रकट हुई (और); **श्रोत्रात्**=श्रोत्र-इन्द्रियसे; **दिशः**=दिशाएँ प्रकट हुई (फिर); **त्वक्**=त्वचा; **निरभिद्यत**=प्रकट हुई; **त्वचः**=त्वचासे; **लोमानि**=रोम उत्पन्न हुए (और); **लोमभ्यः**=रोमोंसे; **ओषधिवनस्पतयः**=ओषधि और वनस्पतियाँ प्रकट हुईं (फिर); **हृदयम्**=हृदय; **निरभिद्यत**=प्रकट हुआ; **हृदयात्**=हृदयसे; **मनः**=मनका आविर्भाव हुआ (और); **मनसः**=मनसे; **चन्द्रमाः**=चन्द्रमा उत्पन्न हुआ (फिर); **नाभिः**=नाभि; **निरभिद्यत**=प्रकट हुई; **नाभ्याः**=नाभिसे; **अपानः**=अपानवायु प्रकट हुआ (और); **अपानात्**=अपानवायुसे; **मृत्युः**=मृत्युदेवता उत्पन्न हुआ (फिर); **शिश्नम्**=लिङ्ग; **निरभिद्यत**=प्रकट हुआ; **शिश्नात्**=लिङ्गसे; **रेतः**=वीर्य (और); **रेतसः**=वीर्यसे; **आपः**=जल उत्पन्न हुआ ॥ ४ ॥

व्याख्या—इस प्रकार हिरण्यगर्भ पुरुषको उत्पन्न करके उसके अङ्ग-उपाङ्गोंको व्यक्त करनेके उद्देश्यसे जब परमात्माने संकल्परूप तप किया, तब उस तपके फलस्वरूप हिरण्यगर्भ पुरुषके शरीरमें सर्वप्रथम अण्डेकी भाँति फटकर मुख-छिद्र निकला। मुखसे वाक्-इन्द्रिय उत्पन्न हुई और वाक्-इन्द्रियसे उसका अधिष्ठातृ-देवता अग्नि उत्पन्न हुआ। फिर नासिकाके दोनों छिद्र हुए, उनमेंसे प्राणवायु प्रकट हुआ और प्राणोंसे वायुदेवता उत्पन्न हुआ। यहाँ घ्राणेन्द्रियका अलग वर्णन नहीं है; अतः घ्राण-इन्द्रिय और उसके देवता अश्विनीकुमार भी नासिकासे ही उत्पन्न हुए—यों समझ लेना चाहिये। इसी प्रकार रसना-इन्द्रिय और उसके देवताका भी अलग वर्णन नहीं है; अतः मुखसे वाक्-इन्द्रियके साथ-साथ रसना-इन्द्रिय और उसके देवताकी भी उत्पत्ति हुई—यह समझ लेना चाहिये। फिर आँखोंके दोनों छिद्र प्रकट हुए, उनमेंसे नेत्र-इन्द्रिय और नेत्र-इन्द्रियसे उसका देवता सूर्य उत्पन्न हुआ। फिर कानोंके दोनों छिद्र निकले, उनमेंसे श्रोत्र-इन्द्रिय प्रकट हुई और श्रोत्र-इन्द्रियसे उसके देवता दिशाएँ उत्पन्न हुईं; उसके बाद त्वचा (चर्म) प्रकट हुई, त्वचासे रोम उत्पन्न हुए और रोमोंसे ओषधियाँ और वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं। फिर हृदय प्रकट हुआ, हृदयसे मन और मनसे उसका अधिष्ठाता चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। फिर नाभि प्रकट हुई, नाभिसे अपानवायु और अपानवायुसे गुदा-इन्द्रियका अधिष्ठाता मृत्युदेवता उत्पन्न हुआ। नाभिकी उत्पत्तिके साथ ही गुदा-छिद्र और गुदा-इन्द्रियकी उत्पत्ति भी समझ लेनी चाहिये। यहाँ अपानवायु मल-त्यागमें हेतु होनेके कारण और उसका स्थान नाभि होनेके कारण मुख्यतासे उसीका नाम लिया गया है। परन्तु मृत्यु अपानका अधिष्ठाता नहीं है, वह गुदा-इन्द्रियका

अधिष्ठाता है; अतः उपलक्षणसे गुदा-इन्द्रियका वर्णन भी इसके अन्तर्गत मान लेना उचित प्रतीत होता है। फिर लिङ्ग प्रकट हुआ, उसमेंसे वीर्य और उससे जल उत्पन्न हुआ। यहाँ लिङ्गसे उपस्थेन्द्रिय और उसका देवता प्रजापति उत्पन्न हुआ—यह बात भी समझ लेनी चाहिये ॥ ४ ॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतंस्तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत् ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥ १ ॥

ताः=वे; **एताः सृष्टाः**= परमात्माद्वारा रचे हुए ये सब; **देवताः**=अग्नि आदि देवता; **अस्मिन्**=इस (संसाररूप); **महति**=महान्; **अर्णवे**=समुद्रमें; **प्रापतन्**=आ पड़े; (तब परमात्माने) **तम्**=उस (समस्त देवताओंके समुदाय) को; **अशनायापिपासाभ्याम्**=भूख और प्याससे; **अन्ववार्जत्**=युक्त कर दिया; (तब) **ताः**=वे सब अग्नि आदि देवता; **एनम् अब्रुवन्**=इस परमात्मासे बोले; (भगवन्) **नः**=हमारे लिये; **आयतनम् प्रजानीहि**=एक ऐसे स्थानकी व्यवस्था कीजिये; **यस्मिन्**=जिसमें; **प्रतिष्ठिताः**=स्थित रहकर; [**वयम्**=हमलोग;] **अन्नम्**=अन्न; **अदाम इति**=भक्षण करें ॥ १ ॥

व्याख्या—परमात्माद्वारा रचे गये वे इन्द्रियोंके अधिष्ठाता अग्नि आदि सब देवता संसाररूपी इस महान् समुद्रमें आ पड़े। अर्थात् हिरण्यगर्भ पुरुषके शरीरसे उत्पन्न होनेके बाद उनको कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं मिला, जिससे वे उस समष्टि-शरीरमें ही रहे। तब परमात्माने उस देवताओंके समुदायको भूख और पिपासासे संयुक्त कर दिया। अतः भूख और प्याससे पीड़ित होकर वे अग्नि आदि सब देवता अपनी सृष्टि करनेवाले परमात्मासे बोले—'भगवन्! हमारे लिये एक ऐसे स्थानकी व्यवस्था कीजिये, जिसमें रहकर हमलोग अन्न भक्षण कर सकें—अपना-अपना आहार ग्रहण कर सकें' ॥ १ ॥

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ॥२॥

ताभ्यः=(परमात्मा) उन देवताओंके लिये; **गाम्**=गौका शरीर; **आनयत्**=लाये; (उसे देखकर) **ताः**=उन्होंने; **अब्रुवन्**=कहा; **नः**=हमारे लिये; **अयम्**=यह; **अलम्**=पर्याप्त; **न वै**=नहीं है; **इति**=इस प्रकार उनके कहनेपर (परमात्मा); **ताभ्यः**=उनके लिये; **अश्वम्**=घोड़ेका शरीर; **आनयत्**=लाये; (उसे देखकर भी) **ताः**=उन्होंने (फिर वैसे ही); **अब्रुवन्**=कहा कि; **अयम्**=यह भी; **नः**=हमारे लिये; **अलम्**=पर्याप्त; **न वै इति**=नहीं है ॥ २ ॥

व्याख्या—इस प्रकार उनके प्रार्थना करनेपर सृष्टिकर्ता परमेश्वरने उन सबके रहनेके लिये एक गौका शरीर बनाकर उनको दिखाया। उसे देखकर उन्होंने कहा—'भगवन्! यह हमारे लिये पर्याप्त नहीं है, अर्थात् इस शरीरसे हमारा कार्य अच्छी तरह नहीं चलनेका। इससे श्रेष्ठ किसी दूसरे शरीरकी रचना कीजिये।' तब परमात्माने उनके लिये घोड़ेका शरीर रचकर उनको दिखाया। उसे देखकर वे फिर बोले—'भगवन्! यह भी हमारे लिये यथेष्ट नहीं है, इससे भी हमारा काम नहीं चल सकता। आप कोई तीसरा ही शरीर बनाकर हमें दीजिये' ॥ २ ॥

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति। पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीद्यथायतनं प्रविशतेति ॥ ३ ॥

ताभ्यः=(तब परमात्मा) उनके लिये; **पुरुषम्**=मनुष्यका शरीर; **आनयत्**=लाये; (उसे देखकर) **ताः**=वे (अग्नि आदि सब देवता); **अब्रुवन्**=बोले; **बत**=बस; **सुकृतम् इति**=यह बहुत सुन्दर बन गया; **वाव**=सचमुच ही; **पुरुषः**=मनुष्य-शरीर; **सुकृतम्**=(परमात्माकी) सुन्दर रचना है; **ताः अब्रवीत्**=(फिर) उन सब देवताओंसे (परमात्माने) कहा; (तुमलोग) **यथायतनम्**=अपने-अपने योग्य आश्रयोंमें; **प्रविशत इति**=प्रविष्ट हो जाओ ॥ ३ ॥

व्याख्या—इस प्रकार जब उन्होंने गाय और घोड़ेके शरीरोंको अपने लिये यथेष्ट नहीं समझा, तब परमात्माने उनके लिये पुरुषकी अर्थात् मनुष्य-शरीरकी रचना की और वह उनको दिखाया। उसे देखते ही सब देवता बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'यह हमारे लिये बहुत सुन्दर निवास-स्थान बन गया। इसमें हम आरामसे रह सकेंगे और हमारी सब आवश्यकताएँ भलीभाँति पूर्ण हो सकेंगी।' सचमुच मनुष्य-शरीर परमात्माकी सुन्दर और श्रेष्ठ रचना है; इसीलिये यह देवदुर्लभ माना गया है और शास्त्रोंमें जगह-जगह इसकी महिमा गायी गयी है; क्योंकि इसी शरीरमें जीव परमात्माके आज्ञानुसार यथायोग्य साधन करके उन्हें प्राप्त कर सकता है। जब सब देवताओंने उस शरीरको पसंद किया, तब उनसे परमेश्वरने कहा—तुमलोग अपने-अपने योग्य स्थान देखकर इस शरीरमें प्रवेश कर जाओ॥ ३॥

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभि प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्॥ ४॥

अग्निः=(तब) अग्निदेवता; **वाक्**=वाक्-इन्द्रिय; **भूत्वा**=बनकर; **मुखम् प्राविशत्**=मुखमें प्रविष्ट हो गया; **वायुः**=वायुदेवता; **प्राणः**=प्राण; **भूत्वा**=बनकर; **नासिके प्राविशत्**=नासिकाके छिद्रोंमें प्रविष्ट हो गया; **आदित्यः**=सूर्यदेवता; **चक्षुः**=नेत्र-इन्द्रिय; **भूत्वा**=बनकर; **अक्षिणी प्राविशत्**=आँखोंके गोलकोंमें प्रविष्ट हो गया; **दिशः**=दिशाओंके अभिमानी देवता; **श्रोत्रम्**=श्रोत्र-इन्द्रिय; **भूत्वा**=बनकर; **कर्णौ प्राविशन्**=कानोंमें प्रविष्ट हो गये; **ओषधिवनस्पतयः**=ओषधि और वनस्पतियोंके अभिमानी देवता; **लोमानि**=रोएँ; **भूत्वा**=बनकर; **त्वचम् प्राविशन्**=त्वचामें प्रविष्ट हो गये; **चन्द्रमाः**=चन्द्रमा; **मनः**=मन; **भूत्वा**=बनकर; **हृदयम् प्राविशत्**=हृदयमें प्रविष्ट हो गया; **मृत्युः**=मृत्युदेवता; **अपानः**=अपानवायु; **भूत्वा**=बनकर; **नाभिम् प्राविशत्**=नाभिमें प्रविष्ट हो गया; **आपः**=जलका अभिमानी देवता; **रेतः**=वीर्य; **भूत्वा**=बनकर; **शिश्नम् प्राविशन्**=लिङ्गमें प्रविष्ट हो गया॥ ४॥

व्याख्या—सृष्टिकर्ता परमेश्वरकी आज्ञा पाकर अग्निदेवताने वाक्-इन्द्रियका रूप धारण किया और पुरुषके (मनुष्य-शरीरके) मुखमें प्रविष्ट हो गये। उन्होंने जिह्वाको अपना आश्रय बना लिया। यहाँ वरुणदेवता भी रसना-इन्द्रिय बनकर मुखमें प्रविष्ट हो गये, यह बात अधिक समझ लेनी चाहिये। फिर वायुदेवता प्राण होकर नासिकाके छिद्रोंमें (उसी मार्गसे समस्त शरीरमें) प्रविष्ट हो गये। अश्विनीकुमार भी घ्राण-इन्द्रियका रूप धारण करके नासिकामें प्रविष्ट हो गये—यह बात भी यहाँ उपलक्षणसे समझी जा सकती है; क्योंकि उसका पृथक् वर्णन नहीं है। उसके बाद सूर्यदेवता नेत्र-इन्द्रिय बनकर आँखोंमें प्रविष्ट हो गये। दिशाभिमानी देवता श्रोत्रेन्द्रिय बनकर दोनों कानोंमें प्रविष्ट हो गये। ओषधि और वनस्पतियोंके अभिमानी देवता रोम बनकर चमड़ेमें प्रविष्ट हो गये तथा चन्द्रमा मनका रूप धारण करके हृदयमें प्रविष्ट हो गये। मृत्युदेवता अपान (और पायु-इन्द्रिय) का रूप धारण करके नाभिमें प्रविष्ट हो गये। जलके अधिष्ठातृ-देवता वीर्य बनकर लिङ्गमें प्रविष्ट हो गये। इस प्रकार सब-के-सब देवता इन्द्रियोंके रूपमें अपने-अपने उपयुक्त स्थानोंमें प्रविष्ट होकर स्थित हो गये॥ ४॥

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति। ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति। तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः॥५॥

तम्=उस परमात्मासे; **अशनायापिपासे**=भूख और प्यास—ये दोनों; **अब्रूताम्**=बोलीं; **आवाभ्याम्**=हमारे लिये भी; **अभिप्रजानीहि**=(स्थानकी) व्यवस्था कीजिये; **इति**=यह (सुनकर); **ते**=उनसे; **अब्रवीत्**=(परमात्माने) कहा; **वाम्**=तुम दोनोंको (मैं); **एतासु**=इन सब; **देवतासु**=देवताओंमें; **एव**=ही; **आभजामि**=भाग दिये देता हूँ; **एतासु**=इन (देवताओं) में ही (तुम्हें); **भागिन्यौ**=भागीदार; **करोमि इति**=बनाता हूँ; **तस्मात्**=इसलिये; **यस्यै कस्यै च**=जिस किसी भी; **देवतायै**=देवताके लिये; **हविः**=हवि (भिन्न-भिन्न विषय); **गृह्यते**=(इन्द्रियोंद्वारा)

ग्रहण की जाती है; **अस्याम्**=उस देवता (के भोजन) में; **अशनायापिपासे**=भूख और प्यास—दोनों; **एव**=ही; **भागिन्यौ**=भागीदार; **भवतः**=होती हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—तब भूख और प्यास—ये दोनों परमेश्वरसे कहने लगीं—'भगवन्! इन सबके लिये तो आपने रहनेके स्थान निश्चित कर दिये, अब हमारे लिये भी किसी स्थान-विशेषकी व्यवस्था करके उसमें हमें स्थापित कीजिये।' उनके यों कहनेपर उनसे सृष्टिके रचयिता परमेश्वरने कहा—'तुम दोनोंके लिये पृथक स्थानकी आवश्यकता नहीं है। तुम दोनोंको मैं इन देवताओंके ही स्थानोंमें भाग दिये देता हूँ।' इन देवताओंके आहारमें मैं तुम दोनोंको भागीदार बना देता हूँ।' सृष्टिके आदिमें ही परमेश्वरने ऐसा नियम बना दिया था; इसीलिये जब जिस किसी भी देवताको देनेके लिये इन्द्रियोंद्वारा विषय-भोग ग्रहण किये जाते हैं, उस देवताके भागमें ये क्षुधा और पिपासा भी हिस्सेदार होती ही हैं अर्थात् उस इन्द्रियके अभिमानी देवताकी तृप्तिके साथ क्षुधा-पिपासाको भी शान्ति मिलती है ॥ ५ ॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय खण्ड

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ॥ १ ॥

सः=उस (परमात्मा) ने; **ईक्षत**=फिर विचार किया; **नु**=निश्चय ही; **इमे**=ये सब; **लोकाः**=लोक; **च**=और; **लोकपालाः**=लोकपाल; **च**=भी; (रचे गये, अब) **एभ्यः**=इनके लिये; **अन्नम् सृजै इति**=मुझे अन्नकी सृष्टि करनी चाहिये ॥ १ ॥

व्याख्या—इन सबकी रचना हो जानेपर परमेश्वरने फिर विचार किया—'ये सब लोक और लोकपाल तो रचे गये—इनकी रचनाका कार्य तो पूरा हो गया। अब इनके निर्वाहके लिये अन्न भी होना चाहिये—भोग्य पदार्थोंकी भी व्यवस्था होनी चाहिये; क्योंकि इनके साथ भूख-प्यास भी लगा दी गयी है। अतः उसकी (अन्नकी) भी रचना करूँ' ॥ १ ॥

सोऽपोऽभ्यतपत्ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत। या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत् ॥ २ ॥

सः=उस (परमात्मा) ने; **अपः**=जलोंको (पाँचों सूक्ष्म महाभूतोंको); **अभ्यतपत्**=तपाया (संकल्पद्वारा उनमें क्रिया उत्पन्न की); **ताभ्यः अभितप्ताभ्यः**=उन तपे हुए सूक्ष्म पाँच भूतोंसे; **मूर्तिः**=मूर्ति; **अजायत**=उत्पन्न हुई; **वै**=निश्चय ही; **या**=जो; **सा**=वह; **मूर्तिः**=मूर्ति; **अजायत**=उत्पन्न हुई; **तत् वै**=वही; **अन्नम्**=अन्न है ॥ २ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त प्रकारसे विचार करके परमेश्वरने जलोंको अर्थात् पाँचों सूक्ष्म महाभूतोंको तपाया—अपने संकल्पद्वारा उनमें क्रिया उत्पन्न की। परमात्माके संकल्पद्वारा संचालित हुए उन सूक्ष्म महाभूतोंसे मूर्ति प्रकट हुई अर्थात् उनका स्थूल रूप उत्पन्न हुआ। वह जो मूर्ति अर्थात् उन पाँच महाभूतोंका स्थूलरूप उत्पन्न हुआ, वही अन्न—देवताओंके लिये भोग्य है ॥ २ ॥

तदेनत्सृष्टं पराङत्यजिघांसत्तद्वाचाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम्। यद्धैनद्वाचाग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ३ ॥

सृष्टम्=उत्पन्न किया हुआ; **तत्**=वह; **एनत्**=यह अन्न; **पराङ्**=(भोक्ता पुरुषसे) विमुख होकर; **अत्यजिघांसत्**=भागनेकी चेष्टा करने लगा; **तत्**=(तब उस पुरुषने) उसको; **वाचा**=वाणीद्वारा; **अजिघृक्षत्**=ग्रहण करनेकी इच्छा की; (परंतु वह) **तत्**=उसको; **वाचा**=वाणीद्वारा; **ग्रहीतुम् न अशक्नोत्**=ग्रहण नहीं कर सका; **यत्**=यदि; **सः**=वह; **एनत्**=इस अन्नको; **वाचा**=वाणीद्वारा; **ह**=ही; **अग्रहैष्यत्**=ग्रहण कर सकता; (तो अन्न भी मनुष्य) **ह**=अवश्य ही; **अन्नम् अभिव्याहृत्य**=अन्नका वर्णन करके; **एव**=ही; **अत्रप्स्यत्**=तृप्त हो जाता ॥ ३ ॥

व्याख्या—लोकों और लोकपालोंकी आहारसम्बन्धी आवश्यकताको पूर्ण करनेके लिये उत्पन्न किया हुआ वह अन्न यों समझकर कि यह मुझे खानेवाला तो मेरा विनाशक ही है, उससे छुटकारा पानेके लिये मुख फेरकर भागने लगा। तब उस मनुष्यके रूपमें उत्पन्न हुए जीवात्माने उस अन्नको वाणीद्वारा पकड़ना चाहा; परंतु वह उसे वाणीद्वारा पकड़ नहीं सका। यदि उस पुरुषने वाणीद्वारा अन्नको ग्रहण कर लिया होता तो अब भी मनुष्य अन्नका वाणीद्वारा उच्चारण करके ही तृप्त हो जाते—अन्नका नाम लेनेमात्रसे उनका पेट भर जाता; परंतु ऐसा नहीं होता ॥ ३ ॥

तत्प्राणेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुं स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राप्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥४॥

(तब उस पुरुषने) **तत्**=उस अन्नको; **प्राणेन**=घ्राण-इन्द्रियके द्वारा;* **अजिघृक्षत्**=पकड़ना चाहा; (परंतु वह) **तत्**=उसको; **प्राणेन**=घ्राणेन्द्रियद्वारा भी; **ग्रहीतुम् न अशक्नोत्**=नहीं पकड़ सका; **यत्**=यदि; **सः**=वह; **एनत्**=इस अन्नको; **प्राणेन**=घ्राण-इन्द्रियद्वारा; **ह**=ही; **अग्रहैष्यत्**=पकड़ सकता; (तो अब भी मनुष्य) **ह**=अवश्य; **अन्नम्**=अन्नको; **अभिप्राण्य**=सूँघकर; **एव**=ही; **अत्रप्स्यत्**=तृप्त हो जाता ॥ ४ ॥

व्याख्या—तब उस पुरुषने अन्नको प्राणके द्वारा अर्थात् घ्राण-इन्द्रियके द्वारा पकड़ना चाहा, परंतु वह उसको घ्राण-इन्द्रियके द्वारा भी नहीं पकड़ सका। यदि वह इस अन्नको घ्राण-इन्द्रियद्वारा पकड़ सकता तो अब भी लोग अन्नको नाकसे सूँघकर ही तृप्त हो जाते; परंतु ऐसा नहीं देखा जाता ॥ ४ ॥

तच्चक्षुषाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुं स यद्धैनच्चक्षुषाग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ५ ॥

(तब उस पुरुषने) **तत्**=उस अन्नको; **चक्षुषा**=आँखोंसे; **अजिघृक्षत्**=पकड़ना चाहा; (परंतु वह) **तत्**=उसको; **चक्षुषा**=आँखोंके द्वारा; **ग्रहीतुम् न अशक्नोत्**=नहीं पकड़ सका; **यत्**=यदि; **सः**=वह; **एनत्**=इस अन्नको; **चक्षुषा**=आँखोंसे; **ह**=ही; **अग्रहैष्यत्**=पकड़ लेता तो; **ह**=अवश्य ही; (अब भी मनुष्य) **अन्नम्**=अन्नको; **दृष्ट्वा**=देखकर; **एव**=ही; **अत्रप्स्यत्**=तृप्त हो जाता ॥ ५ ॥

व्याख्या—फिर उस पुरुषने अन्नको आँखोंसे पकड़ना चाहा; परंतु वह उसको आँखोंके द्वारा भी नहीं पकड़ सका। यदि वह इस अन्नको आँखोंसे ग्रहण कर सकता तो अवश्य ही आजकल भी लोग अन्नको केवल देखकर ही तृप्त हो जाते; परंतु ऐसी बात नहीं देखी जाती ॥ ५ ॥

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुं स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥६॥

(तब उस पुरुषने) **तत्**=उस अन्नको; **श्रोत्रेण**=कानोंद्वारा; **अजिघृक्षत्**=पकड़ना चाहा; (परंतु वह) **तत्**=उसको; **श्रोत्रेण**=कानोंद्वारा; **ग्रहीतुम् न अशक्नोत्**=नहीं पकड़ सका; **यत्**=यदि; **सः**=वह; **एनत्**=इसको; **श्रोत्रेण**=कानोंद्वारा; **ह**=ही; **अग्रहैष्यत्**=पकड़ लेता तो; **ह**=निस्सन्देह; (अब भी मनुष्य) **अन्नम्**=अन्नका नाम; **श्रुत्वा**=सुनकर; **एव**=ही; **अत्रप्स्यत्**=तृप्त हो जाता ॥ ६ ॥

व्याख्या—फिर उस पुरुषने अन्नको कानोंद्वारा पकड़ना चाहा; परंतु वह उसको कानोंद्वारा भी नहीं पकड़ सका। यदि वह इसको कानोंसे पकड़ सकता तो अवश्य ही अब भी मनुष्य केवल अन्नका नाम सुनकर ही तृप्त हो जाते; परंतु यह देखनेमें नहीं आता ॥ ६ ॥

तत्त्वचाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुं स यद्धैनत्त्वचाग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥७॥

(तब उस पुरुषने) **तत्**=उसको; **त्वचा**=चमड़ीद्वारा; **अजिघृक्षत्**=पकड़ना चाहा; (परंतु) **तत्**=उसको;

* घ्राण-इन्द्रियका विषय गन्ध वायु और प्राणके सहयोगसे ही उक्त इन्द्रियद्वारा ग्रहण होता है तथा घ्राण-इन्द्रियके निवासस्थान नासिकाछिद्रोंसे ही प्राणका आवागमन होता है। इसलिये यहाँ घ्राणेन्द्रियके ही स्थानमें 'प्राण' शब्द प्रयुक्त हुआ है, यह जान पड़ता है; क्योंकि अन्तमें प्राणके ही एक भेद अपानद्वारा अन्नका ग्रहण होना बताया गया है। अतः यहाँ प्राणसे ग्रहण न किया जाना माननेसे पूर्वापरविरोध आयेगा।

व्याख्या—लोकों और लोकपालोंकी आहारसम्बन्धी आवश्यकताको पूर्ण करनेके लिये उत्पन्न किया हुआ वह अन्न यों समझकर कि यह मुझे खानेवाला तो मेरा विनाशक ही है, उससे छुटकारा पानेके लिये मुख फेरकर भागने लगा। तब उस मनुष्यके रूपमें उत्पन्न हुए जीवात्माने उस अन्नको वाणीद्वारा पकड़ना चाहा; परंतु वह उसे वाणीद्वारा पकड़ नहीं सका। यदि उस पुरुषने वाणीद्वारा अन्नको ग्रहण कर लिया होता तो अब भी मनुष्य अन्नका वाणीद्वारा उच्चारण करके ही तृप्त हो जाते—अन्नका नाम लेनेमात्रसे उनका पेट भर जाता; परंतु ऐसा नहीं होता ॥ ३ ॥

तत्प्राणेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुं स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राप्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥४॥

(तब उस पुरुषने) **तत्**=उस अन्नको; **प्राणेन**=घ्राण-इन्द्रियके द्वारा;* **अजिघृक्षत्**=पकड़ना चाहा; (परंतु वह) **तत्**=उसको; **प्राणेन**=घ्राणेन्द्रियद्वारा भी; **ग्रहीतुम् न अशक्नोत्**=नहीं पकड़ सका; **यत्**=यदि; **सः**=वह; **एनत्**=इस अन्नको; **प्राणेन**=घ्राण-इन्द्रियद्वारा; **ह**=ही; **अग्रहैष्यत्**=पकड़ सकता; (तो अब भी मनुष्य) **ह**=अवश्य; **अन्नम्**=अन्नको; **अभिप्राप्य**=सूँघकर; **एव**=ही; **अत्रप्स्यत्**=तृप्त हो जाता ॥ ४ ॥

व्याख्या—तब उस पुरुषने अन्नको प्राणके द्वारा अर्थात् घ्राण-इन्द्रियके द्वारा पकड़ना चाहा, परंतु वह उसको घ्राण-इन्द्रियके द्वारा भी नहीं पकड़ सका। यदि वह इस अन्नको घ्राण-इन्द्रियद्वारा पकड़ सकता तो अब भी लोग अन्नको नाकसे सूँघकर ही तृप्त हो जाते; परंतु ऐसा नहीं देखा जाता ॥ ४ ॥

तच्चक्षुषाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुं स यद्धैनच्चक्षुषाग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ५ ॥

(तब उस पुरुषने) **तत्**=उस अन्नको; **चक्षुषा**=आँखोंसे; **अजिघृक्षत्**=पकड़ना चाहा; (परंतु वह) **तत्**=उसको; **चक्षुषा**=आँखोंके द्वारा; **ग्रहीतुम् न अशक्नोत्**=नहीं पकड़ सका; **यत्**=यदि; **सः**=वह; **एनत्**=इस अन्नको; **चक्षुषा**=आँखोंसे; **ह**=ही; **अग्रहैष्यत्**=पकड़ लेता तो; **ह**=अवश्य ही; (अब भी मनुष्य) **अन्नम्**=अन्नको; **दृष्ट्वा**=देखकर; **एव**=ही; **अत्रप्स्यत्**=तृप्त हो जाता ॥ ५ ॥

व्याख्या—फिर उस पुरुषने अन्नको आँखोंसे पकड़ना चाहा; परंतु वह उसको आँखोंके द्वारा भी नहीं पकड़ सका। यदि वह इस अन्नको आँखोंसे ग्रहण कर सकता तो अवश्य ही आजकल भी लोग अन्नको केवल देखकर ही तृप्त हो जाते; परंतु ऐसी बात नहीं देखी जाती ॥ ५ ॥

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुं स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥६॥

(तब उस पुरुषने) **तत्**=उस अन्नको; **श्रोत्रेण**=कानोंद्वारा; **अजिघृक्षत्**=पकड़ना चाहा; (परंतु वह) **तत्**=उसको; **श्रोत्रेण**=कानोंद्वारा; **ग्रहीतुम् न अशक्नोत्**=नहीं पकड़ सका; **यत्**=यदि; **सः**=वह; **एनत्**=इसको; **श्रोत्रेण**=कानोंद्वारा; **ह**=ही; **अग्रहैष्यत्**=पकड़ लेता तो; **ह**=निस्सन्देह; (अब भी मनुष्य) **अन्नम्**=अन्नका नाम; **श्रुत्वा**=सुनकर; **एव**=ही; **अत्रप्स्यत्**=तृप्त हो जाता ॥ ६ ॥

व्याख्या—फिर उस पुरुषने अन्नको कानोंद्वारा पकड़ना चाहा; परंतु वह उसको कानोंद्वारा भी नहीं पकड़ सका। यदि वह इसको कानोंसे पकड़ सकता तो अवश्य ही अब भी मनुष्य केवल अन्नका नाम सुनकर ही तृप्त हो जाते; परंतु यह देखनेमें नहीं आता ॥ ६ ॥

तत्त्वचाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुं स यद्धैनत्त्वचाग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥७॥

(तब उस पुरुषने) **तत्**=उसको; **त्वचा**=चमड़ीद्वारा; **अजिघृक्षत्**=पकड़ना चाहा; (परंतु) **तत्**=उसको;

* घ्राण-इन्द्रियका विषय गन्ध वायु और प्राणके सहयोगसे ही उक्त इन्द्रियद्वारा ग्रहण होता है तथा घ्राण-इन्द्रियके निवासस्थान नासिकाछिद्रोंसे ही प्राणका आवागमन होता है। इसलिये यहाँ घ्राणेन्द्रियके ही स्थानमें 'प्राण' शब्द प्रयुक्त हुआ है, यह जान पड़ता है; क्योंकि अन्तमें प्राणके ही एक भेद अपानद्वारा अन्नका ग्रहण होना बताया गया है। अतः यहाँ प्राणसे ग्रहण न किया जाना माननेसे पूर्वापरविरोध आयेगा।

सः=(तब) उस (सृष्टिके रचयिता परमेश्वर) ने; **ईक्षत**=सोचा कि; **नु**=निश्चय ही; **इदम्**=यह; **मत् ऋते**=मेरे बिना; **कथम्**=किस प्रकार; **स्यात्**=रहेगा; **इति**=यह सोचकर; (पुनः) **सः**=उसने; **ईक्षत**=विचार किया कि; **यदि**=यदि; **वाचा**=(इस पुरुषने मेरे बिना ही केवल) वाणीद्वारा; **अभिव्याहृतम्**=बोलनेकी क्रिया कर ली; **यदि**=यदि; **प्राणेन**=घ्राण-इन्द्रियद्वारा; **अभिप्राणितम्**=सूँघनेकी क्रिया कर ली; **यदि**=यदि; **चक्षुषा**=नेत्रद्वारा; **दृष्टम्**=देख लिया; **यदि**=यदि; **श्रोत्रेण**=कर्ण-इन्द्रियद्वारा; **श्रुतम्**=सुन लिया; **यदि**=यदि; **त्वचा**=त्वक्-इन्द्रियद्वारा; **स्पृष्टम्**=स्पर्श कर लिया; **यदि**=यदि; **मनसा**=मनद्वारा; **ध्यातम्**=मनन कर लिया; **यदि**=यदि; **अपानेन**=अपानद्वारा; **अभ्यपानितम्**=अन्नग्रहण आदि अपान-सम्बन्धी क्रिया कर ली; (तथा) **यदि**=यदि; **शिश्नेन**=उपस्थसे; **विसृष्टम्**=मूत्र और वीर्यका त्याग कर लिया; **अथ**=तो फिर; **अहम्**=मैं; **कः**=कौन हूँ; **इति**=यह सोचकर; (पुनः) **सः**=उसने; **ईक्षत**=विचार किया कि; **कतरेण**=(पैर और मस्तक—इन दोनोंमेंसे) किस मार्गसे; **प्रपद्यै इति**=मुझे इसमें प्रवेश करना चाहिये ॥ ११ ॥

व्याख्या—इस प्रकार जब लोक और लोकपालोंकी रचना हो गयी, उन सबके लिये आहार भी उत्पन्न हो गया तथा मनुष्य-शरीरधारी पुरुषने उस आहारको ग्रहण करना भी सीख लिया, तब उस सर्वस्रष्टा परमात्माने फिर विचार किया—'यह मनुष्यरूप पुरुष मेरे बिना कैसे रहेगा ? यदि इस जीवात्माके साथ मेरा सहयोग नहीं रहेगा तो यह अकेला किस प्रकार टिक सकेगा ?'* साथ ही यह भी विचार किया कि 'यदि मेरे सहयोगके बिना इस पुरुषने वाणीद्वारा बोलनेकी क्रिया कर ली, घ्राण-इन्द्रियसे सूँघनेका काम कर लिया, प्राणोंसे वायुको भीतर ले जाने और बाहर छोड़नेकी क्रिया कर ली, नेत्रेन्द्रियद्वारा देख लिया, कर्णेन्द्रियद्वारा सुन लिया, त्वक्-इन्द्रियद्वारा स्पर्श कर लिया, मनके द्वारा मनन कर लिया, अपानद्वारा अन्न निगल लिया, और यदि जननेन्द्रियद्वारा मूत्र और वीर्यका त्याग करनेकी क्रिया सम्पन्न कर ली, तो फिर मेरा क्या उपयोग रह गया ? भाव यह कि मेरे बिना इन सब इन्द्रियोंद्वारा कार्य सम्पन्न कर लेना इसके लिये असम्भव है।' यह सोचकर परमात्माने विचार किया कि मैं इस मनुष्य-शरीरमें पैर और मस्तक—इन दोमेंसे किस मार्गसे प्रविष्ट होऊँ ? ॥ ११ ॥

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत । सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम् । तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः, अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥ १२ ॥

(यों विचारकर) **सः**=उसने; **एतम् एव**=इस (मनुष्य-शरीरकी); **सीमानम्**=सीमाको; **विदार्य**=चीरकर; **एतया द्वारा**=इसके द्वारा; **प्रापद्यत**=उस सजीव शरीरमें प्रवेश किया; **सा**=वह; **एषा**=यह; **द्वाः**=द्वार; **विदृतिः नाम**=विदृति नामसे प्रसिद्ध है; **तत्**=वही; **एतत्**=यह; **नान्दनम्**=आनन्द देनेवाला अर्थात् ब्रह्म-प्राप्तिका द्वार है; **तस्य**=उस परमेश्वरके; **त्रयः**=तीन; **आवसथाः**=आश्रय (उपलब्धि-स्थान) हैं; **त्रयः**=तीन; **स्वप्नाः**= स्वप्न हैं; **अयम्**=यह (हृदय-गुहा); **आवसथः**=एक स्थान है; **अयम्**=यह (परमधाम); **आवसथः**=दूसरा स्थान है; **अयम्**=यह (सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड); **आवसथः इति**=तीसरा स्थान है ॥ १२ ॥

व्याख्या—परमात्मा इस मनुष्य-शरीरकी सीमा (मूर्धा) को अर्थात् ब्रह्मरन्ध्रको चीरकर (उसमें छेद करके) इसके द्वारा उस सजीव मनुष्य-शरीरमें प्रविष्ट हो गये। वह यह द्वार विदृति (विदीर्ण किया हुआ द्वार) नामसे प्रसिद्ध है। वही यह विदृति नामका द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) आनन्द देनेवाला अर्थात् आनन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है। परमेश्वरकी उपलब्धिके तीन स्थान हैं और स्वप्न भी तीन हैं। एक तो यह हृदयाकाश उनकी उपलब्धिका स्थान है। दूसरा विशुद्ध आकाशरूप परमधाम है—जिसको सत्यलोक, गोलोक, ब्रह्मलोक, साकेतलोक, कैलास आदि अनेक नामोंसे पुकारा जाता है। तीसरा यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। तथा इस जगत्की जो स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप तीन अवस्थाएँ हैं, वे ही इसके तीन स्वप्न हैं ॥ १२ ॥

* इसीलिये तो भगवान्ने गीतामें कहा है कि समस्त भूतोंका जो कारण है, वह मैं हूँ। ऐसा कोई भी चराचर प्राणी नहीं है, जो मुझसे रहित हो (१० । ३९)।

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति । स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत् । इदमदर्शमिती ३ ॥ १३ ॥

जातः सः=मनुष्यरूपमें प्रकट हुए उस पुरुषने; **भूतानि**=पञ्च महाभूतोंकी अर्थात् भौतिक जगत्‌की रचनाको; **अभिव्यैख्यत्**=चारों ओरसे देखा; (और) **इह**=यहाँ; **अन्यम्**=दूसरा; **किम्**=कौन है; **इति**=यह; **वावदिषत्**=कहा; **सः**=(तब) उसने; **एतम्**=इस; **पुरुषम्**=अन्तर्यामी परम पुरुषको; **एव**=ही; **ततमम्**=सर्वव्यापी; **ब्रह्म**=परब्रह्मके रूपमें; **अपश्यत्**=देखा; (और यह प्रकट किया) **[अहो] इती ३**=अहो ! बड़े सौभाग्यकी बात है कि; **इदम्**=इस परब्रह्म परमात्माको; **अदर्शम्**=मैंने देख लिया ॥ १३ ॥

व्याख्या—मनुष्यरूपमें उत्पन्न हुए उस पुरुषने इस भौतिक जगत्‌की विचित्र रचनाको बड़े आश्चर्यपूर्वक चारों ओरसे देखा और मन-ही-मन इस प्रकार कहा—'इस विचित्र जगत्‌की रचना करनेवाला यहाँ दूसरा कौन है ? क्योंकि यह मेरी की हुई रचना तो है नहीं और कार्य होनेके कारण इसका कोई-न-कोई कर्ता अवश्य होना चाहिये ।' इस प्रकार विचार करनेपर उस साधकने अपने हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान पुरुषको ही इस सम्पूर्ण जगत्‌में व्याप्त परब्रह्मके रूपमें प्रत्यक्ष किया । तब वह आनन्दमें भरकर मन-ही-मन कहने लगा—'अहो ! बड़े ही सौभाग्यकी बात है कि मैंने परब्रह्म परमात्माको देख लिया—साक्षात् कर लिया ।'

इससे यह भाव प्रकट किया गया है कि इस जगत्‌की विचित्र रचनाको देखकर इसके कर्ता-धर्ता परमात्माकी सत्तामें विश्वास करके यदि मनुष्य उन्हें जानने और पानेको उत्सुक हो, उन्हींपर निर्भर होकर चेष्टा करे तो अवश्य ही उन्हें जान सकता है । परमात्माको जानने और पानेका काम इस मनुष्य-शरीरमें ही हो सकता है, दूसरे शरीरमें नहीं । अतः मनुष्यको अपने जीवनके अमूल्य समयका सदुपयोग करना चाहिये, उसे व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये । इस अध्यायमें मानो परमात्माकी महिमाका और मनुष्य-शरीरके महत्त्वका दिग्दर्शन करानेके लिये ही सृष्टि-रचनाका वर्णन किया गया है ॥ १३ ॥

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम । तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥ १४ ॥

तस्मात्=इसीलिये; **इदन्द्रः नाम**=वह 'इदन्द्र' नामवाला है; **ह**=वास्तवमें; **इदन्द्रः नाम वै**=वह 'इदन्द्र' नामवाला ही है; (परंतु) **इदन्द्रम्**=इदन्द्र; **सन्तम्**=होते हुए ही; **तम्**=उस परमात्माको; **परोक्षेण**=परोक्षभावसे (गुप्त नामसे); **इन्द्रः**='इन्द्र'; **इति**=यों; **आचक्षते**=पुकारते हैं; **हि**=क्योंकि; **देवाः**=देवतालोग; **परोक्षप्रियाः इव**=मानो परोक्षभावसे कही हुई बातको पसंद करनेवाले होते हैं; **हि देवाः परोक्षप्रियाः इव**=देवतालोग मानो परोक्षभावसे कही हुई बातोंको ही पसंद करनेवाले होते हैं ॥ १४ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्माको उस मनुष्य-शरीरमें उत्पन्न हुए पुरुषने पूर्वोक्त प्रकारसे प्रत्यक्ष कर लिया, इसी कारण परमात्माका नाम 'इदन्द्र' है । अर्थात् 'इदम्+द्रः=इसको मैंने देख लिया' इस व्युत्पत्तिके अनुसार उनका 'इदन्द्र' नाम है । इस प्रकार यद्यपि उस परमात्माका नाम 'इदन्द्र' ही है, फिर भी लोग उन्हें परोक्षभावसे 'इन्द्र' कहकर पुकारते हैं; क्योंकि देवतालोग मानो छिपाकर ही कुछ कहना पसंद करते हैं । 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः' इस अन्तिम वाक्यको दुबारा कहकर इस खण्डकी समाप्ति सूचित की गयी है ॥ १४ ॥

॥ तृतीय खण्ड समाप्त ॥ ३ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

ॐ

द्वितीय अध्याय

सम्बन्ध—प्रथम अध्यायमें सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम और मनुष्य-शरीरका महत्त्व बताया गया और यह बात भी संकेतमें कही गयी कि जीवात्मा इस शरीरमें परमात्माको जानकर कृतकृत्य हो सकता है। अब इस शरीरकी अनित्यता दिखाकर वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये इस अध्यायमें मनुष्य-शरीरकी उत्पत्तिका वर्णन किया जाता है—

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति। यदेतद्रेतः तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति। तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म॥ १॥

अयम्=यह(संसारी जीव); **ह**=निश्चयपूर्वक; **आदितः**=पहले-पहल; **पुरुषे**=पुरुष-शरीरमें; **वै**=ही; **गर्भः भवति**=वीर्यरूपसे गर्भ बनता है; **यत्**=जो; **एतत्**=यह; (पुरुषमें) **रेतः**=वीर्य है; **तत्**=वह; **एतत्**=यह; (पुरुषके) **सर्वेभ्यः**=सम्पूर्ण; **अङ्गेभ्यः**=अङ्गोंसे; **सम्भूतम्**=उत्पन्न हुआ; **तेजः**=तेज है; **आत्मानम्**=(यह पुरुष पहले तो) अपने ही स्वरूपभूत इस वीर्यमय तेजको; **आत्मनि**=अपने शरीरमें; **एव**=ही; **बिभर्ति**=धारण करता है; (फिर) **यदा**=जब; (यह) **तत्**=उसको; **स्त्रियाम्**=स्त्रीमें; **सिंचति**=सिंचन करता है; **अथ**=तब; **एनत्**=इसको; **जनयति**=गर्भरूपमें उत्पन्न करता है; **तत्**=वह; **अस्य**=इसका; **प्रथमम्**=पहला; **जन्म**=जन्म है॥ १॥

व्याख्या—यह संसारी जीव पहले-पहल पुरुष-शरीरमें (पिताके शरीरमें) वीर्यरूपसे गर्भ बनता है—प्रकट होता है। पुरुषके शरीरमें जो यह वीर्य है, वह सम्पूर्ण अङ्गोंमेंसे निकलकर उत्पन्न हुआ तेज (सार) है। यह पिता अपने स्वरूपभूत उस वीर्यरूप तेजको पहले तो अपने शरीरमें ही धारण-पोषण करता है—ब्रह्मचर्यके द्वारा बढ़ाता एवं पुष्ट करता है; फिर जब यह उसको स्त्रीके गर्भाशयमें सिंचन (स्थापित) करता है, तब इसे गर्भरूपमें उत्पन्न करता है। वह माताके शरीरमें प्रवेश करना ही इसका पहला जन्म है॥ १॥

तत्स्त्रिया आत्मभूतं गच्छति। यथा स्वमङ्गं तथा। तस्मादेनां न हिनस्ति। सास्यैतमात्मानमत्र-गतं भावयति॥ २॥

तत्=वह (गर्भ); **स्त्रियाः**=स्त्रीके; **आत्मभूतम्**=आत्मभावको; **गच्छति**=प्राप्त हो जाता है; **यथा**=जैसे; **स्वम्**=अपना; **अङ्गम्**=अङ्ग होता है; **तथा**=वैसे ही (हो जाता है); **तस्मात्**=इसी कारणसे; **एनाम्**=इस स्त्रीको; **न हिनस्ति**=वह पीड़ा नहीं देता; **सा**=वह स्त्री (माता); **अत्रगतम्**=यहाँ (अपने शरीरमें) आये हुए; **अस्य**=उस (अपने पति) के; **आत्मानम्**=आत्मारूप (स्वरूपभूत); **एतम् भावयति**=इस गर्भका पालन-पोषण करती है॥ २॥

व्याख्या—उस स्त्री (माता) के शरीरमें आया हुआ वह गर्भ—पिताके द्वारा स्थापित किया हुआ तेज उस स्त्रीके आत्मभावको प्राप्त हो जाता है—अर्थात् जैसे उसके दूसरे अङ्ग हैं, उसी प्रकार वह गर्भ भी उसके शरीरका एक अङ्ग-सा ही हो जाता है। यही कारण है कि वह गर्भ उस स्त्रीके उदरमें रहता हुआ भी गर्भिणी स्त्रीको पीड़ा नहीं पहुँचाता—उसे भाररूप नहीं प्रतीत होता। वह स्त्री अपने शरीरमें आये हुए अपने पतिके आत्मारूप इस गर्भको अपने अङ्गोंकी भाँति ही भोजनके रससे पुष्ट करती है और अन्य सब प्रकारके आवश्यक नियमोंका पालन करके उसकी भलीभाँति रक्षा करती है॥२॥

सा भावयित्री भावयितव्या भवति। तं स्त्री गर्भं बिभर्ति। सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधि-भावयति। स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां सन्तत्या। एवं सन्तता ह्यमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म॥ ३॥

सा=वह; **भावयित्री**=उस गर्भका पालन-पोषण करनेवाली स्त्री; **भावयितव्या**=पालन-पोषण करनेयोग्य;

भवति=होती है; **तम् गर्भम्**=उस गर्भको; **अग्रे**=प्रसवके पहलेतक; **स्त्री**=स्त्री (माता); **बिभर्ति**=धारण करती है; **जन्मनः अधि**=(फिर) जन्म लेनेके बाद; **सः**=वह (उसका पिता); **अग्रे**=पहले; **एव**=ही; **कुमारम्**=उस कुमारको; (जातकर्म आदि संस्कारोंद्वारा) **भावयति**=अभ्युदयशील बनाता तथा उसकी उन्नति करता है; **सः**=वह (पिता); **यत्**=जो; **जन्मनः अधि**=जन्म लेनेके बाद; **अग्रे [एव]**=पहले ही; **कुमारम् भावयति**=बालककी उन्नति करता है; **तत्**=वह; (मानो) **एषाम्**=इन; **लोकानाम्**=लोकोंको (मनुष्योंको); **संतत्या**=बढ़ानेके द्वारा; **आत्मानम् एव भावयति**=अपनी ही उन्नति करता है; **हि**=क्योंकि; **एवम्**=इसी प्रकार; **इमे**=ये सब; **लोकाः**=लोक (मनुष्य); **संतताः**=विस्तारको प्राप्त हुए हैं; **तत्**=वह; **अस्य**=इसका; **द्वितीयम्**=दूसरा; **जन्म**=जन्म है ॥ ३ ॥

व्याख्या—अपने पतिके आत्मस्वरूप उस गर्भकी सब प्रकारसे रक्षा करनेवाली गर्भिणी स्त्री घरके लोगोंद्वारा और विशेषतः उसके पतिद्वारा पालन-पोषण करनेयोग्य होती है। अर्थात् घरके लोगोंका और पतिका यह परम आवश्यक कर्तव्य है कि वे सब मिलकर उसके खान-पान और रहन-सहनकी सुव्यवस्था करके सब प्रकारसे उसकी सँभाल रक्खें। उस गर्भको पहले अर्थात् प्रसव होनेतक तो स्त्री (माता) अपने शरीरमें धारण करती है; फिर जन्म लेनेके बाद—जन्म लेते ही वह उसका पिता जातकर्म आदि संस्कारोंसे और नाना प्रकारके उपचारोंसे उस कुमारको अभ्युदयशील बनाता है और जन्मसे लेकर जबतक वह सर्वथा योग्य न बन जाय, तबतक हर प्रकारसे उसका पालन-पोषण करता है—नाना प्रकारकी विद्या और शिल्पादिका अध्ययन कराके उसे सब प्रकारसे उन्नत बनाता है। वह पिता जन्मके बाद उस बालकको उपयुक्त बना देनेके पहले-पहले जो उसकी रक्षा करता है, उसे सब प्रकारसे योग्य बनाता है, वह मानो इन लोकोंको अर्थात् मनुष्योंकी परम्पराको बढ़ानेके द्वारा अपनी ही रक्षा करता है; क्योंकि इसी प्रकार एक-से-एक उत्पन्न होकर ये सब मनुष्य विस्तारको प्राप्त हुए हैं। यह जो इस जीवका गर्भसे बाहर आकर बालकरूपमें उत्पन्न होना है, वह इसका दूसरा जन्म है।

इस वर्णनसे पिता और पुत्र दोनोंको अपने-अपने कर्तव्यकी शिक्षा दी गयी है। पुत्रको तो यह समझना चाहिये कि उसपर अपने माता-पिताका बड़ा भारी उपकार है; अतः वह उनकी जितनी सेवा कर सके, थोड़ी है। और पिताको इस प्रकारका अभिमान नहीं करना चाहिये कि मैंने इसका उपकार किया है, वरं यह समझना चाहिये कि मैंने अपनी ही वृद्धि करके अपने कर्तव्यका पालन किया है ॥ ३ ॥

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः प्रतिधीयते। अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति। स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म ॥ ४ ॥

सः=वह (पुत्ररूपमें उत्पन्न हुआ); **अयम्**=यह; **आत्मा**=(पिताका ही) आत्मा; **अस्य**=इस पिताके (द्वारा आचरणीय); **पुण्येभ्यः**=शुभकर्मोंके लिये; **प्रतिधीयते**=उसका प्रतिनिधि बना दिया जाता है; **अथ**=उसके अनन्तर; **अस्य**=इस (पुत्र) का; **अयम्**=यह (पितारूप); **इतरः**=दूसरा; **आत्मा**=आत्मा; **कृतकृत्यः**=अपना कर्तव्य पूरा करके; **वयोगतः**=आयु पूरी होनेपर; **प्रैति**=(यहाँसे) मरकर चला जाता है; **सः**=वह; **इतः**=यहाँसे; **प्रयन्**=जाकर; **एव**=ही; **पुनः**=पुनः; **जायते**=उत्पन्न हो जाता है; **तत्**=वह; **अस्य**=इसका; **तृतीयम्**=तीसरा; **जन्म**=जन्म है ॥ ४ ॥

व्याख्या—पूर्वोक्त प्रकारसे इस पिताका ही आत्मस्वरूप पुत्र जब कार्य करने योग्य हो जाता है, तब वह पिता उसको अपना प्रतिनिधि बना देता है—अग्निहोत्र, देवपूजा और अतिथि-सेवा आदि वैदिक और लौकिक जितने भी शुभ कर्म हैं, उन सबका भार पुत्रको सौंप देता है। गृहस्थका पूरा दायित्व पुत्रपर छोड़कर स्वयं कृतकृत्य हो जाता है। अर्थात् अपनेको पितृ-ऋणसे मुक्त मानता है। उसके बाद इस शरीरकी आयु पूर्ण होनेपर जब वह (पिता) इसे छोड़कर यहाँसे विदा हो जाता है, तब यहाँसे जाकर दूसरी जगह कर्मानुसार जहाँ जिस योनिमें जन्म लेता है, वह इसका तीसरा जन्म है। इसी तरह यह जन्म-जन्मान्तरकी परम्परा चलती रहती है।

जबतक जन्म-मृत्युके महान् कष्टकी आलोचना करके इससे छुटकारा पानेके लिये जीवात्मा मनुष्य-शरीरमें चेष्टा नहीं करता, तबतक यह परम्परा नहीं टूटती। अतः इसके लिये मनुष्यको अवश्य चेष्टा करनी चाहिये। यही इस प्रकरणका उद्देश्य प्रतीत होता है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार बार-बार जन्म लेना और मरना एक भयानक यन्त्रणा है; और जबतक यह जीव इस रहस्यको समझकर इस शरीररूप पिंजरेको काटकर इससे सर्वथा अलग न हो जायगा, तबतक इसका इस जन्म-मृत्युरूप यन्त्रणासे छुटकारा नहीं होगा—यह भाव अगले दो मन्त्रोंमें वामदेव ऋषिके दृष्टान्तसे समझाया जाता है—

तदुक्तमृषिणा—
गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा ।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति ।
गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच ॥ ५ ॥

तत्=वही बात (इस प्रकार); **ऋषिणा**=ऋषिद्वारा; **उक्तम्**=कही गयी है; **नु**=अहो; **अहम्**=मैंने; **गर्भे**=गर्भमें; **सन्**=रहते हुए ही; **एषाम्**=इन; **देवानाम्**=देवताओंके; **विश्वा**=बहुत-से; **जनिमानि**=जन्मोंको; **अन्ववेदम्**=भलीभाँति जान लिया; **मा**=मुझे; **शतम्**=सैकड़ों; **आयसीः**=लोहेके समान कठोर; **पुरः**=शरीरोंने; **अरक्षन्**=अवरुद्ध कर रक्खा था; **अधः**=अब (मैं); **श्येनः**=बाज पक्षी (की भाँति); **जवसा**=वेगसे; **निरदीयम् इति**=उन सबको तोड़कर उनसे अलग हो गया हूँ; **गर्भे**=गर्भमें; **एव**=ही; **शयानः**=सोये हुए; **वामदेवः**=वामदेव ऋषिने; **एवम्**=उक्त प्रकारसे; **एतत्**=यह बात; **उवाच**=कही ॥ ५ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त चार मन्त्रोंमें कही हुई बातका ही रहस्य यहाँ ऋषिद्वारा बताया गया है। गर्भमें रहते हुए ही अर्थात् गर्भके बाहर आनेसे पहले ही वामदेव ऋषिको यथार्थ ज्ञान हो गया था, इसलिये उन्होंने माताके उदरमें ही कहा था—'अहो ! कितने आश्चर्य और आनन्दकी बात है कि गर्भमें रहते-रहते ही मैंने इन अन्तःकरण और इन्द्रियरूप देवताओंके अनेक जन्मोंका रहस्य भलीभाँति जान लिया। अर्थात् मैं इस बातको जान गया कि ये जन्म आदि वास्तवमें इन अन्तःकरण और इन्द्रियोंके ही होते हैं, आत्माके नहीं। इस रहस्यको समझनेसे पहले मुझे सैकड़ों लोहेके समान कठोर शरीररूपी पिंजरोंने अवरुद्ध कर रक्खा था। उनमें मेरी ऐसी दृढ़ अहंता हो गयी थी कि उससे छूटना मेरे लिये कठिन हो रहा था। अब मैं बाज पक्षीकी भाँति ज्ञानरूप बलके वेगसे उन सबको तोड़कर उनसे अलग हो गया हूँ। उन शरीररूप पिंजरोंसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहा, मैं सदाके लिये उन शरीरोंकी अहंतासे मुक्त हो गया हूँ ॥ ५ ॥

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वामृतः समभवत् समभवत् ॥ ६ ॥

एवम्=इस प्रकार; **विद्वान्**=(जन्म-जन्मान्तरके रहस्यको) जाननेवाला; **सः**=वह वामदेव ऋषि; **अस्मात्**=इस; **शरीरभेदात्**=शरीरका नाश होनेपर; **ऊर्ध्वः उत्क्रम्य**=संसारके ऊपर उठ गया और ऊर्ध्वगतिके द्वारा; **अमुष्मिन्**=उस; **स्वर्गे लोके**=परमधाममें (पहुँचकर); **सर्वान्**=समस्त; **कामान्**=कामनाओंको; **आप्त्वा**=प्राप्त करके; **अमृतः**=अमृत; **समभवत्**=हो गया; **समभवत्**=हो गया ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस प्रकार जन्म-जन्मान्तरके तत्त्वको अर्थात् जबतक यह जीव इन शरीरोंके साथ एक हुआ रहता है, शरीरको ही अपना स्वरूप माने रहता है, तबतक इसका जन्म-मृत्युसे छुटकारा नहीं होता, इसको बार-बार नाना योनियोंमें जन्म लेकर नाना प्रकारके कष्ट भोगने पड़ते हैं—इस रहस्यको समझनेवाला वह ज्ञानी वामदेव ऋषि गर्भसे बाहर आकर अन्तमें शरीरका नाश होनेपर संसारसे ऊपर उठ गया तथा ऊर्ध्वगतिके द्वारा भगवान्‌के परमधाममें पहुँचकर वहाँ समस्त कामनाओंको पाकर अर्थात् सर्वथा आप्तकाम होकर अमृत हो गया ! अमृत हो गया ! जन्म-मृत्युके चक्रसे सदाके लिये छूट गया। 'समभवत्' पदको दुहराकर यहाँ अध्यायकी समाप्तिको सूचित किया गया है ॥ ६ ॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

ॐ

तृतीय अध्याय

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे। कतरः स आत्मा, येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥ १ ॥

वयम्= हमलोग; **उपास्महे**= जिसकी उपासना करते हैं; [**सः**=वह;] **अयम्**=यह; **आत्मा**=आत्मा; **कः इति**= कौन है; **वा**= अथवा; **येन**= जिससे; **पश्यति**= मनुष्य देखता है; **वा**=या; **येन**= जिससे; **शृणोति**= सुनता है; **वा**= अथवा; **येन**= जिससे; **गन्धान्**=गन्धोंको; **आजिघ्रति**=सूँघता है; **वा**= अथवा; **येन**= जिससे; **वाचम्**= वाणीको; **व्याकरोति**= स्पष्ट बोलता है; **वा**=या; **येन**=जिससे; **स्वादु**= स्वादयुक्त; **च**= और; **अस्वादु**= स्वादहीन वस्तुको; **च**=भी; **विजानाति**= अलग-अलग जानता है; **सः**=वह; **आत्मा**= आत्मा; **कतरः**= (पिछले अध्यायोंमें कहे हुए दो आत्माओंमेंसे) कौन है* ॥ १ ॥

व्याख्या—इस उपनिषद्के पहले और दूसरे अध्यायोंमें दो आत्माओंका वर्णन आया है—एक तो वह आत्मा (परमात्मा), जिसने इस सृष्टिकी रचना की और सजीव पुरुषको प्रकट करके उसका सहयोग देनेके लिये स्वयं उसमें प्रविष्ट हुआ; दूसरा वह आत्मा (जीवात्मा), जिसको सजीव पुरुषरूपमें उसने प्रकट किया था और जिसके जन्म-जन्मान्तरकी परम्पराका वर्णन दूसरे अध्यायमें गर्भमें आनेसे लेकर मरणपर्यन्त किया गया है। इनमेंसे उपास्य देव कौन है, वह कैसा है, उसकी क्या पहचान है—इन बातोंका निर्णय करनेके लिये यह तीसरा अध्याय कहा गया है। मन्त्रका तात्पर्य यह है कि उस उपास्यदेव परमात्माके तत्त्वको जाननेकी इच्छावाले कुछ मनुष्य आपसमें विचार करने लगे—'जिसकी हमलोग उपासना करते हैं अर्थात् जिसकी उपासना करके हमें उसे प्राप्त करना चाहिये, वह आत्मा कौन है ? दूसरे शब्दोंमें जिसके सहयोगसे मनुष्य नेत्रोंके द्वारा समस्त दृश्य देखता है, जिससे कानोंद्वारा शब्द सुनता है, जिससे घ्राणेन्द्रियके द्वारा नाना प्रकारकी गन्ध सूँघता है, जिससे वाणीद्वारा वचन बोलता है, जिससे रसनाद्वारा स्वादयुक्त और स्वादहीन वस्तुको अलग-अलग पहचान लेता है, वह पहले और दूसरे अध्यायोंमें वर्णित दो आत्माओंमेंसे कौन है ? ॥ १ ॥

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥ २ ॥

यत्= जो; **एतत्**=यह; **हृदयम्**=हृदय है; **एतत्**=यही; **मनः**=मन; **च**=भी है; **संज्ञानम्**= सम्यक् ज्ञान-शक्ति; **आज्ञानम्**=आज्ञा देनेकी शक्ति; **विज्ञानम्**= विभिन्न रूपसे जाननेकी शक्ति; **प्रज्ञानम्**=तत्काल जाननेकी शक्ति; **मेधा**= धारण करनेकी शक्ति; **दृष्टिः**=देखनेकी शक्ति; **धृतिः**=धैर्य; **मतिः**=बुद्धि; **मनीषा**=मनन-शक्ति; **जूतिः**=वेग; **स्मृतिः**= स्मरण-शक्ति; **संकल्पः**=संकल्प-शक्ति; **क्रतुः**=मनोरथ-शक्ति; **असुः**=प्राण-शक्ति; **कामः**=कामना-शक्ति; **वशः**=स्त्री-संसर्ग आदिकी अभिलाषा; **इति**=इस प्रकार; **एतानि**= ये; **सर्वाणि**=सब-के-सब; **प्रज्ञानस्य**=स्वच्छ ज्ञानस्वरूप परमात्माके; **एव**=ही; **नामधेयानि**=नाम अर्थात् उसकी सत्ताके बोधक लक्षण; **भवन्ति**= हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—इस प्रकार विचार उपस्थित करके उन्होंने सोचा कि जो यह हृदय अर्थात् अन्तःकरण है, यही पहले बताया हुआ मन है; इस मनकी जो यह सम्यक् प्रकारसे जाननेकी शक्ति देखनेमें आती है—अर्थात् जो दूसरोंपर आज्ञाद्वारा शासन करनेकी शक्ति, पदार्थोंका अलग-अलग विवेचन करके जाननेकी शक्ति, देखे-सुने हुए पदार्थोंको तत्काल समझ लेनेकी शक्ति, अनुभवको धारण करनेकी शक्ति, देखनेकी शक्ति, धैर्य अर्थात् विचलित न होनेकी शक्ति, बुद्धि अर्थात् निश्चय करनेकी शक्ति, मनन करनेकी शक्ति, वेग अर्थात् क्षणभरमें कहीं-से-कहीं चले जानेकी शक्ति, स्मरण-शक्ति, संकल्प-शक्ति, मनोरथ-शक्ति, प्राण-शक्ति, कामना-शक्ति और स्त्री-सहवास आदिकी अभिलाषा—इस प्रकार जो ये शक्तियाँ हैं, वे सब-की-सब उस स्वच्छ

---

* केनोपनिषद्के आरम्भकी इसके साथ बहुत अंशोंमें समानता है।

ज्ञानस्वरूप परमात्माके नाम हैं अर्थात् उसकी सत्ताका बोध करानेवाले लक्षण हैं; इन सबको देखकर इन सबके रचयिता, संचालक और रक्षककी सर्वव्यापिनी सत्ताका ज्ञान होता है ॥ २ ॥

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम् । प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥ ३ ॥

एषः=यह; **ब्रह्मा**=ब्रह्मा है; **एषः**=यह; **इन्द्रः**=इन्द्र है; **एषः**=यही; **प्रजापतिः**=प्रजापति है; **एते**=ये; **सर्वे**=समस्त; **देवाः**=देवता; **च**=तथा; **इमानि**=ये; **पृथिवी**=पृथ्वी; **वायुः**=वायु; **आकाशः**=आकाश; **आपः**=जल; और **ज्योतींषि**=तेज; **इति**=इस प्रकार; **एतानि**=ये; **पञ्च**=पाँच; **महाभूतानि**=महाभूत; **च**=तथा; **इमानि**=ये; **क्षुद्रमिश्राणि इव**=छोटे-छोटे, मिले हुए-से; **बीजानि**=बीजरूप समस्त प्राणी; **च**=और; **इतराणि**=इनसे भिन्न; **इतराणि**=दूसरे; **च**=भी; **अण्डजानि**=अंडेसे उत्पन्न होनेवाले; **च**=एवं; **जारुजानि**=जेरसे उत्पन्न होनेवाले; **च**=तथा; **स्वेदजानि**=पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले; **च**=और; **उद्भिज्जानि**=जमीन फोड़कर उत्पन्न होनेवाले; **च**=तथा; **अश्वाः**=घोड़े; **गावः**=गायें; **हस्तिनः**=हाथी; **पुरुषाः**=मनुष्य (ये सब-के-सब मिलकर); **यत्**=जो; **किम्**=कुछ; **च**=भी; **इदम्**=यह जगत् है; **यत् च**=जो भी कोई; **पतत्रि**=पाँखोंवाला; **च**=और; **जङ्गमम्**=चलने-फिरनेवाला; **च**=और; **स्थावरम्**=नहीं चलनेवाला; **प्राणि**=प्राणिसमुदाय है; **तत्**=वह; **सर्वम्**=सब; **प्रज्ञानेत्रम्**=प्रज्ञानस्वरूप परमात्मासे शक्ति पाकर ही अपने-अपने कार्यमें समर्थ होनेवाले हैं (और); **प्रज्ञाने**=उस प्रज्ञानस्वरूप परमात्मामें ही; **प्रतिष्ठितम्**=स्थित हैं; **लोकः**=(यह समस्त) ब्रह्माण्ड; **प्रज्ञानेत्रः**=प्रज्ञानस्वरूप परमात्मासे ही ज्ञान-शक्तियुक्त है; **प्रज्ञा**=प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा ही; **प्रतिष्ठा**=इस स्थितिका आधार है; **प्रज्ञानम्**=यह प्रज्ञान ही; **ब्रह्म**=ब्रह्म है ॥ ३ ॥

व्याख्या—इस प्रकार विचार करके उन्होंने निश्चय किया कि सबको उत्पन्न करके सब प्रकारकी शक्ति प्रदान करनेवाले और उनकी रक्षा करनेवाले स्वच्छ ज्ञानस्वरूप परमात्मा ही उपास्यदेव हैं। ये ही ब्रह्मा हैं, ये ही पहले अध्यायमें वर्णित इन्द्र हैं। ये ही सबकी उत्पत्ति और पालन करनेवाले समस्त प्रजाओंके स्वामी प्रजापति हैं। ये सब इन्द्रादि देवता, ये पाँचों महाभूत—जो पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और तेजके रूपमें प्रकट हैं, तथा ये छोटे-छोटे मिले हुए-से बीजरूपमें स्थित समस्त प्राणी; तथा उनसे भिन्न दूसरे भी—अर्थात् अंडेसे उत्पन्न होनेवाले, जेरसे उत्पन्न होनेवाले, पसीनेसे अर्थात् शरीरके मैलसे उत्पन्न होनेवाले और जमीन फोड़कर उत्पन्न होनेवाले तथा घोड़े, गाय, हाथी, मनुष्य—ये सब मिलकर जो कुछ यह जगत् है; जो भी कोई पंखोंवाले तथा चलने-फिरनेवाले और नहीं चलनेवाले जीवोंके समुदाय हैं—वे सब-के-सब प्राणी प्रज्ञानस्वरूप परमात्मासे शक्ति पाकर ही अपने-अपने कार्यमें समर्थ होते हैं और उन प्रज्ञानस्वरूप परमात्मामें ही स्थित हैं। यह समस्त ब्रह्माण्ड प्रज्ञानस्वरूप परमात्माकी शक्तिसे ही ज्ञान-शक्तियुक्त है। इसकी स्थितिके आधार प्रज्ञान-स्वरूप परमात्मा ही हैं। अतः जिनको पहले इन्द्र और प्रजापतिके नामसे कहा गया है, जो सबकी रचना और रक्षा करने-वाले तथा सबको सब प्रकारकी शक्ति देनेवाले प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा हैं, वे ही हमारे उपास्यदेव ब्रह्म हैं—यह निश्चय हुआ ॥ ३ ॥

स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः समभवत्समभवत् ॥ ४ ॥

सः=वह; **अस्मात्**=इस; **लोकात्**=लोकसे; **उत्क्रम्य**=ऊपर उठकर; **अमुष्मिन्**=उस; **स्वर्गे लोके**=परम धाममें; **एतेन**=इस; **प्रज्ञेन आत्मना**=प्रज्ञानस्वरूप ब्रह्मके सहित; **सर्वान्**=सम्पूर्ण; **कामान्**=दिव्य भोगोंको; **आप्त्वा**=प्राप्त होकर; **अमृतः**=अमर; **समभवत्**=हो गया; **समभवत्**=हो गया ॥ ४ ॥

व्याख्या—जिसने इस प्रकार प्रज्ञानस्वरूप परमेश्वरको जान लिया, वह इस लोकसे ऊपर उठकर अर्थात् शरीरका त्याग करके उस परमानन्दमय परमधाममें, जिसके स्वरूपका पूर्वमन्त्रमें वर्णन किया गया है, इस प्रज्ञानस्वरूप ब्रह्मके साथ सम्पूर्ण दिव्य अलौकिक भोगरूप परम आनन्दको प्राप्त होकर अमर हो गया अर्थात् सदाके लिये जन्म-मृत्युसे छूट गया। 'समभवत्' (हो गया)—इस वाक्यकी पुनरुक्ति उपनिषद्की समाप्ति सूचित करनेके लिये की गयी है ॥ ४ ॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

॥ ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ उपनिषद्के प्रारम्भमें दिया जा चुका है।

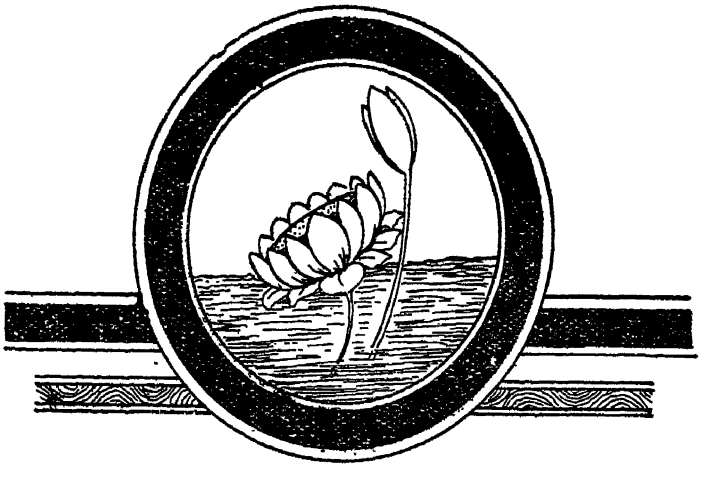

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

तैत्तिरीयोपनिषद्

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखाके अन्तर्गत तैत्तिरीय आरण्यकका अङ्ग है। तैत्तिरीय आरण्यकके दस अध्याय हैं। उनमेंसे सातवें, आठवें और नवें अध्यायोंको ही तैत्तिरीय उपनिषद् कहा जाता है।

शान्तिपाठ

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इसका अर्थ आगे प्रथम अनुवाकमें दिया गया है।

शिक्षा-वल्ली*

प्रथम अनुवाक

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम् ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ इस परमेश्वरके नामका स्मरण करके उपनिषद्का आरम्भ किया जाता है।

नः=हमारे लिये; **मित्रः**=(दिन और प्राणके अधिष्ठाता) मित्र देवता; **शम् [भवतु]**=कल्याणप्रद हों (तथा); **वरुणः**=(रात्रि और अपानके अधिष्ठाता) वरुण (भी); **शम् [भवतु]**=कल्याणप्रद हों; **अर्यमा**=(चक्षु और सूर्य-मण्डलके अधिष्ठाता) अर्यमा; **नः**=हमारे लिये; **शम् भवतु**=कल्याणकारी हों; **इन्द्रः**=(बल और भुजाओंके अधिष्ठाता) इन्द्र (तथा); **बृहस्पतिः**=(वाणी और बुद्धिके अधिष्ठाता) बृहस्पति; **नः**=(दोनों)हमारे लिये; **शम् [भवताम्]**=शान्ति प्रदान करनेवाले हों; **उरुक्रमः**=त्रिविक्रमरूपसे विशाल डगोंवाले; **विष्णुः**=विष्णु (जो पैरोंके अधिष्ठाता हैं); **नः**=हमारे लिये; **शम् [भवतु]**=कल्याणकारी हों; **ब्रह्मणे**=(उपर्युक्त सभी देवताओंके आत्मस्वरूप) ब्रह्मके लिये; **नमः**=नमस्कार है; **वायो**=हे वायुदेव; **ते**=तुम्हारे लिये; **नमः**=नमस्कार है; **त्वम्**=तुम; **एव**=ही; **प्रत्यक्षम्**=प्रत्यक्ष (प्राणरूपसे प्रतीत होनेवाले); **ब्रह्म**=ब्रह्म; **असि**=हो; (इसलिये मैं) **त्वाम्**=तुमको; **एव**=ही; **प्रत्यक्षम्**=प्रत्यक्ष; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **वदिष्यामि**=

---

* इस प्रकरणमें दी हुई शिक्षाके अनुसार अपना जीवन बना लेनेवाला मनुष्य इस लोक और परलोकके सर्वोत्तम फलको पा सकता है और ब्रह्मविद्याको ग्रहण करनेमें समर्थ हो जाता है—इस भावको समझानेके लिये इस प्रकरणका नाम शिक्षावल्ली रक्खा गया है।

कहूँगा; **ऋतम्**=(तुम ऋतके अधिष्ठाता हो, इसलिये मैं तुम्हें) ऋत नामसे; **वदिष्यामि**=पुकारूँगा; **सत्यम्**=(तुम सत्यके अधिष्ठाता हो, अतः मैं तुम्हें) सत्य नामसे; **वदिष्यामि**=कहूँगा; **तत्**=वह (सर्वशक्तिमान् परमेश्वर); **माम् अवतु**= मेरी रक्षा करे; **तत्**=वह; **वक्तारम् अवतु**=वक्ताकी अर्थात् आचार्यकी रक्षा करे; **अवतु माम्**=रक्षा करे मेरी; (और) **अवतु वक्तारम्**=रक्षा करे मेरे आचार्यकी; **ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः**=भगवान् शान्तिस्वरूप हैं, शान्तिस्वरूप हैं, शान्तिस्वरूप हैं।

व्याख्या—इस प्रथम अनुवाकमें भिन्न-भिन्न शक्तियोंके अधिष्ठाता परब्रह्म परमेश्वरसे भिन्न-भिन्न नाम और रूपोंमें उनकी स्तुति करते हुए प्रार्थना की गयी है। भाव यह है कि समस्त आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक शक्तियोंके रूपमें तथा उनके अधिष्ठाता मित्र, वरुण आदि देवताओंके रूपमें जो सबके आत्मा—अन्तर्यामी परमेश्वर हैं, वे सब प्रकारसे हमारे लिये कल्याणमय हों। हमारी उन्नतिके मार्गमें और अपनी प्राप्तिके मार्गमें किसी प्रकारका विघ्न न आने दें। हम सबके अन्तर्यामी उन ब्रह्मको नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार परमात्मासे शान्तिकी प्रार्थना करके सूत्रात्मा प्राणके रूपमें समस्त प्राणियोंमें व्याप्त उन परमेश्वरकी वायुके नामसे स्तुति करते हैं—'हे सर्वशक्तिमान् सबके प्राणस्वरूप वायुमय परमेश्वर ! तुम्हें नमस्कार है। तुम्हीं समस्त प्राणियोंके प्राणस्वरूप प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, अतः मैं तुम्हींको प्रत्यक्ष ब्रह्मके नामसे पुकारूँगा। मैं 'ऋत'नामसे भी तुम्हें पुकारूँगा; क्योंकि सारे प्राणियोंके लिये जो कल्याणकारी नियम है, उस नियमरूप ऋतके तुम्हीं अधिष्ठाता हो। तथा मैं तुम्हें 'सत्य' नामसे पुकारा करूँगा; क्योंकि सत्य (यथार्थ भाषण) के अधिष्ठातृ-देवता तुम्हीं हो। वे सर्वव्यापी अन्तर्यामी परमेश्वर मुझे सत् आचरण एवं सत्य-भाषण करनेकी और सत्-विद्याको ग्रहण करनेकी शक्ति प्रदान करके इस जन्म-मरणरूप संसार-चक्रसे मेरी रक्षा करें, तथा मेरे आचार्यको इन सबका उपदेश देकर सर्वत्र उस सत्यका प्रचार करनेकी शक्ति प्रदान करके उनकी रक्षा करें। यहाँ 'मेरी रक्षा करें', 'वक्ताकी रक्षा करें'—इन वाक्योंको दुबारा कहनेका अभिप्राय शान्तिपाठकी समाप्तिको सूचित करना है।

ओम् शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः—इस प्रकार तीन बार कहनेका भाव यह है कि आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—तीनों प्रकारके विघ्नोंका सर्वथा उपशमन हो जाय। भगवान् शान्तिस्वरूप हैं, अतः उनके स्मरणसे सब प्रकारकी शान्ति निश्चित है।

॥ प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय अनुवाक

शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम सन्तानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः।

शीक्षाम् व्याख्यास्यामः=अब हम शिक्षाका वर्णन करेंगे; **वर्णः**=वर्ण; **स्वरः**=स्वर; **मात्राः**=मात्रा; **बलम्**=प्रयत्न; **साम**=वर्णोंका सम वृत्तिसे उच्चारण अथवा गान करनेकी रीति; (और) **संतानः**=संधि; **इति**=इस प्रकार; **शीक्षाध्यायः**=वेदके उच्चारणकी शिक्षाका अध्याय; **उक्तः**=कहा गया।

व्याख्या—इस मन्त्रमें वेदके उच्चारणके नियमोंका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करके उनका संकेतमात्र किया गया है। इससे मालूम होता है कि उस समय जो शिष्य परमात्माकी रहस्य-विद्याका जिज्ञासु होता था, वह इन नियमोंको पहलेसे ही पूर्णतया जाननेवाला होता था; अतः उसे सावधान करनेके लिये संकेतमात्र ही यथेष्ट था। इन संकेतोंका भाव यह प्रतीत होता है कि मनुष्यको वैसे तो प्रत्येक शब्दके उच्चारणमें सावधानी बरतते हुए शुद्ध बोलनेका अभ्यास रखना चाहिये। पर यदि लौकिक शब्दोंमें नियमोंका पालन नहीं भी किया जा सके तो कम-से-कम वेदमन्त्रोंका उच्चारण तो अवश्य ही शिक्षाके नियमानुसार होना चाहिये। क, ख आदि व्यञ्जन वर्णों और अ, आ आदि स्वर वर्णोंका स्पष्ट उच्चारण करना चाहिये। दन्त्य 'स' के स्थानमें तालव्य 'श' या मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण नहीं करना चाहिये। 'व' के स्थानमें 'ब' का उच्चारण नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार अन्य वर्णोंके उच्चारणमें भी विशेष ध्यान रखना चाहिये। इसी प्रकार बोलते समय किस वर्णका किस

जगह क्या भाव प्रकट करनेके लिये उच्च स्वरसे उच्चारण करना उचित है, किसका मध्य स्वरसे और किसका निम्न स्वरसे उच्चारण करना उचित है—इस बातका भी पूरा-पूरा ध्यान रखकर यथोचित स्वरसे बोलना चाहिये। वेदमन्त्रोंके उच्चारणमें उदात्त आदि स्वरोंका ध्यान रखना और कहाँ कौन स्वर है—इसका यथार्थ ज्ञान होना विशेष आवश्यक है; क्योंकि मन्त्रोंमें स्वरभेद होनेसे उनका अर्थ बदल जाता है तथा अशुद्ध स्वरका उच्चारण करनेवालेको अनिष्टका भागी होना पड़ता है।* ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत—इस प्रकार मात्राओंके भेदोंको भी समझकर यथायोग्य उच्चारण करना चाहिये; क्योंकि ह्रस्वके स्थानमें दीर्घ और दीर्घके स्थानमें ह्रस्व उच्चारण करनेमें अर्थका बहुत अन्तर हो जाता है—जैसे 'सिता और सीता'। बलका अर्थ है प्रयत्न। वर्णोंके उच्चारणमें उनकी ध्वनिको व्यक्त करनेमें जो प्रयास करना पड़ता है, वही प्रयत्न कहलाता है। प्रयत्न दो प्रकारके होते हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तरके पाँच और बाह्यके ग्यारह भेद माने गये हैं। स्पृष्ट, ईषत्-स्पृष्ट, विवृत, ईषद्-विवृत, संवृत—ये आभ्यन्तर प्रयत्न हैं। विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित—ये बाह्य प्रयत्न हैं। उदाहरणके लिये 'क'से लेकर 'म'तकके अक्षरोंका आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्ट है; क्योंकि कण्ठ आदि स्थानोंमें प्राणवायुके स्पर्शसे इनका उच्चारण होता है। 'क'का बाह्य प्रयत्न विवार, श्वास, अघोष तथा अल्पप्राण है—इस विषयका विशद ज्ञान प्राप्त करनेके लिये व्याकरण देखना चाहिये। वर्णोंका समवृत्तिसे उच्चारण या साम-गानकी रीति ही साम है। इसका भी ज्ञान और तदनुसार उच्चारण आवश्यक है। सन्तानका अर्थ है संहिता—संधि। स्वर, व्यञ्जन, विसर्ग अथवा अनुस्वार आदि अपने परवर्ती वर्णके संयोगसे कहीं-कहीं नूतन रूप धारण कर लेते हैं; इस प्रकार वर्णोंका यह संयोगजनित विकृतिभाव—'संधि' कहलाता है। किसी विशेष स्थलमें जहाँ संधि बाधित होती है, वहाँ वर्णमें विकार नहीं आता; अतः उसे 'प्रकृतिभाव' कहते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि वर्णोंके उच्चारणमें उक्त छहों नियमोंका पालन आवश्यक है।

॥ द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय अनुवाक

सम्बन्ध—अब आचार्य अपने और शिष्यके अभ्युदयकी इच्छा प्रकट करते हुए संहिताविषयक उपासनाविधि आरम्भ करते हैं—

सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथातः सꣳहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेषु। अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम्। ता महासꣳहिता इत्याचक्षते। अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः संधिः। वायुः संधानम्। इत्यधिलोकम्।

नौ=हम (आचार्य और शिष्य) दोनोंका; **यशः**=यश; **सह**=एक साथ बढ़े (तथा); **सह**=एक साथ ही; **नौ**=हम दोनोंका; **ब्रह्मवर्चसम्**=ब्रह्म-तेज भी बढ़े; **अथ**=इस प्रकार शुभ इच्छा प्रकट करनेके अनन्तर; **अतः**=यहाँसे; (हम) **अधिलोकम्**=लोकोंके विषयमें; **अधिज्यौतिषम्**=ज्योतियोंके विषयमें; **अधिविद्यम्**=विद्याके विषयमें; **अधिप्रजम्**=प्रजाके विषयमें; (और) **अध्यात्मम्**=शरीरके विषयमें; (इस तरह) **पञ्चसु**=पाँच; **अधिकरणेषु**=स्थानोंमें; **संहितायाः**=संहिताके; **उपनिषदम् व्याख्यास्यामः**=रहस्यका वर्णन करेंगे; **ताः**=इन सबको; **महासंहिताः**=महासंहिता; **इति**=इस नामसे; **आचक्षते**=कहते हैं; **अथ**=उनमेंसे (यह पहली); **अधिलोकम्**=लोकविषयक संहिता है; **पृथिवी**=पृथ्वी; **पूर्वरूपम्**=पूर्वरूप (पूर्ववर्ण) है; **द्यौः**=स्वर्गलोक; **उत्तररूपम्**=उत्तररूप (परवर्ण) है; **आकाशः**=आकाश; **संधिः**=संधि—मेलसे

* महर्षि पतञ्जलिने महाभाष्यमें कहा है—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

अर्थात् स्वर या वर्णकी अशुद्धिसे दूषित शब्द ठीक-ठाक प्रयोग न होनेके कारण अभीष्ट अर्थका वाचक नहीं होता। इतना ही नहीं, वह वचनरूपी वज्र यजमानको हानि भी पहुँचाता है। जैसे 'इन्द्रशत्रु' शब्दमें स्वरकी अशुद्धि हो जानेके कारण 'वृत्रासुर' स्वयं ही इन्द्रके हाथसे मारा गया।

बना हुआ रूप; (तथा) **वायुः**=वायु; **संधानम्**=दोनोंका संयोजक है; **इति**=इस प्रकार; (यह) **अधिलोकम्**=लोकविषयक संहिताकी उपासनाविधि पूरी हुई।

व्याख्या—इस अनुवाकमें पहले समदर्शी आचार्यके द्वारा अपने लिये और शिष्यके लिये भी यश और तेजकी वृद्धिके उद्देश्यसे शुभ आकाङ्क्षा की गयी है। आचार्यकी अभिलाषा यह है कि हमको तथा हमारे श्रद्धालु और विनयी शिष्यको भी ज्ञान और उपासनासे उपलब्ध होनेवाले यश और ब्रह्मतेजकी प्राप्ति हो। इसके पश्चात् आचार्य संहिताविषयक उपनिषद्की व्याख्या करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसका निरूपण करते हैं। वर्णोंमें जो संधि होती है, उसको 'संहिता' कहते हैं। वही संहिता-दृष्टि जब व्यापकरूप धारण करके लोक आदिको अपना विषय बनाती है, तब उसे 'महासंहिता' कहते हैं। संहिता या संधि पाँच प्रकारकी होती है, यह प्रसिद्ध है। स्वर, व्यञ्जन, स्वादि, विसर्ग और अनुस्वार—ये ही संधिके अधिष्ठान बननेपर पञ्चसंधिके नामसे प्रसिद्ध होते हैं। वस्तुतः ये संधिके पाँच आश्रय हैं। इसी प्रकार पूर्वोक्त महासंहिता या महासंधिके भी पाँच आश्रय हैं—लोक, ज्योति, विद्या, प्रजा और आत्मा (शरीर)। तात्पर्य यह कि जैसे वर्णोंमें संधिका दर्शन किया जाता है, उसी प्रकार इन लोक आदिमें भी संहिता-दृष्टि करनी चाहिये। वह किस प्रकार हो, यह बात समझायी जाती है। प्रत्येक संधिके चार भाग होते हैं—पूर्ववर्ण, परवर्ण, दोनोंके मेलसे होनेवाला रूप तथा दोनोंका संयोजक नियम। इसी प्रकार यहाँ जो लोक आदिमें संहिता-दृष्टि की जाती है, उसके भी चार विभाग होंगे—पूर्वरूप, उत्तररूप, संधि (दोनोंके मिलनेसे होनेवाला रूप) और संधान (संयोजक)।

इस मन्त्रमें लोकविषयक संहिता-दृष्टिका निरूपण किया गया है। पृथ्वी अर्थात् यह लोक ही पूर्वरूप है। तात्पर्य यह कि लोकविषयक महासंहितामें पूर्ववर्णके स्थानपर पृथ्वीको देखना चाहिये। इसी प्रकार स्वर्ग ही संहिताका उत्तररूप (परवर्ण) है। आकाश यानी अन्तरिक्ष ही इन दोनोंकी संधि है और वायु इनका संधान (संयोजक) है। जैसे पूर्व और उत्तर वर्ण संधिमें मिलकर एक हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राणवायुके द्वारा पूर्ववर्णस्थानीय इस भूतलका प्राणी उत्तरवर्णस्थानीय स्वर्गलोकसे मिलाया जाता है (सम्बद्ध किया जाता है)—यह भाव हो सकता है।

यहाँ यह अनुमान होता है कि इस वर्णनमें यथेष्ट लोकोंकी प्राप्तिका उपाय बताया गया है; क्योंकि फलश्रुतिमें इस विद्याको जाननेका फल स्वर्गलोकसे सम्बद्ध हो जाना बताया है; परंतु इस विद्याकी परम्परा नष्ट हो जानेके कारण इस संकेतमात्रके वर्णनसे यह बात समझमें नहीं आती कि किस प्रकार कौनसे लोककी प्राप्ति की जा सकती है। इतना तो समझमें आता है कि लोकोंकी प्राप्तिमें प्राणोंकी प्रधानता है। प्राणोंके द्वारा ही मन और इन्द्रियोंके सहित जीवात्माका प्रत्येक लोकमें गमन होता है—यह बात उपनिषदोंमें जगह-जगह कही गयी है; किंतु यहाँ जो यह कहा गया है कि पृथ्वी पहला वर्ण है और द्युलोक दूसरा वर्ण है एवं आकाश संधि (इनका संयुक्तरूप) है—इस कथनका क्या भाव है, यह ठीक-ठीक समझमें नहीं आता।

अथाधिज्यौतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः संधिः। वैद्युतः संधानम्। इत्यधिज्यौतिषम्।

अथ=अब; **अधिज्यौतिषम्**=ज्योतिविषयक संहिताका वर्णन करते हैं; **अग्निः**=अग्नि; **पूर्वरूपम्**=पूर्वरूप (पूर्ववर्ण)है; **आदित्यः**=सूर्य; **उत्तररूपम्**=उत्तररूप (परवर्ण) है; **आपः**=जल—मेघ; **संधिः**=इन दोनोंकी संधि—मेलसे बना हुआ रूप है; (और) **वैद्युतः**=बिजली; (इनका) **संधानम्**=संधान (जोड़नेका हेतु) है; **इति**=इस प्रकार; **अधिज्यौतिषम्**=ज्योतिविषयक संहिता कही गयी।

व्याख्या—अग्नि इस भूतलपर सुलभ है, अतः उसे संहिताका 'पूर्ववर्ण' माना है; और सूर्य द्युलोकमें—ऊपरके लोकमें प्रकाशित होता है, अतः वह उत्तररूप (परवर्ण) बताया गया है। इन दोनोंसे उत्पन्न होनेके कारण मेघ ही संधि है तथा विद्युत्-शक्ति ही इस संधिकी हेतु (संधान) बतायी गयी है।

इस मन्त्रमें ज्योतिविषयक संहिताका वर्णन करके ज्योतियोंके संयोगसे नाना प्रकारके भौतिक पदार्थोंकी विभिन्न अभिव्यक्तियोंके विज्ञानका रहस्य समझाया गया है। उन ज्योतियोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले भोग्य पदार्थोंको जलका नाम दिया गया है और उन सबकी उत्पत्तिमें बिजलीको कारण बताया गया है, ऐसा अनुमान होता है; क्योंकि आजकलके वैज्ञानिकों-

ने भी बिजलीसे नाना प्रकारके भौतिक विकास करके दिखाये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि वेदमें यह भौतिक उन्नतिका साधन भी भलीभाँति बताया गया है, परंतु परम्परा नष्ट हो जानेके कारण उसको समझने और समझानेवाले दुर्लभ हो गये हैं।

अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या संधिः। प्रवचनꣳसंधानम्। इत्यधिविद्यम्।

अथ=अब; **अधिविद्यम्**=विद्याविषयक संहिताका आरम्भ करते हैं; **आचार्यः**=गुरु; **पूर्वरूपम्**=पहला वर्ण है; **अन्तेवासी**=समीप निवास करनेवाला शिष्य; **उत्तररूपम्**=दूसरा वर्ण है; **विद्या**=(दोनोंके मिलनेसे उत्पन्न) विद्या; **संधिः**=मिला हुआ रूप है; **प्रवचनम्**=गुरुद्वारा दिया हुआ उपदेश ही; **संधानम्**=संधिका हेतु है; **इति**=इस प्रकार (यह); **अधिविद्यम्**=विद्याविषयक संहिता कही गयी।

व्याख्या—इस मन्त्रमें विद्याके विषयमें संहिता-दृष्टिका उपदेश दिया गया है। इसके द्वारा विद्याप्राप्तिका रहस्य समझाया गया है। भाव यह है कि जिस प्रकार वर्णोंकी संधिमें एक पूर्ववर्ण और एक परवर्ण होता है, उसी प्रकार यहाँ विद्या-रूप संहितामें गुरु तो मानो पूर्ववर्ण है और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गुरुकी सेवा करनेवाला विद्याभिलाषी शिष्य परवर्ण है; तथा संधिमें दो वर्णोंके मिलनेपर जैसे एक तीसरा नया वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार गुरु और शिष्यके सम्बन्धसे उत्पन्न होने-वाली विद्या—ज्ञान ही यहाँ संधि है। इस विद्यारूप संधिके प्रकट होनेका कारण है—प्रवचन अर्थात् गुरुका उपदेश देना और शिष्यद्वारा उसको श्रद्धापूर्वक सुन-समझकर धारण करना; यही संधान है। जो मनुष्य इस रहस्यको समझकर विद्वान् गुरुकी सेवा करता है, वह अवश्य ही विद्या प्राप्त करके विद्वान् हो जाता है।

अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्। प्रजा संधिः। प्रजननꣳसंधानम्। इत्यधिप्रजम्।

अथ=अब; **अधिप्रजम्**=प्रजाविषयक संहिता कहते हैं; **माता**=माता; **पूर्वरूपम्**=पूर्वरूप (पूर्ववर्ण) है; **पिता**=पिता; **उत्तररूपम्**=उत्तररूप (परवर्ण) है; **प्रजा**=(उन दोनोंके मेलसे उत्पन्न) संतान; **संधिः**=संधि है; (तथा) **प्रजननम्**=प्रजनन (संतानोत्पत्तिके अनुकूल व्यापार); **संधानम्**=संधान (संधिका कारण) है; **इति**=इस प्रकार (यह); **अधिप्रजम्**=प्रजाविषयक संहिता कही गयी।

व्याख्या—इस मन्त्रमें संहिताके रूपमें प्रजाका वर्णन करके संतानप्राप्तिका रहस्य समझाया गया है। भाव यह है कि इस प्रजा-विषयक संहितामें माता तो मानो पूर्ववर्ण है और पिता परवर्ण है। जिस प्रकार दोनों वर्णोंकी संधिसे एक नया वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार माता-पिताके संयोगसे उत्पन्न होनेवाली संतान ही इस संहितामें दोनोंकी संधि (संयुक्त स्वरूप) है। तथा माता और पिताका जो ऋतुकालमें शास्त्रविधिके अनुसार यथोचित नियमपूर्वक संतानोत्पत्तिके उद्देश्यसे सहवास करना है, यही संधान (पुत्रोत्पत्तिका कारण) है। जो मनुष्य इस रहस्यको समझकर संतानोत्पत्तिके उद्देश्यसे ऋतुकालमें धर्मयुक्त स्त्रीसहवास करता है, वह अवश्य ही अपनी इच्छाके अनुसार श्रेष्ठ संतान प्राप्त कर लेता है।

अथाध्यात्मम्। अधरा हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक्संधिः। जिह्वा संधानम्। इत्यध्यात्मम्।

अथ=अब; **अध्यात्मम्**=आत्मविषयक संहिताका वर्णन करते हैं; **अधरा हनुः**=नीचेका जबड़ा; **पूर्वरूपम्**=पूर्व रूप (वर्ण) है; **उत्तरा हनुः**=ऊपरका जबड़ा; **उत्तररूपम्**=दूसरा रूप (वर्ण) है; **वाक्**=(दोनोंके मिलनेसे उत्पन्न) वाणी; **संधिः**=संधि है; (और) **जिह्वा**=जिह्वा; **संधानम्**=संधान (वाणीरूप संधिकी उत्पत्तिका कारण) है; **इति**=इस प्रकार (यह); **अध्यात्मम्**=आत्मविषयक संहिता कही गयी।

व्याख्या—इस मन्त्रमें शरीर-विषयक संहिता-दृष्टिका उपदेश किया गया है। शरीरमें प्रधान अङ्ग मुख है; अतः मुखके ही अवयवोंमें संहिताका विभाग दिखाया गया है। तात्पर्य यह कि नीचेका जबड़ा मानो संहिताका पूर्ववर्ण है, ऊपरका जबड़ा परवर्ण है; इन दोनोंके संयोगसे इनके मध्यभागमें अभिव्यक्त होनेवाली वाणी ही संधि है और जिह्वा ही संधान (वाणी-रूप संधिके प्रकट होनेका कारण) है; क्योंकि जिह्वाके बिना मनुष्य कोई भी शब्द नहीं बोल सकता। वाणीमें विलक्षण शक्ति

है। वाणीद्वारा प्रार्थना करके मनुष्य शरीरके पोषण और उसे उन्नत करनेकी सभी सामग्री प्राप्त कर सकता है। तथा ओंकार-रूप परमेश्वरके नाम-जपसे परमात्माको भी प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार वाणीमें शारीरिक और आत्मविषयक—दोनों तरह-की उन्नति करनेकी सामर्थ्य भरी हुई है। इस रहस्यको समझकर जो मनुष्य अपनी वाणीका यथायोग्य उपयोग करता है, वह वाक्शक्ति पाकर उसके द्वारा अभीष्ट फल प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है।

इतीमा महासꣳहिता य एवमेता महासꣳहिता व्याख्याता वेद। संधीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्गेण लोकेन।

इति=इस प्रकार; **इमाः**=ये; **महासंहिताः**=पाँच महासंहिताएँ कही गयी हैं; **यः**=जो मनुष्य; **एवम्**=इस प्रकार; **एताः**=इन; **व्याख्याताः**=ऊपर बतायी हुई; **महासंहिताः**=महासंहिताओंको; **वेद**=जान लेता है; (वह) **प्रजया**=संतानसे; **पशुभिः**=पशुओंसे; **ब्रह्मवर्चसेन**=ब्रह्मतेजसे; **अन्नाद्येन**=अन्न आदि भोग्य पदार्थोंसे; (और) **सुवर्गेण**=स्वर्गरूप; **लोकेन**=लोकसे; **संधीयते**=सम्पन्न हो जाता है।

व्याख्या—इस मन्त्रमें पाँच प्रकारसे कही हुई महासंहिताओंके यथार्थ ज्ञानका फल बताया गया है। इनको जाननेवाला अपनी इच्छाके अनुकूल संतान प्राप्त कर सकता है, विद्याके द्वारा ब्रह्मतेज-सम्पन्न हो जाता है, अपनी इच्छाके अनुसार नाना प्रकारके पशुओंको और अन्न आदि आवश्यक भोग्य पदार्थोंको प्राप्त कर सकता है। इतना ही नहीं, उसे स्वर्गलोककी प्राप्ति भी हो जाती है। इनमेंसे लोकविषयक संहिताके ज्ञानसे स्वर्ग आदि उत्तम लोक, ज्योति-विषयक संहिताके ज्ञानसे नाना प्रकारकी भौतिक सामग्री, प्रजाविषयक संधिके ज्ञानसे संतान, विद्याविषयक संहिताके ज्ञानसे विद्या और ब्रह्मतेज तथा अध्यात्म-संहिताके विज्ञानसे वाक्शक्तिकी प्राप्ति—इस प्रकार पृथक्-पृथक् फल समझना चाहिये। श्रुतिमें समस्त संहिताओंके ज्ञानका सामूहिक फल बताया गया है। श्रुति ईश्वरकी वाणी है; अतः इसका रहस्य समझकर श्रद्धा और विश्वासके साथ उपर्युक्त उपासना करनेसे निस्सन्देह वे सभी फल प्राप्त हो सकते हैं, जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है।

॥ तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थ अनुवाक

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्सम्बभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय।

यः=जो; **छन्दसाम्**=वेदोंमें; **ऋषभः**=सर्वश्रेष्ठ है; **विश्वरूपः**=सर्वरूप है; (और) **अमृतात्**=अमृतस्वरूप; **छन्दोभ्यः**=वेदोंसे; **अधि**=प्रधानरूपमें; **सम्बभूव**=प्रकट हुआ है; **सः**=वह (ओंकारस्वरूप); **इन्द्रः**=सबका स्वामी (परमेश्वर); **मा**=मुझे; **मेधया**=धारणायुक्त बुद्धिसे; **स्पृणोतु**=सम्पन्न करे; **देव**=हे देव; (मैं आपकी कृपासे) **अमृतस्य धारणः**=अमृतमय परमात्माको (अपने हृदयमें) धारण करनेवाला; **भूयासम्**=बन जाऊँ; **मे**=मेरा; **शरीरम्**=शरीर; **विचर्षणम्**=विशेष फुर्तीला—सब प्रकारसे रोगरहित हो; (और) **मे**=मेरी; **जिह्वा**=जिह्वा; **मधुमत्तमा**=अतिशय मधुमती (मधुरभाषिणी); [**भूयात्**=हो जाय;] **कर्णाभ्याम्**=(मैं) दोनों कानोंद्वारा; **भूरि**=अधिक; **विश्रुवम्**=सुनता रहूँ; (हे प्रणव! तू) **मेधया**=लौकिक बुद्धिसे; **पिहितः**=ढकी हुई; **ब्रह्मणः**=परमात्माकी; **कोशः**=निधि; **असि**=है; (तू) **मे**=मेरे; **श्रुतम् गोपाय**=सुने हुए उपदेशकी रक्षा कर।

व्याख्या—इस चतुर्थ अनुवाकमें 'मे श्रुतम् गोपाय' इस वाक्यतक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये आवश्यक

बुद्धिबल और शारीरिक बलकी प्राप्तिके उद्देश्यसे परमेश्वरसे उनके नाम ओंकारद्वारा प्रार्थना करनेका प्रकार बताया गया है। भाव यह है कि 'ओम्' यह परमेश्वरका नाम वेदोक्त जितने भी मन्त्र हैं, उन सबमें श्रेष्ठ है और सर्वरूप है; क्योंकि प्रत्येक मन्त्रके आदिमें ओंकारका उच्चारण किया जाता है और ओंकारके उच्चारणसे सम्पूर्ण वेदोंके उच्चारणका फल प्राप्त होता है। तथा अविनाशी वेदोंसे यह ओंकार प्रधानरूपमें प्रकट हुआ है। ओंकार नाम है और परमेश्वर नामी; अतः दोनों परस्पर अभिन्न हैं। वे प्रणवरूप परमात्मा सबके परमेश्वर होनेके कारण 'इन्द्र' नामसे प्रसिद्ध हैं। वे इन्द्र मुझे मेधासे सम्पन्न करें। 'धीर्धारणावती मेधा' इस कोषवाक्यके अनुसार धारणाशक्तिसे सम्पन्न बुद्धिका नाम मेधा है। तात्पर्य यह कि परमात्मा मुझे पढ़े और समझे हुए भावोंको धारण करनेकी शक्तिसे सम्पन्न करें। हे देव! मैं आपकी अहैतुकी कृपासे आपके अमृतमय स्वरूपको अपने हृदयमें धारण करनेवाला बन जाऊँ। मेरा शरीर रोगरहित रहे, जिससे आपकी उपासनामें किसी प्रकारका विघ्न न पड़े। मेरी जिह्वा अतिशय मधुमती अर्थात् मधुर स्वरसे आपके अत्यन्त मधुर नाम और गुणोंका कीर्तन करके उनके मधुर रसका आस्वादन करनेवाली बन जाय। मैं अपने दोनों कानोंद्वारा कल्याणमय बहुतसे शब्दोंको सुनता रहूँ, अर्थात् मेरे कानोंमें आचार्यद्वारा वर्णन किये हुए रहस्यको पूर्णतया सुननेकी शक्ति आ जाय और मुझे आपका कल्याणमय यश सुननेको मिलता रहे। हे ओंकार! तू परमेश्वरकी निधि है, अर्थात् वे पूर्णब्रह्म परमेश्वर तुझमें भरे हुए हैं; क्योंकि नामी नामके ही आश्रित रहता है। ऐसा होते हुए भी तू मनुष्योंकी लौकिक बुद्धिसे ढका हुआ है—लौकिक तर्कसे अनुसन्धान करनेवालोंकी बुद्धिमें तेरा प्रभाव व्यक्त नहीं होता। हे देव! तू सुने हुए उपदेशकी रक्षा कर अर्थात् ऐसी कृपा कर कि मुझे जो उपदेश सुननेको मिले, उसे मैं स्मरण रखता हुआ उसके अनुसार अपना जीवन बना सकूँ।

सम्बन्ध—अब ऐश्वर्यकी कामनावालेके लिये हवन करनेके मन्त्रोंका आरम्भ करते हैं—

आवहन्ती वितन्वाना कुर्वाणाचीरमात्मनः। वासांसि मम गावश्च। अन्नपाने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा।

ततः=उसके बाद (अब ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी रीति बताते हैं—हे देव!); [**या श्रीः**=जो श्री;] **मम**=मेरे; **आत्मनः**=अपने लिये; **अचीरम्**=तत्काल ही; **वासांसि**=नाना प्रकारके वस्त्र; **च**=और; **गावः**=गौएँ; **च**=तथा; **अन्नपाने**=खाने-पीनेके पदार्थ; **सर्वदा**=सदैव; **आवहन्ती**=ला देनेवाली; **वितन्वाना**=उनका विस्तार करनेवाली; [**च**=तथा;] **कुर्वाणा**=उन्हें बनानेवाली है; **लोमशाम्**=रोएँवाले—भेड़-बकरी आदि पशुओंसे युक्त; **पशुभिः सह**=(तथा अन्य) पशुओंके सहित; [**ताम्**] **श्रियम्**=उस श्रीको; **मे**=(तू) मेरे लिये; **आवह**=ले आ; **स्वाहा**=स्वाहा (इसी उद्देश्यसे तुझे यह आहुति समर्पित की जाती है)।

व्याख्या—चतुर्थ अनुवाकके इस अंशमें 'ततः' पदसे लेकर 'आवह स्वाहा' यहाँतक ऐश्वर्यकी कामनावाले सकाम मनुष्योंके लिये, परमेश्वरसे प्रार्थना करते हुए अग्निमें आहुति देनेकी रीति बतायी गयी है। प्रार्थनाका भाव यह है कि 'हे अग्निके अधिष्ठाता परमेश्वर! जो मेरे निजके लिये आवश्यकता होनेपर बिना विलम्ब तत्काल ही नाना प्रकारके वस्त्र, गौएँ और खाने-पीनेकी विविध सामग्री सदैव प्रस्तुत कर दे, उन्हें बढ़ाती रहे तथा उन्हें नवीनरूपसे रच दे, ऐसी श्रीको तू मेरे लिये भेड़-बकरी आदि रोएँवाले एवं अन्य प्रकारके पशुओंसहित ला दे। अर्थात् समस्त भोग-सामग्रीका साधनरूप धन मुझे प्रदान कर। इस मन्त्रका उच्चारण करके 'स्वाहा' इस शब्दके साथ अग्निमें आहुति देनी चाहिये, यह ऐश्वर्यकी प्राप्तिका साधन है।

सम्बन्ध—आचार्यको ब्रह्मचारियोंके हितार्थ किस प्रकार हवन करना चाहिये, इसकी विधि बतायी जाती है—

आयन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।

ब्रह्मचारिणः=ब्रह्मचारीलोग; **मा**=मेरे पास; **आयन्तु**=आयें; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति दी

जाती है); **ब्रह्मचारिणः**=ब्रह्मचारीलोग; **विमायन्तु**= कपटशून्य हों; **स्वाहा**= स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **ब्रह्मचारिणः**=ब्रह्मचारीलोग; **प्रमायन्तु**=प्रामाणिक ज्ञानको ग्रहण करनेवाले हों; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **ब्रह्मचारिणः**=ब्रह्मचारीलोग; **दमायन्तु**=इन्द्रियोंका दमन करनेवाले हों; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **ब्रह्मचारिणः**=ब्रह्मचारीलोग; **शमायन्तु**=मनको वशमें करनेवाले हों; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है) ।

व्याख्या—चतुर्थ अनुवाकके इस अंशमें शिष्योंके हितार्थ आचार्यको जिन मन्त्रोंद्वारा हवन करना चाहिये, उनका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि आचार्य 'उत्तम ब्रह्मचारीलोग मेरे पास विद्या पढ़नेके लिये आयें' इस उद्देश्यसे मन्त्र पढ़कर 'स्वाहा' शब्दके साथ पहली आहुति दे; 'मेरे ब्रह्मचारी कपटशून्य हों' इस उद्देश्यसे मन्त्र पढ़कर 'स्वाहा' शब्दके साथ दूसरी आहुति दे; 'ब्रह्मचारीलोग उत्तम ज्ञानको ग्रहण करनेवाले हों' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ तीसरी आहुति दे; 'ब्रह्मचारीलोग इन्द्रियोंका दमन करनेवाले हों' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ चौथी आहुति दे तथा 'ब्रह्मचारीलोग मनको वशमें करनेवाले हों' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ पाँचवीं आहुति दे ।

सम्बन्ध—आचार्यको अपने लौकिक और पारलौकिक हितके लिये किस प्रकार हवन करना चाहिये, इसकी विधि बतायी जाती है—

यशो जनेऽसानि स्वाहा । श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा । तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा । स मा भग प्रविश स्वाहा । तस्मिन् सहस्रशाखे नि भगाहं त्वयि मृजे स्वाहा ।

जने=लोगोंमें (मैं); **यशः**=यशस्वी; **असानि**=होऊँ; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **वस्यसः**= महान् धनवानोंकी अपेक्षा भी; **श्रेयान्**=अधिक धनवान्; **असानि**=हो जाऊँ; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **भग**=हे भगवन्; **तम् त्वा**=उस आपमें; **प्रविशानि**= मैं प्रविष्ट हो जाऊँ; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **भग**=हे भगवन् !; **सः**= वह (तू); **मा**=मुझमें; **प्रविश**=प्रविष्ट हो जा; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **भग**=हे भगवन् !; **तस्मिन्**=उस; **सहस्रशाखे**=हजारों शाखावाले; **त्वयि**=आपमें; (ध्यानद्वारा निमग्न होकर) **अहम्**=मैं; **निमृजे**=अपनेको विशुद्ध कर लूँ; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है) ।

व्याख्या—चतुर्थ अनुवाकके इस अंशमें आचार्यको अपने हितके लिये जिन मन्त्रोंद्वारा हवन करना चाहिये, उनका वर्णन किया गया है । भाव यह है कि आचार्यको 'लोगोंमें मैं यशस्वी बनूँ, जगत्में मेरा यश-सौरभ सर्वत्र फैल जाय, मुझसे कोई भी ऐसा आचरण न बने, जो मेरे यशमें धब्बा लगानेवाला हो' इस उद्देश्यसे 'यशो जनेऽसानि' इस मन्त्रका उच्चारण करके 'स्वाहा' शब्दके साथ पहली आहुति डालनी चाहिये । 'महान् धनवानोंकी अपेक्षा भी मैं अधिक सम्पत्तिशाली बन जाऊँ' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ दूसरी आहुति अग्निमें डालनी चाहिये । 'हे भगवन्! आपके उस दिव्य स्वरूपमें मैं प्रविष्ट हो जाऊँ' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ तीसरी आहुति अग्निमें डालनी चाहिये । 'हे भगवन् ! वह आपका दिव्य स्वरूप मुझमें प्रविष्ट हो जाय—मेरे मनमें बस जाय' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ चौथी आहुति अग्निमें डालनी चाहिये । 'हे भगवन् ! हजारों शाखावाले आपके उस दिव्यरूपमें ध्यानद्वारा निमग्न होकर मैं अपने आपको विशुद्ध बना लूँ' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ पाँचवीं आहुति अग्निमें डालनी चाहिये ।

यथाऽऽपः प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जरम् । एवं मां ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा । प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा पद्यस्व ॥

यथा=जिस प्रकार; **आपः**=(नदी आदिके) जल; **प्रवता**=निम्न स्थानसे होकर; **यन्ति**=समुद्रमें चले जाते हैं; **यथा**=जिस प्रकार; **मासाः**=महीने; **अहर्जरम्**=दिनोंका अन्त करनेवाले संवत्सररूप कालमें; [**यन्ति** =चले जाते हैं;]

धातः=हे विधाता; **एवम्**=इसी प्रकार; **माम्**=मेरे पास; **सर्वतः**=सब ओरसे; **ब्रह्मचारिणः**=ब्रह्मचारीलोग; **आयन्तु**=आयें; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **प्रतिवेशः**=(तू) सबका विश्राम-स्थान; **असि**=है; **मा**=मेरे लिये; **प्रभाहि**=अपनेको प्रकाशित कर; **मा**=मुझे; **प्रपद्यस्व**=प्राप्त हो जा ।

व्याख्या—'जिस प्रकार समस्त जल-प्रवाह नीचेकी ओर बहते हुए समुद्रमें मिल जाते हैं, तथा जिस प्रकार महीने दिनोंका अन्त करनेवाले संवत्सररूप कालमें जा रहे हैं, हे विधाता ! उसी प्रकार मेरे पास सब ओरसे ब्रह्मचारीलोग आयें और मैं उनको विद्याभ्यास कराकर तथा कल्याणका उपदेश देकर अपने कर्तव्यका एवं आपकी आज्ञाका पालन करता रहूँ ।' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारण करके 'स्वाहा' शब्दके साथ छठी आहुति अग्निमें डालनी चाहिये । 'हे परमात्मन् ! आप सबके विश्राम-स्थान हैं, अब मेरे लिये अपने दिव्य स्वरूपको प्रकाशित कर दीजिये और मुझे प्राप्त हो जाइये' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ सातवीं आहुति अग्निमें डाले ।

इस प्रकार इस चौथे अनुवाकमें इस लोक और परलोककी उन्नतिका उपाय परमात्माकी प्रार्थना और उसके साथ-साथ हवनको बताया गया है । प्रकरण बड़ा ही सुन्दर और श्रेयस्कर है । अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको इसमें बताये हुए प्रकारसे अपने लिये जिस अंशकी आवश्यकता प्रतीत हो, उस अंशके अनुसार अनुष्ठान आरम्भ कर देना चाहिये ।

॥ चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाक

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः । तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते । मह इति । तद्ब्रह्म । स आत्मा । अङ्गान्यन्या देवताः । भूरिति वा अयं लोकः । भुव इत्यन्तरिक्षम् । सुवरित्यसौ लोकः । मह इत्यादित्यः । आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते ।

भूः=भूः; **भुवः**=भुवः; **सुवः**=स्वः; **इति**=इस प्रकार; **एताः**=ये; **वै**=प्रसिद्ध; **तिस्रः**=तीन; **व्याहृतयः**=व्याहृतियाँ हैं; **तासाम् उ**=उन तीनोंकी अपेक्षासे; **चतुर्थीम्**=जो चौथी व्याहृति; **महः इति**='मह' इस नामसे; **ह**=प्रसिद्ध है; **एताम्**=इसको; **माहाचमस्यः**=महाचमसके पुत्रने; **प्रवेदयते स्म**=सबसे पहले जाना था; **तत्**=वह चौथी व्याहृति ही; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **सः**=वह; **आत्मा**=ऊपर कही हुई व्याहृतियोंकी आत्मा है; **अन्याः**=अन्य; **देवताः**=सब देवता; **अङ्गानि**=उसके अङ्ग हैं; **भूः**='भूः'; **इति**=यह व्याहृति; **वै**=ही; **अयम् लोकः**=यह पृथ्वी-लोक है; **भुवः**='भुवः'; **इति**=यह; **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष-लोक है; **सुवः**='स्वः'; **इति**=यह; **असौ लोकः**=वह प्रसिद्ध स्वर्गलोक है; **महः**='महः'; **इति**=यह; **आदित्यः**=आदित्य—सूर्य है; **आदित्येन**=(क्योंकि) आदित्यसे; **वाव**=ही; **सर्वे**=समस्त; **लोकाः**=लोक; **महीयन्ते**=महिमान्वित होते हैं ।

व्याख्या—इस पञ्चम अनुवाकमें भूः, भुवः, स्वः और महः—इन चारों व्याहृतियोंकी उपासनाका रहस्य बताकर उसके फलका वर्णन किया गया है । पहले तो इसमें यह बात कही गयी है कि भूः, भुवः और स्वः—ये तीन व्याहृतियाँ तो प्रसिद्ध हैं; परंतु इनके अतिरिक्त जो चौथी व्याहृति 'महः' है, इसकी उपासनाका रहस्य सबसे पहले महाचमसके पुत्रने जाना था । भाव यह है कि इन चारों व्याहृतियोंको चार प्रकारसे प्रयोग करके उपासना करनेकी विधि, जो आगे बतायी गयी है, तभीसे प्रचलित हुई है । इसके बाद उन चार व्याहृतियोंमें किस प्रकारकी भावना करके उपासना करनी चाहिये, यह समझाया गया है । इन चारों व्याहृतियोंमें 'महः' यह चौथी व्याहृति सर्वप्रधान है । अतः उपास्य देवोंमें 'महः' व्याहृतिको ब्रह्मका स्वरूप समझना चाहिये—यह भाव समझानेके लिये कहा गया है कि वह चौथी व्याहृति 'महः' ब्रह्मका नाम होनेसे ब्रह्म ही है; क्योंकि ब्रह्म सबके आत्मा हैं, सर्वरूप हैं और अन्य सब देवता उनके अङ्ग हैं, अतः जिस किसी भी देवताकी इन व्याहृतियोंके द्वारा उपासना की जाय, उसमें इस बातको नहीं भूलना चाहिये कि यह सर्वरूप परमेश्वरकी ही उपासना है।

सब देवता उन्हींके अङ्ग होनेसे अन्य देवोंकी उपासना भी उन्हींकी उपासना है। उसके पश्चात् इन व्याहृतियोंमें लोकोंका चिन्तन करनेकी विधि इस प्रकार बतायी गयी है—'भूः' यह तो मानो पृथ्वीलोक है, 'भुवः' यह अन्तरिक्षलोक है, 'स्वः' यह सुप्रसिद्ध स्वर्गलोक है और 'महः' यह सूर्य है; क्योंकि सूर्यसे ही सब लोक महिमान्वित हो रहे हैं। तात्पर्य यह कि भूः, भुवः, स्वः—ये तीनों व्याहृतियाँ तो उन परमेश्वरके विराट् शरीररूप इस स्थूल ब्रह्माण्डको बतानेवाली—अर्थात् परमेश्वरके अङ्गोंके नाम हैं तथा 'महः' यह चौथी व्याहृति इस विराट् शरीरको प्रकाशित करनेवाले उसके आत्मारूप स्वयं परमेश्वरको बतानेवाली है। 'महः' यह सूर्यका नाम है, सूर्यके भी आत्मा हैं परमेश्वर; अतः सूर्यरूपसे सब लोकोंको वे ही प्रकाशित करते हैं। इसलिये यहाँ सूर्यके उपलक्षणसे इस विराट् शरीरको आत्मारूपसे प्रकाशित करनेवाले परमेश्वरकी ही उपासनाका लक्ष्य कराया गया है।

भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः। मह इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींष्यि महीयन्ते। भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूंष्यि। मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते।

भूः=भूः; **इति**=यह व्याहृति; **वै**=ही; **अग्निः**=अग्नि है; **भुवः**='भुवः'; **इति**=यह; **वायुः**=वायु है; **सुवः**='स्वः'; **इति**=यह; **आदित्यः**=आदित्य है; **महः**='महः'; **इति**=यह; **चन्द्रमाः**=चन्द्रमा है; (क्योंकि) **चन्द्रमसा**=चन्द्रमासे; **वाव**=ही; **सर्वाणि**=समस्त; **ज्योतींषि**=ज्योतियाँ; **महीयन्ते**=महिमावाली होती हैं; **भूः**='भूः'; **इति**=यह व्याहृति; **वै**=ही; **ऋचः**=ऋग्वेद है; **भुवः**='भुवः'; **इति**=यह; **सामानि**=सामवेद है; **सुवः**='स्वः'; **इति**=यह; **यजूंषि**=यजुर्वेद है; **महः**='महः'; **इति**=यह; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; (क्योंकि) **ब्रह्मणा**=ब्रह्मसे; **वाव**=ही; **सर्वे**=समस्त; **वेदाः**=वेद; **महीयन्ते**=महिमावान् होते हैं।

व्याख्या—इसी प्रकार फिर ज्योतियोंमें इन व्याहृतियोंद्वारा परमेश्वरकी उपासनाका प्रकार बताया गया है। भाव यह है कि 'भूः' यह व्याहृति अग्निका नाम होनेसे मानो अग्नि ही है। अग्निदेवता वाणीका अधिष्ठाता है और वाणी भी प्रत्येक विषयको व्यक्त करके स्वयं प्रकाशित होनेसे ज्योति है; अतः वह भी ज्योतियोंकी उपासनामें मानो 'भूः' है। 'भुवः' यह वायु है। वायुदेवता त्वक्-इन्द्रियका अधिष्ठाता है और त्वक्-इन्द्रिय स्पर्शको प्रकाशित करनेवाली ज्योति है; अतः ज्योतिविषयक उपासनामें वायु और त्वचाको 'भुवः'रूप समझना चाहिये। 'स्वः' यह सूर्य है। सूर्य चक्षु-इन्द्रियका अधिष्ठातृ-देवता है, चक्षु-इन्द्रिय भी सूर्यकी सहायतासे रूपको प्रकाशित करनेवाली ज्योति है; अतः ज्योति-विषयक उपासनामें सूर्य और चक्षु-इन्द्रियको 'स्वः' व्याहृतिस्वरूप समझना चाहिये। 'महः' यह चौथी व्याहृति ही मानो चन्द्रमा है, चन्द्रमा मनका अधिष्ठातृ-देवता है। मनकी सहायतासे, मनके साथ रहनेपर ही समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयको प्रकाशित कर सकती हैं, मनके बिना नहीं कर सकतीं; अतः सब ज्योतियोंमें प्रधान चन्द्रमा और मनको ही 'महः' व्याहृतिरूप समझना चाहिये; क्योंकि चन्द्रमासे अर्थात् मनसे ही समस्त ज्योतिरूप इन्द्रियाँ महिमान्वित होती हैं। इस प्रकार मनके रूपमें परमेश्वरकी उपासना करनेकी विधि समझायी गयी। फिर इसी भाँति वेदोंके विषयमें व्याहृतियोंके प्रयोगद्वारा परमेश्वरकी उपासनाका प्रकार बताया गया है। भाव यह है कि 'भूः' यह ऋग्वेद है, 'भुवः' यह सामवेद है, 'स्वः' यह यजुर्वेद है और 'महः' यह ब्रह्म है; क्योंकि ब्रह्मसे ही समस्त वेद महिमायुक्त होते हैं। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण वेदोंमें वर्णित समस्त ज्ञान परब्रह्म परमेश्वरसे ही प्रकट और उन्हींसे व्याप्त है तथा उन परमेश्वरके तत्त्वका इन वेदोंमें वर्णन है; इसीलिये इनकी महिमा है। इस प्रकार वेदोंमें इन व्याहृतियोंका प्रयोग करके उपासना करनी चाहिये।

भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति।

भूः='भूः'; **इति**=यह व्याहृति; **वै**=ही; **प्राणः**=प्राण है; **भुवः**='भुवः'; **इति**=यह; **अपानः**=अपान है; **सुवः**='स्वः'; **इति**=यह; **व्यानः**=व्यान है; **महः**='महः'; **इति**=यह; **अन्नम्**=अन्न है; (क्योंकि) **अन्नेन**=अन्नसे; **वाव**=ही; **सर्वे**=समस्त; **प्राणाः**=प्राण; **महीयन्ते**=महिमायुक्त होते हैं; **ताः**=वे; **वै**=ही; **एताः**=ये; **चतस्रः**=चारों व्याहृतियाँ; **चतुर्धा**=चार प्रकारकी हैं; (अतएव) **चतस्रः चतस्रः**=एक-एकके चार-चार भेद होनेसे कुल सोलह; **व्याहृतयः**=व्याहृतियाँ हैं; **ताः**=उनको; **यः**=जो; **वेद**=तत्त्वसे जानता है; **सः**=वह; **ब्रह्म**=ब्रह्मको; **वेद**=जानता है; **अस्मै**=इस ब्रह्मवेत्ताके लिये; **सर्वे**=समस्त; **देवाः**=देवता; **बलिम्**=भेंट; **आवहन्ति**=समर्पण करते हैं।

व्याख्या—उसके बाद प्राणोंके विषयमें इन व्याहृतियोंका प्रयोग करके उपासनाका प्रकार समझाया गया है। भाव यह है कि 'भूः' यही मानो प्राण है, 'भुवः' यह अपान है, 'स्वः' यह व्यान है। इस प्रकार जगद्व्यापी समस्त प्राण ही मानो ये तीनों व्याहृतियाँ हैं और अन्न 'महः' रूप चतुर्थ व्याहृति है; क्योंकि जिस प्रकार व्याहृतियोंमें 'महः' प्रधान है, उसी प्रकार समस्त प्राणोंका पोषण करके उनकी महिमाको बनाये रखने और बढ़ानेके कारण उनकी अपेक्षा अन्न प्रधान है, अतः प्राणोंके अन्तर्यामी परमेश्वरकी अन्नके रूपमें उपासना करनी चाहिये।

इस तरह चारों व्याहृतियोंको चार प्रकारसे प्रयुक्त करके उपासना करनेकी रीति बताकर फिर उसे समझकर उपासना करनेका फल बताया गया है। भाव यह कि चार प्रकारसे प्रयुक्त इन चारों व्याहृतियोंकी उपासनाके भेदको जो कोई जान लेता है, अर्थात् समझकर उसके अनुसार परब्रह्म परमात्माकी उपासना करता है, वह ब्रह्मको जान लेता है और समस्त देव उसको भेंट समर्पण करते हैं—उसे परमेश्वरका प्यारा समझकर उसका आदर-सत्कार करते हैं।

॥ पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठ अनुवाक

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः।

सः=वह (पहले बताया हुआ); **यः**=जो; **एषः**=यह; **अन्तर्हृदये**=हृदयके भीतर; **आकाशः**=आकाश है; **तस्मिन्**=उसमें; **अयम्**=यह; **हिरण्मयः**=विशुद्ध प्रकाशस्वरूप; **अमृतः**=अविनाशी; **मनोमयः**=मनोमय; **पुरुषः**=पुरुष—(परमेश्वर) रहता है।

व्याख्या—इस अनुवाकमें चार बातें कही गयी हैं, उनका पूर्व अनुवाकमें बतलाये हुए उपदेशसे अलग-अलग संबन्ध है और उस उपदेशकी पूर्तिके लिये ही यह आरम्भ किया गया है, ऐसा अनुमान होता है।

पूर्व अनुवाकमें मनके अधिष्ठातृ-देवता चन्द्रमाको इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवताओंका प्रकाशक बताया गया है और उसकी ब्रह्मरूपसे उपासना करनेकी युक्ति समझायी गयी है; वे मनोमय परब्रह्म—सबके अन्तर्यामी पुरुष कहाँ हैं, उनकी उपलब्धि कहाँ होती है—यह बात इस अनुवाकके पहले अंशमें समझायी गयी है। अनुवाकके इस अंशका अभिप्राय यह है कि पहले बतलाया हुआ जो यह हृदयके भीतर अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला आकाश है, उसीमें ये विशुद्ध प्रकाशस्वरूप अविनाशी मनोमय अन्तर्यामी परम पुरुष परमेश्वर विराजमान हैं; वहीं उनका साक्षात्कार हो जाता है, उन्हें पानेके लिये कहीं दूसरी जगह नहीं जाना पड़ता।

अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले। भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ। सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि।

अन्तरेण तालुके=दोनों तालुओंके बीचमें; **यः**=जो; **एषः**=यह; **स्तनः इव**=स्तनके सदृश; **अवलम्बते**=लटक रहा है; [**तम् अपि अन्तरेण**=उसके भी भीतर;] **यत्र**=जहाँ; **असौ**=वह; **केशान्तः**=केशोंका मूलस्थान (ब्रह्मरन्ध्र); **विवर्तते**=

स्थित है; (वहाँ) **शीर्षकपाले**=सिरके दोनों कपालोंको; **व्यपोह्य**=भेदन करके; [**विनिःसृता या**=निकली हुई जो सुषुम्णा नाड़ी है;] **सा**=वह; **इन्द्रयोनिः**=इन्द्रयोनि (परमात्माकी प्राप्तिका द्वार) है; (अन्तकालमें साधक) **भूः इति**='भूः' इस व्याहृतिके अर्थरूप; **अग्नौ**=अग्निमें; **प्रतितिष्ठति**=प्रतिष्ठित होता है; **भुवः इति**='भुवः' इस व्याहृतिके अर्थरूप; **वायौ**=वायुदेवतामें स्थित होता है; (फिर) **सुवः इति**='स्वः' इस व्याहृतिके अर्थरूप; **आदित्ये**=सूर्यमें स्थित होता है; (उसके बाद) **महः इति**='महः' इस व्याहृतिके अर्थस्वरूप; **ब्रह्मणि**=ब्रह्ममें स्थित होता है।

व्याख्या—उन परब्रह्म परमेश्वरको अपने हृदयमें प्रत्यक्ष देखनेवाला महापुरुष इस शरीरका त्याग करके जब जाता है, तब किस प्रकार किस मार्गसे बाहर निकलकर किस क्रमसे भूः, भुवः और स्वःरूप समस्त लोकोंमें परिपूर्ण सबके आत्मरूप परमेश्वरमें स्थित होता है—यह बात इस अनुवाकके दूसरे अंशमें समझायी गयी है। भाव यह है कि मनुष्योंके मुखमें तालुओंके बीचो-बीच जो एक थनके आकारका मांस-पिण्ड लटकता है जिसे बोलचालकी भाषामें 'घाँटी' कहते हैं, उसके आगे केशोंका मूलस्थान ब्रह्मरन्ध्र है; वहाँ हृदय-देशसे निकलकर घाँटीके भीतरसे होती हुई दोनों कपालोंको भेदकर गयी हुई जो सुषुम्णा नामसे प्रसिद्ध नाड़ी है, वही उन इन्द्र नामसे कहे जानेवाले परमेश्वरकी प्राप्तिका द्वार है। अन्तकालमें वह महापुरुष उस मार्गसे शरीरके बाहर निकलकर 'भूः' इस नामसे अभिहित अग्निमें स्थित होता है। गीतामें भी यही बात कही गयी है कि ब्रह्मवेत्ता जब ब्रह्मलोकमें जाता है, तब वह सर्वप्रथम ज्योतिर्मय अग्निके अभिमानी देवताके अधिकारमें आता है (गीता ८। २४)। उसके बाद वायुमें स्थित होता है। अर्थात् पृथ्वीसे लेकर सूर्यलोकतक समस्त आकाशमें जिसका अधिकार है, जो सर्वत्र विचरनेवाली वायुका अभिमानी देवता है, और जो 'भुवः' नामसे पञ्चम अनुवाकमें कहा गया है, उसीके अधिकारमें वह आता है। वह देवता उसे 'स्वः' इस नामसे कहे हुए सूर्यलोकमें पहुँचा देता है, वहाँसे फिर वह 'महः' इस नामसे कहे हुए 'ब्रह्म' में स्थित हो जाता है।

आप्नोति स्वाराज्यम्। आप्नोति मनसस्पतिम्। वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः। श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः। एतत्ततो भवति।

स्वाराज्यम्=(वह) स्वाराज्यको; **आप्नोति**=प्राप्त कर लेता है; **मनसस्पतिम्**=मनके स्वामीको; **आप्नोति**=पा लेता है; **वाक्पतिः [भवति]**=वाणीका स्वामी हो जाता है; **चक्षुष्पतिः**=नेत्रोंका स्वामी; **श्रोत्रपतिः**=कानोंका स्वामी; (और) **विज्ञानपतिः**=विज्ञानका स्वामी हो जाता है; **ततः**=उस पहले बताये हुए साधनसे; **एतत्**=यह फल; **भवति**=होता है।

व्याख्या—वह ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित महापुरुष कैसा हो जाता है—यह बात इस अनुवाकके तीसरे अंशमें बतलायी गयी है। अनुवाकके इस अंशका अभिप्राय यह है कि वह स्वराट् बन जाता है। अर्थात् उसपर प्रकृतिका अधिकार नहीं रहता, अपितु वह स्वयं ही प्रकृतिका अधिष्ठाता बन जाता है; क्योंकि वह मनके अर्थात् समस्त अन्तःकरणसमुदायके स्वामी परमात्माको प्राप्त कर लेता है, इसलिये वह वाणी, चक्षु, श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियों और उनके देवताओंका तथा विज्ञानस्वरूप बुद्धिका भी स्वामी हो जाता है। अर्थात् ये सब उसके अधीन हो जाते हैं। उस पहले बताये हुए साधनसे यह उपर्युक्त फल मिलता है।

आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्म प्राणारामं मनआनन्दम्। शान्तिसमृद्धममृतम्। इति प्राचीनयोग्योपास्स्व।

ब्रह्म=वह ब्रह्म; **आकाशशरीरम्**=आकाशके सदृश शरीरवाला; **सत्यात्म**=सत्तारूप; **प्राणारामम्**=इन्द्रियादि समस्त प्राणोंको विश्राम देनेवाला; **मनआनन्दम्**=मनको आनन्द देनेवाला; **शान्तिसमृद्धम्**=शान्तिसे सम्पन्न; (तथा) **अमृतम्**=अविनाशी है; **इति**=यों मानकर; **प्राचीनयोग्य**=हे प्राचीनयोग्य; **उपास्स्व**=तू उसकी उपासना कर।

व्याख्या—वे प्राप्तव्य ब्रह्म कैसे हैं, उनका किस प्रकार चिन्तन और ध्यान करना चाहिये—यह बात इस अनुवाकके चौथे अंशमें बतायी गयी है। अभिप्राय यह है कि वे ब्रह्म आकाशके सदृश निराकार, सर्वव्यापी और अतिशय

सूक्ष्म शरीरवाले हैं। एकमात्र सत्तारूप हैं। समस्त इन्द्रियोंको विश्राम देनेवाले और मनके लिये परम आनन्ददायक हैं। अखण्ड शान्तिके भंडार हैं और सर्वथा अविनाशी हैं। परम विश्वासके साथ यों मानकर साधकको उनकी प्राप्तिके लिये उनके चिन्तन और ध्यानमें तत्परताके साथ लग जाना चाहिये, यह भाव दिखलानेके लिये अन्तमें श्रुतिकी वाणीमें ऋषि अपने शिष्यसे कहते हैं—'हे प्राचीनयोग्य !* तू उन ब्रह्मका स्वरूप इस प्रकारका मानकर उनकी उपासना कर।'

॥ षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥ ६ ॥

सप्तम अनुवाक

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः । अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि । आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा । इत्यधिभूतम् । अथाध्यात्मम् । प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः । चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक् । चर्म मांसꣳस्नावास्थि मज्जा । एतदधिविधाय ऋषिरवोचत् । पाङ्क्तं वा इदꣳ सर्वम् । पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तꣳस्पृणोतीति ।

पृथिवी=पृथ्वीलोक; **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक; **द्यौः**=स्वर्गलोक; **दिशः**=दिशाएँ; **अवान्तरदिशः**=अवान्तर दिशाएँ—दिशाओंके बीचके कोण (यह पाँच लोकोंकी पङ्क्ति है); **अग्निः**=अग्नि; **वायुः**=वायु; **आदित्यः**=सूर्य; **चन्द्रमाः**=चन्द्रमा; **नक्षत्राणि**=(तथा) समस्त नक्षत्र (यह पाँच ज्योतिःसमुदायकी पङ्क्ति है); **आपः**=जल; **ओषधयः**=ओषधियाँ; **वनस्पतयः**=वनस्पतियाँ; **आकाशः**=आकाश; **आत्मा**=(तथा) इनका संघातस्वरूप अन्नमय स्थूलशरीर (ये पाँचों मिलकर स्थूल पदार्थोंकी पङ्क्ति है); **इति**=यह; **अधिभूतम्**=आधिभौतिक दृष्टिसे वर्णन हुआ; **अथ**=अब; **अध्यात्मम्**=आध्यात्मिक दृष्टिसे बतलाते हैं; **प्राणः**=प्राण; **व्यानः**=व्यान; **अपानः**=अपान; **उदानः**=उदान; (और) **समानः**=समान (यह पाँचों प्राणोंकी पङ्क्ति है); **चक्षुः**=नेत्र; **श्रोत्रम्**=कान; **मनः**=मन; **वाक्**=वाणी; (और) **त्वक्**=त्वचा (यह पाँचों करणोंकी पङ्क्ति है); **चर्म**=चर्म; **मांसम्**=मांस; **स्नावा**=नाड़ी; **अस्थि**=हड्डी; (और) **मज्जा**=मज्जा (यह पाँच शरीरगत धातुओंकी पङ्क्ति है); **एतत्**=यह (इस प्रकार); **अधिविधाय**=सम्यक् कल्पना करके; **ऋषिः**=ऋषिने; **अवोचत्**=कहा; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=सब; **वै**=निश्चय ही; **पाङ्क्तम्**=पाङ्क्त है;† **पाङ्क्तेन एव पाङ्क्तम्**=(साधक) इस आध्यात्मिक पाङ्क्तसे ही बाह्य पाङ्क्तको और बाह्यसे अध्यात्म पाङ्क्तको; **स्पृणोति इति**=पूर्ण करता है।

व्याख्या—इस अनुवाकके दो भाग हैं। पहले भागमें मुख्य-मुख्य आधिभौतिक पदार्थोंको लोक, ज्योति और स्थूल-पदार्थ—इन तीन पङ्क्तियोंमें विभक्त करके उनका वर्णन किया है और दूसरे भागमें मुख्य-मुख्य आध्यात्मिक (शरीरस्थित) पदार्थोंको प्राण, करण और धातु—इन तीन पङ्क्तियोंमें विभक्त करके उनका वर्णन किया है। अन्तमें उनका उपयोग करनेकी युक्ति बतायी गयी है।

भाव यह है कि पृथ्वीलोक, अन्तरिक्षलोक, स्वर्गलोक, पूर्व-पश्चिम आदि दिशाएँ और आग्नेय-नैर्ऋत्य आदि अवान्तर दिशाएँ—इस प्रकार यह लोकोंकी आधिभौतिक पङ्क्ति है। अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र—इस प्रकार यह ज्योतियोंकी आधिभौतिक पङ्क्ति है। तथा जल, ओषधियाँ, वनस्पति, आकाश और पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर—इस प्रकार यह स्थूल जड-पदार्थोंकी आधिभौतिक पङ्क्ति है। यह सब मिलकर आधिभौतिक पाङ्क्त अर्थात् भौतिक पङ्क्तियोंका समूह है। इसी प्रकार यह आगे बताया हुआ आध्यात्मिक—शरीरके भीतर रहनेवाला पाङ्क्त है। इसमें प्राण, व्यान, अपान, उदान और समान—इस प्रकार यह प्राणोंकी पङ्क्ति है। नेत्र, कान, मन, वाणी और त्वचा—इस प्रकार यह करण-समुदायकी पङ्क्ति है। तथा चर्म, मांस, नाड़ी, हड्डी और मज्जा—इस प्रकार यह शरीरगत धातुओंकी पङ्क्ति है। इस प्रकार प्रधान-प्रधान आधिभौतिक और आध्यात्मिक पदार्थोंकी त्रिविध पङ्क्तियाँ बनाकर वर्णन करना यहाँ उपलक्षणरूपमें है, अतः शेष पदार्थोंको भी इनके

* पहलेसे ही जिसमें ब्रह्म-प्राप्तिकी योग्यता हो, वह 'प्राचीनयोग्य' है। अथवा यह शिष्यका नाम है।

† पङ्क्तिका समूह ही 'पाङ्क्त' है।

अन्तर्गत समझ लेना चाहिये। इस प्रकार वर्णन करनेके बाद श्रुति कहती है कि ये पङ्क्तियोंमें विभक्त करके बताये हुए पदार्थ सब-के-सब पङ्क्तियोंके समुदाय हैं। इनका आपसमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस रहस्यको समझकर अर्थात् किस आधिभौतिक पदार्थके साथ किस आध्यात्मिक पदार्थका क्या सम्बन्ध है, इस बातको भलीभाँति समझकर मनुष्य आध्यात्मिक शक्तिसे भौतिक पदार्थोंका विकास कर लेता है और भौतिक पदार्थोंसे आध्यात्मिक शक्तियोंकी उन्नति कर लेता है।

पहली आधिभौतिक लोकसम्बन्धी पङ्क्तिसे चौथी प्राण-समुदायरूप आध्यात्मिक पङ्क्तिका सम्बन्ध है; क्योंकि एक लोकसे दूसरे लोकको सम्बद्ध करनेमें प्राणोंकी ही प्रधानता है—यह बात संहिता-प्रकरणमें पहले बता आये हैं। दूसरी ज्योति-विषयक आधिभौतिक पङ्क्तिसे पाँचवीं करण-समुदायरूप आध्यात्मिक पङ्क्तिका सम्बन्ध है; क्योंकि वे आधिभौतिक ज्योतियाँ इन आध्यात्मिक ज्योतियोंकी सहायक हैं, यह बात शास्त्रोंमें जगह-जगह बतायी गयी है। इसी प्रकार तीसरी जो स्थूल पदार्थों-की आधिभौतिक पङ्क्ति है, उसका छठी शरीरगत धातुओंकी आध्यात्मिक पङ्क्तिसे सम्बन्ध है; क्योंकि ओषधि और वनस्पति-रूप अन्नसे ही मांस-मज्जा आदिकी पुष्टि और वृद्धि होती है, यह प्रत्यक्ष है। इस प्रकार प्रत्येक स्थूल और सूक्ष्म तत्त्वको भलीभाँति समझकर उनका उपयोग करनेसे मनुष्य सब प्रकारकी सांसारिक उन्नति कर सकता है, यही इस वर्णनका भाव मालूम होता है।

॥ सप्तम अनुवाक समाप्त ॥ ७ ॥

अष्टम अनुवाक

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदꣳसर्वम्। ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओꣳशोमिति शस्त्राणि शꣳसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति।

ओम्='ओम्'; **इति**=यह; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **ओम्**='ओम्'; **इति**=ही; **इदम्**=यह प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला; **सर्वम्**=समस्त जगत् है; **ओम्**='ओम्'; **इति**=इस प्रकारका; **एतत्**=यह अक्षर; **ह**=ही; **वै**=निःसंदेह; **अनुकृतिः**=अनुकृति (अनुमोदन) है; **स्म**=यह बात प्रसिद्ध है; **अपि**=इसके सिवा; **ओ**=हे आचार्य; **श्रावय**=मुझे सुनाइये; **इति**=यों कहनेपर; **आश्रावयन्ति**=('ओम्' यों कहकर शिष्यको) उपदेश सुनाते हैं; **ओम्**='ओम्' (बहुत अच्छा); **इति**=इस प्रकार (स्वीकृति देकर); [**सामगाः**=सामगायक विद्वान्;] **सामानि**=सामवेद; **गायन्ति**=गाते हैं; **ओम् शोम्**='ओम् शोम्'; **इति**=यों कहकर ही; **शस्त्राणि**=शस्त्रोंको अर्थात् मन्त्रोंको; **शंसन्ति**=पढ़ते हैं; **ओम्**='ओम्'; **इति**=यों कहकर; **अध्वर्युः**=अध्वर्यु नामक ऋत्विक्; **प्रतिगरम् प्रतिगृणाति**=प्रतिगर-मन्त्रका उच्चारण करता है; **'ओम्'**='ओम्'; **इति**=यों कहकर; **ब्रह्मा**=ब्रह्मा (चौथा ऋत्विक्); **प्रसौति**=अनुमति देता है; **ओम्**='ओम्'; **इति**=यह कहकर; **अग्निहोत्रम् अनुजानाति**=अग्निहोत्र करनेकी आज्ञा देता है; **प्रवक्ष्यन्**=अध्ययन करनेके लिये उद्यत; **ब्राह्मणः**=ब्राह्मण; **ओम् इति**=पहले ओम्का उच्चारण करके; **आह**=कहता है; **ब्रह्म**=(मैं)वेदको; **उपाप्नवानि इति**=प्राप्त करूँ; **ब्रह्म**=(फिर वह) वेदको; **एव**=निश्चय ही; **उपाप्नोति**=प्राप्त करता है।

व्याख्या—इस अनुवाकमें 'ॐ' इस परमेश्वरके नामके प्रति मनुष्यकी श्रद्धा और रुचि उत्पन्न करनेके लिये ॐकारकी महिमाका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि 'ॐ' यह परब्रह्म परमात्माका नाम होनेसे साक्षात् ब्रह्म ही है; क्योंकि भगवान्का नाम भी भगवत्स्वरूप ही होता है। यह प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला समस्त जगत् 'ॐ' है अर्थात् उस ब्रह्मका ही स्थूलरूप है। 'ॐ' यह अनुकृति अर्थात् अनुमोदनका सूचक है। अर्थात् जब किसीकी बातका अनुमोदन करना होता है, तब श्रेष्ठ पुरुष परमेश्वरके नामस्वरूप इस ॐकारका उच्चारण करके संकेतसे उसका अनुमोदन कर दिया करते हैं, दूसरे व्यर्थ शब्द नहीं बोलते—यह बात प्रसिद्ध है। जब शिष्य अपने गुरुसे तथा श्रोता किसी व्याख्यानदातासे उपदेश सुनानेके लिये प्रार्थना

करता है, तब गुरु और वक्ता भी 'ॐ' इस प्रकार कहकर ही उपदेश सुनाना आरम्भ करते हैं। सामवेदका गान करनेवाले भी 'ॐ' इस प्रकार पहले परमेश्वरके नामका भलीभाँति गान करके उसके बाद सामवेदका गान किया करते हैं। यज्ञकर्ममें शस्त्र-शंसनरूप कर्म करनेवाले शास्ता नामक ऋत्विक् 'ओम् शोम्' इस प्रकार कहकर ही शस्त्रोंका अर्थात् तद्विषयक मन्त्रोंका पाठ करते हैं। यज्ञकर्म करानेवाला अध्वर्यु नामक ऋत्विक् भी 'ॐ' इस परमेश्वरके नामका उच्चारण करके ही प्रतिगर-मन्त्रका उच्चारण करता है। ब्रह्मा (चौथा ऋत्विक्) भी 'ॐ' इस प्रकार परमात्माके नामका उच्चारण करके यज्ञ-कर्म करनेके लिये अनुमति देता है, तथा 'ॐ' यों कहकर ही अग्निहोत्र करनेकी आज्ञा देता है। अध्ययन करनेके लिये उद्यत ब्राह्मण ब्रह्मचारी भी 'ॐ' इस प्रकार परमेश्वरके नामका पहले उच्चारण करके कहता है कि 'मैं वेदको भली प्रकार पढ़ सकूँ।' अर्थात् ॐकार जिसका नाम है, उस परमेश्वरसे ॐकारके उच्चारणपूर्वक यह प्रार्थना करता है कि 'मैं वेदको—वैदिक ज्ञानको प्राप्त कर लूँ—ऐसी बुद्धि दीजिये।' इसके फलस्वरूप वह वेदको निःसन्देह प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार इस मन्त्रमें ॐकारकी महिमाका वर्णन है।

॥ अष्टम अनुवाक समाप्त ॥ ८ ॥

नवम अनुवाक

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः।

ऋतम्=यथायोग्य सदाचारका पालन; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=शास्त्रका पढ़ना-पढ़ाना भी (यह सब अवश्य करना चाहिये); **सत्यम्**=सत्यभाषण; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **तपः**=तपश्चर्या; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **दमः**=इन्द्रियोंका दमन; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **शमः**=मनका निग्रह; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **अग्नयः**=अग्नियोंका चयन; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **अग्निहोत्रम्**=अग्निहोत्र; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **अतिथयः**=अतिथियोंकी सेवा; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **मानुषम्**=मनुष्योचित लौकिक व्यवहार; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (साथ-साथ करना चाहिये); **प्रजा**=गर्भाधान-संस्काररूप कर्म; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (करना चाहिये); **प्रजनः**=शास्त्रविधिके अनुसार स्त्रीसहवास; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=वेदोंका पढ़ना-पढ़ाना भी (करना चाहिये); **प्रजातिः**=कुटुम्ब-वृद्धिका कर्म; **च**=और; **स्वाध्यायप्रवचने च**=शास्त्रका पढ़ना-पढ़ाना भी (करना चाहिये); **सत्यम्**=सत्य ही इनमें श्रेष्ठ है; **इति**=यों; **राथीतरः**=रथीतरका पुत्र; **सत्यवचाः**=सत्यवचा ऋषि कहते हैं; **तपः**=तप ही सर्वश्रेष्ठ है; **इति**=यों; **पौरुशिष्टिः**=पुरुशिष्टका पुत्र; **तपोनित्यः**=तपोनित्य नामक ऋषि कहते हैं; **स्वाध्यायप्रवचने एव**=वेदका पढ़ना-पढ़ाना ही सर्वश्रेष्ठ है; **इति**=यों; **मौद्गल्यः**=मुद्गलके पुत्र; **नाकः**='नाक' मुनि कहते हैं; **हि**=क्योंकि; **तत्**=वही; **तपः**=तप है; **तत् हि**=वही; **तपः**=तप है।

व्याख्या—इस अनुवाकमें यह बात समझायी गयी है कि अध्ययन और अध्यापन करनेवालोंको अध्ययन-अध्यापन-

के साथ-साथ शास्त्रोंमें बताये हुए मार्गपर स्वयं चलना भी चाहिये। यही बात उपदेशक और उपदेश सुननेवालोंके विषयमें भी समझनी चाहिये। अभिप्राय यह है कि अध्ययन और अध्यापन दोनों बहुत ही उपयोगी हैं, शास्त्रोंके अध्ययनसे ही मनुष्यको अपने कर्तव्यका तथा उसकी विधि और फलका ज्ञान होता है; अतः इसे करते हुए ही उसके साथ-साथ यथायोग्य सदाचारका पालन, सत्यभाषण, स्वधर्मपालनके लिये बड़े-से-बड़ा कष्ट सहना, इन्द्रियोंको वशमें रखना, मनको वशमें रखना, अग्निहोत्रके लिये अग्निको प्रदीप्त करना, फिर उसमें हवन करना, अतिथिकी यथायोग्य सेवा करना, सबके साथ सुन्दर मनुष्योचित लौकिक व्यवहार करना, शास्त्रविधिके अनुसार गर्भाधान करना और ऋतुकालमें नियमितरूपसे स्त्री-सहवास करना तथा कुटुम्बको बढ़ानेका उपाय करना—इस प्रकार इन सभी श्रेष्ठ कर्मोंका अनुष्ठान करते रहना चाहिये। अध्यापक तथा उपदेशकके लिये तो इन सब कर्तव्योंका समुचित पालन और भी आवश्यक है; क्योंकि उनका आदर्श उनके छात्र तथा श्रोता ग्रहण करते हैं। रथीतरके पुत्र सत्यवचा नामक ऋषिका कहना है कि 'इन सब कर्मोंमें सत्य ही सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि प्रत्येक कर्म सत्यभाषण और सत्यभावपूर्वक किये जानेपर ही यथार्थरूपसे सम्पन्न होता है।' पुरुशिष्टपुत्र तपोनित्य नामक ऋषिका कहना है कि 'तपश्चर्या ही सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि तपसे ही सत्यभाषण आदि समस्त धर्मोंके पालन करनेकी और उनमें दृढ़तापूर्वक स्थित रहनेकी शक्ति आती है।' मुद्गलके पुत्र नाक नामक मुनिका कहना है कि 'वेद और धर्मशास्त्रोंका पठन-पाठन ही सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि वही तप है, वही तप है। अर्थात् इन्हींसे तप आदि समस्त धर्मोंका ज्ञान होता है।' इन सभी ऋषियोंका कहना यथार्थ है। उनके कथनको उद्धृत करके यह भाव दिखाया गया है कि प्रत्येक कर्ममें इन तीनोंकी प्रधानता रहनी चाहिये। जो कुछ कर्म किया जाय, वह पठन-पाठनसे उपलब्ध शास्त्रज्ञानके अनुकूल होना चाहिये। कितने ही विघ्न क्यों न उपस्थित हों, अपने कर्तव्यपालनरूप तपमें सदा दृढ़ रहना चाहिये और प्रत्येक क्रियामें सत्यभाव और सत्यभाषणपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

॥ नवम अनुवाक समाप्त ॥ ९ ॥

दशम अनुवाक

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणꣳ सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्।

अहम्=मैं; **वृक्षस्य**=संसारवृक्षका; **रेरिवा**=उच्छेद करनेवाला हूँ; [**मम**] **कीर्तिः**=मेरी कीर्ति; **गिरेः**=पर्वतके; **पृष्ठम् इव**=शिखरकी भाँति उन्नत है; **वाजिनि**=अन्नोत्पादक शक्तिसे युक्त सूर्यमें; **स्वमृतम् इव**=जैसे उत्तम अमृत है उसी प्रकार मैं भी; **ऊर्ध्वपवित्रः अस्मि**=अतिशय पवित्र अमृतस्वरूप हूँ; (तथा मैं) **सवर्चसम्**=प्रकाशयुक्त; **द्रविणम्**=धनका भंडार हूँ; **अमृतोक्षितः**=(परमानन्दमय) अमृतसे अभिषिञ्चित; (तथा) **सुमेधाः**=श्रेष्ठ बुद्धिवाला हूँ; **इति**=इस प्रकार (यह); **त्रिशङ्कोः**=त्रिशङ्कु ऋषिका; **वेदानुवचनम्**=अनुभव किया हुआ वैदिक प्रवचन है।

व्याख्या—त्रिशङ्कु नामक ऋषिने परमात्माको प्राप्त होकर जो अपना अनुभव व्यक्त किया था, उसे ही इस अनुवाकमें उद्धृत किया गया है। त्रिशङ्कुके वचनानुसार अपने अन्तःकरणमें भावना करना भी परमात्माकी प्राप्तिका साधन है, यही बतानेके लिये इस अनुवाकका आरम्भ हुआ है। श्रुतिका भावार्थ यह है कि मैं प्रवाहरूपमें अनादिकालसे चले आते हुए इस जन्म-मृत्युरूप संसारवृक्षका उच्छेद करनेवाला हूँ। यह मेरा अन्तिम जन्म है। इसके बाद मेरा पुनः जन्म नहीं होनेका। मेरी कीर्ति पर्वत-शिखरकी भाँति उन्नत एवं विशाल है। अन्नोत्पादक शक्तिसे युक्त सूर्यमें जैसे उत्तम अमृतका निवास है, उसी प्रकार मैं भी विशुद्ध—रोग-दोष आदिसे सर्वथा मुक्त हूँ, अमृतस्वरूप हूँ। इसके सिवा मैं प्रकाशयुक्त धनका भंडार हूँ, परमानन्दरूप अमृतमें निमग्न और श्रेष्ठ धारणायुक्त बुद्धिसे सम्पन्न हूँ। इस प्रकार यह त्रिशङ्कु ऋषिका वेदानुवचन है अर्थात् ज्ञानप्राप्तिके बाद व्यक्त किया हुआ आत्माका उद्गार है।

मनुष्य जिस प्रकारकी भावना करता है, वैसा ही बन जाता है; उसके संकल्पमें यह अपूर्व—आश्चर्यजनक शक्ति है। अतः जो मनुष्य अपनेमें उपर्युक्त भावनाका अभ्यास करेगा, वह निश्चय वैसा ही बन जायगा। परंतु इस साधनमें पूर्ण

सावधानीकी आवश्यकता है। यदि भावनाके अनुसार गुण न आकर अभिमान आ गया तो पतन भी हो सकता है। यदि इस वेदानुवचनके रहस्यको ठीक समझकर इसकी भावना की जाय तो अभिमानकी आशङ्का भी नहीं की जा सकती।

॥ दशम अनुवाक समाप्त ॥ १० ॥

एकादश अनुवाक

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

वेदम् अनूच्य=वेदका भलीभाँति अध्ययन कराकर; **आचार्यः**=आचार्य; **अन्तेवासिनम्**=अपने आश्रममें रहनेवाले ब्रह्मचारी विद्यार्थीको; **अनुशास्ति**=शिक्षा देता है; **सत्यम् वद**=तुम सत्य बोलो; **धर्मम् चर**=धर्मका आचरण करो; **स्वाध्यायात्**=स्वाध्यायसे; **मा प्रमदः**=कभी न चूको; **आचार्याय**=आचार्यके लिये; **प्रियम् धनम्**=दक्षिणाके रूपमें वाञ्छित धन; **आहृत्य**=लाकर (दो, फिर उनकी आज्ञासे गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करके); **प्रजातन्तुम्**=संतान-परम्पराको (चालू रक्खो, उसका); **मा व्यवच्छेत्सीः**=उच्छेद न करना; **सत्यात्**=(तुमको) सत्यसे; **न प्रमदितव्यम्**=कभी नहीं डिगना चाहिये; **धर्मात्**=धर्मसे; **न**=नहीं; **प्रमदितव्यम्**=डिगना चाहिये; **कुशलात्**=शुभ कर्मोंसे; **न प्रमदितव्यम्**=कभी नहीं चूकना चाहिये; **भूत्यै**=उन्नतिके साधनोंसे; **न प्रमदितव्यम्**=कभी नहीं चूकना चाहिये; **स्वाध्यायप्रवचनाभ्याम्**=वेदोंके पढ़ने और पढ़ानेमें; **न प्रमदितव्यम्**=कभी भूल नहीं करनी चाहिये; **देवपितृकार्याभ्याम्**=देवकार्यसे और पितृकार्यसे; **न प्रमदितव्यम्**=कभी नहीं चूकना चाहिये।

व्याख्या—गृहस्थको अपना जीवन कैसा बनाना चाहिये, यह बात समझानेके लिये इस अनुवाकका आरम्भ किया गया है। आचार्य शिष्यको वेदका भलीभाँति अध्ययन कराकर समावर्तन-संस्कारके समय गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके गृहस्थ-धर्मका पालन करनेकी शिक्षा देते हैं—'पुत्र! तुम सदा सत्य-भाषण करना, आपत्ति पड़नेपर भी झूठका कदापि आश्रय न लेना; अपने वर्ण-आश्रमके अनुकूल शास्त्रसम्मत धर्मका अनुष्ठान करना; स्वाध्यायसे अर्थात् वेदोंके अभ्यास, संध्यावन्दन, गायत्रीजप और भगवन्नाम-गुणकीर्तन आदि नित्यकर्ममें कभी भी प्रमाद न करना—अर्थात् न तो कभी उन्हें अनादरपूर्वक करना और न आलस्यवश उनका त्याग ही करना। गुरुके लिये दक्षिणाके रूपमें उनकी रुचिके अनुरूप धन लाकर प्रेमपूर्वक देना; फिर उनकी आज्ञासे गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके स्वधर्मका पालन करते हुए संतान-परम्पराको सुरक्षित रखना—उसका लोप न करना। अर्थात् शास्त्रविधिके अनुसार विवाहित धर्मपत्नीके साथ ऋतुकालमें नियमित सहवास करके संतानोत्पत्तिका कार्य अनासक्तिपूर्वक करना। तुमको कभी भी सत्यसे नहीं चूकना चाहिये अर्थात् हँसी-दिल्लगी या व्यर्थकी बातोंमें वाणीकी शक्तिको न तो नष्ट करना चाहिये और न परिहास आदिके बहाने कभी झूठ ही बोलना चाहिये। इसी प्रकार धर्मपालनमें भी भूल नहीं करना चाहिये अर्थात् कोई बहाना बनाकर या आलस्यवश कभी धर्मकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। लौकिक और शास्त्रीय—जितने भी कर्तव्यरूपसे प्राप्त शुभ कर्म हैं, उनका कभी त्याग या उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, अपितु यथायोग्य उनका अनुष्ठान करते रहना चाहिये। धन-सम्पत्तिको बढ़ानेवाले लौकिक उन्नतिके साधनोंके प्रति भी उदासीन नहीं होना चाहिये। इसके लिये भी वर्णाश्रमानुकूल चेष्टा करनी चाहिये। पढ़ने और पढ़ानेका जो मुख्य नियम है, उसकी कभी अवहेलना या आलस्यपूर्वक त्याग नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार अग्निहोत्र और यज्ञादिके अनुष्ठानरूप देवकार्य तथा श्राद्ध-तर्पण आदि पितृकार्यके सम्पादनमें भी आलस्य या अवहेलनापूर्वक प्रमाद नहीं करना चाहिये।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकꣳसुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। ये

के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः । तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयादेयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया भिया देयम् । संविदा देयम् ।

मातृदेवः भव=तुम मातामें देवबुद्धि करनेवाले बनो; **पितृदेवः**=पिताको देवरूप समझनेवाले; **भव**=होओ; **आचार्यदेवः**=आचार्यको देवरूप समझनेवाले; **भव**=बनो; **अतिथिदेवः**=अतिथिको देवतुल्य समझनेवाले; **भव**=होओ; **यानि**=जो-जो; **अनवद्यानि**=निर्दोष; **कर्माणि**=कर्म हैं; **तानि**=उन्हींका; **सेवितव्यानि**=तुम्हें सेवन करना चाहिये; **इतराणि**=दूसरे (दोषयुक्त) कर्मोंका; **नो**=कभी आचरण नहीं करना चाहिये; **अस्माकम्**=हमारे (आचरणोंमेंसे भी); **यानि**=जो-जो; **सुचरितानि**=अच्छे आचरण हैं; **तानि**=उनका ही; **त्वया**=तुमको; **उपास्यानि**=सेवन करना चाहिये; **इतराणि**=दूसरोंका; **नो**=कभी नहीं; **ये**=जो; **के**=कोई; **च**=भी; **अस्मत्**=हमसे; **श्रेयांसः**=श्रेष्ठ (गुरुजन एवं); **ब्राह्मणाः**=ब्राह्मण आयें; **तेषाम्**=उनको; **त्वया**=तुम्हें; **आसनेन**=आसन-दान आदिके द्वारा सेवा करके; **प्रश्वसितव्यम्**=विश्राम देना चाहिये; **श्रद्धया देयम्**=श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिये; **अश्रद्धया**=बिना श्रद्धाके; **अदेयम्**=नहीं देना चाहिये; **श्रिया**=आर्थिक स्थितिके अनुसार; **देयम्**=देना चाहिये; **ह्रिया**=लज्जासे; [**देयम्**=देना चाहिये;] **भिया** भयसे भी; **देयम्**=देना चाहिये; (और) **संविदा**=(जो कुछ भी दिया जाय, वह सब) विवेकपूर्वक; **देयम्**=देना चाहिये ।

व्याख्या—पुत्र ! तुम मातामें देवबुद्धि रखना, पितामें भी देवबुद्धि रखना, आचार्यमें देवबुद्धि रखना तथा अतिथिमें भी देवबुद्धि रखना । आशय यह कि इन चारोंको ईश्वरकी प्रतिमूर्ति समझकर श्रद्धा और भक्तिपूर्वक सदा इनकी आज्ञाका पालन, नमस्कार और सेवा करते रहना; इन्हें सदा अपने विनयपूर्ण व्यवहारसे प्रसन्न रखना । जगत्‌में जो-जो निर्दोष कर्म हैं, उन्हींका तुम्हें सेवन करना चाहिये । उनसे भिन्न जो दोषयुक्त—निषिद्ध कर्म हैं, उनका कभी भूलकर—स्वप्नमें भी आचरण नहीं करना चाहिये । हमारे—अपने गुरुजनोंके आचार-व्यवहारमें भी जो उत्तम—शास्त्र एवं शिष्ट पुरुषोंद्वारा अनुमोदित आचरण हैं, जिनके विषयमें किसी प्रकारकी शङ्काको स्थान नहीं है, उन्हींका तुम्हें अनुकरण करना चाहिये, उन्हींका सेवन करना चाहिये । जिनके विषयमें जरा-सी भी शङ्का हो, उनका अनुकरण कभी नहीं करना चाहिये । जो कोई भी हमसे श्रेष्ठ—वय, विद्या, तप, आचरण आदिमें बड़े तथा ब्राह्मण आदि पूज्य पुरुष घरपर पधारें, उनको पाद्य, अर्घ्य, आसन आदि प्रदान करके सब प्रकारसे उनका सम्मान तथा यथायोग्य सेवा करनी चाहिये । अपनी शक्तिके अनुसार दान करनेके लिये तुम्हें सदा उदारतापूर्वक तत्पर रहना चाहिये । जो कुछ भी दिया जाय, वह श्रद्धापूर्वक देना चाहिये । अश्रद्धापूर्वक नहीं देना चाहिये; क्योंकि बिना श्रद्धाके किये हुए दान आदि कर्म असत् माने गये हैं (गीता १७ । २७) । लज्जापूर्वक देना चाहिये । अर्थात् सारा धन भगवान्‌का है, मैंने इसे अपना मानकर उनका अपराध किया है । इसे सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित भगवान्‌की सेवामें ही लगाना उचित था, मैंने ऐसा नहीं किया । मैं जो कुछ दे रहा हूँ, वह भी बहुत कम है । यों सोचकर संकोचका अनुभव करते हुए देना चाहिये । मनमें दानीपनके अभिमानको नहीं आने देना चाहिये । सर्वत्र और सबमें भगवान् हैं, अतः दान लेनेवाले भी भगवान् ही हैं । उनकी बड़ी कृपा है कि मेरा दान स्वीकार कर रहे हैं । यों विचारकर भगवान्‌से भय मानते हुए दान देना चाहिये । 'हम किसीका उपकार कर रहे हैं' ऐसी भावना मनमें लाकर अभिमान या अविनय नहीं प्रकट करना चाहिये । परंतु जो कुछ दिया जाय—वह विवेकपूर्वक, उसके परिणामको समझकर निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर देना चाहिये (गीता १७ । २०) । इस प्रकार दिया हुआ दान ही भगवान्‌की प्रीतिका—कल्याणका साधन हो सकता है । वही अक्षय फलका देनेवाला है ।

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्तेरन् । तथा तेषु वर्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ।

अथ=इसके बाद; **यदि**=यदि; **ते**=तुमको; **कर्मविचिकित्सा**=कर्तव्यके निर्णय करनेमें किसी प्रकारकी शङ्का हो; **वा**=या; **वृत्तविचिकित्सा**=सदाचारके विषयमें कोई शङ्का; **वा**=कदाचित्; **स्यात्**=हो जाय तो; **तत्र**=वहाँ; **ये**=जो; **सम्मर्शिनः**=उत्तम विचारवाले; **युक्ताः**=परामर्श देनेमें कुशल; **आयुक्ताः**=कर्म और सदाचारमें पूर्णतया लगे हुए; **अलूक्षाः**=स्निग्ध स्वभाववाले; (तथा) **धर्मकामाः**=एकमात्र धर्मके ही अभिलाषी; **ब्राह्मणाः**=ब्राह्मण; **स्युः**=हों; **ते**=वे; **यथा**=जिस प्रकार; **तत्र**=उन कर्मोंमें और आचरणोंमें; **वर्तेरन्**=बर्ताव करते हों; **तत्र**=उन कर्मों और आचरणोंमें; **तथा**=वैसे ही; **वर्तेथाः**=तुमको भी बर्ताव करना चाहिये; **अथ**=तथा यदि; **अभ्याख्यातेषु**=किसी दोषसे लाञ्छित मनुष्योंके साथ बर्ताव करनेमें (संदेह उत्पन्न हो जाय, तो भी); **ये**=जो; **तत्र**=वहाँ; **सम्मर्शिनः**=उत्तम विचारवाले; **युक्ताः**=परामर्श देनेमें कुशल; **आयुक्ताः**=सब प्रकारसे यथायोग्य सत्कर्म और सदाचारमें भलीभाँति लगे हुए; **अलूक्षाः**=रूखेपनसे रहित; **धर्मकामाः**=धर्मके अभिलाषी; **ब्राह्मणाः**=(विद्वान्) ब्राह्मण; **स्युः**=हों; **ते**=वे; **यथा**=जिस प्रकार; **तेषु**=उनके साथ; **वर्तेरन्**=बर्ताव करें; **तेषु**=उनके साथ; **तथा**=वैसा ही; **वर्तेथाः**=तुमको भी बर्ताव करना चाहिये; **एषः**=यह; **आदेशः**=शास्त्रकी आज्ञा है; **एषः**=यही; **उपदेशः**=(गुरुजनोंका अपने शिष्यों और पुत्रोंके लिये) उपदेश है; **एषा**=यही; **वेदोपनिषत्**=वेदोंका रहस्य है; **च**=और; **एतत्**=यही; **अनुशासनम्**=परम्परागत शिक्षा है; **एवम्**=इसी प्रकार; **उपासितव्यम्**=तुमको अनुष्ठान करना चाहिये; **एवम् उ**=इसी प्रकार; **एतत्**=यह; **उपास्यम्**=अनुष्ठान करना चाहिये।

व्याख्या—यह सब करते हुए भी यदि तुमको किसी अवसरपर अपना कर्तव्य निश्चित करनेमें दुविधा उत्पन्न हो जाय, अपनी बुद्धिसे किसी एक निश्चयपर पहुँचना कठिन हो जाय—तुम किंकर्तव्यविमूढ हो जाओ, तो ऐसी स्थितिमें वहाँ जो कोई उत्तम विचार रखनेवाले, उचित परामर्श देनेमें कुशल, सत्कर्म और सदाचारमें तत्परतापूर्वक लगे हुए, सबके साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करनेवाले तथा एकमात्र धर्म-पालनकी ही इच्छा रखनेवाले विद्वान् ब्राह्मण (या अन्य कोई वैसे ही महापुरुष) हों—वे जिस प्रकार ऐसे प्रसङ्गोंपर आचरण करते हों, उसी प्रकारका आचरण तुम्हें भी करना चाहिये। ऐसे स्थलोंमें उन्हींके सत्परामर्शके अनुसार उन्हींके स्थापित आदर्शका अनुगमन करना चाहिये। इसके अतिरिक्त जो मनुष्य किसी दोषके कारण लाञ्छित हो गया हो, उसके साथ किस समय कैसा व्यवहार करना चाहिये—इस विषयमें भी यदि तुमको दुविधा प्राप्त हो जाय—तुम अपनी बुद्धिसे निर्णय न कर सको तो वहाँ भी जो विचारशील, परामर्श देनेमें कुशल, सत्कर्म और सदाचारमें पूर्णतया संलग्न तथा धर्मकामी (सांसारिक धनादिकी कामनासे रहित) निःस्वार्थी विद्वान् ब्राह्मण हों, वे लोग उसके साथ जैसा व्यवहार करें, वैसा ही तुमको भी करना चाहिये। उनका व्यवहार ही इस विषयमें प्रमाण है।

यही शास्त्रकी आज्ञा है—शास्त्रोंका निचोड़ है। यही गुरु एवं माता-पिताका अपने शिष्यों और संतानोंके प्रति उपदेश है तथा यही सम्पूर्ण वेदोंका रहस्य है। इतना ही नहीं, अनुशासन भी यही है। ईश्वरकी आज्ञा तथा परम्परागत उपदेशका नाम अनुशासन है। इसलिये तुमको इसी प्रकार कर्तव्य एवं सदाचारका पालन करना चाहिये। इसी प्रकार कर्तव्य एवं सदाचारका पालन करना चाहिये।

॥ एकादश अनुवाक समाप्त ॥ ११ ॥

द्वादश अनुवाक

शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

नः=हमारे लिये; **मित्रः**=(दिन और प्राणके अधिष्ठाता) मित्रदेवता; **शम् [भवतु]**=कल्याणप्रद हों; (तथा) **वरुणः**=(रात्रि और अपानके अधिष्ठाता) वरुण भी; **शम् [भवतु]**=कल्याणप्रद हों; **अर्यमा**=(चक्षु और

सूर्यमण्डलके अधिष्ठाता) अर्यमा; **नः**=हमारे लिये; **शम्**=कल्याणमय; **भवतु**=हों; **इन्द्रः**=(बल और भुजाओंके अधिष्ठाता) इन्द्र; (तथा) **बृहस्पतिः**=(वाणी और बुद्धिके अधिष्ठाता) बृहस्पति; **नः**=हमारे लिये; **शम् [भवताम्]**=शान्ति प्रदान करनेवाले हों; **उरुक्रमः**=त्रिविक्रमरूपसे विशाल डगोंवाले; **विष्णुः**=विष्णु (जो पैरोंके अधिष्ठाता हैं); **नः**=हमारे लिये; **शम् [भवतु]**=कल्याणमय हों; **ब्रह्मणे**=(उपर्युक्त सभी देवताओंके आत्मस्वरूप) ब्रह्मके लिये; **नमः**=नमस्कार है; **वायो**=हे वायुदेव; **ते**=तुम्हारे लिये; **नमः**=नमस्कार है; **त्वम्**=तुम; **एव**=ही; **प्रत्यक्षम्**=प्रत्यक्ष (प्राणरूपसे प्रतीत होनेवाले); **ब्रह्म**=ब्रह्म; **असि**=हो; (इसलिये मैंने) **त्वाम्**=तुमको; **एव**=ही; **प्रत्यक्षम्**=प्रत्यक्ष; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **अवादिषम्**=कहा है; **ऋतम्**=(तुम ऋतके अधिष्ठाता हो, इसलिये मैंने तुम्हें) ऋत नामसे; **अवादिषम्**=पुकारा है; **सत्यम्**=(तुम सत्यके अधिष्ठाता हो, अतः मैंने तुम्हें) सत्य नामसे; **अवादिषम्**=कहा है; **तत्**=उस (सर्वशक्तिमान् परमेश्वरने); **माम् आवीत्**=मेरी रक्षा की है; **तत्**=उसने; **वक्तारम् आवीत्**=वक्ताकी—आचार्यकी रक्षा की है; **आवीत् माम्**=रक्षा की है मेरी; (और) **आवीत् वक्तारम्**=रक्षा की है मेरे आचार्यकी; **ॐ शान्तिः**=भगवान् शान्तिस्वरूप हैं; **शान्तिः**=शान्तिस्वरूप हैं, **शान्तिः**=शान्तिस्वरूप हैं।

व्याख्या—शिक्षावल्लीके इस अन्तिम अनुवाकमें भिन्न-भिन्न शक्तियोंके अधिष्ठाता परब्रह्म परमेश्वरसे भिन्न-भिन्न नाम और रूपोंमें उनकी स्तुति करते हुए प्रार्थनापूर्वक कृतज्ञता प्रकट की गयी है। भाव यह है कि समस्त आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक शक्तियोंके रूपमें तथा उनके अधिष्ठाता मित्र, वरुण आदि देवताओंके रूपमें जो सबके आत्मा अन्तर्यामी परमेश्वर हैं, वे सब प्रकारसे हमारे लिये कल्याणमय हों—हमारी उन्नतिके मार्गमें किसी प्रकारका विघ्न न आने दें। हम सबके अन्तर्यामी ब्रह्मको नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार परमात्मासे शान्तिकी प्रार्थना करके सूत्रात्मा प्राणके रूपमें समस्त प्राणियोंमें व्याप्त परमेश्वरकी वायुके नामसे स्तुति करते हैं—'हे सर्वशक्तिमान्, सबके प्राणस्वरूप वायुमय परमेश्वर! आपको नमस्कार है। आप ही समस्त प्राणियोंके प्राणस्वरूप प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं; अतः मैंने आपको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहकर पुकारा है। मैंने ऋत नामसे भी आपको ही पुकारा है; क्योंकि सारे प्राणियोंके लिये जो कल्याणकारी नियम है, उस नियमरूप ऋतके आप ही अधिष्ठाता हैं। यही नहीं, मैंने 'सत्य' नामसे भी आपको ही पुकारा है; क्योंकि सत्य—यथार्थ भाषणके अधिष्ठातृ-देवता भी आप ही हैं। उन सर्वव्यापी अन्तर्यामी परमेश्वरने मुझे सत्-आचरण एवं सत्य-भाषण करनेकी और सत्-विद्याको ग्रहण करनेकी शक्ति प्रदान करके इस जन्म-मरणरूप संसारचक्रसे मेरी रक्षा की है। तथा मेरे आचार्यको उन सबका उपदेश देकर सर्वत्र उस सत्यका प्रचार करनेकी शक्ति प्रदान करके उनकी रक्षा—उनका भी सब प्रकारसे कल्याण किया है। यहाँ 'मेरी रक्षा की है, मेरे वक्ताकी रक्षा की है' इन वाक्योंको दुहरानेका अभिप्राय शिक्षावल्लीकी समाप्तिकी सूचना देना है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः—इस प्रकार तीन बार 'शान्तिः' पदका उच्चारण करनेका भाव यह है कि आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—तीनों प्रकारके विघ्नोंका सर्वथा उपशमन हो जाय। भगवान् शान्तिस्वरूप हैं। अतः उनके स्मरणसे सब प्रकारकी शान्ति निश्चित है।

॥ द्वादश अनुवाक समाप्त ॥ १२ ॥

॥ प्रथम वल्ली समाप्त ॥ १ ॥

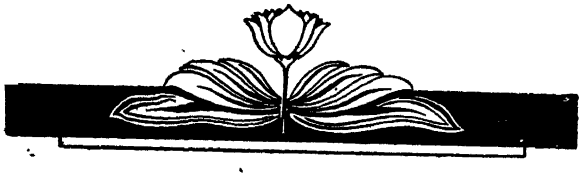

ॐ

ब्रह्मानन्दवल्ली

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ कठोपनिषद्के आरम्भमें दिया गया ।

प्रथम अनुवाक

ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तदेषाभ्युक्ता ।

ब्रह्मवित्=ब्रह्मज्ञानी; **परम्**=परब्रह्मको; **आप्नोति**=प्राप्त कर लेता है; **तत्**=उसी भावको व्यक्त करनेवाली; **एषा**=यह (श्रुति); **अभ्युक्ता**=कही गयी है ।

व्याख्या—ब्रह्मज्ञानी महात्मा परब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, इसी बातको बतानेके लिये आगे आनेवाली श्रुति कही गयी है ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ।

ब्रह्म=ब्रह्म; **सत्यम्**=सत्य; **ज्ञानम्**=ज्ञानस्वरूप; (और) **अनन्तम्**=अनन्त है; **यः**=जो मनुष्य; **परमे व्योमन्**=परम विशुद्ध आकाशमें (रहते हुए भी); **गुहायाम्**=प्राणियोंके हृदयरूप गुफामें; **निहितम्**=छिपे हुए (उस ब्रह्मको); **वेद**=जानता है; **सः**=वह; **विपश्चिता**=(उस) विज्ञानस्वरूप; **ब्रह्मणा सह**=ब्रह्मके साथ; **सर्वान्**=समस्त; **कामान्**; **अश्नुते**=भोगोंका अनुभव करता है; **इति**=इस प्रकार (यह ऋचा है) ।

व्याख्या—इस मन्त्रमें परब्रह्म परमात्माके स्वरूपबोधक लक्षण बताकर उनकी प्राप्तिके स्थानका वर्णन करते हुए उनकी प्राप्तिका फल बताया गया है । भाव यह है कि वे परब्रह्म परमात्मा सत्यस्वरूप हैं । 'सत्य' शब्द यहाँ नित्य सत्ताका बोधक है । अर्थात् वे परब्रह्म नित्य सत् हैं, किसी भी कालमें उनका अभाव नहीं होता । तथा वे ज्ञानस्वरूप हैं, उनमें अज्ञानका लेश भी नहीं है । और वे अनन्त हैं अर्थात् देश और कालकी सीमासे अतीत—सीमारहित हैं । वे ब्रह्म परम विशुद्ध आकाशमें रहते हुए भी सबके हृदयकी गुफामें छिपे हुए हैं । उन परब्रह्म परमात्माको जो साधक तत्त्वसे जान लेता है, वह भलीभाँति सबको जाननेवाले उन ब्रह्मके साथ रहता हुआ सब प्रकारके भोगोंको अलौकिक ढंगसे अनुभव करता है* ।

---

* इस कथनके रहस्यको समझ लेनेपर ईशावास्योपनिषद्के प्रथम मन्त्रमें साधकके लिये दिये हुए उपदेशका रहस्य भी स्पष्ट हो जाता है । वहाँ कहा है कि इस भूतलपर जो कुछ भी जड-चेतनमय जगत् है, वह ईश्वरसे परिपूर्ण है; उन्हें अपने साथ रखते हुए अर्थात् निरन्तर याद रखते हुए ही त्यागपूर्वक आवश्यक विषयोंका सेवन करना चाहिये । जो उपदेश वहाँ साधकके लिये दिया गया है, वही बात यहाँ सिद्ध महात्माकी स्थिति बतानेके लिये कही गयी है । 'वह ब्रह्मके साथ सब भोगोंका अनुभव करता है' इस कथनका अभिप्राय यही है कि वह परमात्माको प्राप्त सिद्ध पुरुष इन्द्रियोंद्वारा बाह्य विषयोंका सेवन करते हुए भी स्वयं सदा परमात्मामें ही स्थित रहता है । उसके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके व्यवहार, उनके द्वारा होनेवाली सभी चेष्टाएँ परमात्मामें स्थित रहते हुए ही होती हैं । लोगोंके देखनेमें आवश्यकतानुसार यथायोग्य विषयोंका इन्द्रियोंद्वारा उपभोग करते समय भी वह परमात्मासे कभी एक क्षणके लिये भी अलग नहीं होता, अतः सदा सभी कर्मोंसे निर्लेप रहता है । यही भाव दिखानेके लिये 'विपश्चिता ब्रह्मणा सह सर्वान् कामान् अश्नुते' कहा गया है । इस प्रकार यह श्रुति परब्रह्मके स्वरूप तथा उसके ज्ञानकी महिमाको बतानेवाली है ।

सम्बन्ध—वे परब्रह्म परमात्मा किस प्रकार कैसी गुफामें छिपे हुए हैं, उन्हें कैसे जानना चाहिये—इस जिज्ञासापर आगेका प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

वै=निश्चय ही; **तस्मात्**=(सर्वत्र प्रसिद्ध) उस; **एतस्मात्**=इस; **आत्मनः**=परमात्मासे; (पहले-पहल) **आकाशः**=आकाश-तत्त्व; **सम्भूतः**=उत्पन्न हुआ; **आकाशात्**=आकाशसे; **वायुः**=वायु; **वायोः**=वायुसे; **अग्निः**=अग्नि; **अग्नेः**=अग्निसे; **आपः**=जल; (और) **अद्भ्यः**=जल-तत्त्वसे; **पृथिवी**=पृथ्वी-तत्त्व उत्पन्न हुआ; **पृथिव्याः**=पृथ्वीसे; **ओषधयः**=समस्त ओषधियाँ उत्पन्न हुईं; **ओषधीभ्यः**=ओषधियोंसे; **अन्नम्**=अन्न उत्पन्न हुआ; **अन्नात्**=अन्नसे ही; **पुरुषः**=(यह) मनुष्य-शरीर उत्पन्न हुआ; **सः**=वह; **एषः**=यह; **पुरुषः**=मनुष्य-शरीर; **वै**=निश्चय ही; **अन्नरसमयः**=अन्न-रसमय है; **तस्य**=उसका; **इदम्**=यह (प्रत्यक्ष दीखनेवाला सिर); **एव**=ही; **शिरः**=(पक्षीकी कल्पनामें) सिर है; **अयम्**=यह (दाहिनी भुजा) ही; **दक्षिणः पक्षः**=दाहिना पंख है; **अयम्**=यह (बायीं भुजा) ही; **उत्तरः पक्षः**=बायाँ पंख है; **अयम्**=यह (शरीरका मध्यभाग) ही; **आत्मा**=पक्षीके अङ्गोंका मध्य-भाग है*; **इदम्**=यह (दोनों पैर ही); **पुच्छम् प्रतिष्ठा**=पूँछ एवं प्रतिष्ठा है; **तत् अपि**=उसीके विषयमें; **एषः**=यह (आगे कहा जानेवाला); **श्लोकः**=श्लोक; **भवति**=है।

व्याख्या—इस मन्त्रमें मनुष्यके हृदयरूप गुफाका वर्णन करनेके उद्देश्यसे पहले मनुष्य-शरीरकी उत्पत्तिका प्रकार संक्षेपमें बताकर उसके अङ्गोंकी पक्षीके अङ्गोंके रूपमें कल्पना की गयी है। भाव यह है कि सबके आत्मा अन्तर्यामी परमात्मासे पहले आकाश-तत्त्व उत्पन्न हुआ। आकाशसे वायु-तत्त्व, वायुसे अग्नि-तत्त्व, अग्निसे जल-तत्त्व और जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई। पृथ्वीसे नाना प्रकारकी ओषधियाँ—अनाजके पौधे हुए और ओषधियोंसे मनुष्योंका आहार अन्न उत्पन्न हुआ। उस अन्नसे यह स्थूल मनुष्य-शरीररूप पुरुष उत्पन्न हुआ। अन्नके रससे बना हुआ यह जो मनुष्य-शरीरधारी पुरुष है, इसकी पक्षीके रूपमें कल्पना की गयी है। इसका जो यह प्रत्यक्ष सिर है, वही तो मानो पक्षीका सिर है, दाहिनी भुजा ही दाहिना पंख है। बायीं भुजा ही बायाँ पंख है। शरीरका मध्यभाग ही मानो उस पक्षीके शरीरका मध्यभाग है। दोनों पैर ही पूँछ एवं प्रतिष्ठा (पक्षीके पैर) हैं। अन्नकी महिमाके विषयमें यह आगे कहा जानेवाला श्लोक—मन्त्र है।

॥ प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय अनुवाक

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीꣳश्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः। अन्नꣳहि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते। अन्नꣳहि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद्भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यत इति।

पृथिवीम् श्रिताः=पृथ्वीलोकका आश्रय लेकर रहनेवाले; **याः**=जो; **काः**=कोई; **च**=भी; **प्रजाः**=प्राणी हैं (वे सब); **अन्नात्**=अन्नसे; **वै**=ही; **प्रजायन्ते**=उत्पन्न होते हैं; **अथो**=फिर; **अन्नेन एव**=अन्नसे ही; **जीवन्ति**=जीते हैं; **अथ**=तथा पुनः; **अन्ततः**=अन्तमें; **एनत् अपि**=इस अन्नमें ही; **यन्ति**=विलीन हो जाते हैं; **अन्नम्**=(अतः) अन्न; **हि**=ही; **भूतानाम्**=सब भूतोंमें; **ज्येष्ठम्**=श्रेष्ठ है; **तस्मात्**=इसलिये; (यह) **सर्वौषधम्**=सर्वौषधरूप; **उच्यते**=कहलाता है;

* 'मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा' इस श्रुतिके अनुसार शरीरका मध्यभाग सब अङ्गोंका आत्मा है।

ये=जो साधक; **अन्नम्**=अन्न; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; [**इति**=इस भावसे;] **उपासते**=(उसकी) उपासना करते हैं; **ते**=वे; **वै**=अवश्य ही; **सर्वम्**=समस्त; **अन्नम्**=अन्नको; **आप्नुवन्ति**=प्राप्त कर लेते हैं; **हि**=क्योंकि; **अन्नम्**=अन्न ही; **भूतानाम्**=भूतोंमें; **ज्येष्ठम्**=श्रेष्ठ है; **तस्मात्**=इसलिये; **सर्वौषधम्**=(यह) सर्वौषध नामसे; **उच्यते**=कहा जाता है; **अन्नात्**=अन्नसे ही; **भूतानि**=सब प्राणी; **जायन्ते**=उत्पन्न होते हैं; **जातानि**=उत्पन्न होकर; **अन्नेन**=अन्नसे ही; **वर्धन्ते**=बढ़ते हैं; **तत्**=वह; **अद्यते**=(प्राणियोंद्वारा) खाया जाता है; **च**=तथा; **भूतानि**=(स्वयं भी) प्राणियोंको; **अत्ति**=खाता है; **तस्मात्**=इसलिये; **अन्नम्**='अन्न'; **इति**=इस नामसे; **उच्यते**=कहा जाता है।

व्याख्या—इस मन्त्रमें अन्नकी महिमाका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि इस पृथ्वीलोकमें निवास करनेवाले जितने भी प्राणी हैं, वे सब अन्नसे ही उत्पन्न हुए हैं—अन्नके परिणामरूप रज और वीर्यसे ही उनके शरीर बने हैं; उत्पन्न होनेके बाद अन्नसे ही उनका पालन-पोषण होता है, अतः अन्नसे ही वे जीते हैं। फिर अन्तमें इस अन्नमें ही—अन्न उत्पन्न करनेवाली पृथ्वीमें ही विलीन हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि समस्त प्राणियोंके जन्म, जीवन और मरण स्थूलशरीरके सम्बन्धसे ही होते हैं; और स्थूलशरीर अन्नसे ही उत्पन्न होते हैं, अन्नसे ही जीते हैं तथा अन्नके उद्गमस्थान पृथ्वीमें ही विलीन हो जाते हैं। उन शरीरोंमें रहनेवाले जो जीवात्मा हैं, वे अन्नमें विलीन नहीं होते; वे तो मृत्युकालमें प्राणोंके साथ इस शरीरसे निकलकर दूसरे शरीरोंमें चले जाते हैं।

इस प्रकार यह अन्न समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति आदिका कारण है, इसीपर सब कुछ निर्भर करता है; इसलिये यही सबसे श्रेष्ठ है और इसीलिये यह सर्वौषधरूप कहलाता है—क्योंकि इसीसे प्राणियोंका क्षुधाजन्य संताप दूर होता है। सारे संतापोंका मूल क्षुधा है, इसलिये उसके शान्त होनेपर सारे संताप दूर हो जाते हैं। जो साधक इस अन्नकी ब्रह्मरूपमें उपासना करते हैं अर्थात् 'यह अन्न ही सर्वश्रेष्ठ है, सबसे बड़ा है' यह समझकर इसकी उपासना करते हैं, वे समस्त अन्नको प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें यथेष्ट अन्न प्राप्त हो जाता है, अन्नका अभाव नहीं रहता। यह सर्वथा सत्य है कि यह अन्न ही सब भूतोंमें श्रेष्ठ है, इसलिये यह सर्वौषधमय कहलाता है। तथा सब प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होनेके बाद अन्नसे ही बढ़ते हैं—उनके अङ्गोंकी पुष्टि भी अन्नसे ही होती है। सब प्राणी इसको खाते हैं, तथा यह भी सब प्राणियोंको खा जाता—अपनेमें विलीन कर लेता है इसीलिये 'अद्यते, अत्ति च इति अन्नम्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार इसका नाम अन्न है।

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

वै=निश्चय ही; **तस्मात्**=उस; **एतस्मात्**=इस; **अन्नरसमयात्**=अन्न-रसमय मनुष्यशरीरसे; **अन्यः**=भिन्न; **अन्तरः**=उसके भीतर रहनेवाला; **प्राणमयः आत्मा**=प्राणमय पुरुष है; **तेन**=उससे; **एषः**=यह (अन्न-रसमय पुरुष); **पूर्णः**=व्याप्त है; **सः**=वह; **एषः**=यह प्राणमय आत्मा; **वै**=निश्चय ही; **पुरुषविधः एव**=पुरुषके आकारका ही है; **तस्य**=उस (अन्न-रसमय) आत्माकी; **पुरुषविधताम्**=पुरुषतुल्य आकृतिमें; **अनु**=अनुगत (व्याप्त) होनेसे ही; **अयम्**=यह; **पुरुषविधः**=पुरुषके आकारका है; **तस्य**=उस (प्राणमय आत्मा) का; **प्राणः**=प्राण; **एव**=ही; **शिरः**=(मानो) सिर है; **व्यानः**=व्यान; **दक्षिणः**=दाहिना; **पक्षः**=पंख है; **अपानः**=अपान; **उत्तरः**=बायाँ; **पक्षः**=पंख है; **आकाशः**=आकाश; **आत्मा**=शरीरका मध्यभाग है; (और) **पृथिवी**=पृथ्वी; **पुच्छम्**=पूँछ; (एवम्) **प्रतिष्ठा**=आधार है; **तत्**=उस प्राण (की महिमा) के विषयमें; **अपि**=भी; **एषः**=यह आगे बताया जानेवाला; **श्लोकः**=श्लोक; **भवति**=है।

व्याख्या—द्वितीय अनुवाकके इस दूसरे अंशमें प्राणमय शरीरका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि पूर्वोक्त अन्नके रससे बने हुए स्थूलशरीरसे भिन्न उस स्थूलशरीरके भीतर रहनेवाला एक और शरीर है, उसका नाम 'प्राणमय' है; उस प्राणमयसे यह अन्नमय शरीर पूर्ण है। अन्नमय स्थूलशरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म होनेके कारण प्राणमय शरीर इसके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें व्याप्त है। वह यह प्राणमय शरीर भी पुरुषके आकारका ही है। अन्नमय शरीरकी पुरुषाकारता प्रसिद्ध है, उसमें अनुगत होनेसे ही यह प्राणमय कोश भी पुरुषाकार कहा जाता है। उसकी पक्षीके रूपमें कल्पना इस प्रकार है—

प्राण ही मानो उसका सिर है; क्योंकि शरीरके अङ्गोंमें जैसे मस्तक श्रेष्ठ है, उसी प्रकार पाँचों प्राणोंमें मुख्य प्राण ही सर्वश्रेष्ठ है। व्यान दाहिना पंख है। अपान बायाँ पंख है। आकाश अर्थात् आकाशमें फैले हुए वायुकी भाँति सर्वशरीरव्यापी 'समान वायु' आत्मा है; क्योंकि वही समस्त शरीरमें समानभावसे रस पहुँचाकर समस्त प्राणमय शरीरको पुष्ट करता है। इसका स्थान शरीरका मध्यभाग है तथा इसीका बाह्य आकाशसे सम्बन्ध है, यह बात प्रश्नोपनिषद्के तीसरे प्रश्नोत्तरके पाँचवें और आठवें मन्त्रोंमें कही गयी है। तथा पृथ्वी पूँछ एवं आधार है अर्थात् अपानवायुको रोककर रखनेवाली पृथ्वीकी आधिदैविक शक्ति ही इस प्राणमय पुरुषका आधार है। इसका वर्णन भी प्रश्नोपनिषद्के तीसरे प्रश्नोत्तरके आठवें मन्त्रमें ही आया है।

इस प्राणकी महिमाके विषयमें आगे कहा हुआ श्लोक—मन्त्र है।

॥ द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय अनुवाक

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति ये प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य

ये=जो-जो; **देवाः**=देवता; **मनुष्याः**=मनुष्य; **च**=और; **पशवः**=पशु आदि प्राणी हैं; [**ते**=वे;] **प्राणम् अनु**=प्राणका अनुसरण करके ही; **प्राणन्ति**=चेष्टा करते अर्थात् जीवित रहते हैं; **हि**=क्योंकि; **प्राणः**=प्राण ही; **भूतानाम्**=प्राणियोंकी; **आयुः**=आयु है; **तस्मात्**=इसलिये; (यह प्राण) **सर्वायुषम्**=सबका आयु; **उच्यते**=कहलाता है; **प्राणः**=प्राण; **हि**=ही; **भूतानाम्**=प्राणियोंकी; **आयुः**=आयु—जीवन है; **तस्मात्**=इसलिये; (यह) **सर्वायुषम्**=सबका आयु; **उच्यते**=कहलाता है; **इति**=यह समझकर; **ये**=जो कोई; **प्राणम्**=प्राणकी; **ब्रह्म**=ब्रह्मरूपसे; **उपासते**=उपासना करते हैं; **ते**=वे; **सर्वम् एव**=निस्सन्देह समस्त; **आयुः**=आयुको; **यन्ति**=प्राप्त कर लेते हैं; **तस्य**=उसका; **एषः एव**=यही; **शारीरः**=शरीरमें रहनेवाला; **आत्मा**=अन्तरात्मा है; **यः**=जो; **पूर्वस्य**=पहलेवालेका अर्थात् अन्न-रसमय शरीरका अन्तरात्मा है।

व्याख्या—तृतीय अनुवाकके इस पहले अंशमें प्राणकी महिमाका वर्णन करनेवाली श्रुतिका उल्लेख करके फिर इस प्राणमय शरीरके अन्तर्यामी परमेश्वरको लक्ष्य कराया गया है। भाव यह है कि जितने भी देवता, मनुष्य, पशु आदि शरीरधारी प्राणी हैं, वे सब प्राणके सहारे ही जी रहे हैं। प्राणके बिना किसीका भी शरीर नहीं रह सकता; क्योंकि प्राण ही सब प्राणियोंकी आयु—जीवन है, इसीलिये यह प्राण 'सर्वायुष' कहलाता है। जो साधक 'यह प्राणियोंकी आयु है, इसलिये यह सबका आयु—जीवन कहलाता है' यों समझकर इस प्राणकी ब्रह्मरूपसे उपासना करते हैं, वे पूर्ण आयुको प्राप्त कर लेते हैं। प्रश्नोपनिषद्में भी कहा है कि जो मनुष्य इस प्राणके तत्त्वको जान लेता है, वह स्वयं अमर हो जाता है और उसकी प्रजा नष्ट नहीं होती (३। ११)। जो सर्वात्मा परमेश्वर अन्नके रससे बने हुए स्थूलशरीरधारी पुरुषका अन्तरात्मा है, वही उस प्राणमय पुरुषका भी शरीरान्तर्वर्ती अन्तर्यामी आत्मा है।

तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

वै=यह निश्चय है कि; **तस्मात्**=उस; **एतस्मात्**=इस; **प्राणमयात्**=प्राणमय पुरुषसे; **अन्यः**=भिन्न; **अन्तरः**=उसके भीतर रहनेवाला; **मनोमयः**=मनोमय; **आत्मा**=आत्मा (पुरुष) है; **तेन**=उस मनोमय आत्मासे; **एषः**=यह प्राणमय शरीर; **पूर्णः**=व्याप्त है; **सः**=वह; **एषः**=यह मनोमय आत्मा; **वै**=निश्चय ही; **पुरुषविधः**=पुरुषके आकारका; **एव**=ही

है; **तस्य**=उसकी; **पुरुषविधताम् अनु**=पुरुष-तुल्य आकृतिमें अनुगत (व्याप्त) होनेसे ही; **अयम्**=यह मनोमय आत्मा; **पुरुषविधः**=पुरुषके आकारका है; **तस्य**=उस (मनोमय पुरुष) का; **यजुः**=यजुर्वेद; **एव**=ही; **शिरः**=(मानो) सिर है; **ऋक्**=ऋग्वेद; **दक्षिणः**=दाहिना; **पक्षः**=पंख है; **साम**=सामवेद; **उत्तरः**=बायाँ; **पक्षः**=पंख है; **आदेशः**=आदेश (विधिवाक्य); **आत्मा**=शरीरका मध्यभाग है; **अथर्वाङ्गिरसः**=अथर्वा और अङ्गिरा ऋषिद्वारा देखे गये अथर्ववेदके मन्त्र ही; **पुच्छम्**=पूँछ; (एवं) **प्रतिष्ठा**=आधार हैं; **तत्**=उसकी महिमाके विषयमें; **अपि**=भी; **एषः**=यह आगे कहा जानेवाला; **श्लोकः**=श्लोक; **भवति**=है।

व्याख्या—इस तृतीय अनुवाकके दूसरे अंशमें मनोमय पुरुषका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि पहले बताये हुए प्राणमय पुरुषसे भिन्न, उससे भी सूक्ष्म होनेके कारण उसके भीतर रहनेवाला दूसरा पुरुष है; उसका नाम है मनोमय। उस मनोमयसे यह प्राणमय शरीर पूर्ण है अर्थात् वह इस प्राणमय शरीरमें सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। वह यह मनोमय शरीर भी पुरुषके ही आकारका है। प्राणमय पुरुषमें अनुगत होनेसे ही यह मनोमय आत्मा पुरुषके समान आकारवाला है। उसकी पक्षीके रूपमें इस प्रकार कल्पना की गयी है—उस मनोमय पुरुषका मानो यजुर्वेद ही सिर है, ऋग्वेद दाहिना पंख है, सामवेद बायाँ पंख है, आदेश (विधिवाक्य) मानो शरीरका मध्यभाग है तथा अथर्वा और अङ्गिरा ऋषियोंद्वारा देखे हुए अथर्ववेदके मन्त्र ही पूँछ और आधार हैं।

यज्ञ आदि कर्मोंमें यजुर्वेदके मन्त्रकी ही प्रधानता है। इसके सिवा जिनके अक्षरोंकी कोई नियत संख्या न हो तथा जिसकी पाद-पूर्तिका कोई नियत नियम न हो, ऐसे मन्त्रोंको 'यजुः'छन्दके अन्तर्गत समझा जाता है। इस नियमके अनुसार जिस किसी वैदिकवाक्य या मन्त्रके अन्तमें 'स्वाहा' पद जोड़कर अग्निमें आहुति दी जाती है, वह वाक्य या मन्त्र भी 'यजुः' ही कहलायेगा। इस प्रकार यजुर्मन्त्रोंके द्वारा ही अग्निको हविष्य अर्पित किया जाता है, इसलिये वहाँ यजुः प्रधान है। अङ्गोंमें भी सिर प्रधान है, अतः यजुर्वेदको सिर बतलाना उचित ही है। वेद-मन्त्रोंके वर्ण, पद और वाक्य आदिके उच्चारणके लिये पहले मनमें ही संकल्प उठता है; अतः संकल्पात्मक वृत्तिके द्वारा मनोमय आत्माके साथ वेद-मन्त्रोंका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिये इन्हें मनोमय पुरुषके ही अङ्गोंमें स्थान दिया गया है। शरीरमें जो स्थान दोनों भुजाओंका है, वही स्थान मनोमय पुरुषके अङ्गोंमें ऋग्वेद और सामवेदका है। यज्ञ-यागादिमें इनके मन्त्रोंद्वारा स्तवन और गायन होता है, अतः यजुर्मन्त्रोंकी अपेक्षा ये अप्रधान हैं; फिर भी भुजाओंकी भाँति यज्ञमें विशेष सहायक हैं, अतएव इनको भुजाओंका रूप दिया गया है। आदेश (विधि)-वाक्य वेदोंके भीतर हैं; अतः उन्हें ही मनोमय पुरुषके अङ्गोंका मध्यभाग बताया गया है। अथर्ववेदमें शान्तिक-पौष्टिक आदि कर्मोंके साधक मन्त्र हैं, जो प्रतिष्ठाके हेतु हैं; अतः उनको पुच्छ एवं प्रतिष्ठा कहना सर्वथा युक्तिसंगत ही है। संकल्पात्मक वृत्तिके द्वारा मनोमय पुरुषका इन सबके साथ नित्य सम्बन्ध है, इसीलिये वेदमन्त्रोंको उसका अङ्ग बताया गया है—यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये।

इस मनोमय पुरुषकी महिमाके विषयमें भी यह आगे चतुर्थ अनुवाकमें कहा जानेवाला श्लोक अर्थात् मन्त्र है।

॥ तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थ अनुवाक

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति। तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य।

यतः=जहाँसे; **मनसा सह**=मनके सहित; **वाचः**=वाणी आदि इन्द्रियाँ; **अप्राप्य**=उसे न पाकर; **निवर्तन्ते**=लौट आती हैं; [**तस्य**] **ब्रह्मणः**=उस ब्रह्मके; **आनन्दम्**=आनन्दको; **विद्वान्**=जाननेवाला पुरुष; **कदाचन**=कभी; **न बिभेति**=भय नहीं करता; **इति**=इस प्रकार यह श्लोक है; **तस्य**=उस मनोमय पुरुषका भी; **एषः एव**=यही परमात्मा; **शारीरः**=शरीरान्तर्वर्ती; **आत्मा**=आत्मा है; **यः**=जो; **पूर्वस्य**=पहले बताये हुए अन्नरसमय शरीर या प्राणमय शरीरका है।

व्याख्या—इस मन्त्रमें ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाले विद्वान्‌की महिमाके साथ अर्थान्तरसे उसके मनोमय शरीरकी महिमा प्रकट की गयी है। भाव यह है कि परब्रह्म परमात्माका जो स्वरूपभूत परम आनन्द है, वहाँतक मन, वाणी आदि समस्त इन्द्रियोंके समुदायरूप मनोमय शरीरकी भी पहुँच नहीं है; परंतु ब्रह्मको पानेके लिये साधन करनेवाले मनुष्यको यह ब्रह्मके पास पहुँचानेमें विशेष सहायक है। ये मन-वाणी आदि साधनपरायण पुरुषको उन परब्रह्मके द्वारतक पहुँचाकर, उसे वहीं छोड़कर स्वयं लौट आते हैं और वह साधक उनको प्राप्त हो जाता है। ब्रह्मके आनन्दमय स्वरूपको जान लेनेवाला विद्वान् कभी भयभीत नहीं होता। इस प्रकार यह मन्त्र है।

मनोमय शरीरके भी अन्तर्यामी आत्मा वे ही परमात्मा हैं, जो पूर्वोक्त अन्न-रसमय शरीर और प्राणमय शरीरके अन्तर्यामी हैं।

तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयस्तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

वै=निश्चय ही; **तस्मात्**=उस पहले बताये हुए; **एतस्मात्**=इस; **मनोमयात्**=मनोमय पुरुषसे; **अन्यः**=अन्य; **अन्तरः**=इसके भीतर रहनेवाला; **आत्मा**=आत्मा; **विज्ञानमयः**=विज्ञानमय है; **तेन**=उस विज्ञानमय आत्मासे; **एषः**=यह मनोमय शरीर; **पूर्णः**=व्याप्त है; **सः**=वह; **एषः**=यह विज्ञानमय आत्मा; **वै**=निश्चय ही; **पुरुषविधः एव**=निस्संदेह पुरुषके आकारका ही है; **तस्य**=उसकी; **पुरुषविधताम् अनु**=पुरुषाकृतिमें अनुगत होनेसे ही; **अयम्**=यह विज्ञानमय आत्मा; **पुरुषविधः**=पुरुषके आकारका बताया जाता है; **तस्य**=उस विज्ञानमय आत्माका; **श्रद्धा**=श्रद्धा; **एव**=ही; **शिरः**=(मानो) सिर है; **ऋतम्**=सदाचारका निश्चय; **दक्षिणः**=दाहिना; **पक्षः**=पंख है; **सत्यम्**=सत्य-भाषणका निश्चय; **उत्तरः**=बायाँ; **पक्षः**=पंख है; **योगः**=(ध्यानद्वारा परमात्मामें एकाग्रतारूप) योग ही; **आत्मा**=शरीरका मध्यभाग है; **महः**='महः' नामसे प्रसिद्ध परमात्मा ही; **पुच्छम्**=पुच्छ; (एवं) **प्रतिष्ठा**=आधार है; **तत्**=उस विषयमें; **अपि**=भी; **एषः**=यह आगे कहा जानेवाला; **श्लोकः**=श्लोक; **भवति**=है।

व्याख्या—चतुर्थ अनुवाकके इस दूसरे अंशमें विज्ञानमय पुरुषका अर्थात् विज्ञानमय शरीरके अधिष्ठाता जीवात्माका वर्णन है। भाव यह है कि पहले बताये हुए मनोमय शरीरसे भी सूक्ष्म होनेके कारण उसके भीतर रहनेवाला जो आत्मा है, वह अन्य है। वह है विज्ञानमय पुरुष अर्थात् बुद्धिरूप गुफामें निवास करनेवाला और उसमें तदाकार-सा बना हुआ जीवात्मा। उससे यह मनोमय शरीर पूर्ण है अर्थात् वह इस मनोमय शरीरमें सर्वत्र व्याप्त है। और मनोमय अपनेसे पहलेवाले प्राणमय और अन्नमयमें व्याप्त है। अतः यह विज्ञानमय जीवात्मा समस्त शरीरमें व्याप्त है। गीतामें भी यही कहा है कि जीवात्मारूप क्षेत्रज्ञ शरीररूप क्षेत्रमें सर्वत्र स्थित है (गीता १३। ३२)। वह विज्ञानमय आत्मा भी निश्चय ही पुरुषके आकारका है। उस मनोमय पुरुषमें व्याप्त होनेसे ही वह पुरुषाकार कहा जाता है। उस विज्ञानमयके अङ्गोंकी पक्षीके रूपमें इस प्रकार कल्पना की गयी है। श्रद्धा कहते हैं बुद्धिकी निश्चित विश्वासरूप वृत्तिको; वही उस विज्ञानात्माके शरीरमें प्रधान अङ्गरूप सिर है; क्योंकि यह दृढ़ विश्वास ही प्रत्येक विषयमें उन्नतिका कारण है। परमात्माकी प्राप्तिमें तो सबसे पहले और सबसे अधिक इसीकी आवश्यकता है। सदाचरणका निश्चय ही इसका दाहिना पंख है, सत्य-भाषणका निश्चय ही इसका बायाँ पंख है। ध्यानद्वारा परमात्माके साथ संयुक्त रहना ही विज्ञानमय शरीरका मध्यभाग है और 'महः' नामसे प्रसिद्ध* परमात्मा पुच्छ अर्थात् आधार है; क्योंकि परमात्मा ही जीवात्माका परम आश्रय है।

इस विज्ञानात्माकी महिमाके विषयमें भी यह आगे पञ्चम अनुवाकमें कहा जानेवाला श्लोक अर्थात् मन्त्र है।

॥ चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥

---

* शिक्षावल्लीमें 'भूः', 'भुवः', 'स्वः' और 'महः'—इन चार व्याहृतियोंमें 'महः' को ब्रह्मका स्वरूप बताया है; अतः 'महः' व्याहृति ब्रह्मका नाम है और ब्रह्मको आत्माकी प्रतिष्ठा बतलाना सर्वथा युक्तिसंगत है।

पञ्चम अनुवाक

विज्ञानं यज्ञं तनुते । कर्माणि तनुतेऽपि च । विज्ञानं देवाः सर्वे । ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते । विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद । तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति । शरीरे पाप्मनो हित्वा । सर्वान्कामान्समश्नुत इति । तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य ।

विज्ञानम्=विज्ञान ही; **यज्ञम् तनुते**=यज्ञोंका विस्तार करता है; **च**=और; **कर्माणि अपि तनुते**=कर्मोंका भी विस्तार करता है; **सर्वे**=सब; **देवाः**=इन्द्रियरूप देवता; **ज्येष्ठम्**=सर्वश्रेष्ठ; **ब्रह्म**=ब्रह्मके रूपमें; **विज्ञानम् उपासते**=विज्ञानकी ही सेवा करते हैं; **चेत्**=यदि; (कोई) **विज्ञानम्**=विज्ञानको; **ब्रह्म**=ब्रह्मरूपसे; **वेद**=जानता है; (और) **चेत्**=यदि; **तस्मात्**=उससे; **न प्रमाद्यति**=प्रमाद नहीं करता, निरन्तर उसी प्रकार चिन्तन करता रहता है; (तो) **पाप्मनः**=(शरीराभिमानजनित) पापसमुदायको; **शरीरे**=शरीरमें ही; **हित्वा**=छोड़कर; **सर्वान्**=समस्त; **कामान् समश्नुते**=भोगोंका अनुभव करता है; **इति**=इस प्रकार यह श्लोक है; **तस्य**=उस विज्ञानमयका; **एषः**=यह परमात्मा; **एव**=ही; **शारीरः**=शरीरान्तर्वर्ती; **आत्मा**=आत्मा है; **यः**=जो; **पूर्वस्य**=पहलेवालेका है ।

व्याख्या—इस मन्त्रमें विज्ञानात्माकी महिमाका वर्णन और उसकी ब्रह्मरूपसे उपासना करनेका फल बताया गया है । भाव यह है कि यह विज्ञान अर्थात् बुद्धिके साथ तद्रूप हुआ जीवात्मा ही यज्ञोंका अर्थात् शुभ-कर्मरूप पुण्योंका विस्तार करता है और यही अन्यान्य लौकिक कर्मोंका भी विस्तार करता है । अर्थात् बुद्धिसे ही सम्पूर्ण कर्मोंको प्रेरणा मिलती है । सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और मनरूप देवता सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मके रूपमें इस विज्ञानमय जीवात्माकी ही सेवा करते हैं, अपनी-अपनी वृत्तियों-द्वारा इसीको सुख पहुँचाते रहते हैं । यदि कोई साधक इस विज्ञानस्वरूप आत्माको ही ब्रह्म समझता है और यदि यह उस धारणासे कभी च्युत नहीं होता अर्थात् उस धारणामें भूल नहीं करता या शरीर आदिमें स्थित, एकदेशीय एवं बद्धस्वरूपमें ब्रह्मका अभिमान नहीं कर लेता तो वह अनेक जन्मोंके संचित पापसमुदायको शरीरमें ही छोड़कर समस्त दिव्य भोगोंका अनुभव करता है । इस प्रकार यह श्लोक है ।

उस विज्ञानमयके भी अन्तर्यामी आत्मा वे ही परब्रह्म परमेश्वर हैं, जो पहलेवालोंके अर्थात् अन्न-रसमय स्थूलशरीरके, प्राणमयके और मनोमयके हैं ।

तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः । तस्य प्रियमेव शिरः । मोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ।

वै=निश्चय ही; **तस्मात्**=उस पहले कहे हुए; **एतस्मात्**=इस; **विज्ञानमयात्**=विज्ञानमय जीवात्मासे; **अन्यः**=भिन्न; **अन्तरः**=इसके भी भीतर रहनेवाला आत्मा; **आनन्दमयः आत्मा**=आनन्दमय परमात्मा है; **तेन**=उससे; **एषः**=यह विज्ञानमय; **पूर्णः**=पूर्णतः व्याप्त है; **सः**=वह; **एषः**=यह आनन्दमय परमात्मा; **वै**=भी; **पुरुषविधः**=पुरुषके समान आकारवाला; **एव**=ही है; **तस्य**=उस विज्ञानमयकी; **पुरुषविधताम् अनु**=पुरुषाकारतामें अनुगत होनेसे ही; **अयम्**=यह (आनन्दमय परमात्मा); **पुरुषविधः**=पुरुषाकार कहा जाता है; **तस्य**=उस आनन्दमय-का; **प्रियम्**=प्रिय; **एव**=ही; **शिरः**=(मानो) सिर है; **मोदः**=मोद; **दक्षिणः**=दाहिना; **पक्षः**=पंख है; **प्रमोदः**=प्रमोद; **उत्तरः**=बायाँ; **पक्षः**=पंख है; **आनन्दः**=आनन्द ही; **आत्मा**=शरीरका मध्यभाग है; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **पुच्छम्**=पूँछ; (एवं) **प्रतिष्ठा**=आधार है; **तत्**=उसकी महिमाके विषयमें; **अपि**=भी; **एषः**=यह; **श्लोकः**=श्लोक; **भवति**=है ।

व्याख्या—पञ्चम अनुवाकके इस दूसरे अंशमें आनन्दमय परमपुरुषका वर्णन किया गया है । भाव यह है कि पहले अंशमें कहे हुए विज्ञानमय जीवात्मासे भिन्न, उसके भी भीतर रहनेवाला एक दूसरा आत्मा है; वह है आनन्दमय परमात्मा । उससे यह विज्ञानमय पुरुष व्याप्त है अर्थात् वह इसमें भी परिपूर्ण है । बृहदारण्यक उपनिषद् (३ । ७ । २३) में भी

परमात्माको जीवात्मारूप शरीरका शासन करनेवाला और उसका अन्तरात्मा बताया है। वे ही वास्तवमें समस्त पुरुषोंसे उत्तम होनेके कारण 'पुरुष' शब्दके अभिधेय हैं। वे विज्ञानमय पुरुषके समान आकारवाले हैं। उस विज्ञानमय पुरुषमें व्याप्त होनेके कारण ही वे पुरुषाकार कहे जाते हैं। पक्षीके रूपकमें उन आनन्दमय परमेश्वरके अङ्गोंकी कल्पना इस प्रकार की गयी है। प्रियभाव उनका सिर है। तात्पर्य यह कि आनन्दमय परमात्मा सबके प्रिय हैं। समस्त प्राणी 'आनन्द' से प्रेम करते हैं, सभी 'आनन्दको' चाहते हैं, परंतु न जाननेके कारण उन्हें पा नहीं सकते। यह 'प्रियता' उन आनन्दमय परमात्माका एक प्रधान अंश है; अतः यही मानो उनका प्रधान अङ्ग सिर है। मोद दाहिना पंख है, प्रमोद बायाँ पंख है, आनन्द ही परमात्माका मध्य-अङ्ग है तथा स्वयं ब्रह्म ही इनकी पूँछ एवं आधार हैं। परमात्मा अवयवरहित होनेके कारण उनके स्वरूप और अङ्गोंका वर्णन वास्तविकरूपसे नहीं बन सकता। फिर ऐसी कल्पना क्यों की गयी? इसका समाधान करते हुए ब्रह्मसूत्र (३। ३। १२ से ३। ३। १४ तक) में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ब्रह्मके विषयमें ऐसी कल्पना केवल उपासनाकी सुगमताके लिये की जाती है, दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है। इस प्रकरणमें विज्ञानमयका अर्थ जीवात्मा और आनन्दमयका अर्थ परमात्मा ही लेना चाहिये, यह बात ब्रह्मसूत्र (१। १। १२ से १९ तकके विवेचन) में युक्तियों तथा श्रुतियोंके प्रमाणोंद्वारा सिद्ध की गयी है।

इन आनन्दमय परमात्माके विषयमें भी आगे षष्ठ अनुवाकमें कहा जानेवाला श्लोक अर्थात् मन्त्र है।

॥ पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठ अनुवाक

असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति।

चेत्=यदि; (कोई) **ब्रह्म**=ब्रह्म; **असत्**=नहीं है; **इति**=इस प्रकार; **वेद**=समझता है; (तो) **सः**=वह; **असत्**=असत्; **एव**=ही; **भवति**=हो जाता है; (और) **चेत्**=यदि; (कोई) **ब्रह्म**=ब्रह्म; **अस्ति**=है; **इति**=इस प्रकार; **वेद**=जानता है; **ततः**=तो; [**विद्वांसः**=ज्ञानीजन;] **एनम्**=इसको; **सन्तम्**=संत—सत्पुरुष; **विदुः**=समझते हैं; **इति**=इस प्रकार यह श्लोक है।

व्याख्या—इस मन्त्रमें ब्रह्मकी सत्ता माननेका और न माननेका फल बताया गया है। भाव यह है कि यदि कोई मनुष्य यह समझता है या ऐसा निश्चय करता है कि 'ब्रह्म असत् है' अर्थात् ब्रह्म या ईश्वर नामकी कोई चीज नहीं है, तो वह 'असत्' हो जाता है, अर्थात् स्वेच्छाचारी होकर सदाचारसे भ्रष्ट, नीच प्रकृतिका हो जाता है। और यदि कोई मनुष्य ब्रह्मके यथार्थ तत्त्वको न जानकर भी यह समझता है कि 'निःसंदेह ब्रह्म है', अर्थात् शास्त्र और महापुरुषोंपर दृढ़ विश्वास होनेके कारण यदि उसके मनमें ईश्वरकी सत्तापर पूरा विश्वास हो गया है, तो ऐसे मनुष्यको ज्ञानी और महापुरुष 'संत' अर्थात् सत्पुरुष समझते हैं; क्योंकि परमात्माके तत्त्वज्ञानकी पहली सीढ़ी उनकी सत्तामें विश्वास ही है। परमात्माकी सत्तामें विश्वास बना रहे तो कभी-न-कभी किन्हीं महापुरुषकी कृपासे साधनमें लगकर मनुष्य उन्हें प्राप्त भी कर सकता है।

तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य।

तस्य=उस (आनन्दमय) का भी; **एषः एव**=यही; **शारीरः**=शरीरान्तर्वर्ती; **आत्मा**=आत्मा है; **यः**=जो; **पूर्वस्य**=पहलेवाले (विज्ञानमय) का है।

व्याख्या—षष्ठ अनुवाकके इस दूसरे अंशमें पहलेके वर्णनानुसार आनन्दमयका अन्तरात्मा स्वयं आनन्दमयको ही बताया गया है। भाव यह है कि उन आनन्दमय ब्रह्मके वे स्वयं ही शरीरान्तर्वर्ती आत्मा हैं; क्योंकि उनमें शरीर और शरीरीका भेद नहीं है। जो पहले बताये हुए अन्न-रसमय आदि सबके अन्तर्यामी परमात्मा हैं, वे स्वयं ही अपने अन्तर्यामी हैं; उनका अन्तर्यामी कोई दूसरा नहीं है। इसीलिये इनके आगे किसी दूसरेको न बताकर उस वर्णनकी परम्पराको यहीं समाप्त कर दिया गया है।

सम्बन्ध—ऊपर कहे हुए अंशमें ब्रह्मको 'असत्' मानने और 'सत्' माननेका फल बताया गया है; उसे सुनकर प्रत्येक मनुष्यके मनमें जो प्रश्न उठ सकते हैं, उन प्रश्नोंका निर्णय करके उन ब्रह्मकी सत्ताका प्रतिपादन करनेके लिये श्रुति स्वयं ही प्रश्न उपस्थित करती है—

अथातोऽनुप्रश्नाः । उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छती ३ । आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चित्समश्नुता ३ उ ।

अथ=इसके बाद; **अतः**=यहाँसे; **अनुप्रश्नाः**=अनुप्रश्न आरम्भ होते हैं; **उत**=क्या; **अविद्वान्**=ब्रह्मको न जाननेवाला; **कश्चन**=कोई पुरुष; **प्रेत्य**=मरकर; **अमुम् लोकम् गच्छति**=उस लोकमें (परलोकमें) जाता है; **आहो**=अथवा; **कश्चित्**=कोई भी; **विद्वान्**=ज्ञानी; **प्रेत्य**=मरकर; **अमुम्**=उस; **लोकम्**=लोकको; **समश्नुते**=प्राप्त होता है; **उ**=क्या ?

व्याख्या—अब यहाँसे अनुप्रश्न* आरम्भ करते हैं। पहला प्रश्न तो यह है कि यदि ब्रह्म हैं तो उनको न जाननेवाला कोई भी मनुष्य मरनेके अनन्तर परलोकमें जाता है या नहीं ? दूसरा यह प्रश्न है कि ब्रह्मको जाननेवाला कोई भी विद्वान् मरनेके बाद परलोकको प्राप्त होता है या नहीं ?

सम्बन्ध—इन प्रश्नोंके उत्तरमें श्रुति ब्रह्मके स्वरूप और शक्तिका वर्णन करती है तथा पहले अनुवाकमें जो संक्षेपसे सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम बताया था, उसे भी विशदरूपसे समझाया जाता है—

सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा इदꣳसर्वमसृजत यदिदं किं च । तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च । निलयनं चानिलयनं च । विज्ञानं चाविज्ञानं च । सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् । यदिदं किं च । तत्सत्यमित्याचक्षते । तदप्येष श्लोको भवति ।

सः=उस परमेश्वरने; **अकामयत**=विचार किया कि; **प्रजायेय**=मैं प्रकट होऊँ; (और अनेक नाम-रूप धारण करके) **बहु**=बहुत; **स्याम् इति**=हो जाऊँ; **सः**=(इसके बाद) उसने; **तपः अतप्यत**=तप किया अर्थात् अपने संकल्पका विस्तार किया; **सः**=उसने; **तपः तप्त्वा**=इस प्रकार संकल्पका विस्तार करके; **यत्**=जो; **किम्**=कुछ; **च**=भी; **इदम्**=यह देखने और समझनेमें आता है; **इदम्**=इस; **सर्वम् असृजत**=समस्त जगत्की रचना की; **तत् सृष्ट्वा**=उस जगत्की रचना करनेके अनन्तर; **तत् एव**=(वह स्वयं) उसीमें; **अनुप्राविशत्**=साथ-साथ प्रविष्ट हो गया; **तत् अनुप्रविश्य**=उसमें साथ-साथ प्रविष्ट होनेके बाद; (वह स्वयं ही) **सत्**=मूर्त; **च**=और; **त्यत्**=अमूर्त; **च**=भी; **अभवत्**=हो गया; **निरुक्तम् च अनिरुक्तम्**=बतानेमें आनेवाले और न आनेवाले; **च**=तथा; **निलयनम्**=आश्रय देनेवाले; **च**=और;

* अनुप्रश्न उन प्रश्नोंको कहते हैं, जो आचार्यके उपदेशके अनन्तर किसी शिष्यके मनमें उठते हैं या जिन्हें वह उपस्थित करता है।

इस अनुवाकमें जो अनुप्रश्न पूछे गये हैं, वे दोके रूपमें तीन हैं—(१) वास्तवमें ब्रह्म हैं या नहीं ? (२) जब ब्रह्म आकाशकी भाँति सर्वगत तथा पक्षपातरहित—सम हैं, तब क्या वे अविद्वान् (अपना ज्ञान न रखनेवाले) को भी प्राप्त होते हैं या नहीं ? (३) यदि अविद्वान्को नहीं प्राप्त होते, तब तो सम होनेके कारण वे विद्वान्को भी नहीं प्राप्त होंगे; इसलिये यह तीसरा प्रश्न है कि विद्वान् पुरुष ब्रह्मका अनुभव करता है या नहीं ? इनके उत्तरमें ब्रह्मको सृष्टिका कारण बतलाकर अर्थतः उनकी सत्ता सिद्ध कर दी गयी। फिर 'तत् सत्यम् इत्याचक्षते.....' इस वाक्यद्वारा श्रुतिने स्पष्टरूपसे भी उनकी सत्ताका प्रतिपादन कर दिया। सातवें अनुवाकमें तो और भी स्पष्ट वचन मिलता है—'को ह्येवान्यात् ? कः प्राण्यात् ? यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' अर्थात् यदि ये आकाशस्वरूप आनन्दमय परमात्मा न होते तो कौन जीवित रहता और कौन चेष्टा भी कर सकता ? अर्थात् प्राणियोंका जीवन और चेष्टा परमात्मापर ही निर्भर हैं। दूसरे प्रश्नके उत्तरमें सप्तम अनुवाकमें यह बात कही गयी है कि जबतक मनुष्य परमात्माको पूर्णतया नहीं जान लेता, उनमें थोड़ा-सा भी अन्तर रख लेता है, तबतक वह जन्म-मरणके भयसे नहीं छूटता। तीसरे प्रश्नके उत्तरमें आठवें अनुवाकके उपसंहारमें श्रुति स्वयं कहती है—'स य एवंवित्.....आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' अर्थात् जो यह जानता है, वह क्रमशः अन्नमय, प्राणमय आदिको प्राप्त करता हुआ अन्तमें आनन्दमय परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है।'

अनिलयनम्=आश्रय न देनेवाले; **च**=तथा; **विज्ञानम्**= चेतनायुक्त; **च**=और; **अविज्ञानम्**=जड पदार्थ; **च**=तथा; **सत्यम्**=सत्य; **च**=और; **अनृतम्**=झूठ (इन सबके रूपमें); **च**=भी; **सत्यम्**=वह सत्यस्वरूप परमात्मा ही; **अभवत्**= हो गया; **यत्**=जो; **किम्**=कुछ; **च**=भी; **इदम्**=यह दिखायी देता है और अनुभवमें आता है; **तत्**=वह; **सत्यम्**= सत्य ही है; **इति**=इस प्रकार; **आचक्षते**=ज्ञानीजन कहते हैं; **तत्**=उस विषयमें; **अपि**= भी; **एषः**=यह; **श्लोकः**= श्लोक; **भवति**=है ।

व्याख्या—सर्गके आदिमें परब्रह्म परमात्माने यह विचार किया कि मैं नानारूपमें उत्पन्न होकर बहुत हो जाऊँ । यह विचार करके उन्होंने तप किया अर्थात् जीवोंके कर्मानुसार सृष्टि उत्पन्न करनेके लिये संकल्प किया । संकल्प करके यह जो कुछ भी देखने, सुनने और समझनेमें आता है, उस जड-चेतनमय समस्त जगत्‌की रचना की, अर्थात् इसका संकल्पमय स्वरूप बना लिया । उसके बाद स्वयं भी उसमें प्रविष्ट हो गये । यद्यपि अपनेसे ही उत्पन्न इस जगत्‌में वे परमेश्वर पहलेसे ही प्रविष्ट थे,—यह जगत् जब उन्हींका स्वरूप है, तब उसमें उनका प्रविष्ट होना नहीं बनता,—तथापि जड-चेतनमय जगत्‌में आत्मारूपसे परिपूर्ण हुए उन परब्रह्म परमेश्वरके विशेष स्वरूप—उनके अन्तर्यामी स्वरूपका लक्ष्य करानेके लिये यहाँ यह बात कही गयी है कि 'इस जगत्‌की रचना करके वे स्वयं भी उसमें प्रविष्ट हो गये ।' प्रविष्ट होनेके बाद वे मूर्त और अमूर्तरूपसे अर्थात् देखनेमें आनेवाले पृथ्वी, जल और तेज—इन भूतोंके रूपमें तथा वायु और आकाश—इन न दिखायी देनेवाले भूतोंके रूपमें प्रकट हो गये । फिर जिनका वर्णन किया जा सकता है और नहीं किया जा सकता, ऐसे विभिन्न नाना पदार्थोंके रूपोंमें हो गये । इसी प्रकार आश्रय देनेवाले और आश्रय न देनेवाले, चेतन और जड—इन सबके रूपमें वे एकमात्र परमेश्वर ही बहुत-से नाम और रूप धारण करके व्यक्त हो गये । वे एक सत्यस्वरूप परमात्मा ही सत्य और झूठ—इन सबके रूपमें हो गये । इसीलिये ज्ञानीजन कहते हैं कि 'यह जो कुछ देखने, सुनने और समझनेमें आता है, वह सब-का-सब सत्यस्वरूप परमात्मा ही है ।'

इस विषयमें भी यह आगे सप्तम अनुवाकमें कहा जानेवाला श्लोक अर्थात् मन्त्र है ।

॥ षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥ ६ ॥

सप्तम अनुवाक

असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । तदात्मानꣳस्वयमकुरुत । तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति ।

अग्रे=प्रकट होनेसे पहले; **इदम्**=यह जड-चेतनात्मक जगत्; **असत्**=अव्यक्तरूपमें; **वै**=ही; **आसीत्**=था; **ततः**= उससे; **वै**=ही; **सत्**=सत् अर्थात् नामरूपमय प्रत्यक्ष जगत्; **अजायत**=उत्पन्न हुआ है; **तत्**=उसने; **आत्मानम्**= अपनेको; **स्वयम्**=स्वयं; **अकुरुत**=(इस रूपमें) प्रकट किया है; **तस्मात्**=इसीलिये; **तत्**=वह; **सुकृतम्**='सुकृत'; **उच्यते**=कहा जाता है; **इति**=इस प्रकार यह श्लोक है ।

व्याख्या—सूक्ष्म और स्थूलरूपमें प्रकट होनेसे पहले यह जड-चेतनमय सम्पूर्ण जगत् असत्—अर्थात् अव्यक्तरूपमें ही था; उस अव्यक्तावस्थासे ही यह सत् अर्थात् नाम-रूपमय प्रत्यक्ष जड-चेतनात्मक जगत् उत्पन्न हुआ है । परमात्माने अपने-को स्वयं ही इस जड-चेतनात्मक जगत्‌के रूपमें बनाया है; इसीलिये उनका नाम 'सुकृत' (अपने-आप बने हुए)है ।*

* गीतामें कई प्रकारसे इस जड-चेतनात्मक जगत्‌का अव्यक्तसे उत्पन्न होना और उसीमें लय होना बताया गया है (गीता ८ । १८; ९ । ७; २ । २८) । परंतु भगवान् जब स्वयं अवतार लेकर लीला करनेके लिये जगत्‌में प्रकट होते हैं, तब उनका वह प्रकट होना अन्य जीवोंकी भाँति अव्यक्तसे व्यक्त होने अर्थात् कारणसे कार्यरूपमें परिवर्तित होनेके समान नहीं है; वह तो अलौकिक है । इसलिये वहाँ भगवान्‌ने कहा है कि जो मुझे अव्यक्तसे व्यक्त हुआ मानते हैं, वे बुद्धिहीन हैं (७ । २४); वहाँ जडतत्त्वों और उनके-नियमोंका प्रवेश नहीं है । भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम—सब कुछ अप्राकृत हैं, चिन्मय हैं । उनके जन्म-कर्म दिव्य हैं । भगवान्‌के प्राकट्यका रहस्य बड़े-बड़े देवता और महर्षिलोग भी नहीं जानते (गीता १० । २) ।

यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः । रसꣳह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति । को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति ।

वै=निश्चय ही; **यत्**=जो; **तत्**=वह; **सुकृतम्**=सुकृत है; **सः वै**=वही; **रसः**=रस है; **हि**=क्योंकि; **अयम्**=यह (जीवात्मा); **रसम्**=इस रसको; **लब्ध्वा**=प्राप्त करके; **एव**=ही; **आनन्दी**=आनन्दयुक्त; **भवति**=होता है; **यत्**=यदि; **एषः**=यह; **आनन्दः**=आनन्दस्वरूप; **आकाशः**=आकाशकी भाँति व्यापक परमात्मा; **न स्यात्**=न होता; **हि**=तो; **कः एव**=कौन; **अन्यात्**=जीवित रह सकता; (और) **कः**=कौन; **प्राण्यात्**=प्राणोंकी क्रिया (चेष्टा) कर सकता; **हि**=निःसंदेह; **एषः**=यह परमात्मा; **एव**=ही; **आनन्दयाति**=सबको आनन्द प्रदान करता है ।

व्याख्या—ये जो ऊपरके वर्णनमें 'सुकृत' नामसे कहे गये हैं, वे परब्रह्म परमात्मा सचमुच रसस्वरूप (आनन्दमय) हैं, ये ही वास्तविक आनन्द हैं; क्योंकि अनादिकालसे जन्म-मृत्युरूप घोर दुःखका अनुभव करनेवाला यह जीवात्मा इन रसमय परब्रह्मको पाकर ही आनन्दयुक्त होता है । जबतक इन परम प्राप्य आनन्दस्वरूप परमेश्वरसे इसका संयोग नहीं हो जाता, तबतक इसे किसी भी स्थितिमें पूर्णानन्द, नित्यानन्द, अखण्डानन्द नहीं मिल सकता । इसीसे उन वास्तविक आनन्दस्वरूप परमात्माका अस्तित्व निःसंदेह सिद्ध होता है; क्योंकि यदि ये आकाशकी भाँति व्यापक आनन्द-स्वरूप परमात्मा नहीं होते तो कौन जीवित रह सकता और कौन प्राणोंकी क्रिया—हिलना-डुलना आदि कर सकता । अर्थात् समस्त प्राणी सुखस्वरूप परमात्माके ही सहारे जीते और हलन-चलन आदि चेष्टा करते हैं । इतना ही नहीं, सबके जीवन-निर्वाहकी सब प्रकारसे सुव्यवस्था करनेवाले भी वे ही हैं; अन्यथा इस जगत्की समस्त भौतिक क्रिया, जो नियमित और व्यवस्थितरूपसे चल रही है, कैसे हो सकती । अतः मनुष्यको यह दृढ़तापूर्वक विश्वास करना चाहिये कि इस जगत्के कर्ता-हर्ता परब्रह्म परमेश्वर अवश्य हैं तथा निःसंदेह ये परमात्मा ही सबको आनन्द प्रदान करते हैं । जब आनन्दस्वरूप एकमात्र परमात्मा ही हैं, तब दूसरा कौन आनन्द दे सकता है ।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति ।

हि=क्योंकि; **यदा एव**=जब कभी; **एषः**=यह जीवात्मा; **एतस्मिन्**=इस; **अदृश्ये**=देखनेमें न आनेवाले; **अनात्म्ये**=शरीररहित; **अनिरुक्ते**=बतलानेमें न आनेवाले; (और) **अनिलयने**=दूसरेका आश्रय न लेनेवाले परब्रह्म परमात्मामें; **अभयम्**=निर्भयतापूर्वक; **प्रतिष्ठाम्**=स्थिति; **विन्दते**=लाभ करता है; **अथ**=तब; **सः**=वह; **अभयम्**=निर्भयपदको; **गतः**=प्राप्त; **भवति**=हो जाता है ।

व्याख्या—क्योंकि उन परब्रह्म परमेश्वरको पानेकी अभिलाषा रखनेवाला यह जीव जब कभी देखनेमें न आनेवाले, बतलानेमें न आनेवाले और किसीके आश्रित न रहनेवाले शरीर-रहित परब्रह्म परमात्मामें निर्भय (अविचल) स्थिति लाभ करता है, उस समय वह निर्भयपदको प्राप्त हो जाता है—सदाके लिये भय एवं शोकसे रहित हो जाता है ।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नु दरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति । तत्त्वेव भयं विदुषो मन्वानस्य । तदप्येष श्लोको भवति ।

हि=क्योंकि; **यदा एव**=जबतक; **एषः**=यह; **उ दरम्**=थोड़ा-सा; **वै**=भी; **एतस्मिन् अन्तरम्**=इस परमात्मासे वियोग; **कुरुते**=किये रहता है; **अथ**=तबतक; **तस्य**=उसको; **भयम्**=जन्म-मृत्युरूप भय; **भवति**=प्राप्त होता है; **तु**=तथा; **तत् एव**=वही; **भयम्**=भय; (केवल मूर्खको ही नहीं होता, किंतु) **मन्वानस्य**=अभिमानी; **विदुषः**=शास्त्रज्ञ विद्वान्को भी अवश्य होता है; **तत्**=उसके विषयमें; **अपि**=भी; **एषः**=यह (आगे कहा हुआ); **श्लोकः**=श्लोक; **भवति**=है ।

व्याख्या—क्योंकि जबतक यह जीवात्मा उन परब्रह्म परमात्मासे थोड़ा-सा भी अन्तर किये रहता है—उनमें पूर्ण स्थिति लाभ नहीं कर लेता या उनका निरन्तर स्मरण नहीं करता—उन्हें थोड़ी देरके लिये भी भूल जाता है, तबतक उसके

लिये भय है, अर्थात् उसका पुनर्जन्म होना सम्भव है; क्योंकि जिस समय उसकी परमात्मामें स्थिति नहीं है, वह भगवान्‌को भूला हुआ है, उसी समय यदि उसकी मृत्यु हो गयी तो फिर उसका अन्तिम संस्कारके अनुसार जन्म होना निश्चित है। क्योंकि भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'जिस-जिस भावको स्मरण करता हुआ मनुष्य अन्तकालमें शरीर छोड़ता है, उसीके अनुसार उसे जन्म ग्रहण करना पड़ता है (८ । ६)।' और मृत्यु प्रारब्धके अनुसार किसी क्षण भी आ सकती है। इसीलिये योगभ्रष्टका पुनर्जन्म होनेकी बात गीतामें कही गयी है (६ । ४०-४२)। जबतक परमात्मामें पूर्ण स्थिति नहीं हो जाती अथवा जबतक भगवान्‌का निरन्तर स्मरण नहीं होता, तबतक यह पुनर्जन्मका भय—जन्म-मृत्युका भय सभीके लिये बना हुआ है—चाहे कोई बड़े-से-बड़ा शास्त्रज्ञ विद्वान् क्यों न हो, चाहे कोई अपनेको बड़े-से-बड़ा ज्ञानी अथवा पण्डित क्यों न माने। वे परमेश्वर सबपर शासन करनेवाले हैं, उन्हींकी शासन-शक्तिसे जगत्‌की सारी व्यवस्था नियमितरूपसे चल रही है। इसी विषयपर यह आगे अष्टम अनुवाकमें कहा जानेवाला श्लोक अर्थात् मन्त्र है।

॥ सप्तम अनुवाक समाप्त ॥ ७ ॥

अष्टम अनुवाक

सम्बन्ध—पिछले अनुवाकमें जिस श्लोकका लक्ष्य कराया गया था, उसका उल्लेख करते हैं—

भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति।

अस्मात् भीषा=इसीके भयसे; **वातः**=पवन; **पवते**=चलता है; **भीषा**=(इसीके) भयसे; **सूर्यः**=सूर्य; **उदेति**=उदय होता है; **अस्मात् भीषा**=इसीके भयसे; **अग्निः**=अग्नि; **च**=और; **इन्द्रः**=इन्द्र; **च**=और; **पञ्चमः**=पाँचवाँ; **मृत्युः**=मृत्यु; **धावति**=(ये सब) अपना-अपना कार्य करनेमें प्रवृत्त हो रहे हैं; **इति**=इस प्रकार यह श्लोक है।

व्याख्या—इन परब्रह्म परमेश्वरके भयसे ही पवन नियमानुसार चलता है, इन्हींके भयसे सूर्य ठीक समयपर उदय होता है और ठीक समयपर अस्त होता है तथा इन्हींके भयसे अग्नि, इन्द्र और पाँचवाँ मृत्यु—ये सब अपना-अपना कार्य नियम-पूर्वक सुव्यवस्थितरूपसे कर रहे हैं। यदि इन सबकी सुव्यवस्था करनेवाला इन सबका प्रेरक कोई न हो तो जगत्‌के सारे काम कैसे चलें। इससे सिद्ध होता है कि इन सबको बनानेवाला, सबको यथायोग्य नियममें रखनेवाला कोई एक सत्य, ज्ञान और आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा अवश्य हैं और वे मनुष्यको अवश्य मिल सकते हैं *।

सम्बन्ध—उन आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्माका वह आनन्द कितना और कैसा है, इस जिज्ञासापर आनन्दविषयक विचार आरम्भ किया जाता है—

सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति। युवा स्यात्साधुयुवाध्यायक आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः।

सा=वह; **एषा**=यह; **आनन्दस्य**=आनन्दसम्बन्धी; **मीमांसा**=विचार; **भवति**=आरम्भ होता है; **युवा**=कोई युवक; **स्यात्**=हो; (वह भी ऐसा-वैसा नहीं,) **साधुयुवा**=श्रेष्ठ आचरणोंवाला युवक हो; (तथा) **अध्यायकः**=वेदोंका अध्ययन कर चुका हो; **आशिष्ठः**=शासनमें अत्यन्त कुशल हो; **द्रढिष्ठः**=उसके सम्पूर्ण अङ्ग और इन्द्रियाँ सर्वथा दृढ़ हों; (तथा) **बलिष्ठः**=वह सब प्रकारसे बलवान् हो; **तस्य**=(फिर) उसे; **इयम्**=यह; **वित्तस्य पूर्णा**=धनसे परिपूर्ण; **सर्वा**=सब-की-सब; **पृथिवी**=पृथ्वी; **स्यात्**=प्राप्त हो जाय; (तो) **सः**=वह; **मानुषः**=मनुष्यलोकका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है।

व्याख्या—इस वर्णनमें उस आनन्दका विचार आरम्भ करनेकी सूचना देकर सर्वप्रथम मनुष्य-लोकके भोगोंसे मिल सकनेवाले बड़े-से-बड़े आनन्दकी कल्पना की गयी है। भाव यह है कि एक मनुष्य युवा हो; वह भी ऐसा-वैसा

* इसी भावकी श्रुति कठोपनिषद्‌में भी आयी है (२ । ३ । ३)।

मामूली युवक नहीं—सदाचारी, अच्छे स्वभाववाला, अच्छे कुलमें उत्पन्न श्रेष्ठ पुरुष हो; उसे सम्पूर्ण वेदोंकी शिक्षा मिली हो तथा शासनमें—ब्रह्मचारियोंको सदाचारकी शिक्षा देनेमें अत्यन्त कुशल हो; उसके सम्पूर्ण अङ्ग और इन्द्रियाँ रोगरहित, समर्थ और सुदृढ़ हों और वह सब प्रकारके बलसे सम्पन्न हो। फिर धन-सम्पत्तिसे भरी यह सम्पूर्ण पृथ्वी उसके अधिकारमें आ जाय, तो यह मनुष्यका एक बड़े-से-बड़ा सुख है। वह मानव-लोकका एक सबसे महान् आनन्द है।

ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे; **ये**=जो; **मानुषाः**=मनुष्यलोक-सम्बन्धी; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **मनुष्यगन्धर्वाणाम्**=मानव-गन्धर्वोंका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द होता है; **अकामहतस्य**=जिसका अन्तःकरण भोगोंकी कामनाओंसे दूषित नहीं हुआ है, ऐसे; **श्रोत्रियस्य**=वेदवेत्ता पुरुषका; **च**=भी (वह स्वाभाविक आनन्द है)।

व्याख्या—जो मनुष्य-योनिमें उत्तम कर्म करके गन्धर्वभावको प्राप्त हुए हैं, उनको 'मनुष्य-गन्धर्व' कहते हैं। यहाँ इनके आनन्दको उपर्युक्त मनुष्यके आनन्दसे सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि जिस मनुष्य-सम्बन्धी आनन्दका पहले वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर आनन्दकी जो एक राशि होती है, उतना मनुष्य-गन्धर्वोंका एक आनन्द है। परंतु जो पहले बताये हुए मनुष्यलोकके भोगोंकी और इस गन्धर्वलोकके भोगोंतककी कामनासे दूषित नहीं है, इन सबसे सर्वथा विरक्त है, उस श्रोत्रिय—वेदज्ञ पुरुषको तो वह आनन्द स्वभावसे ही प्राप्त है।

ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे (पूर्वोक्त); **ये**=जो; **मनुष्यगन्धर्वाणाम्**=मनुष्य-गन्धर्वोंके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **देवगन्धर्वाणाम्**=देवजातीय गन्धर्वोंका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=तथा; (वही) **अकामहतस्य**=कामनाओंसे अदूषित चित्तवाले; **श्रोत्रियस्य**=श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को भी स्वभावतः प्राप्त है।

व्याख्या—इस वर्णनमें पहले बताये हुए मनुष्य-गन्धर्वोंकी अपेक्षा देव-गन्धर्वोंके आनन्दको सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि जिस मनुष्य-गन्धर्वके आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी राशि होती है, उतना सृष्टिके आरम्भसे देवजातीय गन्धर्वरूपमें उत्पन्न हुए जीवोंका एक आनन्द है। तथा जो मनुष्य इस आनन्दकी कामनासे आहत नहीं हुआ है, अर्थात् जिसको इसकी आवश्यकता नहीं है, तथा जो वेदके उपदेशको हृदयङ्गम कर चुका है, ऐसे विद्वान्को वह आनन्द स्वभावतः प्राप्त है।

ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे (पूर्वोक्त); **ये**=जो; **देवगन्धर्वाणाम्**=देवजातीय गन्धर्वोंके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **चिरलोकलोकानाम्**=चिरस्थायी पितृलोकको प्राप्त हुए; **पितॄणाम्**=पितरोंका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=और; (वह) **अकामहतस्य**=भोगोंके प्रति निष्काम; **श्रोत्रियस्य**=वेदज्ञ पुरुषको स्वतः प्राप्त है।

व्याख्या—इस वर्णनमें देवगन्धर्वोंके आनन्दकी अपेक्षा चिरस्थायी पितृलोकको प्राप्त दिव्य पितरोंके आनन्दको सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि देव-गन्धर्वोंके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर आनन्दकी जो एक राशि होती है, उतना चिरस्थायी पितृलोकमें रहनेवाले दिव्य पितरोंका एक आनन्द है। तथा जो उस लोकके भोग-सुखकी कामनासे आहत नहीं है अर्थात् जिसको उसकी आवश्यकता ही नहीं रही है, उस श्रोत्रियको—वेदके रहस्यको समझनेवाले विरक्तको वह आनन्द स्वतः ही प्राप्त है।

ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः। स एक आजानजानां देवानामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे (पूर्वोक्त); **ये**=जो; **चिरलोकलोकानाम्**=चिरस्थायी पितृलोकको प्राप्त हुए; **पितृणाम्**=पितरोंके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **आजानजानाम्**=आजानज नामक; **देवानाम्**=देवताओंका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=और; (वह आनन्द) **अकामहतस्य**=उस लोकतकके भोगोंमें कामनारहित; **श्रोत्रियस्य**=श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को स्वभावतः प्राप्त है ।

व्याख्या—इस वर्णनमें चिरस्थायी लोकोंमें रहनेवाले दिव्य पितरोंके आनन्दकी अपेक्षा 'आजानज' नामक देवोंके आनन्दको सौगुना बताया गया है । भाव यह है कि चिरस्थायी लोकोंमें रहनेवाले दिव्य पितरोंके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंकी मात्राको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना 'आजानज' नामक देवताओंका एक आनन्द है । देवलोकके एक विशेष स्थानका नाम 'आजान' है; जो लोग स्मृतियोंमें प्रतिपादित किन्हीं पुण्यकर्मोंके कारण वहाँ उत्पन्न हुए हैं, उन्हें 'आजानज' कहते हैं । जो उस लोकतकके भोगोंकी कामनासे आहत नहीं है, अर्थात् जो उस आनन्दको भी तुच्छ समझकर उससे विरक्त हो गया है, उस वेदके रहस्यको समझनेवाले विरक्त पुरुषके लिये तो वह आनन्द स्वभावसिद्ध है ।

ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः । स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः । ये कर्मणा देवानपियन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ते=वे (पूर्वोक्त); **ये**=जो; **आजानजानाम्**=आजानज नामक; **देवानाम्**=देवोंके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **कर्मदेवानाम् देवानाम्**=(उन) कर्मदेव नामक देवताओंका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **ये**=जो; **कर्मणा**=वेदोक्त कर्मोंसे; **देवान्**=देवभावको; **अपियन्ति**=प्राप्त हुए हैं; **च**=और; (वह) **अकामहतस्य**=उस लोकतकके भोगोंमें कामनारहित; **श्रोत्रियस्य**=श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को तो स्वतः प्राप्त है ।

व्याख्या—इस वर्णनमें आजानज देवोंके आनन्दकी अपेक्षा कर्मदेवोंके आनन्दको सौगुना बताया गया है । भाव यह है कि आजानज देवोंके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना आनन्द जो वेदोक्त कर्मोंद्वारा मनुष्यसे देवभावको प्राप्त हुए हैं, उन कर्मदेवताओंका आनन्द है । जो उन कर्मदेवताओंतकके आनन्दकी कामनासे आहत नहीं है अर्थात् जिसको देवलोकतकके भोगोंकी इच्छा नहीं रही है, उस वेदके रहस्यको समझनेवाले विरक्त पुरुषके लिये तो वह आनन्द स्वभावसिद्ध है ।

ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः । स एको देवानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ते=वे (पूर्वोक्त); **ये**=जो; **कर्मदेवानाम् देवानाम्**=कर्मदेव नामक देवताओंके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **देवानाम्**=देवताओंका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=और; (वह) **अकामहतस्य**=उस लोकतकके भोगोंमें कामनारहित; **श्रोत्रियस्य**=श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को तो स्वभावतः प्राप्त है ।

व्याख्या—इस वर्णनमें कर्मदेवोंकी अपेक्षा सृष्टिके आदिकालमें जिन स्थायी देवोंकी उत्पत्ति हुई है, उन स्वभावसिद्ध देवोंके आनन्दको सौगुना बताया गया है । भाव यह है कि कर्मदेवोंके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना उन स्वभावसिद्ध देवताओंका एक आनन्द है । जो उन स्वभावसिद्ध देवताओंके भोगानन्दकी कामनासे आहत नहीं है, अर्थात् उसकी भी जिसको कामना नहीं है, उस वेदके रहस्यको समझनेवाले निष्काम विरक्तके लिये तो वह आनन्द स्वभावसिद्ध ही है ।

ते ये शतं देवानामानन्दाः । स एक इन्द्रस्यानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ते=वे; **ये**=जो; **देवानाम्**=देवताओंके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **इन्द्रस्य**=इन्द्रका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=और; (वह) **अकामहतस्य**=इन्द्रतकके भोगोंमें कामनारहित; **श्रोत्रियस्य**=वेदवेत्ताको स्वतः प्राप्त है ।

व्याख्या—इस वर्णनमें पहले बताये हुए स्वभावसिद्ध देवोंके आनन्दकी अपेक्षा इन्द्रके आनन्दको सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि देवताओंके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना इन्द्रभावको प्राप्त देवताका एक आनन्द है। जो इन्द्रके भोगानन्दकी कामनासे आहत नहीं हुआ है, अर्थात् जिसको इन्द्रके सुखकी भी आकाङ्क्षा नहीं है—जो उसे भी तुच्छ समझकर उससे विरक्त हो गया है, उस वेदके रहस्यको समझनेवाले निष्काम पुरुषको तो वह आनन्द स्वतः प्राप्त है।

ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे; **ये**=जो; **इन्द्रस्य**=इन्द्रके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **बृहस्पतेः**=बृहस्पतिका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=और; (वह) **अकामहतस्य**=बृहस्पतितकके भोगोंमें निःस्पृह; **श्रोत्रियस्य**=वेद-वेत्ताको स्वतःप्राप्त है।

व्याख्या—इस वर्णनमें इन्द्रके आनन्दकी अपेक्षा बृहस्पतिके आनन्दको सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि इन्द्रके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना बृहस्पतिके पदको प्राप्त हुए देवताका एक आनन्द है। परंतु जो मनुष्य बृहस्पतिके भोगानन्दकी कामनासे भी आहत नहीं है, उस भोगानन्दको भी अनित्य होनेके कारण जो तुच्छ समझकर उससे विरक्त हो चुका है, उस वेदके रहस्यको जाननेवाले निष्काम मनुष्यको वह आनन्द स्वतःप्राप्त है।

ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे; **ये**=जो; **बृहस्पतेः**=बृहस्पतिके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **प्रजापतेः**=प्रजापतिका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=और; (वह) **अकामहतस्य**=प्रजापतितकके भोगोंमें कामनारहित; **श्रोत्रियस्य**=वेदवेत्ता पुरुषको स्वतःप्राप्त है।

व्याख्या—इस वर्णनमें बृहस्पतिके आनन्दकी अपेक्षा प्रजापतिके आनन्दको सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि बृहस्पतिके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना प्रजापतिके पदपर आरूढ़ देवताका एक आनन्द है। परंतु जो मनुष्य इस प्रजापतिके भोगानन्दकी कामनासे भी आहत नहीं है, अर्थात् उससे भी जो विरक्त हो चुका है, उस वेदके रहस्यको जाननेवाले निष्काम मनुष्यको तो वह आनन्द स्वभावसे ही प्राप्त है।

ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे; **ये**=जो; **प्रजापतेः**=प्रजापतिके; **शतम्**=एक सौ; **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह; **ब्रह्मणः**=ब्रह्माका; **एकः**=एक; **आनन्दः**=आनन्द है; **च**=और; (वह) **अकामहतस्य**=ब्रह्मलोकतकके भोगोंमें कामनारहित; **श्रोत्रियस्य**=श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को स्वभावतः प्राप्त है।

व्याख्या—इस वर्णनमें प्रजापतिके आनन्दसे भी हिरण्यगर्भ ब्रह्माके आनन्दको सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि प्रजापतिके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो एक आनन्दकी राशि होती है, उतना सृष्टिके आरम्भमें सबसे पहले उत्पन्न होनेवाले हिरण्यगर्भ ब्रह्माका एक आनन्द है। तथा जो मनुष्य उस ब्रह्माके पदसे प्राप्त भोग-सुखकी कामनासे भी आहत नहीं है, अर्थात् जो उसे भी अनित्य और तुच्छ समझकर उससे विरक्त हो गया है, जिसको एकमात्र परमानन्दस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त करनेकी ही उत्कट अभिलाषा है, उस वेदके रहस्यको समझनेवाले विरक्त पुरुषको वह आनन्द स्वतःप्राप्त है।

इस प्रकार यहाँ एकसे दूसरे आनन्दकी अधिकताका वर्णन करते-करते सबसे बढ़कर हिरण्यगर्भके आनन्दको बताकर यह भाव दिखाया गया है कि इस जगत्में जितने प्रकारके जो-जो आनन्द देखने, सुनने तथा समझनेमें आ सकते हैं, वे चाहे

कितने ही बड़े क्यों न हों, उस पूर्णानन्दस्वरूप परमात्माके आनन्दकी तुलनामें बहुत ही तुच्छ हैं। बृहदारण्यकमें कहा भी है कि 'समस्त प्राणी इसी परमात्मसम्बन्धी आनन्दके किसी एक अंशको लेकर ही जीते हैं (४ । ३ । ३२)।'

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः । स य एवंविदस्माल्लोकात्प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति । तदप्येष श्लोको भवति ।

सः=वह (परमात्मा); **यः**=जो; **अयम्**=यह; **पुरुषे**=मनुष्यमें; **च**=और; **यः**=जो; **असौ**=वह; **आदित्ये च**=सूर्यमें भी है; **सः**=वह (सबका अन्तर्यामी); **एकः**=एक ही है; **यः**=जो; **एवंवित्**=इस प्रकार जाननेवाला है; **सः**=वह; **अस्मात् लोकात्**=इस लोकसे; **प्रेत्य**=विदा होकर; **एतम्**=इस; **अन्नमयम्**=अन्नमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रामति**=प्राप्त हो जाता है; **एतम्**=इस; **प्राणमयम्**=प्राणमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रामति**=प्राप्त होता है; **एतम्**=इस; **मनोमयम्**=मनोमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रामति**=प्राप्त होता है; **एतम्**=इस; **विज्ञानमयम्**=विज्ञानमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रामति**=प्राप्त होता है; **एतम्**=इस; **आनन्दमयम्**=आनन्दमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रामति**=प्राप्त होता है; **तत्**=उसके विषयमें; **अपि**=भी; **एषः**=यह (आगे कहा गया); **श्लोकः**=श्लोक; **भवति**=है ।

व्याख्या—ऊपर बताये हुए समस्त आनन्दोंके एकमात्र केन्द्र परमानन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही सबके अन्तर्यामी हैं। जो परमात्मा मनुष्योंमें हैं, वे ही सूर्यमें भी हैं। वे सबके अन्तर्यामी एक ही हैं। जो इस प्रकार जान लेता है, वह मरनेपर इस मनुष्य-शरीरको छोड़कर उस पहले बताये हुए अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि इन पाँचोंके जो आत्मा हैं, ये पाँचों जिनके स्वरूप हैं, उन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। पहले इन पाँचोंका वर्णन करते समय सबका शरीरान्तर्वर्ती आत्मा अन्तर्यामी परमात्माको ही बतलाया था। फलरूपमें उन्हींकी प्राप्ति होती है और वे ही ब्रह्म हैं—यह बतानेके लिये ही यहाँ पाँचोंको क्रमसे प्राप्त होनेकी बात कही गयी है। वास्तवमें इस क्रमसे प्राप्त होनेकी बात यहाँ नहीं कही गयी है; क्योंकि अन्नमय मनुष्य-शरीरको तो वह पहलेसे प्राप्त था ही, उसे छोड़कर जानेके बाद प्राप्त होनेवाला फल परमात्मा है, शरीर नहीं। अतः यहाँ अन्नमय आदिके अन्तर्यामी परमात्माकी ही प्राप्ति बतायी गयी है। इसलिये इन सबमें परिपूर्ण, सर्वरूप, सबके आत्मा, परम आनन्दस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त हो जाना ही इस फलश्रुतिका तात्पर्य है। इसके विषयमें आगे नवम अनुवाकमें कहा जानेवाला यह श्लोक भी है।

॥ अष्टम अनुवाक समाप्त ॥ ८ ॥

नवम अनुवाक

सम्बन्ध—आठवें अनुवाकमें जिस श्लोक (मन्त्र) को लक्ष्य कराया गया है, उसका उल्लेख किया जाता है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति ।

मनसा सह=मनके सहित; **वाचः**=वाणी आदि समस्त इन्द्रियाँ; **यतः**=जहाँसे; **अप्राप्य**=उसे न पाकर; **निवर्तन्ते**=लौट आती हैं; **[तस्य] ब्रह्मणः**=उस ब्रह्मके; **आनन्दम्**=आनन्दको; **विद्वान्**=जाननेवाला (महापुरुष); **कुतश्चन**=किसीसे भी; **न बिभेति**=भय नहीं करता; **इति**=इस प्रकार यह श्लोक है ।

व्याख्या—इस मन्त्रमें परब्रह्म परमात्माके परमानन्दस्वरूपको जाननेका फल बताया गया है। भाव यह है कि मनके सहित सभी इन्द्रियाँ जहाँसे उसे न पाकर लौट आती हैं—जिस ब्रह्मानन्दको जाननेकी इन मन और इन्द्रियोंकी शक्ति नहीं है, परब्रह्म परमात्माके उस आनन्दको जाननेवाला ज्ञानी महापुरुष कभी किसीसे भी भय नहीं करता, वह सर्वथा निर्भय हो जाता है। इस प्रकार इस श्लोकका तात्पर्य है।

एतꣳह वाव न तपति । किमहꣳसाधु नाकरवम् । किमहं पापमकरवमिति । स य एवं विद्वानेते आत्मानꣳ स्पृणुते । उभे ह्येवैष एते आत्मानꣳ स्पृणुते । य एवं वेद । इत्युपनिषत् ।

ह वाव=यह प्रसिद्ध ही है कि; **एतम्**=उस (महापुरुष) को; (यह बात) **न तपति**=चिन्तित नहीं करती कि; **अहम्**=मैंने; **किम्**=क्यों; **साधु**=श्रेष्ठ कर्म; **न**=नहीं; **अकरवम्**=किया; **किम्**=(अथवा) क्यों; **अहम्**=मैंने; **पापम्**=पापाचरण; **अकरवम् इति**=किया; **यः**=जो; **एते**=इन पुण्य-पापकर्मोंको; **एवम्**=इस प्रकार (संतापका हेतु); **विद्वान्**=जाननेवाला है; **सः**=वह; **आत्मानम् स्पृणुते**=आत्माकी रक्षा करता है; **हि**=अवश्य ही; **यः**=जो; **एते**=इन पुण्य और पाप; **उभे एव**=दोनों ही कर्मोंको; **एवं**=इस प्रकार (संतापका हेतु); **वेद**=जानता है; [**सः**] **एषः**=वह यह पुरुष; **आत्मानम् स्पृणुते**=आत्माकी रक्षा करता है; **इति**=इस प्रकार; **उपनिषत्**=उपनिषद् (की ब्रह्मानन्दवल्ली) पूरी हुई।

व्याख्या—इस वर्णनमें यह बात कही गयी है कि ज्ञानी महापुरुषको किसी प्रकारका शोक नहीं होता। भाव यह है कि परमात्माको ऊपर बताये अनुसार जाननेवाला विद्वान् कभी इस प्रकार शोक नहीं करता कि 'क्यों मैंने श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण नहीं किया, अथवा क्यों मैंने पाप-कर्म किया।' उसके मनमें पुण्य-कर्मोंके फलस्वरूप उत्तम लोकोंकी प्राप्तिका लोभ नहीं होता और उसे पापजनित नरकादिका भय भी नहीं सताता। लोभ और भयजनित संतापसे वह ऊँचा उठ जाता है। उक्त ज्ञानी महापुरुष आसक्तिपूर्वक किये हुए पुण्य और पाप दोनों प्रकारके कर्मोंको जन्म-मरणरूप संतापका हेतु समझकर उनके प्रति राग-द्वेषसे सर्वथा रहित हो जाता है और परमात्माके चिन्तनमें संलग्न रहकर आत्माकी रक्षा करता है।

इस मन्त्रमें कुछ शब्दोंको अक्षरशः अथवा अर्थतः दुहराकर इस वल्लीके उपसंहारकी सूचना दी गयी है।

॥ नवम अनुवाक समाप्त ॥ ९ ॥

॥ ब्रह्मानन्दवल्ली समाप्त ॥ २ ॥

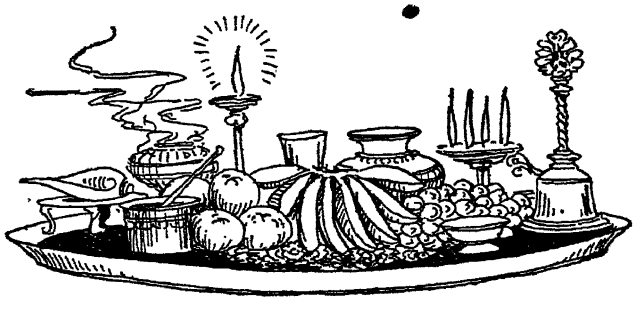

ॐ

भृगुवल्ली*

प्रथम अनुवाक

भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत्प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। तꣳहोवाच। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

वै=यह प्रसिद्ध है कि; **वारुणिः**=वरुणका पुत्र; **भृगुः**=भृगु; **पितरम्**=अपने पिता; **वरुणम् उपससार**=वरुणके पास गया (और विनयपूर्वक बोला—); **भगवः**=भगवन्; (मुझे) **ब्रह्म अधीहि**=ब्रह्मका उपदेश कीजिये; **इति**=इस प्रकार प्रार्थना करनेपर; **तस्मै**=उससे; (वरुणने) **एतत्**=यह; **प्रोवाच**=कहा; **अन्नम्**=अन्न; **प्राणम्**=प्राण; **चक्षुः**=नेत्र; **श्रोत्रम्**=श्रोत्र; **मनः**=मन; (और) **वाचम्**=वाणी; **इति**=इस प्रकार (ये सब ब्रह्मकी उपलब्धिके द्वार हैं); **तम् ह उवाच**=पुनः (वरुणने) उससे कहा; **वै**=निश्चय ही; **इमानि**=ये सब प्रत्यक्ष दीखनेवाले; **भूतानि**=प्राणी; **यतः**=जिससे; **जायन्ते**=उत्पन्न होते हैं; **जातानि**=उत्पन्न होकर; **येन**=जिसके सहारे; **जीवन्ति**=जीवित रहते हैं; (तथा) **प्रयन्ति**=(अन्तमें इस लोकसे) प्रयाण करते हुए; **यत् अभिसंविशन्ति**=जिसमें प्रवेश करते हैं; **तत्**=उसको; **विजिज्ञासस्व**=तत्त्वसे जाननेकी इच्छा कर; **तत्**=वही; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **इति**=इस प्रकार (पिताकी बात सुनकर); **सः**=उसने; **तपः अतप्यत**=तप किया; **सः**=उसने; **तपः तप्त्वा**=तप करके—

व्याख्या—भृगु नामसे प्रसिद्ध एक ऋषि थे, जो वरुणके पुत्र थे। उनके मनमें परमात्माको जानने और प्राप्त करनेकी उत्कट अभिलाषा हुई, तब वे अपने पिता वरुणके पास गये। उनके पिता वरुण वेदको जाननेवाले, ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष थे; अतः भृगुको किसी दूसरे आचार्यके पास जानेकी आवश्यकता नहीं हुई। अपने पिताके पास जाकर भृगुने इस प्रकार प्रार्थना की—'भगवन्! मैं ब्रह्मको जानना चाहता हूँ, अतः आप कृपा करके मुझे ब्रह्मका तत्त्व समझाइये।' तब वरुणने भृगुसे कहा—'तात! अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन और वाणी—ये सभी ब्रह्मकी उपलब्धिके द्वार हैं। इन सबमें ब्रह्मकी सत्ता स्फुरित हो रही है।' साथ ही यह भी कहा—'ये प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले सब प्राणी जिनसे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिनके सहयोगसे, जिनका बल पाकर ये सब जीते हैं—जीवनोपयोगी क्रिया करनेमें समर्थ होते हैं और महाप्रलयके समय जिनमें विलीन हो जाते हैं, उनको वास्तवमें जाननेकी (पानेकी) इच्छा कर। वे ही ब्रह्म हैं।' इस प्रकार पिताका उपदेश पाकर भृगु ऋषिने ब्रह्मचर्य और शम-दम आदि नियमोंका पालन करते हुए तथा समस्त भोगोंके त्यागपूर्वक संयमसे रहते हुए पिताके उपदेशपर विचार किया। यही उनका तप था। इस प्रकार तप करके उन्होंने क्या किया, यह बात अगले अनुवाकमें कही गयी है।

॥ प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय अनुवाक

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

---

* वरुणने अपने पुत्र भृगु ऋषिको जिस ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया था, उसीका इस वल्लीमें वर्णन है; इस कारण इसका नाम भृगुवल्ली है।

अन्नम्=अन्न; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **इति**=इस प्रकार; **व्यजानात्**=जाना; **हि**=क्योंकि; **खल्वु**=सचमुच; **अन्नात्**=अन्नसे; **एव**=ही; **इमानि**=ये सब; **भूतानि**=प्राणी; **जायन्ते**=उत्पन्न होते हैं; **जातानि**=उत्पन्न होकर; **अन्नेन**=अन्नसे ही; **जीवन्ति**=जीते हैं; (और) **प्रयन्ति**=(अन्तमें यहाँसे) प्रयाण करते हुए; **अन्नम् अभिसंविशन्ति**=अन्नमें ही प्रविष्ट होते हैं; **इति**=इस प्रकार; **तत्**=उसको; **विज्ञाय**=जानकर; (वह) **पुनः**=पुनः; **पितरम्**=अपने पिता; **वरुणम् एव उपससार**=वरुणके ही पास गया; (तथा अपनी समझी हुई बात उसने पिताको सुनायी; किंतु पिताने उसका समर्थन नहीं किया। तब वह बोला—) **भगवः**=भगवन्; (मुझे) **ब्रह्म अधीहि**=ब्रह्मका बोध कराइये; **इति**=तब; **तम् ह उवाच**=उससे सुप्रसिद्ध वरुण ऋषिने कहा; **तपसा**=तपसे; **ब्रह्म**=ब्रह्मको; **विजिज्ञासस्व**=तत्त्वतः जाननेकी इच्छा कर; **तपः**=तप ही; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **इति**= इस प्रकार (पिताकी आज्ञा पाकर); **सः**=उसने; **तपः अतप्यत**=(पुनः) तप किया; **सः**=उसने; **तपः तप्त्वा**=तप करके—

व्याख्या—भृगुने पिताके उपदेशानुसार यह निश्चय किया कि अन्न ही ब्रह्म है; क्योंकि पिताजीने ब्रह्मके जो लक्षण बताये थे, वे सब अन्नमें पाये जाते हैं। समस्त प्राणी अन्नसे—अन्नके परिणामभूत वीर्यसे उत्पन्न होते हैं, अन्नसे ही उनका जीवन सुरक्षित रहता है और मरनेके बाद अन्नस्वरूप इस पृथ्वीमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार निश्चय करके वे पुनः अपने पिता वरुणके पास आये। आकर अपने निश्चयके अनुसार उन्होंने सब बातें कहीं। पिताने कोई उत्तर नहीं दिया। उन्होंने सोचा—'इसने अभी ब्रह्मके स्थूल रूपको ही समझा है, वास्तविक रूपतक इसकी बुद्धि नहीं गयी; अतः इसे तपस्या करके अभी और विचार करनेकी आवश्यकता है। पर जो कुछ इसने समझा है, उसमें इसकी तुच्छबुद्धि कराकर अश्रद्धा उत्पन्न कर देनेमें भी इसका हित नहीं है; अतः इसकी बातका उत्तर न देना ही ठीक है।' पितासे अपनी बातका समर्थन न पाकर भृगुने फिर प्रार्थना की—'भगवन्! यदि मैंने ठीक नहीं समझा हो तो आप मुझे ब्रह्मका तत्त्व समझाइये।' तब वरुणने कहा—'तू तपके द्वारा ब्रह्मके तत्त्वको समझनेकी कोशिश कर। यह तप ब्रह्मका ही स्वरूप है, अतः यह उनका बोध करानेमें सर्वथा समर्थ है।' इस प्रकार पिताकी आज्ञा पाकर भृगु ऋषि पुनः पहलेकी भाँति तपोमय जीवन बिताते हुए पितासे पहले सुने हुए उपदेशके अनुसार ब्रह्मका स्वरूप निश्चय करनेके लिये विचार करते रहे। इस प्रकार तप करके उन्होंने क्या किया, यह बात अगले अनुवाकमें कही गयी है।

॥ द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय अनुवाक

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

प्राणः=प्राण; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **इति**=इस प्रकार; **व्यजानात्**=जाना; **हि**=क्योंकि; **खलु**=सचमुच; **प्राणात्**=प्राणसे; **एव**=ही; **इमानि**=ये समस्त; **भूतानि**=प्राणी; **जायन्ते**=उत्पन्न होते हैं; **जातानि**=उत्पन्न होकर; **प्राणेन**=प्राणसे ही; **जीवन्ति**=जीते हैं; (और) **प्रयन्ति**=(अन्तमें यहाँसे) प्रयाण करते हुए; **प्राणम् अभिसंविशन्ति**=प्राणमें ही सब प्रकारसे प्रविष्ट हो जाते हैं; **इति**=इस प्रकार; **तत्**=उसे; **विज्ञाय**=जानकर; **पुनः**=फिर; **पितरम् वरुणम् एव उपससार**=(अपने) पिता वरुणके ही पास गया (और वहाँ उसने अपना निश्चय सुनाया; जब पिताने उत्तर नहीं दिया, तब वह बोला—); **भगवः**=भगवन्; (मुझे) **ब्रह्म अधीहि**=ब्रह्मका उपदेश दीजिये; **इति**=इस प्रकार प्रार्थना करनेपर; **ह तम् उवाच**=सुप्रसिद्ध वरुण ऋषिने उससे कहा; **ब्रह्म**=ब्रह्मको; **तपसा**=तपसे; **विजिज्ञासस्व**=तत्त्वतः जाननेकी इच्छा कर; **तपः**=तप ही; **ब्रह्म**=ब्रह्म अर्थात् उनकी प्राप्तिका बड़ा साधन है; **इति**=इस प्रकार पिताकी आज्ञा पाकर; **सः**=उसने; (**पुनः**) **तपः अतप्यत**=तप किया; **सः**=उसने; **तपः तप्त्वा**=तप करके—

व्याख्या—भृगुने पिताके उपदेशानुसार तपके द्वारा यह निश्चय किया कि प्राण ही ब्रह्म है; उन्होंने सोचा, पिताजीद्वारा बताये हुए ब्रह्मके लक्षण प्राणमें पूर्णतया पाये जाते हैं। समस्त प्राणी प्राणसे उत्पन्न होते हैं, अर्थात् एक जीवित प्राणीसे उसीके सदृश दूसरा प्राणी उत्पन्न होता हुआ प्रत्यक्ष देखा जाता है; तथा सभी प्राणसे ही जीते हैं। यदि श्वासका आना-जाना बंद हो जाय, यदि प्राणद्वारा अन्न ग्रहण न किया जाय तथा अन्नका रस समस्त शरीरमें न पहुँचाया जाय, तो कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता। और मरनेके बाद सब प्राणमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मृत शरीरमें प्राण नहीं रहते; अतः निःसंदेह प्राण ही ब्रह्म है, यह निश्चय करके वे पुनः अपने पिता वरुणके पास गये। पहलेकी भाँति अपने निश्चयके अनुसार उन्होंने पुनः पितासे अपना अनुभव निवेदन किया। पिताने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया। उन्होंने सोचा कि यह पहलेकी अपेक्षा तो कुछ सूक्ष्मतामें पहुँचा है, परंतु अभी बहुत कुछ समझना शेष है; अतः उत्तर न देनेसे अपने-आप इसकी जिज्ञासामें बल आयेगा, अतः उत्तर न देना ही ठीक है। पिताजीसे अपनी बातका समर्थन न पाकर भृगुने फिर उनसे प्रार्थना की—'भगवन्! यदि अब भी मैंने ठीक न समझा हो तो आप ही कृपा करके मुझे ब्रह्मका तत्त्व समझाइये।' तब वरुणने पुनः वही बात कही—'तू तपके द्वारा ब्रह्मको जाननेकी चेष्टा कर; यह तप ही ब्रह्म है, अर्थात् ब्रह्मके तत्त्वको जाननेका प्रधान साधन है।' इस प्रकार पिताजीकी आज्ञा पाकर भृगु ऋषि फिर उसी प्रकार तपस्या करते हुए पिताके उपदेशपर विचार करते रहे। तपस्या करके उन्होंने क्या किया, यह अगले अनुवाकमें बताया गया है।

॥ तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थ अनुवाक

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

मनः=मन; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **इति**=इस प्रकार; **व्यजानात्**=समझा; **हि**=क्योंकि; **खलु**=सचमुच; **मनसः**=मनसे; **एव**=ही; **इमानि**=ये समस्त; **भूतानि**=प्राणी; **जायन्ते**=उत्पन्न होते हैं; **जातानि**=उत्पन्न होकर; **मनसा**=मनसे ही; **जीवन्ति**=जीते हैं; (तथा) **प्रयन्ति**=(इस लोकसे) प्रयाण करते हुए; (अन्तमें) **मनः अभिसंविशन्ति**=मनमें ही सब प्रकारसे प्रविष्ट हो जाते हैं; **इति**=इस प्रकार; **तत्**=उस ब्रह्मको; **विज्ञाय**=जानकर; **पुनः एव**=फिर भी; **पितरम्**=अपने पिता; **वरुणम् उपससार**=वरुणके पास गया (और अपनी बातका कोई उत्तर न पाकर बोला—); **भगवः**=भगवन्; (मुझे) **ब्रह्म अधीहि**=ब्रह्मका उपदेश दीजिये; **इति**=इस प्रकार (प्रार्थना करनेपर); **ह तम् उवाच**=सुप्रसिद्ध वरुण ऋषिने उससे कहा; **ब्रह्म**=ब्रह्मको; **तपसा**=तपसे; **विजिज्ञासस्व**=तत्त्वतः जाननेकी इच्छा कर; **तपः**=तप ही; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **इति**=इस प्रकार पिताकी आज्ञा पाकर; **सः**=उसने; **तपः अतप्यत**=तप किया; **सः**=उसने; **तपः तप्त्वा**=तप करके—

व्याख्या—इस बार भृगुने पिताके उपदेशानुसार यह निश्चय किया कि मन ही ब्रह्म है; क्योंकि उन्होंने सोचा, पिताजीके बताये हुए ब्रह्मके सारे लक्षण मनमें पाये जाते हैं। मनसे सब प्राणी उत्पन्न होते हैं—स्त्री और पुरुषके मानसिक प्रेमपूर्ण सम्बन्धसे ही प्राणी बीजरूपसे माताके गर्भमें आकर उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर मनसे ही इन्द्रियोंद्वारा समस्त जीवनोपयोगी वस्तुओंका उपभोग करके जीवित रहते हैं और मरनेके बाद मनमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं—मरनेके बाद इस शरीरमें प्राण और इन्द्रियाँ नहीं रहतीं; इसलिये मन ही ब्रह्म है। इस प्रकार निश्चय करके वे पुनः पहलेकी भाँति अपने पिता वरुणके पास गये और अपने अनुभवकी बात पिताजीको सुनायी। इस बार भी पितासे कोई उत्तर नहीं मिला। पिताने सोचा कि यह पहलेकी अपेक्षा तो गहराईमें उतरा है, परंतु अभी इसे और भी तपस्या करनी चाहिये; अतः उत्तर न देना ही ठीक है। पितासे अपनी बातका उत्तर न पाकर भृगुने पुनः पहलेकी भाँति प्रार्थना की—'भगवन्! यदि मैंने ठीक न समझा हो तो कृपया आप ही मुझे ब्रह्मका तत्त्व समझाइये।' तब वरुणने पुनः वही उत्तर दिया—'तू तपके द्वारा ब्रह्मके तत्त्वको जाननेकी

इच्छा कर। अर्थात् तपस्या करते हुए मेरे उपदेशपर पुनः विचार कर। यह तपरूप साधन ही ब्रह्म है। ब्रह्मको जाननेका इससे बढ़कर दूसरा कोई उपाय नहीं है।' इस प्रकार पिताकी आज्ञा पाकर भृगुने पुनः पहलेकी भाँति संयमपूर्वक रहकर पिताके उपदेशपर विचार किया। विचार करके उन्होंने क्या किया, यह बात अगले अनुवाकमें कही गयी है।

॥ चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाक

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

विज्ञानम्=विज्ञान; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **इति**=इस प्रकार; **व्यजानात्**=जाना; **हि**=क्योंकि; **खलु**=सचमुच; **विज्ञानात्**=विज्ञानसे; **एव**=ही; **इमानि**=ये समस्त; **भूतानि**=प्राणी; **जायन्ते**=उत्पन्न होते हैं; **जातानि**=उत्पन्न होकर; **विज्ञानेन**=विज्ञानसे ही; **जीवन्ति**=जीते हैं; (और) **प्रयन्ति**=अन्तमें यहाँसे प्रयाण करते हुए; **विज्ञानम् अभिसंविशन्ति**=विज्ञानमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं; **इति**=इस प्रकार; **तत्**=ब्रह्मको; **विज्ञाय**=जानकर; **पुनः एव**=(वह) पुनः उसी प्रकार; **पितरम्**=अपने पिता; **वरुणम् उपससार**=वरुणके पास गया; (और अपनी बातका उत्तर न मिलनेपर बोला—) **भगवः**=भगवन्!; (मुझे) **ब्रह्म अधीहि**=ब्रह्मका उपदेश दीजिये; **इति**=इस प्रकार कहनेपर; **ह तम् उवाच**=सुप्रसिद्ध वरुण ऋषिने उससे कहा; **ब्रह्म**=ब्रह्मको; **तपसा**=(तू) तपके द्वारा; **विजिज्ञासस्व**=तत्त्वतः जाननेकी इच्छा कर; **तपः**=तप ही; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **इति**=इस प्रकार पिताकी आज्ञा पाकर; **सः**=उसने; **तपः अतप्यत**=पुनः तप किया; **सः**=उसने; **तपः तप्त्वा**=तप करके—

व्याख्या—इस बार उन्होंने पिताके उपदेशानुसार यह निश्चय किया कि यह विज्ञानस्वरूप चेतन जीवात्मा ही ब्रह्म है; क्योंकि उन्होंने सोचा—पिताजीने जो ब्रह्मके लक्षण बताये थे, वे सब-के-सब पूर्णतया इसमें पाये जाते हैं। ये समस्त प्राणी जीवात्मासे ही उत्पन्न होते हैं, सजीव चेतन प्राणियोंसे ही प्राणियोंकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है। उत्पन्न होकर इस विज्ञानस्वरूप जीवात्मासे ही जीते हैं; यदि जीवात्मा न रहे तो ये मन, इन्द्रियाँ, प्राण आदि कोई भी नहीं रह सकते और कोई भी अपना-अपना काम नहीं कर सकते। तथा मरनेके बाद ये मन आदि सब जीवात्मामें ही प्रविष्ट हो जाते हैं—जीवके निकल जानेपर मृत शरीरमें ये सब देखनेमें नहीं आते। अतः विज्ञानस्वरूप जीवात्मा ही ब्रह्म है। यह निश्चय करके वे पहलेकी भाँति अपने पिता वरुणके पास आये। आकर अपने निश्चित अनुभवकी बात पिताजीको सुनायी। इस बार भी पिताजीने कोई उत्तर नहीं दिया। पिताने सोचा—'इस बार यह बहुत कुछ ब्रह्मके निकट आ गया है, इसका विचार स्थूल और सूक्ष्म—दोनों प्रकारके जडतत्त्वोंसे ऊपर उठकर चेतन जीवात्मातक तो पहुँच गया है। परंतु ब्रह्मका स्वरूप तो इससे भी विलक्षण है, वे तो नित्य आनन्दस्वरूप एक अद्वितीय परमात्मा हैं; इसे अभी और तपस्या करनेकी आवश्यकता है, अतः उत्तर न देना ही ठीक है।' इस प्रकार बार-बार पिताजीसे कोई उत्तर न मिलनेपर भी भृगु हतोत्साह या निराश नहीं हुए। उन्होंने पहलेकी भाँति पुनः पिताजीसे वही प्रार्थना की—'भगवन्! यदि मैंने ठीक न समझा हो तो आप मुझे ब्रह्मका रहस्य बतलाइये।' तब वरुणने पुनः वही उत्तर दिया—'तू तपके द्वारा ही ब्रह्मके तत्त्वको जाननेकी इच्छा कर। अर्थात् तपस्यापूर्वक उसका पूर्वकथनानुसार विचार कर। तप ही ब्रह्म है।' इस प्रकार पिताजीकी आज्ञा पाकर भृगुने पुनः पहलेकी भाँति संयमपूर्वक रहते हुए पिताके उपदेशपर विचार किया। विचार करके उन्होंने क्या किया, यह आगे बताया गया है।

॥ पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठ अनुवाक

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता । स य एवं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ।

आनन्दः=आनन्द ही; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **इति**=इस प्रकार; **व्यजानात्**=निश्चयपूर्वक जाना; **हि**=क्योंकि; **खलु**=सचमुच; **आनन्दात्**=आनन्दसे; **एव**=ही; **इमानि**=ये समस्त; **भूतानि**=प्राणी; **जायन्ते**=उत्पन्न होते हैं; **जातानि**=उत्पन्न होकर; **आनन्देन**=आनन्दसे ही; **जीवन्ति**=जीते हैं; (तथा) **प्रयन्ति**=इस लोकसे प्रयाण करते हुए; (अन्तमें) **आनन्दम् अभिसंविशन्ति**=आनन्दमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं; **इति**=इस प्रकार (जाननेपर उसे परब्रह्मका पूरा ज्ञान हो गया); **सा**=वह; **एषा**=यह; **भार्गवी**=भृगुकी जानी हुई; **वारुणी**=और वरुणद्वारा उपदेश की हुई; **विद्या**=विद्या; **परमे व्योमन्**=विशुद्ध आकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मामें; **प्रतिष्ठिता**=प्रतिष्ठित है अर्थात् पूर्णतः स्थित है; **यः**=जो कोई (दूसरा साधक) भी; **एवम्**=इस प्रकार (आनन्दस्वरूप ब्रह्मको); **वेद**=जानता है; **सः**=वह; (उस विशुद्ध आकाशस्वरूप परमानन्दमें) **प्रतितिष्ठति**=स्थित हो जाता है; (इतना ही नहीं, इस लोकमें लोगोंके देखनेमें भी वह) **अन्नवान्**=बहुत अन्नवाला; **अन्नादः**=और अन्नको भलीभाँति पचानेकी शक्तिवाला; **भवति**=हो जाता है; (तथा) **प्रजया**=संतानसे; **पशुभिः**=पशुओंसे; (तथा) **ब्रह्मवर्चसेन**=ब्रह्मतेजसे सम्पन्न होकर; **महान्**=महान्; **भवति**=हो जाता है; **कीर्त्या** [**अपि**]=उत्तम कीर्तिके द्वारा भी; **महान्**=महान्; [**भवति**=हो जाता है ।]

व्याख्या—इस बार भृगुने पिताके उपदेशपर गहरा विचार करके यह निश्चय किया कि आनन्द ही ब्रह्म है । ये आनन्दमय परमात्मा ही अन्नमय आदि सबके अन्तरात्मा हैं । वे सब भी इन्हींके स्थूल रूप हैं । इसी कारण उनमें ब्रह्मबुद्धि होती है और ब्रह्मके आंशिक लक्षण पाये जाते हैं । परंतु सर्वांशसे ब्रह्मके लक्षण आनन्दमें ही घटते हैं; क्योंकि ये समस्त प्राणी उन आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मासे ही सृष्टिके आदिमें उत्पन्न होते हैं—इन सबके आदि कारण तो वे ही हैं । तथा इन आनन्दमयके आनन्दका लेश पाकर ही ये सब प्राणी जी रहे हैं—कोई भी दुःखके साथ जीवित रहना नहीं चाहता । इतना ही नहीं, उन आनन्दमय सर्वान्तर्यामी परमात्माकी अचिन्त्यशक्तिकी प्रेरणासे ही इस जगत्के समस्त प्राणियोंकी सारी चेष्टाएँ हो रही हैं । उनके शासनमें रहनेवाले सूर्य आदि यदि अपना-अपना काम न करें तो एक क्षण भी कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता । सबके जीवनाधार सचमुच वे आनन्दस्वरूप परमात्मा ही हैं । तथा प्रलयकालमें समस्त प्राणियोंसे भरा हुआ यह ब्रह्माण्ड उन्हींमें प्रविष्ट होता है—उन्हींमें विलीन होता है; वे ही सबके सब प्रकारसे सदा-सर्वदा आधार हैं । इस प्रकार अनुभव होते ही भृगुको परब्रह्मका यथार्थ ज्ञान हो गया । फिर उन्हें किसी प्रकारकी जिज्ञासा नहीं रही । श्रुति स्वयं उस विद्याकी महिमा बतलानेके लिये कहती है—वही यह वरुणद्वारा बतायी हुई और भृगुको प्राप्त हुई ब्रह्मविद्या (ब्रह्मका रहस्य बतानेवाली विद्या) है । यह विद्या विशुद्ध आकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मामें स्थित है । वे ही इस विद्याके भी आधार हैं । जो कोई मनुष्य भृगुकी भाँति तपस्यापूर्वक इसपर विचार करके परमानन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्माको जान लेता है, वह भी उन विशुद्ध परमानन्दस्वरूप परमात्मामें स्थित हो जाता है । इस प्रकार इस विद्याका वास्तविक फल बताकर मनुष्योंको उस साधनकी ओर लगानेके लिये उपर्युक्त प्रकारसे अन्न, प्राण आदि समस्त तत्त्वोंके रहस्य-विज्ञानपूर्वक ब्रह्मको जाननेवाले ज्ञानीके शरीर और अन्तःकरणमें जो स्वाभाविक विलक्षण शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, उनको भी श्रुति बतलाती है । वह अन्नवान् अर्थात् नाना प्रकारके जीवनयात्रोपयोगी भोगोंसे सम्पन्न हो जाता है और उन सबको सेवन करनेकी सामर्थ्य भी उसमें आ जाती है । अर्थात् उसके मन, इन्द्रियाँ और शरीर सर्वथा निर्विकार और नीरोग हो जाते हैं । इतना ही नहीं, वह संतानसे, पशुओंसे, ब्रह्मतेजसे और बड़ी भारी कीर्तिसे समृद्ध होकर जगत्में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है ।

॥ षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥ ६ ॥

सप्तम अनुवाक

सम्बन्ध—छठे अनुवाकमें ब्रह्मज्ञानीके अन्न और प्रजा आदिसे सम्पन्न होनेकी बात कही गयी; इसपर यह जिज्ञासा होती है कि ये सब सिद्धियाँ भी क्या ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर ही मिलती हैं, या इन्हें प्राप्त करनेका दूसरा उपाय भी है। इसपर इन सबकी प्राप्तिके दूसरे उपाय भी बताये जाते हैं—

अन्नं न निन्द्यात् । तद्व्रतम् । प्राणो वा अन्नम् । शरीरमन्नादम् । प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम् । शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ।

अन्नम् न निन्द्यात्=अन्नकी निन्दा न करे; **तत्**=वह; **व्रतम्**=व्रत है; **प्राणः**=प्राण; **वै**=ही; **अन्नम्**=अन्न है; (और) **शरीरम्**=शरीर; (उस प्राणरूप अन्नसे जीनेके कारण) **अन्नादम्**=अन्नका भोक्ता है; **शरीरम्**=शरीर; **प्राणे**=प्राणके आधारपर; **प्रतिष्ठितम्**=स्थित हो रहा है; (और) **शरीरे**=शरीरके आधारपर; **प्राणः**=प्राण; **प्रतिष्ठितः**=स्थित हो रहे हैं; **तत्**=इस तरह; **एतत्**=यह; **अन्ने**=अन्नमें ही; **अन्नम्**=अन्न; **प्रतिष्ठितम्**=स्थित हो रहा है; **यः**=जो मनुष्य; **अन्ने**=अन्नमें ही; **अन्नम्**=अन्न; **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित हो रहा है; **एतत्**=इस रहस्यको; **वेद**=जानता है; **सः**=वह; **प्रतितिष्ठति**=उसमें प्रतिष्ठित हो जाता है; (अतः) **अन्नवान्**=अन्नवाला; (और) **अन्नादः**=अन्नको खानेवाला; **भवति**=हो जाता है; **प्रजया**=प्रजासे; **पशुभिः**=पशुओंसे; **ब्रह्मवर्चसेन**=(और) ब्रह्मतेजसे सम्पन्न होकर; **महान्**=महान्; **भवति**=बन जाता है; (तथा) **कीर्त्या**=कीर्तिसे (सम्पन्न होकर भी); **महान्**=महान्; [**भवति**=हो जाता है।]

व्याख्या—इस अनुवाकमें अन्नका महत्त्व बतलाकर उसे जाननेका फल बताया गया है। भाव यह है कि जो मनुष्य अन्नादिसे सम्पन्न होना चाहे, उसे सबसे पहले तो यह व्रत लेना चाहिये कि 'मैं कभी अन्नकी निन्दा नहीं करूँगा।' यह एक साधारण नियम है कि जिस किसी वस्तुको मनुष्य पाना चाहता है, उसके प्रति उसकी महत्त्वबुद्धि होनी चाहिये; तभी वह उसके लिये प्रयत्न करेगा। जिसकी जिसमें हेयबुद्धि है, वह उसकी ओर आँख उठाकर देखेगा भी नहीं। अन्नकी निन्दा न करनेका व्रत लेकर अन्नके इस महत्त्वको समझना चाहिये कि अन्न ही प्राण है, और प्राण ही अन्न है; क्योंकि अन्नसे ही प्राणोंमें बल आता है और प्राणशक्तिसे ही अन्नमय शरीरमें जीवनी-शक्ति आती है। यहाँ प्राणको अन्न इसलिये भी कहा है कि यही शरीरमें अन्नके रसको सर्वत्र फैलाता है। शरीर प्राणके ही आधार टिका हुआ है, इसीलिये वह प्राणरूप अन्नका भोक्ता है। शरीर प्राणमें स्थित है अर्थात् शरीरकी स्थिति प्राणके अधीन है और प्राण शरीरमें स्थित है—प्राणोंका आधार शरीर है, यह बात प्रत्यक्ष है ही। इस प्रकार यह अन्नमय शरीर भी अन्न है। यह अनुभवसिद्ध विषय है कि प्राणोंको आहार न मिलनेपर वे शरीरकी धातुओंको ही सोख लेते हैं। और शरीरकी स्थिति प्राणके अधीन होनेसे प्राण भी अन्न ही हैं। अतः शरीर और प्राणका अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध होनेसे यह कहा गया है कि अन्नमें ही अन्न स्थित हो रहा है। यही इसका तत्त्व है। जो मनुष्य इस रहस्यको समझ लेता है, वही शरीर और प्राण—इन दोनोंका ठीक-ठीक उपयोग कर सकता है। इसीलिये यह कहा गया है कि वह शरीर और प्राणोंके विज्ञानमें पारङ्गत हो जाता है। और इसी विज्ञानके फलस्वरूप वह सब प्रकारकी भोगसामग्रीसे युक्त और उसे उपभोगमें लानेकी शक्तिसे सम्पन्न हो जाता है। और इसीलिये वह संतानसे, नाना प्रकारके पशुओंसे और ब्रह्मतेजसे भी सम्पन्न होकर महान् बन जाता है। उसकी कीर्ति, उसका यश जगत्में फैल जाता है और उसके द्वारा भी वह जगत्में महान् हो जाता है।

॥ सप्तम अनुवाक समाप्त ॥ ७ ॥

अष्टम अनुवाक

अन्नं न परिचक्षीत । तद् व्रतम् । आपो वा अन्नम् । ज्योतिरन्नादम् । अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम् ।

ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान्कीर्त्या ।

अन्नम् न परिचक्षीत=अन्नकी अवहेलना न करे; **तत्**=वह; **व्रतम्**=एक व्रत है; **आपः**=जल; **वै**=ही; **अन्नम्**=अन्न है; (और) **ज्योतिः**=तेज; **अन्नादम्**=(रसस्वरूप) अन्नका भोक्ता है; **अप्सु**=जलमें; **ज्योतिः**=तेज; **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित है; **ज्योतिषि**=तेजमें; **आपः**=जल; **प्रतिष्ठिताः**=प्रतिष्ठित है; **तत्**=वही; **एतत्**=यह; **अन्ने**=अन्नमें; **अन्नम्**=अन्न; **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित है; **यः**=जो मनुष्य; (इस प्रकार) **अन्ने**=अन्नमें; **अन्नम्**=अन्न; **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित है; **एतत्**=इस रहस्यको; **वेद**=भलीभाँति समझता है; **सः**=वह; (अन्तमें) **प्रतितिष्ठति**=(उस रहस्यमें) परिनिष्ठित हो जाता है; (तथा) **अन्नवान्**=अन्नवाला; (और) **अन्नादः**=अन्नको खानेवाला; **भवति**=हो जाता है; **प्रजया**=(वह) संतानसे; **पशुभिः**=पशुओंसे; (और) **ब्रह्मवर्चसेन**=ब्रह्मतेजसे; **महान्**=महान्; **भवति**=बन जाता है; (तथा) **कीर्त्या**=कीर्तिसे (समृद्ध होकर भी); **महान्**=महान्; [**भवति**=हो जाता है ।]

व्याख्या—इस अनुवाकमें जल और ज्योति दोनोंको अन्नरूप बताकर उन्हें जाननेका फल बतलाया है । भाव यह है कि जिस मनुष्यकी अन्नादिसे सम्पन्न होनेकी इच्छा हो, उसे यह नियम ले लेना चाहिये कि 'मैं कभी अन्नकी अवहेलना नहीं करूँगा अर्थात् अन्नका उल्लङ्घन, दुरुपयोग और परित्याग नहीं करूँगा एवं उसे जूठा नहीं छोड़ूँगा ।' यह साधारण नियम है कि जो जिस वस्तुका अनादर करता है, उसके प्रति उपेक्षाबुद्धि रखता है, वह वस्तु उसका कभी वरण नहीं करती । किसी भी वस्तुको प्राप्त करनेके लिये उसके प्रति आदरबुद्धि रखना परमावश्यक है । जिसकी जिसमें आदरबुद्धि नहीं है, वह उसे पानेकी इच्छा अथवा चेष्टा क्यों करेगा । इस प्रकार अन्नकी अवहेलना न करनेका व्रत लेकर फिर अन्नके इस तत्त्वको समझना चाहिये कि जल ही अन्न है; क्योंकि सब प्रकारके अन्न अर्थात् खाद्य वस्तुएँ जलसे ही उत्पन्न होती हैं । और ज्योति अर्थात् तेज ही इस जलरूप अन्नको भक्षण करनेवाला है । जिस प्रकार अग्नि एवं सूर्यरश्मियाँ आदि बाहरके जलका शोषण करती हैं, उसी प्रकार शरीरमें रहनेवाली जठराग्नि शरीरमें जानेवाले जलीय तत्त्वोंका शोषण करती है । जलमें ज्योति प्रतिष्ठित है । यद्यपि जल स्वभावतः ठंडा है, अतएव उसमें उष्ण ज्योति कैसे स्थित है—यह बात समझमें नहीं आती, तथापि शास्त्रोंमें यह माना गया है कि समुद्रमें बडवानल रहता है तथा आजकलके वैज्ञानिक भी जलमेंसे बिजली-तत्त्वको निकालते हैं । इससे यह बात सिद्ध होती है कि जलमें तेज स्थित है । इसी प्रकार तेजमें जल स्थित है, यह तो प्रत्यक्ष देखनेमें आता ही है; क्योंकि सूर्यकी प्रखर किरणोंमें स्थित जल ही हमलोगोंके सामने वृष्टिके रूपमें प्रत्यक्ष होता है । इस प्रकार ये जल और तेज अन्योन्याश्रित होनेके कारण समस्त अन्नरूप खाद्य पदार्थोंके कारण हैं, अतः ये ही उनके रूपमें परिणत होते हैं; इसलिये दोनों अन्न ही हैं । इस प्रकार अन्न ही अन्नमें प्रतिष्ठित है । जो मनुष्य इस तत्त्वको समझ लेता है, वह इन दोनोंके विज्ञानमें प्रतिष्ठित अर्थात् सिद्ध हो जाता है; क्योंकि वही इन दोनोंका ठीक उपयोग कर सकता है । और इसीके फलस्वरूप वह अन्नसे अर्थात् सब प्रकारकी भोग-सामग्रीसे सम्पन्न और उन सबको यथायोग्य उपभोगमें लानेकी सामर्थ्यसे युक्त हो जाता है । और इसीलिये वह संतानसे, नाना प्रकारके पशुओंसे और ब्रह्मतेजसे सम्पन्न हो महान् हो जाता है । इतना ही नहीं, इस समृद्धिके कारण उसका यश सर्वत्र फैल जाता है, वह बड़ा भारी यशस्वी हो जाता है । और उस यशके कारण भी वह महान् हो जाता है ।

॥ अष्टम अनुवाक समाप्त ॥ ८ ॥

नवम अनुवाक

अन्नं बहु कुर्वीत । तद् व्रतम् । पृथिवी वा अन्नम् । आकाशोऽन्नादः । पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः । आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान्कीर्त्या ।

अन्नम्=अन्नको; **बहु कुर्वीत**=बढ़ाये; **तत्**=वह; **व्रतम्**=एक व्रत है; **पृथिवी**=पृथ्वी; **वै**=ही; **अन्नम्**=अन्न है; **आकाशः**=आकाश; **अन्नादः**=पृथ्वीरूप अन्नका आधार होनेसे (मानो) अन्नाद है; **पृथिव्याम्**=पृथ्वीमें; **आकाशः**=आकाश; **प्रतिष्ठितः**=प्रतिष्ठित है; **आकाशे**=आकाशमें; **पृथिवी**=पृथ्वी; **प्रतिष्ठिता**=प्रतिष्ठित है; **तत्**=वही; **एतत्**=यह; **अन्ने**=अन्नमें; **अन्नम्**=अन्न; **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित है; **यः**=जो मनुष्य; (इस प्रकार) **अन्ने**=अन्नमें; **अन्नम्**=अन्न; **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित है; **एतत्**=इस रहस्यको; **वेद**=भलीभाँति जान लेता है; **सः**=वह; (उस विषयमें) **प्रतितिष्ठति**=प्रतिष्ठित हो जाता है; **अन्नवान्**=अन्नवाला; (और) **अन्नादः**=अन्नको खानेवाला अर्थात् उसे पचानेकी शक्तिवाला; **भवति**=हो जाता है; **प्रजया**=(वह) प्रजासे; **पशुभिः**=पशुओंसे; (और) **ब्रह्मवर्चसेन**=ब्रह्मतेजसे; **महान्**=महान्; **भवति**=बन जाता है; **कीर्त्या**=कीर्तिसे; [**च**=भी;] **महान्**=महान्; [**भवति**=हो जाता है ।]

व्याख्या—इस अनुवाकमें पृथ्वी और आकाश दोनोंको अन्नरूप बताकर उनके तत्त्वको जाननेका फल बताया गया है । भाव यह है कि जिस मनुष्यको अन्नादिसे समृद्ध होनेकी इच्छा हो, उसे पहले तो यह व्रत लेना चाहिये—यह दृढ़ संकल्प करना चाहिये कि 'मैं अन्नको खूब बढ़ाऊँगा ।' किसी वस्तुका अभ्युदय—उसका विस्तार चाहना ही उसे आकर्षित करनेका सबसे श्रेष्ठ उपाय है । जो जिस वस्तुको क्षीण करनेपर तुला हुआ है, वह वस्तु उसे कदापि नहीं मिल सकती और मिलनेपर टिकेगी नहीं । इसके बाद अन्नके इस तत्त्वको समझना चाहिये कि पृथ्वी ही अन्न है—जितने भी अन्न हैं वे सब पृथ्वीसे ही उत्पन्न होते हैं । और पृथ्वीको अपनेमें विलीन कर लेनेवाला इसका आधारभूत आकाश ही अन्नाद अर्थात् इस अन्नका भोक्ता है । पृथ्वीमें आकाश स्थित है, क्योंकि वह सर्वव्यापी है; और आकाशमें पृथ्वी स्थित है—यह बात प्रत्यक्ष-सिद्ध है । ये दोनों ही एक दूसरेके आधार होनेके कारण अन्नस्वरूप हैं । पाँच भूतोंमें आकाश पहला तत्त्व है और पृथ्वी अन्तिम तत्त्व है; बीचके तीनों तत्त्व इन्हींके अन्तर्गत हैं । समस्त भोग्यपदार्थरूप अन्न इन पाँच महाभूतोंके ही कार्य हैं; अतः ये ही अन्नके रूपमें स्थित हैं । इसलिये अन्नमें ही अन्न प्रतिष्ठित है । जो मनुष्य इस बातको तत्त्वसे जानता है कि पृथ्वीरूप अन्नमें आकाशरूप अन्न और आकाशरूप अन्नमें पृथ्वीरूप अन्न प्रतिष्ठित है, वही सम्पूर्ण भूतोंका यथायोग्य उपयोग कर सकता है और इसीलिये वह इस विषयमें सिद्ध हो जाता है । इसी विज्ञानके फलस्वरूप वह अन्नसे अर्थात् सब प्रकारके भोग्य पदार्थोंसे और उनको उपभोगमें लानेकी शक्तिसे सम्पन्न हो जाता है । और इसीलिये वह संतानसे, नाना प्रकारके पशुओंसे और विद्याके तेजसे समृद्ध हो महान् बन जाता है । उसका यश समस्त जगत्में फैल जाता है, अतः वह यशके द्वारा भी महान् हो जाता है ।

॥ नवम अनुवाक समाप्त ॥ ९ ॥

दशम अनुवाक

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत । तद् व्रतम् । तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात् । आराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते । एतद्वै मुखतोऽन्नꣳराद्धम् । मुखतोऽस्मा अन्नꣳराध्यते । एतद्वै मध्यतोऽन्नꣳराद्धम् । मध्यतोऽस्मा अन्नꣳराध्यते । एतद्वा अन्ततोऽन्नꣳराद्धम् । अन्ततोऽस्मा अन्नꣳराध्यते । य एवं वेद ।

वसतौ=अपने घरपर (ठहरनेके लिये आये हुए); **कंचन**=किसी (भी अतिथि) को; **न प्रत्याचक्षीत**=प्रतिकूल उत्तर न दे; **तत्**=वह; **व्रतम्**=एक व्रत है; **तस्मात्**=इसलिये; (अतिथि-सत्कारके लिये) **यया कया च विधया**=जिस किसी भी प्रकारसे; **बहु**=बहुत-सा; **अन्नम्**=अन्न; **प्राप्नुयात्**=प्राप्त करना चाहिये; (क्योंकि सद्गृहस्थ) **अस्मै**=इस (घरपर आये हुए अतिथि) से; **अन्नम्**=भोजन; **आराधि**=तैयार है; **इति**=यों; **आचक्षते**=कहते हैं; (यदि यह अतिथिको) **मुखतः**=मुख्यवृत्तिसे अर्थात् अधिक श्रद्धा, प्रेम और सत्कारपूर्वक; **एतत्**=यह; **राद्धम्**=तैयार किया हुआ; **अन्नम्**=भोजन (देता है तो); **वै**=निश्चय ही; **अस्मै**=इस (दाता) को; **मुखतः**=अधिक आदर-सत्कारके साथ ही; **अन्नम्**=

अन्न; **राध्यते**=प्राप्त होता है; (यदि यह अतिथिको) **मध्यतः**=मध्यम श्रेणीकी श्रद्धा और प्रेमसे; **एतत्**=यह; **राद्धम्**=तैयार किया हुआ; **अन्नम्**=भोजन (देता है तो); **वै**=निःसन्देह; **अस्मै**=इस (दाता) को; **मध्यतः**=मध्यम श्रद्धा और प्रेमसे ही; **अन्नम् राध्यते**=अन्न प्राप्त होता है; (और यदि यह अतिथिको) **अन्ततः**=निकृष्ट श्रद्धा-सत्कारसे; **एतत्**=यह; **राद्धम्**=तैयार किया हुआ; **अन्नम्**=भोजन (देता है तो); **वै**=अवश्य ही; **अस्मै**=इस (दाता) को; **अन्ततः**=निकृष्ट श्रद्धा आदिसे; **अन्नम्**=अन्न; **राध्यते**=मिलता है; **यः**=जो; **एवम्**=इस प्रकार; **वेद**=इस रहस्यको जानता है (वह अतिथिके साथ बहुत उत्तम बर्ताव करता है)।

व्याख्या—दसवें अनुवाकके इस अंशमें अतिथि-सेवाका महत्त्व और फल बताया गया है। भाव यह है कि जो मनुष्य अतिथि-सेवाका पूरा लाभ उठाना चाहे, उसको सबसे पहले तो यह नियम लेना चाहिये कि 'मेरे घरपर जो कोई अतिथि आश्रयकी आशासे पधारेगा, मैं कभी उसको सूखा जवाब देकर निराश नहीं लौटाऊँगा।' 'अतिथिदेवो भव'—अतिथिकी देवताबुद्धिसे सेवा करो—यह उपदेश गुरुके द्वारा स्नातक शिष्यको पहले ही दिया जा चुका है। इस प्रकारका नियम लेनेपर ही अतिथि-सेवा सम्भव है। यह व्रत लेकर इसका पालन करनेके लिये—केवल अपना तथा कुटुम्बका पोषण करनेके लिये ही नहीं—जिस किसी भी न्यायोचित उपायसे बहुत-से अन्नका उपार्जन करे। धन-सम्पत्ति और अन्नादि, जो शरीरके पालन-पोषणके लिये उपयोगी सामग्री हैं, उन्हें प्राप्त करनेके लिये जितने भी न्यायोचित उपाय बताये गये हैं तथा पूर्वके तीन अनुवाकोंमें भी जो-जो उपाय बताये गये हैं, उनमेंसे किसीके भी द्वारा बहुत-सा अन्न प्राप्त करना चाहिये। अर्थात् अतिथि-सेवाके लिये आवश्यक वस्तुओंका अधिक मात्रामें संग्रह करना चाहिये; क्योंकि अतिथि-सेवा गृहस्थोचित सदाचारका एक अत्यावश्यक अङ्ग है। अच्छे प्रतिष्ठित मनुष्य घरपर आये हुए अतिथिसे यही कहते हैं—'आइये, बैठिये; भोजन तैयार है, भोजन कीजिये' इत्यादि। वे यह कदापि नहीं कहते कि हमारे यहाँ आपकी सेवाके लिये उपयुक्त वस्तुएँ अथवा रहनेका स्थान नहीं है। जो मनुष्य अपने घरपर आये हुए अतिथिकी अधिक आदर-सत्कारपूर्वक उत्तमभावसे विशुद्ध सामग्रियोंद्वारा सेवा करता है—उसे शुद्धतापूर्वक तैयार किया हुआ भोजन देता है, उसको भी उत्तमभावसे ही अन्न प्राप्त होता है अर्थात् उसे भोग्य-पदार्थोंके संग्रह करनेमें कठिनाईका सामना नहीं करना पड़ता। अतिथि-सेवाके प्रभावसे उसे किसी बातकी कमी नहीं रहती। अनायास उसकी सारी आवश्यकताएँ पूर्ण होती रहती हैं। यदि वह आये हुए अतिथिकी मध्यमभावसे सेवा करता है, साधारण रीतिसे भोजनादि तैयार करके विशेष आदर-सत्कारके बिना ही अतिथिको भोजन आदि कराके उसे सुख पहुँचाता है, तो उसे भी साधारण रीतिसे ही अन्न प्राप्त होता है। अर्थात् अन्न-वस्त्र आदि पदार्थोंका संग्रह करनेमें उसे साधारणतया आवश्यक परिश्रम करना पड़ता है। जिस भावसे वह अतिथिको देता है, उसी भावसे उतने ही आदर-सत्कारके साथ उसे वे वस्तुएँ मिलती हैं। इसी प्रकार यदि कोई अन्तिम वृत्तिसे अर्थात् बिना किसी प्रकारका आदर-सत्कार किये तुच्छ भावसे भाररूप समझकर अतिथिकी सेवा करता है—उसे निकृष्ट भावसे अश्रद्धापूर्वक तैयार किया हुआ भोजन आदि पदार्थ देता है, तो उसे वे पदार्थ वैसे ही भावसे प्राप्त होते हैं। अर्थात् उनकी प्राप्तिके लिये उसे अधिक-से-अधिक परिश्रम करना पड़ता है, लोगोंकी खुशामद करनी पड़ती है। जो मनुष्य इस प्रकार इस रहस्यको जानता है, वह उत्तम रीतिसे और विशुद्धभावसे अतिथि-सेवा करता है; अतः उसे सर्वोत्तम फल जो पहले तीन अनुवाकोंमें बताया गया है, वह मिलता है।

सम्बन्ध—अब परमात्माका विभूतिरूपसे सर्वत्र चिन्तन करनेका प्रकार बताया जाता है—

क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञाः। अथ दैवीः। तृप्तिरिति वृष्टौ। बलमिति विद्युति। यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे। सर्वमित्याकाशे।

[**सः परमात्मा**=वह परमात्मा;] **वाचि**=वाणीमें; **क्षेमः इति**=रक्षाशक्तिके रूपसे है; **प्राणापानयोः**=प्राण और अपानमें; **योगक्षेमः इति**=प्राप्ति और रक्षा—दोनों शक्तियोंके रूपमें है; **हस्तयोः**=हाथोंमें; **कर्म इति**=कर्म करनेकी शक्तिके रूपमें है; **पादयोः**=पैरोंमें; **गतिः इति**=चलनेकी शक्तिके रूपमें स्थित है; **पायौ**=गुदामें; **विमुक्तिः इति**=मलत्यागकी शक्ति बनकर है; **इति**=इस प्रकार (ये); **मानुषीः समाज्ञाः**=मानुषी समाज्ञा अर्थात् आध्यात्मिक उपासनाएँ हैं; **अथ**=अब;

दैवीः=दैवी उपासनाओंका वर्णन करते हैं; (वह परमात्मा) **वृष्टौ**=वृष्टिमें; **तृप्तिः इति**=तृप्ति-शक्तिके रूपमें है; **विद्युति**=बिजलीमें; **बलम् इति**=बल (पावर) बनकर स्थित है; **पशुषु**=पशुओंमें; **यशः इति**=यशके रूपमें स्थित है; **नक्षत्रेषु**=ग्रहों और नक्षत्रोंमें; **ज्योतिः इति**=ज्योतिरूपसे स्थित है; **उपस्थे**=उपस्थमें; **प्रजातिः**=प्रजा उत्पन्न करनेकी शक्ति; **अमृतम्**=वीर्यरूप अमृत (और); **आनन्दः**=आनन्द देनेकी शक्ति; **इति**=बनकर स्थित है; **आकाशे**=(तथा) आकाशमें; **सर्वम् इति**=सबका आधार बनकर स्थित है।

व्याख्या—दसवें अनुवाकके इस अंशमें परमेश्वरकी विभूतियोंका संक्षेपमें वर्णन किया गया है। भाव यह है कि सत्यरूप वाणीमें आशीर्वादादिके द्वारा जो रक्षा करनेकी शक्ति प्रतीत होती है, उसके रूपमें वहाँ परमात्माकी ही स्थिति है। प्राण और अपानमें जो जीवनोपयोगी वस्तुओंको आकर्षण करनेकी और जीवन-रक्षाकी शक्ति है, वह भी परमात्माका ही अंश है। इसी प्रकार हाथोंमें काम करनेकी शक्ति, पैरोंमें चलनेकी शक्ति और गुदामें मलत्याग करनेकी शक्ति भी परमात्माकी ही हैं। ये सब शक्तियाँ उन परमेश्वरकी शक्तिका ही एक अंश हैं। यह देखकर मनुष्यको परमेश्वरकी सत्तापर विश्वास करना चाहिये। यह मानुषी समाज्ञा बतायी गयी है, अर्थात् मनुष्यके शरीरमें प्रतीत होनेवाली परमात्माकी शक्तियोंका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया है। इसीको आध्यात्मिक (शरीर-सम्बन्धी) उपासना भी कह सकते हैं। इसी प्रकार दैवी पदार्थोंमें अभिव्यक्त होनेवाली शक्तिका वर्णन करते हैं। यह दैवी अथवा आधिदैविक उपासना है। वृष्टिमें जो अन्नादिको उत्पन्न करने तथा जल-प्रदानके द्वारा सबको तृप्त करनेकी शक्ति है, बिजलीमें जो बल (पावर) है, पशुओंमें जो स्वामीका यश बढ़ानेकी शक्ति है, नक्षत्रोंमें अर्थात् सूर्य, चन्द्रमा और तारागणोंमें जो प्रकाश है, उपस्थमें जो संतानोत्पादनकी शक्ति, वीर्यरूप अमृत* और आनन्द देनेकी शक्ति है तथा आकाशमें जो सबको धारण करनेकी और सर्वव्यापकताकी एवं अन्य सब प्रकारकी शक्ति है—ये सब उन परमेश्वरकी अचिन्त्य एवं अपार शक्तिके ही किसी एक अंशकी अभिव्यक्तियाँ हैं। गीतामें भी कहा है कि इस जगत्‌में जो कुछ भी विभूति, शक्ति और शोभासे युक्त है, वह मेरे ही तेजका एक अंश है (गीता १० । ४१)। इन सबको देखकर मनुष्यको सर्वत्र एक परमात्माकी व्यापकताका रहस्य समझना चाहिये।

सम्बन्ध—अब विविध भावनासे की जानेवाली उपासनाका फलसहित वर्णन करते हैं—

तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत । प्रतिष्ठावान् भवति । तन्महः इत्युपासीत । महान् भवति । तन्मन इत्युपासीत । मानवान् भवति । तन्नम इत्युपासीत । नम्यन्तेऽस्मै कामाः । तद् ब्रह्मेत्युपासीत । ब्रह्मवान् भवति । तद् ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत । पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः । परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः ।

तत्=वह (उपास्यदेव); **प्रतिष्ठा**='प्रतिष्ठा' (सबका आधार) है; **इति**=इस प्रकार; **उपासीत**=(उसकी) उपासना करे तो; **प्रतिष्ठावान् भवति**=साधक प्रतिष्ठावाला हो जाता है; **तत्**=वह (उपास्यदेव); **महः**=सबसे महान् है; **इति**=इस प्रकार समझकर; **उपासीत**=उपासना करे तो; **महान्**=महान्; **भवति**=हो जाता है; **तत्**=वह (उपास्यदेव); **मनः**='मन' है; **इति**=इस प्रकार समझकर; **उपासीत**=उसकी उपासना करे तो; (ऐसा उपासक) **मानवान्**=मनन-शक्तिसे सम्पन्न; **भवति**=हो जाता है; **तत्**=वह (उपास्यदेव); **नमः**='नमः' (नमस्कारके योग्य) है; **इति**=इस प्रकार समझकर; **उपासीत**=उसकी उपासना करे तो; **अस्मै**=ऐसे उपासकके लिये; **कामाः**=समस्त काम—भोग-पदार्थ; **नम्यन्ते**=विनीत हो जाते हैं; **तत्**=वह (उपास्यदेव); **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **इति**=इस प्रकार समझकर; **उपासीत**=उसकी उपासना करे तो; (ऐसा उपासक) **ब्रह्मवान्**=ब्रह्मसे युक्त; **भवति**=हो जाता है; **तत्**=वह (उपास्यदेव); **ब्रह्मणः**=परमात्माका; **परिमरः**=सबको मारनेके लिये नियत किया हुआ अधिकारी है; **इति**=इस प्रकार समझकर; **उपासीत**=उसकी उपासना करे तो; **एनम् परि**=ऐसे उपासकके प्रति; **द्विषन्तः**=द्वेष रखनेवाले; **सपत्नाः**=शत्रु; **म्रियन्ते**=मर जाते हैं;

* शरीरका रक्षक एवं पोषक तथा जीवनका आधार होनेसे वीर्यको अमृत कहा गया है। इसकी सावधानीके साथ रक्षा करनेसे अमृतत्वकी प्राप्ति भी सम्भव है।

ये=जो; **परि**=(उसका) सब प्रकारसे; **अप्रियाः भ्रातृव्याः**=अनिष्ट चाहनेवाले अप्रिय बन्धुजन हैं; [**ते अपि म्रियन्ते**=वे भी मर जाते हैं ।]

व्याख्या—इस मन्त्रमें सकाम उपासनाका भिन्न-भिन्न फल बताया गया है । भाव यह है कि प्रतिष्ठा चाहनेवाला पुरुष अपने उपास्यदेवकी प्रतिष्ठाके रूपमें उपासना करे, अर्थात् 'वे उपास्यदेव ही सबकी प्रतिष्ठा—सबके आधार हैं' इस भावसे उनका चिन्तन करे । ऐसे उपासककी संसारमें प्रतिष्ठा होती है । महत्त्वकी प्राप्तिके लिये यदि अपने उपास्यदेवको 'महान्' समझकर उनकी उपासना करे तो वह महान् हो जाता है—महत्त्वको प्राप्त कर लेता है । यदि अपने उपास्यदेवको महान् मनस्वी समझकर मनन करनेकी शक्ति प्राप्त करनेके लिये उनकी उपासना करे तो वह साधक मनन करनेकी विशेष शक्ति प्राप्त कर लेता है । इसी प्रकार जो अपने उपास्यदेवको नमस्कार करनेयोग्य शक्तिशाली समझकर वैसी शक्ति प्राप्त करनेके लिये उनकी उपासना करे, वह स्वयं नमस्कार करनेयोग्य बन जाता है; समस्त कामनाएँ उसके सामने हाथ जोड़कर खड़ी रहती हैं । समस्त भोग अपने-आप उसके चरणोंमें लोटने लगते हैं । अनायास ही उसे समस्त भोग-सामग्री प्राप्त हो जाती है । तथा जो अपने उपास्यदेवको सबसे बड़ा—सर्वाधार ब्रह्म समझकर उन्हींकी प्राप्तिके लिये उनकी उपासना करे, वह ब्रह्मवान् बन जाता है, अर्थात् सर्वशक्तिमान् परमेश्वर उसके अपने बन जाते हैं—उसके वशमें हो जाते हैं । जो अपने उपास्यदेवको ब्रह्मके द्वारा सबका संहार करनेके लिये नियत किया हुआ अधिकारी देवता समझकर उनकी उपासना करता है, उससे द्वेष करनेवाले शत्रु स्वतः नष्ट हो जाते हैं तथा जो उसके अपकारी एवं अप्रिय बन्धुजन होते हैं, वे भी मारे जाते हैं । वास्तवमें किसी भी रूपमें किसी भी उपास्यदेवकी उपासना की जाय, वह प्रकारान्तरसे उन परब्रह्म परमेश्वरकी ही उपासना है; परंतु सकाम मनुष्य अज्ञानवश इस रहस्यको न जाननेके कारण भिन्न-भिन्न शक्तियोंसे युक्त भिन्न-भिन्न देवताओंकी भिन्न-भिन्न कामनाओंकी सिद्धिके लिये उपासना करते हैं; इसलिये वे वास्तविक लाभसे वञ्चित रह जाते हैं (गीता ७ । २१, २२, २३, २४; ९ । २२, २३) । अतः मनुष्यको चाहिये कि इस रहस्यको समझकर सब देवोंके देव सर्वशक्तिमान् परमात्माकी उपासना उन्हींकी प्राप्तिके लिये करे, उनसे और कुछ न चाहे ।

सम्बन्ध—सर्वत्र एक ही परमात्मा परिपूर्ण हैं, इस बातको समझकर उन्हें प्राप्त कर लेनेका फल और प्राप्त करनेवालेकी स्थितिका वर्णन करते हैं—

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः । स य एवंवित् । अस्माल्लोकात्प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य । इमाँल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन् । एतत्साम गायन्नास्ते ।

सः=वह (परमात्मा); **यः**=जो; **अयम्**=यह; **पुरुषे**=इस मनुष्यमें है; **च**=तथा; **यः**=जो; **असौ**=वह; **आदित्ये च**=सूर्यमें भी है; **सः**=वह (दोनोंका अन्तर्यामी); **एकः**=एक ही है; **यः**=जो (मनुष्य); **एवंवित्**=इस प्रकार तत्त्वसे जाननेवाला है; **सः**=वह; **अस्मात्**=इस; **लोकात्**=लोक (शरीर) से; **प्रेत्य**=उत्क्रमण करके; **एतम्**=इस; **अन्नमयम्**=अन्नमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रम्य**=प्राप्त होकर; **एतम्**=इस; **प्राणमयम्**=प्राणमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रम्य**=प्राप्त होकर; **एतम्**=इस; **मनोमयम्**=मनोमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रम्य**=प्राप्त होकर; **एतम्**=इस; **विज्ञानमयम्**=विज्ञानमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रम्य**=प्राप्त होकर; **एतम्**=इस; **आनन्दमयम्**=आनन्दमय; **आत्मानम्**=आत्माको; **उपसंक्रम्य**=प्राप्त होकर; **कामान्नी**=इच्छानुसार भोगवाला; (और) **कामरूपी**=इच्छानुसार रूपवाला हो जाता है; (तथा) **इमान्**=इन; **लोकान् अनुसंचरन्**=सब लोकोंमें विचरता हुआ; **एतत्**=इस (आगे बताये हुए); **साम गायन्**=साम (समतायुक्त उद्गारों) का गायन करता; **आस्ते**=रहता है ।

व्याख्या—वे परमात्मा, जिनका वर्णन पहले सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण कहकर किया जा चुका

है और जो परमानन्दस्वरूप हैं, वे इस पुरुषमें अर्थात् मनुष्यमें और सूर्यमें एक ही हैं। अभिप्राय यह कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान एक ही परमात्मा हैं। नाना रूपोंमें उन्हींकी अभिव्यक्ति हो रही है। जो मनुष्य इस तत्त्वको जान लेता है, वह वर्तमान शरीरसे अलग होनेपर उन परमानन्दस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, जिनका वर्णन अन्नमय आत्मा, प्राणमय आत्मा, मनोमय आत्मा, विज्ञानमय आत्मा और आनन्दमय आत्माके नामसे पहले किया गया है। इन सबको पाकर अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म भेदसे जो एककी अपेक्षा एकके अन्तरात्मा होकर नाना रूपोंमें स्थित हैं और सबके अन्तर्यामी परमानन्दस्वरूप हैं, उनको प्राप्त करके मनुष्य पर्याप्त भोग-सामग्रीसे युक्त और इच्छानुसार रूप धारण करनेकी शक्तिसे सम्पन्न हो जाता है। साथ ही वह इन लोकोंमें विचरता हुआ आगे बताये जानेवाले साम (समतायुक्त भावों) का गान करता रहता है।

सम्बन्ध—उसके आनन्दमग्न मनमें जो समता और सर्वरूपताके भाव उठा करते हैं, उनका वर्णन करते हैं—

हा३वु हा३वु हा३वु। अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो३ऽहमन्नादो३ऽहमन्नादः। अहꣳश्लोककृदहꣳश्लोककृदहꣳश्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य। पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना३भायि। यो मा ददाति स इदेव मा३वाः। अहमन्नमन्नमदन्तमा३द्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म्। सुवर्ण ज्योतीः। य एवं वेद। इत्युपनिषत्।

हावु हावु हावु= आश्चर्य ! आश्चर्य !! आश्चर्य !!!; **अहम्**=मैं; **अन्नम्**=अन्न हूँ; **अहम्**=मैं; **अन्नम्**=अन्न हूँ; **अहम्**=मैं; **अन्नम्**=अन्न हूँ; **अहम्**=मैं ही; **अन्नादः**=अन्नका भोक्ता हूँ; **अहम्**=मैं ही; **अन्नादः**=अन्नका भोक्ता हूँ; **अहम्**=मैं ही; **अन्नादः**=अन्नका भोक्ता हूँ; **अहम्**=मैं; **श्लोककृत्**=इनका संयोग करानेवाला हूँ; **अहम्**=मैं; **श्लोककृत्**=इनका संयोग करानेवाला हूँ; **अहम्**=मैं; **श्लोककृत्**=इनका संयोग करानेवाला हूँ; **अहम्**=मैं; **ऋतस्य**=सत्यका अर्थात् प्रत्यक्ष दीखनेवाले जगत्‌की अपेक्षासे; **प्रथमजाः**=सबमें प्रधान होकर उत्पन्न होनेवाला (हिरण्यगर्भ); [**च**=और;] **देवेभ्यः**=देवताओंसे भी; **पूर्वम्**=पहले विद्यमान; **अमृतस्य**=अमृतका; **नाभायि (नाभिः)**=केन्द्र; **अस्मि**=हूँ; **यः**=जो कोई; **मा**=मुझे; **ददाति**=देता है; **सः**=वह; **इत्**=इस कार्यसे; **एव**=ही; **मा आवाः**=मेरी रक्षा करता है; **अहम्**=मैं; **अन्नम्**=अन्नस्वरूप होकर; **अन्नम्**=अन्न; **अदन्तम्**=खानेवालेको; **अद्मि**=निगल जाता हूँ; **अहम्**=मैं; **विश्वम्**=समस्त; **भुवनम् अभ्यभवाम्**=ब्रह्माण्डका तिरस्कार करता हूँ; **सुवः न ज्योतीः**=मेरे प्रकाशकी एक झलक सूर्यके समान है; **यः**=जो; **एवम्**=इस प्रकार; **वेद**=जानता है (उसे भी यही स्थिति प्राप्त होती है); **इति**=इस प्रकार; **उपनिषत्**=यह उपनिषद्—ब्रह्मविद्या समाप्त हुई।

व्याख्या—उस महापुरुषकी स्थिति शरीरमें नहीं रहती। वह शरीरसे सर्वथा ऊपर उठकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है। यह बात पहले कहकर उसके बाद इस साम-गानका वर्णन किया गया है। इससे यह प्रकट होता है कि परमात्माके साथ एकताकी प्राप्ति कर लेनेवाले महापुरुषके ये पावन उद्गार उसके विशुद्ध अन्तःकरणसे निकले हैं और उसकी अलौकिक महिमा सूचित करते हैं। 'हावु' पद आश्चर्यबोधक अव्यय है। वह महापुरुष कहता है—बड़े आश्चर्यकी बात है ! ये सम्पूर्ण भोग-वस्तुएँ, इनको भोगनेवाला जीवात्मा और इन दोनोंका संयोग करानेवाला परमेश्वर एक मैं ही हूँ। मैं ही इस प्रत्यक्ष दीखनेवाले जगत्‌में समस्त देवताओंसे पहले सबमें प्रधान होकर प्रकट होनेवाला ब्रह्मा हूँ; और परमानन्दरूप अमृतके केन्द्र परब्रह्म परमेश्वर भी मुझसे अभिन्न हैं, अतः वे भी मैं ही हूँ। जो कोई मनुष्य किसी भी वस्तुके रूपमें मुझे किसीको प्रदान करता है, वह मानो मुझे देकर मेरी रक्षा करता है ! अर्थात् योग्य पात्रमें भोग्य पदार्थोंका दान ही उनकी रक्षाका सर्वोत्तम उपाय है ! इसके विपरीत जो अपने ही लिये अन्नरूप समस्त भोगोंका उपभोग करता है, उस खानेवालेको मैं अन्नरूप होकर निगल जाता हूँ। अर्थात् उसका विनाश हो जाता है—उसकी भोग-सामग्री टिकती नहीं। मैं समस्त ब्रह्माण्डका तिरस्कार करनेवाला हूँ। मेरी महिमाकी तुलनामें यह सब तुच्छ है। मेरे प्रकाशकी एक झलक भी सूर्यके समान है। अर्थात् जगत्‌में जितने भी प्रकाशयुक्त पदार्थ हैं, वे सब मेरे ही तेज-

के अंश हैं। जो कोई इस प्रकार परमात्माके तत्त्वको जानता है, वह भी इसी स्थितिको प्राप्त कर लेता है। उपर्युक्त कथन परमात्मामें एकीभावसे स्थित होकर परमात्माकी दृष्टिसे है, यह समझना चाहिये।

॥ दशम अनुवाक समाप्त ॥ १० ॥

॥ भृगुवल्ली समाप्त ॥ ३ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इसका अर्थ शिक्षावल्लीके द्वादश अनुवाकमें दिया गया है।

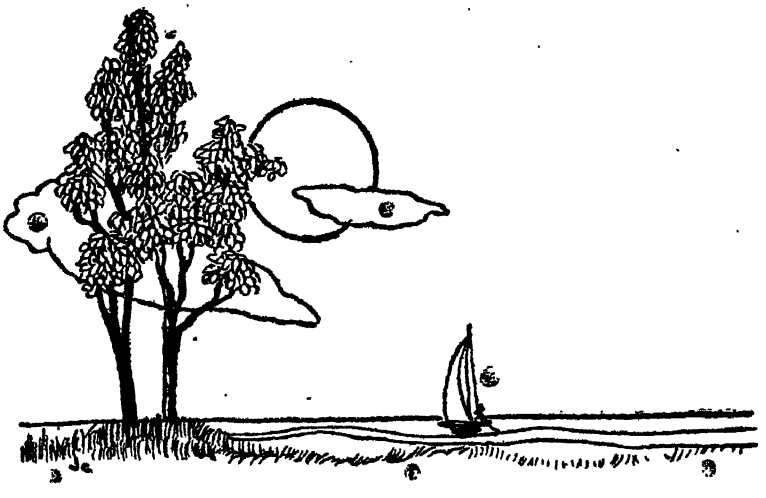

वरुण और भृगु

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

श्वेताश्वतरोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ कठोपनिषद्के आरम्भमें दिया गया है ।

प्रथम अध्याय

हरिः ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति—
किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥ १ ॥

'हरिः ओम्' इस प्रकार परमात्माके नामका उच्चारण करके उस परब्रह्म परमेश्वरका स्मरण करते हुए यह उपनिषद् आरम्भ की जाती है—

ब्रह्मवादिनः=ब्रह्मविषयक चर्चा करनेवाले कुछ जिज्ञासु; **वदन्ति**=आपसमें कहते हैं; **ब्रह्मविदः**=हे वेदज्ञ महर्षियो; **कारणम्**=इस जगत्का मुख्य कारण; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **किम्**=कौन है; **कुतः**=(हमलोग) किससे; **जाताः स्म**=उत्पन्न हुए हैं; **केन**=किससे; **जीवाम**=जी रहे हैं; **च**=और; **क्व**=किसमें; **सम्प्रतिष्ठाः**=हमारी सम्यक् प्रकारसे स्थिति है; (तथा) **केन अधिष्ठिताः**=किसके अधीन रहकर; [**वयम्**=हमलोग;] **सुखेतरेषु**=सुख और दुःखोंमें; **व्यवस्थाम्**=निश्चित व्यवस्थाके अनुसार; **वर्तामहे**=वर्त रहे हैं ॥ १ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्माको जानने और प्राप्त करनेके लिये उनकी चर्चा करनेवाले कुछ जिज्ञासु पुरुष आपसमें कहने लगे—'हे वेदज्ञ महर्षिगण ! हमने वेदोंमें पढ़ा है कि इस समस्त जगत्के कारण ब्रह्म हैं; सो वे ब्रह्म कौन हैं ? हम सब लोग किससे उत्पन्न हुए हैं—हमारा मूल क्या है ? किसके प्रभावसे हम जी रहे हैं—हमारे जीवनका आधार कौन है ? और हमारी पूर्णतया स्थिति किसमें है ? अर्थात् हम उत्पन्न होनेसे पहले—भूतकालमें, उत्पन्न होनेके बाद—वर्तमानकालमें और इसके पश्चात्—प्रलयकालमें किसमें स्थित रहते हैं ? हमारा परम आश्रय कौन है ? तथा हमारा अधिष्ठाता—हमलोगोंकी व्यवस्था करनेवाला कौन है ? जिसकी रची हुई व्यवस्थाके अनुसार हमलोग सुख-दुःख दोनों भोग रहे हैं, वह इस सम्पूर्ण जगत्की सुव्यवस्था करनेवाला इसका संचालक स्वामी कौन है ?'* ॥ १ ॥

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या ।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥ २ ॥

---

* इस प्रकार परब्रह्म परमात्माकी खोज करना, उन्हें जानने और पानेके लिये उत्कट अभिलाषाके साथ उत्साहपूर्वक आपसमें विचार करना, परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंसे उनके विषयमें विनयभाव और श्रद्धापूर्वक पूछना, उनकी बतायी हुई बातोंको ध्यानपूर्वक सुनकर काममें लाना—इसीका नाम 'सत्सङ्ग' है । इस उपनिषद्के प्रथम मन्त्रमें सत्सङ्गका ही वर्णन है । इससे सत्सङ्गकी अनादिता और अलौकिक महत्ता सूचित होती है ।

(क्या) **कालः**=काल; **स्वभावः**=स्वभाव; **नियतिः**=निश्चित फल देनेवाला कर्म; **यदृच्छा**=आकस्मिक घटना; **भूतानि**=पाँचों महाभूत; (या) **पुरुषः**=जीवात्मा; **योनिः**=कारण है; **इति चिन्त्या**=इसपर विचार करना चाहिये; **एषाम्**=इन काल आदिका; **संयोगः**=समुदाय; **तु**=भी; **न**=इस जगत्का कारण नहीं हो सकता; **आत्मभावात्**=क्योंकि वे चेतन आत्माके अधीन हैं (जड होनेके कारण स्वतन्त्र नहीं हैं); **आत्मा**=जीवात्मा; **अपि**=भी; [**न**=इस जगत्का कारण नहीं हो सकता;] **सुखदुःखहेतोः**=(क्योंकि वह) सुख-दुःखोंके हेतुभूत प्रारब्धके; **अनीशः**=अधीन है ॥ २ ॥

व्याख्या—वे कहने लगे कि वेद-शास्त्रोंमें अनेक कारणोंका वर्णन आता है। कहीं तो कालको कारण बताया है; क्योंकि किसी-न-किसी समयपर ही वस्तुओंकी उत्पत्ति देखी जाती है, जगत्की रचना और प्रलय भी कालके ही अधीन सुने जाते हैं। कहीं स्वभावको कारण बताया जाता है; क्योंकि बीजके अनुरूप ही वृक्षकी उत्पत्ति होती है—जिस वस्तुमें जो स्वाभाविक शक्ति है, उसीसे उसका कार्य उत्पन्न होता देखा जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तुगत शक्तिरूप जो स्वभाव है, वह कारण है। कहीं कर्मको कारण बताया है; क्योंकि कर्मानुसार ही जीव भिन्न-भिन्न योनियोंमें भिन्न-भिन्न स्वभाव आदिसे युक्त होकर उत्पन्न होते हैं। कहीं आकस्मिक घटनाको अर्थात् होनहार (भवितव्यता) को कारण बताया है। कहीं पाँचों महाभूतोंको और कहीं जीवात्माको जगत्का कारण बताया गया है। अतः हमलोगोंको विचार करना चाहिये कि वास्तवमें कारण कौन है। विचार करनेसे समझमें आता है कि कालसे लेकर पाँच महाभूतोंतक बताये हुए जड पदार्थोंमेंसे कोई भी जगत्का कारण नहीं है। वे अलग-अलग तो क्या, सब मिलकर भी जगत्के कारण नहीं हो सकते; क्योंकि ये सब जड होनेके कारण चेतनके अधीन हैं, इनमें स्वतन्त्र कार्य करनेकी शक्ति नहीं है। जिन जड वस्तुओंके मेलसे कोई नयी चीज उत्पन्न होती है, वह उसके संचालक चेतन आत्माके ही अधीन और उसीके भोगार्थ होती है। इनके सिवा, पुरुष अर्थात् जीवात्मा भी जगत्का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि वह सुख-दुःखके हेतुभूत प्रारब्धके अधीन है, वह भी स्वतन्त्ररूपसे कुछ नहीं कर सकता। अतः कारण-तत्त्व कुछ और ही है ॥ २ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार विचार करके उन्होंने क्या निर्णय किया, इस जिज्ञासापर कहा जाता है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥ ३ ॥

ते=उन्होंने; **ध्यानयोगानुगताः**=ध्यानयोगमें स्थित होकर; **स्वगुणैः**=अपने गुणोंसे; **निगूढाम्**=ढकी हुई; **देवात्मशक्तिम् अपश्यन्**=(उन) परमात्मदेवकी स्वरूपभूत अचिन्त्यशक्तिका साक्षात्कार किया; **यः**=जो (परमात्मदेव); **एकः**=अकेला ही; **तानि**=उन; **कालात्मयुक्तानि**=कालसे लेकर आत्मातक (पहले बताये हुए); **निखिलानि**=सम्पूर्ण; **कारणानि अधितिष्ठति**=कारणोंपर शासन करता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—इस प्रकार आपसमें विचार करनेपर जब युक्तियोंद्वारा और अनुमानसे वे किसी निर्णयपर नहीं पहुँच सके, तब वे सब ध्यानयोगमें स्थित हो गये अर्थात् अपने मन और इन्द्रियोंको बाहरके विषयोंसे हटाकर परब्रह्मको जाननेके लिये उन्हींका चिन्तन करनेमें तत्पर हो गये। ध्यान करते-करते उन्हें परमात्माकी महिमाका अनुभव हुआ। उन्होंने उन परमदेव परब्रह्म पुरुषोत्तमकी स्वरूपभूत अचिन्त्य दिव्य शक्तिका साक्षात्कार किया, जो अपने ही गुणोंसे—सत्त्व, रज, तमसे ढकी है, अर्थात् जो देखनेमें त्रिगुणमयी प्रतीत होती है, परंतु वास्तवमें तीनों गुणोंसे परे है। तब वे इस निर्णयपर पहुँचे कि कालसे लेकर आत्मातक जितने कारण पहले बताये गये हैं, उन समस्त कारणोंके जो अधिष्ठाता—स्वामी हैं, अर्थात् वे सब जिनकी आज्ञा और प्रेरणा पाकर, जिनकी उस शक्तिके किसी एक अंशको लेकर अपने-अपने कार्योंके करनेमें समर्थ होते हैं, वे एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही इस जगत्के वास्तविक कारण हैं, दूसरा कोई नहीं है ॥ ३ ॥

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥ ४ ॥

तम्=उस; **एकनेमिम्**=एक नेमिवाले; **त्रिवृतम्**=तीन घेरोंवाले; **षोडशान्तम्**=सोलह सिरोंवाले; **शतार्धारम्**=

पचास अरोंवाले; **विंशतिप्रत्यराभिः**=बीस सहायक अरोंसे; (तथा) **षड्भिः अष्टकैः**=छः अष्टकोंसे; [**युक्तम्**=युक्त ;] **विश्वरूपैकपाशम्**=अनेक रूपोंवाले एक ही पाशसे युक्त; **त्रिमार्गभेदम्**=मार्गके तीन भेदोंवाले; (तथा) **द्विनिमित्तैकमोहम्**=दो निमित्त और मोहरूपी एक नाभिवाले (चक्रको); [**अपश्यन्**=उन्होंने देखा] ॥ ४ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें विश्वका चक्रके रूपमें वर्णन किया गया है। भाव यह है कि परम देव परमेश्वरकी स्वरूपभूता अचिन्त्य शक्तिका दर्शन करनेवाले वे ऋषिलोग कहते हैं—हमने एक ऐसे चक्रको देखा है, जिसमें एक नेमि है। नेमि उस गोल घेरेको कहते हैं, जो चक्रके अरों और नाभि आदि सब अवयवोंको वेष्टित किये रहती है तथा यथास्थान बनाये रखती है। यहाँ अव्याकृत प्रकृतिको ही 'नेमि' कहा गया है; क्योंकि वही इस व्यक्त जगत्का मूल अथवा आधार है। जिस प्रकार चक्केकी रक्षाके लिये उस नेमिके ऊपर लोहेका घेरा (हाल) चढ़ा रहता है, उसी प्रकार इस संसार-चक्रकी अव्याकृत प्रकृतिरूप नेमिके ऊपर सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण ही तीन घेरे हैं। यह पहले ही कह आये हैं कि भगवान्की वह अचिन्त्यशक्ति तीन गुणोंसे ढकी है। जिस प्रकार चक्केकी नेमि अलग-अलग सिरोंके जोड़से बनती है, उसी प्रकार इस संसाररूप चक्रकी प्रकृतिरूप नेमिके मन, बुद्धि और अहङ्कार तथा आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—ये आठ सूक्ष्म तत्त्व और इनके ही आठ स्थूल रूप—इस प्रकार सोलह सिरे हैं। जिस प्रकार चक्रमें अरे लगे रहते हैं, जो एक ओरसे नेमिके टुकड़ोंमें जुड़े रहते हैं और दूसरी ओरसे चक्केकी नाभिमें जुड़े होते हैं, उसी प्रकार इस संसार-चक्रमें अन्तःकरणकी वृत्तियोंके पचास भेद तो पचास अरोंकी जगह हैं और पाँच महाभूतोंके कार्य— दस इन्द्रियाँ, पाँच विषय और पाँच प्राण—ये बीस सहायक अरोंकी जगह हैं। इस चक्केमें आठ-आठ चीजों* के छः समूह अङ्गरूपमें विद्यमान हैं। इन्हींको छः अष्टकोंके नामसे कहा गया है। जीवोंको इस चक्रमें बाँधकर रखनेवाली अनेक रूपोंमें प्रकट आसक्तिरूप एक फाँसी है। देवयान, पितृयान और इसी लोकमें एक योनिसे दूसरी योनिमें जानेका मार्ग—इस प्रकार ये तीन मार्ग हैं। पुण्यकर्म और पापकर्म—ये दो इस जीवको इस चक्रके साथ-साथ घुमानेमें निमित्त हैं और जिसमें अरे टँगे रहते हैं, उस नाभिके स्थानमें अज्ञान है। जिस प्रकार नाभि ही चक्केका केन्द्र है, उसी प्रकार अज्ञान इस जगत्का केन्द्र है ॥ ४ ॥

पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥ ५ ॥

पञ्चस्रोतोऽम्बुम्=पाँच सोतोंसे आनेवाले विषयरूप जलसे युक्त; **पञ्चयोन्युग्रवक्राम्**=पाँच स्थानोंसे उत्पन्न होकर भयानक और टेढ़ी-मेढ़ी चालसे चलनेवाली; **पञ्चप्राणोर्मिम्**=पाँच प्राणरूप तरङ्गोंवाली; **पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्**=पाँच प्रकारके ज्ञानके आदि कारण मन ही है मूल जिसका; **पञ्चावर्ताम्**=पाँच भँवरोंवाली; **पञ्चदुःखौघवेगाम्**=पाँच दुःखरूप प्रवाहके वेगसे युक्त; **पञ्चपर्वाम्**=पाँच पर्वोंवाली; (और) **पञ्चाशद्भेदाम्**=पचास भेदोंवाली (नदीको); **अधीमः**=हमलोग जानते हैं ॥ ५ ॥

---

* यहाँ 'अष्टक' शब्दसे क्या अभिप्राय है, ठीक-ठीक पता नहीं चलता। चक्रोंमें भी 'अष्टक' नामका कोई अङ्ग होता है या नहीं, और यदि होता है तो उसका क्या स्वरूप होता है तथा उसे अष्टक क्यों कहते हैं—इसका भी कोई पता नहीं चलता। शाङ्करभाष्यमें भी 'अष्टक' किसे कहते हैं—यह खोलकर नहीं बताया गया। इसीलिये 'षडष्टकम्' पदकी व्याख्या नहीं की जा सकी। शाङ्करभाष्यके अनुसार छः अष्टक इस प्रकार हैं—

(१) गीता (७। ४) में उल्लिखित आठ प्रकारकी प्रकृति अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार;

(२) शरीरगत आठ धातुएँ अर्थात् त्वचा, चमड़ी, मांस, रक्त, मेद, हड्डी, मज्जा और वीर्य;

(३) अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व—ये आठ प्रकारके ऐश्वर्य;

(४) धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य (राग) और अनैश्वर्य—ये आठ भाव;

(५) ब्रह्मा, प्रजापति, देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर और पिशाच—ये आठ प्रकारकी देवयोनियाँ;

और (६) समस्त प्राणियोंके प्रति दया, क्षमा, अनसूया (निन्दा न करना), शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), अनायास, मङ्गल, अकृपणता (उदारता) और अस्पृहा—ये आत्माके आठ गुण।

व्याख्या—इस मन्त्रमें संसारका नदीके रूपमें वर्णन किया गया है। वे ब्रह्मज्ञ ऋषि कहते हैं—हम एक ऐसी नदीको देख रहे हैं, जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही पाँच स्रोत हैं। संसारका ज्ञान हमें पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा ही होता है, इन्हींमेंसे होकर संसारका प्रवाह बहता है। इसीलिये इन्द्रियोंको यहाँ स्रोत कहा गया है। ये इन्द्रियाँ पञ्च सूक्ष्मभूतों (तन्मात्रों) से उत्पन्न हुई हैं, इसीलिये इस नदीके पाँच उद्गमस्थान माने गये हैं। इस नदीका प्रवाह बड़ा ही भयङ्कर है। इसमें गिर जानेसे बार-बार जन्म-मृत्युका क्लेश उठाना पड़ता है। संसारकी चाल बड़ी टेढ़ी है, कपटसे भरी है। इसमेंसे निकलना कठिन है। इसीलिये इस संसाररूप नदीको वक्र कहा गया है। जगत्‌के जीवोंमें जो कुछ भी चेष्टा—हलचल होती है, वह प्राणोंके द्वारा ही होती है। इसीलिये प्राणोंको इस भव-सरिताकी तरङ्गमाला कहा गया है। नदीमें हलचल तरङ्गोंसे ही होती है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले चाक्षुष आदि पाँच प्रकारके ज्ञानोंका आदि कारण मन है; जितने भी ज्ञान हैं, सब मनकी ही तो वृत्तियाँ हैं। मन न हो तो इन्द्रियोंके सचेष्ट रहनेपर भी किसी प्रकारका ज्ञान नहीं होता। यह मन ही संसाररूप नदीका मूल है। मनसे ही संसारकी सृष्टि होती है। सारा जगत् मनकी ही कल्पना है। मनके अमन हो जानेपर—नाश हो जानेपर जगत्‌का अस्तित्व ही नहीं रहता। जबतक मन है, तभीतक संसार है। इन्द्रियोंके शब्द-स्पर्श आदि पाँच विषय ही इस संसाररूप नदीमें आवर्त अर्थात् भँवर हैं। इन्हींमें फँसकर जीव जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ जाता है। गर्भका दुःख, जन्मका दुःख, बुढ़ापेका दुःख, रोगका दुःख और मृत्युका दुःख—ये पाँच प्रकारके दुःख ही इस नदीके प्रवाहमें वेगरूप हैं। इन्हींके थपेड़ोंसे जीव व्याकुल रहता है और इस योनिसे उस योनिमें भटकता रहता है। अविद्या (अज्ञान), अस्मिता (अहङ्कार), राग (प्रियबुद्धि), द्वेष (अप्रियबुद्धि) और अभिनिवेश (मृत्युभय)—ये पञ्चविध क्लेश ही इस संसाररूप नदीके पाँच पर्व अर्थात् विभाग हैं। इन्हीं पाँच विभागोंमें यह जगत् बँटा हुआ है। इन पाँचोंका समुदाय ही संसारका स्वरूप है और अन्तःकरणकी पचास वृत्तियाँ ही इस नदीके पचास भेद अर्थात् भिन्न-भिन्न रूप हैं। अन्तःकरणकी वृत्तियोंको लेकर ही संसारमें भेदकी प्रतीति होती है ॥ ५ ॥

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥ ६ ॥

अस्मिन्= इस; **सर्वाजीवे**= सबके जीविकारूप; **सर्वसंस्थे**= सबके आश्रयभूत; **बृहन्ते**= विस्तृत; **ब्रह्मचक्रे**= ब्रह्मचक्रमें; **हंसः**= जीवात्मा; **भ्राम्यते**= घुमाया जाता है; [**सः**= वह;] **आत्मानम्**= अपने-आपको; **च**= और; **प्रेरितारम्**= सबके प्रेरक परमात्माको; **पृथक्**= अलग-अलग; **मत्वा**= जानकर; **ततः**= उसके बाद; **तेन**= उस परमात्मासे; **जुष्टः**= स्वीकृत होकर; **अमृतत्वम्**= अमृतभावको; **एति**= प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है, जो सबके जीवननिर्वाहका हेतु है और जो समस्त प्राणियोंका आश्रय है, ऐसे इस जगत्‌रूप ब्रह्मचक्रमें अर्थात् परब्रह्म परमात्माद्वारा संचालित तथा परमात्माके ही विराट् शरीररूप संसारचक्रमें यह जीवात्मा अपने कर्मोंके अनुसार उन परमात्माद्वारा घुमाया जाता है। जबतक यह इसके सञ्चालकको जानकर उनका कृपापात्र नहीं बन जाता, अपनेको उनका प्रिय नहीं बना लेता, तबतक इसका इस चक्रसे छुटकारा नहीं हो सकता। जब यह अपनेको और सबके प्रेरक परमात्माको भलीभाँति पृथक्-पृथक् समझ लेता है कि उन्हींके घुमानेसे मैं इस संसार-चक्रमें घूम रहा हूँ और उन्हींकी कृपासे छूट सकता हूँ, तब वह उन परमेश्वरका प्रिय बनकर उनके द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है (कठ० २। २३; मुण्डक० ३। २। ३)। और फिर तो वह अमृतभावको प्राप्त हो जाता है, जन्म-मरणरूप संसार-चक्रसे सदाके लिये छूट जाता है। परम शान्तिं एवं सनातन दिव्य परमधामको प्राप्त हो जाता है (गीता १८। ६१-६२) ॥ ६ ॥

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥ ७ ॥

एतत्= यह; **उद्गीतम्**= वेदवर्णित; **परमम् ब्रह्म**= परब्रह्म; **तु**= ही; **सुप्रतिष्ठा**= सर्वश्रेष्ठ आश्रय; **च**= और; **अक्षरम्**= अविनाशी है; **तस्मिन्**= उसमें; **त्रयम्**= तीनों लोक स्थित हैं; **ब्रह्मविदः**= वेदके तत्त्वको जाननेवाले महापुरुष; **अत्र**= यहाँ (हृदयमें); **अन्तरम्**= अन्तर्यामीरूपसे स्थित उस ब्रह्मको; **विदित्वा**= जानकर; **तत्पराः**= उसीके परायण हो; **ब्रह्मणि**= उस परब्रह्ममें; **लीनाः**= लीन होकर; **योनिमुक्ताः**= सदाके लिये जन्म-मृत्युसे मुक्त हो गये ॥ ७ ॥

व्याख्या—जिनकी महिमाका वेदोंमें गान किया गया है, जो परब्रह्म परमात्मा सबके सर्वोत्तम आश्रय हैं, उन्हींमें तीनों लोकोंका समुदायरूप समस्त विश्व स्थित है। वे ही ऊपर बताये हुए सबके प्रेरक, कभी नाश न होनेवाले परम अक्षर, परम देव हैं। जिन्होंने ध्यानयोगमें स्थित होकर परमात्माकी दिव्यशक्तिका दर्शन किया था, वे वेदके रहस्यको समझनेवाले ऋषिलोग उन सबके प्रेरक परमात्माको यहाँ—अपने हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान समझकर, उन्हींके परायण होकर अर्थात् सर्वतोभावसे उनकी शरणमें जाकर, उन्हींमें लीन हो गये और सदाके लिये जन्म-मरणरूप योनिसे मुक्त हो गये। उनके मार्गका अनुसरण करके हम सब लोग भी उन्हींकी भाँति जन्म-मरणसे छूटकर परमात्मामें लीन हो सकते हैं ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अब उन परमात्माके स्वरूपका वर्णन करके उन्हें जाननेका फल बताया जाता है—

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ८ ॥

क्षरम्=विनाशशील जडवर्ग; **च**=एवं; **अक्षरम्**=अविनाशी जीवात्मा; **संयुक्तम्**=(इन दोनोंके) संयुक्त रूप; **व्यक्ताव्यक्तम्**=व्यक्त और अव्यक्तस्वरूप; **एतत् विश्वम्**=इस विश्वका; **ईशः**=परमेश्वर ही; **भरते**=धारण और पोषण करता है; **च**=तथा; **आत्मा**=जीवात्मा; **भोक्तृभावात्**=इस जगत्के विषयोंका भोक्ता बना रहनेके कारण; **अनीशः**=प्रकृतिके अधीन हो; **बध्यते**=इसमें बँध जाता है; (और) **देवम्**=उस परमदेव परमेश्वरको; **ज्ञात्वा**=जानकर; **सर्वपाशैः**=सब प्रकारके बन्धनोंसे; **मुच्यते**=मुक्त हो जाता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—विनाशशील जडवर्ग, जिसे भगवान्की अपरा प्रकृति तथा क्षर-तत्त्व कहा गया है और भगवान्की परा प्रकृतिरूप जीवसमुदाय, जो अक्षरतत्त्वके नामसे पुकारा जाता है—इन दोनोंके संयोगसे बने हुए, प्रकट और अप्रकट रूपमें स्थित इस समस्त जगत्का वे परमपुरुष पुरुषोत्तम ही धारण-पोषण करते हैं, जो सबके स्वामी, सबके प्रेरक तथा सबका यथायोग्य सञ्चालन और नियमन करनेवाले परमेश्वर हैं। जीवात्मा इस जगत्के विषयोंका भोक्ता बना रहनेके कारण प्रकृतिके अधीन हो इसके मोहजालमें फँसा रहता है, उन परमदेव परमात्माकी ओर दृष्टिपात नहीं करता। जब कभी यह उन सर्वसुहृद् परमात्माकी अहैतुकी दयासे महापुरुषोंका संग पाकर उनको जाननेका अभिलाषी होकर पूर्ण चेष्टा करता है, तब उन परमदेव परमेश्वरको जानकर सब प्रकारके बन्धनोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—पुनः जीवात्मा, परमात्मा और प्रकृति—इन तीनोंके स्वरूपका पृथक्-पृथक् वर्णन करके, इस तत्त्वको जानकर उपासना करनेका फल दो मन्त्रोंद्वारा बताया जाता है—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥ ९ ॥

ज्ञाज्ञौ=सर्वज्ञ और अज्ञानी; **ईशनीशौ**=सर्वसमर्थ और असमर्थ; **द्वौ**=ये दो; **अजौ**=अजन्मा आत्मा हैं; (तथा) **भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता**=भोगनेवाले जीवात्माके लिये उपयुक्त भोग्य-सामग्रीसे युक्त; **हि**=तथा; **अजा**=अनादि प्रकृति; **एका**=एक तीसरी शक्ति है; (इन तीनोंमें जो ईश्वरतत्त्व है, वह शेष दोसे विलक्षण है;) **हि**=क्योंकि; **आत्मा**=वह परमात्मा; **अनन्तः**=अनन्त; **विश्वरूपः**=सम्पूर्ण रूपोंवाला; **च**=और; **अकर्ता**=कर्तापनके अभिमानसे रहित है; **यदा**=जब; (मनुष्य इस प्रकार) **एतत् त्रयम्**=ईश्वर, जीव और प्रकृति—इन तीनोंको; **ब्रह्मम्**=ब्रह्मरूपमें; **विन्दते**=प्राप्त कर लेता है (तब वह सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है) ॥ ९ ॥

व्याख्या—ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं, जीव अल्पज्ञ और अल्प शक्तिवाला है; ये दोनों ही अजन्मा हैं। इनके सिवा एक तीसरी शक्ति भी अजन्मा है, जिसे प्रकृति कहते हैं; यह भोक्ता जीवात्माके लिये उपयुक्त भोग-सामग्री प्रस्तुत करती है। यद्यपि ये तीनों ही अजन्मा हैं—अनादि हैं, फिर भी ईश्वर शेष दो तत्त्वोंसे विलक्षण हैं; क्योंकि वे परमात्मा हैं, अनन्त हैं। सम्पूर्ण विश्व उन्हींका स्वरूप—विराट् [illegible] है। वे सब कुछ करते हुए—सम्पूर्ण विश्वकी उत्पत्ति, पालन और संहार करते हुए भी वास्तवमें कुछ नहीं करते; क्योंकि वे कर्तापनके अभिमानसे रहित हैं। मनुष्य जब इस प्रकार इन तीनोंकी विलक्षणता और

विभिन्नताको समझते हुए भी इन्हें ब्रह्मरूपमें उपलब्ध कर लेता है अर्थात् प्रकृति और जीव तो उन परमेश्वरकी प्रकृतियाँ हैं और परमेश्वर इनके स्वामी हैं—इस प्रकार प्रत्यक्ष कर लेता है, तब वह सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ९ ॥

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥१०॥

प्रधानम्=प्रकृति तो; **क्षरम्**=विनाशशील है; **हरः**=इसको भोगनेवाला जीवात्मा; **अमृताक्षरम्**= अमृतस्वरूप अविनाशी है; **क्षरात्मानौ**=इन विनाशशील जड-तत्त्व और चेतन आत्मा—दोनोंको; **एकः**=एक; **देवः**= ईश्वर; **ईशते**= अपने शासनमें रखता है; (इस प्रकार जानकर) **तस्य**=उसका; **अभिध्यानात्**=निरन्तर ध्यान करनेसे; **योजनात्**=मनको उसमें लगाये रहनेसे; **च**=तथा; **तत्त्वभावात्**=तन्मय हो जानेसे; **अन्ते**=अन्तमें (उसीको प्राप्त हो जाता है); **भूयः**= फिर; **विश्वमायानिवृत्तिः**=समस्त मायाकी निवृत्ति हो जाती है ॥ १० ॥

व्याख्या—प्रकृति तो क्षर अर्थात् परिवर्तन होनेवाली, विनाशशील है और इसको भोगनेवाला जीवसमुदाय अविनाशी अक्षरतत्त्व है। इन क्षर और अक्षर (जड प्रकृति और चेतन जीवसमुदाय)—दोनों तत्त्वोंपर एक परमदेव परमेश्वर शासन करते हैं, वे ही प्राप्त करनेके और जाननेके योग्य हैं, उन्हें तत्त्वसे जानना चाहिये—इस प्रकार दृढ निश्चय करके उन परमदेव परमात्माका निरन्तर ध्यान करनेसे, उन्हींमें रात-दिन संलग्न रहनेसे और उन्हींमें तन्मय हो जानेसे अन्तमें यह उन्हींको पा लेता है। फिर इसके लिये सम्पूर्ण मायाकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है अर्थात् मायामय जगत्‌से इसका सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है ॥१०॥

सम्बन्ध—उन परमदेवको जाननेका फल पुनः बताया जाता है—

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥११॥

तस्य=उस परमदेवका; **अभिध्यानात्**=निरन्तर ध्यान करनेसे; **देवम्**=उस प्रकाशमय परमात्माको; **ज्ञात्वा**= जान लेनेपर; **सर्वपाशापहानिः**=समस्त बन्धनोंका नाश हो जाता है; (क्योंकि) **क्लेशैः क्षीणैः**=क्लेशोंका नाश हो जानेके कारण; **जन्ममृत्युप्रहाणिः**=जन्म-मृत्युका सर्वथा अभाव हो जाता है; (अतः वह) **देहभेदे**=शरीरका नाश होनेपर; **तृतीयम्**=तीसरे लोक (स्वर्ग) तकके; **विश्वैश्वर्यम्** [**त्यक्त्वा**]=समस्त ऐश्वर्यका त्याग करके; **केवलः**=सर्वथा विशुद्ध; **आप्तकामः**=पूर्णकाम हो जाता है ॥ ११ ॥

व्याख्या—परमपुरुष परमात्माका निरन्तर ध्यान करते-करते जब साधक उन परमदेवको जान लेता है, तब इसके समस्त बन्धनोंका सदाके लिये सर्वथा नाश हो जाता है; क्योंकि अविद्या, अस्मिता (अहंकार), राग, द्वेष और मरणभय—इन पाँचों क्लेशोंका नाश हो जानेके कारण उसके जन्म-मरणका सदाके लिये अभाव हो जाता है। अतः वह फिर कभी बन्धनमें नहीं पड़ सकता। वह इस शरीरका नाश होनेपर तृतीय लोक अर्थात् स्वर्गके सबसे ऊँचे स्तर—ब्रह्मलोकतकके बड़े-से-बड़े समस्त ऐश्वर्योंका त्याग करके प्रकृतिसे वियुक्त, सर्वथा विशुद्ध कैवल्यपदको प्राप्त हो पूर्णकाम हो जाता है—उसे किसी प्रकारकी कामना नहीं रहती; क्योंकि वह सम्पूर्ण कामनाओंका फल पा लेता है ॥ ११ ॥

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥१२॥

आत्मसंस्थम्=अपने ही भीतर स्थित; **एतत्**=इस ब्रह्मको; **एव**=ही; **नित्यम्**=सर्वदा; **ज्ञेयम्**=जानना चाहिये; **हि**=क्योंकि; **अतः परम्**=इससे बढ़कर; **वेदितव्यम्**=जाननेयोग्य तत्त्व; **किञ्चित्**=दूसरा कुछ भी; **न**=नहीं है; **भोक्ता**= भोक्ता (जीवात्मा); **भोग्यम्**=भोग्य (जडवर्ग); **च**=और; **प्रेरितारम्**=उनके प्रेरक परमेश्वर; **मत्वा**=(इन तीनोंको) जानकर; (मनुष्य) **सर्वम्**=सब कुछ (जान लेता है); **एतत्**=(इस प्रकार) यह; **त्रिविधम्**=तीन भेदोंमें; **प्रोक्तम्**=बताया हुआ ही; **ब्रह्मम्**=ब्रह्म है ॥ १२ ॥

व्याख्या—ये परमदेव परब्रह्म पुरुषोत्तम अपने ही भीतर—हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं। इनको जाननेके लिये कहीं बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं है। इन्हींको सदा जाननेकी चेष्टा करनी चाहिये; क्योंकि इनसे बढ़कर जानने-योग्य दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। इन एकको जाननेसे ही सबका ज्ञान हो जाता है, ये ही सबके कारण और परमाधार हैं। मनुष्य भोक्ता (जीवात्मा), भोग्य (जडवर्ग) और इन दोनोंके प्रेरक ईश्वरको जानकर सब कुछ जान लेता है। फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। जिनके ये तीन भेद बताये गये हैं, वे ही समग्र ब्रह्म हैं। अर्थात् जड प्रकृति, चेतन आत्मा और उन दोनोंके आधार तथा नियामक परमात्मा—ये तीनों ब्रह्मके ही रूप हैं ॥ १२ ॥

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥१३॥

यथा=जिस प्रकार; **योनिगतस्य**=योनि अर्थात् आश्रयभूत काष्ठमें स्थित; **वह्नेः**=अग्निका; **मूर्तिः**=रूप; **न दृश्यते**=नहीं दीखता; **च**=और; **लिङ्गनाशः**=उसके चिह्नका (सत्ताका) नाश; **एव**=भी; **न**=नहीं होता; (क्योंकि) **सः**=वह; **भूयः एव**=चेष्टा करनेपर अवश्य ही; **इन्धनयोनिगृह्यः**=ईंधनरूप अपनी योनिमें ग्रहण किया जा सकता है; **वा**=उसी प्रकार; **तत् उभयम्**=वे दोनों (जीवात्मा और परमात्मा); **देहे**=शरीरमें; **वै**=ही; **प्रणवेन**=ॐकारके द्वारा (साधन करनेपर); [**गृह्यते**=ग्रहण किये जा सकते हैं] ॥ १३ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार अपनी योनि अर्थात् प्रकट होनेके स्थानविशेष काष्ठ आदिमें स्थित अग्निका रूप दिखलायी नहीं देता, परंतु इस कारण यह नहीं समझा जाता कि अग्नि नहीं है,—उसका होना अवश्य माना जाता है; क्योंकि उसकी सत्ता मानकर अरणियोंका मन्थन करनेपर ईंधनरूप अपने स्थानमेंसे वह फिर भी ग्रहण किया जा सकता है, उसी प्रकार उपर्युक्त जीवात्मा और परमात्मा हृदयरूप अपने स्थानमें छिपे रहकर प्रत्यक्ष नहीं होते, परन्तु ॐ के जपद्वारा साधन करनेपर इस शरीरमें ही इनका साक्षात्कार किया जा सकता है—इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—ॐकारके द्वारा साधक किस प्रकार उन परमात्माका साक्षात् कर लेता है, इस जिज्ञासापर कहा जाता है—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ॥१४॥

स्वदेहम्=अपने शरीरको; **अरणिम्**=नीचेकी अरणि; **च**=और; **प्रणवम्**=प्रणवको; **उत्तरारणिम्**=ऊपरकी अरणि; **कृत्वा**=बनाकर; **ध्याननिर्मथनाभ्यासात्**=ध्यानके द्वारा निरन्तर मन्थन करते रहनेसे; (साधक) **निगूढवत्**=छिपी हुई अग्निकी भाँति; (हृदयमें स्थित) **देवम्**=परमदेव परमेश्वरको; **पश्येत्**=देखे ॥ १४ ॥

व्याख्या—अग्निको प्रकट करनेके लिये जैसे दो अरणियोंका मन्थन किया जाता है, उसी प्रकार अपने शरीरमें परम पुरुष परमात्माको प्राप्त करनेके लिये शरीरको तो नीचेकी अरणि बनाना चाहिये और ॐकारको ऊपरकी अरणि। अर्थात् शरीरको नीचेकी अरणिकी भाँति समभावसे निश्चल स्थित करके ऊपरकी अरणिकी भाँति ॐकारका वाणीद्वारा जप और मनसे उसके अर्थस्वरूप परमात्माका निरन्तर चिन्तन करना चाहिये। इस प्रकार इस ध्यानरूप मन्थनके अभ्याससे साधकको काष्ठमें छिपी हुई अग्निकी भाँति अपने हृदयमें छिपे हुए परमदेव परमेश्वरको देख लेना—प्रत्यक्ष कर लेना चाहिये ॥ १४ ॥

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥१५॥

तिलेषु=तिलोंमें; **तैलम्**=तेल; **दधनि**=दहीमें; **सर्पिः**=घी; **स्रोतःसु**=सोतोंमें; **आपः**=जल; **च**=और; **अरणीषु**=अरणियोंमें; **अग्निः**=अग्नि; **इव**=जिस प्रकार छिपे रहते हैं; **एवम्**=उसी प्रकार; **असौ**=वह; **आत्मा**=परमात्मा; **आत्मनि**=अपने हृदयमें छिपा हुआ है; **यः**=जो कोई साधक; **एनम्**=इसको; **सत्येन**=सत्यके द्वारा; (और) **तपसा**=संयमरूप तपसे; **अनुपश्यति**=देखता रहता है—चिन्तन करता रहता है; [**तेन**=उसके द्वारा;] **गृह्यते**=वह ग्रहण किया जाता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार तिलोंमें तेल, दहीमें घी, ऊपरसे सूखी हुई नदीके भीतरी सोतोंमें जल तथा अरणियोंमें अग्नि छिपी रहती है, उसी प्रकार परमात्मा हमारे हृदयरूप गुफामें छिपे हैं। जिस प्रकार अपने-अपने स्थानोंमें छिपे हुए तेल आदि उनके लिये बताये हुए उपायोंसे उपलब्ध किये जा सकते हैं, उसी प्रकार जो कोई साधक विषयोंसे विरक्त होकर सदाचार, सत्यभाषण तथा संयमरूप तपस्याके द्वारा साधन करता हुआ पूर्वोक्त प्रकारसे उनका निरन्तर ध्यान करता रहता है, उनके द्वारा वे परब्रह्म परमात्मा भी प्राप्त किये जा सकते हैं ॥ १५ ॥

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥
तद् ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥१६॥

क्षीरे=दूधमें; **अर्पितम्**=स्थित; **सर्पिः इव**=घीकी भाँति; **सर्वव्यापिनम्**=सर्वत्र परिपूर्ण; **आत्मविद्यातपोमूलम्**=आत्मविद्या तथा तपसे प्राप्त होनेवाले; **आत्मानम्**=परमात्माको (वह पूर्वोक्त साधक जान लेता है); **तत्**=वह; **उपनिषत्**=उपनिषदोंमें बताया हुआ; **परम्**=परम तत्त्व; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **तत्**=वह; **उपनिषत्**=उपनिषदोंमें बताया हुआ; **परम्**=परमतत्त्व; **ब्रह्म**=ब्रह्म है ॥ १६ ॥

व्याख्या—आत्मविद्या और तप जिनकी प्राप्तिके मूलभूत साधन हैं, तथा जो दूधमें स्थित घीकी भाँति सर्वत्र परिपूर्ण हैं, उन सर्वान्तर्यामी परमात्माको वह पूर्वोक्त साधक जान लेता है। वे ही उपनिषदोंमें वर्णित परम तत्त्व ब्रह्म हैं। वे ही उपनिषदोंमें वर्णित परम तत्त्व ब्रह्म हैं। अन्तिम वाक्यकी पुनरावृत्ति अध्यायकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ॥ १६ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय अध्याय

सम्बन्ध—पहले अध्यायमें परमदेव परमात्माके साक्षात्कारका प्रधान उपाय ध्यान बताया गया। उस ध्यानकी प्रक्रिया बतानेके लिये यह दूसरा अध्याय आरम्भ किया जाता है। इसमें पहले ध्यानकी सिद्धिके लिये पाँच मन्त्रोंमें परमेश्वरसे प्रार्थना करनेका प्रकार बताया जाता है—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत ॥ १ ॥

सविता=सबको उत्पन्न करनेवाला परमात्मा; **प्रथमम्**=पहले; **मनः**=हमारे मन; (और) **धियः**=बुद्धियोंको; **तत्त्वाय**=तत्त्वकी प्राप्तिके लिये; **युञ्जानः**=अपने स्वरूपमें लगाते हुए; **अग्नेः**=अग्नि (आदि इन्द्रियाभिमानी देवताओं) की; **ज्योतिः**=ज्योति (प्रकाशन-सामर्थ्य) को; **निचाय्य**=अवलोकन करके; **पृथिव्याः**=पार्थिव पदार्थोंसे; **अधि**=ऊपर उठाकर; **आभरत**=हमारी इन्द्रियोंमें स्थापित करे ॥ १ ॥

व्याख्या—सबको उत्पन्न करनेवाले परमात्मा पहले हमारे मन और बुद्धिकी वृत्तियोंको तत्त्वकी प्राप्तिके लिये अपने दिव्य स्वरूपमें लगायें और अग्नि आदि इन्द्रियाभिमानी देवताओंकी जो विषयोंको प्रकाशित करनेकी सामर्थ्य है, उसे दृष्टिमें रखते हुए बाह्य विषयोंसे लौटाकर हमारी इन्द्रियोंमें स्थिरतापूर्वक स्थापित कर दें, जिससे हमारी इन्द्रियोंका प्रकाश बाहर न जाकर बुद्धि और मनकी स्थिरतामें सहायक हो ॥ १ ॥

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । सुवर्गेयाय शक्त्या ॥ २ ॥

वयम्=हमलोग; **सवितुः**=सबको उत्पन्न करनेवाले; **देवस्य**=परमदेव परमेश्वरकी; **सवे**=आराधनारूप यज्ञमें; **युक्तेन मनसा**=लगे हुए मनके द्वारा; **सुवर्गेयाय**=स्वर्गीय सुख (भगवत्-प्राप्ति-जनित आनन्द) की प्राप्तिके लिये; **शक्त्या**=पूरी शक्तिसे; [**प्रयतामहै**=प्रयत्न करें] ॥ २ ॥

व्याख्या—हमलोग सबको उत्पन्न करनेवाले परमदेव परमेश्वरकी आराधनारूप यज्ञमें लगे हुए मनके द्वारा परमानन्दप्राप्तिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्न करें। अर्थात् हमारा मन निरन्तर भगवान्‌की आराधनामें लगा रहे और हम भगवत्-प्राप्तिजनित परमानन्दकी अनुभूतिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्नशील रहें ॥ २ ॥

युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ ३ ॥

सविता=सबको उत्पन्न करनेवाला परमेश्वर; **सुवः**=स्वर्गादि लोकोंमें; (और) **दिवम्**=आकाशमें; **यतः**=गमन करनेवाले; (तथा) **बृहत्**=बड़ा भारी; **ज्योतिः**=प्रकाश; **करिष्यतः**=फैलानेवाले; **तान्**=उन; (मन और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता) **देवान्**=देवताओंको; **मनसा**=हमारे मन; (और) **धिया**=बुद्धिसे; **युक्त्वाय**=संयुक्त करके; (प्रकाश प्रदान करनेके लिये) **प्रसुवाति**=प्रेरणा करता है अर्थात् करे ॥ ३ ॥

व्याख्या—वे सबको उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर मन और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंको, जो स्वर्ग आदि लोकोंमें और आकाशमें विचरनेवाले तथा बड़ा भारी प्रकाश फैलानेवाले हैं, हमारे मन और बुद्धिसे संयुक्त करके हमें प्रकाश प्रदान करनेके लिये प्रेरणा करें, ताकि हम उन परमेश्वरका साक्षात् करनेके लिये ध्यान करनेमें समर्थ हों। हमारे मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रकाश फैला रहे। निद्रा, आलस्य और अकर्मण्यता आदि दोष हमारे ध्यानमें विघ्न न कर सकें ॥ ३ ॥

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ ४ ॥

विप्राः=(जिसमें) ब्राह्मण आदि; **मनः**=मनको; **युञ्जते**=लगाते हैं; **उत**=और; **धियः**=बुद्धिकी वृत्तियोंको भी; **युञ्जते**=लगाते हैं; **होत्राः विदधे**=(जिसने समस्त) अग्निहोत्र आदि शुभकर्मोंका विधान किया है; (तथा जो) **वयुनावित्**=समस्त जगत्‌के विचारोंको जाननेवाला; (और) **एकः**=एक है; **बृहतः**=(उस) सबसे महान्; **विप्रस्य**=सर्वत्र व्यापक; **विपश्चितः**=सर्वज्ञ; (एवं) **सवितुः**=सबके उत्पादक; **देवस्य**=परम देव परमेश्वरकी; **इत्**=निश्चय ही; (हमें) **मही**=महती; **परिष्टुतिः**=स्तुति (करनी चाहिये) ॥ ४ ॥

व्याख्या—जिन परब्रह्म परमात्मामें श्रेष्ठ बुद्धिवाले ब्राह्मणादि अधिकारी मनुष्य अपने मनको लगाते हैं तथा अपनी सब प्रकारकी बुद्धि-वृत्तियोंको भी नियुक्त करते हैं, जिन्होंने अग्निहोत्र आदि समस्त शुभ कर्मोंका विधान किया है, जो समस्त जगत्‌के विचारोंको जाननेवाले और एक अद्वितीय हैं, उन सबसे महान्, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सबके उत्पादक परमदेव परमेश्वरकी अवश्य ही हमें भूरि-भूरि स्तुति करनी चाहिये ॥ ४ ॥

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५ ॥

(हे मन और बुद्धि ! मैं) **वाम्**=तुम दोनोंके (स्वामी); **पूर्व्यम्**=सबके आदि; **ब्रह्म**=पूर्णब्रह्म परमात्मासे; **नमोभिः**=बार-बार नमस्कारके द्वारा; **युजे**=संयुक्त होता हूँ; **श्लोकः**=मेरा यह स्तुति-पाठ; **सूरेः**=श्रेष्ठ विद्वान्‌की; **पथ्या इव**=कीर्तिकी भाँति; **व्येतु (वि+एतु)**=सर्वत्र फैल जाय; (जिससे) **अमृतस्य**=अविनाशी परमात्माके; **विश्वे**=समस्त; **पुत्राः**=पुत्र; **ये**=जो; **दिव्यानि**=दिव्य; **धामानि**=लोकोंमें; **आतस्थुः**=निवास करते हैं; **शृण्वन्तु**=सुनें ॥ ५ ॥

व्याख्या—हे मन और बुद्धि ! मैं तुम दोनोंके स्वामी और समस्त जगत्‌के आदि कारण परब्रह्म परमात्माको बार-बार नमस्कार करके विनयपूर्वक उनकी शरणमें जाकर उनमें संलग्न होता हूँ। मेरे द्वारा जो उन परमेश्वरकी महिमाका वर्णन किया गया है, वह विद्वान् पुरुषकी कीर्तिके समान समस्त जगत्‌में व्याप्त हो जाय। उसे अविनाशी परमात्माके वे सभी लाड़िले, जो दिव्य लोकोंमें निवास करते हैं, भलीभाँति सुनें ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—ध्यानके लिये परमात्मासे स्तुति करनेका प्रकार बतलानेके अनन्तर अब छठे मन्त्रमें उस ध्यानकी स्थितिका वर्णन करके सातवेंमें मनुष्यको उस ध्यानमें लग जानेके लिये आदेश दिया जाता है—

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते ।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः ॥ ६ ॥

यत्र=जिस स्थितिमें; **अग्निः**=परमात्मारूप अग्निको; (प्राप्त करनेके उद्देश्यसे) **अभिमथ्यते**= (ॐकारके जप और ध्यानद्वारा) मन्थन किया जाता है; **यत्र**=जहाँ; **वायुः अधिरुध्यते**=प्राणवायुका भलीभाँति विधिपूर्वक निरोध किया जाता है; (तथा) **यत्र**=जहाँ; **सोमः**=आनन्दरूप सोमरस; **अतिरिच्यते**=अधिकतासे प्रकट होता है; **तत्र**=वहाँ (उस स्थितिमें); **मनः**=मन; **संजायते**=सर्वथा विशुद्ध हो जाता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—जिस स्थितिमें अग्नि प्रकट करनेके लिये अरणियोंद्वारा मन्थन करनेकी भाँति अग्निस्थानीय परमात्माको प्राप्त करनेके लिये पहले अध्यायमें कहे हुए प्रकारसे शरीरको नीचेकी अरणि और ॐकारको ऊपरकी अरणि बनाकर उसका जप और उसके अर्थरूप परमात्माका निरन्तर चिन्तनरूप मन्थन किया जाता है, जहाँ प्राणवायुका विधिपूर्वक भलीभाँति निरोध किया जाता है, जहाँ आनन्दरूप सोमरस अधिकतासे प्रकट होता है, उस ध्यानावस्थामें मनुष्यका मन सर्वथा विशुद्ध हो जाता है ॥ ६ ॥

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम् ।
तत्र योनिं कृणवसे न हि ते पूर्वमक्षिपत् ॥ ७ ॥

सवित्रा=सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न करनेवाले परमात्माके द्वारा; **प्रसवेन**=प्राप्त हुई प्रेरणासे; **पूर्व्यम्**=सबके आदि-कारण; **ब्रह्म जुषेत**=उस परब्रह्म परमेश्वरकी ही सेवा (आराधना) करनी चाहिये; **तत्र**=(तू) उस परमात्मामें ही; **योनिम्**=आश्रय; **कृणवसे**=प्राप्त कर; **हि**=क्योंकि; (यों करनेसे) **ते**=तेरे; **पूर्वम्**=पूर्व संचित कर्म; **न अक्षिपत्**=विघ्नकारक नहीं होंगे ॥ ७ ॥

व्याख्या—हे साधक ! सम्पूर्ण जगत्के उत्पादक सर्वान्तर्यामी परमेश्वरकी प्रेरणासे अर्थात् ऊपर बताये हुए प्रकारसे परमात्माकी स्तुति करके उनसे अनुमति प्राप्तकर तुम्हें उन सबके आदि परब्रह्म परमात्माकी ही सेवा (समाराधना) करनी चाहिये । उन परमेश्वरमें ही आश्रय प्राप्त करना चाहिये—उन्हींकी शरण ग्रहण करके उन्हींमें अपने-आपको विलीन कर देना चाहिये । यों करनेसे तुम्हारे पहले किये हुए समस्त संचित कर्म विघ्नकारक नहीं होंगे—बन्धनरूप नहीं होंगे ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—ध्यानयोगका साधन करनेवालेको किस प्रकार बैठकर कैसे ध्यान करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ ८ ॥

विद्वान्=बुद्धिमान् मनुष्य (को चाहिये कि); **त्रिरुन्नतम्**=सिर, गला और छाती—इन तीनों स्थानोंपर उभरे हुए; **शरीरम्**=शरीरको; **समम्**=सीधा; (और) **स्थाप्य**=स्थिर करके; (तथा) **इन्द्रियाणि**=समस्त इन्द्रियोंको; **मनसा**=मनके द्वारा; **हृदि**=हृदयमें; **संनिवेश्य**=निरुद्ध करके; **ब्रह्मोडुपेन**=ॐ काररूप नौकाद्वारा; **सर्वाणि**=सम्पूर्ण; **भयावहानि**=भयङ्कर; **स्रोतांसि**=सोतों (प्रवाहों) को; **प्रतरेत**=पार कर जाय ॥ ८ ॥

व्याख्या—जो ध्यानयोगका साधन करे, उस बुद्धिमान् साधकको चाहिये कि ध्यानके समय जब आसन जमाकर सुखपूर्वक बैठे, उस समय अपने सिर, गले और छातीको ऊँचा उठाये रक्खे, इधर-उधर न झुकने दे; तथा शरीरको सीधा और स्थिर रक्खे । क्योंकि शरीरको सीधा और स्थिर रक्खे बिना तथा सिर, गला और वक्षःस्थल ऊँचा किये बिना आलस्य, निद्रा और विक्षेपरूप विघ्न आ जाते हैं । अतः इन विघ्नोंसे बचनेके लिये उपर्युक्त प्रकारसे ही बैठना चाहिये । इसके बाद समस्त इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर उनका मनके द्वारा हृदयमें निरोध कर लेना चाहिये । फिर ॐकाररूप नौकाका आश्रय लेकर अर्थात् ॐकारका जप और उसके वाच्य परब्रह्म परमात्माका ध्यान करके समस्त भयानक प्रवाहोंको

पार कर लेना चाहिये। भाव यह है कि नाना योनियोंमें ले जानेवाली जितनी वासनाएँ हैं, वे सब जन्म-मृत्युरूप भय देनेवाले स्रोत (प्रवाह) हैं। इन सबका त्याग करके सदाके लिये अमरपदको प्राप्त कर लेना चाहिये ॥ ८ ॥

प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥ ९ ॥

विद्वान्=बुद्धिमान् साधक (को चाहिये कि); **इह**=उपर्युक्त योगसाधनामें; **संयुक्तचेष्टः**=आहार-विहार आदि समस्त चेष्टाओंको यथायोग्य करते हुए; **प्राणान् प्रपीड्य**=विधिवत् प्राणायाम करके; **प्राणे क्षीणे**=प्राणके सूक्ष्म हो जानेपर; **नासिकया**=नासिकाद्वारा; **उच्छ्वसीत**=उनको बाहर निकाल दे; **दुष्टाश्वयुक्तम्**=(इसके बाद) दुष्ट घोड़ोंसे युक्त; **वाहम् इव**=रथको जिस प्रकार सारथि सावधानतापूर्वक गन्तव्य मार्गमें ले जाता है, उसी प्रकार; **एनम्**=इस; **मनः**=मनको; **अप्रमत्तः**=सावधान होकर; **धारयेत**=वशमें किये रहे ॥ ९ ॥

व्याख्या—बुद्धिमान् साधकको चाहिये कि वह इस योग-साधनाके लिये आहार-विहार आदि समस्त चेष्टाओंको यथायोग्य करता रहे, उन्हें ध्यानयोगके लिये उपयोगी बना ले। तथा योगशास्त्रकी विधिके अनुसार प्राणायाम करते-करते जब प्राण अत्यन्त सूक्ष्म हो जाय, तब नासिकाद्वारा उसे बाहर निकाल दे*। इसके बाद जैसे दुष्ट घोड़ोंसे जुते हुए रथको अच्छा सारथि बड़ी सावधानीसे चलाकर अपने गन्तव्य स्थानपर ले जाता है, उसी प्रकार साधकको चाहिये कि बड़ी सावधानीके साथ अपने मनको वशमें रक्खे, जिससे योगसाधनमें किसी प्रकारका विघ्न न आये और वह परमात्माकी प्राप्तिरूप लक्ष्यपर पहुँच जाय †॥ ९ ॥

सम्बन्ध—परब्रह्म परमात्मामें मन लगानेके लिये कैसे स्थानमें कैसी भूमिपर बैठकर साधन करना चाहिये, इस जिज्ञासा-पर कहा जाता है—

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥१०॥

समे=समतल; **शुचौ**=सब प्रकारसे शुद्ध; **शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते**=कंकड़, अग्नि और बालूसे रहित; (तथा) **शब्दजलाश्रयादिभिः**=शब्द, जल और आश्रय आदिकी दृष्टिसे; **अनुकूले**=सर्वथा अनुकूल; **तु**=और; **न चक्षुपीडने**=नेत्रोंको पीड़ा न देनेवाले; **गुहानिवाताश्रयणे**=गुहा आदि वायुशून्य स्थानमें; **मनः**=मनको; **प्रयोजयेत्**=ध्यानमें लगानेका अभ्यास करना चाहिये ॥ १० ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें ध्यानयोगके उपयुक्त स्थानका वर्णन है। भाव यह है कि ध्यानयोगका साधन करनेवाले साधकको ऐसे स्थानमें अपना आसन लगाना चाहिये, जहाँकी भूमि समतल हो—ऊँची-नीची, टेढ़ी-मेढ़ी न हो; जो सब प्रकारसे शुद्ध हो,—जहाँपर कूड़ा-कर्कट, मैला आदि न हो, झाड़-बुहारकर साफ किया हुआ हो और स्वभावसे भी पवित्र हो—जैसे कोई देवालय, तीर्थस्थान आदि; जहाँ कंकड़, बालू न हों और अग्नि या धूपकी गर्मी भी न हो; जहाँ कोई मनमें विक्षेप करनेवाला शब्द न होता हो—कोलाहलका सर्वथा अभाव हो; यथावश्यक जल प्राप्त हो सके, किंतु ऐसा जलाशय न हो जहाँ बहुत लोग आते-जाते हों; एवं जहाँ शरीर-रक्षाके लिये उपयुक्त आश्रय हो परंतु ऐसा न हो, जहाँ धर्मशाला आदिकी भाँति बहुत लोग ठहरते हों; तात्पर्य यह कि इन सब विचारोंके अनुसार जो सर्वथा अनुकूल हो और जहाँका दृश्य नेत्रोंको पीड़ा पहुँचानेवाला—भयानक न हो, ऐसे गुफा आदि वायुशून्य एकान्त स्थानमें पहले बताये हुए प्रकारसे आसन लगाकर अपने मनको परमात्मामें लगानेका अभ्यास करना चाहिये ॥ १० ॥

सम्बन्ध—योगाभ्यास करनेवाले साधकका साधन ठीक हो रहा है या नहीं, इसकी पहचान बतायी जाती है—

---

* आठवें और नवें मन्त्रोंमें जो ध्यानके लिये बैठनेकी और साधन करनेकी विधि बतायी गयी है, उसका बड़े सुन्दर ढंगसे सुस्पष्ट वर्णन भगवान्‌ने गीता अध्याय ६ श्लोक ११ से १७ तक किया है।

† कठोपनिषद्में (१ । ३ । २ से ८ तक) रथके रूपकका विस्तृत वर्णन है।

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥११॥

ब्रह्मणि योगे=परमात्माकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले योगमें; (पहले) **नीहारधूमार्कानिलानलानाम्**= कुहरा, धूआँ, सूर्य, वायु और अग्निके सदृश; (तथा) **खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्**=जुगनू, बिजली, स्फटिक मणि और चन्द्रमाके सदृश; **रूपाणि**=बहुत-से दृश्य; **पुरःसराणि [भवन्ति]**=योगीके सामने प्रकट होते हैं; **एतानि**= ये सब; **अभिव्यक्तिकराणि**= योगकी सफलताको स्पष्टरूपसे सूचित करनेवाले हैं ॥ ११ ॥

व्याख्या—जब साधक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये ध्यानयोगका साधन आरम्भ करता है, तब उसको अपने सामने कभी कुहरेके सदृश रूप दीखता है, कभी धूआँ-सा दिखायी देता है, कभी सूर्यके समान प्रकाश सर्वत्र परिपूर्ण दीखता है, कभी निःशब्द वायुकी भाँति निराकार रूप अनुभवमें आता है, कभी अग्निके सदृश तेज दीख पड़ता है, कभी जुगनूके सदृश टिमटिमाहट-सी प्रतीत होती है, कभी बिजलीकी-सी चकाचौंध पैदा करनेवाली दीप्ति दृष्टिगोचर होती है, कभी स्फटिक-मणिके सदृश उज्ज्वल रूप देखनेमें आता है और कभी चन्द्रमाकी भाँति शीतल प्रकाश सर्वत्र फैला हुआ दिखायी देता है। ये सब तथा और भी अनेक दृश्य योग-साधनकी उन्नतिके द्योतक हैं। इनसे यह बात समझमें आती है कि साधकका ध्यान ठीक हो रहा है ॥ ११ ॥

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥१२॥

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते=पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँचों महाभूतोंका सम्यक् प्रकारसे उत्थान होनेपर; (तथा) **पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते**=इनसे सम्बन्ध रखनेवाले पाँच प्रकारके योगसम्बन्धी गुणोंकी सिद्धि हो जानेपर; **योगाग्निमयम्**=योगाग्निमय; **शरीरम्**=शरीरको; **प्राप्तस्य**=प्राप्त कर लेनेवाले; **तस्य**= उस साधकको; **न**=न तो; **रोगः**=रोग होता है; **न**=न; **जरा**=बुढ़ापा आता है; **न**=और न; **मृत्युः**=उसकी मृत्यु ही होती है ॥ १२ ॥

व्याख्या—ध्यानयोगका साधन करते-करते जब पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच महाभूतोंका उत्थान हो जाता है, अर्थात् जब साधकका इन पाँचों महाभूतोंपर अधिकार हो जाता है, और इन पाँचों महाभूतोंसे सम्बन्ध रखनेवाली योगविषयक पाँचों सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं, उस समय योगाग्निमय शरीरको प्राप्त कर लेनेवाले उस योगीके शरीरमें न तो रोग होता है, न बुढ़ापा आता है और न उसकी मृत्यु ही होती है। अभिप्राय यह कि उसकी इच्छाके बिना उसका शरीर नष्ट नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च ।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥१३॥

लघुत्वम्=शरीरका हल्कापन; **आरोग्यम्**=किसी प्रकारके रोगका न होना; **अलोलुपत्वम्**=विषयासक्तिकी निवृत्ति; **वर्णप्रसादम्**=शारीरिक वर्णकी उज्ज्वलता; **स्वरसौष्ठवम्**=स्वरकी मधुरता; **शुभः गन्धः**=(शरीरमें) अच्छी गन्ध; **च**=और; **मूत्रपुरीषम्**=मल-मूत्र; **अल्पम्**=कम हो जाना; (इन सबको) **प्रथमाम् योगप्रवृत्तिम्**=योगकी पहली सिद्धि; **वदन्ति**=कहते हैं ॥ १३ ॥

व्याख्या—भूतोंपर विजय प्राप्त कर लेनेवाले ध्यानयोगीमें पूर्वोक्त शक्तियोंके सिवा और भी शक्तियाँ आ जाती हैं। उदाहरणतः उसका शरीर हल्का हो जाता है, शरीरमें भारीपन या आलस्यका भाव नहीं रहता। वह सदा ही नीरोग रहता है, उसे कभी कोई रोग नहीं होता। भौतिक पदार्थोंमें उसकी आसक्ति नष्ट हो जाती है। कोई भी भौतिक पदार्थ सामने आनेपर उसके मन और इन्द्रियोंका उसकी ओर आकर्षण नहीं होता। उसके शरीरका वर्ण उज्ज्वल हो जाता है। स्वर अत्यन्त

मधुर और स्पष्ट हो जाता है। शरीरमेंसे बहुत अच्छी गन्ध निकलकर सब ओर फैल जाती है। मल और मूत्र बहुत ही स्वल्प मात्रामें होने लगते हैं। ये सब योगमार्गकी प्रारम्भिक सिद्धियाँ हैं—ऐसा योगीलोग कहते हैं॥ १३॥

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः॥१४॥

यथा=जिस प्रकार; **मृदया**=मिट्टीसे; **उपलिप्तम्**=लिप्त होकर मलिन हुआ; [**यत्**=जो;] **तेजोमयम्**=प्रकाशयुक्त; **बिम्बम्**=रत्न है; **तत् एव**=वही; **सुधान्तम्**=भलीभाँति धुल जानेपर; **भ्राजते**=चमकने लगता है; **तत् वा**=उसी प्रकार; **देही**=शरीरधारी (जीवात्मा); **आत्मतत्त्वम्**=(मल आदिसे रहित) आत्म-तत्त्वको; **प्रसमीक्ष्य**=(योगके द्वारा) भलीभाँति प्रत्यक्ष करके; **एकः**=अकेला, कैवल्य अवस्थाको प्राप्त; **वीतशोकः**=सब प्रकारके दुःखोंसे रहित; (तथा) **कृतार्थः**=कृतकृत्य; **भवते**=हो जाता है॥ १४॥

व्याख्या—जिस प्रकार कोई तेजोमय रत्न मिट्टीसे लिप्त रहनेके कारण छिपा रहता है, अपने असली रूपमें प्रकट नहीं होता, परंतु वही जब मिट्टी आदिको हटाकर धो-पोंछकर साफ कर लिया जाता है, तब अपने असली रूपमें चमकने लगता है, उसी प्रकार इस जीवात्माका वास्तविक स्वरूप अत्यन्त स्वच्छ होनेपर भी अनन्त जन्मोंमें किये हुए कर्मोंके संस्कारोंसे मलिन हो जानेके कारण प्रत्यक्ष प्रकट नहीं होता; परन्तु जब मनुष्य ध्यानयोगके साधनद्वारा समस्त मलोंको धोकर आत्माके यथार्थ स्वरूपको भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लेता है, तब वह असङ्ग हो जाता है। अर्थात् उसका जो जड पदार्थोंके साथ संयोग हो रहा था, उसका नाश होकर वह कैवल्य अवस्थाको प्राप्त हो जाता है। तथा उसके सब प्रकारके दुःखोंका अन्त होकर वह सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है। उसका मनुष्य-जन्म सार्थक हो जाता है॥ १४॥

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥१५॥

तु=उसके बाद; **यदा**=जब; **युक्तः**=वह योगी; **इह**=यहाँ; **दीपोपमेन**=दीपकके सदृश (प्रकाशमय); **आत्मतत्त्वेन**=आत्मतत्त्वके द्वारा; **ब्रह्मतत्त्वम्**=ब्रह्मतत्त्वको; **प्रपश्येत्**=भलीभाँति प्रत्यक्ष देख लेता है; [**तदा सः**=उस समय वह;] **अजम्**=(उस) अजन्मा; **ध्रुवम्**=निश्चल; **सर्वतत्त्वैः**=समस्त तत्त्वोंसे; **विशुद्धम्**=विशुद्ध; **देवम्**=परमदेव परमात्माको; **ज्ञात्वा**=जानकर; **सर्वपाशैः**=सब बन्धनोंसे; **मुच्यते**=सदाके लिये छूट जाता है॥ १५॥

व्याख्या—फिर जब वह योगी इसी स्थितिमें दीपकके सदृश निर्मल प्रकाशमय पूर्वोक्त आत्मतत्त्वके द्वारा ब्रह्मतत्त्वको भलीभाँति देख लेता है—अर्थात् उन परब्रह्म परमात्माको प्रत्यक्ष कर लेता है, तब उन जन्मादि समस्त विकारोंसे रहित, अचल और निश्चित तथा समस्त तत्त्वोंसे असङ्ग—सर्वथा विशुद्ध परम देव परमात्माको तत्त्वसे जानकर सब प्रकारके बन्धनोंसे सदाके लिये छूट जाता है।

इस मन्त्रमें आत्मतत्त्वसे ब्रह्मतत्त्वको जाननेकी बात कहकर यह भाव दिखाया गया है कि परमात्माका साक्षात्कार मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा नहीं हो सकता। इन सबकी वहाँ पहुँच नहीं है, वे एकमात्र आत्मतत्त्वके द्वारा ही प्रत्यक्ष होते हैं॥ १५॥

एष ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥१६॥

ह=निश्चय ही; **एषः**=यह (ऊपर बताया हुआ); **देवः**=परमदेव परमात्मा; **सर्वाः**=समस्त; **प्रदिशः अनु**=दिशाओं और अवान्तर दिशाओंमें अनुगत (व्याप्त) है; [**सः**] **ह**=वही—प्रसिद्ध परमात्मा; **पूर्वः**=सबसे पहले; **जातः**=हिरण्यगर्भरूपमें प्रकट हुआ था; (और) **सः उ**=वही; **गर्भे**=समस्त ब्रह्माण्डरूप गर्भमें; **अन्तः**=अन्तर्यामीरूपसे स्थित है; **सः एव**=वही; **जातः**=इस समय जगत्के रूपमें प्रकट है; **सः**=और वही; **जनिष्यमाणः**=भविष्यमें भी प्रकट होने-

वाला है; [**सः**=वह;] **जनान् प्रत्यङ्**=सब जीवोंके भीतर; (अन्तर्यामीरूपसे) **तिष्ठति**=स्थित है; (और) **सर्वतोमुखः**=सब ओर मुखवाला है ॥ १६ ॥

व्याख्या—निश्चय ही ये ऊपर बताये हुए परमदेव ब्रह्म समस्त दिशा और अवान्तर दिशाओंमें व्याप्त हैं अर्थात् सर्वत्र परिपूर्ण हैं । जगत्में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ वे न हों । वे ही प्रसिद्ध परब्रह्म परमात्मा सबसे पहले हिरण्यगर्भरूपमें प्रकट हुए थे । वे ही इस ब्रह्माण्डरूप गर्भमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं । वे ही इस समय जगत्के रूपमें प्रकट हैं और भविष्यमें अर्थात् प्रलयके बाद सृष्टिकालमें पुनः प्रकट होनेवाले हैं । वे समस्त जीवोंके भीतर अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं, तथा सब ओर मुखवाले अर्थात् सबको सब ओरसे देखनेवाले हैं ॥ १६ ॥

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥१७॥

यः=जो; **देवः**=परमदेव परमात्मा; **अग्नौ**=अग्निमें है; **यः**=जो; **अप्सु**=जलमें है; **यः**=जो; **विश्वम् भुवनम् आविवेश**=समस्त लोकोंमें प्रविष्ट हो रहा है; **यः**=जो; **ओषधीषु**=ओषधियोंमें है; (तथा) **यः**=जो; **वनस्पतिषु**=वनस्पतियोंमें है; **तस्मै देवाय**=उन परमदेव परमात्माके लिये; **नमः**=नमस्कार है; **नमः**=नमस्कार है ॥ १७ ॥

व्याख्या—जो सर्वशक्तिमान् पूर्णब्रह्म परमदेव अग्निमें हैं, जो जलमें हैं, जो समस्त लोकोंमें अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हो रहे हैं, जो ओषधियोंमें हैं और जो वनस्पतियोंमें हैं, अर्थात् जो सर्वत्र परिपूर्ण हैं, जिनका अनेक प्रकारसे पहले वर्णन कर आये हैं, उन परमदेव परमात्माको नमस्कार है ! नमस्कार है ! 'नमः'शब्दको दुहरानेका अभिप्राय अध्यायकी समाप्तिको सूचित करना है ॥१७॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय अध्याय

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १ ॥

यः=जो; **एकः**=एक; **जालवान्**=जगत्रूप जालका अधिपति; **ईशनीभिः**=अपनी स्वरूपभूत शासनशक्तियोंद्वारा; **ईशते**=शासन करता है; **ईशनीभिः**=उन विविध शासन-शक्तियोंद्वारा; **सर्वान्**=सम्पूर्ण; **लोकान् ईशते**=लोकोंपर शासन करता है; **यः**=(तथा) जो; **एकः**=अकेला; **एव**=ही; **सम्भवे च उद्भवे**=सृष्टि और उसके विस्तारमें (सर्वथा समर्थ है); **एतत्**=इस ब्रह्मको; **ये**=जो महापुरुष; **विदुः**=जान लेते हैं; **ते**=वे; **अमृताः**=अमर; **भवन्ति**=हो जाते हैं ॥ १ ॥

व्याख्या—जो एक—अद्वितीय परमात्मा जगत्-रूप जालकी रचना करके अपनी स्वरूपभूत शासन-शक्तियोंद्वारा उसपर शासन कर रहे हैं, तथा उन विविध शासन-शक्तियोंद्वारा समस्त लोकों और लोकपालोंका यथायोग्य संचालन कर रहे हैं—जिनके शासनमें ये सब अपने-अपने कर्तव्योंका नियमपूर्वक पालन कर रहे हैं, तथा जो अकेले ही बिना किसी दूसरेकी सहायता लिये समस्त जगत्की उत्पत्ति और उसका विस्तार करनेमें सर्वथा समर्थ हैं, उन परब्रह्म परमेश्वरको जो महापुरुष तत्त्वसे जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं—जन्म-मृत्युके जालसे सदाके लिये छूट जाते हैं ॥ १ ॥

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥ २ ॥

यः=जो; **ईशनीभिः**=अपनी स्वरूपभूत विविध शासन-शक्तियोंद्वारा; **इमान्**=इन सब; **लोकान् ईशते**=लोकोंपर शासन करता है; [**सः**] **रुद्रः**=वह रुद्र; **एकः हि**=एक ही है; (इसीलिये विद्वान् पुरुषोंने जगत्के कारणका निश्चय करते समय) **द्वितीयाय न तस्थुः**=दूसरेका आश्रय नहीं लिया; [**सः**=वह परमात्मा;] **जनान् प्रत्यङ्**=समस्त

जीवोंके भीतर; **तिष्ठति**=स्थित हो रहा है; **विश्वा**=सम्पूर्ण; **भुवनानि संसृज्य**=लोकोंकी रचना करके; **गोपाः**=उनकी रक्षा करनेवाला परमेश्वर; **अन्तकाले**=प्रलयकालमें; **संचुकोच**=इन सबको समेट लेता है ॥ २ ॥

व्याख्या—जो अपनी स्वरूपभूत विविध शासन-शक्तियोंद्वारा इन सब लोकोंपर शासन करते हैं—उनका नियमानुसार संचालन करते हैं, वे परमेश्वर एक ही हैं। अर्थात् यद्यपि इस विश्वका नियमन करनेवाली शक्तियाँ अनेक हैं, वे सब हैं एक ही परमेश्वरकी शक्तियाँ, अलग-अलग नहीं हैं। इसी कारण, ज्ञानीजनोंने जगत्के कारणका निश्चय करते समय किसी भी दूसरे तत्त्वका आश्रय नहीं लिया। सबने एक स्वरसे यही निश्चय किया कि एक परब्रह्म ही इस जगत्के कारण हैं। वे परमात्मा सब जीवोंके भीतर अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं। इन समस्त लोकोंकी रचना करके उनकी रक्षा करनेवाले परमेश्वर प्रलयकालमें स्वयं ही इन सबको समेट लेते हैं, अर्थात् अपनेमें विलीन कर लेते हैं। उस समय इनकी भिन्न-भिन्न रूपोंमें अभिव्यक्ति नहीं रहती ॥ २ ॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥ ३ ॥

विश्वतश्चक्षुः=सब जगह आँखवाला; **उत**=तथा; **विश्वतोमुखः**=सब जगह मुखवाला; **विश्वतोबाहुः**=सब जगह हाथवाला; **उत**=और; **विश्वतस्पात्**=सब जगह पैरवाला; **द्यावाभूमी जनयन्**=आकाश और पृथ्वीकी सृष्टि करनेवाला; [**सः**=वह;] **एकः**=एकमात्र; **देवः**=देव (परमात्मा); **बाहुभ्याम्**=मनुष्य आदि जीवोंको दो-दो बाँहोंसे; **संधमति**=युक्त करता है; (तथा) **पतत्रैः**=(पक्षी-पतंग आदिको) पाँखोंसे; **सं [धमति]**=युक्त करता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—वे परमदेव परमेश्वर एक हैं; फिर भी उनकी सब जगह आँखें हैं, सब जगह मुख हैं, सब जगह हाथ हैं और सब जगह पैर हैं। भाव यह कि वे सम्पूर्ण लोकोंमें स्थित समस्त जीवोंके कर्म और विचारोंको तथा समस्त घटनाओंको अपनी दिव्य शक्तिद्वारा निरन्तर देखते रहते हैं, कोई भी बात उनसे छिपी नहीं रहती। उनका भक्त उनको जहाँ-कहीं भोजनके योग्य वस्तु समर्पित करता है, उसे वे वहीं भोग लगा सकते हैं। वे सब जगह प्रत्येक वस्तुको एक साथ ग्रहण करनेमें और अपने आश्रित जनोंके संकटका नाश करके उनकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं; तथा जहाँ-कहीं उनके भक्त उन्हें बुलाना चाहें, वहीं वे एक साथ पहुँच सकते हैं। संसारमें ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ उनकी ये शक्तियाँ विद्यमान न हों। आकाशसे लेकर पृथ्वीतक समस्त लोकोंकी रचना करनेवाले एक ही परमदेव परमेश्वर मनुष्य आदि प्राणियोंको दो-दो भुजाओंसे और पक्षियोंको पाँखोंसे युक्त करते हैं। भाव यह कि वे समस्त प्राणियोंको आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न शक्तियों एवं साधनोंसे सम्पन्न करते हैं। यहाँ भुजा और पाँखोंका कथन उपलक्षणमात्र है। इससे यह समझ लेना चाहिये कि समस्त प्राणियोंमें जो कुछ भी शक्ति है, वह सब परमात्माकी ही दी हुई है ॥ ३ ॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ ४ ॥

यः=जो; **रुद्रः**=रुद्र; **देवानाम्**=इन्द्रादि देवताओंकी; **प्रभवः**=उत्पत्तिका हेतु; **च**=और; **उद्भवः**=वृद्धिका हेतु है; **च**=तथा; (जो) **विश्वाधिपः**=सबका अधिपति; (और) **महर्षिः**=महान् ज्ञानी (सर्वज्ञ) है; **पूर्वम्**=(जिसने) पहले; **हिरण्यगर्भम्**=हिरण्यगर्भको; **जनयामास**=उत्पन्न किया था; **सः**=वह परमदेव परमेश्वर; **नः**=हमलोगोंको; **शुभया बुद्ध्या**=शुभ बुद्धिसे; **संयुनक्तु**=संयुक्त करे ॥ ४ ॥

व्याख्या—सबको अपने शासनमें रखनेवाले जो रुद्ररूप परमेश्वर इन्द्रादि समस्त देवताओंको उत्पन्न करते और बढ़ाते हैं तथा जो सबके अधिपति और महान् ज्ञानी—सर्वज्ञ हैं, जिन्होंने सृष्टिके आदिमें हिरण्यगर्भको उत्पन्न किया था, वे परमदेव परमात्मा हमलोगोंको शुभ बुद्धिसे संयुक्त करें ॥ ४ ॥

या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी।
तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥ ५ ॥

रुद्र=हे रुद्रदेव; **ते**=तेरी; **या**=जो; **अघोरा**=भयानकतासे शून्य (सौम्य); **अपापकाशिनी**=पुण्यसे प्रकाशित होनेवाली; (तथा) **शिवा**=कल्याणमयी; **तनूः**=मूर्ति है; **गिरिशन्त**=हे पर्वतपर रहकर सुखका विस्तार करनेवाले शिव; **तया**=उस; **शन्तमया तनुवा**=परम शान्त मूर्तिसे; (तू कृपा करके) **नः अभिचाकशीहि**=हमलोगोंको देखो ॥ ५ ॥

व्याख्या—हे रुद्रदेव ! आपकी जो भयानकतासे शून्य तथा पुण्यकर्मोंसे प्रकाशित होनेवाली कल्याणमयी सौम्यमूर्ति है—जिसका दर्शन करके मनुष्य परम आनन्दमें मग्न हो जाता है;—हे गिरिशन्त अर्थात् पर्वतपर निवास करते हुए समस्त लोकोंको सुख पहुँचानेवाले परमेश्वर ! उस परमशान्त मूर्तिसे ही कृपा करके आप हमलोगोंकी ओर देखिये । आपकी कृपादृष्टि पड़ते ही हम सर्वथा पवित्र होकर आपकी प्राप्तिके योग्य बन जायँगे ॥ ५ ॥

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥ ६ ॥

गिरिशन्त=हे गिरिशन्त !; **याम्**=जिस; **इषुम्**=बाणको; **अस्तवे**=फेंकनेके लिये; (तू) **हस्ते**=हाथमें; **बिभर्षि**=धारण किये हुए है; **गिरित्र**=हे गिरिराज हिमालयकी रक्षा करनेवाले देव !; **ताम्**=उस बाणको; **शिवाम्**=कल्याणमय; **कुरु**=बना ले; **पुरुषम्**=जीव-समुदायरूप; **जगत्**=जगत्को; **मा हिंसीः**=नष्ट न कर (कष्ट न दे) ॥ ६ ॥

व्याख्या—हे गिरिशन्त—हे कैलासवासी सुखदायक परमेश्वर ! जिस बाणको फेंकनेके लिये आपने हाथमें ले रक्खा है, हे गिरिराज हिमालयकी रक्षा करनेवाले ! आप उस बाणको कल्याणमय बना लें—उसकी क्रूरताको नष्ट करके उसे शान्तिमय बना लें । इस जीवसमुदायरूप जगत्को कष्ट न दें—इसका विनाश न करें ॥ ६ ॥

ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तं यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वामृता भवन्ति ॥ ७ ॥

ततः=पूर्वोक्त जीव-समुदायरूप जगत्से; **परम्**=परे; (और) **ब्रह्मपरम्**=हिरण्यगर्भरूप ब्रह्मासे भी श्रेष्ठ; **सर्वभूतेषु**=समस्त प्राणियोंमें; **यथानिकायम्**=उनके शरीरोंके अनुरूप होकर; **गूढम्**=छिपे हुए; (और) **विश्वस्य परिवेष्टितारम्**=सम्पूर्ण विश्वको सब ओरसे घेरे हुए; **तम्**=उस; **बृहन्तम्**=महान्, सर्वत्र व्यापक; **एकम्**=एकमात्र देव; **ईशम्**=परमेश्वरको; **ज्ञात्वा**=जानकर; **अमृताः भवन्ति**=(ज्ञानीजन) अमर हो जाते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या—जो पहले कहे हुए जीव-समुदायरूप जगत्से और हिरण्यगर्भ नामक ब्रह्मासे भी सर्वथा श्रेष्ठ हैं, समस्त प्राणियोंमें उनके शरीरोंके अनुरूप होकर छिपे हुए हैं, समस्त जगत्को सब ओरसे घेरे हुए हैं, तथा सर्वत्र व्याप्त और महान् हैं, उन एकमात्र परमेश्वरको जानकर ज्ञानीजन सदाके लिये अमर हो जाते हैं; फिर कभी उनका जन्म-मरण नहीं होता ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अब इस मन्त्रमें ज्ञानी महापुरुषके अनुभवकी बात कहकर परमात्मज्ञानके फलकी दृढ़ता दिखलाते हैं—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ ८ ॥

तमसः परस्तात्=अविद्यारूप अन्धकारसे अतीत; (तथा) **आदित्यवर्णम्**=सूर्यकी भाँति स्वयंप्रकाशस्वरूप; **एतम्**=इस; **महान्तम् पुरुषम्**=महान् पुरुष (परमेश्वर) को; **अहम्**=मैं; **वेद**=जानता हूँ; **तम्**=उसको; **विदित्वा**=जानकर; **एव**=ही; (मनुष्य) **मृत्युम्**=मृत्युको; **अत्येति (अति+एति)**=उल्लङ्घन कर जाता है; **अयनाय**=(परमपदकी) प्राप्तिके लिये; **अन्यः**=दूसरा; **पन्थाः**=मार्ग; **न**=नहीं; **विद्यते**=है ॥ ८ ॥

व्याख्या—कोई ज्ञानी महापुरुष कहता है—'इन महान्से भी महान् परम पुरुषोत्तमको मैं जानता हूँ । वे अविद्यारूप अन्धकारसे सर्वथा अतीत हैं तथा सूर्यकी भाँति स्वयंप्रकाशस्वरूप हैं। उनको जानकर ही मनुष्य मृत्युका उल्लङ्घन करनेमें

—इस जन्म-मृत्युके बन्धनसे सदाके लिये छुटकारा पानेमें समर्थ होता है। परम पदकी प्राप्तिके लिये इसके सिवा दूसरा कोई मार्ग अर्थात् उपाय नहीं है ॥ ८ ॥

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥ ९ ॥

यस्मात् परम्=जिससे श्रेष्ठ; **अपरम्**=दूसरा; **किंचित्**=कुछ भी; **न**=नहीं; **अस्ति**=है; **यस्मात्**=जिससे (बढ़कर); **कश्चित्**=कोई भी; **न**=न तो; **अणीयः**=अधिक सूक्ष्म; **न**=और न; **ज्यायः**=महान् ही; **अस्ति**=है; **एकः**=(जो) अकेला ही; **वृक्षः इव**=वृक्षकी भाँति; **स्तब्धः**=निश्चलभावसे; **दिवि**=प्रकाशमय आकाशमें; **तिष्ठति**=स्थित है; **तेन पुरुषेण**=उस परमपुरुष पुरुषोत्तमसे; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=सम्पूर्ण जगत्; **पूर्णम्**=परिपूर्ण है ॥ ९ ॥

व्याख्या—उन परमदेव परमेश्वरसे श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं है, वे सर्वश्रेष्ठ हैं। जितने भी सूक्ष्म तत्त्व हैं, उन सबसे अधिक सूक्ष्म वे परमेश्वर हैं। उनसे अधिक सूक्ष्म कोई भी नहीं है। इसीसे वे छोटे-से-छोटे जीवके शरीरमें प्रविष्ट होकर स्थित हैं। इसी प्रकार जितने भी महान् व्यापक तत्त्व हैं, उन सबसे महान्—अधिक व्यापक वे परब्रह्म हैं; उनसे बड़ा—उनसे अधिक व्यापक कोई भी नहीं है। इसीसे वे प्रलयकालमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको अपने अंदर लीन कर लेते हैं। जो अकेले ही वृक्षकी भाँति निश्चलभावसे परमधामरूप प्रकाशमय दिव्य आकाशमें स्थित हैं, वे परम पुरुष परमेश्वर निराकाररूपसे सारे जगत्में परिपूर्ण हैं ॥ ९ ॥

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्। य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥१०॥

ततः=उस पहले बताये हुए हिरण्यगर्भसे; **यत्**=जो; **उत्तरतरम्**=अत्यन्त उत्कृष्ट है; **तत्**=वह परब्रह्म परमात्मा; **अरूपम्**=आकाररहित; (और) **अनामयम्**=सब प्रकारके दोषोंसे शून्य है; **ये**=जो; **एतत्**=इस परब्रह्म परमात्माको; **विदुः**=जानते हैं; **ते**=वे; **अमृताः**=अमर; **भवन्ति**=हो जाते हैं; **अथ**=परंतु; **इतरे**=इस रहस्यको न जाननेवाले दूसरे लोग; (बार-बार) **दुःखम्**=दुःखको; **एव**=ही; **अपियन्ति**=प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

व्याख्या—उस पहले बताये हुए हिरण्यगर्भसे जो सब प्रकारसे अत्यन्त उत्कृष्ट हैं, वे परब्रह्म परमात्मा आकाररहित और सब प्रकारके विकारोंसे सर्वथा शून्य हैं; जो कोई महापुरुष इन परब्रह्म परमात्माको जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं—सदाके लिये जन्म-मृत्युके दुःखोंसे छूट जाते हैं। परंतु जो इन्हें नहीं जानते, वे सब लोग निश्चयपूर्वक बार-बार दुःखोंको प्राप्त होते हैं। अतः मनुष्यको सदाके लिये दुःखोंसे छूटने और परमानन्दस्वरूप परमात्माको पानेके लिये उन्हें जानना चाहिये ॥१०॥

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः ॥११॥

सः=वह; **भगवान्**=भगवान्; **सर्वाननशिरोग्रीवः**=सब ओर मुख, सिर और ग्रीवावाला है; **सर्वभूतगुहाशयः**=समस्त प्राणियोंके हृदयरूप गुफामें निवास करता है; (और) **सर्वव्यापी**=सर्वव्यापी है; **तस्मात्**=इसलिये; **सः**=वह; **शिवः**=कल्याणस्वरूप परमेश्वर; **सर्वगतः**=सब जगह पहुँचा हुआ है ॥ ११ ॥

व्याख्या—उन सर्वेश्वर भगवान्के सभी जगह मुख हैं, सभी जगह सिर और सभी जगह गला हैं। भाव यह कि वे प्रत्येक स्थानपर प्रत्येक अङ्गद्वारा किया जानेवाला कार्य करनेमें समर्थ हैं। वे समस्त प्राणियोंके हृदयरूप गुफामें निवास करते हैं और सर्वव्यापी हैं, इसलिये वे कल्याणस्वरूप परमेश्वर सभी जगह पहुँचे हुए हैं। अभिप्राय यह कि साधक उनको जिस समय, जहाँ और जिस रूपमें प्रत्यक्ष करना चाहे, उसी समय, उसी जगह और उसी रूपमें वे प्रत्यक्ष हो सकते हैं ॥ ११ ॥

महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ॥१२॥

वै=निश्चय ही; **एषः**=यह; **महान्**=महान्; **प्रभुः**=समर्थ; **ईशानः**=सबपर शासन करनेवाला; **अव्ययः**=अविनाशी; (एवं) **ज्योतिः**=प्रकाशस्वरूप; **पुरुषः**=परमपुरुष पुरुषोत्तम; **इमाम् सुनिर्मलाम् प्राप्तिम् [प्रति]**=अपनी प्राप्तिरूप इस अत्यन्त निर्मल लाभकी ओर; **सत्त्वस्य प्रवर्तकः**=अन्तःकरणको प्रेरित करनेवाला है ॥ १२ ॥

व्याख्या—निश्चय ही ये सबपर शासन करनेवाले, महान् प्रभु तथा अविनाशी और प्रकाशस्वरूप परम पुरुष पुरुषोत्तम पहले बताये हुए इस परम निर्मल लाभके प्रति अर्थात् अपने आनन्दमय विशुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिकी ओर मनुष्यके अन्तःकरणको प्रेरित करते हैं, हरेक मनुष्यको ये अपनी ओर आकर्षित करते हैं; तथापि यह मूर्ख जीव सब प्रकारका सुयोग पाकर भी उनकी प्रेरणाके अनुसार उनकी प्राप्तिके लिये तत्परतासे चेष्टा नहीं करता, इसी कारण मारा-मारा फिरता है ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१३॥

अङ्गुष्ठमात्रः=(यह) अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला; **अन्तरात्मा**=अन्तर्यामी; **पुरुषः**=परम पुरुष (पुरुषोत्तम); **सदा**=सदा ही; **जनानाम्**=मनुष्योंके; **हृदये**=हृदयमें; **संनिविष्टः**=सम्यक् प्रकारसे स्थित है; **मन्वीशः**=मनका स्वामी है; (तथा) **हृदा**=निर्मल हृदय; (और) **मनसा**=विशुद्ध मनसे; **अभिक्लृप्तः**=ध्यानमें लाया हुआ (प्रत्यक्ष होता है); **ये**=जो; **एतत्**=इस परब्रह्म परमेश्वरको; **विदुः**=जान लेते हैं; **ते**=वे; **अमृताः**=अमर; **भवन्ति**=हो जाते हैं ॥ १३ ॥

व्याख्या—अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाले अन्तर्यामी परमपुरुष परमेश्वर सदा ही मनुष्योंके हृदयमें सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं और मनके स्वामी हैं, तथा निर्मल हृदय और विशुद्ध मनके द्वारा ध्यानमें लाये जाकर प्रत्यक्ष होते हैं। जो साधक इन परब्रह्म परमेश्वरको जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं, अर्थात् सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाते हैं—अमृतस्वरूप बन जाते हैं। यहाँ परमात्माको अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला इसलिये बताया गया है कि मनुष्यका हृदय अँगूठेके नापका होता है और वही परमात्माकी उपलब्धिका स्थान है। ब्रह्मसूत्रमें भी इस विषयपर विचार करके यही निश्चय किया गया है (ब्र० सू० १ । ३ । २४-२५) ॥ १३ ॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१४॥

पुरुषः=वह परम पुरुष; **सहस्रशीर्षा**=हजारों सिरवाला; **सहस्राक्षः**=हजारों, आँखवाला; **सहस्रपात्**=(और) हजारों पैरवाला है; **सः**=वह; **भूमिम्**=समस्त जगत्को; **विश्वतः**=सब ओरसे; **वृत्वा**=घेरकर; **दशाङ्गुलम् अति**=नाभिसे दस अङ्गुल ऊपर (हृदयमें); **अतिष्ठत्**= स्थित है ॥ १४ ॥

व्याख्या—उन परम पुरुष परमेश्वरके हजारों सिर, हजारों आँखें और हजारों पैर हैं। अर्थात् सब अवयवोंसे रहित होनेपर भी उनके सिर, आँख और पैर आदि सभी अङ्ग अनन्त और असंख्य हैं। वे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर समस्त जगत्को सब ओरसे घेरकर सर्वत्र व्याप्त हुए ही नाभिसे दस अंगुल ऊपर हृदयाकाशमें स्थित हैं। वे सर्वव्यापी और महान् होते हुए ही हृदयरूप एकदेशमें स्थित हैं। वे अनेक विरुद्ध धर्मोंके आश्रय हैं ॥ १४ ॥

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥१५॥

यत्=जो; **भूतम्**=अबसे पहले हो चुका है; **यत्**=जो; **भव्यम्**=भविष्यमें होनेवाला है; **च**=और; **यत्**=जो; **अन्नेन**=खाद्य पदार्थोंसे; **अतिरोहति**=इस समय बढ़ रहा है; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=समस्त जगत्; **पुरुषः एव**=परम पुरुष परमात्मा ही है; **उत**=और; (वही) **अमृतत्वस्य**=अमृतस्वरूप मोक्षका; **ईशानः**=स्वामी है ॥ १५ ॥

व्याख्या—जो अबसे पहले हो चुका है, जो भविष्यमें होनेवाला है और जो वर्तमान कालमें अन्नके द्वारा अर्थात् खाद्य पदार्थोंके द्वारा बढ़ रहा है, वह समस्त जगत् परम पुरुष परमात्माका ही स्वरूप है। वे स्वयं ही अपनी स्वरूपभूत अचिन्त्यशक्तिसे इस रूपमें प्रकट होते हैं; तथा वे ही अमृतस्वरूप मोक्षके स्वामी हैं अर्थात् जीवोंको संसार-बन्धनसे छुड़ाकर अपनी प्राप्ति करा देते हैं। अतएव उनकी प्राप्तिके अभिलाषी साधकोंको उन्हींकी शरणमें जाना चाहिये ॥ १५ ॥

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१६॥

तत्=वह परम पुरुष परमात्मा; **सर्वतःपाणिपादम्**=सब जगह हाथ-पैरवाला; **सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्**=सब जगह आँख, सिर और मुखवाला; (तथा) **सर्वतःश्रुतिमत्**=सब जगह कानोंवाला है; (वही) **लोके**=ब्रह्माण्डमें; **सर्वम्**=सबको; **आवृत्य**=सब ओरसे घेरकर; **तिष्ठति**=स्थित है ॥ १६ ॥

व्याख्या—उन परमात्माके हाथ, पैर, आँखें, सिर, मुख और कान सब जगह हैं। वे सब जगह सब शक्तियोंसे सब कार्य करनेमें समर्थ हैं। उन्होंने सभी जगह अपने भक्तोंकी रक्षा करने तथा उन्हें अपनी ओर खींचनेके लिये हाथ बढ़ा रक्खा है। उनका भक्त उन्हें जहाँ चाहता है, वहीं उन्हें पहुँचा हुआ पाता है। वे सब जगह सब जीवोंद्वारा किये जानेवाले कर्मोंको देख रहे हैं। उनका भक्त जहाँ उन्हें प्रणाम करता है, सर्वत्र व्याप्त होनेके कारण उनके चरण और सिर आदि अङ्ग वहीं मौजूद रहते हैं। अपने भक्तकी प्रार्थना सुननेके लिये उनके कान सर्वत्र हैं और अपने भक्तद्वारा अर्पण की हुई वस्तुका भोग लगानेके लिये उनका मुख भी सर्वत्र विद्यमान है। वे परमेश्वर इस ब्रह्माण्डमें सबको सब ओरसे घेरकर स्थित हैं—इस बातपर विश्वास करके मनुष्यको उनकी सेवामें लग जाना चाहिये। यह मन्त्र गीतामें भी इसी रूपमें आया है (१३। ३) ॥ १६ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥१७॥

(जो परम पुरुष परमात्मा) **सर्वेन्द्रियविवर्जितम्**=समस्त इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी; **सर्वेन्द्रियगुणाभासम्**=समस्त इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है; (तथा) **सर्वस्य**=सबका; **प्रभुम्**=स्वामी; **सर्वस्य**=सबका; **ईशानम्**=शासक; (और) **बृहत्**=सबसे बड़ा; **शरणम्**=आश्रय है; [**प्रपद्येत**=उसकी शरणमें जाना चाहिये] ॥ १७ ॥

व्याख्या—जो सर्वशक्तिमान् परम पुरुष परमात्मा समस्त इन्द्रियोंसे रहित—देहेन्द्रियादि भेदसे शून्य होनेपर भी समस्त इन्द्रियोंके विषयोंको जानते हैं तथा सबके स्वामी, परम समर्थ, सबका शासन करनेवाले और जीवके लिये सबसे बड़े आश्रय हैं, मनुष्यको सर्वतोभावसे उन्हींकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। यही मनुष्य-शरीरका अच्छे-से-अच्छा उपयोग है। इस मन्त्रका पूर्वार्द्ध गीतामें ज्यों-का-त्यों आया है (१३। १४) ॥ १७ ॥

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥१८॥

सर्वस्य=सम्पूर्ण; **स्थावरस्य**=स्थावर; **च**=और; **चरस्य**=जङ्गम; **लोकस्य वशी**=जगत्को वशमें रखनेवाला; **हंसः**=वह प्रकाशमय परमेश्वर; **नवद्वारे**=नव द्वारवाले; **पुरे**=शरीररूपी नगरमें; **देही**=अन्तर्यामीरूपसे हृदयमें स्थित देही है; (तथा वही) **बहिः**=बाह्य जगत्में भी; **लेलायते**=लीला कर रहा है ॥ १८ ॥

व्याख्या—सम्पूर्ण स्थावर और जङ्गम जीवोंके समुदायरूप इस जगत्को अपने वशमें रखनेवाले वे प्रकाशमय परमेश्वर दो आँख, दो कान, दो नासिका, एक मुख, एक गुदा और एक उपस्थ—इस प्रकार नौ दरवाजोंवाले मनुष्य-शरीररूप नगरमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं और वे ही इस बाह्य जगत्में भी लीला कर रहे हैं। यों समझकर मन जहाँ सुगमतासे स्थिर हो सके, वहीं उनका ध्यान करना चाहिये ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—पहले जो यह बात कही थी कि वे समस्त इन्द्रियोंसे रहित होकर भी सब इन्द्रियोंके विषयोंको जानते हैं, उसीका स्पष्टीकरण किया जाता है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥१९॥

सः=वह परमात्मा; **अपाणिपादः**=हाथ-पैरोंसे रहित होकर भी; **ग्रहीता**=समस्त वस्तुओंको ग्रहण करनेवाला; (तथा) **जवनः**=वेगपूर्वक सर्वत्र गमन करनेवाला है; **अचक्षुः**=आँखोंके बिना ही; **पश्यति**=वह सब कुछ देखता है; (और) **अकर्णः**=कानोंके बिना ही; **शृणोति**=सब कुछ सुनता है; **सः**=वह; **वेद्यम्**=जो कुछ भी जाननेमें आनेवाली वस्तुएँ हैं, उन सबको; **वेत्ति**=जानता है; **च**=और; **तस्य वेत्ता**=उसको जाननेवाला; (कोई) **न**=नहीं; **अस्ति**=है; **तम्**=(ज्ञानी पुरुष) उसे; **महान्तम्**=महान्; **अग्र्यम्**=आदि; **पुरुषम्**=पुरुष; **आहुः**=कहते हैं ॥ १९ ॥

व्याख्या—जिनका प्रकरण चल रहा है, वे परब्रह्म परमात्मा हाथोंसे रहित होनेपर भी सब जगह समस्त वस्तुओंको ग्रहण कर लेते हैं तथा पैरोंसे रहित होकर भी बड़े वेगसे इच्छानुसार सर्वत्र गमनागमन करते हैं। आँखोंसे रहित होनेपर भी सब जगह सब कुछ देखते हैं, कानोंसे रहित होकर भी सब जगह सब कुछ सुनते हैं। वे समस्त जानने योग्य और जाननेमें आनेवाले जड-चेतन पदार्थोंको भलीभाँति जानते हैं, परंतु उनको जाननेवाला कोई नहीं है। जो सबको जाननेवाले हैं, उन्हें भला कौन जान सकता है। उनके विषयमें ज्ञानी महापुरुष कहते हैं कि वे सबके आदि, पुरातन, महान् पुरुष हैं ॥ १९ ॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥२०॥

अणोः अणीयान्=(वह) सूक्ष्मसे भी अतिसूक्ष्म; (तथा) **महतः महीयान्**=बड़ेसे भी बहुत बड़ा; **आत्मा**=परमात्मा; **अस्य जन्तोः**=इस जीवकी; **गुहायाम्**=हृदयरूप गुफामें; **निहितः**=छिपा हुआ है; **धातुः**=सबकी रचना करनेवाले परमेश्वरकी; **प्रसादात्**=कृपासे; (जो मनुष्य) **तम्**=उस; **अक्रतुम्**=संकल्परहित; **ईशम्**=परमेश्वरको; (और) **महिमानम्**=उसकी महिमाको; **पश्यति**=देख लेता है; (वह) **वीतशोकः**=सब प्रकारके दुःखोंसे रहित; [**भवति**=हो जाता है] ॥ २० ॥

व्याख्या—वे सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म और बड़ेसे भी बहुत बड़े परब्रह्म परमात्मा इस जीवकी हृदयरूप गुफामें छिपे हुए हैं। सबकी रचना करनेवाले उन परमेश्वरकी कृपासे ही मनुष्य उन स्वार्थके संकल्पसे सर्वथा रहित, अकारण कृपा करनेवाले परम सुहृद् परमेश्वरको और उनकी महिमाको जान सकता है। जब उन परम दयालु परम सुहृद् परमेश्वरका यह साक्षात् कर लेता है, तब सदाके लिये सब प्रकारके दुःखोंसे रहित होकर उन परम आनन्दस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है ॥ २० ॥

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात् ।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥२१॥

ब्रह्मवादिनः=वेदके रहस्यका वर्णन करनेवाले महापुरुष; **यस्य**=जिसके; **जन्मनिरोधम्**=जन्मका अभाव; **प्रवदन्ति**=बतलाते हैं; **हि** [**यम्**]=तथा जिसको; **नित्यम्**=नित्य; **प्रवदन्ति**=बतलाते हैं; **एतम्**=इस; **विभुत्वात्**=व्यापक होनेके कारण; **सर्वगतम्**=सर्वत्र विद्यमान; **सर्वात्मानम्**=सबके आत्मा; **अजरम्**=जरा, मृत्यु आदि विकारोंसे रहित; **पुराणम्**=पुराण पुरुष परमेश्वरको; **अहम्**=मैं; **वेद**=जानता हूँ ॥ २१ ॥

व्याख्या—परमात्माको प्राप्त हुए महात्माका कहना है कि 'वेदके रहस्यका वर्णन करनेवाले महापुरुष जिन्हें जन्म-रहित तथा नित्य बताते हैं, व्यापक होनेके कारण जो सर्वत्र विद्यमान हैं—जिनसे कोई भी स्थान खाली नहीं है, जो जरा-

मृत्यु आदि समस्त विकारोंसे सर्वथा रहित हैं और सबके आदि—पुराणपुरुष हैं, उन सबके आत्मा—अन्तर्यामी परब्रह्म परमेश्वरको मैं जानता हूँ ॥ २१ ॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थ अध्याय

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ १ ॥

यः=जो; **अवर्णः**=रंग, रूप आदिसे रहित होकर भी; **निहितार्थः**=छिपे हुए प्रयोजनवाला होनेके कारण; **बहुधा शक्तियोगात्**=विविध शक्तियोंके सम्बन्धसे; **आदौ**=सृष्टिके आदिमें; **अनेकान्**=अनेक; **वर्णान्**=रूप-रंग; **दधाति**=धारण कर लेता है; **च**=तथा; **अन्ते**=अन्तमें; **विश्वम्**=यह सम्पूर्ण विश्व; (जिसमें) **व्येति (वि+एति)च**=विलीन भी हो जाता है; **सः**=वह; **देवः**=परमदेव (परमात्मा); **एकः**=एक (अद्वितीय) है; **सः**=वह; **नः**=हमलोगोंको; **शुभया बुद्ध्या**=शुभ बुद्धिसे; **संयुनक्तु**=संयुक्त करे ॥ १ ॥

व्याख्या—जो परब्रह्म परमात्मा अपने निराकार स्वरूपमें रूप-रंग आदिसे रहित होकर भी सृष्टिके आदिमें किसी अज्ञात प्रयोजनसे अपनी स्वरूपभूत नाना प्रकारकी शक्तियोंके सम्बन्धसे अनेक रूप-रंग आदि धारण करते हैं तथा अन्तमें यह सम्पूर्ण जगत् जिनमें विलीन भी हो जाता है—अर्थात् जो बिना किसी अपने प्रयोजनके जीवोंका कल्याण करनेके लिये ही उनके कर्मानुसार इस नाना रंग-रूपवाले जगत्की रचना, पालन और संहार करते हैं, वे परमदेव परमेश्वर वास्तवमें एक—अद्वितीय हैं । उनके अतिरिक्त कुछ नहीं है । वे हमें शुभ बुद्धिसे युक्त करें ॥ १ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार प्रार्थना करनेका प्रकार बताया गया । अब तीन मन्त्रोंद्वारा परमेश्वरका जगत्के रूपमें चिन्तन करते हुए उनकी स्तुति करनेका प्रकार बतलाया जाता है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ॥ २ ॥

तत् एव=वही; **अग्निः**=अग्नि है; **तत्**=वह; **आदित्यः**=सूर्य है; **तत्**=वह; **वायुः**=वायु है; **उ**=तथा; **तत्**=वही; **चन्द्रमाः**=चन्द्रमा है; **तत्**=वह; **शुक्रम्**=अन्यान्य प्रकाशयुक्त नक्षत्र आदि है; **तत्**=वह; **आपः**=जल है; **तत्**=वह; **प्रजापतिः**=प्रजापति है; (और) **तत् एव**=वही; **ब्रह्म**=ब्रह्मा है ॥ २ ॥

व्याख्या—वे परब्रह्म ही अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा, अन्यान्य प्रकाशमय नक्षत्र आदि जल, प्रजापति और ब्रह्मा हैं । ये सब उन एक अद्वितीय परब्रह्म परमेश्वरकी ही विभूतियाँ हैं । इन सबके अन्तर्यामी आत्मा वे ही हैं, अतः ये सब उन्हींके स्वरूप हैं । इस प्रकार इस सम्पूर्ण जगत्के रूपमें उन परमात्माका चिन्तन करना चाहिये ॥ २ ॥

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥ ३ ॥

त्वम्=तू; **स्त्री**=स्त्री है; **त्वम्**=तू; **पुमान्**=पुरुष है; **त्वम्**=तू ही; **कुमारः**=कुमार; **उत वा**=अथवा; **कुमारी**=कुमारी; **असि**=है; **त्वम्**=तू; **जीर्णः**=बूढ़ा होकर; **दण्डेन**=लाठीके सहारे; **अञ्चसि**=चलता है; **उ**=तथा; **त्वम्**=तू ही; **जातः**=विराट्रूपमें प्रकट होकर; **विश्वतोमुखः**=सब ओर मुखवाला; **भवसि**=हो जाता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—हे सर्वेश्वर ! आप स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी आदि अनेक रूपोंवाले हैं—अर्थात् इन सबके रूपमें आप ही प्रकट हो रहे हैं । आप ही बूढ़े होकर लाठीके सहारे चलते हैं अर्थात् आप ही बुड्ढोंके रूपमें अभिव्यक्त हैं । हे परमात्मन् !

आप ही विराटरूपमें प्रकट होकर सब ओर मुख किये हुए हैं, अर्थात् सम्पूर्ण जगत् आपका ही स्वरूप है। जगत्में जितने भी मुख दिखायी देते हैं, सब आपके ही हैं ॥ ३ ॥

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥ ४ ॥

[**त्वम् एव**=तू ही;] **नीलः**=नीलवर्ण; **पतङ्गः**=पतङ्ग है; **हरितः**=हरे रंगका; (और) **लोहिताक्षः**=लाल आँखोंवाला (पक्षी है एवं); **तडिद्गर्भः**=मेघ; **ऋतवः**=वसन्त आदि ऋतुएँ; (तथा) **समुद्राः**=सप्त समुद्ररूप है; **यतः**=क्योंकि; [**त्वत्तः एव**=तुझसे ही;] **विश्वा**=सम्पूर्ण; **भुवनानि**=लोक; **जातानि**=उत्पन्न हुए हैं; **त्वम्**=तू ही; **अनादिमत्**=अनादि (प्रकृतियों) का स्वामी; (और) **विभुत्वेन**=व्यापकरूपसे; **वर्तसे**=सबमें विद्यमान है ॥ ४ ॥

व्याख्या—हे सर्वान्तर्यामिन्! आप ही नीले रंगके पतङ्ग (भौंरे) तथा हरे रंग और लाल आँखोंवाले पक्षी—तोते हैं; आप ही बिजलीसे युक्त मेघ हैं, वसन्तादि सब ऋतुएँ और सप्त समुद्र भी आपके ही रूप हैं। अर्थात् इन नाना प्रकारके रंग-रूपवाले समस्त जड-चेतन पदार्थोंके रूपमें मैं आपको ही देख रहा हूँ; क्योंकि आपसे ही ये समस्त लोक और उनमें निवास करनेवाले सम्पूर्ण जीव-समुदाय प्रकट हुए हैं। व्यापकरूपसे आप ही सबमें विद्यमान हैं तथा अव्यक्त एवं जीवरूप अपनी दो अनादि प्रकृतियोंके (जिन्हें गीतामें अपरा और परा नामोंसे कहा गया है) स्वामी भी आप ही हैं। अतः एकमात्र आपको ही मैं सबके रूपमें देखता हूँ ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—पूर्वमन्त्रमें परब्रह्म परमेश्वरको जिन दो प्रकृतियोंका स्वामी बताया गया है, वे दोनों अनादि प्रकृतियाँ कौन-सी हैं—इसका स्पष्टीकरण किया जाता है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ ५ ॥

सरूपाः=अपने ही सदृश अर्थात् त्रिगुणमय; **बह्वीः**=बहुत-से; **प्रजाः**=भूत-समुदायोंको; **सृजमानाम्**=रचनेवाली; (तथा) **लोहितशुक्लकृष्णाम्**=लाल, सफेद और काले रंगकी अर्थात् त्रिगुणमयी; **एकाम्**=एक; **अजाम्**=अजा (अजन्मा—अनादि प्रकृति) को; **हि**=निश्चय ही; **एकः**=एक; **अजः**=अज (अज्ञानी जीव); **जुषमाणः**=आसक्त हुआ; **अनुशेते**=भोगता है; (और) **अन्यः**=दूसरा; **अजः**=अज (ज्ञानी महापुरुष); **एनाम्**=इस; **भुक्तभोगाम्**=भोगी हुई प्रकृतिको; **जहाति**=त्याग देता है ॥ ५ ॥

व्याख्या—पिछले मन्त्रमें जिनका संकेत किया गया है, उन दो प्रकृतियोंमेंसे एक तो वह है, जिसका गीतामें अपरा नामसे उल्लेख हुआ है तथा जिसके आठ भेद किये गये हैं (गीता ७ । ४)। यह अपने अधिष्ठाता परमदेव परमेश्वरकी अध्यक्षतामें अपने ही सदृश अर्थात् त्रिगुणमय असंख्य जीवदेहोंको उत्पन्न करती है। त्रिगुणमयी अथवा त्रिगुणात्मिका होनेसे इसे तीन रंगवाली कहा गया है। सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण ही इसके तीन रंग हैं। सत्त्वगुण निर्मल एवं प्रकाशक होनेसे उसे श्वेत माना गया है। रजोगुण रागात्मक है, अतएव उसका रंग लाल माना गया है तथा तमोगुण अज्ञानरूप एवं आवरक होनेसे उसे कृष्णवर्ण कहा गया है। इन तीन गुणोंको लेकर ही प्रकृतिको सफेद, लाल एवं काले रंगकी कहा गया है। दूसरी जिसका गीतामें जीवरूप परा अथवा चेतन प्रकृतिके नामसे (७ । ५), क्षेत्रज्ञके नामसे (१३ । १) तथा अक्षर पुरुषके नामसे (१५ । १६) वर्णन किया गया है, उसके दो भेद हैं। एक तो वे जीव, जो उस अपरा प्रकृतिमें आसक्त होकर—उसके साथ एकरूप होकर उसके विचित्र भोगोंको अपने कर्मानुसार भोगते हैं। दूसरा समुदाय उन ज्ञानी महापुरुषोंका है, जिन्होंने इसके भोगोंको भोगकर इसे निःसार और क्षणभङ्गुर समझकर इसका सर्वथा परित्याग कर दिया है। ये दोनों प्रकारके जीव स्वरूपतः अजन्मा तथा अनादि हैं। इसीलिये इन्हें 'अज' कहा गया है ॥५॥*

* सांख्यमतावलम्बियोंने इस मन्त्रको सांख्यशास्त्रका बीज माना है और इसीके आधारपर उक्त दर्शनको श्रुति-सम्मत सिद्ध किया है। सांख्यकारिकाके प्रसिद्ध टीकाकार तथा अन्य दर्शनोंके व्याख्याता सर्वतन्त्रस्वतन्त्र स्वनामधन्य श्रीवाचस्पति मिश्रने अपनी सांख्यतत्त्व-कौमुदी नामक टीकाके आरम्भमें इसी मन्त्रको कुछ परिवर्तनके साथ मङ्गलाचरणके रूपमें उद्धृत करते हुए इसमें वर्णित प्रकृतिकी वन्दना

सम्बन्ध—वह परा प्रकृतिरूप जीवसमुदाय, जो इस प्रकृतिके भोगोंको भोगता है, कब और कैसे मुक्त हो सकता है—इस जिज्ञासापर दो मन्त्रोंमें कहते हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ ६ ॥

सयुजा=सदा साथ रहनेवाले; (तथा) **सखाया**=परस्पर सख्यभाव रखनेवाले; **द्वा**=दो; **सुपर्णा**=पक्षी (जीवात्मा एवं परमात्मा); **समानम्**=एक ही; **वृक्षम् परिषस्वजाते**=वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर रहते हैं; **तयोः**=उन दोनोंमेंसे; **अन्यः**=एक (जीवात्मा) तो; **पिप्पलम्**=उस वृक्षके फलों (कर्मफलों) को; **स्वादु**=स्वाद ले-लेकर; **अत्ति**=खाता है; **अन्यः**=(किंतु) दूसरा (ईश्वर); **अनश्नन्**=उनका उपभोग न करता हुआ; **अभिचाकशीति**=केवल देखता रहता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार गीता आदिमें जगत्‌का अश्वत्थ-वृक्षके रूपमें वर्णन किया गया है, उसी प्रकार इस मन्त्रमें शरीरको अश्वत्थ-वृक्षका और जीवात्मा तथा परमात्माको पक्षियोंका रूप देकर वर्णन किया गया है। इसी प्रकार कठोपनिषद्‌में जीवात्मा और परमात्माको गुहामें प्रविष्ट छाया और धूपके रूपमें बताकर वर्णन किया गया है। दोनों जगहका भाव प्रायः एक ही है। यहाँ मन्त्रका सारांश यह है कि यह मनुष्य-शरीर मानो एक पीपलका वृक्ष है। ईश्वर और जीव—ये दोनों सदा साथ रहनेवाले दो मित्र मानो दो पक्षी हैं। ये दोनों इस शरीररूप वृक्षमें एक साथ एक ही हृदयरूप घोंसलेमें निवास करते हैं। शरीरमें रहते हुए प्रारब्धानुसार जो सुख-दुःखरूप कर्मफल प्राप्त होते हैं, वे ही मानो इस पीपलके फल हैं। इन फलोंको जीवात्मारूप एक पक्षी तो स्वादपूर्वक खाता है अर्थात् हर्ष-शोकका अनुभव करते हुए कर्मफलको भोगता है। दूसरा ईश्वररूप पक्षी इन फलोंको खाता नहीं, केवल देखता रहता है। अर्थात् इस शरीरमें प्राप्त हुए सुख-दुःखोंको वह भोगता नहीं, केवल उनका साक्षी बना रहता है। परमात्माकी भाँति यदि जीवात्मा भी इनका द्रष्टा बन जाय तो फिर उसका इनसे कोई सम्बन्ध न रह जाय। ऐसे ही जीवात्माके सम्बन्धमें पिछले मन्त्रमें यह कहा गया है कि वह प्रकृतिका उपभोग कर चुकनेके बाद उसे निःसार समझकर उसका परित्याग कर देता है, उससे मुँह मोड़ लेता है। उसके लिये फिर प्रकृति अर्थात् जगत्‌की सत्ता ही नहीं रह जाती। फिर तो वह और उसका मित्र—दो ही रह जाते हैं और परस्पर मित्रताका आनन्द लूटते हैं। यही इस मन्त्रका तात्पर्य मालूम होता है। मुण्डक० ३। १। १ में भी यह मन्त्र इसी रूपमें आया है ॥ ६ ॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ ७ ॥

समाने वृक्षे=पूर्वोक्त शरीररूप एक ही वृक्षपर रहनेवाला; **पुरुषः**=जीवात्मा; **निमग्नः**=गहरी आसक्तिमें डूबा हुआ है; (अतः) **अनीशया**=असमर्थ होनेके कारण (दीनतापूर्वक); **मुह्यमानः**=मोहित हुआ; **शोचति**=शोक करता रहता है; **यदा**=जब (यह भगवान्‌की अहैतुकी दयासे); **जुष्टम्**=भक्तोंद्वारा नित्यसेवित; **अन्यम्**=अपनेसे भिन्न; **ईशम्**=परमेश्वरको; (और) **अस्य**=उसकी; **महिमानम्**=आश्चर्यमयी महिमाको; **पश्यति**=प्रत्यक्ष देख लेता है; **इति**=तब; **वीतशोकः**=सर्वथा शोकरहित; [**भवति**=हो जाता है] ॥ ७ ॥

व्याख्या—पहले बतलाये हुए इस शरीररूप एक ही वृक्षपर हृदयरूप घोंसलेमें परमात्माके साथ रहनेवाला यह जीवात्मा जबतक अपने साथ रहनेवाले परम सुहृद् परमेश्वरकी ओर नहीं देखता, इस शरीरमें ही आसक्त होकर मोहमें निमग्न रहता है, अर्थात् शरीरमें अत्यन्त ममता करके उसके द्वारा भोगोंका उपभोग करनेमें ही रचा-पचा रहता है, तबतक असमर्थता और दीनतासे मोहित हुआ नाना प्रकारके दुःखोंको भोगता रहता है। जब कभी इसपर भगवान्‌की अहैतुकी दया होती है,

---

की है। यहाँ काव्यमयी भाषामें प्रकृतिको एक तिरंगी बकरीके रूपमें चित्रित किया गया है, जो बद्धजीवरूप बकरेके संयोगसे अपनी ही-जैसी तिरंगी—त्रिगुणमयी संतान उत्पन्न करती है। संस्कृतमें 'अजा' बकरीको भी कहते हैं। इसी श्लेषका उपयोग कर प्रकृतिका आलङ्कारिक रूपमें वर्णन किया गया है।

तब यह अपनेसे भिन्न, अपने ही साथ रहनेवाले, परम सुहृद्, परम प्रिय भगवान्‌को पहचान पाता है। जो भक्तजनोंद्वारा निरन्तर सेवित हैं, उन परमेश्वरको तथा उनकी आश्चर्यमयी महिमाको, जो जगत्‌में सर्वत्र भिन्न-भिन्न प्रकारसे प्रकट हो रही है, जब यह देख लेता है, उस समय तत्काल ही सर्वथा शोकरहित हो जाता है। मुण्डक० ३। १। २ में भी यह मन्त्र इसी रूपमें आया है॥ ७॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ ८॥

यस्मिन्=जिसमें; **विश्वे**=समस्त; **देवाः**=देवगण; **अधि**=भलीभाँति; **निषेदुः**=स्थित हैं; [**तस्मिन्**=उस;] **अक्षरे**=अविनाशी; **परमे व्योमन्**=परम व्योम (परम धाम) में; **ऋचः**=सम्पूर्ण वेद स्थित हैं; **यः**=जो मनुष्य; **तम्**=उसको; **न**=नहीं; **वेद**=जानता; [**सः**=वह;] **ऋचा**=वेदोंके द्वारा; **किम्**=क्या; **करिष्यति**=सिद्ध करेगा; **इत्**=परंतु; **ये**=जो; **तत्**=उसको; **विदुः**=जानते हैं; **ते**=वे तो; **इमे**=ये; **समासते**=सम्यक् प्रकारसे उसीमें स्थित हैं॥ ८॥

व्याख्या—परब्रह्म परमेश्वरके जिस अविनाशी दिव्य चेतन परम आकाशस्वरूप परम धाममें समस्त देवगण अर्थात् उन परमात्माके पार्षदगण उन परमेश्वरकी सेवा करते हुए निवास करते हैं, वहीं समस्त वेद भी पार्षदोंके रूपमें मूर्तिमान् होकर भगवान्‌की सेवा करते हैं। जो मनुष्य उस परम धाममें रहनेवाले परब्रह्म पुरुषोत्तमको नहीं जानता और इस रहस्यको भी नहीं जानता कि समस्त वेद उन परमात्माकी सेवा करनेवाले उन्हींके अङ्गभूत पार्षद हैं, वह वेदोंके द्वारा अपना क्या प्रयोजन सिद्ध करेगा? अर्थात् कुछ सिद्ध नहीं कर सकेगा। परंतु जो उन परमात्माको तत्त्वसे जान लेते हैं, वे तो उस परम धाममें ही सम्यक् प्रकारसे स्थित रहते हैं, अर्थात् वहाँसे कभी नहीं लौटते॥ ८॥

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः॥ ९॥

छन्दांसि=छन्द; **यज्ञाः**=यज्ञ; **क्रतवः**=क्रतु (ज्योतिष्टोम आदि विशेष यज्ञ); **व्रतानि**=नाना प्रकारके व्रत; **च**=तथा; **यत्**=और भी जो कुछ; **भूतम्**=भूत; **भव्यम्**=भविष्य एवं वर्तमानरूपसे; **वेदाः**=वेद; **वदन्ति**=वर्णन करते हैं; **एतत् विश्वम्**=इस सम्पूर्ण जगत्‌को; **मायी**=प्रकृतिका अधिपति परमेश्वर; **अस्मात्**=इस (पहले बताये हुए महाभूतादि तत्त्वोंके समुदाय) से; **सृजते**=रचता है; **च**=तथा; **अन्यः**=दूसरा (जीवात्मा); **तस्मिन्**=उस प्रपञ्चमें; **मायया**=मायाके द्वारा; **संनिरुद्धः**=भलीभाँति बँधा हुआ है॥ ९॥

व्याख्या—जो समस्त वेदमन्त्ररूप छन्द, यज्ञ, क्रतु अर्थात् ज्योतिष्टोमादि विशेष यज्ञ, नाना प्रकारके व्रत अर्थात् शुभ कर्म, सदाचार और उनके नियम हैं तथा और भी जो कुछ भूत, भविष्य, वर्तमान पदार्थ हैं, जिनका वर्णन वेदोंमें पाया जाता है,—इन सबको वे प्रकृतिके अधिष्ठाता परमेश्वर ही अपने अंशभूत इस पहले बताये हुए पञ्चभूत आदि तत्त्व-समुदायसे रचते हैं; इस प्रकार रचे हुए उस जगत्‌में अन्य अर्थात् पहले बताये हुए ज्ञानी महापुरुषोंसे भिन्न जीवसमुदाय मायाके द्वारा बँधा हुआ है। जबतक वह अपने स्वामी परम देव परमेश्वरको साक्षात् नहीं कर लेता, तबतक उसका इस प्रकृतिसे छुटकारा नहीं हो सकता; अतः मनुष्यको उन परमात्माको जानने और पानेकी उत्कट अभिलाषा रखनी चाहिये॥ ९॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥१०॥

मायाम्=माया; **तु**=तो; **प्रकृतिम्**=प्रकृतिको; **विद्यात्**=समझना चाहिये; **तु**=और; **मायिनम्**=मायापति; **महेश्वरम्**=महेश्वरको समझना चाहिये; **तस्य तु**=उसीके; **अवयवभूतैः**=अङ्गभूत कारण-कार्य-समुदायसे; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=सम्पूर्ण; **जगत्**=जगत्; **व्याप्तम्**=व्याप्त हो रहा है॥ १०॥

व्याख्या—इस प्रकरणमें जिसका मायाके नामसे वर्णन हुआ है, वह तो भगवान्‌की शक्तिरूपा प्रकृति है और उस माया नामसे कही जानेवाली शक्तिरूपा प्रकृतिका अधिपति परब्रह्म परमात्मा महेश्वर है; इस प्रकार इन दोनोंको अलग-अलग

समझना चाहिये। उस परमेश्वरकी शक्तिरूपा प्रकृतिके ही अङ्गभूत कारण-कार्यसमुदायसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है ॥ १० ॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं स च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥११॥

यः=जो; **एकः**=अकेला ही; **योनिम् योनिम् अधितिष्ठति**=प्रत्येक योनिका अधिष्ठाता हो रहा है; **यस्मिन्**=जिसमें; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=समस्त जगत्; **समेति**=प्रलयकालमें विलीन हो जाता है; **च**=और; **व्येति च**=सृष्टिकालमें विविध रूपोंमें प्रकट भी हो जाता है; **तम्**=उस; **ईशानम्**=सर्वनियन्ता; **वरदम्**=वरदायक; **ईड्यम्**=स्तुति करने योग्य; **देवम्**=परम देव परमेश्वरको; **निचाय्य**=तत्त्वसे जानकर; (मनुष्य) **अत्यन्तम्**=निरन्तर बनी रहनेवाली; **इमाम्**=इस (मुक्तिरूप); **शान्तिम्**=परम शान्तिको; **एति**=प्राप्त हो जाता है ॥ ११ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमेश्वर प्रत्येक योनिके एकमात्र अध्यक्ष हैं—जगत्में जितने प्रकारके कारण माने जाते हैं, उन सबके अधिष्ठाता हैं। उनमें किसी कार्यको उत्पन्न करनेकी शक्ति उन्हीं सर्वकारण परमात्माकी है और उन्हींकी अध्यक्षतामें वे उन-उन कार्योंको उत्पन्न करते हैं। वे ही उन सबपर शासन करते हैं—उनकी यथायोग्य व्यवस्था करते हैं। यह समस्त जगत् प्रलयके समय उनमें विलीन हो जाता है तथा पुनः सृष्टि-कालमें उन्हींसे विविध रूपोंमें उत्पन्न हो जाता है। उन सर्वनियन्ता, वरदायक, एकमात्र स्तुति करनेयोग्य, परमदेव, सर्वसुहृद्, सर्वेश्वर परमात्माको जानकर यह जीव निरन्तर बनी रहनेवाली परमनिर्वाणरूप शान्तिको प्राप्त हो जाता है। गीतामें इसका शाश्वती शान्ति (गीता ९। ३१), परा शान्ति (गीता १८। ६२) आदि नामोंसे भी वर्णन आता है ॥ ११ ॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥१२॥

यः=जो; **रुद्रः**=रुद्र; **देवानाम्**=इन्द्रादि देवताओंको; **प्रभवः**=उत्पन्न करनेवाला; **च**=और; **उद्भवः**=बढ़ानेवाला है; **च**=तथा; (जो) **विश्वाधिपः**=सबका अधिपति; **महर्षिः**=(और) महान् ज्ञानी (सर्वज्ञ) है; (जिसने सबसे पहले) **जायमानम्**=उत्पन्न हुए; **हिरण्यगर्भम्**=हिरण्यगर्भको; **पश्यत**=देखा था; **सः**=वह परमदेव परमेश्वर; **नः**=हमलोगोंको; **शुभया बुद्ध्या**=शुभ बुद्धिसे; **संयुनक्तु**=संयुक्त करे ॥ १२ ॥

व्याख्या—सबको अपने शासनमें रखनेवाले जो रुद्ररूप परमेश्वर इन्द्रादि समस्त देवताओंको उत्पन्न करते और बढ़ाते हैं तथा जो सबके अधिपति और महान् ज्ञानसम्पन्न (सर्वज्ञ) हैं, जिन्होंने सृष्टिके आदिमें सबसे पहले उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भको देखा था, अर्थात् जो ब्रह्माके भी पूर्ववर्ती हैं, वे परमदेव परमात्मा हमलोगोंको शुभ बुद्धिसे संयुक्त करें, जिससे हम उनकी ओर बढ़कर उन्हें प्राप्त कर सकें। शुभ बुद्धि वही है, जो जीवको परम कल्याणरूप परमात्माकी ओर लगाये। गायत्री-मन्त्रमें भी इसी बुद्धिके लिये प्रार्थना की गयी है ॥ १२ ॥

यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः। य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १३ ॥

यः=जो; **देवानाम्**=समस्त देवोंका; **अधिपः**=अधिपति है; **यस्मिन्**=जिसमें; **लोकाः**=समस्त लोक; **अधिश्रिताः**=सब प्रकारसे आश्रित हैं; **यः**=जो; **अस्य**=इस; **द्विपदः**=दो पैरवाले; (और) **चतुष्पदः**=चार पैरवाले समस्त जीवसमुदायका; **ईशे**=शासन करता है; (उस) **कस्मै देवाय**=आनन्दस्वरूप परमदेव परमेश्वरकी; (हम) **हविषा**=हविष्य अर्थात् श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भेंट समर्पण करके; **विधेम**=पूजा करें ॥ १३ ॥

व्याख्या—जो सर्वनियन्ता परमेश्वर समस्त देवोंके अधिपति हैं, जिनमें समस्त लोक सब प्रकारसे आश्रित हैं अर्थात् जो स्थूल, सूक्ष्म और अव्यक्त अवस्थाओंमें सदा ही सब प्रकारसे सबके आश्रय हैं, जो दो पैरवाले और चार पैरवाले अर्थात्

सम्पूर्ण जीव-समुदायका अपनी अचिन्त्य शक्तियोंके द्वारा शासन करते हैं, उन आनन्दस्वरूप परमदेव सर्वाधार सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी हम श्रद्धा-भक्तिपूर्वक हविःस्वरूप भेंट समर्पण करके पूजा करें। अर्थात् सब कुछ उन्हें समर्पण करके उन्हींके हो जायँ। यही उनकी प्राप्तिका सहज उपाय है ॥ १३ ॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥१४॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्मम्=(जो) सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म; **कलिलस्य मध्ये**=हृदय-गुहारूप गुह्यस्थानके भीतर स्थित; **विश्वस्य**=अखिल विश्वकी; **स्रष्टारम्**=रचना करनेवाला; **अनेकरूपम्**=अनेक रूप धारण करनेवाला; (तथा) **विश्वस्य परिवेष्टितारम्**=समस्त जगत्को सब ओरसे घेरे रखनेवाला है; (उस) **एकम्**=एक (अद्वितीय); **शिवम्**=कल्याणस्वरूप महेश्वरको; **ज्ञात्वा**=जानकर; (मनुष्य) **अत्यन्तम्**=सदा रहनेवाली; **शान्तिम्**=शान्तिको; **एति**=प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—जो परब्रह्म परमात्मा सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म हैं—अर्थात् जो बिना उनकी कृपाके जाने नहीं जाते, जो सबकी हृदय-गुहारूप गुह्यस्थानके भीतर स्थित हैं अर्थात् जो हमारे अत्यन्त समीप हैं, जो अखिल विश्वकी रचना करते हैं, तथा स्वयं विश्वरूप होकर अनेक रूप धारण किये हुए हैं—यही नहीं, जो निराकाररूपसे समस्त जगत्को सब ओरसे घेरे रहते हैं, उन सर्वोपरि एक—अद्वितीय कल्याणस्वरूप महेश्वरको जानकर मनुष्य सदा रहनेवाली असीम, अविनाशी और अतिशय शान्तिको प्राप्त कर लेता है; क्योंकि वह महापुरुष इस अशान्त जगत्-प्रपञ्चसे सर्वथा सम्बन्धरहित एवं उपरत हो जाता है ॥ १४ ॥

स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः।
यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥१५॥

सः एव=वही; **काले**=समयपर; **भुवनस्य गोप्ता**=समस्त ब्रह्माण्डोंकी रक्षा करनेवाला; **विश्वाधिपः**=समस्त जगत्का अधिपति; (और) **सर्वभूतेषु**=समस्त प्राणियोंमें; **गूढः**=छिपा हुआ है; **यस्मिन्**=जिसमें; **ब्रह्मर्षयः**=वेदज्ञ महर्षिगण; **च**=और; **देवताः**=देवतालोग भी; **युक्ताः**=ध्यानद्वारा संलग्न हैं; **तम्**=उस (परमदेव परमेश्वर) को; **एवम्**=इस प्रकार; **ज्ञात्वा**=जानकर; (मनुष्य) **मृत्युपाशान्**=मृत्युके बन्धनोंको; **छिनत्ति**=काट डालता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—जिनका बार-बार वर्णन किया गया है, वे परमदेव परमेश्वर ही समयपर अर्थात् स्थिति-कालमें समस्त ब्रह्माण्डोंकी रक्षा करते हैं, तथा वे ही सम्पूर्ण जगत्के अधिपति और समस्त प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे छिपे हुए हैं। उन्हींमें वेदके रहस्यको समझनेवाले महर्षिगण और समस्त देवतालोग भी ध्यानके द्वारा संलग्न रहते हैं। सब उन्हींका स्मरण और चिन्तन करके उन्हींमें जुड़े रहते हैं। इस प्रकार उन परमदेव परमेश्वरको जानकर मनुष्य यमराजके समस्त पाशोंको अर्थात् जन्म-मृत्युके कारणभूत समस्त बन्धनोंको काट डालता है। फिर वह कभी प्रकृतिके बन्धनमें नहीं आता, सदाके लिये सर्वथा मुक्त हो जाता है ॥ १५ ॥

घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१६॥

शिवम्=कल्याणस्वरूप; **एकम् देवम्**=एक (अद्वितीय) परमदेवको; **घृतात् परम्**=मक्खनके ऊपर रहनेवाले; **मण्डम् इव**=सारभागकी भाँति; **अतिसूक्ष्मम्**=अत्यन्त सूक्ष्म; (और) **सर्वभूतेषु**=समस्त प्राणियोंमें; **गूढम्**=छिपा हुआ; **ज्ञात्वा**=जानकर; (तथा) **विश्वस्य परिवेष्टितारम्**=समस्त जगत्को सब ओरसे घेरकर स्थित हुआ; **ज्ञात्वा**=जानकर; (मनुष्य) **सर्वपाशैः**=समस्त बन्धनोंसे; **मुच्यते**=छूट जाता है ॥ १६ ॥

व्याख्या—जो मक्खनके ऊपर रहनेवाले सारभागकी भाँति सबके सार एवं अत्यन्त सूक्ष्म हैं, उन कल्याणस्वरूप

एकमात्र परमदेव परमेश्वरको समस्त प्राणियोंमें छिपा हुआ तथा समस्त जगत्‌को सब ओरसे घेरकर उसे व्याप्त किये हुए जानकर मनुष्य समस्त बन्धनोंसे सदाके लिये सर्वथा छूट जाता है ॥ १६ ॥

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१७॥

एषः=यह; **विश्वकर्मा**=जगत्-कर्ता; **महात्मा**=महात्मा; **देवः**=परमदेव परमेश्वर; **सदा**=सर्वदा; **जनानाम्**=सब मनुष्योंके; **हृदये**=हृदयमें; **संनिविष्टः**=सम्यक् प्रकारसे स्थित है; (तथा) **हृदा**=हृदयसे; **मनीषा**=बुद्धिसे; (और) **मनसा**=मनसे; **अभिक्लृप्तः**=ध्यानमें लाया हुआ; [**आविर्भवति**=प्रत्यक्ष होता है;] **ये**=जो साधक; **एतत्**=इस रहस्यको; **विदुः**=जान लेते हैं; **ते**=वे; **अमृताः**=अमृतस्वरूप; **भवन्ति**=हो जाते हैं ॥ १७ ॥

व्याख्या—ये जगत्‌को उत्पन्न करनेवाले, महात्मा अर्थात् सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी परमदेव परमेश्वर सदा ही सभी मनुष्योंके हृदयमें सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं । उनके गुण-प्रभावको सुनकर द्रवित और विशुद्ध हुए निर्मल हृदयसे, निश्चय-युक्त बुद्धिसे तथा एकाग्र मनके द्वारा निरन्तर ध्यान करनेपर वे परमात्मा प्रत्यक्ष होते हैं । जो साधक इस रहस्यको जान लेते हैं, वे उन्हें प्राप्त करके अमृतस्वरूप हो जाते हैं, सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाते हैं ॥ १७ ॥

यदातमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः ।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी ॥१८॥

यदा=जब; **अतमः** [**स्यात्**]=अज्ञानमय अन्धकारका सर्वथा अभाव हो जाता है; **तत्**[1]=उस समय (अनुभवमें आनेवाला तत्त्व); **न**=न; **दिवा**=दिन है; **न**=न; **रात्रिः**=रात है; **न**=न; **सत्**=सत् है; **च**=और; **न**=न; **असत्**=असत् है; **केवलः**=एकमात्र, विशुद्ध; **शिवः एव**=कल्याणमय शिव ही है; **तत्**=वह; **अक्षरम्**=सर्वथा अविनाशी है; **तत्**=वह; **सवितुः**=सूर्याभिमानी देवताका भी; **वरेण्यम्**=उपास्य है; **च**=तथा; **तस्मात्**=उसीसे; **पुराणी**=(यह) पुराना; **प्रज्ञा**=ज्ञान; **प्रसृता**=फैला है ॥ १८ ॥

व्याख्या—जिस समय अज्ञानरूप अन्धकारका सर्वथा अभाव हो जाता है, उस समय प्रत्यक्ष होनेवाला तत्त्व न दिन है, न रात है । अर्थात् उसे न तो दिनकी भाँति प्रकाशमय कहा जा सकता है और न रातकी भाँति अन्धकारमय ही; क्योंकि वह इन दोनोंसे सर्वथा विलक्षण है, वहाँ ज्ञान-अज्ञानके भेदकी कल्पनाके लिये स्थान नहीं है । वह न सत् है और न असत् है—उसे न तो 'सत्' कहना बनता है, न 'असत्' ही; क्योंकि वह 'सत्' और 'असत्' नामसे समझे जानेवाले पदार्थोंसे सर्वथा विलक्षण है । एकमात्र कल्याणस्वरूप शिव ही वह तत्त्व हैं । वे सर्वथा अविनाशी हैं । वे सूर्य आदि समस्त देवताओंके उपास्यदेव हैं । उन्हींसे यह सदासे चला आता हुआ अनादि ज्ञान—परमात्माको जानने और पानेका साधन अधिकारियोंको परम्परासे प्राप्त होता चला आ रहा है ॥ १८ ॥

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत् ।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥१९॥

एनम्=इस परमात्माको; (कोई भी) **न**=न तो; **ऊर्ध्वम्**=ऊपरसे; **न**=न; **तिर्यञ्चम्**=इधर-उधरसे; (और) **न**=न; **मध्ये**=बीचमेंसे ही; **परिजग्रभत्**=भलीभाँति पकड़ सकता है; **यस्य**=जिसका; **महद्यशः**='महान् यश'; **नाम**=नाम है; **तस्य**=उसकी; **प्रतिमा**=कोई उपमा; **न**=नहीं; **अस्ति**=है ॥ १९ ॥

व्याख्या—जिनका पहले कई मन्त्रोंमें वर्णन किया गया है, उन परम प्राप्य परब्रह्मको कोई भी मनुष्य न तो ऊपरसे पकड़ सकता है न नीचेसे पकड़ सकता है, और न बीचमें इधर-उधरसे ही पकड़ सकता है; क्योंकि ये सर्वथा अग्राह्य हैं—ग्रहण करनेमें नहीं आते । इन्हें जानने और ग्रहण करनेकी बात जो शास्त्रोंमें पायी जाती है, उसका रहस्य वही समझ सकता है, जो इन्हें पा लेता है । वह भी वाणीद्वारा व्यक्त नहीं कर सकता; क्योंकि मन और वाणीकी वहाँ पहुँच नहीं है । वे

१. 'तत्' अव्यय पद है, यहाँ 'तदा' के अर्थमें इसका प्रयोग हुआ है ।

समझने और समझानेमें आनेवाले समस्त पदार्थोंसे सर्वथा विलक्षण हैं। जिनका नाम 'महान् यश' है, जिनका महान् यश सर्वत्र प्रसिद्ध है, उन परात्पर ब्रह्मकी कोई भी उपमा नहीं है, जिसके द्वारा उनको समझा अथवा समझाया जा सके। उनके अतिरिक्त कोई दूसरा हो तो उसकी उपमा दी जाय। अतः मनुष्यको उस परम प्राप्य तत्त्वको जानने और पानेका अभिलाषी बनना चाहिये; क्योंकि जब वह मनुष्यको प्राप्त होता है, तब हमें क्यों नहीं होगा ॥ १९ ॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२०॥

अस्य=इस परब्रह्म परमात्माका; **रूपम्**=स्वरूप; **संदृशे**=दृष्टिके सामने; **न**=नहीं; **तिष्ठति**=ठहरता; **एनम्**=इस परमात्माको; **कश्चन**=कोई भी; **चक्षुषा**=आँखोंसे; **न**=नहीं; **पश्यति**=देख सकता; **ये**=जो साधकजन; **एनम्**=इस; **हृदिस्थम्**=हृदयमें स्थित अन्तर्यामी परमेश्वरको; **हृदा**=भक्तियुक्त हृदयसे; (तथा) **मनसा**=निर्मल मनके द्वारा; **एवम्**=इस प्रकार; **विदुः**=जान लेते हैं; **ते**=वे; **अमृताः**=अमृतस्वरूप (अमर); **भवन्ति**=हो जाते हैं ॥ २० ॥

व्याख्या—जिनका प्रकरण चल रहा है, उन परम प्राप्य परमात्माका स्वरूप दृष्टिके सामने नहीं ठहरता। जब साधक मनके द्वारा उनका चिन्तन करता है, तब विशुद्ध अन्तःकरणमें किसी-किसी समय उन आनन्दमय परमेश्वरके स्वरूपकी झलक-सी आती है; परंतु वह निश्चल नहीं होती। इन परब्रह्म परमात्माको कोई भी प्राकृत नेत्रोंद्वारा नहीं देख सकता। जिसको वे परमात्मा स्वयं कृपा करके दिव्य दृष्टि प्रदान करते हैं, वही उन्हें दिव्य नेत्रोंसे देख सकता है। जो साधक इस प्रकार इस रहस्यको समझकर अपने हृदयमें स्थित इन अन्तर्यामी परमात्माको उनके गुण, प्रभावका श्रवण करके भक्तिभावसे द्रवित हृदयके द्वारा तथा निर्मल मनके द्वारा निरन्तर उनका चिन्तन करके उन्हें जान लेते हैं, वे अमृत हो जाते हैं—सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाते हैं ॥ २० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार परमेश्वरके स्वरूपका और उनकी प्राप्तिके फलका वर्णन करके अब दो मन्त्रोंमें पहले मुक्तिके लिये और पीछे सांसारिक भयसे रक्षाके लिये उन परमात्मासे प्रार्थना करनेका प्रकार बताया जाता है—

अजात इत्येवं कश्चिद्भीरुः प्रपद्यते।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ॥२१॥

रुद्र=हे रुद्र (संहार करनेवाले देव); **अजातः**=तू अजन्मा है; **इति एवम्**=यों समझकर; **कश्चित्**=कोई; **भीरुः**=जन्म-मरणके भयसे डरा हुआ मनुष्य; **प्रपद्यते**=तेरी शरण लेता है; (मैं भी वैसा ही हूँ, अतः) **ते**=तेरा; **यत्**=जो; **दक्षिणम्**=दाहिना (कल्याणमय); **मुखम्**=मुख है; **तेन**=उसके द्वारा; (तू) **नित्यम्**=सर्वदा; **माम् पाहि**=मेरी जन्म-मृत्युरूप भयसे रक्षा कर ॥ २१ ॥

व्याख्या—हे रुद्र! अर्थात् सबका संहार करनेवाले परमेश्वर! आप स्वयं अजन्मा हैं, अतः दूसरोंको भी जन्म-मृत्युसे मुक्त कर देना आपका स्वभाव है—यह समझकर कोई जन्म-मरणके भयसे डरा हुआ साधक इस संसारचक्रसे छुटकारा पानेके लिये आपकी शरण लेता है। मैं भी इस संसार-चक्रसे छुटकारा पानेके लिये ही आपकी शरणमें आया हूँ; अतः जो आपका दाहिना मुख है, अर्थात् जो आपका परम शान्त कल्याणमय स्वरूप है, उसके द्वारा आप मेरी इस जन्म-मरणरूप महान् भयसे सदाके लिये रक्षा करें। मुझे सदाके लिये इस भयसे मुक्त कर दें ॥ २१ ॥

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥२२॥

रुद्र=हे सबकी संहार करनेवाले रुद्रदेव; [**वयम्**=हमलोग;] **हविष्मन्तः**=नाना प्रकारकी भेंट लेकर; **सदम्**=सदा; **इत्**=ही; **त्वा**=तुझे; (रक्षाके लिये) **हवामहे**=बुलाते रहते हैं; (अतः तू) **भामितः**=कुपित

होकर; **मा**=न तो; **नः**=हमारे; **तोके**=पुत्रोंमें; (और) **तनये**=पौत्रोंमें; **मा**=न; **नः**=हमारी; **आयुषि**=आयुमें; **मा**=न; **नः**=हमारी; **गोषु**=गौओंमें; (और) **मा**=न; **नः**=हमारे; **अश्वेषु**=घोड़ोंमें ही; **रीरिषः**=किसी प्रकारकी कमी कर; (तथा) **नः**=हमारे; **वीरान् मा वधीः**=वीर पुरुषोंका भी नाश न कर ॥ २२ ॥

व्याख्या—हे सबका संहार करनेवाले रुद्रदेव ! हमलोग नाना प्रकारकी भेंट समर्पण करते हुए सदा ही आपको बुलाते रहते हैं । आप ही हमारी रक्षा करनेमें सर्वथा समर्थ हैं; अतः हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप हमपर कभी कुपित न हों तथा कुपित होकर हमारे पुत्र और पौत्रोंको, हमारी आयुको—जीवनको तथा हमारे गौ, घोड़े आदि पशुओंको कमी किसी प्रकारकी क्षति न पहुँचायें । तथा हमारे जो वीर—साहसी पुरुष हैं, उनका भी नाश न करें । अर्थात् सब प्रकारसे हमारी और हमारे धन-जनकी रक्षा करते रहें ॥ २२ ॥

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

पञ्चम अध्याय

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥ १ ॥

यत्र=जिस; **ब्रह्मपरे**=ब्रह्मसे भी श्रेष्ठ; **गूढे**=छिपे हुए; **अनन्ते**=असीम; **तु**=और; **अक्षरे**=परम अक्षर परमात्मामें; **विद्याविद्ये**=विद्या और अविद्या; **द्वे**=दोनों; **निहिते**=स्थित हैं (वही ब्रह्म है); **क्षरम्**=(यहाँ) विनाशशील जडवर्ग; **तु**=तो; **अविद्या**=अविद्या नामसे कहा गया है; **तु**=और; **अमृतम्**=अविनाशी वर्ग (जीवसमुदाय); **हि**=ही; **विद्या**=विद्या नामसे कहा गया है; **तु**=तथा; **यः**=जो; **विद्याविद्ये ईशते**=उपर्युक्त विद्या और अविद्यापर शासन करता है; **सः**=वह; **अन्यः**=इन दोनोंसे भिन्न—सर्वथा विलक्षण है ॥ १ ॥

व्याख्या—जो परमेश्वर ब्रह्मसे भी अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, अपनी मायाके पर्देमें छिपे हुए हैं, सीमारहित और अविनाशी हैं अर्थात् जो देश-कालसे सर्वथा अतीत हैं तथा जिनका कभी किसी प्रकारसे भी विनाश नहीं हो सकता, तथा जिन परमात्मामें अविद्या और विद्या—दोनों विद्यमान हैं, अर्थात् दोनों ही जिनके आधारपर टिकी हुई हैं, वे पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम हैं । इस मन्त्रमें परिवर्तनशील, घटने-बढ़नेवाले और उत्पत्ति-विनाशशील क्षरतत्त्वको तो अविद्या नामसे कहा गया है; क्योंकि वह जड है, उसमें विद्याका—ज्ञानका सर्वथा अभाव है । उससे भिन्न जो जन्म-मृत्युसे रहित है, जो घटता-बढ़ता नहीं, वह अविनाशी कूटस्थ तत्त्व (जीव-समुदाय) विद्याके नामसे कहा गया है; क्योंकि वह चेतन है, विज्ञानमय है । उपनिषदोंमें जगह-जगह उसका विज्ञानात्माके नामसे वर्णन आया है । यहाँ श्रुतिने स्वयं ही विद्या और अविद्याकी परिभाषा कर दी है, अतः अर्थान्तरकी कल्पना अनावश्यक है । जो इन विद्या और अविद्या नामसे कहे जानेवाले क्षर और अक्षर दोनोंपर शासन करते हैं, दोनोंके स्वामी हैं, दोनों जिनकी शक्तियाँ अथवा प्रकृतियाँ हैं, वे परमेश्वर इन दोनोंसे अन्य—सर्वथा विलक्षण हैं । श्रीगीताजीमें भी कहा है—'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' इत्यादि (१५ । १७) ॥ १ ॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः ।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥ २ ॥

यः=जो; **एकः**=अकेला ही; **योनिम् योनिम्**=प्रत्येक योनिपर; **विश्वानि रूपाणि**=समस्त रूपोंपर; **च**=और; **सर्वाः योनीः**=समस्त कारणोंपर; **अधितिष्ठति**=आधिपत्य रखता है; **यः**=जो; **अग्रे**=पहले; **प्रसूतम्**=उत्पन्न हुए; **कपिलम् ऋषिम्**=कपिल ऋषिको (हिरण्यगर्भको); **ज्ञानैः**=सब प्रकारके ज्ञानोंसे; **बिभर्ति**=पुष्ट करता है; **च**=तथा; (जिसने) **तम्**=उस कपिल (ब्रह्मा) को; **जायमानम्**=(सबसे पहले) उत्पन्न होते; **पश्येत्**=देखा था; (वे ही परमात्मा हैं) ॥ २ ॥

व्याख्या—इस जगत्में देव, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि जितनी भी योनियाँ हैं, तथा प्रत्येक

योनिमें जो भिन्न-भिन्न रूप—आकृतियाँ हैं, उन सबके और उनके कारणरूप पञ्च सूक्ष्म महाभूत आदि समस्त तत्त्वोंके जो एकमात्र अधिपति हैं, अर्थात् वे सब-के-सब जिनके अधीन हैं, जो सबसे पहले उत्पन्न हुए कपिल ऋषिको* अर्थात् हिरण्यगर्भ ब्रह्माको प्रत्येक सर्गके आदिमें सब प्रकारके ज्ञानोंसे पुष्ट करते हैं—सब प्रकारके ज्ञानोंसे सम्पन्न करके उन्नत करते हैं तथा जिन्होंने सबसे पहले उत्पन्न होते हुए उन हिरण्यगर्भको देखा था, वे ही सर्वशक्तिमान् सर्वाधार सबके स्वामी परब्रह्म पुरुषोत्तम हैं ॥ २ ॥

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे संहरत्येष देवः ।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥ ३ ॥

एषः=यह; **देवः**=परमदेव (परमेश्वर); **अस्मिन् क्षेत्रे**=इस जगत्-क्षेत्रमें; (सृष्टिके समय) **एकैकम्**=एक-एक; **जालम्**=जालको (बुद्धि आदि और आकाशादि तत्त्वोंको); **बहुधा**=बहुत प्रकारसे; **विकुर्वन्**=विभक्त करके; (उनका) **संहरति**=(प्रलयकालमें) संहार कर देता है; **महात्मा**=(वह) महामना; **ईशः**=ईश्वर; **भूयः**=पुनः (सृष्टिकालमें); **तथा**=पहलेकी भाँति; **पतयः सृष्ट्वा**=(समस्त लोकपालोंकी) रचना करके; **सर्वाधिपत्यम् कुरुते**=(स्वयं) सबपर आधिपत्य करता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—जिनका प्रकरण चल रहा है, वे परमदेव परमेश्वर इस जगत्‌रूप क्षेत्रमें सृष्टिके समय एक-एक जालको अर्थात् बुद्धि आदि और आकाश आदि अपनी प्रकृतियोंको बहुत प्रकारसे विभक्त करके—प्रत्येक प्रकृतिको भिन्न-भिन्न रूप, नाम और शक्तियोंसे युक्त करके उनका विस्तार करते हैं और स्वयं ही प्रलयकालमें उन सबका संहार कर लेते हैं। वे महामना परमेश्वर पुनः सृष्टिकालमें पहलेकी भाँति ही समस्त लोकोंकी और उनके अधिपतियोंकी रचना करके स्वयं उन सबके अधिष्ठाता बनकर उन सबपर शासन करते हैं। उनकी लीला अतर्क्य है, तर्कसे उसका रहस्य समझमें नहीं आ सकता। उनके सेवक ही उनकी लीलाके रहस्यको कुछ समझते हैं ॥ ३ ॥

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्प्रकाशयन्भ्राजते यद्वनड्वान् ।
एवं स देवो भगवान्वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥ ४ ॥

यत् उ=जिस प्रकार; **अनड्वान्**=सूर्य; (अकेला ही) **सर्वाः**=समस्त; **दिशः**=दिशाओंको; **ऊर्ध्वम् अधः**=ऊपर-नीचे; **च**=और; **तिर्यक्**=इधर-उधर—सब ओरसे; **प्रकाशयन्**=प्रकाशित करता हुआ; **भ्राजते**=देदीप्यमान होता है; **एवम्**=उसी प्रकार; **सः**=वह; **भगवान्**=भगवान्; **वरेण्यः**=भक्ति करनेयोग्य; **देवः**=परमदेव परमेश्वर; **एकः**=अकेला ही; **योनिस्वभावान् अधितिष्ठति**=समस्त कारणरूप अपनी शक्तियोंपर आधिपत्य करता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार यह सूर्य समस्त दिशाओंको ऊपर-नीचे तथा इधर-उधर—सब ओरसे प्रकाशित करता हुआ देदीप्यमान होता है, उसी प्रकार वे भगवान्—सर्वविध ऐश्वर्यसे सम्पन्न, सबके द्वारा भजनेयोग्य परमदेव परमेश्वर अकेले ही समस्त कारणरूप अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियोंके अधिष्ठाता होकर उन सबका संचालन करते हैं, सबको अपना-अपना कार्य करनेकी सामर्थ्य देकर यथायोग्य कार्यमें प्रवृत्त करते हैं ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—ऊपर कही हुई बातका इस मन्त्रमें स्पष्टीकरण किया जाता है—

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान्परिणामयेद्यः ।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः ॥ ५ ॥

यत्=जो; **विश्वयोनिः**=सबका परम कारण है; **च**=और; **स्वभावम्**=समस्त तत्त्वोंकी शक्तिरूप स्वभावको; **पचति**=(अपने संकल्परूप तपसे) पकाता है; **च**=तथा; **यः**=जो; **सर्वान्**=समस्त; **पाच्यान्**=पकाये जानेवाले पदार्थोंको; **परिणामयेत्**=नाना रूपोंमें परिवर्तित करता है; (और) **यः**=जो; **एकः**=अकेला ही; **सर्वान्**=समस्त; **गुणान्**

* कुछ विद्वानोंने 'कपिल' शब्दको सांख्यशास्त्रके आदि वक्ता एवं प्रवर्तक भगवान् कपिलमुनिका वाचक माना है और इस प्रकार उनके द्वारा उपदिष्ट मतकी प्राचीनता एवं प्रामाणिकता सिद्ध की है।

विनियोजयेत्=गुणोंका जीवोंके साथ यथायोग्य संयोग कराता है; **च**=तथा; **एतत्**=इस; **सर्वम्**=समस्त; **विश्वम् अधितिष्ठति**=विश्वका शासन करता है; (वह परमात्मा है) ॥ ५ ॥

व्याख्या—जो इस सम्पूर्ण विश्वके परम कारण हैं, अर्थात् जिनका और कोई कारण नहीं है, जगत्के कारणरूपसे कहे जानेवाले समस्त तत्त्वोंकी शक्तिरूप स्वभावको जो अपने संकल्परूप तपसे पकाते हैं—अर्थात् उन आकाशादि तत्त्वोंकी जो भिन्न-भिन्न शक्तियाँ प्रलयकालमें लुप्त हो गयी थीं, उन्हें अपने संकल्पद्वारा पुनः प्रकट करते हैं, उन प्रकट की हुई शक्तियोंका नाना रूपोंमें परिवर्तन कर इस विचित्र जगत्की रचना करते हैं, तथा सत्त्व आदि तीनों गुणोंका तथा उनसे उत्पन्न हुए पदार्थोंका जीवोंके साथ उनके कर्मानुसार यथायोग्य सम्बन्ध स्थापित करते हैं—इस प्रकार जो अकेले ही इस सम्पूर्ण जगत्की सारी व्यवस्था करके इसपर शासन करते हैं, वे ही पूर्वमन्त्रमें कहे हुए सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वर हैं ॥ ५ ॥

तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद्ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।
ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥ ६ ॥

तत्=वह; **वेदगुह्योपनिषत्सु**=वेदोंके रहस्यभूत उपनिषदोंमें; **गूढम्**=छिपा हुआ है; **ब्रह्मयोनिम्**=वेदोंके प्राकट्य-स्थान; **तत्**=उस परमात्माको; **ब्रह्मा**=ब्रह्मा; **वेदते**=जानता है; **ये**=जो; **पूर्वदेवाः**=पुरातन देवता; **च**=और; **ऋषयः**=ऋषिलोग; **तत्**=उसको; **विदुः**=जानते थे; **ते**=वे; **वै**=अवश्य ही; **तन्मयाः**=(उसमें) तन्मय होकर; **अमृताः**=अमृतरूप; **बभूवुः**=हो गये ॥ ६ ॥

व्याख्या—वे परब्रह्म परमात्मा वेदोंकी रहस्यविद्यारूप उपनिषदोंमें छिपे हुए हैं अर्थात् उनके स्वरूपका वर्णन उपनिषदोंमें गुप्तरूपसे किया गया है। वेद निकले भी उन्हींसे हैं—उन्हींके निःश्वासरूप हैं—'यस्य निःश्वसितं वेदाः'। इस प्रकार वेदोंमें छिपे हुए और वेदोंके प्राकट्य-स्थान उन परमात्माको ब्रह्माजी जानते हैं। उनके सिवा और भी जिन पूर्ववर्ती देवताओं और ऋषियोंने उनको जाना था, वे सब-के-सब उन्हींमें तन्मय होकर आनन्दस्वरूप हो गये। अतः मनुष्यको चाहिये कि उन सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सबके अधीश्वर परमात्माको उक्त प्रकारसे मानकर उन्हें जानने और पानेके लिये तत्पर हो जाय ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—पाँचवें मन्त्रमें यह बात कही गयी थी कि परमेश्वर सब जीवोंका उनके कर्मानुसार गुणोंके साथ संयोग कराते हैं; अतः जीवात्माका स्वरूप और नाना योनियोंमें विचरनेका कारण आदि बतानेके लिये अलग प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ॥ ७ ॥

यः गुणान्वयः=जो गुणोंसे बँधा हुआ है; **सः**=वह; **फलकर्मकर्ता**=फलके उद्देश्यसे कर्म करनेवाला जीवात्मा; **एव**=ही; **तस्य**=उस; **कृतस्य**=अपने किये हुए कर्मके फलका; **उपभोक्ता**=उपभोग करनेवाला; **विश्वरूपः**=विभिन्न रूपोंमें प्रकट होनेवाला; **त्रिगुणः**=तीन गुणोंसे युक्त; **च**=और; **त्रिवर्त्मा**=कर्मानुसार तीन मार्गोंसे गमन करनेवाला है; **सः**=वह; **प्राणाधिपः**=प्राणोंका अधिपति (जीवात्मा); **स्वकर्मभिः**=अपने कर्मोंसे प्रेरित होकर; **संचरति**=नाना योनियोंमें विचरता है ॥ ७ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें प्रकरण आरम्भ करते ही जीवात्माके लिये 'गुणान्वयः' विशेषण देकर यह भाव दिखाया गया है कि जो जीव गुणोंसे सम्बद्ध अर्थात् प्रकृतिमें स्थित है, वही इस जन्म-मरणरूप संसार-चक्रमें घूमता है (गीता १३ । २१); जो गुणातीत हो गया है, वह नहीं घूमता। मन्त्रका सारांश यह है कि जो जीवात्मा सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे बँधा हुआ है (गीता १४ । ५), वह नाना प्रकारके कर्मफलरूप भोगोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे नाना प्रकारके कर्म करता है और अपने किये हुए उन कर्मोंका फल भोगनेके लिये नाना योनियोंमें जन्म लेकर विभिन्न रूपोंमें प्रकट होता है और जहाँ भी जाता है, तीनों गुणोंसे युक्त रहता है। मृत्युके उपरान्त उसकी कर्मानुसार तीन गतियाँ होती हैं। अर्थात् शरीर छोड़नेपर वह तीन मार्गोंसे जाता है। वे तीन मार्ग हैं—देवयान, पितृयान और तीसरा निरन्तर जन्म-मृत्युके चक्रमें

घूमना *। वह प्राणोंका अधिपति जीवात्मा जबतक मुक्त नहीं हो जाता, तबतक अपने किये हुए कर्मोंसे प्रेरित होकर नाना लोकोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी योनियोंको ग्रहण करके इस संसार-चक्रमें घूमता रहता है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—जीवात्माका स्वरूप कैसा है, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहंकारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥ ८ ॥

यः=जो; **अङ्गुष्ठमात्रः**=अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला; **रवितुल्यरूपः**=सूर्यके समान प्रकाशस्वरूप; (तथा) **संकल्पाहङ्कारसमन्वितः**=संकल्प और अहङ्कारसे युक्त है; **बुद्धेः**=बुद्धिके; **गुणेन**=गुणोंके कारण; **च**=और; **आत्मगुणेन**=अपने गुणोंके कारण; **एव**=ही; **आराग्रमात्रः**=आरेकी नोकके-जैसे सूक्ष्म आकारवाला है; **अपरः**=ऐसा अपर (अर्थात् परमात्मासे भिन्न जीवात्मा); **अपि**=भी; **हि**=निःसंदेह; **दृष्टः**=(ज्ञानियोंद्वारा) देखा गया है ॥ ८ ॥

व्याख्या—मनुष्यका हृदय अँगूठेके नापका माना गया है और हृदयमें ही जीवात्माका निवास है । इसलिये उसे अङ्गुष्ठमात्र—अँगूठेके नापका कहा जाता है । उसका वास्तविक स्वरूप सूर्यकी भाँति प्रकाशमय (विज्ञानमय) है । उसे अज्ञानरूपी अन्धकार छूतक नहीं गया है । वह संकल्प और अहंकार—इन दोनोंसे युक्त हो रहा है, अतः संकल्प आदि बुद्धिके गुणोंसे अर्थात् अन्तःकरण और इन्द्रियोंके धर्मोंसे तथा अहंता, ममता और आसक्ति आदि अपने गुणोंसे सम्बद्ध होनेके कारण सूजेकी नोकके समान सूक्ष्म आकारवाला है और परमात्मासे भिन्न है । जीवके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंने गुणोंसे युक्त हुए जीवात्माका स्वरूप ऐसा ही देखा है †। तात्पर्य यह कि आत्माका स्वरूप वास्तवमें अत्यन्त सूक्ष्म है, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म जड पदार्थ उसकी तुलनामें स्थूल ही ठहरता है । उसकी सूक्ष्मता किसी भी जड पदार्थके परिमाणसे नहीं मापी जा सकती । केवल उसका लक्ष्य करानेके लिये उसे सम्बद्ध वस्तुके आकारका बताया जाता है । हृदय-देशमें स्थित होनेके कारण उसे अङ्गुष्ठपरिमाण कहा जाता है और बुद्धिगुण तथा आत्मगुणोंके सम्बन्धसे उसे सूजेकी नोकके आकारका बताया जाता है । बुद्धि आदिको सूईकी नोकके समान कहा गया है, इसीसे जीवात्माको यहाँ सूजेकी नोकके सदृश बताया गया है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—पूर्वमन्त्रमें जो जीवात्माका स्वरूप सूजेकी नोकके सदृश सूक्ष्म बताया गया है, उसे पुनः स्पष्ट करते हैं—

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ ९ ॥

वालाग्रशतभागस्य=बालकी नोकके सौवें भागके; **च**=पुनः; **शतधा**=सौ भागोंमें; **कल्पितस्य**=कल्पना किये जानेपर; **भागः**=जो एक भाग होता है; **सः**=वही (उसीके बराबर); **जीवः**=जीवका स्वरूप; **विज्ञेयः**=समझना चाहिये; **च**=और; **सः**=वह; **आनन्त्याय**=असीम भाववाला होनेमें; **कल्पते**=समर्थ है ॥ ९ ॥

व्याख्या—पूर्वमन्त्रमें जीवात्माका स्वरूप सूजेकी नोकके सदृश सूक्ष्म बताया गया है; उसको समझनेमें भ्रम हो सकता है, अतः उसे भलीभाँति समझानेके लिये पुनः इस प्रकार कहते हैं । मान लीजिये, एक बालकी नोकके हम सौ टुकड़े कर लें; फिर उसमेंसे एक टुकड़ेके पुनः सौ टुकड़े कर लें । वह जितना सूक्ष्म हो सकता है, अर्थात् बालकी नोकके दस हजार भाग करनेपर उसमेंसे एक भाग जितना सूक्ष्म हो सकता है, उसके समान जीवात्माका स्वरूप समझना चाहिये । यह कहना

* छान्दोग्य उपनिषद्में ५ । १० । २ से ८ तक और बृहदारण्यक ६ । २ । १५-१६ में इन तीन मार्गोंका वर्णन आया है । देवयान-मार्गसे जानेवाले ब्रह्मलोकतक जाकर वहाँसे लौटते नहीं, ब्रह्माके साथ ही मुक्त हो जाते हैं; पितृयानसे जानेवाले स्वर्गमें जाकर चिरकालतक वहाँके दिव्य सुखोंका उपभोग करते हैं और पुण्य क्षीण हो जानेपर पुनः मृत्युलोकमें ढकेल दिये जाते हैं; और तीसरे मार्गसे जानेवाले कीट-पतङ्गादि क्षुद्र योनियोंमें भटकते रहते हैं ।

† गीतामें भी कहा है कि एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेवाले, शरीरमें स्थित रहनेवाले अथवा विषयोंको भोगनेवाले इस गुणान्वित जीवात्माको मूर्ख नहीं जानते, ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानी जानते हैं (१५ । १०) ।

भी केवल उसकी सूक्ष्मताका लक्ष्य करानेके लिये ही है। वास्तवमें चेतन और सूक्ष्म वस्तुका स्वरूप जड और स्थूल वस्तुकी उपमासे नहीं समझाया जा सकता; क्योंकि बालकी नोकके दस हजार भागोंमेंसे एक भाग भी आकाशमें जितने देशको रोकता है, उतना भी जीवात्मा नहीं रोकता। चेतन और सूक्ष्म वस्तुका जड और स्थूल देशके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता; वह सूक्ष्म होनेपर भी स्थूल वस्तुमें सर्वत्र व्याप्त रह सकता है। इसी भावको समझानेके लिये अन्तमें कहा गया है कि वह इतना सूक्ष्म होनेपर भी अनन्त भावसे युक्त होनेमें अर्थात् असीम होनेमें समर्थ है। भाव यह कि वह जड जगत्‌में सर्वत्र व्याप्त है। केवल बुद्धिके गुणोंसे और अपने अहंता, ममता आदि गुणोंसे युक्त होनेके कारण ही एकदेशीय बन रहा है॥ ९॥

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥१०॥

एषः=यह जीवात्मा; **न**=न; **एव**=तो; **स्त्री**=स्त्री है; **न**=न; **पुमान्**=पुरुष है; **च**=और; **न**=न; **अयम्**=यह; **नपुंसकः एव**=नपुंसक ही है; **सः**=वह; **यत् यत्**=जिस-जिस; **शरीरम्**=शरीरको; **आदत्ते**=ग्रहण करता है; **तेन तेन**=उस-उससे; **युज्यते**=संबद्ध हो जाता है॥ १०॥

व्याख्या—जीवात्मा वास्तवमें न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। यह जब जिस शरीरको ग्रहण करता है, उस समय उससे संयुक्त होकर वैसा ही बन जाता है। जो जीवात्मा आज स्त्री है, वही दूसरे जन्ममें पुरुष हो सकता है; जो पुरुष है, वह स्त्री हो सकता है। भाव यह कि ये स्त्री, पुरुष और नपुंसक आदि भेद शरीरको लेकर हैं; जीवात्मा सर्वभेदशून्य है, सारी उपाधियोंसे रहित है॥ १०॥

सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसम्प्रपद्यते॥११॥

सङ्कल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैः=संकल्प, स्पर्श, दृष्टि और मोहसे; **च**=तथा; **ग्रासाम्बुवृष्ट्या**=भोजन, जलपान और वर्षाके द्वारा; **आत्मविवृद्धिजन्म**=(प्राणियोंके) सजीव शरीरकी वृद्धि और जन्म होते हैं; **देही**=यह जीवात्मा; **स्थानेषु**=भिन्न-भिन्न लोकोंमें; **कर्मानुगानि**=कर्मानुसार मिलनेवाले; **रूपाणि**=भिन्न-भिन्न शरीरोंको; **अनुक्रमेण**=क्रमसे; **अभिसंप्रपद्यते**=बार-बार प्राप्त होता रहता है॥ ११॥

व्याख्या—संकल्प, स्पर्श, दृष्टि, मोह, भोजन, जलपान और वृष्टि—इन सबसे सजीव शरीरकी वृद्धि और जन्म होते हैं। इसका एक भाव तो यह है कि स्त्री-पुरुषके परस्पर मोहपूर्वक संकल्प, स्पर्श और दृष्टिपातके द्वारा सहवास होनेपर जीवात्मा गर्भमें आता है; फिर माताके भोजन और जलपानसे बने हुए रसके द्वारा उसकी वृद्धि होकर जन्म होता है। दूसरा भाव यह है कि भिन्न-भिन्न योनियोंमें जीवोंकी उत्पत्ति और वृद्धि भिन्न-भिन्न प्रकारसे होती है। किसी योनिमें तो संकल्पमात्रसे ही जीवोंका पोषण होता रहता है, जैसे कछुएके अंडोंका; किसी योनिमें आसक्तिपूर्वक स्पर्शसे होता है, जैसे पक्षियोंके अंडोंका; किसी योनिमें केवल आसक्तिपूर्वक दर्शनमात्रसे ही होता है, जैसे मछली आदिका; किसी योनिमें अन्नभक्षणसे और जलपानसे होता है, जैसे मनुष्य-पशु आदिका; और किसी योनिमें वृष्टिमात्रसे ही हो जाता है, जैसे वृक्ष-लता आदिका। इस प्रकार नाना प्रकारसे सजीव शरीरोंका पालन-पोषण, तुष्टि-पुष्टिरूप वृद्धि और जन्म होते हैं। जीवात्मा अपने कर्मोंके अनुसार उनका फल भोगनेके लिये इसी प्रकार विभिन्न लोकोंमें गमन करता हुआ एकके बाद एकके क्रमसे नाना शरीरोंको बार-बार धारण करता रहता है॥ ११॥

सम्बन्ध—इसका बार-बार नाना योनियोंमें आवागमन क्यों होता है, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः॥१२॥

देही=जीवात्मा; **क्रियागुणैः**=अपने कर्मोंके (संस्काररूप) गुणोंसे; **च**=तथा; **आत्मगुणैः**=शरीरके गुणोंसे (युक्त होनेके कारण); **स्वगुणैः**=अहंता-ममता आदि अपने गुणोंके वशीभूत होकर; **स्थूलानि**=स्थूल; **च**=और; **सूक्ष्माणि**=

सूक्ष्म; **बहूनि एव**=बहुत-से; **रूपाणि**=रूपों (आकृतियों, शरीरों)को; **वृणोति**=स्वीकार करता है; **तेषाम्**=उनके; **संयोगहेतुः**=संयोगका कारण; **अपरः**=दूसरा; **अपि**=भी; **दृष्टः**=देखा गया है ॥ १२ ॥

व्याख्या—जीवात्मा अपने किये हुए कर्मोंके संस्कारोंसे और बुद्धि, मन, इन्द्रिय तथा पञ्चभूत—इनके समुदाय-रूप शरीरके धर्मोंसे युक्त होनेके कारण अहंता-ममता आदि अपने गुणोंके वशीभूत होकर अनेकानेक शरीर धारण करता है। अर्थात् शरीरके धर्मोंमें अहंता-ममता करके तद्रूप हो जानेके कारण नाना प्रकारके स्थूल और सूक्ष्म रूपोंको स्वीकार करता है—अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेता है। परंतु इस प्रकार जन्म लेनेमें यह स्वतन्त्र नहीं है, इसके संकल्प और कर्मोंके अनुसार उन-उन योनियोंसे इसका सम्बन्ध जोड़नेवाला कोई दूसरा ही है। वे हैं पूर्वोक्त परमेश्वर, जिन्हें तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंने देखा है। वे इस रहस्यको भलीभाँति जानते हैं। यहाँ कर्मोंके संस्कारोंका नाम क्रिया-गुण है, समस्त तत्त्वोंके समुदायरूप शरीरकी देखना, सुनना, समझना आदि शक्तियोंका नाम आत्मगुण है और इनके सम्बन्धसे जीवात्मामें जो अहंता, ममता, आसक्ति आदि आ जाते हैं—उनका नाम स्वगुण है ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—अनादिकालसे चले आते हुए इस जन्म-मरणरूप बन्धनसे छूटनेका क्या उपाय है, इस जिज्ञासापर कहा जाता है—

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१३॥

कलिलस्य=कलिल (दुर्गम संसार) के; **मध्ये**=भीतर व्याप्त; **अनाद्यनन्तम्**=आदि-अन्तसे रहित; **विश्वस्य स्रष्टारम्**=समस्त जगत्की रचना करनेवाले; **अनेकरूपम्**=अनेकरूपधारी; (तथा) **विश्वस्य परिवेष्टितारम्**=समस्त जगत्को सब ओरसे घेरे हुए; **एकम्**=एक (अद्वितीय); **देवम्**=परमदेव परमेश्वरको; **ज्ञात्वा**=जानकर; (मनुष्य) **सर्वपाशैः**=समस्त बन्धनोंसे; **मुच्यते**=सर्वथा मुक्त हो जाता है ॥ १३ ॥

व्याख्या—पूर्वमन्त्रमें जिनको इस जीवात्माका नाना योनियोंके साथ सम्बन्ध जोड़नेवाला बताया गया है, जो अन्तर्यामी-रूपसे मनुष्यके हृदयरूप गुहामें स्थित तथा निराकाररूपसे इस समस्त जगत्में व्याप्त हैं, जिनका न तो आदि है और न अन्त ही है अर्थात् जो उत्पत्ति, विनाश और वृद्धि-क्षय आदि सब प्रकारके विकारोंसे सर्वथा शून्य—सदा एकरस रहनेवाले हैं, तथापि जो समस्त जगत्की रचना करके विविध जीवोंके रूपमें प्रकट होते हैं और जिन्होंने इस समस्त जगत्को सब ओरसे घेर रखा है, उन एकमात्र सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सबका शासन करनेवाले, सर्वेश्वर परब्रह्म पुरुषोत्तमको जानकर यह जीवात्मा सदाके लिये समस्त बन्धनोंसे सर्वथा छूट जाता है ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—अब अध्यायके उपसंहारमें ऊपर कही हुई बातको पुनः स्पष्ट करते हुए परमात्माकी प्राप्तिका उपाय बताया जाता है—

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥१४॥

भावग्राह्यम्=श्रद्धा और भक्तिके भावसे प्राप्त होने योग्य; **अनीडाख्यम्**=आश्रयरहित कहे जानेवाले; (तथा) **भावाभावकरम्**=जगत्की उत्पत्ति और संहार करनेवाले; **शिवम्**=कल्याणस्वरूप; (तथा) **कलासर्गकरम्**=सोलह कलाओंकी रचना करनेवाले; **देवम्**=परमदेव परमेश्वरको; **ये**=जो साधक; **विदुः**=जान लेते हैं; **ते**=वे; **तनुम्**=शरीरको; (सदाके लिये) **जहुः**=त्याग देते हैं—जन्म-मृत्युके चक्करसे छूट जाते हैं ॥ १४ ॥

व्याख्या—वे परब्रह्म परमेश्वर आश्रयरहित अर्थात् शरीररहित हैं, यह प्रसिद्ध है; तथा वे जगत्की उत्पत्ति और संहार करनेवाले तथा (प्रश्नोपनिषद् ६ । ६ । ४ में बतायी हुई) सोलह कलाओंको भी उत्पन्न करनेवाले हैं। ऐसा होनेपर भी वे कल्याणस्वरूप आनन्दमय परमेश्वर श्रद्धा, भक्ति और प्रेमभावसे पकड़े जा सकते हैं; जो मनुष्य उन परमदेव परमेश्वरको जान लेते हैं, वे शरीरसे अपना सम्बन्ध सदाके लिये छोड़ देते हैं अर्थात् इस संसार-चक्रसे सदाके लिये छूट जाते हैं।

इस रहस्यको समझकर मनुष्यको जितना शीघ्र हो सके, उन परम सुहृद्, परम दयालु, परम प्रेमी, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वेश्वर परमात्माको जानने और पानेके लिये व्याकुल हो श्रद्धा और भक्तिभावसे उनकी आराधनामें लग जाना चाहिये ॥१४॥

॥ पञ्चम अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठ अध्याय

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः ।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥ १ ॥

एके=कितने ही; **कवयः**=बुद्धिमान् लोग; **स्वभावम्**=स्वभावको; **वदन्ति**=जगत्का कारण बताते हैं; **तथा**=उसी प्रकार; **अन्ये**=कुछ दूसरे लोग; **कालम्**=कालको जगत्का कारण बतलाते हैं; [**एते**] **परिमुह्यमानाः** [**सन्ति**]=(वास्तवमें) ये लोग मोहग्रस्त हैं (अतः वास्तविक कारणको नहीं जानते); **तु**=वास्तवमें तो; **एषः**=यह; **देवस्य**=परमदेव परमेश्वरकी; **लोके**=समस्त जगत्में फैली हुई; **महिमा**=महिमा है; **येन**=जिसके द्वारा; **इदम्**=यह; **ब्रह्मचक्रम्**=ब्रह्मचक्र; **भ्राम्यते**=घुमाया जाता है ॥ १ ॥

व्याख्या—कितने ही बुद्धिमान् लोग तो कहते हैं कि इस जगत्का कारण स्वभाव है। अर्थात् पदार्थोंमें जो स्वाभाविक शक्ति है—जैसे अग्निमें प्रकाशन-शक्ति और दाह-शक्ति, वही इस जगत्का कारण है। कुछ दूसरे लोग कहते हैं कि काल ही जगत्का कारण है; क्योंकि समयपर ही वस्तुगत शक्तिका प्राकट्य होता है, जैसे वृक्षमें फल आदि उत्पन्न करनेकी शक्ति समयपर ही प्रकट होती है। इसी प्रकार स्त्रियोंमें गर्भाधान ऋतुकालमें ही होता है, असमयमें नहीं होता—यह प्रत्यक्ष देखा जाता है। परंतु अपनेको पण्डित समझनेवाले ये वैज्ञानिक मोहमें पड़े हुए हैं, अतः ये इस जगत्के वास्तविक कारणको नहीं जानते। वास्तवमें तो यह परमदेव सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी ही महिमा है, जगत्की विचित्र रचनाको देखने और उसपर विचार करनेपर उन्हींका महत्त्व प्रकट होता है। वे स्वभाव और काल आदि समस्त कारणोंके अधिपति हैं और उन्हींके द्वारा यह संसार-चक्र घुमाया जाता है। इस रहस्यको समझकर इस चक्रसे छुटकारा पानेके लिये उन्हींकी शरण लेनी चाहिये। संसार-चक्रकी व्याख्या १ । ४ में की गयी है ॥ १ ॥

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः ।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥ २ ॥

येन=जिस परमेश्वरसे; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=सम्पूर्ण जगत्; **नित्यम्**=सदा; **आवृतम्**=व्याप्त है; **यः**=जो; **ज्ञः**=ज्ञानस्वरूप परमेश्वर; **हि**=निश्चय ही; **कालकालः**=कालका भी महाकाल; **गुणी**=सर्वगुणसम्पन्न; (और) **सर्ववित्**=सबको जाननेवाला है; **तेन**=उससे; **ह**=ही; **ईशितम्**=शासित हुआ; **कर्म**=यह जगत्रूप कर्म; **विवर्तते**=विभिन्न प्रकारसे यथायोग्य चल रहा है; (और ये) **पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि**=पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश भी (उसीके द्वारा शासित होते हैं); [**इति**=इस प्रकार;] **चिन्त्यम्**=चिन्तन करना चाहिये ॥ २ ॥

व्याख्या—जिन जगन्नियन्ता जगदाधार परमेश्वरसे यह सम्पूर्ण जगत् सदा—सभी अवस्थाओंमें सर्वथा व्याप्त है, जो कालके भी महाकाल हैं—अर्थात् जो कालकी सीमासे परे हैं, जो ज्ञानस्वरूप चिन्मय परमात्मा सुहृद्ता आदि समस्त दिव्य गुणोंसे नित्य सम्पन्न हैं, समस्त गुण जिनके स्वरूपभूत और चिन्मय हैं, जो समस्त ब्रह्माण्डोंको भली प्रकारसे जानते हैं, उन्हींका चलाया हुआ यह जगत्-चक्र नियमपूर्वक चल रहा है। वे ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँचों महाभूतोंपर शासन करते हुए इनको अपना-अपना कार्य करनेकी शक्ति देकर इनसे कार्य करवाते हैं। उनकी शक्तिके बिना ये कुछ भी नहीं कर सकते, यह बात केनोपनिषद्में यक्षके आख्यानद्वारा भलीभाँति समझायी गयी है। इस रहस्यको समझकर मनुष्यको उन सर्वशक्तिमान् परमेश्वरका उपर्युक्तभावसे चिन्तन करना चाहिये ॥ २ ॥

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयस्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम् ।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः ॥ ३ ॥

(परमात्माने ही) **तत्**=उस (जडतत्त्वोंकी रचनारूप); **कर्म**=कर्मको; **कृत्वा**=करके; **विनिवर्त्य**=उसका निरीक्षण कर; **भूयः**=फिर; **तत्त्वस्य**=चेतन तत्त्वका; **तत्त्वेन**=जड तत्त्वसे; **योगम्**=संयोग; **समेत्य**=कराके; **वा**=अथवा यों समझिये कि; **एकेन**=एक (अविद्या) से; **द्वाभ्याम्**=दो (पुण्य और पापरूप कर्मों) से; **त्रिभिः**=तीन गुणोंसे; **च**=और; **अष्टभिः**=आठ प्रकृतियोंके साथ; **च**=तथा; **कालेन**=कालके साथ; **एव**=और; **सूक्ष्मैः आत्मगुणैः**=आत्मसम्बन्धी सूक्ष्म गुणोंके साथ; [**एव**=भी;] [**योगम् समेत्य**=इस जीवका सम्बन्ध कराके] (इस जगत्‌की रचना की है) ॥ ३ ॥

व्याख्या—परमेश्वरने ही अपनी शक्तिभूता मूलप्रकृतिसे पाँचों स्थूल महाभूत आदिकी रचनारूप कर्म करके उसका निरीक्षण किया, फिर जड तत्त्वके साथ चेतन तत्त्वका संयोग कराके नाना रूपोंमें अनुभव होनेवाले विचित्र जगत्‌की रचना की।* अथवा इस प्रकार समझना चाहिये कि एक अविद्या, दो पुण्य और पापरूप संचित कर्म-संस्कार, सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण और एक काल तथा मन, बुद्धि, अहंकार, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये आठ प्रकृतिभेद, इन सबसे तथा अहंता, ममता, आसक्ति आदि आत्मसम्बन्धी सूक्ष्म गुणोंसे जीवात्माका सम्बन्ध कराके इस जगत्‌की रचना की। इन दोनों प्रकारके वर्णनोंका तात्पर्य एक ही है ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—इस रहस्यको समझकर साधकको क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहा जाता है—

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ॥ ४ ॥

यः=जो साधक; **गुणान्वितानि**=सत्त्वादि गुणोंसे व्याप्त; **कर्माणि**=कर्मोंको; **आरभ्य**=आरम्भ करके; (उनको) **च**=तथा; **सर्वान्**=समस्त; **भावान्**=भावोंको; **विनियोजयेत्**=परमात्मामें लगा देता है—उसीके समर्पण कर देता है; (उसके इस समर्पणसे) **तेषाम्**=उन कर्मोंका; **अभावे**=अभाव हो जानेपर; (उस साधकके) **कृतकर्मनाशः**=पूर्वसंचित कर्म-समुदायका भी सर्वथा नाश हो जाता है; **कर्मक्षये**=(इस प्रकार) कर्मोंका नाश हो जानेपर; **सः**=वह साधक; **याति**=परमात्माको प्राप्त हो जाता है; (क्योंकि वह जीवात्मा) **तत्त्वतः**=वास्तवमें; **अन्यः**=समस्त जड-समुदायसे भिन्न (चेतन) है ॥ ४ ॥

व्याख्या—जो कर्मयोगी सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे व्याप्त अपने वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुकूल कर्तव्यकर्मोंका आरम्भ करके उनको और अपने सब प्रकारके अहंता, ममता, आसक्ति आदि भावोंको उस परब्रह्म परमेश्वरमें लगा देता है, उनके समर्पण कर देता है, उस समर्पणसे उन कर्मोंके साथ साधकका सम्बन्ध न रहनेके कारण वे उसे फल नहीं देते। इस प्रकार उनका अभाव हो जानेसे पहले किये हुए संचित कर्म-संस्कारोंका भी सर्वथा नाश हो जाता है। इस प्रकार कर्मोंका नाश हो जानेसे वह तुरंत परमात्माको प्राप्त हो जाता है; क्योंकि यह जीवात्मा वास्तवमें जड-तत्त्वसमुदायसे सर्वथा भिन्न एवं अत्यन्त विलक्षण है। उनके साथ इसका सम्बन्ध अज्ञानजनित अहंता-ममता आदिके कारण ही है, स्वाभाविक नहीं है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—कर्मयोगका वर्णन करके अब उपासनारूप दूसरा साधन बताया जाता है—

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥ ५ ॥

सः=वह; **आदिः**=आदि कारण (परमात्मा); **त्रिकालात् परः**=तीनों कालोंसे सर्वथा अतीत; (एवं) **अकलः**=कलारहित (होनेपर); **अपि**=भी; **संयोगनिमित्तहेतुः**=प्रकृतिके साथ जीवका संयोग करानेमें कारणोंका भी कारण; **दृष्टः**=देखा गया है; **स्वचित्तस्थम्**=अपने अन्तःकरणमें स्थित; **तम्**=उस; **विश्वरूपम्**=सर्वरूप; (एवं) **भवभूतम्**=

* इसका वर्णन तैत्तिरीय उपनिषद् (ब्रह्मानन्दवल्ली अनुवाक १ और ६) में, ऐतरेयोपनिषद् (अध्याय १ के तीनों खण्डों) में, छान्दोग्योपनिषद् (अध्याय ६, खण्ड २-३) में और बृहदारण्यकोपनिषद् (अध्याय १, ब्राह्मण २) में भी विस्तारपूर्वक आया है।

जगत्‌रूपमें प्रकट; **ईड्यम्**=स्तुति करने योग्य; **पूर्वम्**=पुराणपुरुष; **देवम् उपास्य**=परम देव (परमेश्वर) की उपासना करके (उसे प्राप्त करना चाहिये) ॥ ५ ॥

व्याख्या—वे समस्त जगत्‌के आदि कारण सर्वशक्तिमान् परमेश्वर तीनों कालोंसे सर्वथा अतीत हैं। उनमें कालका कोई भेद नहीं है, भूत और भविष्य भी उनकी दृष्टिमें वर्तमान ही हैं। वे (प्रश्नोपनिषद्‌में बतायी हुई) सोलह कलाओंसे रहित होनेपर भी अर्थात् संसारसे सर्वथा सम्बन्धरहित होते हुए भी प्रकृतिके साथ जीवका संयोग करानेवाले कारणके भी कारण हैं। यह बात इस रहस्यको जाननेवाले ज्ञानी महापुरुषोंद्वारा देखी गयी है। वे ही एकमात्र स्तुति करने योग्य हैं। उन्हें ढूँढ़नेके लिये कहीं दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है। वे हमारे हृदयमें ही स्थित हैं। इस बातपर दृढ़ विश्वास करके सब प्रकारके रूप धारण करनेवाले तथा जगत्‌रूपमें प्रकट हुए, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान् परम देव पुराणपुरुष परमेश्वरकी उपासना करके उन्हें प्राप्त करना चाहिये ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—अब ज्ञानयोगरूप तीसरा साधन बताया जाता है—

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥ ६ ॥

यस्मात्=जिससे; **अयम्**=यह; **प्रपञ्चः**=प्रपञ्च (संसार); **परिवर्तते**=निरन्तर चलता रहता है; **सः**=वह (परमात्मा); **वृक्षकालाकृतिभिः**=इस संसारवृक्ष, काल और आकृति आदिसे; **परः**=सर्वथा अतीत; (एवं) **अन्यः**=भिन्न है; (उस) **धर्मावहम्**=धर्मकी वृद्धि करनेवाले; **पापनुदम्**=पापका नाश करनेवाले; **भगेशम्**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यके अधिपति; (तथा) **विश्वधाम**=समस्त जगत्‌के आधारभूत परमात्माको; **आत्मस्थम्**=अपने हृदयमें स्थित; **ज्ञात्वा**=जानकर; (साधक) **अमृतम् [एति]**=अमृतस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—जिनकी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे यह प्रपञ्चरूप संसार निरन्तर घूम रहा है—प्रवाहरूपसे सदा चलता रहता है, वे परमात्मा इस संसार-वृक्ष, काल और आकृति आदिसे सर्वथा अतीत और भिन्न हैं। अर्थात् वे संसारसे सर्वथा सम्बन्धरहित, कालका भी ग्रास कर जानेवाले एवं आकाररहित हैं। तथापि वे धर्मकी वृद्धि एवं पापका नाश करनेवाले, समस्त ऐश्वर्योंके अधिपति और समस्त जगत्‌के आधार हैं। यह सम्पूर्ण विश्व उन्हींके आश्रित है, उन्हींकी सत्तासे टिका हुआ है। अन्तर्यामीरूपसे वे हमारे हृदयमें भी हैं। इस प्रकार उन्हें जानकर ज्ञानयोगी उन अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥६॥

सम्बन्ध—पहले अध्यायमें जिनका वर्णन आया है, वे ध्यानके द्वारा प्रत्यक्ष करनेवाले महात्मालोग कहते हैं—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥ ७ ॥

तम्=उस; **ईश्वराणाम्**=ईश्वरोंके भी; **परमम्**=परम; **महेश्वरम्**=महेश्वर; **देवतानाम्**=सम्पूर्ण देवताओंके; **च**=भी; **परमम्**=परम; **दैवतम्**=देवता; **पतीनाम्**=पतियोंके भी; **परमम्**=परम; **पतिम्**=पति; (तथा) **भुवनेशम्**=समस्त ब्रह्माण्डके स्वामी; (एवं) **ईड्यम्**=स्तुति करनेयोग्य; **तम्**=उस; **देवम्**=प्रकाशस्वरूप परमात्माको; (हमलोग) **परस्तात्**=सबसे परे; **विदाम**=जानते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या—वे परब्रह्म पुरुषोत्तम समस्त ईश्वरोंके—लोकपालोंके भी महान् शासक हैं, अर्थात् वे सब भी उन महेश्वरके अधीन रहकर जगत्‌का शासन करते हैं। समस्त देवताओंके भी वे परम आराध्य हैं, समस्त पतियों—रक्षकोंके भी परम पति हैं तथा समस्त ब्रह्माण्डोंके स्वामी हैं। उन स्तुति करनेयोग्य प्रकाशस्वरूप परम देव परमात्माको हमलोग सबसे पर जानते हैं। उनसे पर अर्थात् श्रेष्ठ और कोई नहीं है। वे ही इस जगत्‌के सर्वश्रेष्ठ कारण हैं और वे सर्वरूप होकर भी सबसे सर्वथा पृथक् हैं ॥ ७ ॥

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ ८ ॥

तस्य=उसके; **कार्यम्**=(शरीररूप) कार्य; **च**=और; **करणम्**=अन्तःकरण तथा इन्द्रियरूप करण; **न**=नहीं; **विद्यते**=है; **अभ्यधिकः**=उससे बड़ा; **च**=और; **तत्समः**=उसके समान; **च**=भी; (दूसरा) **न**=नहीं; **दृश्यते**=दीखता; **च**=तथा; **अस्य**=इस परमेश्वरकी; **ज्ञानबलक्रिया**=ज्ञान, बल और क्रियारूप; **स्वाभाविकी**=स्वाभाविक; **परा**=दिव्य; **शक्तिः**=शक्ति; **विविधा**=नाना प्रकारकी; **एव**=ही; **श्रूयते**=सुनी जाती है ॥ ८ ॥

व्याख्या—उन परब्रह्म परमात्माके कार्य और करण—शरीर और इन्द्रियाँ नहीं हैं। अर्थात् उनमें देह, इन्द्रिय आदिका भेद नहीं है। तीसरे अध्यायमें यह बात विस्तारपूर्वक बतायी गयी है कि वे इन्द्रियोंके बिना ही समस्त इन्द्रियोंका व्यापार करते हैं। उनसे बड़ा तो दूर रहे, उनके समान भी दूसरा कोई नहीं दीखता; वास्तवमें उनसे भिन्न कोई है ही नहीं। उन परमेश्वरकी ज्ञान, बल और क्रियारूप स्वरूपभूत दिव्य शक्ति नाना प्रकारकी सुनी जाती है ॥ ८ ॥

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥ ९ ॥

लोके=जगत्में; **कश्चित्**=कोई भी; **तस्य**=उस परमात्माका; **पतिः**=स्वामी; **न**=नहीं; **अस्ति**=है; **ईशिता**=उसका शासक; **च**=भी; **न**=नहीं है; **च**=और; **तस्य**=उसका; **लिङ्गम्**=चिह्नविशेष भी; **न एव**=नहीं है; **सः**=वह; **कारणम्**=सबका परम कारण; (तथा) **करणाधिपाधिपः**=समस्त करणोंके अधिष्ठाताओंका भी अधिपति है; **कश्चित्**=कोई भी; **न**=न; **च**=तो; **अस्य**=इसका; **जनिता**=जनक है; **च**=और; **न**=न; **अधिपः**=स्वामी ही है ॥ ९ ॥

व्याख्या—जगत्में कोई भी उन परमात्माका स्वामी नहीं है। सभी उनके दास और सेवक हैं। उनका शासक—उनपर आज्ञा चलानेवाला भी कोई नहीं है। सब उन्हींकी आज्ञा और प्रेरणाका अनुसरण करते और उनके नियन्त्रणमें रहते हैं। उनका कोई चिह्नविशेष भी नहीं है; क्योंकि वे सर्वत्र परिपूर्ण, निराकार हैं। तथा वे सबके परम कारण—कारणोंके भी कारण और समस्त अन्तःकरण और इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवताओंके भी अधिपति—शासक हैं। इन परब्रह्म परमात्माका न तो कोई जनक—अर्थात् इन्हें उत्पन्न करनेवाला पिता है और न कोई इनका अधिपति ही है। ये अजन्मा, सनातन, सर्वथा स्वतन्त्र और सर्वशक्तिमान् हैं ॥ ९ ॥

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत्। स नो दधाद्ब्रह्माप्ययम् ॥ १० ॥

तन्तुभिः=तन्तुओंद्वारा; **तन्तुनाभः इव**=मकड़ीकी भाँति; **यः एकः देवः**=जिस एक देव (परमात्मा) ने; **प्रधानजैः**=अपनी स्वरूपभूत मुख्य शक्तिसे उत्पन्न अनन्त कार्योंद्वारा; **स्वभावतः**=स्वभावसे ही; **स्वम्**=अपनेको; **आवृणोत्**=आच्छादित कर रक्खा है; **सः**=वह परमेश्वर; **नः**=हमलोगोंको; **ब्रह्माप्ययम्**=अपने परब्रह्मरूपमें आश्रय; **दधात्**=दे ॥ १० ॥

व्याख्या—जिस प्रकार मकड़ी अपनेसे प्रकट किये हुए तन्तुजालसे स्वयं आच्छादित हो जाती है—उसमें अपनेको छिपा लेती है, उसी प्रकार जिन एक देव परमपुरुष परमेश्वरने अपनी स्वरूपभूत मुख्य एवं दिव्य अचिन्त्यशक्तिसे उत्पन्न अनन्त कार्योंद्वारा स्वभावसे ही अपनेको आच्छादित कर रक्खा है, जिसके कारण संसारी जीव उन्हें देख नहीं पाते, वे सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमात्मा हमलोगोंको सबके परम आश्रयभूत अपने परब्रह्मस्वरूपमें स्थापित करें ॥ १० ॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ ११ ॥

एकः=(वह) एक; **देवः**=देव ही; **सर्वभूतेषु**=सब प्राणियोंमें; **गूढः**=छिपा हुआ; **सर्वव्यापी**=सर्वव्यापी; (और) **सर्वभूतान्तरात्मा**=समस्त प्राणियोंका अन्तर्यामी परमात्मा है; **कर्माध्यक्षः**=(वही) सबके कर्मोंका अधिष्ठाता; **सर्वभूताधिवासः**=सम्पूर्ण भूतोंका निवासस्थान; **साक्षी**=सबका साक्षी; **चेता**=चेतनस्वरूप; **केवलः**=सर्वथा विशुद्ध; **च**=और; **निर्गुणः**=गुणातीत है ॥ ११ ॥

व्याख्या—वे एक ही परमदेव परमेश्वर समस्त प्राणियोंके हृदयरूप गुहामें छिपे हुए हैं, वे सर्वव्यापी और समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी परमात्मा हैं। वे ही सबके कर्मोंके अधिष्ठाता—उनको कर्मानुसार फल देनेवाले और समस्त प्राणियोंके निवासस्थान—आश्रय हैं; तथा वे ही सबके साक्षी—शुभाशुभ कर्मको देखनेवाले, परम चेतनस्वरूप तथा सबको चेतना प्रदान करनेवाले, सर्वथा विशुद्ध अर्थात् निर्लेप और प्रकृतिके गुणोंसे अतीत हैं ॥ ११ ॥

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥

यः=जो; **एकः**=अकेला ही; **बहूनाम्**=बहुत-से; **निष्क्रियाणाम्**=वास्तवमें अक्रिय जीवोंका; **वशी**=शासक है; (और) **एकम्**=एक; **बीजम्**=प्रकृतिरूप बीजको; **बहुधा**=अनेक रूपोंमें परिणत; **करोति**=कर देता है; **तम्**=उस; **आत्मस्थम्**=हृदयस्थित परमेश्वरको; **ये**=जो; **धीराः**=धीर पुरुष; **अनुपश्यन्ति**=निरन्तर देखते रहते हैं; **तेषाम्**=उन्हींको; **शाश्वतम्**=सदा रहनेवाला; **सुखम्**=परमानन्द प्राप्त होता है; **इतरेषाम्**=दूसरोंको; **न**=नहीं ॥ १२ ॥

व्याख्या—जो विशुद्ध चेतनस्वरूप परमेश्वरके ही अंश होनेके कारण वास्तवमें कुछ नहीं करते, ऐसे अनन्त जीवात्माओंके जो अकेले ही नियन्ता—कर्मफल देनेवाले हैं, जो एक प्रकृतिरूप बीजको बहुत प्रकारसे रचना करके इस विचित्र जगत्‌के रूपमें बनाते हैं, उन हृदयस्थित सर्वशक्तिमान् परम सुहृद् परमेश्वरको जो धीर पुरुष निरन्तर देखते रहते हैं, निरन्तर उन्हींमें तन्मय हुए रहते हैं, उन्हींको सदा रहनेवाला परम आनन्द प्राप्त होता है; दूसरोंको, जो इस प्रकार उनका निरन्तर चिन्तन नहीं करते, वह परमानन्द नहीं मिलता—वे उससे वञ्चित रह जाते हैं ॥ १२ ॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१३॥

यः=जो; **एकः**=एक; **नित्यः**=नित्य; **चेतनः**=चेतन (परमात्मा); **बहूनाम्**=बहुत-से; **नित्यानाम्**=नित्य; **चेतनानाम्**=चेतन आत्माओंके; **कामान् विदधाति**=कर्मफलभोगोंका विधान करता है; **तत्**=उस; **सांख्ययोगाधिगम्यम्**=ज्ञानयोग और कर्मयोगसे प्राप्त करनेयोग्य; **कारणम्**=सबके कारणरूप; **देवम्**=परमदेव परमात्माको; **ज्ञात्वा**=जानकर; (मनुष्य) **सर्वपाशैः**=समस्त बन्धनोंसे; **मुच्यते**=मुक्त हो जाता है ॥ १३ ॥

व्याख्या—जो नित्य चेतन सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमात्मा अकेले ही बहुत-से नित्य चेतन जीवात्माओंके कर्मफल-भोगोंका विधान करते हैं, जिन्होंने इस विचित्र जगत्‌की रचना करके समस्त जीवसमुदायके लिये उनके कर्मानुसार फलभोगकी व्यवस्था कर रक्खी है, उनको प्राप्त करनेके दो साधन हैं—एक ज्ञानयोग, दूसरा कर्मयोग; भक्ति दोनोंमें ही अनुस्यूत है, इस कारण उसका अलग वर्णन नहीं किया गया। उन ज्ञानयोग और कर्मयोगद्वारा प्राप्त किये जाने योग्य सबके कारणरूप परमदेव परमेश्वरको जानकर मनुष्य समस्त बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त हो जाता है। जो उन्हें जान लेता है और प्राप्त कर लेता है, वह कभी किसी भी कारणसे जन्म-मरणके बन्धनमें नहीं पड़ता। अतः मनुष्यको उन सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमात्माको प्राप्त करनेके लिये अपनी योग्यता और रुचिके अनुसार ज्ञानयोग या कर्मयोग—किसी एक साधनमें तत्परतापूर्वक लग जाना चाहिये ॥ १३ ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१४॥

तत्र=वहाँ; **न**=न तो; **सूर्यः**=सूर्य; **भाति**=प्रकाश फैला सकता है; **न**=न; **चन्द्रतारकम्**=चन्द्रमा और तारागणका समुदाय ही; (और) **न**=न; **इमाः**=ये; **विद्युतः**=बिजलियाँ ही; **भान्ति**=वहाँ प्रकाशित हो सकती हैं; **अयम्**=(फिर) यह; **अग्निः**=लौकिक अग्नि तो; **कुतः**=कैसे प्रकाशित हो सकता है; (क्योंकि) **तम् भान्तम् एव**=उसके प्रकाशित होनेपर ही (उसीके प्रकाशसे); **सर्वम्**=बतलाये हुए सूर्य आदि सब; **अनुभाति**=उसके पीछे प्रकाशित होते हैं; **तस्य**=उसके; **भासा**=प्रकाशसे; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=सम्पूर्ण जगत्; **विभाति**=प्रकाशित होता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—उन परमानन्दस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरके समीप यह सूर्य अपना प्रकाश नहीं फैला सकता; जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशित होनेपर जुगनूका प्रकाश लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार सूर्यका भी तेज वहाँ लुप्त हो जाता है। चन्द्रमा, तारागण और बिजली भी वहाँ अपना प्रकाश नहीं फैला सकते; फिर इस लौकिक अग्निकी तो बात ही क्या है। क्योंकि इस जगत्में जो कोई भी प्रकाशशील तत्त्व हैं, वे उन परम प्रकाशस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमकी प्रकाशशक्तिके किसी अंशको पाकर ही प्रकाशित होते हैं। फिर वे अपने प्रकाशकके समीप कैसे अपना प्रकाश फैला सकते हैं। अतः यही समझना चाहिये कि यह सम्पूर्ण जगत् उन जगदात्मा पुरुषोत्तमके प्रकाशसे ही प्रकाशित हो रहा है ॥ १४ ॥

एको हꣳसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१५॥

अस्य=इस; **भुवनस्य**=ब्रह्माण्डके; **मध्ये**=बीचमें; (जो) **एकः**=एक; **हंसः**=प्रकाशस्वरूप परमात्मा (परिपूर्ण है); **सः एव**=वही; **सलिले**=जलमें; **संनिविष्टः**=स्थित; **अग्निः**=अग्नि है; **तम्**=उसे; **विदित्वा**=जानकर; **एव**=ही; (मनुष्य) **मृत्युम् अत्येति**=मृत्युरूप संसार-समुद्रसे सर्वथा पार हो जाता है; **अयनाय**=दिव्य परमधामकी प्राप्तिके लिये; **अन्यः**=दूसरा; **पन्थाः**=मार्ग; **न**=नहीं; **विद्यते**=है ॥ १५ ॥

व्याख्या—इस ब्रह्माण्डमें जो एक प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर सर्वत्र परिपूर्ण हैं, वे ही जलमें प्रविष्ट अग्नि हैं। यद्यपि शीतल स्वभावयुक्त जलमें उष्णस्वभाव अग्निका होना साधारण दृष्टिसे समझमें नहीं आता, क्योंकि दोनोंका स्वभाव परस्पर विरुद्ध है, तथापि उसके रहस्यको जाननेवाले वैज्ञानिकोंको वह प्रत्यक्ष दीखता है; अतः वे उसी जलमेंसे बिजलीके रूपमें उस अग्नितत्त्वको निकालकर नाना प्रकारके कार्योंका साधन करते हैं। शास्त्रोंमें भी जगह-जगह यह बात कही गयी है कि समुद्रमें बड़वानल अग्नि है। अपने कार्यमें कारण व्याप्त रहता है—इस न्यायसे भी जलतत्त्वका कारण होनेसे तेजस्तत्त्वका जलमें व्याप्त होना उचित ही है। किंतु इस रहस्यको न जाननेवाला जलमें स्थित अग्निको नहीं देख पाता। इसी प्रकार परमात्मा इस जड जगत्से स्वभावतः सर्वथा विलक्षण है; क्योंकि वे चेतन, ज्ञानस्वरूप और सर्वज्ञ हैं तथा यह जगत् जड और ज्ञेय है। इस प्रकार जगत्से विरुद्ध दीखनेके कारण साधारण दृष्टिसे यह बात समझमें नहीं आती कि वे इसमें किस प्रकार व्याप्त हैं और किस प्रकार इसके कारण हैं। परंतु जो उन परब्रह्मकी अचिन्त्य अद्भुत शक्तिके रहस्यको समझते हैं, उनको वे प्रत्यक्षवत् सर्वत्र परिपूर्ण और सबके एकमात्र कारण प्रतीत होते हैं। उन सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमात्माको जानकर ही मनुष्य इस मृत्युरूप संसारसमुद्रसे पार हो सकता है—सदाके लिये जन्म-मरणसे सर्वथा छूट सकता है। उनके दिव्य परमधामकी प्राप्तिके लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है। अतः हमें उन परमात्माका जिज्ञासु होकर उन्हें जाननेकी चेष्टामें लग जाना चाहिये ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—जिनको जाननेसे जन्म-मरणसे छूटनेकी बात कही गयी है, वे परमेश्वर कैसे हैं—इस जिज्ञासापर उनके स्वरूपका वर्णन किया जाता है—

स विश्वकृद्विश्ववित्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः सꣳसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥१६॥

सः=वह; **ज्ञः**=ज्ञानस्वरूप परमात्मा; **विश्वकृत्**=सर्वस्रष्टा; **विश्ववित्**=सर्वज्ञ; **आत्मयोनिः**=स्वयं ही अपने प्राकट्यका हेतु; **कालकालः**=कालका भी महाकाल; **गुणी**=सम्पूर्ण दिव्यगुणोंसे सम्पन्न; (और) **सर्ववित्**=सबको जाननेवाला है; **यः**=जो; **प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः**=प्रकृति और जीवात्माका स्वामी; **गुणेशः**=समस्त गुणोंका शासक; (तथा) **संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः**=जन्म-मृत्युरूप संसारमें बाँधने, स्थित रखने और उससे मुक्त करनेवाला है ॥ १६ ॥

व्याख्या—जिनका प्रकरण चल रहा है, वे ज्ञानस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तम सम्पूर्ण जगत्के रचना करनेवाले, सर्वज्ञ और स्वयं ही अपनेको प्रकट करनेमें हेतु हैं। उन्हें प्रकट करनेवाला कोई दूसरा कारण नहीं है। वे कालके भी महाकाल हैं, कालकी भी उनतक पहुँच नहीं है। वे कालातीत हैं। कठोपनिषद्में भी कहा है कि सबका संहार करनेवाला मृत्यु उन महाकालरूप परमात्माका उपसेचन—खाद्य है (कठ० १। २। २४)। वे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर सौहार्द, प्रेम, दया आदि समस्त कल्याणमय दिव्य गुणोंसे

सम्पन्न हैं; संसारमें जितने भी शुभ गुण देखनेमें आते हैं, वे उन दिव्य गुणोंके किसी एक अंशकी झलक हैं। वे समस्त जीवोंको, उनके कर्मोंको और अनन्त ब्रह्माण्डोंके भीतर तीनों कालोंमें घटित होनेवाली छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी घटनाको भलीभाँति जानते हैं। वे प्रकृति और जीव-समुदायके (अपनी अपरा और परा—दोनों प्रकृतियोंके) स्वामी हैं, तथा कार्य-कारणरूपमें स्थित सत्त्व आदि तीनों गुणोंका यथायोग्य नियन्त्रण करते हैं। वे ही इस जन्म-मृत्युरूप संसार-चक्रमें जीवोंको उनके कर्मानुसार बाँधकर रखते, उनका पालन-पोषण करते और इस बन्धनसे जीवोंको मुक्त भी करते हैं। उनकी कृपासे ही जीव मुक्तिके साधनमें लगकर साधनके परिपक्व होनेपर मुक्त होते हैं ॥ १६ ॥

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।
य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥१७॥

सः हि=वही; **तन्मयः**=तन्मय; **अमृतः**=अमृतस्वरूप; **ईशसंस्थः**=ईश्वरों (लोकपालों) में भी आत्मरूपसे स्थित; **ज्ञः**=सर्वज्ञ; **सर्वगः**=सर्वत्र परिपूर्ण; (और) **अस्य**=इस; **भुवनस्य**=ब्रह्माण्डका; **गोप्ता**=रक्षक है; **यः**=जो; **अस्य**=इस; **जगतः**=सम्पूर्ण जगत्का; **नित्यम्**=सदा; **एव**=ही; **ईशे**=शासन करता है; (क्योंकि) **ईशनाय**=इस जगत्पर शासन करनेके लिये; **अन्यः**=दूसरा कोई भी; **हेतुः**=हेतु; **न**=नहीं; **विद्यते**=है ॥ १७ ॥

व्याख्या—जिनके स्वरूपका पूर्वमन्त्रमें वर्णन हुआ है, वे परब्रह्म परमेश्वर ही तन्मय—स्व-स्वरूपमें स्थित, अमृत-स्वरूप—एकरस हैं; इस जगत्के उत्पत्ति-विनाशरूप परिवर्तनसे उनका परिवर्तन नहीं होता। वे समस्त ईश्वरोंमें—समस्त लोकोंका पालन करनेके लिये नियुक्त किये हुए लोकपालोंमें भी अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं। वे सर्वज्ञ, सर्वत्र परिपूर्ण परमेश्वर ही इस समस्त ब्रह्माण्डकी रक्षा करते हैं; वे ही इस सम्पूर्ण जगत्का सदा यथायोग्य नियन्त्रण और संचालन करते हैं। दूसरा कोई भी इस जगत्पर शासन करनेके लिये उपयुक्त हेतु नहीं प्रतीत होता; क्योंकि दूसरा कोई भी सबपर शासन करनेमें समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त परमेश्वरको जानने और पानेके लिये साधनके रूपमें उन्हींकी शरण लेनेका प्रकार बताया जाता है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥१८॥

यः=जो परमेश्वर; **वै**=निश्चय ही; **पूर्वम्**=सबसे पहले; **ब्रह्माणम्**=ब्रह्माको; **विदधाति**=उत्पन्न करता है; **च**=और; **यः**=जो; **वै**=निश्चय ही; **तस्मै**=उस ब्रह्माको; **वेदान्**=समस्त वेदोंका ज्ञान; **प्रहिणोति**=प्रदान करता है; **तम् आत्मबुद्धिप्रकाशम्**=उस परमात्मज्ञानविषयक बुद्धिको प्रकट करनेवाले; **ह देवम्**=प्रसिद्ध देव परमेश्वरको; **अहम्**=मैं; **मुमुक्षुः**=मोक्षकी इच्छावाला साधक; **शरणम्**=शरणरूपमें; **प्रपद्ये**=ग्रहण करता हूँ ॥ १८ ॥

व्याख्या—उन परमेश्वरको प्राप्त करनेका सार्वभौम एवं सुगम उपाय सर्वतोभावसे उन्हींपर निर्भर होकर उन्हींकी शरणमें चले जाना है। अतः साधकको मनके द्वारा नीचे लिखे भावका चिन्तन करते हुए परमात्माकी शरणमें जाना चाहिये। जो परमेश्वर निश्चय ही सबसे पहले अपने नाभि-कमलमेंसे ब्रह्माको उत्पन्न करते हैं, उत्पन्न करके उन्हें निःसंदेह समस्त वेदोंका ज्ञान प्रदान करते हैं तथा जो अपने स्वरूपका ज्ञान करानेके लिये अपने भक्तोंके हृदयमें तदनुरूप विशुद्ध बुद्धिको प्रकट करते हैं (गीता १० । १०), उन पूर्वमन्त्रोंमें वर्णित सर्वशक्तिमान् प्रसिद्ध देव परब्रह्म पुरुषोत्तमकी मैं मोक्षकी अभिलाषासे युक्त होकर शरण ग्रहण करता हूँ—वे ही मुझे इस संसार-बन्धनसे छुड़ायें ॥ १८ ॥

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥१९॥

निष्कलम्=कलाओंसे रहित; **निष्क्रियम्**=क्रियारहित; **शान्तम्**=सर्वथा शान्त; **निरवद्यम्**=निर्दोष; **निरञ्जनम्**=निर्मल; **अमृतस्य**=अमृतके; **परम्**=परम; **सेतुम्**=सेतुरूप; (तथा) **दग्धेन्धनम्**=जले हुए ईंधनसे युक्त; **अनलम् इव**=अग्निकी भाँति (निर्मल ज्योतिःस्वरूप उन परमात्माका मैं चिन्तन करता हूँ) ॥ १९ ॥

व्याख्या—निर्गुण निराकार परमात्माकी उपासना करनेवाले साधकको इस प्रकारकी भावना करनी चाहिये कि जो (पहले बतायी हुई) सोलह कलाओंसे अर्थात् संसारके सम्बन्धसे रहित, सर्वथा क्रियाशून्य, परम शान्त और सब प्रकारके दोषोंसे रहित हैं, जो अमृतस्वरूप मोक्षके परम सेतु हैं अर्थात् जिनका आश्रय लेकर मनुष्य अत्यन्त सुगमतापूर्वक इस संसार-समुद्रसे पार हो सकता है, जो लकड़ीका पार्थिव अंश जल जानेके बाद धधकते हुए अँगारोंवाली अग्निकी भाँति सर्वथा निर्विकार, निर्मल प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप परम चेतन हैं, उन निर्विशेष निर्गुण निराकार परमात्माको तत्त्वसे जाननेके लिये उन्हींको लक्ष्य बनाकर उनका चिन्तन करता हूँ ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—पहले जो यह बात कही गयी थी कि इस संसार-बन्धनसे छूटनेके लिये उन परमात्माको जान लेनेके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है, उसीको दृढ़ किया जाता है—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥२०॥

यदा=जब; **मानवाः**=मनुष्यगण; **आकाशम्**=आकाशको; **चर्मवत्**=चमड़ेकी भाँति; **वेष्टयिष्यन्ति**=लपेट सकेंगे; **तदा**=तब; **देवम्**=उन परमदेव परमात्माको; **अविज्ञाय**=बिना जाने भी; **दुःखस्य**=दुःख-समुदायका; **अन्तः**=अन्त; **भविष्यति**=हो सकेगा ॥ २० ॥

व्याख्या—जिस प्रकार आकाशको चमड़ेकी भाँति लपेटना मनुष्यके लिये सर्वथा असम्भव है, सारे मनुष्य मिलकर भी इस कार्यको नहीं कर सकते, उसी प्रकार परमात्माको बिना जाने कोई भी जीव इस दुःख-समुद्रसे पार नहीं हो सकता । अतः मनुष्यको दुःखोंसे सर्वथा छूटने और निश्चल परमानन्दकी प्राप्तिके लिये अन्य सब ओरसे मनको हटाकर एकमात्र उन्हींको जाननेके साधनमें तीव्र इच्छासे लग जाना चाहिये ॥ २० ॥

तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान् ।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम् ॥२१॥

ह=यह प्रसिद्ध है कि; **श्वेताश्वतरः**=श्वेताश्वतर नामक ऋषि; **तपःप्रभावात्**=तपके प्रभावसे; **च**=और; **देवप्रसादात्**=परमदेव परमेश्वरकी कृपासे; **ब्रह्म**=ब्रह्मको; **विद्वान्**=जान सका; **अथ**=तथा; (उसने) **ऋषिसङ्घजुष्टम्**=ऋषि-समुदायसे सेवित; **परमम्**=परम; **पवित्रम्**=पवित्र (इस ब्रह्मतत्त्वका); **अत्याश्रमिभ्यः**=आश्रमके अभिमानसे अतीत अधिकारियोंको; **सम्यक्**=उत्तमरूपसे; **प्रोवाच**=उपदेश किया था ॥ २१ ॥

व्याख्या—यह बात प्रसिद्ध है कि श्वेताश्वतर ऋषिने तपके प्रभावसे अर्थात् समस्त विषय-सुखका त्याग करके संयममय जीवन बिताते हुए निरन्तर परमात्माके ही चिन्तनमें लगे रहकर उन परमदेव परमेश्वरकी अहैतुकी दयासे उन्हें जान लिया था । फिर उन्होंने ऋषि-समुदायसे सेवित—उनके परम लक्ष्य इस परम पवित्र ब्रह्मतत्त्वका आश्रमके अभिमानसे सर्वथा अतीत हुए देहाभिमानशून्य अधिकारियोंको भलीभाँति उपदेश किया था । इससे इस मन्त्रमें यह बात भी दिखला दी गयी कि देहाभिमानशून्य साधक ही ब्रह्मतत्त्वका उपदेश सुननेके वास्तविक अधिकारी हैं ॥ २१ ॥

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् ।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः ॥२२॥

[**इदम्**=यह;] **परमम्**=परम; **गुह्यम्**=रहस्यमय ज्ञान; **पुराकल्पे**=पूर्वकल्पमें; **वेदान्ते**=वेदके अन्तिम भाग—उपनिषद्में; **प्रचोदितम्**=भलीभाँति वर्णित हुआ; **अप्रशान्ताय**=जिसका अन्तःकरण सर्वथा शान्त न हो गया हो, ऐसे मनुष्यको; **न दातव्यम्**=इसका उपदेश नहीं देना चाहिये; **पुनः**=तथा; **अपुत्राय**=जो अपना पुत्र न हो; **वा**=अथवा; **अशिष्याय**=जो शिष्य न हो, उसे; **न (दातव्यम्)**=नहीं देना चाहिये ॥ २२ ॥

व्याख्या—यह परम रहस्यमय ज्ञान पूर्वकल्पमें भी वेदके अन्तिम भाग—उपनिषदोंमें भलीभाँति वर्णित हुआ था । भाव

यह कि इस ज्ञानकी परम्परा कल्प-कल्पान्तरसे चली आती है, यह कोई नयी बात नहीं है। इसका उपदेश किसे दिया जाय और किसे नहीं; ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—'जिसका अन्तःकरण विषय-वासनासे शून्य होकर सर्वथा शान्त न हो गया हो, ऐसे मनुष्यको इस रहस्यका उपदेश नहीं देना चाहिये; तथा जो अपना पुत्र न हो अथवा शिष्य न हो, उसे भी नहीं देना चाहिये।' भाव यह है कि या तो जो सर्वथा शान्तचित्त हो, ऐसे अधिकारीको देना चाहिये अथवा जो अपना पुत्र या शिष्य हो, उसे देना चाहिये; क्योंकि पुत्र और शिष्यको अधिकारी बनाना पिता और गुरुका ही काम है; अतः वह पहलेसे ही अधिकारी हो, यह नियम नहीं है ॥ २२ ॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।
प्रकाशन्ते महात्मनः ॥२३॥

यस्य=जिसकी; **देवे**=परमदेव परमेश्वरमें; **परा**=परम; **भक्तिः**=भक्ति है; (तथा) **यथा**=जिस प्रकार; **देवे**=परमेश्वरमें है; **तथा**=उसी प्रकार; **गुरौ**=गुरुमें भी है; **तस्य महात्मनः**=उस महात्मा पुरुषके हृदयमें; **हि**=ही; **एते**=ये; **कथिताः**=बताये हुए; **अर्थाः**=रहस्यमय अर्थ; **प्रकाशन्ते**=प्रकाशित होते हैं; **प्रकाशन्ते महात्मनः**=उसी महात्माके हृदयमें प्रकाशित होते हैं ॥ २३ ॥

व्याख्या—जिस साधककी परमदेव परमेश्वरमें परम भक्ति होती है तथा जिस प्रकार परमेश्वरमें होती है, उसी प्रकार अपने गुरुमें भी होती है, उस महात्मा—मनस्वी पुरुषके हृदयमें ही ये बताये हुए रहस्यमय अर्थ प्रकाशित होते हैं। अतः जिज्ञासुको पूर्ण श्रद्धालु और भक्त बनना चाहिये। जिसमें पूर्ण श्रद्धा और भक्ति है, उसी महात्माके हृदयमें ये गूढ अर्थ प्रकाशित होते हैं। इस मन्त्रमें अन्तिम वाक्यकी पुनरावृत्ति ग्रन्थकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ॥ २३ ॥

॥ षष्ठ अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय श्वेताश्वतरोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इसका अर्थ कठोपनिषद्के आरम्भमें दिया गया है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

छान्दोग्योपनिषद्

यह उपनिषद् सामवेदकी तलवकार शाखाके अन्तर्गत छान्दोग्य ब्राह्मणका भाग है। छान्दोग्य ब्राह्मणमें कुल दस अध्याय हैं, उनमेंसे पहले और दूसरे अध्यायोंको छोड़कर शेष आठ अध्यायोंका नाम छान्दोग्योपनिषद् है।

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इसका अर्थ केनोपनिषद्के आरम्भमें दिया जा चुका है।

प्रथम अध्याय

प्रथम खण्ड

ओंकारकी व्याख्या

ॐरूप इस अक्षरकी उद्गीथ-शब्द-वाच्य परमात्माके रूपमें उपासना करनी चाहिये। क्योंकि यज्ञमें उद्गाता 'ॐ' इस अक्षरका ही सर्व-प्रथम उच्चस्वरसे गान करता है। उस ओंकारकी व्याख्या आरम्भ की जाती है ॥ १ ॥

इन चराचर जीवोंका रस—आधार पृथ्वी है, पृथ्वीका रस—आधार अथवा कारण जल है, जलका रस—उसपर निर्भर करनेवाली ओषधियाँ हैं, ओषधियोंका रस—उनसे पोषण पानेवाला मनुष्य-शरीर है, मनुष्यका रस—प्रधान अङ्ग वाणी है, वाणीका रस—सार ऋचा * है, ऋचाका रस साम है और सामका रस उद्गीथ (ओंकार) है। इनमें जो आठवाँ (सबसे अन्तिम) रस उद्गीथरूप ओंकार है, वह समस्त रसोंमें उत्कृष्ट रस है; अतः यह सर्वश्रेष्ठ एवं परब्रह्म परमात्माका धाम—आश्रय है। अब कौन-कौन ऋचा है, कौन-कौन साम है तथा कौन-कौन उद्गीथ है—यह विचार किया जाता है। वाणी ही ऋचा है, प्राण साम है, 'ॐ' यह अक्षर ही उद्गीथ है। जो वाणी और प्राण तथा ऋचा और साम हैं, यह एक ही जोड़ा है—दो नहीं हैं। अर्थात् वाणी अथवा ऋचा तथा प्राण अथवा साम एक दूसरेके पूरक हैं। वाणी और प्राणका अथवा ऋचा और सामका यह जोड़ा ॐरूप इस अक्षरमें भलीभाँति संयुक्त किया जाता है। जिस समय स्त्री और पुरुष आपसमें प्रेमपूर्वक मिलते हैं, उस समय वे अवश्य ही एक दूसरेकी कामना पूर्ण करते हैं। इसी प्रकार यह वाणी और प्राणका जोड़ा जब ओंकारमें लगाया जाता है, तब वह सदाके लिये पूर्णकाम—कृतकृत्य हो जाता है। इस रहस्यको जाननेवाला जो कोई उपासक इस उद्गीथस्वरूप अविनाशी परमेश्वरकी उपासना करता है, वह निश्चय ही सम्पूर्ण कामनाओंकी प्राप्ति करानेमें समर्थ होता है ॥ २–७ ॥

यह ॐरूप अक्षर अनुज्ञा अर्थात् अनुमतिसूचक भी है; क्योंकि मनुष्य जब किसी बातके लिये अनुमति देता है तब 'ओम्' इस शब्दका ही उच्चारण करता है। किसीको कुछ

---

* जिनके अक्षर, पाद और समाप्ति—ये नियत संख्याके अनुसार होते हैं, उन मन्त्रोंको 'ऋक्' कहते हैं; जिनके अक्षर आदिकी कोई नियत संख्या या क्रम न हो, उन्हें 'यजुः' कहते हैं। 'ऋक्' संज्ञक मन्त्रोंमें ही जो गीतप्रधान हैं—गाये जा सकते हैं, उनकी 'साम' संज्ञा है। साम-मन्त्रोंद्वारा विभिन्न देवताओंकी स्तुति की जाती है।

करनेके लिये जो यह अनुज्ञा—अनुमति देना है, वही समृद्धि—बड़प्पनका लक्षण है; अतः इस रहस्यको जाननेवाला जो साधक उद्गीथके रूपमें उस परम अक्षर परमात्माकी उपासना करता है, वह अपनी और दूसरोंकी समस्त कामनाओं—भोग्यवस्तुओं-को बढ़ानेमें समर्थ होता है। ओंकारसे ही ऋक्, यजुः और साम—ये तीनों वेद अथवा इन तीनों वेदोंमें वर्णित यज्ञादि कर्म आरम्भ होते हैं। इस ओंकाररूप अक्षरकी अर्थात् इसके अर्थभूत अविनाशी परमात्माकी पूजा—प्रीतिके लिये, इसीकी महिमा (प्रभाव) एवं रस (शक्ति) से 'ॐ' इस प्रकार कहकर 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विक् 'आश्रावण' करता है—मन्त्र सुनाता है, 'ॐ' यों कहकर ही होता नामका ऋत्विक् 'शंसन' करता है—मन्त्रोंका पाठ करता है और 'ॐ' यों कहकर ही 'उद्गाता' उद्गीथका गान करता है। जो इस रहस्यको इस प्रकार जानता है और जो नहीं जानता, दोनों इस ओंकारसे ही यज्ञादि कर्म करते हैं; परंतु जानना और न जानना दोनों अलग-अलग हैं। साधक जो कुछ भी श्रद्धापूर्वक, उसके वास्तविक रहस्यको बतानेवाली विद्याके द्वारा अर्थात् उसके तत्त्वको समझकर करता है, वही अधिक-से-अधिक सामर्थ्ययुक्त होता है। यही इस ओंकाररूप अक्षरकी प्रसिद्ध व्याख्या—उसकी महिमाका वर्णन है ॥ ८-१० ॥

द्वितीय खण्ड

ओंकारकी आध्यात्मिक उपासना

यह प्रसिद्ध है कि प्रजापतिकी संतान—देवता और असुर दोनों जब आपसमें लड़ रहे थे, उसी समय देवताओंने उद्गीथ (ओंकार) को ध्येय बनाकर उसकी उपासनारूप यज्ञ किया। उनका उद्देश्य यह था कि 'इस अनुष्ठानद्वारा हमलोग इन असुरोंको परास्त कर देंगे।' उन्होंने नासिकामें रहनेवाले घ्राणेन्द्रियरूप प्राणको उद्गीथ बनाकर उपासना की। तब उस घ्राणेन्द्रियको असुरोंने राग-द्वेषरूप पापसे युक्त कर दिया। घ्राणेन्द्रिय राग-द्वेषसे युक्त है, इसीलिये उसके द्वारा यह जीव अच्छी और बुरी—दोनों प्रकारकी गन्धको ग्रहण करता है। तदनन्तर उन प्रसिद्ध देवताओंने उद्गीथरूपसे वाणीकी उपासना की। असुरोंने उसे भी राग-द्वेषसे कलुषित कर दिया। वाणी राग-द्वेषसे कलुषित है, इसीलिये उसके द्वारा मनुष्य सत्य और झूठ दोनों बोलता है। इसके बाद देवताओंने उद्गीथरूपसे नेत्रकी उपासना की। उसे भी असुरोंने राग-द्वेषसे मलिन कर दिया। चक्षु-इन्द्रिय राग-द्वेषसे मलिन हो रही है, इसीलिये उसके द्वारा मनुष्य देखनेयोग्य और न देखनेयोग्य—शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके दृश्य देखता है। अबकी बार देवताओंने श्रोत्रकी उद्गीथरूपसे उपासना की। उसे भी असुरोंने राग-द्वेषसे दूषित कर दिया। श्रोत्र-इन्द्रिय राग-द्वेषसे दूषित है, इसीलिये मनुष्य उसके द्वारा सुननेयोग्य और न सुननेयोग्य—दोनों प्रकारके शब्द सुनता है। फिर देवताओंने मनकी उद्गीथरूपसे उपासना की। उसे भी असुरोंने राग-द्वेषसे अभिभूत कर दिया। मन राग-द्वेषसे अभिभूत है, इसीलिये उसके द्वारा मनुष्य मनमें लानेयोग्य और मनमें न लानेयोग्य—दोनों प्रकारके संकल्प करता है। तब देवताओं-ने जो यह मुख्य प्राण है, उसीकी उद्गीथरूपसे उपासना की। उसे भी असुरोंने राग-द्वेषसे युक्त करना चाहा; परंतु उसके समीप जाते ही वे उसी प्रकार छिन्न-भिन्न हो गये, जैसे खोदे न जा सकनेवाले सुदृढ़ पत्थरसे टकराकर मिट्टीका ढेला चूर-चूर हो जाता है। जिस प्रकार अच्छेद्य पत्थरसे टकराकर मिट्टीका ढेला छिन्न-भिन्न हो जाता है, ठीक वैसे ही वह मनुष्य भी विध्वंस हो जाता है, जो उद्गीथका रहस्य जाननेवालेके विषयमें अहित-कामना करता है तथा जो उसे पीड़ा पहुँचाता है; क्योंकि उद्गीथके रहस्यको जाननेवाला मनुष्य मानो अच्छेद्य पत्थर ही है ॥ १-८ ॥

प्राणके द्वारा मनुष्य न तो सुगन्धका अनुभव करता है और न दुर्गन्धका ही; क्योंकि इसके सम्पर्कमें आकर तो राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं। इसके द्वारा मनुष्य जो कुछ खाता और जो कुछ पीता है, उससे वह मन-इन्द्रियादि अन्य प्राणोंकी भी रक्षा करता है। अन्तकालमें इसीको न पाकर अर्थात् इसके न रहनेपर इसके साथ ही अन्य सब प्राणोंको लेकर जीवात्मा भी शरीरसे उत्क्रमण कर जाता है—उसे छोड़कर अन्यत्र चला जाता है। इसीलिये अन्त समयमें जीव अपना मुँह अवश्य खोल देता है। यही प्राणकी महिमा है ॥ ९ ॥

यह प्रसिद्ध है कि अङ्गिरा ऋषिने प्राणको ही प्रतीक बना-कर ओंकारस्वरूप परमात्माकी उपासना की थी। अतः लोग इसीको 'आङ्गिरस'—अङ्गिराका उपास्य मानते हैं; क्योंकि यह समस्त अङ्गोंका रस—पोषक है। इसीसे बृहस्पतिने भी प्राणरूपसे उद्गीथकी—ओंकारवाच्य परमात्माकी उपासना की थी। परंतु लोग प्राणको ही 'बृहस्पति' मानते हैं; क्योंकि वाणीका एक नाम बृहती भी है और उसका यह पति—रक्षक है। इसीसे आयास्य नामके प्रसिद्ध ऋषिने भी प्राणके रूपमें

उद्गीथकी उपासना की थी। परंतु लोग इस प्राणको ही 'आयास्य' मानते हैं; क्योंकि यह आस्य अर्थात् मुखके द्वारा आता-जाता है। दल्भके पुत्र बक नामक ऋषिने प्राणकी उपासनारूप साधनसे उद्गीथ अर्थात् ओंकारके अर्थरूप परमात्माको जाना था। वे प्रसिद्ध ऋषि नैमिषारण्यमें यज्ञ करनेवाले ऋषियोंके उद्गाता हुए थे और उन्होंने इन यज्ञ करनेवालोंके लिये उनकी कामना-पूर्तिके उद्देश्यसे उद्गीथका गान किया था। प्राणके महत्त्वको इस प्रकार जाननेवाला जो उपासक अक्षर—ओंकाररूप उद्गीथकी उपासना करता है, वह निस्संदेह ओंकारके गानद्वारा अपनी मनोवाञ्छित वस्तुको आकर्षित करनेमें समर्थ होता है। इस प्रकार अध्यात्मविषयक—शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली उपासनाका प्रकरण समाप्त हुआ ॥ १०–१४ ॥

तृतीय खण्ड

ओंकारकी आधिदैविक उपासना

अब ओंकारकी आधिदैविक उपासनाका वर्णन किया जाता है। जो यह सूर्य तपता है, उसीकी उद्गीथके रूपमें उपासना करनी चाहिये। यह सूर्य उदय होते ही मानो समस्त प्रजाके लिये अन्न आदिकी उत्पत्तिके उद्देश्यसे उद्गान करता है—उनकी उन्नतिमें कारण बनता है; इसीलिये यह 'उद्गीथ' है। इतना ही नहीं, यह उदय होते ही अन्धकार और भयका नाश कर देता है। अतः जो इस प्रकार सूर्यके प्रभावको जानता है, वह स्वयं जन्म-मृत्युके भय एवं अज्ञानरूप अन्धकारका नाशक बन जाता है ॥ १ ॥

यह प्राण और वह सूर्य दोनों समान ही हैं; क्योंकि यह मुख्य प्राण उष्ण है और सूर्य भी गरम है। इस प्राणको लोग 'स्वर' (क्रियाशक्तिसम्पन्न) कहकर पुकारते हैं और उस सूर्यको 'स्वर' (स्वयं क्रियाशक्तिवाला) एवं 'प्रत्यास्वर' (दूसरोंको क्रियाशक्ति प्रदान करनेवाला) दोनों नामोंसे पुकारते हैं। इसीलिये इस प्राण एवं उस सूर्यके रूपमें उस उद्गीथकी उपासना करनी चाहिये ॥ २ ॥

इसके बाद दूसरे प्रकारकी उपासना बतलायी जाती है। व्यानके रूपमें भी उद्गीथकी उपासना करनी चाहिये। मनुष्य जो श्वासके द्वारा भीतरकी वायुको बाहर निकालता है, वह प्राण है; और जो बाहरकी वायुको भीतर ले जाता है, वह अपान है। तथा जो प्राण और अपानकी संधि है, अर्थात् जिसमें ये दोनों मिल जाते हैं, वह व्यान है। जो व्यान है, वही वाणी है*। इसीलिये मनुष्य श्वासको बाहर निकालने और भीतर खींचनेकी क्रिया न करता हुआ ही वाणीका स्पष्ट उच्चारण करता है। अर्थात् सामान्यतया बोलते समय श्वास-प्रश्वासकी क्रिया बंद हो जाती है ॥ ३ ॥

जो वाणी है, वही ऋचा है; इसलिये मनुष्य प्राण और अपानकी क्रिया न करता हुआ ही वेदकी ऋचाओंका भलीभाँति उच्चारण करता है। जो ऋचा है, वही साम है; क्योंकि 'ऋक्'का ही अंशविशेष साम है। इसलिये मनुष्य प्राण और अपानकी क्रिया न करता हुआ ही सामका गान करता है। जो साम है, वही उद्गीथ है; क्योंकि सामका ही मुख्य भाग 'उद्गीथ' है। इसलिये मनुष्य प्राण और अपानकी क्रिया न करता हुआ ही उच्चस्वरसे उद्गीथका गान करता है। अर्थात् तीनोंमें ही व्यानकी ही प्रधानता है। व्यान ही तीनोंका आधार है। इनके अतिरिक्त जो विशेष सामर्थ्यकी अपेक्षा रखनेवाले कर्म हैं—जैसे काष्ठ-मन्थनद्वारा अग्निको प्रकट करना, एक नियत सीमातक दौड़ लगाना, कठोर धनुषको खींचना इत्यादि—इन सबको मनुष्य प्राण और अपानकी क्रियाको रोककर व्यानके बलसे ही करता है। इस प्रकार व्यानकी श्रेष्ठता सिद्ध हो जानेके कारण व्यानके रूपमें ही उद्गीथकी उपासना करनी चाहिये ॥ ४-५ ॥

अब एक और प्रकारकी उपासना बतायी जाती है। वह यह है कि 'उद्गीथ' शब्दके जो तीन अक्षर हैं, उनके रूपमें उद्गीथ शब्दवाच्य परमात्माकी उपासना करनी चाहिये। इनमें पहला 'उत्' ही प्राण है; क्योंकि मनुष्य प्राणसे ही उत्थान करता है और 'उत्' उत्थानका वाचक है। दूसरा 'गी' वाणीका द्योतक है; क्योंकि वाणीको 'गीः' इस नामसे पुकारते हैं। और तीसरा 'थ' अन्नका वाचक है; क्योंकि यह समस्त जगत् अन्नके ही आधार स्थित है और 'थ' स्थितिका बोधक है। 'उत्' ही स्वर्गलोक है, 'गी' अन्तरिक्षलोक है और 'थ' भूलोक है। 'उत्' ही आदित्य है, 'गी' वायु है और 'थ' अग्नि है। 'उत्' ही सामवेद है, 'गी' यजुर्वेद है और 'थ' ऋग्वेद है। इस

* प्रथम खण्डमें जिस प्राणकी वाणी और ऋचाके साथ एकता की गयी है, वही प्राण यहाँ व्यानके नामसे कहा गया है। वहाँ 'प्राण' शब्दसे प्राणके समष्टिरूपका वर्णन है, केवल श्वासको बाहर निकालनेकी क्रियाका नाम ही वहाँ प्राण नहीं है—यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये।

प्रकार जाननेवाला जो साधक 'उद्गीथ' शब्दके इन तीनों अक्षरोंकी उद्गीथ—ओंकारवाच्य परमात्माके रूपमें उपासना करता है; उसके लिये वाणी अपना सारा रहस्य प्रकट कर देती है, अर्थात् उसके सामने समस्त वेदोंका तात्पर्य अपने-आप प्रकट हो जाता है। तथा वह सब प्रकारकी भोग-सामग्रीसे एवं उसे भोगनेकी शक्तिसे भी सम्पन्न हो जाता है ॥६-७॥

अब कामनाओंकी उत्तम सिद्धिका निश्चित साधन बताया जाता है। इसके लिये उपासनाके जो सात अङ्ग आगे बताये जानेवाले हैं, उन्हें ध्यानमें रखना चाहिये। उनमेंसे पहला अङ्ग यह है कि जिस सामके द्वारा साधक अपने इष्टदेवकी स्तुति करना चाहता हो, उसे सदा याद रक्खे। दूसरी बात यह है कि वह साम—गाये जानेवाला मन्त्र जिस ऋचामें प्रतिष्ठित हो, उस ऋचाको भी ध्यानमें रक्खे। तीसरी बात यह है कि जिस ऋषिके द्वारा उस मन्त्रका साक्षात्कार किया गया हो, उस ऋषिको स्मरण रक्खे। चौथी बात यह है कि उस सामगानके द्वारा जिस देवताकी स्तुति करना उपासकको अभीष्ट हो, उस देवताका भलीभाँति स्मरण रक्खे। पाँचवीं बात यह है कि जिस छन्दवाले मन्त्रसे वह स्तुति करना चाहता हो, उस छन्दको स्मरण रक्खे और छठी बात यह है कि सामवेदके जिस स्तोत्र-समूहसे स्तुति की जानेवाली हो, उस स्तुति-समूहको भी ध्यानमें रक्खे। सातवीं बात यह है कि जिस ओर मुख करके स्तुति करनेका विचार हो, उस दिशाका भी ध्यान रक्खे। अन्तमें प्रमादरहित अर्थात् सावधान होकर अपनी अभिलाषाको याद रखते हुए परमात्माके समीप जाकर अर्थात् ध्यानके द्वारा उनमें स्थित होकर स्तुति करनी चाहिये। क्योंकि इस प्रकार स्तुति करनेवाला उपासक जिस कामनासे स्तुति करता है, उसकी वह कामना शीघ्र ही पूर्णतया सफल हो जाती है ॥ ८–१२ ॥

चतुर्थ खण्ड

ओंकारके आश्रयसे अमृतत्वकी प्राप्ति

'ॐ' यह अक्षर ही उद्गीथ है, यों समझकर इसकी उपासना करनी चाहिये; क्योंकि यज्ञमें उद्गाता नामक ऋत्विज् 'ॐ' इस अक्षरका ही उच्चस्वरसे गान करता है। उस ओंकारकी व्याख्या की जाती है ॥ १ ॥

यह प्रसिद्ध है कि मृत्युसे डरते हुए देवताओंने ऋक्, यजुः और सामरूप तीनों वेदोंमें प्रवेश किया—उनका आश्रय लिया। उन्होंने गायत्री आदि भिन्न-भिन्न छन्दोंके मन्त्रोंसे अपनेको ढक लिया—उन्हें अपना कवच बनाया। उन्होंने जो भिन्न-भिन्न छन्दोंसे युक्त मन्त्रोंद्वारा अपनेको आच्छादित कर लिया, इसीसे वे 'छन्द' कहलाये। जो आच्छादन करे, वही छन्द—यह 'छन्दस्' शब्दकी व्युत्पत्ति है ॥ २ ॥

जिस प्रकार मछली पकड़नेवाला धीवर जलके भीतर भी मछलीको देख लेता है, उसी प्रकार देवताओंको मृत्युने उन ऋक्, साम एवं यजुर्वेदके मन्त्रोंकी ओटमें भी देख लिया—वहाँ भी उसने इनका पिण्ड नहीं छोड़ा। वे देवतालोग भी इस बातको जान गये; अतः ऋक्, साम और यजुर्वेदके मन्त्रोंसे ऊपर उठकर वे स्वरमें अर्थात् ओंकारमें ही प्रविष्ट हो गये ॥ ३ ॥

जब कोई ऋक्का—ऋग्वेदके मन्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब वह निःसंदेह 'ॐ' इस प्रकार ही उच्चस्वरसे उच्चारण करता है। इसी प्रकार सामको और वैसे ही यजुर्वेदको जाननेवाला भी 'ॐ' का ही गान करता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जो यह ओंकाररूप अक्षर अर्थात् उसका वाच्यभूत परमात्मा है, वही ऊपर बताया हुआ स्वर है; वही अमृत—मृत्युसे छुड़ानेवाला एवं भयरहित स्थान है। उसका आश्रय लेकर देवतालोग अमर और निर्भय हो गये। जो ओंकारको इस रूपमें जानकर उसके अर्थभूत अविनाशी परमेश्वरकी स्तुति एवं उपासना करता है तथा एकमात्र इसी अमृतरूप, सर्वथा भयरहित एवं अविनाशी परमात्माके स्वरूपभूत इस स्वरमें प्रविष्ट हो जाता है—उसकी शरणमें चला जाता है; वह उसमें प्रवेश करके उसी अमृतको प्राप्त कर लेता है, जिस अमृतको पूर्वोक्त प्रकारसे देवताओंने प्राप्त किया था ॥ ४-५ ॥

पञ्चम खण्ड

सूर्य एवं प्राणके रूपमें ओंकारकी उपासना

अब ओंकारकी उपासनाका अन्य प्रकार बताया जाता है। निश्चय ही जो उद्गीथ—गाने योग्य परमात्मा है, वही प्रणव—ओंकार है और जो प्रणव है, वही उद्गीथ है—यों समझना चाहिये; क्योंकि नाम और नामीमें कोई भेद नहीं होता।

वह आकाशमें विचरनेवाला सूर्य ही उद्गीथ है और यही प्रणव भी है। अर्थात् सूर्यमें ही परमात्मा और उनके वाचक 'ॐ' की भावना करनी चाहिये; क्योंकि यह 'ॐ' इस प्रकार उच्चारण करता हुआ ही गमन करता है। यहाँ 'स्वरन् एति' (उच्चारण करता हुआ गमन करता है)—इस प्रकार 'सूर्य' शब्दकी व्युत्पत्ति की गयी है ॥ १ ॥

एक बार कौषीतकि ऋषिने अपने पुत्रसे इस प्रकार कहा—'बेटा ! मैंने इसी सूर्यको लक्ष्य करके ओंकारका भलीभाँति गान किया था; इसलिये मेरे तू एक पुत्र है। तू सूर्यकी किरणोंका सब ओरसे आवर्तन कर—उन सबके रूपमें ओंकारका बार-बार चिन्तन कर; निःसंदेह तेरे बहुत-से पुत्र हो जायँगे।' इस प्रकार यह आधिदैविक—देवतासम्बन्धी उपासना है ॥ २ ॥

अब पुनः आध्यात्मिक (शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली) उपासनाका प्रकार बताया जाता है। जो यह श्वासके रूपमें चलनेवाला मुख्य प्राण है, उसीके रूपमें उद्गीथकी—गानेयोग्य परमात्माकी उपासना करनी चाहिये; क्योंकि वह 'ॐ' इस प्रकार उच्चारण करता हुआ ही गमन करता है। प्राण सूर्यरूप है, इसीलिये 'स्वरन् एति' इसी प्रकार यहाँ भी व्युत्पत्ति की गयी है। अर्थात् हमारे प्राणके द्वारा निरन्तर ओंकारकी ध्वनि हो रही है—ऐसी भावना करते हुए उसमें ओंकाररूप परमात्माका ध्यान करना चाहिये ॥ ३ ॥

एक बार कौषीतकि ऋषिने अपने पुत्रसे यह बात कही कि "बेटा ! मैंने इस प्राणको ही लक्ष्य करके—इसीमें परमात्माकी भावना करते हुए ओंकारका भलीभाँति गान—आवर्तन किया था; इसलिये मेरे तू एक पुत्र है। 'निश्चय ही मेरे बहुत-से पुत्र होंगे' इस संकल्पसे तू अनेक रूपोंमें प्रतिष्ठित प्राणरूप परमात्माका भलीभाँति गान कर—उपासना कर"* ॥ ४ ॥

अब कहते हैं कि निश्चय ही सामका जो उद्गीथ नामक भाग है, वही प्रणव है; क्योंकि प्रणव उसका सार है। और जो प्रणव है, वही उद्गीथ है। अर्थात् दोनोंमें कोई भेद नहीं है। इस रहस्यको जाननेवाला निःसंदेह होताके आसनसे ही उद्गाताद्वारा किये गये दोषयुक्त उद्गानको प्रणवके उच्चारणसे पीछे सुधार लेता है; क्योंकि भगवान्‌के नामोच्चारणसे यज्ञकी सारी त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं। यह इस ज्ञानकी महिमा है ॥ ५ ॥

षष्ठ खण्ड

विविध रूपोंमें उद्गीथोपासना

यह पृथ्वी ही ऋक् है और अग्नि साम है। वह यह अग्निरूप साम इस पृथ्वीरूप ऋक्‌में प्रतिष्ठित है—भलीभाँति स्थित है। इसीलिये ऋक्‌में प्रतिष्ठित सामका गान किया जाता है। पृथ्वी ही 'सा' है और अग्नि 'अम' है; वे दोनों मिलकर 'साम' हैं। इसी प्रकार अन्तरिक्ष ही ऋक् है और वायु साम है। वह यह वायुरूप साम इस अन्तरिक्षरूप ऋक्‌में प्रतिष्ठित है। इसीलिये ऋक्‌में प्रतिष्ठित सामका गान किया जाता है। अन्तरिक्ष ही मानो 'सा' है और वायु 'अम' है; वे दोनों मिलकर साम हैं। पुनः द्युलोक—स्वर्गलोक ही ऋक् और सूर्य ही साम है। वह यह सूर्यरूप साम इस स्वर्गरूप ऋक्‌में प्रतिष्ठित है। इसीलिये ऋक्‌में प्रतिष्ठित सामका गान किया जाता है। द्युलोक ही मानो 'सा' है और सूर्य मानो 'अम' है; वे दोनों मिलकर साम हैं। समस्त नक्षत्रमण्डल ही ऋक् है और चन्द्रमा साम है। वही यह चन्द्रमारूप साम इस नक्षत्ररूप ऋक्‌में प्रतिष्ठित है। इसीलिये ऋक्‌में प्रतिष्ठित सामका गान किया जाता है। नक्षत्रमण्डल ही मानो 'सा' है और चन्द्रमा 'अम' है; दोनों मिलकर साम हैं ॥ १—४ ॥

अब दूसरी बात कहते हैं। जो यह प्रत्यक्ष दीखनेवाली सूर्यकी श्वेत आभा है, वही ऋक् है; तथा जो उसके भीतर छिपा हुआ नीलापन और अतिशय श्यामता है, वह साम है। वह श्याम आभारूप साम इस श्वेत आभारूप ऋक्‌में प्रतिष्ठित है, इसीलिये ऋक्‌में प्रतिष्ठित सामका गान किया जाता है। इसके सिवा यह जो सूर्यकी श्वेत प्रभा—उज्ज्वल प्रकाश है, वही 'सा' है; तथा जो नील एवं अतिशय श्याम प्रभा है, वह 'अम' है। वे दोनों मिलकर साम हैं। तथा सूर्यमें जो यह उसका अन्तर्यामी स्वर्णसदृश प्रकाशस्वरूप पुरुष दिखायी देता है—जिसकी दाढ़ी सुवर्णकी भाँति प्रकाशमय है तथा केश भी सोनेकी ही भाँति चमचमाते हैं और जो नखके अग्रभागसे लेकर चोटीतक सब-का-सब स्वर्णमय प्रकाशयुक्त है, वह परमपुरुष परमेश्वर ही है। उस सुवर्णसदृश प्रकाशयुक्त पुरुषके दोनों नेत्र ऐसे हैं, जैसे कोई लाल कमल हो। उसका 'उत्'

* जो बात इन्हीं ऋषिने दूसरे मन्त्रमें सूर्यके सम्बन्धमें कही थी, वही यहाँ प्राणके सम्बन्धमें कही गयी है। इससे भी प्राण और सूर्यकी एकता प्रतिपादित होती है। प्रश्नोपनिषद्‌में प्राण और सूर्यकी एकताका भलीभाँति निरूपण हुआ है।

(सबसे ऊपर उठा हुआ) यह नाम है। वह यह परमेश्वर समस्त पापोंसे ऊपर उठा हुआ है। जो कोई उपासक इस प्रकार जानता है, वह निश्चय ही सब पापोंसे ऊपर उठ जाता है ॥ ५–७ ॥

ऋग्वेद और सामवेद उस परमात्माके ही गुणगान हैं; इसलिये वह उद्गीथ है; तथा इसीलिये जो उद्गाता है, वह वास्तवमें उसीका गान करनेवाला है। जो स्वर्गलोकसे भी ऊपरके लोक हैं, उनका भी तथा देवताओंके भोगोंका भी शासन वह परमात्मा ही करता है। यह आधिदैविक उपासना समाप्त हुई ॥ ८ ॥

सप्तम खण्ड

शरीरकी दृष्टिसे उद्गीथोपासना

अब वही बात शरीरकी दृष्टिसे समझायी जाती है। वाक्-इन्द्रिय ही ऋक् है, प्राण साम है। वही यह प्राणरूप साम वाणीरूप ऋक्में प्रतिष्ठित—भलीभाँति स्थित है। इसीलिये ऋक्में प्रतिष्ठित सामका गान किया जाता है। वाणी ही 'सा' है, प्राण 'अम' है; वे दोनों मिलकर साम हैं। इसी प्रकार नेत्र ही ऋक् है और उसके भीतरकी काली पुतली साम है। वही यह आँखकी पुतलीरूप साम इस नेत्ररूप ऋक्में प्रतिष्ठित है। इसीलिये ऋक्में प्रतिष्ठित सामका गान किया जाता है। नेत्र ही 'सा' है और पुतली 'अम' है; वे दोनों मिलकर साम हैं। पुनः श्रोत्र ही ऋक् है, मन साम है। वही यह मनरूप साम श्रोत्ररूप ऋक्में प्रतिष्ठित है। इसीलिये ऋक्में प्रतिष्ठित सामका गान किया जाता है। श्रोत्र ही 'सा' है, मन 'अम' है; दोनों मिलकर साम हैं। तथा यह जो नेत्रोंकी श्वेत आभा है, वही ऋक् है; तथा जो नील एवं अतिशय श्याम आभा है, वह साम है। वही यह श्याम आभारूप साम इस श्वेत आभारूप ऋक्में प्रतिष्ठित है। इसीलिये ऋक्में प्रतिष्ठित सामका गान किया जाता है। तथा यह जो नेत्रकी श्वेत आभा है, वही 'सा' है; और जो नील और अतिशय श्याम आभा है, वह 'अम' है; उन दोनोंका सम्मिलित रूप साम है। तथा यह जो नेत्रके भीतर पुरुष दिखायी देता है, वही ऋक् है, वही साम है, वही यजुर्वेद है, वही उक्थ—स्तोत्र-समूह है और वही ब्रह्म है। इस पुरुषका वही रूप है, जो छठे खण्डमें वर्णित आदित्यमण्डलमें स्थित पुरुषका रूप है। जो उसके गुणगान हैं, वे ही इसके गुणगान हैं और जो उसका नाम (उत्) है, वही इसका भी नाम है। पृथिवीसे नीचे जो भी लोक हैं, उनका यही पुरुष शासन करता है तथा मनुष्योंके भोग भी उसीके अधीन हैं। इसलिये जो लोग वीणापर गाते हैं, वे इन्हीं परमेश्वरका गुणगान करते हैं; इसीसे वे धनलाभ करते हैं—अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त करते हैं। तथा इस रहस्यको इस रूपमें जाननेवाला जो उपासक साम-गान करता है, वह नेत्रस्थित तथा आदित्यमण्डलवर्ती दोनों ही पुरुषोंका गुणगान करता है; वह उन परमेश्वरसे ही अभीष्ट लाभ करता है। जो भी उस सूर्यलोकसे ऊपरके लोक हैं, उन सबको तथा देवताओंके भोगोंको भी वह प्राप्त कर लेता है। तथा सूर्यलोक अथवा मनुष्यलोकसे नीचेके जो भी लोक हैं, उनको तथा मनुष्योंके भोगोंको भी वह इन परमपुरुषसे ही प्राप्त कर लेता है। इसलिये निस्संदेह इस प्रकार जाननेवाला उद्गाता यजमानसे यों कहे—'मैं तेरे लिये कौन-सी अभीष्ट वस्तुका गानके द्वारा आवाहन करूँ?' क्योंकि जो इस रहस्यको इस प्रकार जानकर सामका गान करता है, वही वाञ्छित भोगोंका गानद्वारा आवाहन करनेमें समर्थ होता है ॥ १–९ ॥

अष्टम खण्ड

उद्गीथके सम्बन्धमें शिलक और दाल्भ्यका संवाद

प्रसिद्ध है, तीन ऋषि उद्गीथका तत्त्व जाननेमें कुशल थे—एक तो शालावान्के पुत्र शिलक, दूसरे चिकितायनके पुत्र दाल्भ्य* और तीसरे जीवलके पुत्र प्रवाहण। एक बार वे तीनों आपसमें इस प्रकार कहने लगे—'निश्चय ही हमलोग उद्गीथविद्यामें कुशल हैं; इसलिये यदि सबकी सम्मति हो तो हम उद्गीथके विषयमें बातचीत करें।' 'बहुत ठीक है, ऐसा ही हो' यों कहकर वे सब एक स्थानपर सुखसे बैठ गये। तब प्रसिद्ध राजर्षि जीवलके पुत्र प्रवाहण ऋषि शेष दोनोंसे

* दाल्भ्यका अर्थ है दल्भकी सन्तान। यहाँ उनके पिताका नाम चिकितायन दिया गया है। ऐसी दशामें सम्भव है ये दल्भ-गोत्रमें उत्पन्न रहे हों, इसीलिये दाल्भ्य कहलाये हों। अथवा सम्भव है, ये द्व्यामुष्यायण रहे हों। 'द्व्यामुष्यायण' उन्हें कहते हैं, जो किसी दूसरेके गोद आये हों और जिन्होंने अपने जन्म देनेवाले पिताका उत्तराधिकार भी न छोड़ा हो। इस प्रकार वे दो पिताओंके पुत्र होते हैं। दो पिताओंके पुत्रकी ही हिंदू धर्म-शास्त्रोंमें 'द्व्यामुष्यायण' संज्ञा है।

बोले—'पहले आप दोनों पूज्यजन बातचीत आरम्भ करें। उपदेश देते हुए आप दोनों ब्राह्मणोंके वचनोंको मैं सुनूँगा।' यों कहकर वे चुप हो गये ॥ १-२ ॥

कहा जाता है, तब वे शालावान्‌के पुत्र शिलक ऋषि चिकितायनके पुत्र दाल्भ्यसे बोले—'कहिये तो मैं ही आपसे प्रश्न करूँ?' इसपर दाल्भ्यने कहा—'पूछो।' शिलकने पूछा—'सामका आश्रय कौन है?' दाल्भ्यने कहा—'स्वर ही सामका आश्रय है।' 'स्वरका आश्रय कौन है?' इस प्रकार पूछे जानेपर उन्होंने कहा—'प्राण ही स्वरका आश्रय है।' फिर प्रश्न हुआ—'प्राणका आश्रय कौन है?' उत्तर मिला—'अन्न ही प्राणका आश्रय है।' शिलकने फिर प्रश्न किया—'अन्नका आश्रय कौन है?, दाल्भ्यने उत्तर दिया—'जल ही अन्नका आश्रय है।' शिलकने पुनः पूछा—'जलका आश्रय कौन है?' दाल्भ्यने कहा—'स्वर्गलोक ही जलका आश्रय है।' 'उस लोकका आश्रय कौन है?' शिलक पूछते ही गये। इसपर दाल्भ्य बोले—'स्वर्गलोकसे आगे नहीं जाना चाहिये, उसके परेकी बात नहीं पूछनी चाहिये। हम स्वर्गलोकमें ही सामकी पूर्णतया स्थिति मानते हैं, क्योंकि सामको स्वर्गलोक कहकर ही उसकी स्तुति की जाती है'* ॥ ३-५ ॥

चिकितायन-पुत्र दाल्भ्यसे शालावान्‌के पुत्र सुप्रसिद्ध शिलक ऋषिने कहा—'दाल्भ्य! तुम्हारा बताया हुआ साम निःसंदेह प्रतिष्ठाहीन है अर्थात् तुमने जो सामका अन्तिम आश्रय स्वर्ग बताया, वह ठीक नहीं है। स्वर्गका भी कोई और आश्रय अवश्य होना चाहिये। यदि कोई सामके तत्त्वको जाननेवाला विद्वान् तुम्हारे इस अधूरे उत्तरपर झुँझलाकर तुम्हें यह कह दे कि तुम्हारा सिर गिर जायगा, तो उसके यों कहते ही तुम्हारा सिर गिर पड़ेगा—यह निश्चय समझो।' दाल्भ्यने कहा—'क्या मैं सामका तत्त्व श्रीमान्‌से जान सकता हूँ?' शिलकने कहा—'हाँ, जानो।' तब दाल्भ्यने पूछा—'स्वर्गलोकका आधार कौन है?' 'यह मनुष्यलोक ही उसका आधार है,' शिलकने स्पष्ट उत्तर दिया। 'मनुष्यलोकका आधार कौन है?' दाल्भ्यका अगला प्रश्न था। इसपर शिलक बोले—'जो सबकी प्रतिष्ठा है, उस लोकसे आगे प्रश्न नहीं करना चाहिये। सबकी प्रतिष्ठारूप मनुष्यलोकमें ही हम सामकी भलीभाँति स्थिति मानते हैं; क्योंकि सामको सबकी प्रतिष्ठारूप पृथ्वी कहकर ही उसकी स्तुति की जाती है।'† तब जीवल-पुत्र प्रवाहणने शिलकसे कहा—'शालावान्‌के पुत्र शिलक! तुम्हारा समझा हुआ साम भी निःसन्देह अन्तवाला ही है। अतः यदि ऐसी स्थितिमें कोई सामके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष तुम्हें शाप दे दे कि तुम्हारा सिर गिर जायगा तो उसके यों कहते ही तुम्हारा सिर गिर सकता है।' इसपर शिलकने कहा—'क्या मैं इस रहस्यको श्रीमान्‌से जान सकता हूँ?' प्रवाहणने उत्तर दिया—'जान लो' ॥ ६-८ ॥

नवम खण्ड

उद्गीथके सम्बन्धमें शिलक और प्रवाहणका संवाद

शिलकने प्रवाहणसे पूछा—'इस मनुष्यलोकका आश्रय कौन है?' इसपर प्रवाहणने उत्तर दिया—'आकाश अर्थात् सर्वत्र प्रकाशित परमात्मा ही इसके आश्रय हैं। निःसंदेह ये समस्त जीव आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं और आकाशमें ही विलीन होते हैं; क्योंकि आकाश ही इन सबसे बड़ा है और आकाश ही सबका परम आश्रय है। वे आकाशस्वरूप परमात्मा ही बड़े-से-बड़े और उद्गीथ (गानेयोग्य) हैं। वे सर्वथा असीम हैं। जो कोई उपासक इस प्रकार समझकर इस बड़े-से-बड़े उद्गीथरूप परमेश्वरकी उपासना करता है, उसका जीवन निःसंदेह ऊँचे-से-ऊँचा हो जाता है और वह निश्चय ही बड़े-से-बड़े लोकोंको जीत लेता है—प्राप्त कर लेता है।' एक बार शुनकके पुत्र अतिधन्वा नामक ऋषिने उदरशाण्डिल्य नामके ऋषिको इस ऊपर बताये हुए उद्गीथका रहस्य बताकर कहा था—'तेरी संतानोंमें लोग जबतक इस उद्गीथको जानते रहेंगे, तबतक इस लोकमें उनका जीवन इन सब साधारण मनुष्योंसे अवश्य ही अत्यन्त श्रेष्ठ बना रहेगा। तथा मरनेके बाद उन्हें उस लोकमें—परलोकमें उत्तम स्थान मिलेगा।' इस प्रकार समझना चाहिये। इस रहस्यको जाननेवाला जो कोई पुरुष उद्गीथकी उपासना करता है, उसका जीवन इस मनुष्यलोकमें निश्चय ही सर्वश्रेष्ठ हो जाता है। तथा मरनेके बाद परलोकमें उसे सर्वोपरि स्थान मिलता है—यह निश्चित बात है ॥१-४॥

---

* श्रुति कहती है—'स्वर्गो वै लोकः सामवेदः।'

† श्रुतिका वचन है—'इयं वै रथन्तरम्' (यह पृथ्वी ही रथन्तरसाम है)।

दशम खण्ड

उषस्तिका आख्यान

एक बार ओले गिरनेसे कुरुदेशकी खेती चौपट हो गयी थी। उन दिनों चक्र मुनिके पुत्र उषस्ति ऋषि अपनी धर्मपत्नी आटिकीके साथ (जिसने अभी युवावस्थामें प्रवेश नहीं किया था) बड़ी दीन अवस्थामें—पराश्रित होकर किसी हाथीवानोंके गाँवमें रहते थे। एक दिन अन्नके लिये भीख माँगते हुए उषस्तिने अत्यन्त निकृष्ट कोटिके उड़द खाते हुए एक महावतसे याचना की। उन प्रसिद्ध मुनिसे हाथीवान् इस प्रकार बोला कि 'जितने और जो उड़द मेरे इस पात्रमें रक्खे हैं, उनके सिवा और उड़द मेरे पास नहीं हैं।' ऋषिने कहा—'इन्हींमेंसे मुझे दे दे।' महावतने अपने पात्रमें बचे हुए सारे उड़द उन्हें दे दिये। महावत बोला—'उड़द खाकर जल भी पी लीजिये।' इसपर ऋषिने उत्तर दिया—'नहीं, ऐसा करनेपर मेरेद्वारा तुम्हारा जूठा जल पिया जायगा।' 'क्या ये उड़द भी जूठे नहीं हैं?' महावतके यों पूछनेपर उन प्रसिद्ध ऋषिने उत्तर दिया—'अवश्य ही इन उड़दोंको न खानेपर मैं जीवित न रहता। पर पीनेका जल तो मुझे यथेष्ट मिल जाता है' ॥ १–४ ॥

उषस्ति ऋषि खानेसे बचे हुए उड़दोंको अपनी पत्नीके लिये ले आये। उसने पहले ही अच्छी भिक्षा पा ली थी, इसलिये उसने उन उड़दोंको अपने पतिसे लेकर रख दिया। दूसरे दिन प्रातःकाल शय्यात्याग करते समय उषस्तिने कहा—'हाय, यदि हमें थोड़ा-सा भी अन्न मिल जाता तो हम कुछ धन कमा लाते। अमुक राजा यज्ञ करनेवाला है। वह मुझे ऋत्विजोंके सभी प्रकारके कार्योंके लिये वरण कर लेगा।' ऋषिसे उनकी पत्नीने कहा—'स्वामिन्! लीजिये; कल जो उड़द आप मुझे दे गये थे, वे ही मेरे पास बचे हुए हैं।' बस, उन्हें खाकर उषस्ति उस विशाल यज्ञमें चले गये ॥ ५–७ ॥

उस यज्ञमें पहुँचकर जहाँ उद्गातालोग स्तुति करते हैं, उस स्थानपर स्तुति करनेके लिये उद्यत उद्गाता आदि ऋत्विजोंके समीप वे बैठ गये। फिर उन्होंने स्तुति करनेवाले प्रस्तोता ऋत्विक्से कहा—'प्रस्तोता! जिस देवताका प्रस्तावसे सम्बन्ध है, अर्थात् जिनकी तुम स्तुति करने जा रहे हो, उसे बिना जाने यदि तुम स्तुति करोगे तो याद रखना, तुम्हारा मस्तक गिर जायगा।' इसी प्रकार उन्होंने उद्गातासे कहा—'उद्गाता! जिस देवताका उद्गीथसे सम्बन्ध है, अर्थात् जिसका तुम उद्गीथद्वारा गान करने जा रहे हो, उसे बिना जाने यदि तुम उद्गान करोगे तो निश्चय समझो, तुम्हारा मस्तक गिर पड़ेगा।' तदनन्तर उन्होंने प्रतिहर्तासे कहा—'प्रतिहर्ता! जिस देवताका प्रतिहारसे सम्बन्ध है, उसे न जानते हुए यदि तुम प्रतिहारक्रिया करोगे तो समझ लो कि तुम्हारा सिर तुम्हारी गर्दनपर नहीं रहेगा।' इसपर वे सब ऋत्विक् अपने-अपने कार्यसे उपरत होकर चुपचाप बैठ गये ॥ ८–११ ॥

एकादश खण्ड

प्रस्ताव आदि कर्मोंसे सम्बद्ध देवताओंका वर्णन

तब इन उषस्ति ऋषिसे यज्ञ करानेवाले राजाने कहा—'मैं श्रीमान्का ठीक-ठीक परिचय प्राप्त करना चाहता हूँ।' इसपर ऋषिने उत्तर दिया—'मैं चक्रका पुत्र उषस्ति नामका ऋषि हूँ।' राजाने कहा—'सच मानिये, मैंने इन समस्त ऋत्विज्-सम्बन्धी कर्मोंके लिये श्रीमान्की सब जगह खोज की थी। श्रीमान्के न मिलनेपर ही मैंने दूसरे ऋत्विजोंको चुना है। परंतु अब मेरे सम्पूर्ण ऋत्विज्-सम्बन्धी कर्मोंपर श्रीमान् ही रहें।' ऋषिने 'बहुत अच्छा' कहकर राजाके प्रस्तावका अनुमोदन किया और फिर कहा—'तब मेरी आज्ञा पाकर ये पहलेवाले ऋत्विज् ही स्तुति आरम्भ करें। परंतु एक बात है—जितना धन आप इन लोगोंको दें, उतना ही मुझे भी दें।' राजाने 'यही होगा' कहकर अपनी स्वीकृति दे दी ॥ १–३ ॥

तदनन्तर प्रस्तोता उन प्रसिद्ध ऋषिके पास आकर बोला—"श्रीमान्ने मुझे यह कहा था कि 'प्रस्तोता! जिस देवताकी तुम स्तुति करने जा रहे हो, उसे बिना जाने यदि तुम स्तुतिपाठ करोगे तो तुम्हारा सिर धड़से अलग हो जायगा।' सो वह देवता कौन है—मैं यह जानना चाहता हूँ।" इसपर ऋषि बोले—"वह देवता प्राण है। निःसंदेह ये समस्त प्राणी प्रलयके समय प्राणमें ही प्राणरूप होकर विलीन हो जाते हैं और पुनः सृष्टिकालमें प्राणसे ही प्रकट होते हैं। वही यह प्राण प्रस्ताव अर्थात् स्तुतिमें अनुगत देवता है; उसको बिना जाने यदि तुम स्तुति आरम्भ कर देते तो मेरे यह कहनेपर कि 'तुम्हारा सिर धड़से अलग हो जाय,' वैसा अवश्य हो जाता" ॥ ४-५ ॥

तदनन्तर उद्गाता उषस्तिके पास आकर बोला—"श्रीमान्ने मुझसे यह कहा था कि 'उद्गाता! जो उद्गीथसे

म्बन्ध रखनेवाला देवता है, उसे न जानकर यदि तुम उद्गान करोगे तो तुम्हारा सिर धड़से अलग हो जायगा।' अतः वह देवता कौन है—यह मैं आपसे जानना चाहता हूँ।'' इसपर उन प्रसिद्ध ऋषि उषस्तिने कहा—''वह देवता सूर्य है। निश्चय ही ये समस्त प्राणी आकाशमें स्थित सूर्यका यशोगान किया करते हैं। वही यह सूर्य उद्गीथसे सम्बन्ध रखनेवाला देवता है। उसे बिना जाने यदि तुमने उद्गान किया होता तो मेरे यह कहनेपर कि 'तुम्हारा सिर धड़से अलग हो जाय' वैसा अवश्य हो जाता'' ॥ ६-७ ॥

इसके बाद प्रतिहर्ता उषस्तिके पास आकर यों कहने लगा—''श्रीमान्‌ने मुझसे यह कहा था कि 'प्रतिहर्ता! जो प्रतिहारसे सम्बन्ध रखनेवाला देवता है, उसे बिना जाने यदि तुम प्रतिहार-की क्रिया करोगे तो तुम्हारा सिर अलग होकर गिर पड़ेगा।' अतः वह देवता कौन है, यह मैं आपसे जानना चाहता हूँ।'' ऋषिने प्रतिहर्ताके प्रश्नका उत्तर इस प्रकार दिया—''जिस देवताकी बात तुमने पूछी है, वह अन्न है। निःसंदेह ये समस्त प्राणी अन्नको ही खाकर जीवन धारण करते हैं। वही यह अन्न प्रतिहारसे सम्बन्ध रखनेवाला देवता है। उसे बिना जाने यदि तुम प्रतिहारकी क्रिया करते तो मेरे यह कहनेपर कि 'तुम्हारा सिर धड़से अलग हो जाय' वैसा अवश्य हो जाता'' ॥ ८-९ ॥

द्वादश खण्ड

शौव उद्गीथका वर्णन

अब यहाँसे कुत्ते (का रूप धारण करनेवाले ऋषियों) द्वारा प्रत्यक्ष किये हुए उद्गीथका वर्णन किया जाता है। यह बात इस रूपमें प्रसिद्ध है कि दल्भ ऋषिके पुत्र बक अथवा मित्राके पुत्र ग्लाव ऋषि स्वाध्याय करनेके लिये गाँवसे बाहर किसी निर्जन स्थानमें गये। उक्त ऋषिपर अनुग्रह करनेके लिये वहाँ श्वेत रंगका एक अलौकिक कुत्ता (कुत्तेके रूपमें ऋषि) प्रकट हुआ। तत्पश्चात् दूसरे भी कई कुत्ते उस पहले प्रकट हुए कुत्तेके पास आकर उससे बोले—'श्रीमान् उद्गीथका गान करके हमारे लिये अन्न प्रस्तुत करें; क्योंकि हमलोग निश्चित ही भूखे हैं।' उनसे वह श्वेत रंगका कुत्ता बोला—'कल प्रातः इसी स्थानमें तुमलोग मेरे पास आना।' उनकी इस बातको सुनकर दल्भपुत्र बक अथवा मित्रापुत्र ग्लाव ऋषि कौतूहलसे भर गये और यह देखनेके लिये कि वह कुत्ता किस प्रकार अन्न जुटाता है, वहीं उसके द्वारा निर्दिष्ट समयकी प्रतीक्षा करने लगे ॥ १–३ ॥

निर्दिष्ट समयपर वे अलौकिक कुत्ते वहाँ एकत्रित हुए और जिस प्रकार यज्ञकर्ममें उद्गाता बहिष्पवमान नामक स्तोत्र-द्वारा स्तुति आरम्भ करनेसे पूर्व एक दूसरेसे मिलकर चलते हैं, ठीक उसी प्रकार वे भी एक दूसरेसे जुड़कर परिभ्रमण करने लगे, फिर उन्होंने एक जगह आरामसे बैठकर हिंकार आरम्भ किया। अर्थात् 'हिं' स्तोभ* का प्रयोग करते हुए साम-गान आरम्भ किया। गान इस आशयका था—

'हे सबकी रक्षा करनेवाले परमात्मन्! हम भोजन और जलपानके इच्छुक हैं। परमात्मन्! आप प्रकाशस्वरूप देव हैं, अभीष्ट वस्तुकी वर्षा करनेवाले वरुण हैं, समस्त प्रजाका पालन करनेवाले प्रजापति हैं और सबको उत्पन्न करनेवाले सविता हैं। अतः हमारे लिये यहाँ अन्न ला दीजिये। हे अन्नके स्वामी! यहाँ अन्न लाइये, परमेश्वर! यहाँ अन्न प्रस्तुत कीजिये' ॥ ४-५ ॥

त्रयोदश खण्ड

तेरह प्रकारके स्तोभोंका वर्णन

इस प्रकरणमें बताये जानेवाले तेरह प्रकारके स्तोभोंमें निश्चय ही 'हाउ' शब्द मनुष्यलोकका वाचक है, 'हाइ' वायुलोक है, 'अथ' चन्द्रलोक है, 'इह' आत्मा है और 'ई' अग्निरूप है। इनके अतिरिक्त 'ऊ' सूर्यरूप है, 'ए' आवाहनका बोधक है, 'औहोयि' विश्वेदेवा हैं, 'हिं' प्रजापति-स्वरूप है, 'स्वर' प्राणरूप है, 'या' अन्नरूप है तथा 'वाक्' विराटरूप है। तेरहवाँ और अन्तिम स्तोभ 'हुं' है, वह सबमें व्याप्त रहनेवाला वर्णनातीत निर्विशेष ब्रह्म है ॥ १–३ ॥

जो सामके रहस्यको जान लेता है, उसके लिये वाणी स्वयं अपना रहस्य प्रकट कर देती है। वह भोग-सामग्रीसे तथा उसे भोगनेकी सामर्थ्यसे युक्त हो जाता है ॥ ४ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

* साम-गान करते समय उसके स्वर और लयकी पूर्तिके लिये जो 'हा ३ उ' आदि तेरह प्रकारके शब्द उपयोगमें लाये जाते हैं, उन्हें 'स्तोभ' कहते हैं। इनका अर्थ अगले खण्डमें बताया गया है। 'हिं' प्रजापतिरूप है और प्रजापति ही अन्नका स्वामी है, इसलिये उनकी प्रार्थनामें 'हिं'का प्रयोग किया गया है।

ॐ

द्वितीय अध्याय

प्रथम खण्ड

साधु-दृष्टिसे समस्त सामकी उपासना

ॐ समस्त सामकी उपासना निश्चय ही साधु है। जो साधु होता है, उसको साम कहते हैं और जो असाधु होता है, वह असाम कहलाता है। इसी विषयमें कहते हैं—[जब कहा जाय कि अमुक पुरुष] इस [राजा आदि] के पास साम-द्वारा गया तो [ऐसा कहकर] लोग यही कहते हैं कि वह इसके पास साधुभावसे गया और [जब यों कहा जाय कि] वह इसके पास असामद्वारा गया तो [इससे] लोग यही कहते हैं कि वह इसके यहाँ असाधुभावसे प्राप्त हुआ। इसके अनन्तर ऐसा भी कहते हैं कि हमारा साम (शुभ) हुआ। अर्थात् जब शुभ होता है तो 'अहा ! बड़ा अच्छा हुआ' ऐसा कहते हैं; और ऐसा भी कहते हैं—'हमारा असाम हुआ' अर्थात् जब अशुभ होता है तो 'अरे ! बुरा हुआ !' ऐसा कहते हैं। इसे इस प्रकार जाननेवाला जो पुरुष 'साम साधु है' ऐसी उपासना करता है, उसके समीप साधु धर्म शीघ्र ही आ जाते हैं और उसके प्रति विनम्र हो जाते हैं॥ १–४॥

द्वितीय खण्ड

पञ्चविध सामोपासना

लोकोंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करनी चाहिये। पृथ्वी हिंकार है, अग्नि प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, आदित्य प्रतिहार है और द्युलोक निधन है—इस प्रकार ऊपरके लोकोंमें सामदृष्टि करे। अब अधोगत लोकोंमें सामोपासनाका निरूपण किया जाता है—द्युलोक हिंकार है, आदित्य प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, अग्नि प्रतिहार है और पृथ्वी निधन है। जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष लोकोंमें पञ्चविध सामकी उपासना करता है, उसके प्रति ऊर्ध्व और अधोमुख लोक भोग्यरूपसे उपस्थित होते हैं॥ १–३॥

तृतीय खण्ड

वृष्टिमें सामोपासना

वृष्टिमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे। पूर्ववायु हिंकार है, मेघ उत्पन्न होता है यह प्रस्ताव है, बरसता है यह उद्गीथ है, चमकता और गर्जन करता है यह प्रतिहार है, जल ग्रहण करता है यह निधन है। जो इसे (इस उपासनाको) इस प्रकार जाननेवाला पुरुष वृष्टिमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करता है उसके लिये वर्षा होती है और वह स्वयं भी वर्षा करा लेता है॥ १–२॥

चतुर्थ खण्ड

जलमें सामोपासना

सब प्रकारके जलोंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे। मेघ जो घनीभावको प्राप्त होता है यह हिंकार है, वह जो बरसता है यह प्रस्ताव है, [नदियाँ] जो पूर्वकी ओर बहती हैं वह उद्गीथ है तथा जो पश्चिमकी ओर बहती हैं वह प्रतिहार है और समुद्र निधन है। जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष सब प्रकारके जलोंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करता है वह जलमें नहीं मरता और जलवान् होता है॥ १–२॥

पञ्चम खण्ड

ऋतुओंमें सामोपासना

ऋतुओंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे। वसन्त हिंकार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है, वर्षा उद्गीथ है, शरत् प्रतिहार है और हेमन्त निधन है। जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ऋतुओंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करता है उसे ऋतुएँ अपने अनुरूप भोग देती हैं और वह ऋतुमान् (ऋतुसम्बन्धी भोगोंसे सम्पन्न) होता है॥ १–२॥

षष्ठ खण्ड

पशुओंमें सामोपासना

पशुओंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करे । बकरे हिंकार हैं, भेड़ें प्रस्ताव हैं, गौएँ उद्गीथ हैं, अश्व प्रतिहार हैं और पुरुष निधन है । जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष पशुओंमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करता है उसे पशु प्राप्त होते हैं और वह पशुमान् होता है ॥ १–२ ॥

सप्तम खण्ड

प्राणोंमें सामोपासना

प्राणोंमें पाँच प्रकारके परोवरीय गुणविशिष्ट सामकी उपासना करे । उनमें प्राण हिंकार है, वाक् प्रस्ताव है, चक्षु उद्गीथ है, श्रोत्र प्रतिहार है और मन निधन है । ये उपासनाएँ निश्चय ही परोवरीय (उत्तरोत्तर उत्कृष्ट) हैं । जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष प्राणोंमें पाँच प्रकारके उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर सामकी उपासना करता है उसका जीवन उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर होता जाता है और वह उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर लोकोंको जीत लेता है । यह पाँच प्रकारकी सामोपासनाका निरूपण किया गया ॥ १–२ ॥

अष्टम खण्ड

वाणीमें सप्तविध सामोपासना

अब सप्तविध सामकी उपासना [प्रारम्भ की जाती] है—वाणीमें सप्तविध सामकी उपासना करनी चाहिये । वाणीमें जो कुछ 'हुं' ऐसा स्वरूप है वह हिंकार है, जो कुछ 'प्र' ऐसा स्वरूप है वह प्रस्ताव है और जो कुछ 'आ' ऐसा स्वरूप है वह आदि है, जो कुछ 'उत्' ऐसा शब्दरूप है वह उद्गीथ है, जो कुछ 'प्रति' ऐसा शब्द है वह प्रतिहार है, जो कुछ 'उप' ऐसा शब्द है वह उपद्रव है और जो कुछ 'नि' ऐसा शब्दरूप है वह निधन है । जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष वाणीमें सात प्रकारके सामकी उपासना करता है उसे वाणी, जो कुछ वाणीका दोह (सार) है उसे देती है तथा वह प्रचुर अन्नसे सम्पन्न और उसका भोक्ता होता है ॥१–३॥

नवम खण्ड

आदित्य-दृष्टिसे सप्तविध सामोपासना

अब निश्चय ही इस आदित्यकी दृष्टिसे सप्तविध सामकी उपासना करनी चाहिये । आदित्य सर्वदा सम है, इसलिये वह साम है । मेरे प्रति, मेरे प्रति ऐसा होनेके कारण वह सबके प्रति सम है, इसलिये साम है । उस आदित्यमें ये सम्पूर्ण भूत अनुगत हैं—ऐसा जाने । जो उस आदित्यके उदयसे पूर्व है वह हिंकार है । उस सूर्यका जो हिंकाररूप है उसके पशु अनुगत हैं, इसीसे वे हिंकार करते हैं । अतः वे ही इस आदित्यरूप सामके हिंकार-भाजन हैं । तथा सूर्यके पहले-पहल उदित होनेपर जो रूप होता है वह प्रस्ताव है । उसके उस रूपके मनुष्य अनुगामी हैं अतः वे प्रस्तुति (प्रत्यक्षस्तुति) और प्रशंसा (परोक्षस्तुति) की इच्छावाले हैं, क्योंकि वे इस सामकी प्रस्तावभक्तिका सेवन करनेवाले हैं । तत्पश्चात् आदित्यका जो रूप सङ्गवबेलामें (सूर्योदयके तीन मुहूर्त्त पश्चात् कालमें) रहता है वह आदि है । उसके उस रूपके अनुगत पक्षिगण हैं । क्योंकि वे इस सामके आदिका भजन करनेवाले हैं, इसलिये वे अन्तरिक्षमें अपनेको निराधाररूपसे सब ओर ले जाते हैं । तथा अब जो मध्यदिवसमें आदित्यका रूप होता है वह उद्गीथ है । इसके उस रूपके देवतालोग अनुगत हैं । इसीसे वे प्रजापतिसे उत्पन्न हुए प्राणियोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे इस सामकी उद्गीथभक्तिके भागी हैं । तथा आदित्यका जो रूप मध्याह्नके पश्चात् और अपराह्णके पूर्व होता है वह प्रतिहार है । उसके उस रूपके अनुगामी गर्भ हैं । इसीसे वे ऊपरकी ओर आकृष्ट किये जानेपर नीचे नहीं गिरते, क्योंकि वे इस सामकी प्रतिहारभक्तिके पात्र हैं । तथा आदित्यका जो रूप अपराह्णके पश्चात् और सूर्यास्तसे पूर्व होता है वह उपद्रव है । उसके उस रूपके अनुगामी वन्य पशु हैं । इसीसे वे पुरुषको देखकर भयवश अरण्य अथवा गुहामें भाग जाते हैं, क्योंकि वे इस सामकी उपद्रवभक्तिके भागी हैं ।

तथा आदित्यका जो रूप सूर्यास्तसे पूर्व होता है वह निधन है। उसके उस रूपके अनुगत पितृगण हैं; इसीसे [श्राद्ध-कालमें] उन्हें [पितृ-पितामह आदि रूपसे दर्भपर] स्थापित करते हैं; क्योंकि वे पितृगण निश्चय ही इस सामकी निधन-भक्तिके पात्र हैं। इसी प्रकार इस आदित्यरूप सात प्रकारके सामकी उपासना करते हैं ॥ १—८ ॥

दशम खण्ड

मृत्युसे अतीत सप्तविध सामोपासना

अब निश्चय ही [यह बतलाया जाता है कि] अपने समान अक्षरोंवाले मृत्युसे अतीत सप्तविध सामकी उपासना करे। 'हिंकार' यह तीन अक्षरोंवाला है तथा 'प्रस्ताव' यह भी तीन अक्षरोंवाला हैं, अतः उसके समान है। 'आदि' यह दो अक्षरोंवाला नाम है, और 'प्रतिहार' यह चार अक्षरोंवाला नाम है। इसमेंसे एक अक्षर निकालकर आदिमें मिलानेसे वे समान हो जाते हैं। 'उद्गीथ' यह तीन अक्षरोंका और 'उपद्रव' यह चार अक्षरोंका नाम है। ये दोनों तीन-तीन अक्षरोंमें तो समान हैं; किंतु एक अक्षर बच रहता है। अतः ['अक्षर' होनेके कारण] तीन अक्षरोंवाला होनेसे तो वह [एक] भी उनके समान ही है। 'निधन' यह नाम तीन अक्षरोंका है, अतः यह उनके समान ही है। वे ही ये बाईस अक्षर हैं। इक्कीस अक्षरोंद्वारा साधक आदित्यलोक प्राप्त करता है, क्योंकि इस लोकसे आदित्य निश्चय ही इक्कीसवाँ है। बाईसवें अक्षरद्वारा वह आदित्यसे परे उस दुःखहीन एवं शोकरहित लोकको जीत लेता है। [वह पुरुष] आदित्यलोक-की जय प्राप्त करता है तथा उसे आदित्यविजयसे भी उत्कृष्ट जय प्राप्त होती है। जो इस उपासनाको इस प्रकार जाननेवाला होकर आत्मसंमित और मृत्युसे अतीत सप्तविध सामकी उपासना करता है—सामकी उपासना करता है ॥ १—६ ॥

एकादश खण्ड

गायत्र-सामोपासना

मन हिंकार है, वाक् प्रस्ताव है, चक्षु उद्गीथ है, श्रोत्र प्रतिहार है और प्राण निधन है। यह गायत्रसंज्ञक साम प्राणोंमें प्रतिष्ठित है। वह, जो इस प्रकार गायत्रसंज्ञक सामको प्राणोंमें प्रतिष्ठित जानता है, प्राणवान् होता है, पूर्ण आयुका उपभोग करता है, प्रशस्त जीवनलाभ करता है, प्रजा और पशुओंद्वारा महान् होता है तथा कीर्तिके द्वारा भी महान् होता है। वह महान् मनस्वी होवे—यही उसका व्रत है ॥ १-२ ॥

द्वादश खण्ड

रथन्तर-सामोपासना

अभिमन्थन करता है यह हिंकार है, धूम उत्पन्न होता है यह प्रस्ताव है, प्रज्वलित होता है यह उद्गीथ है, अङ्गार होते हैं यह प्रतिहार है तथा शान्त होने लगता है यह निधन है और सर्वथा शान्त हो जाता है यह भी निधन है। यह रथन्तरसाम अग्निमें प्रतिष्ठित है। वह, जो पुरुष इस प्रकार इस रथन्तर-सामको अग्निमें अनुस्यूत जानता है, ब्रह्मतेजसे सम्पन्न और अन्नका भोक्ता होता है, पूर्ण जीवनका उपभोग करता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण महान् होता है। अग्निकी ओर मुख करके भक्षण न करे और न थूके ही—यह व्रत है ॥ १-२ ॥

त्रयोदश खण्ड

वामदेव्य-सामोपासना

स्त्री-पुरुषका संकेत हिंकार है, पारस्परिक सन्तोष प्रस्ताव है, सहशयन उद्गीथ है, अभिमुखशयन प्रतिहार है, समाप्ति निधन है, इस प्रकार जोड़ेसे वामदेव्यसामकी उपासना की जाती है। वह, जो पुरुष इस प्रकार मिथुनमें वामदेव्यसामको स्थित जानता है, सदा जोड़ेसे रहता है, उसका कभी वियोग नहीं होता, मिथुनीभावसे उसके सन्तान उत्पन्न होती है। वह पूर्ण आयुका उपभोग करता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण महान् होता है। किसी भी पर-स्त्रीका कभी कहींसे भी अपहरण न करे, कदापि व्यभिचारी न हो—यह व्रत है ॥१-२॥

चतुर्दश खण्ड

बृहत्सामोपासना

उदित होता हुआ सूर्य हिंकार है, उदित हुआ प्रस्ताव है, मध्याह्नकालिक सूर्य उद्गीथ है, अपराह्णकालिक प्रतिहार है और जो अस्तमित होनेवाला सूर्य है वह निधन है। यह बृहत्साम सूर्यमें स्थित है। वह पुरुष, जो इस प्रकार इस बृहत्सामको सूर्यमें स्थित जानता है, तेजस्वी और अन्नका भोग करनेवाला होता है। वह पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है। तपते हुए सूर्यकी निन्दा न करे—यह व्रत है॥ १-२॥

पञ्चदश खण्ड

वैरूप-सामोपासना

बादल एकत्रित होते हैं यह हिंकार है। मेघ उत्पन्न होता है यह प्रस्ताव है। जल बरसता है यह उद्गीथ है। बिजली चमकती और कड़कती है यह प्रतिहार है तथा वृष्टिका उपसंहार होता है यह निधन है। यह वैरूपसाम मेघमें अनुस्यूत है। वह पुरुष, जो इस प्रकार इस वैरूपसामको पर्जन्यमें अनुस्यूत जानता है, विरूप और सुरूप पशुओंका अवरोध करता है, पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण महान् होता है। बरसते हुए मेघकी निन्दा न करे—यह व्रत है॥ १-२॥

षोडश खण्ड

वैराज-सामोपासना

वसन्त हिंकार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है, वर्षा उद्गीथ है, शरद् ऋतु प्रतिहार है, हेमन्त निधन है—यह वैराजसाम ऋतुओंमें अनुस्यूत है। वह पुरुष, जो इस प्रकार इस वैराजसामको ऋतुओंमें अनुस्यूत जानता है, प्रजा, पशु और ब्रह्मतेजके कारण शोभित होता है, पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है। ऋतुओंकी निन्दा न करे—यह व्रत है॥ १-२॥

सप्तदश खण्ड

शाक्करी-सामोपासना

पृथ्वी हिंकार है, अन्तरिक्ष प्रस्ताव है, द्युलोक उद्गीथ है, दिशाएँ प्रतिहार हैं और समुद्र निधन है—यह शाक्करीसाम लोकोंमें अनुस्यूत है। वह पुरुष, जो इस प्रकार इस शाक्करीसामको लोकोंमें अनुस्यूत जानता है, लोकवान् होता है। वह सम्पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है। लोकोंकी निन्दा न करे—यह व्रत है॥ १-२॥

अष्टादश खण्ड

रेवती-सामोपासना

बकरी हिंकार है, भेड़ें प्रस्ताव हैं, गौएँ उद्गीथ हैं, घोड़े प्रतिहार हैं और पुरुष निधन है—यह रेवतीसाम पशुओंमें अनुस्यूत है। वह पुरुष, जो इस प्रकार इस रेवतीसामको पशुओंमें अनुस्यूत जानता है, पशुमान् होता है। वह पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है। पशुओंकी निन्दा न करे—यह व्रत है॥ १-२॥

एकोनविंश खण्ड

यज्ञायज्ञीय-सामोपासना

लोम हिंकार है, त्वचा प्रस्ताव है, मांस उद्गीथ है, अस्थि प्रतिहार है और मज्जा निधन है। यह यज्ञायज्ञीय साम अङ्गोंमें अनुस्यूत है। वह पुरुष, जो इस प्रकार इस यज्ञायज्ञीय सामको अङ्गोंमें अनुस्यूत जानता है, अङ्गवान् होता है। वह अङ्गोंसे टेढ़ा-मेढ़ा नहीं होता, पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है। वर्ष भरतक मांसभक्षण न करे—यह व्रत है, अथवा कभी भी मांसभक्षण न करे—ऐसा व्रत है ॥ १-२ ॥

विंश खण्ड

राजन-सामोपासना

अग्नि हिंकार है, वायु प्रस्ताव है, आदित्य उद्गीथ है, नक्षत्र प्रतिहार हैं, चन्द्रमा निधन है—यह राजनसाम देवताओंमें अनुस्यूत है। वह पुरुष, जो इस प्रकार इस राजनसामको देवताओंमें अनुस्यूत जानता है, उन्हीं देवताओंके सालोक्य, सार्ष्टित्व (तुल्य ऐश्वर्य) और सायुज्यको प्राप्त हो जाता है। वह पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है, प्रजा और पशुओंके द्वारा महान् होता है तथा कीर्तिके द्वारा भी महान् होता है। ब्राह्मणोंकी निन्दा न करे—यह व्रत है ॥ १-२ ॥

एकविंश खण्ड

सबमें अनुस्यूत सामकी उपासना

त्रयीविद्या हिंकार है, ये तीन लोक प्रस्ताव हैं, अग्नि, वायु और आदित्य ये उद्गीथ हैं। नक्षत्र, पक्षी और किरणें ये प्रतिहार हैं। सर्प, गन्धर्व और पितृगण—ये निधन हैं। यह सामोपासना सबमें अनुस्यूत है। वह, जो इस प्रकार सबमें अनुस्यूत इस सामको जानता है, सर्वरूप हो जाता है। इस विषयमें यह मन्त्र भी है—जो पाँच प्रकारके तीन-तीन बतलाये गये हैं, उनसे श्रेष्ठ तथा उनके अतिरिक्त और कोई नहीं है। जो उसे जानता है वह सब कुछ जानता है। उसे सभी दिशाएँ बलि समर्पित करती हैं। 'मैं सब कुछ हूँ' इस प्रकार उपासना करे—यह व्रत है, यह व्रत है ॥ १-४ ॥

द्वाविंश खण्ड

अग्नि-सम्बन्धी उद्गीथ

सामके 'विनर्दि' नामक गानका वरण करता हूँ; वह पशुओंके लिये हितकर है और अग्निदेवतासम्बन्धी उद्गीथ है। प्रजापतिका उद्गीथ अनिरुक्त है, सोम निरुक्त है, वायुका मृदुल और श्लक्ष्ण (सरलतासे उच्चारण किये जाने योग्य) है, इन्द्रका श्लक्ष्ण और बलवान् है, बृहस्पतिका क्रौञ्च (क्रौञ्चपक्षीके शब्दके समान) है और वरुणका अपध्वान्त (भ्रष्ट) है। इन सभी उद्गीथोंका सेवन करे; केवल वरुण-सम्बन्धी उद्गीथका ही परित्याग कर दे। मैं देवताओंके लिये अमृतत्वका आगान (साधन) करूँ—इस प्रकार चिन्तन करते हुए आगान करे। पितृगणके लिये स्वधा, मनुष्योंके लिये आशा (उनकी इष्ट वस्तुओं), पशुओंके लिये तृण और जल, यजमानके लिये स्वर्गलोक और अपने लिये अन्नका आगान करूँ—इस प्रकार इनका मनसे ध्यान करते हुए प्रमादरहित होकर स्तुति करे। सम्पूर्ण स्वर इन्द्रके आत्मा हैं, समस्त ऊष्मवर्ण प्रजापतिके आत्मा हैं, समस्त स्पर्शवर्ण मृत्युके आत्मा हैं। [इस प्रकार जाननेवाले] उस उद्गाताको यदि कोई पुरुष स्वरोंके उच्चारणमें दोष प्रदर्शित करे तो वह उससे कहे कि 'मैं इन्द्रके शरणागत हूँ वही तुझे इसका उत्तर देगा।' और यदि कोई इसे ऊष्मवर्णोंके उच्चारणमें दोष प्रदर्शित करे तो उससे कहे कि 'मैं प्रजापतिके शरणागत था वही तेरा मर्दन करेगा।' और यदि कोई इसे स्पर्शोंके उच्चारणमें उलाहना दे तो उससे कहे कि 'मैं मृत्युकी शरणको प्राप्त था, वही तुझे दग्ध करेगा।' सम्पूर्ण स्वर घोषयुक्त और बलयुक्त उच्चारण किये जाने चाहिये; अतः [उनका उच्चारण करते समय] 'मैं इन्द्रमें बलका आधान करूँ' ऐसा [चिन्तन करना चाहिये]। सारे ऊष्मवर्ण अग्रस्त, अनिरस्त एवं विवृतरूपसे उच्चारण किये जाते हैं [अतः उन्हें बोलते समय ऐसा चिन्तन करना चाहिये कि] 'मैं प्रजापतिको आत्मदान करूँ।' समस्त स्पर्शवर्णोंको एक-दूसरेसे तनिक भी मिलाये बिना ही बोलना चाहिये और उस समय 'मैं मृत्युसे अपना परिहार करूँ' [ऐसा चिन्तन करना चाहिये] ॥ १-५ ॥

त्रयोविंश खण्ड

धर्मके तीन स्कन्ध, ओंकारकी सर्वरूपता

धर्मके तीन स्कन्ध हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान—यह पहला स्कन्ध है। तप ही दूसरा स्कन्ध है। आचार्यकुलमें रहनेवाला ब्रह्मचारी, जो आचार्यकुलमें अपने शरीरको अत्यन्त क्षीण कर देता है, तीसरा स्कन्ध है। ये सभी पुण्यलोकके भागी होते हैं। ब्रह्ममें सम्यक् प्रकारसे स्थित [चतुर्थाश्रमी संन्यासी] अमृतत्वको प्राप्त होता है। प्रजापतिने लोकोंके उद्देश्यसे ध्यानरूप तप किया। उन अभितप्त लोकोंसे त्रयी विद्याकी उत्पत्ति हुई तथा उस अभितप्त त्रयी विद्यासे 'भूः, भुवः और स्वः' ये अक्षर उत्पन्न हुए। [फिर प्रजापतिने] उन अक्षरोंका आलोचन किया। उन आलोचित अक्षरोंसे ओङ्कार उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार शङ्कुओं (नसों) द्वारा सम्पूर्ण पत्ते व्याप्त रहते हैं उसी प्रकार ओङ्कारसे सम्पूर्ण वाणी व्याप्त है। ओङ्कार ही यह सब कुछ है—ओङ्कार ही यह सब कुछ है ॥ १–३ ॥

चतुर्विंश खण्ड

तीनों कालका सवन

ब्रह्मवादी कहते हैं कि प्रातःसवन वसुओंका है, मध्याह्नसवन रुद्रोंका है तथा तृतीय सवन आदित्य और विश्वेदेवोंका है। तो फिर यजमानका लोक कहाँ है ? जो यजमान उस लोकको नहीं जानता वह किस प्रकार यज्ञानुष्ठान करेगा ? अतः उसे जाननेवाला ही यज्ञ करेगा ॥ १-२ ॥

प्रातरनुवाकका आरम्भ करनेसे पूर्व वह (यजमान) गार्हपत्याग्निके पीछेकी ओर उत्तराभिमुख बैठकर वसुदेवता-सम्बन्धी सामका गान करता है। [हे अग्ने !] तुम इस लोकका द्वार खोल दो; जिससे कि हम राज्यप्राप्तिके लिये तुम्हारा दर्शन कर लें। तदनन्तर [यजमान इस मन्त्रद्वारा] हवन करता है—पृथिवीमें रहनेवाले इहलोकनिवासी अग्निदेवको नमस्कार है। मुझ यजमानको तुम [पृथिवी] लोककी प्राप्ति कराओ। यह निश्चय ही यजमानका लोक है, मैं इसे प्राप्त करनेवाला हूँ। इस लोकमें यजमान 'मैं आयु समाप्त होनेके अनन्तर [पुण्यलोकको प्राप्त होऊँगा] स्वाहा'—ऐसा कहकर हवन करता है, और 'परिघ (अर्गला) को नष्ट करो' ऐसा कहकर उत्थान करता है। वसुगण उसे प्रातःसवन प्रदान करते हैं ॥ ३–६ ॥

मध्याह्नसवनका आरम्भ करनेसे पूर्व यजमान दक्षिणाग्निके पीछे उत्तराभिमुख बैठकर रुद्रदेवतासम्बन्धी सामका गान करता है। [हे वायो !] तुम अन्तरिक्षलोकका द्वार खोल दो, जिससे कि वैराज्यपदकी प्राप्तिके लिये हम तुम्हारा दर्शन कर सकें। तदनन्तर [यजमान इस मन्त्रद्वारा] हवन करता है—'अन्तरिक्षमें रहनेवाले अन्तरिक्षलोकनिवासी वायुदेवको नमस्कार है। मुझ यजमानको तुम [अन्तरिक्ष] लोककी प्राप्ति कराओ। यह निश्चय ही यजमानका लोक है; मैं इसे प्राप्त करनेवाला हूँ। यहाँ यजमान, 'मैं आयु समाप्त होनेपर [अन्तरिक्षलोक प्राप्त करूँगा] स्वाहा' ऐसा कहकर हवन करता है और 'लोकद्वारकी अर्गलाको दूर करो' ऐसा कहकर उत्थान करता है। रुद्रगण उसे मध्याह्नसवन प्रदान करते हैं ॥ ७–१० ॥

तृतीय सवनका आरम्भ करनेसे पूर्व यजमान आहवनीयाग्निके पीछे उत्तराभिमुख बैठकर आदित्य और विश्वेदेवसम्बन्धी सामका गान करता है। लोकका द्वार खोल दो, जिससे हम स्वाराज्यप्राप्तिके लिये तुम्हारा दर्शन कर सकें। यह आदित्यसम्बन्धी साम है; अब विश्वेदेवसम्बन्धी साम कहते हैं—लोकका द्वार खोल दो, जिससे हम साम्राज्यप्राप्तिके लिये तुम्हारा दर्शन कर सकें। तत्पश्चात् [यजमान इस मन्त्रद्वारा] हवन करता है—स्वर्गमें रहनेवाले द्युलोकनिवासी आदित्योंको और विश्वेदेवोंको नमस्कार है। मुझ यजमानको तुम पुण्यलोककी प्राप्ति कराओ। यह निश्चय ही यजमानका लोक है; मैं इसे प्राप्त करनेवाला हूँ। यहाँ यजमान 'आयु समाप्त होनेपर [मैं इसे प्राप्त करूँगा] स्वाहा'—ऐसा कहकर हवन करता है और 'लोकद्वारकी अर्गलाको दूर करो'—ऐसा कहकर उत्थान करता है। उस (यजमान) को आदित्य और विश्वेदेव तृतीय सवन प्रदान करते हैं। जो इस प्रकार जानता है, जो इस प्रकार जानता है वह निश्चय ही यज्ञकी मात्रा (यज्ञके यथार्थ स्वरूप) को जानता है ॥ ११–१६ ॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

ॐ

तृतीय अध्याय

प्रथम खण्ड

आदित्यकी मधुरूपमें कल्पना

ॐ यह आदित्य निश्चय ही देवताओंका मधु है। द्युलोक ही उसका तिरछा बाँस है [जिसपर कि वह लटका हुआ है], अन्तरिक्ष छत्ता है और किरणें [उसमें रहनेवाले] मक्खियोंके बच्चे हैं। उस आदित्यकी जो पूर्वदिशाकी किरणें हैं, वे ही इस (अन्तरिक्षरूप छत्ते) के पूर्वदिशावर्ती छिद्र हैं। ऋक् ही मधुकर हैं, ऋग्वेद ही पुष्प हैं, वे सोम आदि अमृत ही जल हैं। उन इन ऋक् [-रूप मधुकरों] ने ही इस ऋग्वेदका अभिताप किया। उस अभितप्त ऋग्वेदसे यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्यरूप रस उत्पन्न हुआ। वह (यश आदि रस) विशेषरूपसे गया। उसने [जाकर] आदित्यके [पूर्व] भागमें आश्रय लिया। यह जो आदित्यका लाल रूप है, वही यह (रस) है ॥ १–४ ॥

द्वितीय खण्ड

आदित्यकी दक्षिणस्थित किरणोंमें मधुनाडी-दृष्टि

तथा इसकी जो दक्षिण दिशाकी किरणें हैं, वे ही इसकी दक्षिणदिशावर्तिनी मधुनाडियाँ हैं, यजुःश्रुतियाँ ही मधुकर हैं, यजुर्वेद ही पुष्प है तथा वह [सोमादिरूप] अमृत ही जल है। उन इन यजुःश्रुतियोंने इस यजुर्वेदका अभिताप किया। उस अभितप्त यजुर्वेदसे यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्यरूप रस उत्पन्न हुआ। उस रसने विशेषरूपसे गमन किया और आदित्यके [दक्षिण] भागमें आश्रय लिया। यह जो आदित्यका शुक्ल रूप है, यह वही है ॥ १–३ ॥

तृतीय खण्ड

पश्चिम ओरकी किरणोंमें मधुनाडी-दृष्टि

तथा ये जो इसकी पश्चिम ओरकी रश्मियाँ हैं, वे ही इसकी पश्चिमीय मधुनाडियाँ हैं। सामश्रुतियाँ ही मधुकर हैं, सामवेद-विहित कर्म ही पुष्प है तथा वह [सोमादिरूप] अमृत ही जल है। उन इन सामश्रुतियोंने ही इस सामवेदविहित कर्मका अभिताप किया। उस अभितप्त सामवेदसे ही यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्यरूप रस उत्पन्न हुआ। उस रसने विशेषरूपसे गमन किया और आदित्यके [पश्चिम] भागमें आश्रय लिया। यह जो आदित्यका कृष्ण तेज है, यह वही है ॥ १–३ ॥

चतुर्थ खण्ड

उत्तर दिशाकी किरणोंमें मधुनाडी-दृष्टि

तथा इसकी जो उत्तर दिशाकी किरणें हैं, वे ही इसकी उत्तर दिशाकी मधुनाडियाँ हैं। अथर्वाङ्गिरस श्रुतियाँ ही मधुकर हैं, इतिहास-पुराण ही पुष्प हैं तथा वह [सोमादिरूप] अमृत ही जल है। उन इन अथर्वाङ्गिरस श्रुतियोंने ही इस इतिहास-पुराणको अभितप्त किया। उस अभितप्त हुए [इतिहास-पुराणरूप पुष्प] से ही यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्यरूप रसकी उत्पत्ति हुई। उस रसने विशेषरूपसे गमन किया और आदित्यके [उत्तर] भागमें आश्रय लिया। यह जो आदित्यका अत्यन्त कृष्ण रूप है, यह वही है ॥ १–३ ॥

पञ्चम खण्ड

ऊर्ध्वरश्मियोंमें मधुनाडी-दृष्टि

तथा इसकी जो ऊर्ध्वरश्मियाँ हैं, वे ही इसकी ऊपरकी ओरकी मधुनाडियाँ हैं। गुह्य आदेश ही मधुकर हैं, [प्रणवरूप] ब्रह्म ही पुष्प है तथा वह [सोमादिरूप] अमृत ही जल है। उन इन गुह्य आदेशोंने ही इस [प्रणवसंज्ञक] ब्रह्मको अभितप्त किया। उस अभितप्त ब्रह्मसे ही यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्यरूप रस उत्पन्न हुआ। उस रसने विशेषरूपसे

गमन किया और वह आदित्यके [ऊर्ध्व] भागमें आश्रित हुआ। यह जो आदित्यके मध्यमें क्षुब्ध-सा होता है यही वह (मधु) है। वे ये [पूर्वोक्त लोहितादि रूप] ही रसोंके रस हैं, वेद ही रस हैं और ये उनके भी रस हैं। वे ही ये अमृतोंके अमृत हैं--वेद ही अमृत हैं और ये उनके भी अमृत हैं ॥ १-४ ॥

षष्ठ खण्ड

वसुओंके जीवनाधार प्रथम अमृतकी उपासना

इनमें जो पहला अमृत है, उससे वसुगण अग्निप्रधान होकर जीवन धारण करते हैं। देवगण न तो खाते हैं और न पीते ही हैं, वे इस अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं। वे देवगण इस रूपको लक्षित करके ही उदासीन हो जाते हैं और फिर इसीसे उत्साहित होते हैं। वह, जो इस प्रकार इस अमृतको जानता है, वसुओंमेंसे ही कोई एक होकर अग्निकी ही प्रधानतासे इसे देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूपको लक्ष्य करके ही उदासीन होता है और इस रूपसे ही उत्साहित होता है। जितने समयमें आदित्य पूर्व दिशासे उदित होता है और पश्चिम दिशामें अस्त होता है, उतनी ही देर वह वसुओंके आधिपत्य और स्वाराज्यको प्राप्त होता है ॥ १-४ ॥

सप्तम खण्ड

रुद्रोंके जीवनाधार द्वितीय अमृतकी उपासना

अब, जो दूसरा अमृत है, रुद्रगण इन्द्रप्रधान होकर उसके आश्रित जीवन धारण करते हैं। देवगण न तो खाते हैं और न पीते हैं, वे इस अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं। वे इस रूपको लक्षित करके ही उदासीन हो जाते हैं और इसीसे उद्यमशील होते हैं। वह, जो इस प्रकार इस अमृतको जानता है, रुद्रोंमेंसे ही कोई एक होकर इन्द्रकी ही प्रधानतासे इस अमृतको ही देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूपसे ही उदासीन हो जाता है और इस रूपसे ही उद्यमशील होता है। जितने समयमें आदित्य पूर्वसे उदित होता और पश्चिममें अस्त होता है, उससे दुगुने समयमें वह दक्षिणसे उदित होता है और उत्तरमें अस्त हो जाता है। इतने समयपर्यन्त वह रुद्रोंके ही आधिपत्य एवं स्वाराज्यको प्राप्त होता है ॥ १-४ ॥

अष्टम खण्ड

आदित्योंके जीवनाधार तृतीय अमृतकी उपासना

तदनन्तर जो तीसरा अमृत है, आदित्यगण वरुणप्रधान होकर उसके आश्रित जीवन धारण करते हैं। देवगण न तो खाते हैं और न पीते हैं, वे इस अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं। वे इस रूपको ही लक्षित करके उदासीन होते हैं और इसीसे उद्यमशील हो जाते हैं। वह, जो इस अमृतको जानता है, आदित्योंमेंसे ही कोई एक होकर वरुणकी ही प्रधानतासे इस अमृतको देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूपसे ही उदासीन होता है और इसीसे उद्योगी हो जाता है। वह आदित्य जितने समयमें दक्षिणसे उदित होता और उत्तरमें अस्त होता है, उससे दूने समयमें पश्चिमसे उदित होता और पूर्वमें अस्त होता है। इतने समय वह आदित्योंके ही आधिपत्य और स्वाराज्यको प्राप्त होता है ॥ १-४ ॥

नवम खण्ड

मरुतोंके जीवनाधार चतुर्थ अमृतकी उपासना

तथा जो चौथा अमृत है, मरुद्गण सोमकी प्रधानतासे उसके आश्रित जीवन धारण करते हैं। देवगण न तो खाते हैं और न पीते हैं, वे इस अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं। वे इस रूपको लक्षित करके ही उदासीन होते हैं और इसीसे उद्यमशील हो जाते हैं। वह, जो इस अमृतको जानता है, मरुतोंमेंसे ही कोई एक होकर सोमकी प्रधानतासे ही इस अमृतको देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूपसे ही उदासीन होता है और इस रूपसे ही उत्साहित होता है। वह आदित्य जितने समयमें पश्चिमसे उदित होता और पूर्वमें अस्त होता है, उससे दूनी देरमें उत्तरसे उदित होता और दक्षिणमें अस्त होता है। इतने काल वह मरुद्गणके ही आधिपत्य और स्वाराज्यको प्राप्त होता है ॥ १-४ ॥

दशम खण्ड

साध्योंके जीवनाधार पञ्चम अमृतकी उपासना

तथा जो पाँचवाँ अमृत है, साध्यगण ब्रह्माकी प्रधानतासे उसके आश्रित जीवन धारण करते हैं। देवगण न तो खाते हैं और न पीते हैं, वे इस अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं। वे इस रूपको लक्षित करके ही उदासीन होते हैं और इसीसे उद्यमशील हो जाते हैं। वह, जो इस प्रकार इस अमृतको जानता है, साध्यगणमेंसे ही कोई एक होकर ब्रह्माकी ही प्रधानतासे इस अमृतको ही देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूपको लक्ष्य करके ही उदासीन होता है और इस रूपसे ही उत्साहित हो जाता है। वह आदित्य जितने समयमें उत्तरसे उदित होता है और दक्षिणमें अस्त होता है, उससे दूने समयतक ऊपरकी ओर उदित होता है और नीचेकी ओर अस्त होता है। इतने कालतक वह साध्योंके ही आधिपत्य और स्वाराज्यको प्राप्त होता है ॥ १-४ ॥

एकादश खण्ड

मधुविज्ञान तथा ब्रह्मविज्ञानके अधिकारी

फिर उसके पश्चात् वह ऊर्ध्वगत होकर उदित होनेपर फिर न तो उदित होगा और न अस्त ही होगा; बल्कि अकेला ही मध्यमें स्थित रहेगा। उसके विषयमें यह श्लोक है। वहाँ निश्चय ही ऐसा नहीं होता। वहाँ [सूर्यका] न कभी अस्त होता है और न उदय होता है। हे देवगण! इस सत्यके द्वारा मैं ब्रह्मसे विरुद्ध न होऊँ। जो इस प्रकार इस ब्रह्मोपनिषद् (वेदरहस्य) को जानता है उसके लिये न तो सूर्यका उदय होता है और न अस्त होता है। उसके लिये सर्वदा दिन ही रहता है। वह यह मधुज्ञान ब्रह्माने प्रजापतिसे कहा था, प्रजापतिने मनुको सुनाया और मनुने प्रजावर्गके प्रति कहा। तथा यह ब्रह्मविज्ञान अपने ज्येष्ठ पुत्र अरुणनन्दन उद्दालकको उसके पिताने सुनाया था। अतः इस ब्रह्मविज्ञानका पिता अपने ज्येष्ठ पुत्रको अथवा सुयोग्य शिष्यको उपदेश करे। किसी दूसरेको नहीं बतलावे, यद्यपि इस आचार्यको यह समुद्र-परिवेष्टित और धनसे परिपूर्ण सारी पृथिवी दे [तो भी किसी दूसरेको इस विद्याका उपदेश न करे, क्योंकि] उससे यही अधिकतर फल देनेवाला है, यही अधिकतर फल देनेवाला है ॥ १-६ ॥

द्वादश खण्ड

गायत्रीकी सर्वरूपता

गायत्री ही ये सब भूत—प्राणिवर्ग हैं। जो कुछ भी ये स्थावर-जंगम प्राणी हैं, वे गायत्री ही हैं। वाक् ही गायत्री है और वाक् ही ये सब प्राणी हैं, क्योंकि यही गायत्री (उनका नामोच्चारण करती) और उनकी [भय आदिसे] रक्षा करती है। जो वह गायत्री है वह यही है, जो कि यह पृथिवी है; क्योंकि इसीमें ये सब भूत स्थित हैं और इसीका वे कभी अतिक्रमण नहीं करते। जो भी यह पृथिवी है वह यही है जो कि इस पुरुषमें शरीर है; क्योंकि इसीमें ये प्राण स्थित हैं और इसीको वे कभी नहीं छोड़ते। जो भी इस पुरुषमें शरीर है वह यही है जो कि इस अन्तःपुरुषमें हृदय है; क्योंकि इसीमें ये प्राण प्रतिष्ठित हैं और इसीका अतिक्रमण नहीं करते। वह यह गायत्री चार चरणोंवाली और छः प्रकारकी है। वह यह [गायत्र्याख्य ब्रह्म] मन्त्रोंद्वारा प्रकाशित किया गया है। [ऊपर जो कुछ कहा गया है] उतनी ही इस (गायत्र्याख्य ब्रह्म) की महिमा है; तथा [निर्विकार] पुरुष इससे भी उत्कृष्ट है। सम्पूर्ण भूत इसका एक पाद हैं और इसका [पुरुषसंज्ञक] त्रिपाद् अमृत प्रकाशमय स्वात्मामें स्थित है। जो भी वह [त्रिपाद् अमृतरूप] ब्रह्म है वह यही है, जो कि यह पुरुषसे बाहर आकाश है; और जो भी यह पुरुषसे बाहर आकाश है वह यही है, जो कि यह पुरुषके भीतर आकाश है; तथा जो भी यह पुरुषके भीतर आकाश है वह यही है, जो कि हृदयके अन्तर्गत आकाश है। वह यह हृदयाकाश पूर्ण और कहीं भी प्रवृत्त न होनेवाला है। जो पुरुष ऐसा जानता है, वह पूर्ण और कहीं प्रवृत्त न होनेवाली सम्पत्ति प्राप्त करता है ॥ १-९ ॥

त्रयोदश खण्ड

पञ्चप्राणोंकी उपासना

उस इस प्रसिद्ध हृदयके पाँच देवसुषि हैं। इसका जो पूर्वदिशावर्ती सुषि (छिद्र) है वह प्राण है; वह चक्षु है, वह आदित्य है, वही यह तेज और अन्नाद्य है—इस प्रकार उपासना करे। जो इस प्रकार जानता है [अर्थात् इस प्रकार इनकी उपासना करता है] वह तेजस्वी और अन्नका भोक्ता होता है। तथा इसका जो दक्षिण छिद्र है वह व्यान है, वह श्रोत्र है, वह चन्द्रमा है और वही यह श्री एवं यश है—इस प्रकार उसकी उपासना करे। जो ऐसा जानता है वह श्रीमान् और यशस्वी होता है। तथा इसका जो पश्चिम छिद्र है वह अपान है, वह वाक् है, वह अग्नि है और वही यह ब्रह्मतेज एवं अन्नाद्य है—इस प्रकार उसकी उपासना करे। जो ऐसा जानता है वह ब्रह्मतेजस्वी और अन्नका भोक्ता होता है। तथा इसका जो उत्तरी छिद्र है वह समान है, वह मन है, वह मेघ है, और वही यह कीर्ति और व्युष्टि (देहका लावण्य) है—इस प्रकार उसकी उपासना करे। जो इस प्रकार जानता है वह कीर्तिमान् और कान्तिमान् होता है। तथा इसका जो ऊर्ध्व छिद्र है वह उदान है, वह वायु है, वह आकाश है और वही यह ओज और तेज है—इस प्रकार उसकी उपासना करे। जो इस प्रकार जानता है वह ओजस्वी और तेजस्वी होता है। वे ये पाँच ब्रह्मपुरुष स्वर्गलोकके द्वारपाल हैं। वह जो कोई भी स्वर्गलोकके द्वारपाल इन पाँच ब्रह्मपुरुषोंको जानता है उसके कुलमें वीर उत्पन्न होता है। जो इस प्रकार स्वर्गलोकके द्वारपाल इन पाँच पुरुषोंको जानता है वह स्वर्गलोकको प्राप्त होता है। तथा इस द्युलोकसे परे जो परम ज्योति विश्वके पृष्ठपर यानी सबके ऊपर, जिनसे उत्तम कोई दूसरा लोक नहीं है ऐसे उत्तम लोकोंमें प्रकाशित हो रही है वह निश्चय यही है जो कि इस पुरुषके भीतर ज्योति है। उस इस (हृदयस्थित पुरुष) का यही दर्शनोपाय है जब कि [मनुष्य] इस शरीरमें स्पर्शद्वारा उष्णताको जानता है तथा यही उसका श्रवणोपाय है जब कि यह कानोंको मूँदकर निनद (रथके घोष), नदथु (बैलके डकराने) और जलते हुए अग्निके शब्दके समान श्रवण करता है, वह यह ज्योति दृष्ट और श्रुत है—इस प्रकार इसकी उपासना करे। जो उपासक ऐसा जानता है [इस प्रकार उपासना करता है] वह दर्शनीय और विश्रुत (विख्यात) होता है ॥ १–८ ॥

चतुर्दश खण्ड

जगत्‌की एवं आत्माकी ब्रह्मरूपमें उपासना

यह सारा जगत् निश्चय ब्रह्म ही है, यह उसीसे उत्पन्न होनेवाला, उसीमें लीन होनेवाला और उसीमें चेष्टा करनेवाला है—इस प्रकार शान्त [राग-द्वेषरहित] होकर उपासना करे, क्योंकि पुरुष निश्चय ही क्रतुमय—निश्चयात्मक है; इस लोकमें पुरुष जैसे निश्चयवाला होता है वैसा ही यहाँसे मरकर जानेपर होता है। अतः उसे [पुरुषको] निश्चय करना चाहिये [वह ब्रह्म] मनोमय, प्राणशरीर, प्रकाशस्वरूप, सत्यसंकल्प, आकाश-शरीर, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, इस सम्पूर्ण जगत्‌को सब ओरसे व्याप्त करनेवाला, वाक्‌रहित और संभ्रम-शून्य है, हृदयकमलके भीतर यह मेरा आत्मा धानसे, यवसे, सरसोंसे, श्यामाकसे अथवा श्यामाकतण्डुलसे भी सूक्ष्म है तथा हृदयकमलके भीतर यह मेरा आत्मा पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक अथवा इन सब लोकोंकी अपेक्षा भी बड़ा है जो सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, इस सबको सब ओरसे व्याप्त करने-वाला, वाक्‌रहित और सम्भ्रमशून्य है वह मेरा आत्मा हृदय-कमलके मध्यमें स्थित है। यही ब्रह्म है, इस शरीरसे मरकर जानेपर मैं इसीको प्राप्त होऊँगा। जिसका ऐसा निश्चय है, और जिसे इस विषयमें कोई सन्देह भी नहीं है [उसे इसी ब्रह्म-भावकी ही प्राप्ति होती है] ऐसा शाण्डिल्यने कहा है ॥ १—४ ॥

पञ्चदश खण्ड

विराट्‌रूप कोशकी उपासना

अन्तरिक्ष जिसका उदर है, वह कोश पृथिवीरूप मूलवाला है। वह जीर्ण नहीं होता। दिशाएँ इसके कोण हैं, आकाश ऊपरका छिद्र है। वह यह कोश वसुधान है। उसीमें यह सारा विश्व स्थित है। उस कोशकी पूर्व दिशा 'जुहू' नामवाली है, दक्षिण दिशा 'सहमाना' नामकी है, पश्चिम दिशा 'राज्ञी' नामवाली है तथा उत्तर दिशा 'सुभूता' नामकी है। उन दिशाओंका वायु वत्स है। वह, जो इस प्रकार इस वायुको दिशाओंके वत्सरूपसे जानता है, पुत्रके निमित्तसे रोदन नहीं

करता। वह मैं इस प्रकार इस वायुको दिशाओंके वत्सरूपसे जानता हूँ; अतः मैं पुत्रके कारण न रोऊँ। मैं अमुक अमुकके सहित अविनाशी कोशकी शरण हूँ; अमुक अमुक अमुकके सहित प्राणकी शरण हूँ; अमुक अमुक अमुकके सहित भूःकी शरण हूँ; अमुक अमुक अमुकके सहित भुवःकी शरण हूँ; अमुक अमुक अमुकके सहित स्वःकी शरण हूँ। * वह मैंने जो कहा कि 'मैं प्राणकी शरण हूँ' सो यह जो कुछ सम्पूर्ण भूतसमुदाय है प्राण ही है, उसीकी मैं शरण हूँ तथा मैंने जो कहा कि 'मैं भूःकी शरण हूँ' इससे मैंने यही कहा है कि 'मैं पृथिवीकी शरण हूँ, अन्तरिक्षकी शरण हूँ और द्युलोककी शरण हूँ' फिर मैंने जो कहा कि 'मैं भुवःकी शरण हूँ' इससे यह कहा गया है कि 'मैं अग्निकी शरण हूँ, वायुकी शरण हूँ और आदित्यकी शरण हूँ' तथा मैंने जो कहा कि 'मैं स्वःकी शरण हूँ' इससे 'मैं ऋग्वेदकी शरण हूँ, यजुर्वेदकी शरण हूँ और सामवेदकी शरण हूँ' यही मैंने कहा है ॥ १–७ ॥

षोडश खण्ड

पुरुषकी यज्ञरूपमें उपासना

निश्चय पुरुष ही यज्ञ है। उसके (उसकी आयुके) जो चौबीस वर्ष हैं, वे प्रातःसवन हैं। गायत्री चौबीस अक्षरोंवाली है; और प्रातःसवन गायत्री-छन्दसे संबद्ध है। उस इस प्रातःसवनके वसुगण अनुगत हैं। प्राण ही वसु हैं, क्योंकि ये ही इस सबको बसाये हुए हैं। यदि इस प्रातःसवनसम्पन्न आयुमें उसे कोई कष्ट पहुँचावे तो उसे इस प्रकार कहना चाहिये, 'हे प्राणरूप वसुगण! मेरे इस प्रातःसवनको माध्यन्दिनसवनके साथ एकरूप कर दो; यज्ञस्वरूप मैं आप प्राणरूप वसुओंके मध्यमें विलुप्त (नष्ट) न होऊँ।' तब उस कष्टसे मुक्त होकर वह नीरोग हो जाता है ॥ १-२ ॥

इसके पश्चात् जो चौवालीस वर्ष हैं, वे माध्यन्दिनसवन हैं। त्रिष्टुप्-छन्द चौवालीस अक्षरोंवाला है और माध्यन्दिनसवन त्रिष्टुप्-छन्दसे सम्बद्ध है। उस माध्यन्दिनसवनके रुद्रगण अनुगत हैं। प्राण ही रुद्र हैं, क्योंकि ये ही इस सम्पूर्ण प्राणिसमुदायको रुलाते हैं। यदि उस यज्ञकर्ताको इस आयुमें कोई [रोगादि] सन्तप्त करे तो उसे इस प्रकार कहना चाहिये, 'हे प्राणरूप रुद्रगण! मेरे इस मध्याह्नकालिक सवनको तृतीय सवनके साथ एकीभूत कर दो। यज्ञस्वरूप मैं प्राणरूप रुद्रोंके मध्यमें कभी विच्छिन्न (नष्ट) न होऊँ।' ऐसा कहनेसे वह उस कष्टसे छूट जाता है और नीरोग हो जाता है ॥ ३-४ ॥

इसके पश्चात् जो अड़तालीस वर्ष हैं, वे तृतीय सवन हैं। जगती-छन्द अड़तालीस अक्षरोंवाला है तथा तृतीय सवन जगती-छन्दसे सम्बन्ध रखता है। इस सवनके आदित्यगण अनुगत हैं। प्राण ही आदित्य हैं, क्योंकि ये ही इस सम्पूर्ण विषयजातको ग्रहण करते हैं। उस उपासकको यदि इस आयुमें कोई [रोगादि] सन्तप्त करे तो उसे इस प्रकार कहना चाहिये, 'हे प्राणरूप आदित्यगण! मेरे इस तृतीय सवनको आयुके साथ एकीभूत कर दो। यज्ञस्वरूप मैं प्राणरूप आदित्योंके मध्यमें विनष्ट न होऊँ।' ऐसा कहनेसे वह उस कष्टसे मुक्त होकर नीरोग हो जाता है ॥ ५-६ ॥

इस प्रसिद्ध विद्याको जाननेवाले ऐतरेय महिदासने कहा था—'[अरे रोग!] तू मुझे क्यों कष्ट देता है, जो मैं कि इस रोगद्वारा मृत्युको प्राप्त नहीं हो सकता।' वह एक सौ सोलह वर्ष जीवित रहा था; जो इस प्रकार इस सवन-विद्याको जानता है वह (नीरोग होकर) एक सौ सोलह वर्ष जीवित रहता है ॥ ७ ॥

सप्तदश खण्ड

आत्मयज्ञके अन्य अङ्ग

वह [पुरुष] जो भोजन करनेकी इच्छा करता है, जो पीनेकी इच्छा करता है और जो रममाण (प्रसन्न) नहीं होता—वही इसकी दीक्षा है। फिर वह जो खाता है, जो पीता है और जो रतिका अनुभव करता है—वह उपसदोंकी सदृशताको प्राप्त होता है। तथा वह जो हँसता है, जो भक्षण करता है और जो मैथुन करता है—वे सब स्तुतशस्त्रकी ही समानताको प्राप्त होते हैं। तथा जो तप, दान, आर्जव (सरलता), अहिंसा और सत्यवचन हैं, वे ही इसकी दक्षिणा हैं। इसीसे कहते हैं कि 'प्रसूता होगी' अथवा 'प्रसूता हुई' वह इसका पुनर्जन्म ही है; तथा मरण ही अवभृथस्नान है। घोर आङ्गिरस ऋषिने देवकीपुत्र कृष्णको यह यज्ञदर्शन सुनाकर, जिससे कि वह अन्य विद्याओंके विषयमें तृष्णाहीन

* इसमें जहाँ-जहाँ 'अमुक' शब्द आया है, वहाँ अपने पुत्रके नामको उच्चारण करना चाहिये।

हो गया था, कहा—'उसे अन्तकालमें इन तीन मन्त्रोंका जप करना चाहिये (१) तू अक्षित (अक्षय) है, (२) अच्युत (अविनाशी) है और (३) अति सूक्ष्म प्राण है।' तथा इसके विषयमें ये दो ऋचाएँ हैं। ['आदित्यवर्णस्य रेतसः' यह एक मन्त्र है और 'उद्वयं तमसस्परि' इत्यादि दूसरा है। इनमें पहला मन्त्र इस प्रकार है—'आदित्यवर्णस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवि' इसका अर्थ यह है—] पुरातन कारणका प्रकाश देखते हैं; यह सर्वत्र व्याप्त प्रकाश, जो परब्रह्ममें स्थित परम तेज देदीप्यमान है, उसका है। [अब 'उद्वयं तमसस्परि' इत्यादि दूसरे मन्त्रका अर्थ करते हैं—] अज्ञानरूप अन्धकारसे अतीत उत्कृष्ट ज्योतिको देखते हुए तथा आत्मीय उत्कृष्ट तेजको देखते हुए हम सम्पूर्ण देवोंमें प्रकाशवान् सर्वोत्तम ज्योतिःस्वरूप सूर्यको प्राप्त हुए ॥१–७॥

अष्टादश खण्ड

मन और आकाशकी ब्रह्मरूपमें उपासना

'मन ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करे। यह अध्यात्मदृष्टि है। तथा 'आकाश ब्रह्म है' यह अधिदैवत दृष्टि है। इस प्रकार अध्यात्म और अधिदैवत दोनोंका उपदेश किया गया। वह यह (मनःसंज्ञक) ब्रह्म चार पादोंवाला है। वाक् पाद है, प्राण पाद है, चक्षु पाद है और श्रोत्र पाद है। यह अध्यात्म है। अब अधिदैवत कहते हैं—अग्नि पाद है, वायु पाद है, आदित्य पाद है और दिशाएँ पाद हैं। इस प्रकार अध्यात्म और अधिदैवत दोनोंका उपदेश किया जाता है। वाक् ही ब्रह्मका चौथा पाद है; वह अग्निरूप ज्योतिसे दीप्त होता है और तपता है। जो ऐसा जानता है वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेजके कारण देदीप्यमान होता और तपता है। प्राण ही मनोमय ब्रह्मका चौथा पाद है। वह वायुरूप ज्योतिसे प्रकाशित होता और तपता है। जो इस प्रकार जानता है वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेजसे प्रकाशित होता और तपता है। चक्षु ही मनःसंज्ञक ब्रह्मका चौथा पाद है। वह आदित्यरूप ज्योतिसे प्रकाशित होता और तपता है। जो इस प्रकार जानता है वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेजसे प्रकाशित होता और तपता है। श्रोत्र ही मनोरूप ब्रह्मका चौथा पाद है। वह दिशारूप ज्योतिसे प्रकाशित होता और तपता है। जो इस प्रकार जानता है वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेजसे प्रकाशित होता और तपता है ॥ १–६ ॥

एकोनविंश खण्ड

आदित्यकी ब्रह्मरूपमें उपासना

आदित्य ब्रह्म है—ऐसा उपदेश है; उसीकी व्याख्या की जाती है। पहले यह असत् ही था। वह सत् (कार्याभिमुख) हुआ। वह अङ्कुरित हुआ। वह एक अण्डेमें परिणत हो गया। वह एक वर्षपर्यन्त उसी प्रकार पड़ा रहा। फिर वह फूटा; वे दोनों अण्डेके खण्ड रजत और सुवर्णरूप हो गये। उनमें जो खण्ड रजत हुआ, वह यह पृथिवी है और जो सुवर्ण हुआ, वह द्युलोक है। उस अण्डेका जो जरायु (स्थूल गर्भवेष्टन) था [वही] वे पर्वत हैं, जो उल्ब (सूक्ष्म गर्भवेष्टन) था, वह मेघोंके सहित कुहरा है, जो धमनियाँ थीं, वे नदियाँ हैं तथा जो वस्तिगत जल था, वह समुद्र है। फिर उससे जो उत्पन्न हुआ, वह यह आदित्य है। उसके उत्पन्न होते ही बड़े जोरोंका शब्द हुआ तथा उसीसे सम्पूर्ण प्राणी और सारे भोग हुए हैं। इसीसे उसका उदय और अस्त होनेपर दीर्घ-शब्दयुक्त घोष उत्पन्न होते हैं तथा सम्पूर्ण प्राणी और सारे भोग भी उत्पन्न होते हैं। वह जो इस प्रकार जाननेवाला होकर आदित्यकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है [वह आदित्यरूप हो जाता है, तथा] उसके समीप शीघ्र ही सुन्दर घोष आते हैं और उसे सुख देते हैं, सुख देते हैं ॥ १–४ ॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

यज्ञशालामें उषस्ति

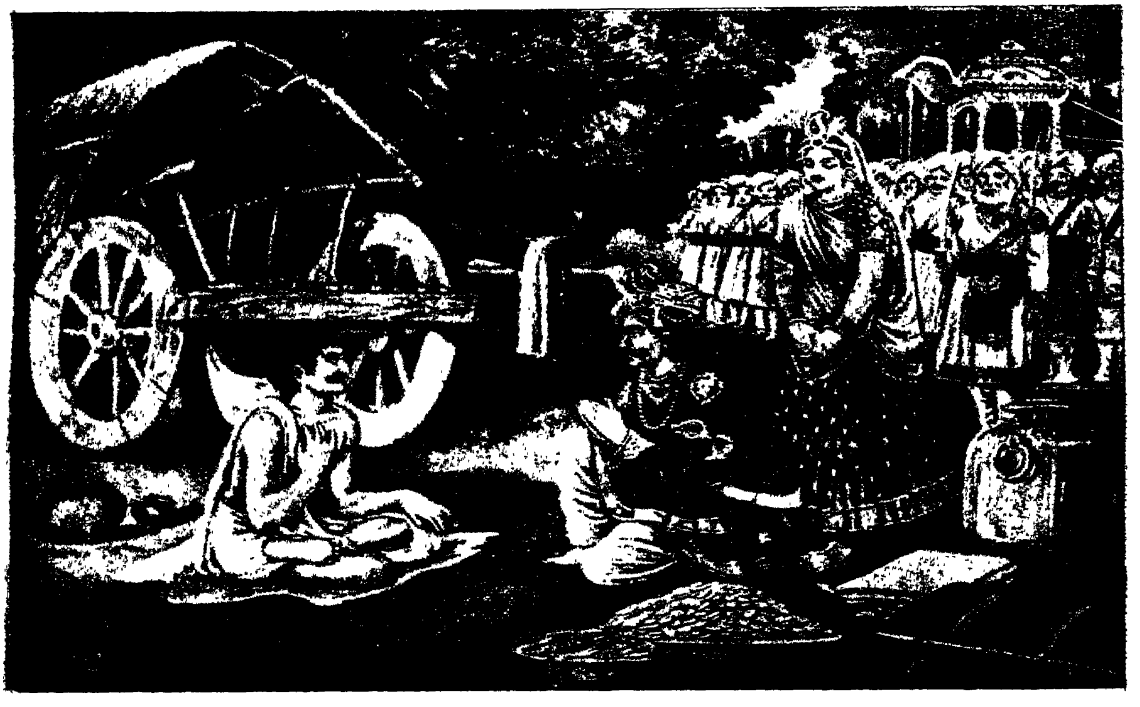

रैक्व और जानश्रुति

ॐ

चतुर्थ अध्याय

प्रथम खण्ड

राजा जानश्रुति और रैक्वका उपाख्यान

जो श्रद्धापूर्वक देनेवाला एवं बहुत दान करनेवाला था और जिसके यहाँ [दान करनेके लिये] बहुत-सा अन्न पकाया जाता था ऐसा कोई जनश्रुतके कुलमें उत्पन्न हुआ उसके पुत्रका पौत्र था। उसने, इस आशयसे कि लोग सब जगह मेरा ही अन्न खायँगे, सर्वत्र निवासस्थान (धर्मशालाएँ) बनवा दिये थे ॥ १ ॥

उसी समय [एक दिन] रात्रिमें उधरसे हंस उड़कर गये। उनमेंसे एक हंसने दूसरे हंससे कहा—'अरे ओ भल्लाक्ष ! ओ भल्लाक्ष ! देख, जानश्रुति पौत्रायणका तेज द्युलोकके समान फैला हुआ है; तू उसका स्पर्श न कर, वह तुझे भस्म न कर डाले।' उससे दूसरे [अग्रगामी] हंसने कहा—'अरे ! तू किस महत्त्वसे युक्त रहनेवाले इस राजाके प्रति इस तरह सम्मानित वचन कह रहा है ? क्या तू इसे गाड़ीवाले रैक्वके समान बतलाता है ?' [इसपर उसने पूछा—] 'यह जो गाड़ीवाला रैक्व है, कैसा है ?' 'जिस प्रकार [द्यूतक्रीडामें] कृतनामक पासेके द्वारा जीतनेवाले पुरुषके अधीन उससे निम्न श्रेणीके सारे पासे हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रजा जो कुछ सत्कर्म करती है वह सब उस (रैक्व) को प्राप्त हो जाता है। जो बात वह रैक्व जानता है, उसे जो कोई भी जानता है, उसके विषयमें भी मुझसे यह कह दिया गया' ॥ २–४ ॥

इस बातको जानश्रुति पौत्रायणने सुन लिया। [दूसरे दिन प्रातःकाल] उठते ही उसने सेवकसे कहा—'अरे भैया ! तू गाड़ीवाले रैक्वके समान मेरी स्तुति क्या करता है ?' [इसपर सेवकने पूछा—] 'यह जो गाड़ीवाला रैक्व है, कैसा है ?' [राजाने कहा—] 'जिस प्रकार कृतनामक पासेके द्वारा जीतनेवाले पुरुषके अधीन उसके निम्नवर्ती समस्त पासे हो जाते हैं, उसी प्रकार उस रैक्वको, जो कुछ भी प्रजा सत्कर्म करती है, वह सब प्राप्त हो जाता है। तथा जो कुछ (वह रैक्व) जानता है, उसे जो कोई जानता है, वह भी इस कथनद्वारा मैंने बतला दिया' ॥ ५-६ ॥

वह सेवक उसकी खोज करनेके अनन्तर 'मैं उसे नहीं पा सका' ऐसा कहता हुआ लौट आया ! तब उससे राजाने कहा—'अरे ! जहाँ ब्राह्मणकी खोज की जाती है वहाँ उसके पास जा।' उसने एक छकड़ेके नीचे खाज खुजलाते हुए [रैक्वको देखा]। वह रैक्वके पास बैठ गया और बोला—'भगवन् ! क्या आप ही गाड़ीवाले रैक्व हैं ?' रैक्वने 'अरे ! हाँ, मैं ही हूँ' ऐसा कहकर स्वीकार किया। तब वह सेवक यह समझकर कि 'मैंने उसे पहचान लिया है' लौट आया ॥७-८॥

द्वितीय खण्ड

जानश्रुतिका रैक्वके पास उपदेशके लिये जाना

तब वह जानश्रुति पौत्रायण छः सौ गौएँ, एक हार और एक खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ लेकर उसके पास आया और बोला—'रैक्व ! ये छः सौ गौएँ, यह हार और यह खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ मैं आपके लिये लाया हूँ। आप इस धनको स्वीकार कीजिये और भगवन् ! आप मुझे उस देवताका उपदेश दीजिये, जिसकी आप उपासना करते हैं।' उस रैक्वने कहा—'अरे शूद्र ! गौओंके सहित यह हारयुक्त रथ तेरे ही पास रहे।' तब वह जानश्रुति पौत्रायण एक सहस्र गौएँ, एक हार, खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ और अपनी कन्या—इतना धन लेकर फिर उसके पास आया और उससे बोला—'रैक्व ! ये एक सहस्र गौएँ, यह हार, यह खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ, यह पत्नी और यह ग्राम, जिसमें कि आप रहते हैं, स्वीकार कीजिये और भगवन् ! मुझे अवश्य उपदेश कीजिये।' तब उस (राजकन्या) के मुखको ही [विद्याग्रहणका द्वार] समझते हुए रैक्वने कहा—'अरे शूद्र ! तू ये (गौएँ आदि) लाया है [सो ठीक है;] तू इस विद्याग्रहणके द्वारसे ही मुझसे भाषण कराता है।' इस प्रकार जहाँ वह रैक्व रहता था, वहाँ रैक्वपर्णनामक ग्राम महावृष देशमें प्रसिद्ध है। तब उसने उससे कहा ॥ १–५ ॥

तृतीय खण्ड

वायु और प्राणकी उपासना

वायु ही संवर्ग है। जब अग्नि बुझता है तो वायुमें ही लीन होता है, जब सूर्य अस्त होता है तो वायुमें ही लीन होता है, और जब चन्द्रमा अस्त होता है तो वायुमें ही लीन हो जाता है। जिस समय जल सूखता है वह वायुमें ही लीन

हो जाता है। वायु ही इन सब जलोंको अपनेमें लीन कर लेता है। यह अधिदैवत दृष्टि है ॥ १-२ ॥

अब अध्यात्मदर्शन कहा जाता है—प्राण ही संवर्ग है। जिस समय यह पुरुष सोता है, प्राणको ही वाक्-इन्द्रिय प्राप्त हो जाती है; प्राणको ही चक्षु, प्राणको ही श्रोत्र और प्राणको ही मन प्राप्त हो जाता है। प्राण ही इन सबको अपनेमें लीन कर लेता है। वे ये दो ही संवर्ग हैं—देवताओंमें वायु और इन्द्रियोंमें प्राण ॥ ३-४ ॥

एक बार कपिगोत्रज शौनक और कक्षसेनके पुत्र अभिप्रतारीसे, जब कि उन्हें भोजन परोसा जा रहा था, एक ब्रह्मचारीने भिक्षा माँगी; किंतु उन्होंने उसे भिक्षा नहीं दी। तब उसने कहा—'भुवनोंके रक्षक उस एक देव प्रजापतिने चार महात्माओंको ग्रस लिया है। कापेय ! अभिप्रतारिन् ! मनुष्य अनेक प्रकारसे निवास करते हुए उस एक देवको नहीं देखते; तथा जिसके [ब्रह्मचारीके रूपमें आये हुए भगवान्‌के] लिये यह अन्न है उसे ही नहीं दिया गया।' उस वाक्यका कपिगोत्रोत्पन्न शौनकने मनन किया और फिर उस [ब्रह्मचारी] के पास आकर कहा—'जो देवताओंका आत्मा, प्रजाओंका उत्पत्तिकर्ता, हिरण्यदंष्ट्र, भक्षणशील और मेधावी है, जिसकी बड़ी महिमा कही गयी है, जो स्वयं दूसरोंसे न खाया जानेवाला और जो वस्तुतः अन्न नहीं हैं उनको भी भक्षण कर जाता है, ब्रह्मचारिन् ! उसीकी हम उपासना करते हैं।' [ऐसा कहकर उसने सेवकोंको आज्ञा दी कि] 'इस ब्रह्मचारीको भिक्षा दो' ॥ ५-७ ॥

तब उन्होंने उसे भिक्षा दे दी। वे ये [अग्न्यादि और वायु] पाँच [वागादिसे] अन्य हैं तथा इनसे [वागादि और प्राण] ये पाँच अन्य हैं। इस प्रकार ये सब दस होते हैं। ये दस कृत (कृतनामक पासेसे उपलक्षित द्यूत) हैं। अतः सम्पूर्ण दिशाओंमें ये अन्न ही दस कृत हैं। यह विराट् ही अन्नादी (अन्न भक्षण करनेवाला) है। उसके द्वारा यह सब देखा जाता है। जो ऐसा जानता है उसके द्वारा यह सब देख लिया जाता है और वह अन्न भक्षण करनेवाला होता है ॥८॥

चतुर्थ खण्ड

जबालापुत्र सत्यकामद्वारा गुरुकी आज्ञाका पालन

जबालाके पुत्र सत्यकामने अपनी माता जबालाको सम्बोधित करके निवेदन किया—'पूज्ये ! मैं ब्रह्मचर्यपूर्वक [गुरुकुलमें] निवास करना चाहता हूँ; बता मैं किस गोत्रवाला हूँ ?' उसने उससे कहा—'हे बेटा ! तू जिस गोत्रवाला है उसे मैं नहीं जानती। युवावस्थामें, जब कि मैं बहुत कार्य करनेवाली परिचारिणी थी, मैंने तुझे प्राप्त किया था। मैं यह नहीं जानती कि तू किस गोत्रवाला है ? मैं तो जबाला नामवाली हूँ और तू सत्यकाम नामवाला है। अतः तू अपनेको 'सत्यकाम जाबाल' बतला देना।' उसने हारिद्रुमत गौतमके पास जाकर कहा—'मैं पूज्य श्रीमान्‌के यहाँ ब्रह्मचर्यपूर्वक वास करूँगा; इसीसे आपकी सन्निधिमें आया हूँ।' उससे [गौतमने] कहा—'सोम्य ! तू किस गोत्रवाला है ?' उसने कहा—'भगवन् ! मैं जिस गोत्रवाला हूँ उसे नहीं जानता। मैंने मातासे पूछा था। उसने मुझे यह उत्तर दिया कि 'युवावस्थामें, जब कि मैं बहुत काम-धन्धा करनेवाली परिचारिणी थी, मैंने तुझे प्राप्त किया था। मैं यह नहीं जानती कि तू किस गोत्रवाला है ? मैं जबाला नामवाली हूँ और तू सत्यकाम नामवाला है।' अतः गुरो ! मैं सत्यकाम जाबाल हूँ।'' उससे गौतमने कहा—'ऐसा स्पष्ट भाषण कोई ब्राह्मणेतर नहीं कर सकता। अतः सोम्य ! तू समिधा ले आ, मैं तेरा उपनयन कर दूँगा, क्योंकि तूने सत्यका त्याग नहीं किया।' तब उसका उपनयन कर चार सौ कृश और दुर्बल गौएँ अलग निकालकर उससे कहा—'सोम्य ! तू इन गौओंके पीछे जा।' उन्हें ले जाते समय उसने कहा—'इनकी एक सहस्र गायें हुए बिना मैं नहीं लौटूँगा।' जबतक कि वे एक सहस्र हुईं वह बहुत वर्षोंतक वनमें ही रहा ॥ १-५ ॥

पञ्चम खण्ड

सत्यकामको वृषभद्वारा ब्रह्मके एक पादका उपदेश

तब उससे साँडने 'सत्यकाम !' ऐसा कहा। उसने 'भगवन् !' ऐसा उत्तर दिया। [वह बोला—] 'हे सोम्य ! हम एक सहस्र हो गये हैं, अब तू हमें आचार्यकुलमें पहुँचा दे।' [साँडने कहा] '[क्या] मैं तुझे ब्रह्मका एक पाद बतलाऊँ ?' तब [सत्यकामने] कहा—'भगवन् ! मुझे [अवश्य] बतलावें।' साँड उससे बोला—'पूर्व दिक्‌कला,

पश्चिम दिक्कला, दक्षिण दिक्कला और उत्तर दिक्कला, हे सोम्य ! यह ब्रह्मका 'प्रकाशवान्' नामक चार कलाओंवाला पाद है ।' वह, जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल पादकी 'प्रकाशवान्' इस गुणसे युक्त उपासना करता है, इस लोकमें प्रकाशवान् होता है और प्रकाशवान् लोकोंको जीत लेता है ॥ १–३ ॥

षष्ठ खण्ड

अग्निद्वारा द्वितीय पादका उपदेश

'अग्नि तुझे [दूसरा] पाद बतलावेगा'—ऐसा कहकर वृषभ मौन हो गया । दूसरे दिन उसने गौओंको गुरुकुलकी ओर हाँक दिया । वे सायंकालमें जहाँ एकत्रित हुईं वहीं अग्नि प्रज्वलित कर गौओंको रोक समिधाधान कर अग्निके पश्चिम पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया । उससे अग्निने 'सत्यकाम !' ऐसा कहा । तब उसने 'भगवन् !' ऐसा प्रत्युत्तर दिया । 'सोम्य ! मैं तुझे ब्रह्मका एक पाद बतलाऊँ ?' [अग्निने कहा, तब] [सत्यकामने कहा—] 'भगवन् ! मुझे [अवश्य] बतलावें ।' तब उसने उससे कहा—'पृथ्वी कला है, अन्तरिक्ष कला है, द्युलोक कला है और समुद्र कला है । सोम्य ! यह ब्रह्मका चतुष्कल पाद 'अनन्तवान्' नामवाला है ।' वह, जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल पादकी 'अनन्तवान्' इस गुणसे युक्त उपासना करता है, इस लोकमें अनन्तवान् होता है और अनन्तवान् लोकोंको जीत लेता है ।१–४।

सप्तम खण्ड

हंसद्वारा तृतीय पादका उपदेश

'हंस तुझे [तीसरा] पाद बतलावेगा' ऐसा [कहकर अग्नि निवृत्त हो गया] । दूसरे दिन उसने गौओंको आचार्यकुलकी ओर हाँक दिया । वे सायङ्कालमें जहाँ एकत्रित हुईं वह उसी जगह अग्नि प्रज्वलित कर, गौओंको रोक और समिधाधान कर अग्निके पश्चिम पूर्वाभिमुख होकर बैठा । तब हंसने उसके समीप उतरकर कहा—'सत्यकाम !' उसने उत्तर दिया—'भगवन् !' [हंसने कहा—] 'सोम्य ! मैं तुझे ब्रह्मका पाद बतलाऊँ ?' [सत्यकाम बोला—] 'भगवन् ! मुझे बतलावें ।' तब वह उससे बोला—'अग्नि कला है, सूर्य कला है, चन्द्रमा कला है और विद्युत् कला है । सोम्य ! यह ब्रह्मका चतुष्कल पाद 'ज्योतिष्मान्' नामवाला है ।' जो कोई इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल पादको 'ज्योतिष्मान्' ऐसे गुणसे युक्त उपासना करता है, वह इस लोकमें ज्योतिष्मान् होता है तथा ज्योतिष्मान् लोकोंको जीत लेता है ॥ १–४ ॥

अष्टम खण्ड

मद्गुद्वारा चतुर्थ पादका उपदेश

'मद्गु तुझे [चौथा] पाद बतलावेगा' ऐसा [कहकर हंस चला गया] । दूसरे दिन उसने गौओंको गुरुकुलकी ओर हाँक दिया । वे सायंकालमें जहाँ एकत्रित हुईं वहीं अग्नि प्रज्वलित कर गायोंको रोक समिधाधान कर अग्निके पीछे पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया । मद्गुने उसके पास उतरकर कहा—'सत्यकाम !' तब उसने उत्तर दिया—'भगवन् !' [मद्गु बोला—] 'सोम्य ! मैं तुझे ब्रह्मका पाद बतलाऊँ ?' [सत्यकाम बोला—] 'भगवन् ! मुझे अवश्य बतलावें ।' वह उससे बोला—'प्राण कला है, चक्षु कला है, श्रोत्र कला है और मन कला है । सोम्य ! यह ब्रह्मका चतुष्कल पाद 'आयतनवान्' नामवाला है ।' वह, जो इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष ब्रह्मके इस चतुष्कल पादकी 'आयतनवान्' ऐसे गुणसे युक्त उपासना करता है, इस लोकमें आयतनवान् होता है और आयतनवान् लोकोंको जीत लेता है ॥ १–४ ॥

नवम खण्ड

सत्यकामका आचार्यसे पुनः उपदेश-ग्रहण

सत्यकाम आचार्यकुलमें पहुँचा । उससे आचार्यने कहा—'सत्यकाम !' तब उसने उत्तर दिया—'भगवन् !' 'सोम्य ! तू ब्रह्मवेत्ता-सा दिखलायी दे रहा है; तुझे किसने उपदेश दिया है ?' ऐसा [आचार्यने पूछा] । तब उसने उत्तर दिया,

'मनुष्योंसे भिन्न [देवताओं] ने मुझे उपदेश दिया है, अब मेरी इच्छाके अनुसार आप पूज्यपाद ही मुझे विद्याका उपदेश करें। मैंने श्रीमान्-जैसे ऋषियोंसे सुना है कि आचार्यसे जानी गयी विद्या ही अतिशय साधुताको प्राप्त होती है।' तब आचार्यने उसे उसी विद्याका उपदेश किया। उसमें कुछ भी न्यून नहीं हुआ, न्यून नहीं हुआ [अर्थात् उसकी विद्या पूर्ण ही रही] ॥ १–३ ॥

दशम खण्ड

उपकोसलको अग्नियोंद्वारा ब्रह्मविद्याका उपदेश

उपकोसल नामसे प्रसिद्ध कमलका पुत्र सत्यकाम जाबालके यहाँ ब्रह्मचर्य ग्रहण करके रहता था। उसने बारह वर्षतक उस आचार्यके अग्नियोंकी सेवा की; किंतु आचार्यने अन्य ब्रह्मचारियोंका तो समावर्तन संस्कार कर दिया, किंतु केवल इसीका नहीं किया। आचार्यसे उसकी भार्याने कहा—'यह ब्रह्मचारी खूब तपस्या कर चुका है, इसने अच्छी तरह अग्नियोंकी सेवा की है। देखिये, अग्नियाँ आपकी निन्दा न करें। अतः इसे विद्याका उपदेश कर दीजिये।' किंतु वह उसे उपदेश किये बिना ही बाहर चला गया। उस उपकोसलने मानसिक खेदसे अनशन करनेका निश्चय किया। उससे आचार्यपत्नीने कहा—'अरे ब्रह्मचारिन्! तू भोजन कर, क्यों नहीं भोजन करता?' वह बोला—'माताजी! इस मनुष्यमें अनेक ओर जानेवाली बहुत-सी कामनाएँ रहती हैं। मैं व्याधियोंसे परिपूर्ण हूँ, इसलिये भोजन नहीं करूँगा' ॥ १–३ ॥

फिर अग्नियोंने एकत्रित होकर कहा—'यह ब्रह्मचारी तपस्या कर चुका है; इसने हमारी अच्छी तरह सेवा की है। अच्छा, हम इसे उपदेश करें' ऐसा निश्चयकर वे उससे बोले—'प्राण' ब्रह्म है, 'क' ब्रह्म है, 'ख' ब्रह्म है। वह बोला—'यह तो मैं जानता हूँ कि प्राण ब्रह्म है; किंतु 'क' और 'ख' को नहीं जानता।' तब वे बोले— 'निश्चय जो 'क' है वही 'ख' है और जो 'ख' है वही 'क' है।' इस प्रकार उन्होंने उसे प्राण और उसके [आश्रयभूत] आकाशका उपदेश किया ॥४-५॥

एकादश खण्ड

अकेले गार्हपत्याग्निद्वारा शिक्षा

फिर उसे गार्हपत्याग्निने शिक्षा दी—'पृथ्वी, अग्नि, अन्न और आदित्य—ये मेरे चार शरीर हैं। आदित्यके अन्तर्गत जो यह पुरुष दिखायी देता है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ।' वह पुरुष, जो इसे इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है, पापकर्मोंको नष्ट कर देता है, अग्निलोकवान् होता है, पूर्ण आयुको प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है तथा इसके उत्तरवर्ती पुरुष क्षीण नहीं होते। तथा जो इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है उसका हम इस लोक और परलोकमें भी पालन करते हैं ॥ १-२ ॥

द्वादश खण्ड

अन्वाहार्यपचन नामक दूसरे अग्निद्वारा शिक्षा

फिर उसे अन्वाहार्यपचनने शिक्षा दी—'जल, दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा—ये मेरे चार शरीर हैं। चन्द्रमामें जो यह पुरुष दिखायी देता है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ।' वह पुरुष, जो इसे इस प्रकार जानकर इस (चार भागोंमें विभक्त अग्नि) की उपासना करता है, पापकर्मोंका नाश कर देता है, लोकवान् होता है, पूर्ण आयुको प्राप्त होता है और उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है। उसके पीछे होनेवाले पुरुष क्षीण नहीं होते तथा जो इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है हम उसका इस लोक और परलोकमें भी पालन करते हैं ॥ १-२ ॥

त्रयोदश खण्ड

आहवनीय-अग्निद्वारा शिक्षा

तदनन्तर उसे आहवनीयाग्निने उपदेश किया—'प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत्—ये मेरे चार शरीर हैं। यह जो विद्युत्में पुरुष दिखायी देता है, वह मैं हूँ, वही मैं हूँ।' वह पुरुष, जो इसे इस प्रकार जानकर इस (चार भागोंमें विभक्त अग्नि) की उपासना करता है, पापकर्मको नष्ट कर देता है, लोकवान् होता है, पूर्ण आयुको प्राप्त होता है तथा उज्ज्वल जीवन व्यतीत करता है। जो इसे इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है, उसके पश्चाद्वर्ती पुरुष क्षीण नहीं होते तथा उसका हम इस लोक और परलोकमें भी पालन करते हैं ॥ १-२ ॥

चतुर्दश खण्ड

आचार्य और उपकोसलका संवाद

उन्होंने कहा—'उपकोसल ! सोम्य ! यह अपनी विद्या और आत्मविद्या तेरे प्रति कही । आचार्य तुझे इनके फलकी प्राप्तिका मार्ग बतलायेंगे ।' तदनन्तर उसके आचार्य आये । उससे आचार्यने कहा—'उपकोसल !' उसने 'भगवन् !' ऐसा उत्तर दिया । [आचार्य बोले—] 'सोम्य ! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ताके समान जान पड़ता है; तुझे किसने उपदेश किया है ?' 'गुरुजी ! मुझे कौन उपदेश करता' ऐसा कहकर वह मानो उसे छिपाने लगा । [फिर अग्नियोंकी ओर संकेत करके बोला—] 'निश्चय इन्हींने उपदेश किया है जो अन्य प्रकारके थे और अब ऐसे हैं'—ऐसा कहकर उसने अग्नियोंको बतलाया । [तब आचार्यने पूछा—] 'सोम्य ! इन्होंने तुझे क्या बतलाया है ?' तब उसने 'यह बतलाया है' ऐसा कहकर उत्तर दिया । [इसपर आचार्यने कहा—] 'हे सोम्य ! इन्होंने तो तुझे केवल लोकोंका ही उपदेश किया है; अब मैं तुझे वह बतलाता हूँ जिसे जाननेवालेसे पाप-कर्मका उसी प्रकार सम्बन्ध नहीं होता जैसे कमलपत्रसे जलका सम्बन्ध नहीं होता ।' वह बोला—'भगवन् ! मुझे बतलावें ।' तब आचार्य उससे बोले ॥ १–३ ॥

पञ्चदश खण्ड

आचार्यद्वारा उपदेश; ब्रह्मवेत्ताकी गतिका वर्णन

'यह जो नेत्रमें पुरुष दिखायी देता है, यह आत्मा है'—ऐसा उसने कहा 'यह अमृत है, अभय है और ब्रह्म है । उस (पुरुषके स्थानरूप नेत्र)में यदि घृत या जल डाले तो वह पलकोंमें ही चला जाता है । इसे 'संयद्वाम' ऐसा कहते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण सेवनीय वस्तुएँ सब ओरसे इसीको प्राप्त होती हैं; जो इस प्रकार जानता है, उसे सम्पूर्ण सेवनीय वस्तुएँ सब ओरसे प्राप्त होती हैं । यही वामनी है, क्योंकि यही सम्पूर्ण वामोंका वहन करता है । जो ऐसा जानता है, वह सम्पूर्ण वामोंको वहन करता है । यही भामनी है, क्योंकि यही सम्पूर्ण लोकोंमें भासमान होता है । जो ऐसा जानता है, वह सम्पूर्ण लोकोंमें भासमानी होता है ॥ १–४ ॥

अब [श्रुति पूर्वोक्त ब्रह्मवेत्ताकी गति बतलाती है—] इसके लिये शवकर्म करें अथवा न करें—वह अर्चि-अभिमानी देवताको ही प्राप्त होता है । फिर अर्चि-अभिमानी देवतासे दिवसाभिमानी देवताको, दिवसाभिमानीसे शुक्लपक्षाभिमानी देवताको और शुक्लपक्षाभिमानी देवतासे उत्तरायणके छः मासोंको प्राप्त होता है । मासोंसे संवत्सरको, संवत्सरसे आदित्यको, आदित्यसे चन्द्रमाको और चन्द्रमासे विद्युत्को प्राप्त होता है । वहाँसे अमानव पुरुष इसे ब्रह्मको प्राप्त करा देता है । यह देवमार्ग—ब्रह्ममार्ग है । इससे जानेवाले पुरुष इस मानव-मण्डलमें नहीं लौटते, नहीं लौटते ॥ ५ ॥

षोडश खण्ड

पवनकी यज्ञरूपमें उपासना

यह जो चलता है निश्चय यज्ञ ही है । यह चलता हुआ निश्चय ही इस सम्पूर्ण जगत्को पवित्र करता है; क्योंकि यह गमन करता हुआ इस समस्त संसारको पवित्र कर देता है इसलिये यही यज्ञ है । मन और वाक्—ये दोनों इसके मार्ग हैं । इनमेंसे एक मार्गका ब्रह्मा मनके द्वारा संस्कार करता है तथा होता, अध्वर्यु और उद्गाता ये वाणीद्वारा दूसरे मार्गका संस्कार करते हैं । यदि प्रातरनुवाकके आरम्भ हो जानेपर परिधानीया ऋचाके उच्चारणसे पूर्व ब्रह्मा बोल उठता है तो वह केवल एक मार्गका ही संस्कार करता है, दूसरा मार्ग नष्ट हो जाता है । जिस प्रकार एक पैरसे चलनेवाला पुरुष अथवा एक पहियेसे चलनेवाला रथ नष्ट हो जाता है उसी प्रकार इसका यज्ञ भी नाशको प्राप्त हो जाता है । यज्ञके नष्ट होनेके पश्चात् यजमानका नाश होता है; इस प्रकारका यज्ञ करनेपर वह और भी अधिक पापी हो जाता है । और यदि प्रातरनुवाकका आरम्भ होनेके अनन्तर परिधानीया ऋचासे पूर्व ब्रह्मा नहीं बोलता है तो समस्त ऋत्विक् मिलकर दोनों ही मार्गोंका संस्कार कर देते हैं । तब कोई भी मार्ग नष्ट नहीं होता । जिस प्रकार दोनों पैरोंसे चलनेवाला पुरुष अथवा दोनों पहियोंसे चलनेवाला रथ स्थित रहता है इसी प्रकार इसका यज्ञ स्थित रहता है, यज्ञके स्थित रहनेपर यजमान भी स्थित रहता है । वह ऐसा यज्ञ करके श्रेष्ठ होता है ॥१—५॥

सप्तदश खण्ड

यज्ञमें योग्य ब्रह्माकी आवश्यकता

प्रजापतिने लोकोंको लक्ष्य बनाकर ध्यानरूप तप किया। उन तप किये जाते हुए लोकोंसे उसने रस निकाले। पृथ्वीसे अग्नि, अन्तरिक्षसे वायु और द्युलोकसे आदित्यको निकाला। फिर उसने इन तीन देवताओंको लक्ष्य करके तप किया। उन तप किये जाते हुए देवताओंसे उसने रस निकाले। अग्निसे ऋक्, वायुसे यजुः और आदित्यसे साम ग्रहण किये। तदनन्तर उसने इस त्रयीविद्याको लक्ष्य करके तप किया। उस तप की जाती हुई विद्यासे उसने रस निकाले। ऋक्-श्रुतियोंसे भूः, यजुःश्रुतियोंसे भुवः तथा सामश्रुतियोंसे स्वः इन रसोंको ग्रहण किया। उस यज्ञमें यदि ऋक्-श्रुतियोंके सम्बन्धसे क्षत हो तो 'भूः स्वाहा' ऐसा कहकर गार्हपत्याग्निमें हवन करे। इस प्रकार वह ऋचाओंके रससे ऋचाओंके वीर्यद्वारा ऋक्सम्बन्धी यज्ञके क्षतकी पूर्ति करता है। और यदि यजुःश्रुतियोंके कारण क्षत हो तो 'भुवः स्वाहा' ऐसा कहकर दक्षिणाग्निमें हवन करे। इस प्रकार वह यजुओंके रससे यजुओंके वीर्यद्वारा यज्ञके यजुःसम्बन्धी क्षतकी पूर्ति करता है। और यदि सामश्रुतियोंके कारण क्षत हो तो 'स्वः स्वाहा' ऐसा कहकर आहवनीयाग्निमें हवन करे। इस प्रकार वह सामके रससे सामके वीर्यद्वारा यज्ञके सामसम्बन्धी क्षतिकी पूर्ति करता है। इस विषयमें ऐसा समझना चाहिये कि जिस प्रकार लवण (क्षार) से सुवर्णको, सुवर्णसे चाँदीको, चाँदीसे त्रपुको, त्रपुसे सीसेको, सीसेसे लोहेको और लोहेसे काष्ठको अथवा चमड़ेसे काष्ठको जोड़ा जाता है। उसी प्रकार इन लोक, देवता और त्रयीविद्याके वीर्यसे यज्ञके क्षतका प्रतिसन्धान किया जाता है। जिसमें इस प्रकार जाननेवाला ब्रह्मा होता है वह यज्ञ निश्चय ही मानो ओषधियोंद्वारा संस्कृत होता है। जहाँ इस प्रकार जाननेवाला ब्रह्मा होता है वह यज्ञ उदक्प्रवण होता है। इस प्रकार जाननेवाले ब्रह्माके उद्देश्यसे ही यह गाथा प्रसिद्ध है कि 'जहाँ-जहाँ कर्म आवृत्त होता है वहीं वह पहुँच जाता है' ॥ १—९ ॥

एक मानव ब्रह्मा ही ऋत्विक् है। जिस प्रकार युद्धमें घोड़ी योद्धाओंकी रक्षा करती है उसी प्रकार ऐसा जाननेवाला ब्रह्मा यज्ञ, यजमान और अन्य समस्त ऋत्विजोंकी भी सब ओरसे रक्षा करता है। अतः इस प्रकार जाननेवालेको ही ब्रह्मा बनावे, ऐसा न जाननेवालेको नहीं, ऐसा न जाननेवालेको नहीं ॥ १० ॥

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

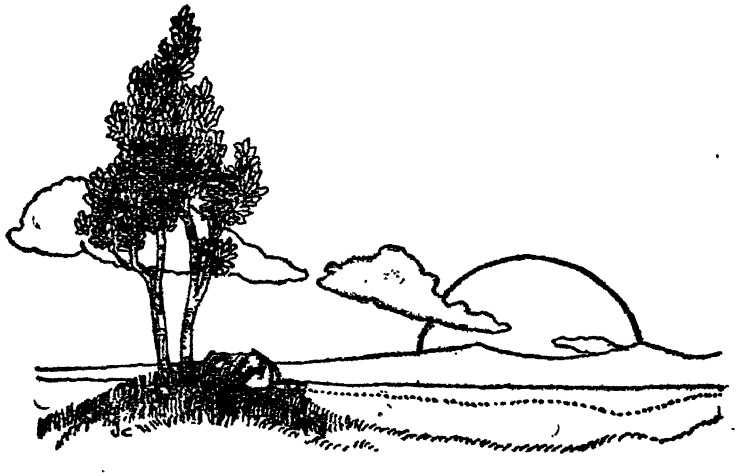

ॐ

पञ्चम अध्याय

प्रथम खण्ड

प्राणकी सर्वश्रेष्ठता

जो ज्येष्ठ और श्रेष्ठको जानता है, वह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हो जाता है। निश्चय ही प्राण ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। जो कोई वसिष्ठको जानता है, वह स्वजातीयोंमें वसिष्ठ होता है; निश्चय वाक् ही वसिष्ठ है। जो कोई प्रतिष्ठाको जानता है, वह इस लोक और परलोकमें प्रतिष्ठित होता है; चक्षु ही प्रतिष्ठा है। जो कोई सम्पद्को जानता है, उसे दैव और मानुष भोग सम्यक् प्रकारसे प्राप्त होते हैं। श्रोत्र ही सम्पद् है। जो आयतनको जानता है, वह स्वजातीयोंका आयतन—आश्रय होता है। निश्चय मन ही आयतन है ॥ १–५ ॥

एक बार प्राण (इन्द्रियाँ) 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकार अपनी श्रेष्ठताके लिये विवाद करने लगे। उन प्राणोंने अपने पिता प्रजापतिके पास जाकर कहा—'भगवन्! हममें कौन श्रेष्ठ है?' प्रजापतिने उनसे कहा—'तुममेंसे जिसके उत्क्रमण करनेपर शरीर अत्यन्त पापिष्ठ-सा दिखायी देने लगे, वही तुममें श्रेष्ठ है।' तब वाक्-इन्द्रियने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष प्रवास करनेके अनन्तर फिर लौटकर पूछा—'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके?' [उन्होंने कहा—] 'जिस प्रकार गूँगेलोग बिना बोले प्राणसे प्राणनक्रिया करते, नेत्रसे देखते, कानसे सुनते और मनसे चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जीवित रहे।' ऐसा सुनकर वाक्-इन्द्रियने शरीरमें प्रवेश किया। फिर चक्षुने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष प्रवास करनेके अनन्तर फिर लौटकर पूछा—'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके?' [उन्होंने कहा—] 'जिस प्रकार अन्धेलोग बिना देखे प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, कानसे सुनते और मनसे चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जीवित रहे।' ऐसा सुनकर चक्षु-ने प्रवेश किया। तदनन्तर श्रोत्रने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष प्रवास करनेके अनन्तर फिर लौटकर पूछा—'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके?' [उन्होंने कहा—] 'जिस प्रकार बहरे मनुष्य बिना सुने प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते और मनसे चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जीवित रहे।' यह सुनकर श्रोत्रने शरीरमें प्रवेश किया। तत्पश्चात् मनने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष प्रवास कर फिर लौटकर कहा—'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके?' [उन्होंने कहा—] 'जिस प्रकार बच्चे, जिनका कि मन विकसित नहीं होता, प्राणसे प्राणनक्रिया करते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते और कानसे सुनते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जीवित रहे।' यह सुनकर मनने भी प्रवेश किया। फिर प्राणने उत्क्रमण करनेकी इच्छा की। उसने, जिस प्रकार अच्छा घोड़ा अपने पैर बाँधनेके कीलोंको उखाड़ डालता है, उसी प्रकार अन्य प्राणोंको भी उखाड़ दिया। तब उन सबने उसके सामने जाकर कहा—'भगवन्! आप [हमारे स्वामी] रहें, आप ही हम सबमें श्रेष्ठ हैं, आप उत्क्रमण न करें' ॥ ६–१२ ॥

फिर उससे वाक्-इन्द्रियने कहा—'मैं जो वसिष्ठ हूँ सो तुम्हीं वसिष्ठ हो।' तदनन्तर उससे चक्षुने कहा—'मैं जो प्रतिष्ठा हूँ सो तुम्हीं प्रतिष्ठा हो।' फिर उससे श्रोत्रने कहा—'मैं जो सम्पद् हूँ सो तुम्हीं सम्पद् हो।' तत्पश्चात् उससे मन बोला—'मैं जो आयतन हूँ, सो तुम्हीं आयतन हो।' [लोकमें समस्त इन्द्रियोंको] न वाक्, न चक्षु, न श्रोत्र और न मन ही कहते हैं; परंतु 'प्राण' ऐसा कहते हैं, क्योंकि ये सब प्राण ही हैं ॥ १३–१५ ॥

द्वितीय खण्ड

महत्त्वप्राप्तिके लिये मन्थोपासना

उसने कहा—'मेरा अन्न क्या होगा?' तब वागादिने कहा—'कुत्तों और पक्षियोंसे लेकर सब जीवोंका यह जो कुछ अन्न है [सब तुम्हारा अन्न है]', सो यह सब अन (प्राण) का अन्न है। 'अन' यह प्राणका प्रत्यक्ष नाम है। इस प्रकार जाननेवालेके लिये भी कुछ अनन्न (अभक्ष्य) नहीं होता है। उसने कहा—'मेरा वस्त्र क्या होगा?' तब वागादि बोले—'जल'। इसीसे भोजन करनेवाले पुरुष भोजनके पूर्व और पश्चात् इसका जलसे आच्छादन करते हैं। ऐसा करनेसे वह वस्त्र प्राप्त करनेवाला और अनग्न होता है ॥ १-२ ॥

उस इस (प्राणदर्शन) को सत्यकाम जाबालने वैयाघ्रपद्य गो-श्रुतिके प्रति निरूपित करके कहा—'यदि इसे सूखे ठूँठके प्रति कहे तो उसमें शाखा उत्पन्न हो जायगी और पत्ते फूट आवेंगे' ॥ ३ ॥

अब यदि वह महत्त्वको प्राप्त होना चाहे तो उसे

अमावस्याको दीक्षित होकर पूर्णिमाकी रात्रिको सर्वौषधके दधि और मधुसम्बन्धी मन्थका मन्थन कर 'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा' ऐसा कहते हुए अग्निमें घृतका हवन कर मन्थपर उसका अवदोष डालना चाहिये। इसी प्रकार 'वसिष्ठाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें घृताहुति देकर मन्थमें घृतका स्राव डाले; 'प्रतिष्ठायै स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें घृताहुति देकर मन्थमें घृतका स्राव डाले; 'संपदे स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें घृताहुति देकर मन्थमें घृतका स्राव डाले तथा 'आयतनाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमे घृताहुति देकर मन्थमें घृतका स्राव डाले। तदनन्तर अग्निसे कुछ दूर हटकर मन्थको अञ्जलिमें ले वह 'अमो नामासि' इत्यादि मन्त्रका जप करे। [अमो नामासि आदि मन्त्रका अर्थ—] 'हे मन्थ! तू 'अम' नामवाला है, क्योंकि यह सारा जगत् [अपने प्राणभूत] तेरे साथ अवस्थित है। वह तू ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, राजा (दीप्तिमान्) और सबका अधिपति है। वह तू मुझे ज्येष्ठत्व, श्रेष्ठत्व, राज्य और आधिपत्यको प्राप्त करा। मैं ही यह सर्वरूप हो जाऊँ।' फिर वह इस ऋचासे* पादशः [उस मन्थका] भक्षण करता है। 'तत्सवितुर्वृणीमहे' ऐसा कहकर भक्षण करता है; 'वयं देवस्य भोजनम्' ऐसा कहकर भक्षण करता है; 'श्रेष्ठꣳसर्वधातमम्' ऐसा कहकर भोजन करता है; तथा 'तुरं भर्गस्य धीमहि' ऐसा कहकर कंस (कटोरे) या चमस (चम्मच) को धोकर सारा मन्थलेप पी जाता है। तत्पश्चात् वह अग्निके पीछे चर्म अथवा स्थण्डिल (पवित्र यज्ञभूमि) पर वाणीका संयम कर [अनिष्ट स्वप्नदर्शनसे] अभिभूत न होता हुआ शयन करता है। उस समय यदि वह [स्वप्नमें] स्त्रीको देखे तो ऐसा समझे कि कर्म सफल हो गया। इस विषयमें यह श्लोक है—जिस समय काम्यकर्मोंमें स्वप्नमें स्त्रीको देखे तो उस स्वप्न-दर्शनके होनेपर उस कर्ममें समृद्धि जाने ॥ ४–८ ॥

तृतीय खण्ड

श्वेतकेतु और प्रवाहणका संवाद; श्वेतकेतुके पिताका राजासे उपदेश माँगना

आरुणिका पुत्र श्वेतकेतु पञ्चालदेशीय लोगोंकी सभामें आया। उससे जीवलके पुत्र प्रवाहणने कहा—'कुमार! क्या पिताने तुझे शिक्षा दी है?' इसपर उसने कहा—'हाँ, भगवन्!'॥ १॥

'क्या तुझे मालूम है कि इस लोकसे जानेपर प्रजा कहाँ जाती है?' [श्वेतकेतु—] 'भगवन्! नहीं।' [प्रवाहण—] 'क्या तू जानता है कि वह फिर इस लोकमें कैसे आती है?' [श्वेतकेतु—] 'नहीं, भगवन्!' [प्रवाहण—] 'देवयान और पितृयान—इन दोनों मार्गोंका पारस्परिक वियोगस्थान तुझे मालूम है?' [श्वेतकेतु—] 'नहीं भगवन्!' [प्रवाहण—] 'तुझे मालूम है, यह पितृलोक भरता क्यों नहीं है?' [श्वेतकेतु—] 'भगवन्! नहीं।' [प्रवाहण—] 'क्या तू जानता है कि पाँचवीं आहुतिके हवन कर दिये जानेपर आप (सोमघृतादि रस) 'पुरुष' संज्ञाको कैसे प्राप्त होते हैं?' [श्वेतकेतु—] 'नहीं, भगवन्! नहीं।' 'तो फिर तू अपनेको 'मुझे शिक्षा दी गयी है' ऐसा क्यों कहता था? जो इन बातोंको नहीं जानता वह अपनेको शिक्षित कैसे कह सकता है?' तब वह त्रस्त होकर अपने पिताके स्थानपर आया और उससे बोला—'श्रीमान्‌ने मुझे शिक्षा दिये बिना ही कह दिया था कि मैंने तुझे शिक्षा दे दी है। उस क्षत्रियबन्धुने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे; किंतु मैं उनमेंसे एकका भी विवेचन नहीं कर सका।' पिताने कहा—'तुमने उस समय (आते ही) जैसे ये प्रश्न मुझे सुनाये हैं उनमेंसे मैं एकको भी नहीं जानता। यदि मैं इन्हें जानता होता तो तुम्हें क्यों न बतलाता?' ॥ २—५ ॥

तब वह गौतम गोत्रोत्पन्न ऋषि राजा (जैवलि) के स्थानपर आया। राजाने अपने यहाँ आये हुए उसकी पूजा की। [दूसरे दिन] प्रातःकाल होते ही राजाके सभामें पहुँचनेपर वह गौतम उसके पास गया। राजाने उससे कहा—'भगवन् गौतम! आप मनुष्यसम्बन्धी धनका वर माँग लीजिये।' उसने कहा—'राजन्! ये मनुष्यसम्बन्धी धन आपहीके पास रहें; आपने मेरे पुत्रके प्रति जो बात प्रश्नरूपसे कही थी वही मुझे बतलाइये।' तब वह सङ्कटमें पड़ गया। उसे 'यहाँ चिरकालतक रहो' ऐसी आज्ञा दी, और उससे कहा—'गौतम! जिस प्रकार तुमने मुझसे कहा है [उससे तुम यह समझो कि] पूर्वकालमें तुमसे पहले यह विद्या ब्राह्मणोंके पास नहीं गयी। इसीसे सम्पूर्ण लोकोंमें [इस विद्याद्वारा] क्षत्रियोंका ही [शिष्योंके प्रति] अनुशासन होता रहा है।' ऐसा कहकर वह गौतमसे बोला—॥ ६—७ ॥

* इस ऋचाका अर्थ इस प्रकार है—'हम प्रकाशमान सविताके उस सर्वविषयक श्रेष्ठतम भोजनकी प्रार्थना करते हैं और शीघ्र ही सविता देवताके स्वरूपका ध्यान करते हैं।'

चतुर्थ खण्ड

द्युलोककी अग्निके रूपमें उपासना

हे गौतम ! यह प्रसिद्ध द्युलोक ही अग्नि है। उसका आदित्य ही समिध् है; किरणें धूम हैं, दिन ज्वाला है, चन्द्रमा अङ्गार है और नक्षत्र विस्फुलिङ्ग (चिनगारियाँ) हैं। उस इस द्युलोकरूप अग्निमें देवगण श्रद्धाका हवन करते हैं। उस आहुतिसे सोम राजाकी उत्पत्ति होती है ॥ १-२ ॥

पञ्चम खण्ड

पर्जन्यकी अग्निके रूपमें उपासना

गौतम ! पर्जन्य ही अग्नि है; उसका वायु ही समिध् है, बादल धूम है, विद्युत् ज्वाला है, वज्र अङ्गार है तथा गर्जन विस्फुलिङ्ग हैं। उस अग्निमें देवगण राजा सोमका हवन करते हैं; उस आहुतिसे वर्षा होती है ॥ १-२ ॥

षष्ठ खण्ड

पृथिवीकी अग्निके रूपमें उपासना

गौतम ! पृथिवी ही अग्नि है। उसका संवत्सर ही समिध् है, आकाश धूम है, रात्रि ज्वाला है, दिशाएँ अङ्गारे हैं तथा अवान्तर दिशाएँ विस्फुलिङ्ग हैं। उस इस अग्निमें देवगण वर्षाका हवन करते हैं; उस आहुतिसे अन्न होता है ॥१-२॥

सप्तम खण्ड

पुरुषकी अग्निके रूपमें उपासना

गौतम ! पुरुष ही अग्नि है। उसकी वाक् ही समिध् है, प्राण धूम है, जिह्वा ज्वाला है, चक्षु अङ्गारे हैं और श्रोत्र विस्फुलिङ्ग हैं। उस इस अग्निमें देवगण अन्नका होम करते हैं। उस आहुतिसे वीर्य उत्पन्न होता है ॥ १-२ ॥

अष्टम खण्ड

स्त्रीकी अग्निके रूपमें उपासना

गौतम ! स्त्री ही अग्नि है। उसका उपस्थ ही समिध् है, पुरुष जो उपमन्त्रण करता है वह धूम है, योनि ज्वाला है तथा जो भीतरकी ओर करता है, वह अङ्गारे हैं और उससे जो सुख होता है, वह विस्फुलिङ्ग हैं। उस इस अग्निमें देवगण वीर्यका हवन करते हैं; उस आहुतिसे गर्भ उत्पन्न होता है ॥ १-२ ॥

नवम खण्ड

पाँचवीं आहुतिसे 'पुरुष' की उत्पत्ति

इस प्रकार पाँचवीं आहुतिके दिये जानेपर आप 'पुरुष' शब्दवाची हो जाते हैं। वह जरायुसे आवृत हुआ गर्भ दस या नौ महीने अथवा जबतक पूर्णाङ्ग नहीं होता तबतक माताकी कुक्षिके भीतर ही शयन करनेके अनन्तर फिर उत्पन्न होता है। इस प्रकार उत्पन्न होनेपर वह आयुपर्यन्त जीवित रहता है। फिर मरनेपर कर्मवश परलोकको प्रस्थित हुए उस जीवको अग्निके प्रति ही ले जाते हैं, जहाँसे कि वह आया था और जिससे उत्पन्न हुआ था ॥ १-२ ॥

दशम खण्ड

जीवोंकी विविध गति

वे जो इस प्रकार जानते हैं तथा वे जो वनमें श्रद्धा और तप इनकी उपासना करते हैं [प्राणप्रयाणके अनन्तर] अर्चि-अभिमानी देवताओंको प्राप्त होते हैं; अर्चि-अभिमानी देवताओंसे दिवसाभिमानी देवताओंको; दिवसाभिमानियोंसे

शुक्लपक्षाभिमानी देवताओंको; शुक्लपक्षाभिमानियोंसे जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तरकी ओर जाता है, उन छः महीनोंको; उन महीनोंसे संवत्सरको; संवत्सरसे आदित्यको; आदित्यसे चन्द्रमाको और चन्द्रमासे विद्युत्को प्राप्त होते हैं। वहाँ एक अमानव पुरुष है, वह उन्हें ब्रह्मको प्राप्त करा देता है। यह देवयान-मार्ग है ॥ १-२ ॥

तथा जो ये गृहस्थलोग ग्राममें इष्ट, पूर्त और दत्त—ऐसी उपासना करते हैं वे धूमको प्राप्त होते हैं; धूमसे रात्रिको; रात्रिसे कृष्णपक्षको तथा कृष्णपक्षसे जिन छः महीनोंमें सूर्य दक्षिण मार्गसे जाता है उनको प्राप्त होते हैं। ये लोग संवत्सरको प्राप्त नहीं होते। दक्षिणायनके महीनोंसे पितृलोकको, पितृलोकसे आकाशको और आकाशसे चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं। यह चन्द्रमा राजा सोम है। वह देवताओंका अन्न है, देवतालोग उसका भक्षण करते हैं। वहाँ कर्मोंका क्षय होनेतक रहकर वे फिर इसी मार्गसे जिस प्रकार गये थे उसी प्रकार लौटते हैं। [वे पहले] आकाशको प्राप्त होते हैं और आकाशसे वायुको, वायु होकर वे धूम होते हैं और धूम होकर अभ्र होते हैं। वह अभ्र होकर मेघ होता है, मेघ होकर बरसता है। तब वे जीव इस लोकमें धान, जौ, ओषधि, वनस्पति, तिल और उड़द आदि होकर उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार यह निष्क्रमण निश्चय ही अत्यन्त कष्टप्रद है। उस अन्नको जो-जो भक्षण करता है और जो-जो वीर्यसेचन करता है तद्रूप ही वह जीव हो जाता है ॥ ३–६ ॥

उन (अनुशयी जीवों) में जो अच्छे आचरणवाले होते हैं वे शीघ्र ही उत्तम योनिको प्राप्त होते हैं। वे ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनि प्राप्त करते हैं तथा जो अशुभ आचरणवाले होते हैं वे तत्काल अशुभ योनिको प्राप्त होते हैं। वे कुत्तेकी योनि, सूकरयोनि अथवा चाण्डालयोनि प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥

इनमेंसे वे किसी मार्गद्वारा नहीं जाते। वे ये क्षुद्र और बारंबार आने-जानेवाले प्राणी होते हैं। 'उत्पन्न होओ और मरो' यही उनका तृतीय स्थान होता है। इसी कारण यह परलोक नहीं भरता। अतः [इस संसारगतिसे] घृणा करनी चाहिये। इस विषयमें यह मन्त्र है—सुवर्णका चोर, मद्य पीनेवाला, गुरुस्त्रीगामी, ब्रह्महत्यारा—ये चारों पतित होते हैं और पाँचवाँ उनके साथ संसर्ग करनेवाला भी। किंतु जो इस प्रकार इन पञ्चाग्नियोंको जानता है वह उनके साथ आचरण (संसर्ग) करता हुआ भी पापसे लिप्त नहीं होता। वह शुद्ध पवित्र और पुण्यलोकका भागी होता है, जो इस प्रकार जानता है, जो इस प्रकार जानता है ॥ ८–१० ॥

एकादश खण्ड

प्राचीनशाल आदिका राजा अश्वपतिसे वैश्वानर आत्माके सम्बन्धमें प्रश्न

उपमन्युका पुत्र प्राचीनशाल, पुलुषका पुत्र सत्ययज्ञ, भल्लविके पुत्रका पुत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्षका पुत्र जन और अश्वतराश्वका पुत्र बुडिल—ये महागृहस्थ और परम श्रोत्रिय एकत्रित होकर परस्पर विचार करने लगे कि हमारा आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है ? ॥ १ ॥

उन पूजनीयोंने स्थिर किया कि यह अरुणका पुत्र उद्दालक इस समय इस वैश्वानर आत्माको जानता है; अतः हम उसके पास चलें। ऐसा निश्चय कर वे उसके पास गये। उसने निश्चय किया कि 'ये परम श्रोत्रिय महागृहस्थ मुझसे प्रश्न करेंगे; किंतु मैं इन्हें पूरी तरहसे नहीं बतला सकूँगा; अतः मैं इन्हें दूसरा उपदेष्टा बतला दूँ।' उसने इनसे कहा—'हे पूजनीयगण ! इस समय केकयकुमार अश्वपति इस वैश्वानरसंज्ञक आत्माको अच्छी तरह जानता है। आइये, हम उसीके पास चलें।' ऐसा कहकर वे उसके पास चले गये ॥ २—४ ॥

अपने पास आये हुए उन ऋषियोंका राजाने अलग-अलग सत्कार कराया। [दूसरे दिन] प्रातःकाल उठते ही उसने कहा—'मेरे राज्यमें न तो कोई चोर ही है तथा न अदाता, मद्यप, अनाहिताग्नि, अविद्वान् और परस्त्रीगामी ही है; फिर कुलटा स्त्री तो आयी ही कहाँसे ? हे पूज्यगण ! मैं भी यज्ञ करनेवाला हूँ। मैं एक-एक ऋत्विक्को जितना धन दूँगा, उतना ही आपको भी दूँगा; अतः आपलोग यहीं ठहरिये।' वे बोले—'जिस प्रयोजनसे कोई पुरुष कहीं जाता है उसे चाहिये कि वह अपने उसी प्रयोजनको कहे। इस समय आप वैश्वानर आत्माको जानते हैं, उसीका आप हमारे प्रति वर्णन कीजिये।' वह उनसे बोला—'अच्छा, मैं प्रातःकाल आपलोगोंको इसका उत्तर दूँगा।' तब दूसरे दिन पूर्वाह्णमें वे हाथमें समिधाएँ लेकर राजाके पास गये। उनका उपनयन न करके ही राजाने उन्हें उस विद्याका उपदेश किया ॥ ५—७ ॥

सत्यकाम और उपकोशल

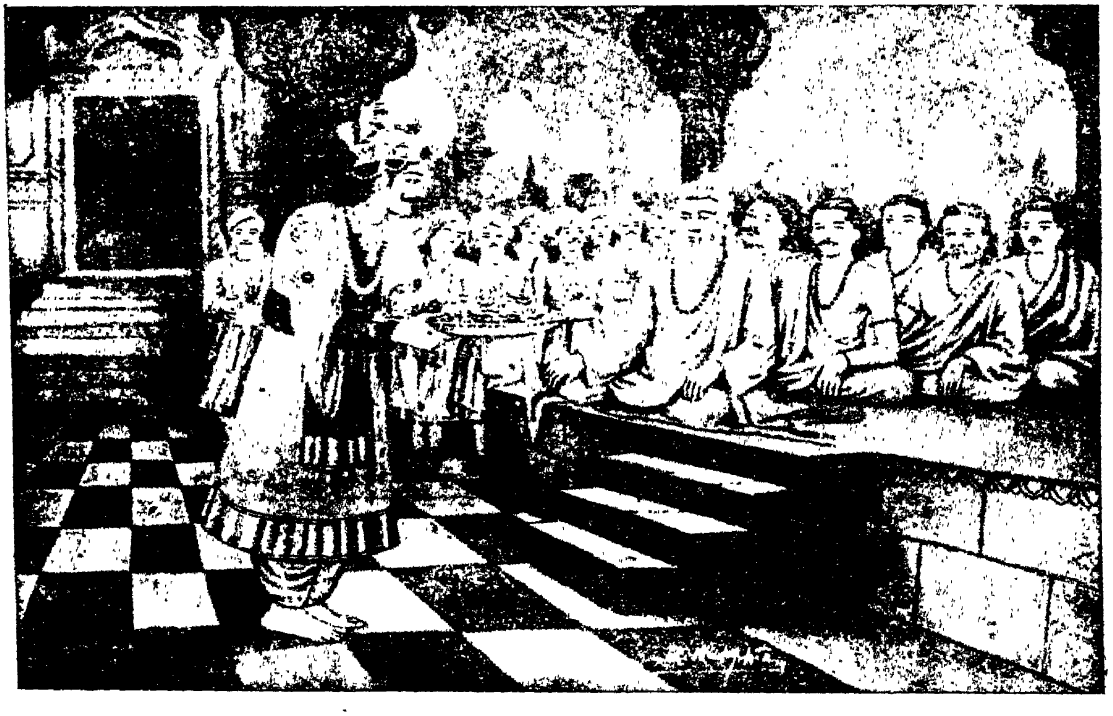

राजा अश्वपतिके भवनमें उद्दालक

द्वादश खण्ड

अश्वपति और औपमन्यवका संवाद

[राजाने कहा—] 'उपमन्युकुमार ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ?' 'पूज्य राजन् ! मैं द्युलोककी ही उपासना करता हूँ' ऐसा उसने उत्तर दिया। [राजा—] 'तुम जिस आत्माकी उपासना करते हो यह निश्चय ही 'सुतेजा' नामसे प्रसिद्ध वैश्वानर आत्मा है, इसीसे तुम्हारे कुलमें सुत, प्रसुत और आसुत दिखायी देते हैं। तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो। जो इस वैश्वानर आत्माकी इस प्रकार उपासना करता है वह अन्न भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है। यह वैश्वानर आत्माका मस्तक है।' ऐसा राजाने कहा, और यह भी कहा कि—'यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा मस्तक गिर जाता' ॥ १-२ ॥

त्रयोदश खण्ड

अश्वपति और सत्ययज्ञका संवाद

फिर उसने पुलुषके पुत्र सत्ययज्ञसे कहा—'प्राचीनयोग्य ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ?' वह बोला—'पूज्य राजन् ! मैं आदित्यकी ही उपासना करता हूँ।' [राजाने कहा—] 'यह निश्चय ही विश्वरूप वैश्वानर आत्मा है, जिस आत्माकी तुम उपासना करते हो; इसीसे तुम्हारे कुलमें बहुत-सा विश्वरूप साधन दिखायी देता है। खच्चरियोंसे जुता हुआ रथ और दासियोंके सहित हार प्राप्त है। तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो। जो इस प्रकार इस वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है वह अन्न भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है। किंतु यह आत्माका नेत्र ही है।' ऐसा राजाने कहा और यह भी कहा कि—'यदि तुम मेरे पास न आते तो अन्धे हो जाते' ॥१-२॥

चतुर्दश खण्ड

अश्वपति और इन्द्रद्युम्नका संवाद

तदनन्तर राजाने भाल्लवेय इन्द्रद्युम्नसे कहा—'वैयाघ्रपद्य ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ?' वह बोला—'पूज्य राजन् ! मैं वायुकी ही उपासना करता हूँ।' [राजाने कहा—] 'जिस आत्माकी तुम उपासना करते हो वह निश्चय ही पृथग्वर्त्मा वैश्वानर आत्मा है; इसीसे तुम्हारे प्रति पृथक्-पृथक् उपहार आते हैं और तुम्हारे पीछे पृथक्-पृथक् रथकी पङ्क्तियाँ चलती हैं। तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो। जो कोई इस प्रकार इस वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है, यह अन्न भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है। किंतु यह आत्माका प्राण ही है।' ऐसा राजाने कहा और यह भी कहा कि—'यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा प्राण उत्क्रमण कर जाता' ॥ १-२ ॥

पञ्चदश खण्ड

अश्वपति और जनका संवाद

तदनन्तर राजाने जनसे कहा—'शार्कराक्ष्य ! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो ?' उसने कहा—'पूज्य राजन् ! मैं आकाशकी ही उपासना करता हूँ।' [राजा बोला—] 'यह निश्चय ही बहुलसंज्ञक वैश्वानर आत्मा है जिसकी कि तुम उपासना करते हो। इसीसे तुम प्रजा और धनके कारण बहुल हो। तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो। जो इस प्रकार इस वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है वह अन्न भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है। किंतु यह आत्माका संदेह (शरीरका मध्यभाग) ही है।' ऐसा राजाने कहा और यह भी कहा कि—'यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा संदेह (शरीरका मध्यभाग) नष्ट हो जाता' ॥ १-२ ॥

षोडश खण्ड

अश्वपति और बुडिलका संवाद

फिर उसने अश्वतराश्वके पुत्र बुडिलसे कहा—'वैयाघ्रपद्य! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो?' उसने कहा—'पूज्य राजन्! मैं तो जलकी ही उपासना करता हूँ।' [राजा बोला—] 'जिसकी तुम उपासना करते हो वह निश्चय ही रयिसंज्ञक वैश्वानर आत्मा है; इसीसे तुम रयिमान् (धनवान्) और पुष्टिमान् हो। तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो। जो पुरुष इस वैश्वानर आत्माकी इस प्रकार उपासना करता है वह अन्न भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है; किंतु यह आत्माका बस्ति ही है।' ऐसा राजाने कहा और यह भी कहा कि—'यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा बस्तिस्थान फट जाता' ॥ १-२ ॥

सप्तदश खण्ड

अश्वपति और उद्दालकका संवाद

तत्पश्चात् राजाने अरुणके पुत्र उद्दालकसे कहा—'गौतम! तुम किस आत्माकी उपासना करते हो?' उसने कहा—'पूज्य राजन्! मैं तो पृथिवीकी ही उपासना करता हूँ।' [राजा बोला—] 'जिसकी तुम उपासना करते हो यह निश्चय ही प्रतिष्ठासंज्ञक वैश्वानर आत्मा है। इसीसे तुम प्रजा और पशुओंके कारण प्रतिष्ठित हो। तुम अन्न भक्षण करते हो और प्रियका दर्शन करते हो। जो कोई इस वैश्वानर आत्माकी इस प्रकार उपासना करता है वह अन्न भक्षण करता है, प्रियका दर्शन करता है और उसके कुलमें ब्रह्मतेज होता है। किन्तु यह आत्माके चरण ही हैं।' ऐसा उसने कहा और यह भी कहा कि—'यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारे चरण शिथिल हो जाते' ॥ १-२ ॥

अष्टादश खण्ड

अश्वपतिका वैश्वानर आत्माके सम्बन्धमें उपदेश

राजाने उनसे कहा—'तुम सब लोग इस वैश्वानर आत्माको अलग-सा जानकर अन्न भक्षण करते हो। जो कोई 'यही मैं हूँ' इस प्रकार अभिमानका विषय होनेवाले इस प्रादेशमात्र वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है वह समस्त लोकोंमें, समस्त प्राणियोंमें और समस्त आत्माओंमें अन्न भक्षण करता है। उस इस वैश्वानर आत्माका मस्तक ही सुतेजा (द्युलोक) है, चक्षु विश्वरूप (सूर्य) है, प्राण पृथग्वर्त्मा (वायु) है, देहका मध्यभाग बहुल (आकाश) है, बस्ति ही रयि (जल) है, पृथिवी ही दोनों चरण हैं, वक्षःस्थल वेदी है, लोम दर्भ हैं, हृदय गार्हपत्याग्नि है, मन अन्वाहार्यपचन है और मुख आहवनीय है' ॥ १-२ ॥

एकोनविंश खण्ड

'प्राणाय स्वाहा' से पहली आहुति

अतः जो अन्न पहले आवे उसका हवन करना चाहिये, उस समय वह भोक्ता जो पहली आहुति दे उसे 'प्राणाय स्वाहा' ऐसा कहकर दे। इस प्रकार प्राण तृप्त होता है। प्राणके तृप्त होनेपर नेत्रेन्द्रिय तृप्त होती है, नेत्रेन्द्रियके तृप्त होनेपर सूर्य तृप्त होता है, सूर्यके तृप्त होनेपर द्युलोक तृप्त होता है तथा द्युलोकके तृप्त होनेपर जिस किसीपर द्युलोक और आदित्य (स्वामिभावसे) अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है और उसकी तृप्ति होनेपर स्वयं भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेजके द्वारा तृप्त होता है ॥ १-२ ॥

विंश खण्ड

'व्यानाय स्वाहा' से दूसरी आहुति

तत्पश्चात् जो दूसरी आहुति दे उसे 'व्यानाय स्वाहा' ऐसा कहकर देना चाहिये। इससे व्यान तृप्त होता है। व्यानके तृप्त होनेपर श्रोत्रेन्द्रिय तृप्त होती है, श्रोत्रके तृप्त होनेपर चन्द्रमा तृप्त होता है, चन्द्रमाके तृप्त होनेपर दिशाएँ तृप्त होती हैं तथा

दिशाओंके तृप्त होनेपर जिस किसीपर चन्द्रमा और दिशाएँ [स्वामिभावसे] अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है। उसकी तृप्तिके पश्चात् वह भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेजके द्वारा तृप्त होता है ॥ १-२ ॥

एकविंश खण्ड

'अपानाय स्वाहा' से तीसरी आहुति

फिर जो तीसरी आहुति दे उसे 'अपानाय स्वाहा' ऐसा कहकर देना चाहिये। इससे अपान तृप्त होता है। अपानके तृप्त होनेपर वागिन्द्रिय तृप्त होती है, वाक्‌के तृप्त होनेपर अग्नि तृप्त होता है, अग्निके तृप्त होनेपर पृथिवी तृप्त होती है तथा पृथिवीके तृप्त होनेपर जिस किसीपर पृथिवी और अग्नि [स्वामिभावसे] अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है; एवं उसकी तृप्तिके पश्चात् भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेजके द्वारा तृप्त होता है ॥ १-२ ॥

द्वाविंश खण्ड

'समानाय स्वाहा' से चौथी आहुति

तदनन्तर जो चौथी आहुति दे उसे 'समानाय स्वाहा' ऐसा कहकर देना चाहिये। इससे समान तृप्त होता है। समानके तृप्त होनेपर मन तृप्त होता है, मनके तृप्त होनेपर पर्जन्य तृप्त होता है, पर्जन्यके तृप्त होनेपर विद्युत् तृप्त होती है तथा विद्युत्‌के तृप्त होनेपर जिस किसीके ऊपर विद्युत् और पर्जन्य अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है; एवं उसकी तृप्तिके अनन्तर भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेजके द्वारा तृप्त होता है ॥ १-२ ॥

त्रयोविंश खण्ड

'उदानाय स्वाहा' से पाँचवीं आहुति

फिर जो पाँचवीं आहुति दे उसे 'उदानाय स्वाहा' ऐसा कहकर देना चाहिये। इससे उदान तृप्त होता है। उदानके तृप्त होनेपर त्वचा तृप्त होती है, त्वचाके तृप्त होनेपर वायु तृप्त होता है, वायुके तृप्त होनेपर आकाश तृप्त होता है तथा आकाशके तृप्त होनेपर जिस किसीपर वायु और आकाश [स्वामिभावसे] अधिष्ठित हैं वह तृप्त होता है, और उसकी तृप्तिके पश्चात् स्वयं भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नाद्य, तेज और ब्रह्मतेजके द्वारा तृप्त होता है ॥ १-२ ॥

चतुर्विंश खण्ड

भोजनकी अग्निहोत्रत्वसिद्धिके लिये इस प्रकार हवन करनेका फल

वह, जो कि इस वैश्वानरविद्याको न जानकर हवन करता है उसका वह हवन ऐसा है, जैसे अङ्गारोंको हटाकर भस्ममें हवन करे; क्योंकि जो इस (वैश्वानर) को इस प्रकार जाननेवाला पुरुष अग्निहोत्र करता है उसका समस्त लोक, सारे भूत और सम्पूर्ण आत्माओंमें हवन हो जाता है ॥ १-२ ॥

इस विषयमें यह दृष्टान्त भी है—जिस प्रकार सींकका अग्रभाग अग्निमें घुसा देनेसे तत्काल जल जाता है उसी प्रकार जो इस प्रकार जाननेवाला होकर अग्निहोत्र करता है उसके समस्त पाप भस्म हो जाते हैं। अतः वह इस प्रकार जाननेवाला यदि चाण्डालको उच्छिष्ट भी दे तो भी उसका वह अन्न वैश्वानर आत्मामें ही हुत होगा। इस विषयमें यह मन्त्र है। जिस प्रकार इस लोकमें भूखे बालक सब प्रकार माताकी उपासना करते हैं उसी प्रकार सम्पूर्ण प्राणी अग्निहोत्रकी उपासना करते हैं, अग्निहोत्रकी उपासना करते हैं ॥ ३–५ ॥

॥ पञ्चम अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

ॐ

षष्ठ अध्याय

प्रथम खण्ड

आरुणिका अपने पुत्र श्वेतकेतुसे प्रश्न

अरुणका सुप्रसिद्ध पौत्र श्वेतकेतु था; उससे पिताने कहा—'श्वेतकेतो ! तू ब्रह्मचर्यवास कर; क्योंकि सोम्य ! हमारे कुलमें उत्पन्न हुआ कोई भी पुरुष अध्ययन न करके ब्रह्मबन्धु-सा नहीं होता' ॥ १ ॥

वह श्वेतकेतु बारह वर्षकी अवस्थामें उपनयन करा चौबीस वर्षका होनेपर सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन कर अपनेको बड़ा बुद्धिमान् और व्याख्यान करनेवाला मानते हुए अनम्रभावसे घर लौटा। उससे पिताने कहा—'सोम्य ! तू जो ऐसा महामना, पाण्डित्यका अभिमानी और अविनीत है सो क्या तूने वह आदेश पूछा है जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है; अमत मत हो जाता है और अविज्ञात विशेषरूपसे ज्ञात हो जाता है ।' [यह सुनकर श्वेतकेतुने पूछा—] 'भगवन् ! वह आदेश कैसा है ?' ॥ २-३ ॥

[पिताने कहा—] 'सोम्य ! जिस प्रकार एक मृत्तिकाके पिण्डके द्वारा सम्पूर्ण मृन्मय पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है कि विकार केवल वाणीके आश्रयभूत नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है । सोम्य ! जिस प्रकार एक लोहमणिका ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण लोहमय (सुवर्णमय) पदार्थ जान लिये जाते हैं, क्योंकि विकार वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, सत्य केवल सुवर्ण ही है । सोम्य ! जिस प्रकार एक नखकृन्तन (नहरना) के ज्ञानसे सम्पूर्ण लोहेके पदार्थ जान लिये जाते हैं, क्योंकि विकार वाणीपर अवलम्बित केवल नाममात्र है, सत्य केवल लोहा ही है; सोम्य ! ऐसा ही वह आदेश भी है' ॥ ४–६ ॥

[श्वेतकेतुने कहा—] 'निश्चय ही वे मेरे पूज्य गुरुदेव इसे नहीं जानते थे । यदि वे जानते तो मुझसे क्यों न कहते । अब आप ही मुझे वह बतलाइये ।' तब पिताने कहा—'अच्छा, सोम्य ! बतलाता हूँ' ॥ ७ ॥

द्वितीय खण्ड

सत्‌रूप परमात्मासे जगत्‌की उत्पत्ति

सोम्य ! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था । उसीके विषयमें किन्हींने ऐसा भी कहा है कि आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय असत् ही था । उस असत्‌से सत्‌की उत्पत्ति होती है । किंतु हे सोम्य ! ऐसा कैसे हो सकता है, भला असत्‌से सत्‌की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? अतः हे सोम्य ! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था, ऐसे [आरुणिने] कहा । उस (सत्) ने ईक्षण किया 'मैं बहुत हो जाऊँ—अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊँ' । इस प्रकार [ईक्षणकर] उसने तेज उत्पन्न [किया । उस तेजने ईक्षण किया, 'मैं बहुत हो जाऊँ—नाना प्रकारसे उत्पन्न होऊँ' । इस प्रकार [ईक्षणकर] उसने जलकी रचना की । इसीसे जहाँ कहीं पुरुष शोक (सन्ताप) करता है उसे पसीने आ जाते हैं । उस समय वह तेजसे ही जलकी उत्पत्ति होती है । उस जलने ईक्षण किया, 'हम बहुत हो जायँ—अनेक रूपसे उत्पन्न हों ।' उसने अन्नकी रचना की । इसीसे जहाँ कहीं वर्षा होती है वहीं बहुत-सा अन्न होता है । वह अन्नाद्य जलसे ही उत्पन्न होता है ॥ १–४ ॥

तृतीय खण्ड

आण्डज, जीवज और उद्भिज्जरूपमें त्रिविध सृष्टि

उन इन [पक्षी आदि] प्रसिद्ध प्राणियोंके तीन ही बीज होते हैं—आण्डज, जीवज और उद्भिज्ज । उस इस ['सत्' नामवाली देवताने ईक्षण किया, 'मैं इस जीवात्मरूपसे इन तीनों देवताओंमें अनुप्रवेश कर नाम और रूपकी अभिव्यक्ति करूँ और उनमेंसे एक-एक देवताको त्रिवृत्-त्रिवृत् करूँ ।' ऐसा विचारकर उस इस देवताने इस जीवात्मरूपसे ही उन तीन देवताओंमें अनुप्रवेश कर नाम-रूपका व्याकरण किया । उस देवताने उनमेंसे प्रत्येकको त्रिवृत्-त्रिवृत् किया । सोम्य ! जिस प्रकार ये तीनों देवता एक-एक करके प्रत्येक त्रिवृत्-त्रिवृत् हैं वह मेरेद्वारा जान ॥ १–४ ॥

चतुर्थ खण्ड

त्रिवृत्करण

अग्निका जो रोहित (लाल) रूप है वह तेजका ही रूप है; जो शुक्ल रूप है वह जलका है और जो कृष्ण है वह अन्नका है। इस प्रकार अग्निसे अग्नित्व निवृत्त हो गया, क्योंकि [अग्निरूप] विकार वाणीसे कहनेके लिये नाममात्र है; केवल तीन रूप हैं—इतना ही सत्य है। आदित्यका जो रोहित रूप है वह तेजका रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जलका है और जो कृष्ण रूप है वह अन्नका है। इस प्रकार आदित्यसे आदित्यत्व निवृत्त हो गया, क्योंकि [आदित्यरूप] विकार वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, तीन रूप हैं—इतना ही सत्य है। चन्द्रमाका जो रोहित रूप है वह तेजका रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जलका है और जो कृष्ण रूप है वह अन्नका है। इस प्रकार चन्द्रमासे चन्द्रत्व निवृत्त हो गया, क्योंकि [चन्द्रमा-रूप] विकार वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, तीन रूप हैं—इतना ही सत्य है। विद्युत्का जो रोहित रूप है वह तेजका रूप है, जो शुक्ल रूप है वह जलका है और जो कृष्ण रूप है वह अन्नका है। इस प्रकार विद्युत्से विद्युत्त्वकी निवृत्ति हो गयी, क्योंकि [विद्युत्रूप] विकार वाणीपर अवलम्बित नाममात्र है, तीन रूप हैं—इतना ही सत्य है ॥ १–४ ॥

इस (त्रिवृत्करण) को जाननेवाले पूर्ववर्ती महागृहस्थ और महाश्रोत्रियोंने यह कहा था कि इस समय हमारे कुलमें कोई बात अश्रुत, अमत अथवा अविज्ञात है—ऐसा कोई नहीं कह सकेगा, क्योंकि इन अग्नि आदिके दृष्टान्तद्वारा वे सब कुछ जानते थे। जो कुछ रोहित-सा है वह तेजका रूप है—ऐसा उन्होंने जाना है; जो शुक्ल-सा है वह जलका रूप है—ऐसा उन्होंने जाना है तथा जो कृष्ण-सा है वह अन्नका रूप है—ऐसा उन्होंने जाना है। तथा जो कुछ विज्ञात-सा है वह इन देवताओंका ही समुदाय है—ऐसा उन्होंने जाना है। सोम्य ! अब तू मेरेद्वारा यह जान कि किस प्रकार ये तीनों देवता पुरुषको प्राप्त होकर उनमेंसे प्रत्येक त्रिवृत्-त्रिवृत् हो जाती है ॥ ५–७ ॥

पञ्चम खण्ड

मन अन्नमय, प्राण जलमय और वाक् तेजोमय है

खाया हुआ अन्न तीन प्रकारका हो जाता है। उसका जो अत्यन्त स्थूल भाग होता है, वह मल हो जाता है, जो मध्यम भाग है वह मांस हो जाता है और जो अत्यन्त सूक्ष्म होता है वह मन हो जाता है। पीया हुआ जल तीन प्रकारका हो जाता है। उसका जो स्थूलतम भाग होता है वह मूत्र हो जाता है, जो मध्यम भाग है वह रक्त हो जाता है और जो सूक्ष्मतम भाग है वह प्राण हो जाता है। खाया हुआ [घृतादि] तेज तीन प्रकारका हो जाता है। उसका जो स्थूलतम भाग होता है वह हड्डी हो जाता है, जो मध्यम भाग है वह मज्जा हो जाता है और जो सूक्ष्मतम भाग है वह वाक् हो जाता है। [इसलिये] सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाक् तेजोमयी है। ऐसा कहे जानेपर श्वेतकेतु बोला—'भगवन् ! आप मुझे फिर समझाइये।' तब आरुणिने 'अच्छा सोम्य !' ऐसा कहा ॥ १–४ ॥

षष्ठ खण्ड

मथे जाते हुए दहीका दृष्टान्त

सोम्य ! मथे जाते हुए दहीका जो सूक्ष्म भाग होता है वह ऊपर इकट्ठा हो जाता है; वह घृत होता है। उसी प्रकार हे सोम्य ! खाये हुए अन्नका जो सूक्ष्म अंश होता है वह सम्यक् प्रकारसे ऊपर आ जाता है; वह मन होता है। सोम्य ! पीये हुए जलका जो सूक्ष्म भाग होता है वह इकट्ठा होकर ऊपर आ जाता है; वह प्राण होता है। सोम्य ! भक्षण किये हुए तेजका जो सूक्ष्म भाग होता है वह इकट्ठा होकर ऊपर आ जाता है, और वह वाणी होता है। इस प्रकार हे सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाणी तेजोमयी है—ऐसा [आरुणिने कहा]। [तब श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये।' इसपर आरुणिने कहा—'सोम्य ! अच्छा' ॥ १–५ ॥

सप्तम खण्ड

मनकी अन्नमयताका निश्चय

सोम्य ! पुरुष सोलह कलाओंवाला है। तू पंद्रह दिन भोजन मत कर; केवल यथेच्छ जलपान कर। प्राण जलमय है; इसलिये जल पीते रहनेसे उसका नाश नहीं होगा। उसने पंद्रह दिन भोजन नहीं किया। तत्पश्चात् वह उस (आरुणि) के पास आया [और बोला]—'भगवन्! क्या बोलूँ?' [पिताने कहा—] 'सोम्य! ऋक्, यजुः और सामका पाठ करो।' तब उसने कहा—'भगवन्! मुझे उनका स्फुरण नहीं होता।' वह उससे बोला—'सोम्य! जिस प्रकार बहुत-से ईंधनसे प्रज्वलित हुए अग्निका एक जुगनूके बराबर अङ्गारा रह जाय तो वह उससे अधिक दाह नहीं कर सकता, उसी प्रकार सोम्य! तेरी सोलह कलाओंमेंसे केवल एक ही कला रह गयी है। उसके द्वारा इस समय तू वेदका अनुभव नहीं कर सकता। अच्छा, अब भोजन कर; तब तू मेरी बात समझ जायगा' ॥ १–३ ॥

उसने भोजन किया और फिर उसके (आरुणिके) पास आया। तब उसने जो कुछ पूछा वह सब उसे उपस्थित हो गया। उससे [आरुणिने] कहा—'सोम्य! जिस प्रकार बहुत-से ईंधनसे बढ़े हुए अग्निका एक खद्योतमात्र अङ्गारा रह जाय और उसे तृणसे सम्पन्नकर प्रज्वलित कर दिया जाय तो वह उसकी (अपने पूर्व परिमाणकी) अपेक्षा भी अधिक दाह कर सकता है। इसी प्रकार सोम्य! तेरी सोलह कलाओं-मेंसे एक कला अवशिष्ट रह गयी थी। वह अन्नद्वारा वृद्धिको प्राप्त अर्थात् प्रज्वलित कर दी गयी। अब उसीसे तू वेदोंका अनुभव कर रहा है। अतः हे सोम्य! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाक् तेजोमयी है।' इस प्रकार [श्वेतकेतु] उसके इस कथनको विशेषरूपसे समझ गया, समझ गया ॥४–६॥

अष्टम खण्ड

सत्-आत्मा ही सबका मूल है

उद्दालक नामसे प्रसिद्ध अरुणके पुत्रने अपने पुत्र श्वेत-केतुसे कहा—'सोम्य! तू मेरेद्वारा स्वप्नान्त (सुषुप्ति अथवा स्वप्नके स्वरूप) को विशेषरूपसे समझ ले; जिस अवस्थामें यह पुरुष 'सोता है' ऐसा कहा जाता है उस समय सोम्य! यह सत्से सम्पन्न हो जाता है—यह अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है। इसीसे इसे 'स्वपिति' ऐसा कहते हैं; क्योंकि उस समय यह स्व—अपनेको ही प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार डोरीमें बँधा हुआ पक्षी दिशा-विदिशाओंमें उड़कर अन्यत्र स्थान न मिलनेपर अपने बन्धनस्थानका ही आश्रय लेता है उसी प्रकार निश्चय ही सोम्य! यह मन दिशा-विदिशाओंमें उड़कर अन्यत्र स्थान न मिलनेसे प्राणका ही आश्रय लेता है, क्योंकि सोम्य! मन प्राणरूप बन्धनवाला ही है ॥ १–२ ॥

'सोम्य! तू मेरेद्वारा भूख और प्यासको जान। जिस समय यह पुरुष 'अशिशिषति' (खाना चाहता है) ऐसे नाम-वाला होता है उस समय जल ही इसके भक्षण किये हुए अन्न-को ले जाता है। जिस प्रकार लोकमें [गौ ले जानेवालेको] गोनाय, [अश्व ले जानेवालेको] अश्वनाय और [पुरुषोंको ले जानेवाले राजा या सेनापतिको] पुरुषनाय कहते हैं उसी प्रकार जलको 'अशनाय' ऐसा कहकर पुकारते हैं। हे सोम्य! उस जलसे ही तू इस [शरीररूप] शुङ्ग (अङ्कुर) को उत्पन्न हुआ समझ, क्योंकि यह निर्मूल (कारणरहित) नहीं हो सकता। अन्नको छोड़कर इसका मूल और कहाँ हो सकता है? इसी प्रकार सोम्य! तू अन्नरूप अङ्कुरके द्वारा जलरूप मूलको खोज और हे सोम्य! जलरूप अङ्कुरके द्वारा तेजोरूप मूलको खोज तथा तेजोरूप अङ्कुरके द्वारा सद्रूप मूलका अनुसन्धान कर। सोम्य! इस प्रकार यह सारी प्रजा सन्मूलक है तथा सत् ही इसका आश्रय है और सत् ही प्रतिष्ठा है ॥ ३-४ ॥

अब जिस समय यह पुरुष 'पिपासति' (पीना चाहता है) ऐसे नामवाला होता है तो उसके पीये हुए जलको तेज ही ले जाता है। अतः जिस प्रकार गोनाय, अश्वनाय एवं पुरुषनाय कहलाते हैं उसी प्रकार उस तेजको 'उदन्या' ऐसा कहकर पुकारते हैं। हे सोम्य! उस (जलरूप मूल) से यह शरीररूप अङ्कुर उत्पन्न हुआ है—ऐसा जान, क्योंकि यह मूल-रहित नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

सोम्य! उस (जलके परिणामभूत शरीर) का जलके सिवा और कहाँ मूल हो सकता है? हे प्रियदर्शन! जलरूप अङ्कुरके द्वारा तू तेजोरूप मूलकी खोज कर और हे सोम्य! तेजोरूप अङ्कुरके द्वारा सद्रूप मूलकी शोध कर। हे सोम्य! यह सम्पूर्ण प्रजा सन्मूलक तथा सद्रूप आयतन और सद्रूप प्रतिष्ठा (लयस्थान) वाली है। हे सोम्य! जिस प्रकार ये तीनों देवताएँ पुरुषको प्राप्त होकर उनमेंसे प्रत्येक त्रिवृत्-त्रिवृत्

हो जाती हैं वह मैंने पहले ही कह दिया। हे सोम्य! मरणको प्राप्त होते हुए इस पुरुषकी वाक् मनमें लीन हो जाती है तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें लीन हो जाता है। वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तू है। [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन्! मुझे फिर समझाइये।' [तब आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य!' ऐसा कहा ॥ ६-७ ॥

नवम खण्ड

मधुका दृष्टान्त

सोम्य! जिस प्रकार मधुमक्खियाँ मधु निष्पन्न करती हैं तो नाना दिशाओंके वृक्षोंका रस लाकर एकताको प्राप्त करा देती हैं। वे रस जिस प्रकार उस मधुमें इस प्रकारका विवेक प्राप्त नहीं कर सकते कि 'मैं इस वृक्षका रस हूँ और मैं इस वृक्षका रस हूँ' हे सोम्य! ठीक इसी प्रकार यह सम्पूर्ण प्रजा सत्को प्राप्त होकर यह नहीं जानती कि हम सत्को प्राप्त हो गये हैं। वे इस लोकमें व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, शूकर, कीट, पतङ्ग, डाँस अथवा मच्छर जो-जो भी [सुषुप्ति आदिसे पूर्व] होते हैं वे ही पुनः हो जाते हैं ॥ १-३ ॥

वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और श्वेतकेतो! वही तू है। [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन्! मुझे फिर समझाइये।' [तब आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य!' ऐसा कहा ॥ ४ ॥

दशम खण्ड

नदियोंका दृष्टान्त

सोम्य! ये नदियाँ पूर्ववाहिनी होकर पूर्वकी ओर बहती हैं तथा पश्चिमवाहिनी होकर पश्चिमकी ओर। वे समुद्रसे निकलकर फिर समुद्रमें ही मिल जाती हैं और वह समुद्र ही हो जाता है। वे सब जिस प्रकार वहाँ (समुद्रमें) यह नहीं जानतीं कि 'यह मैं हूँ, यह मैं हूँ'। ठीक इसी प्रकार सोम्य! ये सम्पूर्ण प्रजाएँ सत्से आनेपर यह नहीं जानतीं कि हम सत्के पाससे आयी हैं। इस लोकमें वे व्याघ्र, सिंह, शूकर, कीट, पतङ्ग, डाँस अथवा मच्छर जो-जो भी होते हैं वे ही फिर हो जाते हैं। वह जो यह अणिमा है, एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तू है। [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन्! मुझे फिर समझाइये।' [तब आरुणिने] 'अच्छा सोम्य!' ऐसा कहा ॥ १-३ ॥

एकादश खण्ड

वृक्षका दृष्टान्त

हे सोम्य! यदि कोई इस महान् वृक्षके मूलमें आघात करे तो यह जीवित रहते हुए केवल रसस्राव करेगा और यदि इसके अग्रभागमें आघात करे तो भी यह जीवित रहते हुए ही रसस्राव करेगा। यह वृक्ष जीव—आत्मासे ओतप्रोत है और जलपान करता हुआ आनन्दपूर्वक स्थित है। यदि इस वृक्षकी एक शाखाको जीव छोड़ देता है तो वह सूख जाती है; यदि दूसरीको छोड़ देता है तो वह सूख जाती है और तीसरीको छोड़ देता है तो वह भी सूख जाती है, इसी प्रकार यदि सारे वृक्षको छोड़ देता है तो सारा वृक्ष सूख जाता है। 'सोम्य! ठीक इसी प्रकार तू जान कि जीवसे रहित होनेपर यह शरीर मर जाता है, जीव नहीं मरता'—ऐसा [आरुणिने] कहा, 'वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तू है।' [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन्! मुझे फिर समझाइये!' [तब आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य!' ऐसा कहा ॥ १-३ ॥

द्वादश खण्ड

वट-बीजका दृष्टान्त

इस (सामनेवाले वटवृक्ष) से एक बड़का फल ले आ। . फोड़।' [श्वेत०—] 'भगवन्! फोड़ दिया।' [आरुणि—] [श्वेतकेतु—] 'भगवन्! यह ले आया।' [आरुणि—] 'इसे 'इसमें क्या देखता है?' [श्वेत०—] 'भगवन्! इसमें ये

अणुके समान दाने हैं।' [आरुणि—] 'अच्छा वत्स ! इनमेंसे एकको फोड़ ।' [श्वेत०—] 'फोड़ दिया भगवन् !' [आरुणि—] 'इसमें क्या देखता है ?' [श्वेत०—] 'कुछ नहीं भगवन् !' तब उससे [आरुणिने] कहा—'हे सोम्य ! इस वटबीजकी जिस अणिमाको तू नहीं देखता, सोम्य ! उस अणिमाका ही यह इतना बड़ा वटवृक्ष खड़ा हुआ है। हे सोम्य ! तू [इस कथनमें] श्रद्धा कर।' वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और श्वेतकेतो ! वही तू है। [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये।' [तब आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य !' ऐसा कहा ॥ १–३ ॥

त्रयोदश खण्ड

नमकका दृष्टान्त

'इस नमकको जलमें डालकर कल प्रातःकाल मेरे पास आना।' आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतुने वैसा ही किया। तब आरुणिने उससे कहा—'वत्स ! रात तुमने जो नमक जलमें डाला था उसे ले आओ।' किंतु उसने ढूँढनेपर उसे उसमें न पाया। [आरुणि—] 'जिस प्रकार वह नमक इसीमें विलीन हो गया है [इसलिये तू उसे नेत्रसे नहीं देख सकता, उसे यदि जानना चाहता है तो] इस जलको ऊपरसे आचमन कर।' [उसके आचमन करनेपर आरुणिने पूछा—] 'कैसा है ?' [श्वेत०—] 'नमकीन है।' [आरुणि—] 'बीचमेंसे आचमन कर' 'अब कैसा है ?' [श्वेत०—] 'नमकीन है।' [आरुणि—] 'नीचेसे आचमन कर' 'अब कैसा है ?' [श्वेत०—] 'नमकीन है।' [आरुणि—] 'अच्छा, अब इस जलको फेंककर मेरे पास आ।' उसने वैसा ही किया, [और बोला—] 'उस जलमें नमक सदा ही विद्यमान था।' तब उससे पिताने कहा—'सोम्य ! [इसी प्रकार] वह सत् भी निश्चय यहीं विद्यमान है, तू उसे देखता नहीं है; परन्तु वह निश्चय यहीं विद्यमान है।' वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और श्वेतकेतो ! वही तू है। [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये।' [तब आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य !' ऐसा कहा ॥ १–३ ॥

चतुर्दश खण्ड

आँख बँधे हुए पुरुषका दृष्टान्त

हे सोम्य ! जिस प्रकार [कोई चोर] जिसकी आँखें बँधी हुई हों ऐसे किसी पुरुषको गान्धार देशसे लाकर जनशून्य स्थानमें छोड़ दे। उस जगह जिस प्रकार वह पूर्व, उत्तर, दक्षिण अथवा पश्चिमकी ओर मुख करके चिल्लावे कि 'मुझे आँखें बाँधकर यहाँ लाया गया है और आँखें बँधे हुए ही छोड़ दिया गया है।' उस पुरुषके बन्धनको खोलकर जैसे कोई कहे कि 'गान्धार देश इस दिशामें है, अतः इसी दिशाको जा,' तो वह बुद्धिमान् और समझदार पुरुष एक ग्रामसे दूसरा ग्राम पूछता हुआ गान्धारमें ही पहुँच जाता है, इसी प्रकार इस लोकमें आचार्यवान् पुरुष ही [सत्को] जानता है; उसके लिये [मोक्ष होनेमें] उतना ही विलम्ब है जबतक कि वह [देहबन्धनसे] मुक्त नहीं होता। उसके पश्चात् तो वह सत्सम्पन्न (ब्रह्मको प्राप्त) हो जाता है। वह जो यह अणिमा है, एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है। [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन् ! मुझे फिर समझाइये।' [तब आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य !' ऐसा कहा ॥ १–३ ॥

पञ्चदश खण्ड

मुमूर्षुका दृष्टान्त

सोम्य ! [ज्वरादिसे] सन्तप्त [मुमूर्षु] पुरुषको चारों ओरसे घेरकर उसके बान्धवगण पूछा करते हैं—'क्या तू मुझे जानता है ? क्या तू मुझे पहचानता है ?' जबतक उसकी वाणी मनमें लीन नहीं होती तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें लीन नहीं होता तबतक वह पहचान लेता है। फिर जिस समय उसकी वाणी मनमें लीन हो जाती है तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें लीन हो जाता है, तब वह नहीं पहचानता। वह जो यह अणिमा है;

एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तू है। [आरुणिके इस प्रकार कहनेपर श्वेतकेतु बोला—] 'भगवन्! मुझे फिर समझाइये।' [तब आरुणिने] 'अच्छा, सोम्य!' ऐसा कहा ॥ १–३ ॥

षोडश खण्ड

मिथ्या ज्ञानी और सच्चे ज्ञानीकी पहचान

हे सोम्य! [राजकर्मचारी] किसी पुरुषको हाथ बाँधकर लाते हैं [और कहते हैं—] 'इसने धनका अपहरण किया है, चोरी की है इसके लिये परशु तपाओ।' वह यदि उसका (चोरीका) करनेवाला होता है तो अपनेको मिथ्यावादी प्रमाणित करता है। वह मिथ्याभिनिवेशवाला पुरुष अपनेको मिथ्यासे छिपाता हुआ तपे हुए परशुको ग्रहण करता है; किंतु वह उससे दग्ध होता है और मारा जाता है। और यदि वह उस (चोरी) का करनेवाला नहीं होता तो उसीसे वह अपनेको सत्य प्रमाणित करता है। वह सत्याभिसन्ध अपनेको सत्यसे आवृत कर उस तपे हुए परशुको पकड़ लेता है। वह उससे नहीं जलता और तत्काल छोड़ दिया जाता है। वह जिस प्रकार उस [परीक्षाके] समय नहीं जलता [उसी प्रकार विद्वान्‌का पुनरावर्तन नहीं होता और अविद्वान्‌का होता है]। यह सब एतद्रूप ही है, वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तू है। तब वह (श्वेतकेतु) उसे जान गया—उसे जान गया ॥ १–३ ॥

॥ षष्ठ अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥

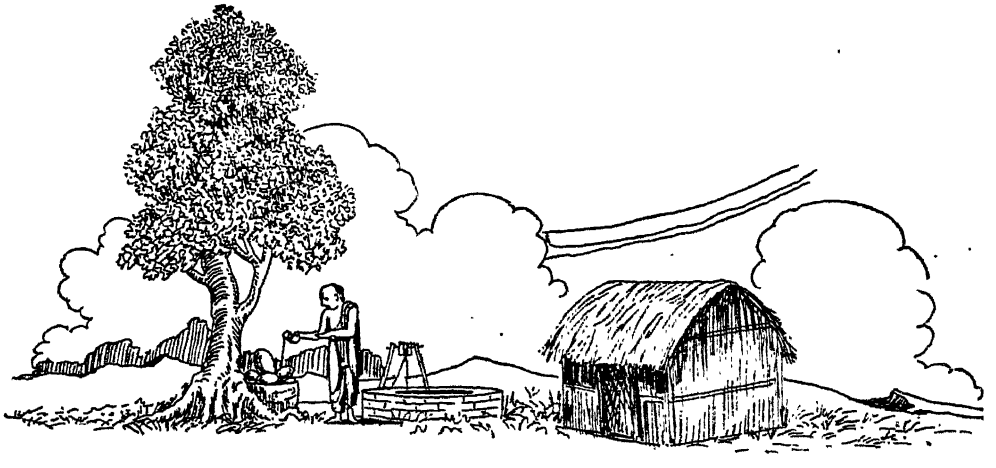

ॐ

सप्तम अध्याय

प्रथम खण्ड

नामकी ब्रह्मरूपमें उपासना

'भगवन्! मुझे उपदेश कीजिये' ऐसा कहते हुए नारदजी सनत्कुमारजीके पास गये। उनसे सनत्कुमारजीने कहा—'तुम जो कुछ जानते हो उसे बतलाते हुए मेरे प्रति उपसन्न होओ; तब मैं तुम्हें उससे आगे बतलाऊँगा।' तब नारदने कहा—॥ १ ॥

'भगवन्! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद जानता हूँ, [इनके सिवा] इतिहास-पुराणरूप पाँचवाँ वेद, वेदोंका वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या (गारुड मन्त्र) और देवजनविद्या—नृत्य-संगीत आदि—हे भगवन्! यह सब मैं जानता हूँ। हे भगवन्! वह मैं केवल मन्त्रवेत्ता ही हूँ, आत्मवेत्ता नहीं हूँ। मैंने आप-जैसोंसे सुना है कि आत्मवेत्ता शोकको पार कर लेता है, परंतु भगवन्! मैं शोक करता हूँ; ऐसे मुझको हे भगवन्! शोकसे पार कर दीजिये।' तब सनत्कुमारने उनसे कहा—'तुम यह जो कुछ जानते हो वह नाम ही है। ऋग्वेद नाम है तथा यजुर्वेद, सामवेद, चौथा आथर्वण वेद, पाँचवाँ वेद इतिहास-पुराण, वेदोंका वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेदविद्या, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्यौतिष, गारुड, संगीतादि कला और शिल्पविद्या—ये सब भी नाम ही हैं। तुम नामकी उपासना करो। वह जो कि नामकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है, उसकी जहाँतक नामकी गति होती है वहाँतक यथेच्छ गति हो जाती है, जो कि नामकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है।' [नारद—] 'भगवन्! क्या नामसे भी अधिक कुछ है?' [सनत्कुमार—] 'नामसे भी अधिक है।' [नारद—]'तो भगवन्! मुझे वही बतलावें।'२–५

द्वितीय खण्ड

वाक्‌की ब्रह्मरूपमें उपासना

वाक् ही नामसे बढ़कर है; वाक् ही ऋग्वेदको विज्ञापित करती है तथा यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ आथर्वण वेद, पञ्चम वेद इतिहास-पुराण, वेदोंके वेद व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातशास्त्र, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, नीति, निरुक्त, वेदविद्या, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्यौतिष, गारुड, संगीतशास्त्र, द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण-वनस्पति, श्वापद (हिंस्र जन्तु), कीट-पतंग, पिपीलिका-पर्यन्त प्राणी, धर्म और अधर्म, सत्य और असत्य, साधु और असाधु, मनोज्ञ और अमनोज्ञ जो कुछ भी है [उसे वाक् ही विज्ञापित करती है]। यदि वाणी न होती तो न धर्मका और न अधर्मका ही ज्ञान होता; तथा न सत्य, न असत्य, न साधु, न असाधु, न मनोज्ञ और न अमनोज्ञका ही ज्ञान हो सकता। वाणी ही इन सबका ज्ञान कराती है; अतः तुम वाक्‌की उपासना करो। वह जो वाणीकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है उसकी जहाँतक वाणीकी गति है वहाँतक स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि वाणीकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन्! क्या वाणीसे भी बढ़कर कुछ है?' [सनत्कुमार—] 'वाणीसे भी बढ़कर है ही।' [नारद—] 'भगवन्! वह मुझे बतलाइये' ॥ १-२ ॥

तृतीय खण्ड

मनकी ब्रह्मरूपमें उपासना

मन ही वाणीसे उत्कृष्ट है। जिस प्रकार दो आँवले, दो बेर अथवा दो बहेड़े मुट्ठीमें आ जाते हैं, उसी प्रकार वाक् और नामका मनमें अन्तर्भाव हो जाता है। यह पुरुष जिस समय मनसे विचार करता है कि 'मन्त्रोंका पाठ करूँ' तभी पाठ करता है, जिस समय सोचता है 'काम करूँ' तभी काम करता है, जब विचारता है 'पुत्र और पशुओंकी इच्छा करूँ' तभी उनकी इच्छा करता है और जब ऐसा संकल्प करता है कि 'इस लोक और परलोककी कामना करूँ' तभी उनकी

कामना करता है। मन ही आत्मा है, मन ही लोक है और मन ही ब्रह्म है; तुम मनकी उपासना करो। वह जो कि मनकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है, उसकी जहाँतक मनकी गति है वहाँतक स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि मनकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन्! क्या मनसे भी बढ़कर कोई है?' [सनत्कुमार—] 'मनसे बढ़कर भी है ही।' [नारद—] 'भगवन्! मेरे प्रति उसीका उपदेश करें' ॥ १-२ ॥

चतुर्थ खण्ड

संकल्पकी ब्रह्मरूपमें उपासना

सङ्कल्प ही मनसे बढ़कर है। जिस समय पुरुष संकल्प करता है, तभी वह मनस्यन करता है और फिर वाणीको प्रेरित करता है। वह उसे नामके प्रति प्रवृत्त करता है; नाममें सब मन्त्र एकरूप हो जाते हैं और मन्त्रोंमें कर्मोंका अन्तर्भाव हो जाता है। वे ये (मन आदि) एकमात्र संकल्परूप लयस्थानवाले, संकल्पमय और संकल्पमें ही प्रतिष्ठित हैं। द्युलोक और पृथ्वीने मानो संकल्प किया है। वायु और आकाशने संकल्प किया है, जल और तेजने संकल्प किया। उनके संकल्पके लिये वृष्टि समर्थ होती है, [अर्थात् उन द्युलोकादिके संकल्पसे वृष्टि होती है] वृष्टिके संकल्पके लिये अन्न समर्थ होता है, अन्नके संकल्पके लिये प्राण समर्थ होते हैं, प्राणोंके संकल्पके लिये मन्त्र समर्थ होते हैं, मन्त्रोंके संकल्पके लिये कर्म समर्थ होते हैं, कर्मोंके संकल्पके लिये लोक (फल) समर्थ होता है और लोकोंके संकल्पके लिये सब समर्थ होते हैं। वह (ऐसा) यह संकल्प है; तुम संकल्पकी उपासना करो। वह जो कि संकल्पकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है [विधाताके] रचे हुए ध्रुवलोकोंको स्वयं ध्रुव होकर, प्रतिष्ठित लोकोंको स्वयं प्रतिष्ठित होकर तथा व्यथा न पानेवाले लोकोंको स्वयं व्यथा न पाता हुआ सब प्रकार प्राप्त करता है। जहाँतक संकल्पकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि संकल्पकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन्! क्या संकल्पसे भी बढ़कर कुछ है?' [सनत्कुमार—] 'संकल्पसे बढ़कर भी है ही।' [नारद—] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ १–३ ॥

पञ्चम खण्ड

चित्तकी ब्रह्मरूपमें उपासना

चित्त ही सङ्कल्पसे उत्कृष्ट है। जिस समय पुरुष चेतनावान् होता है तभी वह संकल्प करता है, फिर मनन करता है, तत्पश्चात् वाणीको प्रेरित करता है, उसे नाममें प्रवृत्त करता है। नाममें मन्त्र एकरूप होते हैं और मन्त्रोंमें कर्म। वे ये [संकल्पादि] एकमात्र चित्तरूप लयस्थानवाले, चित्तमय तथा चित्तमें ही प्रतिष्ठित हैं। इसीसे यद्यपि कोई मनुष्य बहुज्ञ भी हो तो भी यदि वह अचित्त होता है तो लोग कहने लगते हैं कि 'यह तो कुछ भी नहीं है, यदि यह कुछ जानता अथवा विद्वान् होता तो ऐसा अचित्त न होता।' और यदि कोई अल्पज्ञ होनेपर भी चित्तवान् हो तो उसीसे वे सब श्रवण करना चाहते हैं। अतः चित्त ही इनका एकमात्र आश्रय है, चित्त ही आत्मा है और चित्त ही प्रतिष्ठा है, तुम चित्तकी उपासना करो। वह जो कि चित्तकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है [अपने लिये] उपचित हुए ध्रुवलोकोंको स्वयं ध्रुव होकर, प्रतिष्ठित लोकोंको स्वयं प्रतिष्ठित होकर तथा व्यथा न पानेवाले लोकोंको स्वयं व्यथा न पाता हुआ सब प्रकार प्राप्त करता है। जहाँतक चित्तकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि चित्तकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन्! क्या चित्तसे बढ़कर भी कुछ है?' [सनत्कुमार—] 'चित्तसे बढ़कर भी है ही।' [नारद—] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ १–३ ॥

षष्ठ खण्ड

ध्यानकी ब्रह्मरूपमें उपासना

ध्यान ही चित्तसे बढ़कर है। पृथ्वी मानो ध्यान करती है, अन्तरिक्ष मानो ध्यान करता है, द्युलोक मानो ध्यान करता है, जल मानो ध्यान करते हैं, पर्वत मानो ध्यान करते हैं तथा देवता और मनुष्य भी मानो ध्यान करते हैं। अतः जो लोग यहाँ मनुष्योंमें महत्त्व प्राप्त करते हैं वे मानो ध्यानके लाभका ही अंश पाते हैं; किंतु जो क्षुद्र होते हैं वे कलहप्रिय, चुगलखोर

और दूसरोंके मुँहपर ही उनकी निन्दा करनेवाले होते हैं। तथा जो सामर्थ्यवान् हैं वे भी ध्यानके लाभका ही अंश प्राप्त करनेवाले हैं। अतः तुम ध्यानकी उपासना करो। वह जो कि ध्यानकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है, जहाँतक ध्यानकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि ध्यानकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन्! क्या ध्यानसे भी उत्कृष्ट कुछ है?' [सनत्कुमार—] 'ध्यानसे भी उत्कृष्ट है ही।' [नारद—] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ १-२ ॥

सप्तम खण्ड

विज्ञानकी ब्रह्मरूपमें उपासना

विज्ञान ही ध्यानसे श्रेष्ठ है। विज्ञानसे ही पुरुष ऋग्वेद समझता है; तथा विज्ञानसे ही वह यजुर्वेद, सामवेद, चौथे आथर्वण वेद; वेदोंमें पाँचवें वेद इतिहास-पुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, नीति, देवविद्या (निरुक्त), ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्यौतिष, गारुड और शिल्पविद्या, द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, श्वापद, कीट-पतंग-पिपीलिकापर्यन्त सम्पूर्ण जीव, धर्म, अधर्म, सत्य, असत्य, साधु, असाधु, मनोज्ञ, अमनोज्ञ, अन्न, रस तथा इहलोक और परलोकको जानता है। तुम विज्ञानकी उपासना करो। वह जो कि विज्ञानकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है उसे विज्ञानवान् एवं ज्ञानवान् लोकोंकी प्राप्ति होती है। जहाँतक विज्ञानकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि विज्ञानकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन्! क्या विज्ञानसे भी श्रेष्ठ कुछ है?' [सनत्कुमार—] 'विज्ञानसे श्रेष्ठ भी है ही।' [नारद—] 'भगवान् मुझे वही बतलावें' ॥ १-२ ॥

अष्टम खण्ड

बलकी ब्रह्मरूपमें उपासना

बल ही विज्ञानकी अपेक्षा उत्कृष्ट है। सौ विज्ञानवानोंको भी एक बलवान् हिला देता है। जिस समय यह पुरुष बलवान् होता है तभी उठनेवाला भी होता है, उठकर [अर्थात् उठनेवाला होनेपर] ही परिचर्या करनेवाला होता है तथा परिचर्या करनेवाला होनेपर ही उपसदन (समीप गमन) करनेवाला होता है और उपसदन करनेपर ही दर्शन करनेवाला होता है, श्रवण करनेवाला होता है, मनन करनेवाला होता है, बोधवान् होता है, कर्ता होता है एवं विज्ञाता होता है। बलसे ही पृथ्वी स्थित है; बलसे ही अन्तरिक्ष, बलसे ही द्युलोक, बलसे ही पर्वत, बलसे ही देवता और मनुष्य, बलसे ही पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति, श्वापद और कीट-पतंग एवं पिपीलिकापर्यन्त समस्त प्राणी स्थित हैं तथा बलसे ही लोक स्थित है। तुम बलकी उपासना करो। वह जो कि बलकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है उसकी, जहाँतक बलकी गति है, स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि बलकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन्! क्या बलसे भी उत्कृष्ट कुछ है?' [सनत्कुमार—] 'बलसे उत्कृष्ट भी है ही।' [नारद—] 'भगवान् मेरे प्रति उसीका वर्णन करें' ॥ १-२ ॥

नवम खण्ड

अन्नकी ब्रह्मरूपमें उपासना

अन्न ही बलसे उत्कृष्ट है। इसीसे यदि दस दिन भोजन न करे और जीवित भी रह जाय तो भी वह अद्रष्टा, अश्रोता, अमन्ता, अबोद्धा, अकर्ता और अविज्ञाता हो ही जाता है। फिर अन्नकी प्राप्ति होनेपर ही वह द्रष्टा होता है, श्रोता होता है, मनन करनेवाला होता है, बोद्धा होता है, कर्ता होता है और विज्ञाता होता है। तुम अन्नकी उपासना करो। वह जो कि अन्नकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है उसे अन्नवान् और पानवान् लोकोंकी प्राप्ति होती है। जहाँतक अन्नकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि अन्नकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन्! क्या अन्नसे बढ़कर भी कुछ है?' [सनत्कुमार—] 'अन्नसे बढ़कर भी है ही।' [नारद—] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ १-२ ॥

सनत्कुमार-नारद-संवाद

दशम खण्ड

जलकी ब्रह्मरूपमें उपासना

जल ही अन्नकी अपेक्षा उत्कृष्ट है। इसीसे जब सुवृष्टि नहीं होती तो प्राण [इसलिये] दुःखी हो जाते हैं कि अन्न थोड़ा होगा और जब सुवृष्टि होती है तो यह सोचकर कि खूब अन्न होगा, प्राण प्रसन्न हो जाते हैं। यह जो पृथ्वी है मूर्तिमान् जल ही है तथा जो अन्तरिक्ष, जो द्युलोक, जो पर्वत, जो देव-मनुष्य, जो पशु और पक्षी तथा जो तृण, वनस्पति, श्वापद और कीट-पतंग-पिपीलिकापर्यन्त प्राणी हैं वे भी मूर्तिमान् जल ही हैं। अतः तुम जलकी उपासना करो। वह जो कि जलकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है, सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है और तृप्तिमान् होता है। जहाँतक जलकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि जलकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन्! क्या जलसे भी श्रेष्ठ कुछ है?' [सनत्कुमार—] 'जलसे श्रेष्ठ भी है ही।' [नारद—] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ १-२ ॥

एकादश खण्ड

तेजकी ब्रह्मरूपमें उपासना

तेज ही जलकी अपेक्षा उत्कृष्टतर है। वह यह तेज जिस समय वायुको निश्चल कर आकाशको सब ओरसे तप्त करता है उस समय लोग कहते हैं—'गर्मी हो रही है, बड़ा ताप है, वर्षा होगी।' इस प्रकार तेज ही पहले अपनेको उद्भूत हुआ दिखलाकर फिर जलकी उत्पत्ति करता है। वह यह तेज ऊर्ध्वगामी और तिर्यक्-गामी विद्युत्के सहित गड़गड़ाहटका शब्द फैला देता है। इसीसे लोग कहते हैं—'बिजली चमकती है, बादल गर्जता है, वर्षा होगी।' इस प्रकार तेज ही पहले अपनेको प्रदर्शित कर फिर जलको उत्पन्न करता है। अतः तेजकी उपासना करो। वह जो कि तेजकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है वह तेजस्वी होकर तेजःसम्पन्न, प्रकाशमान और तमोहीन लोकोंको प्राप्त करता है। जहाँतक तेजकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि तेजकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन्! क्या तेजसे भी बढ़कर कुछ है?' [सनत्कुमार—] 'तेजसे बढ़कर भी है ही।' [नारद—] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ १-२ ॥

द्वादश खण्ड

आकाशकी ब्रह्मरूपमें उपासना

आकाश ही तेजसे बढ़कर है। आकाशमें ही सूर्य, चन्द्र ये दोनों तथा विद्युत्, नक्षत्र और अग्नि स्थित हैं। आकाशके द्वारा ही एक-दूसरेको पुकारते हैं, आकाशसे ही सुनते हैं, आकाशसे ही प्रतिश्रवण करते हैं, आकाशमें ही रमण करते हैं, आकाशमें ही रमण नहीं करते, आकाशमें ही [सब पदार्थ] उत्पन्न होते हैं और आकाशकी ओर ही [सब जीव एवं अङ्कुरादि] बढ़ते हैं। तुम आकाशकी उपासना करो। वह जो कि आकाशकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है वह आकाशवान्, प्रकाशवान्, पीडारहित और विस्तारवाले लोकोंको प्राप्त करता है। जहाँतक आकाशकी गति है वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि आकाशकी 'यह ब्रह्म है' ऐसी उपासना करता है। [नारद—] 'भगवन्! क्या आकाशसे बढ़कर भी कुछ है?' [सनत्कुमार—] 'आकाशसे बढ़कर भी है ही।' [नारद—] 'भगवान् मुझे उसीका उपदेश करें' ॥ १-२ ॥

त्रयोदश खण्ड

स्मरणकी ब्रह्मरूपमें उपासना

स्मर (स्मरण) ही आकाशसे बढ़कर है। इसीसे यद्यपि बहुत-से लोग [एक स्थानपर] बैठे हों तो भी स्मरण न करनेपर वे न कुछ सुन सकते हैं, न मनन कर सकते हैं और न जान ही सकते हैं। जिस समय वे स्मरण करते हैं, उसी समय सुन सकते हैं, उसी समय मनन कर सकते हैं और उसी समय जान सकते हैं। स्मरण करनेसे ही पुरुष पुत्रोंको

पहचानता है और स्मरणसे ही पशुओंको । तुम स्मरकी उपासना करो । वह जो कि स्मरकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है, उसकी जहाँतक स्मरकी गति है, वहाँतक स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि स्मरकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है । [नारद—] 'भगवन् ! क्या स्मरसे भी श्रेष्ठ कुछ है ?' [सनत्कुमार—] 'स्मरसे भी श्रेष्ठ है ही ।' [नारद—] 'भगवान् मेरे प्रति उसका वर्णन करें' । ॥ १-२ ॥

चतुर्दश खण्ड

आशाकी ब्रह्मरूपसे उपासना

आशा ही स्मरणकी अपेक्षा उत्कृष्ट है । आशासे दीप्त हुआ स्मरण ही मन्त्रोंका पाठ करता है, कर्म करता है, पुत्र और पशुओंकी इच्छा करता है तथा इस लोक और परलोककी कामना करता है । तुम आशाकी उपासना करो । वह जो कि आशाकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है, उसकी सब कामनाएँ आशासे समृद्ध होती हैं । उसकी प्रार्थनाएँ सफल होती हैं । जहाँतक आशाकी गति है, वहाँतक उसकी स्वेच्छागति हो जाती है, जो कि आशाकी 'यह ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करता है । [नारद—] 'भगवन् ! क्या आशासे बढ़कर भी कुछ है ?' [सनत्कुमार—] 'आशासे बढ़कर भी है ही ।' [नारद—] 'भगवान् मुझे वह बतलावें' ॥ १-२ ॥

पञ्चदश खण्ड

प्राणकी ब्रह्मरूपसे उपासना

प्राण ही आशासे बढ़कर है । जिस प्रकार रथचक्रकी नाभिमें अरे समर्पित रहते हैं, उसी प्रकार इस प्राणमें सारा जगत् समर्पित है । प्राण प्राण (अपनी शक्ति) के द्वारा गमन करता है; प्राण प्राणको देता है और प्राणके लिये ही देता है । प्राण ही पिता है, प्राण माता है, प्राण भाई है, प्राण बहिन है, प्राण आचार्य है और प्राण ही ब्राह्मण है । यदि कोई पुरुष अपने पिता, माता, भ्राता, भगिनी, आचार्य अथवा ब्राह्मणके लिये कोई अनुचित बात कहता है तो [उसके समीपवर्ती लोग] उससे कहते हैं—'तुझे धिक्कार है, तू निश्चय ही पिताका हनन करनेवाला है, तू तो माताका वध करनेवाला है, तू तो भाईको मारनेवाला है, तू तो बहिनकी हत्या करनेवाला है, तू तो आचार्यका घात करनेवाला है, तू निश्चय ही ब्रह्मघाती है । किंतु जिनके प्राण उत्क्रमण कर गये हैं, उन पिता आदि [के प्राणहीन शरीर] को यदि वह शूलसे एकत्रित और छिन्न-भिन्न करके जला दे तो भी उससे 'तू पिताकी हत्या करनेवाला है' 'तू माताकी हत्या करनेवाला है' 'तू भ्राताकी हत्या करनेवाला है' 'तू बहिनकी हत्या करनेवाला है' 'तू आचार्यका घात करनेवाला है' अथवा 'तू ब्रह्मघाती है' ऐसा कुछ नहीं कहते । प्राण ही ये सब [पिता आदि] हैं । वह जो इस प्रकार देखनेवाला, इस प्रकार चिन्तन करनेवाला और इस प्रकार जाननेवाला है, अतिवादी होता है । उससे यदि कोई कहे कि 'तू अतिवादी है' तो उसे यही कहना चाहिये कि 'हाँ, अतिवादी हूँ' उसे छिपाना नहीं चाहिये ॥ १–४ ॥

षोडश खण्ड

सत्य ही विशेषरूपसे जिज्ञास्य है

[सनत्कुमार—] 'जो सत्य (परमार्थ सत्य आत्माके विज्ञान) के कारण अतिवदन करता है, वही निश्चय अतिवदन करता है ।' [नारद—] 'भगवन् ! मैं तो परमार्थ सत्य विज्ञानके कारण ही अतिवदन करता हूँ ।' [सनत्कुमार—] 'सत्यकी ही तो विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये ।' [नारद—] 'भगवन् ! मैं विशेषरूपसे सत्यकी जिज्ञासा करता हूँ' ॥ १ ॥

सप्तदश खण्ड

विज्ञान ही विशेषरूपसे जिज्ञास्य है

[सनत्कुमार—] 'जिस समय पुरुष सत्यको विशेषरूपसे जानता है, तभी वह सत्य बोलता है, बिना जाने सत्य नहीं बोलता; अपितु विशेषरूपसे जाननेवाला ही सत्यका कथन करता है । अतः विज्ञानकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये ।' [नारद—] 'भगवन् ! मैं विज्ञानको विशेषरूपसे जानना चाहता हूँ' ॥ १ ॥

अष्टादश खण्ड

मति ही विशेषरूपसे जिज्ञास्य है

[सनत्कुमार—] 'जिस समय मनुष्य मनन करता है, ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये ।' [नारद—] तभी वह विशेषरूपसे जानता है; बिना मनन किये कोई नहीं
जानता, अपितु मनन करनेपर ही जानता है । अतः मतिकी 'भगवन् ! मैं मतिके विज्ञानकी इच्छा करता हूँ' ॥ १ ॥

एकोनविंश खण्ड

श्रद्धा ही विशेषरूपसे जिज्ञास्य है

[सनत्कुमार—] 'जिस समय मनुष्य श्रद्धा करता है, श्रद्धाकी ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये ।' [नारद—] तभी वह मनन करता है; बिना श्रद्धा किये कोई मनन नहीं
करता । अपितु श्रद्धा करनेवाला ही मनन करता है । अतः 'भगवन् ! मैं श्रद्धाके विज्ञानकी इच्छा करता हूँ' ॥ १ ॥

विंश खण्ड

निष्ठा ही विशेषरूपसे जिज्ञास्य है

[सनत्कुमार—] 'जिस समय पुरुषकी निष्ठा होती है, विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा करनी चाहिये ।' [नारद—] तभी वह श्रद्धा करता है; बिना निष्ठाके कोई श्रद्धा नहीं करता, 'भगवन् ! मैं निष्ठाको विशेषरूपसे जानना चाहता
अपितु निष्ठा करनेवाला ही श्रद्धा करता है । अतः निष्ठाको ही हूँ' ॥ १ ॥

एकविंश खण्ड

कृति ही विशेषरूपसे जिज्ञास्य है

[सनत्कुमार—] 'जिस समय मनुष्य करता है, उस ही विशेषरूपसे जिज्ञासा करनी चाहिये ।' [नारद—] समय वह निष्ठा भी करने लगता है; बिना किये किसीकी निष्ठा 'भगवन् ! मैं कृतिकी विशेषरूपसे जिज्ञासा करता
नहीं होती, पुरुष करनेपर ही निष्ठावान् होता है । अतः कृतिकी हूँ' ॥ १ ॥

द्वाविंश खण्ड

सुख ही विशेषरूपसे जिज्ञास्य है

[सनत्कुमार—] 'जब मनुष्यको सुख प्राप्त होता है, जिज्ञासा करनी चाहिये ।' [नारद—] 'भगवन् ! मैं सुखकी तभी वह करता है; बिना सुख मिले कोई नहीं करता, अपितु
सुख मिलनेपर ही करता है; अतः सुखकी ही विशेषरूपसे विशेषरूपसे जिज्ञासा करता हूँ' ॥ १ ॥

त्रयोविंश खण्ड

भूमा ही विशेषरूपसे जिज्ञास्य है

[सनत्कुमार—] 'निश्चय जो भूमा है, वही सुख है, जिज्ञासा करनी चाहिये ।' [नारद—] 'भगवन् ! मैं भूमाकी अल्पमें सुख नहीं है । सुख भूमा ही है । भूमाकी ही विशेषरूपसे विशेषरूपसे जिज्ञासा करता हूँ' ॥ १ ॥

चतुर्विंश खण्ड

भूमा ही अमृत है

[सनत्कुमार—] 'जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ किंतु जहाँ कुछ और देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ
और नहीं सुनता तथा कुछ और नहीं जानता, वह भूमा है । और जानता है, वह अल्प है । जो भूमा है, वही अमृत है

और जो अल्प है, वह मर्त्य है।' [नारद—] 'भगवन्! वह (भूमा) किसमें प्रतिष्ठित है?' [सनत्कुमार—] 'अपनी महिमामें, अथवा अपनी महिमामें भी नहीं है। इस लोकमें गौ, अश्व आदिको महिमा कहते हैं तथा हाथी, सुवर्ण, दास, भार्या, क्षेत्र और घर इनका नाम भी महिमा है; किन्तु मेरा ऐसा कथन नहीं है; क्योंकि अन्य पदार्थ अन्यमें प्रतिष्ठित होता है। मैं तो यह कहता हूँ'—ऐसा सनत्कुमारजीने कहा ॥ १-२ ॥

पञ्चविंश खण्ड

भूमा ही सर्वत्र सब कुछ और आत्मा है

वही नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे है, वही आगे है, वही दायीं ओर है, वही बायीं ओर है और वही यह सब है। अब उसीमें अहङ्कारादेश किया जाता है—मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही पीछे हूँ, मैं ही आगे हूँ, मैं ही दायीं ओर हूँ, मैं ही बायीं ओर हूँ और मैं ही यह सब हूँ ॥ १ ॥

अब आत्मरूपसे ही भूमाका आदेश किया जाता है। आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है, आत्मा ही दायीं ओर है, आत्मा ही बायीं ओर है और आत्मा ही यह सब है। वह यह इस प्रकार देखनेवाला, इस प्रकार मनन करनेवाला तथा विशेषरूपसे इस प्रकार जाननेवाला आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्ममिथुन और आत्मानन्द होता है; वह स्वराट् है; सम्पूर्ण लोकोंमें उसकी यथेच्छ गति होती है। किंतु जो इससे विपरीत जानते हैं वे अन्यराट (जिनका राजा अपनेसे भिन्न कोई और है, ऐसे) और क्षय्यलोक (क्षयशील लोकोंको प्राप्त होनेवाले) होते हैं। उनकी सम्पूर्ण लोकोंमें स्वेच्छागति नहीं होती ॥ २ ॥

षड्विंश खण्ड

आत्मदर्शनसे सबकी प्राप्ति; आहारशुद्धिसे क्रमशः अविद्याकी निवृत्ति

उस इस प्रकार देखनेवाले, इस प्रकार मनन करनेवाले और इस प्रकार जाननेवाले इस विद्वान्‌के लिये आत्मासे प्राण, आत्मासे आशा, आत्मासे स्मृति, आत्मासे आकाश, आत्मासे तेज, आत्मासे जल, आत्मासे आविर्भाव और तिरोभाव, आत्मासे अन्न, आत्मासे बल, आत्मासे विज्ञान, आत्मासे ध्यान, आत्मासे चित्त, आत्मासे संकल्प, आत्मासे मन, आत्मासे वाक्, आत्मासे नाम, आत्मासे मन्त्र, आत्मासे कर्म और आत्मासे ही यह सब हो जाता है ॥ १ ॥

इस विषयमें यह मन्त्र है—विद्वान् न तो मृत्युको देखता है, न रोगको और न दुःखत्वको ही। वह विद्वान् सबको [आत्मरूप ही] देखता है, अतः सबको प्राप्त हो जाता है। वह एक होता है फिर वही तीन, पाँच, सात और नौ रूप हो जाता है। फिर वही ग्यारह कहा गया है तथा वही सौ, दस, एक, सहस्र और बीस भी होता है। आहारशुद्धि (विषयोपलब्धिरूप विज्ञानकी शुद्धि) होनेपर अन्तःकरणकी शुद्धि होती है; अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर निश्चल स्मृति होती है तथा स्मृतिकी प्राप्ति होनेपर सम्पूर्ण ग्रन्थियोंकी निवृत्ति हो जाती है। [इस प्रकार] जिनकी वासनाएँ क्षीण हो गयी थीं, उन (नारदजी) को भगवान् सनत्कुमारने अज्ञानान्धकारका पार दिखलाया। उन (सनत्कुमारजी) को 'स्कन्द' ऐसा कहते हैं, 'स्कन्द' ऐसा कहते हैं ॥ २ ॥

॥ सप्तम अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥

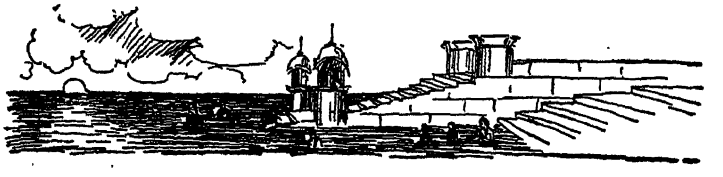

ॐ

अष्टम अध्याय

प्रथम खण्ड

आत्मा ही सत्य है

अब इस ब्रह्मपुरके भीतर और जो यह सूक्ष्म कमलाकार स्थान है, इसमें जो सूक्ष्म आकाश है और उसके भीतर जो वस्तु है, उसका अन्वेषण करना चाहिये और उसीकी जिज्ञासा करनी चाहिये। उस (गुरु) से यदि [शिष्यगण] कहें कि इस ब्रह्मपुरमें जो सूक्ष्म कमलाकार गृह है, उसमें जो अन्तराकाश है, उसके भीतर क्या वस्तु है, जिसका अन्वेषण करना चाहिये अथवा जिसकी जिज्ञासा करनी चाहिये ?—तो [इस प्रकार कहनेवाले शिष्योंके प्रति] वह आचार्य यों कहें ॥ १-२ ॥

जितना यह [भौतिक] आकाश है, उतना ही हृदयान्तर्गत आकाश है। द्युलोक और पृथिवी ये दोनों लोक सम्यक् प्रकारसे इसके भीतर ही स्थित हैं। इसी प्रकार अग्नि और वायु—ये दोनों, सूर्य और चन्द्रमा—ये दोनों तथा विद्युत् और नक्षत्र एवं इस आत्माका जो कुछ इस लोकमें है और जो नहीं है, वह सब सम्यक् प्रकारसे इसीमें स्थित है ॥ ३ ॥

उस आचार्यसे यदि शिष्यगण कहें कि यदि इस ब्रह्मपुरमें यह सब समाहित है तथा सम्पूर्ण भूत और समस्त कामनाएँ भी सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं तो जिस समय यह वृद्धावस्थाको प्राप्त होता अथवा नष्ट हो जाता है, उस समय क्या शेष रह जाता है ?। तो उसे कहना चाहिये 'इस (देह) की जरावस्थासे यह (आकाशाख्य ब्रह्म) जीर्ण नहीं होता। इसके वधसे उसका नाश नहीं होता। यह ब्रह्मपुर सत्य है; इसमें [सम्पूर्ण] कामनाएँ सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं; यह आत्मा है, धर्माधर्मसे शून्य है तथा जराहीन, मृत्युहीन, शोकरहित, भोजनेच्छारहित, पिपासाशून्य, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है; जिस प्रकार इस लोकमें प्रजा राजाकी आज्ञाका अनुवर्तन करती है तो वह जिस-जिस सन्निहित वस्तुकी कामना करती है तथा जिस-जिस देश या भूभागकी इच्छा करती है, उसी-उसीके आश्रित जीवन धारण करती है। जिस प्रकार यहाँ कर्मसे प्राप्त किया हुआ लोक क्षीण हो जाता है, उसी प्रकार परलोकमें पुण्योपार्जित लोक क्षीण हो जाता है। जो लोग इस लोकमें आत्माको और इन सत्य कामनाओंको बिना जाने ही परलोकगामी होते हैं, उनकी सम्पूर्ण लोकोंमें यथेच्छगति नहीं होती। परंतु जो इस लोकमें आत्माको तथा सत्य कामनाओंको जानकर [परलोकमें] जाते हैं, उनकी समस्त लोकोंमें यथेच्छगति होती है' ॥ ४–६ ॥

द्वितीय खण्ड

आत्मज्ञानीकी सङ्कल्पसिद्धि

वह यदि पितृलोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही पितृगण वहाँ उपस्थित होते हैं [अर्थात् उसके आत्मसम्बन्धी हो जाते हैं,] उस पितृलोकसे सम्पन्न होकर वह महिमान्वित होता है। और यदि वह मातृलोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही माताएँ वहाँ उपस्थित हो जाती हैं। उस मातृलोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है। और यदि वह भ्रातृलोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही भ्रातृगण वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। उस भ्रातृलोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है। और यदि वह भगिनीलोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही बहनें वहाँ उपस्थित हो जाती हैं। उस भगिनीलोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है। और यदि वह सखाओंके लोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही सखा लोग वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। उन सखाओंके लोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है। और यदि वह गन्धमाल्यलोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही गन्धमाल्यादि वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। उस गन्धमाल्यलोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है। और यदि वह अन्नपानसम्बन्धी लोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही अन्नपान उसके पास उपस्थित हो जाते हैं। उस अन्न-पान-लोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है। और यदि वह गीतवाद्यसम्बन्धी लोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पसे ही गीत-वाद्य वहाँ प्राप्त हो जाते हैं। उस गीतवाद्यलोकसे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है। और यदि वह स्त्री-लोककी कामनावाला होता है तो उसके संकल्पमात्रसे ही स्त्रियाँ उसके पास उपस्थित हो जाती हैं। उस स्त्री-लोकसे सम्पन्न हो वह महिमान्वित होता है। वह जिस-जिस प्रदेशकी कामना करनेवाला होता है और जिस-जिस भोगकी इच्छा करता है वह सब उसके संकल्पसे ही उसको प्राप्त हो जाता है। उससे सम्पन्न हो वह महिमाको प्राप्त होता है ॥ १–१० ॥

तृतीय खण्ड

ब्रह्मकी प्राप्तिसे सबकी प्राप्ति, ब्रह्म हृदयमें ही है

वे ये सत्यकाम अनृतके आच्छादनसे युक्त हैं। सत्य होनेपर भी अनृत उनका अपिधान (आच्छादन करनेवाला) है, क्योंकि इस प्राणीका जो-जो [सम्बन्धी] यहाँसे मरकर जाता है, वह-वह उसे फिर देखनेके लिये नहीं मिलता। तथा इस लोकमें अपने जिन जीवित अथवा जिन मृतक [पुत्रादि] को और जिन अन्य पदार्थोंको यह इच्छा करते हुए भी प्राप्त नहीं करता; उन सबको यह इस (हृदयाकाशस्थित ब्रह्म) में जाकर प्राप्त कर लेता है; क्योंकि यहाँ इसके ये सत्यकाम अनृतसे ढके हुए रहते हैं। इस विषयमें यह दृष्टान्त है—जिस प्रकार पृथिवीमें गड़े हुए सुवर्णके खजानेको उस स्थानसे अनभिज्ञ पुरुष ऊपर-ऊपर विचरते हुए भी नहीं जानते, इसी प्रकार यह सारी प्रजा नित्यप्रति ब्रह्मलोकको जाती हुई उसे नहीं पाती, क्योंकि यह अनृतके द्वारा हर ली गयी है ॥ १–२ ॥

वह यह आत्मा हृदयमें है। 'हृदि अयम्' (यह हृदयमें है) यही इसका निरुक्त (व्युत्पत्ति) है। इसीसे यह 'हृदय' है। इस प्रकार जाननेवाला पुरुष प्रतिदिन स्वर्गलोकको जाता है ॥ ३ ॥

यह जो सम्प्रसाद है, वह इस शरीरसे उत्थान कर परम ज्योतिको प्राप्त हो अपने स्वरूपसे युक्त हो जाता है। यह आत्मा है, यही अमृत एवं अभय है और यही ब्रह्म है—ऐसा आचार्यने कहा। उस इस ब्रह्मका 'सत्य' यह नाम है ॥ ४ ॥

वे ये 'सकार' 'तकार' और 'यम्' तीन अक्षर हैं। उनमें जो 'सकार' है, वह अमृत है, जो 'तकार' है, वह मर्त्य है और जो 'यम्' है, उससे वह दोनोंका नियमन करता है; क्योंकि इससे वह उन दोनोंका नियमन करता है; इसलिये 'यम्' इस प्रकार जाननेवाला प्रतिदिन ही स्वर्गलोकको जाता है ॥ ५ ॥

चतुर्थ खण्ड

आत्माकी महिमा और ब्रह्मचर्यसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति

जो आत्मा है, वह इन लोकोंके असम्भेद (पारस्परिक असंघर्ष) के लिये इन्हें विशेषरूपसे धारण करनेवाला सेतु है। इस सेतुका दिन-रात अतिक्रमण नहीं करते। इसे न जरा, न मृत्यु, न शोक और न सुकृत या दुष्कृत ही प्राप्त हो सकते हैं। सम्पूर्ण पाप इससे निवृत्त हो जाते हैं; क्योंकि यह ब्रह्मलोक पापशून्य है। इसलिये इस सेतुको तरकर पुरुष अन्धा होनेपर भी अन्धा नहीं होता, विद्ध होनेपर भी अविद्ध होता है, उपतापी होनेपर भी अनुपतापी होता है, इसीसे इस सेतुको तरकर अन्धकाररूप रात्रि भी दिन ही हो जाती है, क्योंकि यह ब्रह्मलोक सर्वदा प्रकाशस्वरूप है। ऐसा होनेके कारण जो इस ब्रह्मलोकको ब्रह्मचर्यके द्वारा [शास्त्र एवं आचार्यके उपदेशके अनुसार] जानते हैं, उन्हींको यह ब्रह्मलोक प्राप्त होता है तथा उनकी सम्पूर्ण लोकोंमें यथेच्छगति हो जाती है ॥ १–३ ॥

पञ्चम खण्ड

ब्रह्मचर्यकी महिमा

अब [लोकमें] जिसे 'यज्ञ' (परम पुरुषार्थका साधन) कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि जो ज्ञाता है वह ब्रह्मचर्यके द्वारा ही उस (ब्रह्मलोक) को प्राप्त होता है। और जिसे 'इष्ट' ऐसा कहते हैं वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्यके द्वारा पूजन करके ही पुरुष आत्माको प्राप्त होता है। तथा जिसे 'सत्त्रायण' ऐसा कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्यके द्वारा ही सत्—परमात्मासे अपना त्राण प्राप्त करता है। इसके सिवा जिसे 'मौन' ऐसा कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है; क्योंकि ब्रह्मचर्यके द्वारा ही आत्माको जानकर पुरुष मनन करता है। तथा जिसे अनाशकायन (नष्ट न होना) कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि जिसे [साधक] ब्रह्मचर्यके द्वारा प्राप्त होता है वह यह आत्मा नष्ट नहीं होता। और जिसे अरण्यायन ऐसा कहा जाता है वह भी ब्रह्मचर्य ही है; क्योंकि इस ब्रह्मलोकमें 'अर' और 'ण्य' ये दो समुद्र हैं, यहाँसे तीसरे द्युलोकमें ऐरंमदीय सरोवर है, सोमसवन नामका अश्वत्थ है, वहाँ ब्रह्माकी अपराजिता पुरी है और प्रभुका विशेषरूपसे निर्माण किया हुआ सुवर्णमय

मण्डप है। उस ब्रह्मलोकमें जो लोग ब्रह्मचर्यके द्वारा इन 'अर' और 'ण्य' दोनों समुद्रोंको प्राप्त करते हैं उन्हींको इस ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है। उनकी सम्पूर्ण लोकोंमें यथेच्छ गति हो जाती है ॥ १–४ ॥

षष्ठ खण्ड

हृदयगत नाडियाँ ही उत्क्रमणका मार्ग हैं

अब ये जो हृदयकी नाडियाँ हैं वे पिंगलवर्ण सूक्ष्म रसकी हैं। वे शुक्ल, नील, पीत और लोहित रसकी हैं; क्योंकि यह आदित्य पिंगलवर्ण है, यह शुक्ल है, यह नील है, यह पीत है और यह लोहितवर्ण है। इस विषयमें यह दृष्टान्त है कि जिस प्रकार कोई विस्तीर्ण महापथ इस (समीपवर्ती) और उस (दूरवर्ती) दोनों गाँवोंको जाता है, उसी प्रकार ये सूर्यकी किरणें इस पुरुषमें और उस आदित्यमण्डलमें दोनों लोकोंमें प्रविष्ट हैं। वे निरन्तर इस आदित्यसे ही निकली हैं और इन नाडियोंमें व्याप्त हैं तथा जो इन नाडियोंसे निकलती हैं वे इस आदित्यमें व्याप्त हैं। ऐसी अवस्थामें जिस समय यह सोया हुआ—भली प्रकार लीन हुआ पुरुष सम्यक् प्रकारसे प्रसन्न होकर स्वप्न नहीं देखता, उस समय यह इन नाडियोंमें चला जाता है, तब इसे कोई पाप स्पर्श नहीं करता और यह तेजसे व्याप्त हो जाता है ॥ १–३ ॥

अब जिस समय यह जीव शरीरकी दुर्बलताको प्राप्त होता है, उस समय उसके चारों ओर बैठे हुए [बन्धुजन] कहते हैं—'क्या तुम मुझे जानते हो ? क्या तुम मुझे जानते हो ?' वह जबतक इस शरीरसे उत्क्रमण नहीं करता, तबतक उन्हें जानता है। फिर जिस समय यह इस शरीरसे उत्क्रमण करता है, उस समय इन किरणोंसे ही ऊपरकी ओर चढ़ता है। वह 'ॐ' ऐसा [कहकर आत्माका ध्यान करता हुआ] ऊर्ध्वलोक अथवा अधोलोकको जाता है। वह जितनी देरमें मन जाता है, उतनी ही देरमें आदित्यलोकमें पहुँच जाता है। यह [आदित्य] निश्चय ही लोकद्वार है। यह विद्वानोंके लिये ब्रह्मलोकप्राप्तिका द्वार है और अविद्वानोंका निरोधस्थान है। इस विषयमें यह मन्त्र है—हृदयकी एक सौ एक नाडियाँ हैं। उनमेंसे एक मस्तककी ओर निकल गयी है। उसके द्वारा ऊपरकी ओर जानेवाला जीव अमरत्वको प्राप्त होता है; शेष इधर-उधर जानेवाली नाडियाँ केवल उत्क्रमणका कारण होती हैं, उत्क्रमणका कारण होती हैं [उनसे अमरत्वकी प्राप्ति नहीं होती] ॥ ४–६ ॥

सप्तम खण्ड

इन्द्र और विरोचनको प्रजापतिका उपदेश

जो आत्मा पापशून्य, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प है, [इन आठ स्वरूपभूत गुणोंसे युक्त है] उसे खोजना चाहिये और उसे विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा करनी चाहिये। जो उस आत्माको शास्त्र और गुरुके उपदेशानुसार खोजकर जान लेता है, वह सम्पूर्ण लोक और समस्त कामनाओंको प्राप्त कर लेता है—ऐसा प्रजापतिने कहा। प्रजापतिके इस वाक्यको देवता और असुर दोनोंने ही परम्परासे जान लिया। वे कहने लगे—'हम उस आत्माको जानना चाहते हैं, जिसे जाननेपर जीव सम्पूर्ण लोकों और समस्त भोगोंको प्राप्त कर लेता है'—ऐसा निश्चयकर देवताओंका राजा इन्द्र और असुरोंका राजा विरोचन—ये दोनों परस्पर ईर्ष्या करते हुए हाथोंमें समिधाएँ लेकर प्रजापतिके पास आये। उन्होंने बत्तीस वर्षतक ब्रह्मचर्यवास किया। तब उनसे प्रजापतिने कहा—'तुम यहाँ किस इच्छासे रहे हो ?' उन्होंने कहा—'जो आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधाहीन, तृषाहीन, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है, उसका अन्वेषण करना चाहिये और उसे विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा करनी चाहिये। जो उस आत्माका अन्वेषणकर उसे विशेषरूपसे जान लेता है, वह सम्पूर्ण लोक और समस्त भोगोंको प्राप्त कर लेता है—इस श्रीमान्के वाक्यको शिष्टजन बतलाते हैं। उसी आत्माको जाननेकी इच्छा करते हुए हम यहाँ रहे हैं' ॥ १–३ ॥

उनसे प्रजापतिने कहा—'यह जो पुरुष नेत्रोंमें दिखायी देता है, आत्मा है, यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है।' [तब उन्होंने पूछा—] 'भगवन् ! यह जो जलमें सब ओर प्रतीत होता है और जो दर्पणमें दिखायी देता है, उनमें आत्मा कौन-सा है ?' इसपर प्रजापतिने कहा—'मैंने जिस नेत्रान्तर्गत पुरुषका वर्णन किया है, वही इन सबमें सब ओर प्रतीत होता है' ॥ ४ ॥

अष्टम खण्ड

विरोचनका भ्रमपूर्ण सिद्धान्त लेकर लौट जाना

'जलपूर्ण शकोरेमें अपनेको देखकर तुम आत्माके विषयमें जो न जान सको वह मुझे बतलाओ' ऐसा [प्रजापतिने कहा।] उन्होंने जलके शकोरेमें देखा। उनसे प्रजापतिने कहा—'तुम क्या देखते हो?' उन्होंने कहा—'भगवन्! हम अपने इस समस्त आत्माको लोम और नखपर्यन्त ज्यों-का-त्यों देखते हैं।' उन दोनोंसे प्रजापतिने कहा—'तुम अच्छी तरह अलङ्कृत होकर, सुन्दर वस्त्र पहनकर और परिष्कृत होकर जलके शकोरेमें देखो।' तब उन्होंने अच्छी तरह अलङ्कृत हो, सुन्दर वस्त्र धारणकर और परिष्कृत होकर जलके शकोरेमें देखा। उनसे प्रजापतिने पूछा, 'तुम क्या देखते हो?' उन दोनोंने कहा—'भगवन्! जिस प्रकार हम दोनों उत्तम प्रकारसे अलङ्कृत, सुन्दर वस्त्र धारण किये और परिष्कृत हैं, उसी प्रकार हे भगवन्! ये दोनों भी उत्तम प्रकारसे अलङ्कृत, सुन्दर वस्त्रधारी और परिष्कृत हैं।' तब प्रजापतिने कहा—'यह आत्मा है, यह अमृत और अभय है और यही ब्रह्म है।' तब वे दोनों शान्तचित्तसे चले गये॥ १–३॥

प्रजापतिने उन्हें [दूर गया] देखकर कहा—'ये दोनों आत्माको उपलब्ध किये बिना—उसका साक्षात्कार किये बिना ही जा रहे हैं; देवता हों या असुर—जो कोई ऐसे निश्चयवाले होंगे, उन्हींका पराभव होगा।' वह जो विरोचन था, शान्तचित्तसे असुरोंके पास पहुँचा और उनको यह आत्मविद्या सुनायी—'इस लोकमें यह आत्मा (शरीर) ही पूजनीय है और शरीर ही सेवनीय है। शरीरकी ही पूजा और परिचर्या करनेवाला पुरुष इस लोक और परलोक दोनों लोकोंको प्राप्त कर लेता है।' इसीसे इस लोकमें जो दान न देनेवाला, श्रद्धा न करनेवाला और यजन न करनेवाला पुरुष होता है, उसे शिष्टजन 'अरे! यह तो आसुर (आसुरीस्वभाववाला) ही है' ऐसा कहते हैं। यह उपनिषद् असुरोंकी ही है। वे ही मृतक पुरुषके शरीरको भिक्षा [गन्ध-पुष्प-अन्नादि], वस्त्र और अलङ्कारसे सुसज्जित करते हैं और इसके द्वारा हम परलोक प्राप्त करेंगे—ऐसा मानते हैं।४-५॥

नवम खण्ड

इन्द्रका प्रजापतिके पास पुनः आगमन और प्रश्न

किन्तु इन्द्रको देवताओंके पास बिना पहुँचे ही यह भय दिखायी दिया। जिस प्रकार इस शरीरके अच्छी प्रकार अलङ्कृत होनेपर यह (छायात्मा) अच्छी तरह अलङ्कृत होता है, सुन्दर वस्त्रधारी होनेपर सुन्दर वस्त्रधारी होता है और परिष्कृत होनेपर परिष्कृत होता है, उसी प्रकार इसके अन्धे होनेपर अन्धा हो जाता है, स्याम होनेपर स्याम हो जाता है और खण्डित होनेपर खण्डित हो जाता है तथा इस शरीरका नाश होनेपर यह भी नष्ट हो जाता है। 'इस [छायात्मदर्शन] में मैं कोई भोग्य नहीं देखता।' इसलिये इन्द्र समित्पाणि होकर फिर प्रजापतिके पास आये। उनसे प्रजापतिने कहा—'इन्द्र! तुम तो विरोचनके साथ शान्तचित्त होकर गये थे, अब किस इच्छासे पुनः आये हो?' उन्होंने कहा—'भगवन्! जिस प्रकार यह (छायात्मा) इस शरीरके अच्छी तरह अलङ्कृत होनेपर अच्छी तरह अलङ्कृत होता है, सुन्दर वस्त्रधारी होनेपर सुन्दर वस्त्रधारी होता है और परिष्कृत होनेपर परिष्कृत हो जाता है, उसी प्रकार इसके अन्धे होनेपर अन्धा, स्याम होनेपर स्याम और खण्डित होनेपर खण्डित भी हो जाता है तथा इस शरीरका नाश होनेपर यह नष्ट भी हो जाता है, मुझे इसमें कोई फल दिखायी नहीं देता'॥ १–२॥

'हे इन्द्र! यह बात ऐसी ही है' ऐसा प्रजापतिने कहा, 'मैं तुम्हारे प्रति इसकी पुनः व्याख्या करूँगा। अब तुम बत्तीस वर्ष यहाँ और रहो।' इन्द्रने वहाँ बत्तीस वर्ष और [ब्रह्मचर्यसे] निवास किया। तब प्रजापतिने उससे कहा॥ ३॥

दशम खण्ड

स्वप्नके दृष्टान्तसे आत्माके स्वरूपका कथन

'जो यह स्वप्नमें पूजित होता हुआ विचरता है, यह आत्मा है' ऐसा प्रजापतिने कहा 'यह अमृत है, अभय है और यही ब्रह्म है।' ऐसा सुनकर वे (इन्द्र) शान्तहृदयसे चले गये। किन्तु देवताओंके पास बिना पहुँचे ही उन्हें यह भय दिखायी दिया 'यद्यपि यह शरीर अन्धा होता है तो भी वह (स्वप्नशरीर) अनन्ध होता है, और यदि यह स्याम होता है तो भी वह अस्याम होता है। इस प्रकार यह इसके दोषसे दूषित नहीं होता। यह इस देहके वधसे नष्ट भी नहीं होता

और न इसकी रुग्णतासे रुग्ण होता है। किन्तु इसे मानो कोई मारता हो, कोई ताडित करता हो, यह मानो अप्रियका अनुभव करता हो और रुदन करता हो—ऐसा हो जाता है; अतः इसमें (इस प्रकारके आत्मदर्शनमें) मैं कोई फल नहीं देखता' ॥१-२॥

[अतः] वे समित्पाणि होकर फिर [प्रजापतिके पास] आये। उनसे प्रजापतिने कहा—'इन्द्र! तुम तो शान्तचित्त होकर गये थे, अब किस इच्छासे पुनः आये हो?' उन्होंने कहा—'भगवन्! यद्यपि यह शरीर अन्धा होता है तो भी वह (स्वप्नशरीर) अनन्ध रहता है और यह रुग्ण होता है तो भी वह नीरोग रहता है; इस प्रकार वह इसके दोषसे दूषित नहीं होता। न इसके वधसे उसका वध होता है और न इसकी रुग्णतासे वह रुग्ण होता है; किन्तु उसे मानो कोई मारते हों, कोई ताडित करते हों और [उसके कारण] मानो वह अप्रियका अनुभव करता हो और रुदन करता हो—[ऐसा अनुभव होनेके कारण] इसमें मैं कोई फल नहीं देखता।' तब प्रजापतिने कहा—'इन्द्र! यह बात ऐसी ही है; मैं तुम्हारे इस (आत्मतत्त्व) की पुनः व्याख्या करूँगा, तुम बत्तीस वर्ष और ब्रह्मचर्यवास करो।' इन्द्रने वहाँ बत्तीस वर्ष और निवास किया; तब उनसे प्रजापतिने कहा—॥ ३-४ ॥

एकादश खण्ड

इन्द्र एक सौ एक वर्षके ब्रह्मचर्यके बाद उपदेशके अधिकारी हुए

'जिस अवस्थामें यह सोया हुआ दर्शनवृत्तिसे रहित और सम्यक्‌रूपसे आनन्दित हो स्वप्नका अनुभव नहीं करता, वह आत्मा है'—ऐसा प्रजापतिने कहा 'यह अमृत है, यह अभय है और यही ब्रह्म है।' यह सुनकर इन्द्र शान्तचित्तसे चले गये; किन्तु देवताओंके पास पहुँचे बिना ही उन्हें यह भय दिखायी दिया—"उस अवस्थामें तो इसे निश्चय ही यह भी ज्ञान नहीं होता कि 'यह मैं हूँ' और न यह इन अन्य भूतोंको ही जानता है; उस समय तो यह मानो विनाशको प्राप्त हो जाता है। इसमें मुझे इष्टफल दिखायी नहीं देता" वे समित्पाणि होकर पुनः प्रजापतिके पास आये। उनसे प्रजापतिने कहा—'इन्द्र! तुम तो शान्तचित्तसे गये थे, अब किस इच्छासे तुम्हारा पुनः आगमन हुआ है।' इन्द्रने कहा—'भगवन्! इस अवस्थामें तो निश्चय ही इसे यह भी ज्ञान नहीं होता कि 'यह मैं हूँ' और न यह इन अन्य भूतोंको ही जानता है, यह मानो विनाशको प्राप्त हो जाता है। इसमें मुझे इष्टफल दिखायी नहीं देता।' 'हे इन्द्र! यह बात ऐसी ही है'—ऐसा प्रजापतिने कहा 'मैं तुम्हारे प्रति इसकी पुनः व्याख्या करूँगा। आत्मा इससे भिन्न नहीं है। अभी पाँच वर्ष और ब्रह्मचर्यवास करो।' उन्होंने पाँच वर्ष और वहीं निवास किया। ये सब मिलाकर एक सौ एक वर्ष हो गये। इसीसे ऐसा कहते हैं कि इन्द्रने प्रजापतिके यहाँ एक सौ एक वर्ष ब्रह्मचर्यवास [करके अधिकार प्राप्त] किया। तब उनसे प्रजापतिने कहा—॥ १-३ ॥

द्वादश खण्ड

इन्द्रके प्रति प्रजापतिका उपदेश

'इन्द्र! यह शरीर मरणशील ही है; यह मृत्युसे ग्रस्त है। यह इस अमृत, अशरीरी आत्माका अधिष्ठान है। सशरीर आत्मा निश्चय ही प्रिय और अप्रियसे ग्रस्त है। सशरीर रहते हुए इसके प्रियाप्रियका नाश नहीं हो सकता और अशरीर होनेपर इसे प्रिय और अप्रिय स्पर्श नहीं कर सकते। वायु अशरीर है; अभ्र, विद्युत् और मेघध्वनि—ये सब अशरीर हैं। जिस प्रकार ये सब उस आकाशसे उत्पन्न होकर सूर्यकी परम ज्योतिको प्राप्त हो अपने स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं, उसी प्रकार यह सम्प्रसाद इस शरीरसे समुत्थान कर परम ज्योतिको प्राप्त हो अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। वह उत्तम पुरुष है। उस अवस्थामें वह हँसता, क्रीडा करता और स्त्री, यान अथवा ज्ञातिजनके साथ रमण करता है और अपने साथ उत्पन्न हुए इस शरीरको स्मरण न करता हुआ सब ओर विचरता है। जिस प्रकार घोड़ा या बैल गाड़ीमें जुता रहता है, उसी प्रकार यह प्राण इस शरीरमें जुता हुआ है ॥ १-३ ॥

जिसमें यह चक्षुद्वारा उपलक्षित आकाश अनुगत है वह चाक्षुष पुरुष है; उसके रूप-ग्रहणके लिये नेत्रेन्द्रिय है। जो ऐसा अनुभव करता है कि मैं इसे सूँघूँ, वह आत्मा है; उसके गन्धग्रहणके लिये नासिका है। जो ऐसा समझता है कि मैं यह शब्द बोलूँ, वही आत्मा है; उसके शब्दोच्चारणके लिये वागिन्द्रिय है। जो ऐसा जानता है कि मैं यह श्रवण करूँ,

वह भी आत्मा है, उसके श्रवण करनेके लिये श्रोत्रेन्द्रिय है। और जो यह जानता है कि मैं मनन करूँ, वह आत्मा है। मन उसका दिव्य नेत्र है; वह यह आत्मा इस दिव्य चक्षुके द्वारा भोगोंको देखता हुआ रमण करता है ॥ ४-५ ॥

जो ये भोग इस ब्रह्मलोकमें हैं उन्हें यह देखता हुआ रमण करता है। इस आत्माकी देवगण उपासना करते हैं। इसीसे उन्हें सम्पूर्ण लोक और समस्त भोग प्राप्त हैं। जो उस आत्माको शास्त्र और आचार्यके उपदेशानुसार जानकर साक्षात् रूपसे अनुभव करता है, वह सम्पूर्ण लोक और समस्त भोगोंको प्राप्त कर लेता है। ऐसा प्रजापतिने कहा, प्रजापतिने कहा ॥ ६ ॥

त्रयोदश खण्ड

श्याम ब्रह्मसे शबल ब्रह्मकी प्राप्तिका उपदेश

मैं श्याम (हृदयस्थ) ब्रह्मसे शबल ब्रह्मको प्राप्त होऊँ और शबलसे श्यामको प्राप्त होऊँ। अश्व जिस प्रकार रोएँ झाड़कर निर्मल हो जाता है, उसी प्रकार मैं पापोंको झाड़कर तथा राहुके मुखसे निकले हुए चन्द्रमाके समान शरीरको त्यागकर कृतकृत्य हो अकृत (नित्य) ब्रह्मलोकको प्राप्त होता हूँ, ब्रह्मलोकको प्राप्त होता हूँ ॥ १ ॥

चतुर्दश खण्ड

आकाश नामक ब्रह्मका उपदेश

आकाश नामसे प्रसिद्ध आत्मा नाम और रूपका निर्वाह करनेवाला है। वे (नाम और रूप) जिसके अन्तर्गत हैं, वह ब्रह्म है, वह अमृत है, वही आत्मा है। मैं प्रजापतिके सभागृहको प्राप्त होता हूँ; मैं यशःसंज्ञक आत्मा हूँ; मैं ब्राह्मणोंके यश, क्षत्रियोंके यश और वैश्योंके यश (यशःस्वरूप आत्मा) को प्राप्त होना चाहता हूँ। वह मैं यशोंका यश हूँ; मैं बिना दाँतोंके भक्षण करनेवाले रोहितवर्ण पिच्छिल स्त्री-चिह्नको प्राप्त न होऊँ, प्राप्त न होऊँ ॥ १ ॥

पञ्चदश खण्ड

आत्मज्ञानकी परम्परा, नियम और उसका फल

इस पूर्वोक्त आत्मज्ञानका ब्रह्माने प्रजापतिके प्रति वर्णन किया, प्रजापतिने मनुसे कहा, मनुने प्रजावर्गको सुनाया। नियमानुसार गुरुके कर्तव्यकर्मोंको समाप्त करता हुआ वेदका अध्ययन करके आचार्यकुलसे लौटकर गृहस्थाश्रममें स्थित होता है, फिर पवित्र स्थानमें स्वाध्याय करता हुआ [पुत्र एवं शिष्यादिको] धार्मिक बनाकर, सम्पूर्ण इन्द्रियोंको अपने अन्तःकरणमें स्थापित कर शास्त्रकी आज्ञासे अन्यत्र प्राणियोंकी हिंसा न करता हुआ और आयुकी समाप्तिपर्यन्त इस प्रकार बर्तता हुआ [अन्तमें] वह निश्चय ही ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है; और फिर नहीं लौटता, फिर नहीं लौटता ॥ १ ॥

॥ अष्टम अध्याय समाप्त ॥ ८ ॥

॥ सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ केनोपनिषद्के आरम्भमें दिया जा चुका है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

बृहदारण्यकोपनिषद्

बृहदारण्यक उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेदकी काण्वी शाखाके वाजसनेयि ब्राह्मणके अन्तर्गत है। आकारमें यह सबसे बृहत् (बड़ी) है एवं अरण्य (वनमें) अध्ययन की जानेसे इसे आरण्यक कहा जाता है। इस प्रकार 'बृहत्' और 'आरण्यक' होनेके कारण इसका 'बृहदारण्यक' नाम हो गया

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ ईशावास्योपनिषद्के प्रारम्भमें दिया जा चुका है।

प्रथम अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

यज्ञकी अश्वके रूपमें कल्पना

ॐ उषा (ब्राह्ममुहूर्त्त) यज्ञसम्बन्धी अश्वका सिर है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, वैश्वानर अग्नि खुला हुआ मुख है और संवत्सर यज्ञिय अश्वका आत्मा है। द्युलोक उसका पीठ है, अन्तरिक्ष उदर है, पृथिवी पैर रखनेका स्थान है, दिशाएँ पार्श्वभाग हैं, अवान्तर दिशाएँ पसलियाँ हैं, ऋतुएँ अङ्ग हैं, मास और अर्द्धमास पर्व (सन्धिस्थान) हैं, दिन और रात्रि प्रतिष्ठा (पाद) हैं, नक्षत्र अस्थियाँ हैं, आकाश (आकाशस्थित मेघ) मांस हैं, बालू उवध्य (उदरस्थित अर्धजीर्ण अन्न) है, नदियाँ गुदा—नाडियाँ हैं, पर्वत यकृत् और हृदयगत मांसखण्ड हैं, ओषधि और वनस्पतियाँ रोम हैं, उदय होता हुआ सूर्य नाभिसे ऊपरका भाग और अस्त होता हुआ सूर्य कटिसे नीचेका भाग है। उसका जमुहाई लेना बिजलीका चमकना है और शरीर हिलाना मेघका गर्जन है। वह जो मूत्र त्याग करता है वही वर्षा है और हिनहिनाना ही उसकी वाणी है ॥ १ ॥

अश्वके सामने महिमारूपसे दिन प्रकट हुआ; उसकी पूर्वसमुद्र योनि है। रात्रि इसके पीछे महिमारूपसे प्रकट हुई; उसकी अपर (पश्चिम—) समुद्र योनि है। ये ही दोनों इस अश्वके आगे-पीछेके महिमासंज्ञक ग्रह हुए। इसने हय होकर देवताओंको, वाजी होकर गन्धर्वोंको, अर्वा होकर असुरोंको और अश्व होकर मनुष्योंको वहन किया है। समुद्र ही इसका बन्धु है और समुद्र ही उद्गमस्थान है ॥ २ ॥

द्वितीय ब्राह्मण

प्रलयके अनन्तर सृष्टिकी उत्पत्ति

पहले यहाँ कुछ भी नहीं था। यह सब मृत्युसे—प्रलयसे ही आवृत था। यह अशनाया (क्षुधा) से आवृत था। अशनाया ही मृत्यु है। उसने 'मैं आत्मा (मन) से युक्त होऊँ' ऐसा मन—संकल्प किया। उसने अर्चन (पूजन) करते हुए आचरण किया। उसके अर्चन करनेसे आप (सूक्ष्म जल) हुआ। अर्चन करते हुए मेरे लिये क (जल) प्राप्त हुआ है, अतः यही अर्कका अर्कत्व है। जो इस प्रकार अर्कके इस अर्कत्वको जानता है उसे निश्चय क (सुख) होता है॥ १ ॥

---

१. 'अर्चते कम् अर्कम्' अर्थात् जिसके अर्चन करनेवालेको क (जल या सुख) हो उसका नाम अर्क है। इस व्युत्पत्तिसे 'अर्क' अग्निको कहते हैं।

आप (जल) ही अर्क हैं । उन आपोंका जो शर (स्थूलभाग) था, वह एकत्रित हो गया । वह पृथिवी हो गयी । उसके उत्पन्न होनेपर वह [मृत्यु] थक गया । उस थके और तपे हुए प्रजापतिके शरीरसे उसका सारभूत तेज अग्नि प्रकट हुआ ॥ २ ॥

उस अग्निने अपनेको तीन प्रकारसे विभक्त किया । उसने आदित्यको तीसरा भाग किया और वायुको तीसरा । इस प्रकार यह प्राण तीन भागोंमें हो गया । उसका पूर्व दिशा सिर है तथा इधर-उधरकी (ईशानी और आग्नेयी) विदिशाएँ बाहु हैं । इसी प्रकार पश्चिम दिशा इसका पुच्छ है तथा इधर-उधरकी (वायव्य और नैर्ऋत्य) विदिशाएँ जङ्घाएँ हैं । दक्षिण और उत्तर दिशाएँ उसके पार्श्व हैं, द्युलोक पृष्ठभाग है, अन्तरिक्ष उदर है, यह (पृथिवी) हृदय है । यह (अग्निरूप विराट् प्रजापति) जलमें स्थित है । इसे इस प्रकार जाननेवाला पुरुष जहाँ-कहीं जाता है, वहीं प्रतिष्ठित होता है ॥ ३ ॥

उसने कामना की कि मेरा दूसरा शरीर उत्पन्न हो; अतः उस अशनायारूप मृत्युने मनसे वेदत्रयीरूप मिथुनकी भावना की । उससे जो रेत (बीज) हुआ, वह संवत्सर हुआ । इससे पूर्व संवत्सर नहीं था । उस संवत्सरको, जितना संवत्सरका काल होता है, उतने समयतक वह (मृत्युरूप प्रजापति) गर्भमें धारण किये रहा । इतने समयके पीछे उसने उसको उत्पन्न किया । उस उत्पन्न हुए कुमारके प्रति मुख फैलाया । इससे उसने 'भाण्' ऐसा शब्द किया । वही (नाद) वाक् हुआ । उसने विचार किया, 'यदि मैं इसे मार डालूँगा तो यह थोड़ा-सा ही अन्न [भोजन] करूँगा ।' अतः उसने उस वाणी और उस मनके द्वारा इन सबको रचा, जो कुछ भी ये ऋक्, यजुः, साम, छन्द, यज्ञ, प्रजा और पशु हैं । उसने जिस-जिसकी रचना की उसी-उसीको खानेका विचार किया । वह सबको खाता है, यही उस अदितिका अदितित्व है । जो इस प्रकार इस अदितिके अदितित्वको जानता है वह इस सबका अत्ता (भोक्ता) होता है और यह सब उसका अन्न (भोग्य) होता है ॥ ४-५ ॥

उसने यह कामना की कि मैं पुनः महान् यज्ञसे यजन करूँ । इससे वह श्रमित हो गया । उसने तप किया । उस थके और तपे हुए मृत्युका यश और वीर्य निकल गया । प्राण ही यश और वीर्य हैं । तब प्राणोंके निकल जानेपर शरीरने फूलना आरम्भ किया । किंतु उसका मन शरीरमें ही रहा ॥६॥

उसने कामना की कि मेरा यह शरीर मेध्य (यज्ञिय) हो; मैं इसके द्वारा शरीरवान् होऊँ । क्योंकि वह शरीर अश्वत् अर्थात् फूल गया था, इसलिये वह अश्व हो गया और वह मेध्य हुआ । अतः यही अश्वमेधका अश्वमेधत्व है । जो इसे इस प्रकार जानता है वही अश्वमेधको जानता है । उसने उसे अवरोधरहित (बन्धनशून्य) ही चिन्तन किया । उसने संवत्सरके पश्चात् उसका अपने ही लिये (अर्थात् इसका देवता प्रजापति है—इस भावसे) आलभन किया, तथा अन्य पशुओंको भी देवताओंके प्रति पहुँचाया । अतः याज्ञिकलोग मन्त्रद्वारा संस्कार किये हुए सर्व-देवसम्बन्धी प्राजापत्य पशुका आलभन करते हैं । यह जो [सूर्य] तपता है वही अश्वमेध है । उसका संवत्सर शरीर है, यह अग्नि अर्क है, तथा उसके ये लोक आत्मा हैं । ये ही दोनों (अग्नि और आदित्य) अर्क और अश्वमेध हैं । किंतु वे मृत्युरूप एक ही देवता हैं । जो इस प्रकार जानता है, वह पुनर्मृत्युको जीत लेता है; उसे मृत्यु नहीं पा सकता, मृत्यु उसका आत्मा ही हो जाता है तथा वह इन देवताओंमेंसे ही एक हो जाता है ॥ ७ ॥

तृतीय ब्राह्मण

प्राण-महिमा

प्रजापतिके दो प्रकारके पुत्र थे—देव और असुर । उनमें देव थोड़े ही थे और असुर अधिक थे । इन लोकोंमें वे परस्पर स्पर्धा (डाह) करने लगे । उनमेंसे देवताओंने कहा, 'हम यज्ञमें उद्गीथके द्वारा असुरोंका अतिक्रमण करें' ॥ १ ॥

उन देवताओंने वाक्से कहा, 'तुम हमारे लिये उद्गान करो ।' वाक्ने 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर उनके लिये उद्गान किया । उसने जो वाणीमें भोग था, उसे देवताओंके लिये आगान किया और जो शुभ भाषण करती थी, उसे अपने लिये गाया । तब असुरोंने जाना कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे । अतः उन्होंने उसके पास जाकर उसे पापसे विद्ध कर दिया । यह वाणी जो अनुचित (असत्य-कटुवचनादि) भाषण करती है, वही वह पाप है, वही वह पाप है । फिर उन्होंने [घ्राणरूप] प्राणसे कहा, 'तुम हमारे लिये उद्गान करो ।' तब प्राणने 'तथास्तु' कहकर उनके लिये

उद्गान किया। प्राणमें जो भोग है, उसे उसने देवताओंके लिये आगान किया और जो कुछ वह शुभ गन्ध सूँघता है, उसे अपने लिये गाया। असुरोंको मालूम हुआ कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उन्होंने उसके समीप जाकर उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह जो अनुचित सूँघता है, यही वह पाप है, यही वह पाप है। फिर उन्होंने चक्षुसे कहा, 'तुम हमारे लिये उद्गान करो।' तब चक्षुने 'तथास्तु' कहकर उनके लिये उद्गान किया। चक्षुमें जो भोग है, उसे उसने देवताओंके लिये आगान किया और जो कुछ वह शुभ दर्शन करता है, उसे अपने लिये गाया। असुरोंको मालूम हुआ कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उन्होंने उसके पास जाकर उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह जो अनुचित (निषिद्ध पदार्थोंको) देखता है, यही वह पाप है, यही वह पाप है। फिर उन्होंने श्रोत्रसे कहा, 'तुम हमारे लिये उद्गान करो।' तब श्रोत्रने 'तथास्तु' कहकर उनके लिये उद्गान किया। श्रोत्रमें जो भोग है, उसे उसने देवताओंके लिये आगान किया और वह जो शुभ श्रवण करता है, उसे अपने लिये गाया। असुरोंने जाना कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उसके पास जाकर उन्होंने उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह जो अनुचित (ईश्वरनिन्दा, परनिन्दा, आत्म-प्रशंसा आदि) श्रवण करता है, यही वह पाप है, यही वह पाप है। फिर उन्होंने मनसे कहा, 'तुम हमारे लिये उद्गान करो।' तब मनने 'तथास्तु' कहकर उनके लिये उद्गान किया। मनमें जो भोग है, उसे उसने देवताओंके लिये आगान किया और वह जो शुभ सङ्कल्प करता है, उसे अपने लिये गाया। असुरोंको मालूम हुआ कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उसके पास जाकर उन्होंने उसे पापसे विद्ध कर दिया। यह जो अनुचित (काम-क्रोध-लोभ-वैर-हिंसा आदिके) सङ्कल्प करता है, यही वह पाप है, यही वह पाप है। इस प्रकार निश्चय ही इन देवताओंको पापका संसर्ग हुआ और ऐसे ही [असुरोंने] इन्हें पापसे विद्ध किया॥२-६॥

फिर अपने मुखमें रहनेवाले प्राणसे कहा, 'तुम हमारे लिये उद्गान करो।' तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर इस प्राणने उनके लिये उद्गान किया। असुरोंने जाना कि इस उद्गाताके द्वारा देवगण हमारा अतिक्रमण करेंगे। अतः उन्होंने उसके पास जाकर उसे पापसे विद्ध करना चाहा। किंतु जिस प्रकार पत्थरसे टकराकर मिट्टीका ढेला नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार वे विध्वस्त होकर अनेक प्रकारसे नष्ट हो गये। तब देवगण [विजेता होकर] प्रकृतिस्थ हो गये और असुरोंका पराभव हुआ। जो इस प्रकार जानता है, वह प्रजापतिरूपसे स्थित होता है और उससे द्वेष करनेवाले भ्रातृव्य (सौतेले भाई) का पराभव होता है॥ ७॥

वे बोले, 'जिसने हमें इस प्रकार देवभावको प्राप्त करवाया है, वह कहाँ है?' [उन्होंने विचार करके निश्चय किया कि] 'यह आस्य (मुख) के भीतर है, अतः यह अयास्य आङ्गिरस है, क्योंकि यह अङ्गोंका सार—रस है।' इस पूर्वोक्त देवताका 'दूर' नाम है, क्योंकि इससे मृत्यु दूर है। जो ऐसा जानता है, उससे मृत्यु दूर रहता है॥ ८-९॥

उस इस प्राणदेवताने इन वागादि देवताओंके पापरूप मृत्युको हटाकर जहाँ इन दिशाओंका अन्त है वहाँ पहुँचा दिया। वहाँ इनके पापको उसने तिरस्कारपूर्वक स्थापित कर दिया। अतः 'मैं पापरूप मृत्युसे संश्लिष्ट न हो जाऊँ' इस भयसे अन्त्यजनोंके पास न जाय और अन्त दिशामें भी न जाय। उस इस प्राणदेवताने इन देवताओंके पापरूप मृत्युको दूरकर फिर इन्हें मृत्युके पार [अग्न्यादि देवतात्म-भावको प्राप्त] कर दिया। उस प्रसिद्ध प्राणने प्रधान वाग्देवताको [मृत्युके] पार पहुँचाया। वह वाक् जिस समय मृत्युसे पार हुई, यह अग्नि हो गयी। वह यह अग्नि मृत्युसे परे उसका अतिक्रमण करके देदीप्यमान है। फिर प्राणका अतिवहन किया। वह जिस समय मृत्युसे पार हुआ, यह वायु हो गया। वह यह अतिक्रान्त वायु मृत्युसे परे बहता है। फिर चक्षुका अतिवहन किया। वह जिस समय मृत्युसे पार हुआ, यह आदित्य हो गया। वह यह अतिक्रान्त आदित्य मृत्युसे परे तपता है। फिर श्रोत्रका अतिवहन किया। वह जिस समय मृत्युसे पार हुआ, यह दिशा हो गया। वे ये अतिक्रान्त दिशाएँ मृत्युसे परे हैं। फिर मनका अतिवहन किया। वह जिस समय मृत्युसे पार हुआ, यह चन्द्रमा हो गया। वह यह अतिक्रान्त चन्द्रमा मृत्युसे परे प्रकाशमान है। इसी प्रकार यह देवता उसका मृत्युसे अतिवहन करती है जो कि इसे इस प्रकार जानता है। फिर उसने अपने लिये अन्नाद्यरूपी खाद्यका आवाहन किया, क्योंकि जो भी कुछ अन्न खाया जाता है, वह प्राणके ही द्वारा खाया जाता है तथा उस अन्नमें प्राण प्रतिष्ठित होता है॥ १०-१७॥

वे देवगण बोले, 'यह जो अन्न है, वह सब तो इतना ही है; उसे तुमने अपने लिये आवाहन कर लिया है। अतः

अब पीछेसे हमें भी इस अन्नमें भागी बनाओ।' [प्राणने कहा] 'वे तुमलोग सब ओरसे मुझमें प्रवेश कर जाओ।' तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर वे सब ओरसे उसमें प्रवेश कर गये। अतः प्राणके द्वारा पुरुष जो अन्न खाता है उससे ये प्राण भी तृप्त होते हैं। अतः जो इस प्रकार जानता है उसका ज्ञातिजन सब ओरसे आश्रय ग्रहण करते हैं, वह स्वजनोंका भरण करनेवाला, उनमें श्रेष्ठ और उनके आगे चलनेवाला होता है तथा अन्न भक्षण करनेवाला और सबका अधिपति होता है। ज्ञातियोंमेंसे जो भी इस प्रकार जाननेवालेके प्रति प्रतिकूल होना चाहता है वह अपने आश्रितोंका पोषण करनेमें समर्थ नहीं होता; और जो भी इसके अनुकूल रहता है—जो भी इसके अनुसार रहकर अपने आश्रितोंका भरण करना चाहता है वह निश्चय ही अपने आश्रितोंके भरणमें समर्थ होता है॥ १८॥

वह प्राण अयास्य आङ्गिरस है, क्योंकि वह अङ्गोंका रस (सार) है। प्राण ही अङ्गोंका रस है; निश्चय प्राण ही अङ्गोंका रस है, क्योंकि जिस किसी अङ्गसे प्राण उत्क्रमण कर जाता है, वह उसी जगह सूख जाता है; अतः यही अङ्गोंका रस है। यही बृहस्पति है। वाक् ही बृहती है, उसका यह पति है; इसलिये यह बृहस्पति है। यही ब्रह्मणस्पति है। वाक् ही ब्रह्म—वेद है, उसका यह पति है; इसलिये यह ब्रह्मणस्पति है। यही साम है। वाक् ही 'सा' है और यह (प्राण) अम है। 'सा' और 'अम' ही साम हैं। यही सामका सामत्व है। क्योंकि यह प्राण मक्खीके समान है, मच्छरके समान है, हाथीके समान है, इस त्रिलोकीके समान है और इस सभीके समान है, इसीसे यह साम है। जो इस सामको इस प्रकार जानता है वह सामका सायुज्य और उसकी सलोकता प्राप्त करता है। यही उद्गीथ है। प्राण ही उत् है; प्राणके द्वारा ही यह सब उत्तब्ध—धारण किया हुआ है। वाक् ही गीथा है। वह उत् है और गीथा भी है; इसलिये उद्गीथ है॥ १९–२३॥

उस [प्राण] के विषयमें यह आख्यायिका भी है—चैकितानेय ब्रह्मदत्तने यज्ञमें सोम भक्षण करते हुए कहा, 'यदि अयास्य और आङ्गिरसनामक मुख्य प्राणने वाणीसे युक्त प्राणसे भिन्न अन्य देवताद्वारा उद्गान किया हो तो यह सोम मेरा सिर गिरा दे।' अतः उसने प्राण और वाक्के ही द्वारा उद्गान किया था—ऐसा निश्चय होता है॥ २४॥

जो इस पूर्वोक्त सामशब्दवाच्य मुख्य प्राणके स्व (धन) को जानता है उसे धन प्राप्त होता है। निश्चय स्वर ही उसका धन है। अतः ऋत्विक् कर्म करनेवालेको वाणीमें स्वरकी इच्छा करनी चाहिये। उस स्वरसम्पन्न वाणीसे ऋत्विक् कर्म करे। इसीसे यज्ञमें स्वरवान् उद्गाताको देखनेकी इच्छा करते ही हैं। लोकमें भी जिसके पास धन होता है [उसे ही देखना चाहते हैं]। जो इस प्रकार इस सामके धनको जानता है उसे धन प्राप्त होता है। जो उस सामके सुवर्णको जानता है उसे सुवर्ण प्राप्त होता है। उसका स्वर ही सुवर्ण है। जो इस प्रकार इस सामके सुवर्णको जानता है उसे सुवर्ण मिलता है। जो उस सामकी प्रतिष्ठाको जानता है वह प्रतिष्ठित होता है। उसकी वाणी ही प्रतिष्ठा है। निश्चय वाणीमें प्रतिष्ठित हुआ ही यह प्राण गाया जाता है। कोई-कोई यह कहते हैं कि 'वह अन्नमें प्रतिष्ठित होकर गाया जाता है'॥ २५–२७॥

अब आगे पवमान नामक सामोंका ही अभ्यारोह कहा जाता है। वह प्रस्तोता निश्चय सामका ही प्रस्ताव (आरम्भ) करता है। जिस समय वह प्रस्ताव करे उस समय इन मन्त्रोंको जपे—'असतो मा सद्गमय', 'तमसो मा ज्योतिर्गमय', 'मृत्योर्मामृतं गमय'।* वह जिस समय कहता है—'मुझे असत्से सत्की ओर ले जाओ' यहाँ मृत्यु ही असत् है और अमृत सत् है। अतः वह यही कहता है कि मुझे मृत्युसे अमृतकी ओर ले जाओ अर्थात् मुझे अमर कर दो। जब कहता है—'मुझे अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले जाओ' तो यहाँ मृत्यु ही अन्धकार है और अमृत ज्योति है। यानी उसका यही कथन है कि मृत्युसे अमृतकी ओर ले जाओ—मुझे अमर कर दो। मुझे मृत्युसे अमृतकी ओर ले जाओ—इसमें तो कोई बात छिपी है ही नहीं। इनके पीछे जो अन्य स्तोत्र हैं उनमें अपने लिये अन्नाद्यका आगान करे। उनका गान किये जानेपर यजमान वर माँगे और जिस भोगकी इच्छा हो, उसे माँगे। इस प्रकार जाननेवाला उद्गाता अपने या यजमानके लिये जिस भोगकी कामना करता है उसीका आगान करता है। वह यह प्राणदर्शन लोकप्राप्तिका साधन है। जो इस प्रकार इस सामको जानता है उसे लोक-प्राप्ति न होनेकी आशा तो होती ही नहीं॥ २८॥

* 'मुझे असत्से सत्की ओर ले जाओ', 'मुझे अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले जाओ', 'मुझे मृत्युसे अमरत्वकी ओर ले जाओ'।

चतुर्थ ब्राह्मण

ब्रह्मकी सर्वरूपता और चातुर्वर्ण्यकी सृष्टि

पहले यह पुरुषाकार आत्मा ही था। उसने आलोचना करनेपर अपनेसे भिन्न और कोई न देखा। उसने आरम्भमें 'अहमस्मि' ऐसा कहा, इसलिये उसका 'अहम्' नाम हुआ। इसीसे अब भी पुकारे जानेपर पहले 'अयमहम्' ऐसा ही कहकर उसके पश्चात् अपना जो दूसरा नाम होता है वह बतलाता है। क्योंकि इस सबसे पूर्ववर्ती उस [आत्मासंज्ञक प्रजापति] ने समस्त पापोंको उपन—दग्ध कर दिया था इसलिये यह पुरुष हुआ। जो ऐसी उपासना करता है, वह उसे दग्ध कर देता है, जो उससे पहले प्रजापति होना चाहता है॥ १॥

वह भयभीत हो गया। इसीसे अकेला पुरुष भय मानता है। उसने यह विचार किया 'यदि मेरे सिवा कोई दूसरा नहीं है तो मैं किससे डरता हूँ?' तभी उसका भय निवृत्त हो गया। किंतु उसे भय क्यों हुआ? क्योंकि भय तो दूसरेसे ही होता है। वह [अकेला] रमण नहीं करता था। इसी कारण अब भी एकाकी पुरुष रमण नहीं करता। उसने दूसरेकी इच्छा की। जिस प्रकार परस्पर आलिङ्गित स्त्री और पुरुष होते हैं, वैसा ही उसका परिमाण हो गया। उसने इस अपनी देहको ही दो भागोंमें विभक्त कर डाला। उससे पति और पत्नी हुए। इसलिये यह शरीर अर्द्धबृगल (द्विदल अन्नके एक दल) के समान है—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा। इसलिये यह [पुरुषार्द्ध] आकाश स्त्रीसे पूर्ण होता है। वह उस (स्त्री) से संयुक्त हुआ; उसीसे मनुष्य उत्पन्न हुए हैं। उस (शतरूपा) ने यह विचार किया कि 'अपनेसे ही उत्पन्न करके यह मुझसे क्यों समागम करता है? अच्छा, मैं छिप जाऊँ' अतः वह गौ हो गयी, तब दूसरा यानी मनु वृषभ होकर उससे सम्भोग करने लगा, इससे गाय-बैल उत्पन्न हुए। तब वह घोड़ी हो गयी और मनु अश्वश्रेष्ठ हो गया। फिर वह गर्दभी हो गयी और मनु गर्दभ हो गया और उससे समागम करने लगा। इससे एक खुरवाले पशु उत्पन्न हुए। तदनन्तर शतरूपा बकरी हो गयी और मनु बकरा हो गया। फिर वह भेड़ हो गयी और मनु भेड़ा होकर उससे समागम करने लगा। इससे बकरी और भेड़ोंकी उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार चींटीसे लेकर ये जितने मिथुन (स्त्री-पुरुषरूप जोड़े) हैं, उन सभीकी उन्होंने रचना कर डाली॥ २–४॥

१. मैं हूँ। २. यह मैं हूँ।

उस प्रजापतिने 'मैं ही सृष्टि हूँ' ऐसा जाना। मैंने इस सबको रचा है। इस कारण वह 'सृष्टि' नामवाला हुआ। जो ऐसा जानता है वह इस (प्रजापति) की सृष्टिमें [स्रष्टा] होता है। फिर उसने इस प्रकार मन्थन किया। उसने मुखरूप योनिसे दोनों हाथोंद्वारा [मन्थन करके] अग्निको रचा। इसलिये ये दोनों भीतरकी ओरसे रोमरहित हैं, क्योंकि योनि भी भीतरसे रोमरहित ही होती है। अतः [याज्ञिक लोग अग्नि, इन्द्र आदिको] एक-एक (भिन्न-भिन्न) देवता मानते हुए जो ऐसा कहते हैं कि 'इस (अग्नि) का यजन करो, इस (इन्द्र) का यजन करो' सो वह तो इस एक ही देवकी विसृष्टि है। यह [प्रजापति] ही सर्वदेवरूप है। इसके बाद जो कुछ यह द्रवरूप है, उसे उसने वीर्यसे उत्पन्न किया, वही सोम है। इतना ही यह सब अन्न और अन्नाद है। सोम ही अन्न है और अग्नि ही अन्नाद है। यह ब्रह्माकी अतिसृष्टि है कि उसने अपनेसे उत्कृष्ट देवताओंकी रचना की—स्वयं मर्त्य होनेपर भी अमृतोंको उत्पन्न किया। इसलिये यह अतिसृष्टि है। जो इस प्रकार जानता है वह इसकी इस अतिसृष्टिमें ही हो जाता है॥ ५–६॥

यह पूर्वोक्त जगत् उस समय (उत्पत्तिसे पूर्व) अव्याकृत था। वह नाम-रूपके योगसे व्यक्त हुआ; अर्थात् 'यह इस नाम और इस रूपवाला है' इस प्रकार व्यक्त हुआ। अतः इस समय भी यह अव्याकृत वस्तु 'इस नाम और इस रूपवाली है' इस प्रकार व्यक्त होती है। वह यह (व्याकर्ता) इस (शरीर) में नखाग्रपर्यन्त प्रवेश किये हुए है, जिस प्रकार कि छुरा छुरेके घरमें छिपा रहता है अथवा विश्वका भरण करनेवाला अग्नि अग्निके आश्रय (काष्ठादि) में गुप्त रहता है। परंतु उसे लोग देख नहीं सकते। वह असम्पूर्ण है; प्राणनक्रियाके कारण ही वह प्राण है, बोलनेके कारण वाक् है, देखनेके कारण चक्षु है, सुननेके कारण श्रोत्र है और मनन करनेके कारण मन है। ये इसके कर्मानुसारी नाम ही हैं। अतः इनमेंसे जो एक-एककी उपासना करता है, वह नहीं जानता। वह असम्पूर्ण ही है। वह एक-एक विशेषणसे ही युक्त होता है। अतः 'आत्मा है' इस प्रकार ही उसकी उपासना करे, क्योंकि इस (आत्मा) में ही वे सब एक हो जाते हैं। यह जो आत्मा है, वही इन सबका प्राप्तव्य है; क्योंकि यह

आत्मा है, इस आत्माके ज्ञात होनेसे ही मनुष्य इस सब जगत्को जानता है। जिस प्रकार पदों (खुर आदिके चिह्नों) द्वारा [खोये हुए पशुको] प्राप्त कर लेते हैं, उसी प्रकार जो ऐसा जानता है, वह इसके द्वारा यश और इष्ट पुरुषोंका सहवास प्राप्त करता है। वह यह आत्मतत्त्व पुत्रसे अधिक प्रिय है; धनसे अधिक प्रिय है, और अन्य सबसे भी अधिक प्रिय है; क्योंकि यह आत्मा उनकी अपेक्षा अन्तरतर है। वह जो आत्मप्रियदर्शी है, यदि आत्मासे भिन्न (अनात्मा) को प्रिय कहनेवाले पुरुषसे कहे कि 'तेरा प्रिय नष्ट हो जायगा' तो वैसा ही हो जायगा, क्योंकि वह समर्थ होता है। अतः आत्मारूप प्रियकी ही उपासना करे। जो आत्मारूप प्रियकी ही उपासना करता है उसका प्रिय अत्यन्त मरणशील नहीं होता ॥ ७-८ ॥

[ब्राह्मणोंने] यह कहा कि ब्रह्मविद्याके द्वारा मनुष्य 'हम सर्व हो जायँगे ऐसा मानते हैं; [सो] उस ब्रह्मने क्या जाना जिससे वह सर्व हो गया ?' ॥ ९ ॥

पहले यह ब्रह्म ही था; उसने अपनेको ही जाना कि मैं 'ब्रह्म हूँ'। अतः वह सर्व हो गया। उसे देवोंमेंसे जिस-जिसने जाना, वही तद्रूप हो गया। इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्यों-मेंसे भी [जिसने उसे जाना, वह तद्रूप हो गया]। उसे आत्मरूपसे देखते हुए ऋषि वामदेवने जाना—'मैं मनु हुआ और सूर्य भी।' उस इस ब्रह्मको इस समय भी जो इस प्रकार जानता है कि मैं 'ब्रह्म हूँ', वह यह सर्व हो जाता है। उसके पराभवमें देवता भी समर्थ नहीं होते; क्योंकि वह उनका आत्मा ही हो जाता है। और जो अन्य देवताकी 'यह अन्य है और मैं अन्य हूँ' इस प्रकार उपासना करता है, वह नहीं जानता। जैसे पशु होता है, वैसे ही वह देवताओंका पशु है। जैसे लोकमें बहुत-से पशु मनुष्यका पालन करते हैं, उसी प्रकार एक-एक मनुष्य देवताओंका पालन करता है। एक पशुका ही हरण किये जानेपर अच्छा नहीं लगता, फिर बहुतोंका हरण होनेपर तो कहना ही क्या है ? इसलिये देवताओंको यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य [ब्रह्मात्मतत्त्वको] जानें ॥ १० ॥

आरम्भमें यह एक ब्रह्म ही था। अकेला होनेके कारण वह विभूतियुक्त कर्म करनेमें समर्थ नहीं हुआ। उसने अति-शयतासे क्षत्र इस प्रशस्त रूपकी रचना की। अर्थात् देवताओं-में क्षत्रिय जो ये इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, मेघ, यम, मृत्यु और ईशानादि हैं, उन्हें उत्पन्न किया। अतः क्षत्रियसे उत्कृष्ट कोई नहीं है। इसीसे राजसूय-यज्ञमें ब्राह्मण नीचे बैठकर क्षत्रियकी उपासना करता है, वह क्षत्रियमें ही अपने यशको स्थापित करता है। यह जो ब्राह्मण है, क्षत्रियकी योनि है। इसलिये यद्यपि राजा उत्कृष्टताको प्राप्त होता है तो भी [राजसूयके] अन्तमें वह ब्राह्मणका ही आश्रय लेता है। अतः जो क्षत्रिय इस (ब्राह्मण) की हिंसा करता है, वह अपनी योनिका ही नाश करता है। जिस प्रकार श्रेष्ठकी हिंसा करनेसे पुरुष पापी होता है, उसी प्रकार वह पापी होता है ॥ ११ ॥

वह (ब्रह्म) विभूतियुक्त कर्म करनेमें समर्थ नहीं हुआ। उसने वैश्यजातिकी रचना की। जो ये वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत् इत्यादि देवगण गणशः कहे जाते हैं [उन्हें उत्पन्न किया]। [फिर भी] वह विभूतियुक्त कर्म करनेमें समर्थ नहीं हुआ। उसने शूद्रवर्णकी रचना की। पूषा शूद्रवर्ण है। यह पृथिवी ही पूषा है, क्योंकि यह जो कुछ है, यही उसका पोषण करती है ॥ १२-१३ ॥

तब भी वह विभूतियुक्त कर्म करनेमें समर्थ नहीं हुआ। उसने अतिशयतासे श्रेयोरूप धर्मको रचा। यह जो धर्म है, क्षत्रियका भी नियन्ता है। अतः धर्मसे उत्कृष्ट कुछ नहीं है। इसलिये जिस प्रकार राजाकी सहायतासे [प्रबल शत्रुको भी जीतनेकी शक्ति आ जाती है] उसी प्रकार धर्मके द्वारा निर्बल पुरुष भी बलवान्को जीतनेकी इच्छा करने लगता है। वह जो धर्म है, निश्चय सत्य ही है। इसीसे सत्य बोलनेवालेके विषयमें कहते हैं कि 'यह धर्म भाषण करता है' तथा धर्म भाषण करनेवालेसे कहते हैं कि 'यह सत्य भाषण करता है', क्योंकि ये दोनों यही (धर्म ही) हैं १४ ॥

वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण हैं। [इन्हें उत्पन्न करनेवाला] ब्रह्म अग्निरूपसे देवताओंमें ब्राह्मण हुआ। तथा मनुष्योंमें ब्राह्मणरूपसे ब्राह्मण, क्षत्रियरूपसे क्षत्रिय, वैश्यरूपसे वैश्य और शूद्ररूपसे शूद्र हुआ। इसीसे अग्निमें ही [कर्म करके] देवताओंके बीच कर्मफलकी इच्छा करते हैं तथा मनुष्योंके बीच ब्राह्मणजातिमें ही कर्मफलकी इच्छा करते हैं, क्योंकि ब्रह्म इन दो रूपोंसे ही व्यक्त हुआ था। तथा जो कोई इस लोकसे आत्माका दर्शन किये बिना ही चला जाता है, उसका यह अविदित आत्मलोक [शोक-मोहादिकी निवृत्तिके द्वारा] वैसे ही पालन नहीं करता, जैसे कि बिना अध्ययन किया हुआ वेद अथवा बिना अनुष्ठान किया हुआ कोई अन्य कर्म। इस प्रकार (आत्माको) न जाननेवाला पुरुष यदि इस लोकमें कोई महान् पुण्यकर्म भी करे, तो भी अन्तमें उसका वह कर्म क्षीण हो ही जाता है; अतः

आत्मलोककी ही उपासना करनी चाहिये। जो पुरुष आत्मलोककी ही उपासना करता है, उसका कर्म क्षीण नहीं होता। इस आत्मासे पुरुष जिस-जिस वस्तुकी कामना करता है, उसी-उसीको प्राप्त कर लेता है ॥ १५ ॥

यह आत्मा (गृही कर्माधिकारी) समस्त जीवोंका लोक (भोग्य) है। वह जो हवन और यज्ञ करता है, उससे देवताओंका भोग्य होता है; जो स्वाध्याय करता है, उससे ऋषियोंका; जो पितरोंके लिये पिण्डदान करता है और सन्तानकी इच्छा करता है, उससे पितरोंका; जो मनुष्योंको वासस्थान और भोजन देता है, उससे मनुष्योंका और जो पशुओंको तृण एवं जलादि पहुँचाता है, उससे पशुओंका भोग्य होता है। इसके घरमें जो [कुत्ते-बिल्ली आदि] श्वापद, पक्षी और चींटीपर्यन्त जीव-जन्तु इसके आश्रित होकर जीवन धारण करते हैं, उससे यह उनका भोग्य होता है। जिस प्रकार लोकमें सब अपने शरीरका अविनाश चाहते हैं, उसी प्रकार यों जाननेवालेका सब जीव अविनाश चाहते हैं। इस (हवन आदि) कर्मकी अवश्यकर्तव्यता [पञ्चमहायज्ञप्रकरणमें] ज्ञात है और [अवदानप्रकरणमें] इसकी मीमांसा की गयी है ॥ १६ ॥

पहले एक यह आत्मा ही था। उसने कामना की कि 'मेरे स्त्री हो, फिर मैं सन्तानरूपसे उत्पन्न होऊँ। तथा मेरे धन हो, फिर मैं कर्म करूँ।' बस, इतनी ही कामना है। इच्छा करनेपर इससे अधिक कोई नहीं पाता। इसीसे अब भी एकाकी पुरुष यह कामना करता है कि मेरे स्त्री हो, फिर मैं सन्तानरूपसे उत्पन्न होऊँ तथा मेरे धन हो तो फिर मैं कर्म करूँ। वह जबतक इनमेंसे एकको भी प्राप्त नहीं करता, तबतक वह अपनेको अपूर्ण ही मानता है। उसकी पूर्णता इस प्रकार होती है—मन ही इसका आत्मा है, वाणी स्त्री है, प्राण सन्तान है और नेत्र मानुष-वित्त है, क्योंकि वह नेत्रसे ही गौ आदि मानुष-वित्तको जानता है। श्रोत्र दैव-वित्त है; क्योंकि श्रोत्रसे ही वह उसे (दैव-वित्तको) सुनता है। आत्मा (शरीर) ही इसका कर्म है; क्योंकि आत्मासे ही यह कर्म करता है। यह आत्मदर्शनरूप यज्ञ पाङ्क्त है, पशु पाङ्क्त है, पुरुष पाङ्क्त है तथा यह कर्म एवं साधनरूप जो कुछ है, सब पाङ्क्त है। जो ऐसा जानता है, वह इन सभीको प्राप्त कर लेता है॥ १७॥

पञ्चम ब्राह्मण

अन्नकी उत्पत्ति और उपासना; मन, वाणी और प्राणके रूपमें सृष्टिका विभाग

पिता (प्रजापति) ने विज्ञान और कर्मके द्वारा जिन सात अन्नोंकी रचना की, उनमेंसे इसका एक अन्न साधारण है (अर्थात् वह सभी प्राणियोंका भोग्य है); दो अन्न उसने देवताओंको बाँट दिये; तीन अपने लिये रक्खे, एक पशुओंको दिया। उस (पशुओंको दिये हुए अन्न) में, जो प्राणनक्रिया करते हैं और जो नहीं करते, वे सभी प्रतिष्ठित हैं। ये अन्न सर्वदा खाये जानेपर भी क्षीण क्यों नहीं होते? जो इस (अन्नके) अक्षयभावको जानता है, वह मुखरूप प्रतीकके द्वारा अन्न भक्षण करता है। वह देवताओंको प्राप्त होता है तथा अमृतका भोक्ता होता है। इस विषयमें ये श्लोक (मन्त्र) हैं—॥ १ ॥

'यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत्पिता' इसका यह अर्थ प्रसिद्ध है कि पिताने ज्ञान और कर्मके द्वारा ही अन्नोंको उत्पन्न किया। उसका एक अन्न साधारण है। अर्थात् यह जो खाया जाता है, वही इसका साधारण अन्न है। जो इसीके परायण रहता है, वह पापसे दूर नहीं होता; क्योंकि यह अन्न मिश्र (समस्त प्राणियोंका सम्मिलित धन) है। दो अन्न उसने देवताओंको बाँटे—वे हुत और प्रहुत हैं। इसलिये गृहस्थ पुरुष देवताओंके लिये हवन और बलि अर्पण करता है। कोई ऐसा भी कहते हैं कि ये देवताओंके दो अन्न दर्श और पूर्णमास हैं; इसलिये इन्हें कामनापूर्वक न करे। एक अन्न पशुओंको दिया, वह दुग्ध है। मनुष्य और पशु पहले दुग्धके ही आश्रय जीवन धारण करते हैं, इसलिये उत्पन्न हुए बालकको पहले घृत चटाते हैं, या स्तनपान कराते हैं; तथा उत्पन्न हुए बछड़ेको भी अतृणाद (तृण भक्षण न करनेवाला) कहते हैं। जो प्राणनक्रिया करते हैं और जो नहीं करते, वे सब इस (पञ्चान्न) में ही प्रतिष्ठित हैं। अर्थात् जो प्राणन करते हैं और जो नहीं करते, वे सब हवि दुग्धमें ही प्रतिष्ठित हैं। अतः ऐसा जो कहते हैं कि एक सालतक दुग्धसे हवन करनेवाला पुरुष अपमृत्युको जीत लेता है, सो ऐसा नहीं समझना चाहिये; क्योंकि वह जिस दिन हवन करता है, उसी दिन अपमृत्युको जीत लेता है [एक सालकी अपेक्षा नहीं करता]। इस प्रकार जाननेवाला (उपासना करनेवाला) पुरुष देवताओंको सम्पूर्ण अन्नाद्य प्रदान करता है; किंतु सर्वदा खाये जानेपर भी वे अन्न क्षीण क्यों नहीं होते? इसका कारण यह है कि पुरुष अविनाशी है, वही पुनः-पुनः इस अन्नको

उत्पन्न कर देता है । जो भी इस अक्षयभावको जानता है अर्थात् पुरुष ही क्षयरहित है, वही इस अन्नको ज्ञान और कर्मद्वारा उत्पन्न कर देता है, यदि वह इसे उत्पन्न न करता तो यह क्षीण हो जाता—[ऐसा जो जानता है] वह प्रतीकके द्वारा—मुख ही प्रतीक है, अतः मुखके द्वारा अन्न भक्षण करता है । वह देवताओंको प्राप्त होता है और अमृतका भोक्ता होता है । यह (फलश्रुति) प्रशंसा है ॥ २ ॥

उसने तीन अन्न अपने लिये किये अर्थात् मन, वाणी और प्राणको उसने अपने लिये नियत किया । 'मेरा मन अन्यत्र था, इसलिये मैंने नहीं देखा; मेरा मन अन्यत्र था, इसलिये मैंने नहीं सुना' [ऐसा जो मनुष्य कहता है, इससे निश्चय होता है कि] वह मनसे ही देखता है और मनसे ही सुनता है । काम, संकल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति (धारणशक्ति), अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय—ये सब मन ही हैं । इसीसे पीछेसे स्पर्श किये जानेपर मनुष्य मनसे जान लेता है । जो कुछ भी शब्द है—वह वाक् ही है; क्योंकि यह वाच्यार्थके कथनमें रत है, इसलिये प्रकाश्य नहीं, प्रकाशक है । प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान और अन—ये सब प्राण ही हैं । यह आत्मा (शरीर) वाङ्मय, मनोमय और प्राणमय ही है ॥ ३ ॥

तीनों लोक ये ही हैं । वाक् ही यह लोक है, मन अन्तरिक्षलोक है और प्राण वह (स्वर्ग) लोक है । तीनों वेद ये ही हैं । वाक् ही ऋग्वेद है, मन यजुर्वेद है और प्राण सामवेद है । देवता, पितृगण और मनुष्य ये ही हैं । वाक् ही देवता हैं, मन पितृगण है और प्राण मनुष्य हैं । पिता, माता और सन्तान ये ही हैं । मन ही पिता है, वाक् माता है और प्राण सन्तान है । विज्ञात, विजिज्ञास्य और अविज्ञात ये ही हैं । जो कुछ विज्ञात है वह वाक्का रूप है । वाक् ही विज्ञाता है । वाक् इस (अपने ज्ञाता) की विज्ञात होकर रक्षा करती है । जो कुछ जिज्ञासाके योग्य है, वह मनका रूप है । मन ही विजिज्ञास्य है । मन विजिज्ञास्य होकर इसकी रक्षा करता है । जो कुछ अविज्ञात है, वह प्राणका रूप है । प्राण ही अविज्ञात है । प्राण अविज्ञात होकर इसकी रक्षा करता है ॥ ४–१० ॥

उस वाक्का पृथिवी शरीर है और यह अग्नि ज्योतीरूप है । इनमें जितनी वाक् है, उतनी ही पृथिवी है और उतना ही यह अग्नि है । तथा इस मनका द्युलोक शरीर है, ज्योतीरूप वह आदित्य है; इनमें जितना मन है, उतना ही द्युलोक और उतना ही वह आदित्य है । वे (आदित्य और अग्नि) मिथुन (पारस्परिक संसर्ग) को प्राप्त हुए । तब प्राण उत्पन्न हुआ । वह इन्द्र है और वह असपत्न—शत्रुहीन है; दूसरा [अर्थात् प्रतिपक्षी] ही सपत्न होता है । जो ऐसा जानता है, उसका सपत्न नहीं होता । तथा इस प्राणका जल शरीर है, वह चन्द्रमा ज्योतीरूप है । इनमें जितना प्राण है, उतना ही जल है और उतना ही वह चन्द्रमा है । ये सभी समान हैं और सभी अनन्त हैं । जो कोई इन्हें अन्तवान् समझकर उपासना करता है, वह अन्तवान् लोकपर जय प्राप्त करता है और जो इन्हें अनन्त समझकर उपासना करता है, वह अनन्त लोकपर जय प्राप्त करता है ॥ ११–१३ ॥

इस संवत्सररूप प्रजापतिकी सोलह कलाएँ (अङ्ग) हैं । उसकी तिथियाँ ही पंद्रह कलाएँ हैं, इसकी सोलहवीं कला ध्रुवा (नित्य) है । वह तिथियोंके द्वारा ही [शुक्लपक्षमें] वृद्धिको प्राप्त होता है तथा [कृष्णपक्षमें] क्षीण होता है । अमावास्याकी रात्रिमें वह (चन्द्रमा) इस सोलहवीं कलासे इन सब प्राणियोंमें अनुप्रविष्ट हो फिर [दूसरे दिन] प्रातःकालमें उत्पन्न होता है । अतः इस रात्रिमें किसी प्राणीके प्राणका विच्छेद न करे, यहाँतक कि इसी देवताकी पूजाके लिये [इस रात्रिमें] गिरगिटके भी प्राण न ले ॥ १४ ॥

जो भी यह सोलह कलाओंवाला संवत्सर प्रजापति है, यह वही है जो कि इस प्रकार जाननेवाला पुरुष है । वित्त ही उसकी पंद्रह कलाएँ हैं तथा आत्मा (शरीर) ही उसकी सोलहवीं कला है । वह वित्तसे ही बढ़ता और क्षीण होता है । यह जो आत्मा (पिण्ड) है, वह नभ्य (रथचक्रकी नाभिरूप) है और वित्त प्रधि (रथचक्रका बाहरका घेरा—नेमि) है । इसलिये यदि पुरुष सर्वस्वहरणके कारण ह्रासको प्राप्त हो जाय, किंतु शरीरसे जीवित रहे, तो यही कहते कि केवल प्रधिसे ही क्षीण हुआ है ॥ १५ ॥

अब मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक—ये ही तीन लोक हैं । वह यह मनुष्यलोक पुत्रके द्वारा ही जीता जा सकता है, किसी अन्य कर्मसे नहीं । तथा पितृलोक कर्मसे और देवलोक विद्या (उपासना) से जीते जा सकते हैं । लोकोंमें देवलोक ही श्रेष्ठ है; इसलिये विद्याकी प्रशंसा करते हैं ॥ १६ ॥

अब सम्प्रत्ति [कही जाती है—] जब पिता यह समझता है कि मैं मरनेवाला हूँ तब वह पुत्रसे कहता है—'तू ब्रह्म है, तू यज्ञ है, तू लोक है ।' वह पुत्र बदलेमें कहता

है—'मैं ब्रह्म हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं लोक हूँ।' जो कुछ भी स्वाध्याय है, उस सबकी 'ब्रह्म' यह एकता है। जो कुछ भी यज्ञ हैं, उनकी 'यज्ञ' यह एकता है। और जो कुछ भी लोक हैं, उनकी 'लोक' यह एकता है। यह इतना ही गृहस्थ पुरुषका सारा कर्तव्य है। [फिर पिता यह मानने लगता है कि] यह मेरे इस भारको लेकर इस लोकसे जानेपर मेरा पालन करेगा। अतः इस प्रकार अनुशासन किये हुए पुत्रको 'लोक्य' (लोकप्राप्तिमें हितकर) कहते हैं। इसीसे पिता उसका अनुशासन करता है। इस प्रकार जाननेवाला वह पिता जब इस लोकसे जाता है, तब अपने इन्हीं प्राणोंके सहित पुत्रमें व्याप्त हो जाता है। यदि किसी कोणच्छिद्र (प्रमाद) से उस (पिता) के द्वारा कोई कर्तव्य नहीं किया होता है तो उस सबसे पुत्र उसे मुक्त कर देता है। इसीसे उसका नाम 'पुत्र' है। वह पिता पुत्रके द्वारा ही इस लोकमें प्रतिष्ठित होता है। फिर उसमें ये हिरण्यगर्भसम्बन्धी अमृत प्राण प्रवेश करते हैं ॥ १७ ॥

पृथिवी और अग्निसे इसमें दैवी वाक्‌का आवेश होता है। दैवी वाक् वही है, जिससे पुरुष जो-जो भी बोलता है, वही-वही हो जाता है। द्युलोक और आदित्यसे इसमें दैव मनका आवेश हो जाता है। दैव मन वही है, जिससे यह सुखी ही होता है, कभी शोक नहीं करता। जल और चन्द्रमासे इसमें दैव प्राणका आवेश हो जाता है। दैव प्राण वही है, जो सञ्चार करते और सञ्चार न करते हुए भी व्यथित नहीं होता और न नष्ट ही होता है। इस प्रकार जाननेवाला वह समस्त भूतोंका आत्मा हो जाता है। जैसा यह देवता (हिरण्यगर्भ) है, वैसा ही वह हो जाता है। जिस प्रकार समस्त प्राणी इस देवताका पालन करते हैं, उसी प्रकार ऐसी उपासना करनेवालेका समस्त भूत पालन करते हैं। जो कुछ ये जीव शोक करते हैं, वह (शोकादिजनित दुःख) उन्हींके साथ रहता है। इसे तो पुण्य ही प्राप्त होता है, क्योंकि देवताओंके पास पाप नहीं जाता ॥ १८–२० ॥

अब यहाँसे व्रतका विचार किया जाता है। प्रजापतिने कर्मों (कर्मके साधनभूत वागादि करणों) की रचना की। रचे जानेपर वे एक दूसरेसे स्पर्धा करने लगे। वाक्‌ने व्रत किया कि 'मैं बोलती ही रहूँगी' तथा 'मैं देखता ही रहूँगा' ऐसा नेत्रने और 'मैं सुनता ही रहूँगा' ऐसा श्रोत्रने व्रत किया। इसी प्रकार अपने-अपने कर्मके अनुसार अन्य इन्द्रियोंने भी व्रत किया। तब मृत्युने श्रम होकर उनसे सम्बन्ध किया और उनमें व्याप्त हो गया। उनमें व्याप्त होकर मृत्युने उनका अवरोध किया। इसीसे वाक् श्रमित होती ही है, नेत्र श्रमित होता ही है, श्रोत्र श्रमित होता ही है; किंतु यह जो मध्यम प्राण है, इसमें वह (मृत्यु) व्याप्त न हो सका। तब उन इन्द्रियोंने उसे जाननेका निश्चय किया। 'निश्चय यही हममें श्रेष्ठ है, जो सञ्चार करते और सञ्चार न करते हुए भी व्यथित नहीं होता और न क्षीण ही होता है। अच्छा, हम सब भी इसीके रूप हो जायँ'—ऐसा निश्चयकर वे सब इसीके रूप हो गयीं। अतः वे इसीके नामसे 'प्राण' इस प्रकार कही जाती हैं। इसीसे जो ऐसा जानता है, वह जिस कुलमें होता है, वह कुल उसीके नामसे बोला जाता है। तथा जो ऐसे विद्वान्‌से स्पर्धा करता है, वह सूख जाता है और सूखकर अन्तमें मर जाता है। यह अध्यात्म-प्राणदर्शन है॥ २१ ॥

अब अधिदैवदर्शन कहा जाता है—अग्निने व्रत किया कि 'मैं जलता ही रहूँगा।' सूर्यने नियम किया, 'मैं तपता ही रहूँगा।' तथा चन्द्रमाने निश्चय किया, 'मैं प्रकाशित ही होता रहूँगा।' इसी प्रकार अन्य देवताओंने भी यथादैवत (जिस देवताका जो व्यापार था, उसीके अनुसार) व्रत किया। जिस प्रकार इन वागादि प्राणोंमें मध्यम प्राण है, उसी प्रकार इन देवताओंमें वायु है; क्योंकि अन्य देवगण तो अस्त हो जाते हैं, किंतु वायु अस्त नहीं होता। यह जो वायु है, अस्त न होनेवाला देवता है ॥ २२ ॥

इसी अर्थका प्रतिपादक यह मन्त्र है—'जिस (वायुदेवता) से (चक्षुरूप) सूर्य उदय होता है और जिसमें वह अस्त होता है' इत्यादि। यह प्राणसे ही उदित होता है और प्राणमें ही अस्त हो जाता है। उस धर्मको देवताओंने धारण किया है। वही आज है और वही कल भी रहेगा। देवताओंने जो व्रत उस समय धारण किया था, वही आज भी करते हैं। अतः एक ही व्रतका आचरण करे। प्राण और अपान-व्यापार करे। मुझे कहीं पापी मृत्यु व्याप्त न कर ले—इस भयसे [इस व्रतका आचरण करे]। और यदि इसका आचरण करे तो इसे समाप्त करनेकी भी इच्छा रक्खे। इससे वह प्राणरूप इस देवतासे सायुज्य और सालोक्य प्राप्त करता है ॥ २३ ॥

षष्ठ ब्राह्मण

नाम-रूप और कर्म

यह नाम, रूप और कर्म—तीनका समुदाय है। उन नामोंकी 'वाक्' यह उक्थ (कारण) है, क्योंकि सारे नाम इसीसे उत्पन्न होते हैं। यह इनका साम है। यही सब नामोंमें समान है। यह इनका ब्रह्म है, क्योंकि यही समस्त नामोंको धारण करती है। अब, रूपोंका चक्षु समन्वय है; यह इसका उक्थ है। इसीसे सारे रूप उत्पन्न होते हैं। यह इनका साम है, क्योंकि यह समस्त रूपोंके प्रति सम है। यह इनका ब्रह्म है, क्योंकि यही समस्त रूपोंको धारण करता है। अब, कर्मोंका समन्वय आत्मा (शरीर) है। यह इनका उक्थ है। इसीसे सब कर्म उत्पन्न होते हैं। यह इनका साम है, क्योंकि यह समस्त कर्मोंके प्रति सम है। यह इनका ब्रह्म है, क्योंकि यही समस्त कर्मोंको धारण करता है। ये तीन होते हुए भी एक आत्मा हैं और आत्मा भी एक होते हुए इन तीन रूपोंमें है। वह यह अमृत सत्यसे आच्छादित है। प्राण ही अमृत है और नाम-रूप सत्य हैं, उनसे यह प्राण आच्छादित है॥ १—३॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

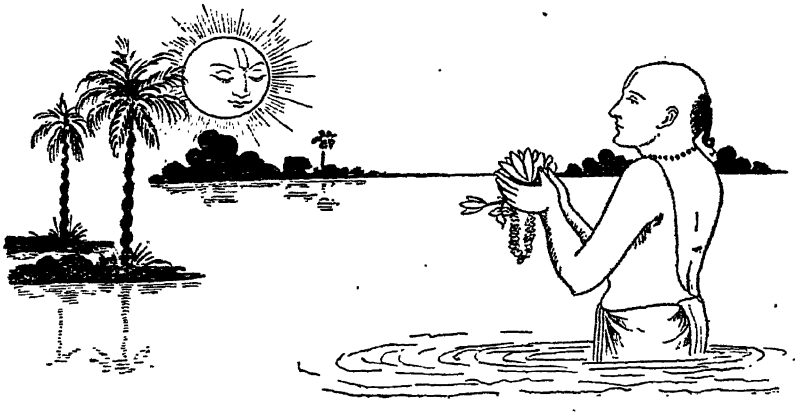

ॐ

द्वितीय अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

गार्ग्य और अजातशत्रुका संवाद; अजातशत्रुका गार्ग्यको आत्माका स्वरूप समझाना

ॐ गार्ग्य-गोत्रोत्पन्न बालाकि नामक एक पुरुष बड़ा घमंडी और बहुत बोलनेवाला था। उसने काशिराज अजातशत्रुके पास जाकर कहा—'मैं तुम्हें ब्रह्मका उपदेश करूँ।' अजातशत्रुने कहा, 'इस वचनके लिये मैं आपको सहस्र [गौएँ] देता हूँ; लोग 'जनक, जनक' यों कहकर दौड़ते हैं। (अर्थात् सब लोग यही कहते हैं कि 'जनक बड़ा दानी है, जनक बड़ा श्रोता है।' ये दोनों बातें आपने अपने वचनसे मेरे लिये सुलभ कर दी हैं। इसलिये मैं आपको सहस्र गौएँ देता हूँ)' ॥१॥

गार्ग्यने कहा, 'यह जो आदित्यमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। यह सबका अतिक्रमण करके स्थित है, समस्त भूतोंका मस्तक है और राजा (दीप्तिमान्) है—इस प्रकार मैं इसकी उपासना करता हूँ। जो पुरुष इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह सबका अतिक्रमण करके स्थित, समस्त भूतोंका मस्तक और राजा होता है।' गार्ग्य बोला, 'यह जो चन्द्रमामें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। यह महान्, शुक्ल-वस्त्रधारी, सोम राजा है—इस प्रकार मैं इसकी उपासना करता हूँ। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसके लिये नित्यप्रति सोम सुत और प्रसुत होता है, अर्थात् प्रकृति-विकृतिमय दोनों प्रकारके यज्ञानुष्ठानमें वह समर्थ हो जाता है। तथा उसका अन्न क्षीण नहीं होता।' वह गार्ग्य बोला, 'यह जो विद्युत्में पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसकी चर्चा मत करो; इसकी तो मैं तेजस्वीरूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह तेजस्वी होता है तथा उसकी सन्तान भी तेजस्विनी होती है।' वह गार्ग्य बोला, 'यह जो आकाशमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। मैं उसकी पूर्ण और अप्रवर्तिरूपसे उपासना करता हूँ जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह सन्तान और पशुओंसे पूर्ण होता है और इस लोकमें उसकी सन्ततिका उच्छेद नहीं होता।' वह गार्ग्य बोला, 'यह जो वायुमें पुरुष है, इसकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं, नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। इसकी तो मैं इन्द्र, वैकुण्ठ और अपराजिता सेना—इस रूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह विजयी, कभी न हारनेवाला और शत्रुविजेता होता है।' वह गार्ग्य बोला, 'यह जो अग्निमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। इसकी तो मैं विषासहिरूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह निश्चय सहन करनेवाला होता है और उसकी सन्तति भी सहन करनेवाली होती है।' वह गार्ग्य बोला, 'यह जो जलमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। इसकी मैं 'प्रतिरूप' रूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसके पास प्रतिरूप ही आता है, अप्रतिरूप नहीं आता और उससे प्रतिरूप [पुत्र] उत्पन्न होता है' ॥ २–८ ॥

गार्ग्य बोला, 'यह जो दर्पणमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। इसकी तो मैं रोचिष्णु (दीप्तिमान्) रूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह निश्चय दीप्तिमान् होता है, उसकी सन्तान भी दीप्तिमान् होती है और उसका जिनसे संगम होता है, उन सबसे बढ़कर वह दीप्तिमान् होता है।' वह गार्ग्य बोला, 'जानेवालेके पीछे जो यह शब्द उत्पन्न होता है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। इसकी तो मैं प्राणरूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना

---

१. अग्निमें जो हविष्य डाला जाता है उसे वह भस्म करके सहन कर लेता है, इसलिये अग्नि विषासहि—सहन करनेवाला है।

करता है वह इस लोकमें पूर्ण आयु प्राप्त करता है, इसे प्राण समयसे पहले नहीं छोड़ता' ॥ ९-१० ॥

गार्ग्य बोला, 'यह जो दिशाओंमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो; मैं इसकी द्वितीय और वियुक्तरूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह द्वितीयवान् (साथीवाला) होता है और उससे गणका (पुत्रादि समूहका) विच्छेद नहीं होता' ।११।

गार्ग्य बोला, 'यह जो छायामय पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं-नहीं, इसके विषयमें बात मत करो। इसकी तो मैं मृत्युरूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह इस लोकमें पूर्ण आयु प्राप्त करता है और इसके पास समयसे पहले मृत्यु नहीं आती' ॥ १२ ॥

गार्ग्य बोला, 'यह जो आत्मामें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' उस अजातशत्रुने कहा, 'नहीं, नहीं, इसके विषयमें बात मत करो; इसकी तो मैं आत्मवान्‌रूपसे उपासना करता हूँ। जो कोई इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह निश्चय आत्मवान् होता है और उसकी सन्तान भी आत्मवान् होती है।' तब वह गार्ग्य चुप हो गया ॥१३॥

[उसे मौन देखकर] वह अजातशत्रु बोला, 'बस, क्या इतना ही है ?' [गार्ग्य—] 'हाँ, इतना ही है।' [अजातशत्रु—] 'इतनेसे तो ब्रह्म नहीं जाना जाता।' वह गार्ग्य बोला, 'मैं आपकी शिष्यभावसे शरण लेता हूँ' ॥ १४ ॥

अजातशत्रुने कहा, 'ब्राह्मण क्षत्रियके प्रति, इस उद्देश्यसे कि यह मुझे ब्रह्मका उपदेश करेगा, शिष्यभावसे शरण हो—यह तो विपरीत है। तो भी मैं आपको उसका ज्ञान कराऊँगा ही।' तब अजातशत्रु उसके हाथ पकड़कर उठा और वे दोनों एक सोये हुए पुरुषके पास गये। अजातशत्रुने उसे 'हे ब्रह्म! हे पाण्डरवास! हे सोम राजन्!' इन नामोंसे पुकारा। परंतु वह न उठा। तब उसे हाथसे दबा-दबाकर जगाया तो वह उठ बैठा ॥ १५ ॥

अजातशत्रुने कहा, 'यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जब सोया हुआ था, तब कहाँ था ? और यह कहाँसे आया ?' किंतु गार्ग्य यह न जान सका ॥ १६ ॥

उस अजातशत्रुने कहा, 'यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जब यह सोया हुआ था, उस समय यह विज्ञानके द्वारा इन इन्द्रियोंकी ज्ञानशक्तिको ग्रहणकर यह जो हृदयके भीतर आकाश है उसमें शयन करता है। जिस समय यह उन ज्ञानशक्तियोंको ग्रहण कर लेता है, उस समय इस पुरुषका 'स्वपिति' नाम होता है। उस समय घ्राणेन्द्रिय लीन रहती है, वाणी लीन रहती है, चक्षु लीन रहता है, श्रोत्र लीन रहता है और मन भी लीन रहता है। जिस समय यह आत्मा स्वप्नवृत्तिसे बर्तता है, उस समय इसके वे लोक (दृश्य) उत्पन्न होते हैं। वहाँ कभी यह महाराज होता है, कभी महाब्राह्मण होता है अथवा ऊँची-नीची [गतियों] को प्राप्त होता है। जिस प्रकार कोई महाराज अपने प्रजाजनोंको लेकर (अधीन कर) अपने देशमें यथेच्छ विचरता है, उसी प्रकार यह प्राणोंको ग्रहणकर अपने शरीरमें यथेच्छ विचरता है। इसके पश्चात् जब वह गाढ़ निद्रामें होता है, जिस समय कि वह किसीके विषयमें कुछ भी नहीं जानता, उस समय हिता नामकी जो बहत्तर हजार नाडियाँ हृदयसे सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त होकर स्थित हैं, उनके द्वारा बुद्धिके साथ जाकर वह शरीरमें व्याप्त होकर शयन करता है। जिस प्रकार कोई बालक अथवा महाराज किंवा महाब्राह्मण आनन्दकी दुःखनाशिनी अवस्थाको प्राप्त होकर शयन करे, उसी प्रकार यह शयन करता है ॥१७–१९॥

जिस प्रकार वह ऊर्णनाभि (मकड़ा) तन्तुओंपर ऊपरकी ओर जाता है तथा जैसे अग्निसे अनेकों क्षुद्र चिनगारियाँ उड़ती हैं, उसी प्रकार इस आत्मासे समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवगण और समस्त भूत विविध रूपसे उत्पन्न होते हैं। 'सत्यका सत्य' यह उस आत्माका नाम है। प्राण ही सत्य हैं। उन्हींका यह सत्य है ॥ २० ॥

द्वितीय ब्राह्मण

शिशु नामसे मध्यम प्राणकी उपासना

जो कोई आधान, प्रत्याधान, स्थूणा और दाम (बन्धन-रज्जु) के सहित शिशुको जानता है, वह अपनेसे द्वेष करनेवाले सात भ्रातृव्योंका अवरोध करता है। यह जो मध्यम प्राण है, वही शिशु है; उसका यह (शरीर) ही आधान (अधिष्ठान) है, यह (सिर) ही प्रत्याधान है, प्राण स्थूणा (अन्न-पानजनित शक्ति) है और अन्न दाम है ॥ १ ॥

उसका ये सात अक्षितियाँ (नेत्रोंके अङ्ग) उपस्थान (स्तवन) करती हैं—उनमेंसे जो ये आँखमें लाल रेखाएँ हैं उनके द्वारा रुद्र इस मध्यप्राणके अनुगत है, नेत्रमें जो जल है उसके द्वारा मेघ, जो दर्शनशक्ति है उसके द्वारा आदित्य, जो कालिमा है उसके द्वारा अग्नि और जो शुक्लता है उसके द्वारा इन्द्र अनुगत है। नीचेके पलकद्वारा पृथिवी इसके अनुगत है एवं ऊपरके पलकद्वारा द्युलोक। जो इस प्रकार जानता है, उसका अन्न क्षीण नहीं होता ॥ २ ॥

इस विषयमें यह मन्त्र है—'चमस नीचेकी ओर छिद्रवाला और ऊपरकी ओर उठा हुआ होता है, उसमें विश्वरूप यश निहित है, उसके तीरपर सात ऋषिगण (दो कान, दो नेत्र, दो नासिका और एक रसना) और वेदके द्वारा संवाद करनेवाली आठवीं वाणी रहती है। जो नीचेकी ओर छिद्रवाला और ऊपरकी ओर उठा हुआ चमस है, वह सिर है; क्योंकि यही नीचेकी ओर छिद्रवाला और ऊपरकी ओर उठा हुआ है। उसमें विश्वरूप यश निहित है—प्राण ही विश्वरूप यश हैं; प्राणोंके विषयमें ही मन्त्र ऐसा कहता है। उसके तीरपर सात ऋषि रहते हैं, प्राण ही ऋषि हैं, प्राणोंके विषयमें ही मन्त्र ऐसा कहता है। वेदके द्वारा संवाद करनेवाली वाक् आठवीं है, वही वेदके द्वारा संवाद करती है। ये दोनों [कान] ही गोतम और भरद्वाज हैं; यह ही गोतम है और यह [दूसरा] भरद्वाज है। ये दोनों [नेत्र] ही विश्वामित्र और जमदग्नि हैं; यह ही विश्वामित्र है और यह दूसरा जमदग्नि है। ये दोनों [नासारन्ध्र] ही वसिष्ठ और कश्यप हैं; यह ही वसिष्ठ है और यह दूसरा कश्यप है। तथा वाक् ही अत्रि है, क्योंकि वागिन्द्रियद्वारा ही अन्न भक्षण किया जाता है। जिसे अत्रि कहते हैं, उसका निश्चय 'अत्ति' ही नाम है। जो इस प्रकार जानता है, वह सबका अत्ता (भोक्ता) होता है, सब उसका अन्न (भोग्य) हो जाता है ॥ ३-४ ॥

तृतीय ब्राह्मण

ब्रह्मके दो रूप

ब्रह्मके दो (द्विविध) रूप हैं—मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमृत, स्थित और यत् (चर) तथा सत् और त्यत्। जो वायु और अन्तरिक्षसे भिन्न है, वह मूर्त है। यह मर्त्य है, यह स्थित है और यह सत् है। उस इस मूर्तका, इस मर्त्यका, इस स्थितका, इस सत्का यह रस है, जो कि यह तपता है। यह सत्का ही रस है। तथा वायु और अन्तरिक्ष अमूर्त हैं; ये अमृत हैं; ये यत् हैं और ये ही त्यत् हैं। उस इस अमूर्तका, इस अमृतका, इस यत्का, इस त्यत्का यह सार है, जो कि इस मण्डलमें पुरुष है, यही इस त्यत्का सार है। यह अधिदैवत-दर्शन है। अब अध्यात्म मूर्तामूर्तका वर्णन किया जाता है। जो प्राणसे तथा यह जो देहान्तर्गत आकाश है, उससे भिन्न है, यही मूर्त है। यह मर्त्य है, यह स्थित है, यह सत् है। यह जो नेत्र है, वही इस मूर्तका, इस मर्त्यका, इस स्थितका एवं इस सत्का सार है। यह सत्का ही सार है। अब अमूर्तका वर्णन करते हैं—प्राण और इस शरीरके अन्तर्गत जो आकाश है, वे अमूर्त हैं, यह अमृत है, यह यत् है और यही त्यत् है। उस इस अमूर्तका, इस अमृतका, इस यत्का, इस त्यत्का यह रस है जो कि यह दक्षिण नेत्रान्तर्गत पुरुष है, यह त्यत्का ही रस है ॥ १—५ ॥

उस इस पुरुषका रूप-चमत्कार ऐसा है जैसा कुसुंभसे रँगा हुआ वस्त्र हो, जैसा सफेद ऊनी वस्त्र हो, जैसा इन्द्रगोप (बीरबहूटी) हो, जैसी अग्निकी ज्वाला हो, जैसा श्वेत कमल हो, और जैसे बिजलीकी चमक हो। जो ऐसा जानता है, उसकी श्री बिजलीकी चमकके समान [सर्वत्र एक साथ फैलनेवाली] होती है। अब इसके पश्चात् 'नेति-नेति' यह ब्रह्मका निर्देश है। 'नेति-नेति' इससे बढ़कर कोई उत्कृष्ट आदेश नहीं है। 'सत्यका सत्य' यह उसका नाम है। प्राण ही सत्य हैं, उनका यह सत्य है ॥६॥

चतुर्थ ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद; याज्ञवल्क्यका मैत्रेयीको अमृतत्वके साधनरूपमें परमात्म-तत्त्वका उपदेश

'अरी मैत्रेयि !' ऐसा याज्ञवल्क्यने [अपनी पत्नीसे] कहा। 'मैं इस स्थान (गार्हस्थ्य-आश्रम) से ऊपर (संन्यास-आश्रममें) जानेवाला हूँ। अतः [तेरी अनुमति लेता हूँ और चाहता हूँ] इस (दूसरी पत्नी) कात्यायनीके साथ तेरा बँटवारा कर दूँ' ॥ १ ॥

मैत्रेयीने कहा, 'भगवन्! यदि यह धनसे सम्पन्न

सारी पृथिवी मेरी हो जाय तो क्या मैं उससे किसी प्रकार अमर हो सकती हूँ ?' याज्ञवल्क्यने कहा, 'नहीं, भोग-सामग्रियोंसे सम्पन्न मनुष्योंका जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा भी जीवन हो जायगा। धनसे अमृतत्वकी तो आशा है ही नहीं' ॥ २ ॥

मैत्रेयीने कहा, 'जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उन भोगोंको लेकर मैं क्या करूँगी ? श्रीमान् जो कुछ अमृतत्वका साधन जानते हों, वही मुझे बतलावें' ॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्यजीने कहा, 'धन्य ! अरी मैत्रेयि, तू पहले भी मेरी प्रिया रही है और इस समय भी मुझे प्रिय लगने-वाली ही बात कह रही है। अच्छा आ, बैठ जा; मैं तेरे प्रति उस (अमरत्व) की व्याख्या करूँगा, तू व्याख्यान किये हुए मेरे वाक्योंके अर्थका चिन्तन करना' ॥ ४ ॥

उन्होंने कहा—'अरी मैत्रेयि ! यह निश्चय है कि पतिके प्रयोजनके लिये पति प्रिय नहीं होता, आत्माके अपने ही प्रयोजनके लिये पति प्रिय होता है; स्त्रीके प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया नहीं होती,अपने ही प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया होती है; पुत्रोंके प्रयोजनके लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन-के लिये पुत्र प्रिय होते हैं; धनके प्रयोजनके लिये धन प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये धन प्रिय होता है; ब्राह्मणके प्रयोजनके लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये ब्राह्मण प्रिय होता है; क्षत्रियके प्रयोजनके लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये क्षत्रिय प्रिय होता है; लोकोंके प्रयोजनके लिये लोक प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये लोक प्रिय होते हैं; देवताओंके प्रयोजनके लिये देवता प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये देवता प्रिय होते हैं; प्राणियोंके प्रयोजनके लिये प्राणी प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये प्राणी प्रिय होते हैं; तथा सबके प्रयोजनके लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये सब प्रिय होते हैं। अरी मैत्रेयि ! यह आत्मा—अपना-आप ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। मैत्रेयि ! इस आत्माके ही दर्शन, श्रवण, मनन एवं विज्ञानसे इस सबका ज्ञान हो जाता है ॥ ५ ॥

ब्राह्मणजाति उसे परास्त कर देती है, जो ब्राह्मणजातिको आत्मासे भिन्न जानता है। क्षत्रियजाति उसे परास्त कर देती है, जो क्षत्रियजातिको आत्मासे भिन्न देखता है। लोक उसे परास्त कर देते हैं, जो लोकोंको आत्मासे भिन्न देखता है। देवगण उसे परास्त कर देते हैं, जो देवताओंको आत्मासे भिन्न देखता है। भूतगण उसे परास्त कर देते हैं, जो भूतोंको आत्मासे भिन्न देखता है। सभी उसे परास्त कर देते हैं, जो सबको आत्मासे भिन्न देखता है। यह ब्राह्मणजाति, यह क्षत्रियजाति, ये लोक, ये देवगण, ये भूतगण और ये सब जो कुछ भी हैं, सब आत्मा ही है ॥ ६ ॥

इसमें दृष्टान्त ऐसा है कि जिस प्रकार बजती हुई दुन्दुभि (नक्कारे) के बाह्य शब्दोंको कोई पकड़ नहीं सकता, किंतु दुन्दुभि या दुन्दुभिके आघातको पकड़ लेनेसे उसका शब्द भी पकड़ लिया जाता है। वह [दूसरा दृष्टान्त] ऐसा है—जैसे कोई बजाये जाते हुए शङ्खके बाह्य शब्दोंको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं होता, किंतु शङ्खके अथवा शङ्खके बजानेको ग्रहण करनेसे उस शब्दका भी ग्रहण हो जाता है। वह [तीसरा दृष्टान्त] ऐसा है—जैसे कोई बजायी जाती हुई वीणाके बाह्य शब्दोंको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं होता; किंतु वीणा या वीणाके स्वरका ग्रहण होनेपर उस शब्दका भी ग्रहण हो जाता है। वह [चौथा दृष्टान्त है—] जिस प्रकार जिसका ईंधन गीला है, ऐसे आधान किये हुए अग्निसे पृथक् धूआँ निकलता है, हे मैत्रेयि ! इसी प्रकार ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस (अथर्ववेद), इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, मन्त्रविवरण और अर्थवाद हैं, वे सब इस परमात्माके ही निःश्वास हैं ॥ ७–१० ॥

दृष्टान्त है—जिस प्रकार समस्त जलोंका समुद्र एक अयन (आश्रय-स्थान) है, इसी प्रकार समस्त स्पर्शोंका त्वचा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त गन्धोंका दोनों नासिकाएँ एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रसोंका जिह्वा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रूपोंका चक्षु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त शब्दोंका श्रोत्र एक अयन है, इसी प्रकार समस्त संकल्पोंका मन एक अयन है, इसी प्रकार समस्त विद्याओंका हृदय एक अयन है, इसी प्रकार समस्त कर्मोंका हस्त एक अयन है, इसी प्रकार समस्त आनन्दोंका उपस्थ एक अयन है और इसी प्रकार समस्त विसर्गोंका पायु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त मार्गोंका चरण एक अयन है और इसी प्रकार समस्त वेदोंका वाणी एक अयन है ॥ ११ ॥

इसमें यह दृष्टान्त है—जिस प्रकार जलमें डाला हुआ नमकका डला जलमें ही घुल-मिल जाता है, उसे जलसे निकालनेके लिये कोई समर्थ नहीं होता तथा जहाँ-जहाँसे भी जल लिया जाय वह नमकीन ही जान पड़ता है, हे मैत्रेयि ! उसी प्रकार यह परमात्म-तत्त्व अनन्त, अपार और विज्ञानघन ही है। यह इन [सत्यशब्दवाच्य] भूतोंसे प्रकट होकर उन्हींके

साथ अदृश्य हो जाता है; देहेन्द्रियभावसे मुक्त होनेपर इसकी कोई विशेष संज्ञा नहीं रहती। हे मैत्रेयि! ऐसा मैं तुझसे कहता हूँ'—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा ॥ १२ ॥

उस मैत्रेयीने कहा, 'शरीरपातके अनन्तर कोई संज्ञा नहीं रहती—ऐसा कहकर ही श्रीमान्‌ने मुझे मोहमें डाल दिया है।' याज्ञवल्क्यने कहा, 'हे मैत्रेयि! मैं मोहका उपदेश नहीं कर रहा हूँ, अरी! यह तो उस परमात्माका विज्ञान करानेके लिये पर्याप्त है' ॥ १३ ॥

जहाँ (अविद्यावस्थामें) द्वैत-सा होता है, वहीं अन्य अन्यको सूँघता है, अन्य अन्यको देखता है, अन्य अन्यको सुनता है, अन्य अन्यका अभिवादन करता है, अन्य अन्यका मनन करता है तथा अन्य अन्यको जानता है; किंतु जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ किसके द्वारा किसे सूँघे, किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सुने, किसके द्वारा किसका अभिवादन करे, किसके द्वारा किसका मनन करे और किसके द्वारा किसे जाने? जिसके द्वारा इस सबको जानता है, उसे किसके द्वारा जाने? अरी मैत्रेयि! विज्ञाताको किसके द्वारा जाने? ॥ १४ ॥

पञ्चम ब्राह्मण

मधुविद्याका उपदेश; आत्माका विविध रूपोंमें वर्णन

यह पृथिवी समस्त भूतोंका मधु है और सब भूत इस पृथिवीके मधु हैं। इस पृथिवीमें जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्मशारीर तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। ये जल समस्त भूतोंके मधु हैं और समस्त भूत इन जलोंके मधु हैं। इन जलोंमें जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म रैतस तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह अग्नि समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस अग्निके मधु हैं। इस अग्निमें जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म वाङ्मय तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह वायु समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस वायुके मधु हैं। इस वायुमें जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्मप्राणरूप तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे कहा गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह आदित्य समस्त भूतोंका मधु है तथा समस्त भूत इस आदित्यके मधु हैं। यह जो इस आदित्यमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म चाक्षुष तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे कहा गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। ये दिशाएँ समस्त भूतोंका मधु हैं तथा समस्त भूत इन दिशाओंके मधु हैं। यह जो इन दिशाओंमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म श्रोत्रसम्बन्धी प्रातिश्रुत्क (प्रत्येक श्रवणवेलामें रहनेवाला) तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह चन्द्रमा समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस चन्द्रमाके मधु हैं। यह जो इस चन्द्रमामें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म मनःसम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह विद्युत् समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस विद्युत्‌के मधु हैं। यह जो इस विद्युत्‌में तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म तैजस तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह मेघ समस्त भूतोंका मधु है तथा समस्त भूत इस मेघके मधु हैं। यह जो इस मेघमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म शब्द एवं स्वरसम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह आकाश समस्त भूतोंका मधु है तथा समस्त भूत इस आकाशके मधु हैं। यह जो इस आकाशमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म-हृदयाकाशरूप तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है] यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह धर्म समस्त

भूतोंका मधु है तथा समस्त भूत इस धर्मके मधु हैं। इस धर्ममें जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म-धर्मसम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे कहा गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह सत्य समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस सत्यके मधु हैं। यह जो इस सत्यमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म-सत्यसम्बन्धी तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह मनुष्यजाति समस्त भूतोंका मधु है और समस्त भूत इस मनुष्यजातिके मधु हैं। यह जो इस मनुष्यजातिमें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह अध्यात्म-मानुष तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस श्रुतिद्वारा बतलाया गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। यह आत्मा (देह) समस्त भूतोंका मधु है तथा समस्त भूत इस आत्माके मधु हैं। यह जो इस आत्मामें तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह आत्मा तेजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि 'यह आत्मा है' [इस वाक्यसे कहा गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म है, यह सर्व है। वह यह आत्मा समस्त भूतोंका अधिपति एवं समस्त भूतोंका राजा है। इस विषयमें दृष्टान्त—जिस प्रकार रथकी नाभि और रथकी नेमिमें सारे अरे समर्पित रहते हैं, इसी प्रकार इस परमात्मामें समस्त भूत, समस्त देव, समस्त लोक, समस्त जीवन और ये सभी आत्माएँ समर्पित हैं [सभी उस परमात्मासे जुड़े हुए और उसीके सहारे स्थित हैं।] ॥ १—१५ ॥

इस पूर्वोक्त मधुको दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिने अश्विनीकुमारोंसे कहा था। इस मधुको देखते हुए ऋषि (मन्त्र) ने कहा—मेघ जिस प्रकार वृष्टि करता है, उसी प्रकार हे नराकार अश्विनीकुमारो ! मैं लाभके लिये किये हुए तुम दोनोंका वह उग्र दंस कर्म प्रकट किये देता हूँ, जिस मधुका दध्यङ्ङाथर्वण ऋषिने तुम्हारे प्रति अश्वके सिरसे वर्णन किया था ॥ १६ ॥

उस इस मधुका दध्यङ्ङाथर्वणने अश्विनीकुमारोंको उपदेश किया। इसे देखते हुए ऋषि (मन्त्रद्रष्टा) ने कहा है—हे अश्विनीकुमारो ! तुम दोनों आथर्वण दध्यङ्के लिये घोड़ेका सिर लाये। उसने सत्यपालन करते हुए तुम्हें त्वाष्ट्र (सूर्यसम्बन्धी) मधुका उपदेश किया तथा हे शत्रुहिंसक ! जो [आत्मज्ञानसम्बन्धी] गोपनीय मधु था [वह भी तुमसे कहा] ॥ १७ ॥

इस पूर्वोक्त मधुका दध्यङ्ङाथर्वणने अश्विनीकुमारोंको उपदेश किया। इसे देखते हुए ऋषिने कहा—परमात्माने दो पैरोंवाले शरीर बनाये और चार पैरोंवाले शरीर बनाये। पहले वह पुरुष—परमात्मा पक्षी होकर शरीरोंमें प्रविष्ट हो गया। वह यह पुरुष समस्त पुरों (शरीरों) में पुरिशय है। ऐसा कुछ भी नहीं है, जो परमात्मासे न ढका हो तथा ऐसा भी कुछ नहीं है, जिसमें परमात्माका प्रवेश न हुआ हो—जो उससे व्याप्त न हो ॥ १८ ॥

इस पूर्वोक्त मधुका दध्यङ्ङाथर्वणने अश्विनीकुमारोंको उपदेश किया। यह देखते हुए ऋषिने कहा—वह रूप-रूपके प्रतिरूप हो गया। इसका वह रूप प्रतिख्यापन (प्रकट) करनेके लिये है। ईश्वर मायासे अनेकरूप प्रतीत होता है। [शरीररूप रथमें जोड़े हुए] इसके घोड़े सौ (नाड़ियाँ) और दस (इन्द्रियाँ) हैं। यह (परमेश्वर) ही हरि (इन्द्रिय-रूप अश्व) है; यही दस, सहस्र, अनेक और अनन्त है। वह यह ब्रह्म अपूर्व (कारणरहित), अनपर (कार्यरहित), अनन्तर (विजातीय द्रव्यसे रहित) और अबाह्य है। यह आत्मा ही सबका अनुभव करनेवाला ब्रह्म है। यही समस्त वेदान्तोंका अनुशासन (उपदेश) है ॥ १९ ॥

षष्ठ ब्राह्मण

मधुविद्याकी परम्पराका वर्णन

अब [मधुकाण्डका] वंश बतलाया जाता है—पौतिमाष्यने गौपवनसे, गौपवनने पौतिमाष्यसे, पौतिमाष्यने गौपवनसे, गौपवनने कौशिकसे, कौशिकने कौण्डिन्यसे, कौण्डिन्यने शाण्डिल्यसे, शाण्डिल्यने कौशिकसे और गौतमसे, गौतमने आग्निवेश्यसे, आग्निवेश्यने शाण्डिल्यसे और आनभिम्लातसे, आनभिम्लातने आनभिम्लातसे, आनभिम्लातने आनभिम्लातसे, आनभिम्लातने गौतमसे, गौतमने सैतव और प्राचीनयोग्यसे, सैतव और प्राचीनयोग्यने पाराशर्यसे, पाराशर्यने

भारद्वाजसे, भारद्वाजने भारद्वाजसे और गौतमसे, गौतमने भारद्वाजसे, भारद्वाजने पाराशर्यसे, पाराशर्यने बैजवापायनसे, बैजवापायनने कौशिकायनिसे, कौशिकायनिने घृतकौशिकसे, घृतकौशिकने पाराशर्यायणसे, पाराशर्यायणने पाराशर्यसे, पाराशर्यने जातूकर्ण्यसे, जातूकर्ण्यने आसुरायणसे और यास्कसे, आसुरायणने त्रैवणिसे, त्रैवणिने औपजन्धनिसे, औपजन्धनिने आसुरिसे, आसुरिने भारद्वाजसे, भारद्वाजने आत्रेयसे, आत्रेयने माण्टिसे, माण्टिने गौतमसे, गौतमने गौतमसे, गौतमने वात्स्यसे, वात्स्यने शाण्डिल्यसे, शाण्डिल्यने कैशोर्य काप्यसे, कैशोर्य काप्यने कुमारहारितसे, कुमारहारितने गालवसे, गालवने विदर्भीकौण्डिन्यसे, विदर्भीकौण्डिन्यने वत्सनपात् बाभ्रवसे, वत्सनपात् बाभ्रवने पन्था सौभरसे, पन्था सौभरने अयास्य आङ्गिरससे, अयास्य आङ्गिरसने आभूति त्वाष्ट्रसे, आभूति त्वाष्ट्रने विश्वरूप त्वाष्ट्रसे, विश्वरूप त्वाष्ट्रने अश्विनीकुमारोंसे, अश्विनीकुमारोंने दध्यङ्ङाथर्वणसे, दध्यङ्ङाथर्वणने अथर्वा दैवसे, अथर्वा दैवने प्राध्वंसन-मृत्युसे, प्राध्वंसन-मृत्युने प्रध्वंसनसे, प्रध्वंसनने एकर्षिसे, एकर्षिने विप्रचित्तिसे, विप्रचित्तिने व्यष्टिसे, व्यष्टिने सनारुसे, सनारुने सनातनसे, सनातनने सनगसे, सनगने परमेष्ठीसे और परमेष्ठीने ब्रह्मासे [इसे प्राप्त किया] । ब्रह्मा स्वयम्भू—है, ब्रह्माको नमस्कार है ॥ १—३ ॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

ॐ

तृतीय अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

जनकके यज्ञमें याज्ञवल्क्य और अश्वलका संवाद

विदेहदेशमें रहनेवाले राजा जनकने एक बड़ी दक्षिणावाले यज्ञद्वारा यजन किया। उसमें कुरु और पाञ्चाल देशोंके ब्राह्मण एकत्रित हुए। उस राजा जनकको यह जाननेकी इच्छा हुई कि 'इन ब्राह्मणोंमें अनुवचन (प्रवचन) करनेमें सबसे बढ़कर कौन है?' इसलिये उसने एक सहस्र गौएँ गोशालामें रोक लीं। उनमेंसे प्रत्येकके सींगोंमें दस-दस पाद सुवर्ण बँधे हुए थे॥ १॥

उसने उनसे कहा—'पूज्य ब्राह्मणगण! आपमें जो ब्रह्मनिष्ठ हो, वह इन गौओंको ले जाय।' किंतु उन ब्राह्मणोंका साहस न हुआ। तब याज्ञवल्क्यने अपने ही ब्रह्मचारीसे कहा, 'हे सोम्य सामश्रवा! तू इन्हें ले जा।' तब वह उन्हें ले चला। इससे वे ब्राह्मण 'यह हम सबमें अपनेको ब्रह्मनिष्ठ कैसे कहता है' इस प्रकार कहते हुए क्रुद्ध हो गये। विदेहराज जनकका होता अश्वल था, उसने याज्ञवल्क्यसे पूछा, 'याज्ञवल्क्य! हम सबमें क्या तुम ही ब्रह्मनिष्ठ हो?' उसने कहा, 'ब्रह्मनिष्ठको तो हम नमस्कार करते हैं, हम तो गौओंकी ही इच्छावाले हैं।' इसीसे होता अश्वलने उससे प्रश्न करनेका निश्चय किया॥ २॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा अश्वलने कहा, 'यह सब जो मृत्युसे व्याप्त है, मृत्युद्वारा स्वाधीन किया हुआ है, उस मृत्युकी व्याप्तिका यजमान किस साधनसे अतिक्रमण करता है?' [इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—] 'वह यजमान होता ऋत्विक्‌रूप अग्निसे और वाक्‌से उसका अतिक्रमण कर सकता है। वाक् ही यज्ञका होता है; यह जो वाक् है, वही यह अग्नि है; वह होता है, वह मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है'॥ ३॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा अश्वलने कहा, 'यह जो कुछ है, सब दिन और रात्रिसे व्याप्त है, सब दिन और रात्रिके अधीन है। तब किस साधनके द्वारा यजमान दिन और रात्रिकी व्याप्तिका अतिक्रमण कर सकता है?' [इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—] 'अध्वर्यु ऋत्विक् और चक्षुरूप आदित्यके द्वारा। अध्वर्यु यज्ञका चक्षु ही है। अतः यह जो चक्षु है, वह यह आदित्य है और वह अध्वर्यु है, वह मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है'॥ ४॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा अश्वलने कहा, 'यह जो कुछ है, सब पूर्वपक्ष और अपरपक्षसे व्याप्त है; सब पूर्वपक्ष और अपरपक्षद्वारा वशमें किया हुआ है। किस उपायसे यजमान पूर्वपक्ष और अपरपक्षकी व्याप्तिसे पार होकर मुक्त होता है?' [इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—] 'उद्गाता-ऋत्विक्‌से और वायुरूप प्राणसे; क्योंकि उद्गाता यज्ञका प्राण ही है। तथा यह जो प्राण है, वही वायु है, वही उद्गाता है, वही मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है'॥ ५॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा अश्वलने कहा, 'यह जो अन्तरिक्ष है, वह निरालम्ब-सा है। अतः यजमान किस आलम्बनसे स्वर्गलोकमें चढ़ता है?' [इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—] 'ब्रह्मा-ऋत्विजके द्वारा और मनरूप चन्द्रमासे। ब्रह्मा यज्ञका मन ही है। और यह जो मन है; वही यह चन्द्रमा है, वह ब्रह्मा है, वह मुक्ति है और वही अतिमुक्ति है।' इस प्रकार अतिमोक्षोंका वर्णन हुआ, अब सम्पदोंका निरूपण किया जाता है॥ ६॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा अश्वलने कहा, 'आज कितनी ऋचाओंके द्वारा होता इस यज्ञमें शस्त्र-शंसन करेगा?' [याज्ञवल्क्यने कहा—] 'तीनके द्वारा।' [अश्वल—] 'वे तीन कौन-सी हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'पुरोनुवाक्या, याज्या और तीसरी शस्या।' [अश्वल—] 'इनसे यजमान किसको जीतता है?' [याज्ञवल्क्य—] 'यह जितना भी प्राणिसमुदाय है [उस सबको जीत लेता है]'॥ ७॥

'याज्ञवल्क्य!' ऐसा अश्वलने कहा, 'आज इस यज्ञमें यह अध्वर्यु कितनी आहुतियाँ होम करेगा?' [याज्ञवल्क्य—] 'तीन।' [अश्वल—] 'वे तीन कौन-कौन-सी हैं?' [याज्ञवल्क्य—] 'जो होम की जानेपर प्रज्वलित होती हैं, जो होम की जानेपर अत्यन्त शब्द करती हैं और जो होम की जानेपर पृथ्वीके ऊपर लीन हो जाती हैं।' [अश्वल—] 'इनके द्वारा यजमान किसको जीतता है?' [याज्ञवल्क्य—] 'जो होम की जानेपर प्रज्वलित होती हैं, उनसे यजमान देवलोकको ही जीत लेता है, क्योंकि देवलोक मानो देदीप्यमान हो रहा है। जो होम की जानेपर अत्यन्त शब्द करती हैं, उनसे वह पितृलोकको ही जीत लेता है; क्योंकि पितृलोक मानो अत्यन्त

ब्रह्मचारियोंको याज्ञवल्क्यका आदेश

शब्द करनेवाला है । जो होम की जानेपर पृथ्वीपर लीन हो जाती हैं, उनसे मनुष्यलोकको ही जीतता है; क्योंकि मनुष्यलोक अधोवर्ती-सा है' ॥ ८ ॥

'याज्ञवल्क्य !' ऐसा अश्वलने कहा, 'आज यह ब्रह्मा यज्ञमें दक्षिणकी ओर बैठकर कितने देवताओंद्वारा यज्ञकी रक्षा करता है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'एकके द्वारा ।' [अश्वल—] 'वह एक देवता कौन है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'वह मन ही है । मन अनन्त है और विश्वेदेव भी अनन्त हैं; अतः उस मनसे यजमान अनन्त लोकको जीत लेता है' ॥ ९ ॥

'याज्ञवल्क्य !' ऐसा अश्वलने कहा, 'आज इस यज्ञमें उद्गाता कितनी स्तोत्रिया ऋचाओंका स्तवन करेगा ?' [याज्ञवल्क्य—] 'तीनका ।' [अश्वल—] 'वे तीन कौन-सी हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'पुरोनुवाक्या, याज्या और तीसरी शस्या ।' [अश्वल—] 'इनमें जो शरीरान्तर्वर्ती हैं, वे कौन-सी हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'प्राण ही पुरोनुवाक्या है; अपान याज्या है और व्यान शस्या है ।' [अश्वल—] 'इनसे यजमान किनपर जय प्राप्त करता है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'पुरोनुवाक्यासे पृथिवीलोकपर ही जय प्राप्त करता है; तथा याज्यासे अन्तरिक्ष-लोकपर और शस्यासे द्युलोकपर विजय प्राप्त करता है ।' इसके पश्चात् होता अश्वल चुप हो गया ॥ १० ॥

द्वितीय ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य और आर्तभागका संवाद

फिर उस (याज्ञवल्क्य) से जारत्कारव आर्तभागने पूछा; वह बोला; 'याज्ञवल्क्य ! ग्रह कितने हैं और अतिग्रह कितने हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं ।' [आर्तभाग—] 'वे जो आठ ग्रह और आठ अतिग्रह हैं, वे कौन-से हैं ?' ॥ १ ॥

प्राण ही ग्रह है, वह अपानरूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी अपानसे ही गन्धोंको सूँघता है । वाक् ही ग्रह है, वह नामरूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी वाक्से ही नामोंका उच्चारण करता है । जिह्वा ही ग्रह है, वह रसरूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी जिह्वासे ही रसोंको विशेष-रूपसे जानता है । चक्षु ही ग्रह है, वह रूप-रूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी चक्षुसे ही रूपोंको देखता है । श्रोत्र ही ग्रह है, वह शब्दरूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी श्रोत्रसे ही शब्दोंको सुनता है । मन ही ग्रह है, वह कामरूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी मनसे ही कामोंकी कामना करता है । हस्त ही ग्रह हैं, वे कर्मरूप अतिग्रहसे गृहीत हैं; क्योंकि प्राणी हस्तसे ही कर्म करता है । त्वचा ही ग्रह है, वह स्पर्शरूप अतिग्रहसे गृहीत है; क्योंकि प्राणी त्वचासे ही स्पर्शोंको जानता है । इस प्रकार ये आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं ॥ २–९ ॥

'याज्ञवल्क्य !' ऐसा आर्तभागने कहा, 'यह जो कुछ है सब मृत्युका खाद्य है; सो वह देवता कौन है, जिसका खाद्य मृत्यु है ?' [इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—] 'अग्नि ही मृत्यु है, वह जलका खाद्य है । [इस प्रकारके ज्ञानसे] पुनर्मृत्युका पराजय होता है' ॥ १० ॥

'याज्ञवल्क्य !' ऐसा आर्तभागने कहा, 'जिस समय यह मनुष्य मरता है, उस समय इसके प्राणोंका उत्क्रमण होता है या नहीं ?' 'नहीं, नहीं' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'वे यहाँ ही लीन हो जाते हैं । वह फूल जाता है अर्थात् वायुको भीतर खींचता है और वायुसे पूर्ण हुआ ही मृत होकर पड़ा रहता है' ॥ ११ ॥

'याज्ञवल्क्य !' ऐसा आर्तभागने कहा, 'जिस समय यह पुरुष मरता है, उस समय इसे क्या नहीं छोड़ता ?' [याज्ञवल्क्य—] 'नाम नहीं छोड़ता, नाम अनन्त ही हैं, विश्वेदेव भी अनन्त ही हैं; इस आनन्त्यदर्शनके द्वारा वह अनन्त लोकको ही जीत लेता है' ॥ १२ ॥

'याज्ञवल्क्य !' ऐसा आर्तभागने कहा, 'जिस समय इस मृतपुरुषकी वाणी अग्निमें लीन हो जाती है तथा प्राण वायुमें, चक्षु आदित्यमें, मन चन्द्रमामें, श्रोत्र दिशामें, शरीर पृथिवीमें, हृदयाकाश भूताकाशमें, रोम ओषधियोंमें और केश वनस्पतियोंमें लीन हो जाते हैं तथा रक्त और वीर्य जलमें स्थापित हो जाते हैं, उस समय यह पुरुष कहाँ रहता है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'प्रियदर्शन आर्तभाग ! तू मुझे अपना हाथ पकड़ा, हम दोनों ही इस प्रश्नका उत्तर जानेंगे; यह प्रश्न जनसमुदायमें होने योग्य नहीं है ।' तब उन दोनोंने उठकर [एकान्तमें] विचार किया । उन्होंने जो कुछ कहा, वह कर्म ही कहा, तथा जिसकी प्रशंसा की, वह कर्मकी ही प्रशंसा की । वह यह कि पुरुष पुण्यकर्मसे पुण्यवान् होता है और पापकर्मसे पापी होता है । इसके पीछे जारत्कारव आर्तभाग चुप हो गया ॥ १३ ॥

तृतीय ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य और लाह्यायनि भुज्युका संवाद

फिर इस याज्ञवल्क्यसे लाह्यायनि भुज्युने पूछा; वह बोला, 'याज्ञवल्क्य ! हम व्रताचरण करते हुए मद्रदेशमें विचर रहे थे कि कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चलके घर पहुँचे। उसकी पुत्री गन्धर्वसे गृहीत थी। (अर्थात् उसपर गन्धर्वका आवेश था) हमने उससे पूछा, 'तू कौन है ?' वह बोला, 'आङ्गिरस सुधन्वा हूँ।' जब उससे लोकोंके अन्तके विषयमें पूछा तो हमने उससे यों कहा, 'पारिक्षित कहाँ रहे ? पारिक्षित कहाँ रहे ?' सो हम तुमसे पूछते हैं कि 'पारिक्षित कहाँ रहे ?' ॥१॥

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'उस गन्धर्वने निश्चय यह कहा था कि वे वहाँ चले गये, जहाँ अश्वमेध यज्ञ करनेवाले जाते हैं।' [भुज्यु—] 'अच्छा तो, अश्वमेधयाजी कहाँ जाते हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'यह लोक बत्तीस देवरथाह्न्य* है। उसे चारों ओरसे दूनी पृथिवी घेरे हुए है। उस पृथिवीको सब ओरसे दूना समुद्र घेरे हुए है। सो जितनी पतली छुरेकी धार होती है, अथवा जितना सूक्ष्म मक्खीका पंख होता है, उतना उन अण्डकपालोंके मध्यमें आकाश है। इन्द्र (चित्य अग्नि) ने पक्षी होकर उन पारिक्षितोंको वायुको दिया। उन्हें वायु अपने स्वरूपमें स्थापितकर वहाँ ले गया, जहाँ अश्वमेधयाजी रहते हैं; इस प्रकार उस गन्धर्वने वायुकी ही प्रशंसा की थी। अतः वायु ही व्यष्टि है और वायु ही समष्टि है। जो ऐसा जानता है, वह पुनर्मृत्युको जीत लेता है।' तब लाह्यायनि भुज्यु चुप हो गया ॥ २ ॥

चतुर्थ ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य और चाक्रायण उषस्तका संवाद

फिर उस याज्ञवल्क्यसे चाक्रायण उषस्तने पूछा; वह बोला, 'याज्ञवल्क्य ! जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी मेरे प्रति व्याख्या करो।' [याज्ञवल्क्य—] 'यह तेरा आत्मा ही सर्वान्तर है।' [उषस्त—] 'याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्तर कौन-सा है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'जो प्राणसे प्राणक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है; जो अपानसे अपान-क्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है; जो व्यानसे व्यानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है; जो उदानसे उदानक्रिया करता है, वह तेरा आत्मा सर्वान्तर है। यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है' ॥ १ ॥

उस चाक्रायण उषस्तने कहा, 'जिस प्रकार कोई [चलना और दौड़ना दिखाकर] कहे कि यह (चलनेवाला) बैल है, यह (दौड़नेवाला) घोड़ा है, उसी प्रकार तुम्हारा यह कथन है; अतः जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसे तुम स्पष्टतया बतलाओ।' [याज्ञवल्क्य—] 'यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है।' [उषस्त—] 'हे याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्तर कौन-सा है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'तुम दृष्टिके द्रष्टाको नहीं देख सकते, श्रुतिके श्रोताको नहीं सुन सकते, मतिके मन्ताका मनन नहीं कर सकते, विज्ञातिके विज्ञाताको नहीं जान सकते। तुम्हारा यह आत्मा सर्वान्तर है, इससे भिन्न आर्त (नाशवान्) है।' इसके पश्चात् चाक्रायण उषस्त चुप हो गया ॥ २ ॥

पञ्चम ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य और कहोलका संवाद; ब्रह्म और आत्माकी व्याख्या

फिर इस याज्ञवल्क्यसे कौषीतकेय कहोलने पूछा; उसने 'याज्ञवल्क्य !' इस प्रकार सम्बोधित करके कहा—'जो भी साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा है, उसकी तुम मेरे प्रति व्याख्या करो।' [यह सुनकर याज्ञवल्क्यने कहा—] 'यह तुम्हारा आत्मा सर्वान्तर है।' [कहोल—] 'याज्ञवल्क्य ! वह सर्वान्तर कौन-सा है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'जो क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्युसे परे है, उस पूर्वोक्त आत्माको ही जानकर ब्राह्मण पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणासे अलग हटकर भिक्षाचर्यासे विचरते हैं। जो भी पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है और जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है। ये दोनों ही [साध्य—साधनेच्छाएँ] एषणाएँ ही हैं। अतः ब्राह्मण पाण्डित्य (आत्मज्ञान) का पूर्णतया सम्पादन करके आत्मज्ञानरूप बलसे स्थित रहनेकी इच्छा करे।

* सूर्यके रथकी गतिसे एक दिनमें संसारका जितना भाग नापा जाय उसे 'देवरथाह्न्य' कहते हैं।

फिर बाल्य और पाण्डित्यको पूर्णतया प्राप्तकर वह मुनि होता है तथा अमौन और मौनका पूर्णतया सम्पादन करके ब्राह्मण (कृतकृत्य) होता है। वह किस प्रकार ब्राह्मण होता है ? जिस प्रकार भी हो, ऐसा ही ब्राह्मण होता है; इससे भिन्न और सब आर्त (नाशवान्) है ।' तब कौषीतकेय कहोल चुप हो गया ॥ १ ॥

षष्ठ ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य और गार्गीका संवाद

फिर इस याज्ञवल्क्यसे वचक्नुकी पुत्री गार्गीने पूछा; वह बोली, 'याज्ञवल्क्य ! यह जो कुछ है, सब जलमें ओतप्रोत है; किंतु वह जल किसमें ओतप्रोत है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि ! वायुमें ।' [गार्गी—] 'वायु किसमें ओतप्रोत है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि ! अन्तरिक्षलोकोंमें ।' [गार्गी—] 'अन्तरिक्षलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि ! गन्धर्वलोकोंमें ।' [गार्गी—] 'गन्धर्वलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि ! आदित्यलोकोंमें ।' [गार्गी—] 'आदित्यलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि ! चन्द्रलोकोंमें ।' [गार्गी—] 'चन्द्रलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि ! नक्षत्रलोकोंमें ।' [गार्गी—] 'नक्षत्रलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि ! देवलोकोंमें ।' [गार्गी—] 'देवलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि ! इन्द्रलोकोंमें ।' [गार्गी—] 'इन्द्रलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि ! प्रजापतिलोकोंमें ।' [गार्गी—] 'प्रजापतिलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गार्गि ! ब्रह्मलोकोंमें ।' [गार्गी—] 'ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' इसपर याज्ञवल्क्यने कहा—'हे गार्गि ! अतिप्रश्न मत कर । तेरा मस्तक न गिर जाय ! तू, जिसके विषयमें अतिप्रश्न नहीं करना चाहिये, उस देवताके विषयमें अतिप्रश्न कर रही है । हे गार्गि ! तू अतिप्रश्न न कर ।' तब वचक्नुकी पुत्री गार्गी उपरत हो गयी ॥ १ ॥

सप्तम ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य तथा आरुणि उद्दालकका संवाद; आत्माके स्वरूपका वर्णन

फिर इस याज्ञवल्क्यसे आरुणि उद्दालकने पूछा; वह बोला, 'याज्ञवल्क्य ! हम मद्रदेशमें यज्ञशास्त्रका अध्ययन करते हुए कपिगोत्रोत्पन्न पतञ्चलके घर रहते थे। उसकी भार्या गन्धर्वद्वारा गृहीत थी । हमने उस (गन्धर्व) से पूछा, 'तू कौन है ?' उसने कहा, 'मैं आथर्वण कबन्ध हूँ ।' उसने कपिगोत्रीय पतञ्चल और उसके याज्ञिकोंसे पूछा, 'काप्य ! क्या तुम उस सूत्रको जानते हो, जिसके द्वारा यह लोक, परलोक और सारे भूत ग्रथित हैं ?' तब उस काप्य पतञ्चलने कहा, 'भगवन् ! मैं उसे नहीं जानता ।' उसने पतञ्चल काप्य और याज्ञिकोंसे कहा, 'काप्य ! क्या तुम उस अन्तर्यामीको जानते हो जो इस लोक, परलोक और समस्त भूतोंको भीतरसे नियमित करता है ?' उस पतञ्चल काप्यने कहा, 'भगवन् ! मैं उसे नहीं जानता ।' उसने पतञ्चल काप्य और याज्ञिकोंसे कहा, 'काप्य ! जो कोई उस सूत्र और उस अन्तर्यामीको जानता है, वह ब्रह्मवेत्ता है, वह लोकवेत्ता है, वह देववेत्ता है, वह वेदवेत्ता है, वह भूतवेत्ता है, वह आत्मवेत्ता है और वह सर्ववेत्ता है ।' तथा इसके पश्चात् गन्धर्वने उन (काप्य आदि) से सूत्र और अन्तर्यामीको बताया। उसे मैं जानता हूँ । हे याज्ञवल्क्य ! यदि उस सूत्र और अन्तर्यामीको न जाननेवाले होकर ब्रह्मवेत्ताकी स्वभूत गौओंको ले जाओगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा ।' [याज्ञवल्क्य—] 'हे गौतम ! मैं उस सूत्र और अन्तर्यामीको जानता हूँ ।' [उद्दालक—] 'ऐसा तो जो कोई भी कह सकता है—'मैं जानता हूँ, मैं जानता हूँ' [किंतु यों व्यर्थ ढोल पीटनेसे क्या लाभ ? यदि वास्तवमें तुम्हें उसका ज्ञान है तो] जिस प्रकार तुम जानते हो वह कहो' ॥ १ ॥

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'गौतम ! वायु ही वह सूत्र है; गौतम ! वायुरूप सूत्रके द्वारा ही यह लोक, परलोक और समस्त भूतसमुदाय गुथे हुए हैं। हे गौतम ! इसीसे मरे हुए पुरुषको ऐसा कहते हैं कि इसके अंग विस्रस्त (विशीर्ण) हो गये हैं; क्योंकि हे गौतम ! वे वायुरूप सूत्रसे ही संग्रथित होते हैं ।' [आरुणि—] 'हे याज्ञवल्क्य ! ठीक है, यह तो ऐसा ही है; अब तुम अन्तर्यामीका वर्णन करो' ॥ २ ॥

जो पृथिवीमें रहनेवाला पृथिवीके भीतर है, जिसे पृथिवी

नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है और जो भीतर रहकर पृथिवीका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो जलमें रहनेवाला जलके भीतर है, जिसे जल नहीं जानता, जल जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर जलका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो अग्निमें रहनेवाला अग्निके भीतर है, जिसे अग्नि नहीं जानता, अग्नि जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर अग्निका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो अन्तरिक्षमें रहनेवाला अन्तरिक्षके भीतर है, जिसे अन्तरिक्ष नहीं जानता, अन्तरिक्ष जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर अन्तरिक्षका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो वायुमें रहनेवाला वायुके भीतर है, जिसे वायु नहीं जानता, वायु जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर वायुका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो द्युलोकमें रहनेवाला द्युलोकके भीतर है, जिसे द्युलोक नहीं जानता, द्युलोक जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर द्युलोकका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो आदित्यमें रहनेवाला आदित्यके भीतर है, जिसे आदित्य नहीं जानता, आदित्य जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर आदित्यका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो दिशाओंमें रहनेवाला दिशाओंके भीतर है, जिसे दिशाएँ नहीं जानतीं, दिशाएँ जिसका शरीर हैं और जो भीतर रहकर दिशाओंका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो चन्द्रमा और ताराओंमें रहनेवाला चन्द्रमा और ताराओंके भीतर है, जिसे चन्द्रमा और ताराएँ नहीं जानतीं, चन्द्रमा और ताराएँ जिसका शरीर हैं और जो भीतर रहकर चन्द्रमा और ताराओंका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो आकाशमें रहनेवाला आकाशके भीतर है, जिसे आकाश नहीं जानता, आकाश जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर आकाशका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो तममें रहनेवाला तमके भीतर है, जिसे तम नहीं जानता, तम जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर तमका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो तेजमें रहनेवाला तेजके भीतर है, जिसे तेज नहीं जानता, तेज जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर तेजका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। यह अधिदैवत-दर्शन हुआ, आगे अधिभूत-दर्शन है॥ ३–१४ ॥

जो समस्त भूतोंमें स्थित रहनेवाला समस्त भूतोंके भीतर है, जिसे समस्त भूत नहीं जानते, समस्त भूत जिसके शरीर हैं और जो भीतर रहकर समस्त भूतोंका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। यह अधिभूतदर्शन है, अब अध्यात्मदर्शन कहा जाता है। जो प्राणमें रहनेवाला प्राणके भीतर है, जिसे प्राण नहीं जानता, प्राण जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर प्राणका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो वाणीमें रहनेवाला वाणीके भीतर है, जिसे वाणी नहीं जानती, वाणी जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर वाणीका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो नेत्रमें रहनेवाला नेत्रके भीतर है, जिसे नेत्र नहीं जानता, नेत्र जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर नेत्रका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो श्रोत्रमें रहनेवाला श्रोत्रके भीतर है, जिसे श्रोत्र नहीं जानता, श्रोत्र जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर श्रोत्रका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो मनमें रहनेवाला मनके भीतर है, जिसे मन नहीं जानता, मन जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर मनका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो त्वक्में रहनेवाला त्वक्के भीतर है, जिसे त्वक् नहीं जानती, त्वक् जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर त्वक्का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो विज्ञानमें रहनेवाला विज्ञानके भीतर है, जिसे विज्ञान नहीं जानता, विज्ञान जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर विज्ञानका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। जो वीर्यमें रहनेवाला वीर्यके भीतर है, जिसे वीर्य नहीं जानता, वीर्य जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर वीर्यका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। वह दिखायी न देनेवाला किंतु देखनेवाला है, सुनायी न देनेवाला किंतु सुननेवाला है, मननका विषय न होनेवाला किंतु मनन करनेवाला है और विशेषतया ज्ञात न होनेवाला किंतु विशेषरूपसे जाननेवाला है; यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इससे भिन्न सब नाशवान् है। इसके पश्चात् अरुणका पुत्र उद्दालक प्रश्न करनेसे निवृत्त हो गया ॥ १५–२३ ॥

अष्टम ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य-गार्गीका संवाद; अक्षरके नामसे आत्मस्वरूपका वर्णन

फिर वाचक्नवीने कहा, 'पूजनीय ब्राह्मणगण ! अब मैं इनसे दो प्रश्न पूछूँगी । यदि ये मेरे उन प्रश्नोंका उत्तर दे देंगे तो फिर आपमेंसे कोई भी इन्हें ब्रह्मसम्बन्धी वादमें नहीं जीत सकेगा ।' [ब्राह्मण—] 'अच्छा गार्गि ! पूछ' ॥ १ ॥

वह बोली, 'याज्ञवल्क्य ! जिस प्रकार काशी या विदेह-का रहनेवाला कोई वीर-वंशज पुरुष प्रत्यञ्चाहीन धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर शत्रुओंको अत्यन्त पीड़ा देनेवाले दो फलवाले शर हाथमें लेकर खड़ा होता है, उसी प्रकार मैं दो प्रश्न लेकर तुम्हारे सामने उपस्थित होती हूँ; तुम मुझे उनका उत्तर दो ।' इसपर याज्ञवल्क्यने कहा, 'गार्गि ! पूछ' ॥ २ ॥

वह बोली, 'याज्ञवल्क्य ! जो द्युलोकसे ऊपर है, जो पृथिवीसे नीचे है और जो द्युलोक और पृथिवीके मध्यमें है और स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, वर्तमान और भविष्य—इस प्रकार कहते हैं, वे किसमें ओतप्रोत हैं ?' ॥ ३ ॥

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'गार्गि ! जो द्युलोकसे ऊपर, पृथिवीसे नीचे और जो द्युलोक एवं पृथिवीके मध्यमें है और स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, वर्तमान एवं भविष्य—इस प्रकार कहते हैं, वे सब आकाशमें ओतप्रोत हैं' ॥ ४ ॥

वह बोली, 'याज्ञवल्क्य ! आपको नमस्कार है, जिन्होंने मुझे इस प्रश्नका उत्तर दे दिया; अब आप दूसरे प्रश्नके लिये तैयार हो जाइये ।' [याज्ञवल्क्य—] 'गार्गि ! पूछ' ॥ ५ ॥

वह बोली, 'याज्ञवल्क्य ! जो द्युलोकसे ऊपर है, जो पृथिवीसे नीचे है और जो द्युलोक और पृथिवीके मध्यमें है और स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं तथा जिन्हें भूत, वर्तमान और भविष्य—इस प्रकार कहते हैं, वे किसमें ओतप्रोत हैं ?' ॥ ६ ॥

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'गार्गि ! जो द्युलोकसे ऊपर, पृथिवीसे नीचे और जो द्युलोक एवं पृथिवीके मध्यमें है तथा स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं और जिन्हें भूत, वर्तमान और भविष्य—इस प्रकार कहते हैं, वे सब आकाशमें ही ओतप्रोत हैं ।' [गार्गी—] 'किंतु आकाश किसमें ओतप्रोत है ?' ॥ ७ ॥

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'गार्गि ! उस इस तत्त्वको तो ब्रह्मवेत्ता अक्षर कहते हैं; वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न द्रव है, न छाया है, न तम (अन्धकार) है, न वायु है, न आकाश है, न संगवान् है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, उसमें न भीतर है, न बाहर है; वह कुछ भी नहीं खाता, उसे कोई भी नहीं खाता' ॥ ८ ॥

'गार्गि ! इस अक्षरके ही प्रशासनमें सूर्य और चन्द्रमा विशेषरूपसे धारण किये हुए स्थित रहते हैं । हे गार्गि ! इस अक्षरके ही प्रशासनमें द्युलोक और पृथिवी विशेषरूपसे धारण किये हुए स्थित रहते हैं । हे गार्गि ! इस अक्षरके ही प्रशासनमें निमेष, मुहूर्त्त, दिन-रात, अर्धमास (पक्ष), मास, ऋतु और संवत्सर विशेषरूपसे धारण किये हुए स्थित रहते हैं । हे गार्गि ! इस अक्षरके ही प्रशासनमें पूर्ववाहिनी एवं अन्य नदियाँ श्वेत पर्वतोंसे बहती हैं तथा अन्य पश्चिमवाहिनी नदियाँ जिस-जिस दिशाको बहने लगती हैं, उसीका अनुसरण करती रहती हैं । हे गार्गि ! इस अक्षरके ही प्रशासनमें मनुष्य दाताकी प्रशंसा करते हैं तथा देवगण यजमानका और पितृगण दर्वीहोमका अनुवर्तन करते हैं । गार्गि ! जो कोई इस लोकमें इस अक्षरको न जानकर हवन करता, यज्ञ करता और अनेकों सहस्र वर्षपर्यन्त तप करता है, उसका वह सब कर्म अन्तवाला ही होता है । जो कोई भी इस अक्षरको बिना जाने इस लोकसे मरकर जाता है, वह कृपण (दीन) है और हे गार्गि ! जो इस अक्षरको जानकर इस लोकसे मरकर जाता है, वह ब्राह्मण है । हे गार्गि ! यह अक्षर स्वयं दृष्टिका विषय नहीं, किन्तु द्रष्टा है; श्रवणका विषय नहीं, किन्तु श्रोता है; मननका विषय नहीं, किन्तु मन्ता है; स्वयं अविज्ञात रहकर दूसरोंका विज्ञाता है । इससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है, इससे भिन्न कोई श्रोता नहीं है, इससे भिन्न कोई मन्ता नहीं है और इससे भिन्न कोई विज्ञाता नहीं है । हे गार्गि ! निश्चय इस अक्षरमें ही आकाश ओत-प्रोत है' ॥ ९—११ ॥

उस गार्गीने कहा, 'पूज्य ब्राह्मणगण ! आपलोग इसीको

बहुत मानें कि इन याज्ञवल्क्यजीसे आपको नमस्कारद्वारा ही छुटकारा मिल जाय। आपमेंसे कोई भी कभी इन्हें ब्रह्मविषयक वादमें जीतनेवाला नहीं है।' तदनन्तर वचक्नुकी पुत्री गार्गी चुप हो गयी ॥ १२ ॥

नवम ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य-शाकल्यका संवाद और याज्ञवल्क्यकी विजय

इसके पश्चात् इस याज्ञवल्क्यसे शाकल्य विदग्धने पूछा, 'याज्ञवल्क्य ! कितने देवगण हैं ?' तब याज्ञवल्क्यने इस आगे कही जानेवाली निविद्से ही उनकी संख्याका प्रतिपादन किया। 'वैश्वदेवकी निविद्में अर्थात् देवताओंकी संख्या बतानेवाले मन्त्रपदोंमें जितने बतलाये गये हैं, वे तीन और तीन सौ तथा तीन और तीन सहस्र (तीन हजार तीन सौ छः) हैं।' [तब शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा। फिर पूछा, 'याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?' याज्ञवल्क्यने कहा, 'तैंतीस'। [शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा और पूछा 'तो, याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'छः'। [शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा और फिर पूछा, 'याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'तीन।' [शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा और पुनः पूछा, 'याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'दो।' [शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा और पूछा, 'याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'डेढ़।' [शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा और पूछा, 'याज्ञवल्क्य ! कितने देव हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'एक।' [शाकल्यने] 'ठीक है' ऐसा कहा और पूछा 'वे तीन और तीन सौ तथा तीन और तीन सहस्र देव कौन-से हैं ?' ॥ १ ॥

उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'ये तो इनकी महिमाएँ ही हैं। देवगण तो तैंतीस ही हैं।' [शाकल्य—] 'वे तैंतीस देव कौन-से हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य—ये इकतीस देवगण हैं तथा इन्द्र और प्रजापतिके सहित तैंतीस हैं' ॥ २ ॥

[शाकल्य—] 'वसु कौन हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्रमा और नक्षत्र—ये वसु हैं; इन्हींमें यह सब जगत् निहित है, इसीसे ये वसु हैं' ॥ ३ ॥

[शाकल्य—] 'रुद्र कौन हैं' [याज्ञवल्क्य—] 'पुरुषमें ये दस प्राण (इन्द्रियाँ) और ग्यारहवाँ आत्मा (मन)। ये जिस समय इस मरणशील शरीरसे उत्क्रमण करते हैं, उस समय रुलाते हैं; अतः उत्क्रमणकालमें अपने सम्बन्धियोंको रुलाते हैं; इसलिये रोदनके कारण होनेसे 'रुद्र' कहलाते हैं' ॥ ४ ॥

[शाकल्य—] 'आदित्य कौन हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'संवत्सरके अवयवभूत ये बारह मास ही आदित्य हैं; क्योंकि ये इस सबका आदान (ग्रहण) करते हुए चलते हैं, इसलिये आदित्य हैं' ॥ ५ ॥

[शाकल्य—] 'इन्द्र कौन है और प्रजापति कौन है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'स्तनयित्नु (विद्युत्) ही इन्द्र है और यज्ञ प्रजापति है।' [शाकल्य—] 'स्तनयित्नु कौन है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'वज्र।' [शाकल्य—] 'यज्ञ कौन है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'पशुगण' ॥ ६ ॥

[शाकल्य—] 'छः देवगण कौन हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्युलोक—ये छः देवगण हैं। ये वसु आदि तैंतीस देवताओंके रूपमें अग्नि आदि छः ही हैं' ॥ ७ ॥

[शाकल्य—] 'वे तीन देव कौन हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'ये तीन लोक ही तीन देव हैं। इन्हींमें ये सब देव अन्तर्भूत हैं।' [शाकल्य—] 'वे दो देव कौन हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'अन्न और प्राण।' [शाकल्य—] 'डेढ़ देव कौन हैं ?' [याज्ञवल्क्य—] 'जो यह बहता है' ॥ ८ ॥

यहाँ ऐसा कहते हैं—'यह जो वायु है, एकही-सा बहता है; फिर यह अध्यर्ध—डेढ़ किस प्रकार है ?' [उत्तर—] 'क्योंकि इसीमें यह सब ऋद्धिको प्राप्त होता है, इसलिये यह अध्यर्ध (डेढ़) है।' [शाकल्य—] 'एक देव कौन है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'प्राण; वह ब्रह्म है, उसीको 'त्यत्' ऐसा कहते हैं' ॥ ९ ॥

[शाकल्य—] 'पृथिवी ही जिसका आयतन है तथा अग्नि लोक (दर्शनशक्ति) और मन ज्योति (संकल्प-विकल्पका साधन) है, जो भी उस पुरुषको सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करणसमूहका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता (पण्डित) है। याज्ञवल्क्य ! [तुम तो बिना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो !]।' [याज्ञवल्क्य—] 'जिसे तुम सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्य-करण-संघातका परम आश्रय बतलाते हो,

उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। यह जो शारीर-पुरुष है, वही यह है। शाकल्य ! और बोलो।' [शाकल्य—] 'अच्छा, उसका देवता कौन है ?' तब याज्ञवल्क्यने 'अमृत' ऐसा कहा ॥ १० ॥

[शाकल्य—] 'काम ही जिसका आयतन है, हृदय लोक है और मन ज्योति है, उस पुरुषको जो भी सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्य-करण-समूहका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता है। याज्ञवल्क्य ! [तुम तो विना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो !]।' [याज्ञवल्क्य—] 'जिसे तुम सम्पूर्ण आध्यात्मिक कार्य-करण-संघातका परम आश्रय बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह काममय पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका कौन देवता है ?' तब याज्ञवल्क्यने कहा—'स्त्रियाँ' ॥ ११ ॥

[शाकल्य—] 'रूप ही जिसका आयतन है, चक्षु लोक है और मन ज्योति है, जो भी उस पुरुषको सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-समूहका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता है। हे याज्ञवल्क्य! [तुम तो विना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो !]।' [याज्ञवल्क्य—] 'तुम जिसे सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-समूहका परम आश्रय बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह आदित्यमें पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका देवता कौन है ?' तब याज्ञवल्क्यने 'सत्य' ऐसा कहा॥ १२ ॥

[शाकल्य—] 'आकाश ही जिसका आयतन है, श्रोत्र लोक है और मन ज्योति है, जो भी उस पुरुषको सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-समूहका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता है। हे याज्ञवल्क्य ! [तुम तो विना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो !]।' [याज्ञवल्क्य—] 'तुम जिसे सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-समूहका परम आश्रय कहते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह श्रोत्रसम्बन्धी प्रातिश्रुत्क पुरुष है, यही वह है; हे शाकल्य ! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका कौन देवता है ?' तब याज्ञवल्क्यने 'दिशाएँ' ऐसा कहा ॥ १३ ॥

[शाकल्य—] 'तम ही जिसका आयतन है, हृदय लोक है, मन ज्योति है, जो भी उस पुरुषको सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-समूहका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता है, याज्ञवल्क्य ! [तुम तो बिना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो !]।' [याज्ञवल्क्य—] 'तुम जिसे समस्त आध्यात्मिक कार्य-करण-समूहका परम आश्रय बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह छायामय पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका कौन देवता है ?' तब याज्ञवल्क्यने 'मृत्यु' ऐसा कहा ॥ १४ ॥

[शाकल्य—] 'रूप ही जिसका आयतन है, नेत्र लोक है और मन ज्योति है, उस पुरुषको जो भी सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-संघातका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता है। हे याज्ञवल्क्य ! [तुम तो विना जाने ही पण्डित होनेका अभिमान कर रहे हो !]।' [याज्ञवल्क्य—] 'तुम जिसे सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-संघातका परम आश्रय बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह आदर्श (दर्पण) के भीतर पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका देवता कौन है ?' तब याज्ञवल्क्यने 'असु' ऐसा कहा ॥ १५ ॥

[शाकल्य—] 'जल ही जिसका आयतन है, हृदय लोक है और मन ज्योति है, उस पुरुषको जो भी सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-संघातका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता है। हे याज्ञवल्क्य ! [तुम तो विना जाने ही विद्वान् होनेका अभिमान कर रहे हो !]।' [याज्ञवल्क्य—] 'जिसे तुम सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-समूहका परम आश्रय बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह जलमें पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका कौन देवता है ?' तब याज्ञवल्क्यने 'वरुण' ऐसा कहा ॥ १६ ॥

[शाकल्य—] 'वीर्य ही जिसका आयतन है, हृदय लोक है और मन ज्योति है, जो भी उस पुरुषको सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-संघातका परम आश्रय जानता है, वही ज्ञाता है। हे याज्ञवल्क्य ! [तुम तो विना जाने ही विद्वान् होनेका अभिमान कर रहे हो !]' [याज्ञवल्क्य—] 'जिसे तुम सम्पूर्ण अध्यात्म कार्य-करण-संघातका परम आश्रय बतलाते हो, उस पुरुषको तो मैं जानता हूँ। जो भी यह पुत्ररूप पुरुष है, वही यह है। हे शाकल्य ! और बोलो।' [शाकल्य—] 'उसका कौन देवता है ?' तब याज्ञवल्क्यने 'प्रजापति' ऐसा कहा ॥ १७ ॥

'शाकल्य !' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'इन ब्राह्मणोंने निश्चय ही तुम्हें अंगारे निकालनेका चिमटा बना रक्खा है' ॥ १८ ॥

'हे याज्ञवल्क्य !' ऐसा शाकल्यने कहा, 'यह जो तुम इन कुरुपाञ्चालदेशीय ब्राह्मणोंपर आक्षेप करते हो सो क्या तुम ब्रह्मवेत्ता हो—ऐसा समझकर करते हो ?' [याज्ञवल्क्य—मेरा ब्रह्मज्ञान यह है कि] 'मैं देवता और प्रतिष्ठाके सहित

दिशाओंका ज्ञान रखता हूँ।' [शाकल्य—] 'यदि तुम देवता और प्रतिष्ठाके सहित दिशाओंको जानते हो [तो बताओ] इस पूर्वदिशामें तुम किस देवतासे युक्त हो?' [याज्ञवल्क्य—] 'वहाँ मैं आदित्य (सूर्य) देवतावाला हूँ।' [शाकल्य—] 'वह आदित्य किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'नेत्रमें।' [शाकल्य—] 'नेत्र किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'रूपोंमें, क्योंकि पुरुष नेत्रसे ही रूपोंको देखता है।' [शाकल्य—] 'रूप किसमें प्रतिष्ठित है?' याज्ञवल्क्यने कहा, 'हृदयमें, क्योंकि पुरुष हृदयसे ही रूपोंको जानता है, अतः हृदयमें ही रूप प्रतिष्ठित हैं।' [शाकल्य—] 'हे याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है' ॥ १९-२० ॥

'इस दक्षिण दिशामें तुम कौन-से देवतावाले हो?' [याज्ञवल्क्य—] 'यमदेवतावाला हूँ।' [शाकल्य—] 'वह यमदेवता किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'यज्ञमें।' [शाकल्य—] 'यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'दक्षिणामें।' [शाकल्य—] 'दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'श्रद्धामें; क्योंकि जब पुरुष श्रद्धा करता है, तभी दक्षिणा देता है, अतः श्रद्धामें ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है।' [शाकल्य—] 'श्रद्धा किसमें प्रतिष्ठित है?' याज्ञवल्क्यने कहा, 'हृदयमें; क्योंकि हृदयसे ही पुरुष श्रद्धाको जानता है, अतः हृदयमें ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है।' [शाकल्य—] 'याज्ञवल्क्य यह बात ऐसी ही है' ॥ २१ ॥

'इस पश्चिम दिशामें तुम कौन-से देवतावाले हो?' [याज्ञवल्क्य—] 'वरुणदेवतावाला हूँ।' [शाकल्य—] 'वह वरुण किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] [शाकल्य—] 'जल किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'वीर्यमें।' [शाकल्य—] 'वीर्य किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'हृदयमें; इसीसे पिताके अनुरूप उत्पन्न हुए पुत्रको लोग कहते हैं कि यह मानो पिताके हृदयसे ही निकला है, मानो पिताके हृदयसे ही बना है; क्योंकि हृदयमें ही वीर्य स्थित रहता है।' [शाकल्य—] 'याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है' ॥ २२ ॥

'इस उत्तर दिशामें तुम किस देवतावाले हो?' [याज्ञवल्क्य—] 'सोमदेवतावाला हूँ।' [शाकल्य—] 'वह सोम किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'दीक्षामें।' [शाकल्य—] 'दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'सत्यमें; इसीसे दीक्षित पुरुषसे कहते हैं कि सत्य बोलो; क्योंकि सत्यमें ही दीक्षा प्रतिष्ठित है।' [शाकल्य—] 'सत्य किसमें प्रतिष्ठित है?' 'हृदयमें।' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा। 'क्योंकि पुरुष हृदयसे ही सत्यको जानता है, अतः हृदयमें ही सत्य प्रतिष्ठित है।' [शाकल्य—] 'याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है' ॥ २३ ॥

'इस ध्रुवा दिशामें तुम कौन देवतावाले हो?' [याज्ञवल्क्य—] 'अग्निदेवतावाला हूँ।' [शाकल्य—] 'वह अग्नि किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'वाक्‌में।' [शाकल्य—] 'वाक् किसमें प्रतिष्ठित है?' [याज्ञवल्क्य—] 'हृदयमें।' [शाकल्य—] 'हृदय किसमें प्रतिष्ठित है?' ॥ २४ ॥

याज्ञवल्क्यने 'अहल्लिक! (प्रेत!)' ऐसा सम्बोधन करके कहा—'जिस समय तुम इसे हमसे अलग मानते हो, उस समय यदि यह (हृदय—आत्मा) हमसे अलग हो जाय तो इस शरीरको कुत्ते खा जायँ अथवा इसे पक्षी चोंच मारकर मथ डालें' ॥ २५ ॥

'तुम (शरीर) और आत्मा (हृदय) किसमें प्रतिष्ठित हो?' [याज्ञवल्क्य—] 'प्राणमें।' [शाकल्य—] 'प्राण किसमें प्रतिष्ठित है?' 'अपानमें।' 'अपान किसमें प्रतिष्ठित है?' 'व्यानमें।' 'व्यान किसमें प्रतिष्ठित है?' 'उदानमें।' 'उदान किसमें प्रतिष्ठित है?' 'समानमें।' 'जिसका [मधुकाण्डमें] 'नेति-नेति' ऐसा कहकर निरूपण किया गया है, वह आत्मा अगृह्य है—वह ग्रहण नहीं किया जा सकता, अशीर्य है—वह शीर्ण (नष्ट) नहीं होता, असङ्ग है—वह संसक्त नहीं होता, असित है—वह व्यथित और हिंसित नहीं होता। ये आठ (पृथिवी आदि) आयतन हैं, आठ (अग्नि आदि) लोक हैं, आठ (अमृतादि) देव हैं और आठ (शारीरादि) पुरुष हैं। वह जो उन पुरुषोंको निश्चयपूर्वक जानकर उनका अपने हृदयमें उपसंहार करके औपाधिक धर्मोंका अतिक्रमण किये हुए है, उस औपनिषद पुरुषको मैं पूछता हूँ; यदि तुम मुझे उसे स्पष्टतया न बतला सकोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायगा।' याज्ञवल्क्यने यों कहा, किंतु शाकल्य उसे नहीं जानता था, इसलिये बता नहीं सका एवं उसका मस्तक गिर गया। यही नहीं, अपितु चोरलोग उसकी हड्डियोंको कुछ और समझकर चुरा ले गये ॥ २६ ॥

फिर याज्ञवल्क्यने कहा, 'पूजनीय ब्राह्मणगण! आपमेंसे जिसकी इच्छा हो, वह मुझसे प्रश्न करे। अथवा आप सभी मुझसे प्रश्न करें। इसी प्रकार आपमेंसे जिसकी इच्छा हो, उससे मैं प्रश्न करता हूँ या आप सभीसे मैं प्रश्न करता हूँ।' किंतु उन ब्राह्मणोंका साहस न हुआ ॥ २७ ॥

याज्ञवल्क्यने उनसे इन श्लोकोंद्वारा प्रश्न किया—वनस्पति (विशालता आदि गुणोंसे युक्त) वृक्ष जैसा (जिन धर्मोंसे युक्त) होता है, पुरुष (जीवका शरीर) भी वैसा ही (उन्हीं धर्मोंसे सम्पन्न) होता है—यह बिल्कुल सत्य है। वृक्षके पत्ते होते हैं और पुरुषके शरीरमें पत्तोंकी जगह रोम होते हैं; पुरुषके शरीरमें जो त्वचा (चाम) है, उसकी समतामें इस वृक्षके बाहरी भागमें छाल होती है। पुरुषकी त्वचासे ही रक्त निकलता है और वृक्षकी भी त्वचा (छाल) से ही गोंद निकलता है। वृक्ष और पुरुषकी इस समानताके कारण ही जिस प्रकार आघात लगनेपर वृक्षसे रस निकलता है, उसी प्रकार चोट खाये हुए पुरुष-शरीरसे रक्त प्रवाहित होता है। पुरुषके शरीरमें मांस होते हैं और वनस्पतिके शकर (छालका भीतरी अंश); पुरुषके स्नायु (शिरा) होते हैं और वृक्षमें किनाट (शकरके भी भीतरका अंशविशेष)। वह किनाट स्नायुकी ही भाँति स्थिर होता है। पुरुषके स्नायु-जालके भीतर जैसे हड्डियाँ होती हैं, वैसे ही वृक्षमें किनाटके भीतर काष्ठ हैं तथा मज्जा तो दोनोंमें मज्जाके ही समान निश्चित की गयी है। किंतु यदि वृक्षको काट दिया जाता है तो वह अपने मूलसे पुनः और भी नवीन होकर अङ्कुरित हो आता है; इसी प्रकार यदि मनुष्यको मृत्यु काट डाले तो वह (वृक्षकी भाँति)किस मूलसे उत्पन्न होगा ?। वह वीर्यसे उत्पन्न होता है—ऐसा तो मत कहो; क्योंकि वीर्य तो जीवित पुरुषसे ही उत्पन्न होता है [मृत पुरुषसे नहीं]। वृक्ष भी [केवल तनेसे ही नहीं उत्पन्न होता,] बीजसे भी उत्पन्न होता है; किंतु बीजसे उत्पन्न होनेवाला वृक्ष भी कट जानेके पश्चात् पुनः अङ्कुरित होकर उत्पन्न होता है, यह प्रत्यक्ष देखा गया है। पर यदि वृक्षको जड़सहित उखाड़ दिया जाय तो वह फिर उत्पन्न नहीं होगा; इसी प्रकार यदि मनुष्यका मृत्यु छेदन कर दे तो वह किस मूलसे उत्पन्न होता है ?। [यदि ऐसा माना जाय कि] पुरुष तो उत्पन्न हो ही गया है, अतः फिर उत्पन्न नहीं होता [तो यह ठीक नहीं; क्योंकि वह मरकर पुनः उत्पन्न होता ही है] ऐसी दशामें मृत्युके पश्चात् इसे पुनः कौन उत्पन्न करेगा ? [यह प्रश्न है; ब्राह्मणोंने इसका कोई उत्तर नहीं दिया, इसलिये श्रुति स्वयं ही उसका निर्देश करती है—] विज्ञान आनन्द ब्रह्म है, वह धनदाता (कर्म करनेवाले यजमान) की परम गति है और ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ताका भी परम आश्रय है ॥ १—७ ॥ ॥ २८ ॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

ॐ

चतुर्थ अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

जनक-याज्ञवल्क्य-संवाद

विदेह जनक आसनपर स्थित था। तभी उसके पास याज्ञवल्क्यजी आये। उनसे [जनकने] कहा, 'याज्ञवल्क्यजी! कैसे पधारे? पशुओंकी इच्छासे, अथवा सूक्ष्मान्त [प्रश्न श्रवण करने] के लिये?' 'राजन्! मैं दोनोंके लिये आया हूँ' ऐसा [याज्ञवल्क्यने] कहा ॥ १ ॥

[याज्ञवल्क्य–] 'तुमसे किसी आचार्यने जो कहा है, वह हम सुनें।' [जनक–] 'मुझसे शिलिनके पुत्र जित्वाने कहा है कि वाक् ही ब्रह्म है।' [याज्ञवल्क्य–] "जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस शिलिनके पुत्रने 'वाक् ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है, क्योंकि न बोलनेवालेको क्या लाभ हो सकता है? किन्तु क्या उसने उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाये हैं?" [जनक–] 'मुझे नहीं बतलाये।' [याज्ञवल्क्य–] 'राजन्! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।' [जनक–] 'याज्ञवल्क्यजी! वह मुझे आप बतलाइये।' [याज्ञवल्क्य–] "वाक् ही उसका आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है; उसकी 'प्रज्ञा' इस प्रकार उपासना करे।" [जनक–] 'याज्ञवल्क्यजी! प्रज्ञता क्या है?' 'राजन्! वाक् ही प्रज्ञता है' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'हे सम्राट्! वाक्से ही बन्धुका ज्ञान होता है और राजन्! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, इष्ट, हुत, आशित (भूखेको अन्न खिलानेसे होनेवाले धर्म), पायित (प्यासेको पानी पिलानेसे होनेवाले धर्म), यह लोक, परलोक और समस्त भूत वाक्से ही जाने जाते हैं। हे सम्राट्! वाक् ही परब्रह्म है। इस प्रकार उपासना करनेवालेको वाक् नहीं त्यागती, सम्पूर्ण भूत उसको उपहार देते हैं। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है।' विदेहराज जनकने कहा—'मैं आपको—जिनसे हाथीके समान बैल उत्पन्न हों ऐसी—सहस्र गौएँ देता हूँ।' उस याज्ञवल्क्यने कहा—'मेरे पिताजीका सिद्धान्त था कि शिष्यको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये' ॥ २ ॥

[याज्ञवल्क्य–] 'तुमसे किसी [आचार्य] ने जो भी कहा है, वह हम सुनें।' [जनक–] "मुझसे शुल्बके पुत्र उदङ्कने 'प्राण ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है।" [याज्ञवल्क्य–] "जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस शुल्बके पुत्रने 'प्राण ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है, क्योंकि प्राणक्रिया न करनेवालेको क्या लाभ हो सकता है? किन्तु क्या उसने उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाये हैं?" [जनक–] 'मुझे नहीं बतलाये।' [याज्ञवल्क्य–] 'राजन्! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।' [जनक–] 'याज्ञवल्क्यजी! वह मुझे आप बतलाइये।' [याज्ञवल्क्य–] "प्राण ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है, उसकी 'प्रिय' इस रूपसे उपासना करे।" [जनक–] 'याज्ञवल्क्यजी! प्रियता क्या है?' 'हे सम्राट्! प्राण ही प्रियता है' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'राजन्! प्राणके लिये ही लोग अयाज्यसे यजन कराते हैं, प्रतिग्रह न लेनेयोग्यसे प्रतिग्रह लेते हैं तथा जिस दिशामें जाते हैं, उसमें ही वधकी आशंका करते हैं। हे सम्राट्! यह सब प्राणके लिये ही होता है। हे राजन्! प्राण ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसे प्राण नहीं त्यागता, उसको सब भूत उपहार देते हैं और वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है।' 'मैं आपको हाथीके समान हृष्ट-पुष्ट बैल उत्पन्न करनेवाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ' ऐसा विदेहराज जनकने कहा। याज्ञवल्क्यने कहा, 'मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये' ॥ ३ ॥

[याज्ञवल्क्य–] 'तुमसे किसी आचार्यने जो भी कहा है, वह हम सुनें।' [जनक–] "मुझसे वृष्णके पुत्र बर्कुने कहा है कि 'चक्षु ही ब्रह्म है'।" [याज्ञवल्क्य–] "जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस वार्ष्णने 'चक्षु ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है, क्योंकि न देखनेवालेको क्या लाभ हो सकता है? किंतु क्या उसने तुम्हें उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाये हैं?" [जनक–] 'मुझे नहीं बतलाये।' [याज्ञवल्क्य–] 'हे सम्राट्! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।' [जनक–] 'याज्ञवल्क्यजी! वह मुझे आप बतलाइये।' [याज्ञवल्क्य–] "चक्षु ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है, इसकी 'सत्य' इस रूपसे उपासना करे।" [जनक–] 'हे याज्ञवल्क्य! सत्यता क्या है?' 'हे राजन्! चक्षु ही सत्यता

है' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा। "हे सम्राट्! चक्षुसे देखनेवालेसे ही 'क्या तूने देखा' ऐसा जब कहा जाता है और वह कहता है कि 'मैंने देखा' तो वह सत्य होता है। राजन्! चक्षु ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसका चक्षु त्याग नहीं करता, सब भूत उसको उपहार देते हैं और वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है।" 'मैं आपको हाथीके समान हृष्ट-पुष्ट बैल उत्पन्न करनेवाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ' ऐसा विदेहराज जनकने कहा। उस याज्ञवल्क्यने कहा, 'मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये' ॥ ४ ॥

[याज्ञवल्क्य–] 'तुमसे किसी आचार्यने जो भी कहा है, वह हम सुनें।' [जनक–] "मुझसे भारद्वाज-गोत्रोत्पन्न गर्दभीविपीतने कहा है कि 'श्रोत्र ही ब्रह्म है'।" [याज्ञवल्क्य–] "जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस भारद्वाजने 'श्रोत्र ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है; क्योंकि न सुननेवालेको क्या लाभ हो सकता है? किंतु क्या उसने तुम्हें उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाये हैं?" [जनक–] 'मुझे नहीं बतलाये।' [याज्ञवल्क्य–] 'हे सम्राट्! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।' [जनक–] 'हे याज्ञवल्क्य! वह मुझे आप बतलाइये।' [याज्ञवल्क्य–] "श्रोत्र ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है, तथा इसकी 'अनन्त' इस रूपसे उपासना करें।" [जनक–] 'हे याज्ञवल्क्य! अनन्तता क्या है?' 'हे सम्राट्! दिशाएँ ही अनन्तता हैं'-ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'इसीसे हे सम्राट्! कोई भी जिस किसी दिशाको जाता है, वह उसका अन्त नहीं पाता; क्योंकि दिशाएँ अनन्त हैं और हे सम्राट्! दिशाएँ ही श्रोत्र हैं। श्रोत्र ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, श्रोत्र उसका त्याग नहीं करता, सब भूत उसको उपहार देते हैं और वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है।' 'मैं आपको हाथीके समान हृष्ट-पुष्ट बैल उत्पन्न करनेवाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ' ऐसा विदेहराज जनकने कहा। याज्ञवल्क्यने कहा, 'मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये' ॥ ५ ॥

[याज्ञवल्क्य–] 'तुमसे किसी आचार्यने जो भी कहा है, वह हम सुनें।' [जनक–] "मुझसे जबालाके पुत्र सत्यकामने कहा है कि 'मन ही ब्रह्म है'।" [याज्ञवल्क्य–] "जैसे मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् कहे, उसी प्रकार उस जबालाके पुत्रने 'मन ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है; क्योंकि मनोहीनको क्या लाभ हो सकता है? किंतु क्या उसने तुम्हें उसके आयतन और प्रतिष्ठा बतलाये हैं।" [जनक–] 'मुझे नहीं बतलाये।' [याज्ञवल्क्य–] 'हे सम्राट्! यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म है।' [जनक–] 'हे याज्ञवल्क्य! वह मुझे आप बतलाइये।' [याज्ञवल्क्य–] "मन ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है, इसकी 'आनन्द' इस रूपसे उपासना करे।" [जनक–] 'याज्ञवल्क्य! आनन्दता क्या है?' 'हे सम्राट्! मन ही आनन्दता है' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'हे राजन्! मनसे ही स्त्रीकी इच्छा करता है; उसमें अनुरूप पुत्र उत्पन्न होता है, वह आनन्द है। हे सम्राट्! मन ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसे मन नहीं त्यागता, सब भूत उसका उपकार करते हैं तथा वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है।' 'मैं आपको हाथीके समान हृष्ट-पुष्ट बैल उत्पन्न करनेवाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ' ऐसा विदेहराज जनकने कहा। याज्ञवल्क्यने कहा, 'मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये' ॥ ६ ॥

[याज्ञवल्क्य–] 'तुमसे किसी आचार्यने जो भी कहा है वह हम सुनें।' [जनक–] "मुझसे विदग्ध शाकल्यने कहा है कि 'हृदय ही ब्रह्म है'।" [याज्ञवल्क्य–] "जिस प्रकार मातृमान्, पितृमान्, आचार्यवान् पुरुष उपदेश करे, उसी प्रकार उस शाकल्यने 'हृदय ही ब्रह्म है' ऐसा कहा है; क्योंकि हृदयहीनको क्या मिल सकता है? किंतु क्या उसने तुम्हें उसके आयतन और प्रतिष्ठा भी बतलाये हैं?" [जनक–] 'मुझे नहीं बतलाये।' [याज्ञवल्क्य–] 'हे सम्राट्! यह तो एक पादवाला ही ब्रह्म है।' [जनक–] 'याज्ञवल्क्य! वह मुझे आप बतलाइये।' [याज्ञवल्क्य–] "हृदय ही आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है तथा इसकी 'स्थिति' इस रूपसे उपासना करे।" [जनक–] 'याज्ञवल्क्य! स्थितता क्या है?' 'हे सम्राट्! हृदय ही स्थितता है' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'राजन्! हृदय ही समस्त भूतोंका आयतन है, हृदय ही सब भूतोंकी प्रतिष्ठा है और हृदयमें ही समस्त भूत प्रतिष्ठित होते हैं। हे सम्राट्! हृदय ही परम ब्रह्म है। जो विद्वान् इसकी इस प्रकार उपासना करता है, उसका हृदय त्याग नहीं करता, सब भूत उसको उपहार समर्पण करते हैं और वह देव होकर देवोंको प्राप्त होता है।' वैदेह जनकने कहा, 'मैं आपको हाथीके समान

हृष्ट-पुष्ट बैल उत्पन्न करनेवाली एक सहस्र गौएँ देता हूँ।' याज्ञवल्क्यने कहा, 'मेरे पिताका विचार था कि शिष्यको उपदेशके द्वारा कृतार्थ किये बिना उसका धन नहीं ले जाना चाहिये' ॥ ७ ॥

द्वितीय ब्राह्मण

याज्ञवल्क्यका जनकको उपदेश

विदेहराज जनकने कूर्च [नामक एक विशेष प्रकारके आसन] से उठकर [याज्ञवल्क्यके] समीप जाकर कहा, 'याज्ञवल्क्यजी! आपको नमस्कार है, मुझे उपदेश कीजिये।' उस (याज्ञवल्क्य) ने कहा, 'राजन्! जिस प्रकार लंबे मार्गको जानेवाला पुरुष सम्यक् प्रकारसे रथ या नौकाका आश्रय ले, उसी प्रकार तुम इन उपनिषदों (उपासनाओं) से युक्त प्राणादि ब्रह्मोंकी उपासना कर समाहितचित्त हो गये हो। इस प्रकार तुम पूज्य, श्रीमान्, अधीतवेद और उक्तोपनिषत्क (जिसे आचार्यने उपनिषद्का उपदेश कर दिया है—ऐसे) हो गये हो। इतना होनेपर भी बताओ तुम इस शरीरसे छूटकर कहाँ जाओगे?' [जनक—] 'भगवन्! मैं कहाँ जाऊँगा, सो मुझे मालूम नहीं है।' [याज्ञवल्क्य—] 'अब मैं तुम्हें यही बतलाऊँगा जहाँ तुम जाओगे।' [जनक—] 'भगवान् मुझे बतलावें' ॥ १ ॥

'यह जो दक्षिण नेत्रमें पुरुष है, इन्ध नामवाला है; उसी इस पुरुषको इन्ध होते हुए भी परोक्षरूपसे इन्द्र कहते हैं; क्योंकि देवगण मानो परोक्षप्रिय हैं, प्रत्यक्षसे द्वेष करनेवाले हैं। और यह जो बायें नेत्रमें पुरुषरूप है, वह इस (इन्द्र) की पत्नी विराट् (अन्न) है; उन दोनोंका यह संस्राव (मिलनका स्थान) है जो कि यह हृदयान्तर्गत आकाश है। उन दोनोंका यह अन्न है जो कि यह हृदयान्तर्गत लाल पिण्ड है। उन दोनोंका यह आवरण है जो कि यह हृदयान्तर्गत जाल-सा है। उन दोनोंका यह मार्ग—सञ्चार करनेका द्वार है जो कि यह हृदयसे ऊपरकी ओर नाडी जाती है। जिस प्रकार सहस्र भागोंमें विभक्त हुआ केश होता है, वैसी ही ये हिता नामकी नाडियाँ हृदयके भीतर स्थित हैं। इन्हींके द्वारा जाता हुआ यह अन्न [शरीर] में जाता है; इसीसे इस (स्थूलशरीराभिमानी वैश्वानर) से यह (सूक्ष्मदेहाभिमानी तैजस) सूक्ष्मतर आहार ग्रहण करनेवाला ही होता है ॥ २-३ ॥

उस विद्वान्के पूर्वदिशा पूर्व प्राण हैं, दक्षिणदिशा दक्षिण प्राण हैं, पश्चिमदिशा पश्चिम प्राण हैं, उत्तरदिशा उत्तर प्राण हैं, ऊपरकी दिशा ऊपरके प्राण हैं, नीचेकी दिशा नीचेके प्राण हैं और सम्पूर्ण दिशाएँ सम्पूर्ण प्राण हैं। वह यह 'नेति-नेति' रूपसे वर्णन किया हुआ आत्मा अगृह्य है—वह ग्रहण नहीं किया जाता; वह अशीर्य है—शीर्ण (नष्ट) नहीं होता, असङ्ग है—उसका सङ्ग नहीं होता; वह अबद्ध है—व्यथित नहीं होता और क्षीण नहीं होता। हे जनक! तू निश्चय अभयको प्राप्त हो गया है'—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा। उस विदेहराज जनकने कहा, 'भगवन् याज्ञवल्क्य! जिन आपने मुझे अभय ब्रह्मका ज्ञान कराया है, उन आपको अभय प्राप्त हो, आपको नमस्कार है, ये विदेह देश और यह मैं आपके अधीन हैं' ॥४॥

तृतीय ब्राह्मण

याज्ञवल्क्यके द्वारा आत्माके स्वरूपका कथन

विदेहराज जनकके पास याज्ञवल्क्य गये। उनका विचार था मैं कुछ उपदेश नहीं करूँगा। किंतु पहले कभी विदेहराज जनक और याज्ञवल्क्यने अग्निहोत्रके विषयमें परस्पर संवाद किया था, उस समय याज्ञवल्क्यने उसे वर दिया था और उसने इच्छानुसार प्रश्न करना ही माँगा था। यह वर याज्ञवल्क्यने उसे दे दिया था; अतः उनसे पहले राजाने ही प्रश्न किया—॥ १ ॥

'याज्ञवल्क्यजी! यह पुरुष किस ज्योतिवाला है?' 'हे सम्राट्! यह आदित्यरूप ज्योतिवाला है'—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा, 'यह आदित्यरूप ज्योतिसे ही बैठता, सब ओर जाता, कर्म करता और लौट आता है।' 'याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है'। [जनक—] 'याज्ञवल्क्य! आदित्यके अस्त हो जानेपर यह पुरुष किस ज्योतिवाला होता है?' [याज्ञवल्क्य—] 'उस समय चन्द्रमा ही इसकी ज्योति होता है; चन्द्रमारूप ज्योतिके द्वारा ही यह बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और लौट आता है।' [जनक—] 'याज्ञवल्क्य! यह बात ऐसी ही है। याज्ञवल्क्यजी! आदित्यके अस्त हो जानेपर तथा चन्द्रमाके अस्त हो जानेपर यह पुरुष किस ज्योतिवाला होता है?' 'अग्नि ही इसकी ज्योति होता है। यह अग्निरूप ज्योतिके द्वारा ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और लौट आता है।'

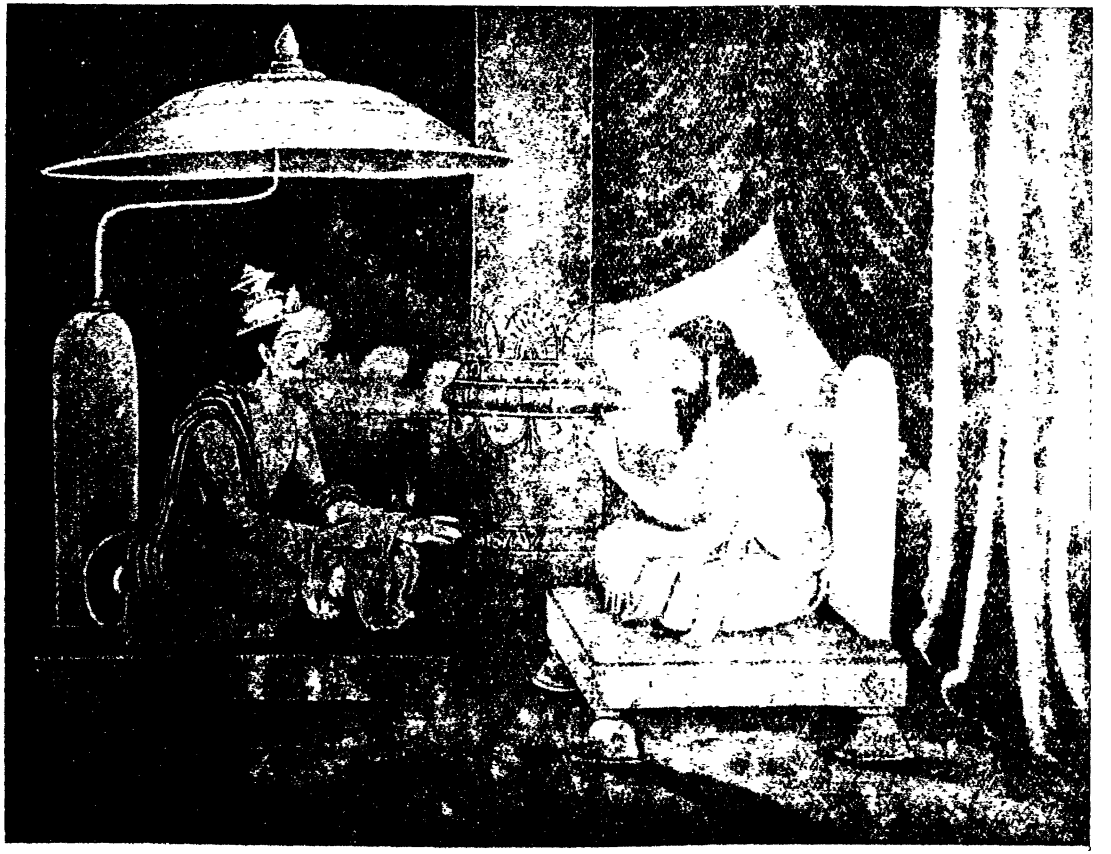

जनक-याज्ञवल्क्य

'याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है । याज्ञवल्क्यजी ! आदित्यके अस्त होनेपर, चन्द्रमाके अस्त होनेपर और अग्निके शान्त होनेपर यह पुरुष किस ज्योतिवाला होता है ?' 'वाक् ही इसकी ज्योति होती है । यह वाक्‌रूप ज्योतिके द्वारा ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और लौट आता है । इसीसे हे सम्राट् ! जहाँ अपना हाथ भी नहीं जाना जाता, वहाँ ज्यों ही वाणीका उच्चारण किया जाता है कि पास चला जाता है ।' 'याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है । याज्ञवल्क्यजी ! आदित्यके अस्त होनेपर, चन्द्रमाके अस्त होनेपर, अग्निके शान्त होनेपर और वाक्‌के भी शान्त होनेपर यह पुरुष किस ज्योतिवाला रहता है ?' 'आत्मा ही इसकी ज्योति होता है । यह आत्मज्योतिके द्वारा ही बैठता, इधर-उधर जाता, कर्म करता और फिर लौट आता है' ॥ २–६ ॥

[जनक—] 'आत्मा कौन है ?' [याज्ञवल्क्य—] 'यह जो प्राणोंमें बुद्धिवृत्तियोंके भीतर रहनेवाला विज्ञानमय ज्योतिःस्वरूप पुरुष है, वह समान (बुद्धिवृत्तियोंके सदृश) हुआ इस लोक और परलोक दोनोंमें सञ्चार करता है । वह [बुद्धिवृत्तिके अनुसार] मानो चिन्तन करता है और [प्राणवृत्तिके अनुरूप होकर] मानो चेष्टा करता है । वही स्वप्न होकर इस लोक (देहेन्द्रिय-सङ्घात) का अतिक्रमण करता है और [शरीर तथा इन्द्रियरूप] मृत्युके रूपोंका भी अतिक्रमण करता है । वह यह पुरुष जन्म लेते समय शरीरको आत्मभावसे प्राप्त होता हुआ पापोंसे (देह और इन्द्रियोंसे) संश्लिष्ट हो जाता है तथा मरते समय—उत्क्रमण करते समय पापोंको त्याग देता है ॥ ७–८ ॥

उस इस पुरुषके दो ही स्थान हैं—यह लोक, परलोक-सम्बन्धी स्थान और तीसरा स्वप्नस्थान सन्ध्यस्थान है । उस सन्ध्यस्थानमें स्थित रहकर यह इस लोकरूप स्थान और परलोकस्थान—इन दोनोंको देखता है । यह पुरुष परलोकस्थानके लिये जैसे साधनसे सम्पन्न होता है, उस साधनका आश्रय लेकर यह पाप (पापका फलरूप दुःख) और आनन्द दोनोंको ही देखता है । जिस समय यह सोता है, उस समय इस सर्वावान् लोककी मात्रा (एकदेश) को लेकर, स्वयं इस स्थूलशरीरको अचेत करके तथा स्वयं ही अपने वासनामय देहको रचकर, अपने प्रकाशसे अर्थात् अपने ज्योतिःस्वरूपसे शयन करता है; इस स्वप्न-अवस्थामें यह पुरुष स्वयं ज्योतिःस्वरूप होता है ॥ ९ ॥

उस अवस्थामें न रथ हैं, न रथमें जोते जानेवाले [अश्वादि] हैं और न मार्ग ही हैं । परंतु यह रथ, रथमें जोते जानेवाले [अश्वादि] और रथके मार्गोंकी रचना कर लेता है । उस अवस्थामें आनन्द, मोद और प्रमोद भी नहीं हैं; किंतु यह आनन्द, मोद और प्रमोदकी रचना कर लेता है । वहाँ छोटे-छोटे कुण्ड, सरोवर और नदियाँ नहीं हैं; यह कुण्ड, सरोवर और नदियोंकी रचना कर लेता है—वही उनका कर्ता है ॥ १० ॥

इस विषयमें ये श्लोक हैं—आत्मा स्वप्नके द्वारा शरीरको निश्चेष्ट करके स्वयं न सोता हुआ सोये हुए समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करता है । वह शुद्ध—इन्द्रियमात्ररूपको लेकर पुनः जागरित-स्थानमें आता है । हिरण्मय (ज्योतिःस्वरूप) पुरुष अकेला ही [दोनों स्थानोंमें] जानेवाला है । इस निकृष्ट शरीरकी प्राणसे रक्षा करता हुआ वह अमृतधर्मा शरीरसे बाहर विचरता है । वह अकेला विचरनेवाला हिरण्मय अमृत पुरुष, जहाँ वासना होती है, वहीं चला जाता है । वह देव स्वप्नावस्थामें ऊँच-नीच भावोंको प्राप्त होता हुआ बहुत-से रूप बना लेता है । इसी प्रकार वह स्त्रियोंके साथ आनन्द मानता हुआ, [मित्रोंके साथ] हँसता हुआ तथा [व्याघ्रादि] भय देखता हुआ-सा रहता है । सब लोग उसके आराम (क्रीडाकी सामग्री) को ही देखते हैं, उसे कोई नहीं देखता । उस सोये हुए आत्माको सहसा न जगावे—ऐसा [वैद्यलोग] कहते हैं । जिस इन्द्रिय-प्रदेशमें यह सोया होता है, उसमें प्राप्त न होनेसे इसका शरीर दुश्चिकित्स्य हो जाता है । इसीसे अवश्य ही कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि यह (स्वप्नस्थान) इसका जागरित देश ही है; क्योंकि जिन पदार्थोंको यह जागनेपर देखता है, उन्हींको सोया हुआ भी देखता है [किंतु यह ठीक नहीं है]; क्योंकि इस अवस्थामें यह पुरुष स्वयंज्योति होता है ।' [जनक—] 'वह मैं जनक श्रीमान्‌को सहस्र मुद्रा देता हूँ, अब आगे मुझे मोक्षके लिये उपदेश कीजिये' ॥ ११—१४ ॥

[याज्ञवल्क्य—] 'वह यह आत्मा इस सुषुप्तिमें रमण और विहार करके पुण्य और पापको केवल देखकर, जैसे आया था और जहाँसे आया था, पुनः स्वप्नस्थानको ही लौट आता है । वहाँ वह जो कुछ देखता है, उससे असम्बद्ध रहता है; क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है ।' [जनक—] 'याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है; मैं श्रीमान्‌को सहस्र मुद्रा देता हूँ; इससे आगे भी मोक्षके लिये ही उपदेश कीजिये' ॥ १५ ॥

[याज्ञवल्क्य—] 'वह यह आत्मा इस स्वप्नावस्थामें रमण और विहार करके तथा पुण्य और पापको देखकर ही फिर जिस प्रकार आया था और जहाँसे आया था, उस जागरित-

स्थानको ही लौट जाता है। वह वहाँ जो कुछ देखता है, उससे असंश्लिष्ट रहता है; क्योंकि यह पुरुष असङ्ग है।' [जनक—] 'याज्ञवल्क्य ! यह बात ऐसी ही है। मैं श्रीमान्-को सहस्र मुद्रा भेंट करता हूँ; इससे आगे आप मोक्षके लिये ही उपदेश कीजिये।' [याज्ञवल्क्य—] 'वह यह पुरुष इस जागरित-अवस्थामें रमण और विहार करके तथा पुण्य और पापको देखकर फिर जिस प्रकार आया था, उसी मार्गसे यथास्थान स्वप्नस्थानको ही लौट जाता है' ॥ १६-१७ ॥

जिस प्रकार कोई बड़ा भारी मत्स्य नदीके पूर्व और अपर दोनों तीरोंपर क्रमशः विचरण करता है, उसी प्रकार यह पुरुष स्वप्नस्थान और जागरितस्थान इन दोनों ही स्थानोंमें क्रमशः विचरण करता है। जिस प्रकार इस आकाशमें श्येन (बाज) अथवा सुपर्ण (तेज उड़नेवाला बाज) सब ओर उड़कर थक जानेपर पंखोंको फैलाकर घोंसलेकी ओर ही उड़ता है, उसी प्रकार यह पुरुष इस स्थानकी ओर दौड़ता है, जहाँ सोनेपर यह किसी भोगकी इच्छा नहीं करता और न कोई स्वप्न ही देखता है ॥ १८-१९ ॥

उसकी वे ये हिता नामकी नाडियाँ, जो सहस्र भागोंमें विभक्त केशके सदृश सूक्ष्मतासे रहती हैं, शुक्ल, नील, पीत, हरित और लाल रंगके रससे पूर्ण हैं। सो जहाँ इस पुरुषको मानो [शत्रु] मारते, मानो अपने वशमें करते और जहाँ मानो इसे हाथी खदेड़ता है अथवा जहाँ यह मानो गड्ढेमें गिरता है; इस प्रकार जो कुछ भी जाग्रदवस्थाके भय देखता है, उसीको इस स्वप्नावस्थामें अविद्यासे मानता-जानता है। और जहाँ यह देवताके समान, राजाके समान अथवा मैं ही यह सब हूँ—ऐसा मानता है, वह इसका परम धाम है ॥ २० ॥

वह इसका कामरहित, पापरहित और अभय रूप है। व्यवहारमें जिस प्रकार अपनी प्रिया भार्याको आलिङ्गन करने-वाले पुरुषको न कुछ बाहरका ज्ञान रहता है और न भीतरका, इसी प्रकार यह पुरुष प्राज्ञात्मासे आलिङ्गित होनेपर न कुछ बाहरका विषय जानता है और न भीतरका; यह इस-का आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोकशून्य रूप है। इस सुषुप्तावस्थामें पिता अपिता हो जाता है, माता अमाता हो जाती है, लोक अलोक हो जाते हैं, देव अदेव हो जाते हैं और वेद अवेद हो जाते हैं। यहाँ चोर अचोर हो जाता है, भ्रूणहत्या करनेवाला अभ्रूणहा हो जाता है तथा चाण्डाल अचाण्डाल, पौल्कस अपौल्कस, श्रमण अश्रमण और तापस अतापस हो जाते हैं। उस समय यह पुरुष पुण्यसे असम्बद्ध तथा पापसे भी असम्बद्ध होता है और हृदयके सम्पूर्ण शोकोंको पार कर जाता है ॥ २१-२२ ॥

वह जो नहीं देखता सो देखता हुआ ही नहीं देखता। द्रष्टाकी दृष्टिका कभी लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। उस समय उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, जिसे देखे। वह जो नहीं सूँघता सो सूँघता हुआ ही नहीं सूँघता; सूँघनेवालेकी गन्धग्रहणशक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, जिसे वह सूँघे। वह जो रसास्वाद नहीं करता, सो रसास्वाद करता हुआ ही नहीं करता। रसास्वाद करने-वालेकी रसग्रहणशक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं, जिसका रस ग्रहण करे। वह जो नहीं बोलता सो बोलता हुआ ही नहीं बोलता। वक्ताकी वचन-शक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न दूसरा कुछ है ही नहीं, जिसके विषय-में वह बोले। वह जो नहीं सुनता सो सुनता हुआ ही नहीं सुनता। श्रोताकी श्रवणशक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, जिसके विषयमें वह सुने। वह जो मनन नहीं करता सो मनन करता हुआ ही मनन नहीं करता। मनन करनेवालेकी मननशक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, जिसके विषयमें वह मनन करे। वह जो स्पर्श नहीं करता सो स्पर्श करता हुआ ही स्पर्श नहीं करता। स्पर्श करनेवालेकी स्पर्शशक्तिका सर्वथा लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं, जिसे वह स्पर्श करे। वह जो नहीं जानता सो नहीं जानता हुआ ही नहीं जानता। विज्ञाताकी विज्ञाति (विज्ञानशक्ति) का सर्वथा लोप नहीं होता; क्योंकि वह अविनाशी है। उस अवस्थामें उससे भिन्न कोई दूसरा पदार्थ ही नहीं होता, जिसे वह विशेषरूपसे जाने ॥ २३—३० ॥

जहाँ (जागरित या स्वप्नावस्थामें) आत्मासे भिन्न अन्य-सा होता है, वहाँ अन्य अन्यको देख सकता है, अन्य अन्यको सूँघ सकता है, अन्य अन्यको चख सकता है, अन्य अन्यको बोल सकता है, अन्य अन्यको सुन सकता है, अन्य अन्यका मनन कर सकता है, अन्य अन्यका

स्पर्श कर सकता है, अन्य अन्यको जान सकता है। परंतु जैसे जलमें वैसे ही सुषुप्तिमें एक अद्वैत द्रष्टा है। हे सम्राट्! यह ब्रह्मलोक है'—ऐसा याज्ञवल्क्यने जनकको उपदेश दिया। 'यह इस (पुरुष) की परमगति है, यह इसकी परम सम्पत्ति है, यह इसका परमलोक है, यह इसका परमानन्द है। इस आनन्दकी मात्राके आश्रित ही अन्य प्राणी जीवन धारण करते हैं ॥ ३१-३२ ॥

वह जो मनुष्योंमें सब अङ्गोंसे पूर्ण समृद्ध, दूसरोंका अधिपति और मनुष्यसम्बन्धी सम्पूर्ण भोगसामग्रियोंद्वारा सबसे अधिक सम्पन्न होता है, वह मनुष्योंका परम आनन्द है। अब जो मनुष्योंके सौ आनन्द हैं, वह पितृलोकको जीतनेवाले पितृगणका एक आनन्द है। और जो पितृलोकको जीतनेवाले पितरोंके सौ आनन्द हैं, वह गन्धर्वलोकका एक आनन्द है। तथा जो गन्धर्वलोकके सौ आनन्द हैं, वह कर्मदेवोंका, जो कि कर्मके द्वारा देवत्वको प्राप्त होते हैं, एक आनन्द है। जो कर्मदेवोंके सौ आनन्द हैं, वह आजान (जन्मसिद्ध) देवोंका एक आनन्द है; और जो निष्पाप, निष्काम श्रोत्रिय है [उसका भी वह आनन्द है]। जो आजानदेवोंके सौ आनन्द हैं, वह प्रजापतिलोकका एक आनन्द है; और जो निष्पाप निष्काम श्रोत्रिय है [उसका भी वह आनन्द है]। जो प्रजापतिलोकके सौ आनन्द हैं, वह ब्रह्मलोकका एक आनन्द है; और जो निष्पाप निष्काम श्रोत्रिय है [उसका भी वह आनन्द है] तथा यही परम आनन्द है। हे सम्राट्! यह ब्रह्मलोक है'—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा। [जनक बोले—] 'मैं श्रीमान्‌को सहस्र [गौएँ] देता हूँ, अब आगे भी आप मोक्षके लिये ही उपदेश करें।' यह सुनकर याज्ञवल्क्यजी डर गये कि इस बुद्धिमान् राजाने तो मुझे सम्पूर्ण प्रश्नोंके निर्णयपर्यन्त [उत्तर देनेको] बाँध लिया ॥ ३३ ॥

वह यह पुरुष इस स्वप्नान्तमें रमण और विहार करके तथा पुण्य और पापको देखकर ही पुनः गये हुए मार्गसे ही यथास्थान जागरित-अवस्थाको ही लौट आता है ॥ ३४ ॥

लोकमें जिस प्रकार बहुत अधिक बोझ लादा हुआ छकड़ा शब्द करता हुआ चलता है, उसी प्रकार यह देही आत्मा प्राज्ञात्मासे अधिष्ठित [हो मरण कालमें] शब्द करता हुआ जाता है, जब कि यह ऊपरके श्वास छोड़नेवाला हो जाता है। वह यह देह जिस समय कृशताको प्राप्त होता है, वृद्धावस्था अथवा ज्वरादि रोगके कारण कृश हो जाता है, उस समय जैसे आम, गूलर अथवा पिप्पल-फल बन्धन (डंठल) से छूट जाता है, वैसे ही यह पुरुष इन अङ्गोंसे छूटकर, फिर जिस मार्गसे आया था, उसीसे प्रत्येक योनिमें प्राणकी विशेष अभिव्यक्तिके लिये ही चला जाता है ॥ ३५-३६ ॥

अतः जिस प्रकार आते हुए राजाकी उग्रकर्मा एवं पापकर्मामें नियुक्त सूत और गाँवके नेतालोग अन्न, पान और निवासस्थान तैयार रखकर 'ये आये, ये आये' इस प्रकार कहते हुए प्रतीक्षा करते हैं, उसी प्रकार इस कर्मफलवेत्ताकी सम्पूर्ण भूत 'यह ब्रह्म आता है, यह आता है' इस प्रकार कहते हुए प्रतीक्षा करते हैं ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार जानेके लिये तैयार हुए राजाके अभिमुख होकर उग्रकर्मा और पापकर्ममें नियुक्त सूत एवं गाँवके नेतालोग जाते हैं, उसी प्रकार जब यह ऊपरके श्वास लेने लगता है तो अन्तकालमें सारे प्राण इस आत्माके अभिमुख होकर इसके साथ जाते हैं ॥ ३८ ॥

चतुर्थ ब्राह्मण

कामना-नाशसे ब्रह्म-प्राप्ति

वह यह आत्मा जिस समय दुर्बलताको प्राप्त हो मानो सम्मोहित हो जाता है, तब ये वागादि प्राण इसके प्रति अभिमुखतासे आते हैं। वह इन [प्राणोंकी] तेजोमात्राको सम्यक् प्रकारसे ग्रहण करके हृदयमें ही अनुक्रान्त (अभिव्यक्त ज्ञानवान्) होता है। जिस समय यह चाक्षुष पुरुष सब ओरसे व्यावृत्त होता है, उस समय मुमूर्षु रूपज्ञानहीन हो जाता है ॥ १ ॥

[चक्षु-इन्द्रिय लिङ्गात्मासे] एकरूप हो जाती है तो लोग 'नहीं देखता' ऐसा कहते हैं; [घ्राणेन्द्रिय] एकरूप हो जाती है तो 'नहीं सूँघता' ऐसा कहते हैं; [रसनेन्द्रिय] एकरूप हो जाती है तो 'नहीं चखता' ऐसा कहते हैं; [वागिन्द्रिय] एकरूप हो जाती है तो 'नहीं बोलता' ऐसा कहते हैं; [श्रोत्रेन्द्रिय] एकरूप हो जाती है तो 'नहीं सुनता' ऐसा कहते हैं; [मन] एकरूप हो जाता है तो 'मनन नहीं करता' ऐसा कहते हैं; [त्वगिन्द्रिय] एकरूप हो जाती है तो 'स्पर्श नहीं करता' ऐसा कहते हैं; और यदि [बुद्धि लिङ्गात्मासे] एकरूप हो जाती है तो 'नहीं जानता' ऐसा कहते हैं। उस इस हृदयका अग्र (बाहर जानेका मार्ग) अत्यन्त प्रकाशित होने लगता है, उसीसे यह आत्मा नेत्रसे, मूर्द्धासे अथवा शरीरके किसी अन्य

भागसे बाहर निकलता है। उसके उत्क्रमण करनेपर उसके साथ ही प्राण उत्क्रमण करता है, प्राणके उत्क्रमण करनेपर सम्पूर्ण प्राण (इन्द्रियवर्ग) उत्क्रमण करते हैं। उस समय यह आत्मा विशेष विज्ञानवान् होता है और विज्ञानयुक्त प्रदेशको ही जाता है। उस समय उसके साथ-साथ ज्ञान, कर्म और पूर्वप्रज्ञा (अनुभूत विषयोंकी वासना) भी जाते हैं ॥ २ ॥

वह दृष्टान्त है—जिस प्रकार जोंक एक तृणके अन्तमें पहुँचकर दूसरे तृणरूप आश्रयको पकड़कर अपनेको सकोड़ लेती है,उसी प्रकार यह आत्मा इस शरीरको मारकर—अविद्या (अचेतनावस्था) को प्राप्त कराकर दूसरे आधारका आश्रय ले अपना उपसंहार कर लेता है। उसमें दृष्टान्त—जिस प्रकार सुनार सुवर्णका भाग लेकर दूसरे नवीन और कल्याणतर (अधिक सुन्दर) रूपकी रचना करता है, उसी प्रकार यह आत्मा इस शरीरको नष्टकर—अचेतनावस्थाको प्राप्त करके दूसरे पितर, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्मा अथवा अन्य भूतोंके नवीन और सुन्दर रूपकी रचना करता है ॥ ३-४ ॥

वह यह आत्मा ब्रह्म है। वह विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथिवीमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय, अधर्ममय और सर्वमय है। जो कुछ इदंमय (प्रत्यक्ष) और अदोमय (परोक्ष) है, वह वही है। वह जैसा करनेवाला और जैसे आचरणवाला होता है, वैसा ही हो जाता है। शुभ कर्म करनेवाला शुभ होता है और पापकर्मा पापी होता है। पुरुष पुण्यकर्मसे पुण्यात्मा होता है और पापकर्मसे पापी होता है। कोई-कोई कहते हैं कि यह पुरुष काममय ही है; वह जैसी कामनावाला होता है वैसा ही संकल्प करता है, जैसे संकल्पवाला होता है वैसा ही कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

उस विषयमें यह मन्त्र है—इसका लिङ्ग अर्थात् मन जिसमें अत्यन्त आसक्त होता है, उसी फलको यह साभिलाष होकर कर्मके सहित प्राप्त करता है। इस लोकमें यह जो कुछ करता है, उस कर्मका फल प्राप्तकर उस लोकसे कर्म करनेके लिये पुनः इस लोकमें आ जाता है; अवश्य ही कामना करनेवाला पुरुष ही ऐसा करता है। अब जो कामना न करनेवाला पुरुष है [उसके विषयमें कहते हैं]—जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है, उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता; वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्मको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

उसी अर्थमें यह मन्त्र है—जिस समय इसके हृदयमें आश्रित सम्पूर्ण कामनाओंका नाश हो जाता है उस समय यह मरणधर्मा अमृत हो जाता है और यहीं (इसी शरीरमें) उसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। इसमें दृष्टान्त—जिस प्रकार सर्पकी केंचुली बाँबीके ऊपर मृत और सर्पद्वारा परित्याग की हुई पड़ी रहती है, उसी प्रकार यह शरीर पड़ा रहता है और यह अशरीर अमृत प्राण तो ब्रह्म ही है—तेज ही है।' तब विदेहराज जनकने कहा, 'वह मैं जनक श्रीमान्‌को सहस्र गौएँ देता हूँ' ॥ ७ ॥

उस विषयमें ये मन्त्र हैं—यह ज्ञानमार्ग सूक्ष्म, विस्तीर्ण और पुरातन है। वह मुझे स्पर्श किये हुए है और मैंने ही उसका फलसाधक ज्ञान प्राप्त किया है। धीर ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस लोकमें जीते-जी ही मुक्त होकर शरीर-त्यागके बाद उसी मार्गसे स्वर्गलोक अर्थात् मोक्षको प्राप्त होते हैं ॥ ८ ॥

उस मार्गके विषयमें मतभेद है। कोई उसमें शुक्ल और कोई नीलवर्ण बतलाते हैं तथा कोई पिङ्गलवर्ण, कोई हरित और कोई लाल कहते हैं; किंतु यह मार्ग साक्षात् ब्रह्मद्वारा अनुभूत है। इस मार्गसे पुण्य करनेवाला परमात्मतेजःस्वरूप ब्रह्मवेत्ता ही जाता है ॥ ९ ॥

जो (भोगासक्त मनुष्य) अविद्या (भोगोंके साधनरूप कर्म) की उपासना करते हैं, वे अज्ञानस्वरूप घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं और जो (मिथ्याज्ञानी) विद्या (कर्तव्य-कर्मका त्याग करके केवल ज्ञानके अभिमान) में रत हैं, वे उससे भी अधिकतर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं। वे अनन्द (असुख) नामके निकृष्ट योनि और नरकरूप लोक अज्ञान और दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे आच्छादित हैं; वे अविद्वान् और अज्ञानीलोग मरकर उन्हींको प्राप्त होते हैं। यदि पुरुष आत्माको 'मैं यह हूँ' इस प्रकार विशेषरूपसे जान जाय तो फिर क्या इच्छा करता हुआ और किस कामनासे शरीरके पीछे सन्तप्त हो ? जिस पुरुषको इस अनेकों अनर्थोंसे पूर्ण और विवेक-विज्ञानके विरोधी विषम शरीरमें प्रविष्ट हुआ आत्मा प्राप्त और ज्ञात हो गया है, वही कृतकृत्य है। वही सब [शुभों] का कर्ता है, उसीका लोक (मोक्षधाम) है और स्वयं वही लोक (मोक्षरूप) भी है। हम इस शरीरमें रहते हुए ही यदि उसे जान लेते हैं [तो कृतार्थ हो गये], यदि उसे नहीं जाना तो बड़ी हानि है। जो उसे जान लेते हैं, वे अमृत हो जाते हैं; किंतु दूसरे लोग तो दुःखको ही प्राप्त होते हैं। जब भूत और भविष्यत्‌के स्वामी इस

प्रकाशमान अथवा कर्म-फलदाता आत्माको मनुष्य साक्षात् जान लेता है तो वह उससे अपनी रक्षा करनेकी इच्छा नहीं करता *॥ १०–१५ ॥

जिसके नीचे संवत्सरचक्र अहोरात्रादि अवयवोंके सहित चक्कर लगाता रहता है, उस आदित्यादि ज्योतियोंके ज्योतिःस्वरूप अमृतकी देवगण 'आयु' इस प्रकार उपासना करते हैं। जिसमें पाँच पञ्चजन और [अव्याकृतसंज्ञक] आकाश भी प्रतिष्ठित है, उस आत्माको ही मैं अमृत ब्रह्म मानता हूँ। उस ब्रह्मको जाननेवाला मैं अमृत ही हूँ ॥ १६–१७ ॥

जो उसे प्राणका प्राण, चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र तथा मनका मन जानते हैं, वे उस सनातन और मुख्य ब्रह्मको जानते हैं। ब्रह्मको आचार्योपदेशपूर्वक मनसे ही देखना चाहिये। इसमें नानात्व कुछ भी नहीं है। जो इसमें नानाके समान देखता है, वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है। उस ब्रह्मको [आचार्योपदेशके] अनन्तर एक प्रकारसे ही देखना चाहिये। यह ब्रह्म अप्रमेय, ध्रुव, निर्मल, [अव्याकृतरूप] आकाशसे भी सूक्ष्म, अजन्मा, आत्मा, महान् और अविनाशी है। बुद्धिमान् ब्राह्मणको उसे ही जानकर उसीमें प्रज्ञा करनी चाहिये। बहुत शब्दोंका अनुध्यान (निरन्तर चिन्तन) न करे; वह तो वाणीका श्रम ही है ॥ १८—२१ ॥

वह यह महान् अजन्मा आत्मा, जो कि यह प्राणोंमें विज्ञानमय है, जो यह हृदयमें आकाश है, उसमें शयन करता है। वह सबको वशमें रखनेवाला, सबका शासन करनेवाला और सबका अधिपति है। वह शुभ कर्मसे बढ़ता नहीं और अशुभ कर्मसे छोटा नहीं होता। यह सर्वेश्वर है, यह भूतोंका अधिपति और भूतोंका पालन करनेवाला है। इन लोकोंकी मर्यादा भङ्ग न हो—इस प्रयोजनसे वह इनको धारण करनेवाला सेतु है। [उपनिषदोंमें जिसके स्वरूपका दिग्दर्शन कराया गया है] उस इस आत्माको ब्राह्मण वेदोंके स्वाध्याय, यज्ञ, दान और निष्काम तपके द्वारा जाननेकी इच्छा करते हैं। इसीको जानकर मुनि होता है। इस आत्मलोककी ही इच्छा करते हुए त्यागी पुरुष सब कुछ त्यागकर चले जाते (संन्यासी हो जाते) हैं। इस संन्यासमें कारण यह है—पूर्ववर्ती विद्वान् सन्तान [तथा सकाम कर्म आदि] की इच्छा नहीं करते थे। [वे सोचते थे—] हमें सन्तानसे क्या लेना है, जिन हमको कि यह आत्मलोक अभीष्ट है। अतः वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणासे व्युत्थान कर फिर भिक्षाचर्या करते थे। जो भी पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है और जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है। ये दोनों एषणाएँ ही हैं। वह यह 'नेति-नेति' इस प्रकार निर्देश किया गया आत्मा अगृह्य है, वह ग्रहण नहीं किया जाता; वह अशीर्य है, उसका नाश नहीं होता; वह असङ्ग है, कहीं आसक्त नहीं होता; बँधा नहीं है, इसलिये व्यथित नहीं होता तथा उसका क्षय नहीं होता। इस आत्मज्ञको ये दोनों (पाप-पुण्यसम्बन्धी शोक-हर्ष) प्राप्त नहीं होते। अतः इस निमित्तसे मैंने पाप किया है [ऐसा पश्चात्ताप] और इस निमित्तसे मैंने पुण्य किया है [ऐसा हर्ष] इन दोनोंको ही वह पार कर जाता है। इसे किया हुआ और न किया हुआ नित्यकर्म [फलप्रदान और प्रत्यवायके द्वारा] ताप नहीं देता ॥ २२ ॥

यही बात ऋचाद्वारा कही गयी है—यह ब्रह्मवेत्ताकी नित्य महिमा है, जो कर्मसे न तो बढ़ती है और न घटती ही है। उस महिमाके ही स्वरूपको जाननेवाला होना चाहिये, उसे जानकर पापकर्मसे लिप्त नहीं होता। अतः इस प्रकार जाननेवाला शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मामें ही आत्माको देखता है, सभीको आत्मा देखता है। उसे [पुण्य-पापरूप] पापकी प्राप्ति नहीं होती, यह सम्पूर्ण पापोंको पार कर जाता है। इसे पाप ताप नहीं पहुँचाता, यह सारे पापोंको सन्तप्त करता है। यह पापरहित, निष्काम, निःसंशय ब्राह्मण हो जाता है। सम्राट्! यह ब्रह्मलोक है, तुम इसे पहुँचा दिये गये हो'—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा।

---

* अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः॥
अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाꣳसोऽबुधो जनाः॥
आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥
यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्मास्मिन् संदेहे गहने प्रविष्टः।
स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्त्ता तस्य लोकः स उ लोक एव॥
इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदिर्महती विनष्टिः।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति॥
यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥
(बृह० ४। ४। १०–१५)

[तब जनकने कहा—] 'वह मैं श्रीमान्‌को विदेह देश देता हूँ, साथ ही आपकी दासता (सेवा) करनेके लिये अपने-आपको भी समर्पण करता हूँ' ॥ २३ ॥

वह यह महान् अजन्मा आत्मा अन्न भक्षण करनेवाला और कर्मफल देनेवाला है। जो ऐसा जानता है, उसे सम्पूर्ण कर्मोंका फल प्राप्त होता है। वही यह महान् अजन्मा आत्मा अजर, अमर, अमृत एवं अभय ब्रह्म है। अभय ही ब्रह्म है; जो ऐसा जानता है, वह अभय ब्रह्म ही हो जाता है॥ २४-२५ ॥

पञ्चम ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद

यह प्रसिद्ध है कि याज्ञवल्क्यकी मैत्रेयी और कात्यायनी—ये दो पत्नियाँ थीं। उनमें मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी और कात्यायनी साधारण स्त्रियोंकी-सी बुद्धिवाली ही थी। तब याज्ञवल्क्यने दूसरे प्रकारकी चर्याका आरम्भ करनेकी इच्छासे [कहा—] 'अरी मैत्रेयि !' ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा—'मैं इस स्थान (गार्हस्थ्य-आश्रम) से अन्यत्र सब कुछ त्यागकर जानेवाला हूँ, अर्थात् मेरा संन्यास लेनेका विचार है। इसलिये [मैं तेरी अनुमति लेता हूँ और चाहता हूँ] इस कात्यायनीके साथ तेरा बँटवारा कर दूँ'। उस मैत्रेयीने कहा, 'भगवन्! यदि यह धनसे सम्पन्न सारी पृथिवी मेरी हो जाय तो क्या मैं उससे अमर हो सकती हूँ, अथवा नहीं ?' याज्ञवल्क्यने कहा, 'नहीं, भोग-सामग्रियोंसे सम्पन्न मनुष्योंका जैसा जीवन होता है, वैसा ही तेरा भी जीवन हो जायगा, धनसे अमृतत्वकी तो आशा है ही नहीं।' उस मैत्रेयीने कहा, 'जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँगी ? श्रीमान् जो कुछ अमृतत्व-का साधन जानते हों, वही मुझे बतलावें।' उन याज्ञवल्क्यजीने कहा, 'निश्चय ही तू पहले भी मेरी प्रिया रही है और इस समय भी तूने मेरे प्रिय (प्रसन्नता) को बढ़ाया है। अतः देवि ! मैं प्रसन्नतापूर्वक तेरे प्रति इस (अमृतत्वके साधन) की व्याख्या करूँगा। तू मेरे व्याख्या किये हुए विषयका चिन्तन करना' ॥ १–५ ॥

उन्होंने कहा—'अरी मैत्रेयि ! यह निश्चय है कि पतिके प्रयोजनके लिये पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये पति प्रिय होता है; स्त्रीके प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया नहीं होती, अपने ही प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया होती है; पुत्रोंके प्रयोजनके लिये पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये पुत्र प्रिय होते हैं; धनके प्रयोजनके लिये धन प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये धन प्रिय होता है; पशुओंके प्रयोजनके लिये पशु प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये पशु प्रिय होते हैं; ब्राह्मणके प्रयोजनके लिये ब्राह्मण प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये ब्राह्मण प्रिय होता है; क्षत्रियके प्रयोजनके लिये क्षत्रिय प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये क्षत्रिय प्रिय होता है; लोकोंके प्रयोजनके लिये लोक प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये लोक प्रिय होते हैं; देवोंके प्रयोजनके लिये देव प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये देव प्रिय होते हैं; वेदोंके प्रयोजनके लिये वेद प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये वेद प्रिय होते हैं; भूतोंके प्रयोजनके लिये भूत प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये भूत प्रिय होते हैं; सबके प्रयोजनके लिये सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजनके लिये सब प्रिय होते हैं; अतः अरी मैत्रेयि ! आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और निदिध्यासन (ध्यान) करनेयोग्य है। अरी मैत्रेयि ! निश्चय ही आत्माका दर्शन, श्रवण, मनन और विज्ञान हो जानेपर इस सबका ज्ञान हो जाता है' ॥ ६ ॥

ब्राह्मणजाति उसे परास्त कर देती है, जो ब्राह्मणजातिको आत्मासे भिन्न समझता है। क्षत्रियजाति उसे परास्त कर देती है, जो क्षत्रियजातिको आत्मासे भिन्न जानता है। लोक उसे परास्त कर देते हैं, जो लोकोंको आत्मासे भिन्न जानता है। देवता उसे परास्त कर देते हैं, जो देवताओंको आत्मासे भिन्न समझता है। वेद उसे परास्त कर देते हैं, जो वेदोंको आत्मासे भिन्न जानता है। भूत उसे परास्त कर देते हैं, जो भूतोंको आत्मासे भिन्न समझते हैं। सब उसे परास्त कर देते हैं, जो सबको आत्मासे भिन्न जानता है। यह ब्राह्मणजाति, यह क्षत्रियजाति, ये लोक, ये देव, ये वेद, ये भूत और ये सब जो कुछ भी हैं, यह सब आत्मा ही है। वह दृष्टान्त ऐसा है कि जिसपर लकड़ी आदिसे आघात किया जाता है, उस दुन्दुभि (नक्कारे) के बाह्य शब्दोंको जिस प्रकार कोई ग्रहण नहीं कर सकता, किन्तु दुन्दुभि या दुन्दुभिके आघातको ग्रहण करनेसे उसका शब्द भी गृहीत हो जाता है। वह [दूसरा] दृष्टान्त ऐसा है कि जैसे मुँहसे फूँके जाते हुए शङ्खके बाह्य शब्दोंको ग्रहण करनेमें कोई समर्थ नहीं होता, किन्तु शङ्ख या शङ्खके बजानेको ग्रहण करनेसे उस शब्दका भी

ग्रहण हो जाता है। वह [तीसरा] दृष्टान्त ऐसा है कि जैसे बजायी जाती हुई वीणाके बाह्य शब्दोंको ग्रहण करनेमें कोई समर्थ नहीं होता, किन्तु वीणा या वीणाके बजानेको ग्रहण करनेसे उस शब्दका भी ग्रहण हो जाता है ॥ ७—१० ॥

वह [चौथा] दृष्टान्त ऐसा है कि जिस प्रकार जिसका ईंधन गीला है, ऐसे आधान किये हुए अग्निसे पृथक् धूएँ निकलते हैं, उसी प्रकार हे मैत्रेयि ! ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक (ब्राह्मण-मन्त्र), सूत्र (वैदिक वस्तुसंग्रहवाक्य), सूत्रोंकी व्याख्या, मन्त्रोंकी व्याख्या, इ (यज्ञ), हुत (हवन किया हुआ), आशित (खिलाया हुआ), पायित (पिलाया हुआ), यह लोक, परलोक और सम्पूर्ण भूत हैं—सब इसीके निःश्वास हैं। वह [पाँचवाँ] दृष्टान्त ऐसा है कि जिस प्रकार समस्त जलोंका समुद्र एक अयन (आश्रयस्थान) है, इसी प्रकार समस्त स्पर्शोंका त्वचा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त गन्धोंका दोनों नासिकाएँ एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रसोंका जिह्वा एक अयन है, इसी प्रकार समस्त रूपोंका चक्षु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त शब्दोंका श्रोत्र एक अयन है, इसी प्रकार समस्त संकल्पोंका मन एक अयन है, इसी प्रकार समस्त विद्याओंका हृदय एक अयन है, इसी प्रकार समस्त कर्मोंका दोनों हाथ एक अयन है, इसी प्रकार समस्त आनन्दोंका उपस्थ एक अयन है, इसी प्रकार समस्त विसर्गोंका पायु एक अयन है, इसी प्रकार समस्त मार्गोंका दोनों चरण एक अयन है और इसी प्रकार समस्त वेदोंका वाक् एक अयन है ॥ ११-१२ ॥

उसमें [छठा] दृष्टान्त इस प्रकार है—जिस प्रकार नमकका डला भीतर और बाहरसे रहित सम्पूर्ण रसघन ही है, हे मैत्रेयि ! उसी प्रकार यह आत्मा अन्तर-बाह्य-भेदसे शून्य सम्पूर्ण प्रज्ञानघन ही है। यह इन भूतोंसे [विशेषरूपसे] उत्थित होकर उन्हींके साथ नष्ट हो जाता है। इस प्रकार मर जानेपर इसकी संज्ञा नहीं रहती। हे मैत्रेयि ! इस प्रकार मैं कहता हूँ'—ऐसा याज्ञवल्क्यने कहा ॥ १३ ॥

वह मैत्रेयी बोली, 'यहीं श्रीमान्‌ने मुझे मोहको प्राप्त करा दिया है। मैं इसे विशेषरूपसे नहीं समझती।' उन्होंने कहा, 'अरी मैत्रेयि ! मैं मोहकी बात नहीं कह रहा हूँ। अरी ! यह आत्मा निश्चय ही अविनाशी और अनुच्छेदरूप धर्मवाला है ॥ १४ ॥

जहाँ [अविद्यावस्थामें] द्वैत-सा होता है, वहीं अन्य अन्यको देखता है, अन्य अन्यको सूँघता है, अन्य अन्यका रसास्वादन करता है, अन्य अन्यका अभिवादन करता है, अन्य अन्यको सुनता है, अन्य अन्यका मनन करता है, अन्य अन्यका स्पर्श करता है और अन्य अन्यको विशेषरूपसे जानता है। किन्तु जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है, वहाँ किसके द्वारा किसे देखे, किसके द्वारा किसे सूँघे, किसके द्वारा किसका रसास्वादन करे, किसके द्वारा किसका अभिवादन करे, किसके द्वारा किसे सुने, किसके द्वारा किसका मनन करे, किसके द्वारा किसका स्पर्श करे और किसके द्वारा किसे जाने ! जिसके द्वारा पुरुष इस सबको जानता है, उसे किस साधनसे जाने ! वह यह 'नेति-नेति' इस प्रकार निर्देश किया गया आत्मा अगृह्य है—उसका ग्रहण नहीं किया जाता; अशीर्य है—उसका विनाश नहीं होता; असङ्ग है—आसक्त नहीं होता; अबद्ध है—वह व्यथित और क्षीण नहीं होता। हे मैत्रेयि ! विज्ञाताको किसके द्वारा जाने ? इस प्रकार तुझे उपदेश कर दिया गया। अरी मैत्रेयि ! निश्चय जान, इतना ही अमृतत्व है।' ऐसा कहकर याज्ञवल्क्यजी परिव्राजक (संन्यासी) हो गये ॥ १५ ॥

षष्ठ ब्राह्मण

याज्ञवल्कीय काण्डकी परम्परा

अब [याज्ञवल्कीय काण्डका] वंश बतलाया जाता है—पौतिमाष्यने गौपवनसे, गौपवनने पौतिमाष्यसे, पौतिमाष्यने गौपवनसे, गौपवनने कौशिकसे, कौशिकने कौण्डिन्यसे, कौण्डिन्यने शाण्डिल्यसे, शाण्डिल्यने कौशिकसे और गौतमसे, तथा गौतमने आग्निवेश्यसे, आग्निवेश्यने गार्ग्यसे, गार्ग्यने गार्ग्यसे, गार्ग्यने गौतमसे, गौतमने सैतवसे, सैतवने पाराशर्यायणसे, पाराशर्यायणने गार्ग्यायणसे, गार्ग्यायणने उद्दालकायनसे, उद्दालकायनने जाबालायनसे, जाबालायनने

माध्यन्दिनायनसे, माध्यन्दिनायनने सौकरायणसे, सौकरायणने काषायणसे, काषायणने सायकायनसे, सायकायनने कौशिकायनिसे, कौशिकायनिने घृतकौशिकसे, घृतकौशिकने पाराशर्यायणसे, पाराशर्यायणने पाराशर्यसे, पाराशर्यने जातूकर्ण्यसे, जातूकर्ण्यने आसुरायणसे और यास्कसे, आसुरायणने त्रैवणिसे, त्रैवणिने औपजङ्घनिसे, औपजङ्घनिने आसुरिसे, आसुरिने भारद्वाजसे, भारद्वाजने आत्रेयसे, आत्रेयने माण्टिसे, माण्टिने गौतमसे, गौतमने गौतमसे, गौतमने वात्स्यसे, वात्स्यने शाण्डिल्यसे, शाण्डिल्यने कैशोर्य काप्यसे, कैशोर्य काप्यने कुमारहारितसे, कुमारहारितने गालवसे, गालवने विदर्भीकौण्डिन्यसे, विदर्भीकौण्डिन्यने वत्सनपाद् बाभ्रवसे, वत्सनपाद् बाभ्रवने पन्था सौभरसे, पन्था सौभरने अयास्य आङ्गिरससे, अयास्य आङ्गिरसने आभूति त्वाष्ट्रसे, आभूति त्वाष्ट्रने विश्वरूप त्वाष्ट्रसे, विश्वरूप त्वाष्ट्रने अश्विनीकुमारोंसे, अश्विनीकुमारोंने दध्यङ्ङाथर्वणसे, दध्यङ्ङाथर्वणने अथर्वा दैवसे, अथर्वा दैवने मृत्यु प्राध्वंसनसे, मृत्यु प्राध्वंसनने प्रध्वंसनसे, प्रध्वंसनने एकर्षिसे, एकर्षिने विप्रचित्तिसे, विप्रचित्तिने व्यष्टिसे, व्यष्टिने सनारुसे, सनारुने सनातनसे, सनातनने सनगसे, सनगने परमेष्ठीसे, परमेष्ठीने ब्रह्मासे [यह विद्या प्राप्त की] । ब्रह्मा स्वयम्भू है; ब्रह्माको नमस्कार है ॥ १–३ ॥

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

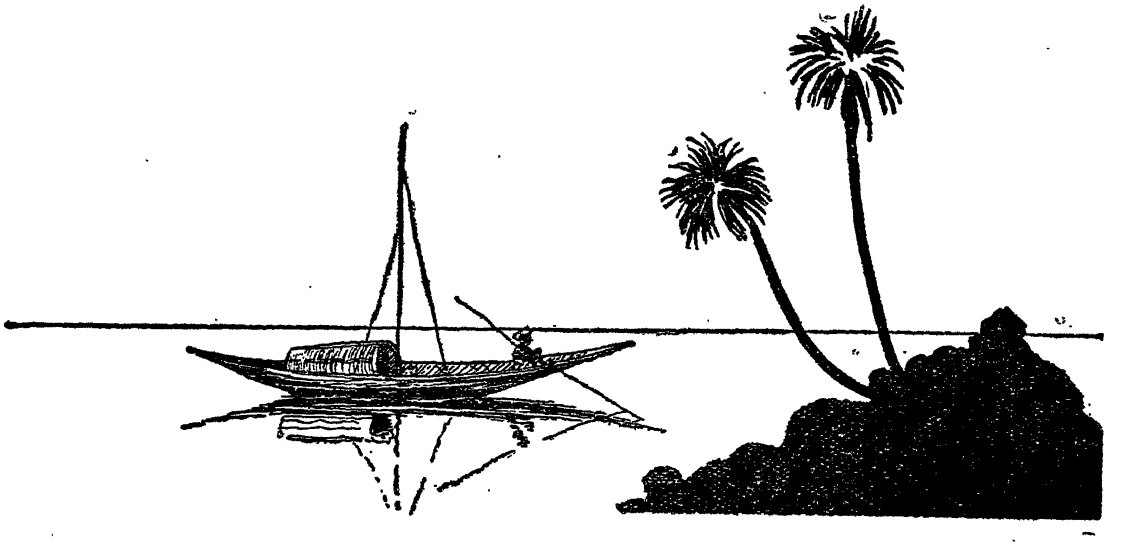

ॐ

पञ्चम अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

आकाशकी ब्रह्मरूपमें उपासना

वह परब्रह्म पूर्ण है और यह (जगत् भी) पूर्ण है। उस पूर्णब्रह्मसे ही यह पूर्ण उत्पन्न होता है। इस पूर्णके पूर्णको निकाल लेनेपर भी पूर्ण ही बच रहता है। आकाश-ब्रह्म ॐकार है। आकाश [यहाँ जड नहीं;] सनातन [परमात्मा] है। 'जिसमें वायु रहता है, वह आकाश ही स्व है'—ऐसा कौरव्यायणीपुत्रने कहा है। यह ओङ्कार वेद है—ऐसा ब्राह्मण जानते हैं; क्योंकि जो ज्ञातव्य है, उसका इसीसे ज्ञान होता है॥ १॥

द्वितीय ब्राह्मण

'द-द-द' से दम-दान और दयाका उपदेश

देव, मनुष्य और असुर—प्रजापतिके इन तीन पुत्रोंने पिता प्रजापतिके यहाँ ब्रह्मचर्यवास किया। ब्रह्मचर्यवास कर चुकनेपर देवोंने कहा—'आप हमें उपदेश कीजिये।' उनसे प्रजापतिने 'द' यह अक्षर कहा और पूछा, 'समझ गये क्या?' इसपर उन्होंने कहा, "समझ गये; आपने हमसे 'दमन करो' ऐसा कहा है।" तब प्रजापतिने कहा, 'ठीक है, तुम समझ गये'॥१॥

फिर प्रजापतिसे मनुष्योंने कहा—'आप हमें उपदेश कीजिये।' उनसे भी प्रजापतिने 'द' यह अक्षर ही कहा और पूछा, 'समझ गये क्या?' मनुष्योंने कहा, "समझ गये; आपने हमसे 'दान करो' ऐसा कहा है।" तब प्रजापतिने 'हाँ, समझ गये' ऐसा कहा॥ २॥

फिर प्रजापतिसे असुरोंने कहा—'आप हमें उपदेश कीजिये।' उनसे भी प्रजापतिने 'द' यह अक्षर ही कहा और पूछा, 'समझ गये क्या?' असुरोंने कहा, "समझ गये; आपने हमसे 'दया करो' ऐसा कहा है।" तब प्रजापतिने 'हाँ, समझ गये' ऐसा कहा। इस प्रजापतिके अनुशासनकी मेघगर्जनारूपी दैवी वाणी आज भी द-द-द—इस प्रकार अनुवाद करती है, अर्थात् भोगप्रधान देवो! इन्द्रियोंका दमन करो, संग्रहप्रधान मनुष्यो! भोगसामग्रीका दान करो, क्रोध-हिंसाप्रधान असुरो! जीवोंपर दया करो—यों कहती है। अतः दम, दान और दया—इन तीनोंको सीखे॥ ३॥

तृतीय ब्राह्मण

हृदयकी ब्रह्मरूपसे उपासना

जो हृदय है, वह प्रजापति है। यह ब्रह्म है, यह सर्व है, यह हृदय तीन अक्षरवाला नाम है। 'हृ' यह एक अक्षर है। जो ऐसा जानता है, उसके प्रति स्वजन और अन्यजन बलि समर्पण करते हैं। 'द' यह एक अक्षर है। जो ऐसा जानता है, उसे स्वजन और अन्यजन देते हैं। 'यम्' यह एक अक्षर है। जो ऐसा जानता है, वह स्वर्गलोकको जाता है॥ १॥

चतुर्थ ब्राह्मण

सत्यकी ब्रह्मरूपसे उपासना

वही—वह हृदय-ब्रह्म ही वह था—जो कि सत्य ही है। जो भी इस महत्, यक्ष (पूज्य), सर्वप्रथम उत्पन्न होनेवालेको यह 'सत्य ब्रह्म है' ऐसा जानता है, वह इन लोकोंको जीत लेता है। [उसका शत्रु] उसके अधीन हो जाता है—असत् (अभावरूप) हो जाता है। जो इस प्रकार इस महत्, यक्ष (पूजनीय), प्रथम उत्पन्न होनेवालेको 'सत्य ब्रह्म'—इस प्रकार जानता है [उसे उपर्युक्त फल मिलता है]; क्योंकि ब्रह्म सत्य ही है॥ १॥

पञ्चम ब्राह्मण

सत्यकी आदित्यरूपमें उपासना

यह [व्यक्त जगत्] पहले आप (जल) ही था ! उस आपने सत्यकी रचना की । अतः सत्य ब्रह्म है । ब्रह्मने प्रजापति (विराट्) को और प्रजापतिने देवताओंको उत्पन्न किया । वे देवगण सत्यकी ही उपासना करते हैं । वह यह 'सत्य' तीन अक्षरवाला नाम है । 'स' यह एक अक्षर है, 'ति' यह एक अक्षर है और 'यम्' यह एक अक्षर है । इनमें प्रथम और अन्तिम अक्षर सत्य है और मध्यका अनृत है । वह यह अनृत दोनों ओरसे सत्यसे परिगृहीत है । इसलिये यह सत्य-बहुल ही है । इस प्रकार जाननेवालेको अनृत नहीं मारता । वह जो सत्य है, सो यह आदित्य है । जो इस आदित्यमण्डलमें पुरुष है और जो भी यह दक्षिण नेत्रमें पुरुष है, वे ये दोनों पुरुष एक-दूसरेमें प्रतिष्ठित हैं । आदित्य रश्मियोंके द्वारा चाक्षुष पुरुषमें प्रतिष्ठित है और चाक्षुष पुरुष प्राणोंके द्वारा उसमें प्रतिष्ठित है । जिस समय यह (चाक्षुष पुरुष) उत्क्रमण करने लगता है, उस समय यह इस मण्डलको शुद्ध ही देखता है । फिर ये रश्मियाँ इसके पास नहीं आतीं ॥ १-२ ॥

इस मण्डलमें जो यह पुरुष है, उसका 'भूः' यह सिर है; सिर एक है और यह अक्षर भी एक है । 'भुवः' यह भुजा है; भुजाएँ दो हैं और ये अक्षर भी दो हैं । 'स्वः' यह प्रतिष्ठा (चरण) है; प्रतिष्ठा (चरण) दो हैं और ये अक्षर भी दो हैं । 'अहर्' यह उसका उपनिषद् (गूढ़ नाम) है; जो ऐसा जानता है, वह पापको मारता है और उसे त्याग देता है । जो यह दक्षिण नेत्रमें पुरुष है, उसका 'भूः' यह सिर है; सिर एक है और यह अक्षर भी एक है । 'भुवः' यह भुजा है; भुजाएँ दो हैं और ये अक्षर भी दो हैं । 'स्वः' यह प्रतिष्ठा है; प्रतिष्ठा (चरण) दो हैं और ये अक्षर भी दो हैं । 'अहम्' यह उसका उपनिषद् (गूढ़ नाम) है; जो ऐसा जानता है, वह पापको मारता और त्याग देता है ॥ ३-४ ॥

षष्ठ ब्राह्मण

मनोमय पुरुषकी उपासना

प्रकाश ही जिसका सत्य (स्वरूप) है, ऐसा यह पुरुष मनोमय है । वह उस अन्तर्हृदयमें जैसा व्रीहि (धान) या यव (जौ) होता है, उतने ही परिमाणवाला है । वह यह सबका स्वामी और सबका अधिपति है; तथा यह जो कुछ है, सभीका प्रकर्षतया शासन करता है ॥ १ ॥

सप्तम ब्राह्मण

विद्युत्की ब्रह्मरूपमें उपासना

विद्युत् ब्रह्म है—ऐसा कहते हैं । विदान (खण्डन या विनाश) करनेके कारण विद्युत् है । जो 'विद्युत् ब्रह्म है' ऐसा जानता है, वह इस आत्माके प्रतिकूलभूत पापोंका नाश कर देता है; क्योंकि विद्युत् ही ब्रह्म है ॥ १ ॥

अष्टम ब्राह्मण

वाक्की धेनुरूपमें उपासना

वाक्रूप धेनुकी उपासना करे । उसके चार स्तन हैं—स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार और स्वधाकार । उसके दो स्तन स्वाहाकार और वषट्कारके भोक्ता देवगण हैं, हन्तकारके भोक्ता मनुष्य हैं और स्वधाकारके पितृगण । उस धेनुका प्राण वृषभ है और मन बछड़ा है ॥ १ ॥

नवम ब्राह्मण

अन्तरस्थ वैश्वानर अग्नि

जो यह पुरुषके भीतर है, यह अग्नि वैश्वानर है, जिससे कि यह अन्न, जो कि भक्षण किया जाता है, पकाया जाता है । उसीका यह घोष होता है, जिसे पुरुष कानोंको मूँदकर सुनता है । जिस समय पुरुष उत्क्रमण करनेवाला होता है, उस समय इस घोषको नहीं सुनता ॥ १ ॥

दशम ब्राह्मण

मरणोत्तर ऊर्ध्वगतिका वर्णन

जिस समय यह पुरुष इस लोकसे मरकर जाता है, उस समय वह वायुको प्राप्त होता है। वहाँ वह वायु उसके लिये छिद्रयुक्त हो जाता—मार्ग दे देता है, जैसा कि रथके पहियेका छिद्र होता है। उसके द्वारा वह ऊर्ध्व होकर चढ़ता है। वह सूर्यलोकमें पहुँच जाता है। वहाँ सूर्य उसके लिये वैसा ही छिद्ररूप मार्ग देता है, जैसा कि लम्बर नामके बाजेका छिद्र होता है। उसमें होकर वह ऊपरकी ओर चढ़ता है। वह चन्द्रलोकमें पहुँच जाता है। वहाँ चन्द्रमा भी उसके लिये छिद्रयुक्त हो मार्ग देता है, जैसा कि दुन्दुभिका छिद्र होता है। उसके द्वारा वह ऊपरकी ओर चढ़ता है। वह अशोक (शारीरिक दुःखसे रहित) और अहिम (मानसिक दुःखशून्य) लोकमें पहुँच जाता है और उसमें सदा—अनन्त कालतक अर्थात् ब्रह्माके अनेक कल्पोंतक निवास करता है॥ १॥

एकादश ब्राह्मण

व्याधिमें और मृत पुरुषके श्मशान-गमन आदिमें तपकी भावनाका फल

व्याधियुक्त पुरुषको जो ताप होता है, वह निश्चय ही परम तप है; जो ऐसा जानता है, वह परम लोकको ही जीत लेता है। मृत पुरुषको जो वनको ले जाते हैं, यह निश्चय ही परम तप है; जो ऐसा जानता है, वह परम लोकको ही जीत लेता है। मरे हुए मनुष्यको सब प्रकार जो अग्निमें रखते हैं, यह निश्चय ही परम तप है; जो ऐसा जानता है, वह परम लोकको ही जीत लेता है॥ १॥

द्वादश ब्राह्मण

अन्न एवं प्राणकी ब्रह्मरूपसे उपासना

कोई कहते हैं कि अन्न ब्रह्म है; किंतु ऐसी बात नहीं है। क्योंकि प्राणके बिना अन्न सड़ जाता है। कोई कहते हैं—प्राण ब्रह्म है; किंतु ऐसी बात नहीं है। क्योंकि अन्नके बिना प्राण सूख जाता है। परंतु ये दोनों देव एकरूपताको प्राप्त होकर परम भावको प्राप्त होते हैं—ऐसा निश्चयकर प्रातृद ऋषिने अपने पितासे कहा था—'इस प्रकार जाननेवालेका मैं क्या शुभ करूँ अथवा क्या अशुभ करूँ? [क्योंकि कृतकृत्य हो जानेके कारण उसका तो न कोई शुभ किया जा सकता है और न अशुभ ही।]' पिताने हाथसे निवारण करते हुए कहा—'प्रातृद! ऐसा मत कहो। इन दोनोंकी एकरूपताको प्राप्त होकर कौन परमताको प्राप्त होता है?' अतः उससे उस (प्रातृदके पिता) ने 'वि' ऐसा कहा। 'वि' यही अन्न है। वि-रूप अन्नमें ही ये सब भूत प्रविष्ट हैं। 'रम्' यह प्राण है, क्योंकि रं अर्थात् प्राणमें ही ये सब भूत रमण करते हैं। जो ऐसा जानता है, उसमें ये सब भूत प्रविष्ट होते हैं और सभी भूत रमण करते हैं॥ १॥

त्रयोदश ब्राह्मण

प्राणकी विविध रूपोंमें उपासना

'उक्थ' इस प्रकार प्राणकी उपासना करे। प्राण ही उक्थ है; क्योंकि प्राण ही सब इन्द्रियोंको उत्थापित करता है। इस उपासकसे उक्थवेत्ता पुत्र उत्पन्न होता है। जो ऐसी उपासना करता है, वह प्राणके सायुज्य और सालोक्यको प्राप्त करता है। 'यजुः' इस प्रकार प्राणकी उपासना करे। प्राण ही यजु है, क्योंकि प्राणमें ही इन सब भूतोंका योग होता है। सम्पूर्ण भूत इसकी श्रेष्ठताके कारण इससे संयुक्त होते हैं। जो ऐसी उपासना करता है, वह यजुके सायुज्य और सलोकताको प्राप्त होता है। 'साम' इस प्रकार प्राणकी उपासना करे। प्राण ही साम है, क्योंकि प्राणमें ही ये सब भूत सुसंगत होते हैं। समस्त भूत उसके लिये सुसंगत होते हैं, तथा उसकी श्रेष्ठतामें कारण होते हैं। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह सामके सायुज्य और सलोकताको प्राप्त होता है। प्राण 'क्षत्र' है—इस प्रकार प्राणकी उपासना करे। प्राण ही क्षत्र है। प्राण ही क्षत्र है—यह प्रसिद्ध है। प्राण इस

देहकी शस्त्रादिजनित क्षतसे रक्षा करता है। अत्रम्—अन्य किसीसे त्राण न पानेवाले क्षत्र (प्राण) को प्राप्त होता है। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह क्षत्रके सायुज्य और सलोकताको जीत (प्राप्त कर) लेता है ॥ १–४ ॥

चतुर्दश ब्राह्मण

गायत्री-उपासना

भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ—ये आठ अक्षर हैं। आठ अक्षरवाला ही गायत्रीका एक (प्रथम) पाद है। यह (भूमि आदि) ही इस गायत्रीका प्रथम पाद है। इस प्रकार इसके इस पदको जो जानता है, वह इस त्रिलोकीमें जितना कुछ है, उस सबको जीत (प्राप्त कर) लेता है। 'ऋचः, यजूंषि, सामानि'—ये आठ अक्षर हैं। आठ अक्षरवाला ही गायत्रीका एक (द्वितीय) पाद है। यह (ऋक् आदि) ही इस गायत्रीका द्वितीय पाद है। जो इस प्रकार इसके इस पादको जानता है, वह जितनी यह त्रयीविद्या है (अर्थात् त्रयीविद्याका जितना फल है,) उस सभीको जीत लेता है। प्राण, अपान, व्यान—ये आठ अक्षर हैं। आठ अक्षरवाला ही गायत्रीका एक (तृतीय) पाद है। यह प्राणादि ही इस गायत्रीका 'तृतीय' पाद है। जो गायत्रीके इस पदको इस प्रकार जानता है, वह जितना यह प्राणिसमुदाय है, सबको जीत लेता है। और यह जो तपता (प्रकाशित होता) है वही इसका तुरीय, दर्शत, परोरजा पद है। जो चतुर्थ होता है, वही 'तुरीय' कहलाता है। 'दर्शतं पदम्' इसका अर्थ है—मानो [यह आदिमण्डलस्थ पुरुष] दीखता है। 'परोरजाः' इसका अर्थ है—यह सभी रज (यानी लोकों) के ऊपर-ऊपर रहकर प्रकाशित होता है। जो गायत्रीके इस चतुर्थ पदको इस प्रकार जानता है, वह इसी प्रकार शोभा और कीर्तिसे प्रकाशित होता है। वह यह गायत्री इस चतुर्थ दर्शत परोरजा पदमें प्रतिष्ठित है। वह पद सत्यमें प्रतिष्ठित है। चक्षु ही सत्य है, चक्षु ही सत्य है—यह प्रसिद्ध है। इसीसे यदि दो पुरुष 'मैंने देखा है', 'मैंने सुना है' इस प्रकार विवाद करते हुए आयें तो जो यह कहता होगा कि 'मैंने देखा है' उसीका हमें विश्वास होगा। वह तुरीय पादका आश्रयभूत सत्य बलमें प्रतिष्ठित है। प्राण ही बल है, वह सत्य प्राणमें प्रतिष्ठित है। इसीसे कहते हैं कि सत्यकी अपेक्षा बल ओजस्वी है। इस प्रकार यह गायत्री अध्यात्म-प्राणमें प्रतिष्ठित है। इस पूर्वोक्त गायत्रीने गयोंका त्राण किया था। प्राण ही गय हैं, उन प्राणोंका इसने त्राण किया। इसने गयोंका त्राण किया था, इसीसे इसका 'गायत्री' नाम हुआ। आचार्यने आठ वर्षके बटुके प्रति उपनयनके समय जिस सावित्रीका उपदेश किया था, वह यही है। वह जिस-जिस बटुको इसका उपदेश करता है, यह उसके-उसके प्राणोंकी रक्षा करती है ॥ १–४ ॥

कोई शाखावाले इस पूर्वोक्त अनुष्टुप्[1] छन्दवाली सावित्रीका उपदेश करते हैं (गायत्रीछन्दवाली सावित्रीका उपदेश न करके अनुष्टुप्छन्दकी सावित्रीका उपदेश करते हैं)। वे कहते हैं कि वाक् अनुष्टुप् है, इसलिये हम वाक्का ही उपदेश करते हैं। किंतु ऐसा नहीं करना चाहिये। गायत्रीछन्दवाली सावित्रीका ही उपदेश करे। ऐसा जाननेवाला जो बहुत-सा भी प्रतिग्रह करे तो भी वह गायत्रीके एक पदके बराबर भी नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

जो इन तीन पूर्ण लोकोंका प्रतिग्रह करता है, उसका वह (प्रतिग्रह) इस गायत्रीके इस प्रथम पादको व्याप्त करता है। और जितनी यह त्रयीविद्या है, उसका जो प्रतिग्रह करता है, वह (प्रतिग्रह) इसके इस द्वितीय पादको व्याप्त करता है। और जितने ये प्राणी हैं, उनका जो प्रतिग्रह करता है, वह (प्रतिग्रह) इसके इस तृतीय पदको व्याप्त करता है। और यही इसका तुरीय दर्शत परोरजा पद है, जो कि यह तपता है; यह किसीके द्वारा प्राप्य नहीं है, क्योंकि इतना प्रतिग्रह कोई कहाँसे कर सकता है? ॥ ६ ॥

उस गायत्रीका उपस्थान—हे गायत्रि! तू [त्रैलोक्यरूप प्रथम पादसे] एकपदी है, [तीनों वेदरूप द्वितीय पादसे] द्विपदी है, [प्राण, अपान और व्यानरूप तीसरे पादसे] त्रिपदी है [और तुरीय पादसे] चतुष्पदी है। [इन सबसे परे निरुपाधिक स्वरूपसे तू] अपद है; क्योंकि तू जानी नहीं जाती। अतः व्यवहारके अविषयभूत एवं समस्त लोकोंसे ऊपर विराजमान तेरे दर्शनीय तुरीय पदको नमस्कार है। यह पापरूपी शत्रु

१. अनुष्टुप्छन्द चार पादोंका होता है और गायत्रीछन्द तीन पादोंका। दोनोंके पाद आठ-आठ अक्षरके ही होते हैं। अनुष्टुप्छन्दमें जो मन्त्र उपलब्ध होता है, उसका भी देवता सविता ही है; इसलिये कुछ लोग उसे ही सावित्री कहते हैं। अनुष्टुप्छन्दवाला मन्त्र इस प्रकार है—

'तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्य भोजनम्। श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि।'

इस [विज्ञाचरणरूप] कार्यमें सफलता नहीं प्राप्त करे। इस प्रकार यह (विद्वान्) जिससे द्वेष करता हो, 'उसकी कामना पूर्ण न हो' ऐसा कहकर उपस्थान करे। जिसके लिये इस प्रकार उपस्थान किया जाता है, उसकी कामना पूर्ण नहीं होती। अथवा 'मैं इस वस्तुको प्राप्त करूँ' ऐसी कामनासे उपस्थान करे ॥ ७ ॥

उस विदेह जनकने बुडिल अश्वतराश्विसे यही बात कही थी कि 'तूने जो अपनेको गायत्रीविद् (गायत्री-तत्त्वका ज्ञाता) कहा था; तो फिर [प्रतिग्रहके दोषसे] हाथी होकर भार क्यों ढोता है ?' इसपर उसने 'सम्राट् ! मैं इसका मुख ही नहीं जानता था' ऐसा कहा। [तब जनकने कहा—] 'इसका अग्नि ही मुख है। यदि अग्निमें लोग बहुत-सा ईंधन रख दें तो वह उस सभीको जला डालता है। इसी प्रकार ऐसा जाननेवाला बहुत-सा पाप करता रहा हो, तो भी वह उस सबको भक्षण करके शुद्ध, पवित्र, अजर, अमर हो जाता है ॥ ८ ॥

पञ्चदश ब्राह्मण

अन्तसमयकी प्रार्थना

हे सबका भरण-पोषण करनेवाले परमेश्वर ! आप सत्य-स्वरूप सर्वेश्वरका श्रीमुख ज्योतिर्मय सूर्यमण्डलरूप पात्रसे ढका हुआ है। आपकी भक्तिरूप सत्यधर्मका अनुष्ठान करनेवाले मुझको अपने दर्शन करानेके लिये आप उस आवरणको हटा लीजिये। हे भक्तोंका पोषण करनेवाले ! मुख्य ज्ञानस्वरूप ! सबके नियन्ता ! भक्तों और ज्ञानियोंके परम लक्ष्य ! प्रजापतिके प्रिय ! इन रश्मियोंको एकत्र कीजिये—हटा लीजिये; इस तेजको समेट लीजिये। आपका जो अतिशय कल्याणमय दिव्यस्वरूप है, उसको मैं आपकी कृपासे [ध्यानके द्वारा] देख रहा हूँ। वह जो (सूर्यका आत्मा) है, वह परम पुरुष [आपका स्वरूप है;] वही मैं भी हूँ। अब ये प्राण और इन्द्रियाँ अविनाशी समष्टि वायुतत्त्वमें [प्रविष्ट हो जायँ], यह स्थूलशरीर अग्निमें जलकर भस्मरूप [हो जाय]। हे सच्चिदानन्दघन यज्ञमय भगवन् ! [आप मुझ भक्तका] स्मरण करें, मेरे द्वारा किये हुए (भक्तिरूप) कर्मोंका स्मरण करें। हे यज्ञमय भगवन् ! [आप मुझ भक्तको] स्मरण करें, (मेरे) कर्मोंको स्मरण करें। हे अग्नि ! (अग्निके अधिष्ठातृ देवता) हमें परम धनरूप परमेश्वरकी सेवामें पहुँचानेके लिये सुन्दर शुभ (उत्तरायण) मार्गसे ले चलिये। हे देव ! [आप हमारे] सम्पूर्ण कर्मोंको जाननेवाले हैं, अतः हमारे इस मार्गके प्रतिबन्धक पापको दूर कर दीजिये। आपको हम बार-बार नमस्कार करते हैं ॥ १ ॥

॥ पञ्चम अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

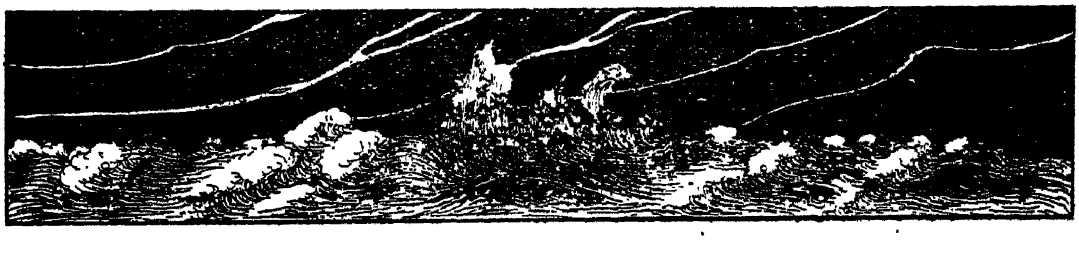

ॐ

षष्ठ अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

प्राणकी सर्वश्रेष्ठता

जो कोई ज्येष्ठ और श्रेष्ठको जानता है, वह अपने ज्ञातिजनोंमें ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। प्राण ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है। जो ऐसी उपासना करता है, वह अपने ज्ञातिजनोंमें तथा और जिनमें होना चाहता है, उनमें भी ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। जो वसिष्ठाको जानता है, वह स्वजनोंमें वसिष्ठ होता है। वाक् ही वसिष्ठा है। जो ऐसी उपासना करता है, वह स्वजनोंमें तथा और जिनमें चाहता है, उनमें वसिष्ठ होता है। जो प्रतिष्ठाको जानता है, वह समान देश-कालमें प्रतिष्ठित होता है और दुर्गममें भी प्रतिष्ठित होता है। चक्षु ही प्रतिष्ठा है। चक्षुसे ही समान और दुर्गम देश-कालमें प्रतिष्ठित होता है। जो ऐसी उपासना करता है, वह समान और दुर्गममें प्रतिष्ठित होता है। जो सम्पद्को जानता है, वह जिस भोगकी इच्छा करता है, वही उसे सम्यक् प्रकारसे प्राप्त हो जाता है। श्रोत्र ही सम्पद् है। श्रोत्रमें ही ये सब वेद सब प्रकार निष्पन्न हैं। जो ऐसी उपासना करता है, वह जिस भोगकी इच्छा करता है, वही उसे सम्यक् प्रकारसे प्राप्त हो जाता है। जो आयतनको जानता है, वह स्वजनोंका आयतन (आश्रय) होता है तथा अन्य जनोंका भी आयतन होता है। मन ही आयतन है। जो इस प्रकार उपासना करता है, वह स्वजनोंका आयतन होता है तथा अन्य जनोंका भी आयतन होता है। जो भी प्रजातिको जानता है, वह प्रजा—सन्तान और पशुओंद्वारा प्रजात (वृद्धिको प्राप्त) होता है। रेतस् ही प्रजाति है। जो ऐसा जानता है, वह प्रजा और पशुओंद्वारा प्रजात होता है ॥ १—६ ॥

ये पूर्वोक्त प्राण (इन्द्रिय, मन आदि) 'मैं श्रेष्ठ हूँ' 'मैं श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकार विवाद करते हुए ब्रह्माके पास गये। उससे बोले, 'हममें कौन वसिष्ठ है ?' उसने कहा, 'तुममेंसे जिसके उत्क्रमण करनेपर (शरीरसे पृथक् हो जानेपर) यह शरीर अपनेको अधिक पापी मानता है, वही तुममें वसिष्ठ है' ॥ ७ ॥

[पहले] वाक्ने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष बाहर रहकर लौटकर कहा—'मेरे बिना तुम कैसे जीवित रह सके थे ?' यह सुनकर उन्होंने कहा, 'जैसे गूँगे मनुष्य वाणीसे न बोलते हुए भी प्राणसे प्राणक्रिया करते, नेत्रसे देखते, श्रोत्रसे सुनते, मनसे जानते और रेतस्से प्रजा (सन्तान) की उत्पत्ति करते हुए [जीवित रहते हैं,] वैसे ही हम जीवित रहे।' यह सुनकर वाक्ने शरीरमें प्रवेश किया। चक्षुने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष बाहर रहकर लौटकर कहा, 'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके थे ?' वे बोले—'जिस प्रकार अन्धे लोग नेत्रसे न देखते हुए प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, श्रोत्रसे सुनते, मनसे जानते और रेतस्से प्रजा उत्पन्न करते हुए [जीवित रहते हैं,] उसी प्रकार हम जीवित रहे।' यह सुनकर चक्षुने प्रवेश किया। श्रोत्रने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष बाहर रहकर लौटकर कहा, 'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके थे ?' वे बोले—'जिस प्रकार बहरे आदमी कानोंसे न सुनते हुए भी प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते, मनसे जानते और रेतस्से प्रजा उत्पन्न करते हुए [जीवित रहते हैं,] उसी प्रकार हम जीवित रहे।' यह सुनकर श्रोत्रने प्रवेश किया। मनने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष बाहर रहकर लौटकर कहा, 'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके थे ?' वे बोले, 'जिस प्रकार मुग्ध पुरुष मनसे न समझते हुए भी प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते, कानसे सुनते और रेतस्से प्रजा उत्पन्न करते हुए [जीवित रहते हैं,] उसी प्रकार हम जीवित रहे।' यह सुनकर मनने शरीरमें प्रवेश किया। रेतसने उत्क्रमण किया। उसने एक वर्ष बाहर रहकर फिर लौटकर कहा, 'तुम मेरे बिना कैसे जीवित रह सके थे ?' वे बोले, 'जिस प्रकार नपुंसकलोग रेतस्से प्रजा उत्पन्न न करते हुए प्राणसे प्राणन करते, वाणीसे बोलते, नेत्रसे देखते, श्रोत्रसे सुनते और मनसे जानते हुए [जीवित रहते हैं,] उसी प्रकार हम जीवित रहे।' यह सुनकर वीर्यने शरीरमें प्रवेश किया। फिर प्राण उत्क्रमण करने लगा तो जिस प्रकार सिन्धुदेशीय महान् अश्व पैर बाँधनेके खूँटोंको उखाड़ डालता है, उसी प्रकार वह इन सब प्राणों (इन्द्रियों) को स्थानच्युत करने लगा। उन्होंने कहा, 'भगवन् ! आप उत्क्रमण न करें, आपके बिना हम जीवित नहीं रह सकते।' प्राणने कहा, 'अच्छा, तो

मुझे बलि (भेंट) दिया करो ।' [इन्द्रियोंने कहा—] 'बहुत अच्छा' ॥ ८–१३ ॥

उस वागिन्द्रियने कहा, 'मैं जो वसिष्ठा हूँ, सो तुम ही उस वसिष्ठगुणसे युक्त हो ।' 'मैं जो प्रतिष्ठा हूँ, सो तुम ही उस प्रतिष्ठासे युक्त हो' ऐसा नेत्रने कहा । 'मैं जो सम्पद् हूँ, सो तुम ही उस सम्पद्से युक्त हो' ऐसा श्रोत्रने कहा । 'मैं जो आयतन हूँ, सो तुम्हीं वह आयतन हो' ऐसा मनने कहा । 'मैं जो प्रजाति हूँ, सो तुम ही उस प्रजातिसे युक्त हो' ऐसा रेतस्ने कहा । [प्राणने कहा—] 'किंतु ऐसे गुणोंसे युक्त मेरा अन्न क्या है और वस्त्र क्या है ?' [वागादि बोले—] 'कुत्ते, कृमि और कीट-पतङ्गोंसे लेकर यह जो कुछ भी है, वह सब तुम्हारा अन्न है और जल ही वस्त्र है ।' [उपासनाका फल—] 'जो इस प्रकार प्राणके अन्नको जानता है, उसके द्वारा अभक्ष्य-भक्षण नहीं होता और अभक्ष्यका प्रतिग्रह (संग्रह) भी नहीं होता । ऐसा जाननेवाले श्रोत्रिय भोजन करनेसे पूर्व आचमन करते हैं तथा भोजन करके आचमन करते हैं । इसीको वे उस प्राणको अनग्न (वस्त्रयुक्त) करना मानते हैं' ॥ १४ ॥

द्वितीय ब्राह्मण

पञ्चाग्निविद्या और उसे जाननेका फल; त्रिविध गतिका वर्णन

प्रसिद्ध है कि आरुणिका पुत्र श्वेतकेतु पञ्चालोंकी सभामें आया । वह जीवलके पुत्र प्रवाहणके पास पहुँचा, जो [सेवकोंसे] परिचर्या करा रहा था । उसे देखकर प्रवाहणने कहा, 'ओ कुमार !' वह बोला, 'जी !' [प्रवाहण—] 'क्या पिताने तुझे शिक्षा दी है ?' तब श्वेतकेतुने 'हाँ !' ऐसा उत्तर दिया ॥ १ ॥

'जिस प्रकार मरनेपर यह प्रजा विभिन्न मार्गोंसे जाती है—सो क्या तू जानता है ?' श्वेतकेतु बोला, 'नहीं !' [राजा–] 'जिस प्रकार वह पुनः इस लोकमें आती है—सो क्या तुझे मालूम है ?' 'नहीं,' ऐसा श्वेतकेतुने उत्तर दिया । [राजा–] 'इस प्रकार पुनः-पुनः बहुतोंके मरकर जानेपर भी जिस प्रकार वह लोक भरता नहीं है—सो क्या तू जानता है ?' 'नहीं,' ऐसा उसने कहा । [राजा—] 'क्या तू जानता है कि कितने बारकी आहुतिके हवन करनेपर आप (जल) पुरुष-शब्दवाच्य हो उठकर बोलने लगता है ?' 'नहीं,' ऐसा श्वेतकेतुने कहा । 'क्या तू देवयानमार्गका कर्मरूप साधन अथवा पितृयानका कर्मरूप साधन जानता है, जिसे करके लोग देवयानमार्गको प्राप्त होते हैं अथवा पितृयानमार्गको ? हमने तो मन्त्रका यह वचन सुना है—मैंने पितरोंका और देवोंका, इस प्रकार दो मार्ग सुने हैं; ये दोनों मनुष्योंसे सम्बन्ध रखनेवाले मार्ग हैं । इन दोनों मार्गोंसे जानेवाला जगत् सम्यक् प्रकारसे जाता है । तथा ये मार्ग [द्युलोक और पृथिवीरूप] पिता और माताके मध्यमें हैं ।' इसपर श्वेतकेतुने 'मैं इनमेंसे एक भी नहीं जानता,' ऐसा उत्तर दिया ॥ २ ॥

फिर राजाने श्वेतकेतुसे ठहरनेके लिये प्रार्थना की । किंतु वह कुमार ठहरनेकी परवा न करके चल दिया । वह सीधा अपने पिताके पास आया और उससे बोला, 'आपने यही कहा था न कि मुझे सब विषयोंकी शिक्षा दे दी गयी है ?' [पिता—] 'हे सुन्दर धारणाशक्तिवाले ! क्या हुआ ?' [पुत्र—] 'मुझसे एक क्षत्रियबन्धुने पाँच प्रश्न पूछे थे, उनमेंसे मैं एकको भी नहीं जानता ।' [पिता—] 'वे कौन-से थे ?' [पुत्र—] 'ये थे' ऐसा कहकर उसने उन प्रश्नोंके प्रतीक बतलाये ॥ ३ ॥

पिताने कहा, 'हे तात ! तू हमारे कथनानुसार ऐसा समझ कि हम जो कुछ जानते थे, वह सब हमने तुझसे कह दिया था । अब हम दोनों वहीं चलें और ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक उसके यहाँ निवास करेंगे ।' [पुत्र—] 'आप ही जाइये ।' तब वह गौतम जहाँ जैवलि प्रवाहणकी बैठक थी, वहाँ आया । उसके लिये आसन लाकर राजाने जल मँगवाया और उसे अर्घ्यदान किया । फिर बोला, 'मैं पूज्य गौतमको वर देता हूँ ।' (आप जिस उद्देश्यसे यहाँ पधारे हैं, वह बतलाइये । मैं उसकी पूर्ति करूँगा ।) उसने कहा, 'आपने मुझे जो वर देनेके लिये प्रतिज्ञा की है, उसके अनुसार आपने कुमारसे जो बात पूछी थी, वह मुझसे कहिये ।' उसने कहा, 'गौतम ! वह वर तो दैव वरोंमेंसे है, तुम मनुष्यसम्बन्धी वरोंमेंसे कोई वर माँगो' ॥ ४-६ ॥

गौतमने कहा, 'आप जानते हैं, वह तो मेरे पास है । मुझे सुवर्ण तथा गौ, अश्व, दासी, परिवार और वस्त्र भी प्राप्त है । आप महान्, अनन्त और निःसीम धनके दाता होकर मेरे लिये अदाता न हों ।' [राजा—]

'तो गौतम ! तुम शास्त्रोक्त विधिसे उसे पानेकी इच्छा करो।' [गौतम—] 'अच्छा, मैं आपके प्रति शिष्यभावसे उपसन्न (प्राप्त) होता हूँ। पहले ब्राह्मणलोग वाणीसे ही क्षत्रियादिके प्रति उपसन्न होते रहे हैं।' इस प्रकार उपसत्तिका वाणीसे कथनमात्र करके गौतम वहाँ रहने लगा [सेवा आदिके द्वारा नहीं]। उस राजाने कहा, 'गौतम ! जिस प्रकार तुम्हारे पितामहोंने हमारे पूर्वजोंका अपराध नहीं माना, उसी प्रकार तुम भी हमारा अपराध न मानना। इससे पूर्व यह विद्या किसी ब्राह्मणके यहाँ नहीं रही। उसे मैं तुम्हारे ही प्रति कहता हूँ। भला, इस प्रकार विनयपूर्वक बोलनेवाले तुमको निषेध करनेमें (विद्या देनेसे अस्वीकार करनेमें) कौन समर्थ हो सकता है ?' ॥ ७-८ ॥

गौतम ! वह लोक (द्युलोक) ही अग्नि है। उसका आदित्य ही समिध् (ईंधन) है, किरणें धूम हैं, दिन ज्वाला है, दिशाएँ अङ्गार हैं, अवान्तर दिशाएँ विस्फुलिङ्ग (चिनगारियाँ) हैं। उस इस अग्निमें देवगण श्रद्धाको हवन करते हैं; उस आहुतिसे सोम राजा होता है। गौतम ! पर्जन्य-देवता ही अग्नि है। उसका संवत्सर ही समिध् है, बादल धूम हैं, विद्युत् ज्वाला है, अशनि (इन्द्रका वज्र) अङ्गार है, मेघ-गर्जन विस्फुलिङ्ग है। उस इस अग्निमें देवगण सोम राजाको हवन करते हैं। उस आहुतिसे वृष्टि होती है। गौतम ! यह लोक ही अग्नि है। इसकी पृथिवी ही समिध् है, अग्नि धूम है, रात्रि ज्वाला है, चन्द्रमा अङ्गार है और नक्षत्र विस्फुलिङ्ग हैं। उस इस अग्निमें देवता वृष्टिको होमते हैं, उस आहुतिसे अन्न होता है। गौतम ! पुरुष ही अग्नि है। उसका खुला हुआ मुख ही समिध् है, प्राण धूम है, वाक् ज्वाला है, नेत्र अङ्गार हैं, श्रोत्र विस्फुलिङ्ग हैं। उस इस अग्निमें देवगण अन्नको होमते हैं। उस आहुतिसे वीर्य होता है। गौतम ! स्त्री ही अग्नि है। उपस्थ ही उसकी समिध् है, लोम धूम हैं, योनि ज्वाला है, जो मैथुनव्यापार है वह अङ्गार है, आनन्दलेश विस्फुलिङ्ग है। उस इस अग्निमें देवगण वीर्य होमते हैं। उस आहुतिसे पुरुष उत्पन्न होता है। वह जीवित रहता है। जबतक कर्मशेष रहते हैं, वह जीवित रहता है; और जब मरता है, तब उसे अग्निके पास ले जाते हैं। उस (आहुतिभूत पुरुष) का अग्नि ही अग्नि होता है, समिध् समिध् होती है, धूम धूम होता है, ज्वाला ज्वाला होती है, अँगारे अङ्गार होते हैं और विस्फुलिङ्ग विस्फुलिङ्ग होते हैं। उस इस अग्निमें देवगण पुरुषको होमते हैं। उस आहुतिसे पुरुष अत्यन्त दीप्तिमान् हो जाता है ॥ ९-१४ ॥

वे जो [गृहस्थ] इस प्रकार इस (पञ्चाग्निविद्या) को जानते हैं तथा जो [संन्यासी या वानप्रस्थ] वनमें श्रद्धायुक्त होकर सत्य (सगुण ब्रह्म) की उपासना करते हैं, वे ज्योतिके अभिमानी देवताओंको प्राप्त होते हैं; ज्योतिके अभिमानी देवताओंसे दिनके अभिमानी देवताको, दिनके अभिमानी देवतासे शुक्लपक्षाभिमानी देवताको और शुक्लपक्षाभिमानी देवतासे जिन छः महीनोंमें सूर्य उत्तरकी ओर रहकर चलता है, उन उत्तरायणके छः महीनोंके अभिमानी देवताओंको [प्राप्त होते हैं]; षण्मासाभिमानी देवताओंसे देवलोकको, देवलोकसे आदित्यको और आदित्य-से विद्युत्सम्बन्धी देवताओंको प्राप्त होते हैं। उन वैद्युत देवोंके पास एक मानस पुरुष आकर इन्हें ब्रह्मलोकोंमें ले जाता है। वे उन ब्रह्मलोकोंमें अनन्त संवत्सरपर्यन्त रहकर [भगवान्-को प्राप्त हो जाते] हैं ! उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती ॥१५॥

और जो [सकाम] यज्ञ, दान, तपके द्वारा लोकोंको जीतते हैं, वे धूम (धूमाभिमानी देवता) को प्राप्त होते हैं; धूमसे रात्रिदेवताको, रात्रिसे अपक्षीयमाणपक्ष (कृष्णपक्षाभिमानी देवता) को, अपक्षीयमाणपक्षसे जिन छः महीनोंमें सूर्य दक्षिणकी ओर होकर जाता है, उन छः मासके देवताओंको, छः मासके देवताओंसे पितृलोकको और पितृलोकसे चन्द्रमाको प्राप्त होते हैं। चन्द्रमामें पहुँचकर वे अन्न हो जाते हैं। वहाँ जैसे ऋत्विक्-गण सोम राजाको 'आप्यायस्व-अपक्षीयस्व' ऐसा कहकर चमसमें भरकर पी जाते हैं, उसी प्रकार इन्हें देवगण भक्षण कर जाते हैं। जब उनके कर्म क्षीण हो जाते हैं तो वे इस आकाशको ही प्राप्त होते हैं। आकाशसे वायुको, वायुसे वृष्टिको और वृष्टिसे पृथिवीको प्राप्त होते हैं। पृथिवीको प्राप्त होकर वे अन्न हो जाते हैं। फिर वे पुरुषरूप अग्निमें हवन किये जाते हैं। उससे वे लोकके प्रति उत्थान करनेवाले होकर स्त्रीरूप अग्निमें उत्पन्न होते हैं। वे इसी प्रकार पुनः-पुनः परिवर्तित होते रहते हैं और जो इन दोनों मार्गोंको नहीं जानते, वे कीट, पतंग और डाँस-मच्छर आदि होते हैं ॥ १६ ॥

तृतीय ब्राह्मण

मन्थविद्या और उसकी परम्परा

जो ऐसा चाहता हो कि मैं महत्त्व प्राप्त करूँ, वह उत्तरायणमें शुक्लपक्षकी पुण्य-तिथिपर बारह दिन उपसद्व्रती (पयोव्रती) होकर गूलरकी लकड़ीके कंस (कटोरे) या चमसमें सर्वौषध, फल तथा अन्य सामग्रियोंको एकत्रितकर, [जहाँ हवन करना हो, उस स्थानका] परिसमूहन* एवं परिलेपन† करके अग्निस्थापन करता है और फिर अग्निके चारों ओर कुशा बिछाकर गृह्योक्त विधिसे घृतका शोधन करके, जिसका नाम पुँल्लिङ्ग हो उस [हस्त आदि] नक्षत्रमें मन्थको (औषध-फल आदिके पिण्डको) [अपने और अग्निके] बीचमें रखकर हवन करता है। ['यावन्तो' इत्यादि प्रथम मन्त्रका अर्थ—] हे जातवेदः ! तेरे वशवर्ती जितने देवता वक्रमति होकर पुरुषकी कामनाओंका प्रतिबन्ध करते हैं, उनके उद्देश्यसे यह आज्यभाग मैं तुझमें हवन करता हूँ। वे तृप्त होकर मुझे समस्त कामनाओंसे तृप्त करें—स्वाहा‡। ['या तिरश्ची' इत्यादि द्वितीय मन्त्रका अर्थ—] 'मैं सबकी मृत्युको धारण करनेवाला हूँ' ऐसा समझकर जो कुटिलमति देवता तेरा आश्रय करके रहता है, सब साधनोंकी पूर्ति करनेवाले उस देवताके लिये मैं घृतकी धारासे यजन करता हूँ—स्वाहा ॥ १ ॥

'ज्येष्ठाय स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको (स्रुवामें बचे हुए घृतको) मन्थमें डाल देता है। 'प्राणाय स्वाहा, वसिष्ठायै स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'वाचे स्वाहा, प्रतिष्ठायै स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'चक्षुषे स्वाहा, सम्पदे स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'श्रोत्राय स्वाहा, आयतनाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'मनसे स्वाहा, प्रजात्यै स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'रेतसे स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है ॥ २ ॥

'अग्नये स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'सोमाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'भूः स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'भुवः स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'स्वः स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'भूर्भुवः स्वः स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'ब्रह्मणे स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'क्षत्राय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'भूताय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'भविष्यते स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'विश्वाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'सर्वाय स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है। 'प्रजापतये स्वाहा' इस मन्त्रसे अग्निमें हवन करके संस्रवको मन्थमें डाल देता है ॥ ३ ॥

इसके पश्चात् उस मन्थको 'भ्रमदसि' इत्यादि मन्त्रद्वारा स्पर्श करता है। [मन्थद्रव्यका अधिष्ठातृदेव प्राण है, इसलिये प्राणसे एकरूप होनेके कारण वह सर्वात्मक है। 'भ्रमदसि' इत्यादि मन्त्रका अर्थ इस प्रकार है—] तू [प्राणरूपसे सम्पूर्ण देहोंमें] घूमनेवाला है, [अग्निरूपसे सर्वत्र] प्रज्वलित होनेवाला है, [ब्रह्मरूपसे] पूर्ण है, [आकाशरूपसे] अत्यन्त स्तब्ध (निष्कम्प) है, [सबसे अविरोधी होनेके कारण] तू यह जगद्रूप एक सभाके समान है, तू ही [यज्ञके आरम्भमें प्रस्तोताके द्वारा] हिङ्कृत है, तथा [उसी प्रस्तोताद्वारा यज्ञमें] तू ही हिङ्क्रियमाण है, [यज्ञारम्भमें उद्गाताद्वारा] तू ही उच्च स्वरसे गाया जानेवाला उद्गीथ है और [यज्ञके मध्यमें उसके द्वारा] तू ही उद्गीयमान है। तू ही [अध्वर्युद्वारा] श्रावित और [आग्नीध्रद्वारा] प्रत्याश्रावित है; आर्द्र (अर्थात् मेघ) में सम्यक् प्रकारसे दीप्त है, तू विभु (विविधरूप होनेवाला) है और प्रभु (समर्थ) है, तू [भोक्ता अग्निरूपसे] ज्योति है, [कारणरूपसे] सबका प्रलयस्थान है तथा [सबका संहार करनेवाला होनेसे] संवर्ग है ॥ ४ ॥

फिर 'आमस्यसि आमस्यहि' इत्यादि मन्त्रसे इसे ऊपर उठाता है। [इस मन्त्रका अर्थ—] 'आमंसि'—तू सब जानता है,

* कुशोंसे बुहारना।

† गोबर और जलसे वेदीको लीपना।

‡ जहाँ-जहाँ 'स्वाहा' आये, वहाँ आहुति देनी चाहिये।

'आमंहि ते महि'—मैं तेरी महिमाको अच्छी तरह जानता हूँ। वह प्राण राजा, ईशान (ईश्वर) और अधिपति है। वह मुझे राजा, ईशान और अधिपति करे ॥ ५ ॥

इसके पश्चात् 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इत्यादि मन्त्रसे इस मन्थको भक्षण करता है। ['तत्सवितुः' इत्यादि मन्त्रका अर्थ—] 'तत्सवितुर्वरेण्यम्'—सूर्यके उस वरेण्य—श्रेष्ठ पदका मैं ध्यान करता हूँ। 'वाता मधु ऋतायते'—पवन मधुर, मन्द गतिसे बह रहा है। 'सिन्धवः मधु क्षरन्ति'—नदियाँ मधु-रसका स्राव कर रही हैं। 'नः ओषधीः माध्वीः सन्तु'—हमारे लिये ओषधियाँ मधुर हों। 'भूः स्वाहा' [यहाँतकके मन्त्रसे मन्थका पहला ग्रास भक्षण करे।] 'देवस्य भर्गः धीमहि'—हम सवितादेवके तेजका ध्यान करते हैं। 'नक्तमुत उषसः मधु'—रात और दिन सुखकर हों। 'पार्थिवं रजः मधुमत्'—पृथिवीके धूलिकण उद्वेग न करनेवाले हों। 'द्यौः पिता नः मधु अस्तु'—पिता द्युलोक हमारे लिये सुखकर हो। 'भुवः स्वाहा' [यहाँतकके मन्त्रसे दूसरा ग्रास भक्षण करे]। 'यः नः धियः प्रचोदयात्'—जो सवितादेव हमारी बुद्धियोंको प्रेरित करता है। 'नः वनस्पतिः मधुमान्'—हमारे लिये वनस्पति (सोम) मधुर रसमय हो। 'सूर्यः मधुमान् अस्तु'—सूर्य हमारे लिये मधुमान् हो। 'गावः नः माध्वीः भवन्तु'—किरणें अथवा दिशाएँ हमारे लिये सुखकर हों। 'स्वः स्वाहा' [यहाँतकके मन्त्रसे तृतीय ग्रास भक्षण करे]। इसके पश्चात् सम्पूर्ण सावित्री (गायत्रीमन्त्र), 'मधु वाता ऋतायते' इत्यादि समस्त मधुमती ऋचा और 'अहमेवेदं सर्वं भूयासम्' (यह सब मैं ही हो जाऊँ) 'भूर्भुवः स्वाहा'—इस प्रकार कहकर अन्तमें समस्त मन्थको भक्षण-कर, दोनों हाथ धो, अग्निके पश्चिम भागमें पूर्वकी ओर सिर करके बैठता है। प्रातःकालमें 'दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं ..... भूयासम्' इस मन्त्रद्वारा आदित्यका उपस्थान (नमस्कार) करता है। फिर जिस मार्गसे गया होता है, उसीसे लौटकर अग्निके पश्चिम भागमें बैठकर [आगे कहे जानेवाले] वंशको जपता है ॥ ६ ॥

उस इस मन्थका उद्दालक आरुणिने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्यको उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इस मन्थको सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आवेंगे।' उस इस मन्थका वाजसनेय याज्ञवल्क्यने अपने शिष्य मधुक पैङ्ग्यको उपदेश करके कहा था, यदि कोई इसे सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आवेंगे।' उस इस मन्थका मधुक पैङ्ग्यने अपने शिष्य चूल भागवित्तिको उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इसे सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आवेंगे।'

उस इस मन्थका चूल भागवित्तिने अपने शिष्य जानकि आयस्थूणको उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इसे सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आवेंगे।' उस इस मन्थका जानकि आयस्थूणने अपने शिष्य सत्यकाम जाबालको उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इसे सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आवेंगे।' उस इस मन्थका सत्यकाम जाबालने अपने शिष्योंको उपदेश करके कहा था, 'यदि कोई इसे सूखे ठूँठपर डाल देगा तो उसमें शाखाएँ उत्पन्न हो जायँगी और पत्ते निकल आवेंगे।' उस इस मन्थका, जो पुत्र या शिष्य न हो, उसे उपदेश न करे ॥ ७–१२ ॥

यह मन्थकर्म चतुरौदुम्बर (चार औदुम्बरकाष्ठके बने पदार्थोंवाला) है। इसमें औदुम्बरकाष्ठ (गूलरकी लकड़ी) का स्रुव, औदुम्बरकाष्ठका चमस, औदुम्बरकाष्ठका इध्म और औदुम्बरकाष्ठकी दो उपमन्थनी होती हैं। इसमें व्रीहि (धान), यव (जौ), तिल, माष (उड़द), अणु (सावाँ), प्रियङ्गु (काँगनी), गोधूम (गेहूँ), मसूर, खल्व (बाल) और खलकुल (कुलथी)—ये दस ग्रामीण अन्न उपयुक्त होते हैं। उन्हें पीसकर दही, मधु और घृतमें मिलाकर घृतसे हवन करता है ॥ १३ ॥

चतुर्थ ब्राह्मण

सन्तानोत्पत्ति-विज्ञान

(इच्छानुसार सद्गुणयुक्त सन्तान उत्पन्न करने, सर्वथा न उत्पन्न करने तथा संयमयुक्त जीवन-निर्माण करनेकी युक्ति बतलानेके लिये इस ब्राह्मणका आरम्भ किया जाता है; मन्थाख्य कर्मकर्ता प्राणदर्शी पुरुषका ही इसमें अधिकार है।)

चराचर समस्त भूतोंका रस—सार अथवा आधार पृथिवी है, पृथिवीका रस जल है, जलका रस—उसपर निर्भर करनेवाली ओषधियाँ हैं, ओषधियोंका रस—सार पुष्प है, पुष्पका रस फल है, फलका रस—आधार पुरुष है, पुरुषका रस—सार

१. तू दिशाओंका एक पुण्डरीक (अर्थात् अखण्ड श्रेष्ठ) है, मैं मनुष्योंमें एक पुण्डरीक होऊँ।

शुक्र है। प्रसिद्ध प्रजापतिने विचार किया कि इस शुक्रकी उपयुक्त प्रतिष्ठाके लिये कोई आधार चाहिये; इसलिये उसने स्त्रीकी सृष्टि की और उसके अधोभाग-सेवनका विधान किया। (यहाँ यदि यह कहा जाय कि इस पाशविक क्रियामें तो प्राणिमात्रकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है, इसके लिये विधान क्यों किया गया, तो इसका उत्तर यह है कि यह विधान इसीलिये बनाया गया कि जिसमें पुरुषोंकी स्वेच्छाचारिताका निरोध हो और इस विज्ञानसे परिचित पुरुषोंके द्वारा केवल श्रेष्ठ सन्तानोत्पत्तिके लिये ही इसका सेवन किया जाय।) इसके लिये प्रजापतिने प्रजननेन्द्रियको उत्पन्न किया। अतएव इस विषयसे घृणा नहीं करनी चाहिये। अरुणके पुत्र विद्वान् उद्दालक और नाक-मौद्गल्य तथा कुमारहारीत ऋषिने भी कहा है कि बहुत-से ऐसे मरणधर्मा, नामके ब्राह्मण हैं जो निरिन्द्रिय, सुकृतहीन, मैथुन-विज्ञानसे अपरिचित होकर भी मैथुन-कर्ममें आसक्त होते हैं; उनकी परलोकमें दुर्गति होती है। (इससे अशास्त्रीय तथा अबाध मैथुन-कर्मका पापहेतुत्व सूचित किया गया है।)

इस प्रकार मन्थ-कर्म करके ब्रह्मचर्यधारणपूर्वक पुरुषको पत्नीके ऋतुकालकी प्रतीक्षा करनी चाहिये। यदि इस बीचमें स्वप्नदोषादिके द्वारा शुक्र क्षरण हो जाय तो उसकी पुनः प्राप्ति तथा वृद्धिके लिये **'यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदपः, इदमहं तद्रेत आददे।'** तथा **'पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः। पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थानं कल्पन्ताम्।'** इन मन्त्रोंका पाठ करे। (इससे स्वप्नदोषादि व्याधियोंका नाश होता है।)

यदि कदाचित् जलमें अपनी छाया दीख जाय तो **'मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणꣳ सुकृतम्।'** (मुझे तेज, इन्द्रिय-शक्ति, यश, धन और पुण्यकी प्राप्ति हो) इस मन्त्रको पढ़े। ऋतु-कालकी तीन रात बीतनेपर जब पत्नी स्नान करके शुद्ध हो जाय, तब 'स्त्रियोंमें मेरी यह पत्नी लक्ष्मीके समान है, इसलिये निर्मल वस्त्र पहने हुए है' यह विचारकर उस यशस्विनी पत्नीके समीप जाकर 'हम दोनों सन्तानोत्पादनके लिये क्रिया करेंगे' कहकर आमन्त्रण करे। लज्जा अथवा हठवश स्त्री यदि मिथुन-धर्मके लिये अस्वीकार करे तो उसे आभरणादिद्वारा तथा अभिशापादि-द्वारा प्रेरित करे। पुरुषके **'इन्द्रियेण ते यशसा यश आददे'** इस मन्त्रयुक्त अभिशापसे स्त्री अयशस्विनी—वन्ध्या हो जाती है। परंतु यदि स्त्री अपने स्वामीकी अभिलाषा पूर्ण करती है तो स्वामीके **'इन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामि'** इस मन्त्रपाठपूर्वक उपगत होनेसे पत्नी निश्चय ही यशस्विनी—पुत्रवती होती है। मन्थोपासक अपनी पत्नीको कामनापरायण करना चाहे तो उस समय वह **'अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे। स त्वमङ्गकषायोसि दिग्धविद्धमिव मादयेमाममूं मयि।'** मन्त्र-का जप करे।

यदि किसी कारणवश गर्भनिरोधकी आवश्यकता हो तो उस समय **'इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आददे'** मन्त्रका जाप करे। ऐसा करनेपर पत्नी गर्भवती नहीं होगी * और यदि यह इच्छा हो कि पत्नी गर्भधारण करे तो उस समय **'इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामि'** इस मन्त्रका पाठ करे; इससे वह निश्चय ही गर्भवती हो जायगी।

यदि कभी अपनी भार्याके साथ किसी जारका सम्बन्ध हो जाय और उसे दण्ड देना हो तो पहले कच्ची मिट्टीके बरतनमें अग्नि स्थापन करके समस्त कर्मोंको विपरीत रीतिसे करे और कुछ सरके तिनकोंके अग्रभागको घीमें भिगोकर विपरीत क्रमसे ही उनका होम करे। आहुतिके पहले **'मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसौ'** आदि मन्त्रोंका पाठ करके अन्तमें प्रत्येक बार 'असौ' बोलकर उसका नाम ले। इस प्रकार करनेसे वह पुण्य-से स्खलित होकर मृत्युको प्राप्त हो जाता है।

ऋतुमती पत्नीका त्रिरात्र ब्रह्म (तीन रात्रियोंका पृथक् निवासादि) समाप्त होनेपर स्नान करनेके बाद उसे धान कूटना आदि गृहस्थीका काम करना चाहिये। तीन दिनोंतक उसे अलग रहना चाहिये, किसीका स्पर्श नहीं करना चाहिये।

जो पुरुष चाहता हो कि मेरा पुत्र गौरवर्ण हो, एक वेदका अध्ययन करनेवाला हो और पूरे सौ वर्षोंतक जीवित रहे, उसको दूध-चावलकी खीर बनाकर उसमें घी मिलाकर पत्नी-सहित खाना चाहिये। जो कपिलवर्ण, दो वेदोंका अध्ययन करनेवाला और पूर्णायु पुत्र चाहता हो, उसको दहीमें चावल पकाकर पत्नीसहित खाना चाहिये। जो श्यामवर्ण, रक्तनेत्र, वेदत्रयीका अध्ययन करनेवाले, पूर्णायु पुत्रकी इच्छा करता हो, उसे जलमें चावल (भात) पकाकर घी मिलाकर पत्नीसहित खाना चाहिये। जो चाहता हो कि मेरे पूर्ण आयुवाली विदुषी कन्या हो, उसे तिल-चावलकी खिचड़ी बनाकर पत्नी-सहित खाना चाहिये। और जो चाहता हो कि मेरा पुत्र

* आजकल गर्भनिरोधके लिये कैसी-कैसी तामसी क्रियाएँ की जाती हैं; पर ये होती हैं प्रायः असंयमकी वृद्धिके लिये। और यह वैदिक प्रक्रिया थी अपनी धर्मपत्नीको कभी गर्भधारण न कराना हो तो उसके लिये। संयमी पुरुष ही ऐसा कर सकते थे।

प्रसिद्ध पण्डित, वेदवादियोंकी सभामें जानेवाला, सुन्दर वाणी बोलनेवाला, सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करनेवाला और पूर्ण आयुष्मान् हो, वह उड़द-चावलकी खिचड़ी पकाकर उसमें 'उक्षन्'* अथवा 'ऋषभ'† नामक बल-वीर्यवर्द्धक ओषधि मिलाकर घृतसहित पति-पत्नी दोनों भोजन करें।

गर्भाधान करनेवालेको प्रातःकाल ही स्थालीपाकविधिके अनुसार घीका संस्कार (शोधन) करके और चरुपाक बनाकर **'अग्नये स्वाहा', 'अनुमतये स्वाहा'** एवं **'देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा'** इन मन्त्रोंसे अग्निमें आहुतियाँ देनी चाहिये। होम समाप्त करके चरुमें बचा हुआ भोजन करके शेष पत्नीको भोजन कराना चाहिये। फिर हाथ धोकर जलका कलश भरके **'उत्तिष्ठातोविश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सह'** मन्त्रके द्वारा पत्नीका तीन बार अभ्युक्षण (अभिषेचन) करना चाहिये।

तदनन्तर पति अपनी कामनाके अनुसार पत्नीको भोजन कराके शयनके समय बुलाकर कहे कि "देखो, मैं अम (प्राण) हूँ और तुम प्राणरूप मेरे अधीन वाक् हो। मैं साम हूँ और तुम सामका आधाररूप ऋक् हो, मैं आकाश हूँ और तुम पृथिवी हो। अतएव आओ, तुम-हम दोनों मिलें, जिससे हमें पुत्र-सन्तान और तदनुगत धनकी प्राप्ति हो। इसके पश्चात् 'द्यावा पृथिवी' इत्यादि मन्त्रसे सम्बोधन करके 'विष्णुर्योनिं' इत्यादि मन्त्रके अनुसार प्रार्थना करे "भगवान् विष्णु तुम्हारी जननेन्द्रियको पुत्रोत्पादनमें समर्थ करें, त्वष्टा सूर्य रूपोंको दर्शन-योग्य करें, विराट् पुरुष प्रजापति रेतःसेचन करायें, सूत्रात्मा विधाता तुममें अभिन्नभावसे स्थित होकर गर्भ धारण करें। सिनीवाली नामकी अत्यन्त सुन्दर देवता तुममें अभेदरूपसे एवं पृथुष्टुका नामकी महान् स्तुतिशाली देवता भी तुममें हैं। मैं उनसे प्रार्थना करता हूँ कि 'हे सिनीवालि! हे पृथुष्टुके! तुम इस गर्भको धारण करो।' दोनों अश्विनीकुमार अथवा चन्द्र-सूर्य तुम्हारे साथ रहकर इस गर्भको धारण करें।"

"दोनों अश्विनीकुमार हिरण्मय दो अरणियोंके द्वारा मन्थन करते हैं। मैं दसवें मासमें प्रसव होनेके लिये गर्भाधान करता हूँ। पृथ्वी जैसे अग्निगर्भा है, आकाश जैसे सूर्यके द्वारा गर्भवती है, दिशाएँ जैसे वायुके द्वारा गर्भवती हैं, मैं तुमको उसी प्रकार गर्भ अर्पण करके गर्भवती करता हूँ।" यों कहकर गर्भाधान करे।

तदनन्तर सुखपूर्वक प्रसव हो जाय, इसके लिये 'यथावायुः' इत्यादि मन्त्रके द्वारा आसन्नप्रसवा पत्नीका अभिषेचन करे और कहे—'जैसे वायु पुष्करिणीको सब ओरसे हिला देता है, वैसे ही तुम्हारा गर्भ भी अपने स्थानसे खिसककर जेरके साथ बाहर निकल आये। तुम्हारे तेजस्वी गर्भका मार्ग रुका हुआ है और चारों ओर जेरसे घिरा है। गर्भके साथ उस जेरको

---

* 'उक्षन्' शब्दके कोषमें दो प्रकारके अर्थ मिलते हैं। कलकत्तेसे प्रकाशित 'वाचस्पत्य' नामक बृहत् संस्कृताभिधानमें उसे अष्टवर्गान्तर्गत 'ऋषभ' नामक ओषधिका पर्याय माना गया है—'ऋषभौषधौ च'। प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् सर मोनियर विलियम्सने अपने बृहत् संस्कृत-अंग्रेजी कोषमें इसे 'सोम' नामक पौधेका पर्याय माना है।

† 'ऋषभ' नामक ओषधिका आयुर्वेदके अत्यन्त प्राचीन एवं प्रामाणिक ग्रन्थ 'सुश्रुत-संहिता' के 'सूत्रस्थान' नामक प्रथम खण्डके ३८ वें अध्यायमें (जो द्रव्यसंग्रहणीयाध्याय भी कहलाता है) सैंतीस द्रव्यगणोंके अन्तर्गत उल्लेख हुआ है। 'भावप्रकाश' नामक प्रसिद्ध संग्रह-ग्रन्थमें उसका वर्णन इस रूपमें आया है—

जीवकर्षभकौ श्वेतौ हिमाद्रिशिखरोद्भवौ।
रसोनकन्दवत्कन्दौ निःसारौ सूक्ष्मपत्रकौ॥
.....ऋषभो वृषशृङ्गवत्।
... ...॥
ऋषभो वृषभो वीरो विषाणी ब्राह्म इत्यपि।
जीवकर्षभकौ वल्यौ शीतौ शुक्रकफप्रदौ।
मधुरौ पित्तदाहघ्नौ काशवातक्षयावहौ॥

'जीवक और ऋषभक (ऋषभ) नामकी ओषधियाँ हिमालयके शिखरपर उत्पन्न होती हैं। उनकी जड़ लहसुनके सदृश होती है। दोनोंमें ही गूदा नहीं होता, केवल त्वचा होती है; दोनोंमें छोटी-छोटी पत्तियाँ होती हैं। इनमेंसे ऋषभ बैलके सींगकी आकृतिका होता है। इसके दूसरे नाम हैं—वृषभ, वीर, विषाणी, ब्राह्म आदि। जीवक और ऋषभ दोनों ही बलकारक, शीतवीर्य, वीर्य और कफ बढ़ानेवाले, मधुर, पित्त और दाहका शमन करनेवाले तथा खाँसी, वायु एवं यक्ष्माको दूर करनेवाले हैं।

ऋषभकी प्रसिद्ध अष्टवर्ग नामक ओषधियोंमें गणना है। भावप्रकाशकार लिखते हैं—

जीवकर्षभकौ मेदे काकोल्यौ ऋद्धिवृद्धिके।
अष्टवर्गोऽष्टभिर्द्रव्यैः कथितश्चरकादिभिः॥

भी निकाल बाहर करें; और गर्भ निकलनेके समय जो मांस-पेशी बाहर निकला करती है, वह भी निकल जाय।'

पश्चात् पुत्रका जन्म हो जानेपर अग्निस्थापन करके पुत्रको गोदमें ले और आज्यस्थालीमें दही मिला हुआ घृत रखकर उसे थोड़ा-थोड़ा लेकर यह कहता हुआ बार-बार अग्निमें होम करे कि 'इस अपने घरमें मैं पुत्ररूपसे बढ़कर सहस्रों मनुष्योंका पालन करूँ; मेरे इस पुत्रके वंशमें सन्तान-लक्ष्मी तथा पशु-सम्पत्ति लगातार बनी रहे; मुझमें (पितामें) जो प्राण (इन्द्रियाँ) हैं, वे सभी मन-ही-मन मैं तुम्हें (पुत्रको) दे रहा हूँ; मेरे इस कर्ममें कोई न्यूनाधिकता हो गयी हो तो विद्वान् एवं वाञ्छापूरक अग्नि उसे पूर्ण कर दें।'

तदनन्तर पिता बालकके दाहिने कानमें अपना मुख लगाकर 'वाक्, वाक्, वाक्' इस प्रकार तीन बार जप करे। तदनन्तर दधि, मधु और घृत मिलाकर पास ही रक्खे हुए सोनेके पात्रके द्वारा क्रमशः—

'भूस्ते दधामि', 'भुवस्ते दधामि', 'स्वस्ते दधामि', 'भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामि'

—यों कहकर चार बार उसे चटाये। फिर पिता उस पुत्रका 'वेदोऽसि' बोलकर 'नामकरण' करे—'वेद' यह नाम रक्खे। उसका यह नाम अत्यन्त गोपनीय होता है। इसे सर्वसाधारणमें प्रकट नहीं करना चाहिये। इसके बाद गोदमें स्थित उस शिशुको माताकी गोदमें रखकर तथा स्तन देकर इस मन्त्रका पाठ करे—

'यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः। येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवेऽकः।'

अर्थात् 'हे सरस्वति! तुम्हारा जो स्तन दूधका अक्षय भंडार तथा पोषणका आधार है, जो रत्नोंकी खान है तथा सम्पूर्ण धन-राशिका ज्ञाता एवं उदार दानी है, और जिसके द्वारा तुम समस्त वरणीय पदार्थोंका पोषण करती हो; तुम इस सत्पुत्रके जीवन-धारणार्थ उस स्तनको मेरी भार्यामें प्रविष्ट करा दो।'

तदनन्तर बालककी माताको इस प्रकार अभिमन्त्रित करे—उसे सम्बोधन करके कहे, 'तुम ही स्तुतिके योग्य मैत्रावरुणी (अरुन्धती) हो; हे वीरे! तुमने वीर पुत्रको जन्म देकर हमें वीरवान्—वीर पुत्रका पिता बनाया है; अतः तुम वीरवती होओ। इसे लोग कहें—तू सचमुच अपने पितासे भी आगे बढ़ गया; तू निस्सन्देह अपने पितामहसे भी श्रेष्ठ निकला।'

इस प्रकारके विशिष्ट ज्ञानसम्पन्न ब्राह्मणके जो पुत्र होता है, वह श्री, यश और ब्रह्मतेजके द्वारा सर्वोच्च स्थितिको प्राप्त कर लेता है॥ १—२८॥

पञ्चम ब्राह्मण

समस्त प्रवचनकी परम्पराका वर्णन

अब वंश (परम्परा)का वर्णन किया जाता है—पौतिमाषीपुत्रने कात्यायनीपुत्रसे, कात्यायनीपुत्रने गौतमीपुत्रसे, गौतमीपुत्रने भारद्वाजीपुत्रसे, भारद्वाजीपुत्रने पाराशरीपुत्रसे, पाराशरीपुत्रने औपस्वस्तीपुत्रसे, औपस्वस्तीपुत्रने पाराशरीपुत्रसे, पाराशरीपुत्रने कात्यायनीपुत्रसे, कात्यायनीपुत्रने कौशिकीपुत्रसे, कौशिकीपुत्रने आलम्बीपुत्रसे और वैयाघ्रपदीपुत्रसे, वैयाघ्रपदीपुत्रने काण्वीपुत्रसे तथा कापीपुत्रसे, कापीपुत्रने आत्रेयीपुत्रसे, आत्रेयीपुत्रने गौतमीपुत्रसे, गौतमीपुत्रने भारद्वाजीपुत्रसे, भारद्वाजीपुत्रने पाराशरीपुत्रसे, पाराशरीपुत्रने वात्सीपुत्रसे, वात्सीपुत्रने पाराशरीपुत्रसे, पाराशरीपुत्रने वार्कारुणीपुत्रसे, वार्कारुणीपुत्रने वार्कारुणीपुत्रसे, वार्कारुणीपुत्रने आर्तभागीपुत्रसे, आर्तभागीपुत्रने शौङ्गीपुत्रसे, शौङ्गीपुत्रने साङ्कृतीपुत्रसे, साङ्कृतीपुत्रने आलम्बायनीपुत्रसे, आलम्बायनीपुत्रने आलम्बीपुत्रसे, आलम्बीपुत्रने जायन्तीपुत्रसे, जायन्तीपुत्रने माण्डूकायनीपुत्रसे, माण्डूकायनीपुत्रने माण्डूकीपुत्रसे, माण्डूकीपुत्रने शाण्डिलीपुत्रसे, शाण्डिलीपुत्रने राथीतरीपुत्रसे, राथीतरीपुत्रने भालुकीपुत्रसे, भालुकीपुत्रने दो कौञ्चिकीपुत्रोंसे, दोनों कौञ्चिकीपुत्रोंने वैदभृतीपुत्रसे, वैदभृतीपुत्रने कार्शकेयीपुत्रसे, कार्शकेयीपुत्रने प्राचीनयोगीपुत्रसे, प्राचीनयोगीपुत्रने साञ्जीवीपुत्रसे, साञ्जीवीपुत्रने आसुरिवासी प्राश्नीपुत्रसे, प्राश्नीपुत्रने आसुरायणसे; आसुरायणने आसुरिसे, आसुरिने याज्ञवल्क्यसे, याज्ञवल्क्यने उद्दालकसे, उद्दालकने अरुणसे, अरुणने उपवेशिसे, उपवेशिने कुशिसे, कुशिने वाजश्रवासे, वाजश्रवाने जिह्वावान् बाध्योगसे, जिह्वावान् बाध्योगने असित वार्षगणसे, असित वार्षगणने हरित कश्यपसे, हरित कश्यपने शिल्प कश्यपसे, शिल्प कश्यपने कश्यप

नैध्रुविसे, कश्यप नैध्रुविने वाक्‌से, वाक्‌ने अम्भिणीसे, अम्भिणीने आदित्यसे, आदित्यसे प्राप्त हुई ये शुक्लयजुःश्रुतियाँ वाजसनेय याज्ञवल्क्यद्वारा प्रसिद्ध की गयीं । साङ्जीवी पुत्रपर्यन्त यह एक ही वंश है । साङ्जीवीपुत्रने माण्डूकायनिसे, माण्डूकायनिने माण्डव्यसे, माण्डव्यने कौत्ससे, कौत्सने माहित्थिसे, माहित्थिने वामकक्षायणसे, वामकक्षायणने शाण्डिल्यसे, शाण्डिल्यने वात्स्यसे, वात्स्यने कुश्रिसे, कुश्रिने यज्ञवचा राजस्तम्बायनसे, यज्ञवचा राजस्तम्बायनने तुर कावषेयसे, तुर कावषेयने प्रजापतिसे और प्रजापतिने ब्रह्मसे । ब्रह्म स्वयम्भू है, स्वयम्भू ब्रह्मको नमस्कार है ॥ १–४ ॥

॥ षष्ठ अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥

॥ शुक्लयजुर्वेदीय बृहदारण्यकोपनिषद् समाप्त ॥

॥ ॐ तत्सत् ॥

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ ईशावास्योपनिषद्के प्रारम्भमें दिया जा चुका है

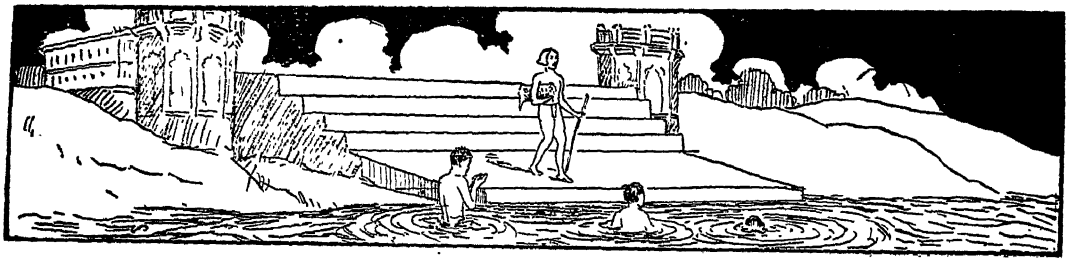

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ ऐतरेयोपनिषद्के आरम्भमें छप चुका है ।

प्रथम अध्याय

पर्यङ्क-विद्या

गर्गके प्रपौत्र सुप्रसिद्ध महात्मा चित्र यज्ञ करनेवाले थे । इसके लिये उन्होंने अरुणके पुत्र उद्दालकको प्रधान ऋत्विक्के रूपमें वरण किया । परंतु उन प्रसिद्ध उद्दालक मुनिने स्वयं न पधारकर अपने पुत्र श्वेतकेतुको भेजा और कहा—'वत्स ! तुम जाकर चित्रका यज्ञ कराओ ।' श्वेतकेतु यज्ञमें पधारकर एक ऊँचे आसनपर विराजमान हुए । उन्हें आसनपर बैठे देख चित्रने पूछा—'गौतम-कुमार ! इस लोकमें कोई ऐसा आवृत (आवरणयुक्त) स्थान है, जिसमें मुझे ले जाकर रक्खोगे ? अथवा कोई उससे भिन्न—सर्वथा विलक्षण आवरण-शून्य पद है, जिसे जानकर तुम उसी लोकमें मुझे स्थापित करोगे ?'

श्वेतकेतुने कहा—'मैं यह सब नहीं जानता । किंतु यह प्रश्न सुनकर मुझे प्रसन्नता हुई है । मेरे पिता आचार्य हैं—वे शास्त्रके गूढ अर्थका ज्ञान रखते, दूसरे लोगोंको शास्त्रीय आचारमें लगाते और स्वयं भी शास्त्रके अनुकूल ही आचरण करते हैं; अतः उन्हींसे यह बात पूछूँगा ।' यों कहकर वे अपने पिता आरुणि (उद्दालक) के पास गये और प्रश्नको सामने रखते हुए बोले—'पिताजी ! चित्रने इस-इस प्रकारसे मुझसे प्रश्न किया है । सो इसके सम्बन्धमें मैं किस प्रकार उत्तर दूँ ?' उद्दालकने कहा—'वत्स ! मैं भी इस प्रश्नका उत्तर नहीं जानता । अब हमलोग महाभाग चित्रकी यज्ञशालामें ही इस तत्त्वका अध्ययन करके इस विद्याको प्राप्त करेंगे । जब दूसरे लोग हमें विद्या और धन देते हैं तो चित्र भी देंगे ही । इसलिये आओ, हम दोनों चित्रके पास चलें ।'

वे प्रसिद्ध आरुणि मुनि हाथमें समिधा ले जिज्ञासुके वेषमें गर्गके प्रपौत्र चित्रके यहाँ गये । 'मैं विद्या ग्रहण करनेके लिये तुम्हारे पास आया हूँ' इस भावनाको व्यक्त करते हुए उन्होंने चित्रके समीप गमन किया । उन्हें इस प्रकार आया देख चित्रने कहा—'गौतम ! तुम ब्राह्मणोंमें पूजनीय एवं ब्रह्मविद्याके अधिकारी हो; क्योंकि मेरे-जैसे क्षुद्र व्यक्तिके पास आते समय तुम्हारे मनमें अपने बड़प्पनका अभिमान नहीं हुआ है । इसलिये आओ, तुम्हें निश्चय ही इस पूछे हुए विषयका स्पष्ट ज्ञान कराऊँगा' ॥ १ ॥

सुप्रसिद्ध यज्ञकर्ता चित्रने इस प्रकार उपदेश आरम्भ किया—ब्रह्मन् ! जो कोई भी अग्निहोत्रादि सत्कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले लोग हैं, वे सब-के-सब जब इस लोकसे प्रयाण करते हैं तो (क्रमशः धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष और दक्षिणायन आदिके अभिमानी देवताओंके अधिकारमें होते हुए अन्ततोगत्वा) चन्द्रलोक अर्थात् स्वर्गमें ही जाते हैं । उनके प्राणों (इन्द्रियों और प्राणों) से चन्द्रमा शुक्लपक्षमें पुष्टिको प्राप्त होते हैं । वे (चन्द्रमा) कृष्णपक्षमें उन स्वर्गवासी जीवोंकी तृप्ति नहीं कर पाते ।

निश्चय ही यह स्वर्गलोकका द्वार है, जो कि चन्द्रमाके नामसे प्रसिद्ध है। जो अधिकारी (दैवी-सम्पत्तिसे युक्त होनेके कारण) उस स्वर्गरूपी चन्द्रमाका प्रत्याख्यान कर देता है अर्थात् जहाँसे पुनः नीचे गिरना पड़ता है, ऐसा स्वर्गलोक मुझे नहीं चाहिये—इस प्रकार दृढ़ निश्चय करके जो निष्काम धर्मका अनुष्ठान करते हुए चन्द्रलोकको त्याग देता है, उस पुरुषको उसका वह शुभ संकल्प चन्द्रलोकसे भी ऊपर नित्य ब्रह्मलोकमें पहुँचा देता है। परंतु जो स्वर्गीय सुखके प्रति ही आसक्त होनेके कारण उस चन्द्रलोकको अस्वीकार नहीं करता, उस सकामकर्मी स्वर्गवासी-को, उसके पुण्य-भोगकी समाप्ति होनेपर, देववर्ग वृष्टिके रूपमें परिणत करके इस लोकमें ही पुनः बरसा देता है।

वह वर्षाके रूपमें यहाँ आया हुआ अनुशयी जीव अपनी पूर्व-वासनाके अनुसार कीट अथवा पतङ्ग या पक्षी, अथवा व्याघ्र या सिंह अथवा मछली, या साँप-बिच्छू अथवा मनुष्य या दूसरा कोई जीव होकर इनके अनुकूल शरीरोंमें अपने कर्म और विद्या—उपासनाके अनुसार जहाँ-कहीं उत्पन्न होता है।

(इस प्रकार संसारकी स्वर्ग-नरकरूपा दुर्गतिको समझ-कर जो उससे विरक्त हो चुका है और ज्ञानोपदेशके लिये गुरुदेवकी शरणमें आया है) उस अपने समीप आये हुए शिष्यसे दयालु एवं तत्त्वज्ञ गुरु इस प्रकार पूछे—'वत्स ! तुम कौन हो ?' गुरुके इस प्रकार प्रश्न करनेपर शिष्य (अपनेको देहादि-संघातरूप मानकर) यों उत्तर दे—'हे देवगण ! जो पञ्चदशकलात्मक—शुक्ल और कृष्णपक्षके हेतुभूत, श्रद्धाद्वारा प्रकट, पितृलोकस्वरूप एवं नाना प्रकारके भोग प्रदान करनेमें समर्थ हैं, उन चन्द्रमाके निकटसे प्रादुर्भूत होकर पुरुषरूप अग्निमें स्थापित हुआ जो श्रद्धा, सोम, वृष्टि और अन्नका परिणाम-भूत वीर्य है, उस वीर्यके ही रूपमें स्थित हुए मुझ अनुशयी जीवको तुमने वीर्याधान करनेवाले पुरुषमें प्रेरित किया। तत्पश्चात् गर्भाधान करनेवाले पुरुष (पिता) के द्वारा तुमने मुझे माताके गर्भमें भी स्थापित करवाया। कुछ संवत्सरोंतक जीवन धारण करनेवाले पिताके साथ मैं एकताको प्राप्त हुआ था। मैं स्वयं भी कुछ संवत्सरोंतक ही जीवन धारण करनेवाला होकर ब्रह्मज्ञान अथवा उसके विपरीत मिथ्याज्ञानके निमित्त योनिविशेष-में शरीर धारण करके स्थित हूँ। इसलिये अब मुझे अमृतत्वकी प्राप्तिके साधनभूत ब्रह्मज्ञानके लिये अनेक ऋतुओं (वर्षों) तक अक्षय रहनेवाली दीर्घ आयु प्रदान करें—ब्रह्मसाक्षात्कार-पर्यन्त मेरे दीर्घजीवनके लिये चिरस्थायिनी आयुकी पुष्टि करें। क्योंकि यह जानकर मैं देवताओंसे प्रार्थना करता हूँ, अतः उसी सत्यसे, उसी तपस्यासे, जिनका मैं अभी उल्लेख कर आया हूँ, मैं ऋतु हूँ—संवत्सरादिरूप मरणधर्मा मनुष्य हूँ। आर्तव हूँ—ऋतु अर्थात् रज-वीर्यसे उत्पन्न देह हूँ। यदि ऐसी बात नहीं है तो आप ही कृपापूर्वक बतायें, मैं कौन हूँ ? क्या जो आप हैं, वही मैं भी हूँ ?' उसके इस प्रकार कहनेपर संसार-भयसे डरे हुए उस शिष्यको गुरु ब्रह्मविद्याके उपदेश-द्वारा भवसागरसे पार करके बन्धनमुक्त कर देता है॥ २॥

वह परब्रह्मका उपासक पूर्वोक्त देवयान-मार्गपर पहुँचकर पहले अग्निलोकमें आता है, फिर वायुलोकमें आता है; वहाँसे वह सूर्यलोकमें आता है, तदनन्तर वरुणलोकमें आता है; तत्पश्चात् वह इन्द्रलोकमें आता है, इन्द्रलोकसे प्रजापति-लोकमें आता है तथा प्रजापतिलोकसे ब्रह्मलोकमें आता है। इस प्रसिद्ध ब्रह्मलोकके प्रवेश-पथपर पहले 'आर' नामसे प्रसिद्ध एक महान् जलाशय है। (यह उस मार्गका विघ्न है, काम-क्रोधादि अरियों—शत्रुओंद्वारा निर्मित होनेसे ही उसका नाम 'आर' पड़ा है।) उस जलाशयसे आगे मुहूर्ताभिमानी* देवता हैं, जो काम-क्रोध आदिकी प्रवृत्ति उत्पन्न करके ब्रह्म-लोक-प्राप्तिके अनुकूल की हुई उपासना और यज्ञ-यागादिके पुण्यको नष्ट करनेके कारण 'येष्टिह†' कहलाते हैं। उससे आगे विजरा नदी है, जिसके दर्शनमात्रसे जरावस्था दूर हो जाती है। (यह नदी उपासनारूपा ही है।) उससे आगे 'इल्य' नामक वृक्ष है। 'इला' पृथिवीका नाम है, उसका ही स्वरूप होनेसे उसका नाम 'इल्य' है। उससे आगे अनेक देवताओं-द्वारा सेव्यमान उद्यान, बावली, कुएँ, तालाब और नदी आदि भाँति-भाँतिके जलाशयोंसे युक्त एक नगर है, जिसके एक ओर तो विरजा नदी है और दूसरी ओर प्रत्यञ्चाके आकारका (अर्द्धचन्द्राकार) एक परकोटा है। उसके आगे ब्रह्माजीका निवासभूत विशाल मन्दिर है, जो 'अपराजित' नामसे प्रसिद्ध है। सूर्यके समान तेजोमय होनेके कारण वह कभी किसीके द्वारा पराजित नहीं होता। मेघ और यज्ञरूपसे उपलक्षित वायु और आकाशरूप इन्द्र और प्रजापति उस ब्रह्म-मन्दिरके द्वाररक्षक हैं।

वहाँ 'विभुप्रमित' नामक सभामण्डप है (जो अहङ्कार-स्वरूप है)। उसके मध्यभागमें जो वेदी (चबूतरा) है, वह 'विचक्षणा' नामसे प्रसिद्ध है। (बुद्धि और महत्तत्त्व आदि

* दो घड़ी (४८ मिनट) के कालको मुहूर्त कहते हैं।

† य इष्टिं घ्नन्ति (जो इष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें बाधा पहुँचाते हैं।)

नामोंसे भी उसका प्रतिपादन होता है।) वह अत्यन्त विलक्षण है। जिसके बलका कोई माप नहीं है, वह 'अमितौजाः' प्राण ही ब्रह्माजीका सिंहासन—पलँग है। मानसी (प्रकृति) उनकी प्रिया है। वह मनकी कारणभूता अथवा मनको आनन्दित करनेवाली होनेसे ही मानसी कहलाती है। उसके आभूषण भी उसीके स्वरूपभूत हैं। उसकी छायामूर्ति 'चाक्षुषी' नामसे प्रसिद्ध है। वह तैजस नेत्रोंकी प्रकृति होनेके कारण अत्यन्त तेजोमयी है। उसके आभूषणादि भी उसीके समान तेजोमय हैं। जरायुज, स्वेदज, अण्डज और उद्भिज—इन चतुर्विध प्राणियोंका नाम जगत् है। यह सम्पूर्ण जगत्—जड-चेतन-समुदाय ब्रह्माजीकी वाटिकाके पुष्प तथा उनके धौत एवं उत्तरीयरूप युगल वस्त्र हैं। वहाँकी अप्सराएँ—साधारण युवतियाँ 'अम्बा' और 'आम्बायवी' नामसे प्रसिद्ध हैं। जगज्जननी श्रुतिरूपा होनेसे वे 'अम्बा' कहलाती हैं। तथा 'अम्ब' (अधिक) और अयव (न्यून) भावसे रहित बुद्धि-रूपा होनेसे उनका नाम 'आम्बायवी' है। इसके सिवा वहाँ 'अम्बया' नामकी नदियाँ बहती हैं। अम्बक (नेत्र) रूप ब्रह्मज्ञानकी ओर ले जानेके कारण उनकी 'अम्बया' (अम्बम्—अम्बकम् लक्ष्यीकृत्य यान्ति) संज्ञा है। उस ब्रह्मलोकको जो इस प्रकार जानता है, वह उसीको प्राप्त होता है। उसे जब कोई अमानव पुरुष आदित्यलोकसे ले आता है, उस समय ब्रह्माजी अपने परिचारकों और अप्सराओंसे कहते हैं—'दौड़ो, उस महात्मा पुरुषका मेरे यशके—मेरी प्रतिष्ठाके अनुकूल स्वागत करो; मेरे लोकमें ले आनेवाली उपासना आदिसे निश्चय ही यह उस विजरा नदीके समीपतक आ पहुँचा है, अवश्य ही अब यह कभी जरावस्थाको नहीं प्राप्त होगा' ॥ ३ ॥

ब्रह्माजीका यह आदेश मिलनेपर उसके पास स्वागतके लिये पाँच सौ अप्सराएँ जाती हैं। उनमेंसे सौ अप्सराएँ तो हाथोंमें हल्दी, केसर और रोली आदिके चूर्ण लिये रहती हैं। सौके हाथोंमें भाँति-भाँतिके दिव्य वस्त्र एवं अलङ्कार होते हैं। सौ अप्सराएँ हाथोंमें फल लिये होती हैं। सौके हाथोंमें नाना प्रकारके दिव्य अङ्गराग होते हैं। तथा सौ अप्सराएँ अपने हाथोंमें भाँति-भाँतिकी मालाएँ लिये होती हैं। वे उस महात्माको ब्रह्मोचित अलङ्कारोंसे अलङ्कृत करती हैं। वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्माजीके योग्य अलङ्कारोंसे अलङ्कृत हो ब्रह्माजीके स्वरूपको ही प्राप्त कर लेता है। फिर वह 'आर' नामक जलाशयके पास आता है और उसे मनके द्वारा—सङ्कल्पसे ही लाँघ जाता है। उस जलाशयतक पहुँचनेपर भी अज्ञानी मनुष्य उसमें डूब जाते हैं। फिर वह ब्रह्मवेत्ता मुहूर्ताभिमानी 'येष्टिह' नामक देवताओंके पास आता है; किंतु वे विघ्नकारी देवता उसके पाससे भाग खड़े होते हैं। तत्पश्चात् वह विजरा नदीके तटपर आता है और उसे भी सङ्कल्पसे ही पार कर लेता है। वहाँ वह पुण्य और पापोंको झाड़ देता है।

जो उसके प्रिय कुटुम्बी होते हैं, वे तो उसका पुण्य पाते हैं; और जो उससे द्वेष करनेवाले होते हैं, उन्हें उसका पाप मिलता है। उस विषयमें यह दृष्टान्त है। रथसे यात्रा करने-वाला पुरुष रथको दौड़ाता हुआ रथके दोनों चक्कोंको देखता है; उस समय रथचक्रोंका जो भूमिसे संयोग-वियोग होता है, वह उस द्रष्टाको नहीं प्राप्त होता। इसी प्रकार वह ब्रह्मवेत्ता रात और दिनको देखता है, पुण्य और पापको देखता है, तथा अन्य समस्त द्वन्द्वोंको देखता है; द्रष्टा होनेके कारण ही उसका इनसे सम्बन्ध नहीं होता। अतएव यह पुण्य और पापसे रहित होता है। फलतः वह ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मको ही प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

तब वह इल्य वृक्षके पास आता है, उसकी नासिकामें ब्रह्मगन्धका प्रवेश होता है। (वह गन्ध इतनी दिव्य है कि उसके सामने अन्य लोकोंकी सुगन्ध दुर्गन्धवत् प्रतीत होती है।) फिर वह सालज्य नगरके समीप आता है; वहाँ उसकी रसनामें उस दिव्यातिदिव्य ब्रह्मरसका प्रवेश (अनुभव) होता है, जिसका उसे पहले कभी अनुभव नहीं हुआ रहता। फिर वह 'अपराजित' नामक ब्रह्म-मन्दिरके समीप आता है, वहाँ उसमें ब्रह्मतेज प्रवेश करता है। तत्पश्चात् वह द्वार-रक्षक इन्द्र और प्रजापतिके पास आता है; वे उसके सामनेसे मार्ग छोड़कर हट जाते हैं। तदनन्तर वह 'विभुप्रमित' नामक सभा-मण्डपमें आता है; वहाँ उसमें ब्रह्मयश प्रवेश करता है। फिर वह 'विचक्षणा' नामक वेदीके पास आता है। 'बृहत्' और 'रथन्तर'—ये दो साम उसके दोनों अगले पाये हैं और 'श्यैत' एवं 'नौधस' नामक साम उसके दोनों पिछले पाये हैं। 'वैरूप' और 'वैराज' नामक साम उसके दक्षिण और उत्तर पार्श्व हैं तथा 'शाक्कर' और 'रैवत' साम उसके पूर्व एवं पश्चिम पार्श्व हैं। वह समष्टि-बुद्धिरूपा है। वह ब्रह्मवेत्ता उस बुद्धिके द्वारा विशेष दृष्टि प्राप्त कर लेता है। फिर वह 'अमितौजाः' नामक पलँग (या सिंहासन) के पास आता है, वह पर्यङ्क प्राणस्वरूप है। भूत और भविष्य—ये दोनों काल उसके अगले पाये हैं और श्रीदेवी एवं भूदेवी—ये दोनों उसके पिछले पाये हैं। उसके दक्षिण-उत्तर भागमें जो 'अनूच्य' नामके दीर्घ खटवाङ्ग हैं, वे 'बृहत्' और 'रथन्तर' नामक साम हैं और पूर्व-

पश्चिम भागमें जो छोटे खट्वाङ्ग हैं, जिनपर मस्तक और पैर रक्खे जाते हैं, वे 'भद्र' और 'यज्ञायज्ञीय' नामक साम हैं। (सिरकी ओरका भाग ऊँचा और पैरकी ओरका भाग कुछ नीचा है।) पूर्वसे पश्चिमको जो बड़ी-बड़ी पाटियाँ लगी हैं, वे ऋक् और सामके प्रतीक हैं। तथा दक्षिण-उत्तरकी ओर जो आड़ी-तिरछी पाटियाँ हैं, वे यजुर्वेदस्वरूपा हैं। चन्द्रमाकी कोमल किरणें ही उस पलँगका नरम-नरम गद्दा हैं। उद्गीथ ही उसपर बिछी हुई उपश्री (श्वेत चादर) है। लक्ष्मीजी तकिया हैं। ऐसे दिव्य पर्यङ्कपर ब्रह्माजी विराजमान होते हैं। इस तत्त्वको इस प्रकार जाननेवाला ब्रह्मवेत्ता उस पलँगपर पहले पैर रखकर चढ़ता है।

तब ब्रह्माजी उससे पूछते हैं—'तुम कौन हो ?' उनके प्रश्नका वह इस प्रकार उत्तर दे—॥ ५ ॥

'मैं वसन्त आदि ऋतुरूप हूँ। ऋतुसम्बन्धी हूँ। कारण-भूत अव्याकृत आकाश एवं स्वयंप्रकाश परब्रह्म परमात्मासे उत्पन्न हुआ हूँ। जो भूत (अतीत), भूत (यथार्थ कारण), भूत (जड-चेतनमय चतुर्विध सर्ग) और भूत (पञ्चमहाभूतस्वरूप) है, उस संवत्सरका तेज हूँ। आत्मा हूँ। आप आत्मा हैं, जो आप हैं, वही मैं हूँ।' इस प्रकार उत्तर देनेपर ब्रह्माजी पुनः पूछते हैं—'मैं कौन हूँ ?' इसके उत्तरमें कहे—'आप सत्य हैं।' 'जो सत्य है, जिसे तुम सत्य कहते हो, वह क्या है ?' ऐसा प्रश्न होनेपर उत्तर दे—"जो सम्पूर्ण देवताओं तथा प्राणोंसे भी सर्वथा भिन्न—विलक्षण हो, वह 'सत्' है और जो देवता एवं प्राणरूप है, वह 'त्य' है। वाणीके द्वारा जिसे 'सत्य' कहते हैं, वह यही है। इतना ही यह सब कुछ है। आप यह सब कुछ हैं, इसलिये सत्य हैं" ॥ ६ ॥

यही बात ऋक्सम्बन्धी मन्त्रद्वारा भी बतायी गयी है—"यजुर्वेद जिसका उदर है, सामवेद मस्तक है तथा ऋग्वेद सम्पूर्ण शरीर है, वह अविनाशी परमात्मा 'ब्रह्मा' के नामसे जाननेयोग्य है। वह ब्रह्ममय—ब्रह्मरूप महान् ऋषि है।" तदनन्तर पुनः ब्रह्माजी उस उपासकसे पूछते हैं—'तुम मेरे पुरुषवाचक नामोंको किससे प्राप्त करते हो ?' वह उत्तर दे—'प्राणसे।' (प्र०) 'स्त्रीवाचक नामोंको किससे ग्रहण करते हो ?' (उ०) 'वाणीसे।' (प्र०) 'नपुंसकवाचक नामोंको किससे ग्रहण करते हो ?' (उ०) 'मनसे।' (प्र०) 'गन्धका अनुभव किससे करते हो ?' (उ०) 'प्राणसे—घ्राणेन्द्रियसे।' इस प्रकार कहे। (प्र०) 'रूपोंको ग्रहण किससे करते हो ?' (उ०) 'नेत्रसे।' (प्र०) 'शब्दोंको किससे सुनते हो ?' (उ०) 'कानोंसे।' (प्र०) 'अन्नके रसोंका आस्वादन किससे करते हो ?' (उ०) 'जिह्वासे।' (प्र०) 'कर्म किससे करते हो ?' (उ०) 'हाथोंसे।' (प्र०) 'सुख-दुःखोंका अनुभव किससे करते हो ?' (उ०) 'शरीरसे।' * (प्र०) 'रतिका परिणामरूप आनन्द, रति (मैथुनका आनन्द) और प्रजोत्पत्तिका सुख किससे उठाते हो ?' (उ०) 'उपस्थ-इन्द्रियसे' यों कहे। (प्र०) 'गमनकी क्रिया किससे करते हो ?' (उ०) 'दोनों पैरोंसे।' (प्र०) 'बुद्धि-वृत्तियोंको, ज्ञातव्य विषयोंको और विविध मनोरथोंको किससे ग्रहण करते हो ?' (उ०) 'प्रज्ञासे' यों कहे।

तब ब्रह्मा उससे कहते हैं—'जल आदि प्रसिद्ध पाँच महाभूत मेरे स्थान हैं; अतः यह मेरा लोक भी जलादि-तत्त्व-प्रधान ही है। तुम मुझसे अभिन्न मेरे उपासक हो, अतः यह तुम्हारा भी लोक है।'

वह जो ब्रह्माजीकी सुप्रसिद्ध विजय (सबपर नियन्त्रण करनेकी शक्ति) तथा सर्वत्र व्याप्ति—सर्वव्यापकता है, उस विजयको तथा उस सर्वव्यापकताको भी वह उपासक प्राप्त कर लेता है, जो इस प्रकार जानता (उपासना करता) है। अर्थात् ब्रह्माजीकी भाँति ही वह सबका शासक एवं सर्वव्यापक बन जाता है ॥ ७ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

* यद्यपि सुख-दुःखका ज्ञान अन्तःकरणके द्वारा ही होता है, तथापि 'मेरे पैरमें पीड़ा है, सिरमें दर्द है' इत्यादि प्रतीतिके अनुसार 'शरीरसे' यह उत्तर दिया गया है।

ॐ

द्वितीय अध्याय

प्राणोपासना

'प्राण ब्रह्म है' यह सुप्रसिद्ध ऋषि कौषीतकि* कहते हैं। उन प्रसिद्ध प्राणमय ब्रह्मकी यहाँ राजाके रूपमें कल्पना की गयी है। उनका मन ही दूत है, वाणी परोसनेवाली स्त्री (रानी) है, चक्षु संरक्षक (मन्त्री) है, श्रोत्रेन्द्रिय संदेश सुनानेवाला द्वारपाल है। उन सुप्रसिद्ध प्राणमय ब्रह्मको बिना माँगे ही ये सम्पूर्ण इन्द्रियाभिमानी देवतागण भेंट समर्पित करते हैं—उनके अधीन होकर रहते हैं। इसी प्रकार जो इस प्रकार जानता है, उसको भी सम्पूर्ण चराचर प्राणी बिना माँगे ही भेंट देते हैं। उस प्राणोपासकके लिये यह गूढ़ व्रत है कि 'वह किसीसे कुछ भी न माँगे'—ठीक उसी तरह, जैसे कोई भिक्षु गाँवमें भीख माँगनेपर भी जब कुछ नहीं पाता तो हताश होकर बैठ रहता और कुपित होकर यह प्रतिज्ञा कर लेता है कि 'अबसे इस गाँववाले लोगोंके देनेपर भी यहाँका अन्न नहीं खाऊँगा।' तात्पर्य यह कि वह भिक्षु जिस दृढ़तासे अपनी बात-पर डटा रहता है, उसी प्रकार उसको भी अपने व्रतपर अटल रहना चाहिये। जो लोग पहले इस पुरुषको कुछ देनेसे अस्वीकार कर चुके होते हैं, वे ही कुछ न माँगनेका निश्चय कर लेनेपर इसे देनेके लिये निमन्त्रित करते हैं और कहते हैं, 'आओ, हम तुम्हें देते हैं।' दीनतापूर्वक दूसरोंके सामने प्रार्थना करना—यह याचकका धर्म होता है। अर्थात् याचना करनेवालेको ही दैन्य-प्रदर्शन करना पड़ता है। याचना और दैन्य-प्रदर्शनसे दूर रहनेपर ही उसे लोग यों निमन्त्रण देते हैं कि 'आओ, हम तुम्हें देंगे'॥ १॥

'प्राण ब्रह्म है'—प्रसिद्ध महात्मा पैङ्ग्य भी यही कहते हैं। उन प्रसिद्ध प्राणमय ब्रह्मके लिये वाणीसे परे चक्षु-इन्द्रिय है, जो वागिन्द्रियको सब ओरसे व्याप्त करके स्थित है। (अतः चक्षु वागिन्द्रियकी अपेक्षा आन्तरिक है; क्योंकि जैसा कहा गया हो, वैसा ही नेत्रसे भी देख लिया जाय तो विवादकी सम्भावना नहीं रहती—वह वस्तु यथार्थ समझ ली जाती है।) चक्षुसे परे श्रवणेन्द्रिय है, जो चक्षुको सब ओरसे व्याप्त करके स्थित है; (क्योंकि चक्षुसे कहीं-कहीं भ्रान्त-दर्शन भी होता है, जैसे सीपमें चाँदीका दर्शन। परंतु कानसे विद्यमान अथवा प्रस्तुत वचनका ही श्रवण होता है।) श्रवणेन्द्रियसे परे मन है; जो श्रवणेन्द्रियको सब ओरसे व्याप्त करके स्थित है; क्योंकि मनके सावधान रहनेपर ही श्रवणेन्द्रिय सुन पाती है। मनसे परे प्राण है; जो मनको सब ओरसे व्याप्त करके स्थित है। (प्राण ही मनको बाँध रखनेवाला है—यह बात प्रसिद्ध है। प्राण न रहे तो मन भी नहीं रह सकता; अतः सबकी अपेक्षा पर एवं आन्तरिक आत्मा होनेके कारण प्राणका ब्रह्म होना उचित ही है।) उस प्राणमय ब्रह्मको ये सम्पूर्ण देवता उसके न माँगनेपर भी उपहार समर्पित करते हैं। इसी प्रकार जो यों जानता है, उस उपासकको भी सम्पूर्ण प्राणी बिना माँगे ही भाँति-भाँतिके उपहार भेंट करते हैं। उसका यह गूढ़ व्रत है कि वह किसीसे याचना न करे। इस विषयमें यह दृष्टान्त भी है—कोई भिक्षु गाँवमें भीख माँगनेपर भी जब कुछ नहीं पाता तो हताश होकर बैठ रहता और यह प्रतिज्ञा कर लेता है कि 'अब यहाँ किसीके देनेपर भी अन्न ग्रहण नहीं करूँगा।' ऐसी प्रतिज्ञा कर लेनेपर जो लोग पहले उसे कुछ देनेसे अस्वीकार कर चुके होते हैं, वे ही उसे यों कहकर निमन्त्रित करते हैं कि 'आओ, हम तुम्हें देते हैं'॥ २॥

(प्राणोपासकको धन-प्राप्तिकी इच्छा होनेपर उसके लिये कर्तव्यका उपदेश करते हैं—) अब एकमात्र धन (प्राण) के निरोधकी बात बतायी जाती है। यदि एकमात्र धनका (अथवा प्राणका) चिन्तन करे तो पूर्णिमाको या अमावास्याको अथवा शुक्ल या कृष्णपक्षकी किसी भी पुण्य-तिथिको पवित्र नक्षत्रमें अग्निकी स्थापना, (वेदीका) परिसमूहन (संस्कार), कुशोंका आस्तरण (बिछाना), मन्त्रपूत जलसे अग्नि-वेदी आदिका अभिषेक तथा अग्निपर रक्खे हुए पात्रस्थ घृतका उत्पवन (शोधन) करके दाहिना घुटना पृथ्वीपर टेककर खुवासे, चमससे अथवा काँसेकी करछुल आदिसे निम्नाङ्कित मन्त्रोंद्वारा घृतकी ये आहुतियाँ दे—

वाङ् नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् ( )
इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

अर्थात् 'वाक्' नामसे प्रसिद्ध देवी अवरोधिनी—उपासककी अभीष्टसिद्धि करनेवाली है, वह मुझ प्राणोपासकके लिये अमुक व्यक्तिसे इस अभीष्ट अर्थकी सिद्धि कराये; उसके लिये यह घृतकी आहुति सादर समर्पित है। (उपर्युक्त

---

* जिसकी दृष्टिमें सांसारिक सुख अत्यन्त हेय हो, उसे 'कुषीतक' (कुत्सितं सीतं यस्य सः) कहते हैं और कुषीतकके पुत्रको 'कौषीतकि' कहते हैं।

मन्त्रका उच्चारण करके 'अमुष्मात्'के आगे दिये हुए कोष्ठकमें उस व्यक्तिके नामका उल्लेख करे, जिससे अभीष्ट अर्थ प्राप्त करना है। तथा 'इदम्'के स्थानपर अभीष्ट अर्थका उच्चारण करे। आगेके मन्त्रोंका अर्थ भी इसी प्रकार समझना चाहिये।)

प्राणो नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

चक्षुर्नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

श्रोत्रं नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

मनो नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

प्रज्ञा नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

इस प्रकार आहुतियाँ देनेके पश्चात् धूमगन्धको सूँघकर होमावशिष्ट घृतके लेपसे अपने अङ्गोंका अनुमार्जन (लेपन) करके मौनभावसे धनस्वामीके पास जाय और अभीष्ट अर्थके विषयमें कहे कि 'इतने धनकी मुझे आवश्यकता है, सो आपके यहाँसे मिल जाना चाहिये।' अथवा यदि धनस्वामी दूर हो तो उक्त संदेश कहलानेके लिये उसके पास दूत भेज दे। यों करनेसे निश्चय ही वह अभीष्ट धन प्राप्त कर लेता है॥ ३॥

(इस प्रकार धन-प्राप्तिका उपाय बताकर अब उपासकके लिये वशीकरणका उपाय बतलाते हैं—)

अब इसके बाद वाक् आदि देवताओंद्वारा साध्य मनोरथकी सिद्धिका प्रकार बताया जाता है। जिस किसीका प्रिय होना चाहे, निश्चय ही उन सबका प्रिय होनेके लिये पहले प्राणोपासकको वाक् आदि देवताओंका ही प्रिय बनना चाहिये। किसी एक पर्वके दिन पूर्वोक्त रीतिसे शुभ पुण्यतिथि एवं मुहूर्तमें पहले बताये अनुसार ही अग्निकी स्थापना, परिसमूहन, कुशोंका आस्तरण, अग्निवेदी आदिका अभिषेक, घृतका उत्पवन आदि करके निम्नाङ्कित मन्त्रोंसे ये घृतकी आहुतियाँ दे—

वाचं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।

(इस मन्त्रका उच्चारण करनेके पहले उस व्यक्तिका नाम लेना चाहिये, जिसको वशमें करना हो; यथा—'अमुकगोत्रस्य अमुकनामधेयस्य राज्ञः, अमुकगोत्राया अमुकनामधेयाया राज्ञ्या वा वाचं ते मयि जुहोमि असौ स्वाहा' यों कहकर घृतकी आहुति डालनी चाहिये। 'असौ' के बाद कार्यका उल्लेख करना आवश्यक है—'यथा असौ कामः सिद्ध्यतु—स्वाहा)।

मन्त्रार्थ—मैं तुम्हारी वाक्-इन्द्रियका अपनेमें हवन करता हूँ, मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो जाय—इस उद्देश्यसे यह आहुति है। (इसी प्रकार अन्य मन्त्रोंका भी अर्थ समझना चाहिये।)

प्राणं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।
चक्षुस्ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।
श्रोत्रं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।
मनस्ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।
प्रज्ञां ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।

इसके बाद होम-धूमकी गन्ध सूँघकर होमावशिष्ट घृतके लेपसे अपने अङ्गोंका अनुमार्जन (लेपन) करके मौनभावसे अभीष्ट व्यक्तिके पास गमन करे और उसके संपर्कमें जानेकी इच्छा करे। अथवा ऐसी जगह खड़ा रहकर वार्तालाप करे, जहाँ वायुकी सहायतासे उसके शब्द अभीष्ट व्यक्तिके कानोंमें पड़ें। फिर तो निश्चय ही वह उसका प्रिय हो जाता है। इतना ही नहीं, उस स्थानसे हट जानेपर वहाँके लोग उसका सदा स्मरण करते हैं॥ ४॥

आध्यात्मिक अग्निहोत्र

अब इसके बाद दिवोदासके पुत्र प्रतर्दनद्वारा अनुष्ठित, अतएव 'प्रातर्दन' नामसे विख्यात और संयमसे पूर्ण होनेसे 'सांयमन' कहलानेवाले आध्यात्मिक अग्निहोत्रका वर्णन करते हैं। निश्चय ही मनुष्य जबतक कोई वाक्य बोलता है, तबतक पूर्णतया श्वास नहीं ले सकता। उस समय वह प्राणका वाणीरूप अग्निमें हवन कर देता है। जबतक पुरुष श्वास खींचता है, तबतक बोल नहीं सकता; उस समय वह वाणीका प्राणरूप अग्निमें हवन कर देता है।

ये वाक् और प्राणरूप दो आहुतियाँ अनन्त एवं अमृत हैं। (वाक् और प्राणके व्यापारोंका जीवनमें कभी अन्त नहीं होता, इसलिये ये अनन्त हैं। तथा इनके व्यापारोंका जो एक-दूसरेमें लय होता है, उसमें अग्निहोत्र-बुद्धि हो जानेसे ये आहुतियाँ अमृतत्वरूप फलको देनेवाली होती हैं; इसलिये इन्हें 'अमृत' कहा गया है।) जाग्रत् और स्वप्नकालमें भी पुरुष सदा अविच्छिन्नरूपसे इन आहुतियोंका होम करता रहता है। इसके सिवा अर्थात् वाक्-प्राणरूपा आहुतियोंके अतिरिक्त जो दूसरी द्रव्यमयी आहुतियाँ हैं, वे कर्ममयी हैं

(स्वरूपसे और फलकी दृष्टिसे भी कृत्रिम हैं; वे पूर्वोक्त आहुतियोंकी भाँति अनन्त एवं अमृत नहीं हैं ।) यह प्रसिद्ध है कि इस रहस्यको जाननेवाले पूर्ववर्ती विद्वान् केवल कर्ममय अग्निहोत्रका अनुष्ठान नहीं करते थे ॥ ५ ॥

'उक्थ (प्राण) ब्रह्म है'—यह बात सुप्रसिद्ध महात्मा शुष्कभृङ्गार कहते हैं । वह उक्थ 'ऋक्' है, इस बुद्धिसे उपासना करे । जो प्राणरूप उक्थमें ऋग्बुद्धि कर लेता है, उसकी सम्पूर्ण प्राणी श्रेष्ठताके लिये—श्रेष्ठ बननेके लिये अर्चना करते हैं । वह उक्थ 'यजुर्वेद' है, इस बुद्धिसे उपासना करे । इससे सम्पूर्ण प्राणी श्रेष्ठताके लिये उसके साथ सहयोग करते हैं । वह उक्थ 'साम' है, इस बुद्धिसे उपासना करे । उस उपासकके समक्ष सम्पूर्ण प्राणी श्रेष्ठताके लिये मस्तक झुकाते हैं । वह उक्थ 'श्री' है, इस बुद्धिसे उपासना करे । वह 'यश' है, इस भावसे उपासना करे । वह 'तेज' है, इस भावसे उपासना करे । इस विषयमें यह दृष्टान्त है—जैसे यह दिव्य धनुष सम्पूर्ण आयुधोंमें अत्यन्त श्रीसम्पन्न, परम यशस्वी और परम तेजस्वी होता है, उसी प्रकार जो इस प्रकार जानता है वह विद्वान् सम्पूर्ण भूतोंमें सबसे अधिक श्रीसम्पन्न, परम यशस्वी तथा परम तेजस्वी होता है ।

(जो यहाँ ईंटोंकी बनी हुई वेदी अथवा कुण्डमें स्थापित किया गया है, वह यज्ञकर्मका साधनभूत अग्नि भी प्राणस्वरूप ही है; क्योंकि प्राण ही ऋग्वेदादिरूप है । यह प्राण ही ऋग्वेदादि-साध्य कर्मोंका निष्पादक तथा मुझ अध्वर्युका भी स्वरूप है । इसलिये ऋग्वेदादिस्वरूप सर्वात्मा प्राण मैं हूँ, यह अग्नि भी मेरा ही स्वरूप है—इस बुद्धिसे अध्वर्यु अपना संस्कार करता है । इसी अभिप्रायसे कहते हैं—) इस प्राणको तथा ईंटोंकी वेदीपर संचित कर्ममय अग्निको भी अभिन्न एवं आत्मस्वरूप मानकर अध्वर्यु नामक ऋत्विक् अपना संस्कार करता है । उस प्राणमें ही वह यजुर्वेदसाध्य कर्मोंका विस्तार करता है । यजुर्वेदसाध्य कर्म-वितानमें होता ऋग्वेदसाध्य कर्मोंका विस्तार करता है । ऋग्वेदसाध्य कर्म-वितानमें उद्गाता सामवेदसाध्य कर्मोंका विस्तार करता है । वह अध्वर्युरूप यह प्राण सम्पूर्ण त्रयी-विद्याका आत्मा है । यह प्रत्यक्षगोचर प्राण ही इस त्रयी-विद्याका आत्मा बताया गया है । जो इस प्राणको इस रूपमें जानता है, वह भी प्राणरूप हो जाता है ॥ ६ ॥

विविध उपासनाओंका वर्णन

अब सर्वविजयी कौषीतकिके द्वारा अनुभवमें लायी हुई तीन बार की जानेवाली उपासना बतायी जाती है । यज्ञोपवीतको सव्यभावसे—बायें कंधेपर रखकर, आचमन करके जलपात्रको तीन बार शुद्ध-स्वच्छ जलसे पूर्णतः भरकर उदयकालमें भगवान् सूर्यका उपस्थान करे, उनकी आराधनाके लिये खड़ा होकर अर्घ्य दे (अर्घ्य देते समय इस मन्त्रका उच्चारण करे—) 'वर्गोऽसि पाप्मानं मे वृङ्धि ।' (आत्मज्ञान होनेके कारण सम्पूर्ण जगत्को आप तृणकी भाँति त्याग देते हैं, इसलिये 'वर्ग' कहलाते हैं; मेरे पापको मुझसे दूर कीजिये ।) इसी प्रकार मध्याह्नकालमें भी भगवान् सूर्यका उपस्थान करे । (उस समय इस मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये—) 'उद्वर्गोऽसि पाप्मानं मे उद्वृङ्धि ।' (इस मन्त्रका अर्थ भी पूर्ववत् ही है ।) फिर इसी प्रकार सायंकालमें अस्त होते हुए भगवान् सूर्यका निम्नाङ्कित मन्त्रसे उपस्थान करे—'संवर्गोऽसि पाप्मानं मे संवृङ्धि ।' इस उपासनाका फल यह है कि मनुष्य दिन और रातमें जो पाप करता है, उसका पूर्णतः परित्याग कर देता है ॥ ७ ॥

अब दूसरी उपासना बतायी जाती है । प्रत्येक मासकी अमावास्या तिथिको, जब सूर्यके पश्चिमभागमें उनकी सुषुम्णा नामक किरणमें चन्द्रमा स्थित दिखायी देते हैं (लौकिक नेत्रोंसे न दिखायी देनेपर भी शास्त्रतः देखे जाते हैं), उस समय उनका पूर्वोक्त प्रकारसे ही उपस्थान करे । विशेषता इतनी ही है कि अर्घ्यपात्रमें दो हरी दूबके अङ्कुर भी रख ले और उससे अर्घ्य देते हुए चन्द्रमाके प्रति 'यत्ते' इत्यादि मन्त्ररूपा वाणीका प्रयोग करे । (वह मन्त्र इस प्रकार है—)

यत्ते सुसीमं हृदयमधि चन्द्रमसि श्रितं तेनामृतत्वस्वेशानं माहं पौत्रमघं रुदम् ।

'हे सोममण्डलकी अधिष्ठात्री देवि ! जिसकी सीमा बहुत ही सुन्दर है, ऐसा जो तुम्हारा हृदय—हृदयस्थित आनन्दमय स्वरूप चन्द्रमण्डलमें विराजित है, उसके द्वारा तुम अमृतत्व (परमानन्दमय मोक्ष) पर भी अधिकार रखती हो । ऐसी कृपा करो, जिससे मुझे पुत्रके शोकसे न रोना पड़े ।' (पुत्रका पहलेसे ही अभाव होना, पुत्रका पैदा होकर मर जाना या रुग्ण रहना अथवा पुत्रका कुपुत्र हो जाना आदिके कारण जो घोर दुःख होता है, यही पुत्र-शोक है; इन सबसे छूटनेके लिये इस मन्त्रमें प्रार्थना की गयी है ।)

यों करनेवाले उपासकको यदि पुत्र प्राप्त हो चुका हो तो उसके उस पुत्रकी उससे पहले मृत्यु नहीं होती । यदि उसके कोई पुत्र न हुआ हो, तो वह भी पहलेकी ही भाँति

सब कार्य करके अर्घ्यपात्रमें दो हरी दूबके अङ्कुर भी रख ले और निम्नाङ्कित ऋचाओंका जप करे—

'आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यं भवा वाजस्य संगथे ।'१
'सं ते पयांसि समु यन्तु वाजा संवृष्ण्यान्यभिमातिषाहः ।
आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्व ॥'२
'यमादित्या अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षितयः पिबन्ति ।
तेन नो राजा वरुणो बृहस्पतिराप्याययन्तु भुवनस्य गोपाः ॥'३

—इन तीन ऋचाओंका जप करनेके पश्चात् चन्द्रमाके सम्मुख दाहिना हाथ उठाये और निम्नाङ्कित मन्त्रका पाठ करे—

मास्माकं प्राणेन प्रजया पशुभिराप्यायिष्ठा योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्य प्राणेन प्रजया पशुभिराप्याययस्व इति दैवीमावृतमावर्तं आदित्यस्यावृतमन्वावर्ते इति । ४

—यों कहकर अपनी दाहिनी बाँहका अन्वावर्तन करे—बारंबार घुमाये । तत्पश्चात् बाँह खींच ले ॥ ८ ॥

अब अन्य प्रकारकी उपासना बतायी जाती है—पूर्णिमाको सायंकालमें जब प्राची दिशाके अङ्कमें चन्द्रदेवका दर्शन होने लगे, उस समय इसी रीतिसे (जो पहले बतायी गयी है) चन्द्रमाका उपस्थान करे—उन्हें अर्घ्य प्रदान करे । उपस्थानके समय निम्नाङ्कित मन्त्रोंका पाठ भी करे—

सोमो राजासि विचक्षणः पञ्चमुखोऽसि प्रजापतिर्ब्राह्मणस्त एकं मुखं तेन मुखेन राज्ञोऽस्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु । राजा त एकं मुखं तेन मुखेन विशोऽस्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु । श्येनस्त एकं मुखं तेन मुखेन पक्षिणोऽस्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु । अग्निष्ट एकं मुखं तेन मुखेनेमं लोकमस्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु । त्वयि पञ्चमं मुखं तेन मुखेन सर्वाणि भूतान्यस्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु । मास्माकं प्राणेन, प्रजया पशुभिरवक्षेष्ठा योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्य प्राणेन प्रजया पशुभिरवक्षीयस्वेति, दैवीमावृतमावर्तं, आदित्यस्यावृतमन्वावर्ते ।५

इस प्रकार मन्त्रपाठ करते हुए दाहिनी बाँहका अन्वावर्तन करे ॥ ९ ॥

इस तरह सोमकी प्रार्थनाके पश्चात् (गर्भाधानके लिये)

---

१. हे स्त्रीरूप सोम ! तुम पुरुषरूप सूर्यके तेजसे वृद्धिको प्राप्त होओ । पुरुषकी उत्पत्तिका हेतुभूत जो वीर्य—अग्निसम्बन्धी तेज है, वह तुममें स्थापित हो । (तुम अन्न आदि ओषधियोंके भी स्वामी हो, अतः) सब ओरसे अन्नकी प्राप्तिमें निमित्त बनो ।

२. हे सोम ! तुम सोममयी प्रकृति हो; तुम्हारा उत्तम दुग्ध अथवा जल (जो माताके स्तनोंमें दुग्धरूपसे, चन्द्रमण्डलमें सोमरस अथवा सुधारूपसे तथा मेघमण्डलमें स्वादिष्ट जलके रूपमें स्थित है) पुरुषमात्रके लिये अत्यन्त उपकारक है तथा उसका सेवन करनेवाले पुरुषोंको पुष्टि प्रदान करके उनके शत्रुओंका पराभव करानेमें भी समर्थ है । वे दुग्ध और जल अन्नसे जीवन-निर्वाह करनेवाले—निरामिषभोजी जीवोंको सुगमतापूर्वक प्राप्त होते रहें । आग्नेय तेजसे आह्लादको प्राप्त होते हुए तुम अमृतत्वकी प्राप्तिमें सहायक बनो और स्वर्गलोकमें उत्तम यशको धारण करो ।

३. द्वादश आदित्यरूप पुरुष जिस स्त्री-प्रकृतिमय अमृतांशु सोमको अपने तेजसे आह्लाद प्रदान करते हैं तथा स्वयं अक्षीण रहकर कभी क्षीण न होनेवाले जिस सोमका (दुग्ध और जलके रूपमें) पान करते हैं, उस सोममय अंशुसे, त्रिभुवनकी रक्षा करनेवाले राजा वरुण और बृहस्पति हमलोगोंको आनन्द एवं पुष्टि प्रदान करें ।

४. 'हे सोम ! तुम हमारे प्राण, संतान और पशुओंसे अपनी पुष्टि एवं तृप्ति न करो; अपितु जो हमसे द्वेष रखता है, अतएव हम भी जिससे द्वेष रखते हैं, उसके प्राणसे, संतानसे और पशुओंसे अपनी पुष्टि एवं तृप्ति करो । इस प्रकार इस मन्त्रके अर्थभूत देवतासे सम्पादित होनेवाली संचरण-क्रियाका मैं अनुवर्तन करता हूँ—उसीका चलाया हुआ चलता हूँ । अग्नीषोमात्मक सोम ! मैं तुम्हारी संचरणक्रियाका अनुवर्तन करता हूँ, अर्थात् तुम्हारी ही गतिका अनुसरण करता हूँ ।'

५. विश्वकी स्त्री-पुरुषरूपा प्रकृति—उमाके साथ वर्तमान तुम सोम राजा हो । विचक्षण—सम्पूर्ण लौकिक, वैदिक कार्योंके साधनमें कुशल हो । तुम पञ्चमुख—पाँच मुखवाले हो । प्रजापति—समस्त प्रजाका पालन करनेवाले हो । ब्राह्मण तुम्हारा एक मुख है, उस मुखसे तुम क्षत्रियोंका भक्षण करते हो—दमन करते हो; उस मुखके द्वारा तुम मुझे अन्नको खाने और पचानेकी शक्तिसे सम्पन्न बनाओ । क्षत्रिय तुम्हारा एक मुख है, उस मुखसे तुम वैश्योंका भक्षण—शासन करते हो; उस मुखसे तुम मुझे अन्नका भक्षण करने और उसे पचानेकी शक्तिसे सम्पन्न बनाओ । बाज तुम्हारा एक मुख है, उस मुखसे तुम पक्षियोंका भक्षण—संहार करते हो; उस मुखसे मुझे अन्नका भोक्ता बनाओ । अग्नि तुम्हारा एक मुख है, उस मुखसे तुम इस लोकका भक्षण करते हो, उस मुखसे मुझे भी अन्नका भोक्ता बनाओ । पाँचवाँ मुख तो तुममें ही है, उस मुखसे तुम सम्पूर्ण प्राणियोंका भक्षण—संहार करते हो, उस मुखसे मुझे भी अन्नका भोक्ता बनाओ । तुम प्राण, संतान और पशुओंसे हमें क्षीण न करो; अपितु जो हमसे द्वेष रखता है, अतएव हम भी जिससे द्वेष रखते हैं, उसे प्राण, संतान एवं पशुओंसे क्षीण करो । (शेष मन्त्रका अर्थ ऊपरकी तरह समझना चाहिये ।)

पत्नीके समीप बैठनेसे पूर्व उसके हृदयका स्पर्श करे। उस समय निम्नाङ्कित मन्त्रका पाठ करना चाहिये—

यत्ते सुसीमे हृदये हितमन्तः प्रजापतौ। मन्येऽहं मां तद्विद्वांसं तेन माहं पौत्रमघं रुदम्।

'हे सुन्दर सीमन्त (माँग) वाली सुन्दरी! तुम सोममयी हो, तुम्हारा हृदय (स्तन-मण्डल) प्रजा—संततिका पालक (पोषक) है; उसके भीतर जो चन्द्रमण्डलकी ही भाँति अमृतराशि निहित है, उसे मैं जानता हूँ, अपनेको उसका जाननेवाला मानता हूँ। इस सत्यके प्रभावसे मैं कभी पुत्र-सम्बन्धी शोकसे रोदन न करूँ (मुझे पुत्रशोक कभी देखना न पड़े)।'

इस प्रकार प्रार्थना करनेसे उस उपासकके पहले उसकी संतानकी मृत्यु नहीं होती॥ १०॥

अब दूसरी उपासना बतायी जाती है—परदेशमें रहकर वहाँसे लौटा हुआ पुरुष पुत्रके मस्तकका स्पर्श करे और इस मन्त्रको पढ़े—

अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा त्वं पुत्र* माऽऽविथ स जीव शरदः शतम् असौ॥

'अमुक नामवाले पुत्र! तुम नरकसे तारनेवाले हो। मेरे अङ्ग-अङ्गसे प्रकट हुए हो। मेरे हृदयसे तुम्हारा आविर्भाव हुआ है। तुम मेरे अपने ही स्वरूप हो। तुमने मेरी (नरकसे) रक्षा की है। तुम सौ वर्षोंतक जीवित रहो।'

यहाँ 'असौ' के स्थानपर पुत्रका नाम उच्चारण करना चाहिये और नामोच्चारणके समय निम्नाङ्कित मन्त्र पढ़ना चाहिये—

अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव। तेजो वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् असौ।'†

यहाँ पुनः 'असौ' के स्थानपर पुत्रका नाम लेना चाहिये। साथ ही निम्नाङ्कित मन्त्रका पाठ भी करना चाहिये—

'येन प्रजापतिः प्रजाः पर्यगृह्णादरिष्टयै तेन त्वा परिगृह्णामि असौ।*

यहाँ भी 'असौ' के स्थानपर पुत्रका नामोच्चारण करे। तत्पश्चात् पुत्रके दाहिने कानमें इस मन्त्रका जप करे—

अस्मै प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्, इन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि।†

फिर इसी मन्त्रको बायें कानमें भी जपे। तदनन्तर पुत्रका मस्तक सूँघे और इस मन्त्रको पढ़े—

माच्छित्था मा व्यथिष्ठाः शतं शरद आयुषो जीव पुत्र ते नाम्ना मूर्धानमवजिघ्रामि, असौ।

'बेटा! संतान-परम्पराका उच्छेद न करना। मन, वाणी और शरीरसे तुम्हें कभी पीड़ा न हो। तुम सौ वर्षोंतक जीवित रहो। मैं तुम्हारा अमुक नामसे प्रसिद्ध पिता तुम्हारा नाम लेकर तुम्हारे मस्तकको सूँघ रहा हूँ।' (यहाँ 'असौ' के स्थानपर पिता अपना नाम ले।) इस मन्त्रको पढ़कर तीन बार पुत्रका मस्तक सूँघना चाहिये। इसके बाद नीचे लिखा मन्त्र पढ़कर मस्तकके सब ओर तीन बार हिंकार ('हिम्' शब्दका) उच्चारण करे। मन्त्र इस प्रकार है—

गवां त्वा हिङ्कारेणाभि हिङ्करोमि।

'वत्स! गौएँ अपने बछड़ेको बुलानेके लिये जैसे रँभाती हैं, उसी प्रकार—वैसे ही प्रेमसे मैं भी तुम्हारे लिये हिङ्कार करता हूँ—हिङ्कारद्वारा तुम्हें अपने पास बुलाता हूँ'॥ ११॥

दैवपरिमररूपमें प्राणकी उपासना

अब इसके बाद देव-सम्बन्धी 'परिमर' का वर्णन किया जाता है। (यहाँ अग्नि और वाक् आदि ही देवता हैं; ये देवता प्राणके सब ओर मृत्युको प्राप्त होते हैं, अतः ब्रह्मस्वरूप प्राणको ही यहाँ 'परिमर' कहा गया है।) यह जो प्रत्यक्ष रूपमें अग्नि प्रज्वलित है, इस रूपमें ब्रह्म ही देदीप्यमान हो रहा है। जब अग्नि प्रज्वलित नहीं होती, उस अवस्थामें यह मर जाती है—बुझ जाती है। उस बुझी हुई अग्निका तेज सूर्यमें ही मिल जाता है और प्राण वायुमें प्रवेश कर जाता है।

---

* पुत्रका अर्थ ही है—पुत् नामके नरकसे रक्षा करनेवाला (पुन्नाम्नः नरकात् त्रायते)।

† मन्त्रार्थ इस प्रकार है—'वत्स! तुम पत्थर बनो, कुठार बनो और बिछा हुआ सुवर्ण बनो (अर्थात् तुम्हारा शरीर पत्थरके समान सुगठित, बलवान्, स्वस्थ एवं नीरोग हो। तुम कुठारकी भाँति शत्रुओंका नाश करनेवाले बनो और सब ओर फैली हुई सुवर्णराशिकी भाँति सबके प्रिय बनो। समस्त अङ्गोंका सारभूत, संसार-वृक्षका बीजरूप जो तेज है, वह तुम्हीं हो; तुम सैकड़ों वर्ष जीवित रहो।'

* वत्स! प्रजापति ब्रह्माजी अपनी सृष्टिको विनाशसे बचानेके लिये उसे जिस तेजसे सम्पन्न करके परिगृहीत अथवा अनुगृहीत करते हैं, उसी तेजसे सम्पन्न करके मैं तुम्हें सब ओरसे ग्रहण करता हूँ।

† मघवन्! आप सरल भावका अवलम्बन करके इस पुत्रकी रक्षा करें। इन्द्र! इसे श्रेष्ठ धन प्रदान करें।

यह जो सूर्य दृष्टिगोचर होता है, निश्चय ही इस रूपमें ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जब यह नहीं दिखायी देता, तब मानो मर जाता है। उस समय उसका तेज चन्द्रमाको ही प्राप्त होता और प्राण वायुमें मिल जाता है। यह जो चन्द्रमा दिखायी देता है, निश्चय ही इसके रूपमें ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। फिर जब यह नहीं दिखायी देता, तब मानो यह मर जाता है। उस समय उसका तेज विद्युत्‌को ही और प्राण वायुको प्राप्त हो जाता है। यह जो बिजली कौंधती है, निश्चय ही इसके रूपमें यह ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। फिर जब यह नहीं कौंधती, तब मानो मर जाती है; उस समय उसका तेज वायुको प्राप्त होता है और प्राण भी वायुमें ही प्रवेश कर जाता है।

वे प्रसिद्ध अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा तथा विद्युत्-स्वरूप सम्पूर्ण देवता वायुमें ही प्रवेश करके स्थित होते हैं। वायु (आधिदैविक प्राण) में विलीन होकर वे विनष्ट नहीं होते; क्योंकि पुनः उस वायुसे ही उनका प्रादुर्भाव होता है। इस प्रकार आधिदैविक दृष्टि है। अब आध्यात्मिक दृष्टि बतायी जाती है॥ १२॥

मनुष्य वाणीसे जो बातचीत करता है, यह मानो ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जब यह नहीं बोलता, उस समय मानो यह वाक्-इन्द्रिय मर जाती है। उस समय वाणीका तेज नेत्रको प्राप्त हो जाता है और प्राण प्राणवायुमें मिल जाता है। यह मनुष्य नेत्रद्वारा जो देखता है, यह मानो ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जब नेत्रसे नहीं देखता, उस समय मानो नेत्रेन्द्रिय मर जाती है। उस समय नेत्रका तेज श्रवणेन्द्रियको प्राप्त हो जाता है तथा प्राण प्राणमें ही मिल जाता है। यह जो श्रवणद्वारा सुनता है, यह मानो ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है; जब यह नहीं सुनता, तब मानो श्रवणेन्द्रिय मर जाती है। उस समय उसका तेज मनको ही प्राप्त हो जाता है और प्राण प्राणमें मिल जाता है। यह जो मनसे ध्यान (चिन्तन) करता है, यह मानो ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जब चिन्तन नहीं करता, तब मानो मन मर जाता है। उस समय उसका तेज प्राणको ही प्राप्त हो जाता है और प्राण भी प्राणमें ही मिल जाता है।

इस प्रकार ये सम्पूर्ण वाक् आदि देवता प्राणमें ही प्रवेश करके स्थित होते हैं। प्राणमें लीन होकर वे नष्ट नहीं होते। अतएव पुनः प्राणसे ही उनका प्रादुर्भाव होता है।

उस दैव-परिमर (प्राण) का सम्यग्ज्ञान हो जानेपर यदि वे ज्ञानी पुरुष ऐसे दो ऊँचे पर्वतोंको, जो भूमण्डलके उत्तरी सिरेसे लेकर दक्षिणी सिरेतक फैले हों, अपनी इच्छाके अनुसार चलनेको प्रेरित करें तो वे पर्वत इन ज्ञानी महापुरुषोंकी हिंसा—उनकी आज्ञाका परित्याग अर्थात् उनकी अवहेलना नहीं कर सकते।

इसके सिवा, जो लोग इस 'दैवपरिमर' के ज्ञाता पुरुषसे द्वेष करते हैं, अथवा वह स्वयं जिन लोगोंसे द्वेष रखता हो, वे सब-के-सब सर्वथा नष्ट हो जाते हैं॥ १३॥

मोक्षके लिये सर्वश्रेष्ठ प्राणकी उपासना

इसके पश्चात् अब मोक्ष-साधनके गुणसे विशिष्ट सर्वश्रेष्ठ प्राणकी उपासना बतायी जाती है। एक समय वाक् आदि सम्पूर्ण देवता अहङ्कारवश अपनी-अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करनेके लिये विवाद करने लगे। वे सब प्राणके साथ ही इस शरीरसे निकल गये। उनके निकल जानेपर वह शरीर काठकी भाँति निश्चेष्ट होकर सो गया। तदनन्तर उस शरीरमें वाक्-इन्द्रियने प्रवेश किया। तब वह वाणीसे बोलने तो लगा, परंतु उठ न सका, सोया ही रह गया। तत्पश्चात् चक्षु-इन्द्रियने उस शरीरमें प्रवेश किया। तथापि वह वाणीसे बोलता और नेत्रसे देखता हुआ भी सोता ही रहा, उठ न सका। तब उस शरीरमें श्रवण-इन्द्रियने प्रवेश किया। उस समय भी वह वाणीसे बोलता, नेत्रसे देखता और कानोंसे सुनता हुआ भी सोता ही रहा, उठकर बैठ न सका। तदनन्तर उस शरीरमें मनने प्रवेश किया। तब भी वह शरीर वाणीसे बोलता, नेत्रसे देखता, कानसे सुनता और मनसे चिन्तन करता हुआ भी पड़ा ही रहा। तत्पश्चात् प्राणने उस शरीरमें प्रवेश किया। फिर तो उसके प्रवेश करते ही वह शरीर उठ बैठा। तब उन वाक् आदि देवताओंने प्राणमें ही मोक्ष-साधनकी शक्ति जानकर तथा प्रज्ञास्वरूप प्राणको ही सब ओर व्याप्त समझकर इन प्राण-अपान आदि समस्त प्राणोंके साथ ही इस शरीररूप लोकसे उत्क्रमण किया।

वे वायुमें—आधिदैविक प्राणमें स्थित हो आकाशस्वरूप होकर स्वर्गलोकमें गये—अपने अधिष्ठातृ-देवता अग्नि आदिके स्वरूपको प्राप्त हो गये। उसी प्रकार इस रहस्यको जाननेवाला विद्वान् सम्पूर्ण भूतोंके प्राणको ही प्रज्ञात्मारूपसे प्राप्तकर इन प्राण-अपान आदि समस्त प्राणोंके साथ इस शरीरसे उत्क्रमण करता है। तथा वह वायुमें प्रतिष्ठित हो आकाशस्वरूप होकर स्वर्गलोकको गमन करता है। वह विद्वान् वहाँ उस सुप्रसिद्ध प्राणका स्वरूप हो जाता है जिसमें कि ये वाक् आदि देवता स्थित होते हैं। उस प्राणस्वरूपको प्राप्तकर वह विद्वान् प्राणके उस अमृतत्व-गुणसे युक्त हो

जाता है, जिस अमृतत्व-गुणसे वे वाक् आदि देवता भी संयुक्त होते हैं ॥ १४ ॥

प्राणोपासकका सम्प्रदान-कर्म

अब इसके पश्चात् पिता-पुत्रका सम्प्रदान-कर्म बतलाते हैं (पिता पुत्रको अपनी जीवन-शक्ति प्रदान करता है; अतएव इसको पितापुत्रीय सम्प्रदान-कर्म कहते हैं)। पिता यह निश्चय करके कि अब मुझे इस लोकसे प्रयाण करना है, पुत्रको अपने समीप बुलाये। नूतन कुश-काश आदि तृणोंसे अग्निशालाको आच्छादित करके विधिपूर्वक अग्निकी स्थापना करे। अग्निके उत्तर या पूर्वभागमें जलसे भरा हुआ कलश स्थापित करे। कलशके ऊपर धान्यसे भरा हुआ पात्र भी होना चाहिये। स्वयं भी नवीन धौत (धोती) और उत्तरीय धारण करे। इस प्रकार श्वेत वस्त्र और माला आदिसे अलङ्कृत हो घरमें आकर पुत्रको पुकारे। जब पुत्र समीप आ जाय तो सब ओरसे उसके ऊपर पड़ जाय अर्थात् उसे अङ्कमें भर ले और अपनी इन्द्रियोंसे उसकी इन्द्रियोंका स्पर्श करे (तात्पर्य यह कि नेत्रसे नेत्रका, नाकसे नाकका तथा अन्य इन्द्रियोंसे उसकी अन्य इन्द्रियोंका स्पर्श करे)। अथवा केवल पुत्रके सम्मुख बैठ जाय और उसे अपनी वाक्-इन्द्रिय आदिका दान करे।

पिता कहे—'वाचं मे त्वयि दधानि' (बेटा! मैं तुममें अपनी वाक्-इन्द्रिय स्थापित करता हूँ)।

पुत्र उत्तर दे—'वाचं ते मयि दधे' (पिताजी! मैं आपकी वाक्-इन्द्रियको अपनेमें धारण करता हूँ)।

पिता—'प्राणं मे त्वयि दधानि' (मैं अपने प्राणको तुममें स्थापित करता हूँ)।

पुत्र—'प्राणं ते मयि दधे' (आपके प्राण—घ्राणेन्द्रियको अपनेमें धारण करता हूँ)।

पिता—'चक्षुर्मे त्वयि दधानि' (अपनी चक्षु-इन्द्रियको तुममें स्थापित करता हूँ)।

पुत्र—'चक्षुस्ते मयि दधे' (आपके चक्षुको अपनेमें धारण करता हूँ)।

पिता—'श्रोत्रं मे त्वयि दधानि' (अपने श्रोत्रको तुममें स्थापित करता हूँ)।

पुत्र—'श्रोत्रं ते मयि दधे' (आपके श्रोत्रको अपनेमें धारण करता हूँ)।

पिता—'अन्नरसान्मे त्वयि दधानि' (अपने अन्नके रसोंको तुममें स्थापित करता हूँ)।

पुत्र—'अन्नरसांस्ते मयि दधे' (आपके अन्नरसोंको अपनेमें धारण करता हूँ)।

पिता—'कर्माणि मे त्वयि दधानि' (अपने कर्मोंको तुममें स्थापित करता हूँ)।

पुत्र—'कर्माणि ते मयि दधे' (आपके कर्मोंको अपनेमें धारण करता हूँ)।

पिता—'सुखदुःखे मे त्वयि दधानि' (अपने सुख और दुःखको तुममें स्थापित करता हूँ)।

पुत्र—'सुखदुःखे ते मयि दधे' (आपके सुख और दुःखको अपनेमें धारण करता हूँ)।

पिता—'आनन्दं रतिं प्रजातिं मे त्वयि दधानि' (मैथुन-जनित आनन्द, रति और सन्तानोत्पत्तिकी शक्ति तुममें स्थापित करता हूँ)।

पुत्र—'आनन्दं रतिं प्रजातिं ते मयि दधे' (आपकी वह शक्ति मैं अपनेमें धारण करता हूँ)।

पिता—'इत्या मे त्वयि दधानि' (अपनी गतिशक्ति मैं तुममें स्थापित करता हूँ)।

पुत्र—'इत्यास्ते मयि दधे' (आपकी गतिशक्ति अपनेमें धारण करता हूँ)।

पिता—'धियो विज्ञातव्यं कामान् मे त्वयि दधानि' (अपनी बुद्धि-वृत्तियोंको, बुद्धिके द्वारा ज्ञातव्य विषयको तथा विशेष कामनाओंको तुममें स्थापित करता हूँ)।

पुत्र—'धियो विज्ञातव्यं कामांस्ते मयि दधे' (आपकी बुद्धि-वृत्तियोंको, बुद्धिके द्वारा ज्ञातव्य विषयोंको तथा कामनाओंको मैं अपनेमें धारण करता हूँ)।

तदनन्तर पुत्र पिताकी प्रदक्षिणा करते हुए पूर्व दिशाकी ओर पिताके समीपसे निकलता है। उस समय पिता पीछेसे पुत्रको सम्बोधित करके कहते हैं—

'यशो ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यं कीर्तिस्त्वा जुषताम्।'

'यश, ब्रह्मतेज, अन्नको खाने और पचानेकी शक्ति तथा उत्तम कीर्ति—ये समस्त सद्गुण तुम्हारा सेवन करें।'

पिताके यों कहनेपर पुत्र अपने बायें कन्धेकी ओर दृष्टि घुमाकर देखे और हाथसे ओट करके अथवा कपड़ेसे आड़ करके पिताको उत्तर दे—

'स्वर्गान् लोकान् कामान् अवाप्नुहि'

'आप अपनी इच्छाके अनुसार कमनीय स्वर्गलोक तथा वहाँके भोगोंको प्राप्त करें।'

इसके बाद यदि पिता नीरोग हो तो वह पुत्रके प्रभुत्वमें ही वहाँ निवास करे (पुत्रको घरका स्वामी समझे और अपनेको उसके आश्रित माने)। अथवा सब कुछ त्यागकर घरसे निकल जाय—संन्यासी हो जाय। अथवा यदि वह परलोकगामी हो जाय तो जिन-जिन वाक् आदि इन्द्रियोंको उसने पुत्रमें स्थापित किया था; उन सभीकी शक्तियोंका वह पुत्र उसी प्रकार आश्रय हो जाता है। वे सभी शक्तियाँ उसे प्राप्त होती हैं (यही सच्चा उत्तराधिकार है) ॥ १५ ॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

ॐ

तृतीय अध्याय

इन्द्र-प्रतर्दन-संवाद; प्रज्ञास्वरूप प्राणकी महिमा

ॐ यह प्रसिद्ध है कि राजा दिवोदासके पुत्र प्रतर्दन (देवासुर-संग्राममें देवताओंकी सहायता करनेके लिये) देवराज इन्द्रके प्रिय धाम स्वर्गलोकमें गये। वहाँ उनकी अनुपम युद्धकला और पुरुषार्थसे संतुष्ट होकर इन्द्रने उनसे कहा—'प्रतर्दन! बोलो, मैं तुम्हें क्या वर दूँ?' तब वे प्रसिद्ध वीर प्रतर्दन बोले—'देवराज! जिस वरको आप मनुष्य-जातिके लिये परम कल्याणमय मानते हों, वैसा कोई वर मेरे लिये आप स्वयं ही वरण करें।' यह सुनकर इन्द्रने कहा—'राजन्! लोकमें यह सर्वत्र विदित है कि कोई भी दूसरेके लिये वर नहीं माँगता; अतः तुम्हीं अपने लिये कोई वर माँगो।' प्रतर्दन बोला—'तब तो मेरे लिये वरका अभाव ही रह गया।' (क्योंकि आप स्वयं तो वर माँगेंगे नहीं; और 'मुझे क्या माँगना चाहिये'—इसका मुझको ज्ञान ही नहीं है। ऐसी दशामें मुझे वर मिलनेसे रहा।) प्रतर्दनके ऐसा कहनेपर निश्चय ही देवराज इन्द्र अपने सत्यसे विचलित नहीं हुए; (वे वर देनेकी प्रतिज्ञा कर चुके थे, अतः प्रतर्दनके न माँगनेपर भी अपनी ही ओरसे वर देनेको उद्यत हो गये।) क्योंकि इन्द्र सत्यस्वरूप हैं।

उन प्रसिद्ध देवता इन्द्रने कहा—'प्रतर्दन! तुम मुझे ही जानो—मेरे ही यथार्थ स्वरूपको समझो। इसे ही मैं मनुष्य-जातिके लिये परमकल्याणमय वर मानता हूँ कि वह मुझे भलीभाँति जाने।'

(यदि कहो, आपमें ऐसी क्या विशेषता है? तो सुनो; मैंने प्राणब्रह्मके साथ तादात्म्य प्राप्त कर लिया है; अतएव मुझमें कर्तापनका अभिमान नहीं है, मेरी बुद्धि कहीं भी लिप्त नहीं होती। कर्मफलकी इच्छा मेरे मनमें कभी उत्पन्न ही नहीं होती, अतएव कोई भी कर्म मुझे बन्धनमें नहीं डालता।* इसी अभिप्रायसे कहते हैं—)

'मैंने त्वष्टा प्रजापतिके पुत्र विश्वरूपको, जिसके तीन मस्तक थे, वज्रसे मार डाला! कितने ही (मिथ्या) संन्यासियोंको, जो अपने आश्रमोचित आचारसे भ्रष्ट एवं बहिर्मुख (ब्रह्मविचारसे विमुख) हो चुके थे, टुकड़े-टुकड़े करके भेड़ियोंको बाँट दिया। कितनी ही बार प्रह्लादके परिचारक दैत्य राजाओंको मौतके घाट उतार दिया। पुलोमासुरके परिचारक दानवों तथा पृथिवीपर रहनेवाले कालखञ्ज नामक बहुत-से असुरोंका भी समस्त विघ्न-बाधाओंका अतिक्रम करके संहार कर डाला। परंतु इतनेपर भी (अहङ्कार और कर्मफलकी कामनासे शून्य होनेके कारण) मुझ प्रसिद्ध देवराज इन्द्रके एक रोमको भी हानि नहीं पहुँची। मेरा एक बाल भी बाँका नहीं हुआ। इसी प्रकार जो मुझे भलीभाँति जान ले; उसके पुण्यलोकको किसी भी कर्मसे हानि नहीं पहुँचती।

'मेरे स्वरूपका ज्ञान रखनेवाले पुरुषको बड़े-से-बड़ा पाप भी हानि नहीं पहुँचा सकता। अधिक क्या कहूँ, उसे पाप लगता ही नहीं। पाप करनेकी इच्छा होनेपर भी उसके मुखसे नील आभा नहीं प्रकट होती—उसका मुँह काला नहीं होता'॥ १॥

(यह कथन अहङ्कारसे सर्वथा शून्य ब्रह्मज्ञानीकी महत्ता बतलानेके लिये है, न कि पाप कर्मोंका समर्थन करनेके लिये। वस्तुतः अहङ्काररहित राग-द्वेषशून्य पुरुषसे पापकार्य बननेका ही कोई हेतु नहीं होता।)

वे प्रसिद्ध देवराज इन्द्र बोले—"मैं प्रज्ञास्वरूप प्राण हूँ। उस प्राण एवं प्रज्ञात्मारूपमें विदित मुझ इन्द्रकी तुम 'आयु और अमृत' रूपसे उपासना करो।" (अर्थात् समस्त प्राणियोंकी आयु एवं जीवनभूत जो प्राण है, जो मृत्युसे रहित अमृतपद है, वह मुझ इन्द्रसे भिन्न नहीं है—यों समझकर मेरी उपासना करो।)

'आयु प्राण है। प्राण ही आयु है तथा प्राण ही अमृत है। जबतक इस शरीरमें प्राण निवास करता है, तबतक ही आयु है। प्राणसे ही प्राणी परलोकमें अमृतत्वके सुखका अनुभव करता है।

'प्रज्ञासे मनुष्य सत्यका निश्चय और संकल्प-विकल्प करता है। जो 'आयु' और 'अमृत' रूपसे मुझ इन्द्रकी उपासना करता है, वह इस लोकमें पूरी आयुतक जीवित रहता है

---

* न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥
(गीता ४। १४; १८। १७)

तथा स्वर्गलोकमें जानेपर अक्षय अमृतत्वका सुख भोगता है।'

'इस प्राणके विषयमें निश्चय ही कोई-कोई विद्वान् इस प्रकार कहते हैं—अवश्य ही सब प्राण (वाक् आदि समस्त इन्द्रियाँ और प्राण) एकीभावको प्राप्त होते हैं। कोई भी मनुष्य एक ही समय वाणीसे नाम सूचित करने, नेत्रसे रूप देखने, कानसे शब्द सुनने और मनसे चिन्तन करनेमें समर्थ नहीं हो सकता; इससे सिद्ध होता है कि अवश्य ही समस्त प्राण एकीभावको प्राप्त होते हैं—एक होकर कार्य करते हैं। ये सब एक-एक विषयका बारी-बारीसे अनुभव कराते हैं।

'जब वाणी बोलने लगती है, उस समय अन्य सब प्राण मौन होकर उसका अनुमोदन करते हैं। जब नेत्र देखने लगता है, तब अन्य सब प्राण भी उसके पीछे रहकर देखते हैं। जब कान सुनने लगता है, तब अन्य सब प्राण भी उसका अनुसरण करते हुए सुनते हैं, जब मन चिन्तन करने लगता है, तो अन्य सब प्राण भी उसके साथ रहकर चिन्तन करते हैं तथा मुख्य प्राण जब अपना व्यापार करता है, तब अन्य प्राण भी उसके साथ-साथ वैसी ही चेष्टा करते हैं।'—प्रतर्दनने कहा।

'यह बात ऐसी ही है'—इस प्रकार उन सुप्रसिद्ध देवराज इन्द्रने उत्तर दिया। "सब प्राण एक होते हुए भी जो पाँच प्राण हैं, वे निःश्रेयस (परम कल्याण)-रूप हैं; निःसंदेह ऐसी ही बात है॥ २॥

"वाक्-इन्द्रियसे वञ्चित होनेपर भी मनुष्य जीवित रहता है; क्योंकि हमलोग गूँगोंको प्रत्यक्ष देखते हैं। नेत्रहीन मनुष्य भी जीवित रहता है; क्योंकि हमलोग अंधोंको जीवित देखते हैं। श्रवण-इन्द्रियसे रहित होनेपर भी मनुष्य जीवित रहता है; क्योंकि हमलोग बहरोंको जीवित देखते हैं। मनःशक्तिसे शून्य होनेपर भी मनुष्य जीवन धारण कर सकता है; क्योंकि हमलोग छोटे शिशुओंको जीवित देखते हैं। इतना ही नहीं, प्राण-शक्तिके रहनेपर बाँह कट जानेपर भी मनुष्य जीवित रहता है, जाँघ कट जानेपर भी वह जीवन धारण कर सकता है (परंतु प्राणके न रहनेपर तो एक क्षण भी जीवित रहना असम्भव है।)—यह हम प्रत्यक्ष देखते हैं।

"अतः क्रियाशक्तिका उद्बोधक प्राण ही ज्ञानशक्तिका उद्बोधक प्रज्ञात्मा है। (अतएव यह निःश्रेयसरूप है।) यही इस शरीरको सब ओरसे पकड़कर उठाता है। इसीलिये इस प्राणकी ही 'उक्थ' रूपसे उपासना करनी चाहिये। (उत्थापनके कारण ही वह उक्थ है।) निश्चय ही जो प्रसिद्ध प्राण है, वही प्रज्ञा है। अथवा जो प्रज्ञा बतायी गयी है, वही प्राण है; क्योंकि ये प्रज्ञा और प्राण दोनों साथ-साथ ही इस शरीरमें रहते हैं और जीवात्मासे मिलकर साथ-ही-साथ यहाँसे उत्क्रमण करते हैं। इस प्राणमय परमात्माका यही दर्शन (ज्ञान) है, यही विज्ञान है कि जिस अवस्थामें यह सोया हुआ पुरुष किसी स्वप्नको नहीं देखता, उस समय वह इस मुख्य प्राणमें ही एकीभावको प्राप्त हो जाता है। उस अवस्थामें वाक् सम्पूर्ण नामोंके साथ इस प्राणमें ही लीन हो जाती है। नेत्र समस्त रूपोंके साथ इसमें ही लीन हो जाता है। कान समग्र शब्दोंके साथ इसमें ही लीन हो जाता है तथा मन सम्पूर्ण चिन्तनीय विषयोंके साथ इसमें ही लयको प्राप्त हो जाता है।

वह पुरुष जब जाग उठता है, उस समय, जैसे जलती हुई आगसे सब दिशाओंकी ओर चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार इस प्राणस्वरूप आत्मासे समस्त वाक् आदि प्राण निकलकर अपने-अपने योग्य स्थानकी ओर जाते हैं। फिर प्राणोंसे उनके अधिष्ठाता अग्नि आदि देवता प्रकट होते हैं और देवताओंसे लोक—नाम आदि विषय प्रकट होते हैं।

इस प्राणस्वरूप आत्माकी यह आगे बतायी जानेवाली ही सिद्धि है, यही विज्ञान है कि जिस अवस्थामें पुरुष रोगसे आर्त हो मरणासन्न हो जाता है, अत्यन्त निर्बलताको पहुँचकर अचेत हो जाता है—किसीको पहचान नहीं पाता, उस समय कहते हैं कि इसका चित्त (मन) उत्क्रमण कर गया। इसीलिये यह न तो सुनता है, न देखता है, न वाणीसे कुछ बोलता है और न चिन्तन ही करता है। उस समय इस प्राणमें ही वह एकीभावको प्राप्त हो जाता है। उस अवस्थामें वाक् सम्पूर्ण नामोंके साथ इसमें लीन हो जाती है। नेत्र समस्त रूपोंके साथ इसमें लीन हो जाता है। कान समग्र शब्दोंके साथ इसमें लीन हो जाता है तथा मन सम्पूर्ण चिन्तनीय विषयोंके साथ इसमें लीन हो जाता है। वह पुरुष मृत्युके बाद जब पुनः जागता है—जन्मान्तर ग्रहण करता है, उस समय जैसे जलती हुई आगसे सब दिशाओंकी ओर चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार इस प्राणस्वरूप आत्मासे वाक् आदि प्राण प्रकट हो अपने-अपने योग्य स्थानकी ओर चल देते हैं। फिर प्राणोंसे उनके अधिष्ठाता अग्नि आदि देवता प्रकट होते हैं और देवताओंसे लोक—नाम आदि विषय प्रकट होते हैं॥ ३॥

वह मुमूर्षु पुरुष जब इस शरीरसे उत्क्रमण करता है, उस समय इन सब इन्द्रियोंके साथ ही उत्क्रमण करता है। वाक्-इन्द्रिय इस पुरुषके पास सब नामोंका त्याग कर देती है (अतः वह नामोंको ग्रहण नहीं कर पाता); क्योंकि वाक्-इन्द्रियसे ही मनुष्य नामोंको ग्रहण कर पाता है। घ्राण-इन्द्रिय उसके निकट समस्त गन्धोंका त्याग कर देती है (अतः वह गन्धसे भी वञ्चित हो जाता है); क्योंकि घ्राण-इन्द्रियसे ही मनुष्य सब प्रकारके गन्धोंका अनुभव करता है। नेत्र उसके समीप सब रूपोंको त्याग देता है; नेत्रसे ही मनुष्य सब रूपोंको ग्रहण करता है। कान उसके समीप समस्त शब्दोंको त्याग देता है; कानसे ही मनुष्य सब प्रकारके शब्दोंको ग्रहण करता है। मन उसके समीप समस्त चिन्तनीय विषयोंको त्याग देता है; मनसे ही मनुष्य सब प्रकारके चिन्तनीय विषयोंको ग्रहण करता है। यही प्राणस्वरूप आत्मामें सब इन्द्रियों और विषयोंका समर्पित हो जाना है।

निश्चय ही जो प्राण है, वही प्रज्ञा है अथवा जो प्रज्ञा है, वही प्राण है; क्योंकि ये दोनों इस शरीरमें साथ-साथ ही रहते हैं और साथ-साथ ही इससे उत्क्रमण करते हैं।

अब निश्चय ही जिस प्रकार इस प्रज्ञामें सम्पूर्ण भूत एक हो जाते हैं, इसकी हम स्पष्ट शब्दोंमें व्याख्या करेंगे ॥ ४ ॥

अवश्य ही वाक्-इन्द्रियने इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उसके विषयरूपसे कल्पित भूतमात्रा (पञ्चभूतोंका अंश-विशेष) नाम—शब्द है। निश्चय ही प्राण (घ्राणेन्द्रिय) ने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उसके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह गन्ध है। निश्चय ही नेत्रने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उसके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह रूप है। निश्चय ही कानने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उसके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह शब्द है। निश्चय ही जिह्वाने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उसके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह अन्नका रस है। निश्चय ही हाथोंने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उनके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह कर्म है। निश्चय ही शरीरने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उसके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह सुख और दुःख है। निश्चय ही उपस्थने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है, बाहरकी ओर इसके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह आनन्द, रति और प्रजोत्पत्ति है। निश्चय ही पैरोंने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उनके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह गमन-क्रिया है। अवश्य ही प्रज्ञाने भी इस प्रज्ञाके एक अङ्गकी पूर्ति की है। बाहरकी ओर उसके विषयरूपसे कल्पित जो भूतमात्रा है, वह बुद्धिके द्वारा अनुभव करने योग्य वस्तु और कामनाएँ हैं ॥ ५ ॥

प्रज्ञासे वाक्-इन्द्रियपर आरूढ़ होकर मनुष्य वाणीके द्वारा नामोंको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे प्राण (घ्राणेन्द्रिय) पर आरूढ़ होकर उसके द्वारा समस्त गन्धोंको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे नेत्रपर आरूढ़ होकर नेत्रसे सब रूपोंको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे श्रवण-इन्द्रियपर आरूढ़ होकर उसके द्वारा सब प्रकारके शब्दोंको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे जिह्वापर आरूढ़ होकर जिह्वासे सम्पूर्ण अन्नरसोंको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे हाथोंपर आरूढ़ होकर हाथोंसे समस्त कर्मोंको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे शरीरपर आरूढ़ होकर शरीरसे भोग और पीडाजनित सुख-दुःखोंको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे उपस्थपर आरूढ़ होकर उपस्थसे आनन्द, रति और प्रजोत्पत्तिको ग्रहण करता है। प्रज्ञासे पैरोंपर आरूढ़ होकर पैरोंसे सम्पूर्ण गमन-क्रियाओं-को ग्रहण करता है। तथा प्रज्ञासे ही बुद्धिपर आरूढ़ होकर उस-के द्वारा अनुभव करनेयोग्य वस्तु एवं कामनाओंको ग्रहण करता है ॥ ६ ॥

प्रज्ञासे रहित होनेपर वाक्-इन्द्रिय किसी भी नामका बोध नहीं करा सकती; क्योंकि उस अवस्थामें मनुष्य यों कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था। मैं इस नामको नहीं समझ सका।' प्रज्ञासे पृथक् होनेपर घ्राण-इन्द्रिय किसी भी गन्धका बोध नहीं करा सकती। उस दशामें मनुष्य यों कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इस गन्ध-को नहीं जान सका।' प्रज्ञासे पृथक् होकर नेत्र किसी भी रूपका ज्ञान नहीं करा सकता। उस दशामें मनुष्य यों कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इस रूप-को नहीं पहचान सका।' प्रज्ञासे पृथक् रहकर कान किसी भी शब्दका ज्ञान नहीं करा सकता। उस दशामें मनुष्य यह कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इस शब्द-को नहीं समझ सका।' प्रज्ञासे पृथक् रहकर जिह्वा किसी भी

अन्न-रसका अनुभव नहीं करा सकती। उस दशामें मनुष्य यह कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इस अन्न-रसका अनुभव न कर सका।' प्रज्ञासे पृथक् होकर हाथ किसी भी कर्मका ज्ञान नहीं करा सकते। उस दशामें मनुष्य यह कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इस कर्मको नहीं जान सका।' प्रज्ञासे पृथक् होकर शरीर किसी सुख-दुःखका ज्ञान नहीं करा सकता। उस दशामें मनुष्य कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इन सुख-दुःखोंको नहीं जान सका।' प्रज्ञासे पृथक् हो उपस्थ किसी भी आनन्द, रति और प्रजोत्पत्तिका ज्ञान नहीं करा सकता; उस दशामें मनुष्य कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इस आनन्द, रति और प्रजोत्पत्तिका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सका।' प्रज्ञासे पृथक् रहकर दोनों पैर किसी भी गमन-क्रियाका बोध नहीं करा सकते; उस दशामें मनुष्य यह कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र चला गया था, इसलिये मैं इस गमन-क्रियाका अनुभव नहीं कर सका।' कोई भी बुद्धिवृत्ति प्रज्ञासे पृथक् होनेपर नहीं सिद्ध हो सकती, उसके द्वारा ज्ञातव्य वस्तुका बोध नहीं हो सकता॥ ७॥

वाणीको जाननेकी इच्छा न करे; वक्ताको—वाणीके प्रेरक आत्माको जाने। गन्धको जाननेकी इच्छा न करे; जो गन्धको ग्रहण करनेवाला आत्मा है, उसको जाने। रूपको जाननेकी इच्छा न करे; रूपके ज्ञाता साक्षी आत्माको जाने। शब्दको जाननेकी इच्छा न करे; उसे सुननेवाले आत्माको जाने। अन्नके रसको जाननेकी इच्छा न करे; उस अन्नरसके ज्ञाता आत्माको जाने। कर्मको जाननेकी इच्छा न करे; कर्ता (आत्मा) को जाने। सुख-दुःखको जाननेकी इच्छा न करे; सुख-दुःखके विज्ञाता (साक्षी आत्मा) को जाने। आनन्द, रति और प्रजोत्पत्तिको जाननेकी इच्छा न करे; आनन्द, रति और प्रजोत्पत्तिके ज्ञाता (आत्मा) को जाने। गमन-क्रियाको जाननेकी इच्छा न करे; गमन करनेवाले (साक्षी आत्मा) को जाने। मनको जाननेकी इच्छा न करे; मनन करनेवाले (आत्मा) को जाने।

वे ये दस ही भूतमात्राएँ (नाम आदि विषय) हैं, जो प्रज्ञामें स्थित हैं तथा प्रज्ञाकी भी दस ही मात्राएँ (वाक् आदि इन्द्रियरूप) हैं, जो भूतोंमें स्थित हैं। यदि वे प्रसिद्ध भूतमात्राएँ न हों तो प्रज्ञाकी मात्राएँ भी नहीं रह सकतीं और प्रज्ञाकी मात्राएँ न हों तो भूतमात्राएँ भी नहीं रह सकतीं। इन दोमेंसे किसी भी एकके द्वारा किसी भी रूप (विषय अथवा इन्द्रिय) की सिद्धि नहीं हो सकती। (तात्पर्य यह कि इन्द्रियसे विषयकी और विषयसे इन्द्रियकी सत्ता जानी जाती है; यदि केवल विषय हो तो विषयसे विषयका ज्ञान नहीं हो सकता अथवा यदि केवल इन्द्रिय रहे तो उससे भी इन्द्रियका ज्ञान होना सम्भव नहीं है; अतः दोनोंका—भूतमात्रा और प्रज्ञामात्राका (विषय तथा इन्द्रियका) होना आवश्यक है।

(विषय और इन्द्रियोंमें जो परस्पर भेद है, वैसा प्रज्ञामात्रा और भूतमात्रामें भेद नहीं है—इस आशयसे कहते हैं—) इनमें नानात्व नहीं है। अर्थात् प्रज्ञामात्रा और भूतमात्राका जो स्वरूप है, उसमें भेद नहीं है। वह इस प्रकार समझना चाहिये। जैसे रथकी नेमि अरोंमें और अरे रथकी नाभिके आश्रित हैं, इसी प्रकार ये भूतमात्राएँ प्रज्ञामात्राओंमें स्थित हैं और प्रज्ञामात्राएँ प्राणमें प्रतिष्ठित हैं। वह यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्दमय, अजर और अमृतरूप है। वह न तो अच्छे कर्मसे बढ़ता है और न खोटे कर्मसे छोटा ही होता है। यह प्राण एवं प्रज्ञारूप चेतन परमात्मा ही इस देहाभिमानी पुरुषसे साधु कर्म करवाता है। वह भी उसीसे करवाता है, जिसे इन प्रत्यक्ष लोकोंसे ऊपर ले जाना चाहता है; तथा जिसे वह इन लोकोंकी अपेक्षा नीचे ले जाना चाहता है, उससे असाधु कर्म करवाता है। यह लोकपाल है, यह लोकोंका अधिपति है और यह सर्वेश्वर है। इन सब गुणोंसे युक्त वह प्राण ही मेरा आत्मा है—इस प्रकार जाने। वह मेरा आत्मा है, इस प्रकार जाने॥ ८॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

ॐ

चतुर्थ अध्याय

अजातशत्रु और गार्ग्यका संवाद

गर्गगोत्रमें उत्पन्न एवं गार्ग्य नामसे प्रसिद्ध एक ब्राह्मण थे, जो बलाकाके पुत्र थे। उन्होंने सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन तो किया ही था, वे वेदोंके अच्छे वक्ता भी थे। उन दिनों संसारमें सब ओर उनकी बड़ी ख्याति थी। वे उशीनर देशके निवासी थे, परंतु सदा विचरण करते रहनेके कारण कभी मत्स्यदेशमें, कभी कुरु-पाञ्चालमें और कभी काशी तथा मिथिला-प्रान्तमें रहते थे। इस प्रकार वे सुप्रसिद्ध गार्ग्य एक दिन काशीके विद्वान् राजा अजातशत्रुके पास गये और अभिमानपूर्वक बोले—'राजन्! मैं तुम्हारे लिये ब्रह्मतत्त्वका उपदेश करूँगा।' गार्ग्यके यों कहनेपर उन प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'ब्रह्मन्! आपकी इस बातपर हम आपको एक हजार गौएँ देते हैं। निश्चय ही आजकल लोग जनक-जनक कहते हुए ही उनके समीप दौड़े जाते हैं (अर्थात् राजा जनक ही ब्रह्मविद्याके श्रोता और दानी हैं, ऐसा कहकर प्रायः लोग उन्हींके निकट जाते हैं; आज आपने हमारे पास इसी उद्देश्यसे आकर राजा जनकके समान ही हमारा गौरव बढ़ाया है। अतः हम आपको एक हजार गौएँ देते हैं)॥ १ ॥

तब वे प्रसिद्ध बलाका-पुत्र गार्ग्य बोले—'राजन्! यह जो सूर्यमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मबुद्धिसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। निश्चय ही यह सबसे महान् और शुक्ल वस्त्र धारण करनेवाला है।* यह सबका अतिक्रमण करके—सबसे ऊँची स्थितिमें स्थित है तथा यह सबका मस्तक है। इस प्रकार मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह मनुष्य भी, जो इस प्रसिद्ध सूर्यमण्डलान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, सबका अतिक्रमण करके—सबसे ऊँची स्थितिमें स्थित होता है तथा समस्त भूतोंका मस्तक माना जाता है'॥ २-३ ॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो चन्द्रमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह सोम राजा है और अन्नका आत्मा है। निश्चय ही इस प्रकार मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस प्रसिद्ध चन्द्रमण्डलान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, अन्नका आत्मा होता है (अन्न-राशिसे सम्पन्न होता है)'॥४॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो विद्युन्मण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह तेजका आत्मा है—निश्चय ही इस भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस प्रसिद्ध विद्युन्मण्डलान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, तेजका आत्मा (महान् तेजस्वी) होता है'॥ ५ ॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो मेघमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह शब्दका आत्मा है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस प्रसिद्ध मेघ-मण्डलान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, शब्दका आत्मा (समस्त वाङ्मयके चरम तात्पर्यका ज्ञाता) हो जाता है'॥६॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो आकाशमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह पूर्ण, प्रवृत्तिशून्य (निष्क्रिय) और ब्रह्म (सबसे बृहत्) है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस प्रसिद्ध आकाशमण्डलान्तर्गत पुरुषकी

---

*सूर्यकी तेजोमयी किरणें भास्वर शुक्लवर्णकी मानी गयी हैं; अतः उनसे आवृत होनेके कारण सूर्यमण्डलके अधिष्ठाता पुरुषको 'पाण्डरवासा' कहा गया। अथवा 'पाण्डरवासाः' पद चन्द्रमाका विशेषण है। चन्द्रमा स्वभावतः शुक्ल रश्मियोंसे आच्छादित है तथा सूर्यकी जो सुषुम्ना नामकी किरण है, वह चन्द्रमारूप ही मानी गयी है। बृहदारण्यक उपनिषद्में द्वितीय अध्यायके प्रथम ब्राह्मणमें भी यह प्रसङ्ग आया है; वहाँ 'पाण्डरवासाः' यह विशेषण चन्द्रमाके लिये ही आया है।

इस रूपमें उपासना करता है, प्रजा और पशुसे पूर्ण होता है। इसके सिवा, न तो स्वयं वह उपासक और न उसकी संतान ही समयसे (मनुष्यके लिये नियत सामान्य आयुसे) पहले मृत्युको प्राप्त होती है' ॥ ७ ॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो वायुमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह इन्द्र (परम ऐश्वर्यसे सम्पन्न), वैकुण्ठ (कहीं भी कुण्ठित न होनेवाला) और कभी परास्त न होनेवाली सेना है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस प्रसिद्ध वायुमण्डलान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, अवश्य ही विजयशील, दूसरोंसे पराजित न होनेवाला और शत्रुओंपर विजय पानेवाला होता है' ॥ ८ ॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो अग्निमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह विषासहि (दूसरोंके आक्रमणको सह सकनेवाला) है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह उपासक भी, जो इस प्रसिद्ध अग्निमण्डलान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, यह उपासनाके पश्चात् विषासहि (दूसरोंका वेग सह सकनेवाला) होता है' ॥ ९ ॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो जलमण्डलमें अन्तर्यामी पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह नामका आत्मा है (अर्थात् जितने भी नामधारी जीव हैं, उन सबका आत्मा—जीवनरूप है)—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस प्रसिद्ध जलमण्डलान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, नामधारी जीवमात्रका आत्मा होता है। यह अधिदैवत उपासना बतायी गयी। अब अध्यात्म-उपासना बतायी जाती है ॥ १० ॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो दर्पणमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह प्रतिरूप[1] है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस दर्पणान्तर्गत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, उस प्रतिरूपगुणसे विभूषित होता है। उसकी संततिमें सब उसके अनुरूप ही जन्म लेते हैं, प्रतिकूल रूप और स्वभाववाले नहीं ॥ ११ ॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो प्रतिध्वनिमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह द्वितीय[2] और अनपग है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इस प्रतिध्वनिगत पुरुषकी इस रूपमें उपासना करता है, अपने सिवा द्वितीय (स्त्री-पुत्रादि) को प्राप्त करता है तथा सदा द्वितीयवान् बना रहता है (अर्थात् उन स्त्री-पुत्र आदिसे उसका वियोग नहीं होता)' ॥ १२ ॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो जाते हुए पुरुषके पीछे ध्वन्यात्मक शब्द उसका अनुसरण करता है, उसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह प्राण[3]रूप है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इसकी इस रूपमें उपासना करता है, न तो स्वयं पूरी आयुके पहले मृत्युको प्राप्त होता है और न उसकी संतान ही पूर्ण आयुके पहले निधनको प्राप्त होती है' ॥ १३ ॥

---

१. विषका अर्थ यहाँ हविष्य है। अग्निमें जो हविष्य डाला जाता है, उसे वह भस्म करके सहन कर लेता है; इसलिये अग्नि विषासहि अर्थात् सहन करनेवाला है।

२. जलके बिना जीवन-रक्षा असम्भव है; अतः उसे नामधारी जीवमात्रका आत्मा कहा गया है।

१. रूपका ठीक वैसा ही प्रतिबिम्ब उपस्थित करनेके कारण उसे 'प्रतिरूप' कहा गया है।

२. प्रतिध्वनि एक ध्वनिकी ही पुनरावृत्ति है, अतएव वह द्वितीय है। प्रतिध्वनिमें गतिका अभाव है, इसलिये वह 'अनपग' है।

३. चलते या दौड़ते समय श्वासकी गति कुछ तीव्र हो जाती है; उससे जो अव्यक्त शब्द होता है, उसीको यहाँ 'प्राण' रूप बताया गया प्रतीत होता है।

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो छाया-मय पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह मृत्युरूप[1] है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इसकी इस रूपमें उपासना करता है, न तो स्वयं ही समयसे (मनुष्यके लिये सामान्यतः नियत आयुसे) पहले मृत्युको प्राप्त होता है और न उसकी सन्तान ही समयसे पहले जीवनसे हाथ धोती है' ॥ १४ ॥

उन सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्यने कहा—'यह जो शरीरान्तर्वर्ती पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह प्रजापति-रूप[2] है—निश्चय ही इस भावसे ही मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इसकी इस रूपमें उपासना करता है, प्रजा और पशुओंसे सम्पन्न होता है' ॥ १५ ॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो प्रज्ञासे नित्य संयुक्त प्राणरूप आत्मा है, जिससे एकताको प्राप्त होकर यह सोया हुआ पुरुष स्वप्नमार्गसे विचरता है (नाना प्रकार-के स्वप्नोंका अनुभव करता है), उसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजात-शत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह यम[3] राजा है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार जो इसकी इस रूपमें उपासना करता है, उस उपासककी श्रेष्ठताके लिये यह सारा जगत् नियमपूर्वक चेष्टा करता है' ॥ १६ ॥

उन सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्यने कहा—'यह जो दाहिने नेत्रमें पुरुष है, उसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह नामका आत्मा, अग्निका आत्मा तथा ज्योति[1]का आत्मा है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इसकी इस रूपमें उपासना करता है, इन सबका आत्मा होता है' ॥ १७ ॥

वे सुप्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'यह जो बायें नेत्रमें पुरुष है, इसीकी मैं ब्रह्मरूपसे उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'नहीं-नहीं, इसके विषयमें आप संवाद न करें। यह सत्यका आत्मा, विद्युत्का आत्मा और तेज[2]का आत्मा है—निश्चय ही इसी भावसे मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी प्रकार वह भी, जो इसकी इस रूपमें उपासना करता है, इन सबका आत्मा होता है' ॥ १८ ॥

उसके बाद बलाकानन्दन गार्ग्य चुप हो गये। तब उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'बालाके! बस, क्या इतना ही आपका ब्रह्मज्ञान है?' इस प्रश्नपर बलाकानन्दन गार्ग्य बोले—'हाँ, इतना ही है।' तब उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'तब तो व्यर्थ ही आपने मेरे साथ यह संवाद किया था कि मैं तुम्हें ब्रह्मका उपदेश करूँगा। बलाकानन्दन! अवश्य ही जो आपके बताये हुए इन सभी सोपाधिक पुरुषोंका कर्ता है अथवा ये सभी जिसके कर्म हैं, वही जाननेयोग्य है।'

राजाके यह कहनेपर वे प्रसिद्ध बलाकानन्दन गार्ग्य हाथमें समिधा लेकर उनके पास गये और बोले—'मैं आपको गुरु बनानेके लिये समीप आता हूँ।' यह सुनकर उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने कहा—'यह विपरीत बात हो जायगी, यदि क्षत्रिय ब्राह्मणको शिष्य बनानेके लिये अपने समीप बुलाये। इसलिये आइये (एकान्तमें चलें), वहाँ आपको मैं अवश्य ब्रह्मका ज्ञान कराऊँगा।' यों कहकर राजाने बालाकि गार्ग्यका हाथ पकड़ लिया और वहाँसे चल दिये। वे दोनों एक सोये हुए पुरुषके पास चले आये। वहाँ प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने उस सोये हुए पुरुषको पुकारा—'ओ बृहन्! हे पाण्डरवासा! हे सोम राजन्!' इस प्रकार सम्बोधन करनेपर भी वह पुरुष चुपचाप सोया ही रहा। तब राजाने उस पुरुषके शरीरपर छड़ीसे आघात किया। वह सोया हुआ पुरुष छड़ीकी चोट लगते ही उठकर खड़ा हो गया। तब बालाकि गार्ग्यसे राजा अजातशत्रुने कहा—'बालाके! यह पुरुष इस प्रकार अचेत-सा होकर कहाँ सोता था? किस प्रदेशमें इसका शयन हुआ था? और इस जाग्रत्-अवस्थाके प्रति यह कहाँसे चला आया?'

---

१. छाया अन्धकारका ही स्वरूप है। बाहरका अन्धकार और भीतरका अज्ञान—ये दोनों मृत्युरूप हैं।

२. संतानके उत्पादन और पालन-पोषणमें संलग्न रहनेसे यहाँ शरीरस्थित पुरुषको 'प्रजापति' कहा गया है।

३. प्राण ही यम-नियमका हेतु है तथा वह राजाकी भाँति सर्वत्र विशेष स्थान रखता है, अतएव वह 'यम राजा' कहा गया है।

१-२. नेत्र तैजस इन्द्रिय है, नेत्रसे ही नाम-रूपवाली वस्तुओं-का प्रकाशन होता है; अतः इसे नाम, सत्य, ज्योति, विद्युत्, अग्नि और तेजका आत्मा बताना ठीक ही है।

राजाके इस प्रकार पूछनेपर भी बालाकि गार्ग्य इस रहस्यको समझ न सके। तब उनसे प्रसिद्ध राजा अजातशत्रुने फिर कहा—'बालाके! यह पुरुष इस प्रकार अचेत-सा होकर जहाँ सोता था, जहाँ इसका शयन हुआ था और इस जाग्रत्-अवस्थाके प्रति यह जहाँसे आया है, वह स्थान यह है—'हिता' नामसे प्रसिद्ध बहुत-सी नाड़ियाँ हैं, जो हृदय-कमल-से सम्बन्ध रखनेवाली हैं। वे हृदय-कमलसे निकलकर सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त होकर फैली हुई हैं। इनका परिमाण इस प्रकार है—एक केशको एक हजार बार चीरनेपर जो एक खण्ड हो सकता है, उतनी ही सूक्ष्म वे सब-की-सब नाडियाँ हैं। पिङ्गल अर्थात् नाना प्रकारके रंगोंका जो अति सूक्ष्मतम रस है, उससे वे पूर्ण हैं। शुक्ल, कृष्ण, पीत और रक्त—इन सभी रंगोंके सूक्ष्मतम अंशसे वे युक्त हैं। उन्हीं नाड़ियोंमें वह पुरुष सोते समय स्थित रहता है।

जिस समय सोया हुआ पुरुष कोई स्वप्न नहीं देखता, उस समय वह इस प्राणमें ही एकीभावको प्राप्त हो जाता है। उस समय वाक् सम्पूर्ण नामोंके साथ इस प्राणमें ही लीन हो जाती है। नेत्र समस्त रूपोंके साथ इसमें ही लीन हो जाता है। कान समग्र शब्दोंके साथ इसमें ही लीन हो जाता है तथा मन भी सम्पूर्ण चिन्तनीय विषयोंके साथ इसमें ही लयको प्राप्त हो जाता है। वह पुरुष जब जाग उठता है, उस समय जैसे जलती हुई आगसे सब दिशाओंकी ओर चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार इस प्राणस्वरूप आत्मासे समस्त वाक् आदि प्राण निकलकर अपने-अपने भोग्य-स्थानकी ओर जाते हैं। फिर प्राणोंसे उनके अधिष्ठाता अग्नि आदि देवता प्रकट होते हैं और देवताओंसे लोक—नाम आदि विषय प्रकट होते हैं॥१९॥

उस आत्माकी उपलब्धिका दृष्टान्त इस प्रकार है। जैसे क्षुरधान (छूरा रखनेके लिये बनी हुई चर्ममयी पेटी) में छूरा रक्खा रहता है, उसी प्रकार शरीरान्तर्वर्ती हृदय-कमलमें अङ्गुष्ठमात्र पुरुषके रूपमें परमात्माकी उपलब्धि होती है; तथा जिस प्रकार अग्नि अपने नीडभूत अरणी आदि काष्ठमें सर्वत्र व्याप्त रहती है, उसी प्रकार यह प्रज्ञानवान् आत्मा इस 'आत्मा' नामसे कहे जानेवाले शरीरमें नखसे शिखातक व्याप्त है। उस इस साक्षी आत्माका ये वाक् आदि आत्मा अनुगत सेवककी भाँति अनुसरण करते हैं—ठीक उसी तरह, जैसे श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त धनीका, उसके आश्रित रहनेवाले स्वजन अनुवर्तन करते हैं तथा जिस प्रकार धनी अपने स्वजनोंके साथ भोजन करता है और स्वजन जैसे उस धनीको ही भोगते हैं, उसी प्रकार यह प्रज्ञावान् आत्मा इन वाक् आदि आत्माओंके साथ भोगता है तथा निश्चय ही इस आत्माको ये वाक् आदि आत्मा भोगते हैं।

वे प्रसिद्ध देवता इन्द्र जबतक इस आत्माको नहीं जानते थे, तबतक असुरगण इनका पराभव करते रहते थे; किंतु जब वे इस आत्माको जान गये, तब असुरोंको मारकर, उन्हें पराजित करके सम्पूर्ण देवताओंमें श्रेष्ठताका पद, स्वर्गका राज्य और त्रिभुवनका आधिपत्य पा गये। उसी प्रकार यह जाननेवाला विद्वान् सम्पूर्ण पापोंका नाश करके समस्त प्राणियोंमें श्रेष्ठताका पद, स्वाराज्य और प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है। जो यह जानता है, जो यह जानता है, उसे पूर्वोक्त फल मिलता है'॥ २०॥

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

॥ ऋग्वेदीय कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इसका अर्थ ऐतरेयोपनिषद्के आरम्भमें छप चुका है।

१. हृदय नामसे प्रसिद्ध जो कमलके आकारका मांसपिण्ड है, उसको चारों ओर आँतोंने घेर रक्खा है; आँतोंद्वारा किये गये हृदयके इस परिवेष्टनका नाम 'पुरीतत्' है। यह 'पुरीतत्' सम्पूर्ण शरीरका उपलक्षण है—ऐसा श्रीशङ्कराचार्यने माना है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय
श्रीरामपूर्वतापनीयोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इन मन्त्रोंका अर्थ प्रश्नोपनिषद्में दिया जा चुका है ।

प्रथम खण्ड

राम-नामके विविध अर्थ; भगवान्‌के साकार तत्त्वकी व्याख्या; मन्त्र एवं यन्त्रका माहात्म्य

ॐ सच्चिदानन्दमय महाविष्णु श्रीहरि जब रघुकुलमें दशरथजीके यहाँ अवतीर्ण हुए, उस समय उनका नाम 'राम' हुआ । इस नामकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'जो महीतलपर स्थित होकर भक्तजनोंका सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण करते और राजाके रूपमें सुशोभित होते हैं, वे राम हैं'—ऐसा विद्वानोंने लोकमें 'राम' शब्दका अर्थ व्यक्त किया है । ('राति राजते वा महीस्थितः सन् इति रामः'—इस विग्रहके अनुसार 'राति' या 'राजते' का प्रथम अक्षर 'रा' और 'महीस्थितः'का आदि अक्षर 'म' लेकर 'राम' बनता है; इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये ।) राक्षस जिनके द्वारा मरणको प्राप्त होते हैं, वे राम हैं । अथवा अपने ही उत्कर्षसे इस भूतलपर उनका 'राम' नाम विख्यात हो गया (उसकी प्रसिद्धिमें कोई व्युत्पत्तिजनित अर्थ ही कारण है, ऐसा नहीं मानना चाहिये) । अथवा वे अभिराम (सबके मनको रमानेवाले) होनेसे राम हैं । अथवा जैसे राहु मनसिज (चन्द्रमा) को हतप्रभ कर देता है, उसी प्रकार जो राक्षसोंको मनुष्यरूपसे प्रभाहीन (निष्प्रभ) कर देते हैं, वे राम हैं । अथवा वे राज्य पानेके अधिकारी महीपालोंको अपने आदर्श चरित्रके द्वारा धर्ममार्गका उपदेश देते हैं, नामोच्चारण करनेपर ज्ञानमार्गकी प्राप्ति कराते हैं, ध्यान करनेपर वैराग्य देते हैं और अपने विग्रहकी पूजा करनेपर ऐश्वर्य प्रदान करते हैं; इसलिये इस भूतलपर उनका 'राम' नाम पड़ा होगा । परंतु यथार्थ बात तो यह है कि उस अनन्त, नित्यानन्दस्वरूप, चिन्मय ब्रह्ममें योगीजन रमण करते हैं; इसलिये वह परब्रह्म परमात्मा ही 'राम' पदके द्वारा प्रतिपादित होता है ॥ १—६ ॥

यद्यपि ब्रह्म चिन्मय, अद्वितीय, प्राकृत अवयवरहित और (पाञ्चभौतिक) शरीरसे रहित है, तथापि भक्तजनोंके अभीष्ट कार्यकी सिद्धिके लिये वह चिन्मय देहको प्रकट करता है—भक्तोंके स्नेहवश निराकार ब्रह्म भी नराकार धारण कर लेता है ॥ ७ ॥

भगवान्‌के स्वरूपमें स्थित जो देवता हैं, उन्हींकी पुरुष, स्त्री, अङ्ग और अस्त्र आदिके रूपमें कल्पना होती है । अर्थात् भिन्न-भिन्न देवता ही अस्त्र आदिके रूपमें भगवान्‌की सेवा करते हैं, परंतु वे भगवत्स्वरूपसे पृथक् नहीं हैं । भगवान् जो अनेक प्रकारके स्वरूप धारण करते हैं, उनमें किसीके दो, किसीके चार, किसीके छः, आठ, दस, बारह, सोलह और अठारह—इतने-इतने हाथ कहे गये हैं । ये शङ्ख आदिसे सुशोभित होते हैं । 'विश्वरूप' धारण करनेपर भगवान्‌के सहस्रों हाथ हो जाते हैं । उन सभी विग्रहोंके भिन्न-भिन्न रंग और वाहन आदिकी भी कल्पना होती है । उनके लिये नाना प्रकारकी शक्तियों तथा सेना आदिकी भी कल्पना की जाती है । इस

प्रकार परब्रह्म परमात्मामें विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश आदिके रूपमें पञ्चविध शरीरकी कल्पना होती है और उन सबके लिये पृथक्-पृथक् सेना आदिकी कल्पना होती है ॥८-१०॥

ब्रह्मासे लेकर वृक्षादिपर्यन्त समस्त जड-चेतनका वाचक जो यह 'राम' मन्त्र है, यह अर्थके अनुरूप ही है—जैसा इस नामका अर्थ है, वैसा ही इसका प्रभाव भी है। अतः इस राम-मन्त्रकी दीक्षा लेकर सदा इसका जप करना चाहिये। इसके बिना भगवान्‌की प्रसन्नता नहीं प्राप्त होती। क्रिया, कर्म इत्यादिका अनुष्ठान करनेवाले जो साधक हैं, उनके अर्थ (अभीष्ट प्रयोजन) को मन्त्र बता देता है—उसकी सिद्धिका निश्चय करा देता है; अतः मनन (निश्चय) और त्राणन (रक्षा) करनेके कारण वह मन्त्र कहलाता है। वह सम्पूर्ण अभिधेयोंका वाचक होता है। स्त्री-पुरुष उभय-रूपमें विराजमान जो भगवान् हैं, उनके लिये प्रतीकरूप विग्रह-यन्त्रका निर्माण है। यदि बिना यन्त्रके पूजा होती है, तो देवता प्रसन्न नहीं होते ॥ ११-१३ ॥

द्वितीय खण्ड

श्रीरामके स्वरूपका कथन; राम-बीजकी व्याख्या

भगवान् किसी कारणकी अपेक्षा न रखकर स्वतः प्रकट होते या नित्य विद्यमान रहते हैं, इसलिये 'स्वभू' कहलाते हैं। चिन्मय प्रकाश ही उनका स्वरूप है; अतः वे ज्योतिर्मय हैं। रूपवान् होते हुए भी वे अनन्त हैं—देश, काल और वस्तुकी सीमासे परे हैं। उन्हें प्रकाशित करनेवाली कोई दूसरी शक्ति नहीं है, वे अपनेसे ही प्रकाशित होते हैं। वे ही अपनी चैतन्य-शक्तिसे सबके भीतर जीवरूपसे प्रतिष्ठित होते हैं तथा वे ही रजोगुण, सत्त्वगुण तथा तमोगुणका आश्रय लेकर समस्त जगत्‌की उत्पत्ति, रक्षा और संहारके कारण बनते हैं; ऐसा होनेसे ही यह जगत् सदा प्रतीतिगोचर होता है। यह जो कुछ दिखायी देता है, सब ॐकार है—परमात्मस्वरूप है। जैसे प्राकृत वटका महान् वृक्ष वटके छोटे-से बीजमें स्थित रहता है, उसी प्रकार यह चराचर जगत् रामबीजमें स्थित है। ('राम्' ही रामबीज है।) ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव—ये तीन मूर्तियाँ 'राम्'के रकारपर आरूढ हैं तथा उत्पत्ति, पालन एवं संहारकी त्रिविध शक्तियाँ अथवा बिन्दु, नाद और बीज-से प्रकट होनेवाली रौद्री, ज्येष्ठा एवं वामा—ये त्रिविध शक्तियाँ भी वहीं स्थित हैं। ('राम्'का अक्षर-विभाग इस प्रकार है—र्, आ, अ, म्। इनमें रकार तो साक्षात् श्रीरामका वाचक है तथा उसपर आरूढ जो 'आ', 'अ' और 'म्' हैं, ये क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव—इन तीन देवोंके और उपर्युक्त त्रिविध शक्तियोंके वाचक हैं।) इस बीजमन्त्रमें प्रकृति-पुरुषरूप सीता तथा राम पूजनीय हैं। इन्हीं दोनोंसे चौदह भुवनोंकी उत्पत्ति हुई है। इनमें ही इन लोकोंकी स्थिति है तथा उन आकार, अकार, मकाररूप ब्रह्मा, विष्णु, शिवमें इन सबका लय भी होता है। अतः श्रीरामने माया (लीला) से ही अपनेको मानव माना। जगत्‌के प्राण एवं आत्मारूप इन भगवान् श्रीरामको नमस्कार है। इस प्रकार नमस्कार करके गुणोंके भी पूर्ववर्ती परब्रह्मस्वरूप इन नमस्कार-योग्य देवता श्रीरामके साथ अपनी एकताका उच्चारण करे अर्थात् दृढ भावनापूर्वक 'मैं श्रीराम ही ब्रह्म हूँ' यों कहे ॥ १—४ ॥

तृतीय खण्ड

राम-मन्त्रकी व्याख्या; जपकी प्रक्रिया तथा ध्यान

'नमः' यह नाम जीववाचक है और 'राम' इस पदके द्वारा आत्माका प्रतिपादन होता है। तथा 'राम' के साथ एकात्मताको प्राप्त हुई जो 'आय' (रामाय)-रूपा चतुर्थी विभक्ति है, उसके द्वारा जीव और आत्मा (परमात्मा) की एकता बतलायी जाती है। 'रामाय नमः' यह मन्त्र वाचक है और भगवान् राम इसके वाच्य हैं; इन दोनोंका संयोग (अर्थात् मन्त्रजपपूर्वक भगवान्‌के स्वरूपका चिन्तन) सम्पूर्ण साधकोंको अभीष्ट फल प्रदान करनेवाला है। इसमें तनिक भी संशय नहीं है। जैसे जो नामी होता है, वह अपने वाचक नामका उच्चारण होनेपर सम्मुख आ जाता है, उसी प्रकार बीजात्मक मन्त्र 'राम्' को भी समझना चाहिये। अर्थात् इसके द्वारा बुलानेपर भी भगवान् मन्त्र-जप करनेवाले साधकके सम्मुख आ जाते हैं। बीज और शक्तिका क्रमशः दाहिने और बायें स्तनोंपर न्यास करे और कीलकका नियमपूर्वक मध्यमें अर्थात् हृदयमें न्यास करे। (यहाँ 'रां' यह बीज है, 'मां' यह शक्ति है और 'यं' यह कीलक है।) इस न्यासके साथ ही साधक अपनी मनोवाञ्छा-सिद्धिके लिये विनियोग भी करे। सभी मन्त्रोंका यही साधारण क्रम है—अर्थात् पहले बीजका, फिर शक्तिका, फिर कीलकका न्यास तथा अन्तमें अपनी मनोरथ-सिद्धिके लिये विनियोग होता है। यहाँ ध्यान-कालमें भावना करनी चाहिये कि दशरथनन्दन भगवान् श्रीराम अनन्त परमात्मारूप हैं।

वे तेजमें प्रज्वलित अग्निके सदृश हैं। (अथवा राम्-मन्त्र अनन्त—'आ' और तेजोमय अग्नि 'र्' के साथ एक ही समय उच्चारित होता है। 'र्' और 'आ' का एक साथ उच्चारण होनेसे 'रा' बनता है।) वे श्रीराम जब शीतल किरणोंवाली अर्थात् सौम्य कान्तिमती श्रीसीताजीके साथ संयुक्त होते हैं, तब उनसे अग्नीषोमात्मक (पुरुष और स्त्रीरूप) जगत्की उत्पत्ति होती है। (अथवा अनुष्णगु-शब्दका अर्थ है चन्द्रमा (म्) और विश्वका अर्थ है वैश्वानर—अग्नि (रा); अतः वैश्वानर-बीज 'रा' जब चन्द्र-बीज 'म्' से व्याप्त होता है, तब अग्नीषोमात्मक जगत्का वाचक 'राम्' यह मन्त्र बनता है।) श्रीराम सीताके साथ उसी प्रकार शोभा पाते हैं, जैसे चन्द्रमा चन्द्रिकाके साथ सुशोभित होते हैं ॥ १—६ ॥

ध्यान

कौसल्यानन्दन श्रीराम अपनी प्रकृति—ह्लादिनीशक्ति श्रीसीताजीके साथ विराजमान हैं। उनका वर्ण श्याम है। वे पीताम्बर धारण किये हुए हैं। उनके सिरपर जटाभार सुशोभित है। उनके दो भुजाएँ हैं। कानोंमें कुण्डल शोभा पा रहे हैं। गलेमें रत्नोंकी माला चमक रही है। वे स्वभावतः धीर (निर्भय एवं गम्भीर) हैं। धनुष धारण किये हुए हैं। उनके मुखपर सदा प्रसन्नता छायी रहती है। वे संग्राममें सदा ही विजयी होते हैं। अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य-शक्तियाँ उनकी शोभा बढ़ाती हैं। इस जगत्की कारणभूता मूल प्रकृतिरूपा परमेश्वरी सीता उनके वाम अङ्कको विभूषित कर रही हैं। सीताजीके श्री-अङ्गोंकी कान्ति सुवर्णके सदृश गौर है। उनके भी दो भुजाएँ हैं। वे समस्त दिव्य आभूषणोंसे विभूषित हैं तथा हाथमें कमल धारण किये हुए हैं। उन चिदानन्दमयी सीतासे सटकर बैठे हुए भगवान् श्रीराम बड़े हृष्ट-पुष्ट दिखायी देते हैं। दक्षिण भागमें श्रीरघुनाथजीके छोटे भाई सुवर्ण-गौर कान्तिवाले श्रीलक्ष्मणजी हाथमें धनुष-बाण लिये खड़े हैं। उस समय श्रीराम, लक्ष्मण और श्रीसीताजीका एक त्रिकोण बन जाता है ॥ ७—९ ॥

चतुर्थ खण्ड

षडक्षर मन्त्रका स्वरूप; भगवान् श्रीरामका स्तवन

जैसे श्रीराम-मन्त्रका 'राम्' यह बीज बताया गया है, उसी प्रकार उसका शेष अंश भी बताया जाता है। स्व अर्थात् 'राम' शब्दके चतुर्थ्यन्त रूपके साथ जीव—अर्थात् 'नमः' पद हो तो **'रां रामाय नमः'** यह षडक्षर मन्त्र बनता है। इस प्रकार षडक्षर मन्त्र सिद्ध होनेपर दो त्रिकोणरूप बनता है। (अर्थात् छहों अक्षरोंके न्यासके लिये छः कोण बनते हैं।) एक बार जब देवता भगवान्का दर्शन करनेके लिये आये, तब उन्होंने कल्पवृक्षके नीचे रत्नमय सिंहासनपर विराजमान जगदीश्वर श्रीरघुनाथजीका इस प्रकार स्तवन किया—'कामरूपधारी तथा मायामय स्वरूप ग्रहण करनेवाले श्रीरामको नमस्कार है। (अथवा कामबीज 'क्लीं' और मायामय बीज 'ह्रीं' से युक्त श्रीराम-मन्त्रको नमस्कार है—**क्लीं रामाय नमः ह्रीं रामाय नमः**।) वेदके आदिकारण ॐकारस्वरूप श्रीरामको नमस्कार है। (इससे **'ॐ रामाय नमः'** इस मन्त्रकी सूचना मिलती है।) रमा श्रीसीताजीको धारण करनेवाले अथवा रमणीय अधरोंवाले, आत्मरूप, नयनाभिराम श्रीरामको नमस्कार है। श्रीजानकीजीका शरीर ही जिनका आभूषण अथवा जो श्रीजनकनन्दिनीके श्रीविग्रहको स्वयं ही शृङ्गार आदिसे विभूषित करते हैं, जो राक्षसोंके संहारक तथा कल्याणमय विग्रहवाले हैं तथा जो दशमुख रावणका अन्त करनेके लिये यमराजस्वरूप हैं, उन मङ्गलमय रघुवीरको नमस्कार है। हे रामभद्र! हे महाधनुर्धर! हे रघुवीर! हे नृपश्रेष्ठ! हे दशवदन-विनाशक! हमारी रक्षा कीजिये तथा हमें ऐसी श्री—ऐश्वर्य-सम्पदा दीजिये, जिसका सम्बन्ध आपसे हो, अर्थात् जो भगवत्प्रीत्यर्थ ही उपयोगमें लायी जा सके'* ॥ १—६ ॥

---

* कामरूपाय रामाय नमो मायामयाय च ॥
नमो वेदादिरूपाय ॐकाराय नमो नमः। रमाधाराय रामाय श्रीरामायात्ममूर्तये ॥
जानकीदेहभूषाय रक्षोघ्नाय शुभाङ्गिने। भद्राय रघुवीराय दशास्यान्तकरूपिणे ॥
रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम। भो दशास्यान्तकासाकं रक्षां देहि श्रियं च ते ॥ (२—५)

पञ्चम खण्ड

खरके वधसे लेकर वाली-वधतकका संक्षिप्त चरित्र

'रघुवीर ! आप हमें ऐश्वर्यकी प्राप्ति कराइये ।' भगवान् श्रीरामने जबतक खर नामक राक्षसका वध किया, उतने समयतक देवता आदि उपर्युक्त रूपसे उनकी स्तुति करके उनके साथ सुखपूर्वक स्थित हुए । देवताओंकी ही भाँति ऋषि भी भगवान्‌की स्तुति करते रहे । उस समय खर आदिके मारे जानेपर राक्षसकुलोत्पन्न रावण (मारीचके साथ) वनमें आया और उसने अपने ही विनाशके लिये रामपत्नी सीताजीको हर लिया । उन दिनों सीता भी वनमें ही रहती थीं । उसने 'वन' से उनको हरण किया, इससे वह राक्षस रावण कहलाया ('राम' शब्दसे 'रा' एवं 'वन' शब्दसे 'वन' लेकर 'रावण' नाम बना) । अथवा दूसरोंको रुलानेके कारण वह रावण कहलाता था । (अथवा एक दिन दशाननने कैलासको उठा लिया था, तब महादेवजीने कैलासपर बहुत भार डाल दिया । उस समय) दशाननने बड़ा रव किया, इसीसे उसका नाम रावण हो गया । तदनन्तर श्रीराम और लक्ष्मण सीतादेवीका पता लगानेके व्याजसे वनभूमिपर विचरने लगे । सामने कबन्ध नामक असुरको उपस्थित देख दोनों भाइयोंने उसे मार डाला और उस कबन्धके कथनानुसार वे दोनों शबरीके आश्रमपर गये । वहाँ शबरीने उनका बड़ी भक्तिसे स्वागत-सत्कार किया । तत्पश्चात् आगे जानेपर उन्हें वायुपुत्र भक्तवर हनुमान्‌जी मिले, जिन्होंने (मध्यस्थरूपमें) कपिराज सुग्रीवको बुलाकर उनके साथ दोनों भाइयोंकी मैत्री करायी । तत्पश्चात् दोनों भाइयोंने सुग्रीवसे अपना सब हाल आदिसे अन्ततक कह सुनाया ॥ १—५ ॥

सुग्रीवको श्रीरामके पराक्रममें संदेह था, अतः उन्होंने श्रीरामको दुन्दुभिनामक राक्षसका विशाल शरीर दिखाया (जिसे वालीने मार गिराया था); श्रीरामने दुन्दुभिके उस शवको अनायास ही बहुत दूर फेंक दिया । इसके सिवा एक ही बाणसे सात तालवृक्षोंको तत्काल बींध डाला और इस प्रकार अपने मित्रको आश्वासन देकर प्रसन्नताका अनुभव किया । इससे कपिराज सुग्रीवको बड़ा हर्ष हुआ । इसके बाद वे श्रीरघुनाथजी सुग्रीवके नगरमें गये । वहाँ वालीके भाई सुग्रीवने बड़ी विकट गर्जना की । उस गर्जनाको सुनकर वाली बड़े वेगसे घरके बाहर निकला । श्रीरामने युद्धमें उस वालीको मार गिराया और किष्किन्धाके राज्यसिंहासनपर सुग्रीवको बिठा दिया ॥ ६—९ ॥

षष्ठ खण्ड

शेष चरित्रका संक्षिप्त वर्णन; आवरण-पूजाके लिये यन्त्रस्थ देवताओंका निरूपण

तदनन्तर सुग्रीवने वानरोंको बुलाकर कहा—'वानर-वीरो ! तुम सब दिशाओंकी बातें जानते हो । इस समय शीघ्र यहाँसे जाओ और मिथिलेशकुमारी सीताको आज ही ढूँढ़ लाकर रघुनाथजीको अर्पित करो ।' (इस आदेशके अनुसार सब दिशाओंकी ओर बहुत-से वानर चल पड़े ।) तत्पश्चात् हनुमान्‌जी (जो कुछ प्रमुख वानरोंके साथ दक्षिण दिशामें खोज करनेके लिये भेजे गये थे) समुद्र लाँघकर लङ्कामें गये । वहाँ सीताजीका दर्शन करके उन्होंने अनेक असुरोंका वध किया और लङ्कामें आग लगा दी । फिर वहाँसे श्रीरामके पास लौटकर सब समाचार यथावत् कह सुनाया । तब भगवान् श्रीरामने क्रोधका अभिनय किया—रावणके प्रति क्रोधयुक्त होकर उन वानरोंको बुलाया और उनके साथ अस्त्र-शस्त्र लेकर लङ्कापुरीपर आक्रमण किया । लङ्काका भलीभाँति निरीक्षण करके भगवान्‌ने वहाँके राजा रावणके साथ युद्ध छेड़ दिया । उस युद्धमें भाई कुम्भकर्ण तथा पुत्र इन्द्रजित्‌के सहित रावणको मारकर उन्होंने विभीषणको वहाँका राजा बनाया और जनकनन्दिनी सीताको साथ ले उन्हें अपने वाम अङ्कमें बिठाकर उन सब वानरोंके साथ अपनी पुरी अयोध्याको प्रस्थान किया ॥ १—६ ॥

अब द्विभुजरूपधारी श्रीरघुनाथजी अयोध्याके राजसिंहासनपर विराजमान हैं । वे धनुष धारण किये हुए हैं । उनका चित्त स्वभावतः प्रसन्न है । वे सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित हैं । दाहिने हाथमें ज्ञानमयी[1] और बायें हाथमें तेज-

---

१. ज्ञान-मुद्राका लक्षण इस प्रकार है—

तर्जन्यङ्गुष्ठकौ सक्तावग्रतो हृदि विन्यसेत् ।
वामं हस्ताम्बुजं वामे जानु मूर्धनि विन्यसेत् ।
ज्ञानमुद्रा भवेदेषा रामचन्द्रस्य वल्लभा ॥

दाहिने हाथकी तर्जनी और अँगूठेको सटाकर आगेकी ओर छातीपर रक्खे और बायें हाथको बायें घुटनेके ऊपर रक्खे । यह ज्ञानमुद्रा है, जो श्रीरामचन्द्रजीको बहुत प्रिय है ।

को प्रकाशित करनेवाली धनुर्मयी मुद्रा धारण करके वे सच्चिदानन्दमय परमेश्वर व्याख्यानकी मुद्रामें स्थित हैं ॥ ७-८ ॥

(इस प्रकार देवताओंकी स्तुतिसे लेकर श्रीरामके राज्याभिषेकतककी लीलाका संक्षेपसे वर्णन करके अब पुनः पूर्वोक्त षट्कोणका अनुसरण करके आवरण-पूजाके लिये यन्त्रस्थ देवताओंका वर्णन किया जाता है—)

श्रीरामचन्द्रजीके उत्तर और दक्षिणभागमें क्रमशः शत्रुघ्न और भरतजी स्थित हैं । हनूमान्‌जी श्रोताके रूपमें भगवान्‌के सम्मुख हाथ जोड़कर खड़े हैं । वे भी त्रिकोणके भीतर ही स्थित हैं । भरतके नीचे सुग्रीव हैं और शत्रुघ्नके नीचे विभीषण खड़े हैं । भगवान्‌के पीछेकी ओर छत्र-चँवर धारण किये लक्ष्मणजी विराजमान हैं ।* लक्ष्मणजीसे नीचे स्तरमें ताड़के पंखे हाथमें लिये हुए दोनों भाई भरत-शत्रुघ्न खड़े हैं । इस प्रकार लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्नको लेकर दूसरा त्रिकोण और बन जाता है । इस तरह छः कोण होते हैं । भगवान् श्रीराम पहले तो अपने बीज-मन्त्रस्वरूप दीर्घ अक्षरोंके ही आवरणसे घिरे हुए हैं । (वह प्रथम आवरण इस प्रकार है—'रां', 'रीं', 'रूं', 'रैं', 'रौं', 'रः') ॥ ९–११ ॥

द्वितीय आवरण यों है—वासुदेव, शान्ति, संकर्षण, श्री, प्रद्युम्न, सरस्वती, अनिरुद्ध और रति । ये क्रमशः भगवान्‌के आग्नेय आदि दिशाओंमें स्थित हैं । द्वितीय आवरणमें भगवान् इन सबसे संयुक्त रहते हैं । तृतीय आवरणमें हनुमान्, सुग्रीव, भरत, विभीषण, लक्ष्मण, अङ्गद तथा शत्रुघ्नकी गणना है । अर्थात् इन सबसे जब श्रीरघुनाथजी संयुक्त होते हैं, तब तृतीय आवरण सिद्ध होता है । इनके अतिरिक्त धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप, धर्मपाल और सुमन्त्रसे आवृत होनेपर भी तृतीय आवरण ही रहता है । इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, चन्द्रमा, ईशान, ब्रह्मा और अनन्त—इन दस दिक्पालोंसे जब भगवान् आवृत होते हैं, तब चतुर्थ आवरण होता है । (इनमें इन्द्र पूर्वके, अग्नि अग्निकोणके, यम दक्षिणके, निर्ऋति नैर्ऋत्यकोणके, वरुण पश्चिमके, वायु वायव्यकोणके, चन्द्रमा उत्तरके और ईशान—शिव ईशानकोणके अधिपति हैं । इन सबकी अपनी-अपनी दिशामें पूजा करनी चाहिये । ब्रह्माका स्थान पूर्व दिशा और ईशानकोणके मध्यभागमें है तथा अनन्तका स्थान नैर्ऋत्यकोण और पश्चिमके मध्यभागमें है । इन्द्र आदिके बीज-मन्त्र क्रमशः इस प्रकार हैं—लं रं मं क्षं वं यं सं हं आं नं) इन दिक्पालोंके बाह्य भागमें उनके ही वज्र आदि आयुध हैं, जिनसे आवृत भगवान् पूजनीय होते हैं । (उन आयुधोंके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—इन्द्रका वज्र, अग्निका शक्ति, यमका दण्ड, निर्ऋतिका खड्ग, वरुणका पाश, वायुका अङ्कुश, चन्द्रमाका गदा, ईशानका शूल, ब्रह्माका पद्म और अनन्तका चक्र ।) उसी आवरणमें नल आदि वानर भी भगवान्‌की शोभा बढ़ाते हैं । साथ ही वसिष्ठ-वामदेव आदि मुनि भगवान्‌की उपासनामें संलग्न रहते हैं ॥ १२—१६ ॥

---

१. धनुर्मयी मुद्रा इस प्रकार है—

वामस्य मध्यमाग्रं तु तर्जन्यग्रे नियोजयेत् ।
अनामिकां कनिष्ठां च तस्याङ्गुष्ठेन पीडयेत् । दर्शयेद् वामके स्कन्धे धनुर्मुद्रेयमीरिता ॥

बायें हाथकी मध्यमा अङ्गुलिके अग्रभागको तर्जनीके अग्रभागमें सटा दे और अनामिका तथा कनिष्ठिकाको अँगूठेसे दबावे । इस प्रकारकी भङ्गी बायें कंधेपर प्रदर्शित करे । यही धनुर्मुद्रा बतायी गयी है ।

२. व्याख्यानमुद्राका लक्षण यों है—

दक्षिणाङ्गुष्ठतर्जन्यावग्रलग्ने पराङ्गुलीः । प्रसार्य संहतोत्ताना पुंसा व्याख्यानमुद्रिका ॥
रामस्य च सरस्वत्या अत्यन्तं प्रेयसी मता । ज्ञानव्याख्या पुस्तकानां युगपत्सम्भवः स्मृतः ॥

दाहिने हाथके अँगूठे और तर्जनी अङ्गुलिके अग्रभाग परस्पर सटे हों और शेष तीन अङ्गुलियोंको फैलाकर रक्खा जाय । वे फैली अङ्गुलियाँ भी परस्पर सटी हुई और उत्तान हों । यह व्याख्यान-मुद्रा है । यह श्रीरामको और सरस्वतीको बहुत अधिक प्रिय है । इसके द्वारा ज्ञान, व्याख्यान तथा पुस्तक—तीनों मुद्राओंका एक साथ प्रकाशन माना गया है ।

* पहले लक्ष्मणको भगवान्‌के दक्षिण भागमें स्थित बता आये हैं और यहाँ पश्चिमभागमें उनकी स्थिति बतायी जाती है; परंतु इसमें विरोध नहीं है । वहाँ वनवासके समयका ध्यान है; अतः उसमें भरत आदिकी उपस्थिति नहीं है । यहाँ राज्याभिषेकके समय भरतजी भी हैं; अतः उस समय लक्ष्मणजीका पृष्ठभागमें स्थित होना उचित ही है ।

सप्तम खण्ड

पूजा-यन्त्रका विस्तृत वर्णन

इस प्रकार संक्षेपसे पूजा-यन्त्रका वर्णन किया गया । अब उसका पूर्णतः निर्देश किया जाता है । समरेखाओंके दो त्रिकोण बनाकर उनके मध्यभागमें दो प्रणवोंका पृथक्-पृथक् उल्लेख करे । फिर उन दोनोंके बीचमें आद्यबीज (रां) लिखकर उसके नीचे साध्य-कार्यका उल्लेख करे । साध्यका नाम द्वितीयान्त होना चाहिये । आद्यबीजके ऊपरी भागमें साधकका नाम लिखना चाहिये । साधकका नाम षष्ठ्यन्त रहना चाहिये । तत्पश्चात् बीजके दोनों ओर—वाम-दक्षिण पार्श्वोंमें एक-एक 'कुरु' पदका उल्लेख करना चाहिये । बीजके बीचमें और साध्यके ऊपर श्री-बीज 'श्रीं' लिखे । बुद्धिमान् पुरुष यह सब बीज आदि इस प्रकार लिखे कि वे दोनों प्रणवोंसे सम्पुटित रहें । फिर छहों कोणोंमें दीर्घस्वरसे युक्त मूल-बीजका उल्लेख करे; साथ ही क्रमशः एक-एकके साथ **'हृदयाय नमः'**, **'शिरसे स्वाहा'** इत्यादिको भी अङ्कित करे । (अर्थात् **'रां हृदयाय नमः'**, **'रीं शिरसे स्वाहा'**, **'रूं शिखायै वषट्'**, **'रैं कवचाय हुम्'**, **'रौं नेत्राभ्यां वौषट्'** तथा **'रः अस्त्राय फट्'**—इस प्रकार छः वाक्य छः कोणोंमें लिखने चाहिये ।) कोणोंके पार्श्व-भागमें रमाबीज (श्रीं) और माया-बीज (ह्रीं) लिखे तथा उसके आगे काम-बीज (क्लीं) का उल्लेख करे । कोणके अग्रभाग और भीतरी भागोंमें क्रोध-बीज (हुम्) लिखकर मन्त्र-साधक उस 'हुम्' के दोनों पार्श्वोंमें सारस्वत-बीज (ऐं) लिखे । फिर तीन वृत्त (गोलाकार रेखाएँ) बनाये (इनमें एक वृत्त तो षट्कोणके ऊपर होगा, एक मध्यमें होगा और एक दलोंके अग्रभागमें रहेगा)। इन तीन वृत्तोंके साथ-साथ एक अष्टदल कमल भी लिखे । कमलके जो केसर हैं, उनमें दो-दो अक्षरके क्रमसे सभी स्वर-वर्णोंका उल्लेख करे । आठों दलोंमें स्वरोंके ऊपर व्यञ्जन-वर्णोंके आठ वर्गोंका लेखन करे (आठ वर्ग ये हैं—कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, यवर्ग, शवर्ग और लवर्ग)। उन आठों दलोंमें अष्टवर्गके ऊपर आगे बताये जानेवाले माला-मन्त्रके ४७ वर्णोंका एक-एक दलमें छः-छः वर्णके क्रमसे उल्लेख करे । अन्तिम दलमें अवशिष्ट पाँच वर्णोंका ही उल्लेख होगा । पूर्वोक्त प्रकारसे पुनः एक अष्टदल कमल बनाये । उसके आठ दलोंमें **'ॐ नमो नारायणाय'** इस अष्टाक्षर-मन्त्रके एक-एक अक्षरका न्यास करे । उसके केसरमें रमा-बीज (श्रीं) लिखे । उसके ऊपर बारह दलोंका कमल बनाये । और उसके बारहों दलोंमें द्वादशाक्षर मन्त्र **'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'** इसके एक-एक अक्षरको अङ्कित करे ॥ १–८ ॥

अष्टम खण्ड

पूजा-यन्त्रके अगले अङ्गोंका वर्णन

उक्त द्वादशदल कमलके केसरोंमें 'अकार'से लेकर 'क्ष' तकके वर्णोंको (१६ स्वर और ३५ व्यञ्जन) गोलाकार लिखे । (एक-एक केसरमें चार-चार अक्षर होंगे, किंतु अन्तिम केसरमें सात होंगे ।) उसके बाह्यभागमें पुनः षोडशदल कमल लिखे और उसके केसरोंमें माया-बीज (ह्रीं) का उल्लेख करे । उसके षोडश दलोंमें एक-एक अक्षरके क्रमसे 'हुं' 'फट्' 'नमः' तथा द्वादशाक्षर मन्त्र[1]को अङ्कित करे । षोडश दलोंकी संधियोंमें मन्त्रवेत्ता पुरुष हनुमान्‌जी आदिके बीज-मन्त्र लिखे । वे मन्त्र इस प्रकार हैं—**हं सं भं वृं लं अं जूं** और **श्रं** । (इनके अतिरिक्त धृष्टि आदिके बीज-मन्त्रोंका भी उल्लेख करे । ये हैं— **धूं जूं वृं सं ह्रं अं धूं** और **सं** । मूल श्लोकमें आये हुए 'च' से इनका समुच्चय होता है ।) उसके बाह्यभागमें बत्तीस दलोंका महाकमल बनाये, जो नाद और बिन्दुसे युक्त हो । उसके दलोंपर यत्नपूर्वक नारसिंह-मन्त्रराज[2]के बत्तीस अक्षरोंको लिखे । उन दलोंमें ही आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य और सबको धारण करनेवाले[3] वषट्कारका न्यास एवं ध्यान

१. द्वादशाक्षर मन्त्र यह है—'ॐ ह्रीं भरताग्रज राम क्लीं स्वाहा' ।

२. नारसिंह-मन्त्रराज इस प्रकार है—

उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम् । नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम् ॥

३. वषट्कारके साथ मूल श्लोकमें 'धाता' शब्दका प्रयोग हुआ है, उसका अर्थ 'धारण करनेवाला' है । वषट्कार दानके अर्थमें प्रयुक्त होता है । दानसे ही समस्त लोक धारण किये जाते हैं, अतः 'धाता' पद 'वषट्कार' का विशेषण ही है । 'धाता' को देवतावाचक इसलिये नहीं मानना चाहिये कि बारह आदित्योंकी श्रेणीमें धाता नामक आदित्यका नाम आ चुका है । अथवा 'धाता' पद ब्रह्माजीका वाचक है और 'वषट्कार' उसका विशेषण है । ब्रह्माजी ही सबको जन्म और जीवन प्रदान करते हैं, अतः उनके लिये 'वषट्कार' विशेषण देना उपयुक्त ही है ।

करे। (वसु, रुद्र, आदित्य और वषट्कार—ये सब मिलकर बत्तीस हैं। इनका क्रमशः एक-एक दलमें ध्यान एवं न्यास करना चाहिये। ध्रुव, धर, सोम, आप, अनिल, अनल, प्रत्यूष तथा प्रभास—ये आठ वसु बताये गये हैं। विष्णु-पुराण (१। १। १५) के अनुसार हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, शम्भु, वृषाकपि, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व और कपाली—ये ग्यारह रुद्र हैं। धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, अंश, भग, इन्द्र, विवस्वान्, पूषा, पर्जन्य, त्वष्टा तथा विष्णु—ये बारह आदित्य हैं)। उक्त बत्तीस दलोंवाले कमलके भी बहिर्भागमें भूगृह (भूपुर*) बनाये। उसके चारों दिशाओंमें वज्र तथा कोणोंमें शूलका चिह्न अङ्कित करे। उक्त भूपुरको तीन रेखाओंसे भी संयुक्त करे। ये रेखाएँ सत्त्वादि तीन गुणोंको सूचित करनेवाली होंगी। इसके सिवा—जैसे किसी मण्डपमें द्वार बने होते हैं, उसी प्रकार इसमें भी द्वार बनाये। साथ ही, उस भूपुरको राशि आदिसे भी विभूषित करे। अर्थात् उसे ज्योतिर्मण्डलके आकारका बनाकर उसमें यथास्थान राशि आदि स्थापित करे। उक्त भूपुर-यन्त्रको शेषनागसे युक्त बनाये अर्थात् इस पुरमें प्रदर्शित करे कि इस यन्त्रको शेषनागने धारण कर रक्खा है। (अथवा उसको आठों दिशाओंसे आठों नागोंने धारण कर रक्खा है। उनके नाम इस प्रकार हैं—अनन्त, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शङ्ख और कुलिक) ॥ १—६ ॥

नवम खण्ड

पूजा-यन्त्रके शेष भागका वर्णन तथा श्रीरामके माला-मन्त्रका स्वरूप एवं माहात्म्य

इस प्रकार भूपुर-यन्त्र लिखकर उसकी चारों दिशाओंमें नारसिंह बीज-मन्त्रका और कोणोंमें वाराह बीज-मन्त्रका अङ्कन करे। 'क्', 'ष्', 'र्', अनुग्रह (औ), इन्दु (अनुस्वार), नाद (ध्वनि) तथा शक्ति (माया) आदिसे युक्त जो 'क्ष्रौं' मन्त्र है, वही नारसिंह बीज-मन्त्र है। यह ग्रहबाधा-निवारण तथा शत्रुमारण आदि कर्ममें विनियुक्त होकर अभीष्ट-सिद्धि दिलानेमें प्रसिद्ध है। अन्त्य वर्ण (हकार) अर्धीश अर्थात् उकारसे युक्त हो, उसमें बिन्दु (अनुस्वार), नाद (ध्वनि) और शक्ति आदिका भी संयोग हो तो वह 'हुम्' इस प्रकार वाराह-बीज होता है। इस यन्त्रमें उस 'हुम्' को भी (कोणोंमें) अङ्कित करना चाहिये। अब श्रीरामसम्बन्धी माला-मन्त्रका वर्णन किया जायगा ॥ १—३ ॥

इसमें पहले तो तार (प्रणव) है, फिर 'नमः' पद है। इसके बाद निद्रा (भ), फिर स्मृति (ग), फिर मेद (व), उसके बाद कामिका (तकार) है, जो रुद्र अर्थात् ए से युक्त है। तदनन्तर अग्नि (र), फिर मेधा (घ) है, जो अमर (उ) से विभूषित है। उसके बाद दीर्घ कला (न) है, जो अक्रूर अर्थात् सौम्य—चन्द्रमा (अनुस्वार) से संयुक्त है। तत्पश्चात् ह्रादिनी (द) है। फिर दीर्घा कला (न) है, जो मानदा कला (आ) से सुशोभित है। उसके बाद क्षुधा (य) है। यहाँतक 'ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय' की सिद्धि हुई। तदनन्तर क्रोधिनी (र), अमोघा (क्ष्) और विश्व (ओ) है, जो मेधा (घ्) से संयुक्त है। फिर दीर्घा (न) है, उसके बाद ज्वालिनी अर्थात् वह्नि-कला (व) है, जो सूक्ष्म—रुद्र (इकारकी मात्रा) से युक्त है। फिर मृत्यु—प्रणवकला (श्) है, जो प्रतिष्ठा अर्थात् उच्चारणके आधारस्वरूप 'अ' से संयुक्त है। फिर ह्रादिनी (दा) और त्वक् (य) है। इससे 'रक्षोघ्नविशदाय' इस मन्त्रभाग-का उद्धार हुआ। तदनन्तर क्ष्वेल (म), प्रीति (ध), अमर (उ), ज्योति (र), तीक्ष्णा (प्), जो अग्नि (र), से संयुक्त है, श्वेता (स), जो अनुस्वारसे युक्त है, फिर कामिका अर्थात् तकारसे पाँचवाँ अक्षर (न), फिर 'ल'के बादका अक्षर (व), 'त'के बादवाले 'थ' के पीछेका अक्षर (द), फिर 'ध' के बादका अक्षर (न) है, जो अनन्त (आ) से संयुक्त है। तत्पश्चात् दीर्घस्वरसे युक्त वायु (या), सूक्ष्म (ह्रस्व) इकारसे युक्त विष—मकार (मि), कामिका (त), फिर कामिकामें रुद्र (ए) का संयोग=(ते) है। तदनन्तर स्थिरा (ज) है, उसके बाद 'स' अक्षर और उसमें 'ए'की मात्रा है (से)। इस प्रकार 'मधुरप्रसन्नवदनायामिततेजसे' इस मन्त्रभागका उद्धार हुआ। इसके बाद तापिनी (ब), दीर्घ (ल) और उसमें भू यानी दीर्घ 'आ' की मात्रा है। फिर अनिल (य) है। इस प्रकार 'बलाय' की सिद्धि हुई। तत्पश्चात् अनन्तग अनल अर्थात् 'आ' की मात्रासे युक्त रेफ (रा) है, फिर नारायणात्मक—अर्थात् आकारकी मात्रासहित काल—मकार (मा) है, उसके बाद प्राण (य) है। इससे 'रामाय' की सिद्धि हुई। तदनन्तर विद्यायुक्त अम्भस् अर्थात्

* भूपुर-यन्त्रका लक्षण इस प्रकार दिया गया है—'भूमेश्चतुरस्रं सवज्रकं पीतं च'—चौकोर रेखा, वज्र-चिह्नका संयोग और पीला रंग—यह भूपुर है।

इकारकी मात्रासे युक्त वकार (वि) है। फिर पीता (ष्), रति (ण), और 'ल'के वादका (व) है, जो योनि (ए) से युक्त है। इससे 'विष्णवे' की सिद्धि हुई। अन्तमें पुनः नति—प्रणामका वाचक 'नमः' शब्द और प्रणव है ॥ ४—९ ॥

'ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय रक्षोघ्नविशदाय मधुरप्रसन्नवदनायामिततेजसे बलाय रामाय विष्णवे नमः ॐ ॥'

यह सैंतालीस अक्षरोंका मालामन्त्र राज्याभिषिक्त भगवान् श्रीरामसे सम्बन्ध रखता है। सगुण होनेपर भी उपासकोंके तीनों गुणोंका नाशक है (अर्थात् त्रिगुणमयी मायाका बन्धन नष्ट करके उन्हें दिव्य साकेत धामकी प्राप्ति करानेवाला है)। इस मन्त्रको पहले बताये हुए क्रमसे ही लिखना चाहिये ॥ १० ॥

यह उपर्युक्त यन्त्र सर्वात्मक—सर्वस्वरूप है। प्राचीन आचार्योंने इसका उपदेश किया है तथा ऋषि-महर्षियोंने भी इस मन्त्रका सेवन किया है। जो इसका सेवन करते हैं, उन्हें यह मोक्ष देता तथा उनकी आयु और आरोग्यकी वृद्धि करता है। इतना ही नहीं, यह पुत्रहीनोंको पुत्र भी देता है। अधिक कहनेसे क्या लाभ, इस मन्त्रके सेवनसे मनुष्य सब कुछ बहुत शीघ्र पा जाते हैं। इसके आश्रयसे उपासक धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य आदिको भी प्राप्त कर सकते हैं ॥ ११-१२ ॥

यह अत्यन्त गोपनीय रहस्य है। इस प्रकार जो यह यन्त्र बताया गया है, बिना उपदेशके किसी परम सामर्थ्यशाली पुरुषके लिये भी दुर्गम है। प्राकृत जनोंको इसका उपदेश नहीं देना चाहिये ॥ १३ ॥

दशम खण्ड

पूजाकी सविस्तर विधि

सर्वप्रथम द्वार[1]-पूजा करके पद्मासन[2] आदि आसनसे बैठे; फिर प्रसन्नचित्त होकर पञ्चभूत आदिकी शुद्धि करे। (पृथिवी आदि तत्त्वोंको क्रमशः अपने कारणमें लय करते हुए अन्तमें सब कुछ परमात्मामें लय कर देना ही तत्त्वोंका शोधन है। भूत[3]शुद्धि

१. द्वारपूजाकी विधि इस प्रकार है। आचार्य विधिपूर्वक स्नान करके पूर्वाह्ण-कृत्य (संध्या-वन्दन आदि नित्य-नियम) कर लेनेके पश्चात् वस्त्र और माला आदिसे अलङ्कृत हो पूजनादिरूप यज्ञके लिये मौनभावसे यज्ञ-मण्डपमें पदार्पण करे। वहाँ सविधि आचमन करके सामान्यतः पूजाके लिये अर्घ्य बनाकर रख ले। फिर मन्त्रयुक्त जलसे द्वारका अभिषेक करके उसका पूजन आरम्भ करे। द्वारके ऊपरी भागमें उदुम्बर (गूलर) का काष्ठ हो; उसमें विघ्न, लक्ष्मी तथा सरस्वतीका ('विं विघ्नाय नमः, लं लक्ष्म्यै नमः, सं सरस्वत्यै नमः'—इन मन्त्रोंसे) आवाहन-पूजन करे। तत्पश्चात् द्वारकी दक्षिण शाखामें विघ्नका और वाम शाखामें क्षेत्रपालका पूजन करे। इन दोनोंके पार्श्वभागमें क्रमशः गङ्गा-यमुनाका पुष्प और जलसे पूजन करे। (दक्षिण द्वारभागमें गङ्गाका और वाम द्वारभागमें यमुनाका पूजन करना उचित है।) तत्पश्चात् द्वारके निचले भागमें देहलीपर 'अस्त्राय फट्'का उच्चारण करते हुए 'अस्त्र'की पूजा करे। प्रत्येक द्वारपर इसी क्रमसे पूजन करना चाहिये।

२. पद्मासन लगानेकी विधि यह है। बायीं जाँघपर दाहिना चरण रक्खे और दायीं जाँघपर बायाँ चरण रक्खे। फिर दाहिने हाथको पीठकी ओरसे ले जाकर बायें चरणका अँगूठा दृढ़ताके साथ पकड़ ले। इसी प्रकार बायें हाथको पीछेकी ओरसे ले आकर दाहिने चरणका अँगूठा पकड़ ले। फिर गर्दन झुकाकर अपनी ठोढ़ीको छातीमें सटा ले और नेत्रोंसे केवल नासिकाके अग्रभागको ही देखे। यह योगाभ्यासी पुरुषोंके उपयोगमें आनेवाला पद्मासन कहलाता है; यह रोगोंका नाश करनेवाला है। परंतु जो भगवान्‌की पूजा करने बैठा हो, वह दोनों हाथोंसे अँगूठा पकड़नेका कार्य न करे; क्योंकि वैसे करनेपर हाथ खाली न रहनेसे पूजा सम्भव न होगी।

३. भूतशुद्धिका प्रकार यह है। अपने शरीरमें पैरोंसे लेकर घुटनोंतकका भाग पृथिवीका स्थान है—ऐसी भावना करे। यह पृथिवीका स्थान चौकोर, वज्रके चिह्नसे युक्त और पीतवर्ण है; इसमें 'लं' बीज अङ्कित है। इस प्रकार चिन्तन करे। घुटनोंसे लेकर नाभितकके भागको जलका स्थान मानकर यह भावना करे कि इसकी आकृति अर्धचन्द्रके समान और वर्ण शुक्ल है। इसमें कमलका चिह्न है। इस जलमण्डलमें 'वं' बीज अङ्कित है। नाभिसे लेकर कण्ठतकके भागको भावनाद्वारा त्रिकोणाकार अग्निमण्डलके रूपमें देखे। उसका वर्ण लाल है, उसमें स्वस्तिकका चिह्न और 'रं' बीज अङ्कित है—इस प्रकार चिन्तन करे। कण्ठसे ऊपर भौंहोंके मध्यतकका भाग वायुमण्डल है। उसका वर्ण कृष्ण है, आकृति षट्कोण है और वह छः बिन्दुओंसे चिह्नित है। उसमें 'यं' बीज अङ्कित है। यों ध्यानद्वारा देखे। भौंहोंके मध्यसे लेकर ब्रह्मरन्ध्रतकका भाग आकाशमण्डल है। उसकी आकृति गोल और रंग धूएँके समान है। उसमें ध्वजका चिह्न और 'हं' बीज अङ्कित है। ऐसा ध्यान करे। इस प्रकार चिन्तन करनेके पश्चात् उन भूतोंका लय करे। पृथिवीको जलमें, जलको अग्निमें, अग्निको वायुमें, वायुको आकाशमें तथा आकाशको अव्यक्त प्रकृतिमें विलीन करे। यह प्रकृति ही अपरब्रह्म अथवा माया कहलाती है; इसका परमात्मामें लय करे। इस प्रकार भावनाद्वारा समस्त देहादि प्रपञ्चका परमात्मामें लय करके कुछ क्षणतक परमात्मरूपसे ही स्थित रहे, अर्थात् ध्यानद्वारा यह देखे कि मैं परमात्मामें मिलकर उनसे अभिन्न हो गया हूँ। फिर (ध्यानसे जगनेपर) अपने लिये

यह प्राण-प्रतिष्ठा और मातृकान्यासका भी उपलक्षण है।) भगवान् श्रीरामके पूजन-क्रममें सिंहासनपीठके अधोभाग, ऊर्ध्वभाग तथा पार्श्वभाग आदिमें भी देव-पूजन करनेकी विधि है। पीठके ऊपर मध्यभागमें जो अष्टदल कमल है,

भावनाद्वारा ही परम पवित्र शरीरकी सृष्टि करे। मानो परमात्मासे शब्द-ब्रह्मात्मिका माया प्रकट हुई है। यही जगन्माता और परा प्रकृति है। इस जगन्मातासे आकाश उत्पन्न हुआ है। आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथिवी प्रकट हुई है। इन विशुद्ध भूतोंसे अपना यह तेजोमय शरीर निर्मित हुआ है, जो परम पवित्र होनेके कारण आराध्यदेवकी आराधनाके सर्वथा योग्य है। उस शरीरमें सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, समस्त देवतारूप, सम्पूर्ण मन्त्रमय एवं कल्याणमय परमात्मा ही आत्मा एवं कारणरूपसे विराजमान हैं। इस प्रकारकी भावना ही मुख्यतः भूतशुद्धि कही गयी है।

भूतशुद्धिकी दूसरी प्रक्रिया इस प्रकार है। साधक यह भावना करे कि मेरा हृदय एक प्रफुल्ल कमल है, जो प्रणवके द्वारा विकासको प्राप्त हुआ है। धर्म ही इस हृदय-कमलका मूल और ज्ञान ही नाल (मृणाल) है। यह बहुत ही शोभायमान है। अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य ही इसके आठ दल हैं। वैराग्य ही इसकी कर्णिका (मध्यभाग) है। इस कर्णिकामें जीवात्मा विराजमान है, जिसकी आकृति दीपककी ज्योतिके समान है। ऐसी भावनाके साथ साधक उस जीवात्माको सुषुम्णा नाड़ीके मार्गसे ब्रह्मरन्ध्रतक ले जाय और उसे परमात्मामें मिला दे। उस समय वह अपनेको परमात्मासे अभिन्न देखता हुआ 'सोऽहम्' मन्त्रका चिन्तन करता रहे। फिर योगयुक्त विधिसे अन्य सब (पृथिवी आदि) तत्त्वोंको भी वहीं परमात्मामें विलीन कर दे। तत्पश्चात् अनादि जन्मोंमें सञ्चित किये हुए पाप-समुदायका एक पुरुषके रूपमें चिन्तन करे। ब्रह्महत्या उस पापपुरुषका मस्तक है, सुवर्णकी चोरी उसकी दो भुजाएँ हैं, सुरापानरूपी हृदयसे वह युक्त है। गुरुपत्नी-गमन ही उसके दो कटिभाग हैं। इन पापों और पापियोंका संसर्ग ही उसके युगल चरण हैं। उसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग पातकमय ही है। उपपातक ही उसके रोएँ हैं। उसकी मूँछ-दाढ़ीके बाल और नेत्र लाल हैं। उसके शरीरका रंग काला है और वह अपने हाथोंमें ढाल-तलवार लिये हुए है। ऐसे पापमय पुरुषको अपनी कुक्षिके भीतर दाहिने भागमें स्थित देखते हुए चिन्तन करे। तत्पश्चात् पूरक आदिके क्रमसे अर्थात् पूरक, कुम्भक और रेचकरूप प्राणायामके द्वारा प्राणवायुको रोककर 'यं' बीज एवं वायुके द्वारा उस पापपुरुषके शरीरको सुखा दे। फिर अग्नि-बीज 'रं'के द्वारा अग्नि प्रकट करके उससे उसके शुष्क शरीरको जला डाले। तत्पश्चात् उत्तम बुद्धिसे युक्त विद्वान् पुरुष यह चिन्तन करे कि उस पापपुरुषके दग्ध शरीरका भस्म मेरी नासिकाके मार्गसे बाहर निकल आया है। तदनन्तर 'वं' इस बीजके द्वारा जल प्रकट करके उससे अपने समस्त शरीरको आप्लावित कर दे। इस प्रकार उस भावनामय दिव्य जलमें स्नान करके जब समस्त शरीर निर्मल एवं देवोपासनाके योग्य हो जाय, तब अपने साथ परमात्मामें लीन हुए पृथिवी आदि तत्त्वोंको पुनः अपनी-अपनी पूर्वावस्थामें पहुँचा दे। फिर जीवात्माको भी परमात्मासे पृथक् करके 'हंसः' इस मन्त्रका जप करते हुए विधिपूर्वक हृदय-कमलपर ले आये। इस प्रकार भूतशुद्धि कर लेना आवश्यक है। भूतशुद्धिके बिना की हुई पूजा अभिचार तथा बिना भक्तिके पूजनकी भाँति विपरीत फल दे सकती है।

१. इस प्रकार भूतशुद्धि करनेके पश्चात् प्राण-प्रतिष्ठा करनी चाहिये। इसका विनियोग इस प्रकार है—'अस्य श्रीप्राणप्रतिष्ठा-मन्त्रस्य ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा ऋषयः ऋग्यजुःसामाथर्वाणि छन्दांसि क्रियामयवपुःप्राणाख्या देवता आं बीजं ह्रीं शक्तिः क्रौं कीलकम्, अस्यां मूर्तौ प्राणप्रतिष्ठापने विनियोगः।' इस प्रकार विनियोग करके भगवान्‌की प्रतिमा अथवा यन्त्रपर हाथ रखकर निम्नाङ्कित मन्त्र पढ़े—

'ॐ आं ह्रीं क्रों अं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं अः क्रों ह्रीं आं हंसः सोऽहम्, अस्यां मूर्तौ अमुष्य प्राणा इह प्राणाः।'

इसका उच्चारण करते समय भावना करनी चाहिये कि इस भगवद्विग्रहमें प्राण-संचार हो रहा है। 'अस्यां मूर्तौ' के आगे 'अमुष्य' के स्थानमें 'श्रीरामस्य' इत्यादि आवश्यकताके अनुसार जोड़ लेना चाहिये।

इसी प्रकार पूर्वोक्त बीजोंको 'ॐ आं''से लेकर''सोऽहम्' तक पुनः पढ़कर 'अस्यां मूर्तौ अमुष्य जीव इह स्थितः' इस वाक्यका उच्चारण करते हुए यह भावना करनी चाहिये कि इस भगवद्विग्रहमें जीवात्मारूपसे भगवान् स्वयं विराजमान हो रहे हैं। इसी प्रकार पुनः 'ॐ आं ह्रीं' इत्यादि पढ़कर 'अस्यां मूर्तौ अमुष्य सर्वेन्द्रियाणि वाङ्मनस्त्वक्चक्षुःश्रोत्रजिह्वाघ्राणपाणिपादपायूपस्थानि इहागत्य सुखं चिरं तिष्ठन्तु' इसका उच्चारण करते हुए विग्रह अथवा यन्त्रमें भगवान्‌की सम्पूर्ण इन्द्रियोंके आविर्भावकी भावना करे। 'अमुष्य' के स्थानपर सर्वत्र 'आराध्यदेव' के नामका षष्ठ्यन्त रूप लेना चाहिये और प्रत्येक कार्यमें तीन-तीन बार पाठ करना चाहिये। तत्पश्चात् गर्भाधानादि संस्कारकी सिद्धिके लिये पंद्रह बार प्रणव-जप करना आवश्यक है। प्राणप्रतिष्ठाके समय भगवद्विग्रहमें ऋषि आदिका न्यास भी करना चाहिये। उसका प्रकार यों है—'ॐ ब्रह्मविष्णुमहेश्वरऋषिभ्यो नमः' शिरसि। 'ऋग्यजुःसामाथर्वच्छन्दोभ्यो नमः' मुखे। 'प्राणदेवतायै नमः' हृदि। 'आं बीजाय नमः' गुह्ये। 'ह्रीं शक्तये नमः' पादयोः। 'क्रों कीलकाय नमः' नाभौ। इन छः मन्त्रोंका क्रमशः उच्चारण करते हुए सिर, मुख, हृदय, गुह्य (गुदा), दोनों पैर और नाभिका दाहिने हाथकी अङ्गुलियोंसे स्पर्श करना चाहिये। किसी-किसीके मतसे प्राणप्रतिष्ठा-मन्त्रमें केवल ब्रह्मा ही ऋषि, विराट् छन्द और प्रणव बीज है।

२. मातृकान्यासका क्रम इस प्रकार है। निम्नाङ्कित वाक्यका उच्चारण करके विनियोग करे—'ॐ अस्य मातृकान्यासमन्त्रस्य ब्रह्मा

उसका भी पूजन करे। रत्नमय सिंहासनपर मुलायम, चिकनी तथा सिंहासनके आकारकी तूलिका (रूईदार गद्दी) की भावना करके उसपर भगवत्स्वरूप आचार्यका पूजन करके पीठके अधोभागमें आराध्य-देवताके आसनके नीचे आधारशक्ति, कूर्म (कच्छप), नाग (शेषनाग) तथा पृथ्वीमय दो कमलोंकी भावना करके उन सबकी पूजा करे* ॥ १-२ ॥

विघ्न, दुर्गा, क्षेत्रपाल तथा वाणीका इनके नामके आदिमें बीज लगाकर नामके साथ चतुर्थी विभक्तिका प्रयोग करते हुए पूजन करना चाहिये। (नामके आदि अक्षरको ही प्रणव और बिन्दुसे सम्पुटित कर देनेपर वह देवताका बीज-मन्त्र बन जाता है। ऐसा ही बीज लगाकर मण्डपके द्वारदेशमें विघ्न आदिकी पूजा करनी चाहिये। पूजाका मन्त्र इस प्रकार है—'ॐ विं विघ्नाय नमः, ॐ दुं दुर्गायै नमः, ॐ क्षं क्षेत्रपालाय नमः, ॐ वां वाण्यै नमः)। फिर पीठके पायोंमें, जो अग्निकोण आदिमें स्थित हैं, क्रमशः धर्म, अर्थ, काम और मोक्षका पूजन करे।† और पीठके अवयवगत पूर्वादि दिशाओं-में क्रमशः अधर्म, अनर्थ, अकाम और अमोक्षकी पूजा करे। फिर पीठके ऊपर मध्यभागमें उत्तम पुरुषोंद्वारा पूजित सूर्य, चन्द्र एवं अग्निका क्रमशः पूजन करे। यन्त्रमें जो बीज (कर्णिका) सहित तीन वृत्त (गोलाकार चिह्न) हैं, उन्हें क्रमशः सत्त्व, रज और तमका प्रतीक मानकर चिन्तन और पूजन करना चाहिये‡ ॥ ३-४ ॥

ऋषिः गायत्री छन्दः सरस्वती देवता भगवत्प्रीतये ललाटाद्यङ्गेषु मातृकावर्णानां न्यासे विनियोगः।' तत्पश्चात् निम्नाङ्कित छः वाक्योंको पढ़कर न्यास करे—१—'अं कं खं गं घं ङं आं' हृदयाय नमः। २—'इं चं छं जं झं ञं ईं' शिरसे स्वाहा। ३—'उं टं ठं डं ढं णं ऊं' शिखायै वषट्। ४—'एं तं थं दं धं नं ऐं' कवचाय हुम्। ५—'ओं पं फं बं भं मं औं' नेत्रत्रयाय वौषट्। ६—अं यं रं लं वं शं षं सं हं ळं क्षं अः' अस्त्राय फट्। इनमेंसे पहले तीन वाक्योंको पढ़कर दाहिने हाथकी अँगुलियोंसे क्रमशः हृदय, सिर और शिखाका स्पर्श करना चाहिये। चौथे वाक्यको पढ़कर दाहिने हाथसे बायें और बायें हाथसे दायें कंधेका एक साथ ही स्पर्श करना चाहिये। पाँचवें वाक्यका उच्चारण करके दाहिने हाथकी अङ्गुलियोंके अग्रभागसे दोनों नेत्रों और ललाटके मध्यभागका स्पर्श करना चाहिये तथा छठे वाक्यको पढ़कर दाहिने हाथको सिरके ऊपरसे बायीं ओरसे पीछेकी ओर ले जाकर दाहिनी ओरसे आगेकी ओर तर्जनी तथा मध्यमा अङ्गुलियोंसे बायें हाथकी हथेलीपर ताली बजाये। तदनन्तर ध्यान करे—'मैं उज्ज्वल कान्ति एवं तीन नेत्रोंसे विभूषित माता सरस्वती देवीकी शरण लेता हूँ। उनके मुख, भुजा, चरण, कटिभाग एवं वक्षःस्थल आदि अङ्ग पचास अक्षरोंमें विभक्त हैं। मस्तकपर अर्धचन्द्रजटित चमचमाता हुआ किरीट शोभा पा रहा है। उनके उरोज सब ओरसे उभरे हुए—स्थूल एवं ऊँचे हैं। वे अपने कर-कमलोंमें मुद्रा, अक्षसूत्र, अमृतपूर्ण कलश और विद्या धारण किये हुए हैं।' इस प्रकार ध्यान करके ललाट, मुख-मण्डल, दोनों नेत्र, दोनों कान, दोनों नासिका, दोनों कपोल, दोनों ओष्ठ, दोनों दन्तपङ्क्ति, मस्तक, मुख, दोनों बाहुमूल, दोनों कूर्पर (कोहनी), दोनों मणिबन्ध (कलाई), दोनों हाथोंके अङ्गुलिमूल, दोनों हाथोंके अङ्गुल्यग्र, दोनों ऊरुमूल, दोनों जानु (घुटने), दोनों गुल्फ (टखने), दोनों पैरोंके अङ्गुलिमूल, दोनों पैरोंके अङ्गुल्यग्र, दोनों पार्श्वभाग, पीठ, नाभि, उदर, हृदय, दायें कंधे, ककुद् (गलेके पीछेका भाग), बायें कंधे, हृदयादि दक्षिणहस्त, हृदयादि वामहस्त, हृदयादि दक्षिणपाद, हृदयादि वामपाद, हृदयादि उदर तथा हृदयादि मुख—इन अङ्गोंमें 'अं नमः, आं नमः' इत्यादिरूपसे ५१ मातृका-वर्णोंका न्यास करे।

* आधारशक्तिका ध्यान एक देवीके रूपमें करना चाहिये। वह अपने दोनों हाथोंमें दो कमल धारण किये हुए है। उस आधारशक्तिके मस्तकपर भगवान् कूर्म विराजमान हैं, उनकी कान्ति नीले रंगकी है। उनके ऊपर भगवान् अनन्त (शेषनाग) की स्थिति है, जो ब्रह्ममयी शिलापर आसीन हैं। उनके श्रीअङ्ग कुन्दसदृश गौर हैं। उनके हाथमें चक्र है तथा उन्होंने मस्तकपर वसुन्धरा देवीको धारण कर रक्खा है। देवी वसुन्धराकी अङ्गकान्ति तमालके समान श्यामल है। वे नील कमल धारण करती हैं। उनके कटिप्रदेशमें लहराता हुआ समुद्र ही मेखला (करधनी) की शोभा दे रहा है। उक्त वसुन्धरापर एक रत्नमय द्वीप है, जहाँ मणिमय मण्डप शोभा पा रहा है। इस क्रमसे मण्डपतककी पूजा करके उसके प्रवेश-द्वारपर विघ्न आदिकी पूजा करनी चाहिये।

† धर्म आदिका ध्यान और पूजन-क्रम इस प्रकार है। साधकको उसकी इच्छाके अनुरूप सिद्धि प्रदान करनेवाले चार कल्पवृक्ष हैं, ऐसी भावना करके उनकी पूजा करे। फिर उनके नीचे मण्डलाकार एवं तेजसे जाज्वल्यमान वेदीकी भावना करके उसकी पूजा करे। उस वेदीपर रत्नमय पीठका धर्म आदिके साथ पूजन करे। धर्मका रंग लाल है, वह वृषभरूपसे स्थित है। अर्थका रंग साँवला है, वह सिंहकी आकृति धारण किये हुए है। कामका रंग हल्दीके समान पीला है, वह भूतकी आकृतिमें है तथा मोक्षका रंग नीला है, उसका आकार हाथीके समान है। पीठके पायोंमें अग्निकोण आदिमें धर्म आदिका तथा पीठके अन्य अवयवोंमें पूर्वादि दिशाओंमें क्रमशः अधर्म आदिका पूजन करे। तत्पश्चात् कमलका पूजन आरम्भ करे।

‡ ॐ सं सत्त्वाय नमः, ॐ रं रजसे नमः, ॐ तं तमसे नमः—इन मन्त्रोंसे सत्त्वादिरूप तीनों वृत्तोंका पूजन करे।

तत्पश्चात् दिशाओं और कोणोंमें स्थित कमलके आठ दलोंकी पूजा करे। इनमेंसे जो दल मध्यवर्ती दिशा अर्थात् कोणोंमें हैं, उनमें आग्नेय कोणसे आरम्भ करके क्रमशः आत्मा (लिङ्ग), अन्तरात्मा (जीव), परमात्मा (ईश्वर) और ज्ञानात्मा (लीला-पुरुषोत्तम)का पूजन करे[1] तथा पूर्वादि दिशाओंमें क्रमशः माया-तत्त्व, विद्या-तत्त्व, कला-तत्त्व एवं पर-तत्त्वकी पूजा करे[2]। तदनन्तर विमला[3] आदि शक्तियोंका विधिवत् पूजन करे। फिर प्रधान देवताका आवाहन और पूजन करे[4]। इसके बाद जल आदिसे अङ्गव्यूहों[5]की पूजा करके धृष्टि[6] आदि, लोकपालगण, उनके अस्त्र[7], वसिष्ठ[8] आदि मुनि तथा नील[9] आदिके साथ चन्दन आदि उपचारों तथा नाना प्रकारके श्रेष्ठ उपहारोंद्वारा श्रीरघुनाथजीकी आराधना करे। उनकी पूजा करके विधिपूर्वक जप आदि भी उन्हें समर्पित करे। 'जो ऐसी महिमावाले, जगत्के आधारभूत और सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, जिनके करकमलोंमें गदा, चक्र, शङ्ख और पद्म शोभा पा रहे हैं तथा जो भव-बन्धनका नाश करनेवाले हैं, उन भगवान् श्रीरामको मैं प्रणाम करता हूँ[11]।' यों कहकर उनकी वन्दना करे। जो इस प्रकार भगवान् श्रीरामका ध्यान करते हैं, वे सब लोग मोक्ष (भगवान्का परमधाम) प्राप्त कर लेते हैं। विश्वव्यापी भगवान् श्रीराम लीला-संवरण-कालमें सशरीर अन्तर्धान हो गये थे। (अन्य प्राणियोंकी भाँति उन्होंने देहत्याग नहीं किया था।) शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मरूप उनके आयुध भी साथ ही अन्तर्धान हुए। उन्होंने अपने स्वाभाविक स्वरूपको धारणकर सीताजीके साथ परमधाममें पदार्पण किया। उस समय उनके साथ सारा परिवार—पुरजन, परिजन, समस्त भाई, समस्त प्रजाजन तथा विभीषण आदि शत्रुके वंशज भी परमधाममें चले गये। जो उनके भक्त होते हैं, वे मनोवाञ्छित भोगोंको पाते हैं, प्राप्त हुए भोगोंका उपभोग करते हैं तथा अन्तमें वे भी भगवान्के परमपदको प्राप्त करते हैं। जो लोग सम्पूर्ण कामनाओं और अर्थोंको देनेवाली इन ऋचाओंका पाठ करते हैं, वे शुद्धान्तःकरण होकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। जो पाठ करते हैं, वे निर्मल अन्तःकरणवाले होकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं॥ ५—१०॥

॥ अथर्ववेदीय श्रीरामपूर्वतापनीयोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

---

१. पूजाके मन्त्र इस प्रकार हैं—ॐ आत्मने नमः, अन्तरात्मने नमः, परमात्मने नमः, ज्ञानात्मने नमः। २. मायातत्त्वाय नमः। विद्यातत्त्वाय नमः। कलातत्त्वाय नमः। परतत्त्वाय नमः॥ ३. विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना और अनुग्रहा—ये पीठकी शक्तियाँ हैं। इनका स्थान अष्टदल कमलके केसरोंमें है। ये वर और अभयकी मुद्राओंसे युक्त होती हैं। ४. 'ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय.....' इत्यादि मूल-मन्त्रका उच्चारण करके 'आहूतो भव' यों कहकर आवाहनकी मुद्रा दिखाये। दोनों हाथोंकी अञ्जलि बनाकर अनामिका अँगुलियोंके मूलपर्वपर अँगूठेको लगा देना—यह आवाहनकी मुद्रा है। यही अधोमुखी (नीचेकी ओर मुखवाली) कर दी जाय तो स्थापिनी (बिठानेवाली) मुद्रा कहलाती है। अँगूठोंको ऊपर उठाकर दोनों हाथोंकी संयुक्त मुट्ठी बाँध लेनेपर संनिधापिनी (निकट सम्पर्कमें लानेवाली) मुद्रा बन जाती है। यदि मुट्ठीके भीतर अँगूठेको डाल दिया जाय तो संरोधिनी (रोक रखनेवाली) मुद्रा कहलाती है। दोनों मुट्ठियोंको उत्तान कर देनेपर इसका नाम सम्मुखीकरणी (सम्मुख करनेवाली) मुद्रा होता है। ५. हृदय, मस्तक आदि भिन्न-भिन्न अङ्गोंकी जल आदिसे पूजा ही अङ्गव्यूहोंकी पूजा है। ६. धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप, धर्मपाल और सुमन्त्र। ७. इन्द्र, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, चन्द्रमा, ईशान, ब्रह्मा और अनन्त। ८. वज्र, शक्ति, दण्ड, खड्ग, पाश, अङ्कुश, गदा, शूल, चक्र और पद्म—ये क्रमशः इन्द्र आदिके आयुध हैं। ९. वसिष्ठ, वामदेव, जाबाल, गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, वाल्मीकि, नारद, सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार। १०. नील, नल, सुषेण, मैन्द, शरभ, द्विविद, धनद, गवाक्ष, किरीट, कुण्डल, श्रीवत्स, कौस्तुभ, शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म—ये सोलह नील आदि हैं।

११. एवंभूतं जगदाधारभूतं रामं वन्दे सच्चिदानन्दरूपम्। गदारिशङ्खाब्जधरं भवारिं स यो ध्यायेन्मोक्षमाप्नोति सर्वः॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

श्रीरामोत्तरतापनीयोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम खण्ड

काशी एवं तारक-मन्त्रकी महिमा; ॐकाररूप पुरुषोत्तम रामके चार पाद

ॐ बृहस्पतिने याज्ञवल्क्यसे पूछा—'ब्रह्मन् ! जिस तीर्थके सामने कुरुक्षेत्र भी छोटा लगे, जो देवताओंके लिये भी देव-पूजनका स्थान हो, जो समस्त प्राणियोंके लिये परमात्म-प्राप्तिका निकेतन हो, वह कौन है ?' यह प्रश्न सुनकर याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—'निश्चय ही अविमुक्त तीर्थ ही प्रधान कुरुक्षेत्र (सत्कर्मका स्थान) है । वही देवताओंके लिये भी देव-पूजाका स्थान है; वही समस्त प्राणियोंके लिये परमात्म-प्राप्तिका निकेतन है। अतः जहाँ कहीं भी जाय, उस अविमुक्त तीर्थको ही प्रधान कुरुक्षेत्र माने । वही देवताओंके लिये भी देवाराधनका स्थान है। वही सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये परब्रह्म-प्राप्तिका स्थान है । यहीं जीवके प्राण निकलते समय भगवान् रुद्र तारक-ब्रह्मका उपदेश करते हैं, जिससे वह अमृतमय होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है । इसलिये अविमुक्त (काशी) का ही सेवन करे । अविमुक्त तीर्थका कभी परित्याग न करे। ठीक ऐसी ही बात है ।' इस प्रकार याज्ञवल्क्यने समझाया ।१।

तदनन्तर भरद्वाजने याज्ञवल्क्यजीसे पूछा—'भगवन् ! कौन तारक (तारनेवाला) है और कौन तरता है ?' इस प्रश्नके उत्तरमें वे प्रसिद्ध याज्ञवल्क्य मुनि बोले—'तारक-मन्त्र इस प्रकार होता है । दीर्घ आकारसहित अनल (रेफ, रकार) हो और वह रेफ बिन्दु (अनुस्वार) से पहले स्थित हो; उसके बाद पुनः दीर्घ स्वरविशिष्ट रेफ हो और उसके अनन्तर 'माय नमः' ये दो पद हों; इस प्रकार 'रां रामाय नमः' यह तारक-मन्त्रका स्वरूप है । इसके सिवा 'राम' पदके सहित 'चन्द्राय नमः' और 'भद्राय नमः' ये दो मन्त्र भी तारक ही हैं । ये तीन मन्त्र क्रमशः ॐकारस्वरूप, तत्स्वरूप और ब्रह्मस्वरूप हैं । ये ही क्रमशः 'सत्', 'चित्' और 'आनन्द' नाम धारण करते हैं । इस प्रकार इनकी उपासना करनी चाहिये । ॐकारमें प्रथम अक्षर अकार है, दूसरा अक्षर उकार है, तीसरा अक्षर मकार है, चौथा अक्षर अर्धमात्रा है, पञ्चम अक्षर अनुस्वार है और छठा अक्षर नाद है । (इस प्रकार छः अक्षरवाला तारक-मन्त्र होता है ।) यह सबको तारनेवाला होनेसे तारक कहलाता है । उस ॐकार अथवा 'रां' इस बीज-मन्त्रमय अक्षरको ही तुम 'तारक ब्रह्म' समझो । वही उपासनाके योग्य है—यों जानना चाहिये । वह गर्भ, जन्म, जरावस्था, मृत्यु तथा सांसारिक महान् भयसे भलीभाँति तार देता है । इसलिये 'तारक' इस नामसे उसका कथन किया जाता है । जो ब्राह्मण इस तारक-मन्त्रका सदा जप करता है । वह सम्पूर्ण पापोंको पार कर जाता है, वह मृत्युको लाँघ जाता है, वह ब्रह्महत्यासे तर जाता है, वह भ्रूणहत्यासे तर जाता है तथा वह वीर-हत्यासे तर जाता है । इतना ही नहीं, वह सम्पूर्ण हत्याओंसे तर जाता है, वह संसारसे तर जाता है, सबको पार कर जाता है। वह जहाँ कहीं भी रहता हुआ अविमुक्त-क्षेत्र (काशीधाम) में ही रहता है । वह महान् होता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

इस विषयमें ये श्लोक हैं—

अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः ।
उकाराक्षरसम्भूतः शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः ॥

प्राज्ञात्मकस्तु भरतो मकाराक्षरसम्भवः ।
अर्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः ॥
श्रीरामसांनिध्यवशाज्जगदानन्ददायिनी ।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ॥
सा सीता भवति ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिका ।
प्रणवत्वात् प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः ॥

"सुमित्रानन्दन लक्ष्मणजी प्रणवके अकार अक्षरसे प्रादुर्भूत हुए हैं। ये जाग्रत्के अभिमानी 'विश्व'के रूपमें भावना करनेयोग्य हैं। (ये ही चतुर्व्यूहोंमें संकर्षणरूप हैं ।) शत्रुघ्न स्वप्नके अभिमानी 'तैजस'रूप हैं, इनका आविर्भाव प्रणवके 'उ' अक्षरसे हुआ है। (चतुर्व्यूहोंमें इन्हींकी 'प्रद्युम्न' संज्ञा है।) भरतजी सुषुप्तिके अभिमानी 'प्राज्ञ'रूप हैं। ये प्रणवके 'म' अक्षरसे प्रकट हुए हैं। (चार व्यूहोंमें इन्हीं-को 'अनिरुद्ध' कहा गया है।) भगवान् श्रीराम प्रणवकी अर्धमात्रारूप हैं। ये ही तुरीय पुरुषोत्तम हैं। ब्रह्मानन्द ही इनका एकमात्र विग्रह है । (चतुर्व्यूहोंमें ये ही 'वासुदेव' नामसे प्रसिद्ध हैं।) श्रीरामके सामीप्य मात्रसे जो सम्पूर्ण देहधारियोंकी उत्पत्ति, पालन और संहार करनेवाली हैं, वे जगदानन्ददायिनी विदेहनन्दिनी सीता नाद-बिन्दुस्वरूपा हैं। वे ही 'मूल प्रकृति'के नामसे जाननेयोग्य हैं। प्रणवसे अभिन्न होनेके कारण ही उन्हें ब्रह्मवादी जन 'प्रकृति' कहते हैं।"

'ओम्' यह अक्षर (अविनाशी परमात्मा) है। यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला सम्पूर्ण जगत् उसका ही उपव्याख्यान है—उसीकी महिमाका प्रकाशन करनेवाला है। जो पहले हो चुका है, जो अभी वर्तमान है तथा जो भविष्यमें होने-वाला है, वह सम्पूर्ण जगत् ॐकार ही है; तथा जो ऊपर बताये हुए तीनों कालोंसे अतीत दूसरा कोई तत्त्व है, वह भी ॐकार ही है। (ॐकार नाम है और परमात्मा नामी, नाम और नामीमें कोई अन्तर नहीं है—यह दिखानेके लिये ही यहाँ सब कुछ ॐकार बताया गया है।) निश्चय ही यह सब ब्रह्म है। यह सर्वान्तर्यामी आत्मा भी ब्रह्म है। इस परमात्माके चार पाद हैं। (यद्यपि परमात्मा एक और अखण्ड है, तथापि उसके सम्पूर्ण स्वरूपका बोध करानेके लिये ही उसमें चार पादों—अंशोंकी कल्पना की गयी है। जाग्रत् यानी स्थूल जगत्, स्वप्न अर्थात् सूक्ष्म जगत्, सुषुप्ति—प्रलयावस्था अर्थात् कारण-तत्त्वमें लीन जगत् तथा इन सबसे अतीत विशुद्ध ब्रह्म—ये ही समग्र परमेश्वरके चार पाद अथवा अंश हैं। श्रीराम-तत्त्वके वर्णनमें 'रां' यह बीज ही प्रणव है तथा पुरुषोत्तम राम सम्पूर्ण परमेश्वर हैं। इनके चार पाद या अंश हैं—लक्ष्मण, शत्रुघ्न, भरत तथा कौसल्यानन्दन श्री-राम। ये चारों मिलकर ही सम्पूर्ण राम हैं। जैसे सब कुछ 'ओम्' है, वैसे ही 'रां' भी है। 'रां' और 'ॐ'में माहात्म्य और महिमाकी दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं है। अतः यह सम्पूर्ण जगत् श्रीरामकी ही महत्ताका प्रकाशन कर रहा है।)

जाग्रत्-अवस्थाकी भाँति यह सम्पूर्ण स्थूल जगत् जिसका अवयव-संस्थान (शरीर) है; जो बहिःप्रज्ञ है—जिसका ज्ञान इस बाह्य जगत्में सब ओर फैला हुआ है; भूः, भुवः आदि सात लोक ही जिसके सात अङ्ग हैं; पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण—ये उन्नीस समष्टि करण ही जिसके मुख हैं; जो इस स्थूल जगत्का भोक्ता अर्थात् इसको जानने और अनुभव करनेवाला है—ऐसा वैश्वानर (विश्वरूप पुरुषोत्तम) ही सम्पूर्ण परमेश्वरका पहला पाद है। (लीला-पुरुषोत्तम श्रीरामके चार पादोंमेंसे प्रथम पाद श्रीलक्ष्मणजी हैं। ये शेषनागके रूपमें अखिल विश्वके आश्रय होनेके कारण ही 'विश्व' अथवा 'वैश्वानर' नाम धारण करते हैं तथा श्रीरामकी प्राप्तिके लिये प्रथम उपाय है—श्रीलक्ष्मणजी-की आराधना। अतएव उन्हें प्रथम पाद कहा गया है। वे सदा जागरूक स्थितिमें रहते हैं, अतएव 'जागरितस्थान' हैं। बाहरकी सम्पूर्ण बातोंको जाननेमें सतत सावधान रहनेके कारण उन्हें 'बहिःप्रज्ञ' कहा गया है। भूर्भुवः आदि सात लोक अथवा तल-अतल आदि सात पातालोंकी स्थिति उनके ही अङ्गोंपर है; अतः वे 'सप्ताङ्ग' हैं। पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र; व्याकरण, ज्यौतिष, छन्द, कल्प, शिक्षा एवं निरुक्त—ये छः अङ्ग; ऋक्, साम, यजुः एवं अथर्व—ये चार वेद तथा आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थशास्त्र और दर्शन—ये सब मिलकर उन्नीस विद्याएँ श्रीलक्ष्मणजीके मुखमें स्थित हैं—अर्थात् अपने मुखद्वारा वे इन विद्याओंका वर्णन करनेमें समर्थ हैं; अतएव उन्हें 'एको-नविंशतिमुख' कहा गया है। संकर्षणरूपसे प्रलयकालमें अपनी मुखाग्निद्वारा समस्त स्थूल जगत्को वे ग्रस लेते हैं, अतः स्थूलभुक् हैं।)

मनकी सूक्ष्म वासनाद्वारा कल्पित मनोमय जगत् ही स्वप्न कहलाता है; अतः 'स्वप्न' पद यहाँ 'सूक्ष्म जगत्'का ही बोधक है। वह सूक्ष्म जगत् ही जिसका स्थान है, जो अन्तःप्रज्ञ है अर्थात् जिसका ज्ञान सूक्ष्म जगत्में व्याप्त है तथा जो पूर्वोक्त सात अङ्गों और उन्नीस मुखोंसे युक्त है, वह

प्रविविक्त—सूक्ष्म जगत्का भोक्ता (जगत्के सूक्ष्म तत्त्वोंका अनुभव करनेवाला) तैजस (प्रकाशस्वरूप हिरण्यगर्भ) उस पूर्णतम परमेश्वरका द्वितीय पाद है । (श्रीरामपक्षमें श्रीशत्रुघ्न ही पूर्णतम परमात्मा श्रीरामके द्वितीय पाद—अंश हैं । लक्ष्मणजीकी अपेक्षा दूसरे होनेके कारण ये द्वितीय हैं । प्रद्युम्न—कामके अंश होनेसे ये सबके मनमें स्थित रहते हैं । स्वप्नावस्थामें अन्य इन्द्रियोंके सुप्त हो जानेपर भी मन अपना कार्य करता रहता है, अतः मनके साथ उसमें निवास करनेवाले मनोभवरूप शत्रुघ्नजीकी भी स्वप्नमें स्थिति रहती ही है; इसलिये उनको 'स्वप्नस्थान' कहा गया है । मनमें स्थिति होनेसे वे अन्तःकरणकी बातोंको जानते हैं, इसलिये अन्तःप्रज्ञ हैं । जैसे स्थूल जगत्का भार शेषरूपधारी लक्ष्मणपर है, उसी प्रकार सूक्ष्म लोकोंका भार समष्टि मनमें स्थित 'प्रद्युम्न'—कामपर है । समष्टि मन ही समस्त सूक्ष्म लोकोंका आधार है । उसमें रहनेवाले संकल्पमय प्रद्युम्न ही उस भारको वहन करते हैं । वे शत्रुघ्नसे अभिन्न हैं । अतः भूः आदि सात सूक्ष्म लोकोंका भार जिनके अङ्गोंपर है, वे शत्रुघ्नजी भी 'सप्ताङ्ग' हैं । उन्नीस मुख पूर्ववत् समझने चाहिये । जो सूक्ष्म लोकोंका अधिष्ठाता है, वह सूक्ष्म तत्त्वोंका भोक्ता और अनुभव करनेवाला होगा ही; अतः शत्रुघ्नजी ही 'प्रविविक्तभुक्' हैं । तैजसका अर्थ यहाँ तेजोमय—परम कान्तिमान् है । प्रद्युम्न—कामके स्वरूप होनेसे शत्रुघ्नका सौन्दर्य अप्रतिम है; अतः वे 'तैजस' कहे गये हैं ।)

जिस अवस्थामें सोया हुआ मनुष्य किसी भी भोगकी कामना नहीं करता, कोई भी स्वप्न नहीं देखता, वह सुषुप्ति-अवस्था है । सुषुप्ति-अवस्थासे यहाँ प्रलयावस्थाकी ओर संकेत किया गया है । उस समय समस्त जगत् अपने कारण-तत्त्वमें विलीन हो जाता है । अतः सुषुप्त अर्थात् कारण-तत्त्व ही जिसका संस्थान (शरीर) है, जो एकरूप है, केवल घनीभूत प्रज्ञान ही जिसका स्वरूप है, जो केवल आनन्दमय है, चैतन्य ही जिसका मुख है, जो एकमात्र आनन्दका ही उपभोग करनेवाला है, वह 'प्राज्ञ' ही परब्रह्म परमात्माका तृतीय पाद है । (श्रीरामपक्षमें श्रीभरतलालजी ही तृतीय पाद हैं । लक्ष्मण और शत्रुघ्नकी अपेक्षासे तो वे तृतीय हैं और श्रीरामकी प्राप्ति करानेवाले होनेके कारण [श्रीरामं पादयति—गमयति इति पादः', इस व्युत्पत्तिके अनुसार] 'पाद' कहे गये हैं । जहाँ इन्द्रियवर्ग और मन दोनों सो जाते हैं—दोनोंके अनियन्त्रित व्यापार बंद हो जाते हैं, उस शम-दमसे सम्पन्न स्थिरप्रज्ञताकी अवस्थाको ही यहाँ 'सुषुप्ति' कहा है । इसमें सुप्त अर्थात् जितेन्द्रिय पुरुष न तो स्थूल भोगोंकी इच्छा करता है और न स्वप्न—सूक्ष्म भोगोंकी ओर ही दृष्टि डालता है । इस जितेन्द्रियता एवं स्थिरप्रज्ञतामें ही स्थित होनेके कारण भरतजी 'सुषुप्त-स्थान' कहे गये हैं । उन्होंने भी पिताकी ओरसे स्वतः प्राप्त हुए राज्यकी कामना नहीं की—स्वप्नमें भी उसका चिन्तन नहीं किया । वे नन्दिग्राममें समाधि लगाकर भगवान्के साथ एकीभूत हो गये थे । यों भी सदा श्रीरघुनाथजीका ही चिन्तन करनेके कारण वे उनके साथ एकरूप हो गये थे । वे प्रज्ञानघन अर्थात् महाप्राज्ञ—परम बुद्धिमान् हैं श्रीरघुनाथजीका अनन्य भक्त होना ही बुद्धिके उत्कर्षका परिचायक है । हर्ष-शोक आदिसे विचलित न होनेके कारण वे सदा 'आनन्दमय' कहे गये हैं । अनिरुद्धस्वरूप होनेके कारण उन्हें आनन्दका भोक्ता कहा गया है । उनमें विवेक-शक्तिकी प्रधानता होनेसे ही वे 'चेतोमुख' हैं । 'प्राज्ञ' उनकी संज्ञा है । परम ज्ञानी—कुशाग्र-बुद्धि होनेके कारण उनको 'प्राज्ञ' कहा गया है ।)

यह तीन पादोंके रूपमें वर्णित परमेश्वर (एवं लीलापुरुषोत्तम श्रीराम) सबका ईश्वर (शासक) है । यह सबको जाननेवाला है । यही सबका अन्तर्यामी है । यही सम्पूर्ण जगत्का कारण है । तथा यही सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति, (स्थिति) और प्रलयका स्थान है । जिसकी प्रज्ञा न तो अन्तर्मुखी है न बहिर्मुखी है, न दोनों ओर मुखवाली ही है; जो न प्रज्ञानघन है, न जाननेवाला है, न नहीं जाननेवाला ही है; जिसको देखा नहीं गया, व्यवहारमें नहीं लाया जा सकता और पकड़ा भी नहीं जा सकता; जिसका कोई लक्षण नहीं, जो चिन्तनमें नहीं आ सकता, जो किसी विशेष संकेतसे भी बतलानेमें नहीं आ सकता; एकमात्र आत्मसत्ताकी प्रतीति ही जिसका सार है, तथा जिसमें प्रपञ्चका सर्वथा अभाव है, ऐसे सर्वथा शान्त एवं कल्याणमय अद्वैत-तत्त्व (परब्रह्म) को ही ज्ञानीजन समग्र परमेश्वरका चतुर्थ पाद मानते हैं । वह परमात्मा है और वही जाननेके योग्य है । (श्रीरामपक्षमें भी 'नान्तःप्रज्ञम्' आदि पदोंका यही अर्थ है । यहाँ श्रुति अनिर्वचनीय एवं सर्वथा विलक्षण श्रीराम-तत्त्वका तटस्थभावसे संकेतमात्र करती है । स्वरूपतः वर्णन करनेमें तो वह सर्वथा असमर्थ है; क्योंकि वाणीकी वहाँतक पहुँच ही नहीं है ।) वे पूर्ण ब्रह्म परमात्मा (श्रीराम) सदा उज्ज्वल (निर्मल यशसे प्रकाशमान) हैं । अविद्या और उसके कार्योंसे सर्वथा

रहित हैं । अपने भक्तजनोंके आत्माका अज्ञानमय बन्धन वे हर लेते हैं । सर्वदा अद्वैत हैं—उनमें द्वैतका सर्वथा अभाव है । वे आनन्दमूर्ति हैं । सबके अधिष्ठान हैं । सत्तामात्र उनका स्वरूप है । अविद्याजनित अन्धकार और मोह उनमें स्वभावतः नहीं हैं, अथवा उनकी शरणमें जाते ही अविद्यामय अन्धकार और मोहका सर्वथा नाश हो जाता है । ऐसे जो अनिर्वचनीय परमात्मा श्रीराम हैं, वह मैं ही हूँ—इस प्रकार चिन्तन करना चाहिये । ॐ, तत्, सत्, यत् और परं ब्रह्म आदि नामोंसे प्रतिपादित होनेवाले जो चिन्मय श्रीरामचन्द्रजी हैं, वह मैं ही हूँ; ॐ—सच्चिदानन्दमय, परम ज्योतिःस्वरूप जो वे श्रीरामभद्र हैं, वह मैं हूँ, वह मैं ही हूँ—इस प्रकार अपनेको सामने लाकर मनके द्वारा परब्रह्म परमात्मा श्रीरामके साथ एकता करे—भगवान्‌के साथ अपनी अभिन्नताका चिन्तन करे ।

जो लोग सदा यथार्थरूपसे समझकर 'मैं राम हूँ' यों कहते हैं, वे संसारी नहीं हैं । निश्चय ही वे श्रीरामके ही स्वरूप हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ।

यह उपनिषद् है । जो इस प्रकार जानता है, वह मुक्त हो जाता है—इस प्रकार याज्ञवल्क्यजीने उपदेश दिया ॥ ३ ॥

तदनन्तर महर्षि अत्रिने इन सुप्रसिद्ध याज्ञवल्क्य मुनिसे प्रश्न किया—'यह जो अनन्त एवं अव्यक्त आत्मा (परमात्मा) है, इसे मैं कैसे जानूँ ?'

तब वे प्रसिद्ध याज्ञवल्क्यजी बोले—उस अव्यक्त परमात्माकी अविमुक्त क्षेत्रमें उपासना करनी चाहिये । यह जो अनन्त एवं अव्यक्त आत्मा है, वह अविमुक्त क्षेत्रमें प्रतिष्ठित है ।

प्रश्न—किंतु उस अविमुक्त क्षेत्रकी स्थिति कहाँ है ?

उत्तर—अविमुक्त क्षेत्र वरणा और नाशीके मध्यमें प्रतिष्ठित है ।

प्रश्न—'वरणा' नामसे कौन प्रसिद्ध है ? और 'नाशी' किसका नाम है ?

उत्तर—सम्पूर्ण इन्द्रियकृत दोषोंका वारण करती है, इससे वह 'वरणा' है; और समस्त इन्द्रियजनित पापोंका नाश करती है, इससे वह 'नाशी' कहलाती है ।

प्रश्न—इस अविमुक्तक्षेत्रका आध्यात्मिक स्थान कौन है ?

उत्तर—भौंहों और नासिकाकी जो सन्धि है (जहाँ इडा और पिङ्गला नामकी दो नाड़ियाँ मिली हुई हैं), वह द्युलोक तथा उससे भी उत्कृष्ट ज्योतिर्मय परमधामकी सन्धिका स्थान है । निश्चय ही ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस सन्धिकी ही 'सन्ध्या' के रूपमें उपासना करते हैं । अतः उस अव्यक्त परमात्मा श्रीरामकी अविमुक्त क्षेत्रमें रहकर अविमुक्तमें (भौंहों और नासिकाकी सन्धिमें) ही उपासना करनी चाहिये । जो उसे इस प्रकार जानता है, अर्थात् जो ऊपर बताये अनुसार यह भलीभाँति समझता है कि 'अव्यक्त परमात्माकी उपासनाका आधिभौतिक स्थान अविमुक्तक्षेत्र (काशी) और आध्यात्मिक स्थान भौंहों एवं नासिकाके मध्यका भाग है—यहीं ध्यानद्वारा उस अव्यक्त तत्त्वका चिन्तन करना चाहिये', वही परमात्मासे नित्य संबद्ध (अविमुक्त) ज्ञानका उपदेश कर सकता है । यह अविनाशी, अनन्त, अव्यक्त, परिपूर्णानन्दैकचिन्मयविग्रह परमात्मा अविमुक्तक्षेत्रमें प्रतिष्ठित है ।

इसके बाद याज्ञवल्क्यजीने अत्रि मुनिसे यह कथा कही—

एक समय भगवान् शङ्करने काशीमें एक हजार मन्वन्तरतक जप, होम और पूजन आदिके द्वारा श्रीरामकी आराधना करते हुए श्रीराम-मन्त्रका जप किया । इससे प्रसन्न होकर भगवान् श्रीरामने शङ्करजीसे कहा—'परमेश्वर ! तुम्हें जो अभीष्ट हो, वह वर माँग लो; मैं उसे दूँगा ।' तब सच्चिदानन्दचिन्मय भगवान् शङ्करने श्रीरामसे कहा—'भगवन् ! मणिकर्णिका तीर्थमें, मेरे काशीक्षेत्रमें अथवा गङ्गामें या गङ्गाके तटपर जो प्राण-त्याग करता है, उस जीवको आप मुक्ति प्रदान कीजिये । इसके सिवा दूसरा कोई वर मुझे अभीष्ट नहीं है ।'

तब भगवान् श्रीरामने कहा—'देवेश्वर ! तुम्हारे इस पावन क्षेत्रमें जहाँ कहीं भी प्राण-त्याग करनेवाले कीड़े-मकोड़े आदि भी तत्काल मुक्त हो जायँगे, इसमें कोई संशय नहीं है । तुम्हारे इस अविमुक्तक्षेत्रमें सब लोगोंकी मुक्ति-सिद्धिके लिये मैं पाषाणकी प्रतिमा आदिमें सदा निवास करता रहूँगा । शिवजी ! इस काशीधाममें मेरे इस षडक्षर तारक-मन्त्र (**रां रामाय नमः**) द्वारा जो भक्तिपूर्वक मेरी पूजा करेगा, मैं उसे ब्रह्महत्या आदि पापोंसे भी मुक्त कर दूँगा; तुम चिन्ता न करो । तुमसे अथवा ब्रह्माजीके मुखसे जो यहाँ षडक्षर मन्त्रकी दीक्षा लेते हैं, वे जीते-जी तो मन्त्रसिद्ध होते हैं और मृत्युके बाद जन्म-मरणसे मुक्त हो मुझे प्राप्त कर लेते हैं । शिवजी ! जिस किसी भी मरणासन्न प्राणीके दाहिने कानमें तुम स्वयं मेरे मन्त्रका उपदेश करोगे, वह निश्चय ही मुक्त हो जायगा ।'

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीके द्वारा वरदानसे अनुगृहीत अविमुक्तक्षेत्रका जो दर्शन करता है, वह जन्मान्तरके दोषोंको

दूर कर देता है तथा वह जन्मान्तरके पापोंका नाश कर डालता है ॥ ४ ॥

तदनन्तर उन प्रसिद्ध याज्ञवल्क्यजीसे भरद्वाजने पूछा—'भगवन्! किन मन्त्रोंद्वारा स्तुति करनेपर भगवान् श्रीराम प्रसन्न होते हैं और अपने स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन कराते हैं? उन मन्त्रोंका आप हमें उपदेश करें।'

तब वे प्रसिद्ध महर्षि याज्ञवल्क्यजी बोले—'ब्रह्मन्! जिस प्रकार भगवान् शङ्करको वरदान देते हुए श्रीरामजीने काशीका महत्त्व बताया था, उसी प्रकार किसी समय ब्रह्माजीको भी उन्होंने वैसा ही उपदेश दिया था। उनके द्वारा ऐसा उपदेश पाकर ब्रह्माजीने निम्नाङ्कित गद्यमयी गाथासे उन्हें नमस्कार किया।

जो सम्पूर्ण विश्वके आधार और महाविष्णुरूप हैं, रोग-शोकसे रहित नारायण हैं, परिपूर्ण आनन्द-विज्ञानके आश्रय हैं और परम प्रकाशरूप हैं, उन परमेश्वर श्रीरामका मन-ही-मन स्तवन करते हुए ब्रह्माजीने उनकी इस प्रकार स्तुति की—

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्दात्मा यत् परं ब्रह्म भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्चाखण्डैकरसात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यच्च ब्रह्मानन्दामृतं भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यत् तारकं ब्रह्म भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यो ब्रह्मा विष्णुरीश्वरो यः सर्वदेवात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ५ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये सर्वे वेदाः साङ्गाः सशाखाः सपुराणा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ६ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यो जीवात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ७ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यः सर्वभूतान्तरात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ८ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये देवासुरमनुष्यादि-भावा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ९ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये मत्स्यकूर्माद्यवतारा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १० ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्च प्राणो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ११ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् योऽन्तःकरणचतुष्टयात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १२ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्च यमो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १३ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्चान्तको भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १४ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्च मृत्युर्भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १५ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यच्चामृतं भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १६ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यानि पञ्चमहाभूतानि भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १७ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यः स्थावरजङ्गमात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १८ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये च पञ्चाग्नयो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ १९ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् याः सप्तमहाव्याहृतयो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २० ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् या विद्या भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २१ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् या सरस्वती भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २२ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् या लक्ष्मीर्भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २३ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् या गौरी भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २४ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् या जानकी भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २५ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यच्च त्रैलोक्यं भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २६ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यः सूर्यो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २७ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यः सोमो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २८ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यानि च नक्षत्राणि भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २९ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये च नवग्रहा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३० ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये चाष्टौ लोकपाला भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३१ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये चाष्टौ वसवो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३२ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये चैकादश रुद्रा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३३ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् ये च द्वादशादित्या भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३४ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यच्च भूतं भव्यं भविष्यद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३५ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्च ब्रह्माण्डस्यान्तर्बहिर्व्याप्नोति विराड् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३६ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यो हिरण्यगर्भो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३७ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् या प्रकृतिर्भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३८ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्चोङ्कारो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३९ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्चतस्रोऽर्द्धमात्रा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४० ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यः परमपुरुषो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४१ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्च महेश्वरो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४२ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यश्च महादेवो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४३ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् य ओं नमो भगवते वासुदेवाय यो महाविष्णुर्भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४४ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यः परमात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४५ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यो विज्ञानात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४६ ॥

ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यः सच्चिदानन्दैकरसात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ४७ ॥

ॐ जो जगत्-प्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे निश्चय ही भगवान् (षड्विध ऐश्वर्यसे सम्पन्न) हैं, अद्वितीय परमानन्द-स्वरूप हैं। जो सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म तथा भूर्भुवः स्वः—ये तीनों लोक हैं, वह सब भी वे ही हैं; उन श्रीरामचन्द्रजीको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सर्वत्र विख्यात श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे निश्चय ही भगवान् हैं; तथा जो अखण्डैकरसस्वरूप परमात्मा एवं भूः, भुवः, स्वः—ये तीनों लोक हैं, वह सब भी वे ही हैं। निश्चय ही उन्हें मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे निश्चय ही भगवान् हैं; तथा जो आनन्दमय, अमृतमय ब्रह्म तथा भू आदि तीनों लोक हैं, वह सब भी उन्हींका स्वरूप है। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो तारक ब्रह्म और भूः, भुवः, स्वः नामसे प्रसिद्ध तीनों लोक हैं, वह सब कुछ उन्हींका स्वरूप है। उन भगवान् श्रीरामको मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं, जो सर्वदेवमय परमात्मा हैं और जो भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेद, उनकी शाखाएँ, पुराण तथा भू आदि तीनों लोक हैं, उन सबके रूपमें भी वे ही हैं। उन भगवान्‌को निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो जीवात्मा और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान्‌को निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो सम्पूर्ण प्राणियोंका अन्तरात्मा और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो देवता, असुर और मनुष्य आदि भाव

१. सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य—इन छः का नाम भग है। जिन पूर्णतम परमेश्वरमें ये छहों परिपूर्णरूपसे नित्य-निरन्तर स्थित रहते हैं, वे 'भगवान्' कहे गये हैं।

(जातियाँ) तथा भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो मत्स्य, कच्छप आदि अवतार और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। निश्चय ही उन भगवान् श्रीरामको मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो प्राण और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार—इन चार प्रकारके अन्तःकरणोंमें अवस्थित चेतन आत्मा और भू आदि तीनों लोक हैं, वे सब भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो यम और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो 'अन्तक' एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो मृत्यु एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है॥ १—१५॥

'ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो अमृत एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो पाँच महाभूत और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो स्थावर-जङ्गमके आत्मा (अथवा चराचरस्वरूप) एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो आहवनीय आदि पाँच अग्नि एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो भूः आदि सात महाव्याहृतियाँ और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो विद्या तथा भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो सरस्वती और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो लक्ष्मी एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो गौरी एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो भगवती जनकनन्दिनी एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो त्रिलोकी—भूः, भुवः और स्वः है, वह सब भी उन्हींका स्वरूप है। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो सूर्यदेव और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो चन्द्रमा एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो नक्षत्रगण एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो नवग्रह और भू आदि तीन लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है॥ १६—३०॥

'ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही

भगवान् हैं; तथा जो आठ लोकपाल और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो आठ वसु और भूः-भुवः आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो ग्यारह रुद्र और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो बारह आदित्य और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो भूत, वर्तमान और भविष्यकाल एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो विराट् परमेश्वर इस ब्रह्माण्डके भीतर-बाहर व्याप्त हैं, वे और भू आदि तीनों लोक भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो प्रकृति एवं भूः-भुवः आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो ॐकार और भूः-भुवः आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो चार अर्धमात्राएँ और भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो परम पुरुष एवं भूः-भुवः आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो महेश्वर और भूः-भुवः-स्वः—तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो महादेव एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर मन्त्रसे नमस्कार करने योग्य महाविष्णु एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो परमात्मा एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो विज्ञानात्मा एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ जो सुप्रसिद्ध श्रीरामचन्द्रजी हैं, वे अवश्य ही भगवान् हैं; तथा जो सच्चिदानन्दैकरसात्मा एवं भू आदि तीनों लोक हैं, वे भी उन्हींके स्वरूप हैं। उन भगवान् श्रीरामको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है' ॥३१–४७॥

जो ब्रह्मवेत्ता इन (मन्त्रराजके ४७ अक्षरोंके अनुसार) सैंतालीस मन्त्रोंसे प्रतिदिन भगवान् श्रीरामका स्तवन करता है, उसके ऊपर इस स्तुतिसे भगवान् प्रसन्न होते हैं। अतः जो इन मन्त्रोंसे प्रतिदिन भगवान्‌की स्तुति करता है, वह भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन करता है; वह अमृतत्वको प्राप्त होता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

तदनन्तर, भरद्वाजने याज्ञवल्क्यकी सेवामें उपस्थित होकर प्रार्थना की—'भगवन् ! श्रीराम-मन्त्रराजके माहात्म्यका वर्णन कीजिये।'

तब उन प्रसिद्ध महात्मा याज्ञवल्क्यने कहा—

स्वयंप्रकाश, परम ज्योतिर्मय तथा केवल अपने ही अनुभवद्वारा गम्य अद्वितीय चिन्मात्रस्वरूप जो परमात्मा है, वही श्रीरामचन्द्रजीके षडक्षर मन्त्रका प्रथम अक्षर ('रां' बीज) माना गया है। मन्त्रका मध्यभाग जो 'रामाय' पद है, वह अखण्डैकरसानन्दस्वरूप तारक ब्रह्मका वाचक है; उसे सच्चिदानन्दस्वरूप ही समझना चाहिये। मन्त्रका अन्तिम

भाग जो 'नमः' पद है, उसे भी पूर्णानन्दैकविग्रह परमात्म-स्वरूप ही जानना चाहिये। सम्पूर्ण देवता और मुमुक्षु पुरुष सदा अपने हृदयमें उसको नमन करते रहते हैं।

जो श्रीरामचन्द्रके इस षडक्षर मन्त्रराज ('रां रामाय नमः') का प्रतिदिन नियमपूर्वक जप करता है, वह अग्निमें तपाकर शुद्ध किया हुआ हो जाता है। वह वायु, सूर्य, चन्द्रमा, ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र देवताके द्वारा भी पवित्र कर दिया जाता है। वह सम्पूर्ण देवताओंके द्वारा 'ब्रह्मवेत्ता' रूपसे ज्ञात होता है। वह मानो सम्पूर्ण यज्ञोंके द्वारा भगवान्‌का यजन कर लेता है। उसके द्वारा इतिहास-पुराणोंका तथा रुद्र-मन्त्रोंका लक्ष बार जप सम्पन्न हो जाता और उसका फल भी उसे मिलता है। प्रणवका तो मानो वह सौ अरब जप कर लेता है। वह अपने पूर्वकी तथा भावी दस-दस पीढ़ियोंको पवित्र कर देता है। वह (समस्त पापोंसे छूटकर) पङ्क्तिपावन बन जाता है। वह महान् हो जाता है और वह अमृतत्वको प्राप्त होता है।

॥ अथर्ववेदीय श्रीरामोत्तरतापनीयोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

रोग और मृत्युको तप समझनेसे महान् लाभ

एतद् वै परमं तपो यद् व्याहितस्तप्यते परमं हैव लोकं जयति, य एवं वेद, एतद् वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यं हरन्ति परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद, एतद् वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद।

(बृहदारण्यक० ५। ११। १)

ज्वरादि व्याधियोंसे जो कष्ट होता है, उसको निश्चय ही परम तप समझे। जो ऐसा जानता है, वह परम लोकको ही जीत लेता है। (तपकी भावनाके कारण शारीरिक कष्ट होते हुए भी दुःख नहीं होता और तपका फल प्राप्त होता है।) मृत मनुष्यको जो वनमें जलानेके लिये ले जाते हैं, उसको निश्चय ही परम तप समझे, जो ऐसा जानता है, वह परम लोकको जीत लेता है। मृतक मनुष्यको जो अग्निमें जलाते हैं वह भी निश्चय ही परम तप है, जो ऐसा जानता है, वह परम लोकको ही जीत लेता है। (मृत्युमें तपकी भावनासे मरण-कष्ट नहीं होता और अन्तमें मनमें तपरूप परमात्माकी स्मृति रहनेसे दिव्य धाम या परमात्माकी प्राप्ति होती है।)

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

गोपालपूर्वतापनीयोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम उपनिषद्

श्रीकृष्णका परब्रह्मत्व, उनका ध्यान करनेयोग्य रूप तथा अष्टादशाक्षर मन्त्र

ॐ कृषिर्भूवाचकः शब्दो नश्च निर्वृतिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥
ॐ सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे ।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे ॥ १ ॥

ॐ 'कृष्' शब्द सत्ताका वाचक है और 'न' शब्द आनन्दका । इन दोनोंकी जहाँ एकता है, वह सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म ही 'कृष्ण' इस नामसे प्रतिपादित होता है । ॐ अनायास ही सब कुछ कर सकनेवाले सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्णको, जो वेदान्तद्वारा जानने योग्य, सबकी बुद्धिके साक्षी तथा सम्पूर्ण जगत्के गुरु हैं, सादर नमस्कार है ॥ १ ॥

हरिः ॐ । एक समयकी बात है, मुनियोंने सुप्रसिद्ध देवता ब्रह्माजीसे पूछा—'कौन सबसे श्रेष्ठ देवता है ? किससे मृत्यु भी डरती है ? किसके तत्त्वको भलीभाँति जान लेनेसे सब कुछ पूर्णतः ज्ञात हो जाता है ? किसके द्वारा प्रेरित होकर यह विश्व आवागमनके चक्रमें पड़ा रहता है ?' ॥ २ ॥

इन प्रश्नोंके उत्तरमें वे प्रसिद्ध ब्रह्माजी इस प्रकार बोले—"निश्चय ही 'श्रीकृष्ण' सबसे श्रेष्ठ देवता हैं ! 'गोविन्द'से मृत्यु भी डरती है ! 'गोपीजन-वल्लभ'के तत्त्वको भलीभाँति जान लेनेसे यह सब कुछ पूर्णतः ज्ञात हो जाता है ! 'स्वाहा' इस माया-शक्तिसे ही प्रेरित होकर यह सम्पूर्ण विश्व आवागमनके चक्रमें पड़ा रहता है" ॥ ३ ॥

तब मुनियोंने पूछा—'श्रीकृष्ण कौन हैं ? और वे गोविन्द कौन हैं ? गोपीजन-वल्लभ कौन हैं ? और वह स्वाहा कौन है ?' ॥ ४ ॥

यह सुनकर ब्रह्माजीने उन मुनियोंसे कहा—"पापोंका अपकर्षण (अपहरण) करनेवाले 'कृष्ण'; गौ, भूमि तथा वेदवाणीके ज्ञातारूपसे प्रसिद्ध सर्वज्ञ 'गोविन्द'; गोपीजन (जीव-समुदाय) की अविद्या-कलाके निवारक अथवा अपनी ही अन्तरङ्गा शक्तिरूप व्रज-सुन्दरियोंमें सब ओरसे सम्पूर्ण विद्याओं एवं चौसठ कलाओंका ज्ञान भर देनेवाले 'गोपीजनवल्लभ' तथा इनकी मायाशक्ति 'स्वाहा'—यह सब कुछ वह परब्रह्म ही है । इस प्रकार उस श्रीकृष्ण नामसे प्रसिद्ध परब्रह्मका जो ध्यान करता है, जप आदिके द्वारा उनके नामामृतका रसास्वादन करता है तथा उनके भजनमें लगा रहता है, वह अमृत-स्वरूप होता है, अमृतस्वरूप होता है (अर्थात् भगवद्भावको ही प्राप्त हो जाता है)" ॥ ५-६ ॥

तब उन मुनियोंने पुनः प्रश्न किया—'भगवन्! श्रीकृष्णका ध्यान करनेयोग्य रूप कैसा है? उनके नामामृतका रसास्वादन कैसे होता है? तथा उनका भजन किस प्रकार किया जाता है? यह सब हम जानना चाहते हैं; अतः हमें बताइये' ॥ ७ ॥

तब वे हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी स्पष्ट शब्दोंमें उत्तर देते हुए बोले, 'भगवान्‌का ध्यान करनेयोग्य रूप इस प्रकार है—ग्वाल-बालका-सा उनका वेष है, नूतन जलधरके समान श्याम वर्ण है, किशोर अवस्था है तथा वे दिव्य कल्पवृक्षके नीचे विराज रहे हैं।' इसी विषयमें यहाँ ये श्लोक भी हैं—॥ ८-९ ॥

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्।
द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम्॥
गोपगोपीगवावीतं सुरद्रुमतलाश्रितम्।
दिव्यालङ्करणोपेतं रत्नपङ्कजमध्यगम्॥
कालिन्दीजलकल्लोलसङ्गिमारुतसेवितम्।
चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः॥

भगवान्‌के नेत्र विकसित श्वेत कमलके समान परम सुन्दर हैं, उनके श्रीअङ्गोंकी कान्ति मेघके समान श्याम है, वे विद्युत्‌के सदृश तेजोमय पीताम्बर धारण किये हुए हैं, उनकी दो भुजाएँ हैं, वे ज्ञानकी मुद्रामें स्थित हैं, उनके गलेमें पैरोंतक लंबी वनमाला शोभा पा रही है, वे ईश्वर हैं—ब्रह्मा आदि देवताओंपर भी शासन करनेवाले हैं, गोपों तथा गोप-सुन्दरियोंद्वारा वे चारों ओरसे घिरे हुए हैं, कल्पवृक्षके नीचे वे स्थित हैं, उनका श्रीविग्रह दिव्य आभूषणोंसे विभूषित है, रत्न-सिंहासनपर रत्नमय कमलके मध्यभागमें वे विराजमान हैं। कालिन्दी-सलिलसे उठती हुई चञ्चल लहरोंको चूमकर बहनेवाली शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु भगवान्‌की सेवा कर रही है। इस रूपमें भगवान् श्रीकृष्णका मनसे चिन्तन करनेवाला भक्त संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ १०-१२ ॥

अब पुनः उनके नामामृतके रसास्वादन तथा मन्त्र-जपका प्रकार बतलाते हैं—॥ १३ ॥

जलवाचक 'क्', भूमिका बीज 'ल्', 'ई', तथा चन्द्रमाके समान आकार धारण करनेवाला अनुस्वार—इन सबका समुदाय है—**'क्लीं'**; यही काम-बीज है। इसको आदिमें रखकर **'कृष्णाय'** पदका उच्चारण करे। यह **'क्लीं कृष्णाय'** सम्पूर्ण मन्त्रका एक पद है। **'गोविन्दाय'** यह दूसरा पद है। **'गोपीजन'** यह तीसरा पद है। **'वल्लभाय'** यह चौथा पद है और **'स्वाहा'** यह पाँचवाँ पद है। पाँच पदोंका यह **'क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा'** मन्त्र 'पञ्चपदी' कहलाता है। आकाश, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि—इन सबका प्रकाशक अथवा स्वरूप होनेके कारण यह चिन्मय मन्त्र पाँच अङ्गोंसे युक्त है। अतः—

क्लीं कृष्णाय दिवात्मने हृदयाय नमः। गोविन्दाय भूम्यात्मने शिरसे स्वाहा। गोपीजनसूर्यात्मने शिखायै वषट्। वल्लभाय चन्द्रात्मने कवचाय हुम्। स्वाहा अग्न्यात्मनेऽस्त्राय फट्।

—इस प्रकार पञ्चाङ्गन्यास करके इस पाँच पद और पाँच अङ्गोंवाले मन्त्रका जप करनेवाला साधक मन्त्रात्मक होनेसे परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णको प्राप्त होता है, परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्णको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

द्वितीय उपनिषद्

श्रीकृष्णोपासनाकी विधि तथा यन्त्र-निर्माणका प्रकार

इस विषयमें यह श्लोक (मन्त्र) है—"जो उपासक **'क्लीं'** इस कामबीजको आदिमें रखकर **'कृष्णाय'** इस पदका, **'गोविन्दाय'** इस पदका तथा **'गोपीजनवल्लभाय'** इस पदका **'स्वाहा'** सहित एक ही साथ उच्चारण करेगा, उसे शीघ्र ही श्रीकृष्ण-मिलनरूपा सद्गति प्राप्त होगी। उसके लिये दूसरी गति नहीं है।" इन श्रीकृष्ण भगवान्‌की भक्ति ही भजन है। उस भजनका स्वरूप है—इस लोक तथा परलोकके समस्त भोगोंकी कामनाका सर्वथा परित्याग करके इन श्रीकृष्णमें ही इन्द्रियोंसहित मनको लगा देना। यही नैष्कर्म्य (वास्तविक संन्यास) भी है। उन सच्चिदानन्दमय भगवान् श्रीकृष्णका वेदज्ञ ब्राह्मण नाना प्रकारसे यजन करते हैं, 'गोविन्द' नामसे प्रसिद्ध उन भगवान्‌की अनेक प्रकारसे आराधना करते हैं। वे 'गोपीजनवल्लभ' (जीवमात्रके अकारण सुहृद् एवं प्रियतम तथा गोप-सुन्दरियोंके प्राणाधार) श्यामसुन्दर ही सम्पूर्ण लोकोंका पालन करते हैं और संकल्परूप उत्तम वीर्यवाले उन भगवान्‌ने ही 'स्वाहा' (अपनी माया-शक्ति) का आश्रय लेकर जगत्‌को उत्पन्न किया है। जैसे सम्पूर्ण विश्वमें फैला हुआ एक ही वायुतत्त्व प्रत्येक शरीरके भीतर प्राण आदि पाँच रूपोंसे अभिव्यक्त हुआ है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण एक होते हुए भी इस उपर्युक्त मन्त्रमें

भिन्न-भिन्न नामसे पाँच नामोंवाले प्रतीत होते हैं—वास्तवमें 'कृष्ण' आदि पाँच नामोंद्वारा एक ही भगवान्‌का प्रतिपादन होता है ॥ १–५ ॥

तत्पश्चात् उन मुनियोंने कहा—'सम्पूर्ण जगत्‌के आश्रयभूत परमात्मा गोविन्दकी उपासना कैसे होती है ? इसका उपदेश दीजिये' ॥ ६ ॥

तब ब्रह्माजीने उन प्रसिद्ध मुनियोंसे भगवान्‌का जो पीठ है, उसका वर्णन करते हुए कहा—पीठपर सुवर्णमय अष्टदल कमल बनाये। उसके मध्यभाग (कर्णिका) में दो त्रिकोण लिखे, जो एक दूसरेसे सम्पुटित हों। इस प्रकार छः कोण होंगे। इन कोणोंके मध्यभागमें स्थित जो कर्णिका है, उसमें आदि-अक्षररूप कामबीजका, जो सम्पूर्ण कार्योंकी सिद्धिका अमोघ साधन है, उल्लेख करे। फिर प्रत्येक कोणमें 'क्लीं' बीजसहित **'कृष्णाय नमः'** मन्त्रके एक-एक अक्षरका अङ्कन करे। तत्पश्चात् ब्रह्म-मन्त्र अर्थात् अष्टादशाक्षर गोपाल-विद्या एवं काम-गायत्रीका यथावत् उल्लेख करके आठ वज्रोंसे घिरे हुए भूमण्डलका उल्लेख करे। तत्पश्चात् उक्त मन्त्रको अङ्ग, वासुदेवादि, रुक्मिणी आदि स्वशक्ति एवं इन्द्र आदि, वसुदेव आदि, पार्थ आदि तथा निधि आदि आठ आवरणोंसे आवेष्टित करके उसकी पूजा करे।*

धारणके लिये यन्त्र

* यन्त्रकी स्पष्ट विधि इस प्रकार समझनी चाहिये। अपने घरपर गोबर और जलसे भूमिको लीप दे। फिर उस शुद्ध भूमिमें धोया हुआ पीठ स्थापित करके उसके ऊपर सुवर्णमय अष्टदल कमलकी स्थापना करे अथवा घिसे हुए चन्दनमें रोली या केसर मिलाकर उसीसे अष्टदल कमलका रेखाचित्र बना ले। तदनन्तर उस अष्टदल कमलके मध्यभाग (बीचकी कर्णिका) में परस्पर सम्पुटित दो त्रिकोण खींच ले। इस प्रकार छः कोण बन जायँगे। इन कोणोंके मध्यभागमें आदि अक्षररूप कामबीज (क्लीं) का, जो सम्पूर्ण कार्योंकी सिद्धिका बीज है, उल्लेख करे। साथ ही साध्य व्यक्तिका तथा उसके कार्यका भी उल्लेख करे (यथा—'अमुकस्य अमुकं कार्यं सिद्ध्यतु')। ऐसा उल्लेख तभी आवश्यक है, जब धारण करनेके लिये यन्त्र बनाया गया हो। पूजाके लिये निर्मित यन्त्रमें साध्य और कार्यका नाम आवश्यक नहीं है। इसके बाद जो छहों कोण हैं, उनमें 'क्लीं कृष्णाय नमः' इस मन्त्रके एक-एक अक्षरका उल्लेख करे। तत्पश्चात् कोणोंके मध्यभाग अर्थात् कर्णिकामें लिखे हुए पूर्वोक्त 'ह्रीं' बीजके चारों ओर अष्टादशाक्षर मन्त्रको इस प्रकार लिखे, जिससे वह उसके द्वारा आवेष्टित हो जाय। तदनन्तर छहों कोणोंमेंसे जो पूर्व, नैर्ऋत्य और वायव्यवाले कोण हैं, उनमें श्रीबीज (श्रीं) का उल्लेख करे तथा पश्चिम, अग्निकोण और ईशानवाले कोणोंमें माया-बीज (ह्रीं) को अङ्कित करे। फिर अष्टदलोंके केसरोंमें तीन-तीन अक्षरके क्रमसे चौबीस अक्षरोंकी काम-गायत्रीका उल्लेख करे। कामगायत्री इस प्रकार है—'कामदेवाय विद्महे, पुष्पबाणाय धीमहि, तन्नोऽनङ्गः प्रचोदयात्।' इसके बाद प्रत्येक दलमें छः-छः अक्षरके क्रमसे अड़तालीस अक्षरवाले काम-मालामन्त्रका लेखन करे। वह मन्त्र इस प्रकार है—'नमः कामदेवाय सर्वजनप्रियाय सर्वजनसंमोहनाय ज्वल ज्वल प्रज्वल सर्वजनस्य हृदयं मम वशं कुरु कुरु स्वाहा।' इसके बाद अष्टदलोंके बाहर गोल रेखा खींचकर उसके ऊपर अकारादि इक्यावन अक्षरोंकी पूरी वर्णमालाको इस प्रकार लिखे, जिससे सम्पूर्ण अष्टदल-कमल घिर जाय। फिर इस समस्त चक्रके बाह्यभागमें चौकोर भूमण्डल बनाये। उसके पूर्वादि दिशाओंमें तो श्रीबीज (श्रीं)का उल्लेख करे और कोणोंमें मायाबीज (ह्रीं) लिखे। तत्पश्चात् इस भूमण्डलकी आठ दिशाओंमें आठ वज्र अङ्कित करे। वज्र, शक्ति, दण्ड, खड्ग, पाश, ध्वज, गदा और शूल—यह वज्रादि-अष्टक ही आठ वज्र कहे गये हैं। इस प्रकार जो यन्त्र बनेगा, वह धारण करनेयोग्य होगा। इसीमें पूर्वकथित साध्य और कार्यका उल्लेख आवश्यक है। इसके धारणकी विधि यों है—यन्त्रधारणके समय पहले देव-पूजन करके मन्त्रोच्चारणपूर्वक एक सहस्र घीकी आहुतियाँ अग्निमें डाले। प्रत्येक आहुतिका हुतशेष घृत यन्त्रपर ही डाले। आहुतियाँ समाप्त होनेपर यन्त्रका मार्जन करे। फिर दस सहस्र बार अष्टादशाक्षर मन्त्रका जप करके इस उत्तम यन्त्रको धारण करना चाहिये। इसे विधिपूर्वक धारण करनेवाले पुरुषको त्रिभुवनका ऐश्वर्य मिल सकता है तथा वह देवताओंके लिये भी आदरणीय हो जाता है।

पूजनके लिये यन्त्र

जब पूजाके लिये यन्त्र-निर्माण किया जाय, तब भी यन्त्रका स्वरूप तो वैसा ही रहेगा; केवल साध्य और कार्यका नाम नहीं रहेगा। इसके सिवा यन्त्र-पूजाके पहले पीठकी विभिन्न दिशाओंमें कुछ देवताओंका पूजन कर लेना आवश्यक होगा तथा पीठस्थ यन्त्रके चारों ओर आवरण-देवताओंकी भी स्थापना और पूजा आवश्यक होगी। यहाँ पहले पीठके सब ओर पूजित होनेवाले देवताओंका क्रम बताया जाता है—

पहले पीठके उत्तर भागमें वायव्यकोणसे लेकर ईशानकोणतक चतुर्विध गुरुओंका पूजन करे, यथा—'ॐ गुरुभ्यो नमः, परमगुरुभ्यो नमः, परात्परगुरुभ्यो नमः, परमेष्ठिगुरुभ्यो नमः।' फिर पीठके दक्षिण भागमें गणेशका आवाहन-पूजन करे। तत्पश्चात् यन्त्रगत अष्टदल

उक्त आवरणोंसे परिवेष्टित श्रीकृष्णचन्द्रका तीनों संध्याओंके समय ध्यान करके षोडश आदि उपचारोंद्वारा सदा उनका पूजन करना चाहिये। इस प्रकार पूजा करनेसे उपासकको धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—सब कुछ प्राप्त हो जाता है, सब कुछ प्राप्त हो जाता है ॥ ७ ॥

इस विषयमें ये श्लोक हैं—

एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य
एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति ।
तं पीठस्थं येऽनुयजन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ ८ ॥

कमलकी कर्णिकाके निम्नभागमें—आधारशक्ति, प्रकृति, कमठ, शेष, पृथ्वी, क्षीरसागर, श्वेतद्वीप, रत्नमण्डप तथा कल्पवृक्ष—इन नौकी पूजा करे। यह पूजा भावनाद्वारा कर्णिकामें ही कर ली जायगी। फिर पीठ (चौकी) के पायोंमें धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यकी पूजा करे। क्रम इस प्रकार होगा— अग्निकोणमें धर्म, नैर्ऋत्यकोणमें ज्ञान, वायव्यकोणमें वैराग्य तथा ईशानकोणमें ऐश्वर्यकी पूजा होगी। इसी प्रकार पीठके पूर्वादि अवयवोंमें भी क्रमशः धर्म आदिकी पूजा होगी। इसके बाद कर्णिकामें ही क्रमशः 'अनन्ताय नमः', 'पद्माय नमः', 'अं द्वादशकलाव्याप्तसूर्यमण्डलात्मने नमः', 'ॐ षोडशकलाव्याप्तचन्द्रमण्डलात्मने नमः', 'मं दशकलाव्याप्तवह्निमण्डलात्मने नमः', 'सं सत्त्वाय नमः', 'रं रजसे नमः', 'तं तमसे नमः', 'आं आत्मने नमः', 'अं अन्तरात्मने नमः', 'पं परमात्मने नमः', 'हीं ज्ञानात्मने नमः'—इन मन्त्रोंद्वारा पूजा करे। फिर अष्टदल कमलके प्रत्येक दलमें क्रमशः 'विमलायै नमः', 'उत्कर्षिण्यै नमः', 'ज्ञानायै नमः', 'क्रियायै नमः', 'योगायै नमः', 'प्रह्व्यै नमः', 'सत्यायै नमः', 'ईशानायै नमः'—इन मन्त्रोंसे विमला आदि आठ शक्तियोंकी पूजा करके पुनः कर्णिकामें 'अनुग्रहायै नमः' इस मन्त्रसे नवीं शक्तिकी पूजा करे। तत्पश्चात् 'ॐ नमो विष्णवे सर्वभूतात्मने वासुदेवाय सर्वात्मसंयोगाय पद्मपीठात्मने नमः' इस पीठमन्त्रका अष्टदल कमलके ऊपर विन्यास करके पीठकी पूजा करे। फिर पीठपर भगवान् श्रीकृष्णका आवाहन और ध्यान करके षोडशोपचारसे पूजन करना चाहिये।

भगवान्‌का ध्यान इस प्रकार करे—

स्मरेद् वृन्दावने रम्ये मोदयन्तं मनोरमम्। गोविन्दं पुण्डरीकाक्षं गोपकन्याः सहस्रशः ॥
आत्मनो वदनाम्भोजप्रेरिताक्षिमधुव्रताः। पीडिताः कामबाणेन चिरमाश्लेषणोत्सुकाः ॥
मुक्ताहारलसत्पीनतुङ्गस्तनभरान्विताः। स्रस्तधम्मिल्लवसना मदस्खलितभूषणाः ॥
दन्तपङ्क्तिप्रभोद्भासिस्पन्दमानाधराञ्चिताः। विलोभयन्त्यो विविधैर्विभ्रमैर्भावगर्भितैः ॥
फुल्लेन्दीवरकान्तिमिन्दुवदनं बर्हावतंसप्रियं श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं पीताम्बरं सुन्दरम्।
गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनुं गो-गोपसंघावृतं गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्याङ्गभूषं भजे ॥

तत्पश्चात् आवरण-पूजा करनी चाहिये। यह आवरण-पूजा अष्टदल कमलमें ही करनी चाहिये। इसका प्रथम आवरण इस प्रकार है। छः कोणोंमेंसे आग्नेयकोणमें 'हृदयाय नमः', नैर्ऋत्यकोणमें 'शिरसे स्वाहा', वायव्यकोणमें 'शिखायै वषट्', ईशानकोणमें 'कवचाय हुम्', अग्रभागमें 'नेत्रत्रयाय वौषट्' तथा पूर्व आदि चारों दिशाओंमें 'अस्त्राय फट्' इस प्रकार मन्त्रोच्चारणपूर्वक पूजन करे।

द्वितीय आवरण—पूर्वदिशामें 'वासुदेवाय नमः', दक्षिणमें 'संकर्षणाय नमः', पश्चिममें 'प्रद्युम्नाय नमः', उत्तरमें 'अनिरुद्धाय नमः'—इन मन्त्रोंसे पूजा करके अग्निकोणमें 'शक्त्यै नमः', नैर्ऋत्यकोणमें 'श्रियै नमः', वायव्यकोणमें 'सरस्वत्यै नमः' तथा ईशान-कोणमें 'रत्यै नमः'—इन मन्त्रोंद्वारा शक्ति आदिका पूजन करे।

तृतीय आवरण—फिर कमलके आठ दलोंमें पूर्वादि दिशाओंके क्रमसे रुक्मिणी आदि आठ पटरानियोंकी स्थापना और पूजा करे—यथा रुक्मिण्यै नमः, सत्यभामायै नमः, जाम्बवत्यै नमः, नाग्नजित्यै नमः, मित्रविन्दायै नमः, कालिन्द्यै नमः, लक्ष्मणायै नमः, सुशीलायै नमः।

चतुर्थ आवरण—यहाँ पूर्वमें पीतवर्ण वसुदेव, अग्निकोणमें श्यामवर्णा देवकी, दक्षिणमें कर्पूरगौरवर्ण नन्द, नैर्ऋत्यमें कुङ्कुम-सदृश गौरवर्णा यशोदा, पश्चिममें शङ्ख, कुन्द एवं चन्द्रके समान उज्ज्वल वर्णवाले बलदेव, वायव्यकोणमें मयूरपिच्छतुल्य श्यामवर्णा सुभद्रा, उत्तरमें गोपगण तथा ईशानकोणमें गोपाङ्गनाओंकी क्रमशः पूजा करनी चाहिये। इनके नामको चतुर्थ्यन्त करके 'नमः' लगा देनेसे पूजाका मन्त्र हो जाता है।

पञ्चम आवरण—कमलके मध्यभागमें क्रमशः अर्जुन, निशठ, उद्धव, दारुक, विष्वक्सेन, सात्यकि, गरुड़, नारद तथा पर्वतकी पूजा नाम-मन्त्रोंसे ही करे।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तं पीठगं येऽनुयजन्ति धीरा-
स्तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ ९ ॥
एतद् विष्णोः परमं पदं ये
नित्योद्युक्ताः संयजन्ते न कामात् ।
तेषामसौ गोपरूपः प्रयत्नात्
प्रकाशयेदात्मपदं तदैव ॥ १० ॥
यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो विद्यास्तस्मै गापयति स्म कृष्णः ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमनुव्रजेत् ॥ ११ ॥
ॐकारेणान्तरितं ये जपन्ति
गोविन्दस्य पञ्चपदं मनुं तम् ।
तेषामसौ दर्शयेदात्मरूपं
तस्मान्मुमुक्षुरभ्यसेन्नित्यशान्त्यै ॥ १२ ॥

'एकमात्र सबको वशमें रखनेवाले सर्वव्यापी भगवान् श्रीकृष्ण सर्वथा स्तवन करने योग्य हैं। वे एक होते हुए भी अनेक रूपोंमें प्रकाशित हो रहे हैं। जो धीर भक्तजन पूर्वोक्त पीठपर विराजमान उन भगवान्‌का प्रतिदिन पूजन करते हैं, उन्हींको शाश्वत सुख प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं। जो नित्योंके भी नित्य हैं, चेतनोंके भी परम चेतन हैं और एक ही सबकी कामनाएँ पूर्ण करते हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णको पूर्वोक्त पीठमें स्थापित करके जो धीर पुरुष निरन्तर उनका पूजन करते हैं, उन्हींको सनातन सिद्धि प्राप्त होती है, दूसरोंको नहीं। जो नित्य उत्साहपूर्वक उद्यत रहकर श्रीविष्णुके परमपदस्वरूप इस मन्त्रकी विधिपूर्वक पूजा करते हैं तथा भगवान्‌के सिवा दूसरी किसी वस्तुकी कामना नहीं करते, उनके लिये वे गोपालरूपधारी भगवान् श्यामसुन्दर अपना स्वरूप तथा अपना परम धाम तत्काल ही प्रयत्नपूर्वक प्रकाशित कर देते हैं। जो श्रीकृष्ण सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माजीको उत्पन्न करते हैं तथा निश्चय ही जो उनको वेदविद्याका उपदेश करके उनसे उसका गान करवाते हैं, समस्त जीवोंकी बुद्धिको प्रकाश (ज्ञान) देनेवाले उन भगवान्‌की शरणमें मुमुक्षु पुरुष अवश्य जाय। जो साधक भगवान् गोविन्दके उस पाँच पदवाले सुप्रसिद्ध अष्टादशाक्षर मन्त्रको ॐकारसे सम्पुटित करके जपते हैं, उन्हींको वे भगवान् शीघ्र अपने स्वरूपका साक्षात्कार कराते हैं; अतः संसार-बन्धनसे छूटनेकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य नित्य-शान्तिकी प्राप्तिके लिये अवश्य ही उक्त मन्त्रका जप करे' ॥ ८–१२ ॥

इस पाँच पदवाले मन्त्रसे ही और भी दशाक्षर आदि मन्त्र उत्पन्न हुए हैं, जो मनुष्योंके लिये कल्याणकारी हैं। उन दशाक्षर आदि मन्त्रोंको भी ऐश्वर्यकी इच्छावाले इन्द्र आदि देवता न्यास, ध्यान आदि यथावत् विधिके साथ जपते रहते हैं ॥ १३ ॥

तृतीय उपनिषद्

अष्टादशाक्षरका अर्थ

'यदि ऐसी बात है तो इन भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपभूत मन्त्रका अर्थ (अभिप्राय और प्रयोजन) क्या है ? यह आप अपनी वाणीद्वारा समझाइये।' इस प्रकार उन सनकादि मुनियोंने पूछा। तब सब लोकोंमें विख्यात ब्रह्माजीने उनके उस प्रश्नके उत्तरमें इस प्रकार कहा—'मुनिवरो ! सुनो; मुझ ब्रह्माकी जो दो परार्धकी आयु होती है, उसे व्यतीत करता हुआ मैं पूर्वकालमें भगवान्‌का निरन्तर ध्यान और स्तवन करता रहा। इस प्रकार जब एक परार्ध बीत गया, तब भगवान्‌का

षष्ठ आवरण—पूर्वमें 'इन्द्रनिधये नमः', अग्निकोणमें 'नीलनिधये नमः', दक्षिणमें 'स्कन्दाय नमः', नैर्ऋत्यकोणमें 'मकराय नमः', पश्चिममें 'आनन्दाय नमः', वायुकोणमें 'कच्छपाय नमः', उत्तरमें 'शङ्खाय नमः' तथा ईशानकोणमें 'पद्मनिधये नमः'—इस प्रकार पूजन करे।

सप्तम आवरण—पूर्वमें पीतवर्ण इन्द्र, अग्निकोणमें रक्तवर्ण अग्नि, दक्षिणमें नीलोत्पलवर्ण यम, नैर्ऋत्यकोणमें कृष्णवर्ण राक्षसाधिपति निर्ऋति, पश्चिममें शुक्लवर्ण वरुण, वायव्यमें धूम्रवर्ण वायु, उत्तरमें नीलवर्ण कुबेर तथा ईशानकोणमें श्वेतवर्ण ईशानका नाम-मन्त्रद्वारा ही पूजन करे।

अष्टम आवरण—पूर्व और ईशानके मध्यमें गोरोचनवर्ण ब्रह्मा, नैर्ऋत्यकोण और पश्चिमके मध्यमें शुक्लवर्ण शेषनाग, पूर्व दलमें पीतवर्ण वज्र, अग्निकोणवाले दलमें शुक्लवर्णा शक्ति, दक्षिण दलमें नीलवर्ण दण्ड, नैर्ऋत्य दलमें श्वेतवर्ण खड्ग, पश्चिम दलमें विद्रुमवर्ण पाश, वायव्य दलमें रक्तवर्ण ध्वज, उत्तर दलमें नीलवर्णा गदा तथा ईशान दलमें शुक्लवर्ण त्रिशूलकी नाम-मन्त्रद्वारा ही पूजा करे।

ध्यान मेरी ओर आकृष्ट हुआ; फिर वे दया करके गोपवेष-धारी श्यामसुन्दर पुरुषोत्तमके रूपमें मेरे सामने प्रकट हुए। तब मैंने भक्तिपूर्वक उनके चरणोंमें प्रणाम किया। तदनन्तर उन्होंने दयार्द्र-हृदयसे मुझपर अनुग्रह करके सृष्टि-रचनाके लिये अपने स्वरूपभूत अष्टादशाक्षर मन्त्रका मुझे उपदेश दिया और तत्काल अन्तर्धान हो गये। फिर जब मेरे हृदयमें सृष्टिकी इच्छा हुई, तब अष्टादशाक्षर मन्त्रके उन सभी अक्षरोंमें भावी जगत्‌के स्वरूपका दर्शन कराते हुए वे पुनः मेरे सम्मुख प्रकट हो गये। तब मैंने इस मन्त्रमें जो 'क्' अक्षर है, उससे जलकी, 'ल्' अक्षरसे पृथ्वीकी, 'ई' से अग्नि-तत्त्वकी, अनुस्वारसे चन्द्रमाकी तथा इन सबके समुदाय-रूप 'क्लीं' से सूर्यकी रचना की। मन्त्रके द्वितीय पद **'कृष्णाय'** से आकाशकी और आकाशसे वायुकी सृष्टि की। उसके बादवाले **'गोविन्दाय'** पदसे कामधेनु गौ तथा वेदादि विद्याओंको प्रकट किया। उसके पश्चात् जो **'गोपीजनवल्लभाय'** पद है, उससे स्त्री-पुरुष आदिकी रचना की तथा सबसे अन्तमें जो **'स्वाहा'** पद है, उससे इस समस्त जड-चेतनमय चराचर जगत्‌को उत्पन्न किया॥ १-२॥

चतुर्थ उपनिषद्

गोपाल-मन्त्रके जपकी महिमा; उससे गोलोक-धामकी प्राप्ति

इन भगवान् श्रीकृष्णके ही पूजन तथा उनके ॐकारसे सम्पुटित अष्टादशाक्षर मन्त्रके ही जपसे पूर्वकालमें राजर्षि चन्द्रध्वज मोहरहित होकर आत्मज्ञान प्राप्त करके असङ्ग हो गये॥ १॥

भगवान् श्रीकृष्णके उस परमधाम गोलोकको ज्ञानी एवं प्रेमी भक्तजन सदा देखते हैं। आकाशमें सूर्यकी भाँति वह परम व्योममें सब ओर व्याप्त तथा प्रकाशमान है। उस परम धामकी प्राप्ति पूर्वोक्त अष्टादशाक्षरमन्त्रके जपसे ही होती है; इसलिये इसका नित्य जप करे॥ २-३॥

पञ्चम उपनिषद्

श्रीकृष्णका स्वरूप एवं उनका स्तवन

उक्त मन्त्रके विषयमें कुछ मुनिगण यों कहते हैं—'जिसके प्रथम पद (**क्लीं**) से पृथ्वी, द्वितीय पद (**कृष्णाय**) से जल, तृतीय पद (**गोविन्दाय**) से तेज, चतुर्थ पद (**गोपीजनवल्लभाय**) से वायु तथा अन्तिम पाँचवें पद (**स्वाहा**) से आकाशकी उत्पत्ति हुई है, वह वैष्णव पञ्चमहाव्याहृतियों-वाला अष्टादशाक्षरमन्त्र श्रीकृष्णके स्वरूपको प्रकाशित करनेवाला है। उसका मोक्ष-प्राप्तिके लिये सदा ही जप करते रहना चाहिये'॥ १॥

इस विषयमें यह गाथा प्रसिद्ध है—

जिस मन्त्रके प्रथम पदसे पृथ्वी प्रकट हुई, द्वितीय पदसे जलका प्रादुर्भाव हुआ, तृतीय पदसे तेजस्तत्त्वका प्राकट्य हुआ, चतुर्थ पदसे अग्नितत्त्व आविर्भूत हुआ तथा पञ्चम पदसे आकाशकी उत्पत्ति हुई, एकमात्र उसी अष्टादशाक्षर मन्त्रका निरन्तर अभ्यास (जप) करे। उसीके जपसे राजर्षि चन्द्रध्वज भगवान् श्रीकृष्णके अविनाशी परमधाम गोलोकको प्राप्त हो गये॥ २-३॥

अतः वह जो परम विशुद्ध, विमल, शोकरहित, लोभ आदिसे शून्य, सब प्रकारकी आसक्ति एवं वासनासे वर्जित गोलोकधाम है, वह उक्त पाँच पदोंवाले मन्त्रसे अभिन्न है; तथा वह मन्त्र साक्षात् वासुदेवस्वरूप ही है, जिस वासुदेवसे भिन्न दूसरा कुछ भी नहीं है। वे एकमात्र भगवान् गोविन्द पञ्चपद मन्त्रस्वरूप हैं। उनका श्रीविग्रह सच्चिदानन्दमय है। वे वृन्दावनमें कल्पवृक्षके नीचे रत्नमय सिंहासनपर सदा विराजमान रहते हैं। मैं मरुद्गणोंके साथ रहकर (इन) उत्तम स्तुतियोंद्वारा उन भगवान्‌को संतुष्ट करता हूँ॥ ४-५॥

ॐ नमो विश्वरूपाय विश्वस्थित्यन्तहेतवे।
विश्वेश्वराय विश्वाय गोविन्दाय नमो नमः॥ ६॥
नमो विज्ञानरूपाय परमानन्दरूपिणे।
कृष्णाय गोपीनाथाय गोविन्दाय नमो नमः॥ ७॥
नमः कमलनेत्राय नमः कमलमालिने।
नमः कमलनाभाय कमलापतये नमः॥ ८॥

बर्हापीडाभिरामाय रामायाकुण्ठमेधसे ।
रमामानसहंसाय गोविन्दाय नमो नमः ॥ ९ ॥
कंसवंशविनाशाय केशिचाणूरघातिने ।
वृषभध्वजवन्द्याय पार्थसारथये नमः ॥ १० ॥
वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने ।
कालिन्दीकूललीलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥ ११ ॥
वल्लवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने ।
नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥ १२ ॥
नमः पापप्रणाशाय गोवर्द्धनधराय च ।
पूतनाजीवितान्ताय तृणावर्तासुहारिणे ॥ १३ ॥
निष्कलाय विमोहाय शुद्धायाशुद्धवैरिणे ।
अद्वितीयाय महते श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥ १४ ॥
प्रसीद परमानन्द प्रसीद परमेश्वर ।
आधिव्याधिभुजङ्गेन दष्टं मामुद्धर प्रभो ॥ १५ ॥
श्रीकृष्ण रुक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर ।
संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो ॥ १६ ॥
केशव क्लेशहरण नारायण जनार्दन ।
गोविन्द परमानन्द मां समुद्धर माधव ॥ १७ ॥

'सम्पूर्ण विश्व जिनका स्वरूप है, जो विश्वके पालन और संहारके एकमात्र कारण हैं तथा जो स्वयं ही विश्वरूप और इस विश्वके अधीश्वर हैं, उन भगवान् गोविन्दको बारंबार नमस्कार है। जो विज्ञानस्वरूप और परमानन्दमयविग्रह हैं तथा जो जीवमात्रको अपनी ओर आकृष्ट कर लेनेवाले हैं, गोपसुन्दरियोंके प्राणनाथ उन भगवान् गोविन्दको प्रणाम है, प्रणाम है। जो नेत्रोंमें कमलकी शोभा धारण करते और कण्ठमें कमलपुष्पोंकी माला पहनते हैं, जिनकी नाभिसे कमल प्रकट हुआ है तथा जो कमला—लक्ष्मी, लक्ष्मीस्वरूपा गोपाङ्गनाओं-के तथा श्रीराधाके प्राणेश्वर हैं, उन भगवान् श्यामसुन्दरको नमस्कार है, नमस्कार है। मस्तकपर मोरपंखका मुकुट धारण करके जो परम सुन्दर दिखायी देते हैं, जिनमें सबका मन रमण करता है, जिनकी बुद्धि एवं स्मरणशक्ति कभी कुण्ठित नहीं होती, तथा जो लक्ष्मी, गोपसुन्दरीगण तथा श्रीराधाके मानसमें विहार करनेवाले राजहंस हैं, उन भगवान् गोविन्दको बारंबार प्रणाम है। जो कंसके वंशका विध्वंस करनेवाले तथा केशी और चाणूरके विनाशक हैं, भगवान् शङ्करके भी जो वन्दनीय हैं, उन पार्थ-सारथि भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है। अधरोंपर बाँसुरी रखकर उसे बजाते रहना जिनका स्वाभाविक गुण है, जो गौओंके पालक तथा कालियनागका मान-मर्दन करनेवाले हैं, कालिन्दीके रमणीय तटपर कालियह्रदमें नागके फणोंपर चञ्चलगतिसे जिनकी अविराम लास्य-लीला हो रही है, अतएव जिनके कानोंमें धारण किये हुए कुण्डल हिलते हुए झलमला रहे हैं, सहस्रों गोपसुन्दरियोंके निर्निमेष नेत्र जिनके श्रीअङ्गोंमें प्रतिबिम्बित होकर विकसित कमल-पुष्पोंकी मालासदृश शोभा पा रहे हैं तथा जो नृत्यमें संलग्न होकर अतिशय शोभायमान दिखायी देते हैं, उन शरणागत जनोंके प्रतिपालक भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम है, प्रणाम है। जो पाप और पापात्मा असुरोंके विनाशक हैं, व्रजवासियोंकी रक्षाके लिये हाथपर गोवर्धन धारण करते हैं, पूतनाके प्राणान्तकारक तथा तृणावर्त असुरके प्राण-संहारक हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार है। जो कला (अवयव) से रहित हैं, जिनमें मोहका सर्वथा अभाव है, जो स्वरूपसे ही परम विशुद्ध हैं, अशुद्ध (स्वभाव तथा आचरणवाले) असुरोंके शत्रु हैं, तथा जिनसे बढ़कर या जिनके समान भी दूसरा कोई नहीं है, उन सर्वमहान् परमात्मा श्रीकृष्णको बारंबार नमस्कार है। परमा-नन्दमय परमेश्वर ! मुझपर प्रसन्न होइये, प्रसन्न होइये। प्रभो ! मुझे आधि (मानसिक व्यथा) और व्याधि (शारीरिक व्यथा) रूपी सर्पोंने डस लिया है; कृपया मेरा उद्धार कीजिये। हे कृष्ण ! हे रुक्मिणीवल्लभ ! हे गोपसुन्दरियों-का चित्त चुरानेवाले श्यामसुन्दर ! मैं संसार-समुद्रमें डूब रहा हूँ। जगद्गुरो ! मेरा उद्धार कीजिये। हे केशव ! क्लेशहारी नारायण ! जनार्दन ! परमानन्दमय गोविन्द ! माधव ! मेरा उद्धार कीजिये' ॥ ६–१७ ॥

'मुनिवरो ! जिस प्रकार मैं इन प्रसिद्ध स्तुतियोंद्वारा भगवान्की आराधना करता हूँ, उसी प्रकार तुमलोग भी पाँच पदोंवाले पूर्वोक्त मन्त्रका जप और श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए उनकी आराधनामें लगे रहो। इसके द्वारा संसार-समुद्र-से तर जाओगे।' इस प्रकार ब्रह्माजीने उन सनकादि मुनियों-को उपदेश दिया ॥ १८ ॥

जो इस पूर्वोक्त पञ्चपद-मन्त्रका सदा जप करता है, वह अनायास ही भगवान्के उस अद्वितीय परमपदको प्राप्त हो जाता है। भगवान्का वह परमपद गतिशील नहीं—नित्य स्थिर है; फिर भी वह मनसे भी अधिक वेगवाला है।

भगवत्स्वरूप होनेके कारण ही वह एक—अद्वितीय है। देवता अर्थात् वाणी आदि इन्द्रियाँ वहाँतक कभी नहीं पहुँच सकी हैं। इन्द्रियोंकी जहाँ-जहाँ गति है, वहाँ-वहाँ वह पहलेसे ही पहुँचा हुआ है। तात्पर्य यह कि भगवान्‌का परमपद नित्य, स्थिर, एक और सर्वव्यापी है। इसलिये भगवान् श्रीकृष्ण ही परमदेव हैं। उनका ध्यान करे, मन्त्रजपद्वारा उनके नामामृतका रसास्वादन करे, तथा उन्हींका सदा भजन करे, उन्हींका सदा भजन करे॥ १९-२०॥ ॐ तत्सत्॥

॥ अथर्ववेदीय गोपालपूर्वतापनीयोपनिषद् समाप्त॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

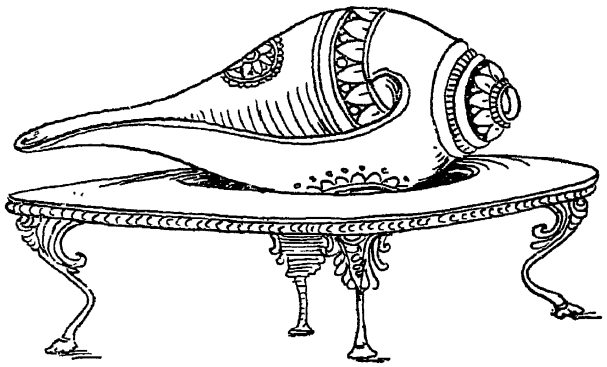

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

गोपालोत्तरतापनीयोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

राधा आदि गोपियोंका दुर्वासासे संवाद; दुर्वासाके द्वारा श्रीकृष्णके स्वरूपका वर्णन

एक समयकी बात है, सदा श्रीकृष्ण-मिलनकी ही अभिलाषा रखनेवाली व्रजकी गोपसुन्दरियाँ उनके साथ रात्रि व्यतीत करके प्रातःकाल उन सर्वेश्वर गोपालसे बोलीं तथा वे श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण भी उनसे बोले ॥ १ ॥

उनमें इस प्रकार बातचीत हुई—'प्यारे श्यामसुन्दर ! तुम हमें बताओ, हमें अपनी अभीष्ट-सिद्धिके लिये किस ब्राह्मण-को इस समय भोजन देना चाहिये ?' गोपियोंका यह प्रश्न सुनकर श्रीकृष्णने उत्तर दिया—'महर्षि दुर्वासाको भोजन देना उचित है' ॥ २ ॥

गोपियोंने पूछा—'प्यारे ! जहाँ जानेसे हमारा कल्याण होगा, वह मुनिवर दुर्वासाका आश्रम तो उस पार है । यमुनाका अगाध जल पार किये बिना हम वहाँ कैसे जायँगी ?' ॥ ३ ॥

भगवान् बोले—तुमलोग यमुनाजीके तटपर जाकर कहना—'श्रीकृष्ण नामसे प्रसिद्ध हमारे श्यामसुन्दर पूर्ण ब्रह्मचारी हैं ।' यों कहनेपर यमुनाजी तुम्हें पार जानेके लिये मार्ग दे देंगी । मैं वह हूँ, जिससे सबकी उन्नति होती है । मैं वह हूँ, जिसका स्मरण करनेसे अथाहकी भी थाह मिल जाती है । मैं वह हूँ, जिसका स्मरण करके अपवित्र भी पवित्र हो जाता है । मैं वह हूँ, जिसका स्मरण करके व्रतहीन भी व्रतधारी हो जाता है । मैं वह हूँ, जिसका स्मरण करके निष्काम आत्माराम भी सकाम (परम प्रेमी) हो जाता है । तथा मैं वह हूँ, जिसका स्मरण करके वेद-ज्ञानसे रहित पुरुष भी वेदज्ञ हो जाता है ॥ ४ ॥

कहते हैं, भगवान्‌का यह कथन सुनकर गोपसुन्दरियाँ महादेवजीके अंशभूत दुर्वासाका स्मरण करके—उन्हींको लक्ष्य करके वहाँसे चलीं, और श्रीकृष्णके वचनको दुहराकर सूर्यकन्या यमुनाके पार हो मुनिके परम पवित्र आश्रम-पर जा पहुँचीं । फिर उन सर्वश्रेष्ठ मुनिको, जो रुद्रके ही अंश थे, प्रणाम करके उन ब्राह्मणदेवताको दूध और घीके बने हुए मीठे और प्रिय पदार्थ देकर गोपाङ्गनाओं-ने संतुष्ट किया । प्रसिद्ध महर्षि दुर्वासाने भोजन करके उच्छिष्ट अन्नका यथास्थान त्याग करके गोपियोंको यथेष्ट आशीर्वाद दे घर लौट जानेके लिये आज्ञा दी । तब गोप-सुन्दरियोंने पूछा—'हम सूर्यकन्या यमुनाको कैसे पार करके जायँगी ?' ॥ ५-७ ॥

तब वे सुप्रसिद्ध मुनि बोले—मैं केवल दूबका ही भोजन करनेवाला हूँ, इस रूपमें मेरा स्मरण करनेसे यमुनाजी तुम्हें मार्ग दे देंगी ॥ ८ ॥

उन गोपसुन्दरियोंमें सुन्दर गुण और स्वभावकी दृष्टिसे सबसे श्रेष्ठ थीं गान्धर्वी—श्रीराधा । उन्होंने वहाँ आयी हुई उन सभी गोपियोंके साथ विचार करके मुनिवर दुर्वासासे इस प्रकार पूछा—'हमारे साथ नित्य विहार करनेवाले श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण कैसे ब्रह्मचारी हैं ? और अभी-अभी इतना पकवान

भोजन करनेवाले महर्षि दुर्वासा किस प्रकार केवल दूर्वा ही खाते हैं?' ॥ ९-१० ॥

श्रीराधाको ही प्रधान बनाकर और उन्हें ही आगे करके अन्य गोपाङ्गनाएँ उन्हींके पीछे चुपचाप खड़ी हो गयी थीं ॥ ११ ॥

दुर्वासाने कहा—सुनो, आकाश शब्द-गुणसे युक्त है; परंतु परमात्मा शब्द और आकाश दोनोंसे भिन्न हैं। फिर भी वे उक्त गुणवाले आकाशमें उसके अन्तर्यामी आत्मा होकर निवास करते हैं । वह शब्दवान् आकाश उन अन्तर्यामी परमात्माको नहीं जानता; वही परमात्मस्वरूप आत्मा मैं हूँ, फिर मैं भोजन करनेवाला कैसे हो सकता हूँ। वायु स्पर्श-गुणसे युक्त है, किंतु परमात्मा स्पर्श और वायु दोनोंसे भिन्न हैं; फिर भी वे वायुमें उसके अन्तर्यामी आत्मारूपसे निवास करते हैं। वह स्पर्शवान् वायुतत्त्व उन अन्तर्यामी परमात्माको नहीं जानता। वही विशुद्ध आत्मा मैं भी हूँ, अतः मैं भोक्ता कैसे हो सकता हूँ। यह तेज रूप-गुणसे युक्त है, किंतु परमात्मा रूप और तेज दोनोंसे भिन्न हैं। फिर भी वे अग्निमें उसके अन्तर्यामी आत्मारूपसे निवास करते हैं । वह अग्नि उन अन्तर्यामी परमात्माको नहीं जानता। वही विशुद्ध आत्मा मैं हूँ। अतः मैं भोक्ता कैसे हो सकता हूँ। जल रस-गुणसे युक्त है; किंतु परमात्मा रस और जल दोनोंसे भिन्न हैं। तथापि वे उस जलमें अन्तर्यामी आत्मारूपसे निवास करते हैं। जल उन अन्तर्यामी परमात्माको नहीं जानता। वही विशुद्ध आत्मा मैं भी हूँ, अतः मैं भोक्ता कैसे हो सकता हूँ। यह पृथिवी गन्ध-गुणसे युक्त है, किंतु परमात्मा गन्ध एवं पृथिवी दोनोंसे भिन्न हैं । तथापि वे भूमिमें उसके अन्तर्यामी आत्मारूपसे निवास करते हैं। भूमि उन अन्तर्यामी परमात्माको नहीं जानती। वही विशुद्ध आत्मा मैं हूँ, अतः मैं भोक्ता कैसे हो सकता हूँ। यह मन ही उन आकाश आदिके विषयमें संकल्प-विकल्प करता है, यही उन विषयोंको ग्रहण करता है। जहाँ सब कुछ आत्मा ही हो गया है, वहाँ किस विषयका आश्रय लेकर यह मन संकल्प-विकल्प करे अथवा किस विषयकी ओर जाय? इसलिये मैं वही विशुद्ध आत्मा हूँ, फिर कैसे भोक्ता हो सकता हूँ ॥१२-१८॥

ये श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण, जो तुम्हारे प्रियतम हैं, व्यष्टि और समष्टिके स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरोंके कारण हैं। सदा साथ रहनेवाले दो पक्षियोंकी भाँति जीवात्मा और परमात्मा एक दूसरेके नित्य सहचर हैं। इनमें जो परमात्माका अंश-भूत इतर जीव है, वह तो भोक्ता होता है; और उससे भिन्न साक्षात् परमात्मा (श्रीकृष्ण) साक्षीमात्र होते हैं । वृक्षके समान धर्मवाले नाशवान् शरीरमें वे दोनों रहते हैं । इनमें एक भोक्ता है और दूसरा अभोक्ता। पहला (जीवात्मा) तो भोक्ता है और दूसरा स्वतन्त्र ईश्वर ही अभोक्ता है । यह अभोक्ता परमेश्वर ही श्रीकृष्ण हैं । जिनमें मोक्ष और बन्धन देनेवाली विद्या और अविद्याका अस्तित्व हम नहीं जानते, जो विद्या और अविद्या दोनोंसे विलक्षण हैं तथा जो विद्यामय हैं, वे श्रीकृष्ण विषयी कैसे हो सकते हैं ? ॥ १९-२१ ॥

जो कामना (विषयासक्ति) से नाना प्रकारके भोगोंकी अभिलाषा करता है, वही कामी होता है; परंतु जो निश्चय-पूर्वक कामनाके बिना ही केवल प्रेमी भक्तोंके प्रेमवश उनके द्वारा अर्पित भोगोंको ग्रहण करनेकी इच्छा करता है, वह अकामी होता है—उसे कामना और आसक्तिसे दूर माना जाता है। ये श्रीकृष्ण जन्म और जरा (बुढ़ापा) आदि शारीरिक धर्मोंसे रहित हैं। ये स्थिर हैं—नित्य हैं, इनका छेदन नहीं हो सकता। वे जो सूर्यमण्डलमें विराजमान हैं, जो गौओंमें रहते हैं, जो गौओंकी रक्षा करते हैं, जो ग्वालोंके भीतर हैं, जो सम्पूर्ण देवताओंमें भी अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं, सम्पूर्ण वेदोंके द्वारा जिनकी महिमाका गान किया जाता है, जो समस्त चराचर भूतोंमें व्याप्त होकर स्थित हैं तथा जो भूतोंकी सृष्टि भी करते हैं, वे भगवान् ही तुम्हारे स्वामी हैं ॥२२-२३॥

यह सुनकर वे गान्धर्वी नामसे प्रसिद्ध श्रीराधाजी बोलीं—'महर्षे ! ऐसे अद्भुत, अचिन्त्य महिमावाले गोपाल श्रीकृष्ण हमलोगोंके यहाँ कैसे प्रकट हो गये ? तथा आपने उन श्रीकृष्णका तत्त्व कैसे जाना? उनकी प्राप्तिका साधनभूत मन्त्र कौन-सा है ? उन भगवान्का निवास-स्थान कहाँ है ? वे देवकीजीके गर्भसे किस प्रकार उत्पन्न हुए ? इनके बड़े भैया बलरामजी कौन हैं ? तथा कैसे इन गोपालकी पूजा होती है ? प्रकृतिसे परे जो ये साक्षात् परमात्मा गोपाल हैं, किस प्रकार इस भूमिपर अवतीर्ण हुए ? यह सब स्पष्टरूपसे बताइये' ॥ २४ ॥

तब उन प्रसिद्ध महर्षि दुर्वासाने श्रीराधासे कहा—यह बात सबको विदित है कि सृष्टिके आदिमें एकमात्र भगवान् नारायण ही विराजमान थे, जिनमें ये सम्पूर्ण लोक ओतप्रोत हैं। उनके मानसिक सङ्कल्पसे नाभिमें जो कमल प्रकट हुआ था, उससे कमलयोनि ब्रह्माजीकी उत्पत्ति हुई। भगवान् नारायणने ब्रह्माजीसे तपस्या करवाकर उन्हें वरदान दिया ॥ २५-२६ ॥

ब्रह्माजीने इच्छानुसार प्रश्न पूछनेका ही वरदान माँगा और भगवान् नारायणने वैसा वर उन्हें दे दिया ॥ २७ ॥

तदनन्तर उन विश्वविख्यात ब्रह्माजीने पूछा—'भगवन्! समस्त अवतारोंमें कौन-सा अवतार सबसे श्रेष्ठ है, जिससे सब लोक सन्तुष्ट हों, सम्पूर्ण देवता भी सन्तुष्ट हों, जिसका स्मरण करके मनुष्य इस संसारसे मुक्त हो जाते हैं ? तथा इस श्रेष्ठ अवतारकी परब्रह्मरूपता कैसे सिद्ध हो सकती है ?' ॥२८॥

यह प्रश्न सुनकर उन प्रसिद्ध भगवान् नारायणने उन ब्रह्माजीसे कहा—'वत्स ! जैसे मेरु-शिखरपर (यमातिरिक्त सात लोकपालोंकी) सात पुरियाँ हैं, जिन्हें सकामभावसे पुण्य करनेवाले पुरुष प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार इस भूगोल-चक्रमें भी सात पुरियाँ[1] हैं, जो निष्काम तथा सकाम—सभी प्रकारके लोगोंद्वारा सेवन करनेयोग्य हैं। (सकाम भाववाले पुरुषोंकी कामना पूर्ण करनेके कारण वे 'सकाम्या' हैं, और निष्काम पुरुषोंको मोक्ष देनेवाली होनेके कारण 'निष्काम्या' हैं।) उन सबके मध्यमें साक्षात् परब्रह्मरूप गोपालकी पुरी मथुरा है; अतः वह सम्पूर्ण देवताओं तथा समस्त भूतोंके लिये भी सकाम्या (कामना पूर्ण करनेवाली) और निष्काम्या (मोक्षदायिनी) है ॥ २९ ॥

निश्चय ही जिस प्रकार सरोवरमें कमल होता है, उसी प्रकार भूतलपर यह पुरी स्थित है । (कमलकी कर्णिकाके स्थानपर तो यह पुरी है और दलोंके स्थानपर मधुवन आदि वन हैं।) अवश्य ही मथुरापुरी भगवान् गोपालके चक्रद्वारा सुरक्षित है, इसलिये वह गोपाल-पुरीके नामसे प्रसिद्ध है । विशाल बृहद्वन (महावन), मधुदैत्यके नामपर प्रसिद्ध मधुवन, ताड़के वृक्षोंसे सुशोभित तालवन, कमनीय श्रीकृष्णकी विहारस्थली काम्यवन (कामवन), कृष्ण-प्रिया बहुलाके नामसे प्रसिद्ध बहुलावन, कुमुद-वृक्षोंसे उपलक्षित कुमुदवन, खदिर-वृक्षोंकी अधिकताके कारण प्रसिद्ध खदिरवन, जहाँ बलभद्रजी विचरते हैं—वह भद्रवन, 'भाण्डीर' नामक वटसे उपलक्षित भाण्डीरवन, लक्ष्मीका निवासभूत श्रीवन, लोहगन्धकी तपस्याका स्थान लोहवन, वृन्दादेवीसे सनाथ हुआ वृन्दावन—इन (कमलदलोंके समान सुशोभित) बारह वनोंसे वह मथुरापुरी घिरी हुई है। उस मथुरामण्डलके अन्तर्गत उपर्युक्त वनोंमें ही देवता, मनुष्य, गन्धर्व, नाग और किन्नर (श्रीकृष्ण-प्रेमसे उन्मत्त हो) गाते और नृत्य करते हैं । उन बारह वनोंमें बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र, आठ वसु, सप्त ऋषि, ब्रह्मा, नारद, पाँच गणेश एवं वीरेश्वर, रुद्रेश्वर, अम्बिकेश्वर, गणेश्वर, नीलकण्ठ, विश्वेश्वर, गोपालेश्वर तथा भद्रेश्वर आदि चौबीस शिवलिङ्गोंका निवास है। दो प्रमुख वन हैं—कृष्णवन और भद्रवन। इनके बीचमें ही पूर्वोक्त बारह वन हैं, जो परम पवित्र एवं पुण्यमय हैं। उन्हींमें देवता रहते हैं। वहीं सिद्धगण तपस्या करके सिद्धिको प्राप्त हुए हैं । वहीं बलरामजीकी रमणीय राममूर्ति, प्रद्युम्नकी प्रद्युम्नमूर्ति, अनिरुद्धकी अनिरुद्धमूर्ति तथा श्रीकृष्णकी श्रीकृष्णमूर्ति विराजती है। इस प्रकार मथुरामण्डलके बारह वनोंमें भगवान्के बारह अर्चा-विग्रह विराजमान हैं। इनमेंसे प्रथम मूर्तिका पूजन रुद्रगण करते हैं। दूसरी मूर्तिका पूजन स्वयं ब्रह्माजी करते हैं। तीसरीकी पूजा ब्रह्माजीके पुत्र सनकादि मुनि करते हैं । चौथे विग्रहकी आराधना मरुद्गण करते हैं। पाँचवें स्वरूपकी अर्चना विनायकगण करते हैं। छठे विग्रहकी पूजा वसुगण करते हैं। सातवेंकी आराधना ऋषि करते हैं । आठवीं मूर्तिकी पूजा गन्धर्व करते हैं। नवें विग्रहका पूजन अप्सराएँ करती हैं । दसवीं मूर्ति आकाशमें गुप्तरूपसे स्थित है। ग्यारहवीं अन्तरिक्षमें स्थित है और बारहवीं भूगर्भमें विराजती है। अर्चा-विग्रहोंका जो लोग पूजन करते हैं, वे मृत्युसे तर जाते हैं, मोक्ष पा लेते हैं, गर्भवास, जन्म, जरावस्था, मृत्यु तथा आध्यात्मिक आदि त्रिविध तापके दुःखको लाँघ जाते हैं ॥ ३०–३८ ॥

इस विषयमें श्लोक भी हैं, जिनका भाव इस प्रकार है—

जो ब्रह्मा आदि देवताओंसे सदा सेवित है; भगवान्के शङ्ख, चक्र, गदा और शार्ङ्ग-धनुष निरन्तर जिसकी रक्षामें रहते हैं; जो बलभद्रजीके मुसल आदि शस्त्रोंसे भी सदा सुरक्षित है, उस परम रमणीय मथुरापुरीमें पहुँचकर (भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन करे)। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण अपने अन्य तीन विग्रह—बलराम, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्धके साथ एवं अपनी अन्तरङ्गा शक्ति श्रीरुक्मिणीजीके साथ सदा समाहित (भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये सतत सावधान) रहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण एकमात्र पूर्ण परमात्मा हैं, तो भी वे प्रणवकी मात्राओंके भेदसे चार नामोंसे प्रसिद्ध होते हैं । (ॐकारकी चार मात्राएँ हैं—अ, उ, म् तथा अर्धमात्रा ।) इनमें अकारात्मक विश्वरूप तो बलरामजी हैं, उकारात्मक तैजसरूप प्रद्युम्न हैं, मकारात्मक प्राज्ञरूप अनिरुद्धजी हैं तथा अर्ध-मात्रात्मक तुरीयरूप भगवान् वासुदेव हैं ॥ ३९-४० ॥

१. वे सात पुरियाँ हैं—अयोध्या, मथुरा, माया (हरिद्वार), काशी, काञ्ची, अवन्ती (उज्जयिनी) तथा द्वारकापुरी ।

अतः रजोगुणसे अर्थात् त्रिगुणमयी प्रकृतिसे परे जो भगवान् गोपाल हैं, 'वह मैं ही हूँ'—इस प्रकार निश्चय करके अपने आत्मामें गोपालकी भावना करे। जो यों करता है, वह मोक्ष-सुखका अनुभव करता है, ब्रह्मभावको प्राप्त होता है तथा ब्रह्मवेत्ता होता है। जो गोपों अर्थात् जीवोंको सृष्टिसे लेकर प्रलयतक सदा ही आत्मीय मानकर स्वीकार करते तथा सदा उनकी रक्षा एवं पालनमें संलग्न रहते हैं, वे प्रणववाच्य भगवान् ही गोपाल हैं। 'वे तत्, सत्, परब्रह्म श्रीकृष्ण ही मेरे आत्मा हैं; नित्यानन्दैकरूप जो गोपाल हैं, वह मैं हूँ। ॐ वे गोपालदेव ही तीनों कालोंसे अबाधित परम सत्य हैं। वह मैं हूँ'—इस प्रकार अपनेको लेकर मनसे भगवान्‌के साथ एकता करे। अपनेको इस भावसे देखे—अपने विषयमें यह निश्चय करे कि 'मैं गोपाल हूँ—वे ही गोपाल, जो अव्यक्त, अनन्त एवं नित्य हैं' ॥ ४१–४४ ॥

भगवान् कहते हैं—ब्रह्मन्! मथुरापुरीमें मेरा निवास सदा ही बना रहेगा। निश्चय ही मैं वहाँ शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और वनमालासे विभूषित होकर रहूँगा। ब्रह्मन्! मेरा स्वरूप चिन्मय है, सर्वोत्कृष्ट और स्वप्रकाशरूप है; इसमें प्राकृत रूपकी गन्ध भी नहीं है। इस प्रकार जो सदा मेरे स्वरूपका चिन्तन करता है, वह निश्चय ही मेरे परमधामको प्राप्त होता है। जो मुख्यतः मथुरामण्डलमें अथवा जम्बूद्वीपके किसी भी प्रदेशमें रहकर मेरी प्रतिमाका सामग्रियोंद्वारा पूजन करता है तथा मेरा भी ध्यानके द्वारा समाराधन करता है, वह इस भूमण्डलपर मुझे सर्वाधिक प्रिय है। ब्रह्मन्! मथुरामें मैं श्रीकृष्णरूपसे ही सदा वास करता हूँ, अतः वहाँ तुम्हें उसी रूपमें मेरा पूजन करना चाहिये। अधिकारभेदसे विभिन्न युगोंका अनुसरण करनेवाले उत्तम बुद्धिसम्पन्न भक्तजन चार रूपोंमें मेरी उपासना—मेरा पूजन करते हैं। वे पीछे प्रकट हुए प्रद्युम्न और अनिरुद्धके साथ गोपाल श्रीकृष्णकी और बलरामकी पूजा करते हैं (ये ही चार व्यूह हैं)। इसके सिवा देवी रुक्मिणीके साथ उनके परम प्रियतम भगवान् वासुदेवकी भी पूजा करते हैं। (युग-क्रमसे सत्ययुगमें श्वेतवर्ण बलरामकी, त्रेतामें रक्तवर्ण प्रद्युम्नकी, द्वापरमें पीतवर्ण अनिरुद्धकी और कलिमें श्यामवर्ण श्रीकृष्णकी आराधना करते हैं) ॥ ४५–४९ ॥

विद्वान् पुरुष ऐसी भावना करे कि 'मैं नित्य अजन्मा गोपाल हूँ, सनातन प्रद्युम्न हूँ, बलराम हूँ तथा अनिरुद्ध हूँ।' इस प्रकार अपने आत्मारूपसे भगवान्‌का चिन्तन करके उनकी पूजा करे। मैंने वेद, पाञ्चरात्र तथा अन्यान्य शास्त्रोंमें जो विभागपूर्वक वर्णाश्रम-धर्मका उपदेश दिया है, उसके अनुसार निष्काम भावसे स्वधर्मका अनुष्ठान करते हुए उसके द्वारा मेरा पूजन करना चाहिये। भद्रवन एवं कृष्णवनके निवासियोंको वहाँ विराजमान मेरे स्वरूपकी आराधना करनी चाहिये ॥ ५०-५१ ॥

जो (सकाम या निष्काम) धर्माचरणसे प्राप्त होनेवाली (स्वर्ग-अपवर्गरूप) सद्गतिसे वञ्चित हैं (अतएव मनुष्य-रूपमें जन्मे हैं), कलिकालने जिन्हें अपना ग्रास बना लिया है तथा जो मथुरामें रहकर मेरे भजनमें संलग्न रहते हैं, उनकी वहाँ अवश्य स्थिति होती है। (वे वहाँ रहनेके अधिकारी हैं तथा वहाँ रहकर भजन करनेसे उन्हें निश्चय ही अभीष्ट-सिद्धि प्राप्त होती है।) ब्रह्मन्! जैसे तुम अपने सनक-सनन्दन आदि पुत्रोंके साथ स्नेहयुक्त सम्बन्ध रखते हो, जैसे महादेवजी प्रमथगणोंके साथ स्नेह-सम्बन्ध रखते हैं तथा जैसे लक्ष्मीके साथ मेरा प्रेमपूर्ण सम्बन्ध है, उसी प्रकार मेरा भक्त भी मुझे परम प्रिय है ॥ ५२-५३ ॥

तदनन्तर उन पद्मसम्भव ब्रह्माजीने पूछा—'भगवन्! एक ही देव—आप परमेश्वर चार देवताओं (चतुर्व्यूहों) के रूपमें कैसे हो गये? और इसी प्रकार जो एक अक्षरके रूपमें विख्यात ॐकार है, वह अनेक अक्षर—अकार, उकार, मकार तथा अर्धमात्रा आदिके रूपमें कैसे हो गया?'

यह प्रश्न सुनकर भगवान् नारायणने उन प्रसिद्ध ब्रह्माजीसे कहा—

सृष्टिके पूर्व एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म ही सर्वत्र विराजमान था। सर्गकालमें उस ब्रह्मसे अव्यक्त (अव्याकृत मूल प्रकृति) का प्रादुर्भाव हुआ। (अक्षर—अविनाशी ब्रह्मसे उत्पन्न होनेके कारण) अव्यक्त (प्रकृति) भी अक्षर (ब्रह्म) ही है। उस अक्षर अर्थात् अव्यक्त प्रकृतिसे महत्तत्त्व प्रकट हुआ। महत्तत्त्वसे (सात्त्विक, राजस और तामस भेदवाला त्रिविध) अहंकार उत्पन्न हुआ। उस (तामस) अहंकारसे शब्द आदि पाँच तन्मात्राएँ प्रकट हुईं और उनसे क्रमशः आकाश आदि पाँच महाभूतोंकी सृष्टि हुई। (इसी प्रकार राजस अहंकारसे इन्द्रियों तथा सात्त्विक अहंकारसे उनके अधिष्ठाता देवोंकी उत्पत्ति हुई।) इस प्रकार शरीर-इन्द्रिय आदिके रूपमें स्थित उन महत्तत्त्व आदिसे तथा भूतोंसे वह अक्षर परमात्मा आवृत है। (इन प्राकृत आवरणोंसे छिपे हुए अक्षर परमात्माको प्रायः संसारी मनुष्य देख नहीं पाते। वास्तवमें वह अक्षर परमात्मा सब-

भगवान् श्रीगोविन्द

नमो विज्ञानरूपाय परमानन्दरूपिणे ।
कृष्णाय गोपीनाथाय गोविन्दाय नमो नमः ॥
(गो० पू० ५।७)

सच्चिदानन्द नारायण

श्रीवत्सलाञ्छनं हृत्स्थं कौस्तुभ प्रभया युतम् । चतुर्भुजं शङ्खचक्रशार्ङ्गपद्मगदान्वितम् ॥
सुकेयूरान्वितं बाहुं कण्ठं मालासुशोभितम् । द्युमत्किरीटं वलयं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥
हिरण्मयं सौम्यतनुं स्वभक्तायाभयप्रदम् । (गो० उ० ६१–६३)

का अन्तर्यामी आत्मा है; अतः उसको अपनेसे अभिन्न मानकर ऐसी भावना करनी चाहिये कि) 'मैं अक्षर हूँ—मैं साक्षात् अविनाशी परमात्मा हूँ; उन परमात्माका वाचक जो प्रणव (ॐ) अक्षर है, वह भी मैं हूँ । इसी प्रकार मैं अमर हूँ, निर्भय हूँ और अमृत हूँ । वह जो भयशून्य ब्रह्म है, निःसंदेह वह मैं हूँ । मैं मुक्त हूँ और अक्षर भी मैं हूँ ।' (तात्पर्य यह कि जैसे एक ही ब्रह्म महत्तत्त्वादि रूपोंमें प्रकट और अनन्त नाम-रूपवाले जगत्के आकारमें प्रादुर्भूत हो गया, उसी प्रकार एक ही तत्त्व चतुर्व्यूहरूपमें प्रकट हुआ है और एक ही अक्षरसे अनेक अक्षरोंका भी आविर्भाव हुआ है ।) नित्य सत्ता जिसका स्वरूप है, सम्पूर्ण विश्व जिसका ही आकार है तथा जो प्रकाशस्वरूप एवं सर्वत्र व्यापक है, वह एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म अपनी लीलासे चार व्यूहोंके रूपोंमें प्रकाशित हो रहा है ॥ ५४ ॥

रोहिणीनन्दन बलरामजी प्रणवके 'अ' अक्षरके द्वारा प्रतिपादित होते हैं । ये जाग्रत्-अवस्थाके अभिमानी होनेके कारण 'विश्व' कहे गये हैं । स्वप्नावस्थाके अभिमानी प्रद्युम्नजी 'तैजस' कहलाते हैं । प्रणवके 'उ' अक्षरसे इनका ही बोध होता है । अनिरुद्धजी सुषुप्तिके अभिमानी 'प्राज्ञ' कहे गये हैं । प्रणवके 'म्' अक्षरसे इनका ही प्रतिपादन होता है । जहाँ यह सम्पूर्ण विश्व प्रतिष्ठित है, वे श्रीकृष्ण तुरीय तत्त्व हैं । इन्हें अर्धमात्रात्मक नादरूप या प्रणवका सम्पूर्ण स्वरूप बताया गया है । पूर्वोक्त विश्व, तैजस आदि इन्हींमें अन्तर्हित हैं ॥ ५५-५६ ॥

समस्त जगत्की रचना करनेवाली मूलप्रकृतिरूपा देवी रुक्मिणी श्रीकृष्णकी अन्तरङ्गा शक्ति हैं, अतएव श्रीकृष्णस्वरूपा हैं । गोपियोंके रूपमें प्रकट होनेवाली जो श्रुतियाँ हैं, उनकी अपेक्षा प्रणवके साथ ब्रह्मका अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है; श्रुतियाँ और श्रुतिरूपा गोपियाँ दूरसे श्रीकृष्णका आराधन करती हैं, और प्रणव एवं रुक्मिणी आदि शक्तियाँ ब्रह्मके साथ अभिन्नता रखती हैं । अतः ब्रह्मका साक्षात् वाचक प्रणव जिस प्रकार ब्रह्मकी प्रकृति है, उसी प्रकार रुक्मिणीको भी ब्रह्मसे साक्षात् सम्बन्ध रखनेके कारण ब्रह्मवादीजन प्रकृति ही बताते हैं । इसलिये सम्पूर्ण विश्वके आधारभूत भगवान् गोपाल ही ॐकाररूपमें प्रतिष्ठित हैं । ब्रह्मवादीजन 'क्लीम्' तथा ॐकारका एक ही अर्थमें पाठ करते हैं । (अतः कृष्णके बीजभूत 'क्लीम्' तथा 'ॐ'में अर्थतः कोई अन्तर नहीं है ।) विशेषतः मथुरापुरीमें जो चतुर्भुजरूपमें मेरा ध्यान करता है, वह मोक्ष-सुखका अनुभव करता है ॥ ५७–५९ ॥

ध्यानका स्वरूप यों है—भक्तका अष्टदल हृदय-कमल प्रसन्नतासे विकसित है, उसमें भगवान् विराज रहे हैं । उनके दोनों चरण शङ्ख, ध्वजा और छत्रादिके चिह्नोंसे सुशोभित हैं । हृदयमें श्रीवत्स-चिह्न शोभा पा रहा है । वहीं कौस्तुभमणि अपनी अद्भुत प्रभासे प्रकाशित हो रही है । भगवान्के चार हाथ हैं । उनमें शङ्ख, चक्र, शार्ङ्गधनुष, पद्म और गदा—ये सुशोभित हैं । बाँहोंमें भुजबंद शोभा दे रहा है । कण्ठमें धारण की हुई वनमाला भगवान्की स्वाभाविक शोभाको और भी बढ़ा रही है । मस्तकपर किरीट चमचमा रहा है और कलाइयोंमें चमकीले कङ्कण शोभा पा रहे हैं । दोनों कानोंमें मकराकृति कुण्डल झलमला रहे हैं । सुवर्णमय पीताम्बरसे सुशोभित श्यामसुन्दर श्रीविग्रह है । भगवान् इस मुद्रासे स्थित हैं, मानो अपने भक्तजनोंको अभय प्रदान कर रहे हैं । इस प्रकार प्रतिदिन मेरे चतुर्भुजरूपका मन-ही मन चिन्तन करे । अथवा मुरली तथा सींग धारण करनेवाले मेरे द्विभुज रूप (श्रीकृष्ण-विग्रह) का ध्यान करे* ॥ ६०–६२ ॥

जिस ब्रह्मज्ञानसे सम्पूर्ण जगत् मथ डाला जाता है, उसके सार (विषय) परब्रह्म —लीला-पुरुषोत्तम जिस पुरीमें विराजमान रहते हों, उसे मथुरा कहते हैं । वहाँ आठ दिक्पालरूपी दलोंसे विभूषित मेरा यह भूमिरूपी कमल जगत्के रूपमें प्रकाशित हो रहा है । यह कमल संसार-समुद्रसे ही प्रकट हुआ है तथा जिनका अन्तःकरण राग-द्वेष आदिसे शून्य—पूर्णतः सम है, वे ही हंस या भ्रमररूपसे उस कमलका सेवन करते हैं । चन्द्रमा और सूर्यकी दिव्य किरणें पताकाएँ हैं और सुवर्णमय पर्वत मेरु मेरा ध्वज है । ब्रह्मलोक मेरा छत्र और नीचे-ऊपरके क्रमसे स्थित सात पाताल-लोक मेरे चरण हैं । लक्ष्मीका निवासभूत जो श्रीवत्स है, वह मेरा स्वरूप ही है । वह

---

* श्रीवत्सलाञ्छनं हृत्स्थं कौस्तुभं प्रभया युतम् ।
चतुर्भुजं शङ्खचक्रशार्ङ्गपद्मगदान्वितम् ॥
सुकेयूरान्वितं बाहुं कण्ठं मालासुशोभितम् ।
द्युमत्किरीटं वलयं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥
हिरण्मयं सौम्यतनुं स्वभक्तायाभयप्रदम् ।
ध्यायेन्मनसि मां नित्यं वेणुशृङ्गधरं तु वा ॥

लाञ्छन अर्थात् चन्द्राकृति रोम-पङ्क्तिके चिह्नसे युक्त है; इसलिये ब्रह्मवादीजन उसे श्रीवत्स-लाञ्छन कहते हैं। भगवत्स्वरूपभूत जिस तेजसे सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि तथा वाक् आदि तेज भी प्रकाश प्राप्त करते हैं, उस चिन्मय आलोक-को परमेश्वरके भक्तजन कौस्तुभमणि कहते हैं। सत्त्व, रज, तम और अहंकार—ये ही मेरी चार भुजाएँ हैं। मेरे रजोगुणमय हाथमें पञ्चभूतात्मक पाञ्चजन्य नामक शङ्ख स्थित है। अत्यन्त चञ्चल समष्टि-मन ही मेरे हाथमें चक्र कहलाता है, आदिमाया ही शार्ङ्ग नामक धनुष है तथा सम्पूर्ण विश्व ही कमलरूपसे मेरे हाथमें विराजमान है। आदि-विद्याको ही गदा समझना चाहिये, जो सदा मेरे हाथमें स्थित रहती है। कभी प्रतिहत न होनेवाले धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी चार दिव्य केयूरों (भुजबंदों) से मेरी चारों भुजाएँ विभूषित हैं। ब्रह्मन्! मेरा कण्ठ निर्गुण तत्त्व कहा गया है; वह अजन्मा मायाद्वारा मालित (आवृत) होता है, इसलिये तुम्हारे मानस-पुत्र सनकादि मुनि उस अविद्याको मेरी माला बताते हैं। मेरा जो कूटस्थ 'सत्' स्वरूप है, उस रूपमें मुझको ही किरीट कहते हैं। क्षर (सम्पूर्ण विनाशी शरीर) और उत्तम (जीव)—ये दोनों मेरे कानोंमें झलमलाते हुए युगल कुण्डल माने गये हैं।

इस प्रकार जो नित्य मनमें मेरा ध्यान करता है, वह मोक्ष-को प्राप्त होता है। वह मुक्त हो जाता है, निश्चय ही उसे मैं अपने-आपको दे डालता हूँ। ब्रह्मन्! मैंने तुमसे अपने सगुण और निर्गुण—द्विविध स्वरूपके विषयमें जो कुछ बताया है, यह सब सत्य है और भविष्यमें होनेवाला है॥ ६४—७५॥

तब कमलयोनि ब्रह्माजीने पूछा—'भगवन्! आपके द्वारा बतायी हुई जो आपकी व्यक्त मूर्तियाँ हैं, उनका अवधारण (निश्चय) कैसे हो सकता है? कैसे देवता उनका पूजन करते हैं? कैसे रुद्र पूजन करते हैं, कैसे यह ब्रह्मा पूजन कर सकता है? कैसे विनायकगण पूजन करते हैं? कैसे बारह सूर्य पूजन करते हैं? कैसे वसुगण पूजन करते हैं? कैसे अप्सराएँ पूजन करती हैं? कैसे गन्धर्व पूजन करते हैं? जो अपने पदपर ही प्रतिष्ठित रहकर अदृश्यरूपसे स्थित है, वह कौन है और उसकी पूजा कैसे होती है? तथा मनुष्यगण किसकी और किस प्रकार पूजा करते हैं?'॥ ७६॥

तब वे प्रसिद्ध भगवान् नारायण ब्रह्माजीसे बोले—मेरी बारह अव्यक्त मूर्तियाँ हैं, जो सबकी आदिभूता हैं। वे सब लोकोंमें, सब देवोंमें तथा सब मनुष्योंमें स्थित हैं॥ ७७॥

वे अव्यक्त मूर्तियाँ इस प्रकार हैं—रुद्रगणोंमें रौद्री मूर्ति, ब्रह्मामें ब्राह्मी मूर्ति, देवताओंमें दैवी मूर्ति, मानवोंमें मानवी मूर्ति, विनायकगणोंमें विघ्ननाशिनी मूर्ति, बारह सूर्योंमें ज्योति-र्मूर्ति, गन्धर्वोंमें गान्धर्वी मूर्ति, अप्सराओंमें गौ, वसुओंमें काम्या तथा अन्तर्धानमें अप्रकाशिनी मूर्ति है। इसके सिवा, जो आविर्भाव-तिरोभावरूपा केवला मूर्ति है, वह अपने पदमें (अपनी महिमा एवं परमधाममें) प्रतिष्ठित है। मानुषी मूर्ति सात्त्विकी, राजसी और तामसी—तीन प्रकारकी होती है। केवल सच्चिदानन्दैकरसरूप भक्तियोगमें ही विज्ञानघन और आनन्दघन मूर्ति प्रतिष्ठित है॥ ७८-७९॥

ॐ प्राणात्मने ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै प्राणात्मने नमो नमः॥ ८०॥

ॐ श्रीकृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ ८१॥

ॐ अपानात्मने ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै अपानात्मने वै नमो नमः॥ ८२॥

ॐ कृष्णाय प्रद्युम्नायानिरुद्धाय ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ ८३॥

ॐ व्यानात्मने ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै व्यानात्मने वै नमो नमः॥ ८४॥

ॐ श्रीकृष्णाय रामाय ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ ८५॥

ॐ उदानात्मने ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै उदानात्मने वै नमो नमः॥ ८६॥

ॐ कृष्णाय देवकीनन्दनाय ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ ८७॥

ॐ समानात्मने ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै समानात्मने वै नमो नमः॥ ८८॥

ॐ गोपालाय अनिरुद्धाय निजस्वरूपाय ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ ८९॥

ॐ योऽसौ प्रधानात्मा गोपालः ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ ९०॥

ॐ योऽसाविन्द्रियात्मा गोपालः ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ ९१॥

ॐ योऽसौ भूतात्मा गोपालः ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ९२ ॥

ॐ योऽसावुत्तमपुरुषो गोपालः ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ९३ ॥

ॐ योऽसौ परब्रह्म गोपालः ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ९४ ॥

ॐ योऽसौ सर्वभूतात्मा गोपालः ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ९५ ॥

ॐ योऽसौ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमतीत्य तुर्यातीतः ॐ तत्सद् भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ९६ ॥

ॐ (सच्चिदानन्दस्वरूप) प्राणात्माको नमस्कार है। ॐ तत्, सत्—इन तीनों नामोंसे प्रतिपादित होनेवाले 'भूर्भुवः स्वः'—तीनों लोकरूप प्राणात्मा परमेश्वरको बारंबार नमस्कार है। ॐ सबका आकर्षण करनेवाले कृष्ण, गौओंके स्वामी गोविन्द एवं गोपीजनोंके प्राणवल्लभ उन श्यामसुन्दरको बारंबार नमस्कार है, जो 'ॐ, तत्, सत्' इन तीनों नामोंसे प्रतिपादित होनेवाले हैं तथा 'भूर्भुवः स्वः' इन तीनों लोकोंके रूपमें प्रकट हैं। 'ॐ, तत्, सत्' ये तीन जिनके नाम हैं तथा 'भूः, भुवः, स्वः'—ये तीनों जिनके रूप हैं, उन अपानवायुस्वरूप अपानात्मा परमेश्वरको बारंबार नमस्कार है। 'ॐ, तत्, सत्'—इन तीनों नामोंसे कहे जानेवाले 'भूर्भुवः स्वः'स्वरूप उन श्रीकृष्ण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धको अवश्य बारंबार नमस्कार है। 'ॐ, 'तत् सत्'—इन तीन नामोंवाले तथा 'भूः, भुवः और स्वः'—इन तीन रूपोंवाले उन व्यानवायुरूप व्यानात्मा परमेश्वरको बारंबार नमस्कार है। 'ॐ, तत्, सत्'—इन तीनों नामोंसे कहे जानेवाले भूतल, अन्तरिक्ष एवं स्वर्गरूप उन श्रीकृष्ण और बलरामको निश्चय ही अनेक बार नमस्कार हैं। 'ॐ, तत्, सत्'—इन तीनों नामोंसे कहे जानेवाले, 'भूर्भुवः स्वः'स्वरूप उन उदानवायुके रूपमें प्रकट उदानात्मा परमेश्वरको बारंबार नमस्कार है। 'ॐ, तत्, सत्'—इन त्रिविध नामोंवाले तथा 'भूर्भुवः स्वः'—इन त्रिविध रूपोंवाले उन सच्चिदानन्दमय देवकीनन्दन श्रीकृष्णको अवश्य ही बारंबार नमस्कार है। 'ॐ, तत्, सत्'—इन नामोंसे प्रतिपादित होनेवाले 'भूर्भुवः स्वः'स्वरूप उन समानवायुरूप समानात्मा परमेश्वरको नमस्कार है, नमस्कार है। 'ॐ, तत्, सत्'—इन तीन नामोंसे प्रसिद्ध और 'भूर्भुवः स्वः'—इन तीन रूपोंवाले उन स्वस्वरूपभूत सच्चिदानन्दमय गोपाल, अनिरुद्धको निश्चय ही नमस्कार है, नमस्कार है। ॐ जो वे प्रधानात्मा गोपाल हैं, वे ही 'ॐ, तत्, सत्'—इन तीनों नामोंद्वारा प्रतिपादित होनेवाले तथा 'भूर्भुवः स्वः'—इन तीनों लोकोंके रूपमें प्रकट हैं; उन्हें अवश्य ही नमस्कार है, नमस्कार है। ॐ वे जो इन्द्रियात्मा गोपाल हैं, वे ही 'ॐ, तत्, सत्' नामोंसे प्रसिद्ध हैं और वे ही भूतल, अन्तरिक्ष एवं स्वर्गरूप हैं; उन्हें निश्चय ही बारंबार नमस्कार है। ॐ वे जो भूतात्मा गोपाल हैं, वे ही 'ॐ,तत्, सत्' नामोंसे प्रसिद्ध हैं और वे ही भूतल, अन्तरिक्ष एवं स्वर्गरूप हैं; उन्हें निश्चय ही बारंबार नमस्कार है। ॐ वे जो उत्तम पुरुष (पुरुषोत्तम) गोपाल हैं, वे ही 'ॐ, तत्, सत्'—इन तीनों नामोंसे कहे जानेवाले और भूतल, अन्तरिक्ष एवं स्वर्गरूप हैं; उनके लिये निश्चय ही बारंबार नमस्कार है। ॐ वे जो परब्रह्म गोपाल हैं, वे ही 'ॐ, तत्, सत्'—ये तीन नाम धारण करते हैं तथा वे ही 'भूर्भुवः स्वः'—इन तीनों लोकोंके रूपमें प्रकट होते हैं; उनको निश्चय ही बारंबार नमस्कार है। ॐ वे जो सर्वभूतात्मा गोपाल हैं, वे ही 'ॐ, तत्, सत्'—ये तीन नाम धारण करते हैं और वे ही 'भूर्भुवः स्वः'—इन तीनों लोकोंके रूपमें प्रकट होते हैं; उनके लिये निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है। ॐ वे जो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंको पार करके तुरीय पदसे भी अतीत भगवान् गोपाल हैं, वे ही 'ॐ, तत्, सत्' कहे जाते हैं और वे ही भूतल, अन्तरिक्ष तथा स्वर्गरूप हैं। उनको निश्चय ही मेरा बारंबार नमस्कार है ॥ ८०–९६ ॥

वे एकमात्र देवता भगवान् गोपाल ही सम्पूर्ण भूतोंमें अन्तर्यामीरूपसे छिपे हुए हैं। वे सर्वत्र व्यापक और सब प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं। वे ही सम्पूर्ण कर्मोंके अध्यक्ष (फलदाता स्वामी), समस्त भूतोंके निवासस्थान, सबके साक्षी, चैतन्यस्वरूप, केवल और निर्गुण हैं ॥ ९७ ॥

(भगवान् गोपालकी विभूतिस्वरूप देवता भी वन्दनीय हैं—) रुद्रको नमस्कार है। आदित्यको नमस्कार है। विनायकको नमस्कार है। सूर्यको नमस्कार है। विद्या (सरस्वती)-को नमस्कार है। इन्द्रको नमस्कार है। अग्निको नमस्कार है। यमको नमस्कार है। निर्ऋतिको नमस्कार है।

वरुणको नमस्कार है । मरुत्को नमस्कार है । कुबेरको नमस्कार है । महादेवजीको नमस्कार है । ब्रह्माको नमस्कार है और सम्पूर्ण देवताओंको नमस्कार है ॥ ९८ ॥

दुर्वासाजी कहते हैं—इस प्रकार वे भगवान् नारायण अपने ही स्वरूपभूत ब्रह्माको यह परम पवित्र गोपालोत्तर-तापनीय स्तुति प्रदान करके तथा सम्पूर्ण भूतोंकी सृष्टिका सामर्थ्य देकर वहाँसे अन्तर्धान हो गये ॥ ९९ ॥

राधिके ! मैंने ब्रह्मासे, ब्रह्मपुत्र सनकादि मुनियोंसे तथा श्रीनारदजीसे भी जैसे सुना था, वैसे ही यहाँ वर्णन किया है । अब तुम अपने घरकी ओर जाओ ॥१००॥

॥ अथर्ववेदीय गोपालोत्तरतापनीयोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

परम पद

यत्र न सूर्यस्तपति यत्र न वायुर्वाति यत्र न चन्द्रमा भाति यत्र न नक्षत्राणि भान्ति यत्र नाग्निर्दहति यत्र न मृत्युः प्रविशति यत्र न दुःखानि प्रविशन्ति सदानन्दं परमानन्दं शान्तं शाश्वतं सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं योगिध्येयं परं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः ॥

(बृहज्जाबाल० ८ । ६)

जहाँ सूर्य नहीं तपता, जहाँ वायु नहीं बहता, जहाँ चन्द्रमा प्रकाशित नहीं होता, जहाँ तारे प्रकाशित नहीं होते, जहाँ अग्नि नहीं जलता, जहाँ मृत्यु प्रवेश नहीं करती, जहाँ दुःख प्रवेश नहीं करते, जो सदानन्द, परमानन्द, शान्त, शाश्वत, सदाशिव (नित्य कल्याणमय) और ब्रह्मादि देवताओंके द्वारा वन्दित है, वही योगियोंका ध्येय परमपद है, जिसको प्राप्त करके योगी लौटते नहीं ।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम उपनिषद्

नरसिंह-मन्त्रराजकी महिमा तथा उसके अङ्गोंका वर्णन

कहते हैं, पूर्वकालमें यह सब कुछ जल ही था। सर्वत्र सलिलराशि ही भरी हुई थी। उस जलमें वे प्रसिद्ध प्रजापति ब्रह्माजी कमलपत्रपर प्रकट हुए। उनके मनमें यह कामना हुई कि मैं इस जगत्‌की रचना करूँ। लोकमें यह प्रसिद्ध है कि पुरुष मनसे जिसकी भावना करता है, उसीको वाणीद्वारा बोलता है और फिर उसीको क्रियाद्वारा सिद्ध करता है। इसी सम्बन्धमें एक ऋचा है, जिसका भाव इस प्रकार है—पूर्वकालमें सृष्टिके अवसरपर मनसे काम—सृष्टि उत्पन्न करनेकी इच्छा प्रकट हुई। सृष्टिके पूर्व जो जलमात्र विद्यमान था, वही सबका कारण है। अपने अन्तःकरणमें स्थित अन्तरात्मापर दृष्टि रखनेवाले ज्ञानीजन उस कामको सत्स्वरूप आत्माका बन्धन मानते हैं। उन्होंने अपनी बुद्धिसे यह निश्चित किया कि असत् (प्रकृति) के कार्यभूत मनमें ही कामका उदय होता है। जो इस बातको जानता है, वह जिस वस्तुकी कामना करता है, वह उसे प्राप्त हो जाती है।

उन प्रसिद्ध प्रजापतिने तपस्या आरम्भ की। उन्होंने तपस्या करके इस नारसिंह-मन्त्रराजका, जो अनुष्टुप् छन्दमें आबद्ध है, साक्षात्कार किया। निश्चय ही उस मन्त्रराजके प्रभावसे, उन्होंने जो कुछ यह प्रत्यक्ष उपलब्ध हो रहा है, उस सम्पूर्ण जगत्‌की रचना की। इसलिये यह जो कुछ भी जगत्‌रूपसे दृष्टिगोचर हो रहा है, इसे मन्त्रराज-आनुष्टुभमय ही कहते हैं। इस अनुष्टुप्-मन्त्रसे ही ये सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर वे अनुष्टुप्-मन्त्रसे ही जीवित रहते हैं और मृत्युके समय इस लोकसे प्रयाण करनेपर वे अनुष्टुप्-मन्त्रमें ही सब ओरसे प्रवेश कर जाते हैं। मन्त्रराजकी यह अनुष्टुप्-वृत्ति समस्त सृष्टिकी आदिभूता एवं प्रधान कारण है। निश्चय ही वाणीमात्र अनुष्टुप् है; क्योंकि वाणीसे ही प्राणी मृत्युको प्राप्त होते हैं और वाणीसे ही उत्पन्न होते हैं। यह जो अनुष्टुप् छन्द है, वह निश्चय ही सब छन्दोंमें श्रेष्ठ है ॥ १ ॥

समुद्र, पर्वत और सातों द्वीपोंसहित जो यह पृथ्वी है, इसे मन्त्रराजरूप सामका प्रथम चरण जाने। यक्ष, गन्धर्व तथा अप्सराओंसे सेवित जो अन्तरिक्ष लोक है, उसे सामका द्वितीय चरण जाने। वसु, रुद्र और आदित्य आदि सम्पूर्ण देवताओंसे सेवित जो द्युलोक है, उसे सामका तृतीय चरण जाने। तथा जो निरञ्जन—मायारूप मलसे रहित, विशुद्ध परम व्योममय ब्रह्मस्वरूप है, उसे सामका चतुर्थ चरण जाने। जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। ऋक्, यजुः, साम और अथर्व—ये अङ्गों और शाखाओंसहित चार वेद उपर्युक्त मन्त्रराजके चार पाद हैं। उस मन्त्रराजका ध्यान क्या है ? देवता कौन-सा है ? कौन-कौन-से अङ्ग हैं ? कौन-सा

देवताओंका गण है ? कौन-सा छन्द है और कौन-सा ऋषि है ? ॥ २ ॥

वे प्रसिद्ध प्रजापति ब्रह्माजी बोले—निश्चय ही वह पुरुष जो श्रीबीज (श्रीं) से अभिषिक्त गायत्री-मन्त्रके आठ अक्षरवाले चरणको इस मन्त्रराजरूप सामका अङ्ग जानता है, वह श्री (शोभा एवं सम्पत्ति) से सुशोभित होता है। सम्पूर्ण वेद प्रणवादि हैं, उनके आदिमें प्रणव—ॐकारका ही उच्चारण किया जाता है। उस प्रणवको जो इस सामका अङ्ग समझता है, वह तीनों लोकोंपर विजय पा लेता है। चौबीस अक्षरोंवाला महालक्ष्मी-मन्त्र यजुःस्वरूप है; उसे जो सामका अङ्ग जानता है, वह आयु, यश, कीर्ति, ज्ञान और ऐश्वर्यसे सम्पन्न होता है। इसलिये अङ्गोंसहित इस सामको जाने। जो अङ्गोंसहित सामको जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। गायत्री, प्रणव तथा यजुःस्वरूप महालक्ष्मी-मन्त्रका उपदेश ज्ञानीजन स्त्री और शूद्रोंको नहीं देना चाहते। बत्तीस अक्षरोंवाले सामको जाने; जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। गायत्री, प्रणव और यजुर्वेदमय महालक्ष्मी-मन्त्रको यदि स्त्री और शूद्र जान लें तो वे मरनेपर अधोगतिको प्राप्त होते हैं—नरक और नीची योनियोंमें गिरते हैं। इसलिये सदा ही सावधान रहकर उनको इन मन्त्रोंका उपदेश न दे। यदि कोई उन्हें उपदेश देता है, तो वह आचार्य भी उन्हींके साथ मरनेपर अधोगतिको प्राप्त होता है—नरकादिमें पड़ता है ॥ ३ ॥

प्रजापतिने फिर कहा—निश्चय ही अग्नि, सारे वेद, यह सम्पूर्ण जगत्, समस्त प्राणी, प्राण, इन्द्रिय, पशु, अन्न, अमृत, सम्राट्, स्वराट् और विराट्—इन सबको इस मन्त्रराजरूप सामका प्रथम चरण जाने। ये ऋक्, यजुः, साम और अथर्वरूप सूर्य तथा सूर्यमण्डलके भीतर स्थित रहनेवाले हिरण्मय पुरुष—इनको सामका द्वितीय पाद जाने। जो समस्त ओषधियों (अन्नों और फलों) के स्वामी तारापति चन्द्रमा हैं, उनको सामका तृतीय चरण जाने। वे ब्रह्मा, वे शिव, वे विष्णु, वे इन्द्र, वे अग्नि, वे अविनाशी परमात्मा स्वराट्—इन सबको उस सामका चतुर्थ चरण समझे। जो इस प्रकार जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है।

'उग्रम्' यह पद मन्त्रराज अनुष्टुप्के प्रथम चरणका आदि अंश है। **'ज्वलं'** यह उसके द्वितीय चरणका आदि अंश है। **'नृसिं'** यह अंश तृतीय चरणका आदि भाग है तथा **'मृत्यु'** पद चतुर्थ चरणका आदि भाग है। इन सबको सामस्वरूप समझे। जो यों समझता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। इसलिये इस सामको जहाँ-कहीं—सबको न बताये। यदि यह मन्त्र किसीको देनेकी इच्छा हो तो सेवापरायण एवं सुननेके लिये उत्सुक पुत्रको दे; अथवा दूसरे किसी शिष्यको भी दिया जा सकता है ॥ ४ ॥

वे सुप्रसिद्ध प्रजापति फिर बोले—भगवान्का जो क्षीरसागरमें शयन करनेवाला नृसिंह-विग्रह है, वह योगियोंके लिये भी ध्यान करनेयोग्य परमपद है। उसे सामस्वरूप समझे। यों समझनेवाला अमृतत्वको प्राप्त होता है। **'वीरं'** इस पदको मन्त्रराज अनुष्टुप्के प्रथम चरणके पूर्वार्धका अन्तिम अंश जाने। **'तं स'** इस अंशको द्वितीय चरणके पूर्वार्धका अन्तिम भाग समझे। **'हं भी'** इस अंशको तृतीय चरणके पूर्वार्धका अन्तिम भाग माने और **'मृत्युम्'**पदको चतुर्थ चरणके पूर्वार्धका अन्तिम भाग समझे तथा इन सबको साम जाने। जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। इसलिये इस सामको जो जिस किसी भी आचार्यके मुखसे इस प्रकार जानता है, वह उसी शरीरमें रहते हुए संसारसे मुक्त हो जाता है, दूसरोंको भी मुक्त करता है तथा यदि वह संसारमें आसक्त रहा हो तो इस सामके ज्ञानसे मुमुक्षु बन जाता है। इस मन्त्ररूप सामका जप करनेसे वह उसी शरीरसे आराध्य देवता (भगवान् नृसिंह) का प्रत्यक्ष दर्शन कर लेता है। अतः कलियुगमें यही मोक्षका द्वार है। दूसरोंको मोक्षकी प्राप्ति सहजमें नहीं होती। इसलिये इस सामको अङ्गोंसहित जाने। जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

भगवान् नृसिंहको ऋत और सत्य समझे। वे सर्वव्यापी परमात्मा एवं अन्तर्यामी पुरुष हैं। वे मनुष्य और सिंहकी सम्मिलित आकृति धारण करनेसे कृष्ण और पिङ्गल वर्णके दिखायी देते हैं। वे ऊर्ध्वरेता (नैष्ठिक ब्रह्मचर्यसे सम्पन्न) हैं। उनके नेत्र बड़े विकराल एवं भयङ्कर हैं। तथापि वे शङ्कर हैं, सबका कल्याण करनेवाले हैं। कण्ठप्रदेशमें नील एवं उसके ऊर्ध्वभागमें तेजोमय लोहित वर्ण होनेसे वे ही 'नीललोहित' नाम धारण करते हैं। ये सर्वदेवमय भगवान् नृसिंह ही दूसरे रूपमें गिरिराजकन्या उमाके स्वामी, पशुपति, पिनाकधारी एवं अपार तेजस्वी महेश्वर हैं। ये ही सम्पूर्ण विद्याओंके अधीश्वर और समस्त भूतोंके अधिपति हैं। जो ब्रह्म (वेद) के अधिपति हैं, ब्रह्माजीके भी स्वामी हैं तथा जो यजुर्वेदके वाच्यार्थ हैं, उन भगवान् नृसिंहको साम जाने। जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। **'महा'** शब्द मन्त्रराज

अनुष्टुप्के प्रथम चरणके उत्तरार्धका आदि भाग है। 'वंतो' शब्द द्वितीय चरणके उत्तरार्धका आदि भाग है। 'षणं' शब्द तृतीय चरणके उत्तरार्धका आदि भाग है तथा 'नमा' शब्द चतुर्थ चरणके उत्तरार्धका आदि भाग है। इन सबको साम जाने। जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। अतः यह साम सच्चिदानन्दमय परब्रह्मस्वरूप है। उसे इस रूपमें जाननेवाला यहाँ—इसी जीवनमें अमृतस्वरूप हो जाता है। इसलिये इस सामको अङ्गोंसहित जाने। जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

विश्वस्रष्टा प्रजापतिगणोंने इस साममय मन्त्रके प्रभावसे ही सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि की है। उन्होंने विश्वकी रचना की है, इसीलिये वे विश्वस्रष्टा हैं। यह विश्व इन्हींसे उत्पन्न होता है, इस रहस्यको जाननेवाले उपासक ब्रह्माजीके लोकको तथा उनके सायुज्यको प्राप्त होते हैं—उन्हींमें लीन हो जाते हैं, इसलिये अङ्गोंसहित इस सामको जाने। जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है।

'विष्णुं' पद पूर्वोक्त आनुष्टुभ नारसिंह मन्त्रराजके प्रथम चरणका अन्तिम पद है। 'मुखम्' द्वितीय पादका अन्तिम पद है। 'भद्रं' तृतीय चरणका अन्तिम पद है। 'म्यहम्' चतुर्थ पादका अन्तिम पद है। यह सब साम है—इस प्रकार जाने। जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है।

वे जो प्रसिद्ध प्रजापति हैं, उन्होंने ही यह सब कुछ (जो पहले बतायी हुई उपासना आदिका तत्त्व है) जाना। सबके 'आत्मा' रूप ब्रह्ममें ही जिसकी स्थिति है, ऐसे इस आनुष्टुभ मन्त्रको जाने। जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है।

उपासना करनेवाले स्त्री-पुरुषोंमें जो भी निश्चितरूपसे यहाँ उत्कृष्ट स्थितिमें रहनेकी इच्छा करते हैं, उन्हें भगवान् नृसिंह सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्रदान करते हैं। वह जहाँ-कहीं भी प्राण-त्याग करता है, अन्तकालमें भगवान् नृसिंह वहीं उसे परब्रह्ममय तारक-मन्त्रका उपदेश करते हैं, जिससे वह अमृत-स्वरूप होकर अमृतत्व (मोक्ष)को प्राप्त होता है। इसलिये सामसम्बन्धी तारकमन्त्र (एवं सामोपासनाके अङ्गभूत प्रणव)-का जप करना चाहिये। अतः (मन्त्रद्रष्टा ऋषि होनेके कारण) सामके अङ्गभूत प्रजापति ही यह तारक-मन्त्र हैं। इसलिये सामके अङ्गभूत प्रजापति ही यह तारक-मन्त्र हैं—इस प्रकार जो जानता है, वही यथार्थ उपासक है। यह महोपनिषद् है (जिसके द्वारा महान् परमेश्वरके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान हो, उसीका नाम महोपनिषद् है)। जो इस महोपनिषद्को जानता है—इसमें बताये अनुसार उपासना करता है, वह मानो सारा पुरश्चरण पूरा करके महाविष्णुरूप हो जाता है, महाविष्णु-रूप हो जाता है ॥ ७ ॥

द्वितीय उपनिषद्

मन्त्रराजकी शरण लेनेका फल; उसके अङ्गोंका विशद वर्णन; न्यासकी विधि तथा मन्त्रके प्रत्येक पदकी व्याख्या

कहते हैं, एक बार सब देवताओंको मृत्यु, पाप और संसारसे बड़ा भय हुआ। वे भागकर प्रजापति ब्रह्माजीकी शरणमें गये। प्रजापतिने उनको भगवान् नृसिंहके इस मन्त्र-राज आनुष्टुभका उपदेश दिया। इस मन्त्रके प्रभावसे उन सब देवताओंने मृत्युको जीत लिया। वे सब पापसे तर गये तथा इस संसारसे भी पार हो गये। इसलिये जो मृत्यु, पाप तथा संसारसे भी डरता हो, उसे भगवान् नृसिंहके इस मन्त्र-राज आनुष्टुभकी शरण लेनी चाहिये। जो इसकी शरण लेता है, वह मृत्युको पार कर जाता है। वह पापसे तर जाता है तथा वह संसारसे भी पार हो जाता है।[1]

पूर्वोक्त सुप्रसिद्ध मन्त्रराजका अङ्गभूत जो प्रणव है, उस प्रणवकी पहली मात्रा अकार है; उसका पृथ्वी लोक है, ऋचाओंसे उपलक्षित ऋग्वेद ही वेद है, ब्रह्मा देवता हैं, वसु-नामक देवताओंका गण है, गायत्री छन्द है तथा गार्हपत्य अग्नि है। यह सब प्रणवकी पहली मात्राके अन्तर्गत है और वह पहली मात्रा ही मन्त्ररूप सामका प्रथम पाद है। उक्त प्रणवकी दूसरी मात्रा उकार है; इसीके अन्तर्गत अन्तरिक्ष लोक, यजुर्मन्त्रों-से उपलक्षित यजुर्वेद, विष्णु देवता, रुद्र नामक देवताओंका गण, त्रिष्टुप् छन्द और दक्षिणनामक अग्नि है। यह दूसरी मात्रा ही साम अर्थात् मन्त्रका द्वितीय पाद है। तीसरी मात्रा मकार है; इसीके अन्तर्गत द्युलोकनामक लोक, सामोपलक्षित सामवेद वेद, रुद्र देवता, आदित्यनामक देवताओंका गण, जगती छन्द तथा

१. मन्त्रराज यह है—

ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्।
नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्॥

आहवनीय अग्नि है। वह तीसरी मात्रा ही इस सामका तीसरा चरण है। प्रणवके उच्चारणकी समाप्ति होनेपर उसकी चौथी मात्राके रूपमें जो नादात्मक अर्धमात्रा सुनायी देती है, उसीके अन्तर्गत सोमलोक नामक लोक, ॐकार वाच्य परब्रह्म देवता, अथर्व-मन्त्रोंसहित अथर्ववेद ही वेद, संवर्तकनामक अग्नि, मरुत्नामक देवताओंका गण तथा विराट छन्द है। इस चतुर्थ मात्राविशिष्ट ॐकारके एक ही ऋषि हैं—ब्रह्माजी। यह चौथी मात्रा तुरीया ब्रह्म-स्वरूपा होनेके कारण परम प्रकाशमयी है। यही सामका चतुर्थ पाद है* ॥ १ ॥

अनुष्टुप्-मन्त्रका प्रथम चरण आठ अक्षरोंका है। शेष तीन चरण भी आठ-आठ अक्षरोंके ही हैं। इस प्रकार कुल बत्तीस अक्षर होते हैं। निश्चय ही अनुष्टुप्-वृत्ति बत्तीस अक्षरोंकी होती है। अनुष्टुप्से ही इस सम्पूर्ण विश्वकी रचना हुई है। अनुष्टुप्के द्वारा ही सबका उपसंहार होता है। उस अनुष्टुप्-मन्त्रके पाँच अङ्ग हैं। इसके चार चरण ही चार अङ्ग हैं तथा प्रणवको साथ लेकर सम्पूर्ण मन्त्र पाँचवाँ अङ्ग होता है। **हृदयाय नमः, शिरसे स्वाहा, शिखायै वषट्, कवचाय हुम्, अस्त्राय फट्**—इनमें शरीरके पाँच अङ्गोंका उल्लेख है। ऊपर अनुष्टुप-मन्त्रके भी पाँच अङ्ग बताये गये हैं, अतः मन्त्रके प्रथम अङ्गका हृदय-रूप प्रथम अङ्गसे संयोग कराना चाहिये। इसी प्रकार दूसरे अङ्गका दूसरे मस्तकरूप अङ्गसे, तीसरे अङ्गका तीसरे शिखारूप अङ्गसे, चतुर्थ अङ्गका चौथे उभय_बाहुमूलरूप अङ्गसे और पञ्चम अङ्गका पाँचवें मुखकरूप अङ्गसे सम्बन्ध होता है।† निश्चय ही ये सम्पूर्ण लोक एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं, इसलिये उक्त अङ्ग भी परस्पर सम्बद्ध होते हैं। ॐ यह अक्षर ही यह सम्पूर्ण जगत् है। इसलिये अनुष्टुप्-मन्त्रके प्रत्येक अक्षरके दोनों ओर—पहले और पीछे ॐकारका सम्पुट लगाना चाहिये। ब्रह्मवादी महात्मा उक्त मन्त्रके प्रत्येक अक्षरके न्यासका उपदेश करते हैं* ॥ २ ॥

निश्चय ही **'उग्रम्'** इस पदको उस प्रसिद्ध अनुष्टुप्-मन्त्रका प्रथम स्थान जाने। जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। **'वीरम्'** यह पद द्वितीय स्थान है। **'महाविष्णुम्'** पद तृतीय स्थान है। **'ज्वलन्तम्'** पद चतुर्थ स्थान है। **'सर्वतोमुखम्'** पद पञ्चम स्थान है। **'नृसिंहम्'** पद छठा स्थान है। **'भीषणम्'** पद सातवाँ स्थान है। **'भद्रम्'** पद आठवाँ स्थान है। **'मृत्युमृत्युम्'** पद नवाँ स्थान है। **'नमामि'** पद दसवाँ स्थान है। **'अहम्'** पद ग्यारहवाँ स्थान है। इस प्रकार जानना चाहिये। जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। निश्चय ही यह अनुष्टुपवृत्ति ग्यारह पदोंकी है। इस अनुष्टुप्-मन्त्रके द्वारा ही इस सम्पूर्ण विश्वकी रचना हुई है। तथा अनुष्टुप्के द्वारा ही सबका उपसंहार होता है। इसलिये सब कुछ अनुष्टुप्-मन्त्रका ही विस्तार है—यों जाने। जो जानता है, वह अमृतत्वको प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

कहते हैं, देवताओंने प्रजापतिसे पूछा—"भगवान् नृसिंहके लिये **'उग्रम्'** यह विशेषण क्यों दिया जाता है? उन्हें उग्र क्यों कहा जाता है?" तब वे प्रसिद्ध प्रजापति बोले—"क्योंकि भगवान् नृसिंह अपनी महिमासे सम्पूर्ण लोकों, समस्त देवों, सभी आत्माओं तथा सभी भूतोंको ऊपर उठाये रखते हैं, निरन्तर उनकी सृष्टि करते हैं, नाना

---

* इस प्रकरणका सारांश यह है कि प्रणवकी चार मात्राएँ हैं—अ उ म् और अर्धमात्रा। क्रमशः इनके चार लोक हैं—पृथ्वीलोक, अन्तरिक्षलोक, स्वर्गलोक और सोमलोक। चार ही वेद हैं—ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व। चार ही देवता हैं—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा ॐकारवाच्य परब्रह्म। चार ही छन्द हैं—गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती तथा विराट्। चार ही अग्नियाँ हैं—गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय और संवर्तक। ये सब मिलकर प्रणवरूप हैं; इस विश्वरूप प्रणवमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित उपास्यदेव भगवान् नृसिंहकी उपासना करनी चाहिये।

† यहाँ अङ्गन्यासका विधान किया गया है। इसके अनुसार न्यासका क्रम इस प्रकार होगा—'ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुम्' हृदयाय नमः—यों कहकर दाहिने हाथकी पाँचों अङ्गुलियोंसे हृदयका स्पर्श करे। फिर 'ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्' शिरसे स्वाहा—यों कहकर उक्त अङ्गुलियोंसे ही मस्तकका स्पर्श करे। तत्पश्चात् 'नृसिंहं भीषणं भद्रं' शिखायै वषट्—इसका उच्चारण करके पूर्ववत् शिखाका स्पर्श करे। तदनन्तर 'मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्' कवचाय हुम्—इसका उच्चारण करके दाहिने हाथकी अङ्गुलियोंसे बायें कंधेका और बायें हाथकी अङ्गुलियोंसे दायें कंधेका एक साथ ही स्पर्श करे। फिर प्रणवसहित पूरे मन्त्रके साथ 'अस्त्राय फट्' कहकर दाहिने हाथको मस्तकके ऊपर बायीं ओरसे पीछेकी ओर ले जाकर दाहिनी ओरसे आगेकी ओर ले आये और तर्जनी तथा मध्यमा अङ्गुलियोंसे बायें हाथकी हथेलीपर ताली बजाये।

* अनुष्टुप्-मन्त्रमें कुल बत्तीस अक्षर हैं; उनमेंसे प्रत्येक अक्षरको प्रणवसे सम्पुटित करके शिखासे लेकर पैरतकके बत्तीस अङ्गोंमें क्रमशः न्यास करना चाहिये। यथा—'ॐ उ ॐ नमः शिखायाम्', 'ॐ ग्रं ॐ नमः दक्षिणनेत्रे' इत्यादि।

प्रकारसे उनकी सृष्टिका विस्तार तथा संहार करते हैं, उन सबको अपने ही भीतर बसाते—लीन कर लेते हैं, दूसरोंसे इस जगत्पर उद्गह (अनुग्रह) करवाते हैं तथा स्वयं भी इसपर अनुग्रह करते हैं, इसलिये 'उग्र' कहलाते हैं। इस विषयमें ऋग्वेदका मन्त्र भी है, जिसका भाव इस प्रकार है—'श्रुतियाँ जिनकी स्तुतिमें संलग्न हैं, उन उपास्यदेव परमात्माका स्तवन करो। वे गर्तमें—हृदयरूपी गुफामें स्थित हैं (अथवा व्यूहरूप महाचक्र ही यहाँ गर्त है, उसमें स्थित हैं)। नवतारुण्यसे सुशोभित हैं। मृग अर्थात् सिंहके रूपमें प्रकट होकर भी भक्तजनोंके लिये भयङ्कर नहीं हैं। सदा सबपर अनुग्रह करनेके लिये सर्वत्र सबके निकट पहुँचनेवाले हैं तथा उग्र हैं—साधु पुरुषोंपर अनुग्रह और दुष्टजनोंका निग्रह करनेवाले हैं। हे नृसिंहदेव ! आपकी स्तुति की जाती है; इससे संतुष्ट होकर आप स्तवन करनेवाले मुझ भक्तको सुखी बनाइये। आपकी भयङ्कर सेना हमें छोड़कर अन्यत्र आक्रमण करे।' अर्थात् दुष्टोंका संहार और भक्तोंकी रक्षा करे। इस मन्त्रमें भगवान् नृसिंहका 'उग्र' के नामसे स्तवन किया गया है; इसलिये वे 'उग्र' कहे जाते हैं।"

देवताओंने पूछा—"प्रजापते ! अब यह बताइये, भगवान्‌के लिये **'वीरम्'** यह विशेषण क्यों दिया जाता है—वे 'वीर' क्यों कहे जाते हैं ?" इसपर प्रजापति उत्तर देते हैं—"क्योंकि अपनी महिमासे वे सब लोकों, सब देवों, सब आत्माओं और सम्पूर्ण भूतोंके साथ विविध प्रकारसे क्रीड़ा करते, सबको विश्राम देते, निरन्तर सृष्टि और पालन करते, उपसंहार करते और अपने अंदर लीन करते हैं, अतः 'वीर' कहे जाते हैं। ऋग्वेदका वचन है—भगवान् शूरवीर हैं, कर्मठ हैं, भक्तोंपर अनुग्रह करनेमें पूर्णतः दक्ष हैं, सोमयागमें पत्थर हाथमें लिये रहनेवाले 'अध्वर्यु' आदिके रूपमें भगवान् नृसिंह ही हैं। ये ही देवकाम हैं—देवताओंको उत्पन्न करनेके अभिलाषी हैं।"

(प्रश्न) अब यह बतायें—भगवान् **'महाविष्णुम्'** क्यों कहे जाते हैं ? (उत्तर) वे अपनी ही महिमासे सब लोकोंको, सब देवताओंको, समस्त आत्माओंको तथा सब भूतोंको व्याप्त करके स्थित हैं। जैसे चिकनाई मांस-पिण्डमें व्याप्त रहती है, उसी प्रकार वे शरीरके अवयवोंमें सर्वत्र व्यापक हैं। उन्हींमें यह विश्व लीन होता है। उन्हींमें यह सर्वथा ओतप्रोत एवं सम्बद्ध है। वे इसमें निरन्तर व्याप्त रहते हैं। इससे निरन्तर सम्बन्ध रखकर ही वे व्याप्त और व्यापक होते हैं। ऋग्वेदमें कहा है—'जिनसे बढ़कर दूसरा कोई उत्पन्न ही नहीं हुआ, जो सर्वव्यापी होनेके कारण सम्पूर्ण विश्वमें समानरूपसे आविष्ट (व्याप्त) हैं, जो प्रजाके पालक हैं और प्रजाके द्वारा जिनकी उपासना होती रहती है, वे भगवान् नृसिंह षोडशकला-विशिष्ट होकर त्रिविध ज्योतिर्योंमें व्याप्त रहते हैं।' इसीलिये वे 'महाविष्णु' कहलाते हैं।

(प्रश्न) अब यह बतायें—भगवान्‌के लिये **'ज्वलन्तम्'** इस विशेषणका प्रयोग क्यों किया जाता है ? (उत्तर) वे अपनी ही महिमासे सब लोकोंको, सब देवताओंको, सब आत्माओंको और सम्पूर्ण भूतोंको अपने तेजसे प्रकाशित करते तथा स्वयं भी प्रज्वलित एवं प्रकाशित होते हैं। सब लोक उन भगवान्‌के ही प्रकाशसे प्रकाशित होते और दूसरोंको भी प्रकाशित करते हैं। ऋग्वेदका वचन है—'वे ही सविता (प्रकाशक) और प्रसविता (उत्पादक) हैं। वे स्वयं दीप्तिमान् हैं। दूसरोंको उद्दीप्त करते और स्वयं भी उद्दीप्त होते हैं। स्वयं प्रज्वलित होते हुए दूसरोंको प्रज्वलित करते हैं। तपते हुए तपाते हैं तथा संताप देते हैं। स्वयं कान्तिमान् होकर दूसरोंको भी कान्तिमान् बनाते हैं। स्वयं शोभायमान होकर दूसरोंको भी सुशोभित करते हैं तथा परम कल्याणस्वरूप हैं।' इसीलिये उनके लिये 'ज्वलन्तम्' विशेषणका प्रयोग किया गया है।

(प्रश्न) अब यह बतायें—भगवान्‌को **'सर्वतोमुखम्'** क्यों कहा जाता है ? (उत्तर) वे अपनी ही महिमासे सब लोकों, सब देवताओं, सब आत्माओं और सम्पूर्ण भूतोंको, स्वयं इन्द्रियरहित होते हुए भी, सब ओरसे देखते हैं, सब ओरसे सुनते हैं, सब ओरसे जाते हैं, सब ओरसे ग्रहण करते हैं। सर्वत्रगामी होते हुए सब स्थानोंमें विद्यमान रहते हैं। ऋग्वेदमें कहा है—'जो सबसे पहले अकेले था, जो स्वयं इस जगत्‌के रूपमें प्रकट हो गये, जिनसे इस विश्वकी उत्पत्ति हुई है, जो सम्पूर्ण भुवनके पालक हैं, प्रलयकालमें समस्त भुवन जिनमें विलीन होता है, उन सर्वतोमुख (सब ओर मुखोंवाले) भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूँ।' इस श्रुतिमें उनका 'सर्वतोमुख' नाम प्रयुक्त हुआ है, इसीलिये उन्हें 'सर्वतोमुख' कहते हैं।

(प्रश्न) अब यह बतानेकी कृपा करें कि भगवान्‌को **'नृसिंहम्'** क्यों कहा गया है ? (उत्तर) सम्पूर्ण प्राणियोंमें नर (मनुष्य) अधिक पराक्रमी तथा सबसे श्रेष्ठ है। इसी प्रकार सिंह भी सबसे अधिक शक्तिशाली और सबसे अधिक

श्रेष्ठ है; इसलिये परमेश्वर नर और सिंह दोनोंका संयुक्त रूप धारण करके प्रकट हुए। निश्चय ही उनका यह स्वरूप जगत्‌का कल्याण करनेके लिये ही है। यह स्वरूप सनातन एवं अविनाशी है। ऋचा कहती है—'भगवान् विष्णु मृग अर्थात् सिंहरूपमें स्थित होकर उपासकोंद्वारा स्तुत होते हैं। विभिन्न उपासक स्तोत्रोंद्वारा उनकी स्तुति करते हैं। स्तुतिका उद्देश्य है—नाना प्रकारकी शक्ति प्राप्त करना। भगवान् सिंहरूपमें प्रकट होकर भी भक्तजनोंके लिये भयङ्कर नहीं हैं। वे पृथिवीपर भी विचरते हैं और पर्वतपर भी स्थित होते हैं। अथवा वे कहाँ नहीं हैं—सभी रूपोंमें हैं, स्तुति करनेवालोंकी वाणीमें भी हैं। ये वे ही भगवान् हैं, जिनके तीन बड़े-बड़े डगोंमें सम्पूर्ण विश्व (तीनों लोक) समा जाते हैं। अथवा जो ब्रह्मा, विष्णु और शिव—तीन रूपोंमें लीला करते हैं।' इन्हीं सब कारणोंसे इन्हें 'नृसिंह' कहते हैं।

(प्रश्न) अब यह बतायें कि भगवान्‌के लिये 'भीषणम्' विशेषणका प्रयोग क्यों किया जाता है? (उत्तर) इनके भीषण रूपको देखकर सब लोक, समस्त देवता और सम्पूर्ण भूत-प्राणी भयसे घबराकर भागने लगते हैं; किंतु ये स्वयं किसीसे भी भयभीत नहीं होते। इनके विषयमें ऋचा कहती है—'इनके भयसे ही वायु चलती है, इनके भयसे ही सूर्य ठीक समयसे उदित होता है; इन्द्र, अग्नि और पाँचवीं मृत्यु—ये सब भी इनके भयसे ही अपने-अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये दौड़ लगाते रहते हैं।' इसीलिये इनको 'भीषण' कहा जाता है।

(प्रश्न) अब यह बताना चाहिये कि भगवान्‌को 'भद्रम्' क्यों कहा गया है? (उत्तर) इसलिये कि भगवान् स्वयं भद्र (कल्याण)-स्वरूप होकर सदा सबको भद्र (कल्याण) प्रदान करते हैं। वे कान्तिमान् होकर दूसरोंको कान्तिमान् बनाते और स्वयं शोभासम्पन्न होकर दूसरोंको भी सुशोभित करते हैं तथा साक्षात् कल्याणमय हैं। ऋग्वेद भी कहता है—'देवताओ! यजन (भगवान्‌का आराधन) करते हुए हमलोग अपने कानोंसे भद्र (कल्याण) का श्रवण करें। नेत्रोंसे भद्र (कल्याण) का ही दर्शन करें। अपने सुदृढ़ अङ्गों तथा त्रिविध शरीरोंद्वारा भगवान्‌का स्तवन करते हुए हमलोग ऐसी आयुका उपभोग करें, जो हमारे उपास्य-देव भगवान्‌के काम आ सके।' इस श्रुतिमें भगवान्‌का नाम 'भद्र' आया है। इसलिये उनको 'भद्र' कहते हैं।

(प्रश्न) अब यह बताना चाहिये कि भगवान्‌के लिये 'मृत्युमृत्युम्' यह विशेषण क्यों प्रयुक्त हुआ है? (उत्तर) इसलिये कि वे स्मरण करते ही अपनी ही महिमाद्वारा अपने भक्तोंकी मृत्यु और अपमृत्यु—अकालमृत्युको भी मार डालते हैं। ऋचा भी कहती है—'जो आत्मा (अपना स्वरूप) और बल प्रदान करनेवाले हैं, सम्पूर्ण देवता जिनके अनुशासनका नतमस्तक होकर पालन करते हैं, जिनकी छाया—जिनका आश्रय अमृतरूप है, जो मृत्युके लिये भी मृत्युरूप हैं, ऐसे एक देवता—भगवान् नृसिंहकी हम हविष्यद्वारा—अपनी ही भेंट अर्पण करके उपासना करते हैं।' इस श्रुतिके अनुसार भगवान्‌का नाम मृत्युमृत्यु भी है, इसीलिये उन्हें 'मृत्युमृत्यु' कहा जाता है।

(प्रश्न) अब यह बताना चाहिये कि मन्त्रराज आनुष्टुभमें 'नमामि' इस पदका प्रयोग क्यों किया जाता है? (उत्तर) इसलिये कि जिन्हें सम्पूर्ण देवता, मुमुक्षु तथा ब्रह्मवादी (मुक्त पुरुष) भी नमस्कार करते हैं, उन्हें नमस्कार करना उचित ही है। ऋचा भी कहती है—'वे ब्रह्मा और वेदोंका भी पालन करनेवाले हैं, उन्हींको लक्ष्य करके ब्रह्मा स्तुतिके उपयुक्त मन्त्रोंका पाठ करके भगवान्‌को नमस्कार करते हैं; उन्हींमें इन्द्र, वरुण, मित्र तथा अर्यमा आदि देवताओंने अपना आश्रय बनाया है। इसीलिये उनके प्रति 'नमामि' (नमस्कार करता हूँ) यों कहा जाता है।

(प्रश्न) अब यह बतानेकी कृपा करें कि उक्त मन्त्रमें 'अहम्' इस पदका प्रयोग क्यों किया जाता है? (उत्तर) इसलिये कि श्रुति कहती है—'मैं इस मूर्त और अमूर्त जगत्‌से प्रथम उत्पन्न होनेवाला चेतन आत्मा हूँ। देवताओंसे भी पहले मेरी स्थिति है। मैं अमृतका केन्द्र हूँ। हे देव! जो मुझे धारण या स्वीकार करते हैं अथवा जो मुझे अपना आश्रय प्रदान करते हैं, उन्हीं आपने मेरा रक्षण भी किया है। मैं अन्न हूँ। मैं अन्नके भक्षण करनेवालेको भी खा जाता हूँ। मैं सम्पूर्ण विश्वको सूर्यकी ज्योतिकी भाँति अपने तेजसे तिरस्कृत कर सकता हूँ।' जो इस प्रकार जानता है, वही यथार्थ उपासक है। यह महोपनिषद् है।

तृतीय उपनिषद्

मन्त्रराज आनुष्टुभकी शक्ति तथा बीज

कहते हैं, देवताओंने जिज्ञासापूर्वक प्रजापतिसे कहा—'भगवन्! भगवान् नरसिंहके मन्त्रराज आनुष्टुभकी शक्ति और बीज क्या हैं, यह हमें बताइये।'

तब उन सुप्रसिद्ध प्रजापतिने कहा—भगवान् नृसिंहकी शक्तिभूता जो यह माया है, निश्चय वही इस सम्पूर्ण जगत्की रचना करती है, इस सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करती है तथा इस सम्पूर्ण जगत्का संहार करती है। अतः इस मायाको ही शक्ति जाने। जो इस मायारूप शक्तिको जानता है, वह पापसे तर जाता है, वह मृत्युसे पार हो जाता है, वह संसारसे भी तर जाता है तथा वह अमृतत्वको भी प्राप्त कर लेता है। इस लोकमें वह महती समृद्धि प्राप्त करता है।

ब्रह्मवादी विचार करते हैं कि यह माया-शक्ति ह्रस्व है या दीर्घ है अथवा प्लुत है? यदि ह्रस्व है तो इसे इस रूपमें जाननेसे यह सम्पूर्ण पापोंको दग्ध कर देती है और उपासक अमृतत्वको प्राप्त होता है। यदि दीर्घ है तो इसे इस रूपमें जाननेसे साधक महान् ऐश्वर्यको प्राप्त होता है और अमृतत्वको भी प्राप्त कर लेता है। यदि यह प्लुत है तो इसे इस रूपमें जाननेसे मनुष्य ज्ञानवान् होता है और अमृतत्वको भी प्राप्त हो जाता है। इस विषयमें ऋषिने यह उदाहरण प्रस्तुत किया है—'हे मायाशक्तिरूप विन्दुयुक्त स्वर! मैं सरलभावका इच्छुक तथा संसार-सिन्धुसे तरनेके लिये प्रयत्नशील होकर साधनके लिये उपयोगी दीर्घ आयु प्राप्त करनेके उद्देश्यसे भगवान् विष्णुकी शक्ति श्रीदेवीकी, श्रीलक्ष्मीजीकी (जो नृसिंहदेवकी शक्ति हैं), शङ्करजीकी शक्ति पर्वतराजपुत्री अम्बिकाकी, ब्रह्माजीकी शक्ति सरस्वतीदेवीकी, षष्ठीदेवी (स्कन्दशक्ति)-की, इन्द्रसेना नामसे प्रसिद्ध इन्द्रशक्तिकी तथा ब्रह्मप्राप्तिकी कारणभूता एवं साकाररूपमें प्रकट हुई विद्या-शक्तिकी शरण लेता हूँ। आप उपर्युक्त शक्तियोंकी तथा मुझ उपासककी रक्षा करें।'

निश्चय ही सम्पूर्ण भूतोंका यह आकाश ही परम आधार है। ये सम्पूर्ण भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होनेपर आकाशसे ही जीवन धारण करते हैं तथा मृत्यु होनेपर आकाशमें ही लीन हो जाते हैं; इसलिये आकाशको ही बीज—सबका मूल कारण जाने। इस विषयमें ऋषि (मन्त्र) ने यह दृष्टान्त रक्खा है—'विशुद्ध परम धाममें अथवा बुद्धिमें रहनेवाले जो स्वयम्प्रकाश पुरुषोत्तम हैं, वे ही अन्तरिक्ष-निवासी वसु हैं, घरोंमें उपस्थित होनेवाले अतिथि हैं; यज्ञकी वेदीपर स्थापित होनेवाले अग्निदेव तथा उनमें आहुति डालनेवाले होता भी वे ही हैं; समस्त मनुष्योंमें अर्थात् भूलोकमें, उससे श्रेष्ठ स्वर्गलोकमें तथा सर्वश्रेष्ठ सत्यलोकमें भी उन्हींका निवास है। वे ही आकाशमें रहनेवाले हैं। जल, पृथ्वी, सत्कर्म तथा पर्वतोंमें प्रकट होनेवाले भी वे ही हैं; वे ही सबसे महान् परम सत्य हैं।' जो इस प्रकार जानता है, वह भी पूर्वोक्त फलका भागी होता है। यह महोपनिषद् है।

चतुर्थ उपनिषद्

मन्त्रराज आनुष्टुभके अङ्गभूत मन्त्र; प्रणव वाच्यरूप भगवान् नृसिंहदेवके चार पाद; स्तुतिके मन्त्र

उन प्रसिद्ध देवताओंने प्रजापति ब्रह्माजीसे जिज्ञासापूर्वक कहा—'भगवन्! नृसिंहदेवके मन्त्रराज आनुष्टुभके अङ्गभूत मन्त्रोंका हमारे लिये वर्णन कीजिये।'

यह सुनकर वे सुप्रसिद्ध प्रजापति बोले—प्रणव (ॐकार), गायत्री, यजुर्लक्ष्मी तथा नृसिंहगायत्री—ये इस मन्त्रराजके अङ्गभूत मन्त्र हैं। इन सबको जानना चाहिये। जो जानता है, वह (लौकिक लाभके साथ ही) अमृतत्वको भी प्राप्त करता है॥ १॥

'ॐ' यह अक्षर (अविनाशी परमात्मा) है। यह दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् इस परमात्मस्वरूप ॐकारकी ही उपव्याख्या—महिमाका विस्तार है। भूत, वर्तमान और भविष्य—इन तीनों कालोंसे सम्बन्ध रखनेवाला सब कुछ ॐकार ही है। तथा उपर्युक्त तीनों कालोंसे अतीत जो कोई दूसरा तत्त्व है, वह भी ॐकार ही है। निश्चय ही यह सब कुछ ब्रह्म है। ये परमात्मा (भगवान् नृसिंहदेव) ब्रह्म हैं। उन सर्वात्मा श्रीनृसिंहदेवके चार पाद हैं। उनके

समग्ररूपका तत्त्व समझानेके लिये श्रुतिने यहाँ चार पादोंकी कल्पना की है।

जाग्रत्-अवस्था तथा उसके द्वारा उपलक्षित यह सम्पूर्ण स्थूल जगत् ही जिनका स्थान—शरीर है, अर्थात् जो सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हो रहे हैं; जिनका ज्ञान इस बाह्य जगत्में फैला हुआ है अथवा जो बाह्य (स्थूल) जगत्को ही अपनी प्रज्ञाका विषय बनाते हैं; भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य—ये सात लोक ही जिनके अङ्ग हैं; पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा चार अन्तःकरण—ये उन्नीस समष्टि करण ही जिनके मुख[1] हैं; जो स्थूल जगत्के भोक्ता (अनुभव और पालन करनेवाले) हैं तथा जो विश्व-शरीरमें स्थित नर (अन्तर्यामी पुरुष) होनेके कारण 'वैश्वानर' नाम धारण करते हैं, वे सर्वरूप 'वैश्वानर' ही पूर्णतम परमात्मा श्रीनृसिंहदेवके प्रथम पाद हैं। (चार व्यूहोंमें ये ही बलभद्र-स्वरूप हैं।)

स्वप्नावस्था और उसके द्वारा उपलक्षित सूक्ष्म जगत् ही जिनका स्थान (शरीर) है, जिनका ज्ञान बाह्य जगत्की अपेक्षा आन्तरिक अर्थात् सूक्ष्म जगत्में व्याप्त है, जो पूर्वोक्त सात अङ्गों और उन्नीस मुखोंवाले हैं, जो सूक्ष्म जगत्के सूक्ष्म तत्त्वोंका अनुभव और पालन करनेवाले हैं, वे तैजस पुरुष (प्रकाशके स्वामी सूत्रात्मा—हिरण्यगर्भ) उन पूर्णब्रह्म परमात्मा श्रीनृसिंहदेवके द्वितीय पाद हैं। (चतुर्व्यूहोंमें ये ही प्रद्युम्नरूप हैं।)

जिस अवस्थामें सोया हुआ पुरुष किसी भी भोगकी कामना नहीं करता, कोई भी स्वप्न नहीं देखता, वह सुषुप्ति-अवस्था है। ऐसी सुषुप्ति तथा उसके द्वारा उपलक्षित सम्पूर्ण जगत्की प्रलयावस्था (जब कि सारा विश्व अपने कारणमें विलीन हो जाता है) जिनका स्थान (शरीर) है, अर्थात् समष्टि कारण-तत्त्वमें जिनकी स्थिति है, जो एक रूपमें ही स्थित हैं अर्थात् जिनकी अभी नाना रूपोंमें अभिव्यक्ति नहीं हुई है, घनीभूत विज्ञान ही जिनका स्वरूप है, जो केवल आनन्दमय ही हैं, चिन्मय प्रकाश ही जिनका मुख है तथा जो एकमात्र अपने स्वरूपभूत आनन्दके ही उपभोक्ता हैं, जिनके अतिरिक्त और कोई है ही नहीं, वे प्राज्ञ पुरुष ही पूर्ण ब्रह्म परमात्मा श्रीनृसिंहदेवके तृतीय पाद हैं। (चतुर्व्यूहोंमें इन्हींको अनिरुद्ध कहा गया है।)

१. विषय-ग्रहणमें द्वारभूत होनेके कारण इनको मुख कहा गया है।

इस प्रकार तीनों पादोंके रूपमें उपवर्णित ये परमात्मा सबके ईश्वर हैं। ये सर्वज्ञ हैं। ये अन्तर्यामी हैं। ये सम्पूर्ण विश्वके कारण हैं। तथा समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति, (स्थिति) और प्रलयके स्थान भी ये ही हैं।

जो न सूक्ष्मको जानता है न स्थूलको जानता है, और न दोनोंको ही जानता है; जिसे जाननेवाला और न जाननेवाला—कुछ भी नहीं कहा जा सकता और जो न प्रज्ञानका ही घनीभूत रूप है; जो देखा नहीं जा सकता, व्यवहारमें नहीं लाया जा सकता और न पकड़नेमें ही आ सकता है; जिसका कोई लक्षण अथवा चिह्न—आकार भी नहीं है; जो चिन्तन करनेमें नहीं आ सकता और न बतलानेमें ही आ सकता है; एकमात्र आत्मसत्ताकी प्रतीति—अनुभूति ही जिसका सार अथवा स्वरूप है तथा जिसमें प्रपञ्चका सर्वथा अभाव है—ऐसा सर्वथा शान्त, कल्याणमय, अद्वितीय तत्त्व उन पूर्णब्रह्म परमात्मा नृसिंहदेवका चतुर्थ पाद है। यों ज्ञानी महात्मा मानते हैं। इस प्रकार चार पादोंमें जिनका वर्णन किया गया है, वे ही प्रणववाच्य परमात्मा भगवान् नृसिंहदेव हैं और वे ही जाननेयोग्य हैं (उन्हींकी महिमाका इस उपनिषद्में वर्णन है) ॥ २ ॥

अब सावित्रीका परिचय देते हैं। (यद्यपि मन्त्रराजके पदोंमें 'सवितृ'-वाचक शब्दका उपादान नहीं हुआ है, तथापि तिमिरविनाशक सूर्यकी भाँति वह उपासकोंके अन्तस्तमको दूर करनेवाला है—यह प्रदर्शित करनेके लिये ही 'सावित्री' को अङ्ग-मन्त्र माना गया है।) यह सावित्री-मन्त्र गायत्री-छन्द-विशिष्ट यजुर्मन्त्रके रूपमें निरूपित हुआ है। उसके द्वारा ही यह सब कुछ व्याप्त है। आठ अक्षरोंका मन्त्र होनेसे ही उसको गायत्री कहा गया है। मन्त्र इस प्रकार है—'घृणिः सूर्य आदित्यः।' 'घृणिः' ये दो अक्षर हैं। 'सूर्यः' ये तीन अक्षर हैं।* तथा 'आदित्यः' ये तीन अक्षर हैं। यह सावित्र-मन्त्रका आठ अक्षरोंवाला पद है; इसको आरम्भमें श्रीबीज (श्रीं) से विभूषित किया जाता है। जो इस प्रकार इस मन्त्रको जानता है, वह लक्ष्मीके द्वारा अभिषिक्त होता है। यही बात ऋचाद्वारा कही गयी है—'ऋग्वेदकी ऋचाएँ अविनाशी परम-व्योमस्वरूप स्वप्रकाश परमात्मामें प्रतिष्ठित हैं, जहाँ कि सम्पूर्ण

* यद्यपि इसमें दो ही अक्षर सस्वर हैं, तथापि वैदिक छन्दोंके लिये स्वीकृत व्यूहके नियमानुसार 'सूर्यः' के स्थानमें 'सूरियः' पाठ मानकर गणना करनेसे तीन अक्षर होते हैं। गायत्री-मन्त्रमें भी 'वरेण्यम्' के स्थानमें 'वरेणियम्' मानकर गणना करनेसे ही चौबीस अक्षर पूरे होते हैं।

देवता भलीभाँति निवास करते हैं। जो उपासक उन स्वप्रकाश परमात्माको नहीं जानता, वह ऋचाओंके स्वाध्यायसे क्या कर लेगा ? तथा जो उन परमात्माको जानते हैं, वे ही ये उपासक उनके परमधाममें सुखपूर्वक निवास करते हैं।' इसी प्रकार जो सावित्र-मन्त्रको जानता है, उसको ऋक्, साम और यजुर्वेदके मन्त्रोंसे कोई प्रयोजन नहीं है।

ॐ भूर्लक्ष्मीर्भुवर्लक्ष्मीः स्वर्लक्ष्मीः कालकर्णी तन्नो महालक्ष्मीः प्रचोदयात्।

'जो सच्चिदानन्दमयी देवी भूर्लोककी लक्ष्मी—शोभा, भुवर्लोककी लक्ष्मी तथा स्वर्लोककी लक्ष्मी हैं, जो कालकर्णी नामसे विख्यात हैं, वे भगवती महालक्ष्मी हमें सत्कर्मोंके लिये प्रेरणा देती रहें।' निश्चय ही यह महालक्ष्मीकी यजुर्वेदोक्त गायत्री है, जो चौबीस अक्षरोंकी है। यह सब—जो कुछ यह प्रतीत हो रहा है, निःसंदेह गायत्री ही है। इसलिये जो इस यजुर्वेदसम्बन्धिनी महालक्ष्मी गायत्रीको जानता है, वह बड़ी भारी सम्पत्तिको प्राप्त होता है।

ॐ नृसिंहाय विद्महे वज्रनखाय धीमहि तन्नः सिंहः प्रचोदयात्।

'ॐश्रीनृसिंहदेवकी प्राप्तिके लिये हम उपासना करते हैं, वज्रके समान नखोंवाले उन भगवान्‌के लिये ही उनके स्वरूपका हम चिन्तन करते हैं; वे भगवान् नरसिंह हमें प्रेरणा दें।' यही नृसिंहगायत्री है, जो देवताओं और वेदोंका भी आदि कारण है। जो इस प्रकार जानता है, वह आदि-कारणभूत भगवान्‌से संयुक्त होता है॥ २॥

देवताओंने प्रजापतिसे फिर पूछा—'भगवन्! किन मन्त्रोंसे स्तुति करनेपर भगवान् नृसिंहदेव प्रसन्न होते और अपने स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन कराते हैं, यह हमें बतलायें।' यह सुनकर उन सुप्रसिद्ध प्रजापतिने कहा—

ॐ उं ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च ब्रह्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ १॥

ॐ प्रं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च विष्णुर्भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ २॥

ॐ वीं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च महेश्वरो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ ३॥

ॐ रं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च पुरुषो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ ४॥

ॐ मं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्चेश्वरो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ ५॥

ॐ हां ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्या सरस्वती भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ ६॥

ॐ विं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्या श्रीर्भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ ७॥

ॐ ष्णुं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्या गौरी भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ ८॥

ॐ ज्वं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्या प्रकृतिर्भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ ९॥

ॐ लं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्या विद्या भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ १०॥

ॐ तं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्चोङ्कारो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ ११॥

ॐ सं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्याश्चतस्रोऽर्धमात्रा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ १२॥

ॐ वं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्ये च वेदाः साङ्गाः सशाखा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ १३॥

ॐ तों ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्ये पञ्चाग्नयो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ १४॥

ॐ मुं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्याः सप्तव्याहृतयो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ १५॥

ॐ खं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्ये चाष्टौ लोकपाला भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ १६॥

ॐ नृं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्ये चाष्टौ वसवो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ १७॥

ॐ सिं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्ये च रुद्रा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ १८॥

ॐ हूं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्ये च आदित्या भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ १९॥

ॐ भीं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्ये चाष्टौ ग्रहा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ २०॥

ॐ षं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यानि पञ्च महाभूतानि भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ २१॥

ॐ णं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च कालो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ २२॥

ॐ भं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च मनुर्भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ २३॥

ॐ द्रं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च मृत्युर्भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २४ ॥

ॐ मृं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च यमो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २५ ॥

ॐ त्युं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्चान्तको भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २६ ॥

ॐ मृं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च प्राणो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २७ ॥

ॐ त्युं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च सूर्यो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २८ ॥

ॐ नं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च सोमो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ २९ ॥

ॐ मां ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च विराट् पुरुषो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३० ॥

ॐ म्यं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च जीवो भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३१ ॥

ॐ हं ॐ यो वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च सर्वं भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः ॥ ३२ ॥

ॐ (उं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि ब्रह्मा एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हींको हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (ग्रं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि विष्णु एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (वीं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि महेश्वर तथा भूः-भुवः और स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (ं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि पुरुष एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (मं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि ईश्वर एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (हां) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि सरस्वती एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (विं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि श्री एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (ष्णुं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि गौरी एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (ज्वं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि प्रकृति एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (लं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि विद्या एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (तं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि ॐकार एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (सं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि चार अर्धमात्रा एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (वं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि अङ्ग, शाखा और इतिहाससहित वेद एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (तों) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि पाँच अग्नियाँ एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (मुं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि सात महाव्याहृतियाँ एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (खं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि आठ लोकपाल एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (नृं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि आठ वसु एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (सिं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि ग्यारह रुद्र एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (हं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि बारह आदित्य एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (भीं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि आठ ग्रह एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (षं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि पञ्च महाभूत एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (णं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि काल एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (भं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान्

नृसिंहदेव हैं, जो कि मनु एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (द्रं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि मृत्यु एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (मृं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि यम एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (त्युं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि अन्तक एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (मृं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि प्राण एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (त्युं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि सूर्य एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (नं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि सोम एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (मां) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि विराट् पुरुष एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (म्यं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि जीव एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है। ॐ (हं) निश्चय ही जो वे परम प्रसिद्ध भगवान् नृसिंहदेव हैं, जो कि सर्वरूप एवं भूः-भुवः-स्वः—त्रिभुवनरूप हैं, उन्हें ही हमारा बारंबार नमस्कार है ॥ १—३२ ॥

ये (मन्त्रराजके ३२ अक्षरोंके अनुसार) बत्तीस मन्त्र हैं। इन मन्त्रोंको बताकर प्रजापतिने उन देवताओंसे कहा—'देवगण! तुमलोग इन मन्त्रोंसे प्रतिदिन भगवान्‌का स्तवन करो। इससे भगवान् नृसिंहदेव प्रसन्न होते और अपने स्वरूपका प्रत्यक्ष दर्शन कराते हैं। इसलिये जो इन मन्त्रोंद्वारा नित्य भगवान् नरसिंहदेवकी स्तुति करता है, वह उनका प्रत्यक्ष दर्शन पाता है तथा उनके विश्वरूपको देख लेता है। साथ ही वह अमृतत्वको भी प्राप्त होता है। जो इस प्रकार जानता है, उसे भी वही फल मिलता है। यह महोपनिषद् है ॥ ४ ॥

पञ्चम उपनिषद्

आनुष्टुभ मन्त्रराजके सुदर्शन नामक महाचक्रका वर्णन; मन्त्रराजके जपका फल

कहते हैं, देवताओंने श्रद्धापूर्वक प्रजापतिसे कहा—"भगवन्! श्रीनृसिंहदेवके आनुष्टुभ मन्त्रराजका जो 'महाचक्र' नामक चक्र है, उसका हमसे वर्णन कीजिये। यह चक्र सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण करनेवाला तथा मोक्षका द्वार है—इस प्रकार योगीजन वर्णन करते हैं।"

यह सुनकर वे प्रसिद्ध प्रजापति बोले—निश्चय ही यह सुदर्शन नामक महाचक्र छः अक्षरोंका है; इसीलिये यह छः अरोंसे युक्त होता है—छः दलोंवाला चक्र बनता है। छः ही ऋतुएँ होती हैं; ऋतुओंसे ही इसके अरोंकी समानता की जाती है। अर्थात् इसके छः दलोंमें छः ऋतुओंकी भावना करनी चाहिये। इसके मध्यमें नाभि होती है। नाभिमें ही ये अरे प्रतिष्ठित होते हैं। फिर यह सारा चक्र मायारूप नेमिसे आवेष्टित होता है। माया आत्माका स्पर्श नहीं करती, इसलिये वह षड्दल चक्र बाहरकी ओरसे ही मायाद्वारा आवेष्टित होता है। इसके बाद आठ अरोंसे युक्त अष्टदल चक्र बनता है। आठ अक्षरोंकी ही एक पादवाली गायत्री होती है; गायत्रीके अक्षरोंसे ही इस चक्रके अरोंकी तुलना की जाती है। (इसके आठ दलोंमें गायत्रीके एक पादकी भावना करे।) यह भी बाहरकी ओरसे मायाद्वारा आवेष्टित होता है। निश्चय ही यह माया प्रत्येक क्षेत्रको व्याप्त किये रहती है। इसके बाद द्वादश अरोंसे युक्त द्वादशदलका चक्र होता है। बारह अक्षरोंका ही जगती छन्द (का एक पाद) होता है। जगतीकी अक्षर-संख्यासे ही यह चक्र संतुलित होता है। (इसके द्वादश दलोंमें जगतीके एक पादकी भावना करे।) यह भी बाहरसे मायाद्वारा आवेष्टित होता है। तदनन्तर षोडशारचक्र है, जो सोलह दलोंसे सम्पन्न होता है। निश्चय ही पुरुष सोलह कलाओंसे युक्त है। पुरुष (परमात्मा) ही यह सब कुछ है। अतः षोडशार चक्रके अरोंको पुरुषकी कलाओंकी उपमा दी जाती है। (इसके षोडश दलोंमें पुरुषकी—अन्तर्यामी परमात्माकी सोलह कलाओंकी भावना करे।) यह भी बाहरकी ओरसे मायाद्वारा आवेष्टित होता है। तत्पश्चात् बत्तीस अरोंसे युक्त अर्थात् बत्तीस दलोंवाला चक्र है। बत्तीस अक्षरोंका ही अनुष्टुप् छन्द होता है। अनुष्टुप्के अक्षरोंसे ही इसके

अरोंकी तुलना होती है। (इसके बत्तीस दलोंमें अनुष्टुप्‌की भावना करे।) यह चक्र भी बाहरकी ओरसे मायाद्वारा आवेष्टित है। अरोंसे ही यह पूर्णतः आबद्ध है। वेद ही इसके अरे हैं। पत्तोंसे ही यह सब ओर घूमता है। छन्द ही इसके पत्ते हैं॥ १॥

यह बत्तीस दलोंसे सम्पन्न महाचक्र ही सुदर्शन नामसे विख्यात है। इसके मध्यभागमें स्थित जो नाभिस्थान है, उसमें नृसिंह-देवता-सम्बन्धी अविनाशी तारक-मन्त्रका न्यास करे। वह तारक-मन्त्र एक अक्षरका—ॐ है। छः पत्रोंमें छः अक्षरोंवाले 'सहस्रार हुं फट्' इस सुदर्शन मन्त्रका न्यास होता है। आठ दलोंमें आठ अक्षरोंवाले 'ॐ नमो नारायणाय' इस नारायण-मन्त्रका न्यास होता है। बारह दलोंमें द्वादशाक्षर वासुदेव-मन्त्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) का न्यास किया जाता है। सोलह दलोंमें वर्णमालाके आदि सोलह अक्षर, जो बिन्दुयुक्त सोलह स्वर-वर्णोंके रूपमें हैं, रक्खे जाते हैं। बत्तीस दलोंमें बत्तीस अक्षरोंके नृसिंह-देवतासम्बन्धी मन्त्रराज आनुष्टुभका न्यास किया जाता है। (एक-एक दलमें मूल-मन्त्रके एक-एक अक्षरको प्रणवसे सम्पुटित करके रक्खा जाता है।) वही यह सुदर्शन नामसे प्रसिद्ध महाचक्र है, जो सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाला, मोक्षका द्वार, ऋक्, यजुः और सामवेदस्वरूप तथा ब्रह्ममय एवं अमृतमय है। उसके पूर्वभागमें आठ वसुगण रहते हैं। दक्षिणभागमें ग्यारह रुद्र, पश्चिमभागमें बारह आदित्य, उत्तरभागमें विश्वेदेव, नाभिमें ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेवजी एवं पार्श्वभागमें सूर्य और चन्द्रमा हैं।

यही बात ऋचाद्वारा कही गयी है—'अविनाशी परम आकाशस्वरूप भगवान् नृसिंहमें (तथा उनके इस सुदर्शन महाचक्रमें) ही ऋक् आदि सम्पूर्ण वेद प्रतिष्ठित हैं। उनमें ही सम्पूर्ण देवता निवास करते हैं। जो उन परमात्मा नृसिंह-देव तथा उनके महाचक्रको नहीं जानता, वह ऋग्वेद पढ़कर क्या करेगा? उसका वेदाध्ययन व्यर्थ है। और जो उन भगवान् नृसिंहदेव तथा उनके सुदर्शन महाचक्रको जानते हैं, वे ही उपासक भगवान्‌में उत्तम स्थितिको प्राप्त करते हैं।' इस सुदर्शन नामक महाचक्रको जो बालक अथवा युवा होकर भी जान लेता है, वह महान् बन जाता है; वह सबका गुरु है। वह सब मन्त्रोंका उपदेशक हो जाता है। मन्त्रराज अनुष्टुप्‌से होम करे। अनुष्टुप्-मन्त्रसे ही पूजन करे। यह सुदर्शन महाचक्र राक्षसजनित भयका नाश करनेवाला है, मृत्युसे तारनेवाला है। इसे यन्त्ररूपमें गुरुद्वारा प्राप्त करके कण्ठमें, बाँहमें अथवा शिखामें बाँध ले। इस मन्त्रके उपदेशक गुरुको सात द्वीपोंवाली समूची पृथ्वी भी दक्षिणारूपमें दे दी जाय तो उसके लिये यह पर्याप्त नहीं है। अर्थात् उस मन्त्रकी महिमाके समक्ष सम्पूर्ण पृथ्वीका दान भी तुच्छ है। अतएव श्रद्धा और शक्तिके अनुसार जो कुछ भी हो सके, थोड़ी बहुत भूमि दान करनी चाहिये; वही दक्षिणा होती है॥ २॥

उन प्रसिद्ध देवताओंने पुनः प्रजापतिसे श्रद्धापूर्वक पूछा—'भगवन्! आनुष्टुभ मन्त्रराज नारसिंहका क्या फल है, यह हमें बताइये।'

यह सुनकर उन सुप्रसिद्ध प्रजापतिने कहा—जो इस नारसिंह मन्त्रराज आनुष्टुभका नित्य जप करता है, वह मानो अग्निमें तपाया जाकर शुद्ध हो जाता है। वह वायुपूत होता है। वह सूर्य और चन्द्रमाद्वारा शुद्ध कर दिया जाता है। वह सत्यपूत होता है; वह लोकपूत होता है; वह ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा समस्त वेदोंद्वारा पवित्र कर दिया जाता है।

सारांश यह कि वह सबके द्वारा सर्वथा पवित्र कर दिया जाता है॥ ३॥

जो भगवान् नृसिंहदेवके इस मन्त्रराज आनुष्टुभका नित्य जप करता है, वह मृत्युको पार कर जाता है। वह पापसे तर जाता है। वह ब्रह्महत्याको पार कर जाता है। वह भ्रूणहत्यासे तर जाता है। वह वीरहत्यासे तर जाता है। वह सबकी हत्यासे तर जाता है। वह जन्म-मृत्युरूप संसारको पार कर जाता है। वह सबको पार कर जाता है। वह सबको पार कर जाता है॥४॥

जो भगवान् नृसिंहदेवके इस मन्त्रराज आनुष्टुभका नित्य जप करता है, वह अग्निकी गतिको रोक देता है, वह वायुकी गतिको रोक देता है, वह सूर्यकी गतिको रोक देता है, वह चन्द्रमाकी गतिको रोक देता है, वह जलके प्रवाहको रोक देता है, वह सम्पूर्ण देवताओंको स्तब्ध कर देता है, वह सम्पूर्ण ग्रहोंकी गतिको रोक देता है तथा वह विषका भी स्तम्भन कर देता है॥५॥

जो भगवान् नृसिंहदेवके इस मन्त्रराज आनुष्टुभका नित्य जप करता है, वह देवताओंका आकर्षण कर लेता है। वह यक्षोंको भी अपने पास खींच लेता है। वह नागोंका आकर्षण कर लेता है। वह ग्रहोंको अपने समीप आकृष्ट कर लेता है। वह मनुष्योंको भी आकृष्ट कर लेता है। वह सबको आकृष्ट कर लेता है। वह सबको आकृष्ट कर लेता है॥ ६॥

जो भगवान् नृसिंहदेवके इस मन्त्रराज आनुष्टुभका नित्य जप करता है, वह भूलोकको जीत लेता है, वह भुवर्लोकको जीत लेता है, वह स्वर्गलोकको जीत लेता है, वह महर्लोकको जीत लेता है, वह जनलोकको जीत लेता है, वह तपोलोकको जीत लेता है, वह सत्यलोकको जीत लेता है, वह सब लोकोंको जीत लेता है, वह सब लोकोंको जीत लेता है॥ ७॥

जो भगवान् नृसिंहदेवके इस मन्त्रराज आनुष्टुभका

नित्य जप करता है, वह अग्निष्टोम यज्ञद्वारा यजन कर लेता है, वह उक्थ्य यागद्वारा यजन कर लेता है, वह 'षोडशी' से यजन कर लेता है, वह वाजपेयद्वारा यजन कर लेता है। वह अतिरात्रद्वारा यजन कर लेता है। वह आप्तोर्यामद्वारा यजन कर लेता है। वह अश्वमेधद्वारा यजन कर लेता है। वह सम्पूर्ण क्रतुओंद्वारा यजन कर लेता है। वह सम्पूर्ण क्रतुओंद्वारा यजन कर लेता है॥ ८॥

जो भगवान् नृसिंहदेवके इस मन्त्रराज आनुष्टुभका नित्य जप करता है, वह मानो ऋग्वेदका स्वाध्याय करता है। वह यजुर्वेदका स्वाध्याय करता है। वह सामवेदका स्वाध्याय करता है। वह अथर्ववेदका स्वाध्याय करता है। वह उसीके आङ्गिरस भागका स्वाध्याय करता है। वह शाखाओंका स्वाध्याय करता है। वह पुराणोंका स्वाध्याय करता है। वह कल्पों (यज्ञविधिको बतलानेवाले शास्त्रों) का स्वाध्याय करता है। वह गाथाओंका अध्ययन करता है। वह नाराशंसी नामक आख्यानोंका अध्ययन करता है। वह प्रणवका अध्ययन करता है। जो प्रणवका अध्ययन करता है, वह सबका अध्ययन करता है। वह सबका अध्ययन करता है॥ ९॥

जिनका उपनयन-संस्कार नहीं हुआ है, ऐसे जो सौ बालक हैं, वे एक उपनयन-संस्कारसम्पन्न ब्रह्मचारीके तुल्य हैं। जो सौ ब्रह्मचारी हैं, वे एक श्रोत्रिय (वेदपाठी) गृहस्थके तुल्य हैं। जो सौ गृहस्थ हैं, वे एक वानप्रस्थके तुल्य हैं; जो सौ वानप्रस्थ हैं, वे एक संन्यासीके तुल्य हैं। जो सौ संन्यासी हैं, वे एक रुद्र-जापक (रुद्र-मन्त्र अथवा रुद्राष्टाध्यायीका पाठ करनेवाले साधक) के तुल्य हैं। जो सौ रुद्र-जापक हैं, वे एक अथर्वशिरस् एवं अथर्वशिखा नामक उपनिषद्का स्वाध्याय करनेवालेके तुल्य हैं तथा जो सौ अथर्ववेदीय उपनिषदोंके स्वाध्यायकर्ता हैं, वे मन्त्रराज नारसिंहका जप करनेवाले एक साधकके तुल्य हैं। मन्त्रराज-का जप करनेवाले उपासकको वह परम धाम निश्चय ही प्राप्त होता है, जहाँ सूर्य नहीं तपता, जहाँ वायु नहीं बहती, जहाँ चन्द्रमा नहीं प्रकाशित होता, जहाँ तारे नहीं चमकते, जहाँ आग नहीं जलाती, जहाँ मृत्यु नहीं प्रवेश कर पाती, जहाँ दुःखका कोई प्रभाव नहीं होता, जो सदा आनन्दमय, परमानन्दपूर्ण, शान्त, शाश्वत, सदा कल्याणमय, ब्रह्मादि देवताओंद्वारा वन्दनीय तथा योगियोंका भी परम ध्येयरूप परमपद है और जहाँ जाकर योगी (परमात्मामें लगे हुए पुरुष) इस संसारमें नहीं लौटते।

इसके सम्बन्धमें ऐसी ही बात ऋग्वेदकी ऋचाद्वारा भी बतायी गयी है—

'जो आकाशमें तेजोमय सूर्यमण्डलकी भाँति, परमव्योममें चिन्मय प्रकाशद्वारा सब ओर व्याप्त है, भगवान् विष्णुके उस परमधामको विद्वान् उपासक सदा ही देखते हैं। साधनामें सदा जाग्रत् रहनेवाले निष्काम उपासक ब्राह्मण वहाँ पहुँचकर उस परमधामको और भी उद्दीप्त किये रहते हैं, जिसे विष्णुका परम पद कहते हैं।' वह परम पद निष्काम उपासकको प्राप्त होता है। वह यह परम पद निष्काम उपासकको प्राप्त होता है। जो इस प्रकार जानता है, वह उक्त फलका भागी होता है। यह महा-उपनिषद् है॥ १०॥

॥ अथर्ववेदीय नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

श्रीनृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम खण्ड

'ॐ' नामसे परमात्म-तत्त्वका तथा उसके चार पादोंका वर्णन; चौथे पादके चार भेद

कहते हैं, एक बार देवताओंने प्रजापति ब्रह्माजीसे कहा—'भगवन् ! जो सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म हैं, उन प्रणव-रूप परमात्माके तत्त्वका हमसे स्पष्ट वर्णन कीजिये ।' इसपर ब्रह्माजीने 'तथास्तु' कहकर इस प्रकार उपदेश आरम्भ किया—

'ॐ' यह अक्षर (अविनाशी परमात्मा) है । यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् उस परमात्मस्वरूप ॐकारकी ही उपव्याख्या—महिमाका विस्तार है । अतीत, वर्तमान और अनागत—इन तीनों कालोंमें होनेवाला यह सारा जगत् ॐकार ही है । तथा जो उपर्युक्त तीनों कालोंसे अतीत एवं जगत्से भिन्न कोई तत्त्व है, वह भी ॐकार ही है । निश्चय ही यह सब कुछ ब्रह्म है । यह आत्मा भी ब्रह्म है ।

इस आत्माकी 'ओम्' इस नामसे अभिहित ब्रह्मके साथ एकता करके तथा ब्रह्मकी आत्माके साथ 'ॐ'कारके वाच्यार्थ-रूपसे एकता करके, वह एकमात्र (अद्वितीय), जरारहित, मृत्युरहित, अमृतस्वरूप, निर्भय, चिन्मय तत्त्व 'ओम्' है—इस प्रकार अनुभव करे । उस परमात्मस्वरूप ॐकारमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन शरीरोंवाले इस सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चका आरोप करके, अर्थात् एक परमात्मा ही सत्य हैं, उन्हींमें इस स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण-जगत्की कल्पना हुई है—विवेकद्वारा इस प्रकार अनुभव करके यह निश्चय करे कि यह जगत् सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा ही है । तथा तन्मय (परमात्ममय) होनेके कारण अवश्य यह तत्स्वरूप (परमात्मारूप) ही है, इस दृढ़ निश्चयके द्वारा जगत्को 'ओम्' के वाच्यार्थभूत परमात्मामें विलीन कर डाले । साथ ही उस त्रिविध शरीरवाले आत्माका 'यह त्रिविध शरीररूप उपाधिसे युक्त परब्रह्म ही है' इस प्रकार चिन्तन करे ।

स्थूल (विराट् जगत्स्वरूप) एवं स्थूल जगत्का भोक्ता, साथ-ही-साथ सूक्ष्म (सूक्ष्म जगत्स्वरूप) एवं सूक्ष्म जगत्का भोक्ता होनेके कारण तथा उसी प्रकार एकमात्र आनन्दस्वरूप एवं आनन्दमात्रका उपभोक्ता और साथ ही इन सबसे विलक्षण होनेके कारण वह आत्मा (परमात्मा) चार पादोंवाला है ।

जाग्रत्-अवस्था तथा इसके द्वारा उपलक्षित यह सम्पूर्ण जगत् ही जिनका स्थान अर्थात् शरीर है; जो सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हो रहे हैं; जिनका ज्ञान इस स्थूल (बाह्य) जगत्में सब ओर फैला हुआ है; भूः, भुवः, स्वः आदि सात लोक ही जिनके सात अङ्ग हैं; पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा चार अन्तःकरण—ये उन्नीस समष्टि करण ही जिनके मुख हैं; जो स्थूल जगत्के भोक्ता हैं;

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ जिनके स्वरूप हैं अथवा स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षी—इन चार स्वरूपोंमें जिनकी अभिव्यक्ति होती है तथा जो विश्व-शरीरमें स्थित नर होनेके कारण 'वैश्वानर' कहलाते हैं, वे सर्वरूप वैश्वानर ही पूर्णतम परमात्मा श्रीनृसिंहदेवके प्रथम पाद हैं। (चार व्यूहोंमें इन्हींको बलभद्ररूप माना गया है।)

स्वप्नावस्था और उसके द्वारा उपलक्षित सूक्ष्म जगत् ही जिनका स्थान (शरीर) है, जिनका ज्ञान बाह्य जगत्की अपेक्षा आन्तरिक अर्थात् सूक्ष्म जगत्में व्याप्त है, जो पूर्वोक्त सात अङ्गों और उन्नीस मुखोंवाले तथा सूक्ष्म जगत्के सूक्ष्म तत्त्वोंका अनुभव और पालन करनेवाले हैं, वे पूर्ववत् चार स्वरूपोंवाले तैजस (प्रकाशके स्वामी) सूत्रात्मा—हिरण्यगर्भ उन पूर्णब्रह्म परमात्मा श्रीनृसिंहदेवके द्वितीय पाद हैं। (चार व्यूहोंमें इन्हींको प्रद्युम्न कहा गया है।)

जिस अवस्थामें सोया हुआ पुरुष किसी भी भोगकी कामना नहीं करता, कोई भी स्वप्न नहीं देखता, वह सुषुप्ति-अवस्था है। ऐसी सुषुप्ति तथा उसके द्वारा उपलक्षित सम्पूर्ण जगत्की प्रलयावस्था (जब कि सम्पूर्ण विश्व अपने कारणमें विलीन हो जाता है) जिनका स्थान (शरीर) है, अर्थात् समष्टि कारण-तत्त्वमें जिनकी स्थिति है; जो एकरूपमें ही स्थित हैं—जिनकी अभी नाना रूपोंमें अभिव्यक्ति नहीं हुई है; घनीभूत विज्ञान ही जिनका स्वरूप है; जो केवल आनन्दमय ही हैं; चिन्मय प्रकाश ही जिनका मुख है; ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प—इन चार स्वरूपोंमें जिनकी अभिव्यक्ति होती है* तथा जो एकमात्र अपने स्वरूपभूत आनन्दके ही उपभोक्ता हैं; जिनके अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं, वे प्राज्ञ नामसे प्रसिद्ध ईश्वर ही पूर्णब्रह्म परमात्मा श्रीनृसिंहदेवके तृतीय पाद हैं। (चार व्यूहोंमें ये ही 'अनिरुद्ध' नामसे प्रसिद्ध हैं।)

इस प्रकार तीनों पादोंके रूपमें वर्णित ये परमात्मा सबके ईश्वर हैं। ये सर्वज्ञ हैं। ये अन्तर्यामी हैं। ये सम्पूर्ण विश्वके कारण हैं तथा सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके स्थान भी ये ही हैं।

जाग्रत् आदि तीनों ही अवस्थाओंमें लक्षित होनेवाला यह जगत् भी वास्तवमें सुषुप्तरूप ही है; क्योंकि इनसे मोहित हुए मनुष्योंको कभी किसी भी वस्तुका तात्त्विक ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार यह त्रिविध जगत् स्वप्नवत् भी है; क्योंकि यहाँ वस्तुका प्रायः विपरीत ही ज्ञान होता है। इतना ही नहीं, कुछ-का-कुछ प्रतीत होनेके कारण यहाँ सब कुछ मायामात्र ही है। परमात्मा इससे विलक्षण हैं; क्योंकि ये परमात्मा एकमात्र चिन्मय रसरूप हैं।

उक्त तीनों पादोंके अतिरिक्त जो चौथा पाद है, वह ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प—इन चार भेदोंके कारण चार रूपवाला है। उपर्युक्त चारों पाद तुरीय ही कहलाते हैं; क्योंकि प्रत्येक रूपका तुरीयमें ही पर्यवसान (लय) होता है। इस तुरीय पादमें भी जो ओत, अनुज्ञातृ और अनुज्ञारूप तीन भेद हैं, इन तीनोंको भी पूर्ववत् सुषुप्ति एवं स्वप्नके समान तथा मायामात्र ही समझना चाहिये; क्योंकि पारमार्थिक तुरीयरूप जो निर्विकल्प एवं निर्विशेष परमात्मा हैं, वे एकमात्र चिन्मय रसरूप ही हैं*।

* 'ओत' आदिका स्वरूप आगे बताया जायगा।

* इस प्रसङ्गका सारांश यों समझना चाहिये—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-कालमें अनुभव किया जानेवाला जो कुछ भी प्राकृत प्रपञ्च या सुख है, वह सब कार्य है और तुरीय उसका कारण है। कारणमें ही कार्यकी कल्पना होती है, अतः कारण ही सत्य है। कारणके भी साक्षी हैं सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा। वे कहीं सत्-रूपसे, कहीं चित्रूपसे, कहीं आनन्दरूपसे और कहीं सत् आदि समस्त रूपोंसे कारणमें व्याप्त हैं। इस प्रकार कारणमें परमात्माकी व्यापकताका चिन्तन करना ओतयोग कहलाता है। व्याप्त वस्तु-की सत्ता व्यापकके ही अधीन होती है, इस न्यायसे परमात्माके द्वारा व्याप्त कारण-तत्त्वकी स्वतः कोई सत्ता आदि नहीं है। वह परमात्माके अधीन सत्ताका ही प्रकाशक होनेके कारण परमात्मामें ही आरोपित या कल्पित है। इस प्रकारके चिन्तनका नाम अनुज्ञातृ-योग है। अध्यस्त, आरोपित या कल्पित वस्तु अपने अधिष्ठानसे पृथक् अस्तित्व नहीं रखती; वह अधिष्ठानस्वरूप ही समझी जाती है। अतः परमात्मामें आरोपित कारण-तत्त्व भी उनसे पृथक् नहीं, परमात्मरूप ही है। इस प्रकारका चिन्तन अनुज्ञायोग कहा गया है। ये तीनों योग कारण-ज्ञानकी अपेक्षा रखते हैं; अतः कारणमें ही इनका अन्तर्भाव है। इसीलिये इनके पृथक् अस्तित्वको सुषुप्त, स्वप्न एवं मायामात्र बताया गया है। इन भोगोंद्वारा कारणका क्षय या संहार होता है। लयके आधार हैं तुरीय परमात्मा; अतः इन सबको तुरीयपादरूप बताना उचित ही है। परमात्मा ही 'अविकल्प' नामसे निर्दिष्ट पारमार्थिक तुरीय हैं। 'अथायमादेशः' आदिके द्वारा श्रुति उन्हींके स्वरूपकी ओर संकेत करती है।

अनन्तर श्रुतिका यह आदेश (उपदेश) है—'जो न स्थूलको जानता है, न सूक्ष्मको जानता है और न दोनोंको ही जानता है; जो न तो जाननेवाला है, न नहीं जाननेवाला है और न प्रज्ञानका ही घनीभूत रूप है; जिसे देखा नहीं जा सकता, व्यवहारमें नहीं लाया जा सकता, जो पकड़नेमें नहीं आ सकता; जिसका कोई लक्षण—चिह्न अथवा आकार भी नहीं है; जो चिन्तन करनेमें नहीं आ सकता, जिसे किसी विशिष्ट रूपसे बताया नहीं जा सकता; एकमात्र आत्मसत्ताकी प्रतीति (अनुभूति) ही जिसका सार अथवा स्वरूप है एवं जिसमें प्रपञ्चका सर्वथा अभाव है—ऐसा सर्वथा कल्याणमय, परम शान्त अद्वितीय तत्त्व ही उन पूर्णब्रह्म परमात्मा नृसिंहदेवका चतुर्थ पाद है—यों ज्ञानी महात्मा मानते हैं।'

इस प्रकार चार पादोंमें जिनका वर्णन किया गया है, वे भगवान् नृसिंहदेव ही सबके आत्मा हैं; वे ही जाननेयोग्य हैं। वे कारणात्मा ईश्वर (अथवा त्रिभुवनका शासन करनेवाले इन्द्र आदि) को भी अपना ग्रास बना लेते—अपनेमें लीन कर लेते हैं। वे तुरीयके भी तुरीय हैं। (अतः परमात्माको ही जानने और पानेका प्रयत्न करना चाहिये) ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

परमात्माके चार पादोंकी ओंकारकी मात्राओंके साथ एकता; मन्त्रराज आनुष्टुभके द्वारा तुरीय परमात्माका ज्ञान

निश्चय ही उन 'तुरीय'नामसे प्रसिद्ध इन चार पादोंवाले परमात्माको ओङ्कारकी मात्राओं तथा समस्त ॐकारके साथ एकीभूत करे। अर्थात् ॐकारको परमात्मा तथा उसकी चार मात्राओंको परमात्माके चार पाद मानकर उसी रूपमें उनकी भावना करे। वे परमात्मा जाग्रत्कालमें स्वप्न और सुषुप्तिसे रहित हैं, स्वप्नकालमें जाग्रत् और सुषुप्तिसे रहित हैं, सुषुप्तिमें जाग्रत् तथा स्वप्नसे रहित हैं, और तुरीयावस्थामें जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति—तीनोंसे रहित हैं। प्रत्येक अवस्थामें पृथक्-पृथक् रहते हुए भी वे सभी अवस्थाओंसे संयुक्त हैं। कहीं भी उनका व्यभिचार (अभाव) नहीं है। इस प्रकार वे नित्य, अनन्त, सत्स्वरूप तथा एकरस हैं। नेत्रके द्रष्टा हैं, श्रोत्र-इन्द्रियके द्रष्टा हैं। ये दोनों भी उपलक्षणमात्र हैं; वे घ्राणेन्द्रिय, रसना और त्वचाके भी द्रष्टा हैं। वाक् आदि कर्मेन्द्रियोंके द्रष्टा, मनके द्रष्टा, बुद्धिके द्रष्टा, प्राणके द्रष्टा, तम अर्थात् अहङ्कारके द्रष्टा हैं; कहाँतक गिनायें, वे सबके द्रष्टा हैं। इसीलिये वे सबसे भिन्न और सबसे विलक्षण हैं। द्रष्टा दृश्यसे भिन्न होता ही है। 'द्रष्टा' कहनेसे कोई यह न समझ ले कि वे राग अथवा द्वेषपूर्वक इन सबको देखते हैं; नहीं-नहीं, वे साक्षी हैं—पक्षपातरहित हैं। वे नेत्रके साक्षी हैं, श्रवणेन्द्रियके साक्षी हैं; घ्राणेन्द्रिय, रसना और त्वचाके भी साक्षी हैं। वाक् आदि कर्मेन्द्रियोंके साक्षी, मनके साक्षी, बुद्धिके साक्षी, प्राणके साक्षी हैं; तमके साक्षी—नहीं-नहीं, सबके साक्षी हैं। इसीलिये वे निर्विकार हैं, महाचैतन्यस्वरूप—आत्माके भी आत्मा हैं। इन पुत्र-वित्तादि तथा नेत्र-श्रोत्रादि सबसे बढ़कर प्रियतम हैं और इस प्रकार आनन्दके घनीभूत विग्रह हैं। इस समस्त प्रपञ्चके पूर्वसे ही वे भलीभाँति प्रकाशित हो रहे हैं। अतः एकरस ही हैं। जरा आदि अवस्थाएँ अथवा विकार उनका स्पर्श भी नहीं कर सकते। और तो और, मृत्यु भी उनसे दूर रहती है। वे अमृत एवं अभय ब्रह्म ही हैं। फिर भी अपनी मायाशक्तिसे चार पादवाले बने हुए हैं।

जाग्रत्-अवस्था तथा उसके द्वारा उपलक्षित यह स्थूल जगत् जिनका स्थान (शरीर) है; जिनके स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षी—ये चार स्वरूप हैं; वे विश्वरूप वैश्वानर पूर्णतम परमात्माके प्रथम पाद हैं। और वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती एवं परा, अथवा बीज, बिन्दु, नाद और शक्ति—इन चार रूपोंवाला अकार ॐकारकी पहली मात्रा है। यह अकार ही वैश्वानर है। क्योंकि यह अकार भी स्थूल (वैखरी), सूक्ष्म (मध्यमा), बीज (पश्यन्ती) और साक्षी (परा)—इन चार स्वरूपोंसे परिलक्षित होनेके कारण वैश्वानरकी भाँति चार रूपवाला ही है। इसके सिवा आप्ति (व्याप्ति) रूप गुणके होनेसे भी दोनोंमें समानता है—वैश्वानर जाग्रत्कालीन समस्त जगत्में व्यापक है तथा अकार भी वाणीमात्रमें व्यापक है। (श्रुति भी कहती है, 'अकारो वै सर्वा वाक्'—निस्संदेह अकार सम्पूर्ण वाणी है।) यही नहीं, बोलते समय सबसे पहले अकारका ही उच्चारण प्राप्त होता है—हृदयदेशसे ऊपरको उठी हुई वायु कण्ठमें पहले ध्वनित होती है; अतः प्रथम कण्ठस्थानीय अकारकी ही ध्वनि निकलती है। उधर सृष्टिकालमें सर्वप्रथम विराट्स्वरूप वैश्वानरकी ही उपलब्धि होती है; अतः

'प्राप्ति'रूप गुणकी दृष्टिसे भी दोनोंमें समानता है। इसी प्रकार आदिमान् होनेके कारण भी दोनोंमें समानता है—अकार सम्पूर्ण वर्णोंमें आदि (प्रथम) है और वैश्वानर भी विराट् रूपमें सबसे पहले प्रकट हुआ है। इन सब समानताओंके कारण तथा ऊपर बताये अनुसार स्थूलरूप, सूक्ष्मरूप, कारण-रूप और साक्षीरूप होनेसे भी दोनोंमें अभिन्नता है। जो इस प्रकार जानता है, वह अवश्य ही जगत्के सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त कर लेता है और सबका आदि (सबमें प्रधान) बन जाता है।

स्वप्नावस्था और उसके द्वारा उपलक्षित सूक्ष्म जगत् ही जिनका स्थान (शरीर) है तथा जो पूर्ववत् चार स्वरूपोंवाले हैं, वे पूर्णतम परमात्माके द्वितीय पादरूप तैजस हिरण्यगर्भ और ओंकारकी द्वितीय मात्राके रूपमें उपलब्ध होनेवाला पूर्ववत् चार रूपोंसे युक्त उकार—ये एक ही हैं। उकार ही तैजस है। उकारके जो स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी—ये चार रूप हैं, इनके द्वारा अवश्य ही उकार भी तैजस पुरुष-की भाँति चार स्वरूपोंवाला है। अतः इस समानताके कारण दोनों परस्पर अभिन्न हैं। इसके सिवा ओंकारकी दूसरी मात्रा जो उकार है, वह पहली मात्रा अकारकी अपेक्षा उत्कृष्ट (ऊपर उठा हुआ अथवा श्रेष्ठ) है तथा उभयरूप है—अ और मके बीचमें होनेके कारण दोनोंके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है; अतः दोनोंके भावसे युक्त है। इसी प्रकार द्वितीय पादरूप तैजस हिरण्यगर्भ प्रथम पादस्वरूप वैश्वानरसे उत्कृष्ट है तथा वैश्वानर और प्राज्ञ दोनोंके मध्यवर्ती होनेसे वह उभय-सम्बन्धी भी है। अतः इस समानताके कारण भी उकार ही तैजस है। इतना ही नहीं; पूर्ववत् स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षीरूप होनेके कारण भी दोनों परस्पर समान और अभिन्न हैं। जो इस प्रकार जानता है, वह निश्चय ही ज्ञानकी परम्परा-को समुन्नत करता है तथा सबमें समान भाववाला होता है।

सुषुप्ति तथा उसके द्वारा उपलक्षित सम्पूर्ण जगत्की प्रलयावस्था ही जिसका स्थान है अर्थात् समष्टि कारणतत्त्वमें जिसकी स्थिति है; जो ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प—इन चार रूपोंवाला है, वह प्राज्ञ ईश्वर, जो परमात्माके तृतीय पादरूपमें बताया गया है, ॐकारकी तीसरी मात्राके रूपमें उपलब्ध होनेवाला पूर्वोक्त चार रूपोंसे युक्त मकार ही है। निश्चय ही यह मकार अपने स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी—इन स्वरूपोंसे चार रूपवाला है और प्राज्ञ भी चार रूपोंवाला है। अतः अत्यधिक समानताके कारण मकार ही प्राज्ञ है। इसके सिवा, मिति और अपीति अर्थात् माप करने और विलीन करनेके कारण भी मकार और प्राज्ञ परस्पर समानता रखते हैं। 'अ' और 'उ'के उच्चारणके बाद 'म'का उच्चारण होता है, अतः वे दोनों उसके द्वारा माप लिये जाते हैं; तथा 'ओम्' कहते समय 'म्'के उच्चारणके साथ मुख बंद हो जाता है, अतः 'अ' और 'उ' उसीमें विलीन हो जाते हैं। इसी प्रकार वैश्वानर और तैजस भी प्राज्ञद्वारा माप लिये जाते हैं; क्योंकि जाग्रत् और स्वप्नके अन्तमें सुषुप्ति-अवस्था आती है तथा सुषुप्तिमें जाग्रत् और स्वप्नका लय हो जाता है। अतः क्रमशः जाग्रत् और स्वप्नके अधिष्ठाता वैश्वानर और तैजस भी प्राज्ञमें विलीन हो जाते हैं। इन समानताओंके कारण तथा इसके अतिरिक्त पूर्ववत् स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षीरूप होनेसे भी दोनों परस्पर समान एवं अभिन्न हैं। जो इस प्रकार जानता है, वह अवश्य ही इस सम्पूर्ण कारण-जगत्को माप लेता अर्थात् भलीभाँति जान लेता है तथा सबको अपनेमें विलीन कर लेता है। प्रत्येक मात्राको प्रतिमात्राके रूपमें परिणत कर दे। 'अ', 'उ', 'म्'—ये मात्राएँ हैं। अकारका उकारमें लय होता है; उकार उसकी प्रतिमात्रा है और मकार उकारकी प्रतिमात्रा है। तथा मकारकी प्रतिमात्रा प्रणव है; क्योंकि प्रणवमें ही सबका लय होता है। अतः अकार आदि मात्राओंके अपनी-अपनी प्रतिमात्रामें लय होने-की भावना करे। (इसी प्रकार वैश्वानरके तैजस हिरण्यगर्भमें और उनके प्राज्ञ ईश्वरमें लय होनेकी भावना करनी चाहिये।)

इन वैश्वानर आदि तीन पादोंके अतिरिक्त जो परमात्माके चतुर्थ पादके रूपमें उपवर्णित तुरीय परमेश्वर हैं, वे कारणात्मा ईश्वरको भी अपना ग्रास बना लेते हैं—अपनेमें विलीन कर लेते हैं। वे स्वराट् हैं—अपनी ही शक्तिसे शक्तिमान् सम्राट् हैं; स्वयं ही सर्वसमर्थ ईश्वर हैं तथा अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाले परमात्मा हैं। उनके भी चार स्वरूप हैं—ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प। अवश्य ही ये परमात्मा 'ओत' हैं—सर्वत्र व्यापक हैं; ठीक उसी तरह, जैसे संहार-कालमें कालाग्नि और सूर्य अपनी प्रचण्ड ज्वालाओं और प्रखर रश्मियोंसे इस सम्पूर्ण जगत्को बाहर-भीतरसे व्याप्त कर लेते हैं। ये परमात्मा अनुज्ञाता भी हैं। इस सम्पूर्ण जगत्के लिये अपने-आपको दे डालते हैं—सबको अपना स्वरूप ही बना लेते हैं; ठीक वैसे ही, जैसे सूर्यदेव अन्धकारको अपना स्वरूप बना लेते हैं, उसे अपने प्रकाशमें विलीन करके प्रकाशरूपता प्रदान करते हैं। इसी प्रकार ये परमात्मा अनुज्ञैकरस हैं—एकमात्र ज्ञानके रससे परिपूर्ण हैं, अज्ञानका नाश करके चिन्मय स्वरूपसे ही स्थित हैं; ठीक उसी तरह, जैसे जलानेयोग्य काष्ठ आदिको जलाकर अग्नि केवल तेजोमय

स्वरूपसे स्थित हो जाती है। साथ ही ये परमात्मा अविकल्प भी हैं—भेद और संशयसे रहित हैं; क्योंकि ये मन और वाणीके विषय नहीं हैं, चित्स्वरूप हैं। अतः ये चार रूपवाले ओंकार ही हैं। अवश्य ही यह ओंकार ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प—इन अपने ही स्वरूपोंसे चार रूपोंवाला है; अतः तुरीय पादकी भाँति यह ओंकार भी परमात्मा ही है। क्योंकि यह सब कुछ नाम-रूपमय ही है। अर्थात् नाम वाचक है और रूप वाच्य। यदि वाच्यके चार भेद हैं तो वाचकके भी हो सकते हैं; क्योंकि उनमें भेद नहीं है। अतः जैसे परमात्माके ओत आदि चार स्वरूप हैं, वैसे ही ओंकारके भी हैं। इसलिये तुरीय, चित्स्वरूप, ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्परूप होनेके कारण ओंकार और परमात्मा दोनों परस्पर अभिन्न हैं। जैसे वैश्वानर आदिका तुरीयमें लय होता है, उसी प्रकार ओत आदिका अविकल्पमें लय होता है; अतः यह सब कुछ अविकल्परूप ही है। उसमें किसी प्रकारका कोई भी भेद नहीं है।

चतुर्थ पादके विषयमें श्रुतिका यह उपदेश है—'मात्रारहित ओंकार अर्थात् परमात्माके नामात्मक ओंकारका मात्रारहित—बोलनेमें न आ सकनेवाला निराकार स्वरूप ही (मन-वाणीका अविषय होनेके कारण) व्यवहारमें न आ सकनेवाला, प्रपञ्चसे अतीत, कल्याणमय एवं अद्वितीय परमात्माका चतुर्थ पाद है। जो इस प्रकार जानता है, वह आत्मा ही आत्माके द्वारा परमात्मामें पूर्णतः प्रवेश कर जाता है। यह उपासक वीर होता है, संसारमें कहीं भी उसका पराभव नहीं होता।

(तुरीय परमात्माको जाननेके लिये उपर्युक्त रूपसे चिन्तन करना तो एक उपाय है ही; दूसरा भी उपाय है, उसे बताते हैं—) अथवा नृसिंहसम्बन्धी मन्त्रराज आनुष्टुभसे तुरीयको जाने। निश्चय ही यह परमात्माके स्वरूपको प्रकाशित कर देता है; क्योंकि यह सबका संहार करनेमें समर्थ (उग्र) है, परिभवको सहन न कर सकनेवाला (वीर) है, महान् प्रभु है, सर्वत्र व्यापक (विष्णु) है*। सदा उज्ज्वल—प्रकाशमय है, अविद्या और उसके कार्यसे रहित है, अपने आत्मीय जनोंका अज्ञानमय बन्धन दूर कर देता है, सर्वदा द्वैतसे शून्य है, आनन्दस्वरूप है, सबका अधिष्ठान और सन्मात्रस्वरूप है। अविद्या, तम और मोह (मल, आवरण और विक्षेप) को सर्वथा नष्ट कर डालनेवाला है तथा 'अहम्' (मैं) का एकमात्र लक्ष्यार्थ सबका आत्मा है।

इसलिये इस मन्त्रराजको तथा इसके वाच्यार्थरूप भगवान् नृसिंहको ही सबका आत्मा एवं परब्रह्म जानकर निरन्तर उनका चिन्तन करता रहे। इस प्रकार जानने तथा इसीके अनुसार उपासना करनेवाला यह पुरुष वीर एवं मनुष्योंमें सिंहरूप—श्रेष्ठ होता है।

---

* यहाँ 'सर्वसंहारसमर्थः'आदि पदोंद्वारा मन्त्रराज आनुष्टुभकी ही व्याख्या की गयी है। आरम्भसे लेकर 'प्रभुर्व्याप्तः' तक 'उग्रं वीरं महाविष्णुम्' इन तीन पदोंकी व्याख्या हो गयी है, जो स्पष्ट है। 'सदोज्ज्वलः' इस पदके द्वारा 'ज्वलन्तम्' पदकी व्याख्या हुई है। यह भी स्पष्ट ही है। 'अविद्याकार्यहीनः' इसके द्वारा 'सर्वतोमुखम्' का भाव व्यक्त किया गया है। 'सर्वतोमुखम्' पद ज्ञानस्वरूपताको लक्ष्य कराता है; अतः उसके द्वारा अविद्या एवं उसके कार्यका निराकरण होना उचित ही है। 'स्वात्मबन्धहरः' पदमें 'नृसिंहम्' पदका भाव है। 'नृसिंहम्' में दो पद हैं—'नृ' और 'सिंहम्'। गत्यर्थक 'नॄ' धातुसे 'नृ' शब्द बनता है; अतः 'नृ' का अर्थ है—ज्ञानस्वरूप तथा त्रिविध परिच्छेदशून्य आत्मा। 'सिंहम्' पदके दो भाग हैं—सिं+ हम्। 'षिञ् बन्धने' इस धातुसे 'सिं' बना है, अतः उसका अर्थ हुआ बन्धनकारक अज्ञान। 'हं' का अर्थ है—संहार करनेवाला। इस प्रकार 'नृसिंहम्' पदका अर्थ हुआ आत्माको बन्धनमें डालनेवाले अज्ञानका संहारक। इसी भावसे 'स्वात्मबन्धहरः' कहा गया है। 'भीषणम्' पदका अर्थ है डरानेवाला। डर या भय वहीं हैं, जहाँ द्वैत है। भगवान् नृसिंह और उनका मन्त्रराज द्वैतको भयभीत करनेवाला है, अतः उनके पास द्वैत या भ्रम फटकने नहीं पाता। इसी भावको ध्यानमें रखकर 'सर्वदा द्वैतरहितः' कहा गया है। 'सर्वाधिष्ठानसन्मात्रः' पदसे 'मृत्युमृत्युम्' पदका भाव व्यक्त किया गया है। मृत्युमें ही सबका लय होता है, अतः वही सबका अधिष्ठान है। भगवान् मृत्युके भी मृत्यु हैं, अतः वे तथा उनके मन्त्र ही सर्वाधिष्ठान हो सकते हैं। 'नमामि' का अर्थ इस प्रकार है—न=नहीं है, 'मा' का=प्रमात्मक ज्ञानस्वरूप परमानन्दमय तुरीय पदका, 'मि'=हिंसाकारक अविद्या, तम और मोह जिसमें, वह; इसीको लक्ष्यमें रखकर 'निरस्ताविद्यातमोमोहः' कहा गया है। कहा भी है—'मीति हिंसाकरं नात्र तमोऽज्ञानादिलक्षणम्।' 'अहम्' पदका तो स्पष्टतः उल्लेख हुआ ही है।

तृतीय खण्ड

अनुष्टुप् मन्त्रराजके पादोंके अलग-अलग जप तथा ध्यानकी विधि

निश्चय ही उस प्रणवकी जो पहली मात्रा अकार है, वह अनुष्टुप् मन्त्रराजके प्रथम पादके दोनों ओर लगायी जाती है*। इसी प्रकार प्रणवकी दूसरी मात्रा 'उ' अनुष्टुप्-मन्त्रके द्वितीय पादके आदि-अन्तमें लगती है (यथा—**उज्ज्वलन्तं सर्वतोमुखम् उम्**। इस द्वितीय पादरूप मन्त्रका जप करते हुए हिरण्यगर्भका ध्यान करना चाहिये)। इसी तरह प्रणवकी तीसरी मात्रा 'म' अनुष्टुप्-मन्त्रके तृतीय पादके आगे-पीछे लगती है (यथा—**मं नृसिंहं भीषणं भद्रम् मम्**। इसके जपके साथ-साथ प्राज्ञ ईश्वरका ध्यान होना चाहिये)। चौथी मात्रा ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्परूपा है; उसके द्वारा उक्त चार रूपोंवाले तुरीय पादका अनुसन्धान (ध्यान) करके अनुष्टुप्-मन्त्रके चतुर्थ पादसे भी उक्त तुरीय पादका ही चिन्तन करे। फिर पूर्वोक्त तुरीया (चौथी) मात्रासे तुरीय पादका अनुसन्धान करते हुए तुरीय-तुरीयस्वरूप जो परमात्मा हैं, उनके द्वारा निरन्तर ध्यानपूर्वक सम्पूर्ण जगत्को ग्रस ले अर्थात् सबको परमात्मामें ही विलीन कर दे†।

अवश्य ही उस प्रकरणप्राप्त प्रणवकी जो पहली मात्रा है, वह अकार है; वह पृथिवी है, वह ऋक्सम्बन्धी मन्त्रोंके साथ ऋग्वेद है। वह ब्रह्मा देवता है, वसु नामक देवताओंका गण है, गायत्री छन्द है, गार्हपत्य अग्नि है। इस प्रकार वह मात्रा विराट् पुरुष वैश्वानरका प्रतिपादन करनेवाली तथा परमात्माका प्रथम पाद है। केवल प्रथम पाद ही नहीं, सभी पादोंमें वह मात्रा रहती है; क्योंकि पहले बताये अनुसार उसके स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी—चार स्वरूप हैं। (अतः स्थूलरूपसे वह प्रथम पादमें, सूक्ष्मरूपसे द्वितीय पादमें, बीजरूपसे तृतीय पादमें और साक्षीरूपसे चतुर्थ पादमें रहती है।)

प्रणवकी दूसरी मात्रा उकार है; वह अन्तरिक्ष-लोक है। वह यजुः-मन्त्रोंके साथ यजुर्वेद है, विष्णु देवता है, रुद्र नामक देवताओंका गण है, त्रिष्टुप् छन्द है, दक्षिणाग्नि है। वह मात्रा तैजस हिरण्यगर्भका बोध करानेवाली तथा परमात्माका द्वितीय पाद है। द्वितीय पाद होते हुए भी वह सभी पादोंमें रहती है; क्योंकि उसके स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी—चार स्वरूप हैं।

प्रणवकी तीसरी मात्रा मकार है; वह द्युलोक है, वह साम-मन्त्रोंसहित सामवेद है, रुद्र देवता है, आदित्य नामक देवताओंका गण है, जगती छन्द है, आहवनीय अग्नि है। वह प्राज्ञ-ईश्वरका बोध करानेवाली तीसरी मात्रा परमात्माका तृतीय पाद है। साथ ही वह अन्य सभी पादोंमें भी रहती है; क्योंकि उसके स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी—ये चार स्वरूप हैं।

प्रणवके अन्तमें जो उसकी चौथी मात्रा—अर्धमात्रा है, वह ओंकार (बिन्दु) है; वह सोमलोक है, वह अथर्व-मन्त्रोंसहित अथर्ववेद है, संवर्तक-अग्नि देवता है, मरुत् नामक देवताओंका गण है, विराट् छन्द है, एक ऋषि अग्नि है। वह मात्रा बिन्दु आदि रूपसे तुरीय परमात्माका बोधक होनेसे भास्वती (प्रकाशमयी) मानी गयी है। वही पूर्णब्रह्म परमात्माका तथा मन्त्रराज अनुष्टुप्का भी चतुर्थ पाद है तथा वह अन्य सब पादोंमें भी है; क्योंकि उसके स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी—ये चार स्वरूप हैं।

---

* इस प्रकार जो मन्त्र बनता है, उसका उच्चारण करके वैश्वानर या विराट् पुरुषका ध्यान करना चाहिये। अकार और विराट् दोनोंको 'चतुरात्मा' बताया गया है; अतः यहाँ बीज, बिन्दु, नाद और शक्तिसे युक्त अकारको ही अनुष्टुप्-मन्त्रके प्रथम पादके आदि-अन्तमें लगाना चाहिये; यों करनेपर मन्त्रका उच्चारण इस प्रकार होगा—'अं उग्रं वीरं महाविष्णुम् अम्'।

† इस प्रसङ्गका भाव यह है कि 'अम्' इस चार रूपोंवाले अकारसे चार रूपोंवाले विराट् पुरुषकी एकताका अनुभव करके उसके द्वारा विराट्का ध्यान करे, फिर अनुष्टुप्-मन्त्रके प्रथम पादसे भी विराट्का ही सम्बन्ध मानकर उसके द्वारा भी उन्हींका स्पष्टरूपसे चिन्तन करे। फिर 'अम्' का उच्चारण कर अकाररूपमें ही विराट्का चिन्तन करके 'उम्' का उच्चारण करते हुए हिरण्यगर्भका ध्यान करे। तत्पश्चात् 'अ' को 'उ' में विलीन करते हुए भावनाद्वारा ही विराट्का हिरण्यगर्भमें लय करे। फिर अनुष्टुप्-मन्त्रके द्वितीय पाद तथा उकारसे भी हिरण्यगर्भकी ही भावना करते हुए मकारके द्वारा अव्याकृतका चिन्तन करके उसमें हिरण्यगर्भका लय करे। तदनन्तर अनुष्टुप्के तृतीय पाद और मकारसे भी अव्याकृतका ही चिन्तन करते हुए नादपर्यन्त उच्चारित ओत, अनुज्ञातृ आदि रूपवाले प्रणवद्वारा तत्स्वरूप तुरीयका चिन्तन करके उसीमें अव्याकृतका लय करे। फिर अनुष्टुप्के चतुर्थ पादसे भी तुरीयका ही चिन्तन करके पुनः बिन्दु, नाद आदिसे युक्त प्रणवद्वारा उन तुरीय-तुरीयस्वरूप परमात्माका ही चिन्तन करते हुए सबका उन्हींमें लय करके उनके स्वरूपमें स्थित हो जाय

इस प्रकार व्यष्टि और समष्टिकी (ओंकारकी एक-एक मात्रा और अनुष्टुप्-मन्त्रके एक-एक पाद और परमात्माके एक-एक पादकी) एकताका चिन्तन करके मात्राको प्रतिमात्राके रूपमें परिणत करे। अर्थात् अकार और विराट् पुरुषको उकार और हिरण्यगर्भमें लीन करे और उकार एवं हिरण्यगर्भको मकार एवं ईश्वरमें विलीन करे। फिर उसको भी अर्धमात्रा एवं तुरीयमें विलीन करके क्रमशः ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्पका चिन्तन तथा पूर्व-पूर्वका उत्तरोत्तरमें लय करते हुए अन्तमें सबको अविकल्परूप परमेश्वरमें ही लीन कर दे और निर्विशेष परमेश्वरका चिन्तन करते हुए उन्हींमें स्थित हो जाय।

अपनेको नित्य शुद्ध-बुद्ध, अमृतस्वरूप मानकर अपनी बुद्धिकी वृत्तियोंका परमात्मामें हवन करके अर्थात् अपने अन्तःकरणको परमात्मामें ही लगाकर बाहर-भीतरसे शुद्ध हो पवित्र देशमें पवित्र आसनपर सुखपूर्वक बैठे और (न्यास, शुद्धि, रक्षोघ्न-मन्त्रोंके पाठ, दिग्बन्धन, कवचपाठ, गणपति-स्मरण एवं रक्षा आदिके द्वारा) सब प्रकारके विघ्नोंका निवारण करके प्राणायामपूर्वक ध्यानमें इन परमात्माके तत्त्वका अनुभव करे। फिर परमात्मामें ही इस सम्पूर्ण प्रपञ्चकी स्थिति देखते हुए प्राणाग्निहोत्र[1] और प्रपञ्च-यागकी[2] रीतिसे प्राण और प्रपञ्चसे अपना सम्बन्ध हटा ले और सकल[3]स्वरूप, आधार[4]युक्त,

१. श्रीविद्यारण्य मुनिने इस प्रसङ्गकी टीकामें संक्षेपसे प्राणाग्निहोत्रकी रीति इस प्रकार कही है। 'ॐ ह्रीं' इस बीज मन्त्रका उच्चारण करते हुए चिदानन्दस्वरूप आराध्यदेवका ध्यान करे और फिर 'क्ष' से उल्टे चलकर 'अ' तककी वर्णमालाका (क्षं हं सं·····इत्यादि रूपसे) उच्चारण करते हुए उन्हींके स्वरूपभूत सर्वजगन्मय शरीरका (जो स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षीरूपसे चार प्रकारका है) चिन्तन करे और ऐसी भावना करे कि यह चतुर्विध शरीर सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मासे प्रकट हुआ है, अतः यह सच्चिदानन्दमय ही है। फिर 'सोऽहम्', 'हंसः' इन मन्त्रोंके जपद्वारा जीवात्मा और परमात्माकी परस्पर एकताकी भावना करे। इस प्रकार एकत्व-चिन्तनरूप अग्निमें ही 'स्वाहा' का उच्चारण करके उक्त चारों शरीरोंका होम (लय) कर दे।

२. प्रपञ्च-याग भी इसी प्रकार करना होता है। 'ॐ ह्रीं' इस मन्त्रका उच्चारण करके सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्माका चिन्तन करते हुए 'अ' से लेकर 'क्ष' तककी वर्णमालाको अनुलोम-क्रमसे (अं आं·····इत्यादिरूपसे) उच्चारण करे। फिर समस्त प्रपञ्चको सच्चिदानन्दमय परमेश्वरसे उत्पन्न हुआ देखकर उसके भी सच्चिदानन्दमय होनेकी भावना करे। तत्पश्चात् 'हंसः, सोऽहम्' इस प्रकार प्राणाग्निहोत्रकी अपेक्षा उल्टे क्रमसे जप तथा साथ-ही-साथ परमात्मा और जीवकी एकताका चिन्तन करते हुए उस चिन्तनमय अग्निमें 'स्वाहा' का उच्चारण करके समस्त प्रपञ्च होम दे—विलीन कर दे।

३. यह 'सकलः' का अर्थ है। इसके द्वारा सकलीकरण नामक न्यासकी ओर संकेत किया गया है। पहले इस उत्तरतापनीयके प्रथम खण्डमें बताये अनुसार इस आत्माको 'ॐ' इस नामके द्वारा प्रतिपादित होनेवाले ब्रह्मके साथ एकता करके तथा ब्रह्मकी आत्माके साथ ओंकारके वाच्यार्थरूपसे एकता करके, वह एकमात्र जरारहित, मृत्युरहित, अमृतस्वरूप, निर्भय, चिन्मय तत्त्व 'ॐ' है—इस प्रकार अनुभव करे। तत्पश्चात् उस परमात्मस्वरूप ओंकारमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन शरीरोंवाले सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चका आरोप करके अर्थात् एक परमात्मा ही सत्य हैं, उन्हींमें इस स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण-जगत्की कल्पना हुई है—ऐसा विवेकद्वारा अनुभव करके यह निश्चय करे कि यह जगत् सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा ही है; क्योंकि तन्मय (परमात्ममय) होनेके कारण अवश्य यह तत्स्वरूप (परमात्मस्वरूप) ही है। और इस दृढ़ निश्चयके द्वारा इस जगत्को 'ॐ'के वाच्यार्थभूत परमात्मामें विलीन कर डाले। इसके बाद चतुर्विध शरीरकी सृष्टिके लिये निम्नाङ्कित प्रकारसे सकलीकरण करे। 'ओम्' का उच्चारण अनेक प्रकारसे होता है—एक तो केवल मकारपर्यन्त उच्चारण होता है, दूसरा बिन्दु-पर्यन्त, तीसरा नाद-पर्यन्त और चौथा शक्ति-पर्यन्त होता है। फिर उच्चारण बंद हो जानेपर उसकी 'शान्त' संज्ञा होती है। सकलीकरणकी क्रिया आरम्भ करते समय पहले 'ओम्' का उपर्युक्त रीतिसे शान्तपर्यन्त उच्चारण करके 'शान्त्यतीत-कलात्मने साक्षिणे नमः' इस मन्त्रसे व्यापक-न्यास करते हुए 'साक्षी' का चिन्तन करे। फिर शक्ति-पर्यन्त प्रणवका उच्चारण करके 'शान्तिकलाशक्तिपरावागात्मने सामान्यदेहाय नमः' इस मन्त्रसे व्यापक करते हुए अन्तर्मुख, सत्स्वरूप, ब्रह्मज्ञानरूप सामान्य देहका चिन्तन करे। फिर प्रणवका नादपर्यन्त उच्चारण करके 'विद्याकलानादपश्यन्तीवागात्मने कारणदेहाय नमः' इस मन्त्रसे व्यापक करते हुए प्रलय, सुषुप्ति एवं ईक्षणावस्थामें स्थित किञ्चित् बहिर्मुख सत्स्वरूप कारणदेहका चिन्तन करे। फिर प्रणवका बिन्दुपर्यन्त उच्चारण करके 'प्रतिष्ठाकला-बिन्दुमध्यमावागात्मने सूक्ष्मदेहाय नमः' इस मन्त्रसे व्यापक करते हुए सूक्ष्मभूत, अन्तःकरण, प्राण तथा इन्द्रियोंके संघातरूप सूक्ष्मशरीरका चिन्तन करे। फिर प्रणवका मकारपर्यन्त उच्चारण करके 'निवृत्तिकलाबीजवैखरीवागात्मने स्थूलशरीराय नमः' इस मन्त्रसे व्यापक करते हुए पञ्चीकृत भूत एवं उसके कार्यरूप स्थूलशरीरका चिन्तन करे।

४. यहाँ 'आधार' शब्द पीठ तथा उसके भी आधारभूत स्थान आदिका बोधक है। उपर्युक्त प्रकारसे उत्पन्न हुआ यह चतुर्विध

अमृतमय, चतुरात्मा, सर्वमय एवं चतुरात्मा होकर महान् पीठके ऊपर परिवारसहित इस प्रणवरूप परमात्माका, जो

चतुःसप्तात्मा, चतुरात्मा तथा मूलाधारस्थित अग्नि-मण्डलमें अग्निरूप हैं, सम्यक् प्रकारसे चिन्तन करे।

देह भगवान्‌का सपरिकर पीठ अर्थात् आसन तथा मूर्ति है—इस प्रकारकी भावना करनेके लिये 'आधार' शब्दके द्वारा परिकरसहित पीठन्यासकी तथा 'अमृतमय' कहकर मूर्तिन्यासकी सूचना दी गयी है। सच्चिदानन्द पूर्णात्मरूपिणी जो इच्छा, ज्ञान, क्रिया, स्वातन्त्र्य एवं सत्-स्वरूपिणी भगवान्‌की पराशक्ति है, वही मूर्ति है। इस अमृतमयी मूर्तिकी भावनासे परिपूर्ण होना ही 'अमृतमय' होना है। पीठ आदिकी कल्पनाका प्रकार यों बताया गया है—'ॐ चतुरशीतिकोटिप्राणिजात्यात्मने ब्रह्मवनाय नमः' इस मन्त्रसे व्यापक करते हुए केश, रोम आदिको एक 'वन' के रूपमें भावनाद्वारा देखे। 'ॐ पञ्चभूतनामरूपात्मकेभ्यः प्राकारेभ्यो नमः' इससे व्यापक करते हुए पञ्चीकृत पञ्चभूत एवं नाम-रूपात्मक सात धातुओंको सात प्राकारों (परकोटों) के रूपमें कल्पित करे। 'ॐ नवच्छिद्रात्मभ्यो नवद्वारेभ्यो नमः' इससे व्यापक करते हुए प्रत्येक प्राकार (घेरे) में नौ-नौ गोपुरों (द्वारों) के रूपमें शरीरके नौ छिद्रोंको ही मान ले। इस प्रकार स्थूलशरीरको स्थान मानकर सूक्ष्मशरीरको महाराजराजेश्वर आत्माका परिचारक माने। फिर निम्नाङ्कितरूपसे 'संवित्' को राजराजेश्वरद्वार, सकाम-निष्काम वृत्तियोंको द्वारदेवता, काम-वैराग्यको द्वारपाल, श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियोंको राज-परिचारक, मनको राजदूत आदिके रूपमें मानकर 'ॐ संविद्रूपेभ्यो राजराजेश्वरद्वारेभ्यो नमः', 'सकामाकामवृत्तिभ्यो द्वारदेवताभ्यो नमः', 'कामवैराग्याभ्यां द्वारपालाभ्यां नमः', 'दिगन्याद्यात्मक-श्रोत्रादीन्द्रियरूपिभ्यो राजपरिचारकेभ्यो नमः', 'चन्द्रात्मकाय मनसे राजदूताय नमः', 'ब्रह्मरूपिण्यै सर्वकार्यनिश्चयकर्त्र्यै बुद्धये नमः', 'रुद्र-रूपाय सर्वकार्याभिमानकर्त्रेऽहंकाराय नमः', 'विष्णुरूपाय सर्वकार्यानुसंधानकर्त्रे चित्ताय नमः', 'सर्वेश्वररूपाय सर्वाधिकारिणे प्राणाय नमः'—इस प्रकार न्यास, जप अथवा भावना करके सूक्ष्मशरीरको भगवान्‌की सेवाका उपकरण बनाकर 'गुणत्रयात्मने प्रासादाय नमः' इस मन्त्रसे त्रिगुणमय प्रासाद (महल) की कल्पना करे। फिर बिन्दुपर्यन्त प्रणवका उच्चारण करके 'परमात्मासनाय नमः' इस मन्त्रसे उसका अपने हृदयके भीतर न्यास करे। साथ ही यह भावना करे कि यह भगवान्‌के विराजनेके लिये सुन्दर आसन है। तत्पश्चात् पहले बताये हुए किञ्चिद्बहिर्मुख सत्त्वरूप कारण-शरीरको गुणोंकी साम्यावस्थारूप पीठके रूपमें कल्पित करे। फिर शक्तिपर्यन्त प्रणवका उच्चारण करके 'परमात्ममूर्तये नमः' इस मन्त्रके द्वारा हृदयसे लेकर मस्तकपर्यन्त व्यापक न्यास करते हुए पूर्वोक्त सच्चिदानन्दरूप, अन्तर्मुख सामान्य-शरीरमय ब्रह्मको ही भगवान्‌की मूर्तिके रूपमें चिन्तन करे। वह मूर्ति ज्ञानपराशक्तिरूपा है। उसके चार हाथ हैं—जो शङ्ख, चक्र, गदा और ज्ञानकी मुद्रासे शोभा पा रहे हैं। सब प्रकारके अलङ्कार उसकी शोभा बढ़ा रहे हैं। वह मूर्ति आत्मानन्दानुभवके समुद्रमें गोते लगा रही है।

१. अ, उ, म् तथा ॐ—ये क्रमशः स्थूल देह, सूक्ष्मदेह, कारणदेह तथा सामान्य देह हैं; इन चारोंका जो आत्मरूपसे चिन्तन करता है, वही चतुरात्मा है।

२. 'सर्वमयः' के 'सर्व' शब्दसे सर्वात्मक विराट् आदि चारों पादोंका प्रतिपादन होता है; इन सर्वात्मक पादोंका न्यास करनेसे साधक सर्वमय होता है। न्यासका क्रम इस प्रकार है—'ऐश्वर्यशक्त्यात्मने द्युलोकाय नमः' इससे दाहिने हाथकी अँगुलियोंद्वारा मस्तकका स्पर्श करे। इसी प्रकार 'ज्ञानशक्त्यात्मने सूर्याय नमः' इससे नेत्रका, 'संहारशक्त्यात्मनेऽग्नये नमः' इससे मुखका, 'क्रियाशक्त्यात्मने वायवे नमः' इससे नासिकाका, 'सर्वाश्रयशक्त्यात्मने आकाशाय नमः' इससे हृदयका, 'इच्छाशक्त्यात्मने प्रजापतये नमः' इससे गुह्यप्रदेश (उपस्थ एवं गुदा)-का तथा 'सर्वाधारशक्त्यात्मने पृथिव्यै नमः' इससे चरणोंका स्पर्श करे। यह सप्ताङ्गन्यास है। पादन्यासका ध्यान और मन्त्र आगे बतायेंगे। इसके बाद उन्नीस मुखोंमें भी न्यास किया जाता है। पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार—ये उन्नीस मुख हैं। प्राण-न्यासके मन्त्र इस प्रकार हैं—'प्रणयनशक्त्यात्मने प्राणाय नमः', 'अपनयनशक्त्यात्मने अपानाय नमः', 'व्यानयनशक्त्यात्मने व्यानाय नमः', 'उन्नयनशक्त्यात्मने उदानाय नमः' तथा 'समनयनशक्त्यात्मने समानाय नमः'। इन्द्रियादिन्यासके मन्त्र इस प्रकार हैं—'अनुसन्धान-शक्त्यात्मने नमः', 'निश्चयशक्त्यात्मने नमः', 'अहङ्कारशक्त्यात्मने नमः', 'सङ्कल्पशक्त्यात्मने नमः', 'श्रवणशक्त्यात्मने नमः', 'स्पर्शनशक्त्यात्मने नमः', 'दर्शनशक्त्यात्मने नमः', 'रसनशक्त्यात्मने नमः', 'घ्राणशक्त्यात्मने नमः', 'वचनशक्त्यात्मने नमः', 'आदानशक्त्यात्मने नमः', 'गमनशक्त्यात्मने नमः', 'विसर्गशक्त्यात्मने नमः', 'आनन्दशक्त्यात्मने नमः'। इन मन्त्रोंद्वारा क्रमशः चित्त, बुद्धि, अहंकार, मन, श्रवण, त्वचा, नेत्र, रसना, नासिका, वाक्, हाथ, पैर, लिङ्ग और गुदा आदिमें उन-उनकी शक्तियोंके रूपमें भगवान्‌का ही निवास है—ऐसी भावना करे। इसके बाद निम्नाङ्कित पाँच मन्त्रोंको पढ़ते हुए व्यापकन्यासपूर्वक चार पादोंका ध्यान करे—

ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं जागरितस्थानाय स्थूलप्रज्ञाय सप्ताङ्गायैकोनविंशतिमुखाय स्थूलभुजे चतुरात्मने विश्वाय वैश्वानराय पृथिव्यृग्वेद-ब्रह्मवसुगायत्रीगार्हपत्याकारात्मने स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्ष्यात्मने प्रथमपादाय नमः ॥ १ ॥

सप्तात्मा चतुरात्मा अकाररूप ब्रह्माका नाभिमें चिन्तन सप्तात्मा चतुरात्मा मकाररूप रुद्रका भ्रूमध्यमें, सप्तात्मा करे;* सप्तात्मा चतुरात्मा उकाररूप विष्णुका हृदयमें, चतुरात्मा चतुःसप्तात्मा एवं चतुरात्मा ॐकाररूप सर्वेश्वरका

ॐ ज्वलन्तं सर्वतोमुखं स्वप्नस्थानाय सूक्ष्मप्रज्ञाय सप्ताङ्गायैकोनविंशतिमुखाय सूक्ष्मभुजे चतुरात्मने तैजसाय हिरण्यगर्भायान्तरिक्षयजुर्वेदविष्णुरुद्रत्रिष्टुब्दक्षिणाग्न्युकारात्मने स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्ष्यात्मने द्वितीयपादाय नमः ॥ २ ॥

ॐ नृसिंहं भीषणं भद्रं सुषुप्तस्थानायैकीभूताय प्रज्ञानघनायानन्दमयायात्मानन्दभुजे चेतोमुखाय चतुरात्मने प्रज्ञायेश्वराय द्युसामवेदरुद्रादित्यजगत्याहवनीयमकारात्मने स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्ष्यात्मने तृतीयपादाय नमः ॥ ३ ॥

ॐ मृत्युमृत्युं नमाम्यहं सर्वेश्वराय सर्वशाय सर्वशक्तये सर्वान्तर्यामिणे सर्वात्मने सर्वयोनये सर्वप्रभवाय सर्वाप्ययाय सोमलोकाथर्ववेदसंवर्ताग्निमरुद्विराडेकर्ष्योङ्कारात्मने स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्ष्यात्मने चतुर्थपादाय नमः ॥ ४ ॥

ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्। नान्तःप्रज्ञायाबहिष्प्रज्ञायानुभयप्रज्ञायाप्रज्ञायनाप्रज्ञायाप्रज्ञानघनायादृष्टायाव्यवहार्यायाग्राह्यायालक्षणायाचिन्त्यायाव्यपदेश्यायैकात्म्यप्रत्ययसारायामात्राय प्रपञ्चोपशमाय शिवाय शान्तायाद्वैताय सर्वसंहारसमर्थाय परिभवासहाय प्रभवे व्याप्ताय सदोज्ज्वलायाविद्याकार्यहोनाय स्वात्मबन्धहराय सर्वदा द्वैतरहितायानन्तरूपाय सर्वाधिष्ठानसन्मात्राय निरस्ताविद्यातमोमोहायाकृत्रिमाहंविमर्शायोङ्काराय तुरीयतुरीयाय नमः ॥ ५ ॥

इसके बाद पुनः प्रणवसे एक बार व्यापक करके निम्नाङ्कितरूपसे अङ्गन्यास करे—

ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं पृथिव्यृग्वेदब्रह्मवसुगायत्रीगार्हपत्याकारभूरग्न्यात्मने सर्वज्ञानशक्त्यात्मने हृदयाय नमः। ॐ ज्वलन्तं सर्वतोमुखमन्तरिक्षयजुर्वेदविष्णुरुद्रत्रिष्टुब्दक्षिणाग्न्युकारभुवःप्रजापत्यात्मने नित्यतृप्त्यैश्वर्यशक्त्यात्मने शिरसे स्वाहा। ॐ नृसिंहं भीषणं भद्रं द्युसामवेदरुद्रादित्यजगत्याहवनीयमकारस्वःसूर्यात्मनेऽनादिबोधशक्त्यात्मने शिखायै वषट्। ॐ मृत्युमृत्युं नमाम्यहं सोमलोकाथर्ववेदसंवर्ताग्निमरुद्विराडेकर्ष्योङ्कारभूर्भुवःस्वर्ब्रह्मात्मने स्वातन्त्र्यबलशक्त्यात्मने कवचाय हुम्। ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम् ओंकारभास्वत्यलुप्तवीर्यशक्त्यात्मने नेत्रत्रयाय वौषट्। ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्। पृथिव्यकारऋग्वेदब्रह्मवसुगायत्रीगार्हपत्यान्तरिक्षोङ्कारयजुर्वेदविष्णुरुद्रत्रिष्टुब्दक्षिणाग्निद्युमकारसामवेदरुद्रादित्यजगत्याहवनीयसोमलोकोङ्काराथर्ववेदसंवर्ताग्निमरुद्विराडेकर्षिभास्वतीसत्यात्मनेऽनन्ततेजःशक्त्यात्मनेऽस्त्राय फट्।

३. चतुरात्मा होकर अर्थात् चतुर्मूर्तिरूपसे आत्माका ही पूजन करके, मूर्तिचतुष्टयमें व्यापक परमानन्दबोधके सिन्धु साक्षीका ध्यान करते हुए उन्हींमें मूर्ति-चतुष्टयके निमग्न होनेकी भावना करे। यही आत्मपूजा है।

४. महापीठ बहिर्मुख, सदात्मक तथा गुणबीजस्वरूप है। मूलाधारपर स्थित क्रमशः द्वात्रिंशद्-दल, अष्टदल एवं चतुर्दल कमल—इस प्रकार उस महापीठकी आकृति है।

५. पृथिव्यादि, अन्तरिक्षादि, द्युलोकादि और सोमलोकादि जो चतुर्विध अष्टक हैं, वे ही बत्तीस होकर बत्तीस दलोंमें स्थित हैं। अष्टदल कमलमें सत्, चित्, आनन्द, पूर्ण, आत्मा, अद्वैत, प्रकाश और विमर्श—इनकी स्थिति है; तथा चतुर्दल कमलमें ब्रह्मसर्वेश्वर, विष्णुसर्वेश्वर, रुद्रसर्वेश्वर तथा सर्वेश्वर-सर्वेश्वर—इन चारोंका अवस्थान है। ये ही सब मिलकर परिवार कहे गये हैं।

६. अकार, उकार, मकार तथा ओङ्कारसे सम्बद्ध पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और सोमलोक हैं—इन चारोंके साथ वेद, देवता आदि सात-सातका समुदाय है; इसीको लक्ष्यमें रखकर 'चतुःसप्तात्मा' कहा गया है। यद्यपि ये आठ-आठ हैं, तथापि अकार आदिकी गणना न करनेसे सात-सात होते हैं।

७. समष्टि-व्यष्टिगत स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षी—इन चतुर्विध स्वरूपोंसे विशिष्ट होनेके कारण उन्हें चतुरात्मा बताया गया है।

८. अग्निका अर्थ यहाँ चिन्मय प्रकाश समझना चाहिये। 'अग्निरूप' कहनेसे यह ध्वनित होता है कि प्रणवके ध्यानमें हाथ-पैर आदिसे युक्त विग्रहकी कल्पना न करके प्रलयकालीन अग्नि एवं सूर्यके सदृश प्रकाशमय स्वरूपका ही चिन्तन करना चाहिये।

* लोक, वेद, देवता, गण, छन्द, अग्नि और व्याहृतिरूपसे तो अकार सप्तात्मा है और स्थूल, सूक्ष्म, बीज एवं साक्षीरूपसे चतुरात्मा है। यही बात उकार आदिके सम्बन्धमें भी है। 'सप्तात्मा' के साथ भी पूर्ववत् 'परिवारसहित' इस विशेषणका सम्बन्ध है। इसी

द्वादशान्तमें चिन्तन करे।* सप्तात्मा, चतुरात्मा, चतुःसप्तात्मा, चतुरात्मा एवं आनन्दामृतरूप ओङ्कारका षोडशान्तमें चिन्तन करे।† तदनन्तर इन सबका पूर्वोक्त आनन्दामृतद्वारा चार प्रकारसे अर्थात् देवता, गुरु, मन्त्र और आत्मारूपमें पूजन करके और ब्रह्माका ही, विष्णुका ही, रुद्रका ही, पृथक्-पृथक् इन तीनोंका ही और एक साथ भी इन तीनोंका ही तथा ज्योतिर्मय लिङ्गरूपमें ही देवता, गुरु, मन्त्र और आत्मारूपसे चार बार भलीभाँति नाना प्रकारकी भेंट-सामग्रियोंसे पूजन करे। फिर प्रणवके उच्चारणद्वारा उन लिङ्गोंका उपसंहार कर सबको एकीभूत करके अमृतका अभिषेक करे और उस सर्वदेवमय तेजको बढ़ाये।‡

उक्त सर्वदेवतामय तेजसे त्रिविध—स्थूल, सूक्ष्म एवं

प्रकार आगेके वाक्योंमें भी समझना चाहिये। यहाँ अष्टदल कमलमें अकारके सम्बन्धरूपसे बताये गये जो अकारसहित पृथ्वी आदि आठ हैं, वे मानो 'अनुष्टुप्-मन्त्र' के प्रथम पादके आठ अक्षररूप हैं; उन्हींमें स्थित साङ्गोपाङ्ग वेदोंका और चतुर्दल कमलमें स्थित ब्रह्मसवेंश्वर, ब्रह्मविष्णु, ब्रह्मरुद्र और ब्रह्मसर्वेश्वरका यहाँ परिवाररूपसे चिन्तन करना चाहिये। आठ दलोंके भीतर पूर्वादि दिशाओंके दलोंमें तो चारों वेदोंका चिन्तन करना चाहिये। और अग्निकोणमें व्याकरण आदि छः वेदाङ्गोंका, नैर्ऋत्यकोणमें मीमांसाका, वायव्यकोणमें न्यायका और ईशानकोणमें इतिहास, पुराण, आगम (तन्त्र), काव्य, नाटक आदिका चिन्तन करना चाहिये। इसी प्रकार चतुर्दल कमलके चार दलोंमेंसे पूर्वमें ब्रह्मसर्वेश्वर, दक्षिणमें ब्रह्मरुद्र, उत्तरमें ब्रह्मविष्णु और पश्चिममें ब्रह्मब्रह्माका चिन्तन करे। इसी प्रकार आगे भी चार मूर्तियोंकी स्थिति समझनी चाहिये। तात्पर्य यह कि प्रणवस्थ अकार जिनका स्वरूप है, ऐसे रजःप्रधान, चन्द्रमण्डलवर्ती ब्रह्मा अर्थात् ब्रह्मसर्वेश्वरका सरस्वती मूलप्रकृतिके सहित नाभिमें यानी तेजोमण्डलके मध्यभागमें—अष्टदल कमलके मध्यवर्ती चतुर्दल कमलकी कर्णिकामें ध्यान करे।

* इसी तरह उकारके सम्बन्धीरूपमें बताये हुए जो अन्तरिक्ष आदि सात हैं, उनकी दृष्टिसे सप्तात्मा और स्थूल आदि भेदसे चतुरात्मा उकार ही जिनका स्वरूप है, जो श्रीमूलप्रकृतिके साथ हैं, सत्त्वप्रधान हैं और सूर्यमण्डलके मध्यमें स्थित हैं, उन श्रीविष्णु-सर्वेश्वरका, हृदयके अष्टदल कमलमें ध्यान करे। उकारके सम्बन्धीरूपसे वर्णित अन्तरिक्ष आदि अष्टकरूप जो अनुष्टुप्-मन्त्रके द्वितीय पादके आठ अक्षर हैं, वे प्रत्येक दलमें स्थित हैं और उनके भीतर क्रमशः वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, बलभद्र, श्रीकृष्ण और कल्कि—ये आठ परिवार हैं। उस अष्टदल कमलके मध्यगत चतुर्दल कमलकी मध्य-कर्णिकामें श्रीविष्णुसर्वेश्वरका ध्यान करना चाहिये। इसी प्रकार मकारसम्बन्धी जो द्युलोक आदि अष्टक हैं, वे ही मकारकी गणना न करनेसे सात होते हैं और उन्हींकी दृष्टिसे मकार सप्तात्मा है तथा पूर्ववत् स्थूल-सूक्ष्म आदि भेदसे वह चतुरात्मा है। तादृश मकारस्वरूप रुद्रसर्वेश्वरका भ्रूमध्यमें ध्यान करे। वे उमारूपा मूलप्रकृतिके साथ विराजमान हैं; उनमें तमोगुणकी प्रधानता है और वे अग्निमण्डलमें स्थित हैं। भ्रूमध्यगत अष्टदल कमलके आठ दलोंमें द्युलोकादिरूप अष्टक ही मानो अनुष्टुप्-मन्त्रके तृतीय पादके आठ अक्षररूपमें स्थित हैं और उनमें शर्व, भव, पशुपति, ईशान, भीम, महादेव, रुद्र एवं उग्र ही परिवाररूपमें विराजमान हैं। इस अष्टदलके भीतर चतुर्दल कमलकी मध्यकर्णिकामें मकारस्वरूप रुद्र-सर्वेश्वरका ध्यान करना चाहिये।

† मकारसम्बन्धी अर्धमात्राके सम्बन्धसे बतायी हुई जो सोमलोक आदि आठ वस्तुएँ हैं, उनमें मात्राकी गणना न होनेसे वे सात होते हैं; उनकी दृष्टिसे ओंकार सप्तात्मा है और पूर्ववत् स्थूल, सूक्ष्म आदि भेदसे चतुरात्मा है। इसके सिवा सम्पूर्ण ॐकारमें अ, उ, म् और अर्धमात्रा—ये चार मात्राएँ हैं; इनमें प्रत्येक मात्राके साथ एक-एक सप्तकका सम्बन्ध है। ओङ्कारमें वे सभी अन्तर्भूत हैं, अतः यह चतुःसप्तात्मा भी है। पहले अर्धमात्राकी दृष्टिसे स्थूलादि-भेदविशिष्ट ओङ्कारको चतुरात्मा कहा गया है; किंतु सम्पूर्ण ओङ्कार भी स्थूल-सूक्ष्म आदि चार भेदोंवाला है, अतः दुबारा उसके लिये 'चतुरात्मा' विशेषण दिया गया है। ऐसे तुरीय प्रणवरूप ओङ्कारका, जो गुणोंकी साम्यावस्थारूप उपाधिसे युक्त एवं शक्ति-मण्डलमें स्थित और मूल-प्रकृतिरूपा मायाके सहित है, द्वादशान्तमें अर्थात् बत्तीस दलोंवाले कमलमें चिन्तन करे। मूलाधारस्थ बत्तीस दलोंमें बताये हुए पूर्वोक्त देवता ही यहाँ परिवार हैं। बत्तीस दलवाले कमलके भीतर सद् आदि अष्टविध मूर्तियोंसे युक्त अष्टदल-कमल है तथा उसकी भी कर्णिकामें व्याप्त चतुर्दल कमलके भीतर ब्रह्मसवेंश्वर आदि चार मूर्तियाँ स्थित हैं; उसकी मध्यकर्णिकामें ॐकाररूप सवेंश्वरका ध्यान करना चाहिये। पूर्वोक्त गुणोंवाले ओङ्कारका ही, जो तुरीय तथा आनन्दामृत-स्वरूप है, षोडशान्तमें चिन्तन करे। अधोमुख द्वात्रिंशदल, अष्टदल एवं चतुर्दल कमलोंसे तथा उनमें बताये हुए पूर्वोक्त देवतारूप परिवारोंसे युक्त पीठको ही यहाँ षोडशान्त कहा गया है। यह आनन्दामृतरूप तुरीय गुणबीजरूप उपाधिसे युक्त एवं शक्ति-मण्डलमें स्थित है।

‡ यहाँ चतुर्मूर्तियोग, ब्रह्मयोग, विष्णुयोग, रुद्रयोग, भेदयोग, अभेदयोग और लिङ्गयोगका क्रमशः उल्लेख हुआ है। प्रणवका

कारणरूप शरीरको व्याप्त करके उनके अधिष्ठानभूत आत्माको सब ओरसे प्रकाशित करे अर्थात् सर्वव्यापक आत्माका तेजोमय स्वरूपमें चिन्तन करे। फिर उस तेजका—आत्म-चैतन्यरूप बलका निरोध करके उसके गुणोंसे अर्थात् स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व, बीजत्व, साक्षित्व आदि पूर्वोक्त गुणोंसे वाच्य-वाचक (परमात्मा एवं ओङ्कार) की पूर्ववत् एकता करे। तदनन्तर महास्थूलको महासूक्ष्ममें और महासूक्ष्मको महाकारणमें विलीन करके अकार, उकार और मकार—इन मात्राओंसे (जो क्रमशः विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर-रूपा हैं) एकका दूसरीमें लय करते हुए सबका तुरीय ओङ्कार-में लय करे। फिर पूर्ववत् ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्पका चिन्तन करते हुए सबको अविकल्पमें लीन करके अविकल्परूप परमात्माका चिन्तन करे और उन्हींमें सबका उपसंहार कर दे।

उच्चारण करके अमृतका स्राव करे। अमृत-स्राव भावनाका विषय है। पूर्वोक्त ब्रह्मसवेंश्वर आदि चारों मूर्तियोंकी, नाना प्रकारकी भेंट-सामग्रियोंसे, चतुर्विध पूजा करके उन मूर्तियोंको तेजसे प्रकट हुई मानकर उनका तेजोमय चार लिङ्गरूपसे चिन्तन करे तथा मन्त्रराज नारसिंहसहित प्रणवका उच्चारण करके भावनाद्वारा उक्त चारों लिङ्गोंको एक रूपमें परिणत करके उसपर अमृतका स्राव करे—यह चतुर्मूर्तियोग है। 'ब्रह्माका ही' इस वाक्यांशके द्वारा ब्रह्मयोग सूचित किया गया है। जिस प्रकार चतुर्मूर्ति-योगमें चार स्थानोंमें चार मूर्तियोंका चिन्तन, पूजन, उन तेजोमयी मूर्तियोंका उपसंहार, एकीकरण और अमृतस्राव आदि विधि बतायी गयी है, उसी प्रकार इस ब्रह्मयोगमें केवल सरस्वतीरूप मूलप्रकृतिसहित सपरिवार ब्रह्मसवेंश्वरका ही चिन्तन और पूजन आदि करने चाहिये। 'विष्णुका ही' इस वाक्यांशसे विष्णुयोग सूचित किया गया है। पूर्वोक्त चारों मूर्तियोंकी जगह चारों स्थानोंमें विष्णुसवेंश्वरका ही मूल-प्रकृति श्री तथा परिवारसहित चिन्तन करके पूजन आदि करना विष्णुयोग है। 'रुद्रका ही' इस वाक्यांशसे रुद्रयोगकी सूचना दी गयी है। यहाँ भी चार मूर्तियोंकी जगह चारों स्थानोंमें उमारूपा मूलप्रकृति और पूर्वोक्त परिवारसहित श्रीरुद्रसवेंश्वरका ही ध्यान एवं पूजन आदि कर्तव्य है। 'विभक्त अर्थात् पृथक्-पृथक् रूपमें इन तीनोंका ही' इस वाक्यांशसे भेदयोग सूचित किया गया है। यहाँ चारों स्थानोंमें तीनों प्रकृतियों तथा त्रिविध परिवारोंसहित उक्त ब्रह्मसवेंश्वर आदि तीनों मूर्तियोंका ही चिन्तन और पूजन आदि करे। इस योगमें सर्वत्र द्वात्रिंशद्दल, अष्टदल और चतुर्दल कमलोंको पूर्वोक्त देवताओंसे विशिष्ट रूपमें ही चिन्तन करना चाहिये। इनमें ब्रह्मा पीतवर्ण और चार मुखोंवाले हैं। उनके चार भुजाएँ हैं और हाथोंमें क्रमशः स्रुक्-स्रुवा, अक्षमाला, दण्ड और कमण्डलु धारण किये हुए हैं। उनके साथ श्वेतवर्णा सरस्वती हैं, जिनके हाथोंमें अक्षमाला, पुस्तक, मुद्रा और कलश शोभा पाते हैं। भगवान् विष्णुका विग्रह विद्युत्के समान कान्तिमान् है; वे अपने चार हाथोंमें चक्र, शङ्ख, गदा और पद्म धारण किये हुए हैं। उनके साथ रक्तवर्णा लक्ष्मी हैं—जिनके हाथोंमें दो कमल, श्रीफल और अभयकी मुद्रा हैं। भगवान् शिवकी कान्ति श्वेत है। वे अपने चार हाथोंमें परशु, हरिण, शूल और कपाल धारण किये हुए हैं। उनके साथ श्यामवर्णा उमा हैं—जो पाश, अङ्कुश, अभय और वर धारण करती हैं। तीनों मूर्तियोंको एक ही पीठपर विराजमान समझना चाहिये। शक्तियोंको उनके अङ्कमें अथवा वाम ऊरुपर बैठी हुई ध्यानमें देखे। कमलके आठ दलोंमेंसे प्रत्येक दलमें वेदादि, वराहादि, शर्वादि तथा सद् आदि इन चतुर्विध अष्टावरणोंका चिन्तन करना चाहिये। 'एक रूपमें भी इनका ही' इस वाक्यांशके द्वारा अभेद-योगकी सूचना दी गयी है। ब्रह्मा आदि तीनोंको एक विग्रहमें ही देखकर अर्थात् इन्हें एकरूप ही मानकर चारों स्थानोंमें इनका चिन्तन और पूजन आदि करे। इनके साथ शक्तियोंकी अविभक्तरूप मूलप्रकृति माया और पूर्वोक्त परिवारोंका भी चिन्तन करना चाहिये। ब्रह्मा आदि तीनोंकी जहाँ एकता है, वही सवेंश्वर-विग्रह है; अतः यहाँ सवेंश्वर और मायाशक्तिका ही चिन्तन है। सवेंश्वरके तीन मुख और छः बाहु हैं। वे अपनी भुजाओंमें हरिण, परशु, शङ्ख, चक्र, अक्षमाला और दण्ड धारण किये हुए हैं। उनके श्रीविग्रहका वर्ण अनिर्देश्य है, वाणीद्वारा उसका कोई स्पष्ट निर्देश नहीं हो सकता। उनकी शक्तिभूता जो माया प्रकृति है, वह भी तीन मुख और छः भुजाओंवाली है। उसके हाथोंमें पाश, अङ्कुश, कमल, कमल-मुद्रा और पुस्तक हैं। उसकी कान्ति भी अनिर्देश्य है। 'लिङ्गरूपमें ही' इस वाक्यांशके द्वारा लिङ्गयोग सूचित किया गया है; शक्ति और परिवारसहित ब्रह्मा आदिका सर्वत्र ज्योतिर्मय लिङ्गरूपसे चिन्तन और पूजनादि करे, यही लिङ्ग-योग है। इन सबके पूजनकी विधि और मन्त्रोंका उल्लेख श्रीविद्यारण्यमुनिद्वारा विरचित दीपिका नामक व्याख्यामें विस्तारके साथ हुआ है। जिज्ञासु साधक वहींसे उनका संग्रह कर सकते हैं। यहाँ अधिक विस्तारके भयसे उल्लेख नहीं किया जा सका है।

चतुर्थ खण्ड

अपने आत्माका पहले तुरीय-तुरीयरूपसे और पीछे भगवान् नृसिंहके रूपमें ध्यान करके ब्रह्मके साथ अपने-आपको एकीभूत करनेकी विधि

पूर्वोक्त इस आत्मा एवं परब्रह्मरूप ओङ्कारको, जो ओतादि-रूपसे प्रसिद्ध तुरीय ओङ्कारके पूर्वभागमें साक्षीरूपसे प्रकाशमान है, मन्त्रराज अनुष्टुप्का 'नमामि' पदतक उच्चारण करके, उसके द्वारा नमस्कार करके प्रसन्न करे। प्रसन्न करके भावनाद्वारा संसारके उपसंहारकी शक्ति प्राप्त करे। फिर चार मात्राओंवाले ओङ्कारका उच्चारण करते हुए पहले बताये अनुसार विराट्, तैजस आदिका उत्तरोत्तरमें संहार करके अनुष्टुप्-मन्त्रके अवशिष्ट 'अहम्' पदका उच्चारण करते हुए अपने आत्माका तुरीय-तुरीयरूपसे ध्यान करे।

इसके अनन्तर इस आत्मा एवं परब्रह्मरूप ओङ्कारको ही, जो ओत-अनुज्ञातृ आदिरूपसे प्रसिद्ध तुरीय ओङ्कारके पूर्व-भागमें साक्षीरूपसे प्रकाशित हो रहा है तथा जो उग्र, वीर आदि ग्यारह पदोंके गुणोंसे युक्त एकादशात्मा नारसिंह-मन्त्रस्वरूप हैं, उन्हें नमस्कार करके ओङ्कारका उच्चारण करते हुए ओतादिका अनुज्ञातृ आदिमें लय करे। फिर तुरीय-तुरीयको उपलब्ध करके 'उग्रम्' आदि एक-एक पदसे उग्रत्व आदि गुणोंसे विशिष्टरूपमें भी उन्हींका चिन्तन करते हुए अपने आत्मारूपसे भगवान् नृसिंहका ध्यान करे।

तदनन्तर इस आत्मा एवं परब्रह्मरूप ओङ्कारका ही, जो ओत-अनुज्ञातृ आदिरूपसे प्रसिद्ध तुरीय ओंकारके अग्रभागमें साक्षीरूपसे प्रकाशित हो रहा है, प्रणवके द्वारा ही भलीभाँति चिन्तन करके अनुष्टुप्-मन्त्रके 'उग्रम्' से लेकर 'मृत्युमृत्युम्'तक नौ पदोंके साथ सत्, चित्, आनन्द, पूर्ण और आत्मा—इन ब्रह्मके पाँचों स्वरूपोंमेंसे प्रत्येकका सम्बन्ध होनेसे जो पञ्चविध नवात्मक स्वरूपवाले हैं, ऐसे सच्चिदानन्द-पूर्णात्मस्वरूप परमानन्दमय परब्रह्मका भलीभाँति ध्यान करे*। तत्पश्चात् अनुष्टुप्-मन्त्रके 'अहम्' इस पदके द्वारा अपनेको ग्रहण कर 'नमामि' इस पदके द्वारा नमस्कार करके ब्रह्मके साथ अपने आपको एकीभूत कर दे *।

अथवा केवल अनुष्टुप्-मन्त्रके द्वारा ही भगवान्की सर्वात्मता और सर्वरूपताका चिन्तन करे। ये भगवान् ही 'नृ' (आत्मा) हैं; ये ही सर्वत्र सर्वदा सबके आत्मा हैं। ये ही सिंह (बन्धननाशक) हैं। वे ही श्रुति-स्मृति आदिमें प्रसिद्ध परमेश्वर हैं। क्योंकि वे सर्वत्र सर्वदा सबके आत्म-रूपसे विराजमान होकर सबके अज्ञान आदिको अपना ग्रास बनाते हैं—सभीका अज्ञान दूर करके उन्हें अपना स्वरूप बना लेते हैं। अतः सबके आत्मा (नृ) तथा 'सि' बन्धनका 'ह' अर्थात् नाशक होनेके कारण ये ही एकमात्र नृसिंह हैं। ये ही तुरीय हैं। ये ही उग्र हैं। ये ही वीर हैं। ये ही महान् हैं। ये ही विष्णु हैं। ये ही ज्वलन् (सब ओरसे देदीप्यमान) हैं। ये ही सर्वतोमुख हैं। ये ही नृसिंह हैं। ये ही भीषण (वायु, सूर्य तथा मृत्युको भी भयभीत करनेवाले) हैं। ये ही भद्र (परम कल्याण एवं आनन्दके निकेतन) हैं तथा ये ही मृत्युके भी मृत्यु हैं। ये ही 'नमामि' (परिपूर्ण ज्ञानानन्द-स्वरूप आत्माको आच्छादित करनेवाले अज्ञानसे शून्य) हैं और ये ही 'अहम्' पदके एकमात्र आश्रय हैं। इस प्रकार पहले बतायी हुई उपासनासे तथा यहाँ अनुष्टुप-पाद-मिश्रित उपासनासे प्रणवमय परमात्माके ध्यानयोगमें आरूढ हो ब्रह्मस्वरूप ओङ्कारमें ही अनुष्टुप्-मन्त्रको अन्तर्भूत करके सब कुछ ओङ्कार ही है—इस प्रकार प्रणववाच्य परमात्माका चिन्तन करे।

इसी विषयमें दो मन्त्र हैं, जिनका अन्वय और अर्थ इस प्रकार है—**सिंहम्**=जो वस्तुतः समस्त बन्धनोंको काटने-वाला एवं अविचल होकर भी उपाधिवश या अविवेकके कारण चञ्चल-सा प्रतीत हो रहा है, ऐसे 'सिंह' नामसे कहे हुए आत्माको; **संस्तभ्य**=अपनी ही महिमामें स्थिर करके; **गुणर्धान्**=स्थूलत्व और स्थूलभोक्तृत्व आदि पूर्वोक्त गुणोंसे समृद्ध होकर जो वैश्वानर आदि स्वरूपको प्राप्त हो गये हैं, ऐसे; **स्वसुतान्**=स्व अर्थात् आत्माके ही स्थूल विश्व आदि पुत्रोंको (जो परमात्माके प्रथम आदि पाद हैं); **ऋषभस्य**=

---

* ध्यानके समय उच्चारणके योग्य वाक्य इस प्रकार होगा—ॐ उग्रं सच्चिदानन्दपूर्णप्रत्यक्सदात्मानं नृसिंहं परमात्मानं परं ब्रह्म चिन्तयामि। ॐ वीरं सच्चिदानन्दपूर्णप्रत्यक्सदात्मानं नृसिंहं परमात्मानं परं ब्रह्म चिन्तयामि। इसी प्रकार 'मृत्युमृत्युम्' पदतक नौ वाक्य होंगे। इसके बाद फिर इसी क्रमसे 'सदात्मानम्' की जगह 'चिदात्मानम्' कर दिया जायगा; उसके भी नौ वाक्य होंगे। फिर 'आनन्दात्मानम्' कर देनेसे उसके भी नौ वाक्य होंगे। इसी प्रकार 'पूर्णात्मानम्' और 'प्रत्यगात्मानम्' का भी क्रमशः सन्निवेश करनेमें ९-९ वाक्य और भी होंगे।

* नमस्कार-वाक्य भी इसी प्रकार ४५ हो सकते हैं। उदाहरणके लिये एक लिख दिया जाता है—'ॐ उग्रं सच्चिदानन्दपूर्ण-प्रत्यक्सदात्मानं (चिदात्मानं इत्यादि.) नृसिंहं परमात्मानं परं ब्रह्माहं नमामि।' ब्रह्मके साथ आत्माको एकीभूत करना भावनाद्वारा ही होता है।

वेदोंमें प्रधान प्रणवकी; **शृङ्गैः**=अकार आदि मात्राओंसे; **संयोज्य**=परस्पर समानताके कारण संयुक्त करके अर्थात् पहले बताये अनुसार ॐकारकी मात्राओं तथा परमात्माके प्रथम-द्वितीय आदि पादोंकी एकताका अनुभव करके; **हृत्वा**=स्थूलका सूक्ष्ममें और सूक्ष्मका कारणमें लय करते हुए इसी क्रमसे सबका तुरीयमें संहार करके; **वश्याम् (कृत्वा)**=वहाँ कारणरूपा मायाको पूर्वोक्त ओतंयोगके द्वारा अपने वशमें करके; **स्फुरन्तीम् (मत्वा)**=अनुज्ञातृ-योगके द्वारा 'आत्म-सत्ताके अधीन ही उसकी सत्ता और स्फूर्ति है' ऐसा अनुभव करके; **असतीम् (कृत्वा)**=अनुज्ञायोगके द्वारा उसकी पृथक् सत्ताका अभाव-सा करके; **निपीड्य**=उसे साक्षी चैतन्यमें निमग्न (विलीन) कर दे। यों करनेके पश्चात्; **सिंहेन संभक्ष्य**=अज्ञान आदिसे सर्वथा असम्पृक्त विशुद्ध बोधमय परमात्माके साक्षात्कारद्वारा उस मायाके आवरणको छिन्न-भिन्न करके अथवा मन्त्रराज नारसिंहके जपद्वारा तुरीय-तुरीय परमात्माका चिन्तन करते हुए भगवान् और उनके मन्त्रके प्रभावसे मायाका सर्वथा संहार करके; [**यः स्थितो भवति**=जो स्थित होता है;] **स एष वीरः**=वही यह उपासक वीर है—उसको कभी संसारसे पराभव नहीं प्राप्त होता।

शृङ्गप्रोतान्=प्रणवकी मात्राओंसे व्याप्त चतुःसप्तात्मा विराट् आदि तथा ब्रह्मसर्वेश्वर आदिको; **पदा स्पृष्ट्वा**=अनुष्टुप्-मन्त्रके प्रत्येक पादसे संयुक्त करके अर्थात् प्रणवकी मात्राओं तथा अनुष्टुप्के पादोंकी पूर्ववत् एकताका चिन्तन करके; **हृत्वा**=क्रमशः उनका पूर्वोक्त रीतिसे संहार करके; **ताम्**=उस कारणरूपा मायाको; (जिसने) **स्वयम् अग्रसन्**=स्वयं ग्रस लिया अर्थात् पूर्वोक्तरूपसे परमात्मतत्त्वके अनुभवसे मायाका सर्वथा संहार कर दिया; [**सः**=वह विद्वान् उपासक;] **नत्वा**=इसी खण्डमें बतायी हुई रीतिसे भगवान्-को नमस्कार करके; **च**=तथा; **बहुधा दृष्ट्वा**=मन्त्रराज नारसिंहके पदोंके अनुसार उग्र, वीर आदि बहुत-से रूपोंमें भगवान्का साक्षात्कार करके; **स्वयं नृसिंहः सन् उद्भवौ**=स्वयं नृसिंहस्वरूप होकर अथवा मनुष्योंमें श्रेष्ठ होकर उद्भासित होता है, अथवा उसके समक्ष स्वयं भगवान् नृसिंह तेजोमय स्वरूपसे प्रकट हो जाते हैं; **इति**=इस प्रकार ये मन्त्र हैं। इन दो मन्त्रोंमें प्रथमसे लेकर चतुर्थ खण्डतकके अभिप्रायका संक्षेपतः संग्रह हो गया है।

पञ्चम खण्ड

अनुष्टुप्-मन्त्रका ओंकारमें अन्तर्भाव करके उसीके द्वारा परमात्माके चिन्तनकी विधि

(पहले बताया गया है कि अनुष्टुप्-मन्त्रका ओङ्कारमें अन्तर्भाव करके उसीके द्वारा परमात्माका चिन्तन करे। अब प्रश्न होता है कि कैसे अनुष्टुप्का प्रणवमें अन्तर्भाव हो और किस प्रकार उसके द्वारा परमात्माका चिन्तन हो। इस जिज्ञासा-का समाधान करनेके लिये इस खण्डका आरम्भ हुआ है। 'अथ' शब्द प्रकरणके आरम्भका सूचक है।) ओङ्कारकी प्रथम मात्रारूप यह अकार आप्ततम (अतिशय व्यापक) अर्थवाला ही है। अतः यह आप्ततम (अतिशय व्यापक) अर्थवाले आत्मामें ही संगत होता है; सबके आत्मा भगवान् नृसिंहमें—नृसिंह नामसे प्रसिद्ध परब्रह्ममें ही यह गतार्थ होता है; क्योंकि यह अकार ही आप्ततम (अतिशय व्यापक) है। यही साक्षी है। यही ईश्वर है। अतः यह सर्वगत है—सर्वत्र व्यापक है; इससे भिन्नरूपमें यह सम्पूर्ण जगत् कोई अस्तित्व नहीं रखता; क्योंकि यही व्याप्ततम—अतिशय व्यापक है। यह सब जो कुछ दिखायी देता है, यह आत्मा ही है। जो यह आत्मा है, वही यह सब कुछ है। जो कुछ प्रतीत होता है, सब मायामात्र है। आत्मा या अकारसे भिन्नरूपमें इसकी सत्ता नहीं है। यह अकार ही उग्र है; क्योंकि यही व्याप्ततम—अतिशय व्यापक है। यह अकार ही वीर है; क्योंकि यही व्याप्ततम है। यह अकार ही महान् है; क्योंकि यही व्याप्ततम है। यह अकार ही विष्णु है; क्योंकि यही व्याप्ततम है। यह अकार ही ज्वलन् (सब ओर देदीप्यमान) है; क्योंकि यही व्याप्ततम है। यह अकार ही सर्वतोमुख है; क्योंकि यही व्याप्ततम है। यह अकार ही नृसिंह है; क्योंकि यही व्याप्ततम है। यह अकार ही भीषण है; क्योंकि यही व्याप्ततम है। यह अकार ही भद्र है; क्योंकि यही व्याप्ततम है। यह अकार ही मृत्युमृत्यु है; क्योंकि यही व्याप्ततम है। यह अकार ही 'नमामि' (आत्मतत्त्वका आच्छादन करनेवाले अज्ञानसे शून्य) है; क्योंकि यही व्याप्ततम है। यह अकार ही 'अहम्' है; क्योंकि यही व्याप्ततम है।

जो इस प्रकार जानता है, वह नित्यमुक्त आत्मा ही हो जाता है। वह नृसिंहस्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है। वह कामनारहित होता है। उसके मनसे सब लौकिक कामनाएँ

निकल जाती हैं। उसे सम्पूर्ण कामनाओंका फल प्राप्त हो जाता है—उसके मनमें किसी भी वस्तुको पानेकी इच्छा शेष नहीं रहती। वह केवल आत्माकी ही कामना रखता है, अनात्माकी नहीं। मृत्युके पश्चात् उसके प्राण उत्क्रमण (कर्मफलभोगके लिये ऊपरके लोकोंमें गमन) नहीं करते; यहीं—आत्मामें ही एकीभावको प्राप्त हो जाते हैं। वह पहलेसे ब्रह्मस्वरूप होता हुआ ही पुनः ब्रह्मको ही प्राप्त होता है (केवल ब्रह्मसे भिन्न होनेका भ्रममात्र दूर होता है)।

यह ॐकारकी दूसरी मात्रा जो उकार है, वह उत्कृष्टतम (अतिशय श्रेष्ठ) अर्थवाला ही है। अतः यह अतिशय श्रेष्ठ अर्थवाले आत्मामें अर्थात् नृसिंहदेवस्वरूप परब्रह्ममें ही गतार्थ होता है। इसलिये यह उकार सत्यस्वरूप है। इससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु सत्य नहीं है। असत् होनेके कारण वह सब अमेय है—उसमें मान-सम्बन्धकी योग्यताका अभाव है। वह अनात्मप्रकाश है—दूसरेसे प्रकाशित होनेवाली वस्तु है; उसमें स्वयं अपनेको प्रकाशित करनेकी क्षमता न होनेसे वह असत् है। यह उकारस्वरूप आत्मा स्वप्रकाश है—अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाला है। ('मैं हूँ' इस तथ्यको हृदयङ्गम करनेके लिये अन्य प्रकाश या प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती; इसका अनुभव स्वतः होता है।) असङ्ग है; अतः अपने सिवा दूसरी किसी अनात्म वस्तुको नहीं देखता। इसीलिये इसे अन्य किसी नामसे ख्याति नहीं प्राप्त हुई; यह केवल सर्वोत्कृष्ट आत्ममात्र है। यह आत्मस्वरूप उकार ही अनुष्टुप्-मन्त्रका अङ्गभूत उग्र है—उसके उग्रत्व-गुणसे विभूषित है; क्योंकि यही उत्कृष्ट (सर्वश्रेष्ठ) है। यह उकार ही वीर है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही महान् है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही विष्णु है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही ज्वलन् (सब ओरसे देदीप्यमान) है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही सर्वतोमुख है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही नृसिंह है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही भीषण है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही भद्र है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही मृत्युमृत्यु है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही 'नमामि' है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। यह उकार ही 'अहम्' है; क्योंकि यही उत्कृष्ट है। इसलिये आत्माको ही उकारके रूपमें जाने।

जो इस प्रकार जानता है, वह आत्मा ही होता है—श्रीनृसिंहदेवस्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है। वह कामनासे रहित होता है। उसके मनसे सब लौकिक कामनाएँ निकल जाती हैं। उसे सम्पूर्ण कामनाओंका फल प्राप्त हो जाता है—उसके मनमें किसी भी वस्तुको पानेकी इच्छा शेष नहीं रहती। वह केवल आत्माकी ही कामना रखता है, अनात्माकी नहीं। मृत्युके पश्चात् उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते (कर्मफलभोगके लिये ऊपरके लोकोंमें गमन नहीं करते), यहीं—आत्मामें ही एकीभावको प्राप्त हो जाते हैं। वह पहलेसे ब्रह्मस्वरूप होता हुआ ही पुनः ब्रह्मको प्राप्त होता है (केवल ब्रह्मसे भिन्न होनेका भ्रममात्र दूर होता है)।

ओङ्कारकी यह तीसरी मात्रा जो मकार है, वह महाविभूति (असीम ऐश्वर्य) के अर्थमें है। यह महान् ऐश्वर्यसे सम्पन्न आत्मामें—श्रीनृसिंहदेवस्वरूप ब्रह्ममें ही गतार्थ होता है। इसलिये यह मकाररूप आत्मा अनल्प (महान्) है, अभिन्न-रूप (अद्वितीय) है, स्वप्रकाश—अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाला है तथा यह मकारस्वरूप आत्मा ब्रह्म ही है। यही अतिशय व्यापक और अतिशय श्रेष्ठ है। यह ब्रह्म ही सर्वज्ञ, महामायावी तथा महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही उग्र है; क्योंकि यही महाविभूति (परमैश्वर्य) से सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही वीर है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही महत् है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही विष्णु है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही ज्वलन् (सब ओरसे देदीप्यमान) है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकार-स्वरूप ब्रह्म ही सर्वतोमुख है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही नृसिंह है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही भीषण है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही भद्र है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही मृत्युमृत्यु है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही 'नमामि' है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है। यह मकारस्वरूप ब्रह्म ही 'अहम्' है; क्योंकि यही महाविभूतिसे सम्पन्न है।

इसलिये अकार और उकारके द्वारा इस अतिशय व्यापक, अतिशय उत्कृष्ट, चिन्मात्रस्वरूप, सर्वद्रष्टा, सर्वसाक्षी, सबको अपनेमें लीन करनेवाले, सबकी प्रीतिके एकमात्र आश्रय, केवल सच्चिदानन्दमय, एकरस आत्माका—जो इस सत्, चित् आदिके वाच्यभेदसे होनेवाली भेद-प्रतीतिके पूर्वसे ही सबके साक्षीरूपमें भलीभाँति प्रकाशित है—अनुसन्धान

(चिन्तन) करके मकारके द्वारा उसे अतिशय व्यापक, अतिशय उत्कृष्ट, चिन्मात्रस्वरूप, महामायायुक्त, महाविभूति-सम्पन्न केवल सच्चिदानन्दमय एकरस परब्रह्मरूपमें ही जाने। जो इस प्रकार जानता है, वह आत्मा ही होता है; वह श्रीनृसिंहदेव-स्वरूप परब्रह्म ही हो जाता है। वह कामनासे रहित होता है। उसके मनसे समस्त कामनाएँ निकल जाती हैं। उसे सम्पूर्ण कामनाओंका फल प्राप्त हो जाता है—उसके मनमें किसी भी वस्तुको पानेकी इच्छा शेष नहीं रहती। वह केवल आत्माकी कामना रखता है, अनात्माकी नहीं। उस विद्वान् उपासकके प्राण कर्मफलभोगके लिये ऊपरके लोकोंमें गमन नहीं करते, यहीं—आत्मामें ही एकीभावको प्राप्त हो जाते हैं। वह पहले ब्रह्मस्वरूप होता हुआ ही पुनः ब्रह्मको प्राप्त होता है (उसका ब्रह्मसे भिन्न होनेका भ्रममात्र दूर होता है)। इस प्रकार उन प्रसिद्ध प्रजापतिने देवताओंसे कहा।

षष्ठ खण्ड

अपने-आपको प्रणवके वाच्यार्थ परब्रह्ममें विलीन करनेकी विधि

(प्रजापतिके द्वारा पूर्वोक्त उपदेश सुननेके अनन्तर) उन देवताओंने परमात्मतत्त्वका अपरोक्ष अनुभव प्राप्त करनेकी इच्छा की (अतः तदनुकूल साधन—ध्यान आदिमें लग गये)। इसी समय पापात्मा असुर-भावने (विषयासक्ति, अविवेक और अभिमान आदिके रूपमें वहाँ आकर) उन प्रसिद्ध देवताओंको सब ओरसे ग्रस लिया—उन्हें ध्यानसे हटाकर विषयोंकी ओर प्रवृत्त कर दिया। (किंतु कुछ साधन कर लेनेसे उनका विवेक जाग्रत् हो चुका था; अतः) वे देवता सोचने लगे—"अहो ! इस पापात्मा असुर-भावको (जो हमारे पुरुषार्थ-साधनमें विघ्न डाल रहा है) हम ही क्यों न अपना ग्रास बना लें—परमात्म-चिन्तनमें लगकर इसे नष्ट क्यों न कर डालें। इस प्रकार विचार करके उन्होंने ओंकारके सम्मुख प्रकाशित होनेवाले इन्हीं तुरीय-तुरीय परमात्माको, जो उग्र भी हैं और अनुग्र (शान्त) भी, वीर भी हैं और अवीर भी, महान् भी हैं और अमहान् (लघु) भी, विष्णु (व्यापक) भी हैं और अविष्णु (अव्यापक) भी, 'ज्वलन्' (सब ओरसे प्रकाशमान) भी हैं और अज्वलन् (अप्रकाशमान) भी, सर्वतोमुख (सब ओर मुखोंवाले) भी हैं और असर्वतोमुख भी, नृसिंह (बन्धननाशक आत्मारूप) भी हैं और अनृसिंह भी; भीषण (भयानक) भी हैं और अभीषण (सौम्य) भी, भद्र भी हैं और अभद्र भी; मृत्युमृत्यु भी हैं और अमृत्यु-मृत्यु भी; 'नमामि' (अज्ञानशून्य) भी हैं और 'अनमामि' भी; 'अहम्' भी हैं और 'अनहम्' भी; उन्हें श्रीनृसिंहदेव-सम्बन्धी अनुष्टुप्-मन्त्रसे ही जान लिया। तब उनके ऊपर आक्रमणके लिये आया हुआ वह पूर्वोक्त पापात्मा असुर-भाव तुरीय-तुरीय परमात्माके चिन्तनके प्रभावसे स्वयं भी सच्चिदानन्दघन ज्योतिःस्वरूप हो गया। इसलिये जिसके अन्तःकरणका मल अथवा वासना-जाल परिपक्व होकर नष्ट-प्राय नहीं हो गया है, वह इन्हीं ओंकारके सम्मुख प्रकाशमान तुरीय-तुरीय परमात्माको श्रीनृसिंहदेवसम्बन्धी अनुष्टुप्-मन्त्रसे ही जान ले। इससे उसके अन्तःकरणमें प्रकट हुआ पापात्मा असुर-भाव सच्चिदानन्दघन ज्योतिःस्वरूप हो जाता है।

इस प्रकार कारणात्मक ज्योतिःस्वरूपताको प्राप्त हुए वे देवगण (अन्तःकरणके अत्यन्त शुद्ध हो जानेके कारण) उस ज्योतिसे भी ऊपर उठनेके इच्छुक हुए; क्योंकि द्वितीयसे वे भयको ही देख रहे थे। फिर तो उन्होंने ओंकारके सम्मुख प्रकाशित होनेवाले इन्हीं तुरीय-तुरीय परमात्माका श्रीनृसिंहदेवसम्बन्धी अनुष्टुप्-मन्त्रद्वारा अनुसन्धान करके प्रणवके द्वारा ही उनमें स्थिति प्राप्त की। उन्हें प्राप्त हुई वह कारणात्मक ज्योति इस सम्पूर्ण कार्य-कारणमय जगत्के पहलेसे ही भलीभाँति प्रकाशित, प्रतीतिके अविषय, अद्वितीय, अचिन्त्य, अलिङ्ग, स्वप्रकाश, आनन्दघन, विशेषशून्य परब्रह्मस्वरूप ही हो गयी। इस प्रकार जाननेवाला विद्वान् स्वप्रकाश परब्रह्म ही हो जाता है।

(इस प्रकार तुरीय-तुरीय परमात्मामें निष्ठाकी योग्यता प्राप्त हो जानेपर) वे देवता पुत्रैषणा (पुत्र-कामना), वित्तैषणा (धन-कामना) और लोकैषणा (लोकमें सम्मान, यश आदिकी कामना) से तथा उन्हें चरितार्थ करनेके साधनोंसे भी ऊपर उठकर—उन सबकी इच्छा और प्रयत्न-का सर्वथा त्याग करके, घरोंसे निकलकर अहंकाररहित एवं परिग्रहशून्य हो, शिखा और यज्ञोपवीतका भी त्याग करके—संन्यासी होकर अंधे, बहरे, भोले-भाले, नपुंसक, गूँगे और पागलोंकी भाँति इधर-उधर विचरते हुए, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान (और श्रद्धा)—इन छः साधन-सम्पत्तियोंसे सम्पन्न होते हुए आत्मामें ही रमण, आत्मासे

ही क्रीडा, आत्मासे ही संयोग और आत्मामें ही आनन्दका अनुभव करते हुए तथा प्रणवको ही स्वप्रकाश, विशेषणशून्य, परब्रह्म जानते हुए उसीमें लीन हो गये। इसलिये देवताओंके व्रतका आचरण करते हुए प्रणवके वाच्यार्थभूत परब्रह्ममें विलीन हो जाय। इस प्रकार जानने और करनेवाला विद्वान् आत्मासे ही आत्माको परब्रह्मरूपमें देखता है। इस विषयमें यह श्लोक है—

शृङ्गेष्वशृङ्गं संयोज्य सिंहं शृङ्गेषु योजयेत्।
शृङ्गाभ्यां शृङ्गमाबद्ध्य त्रयो देवा उपासते॥

शृङ्गेषु=प्रणवकी अकार, उकार और मकार—इन मात्राओंमें; **अशृङ्गम् संयोज्य**=अवयवशून्य तुरीय परमात्माका संयोग करके अर्थात् परमात्माको ही ओंकारका वाच्यार्थ जानकर; **सिंहम्**=नृसिंहदेवतासम्बन्धी मन्त्रराज अनुष्टुप्को; **शृङ्गेषु योजयेत्**=प्रणवकी अकारादि मात्राओंमें नियुक्त करे अर्थात् मन्त्रराज अनुष्टुप्को प्रणवमें ही अन्तर्भूत करे। तत्पश्चात्; **शृङ्गाभ्याम्**=प्रणवकी दो मात्राओं—अकार-उकारद्वारा; **शृङ्गम्**=प्रणवकी एक मात्रा—मकारको; **आबद्ध्य**=बाँधकर अर्थात् मकारमें उनके लयकी भावना करते हुए तीनों मात्राओंकी एकताका बोध एवं चिन्तन करके; **त्रयो देवा उपासते**=तीनों देवता (उत्तम, मध्यम और अधम अधिकारी) ऊँची स्थिति प्राप्त कर लेते हैं (इस प्रकार इस श्लोकमें पाँचवें-छठे खण्डोंका सारांश आ गया है)।

सप्तम खण्ड

परमात्मा तथा आत्माकी एकताका अनुभव एवं चिन्तन करनेका प्रकार

कहते हैं, देवताओंने प्रजापतिसे कहा—'भगवन्! पुनः हमें ज्ञानोपदेश कीजिये।' यह सुनकर प्रजापति बोले—'तथास्तु।' फिर उन्होंने इस प्रकार उपदेश देना प्रारम्भ किया—आत्मा अज (जन्मरहित), अमर (मृत्युरहित), अजर (जरारहित), अमृतस्वरूप, अभय, अशोक (शोकहीन), अमोह (मोहशून्य), अनशनाय (भूखरहित), अपिपास (प्याससे रहित) तथा अद्वैत है। और अकार इन सभी विशेषण-शब्दोंका आदिभूत है; अतः अकारके द्वारा इस अजत्व आदि गुणोंसे विशिष्ट आत्माका अनुसन्धान (चिन्तन) करके*, फिर उदुत्कृष्ट[1] (अतिशय श्रेष्ठतम), उदुत्पादक (सबके स्रष्टा), उदुत्प्रवेष्टा (परमात्मारूपसे संसारकी सृष्टि करके जीवरूपसे प्रवेश करनेवाला), उदुत्थापयिता (नियन्तारूपसे सबको मर्यादामें स्थापित करनेवाला), उदुद्द्रष्टा (विष्णुरूपसे पालन करते समय सदा सबपर विशेषरूपसे दृष्टि रखनेवाला), उदुत्कर्ता (सर्वोत्कृष्ट कर्ता), उदुत्पथवारक (स्वयं बुद्धि, विवेक और सहारा देकर सबको सदा कुमार्गसे निवृत्त करनेवाला), उदुद्रासक (रुद्ररूपसे सबके परम संहारक), उदुद्धान्त (कारणरूपसे सर्वत्र व्यापक) तथा उदुत्तीर्णविकृति (साक्षीरूप होनेसे सब विकारोंके ऊपर उठे हुए) होनेके कारण उकारके द्वारा परम-सिंह[1] (परब्रह्म) का अनुसन्धान (चिन्तन) करे। (सारांश यह कि ब्रह्म उत्कृष्टत्व आदि गुणोंसे युक्त है, अतः ये 'उदुत्कृष्ट' आदि शब्द उन-उन गुणोंसे विभूषित ब्रह्मके वाचक हैं; तथा 'उदुत्कृष्ट' आदि सभी विशेषणोंका आदि अक्षर उकार है; अतः यह उकार भी तत्तच्छब्दस्वरूप ही है। इस प्रकार समानाधिकरणता होनेसे उकारके द्वारा परब्रह्मका चिन्तन करना चाहिये।) तत्पश्चात् अकारस्वरूप इस आत्माको उकारके पूर्वार्धभागस्वरूप ब्रह्मके प्रति आकृष्ट करे—आत्माकी ब्रह्मके साथ एकता करे, अर्थात् आत्माको ब्रह्मस्वरूप जाने। फिर उकारके उत्तरार्धभाग अर्थात् उत्तर मात्राद्वारा पूर्वोक्त ब्रह्मको ग्रहण करके मकारके अर्थभूत इस आत्माके साथ एकीभूत करे—ब्रह्म और आत्माको एक जाने। प्रणवकी तीसरी मात्रा मकारके द्वारा आत्माका ग्रहण इसलिये किया जाता है कि मकार और आत्मा दोनों ही महत् (सर्वव्यापी), महस् (चिन्मय तेजसे युक्त), मान (सर्वसाधक प्रमाणस्वरूप), मुक्त (सब प्रकारके बन्धन और परतन्त्रतासे

---

* आगे आनेवाले 'आत्मना एकीकुर्यात्' (आत्मासे एकाकार करे) इस वाक्यके साथ सम्बन्ध होनेपर वाक्य पूरा होता है। यहाँ आत्माके दस विशेषण दिये गये हैं। उनमें चारके द्वारा उसमें देहधर्मका निराकरण किया गया है। फिर तीनके द्वारा बुद्धि-धर्मका, दोके द्वारा प्राण-धर्मका और एकके द्वारा सामान्यतः सभी प्रकारके धर्मोंका निषेध किया गया है।

१. उत्कृष्टत्वधर्मादुत्कृष्टत्वे सति उत्कृष्टत्वम् उदुत्कृष्टत्वम्= उत्कर्षसूचक धर्ममात्रसे उत्कृष्टता रखकर जो उत्कृष्टत्व होता है, वही 'उदुत्कृष्टत्व' है। सब प्रकारके सांसारिक धर्मोंसे रहित होते हुए सर्वज्ञत्व आदि गुणोंसे विशिष्ट होना ही ब्रह्मकी उदुत्कृष्टता है।

१. बन्धनकारक अज्ञानका नाशक होनेसे 'सिंह' शब्द ब्रह्मका वाचक है।

सर्वथा शून्य), महादेव (परप्रकाशमय), महेश्वर (सर्व-नियन्ता), महासत्, महाचित्, महानन्द—अर्थात् असीम सच्चिदानन्दमय तथा महाप्रभु (संनिधि एवं सत्तामात्रसे सबके प्रवर्तक) रूप हैं। आत्मा महत्त्वादि गुणोंसे विशिष्ट है और मकार 'महत्' आदि शब्दोंका आदि होनेके कारण तत्तत्स्वरूप है। जो यों जानता है, वह शरीररहित, इन्द्रिय-रहित, प्राणरहित, तम (मोह एवं अज्ञान) से रहित तथा शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप स्वराट् (स्वयम्प्रकाश ब्रह्म) हो जाता है।

जब कोई किसीसे पूछता है कि 'तुम कौन हो ?' तब वह 'अहम्' (मैं हूँ) ऐसा उत्तर देता है। इसी प्रकार यह समस्त प्राणिसमुदाय 'अहम्' कहकर ही अपनेको सूचित करता है। अतः 'अहम्' यह सबका वाचक है। इस 'अहम्'का आदि अक्षर यह प्रणवकी प्रथम मात्रारूप अकार है। अतः यह अकार भी सबका वाचक होनेसे सर्वरूप है; वह पूर्वोक्त प्रकारसे जाननेवाला विद्वान् वही (सर्वस्वरूप ही) हो जाता है। सम्पूर्ण जगत् यह आत्मा ही है; क्योंकि यह सबका अन्तरात्मा है। यह सम्पूर्ण जगत् बिना आत्माके नहीं रह सकता। अतः आत्मा ही यह सब कुछ है। अतः सर्वात्मक अकारके साथ सर्वात्मक आत्माका अनुसंधान (चिन्तन) करे। सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही यह सब जगत् है। यह सब कुछ सच्चिदानन्दस्वरूप है।

निश्चय ही यह सब कुछ सत्स्वरूप है; क्योंकि 'तत् सत् (वह है)' ऐसी प्रतीति सबको होती है। निश्चय ही यह सब कुछ चित् (चिन्मय) है; 'घट प्रकाशित होता है, पट प्रकाशित होता है' इत्यादि रूपमें सब कुछ प्रकाशस्वरूप (चिन्मय) ही प्रतीत होता है। देवताओ ! क्या तुमने समझ लिया कि 'सत्' क्या है ? (देवता बोले—) यह-यह सत् है अर्थात् 'इदम्' रूपसे प्रतीत होनेवाली घट-पट आदि सभी वस्तुएँ सत् हैं। (प्रजापतिने कहा—) नहीं। 'इदम्' रूपसे प्रतीत होनेवाला सम्पूर्ण जगत् ही असत् (नाशवान्) है; अतः वह सत् नहीं है। 'अनुभूति' ही सत् है। यदि पूछो कि 'यह अनुभूति क्या है ?' तो सुनो। 'इयम्-इयम्' (यह-यह अनुभूति है) यों कहनेसे अनुभूतिका ज्ञान नहीं होता। अनुभूति वाणीका विषय नहीं है, इसलिये प्रजापतिने बिना कुछ कहे ही स्वयं अनुभव करते हुए देवताओंको उसका स्वरूप बताया, स्वतःसिद्ध स्वरूप ही अनुभूति है—यह बात देवताओंको समझायी। इसी प्रकार 'चित्' और 'आनन्द'-को भी बिना कुछ कहे ही स्वयं अनुभव करते हुए प्रजापतिने देवताओंसे बताया। तात्पर्य यह कि स्वतःसिद्ध स्वरूप शुद्ध-बुद्ध आत्मा ही चित् और आनन्द है, 'इदम्' रूपसे प्रतीत होनेवाला प्राकृत दृश्य प्रपञ्च नहीं। इसी प्रकार ब्रह्मके अन्य सब लक्षण भी स्वतःसिद्ध आत्मस्वरूपके ही बोधक हैं। उनका वाणीद्वारा प्रकाशन नहीं हो सकता, वे सब अनुभवैक-गम्य हैं; परंतु केवल मौन हो जानेसे देवता ब्रह्मका स्वरूप अच्छी तरह समझ न सके, इसलिये प्रजापति 'आनन्द' शब्द-के द्वारा ब्रह्मके स्वरूपका (लक्षणसे) परिचय कराते हैं—वह ब्रह्म परम आनन्द है। उस ब्रह्मका नाम है—'ब्रह्म'। इस 'ब्रह्म' शब्दमें अन्तिम अक्षर मकार है; अतः यह भी ब्रह्म शब्दस्वरूप ही है। इसलिये मकारके द्वारा परम ब्रह्मका अनुसंधान (चिन्तन) करे।

जब कोई किसीसे पूछता है कि 'क्या यह बात ऐसी ही है ?' तब वह मनुष्य, यदि उसको पूछे हुए विषयमें संशय नहीं रहता, तो 'उ' (हाँ, ऐसी ही है) इस प्रकार दृढ़तापूर्वक उत्तर देता है। अतः 'उ' अवधारणार्थक (दृढ़ निश्चयका सूचक) है। इसलिये अ, उ, म्—इन तीन मात्राओंमेंसे अकारके द्वारा इस आत्माका अनुसन्धान (ग्रहण) करके मकारस्वरूप ब्रह्मके साथ उसकी एकता करे और उकारके द्वारा इस एकताके विषयमें निस्संदेह होकर अपना निश्चय प्रकट करे। अर्थात् अ (आत्मा) उ (निश्चय ही) म् (ब्रह्म है) इस प्रकार निश्चित रूपसे जान ले। जो इस प्रकार जानता है, वह शरीररहित, इन्द्रियरहित, प्राणरहित एवं अज्ञानरहित, केवल सच्चिदानन्दमय स्वप्रकाश आत्मा हो जाता है।

'निश्चय ही यह सब कुछ ब्रह्म है; क्योंकि वह अत्ता (कारणरूपसे सबका संहर्ता), उग्र (संहारशक्तिसे विशिष्ट), वीर (पराभवको सहन न करनेवाला), महान्, विष्णु (व्यापक), ज्वलत् (सब ओरसे प्रकाशमान), सर्वतोमुख (सर्वव्यापी), नृसिंह (बन्धननाशक परमात्मा), भीषण (काल, वायु और सूर्य आदिको भी भयभीत करनेवाला), भद्र (परम कल्याणमय), मृत्युका भी मृत्यु, नमामि (अज्ञानशून्य) और 'अहम्' ('अहम्' इस नामका परम आश्रय) है।

निश्चय ही यह ब्रह्म सतत—देश, काल और वस्तुकी सीमासे रहित है; क्योंकि वह उग्र, वीर, महत्, विष्णु, ज्वलत्, सर्वतोमुख, नृसिंह, भीषण, भद्र, मृत्युमृत्यु, नमामि

तथा अहम् है ।* इसलिये प्रणवस्थ अकारके द्वारा परम ब्रह्मका अनुसन्धान (चिन्तन) करके मकारके द्वारा मन आदिके रक्षक तथा मन आदिके साक्षी आत्माका अन्वेषण (चिन्तन) करे । वह साक्षी आत्मा जब सुषुप्ति-अवस्थामें इस कार्य-कारणमय सम्पूर्ण जगत्‌की उपेक्षा—इसके प्रति अहंता और ममताके भावका त्याग कर देता है, तब यह सब इस ब्रह्मस्वरूप आत्मामें प्रवेश कर जाता—लीन हो जाता है; इससे पृथक् जगत्‌की सत्ता नहीं रहती । और जब यह जागता है, तब यह सब जगत् फिर इसीसे प्रकट हो जाता है । यह आत्मा अपनेसे ही प्रकट हुए इस सम्पूर्ण प्रपञ्चको कुछ काल-तक अपनेमें ही स्थापित करके रखता है । फिर अपनेमें ही इसका संहार करके इसको सब ओर व्याप्त कर लेता है । तत्पश्चात् इसे चिन्मय प्रकाशस्वरूपमें परिणत करके अपनेमें ही लीन कर लेता है । इस प्रकार इन समस्त पदार्थोंको ही यह आत्मस्वरूपता प्रदान करता है । (यह सब करनेकी इसमें पूर्ण शक्ति है; क्योंकि) यह अति-उग्र, अतिवीर, अति-महान्, अतिविष्णु (अतिशय व्यापक), अतिज्वलन् (अत्यन्त प्रकाशमय), अतिसर्वतोमुख, अतिनृसिंह, अति-भीषण, अतिभद्र, अतिमृत्युमृत्यु, अतिनमामि (अज्ञानसे अत्यन्त दूर) और अति-अहम् ('अहम्' पदका अन्तिम लक्ष्य) होकर सदा अपनी महिमामें ही स्थित रहता है । इसलिये इस आत्माको अकारके अर्थभूत परब्रह्मके साथ एकीभूत करे और उकारके द्वारा इस एकताके प्रति संदेह-रहित हो जाय । (फिर उस ब्रह्मका मकारके अर्थभूत आत्माके साथ भी एकताका अनुभव और चिन्तन करे ।) जो इस प्रकार जानता है, वह शरीररहित, इन्द्रियरहित, प्राणरहित तथा अज्ञानरहित केवल सच्चिदानन्दमय स्वयंप्रकाश परमात्म-स्वरूप हो जाता है । इस विषयमें यह श्लोक है—

शङ्कं शङ्कार्धमाकृष्य शङ्केणानेन योजयेत् ।
शङ्कमेनं परे शङ्के तमनेनापि योजयेत् ॥

(इस श्लोकमें इस खण्डके भीतर कही हुई सभी बातें सारूपसे आ गयी हैं ।)

शङ्कम्=प्रणवकी प्रथममात्रा अकारके अर्थभूत आत्माको; **शङ्कार्धम् आकृष्य**=द्वितीय मात्रा उकारके पूर्वार्ध—ब्रह्मके प्रति आकृष्ट करके अर्थात् आत्मा और ब्रह्मकी एकताका अनुभव करके; **अनेन शङ्केन योजयेत्**=फिर मकारके अर्थभूत इस आत्माके साथ उकारके उत्तरार्धस्वरूप ब्रह्मको भी संयुक्त करे, अर्थात् ब्रह्मकी आत्माके साथ एकताका चिन्तन करे; **एनम् शङ्कम्**= 'अहं' शब्दके आदिभूत प्रणवस्थ अकारके अर्थरूप आत्माको; **परे शङ्के**=ब्रह्मशब्दके अन्तिम अक्षर मकारसे अभिन्न जो प्रणवस्थ मकार है, उसके अर्थभूत ब्रह्मके साथ (उकारद्वारा एकीभूत करे); **तम्**=उस अन्तिममात्रारूप परमात्माको, जो प्रणवके अकारद्वारा प्रतिपाद्य है; **अनेन अपि योजयेत्**=इस मन आदिके रक्षक एवं साक्षी प्रणवस्थ मकारके अर्थभूत आत्माके साथ संयुक्त करे, अर्थात् परमात्मा और आत्माकी एकताका अनुभव एवं चिन्तन करे ।

अष्टम खण्ड

भयरहित ब्रह्मरूप हो जानेकी विधि

पिछले खण्डोंमें प्रणवकी विभक्त (पृथक्-पृथक् की हुई) मात्राओंद्वारा आत्मा एवं परमात्माका प्रतिपादन किया गया । अब तुरीयस्वरूप अविभक्त प्रणवके द्वारा 'ओत', 'अनुज्ञातृ', 'अनुज्ञा' और 'अविकल्प' रूपसे आत्मतत्त्वके बोधका प्रकार बतलाया जाता है । यह प्रसिद्ध है कि यह ब्रह्मस्वरूप† आत्मा सर्वत्र ओत और प्रोत है (सामान्यतः सत्‌रूपसे सबमें 'ओत' और चिदानन्दस्वरूपसे सबमें 'प्रोत' है । ओत-प्रोतका अर्थ है—पूर्णतः व्यापक) । इस ब्रह्ममय आत्मामें सम्पूर्ण जगत् है; क्योंकि यह सबका आत्मा है । इसीलिये यह सर्वस्वरूप है । (अतएव व्याप्य-व्यापकभाव भी नहीं बन सकता । जब कोई व्याप्य हो, तभी उसमें व्यापक रह सकता है । जब सब कुछ आत्मा ही है, तब व्याप्य कहाँसे आया । इसीलिये श्रुति कहती है—) वास्तवमें आत्मा ओत (व्यापक) नहीं है । निश्चय ही यह आत्मा अद्वितीय है । (अद्वितीय होनेके कारण ही इसे 'ओत' अर्थात् व्यापक भी कहा गया है ।) आत्मा एकमात्र ही है । इसीलिये इसे 'अद्वय' कहा गया है । (अद्वितीयता भी व्यवहारमात्र ही है और समस्त व्यवहार कल्पित हैं; किंतु आत्मा इन कल्पनाओंसे रहित है । अतः) यह अविकल्प है—निर्विशेष है । कोई भी वस्तु, जो आत्मासे भिन्न है, सत् नहीं है । अतएव यह आत्मा 'ओत' अर्थात्

* यहाँ भी उग्र आदि पदोंका भाव वैसा ही है, जैसा ऊपर बताया गया है ।

† सिंहका अर्थ है—ब्रह्मस्वरूप । 'सिं' अर्थात् बन्धनकारक अज्ञानको 'ह' अर्थात् नष्ट करनेवाला ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ।

व्यापकके तुल्य है—व्याप्यकी सत्ता न होनेके कारण यह आत्मा वस्तुतः व्यापक न होकर व्यापकके सदृश है। यह आत्मा 'सद्घनस्वरूप' है (घट-सत्ता पट-सत्ता आदि रूपसे जो सत्के भेद प्रतीत होते हैं, वे वास्तविक नहीं, औपाधिक हैं। घट-पटादि वस्तुओंमें भेद है, सत्तामें नहीं)। इसी प्रकार यह आत्मा चिद्घन और आनन्दघन भी है। (सत्-चित् और आनन्द—इन तीन नामोंसे प्रतिपादित होकर भी) यह वास्तवमें एकरस है। यह किसी भी एक शब्द या एक नामके द्वारा व्यवहारमें नहीं लाया जा सकता; क्योंकि आत्मा एकमात्र—अद्वितीय है। (इसके समान दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, जिससे इसकी तुलना हो सके। अतएव यह वाणीका विषय नहीं है।)

(इस प्रकार आत्माको सर्वत्र ओत-प्रोत बतलाकर अब ॐकारकी सर्वव्यापकता बतलाते हैं—) यह ओङ्कार ओत और प्रोत (व्यापक) है; क्योंकि जब कोई किसी मनुष्यसे पूछता है कि 'क्या यह बात ऐसी ही है ? क्या यह बात ऐसी नहीं है ?' तो उसके उत्तरमें वह ओम् (हाँ) का ही उच्चारण करता है। (अतः सबका वाचक होनेके कारण ओङ्कार सर्वत्र व्यापक है।) निश्चय ही वाणीमात्र ॐकार है। यह सब कुछ वाणीमात्र ही है। इस जगत्में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो बिना शब्दके—बिना नामके हो *। निश्चय ही यह ॐकार चिन्मय है (चित्का अर्थ है चेतना—बोध; ॐकार परमात्माका बोधक है, अतएव चिन्मय है)। यह सब जो कुछ प्रतीत होता है, चिन्मय ही है। इसलिये परमात्माके लक्षणभूत चिन्मयत्वसे युक्त होनेके कारण यह ॐकार परमेश्वर ही है। इस प्रकार परमेश्वर और ॐकार दोनोंकी चिन्मयता एक ही है। यह ॐकार और परमेश्वररूप एकमात्र ब्रह्म अमृतस्वरूप और सर्वथा भयरहित है। निश्चय ही ब्रह्म अभय—भयसे अत्यन्त दूर है। जो इस प्रकार जानता है, वह भी अवश्य ही भयरहित ब्रह्म हो जाता है। यह इस प्रसङ्गका गूढ़ रहस्य है।

(इस प्रकार तुरीयस्वरूप ॐकार और आत्माकी ओत-रूपता (सर्वव्यापकता) तथा एकता बतलायी गयी। अब उन दोनोंकी अनुज्ञातृरूपता बतलायी जाती है—) निश्चय ही यह आत्मा अनुज्ञाता है; क्योंकि यही इस सम्पूर्ण जगत्को अपना स्वरूप प्रदान करता है। यह सब कुछ जडरूप होनेके कारण स्वतः आत्मवान् नहीं हो सकता—आत्मा ही इसे अपनेमें लीन करके आत्मस्वरूप बना सकता है। वास्तवमें तो यह आत्मा न ओत है न अनुज्ञाता ही; क्योंकि यह असङ्ग और अविकारी है तथा इससे भिन्न किसी दूसरी वस्तुकी सत्ता भी नहीं है। इसी तरह यह ॐकार भी अनुज्ञाता है; क्योंकि जब कोई किसीसे कुछ माँगते हुए कहता है कि 'क्या मैं आपकी अमुक वस्तुका उपयोग कर लूँ ?' तो वह 'ओम्' (हाँ) यों कहकर ही अपनी अनुमति प्रदान करता है। निश्चय ही वाणीमात्र ओङ्कार है। वाणी ही इन सबके विषय-में अनुमति प्रदान करती है। निश्चय ही यह ओङ्कार चिन्मय है; क्योंकि यह चित्-शक्ति इस सम्पूर्ण अनात्म जगत्को आत्मसात् (अपनेमें लीन) कर लेती है। इसलिये ॐकार साक्षात् परमेश्वर ही है। वे दोनों एकमात्र ब्रह्म ही हैं। यह अमृतस्वरूप है, यह ब्रह्म सर्वथा भयरहित है। यह प्रसिद्ध है कि ब्रह्म सर्वथा भयशून्य है। जो इस प्रकार जानता है, वह अवश्य ही ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। इस प्रकार इस प्रकरणका गूढ़ रहस्य है।

निश्चय ही यह आत्मा अनुज्ञैकरस (एकरस बोधस्वरूप) है; क्योंकि यह प्रज्ञानघन ही है। इस सम्पूर्ण कार्य-कारणमय जगत्के पूर्वसे ही यह भलीभाँति प्रकाशित है। अतएव घनीभूत चैतन्यस्वरूप ही है। वास्तवमें तो यह आत्मा न ओत है और न अनुज्ञाता ही; क्योंकि यह सब जगह आत्माकी ही अपेक्षा रखनेवाला है। स्वतः तो अनात्म होनेके कारण असत् ही है (इसलिये कौन किसमें व्यापक हो और कौन किसका अनुज्ञाता हो ?)। निश्चय ही यह ॐकार भी अनुज्ञैकरस है; क्योंकि 'ओम्' इस प्रकार कहकर ही मनुष्य किसी वस्तु-के लिये अपनी अनुमति प्रकट करता है। अवश्य ही वाणी-मात्र ॐकार है। क्योंकि वाणी ही अनुमति देती है। निश्चय ही यह ॐकार चिन्मय है, क्योंकि चित् ही अनुज्ञा है। अतः चिन्मय होनेके कारण ॐकार साक्षात् परमेश्वर ही है। इस प्रकार वे दोनों एकमात्र ब्रह्म ही हैं। यह अमृतस्वरूप है, यह ब्रह्म सदा भयशून्य है। ऐसी प्रसिद्धि है कि ब्रह्म सर्वथा भयसे रहित ही है। जो इस प्रकार जानता है, वह भयरहित ब्रह्म ही हो जाता है। ऐसा इस प्रकरणका गूढ़ रहस्य है।

अवश्य ही यह आत्मा अविकल्प (निर्विशेष) है; क्योंकि इसके सिवा दूसरी कोई वस्तु नहीं है। निश्चय ही यह ॐकार भी अविकल्प है; क्योंकि वह भी अद्वितीय ही है। अवश्य ही यह ॐकार चिन्मय है। इसलिये परमेश्वरस्वरूप ही है। इस प्रकार वे दोनों एकमात्र ब्रह्म ही हैं; क्योंकि वह

* वाणीके चार भेद हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इनमेंसे किसी-न-किसीके द्वारा ही वस्तुओंकी प्रतीति होती है।

ब्रह्म विकल्पसे शून्य है। वास्तवमें परमात्मा अविकल्प भी नहीं है; क्योंकि उसमें कोई भेद नहीं है (भेदकी सत्ता होनेपर ही सविकल्प और अविकल्प आदि भेद हो सकते हैं)। इस परमात्मामें कोई भी भेद उपलब्ध नहीं होता। इसमें जो भेद-सा मानता है, वह सैकड़ों और सहस्रों प्रकारसे भेदको प्राप्त होकर—सहस्रों भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेकर मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता रहता है। इसलिये यह अद्वितीय, स्वयंप्रकाश और महानन्दमय तत्त्व आत्मा ही है। यह ब्रह्म अमृतस्वरूप है, यह ब्रह्म सर्वथा भयसे रहित है। ऐसी प्रसिद्धि है कि ब्रह्म भयसे शून्य ही है। जो इस प्रकार जानता है, वह भयशून्य ब्रह्म ही हो जाता है। ऐसा इस प्रकरणका गूढ़ रहस्य है।

नवम खण्ड

प्रणवके द्वारा आत्माको जानकर साक्षिरूपसे स्थित होनेकी विधि

निश्चय ही उन प्रसिद्ध देवताओंने प्रजापतिसे कहा—भगवन्! हमें इस ॐकारके लक्ष्यार्थभूत आत्माका ही उपदेश करें। 'तथास्तु' कहकर प्रजापति बोले—'उपद्रष्टा (समीप रहकर देखनेवाला साक्षी) और अनुमन्ता (अपनेमें ही अध्यस्त प्राण और बुद्धि आदिको संनिधानमात्रसे केवल अनुमति देनेवाला) यह आत्मा 'सिंह' अर्थात् बन्धननाशक परमात्मा ही है, चित्स्वरूप ही है, निर्विकार है और सर्वत्र साक्षिमात्र है। अतएव द्वैतकी सिद्धि नहीं होती; केवल आत्मा ही सिद्ध होता है—एकमात्र आत्माकी ही सत्ता प्रमाणित होती एवं अनुभवमें आती है आत्मा अद्वितीय है—उससे भिन्न किसी दूसरी वस्तुकी सत्ता नहीं है। मायासे ही अन्य वस्तुकी प्रतीति-सी होती है। निश्चय ही वह उपद्रष्टा आदिके रूपमें बतलाया हुआ यह आत्मा साक्षात् परमात्मा ही है। यह माया ही सम्पूर्ण द्वैत-प्रपञ्चके रूपमें भासित होती है। ठीक ऐसी ही बात है। वही यह माया प्राज्ञमें अविद्यारूपसे स्थित होकर उसके स्वरूपपर आवरण डालती है। वही सम्पूर्ण जगत्के रूपमें भासती है। आत्मा तो विशुद्ध परमात्मा ही है। यद्यपि यह स्वप्रकाश (अपने ही प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाला) एवं सर्वज्ञ है, तथापि यहाँ सुषुप्तावस्थामें जानते हुए भी अपने और दूसरेको पृथक्-पृथक् नहीं जानता; क्योंकि उस समय वह अविषयरूप है, सत्तामात्रसे भिन्न किसी भी विषयका उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार वह अज्ञानरूप भी है अर्थात् भेद-ज्ञानको ग्रहण करनेवाले अन्तःकरणके साथ उसका सम्बन्ध नहीं है। यह बात अनुभवसिद्ध है तथा यह तमोमयी (अज्ञानस्वरूपा) माया भी अनुभवसे ही जानी जाती है। इसलिये जड-मोहात्मक, प्रवाहरूपसे अनन्त और अत्यन्त तुच्छ यह दृश्यमान जगत् ही उसका स्वरूप है। यह माया ही इस पुरुषके समक्ष 'इदम्' रूपसे प्रतीत होनेवाले इस दृश्य-प्रपञ्चको अभिव्यक्त करनेवाली है। यद्यपि यह नित्य निवृत्त है, ढूँढ़नेपर कहीं भी इसकी सत्ता उपलब्ध नहीं होती, तथापि अविवेकी पुरुषोंको यह आत्माकी भाँति अपना स्वरूप ही दिखायी देती है। यह इस चेतन आत्माकी सत्ता और असत्ताका भी दर्शन कराती है (मायाद्वारा प्रकट हुए जगत्का कोई चेतन आत्मा साक्षी अवश्य होना चाहिये—इस युक्तिसे आत्माकी सत्ताका अनुभव होता है; तथा यह माया स्वयं ही आवरण बनकर आत्माके स्वरूपको छिपा देती है, इसलिये उसकी असत्ता-सी प्रतीत होती है)। सिद्धता और असिद्धता तथा स्वतन्त्रता और अस्वतन्त्रताके कारण भी यह आत्माकी सत्ता और असत्ताका भान कराती है।* वही यह प्रसिद्ध माया साधारण वट-बीजकी भाँति एक होकर भी अनेक वटवृक्षोंके समान असंख्य जीवोंके उत्पादनकी शक्तिका केन्द्र है। यह कैसे? सो बतलाते हैं। जैसे एक साधारण वट-बीज अपनेसे अभिन्न अनेकों वट-वृक्षोंको बीजसहित उत्पन्न करके उन सबमें अपनी पूरी शक्तिके साथ मौजूद रहता है, उसी प्रकार यह माया अपनेसे अभिन्न एवं परिपूर्ण क्षेत्रों (शरीरों)को दिखाकर आभासद्वारा चेतन आत्माको जीव और ईश्वरके भेदमें प्रतिष्ठित कर देती है। यह स्वयं ही माया और अविद्या बन जाती है। यह प्रसिद्ध माया अति विचित्र, अत्यन्त दृढ़, अनेक अङ्कुरोंवाली, स्वयं तीन गुणोंमें विभक्त होकर अङ्कुरों-

* अपनी महिमामें स्थित निर्विकल्प चैतन्यस्वरूप आत्मा, अविद्यासे सम्बन्ध होनेपर, उसके साधकरूपसे प्रकट होता है। अतः उसके स्वरूपकी सिद्धि होनेसे उसकी सत्ता प्रमाणित होती है। तथा प्रकृतिस्थ होनेपर आसक्तिवश जब वह जडप्रधान हो जाता है, तब उसके स्वरूपकी सिद्धि न होनेसे उसकी सत्ता उपलब्ध नहीं होती। इसी प्रकार वह मायाका भी शासक और अधिष्ठाता होनेके कारण स्वतन्त्र है और अविद्यावश जब अपने स्वरूपको भूल जाता है, तब मायापरवश होनेके कारण अस्वतन्त्र हो जाता है; स्वतन्त्रता उसकी सत्ताका और अस्वतन्त्रता उसकी असत्ताका भान कराती है।

में भी त्रिगुणमय स्वरूपसे स्थित रहनेवाली, सर्वत्र ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूपमें उपस्थित और आत्म-चैतन्यसे उद्दीप्त रहनेवाली है। इसलिये सर्वत्र जो गुण-भेदसे त्रिविध स्वरूपकी उपलब्धि होती है, वह आत्माका ही स्वरूप है। कारणरूपमें भी वही स्थित है। मायाके कारण ही जीव और ईश्वरका भेद है। शरीरमें अभिमान रखनेवाला चेतन जीव कहलाता है और उसपर नियन्त्रण रखनेवाला ईश्वर कहा गया है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड अर्थात् समष्टि-शरीरमें अभिमान रखनेवाले जीवका नाम ही 'हिरण्यगर्भ' है। गुण-भेदसे उसके भी तीन रूप हैं। ईश्वरकी भाँति उसमें भी आत्म-चैतन्यका बोध स्वतः प्रकट होता है। यह हिरण्यगर्भ सर्वव्यापी ईश्वर है, क्रिया एवं ज्ञानस्वरूप है। सम्पूर्ण क्षेत्र-समुदाय सर्वमय है (क्योंकि वह सर्वात्मक मायासे उत्पन्न है)। सब अवस्थाओंमें (छोटे-बड़े सभी रूपोंमें) प्रकट हुए सम्पूर्ण जीव भी सर्वमय हैं। तथापि अल्प शरीरमें अभिमान रखनेके कारण वे अल्प कहलाते हैं। वही यह परमात्मा सम्पूर्ण भूतों, इन्द्रियों, विराट् ब्रह्माण्ड, इन्द्रियाधिष्ठाता देवों तथा अन्नमय आदि पाँच कोशोंकी सृष्टि करके उनमें प्रवेश करता है और प्रवेश करके मूढ़ न होते हुए भी मूढ़की भाँति व्यवहार करता रहता है। यह सब कुछ मायासे ही होता है। (अतः मायाका कार्य होनेसे यह जगत् और तत्सम्बन्धी व्यवहार सब-के-सब मिथ्या ही हैं।) इसलिये यह आत्मा एकमात्र—अद्वितीय ही है। यह सन्मात्रस्वरूप, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, मुक्त, निरञ्जन (मायातीत), विभु (सर्वव्यापक), अद्वैत, आनन्दमय, पर (सर्वोत्कृष्ट) तथा प्रत्यगेकरस (आत्मामें ही एकमात्र रसकी उपलब्धि करनेवाला) है। इन प्रत्यक्ष आदि तथा सत्, चित्, आनन्दकी उपलब्धि आदि प्रमाणोंद्वारा इसका ज्ञान होता है। यह सब कुछ सत्तामात्र ही है। इस कार्य-कारणमय जगत्के पूर्वसे केवल सत्स्वरूप ब्रह्म ही स्वतःसिद्ध है (श्रुति भी कहती है—'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्')। इस ब्रह्ममें उससे भिन्न दूसरी किसी वस्तुका अनुभव नहीं होता। ब्रह्ममें अविद्या भी नहीं है; क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप, स्वयम्प्रकाश, सबका साक्षी, निर्विकार और अद्वितीय है। यहाँ इस जगत्में भी देखो—जो कुछ भी है, वह सन्मात्र है। जो सत्से भिन्न है, वह असत् है। इस प्रकार सम्पूर्ण कल्पनाओंके साक्षीरूपसे सत्यस्वरूप ब्रह्मकी ही पहलेसे उपलब्धि होती है। वास्तवमें कार्यकी सत्ता न होनेसे यह परमात्मा कारणरूप भी नहीं है। यह सत्-स्वरूप ब्रह्म अपने आत्मामें ही स्थित, आनन्दमय, चिद्घनस्वरूप एवं स्वतःसिद्ध है। निश्चय ही किन्हीं अन्य प्रमाणोंसे इसकी सिद्धि नहीं होती। वही विष्णु, वही शिव और वही ब्रह्मा है। अन्य सब रूपोंमें भी वही उपलब्ध होता है। वह सर्वग (सर्वत्र व्यापक) एवं सर्वस्वरूप है। अतएव नित्य-शुद्ध है। उसके स्वरूपका कभी बाध नहीं होता। वह बुद्ध (ज्ञानस्वरूप), सुखरूप आत्मा है। यह सम्पूर्ण जगत् निरात्मक (आत्मासे शून्य) नहीं है, तथा निरपेक्ष आत्मा भी नहीं है; क्योंकि स्वतन्त्र आत्मा तो इस जगत्की उत्पत्तिके पहलेसे ही स्वतःसिद्ध है। यह सब जगत् कदापि सत्य नहीं है। आत्मा अपनी ही महिमामें स्थित, सर्वथा निरपेक्ष, एकमात्र साक्षी और स्वयम्प्रकाश है।'

देवताओंने पूछा—'वह नित्य, शुद्ध-बुद्ध एवं आत्मभूत तत्त्व क्या है?' प्रजापतिने कहा—'वही आत्मा है। उस ब्रह्मके आत्मा होनेमें किसी प्रकारका संशय नहीं करना चाहिये। यह आत्मस्वरूप ब्रह्म ही इस सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि करता है। यह द्रष्टाका भी द्रष्टा, निर्विकार, साक्षी, नित्य-सिद्ध और अविद्यारहित है; क्योंकि यह बाहर और भीतर है तथा कार्य और कारणका भी निरीक्षण करनेवाला है। यह पहलेसे ही भलीभाँति प्रकाशित है तथा अज्ञानरूप अन्धकारसे सर्वथा परे है।' इतना उपदेश देकर प्रजापतिने पूछा—देवताओ! बताओ तो सही, मेरे द्वारा उपदेश दिये हुए आत्माके स्वरूपका तुम्हें साक्षात्कार हुआ कि नहीं? देवता बोले—हमने आत्माके स्वरूपका साक्षात्कार तो किया; किंतु वह अव्यवहार्य (व्यवहारमें न आनेयोग्य) तथा अल्प है। यह सुनकर प्रजापतिने कहा—'नहीं, आत्मा अल्प नहीं है। वह सबका साक्षी है, निर्विशेष है। उससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। वह सुख और दुःख दोनोंसे रहित है। अद्वितीय परमात्मा है। सर्वज्ञ है, अनन्त है, अभिन्न है तथा द्वैतरहित है। मायाके कारण ही उसकी सदा सम्यक् प्रकारसे उपलब्धि नहीं होती। परंतु वास्तवमें वह प्रकाशित न होनेवाला नहीं है। कारण कि वह स्वयं-प्रकाश है। माया और अज्ञान भी आत्मामें ही कल्पित होनेके कारण आत्मासे भिन्न नहीं हैं। तुम्हीं सब लोग आत्मा हो।' इतना कहकर पुनः प्रश्न किया—'क्या अब भी तुम्हें आत्म-तत्त्वका दर्शन हुआ? यदि हुआ तो अद्वैतरूपसे या द्वैतरूपसे?' देवताओंने कहा—हमें तो द्वैतका ही दर्शन होता है। प्रजापतिने कहा—'नहीं, तुम्हें द्वैतरूपमें आत्माका दर्शन नहीं होता; क्योंकि आत्मा तो तुम्हीं हो। वह तुमसे

भिन्न नहीं है ।' तब देवताओंने कहा—भगवन् ! अभी पुनः उपदेश कीजिये । प्रजापतिने कहा—'तुम स्वयं ही आत्मा हो । तुमसे पृथक् द्वैतका कहीं दर्शन नहीं होता । यदि तुम्हें द्वैत दिखायी देता है तो तुम आत्मज्ञ नहीं हो; क्योंकि यह आत्मा असङ्ग है । (जो असङ्ग है, उसका द्वैतके साथ सम्बन्ध न होनेके कारण उसे द्वैतका दर्शन भी नहीं हो सकता ।) तुम अपनेको—आत्माको द्वैतदर्शी मानते हो, इसलिये तुम्हें आत्माका ज्ञान नहीं है ।'

अतः तुम्हीं लोग स्वप्रकाश आत्मा हो—तुम स्वयं ही द्वैतरूपमें भासित होते हो, वास्तवमें अद्वैत आत्मा ही हो । यह जो कुछ दिखायी देता है, सब सत्स्वरूप आत्मा ही है; क्योंकि सब कुछ संवित् (ज्ञान)-स्वरूप है । इसलिये तुम्हीं सत् एवं संविद्रूप आत्मा हो (किंतु इस समय ससङ्ग हो रहे हो—मिथ्या द्वैतके प्रति तुम्हारे मनमें आसक्ति हो रही है) । यह सुनकर वे प्रसिद्ध देवता बोले—'नहीं, ऐसी बात नहीं है । अहो ! हम तो असङ्ग ही हैं—हमारी कहीं भी आसक्ति नहीं है ।' तब उन सुप्रसिद्ध प्रजापतिने कहा—'यदि तुम असङ्ग हो तो तुम्हें द्वैत कैसे दिखायी देता है ?' देवता बोले—'हम नहीं जानते कैसे हमें द्वैत दिखायी देता है ।' 'तब तो तुम स्वयं ही द्वैतरूपमें प्रकाशित हो रहे हो । (क्योंकि असङ्ग होनेके कारण आत्माको अपनेसे भिन्न किसी द्वैतका दर्शन नहीं हो सकता । जो कुछ दिखायी देता है, वह आत्मामें ही अध्यस्त है, अतः उससे भिन्न नहीं है)' —यों निश्चयपूर्वक प्रजापतिने कहा । (यदि आपने हमें ससङ्ग, सत्-संविद्रूप बताया है तो ससङ्ग, सत् और संवित् असङ्ग आत्माके लक्षण कैसे हो सकते हैं ? ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—)'तुम ससङ्ग, सत्संविद्रूप नहीं हो; (तब आपने हमें सत् और संवित्-स्वरूप बताया क्यों ?' देवताओंके इस प्रश्नपर प्रजापति बोले—'हमने सत् और संवित्के लक्ष्यभूत आत्मस्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिये ही तुम्हें सत् और संवित् बताया है ।) सत् और संवित्—ये दोनों शब्द उसी आत्मतत्त्वको लक्ष्य कराते हैं, जो सृष्टिके पहलेसे ही भलीभाँति प्रकाशित है । वह अव्यवहार्य (व्यवहारमें न ला सकने योग्य) होता हुआ ही अद्वितीय है । देवताओ ! क्या अब भी तुमने आत्माको समझा ?' देवता बोले—'हाँ, भलीभाँति समझ लिया; आत्मा विदित और अविदित—दोनोंसे परे है । (मन-बुद्धिका विषय न होनेके कारण तो वह विदितसे परे है और स्वप्रकाश, चिन्मय होनेके कारण अविदितसे परे है ।)' तब उन सुप्रसिद्ध प्रजापतिने कहा—वही यह अद्वय ब्रह्म है । वह बृहत् (महान्से भी महान्) होनेके कारण नित्य है; शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वरूप है, सत्य, सूक्ष्म, सब ओरसे पूर्ण, द्वैतरहित, सत्स्वरूप, आनन्दरूप तथा चिन्मात्र आत्मा ही है । किसी भी दूसरेके द्वारा वह व्यवहार्य (वाच्य) नहीं है ।

"यद्यपि आत्माको दृष्टि आदिका विषय न होनेके कारण तुम देख नहीं पाते, तथापि इस ब्रह्मको, जो प्रणवका वाच्यार्थ होनेके कारण प्रणवरूप ही है, अपने आत्मरूपमें देखो ! वही यह सत्य है । आत्मा ब्रह्म ही है और ब्रह्म आत्मा ही है । निश्चय ही इस विषयमें संशय नहीं करना चाहिये ! हाँ, अवश्य ही यह सत्य है । इस सत्यको विवेकशील विद्वान् ही देख पाते हैं । यह ब्रह्म या आत्मतत्त्व न शब्द है न स्पर्श है, न रूप है न रस है, और न गन्ध ही है । न वाणीद्वारा बोलनेयोग्य है और न हाथसे ग्रहण करनेयोग्य ! वह पैरोंसे पहुँचनेयोग्य स्थान भी नहीं है । गुदाद्वारा त्यागने अथवा उपस्थ-इन्द्रियद्वारा विषयानन्दके रूपमें अनुभव करनेयोग्य भी नहीं है । मनसे मनन करनेयोग्य और बुद्धिसे जाननेयोग्य भी नहीं है । अहङ्कारका और चित्तका भी विषय नहीं है । प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान—इन पाँचों प्राणोंका भी विषय नहीं है । वह न इन्द्रियरूप है न विषयरूप । उसके न करण है न लक्षण है । वह असङ्ग, निर्गुण, निर्विकार, अनिर्देश्य, सत्त्व, रज एवं तमोगुणसे रहित तथा मायासे शून्य है । वह उपनिषदोंके द्वारा ही लक्षणासे जाननेयोग्य है । भलीभाँति प्रकाशित है । सदा एकरस प्रकाशमय है । इस सम्पूर्ण कार्य-कारणमय जगत्के पहलेसे ही भलीभाँति प्रकाशित है । उस अद्वय तत्त्वको 'मैं वह हूँ और वह मेरा स्वरूप है' इस प्रकार देखो ।" यों कहकर वे प्रसिद्ध प्रजापति बोले—देवताओ ! क्या इस आत्माको तुमने देखा अथवा नहीं देखा ? देवताओंने कहा—'देखा, वह विदित और अविदितसे परे है । अहो ! यह माया कहाँ चली गयी ? और कैसे इस स्वप्रकाश आत्मामें पहले रह सकी ?' प्रजापतिने कहा—उससे क्या ? (क्या इस बातको न जाननेसे तुममें कोई न्यूनता आ जाती है ?) नहीं, कुछ भी नहीं—देवताओंने कहा । प्रजापति बोले—'इस मायाके लिये आश्चर्य करनेकी आवश्यकता नहीं, तुम स्वयं ही आश्चर्यरूप हो । (क्योंकि तुम्हारे ही आश्रित रहकर माया विचित्र कार्य करनेकी शक्ति पाती है ।) परंतु वास्तवमें तुम भी आश्चर्य-

रूप नहीं हो (क्योंकि स्वरूपभूत सत्तामात्रसे ही तुम माया-की आश्चर्यरूपतामें हेतु बनते हो, विकारको प्राप्त होकर नहीं; अतः सर्वदा एकरूप होनेके कारण तुम्हें आश्चर्यरूप भी नहीं कहा जा सकता)'—प्रजापतिने कहा । "जो कुछ बताया गया, इसे 'हाँ' कहकर 'अनुज्ञा' रूपसे स्वीकार करो और इस आत्माके विषयमें बताओ ।" आत्मा ज्ञात भी है और अज्ञात भी, देवताओंने उत्तर दिया और कहा—वह ऐसा भी (ज्ञात-अज्ञात भी) नहीं है ।

'फिर भी उसके आत्मसिद्ध स्वरूपको तो बताओ ही ।' प्रजापतिने जब यों कहा, तब देवता बोले—'भगवन्! हम केवल देखते ही हैं, फिर भी नहीं देखते; हम उसे कहकर बता नहीं सकते । भगवन्! आपको नमस्कार है, हमपर प्रसन्न होइये ।' देवताओंका यह कथन सुनकर प्रजापति बोले—डरो मत; पूछो, क्या जानना चाहते हो ? देवता बोले—भगवन् ! यह अनुज्ञा क्या है ? 'यह आत्मा ही अनुज्ञा है,' प्रजापतिने कहा । तब देवता बोले—भगवन् ! आपको नमस्कार है; हम आपके ही हैं ।

इस प्रकार उन प्रसिद्ध प्रजापतिने देवताओंको उपदेश दिया, उपदेश दिया । इस विषयमें यह श्लोक है—

ओतमोतेन जानीयादनुज्ञातारमान्तरम् ।
अनुज्ञामद्वयं लब्ध्वा उपद्रष्टारमाव्रजेत् ।
उपद्रष्टारमाव्रजेत् ॥

'ओत (व्यापक) आत्माको ओत (प्रणव) के द्वारा जाने । फिर अनुज्ञातारूप प्रणवके द्वारा अनुज्ञाता आत्माको जाने । तत्पश्चात् अनुज्ञा-प्रणवके द्वारा अनुज्ञारूप आत्माको जाने तथा अविकल्परूप प्रणवद्वारा अविकल्परूप आत्माको जानकर उपद्रष्टा-भावको प्राप्त हो—साक्षीरूपसे स्थित हो जाय ।'

(इस श्लोकमें आठवें और नवें खण्डोंका संक्षेपसे सार आ गया है । अन्तिम वाक्यकी पुनरावृत्ति ग्रन्थ-समाप्ति सूचित करनेके लिये है ।)

॥ नवम खण्ड समाप्त ॥ ९ ॥

॥ अथर्ववेदीय श्रीनृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

सत्यकी जय है

सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥

(मुण्डक० ३ । १ । ६)

सत्यकी ही जय होती है, असत्यकी नहीं; वह देवयानमार्ग सत्यसे ही व्याप्त है, जिससे पूर्णकाम ऋषिगण गमन करते हैं, जहाँ उस सत्यस्वरूप परमात्माका परमधाम है ।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सामवेदीय
महोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम अध्याय

सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन

अब यहाँसे महोपनिषद्का व्याख्यान किया जाता है। उस समय निश्चयपूर्वक एक नारायण थे; न ब्रह्मा थे न रुद्र; न जल था न अग्नि और न सोम थे; न ये द्युलोक और भूलोक थे; न नक्षत्र थे और न सूर्य थे; न चन्द्रमा ही थे। उन्होंने एकाकी रहना पसंद नहीं किया। उन परम पुरुषका अन्तःस्थ सङ्कल्परूपी ध्यान यज्ञस्तोम (महान् यज्ञ) कहलाया। उससे उत्पन्न हुए चौदह पुरुष और एक कन्या। दस इन्द्रिय, ग्यारहवाँ तेजस्वी मन, बारहवाँ अहङ्कार, तेरहवाँ प्राण तथा चौदहवाँ आत्मा—ये ही चौदह पुरुष हैं और पंद्रहवीं बुद्धि ही कन्या है। इनके अतिरिक्त पाँच सूक्ष्मभूतरूपी तन्मात्राएँ तथा पाँच महाभूत—इन पचीस तत्त्वोंका एक पुरुष (विराट् शरीर) बना। उसमें विराट् पुरुषने प्रवेश किया। इस पचीस तत्त्वोंवाले पुरुषसे प्रधान संवत्सर नहीं उत्पन्न होते। कालरूपी संवत्सरसे ही इस पुरुषके संवत्सर उत्पन्न हुए।

पश्चात् उन प्रसिद्ध नारायणने अन्य कामनासे मनमें ध्यान किया; उन अन्तःस्थ ध्यान करनेवालेके ललाटसे तीन नेत्रोंवाला, हाथमें त्रिशूल लिये हुए पुरुष उत्पन्न हुआ। उस श्रीसम्पन्न पुरुषके अङ्गमें यश, सत्य, ब्रह्मचर्य, तप, वैराग्य, स्वाधीन मन, ऐश्वर्य और प्रणवके साथ व्याहृतियाँ, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद तथा सारे छन्द समाश्रित थे। इसी हेतु वह महान् देवता 'ईशान' और 'महादेव' कहलाया।

पश्चात् पुनः नारायणने अन्य कामनासे मनमें ध्यान किया। उन अन्तःस्थ ध्यानीके ललाटसे स्वेद गिरा, वह पसीना फैलकर जल बन गया। उस जलसे हिरण्मय तेजके रूपमें अण्ड उत्पन्न हुआ, उससे चतुर्मुख ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई। उन्होंने ध्यान किया। पूर्व दिशाकी ओर मुख करके भूः व्याहृति, गायत्री छन्द, ऋग्वेद एवं अग्नि देवताका ध्यान किया। पश्चिमकी ओर मुख करके भुवः व्याहृति, त्रिष्टुप् छन्द, यजुर्वेद एवं वायु देवताका ध्यान किया। उत्तरकी ओर मुख करके स्वः व्याहृति, जगती छन्द, सामवेद एवं सूर्य देवताका ध्यान किया। दक्षिणकी ओर मुँह करके महः व्याहृति, अनुष्टुप् छन्द, अथर्ववेद, तथा सोम देवताका ध्यान किया।

सहस्रों सिरवाले देवताका, जिनके सहस्रों नेत्र हैं, जो सब प्रकारके कल्याणके हेतु हैं, जो सर्वतः व्याप्त हैं, परात्पर हैं, नित्य हैं, सर्वरूप हैं—उन हरि नारायणका ब्रह्माने ध्यान किया। ये परम पुरुष ही विश्वरूप हैं, इन पुरुषपर ही विश्वका जीवन अवलम्बित है; उन विश्वके स्वामी, विश्वरूप, विश्वेश्वरको—क्षीरसागरमें शयन करनेवाले देवताको ब्रह्माने ध्यानमें देखा।

पद्मकोशके समान, सम्यक्रूपसे कोशके आकारमें लम्बायमान अधोमुख जो हृदय है, जिससे निरन्तर सीत्कार-शब्द निकल रहा है, उसके मध्यमें एक महान् ज्वाला प्रज्वलित हो रही है, जो विश्वको प्रकाशित करनेवाली दीपशिखाके समान दसों दिशाओंमें प्रकाश वितरण करती है; उस ज्वालाके मध्यमें थोड़ी दूर ऊपर उठी हुई एक पतली वह्निशिखा व्यवस्थित है। उस शिखाके बीचमें परमात्माका निवास है; वे ही ब्रह्मा हैं, वे ही ईशान हैं, वे ही इन्द्र हैं, वे ही अक्षर परम स्वराट् हैं।

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

ॐ

द्वितीय अध्याय

शुकदेवजीको आत्माके सम्बन्धमें जनकका उपदेश; जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिका स्वरूप

शुक नामके एक महातेजस्वी मुनीश्वर थे, जो निरन्तर आत्मानन्दके आस्वादनमें तत्पर रहते थे। उन्होंने उत्पन्न होते ही सत्यकी, तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति की। इसलिये उन महामना शुकदेवजीने अपने विवेकसे स्वयं—बिना किसी उपदेशके चिरकालतक विचारकर आत्मस्वरूपका निश्चय किया ॥१-२॥

अनिर्वचनीय होनेके कारण, अगम्य होनेके कारण और मनरूपी षष्ठ इन्द्रियमें स्थित होनेके कारण यह आत्मा अणु-परिमाण है, चिन्मात्र है, आकाशसे भी अत्यन्त सूक्ष्म है। इस परम चिद्रूपी अणुके भीतर कोटि-कोटि ब्रह्माण्डरूपी रेणुकाएँ शक्ति-क्रमसे उत्पन्न और स्थित होकर विलीन होती रहती हैं। बाह्यशून्यताके कारण आत्मा आकाश-स्वरूप है और चिद्रूपताके कारण अनाकाशस्वरूप है; उसका निर्देश नहीं किया जा सकता, अतएव वह अवस्तुरूप है; उसकी सत्ता है, अतः वह वस्तुरूप है; प्रकाशात्मक होनेके कारण वह चेतन है और वेदनाका विषय न होनेके कारण वह शिलाके समान है; अपने अन्तःस्थ आत्माकाशमें वह चित्र-विचित्र—नाना प्रकारके जगत्का उन्मेष करता है। यह विश्व उसका आत्म-प्रकाशमात्र है, अतएव उससे पृथक् नहीं है। जगद्भेद भी आत्मा-में ही भासित हो रहा है, अतएव वह भेद भी आत्ममय ही है। वह सबसे सम्बद्ध है, इस दृष्टिसे उसकी सर्वत्र गति है; और उसमें गति न होनेके कारण वह कहीं जाता नहीं। उसका कोई आश्रय न होनेके कारण वह 'नास्ति' रूप है, तथा सत्स्वरूप होनेके कारण 'अस्ति'-रूप है। धनदाताकी परम गति है। जो ब्रह्म आनन्द और विज्ञानस्वरूप है, चित्तके द्वारा सारे सङ्कल्पोंका परित्याग ही जिसका ग्रहण है, जाग्रत् अवस्थाकी प्रतीतिके अभावको ही जिसकी प्रतीति बुद्धिमान् लोग बतलाते हैं, जिसके संकोच और विकाससे जगत्का प्रलय और सृजन होता है, वेदान्त-वाक्योंकी जो निष्ठा है तथा वाणीके लिये जो अगोचर है, वही सच्चित्-परमानन्दस्वरूप ब्रह्म मैं हूँ, दूसरा नहीं हूँ—इस प्रकार अपनी ही सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा श्रीशुकदेव मुनिको सब कुछ ज्ञात हो गया। स्वयं प्राप्त हुए परतत्त्वमें वे अविश्रान्त—निरन्तर संलग्न मनसे स्थित हुए। 'यही वस्तु है, वह नहीं' इस प्रकारका विश्वास आत्मतत्त्वमें उनको प्राप्त हुआ और तब, जिस प्रकार जलदके धाराप्रपातसे तुष्ट हुए चातकका चापल्य दूर हो जाता है, उसी प्रकार नाना प्रकारके भोगोंसे उत्पन्न होनेवाले विषय-चापल्यसे विरत होकर उनका चित्त कैवल्य-अवस्थाको प्राप्त हो गया ॥ ३-१३ ॥

एक बार उन विमल प्रज्ञावान् शुकदेवजीने मेरु-पर्वतपर एकान्तमें स्थित हो अपने पिता श्रीकृष्णद्वैपायन मुनिसे भक्ति-पूर्वक प्रश्न किया—'मुनीश्वर! यह जगत्-प्रपञ्च कैसे उत्पन्न हुआ, किस प्रकार विलीन होता है? यह क्या है, किसका है, कब हुआ है? बतलाइये।' इस प्रकार पूछनेपर आत्मज्ञानी व्यासजी महाराजने शुकको यथावत् सारी बातें बतलायीं; किंतु 'ये सब बातें तो मुझे पहलेसे ही ज्ञात हैं' यों समझकर शुकदेवजीने पिताकी बातोंको अपनी बुद्धिसे वैसा आदर नहीं दिया। इस प्रकार शुकदेवजीके अभिप्राय-को समझकर भगवान् व्यासजीने शुकदेव मुनिसे कहा, 'मैं तत्त्वतः इन बातोंको नहीं जानता। मिथिलापुरीमें जनक नामके एक राजा हैं, वे इन सब बातोंको भलीभाँति जानते हैं; पुत्र! तुम उनसे सब कुछ प्राप्त कर सकते हो।' पिताके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर श्रीशुकदेवजीने सुमेरु-पर्वतसे उतरकर भूतलकी ओर प्रयाण किया और वे जनकके द्वारा परिपालित विदेहनगरीमें जा पहुँचे ॥ १४-२० ॥

जब द्वारपालोंने महात्मा जनकको यह समाचार दिया कि 'राजन्! राजद्वारपर महर्षि व्यासके पुत्र श्रीशुकदेव मुनि उपस्थित हैं,' तब शुककी परीक्षाके लिये राजाने अवज्ञापूर्वक केवल इतना ही कहा कि 'वे वहीं ठहरें' इसके बाद राजा सात दिन चुप रहे। तदनन्तर राजा जनकने शुकदेवजीको राज-प्राङ्गणमें बुलवाया। वहाँ भी राजा सात दिनोंतक उसी प्रकार उदासीन रहे। तदनन्तर राजाने उनको अन्तःपुरके आँगनमें बुलवाया, और वहाँ भी सात दिनोंतक राजा शुकदेवजीके सामने नहीं आये। महाराज जनकने अन्तःपुरमें युवती स्त्रियों, नाना प्रकारके भोजन तथा भोग्य-पदार्थोंके द्वारा सौम्यवदन शुकदेवजीका आदर-सत्कार किया। वे भोग और भोज्यपदार्थ व्यास-पुत्र श्रीशुकदेवके मनको उसी प्रकार नहीं हर सके, जिस प्रकार मन्द पवन दृढ़तापूर्वक स्थित हुए पर्वतको चलायमान नहीं कर सकता। शुकदेवजी असङ्ग, समभावापन्न, निर्विकार, मौन और प्रसन्नचित्त होकर निर्मल पूर्णचन्द्रके समान स्थित रहे ॥ २१-२७ ॥

जब राजा जनकने इस प्रकार श्रीशुकदेवजीके स्वभावकी परीक्षा कर ली, तब उन्हें पास बुलाया और प्रसन्नचित्त देखकर उन्हें प्रणाम किया। उनका स्वागत करते हुए राजाने कहा—'आपने अपने सांसारिक कृत्योंको निःशेष कर दिया है, आपको सारे मनोरथ प्राप्त हैं; ऐसी स्थितिमें आपकी क्या अभिलाषा है?' श्रीशुकदेव मुनि बोले—'गुरुवर! मुझे शीघ्र और ठीक-ठीक बतलाइये कि यह जागतिक प्रपञ्च कैसे उत्पन्न होता है और किस प्रकार विलीन होता है?' महात्मा जनकने श्रीशुकदेवजीसे सारी बातें यथावत् बतलायीं, इन्हीं बातोंको उनके परम ज्ञानी पिता पहले ही बतला चुके थे। (इसपर शुकदेवजीने कहा—) 'मैंने स्वयं ही विशेषरूपसे इसे जाना था, पूछनेपर मेरे पिताजीने भी यही बातें मुझको बतलायीं। ज्ञानिश्रेष्ठ! आपने भी यही बात बतलायी और यही विषय शास्त्रोंमें भी दिखलायी देता है। मनके विकल्पसे प्रपञ्च उत्पन्न होता है और उस विकल्पके नाश होनेपर इसका नाश हो जाता है। निन्दनीय संसार निःसार है, यह निश्चित है। तब हे महाभाग! यह है क्या वस्तु? मुझे सत्य बात बतलाइये। जगत्के सम्बन्धमें भ्रान्त हुआ मेरा चित्त आपके द्वारा ही शान्तिको प्राप्त कर सकता है' ॥ २८–३५ ॥

राजा जनकने कहा—'शुकदेवजी! तुम सुनो, मैं सारे ज्ञान-विस्तारको कहता हूँ—जो समस्त ज्ञानका सार तथा रहस्योंका भी रहस्य है, एवं जिसके जाननेसे पुरुष शीघ्र ही मुक्तिको प्राप्त हो जाता है। दृश्य जगत् है ही नहीं—यह बोध हो जानेपर मनकी दृश्य-विषयसे परिशुद्धि हो जाती है। जब यह बोध परिपक्व हो जाता है, तब उससे निर्वाणरूपी परमा शान्ति प्राप्त होती है। वासनाओंका जो निःशेष परित्याग होता है, वही श्रेष्ठ त्याग है, उसी विशुद्ध अवस्थाको साधुजनोंने मोक्ष कहा है। पुनः, जो शुद्ध वासनाओंसे युक्त हैं तथा जिनका जीवन अनर्थोंसे शून्य है एवं जिन्हें ज्ञेयतत्त्व ज्ञात है, महाबुद्धिमान् शुकदेवजी! वे पुरुष जीवन्मुक्त कहलाते हैं। पदार्थ-भावनाकी दृढ़ता ही बन्ध कहलाती है और ब्रह्मन्! वासनाओंकी क्षीणताको ही मोक्ष कहा जाता है ॥ ३६–४१ ॥

'बिना तपःसाधन आदिके, स्वभावतः ही जिसे जगत्के भोग अच्छे नहीं लगते, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। यथासमय प्राप्त होनेवाले सुखों और दुःखोंमें अनासक्त हुआ जो न प्रसन्न होता है और न दुखी होता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। हर्ष, अमर्ष (उद्वेग), भय, क्रोध, काम और कार्पण्य(शोक)की दृष्टिसे जिसका अन्तःकरण अछूता रहता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो अहङ्कारमयी वासनाको सहज ही त्याग करके स्थित होता है, वह चित्तालम्बनका सम्यक् त्याग करनेवाला जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसकी दृष्टि सदा अन्तर्मुखी रहती है, जिसको न किसी पदार्थकी आकाङ्क्षा होती है और न उपेक्षा, जो सुषुप्तिके समान स्थितिमें विचरण करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो सदा आत्मनि रत है, जिसका मन पूर्ण और पवित्र है, परमश्रेष्ठ शान्त अवस्थाको प्राप्तकर जो संसारमें किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करता, जो किसीके प्रति आसक्ति न रखता हुआ उदासीन विचरण करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसका हृदयाकाश संवेद्य पदार्थोंके द्वारा तनिक भी लिप्तायमान नहीं होता, तथा चेतन संवित् ही जिसका स्वरूप है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। राग-द्वेष, सुख-दुःख, धर्माधर्म, फलाफलकी अपेक्षा न करके जो काम करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो अहंभावको छोड़कर, मान और मत्सर त्यागकर, निरुद्वेग और संकल्पहीन होकर कार्य करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो सर्वत्र स्नेहरहित होकर साक्षीके समान अवस्थित रहता है, तथा बिना किसी इच्छाके कर्तव्यमें लगा रहता है, वह जीवन्मुक्त है। जिसने धर्म और अधर्मको, जगत्के चिन्तनको तथा सारी इच्छाओंको अन्तःकरणसे परित्याग कर दिया है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। यह सारा दृश्य-प्रपञ्च, जो देखनेमें आता है—इसको जिसने भलीभाँति त्याग दिया है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। चरपरे, खट्टे, नमकीन, कड़वे, स्वादिष्ट तथा स्वादहीनको जो एक समान समझकर खाता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। बुढ़ापा, मृत्यु, विपत्ति, राज्य और दारिद्र्य—सबको रम्य मानकर जो उपभोग करता है, वह जीवन्मुक्त है। धर्म और अधर्म, सुख-दुःख, तथा जन्म और मरण—इनको जिसने हृदयसे पूर्णतः त्याग दिया है, वह जीवन्मुक्त है। जो समत्वपूर्ण तथा स्वच्छ बुद्धिसे, उद्वेग और आनन्दसे रहित होकर न शोक करता है न उत्साहित होता है, वह जीवन्मुक्त है। सारी इच्छाओं, सारी शङ्काओं, सारी कामनाओं और सारे निश्चयोंका जिसने मनसे परित्याग कर दिया है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जन्म, स्थिति और विनाशमें, उन्नति तथा अवनतिमें—सदा जिसका मन एक समान रहता है, वह जीवन्मुक्त है। जो न किसीसे द्वेष करता है और न किसीकी आकाङ्क्षा करता है, जो प्रारब्धप्राप्त भोगोंका उपभोग करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसने संसारका चिन्तन छोड़ दिया है, जो कलावान् होकर

भी निष्कल रहता है, चित्तके होते हुए भी निश्चित्त रहता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो सम्पूर्ण अर्थ-जालके मध्य व्यवहार करता हुआ उनसे उसी प्रकार निःस्पृह रहता है, जैसे पराये धनके विषयमें मनुष्य निःस्पृह रहता है, तथा जो आत्मामें ही पूर्णताका अनुभव करता है, वह जीवन्मुक्त है ॥ ४२–६२ ॥

'शरीरके काल-कवलित होनेपर वह जीवन्मुक्त अवस्थाको छोड़कर गतिहीन पवनके समान विदेहमुक्त अवस्थाको प्राप्त होता है। विदेहमुक्त अवस्थामें जीवकी न उन्नति होती है न अवनति होती है और न उसका लय ही होता है; वह अवस्था न सत् है, न असत् है और न दूरस्थ है। उसमें न अहंभाव है और न परायाभाव है। विदेहमुक्ति गम्भीर, स्तब्ध अवस्था होती है; उसमें न तेज व्याप्त होता है और न अन्धकार। उसमें अनिर्वचनीय, और अभिव्यक्त न होनेवाला एक प्रकारका सत् अवशिष्ट रहता है। वह न शून्य होता है न आकारयुक्त होता है, न दृश्य होता है और न दर्शन होता है। उसमें ये भूत और पदार्थोंके समूह नहीं होते—केवल सत् अनन्तरूपमें अवस्थित होता है। वह ऐसा अद्भुत तत्त्व होता है कि जिसके स्वरूपका निर्देश नहीं किया जा सकता। उसकी आकृति पूर्णसे भी पूर्णतर होती है। वह न सत् होता है न असत्, और न सत्-असत् दोनों होता है; न भाव होता है और न भावना; वह चेतनामात्र होता है परंतु चित्तविहीन होता है, अनन्त होता है। अजर होता है परंतु शिवस्वरूप, कल्याणकारी होता है। उसका आदि, मध्य और अन्त नहीं होता। वह अनादि तथा दोषहीन होता है। द्रष्टा, दृश्य और दर्शनकी त्रिपुटीमें वह केवल दर्शनस्वरूप माना जाता है। शुकदेव मुनि! इस विषयमें इसके अतिरिक्त कोई दूसरा निश्चय नहीं किया जा सकता। तुमने इस तत्त्वको स्वयं ही जान लिया है तथा अपने पितासे भी सुना है कि जीव अपने सङ्कल्पसे ही बन्धनमें पड़ता है और सङ्कल्पहीन होनेपर मुक्त हो जाता है। अतएव तुमने स्वयं उस तत्त्वको जान लिया, जिसको जान लेनेपर इस संसारमें महात्माओंको समस्त दृश्योंसे अथवा भोगोंसे विरति उत्पन्न हो जाती है। तुमने पूर्ण चेतनामें स्थिति लाभकर समस्त प्राप्तव्य वस्तुको प्राप्त कर लिया है। तुम तपःस्वरूपमें स्थित हो। ब्रह्मन्! तुम मुक्त हो, भ्रान्तिको छोड़ो। शुकदेवजी! बाहर तथा अत्यन्त बाहर, अन्तःकरणमें तथा उसके भी भीतर देखते हुए भी तुम नहीं देखते; तुम पूर्ण कैवल्य-स्थितिमें साक्षिमात्र रहते हो' ॥ ६३—७३ ॥

तदुपरान्त श्रीशुकदेवजी शोक, भय और श्रमसे रहित होकर, संशयहीन और निष्काम हो, परतत्त्वस्वरूप आत्मामें स्थित होकर चुपचाप विश्रामको प्राप्त हुए। अखण्ड समाधिके लिये वे सुमेरु-पर्वतके शिखरकी ओर लौट गये। वहाँ सहस्रों वर्षोंतक, स्नेहहीन दीपकके समान उन्होंने आत्मदेशमें स्थित हो निर्विकल्प समाधिके द्वारा शान्तिलाभ किया। सङ्कल्परूपी दोषोंसे रहित, शुद्धस्वरूप, पवित्र और निर्मल आत्मपदमें वे महात्मा शुकदेवजी वासनाविहीन होकर उसी प्रकार एकत्वको प्राप्त हुए, जिस प्रकार सलिल-कण समुद्रमें विलीन होकर उसमें एकताको प्राप्त होता है ॥ ७४—७७ ॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

ॐ

तृतीय अध्याय

निदाघके वैराग्यपूर्ण उद्गार

निदाघ नामके एक मुनीश्वर बालक अपने पितासे आज्ञा प्राप्तकर अकेले तीर्थयात्राके लिये निकले। साढ़े तीन करोड़ तीर्थोंमें स्नान करके अपने घर लौटे तथा घर लौटकर उन महायशस्वीने अपने पिता ऋभु मुनिसे अपना सब समाचार कह सुनाया। [उन्होंने कहा—] 'पिताजी! साढ़े तीन करोड़ तीर्थोंमें स्नान करनेसे जो पुण्य हुआ है, उसके फलस्वरूप मेरे मनमें इस प्रकारके विचार प्रकट हुए हैं। संसार उत्पन्न होता है, नष्ट हो जाता है और नष्ट होता है पुनः उत्पन्न होनेके लिये। समस्त चर और अचर प्राणियोंकी चेष्टाके साथ यह प्रपञ्च अस्थिर है, क्षणस्थायी है। ऐश्वर्यकी भूमिमें (उत्पन्न होनेवाले) ये पदार्थ सारी आपदाओंके हेतु हैं। लोहेकी सलाईके समान एक दूसरेसे अलग रहते हुए ये पदार्थ केवल इस मानसिक कल्पनारूपी चुम्बकके द्वारा एकत्र होते हैं। जिस प्रकार पथिकको मरुस्थलमें चलते-चलते विरति हो जाती है, उसी प्रकार मेरी इन पदार्थोंमें अरति हो गयी है। ये जागतिक पदार्थ मुझे दुःखमय प्रतीत होने लगे हैं। अब इस दुःखका शमन कैसे होगा—यह सोच-सोचकर मेरा हृदय सन्तप्त हो रहा है। ये धन, जिनके पीछे चिन्ताओंके समूह चक्रके समान भ्रमण करते रहते हैं, मुझे आनन्द नहीं प्रदान करते। स्त्री-पुत्रादि मानो उग्र आपदाओंके निकेतन हैं। मुनीश्वर! संसारमें उदार रूपमें स्थित, अत्यन्त कोमलाङ्गी जो ये श्रीलक्ष्मीजी हैं, वे भी परम मोहकी ही हेतु हैं। निश्चय ही वे भी आनन्द प्रदान करनेवाली नहीं हैं। मनुष्यकी आयु पल्लवके कोणके अग्रभागमें लटकते हुए जलकणके समान क्षणभङ्गुर है। इस तुच्छ शरीरको असमय ही छोड़कर उन्मत्तके समान मुझे जाना ही पड़ेगा। विषयरूपी सर्पके सङ्गसे जिनका चित्त जर्जर हो गया है, तथा जिनको प्रौढ आत्मविवेक नहीं हुआ है, उनके लिये जीवन कष्टका ही हेतु बनता है। वायुको लपेटना बनता है, आकाशको खण्ड-खण्ड करना बनता है, लहरोंको गूँथना बनता है, परंतु जीवनमें आस्था रखना नहीं बनता। जिसके द्वारा प्राप्य वस्तुको सम्यक् रीतिसे प्राप्त कर लिया जाता है, जिसके कारण पुनः शोक नहीं करना पड़ता, जिसमें परा शान्ति प्राप्त कर ली जाती है, वही जीवन कहलाता है। यों तो वृक्ष भी जीते हैं, मृग और पक्षी भी जीते हैं; किंतु वस्तुतः वही जीता है, जिसका मन आत्मचिन्तनमें लगा हुआ है। इस संसारमें उत्पन्न हुए उन्हीं जीवोंका जीवन श्रेष्ठ है, जो पुनः आवागमनमें नहीं पड़ते; शेष तो बूढ़े गधेके समान हैं। ज्ञानी पुरुषके लिये शास्त्र भारस्वरूप हैं, रागी पुरुषके लिये ज्ञान भारस्वरूप है, अशान्त पुरुषका मन भारस्वरूप होता है; और जो आत्मज्ञ नहीं हैं, उनके लिये यह शरीर भाररूप है। अहङ्कारके कारण विपत्ति आती है, अहङ्कारके कारण दुष्ट मनोव्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। अहङ्कारके कारण कामनाएँ उत्पन्न होती हैं। अहङ्कारसे बढ़कर मनुष्यका कोई दूसरा शत्रु नहीं है। अहङ्कारके वश होकर चर और अचर-रूप जिन-जिन भोगोंको मैंने भोगा है, वे सब-के-सब अवस्तु अर्थात् मिथ्या भ्रमरूप थे। वस्तु तो केवल अहङ्कारशून्यता ही है। यह मन व्यग्र होकर इधर-उधर व्यर्थ ही दौड़ता है, व्यर्थ ही दूर-दूरतक जाता है; इसका ढंग गाँवमें घूमनेवाले कुत्तेके-जैसा है। तृष्णारूपी कुतियाके पीछे-पीछे भटकनेवाले कुत्तेके समान इस क्रूर मनके वशीभूत होकर मैं जड हो गया था। ब्रह्मन्! अब मैं उसकी दासतासे मुक्त हो गया हूँ। ब्रह्मन्! चित्तका निग्रह करना समुद्र-पानसे भी कठिन है, सुमेरु-पर्वतको उखाड़ फेंकनेसे भी दुष्कर है तथा अग्नि-भक्षणसे भी विषम कार्य है। बाह्य तथा आभ्यन्तर विषयोंका हेतु चित्त है; उसके आधारपर ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों प्रकारके जगत्की स्थिति है। चित्तके क्षीण होनेपर संसार क्षीण हो जाता है। अतएव प्रयत्नपूर्वक चित्तकी ही चिकित्सा होनी चाहिये॥ १—२१॥

'मुनीश्वर! जिन-जिन श्रेष्ठ गुणोंका मैं आश्रय लेता हूँ, मेरी तृष्णा उन-उन गुणोंको उसी प्रकार काट डालती है, जैसे दुष्ट चुहिया वीणाके तारको काट डालती है। यह तृष्णा चञ्चल बंदरीके समान अलङ्घनीय स्थलमें भी अपना पैर जमाना चाहती है, तृप्त होनेपर भी विविध फलोंकी इच्छा करती है, एक स्थानपर चिरकालतक नहीं ठहरती। क्षणमात्रमें पाताल पहुँचती है और क्षणभरमें आकाशकी सैर करती है, क्षणभरमें दिशा-रूपी कुञ्जोंमें घूमने लगती है; यह तृष्णा हृदय-कमलमें विचरण करनेवाली भ्रमरी है। संसारके सारे दुःखोंमें यह तृष्णा ही दीर्घ दुःख देनेवाली है, जो अन्तःपुरमें रहनेवालोंको भी अत्यन्त सङ्कटमें डाल देती है। तृष्णारूपी महामारीका नाश

करनेवाला मन्त्र है—चिन्ताका त्याग करना। ब्राह्मण! थोड़ा भी चिन्ताका त्याग करनेसे आनन्दकी प्राप्ति होती है और थोड़ी भी चिन्ता करनेसे दुःख प्राप्त होता है। शरीरके समान गुणहीन, नीच तथा शोचनीय वस्तु कोई नहीं है। अहङ्कार-रूपी गृहस्थका यह शरीर महागृह है। पिताजी! यह नष्ट हो जाय या चिरकालतक रहे—इससे मुझे क्या? इन्द्रियरूपी पशु जिसमें पंक्तिमें बँधे हुए हैं, जिस घरके प्राङ्गणमें तृष्णा चलती-फिरती है, चित्तवृत्तिरूपी भृत्यजनोंसे जो समाकीर्ण है—ऐसा यह शरीररूपी गृह मुझे इष्ट नहीं, प्रिय नहीं। यह मुखरूपी द्वार जिह्वारूपी बंदरीसे आक्रान्त होकर भयानक बन रहा है। जिसके द्वारपर दाँतरूपी हड्डीके टुकड़े दिखलायी पड़ रहे हैं—ऐसा यह शरीररूपी गृह मुझे इष्ट नहीं, प्रिय नहीं। हे मुनीश्वर! भीतर और बाहर रक्त और मांससे व्याप्त, केवल विनाशशील इस शरीरमें रम्यता कहाँ है, बतलाइये तो? शरत्कालीन बादलोंकी बिजलीमें तथा गन्धर्वनगरीमें यदि किसीने स्थिरता निश्चित की है, तो वह इस शरीरकी स्थिरतामें विश्वास कर सकता है। बाल्यावस्थामें गुरुसे, माता-पितासे, बड़े लड़कोंसे तथा अन्य लोगोंसे डर लगता है; अतएव शैशव भयका घर है। (युवावस्थामें) अपने चित्तरूपी गुफामें रहनेवाले, नाना प्रकारके भ्रमोंमें डालनेवाले इस कामरूपी पिशाचसे बलात् विवश होकर मनुष्य पराजित हो जाता है। बुढ़ापेमें उन्मत्तके समान काँपते हुए मनुष्यको देखकर दास, पुत्र और स्त्रियाँ, बन्धु तथा मित्रगण हँसा करते हैं। बुढ़ापेमें असमर्थताके कारण लालसा बहुत अधिक बढ़ जाती है। यह बुढ़ापा हृदयमें दाह प्रदान करनेवाली सारी आपदाओंकी प्रिय सहेली है। संसारमें जिस सुखकी भावना की जाती है, वह कहाँ है? आयुको तृणके समान पाकर काल उसे काटता ही जा रहा है। छोटेसे तृण तथा रजःकणको महेन्द्र तथा स्वर्णमय सुमेरु पर्वतको सर्षप (सरसों) बना देनेवाला यह सर्वसंहारी काल अपना पेट भरनेके लिये सबको आत्मसात् करनेको उद्यत है। तीनों लोक कालके द्वारा आक्रान्त हैं॥ २२–३८॥

'यन्त्रके समान चञ्चल अङ्गरूपी पिंजरेमें मांसकी पुतलीके समान, स्नायु तथा अस्थिकी ग्रन्थियोंसे निर्मित स्त्रीके शरीरमें कौन-सी वस्तु है, जिसे सुन्दर कहा जाय? नेत्रमें स्थित त्वचा, मांस, रक्त, आँसू—इनको अलग-अलग करके देखो; इनमें कौन-सी वस्तु रम्य है? फिर व्यर्थ ही क्यों मोहको प्राप्त हो रहे हो। मेरु-पर्वतके शिखरोंके तटसे समुल्लसित होनेवाली गङ्गाजीकी चञ्चल गतिके समान, हे मुनि! मुक्ताहारका सम्यक् उल्लास जिसमें देखा गया है, काल आनेपर उस ललनाके स्तनको श्मशानके कोनेमें मांसके छोटे पिण्डके रूपमें कुत्ते खाया करते हैं! केश और काजल धारण करनेवाली तथा देखनेमें प्रिय लगनेवाली होनेपर भी जिनका स्पर्श दुःखदायी होता है, वे दुष्कृतिरूप अग्निकी शिखाके समान नारियाँ पुरुषको तृणके सदृश जला डालती हैं। स्त्रियाँ बहुत दूरपर जलनेवाली नरकाग्नियोंकी सुन्दर और दारुण इन्धनस्वरूपा हैं; वे सरस प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः नीरस हैं। काम नामके किरातने पुरुषरूपी मृगोंके अङ्गोंको बन्धनमें बाँधनेके लिये स्त्रीरूपी जाल फैला रक्खा है। पुरुष जो जीवनरूपी तलैयाके मत्स्य हैं और चित्तरूपी कीचड़में विचरण करते हैं; उनको फँसानेके लिये नारी दुर्वासनारूपी रज्जुमें बँधी बंसीमें पिण्डिका (चारे)-के समान है। यह सारे दोषरूपी रत्नोंको उत्पन्न करनेवाला समुद्र ही है। यह दुःखोंकी शृङ्खला हमसे सदा दूर ही रहे। जिसके स्त्री है, उसे भोगेच्छा उत्पन्न होती है। जिसे स्त्री नहीं, उसके लिये भोगका हेतु क्या हो सकता है? जिसने स्त्रीको छोड़ दिया, उसका संसार छूट गया और संसारको छोड़कर ही मनुष्य सुखी बन सकता है॥ ३९–४८॥

'दिशाएँ भी नहीं दीख पड़तीं, देश भी दूसरेके लिये उपदेशप्रद बन जाते हैं, अर्थात् काल-कवलित हो जाते हैं, पर्वत भी चूर-चूर हो जाते हैं, तारे भी टूक-टूक होकर गिर जाते हैं। समुद्र भी सूख जाते हैं, ध्रुव नक्षत्रका जीवन भी अस्थायी होता है। सिद्ध पुरुष भी नाशको प्राप्त होते हैं, दानवादि भी जराग्रस्त हो जाते हैं। चिरकालस्थायी ब्रह्मा तथा अजन्मा विष्णुभगवान् भी अन्तर्धान हो जाते हैं। सारे भाव अभावको प्राप्त होते हैं, दिशाओंके अधिपति भी जीर्ण-शीर्ण हो जाते हैं। बड़े-बड़े देवता तथा सारे प्राणिवर्ग, जैसे जल बडवानलकी ओर दौड़ता है, उसी प्रकार विनाशकी ओर दौड़ते हैं। क्षणभरमें आपदाएँ आ घेरती हैं और क्षणमें सम्पदाएँ आ जाती हैं। क्षणभरमें जन्म होता है और क्षणमें ही मृत्यु हो जाती है। यह समस्त प्रपञ्च नश्वर है। इस विश्वमें कायर पुरुषके द्वारा शूरवीर मारे जाते हैं। एकके द्वारा सैकड़ोंका विनाश होता है। विषय-वासनाके कारण चित्तकी विषमता ही विष है, विष विष नहीं कहलाता; क्योंकि विष एक जन्मका विनाश करता है और विषय जन्म-जन्मान्तरको नष्ट कर देते हैं। इस समय इस दोषरूपी दावानलसे दग्ध मेरे चित्तमें ऐसा भान हो रहा है। मृगतृष्णा-के सरोवरमें खड़े होनेपर भी मुझमें भोगाशाकी स्फुरणा नहीं होती। अतएव हे गुरुवर! आप तत्त्वज्ञानके द्वारा मुझे शीघ्र ही बोध प्रदान कीजिये। नहीं तो मान और मत्सरको छोड़-कर, चित्तमें भगवान् विष्णुका स्मरण करते हुए मैं चित्र-लिखितकी भाँति रहकर मौन धारण कर लूँगा'॥ ४९–५७॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त॥ ३ ॥

ॐ

चतुर्थ अध्याय

निदाघके प्रति उनके पिता ऋभुका उपदेश

निदाघ मुनिकी बात सुनकर उनके पिता ऋभु मुनि बोले—'ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ निदाघ मुनि ! तुम्हारे लिये अब कुछ अन्य ज्ञातव्य नहीं रह गया है। तुम ईश्वरकी कृपासे अपनी प्रज्ञासे ही सब कुछ जान गये हो। तथापि चित्तकी मलिनतासे उत्पन्न तुम्हारे भ्रमको, हे मुनि ! मैं दूर करूँगा। मोक्षद्वारके चार द्वारपाल बतलाये गये हैं—शम, विचार, सन्तोष और चौथा सत्सङ्ग। पूर्ण यत्नपूर्वक सब कुछ छोड़कर इनमें एकका भी आश्रय पकड़ ले। एकको वशमें करनेसे शेष तीनों वशमें हो जाते हैं। पहले संसार-बन्धनसे मुक्त होनेके लिये शास्त्रोंके द्वारा, तप और दमके द्वारा तथा सत्सङ्गके द्वारा अपनी प्रज्ञाको बढ़ाये। आत्मानुभव, शास्त्र तथा गुरुके वचनोंकी एकवाक्यताके अभ्याससे निरन्तर आत्मचिन्तन किया जाता है। यदि निरन्तर तुम सङ्कल्प और आशाके अनुसन्धानका त्याग करते हो तो तुम्हें वह पवित्र अचित्तत्व—कैवल्य प्राप्त ही है। चित्तका जो अकर्तृत्व है, वही चित्तकी वृत्तियोंका निरोध अर्थात् समाधि कहलाता है। यही केवल-अवस्था है और यही परम कल्याणरूपा परा शान्ति कहलाती है। संसारके समस्त पदार्थोंमें आत्मभावनाका भलीभाँति मनसे परित्याग करके तुम संसारमें गूँगे, अंधे और बहिरे-से होकर रहो। 'सब कुछ प्रशान्त है, एक है, अजन्मा है, आदि-मध्य-हीन है, सब ओर प्रकाशयुक्त है, केवल अनुभवरूप है, अचित्त है, सब कुछ प्रशान्त है'—इत्यादि जो शब्दमयी दृष्टि है, वह व्यर्थ है। आत्मबोधमें बाधक ही है। जो कुछ भी यह दृश्य प्रपञ्च है, तत्त्वतः सब प्रणवरूप है। जो कुछ भी दृश्य यहाँ दिखलायी देता है, वह चिद्-जगत्में दिखलायी देता है। वह चित्के निष्पन्दका एक अंशमात्र है। अतएव चित्से अतिरिक्त कुछ नहीं है—ऐसी भावना करो। तुम नित्य प्रबुद्धचित्त होकर सांसारिक कार्योंको करते हुए भी आत्माके एकत्वको जानकर प्रशान्त महासिन्धुके समान निश्चल बने रहो ॥१–११॥

'वासनारूपी तृणको दग्ध करनेवाला अग्नि यह आत्म-ज्ञान ही है। इसे ही 'समाधि' शब्दसे लक्षित करते हैं। चुपचाप बैठे रहना समाधि नहीं है। जिस प्रकार रत्नके इच्छारहित होकर पड़े रहनेपर भी लोग उसकी ओर आकर्षित होते हैं, उसी प्रकार सत्तामात्र परतत्त्वकी ओर सारा जगत् आकर्षित होता है। अतएव हे मुनि ! आत्मामें कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों हैं। इच्छारहित होनेके कारण आत्मा अकर्ता है और सन्निधिमात्रसे वह कर्ता है। मुनि ! कर्तृत्व और अकर्तृत्व—ये दोनों ब्रह्ममें पाये जाते हैं। जिसमें यह चमत्कार है, उसका आश्रय लेकर स्थिर हो जाओ। अतएव 'मैं नित्य ही अकर्ता हूँ' इस प्रकारकी प्रबल भावनासे युक्त होनेपर केवल परम अमृता नामकी समता ही अवशिष्ट रहती है। निदाघ ! सुनो; जो सत्त्वमें स्थित होकर इस लोकमें जन्मे हैं, वे महान् गुणी हैं। उनकी सदा ही उन्नति होती है तथा वे आकाशमें चन्द्रमाओंके समान सदा प्रसन्न रहते हैं ॥ १२–१७ ॥

'सत्त्वस्थ पुरुष रात्रिमें स्वर्णकमलकी भाँति विपत्तिमें कुम्हलाते नहीं। वे प्राप्त भोगके सिवा अन्य वस्तुकी आकाङ्क्षा नहीं करते और शास्त्रोक्त मार्गमें विचरण करते हैं। वे स्वभावतः ही मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा प्रभृति गुणोंसे सुशोभित रहते हैं। सौम्य! वे समभावमें रहते हुए निरन्तर साधुवृत्तिमें एकरस बने रहते हैं। समुद्रके समान मर्यादाको छोड़कर वे विशालहृदय हो जाते हैं। वे महात्मा सूर्यनारायण-के समान नियति-पथपर (नियमानुकूल) चलते रहते हैं। 'मैं कौन हूँ, यह विस्तृत जगत्प्रपञ्च कैसे उत्पन्न हुआ'—संतजनोंके साथ प्राज्ञपुरुष यत्नपूर्वक इन प्रश्नोंपर विचार करे। वह अकार्यमें न लगे, तथा अनार्य पुरुषका सङ्ग न करे; सबका संहार करनेवाले मृत्युको उपेक्षाकी दृष्टिसे न देखे। शरीर, अस्थि, मांस तथा रक्त आदिको घृणास्पद समझकर उनकी उपेक्षा करे तथा प्राणिसमुदायरूपी मोतियोंकी लड़ियोंमें सूत्रके समान पिरोये हुए चिदात्मापर ही दृष्टि रक्खे। उपादेय वस्तुकी ओर दौड़ना तथा हेयवस्तुका सर्वथा त्याग कर देना—यह जो मनका स्वरूप है, वह वाह्य है, आभ्यन्तर नहीं; इसको जान लो। चिद्घनके विषयमें गुरु और शास्त्रके द्वारा बतलाये हुए मार्गसे तथा अपनी अनुभूतिसे 'मैं ब्रह्म ही हूँ'—यों जानकर मुनि शोकविहीन हो जाय। इस अवस्थामें शतशः तीक्ष्ण कृपाणके आघात कमलके कोमल आघातके समान सह्य हो जाते हैं, अग्निके द्वारा दाह हिम-

स्नानके समान सह्य हो जाता है, अँगारोंपर लोटना चन्दनके लेपके समान शीतल लगता है, निरन्तर बाणोंके समूहका शरीरपर गिरना गर्मीको शान्त करनेवाले धाराग्रह (फव्वारे) के जलकणों-की वर्षाके समान मनोरञ्जक बन जाता है, अपने सिरका काटा जाना सुखप्रद निद्राके समान, (जीभ आदि काटकर) गूँगा कर दिया जाना मुखके मूँद दिये जानेके समान तथा बधिरता महान् उन्नतिके समान लगती है; पर यह अवस्था उपेक्षासे नहीं प्राप्त होती। दृढ़ वैराग्यजन्य आत्मज्ञानसे यह प्राप्त होती है। गुरुके उपदेशानुसार स्वानुभूति आदिके द्वारा जो अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, उसके अभ्यासद्वारा निरन्तर आत्मसाक्षात्कार किया जाता है। जिस प्रकार दिग्भ्रमके नष्ट हो जानेपर पहलेके समान ही दिशाका बोध होने लगता है, उसी प्रकार विज्ञानके द्वारा विध्वस्त हो जानेपर जगत् नहीं रहता—इस प्रकारकी भावना करनी चाहिये। न धनसे पुरुषका उपकार होता है, न मित्रोंसे और न बान्धवोंसे। न शारीरिक क्लेशके दूर होनेपर और न तीर्थस्थानमें वास करनेसे पुरुष उपकृत होता है। केवल चिन्मात्रमें विलीन होनेपर ही परम पद प्राप्त हो सकता है॥ १८—२८॥

'जितने दुःख हैं, जितनी तृष्णाएँ हैं तथा जितनी दुःसह दुश्चिन्ताएँ हैं, शान्तचित्त पुरुषोंमें वे सब उसी प्रकार नष्ट हो जाती हैं, जिस प्रकार रवि-किरणोंमें अन्धकार नष्ट हो जाता है। इस संसारमें शमसे युक्त पुरुषका कठोर और मृदु—सभी प्राणी उसी प्रकार विश्वास करते हैं जैसे माताका पुत्र विश्वास करते हैं। अमृतके पान करनेसे तथा लक्ष्मीके आलिङ्गनसे वैसा सुख नहीं प्राप्त होता, जैसा सुख मनुष्य मनकी शान्तिसे पाता है। शुभाशुभको सुनकर, स्पर्श करके, भोजन करके, देखकर तथा जानकर जिसे न हर्ष होता है और न दुःख होता है, वह शान्त कहलाता है। चन्द्रमण्डलके समान जिसका मन स्वच्छ है तथा मृत्यु, उत्सव तथा युद्धमें जिसका मन अधीर नहीं होता, वह शान्त कहलाता है। तपस्वियोंमें, बहुश्रुतोंमें, यज्ञ करने-वालोंमें, राजाओंमें, वनवासियोंमें तथा गुणीजनोंमें शमशील ही सुशोभित होता है। सन्तोषरूपी अमृतका पान करके जो शान्त एवं तृप्त हो जाते हैं, वे ही आत्मामें रमण करनेवाले महात्मा परमपदको प्राप्त होते हैं। जो अप्राप्त वस्तुके लिये चिन्ता नहीं करता तथा सम्प्राप्त वस्तुमें सम रहता है, जिसने दुःख और सुखको नहीं देखा है—वही सन्तुष्ट कहलाता है। जो अप्राप्त वस्तुकी कामना नहीं करता, और प्राप्त वस्तुका ही यथेच्छ भोग करता है, वह सौम्य और समान भावसे आचरण करनेवाला पुरुष सन्तुष्ट कहलाता है। अन्तःपुरके आँगनमें ही जिस प्रकार साध्वी स्त्री प्रसन्न रहती है, उसी प्रकार यथाप्राप्तमें ही जब बुद्धि रमने लगती है, तब वह स्वरूपानन्द प्रदान करनेवाली जीवन्मुक्तावस्था कहलाती है। समयानुसार, शास्त्रानुसार, देशानुसार, सुखपूर्वक, जहाँ-तक हो सके सत्सङ्गमें विचरण करते हुए इस मोक्षपथके क्रमका तबतक बुद्धिमान् पुरुष विचार करे, जबतक उसे आत्मविश्रान्ति प्राप्त न हो जाय। गृहस्थ हो या संन्यासी, जो तुरीयावस्थाकी विश्रान्तिसे युक्त है तथा संसार-सागरसे निवृत्त हो चुका है, वह चाहे जागतिक जीवनमें रहे या न रहे, उसे करने अथवा न करनेसे कोई प्रयोजन नहीं। श्रुति-स्मृतिके भ्रमजालसे उसे कोई मतलब नहीं। मन्दराचलसे विहीन (क्षोभरहित) समुद्रके समान वह आत्मस्थ होकर स्थित रहता है॥ २९—४१॥

'जब त्वमात्मक दृश्यको आत्मरूप देखनेवाली शुद्ध सर्वात्मवेदना उदय होती है, तब दिशा और कालमें फैला हुआ सारा बाह्य जगत् चिद्रूपात्मक प्रतीत होता है। इस प्रकार जहाँ जिस रूपमें आत्मा समुल्लसित होता है, वहाँ शीघ्र उसी रूपमें वह स्थित हो जाता है और तद्रूपमें ही विराजमान होता है। जो कुछ यह समस्त स्थावर और जङ्गमात्मक जगत् दिखलायी देता है, वह प्रलयकालमें उसी प्रकार विनाशको प्राप्त हो जाता है, जैसे सुषुप्तिमें स्वप्न विलीन हो जाता है। आत्मा ऋत (यज्ञ)-स्वरूप है, परब्रह्म है, सत्यस्वरूप है—इत्यादि संज्ञाएँ महात्माओं तथा ज्ञानीजनोंने व्यवहारके लिये कल्पित की हैं। जिस प्रकार 'कङ्कण' शब्द और उसका अर्थ स्वर्णसे पृथक् कोई सत्ता नहीं रखता, तथा कङ्कणमें स्थित स्वर्ण कङ्कणसे पृथक् सत्ता नहीं रखता, उसी प्रकार 'जगत्' शब्दका अर्थ परब्रह्म ही है। उस परब्रह्मने जगत्के रूपमें यह इन्द्रजाल फैलाया है। द्रष्टाका दृश्यके अन्तर्भूत होकर रहना ही बन्धन कहलाता है। दृश्यके वशमें होनेसे द्रष्टा बद्ध होता है और दृश्यके अभावमें वह मुक्ति प्राप्त करता है। जगत् और मैं-तू इत्यादिरूप जो सृष्टि है, वह दृश्य कहलाती है। संसारमें सारा प्रपञ्चरूपी इन्द्रजाल मनके द्वारा ही फैलता है; जबतक मनकी यह कल्पना चलती रहती है, तबतक मोक्षके दर्शन नहीं होते। यह विश्व स्वयंभू ब्रह्माकी मानसिक सृष्टि है, अतएव यावत् परिदृश्यमान जगत् मनोमय ही है। बाहर अथवा हृदयके भीतर, कहीं भी मन सद्रूपमें अवस्थित नहीं है। जो विषयोंका भान होना है, वही मन कहलाता है। सङ्कल्प करना ही मनका लक्षण है, मन सङ्कल्परूपमें ही रहता

है; अतएव जो सङ्कल्प है, वही मन है—यह जान लेना चाहिये। किसीने कभी सङ्कल्प और मनको पृथक् नहीं किया, सारे सङ्कल्पोंके गल जानेपर केवल आत्मस्वरूप ही अवशिष्ट रहता है। मैं, तू और जगत् इत्यादि दृश्य-प्रपञ्चके प्रशान्त हो जानेपर, दृश्य जब सत्ताको (परतत्त्वको) प्राप्त होता है, तभी वैसा कैवल्य प्राप्त होता है। जब महाप्रलयके समय समस्त दृश्य सत्ताहीन हो जाता है, उस समय सृष्टिके पूर्वकालमें केवल शान्त आत्मा ही अवशिष्ट रहता है। जो आत्मसूर्य कभी अस्त नहीं होते, जो जन्मरहित तथा सर्वदोषविवर्जित देव हैं, सर्वदा सर्वकर्ता तथा सर्वस्वरूप हैं, जहाँ वाणी जाकर लौट आती है, जिन्हें मुक्त पुरुष ही जानते हैं, तथा जिनकी आत्मा आदि संज्ञाएँ कल्पित हैं, स्वाभाविक नहीं, वे ही परमात्मा कहलाते हैं ॥ ४२—५७ ॥

'चित्ताकाश, चिदाकाश और तीसरा (भौतिक) आकाश है। हे मुनि ! आकाश और चित्ताकाशसे भी सूक्ष्मतर चिदाकाशको जानो। मुनिपुङ्गव ! एक देशसे दूसरे देशमें जानेपर जो बीचमें चित्तका व्यवधान है, उस (बाध) का निमेष होनेपर चिदाकाश ही अवशिष्ट रहता है, यह जानना चाहिये। उस चिदाकाशमें यदि समस्त सङ्कल्पोंको निरस्त करके स्थित होते हो तो निःसन्देह सर्वात्मक शान्त पदको प्राप्त होओगे। चिदाकाशमें स्थित होनेपर जो सुन्दर औदार्य और वैराग्य-रससे युक्त आनन्दमयी अवस्था प्राप्त होती है, उसे समाधि कहते हैं। दृश्य पदार्थोंकी सत्ता ही नहीं है—जब इस प्रकारका बोध होता है तथा राग-द्वेषादि दोष क्षीण हो जाते हैं, उस समय अभ्यासबलसे जो एकाग्र-रति उत्पन्न होती है, उसे समाधि कहते हैं। दृश्यकी सत्ताका अभाव जब बोधमें आता है, तब वही निश्चयपूर्वक ज्ञानका स्वरूप है। वही चिदात्मक ज्ञेयतत्त्व है, वही केवलीभाव अर्थात् आत्मकैवल्य है; उसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ मिथ्या है। जिस प्रकार उन्मत्त ऐरावत हाथीका सरसोंके एक कोनेके छिद्रमें बाँधा जाना संभव नहीं, सिंहोंके साथ एक धूलिकणके कोटरमें मच्छरोंका युद्ध करना असंभव है तथा कमलकी पंखड़ीमें स्थापित सुमेरु-पर्वतका भ्रमरशिशुके द्वारा निगला जाना असम्भव कथा है, उसी प्रकार निष्पाप ! इस जगत्का अस्तित्वमें आना सम्भव नहीं; इसे तुम केवल भ्रमात्मक जानो। राग-द्वेष आदि क्लेशोंसे दूषित चित्त ही संसार है; वही चित्त जब दोषोंसे विनिर्मुक्त हो जाता है, तब इसे संसारका अन्त अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति कहते हैं। मनसे शरीरकी भावना करनेपर ही आत्मा शरीरी बनता है; जब वह देहवासनासे मुक्त होता है, तब देहके धर्मोंसे लिप्यमान नहीं होता। मन कल्पको क्षण बना देता है और क्षणमें कल्पत्वको आभासित करता है। यह संसार केवल मनोविलास मात्र है—यह मेरी निश्चित मति है ॥ ५८—६८ ॥

'जो दुश्चरितसे विरत नहीं हुआ है, जो अशान्त है, समाहित (एकाग्रचित्त) नहीं है तथा जिसका चित्त शान्त नहीं हुआ है, ऐसे मनुष्यको आत्मबोध नहीं होता। प्रकृष्ट कैवल्यज्ञानके द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार किया जा सकता है। उस आनन्दमय, द्वन्द्वातीत, निर्गुण, सत्स्वरूप, चिद्घन ब्रह्मको अपना स्वरूप समझ लेनेपर पुरुष कदापि भयको नहीं प्राप्त होता। जो श्रेष्ठसे भी श्रेष्ठतर, महान्से भी महान्, तेजोमय स्वरूपवाला, शाश्वत, शिवस्वरूप (कल्याणकारी), सर्वज्ञ, पुराणपुरुष, सनातन, सर्वेश्वर, एवं सब देवताओंके द्वारा उपास्य है, वह ब्रह्म मैं हूँ—इस प्रकारका निश्चय महात्माओंके लिये मोक्षका हेतु बनता है। बन्ध और मोक्षके दो ही कारण बनते हैं, ममता और ममताशून्यता। ममतासे प्राणी बन्धनमें पड़ता है और ममतारहित होनेपर मुक्त हो जाता है। जीव और ईश्वररूपसे, ईक्षण (ब्रह्मके संकल्प)से लेकर संकल्पके त्यागतक, सारी जड तथा चेतनात्मक सृष्टि ईश्वरके द्वारा कल्पित हुई है। जाग्रदवस्थासे लेकर मोक्षकी प्राप्तितक समस्त संसार जीवके द्वारा कल्पित है। कठोपनिषद्के त्रिणाचिकेताग्निसे लेकर श्वेताश्वतरके योगतकके ज्ञान ईश्वरीय भ्रान्तिके आश्रित हैं। लोकायत अर्थात् चार्वाक-सिद्धान्तसे लेकर कपिलके सांख्यसिद्धान्ततकका दार्शनिक ज्ञान जीवभ्रान्तिके आश्रित है। अतएव मुमुक्षु पुरुषको जीव और ईश्वरके वाद-विवादमें बुद्धि नहीं लगानी चाहिये, बल्कि दृढ़ होकर ब्रह्मतत्त्वका विचार करना चाहिये। जो पुरुष समस्त दृश्य-जगत्को निर्विशेष चित्स्वरूप समझता है, वही अपरोक्ष ज्ञानवान् है। वही शिव है, वही ब्रह्मा है, वही विष्णु है। विषयोंका त्याग दुर्लभ है, तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति दुर्लभ है तथा सद्गुरुकी कृपाके बिना सहजावस्थाकी प्राप्ति दुर्लभ है। जिसकी बोधात्मिका शक्ति जाग्रत् हो गयी है, जिसने सारे कर्मोंका त्याग कर दिया है, ऐसे योगीको सहजावस्था स्वयमेव प्राप्त हो जाती है। जबतक पुरुषको इसमें तनिक भी अन्तर जान पड़ता है, तबतक उसके लिये भय है—इसमें संशय नहीं। सर्वमय सच्चिदानन्दको ज्ञानचक्षुसे देखा जाता है; जिसे ज्ञानचक्षु नहीं, वह परब्रह्मको उसी प्रकार नहीं देख सकता, जैसे अंधेको प्रकाशमान

सूर्यनारायण नहीं दीखते। वह ब्रह्म प्रज्ञानस्वरूप ही है, सत्य ही प्रज्ञानका लक्षण है। अतएव ब्रह्मके परिज्ञानसे ही मर्त्य जीव अमरत्वको प्राप्त होता है। उस कार्य-कारणरूप ब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेपर पुरुषके हृदयकी गाँठें खुल जाती हैं, सारे संशय दूर हो जाते हैं और सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं ॥ ६९—८२ ॥

'अनात्मताको त्यागकर, जागतिक स्थितिमें निर्विकार होकर, अनन्यनिष्ठासे अन्तःस्थ संवित् अर्थात् आत्मचैतन्यमें ही लीन रहो। मरुभूमिमें भ्रमसे दीखनेवाला सारा जल जैसे मरुस्थल मात्र ही रहता है, उसी प्रकार जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिरूप यह समस्त जगत् आत्मविचारसे चिन्मय ही है। जो लक्ष्य-बुद्धि तथा अलक्ष्य-बुद्धिका त्याग करके केवल आत्मनिष्ठ होकर रहता है, वह श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी स्वयं साक्षात् शिव है। जगत्का अधिष्ठान अनुपम है, वाणी और मनकी पहुँचके परे है; नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और अव्ययस्वरूप है। यह संसार सर्वशक्तिमान् महेश्वरका मनोविलास मात्र है। संयम और असंयमके द्वारा जागतिक प्रपञ्च शान्तिको प्राप्त होता है ॥ ८३—८७ ॥

'मनोव्याधिकी चिकित्साके लिये तुमको मैं उपाय बतलाता हूँ। जिन-जिन वस्तुओंकी ओर मन जाता है, उन-उनका त्याग करता हुआ मनुष्य मोक्षको प्राप्त करता है। आत्माधीन होना, एकान्तप्रियता तथा अभिलषित जागतिक वस्तुके त्यागकी भावना जिसके लिये दुष्कर हो जाती है, उस पुरुष-कीटको धिक्कार है। केवल अपने प्रयत्नसे सिद्ध होनेवाले अपनी अभिलषित वस्तुके त्यागरूप मनःशान्तिके अतिरिक्त दूसरी शुभ गति नहीं है। सङ्कल्पहीनताके शस्त्रसे जब इस चित्तको काट दिया जाता है, तब सर्वस्वरूप, सर्वान्तर्यामी, शान्त परब्रह्मकी प्राप्ति होती है। प्रपञ्चकी भावनासे मुक्त होकर, महान् बुद्धिसे युक्त होकर, चित्तका निरोध करके स्थिरभावसे अपनेको चिन्मात्रमें स्थित करो। श्रेष्ठ पौरुष अर्थात् अभ्यास और वैराग्यका आश्रय लेकर, तथा चित्तको अचित्तावस्था अर्थात् निरुद्धावस्थामें ले जाकर हृदयाकाशमें ध्यान करते हुए बारंबार चेतनमें लगे हुए चित्त-रूपी चक्रकी धारसे मनको मार दो। तब तुम निःशङ्क हो जाओगे और कामादिरूपी शत्रु तुम्हें बाँध न सकेंगे। यह वह है, मैं यह हूँ, वे पदार्थ मेरे हैं—यह भावना ही मन है; इन भावनाओंके त्यागरूपी दावसे मनका नाश किया जाता है। जिस प्रकार शरद्के आकाशमें छिन्न-भिन्न बादलोंके समूह वायुके वेगसे विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार विचारके द्वारा ही मन अन्तर्हित हो जाता है। चाहे प्रलयकालीन उनचास पवन बहें, अथवा सारे समुद्र मिलकर एकार्णवरूप हो जायँ, बारहों आदित्य तपने लगें, तथापि मनोविहीन पुरुषकी कोई क्षति नहीं हो सकती। केवल सङ्कल्पहीनतारूपी एक साध्यसे समस्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, तत्पदका आश्रय लेकर सङ्कल्प-हीनताके विस्तृत साम्राज्यमें स्थित हो जाओ। कहीं भी अचञ्चल मन नहीं दिखलायी देता। चञ्चलता मनका धर्म है, जैसे अग्निका धर्म उष्णता है। यही चञ्चला स्पन्दन-शक्ति चित्तत्वमें स्थित है अर्थात् चित्तका धर्म है; इसी मानसिक शक्तिको जगत्-प्रपञ्चका स्वरूप समझना चाहिये। जो मन चञ्चलताहीन हो जाता है, वह अमृतरूप कहलाता है; वही तप है। उसे ही शास्त्रीय सिद्धान्तमें मोक्ष कहते हैं। मन-की जो चञ्चलता है, वह अविद्या है; वासना उसका स्वरूप है। शत्रुरूपिणी उस वासनाको विचारके द्वारा नष्ट करना चाहिये ॥ ८८—१०२ ॥

'निष्पाप मुनि! पुरुषार्थके द्वारा जिस लक्ष्यमें मनको लगाओ, उसे प्राप्तकर अर्थात् सविकल्प समाधिमें स्थित हो निर्विकल्प समाधिको प्राप्त करो। अतएव प्रयत्नपूर्वक चित्तको चित्त-के द्वारा वशमें करके, शोकहीन अवस्थाके आश्रयसे, आतङ्क-से मुक्त होकर शान्ति लाभ करे। मनका पूर्ण निरोध करनेमें विषयविहीन मन ही समर्थ होता है। राजाको पराजित करनेके कार्यमें राज्यविहीन राजा ही समर्थ होता है। जिन्हें तृष्णारूपी ग्राहने पकड़ रक्खा है, जो संसार-समुद्रमें गिरे हुए हैं, भँवरोंके जालमें पड़कर लक्ष्यसे दूर भटक रहे हैं, उनको बचानेके लिये अपना विषयविहीन मन ही नौकारूप है। ऐसे मनके द्वारा इस भारी बन्धनरूप मनके जालको काट डालो, और स्वयं संसारसागरके पार हो जाओ; दूसरेके द्वारा यह समुद्र पार नहीं किया जाता। अन्तःकरणको वासित (आच्छादित) करनेवाली मन-नामकी वासना जब-जब उदित हो, तब-तब प्राज्ञ (बुद्धिमान्) पुरुष उसका त्याग करे। इससे अविद्याका नाश होता है। एक भोगवासनाका पहले त्याग करो, उसके बाद भेद-वासनाका त्याग करो, उसके बाद भावाभाव दोनोंका त्याग करके विकल्पहीन होकर सुखी हो जाओ। इस मनका नाश ही अविद्यानाश कहलाता है। मनके द्वारा जो कुछ भी अनुभवमें आता हो, उस-उसमें आस्था न होने दो। आस्थाका त्याग कर देना ही निर्वाण है, और आस्थाको पकड़े रहना ही दुःख है। जो प्रज्ञाविहीन हैं, उन्हींमें अविद्या विद्यमान रहती

है। सम्यक् प्रज्ञावान् पुरुष नाममात्रके लिये भी कहीं अविद्याको अङ्गीकार नहीं करते। इस दुःख-कण्टकसे आकीर्ण संसाररूपी भ्रमजालमें तभीतक अविद्या अपने साथ शरीरीको निरन्तर भ्रमाती है, जबतक इसको नष्ट करनेवाली मोहनाशिका आत्मसाक्षात्कारकी इच्छा स्वयं उत्पन्न नहीं होती। अविद्या जब परतत्त्वकी ओर अवलोकन करती है, तब इसका अपने-आप विनाश हो जाता है। सर्वात्मबोध दृष्टिगत होनेपर अविद्या स्वयं ही विलीन हो जाती है। इच्छामात्र अविद्याका स्वरूप है, इच्छाके पूर्णतः नाशको ही मोक्ष कहते हैं और मुनि! इच्छाका नाश सङ्कल्पहीन होनेपर ही सिद्ध होता है॥ १०३—११६॥

'चित्ताकाशमें वासनारूपी रजनीके तनिक भी क्षीण होनेपर, चेतनारूपी सूर्यके प्रकाशसे कलिरूपी तम क्षीणताको प्राप्त हो जाता है। चित्त जब विषयोंके पीछे नहीं पड़ता तथा सामान्यतः सर्वगामी बन जाता है, तब चित्तकी ऐसी अनिर्वचनीय अवस्था ही आत्मा और परमेश्वरनामसे अभिहित होती है। यह सब कुछ निश्चय ही ब्रह्म है। वह नित्य और चिद्घनस्वरूप है। वह अव्यय है। इसके सिवा जो दूसरी मन नामकी कल्पना है, वह कहीं है ही नहीं। केवल भ्रममात्र है। इस त्रिलोकीमें न कोई जन्मता है न मरता है। ये जो भावविकार दीख पड़ते हैं, इनका कहीं अस्तित्व नहीं है। एकमात्र, केवल आभासरूप, सर्वव्यापी, अव्यय और चित्तके विषयोंके पीछे न दौड़नेवाले केवल चिन्मात्रकी ही सत्ता यहाँ है। उस नित्य, व्यापक, शुद्ध, चिन्मात्र, उपद्रवशून्य, शान्त, शमस्वरूपमें स्थित निर्विकार चिदात्मामें स्वयं चित् ही जो स्वभावानुसार सङ्कल्प करके दौड़ता है, वह चैत्य अर्थात् चित्की सङ्कल्पावस्था स्वयं दोषरहित होते हुए भी मनन करनेके कारण मन कहलाती है। अतएव सङ्कल्पके द्वारा सिद्ध मन सङ्कल्पके द्वारा ही विनाशको प्राप्त होता है॥ ११७—१२३॥

'मैं ब्रह्म नहीं हूँ, इस सङ्कल्पके सुदृढ़ हो जानेसे मन बन्धनमें पड़ता है; तथा 'सब कुछ ब्रह्म ही है' इस सङ्कल्पके सुदृढ़ होनेपर मन मुक्त हो जाता है। 'मैं दुबला हूँ, दुःखग्रस्त हूँ, मैं हाथ-पैरवाला हूँ'—इस भावके अनुकूल व्यवहारसे जीव बन्धनमें पड़ता है। 'मैं दुःखी नहीं हूँ; मेरा शरीर नहीं, आत्मतत्त्वमें स्थित मुझको बन्ध कहाँ!'—इस प्रकारके व्यवहारमें लीन मन मुक्त हो जाता है। 'मैं मांस नहीं, मैं अस्थि नहीं, मैं देहसे परे दूसरा ही तत्त्व हूँ'—इस प्रकारका निश्चय कर लेनेपर जिसके अन्तःकरणसे अविद्या क्षीण हो गयी है, वह मुक्तिको प्राप्त होता है। अनात्म पदार्थमें आत्मभावना होनेसे यह अविद्या कल्पनामात्र है। परम पुरुषार्थ अर्थात् अभ्यास और वैराग्यका आश्रय लेकर बहुत बुद्धिमत्तापूर्वक, यत्नसे भोगकी इच्छाका दूरसे ही त्याग करके निर्विकल्प होकर सुखी हो जाओ। 'मेरा पुत्र, मेरा धन, मैं वह हूँ, यह हूँ, यह मेरा है'—यह सब वासना ही इन्द्रजाल फैलाकर विविध खेल कर रही है। तुम अज्ञ मत बनो, तुम ज्ञानी बनो; सांसारिक भावनाको नष्ट कर दो। अनात्म पदार्थमें आत्मभावना करके क्यों मूर्खकी भाँति रो रहे हो। यह मांसका पिण्ड, अपवित्र, मूक, जड शरीर तुम्हारा कौन है, जिसके लिये बलात् दुःख-सुखसे अभिभूत हो रहे हो? अहा! कितने आश्चर्यकी बात है कि जो ब्रह्म सत्य है, उसे मनुष्योंने भुला दिया है। तुम कर्तव्य-कर्मोंमें रत रहते हुए मनको कभी उनके प्रति रागानुरञ्जित मत होने दो। अहा! कैसी आश्चर्यकी बात है कि कमलनालके तन्तुओंसे पर्वत बाँध दिये गये हैं! जो अविद्या है ही नहीं, उसीके द्वारा यह विश्व अभिभूत हो रहा है। उस अविद्याके कारण तृणके समान तुच्छ जाग्रत् आदि तीनों जगत् वज्रवत् हो रहे हैं'॥ १२४—१३४॥

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

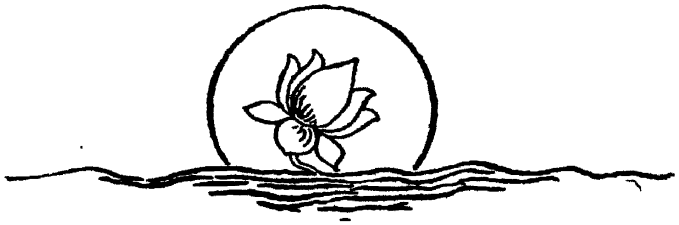

ॐ

पञ्चम अध्याय

ऋभुका उपदेश चालू

अज्ञान एवं ज्ञानकी सात भूमिकाएँ

महर्षि ऋभु बोले—'तात! इसके आगे मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे ठीक-ठीक सुनो। अज्ञानकी सात भूमिकाएँ होती हैं, और ज्ञानकी भी सात भूमिकाएँ होती हैं। इनके बीच असंख्य दूसरी भूमिकाएँ उत्पन्न होती हैं। स्वरूपमें अवस्थित होना मुक्ति है। अहं-भावना ही स्वरूपसे च्युत होना है। शुद्ध सत्तामात्र संवित् ही आत्माका स्वरूप है; उससे जो विचलित नहीं होते, उनमें अज्ञानसे उत्पन्न राग-द्वेष आदि दूषित भाव नहीं होते। स्वरूपसे च्युत होकर वासनार्थ जो चित्‌में डूबना है, उससे बढ़कर कोई दूसरा मोह न हुआ है और न होगा। एक विषयसे दूसरे विषयको जाते समय जो मध्यमें स्थिति होती है, वह ध्वस्तमननके आकारवाली स्वरूपस्थिति कहलाती है। सारे सङ्कल्पोंकी सम्यक् शान्तिसे शिलाके समान जो निश्चेष्ट स्थिति होती है, जो जाग्रत्-अवस्था तथा स्वप्नावस्थासे विनिर्मुक्त होती है, वह परा स्वरूपस्थिति कहलाती है। अहंताके क्षीण हो जानेपर, शान्त, चेतन तथा भेदभावसे शून्य जो चित्तकी अवस्था होती है, वह स्वरूपस्थिति कहलाती है॥ १—७॥

'मोह सात प्रकारका होता है—प्रथम बीज-जाग्रत् अवस्था, दूसरा जाग्रत् अवस्था, तीसरा महाजाग्रत् अवस्था, चौथा जाग्रत्स्वप्न अवस्था, पाँचवाँ स्वप्नावस्था, छठा स्वप्नजाग्रत् अवस्था और सातवाँ सुषुप्ति अवस्था। फिर, ये एक दूसरेसे श्लिष्ट होकर अनेक रूप धारण करते हैं। अब इनके पृथक्-पृथक् लक्षण सुनो। प्रथम, जो नामरहित निर्मल चेतनमें चित्‌की आगे होनेवाली चित्त, जीव आदि नाम, शब्द तथा अर्थकी पात्रतासे युक्त अवस्था होती है, वह बीजरूपमें स्थित जाग्रत्-अवस्था बीजजाग्रत् कहलाती है। यह ज्ञाताकी नवीन अवस्था होती है; अब तुम जाग्रत्की सम्यक् स्थितिकी बात सुनो। बीज-जाग्रत् अवस्थाके बाद 'यह मैं हूँ, यह मेरा है'—अपने भीतर जो ऐसी प्रतीति होती है, वह अतिरिक्त भावनाओंसे पहले होनेवाली मोहकी दूसरी जाग्रत् अवस्था कहलाती है। 'यह वह पुरुष है, मैं यह हूँ, वह मेरी वस्तु है' यह पूर्वजन्मोंका उदित हुआ पुष्ट प्रत्यय महाजाग्रत् कहलाता है। अरूढ़ अथवा रूढ़, सर्वथा मनोमय, जो मनकी काल्पनिक सृष्टि जाग्रदवस्थामें होती है, उसे जाग्रत्स्वप्न कहते हैं। एक चन्द्रमें दो चन्द्रोंका भान होना, शुक्ति (सीप) में रजतका भान होना, मृगतृष्णामें जलका भान होना—इत्यादि भेदसे अभ्यासको प्राप्त हुआ जाग्रत्स्वप्न अनेक प्रकारका होता है। थोड़ी देरतक मैंने देखा, अब यह दृष्टिगत नहीं हो रहा है—जिस अवस्थासे जागनेपर मनुष्यको इस प्रकारका परामर्श (स्मृति) होता है, वह स्वप्न कहलाता है। चिरकालतक साक्षात्कार न होनेके कारण जो पूर्ण विकासको नहीं प्राप्त हुआ, बड़ी-बड़ी बातोंवाला, देरतक टिकनेवाला स्वप्न जाग्रत्के समान ही उदित होता है, वह जाग्रत् अवस्थामें भी परिस्फुरित होनेवाला स्वप्न स्वप्नजाग्रत् कहलाता है। इन छः अवस्थाओंका परित्याग कर जीवकी जो जडात्मक अवस्थिति होती है, वह आनेवाले दुःखबोधसे युक्त अवस्था सुषुप्ति कहलाती है। उस अवस्थामें जगत् अन्तस्तममें लीन हो जाता है। ब्रह्मन्! मैंने अज्ञानकी इन सात भूमिकाओंको बतलाया। इनमें एक-एक सैकड़ों प्रकारकी विविध ऐश्वर्योंसे युक्त अवस्थाओंका रूप धारण करती है। अब हे निष्पाप पुत्र! ज्ञानकी जो सात भूमिकाएँ हैं, उनको सुनो, जिनको जान लेनेपर पुरुष पुनः मोह-पङ्कमें नहीं पड़ता॥ ८—२१॥

'सिद्धान्तवादी लोग योग-भूमिकाओंके बहुतेरे भेद बतलाते हैं, परंतु मुझे तो ये ही कल्याणप्रद सात भूमिकाएँ अभीष्ट हैं। इस प्रकार इन सात भूमिकाओंमें होनेवाले अवबोधको 'ज्ञान' कहते हैं; और इन भूमियोंके पश्चात् होनेवाली मुक्ति 'ज्ञेय' कही जाती है। शुभेच्छा नामकी पहली ज्ञानभूमि कहलाती है। दूसरी विचारणा कहलाती है। तीसरी तनुमानसी, चौथी सत्त्वापत्ति, उसके बाद पाँचवीं असंसक्ति, षष्ठी पदार्थाभावना तथा सप्तमी तुर्यगा है। इनके अन्तर्गत वह मुक्ति है, जिसे प्राप्तकर पुनः शोक नहीं करना पड़ता। अब तुम इन भूमिकाओंकी परिभाषा सुनो। 'मैं मूढ़ बनकर क्यों बैठा हूँ! शास्त्र तथा संतजनोंसे मैं जिज्ञासा करूँगा'—इस प्रकारकी वैराग्य-

से पूर्व जो इच्छा होती है, उसे ज्ञानीजन शुभेच्छा कहते हैं। शास्त्र तथा संतजनोंके सम्पर्कके कारण अभ्यास और वैराग्यके साथ-साथ जो सदाचरणकी प्रवृत्ति है, वह विचारणा कहलाती है। विचारणा और शुभेच्छाके द्वारा इन्द्रियोंके विषयोंमें अनुरक्ति जब क्षीणताको प्राप्त होती है, तब वह तनुमानसी अवस्था कहलाती है। इन तीनों भूमियोंके अभ्याससे वैराग्यके वशीभूत हो जब चित्त शुद्ध सत्त्वस्वरूपमें स्थित होता है, तब उसे सत्त्वापत्ति कहते हैं। इन चारों भूमियोंके अभ्याससे सत्त्वारूढ़ होकर चमकनेवाली जो संसर्गहीन कला है, वह असंसक्ति कहलाती है। इन पाँचों भूमियोंके अभ्यासके फलस्वरूप दृढ़तापूर्वक अपने आत्मामें ही रमण करते रहनेसे तथा आन्तर और बाह्य पदार्थोंकी भावना नष्ट हो जानेसे जिसमें दूसरोंके द्वारा चिरकालतक प्रयत्न करनेपर बाह्यज्ञान होता है, वह पदार्थाभावना नामकी षष्ठ भूमिका है। इन छः भूमियोंमें चिरकालतक अभ्यास करनेके बाद भेदबुद्धिका अभाव हो जानेके कारण जो आत्मभावमें एकनिष्ठा हो जाती है, वह तुर्यगा स्थिति कहलाती है। यही तुर्यावस्था जीवन्मुक्त पुरुषकी होती है। इसके पश्चात् जो तुर्यातीत अवस्था है, वह विदेहमुक्तिका विषय है। निदाघ! जो महाभाग्यवान् पुरुष सप्तमी भूमिकाका आश्रय ले चुके हैं, वे आत्मामें रमण करनेवाले महात्मा महान् पदको प्राप्त हो गये हैं। जीवन्मुक्त पुरुष सुख-दुःखके अनुभवकी स्थितिमें नहीं पड़ते। वे कभी कर्तव्य-कर्मोंमें लगे रहते हैं और कभी उनसे अलग हो जाते हैं। अपने पासके लोगोंके द्वारा चेताये जानेपर सोकर जगे हुएके समान उठकर, सनातन आचारोंका आचरण करने लगते हैं। ये सात भूमिकाएँ बुद्धिमान् पुरुषोंको ही ज्ञात होती हैं। इन ज्ञानावस्थाओंको प्राप्तकर जो पशु, म्लेच्छ आदि हैं, वे भी देह रहते या देह त्यागनेके बाद मुक्तिको प्राप्त करते हैं—इसमें सन्देह नहीं है। हृदयकी गाँठोंका खुल जाना ही ज्ञान है, और ज्ञान होनेपर ही मुक्ति होती है॥ २२—४०॥

'मृगतृष्णामें जलकी भ्रान्तिके समान अनात्ममें आत्मबुद्धि आदि अविद्याकी शान्ति ही मुक्ति है; जो मोहसागरसे पार हो गये हैं, उन्होंने ही परम पदको प्राप्त किया है। वे आत्मसाक्षात्कारकी प्राप्तिमें लगे हुए पुरुष इन भूमिकाओंमें स्थित होते हैं। मनकी पूर्णतः शान्तिके उपायको योग कहते हैं। उस योगकी सात भूमिकाएँ हैं और उन भूमिकाओंको ऊपर बतला आये हैं। इन भूमिकाओंका लक्ष्य है ब्रह्मपदकी प्राप्ति—जहाँ तू, मैं, अपने और परायेका कोई भाव नहीं रहता, न कोई भावात्मक बुद्धि होती है और न भावाभावका चिन्तन होता है। सब शान्त, आलम्बनशून्य, आकाशस्वरूप, शाश्वत, शिव, दोषरहित, भासमान न होनेवाला, अनिर्वचनीय, कारणहीन, न सत् न असत्, न मध्य न अन्त, सम्पूर्ण नहीं और सम्पूर्ण भी, मन और वाणीके द्वारा अग्राह्य, पूर्णसे पूर्ण, सुखसे सुखतरस्वरूप, संवेदनमें न आनेवाला, पूर्ण शान्त, आत्मसाक्षात्कारस्वरूप तथा व्यापक ब्रह्मका स्वरूप है। समस्त जागतिक पदार्थोंकी सत्ता आत्मसंवेदनके अतिरिक्त दूसरी कुछ नहीं है॥ ४१—४७॥

'द्रष्टा और दृश्यका सम्बन्ध होनेपर बीचमें दृष्टिका जो स्वरूप होता है, वह द्रष्टा, दृश्य तथा दर्शनकी त्रिपुटीसे वर्जित साक्षात्काररूप स्थिति होती है। चित्त जब एक देशसे दूसरे देशको जाता है, तब बीचमें जो चित्तकी स्थिति होती है, उस जाड्यविहीन संविद्रूप मननमें सदा तन्मय रहो। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिसे परे जो तुम्हारा सनातन स्वरूप है, उस जड-चेतनरहित स्थितिमें सदा तन्मय रहो। एक जडताको छोड़कर—क्योंकि वह पत्थरका हृदय है, पाषाणरूपताकी प्राप्ति है—उससे रहित जो अमनस्क स्थिति है, सदा उसमें तन्मय रहो। चित्तको दूरसे त्यागकर जिस किसी स्थितिमें हो, उसीमें स्थिर रहो। परमात्मतत्त्वसे पहले मन निकला। तत्पश्चात् मनसे ही विकल्पजालसे पूर्ण यह जगत् विस्तृत हुआ। हे विप्र! शून्यसे भी शून्य उत्पन्न होता है, जैसे आकाश शून्य है और उससे सुन्दर लगनेवाली नीलिमा उल्लसित होती है। सङ्कल्पके नाश हो जानेके कारण जब चित्त गलित हो जाता है, तब संसारके मोहका कुहासा भी गल जाता है। तब शरद्के आनेपर स्वच्छ आकाशके सदृश वह अजन्मा, सबका आदि और अनन्त एक चिन्मात्र विभासित हो उठता है। बिना कर्ताके और बिना रंगके आकाशमें चित्र उठ आया। बिना द्रष्टाके, स्वानुभव, निद्राविहीन स्वप्नदर्शन हो रहा है। साक्षिस्वरूप, समानरूपसे स्वच्छ, निर्विकल्प, दर्पण-जैसे चिदात्मामें बिना इच्छाके तीनों जगत् प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। ब्रह्म एक है, चिदाकाशरूप है, सर्वस्वरूप है और अखण्डित है—चित्त-चाञ्चल्यकी शान्तिके लिये यत्नपूर्वक यह भावना करनी चाहिये। जिस प्रकार एक मोटी शिलापर रेखाएँ और उपरेखाएँ खिंची होती हैं, उसी प्रकार त्रैलोक्यसे खचित एक ब्रह्मको देखना चाहिये। किसी दूसरे कारणके न होनेपर यह जगत् उत्पन्न ही नहीं हुआ। अब मैंने जो जानना था, उसे जान लिया; जो अद्भुत देखना था, उसे देख लिया। चिरकालका

थका मैं विश्रामको प्राप्त हुआ। चिन्मात्रके अतिरिक्त और कुछ है नहीं, इस प्रकार समझो। इस समस्त जागतिक लीलासे विरत होकर तथा असन्दिग्ध भावसे चिन्मात्रको देखो ॥ ४८—५९ ॥

'जिन्होंने सङ्कल्प-जालको निरस्त कर दिया है, जो चित्तत्व-हीन परम पदको प्राप्त हैं, वे ही समस्त दोषोंसे निवृत्त हो ब्रह्म-को प्राप्त करते हैं; जो विमनस्कताको प्राप्त हो चुके हैं, वे शान्त चित्तवाले महाबुद्धिमान् हैं। वेदान्तविचारशील प्राणी, जिनके चित्तकी वृत्तियाँ क्षीण हो गयी हैं, मनश्चिन्तनके त्यागका अभ्यास करते-करते जिनका मन कुछ परिपक्व हो गया है, जो मोक्षका उपाय खोजनेवाले पुरुष हेय तथा उपादेय—दोनों प्रकारके दृश्योंका त्याग कर रहे हैं, जो नित्य द्रष्टा अर्थात् आत्मतत्त्वके साक्षात्कारमें लगे हैं तथा अद्रष्टा अर्थात् प्रपञ्चको नहीं देखते, जो विशेषरूपसे ज्ञातव्य परम तत्त्वमें जागरूक होकर जीवन धारण कर रहे हैं, जो रसमय तथा रस-हीन पदार्थोंमें अत्यन्त परिपक्व वैराग्यके कारण घने मोहसे युक्त संसार-पथमें सोये हुए हैं, वैराग्यकी तीव्रताके कारण पक्षीके जालके समान जिनका संसार-वासनाका जाल टूट गया है तथा हृदयकी ग्रन्थि शिथिल हो गयी है, ऐसे साधकोंका स्वभाव विज्ञानके द्वारा उसी प्रकार संशुद्ध हो जाता है, जिस प्रकार कातक (निर्मली) फलके द्वारा जल स्वच्छ हो जाता है। मन जब रागविहीन, अनासक्त, द्वन्द्वातीत तथा निरालम्ब हो जाता है, तब वह पिंजड़ेसे छूटे हुए पक्षीके समान मोहजालसे बाहर निकल जाता है। सन्देहरूप दुरात्मापन जिनका शान्त हो गया है, जो प्रपञ्चात्मक कुतूहलसे विरत हैं, उनका चित्त सब प्रकारसे पूर्ण होकर पूर्णचन्द्रके समान सुशोभित होता है ॥ ६०—६८ ॥

'न मैं हूँ और न यहाँ दूसरा कुछ है; मैं सब दोषोंसे रहित ब्रह्मस्वरूप हूँ—जो इस प्रकार सत् और असत्के मध्यसे देखता है, वही वस्तुतः देखता है। जिस प्रकार सहज ही प्राप्त हुए दर्शन, द्रष्टा तथा दृश्योंमें मन बिना रागके ही जाता है, उसी प्रकार धीर बुद्धिवाले कर्तव्य-कर्मोंमें बिना आसक्तिके ही लगे रहते हैं। भलीभाँति जानकर भोगा गया भोग उसी प्रकार तुष्टिका कारण बनता है, जिस प्रकार जानकर सेवा किया गया चोर चोरी छोड़कर मैत्रीका ही निर्वाह करता है। जिसकी मनमें शङ्का भी नहीं थी, ऐसे गाँवके मार्गमें आ जानेपर पथिक जिस दृष्टिसे उसे देखता है, उसी दृष्टिसे ज्ञानी पुरुष भोगके ऐश्वर्योंको देखते हैं। निग्रह किया हुआ मन अनायास प्राप्त हुए थोड़े-से भी भोगको, जो विस्तार-को नहीं प्राप्त हुआ है, क्लेशदायक होनेके कारण, बहुत अधिक समझता है। बन्धनसे मुक्त हुआ राजा भोजनके एक ग्रासमात्रसे सन्तुष्ट हो जाता है; परंतु वह यदि शत्रुके द्वारा आबद्ध न हो तथा आक्रान्त न हो तो राष्ट्र भी उसके लिये उपेक्षणीय हो जाता है। हाथसे हाथको संमर्दितकर, दाँत-से-दाँत पीसकर तथा अङ्गोंसे अङ्गोंको दबाकर, अर्थात् अपने सम्पूर्ण पराक्रम और उत्साहसे, पहले मनपर विजय प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। इस संसार-समुद्रमें मनपर विजय करनेके अतिरिक्त कोई दूसरी गति नहीं है। इस महानरकके साम्राज्यमें दुष्कृतरूपी मतवाले हाथी घूम रहे हैं। आशारूपी बाणों और बरछोंसे सजे-धजे इन्द्रियरूपी शत्रुओंका जीतना दुष्कर है। जिन्होंने चित्तके दर्पको नष्ट कर दिया है तथा इन्द्रियरूपी शत्रुओंको वशमें कर लिया है, उनकी भोग-वासना उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे हेमन्त ऋतुमें कमलका पौधा नष्ट हो जाता है। रात्रिमें वेतालके समान हृदयमें वासनाका तभीतक निवास है, जबतक एकाग्रताके अभ्यासद्वारा मनको जीत नहीं लिया जाता। विवेकी पुरुषका मन अभीष्ट कार्य करनेके कारण भृत्यके समान है, सारे प्रयोजनोंको सिद्ध करनेके कारण मन्त्रीरूप है और मेरे विचारसे समस्त इन्द्रियोंको वशमें करनेके कारण सामन्तरूप है। मेरे विचारसे मनीषी पुरुषका मन लालन करनेके कारण स्नेहशील ललनास्वरूप है तथा पालन करनेके कारण पालन करनेवाला पिता है। मनरूपी पिता शास्त्रदृष्टिसे तथा आत्मप्रकाश, आत्मबुद्धि एवं आत्मानुभवके द्वारा परम सिद्धिको प्रदान करता है। अत्यन्त हृष्ट, अत्यन्त दृढ़, स्वच्छ, भलीभाँति वशमें किया हुआ, भलीभाँति जाग्रत्, आत्मगुणोंसे तेजस्वी बनाया हुआ मनोरम मनरूपी मणि हृदयमें सुशोभित होता है। ब्रह्मन्! भाँति-भाँतिके पङ्कोंसे मलिन इस मनरूपी मणिको सिद्धिके लिये विवेकरूपी जलसे धोकर आलोकवान् बनो। श्रेष्ठ विवेकका आश्रय लेकर बुद्धिसे सत्यका साक्षात् (निश्चय) करके, इन्द्रियरूपी शत्रुओंको पूर्णतः छिन्नकर संसार-सागर-से पार हो जाओ ॥ ६९—८४ ॥

'केवल आस्थाको—संसारकी आशाको ही अनन्त दुःखोंका कारण जानो, और सर्वत्र केवल अनास्थाको सुखका घर समझो। वासनाके सूत्रसे बँधा हुआ यह संसार बारंबार होता है। वह प्रसिद्ध वासना-अत्यन्त दुःखका कारण बनती है और सुखका

उन्मूलन करनेके लिये आती है। जीव चाहे धीर हो, अत्यन्त बहुश्रुत हो, कुलीन हो, महान् हो, फिर भी वह तृष्णासे उसी प्रकार बँध जाता है, जैसे शृङ्खलासे सिंह बँध जाता है। परम पुरुषार्थका आश्रय लेकर और भलीभाँति उद्यम करते हुए शास्त्रानुसार शान्तिपूर्वक आचरण करता हुआ कौन पुरुष सिद्धिको नहीं प्राप्त करता। 'मैं ही अखिल विश्वरूप हूँ, मैं अच्युत परमात्मस्वरूप हूँ, मेरे सिवा और कुछ नहीं है'—इस प्रकारके ज्ञानद्वारा होनेवाला अहंभाव ही श्रेष्ठ है। 'मैं समस्त प्रपञ्चसे अतीत हूँ, बालके अग्रभागसे भी सूक्ष्म हूँ'—ब्रह्मन्! इस प्रकारके ज्ञानसे जो अहंकार होता है, वह दूसरा शुभप्रद अहंभाव है और वह मोक्षका कारण बनता है, बन्धनका नहीं। ऐसा अहंभाव जीवन्मुक्त पुरुषोंको ही होता है। 'हाथ-पैर आदिसे युक्त यह शरीरमात्र मैं हूँ'—इस प्रकारका निश्चय तीसरा लौकिक अहङ्कार है और यह अत्यन्त तुच्छ है। यह अहंकारात्मक दुरात्मा जीव ही संसाररूपी दुःखद वृक्षका मूल है। इससे मारा गया प्राणी अधःपतनकी ओर ही दौड़ता है। इस दुःखद अहङ्कारको त्यागकर और चिरकालतक शुभ अहङ्कारकी भावनामें लगा हुआ प्राणी शमयुक्त होकर मुक्तिको प्राप्त होता है। पहले कहे गये दो अलौकिक अहङ्कारोंको अङ्गीकार करके तीसरे दुःखद लौकिक अहङ्कारको त्याग देना चाहिये। पश्चात् उनको भी छोड़कर जो सब प्रकारके अहङ्कारोंसे रहित होकर स्थित है, वही उच्च पदको प्राप्त होता है॥ ८५–९६॥

'भोगकी इच्छामात्र ही बन्धन है और उसका त्याग ही मोक्ष कहलाता है। मनकी उन्नति उसके विनाशमें है। मनोनाश महाभाग्यवान्का लक्षण है। ज्ञानी पुरुषके मनका नाश हो जाता है। अज्ञानीके लिये मन बन्धनरूप है। ज्ञानीका मन न आनन्दरूप है न आनन्दरहित है; न चल है, न अचल और न स्थिर ही है; वह न सत्रूप है, न असत्रूप ही और न इनके बीचकी ही स्थितिमें रहता है। जैसे चित्में प्रकाशित होनेवाला आकाश सूक्ष्मताके कारण दिखलायी नहीं देता, उसी प्रकार अखण्ड चेतनसत्ता सर्वव्यापी होते हुए भी दृष्टिगोचर नहीं होती। सारे सङ्कल्पोंसे रहित, सारी संज्ञाओंसे शून्य यह चिदात्मा अविनाशी तथा स्वात्मा आदि नामोंसे व्यक्त किया जाता है। जो ज्ञानियोंकी दृष्टिमें आकाशसे भी सौगुनी स्वच्छ, निर्मल तथा निष्कल-रूप (अवयवरहित) है, एवं जो सकल एवं निर्मल संसारके रूपमें एकमात्र अपना ही दर्शन कराती है—इस प्रकारकी चित्, चेतनसत्ता न अस्त होती है न उदय होती है; न उठती है न स्थिर रहती है; न जाती है न आती है; न यहाँ है और न यहाँ नहीं है। वह चित् अर्थात् चेतनसत्ता विकल्परहित, निरालम्ब और निर्मल स्वरूपवाली है। गुरुको चाहिये कि प्रारम्भमें शम-दम आदि गुणोंके द्वारा शिष्यके अन्तःकरणको शुद्ध करे। पश्चात् 'यह सब कुछ ब्रह्मरूप है और तुम शुद्ध ब्रह्मस्वरूप हो' ऐसा बोध प्रदान करे। अज्ञानी पुरुषको तथा जो अर्द्ध-जाग्रत् है, उसे जो कहता है कि 'सब ब्रह्म ही है', वह उसे महानरकजालमें ढकेल देता है। जिसकी बुद्धि जाग्रत् हो गयी है, भोगकी इच्छा नष्ट हो गयी है, तथा जो सर्वथा आकाङ्क्षारहित हो गया है—ऐसे पुरुषको प्राज्ञ गुरु वेदान्तका यह उपदेश दे कि अविद्यारूप मल है ही नहीं। जिस प्रकार दीपकके होनेपर ही प्रकाश होता है, सूर्यनारायणके होनेपर ही दिन होता है, पुष्पके होनेपर ही सुगन्ध होती है, उसी प्रकार चित्—चेतनके ऊपर ही जगत्की स्थिति है। यह जगत् वास्तवमें है नहीं, केवल भासता है। जब तुम्हारी ज्ञान-दृष्टि निर्मल—आवरणशून्य हो जायगी, ज्ञानका सब ओर प्रकाश हो जायगा तथा तुम अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओगे, तभी तुम मेरे उपदेशके बलाबलको ठीक-ठीक जान सकोगे॥ ९७–१०७॥

'स्वार्थनाशके लिये उद्यम करना ही जिसका एकमात्र प्रयोजन है, ऐसी श्रेष्ठ अविद्याके द्वारा ही, ब्रह्मन्! सब दोषोंको हर लेनेवाली विद्याकी प्राप्ति होती है। अस्त्रके द्वारा अस्त्रका शमन होता है तथा मलके द्वारा मल धोया जाता है; विषके द्वारा विषका शमन होता है, शत्रुके द्वारा शत्रु मारा जाता है। इसी प्रकारकी यह भूतमाया है, जो अपने नाशसे ही हर्ष प्रदान करती है। इसका स्वरूप दिखलायी नहीं देता, दिखलायी देते ही यह नष्ट हो जाती है। परमार्थतः यह माया है ही नहीं—इस प्रकारकी दृढ़ भावनाके साथ 'सब ब्रह्म ही है'—ऐसी जो अन्तर्भावना होती है, वही मुक्ति प्रदान करती है। यह भेददृष्टि ही अविद्या है। इसका सर्वथा त्याग करना चाहिये॥ १०८–११३॥

मुने! (मायाके द्वारा) जो नहीं प्राप्त होता है, वह अक्षयपद कहलाता है। द्विज! यह माया किससे उत्पन्न हुई—यह तुम्हें नहीं विचारना है। 'मैं इसे किस प्रकार नष्ट करूँ'—यही तुम्हें विचार करना है। इसके क्षीण होकर नष्ट हो जानेपर तुम उस अक्षयपदको जान सकोगे। जहाँसे यह प्रकट होती है, जैसा इसका स्वरूप है, जिस प्रकार यह नष्ट होगी—अर्थात् निदान, लक्षण और शमनके

उपायका विचार करते हुए, इस रोगके घर अर्थात् अविद्याकी चिकित्साके लिये पूरा प्रयत्न करो, जिससे यह जन्म अर्थात् आवागमनके कष्टोंमें तुम्हें बारंबार न डाले, और चित्‌रूपी समुद्र अपने-आपमें स्वच्छ आत्मपरिस्पन्दनके द्वारा विभासित हो उठे। 'वह चित्-सत्ता एक अखण्ड स्वरूपवाली है'—इस प्रकार अपने भीतर दृढ़ भावना करनी चाहिये। वह चित्-शक्ति चिन्मय समुद्रमें किञ्चित् क्षुभित हो रही है। समुद्रमें लहरोंके समान वहाँ स्वच्छ चिन्मय तरङ्ग ही उठ रहे हैं। अपने-आप आकाश-सरोवरमें जैसे वायु लहराता है, उसी प्रकार स्वात्मामें ही आत्मशक्तिसे आत्मा तरङ्गायमान होता है। सर्व-शक्तिमत्ताके कारण इस प्रकारकी दैवी स्फुरणा क्षणमात्रके लिये होती है। देश, काल और क्रियाकी शक्ति जिसको चलायमान करनेमें समर्थ नहीं होती, वह आत्मशक्ति अपने स्वभावको जानकर उच्च अनन्त पदमें स्थित है। यह चित्-शक्ति जाननेमें न आनेके कारण परिमित-सी होकर रूपकी भावना करती है। उस परम आकर्षक-शक्तिके द्वारा जब इस प्रकार रूपकी भावना होती है, उसी समय उसके पीछे नाम और संख्या आदि दृष्टियाँ लग जाती हैं। ब्रह्मन्! विकल्पके रूपको धारण करनेवाला तथा देश, काल और क्रियाका आधारभूत जो चित्-शक्तिका रूप है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है। पुनः वह भी वासनाओंकी कल्पना करता हुआ अहङ्कारका रूप धारण करता है। अहङ्कार जब निश्चयात्मक एवं दोषयुक्त हो जाता है, तब वह बुद्धि कहलाता है। और बुद्धि जब सङ्कल्पका रूप ग्रहण करती है, तब मननास्पद मन बनती है। मन जब घने विकल्पमें पड़ता है, तब शनैः-शनैः इन्द्रियरूप ग्रहण करता है। हाथ-पैरयुक्त शरीरको बुद्धिमान् पुरुष इन्द्रिय कहते हैं। इस प्रकार जीव सङ्कल्प और वासनाकी रज्जुओंसे बँधकर दुःखजालमें फँसा हुआ क्रमशः अधोगतिको प्राप्त होता है। इस तरह शक्तिमय चित् घने अहङ्कारको प्राप्त होकर रेशम बनानेवाले कीड़ेके समान स्वेच्छासे बन्धनमें पड़ता है। अपने ही द्वारा कल्पित तन्मात्ररूपी जालके भीतर रहकर, शृङ्खलामें बँधे हुए सिंहके समान, चित्-शक्ति अत्यन्त विवशताको प्राप्त हो जाती है। आत्मा ही कहीं मन, कहीं बुद्धि, कहीं ज्ञान, कहीं क्रिया, कहीं अहङ्कार और कहीं चित्तके नामसे जाना जाता है। कहीं इसे प्रकृति कहते हैं, और कहीं 'माया है' ऐसी कल्पना करते हैं। कहीं यह बन्धनके नामसे प्रसिद्ध है और कहीं पुर्यष्टक कहलाता है। कहीं इसे अविद्या कहते हैं और कहीं 'इच्छा' माना जाता है। यह आशा-पाशका निर्माण करनेवाले अखिल विश्वको उसी प्रकार धारण करता है, जैसे भीतर फलविहीन वटबीज वटको धारण करता है॥ ११४—१३३॥

'चिन्तारूपी अग्निशिखासे दग्ध, क्रोधरूपी अजगरके द्वारा चबाये हुए, कामरूपी समुद्रके कल्लोलमें स्थित तथा अपने पिता-महं आत्माको भूले हुए इस मनका, ब्रह्मन्! कीचड़से फँसे हाथीके समान उद्धार करो। प्रपञ्चकी भावनासे व्याप्त इस प्रकारके जीवाश्रित भाव ब्रह्मके द्वारा लाखों, करोड़ों तथा असंख्य रूपोंमें कल्पित होकर पहले उत्पन्न हो चुके हैं, और आज भी चारों ओर उत्पन्न हो रहे हैं, तथा निर्झरसे उत्पन्न जलकणोंके समान और भी उत्पन्न होते रहेंगे। कुछ तो प्रथम ही उत्पन्न हो रहे हैं और कुछ भाव सौसे अधिक बार उत्पन्न हो चुके हैं; कोई असंख्य जन्म ग्रहण कर चुके हैं और किन्हींके दो-ही-तीन जन्म हुए हैं। कोई किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर एवं नागरूपमें प्रकट हैं; कोई सूर्य, चन्द्र, वरुण, शिव, हरि एवं ब्रह्मारूप बन रहे हैं। कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्ररूपमें स्थित हैं। कोई तृण, ओषधि, वृक्ष, फल, मूल एवं पत्रके रूपमें हैं। कोई कदम्ब, नीबू, आम, ताड़ तथा तमाल वृक्ष बन रहे हैं। कोई महेन्द्र, मलय, सह्य, मन्दर, मेरु आदि पर्वतोंका आकार धारण किये हुए हैं। कोई खारे समुद्र, तथा कोई दूध, घृत, ईखके रस तथा जलकी राशिके रूपमें अवस्थित हैं। कोई विशाल दिशाओंका रूप धारण किये हुए हैं। कोई महान् वेगशाली नदियोंके रूपमें हैं। कोई हाथसे फेंके जानेवाले गेंदके समान मृत्युके द्वारा बारंबार ताड़ित होकर आकाशमें ऊपर उठते और नीचे गिरते रहते हैं। कोई-कोई मूर्ख मनुष्य विवेकको प्राप्त करके भी सहस्रों जन्म भोगकर पुनः संसाररूपी सङ्कटमें पड़ते हैं। दिशा और कालके द्वारा अनवच्छिन्न आत्मतत्त्व अपनी शक्तिसे सहज ही दिशा और कालके द्वारा आकलित जो शरीर ग्रहण करता है, वही जीवके पर्यायभूत वासनाके आवेशसे संकल्पोन्मुख चञ्चल मनका रूप धारण करता है। वह सङ्कल्पात्मिका मनःशक्ति क्षणमात्रमें निर्मल आकाशकी भावना करती है, उसमें शब्दबीज अङ्कुरोन्मुख रहता है। तत्पश्चात् वही मन और भी घनीभूत होनेपर घने स्पन्दनके क्रमसे वायुके स्पन्दनकी भावना करता है। उसमें स्पर्श-बीज अङ्कुरोन्मुख रहता है। उसके बाद दृढ़ अभ्यासके द्वारा शब्द और स्पर्शरूप आकाश और वायुके संघर्षसे अग्नि उत्पन्न होती है। वह रूप-तन्मात्राके साथ मिलकर तीन गुणोंसे युक्त होती है। उन तीनों गुणोंके साथ संयुक्त हुआ मन रस-तन्मात्राका अनुभव करता हुआ क्षणमात्रमें जलकी शीतलताका चिन्तन करता है। इससे उसे जलका अनुभव होता है। पश्चात् उन चार गुणोंसे युक्त होकर मन दूसरे ही क्षण गन्ध-तन्मात्राकी भावना करता है, इससे उसे पृथ्वीका अनुभव होता है। इस प्रकार पाँचों तन्मात्राओंसे घिरकर सूक्ष्मताका त्याग करता हुआ वह आकाशमें अग्निकणोंके आकारमें स्फुरित शरीरको देखता है।

वही अहङ्कारकी कलाओंसे युक्त और बुद्धि-बीजसे समन्वित पुर्यष्टक कहलाता है, जो प्राणियोंके हृत्कमलमें मँडरानेवाले षट्पदके समान है। उसमें तीव्रसंवेगके द्वारा तेजस्वी शरीरकी भावना करता हुआ मन उसी प्रकार स्थूलताको प्राप्त होता है, जैसे पाकके द्वारा बिल्वफल। स्वच्छ आकाशमें, मूषा (सोना गलानेके पात्र) में पिघले सोनेके समान स्फुरित होकर वह तेज अपने स्वभावके द्वारा ही गठित होने लगता है। उसका ऊपरी भाग सिरके पिण्डके समान तथा अधोभाग पैरके समान हो जाता है तथा दोनों पार्श्वोंमें बाहुकी आकृतियाँ एवं मध्यमें उदरका आकार समयानुसार व्यक्त होकर शुद्ध शरीररूप धारण करते हैं। वे ही बुद्धि, वीर्य, बल, उत्साह, विज्ञान और ऐश्वर्यसे युक्त होकर सब लोकोंके पितामह भगवान् ब्रह्मा बनते हैं ॥ १३४–१५७ ॥

'भूत, भविष्य और वर्तमानको स्पष्ट देखनेवाले भगवान् ब्रह्माजी अपने उत्तम और सुन्दर शरीरको देखकर सोचने लगे कि इस चिन्मात्र आत्मस्वरूपी परमाकाशमें, जिसका ओर-छोर नहीं दिखायी देता, पहले क्या होना चाहिये। इस प्रकार चिन्तन करते ही तत्काल उन्हें निर्मल आत्म-दृष्टि प्राप्त हुई। उन्होंने अतीत कालके अनेकों सर्गोंको देखा तो समस्त धर्मों और गुणोंके सारे क्रम उन्हें स्मरण हो आये। उन्होंने लीलासे ही नाना प्रकारके आचारोंसे युक्त भाँति-भाँतिकी प्रजाको आकाशमें गन्धर्व-नगरके समान सङ्कल्पसे उत्पन्न कर दिया। उनके स्वर्ग और अपवर्गके लिये तथा धर्म, काम और अर्थकी सिद्धिके लिये अनन्त चित्र-विचित्र शास्त्रोंकी कल्पना की। ब्रह्मारूपी मन-की कल्पनासे जगत्की स्थिति होनेके कारण ब्रह्माके जीवनके साथ ही इसकी स्थिति है, उनके नाशके साथ यह भी नाशको प्राप्त होता है। द्विजवर! वास्तवमें कहीं कोई न उत्पन्न होता है और न मरता है। सब कुछ मिथ्या दीख पड़ता है। यह विश्व-प्रपञ्च आशारूपी सर्पिणियोंकी पिटारी है। इसका त्याग करो। 'यह असत् है' यों जानकर मातृभावमें स्थित हो। अर्थात् मैं ही इसका उत्पादक हूँ, ऐसी भावना करो। गन्धर्वनगर भूषित हो या अभूषित—वह जिस प्रकार तुच्छ है, उसी प्रकार अविद्याके अंशस्वरूप सुत-दारा आदि-की स्थिति है। फिर इनके लिये सुख-दुःख क्या करना। धन-दारा आदि प्रपञ्चका बढ़ना दुःखमय है। इसमें संतुष्ट होनेकी कोई बात नहीं है। मोह-मायाके बढ़नेपर, भला, इस लोकमें किसको शान्ति मिली है। जिन वस्तुओंकी अधिकतासे मूर्खको अनुराग होता है, उन्हींकी प्राप्तिसे प्राज्ञ पुरुषको वैराग्य उत्पन्न होता है। अतएव, तत्त्वज्ञानी निदाघ! सांसारिक व्यवहारोंमें जो-जो नष्ट होता जाय, उसकी उपेक्षा करते चलो और जो-जो प्राप्त होता जाय, उसे ग्रहण करते जाओ। जो भोग प्राप्त नहीं हैं, स्वभावतः उनकी इच्छा न करना तथा जो प्राप्त हैं, उनका उपभोग करना—यही पण्डितका लक्षण है। सत् और असत्के मध्यमें शुद्ध पदको जानकर तथा उसका अवलम्बन करके आभ्यन्तर तथा बाह्य दृश्योंको न तो ग्रहण करो और न त्याग करो। कर्ममें स्थित जिस ज्ञानी पुरुषकी इच्छा और अनिच्छा समान हैं, उसकी बुद्धि जलमें पद्मपत्रके समान लिपाय-मान नहीं होती। ब्राह्मण! यदि ऐन्द्रिय विषयोंका विभव तुम्हारे हृदयमें स्पन्दित नहीं होता, तो तुम ज्ञातव्य पदार्थको जानकर संसार-सागरसे समुत्तीर्ण हो गये। उच्चपदकी प्राप्तिके लिये अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्वक वासनारूपी पुष्पोंसे गन्ध लेकर उससे शीघ्र ही अपनी चित्तवृत्तिको दूर हटा लो ॥ १५८–१७५ ॥

'वासनारूपी जलसे पूर्ण, इस संसार-सागरमें जो प्रज्ञारूपी नौकापर आरूढ़ हैं, वे विद्वान् दूसरे पार पहुँच गये हैं। संसार-रूपी समुद्रको जाननेवाले पुरुष सांसारिक व्यवहारका न तो त्याग करते हैं न उसकी आकाङ्क्षा ही करते हैं। वे सारे व्यवहारोंका अनासक्तरूपसे निर्वाह करते हैं। सत्तासामान्य अनन्त आत्मतत्त्व-रूप चेतनका जो विषयोन्मुख होना है, उसी-को विज्ञ पुरुष सङ्कल्पका अङ्कुर मानते हैं। वह सङ्कल्प थोड़ी-सी सत्ता प्राप्त करके जब शनैः-शनैः घनीभूत होता है, तब वह बादलके समान दृढ़ होकर चित्ताकाशको आच्छन्न करके जडताका कारण बनता है। चेतन विषयोंको अपनेसे पृथक्की भाँति समझता हुआ, जिस प्रकार बीज अङ्कुरावस्था-को प्राप्त होता है, वैसे ही सङ्कल्पावस्थाको प्राप्त होता है। सङ्कल्पसे सङ्कल्प-क्रिया स्वयं ही उत्पन्न होती है और स्वयं ही शीघ्र-शीघ्र बढ़ती है। वह दुःखका ही कारण बनती है, सुख प्रदान नहीं करती। चित्तमें सङ्कल्पकी क्रिया-को रोको। स्थितिमें पदार्थोंकी भावना मत करो; क्योंकि सङ्कल्पका नाश करनेके लिये जिसने कमर कस ली है, वह पुनः उनका अनुगमन नहीं करेगा। भावनाका केवल अभाव हो जानेपर सङ्कल्प स्वयं ही नष्ट हो जाता है। मुनि! सङ्कल्पके द्वारा ही सङ्कल्पको और मनके द्वारा मनको छिन्न करके तुम अपने आत्मस्वरूपमें स्थित हो जाओ; इसमें दुष्कर ही क्या है? क्योंकि जिस प्रकार यह आकाश शून्य है, उसी प्रकार यह जगत् शून्य है। जिस प्रकार धानका छिलका तथा ताँबेकी कालिमा क्रियासे नष्ट हो जाती है, विप्र! उसी प्रकार पुरुषका मलरूपी दोष क्रियासे दूर हो जाता है। धानके छिलके-की भाँति जीवका मल उसके स्वभावगत है, तथापि वह नष्ट अवश्य हो जाता है—इसमें सन्देह नहीं है। अतएव उद्योगी बनो' ॥ १७६–१८६ ॥

॥ पञ्चम अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

ॐ

षष्ठ अध्याय

ऋभुका उपदेश चालू

'अन्तरकी आस्थारूप एवं भावनामय भावोंकी सम्पत्तिका त्याग करके, हे निष्पाप! तुम जो हो, उसी स्थितिमें इस जगत्में सुखसे विचरण करो। 'मैं सर्वत्र अकर्ता हूँ'—इस भावनाकी दृढ़तासे वह परम अमृता नामकी समता ही शेष रहती है। खेद तथा उल्लासके विलास अपने ही किये हुए हैं—इस भावनासे अपने सङ्कल्पके क्षीण होनेपर समता ही अवशिष्ट रह जाती है। समस्त पदार्थोंमें समताकी जो सत्यनिष्ठ स्थिति है, उसमें चित्तके भलीभाँति स्थित होनेपर वह पुनः आवागमनका कारण नहीं बनता। अथवा मुनि! समस्त कर्तृत्व तथा अकर्तृत्वका त्याग करके, मनको पीकर, तुम जो हो, उसी स्थितिमें स्थिर हो जाओ। अन्तमें समाधिस्थ होकर जिससे तुम त्याग करते हो, उसका भी त्याग कर दो। चेतनने ही मनः-संकल्पका आकार धारण कर रक्खा है तथा वही प्रकाश एवं अन्धकार बना हुआ है। अतः वासना करनेवालेका प्राणस्पन्दनके साथ-साथ समूल त्याग करके आकाशके समान निर्लेप एवं प्रशान्तचित्त हो जाओ। हृदयसे सारी वासनाओंका त्याग करके जो निराकुल होकर रहता है, वह मुक्त है; वह परमेश्वर है। उसने दसों दिशाओंमें भ्रान्तिके वश होकर घूमते हुए समस्त द्रष्टव्य पदार्थोंको देख लिया। युक्तिपूर्वक आचरण करनेवाले ज्ञानी पुरुषके लिये यह संसार गोष्पदके समान सहज ही तरनेयोग्य हो जाता है। शरीरके बाहर तथा भीतर, नीचे-ऊपर तथा दिशाओंमें—इधर-उधर, सर्वत्र आत्मा ही आत्मा है। उसके लिये जगत् अनात्ममय नहीं होता॥१—१०॥

'वह स्थान नहीं है, जहाँ मैं नहीं हूँ, और वह वस्तु नहीं है, जो आत्ममय न हो। मैं दूसरी किस वस्तुकी इच्छा करूँ, सब कुछ सत् और चिन्मय होकर व्याप्त है। यह सब कुछ निश्चयपूर्वक ब्रह्म ही है, यह सब आत्मा ही व्याप्त हो रहा है। हे निष्पाप! मैं और हूँ, यह और है—इस प्रकारकी भ्रान्तिको छोड़ दो। व्यापी और नित्य घनब्रह्ममें कल्पित भावोंकी सम्भावना नहीं है। इसमें न शोक है न मोह है, न जरा है न जन्म है। जो आत्मतत्त्वमें है, वही है; अतएव सर्वदा सर्वत्र किसी वस्तुकी इच्छा न करते हुए तथा जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीको अनासक्त होकर भोगते हुए सन्ताप-हीन होकर रहो। त्याग और ग्रहणका परित्याग करके सर्वदा विगतज्वर होकर रहो। हे महामतिमान्! जिसका यह अन्तिम जन्म है, उसमें शीघ्र ही, वंशमें श्रेष्ठ मुक्ताके समान, निर्मल विद्या प्रवेश करती है। विरक्त चित्तवालोंकी, सम्यक्रूपसे, स्वानुभूतिसे प्रकट की गयी यह बात है कि द्रष्टाको दृश्यके सम्बन्धसे जो निश्चयात्मिका आनन्द-प्रतीति होती है, उस अपने आत्मतत्त्वसे उत्पन्न स्पन्दनकी हम सम्यक् रीतिसे उपासना करते हैं। वासनाओंके साथ द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—इन तीनोंका त्याग करके साक्षात्कारके रूपमें भासमान आत्माकी हम सम्यक् उपासना करते हैं। अस्ति और नास्ति—इन दोनों पक्षोंके बीचमें स्थित, प्रकाशोंको भी प्रकाशित करनेवाले, शाश्वत आत्माकी हम सम्यक् उपासना करते हैं। अपने हृदयमें स्थित महेश्वरको छोड़कर जो अन्य वस्तुकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करते हैं, वे अपने हाथमें स्थित कौस्तुभ-मणिका त्याग करके दूसरे रत्नकी इच्छा करते हैं। इन इन्द्रियरूपी शत्रुओंको—चाहे ये उठे हुए हों या न हों—बारंबार विवेकरूपी दण्डसे उसी प्रकार मारना चाहिये, जैसे इन्द्र वज्रसे पहाड़ोंको मार गिराते हैं॥ ११—२१॥

'संसाररूपी रात्रिके दुःस्वप्नरूप एवं सर्वथा शून्य इस देहमय भ्रममें जो कुछ प्रपञ्चका प्रसार देखा, सब ही अपवित्र देखा। बाल्यजीवनमें अज्ञानसे आबद्ध रहा, यौवनमें वनिताद्वारा मारा गया; अब अन्तमें यह नराधम स्त्री-पुत्रकी चिन्तामें दुखी होकर क्या कर सकता है। सत्के सिरपर असत् स्थित है। रमणीय भावोंके ऊपर अरमणीयता सवार है। सुखोंके सिर-पर दुःख स्थित हैं। मैं किस एकका आश्रय लूँ? जिनके निमेष और उन्मेषसे जगत्का संहार और सृष्टि होती है, इस प्रकारके पुरुष भी जब कालके गालमें चले जाते हैं, तब मुझ-जैसों-की तो गणना ही क्या है। संसार ही दुःखोंकी अन्तिम सीमा कही गयी है, उसमें शरीरके पड़े रहनेपर सुखास्वादन कैसे हो सकता है? मैं जाग गया हूँ, मैं जाग गया हूँ। मेरी आत्माको चुरानेवाला दुष्ट चोर यह मन ही है। मनने मुझको चिरकाल-से चुरा लिया है। मैं इसको मार डालूँगा। हेय पदार्थोंके लिये खेद न करो, उपादेय पदार्थोंमें अनुरक्त मत होओ। हेय और उपादेयसम्बन्धी दृष्टिका त्यागकर शेषमें स्थित होकर सुस्थिर हो जाओ। संसारकी ओरसे निराशा, निर्भयता, नित्यता,

समता, अभिज्ञता, निष्कामता, निष्क्रियता, सौम्यता, निर्विकल्पता, धृति, मैत्री, संतोष, मृदुता तथा मृदुभाषिता प्रभृति गुण वासनासे विहीन तथा हेयोपादेयसे मुक्त ज्ञानी पुरुषमें रहते हैं। तृष्णारूपी भीलनीके फैलाये हुए वासनारूपी जालमें तुम फँस गये हो; चिन्तारूपी रश्मियोंके द्वारा संसाररूपी मृगजल चारों ओर फैला हुआ है। तात! जिस प्रकार बवंडरसे मेघजाल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, उसी प्रकार इस ज्ञानरूपी तेज बर्छीसे उसे काटकर अपने व्यापक स्वरूपमें स्थित हो जाओ॥ २२–३२॥

'कुल्हाड़ीके द्वारा वृक्षके समान, मनसे ही मनको काटकर पावन पदको शीघ्र ही प्राप्तकर स्थिर हो जाओ। खड़े रहते, चलते, सोते, जागते, निवास करते, उठते और गिरते समय भी 'ये सब असत् ही हैं' ऐसा निश्चय करके दृश्यमें आस्थाको छोड़ दो। यदि इस दृश्यका आश्रय लेते हो तो चित्तयुक्त होकर बन्धनमें पड़ते हो; और यदि इस दृश्यका सम्यक् त्याग करते हो तो चित्तशून्य होकर मोक्षके भागी बनते हो। न मैं हूँ, न जगत् है—इस प्रकार चिन्तन करते हुए तुम पर्वतके समान अचल होकर रहो। आत्मा और जगत्के मध्य, द्रष्टा और दृश्य—इन दोनों अवस्थाओंके बीच अपनेको सर्वदा दर्शनस्वरूप आत्मा ही समझते रहो। आस्वादनके पदार्थ तथा आस्वादनकर्तासे भिन्न तथा इन दोनोंके मध्यमें अवस्थित केवल आस्वादनका ध्यान करते हुए परमात्ममय हो जाओ। बीच-बीचमें निरालम्ब-अवस्थाका अवलम्बन कर स्थिर हो जाओ। रज्जुसे बँधे हुए तो मुक्त हो जाते हैं, परंतु तृष्णासे बँधे हुए जीव किसीके द्वारा भी मुक्त नहीं किये जा सकते। अतएव निदाघ! तुम सङ्कल्पको छोड़ते हुए तृष्णाका त्याग करो। अहंभावशून्यतारूपी बर्छीके द्वारा इस अहंभावमयी, स्वभावतः उत्पन्न हुई पापिनी तृष्णाको काटकर समस्त प्राणियोंको उत्पन्न होनेवाले भयसे अभय होकर सुन्दर परमार्थलोकमें विचरण करो। मैं इन पदार्थोंका हूँ और ये मेरे जीवन हैं, इनके बिना मैं कुछ नहीं हूँ और न ये मेरे बिना कुछ हैं—अन्तःकरणके इस निश्चयका त्याग करके तथा मनसे विचारकर 'मैं पदार्थोंका नहीं हूँ तथा पदार्थ मेरे नहीं हैं'—ऐसी भावना करो। शान्तचित्तसे विचारपूर्वक कर्मोंको सहज भावसे करते हुए जो वासनाका त्याग है, ब्रह्मन्! वही ध्येय कहा गया है॥ ३३–४३॥

'समता रखनेवाली बुद्धिसे जो वासनाका सर्वथा क्षय करके ममतारहित हो जाता है, उसीसे शरीर-बन्धन छोड़ा जाता है। ऐसा वासनाक्षय अवश्यकर्त्तव्य है। जो अहंकारमयी वासनाको सहजमें ही छोड़कर ध्येय वस्तुका सम्यक् त्याग करके स्थित होता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो सङ्कल्परूपी वासनाका मूलसहित त्याग करके शान्तिको प्राप्त होता है, उसीका वह त्याग जानने योग्य है। और उसीको मुक्त एवं ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ जानो। ये ही दोनों ब्रह्मत्वको प्राप्त होते हैं, ये ही दो संसारतापसे मुक्त हैं। शम-दमसम्पन्न संन्यासी और योगी; हे मुनीश्वर! यथासमय आ पड़नेवाले सुखों और दुःखोंमें रत नहीं होते। जिसकी अन्तर्दृष्टिमें इच्छा-अनिच्छा दोनों ही नहीं हैं तथा जो सुषुप्तके समान आचरण करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो वासनाशून्य है, वह हर्ष, अमर्ष, भय, क्रोध, काम और कार्पण्यदृष्टिसे न प्रसन्न होता है, न दुखी होता है। जो तृष्णा बाह्य विषयोंकी वासनासे उत्पन्न होती है, वह बन्धनकारक होती है; और जो तृष्णा सब प्रकारके विषयोंकी वासनासे मुक्त होती है, वह मोक्षकारक होती है। 'मुझे अमुक वस्तु प्राप्त हो'—इस प्रकारकी प्रार्थनासे युक्त इच्छा दुःख, जन्म और भय प्रदान करनेवाली होती है। उसे दृढ़ बन्धनस्वरूप जानो। महात्मालोग सत् और असत्रूप सभी पदार्थोंकी इच्छाका सर्वदा एवं सम्यक् त्याग करके परम उदार पदको प्राप्त होते हैं। बन्धकी आस्था (बन्धनकी सत्तामें विश्वास) तथा मोक्षकी आस्था एवं सुख-दुःख-स्वरूपवाली सत् और असत्की आस्थाका सर्वथा त्याग करके तुम प्रशान्त महासागरकी भाँति स्थिर हो जाओ॥ ४४–५३॥

'महात्मन्! पुरुषको चार प्रकारके निश्चय होते हैं। 'पैरसे लेकर सिरतक मेरी सृष्टि माता-पिताके द्वारा हुई है'—यह पहला निश्चय है। ब्रह्मन्! बन्धनमें दुःख देखकर 'मैं सब प्रकारके सांसारिक भावोंसे परे बालके अग्रभागसे भी सूक्ष्म आत्मा हूँ'—इस प्रकारका दूसरा निश्चय संत जनोंको मुक्ति प्रदानके लिये होता है। विप्रवर! तीसरा निश्चय यह है कि 'मैं समस्त जगत्के पदार्थोंका आत्मा हूँ, सर्वस्वरूप और अक्षय हूँ।' यह निश्चय मोक्षका कारण बनता है। 'मैं अथवा जगत् सब आकाशवत् शून्य है'—इस प्रकारका चौथा निश्चय मोक्षसिद्धि प्रदान करता है। इनमेंसे पहला निश्चय बन्धनमें डालनेवाली तृष्णासे युक्त होता है। शेष तीनों निश्चय स्वच्छ, शुद्ध तृष्णासे युक्त होते हैं और इन त्रिविध निश्चयोंवाले पुरुष जीवन्मुक्त तथा आत्मतत्त्वमें विलास करनेवाले होते हैं। परम बुद्धिमान्! सब कुछ मैं ही हूँ—इस प्रकारका जो निश्चय है, उसको ग्रहण करके बुद्धि पुनः विषादको प्राप्त नहीं होती॥ ५४–६०॥

'शून्य ही प्रकृति, माया, ब्रह्मज्ञान, शिव, पुरुष, ईशान तथा नित्य आत्माके नामसे पुकारा जाता है। परमात्ममयी अद्वैतशक्ति ही द्वैत एवं अद्वैतसे उत्पन्न हुए पदार्थोंसे जगत्के निर्माणकी लीला करके विकसित होती है। जो समस्त प्रपञ्चसे परे आत्मपदका आश्रय लेकर एक परिपूर्ण चिन्मय स्थितिमें रहकर न उद्वेग करते हैं न सन्तुष्ट होते हैं, संसारमें वे शोकको

नहीं प्राप्त होते। जो नित्य प्राप्त कर्मको करता है, शत्रु-मित्रको समान दृष्टिसे देखता है तथा इच्छा और अनिच्छासे मुक्त है, न शोक करता है न किसी वस्तुकी इच्छा करता है, सबसे प्रिय बोलता है, पूछे जानेपर मृदु भाषण करता है, और प्राणियोंके आशयको जानता है, वह संसारमें शोकको नहीं प्राप्त होता। ध्येय वस्तुके त्यागसे विलसित होनेवाली पूर्व दृष्टिका अवलम्बनकर, संसार-तापसे रहित एवं आत्मस्थ होकर जीवन्मुक्तकी भाँति जगत्में विचरण करो। सारी आशाओंको हृदयसे त्यागकर, वीतराग एवं वासनाशून्य होकर, बाहरसे समस्त जागतिक व्यवहारोंको भलीभाँति करते हुए संसारमें ताप-रहित होकर विचरण करो। बाहरसे कृत्रिम क्रोधका नाट्य करते हुए तथा हृदयसे क्रोधशून्य, बाहरसे कर्ता तथा हृदयसे अकर्ता बनकर शुद्धचित्तसे लोकमें विचरण करो। अहङ्कारको छोड़कर, शान्तचित्त होकर, कलङ्क-कालिमासे सर्वथा मुक्त हो, आकाश-सा स्वच्छ जीवन ले शुद्ध मनसे लोकमें विचरण करो॥ ६१–६९॥

'उदार एवं श्रेष्ठ आचरणसे युक्त, समस्त सदाचारोंका अनुगमन करता हुआ, भीतरसे अनासक्त होकर बाहरसे यत्नशील-सा रहे। अन्तःकरणमें वैराग्यवान् होकर बाहरसे आशान्वित व्यवहार करे। यह मेरा बन्धु है और वह नहीं है, यह तुच्छ बुद्धिवालोंकी बात है। उदार चरित्रवालोंके लिये तो सारा संसार ही अपना कुटुम्ब होता है। जो भाव और अभावसे मुक्त है, जरा-मरणसे वर्जित है, जहाँ सारे सङ्कल्प पूर्णतः शान्त हो जाते हैं, ऐसे रागरहित एवं सुरम्य पदका आश्रय लो। यह स्वच्छ, निष्काम, दोषविहीन ब्राह्मी स्थिति है। इसको ग्रहण करके विहार करता हुआ पुरुष सङ्कटकालमें मोहको नहीं प्राप्त होता। वैराग्यसे अथवा शास्त्रज्ञानसे तथा महत्त्वादि गुणोंके द्वारा जो सङ्कल्पका नाश किया जाता है, उससे मन स्वयं ही उन्नत अवस्थाको प्राप्त होता है। निराशाके वशीभूत हुआ मन वैराग्यके द्वारा पूर्णताको प्राप्त होता है। वही आशायुक्त होनेपर शरद्में स्वच्छ सरोवरके समान रागको प्राप्त होता है। उसी भोगसे विरक्त मनको पुनः-पुनः प्रतिदिन व्यापारोंमें डालते हुए प्राज्ञ पुरुषको लज्जा क्यों नहीं आती। चित् और विषयके योगको बन्धन कहते हैं। उस योगसे मुक्त होना ही मुक्ति कहलाता है। निश्चयपूर्वक विषयविहीन चित् ही आत्मा है, यह समस्त वेदान्त-सिद्धान्तका सार है। इस निश्चयको ग्रहणकर प्रदीप्त अन्तःकरणसे स्वयं ही अपने आपको देखो। इससे आनन्दपदकी प्राप्ति होगी। मैं चित् हूँ। ये लोक चित् हैं, दिशाएँ चित् हैं। ये जीवमात्र चित् हैं। दृश्य और दर्शनसे मुक्त होकर, केवल स्वच्छ रूपवाला साक्षी चिदात्मा निराभास और नित्य उदित होकर द्रष्टा बन रहा है। विषयोंसे मुक्त, पूर्ण ज्योतिःस्वरूप, समस्त संवेदनसे पूर्णतया मुक्त चित्स्वरूप तथा महान् संवित् मात्र मैं हूँ। मुनीश्वर! सारे सङ्कल्पोंको पूर्णतः शान्त करके समस्त एषणाओंका परित्यागकर निर्विकल्पपदमें जाकर आत्मस्थ हो जाओ॥ ७०–८२॥

'जो ब्राह्मण इस महोपनिषद्का नित्य अध्ययन करता है, वह अश्रोत्रिय हो तो श्रोत्रिय हो जाता है। उपनीत न हो तो उपनीत हो जाता है। वह अग्निपूत होता है, वह वायुपूत होता है, वह सोमपूत होता है, सत्यपूत होता है। वह सर्वथा पवित्र हो जाता है। वह सब देवताओंका परिचित हो जाता है। उसको सारे तीर्थस्नानोंका फल प्राप्त होता है। उसे सब देवताओंके ध्यानका फल मिल जाता है। वह सब यज्ञोंका अनुष्ठान कर लेता है। सहस्रों गायत्रीके जपका फल उसे प्राप्त होता है। सहस्रों इतिहास-पुराणके पाठका फल उसे मिल जाता है। दस हजार प्रणवजपका फल उसे मिलता है। जहाँतक उसकी दृष्टि जाती है, वह पंक्तिको पवित्र करता है। सात पहले और सात आगेकी पीढ़ियोंको पवित्र करता है। यों भगवान् हिरण्यगर्भ—ब्रह्माजीने कहा। इसका जप करनेसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है, यह उपनिषद्—रहस्य है।'

॥ षष्ठ अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥

॥ सामवेदीय महोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

शुक्लयजुर्वेदीय

मुक्तिकोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम अध्याय

श्रीराम और हनुमान्‌का संवाद; वेदान्तकी महिमा; मुक्तिके भेद; १०८ उपनिषदोंकी नामावली तथा वेदोंके अनुसार विभाग; उपनिषदोंके पाठका माहात्म्य तथा उनके श्रवणके अधिकारी

ॐश्रीरामचन्द्रजी अयोध्यापुरीमें रमणीय रत्नमण्डपके बीच सीता, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न आदिसे समन्वित होकर रत्नसिंहासनपर आसीन थे । सनक-सनन्दनादि मुनिगण, वशिष्ठ आदि गुरुजन तथा शुकादि अन्यान्य भागवत रात-दिन उनका स्तवन करते रहते थे । सर्वान्तर्यामी एवं निर्विकार श्रीरामचन्द्रजी एक समय अपने स्वरूप-ध्यानमें रत होकर समाधिस्थ हो रहे थे । उनकी समाधि टूटनेपर श्री-हनुमान्‌जीने भक्तिपूर्वक सुननेकी इच्छासे स्तवन करते हुए श्रीरामचन्द्रजीसे पूछा—'रामजी ! आप परमात्मा हैं, सत्-चित् और आनन्दस्वरूप परब्रह्मके अवतार हैं । रघुवर ! इस अवसरपर मैं आपको बारंबार प्रणाम करता हूँ । श्रीरामजी, मैं आपके यथार्थ स्वरूपको जानना चाहता हूँ, जो मुक्ति प्रदान करनेवाला है, जिससे मैं अनायास—सहजमें ही इस संसार-बन्धनसे छूट जाऊँ । रामजी ! कृपा करके मुझसे उसका वर्णन कीजिये, जिससे मैं मुक्त हो जाऊँ' ॥ १–६ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—'महाबलशाली हनूमान् ! तुमने अच्छा प्रश्न किया । मैं तत्त्वकी बात कहता हूँ, सुनो । मेरा स्वरूप वेदान्तमें अच्छी प्रकारसे वर्णित है, अतएव तुम वेदान्त-शास्त्रका आश्रय लो ।' श्रीहनूमान्‌जीने पूछा—'रघुवंशियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामजी ! वेदान्त किसे कहते हैं, और उसकी स्थिति कहाँ है—मुझे बतलायें ।' श्रीरामजीने कहा—'हनूमान्‌जी ! सुनो, मैं तुम्हें अविलम्ब वेदान्तकी स्थिति बतलाऊँगा । मुझ विष्णुके निःश्वाससे सुविस्तृत चारों वेद उत्पन्न हुए । तिलोंमें तेलकी भाँति वेदोंमें वेदान्त सुप्रतिष्ठित है ।' श्रीहनूमान्‌जीने पूछा—'श्रीरामजी ! वेद कितने प्रकारके हैं, और राघव ! उनकी शाखाएँ कितनी हैं तथा उनमें उपनिषद् कौन-कौन-से हैं, यह कृपा करके तत्त्वतः—यथार्थरूपसे समझाइये' ॥७–१०॥

श्रीरामजीने कहा—वेद चार कहे गये हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद । उन चारोंकी अनेकों शाखाएँ हैं, और उन शाखाओंके उपनिषद् भी अनेकों हैं । ऋग्वेदकी इक्कीस शाखाएँ हैं । पवनतनय ! यजुर्वेदकी एक सौ नौ शाखाएँ हैं । और शत्रुतापन ! सामवेदसे सहस्र शाखाएँ निकली हैं । कपीश्वर ! अथर्ववेदकी शाखाओंके पचास भेद हैं । एक-एक शाखाकी एक-एक उपनिषद् मानी गयी है । जो व्यक्ति उन उपनिषदोंके एक भी मन्त्रका भक्तिपूर्वक पाठ करता है, वह व्यक्ति मुनियोंके लिये भी दुर्लभ मेरी सायुज्य-मुक्ति प्राप्त करता है ॥ ११–१४ ॥

हनूमान्‌जीने कहा—श्रीरामजी ! कोई-कोई मुनिश्रेष्ठ कहते हैं कि मुक्ति एक ही प्रकारकी होती है । और कुछ मुनिगण कहते हैं कि तुम्हारा नामस्मरण करनेसे मुक्ति होती है तथा काशीमें मरनेवालेको भगवान् शंकर तारक-मन्त्रका उपदेश देते हैं, जिससे प्राणी मुक्त हो जाता है । दूसरे मुनियोंका कथन है कि सांख्ययोगसे मुक्ति होती है, और कुछ मुनियोंके मतसे भक्तियोग ही मुक्तिका कारण है । अन्य महर्षियोंके कथनानुसार वेदान्त-वाक्योंके अर्थका विचार करनेसे मुक्ति प्राप्त होती है । और किसी-किसीके मतमें सालोक्य, सायुज्य, सामीप्य और कैवल्यरूपसे मुक्ति चार प्रकारकी कही गयी है' ॥ १५-१६ ॥

श्रीरामने कहा—'कपिवर ! कैवल्य-मुक्ति तो एक ही प्रकारकी है, वह परमार्थरूप है । इसके अतिरिक्त भक्तिपूर्वक मेरा नाम-स्मरण करते रहनेसे दुराचारमें लगा हुआ मनुष्य भी सालोक्यमुक्तिको प्राप्त होता है, वहाँसे वह अन्य

लोकोंमें नहीं जाता। जिसकी काशीक्षेत्रमें ब्रह्मनाल नामक प्रदेशके अन्तर्गत मृत्यु होती है, वह मेरे तारक-मन्त्रको प्राप्त करता है, और उसे वह मुक्ति मिलती है, जिससे उसे आवागमनमें नहीं आना पड़ता। काशीक्षेत्रमें चाहे कहीं भी मृत्यु हो, शङ्करजी प्राणीके दाहिने कानमें मेरे तारक-मन्त्रका उपदेश करते हैं, जिससे उसके सारे पापोंके समूह झड़ जाते हैं, तथा वह मेरे सारूप्यको—समान रूपको प्राप्त हो जाता है। वही सालोक्य-सारूप्य मुक्ति कहलाती है। जो द्विज सदाचार-रत होकर नित्य एकमात्र मेरा ध्यान करता है और मुझे सर्वात्मस्वरूप चिन्तन करता है, वह मेरे सामीप्यको प्राप्त होता है—सदा मेरे समीप निवास करता है। वही सालोक्य-सारूप्य-सामीप्य मुक्ति कहलाती है। जब गुरुके द्वारा उपदिष्ट मार्गसे मेरे अव्यय, निर्विकार स्वरूपका ध्यान करता है, तब वह द्विज भ्रमरकीटके समान सम्यक् रूपसे मेरे सायुज्यको प्राप्त करता है। वही कल्याणमयी, ब्रह्मानन्दको प्रदान करनेवाली सायुज्य-मुक्ति है। मेरी उपासनासे जो चार प्रकारकी मुक्तियाँ होती हैं—सायुज्य, सारूप्य, सालोक्य एवं कैवल्य, उनमें यह कैवल्यमुक्ति किस उपायका अवलम्बन करनेसे सिद्ध होती है, सो सुनो ॥ १७–२३ ॥

अकेली माण्डूक्योपनिषद् मुमुक्षुजनोंको मुक्ति प्रदान करनेमें समर्थ है। यदि उससे भी ज्ञानमें परिपक्वता न आये तो दस उपनिषदोंका पाठ करो। उससे ज्ञान प्राप्त करके शीघ्र ही मुझे अद्वैत धाम अर्थात् तेजके रूपमें प्राप्त करोगे। अञ्जनीकुमार! यदि उससे भी ज्ञानकी दृढ़ता न हो तो बत्तीस उपनिषदोंका सम्यक्रूपसे अभ्यास करके संसारसे निवृत्त हो जाओ। यदि विदेहमुक्त—शरीर छोड़नेके बाद मुक्त होना चाहते हो तो एक सौ आठ उपनिषदोंका पाठ करो। उन उपनिषदोंके नाम, क्रम और शान्तिपाठ यथार्थतः कहता हूँ; सुनो। ईश[१], केन[२], कठ[३], प्रश्न[४], मुण्डक[५], माण्डूक्य[६], तैत्तिरीय[७], ऐतरेय[८], छान्दोग्य[९], बृहदारण्यक[१०], ब्रह्म[११], कैवल्य[१२], जाबाल[१३], श्वेताश्वतर[१४], हंस[१५], आरुणिक[१६], गर्भ[१७], नारायण[१८], परमहंस[१९], अमृतबिन्दु[२०], अमृतनाद[२१], अथर्वशिरस्[२२], अथर्वशिखा[२३], मैत्रायणी[२४], कौषीतकिब्राह्मण[२५], बृहज्जाबाल[२६], नृसिंहतापनीय[२७], कालाग्निरुद्र[२८], मैत्रेयी[२९], सुबाल[३०], क्षुरिका[३१], मन्त्रिका[३२], सर्वसार[३३], निरालम्ब[३४], शुकरहस्य[३५], वज्रसूचिका[३६], तेजोबिन्दु[३७], नादबिन्दु[३८], ध्यानबिन्दु[३९], ब्रह्मविद्या[४०], योगतत्त्व[४१], आत्मप्रबोध[४२], नारदपरिव्राजक[४३], त्रिशिखिब्राह्मण[४४], सीता[४५], योगचूडामणि[४६], निर्वाण[४७], मण्डलब्राह्मण[४८], दक्षिणामूर्ति[४९], शरभ[५०], स्कन्द[५१], त्रिपाद्विभूतिमहानारायण[५२], अद्वयतारक[५३], रामरहस्य[५४], रामतापनीय[५५], वासुदेव[५६], मुद्गल[५७], शाण्डिल्य[५८], पैङ्गल[५९], भिक्षुक[६०], महत्[६१], शारीरक[६२], योगशिखा[६३], तुरीयातीत[६४], संन्यास[६५], परमहंसपरिव्राजक[६६], अक्षमाला[६७], अव्यक्त[६८], एकाक्षर[६९], अन्नपूर्णा[७०], सूर्य[७१], अक्षि[७२], अध्यात्म[७३], कुण्डिका[७४], सावित्री[७५], आत्मा[७६], पाशुपत[७७], परब्रह्म[७८], अवधूत[७९], त्रिपुरातापनीय[८०], देवी[८१], त्रिपुरा[८२], कठरुद्र[८३], भावना[८४], रुद्रहृदय[८५], योगकुण्डली[८६], भस्मजाबाल[८७], रुद्राक्षजाबाल[८८], गणपति[८९], जाबालदर्शन[९०], तारसार[९१], महावाक्य[९२], पञ्चब्रह्म[९३], प्राणाग्निहोत्र[९४], गोपालतापनीय[९५], कृष्ण[९६], याज्ञवल्क्य[९७], वराह[९८], शाट्यायनीय[९९], हयग्रीव[१००], दत्तात्रेय[१०१], गरुड[१०२], कलिसंतरण[१०३], जाबालि[१०४], सौभाग्यलक्ष्मी[१०५], सरस्वतीरहस्य[१०६], बह्वृच[१०७] और मुक्तिकोपनिषद्[१०८] ॥ २४–२६ ॥

ये एक सौ आठ उपनिषदें मनुष्यके आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक—तीनों तापोंका नाश करती हैं। इनके पाठ और स्वाध्यायसे ज्ञान और वैराग्यकी प्राप्ति होती है तथा लोक-वासना, शास्त्र-वासना एवं देह-वासनारूप त्रिविध वासनाओंका नाश होता है। पूर्व और पश्चात् विहित प्रत्येक उपनिषद्की शान्तिका पाठ करते हुए, वेदविद्याविशारद, व्रतपरायण, स्नान किये हुए, स्वयं आत्मतत्त्वोपदेष्टाके मुखसे—ग्रहण अर्थात् श्रवण करके जो द्विजश्रेष्ठ अष्टोत्तरशत उपनिषदोंका पाठ करते हैं, वे जबतक प्रारब्धकर्मोंका नाश नहीं हो जाता, तबतक जीवन्मुक्त बने रहते हैं। उसके पश्चात् कालक्रमसे जब प्रारब्धका नाश हो जाता है, तब वे मेरी विदेह-मुक्तिको प्राप्त करते हैं। समस्त उपनिषदोंके बीच एक सौ आठ उपनिषद् सारस्वरूप हैं। इनका एक बार भी श्रवण करनेसे सारे पापोंके समूह नष्ट हो जाते हैं। पवनकुमार! तुम मेरे शिष्य हो, अतएव मैंने तुम्हारे लिये इस शास्त्रका वर्णन किया है। मेरे द्वारा वर्णित यह अष्टोत्तरशत उपनिषद्रूप शास्त्र अत्यन्त गोपनीय है। ज्ञानसे, अज्ञानसे अथवा प्रसङ्गवश भी इनका पाठ करनेसे संसाररूप बन्धनसे मुक्ति मिल जाती है। जो तुमसे राज्य अथवा धन माँगे, उसे उसकी कामना-पूर्तिके लिये राज्य अथवा धन दे सकते हो; परंतु इन एक सौ आठ उपनिषदोंको जिस-किसीको देना ठीक नहीं। निश्चयपूर्वक जो नास्तिक हैं, कृतघ्न हैं, दुराचारी हैं, मेरी भक्तिसे मुँह मोड़े हुए हैं तथा शास्त्ररूप गड्ढोंमें गिरकर मोहित हो रहे हैं अर्थात् जो केवल शास्त्र-चर्चामें ही लगे हुए हैं, उन्हें तो कभी नहीं देना चाहिये। मारुति! सेवापरायण शिष्यको, अनुकूल (आज्ञाकारी) पुत्रको अथवा जो कोई भी मेरा भक्त हो, अच्छे कुलमें उत्पन्न हो, सुशील और सद्बुद्धिसम्पन्न हो, उसे भलीभाँति परीक्षा करके अष्टोत्तरशत उपनिषदों-

को प्रदान करना चाहिये। इस प्रकारका जो व्यक्ति इन उपनिषदोंको पढ़ता या सुनता है, वह मुझको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥ ३७-४७ ॥

यही बात ऋचामें भी कही गयी है। कहते हैं, वेद-विद्या—उपनिषद् ब्राह्मणके पास गयी और बोली—'मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी निधि हूँ। याद रहे—मुझे निन्दकों, मिथ्याचारी और दुष्ट प्रकृतिवालोंको मत सुनाना, कभी मत सुनाना; तभी मैं वीर्यवती—सामर्थ्ययुक्त अथवा सफल होऊँगी।' जिसे गुरु श्रुतशील (शास्त्राभ्यासी), प्रमादरहित, मेधावी और ब्रह्मचर्यसे युक्त समझे, उसीके समीप आनेपर उसकी सम्यक् परीक्षा करके इस आत्मविषयक वैष्णवी विद्याको प्रदान करे ॥ ४८-४९ ॥

पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीसे श्रीहनूमान्‌जीने पूछा—भगवन्! ऋग्वेदादिके अनुसार उपनिषदोंका अलग-अलग विभाग करके शान्ति-मन्त्रोंको मुझपर अनुग्रह करके कहिये ॥ ५० ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ऐतरेय[1], कौषीतकि[2]ब्राह्मण, नाद[3]-बिन्दु, आत्म[4]प्रबोध, निर्वाण[5], मुद्गल[6], अक्षमालिका, त्रिपुरा, सौभाग्य-लक्ष्मी और बह्वृच[10]—ये दस उपनिषद् ऋग्वेदीय हैं और इनका शान्ति-मन्त्र है **'वाङ् मे मनसि'** इत्यादि ॥ ५१ ॥

ईशावास्य[1], बृहदारण्यक[2], जाबाल[3], हंस[4], परमहंस[5], सुबाल[6], मन्त्रिका[7], निरालम्ब[8], त्रिशिखिब्राह्मण[9], मण्डलब्राह्मण[10], अद्वयतारक[11], पैङ्गल[12], भिक्षुक[13], तुरीयातीत[14], अध्यात्म[15], तारसार[16], याज्ञवल्क्य[17], शाट्यायनी[18] और मुक्तिका[19]—ये शुक्लयजुर्वेदके उन्नीस उपनिषद् हैं; इनका शान्तिमन्त्र है **'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'** इत्यादि ॥५२॥

कठवल्ली[1], तैत्तिरीय[2], ब्रह्म[3], कैवल्य[4], श्वेताश्वतर[5], गर्भ[6], नारायण[7], अमृतबिन्दु[8], अमृतनाद[9], कालाग्निरुद्र[10], क्षुरिका[11], सर्वसार[12], शुकरहस्य[13], तेजोबिन्दु[14], ध्यानबिन्दु[15], ब्रह्मविद्या[16], योगतत्त्व[17], दक्षिणामूर्ति[18], स्कन्द[19], शारीरक[20], योगशिखा[21], एकाक्षर[22], अक्षि[23], अवधूत[24], कठरुद्र[25], रुद्रहृदय[26], योगकुण्डली[27], पञ्चब्रह्म[28], प्राणाग्निहोत्र[29], वराह[30], कलिसंतरण[31] और सरस्वती-रहस्य[32]—ये कृष्णयजुर्वेदके बत्तीस उपनिषद् हैं; इनका शान्तिमन्त्र है—**'सह नाववतु सह नौ भुनक्तु'** इत्यादि ॥५३॥

केन[1], छान्दोग्य[2], आरुणिक[3], मैत्रायणी[4], मैत्रेयी[5], वज्रसूचिका[6], योगचूडामणि[7], वासुदेव[8], महत्[9], संन्यास[10], अव्यक्त[11], कुण्डिका[12], सावित्री[13], रुद्राक्षजाबाल[14], जाबालदर्शन[15] और जाबालि[16]—ये सामवेदके सोलह उपनिषद् हैं; इनका शान्तिमन्त्र है **'आप्यायन्तु ममाङ्गानि०'** इत्यादि ॥ ५४ ॥

प्रश्न[1], मुण्डक[2], माण्डूक्य[3], अथर्ववशिरस्[4], अथर्वशिखा[5], बृहज्जाबाल[6], नृसिंहतापनीय[7], नारदपरिव्राजक[8], सीता[9], शरभ[10], त्रिपाद्विभूतिमहानारायण[11], रामरहस्य[12], रामतापनीय[13], शाण्डिल्य[14], परमहंसपरिव्राजक[15], अन्नपूर्णा[16], सूर्य[17], आत्मा[18], पाशुपत[19], परब्रह्म[20], त्रिपुरातापनीय[21], देवी[22], भावना[23], भस्मजाबाल[24], गणपति[25], महावाक्य[26], गोपालतापनीय[27], कृष्ण[28], हयग्रीव[29], दत्तात्रेय[30] और गरुड[31]—ये अथर्ववेदके इकतीस उपनिषद् हैं; इनका शान्तिमन्त्र है **'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम०'** इत्यादि ॥ ५५ ॥

जो लोग मुक्तिके अभिलाषी हैं, जो नित्यानित्यवस्तु-विवेक, इस लोक एवं परलोकके भोगोंसे वैराग्य, शम-दम आदि षट्सम्पत्ति तथा मोक्षाभिलाषरूप साधनचतुष्टयसे सम्पन्न हैं, वे श्रद्धावान् पुरुष सत्कुलमें उत्पन्न, श्रोत्रिय (वेदज्ञान-सम्पन्न), शास्त्रानुरागी, गुणवान्, सरलहृदय, समस्त प्राणियोंकी भलाईमें रत तथा दयाके समुद्र सद्गुरुके निकट विधिपूर्वक भेंट लेकर जाते हैं और उनसे १०८ उपनिषदोंको विधिपूर्वक पढ़कर निरन्तर श्रवण-मनन-निदिध्यासनका अभ्यास करते हैं। फिर प्रारब्धका क्षय होनेपर जब उनके स्थूल, सूक्ष्म तथा आतिवाहिक—तीनों शरीर नष्ट हो जाते हैं, तब वे उपाधिमुक्त घटाकाशके समान परिपूर्णताको प्राप्त करते हैं, अर्थात् ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। यही विदेहमुक्ति कहलाती है, इसीको कैवल्यमुक्ति भी कहते हैं। अतएव ब्रह्मलोकमें रहनेवाले भी ब्रह्माजीके मुखसे वेदान्तका श्रवण-मनन-निदिध्यासन करके उन्हींके साथ कैवल्यको प्राप्त करते हैं। अतः सबके लिये केवल ज्ञानद्वारा ही कैवल्यमुक्ति कही गयी है—कर्मयोग, सांख्य-योग तथा उपासनादिके द्वारा नहीं। यह उपनिषद् है ॥५६॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

ॐ

द्वितीय अध्याय

जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्तिका स्वरूप, उनके होनेमें प्रमाण, उनकी सिद्धिका उपाय तथा प्रयोजन

तत्पश्चात् श्रीहनूमान्‌जीने श्रीरामजीसे पूछा—'भगवन्! जीवन्मुक्ति क्या है, विदेह-मुक्ति क्या है और इनके होनेमें प्रमाण क्या है? तथा उनकी सिद्धि कैसे होती है और उस सिद्धिका प्रयोजन क्या है?' ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—"हनूमान्! जीवको 'मैं भोक्ता हूँ, मैं कर्ता हूँ, मैं सुखी हूँ और मैं दुखी हूँ'—इत्यादि जो ज्ञान होता है, वह चित्तका धर्म है। यही ज्ञान क्लेशरूप होनेके कारण उसके लिये बन्धनका कारण हो जाता है। इस प्रकारके ज्ञानका निरोध ही जीवन्मुक्ति है। घटरूप उपाधिसे मुक्त घटाकाशकी भाँति प्रारब्धरूप उपाधिके नष्ट होनेपर यह जीव विदेहमुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिके होनेमें अष्टोत्तरशत-उपनिषद् ही प्रमाण हैं। कर्तापन और भोक्तापन आदि दुःखोंकी निवृत्तिके द्वारा नित्यानन्दकी प्राप्ति ही इनका प्रयोजन है। वह आनन्द-प्राप्ति पुरुषके प्रयत्नसे—पुरुषार्थसे सिद्ध होती है। जैसे पुत्रेष्टि-यज्ञके द्वारा पुत्रकी, वाणिज्य-व्यापारके द्वारा धनकी एवं ज्योतिष्टोम यज्ञके द्वारा स्वर्गकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार पुरुषके प्रयत्नसे होनेवाले वेदान्तके श्रवण-मनन और निदिध्यासनसे उत्पन्न हुई समाधिसे जीवन्मुक्ति आदिकी सिद्धि होती है और वह सारी वासनाओंके नाश होनेपर प्राप्त होती है ॥ २ ॥

"पुरुषका प्रयत्न या पुरुषार्थ दो प्रकारका होता है—शास्त्रविरुद्ध और शास्त्रानुकूल। उनमें शास्त्रविरुद्ध पुरुषार्थ अनर्थका कारण होता है और शास्त्रानुकूल पुरुषार्थ परमार्थको सिद्ध करनेवाला होता है। लोक-वासना, शास्त्र-वासना तथा देह-वासनाके कारण प्राणीको यथार्थज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। अर्थात् ये तीन प्रकारकी वासनाएँ ही ज्ञानकी प्राप्तिमें बाधक हैं। वासनाएँ पुनः दो प्रकारकी होती हैं—शुभ और अशुभ। शुभ वासनाओंके द्वारा, हनूमान्! यदि तुम ज्ञानका अनुशीलन करते हो तो क्रमशः उसके द्वारा मेरे पदको प्राप्त करोगे; और यदि अशुभ भावोंसे युक्त रहते हो तो वे तुम्हें महान् संकटमें डाल देंगे। कपीश्वर! पूर्वके संस्कारोंको तुम्हें यत्नपूर्वक जीतना चाहिये। शुभाशुभ मार्गोंसे बहती हुई वासनारूपी नदीको अपने पुरुषार्थके द्वारा शुभमार्गमें लगाना चाहिये। अशुभ मार्गोंमें जाते हुए वासनाप्रवाहको शुभ मार्गोंमें उतारना चाहिये; क्योंकि मनका यह स्वभाव है कि अशुभसे हटानेपर वह शुभकी ओर जाता है और शुभसे हटाये जानेपर अशुभमें प्रवृत्त होता है। मनुष्यको चाहिये कि पुरुषार्थके द्वारा यत्नपूर्वक चित्तरूपी बालकको फुसलाकर—थपथपाकर शुभमें ही लगाये। अभ्यासके द्वारा जब तुम्हारी दोनों प्रकारकी वासनाएँ जल्दी ही क्षीण होने लगें, तब शत्रुओंका मर्दन करनेवाले हनूमान्! तुम जान लेना कि अभ्यास परिपक्वताको प्राप्त हो गया। पवनकुमार! जहाँ वासनाके अस्तित्वका संदेह भी हो, वहाँ शुभ वासनाओंमें ही बारंबार चित्तको लगाये। शुभ वासनाओंकी वृद्धि होनेपर कभी दोष नहीं उत्पन्न हो सकता ॥ ३—१० ॥

"महामति हनूमान्! वासनाक्षय, विज्ञान और मनोनाश—इन तीनोंका एक साथ चिरकालतक अभ्यास करनेपर ये फल प्रदान करते हैं। जबतक इन तीनोंका बारंबार एक साथ अभ्यास न किया जाय, तबतक सैकड़ों वर्ष बीतनेपर भी कैवल्य-पदकी प्राप्ति नहीं होती। यदि अलग-अलग इनका चिरकालतक भी खूब अभ्यास किया जाय तो, जिस प्रकार टुकड़े-टुकड़े करके जपे हुए मन्त्र सिद्ध नहीं होते, उसी प्रकार इनसे सिद्धिकी प्राप्ति नहीं होती। यदि इन तीनोंका चिरकालतक अभ्यास किया जाय तो हृदयकी दृढ़ ग्रन्थियाँ भी निःसंदेह उसी प्रकार नष्ट हो जाती हैं, जैसे कमलकी नालको तोड़नेपर उसके रेशे टूट जाते हैं। जिस झूठी संसार-वासनाका सैकड़ों जन्मोंसे अभ्यास हो रहा है, वह चिरकालतक साधना किये बिना कदापि क्षीण नहीं होती। इसलिये, प्यारे हनूमान्! पुरुषार्थके द्वारा प्रयत्न करते हुए विवेकपूर्वक भोगकी इच्छाओंको दूरसे ही नमस्कार करके इन तीनोंका सम्यक्‌रूपसे अवलम्बन करो ॥ ११—१६ ॥

"वासनासे युक्त मनको ज्ञानियोंने बद्ध बतलाया है और जो मन वासनासे सम्यक्‌तया मुक्त हो गया है, वह मुक्त कहलाता है। महाकपि! मनको वासनाविहीन स्थितिमें शीघ्र ले आओ। भलीभाँति विचार करनेसे और सत्यके अभ्याससे वासनाओंका नाश हो जाता है। वासनाओंके नाशसे चित्त उसी प्रकार विलीन हो जाता है, जैसे तेलके समाप्त हो जानेपर दीपक बुझ जाता है। वासनाओंका भलीभाँति त्याग

करके मुझ चैतन्यस्वरूपमें जो निवात दीपशिखाके समान निश्चल होकर स्थित रहता है, वह मुझ सच्चिदानन्दस्वरूपको एकीभावसे प्राप्त होता है। समाधि अथवा कर्मानुष्ठान वह करे या न करे। जिसके हृदयमें वासनाका सर्वथा अभाव हो गया है, वही मुक्त है, वही उत्तमाशय है ॥ १७–२० ॥

"जिसके मनसे वासनाएँ दूर हो गयी हैं, उसे न नैष्कर्म्यसे—कर्मोंके त्यागसे मतलब है और न कर्मानुष्ठानसे। उसे समाधान अर्थात् षट्सम्पत्ति और जपकी भी आवश्यकता नहीं है। सारी वासनाओंका त्याग करके मनका मौन धारण करनेके अतिरिक्त कोई दूसरा परम पद नहीं है। किसी प्रकारकी प्रत्यक्ष वासना न होनेपर भी चक्षु आदि इन्द्रियाँ जो स्वतः अपने-अपने बाह्य विषयोंमें प्रवृत्त होती हैं, इसमें कोई-न-कोई सूक्ष्म वासना ही कारण है। अनायास सामने आये हुए दृश्य विषयोंमें जैसे चक्षु-इन्द्रियकी बारंबार प्रवृत्ति रागरहित ही होती है, उसी प्रकार धीर पुरुष कार्योंमें अनासक्तभावसे ही प्रवृत्त होते हैं। पवनतनय! जो सत्ता-बुद्धिसे प्रकट होती है और उसीके अनुकूल होती है तथा जिसमें चित्तका उदय और लय भी होता है, मुनिलोग उसी वृत्तिको वासनाके नामसे पुकारते हैं। चिर-परिचित पदार्थोंके अनन्य चिन्तनके द्वारा जो चित्तमें अत्यन्त चञ्चलता उत्पन्न हो जाती है, वही चित्त-चाञ्चल्य जन्म, जरा और मृत्युका एकमात्र कारण होता है। वासनाके कारण प्राणोंमें स्पन्दन होता है और उस स्पन्दनसे पुनः वासनाकी उत्पत्ति होती है; इस प्रकार चित्तरूपी बीजमें अङ्कुर लगते रहते हैं ॥ २१—२६ ॥

"चित्तरूपी वृक्षके दो बीज हैं—प्राण-स्पन्दन (प्राणोंकी गति) और वासना। इन दोनोंमेंसे एकके भी क्षीण होनेसे दोनों नष्ट हो जाते हैं। अनासक्त होकर व्यवहार करनेसे, संसारका चिन्तन छोड़ देनेसे और शरीरकी विनश्वरताका दर्शन करते रहनेसे वासना उत्पन्न नहीं होती। और वासनाका भलीभाँति त्याग हो जानेपर चित्त अचित्तताको प्राप्त होता है, अर्थात् उसकी वासनात्मिका प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है। वासनाके नष्ट हो जानेपर जब मन मनन करना छोड़ देता है, तब मनके निराकृत होनेपर परम शान्तिप्रद विवेककी उत्पत्ति होती है। जबतक तुम्हारे अंदर ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो जाती, जबतक तुम्हें परमपद अज्ञात है, तबतक गुरु तथा शास्त्र-प्रमाणके द्वारा निर्णीत मार्गका आचरण करो। तदनन्तर कर्मोंका परिपाक होनेपर जब निश्चयपूर्वक तुम्हें तत्त्वका ज्ञान हो जाय, तब तुम्हें निश्चिन्त होकर समस्त शुभ वासनाओंका भी त्याग कर देना चाहिये ॥ २७–३१ ॥

"चित्तनाश दो प्रकारका होता है—सरूप और अरूप। जीवन्मुक्तका चित्तनाश सरूप होता है और विदेहमुक्तका अरूप होता है। अर्थात् जीवन्मुक्तका चित्त स्वरूपसे रहता तो है, पर वह अचित्त हुआ रहता है; विदेहमुक्त होनेपर उसका स्वरूपतः नाश हो जाता है। पवननुत! अब एकाग्रचित्तसे मनोनाशके विषयमें सुनो। जब तुम्हारा मन चित्तनाशकी स्थितिको प्राप्त हो जायगा अर्थात् उसकी अनुसंधानात्मिका वृत्ति शान्त हो जायगी, तब मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा प्रभृति गुणोंसे युक्त होकर वह परमशान्तिको प्राप्त कर लेगा—इसमें कोई संशय नहीं है। जीवन्मुक्तका मन आवागमनसे मुक्त हो जाता है, अतः उसका वह मनोनाश सरूप कहलाता है। विदेह-मुक्ति मिल जानेपर जो मनोनाश होता है, वह अरूप कहलाता है। अतएव सहस्रों अङ्कुर, त्वचा, पत्ते, शाखा एवं फल-फूलसे युक्त इस संसार-वृक्षका यह मन ही मूल है—यह निश्चित हुआ। और वह मन सङ्कल्परूप है। सङ्कल्पको निवृत्त करके उस मनस्तत्त्वको सुखा डालो, जिससे यह संसार-वृक्ष भी नीरस होकर सूख जाय। अपने मनके निग्रहका एक ही उपाय है; वह है यह निश्चय करना कि मनका अभ्युदय—उसका स्फीत होना ही उसका विनाश—पतन है, और उसके नाशमें ही उसका महान् अभ्युदय—उसकी उन्नति है। ज्ञानसे मनोनाश होता है। अज्ञानीका मन उसके लिये शृङ्खलारूप—बन्धनका कारण होता है। रात्रिमें वेतालोंकी भाँति हृदयमें वासनाओंका वेग तभीतक रहता है, जबतक एक तत्त्वके दृढ़ अभ्याससे मनपर विजय नहीं कर ली जाती। जिनका चित्त और अभिमान क्षीण हो गये हैं और इन्द्रियरूपी शत्रु वशमें हो गये हैं, उनकी भोग-वासनाएँ उसी प्रकार क्षीण हो जाती हैं, जैसे हेमन्त ऋतुके आनेपर कमलिनी—कमलका पौधा स्वयमेव नष्ट हो जाता है। हाथसे हाथको मलकर, दाँतसे दाँत पीसकर तथा अङ्गोंको अङ्गोंसे दबाकर—अर्थात् अपनी पूरी शक्ति लगाकर पहले अपने मनको जीतना चाहिये। बारंबार एकाग्रचित्त होकर बैठने तथा सद्युक्तिके द्वारा आत्म-चिन्तन करनेके अतिरिक्त मनको जीतनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥ ३२–४१ ॥

"जिस प्रकार मदमत्त हाथी अङ्कुशके बिना वशमें नहीं आता, उसी प्रकार चित्तको वशमें करनेके लिये अध्यात्मविद्याका ज्ञान, सत्सङ्गति, वासनाओंका भलीभाँति परित्याग

तथा प्राणवायुका निरोध अर्थात् प्राणायाम—ये प्रबल उपाय हैं। इन श्रेष्ठ युक्तियोंके रहते हुए जो हठपूर्वक चित्तको निरुद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं, वे दीपकको छोड़कर अन्धकारमें भटकते हैं। जो मूढ़ पुरुष हठसे चित्तको वशमें करनेका उद्योग करते हैं, वे उन्मत्त हाथीको कमल-नालके तन्तुओंसे बाँधनेकी चेष्टा करते हैं। वृत्तिरूप लताओंके आश्रयभूत चित्तरूपी वृक्षके दो बीज हैं—एक है प्राणोंका स्पन्दन (गति), दूसरी दृढ़ भावना। प्राण-वायुके सञ्चालनसे घट-घट-व्यापक संवित्—समष्टि-चेतना चलायमान हो उठती है। चित्तकी एकाग्रतासे ज्ञानकी प्राप्ति होती है और उससे मुक्ति-लाभ होता है। अतएव चित्तकी एकाग्रताके साधनोंमें ध्यान-की यथोचित विधि बतलायी जाती है—॥ ४२–४७ ॥

"चित्त सर्वथा विकारहीन न हो, तो भी यशके आविर्भाव और अरिष्टके तिरोभावके क्रमसे केवल चैतन्य—चिदानन्द-स्वरूप परब्रह्मका चिन्तन करो। जिस क्षण चित्त चिदानन्दमें आरूढ़ होता है, वह यशकी स्थिति है; और जिस क्षण उससे अलग होता है, वह अरिष्टकी स्थिति है। चित्तकी चाञ्चल्यके कारण यह स्वाभाविक स्थिति होती है, अतएव अरिष्टकी स्थितिसे पुनः-पुनः यशकी स्थितिमें चित्तको स्थापितकर परब्रह्मके चिन्तनमें लगो। अपानवायुके भीतर रोक दिये जानेपर जबतक हृदयमें प्राणवायुका उदय नहीं होता, तबतक वह कुम्भकावस्था रहती है, जिसका योगीलोग अनुभव करते हैं। और प्राण-वायुके बाहर रोक दिये जानेपर जबतक अपान-वायुका उदय नहीं होता, तबतक जो पूर्ण समावस्था रहती है, उसे बाह्य कुम्भक कहते हैं॥ ४८–५० ॥

"चिरकालतक ध्यानका अभ्यास करते रहनेपर जब अहङ्कार विलुप्त हो जाता है और मनोवृत्ति ब्रह्माकारमें प्रवाहित होने लगती है, तब उसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। जब चित्त-की सारी वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं, उस समय परमानन्द प्रदान करनेवाली असम्प्रज्ञात नामकी समाधि होती है, जो योगियोंको प्रिय है। इस समाधिकी अवस्थामें कुछ भी भान नहीं होता। हो कैसे; उस स्थितिमें मन और बुद्धिका अस्तित्वतक नहीं रहता, केवल चित्स्वरूपकी अवस्थिति होती है। इस समाधिमें चित्त निरालम्ब होकर कैवल्य-स्थिति-में रहता है; मुनिलोग इस समाधिकी भावना करते हैं। इस समाधिमें ऊपर, नीचे और बीचमें—सर्वत्र शिवस्वरूप पूर्ण ब्रह्म ही अनुभूत होते हैं; यह समाधि परमार्थ अर्थात् मोक्ष-स्वरूप है तथा साक्षात् ब्रह्माके मुखसे उपदिष्ट हुई है॥५१–५४॥

"दृढ़ भावनाके द्वारा पूर्वापरका विचार छोड़कर चित्त जो पदार्थके स्वरूपको ग्रहण करता है, उस चित्तविकारको वासना कहते हैं। कपिश्रेष्ठ! आत्मा चित्तके तीव्र संवेगसे जैसी भावना करता है, इतर वासनाओंसे मुक्त होकर वह शीघ्र वैसा ही बन जाता है। इस प्रकारका पुरुष वासनाके वशीभूत होकर जो कुछ देखता है, उसीको सद्वस्तु—यथार्थ मानकर मोहको प्राप्त होता है। वासनाके वेगकी विभिन्नताके कारण चित्त अपने वासनात्मक स्वरूपको नहीं छोड़ता। एक वासनाके छोड़ते-छोड़ते दूसरी वासनामें रमने लगता है। जिस प्रकार नशेके कारण पुरुषकी विवेकबुद्धि नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार वह दुर्बुद्धि भ्रान्त होकर सब कुछ देखता है। वासना दो प्रकारकी होती है—शुद्ध और मलिन। मलिन वासना आवागमनमें डालती है और शुद्ध वासना मनुष्यको जन्म-मृत्युसे छुड़ाती है। ज्ञानीजन कहते हैं कि मलिन वासना निबिड़ अहङ्कार और घन अज्ञानस्वरूप होती है, वह पुनर्जन्म प्रदान करती है॥ ५५–६० ॥

"जिस प्रकार बीजके अच्छी प्रकार भुन जानेपर उससे अङ्कुर नहीं उत्पन्न होता, उसी प्रकार संसार-वासनाके नष्ट हो जानेपर पुनर्जन्म नहीं होता। अतएव दग्ध-बीजके समान स्थिति होनी चाहिये। वायुनन्दन! चबाये हुएको चबानेके समान नाना शास्त्रोंकी व्यर्थ आलोचनासे क्या लाभ; प्रयत्न होना चाहिये भीतरी प्रकाशको खोजनेके लिये। कपिशार्दूल! दर्शन और अदर्शन अर्थात् सत्-ख्याति और असत्-ख्याति दोनों-को छोड़कर जो स्वयं कैवल्यरूपमें स्थित रहता है, वह ब्रह्मविद् नहीं, स्वयं ब्रह्मस्वरूप ही है। चारों वेदोंका और अनेकों शास्त्रोंका अध्ययन करके भी जो ब्रह्मतत्त्वको नहीं जानता, वह परमानन्दसे उसी प्रकार वञ्चित रहता है, जैसे कलछुल भोजनके पदार्थोंमें रहती हुई भी उनके रसको नहीं जानती। जिसका अपने शरीरकी अपवित्र गन्धको प्रत्यक्ष करके भी उससे विराग नहीं होता, उसको विराग पैदा करनेवाला दूसरा कौन-सा उपदेश दिया जा सकता है॥ ६१–६४ ॥

"शरीर अत्यन्त मलयुक्त है और आत्मा अत्यन्त निर्मल है; दोनोंके भेदको जानकर किसकी शुचिताका उपदेश किया जाय। जो वासनासे बँधा है, वही बद्ध है; और वासनाओंका नाश ही मोक्ष है। अतएव वासनाओंका सम्यक्रूपसे परित्याग करके मोक्ष-प्राप्तिकी वासनाका भी त्याग करो। पहले मानसी वासनाओंका त्याग करके विषय-वासनाओंका भी त्याग करो; और मोक्षादिकी शुद्ध—निर्दोष वासनाओंको ग्रहण करो।

इसके बाद उनको भी छोड़कर, अथवा उन भव्य वासनाओं-को व्यवहारमें रखते हुए भी भीतरसे शान्त अर्थात् सब प्रकारकी वासनाओंसे मुक्त रहकर सबके प्रति समान स्नेह रखते हुए एकमात्र चित्स्वरूपमें अपनी वासना लगाओ। मारुति! फिर उस चिद्वासनाको भी मन और बुद्धिके साथ परित्याग करके अन्ततोगत्वा तुम मुझमें पूर्णतया समाहित हो जाओ। जो शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रसरहित और गन्धरहित है, जो कभी विकारको नहीं प्राप्त होता, जिसका न कोई नाम है और न कोई गोत्र है तथा जो सब प्रकारके दुःखोंको हरनेवाला है—पवनतनय! इस प्रकारके मेरे स्वरूपका तुम भजन करो॥ ६५–७०॥

"हनूमान्! जो साक्षिस्वरूप है, आकाशके समान अनन्त है, जिसे एक बार जान लेनेपर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता; जो अजन्मा, एक—अद्वितीय, निर्लेप, सर्वव्यापी एवं सर्वश्रेष्ठ है; जो अकार-उकार-मकाररूप तीन कलाओंसे युक्त तथा सम्पूर्ण कलाओंसे विमुक्त अद्वय-तत्त्व है, वह ओङ्काररूप अक्षर—अविनाशी ब्रह्म मैं ही हूँ। मैं द्रष्टा हूँ, शुद्धस्वरूप हूँ, कभी विकारको प्राप्त नहीं होता और मेरे अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, जो मेरा विषय बने। अर्थात् मेरा द्रष्टापन भी कहनेके लिये ही है। मैं आगे-पीछे, ऊपर-नीचे—सर्वत्र परिपूर्ण हूँ। मैं भूमा हूँ, मुझमें किसी प्रकारकी कमी नहीं है। हे हनूमान्! तुम मेरे इस स्वरूपका चिन्तन करो। मैं अज हूँ, अमर हूँ, अजर हूँ, अमृत हूँ, स्वयंप्रकाश हूँ, सर्वव्यापी हूँ, अव्यय—अविनाशी हूँ, मेरा कोई कारण नहीं—मैं स्वयम्भू हूँ, समस्त कार्य-कलापसे परे मैं शुद्धस्वरूप हूँ, नित्यतृप्त हूँ—इस प्रकार तुम चिन्तन करो। इस प्रकार चिन्तन करते-करते जब कालवश शरीरपात होगा, तब वायुके स्पन्दनके समान तुम जीवन्मुक्त-पदका भी परित्याग करके निर्वाण मुक्ति—विदेह-मुक्तिकी अवस्थामें पहुँच जाओगे। यही बात ऋचामें भी कही गयी है—'जो आकाशमें तेजोमय सूर्यमण्डलकी भाँति, परमव्योममें चिन्मय प्रकाशद्वारा सब ओर व्याप्त है, भगवान् विष्णुके उस परमधामको विद्वान् उपासक सदा ही देखते हैं। साधनामें सदा जाग्रत् रहनेवाले निष्काम उपासक ब्राह्मण वहाँ पहुँचकर उस परमधामको और भी उद्दीप्त किये रहते हैं, जिसे विष्णुका परमपद कहते हैं। वह परमपद निष्काम उपासकको प्राप्त होता है।' जो इस प्रकार जानता है, वह उक्त फलका भागी होता है। यह महा-उपनिषद् है"॥ ७१–७६॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

॥ शुक्लयजुर्वेदीय मुक्तिकोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

मन ही बन्ध-मोक्षका कारण है

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तं निर्विषयं स्मृतम्॥
(ब्रह्मबिन्दु० २। ३)

मनुष्योंके बन्ध और मोक्षमें मन ही कारण है; विषयासक्त मन बन्धनके लिये है और निर्विषय मन ही मुक्त माना जाता है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

गर्भोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

गर्भकी उत्पत्ति एवं वृद्धिके प्रकार

ॐ शरीर पञ्चात्मक, पाँचोंमें वर्तमान, छः आश्रयोंवाला, छः गुणोंके योगसे युक्त, सात धातुओंसे निर्मित, तीन मलोंसे दूषित, दो योनियोंसे युक्त तथा चार प्रकारके आहारसे पोषित होता है । पञ्चात्मक कैसे है ? पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश (—इनसे रचा हुआ होनेके कारण) शरीर पञ्चात्मक है । इस शरीरमें पृथिवी क्या है ? जल क्या है ? तेज क्या है ? वायु क्या है ? और आकाश क्या है ? इस शरीरमें जो कठिन तत्त्व है, वह पृथिवी है; जो द्रव है, वह जल है; जो उष्ण है, वह तेज है; जो सञ्चार करता है, वह वायु है; जो छिद्र है, वह आकाश कहलाता है । इनमें पृथिवी धारण करती है, जल एकत्रित करता है, तेज प्रकाशित करता है, वायु अवयवोंको यथास्थान रखता है, आकाश अवकाश प्रदान करता है । इसके अतिरिक्त श्रोत्र शब्दको ग्रहण करनेमें, त्वचा स्पर्श करनेमें, नेत्र रूप ग्रहण करनेमें, जिह्वा रसका आस्वादन करनेमें, नासिका सूँघनेमें, उपस्थ आनन्द लेनेमें तथा पायु मलोत्सर्गके कार्यमें लगा रहता है । जीव बुद्धिद्वारा ज्ञान प्राप्त करता है, मनके द्वारा सङ्कल्प करता है, वाक्-इन्द्रियसे बोलता है ।

शरीर छः आश्रयोंवाला कैसे है ? इसलिये कि वह मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु और कषाय—इन छः रसोंका आस्वादन करता है । षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद—ये सप्त स्वर तथा इष्ट, अनिष्ट और प्रणिधानकारक (प्रणवादि) शब्द मिलाकर दस प्रकारके शब्द (स्वर) होते हैं । शुक्ल, रक्त, कृष्ण, धूम्र, पीत, कपिल और पाण्डुर—ये सप्त रूप (रंग) हैं ॥ १ ॥

सात धातुओंसे निर्मित कैसे है ? जब देवदत्तनामक व्यक्तिको द्रव्य आदि भोग्य-विषय जुड़ते हैं, तब उनके परस्पर अनुकूल होनेके कारण षट्रस पदार्थ प्राप्त होते हैं—जिनसे रस बनता है । रससे रुधिर, रुधिरसे मांस, मांससे मेद, मेदसे स्नायु, स्नायुसे अस्थि, अस्थिसे मज्जा और मज्जासे शुक्र—ये सात धातुएँ उत्पन्न होती हैं । पुरुषके शुक्र और स्त्रीके रक्तके संयोगसे गर्भका निर्माण होता है । ये सब धातुएँ हृदयमें रहती हैं, हृदयमें अन्ताग्नि उत्पन्न होती है, अग्निस्थानमें पित्त, पित्तके स्थानमें वायु और वायुसे हृदयका निर्माण सृजन-क्रमसे होता है ॥ २ ॥

ऋतुकालमें सम्यक् प्रकारसे गर्भाधान होनेपर एक रात्रिमें शुक्र-शोणितके संयोगसे कलल बनता है । सात रातमें बुद्बुद बनता है । एक पक्षमें उसका पिण्ड (स्थूल आकार) बनता है । वह एक मासमें कठिन होता है । दो महीनोंमें वह सिरसे युक्त होता है, तीन महीनोंमें पैर बनते हैं, पश्चात् चौथे महीने गुल्फ (पैरकी घुट्टियाँ), पेट तथा कटि-प्रदेश तैयार हो जाते हैं । पाँचवें महीने पीठकी रीढ़ तैयार होती है । छठे महीने मुख, नासिका, नेत्र और श्रोत्र बन जाते हैं । सातवें महीने जीवसे युक्त होता है । आठवें महीने सब लक्षणोंसे पूर्ण हो जाता है । पिताके शुक्रकी अधिकतासे पुत्र, माताके रुधिरकी अधिकतासे पुत्री तथा शुक्र और शोणित दोनोंके तुल्य होनेसे नपुंसक संतान उत्पन्न होती है । व्याकुल-चित्त होकर समागम करनेसे अंधी, कुबड़ी, खोड़ी तथा बौनी संतान उत्पन्न होती है । परस्पर वायुके संघर्षसे शुक्र दो भागोंमें बँटकर सूक्ष्म हो जाता है, उससे युग्म

(जुड़वाँ) संतान उत्पन्न होती है। पञ्चभूतात्मक शरीरके समर्थ—स्वस्थ होनेपर चेतनामें पञ्च ज्ञानेन्द्रियात्मक बुद्धि होती है; उससे गन्ध, रस आदिके ज्ञान होते हैं। वह अविनाशी अक्षर ॐकारका चिन्तन करता है, तब इस एकाक्षरको जानकर उसी चेतनके शरीरमें आठ प्रकृतियाँ (प्रकृति, महत्-तत्त्व, अहङ्कार और पाँच तन्मात्राएँ) तथा सोलह विकार (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच स्थूल भूत तथा मन) होते हैं। पश्चात् माताका खाया हुआ अन्न एवं पिया हुआ जल नाड़ियोंके सूत्रोंद्वारा पहुँचाया जाकर गर्भस्थ शिशुके प्राणोंको तृप्त करता है। तदनन्तर नवें महीने वह ज्ञानेन्द्रिय आदि सभी लक्षणोंसे पूर्ण हो जाता है। तब वह पूर्व-जन्मका स्मरण करता है। उसके शुभ-अशुभ कर्म भी उसके सामने आ जाते हैं॥ ३॥

तब जीव सोचने लगता है—'मैंने सहस्रों पूर्व-जन्मोंको देखा, उनमें नाना प्रकारके भोजन किये, नाना प्रकारके—नाना योनियोंके स्तनोंका पान किया। मैं बारंबार उत्पन्न हुआ, मृत्युको प्राप्त हुआ। अपने परिवारवालोंके लिये जो मैंने शुभाशुभ कर्म किये, उनको सोचकर मैं आज यहाँ अकेला दग्ध हो रहा हूँ। उनके भोगोंको भोगनेवाले तो चले गये, मैं यहाँ दुःखके समुद्रमें पड़ा कोई उपाय नहीं देख रहा हूँ। यदि इस योनिसे मैं छूट जाऊँगा—इस गर्भके बाहर निकल गया तो अशुभ कर्मोंका नाश करनेवाले तथा मुक्तिरूप फल-को प्रदान करनेवाले महेश्वरके चरणोंका आश्रय लूँगा। यदि मैं योनिसे छूट जाऊँगा तो अशुभ कर्मोंका नाश करनेवाले और मुक्तिरूप फल प्रदान करनेवाले भगवान् नारायणकी शरण ग्रहण करूँगा। यदि मैं योनिसे छूट जाऊँगा तो अशुभ कर्मोंका नाश करनेवाले और मुक्तिरूप फल प्रदान करनेवाले सांख्य और योगका अभ्यास करूँगा। यदि मैं इस बार योनिसे छूट गया तो मैं ब्रह्मका ध्यान करूँगा।' पश्चात् वह योनिद्वार-को प्राप्त होकर योनिरूप यन्त्रमें दबाया जाकर बड़े कष्टसे जन्म ग्रहण करता है। बाहर निकलते ही वैष्णवी वायु (माया)के स्पर्शसे वह अपने पिछले जन्म और मृत्युओंको भूल जाता है और शुभाशुभ कर्म भी उसके सामनेसे हट जाते हैं॥ ४॥

देह-पिण्डका 'शरीर' नाम कैसे होता है? इसलिये कि ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि तथा जठराग्निके रूपमें अग्नि इसमें आश्रय लेता है। इनमें जठराग्नि वह है, जो खाये, पिये, चाटे और चूसे हुए पदार्थोंको पचाता है। दर्शनाग्नि वह है, जो रूपोंको दिखलाता है; ज्ञानाग्नि शुभाशुभ कर्मोंको सामने खड़ा कर देता है। अग्निके शरीरमें तीन स्थान होते हैं—आहवनीय अग्नि मुखमें रहता है, गार्हपत्य अग्नि उदरमें रहता है, और दक्षिणाग्नि हृदयमें रहता है। आत्मा यजमान है, मन ब्रह्मा है, लोभादि पशु हैं, धैर्य और संतोष दीक्षाएँ हैं, ज्ञानेन्द्रियाँ यज्ञ-के पात्र हैं, कर्मेन्द्रियाँ हवि (होम करनेकी सामग्री) हैं, सिर कपाल है, केश दर्भ हैं, मुख अन्तर्वेदिका है, सिर चतुष्कपाल है, पार्श्वकी दन्तपंक्तियाँ षोडश कपाल हैं, एक सौ सात मर्मस्थान हैं, एक सौ अस्सी संधियाँ हैं, एक सौ नौ स्नायु हैं, सात सौ शिराएँ हैं, पाँच सौ मज्जाएँ हैं, तीन सौ साठ अस्थियाँ हैं, साढ़े चार करोड़ रोम हैं, आठ पल (तोले) हृदय है, द्वादश पल (बारह तोला) जिह्वा है, प्रस्थमात्र (एक सेर) पित्त, आढकमात्र (ढाई सेर) कफ, कुडवमात्र (पावभर) शुक्र तथा दो प्रस्थ (दो सेर) मेद है; इसके अतिरिक्त शरीरमें आहारके परिमाणसे मल-मूत्रका परिमाण अनियमित होता है। यह पिप्पलाद ऋषिके द्वारा प्रकटित मोक्षशास्त्र है, पैप्पलाद मोक्षशास्त्र है॥ ५॥

॥ गर्भोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

कैवल्योपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

आत्माका स्वरूप तथा उसे जाननेका उपाय

महर्षि आश्वलायन भगवान् प्रजापति ब्रह्माजीके पास विधिपूर्वक समिधा हाथमें लेकर गये और बोले, 'भगवन् ! सदा संतजनोंके द्वारा परिसेवित, अत्यन्त गोप्य तथा अतिशय श्रेष्ठ उस ब्रह्मविद्याका मुझे उपदेश कीजिये, जिसके द्वारा विद्वान्लोग शीघ्र ही सारे पापोंको नष्ट करके परात्पर पुरुष—परब्रह्मको प्राप्त होते हैं ।' ब्रह्माजीने उन महर्षिसे कहा—'आश्वलायन ! तुम उस परात्पर तत्त्वको श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योगके द्वारा जाननेका यत्न करो । उसकी प्राप्ति न कर्मके द्वारा होती है, न संतान अथवा धनके द्वारा । ब्रह्मज्ञानियोंने केवल त्यागके द्वारा अमृतत्वको प्राप्त किया है । स्वर्गलोकसे भी ऊपर गुहामें अर्थात् बुद्धिके गह्वरमें स्थित होकर जो ब्रह्मलोक प्रकाशित है, उसमें यति—संयमशील योगीजन प्रवेश करते हैं । जिन्होंने वेदान्तके सविशेष ज्ञानसे तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासनके द्वारा परम तत्त्वका निश्चय कर लिया है, वे शुद्ध अन्तःकरणवाले योगीजन संन्यास-योगके द्वारा ब्रह्मलोकमें जाकर कल्पके अन्तमें अमृतस्वरूप होकर मुक्त हो जाते हैं । स्नानादिसे शुद्ध होनेके अनन्तर निर्जन स्थानमें सुखसे बैठकर, ग्रीवा, सिर और शरीरको सीधे रखकर सारी इन्द्रियोंका निरोध करके भक्ति-पूर्वक अपने गुरुको प्रणाम करके संन्यास-आश्रममें स्थित योगीलोग अपने हृदय-कमलमें रजोगुणरहित, विशुद्ध, दुःख-शोकातीत आत्मतत्त्वका विशदरूपसे चिन्तन करते हैं । इस प्रकार जो अचिन्त्य है, अव्यक्त और अनन्तस्वरूप है, कल्याणमय है, प्रशान्त है, अमृत है; जो ब्रह्म अर्थात् निखिल ब्रह्माण्डका मूल कारण है; जिसका आदि, मध्य और अन्त नहीं; जो एक अर्थात् अद्वितीय है, विभु और चिदानन्द है, रूपरहित और अद्भुत है, उस उमासहित अर्थात् ब्रह्मविद्याके साथ परमेश्वरको, समस्त चराचरके स्वामीको, प्रशान्तस्वरूप, त्रिलोचन, नीलकण्ठ महादेव अर्थात् परात्पर परब्रह्मको—जो सब भूतोंका मूल कारण है, सबका साक्षी है तथा अविद्यासे परे प्रकाशमान हो रहा है, उसको मुनिलोग ध्यानके द्वारा प्राप्त करते हैं ॥ १–७ ॥

'वही ब्रह्मा है, वही शिव है, वही इन्द्र है, वही अक्षर—अविनाशी परमात्मा है, वही विष्णु है; वह प्राण है, वह काल है, अग्नि है, वह चन्द्रमा है । जो कुछ हो चुका है और जो भविष्यमें होनेवाला है, वह सब वही है; उस सनातन तत्त्वको जानकर प्राणी मृत्युके परे चला जाता है । इसके अतिरिक्त मुक्तिका दूसरा कोई मार्ग नहीं है । जो आत्माको सब भूतोंमें देखता है तथा सब भूतोंको आत्मामें देखता है, वह परब्रह्मको प्राप्त करता है; दूसरे किसी उपायसे नहीं । आत्मा—अन्तःकरणको नीचेकी अरणि तथा प्रणवको ऊपरकी अरणि बनाकर ज्ञानीजन ज्ञानरूपी मन्थनके अभ्यासद्वारा संसार-बन्धनको नष्ट कर देते हैं—ज्ञानाग्निमें जला डालते हैं । वही प्राणी मायाके वशीभूत अत्यन्त मोहग्रस्त होकर शरीरको ही अपना स्वरूप मान सब प्रकारके कर्मोंको करता है । वही जाग्रत् अवस्थामें स्त्री, अन्न-पान आदि नाना प्रकारके

भोगोंको भोगता हुआ परितृप्ति लाभ करता है। वही जीव स्वप्नावस्थामें अपनी मायासे कल्पित जीवलोकमें सुख-दुःखका भोक्ता बनता है और सुषुप्तिकालमें सारे मायिक प्रपञ्चके विलीन होनेपर वह तमोगुणसे अभिभूत होकर सुख-स्वरूपको प्राप्त होता है। पुनः जन्मान्तरोंके कर्मोंकी प्रेरणासे वह जीव सुषुप्तिसे स्वप्न-जगत्में उतरता है और उसके बाद जाग्रत्-अवस्थामें आता है। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीररूपी तीन पुरोंमें जो जीव क्रीडा करता है, उसीसे यह सारा प्रपञ्च-वैचित्र्य उत्पन्न होता है ॥ ८–१४ ॥

'इस समस्त प्रपञ्चका आधार आनन्दस्वरूप अखण्ड बोध है—जिसमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीररूपी तीनों पुर लयको प्राप्त होते हैं। इसीसे प्राण उत्पन्न होता है, मन और सारी इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं; आकाश, वायु, अग्नि, जल और सारे विश्वको धारण करनेवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है। जो परब्रह्म सबका आत्मा है, समस्त कार्य-कारणरूप विश्वका महान् आयतन अर्थात् आधार है, जो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म है, अविनाशी है, वह तुम्हीं हो, तुम वही हो। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदि जो प्रपञ्च भासमान है, वह ब्रह्म-स्वरूप है और वही मैं हूँ—यों जानकर जीव सारे बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। तीनों धाम अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिमें जो कुछ भोक्ता, भोग्य और भोग हैं, उनसे विलक्षण साक्षी, चिन्मात्रस्वरूप, सदाशिव मैं हूँ। मुझमें ही सब कुछ उत्पन्न हुआ है, मुझमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित है, मुझमें ही सब लयको प्राप्त होता है; वह अद्वय ब्रह्मस्वरूप मैं ही हूँ। मैं अणुसे भी अणु हूँ, इसी प्रकार मैं महान्से भी महान् हूँ; यह विचित्र विश्व मेरा ही स्वरूप है। मैं पुरातन पुरुष हूँ, मैं ईश्वर हूँ, मैं हिरण्यमय पुरुष ब्रह्मा हूँ, मैं शिवस्वरूप हूँ। वह पाणि-पाद-विहीन, अचिन्त्यशक्ति परब्रह्म मैं हूँ। मैं नेत्रोंके बिना देखता हूँ, कानोंके बिना सुनता हूँ, बुद्धि आदिसे पृथक् होकर मैं ही जानता हूँ; मुझको जाननेवाला कोई नहीं है; मैं सदा चित्स्वरूप हूँ। समस्त वेद मेरा ही ज्ञान कराते हैं, मैं ही वेदान्तका कर्ता हूँ, वेदवेत्ता भी मैं ही हूँ। मुझे पुण्य-पाप नहीं लगते, मेरा कभी नाश नहीं होता और न जन्म ही होता है। और न मेरे शरीर, मन-बुद्धि और इन्द्रियाँ ही हैं। मेरे लिये न भूमि है न जल है, न अग्नि है, न वायु और न आकाश ही है।' जो इस प्रकार गुहा—बुद्धिके गह्वरमें स्थित, निष्कल (अवयवहीन) और अद्वितीय, सदसत्से परे सबके साक्षी मेरे परमात्मस्वरूपको जानता है, वह शुद्ध परमात्मस्वरूपको प्राप्त होता है। जो शतरुद्रियका पाठ करता है, वह अग्निपूत होता है, वायुपूत होता है, आत्मपूत होता है, सुरापानके दोषसे छूट जाता है, ब्रह्महत्याके दोषसे मुक्त हो जाता है; वह स्वर्णकी चोरीके पापसे छूट जाता है, वह शुभाशुभ कर्मोंसे उद्धार पाता है, भगवान् सदाशिवके आश्रित हो जाता है तथा अविमुक्तस्वरूप हो जाता है। अतएव जो आश्रमसे अतीत हो गये हैं, उन परमहंसोंको सदा-सर्वदा अथवा कम-से-कम एक बार इसका पाठ अवश्य करना चाहिये। इससे उस ज्ञानकी प्राप्ति होती है, जो भवसागरका नाश कर देता है। इसलिये इसको इस प्रकार जानकर मनुष्य कैवल्यरूप मुक्तिको प्राप्त होता है, कैवल्य-पदको प्राप्त होता है ॥ १५–२५ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय कैवल्योपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

ज्ञानमयी दृष्टि

'दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत्।'

'दृष्टिको ज्ञान (ब्रह्म) मयी करके जगत्को ब्रह्ममय देखे।'

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

कठरुद्रोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

संन्यासकी विधि और आत्मतत्त्वका वर्णन

हरिः ॐ एक समय देवगण भगवान् प्रजापतिके पास गये और बोले—भगवन् ! हमें ब्रह्मविद्याका उपदेश कीजिये । भगवान् प्रजापति बोले—"शिखासहित केशोंका मुण्डन करा और यज्ञोपवीतका त्याग करके, पुत्रको देखकर यों कहे—'तुम ब्रह्मा हो, तुम यज्ञ हो, तुम वषट्कार हो, तुम ॐकार हो, तुम स्वाहा हो, तुम स्वधा हो, तुम धाता हो, तुम विधाता हो, तुम प्रतिष्ठा हो ।' तब पुत्र कहे, 'मैं ब्रह्मा हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं वषट्कार हूँ, मैं ॐकार हूँ, मैं स्वाहा हूँ, मैं स्वधा हूँ, मैं धाता हूँ, मैं विधाता हूँ, मैं त्वष्टा हूँ, मैं प्रतिष्ठा हूँ ।' परिव्राजक (संन्यासी) होकर घरसे निकलनेपर जब पुत्र-कलत्रादि पीछे-पीछे चलें तो उनको देखकर अश्रुपात न करे । यदि अश्रुपात करेगा तो सन्तानका नाश हो जायगा । फिर वे सब लोग संन्यासीकी प्रदक्षिणा करके इधर-उधर बिना देखे लौट जाते हैं । ऐसा संन्यासी देवलोकका अधिकारी होता है ।

"ब्रह्मचारीके रूपमें वेदोंका अध्ययन करने एवं वेद-शास्त्रानुसार ब्रह्मचर्यका पालन करनेके पश्चात् विवाहपूर्वक पुत्रोंको उत्पन्न करके, उनको सुसंस्कृत बना, यथाशक्ति यज्ञ-हवन करके अपने बन्धु-बान्धवों तथा गुरुजनोंसे अनुज्ञा प्राप्तकर संन्यास ग्रहण किया जा सकता है । इस प्रकार संन्यास ग्रहण करनेवाला वनमें जाकर बारह रात्रियोंतक दुग्धसे अग्निहोत्र करे, बारह रात्रियोंतक केवल दुग्धाहारपर रहे । बारह रात्रियोंके अन्तमें विष्णुसम्बन्धी तथा प्रजापतिसम्बन्धी चरुको, जो तीन मिट्टीकी ठीकरियोंपर सिद्ध किया गया हो, वैश्वानर अग्नि तथा प्रजापतिके उद्देश्यसे हवनकर अग्निहोत्रमें प्रयुक्त दारुपात्रोंको भी अग्निमें होम दे । मिट्टीके पात्रोंका जलमें विसर्जन कर दे और तैजस—स्वर्णादिके बने पदार्थोंको अपने गुरुको प्रदान कर दे । उस समय यों कहे—'तू मुझे छोड़कर दूर न जाना, और मैं तुम्हें छोड़कर दूर नहीं जाऊँगा ।' कुछ शास्त्रोंके मतसे, इसके पश्चात् गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय—इन तीनों प्रकारकी यज्ञाग्नियोंसे अरणियोंके पाससे भस्मकी मुष्टि लेकर पान करे । शिखासहित केशोंका वपन कराके और यज्ञोपवीत उतारकर 'ॐ भूः स्वाहा' इस मन्त्रसे जलमें डाल दे । इसके बाद अनशन, जलप्रवेश, अग्नि-प्रवेश, वीरोंके मार्गका ग्रहण करके (पाण्डवोंकी भाँति) महा-प्रस्थान करे, अथवा किसी वृद्ध संन्यासीके आश्रममें चला जाय । दुग्ध अथवा जलके साथ जो कुछ वह भोजन करे, वही उसका सायंकालीन हवन है; प्रातःकाल जो भोजन करे, वही प्रातः-कालीन हवन है । अमावास्याको जो भोजन करता है, वही दर्श-यज्ञ है । पूर्णिमाको जो भोजन करता है, वह उसका पौर्णमास्य यज्ञ है । वसन्त ऋतुमें जो वह केश, दाढ़ी, मूँछ, शरीर-रोएँ, नख आदि कटवाता है, वह उसका अग्निष्टोम है । संन्यास लेनेके बाद पुनः अग्न्याधान न करे, **'मृत्युर्जयमावहम्'** इत्यादिक आध्यात्मिक मन्त्रोंका पाठ करे । **'स्वस्ति सर्वजीवेभ्यः'**—सब जीवोंका कल्याण हो, यह कहकर केवल आत्मतत्त्वका ध्यान करता हुआ, ऊपर हाथ उठाये प्रपञ्चातीत पथमें विचरण करे, गृहहीन होकर विचरण करे । भिक्षान्नके सिवा और कुछ ग्रहण न करे । थोड़ी देर भी एक जगह न

टहरे, जीव-हिंसासे बचनेके लिये केवल वर्षाकालमें भ्रमण न करे।

"इस विषयमें दूसरे श्लोक भी हैं, जिनका भाव इस प्रकार है—'संन्यासीको चाहिये कि वह कुण्डिका, चमस तथा शिक्य (झोली) आदिको, तथा तिपाई, जूते, शीतको दूर करनेवाली कन्था (कथरी), कौपीनके ऊपर अङ्ग ढकनेवाला वस्त्र, कुशका बना पवित्र, स्नानके अनन्तर धारण करनेका वस्त्र तथा उत्तरीय वस्त्र, यज्ञोपवीत एवं वेदाध्ययन—सबका त्याग कर दे। वह अपना स्नान, पान तथा शौच पवित्र जलके द्वारा सम्पादन करे। नदीके किनारे जाकर सोये या देवमन्दिरमें सोये। अत्यधिक आराम न करे अथवा आयासके द्वारा शरीरको व्यर्थ कष्ट न दे, दूसरोंके द्वारा अपनी स्तुति सुनकर प्रसन्न न हो और निन्दा सुनकर गाली या शाप न दे। संन्यासी प्रमादरहित होकर ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताये। स्त्रियोंका दर्शन, स्पर्श, केलि—क्रीडा, चर्चा, गुह्य (कामसम्बन्धी) विषयोंकी बातचीत, काम-सङ्कल्प, सम्भोगके लिये प्रयत्न तथा सम्भोगकी क्रिया—ये आठ प्रकारके मैथुन विचारवान् पुरुषोंने गिनाये हैं। उपर्युक्त अष्टविध मैथुनके त्यागरूप ब्रह्मचर्यका पालन मुमुक्षुजनोंको करना चाहिये॥ १—६ ॥

"जो जगत्का प्रकाशक है, नित्य प्रकाशके रूपमें अपनेद्वारा ही प्रकाशित है, वही जगत्का साक्षी है, निर्मल आकृतिवाला सबका आत्मा है। वह प्रज्ञानघनस्वरूप है, सब प्राणी उसीमें प्रतिष्ठित हैं। मनुष्य न कर्मके द्वारा, न संतानके द्वारा और न अन्य किसी साधनके द्वारा—बल्कि ब्रह्मानुभवके द्वारा ही ब्रह्मको प्राप्त कर सकता है। वह सत्य-ज्ञान-आनन्दरूप अद्वितीय ब्रह्म इस माया, अज्ञान, गुहा आदि नामोंसे कहे जानेवाले संसारमें व्याप्त है तथा केवल विद्याके द्वारा जाना जाता है। जो परम व्योम नामक नित्य धाममें विराजमान इस ब्रह्मको जानता है, वह द्विजश्रेष्ठ क्रमशः सभी कामनाओंको प्राप्त कर लेता है—पूर्णकाम हो जाता है। अज्ञान और मायाशक्तिके साक्षी प्रत्यगात्माको जो 'मैं एक ब्रह्मस्वरूप हूँ' यों जानता है, वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है॥ ७—१२ ॥

"पूर्वोक्त शक्तियुक्त इस ब्रह्मस्वरूप आत्मासे उसी प्रकार अपञ्चीकृत आकाश अर्थात् शब्द-तन्मात्र उत्पन्न हुआ, जैसे रज्जुमें सर्पका भान होता है। पुनः आकाशसे वायुसंज्ञक अपञ्चीकृत स्पर्श-तन्मात्र उत्पन्न हुआ। वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथिवी उत्पन्न हुई। उन सूक्ष्म भूतोंको शिवरूप ईश्वरने पञ्चीकृत करके उन्हींसे ब्रह्माण्ड आदिकी सृष्टि की। ब्रह्माण्डके भीतर प्राणियोंके पुराकृत कर्मोंके अनुसार देव, दानव, यक्ष, किन्नर, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियोंकी सृष्टि हुई तथा अस्थि, स्नायु आदिसे निर्मित यह प्राणियोंका शरीर भी कर्मानुसार ही प्रकाशित हो रहा है। समस्त शरीरधारियोंका यह जो अन्नमय आत्मा—स्थूल शरीर प्रकाशित हो रहा है, उससे भिन्न एक प्राणमय आत्मा और है, जो इस अन्नमय आत्माके भीतर स्थित है। उससे भी सूक्ष्म दूसरा विज्ञानमय आत्मा है, जो प्राणमय आत्माके भी भीतर स्थित है। उससे भी सूक्ष्म आनन्दमय आत्मा है, जो विज्ञानमय आत्माके भी भीतर है। अन्नमय आत्मा प्राणमयसे भरा है, उसी प्रकार प्राणमय आत्मा स्वभावतः मनोमय आत्मासे पूर्ण है। मनोमय आत्मा विज्ञानमयसे पूर्ण है। सदा सुखस्वरूप विज्ञानमय आत्मा आनन्दसे पूर्ण रहता है। उसी प्रकार आनन्दमय आत्मा अपनेसे भिन्न साक्षिरूप सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी ब्रह्मके द्वारा पूर्ण है। वह ब्रह्म किसी दूसरेके द्वारा नहीं, बल्कि स्वतः सब ओरसे पूर्ण है। जो यह सत्य एवं ज्ञानस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म है, वही सबका पुच्छ—आधार है। वह सबका सार एवं रसमय (आनन्दस्वरूप) है। उस सनातन तत्त्वको प्राप्तकर यह देही सर्वत्र सुखी होता है। इसके सिवा अन्यत्र सुखता कहाँ है? अखिल प्राणियोंके आत्मस्वरूप इस परानन्द ब्रह्मके न होनेपर कौन मानव जीता रह सकता है अथवा कौन प्राणी नित्य चेष्टा करता है? अतएव सर्वान्तर्यामीरूपसे जो चित्तमें भासित होता है, वही परमपुरुष दुःखोंसे घिरे हुए जीवात्माको सदा आनन्द प्रदान करता है॥ १३—२५ ॥

"जो अदृश्यत्व आदि लक्षणोंसे युक्त इस परतत्त्वसे अभेदरूप परमाद्वैतको प्राप्त कर लेता है, वही महासंन्यासी है। सद्रूप परब्रह्म जो देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है, वही अभयपद है, परम कल्याणस्वरूप है, परम अमृत है। जबतक मनुष्यको इससे थोड़ा भी अन्तर—व्यवधान दीख पड़ता है, तबतक उसे (जन्म-मृत्युका) भय है—इसमें संदेह नहीं। भगवान् विष्णुसे लेकर क्षुद्रातिक्षुद्र तृणपर्यन्त सभी तारतम्यके अनुसार नित्य इसी आनन्दकोषसे आनन्द प्राप्त करते हैं। इस लोक तथा परलोकके भोगोंसे विरक्त, प्रसन्न चित्तवाले श्रोत्रियको यह स्वरूपभूत आनन्द स्वयं ही अनुभूत होता है—उसी प्रकार जैसे स्वयं परमात्माके अंदर होता है। शब्दकी प्रवृत्ति किसी निमित्तको लेकर होती है। परतत्त्वमें निमित्तका अभाव होनेसे वाणी वहाँसे लौट आती

है । जो सब विशेषोंसे रहित परानन्दरूप तत्त्व है, वहाँ शब्दकी प्रवृत्ति कैसे हो । इस कारण यह मन सूक्ष्म और व्यावृत अर्थात् सीमित शक्ति-सम्पन्न होकर सर्वत्र गमन करता है । क्योंकि श्रोत्र, त्वक्, नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा शब्द, स्पर्श आदि उनके विषय एवं वाक्, पाणि आदि कर्मेन्द्रियाँ सीमित शक्तिसम्पन्न हैं । अतएव परतत्त्वको प्राप्त करनेमें ये समर्थ नहीं हैं । जो साधक उस द्वन्द्वरहित, निर्गुण, सत्य-स्वरूप और विज्ञानघन ब्रह्मानन्दको 'यह मेरा ही स्वरूप है'—इस प्रकार जान लेता है, उसे कहीं भी भय नहीं होता । इस प्रकार जो अपने इन्द्रियोंका स्वामी अपने गुरुके उपदेशसे आत्मसाक्षात्कारके द्वारा ब्रह्मानन्दको जानता है, वह साधु-असाधु कर्मोंके द्वारा कभी संतप्त नहीं होता । विषय तापक हैं और चित्त ताप्य है; चित्त और उसके विषयोंसे यह अखिल जगत् विभासित हो रहा है । परन्तु वेदान्त-शास्त्रके वाक्योंके ज्ञानसे यह प्रत्यगात्माके रूपमें अनुभूत होता है । शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव ब्रह्म, ईश्वर-चैतन्य, जीव-चैतन्य, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और फल—ये सप्तविध तत्त्व कहे गये हैं, जिनमें व्यवहारको लेकर भेद है । मायाकृत उपाधियोंसे अत्यन्त मुक्त ब्रह्म—शुद्ध चैतन्य कहलाता है । मायाके सम्बन्धसे वह ईश है, अविद्याके वशीभूत वही जीव है, तथा अन्तःकरणके सम्बन्धसे वही प्रमाता—ज्ञाता कहलाता है । उस अन्तःकरणकी वृत्तिके सम्बन्धसे वह प्रमाण-संज्ञाको प्राप्त होता है । वह चैतन्य जबतक अज्ञात है, तबतक प्रमेय-कोटिमें आता है और वही ज्ञात हो जानेपर फल कहलाता है । अतएव बुद्धिमान् पुरुष अपने-आपको 'मैं सब उपाधियोंसे मुक्त हूँ'—इस प्रकार चिन्तन करे । इस प्रकार जो तत्त्वतः जानता है, वह ब्रह्मत्वको प्राप्त करनेयोग्य हो जाता है । मैंने समस्त वेदान्तके सिद्धान्तोंका सार यथार्थतः कहा है । जीव स्वयं—अपने ही कर्मोंसे उत्पन्न होता है, स्वयं ही मरता है और स्वयं ही अवशिष्ट रहता है । यह सब आत्माकी क्रीडा है, आत्माके सिवा कोई दूसरा तत्त्व नहीं है । यही उपनिषद्—रहस्य है'' ॥ २६–४३ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय कठरुद्रोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

देहनाशसे आत्माका नाश नहीं

घटावभासको भानुर्घटनाशे न नश्यति ।
देहावभासकः साक्षी देहनाशे न नश्यति ॥ (आत्मप्रबोध० १८)

'जैसे घड़ेका प्रकाशक सूर्य घड़ेके नाश हो जानेपर नष्ट नहीं होता, वैसे ही देहका प्रकाशक साक्षी (आत्मा) देहके नाशसे नाशको नहीं प्राप्त होता ।'

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

रुद्रहृदयोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

भगवान् रुद्रकी सर्वश्रेष्ठता, सर्वस्वरूपता और ब्रह्मस्वरूपता

हरिः ॐ रुद्रहृदय, योगकुण्डली, भस्मजाबाल, रुद्राक्षजाबाल और गणपति—ये पाँच उपनिषद् प्रणवके मूल तत्त्वको बतलाते हैं । ये श्रुतिके महावाक्य हैं, ब्रह्म-ज्ञानात्मक अग्निहोत्रके ये पाँच महामन्त्र हैं, अथवा मुक्तिकी प्राप्तिके लिये पाँच ब्रह्म अर्थात् मन्त्रात्मक अग्निहोत्र हैं ॥ १ ॥

श्रीशुकदेवजीने व्यासजीके चरणोंमें सिर झुकाकर प्रणाम किया और बोले, 'भगवन् ! बतलाइये, सब वेदोंमें किस एक देवताका प्रतिपादन हुआ है और किसमें सारे देवता वास करते हैं ? किसकी सेवा-पूजा करनेसे सर्वदा सब देवता मुझपर प्रसन्न रहेंगे ?' श्रीशुकदेवजीकी इस बातको सुनकर उनके पिता उनसे बोले—"शुक ! सुनो—भगवान् रुद्र सर्वदेवस्वरूप हैं, और सब देवता रुद्रस्वरूप हैं । रुद्रके दक्षिण पार्श्वमें सूर्यभगवान्, ब्रह्माजी तथा गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय—ये तीन प्रकारके अग्निदेव स्थित हैं । वामपार्श्वमें भगवती उमा, विष्णुभगवान् और सोम—ये तीन हैं । जो भगवती उमा हैं, वही विष्णुभगवान् हैं और जो विष्णुभगवान् हैं, वही चन्द्रमा हैं । जो गोविन्दको नमस्कार करते हैं, वे शङ्करजीको नमस्कार करते हैं । और जो भक्तिपूर्वक विष्णुभगवान्‌की अर्चना करते हैं, वे वृषभध्वज अर्थात् शङ्करजीकी ही पूजा करते हैं । जो विरूपाक्ष अर्थात् भगवान् आशुतोषसे द्वेष करते हैं, वे जनार्दनसे ही द्वेष करते हैं । जो रुद्रको नहीं जानते, वे केशवको भी नहीं जानते । रुद्रसे बीज उत्पन्न होता है और उस बीजकी योनि (अर्थात् क्षेत्र) विष्णुभगवान् हैं । जो रुद्र हैं, वे स्वयं ब्रह्मा हैं और जो ब्रह्मा हैं, वे अग्निदेव हैं । रुद्र ब्रह्मा और विष्णुस्वरूप हैं । और अग्नि-सोमात्मक समस्त जगत् भी रुद्र ही है । सृष्टिमें जितने पुँल्लिङ्ग प्राणी हैं, सब महेश्वर हैं और जितने स्त्रीलिङ्ग प्राणी हैं, सब भगवती उमा हैं । सारी स्थावर और जङ्गमस्वरूप सृष्टि उमा-महेश्वररूप है । समस्त व्यक्त जगत् उमाका स्वरूप है । और अव्यक्त जगत् महेश्वरका स्वरूप है । उमा और शङ्करका योग ही विष्णु कहलाता है । जो उन विष्णुभगवान्‌को भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं, वे आत्मा, परमात्मा और अन्तरात्मा—इस त्रिविध आत्माको जानकर परमात्माको प्राप्त होते हैं । अन्तरात्मा ब्रह्मा हैं और परमात्मा महेश्वर हैं । और सभी प्राणियोंके सनातन आत्मा विष्णुभगवान् हैं । इस त्रिलोकी-रूप वृक्षके, जिसके तने और शाखाएँ भूमिपर फैली हुई हैं, अग्रभाग विष्णु हैं । मध्य (तना) ब्रह्मा हैं और मूलभाग भगवान् महेश्वर हैं । विष्णु कार्यरूप हैं, ब्रह्मा क्रियारूप हैं और महेश्वर कारण-स्वरूप हैं । प्रयोजनके अनुसार रुद्रने अपनी एक ही मूर्तिको तीन प्रकारसे व्यवस्थित किया है । धर्म रुद्रस्वरूप है, जगत् विष्णुस्वरूप है और समस्त ज्ञान ब्रह्मास्वरूप हैं । 'श्रीरुद्र रुद्र रुद्र' इस प्रकारसे जो बुद्धिमान् जपता है, इससे समस्त देवोंका कीर्तन हो जानेके कारण वह सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ॥ २–१६ ॥

"पुरुष रुद्रस्वरूप हैं और स्त्रियाँ उमास्वरूपा हैं—इन दोनों प्रकारके रूपोंमें भगवान् रुद्र और भगवती उमाको

नमस्कार है। रुद्र ब्रह्मा हैं और उमा वाणी हैं। इन दोनों रूपोंमें रुद्र और उमाको नमस्कार। रुद्र विष्णु हैं और उमा लक्ष्मी हैं। उनको और उनको नमस्कार। रुद्र सूर्य हैं और उमा छाया हैं। उनको और उनको नमस्कार। रुद्र चन्द्रमा हैं और उमा तारा हैं, उनको और उनको नमस्कार। रुद्र दिवस हैं और उमा रात्रि हैं। उनको और उनको नमस्कार। रुद्र यज्ञ हैं और उमा वेदी हैं। उनको और उनको नमस्कार। रुद्र अग्निदेव हैं और उमा स्वाहा हैं। उनको और उनको नमस्कार। रुद्र वेद हैं और उमा शास्त्र हैं। उनको और उनको नमस्कार। रुद्र वृक्ष हैं और उमा लता हैं। उनको और उनको नमस्कार। रुद्र गन्ध हैं और उमा पुष्प हैं। उनको और उनको नमस्कार। रुद्र अर्थ हैं और उमा अक्षर हैं। उनको और उनको नमस्कार। रुद्र लिङ्ग हैं और उमा पीठ हैं। उनको और उनको नमस्कार। इस प्रकार सर्वदेवात्मक रुद्रको पृथक्-पृथक् नमस्कार करे। मैं भी इन्हीं मन्त्रपदोंके द्वारा महेश्वर और पार्वतीको नमस्कार करता हूँ। मनुष्य जहाँ-जहाँ रहे, इस अर्धालीसहित मन्त्रका उच्चारण करता रहे। ब्रह्महत्यारा भी यदि जलमें प्रविष्ट होकर इस मन्त्रका जाप करे तो सब पापोंसे मुक्त हो जाता है॥ १७–२५॥

"जो सबका अधिष्ठान है, द्वन्द्वातीत है, सच्चिदानन्दस्वरूप, सनातन परम ब्रह्म है, मन और वाणीके अगोचर है, शुक! उसके भलीभाँति जान लेनेपर यह सब ज्ञात हो जाता है; क्योंकि सब कुछ उसका ही स्वरूप है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। दो विद्याएँ जानने योग्य हैं—वे हैं परा और अपरा। उनमें अपरा विद्या यह है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष; तथा मुनीश्वर! इस अपरा विद्यामें आत्मविषयके अतिरिक्त सब प्रकारके बौद्धिक ज्ञानका समावेश हो जाता है। अब परा विद्या वह है, जिसके द्वारा आत्मविषयका ज्ञान होता है। वह आत्मतत्त्व परम अविनाशी है। वह देखनेमें नहीं आता, ग्रहण नहीं किया जाता। नाम-रूप और गोत्रसे वर्जित है। उसके चक्षु और श्रोत्र नहीं हैं। वह विषयातीत है, उसके हाथ-पैर नहीं हैं; वह नित्य है, विभु है, सर्वगत है, सूक्ष्मसे सूक्ष्म है तथा वह कभी विकारको प्राप्त नहीं होता। वह सब भूतोंका प्रभव-स्थान है, उस परमात्माको धीर पुरुष अपने आत्मामें देखते हैं॥ २६–३२॥

"जो सर्वज्ञ है—जिसे भूत-भविष्य-वर्तमानका ज्ञान है, जो सम्पूर्ण विद्याओंका आश्रय है, ज्ञान ही जिसका तप है, उसीसे भोक्ता एवं अन्नरूपमें यह समस्त जगत् उत्पन्न होता है। जो जगत् सत्यकी तरह प्रतीत होता है, वह सब ब्रह्ममें उसी प्रकार स्थित है, जैसे रज्जुमें सर्प। वही यह अविनाशी ब्रह्म सत्य है; जो इसको जानता है, वह मुक्त हो जाता है। ज्ञानसे ही संसार-बन्धनका नाश होता है, कर्मसे नहीं। अतएव मुमुक्षुको विधिपूर्वक श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ अपने गुरुके पास जाना चाहिये। तब गुरु उसे ब्रह्म और आत्माके एकत्वका ज्ञान करानेवाली पराविद्या प्रदान करे। यदि पुरुष गुहामें निहित उस अक्षरब्रह्मको साक्षात् कर लेता है तो अविद्यारूपी महाग्रन्थिको काटकर वह सनातन शिवके पास पहुँच जाता है। यही वह अमृतरूप सत्य है, जो मुमुक्षुओंको जानना चाहिये॥ ३३–३७॥

"प्रणव धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म वह लक्ष्य कहलाता है। उसको प्रमादरहित होकर बींधना (चिन्तन करना) चाहिये तथा लक्ष्यमें घुसे हुए बाणकी भाँति ही उस ब्रह्ममें तन्मय हो जाना चाहिये। लक्ष्य अर्थात् ब्रह्म सर्वगत है। शर अर्थात् आत्मा सब ओर मुखवाला है और वेद्धा अर्थात् साधक यदि सर्वगत हो तो शिवरूप लक्ष्यकी प्राप्तिमें संशय नहीं रह जाता। जहाँ चन्द्रमा और सूर्यका विग्रह प्रकाशित नहीं होता, जहाँ वायु तथा सम्पूर्ण देवताओंकी भी गति नहीं है, वे ही ये तेजोमय परमात्मा साधकके द्वारा चिन्तन करनेपर अपने विशुद्ध एवं रजोगुणरहित स्वरूपसे प्रकाशित होते हैं। इस शरीररूपी वृक्षमें जीव और ईश्वर नामके दो पक्षी निवास करते हैं। उनमें जीव कर्मोंका फल भोगता है, महेश्वर नहीं। महेश्वर कर्मफलका भोग न करते हुए केवल साक्षीरूपमें प्रकाशित हो रहा है, उसमें जीव और ईश्वरका भेद मायाके द्वारा कल्पित है। जिस प्रकार घटाकाश और महाकाश आकाशके ही कल्पित भेद हैं, उसी प्रकार परमात्माके जीव और ईश्वररूप भेद भी कल्पित हैं। वस्तुतः तो चिन्मय जीवात्मा सदा स्वतः साक्षात् शिव है। जीव और ईश्वरमें जो चित् है, वह चित्के औपाधिक आकार-भेदसे भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है, स्वरूपतः भिन्न नहीं है; क्योंकि स्वरूपतः भेद होनेपर तो दोनोंकी चित्स्वरूपताकी ही हानि हो जायगी। (जड वस्तुमें ही स्वरूपगत भेद होता है, चित्में नहीं।) चित्से जो चित्का भेद कहा जाता है, वह चिदाकारता (चिन्मयता) से

नहीं, अपितु जडरूप उपाधिके ही कारण है। यदि भेद है तो वह भेद जडरूप ही है। चित् तो सर्वत्र एक ही होती है। युक्ति और प्रमाणसे चित्की एकता ही निश्चित होती है; इसलिये जब पुरुषको चित्के एकत्वका परिज्ञान हो जाता है, तब वह न शोकको प्राप्त होता है न मोहको। वह केवल अद्वैत परमानन्दस्वरूप शिव-भावको प्राप्त हो जाता है। समस्त जगत्का अधिष्ठान वह सत्यस्वरूप चिद्घन परमात्मा है। मुनिलोग उसे 'अहम् अस्मि' (वह परमात्मा मैं ही हूँ) ऐसा निश्चय करके शोकरहित हो जाते हैं। अपने अन्तःकरणमें स्वयंज्योतिः-स्वरूप सर्वसाक्षी परमात्माको वे ही पुरुष देखते हैं, जिनके दोष क्षीण हो गये हैं; जो मायासे आवृत हैं, वे इतर प्राणी नहीं देख सकते। जिस महायोगीको इस प्रकार स्वरूप-ज्ञान हो गया है, उस पूर्णस्वरूपताको प्राप्त हुए सिद्ध महात्माका कहीं आना-जाना नहीं होता। जिस प्रकार एक और पूर्ण आकाश कहीं नहीं जाता, उसी प्रकार अपने आत्मतत्त्वका अनुभव करनेवाला ज्ञानी महात्मा कहीं नहीं जाता। जो मुनि निश्चयपूर्वक उस परम ब्रह्मको जानता है, वह अपने स्वरूपमें स्थित हो, सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है" ॥ ३८–५२ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय रुद्रहृदयोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

आठ गुणोंसे युक्त आत्माको जाननेका फल

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच। (छान्दोग्य० ८ । ७ । १)

प्रजापतिने कहा—जो आत्मा पापरहित, जरा (बुढ़ापा) रहित, मृत्युरहित, शोकहीन, भूखसे रहित, प्याससे रहित, सत्यकाम और सत्यसङ्कल्प (इन आठ स्वभावगत गुणोंसे युक्त) है, उसे खोजना चाहिये, उसे जानना चाहिये। जो उसको खोजकर जान लेता है, वह सब लोकोंको और समस्त कामनाओंको प्राप्त हो जाता है।

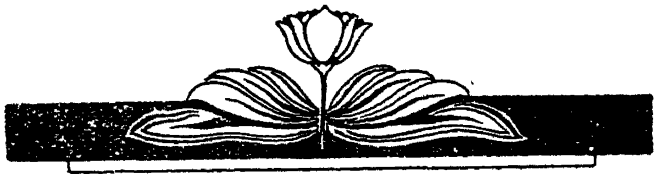

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

नीलरुद्रोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

भगवान् नीलरुद्रकी महिमा और शिव-विष्णुकी एकता

भगवान् नीलकण्ठ ! आपको हम अपने दिव्यधामसे नीचे पृथिवीपर अवतीर्ण होते देखते हैं। हम देखते हैं कि आप दुष्टोंका विनाश करते हुए अपने उग्र रुद्ररूपसे मयूर-पिच्छके समान गगनको ही मुकुट बनाये पृथिवीपर अवतीर्ण होते हैं और पृथिवीमें प्रतिष्ठित होते हैं; क्योंकि आप ही भूमिके अधीश्वर हैं। (तात्पर्य यह कि नीलकण्ठ भगवान् रुद्र अपने गगनव्यापी स्वरूपसे दिव्यधामसे पृथिवीपर अवतीर्ण होकर दुष्टोंका नाश करके पृथिवीकी रक्षा करते हैं। वे पृथिवीके अधिदेवता हैं। उनकी अष्टविध मूर्तियोंमें पृथिवी भी एक मूर्ति है। इस मन्त्रमें भगवान् शिवकी भूमिमयी मूर्तिका निर्देश है।)

लोगो ! इन भगवान् नीलकण्ठको देखो, जिनका वर्ण अत्यन्त लाल है। ये प्राणियोंके जीवनस्वरूप हैं। ये भगवान् रुद्र जलमें निक्षिप्त ओषधियोंमें पधारकर पापोंका विनाश करते हैं। (जलमें ओषधियाँ डालकर उसके द्वारा अभिषेक करनेसे पापनाश होता है।) निश्चय ही तुम्हारे अकल्याणको नष्ट करनेके लिये और तुम्हारे अप्राप्त अभीष्टको प्राप्त करानेके लिये वे (योगक्षेमकारी ओषधियुक्त जलरूप भगवान् रुद्र) तुम्हारे समीप आयें। (इस मन्त्रमें भगवान् रुद्रकी जलमयी मूर्तिका निर्देश है।)

क्रोधस्वरूप भगवान् रुद्र ! आपको नमस्कार। मन्यु (क्रोधावेश)-स्वरूप भगवान् भव ! आपको नमस्कार। भगवान् नीलकण्ठ ! आपकी दोनों भुजाओंको नमस्कार और आपके बाणको भी नमस्कार। कैलासवासी ! आप पर्वतपर (संसारसे अलग) रहकर सबका मङ्गल करते हैं। भगवन् ! जिस बाणको दुष्टोंपर फेंकनेके लिये आपने अपने हाथमें धारण किया है, गिरित्राता ! उस बाणको हमारे लिये कल्याणकारी बनाइये। उसके द्वारा पुरुषों (हमारे स्वजनों) का वध मत कीजिये।

कैलासवासिन् ! (अपनी) कल्याणमयी (पवित्र) वाणीके द्वारा हम आपके निर्मल गुणोंका वर्णन करते हैं। क्योंकि यों करनेसे हमारे लिये यह समस्त जगत् दुःख-रहित तथा अनुकूल हो जायगा। आपके जो बाण हैं, वे कल्याणमय हैं। आपका धनुष कल्याणकारी होता है। आपके धनुषकी प्रत्यञ्चा भी कल्याणरूपिणी है। हे मृड ! हे मङ्गल-स्वरूप ! इन सबके द्वारा आप हमें जीवन प्रदान करते हैं। (तात्पर्य यह कि भगवान् रुद्रका विनाशक रूप एवं विनाशके समस्त साधन भगवद्भक्तोंके लिये तथा जगत्के लिये नव-जीवनका विधान करनेके लिये हैं और वास्तविक रूपमें कल्याणस्वरूप हैं।)

भगवान् रुद्र ! आप पर्वतपर रहकर सबका कल्याण करनेवाले हैं। आपका जो पापहारी अघोर (सौम्य) स्वरूप है, आप अपने उस कल्याणकारी स्वरूपके द्वारा हमें सब ओरसे प्रकाशित करें। अर्थात् हमारे सम्मुख सदा सब ओर आपका सौम्य मङ्गलमय स्वरूप ही रहे। ये जो आपकी ताम्रवर्ण, हल्की लाल, भूरी, अत्यन्त लाल तथा और भी सहस्रों रुद्रमूर्तियाँ (किरणें) चारों ओर दिशाओंमें व्याप्त हैं, निश्चय ही हम स्तुतिके लिये उनकी कामना करते हैं। (यहाँ अन्तमें भगवान् रुद्रके सूर्यस्वरूपका निर्देश है) ॥१॥

विलोहित (अधिक रक्तवर्ण) नीलकण्ठ भगवान् ! हमने अवतार ग्रहण करते हुए आपको देखा है। आपको (उस अवताररूपमें) या तो गोपोंने देखा है या जल भरनेवाली गोपसुन्दरियोंने देखा है। योगियोंके लिये भी दुर्दर्श आपको (उस श्यामसुन्दर-स्वरूपमें) विश्वके समस्त प्राणियोंने देखा है। उस देखे हुए श्रीकृष्णस्वरूपधारी आपको नमस्कार। (यहाँ श्रुति भगवान् रुद्र एवं अवतार-विग्रहोंके एकत्वका निर्देश करती है।) मयूरपिच्छधारी (मयूर-मुकुटी)! आपको हम नमस्कार करते हैं। आप ही महान्

शक्तिशाली इन्द्र हैं । (देवराज इन्द्र नहीं, जो असुरोंसे पराजित होते हैं ; यहाँ गोविन्दसे तात्पर्य है ।) अथवा आप अपने भक्तोंके सामने हजारों (असंख्य) नेत्रोंसे सम्पन्न विराट्स्वरूपमें भी प्रकट होते हैं। और आपके इस (श्रीकृष्ण) स्वरूपके जो सत्त्वात्मक सहचर (गोपाल, गोपिकाएँ आदि) हैं, उन्हें हम नमस्कार करते हैं ।

भगवन् ! आपके शक्तिशाली किंतु इस समय प्रयुक्त न होनेवाले आयुधोंको अनेक नमस्कार ! दोनों हाथ जोड़कर मैं आपके धनुषको नमस्कार करता हूँ । अपने और शत्रुके—इन दोनों पक्षोंके राजाओंके लिये आप अपने धनुषकी प्रत्यञ्चाको उतार दीजिये । अर्थात् आप शान्तस्वरूप धारण कर लें और युद्धकी आशङ्का ही मिटा दें। भगवन् ! आपके हाथमें जो बाण हैं, उन्हें लौटा लें—तूणीरमें रख लें। अर्थात् अपनी संहार-मूर्तिका त्याग करके अपने परम सौम्य शिवरूपमें मुझे दर्शन दें ।

सहस्राक्ष, शिखण्डी, शत बाणोंके युगपत्संधानकर्ता ! आप अपने धनुषको चढ़ाकर, अपने बाणोंके मुखोंको तीक्ष्ण करके हमारे कल्याण एवं सुखके लिये उन्हें धनुषपर चढ़ायें । (हमारे शत्रुओंके नष्ट होनेपर) आपका धनुष प्रत्यञ्चा-रहित हो । क्लेश देनेकी क्रिया छोड़कर बाण तूणीरमें रक्खे जायँ । आपके बाण, जो पर्वतोंको भी चूर्ण करनेवाले हैं, इस आपके निषङ्ग (तरकस) में प्रवेश करके कल्याणमय हों । आपके धनुषमें संधान किया हुआ बाण विश्वमें चारों ओरसे हमारी रक्षा करे। इस रक्षणके अनन्तर आप अपने उस बाणको अपने तूणीरमें रख दें । भक्तोंपर अत्यधिक कृपाकी वर्षा करनेवाले ! आपके समीप जो अमोघ बाण है और आपके हाथमें जो धनुष है, उनके द्वारा आप चारों ओरसे हमारा परिपालन करें ।

उन सर्पों (डसनेवाले जीवों) को नमस्कार, जो पृथिवीपर रहते हैं । जो आकाशमें रहते हैं और जो स्वर्गमें रहते हैं, उन सर्पों (कष्ट देनेवाली शक्तियों) को नमस्कार । जो प्रकाशमय लोकोंमें (ग्रहोंमें) रहते हैं तथा जो सूर्यकी किरणोंमें रहते हैं, जो इस जलमें रहनेवाले हैं, उन सब सर्पों (क्लेशदायिका शक्तियों) को नमस्कार । जो राक्षसोंके बाणके रूपमें हैं, जो वनस्पतियोंमें रहते हैं और जो गड्ढोंमें पड़े हैं, उन सब सर्पोंको नमस्कार । (इस मन्त्रमें सर्वत्र व्यापक भगवान् रुद्रके कालस्वरूपका निर्देश है ।)

जो भगवान् शङ्कर अपने भक्तोंके लिये नीलकण्ठ स्वरूप धारण करते हैं, अर्थात् भक्तोंके कल्याणके लिये ही जिन्होंने हालाहल पान करके उसे चिह्नरूपमें अपने गलेमें धारण किया है, जो भगवान् अपने निज जनोंके लिये हरितवर्ण श्रीहरि रूप बन जाते हैं (यहाँ भगवान् शिव एवं भगवान् विष्णुका एकत्व प्रतिपादित है), हे ओषधियो ! उन काली पूँछवाले (महिषरूपधारी भगवान् केदारेश्वर) के लिये शीघ्र अमोघ शक्तिसम्पन्न बनो; क्योंकि इससे तुम उन्हें संतुष्ट कर सकोगी ।

वे पिङ्गलवर्ण एवं पिङ्गल कानोंवाले, नीलकण्ठधारी भगवान् शिव यही हैं, जिन सर्वस्वरूप, नीलशिखण्डधारी (सर्वव्यापक) भगवान् विरूपाक्ष भव (शङ्कर) के द्वारा देवताओंके ही नहीं, अपितु बाणोंका प्रयोग करनेवाले—चेतन प्राणिमात्रके पिता ब्रह्माजी मारे गये । हे वीर ! सर्वव्यापक स्वरूपसे उन्हें ही प्रत्येक कर्ममें (व्यापक एवं कर्मरूप) देखो । यह उन (भगवान् शङ्कर) के सम्बन्धमें पूछनेकी इच्छा (शङ्का) को छोड़ दो; जिसके द्वारा हम इस विश्वको उनसे विभक्त कर देते हैं—उनसे अलग भोग्य मान लेते हैं । अर्थात् इस विश्वको उन्हींका रूप मानना चाहिये । जगत्कारणस्वरूप भगवान् भवको नमस्कार, संहारकर्ता रुद्रको नमस्कार, जगत्का नाश करनेके लिये शत्रुरूप बने हुए प्रभुको नमस्कार, उन नीलशिखण्डधारी (गगनमुकुटी) को अथवा काले सींगोंवाले (महिषरूप केदारेश्वर नीलरुद्र) को नमस्कार तथा उन (दक्षकी) सभा (विवाहमण्डप) को सुशोभित करनेवाले कुमाररूप प्रभुको नमस्कार।

जिनसे घोड़े उत्पन्न हुए, खच्चर हुए तथा चारों ओर दौड़नेवाले गधे हुए, उन नीलशिखण्डधारी (महिषरूप केदारेश्वर नीलरुद्र) को नमस्कार । सभामण्डपकी शोभा बढ़ानेवाले उन भगवान्को नमस्कार, नमस्कार ॥ ३ ॥

॥ अथर्ववेदीय नीलरुद्रोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

ऋग्वेदीय

सरस्वतीरहस्योपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः । शान्तिः ॥ शान्तिः ॥॥

दस बीजमन्त्रोंसे युक्त ऋग्वेदके मन्त्रोंसे सरस्वतीदेवीकी स्तुति, उसका फल; नाम-रूपके सम्बन्धसे ब्रह्मकी जगत्-स्वरूपता और समाधिका वर्णन

हरिः ॐ । कथा है कि एक समय ऋषियोंने भगवान् आश्वलायनकी विधिपूर्वक पूजा करके पूछा—"भगवन्! जिससे 'तत्' पदके अर्थभूत परमात्माका स्पष्ट बोध होता है, वह ज्ञान किस उपायसे प्राप्त हो सकता है ? जिस देवताकी उपासनासे आपको तत्त्वका ज्ञान हुआ है, उसे बतलाइये ।" भगवान् आश्वलायन बोले—'मुनिवरो ! बीजमन्त्रसे युक्त दस ऋचाओंसहित सरस्वती-दशश्लोकीके द्वारा स्तुति और जप करके मैंने परासिद्धि प्राप्त की है ।' ऋषियोंने पूछा—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले मुनीश्वर ! किस प्रकार और किस ध्यानसे आपको सारस्वत-मन्त्रकी प्राप्ति हुई है तथा जिससे भगवती महासरस्वती प्रसन्न हुई हैं, वह उपाय बतलाइये ।' तब वे प्रसिद्ध आश्वलायन मुनि बोले, 'इस श्री-सरस्वती-दशश्लोकी महामन्त्रका मैं आश्वलायन ही ऋषि हूँ, अनुष्टुप् छन्द है, श्रीवागीश्वरी देवता हैं, 'यद्वाग्' यह बीज है, 'देवीं वाचं' यह शक्ति है, 'प्र णो देवी' यह कीलक है, श्रीवागीश्वरी देवताके प्रीत्यर्थ इसका विनियोग है । श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा, धारणा, वाग्देवता तथा महासरस्वती—इन नाम-मन्त्रोंके द्वारा अङ्गन्यास किया जाता है । (जैसे, **ॐ श्रद्धायै नमो हृदयाय नमः, ॐ मेधायै नमः शिरसे स्वाहा, ॐ प्रज्ञायै नमः शिखायै वषट्, ॐ धारणायै नमः कवचाय हुम्, ॐ वाग्देवतायै नमो नेत्रत्रयाय वौषट्, ॐ महासरस्वत्यै नम अस्त्राय फट् ।**)

ध्यान

हिम, मुक्ताहार, कपूर तथा चन्द्रमाकी आभाके समान शुभ्र कान्तिवाली, कल्याण प्रदान करनेवाली, सुवर्णसदृश पीत चम्पक पुष्पोंकी मालासे विभूषित, उठे हुए सुपुष्ट कुचकुम्भोंसे मनोहर अङ्गवाली वाणी अर्थात् सरस्वतीदेवीको मैं, विभूति (अष्टविध ऐश्वर्य एवं निःश्रेयस)के लिये, मन और वाणी-द्वारा नमस्कार करता हूँ ।

'ॐ प्र णो देवी' इस मन्त्रके भरद्वाज ऋषि हैं, गायत्री छन्द है, श्रीसरस्वती देवता हैं । **ॐ नमः**—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है । इष्ट अर्थकी सिद्धिके लिये इसका विनियोग है । मन्त्रके द्वारा अङ्गन्यास होता है ।

'वस्तुतः वेदान्त-शास्त्रका अर्थभूत ब्रह्मतत्त्व ही एकमात्र जिनका स्वरूप है और जो नाना प्रकारके नाम-रूपोंमें व्यक्त हो रही हैं, वे सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें ।'

ॐ प्र णो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती धीनामविट्र्यवतु ॥ १ ॥

ॐ—दानसे शोभा पानेवाली, अन्नसे सम्पन्न तथा स्तुति करनेवाले उपासकोंकी रक्षा करनेवाली सरस्वतीदेवी हमें अन्नसे सुरक्षित करें (अर्थात् हमें अधिक अन्न प्रदान करें) ॥१॥

'आ नो दिवः०' इस मन्त्रके अत्रि ऋषि हैं, त्रिष्टुप् छन्द है, सरस्वती देवता हैं, ह्रीं—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है।

अभीष्ट प्रयोजनकी सिद्धिके लिये इसका विनियोग है। इसी मन्त्रके द्वारा अङ्गन्यास करे।

'अङ्गों और उपाङ्गोंके सहित चारों वेदोंमें जिन एक ही देवताका स्तुति-गान होता है, जो ब्रह्मकी अद्वैत-शक्ति हैं, वे सरस्वतीदेवी हमारी रक्षा करें।'

'ह्रीं' आ नो दिवो बृहतः पर्वतादा
सरस्वती यजता. गन्तु यज्ञम्।
हवं देवो जुजुषाणा घृताची
शग्मां नो वाचमुशती शृणोतु ॥ २ ॥

ह्रीं—हम लोगोंके द्वारा यष्टव्य सरस्वती देवी प्रकाशमय द्युलोकसे उतरकर महान् पर्वताकार मेघोंके बीचमें होती हुई हमारे यज्ञमें आगमन करें। हमारी स्तुतिसे प्रसन्न होकर वे देवी स्वेच्छापूर्वक हमारे सम्पूर्ण सुखकर स्तोत्रोंको सुनें ॥२॥

'पावका नः' इस मन्त्रके मधुच्छन्दा ऋषि हैं, गायत्री छन्द है, सरस्वती देवता हैं; 'श्रीं' यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है। इष्टार्थसिद्धिके लिये इस मन्त्रका विनियोग है। मन्त्रके द्वारा ही अङ्गन्यास करे।

'जो वस्तुतः वर्ण, पद, वाक्य—तथा इनके अर्थोंके रूपमें सर्वत्र व्याप्त हैं; जिनका आदि और अन्त नहीं है, जो अनन्त स्वरूपवाली हैं, वे सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें।'

'श्रीं' पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धिया वसुः ॥ ३ ॥

श्रीं—जो सबको पवित्र करनेवाली, अन्नसे सम्पन्न तथा कर्मोंद्वारा प्राप्त होनेवाली धनकी उपलब्धिमें कारण हैं, वे सरस्वतीदेवी हमारे यज्ञमें पधारनेकी कामना करें (अर्थात् यज्ञमें पधारकर उसे पूर्ण करनेमें सहायक बनें ॥ ३ ॥

'चोदयित्री०' इस मन्त्रके मधुच्छन्दा ऋषि हैं, गायत्री छन्द है, सरस्वती देवता हैं। 'ब्लूं'—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है; अभीष्ट अर्थकी सिद्धिके लिये विनियोग है। मन्त्रके द्वारा ही न्यास करे।

'जो अध्यात्म और अधिदैवरूपा हैं तथा जो देवताओंकी सम्यक् ईश्वरी अर्थात् प्रेरणात्मिका शक्ति हैं, जो हमारे भीतर मध्यमा वाणीके रूपमें स्थित हैं, वे सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें।'

'ब्लूं' चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनां यज्ञं दधे सरस्वती ॥ ४ ॥

ब्लूं—जो प्रिय एवं सत्य वचन बोलनेके लिये प्रेरणा देनेवाली तथा उत्तम बुद्धिवाले क्रियापरायण पुरुषोंको उनका कर्तव्य सुझाती हुई सचेत करनेवाली हैं, उन सरस्वतीदेवीने इस यज्ञको धारण किया है ॥ ४ ॥

'महो अर्णः'—इस मन्त्रके मधुच्छन्दा ऋषि हैं, गायत्री छन्द है, सरस्वती देवता हैं, 'सौः'—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है। मन्त्रके द्वारा न्यास करे।

'जो अन्तर्यामीरूपसे समस्त त्रिलोकीका नियन्त्रण करती हैं, जो रुद्र-आदित्य आदि देवताओंके रूपमें स्थित हैं, वे सरस्वतीदेवी हमारी रक्षा करें।'

'सौः' महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना। धियो विश्वा विराजति ॥ ५ ॥

सौः—(इस मन्त्रमें नदीरूपा सरस्वतीका स्तवन किया गया है) नदीरूपमें प्रकट हुई सरस्वतीदेवी अपने प्रवाहरूप कर्मके द्वारा अपनी अगाध जलराशिका परिचय देती हैं। और ये ही अपने देवतारूपसे सब प्रकारकी कर्तव्यविषयक बुद्धिको उद्दीप्त (जाग्रत्) करती हैं ॥ ५ ॥

'चत्वारि वाक्०'—इस मन्त्रके उचथ्यपुत्र दीर्घतमा ऋषि हैं, त्रिष्टुप् छन्द है, सरस्वती देवता हैं, ऐं—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है। (इष्टसिद्धिके लिये विनियोग है।) मन्त्रके द्वारा न्यास करे।

'जो अन्तर्दृष्टिवाले प्राणियोंके लिये नाना प्रकारके रूपोंमें व्यक्त होकर अनुभूत हो रही हैं। जो सर्वत्र एकमात्र शक्ति—बोधरूपसे व्याप्त हैं, वे सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें।'

'ऐं' चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥ ६ ॥

ऐं—वाणीके चार पद हैं अर्थात् समस्त वाणी चार भागोंमें विभक्त हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। इन सबको मनीषी—विद्वान् ब्राह्मण जानते हैं। इनमेंसे तीन—परा, पश्यन्ती और मध्यमा तो हृदयगुहामें स्थित हैं; अतः वे बाहर प्रकट नहीं होतीं। परंतु जो चौथी वाणी वैखरी है, उसे ही मनुष्य बोलते हैं। (इस प्रकार यहाँ वाणीरूपमें सरस्वतीदेवीकी स्तुति है) ॥ ६ ॥

'यद्वाग्वदन्ति०' इस मन्त्रके भार्गव ऋषि हैं, त्रिष्टुप् छन्द है, सरस्वती देवता हैं। क्लीं—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है। मन्त्रके द्वारा न्यास करे।

'जो नाम-जाति आदि भेदोंसे अष्टधा विकल्पित हो रही हैं तथा साथ ही निर्विकल्पस्वरूपमें भी व्यक्त हो रही हैं, वे सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें।'

'क्लीं' यद् वाग्वदन्त्यविचेतनानि
राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा।
चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि
क्व स्विदस्याः परमं जगाम ॥ ७ ॥

क्लीं—राष्ट्री अर्थात् दिव्यभावको प्रकाशित करनेवाली तथा देवताओंको आनन्दमग्न कर देनेवाली देवी वाणी जिस समय अज्ञानियोंको ज्ञान देती हुई यज्ञमें आसीन (विराजमान) होती हैं, उस समय वे चारों दिशाओंके लिये अन्न और जलका दोहन करती हैं। इन मध्यमा वाक्में जो श्रेष्ठ है, वह कहाँ जाता है ? ॥ ७ ॥

'देवीं वाचं' इस मन्त्रके भार्गव ऋषि हैं, त्रिष्टुप् छन्द है, सरस्वती देवता हैं; 'सौः'—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है। मन्त्रके द्वारा न्यास करे।

'व्यक्त और अव्यक्त वाणीवाले देवादि समस्त प्राणी जिनका उच्चारण करते हैं, जो सब अभीष्ट वस्तुओंको दुग्धके रूपमें प्रदान करनेवाली कामधेनु हैं, वे सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें।'

'सौः' देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां
विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना
धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु ॥ ८ ॥

सौः—प्राणरूप देवोंने जिस प्रकाशमान वैखरी वाणीको उत्पन्न किया, उसको अनेक प्रकारके प्राणी बोलते हैं। वे कामधेनुतुल्य आनन्ददायक तथा अन्न और बल देनेवाली वाग्रूपिणी भगवती उत्तम स्तुतियोंसे सन्तुष्ट होकर हमारे समीप आयें ॥ ८ ॥

'उत त्वः०' इस मन्त्रके बृहस्पति ऋषि हैं, त्रिष्टुप् छन्द है, सरस्वती देवता हैं; 'सं'—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है। (विनियोग पूर्ववत् है) मन्त्रके द्वारा न्यास करे।

'जिनको ब्रह्मविद्यारूपसे जानकर योगी सारे बन्धनोंको नष्ट कर डालते और पूर्ण मार्गके द्वारा परम पदको प्राप्त होते हैं, वे सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें।'

'सं' उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाच-
मुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे
जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ ९ ॥

सं—कोई-कोई वाणीको देखते हुए भी नहीं देखता (समझकर भी नहीं समझ पाता), कोई इन्हें सुनकर भी नहीं सुन पाता; किंतु किसी-किसीके लिये तो ये वाग्देवी अपने स्वरूपको उसी प्रकार प्रकट कर देती हैं, जैसे पतिकी कामना करनेवाली सुन्दर वस्त्रोंसे सुशोभित भार्या अपनेको पतिके समक्ष अनावृतरूपमें उपस्थित करती है ॥ ९ ॥

अम्बितमे—इस मन्त्रके गृत्समद ऋषि हैं, अनुष्टुप् छन्द है, सरस्वती देवता हैं; ऐं—यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है। मन्त्रके द्वारा न्यास करे।

'ब्रह्मज्ञानीलोग इस नाम-रूपात्मक अखिल प्रपञ्चको जिनमें आविष्टकर पुनः उनका ध्यान करते हैं, वे एकमात्र ब्रह्मस्वरूपा सरस्वतीदेवी मेरी रक्षा करें।'

'ऐं' अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि ॥ १० ॥

ऐं—(परम कल्याणमयी)—माताओंमें सर्वश्रेष्ठ, नदियोंमें सर्वश्रेष्ठ तथा देवियोंमें सर्वश्रेष्ठ हे सरस्वती देवी ! धनाभावके कारण हम अप्रशस्त (निन्दित)-से हो रहे हैं, मा ! हमें प्रशस्ति (धन-समृद्धि) प्रदान करो ॥ १० ॥

जो ब्रह्माजीके मुखरूपी कमलोंके वनमें विचरनेवाली राजहंसी हैं, वे सब ओरसे श्वेत कान्तिवाली सरस्वतीदेवी हमारे मनरूपी मानसमें नित्य विहार करें। हे काश्मीरपुरमें निवास करनेवाली शारदादेवी ! तुम्हें नमस्कार है। मैं नित्य तुम्हारी प्रार्थना करता हूँ। मुझे विद्या (ज्ञान) प्रदान करो। अपने चार हाथोंमें अक्षसूत्र, अङ्कुश, पाश और पुस्तक धारण करनेवाली तथा मुक्ताहारसे सुशोभित सरस्वती देवी मेरी वाणीमें सदा निवास करें। शङ्खके समान सुन्दर कण्ठ एवं सुन्दर लाल ओठोंवाली, सब प्रकारके भूषणोंसे विभूषिता महासरस्वती देवी मेरी जिह्वाके अग्रभागमें सुखपूर्वक विराजमान हों। जो ब्रह्माजीकी प्रियतमा सरस्वतीदेवी श्रद्धा, धारणा और मेधा-स्वरूपा हैं, वे भक्तोंके जिह्वाग्रमें निवासकर शम-दमादि गुणोंको प्रदान करती हैं। जिनके केश-पाश चन्द्रकलासे अलङ्कृत हैं तथा जो भव-संतापको शमन करनेवाली सुधा-नदी हैं, उन सरस्वतीरूपा भवानीको मैं नमस्कार करता हूँ। जिसको कवित्व, निर्भयता, भोग और मुक्तिकी इच्छा हो, वह इन दस मन्त्रोंके द्वारा सरस्वतीदेवीकी भक्तिपूर्वक अर्चना करके स्तुति करे। भक्ति और श्रद्धापूर्वक सरस्वतीदेवीकी विधिपूर्वक अर्चना करके नित्य स्तवन करनेवाले भक्तको छः महीनेके भीतर ही उनकी कृपाकी प्रतीति हो जाती है। तदनन्तर उसके मुखसे अनुपम अप्रमेय गद्य-पद्यात्मक शब्दोंके रूपमें ललित अक्षरोंवाली वाणी स्वयमेव निकलने लगती है। प्रायः सरस्वतीका भक्त कवि बिना दूसरोंसे सुने हुए ही ग्रन्थोंके अभिप्रायको समझ लेता है। ब्राह्मणो ! इस प्रकारका निश्चय सरस्वती देवीने अपने श्रीमुखसे ही प्रकट किया था। ब्रह्माके

द्वारा ही मैंने सनातनी आत्मविद्याको प्राप्त किया और सत्-चित्-आनन्दरूपसे मुझे नित्य ब्रह्मत्व प्राप्त है ॥ १-११ ॥

तदनन्तर सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंके साम्यसे प्रकृतिकी सृष्टि हुई। दर्पणमें प्रतिबिम्बके समान प्रकृतिमें पड़ी चेतनकी छाया ही सत्यवत् प्रतीत होती है। उस चेतनकी छायासे प्रकृति तीन प्रकारकी प्रतीत होती है; प्रकृतिके द्वारा अवच्छिन्न होनेके कारण ही तुम्हें जीवत्व प्राप्त हुआ है। शुद्ध सत्त्वप्रधाना प्रकृति माया कहलाती है। उस शुद्ध सत्त्वप्रधाना मायामें प्रतिबिम्बित चेतन ही अज (ब्रह्मा) कहा गया है। वह माया सर्वज्ञ ईश्वरकी अपने अधीन रहनेवाली उपाधि है। मायाको वशमें रखना, एक (अद्वितीय) होना और सर्वज्ञत्व—ये उन ईश्वरके लक्षण हैं। सात्त्विक, समष्टिरूप तथा सब लोकोंके साक्षी होनेके कारण वे ईश्वर जगत्की सृष्टि करने, न करने तथा अन्यथा करनेमें समर्थ हैं। इस प्रकार सर्वज्ञत्व आदि गुणोंसे युक्त वह चेतन ईश्वर कहलाता है। मायाकी दो शक्तियाँ हैं—विक्षेप और आवरण। विक्षेप-शक्ति लिङ्ग-शरीरसे लेकर ब्रह्माण्डतकके जगत्की सृष्टि करती है। दूसरी आवरण-शक्ति है, जो भीतर द्रष्टा और दृश्यके भेदको तथा बाहर ब्रह्म और सृष्टिके भेदको आवृत करती है। वही संसार-बन्धनका कारण है, साक्षीको वह अपने सामने लिङ्ग-शरीरसे युक्त प्रतीत होती है। कारणरूपा प्रकृतिमें चेतनकी छायाका समावेश होनेसे व्यावहारिक जगत्में कार्य करनेवाला जीव प्रकट होता है। उसका यह जीवत्व आरोपवश साक्षीमें भी आभासित होता है। आवरण-शक्तिके नष्ट होनेपर भेदकी स्पष्ट प्रतीति होने लगती है (इससे चेतनका जडमें आत्मभाव नहीं रहता, अतः) जीवत्व चला जाता है। तथा जो शक्ति सृष्टि और ब्रह्मके भेदको आवृत करके स्थित होती है, उसके वशीभूत हुआ ब्रह्म विकारको प्राप्त हुआ-सा भासित होता है; वहाँ भी आवरणके नष्ट होनेपर ब्रह्म और सृष्टिका भेद स्पष्टरूपसे प्रतीत होने लगता है। उन दोनोंमेंसे सृष्टिमें ही विकारकी स्थिति होती है, ब्रह्ममें नहीं। अस्ति (है), भाति (प्रतीत होता है), प्रिय (आनन्दमय), रूप और नाम—ये पाँच अंश हैं। इनमें अस्ति, भाति और प्रिय—ये तीनों ब्रह्मके स्वरूप हैं तथा नाम और रूप—ये दोनों जगत्के स्वरूप हैं। इन दोनों—नाम-रूपोंके सम्बन्धसे ही सच्चिदानन्द परब्रह्म जगत्-रूप बनता है ॥ १२—२४ ॥

साधकको हृदयमें अथवा बाहर सर्वदा समाधि-साधन करना चाहिये। हृदयमें दो प्रकारकी समाधि होती है—सविकल्प और निर्विकल्परूप। सविकल्प समाधि भी दो प्रकारकी होती है—एक दृश्यानुविद्ध और दूसरी शब्दानुविद्ध। चित्तमें उत्पन्न होनेवाले कामादि विकार दृश्य हैं तथा चेतन आत्मा उनका साक्षी है—इस प्रकार ध्यान करना चाहिये। यह दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि है। मैं असङ्ग, सच्चिदानन्द, स्वयम्प्रकाश, अद्वैतस्वरूप हूँ—इस प्रकारकी सविकल्प समाधि शब्दानुविद्ध कहलाती है। आत्मानुभूति-रसके आवेशवश दृश्य और शब्दादिकी उपेक्षा करनेवाले साधकके हृदयमें निर्विकल्प समाधि होती है। उस समय योगीकी स्थिति वायुशून्य प्रदेशमें रक्खे हुए दीपककी भाँति अविचल होती है। यह हृदयमें होनेवाली निर्विकल्प और सविकल्प समाधि है। इसी तरह बाह्य-देशमें भी जिस-किसी वस्तुको लक्ष्य करके चित्त एकाग्र हो जाता है, उसमें समाधि लग जाती है। पहली समाधि द्रष्टा और दृश्यके विवेकसे होती है; दूसरी प्रकारकी समाधि वह है, जिसमें प्रत्येक वस्तुसे उसके नाम और रूपको पृथक् करके उसके अधिष्ठानभूत चेतनका चिन्तन होता है। और तीसरी समाधि पूर्ववत् है, जिसमें सर्वत्र व्यापक चैतन्य-रसानुभूतिजनित आवेशसे स्तब्धता छा जाती है। इन छः प्रकारकी समाधियोंके साधनमें ही निरन्तर अपना समय व्यतीत करे। देहाभिमानके नष्ट हो जाने और परमात्म-ज्ञान होनेपर जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहीं-वहीं परम अमृतत्वका अनुभव होता है। हृदयकी गाँठें खुल जाती हैं, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं, उस निष्कल और सकल ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर विद्वान् पुरुषके समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं। 'मुझमें जीवत्व और ईश्वरत्व कल्पित हैं, वास्तविक नहीं' इस प्रकार जो जानता है, वह मुक्त है—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ २५—३३ ॥

॥ ऋग्वेदीय सरस्वतीरहस्योपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

देव्युपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

देवीकी ब्रह्मस्वरूपता; देवताओंद्वारा देवीकी स्तुति; देवी-महिमा और इसके पाठका फल

सभी देवता, देवीके समीप जाकर, प्रार्थना करने लगे—'महादेवि ! तुम कौन हो ?' ॥ १ ॥

उन्होंने कहा—'मैं ब्रह्मस्वरूपा हूँ। मुझसे प्रकृति-पुरुषात्मक कारणरूप और कार्यरूप जगत् उत्पन्न हुआ है। मैं आनन्द और अनानन्दरूपा हूँ। मैं विज्ञान और अविज्ञानरूपा हूँ। अवश्य जाननेयोग्य ब्रह्म और अब्रह्म भी मैं ही हूँ। पञ्चीकृत और अपञ्चीकृत महाभूत भी मैं ही हूँ। यह सारा दृश्य जगत् मैं ही हूँ। वेद और अवेद मैं हूँ। विद्या और अविद्या भी मैं, अजा और अनजा (प्रकृति और उससे भिन्न) भी मैं हूँ; नीचे-ऊपर, अगल-बगल भी मैं ही हूँ। मैं रुद्रों और वसुओं-के रूपमें सञ्चार करती हूँ। मैं आदित्यों और विश्वेदेवोंके रूपोंमें फिरा करती हूँ। मैं मित्र और वरुण दोनोंका, इन्द्र एवं अग्निका और दोनों अश्विनीकुमारोंका भरण-पोषण करती हूँ। मैं सोम, त्वष्टा, पूषा और भगको धारण करती हूँ। त्रैलोक्यको आक्रान्त करनेके लिये विस्तीर्ण पादक्षेप करनेवाले विष्णु, ब्रह्मदेव और प्रजापतिको मैं ही धारण करती हूँ। देवोंको हवि पहुँचानेवाले और सावधानीसे सोमरस निकालनेवाले यजमानके लिये हविर्द्रव्योंसे युक्त धनको धारण करती हूँ। मैं सम्पूर्ण जगत्की ईश्वरी, उपासकोंको धन देनेवाली, ज्ञानवती और यज्ञार्होंमें (यजन करने योग्य देवोंमें) मुख्य हूँ। मैं ही इस जगत्के पितारूप आकाशको सर्वाधिष्ठान-स्वरूप परमात्माके ऊपर उत्पन्न करती हूँ। मेरा स्थान आत्मस्वरूपको धारण करनेवाली बुद्धिवृत्तिमें है। जो इस प्रकार जानता है, वह दैवी-सम्पत्ति लाभ करता है' ॥२—७॥

तब उन देवोंने कहा—'देवीको नमस्कार है। बड़े-बड़ोंको अपने-अपने कर्तव्यमें प्रवृत्त करनेवाली कल्याणकर्त्री महादेवीको सदा नमस्कार है। गुण-साम्यावस्थारूपिणी मङ्गलमयी देवीको नमस्कार है। नियमयुक्त होकर हम उन्हें प्रणाम करते हैं। उन अग्निके-से वर्णवाली, ज्ञानसे जगमगानेवाली, दीप्तिमती, कर्मफलप्राप्तिके हेतु सेवन की जानेवाली दुर्गा-देवीकी हम शरणमें हैं। असुरोंका नाश करनेवाली देवि ! तुम्हें नमस्कार है। प्राणरूप देवोंने जिस प्रकाशमान वैखरी वाणीको उत्पन्न किया, उसको अनेक प्रकारके प्राणी बोलते हैं। वे कामधेनु-तुल्य आनन्ददायक और अन्न तथा बल देनेवाली वाग्रूपिणी भगवती उत्तम स्तुतिसे संतुष्ट होकर हमारे समीप आयें। कालका भी नाश करनेवाली, वेदोंद्वारा स्तुत विष्णुशक्ति, स्कन्दमाता (शिवशक्ति), सरस्वती (ब्रह्मशक्ति), देवमाता अदिति और दक्ष-कन्या (सती), पापनाशिनी एवं कल्याण-कारिणी भगवतीको हम प्रणाम करते हैं। हम महालक्ष्मीको जानते हैं और उन सर्वशक्तिरूपिणीका ही ध्यान करते हैं। वे देवी हमें उस विषयमें (ज्ञान-ध्यानमें) प्रवृत्त करें। हे दक्ष ! आपकी जो कन्या अदिति हैं, वे प्रसूता हुईं और

उनके स्तुत्यर्ह और मृत्युरहित देवता उत्पन्न हुए। काम (क), योनि (ए), कमला (ई), वज्रपाणि—इन्द्र (ल), गुहा (ह्रीं)। ह, स—वर्ण, मातरिश्वा—वायु (क), अभ्र (ह), इन्द्र (ल), पुनः गुहा (ह्रीं)। स, क, ल—वर्ण, और माया (ह्रीं), यह सर्वात्मिका जगन्माताकी मूल विद्या है और यह ब्रह्मरूपिणी है। (शिवशक्त्यभेदरूपा, ब्रह्म-विष्णु-शिवात्मिका, सरस्वती-लक्ष्मी-गौरीरूपा, अशुद्ध-मिश्र-शुद्धोपासनात्मिका, समरसीभूत शिवशक्त्यात्मक ब्रह्मस्वरूपका निर्विकल्प ज्ञान देनेवाली, सर्वतत्त्वात्मिका महात्रिपुरसुन्दरी—यही इस मन्त्रका भावार्थ है। यह मन्त्र सब मन्त्रोंका मुकुटमणि है और मन्त्रशास्त्रमें पञ्चदशी कादि श्रीविद्याके नामसे प्रसिद्ध है। इसके छः प्रकारके अर्थ अर्थात् भावार्थ, वाच्यार्थ, सम्प्रदायार्थ, कौलिकार्थ, रहस्यार्थ और तत्त्वार्थ 'नित्या-षोडशिकार्णव' ग्रन्थमें बताये गये हैं। इसी प्रकार 'वरिवस्यारहस्य' आदि ग्रन्थोंमें इसके और भी अनेक अर्थ दरसाये हैं। श्रुतिमें भी ये मन्त्र इस प्रकारसे अर्थात् क्वचित् स्वरूपोच्चार, क्वचित् लक्षणा और लक्षित लक्षणासे और कहीं वर्णके पृथक्-पृथक् अवयव दरसाकर जान-बूझकर विशृङ्खलरूपसे कहे गये हैं। इससे यह मालूम होगा कि ये मन्त्र कितने गोपनीय और महत्त्वपूर्ण हैं।) ये परमात्माकी शक्ति हैं। ये विश्वमोहिनी हैं। पाश, अङ्कुश, धनुष और बाण धारण करनेवाली हैं। ये 'श्रीमहाविद्या' हैं। जो इस प्रकार जानता है, वह शोकको पार कर जाता है। भगवती! तुम्हें नमस्कार है। माता! सब प्रकारसे हमारी रक्षा करो॥ ८—१६॥

(मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहते हैं—) वही ये अष्ट वसु हैं; वही ये एकादश रुद्र हैं; वही ये द्वादश आदित्य हैं; वही ये सोमपान करनेवाले और न करनेवाले विश्वेदेव हैं; वही ये यातुधान (एक प्रकारके राक्षस), असुर, राक्षस, पिशाच, यक्ष और सिद्ध हैं; वही ये सत्त्व-रज-तम हैं; वही ये ब्रह्म-विष्णु-रुद्ररूपिणी हैं; वही ये प्रजापति-इन्द्र-मनु हैं; वही ये ग्रह, नक्षत्र और तारे हैं; वही कला-काष्ठादि कालरूपिणी हैं; पापका नाश करनेवाली, भोग-मोक्ष देनेवाली, अन्तरहित, विजयाधिष्ठात्री, निर्दोष, शरण लेने योग्य, कल्याणदात्री और मङ्गलरूपिणी उन देवीको हम सदा प्रणाम करते हैं। वियत्—आकाश (ह) तथा 'ई' कारसे युक्त, वीतिहोत्र—अग्नि (र) सहित, अर्धचन्द्र (ँ) से अलंकृत जो देवीका बीज (ह्रीं) है, वह सब मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला है। इस एकाक्षर ब्रह्मका ऐसे यति ध्यान करते हैं, जिनका चित्त शुद्ध है, जो निरतिशयानन्दपूर्ण हैं और जो ज्ञानके सागर हैं। (यह मन्त्र देवीप्रणव माना जाता है। ॐकारके समान ही यह प्रणव भी व्यापक अर्थसे भरा है। संक्षेपमें इसका अर्थ इच्छा-ज्ञान-क्रियाधार, अद्वैत, अखण्ड, सच्चिदानन्द समरसीभूत शिव-शक्ति-स्फुरण है।) वाणी (ऐं), माया (ह्रीं), ब्रह्मसू—काम (क्लीं), इसके आगे वक्त्र अर्थात् आकारसे युक्त छठा व्यञ्जन (चा), 'अवाम श्रोत्र'—दक्षिण कर्ण (उ) और बिन्दु अर्थात् अनुस्वारसे युक्त सूर्य (मुं), नारायण अर्थात् 'आ'से युक्त टकारसे तीसरा वर्ण (डा), अधर अर्थात् 'ऐ'से युक्त वायु (यै) और 'विच्चे'—यह नवार्णमन्त्र उपासकोंको आनन्द और ब्रह्मसायुज्य देनेवाला है। (इस मन्त्रका अर्थ—हे चित्स्वरूपिणी महासरस्वती! हे सद्रूपिणी महालक्ष्मी! हे आनन्दरूपिणी महाकाली! ब्रह्मविद्या पानेके लिये हम सब समय तुम्हारा ध्यान करते हैं। हे महाकाली-महालक्ष्मी-महासरस्वतीस्वरूपिणी चण्डिके! तुम्हें नमस्कार है। अविद्यारूप रज्जुकी दृढ़ ग्रन्थिको खोलकर मुझे मुक्त करो।) जो हृदयरूप कमलके मध्यमें रहती हैं, प्रातःकालीन सूर्यके समान जिनकी प्रभा है, जो पाश और अङ्कुश धारण किये रहती हैं, जिनका मनोहर रूप है, जिनके हाथ वरद और अभय मुद्राओंसे युक्त हैं, जिनके तीन नेत्र हैं, जो लाल वस्त्र पहने रहती हैं और भक्तोंके मनोरथ पूर्ण करती हैं, उन देवीको मैं भजता हूँ। महाभयका नाश करनेवाली, महासङ्कटको शान्त करनेवाली और महान् करुणाकी साक्षात् मूर्ति तुम महादेवीको मैं नमस्कार करता हूँ। जिनका स्वरूप ब्रह्मादिक भी नहीं जानते—इसलिये जिन्हें अज्ञेया कहते हैं, जिनका अन्त नहीं मिलता—इसलिये जिन्हें अनन्ता कहते हैं, जिनका स्वरूप देख नहीं पड़ता—इसलिये जिन्हें अलक्ष्या कहते हैं, जिनका जन्म समझमें नहीं आता—इसलिये जिन्हें अजा कहते हैं, जो अकेली ही सर्वत्र हैं—इसलिये जिन्हें एका कहते हैं, जो अकेली ही विश्वरूपमें सजी हुई हैं—इसलिये जिन्हें नैका कहते हैं, वे इसीलिये अज्ञेया, अनन्ता, अजा, एका और नैका कहाती हैं। सब मन्त्रोंमें 'मातृका'—मूलाक्षररूपसे रहनेवाली, शब्दोंमें अर्थरूपसे रहनेवाली ज्ञानोंमें 'चिन्मयातीता', शून्योंमें 'शून्यसाक्षिणी' तथा जिनसे और कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है, वे दुर्गा नामसे प्रसिद्ध हैं। उन दुर्विज्ञेया, दुराचारनाशिनी और संसार-सागरसे तारनेवाली दुर्गादेवीको संसारसे डरा हुआ मैं नमस्कार करता हूँ॥ १७—२५॥

इस अथर्वशीर्षका जो अध्ययन करता है, उसे पाँचों अथर्वशीर्षोंके जपका फल प्राप्त होता है। इस अथर्वशीर्षको न जानकर जो प्रतिमास्थापन करता है, वह सैकड़ों लाख जप करके भी अर्चासिद्धि नहीं प्राप्त करता। अष्टोत्तरशत (१०८ बार) जप (इत्यादि) इसकी पुरश्चरणविधि है। जो इसका दस बार पाठ करता है, वह उसी क्षण पापोंसे मुक्त हो जाता है और महादेवीके प्रसादसे बड़े दुस्तर संकटोंको पार कर जाता है। इसका सायंकालमें अध्ययन करनेवाला दिनमें किये हुए पापोंका नाश करता है, प्रातःकालमें अध्ययन करनेवाला रात्रिमें किये हुए पापोंका नाश करता है, दोनों समय अध्ययन करनेवाला पहलेका पापी भी निष्पाप होता है। मध्यरात्रिमें तुरीय* सन्ध्याके समय जप करनेसे वाक्सिद्धि प्राप्त होती है। नयी प्रतिमापर जप करनेसे देवताका सान्निध्य प्राप्त होता है। भौमाश्विनी (अमृतसिद्धि) योगमें महादेवीकी सन्निधिमें जप करनेसे महामृत्युसे तर जाता है। जो इस प्रकार जानता है, वह महामृत्युसे तर जाता है। इस प्रकार यह अविद्यानाशिनी ब्रह्मविद्या है॥ २६॥

॥ अथर्ववेदीय देव्युपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

सब ब्रह्म है

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत।

(छान्दोग्य ३। १४। १)

यह सब ब्रह्म ही है। ब्रह्मसे ही जगत् उत्पन्न होता है, ब्रह्ममें ही विलीन होता है और ब्रह्ममें ही चेष्टा करता है। शान्त (संयत) होकर ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये। पुरुष कर्ममय है। इस लोकमें जैसा कुछ कर्म करता है, मरनेके बाद परलोकमें वह वैसा ही होता है। इसलिये सत्कर्मका अनुष्ठान करना चाहिये।

* श्रीविद्याके उपासकोंके लिये चार सन्ध्याएँ आवश्यक हैं। इनमें तुरीय-सन्ध्या मध्यरात्रिमें होती है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

ऋग्वेदीय
बह्वृचोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

देवीसे सबकी उत्पत्ति और देवीकी ब्रह्मरूपता

हरिः ॐ । एकमात्र देवी ही सृष्टिसे पूर्व थीं, उन्हींने ब्रह्माण्डकी सृष्टि की । वे कामकलाके नामसे विख्यात हैं, वे ही शृङ्गारकला कहलाती हैं । उन्हींसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए, विष्णु प्रकट हुए, रुद्र प्रादुर्भूत हुए । उन्हींसे समस्त मरुद्गण उत्पन्न हुए । उन्हींसे गानेवाले गन्धर्व, नाचनेवाली अप्सराएँ और वाद्य बजानेवाले किन्नर सब ओर उत्पन्न हुए । उन्हींसे भोग-सामग्री उत्पन्न हुई, सब कुछ उत्पन्न हुआ, सब कुछ शक्तिसे ही उत्पन्न हुआ । अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज तथा जरायुज—जितने स्थावर-जङ्गम प्राणी हैं, उनकी तथा मनुष्यकी सृष्टि भी उन्हींसे हुई । वे ही अपरा शक्ति हैं, वे ही ये शाम्भवी विद्या, कादि विद्या, हादि विद्या या सादि विद्या कहलाती हैं; वे ही रहस्यरूपा हैं । वे ही प्रणववाच्य अक्षर तत्त्व हैं, ॐ अर्थात् सच्चिदानन्द-स्वरूपा वे वाणीमात्रमें प्रतिष्ठित हैं । वे ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों पुरों तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों प्रकारके शरीरोंको व्याप्तकर बाहर और भीतर प्रकाश फैला रही हैं । देश, काल और वस्तुके भीतर असङ्ग होकर रहती हुई वे महात्रिपुरसुन्दरी प्रत्यक्चेतना हैं । वे ही आत्मा हैं; उनके अतिरिक्त सब असत्य है, अनात्मा है । ये ब्रह्मविद्या हैं, भावाभाव-कलासे विनिर्मुक्त चिन्मयी विद्या-शक्ति हैं तथा अद्वितीय ब्रह्मका बोध करानेवाली हैं । वे सत्, चित् और आनन्दरूप लहरोंवाली श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी बाहर और भीतर प्रविष्ट होकर स्वयं अकेली ही विराजमान हो रही हैं । उनके अस्ति, भाति और प्रिय—इन तीन रूपोंमें जो अस्ति है, वह सन्मात्रका बोधक है । जो भाति है, वह चिन्मात्र है और जो प्रिय है, वह आनन्द है । इस प्रकार सब आकारों-में श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी ही विराजमान हैं; तुम और मैं, सारा विश्व और सारे देवता तथा अन्य सब कुछ श्रीमहात्रिपुर-सुन्दरी ही हैं । ललिता नामकी वस्तु ही एकमात्र सत्य है; वही अद्वितीय, अखण्ड परब्रह्म-तत्त्व है । पाँचों रूप अर्थात् अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूपके परित्यागसे तथा अपने स्वरूपके अपरित्यागसे अधिष्ठानरूप जो एक सत्ता बच रहती है, वही महान् परम तत्त्व है ॥ १ ॥

उसीको 'प्रज्ञान ही ब्रह्म है' अथवा 'मैं ब्रह्म हूँ' इत्यादि वाक्योंसे प्रकट किया जाता है । 'वह तू है' इत्यादि वाक्योंसे उसीका कथन किया जाता है । 'यह आत्मा ब्रह्म है', 'ब्रह्म ही मैं हूँ', 'जो मैं हूँ', 'वह मैं हूँ', 'जो वह है, सो मैं हूँ'—इत्यादि श्रुतिवाक्योंके द्वारा जिनका निरूपण होता है, वे यही षोडशी श्रीविद्या हैं । वही पञ्चदशाक्षर मन्त्रवाली श्रीमहात्रिपुर-सुन्दरी, बाला, अम्बिका, बगला, मातङ्गी, स्वयंवर-कल्याणी, भुवनेश्वरी, चामुण्डा, चण्डा, वाराही, तिरस्करिणी, राजमातङ्गी, शुकश्यामला, लघुश्यामला, अश्वारूढा, प्रत्यङ्गिरा, धूमावती, सावित्री, सरस्वती, ब्रह्मानन्दकला इत्यादि नामोंसे अभिहित होती हैं । ऋचाएँ एक अविनाशी परम आकाशमें प्रतिष्ठित हैं, जिसमें सारे देवता भलीभाँति निवास करते हैं; उसको जाननेका प्रयत्न जिसने नहीं किया, वह ऋचाओंके अध्ययनसे क्या कर सकता है । निश्चय ही उसको जो जान लेते हैं, वे ही उसमें सदाके लिये स्थित हो जाते हैं ।

॥ ऋग्वेदीय बह्वृचोपनिषद् समाप्त ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

ऋग्वेदीय
सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम खण्ड

श्रीमहालक्ष्मीका श्रीसूक्तके अनुसार ध्यान, न्यास, पूजन और यन्त्रकी विधि

हरिः ॐ । एक समय देवताओंने भगवान् आदिनारायणसे कहा—'भगवन् ! हमारे लिये सौभाग्यलक्ष्मी-विद्याका उपदेश कीजिये ।' भगवान्ने कहा—'बहुत अच्छा, आप सब देवगण एकाग्रचित्त होकर सुनें । जो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणरूप तीनों अवस्थाओंसे परे तुरीयस्वरूपा हैं—नहीं-नहीं, तुरीयसे भी अतीत अर्थात् निर्गुणस्वरूपा हैं, सबसे बढ़कर उत्कट अर्थात् भयङ्कर रूपवाली हैं, तथा जो सभी मन्त्रोंको आसन बनाकर उनपर विराजमान हैं, पीठों और उपपीठोंमें प्रतिष्ठित देवताओंसे आवृत हैं, चार भुजाओंसे युक्त हैं—उन श्री अर्थात् लक्ष्मीदेवीका **'हिरण्यवर्णाम्०'** इत्यादि श्रीसूक्तकी पञ्चदश ऋचाओंके द्वारा ध्यान करें ।

उक्त पञ्चदश ऋचाओंवाले श्रीसूक्तके इन्दिरा, आनन्द, कर्दम और चिक्लीत ऋषि हैं । श्री अर्थात् इन्दिरा प्रथम मन्त्रकी ऋषि हैं तथा आनन्द, कर्दम और चिक्लीत शेष चतुर्दश मन्त्रोंके द्रष्टा हैं । ये तीनों इन्दिरा (लक्ष्मी) के पुत्र हैं । **'हिरण्यवर्णाम्०'** आदि प्रथम तीन ऋचाओंका अनुष्टुप् छन्द है, **'कां सोस्मि०'** इस ऋचाका बृहती छन्द है, उसके आगेकी दो ऋचाओंका त्रिष्टुप् छन्द है, उनसे अगले आठ मन्त्रोंका अनुष्टुप् छन्द है । शेष मन्त्रोंका छन्द है प्रस्तारपङ्क्ति । श्री और अग्नि इन ऋचाओंके देवता हैं, **'हिरण्यवर्णाम्'** यह बीज है, **'कां सोस्मि'** यह शक्ति है । हिरण्मयी, चन्द्रा, रजतस्रजा, हिरण्यस्रजा, हिरण्या, हिरण्यवर्णा—इन नामोंको चतुर्थी विभक्तिमें रखकर आदिमें प्रणव और अन्तमें नमः बोलकर अङ्गन्यास करे । जैसे—

ॐ हिरण्मय्यै नमः हृदयाय नमः । ॐ चन्द्रायै नमः शिरसे स्वाहा । ॐ रजतस्रजायै नमः शिखायै वषट् । ॐ हिरण्यस्रजायै नमः कवचाय हुम् । ॐ हिरण्यायै नमः नेत्रत्रयाय वौषट् । ॐ हिरण्यवर्णायै नमः अस्त्राय फट् ।

—पश्चात् श्रीसूक्तके मन्त्रोंसे अङ्गन्यास करे । सिर, नेत्र, कर्ण, नासिका, मुख, कण्ठ, दोनों भुजाएँ, हृदय, नाभि, लिङ्ग, गुदा, ऊरु (जाँघ), जानु, जङ्घा (पिंडली)—इन स्थानोंमें श्रीसूक्तके मन्त्रोंसे क्रमशः न्यास करे । इसके बाद निम्नलिखित मन्त्रके अनुसार ध्यान करे—

अरुणकमलसंस्था तद्रजःपुञ्जवर्णा
करकमलधृतेष्टाभीतियुग्माम्बुजा च ।
मणिकटकविचित्रालङ्कृताऽऽकल्पजालैः
सकलभुवनमाता संततं श्रीः श्रियै नः ॥

अर्थात् हल्के लाल (गुलाबी) रंगके कमलदलपर बैठी हुई, कमल-परागकी राशिके समान पीत वर्णवाली, चारों हाथोंमें क्रमशः वर-मुद्रा, अभय-मुद्रा और दो कमल-पुष्प धारण किये हुए, मणिमय कड़ोंसे विचित्र शोभा धारण करनेवाली और अलङ्कारसमूहोंसे अलङ्कृत, समस्त लोकोंकी जननी श्रीमहालक्ष्मीदेवी निरन्तर हमें श्रीसम्पन्न करें ॥ १ ॥

(तत्पश्चात् यन्त्र लिखकर उसकी पूजा करे । यन्त्रके कर्णिकावृत्तके ऊपर अष्टदल, उसपर द्वादशदल तथा द्वादशदलके ऊपर षोडशदल बनाकर तीनोंको एक-एक वृत्तसे घेर दे ।) पीठकर्णिका अर्थात् बीजकोषके भीतर साध्य-कार्यसहित श्रीबीज (श्रीं) को लिखे । उसके बाद अष्टदल, द्वादशदल और

षोडशदल पद्मोंके ऊपर और भूवृत्तोंके बीचमें श्रीसूक्तकी आधी-आधी ऋचा लिखे। (अर्थात् अष्टदलके ऊपर और पहले भूवृत्तके अंदर **'अश्वपूर्वां रथमध्यां'** इत्यादि ऋचाको, द्वादशदलके ऊपर तथा द्वितीय भूवृत्तके भीतर **'कां सोस्मितां हिरण्यप्राकाराम्'** इत्यादि तथा षोडशारके ऊपर तथा तृतीय भूवृत्तके भीतर **'गन्धद्वारां दुराधर्षां'** इत्यादि ऋचा लिखे।) उसके बाहर निर्भूवृत्तमें **'यः शुचिः प्रयतो भूत्वा'** इत्यादि फलश्रुतिरूप ऋचाको लिखकर षोडशारके मध्य और ऊपर अकारसे सकारतक मातृका-वर्णोंको लिखे। (क्रम यह है कि प्रत्येक सकार-पर्यन्त दलमें दो-दो व्यञ्जन-वर्ण तथा प्रत्येक दलके ऊपर भूवृत्तके नीचे क्रमशः अकारादि सोलह स्वर-वर्णोंको लिखे। इसी प्रकार द्वादशदलके दो-दो दलोंके पार्श्वमें क्रमशः **'ऐं ह्रीं श्रीं क्लीं ब्लौं जगत्प्रसूत्यै नमः'** ये अक्षर लिखे तथा द्वादशदलके दलोंमें **'ह्रीं श्रीं क्लीं'** इन बीजोंको दो-दो करके लिखे। फिर भूवृत्तके नीचे अष्टदल कमलके दो-दो दलोंके पार्श्वमें क्रमशः 'ह' और 'क्ष' लिखे। अष्टदलके दलोंमें आ, ई, ऊ और ऋ अनुस्वारसहित लिखकर षट्कोणके कोणोंमें **'श्रीं ह्रीं क्लीं'** बीजोंको क्रमशः दो-दो बार लिखे और प्रणवद्वारा षट्कोणको घेर दे।) सबके ऊपर निर्भूवृत्तमें वषड्युक्त त्वरिता-बीजके साथ श्रीबीजको लिखे। इस प्रकार दस अङ्गोंवाला श्रीचक्र अर्थात् प्रणव, षट्कोण, भूवृत्त एवं अष्टदल, भूवृत्त, द्वादशदल, भूवृत्त, षोडशदल, भूवृत्त एवं निर्भूवृत्त बनाये।

'श्रां हृदयाय नमः' इत्यादि अङ्गमन्त्रोंसे प्रथम आवरण-पूजा होती है। पद्म आदि निधियोंसे द्वितीय आवरण-पूजा होती है। लोकपालों अर्थात् इन्द्र आदि देवताओंसे तृतीय आवरण-पूजा होती है। उनके वज्रादि आयुधोंसे चतुर्थ आवरण-पूजा होती है। श्रीसूक्तके अन्तर्गत ऋचाओंद्वारा आवाहनादि अर्थात् आवाहन, संनिधापन, सम्बोधन, सम्मुखीकरण आदि कार्य होते हैं। (फैली हुई अञ्जलिमें दोनों अनामिकाओंके मूलमें अङ्गुष्ठके सिरोंको रखनेसे आवाहनी मुद्रा होती है। दोनों अङ्गुष्ठोंको ऊपर उठा दोनों मुष्टियोंको संयुक्त करनेसे संनिधापनी मुद्रा होती है। इन दोनों अङ्गुष्ठोंको मुष्टियोंमें प्रवेश करानेसे सम्बोधनी मुद्रा होती है। दोनों मुष्टियोंको उत्तान करके मिलाये रखनेसे सम्मुखीकरणी मुद्रा होती है और आवाहनी मुद्राको अधोमुख करनेसे स्थापनी मुद्रा होती है।) इसके पश्चात् (देवीकी षोडशोपचार पूजा करके) पुरश्चरणके लिये षोडश सहस्र मन्त्र-जप करे। (यहाँतक श्रीमहालक्ष्मी-पूजाका क्रम बताया गया।)

(इसके बाद सौभाग्यलक्ष्मी-पूजाका क्रम लिखा जाता है—) एकाक्षर सौभाग्यलक्ष्मी-मन्त्र **'श्रीः'** के भृगु ऋषि हैं, **'नीचृद्गायत्री'** छन्द है और श्री देवता हैं। **'श्रीं'** बीज है। **'श्रां'** इत्यादिके द्वारा अङ्गन्यास करे। जैसे—

श्रां हृदयाय नमः। श्रीं शिरसे स्वाहा। श्रूं शिखायै वषट्। श्रैं कवचाय हुम्। श्रौं नेत्रत्रयाय वौषट्। श्रः अस्त्राय फट्।

इसके पश्चात् नीचे लिखे अनुसार ध्यान करे—

भूयाद्भूयो द्विपद्माभयवरदकरा तप्तकार्तस्वराभा
शुभ्राभ्राभेभयुग्मद्वयकरधृतकुम्भाद्विरासिच्यमाना।
रक्तौघाबद्धमौलिर्विमलतरदुकूलार्तवालेपनाढ्या
पद्माक्षी पद्मनाभोरसि कृतवसतिः पद्मगा श्रीः श्रियै नः॥

'जिन्होंने अपने दोनों हाथोंमें दो पद्म तथा शेष दोमें वर और अभय मुद्राएँ धारण कर रक्खी हैं, तप्त काञ्चनके समान जिनके शरीरकी कान्ति है, शुभ्र मेघकी-सी आभासे युक्त दो हाथियोंकी सूँड़ोंमें धारण किये हुए कलशोंके जलसे जिनका अभिषेक हो रहा है, रक्तवर्णके माणिक्यादि रत्नोंका मुकुट जिनके सिरपर सुशोभित है, जिनके वस्त्र अत्यन्त स्वच्छ हैं, ऋतुके अनुकूल चन्दनादि आलेपनके द्वारा जिनके अङ्ग लिप्त हैं, पद्मके समान जिनके नेत्र हैं, पद्मनाभ अर्थात् क्षीरशायी विष्णुभगवान्‌के उरःस्थलमें जिनका निवास है, वे कमलके आसनपर विराजमान श्रीदेवी हमारे लिये परम ऐश्वर्यका विधान करें।'

(इस प्रकार ध्यान करके एक पीठयन्त्र अङ्कित करे।) वह पीठयन्त्र तीन वृत्तोंसे युक्त अष्टदल पद्म, द्वादश राशिखण्ड तथा चतुष्कोण—इस आकारका रमापीठ होता है। अष्टदल-की कर्णिका अर्थात् बीजकोषमें साध्यसहित श्रीबीज (**श्रीं**) लिखना चाहिये—जैसे **'श्रीं श्रीर्मा देवी जुषताम्।'** (इसके पश्चात् प्रातःकृत्य, पीठन्यास एवं ऋष्यादिन्यास करके) आदिमें प्रणव और अन्तमें 'नमः' जोड़कर प्रत्येक नामके साथ चतुर्थी विभक्तिका प्रयोग करते हुए (जैसे—**'ॐ विभूत्यै नमः'** इत्यादि) विभूति, उन्नति, कान्ति, सृष्टि, कीर्ति, संनति, व्युष्टि, सत्कृष्टि एवं ऋद्धि—इन नौ शक्तियोंकी पूजा करे। (इसके बाद **'श्रीकमलासनाय नमः'** कहकर आसनका न्यास करे, और) अङ्गन्यासके द्वारा प्रथम आवरणकी पूजा करे। (**'श्रां हृदयाय नमः'** इत्यादिके द्वारा अग्नि आदि कोणमें स्थित केशरोंमें तथा दिशाओंमें पूजा करके पूर्वादि दिशाओंमें) क्रमशः वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धको पूजे (तथा

अग्नि आदि कोणोंमें क्रमशः मदक—नव शाक-विशेष, सलिल, गुग्गुल एवं कुरुण्टक—पुष्पविशेषकी पूजा करे। देवीके दक्षिणमें शङ्खनामक निधि और वसुधाकी तथा वाममें पद्म-नामक निधि और वसुमतीकी पूजा करे।) इस प्रकार द्वितीय आवरणकी पूजा होती है। फिर बालकी आदि अर्थात् बालकी, विमला, कमला, वनमालिका, विभीषिका, मालिका, शाङ्करी और वसुमालिकाकी पूजा करे। इस प्रकार तृतीय आवरणकी पूजा होती है। इसके पश्चात् इन्द्र आदि देवताओं तथा उनके वज्र आदि आयुधोंकी पूजासे चतुर्थ आवरणकी पूजा होती है। पुरश्चरणके लिये बारह लाख मन्त्र-जप करना चाहिये। (इस प्रकार एकाक्षरी सौभाग्यलक्ष्मीकी पूजा-विधि समाप्त हुई।)

(अब 'श्रीं ह्रीं श्रीं' रूप त्र्यक्षरी विद्याकी पूजा-विधि बतायी जाती है। इसका पूजा-क्रम एकाक्षरीके पूजा-क्रमके समान ही है। केवल तृतीय आवरणकी पूजामें कुछ विशेषता है।) यहाँ आदिमें प्रणव और अन्तमें नमः लगाकर प्रत्येक नामका चतुर्थी विभक्तिसहित प्रयोग करते हुए (जैसे, 'ॐ श्रियै नमः इत्यादि) श्री, लक्ष्मी, वरदा, विष्णुपत्नी, वसुप्रदा, हिरण्यरूपा, स्वर्णमालिनी, रजतस्रजा, स्वर्णप्रभा, स्वर्णप्राकारा, पद्मवासिनी, पद्महस्ता, पद्मप्रिया, मुक्तालङ्कारा, चन्द्रसूर्या, विल्वप्रिया, ईश्वरी, भुक्ति, मुक्ति, विभूति, ऋद्धि, समृद्धि, कृष्टि, पुष्टि, धनदा, धनेश्वरी, श्रद्धा, भोगिनी, भोगदा, सावित्री, धात्री, विधात्री प्रभृति नाम-मन्त्रोंके द्वारा शक्तिकी पूजा करे। एकाक्षर मन्त्रके समान ही अङ्गादिके द्वारा पीठ-पूजा करे। पुरश्चरणके लिये एक लाख मन्त्र-जप करे। जपका दशांश तर्पण, तर्पणका दशांश हवन और हवनका दशांश ब्राह्मणभोजन कराये (तथा ब्राह्मण-भोजनका दशांश अभिषेक अर्थात् मार्जन करे)। निष्काम उपासना करनेवालोंको ही श्रीविद्याकी सिद्धि होती है। सकाम उपासना करनेवालोंको कदापि सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार सौभाग्यलक्ष्मी-उपनिषद्का श्रीक्रम नामक प्रथम खण्ड समाप्त हुआ॥ १॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

योगसम्बन्धी उपदेश

इसके बाद आदिनारायणसे देवताओंने कहा—भगवन्! तुरीया मायाके द्वारा निर्दिष्ट तत्त्वके विषयमें हमसे कहिये। 'बहुत अच्छा' कहकर भगवान् आदिनारायणने उपदेश आरम्भ किया—

'योगसे योगको जानना चाहिये, योगसे योग बढ़ता है। जो योगी योगमें सदा सावधान रहता है, वह योगी चिरकालतक—अनन्तकालतक आनन्दोपभोग करता है। मितभोगी अर्थात् शरीरनिर्वाहके लिये आवश्यक अन्न-वस्त्रादिका उपभोग करनेवाला साधक राग-द्वेष-मोहरूपी कषाय—मलके परिपक्व हो जानेपर, निद्रा—आलस्य त्यागकर, प्रपञ्चके ब्रह्मत्वकी प्राप्तिमें बाधक होनेके कारण एकान्त स्थानमें (संसारके कोलाहलसे रहित प्रदेशमें) जाकर साधन करता है—आत्माको परमात्मामें लगानेका अभ्यास करता है। वह या तो शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंसे रहित होनेके लिये राजयोगमें प्रवृत्त होता है अथवा गुरूपदिष्ट मार्गपर चलता हुआ प्राणायामके द्वारा हठयोगका अवलम्बन करता है। तात्पर्य यह कि राजयोग और हठयोगके भेदसे योग द्विविध है। प्राणायामका अभ्यास करनेवाले पहले मुखसे वायुको खींचकर भीतर भरते हैं और नाभि-प्रदेशसे अपानवायुको जठराग्निके कोष्ठमें खींचकर मुखके द्वारा खींची हुई वायुके साथ उसका संयोग कराते हैं; पश्चात् अँगूठे, अँगुलियों तथा दोनों हथेलियोंके द्वारा दोनों कान, नेत्र तथा नासा-पुटोंको बंद करके प्राणायामके अभ्यास-द्वारा तथा प्रणवका नाना प्रकारसे ध्यान करके उसीमें तल्लीन हुए योगीजन चैतन्यस्वरूप आत्माका साक्षात्कार करते हैं॥ १—३॥

'अभ्यासकी एक और विधि है—जो कान, मुख, नेत्र और नासाछिद्रोंको बंद करके ही की जाती है। वह है शुद्ध सुषुम्णा नाडीमें प्रणवके विशुद्ध अनाहत नामक नादको स्पष्ट सुनना। अनाहतचक्रमें ध्वनिको सुननेपर नाना प्रकारके विचित्र घोष सुने जाते हैं, और इस साधनाके द्वारा साधक तेजस्वी हो जाता है, उसके शरीरमें दिव्य गन्ध आने लगती है और स्वस्थ होकर वह दिव्यदेह प्राप्त करता है। शून्य-में अर्थात् सुषुम्णा नाडीमें पूरे मनोयोगके साथ ध्वनि-सुनते रहनेसे आरम्भमें ही—जहाँसे वह सुषुम्णा नाडी आरम्भ होती है, उस मूलाधारचक्रमें ही साधक योगवान् हो जाता है अर्थात् दीपशिखाके आकारके जीवात्माको हृदय-पुण्डरीकसे मूलाधारचक्रमें लाकर सुषुम्णा नाडीसे संयुक्त कर देता है। इस प्रकार इच्छाशक्तिकी प्रेरणासे जब जीवात्मा सुषुम्णा-मार्गपर चलने लगता है, तब द्वितीय अर्थात् स्वाधिष्ठान-

चक्रको विघटित करके—भेदकर उसीके मध्यस्थित छिद्रमेंसे होकर प्राणवायु मध्यगा होती है अर्थात् सुषुम्णामें प्रवेश कर जाती है ॥ ४–६ ॥

पद्मासनादिपर स्थित हुए योगीका आसन दृढ़ होता है। उसके बाद विष्णुग्रन्थि अर्थात् मायाको, जो तृतीय मणिपूरक नामक चक्रमें रहकर अनेक कामनाओंका विस्तार करती रहती है, विच्छिन्न कर देनेपर परमानन्दकी प्राप्ति सम्भव हो जाती है। शून्य अर्थात् मायाको लाँघकर उठता हुआ प्राणवायु जब नाड़ीके साथ संघर्षणको प्राप्त होता है, तब उससे भेरीके समान ध्वनि सुन पड़ती है और तृतीय मणिपूरक चक्रको भेदकर चलनेपर प्राणवायुसे मर्दल-ध्वनि अर्थात् मृदङ्ग-जैसी ध्वनि होती है। इसके आगे अन्य चक्रोंको भेदता हुआ वह महाशून्य अर्थात् आकाश-चक्रमें जाता है, जहाँ सब प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। उसके बाद प्राणवायु तालुचक्रसे चित्तको जयकर तालुचक्रको भेदता है, जहाँ चित्तगत सम्पूर्ण आनन्दकी प्राप्ति होती है ॥ ७–९ ॥

इस साधनाकी समाप्तिमें वैष्णवशब्द—प्रणव शब्दायमान होता है, शब्दके रूपमें स्वयं प्रकट होता है। उस प्रणव-ध्वनिमें चित्त विलीन हो जाता है, इस प्रकार सनकादि मुनियोंने कहा है। उस महाशून्य चक्रमें स्थित होकर साधक अन्त अर्थात् जीवमें अनन्त—परमात्माका समारोप करता है, मायाग्रस्त स्वरूप—अंशरूप आत्मामें निरंश परमात्माको समर्पितकर तथा आत्माकी सर्वव्यापक प्रकृतिका ध्यान करके कृतकृत्य हो जाता है, अमृतस्वरूप हो जाता है। संप्रज्ञात योगको असंप्रज्ञात योगसे जीते और भाव अर्थात् सविचार समाधिका निरोध अभाव—निर्विचार समाधिसे करे; उसके बाद निर्विकल्प समाधिको प्राप्त करके साधक परमतत्त्व—कैवल्यमें स्थित होता है। निर्विकल्प समाधिमें स्थित साधकका अहंभाव छूट जाता है और आत्म-तत्त्वमें अध्यस्त मायात्मक जगत्का भी लोप हो जाता है। ऐसा विद्वान् पुनः 'यह मैं हूँ और यह मेरा है' इत्यादि चिन्तामें नहीं पड़ता ॥ १०–१३ ॥

'जिस प्रकार पानीमें नमक मिलानेसे वह उसमें घुल-मिल जाता है, उसी प्रकार मनका आत्मामें विलीन हो जाना समाधि कहलाता है। जब प्राणायामके अभ्याससे प्राणवायु सम्यक्रूपसे क्षीण होकर कुम्भकमें स्थिर हो जाता है, और मानसिक वृत्तियाँ अत्यन्त विलीन हो जाती हैं, उस समय तैलधारावत् चित्तका आत्माके साथ एकीभाव समाधि कहलाता है। जीवात्मा और परमात्माका समत्व होनेपर जब सारे सङ्कल्प नष्ट हो जाते हैं, उस स्थितिको समाधि कहते हैं। प्रभा अर्थात् जागतिक बोधसे शून्य जिस स्थितिमें मन और बुद्धि पूर्णतः विलीन हो जाते हैं, जिसमें कुछ आभासित नहीं होता—सब शून्याकार प्रतीत होता है, वह निरामय—भवरोगकी निवृत्तिकी अवस्था समाधि कहलाती है। शरीरके इधर-उधर चलनेपर भी देही अर्थात् जीवात्मा जब निश्चल, नित्य स्वयम्प्रकाश स्वरूपमें स्थित रहता है, उसे समाधि कहना चाहिये। उस समय साधकका मन जहाँ-जहाँ जाता है, वहाँ-वहाँ परम-पदकी प्राप्ति होती है। उसके लिये सर्वत्र परब्रह्म समवस्थित होता है। सर्वत्र परमब्रह्म समवस्थित होता है' ॥ १४–१९ ॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय खण्ड

नवचक्र-विवेक

पश्चात् भगवान् आदिनारायणसे देवताओंने निवेदन किया—'भगवन्! आप कृपया हमारे लिये नवचक्रविवेकके विषयमें उपदेश कीजिये।' 'बहुत अच्छा' कहकर भगवान्ने उपदेश आरम्भ किया—

'मूलाधारमें ब्रह्मचक्र है, वह योनिके आकारमें तीन घेरोंसे युक्त है; वहाँ कर्णिकाके मूलमें कुण्डलिनी-शक्ति सोये हुए सर्पके आकारमें स्थित है। तप्त अग्निके रूपमें उसका तबतक ध्यान करना चाहिये, जबतक वह जाग्रत् न हो जाय। वहीं भगवती त्रिपुराका स्थान कामरूप नामक पीठ है, जिसकी उपासना करनेसे सारे भोगोंकी प्राप्ति होती है। इतना आधारनामक प्रथम चक्रके विषयमें हुआ ॥ १ ॥

'दूसरा छः दलोंका स्वाधिष्ठान-चक्र है। उस षट्दल पद्मके कर्णिकापीठमें पश्चिमाभिमुख एक शिवलिङ्गका, जो मूँगेके अङ्कुरके समान लाल वर्णका है, ध्यान करे। वहाँ उड्यानपीठ है, उसकी उपासना करनेसे जगत्को आकर्षित करनेकी सिद्धि प्राप्त होती है। तीसरा नाभिचक्र सर्पके समान कुटिल आकारका और पाँच घेरोंसे आवृत है। उस चक्रमें कोटि-कोटि बालसूर्योंकी-सी प्रभासे युक्त तथा तडित्के समान क्षीण

अङ्गोंवाली कुण्डलिनी-शक्तिका ध्यान करे। यह शक्ति जाग्रत् होनेपर सामर्थ्यवती होती है और सब प्रकारकी सिद्धियों-को प्रदान करती है। मणिपूरक-चक्र हृदयचक्र है। वह अष्टदल पद्मके आकारका नीचेकी ओर मुख किये रहता है। उस चक्रमें ज्योतिर्मय लिङ्गका ध्यान करना चाहिये। वही ज्योतिर्मय लिङ्ग हंसकलाके नामसे विख्यात है, जो सर्वप्रिय है; उसके जाग्रत् होनेपर समस्त लोकोंको वशमें करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। कण्ठमें जो चक्र है, वह चार अङ्गुल प्रमाणका है; उसमें बायीं ओर इडा अर्थात् चन्द्रनाड़ी और दाहिनी ओर पिङ्गला अर्थात् सूर्यनाड़ी है। इन दोनोंके बीचमें श्वेतवर्णकी सुषुम्णा नाड़ीका ध्यान करे। जो इसको जानता है, उसका अनाहत-चक्र सिद्धि प्रदान करता है। इसके आगे तालुचक्र है, जहाँ निरन्तर अमृतकी धार प्रवाहित होती रहती है। तालुचक्रमें दस अथवा बारह दल होते हैं। घाँटीके चिह्नकी जड़में तथा आगेके दाँतोंकी जड़तक फैला हुआ जो चक्रके आकारका रन्ध्र—छिद्र है, उसीमें तालु-चक्र स्थित है। उस चक्रमें शून्यका ध्यान करे। इससे चित्त शून्यमें विलीन हो जाता है। सातवाँ भ्रूचक्र अँगूठेके परिमाणका है, उस द्विदल पद्ममें निवातदीपशिखाके आकारमें ज्ञान-नेत्रका ध्यान करे। इस चक्रके जाग्रत् होनेपर कपालकन्द अर्थात् अदृष्टके कारणभूत कर्मोंकी वाक्-सिद्धि अर्थात् उनके विषयका सारा ज्ञान हो जाता है। आठवाँ आज्ञाचक्र है, उसे ब्रह्मरन्ध्र अथवा निर्वाणचक्र भी कहते हैं। वह रन्ध्र सूईकी नोकके परिमाणका है। वहाँ गतिशील धूम्रशिखाके आकारका ध्यान करे। वहाँ जालन्धर पीठ है। उसकी उपासना करनेसे मुक्तिलाभ होता है। अतएव इसे परब्रह्म-चक्र भी कहते हैं। नवाँ आकाशचक्र है। वहाँ षोडशदल पद्म ऊपरकी ओर मुख किये स्थित है। उसके बीचकी कर्णिका त्रिगुणोंकी जननी होनेके कारण तीन शिखरोंवाले पर्वतके आकारकी कही गयी है। उसके बीचमें ऊपरकी ओर झुकी हुई शक्ति है। उसको देखते हुए ध्यान करे। वहाँ ही पूर्णगिरि पीठ है, जिसकी उपासना करनेसे सब प्रकारकी कामनाओंकी सिद्धि होती है॥ २–९॥

'इस सौभाग्यलक्ष्मी-उपनिषद्को जो नित्य पढ़ता है, वह अग्निपूत होता है, वह वायुपूत होता है। वह सब प्रकारके धन-धान्य, स्त्री-पुत्र, हाथी-घोड़े, गाय-भैंस, दास-दासीसे युक्त योगी और ज्ञानी होता है। अन्तमें वह परमपदको प्राप्त करता है—जहाँसे फिर नहीं लौटता, फिर नहीं लौटता॥ १०॥

॥ तृतीय खण्ड समाप्त ॥ ३ ॥

॥ ऋग्वेदीय सौभाग्यलक्ष्मी-उपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः।' (कठोपनिषद् १। १। २७)

'धनसे मनुष्य कभी तृप्त होनेवाला नहीं है।'

(सौभाग्यलक्ष्मी-उपनिषद्में वर्णित श्रीसूक्त)

अथ श्रीसूक्तप्रारम्भः

हिरण्यवर्णां हरिणीं सुवर्णरजतस्रजाम् ।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आ वह ॥ १ ॥

हे जातवेदा (सर्वज्ञ) अग्निदेव ! सुवर्णके-से रंगवाली, किञ्चित् हरितवर्णविशिष्टा, सोने और चाँदीके हार पहननेवाली, चन्द्रवत् प्रसन्नकान्ति, स्वर्णमयी लक्ष्मीदेवीको मेरे लिये आवाहन करो ॥ १ ॥

तां म आ वह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम् ।
यस्यां हिरण्यं विन्देयं गामश्वं पुरुषानहम् ॥ २ ॥

अग्ने ! उन लक्ष्मीदेवीको, जिनका कभी विनाश नहीं होता तथा जिनके आगमनसे मैं सोना, गौ, घोड़े तथा पुत्रादिको प्राप्त करूँगा, मेरे लिये आवाहन करो ॥ २ ॥

अश्वपूर्वां रथमध्यां हस्तिनादप्रमोदिनीम् ।
श्रियं देवीमुप ह्वये श्रीर्मा देवी जुषताम् ॥ ३ ॥

जिन देवीके आगे घोड़े तथा उनके पीछे रथ रहते हैं तथा जो हस्तिनादको सुनकर प्रमुदित होती हैं, उन्हीं श्रीदेवीका मैं आवाहन करता हूँ; लक्ष्मीदेवी मुझे प्राप्त हों ॥ ३ ॥

कां सोस्मितां हिरण्यप्राकारामार्द्रां
ज्वलन्तीं तृप्तां तर्पयन्तीम् ।
पद्मेस्थितां पद्मवर्णां
तामिहोप ह्वये श्रियम् ॥ ४ ॥

जो साक्षात् ब्रह्मरूपा, मन्द-मन्द मुसकरानेवाली, सोनेके आवरणसे आवृत, दयार्द्र, तेजोमयी, पूर्णकामा, भक्तानुग्रहकारिणी, कमलके आसनपर विराजमान तथा पद्मवर्णा हैं, उन लक्ष्मीदेवीका मैं यहाँ आवाहन करता हूँ ॥ ४ ॥

चन्द्रां प्रभासां यशसा ज्वलन्तीं
श्रियं लोके देवजुष्टामुदाराम् ।
तां पद्मिनीमीं शरणं प्र पद्ये-
ऽलक्ष्मीर्मे नश्यतां त्वां वृणे ॥ ५ ॥

मैं चन्द्रके समान शुभ्र कान्तिवाली, सुन्दर द्युतिशालिनी, यशसे दीप्तिमती, स्वर्गलोकमें देवगणोंके द्वारा पूजिता, उदारशीला, पद्महस्ता लक्ष्मीदेवीकी शरण ग्रहण करता हूँ । मेरा दारिद्र्य दूर हो जाय । मैं आपको शरण्यके रूपमें वरण करता हूँ ॥ ५ ॥

आदित्यवर्णे तपसोऽधि जातो
वनस्पतिस्तव वृक्षोऽथ बिल्वः ।
तस्य फलानि तपसा नुदन्तु
या अन्तरा याश्च बाह्या अलक्ष्मीः ॥ ६ ॥

हे सूर्यके समान प्रकाशस्वरूपे ! तुम्हारे ही तपसे वृक्षोंमें श्रेष्ठ मङ्गलमय बिल्ववृक्ष उत्पन्न हुआ । उसके फल हमारे बाहरी और भीतरी दारिद्र्यको दूर करें ॥ ६ ॥

उपैतु मां देवसखः
कीर्तिश्च मणिना सह ।
प्रादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन्
कीर्तिमृद्धिं ददातु मे ॥ ७ ॥

देवि ! देवसखा कुबेर और उनके मित्र मणिभद्र तथा दक्ष प्रजापतिकी कन्या कीर्ति मुझे प्राप्त हों । अर्थात् मुझे धन और यशकी प्राप्ति हो । मैं इस राष्ट्रमें—देशमें उत्पन्न हुआ हूँ, मुझे कीर्ति और ऋद्धि प्रदान करें ॥ ७ ॥

क्षुत्पिपासामलां ज्येष्ठामलक्ष्मीं नाशयाम्यहम् ।
अभूतिमसमृद्धिं च सर्वां निर्णुद मे गृहात् ॥ ८ ॥

लक्ष्मीकी ज्येष्ठ बहिन अलक्ष्मी (दरिद्रताकी अधिष्ठात्री देवी) का, जो क्षुधा और पिपासासे मलिन—क्षीणकाय रहती हैं, मैं नाश चाहता हूँ । देवि ! मेरे घरसे सब प्रकारके दारिद्र्य और अमङ्गलको दूर करो ॥ ८ ॥

गन्धद्वारां दुराधर्षां नित्यपुष्टां करीषिणीम् ।
ईश्वरीं सर्वभूतानां तामिहोपह्वये श्रियम् ॥ ९ ॥

जो दुराधर्षा तथा नित्यपुष्टा हैं, तथा गोबरसे (पशुओंसे) युक्त गन्धगुणवती पृथिवी ही जिनका स्वरूप है, सब भूतोंकी स्वामिनी उन लक्ष्मीदेवीका मैं यहाँ—अपने घरमें आवाहन करता हूँ ॥ ९ ॥

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीमहि ।
पशूनां रूपमन्नस्य मयि श्रीः श्रयतां यशः ॥ १० ॥

मनकी कामनाओं और संकल्पकी सिद्धि एवं वाणीकी सत्यता मुझे प्राप्त हों; गौ आदि पशुओं एवं विभिन्न अन्नों—भोग्य पदार्थोंके रूपमें तथा यशके रूपमें श्रीदेवी हमारे यहाँ आगमन करें ॥ १० ॥

कर्दमेन प्रजा भूता मयि सम्भव कर्दम ।
श्रियं वासय मे कुले मातरं पद्ममालिनीम् ॥११॥

लक्ष्मीके पुत्र कर्दमकी हम संतान हैं । कर्दम ऋषि ! आप हमारे यहाँ उत्पन्न हों तथा पद्मोंकी माला धारण करनेवाली माता लक्ष्मीदेवीको हमारे कुलमें स्थापित करें ॥ ११ ॥

आपः सृजन्तु स्निग्धानि चिक्लीत वस मे गृहे ।
नि च देवीं मातरं श्रियं वासय मे कुले ॥१२॥

जल स्निग्ध पदार्थोंकी सृष्टि करे । लक्ष्मीपुत्र चिक्लीत ! आप भी मेरे घरमें वास करें और माता लक्ष्मीदेवीका मेरे कुलमें निवास करायें ॥ १२ ॥

आर्द्रां पुष्करिणीं पुष्टिं पिङ्गलां पद्ममालिनीम् ।
चन्द्रां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आ वह ॥१३॥

अग्ने ! आर्द्रस्वभावा, कमलहस्ता, पुष्टिरूपा, पीतवर्णा, पद्मोंकी माला धारण करनेवाली, चन्द्रमाके समान शुभ्र कान्तिसे युक्त, स्वर्णमयी लक्ष्मीदेवीका मेरे यहाँ आवाहन करें ॥ १३ ॥

आर्द्रां यः करिणीं यष्टिं सुवर्णां हेममालिनीम् ।
सूर्यां हिरण्मयीं लक्ष्मीं जातवेदो म आ वह ॥१४॥

अग्ने ! जो दुष्टोंका निग्रह करनेवाली होनेपर भी कोमल-स्वभावकी हैं, जो मङ्गलदायिनी, अवलम्बन प्रदान करनेवाली यष्टिरूपा, सुन्दर वर्णवाली, सुवर्णमालाधारिणी, सूर्यस्वरूपा तथा हिरण्मयी हैं, उन लक्ष्मीदेवीका मेरे लिये आवाहन करें ॥१४॥

तां म आ वह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम् ।
यस्यां हिरण्यं प्रभूतं गावो
दास्योऽश्वान् विन्देयं पुरुषानहम् ॥१५॥

अग्ने ! कभी नष्ट न होनेवाली उन लक्ष्मीदेवीका मेरे लिये आवाहन करें, जिनके आगमनसे बहुत-सा धन, गौएँ, दासियाँ, अश्व और पुत्रादिको हम प्राप्त करें ॥ १५ ॥

यः शुचिः प्रयतो भूत्वा जुहुयादाज्यमन्वहम् ।
सूक्तं पञ्चदशर्चं च श्रीकामः सततं जपेत् ॥१६॥

जिसे लक्ष्मीकी कामना हो, वह प्रतिदिन पवित्र और संयमशील होकर अग्निमें घीकी आहुतियाँ दे तथा इन पंद्रह ऋचाओंवाले श्रीसूक्तका निरन्तर पाठ करे ॥ १६ ॥

॥ श्रीसूक्त समाप्त ॥

सङ्गका त्याग ही मोक्ष है

भावाभावे पदार्थानां हर्षामर्षविकारदा ।
मलिना वासना यैषा सा सङ्ग इति कथ्यते ॥
दुःखैर्न ग्लानिमायासि हृदि हृष्यसि नो सुखैः ।
आशावैवश्यमुत्सृज्य निदाघासङ्गतां व्रज ॥
सङ्गत्यागं विदुर्मोक्षं सङ्गत्यागादजन्मता ।
सङ्गं त्यज त्वं भावानां जीवन्मुक्तो भवानघ ॥

(अन्नपूर्णोपनिषद्)

पदार्थोंके होनेमें हर्ष और न होनेमें शोकरूपी विकार उत्पन्न करनेवाली जो मलिना वासना है, उसे सङ्ग कहते हैं । निदाघ ! तुम दुःखोंमें ग्लानिका अनुभव मत करो और सुखोंसे हृदयमें हर्षित मत होओ । यों आशाओंकी परवशताको छोड़कर असंगावस्थाको प्राप्त करो । हे निष्पाप ! सङ्गके त्यागको ही मोक्ष कहते हैं, सङ्गके त्यागसे जन्म-(मरण) से छुटकारा मिलता है । अतएव समस्त पदार्थोंमें सङ्गका त्याग करके जीते ही मुक्त हो जाओ ।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

सीतोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

श्रीसीताजीके स्वरूपका तात्त्विक वर्णन

एक बार देवताओंने प्रजापति ब्रह्माजीसे पूछा कि 'श्रीसीताजी कौन हैं ? उनका क्या स्वरूप है ?' तब उन प्रजापतिने बतलाया कि "वे शक्तिरूपा ही श्रीसीताजी हैं। मूल प्रकृति-स्वरूपा होनेके कारण वे सीताजी ही प्रकृति कहलाती हैं। वे श्रीसीताजी प्रणवकी प्रकृतिस्वरूपा होनेसे भी प्रकृति कही जाती हैं। 'सीता' यह उनका नामात्मक रूप तीन वर्णोंका है और वे साक्षात् योगमायास्वरूपा हैं। सम्पूर्ण जगत्-प्रपञ्चके भगवान् विष्णु बीज हैं और उनकी योगमाया 'ईकार' रूपा हैं। 'सकार' सत्य, अमृत, प्राप्ति* नामक ऐश्वर्य अथवा सिद्धि एवं चन्द्रका वाचक कहा गया है। दीर्घरूप-मात्रायुक्त 'तकार' महालक्ष्मीका स्वरूप, प्रकाशमय एवं विस्तारकारी (जगत्स्रष्टा) कहा गया है। वे 'ईकार'रूपिणी अव्यक्तरूपा महामाया अपने चन्द्रसन्निभ अमृतमय अवयवों एवं दिव्य अलंकार, माला, मुक्तामालादि आभूषणोंसे अलंकृत स्वरूपमें व्यक्त होती हैं। उनके तीन स्वरूप हैं, जिनमें अपने प्रथम स्वरूपसे वे शब्दब्रह्ममयी हैं। वे बुद्धिस्वरूपा स्वाध्यायकालमें प्रसन्न होनेपर बोधको प्रकट करती हैं। अपने दूसरे स्वरूपमें वे पृथ्वीपर महाराज सीरध्वज जनककी यज्ञभूमिमें हलाग्रसे उत्पन्न हुईं। अपने तीसरे स्वरूपमें वे 'ईकार' रूपिणी अव्यक्तस्वरूपा रहती हैं। इन्हीं तीनों रूपोंको सीता कहा जाता है। शौनकीय तन्त्रमें निम्नलिखित भावके श्लोक मिलते हैं—

"श्रीसीताजी श्रीरामकी नित्य सन्निधिके कारण जगदानन्दकारिणी हैं। समस्त शरीरधारियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाली हैं। श्रीसीताजीको मूलप्रकृति कही जानेवाली षडैश्वर्यसम्पन्ना भगवती जानना चाहिये। प्रणवस्वरूपा होनेके कारण ब्रह्मवादी उन्हें प्रकृति बतलाते हैं। ब्रह्मसूत्रके 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्रमें उन्हींका प्रतिपादन है। वे श्रीसीताजी सर्ववेदमयी, सर्वदेवमयी, सर्वलोकमयी, सर्वकीर्तिमयी, सर्वधर्ममयी, सबकी आधारभूता, कार्य एवं कारणरूपा, चेतन एवं जड दोनोंकी स्वरूपभूता, ब्रह्माजीसे लेकर जड पदार्थोंतककी आत्मभूता, इन सबके गुण एवं कर्मके भेदसे सबकी शरीररूपा; देवता, ऋषि, मनुष्य एवं गन्धर्वोंकी स्वरूपभूता; असुर, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच प्रभृति प्राणियोंकी शरीररूपा; पञ्चमहाभूत, दस इन्द्रियाँ, मन एवं प्राणरूपा अर्थात् समस्त विश्वरूपा महालक्ष्मी देवताओंके भी स्वामी भगवान्‌से भिन्न एवं अभिन्नस्वरूपा जानी जाती हैं।

"वे श्रीसीताजी शक्त्यासना—शक्तिस्वरूपा होकर इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति एवं साक्षात् शक्ति—इन तीन रूपोंमें प्रकट होती हैं। इच्छाशक्तिमय उनका स्वरूप भी त्रिविध होता है—श्रीदेवी, भूमिदेवी एवं नीलादेवीके रूपमें कल्याणरूपा, प्रभाव-

* अणिमादि अष्टविध ऐश्वर्यमें 'प्राप्ति' नामक सिद्धिका भी वर्णन आता है। प्राप्ति कहते हैं सर्वत्र गमनकी शक्तिको।

रूपा तथा चन्द्र, सूर्य एवं अग्निरूपा वे होती हैं। चन्द्रस्वरूपमें वे ओषधियोंका पोषण करती हैं। कल्पवृक्ष, पुष्प, फल, लता एवं गुल्मों (झाड़ियों), ओषधियों एवं दिव्य ओषधियोंकी स्वरूपभूता होती हैं तथा उसी चन्द्रके अमृतस्वरूपमें देवताओंके लिये 'महस्तोम' नामक यज्ञके फलको देनेवाली होती हैं। अमृतके द्वारा देवताओंको, अन्नके द्वारा पशुओं (प्राणियों) को तथा तृणके द्वारा उसपर अवलम्बित रहनेवाले जीवोंको—इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियोंको वे तृप्त करती हैं।

"वे सूर्यादि समस्त भुवनोंको—लोकोंको प्रकाशित करनेवाली हैं। दिन, रात्रि, निमेषसे लेकर घड़ी प्रभृति कालकी कलाएँ, आठ पहरोंसे युक्त दिन-रात्रिके भेदसे पक्ष, मास, ऋतु, अयन तथा संवत्सरके भेदसे मनुष्योंकी सौ वर्षकी आयुकी कल्पनाके द्वारा वे स्वयं ही प्रकाशित होती हैं। विलम्ब तथा शीघ्रतासे उपलक्षित निमेषसे लेकर परार्धपर्यन्त कालचक्र तथा जगच्चक्रादि प्रकारसे चक्रके समान घूमनेवाले कालके सभी विशेष-विशेष विभाग उन्हींके स्वरूप हैं, जो प्रकाशरूपा एवं कालरूपा हैं।

"वे अग्निरूपा होकर प्राणियोंके लिये अन्न एवं जलादि-पानके लिये क्षुधा एवं पिपासारूपसे, देवताओंके लिये मुख-रूपसे (देवता अग्निमें होमे हुए पदार्थ ही पाते हैं), वनौषधियोंके लिये शीतोष्णरूपसे, तथा काष्ठोंके बाहर एवं भीतर नित्य एवं अनित्य दोनों प्रकारसे (नित्यरूपमें व्यापक अग्नितत्त्व एवं अनित्यरूपमें प्रज्वलिताग्नि प्रभृति रूपोंमें) स्थित हैं।

"वे श्रीसीताजी अपने श्रीदेवीरूपमें तीन प्रकारका रूप धारण करके श्रीभगवान्‌के संकल्पानुसार सम्पूर्ण लोकोंकी रक्षाके लिये व्यक्त होती हैं। वे लोकरक्षणार्थ श्री तथा लक्ष्मी-रूपमें लक्षित होती हैं, यों जाना जाता है। भूदेवी सम्पूर्ण जलमय समुद्रोंसहित सातों द्वीपवाली पृथिवीके रूपमें भूः-भुवः आदि चौदहों भुवनोंकी आधार एवं आधेयभूता प्रणवस्वरूपा होकर व्यक्त होती हैं। विद्युन्मालाके समान मुखवाली नीलादेवी भी सम्पूर्ण ओषधियों एवं समस्त प्राणियोंके पोषणके लिये सर्वरूपा हो जाती हैं। समस्त भुवनोंके अधोभागमें जलाकारस्वरूप, मण्डूकमयी तथा भुवनोंकी आधाररूपा वही आदिशक्ति जानी जाती हैं।

"उन श्रीसीताजीका क्रियाशक्ति-रूप श्रीहरिके मुखसे नादके रूपमें व्यक्त हुआ। उस नादसे बिन्दु प्रकट हुआ। बिन्दुसे ॐकारका आविर्भाव हुआ। ॐकारसे परे राम-वैखानस नामका पर्वत है। उस पर्वतकी कर्म एवं ज्ञानात्मिका अनेक शाखाएँ व्यक्त हैं। उसी पर्वतपर वेदत्रयीस्वरूप सर्वार्थको प्रकट करनेवाला आदि-शास्त्र है। तात्पर्य यह कि श्रीराम-वैखानस पर्वत ही नित्य वेदस्वरूप है और लोकमें वह वेदोंके रूपमें व्यक्त होता है। उस आदि-शास्त्रको ऋक्, यजुः एवं सामात्मक होनेसे त्रयी कहा जाता है। कार्य-सिद्धिके लिये चार नामोंसे उसका वर्णन होता है। अर्थात् देवस्वरूप वर्णन-के मन्त्र, यज्ञ-विधि-निर्देशक मन्त्र तथा यज्ञमें गानके मन्त्र—ये ही तीन प्रकारके मन्त्र होनेसे वेदोंको त्रयी कहते हैं; किंतु यज्ञमें ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु एवं उद्गाताके कार्यकी दृष्टिसे वेदोंको चार नामोंसे सम्बोधित किया जाता है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्वाङ्गिरसवेद। यज्ञकर्ममें चातुर्होत्र प्रधान है और उसमें देवस्वरूपादि तीनका ही उपयोग होनेसे वेदोंको त्रयी कहते हैं। अथर्वाङ्गिरस वेद साम, ऋक् एवं यजुःस्वरूप ही है। आभिचारिक कर्मोंकी समानता-से इन चारोंका पृथक्-पृथक् निर्देश होता है।

"ऋग्वेदकी इक्कीस शाखाएँ कही गयी हैं। यजुर्वेदीयों-की एक सौ नौ शाखाएँ हैं। सामवेदकी एक सहस्र शाखाएँ हैं और अथर्ववेदकी पाँच शाखाएँ। इन वेदोंमें प्रथम (सर्वश्रेष्ठ) वैखानस मत है, जो प्रत्यक्ष दर्शन है। इसलिये मुनियोंद्वारा नित्य परम वैखानस (श्रीरामरूप) का स्मरण किया जाता है। कल्प, व्याकरण, शिक्षा, निरुक्त, ज्यौतिष तथा छन्द—ये छः वेदाङ्ग हैं। अयन, मीमांसा और न्यायशास्त्रका विस्तार—ये वेदोंके उपाङ्ग हैं। धर्मज्ञ पुरुषोंके सेवनके लिये चारों वेद तथा वेदोंसे अधिक ये अङ्ग-उपाङ्गादि हैं। सभी वैदिक शाखाओंमें उनके समयाचार (साम्प्रदायिक आचरण) की शास्त्रके साथ संगति लगानेके लिये निबन्ध हैं। धर्मशास्त्रों (स्मृतियों)को महर्षियोंने अपने अन्तःकरणके दिव्य ज्ञानसे पूर्ण किया है। मुनियोंने इतिहास-पुराण, वास्तुवेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा आयुर्वेद—ये पाँच उपवेद बताये हैं। इन सबके साथ दण्ड, नीति और व्यापार-विद्या तथा परतत्त्वमें प्राणजय करके स्थिति—इस प्रकार इक्कीस भेदयुक्त यह स्वतःप्रकाश—स्वयं प्रकटित शास्त्र है।

"पूर्वकालमें वैखानस ऋषिके हृदयमें भगवान् विष्णुकी वाणी प्रकट हुई। उसी वाणीको वेदत्रयीके रूपमें इस प्रकार कल्पित करके देहधारी अपनी उन्नति करता है। वैखानस ऋषिने अपने हृदयमें प्रकट उस भगवद्वाणीको संख्यारूपमें संकल्प करके पहले जिस प्रकार प्रकट किया, उसी प्रकार वह

सब मैं बतलाता हूँ; सुनो। जो सनातन ब्रह्ममय रूपधारिणी क्रियाशक्ति कही गयी है, वह भगवान्‌की साक्षात् शक्ति है। भगवान्‌के स्मरणमात्र (संकल्पमात्र) से वे जगत्‌के रूपोंको प्रकट करती तथा दृश्य-जगत्‌में स्वयं व्यक्त होती हैं। वे शासन एवं कृपास्वरूपा, शान्ति तथा तेजोरूपा, व्यक्त (प्राणियों) की, अव्यक्त (देवादि) की कारणभूता एवं उनके चरणादि समस्त अवयव तथा मुख एवं वर्ण (रूपादि)-भेदस्वरूपा, भगवान्‌के साथ चलनेवाली (उनके संकल्पसे ही गति करनेवाली), भगवान्‌से कभी विलग न होनेवाली एवं अविनाशिनी, निरन्तर भगवान्‌के साथका ही आश्रय करनेवाली, कहे हुए और न कहे हुए सभी स्वरूपोंवाली, निमेष-उन्मेषसे लेकर सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान, अनुग्रह आदि समस्त सामर्थ्योंसे युक्त होनेके कारण साक्षात् शक्तिरूपमें वर्णित होती हैं।

"श्रीसीताजीका इच्छाशक्ति रूप भी तीन प्रकारका है। प्रलयके समय विश्रामके लिये भगवान्‌के दाहिने वक्षःस्थलपर श्रीवत्सकी आकृति धारण करके जो विश्राम करती हैं, वे योगशक्ति हैं। भोगशक्ति भोगरूपा हैं। वे कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि तथा शङ्ख, पद्म (तथा मकर, कच्छप) आदि नौ निधियोंमें निवास करती हैं और भगवद्भक्तोंकी कामनाके अनुसार अथवा उनकी कामनाके बिना भी नित्य-नैमित्तिक कर्मके द्वारा, अग्निहोत्रादिसे अथवा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिसे—किसी भी निमित्तसे भगवान्‌की उपासना करनेवालोंके उपभोगके लिये बड़े-बड़े भोगोंसे, विशाल द्वार एवं प्राकारवाले भवनोंसे, विमानोंसे अथवा भगवद्विग्रहके अर्चन-पूजनादिकी सामग्रियोंसे अर्चनरूपमें, स्नानादि (तीर्थस्नानादि) रूपमें, पितृपूजा आदिके रूपमें, अन्न (भोज्य पदार्थ) एवं पीने योग्य रस आदिसे, यह भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिये है—यों कहकर वे सब उपभोग-सामग्रियोंका सम्पादन करती हैं।

"श्रीसीताजीकी वीरशक्ति चतुर्भुजा हैं। उनके हाथोंमें अभय एवं वरदानकी मुद्राएँ तथा दो कमल हैं। किरीट एवं आभूषणोंसे वे भूषिता हैं। सम्पूर्ण देवताओंसे घिरी हुई, कल्पवृक्षके मूलमें चार श्वेत हाथियोंद्वारा रत्नजटित कलशोंके अमृत-जलसे अभिषिक्त होती हुई वे आसीन हैं। ब्रह्मादि समस्त देवता उनकी वन्दना करते हैं। अणिमादि अष्ट ऐश्वर्यसे वे युक्त हैं और उनके सम्मुख खड़ी होकर कामधेनु उनकी स्तुति करती हैं। वेद और शास्त्र आदि भी मूर्तिमान् होकर उनकी स्तुति करते हैं। जया आदि अप्सराएँ एवं देवनारियाँ उनकी सेवा कर रही हैं। सूर्य एवं चन्द्र दीपक बनकर वहाँ प्रकाश कर रहे हैं। तुम्बुरु एवं देवर्षि नारद आदि उनका गुणगान कर रहे हैं। राका और सिनीवाली नामकी देवियाँ उनपर छत्र लगाये हैं। ह्लादिनी एवं माया उनके दोनों ओर चँवर डुला रही हैं। स्वाहा एवं स्वधा उनपर पंखे झलती हैं। भृगु और पुण्य आदि महात्मा उनकी पूजा कर रहे हैं। दिव्य सिंहासनपर अष्टदलपद्मके ऊपर आसीन वे महादेवी समस्त कारणों एवं कार्योंको निर्मित करनेवाली हैं। इस प्रकार भगवती लक्ष्मीके भगवान्‌से पृथक् निवासका ध्यान करना चाहिये। उन्होंने अपनेको अनुरूप दिव्य आभूषणोंसे अलंकृत किया है। वे स्थिर होकर प्रसन्न नेत्रोंसे समस्त देवताओंद्वारा पूजित वीरलक्ष्मी कही जाती हैं।"

॥ अथर्ववेदीय सीतोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

श्रीराधिकातापनीयोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

श्रुतियोंद्वारा श्रीराधिकाजीकी उपासना और स्तुति

किसी समय उपासनाओंके स्वरूप एवं लक्ष्यका विचार करते समय ब्रह्मवेत्ताओं (वेदज्ञों) ने परस्पर यह विचार करना प्रारम्भ किया कि श्रीराधिकाजीकी उपासना किस लिये होती है। इस विचारमें प्रवृत्त होनेपर उनपर भगवान् आदित्य (वेदोंके अधिष्ठाता प्रकाशमय ज्ञानके रूपमें) अत्यन्त कृपालु हुए। अर्थात् प्रकाशस्वरूप वैदिक ज्ञान उनमें प्रकट हुआ। (उन्होंने श्रीराधिकाजीकी उपासनाके सम्बन्धमें श्रुतियोंको इस प्रकार संलग्न पाया—) ॥ १ ॥

श्रुतियाँ कहती हैं—'सम्पूर्ण देवताओंमें जो देवत्व (शक्ति) है, वह श्रीराधिकाजीकी ही है। समस्त प्राणी श्रीराधिकाजीके द्वारा ही अवस्थित हैं। अर्थात् देवतासे लेकर क्षुद्र प्राणियोंतक सभी जीव श्रीराधिकाजीकी शक्तिसे स्थित एवं चेष्टायुक्त हैं और उन्हींसे अभिव्यक्त हुए हैं। इसलिये हम सब श्रुतियाँ उन श्रीराधिकाजीको नमस्कार करती हैं ॥२॥

'देवताओंके निवास पञ्चभूत, इन्द्रियों आदिमें श्रीराधिकाजीकी प्रेरणासे ही कम्पन (चेष्टा) होती है। तथा उन्हींकी प्रेरणासे वे हँसते (उल्लास प्राप्त करते) और नाचते (क्रियाशील होते) हैं। सबकी अधिदेवता श्रीराधिकाजी ही हैं (सब उनके वशमें हैं)। अतएव अपने सम्पूर्ण पापोंके नाशके लिये व्याहृतियों (भूः-भुवः-स्वः या श्रीं-क्लीं-ह्रीं)-द्वारा हवन करके फिर श्रीराधिकाजीको हम प्रणाम करती हैं। (तात्पर्य यह कि विशुद्ध हृदयसे ही श्रीराधिकाजीकी उपासना सम्भव है, अतः यजनसे आत्मशुद्धि करके तब प्रणाम करती हैं) ॥ ३ ॥

'जिनके दिव्य शरीरकी कान्तिके पड़नेसे (जिन योगमायारूपके आश्रयसे) इन्द्रनीलमणिके समान वर्णवाला (इन्द्रियातीत नीलिमाव्यञ्जक) देवाधिदेव श्रीकृष्णचन्द्रका शरीर भी गौर जान पड़ने लगता है (घनसत्त्व होकर आविर्भूत होता है) तथा जिनकी कान्ति पड़नेसे भौंरे, कौए और कोयल (विषय-रस-लोलुप, कटुभाषी पापी एवं मधुरभाषी, पर स्वरूपसे कृष्ण अर्थात् योग-ज्ञानादि साधक, जिनका बाह्यरूप नीरस एवं अनाकर्षक है) भी (रासमण्डलमें) गौरवर्णके (सत्त्वगुणी एवं भक्तियुक्त) हो जाते हैं, उन विश्वकी पालिका श्रीराधिकाजीको हम नमस्कार करती हैं ॥ ४ ॥

'हम सब श्रुतियाँ, सांख्य-योग शास्त्र तथा उपनिषद् जिन परब्रह्मकी अभिन्न शक्तिकी अगम्यताका प्रतिपादन करती हैं, जिनको स्वरूपतः भली प्रकार पुराण भी नहीं जानते, उन देवताओंकी पालिका श्रीराधिकाजीको हम नमस्कार करती हैं॥५॥

सम्पूर्ण संसारके अधीश्वर त्रिभुवनमोहन श्रीकृष्णचन्द्र जिन्हें प्राणसे भी अधिक प्रिय मानते हैं, वृन्दावनमें स्थित अपनी (श्रुतियोंकी) इष्ट—आराध्य-देवी उन श्रीवृन्दा-

वनकी पालिका—अधिष्ठात्री देवी श्रीराधिकाजीको हम नित्य नमस्कार करती हैं ॥ ६ ॥

'विश्वभर्ता श्रीकृष्णचन्द्र एकान्तमें अत्यन्त प्रेमार्द्र होकर जिनकी पदधूलि अपने मस्तकपर धारण करते हैं और जिनके प्रेममें निमग्न होनेपर हाथसे गिरी वंशी एवं बिखरी अलकों-का भी स्मरण उन्हें नहीं रहता, तथा वे क्रीतकी भाँति जिनके वशमें रहते हैं, उन श्रीराधिकाजीको हम नमस्कार करती हैं ॥ ७ ॥

'श्रीरासमण्डलमें जिनकी रासक्रीडा देखकर चन्द्रमा एवं विवस्त्रा देवपत्नियोंको अपने शरीरका भी भान नहीं रह जाता और श्रीवृन्दाबनके समस्त जड एवं जङ्गम भी अपने स्वरूपको भूल जाते हैं अर्थात् जड पाषाण, तरु प्रभृति स्रवित होने लगते हैं और जङ्गम (चर) प्राणी विमुग्ध—स्थिर हो जाते हैं, श्रीरासमण्डलमें भावावेशयुक्ता उन श्रीराधिकाजीको हम नमन करती हैं ॥ ८ ॥

'जिनके अङ्कमें लेटे हुए श्रीकृष्णचन्द्र अपने शाश्वत विहारस्थान गोलोकका स्मरणतक नहीं करते, कमलोद्भवा लक्ष्मी और श्रीपार्वतीजी जिनकी अंशरूपा हैं, उन समस्त शक्तियोंकी अधिष्ठात्री श्रीराधिकाजीको हम प्रणाम करती हैं॥९॥

'(श्रीललितादि) सखियोंके साथ (ऋषभ, गान्धारादि) स्वरोंसे (तार, मध्य और मन्द्र—इन) तीनों ग्रामोंसे तथा (अनेक) मूर्च्छनाओं (स्वरके चढ़ाव-उतारों) से गाते हुए, प्रेमविवश होकर जिन्होंने (श्रीरासक्रीड़ाके समय) श्रीवृन्दावनमें एकमात्र अपनी ही शक्तिसे ब्राह्मी निशा (एक मासपर्यन्त दीर्घरात्रि) का विस्तार (प्रादुर्भाव) किया, उन श्रीराधिकाजीको हम नमस्कार करती हैं ॥ १० ॥

'किसी समय दो भुजाओंवाली (चतुर्भुजी नहीं) श्रीकृष्ण-की मूर्ति बनकर अर्थात् स्वयं द्विभुज श्रीकृष्ण-वेश धारण करके वंशीके छिद्रोंको श्रीराधिकाजीने स्वरसे भर दिया। (तात्पर्य यह कि श्रीकृष्ण-वेश धारण करके किसी दिन श्रीराधिकाजीने वेणु-वादनका प्रयत्न किया और वे केवल वंशी-छिद्रोंसे (गायन-रहित) ध्वनि निकाल पायीं।) इसीसे अत्यन्त उल्लसित होकर देव-देव श्रीकृष्णचन्द्रने कुन्द एवं कल्पवृक्षके पुष्पोंकी माला बनाकर उनका शृङ्गार करके उन्हें प्रसन्न किया ॥ ११ ॥

'जिनका इस उपनिषद्में वर्णन हुआ है, वे श्रीराधिकाजी और आनन्द-सिन्धु श्रीकृष्णचन्द्र वस्तुतः एक ही शरीर एवं परस्पर नित्य अभिन्न हैं। केवल लीलाके लिये वे दो स्वरूपोंमें व्यक्त हुए हैं। अतएव जिस लीलाके लिये उन परम रस-सिन्धुका श्रीविग्रह दो रूपोंमें शोभित हुआ, उस लीलाको जो सुनता या पढ़ता है, वह उन परम प्रभुके विशुद्ध धाम (गोलोक) में जाता है' ॥ १२ ॥

इस उपनिषद्को पूर्वकालमें वशिष्ठजीने मधुरभाषी बृहस्पतिजीको पढ़ाया। बृहस्पतिजीने अपने यजमान इन्द्रको उपदेश किया और तभीसे यह उपनिषद् बार्हस्पत्यके नामसे प्रसिद्ध हुआ।

प्रणवस्वरूप परमपुरुषको नमस्कार! प्रणवके स्मरणके साथ आद्या परमपालिका शक्तिको नमस्कार! नमस्कार !!

॥ अथर्ववेदीय श्रीराधिकातापनीयोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

ऋग्वेदीय

श्रीराधोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

श्रीराधाजीके स्वरूप तथा नामोंका वर्णन

ॐ एक बार ऊर्ध्वरेता सनकादि महर्षियोंने भगवान् श्रीब्रह्माजीकी स्तुति करके पूछा, 'देव ! सर्वप्रधान देवता कौन हैं और उनकी कौन-कौन-सी शक्तियाँ हैं तथा उन शक्तियोंमें सृष्टिका सर्वश्रेष्ठ कारण कौन-सी शक्ति है ?' यह सुनकर श्रीब्रह्माजी बोले—'पुत्रो ! सुनो; किंतु इस अति गोपनीय रहस्यको तुम किसीसे प्रकट न करना—तुम इसे किसी ऐरे-गैरेको मत दे डालना । हाँ, जो स्नेही हों, ब्रह्मवादी हों, गुरुभक्त हों, उन्हें अवश्य देना । उनके अतिरिक्त और किसीको देनेसे महान् पाप लगेगा । भगवान् हरि श्रीकृष्ण ही परमदेव हैं । वे छहों ऐश्वर्योंसे पूर्ण भगवान् गोप और गोपियोंके सेव्य, श्रीवृन्दा (तुलसी) देवीसे आराधित और श्रीवृन्दावनके अधीश्वर हैं । वे ही एकमात्र सर्वेश्वर हैं । उन्हीं श्रीहरिके एक रूप नारायण भी हैं जो कि अखिल ब्रह्माण्डोंके अधीश्वर हैं । ये श्रीकृष्ण प्रकृतिसे भी पुरातन और नित्य हैं। उनकी आह्लादिनी, सन्धिनी, ज्ञान, इच्छा और क्रिया आदि बहुत-सी शक्तियाँ हैं । उनमें आह्लादिनी सर्वप्रधान हैं । ये ही परम अन्तरङ्गभूता श्रीराधा हैं । कृष्ण इनकी आराधना करते हैं, इसलिये ये राधा हैं; अथवा ये सर्वदा कृष्णकी आराधना करती हैं, इसलिये राधिका कहलाती हैं । श्रीराधाको गान्धर्वा भी कहते हैं; व्रजकी गोपाङ्गनाएँ, द्वारकाकी समस्त श्रीकृष्ण-महिषियाँ और श्रीलक्ष्मीजी इन्हीं श्रीराधिकाजीकी कायव्यूह (अंशरूपा) हैं। ये राधा और श्रीकृष्ण रस-सागर एक होते हुए ही शरीरसे क्रीड़ाके लिये दो हो गये हैं। ये श्रीराधिकाजी भगवान् हरिकी सर्वेश्वरी, सम्पूर्ण सनातनी विद्या हैं और श्रीकृष्णके प्राणोंकी अधिष्ठात्री देवी हैं । वेद एकान्तमें इनकी ऐसी ही स्तुति किया करते हैं । इनकी महिमाका मैं अपनी सम्पूर्ण आयुमें भी वर्णन नहीं कर सकता । जिसपर इनकी कृपा होती है, परमधाम उसके हाथमें आ जाता है । इन श्रीराधिकाजीको न जानकर जो श्रीकृष्णकी आराधना करना चाहता है, वह महामूर्ख है, मूढतम है । श्रुतियाँ इनके इन नामोंका गान करती हैं—१ राधा, २ रासेश्वरी, ३ रम्या, ४ कृष्णमन्त्राधिदेवता, ५ सर्वाद्या, ६ सर्ववन्द्या, ७ वृन्दावनविहारिणी, ८ वृन्दाराध्या, ९ रमा, १० अशेषगोपीमण्डलपूजिता, ११ सत्या, १२ सत्यपरा, १३ सत्यभामा, १४ श्रीकृष्णवल्लभा, १५ वृषभानुसुता, १६ गोपी, १७ मूल-प्रकृति, १८ ईश्वरी, १९ गान्धर्वा, २० राधिका, २१ आरम्या, २२ रुक्मिणी, २३ परमेश्वरी, २४ परात्परतरा, २५ पूर्णा, २६ पूर्णचन्द्रनिभानना, २७ भुक्तिमुक्तिप्रदा तथा २८ भवव्याधिविनाशिनी । इन अट्ठाईस नामोंका जो पाठ करते हैं, वे जीवन्मुक्त हो जाते हैं। यों भगवान् श्रीब्रह्माजीने कहा है* ।

---

* राधा रासेश्वरी रम्या कृष्णमन्त्राधिदेवता । सर्वाद्या सर्ववन्द्या च वृन्दावनविहारिणी ॥
वृन्दाराध्या रमाशेषगोपीमण्डलपूजिता । सत्या सत्यपरा सत्यभामा श्रीकृष्णवल्लभा ॥
वृषभानुसुता गोपी मूलप्रकृतिरीश्वरी । गान्धर्वा राधिकाऽऽरम्या रुक्मिणी परमेश्वरी ॥
परात्परतरा पूर्णा पूर्णचन्द्रनिभानना । भुक्तिमुक्तिप्रदा नित्यं भवव्याधिविनाशिनी ॥

'(इस प्रकार भगवान्‌की आह्लादिनी-शक्ति श्रीराधिकाजीका वर्णन हुआ, अब उनकी सन्धिनी-शक्तिका विवरण सुनो ।) यह सन्धिनी-शक्ति धाम, भूषण, शय्या और आसनादि तथा मित्र और भृत्यादिके रूपमें परिणत होती है और मृत्युलोकमें अवतार लेनेके समय माता-पिताके रूपमें परिणत हो जाती है। यही अनेक अवतारोंकी कारण है। ज्ञानशक्तिको ही क्षेत्रज्ञशक्ति कहते हैं और इच्छाशक्तिके अन्तर्भूत माया-शक्ति है। यह सत्त्व, रज और तमोगुणरूपा है तथा बहिरङ्ग और जड है। (जड होनेके कारण भगवान्‌की दृष्टि पड़नेसे) यह अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंकी रचना करती है तथा यही माया और अविद्यारूपसे जीवका बन्धन करती है। क्रियाशक्तिको ही लीलाशक्ति कहते हैं।

'जो इस उपनिषद्‌को पढ़ते हैं, वे अव्रती भी व्रती हो जाते हैं तथा वे अग्निपूत, वायुपूत और सर्वपूत हो जाते हैं। वे श्रीराधाकृष्णके प्रिय होते हैं और जहाँतक दृष्टिपात करते हैं, वहाँतक सबको पवित्र कर देते हैं। ॐ तत्सत्।'

॥ ऋग्वेदीय श्रीराधोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

एकमात्र श्रीकृष्ण ही भजनीय हैं

एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन् बहुधा यो विभाति ।
तं पीठस्थं येऽनुभजन्ति धीरास्तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तं पीठगं येऽनुभजन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

(गोपालपू० ता०)

एकमात्र सबको वशमें रखनेवाले, सर्वव्यापी भगवान् श्रीकृष्ण सर्वथा स्तवन करने योग्य हैं। वे एक होकर भी बहुत रूपोंमें प्रकाशित हैं। जो धीर भक्त उन पीठस्थ भगवान्‌को भजते हैं, उन्हींको सनातनी सिद्धि मिलती है, दूसरोंको नहीं।

जो नित्योंके भी नित्य हैं, चेतनोंके भी परम चेतन हैं, जो एक ही बहुतोंकी कामना पूर्ण करते हैं, उन पीठस्थ श्रीभगवान्‌को जो धीर भक्त भजते हैं, उन्हींको सनातन सुख मिलता है, दूसरोंको नहीं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

ब्रह्मबिन्दूपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

मनके लयका साधन; आत्माका स्वरूप तथा ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय

ॐ । मन दो प्रकारका बताया गया है, एक तो शुद्ध मन और दूसरा अशुद्ध । जिसमें कामनाओं—विषय-भोगोंके संकल्प उठते रहते हैं, वह अशुद्ध मन है; तथा जिसमें कामनाओंका सर्वथा अभाव हो गया है, वही शुद्ध मन है। मनुष्योंका मन ही उनके बन्धन और मोक्षका कारण है। विषयासक्त मन बन्धनका और विषय-संकल्पसे रहित मन मोक्षका कारण माना गया है । क्योंकि विषय-संकल्पसे शून्य होनेपर ही इस मनका लय होता है, इसलिये मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाला साधक अपने मनको सदा विषयोंसे दूर रक्खे। जब मनसे विषयासक्ति निकल जाती है और वह हृदयमें स्थिर होकर उन्मनीभावको प्राप्त (संकल्प-विकल्पसे रहित) हो जाता है, तब वही परम पद है। मनको तभीतक रोकनेका प्रयत्न करना चाहिये, जबतक कि वह हृदयमें ही विलीन नहीं हो जाता । मनका हृदयमें लय हो जाना—यही ज्ञान और मोक्ष है; इसके सिवा जो कुछ है, वह ग्रन्थका विस्तारमात्र है। जब न तो कोई चिन्तनीय रह जाय और न अचिन्तनीय ही रह जाय, चिन्तनीय तथा अचिन्तनीय दोनोंमेंसे किसीके प्रति भी मनका पक्षपात न रह जाय, उस समय यह साधक ब्रह्मभावको प्राप्त हो जाता है। स्वर अर्थात् प्रणवके साथ परमात्माकी एकता करे और फिर प्रणवसे अतीत परम तत्त्वकी भावना (चिन्तन) करे। प्रणवातीत तत्त्वकी उस भावनाके द्वारा भावस्वरूप परमात्माकी ही उपलब्धि होती है, अभावकी नहीं। अर्थात् उसके बिना समाधि शून्यरूप ही होती है। वही कलाओंसे रहित अर्थात् अवयवहीन, विकल्पशून्य एवं निरञ्जन—मायारूप मलरहित ब्रह्म है। 'वह ब्रह्म मैं हूँ' यों जानकर मनुष्य निश्चय ही ब्रह्म हो जाता है। विकल्प-शून्य, अनन्त, हेतु और दृष्टान्तसे रहित, अप्रमेय तथा अनादि परम कल्याणमय ब्रह्मको जानकर विद्वान् पुरुष अवश्य ही ब्रह्मरूप हो जाता है ॥ १–९ ॥

न संहार है न सृष्टि; न बन्धन है न उससे छूटनेका उपदेश; न मुक्तिकी इच्छा है न मुक्ति। ऐसा निश्चय होना ही परमार्थबोध (यथार्थ ज्ञान) है । जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओंमें एक ही आत्माका सम्बन्ध मानना चाहिये। जो इन तीनों अवस्थाओंसे अतीत हो गया है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। सम्पूर्ण भूतोंका एक ही अन्तर्यामी आत्मा प्रत्येक प्राणीके भीतर स्थित है। पृथक्-पृथक् जलमें प्रतिबिम्बित होनेवाले चन्द्रमाकी भाँति वही एक और अनेक रूपोंमें दृष्टिगोचर होता है। घटमें आकाश भरा है; किन्तु घटके फूट जानेपर जैसे केवल घड़ेका ही नाश होता है, उसमें भरे हुए आकाशका नहीं, उसी प्रकार देहधारी जीव भी आकाशके ही समान है—शरीरके नाशसे आत्माका नाश नहीं होता । जीवोंका यह भिन्न-भिन्न प्रकारका शरीर घटके ही सदृश है, जो बारंबार फूटता या नष्ट होता रहता है। यह नष्ट होनेवाला जड शरीर अपने भीतर परिपूर्ण चिन्मय ब्रह्मको नहीं जानता, परंतु वह सर्वसाक्षी परमात्मा सब शरीरोंको सदा ही जानता रहता है। जीवात्मा जबतक नाममात्रका अस्तित्व रखनेवाली मायासे आवृत है, तबतक हृदय-कमलमें बद्धकी भाँति स्थित रहता है; जब अज्ञानमय अन्धकारका नाश हो जाता है, तब ज्ञानके आलोकमें विद्वान् पुरुष जीवात्मा और परमात्माकी नित्य एकताका ही दर्शन करता है ॥ १०–१५ ॥

शब्दब्रह्म (प्रणव) भी अक्षर है और परब्रह्म भी अक्षर है। इनमेंसे जिसके क्षीण होनेपर जो अक्षय बना रहता है, वह (परब्रह्म) ही वास्तवमें अक्षर (अविनाशी) है। विद्वान् पुरुष यदि अपने लिये शान्ति चाहे तो उस अक्षर परब्रह्मका ही ध्यान करे। दो विद्याएँ जाननेयोग्य हैं—एक तो वह, जिसे 'शब्दब्रह्म' कहते हैं और दूसरी वह, जो 'परब्रह्म' के नामसे प्रसिद्ध है। 'शब्दब्रह्म' (वेद-शास्त्रोंके ज्ञान) में पारङ्गत होनेपर मनुष्य परब्रह्मको जान लेता है। बुद्धिमान् पुरुष ग्रन्थका अभ्यास करके उससे ज्ञान-विज्ञानके तत्त्वको ग्रहण कर ले, फिर समूचे ग्रन्थको त्याग दे—ठीक उसी तरह, जैसे धान्य—अन्न चाहनेवाला मनुष्य अन्नको तो ले लेता है और पुआलको खलिहानमें ही छोड़ देता है। अनेक रंग-रूपोंवाली गौओंका भी दूध एक ही रंगका होता है। इसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुष विभिन्न साम्प्रदायिक चिह्नोंको धारण करनेवाले पुरुषोंके ज्ञानको भी गौओंके दूधकी भाँति एक-सा ही देखता है। बाह्य चिह्नोंके भेदसे ज्ञानमें कोई अन्तर नहीं आता। जैसे दूधमें घी छिपा रहता है, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणीके भीतर विज्ञान (चिन्मय ब्रह्म) निवास करता है। जिस प्रकार घीके लिये दूधका मन्थन किया जाता है, वैसे ही विज्ञानमय ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये मनको मथानी बनाकर सदा मन्थन (चिन्तन और विचार) करते रहना चाहिये। तदनन्तर ज्ञानदृष्टि प्राप्त करके अग्निके समान तेजोमय ब्रह्मका इस प्रकार अनुभव करे कि 'वह कलाशून्य, निर्मल एवं शान्त परब्रह्म मैं हूँ।' यही विज्ञान माना गया है। जिसमें सम्पूर्ण भूतोंका निवास है, जो स्वयं भी सम्पूर्ण भूतोंके हृदयमें निवास करता है तथा सबपर अहैतुकी दया करनेके कारण प्रसिद्ध है, वह सर्वात्मा वासुदेव मैं हूँ, वह सर्वात्मा वासुदेव मैं हूँ। इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हुई॥ १६–२२॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय ब्रह्मविन्दूपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

निश्चयके अनुसार ब्रह्मकी प्राप्ति

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भविताऽस्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीति ह स्माऽऽह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः।

(३।१४।४)

शाण्डिल्य ऋषिके ये वचन हैं—जो सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, समस्त विश्वमें सर्वत्र व्याप्त, वाक्‌रहित और सम्भ्रमशून्य है, वह मेरा आत्मा हृदयमें सदा विराजमान है। यही ब्रह्म है। इस शरीरको छोड़कर जानेपर मैं इसी परब्रह्मको प्राप्त हो जाऊँगा। जिसका ऐसा दृढ़ विश्वास है, जिसको इसमें कोई संदेह भी नहीं है (उसे इसी ब्रह्मकी प्राप्ति होती है)।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

ध्यानबिन्दूपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः । शान्तिः ॥ शान्तिः ॥॥

ध्यानयोगकी महिमा तथा स्वरूप

यदि बहुयोजनविस्तीर्ण पर्वतके समान भी भारी पापराशि हो, तो भी वह ध्यानयोगके द्वारा नष्ट हो जाती है। (ऐसे महापाप) और किसी साधनसे कभी नष्ट नहीं होते ॥ १ ॥

बीज (कारणभूत) अक्षर (मकार) से परे बिन्दु है और बिन्दुसे परे भी नाद स्थित है, जिससे सुन्दर शब्दका उच्चारण होता है। शक्तिरूप प्रणव नादसे भी परे स्थित है तथा अकारसे लेकर शक्तिपर्यन्त प्रणवरूप अक्षरके क्षीण होनेपर जो शब्दहीन स्थिति होती है, वही 'शान्त' नामसे प्रसिद्ध परम पद है। जो अनाहत (बिना आघातके उत्पन्न, ध्यानमें सुनायी पड़नेवाला, मेघ-गर्जनके समान प्रकृतिका आदि-शब्द) है, उस शब्दका भी जो परम कारण—शक्ति है, उसके भी परमकारण सच्चिदानन्दस्वरूप शान्तपदको जो योगी प्राप्त कर लेता है, उसके समस्त संदेह नष्ट हो जाते हैं ॥ २-३ ॥

बालकी नोकके पचास हजार भाग किये जायँ, फिर उस भागके भी सहस्र भाग करनेपर उस भागका भी जो अर्द्ध-भाग है, उसके समान सूक्ष्मातिसूक्ष्म वह निरञ्जन (विशुद्ध) ब्रह्म है—यों जानना चाहिये। तात्पर्य यह कि वह अत्यन्त दुर्लक्ष्य परमतत्त्व है। जैसे पुष्पमें गन्ध व्याप्त रहती है, जैसे दूधमें घृत अलक्षित रहता है, जैसे तिलमें तेल अनुस्यूत रहता है, जैसे सोनेकी खानके पत्थरोंमें सोना अव्यक्त रहता है, उसी प्रकार वह आत्मा समस्त प्राणियोंमें छिपा है। निश्चयात्मिका बुद्धिसे सम्पन्न, अज्ञानरहित ब्रह्मवेत्ता (सूत्रकी) मणियोंमें सूत्रके समान आत्माको व्याप्त जानकर उसी ब्रह्मस्वरूपमें स्थित रहते हैं। जैसे तिलोंमें तेल व्याप्त है, जैसे फूलोंमें सुगन्ध व्याप्त है, वैसे ही पुरुषके शरीरके बाहर एवं भीतर सब ओर आत्मतत्त्व व्याप्त होकर स्थित है ॥ ४—७ ॥

जैसे वृक्ष अपनी पूरी कलाके साथ रहता है और उसकी छाया वृक्षकी कलासे हीन रहती है, वैसे ही आत्मा अपने कलात्मक (स्व-सच्चिदानन्द) स्वरूपसे और निष्कल (छायास्थानीय जगद्रूप) भावसे सर्वत्र व्याप्त होकर अवस्थित है ॥८॥

(उपर्युक्त आत्मस्वरूपकी उपलब्धि—अनुभूतिके लिये साधन निर्देश करते हैं कि विधिवत् आसनपर अवस्थित होकर) पूरकके द्वारा श्वासको भीतर खींचते हुए नाभिस्थानमें अतसी-पुष्पके समान नीलवर्ण, चतुर्भुज महावीर (भगवान् विष्णु) का ध्यान करना चाहिये। कुम्भकके द्वारा—श्वासको भीतर रोके हुए हृदयस्थानमें लाल कमलकी कर्णिकापर विराजमान, लालवर्णके, चार मुखवाले लोकपितामह ब्रह्माजीका ध्यान करना चाहिये। रेचकके द्वारा श्वास छोड़ते समय ललाटमें विद्यास्वरूप, तीन नेत्रोंवाले, शुद्ध स्फटिकके समान उज्ज्वल रंगके, कलारहित, पापविनाशक भगवान् शङ्करका ध्यान करना चाहिये ॥ ९—११ ॥

सुषुम्णापथमें उपर्युक्त तीनों कमलोंमेंसे नाभिस्थानका कमल आठ दलोंका है। हृदयस्थानका कमल ऊपर नाल एवं नीचे मुख करके अवस्थित है। ललाटमें अवस्थित कमल केलेके फूलके समान नीललोहित (बैंगनी रंगका) है। ये तीनों कमल सर्वदेवमय हैं। इन तीनोंसे ऊपर मूर्धदेशमें एक और कमल है। उसमें सौ दल हैं। उस खिले हुए कमलकी कर्णिका विस्तृत है।

उस कर्णिकापर पहले सूर्य, फिर उनके ऊपर चन्द्रमा और चन्द्रके ऊपर अग्नि—इस प्रकार एकके ऊपर एकका क्रमशः चिन्तन करे। क्योंकि वह कमल सुप्त है; अतः सूर्य, चन्द्र एवं अग्निके धारणके लिये ध्यानके द्वारा उसे पहले जाग्रत्—विकसित कर लेना चाहिये। उस पद्मपर स्थित बीजों (पचास अक्षरों) का उच्चारण करके ही यह जीवात्मा बात-चीत आदि व्यवहारका निर्वाह करता रहता है ॥ १२–१४ ॥

(नाभि, हृदय एवं ललाट)—इन तीनों स्थानों तथा (अपनी उपासनाके पूरक, कुम्भक, रेचक)-रूप तीन मार्गोंवाले; विष्णु, ब्रह्मा एवं शिवरूपसे त्रिविध ब्रह्मस्वरूप; प्रणवरूपमें अकारादि तीन अक्षरोंवाले; उसी रूपमें अकार, उकार, मकार—इन तीन मात्राओंवाले तथा उनमें व्याप्त अर्धमात्रास्वरूप जो परमात्मा हैं, उनको जो जानता है, वही वेदके तात्पर्यका ज्ञाता है। इन तेलकी धाराके समान अविच्छिन्न, घंटेकी अनुरणनरूप ध्वनिके समान दीर्घकालतक ध्वनित होनेवाला तथा बिना वाणीके (प्राणोंद्वारा ही) उच्चरित बिन्दुपर्यन्त प्रणवके बाद प्रकट होनेवाले नादको जो जानता है, वही वेदोंको ठीक जानता है ॥ १५-१६ ॥

प्रणव धनुष है, आत्मा ही बाण है एवं परब्रह्म परमात्मा उसके लक्ष्य हैं। प्रमादहीन साधकके द्वारा ही वह बेधा जाता है। अतः बाणकी भाँति उस लक्ष्यमें तन्मय हो जाना चाहिये। अपने शरीरको नीचेकी अरणि (यज्ञिय अग्निमन्थन-काष्ठ) बनावे और प्रणवको ऊपरकी अरणि बनावे। ध्यानाभ्यासरूपी मन्थन-क्रियाके द्वारा साधक काष्ठमें व्याप्त हुई अग्निकी भाँति सबके भीतर व्याप्त परमदेव परमात्माका साक्षात्कार करे ॥ १७-१८ ॥

जैसे (बच्चे) कमलकी नालसे पानी धीरे-धीरे खींचते हैं, वैसे ही योगी योगावस्थामें स्थित होकर धीरे-धीरे प्राणोंको खींचे (अर्थात् स्वाधिष्ठान आदि चक्रोंका भेदन करते हुए प्राणको क्रमशः ऊर्ध्वभूमिकामें ले जाय)। जैसे किसान रस्सी-द्वारा कुएँसे जल निकालता है, उसी प्रकार प्रणवकी अर्धमात्रा (अव्यक्त नादोच्चारण) को रस्सी बनाकर हृदय-कमलरूपी कुएँसे नाल (सुषुम्णा)-मार्गके द्वारा जलरूपा कुण्डलिनीको भ्रूमध्यमें ले जाय। नासिकाकी जड़से लेकर दोनों भौंहोंके मध्यमें जो ललाट है, वहाँतक अमृत-स्थान समझना चाहिये। यही विश्वका महान् निवास-स्थान (परमात्मपद) है। यही विश्वका महान् निवासस्थान (परमात्मपद) है।

॥ कृष्णयजुर्वेदीय ध्यानबिन्दूपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

ब्रह्मज्ञानसे ब्रह्मत्वकी प्राप्ति

स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद ॥

(बृहदारण्यक ४ । ४ । २५)

यह महान् आत्मा जन्मसे रहित, बुढ़ापेसे रहित, मृत्युसे रहित और भयसे रहित है। ब्रह्म अभय है, निश्चय ब्रह्म अभय है। जो इस प्रकार जानता है, वह निश्चय ही ब्रह्म हो जाता है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

तेजोबिन्दूपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रणवस्वरूप तेजोमय बिन्दुके ध्यानकी महिमा तथा उसके अधिकारी एवं अनधिकारी

ॐ मायिक जगत्‌से परे हृदयाकाशमें अवस्थित प्रणवस्वरूप तेजोमय बिन्दुका ध्यान ही परम ध्यान है। वह तेजोमय बिन्दुका ध्यान आणव (अत्यन्त सूक्ष्म उपायसे साध्य), शाम्भव (शिवरूपताकी प्राप्ति करानेवाला) एवं शाक्त (गुरुकी शक्तिसे ही साध्य) है। इसी प्रकार स्थूल, सूक्ष्म तथा इन दोनोंसे परे सर्वातीत फलस्वरूप भी है। बुद्धिमान् मुनियोंके लिये भी उस बिन्दुके ध्यानकी साधना बड़ी कठिन है, वह कठिनतासे आराधित (सिद्ध) होता है। वह दुर्दर्श है। उसका आश्रयण कठिनतासे हो पाता है। वह कठिनाईसे ही लक्षित होता है। वह दुस्तर है, उस ध्यानको अन्ततक निभा लेना अत्यन्त कठिन है ॥ १-२ ॥

आहारको जीतकर (मिताहारी होकर), क्रोधको वशमें करके, समस्त सङ्गोंसे तटस्थ होकर, इन्द्रियोंपर विजय करके, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे रहित होकर, अहंकारको त्यागकर, समस्त आशाओंको छोड़कर एवं संग्रहहीन होकर, तथा दूसरोंको जो अगम्य है, उसे भी प्राप्त करनेके दृढ़ निश्चयसे युक्त होकर, केवल गुरुसेवाका ही प्रयोजन रखनेवाला साधक इस ध्यानका मुख्य अधिकारी है। इस तेजोमय बिन्दुके ध्यानमें साधकलोग वैराग्य, उत्साह एवं गुरुभक्ति—ये तीन द्वार (प्रमुख साधन) उपलब्ध करते हैं; अतः यह हंस (विशुद्धतत्त्व) त्रिधामा कहा जाता है ॥ ३-४ ॥

यह ध्यान करनेयोग्य तेजोबिन्दु परम गोपनीय एवं अधिष्ठानरूप है। यह सबको प्रतीत न होनेके कारण अव्यक्त है, ब्रह्मस्वरूप है; इसका कोई अधिष्ठान नहीं। यह स्वयं ही सबका आधार है। यह आकाशके समान व्यापक है, सूक्ष्मकलात्मक एवं भगवान् विष्णुका प्रसिद्ध परमपद (परमधाम) भी यही है। यह तीनों लोकोंका पिता (उत्पत्तिस्थान), त्रिगुणमय, सबका आश्रय, त्रिभुवनस्वरूप, निराकार, गतिहीन, समस्त विकल्पोंसे रहित, बिना किसी आधार एवं आश्रयका—स्वप्रतिष्ठानस्वरूप है। यह समस्त उपाधियोंसे रहित, स्थिति, वाणी प्रभृति इन्द्रियों एवं मनकी गतिसे परे, स्वभावकी भावना (अपने वास्तविक स्वरूपके चिन्तन)-द्वारा ही ग्राह्य तथा समष्टि और व्यष्टिवाचक पदोंसे भी अगम्य है ॥ ५—७ ॥

यह तेजोबिन्दु आनन्दस्वरूप, विषय-सुखोंसे परे, बड़ी कठिनाईसे साक्षात् होनेवाला, अजन्मा, अविनाशी, चित्तकी वृत्तियोंसे विनिर्मुक्त, शाश्वत, निश्चल तथा अस्खलित है। वही ब्रह्मस्वरूप है। वही अध्यात्मस्वरूप है। वही निष्ठा, परम मर्यादा और वही परम आश्रय है। वह शून्य न होनेपर भी शून्यके समान है और शून्यसे परे स्थित है। वह न ध्यान है, न ध्यान करनेवाला है और न ध्येय है; तथापि सदा ध्यान करनेयोग्य अथवा ध्येयस्वरूप ही है। वह सर्वस्वरूप और सबसे परे है। शून्यस्वरूप है। उस परमतत्त्वसे परे कुछ भी नहीं है। वह परात्पर है। वह अचिन्त्य है। उसमें जागरण आदिका व्यापार नहीं है। उसे ज्ञानी महात्मा सत्यरूपसे ही जानते हैं। वह मुनियोंके योग्य (मुनियोंका आराध्य) तत्त्व है और देवता उसे परमतत्त्वरूप ही जानते हैं ॥८—११॥

लोभ, मोह, भय, अहङ्कार, काम और क्रोधके परायण तथा पापोंमें लगे हुए लोग, सर्दी-गर्मीके द्वन्द्वोंमें आसक्त, भूख-प्यासकी चिन्ता एवं विविध संकल्प-विकल्पोंमें संलग्न, ब्राह्मण (उच्च) वंशमें उत्पत्तिका गर्व रखनेवाले और मुक्ति-प्रतिपादक शास्त्रोंके केवल संग्रहमें आसक्त (केवल शास्त्र-ज्ञानी) उस तेजोबिन्दुको नहीं जान पाते। तथा वह भय, सुख-दुःख तथा मानापमानादिमें फँसे हुए लोगोंको भी नहीं प्राप्त होता। जो इन सारे (दूषित) भावोंसे छूटे हुए हैं, उन्हींके द्वारा यह परात्पर ब्रह्म प्राप्त होनेयोग्य है। उन्हींके द्वारा वह परात्पर ब्रह्म प्राप्त होनेयोग्य है ॥ १२-१३ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय तेजोबिन्दूपनिषद् समाप्त ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

ऋग्वेदीय

नादबिन्दूपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम अध्याय

प्रथम खण्ड

ॐकारकी हंसरूपमें उपासना

ॐ। प्रणवरूपी हंसका अकार दक्षिण पक्ष (पाँख) और उकार उत्तर (बायाँ) पक्ष माना गया है। मकार ही उसकी पूँछ है तथा अर्द्धमात्रा सिर है। रजोगुण और तमोगुण उसके दोनों पैर हैं और सत्त्वगुण शरीर कहलाता है। धर्म दक्षिण नेत्र है और अधर्म वाम नेत्र कहलाता है। भूलोक उसके दोनों पैरोंमें है। भुवर्लोक उसके दोनों जानुओंमें है, स्वर्लोक उसके कटिदेशमें है और महर्लोक नाभिदेशमें है। जनलोक उसके हृदयमें है, तपोलोक कण्ठदेशमें है। भौंहों और ललाटके बीचमें सत्यलोक व्यवस्थित है। उपर्युक्त कथनके अनुमोदनमें श्रुतिने संमतिरूपसे 'सहस्राक्ष्यम्'* यह मन्त्र प्रदर्शित किया है। इस प्रकारसे वर्णित जो ॐकाररूपी हंस है, उसपर आरूढ़—उसके चिन्तनमें निमग्न हुआ हंसयोग-विचक्षण पुरुष—प्रणवकी ध्यान-विधिमें कुशल उपासक कर्मानुष्ठान करते हुए कोटि-कोटि पापोंसे छूटकर बन्धन-मुक्त हो जाता है॥ १—५ ॥

द्वितीय खण्ड

ॐकारकी बारह मात्राएँ और उनमें प्राण-वियोगका फल

अकार नामकी प्रथम मात्रा आग्नेयी है, अग्निमण्डलसदृश उसका रूप है, अग्नि उसके देवता हैं। दूसरी उकार नामकी मात्रा वायव्या है, वायुमण्डलसदृश रूपवाली है। वायु उसके देवता हैं। उसके बाद मकार नामकी उत्तर-मात्रा सूर्यमण्डलके सदृश है, सूर्य ही उसके देवता हैं। और चौथी अर्द्धमात्रा वारुणी है, उसके देवता वरुण हैं। उन चारों

---

* पूरा मन्त्र और उसका अर्थ इस प्रकार है—'सहस्राक्ष्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गं स देवान् सर्वानुरस्ययदप्य सम्पश्यन् याति भुवनानि पश्य।'

अर्थात् सूर्यदेवके विचरण करनेयोग्य जो स्वर्ग—द्युलोक है, उसकी ओर उड़नेवाले श्रीविष्णुरूपी हंस (ॐकार) के दो पंख हैं—पूर्व और पश्चिमके आकाशस्वरूप, अकार और उकार—ये दो मात्राएँ। वह ॐकाररूप हंस सात्त्विक देवताओंको अपने सत्त्वमय हृदयमें स्थापित करके सम्पूर्ण लोकोंको प्रत्यक्ष देखता हुआ ब्रह्मलोकतक गमन करता है; उसपर आरूढ़ हुआ उपासक भी वहाँतक पहुँच जाता है।

मात्राओंमेंसे प्रत्येक मात्रा तीन-तीन कलारूपी मुखसे सुशोभित है। इस प्रकार द्वादशकलात्मक 'ॐकार' कहा गया है। धारणा, ध्यान और समाधिके द्वारा इसको जानना चाहिये। उन द्वादश कलाओंमें प्रथमा मात्रा 'घोषिणी' कहलाती है, द्वितीया 'विद्युन्माला', तृतीया 'पतङ्गी', चतुर्थी 'वायुवेगिनी', पञ्चमी 'नामधेया' और षष्ठी मात्रा 'ऐन्द्री' कहलाती है। सप्तमीका नाम 'वैष्णवी' है और अष्टमी 'शाङ्करी' कहलाती है। नवमी 'महती', दशमी 'ध्रुवा', एकादशी 'मौनी' और द्वादशी मात्रा 'ब्राह्मी' कहलाती है। यदि प्रथमा मात्रामें उपासकका प्राणान्त होता है तो वह भारतवर्षमें सार्वभौम चक्रवर्ती राजाके रूपमें जन्म लेता है। द्वितीया मात्रामें प्राणोंका उत्क्रमण होनेपर वह महिमाशाली यक्ष होता है। तृतीया मात्रामें विद्याधर, और चतुर्थीमें गन्धर्व होता है। यदि पञ्चमी मात्रामें उसका प्राणोंसे वियोग होता है तो वह तुषित नामके देवताओंके साथ रहता हुआ चन्द्रलोकमें सम्मानित होता है। षष्ठी मात्रामें (मृत्यु होनेपर) इन्द्रका सायुज्य प्राप्त होता है। सप्तमीमें भगवान् विष्णुके पद (वैकुण्ठ-धाम) को प्राप्त करता है। अष्टमीमें रुद्रलोकमें जाकर पशुपति भगवान् शङ्करका सामीप्य लाभ करता है। नवमी मात्रामें महर्लोक, दशमी मात्रामें ध्रुवलोक, एकादशी मात्रामें तपोलोक तथा द्वादशी मात्रामें प्राणका उत्क्रमण होनेपर उपासक शाश्वत ब्रह्मलोकमें (ब्रह्माकी आयुपर्यन्त) प्रतिष्ठित होता है ॥ १—१० ॥

तृतीय खण्ड

योगयुक्त स्थितिका वर्णन

इसकी अपेक्षा भी परतर—श्रेष्ठ, शुद्ध, व्यापक, निष्कल तथा कल्याणस्वरूप सदा उदित परमब्रह्म-तत्त्व है; उसीसे अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि सभी प्रकारकी ज्योतियोंका उदय होता है। जब मन इन्द्रियातीत और सत्त्व आदि तीनों गुणोंके परे परतत्त्वमें लीन होता है, तब वह उपमारहित और अभावस्वरूप हो जाता है। उस स्थितिमें साधकको योगयुक्त कहना चाहिये। जो परमात्माका भक्त है, जिसका मन परमात्मामें ही आसक्त है, वह योगमार्गके द्वारा स्वस्थ होकर सब प्रकारकी लौकिक आसक्तियोंसे मुक्त हो धीरे-धीरे शरीरमें आत्माभिमानको त्याग दे। तब उसका संसार-बन्धन नष्ट हो जाता है; वह निर्मल, कैवल्य-प्राप्त और परमात्मस्वरूप हो जाता है। और उसी ब्रह्मभावसे परमानन्दको प्राप्त करता है, परमानन्दका उपभोग करता है ॥ १—४ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय अध्याय

प्रथम खण्ड

ज्ञानीके लिये प्रारब्ध नहीं रह जाता

हे महामते ! निरन्तर प्रयत्न करके आत्माके स्वरूपको जानकर उसीके चिन्तनमें अपना समय व्यतीत करो; समस्त प्रारब्धकर्मोंके भोगोंको भोगते हुए तुम्हें उद्विग्न नहीं होना चाहिये। आत्मज्ञान हो जानेपर भी प्रारब्ध स्वयं नहीं छोड़ता। परंतु जब तत्त्वज्ञानका उदय होता है, तब ज्ञानीकी दृष्टिमें प्रारब्धकर्मका उसी प्रकार अभाव हो जाता है, जिस प्रकार स्वप्नलोकके देहादिक असत् होनेके कारण जागनेपर नहीं रह जाते। जन्मान्तरके किये हुए जो कर्म हैं, वे ही प्रारब्ध कहे गये हैं। परंतु ज्ञानीके लिये तो जन्मान्तर भी नहीं है; अतः उसके लिये कभी भी प्रारब्ध नहीं रहता। जिस प्रकार स्वप्नकालीन देह देह नहीं होती, अध्यासमात्र होती है, उसी प्रकार यह जाग्रत्-कालका शरीर भी अध्यासमात्र है। अध्यस्त पदार्थकी उत्पत्ति कहाँ होती है। और जिसकी उत्पत्ति नहीं हुई, उसकी स्थिति कहाँ ! (जैसे रज्जुमें सर्पका अध्यास होनेपर रज्जुमें सर्प नहीं पैदा होता और न वहाँ सर्पकी स्थिति ही होती है।) इस प्रपञ्चका उपादान-कारण आत्मा है, जिस प्रकार मिट्टीके पात्रोंका उपादान-कारण मिट्टी है। वेदान्तके अनुसार यह प्रपञ्च अज्ञानके कारण आत्मामें भासता है; यदि अज्ञान नष्ट हो जाय तो विश्वकी विश्वता कहाँ रहेगी। जिस प्रकार भ्रमसे मनुष्य रज्जुबुद्धिका त्याग करके उसे सर्प-बुद्धिसे ग्रहण करता है, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष सत्य (आत्मा)का ज्ञान न होनेके कारण प्रपञ्चको देखता है।

जब सामने रस्सीके टुकड़ेको अच्छी तरह पहचान लेनेपर जैसे उसमें प्रतीत होनेवाला सर्परूप नहीं रह जाता, उसी प्रकार अधिष्ठानस्वरूप आत्माका ज्ञान होनेपर जब प्रपञ्च भी शून्यताको प्राप्त हो जाता है, तब देह भी प्रपञ्चरूप ही होनेके कारण उसके साथ ही शून्यतामें परिणत हो जाता है। उस अवस्थामें प्रारब्धकी स्थिति कैसे रह सकती है। अज्ञानी-जनोंको समझानेके लिये प्रारब्धकी बात कही जाती है। तदनन्तर कालवश ही प्रारब्धके नष्ट हो जानेपर प्रणव और ब्रह्मकी एकताके चिन्तनसे नादरूपमें साक्षात् ज्योतिर्मय, शिवस्वरूप परमात्माका आविर्भाव होता है—ठीक वैसे ही, जिस प्रकार मेघके दूर हो जानेपर सूर्यनारायण प्रकाशित हो उठते हैं। योगी सिद्धासनसे बैठकर वैष्णवी मुद्रा[1] धारण करके दहिने कानके भीतर उठते हुए नाद (अनाहत ध्वनि) को सदा सुनता रहे। इस प्रकार अभ्यासमें लाया हुआ नाद बाह्य ध्वनियोंको आवृत कर लेता है। इस प्रकार एक पक्ष अर्थात् अकारको जीतकर दूसरे पक्ष उकारको जीते और क्रमशः सम्पूर्ण प्रणवपर विजय प्राप्तकर तुर्यपद अर्थात् आत्मसाक्षात्कारको प्राप्त होता है ॥ १–११ ॥

द्वितीय खण्ड

नादके अनेक प्रकार

अभ्यासके प्रारम्भमें यह नाद बहुत जोर-जोरसे और नाना प्रकारसे सुनायी देता है और अभ्यासके बढ़ जानेपर वह सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर रूपमें सुनायी पड़ता है। प्रारम्भमें समुद्र, बादल, भेरी तथा झरनोंसे उत्पन्न ध्वनिके समान एवं मृदङ्ग, घंटे तथा नगारेकी ध्वनिके समान वह नाद सुनायी देता है और अन्तमें किङ्किणी, वंशी, वीणा तथा भ्रमरकी ध्वनिके समान मधुर नाद सुन पड़ता है। इस प्रकार सूक्ष्म-से-सूक्ष्म होते हुए नाना प्रकारके नाद सुनायी पड़ते हैं ॥ १—३ ॥

तृतीय खण्ड

नादानुसंधान

जब महान् भेरी आदिकी ध्वनि सुन पड़े, तब उसमें सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर नादका विचार करे—घने नादको छोड़कर सूक्ष्म नादमें अथवा सूक्ष्म नादको छोड़कर घने नादमें रमते या जाते हुए मनको अन्यत्र न ले जाय। पहले जिस किसी भी सूक्ष्म या घन नादमें मन लगता है, वहीं-वहीं वह स्थिर होकर उस नादके साथ ही विलीन हो जाता है। सारे बाह्य प्रपञ्चको भूलकर दूधमें मिले हुए पानीके समान नादमें एकीभूत हुआ मन उस नादके साथ ही सहसा चिदाकाशमें विलीन हो जाता है। इसलिये नाद-श्रवणसे अतिरिक्त विषयोंकी ओरसे उदासीन होकर संयमी पुरुष निरन्तर अभ्यासके द्वारा मनको तत्काल अपने प्रति उत्सुक बनानेवाले नादका ही श्रवण एवं चिन्तन करता रहे। सारी चिन्ताओंका त्याग करके, सारी चेष्टाओंको छोड़कर नादका ही अनुसंधान करे; क्योंकि नादमें चित्त विलीन होता है, नादमें चित्त विलीन होता है ॥ १–५ ॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय अध्याय

प्रथम खण्ड

नादके द्वारा मन कैसे वशीभूत होता है

जिस प्रकार पुष्परसका पान करता हुआ भ्रमर पुष्पगन्धकी अपेक्षा नहीं करता, उसी प्रकार नादमें सदा आसक्त रहनेवाला चित्त विषयोंकी आकाङ्क्षा नहीं करता। यह चित्तरूपी आन्तरिक सर्प नादको ग्रहण करनेपर उस सुन्दर नादकी गन्धसे बँधकर तत्काल सारी चपलताओंका परित्याग कर देता है। फिर संसारको भूलकर और

१. 'अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता। एषा सा वैष्णवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥
'बाहरकी ओर निर्निमेष दृष्टि हो और भीतरकी ओर लक्ष्य हो—सब तन्त्रोंमें गूढ भावसे बतायी हुई वह वैष्णवी मुद्रा यही है।'

एकाग्र होकर इधर-उधर कहीं नहीं दौड़ता । विषयोंके उद्यानमें विचरनेवाले मनरूपी मतवाले हाथीको वशीभूत करनेमें यह नादरूपी तीक्ष्ण अंकुश ही समर्थ होता है। यह नाद मनरूपी मृगके बाँधनेमें जालका काम करता है । मनरूपी तरङ्गको रोकनेमें तटका काम करता है ॥ १–५ ॥

द्वितीय खण्ड

नादमें मनका लय

ब्रह्मस्वरूप प्रणवमें संलग्न नाद ज्योतिःस्वरूप होता है, उसमें मन लयको प्राप्त होता है। वही भगवान् विष्णुका परमपद है। जबतक शब्दोंका उच्चारण और श्रवण होता है, तभीतक मनमें आकाशका संकल्प रहता है। निःशब्द होनेपर तो वह परम ब्रह्म परमात्मरूपमें ही अनुभूत होता है । जबतक नाद है, तबतक मन है । नादके सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर होनेपर मन भी अमन हो जाता है । सशब्द नाद अक्षर-ब्रह्ममें क्षीण हो जाता है । उस निःशब्द नादको ही परम पद कहते हैं। जब निरन्तर नादका अनुसन्धान करनेसे वासनाएँ सम्यक्‌रूपसे क्षीण हो जाती हैं, तब मन और प्राण निःसन्देह निराकार ब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं। कोटि-कोटि नाद और कोटि-कोटि बिन्दु ब्रह्मप्रणवनादमें लीन हो जाते हैं ॥ १–५ ॥

तृतीय खण्ड

मनके अमन हो जानेकी स्थितिका वर्णन

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति प्रभृति सारी अवस्थाओंसे मुक्त हुआ तथा सारी चिन्ताओंको त्यागकर जो योगी मृतवत् रहता है, वह मुक्त है—इसमें संशय नहीं है। वह शङ्ख-दुन्दुभिनादको कदापि नहीं सुनता। जिसमें मन अमन हो जाता है, उस अवस्थाके होनेपर मन इस देहमें रहकर भी काष्ठवत् निश्चेष्ट प्रतीत होता है। वह न शीत जानता है न उष्ण और न सुख जानता है न दुःख । न मान समझता है न अपमान। समाधिके द्वारा वह इन सबका सम्यक्‌रूपसे त्याग कर देता है। योगीका चित्त जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि तीनों अवस्थाओंका कभी अनुसरण नहीं करता । योगी जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थासे मुक्त होकर अपने स्वरूपमें अवस्थित होता है। बिना दृश्य वस्तुके ही जिसकी दृष्टि स्थिर है, बिना प्रयत्नके ही जिसकी प्राणवायु स्थिर है, बिना किसी अवलम्ब या आश्रयके ही जिसका चित्त स्थिर हो गया है, वह योगी ब्रह्ममय प्रणवके अन्तर्वर्ती तुरीय-तुरीय स्वरूप नादरूपमें स्थित है। यह इतना उपनिषद् है ॥ १–५ ॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

॥ ऋग्वेदीय नादबिन्दूपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः । शान्तिः ॥ शान्तिः ॥॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

अमृतनादोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रणवोपासना; योगके छः अङ्ग; प्राणायामकी विधि; योग-साधनका फल; पाँचों प्राणोंका रंग

बुद्धिमान् पुरुष शास्त्रोंका अध्ययन करके एवं बार-बार उनका अभ्यास करके ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिके परम कारणभूत इस बिजलीकी चमकके समान क्षणप्रकाशी जीवनको व्यर्थ नष्ट न करे । ॐकारके रथमें बैठकर और भगवान् विष्णुको सारथि बनाकर ब्रह्मलोकके यथार्थ पदका अन्वेषण करते हुए भगवान् रुद्रकी आराधनामें तत्पर होना चाहिये ।* तबतक रथसे चले, जबतक रथसे चलने योग्य मार्गपर ही स्थिति हो । जब वह मार्ग पूरा हो जाता है, तब उस रथ-मार्गपर खड़े हुए रथको छोड़कर मनुष्य स्वतः आगे चला जाता है । तात्पर्य यह कि जबतक लक्ष्यकी प्राप्ति न हो जाय, तबतक दृढ़तापूर्वक साधनमें संलग्न रहना चाहिये; लक्ष्य-सिद्धिके पश्चात् अनावश्यक साधन स्वतः छूट जाते हैं ।

प्रणवकी जो अकार आदि मात्राएँ हैं, उनके लिङ्गभूत जो **'जागरितस्थानः सप्ताङ्गः एकोनविंशतिमुखः'** इत्यादि पद हैं, उनके आश्रयभूत विश्व, विराट् आदिके चिन्तनपूर्वक उनका त्याग करके स्वरहीन (केवल नादरूप) मकारके द्वारा उसके अर्थभूत प्राज्ञ ईश्वरका चिन्तन करनेसे साधक क्रमशः उस सूक्ष्मपद (तुरीयतत्त्व) में प्रवेश करता है, जो अकारादि स्वरों और ककारादि व्यञ्जनोंसे व्यवहृत होनेवाले सम्पूर्ण प्रपञ्चसे सर्वथा परे है । शब्द-स्पर्शादि पाँचों विषय, उन्हें ग्रहण करनेवाली इन्द्रियाँ तथा अत्यन्त चञ्चल मन—इनको सूर्यस्वरूप अपने आत्माकी किरणोंके रूपमें देखे । अर्थात् आत्मप्रकाशसे ही मनकी सत्ता है और उसी आत्मप्रकाशकी बाह्य सत्तासे शब्दादि विषय भी सत्तावान् हैं, ऐसा चिन्तन करे । इस प्रकार अनात्मपदार्थोंकी ओरसे मन और इन्द्रियोंको समेटकर केवल आत्माके चिन्तनको 'प्रत्याहार' कहा जाता है । प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क (विचार) तथा समाधि—ये योगके छः अङ्ग बताये गये हैं ॥ १—६ ॥

जैसे पर्वतोंमें उत्पन्न स्वर्णादि धातुओंका मल उनको अग्निमें तपानेसे भस्म हो जाता है, वैसे ही इन्द्रियोंद्वारा लाये गये दोष प्राणोंके रोकने (प्राणायाम करने) से भस्म हो जाते हैं । प्राणायामके द्वारा दोषों (इन्द्रियोंमें आये हुए विकारों) को तथा धारणाके द्वारा पापों (इन्द्रिय-लोलुपताके संस्कारों) को भस्म कर दे । इस प्रकार पापों तथा उनके संस्कारोंका नाश करके आराध्यके मनोहर स्वरूपका चिन्तन करे । आराध्यके उस मनोहर स्वरूपका चिन्तन करते हुए वायुको भीतर स्थिर रखना (कुम्भक करना), रेचक करना (श्वासको छोड़ना) तथा वायुको खींचना (पूरक करना)—इस प्रकार रेचक, पूरक तथा कुम्भकके रूपमें तीन प्रकारके प्राणायाम बताये गये हैं । प्राण-शक्तिका विस्तार करनेवाला साधक (**ॐ भूः, ॐ भुवः, ॐ स्वः, ॐ महः, ॐ जनः,**

---

* यहाँ प्रणव तथा उसकी मात्राओंके चिन्तनकी बात कही गयी है । प्रणवकी तीन मात्राएँ हैं—अकार, उकार तथा मकार । अकार विष्णुका, उकार ब्रह्माका तथा मकार भगवान् रुद्रका वाचक है । इन तीन मात्राओंका क्रमशः चिन्तन करना चाहिये । विष्णुको सारथि बनाना 'अकार' रूप प्रथम मात्राका चिन्तन करना है । ब्रह्मलोक-पदका अन्वेषण उकारका चिन्तन है और रुद्रकी आराधनाका तात्पर्य मकारका चिन्तन है ।

ॐ तपः, ॐ सत्यम्—इस प्रकार) व्याहृतियों तथा प्रणव-सहित सम्पूर्ण गायत्री-मन्त्रका (ॐ आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् इस) शिरोभागके साथ पूरक, कुम्भक और रेचक करते समय जब तीन-तीन बार मानस-पाठ करे, तब उसे एक 'प्राणायाम' कहते हैं ॥ ७—१० ॥

प्राणवायुको आकाशमें निकालकर हृदयको वायुशून्य एवं चिन्तनशून्य करके शून्यभावमें मनको लगा दे, यह रेचक प्राणायामका लक्षण है। जैसे मनुष्य मुखसे कमल-नालद्वारा धीरे-धीरे जलको खींचता है, उसी प्रकार धीरे-धीरे वायुको अपने भीतर ग्रहण करना चाहिये—यह पूरकका लक्षण है। न तो श्वासको भीतर खींचे, न बाहर ही निकाले और न शरीरको हिलाये ही—इस प्रकार प्राणवायुका निरोध करे; यह कुम्भक प्राणायामका लक्षण है ॥ ११–१३ ॥

रूपोंको अंधेके समान देखे, शब्दको बहरेके समान सुने तथा शरीरको लकड़ीके समान समझे। अर्थात् रूप, शब्द तथा शरीरके सुख-दुःखादिसे तनिक भी प्रभावित न हो। यह 'प्रशान्त' का लक्षण है। बुद्धिमान् पुरुष मनको संकल्पात्मक (संकल्पस्वरूप) समझकर उसे आत्मामें (बुद्धिमें) विलीन कर दे तथा उस बुद्धिको भी परमात्म-चिन्तनमें स्थापित करे—लगाये। इसीको 'धारणा' कहा गया है। शास्त्रोंके अनुकूल ऊहा (युक्तिपूर्वक विचार) 'तर्क' कहा जाता है और जिसे प्राप्त करके दूसरे समस्त प्राप्तव्योंका अपमान कर देता है—सबको तुच्छ समझ लेता है, उस स्थितिको 'समाधि' कहा जाता है ॥ १४—१६ ॥

भूमिके समान एवं रमणीय तथा (अशुद्धता, विषमता, कीटादियुक्तता प्रभृति) सम्पूर्ण दोषोंसे रहित भागमें मानसिक रक्षा (दिग्बन्धादि) करके और मण्डल (यदेतन्मण्डलं तपति—इत्यादि मण्डल-ब्राह्मण) का जप करके पद्मासन, स्वस्तिकासन अथवा भद्रासनमेंसे किसी योगासनको भली प्रकार लगाकर उत्तरकी ओर मुख करके बैठे। फिर एक अँगुलीसे नासिकाके एक छिद्रको बंद करके दूसरे खुले छिद्रसे वायुको खींचकर, दोनों नासापुटोंको बंदकर उस वायुको धारण करे। उस समय तेजोमय शब्द (प्रणव) का ही चिन्तन करे। वह शब्द 'ॐकार' स्वरूप एकाक्षर ब्रह्म ही है। फिर इसी 'ॐ' इस एकाक्षर ब्रह्मका ही चिन्तन करता हुआ रेचक करे—वायुको धीरे-धीरे छोड़े। इस प्रकार अनेकों बार इस प्रणवस्वरूप दिव्य-मन्त्रके द्वारा (प्राणायाम करते हुए) अपने चित्तके मलको दूर करे ॥ १७—२० ॥

इस प्रकार प्राणायामद्वारा पापराशिका नाश करके पहले बताये हुए (अकार, उकार, मकार, बिन्दु तथा नादरूप) प्रणव-मन्त्रका ध्यान करे अर्थात् प्रणवकी प्रत्येक मात्राके साथ उसके लोक, गुण एवं अधिदेवताका चिन्तन करते हुए प्राणायाम करे। इस प्रकारके प्रणवगर्भ प्राणायामको स्थूलाति-स्थूल मात्रा*से अधिक कभी न करे। अपनी दृष्टिको तिर्यक् (सामनेकी ओर), ऊपरकी ओर अथवा नीचेकी ओर स्थिर करके महामति (परम बुद्धिमान्) साधक स्थिरतापूर्वक स्थित होकर, निष्कम्प (अङ्गचालनहीन) रहकर तब योगका अभ्यास करे ॥ २१-२२ ॥

यह योग तालवृक्षके समान कुछ समयमें फल देनेवाला है और इसका धारण नियत योजनापूर्वक (अर्थात् जितना प्रथम प्रारम्भ करे, उसे उतना ही रक्खे या बढ़ाता जाय; पर न तो घटाये और न मध्यमें उसका विराम करे—इस प्रकार) करनेयोग्य है। इसमें द्वादश मात्राओंकी (प्रणवकी अ,उ, म तथा नादरूप चारों मात्राओंकी तीनों प्राणायामोंमें) आवृत्ति भी कालसे निश्चित कही गयी है। अर्थात् एक मात्राके लिये जितना समय दिया जाय, दूसरीके लिये भी उतना ही समय देना चाहिये। कोई मात्रा शीघ्र एवं कोई देरतक मनमें न जपी जाय ॥ २३ ॥

यह प्रणव-नामक घोष बाह्य प्रयत्नसे उच्चारित होनेवाला नहीं है। यह व्यञ्जन नहीं है। स्वर भी नहीं है। कण्ठ, तालु, ओष्ठ और नासिकासे उच्चारित होनेवाला (सानुनासिक) भी नहीं है। यह रेफजातीय (अर्थात् मूर्द्धासे उच्चारित होनेवाला भी) नहीं है। दोनों ओष्ठोंके भीतर स्थित दन्तनामक स्थानसे भी इसका उच्चारण नहीं हो सकता। यह वह अक्षर है, जो कभी क्षरित (च्युत) नहीं होता अर्थात् यह नादके अव्यक्त-रूपसे नित्य प्रकृतिमें विद्यमान रहता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रणवका प्राणायामके रूपमें तो उपर्युक्त प्रकारसे समयादि-संयमसे अभ्यास करना चाहिये और निरन्तर नादके रूपमें मनको उसमें लगाये रहना चाहिये ॥ २४ ॥

* एक समय इस प्रकारके प्रणवगर्भ प्राणायामकी अस्सी आवृत्तियोंको 'स्थूल मात्रा' कहते हैं। एक बार वायु रोककर अस्सी बार प्रणवके जप करनेको 'अतिस्थूलमात्रा' प्राणायाम कहते हैं और ऐसे प्राणायामकी अस्सी बार आवृत्ति 'स्थूलातिस्थूलमात्रा' प्राणायाम है। इससे अधिक प्राण रोकना या अधिक आवृत्ति करना हानिकर है। प्राणायाम प्रातः, मध्याह्न, सायं एवं अर्धरात्रिमें—इस प्रकार चार बार नित्य करना चाहिये।

योगी जिससे मार्ग देखता है, अर्थात् मनके द्वारा जिस-जिस स्थानको उसमें प्रवेश करके गमन करनेयोग्य मानता है, प्राण उसी मार्ग (द्वार) से मनके साथ गमन करता है। अतएव प्राण श्रेष्ठ मार्गसे जाय, इसके लिये नित्य अभ्यास करना चाहिये। हृदयद्वार ही वायुके प्रवेशका द्वार है। इसी हृदय-द्वारसे प्राण सुषुम्णामार्गमें प्रवेश करता है। इससे ऊपर ऊर्ध्व-गमनका मार्ग है। सबसे ऊपर इस सुषुम्णामार्गमें मोक्षका द्वार (जिस मार्गसे प्राणोत्सर्ग होनेपर योगी मोक्ष प्राप्त करता है) ब्रह्मरन्ध्र है। इसीको योगी सूर्यमण्डल जानते हैं। (इसी सूर्यमण्डल या ब्रह्मरन्ध्रको बेधकर प्राण छोड़नेसे मुक्ति होती है) ॥ २५-२६ ॥

भय, क्रोध, आलस्य, अत्यन्त निद्रा, अधिक जागना, बहुत भोजन करना और सर्वथा निराहार रहना—इनको योगी सर्वदा छोड़ दे। इस विधिसे भली प्रकार जो क्रमशः (उत्तरोत्तर बढ़ाता हुआ) नित्य अभ्यास करता है, उसे तीन महीनोंमें स्वयं ही ज्ञान प्राप्त हो जाता है—इसमें सन्देह नहीं। चार महीनोंमें वह देवताओंको देखने लगता है, पाँच महीनोंमें देवताओंके समान शक्तिशाली हो जाता है और निःसन्देह छः महीनोंमें यदि उसकी इच्छा हो तो वह कैवल्य (जीवन्मुक्तावस्था) को प्राप्त कर लेता है॥२७–२९॥

पृथिवीतत्त्वकी धारणाके समय प्रणवकी पाँच मात्राओंका, जल-तत्त्वकी धारणाके समय चार मात्राओंका, अग्नितत्त्वकी धारणाके समय तीन मात्राओंका, वायुतत्त्वकी धारणाके समय दो मात्राओं-का, आकाशतत्त्वकी धारणाके समय एक मात्राका और स्वयं प्रणव-के रूपमें उसके अर्धमात्रास्वरूपका चिन्तन करे। अपने शरीरमें ही मनके द्वारा (पैरसे मस्तकतक क्रमशः पृथिवी आदिकी) धारणा करके पञ्चभूतोंकी सिद्धि करके उनका चिन्तन करे। इस प्रकार प्रणव-धारणाद्वारा पञ्चभूतोंपर अधिकार प्राप्त होता है ॥ ३०-३१ ॥

तीस अंगुल लंबा प्राण (श्वास) जिसमें प्रतिष्ठित है, वही इस प्राणवायुका अधिष्ठान (आश्रय) वास्तविक प्राण है। यही 'प्राण' नामसे विख्यात है। जो बाह्य प्राण है, वह तो इन्द्रियगोचर है; इस बाह्य प्राणमें एक लाख तेरह हजार छः सौ अस्सी निःश्वास (श्वास-प्रश्वास) एक दिन-रात्रिमें आते हैं ॥ ३२-३३ ॥

आदि प्राण हृदयस्थानमें, अपान गुदास्थानमें, समान नाभिदेशमें तथा उदान कण्ठमें निवास करता है। व्यान सम्पूर्ण अङ्गोंमें सर्वदा व्यापक होकर रहता है। अब क्रमशः प्राणादि पाँचों वायुओंका रंग वर्णन किया जाता है। प्राणवायु लाल रंगकी मणिके समान कहा जाता है। अपान-वायु गुदाके मध्यमें इन्द्रगोप (वीरबहूटी) नामक कीड़ेके समान लाल है। नाभिके मध्यभागमें समानवायु गायके दूधके समान अथवा स्फटिक मणिके समान उज्ज्वल है। उदानवायु धूसर (मटमैले) और व्यान-वायु अग्नि-शिखाके रंगका अर्थात् प्रकाशमय है ॥ ३४–३७ ॥

जिसका प्राण इस मण्डल (पञ्चतत्त्वात्मक शरीर-स्थान, वायु-स्थान एवं हृदयादि द्वारों) को बेधकर मस्तकमें चला जाता है, वह जहाँ-कहीं भी मरे, फिर जन्म नहीं लेता। वह फिर जन्म नहीं लेता ॥ ३८ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय अमृतनादोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

भीतर-बाहर नारायण ही व्याप्त हैं

यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥ (नारायणोप०)

जो कुछ जगत् देखने या सुननेमें आता है, उस सबको बाहर और भीतरसे व्याप्त करके नारायण स्थित हैं ।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

ऋग्वेदीय

मुद्गलोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम खण्ड

पुरुषसूक्तका संक्षिप्त विषय-निरूपण

'पुरुषसूक्त'के द्वारा प्रतिपादित अर्थ-निर्णयकी व्याख्या करता हूँ—इसे भगवान् वासुदेवने इन्द्रसे कहा और आगे विवेचन किया। पुरुषसंहितामें पुरुषसूक्तका अर्थ संक्षिप्त रीतिसे इस प्रकार बताया जाता है—

पुरुषसूक्तके **'सहस्रशीर्षा०'** इस मन्त्रमें **'सहस्र'** शब्द अनन्तका वाचक है। इसी प्रकार **'दशाङ्गुलम्'** यह पद भी अनन्त योजनोंका सूचक है। इस पुरुषसूक्तका उक्त **'सहस्रशीर्षा०'** मन्त्र भगवान् विष्णुके देशगत विभुत्वका वर्णन करता है, अर्थात् यह बतलाता है कि भगवान् सम्पूर्ण देशोंमें व्याप्त हैं। दूसरा मन्त्र इन्हीं भगवान् विष्णुकी कालतः व्याप्ति बतलाता है, अर्थात् यह सूचित करता है कि भगवान् विष्णु सर्वकालव्यापी हैं—सब समय रहते हैं। तीसरा मन्त्र भगवान् विष्णुके मोक्षप्रदत्वको अर्थात् भगवान् श्रीहरि मोक्षदाता हैं—यह बतलाता है। **'एतावानेव०'** इस तीसरे मन्त्रसे श्रीहरिके वभवका वर्णन किया गया है ॥ १—३ ॥

इन तीन मन्त्रोंके समुदायद्वारा ही चतुर्व्यूहात्मक भगवत्स्वरूपका वर्णन भी है। **'त्रिपाद्'** प्रभृति मन्त्रके द्वारा चतुर्व्यूहके अनिरुद्ध-स्वरूपका वैभव वर्णित है। **'तस्माद्विराळ्०'** इस मन्त्रद्वारा पादविभूतिरूप नारायणसे श्रीहरिकी स्वरूपभूता प्रकृति (माया) तथा पुरुष (जीव) की उत्पत्ति प्रदर्शित की गयी है। **'यत्पुरुषेण'** इत्यादि मन्त्रद्वारा सृष्टिस्वरूप यज्ञ कहा गया है और **'सप्तास्यासन् परिधयः०'** मन्त्रमें उस सृष्टियज्ञके लिये समिधाका वर्णन हुआ है। यही सृष्टियज्ञ **'तं यज्ञमिति'** मन्त्रके द्वारा बताया गया है और इस मन्त्रके द्वारा मोक्षका वर्णन भी हुआ है। **'तस्मादिति'** इत्यादि सात मन्त्रोंमें जगत्की सृष्टि कही गयी है। **'वेदाहम्'** इत्यादि दो मन्त्रोंमें श्रीहरिके वैभवका वर्णन किया गया है। और **'यज्ञेन०'** इस मन्त्रके द्वारा सृष्टि एवं मोक्षके वर्णनका उपसंहार किया गया है। जो इस प्रकार इस पुरुषसूक्तको जानता है, वह निश्चय ही मुक्त हो जाता है ॥ ४-९ ॥

द्वितीय खण्ड

महापुरुषका रूप-धारण

इस प्रकार प्रथम खण्डके द्वारा मुद्गलोपनिषद्में पुरुषसूक्तका जो वैभव प्रतिपादित हुआ है, उसी भगवदीय ज्ञानका भगवान् वासुदेवने इन्द्रको उपदेश देकर, फिर सूक्ष्मतत्त्व सुननेके लिये नम्र होकर शरणमें आये हुए उन्हीं इन्द्रके लिये उस परम रहस्यस्वरूप ज्ञानका पुरुषसूक्तमय दो खण्डोंके द्वारा उपदेश किया है ॥ १ ॥

इस पुरुषसूक्तके दो खण्ड कहे जाते हैं। पुरुषसूक्तमें जिस पुरुषका वर्णन है, वह नाम-रूप तथा ज्ञानका

अविषय होनेके कारण (अपने ब्रह्मस्वरूपसे) सांसारिक प्राणियोंके लिये दुर्ज्ञेय है। अतः संसारी जीवोंके लिये अपने इस दुर्ज्ञेयविषयत्व (स्वरूप) को छोड़कर क्लेशादिसे युक्त देवादि (सत्त्वगुणविशिष्ट जीवों) के उद्धारकी इच्छासे उन्होंने सहस्र (अनन्त) कलाओंवाले अवयवोंसे युक्त ऐसे कल्याण-स्वरूप वेषको धारण किया, जो दर्शनमात्रसे मोक्ष देनेवाला है। उसी वेष (रूप) से भूमि आदि लोकोंमें व्याप्त होकर वे अनन्त योजनोंतक स्थित हुए। सृष्टिके पूर्व पुरुषस्वरूप नारायण ही भूत, वर्तमान एवं भविष्य—तीनों कालोंके रूपमें अवस्थित थे। वे ही इन सब (जीवों) को मोक्ष देनेवाले हैं। वे सम्पूर्ण महत्त्वशालियोंसे श्रेष्ठ हैं। उनसे अधिक श्रेष्ठ और कोई भी नहीं है ॥ २-३ ॥

उक्त महापुरुष (परमात्मा) ने अपनेको चार अंशों (चतुर्व्यूहों) में प्रकट किया। उनमेंसे तीन अंशों (त्रिपाद्विभूति अथवा वासुदेव, प्रद्युम्न और सङ्कर्षणरूप) से वे परमव्योम (अपने परमधाम वैकुण्ठ) में निवास करते हैं तथा इनसे भिन्न अवशिष्ट चतुर्थ अंश—चतुर्थ व्यूहरूप अनिरुद्ध नामक प्रसिद्ध नारायणके द्वारा सम्पूर्ण विश्वकी रचना (अभिव्यक्ति) हुई ॥४॥

उस अनिरुद्धरूप चतुर्थपादात्मक नारायणने जगत्‌की सृष्टिके लिये प्रकृति (ब्रह्मा) को उत्पन्न किया। वे ब्रह्माजी शरीर प्राप्त करके भी सृष्टिकर्मको न जान सके। तब उन अनिरुद्धस्वरूप नारायणने ब्रह्माजीको सृष्टिका उपदेश किया। भगवान् नारायणने कहा—'ब्रह्माजी! तुम अपनी इन्द्रियोंका यज्ञकर्ताओंके रूपमें ध्यान करो, कमलकोशसे उत्पन्न सुदृढ़ ग्रन्थिरूप (बलवान्) अपने शरीरको हवि समझो, मुझे अग्नि मानो, वसन्तकालमें घृतकी धारणा करो, ग्रीष्म ऋतुमें समिधाका भाव करो, शरद् ऋतुको रसरूप समझो। इस प्रकार अग्निमें हवन करनेपर तुम्हारा शरीर इतना सुदृढ़ हो जायगा कि उसके स्पर्शसे वज्र भी कुण्ठित हो जायगा। तब अपने कार्यरूप (कारणरूपमें विलीन होनेकी अवस्थासे कार्यरूपमें) सब प्राणी—पशु प्रभृति जीव प्रादुर्भूत होंगे। फिर सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम जगत् हो जायगा। इस प्रकार जीव एवं आत्माके योगद्वारा मोक्षका प्रकार भी वर्णन किया गया, यह समझना चाहिये। जो इस सृष्टि-यज्ञ तथा मोक्षप्रकारको भी जानता है, वह पूर्णायुको प्राप्त होता है ॥ ५-७ ॥

तृतीय खण्ड

उपासकोंद्वारा अनेक रूपमें देखे गये महापुरुषमें आत्मत्वकी भावनासे उनके स्वरूपकी प्राप्ति

एक ही देव बहुत प्रकारसे प्रविष्ट होकर स्वयं अजन्मा रहते हुए भी बहुत प्रकारसे प्रकट होता है। (तात्पर्य यह कि वही एक देव नानात्वमें व्याप्त है। वह स्वयं अजन्मा है, किंतु नानात्वकी सृष्टि भी उसीके द्वारा होती है। नानात्वके रूपमें भी वही है) ॥ १ ॥

अध्वर्युगण उसीकी उपासना इस अग्निके रूपमें करते हैं। यजुर्वेदीय उसीको 'यह यजुः है' इस बुद्धिसे सर्वयज्ञिय कर्मोंमें योजित करते हैं। सामगान करनेवाले उसे 'साम' समझते हैं। इसी नारायणरूपमें निश्चय यह सब (दृश्य-जगत्) प्रतिष्ठित है। (तात्पर्य यह कि वही परमतत्त्व यज्ञमें अग्नि, मन्त्र तथा साम है। इससे भी आगे वह समस्त जगत्‌का आधार है।) सर्प उसे विष मानकर अपनाते हैं। सर्पवेत्ता (योगी) इसे सर्प—प्राणरूपसे ग्रहण करते हैं। देवता इसे अमृतरूपमें अपनाते हैं और मनुष्य इसे धन मानकर जीवन-निर्वाह करते हैं। असुर माया समझते हैं, पितर स्वधा (पितृभोजन) मानते हैं, देवजनवेत्ता (देवोपासक) देवता मानते हैं, गन्धर्व रूप समझते हैं और अप्सराएँ गन्धर्व समझती हैं। इसकी जो जिस भावसे उपासना करता है, यह परमतत्त्व उसके लिये उसी रूपका हो जाता है। इसलिये ब्रह्मज्ञानीको 'पुरुषरूप परमब्रह्म मैं ही हूँ' यह भावना करनी चाहिये। ऐसी भावनासे वह उसी स्वरूपको प्राप्त हो जाता है और जो इस रहस्यको इस प्रकार जानता है, वह भी तद्रूप हो जाता है ॥ २-३ ॥

चतुर्थ खण्ड

ब्रह्मका स्वरूप तथा उपनिषद्‌के अध्ययनका माहात्म्य; सूक्तके अनधिकारी तथा उसके उपदेशकी विधि

वह ब्रह्म तीनों तापोंसे रहित, छः कोशोंसे शून्य, षड्-ऊर्मियोंसे वर्जित, पञ्चकोशोंसे अतीत, षड्भावविकारोंसे रहित—इस प्रकार सबसे विलक्षण है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—ये 'तीन ताप' हैं जो कर्ता-कर्म-कार्य, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय और भोक्ता-भोग-भोग्य—इस प्रकार एक-एक त्रिविध हैं। चर्म, मांस, रक्त, अस्थि, नसें और मज्जा—ये 'छः कोश (धातु)' हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—ये 'छः शत्रुवर्ग' हैं। 'पञ्च कोश' हैं—अन्नमय,

प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। प्रिय होना, उत्पन्न होना, बढ़ना, बदलना, घटना और नाश होना—ये 'छः भावविकार' हैं। भूख, प्यास, शोक, मोह, वृद्धावस्था और मृत्यु—ये 'छः ऊर्मियाँ' हैं। कुल, गोत्र, जाति, वर्ण, आश्रम और रूप—ये 'छः भ्रम' होते हैं। इन सबके योगसे परम पुरुष ही जीव होता है, दूसरा नहीं ॥ १–९ ॥

जो इस उपनिषद्का नित्य अध्ययन करता है, वह अग्नि-पूत होता है। वह वायुपूत होता है। वह आदित्यपूत होता है। वह रोगहीन हो जाता है। श्रीसम्पन्न हो जाता है। पुत्र-पौत्रादिकी समृद्धिसे युक्त हो जाता है। विद्वान् हो जाता है। महापापोंसे पवित्र हो जाता है। ×××काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्यादिसे बाधित नहीं होता। सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त हो जाता है। इसी जन्ममें वह पुरुष (परमात्मरूप) हो जाता है ॥ १० ॥

इसलिये इस पुरुषसूक्तका अर्थ अत्यन्त रहस्ययुक्त है। यह राजगुह्य, देवगुह्य एवं गोपनीयोंसे भी अधिक गोपनीय है। जो दीक्षित न हो, उसे इसका उपदेश न करे; जो विद्वान् होनेपर भी जिज्ञासुभावसे प्रश्न न करता हो, उसे भी इसका उपदेश न करे। जो यज्ञ न करता हो, उसे भी उपदेश न करे; अवैष्णवको न करे, अयोगीको न करे; बहुभाषीको न करे, अप्रियभाषीको न करे; जो वर्षभरमें एक बार वेदोंका स्वाध्याय न कर ले, उसे भी न करे; असंतोषीको न करे और जिसने वेदोंका अध्ययन न किया हो, उसे भी इसका उपदेश न करे।

इसको इस प्रकार जाननेवाला विद्वान् गुरु भी पवित्र देशमें, पुण्य नक्षत्रमें, प्राणायाम करके, परमपुरुषका ध्यान करता हुआ, विनीतभावसे शरणमें आये हुए शिष्यको ही उसके दाहिने कानमें इस पुरुषसूक्तके अर्थका उपदेश करे। बहुत न बोले। नहीं तो, वह उपदेश यातयामत्वरूप दोषसे दूषित हो जाता है (उसका सार चला जाता है, अतः वह उपदेश सफल नहीं हो पाता)। बार-बार कानमें उपदेश दे। ऐसा करनेवाला अध्येता (शिष्य) और अध्यापक (गुरु) दोनों इसी जन्ममें पुरुष—ब्रह्मरूप हो जाते हैं ॥ ११ ॥

॥ ऋग्वेदीय मुद्गलोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान् संदधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

नारायणपरो ज्योतिरात्मा नारायणः परः।
नारायणपरं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः।
नारायणपरो ध्याता ध्यानं नारायणः परः॥

(नारायणोप०)

नारायण परमज्योति हैं, नारायण परमात्मा हैं, नारायण परमब्रह्म हैं, नारायण परमतत्त्व हैं, नारायण परम ध्याता हैं और नारायण ही परम ध्यान हैं।

(मुद्गलोपनिषद्में वर्णित पुरुषसूक्त)

अथ पुरुषसूक्तप्रारम्भः

ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ १ ॥*

उन परमपुरुषके सहस्रों (अनन्त) मस्तक, सहस्रों नेत्र और सहस्रों चरण हैं। वे इस सम्पूर्ण विश्वकी समस्त भूमि (पूरे स्थान) को सब ओरसे व्याप्त करके इससे दस अङ्गुल (अनन्त योजन) ऊपर स्थित हैं। अर्थात् वे ब्रह्माण्डमें व्यापक होते हुए उससे परे भी हैं। [यह मन्त्र भगवान् विष्णुके देशगत विभुत्वका प्रतिपादक है।] ॥ १ ॥

ॐ पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥ २ ॥

यह जो इस समय वर्तमान (जगत्) है, जो बीत गया और जो आगे होनेवाला है, यह सब वे परमपुरुष ही हैं। इसके अतिरिक्त वे अमृतत्व (मोक्षपद) के तथा जो अन्नसे (भोजनद्वारा) जीवित रहते हैं, उन सबके भी ईश्वर (अधीश्वर—शासक) हैं। [यह मन्त्र भगवान्के सर्वकालव्यापी रूपका वर्णन करता है।] ॥ २ ॥

ॐ एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ ३ ॥

यह भूत, भविष्य, वर्तमानसे सम्बद्ध समस्त जगत् इन परम पुरुषका वैभव है। वे अपने इस विभूति-विस्तारसे महान् हैं। उन परमेश्वरकी एकपाद विभूति (चतुर्थांश) में ही यह पञ्चभूतात्मक विश्व है। उनकी शेष त्रिपाद्विभूतिमें शाश्वत दिव्यलोक (वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत, शिवलोक आदि) हैं। [यह मन्त्र भगवान्के वैभवका वर्णन करता है और नित्य लोकोंके वर्णनद्वारा उनके मोक्षपदत्वको भी बतलाता है।] ॥३॥

ॐ त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि ॥ ४ ॥

वे परमपुरुष स्वरूपतः इस मायिक जगत्से परे त्रिपाद्-विभूतिमें प्रकाशमान हैं। (वहाँ मायाका प्रवेश न होनेसे उनका स्वरूप नित्य प्रकाशमान है।) इस विश्वके रूपमें उनका एक पाद ही प्रकट हुआ है। अर्थात् एक पादसे वे ही विश्वरूप भी हैं। इसलिये वे ही सम्पूर्ण जड एवं चेतनमय उभयात्मक जगत्को परिव्याप्त किये हुए हैं। [इस मन्त्रमें भगवान्के चतुर्व्यूहरूपमेंसे चतुर्थ अनिरुद्धरूपका वर्णन हुआ है। यही रूप एकपाद ब्रह्माण्डवैभवका अधिष्ठान है।] ॥ ४ ॥

ॐ तस्माद् विराळजायत विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥

उन्हीं आदिपुरुषसे विराट् (ब्रह्माण्ड) उत्पन्न हुआ। वे परमपुरुष ही विराट्के अधिपुरुष—अधिदेवता (हिरण्यगर्भ) हुए। वह (हिरण्यगर्भ) उत्पन्न होकर अत्यन्त प्रकाशित हुआ। पीछे उसीने भूमि (लोकादि) तथा शरीर (देव, मानव, तिर्यक् आदि) उत्पन्न किये। [इस मन्त्रमें श्री-नारायणसे माया एवं जीवोंकी उत्पत्तिका वर्णन है।] ॥ ५ ॥

ॐ यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ ६ ॥

देवताओंने उस पुरुषके शरीरमें ही हविष्यकी भावना करके यज्ञ सम्पन्न किया। इस यज्ञमें वसन्त ऋतु घृत, ग्रीष्म

---

* उपनिषद्के अनुसार पुरुषसूक्तके प्रारम्भिक चार मन्त्रोंमें वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध—इन चतुर्व्यूहात्मक भगवत्-स्वरूपोंका वर्णन भी होता है। प्रथम मन्त्रमें भगवान्के वासुदेव-स्वरूपका वर्णन है। मन्त्रके अनुसार वे अनन्त हैं, सबको व्याप्त करके भी सबसे परे हैं। उन्हींका दिव्य प्रकाश समस्त अन्तःकरणोंमें है और फिर भी वे अन्तःकरणोंके धर्मोंसे निर्लिप्त, सबसे परे हैं। यही उनका चेतनात्मक वासुदेवरूप है।

दूसरे मन्त्रमें उनके संकर्षण-स्वरूपका वर्णन है। संकर्षणस्वरूप दिव्य प्राणात्मक है। समस्त जगत् त्रिकालमें इसी रूपसे व्यक्त होता है और भगवान्का यही रूप उसका शासक एवं स्वामी है। यही भगवान्का ईश्वरस्वरूप है।

तीसरे मन्त्रमें भगवान्के प्रद्युम्न-स्वरूपका वैभव है। भगवान्का यह स्वरूप सौन्दर्य-घन, दिव्य कामात्मक एवं ध्यानगम्य है। त्रिपाद्विभूतिमें नित्यलोकोंमें भगवान् इसी स्वरूपसे विराजमान हैं। श्रुतिके इस तात्पर्यको उपनिषद्ने स्पष्ट किया है।

चतुर्थ मन्त्रमें भगवान्का अनिरुद्ध—दुर्निवार स्वरूप है। भगवान्का यह स्वरूप योगमायासमन्वित है। वही जगद्रूप एवं जगत्का कारण है। यही रूप भगवान्की चतुर्थ पादविभूतिका है।

ऋतु इन्धन और शरद् ऋतु हविष्य (चरु-पुरोडाशादि विशेष हविष्य) हुए । अर्थात् देवताओंने इनमें यह भावना की । [इस मन्त्रमें सृष्टिरूप यज्ञका वर्णन है और आगे आठ मन्त्रोंतक वही है ।] ॥ ६ ॥

ॐ तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ७ ॥*

सबसे प्रथम उत्पन्न उस पुरुषको ही यज्ञमें देवताओं, साध्यों और ऋषियोंने (पशु मानकर) कुशके द्वारा प्रोक्षण करके (मानसिक) यज्ञ सम्पूर्ण किया । [इस मन्त्रमें सृष्टि-यज्ञके साथ मोक्षका वर्णन भी किया गया है ।] ॥ ७ ॥

ॐ तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।
पशून् ताँश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥ ८ ॥

उस ऐसे यज्ञसे जिसमें सब कुछ हवन कर दिया गया था, प्रशस्त घृतादि (दूध, दधि प्रभृति) उत्पन्न हुए । इस उस यज्ञरूप पुरुषने ही वायुमें रहनेवाले, ग्राममें रहनेवाले, वनमें रहनेवाले तथा दूसरे पशुओंको उत्पन्न किया । (तात्पर्य यह कि उस यज्ञसे नभ, भूमि एवं जलमें रहनेवाले समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई और उन प्राणियोंसे देवताओंके योग्य हवनीय प्राप्त हुआ ।) ॥ ८ ॥

ॐ तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ ९ ॥

जिसमें सब कुछ हवन किया गया था, उस यज्ञपुरुषसे ऋग्वेद और सामवेद प्रकट हुए । उसीसे गायत्री आदि छन्द प्रकट हुए । उसीसे यजुर्वेदकी भी उत्पत्ति हुई ॥ ९ ॥

ॐ तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ १० ॥

उस यज्ञपुरुषसे घोड़े उत्पन्न हुए । इनके अतिरिक्त नीचे-ऊपर दोनों ओर दाँतोंवाले (गर्दभादि) भी उत्पन्न हुए । उसीसे गौएँ उत्पन्न हुईं और उसीसे बकरियाँ और भेड़ें भी उत्पन्न हुईं ॥ १० ॥

ॐ यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरू पादा उच्येते ॥ ११ ॥

देवताओंने जिस यज्ञपुरुषका विधान (संकल्प) किया, उसको कितने प्रकारसे (किन अवयवोंके रूपमें) कल्पित किया, इसका मुख क्या था, बाहुएँ क्या थीं, जंघाएँ क्या थीं और पैर कौन थे—यह बताया जाता है ॥ ११ ॥

ॐ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ १२ ॥

ब्राह्मण इसका मुख था । (मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुए ।) क्षत्रिय दोनों भुजाएँ बना । (दोनों भुजाओंसे क्षत्रिय उत्पन्न हुए ।) इस पुरुषकी जो दोनों जङ्घाएँ थीं, वही वैश्य हुई अर्थात् उनसे वैश्य उत्पन्न हुए, और पैरोंसे शूद्र-वर्ण प्रकट हुआ ॥ १२ ॥

ॐ चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत ॥ १३ ॥

इस यज्ञपुरुषके मनसे चन्द्रमा उत्पन्न हुए । नेत्रोंसे सूर्य प्रकट हुए । मुखसे इन्द्र और अग्नि तथा प्राणसे वायुकी उत्पत्ति हुई ॥ १३ ॥

ॐ नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ १४ ॥

यज्ञपुरुषकी नाभिसे अन्तरिक्षलोक उत्पन्न हुआ । मस्तकसे स्वर्ग प्रकट हुआ । पैरोंसे पृथिवी, कानोंसे दिशाएँ हुईं । इस प्रकार समस्त लोक उस पुरुषमें ही कल्पित हुए ॥ १४ ॥

ॐ सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

देवताओंने जब यज्ञ करते समय (संकल्पसे) पुरुषरूप पशुका बन्धन किया, तब सात समुद्र इसकी परिधि (मेखलाएँ) थे । इक्कीस प्रकारके छन्दोंकी (गायत्री, अतिजगती और कृतिमेंसे प्रत्येकके सात-सात प्रकारसे) समिधा बनी ॥ १५ ॥ [इस मन्त्रमें सृष्टि-यज्ञकी समिधाका वर्णन है ।]

---

* उपनिषद्के अनुसार श्रुतिने मोक्षका प्रतिपादन भी किया है । 'परोक्षवादो वेदोऽयम्'—श्रुतियोंमें अध्यात्मवाद परोक्षरूपसे निरूपित है । अतः मोक्षप्रतिपादनके लिये इस श्रुतिका अर्थ इस प्रकार होगा—

उस आत्म-शोधनरूप यज्ञमें देवताओं—दिव्यवृत्तियोंने पुरुष-शरीराभिमानीको, जो शरीरमें अहङ्कार करके पशु हो गया था, कुशोंके—साधनोंके द्वारा प्रोक्षित—विशुद्ध किया । इस प्रकार प्रोक्षित होनेपर वह अग्रजन्मा ब्राह्मण—ब्रह्मज्ञानसम्पन्न हुआ । इसी प्रकार इन्द्रादि देवताओंने, साध्य देवताओंने और ऋषियोंने भी यजन किया । सबने इसी रीतिसे शरीराभिमानीका आत्मशोधन करके मोक्ष प्राप्त किया ।

ॐ वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-
मादित्यवर्णं तमसस्तु पारे।
सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो
नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते* ॥ १६ ॥

तमस् (अविद्यारूप अन्धकार) से परे आदित्यके समान प्रकाशस्वरूप उस महान् पुरुषको मैं जानता हूँ। सबकी बुद्धिमें रमण करनेवाला वह परमेश्वर सृष्टिके आरम्भमें समस्त रूपोंकी रचना करके उनके नाम रखता है; और उन्हीं नामोंसे व्यवहार करता हुआ सर्वत्र विराजमान होता है ॥ १६ ॥ [इस मन्त्रमें और इसके आगेके मन्त्रमें भी श्रीहरिके वैभवका वर्णन है।]

ॐ धाता पुरस्ताद्यमुदाजहार
शक्रः प्रविद्वान् प्रदिशश्चतस्रः।
तमेवं विद्वानमृत इह भवति
नान्यः पन्था विद्यते अयनाय† ॥ १७ ॥

पूर्वकालमें ब्रह्माजीने जिनकी स्तुति की थी, इन्द्रने चारों दिशाओंमें जिसे (व्याप्त) जाना था, उस परम पुरुषको जो इस प्रकार (सर्वस्वरूप) जानता है, वह यहीं अमृतपद (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग निज-निवास (स्वस्वरूप या भगवद्धाम)-की प्राप्तिका नहीं है ॥ १७ ॥

ॐ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा-
स्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः‡ ॥ १८ ॥

देवताओंने (पूर्वोक्त रूपसे) यज्ञके द्वारा यज्ञस्वरूप परम-पुरुषका यजन (आराधन) किया। इस यज्ञसे सर्वप्रथम सब धर्म उत्पन्न हुए। उन धर्मोंके आचरणसे वे देवता महान् महिमावाले होकर उस स्वर्गलोकका सेवन करते हैं, जहाँ प्राचीन साध्य देवता निवास करते हैं ॥ १८ ॥ [इस मन्त्रमें सृष्टियज्ञ एवं मोक्षके वर्णनका उपसंहार है।]

॥ पुरुषसूक्त सम्पूर्ण ॥

विषय-त्याग

तरङ्गस्थं द्रवं सिन्धुर्न वाञ्छति यथा तथा। विषयानन्दवाञ्छा मे मा भूदानन्दरूपतः ॥
दारिद्र्याशा यथा नास्ति सम्पन्नस्य तथा मम। ब्रह्मानन्दे निमग्नस्य विषयाशा न तद्भवेत् ॥
विषं दृष्ट्वामृतं दृष्ट्वा विषं त्यजति बुद्धिमान्। आत्मानमपि दृष्ट्वाहमनात्मानं त्यजाम्यहम् ॥
(आत्मप्रबोध० १५—१७)

जैसे समुद्र तरङ्गोंमें स्थित जलकी इच्छा नहीं करता, वैसे ही आनन्दस्वरूप हो जानेके कारण मुझको विषयोंके आनन्दकी इच्छा नहीं है। जैसे सम्पत्तिमान् पुरुषको दरिद्रताकी आशा नहीं होती, वैसे ही ब्रह्मानन्दमें निमग्न मुझको विषयोंकी आशा नहीं है। जैसे बुद्धिमान् पुरुष विष तथा अमृतको देखकर विषका त्याग करता है, वैसे ही परमात्माको देखकर मैं अनात्मा (विषयों) का त्याग करता हूँ।

---

*† ये दोनों मन्त्र ऋग्वेदकी प्रचलित प्रतियोंके पुरुषसूक्तमें नहीं मिलते, परन्तु पुरुषसूक्तके पृथक् प्रकाशित कई संस्करणोंमें मिलते हैं। मूल उपनिषद्में भी इनका संकेत है। ये मन्त्र 'पारमात्मिकोपनिषद्,' 'महावाक्योपनिषद्' तथा 'चित्युपनिषद्' में आये हैं। १७ वाँ मन्त्र 'तैत्तिरीय आरण्यक' में भी है।

‡ उपनिषद् इस मन्त्रमें मोक्ष-निरूपणका उपसंहार भी निरूपित—निर्दिष्ट करता है। अतः मोक्ष-निरूपणके लिये श्रुतिका अर्थ इस प्रकार होना चाहिये।

सम्पूर्ण कर्म, जो भगवदर्पण-बुद्धिसे भगवान्के लिये किये जाते हैं, यज्ञ हैं। उस कर्मरूप यज्ञके द्वारा सात्त्विक वृत्तियोंने उन यज्ञस्वरूप भगवान्का यजन—पूजन किया। इसी भगवदर्पणबुद्धिसे किये गये यज्ञरूप कर्मोंके द्वारा ही सर्वप्रथम धर्म उत्पन्न हुए—धर्माचरणकी उत्पत्ति भगवदर्पणबुद्धिसे किये गये कर्मोंसे हुई। इस प्रकार भगवदर्पणबुद्धिसे अपने समस्त कर्मोंके द्वारा जो भगवान्का यजन-रूप कर्मका आचरण करते हैं, वे उस भगवान्के दिव्यधामको जाते हैं, जहाँ उनके साध्य—आराध्य आदिदेव भगवान् विराजमान हैं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सामवेदीय

सावित्र्युपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

सविता एवं सावित्रीकी सर्वव्यापकता; सावित्रीके चार पाद; सावित्रीको जाननेका फल; बला-अतिबला विद्याओंकी उपासना

हरिः ॐ ॥ सविता कौन हैं और सावित्री कौन हैं ? अग्निदेव ही सविता हैं, पृथिवी सावित्री हैं । वे अग्निदेव जहाँ हैं, वहाँ पृथिवी है । जहाँ पृथिवी है, वहाँ अग्निदेव हैं । वे दोनों योनि अर्थात् विश्वके उत्पादक हैं । वे दोनों एक जोड़ा हैं । सविता देव कौन हैं और सावित्री देवी कौन हैं ? वरुण ही सविता हैं और आप (जल) सावित्री हैं । जहाँ वरुण हैं, वहाँ आप हैं; और जहाँ आप (जल) हैं, वहाँ वरुण हैं । वे दोनों योनि अर्थात् विश्वके जन्मदाता हैं । वे दोनों एक जोड़ा हैं । सविता कौन हैं और सावित्री कौन हैं ? वायुदेव सविता हैं, आकाश सावित्री हैं । जहाँ वायु है, वहाँ आकाश है; जहाँ आकाश है, वहाँ वायु है । वे दोनों योनि हैं, वे दोनों एक जोड़ा हैं । सविता कौन हैं और सावित्री कौन हैं ? यज्ञ सविता हैं और छन्द सावित्री हैं । जहाँ यज्ञ है, वहाँ छन्द हैं; जहाँ छन्द हैं, वहाँ यज्ञ है । वे दोनों योनि हैं । वे दोनों एक जोड़ा हैं । सविता क्या हैं और सावित्री क्या हैं ? गरजनेवाले मेघ सविता हैं और विद्युत् सावित्री हैं । जहाँ गरजनेवाले मेघ हैं, वहाँ विद्युत् है; जहाँ विद्युत् है, वहाँ गरजनेवाले मेघ हैं । वे दोनों योनि हैं । वे दोनों एक जोड़ा हैं । सविता क्या हैं और सावित्री क्या हैं ? आदित्य सविता हैं और द्युलोक सावित्री हैं । जहाँ आदित्य हैं, वहाँ द्युलोक है; जहाँ द्युलोक है, वहाँ आदित्य हैं । वे दोनों योनि हैं । वे दोनों एक जोड़ा हैं । सविता क्या हैं और सावित्री क्या हैं ? चन्द्र ही सविता हैं और नक्षत्र सावित्री हैं । जहाँ चन्द्र हैं, वहाँ नक्षत्र हैं; जहाँ नक्षत्र हैं, वहाँ चन्द्र हैं । वे दोनों योनि हैं । वे दोनों एक जोड़ा हैं । सविता क्या हैं और सावित्री क्या हैं ? मन ही सविता है और वाणी सावित्री है । जहाँ मन है, वहाँ वाणी है; जहाँ वाणी है, वहाँ मन है । वे दोनों योनि हैं । वे दोनों एक जोड़ा हैं । सविता क्या हैं और सावित्री क्या हैं ? पुरुष सविता है, स्त्री सावित्री है । जहाँ पुरुष है, वहाँ स्त्री है; जहाँ स्त्री है, वहाँ पुरुष है । वे दोनों योनि हैं । वे दोनों एक जोड़ा हैं ॥ १–९ ॥

उस सावित्रीका प्रथम पाद है **'भूः*—तत्सवितुर्वरेण्यम् ।'** अग्नि ही वरेण्य है । आप (जल) वरेण्य है । चन्द्रमा वरेण्य है (वरेण्य अर्थात् वरणीय, पूज्यस्वरूप, प्रशंसनीय स्वरूप) । उस सावित्रीका द्वितीय पाद है तेजोमय आप अर्थात् जल **'भुवः—भर्गो देवस्य धीमहि ।'** अग्नि ही वह भर्ग अर्थात् तेज है, आदित्य ही भर्ग है । चन्द्रमा ही भर्ग है । उस

---

* सावित्री देवताका मन्त्र—ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।

प्रथम पाद—भूः अर्थात् भूलोक उस सविता देवताका वरेण्य है । महिमा है ।

द्वितीय पाद—भुवः अर्थात् तेजोमय आप (अन्तरिक्ष लोक) उस सविता देवताके तेजका हम ध्यान करते हैं ।

तृतीय पाद—स्वः अर्थात् स्वर्लोक—जो हमारी बुद्धियोंको प्रेरित करे ।

सावित्रीका यह तीसरा पाद है 'स्वः—धियो यो नः प्रचोदयात्।' स्त्री और पुरुष दोनों प्रजोत्पादन करते हुए (गृहस्थाश्रम-का पालन करते हुए) जो इस सावित्रीदेवीको इस प्रकार जानते हैं, वे पुनः मृत्युको नहीं प्राप्त होते। अर्थात् सविता देवताके उपासक मृत्युको जीत लेते हैं और अमरत्वको प्राप्त करते हैं।

बला-अतिबला विद्याओंके विराट् पुरुष ऋषि हैं, गायत्री छन्द है और गायत्री देवता हैं। अकार बीज है, उकार शक्ति है और मकार कीलक है। क्षुधा आदिके निवारणके निमित्त इसका विनियोग है। क्लींके द्वारा षडङ्गन्यास करे। 'ॐ क्लीं हृदयाय नमः, ॐ क्लीं शिरसे स्वाहा, ॐ क्लीं शिखायै वषट्, ॐ क्लीं कवचाय हुम्, ॐ क्लीं नेत्रत्रयाय वौषट्, ॐ क्लीं अस्त्राय फट्।' अब ध्यानका वर्णन करते हैं। अमृतसे जिनके करतल आर्द्र हो रहे हैं, सब प्रकारकी सञ्जीवनी शक्तियोंसे जो सम्पन्न हैं, पापोंका नाश करनेमें जो दक्ष हैं तथा जो वेदोंके सारस्वरूप, किरणात्मक, प्रणवरूप विकारवाले एवं सूर्यनारायणके सदृश सुदीप्त शरीरवाले हैं, उन बला और अतिबला विद्याओंके अधिष्ठातृ-देवताओंको मैं निरन्तर अनुभव करता हूँ। बला-अतिबला विद्याओंके अधिष्ठातृ-देवताका मन्त्र है—

ॐ ह्रीं बले महादेवि ह्रीं महाबले क्लीं चतुर्विधपुरुषार्थ-सिद्धिप्रदे तत्सवितुर्वरदात्मिके ह्रीं वरेण्यं भर्गो देवस्य वरदात्मिके अतिबले सर्वदयामूर्ते बले सर्वक्षुद्रमोपनाशिनि धीमहि धियो यो नो जाते प्रचुर्यः या प्रचोदयादात्मिके प्रणवशिरस्कात्मिके हुं फट् स्वाहा।

इस प्रकार जाननेवाला कृतकृत्य हो जाता है। वह सावित्रीदेवीके ही लोकको प्राप्त होता है। यह उपनिषद् है।

॥ सामवेदीय सावित्र्युपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

ब्रह्मको ढूँढ़ना चाहिये

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तरा-काशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति।

(छान्दोग्य ८।१।१)

अब इस ब्रह्मपुर (शरीर) के भीतर जो सूक्ष्म कमलसदृश स्थान है, इसमें जो सूक्ष्म आकाश है और उसके भीतर जो (ब्रह्म) है, उसको ढूँढ़ना चाहिये और उसीकी विशेष जानकारी प्राप्त करनी चाहिये।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

सूर्योपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

आदित्यकी सर्वव्यापकता; सूर्यमन्त्रके जपका माहात्म्य

हरिः ॐ । अब सूर्यदेवतासम्बन्धी अथर्ववेदीय मन्त्रोंकी व्याख्या करेंगे । इस सूर्यदेवसम्बन्धी अथर्वाङ्गिरस-मन्त्रके ब्रह्मा ऋषि हैं । गायत्री छन्द है । आदित्य देवता हैं । 'हंसः' 'सोऽहं' अग्नि नारायणयुक्त बीज है । हृल्लेखा शक्ति है । वियत् आदि सृष्टिसे संयुक्त कीलक है । और चारों प्रकारके पुरुषार्थों-की सिद्धिमें इस मन्त्रका विनियोग किया जाता है । छः स्वरोंपर आरूढ बीजके साथ, छः अङ्गोंवाले, लालकमलपर स्थित, सात घोड़ोंवाले रथपर सवार, हिरण्यवर्ण, चतुर्भुज तथा चारों हाथोंमें क्रमशः दो कमल तथा वर और अभय मुद्रा धारण किये, कालचक्रके प्रणेता श्रीसूर्यनारायणको जो इस प्रकार जानता है, निश्चयपूर्वक वही ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) है । 'जो प्रणवके अर्थभूत सच्चिदानन्दमय तथा भूः, भुवः और स्वःरूपसे त्रिभुवनमय हैं, सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि करनेवाले उन भगवान् सूर्यदेवके सर्वश्रेष्ठ तेजका हम ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धियोंको प्रेरणा देते रहते हैं ।' भगवान् सूर्यनारायण सम्पूर्ण जङ्गम तथा स्थावर जगत्‌के आत्मा हैं, निश्चयपूर्वक सूर्यनारायणसे ही ये भूत उत्पन्न होते हैं । सूर्यसे यज्ञ, मेघ, अन्न (बल-वीर्य) और आत्मा (चेतना)का आविर्भाव होता है । हे आदित्य ! तुम-को हमारा नमस्कार है । तुम्हीं प्रत्यक्ष कर्म-कर्ता हो, तुम्हीं प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, तुम्हीं प्रत्यक्ष विष्णु हो, तुम्हीं प्रत्यक्ष रुद्र हो । तुम्हीं प्रत्यक्ष ऋग्वेद हो । तुम्हीं प्रत्यक्ष यजुर्वेद हो, तुम्हीं प्रत्यक्ष सामवेद हो । तुम्हीं प्रत्यक्ष अथर्ववेद हो । तुम्हीं समस्त छन्दःस्वरूप हो । आदित्यसे वायु उत्पन्न होता है । आदित्यसे भूमि उत्पन्न होती है, आदित्यसे जल उत्पन्न होता है । आदित्यसे ज्योति (अग्नि) उत्पन्न होती है । आदित्यसे आकाश और दिशाएँ उत्पन्न होती हैं । आदित्यसे देवता उत्पन्न होते हैं । आदित्यसे वेद उत्पन्न होते हैं । निश्चय ही ये आदित्य देवता ही इस ब्रह्माण्ड-मण्डलको तपाते (गर्मी देते) हैं । वे आदित्य ब्रह्म हैं । आदित्य ही अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्काररूप हैं । आदित्य ही प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान—इन पाँचों प्राणोंके रूपमें विराजते हैं । आदित्य ही श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और घ्राण—इन पाँच इन्द्रियोंके रूपमें कार्य कर रहे हैं । आदित्य ही वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये पाँचों कर्मेन्द्रिय भी हैं । आदित्य ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये ज्ञानेन्द्रियोंके पाँच विषय हैं । आदित्य ही वचन, आदान, गमन, मल-त्याग और आनन्द—ये कर्मेन्द्रियोंके पाँच विषय बन रहे हैं । आनन्द-मय, ज्ञानमय और विज्ञानमय आदित्य ही हैं । मित्रदेवता तथा सूर्यदेवको नमस्कार । प्रभो ! मृत्युसे मेरी रक्षा करो । दीप्तिमान् तथा विश्वके कारणरूप सूर्यनारायणको नमस्कार है । सूर्यसे सम्पूर्ण चराचर जीव उत्पन्न होते हैं, सूर्यके द्वारा ही उनका पालन होता है, और फिर सूर्यमें ही वे लयको प्राप्त होते हैं । जो सूर्यनारायण हैं, वह मैं ही हूँ । सविता देवता हमारे नेत्र हैं तथा पर्वके द्वारा पुण्यकालका आख्यान करनेके कारण जो पर्वतनामसे प्रसिद्ध हैं, वे सूर्य ही हमारे चक्षु हैं । सबको धारण करनेवाले धाता नामसे

प्रसिद्ध वे आदित्यदेव हमारे नेत्रोंको दृष्टिशक्ति प्रदान करके धारण करें।

'(श्रीसूर्यगायत्री) 'हम भगवान् आदित्यको जानते हैं—पूजते हैं, हम सहस्र (अनन्त) किरणोंसे मण्डित भगवान् सूर्यनारायणका ध्यान करते हैं; वे सूर्यदेव हमें प्रेरणा प्रदान करें।'* पीछे सविता देवता हैं, आगे सविता देवता हैं, उत्तर—बायें भी सविता देवता हैं, और दक्षिण भागमें भी (तथा ऊपर-नीचे भी) सविता देवता हैं। सविता देवता हमारे लिये सब कुछ प्रसव करें (सभी अभीष्ट वस्तुएँ दें)। सविता देवता हमें दीर्घ आयु प्रदान करें। 'ॐ' यह एकाक्षर मन्त्र ब्रह्म है। 'घृणिः' यह दो अक्षरोंका मन्त्र है, 'सूर्यः' यह दो अक्षरोंका मन्त्र है। 'आदित्यः' इस मन्त्रमें तीन अक्षर हैं। इन सबको मिलाकर सूर्यनारायणका अष्टाक्षर महामन्त्र—'ॐ घृणिः सूर्य आदित्योम्' बनता है। यही अथर्वाङ्गिरस सूर्यमन्त्र है। इस मन्त्रका जो प्रतिदिन जप करता है, वही ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) होता है, वही ब्राह्मण होता है। सूर्यनारायणकी ओर मुख करके जपनेसे महाव्याधिके भयसे मुक्त हो जाता है। उसका दारिद्र्य नष्ट हो जाता है। सारे दोषों—पापोंसे वह मुक्त हो जाता है। मध्याह्नमें सूर्यकी ओर मुख करके इसका जप करे। यों करनेसे मनुष्य सद्यःउत्पन्न पञ्च महापातकोंसे छूट जाता है। यह सावित्री विद्या है, इसकी कहीं कुछ भी प्रशंसा न करे। जो महाभाग इसका प्रातः पाठ करता है, वह भाग्यवान् हो जाता है, उसे गौ आदि पशु प्राप्त होते हैं, वेदार्थ-ज्ञानकी प्राप्ति होती है। तीनों काल इसका जप करनेसे सैकड़ों यज्ञोंका फल प्राप्त होता है। जो सूर्यदेवताके हस्त नक्षत्रपर रहते समय (अर्थात् आश्विन मासमें) इसका जप करता है, वह महामृत्युसे तर जाता है; जो इस प्रकारसे जानता है, वह भी महामृत्युसे तर जाता है।

॥ अथर्ववेदीय सूर्योपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

जगत्की दुःखमयता और आनन्दमयता

अज्ञस्य दुःखौघमयं ज्ञस्यानन्दमयं जगत्।
अन्धं भुवनमन्धस्य प्रकाशं तु सुचक्षुषाम्॥

(वराहोपनिषद् २२)

जैसे अन्धेके लिये जगत् अन्धकारमय है और अच्छी आँखोंवालेके लिये प्रकाशमय है, वैसे ही अज्ञानी (जगत्को भगवान्से रहित विषयमय देखनेवाले) के लिये जगत् दुःखोंका समूहमय है और ज्ञानी (समस्त जगत्में भगवान्से पूर्ण देखनेवाले) के लिये आनन्दमय है।

* 'आदित्याय विद्महे सहस्रकिरणाय धीमहि। तन्नः सूर्यः प्रचोदयात्।'

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

अक्ष्युपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम खण्ड

नेत्ररोगहरी विद्या

कथा है कि एक समय भगवान् साङ्कृति आदित्यलोकको पधारे। वहाँ सूर्यनारायणको प्रणाम करके उन्होंने चाक्षुष्मती विद्याके द्वारा उनकी स्तुति की। ॐ चक्षु-इन्द्रियके प्रकाशक भगवान् श्रीसूर्यनारायणको नमस्कार है। ॐ आकाशमें विचरण करनेवाले सूर्यनारायणको नमस्कार है। ॐ महासेन (सहस्रों किरणोंकी भारी सेना साथ रखनेवाले) श्रीसूर्यनारायणको नमस्कार है। ॐ तमोगुणरूपमें भगवान् सूर्यनारायणको नमस्कार है। ॐ रजोगुणरूपमें भगवान् सूर्यनारायणको नमस्कार है। ॐ सत्त्वगुणके रूपमें भगवान् श्रीसूर्यनारायणको नमस्कार है। ॐ हे भगवन् ! मुझे असत्से सत्की ओर ले चलिये; मुझे अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले चलिये; मुझे मृत्युसे अमृतकी ओर ले चलिये। भगवान् सूर्य शुचिरूप हैं, और वे अप्रतिरूप भी हैं—उनके रूपकी कहीं भी तुलना नहीं है। जो अखिल रूपोंको धारण कर रहे हैं तथा रश्मिमालाओंसे मण्डित हैं, उन जातवेदा (सर्वज्ञ) स्वर्णसदृश प्रकाशवाले ज्योतिःस्वरूप और तपनेवाले भगवान् भास्करको हम स्मरण करते हैं। ये सहस्रों किरणोंवाले और शत-शत प्रकारसे वर्तमान भगवान् सूर्यनारायण समस्त प्राणियोंके समक्ष उदित हो रहे हैं। जो हमारे नेत्रोंके प्रकाश हैं, उन अदिति-नन्दन भगवान् श्रीसूर्यको नमस्कार है। दिनका भार वहन करनेवाले विश्ववाहक सूर्यदेवके प्रति हमारा सब कुछ सादर समर्पित है। इस प्रकार चाक्षुष्मती विद्याके द्वारा स्तुति किये जानेपर भगवान् सूर्यनारायण अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—'जो ब्राह्मण इस चाक्षुष्मती विद्याका नित्य पाठ करता है, उसको आँखका रोग नहीं होता; उसके कुलमें अंधे नहीं होते। आठ ब्राह्मणोंको इसका ग्रहण करा देनेपर इस विद्याकी सिद्धि होती है। जो इस प्रकार जानता है, वह महान् हो जाता है ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

ब्रह्मविद्याका उपदेश

तदनन्तर साङ्कृति मुनिने सूर्यनारायणसे कहा, 'भगवन् ! मेरे लिये ब्रह्मविद्याका उपदेश कीजिये।' उनसे भगवान् आदित्य बोले—'साङ्कृति ! सुनो; तुमसे अत्यन्त दुर्लभ तत्त्व-ज्ञानका वर्णन करता हूँ, जिसके विज्ञानमात्रसे तुम जीवन्मुक्त हो जाओगे। सबको एक, अज, शान्त, अनन्त, ध्रुव, अव्यय तथा तत्त्वतः चैतन्यरूप देखते हुए तुम शान्ति और सुखसे रहो। असंवेदन अर्थात् आत्मा अथवा परमात्माके अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तुका भान न हो—ऐसी स्थितिको ही योग मानते हैं; यही वास्तविक चित्तक्षय है। अतएव योगस्थ होकर कर्मोंको करो; नीरस अर्थात् विरक्त होकर कर्म मत करो। अब असंवेदनरूपी योगकी प्रथम भूमिका बतलाते हैं—

योगमें प्रवृत्त होनेपर अन्तःकरण प्रतिदिन वासनाओंसे विरक्त होता जाता है और नित्यप्रति उदार कर्मोंमें संलग्न होता और उन्हींमें प्रसन्नताका अनुभव करता है। मूर्ख मनुष्योंकी ग्राम्य-चेष्टाओं (अश्लील विषयभोगकी प्रवृत्तियों) से वह सदा घृणा करता है। किसीकी छिपी हुई मार्मिक बातोंको

दूसरोंपर प्रकट नहीं करता। परंतु सदा पुण्यकर्मोंका ही सेवन करता रहता है और जिनके द्वारा किसी प्राणीको उद्वेग न हो; ऐसे मृदु (दया और उदारतासे पूर्ण) सौम्य कर्मोंका सेवन करता है। निरन्तर पापसे डरता है और भोगकी आकाङ्क्षा नहीं करता। वह ऐसे वचन बोलता है, जिनमें स्नेह और प्रेम भरा हो; मृदुल और उचित हों तथा देश-कालके अनुकूल हों। मन, वचन और कर्मसे वह सज्जन पुरुषोंका सङ्ग करता है और जहाँ कहींसे भी संग्रह करके नित्य सत्-शास्त्रोंका अनुशीलन करता है। ऐसी स्थिति आनेपर वह प्रथम भूमिकाको प्राप्त होता है। संसार-सागरको पार करनेके लिये जो इस प्रकारके विचारोंमें संलग्न रहता है, वह भूमिकावान् कहलाता है और दूसरे 'आर्य' कहलाते हैं। जो योगकी विचार नामकी दूसरी भूमिकाको प्राप्त होता है, उसके लक्षण ये हैं—॥ १—१० ॥

वह ऐसे श्रेष्ठ विद्वानोंका आश्रय लेता है जो श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा और ध्यानकी उत्तम व्याख्या करनेके कारण अधिक विख्यात हों। वह पद और पदार्थोंके विभागको ठीक-ठीक जानता है और श्रवण करनेयोग्य शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर लेनेके कारण कर्तव्य-अकर्तव्यके निर्णयको ठीक उसी प्रकार जानता है, जैसे घरका स्वामी घरके पदार्थोंको जानता है। मद, अभिमान, मत्सरता (डाह), लोभ और मोहकी अधिकता उसके मनमें रहती नहीं; किंतु बाह्य आचरणमें भी जो थोड़ी-बहुत इन दोषोंकी स्थिति देखी जाती है, उसको भी वह उसी भाँति त्याग देता है, जैसे साँप केंचुलको। ऐसी बुद्धिवाला साधक शास्त्र, गुरु और संतजनोंकी सेवाके द्वारा रहस्यपूर्वक सारी बातोंको यथावत् जान लेता है॥ ११—१४॥

इसके बाद वह असंसर्गा नामकी तीसरी योगभूमिकामें प्रवेश करता है—ठीक वैसे ही, जैसे एक सुन्दर पुरुष स्वच्छ पुष्प-शय्यापर आरूढ़ होता है। शास्त्रोंके वाक्य जिस अर्थको प्रकट करते हैं, उसमें विधिपूर्वक अपनी निश्चल बुद्धिको लगाकर (शास्त्रोंके वचनोंपर पूर्ण श्रद्धा रखकर), तपस्वियोंके आश्रममें रहकर तथा अध्यात्मशास्त्रकी चर्चा करते हुए वह पत्थरकी शय्यापर आसीन होकर अपनी विस्तृत आयु व्यतीत करता है। वह नीतिज्ञ पुरुष चित्तको शान्ति प्रदान करनेके कारण अधिक भानेवाले वनभूमि-विहार (वनके स्थानोंमें भ्रमण) द्वारा विषयोंमें अनासक्त हो स्वाभाविक सुख-सौख्यका उपभोग करता हुआ अपना समय बिताता है। सत्-शास्त्रोंके अभ्याससे तथा पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानसे जीवकी यह यथार्थ वस्तुदृष्टि निर्मल होती है। इस तृतीय भूमिकाको प्राप्त करके वह स्वयं बुद्ध (ज्ञानी) होकर अनुभव करता है॥ १५—१९ ॥

असंसर्ग दो प्रकारका होता है, उसके इस भेदको सुनो। यह असंसर्ग सामान्य और श्रेष्ठ—दो प्रकारका है। मैं न तो कर्ता हूँ न भोक्ता हूँ, न बाध्य हूँ और न बाधक ही हूँ—इस प्रकार विषयोंमें आसक्त न होनेका भाव ही सामान्य असंसर्ग कहलाता है। सब कुछ पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंके फल-रूपमें उपस्थित है, अथवा सब कुछ ईश्वराधीन है; अतएव सुख हो या दुःख, इसमें मेरा कर्तृत्व ही क्या है। भोगोंका विस्तार (अधिक संग्रह) महारोग है; सब प्रकारकी सम्पदाएँ परम आपदाएँ हैं। सारे संयोग एक दिन वियोगके लिये ही हैं; आधियाँ (मानसिक चिन्ताएँ) अज्ञानियोंके लिये व्याधिरूप हैं। समस्त पदार्थोंको काल निरन्तर अपना ग्रास बनानेमें लगा है; अतएव सारे पदार्थ अस्थायी हैं;—इस प्रकार शास्त्रोंके वचनोंको समझनेसे सर्वत्र अनास्था हो जानेके कारण जो मनमें उनके अभावकी भावना होती है, उसे सामान्य असंसर्ग कहते हैं। इस प्रकार क्रमशः महात्माओंके सत्सङ्गसे 'मैं कर्ता नहीं हूँ, ईश्वर कर्ता है अथवा मेरे पुराकृत कर्म ही कर्ता हैं' ऐसा निश्चय करके सब प्रकारकी चिन्ताओं तथा शब्द-अर्थकी भावनाको भी अत्यन्त दूर कर देनेके पश्चात् जो मौन (मन-इन्द्रियोंका पूर्ण संयम), आसन (आन्तरिक स्थिति) और शान्तभाव (बाह्य भावोंका विस्मरण) हो जाता है—वह श्रेष्ठ असंसर्ग कहलाता है॥ २०—२६ ॥

संतोष और आनन्दमयी होनेसे मधुर प्रतीत होनेवाली पहली भूमिका इस प्रकार उदय होती है; मानो वह अन्तःकरणकी भूमिमें उगा हुआ अमृतका छोटा-सा अङ्कुर हो। इस भूमिकाके उदित होनेके पश्चात् अन्तःकरणमें अन्य भूमिकाओंके प्रकट होनेके लिये एक भूमि (क्षेत्र) हो जाती है। उसके बाद साधक क्रमशः द्वितीय और तृतीय भूमिकाओंको भी प्राप्त कर लेता है। इनमें यह तीसरी भूमिका ही सर्वश्रेष्ठ होती है; क्योंकि इसमें पुरुष सम्पूर्ण सङ्कल्पात्मक वृत्तियोंका त्याग कर देता है। इन तीनों भूमिकाओंके अभ्याससे अज्ञानके क्षीण होनेपर चतुर्थी भूमिकाको प्राप्त हुए साधक सर्वत्र समभावसे देखते हैं। उस समय अद्वैतभाव दृढ़ होकर द्वैतभावकी शान्ति हो जाती है; इससे चौथी भूमिकापर पहुँचे हुए साधक इस लोकको स्वप्नवत् देखते हैं। पहली तीनों भूमिकाएँ जाग्रत्-स्वरूपा हैं तथा यह चौथी भूमिका स्वप्न कहलाती है॥ २७—३२ ॥

पाँचवीं भूमिकाको प्राप्त होनेपर साधकका चित्त शरत्-कालके मेघखण्डोंके समान आकाशमें विलीन हो जाता है, और केवल सत्त्वमात्र अवशिष्ट रहता है। इसमें चित्तके विलीन हो जानेके कारण सांसारिक विकल्पोंका उदय ही नहीं होता। सुषुप्तपद नामकी इस पाँचवीं भूमिकाके प्राप्त होनेपर सम्पूर्ण विशेषांश (भेद) शान्त हो जाते हैं, और साधक केवल (निर्विशेष) अद्वैत स्थितिमें आ जाता है। द्वैतका आभास नष्ट हो जाता है और आत्मज्ञानसे सम्पन्न प्रसन्न साधक पाँचवीं भूमिकामें पहुँचकर सुषुप्तघन (आनन्दमयी) स्थितिमें ही रहता है। वह बाहरके व्यवहार करता हुआ भी सदा अन्तर्मुख ही रहता है और सदा परिश्रान्त होकर निद्रा लेनेवालेके समान दिखलायी देता है। इस भूमिकामें अभ्यास करता हुआ वह वासना-रहित होकर क्रमशः तुर्या नामकी छठी भूमिकामें पदार्पण करता है। जहाँ न सत् है न असत् है; न अहङ्कार है न अनहङ्कार है, उस विशुद्ध अद्वैतावस्थामें वह अत्यन्त निर्भय होकर मननात्मक वृत्तिसे रहित हो जाता है। उसके हृदयकी ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं, संदेह शान्त हो जाते हैं; वह जीवन्मुक्त होकर भावनाशून्य हो जाता है और निर्वाणको न प्राप्त होनेपर भी निर्वाणको प्राप्त हुआ-सा हो जाता है। उस समय वह चित्रलिखित दीपककी भाँति निश्चेष्ट रहता है। इस छठी भूमिकामें स्थित होनेके पश्चात् वह सातवीं भूमिकाको प्राप्त होता है ॥ ३३–४० ॥

विदेहमुक्तिकी अवस्था ही सातवीं भूमिका बतायी गयी है। यह भूमिका परम शान्त एवं वाणीके द्वारा अगम्य है। यही सब भूमिकाओंकी अन्तिम सीमा है, यहाँ योगकी सारी भूमिकाएँ समाप्त हो जाती हैं। लोकाचारका अनुगमन करना छोड़कर, देहाचारका अनुसरण छोड़कर तथा शास्त्रानुगमनको त्यागकर अपने अध्यासको दूर करो। विश्व, प्राज्ञ और तैजस आदि-रूप समस्त जगत् 'ॐकार' मात्र है; क्योंकि वाच्य और वाचकमें भेद नहीं होता (ॐकार वाचक है और परमात्मरूप सम्पूर्ण विश्व वाच्य है)। भेदसे इसकी उपलब्धि नहीं होती। प्रणवकी पहली मात्रा अकार ही 'विश्व' है, उकार 'तैजस' है और मकार 'प्राज्ञ' स्वरूप है--ऐसा क्रमशः अनुभव करे। समाधिकालसे पूर्व ही अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक चिन्तन करके स्थूल और सूक्ष्मके क्रमसे सबको चिदात्मामें विलीन कर दे। चिदात्माको अपना स्वरूप समझे। मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्तामात्र, अद्वय परमानन्द-संदोहमय एवं वासुदेव-स्वरूप ॐकार हूँ—ऐसी दृढ़ भावना करे। क्योंकि यह सारा प्रपञ्च आदि, मध्य और अन्तमें केवल दुःखमय ही है, अतएव हे अनघ ! सबको छोड़कर तत्त्वनिष्ठ बनो। मैं अविद्यारूपी अन्धकारसे परे, सब प्रकारके आभाससे रहित, आनन्दस्वरूप, निर्मल, शुद्ध, मन और वाणीकी पहुँचके परे, प्रज्ञानघन और आनन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ—इस प्रकारकी भावना करनी चाहिये। यह उपनिषद् है ॥ ४१–४९ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय अक्ष्युपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

परमात्माका चिन्तन करो

निद्राया लोकवार्त्तायाः शब्दादेरात्मविस्मृतेः।
क्वचिन्नावसरं दत्त्वा चिन्तयात्मानमात्मनि ॥
(अध्यात्मोपनिषद् ५)

नींद, लोकचर्चा, इन्द्रियोंके शब्दादि विषय और आत्मविस्मृति (परमात्माका स्मरण न करना) इन (चारों) को कहीं तनिक-सा भी अवसर न देकर मनसे निरन्तर आत्मा (परमात्मा) का चिन्तन करो।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

चाक्षुषोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

अब नेत्र-रोगका हरण करनेवाली पाठमात्रसे सिद्ध होनेवाली चाक्षुषी विद्याकी व्याख्या करते हैं, जिससे समस्त नेत्ररोगोंका सम्पूर्णतया नाश हो जाता है और नेत्र तेजयुक्त हो जाते हैं । उस चाक्षुषी विद्याके ऋषि अहिर्बुध्न्य हैं, गायत्री छन्द है, सूर्यभगवान् देवता हैं; नेत्ररोगकी निवृत्तिके लिये इसका जप होता है—यह विनियोग है *।

चाक्षुषी विद्या

ॐ चक्षुः चक्षुः चक्षुः तेजः स्थिरो भव । मां पाहि पाहि । त्वरितं चक्षूरोगान् शमय शमय । मम जातरूपं तेजो दर्शय दर्शय । यथाहम् अन्धो न स्यां तथा कल्पय कल्पय । कल्याणं कुरु कुरु । यानि मम पूर्वजन्मोपार्जितानि चक्षुःप्रतिरोधकदुष्कृतानि सर्वाणि निर्मूलय निर्मूलय । ॐ नमः चक्षुस्तेजोदात्रे दिव्याय भास्कराय । ॐ नमः करुणाकरायामृताय । ॐ नमः सूर्याय । ॐ नमो भगवते सूर्यायाक्षितेजसे नमः । खेचराय नमः । महते नमः । रजसे नमः । तमसे नमः । असतो मा सद्गमय । तमसो मा ज्योतिर्गमय । मृत्योर्मा अमृतं गमय । उष्णो भगवाञ्छुचिरूपः । हंसो भगवान् शुचिरप्रतिरूपः । य इमां चाक्षुष्मतीविद्यां ब्राह्मणो नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो भवति । न तस्य कुले अन्धो भवति । अष्टौ ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा विद्यासिद्धिर्भवति ॥

ॐ (भगवान्‌का नाम लेकर कहे) । हे चक्षुके अभिमानी सूर्यदेव ! आप चक्षुमें चक्षुके तेजरूपसे स्थिर हो जायँ । मेरी रक्षा करें ! रक्षा करें ! मेरे आँखके रोगोंका शीघ्र शमन करें, शमन करें । मुझे अपना सुवर्ण-जैसा तेज दिखला दें, दिखला दें । जिससे मैं अंधा न होऊँ (कृपया) वैसे ही उपाय करें, उपाय करें । मेरा कल्याण करें, कल्याण करें । दर्शन-शक्तिका अवरोध करनेवाले मेरे पूर्वजन्मार्जित जितने भी पाप हैं, सबको जड़से उखाड़ दें, जड़से उखाड़ दें । ॐ (सच्चिदानन्दस्वरूप) नेत्रोंको तेज प्रदान करनेवाले दिव्यस्वरूप भगवान् भास्करको नमस्कार है । ॐ करुणाकर अमृतस्वरूपको नमस्कार है । ॐ सूर्यभगवान्‌को नमस्कार है । ॐ नेत्रोंके प्रकाश भगवान् सूर्यदेवको नमस्कार है । ॐ आकाशविहारीको नमस्कार है । परम श्रेष्ठस्वरूपको नमस्कार है । ॐ (सबमें क्रिया-शक्ति उत्पन्न करनेवाले) रजोगुणरूप सूर्यभगवान्‌को नमस्कार है । (अन्धकारको सर्वथा अपने अंदर समा लेनेवाले) तमोगुणके आश्रयभूत भगवान् सूर्यको नमस्कार है । हे भगवन् ! मुझको असत्‌से सत्‌की ओर ले चलिये । अन्धकारसे प्रकाशकी ओर ले चलिये । मृत्युसे अमृतकी ओर ले चलिये । उष्णस्वरूप भगवान् सूर्य शुचिरूप हैं । हंसस्वरूप भगवान् सूर्य शुचि तथा अप्रतिरूप हैं—उनके तेजोमय स्वरूपकी समता करनेवाला कोई नहीं है । जो ब्राह्मण इस चाक्षुष्मती विद्याका नित्य पाठ करता है, उसको नेत्रसम्बन्धी कोई रोग नहीं होता । उसके कुलमें कोई

---

* तस्याश्चाक्षुषीविद्याया अहिर्बुध्न्य ऋषिः, गायत्री छन्दः, सूर्यो देवता, चक्षूरोगनिवृत्तये विनियोगः ।

अंधा नहीं होता। आठ ब्राह्मणोंको इस विद्याका दान करनेपर—इसका ग्रहण करा देनेपर इस विद्याकी सिद्धि होती है।*

जो सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, सम्पूर्ण विश्व जिनका रूप है, जो किरणोंसे सुशोभित एवं जातवेदा (भूत आदि तीनों कालोंकी बातको जाननेवाले) हैं, जो ज्योतिःस्वरूप, हिरण्मय (सुवर्णके समान कान्तिमान्) पुरुषके रूपमें तप रहे हैं, इस सम्पूर्ण विश्वके जो एकमात्र उत्पत्तिस्थान हैं, उन प्रचण्ड प्रतापवाले भगवान् सूर्यको हम नमस्कार करते हैं। ये सूर्यदेव समस्त प्रजाओं (प्राणियों) के समक्ष उदित हो रहे हैं।

ॐ नमो भगवते आदित्याय अहोवाहिनी अहोवाहिनी स्वाहा।

ॐ षड्विध ऐश्वर्यसे सम्पन्न भगवान् आदित्यको नमस्कार है। उनकी प्रभा दिनका भार वहन करनेवाली है, दिनका भार वहन करनेवाली है। हम उन भगवान्के लिये उत्तम आहुति देते हैं। जिन्हें मेधा अत्यन्त प्रिय है, वे ऋषिगण उत्तम पंखोंवाले पक्षीके रूपमें भगवान् सूर्यके पास गये और इस प्रकार प्रार्थना करने लगे—'भगवन्! इस अन्धकारको छिपा दीजिये, हमारे नेत्रोंको प्रकाशसे पूर्ण कीजिये तथा तमोमय बन्धनमें बँधे हुए-से हम सब प्राणियोंको अपना दिव्य प्रकाश देकर मुक्त कीजिये। पुण्डरीकाक्षको नमस्कार है। पुष्करेक्षणको नमस्कार है। निर्मल नेत्रोंवाले—अमलेक्षणको नमस्कार है। कमलेक्षणको नमस्कार है। विश्वरूपको नमस्कार है। महाविष्णुको नमस्कार है।'

॥ कृष्णयजुर्वेदीय चाक्षुषोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

***चाक्षुषी (नेत्र)-उपनिषद्की शीघ्र फल देनेवाली विधि—**

(लेखक—पं० श्रीमुकुन्दवल्लभजी मिश्र, ज्यौतिषाचार्य)

नेत्ररोगसे पीड़ित श्रद्धालु साधकको चाहिये कि प्रतिदिन प्रातःकाल हरिद्रा (हल्दी) से अनारकी शाखाकी कलमके द्वारा काँसेके पात्रमें निम्नलिखित बत्तीसे यन्त्रको लिखे—

८	१५	२	७
६	३	१२	११
१४	९	८	१
४	५	१०	१३

'मम चक्षूरोगान् शमय शमय'

फिर उसी यन्त्रपर ताँबेकी कटोरीमें चतुर्मुख (चारों ओर चार बत्तियोंका) घीका दीपक जलाकर रख दे। तदनन्तर गन्ध-पुष्पादिसे यन्त्रका पूजन करे। फिर पूर्वकी ओर मुख करके बैठे और हरिद्रा (हल्दी) की मालासे 'ॐ ह्रीं हंसः' इस बीजमन्त्रकी ६ मालाएँ जपकर नेत्रोपनिषद्के कम-से-कम बारह पाठ करे। पाठके पश्चात् फिर उपर्युक्त बीजमन्त्रकी ५ मालाएँ जपे। तदनन्तर सूर्यभगवान्को श्रद्धापूर्वक अर्घ्य देकर प्रणाम करे और मनमें यह निश्चय करे कि मेरा नेत्ररोग शीघ्र ही नष्ट हो जायगा।

ऐसा करते रहनेसे इस उपनिषद्का नेत्ररोगनाशक अद्भुत प्रभाव बहुत शीघ्र देखनेमें आता है।

१. 'पुण्डरीकाक्ष', 'पुष्करेक्षण' और 'कमलेक्षण'—इन तीनों नामोंका एक ही अर्थ है—कमलके समान नेत्रोंवाले भगवान्।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

नारायणोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

भगवान् नारायणकी सर्वकारणता एवं सर्वरूपता; अष्टाक्षर नारायण-मन्त्रका स्वरूप और महिमा

ॐ इस परमात्माके नामका स्मरण करके अब नारायणोपनिषद् आरम्भ किया जाता है । निश्चय ही, भगवान् नारायण सबके शरीरोंमें शयन करनेवाले अन्तर्यामी आत्मा हैं । उन्होंने संकल्प किया—'मैं जीवोंकी सृष्टि करूँ ।' अतः उन्हींसे सबकी उत्पत्ति हुई है । नारायणसे ही समष्टिगत प्राण उत्पन्न होता है, उन्हींसे मन और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ प्रकट होती हैं । आकाश, वायु, तेज, जल तथा सम्पूर्ण विश्वको धारण करनेवाली पृथ्वी—इन सबकी नारायणसे ही उत्पत्ति होती है । नारायणसे ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं । नारायणसे शिवजी प्रकट होते हैं । नारायणसे इन्द्रका जन्म होता है । नारायणसे प्रजापति उत्पन्न होते हैं । नारायणसे ही बारह आदित्य प्रकट हुए हैं । ग्यारह रुद्र, आठ वसु और सम्पूर्ण छन्द (वेद) नारायणसे ही उत्पन्न होते हैं, नारायणसे ही प्रेरित होकर अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त होते हैं और नारायणमें ही लीन हो जाते हैं । यह ऋग्वेदीय उपनिषद्का कथन है ॥ १ ॥

भगवान् नारायण नित्य हैं । ब्रह्मा नारायण हैं । शिव भी नारायण हैं । इन्द्र भी नारायण हैं । काल भी नारायण हैं । दिशाएँ भी नारायण हैं । विदिशाएँ (दिशाओंके बीचके कोण) भी नारायण हैं । ऊपर भी नारायण हैं । नीचे भी नारायण हैं । भीतर और बाहर भी नारायण हैं । जो कुछ हो चुका है तथा जो कुछ हो रहा है और होनेवाला है, यह सब भगवान् नारायण ही हैं । एकमात्र नारायण ही निष्कलङ्क, निरञ्जन, निर्विकल्प, अनिर्वचनीय एवं विशुद्ध देव हैं; उनके सिवा दूसरा कोई नहीं है । जो इस प्रकार जानता है, वह विष्णु ही हो जाता है, वह विष्णु ही हो जाता है । यह यजुर्वेदीय उपनिषद्का प्रतिपादन है ॥ २ ॥

सबसे पहले 'ॐ' इस अक्षरका उच्चारण करे, इसके बाद **'नमः'** पदका, फिर अन्तमें **'नारायणाय'** इस पदका उच्चारण करे । 'ॐ' यह एक अक्षर है । **'नमः'** ये दो अक्षर हैं । **'नारायणाय'** ये पाँच अक्षर हैं । यह **'ॐ नमो नारायणाय'** पद भगवान् नारायणका अष्टाक्षरमन्त्र है । निश्चय ही, जो मनुष्य भगवान् नारायणके इस अष्टाक्षरमन्त्रका जप करता है, वह उत्तम कीर्तिसे युक्त हो पूरी आयुतक जीवित रहता है । जीवोंका आधिपत्य, धनकी वृद्धि, गौ आदि पशुओंका स्वामित्व—ये सब भी उसे प्राप्त होते हैं । तदनन्तर वह अमृतत्वको प्राप्त होता है, अमृतत्वको प्राप्त होता है (अर्थात् भगवान् नारायणके अमृतमय परमधाममें जाकर परमानन्दका अनुभव करता है) । यह सामवेदीय उपनिषद्का कथन है ॥ ३ ॥

आन्तरिक आनन्दमय ब्रह्मपुरुष प्रणवस्वरूप है; 'अ' 'उ' 'म'—ये उसकी मात्राएँ हैं । ये अनेक हैं; इनका ही सम्मिलित रूप 'ॐ' इस प्रकार हुआ है । इस प्रणवका जप करके योगी जन्म-मृत्युरूप संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है । **'ॐ नमो नारायणाय'** इस मन्त्रकी उपासना करनेवाला साधक वैकुण्ठधाममें जायगा । वह यह वैकुण्ठधाम विज्ञानघन

पुण्डरीक (कमल) है; अतः इसका स्वरूप विद्युत्के समान परम प्रकाशमय है। देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मण्य (ब्राह्मणप्रिय) हैं। भगवान् मधुसूदन ब्रह्मण्य हैं। पुण्डरीक (कमल)के सदृश नेत्रोंवाले भगवान् विष्णु ब्रह्मण्य हैं। अच्युत विष्णु ब्रह्मण्य हैं। सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित एक ही नारायण-देव कारणपुरुष हैं। वे ही कारणरहित परब्रह्म हैं। ॐ यह अथर्ववेदीय उपनिषद्का प्रतिपादन है ॥ ४ ॥

प्रातःकाल इस उपनिषद्का पाठ करनेवाला पुरुष रात्रिमें किये हुए पापका नाश कर डालता है। सायंकालमें इसका पाठ करनेवाला मनुष्य दिनमें किये हुए पापका नाश कर डालता है। सायंकाल और प्रातःकाल दोनों समय पाठ करनेवाला साधक पहलेका पापी हो तो भी निष्पाप हो जाता है। दोपहरके समय भगवान् सूर्यकी ओर मुख करके पाठ करनेवाला मानव पाँच महापातकों और उपपातकोंसे सर्वथा मुक्त हो जाता है। सम्पूर्ण वेदोंके पाठका पुण्य-लाभ करता है। और अन्तमें भगवान् श्रीनारायणका सायुज्य प्राप्त कर लेता है; जो इस प्रकार जानता है, वह भी श्रीमन्नारायणका सायुज्य प्राप्त कर लेता है ॥ ५ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय नारायणोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

श्रीनारायणके ध्यानसे मुक्ति

अथ यदिदं ब्रह्मपुरं पुण्डरीकं तस्मात्त-
डिदाभमात्रं दीपवत्प्रकाशम् ।
ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः ।
ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरच्युतः ॥
सर्वभूतस्थमेकं नारायणं कारणपुरुषमकारणं परं ब्रह्मो ।
शोकमोहविनिर्मुक्तो विष्णुं ध्यायन्न सीदति ॥ (आत्मप्रबोध०)

'अब जो यह ब्रह्मपुर-कमल है, उसमें विद्युत्की आभामात्र दीपकके समान प्रकाशरूप, ब्राह्मणोंके प्रिय अथवा ब्राह्मण जिनको प्रिय हैं, ऐसे देवकीनन्दन, ब्रह्मण्य मधुसूदन, ब्रह्मण्य कमलनयन अच्युत विष्णु भगवान् हैं। (उन) सर्वभूतोंमें स्थित एकमात्र कारणपुरुष कारणरहित परब्रह्म नारायण विष्णुका जो ध्यान करता है, वह शोक-मोहसे छूट जाता है और कोई कष्ट नहीं पाता।'

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

श्रीरामोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम खण्ड

श्रीरामका स्वरूप, उनके अङ्ग, राम-मन्त्रका माहात्म्य

एक समय सनकादि योगीन्द्रों तथा अन्य ऋषियों और प्रह्लादादि भगवान् विष्णुके भक्तोंने हनुमान्‌जीसे यह पूछा—हे महाबाहु महाबलवान् वायुपुत्र ! आप यह बतलायें कि अठारहों पुराणों, अठारहों स्मृतियों, चारों वेदों, सम्पूर्ण शास्त्रों एवं समस्त अध्यात्मविद्याओंमें ब्रह्मवादियोंके लिये कौन-सा तत्त्व उपदिष्ट हुआ है ? विष्णुके समस्त नामोंमेंसे तथा गणेश, सूर्य, शिव और शक्ति—इनमेंसे वह तत्त्व कौन-सा है ? ॥ १—३ ॥

श्रीहनुमान्‌जीने उत्तर दिया—योगीन्द्रवृन्द, ऋषिगण तथा विष्णुभक्तजन ! आप संसारके बन्धनको नाश करनेवाली मेरी बात सुनें । इन सब (वेदादिकों)में परम तत्त्व ब्रह्मस्वरूप तारक ही है । राम ही परम ब्रह्म हैं । राम ही परम तपःस्वरूप हैं । राम ही परम तत्त्व हैं । वे श्रीराम ही तारकब्रह्म हैं ॥ ४-५ ॥

श्रीपवनपुत्रके यह उपदेश देनेपर योगीन्द्रों, ऋषियों और विष्णुभक्तोंने फिर हनुमान्‌जीसे पूछा—हनुमान्‌जी ! आप हमें श्रीरामके अङ्गोंका उपदेश करें । तब उन पवनकुमारने कहा—'गणेश, सरस्वती, दुर्गा, क्षेत्रपाल, सूर्य, चन्द्र, नारायण, नरसिंह, वासुदेव, वाराह तथा और भी दूसरे सभी देवताओंके मन्त्रोंको, श्रीसीताजी, लक्ष्मणजी, हनुमान्, शत्रुघ्न, विभीषण, सुग्रीव, अङ्गद, जाम्बवान् और भरतजी—इन सबको श्रीरामका अङ्ग जानना चाहिये । अङ्गोंकी पूजाके बिना राम-मन्त्रका जप विघ्नकारक होता है' ॥ ६ ॥

इस प्रकार हनुमान्‌जीके कहनेपर उन सब योगीन्द्रादिने पुनः उनसे पूछा—महाबलवान् अञ्जनीकुमार ! जो गृहस्थ ब्राह्मण (ब्रह्मवादी) हैं, उनको प्रणवका अधिकार कैसे हो सकता है ?

श्रीहनुमान्‌जी बोले—एक बार श्रीअयोध्याजीमें रत्न-सिंहासनासीन भगवान् श्रीरामसे मैंने इसी प्रकार पूछा था—'योगियोंके चित्तरूपी मानसरोवरमें विहार करनेवाले हंसके समान सीतानाथ ! गृहस्थ ब्राह्मणोंको प्रणवमें किस प्रकार अधिकार प्राप्त हो ?' भगवान् श्रीरामने बताया—'जिनको इस छः अक्षरके मेरे मन्त्रका अधिकार प्राप्त है, उन्हींको प्रणव-जपका अधिकार है, दूसरोंको नहीं । जो प्रणवको केवल अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रासहित जपकर पुनः 'रामचन्द्र' मन्त्रका जप करता है, मैं उसका कल्याण करता हूँ । इसलिये प्रणवके अकार, उकार, मकार एवं अर्धमात्राके ऋषि, छन्द, देवताका न्यास करके, इसी प्रकार वर्ण,

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

श्रीकृष्णोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

श्रीकृष्णके परिवारोंके रूपमें विभिन्न देवी-देवताओंका अवतरण, श्रीकृष्णके साथ उनकी एकरूपता

श्रीकृष्णावतारसे पूर्व जब देवताओंसे भगवान्‌ने उन्हें पृथ्वीपर अवतीर्ण होनेके लिये कहा, तब वे (जन्ममीरु) समस्त देवता उन सनातन भगवान्‌से बोले—'भगवन् ! हम देवता होकर पृथ्वीपर जन्म लें, यह हमारे लिये बड़ी निन्दाकी बात है । हमारे द्वारा स्वेच्छासे तो भूतलपर जन्म ग्रहण करना सम्भव नहीं है; परंतु आपकी आज्ञा है, इसलिये हमें वहाँ जन्म लेना ही पड़ेगा । फिर भी इतनी प्रार्थना अवश्य है कि हमें गोप (गँवार मनुष्य) और स्त्रीके रूपमें वहाँ उत्पन्न न करें । जिसे आपके अङ्ग-स्पर्शसे वञ्चित रहना पड़ता हो ऐसा आपके सान्निध्यसे दूर रहनेवाला मनुष्य बनकर हममेंसे कोई भी शरीर धारण नहीं करेगा; हमें सदा अपने अङ्गोंके स्पर्शका अवसर दें, तभी हम अवतार ग्रहण करेंगे ।' रुद्र आदि देवताओंका यह स्नेहपूर्ण वचन सुनकर स्वयं भगवान्‌ने कहा—'देवताओ ! मैं तुम्हें अङ्ग-स्पर्शका अवसर दूँगा, तुम्हारे वचनोंको अवश्य पूर्ण करूँगा' ॥ १-२ ॥

भगवान्‌का यह आश्वासन पाकर वे सब देवता बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'अब हम कृतार्थ हो गये ।' फिर सब देवता भगवान्‌की सेवाके लिये प्रकट हुए । भगवान्‌का परमानन्दमय अंश ही नन्दरायजीके रूपमें प्रकट हुआ । नन्दरानी यशोदाके रूपमें साक्षात् मुक्तिदेवी अवतीर्ण हुईं । सुप्रसिद्ध माया सात्त्विकी, राजसी और तामसी—यों तीन प्रकारकी बतायी गयी है । भगवान्‌के भक्त श्रीरुद्रदेवमें सात्त्विकी माया है, ब्रह्माजीमें राजसी माया है और दैत्यवर्गमें तामसी मायाका प्रादुर्भाव हुआ है । इस प्रकार यह तीन प्रकारकी माया बतायी गयी । इससे भिन्न जो वैष्णवी माया है, जिसको जीतना किसीके लिये भी सम्भव नहीं है, जिसे पूर्वकालमें ब्रह्माजी भी पराजित न कर सके तथा देवता भी जिसकी स्तुति करते हैं, वह ब्रह्मविद्यामयी वैष्णवी माया ही देवकी-रूपमें प्रकट हुई । निगम (वेद) ही वसुदेव हैं, जो सदा मुझ नारायणके स्वरूपका स्तवन करते हैं । वेदोंका तात्पर्य-भूत ब्रह्म ही श्रीबलराम और श्रीकृष्णके रूपमें इस महीतलपर अवतीर्ण हुआ । वह मूर्तिमान् वेदार्थ ही वृन्दावनमें गोप-गोपियोंके साथ क्रीडा करता है । ऋचाएँ उस श्रीकृष्णकी गौएँ और गोपियाँ हैं । ब्रह्मा लकुटीरूप धारण किये हुए हैं और रुद्र वंश अर्थात् वंशी बने हैं । देवराज इन्द्र सींगा बने हैं । गोकुल नामक वनके रूपमें साक्षात् वैकुण्ठ है । वहाँ द्रुमोंके रूपमें तपस्वी महात्मा हैं । लोभ-क्रोधादिने दैत्योंका रूप धारण किया है, जो कलियुगमें केवल भगवान्‌का नाम लेनेमात्रसे तिरस्कृत (नष्ट) हो जाते हैं ॥ ३–९ ॥

गोपरूपमें साक्षात् भगवान् श्रीहरि ही लीला-विग्रह धारण किये हुए हैं । यह जगत् मायासे मोहित है, अतः उसके लिये भगवान्‌की लीलाका रहस्य समझना बहुत कठिन है । वह माया समस्त देवताओंके लिये भी दुर्जय है । जिनकी मायाके प्रभावसे ब्रह्माजी लकुटी बने हुए हैं और जिन्होंने भगवान् शिवको

बाँसुरी बना रक्खा है, उनकी मायाको साधारण जगत् कैसे जान सकता है ? निश्चय ही देवताओंका बल ज्ञान है। परंतु भगवान्‌की मायाने उसे भी क्षणभरमें हर लिया। श्रीशेषनाग श्रीबलराम बने, और सनातन ब्रह्म ही श्रीकृष्ण बने। सोलह हजार एक सौ आठ—रुक्मिणी आदि भगवान्‌की रानियाँ वेदकी ऋचाएँ तथा उपनिषद् हैं। इनके सिवा जो वेदोंकी ब्रह्मरूपा ऋचाएँ हैं, वे गोपियोंके रूपमें अवतीर्ण हुई हैं। द्वेष चाणूर मल्ल है, मत्सर दुर्जय मुष्टिक है, दर्प ही कुवलया-पीड हाथी है। गर्व ही आकाशचारी बकासुर राक्षस है। रोहिणी माताके रूपमें दयाका अवतार हुआ है, पृथ्वी माता ही सत्यभामा बनी हैं। महाव्याधि ही अघासुर है और साक्षात् कलि राजा कंस बना है। श्रीकृष्णके मित्र सुदामा शम हैं, अक्रूर सत्य हैं और उद्धव दम हैं। जो शङ्ख है, वह स्वयं विष्णु है तथा लक्ष्मीका भाई होनेसे लक्ष्मीरूप भी है; वह क्षीरसमुद्रसे उत्पन्न हुआ है, मेघके समान उसका गम्भीर घोष है। दूध-दहीके भंडारमें जो भगवान्‌ने मटके फोड़े और उनसे जो दूध-दहीका प्रवाह हुआ, उसके रूपमें उन्होंने साक्षात् क्षीरसागरको ही प्रकट किया है और उस महासागरमें वे बालक बने हुए पूर्ववत् क्रीड़ा कर रहे हैं। शत्रुओंके संहार तथा साधुजनोंकी रक्षामें वे सम्यक्‌रूपसे स्थित हैं। समस्त प्राणियोंपर अहैतुकी कृपा करनेके लिये तथा अपने आत्मजरूप धर्मकी रक्षा करनेके लिये श्रीकृष्ण प्रकट हुए हैं, यों जानना चाहिये। भगवान् शिवने श्रीहरिको अर्पित करनेके लिये जिस चक्रको प्रकट किया था, भगवान्‌के हाथमें सुशोभित वह चक्र ब्रह्मस्वरूप ही है॥ १०—१९॥

धर्मने चँवरका रूप ग्रहण किया है, वायुदेव ही वैजयन्ती मालाके रूपमें प्रकट हुए हैं, महेश्वरने अग्निके समान चमचमाते हुए खड्गका रूप धारण किया है। कश्यप मुनि नन्दजीके घरमें ऊखल बने हैं और माता अदिति रज्जुके रूपमें अवतरित हुई हैं। जैसे सब वर्णोंके ऊपर अनुस्वार शोभा पाता है, उसी प्रकार जो सबके ऊपर सुशोभित आकाश है, उसे ही भगवान्‌का छत्र जानो। व्यास-वाल्मीकि आदि ज्ञानी महात्मा देवताओंके जितने स्वरूप बतलाते हैं तथा जिन-जिनको लोग देवरूप समझकर नमस्कार करते हैं, वे सभी देवता भगवान् श्रीकृष्णके ही आश्रित हैं। भगवान्‌के हाथकी गदा सारे शत्रुओंका नाश करनेवाली साक्षात् कालिका है। शार्ङ्गधनुषका रूप स्वयं वैष्णवी मायाने धारण किया है और प्राणसंहारक काल ही उनका बाण है। जगत्‌के बीजरूप कमलको भगवान्‌ने हाथमें लीलापूर्वक धारण किया है। गरुडने भाण्डीरवटका रूप ग्रहण किया है, और नारद मुनि सुदामा नामके सखा बने हैं। भक्तिने वृन्दाका रूप धारण किया है। सब जीवोंको प्रकाश देनेवाली जो बुद्धि है, वही भगवान्‌की क्रिया-शक्ति है। अतः ये गोप-गोपी आदि सभी भगवान्‌से भिन्न नहीं हैं और विभु—परमात्मा श्रीकृष्ण भी इनसे भिन्न नहीं हैं। उन्होंने (श्रीकृष्णने) स्वर्गवासियों-को तथा सारे वैकुण्ठधामको भूतलपर उतार लिया है॥ २०—२५॥

जो इस प्रकार जानता है, वह सब तीर्थोंका फल पाता है और देहके बन्धनसे मुक्त हो जाता है—यह उपनिषद् है।

॥ अथर्ववेदीय श्रीकृष्णोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

कलिसंतरणोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

'हरे राम' आदि सोलह नामोंके मन्त्रका अद्भुत माहात्म्य

हरिः ॐ । द्वापरके अन्तमें नारदजी ब्रह्माजीके पास गये, और बोले—'भगवन् ! मैं भूलोकमें पर्यटन करता हुआ किस प्रकार कलिसे त्राण पा सकता हूँ ?' ब्रह्माजी बोले—'वत्स ! तुमने मुझसे आज बहुत अच्छी बात पूछी है । समस्त श्रुतियोंका जो गोपनीय रहस्य है, उसे सुनो—जिससे कलियुगमें भवसागरको पार कर लोगे । भगवान् आदि-पुरुष नारायणके नामोच्चारणमात्रसे मनुष्य कलिके दोषोंका नाश कर डालता है ।' नारदजीने फिर पूछा—'वह कौन-सा नाम है ?' हिरण्यगर्भ ब्रह्माजीने कहा—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

ये सोलह नाम कलिके पापोंका नाश करनेवाले हैं । इससे श्रेष्ठ कोई दूसरा उपाय सारे वेदोंमें भी नहीं देखनेमें आता । इसके द्वारा षोडश कलाओंसे आवृत जीवके आवरण नष्ट हो जाते हैं । तत्पश्चात् जैसे मेघके विलीन होनेपर सूर्यकी किरणें प्रकाशित हो उठती हैं, उसी प्रकार परब्रह्मका स्वरूप प्रकाशित हो जाता है । फिर नारदजीने पूछा—'भगवन् ! इसके जपकी क्या विधि है ?' ब्रह्माजीने उनसे कहा—'इसकी कोई विधि नहीं है । पवित्र हो या अपवित्र, इस मन्त्रका निरन्तर जप करनेवाला सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य—चारों प्रकारकी मुक्ति प्राप्त करता है । जब साधक इस सोलह नामोंवाले मन्त्रका साढ़े तीन करोड़ जप कर लेता है, तब ब्रह्महत्याके दोषको पार कर जाता है । वह वीरहत्याके पापसे तर जाता है । स्वर्णकी चोरीके पापसे छूट जाता है । पितर, देवता और मनुष्योंके अपकारके दोषसे भी छूट जाता है । सब धर्मोंके परित्यागके पापसे तत्काल ही पवित्र हो जाता है । शीघ्र ही मुक्त हो जाता है, शीघ्र ही मुक्त हो जाता है । यह उपनिषद् है ।

॥ कृष्णयजुर्वेदीय कलिसंतरणोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

गणपत्युपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

भगवान् गणनायककी स्तुति; उनके बीजमन्त्र, महामन्त्र तथा गायत्री; उपनिषद्के पाठका तथा गणपति पूजनका माहात्म्य

हरिः ॐ । भगवान् गणपतिको नमस्कार है । तुम्हीं प्रत्यक्ष तत्त्व हो । तुम्हीं केवल कर्ता हो, तुम्हीं केवल धर्ता हो, तुम्हीं केवल हर्ता हो । निश्चयपूर्वक तुम्हीं इन सब रूपोंमें विराजमान ब्रह्म हो । तुम साक्षात् नित्य आत्मस्वरूप हो । मैं ऋत—न्याययुक्त बात कहता हूँ, सत्य कहता हूँ । तुम मेरी (मुझ शिष्यकी) रक्षा करो, वक्ता (आचार्य) की रक्षा करो । श्रोताकी रक्षा करो । दाताकी रक्षा करो, धाताकी रक्षा करो । व्याख्या करनेवाले आचार्यकी रक्षा करो, शिष्यकी रक्षा करो । पश्चिमसे रक्षा करो, पूर्वसे रक्षा करो, उत्तरसे रक्षा करो, दक्षिणसे रक्षा करो, ऊपरसे रक्षा करो, नीचेसे रक्षा करो, सब ओरसे मेरी रक्षा करो, चारों ओरसे मेरी रक्षा करो । तुम वाङ्मय हो, तुम चिन्मय हो, तुम आनन्दमय हो, तुम ब्रह्ममय हो । तुम सच्चिदानन्द, अद्वितीय हो । तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, तुम ज्ञानमय, विज्ञानमय हो । यह सारा जगत् तुमसे उत्पन्न होता है । यह सारा जगत् तुमसे ठहरा हुआ है । यह सारा जगत् तुममें लयको प्राप्त होगा । इस सारे जगत्की तुममें प्रतीति हो रही है । तुम भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश हो । परा, पश्यन्ती, वैखरी और मध्यमा—वाणीके ये चार विभाग तुम्हीं हो । तुम सत्त्व, रज और तम—तीनों गुणोंसे परे हो । तुम भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालोंसे परे हो । तुम स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरोंसे परे हो । तुम मूलाधार चक्रमें नित्य स्थित रहते हो । इच्छा, क्रिया और ज्ञान—तीन प्रकारकी शक्तियाँ तुम्हीं हो । तुम्हारा योगिजन नित्य ध्यान करते हैं । तुम ब्रह्मा हो, तुम विष्णु हो, तुम रुद्र हो, तुम इन्द्र हो, तुम अग्नि हो, तुम वायु हो, तुम सूर्य हो, तुम चन्द्रमा हो, तुम ब्रह्म हो, **भूः, भुवः, स्वः**—ये तीनों लोक तथा ॐकारवाच्य परब्रह्म भी तुम हो ।

गणके आदि अर्थात् ग् का पहले उच्चारण करके उसके बाद वर्णोंके आदि अर्थात् अ का उच्चारण करे, उसके बाद अनुस्वार उच्चारित होता है । इस प्रकार अर्धचन्द्रसे सुशोभित 'गं' ॐकारसे अवरुद्ध होनेपर तुम्हारे बीज-मन्त्रका स्वरूप (ॐ गं) है । गकार इसका पूर्वरूप है, अकार मध्यम रूप है, अनुस्वार अन्त्य रूप है, बिन्दु उत्तर रूप है । नाद सन्धान है । संहिता सन्धि है । ऐसी यह गणेशविद्या है । इस महामन्त्रके गणक ऋषि हैं, निचृद्गायत्री छन्द है, श्रीमहागणपति देवता हैं । वह महामन्त्र है—**ॐ गं गणपतये नमः** । एकदन्तको हम जानते हैं । वक्रतुण्डका

हम ध्यान करते हैं, वह दन्ती (गजानन) हमें प्रेरणा प्रदान करे*। (वह गणेश गायत्री है) एकदन्त, चतुर्भुज, चारों हाथोंमें पाश, अङ्कुश, अभय और वरदानकी मुद्रा धारण किये तथा मूषक-चिह्न-की ध्वजा लिये हुए, रक्तवर्ण, लंबे उदरवाले, सूप-जैसे बड़े-बड़े कानोंवाले, रक्तवस्त्रधारी, शरीरपर रक्तचन्दनका लेप किये हुए, रक्तपुष्पोंसे भलीभाँति पूजित, भक्तके ऊपर अनुकम्पा करनेवाले देवता, जगत्के कारण, अच्युत, सृष्टिके आदिमें आविर्भूत, प्रकृति और पुरुषसे परे श्रीगणेशजीका जो नित्य ध्यान करता है, वह योगी सब योगियोंमें श्रेष्ठ है।

व्रात (देवसमूह)के नायकको नमस्कार, गणपतिको नमस्कार, प्रमथपति (शिवजीके गणोंके अधिनायक) के लिये नमस्कार, लम्बोदरको, एकदन्तको, विघ्नविनाशकको, शिवजीके पुत्रको तथा श्रीवरदमूर्तिको नमस्कार, नमस्कार।†

यह अथर्वशिरस् (अथर्ववेदकी उपनिषद्) है। इसका जो पाठ करता है, वह ब्रह्मत्वको प्राप्त करनेका अधिकारी हो जाता है। सब प्रकारके विघ्न उसके लिये बाधक नहीं होते। वह सब जगह सुख पाता है। वह पाँचों प्रकारके महान् पातकों तथा उपपातकोंसे मुक्त हो जाता है। सायंकाल पाठ करनेवाला दिनके पापोंका नाश करता है। प्रातः पाठ करनेवाला रात्रिके पापोंका नाश करता है। जो प्रातः-सायं दोनों समय इस पाठका प्रयोग करता है, वह निष्पाप हो जाता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्षको प्राप्त करता है। इस अथर्वशीर्षको, जो शिष्य न हो, उसे नहीं देना चाहिये। जो मोहके कारण देता है, वह पातकी हो जाता है। सहस्र बार पाठ करनेसे जिन-जिन कामनाओंका उच्चारण करता है, उन-उनकी सिद्धि इसके द्वारा ही मनुष्य कर सकता है। इसके द्वारा जो गणपतिको स्नान कराता है, वह वक्ता बन जाता है। जो चतुर्थी तिथिको उपवास करके जपता है, वह विद्यावान् हो जाता है। यह अथर्वण-वाक्य है। जो इस मन्त्रके द्वारा तपश्चरण करना जानता है, वह कदापि भयको नहीं प्राप्त होता। जो दूर्वाङ्कुरोंके द्वारा भगवान् गणपतिका यजन करता है, वह कुबेरके समान हो जाता है। जो लाजोंके द्वारा यजन करता है, वह यशस्वी होता है, वह मेधावी होता है। जो सहस्र लड्डुओं (मोदकों) के द्वारा यजन करता है, वह वाञ्छित फलको प्राप्त करता है। जो घृतके सहित समिधासे यजन करता है, वह सब कुछ प्राप्त करता है, वह सब कुछ प्राप्त करता है। आठ ब्राह्मणोंको सम्यक् रीतिसे ग्रहण करानेपर सूर्यके समान तेजस्वी होता है। सूर्यग्रहणमें महानदीमें या प्रतिमाके समीप जपनेसे मन्त्रसिद्धि होती है। वह महाविघ्नसे मुक्त हो जाता है, महापातकसे मुक्त हो जाता है, महान् दोषसे मुक्त हो जाता है। जो इस प्रकार जानता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है।

॥ अथर्ववेदीय गणपत्युपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

* 'एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्।'

† नमो व्रातपतये नमो गणपतये नमः प्रमथपतये नमस्तेऽस्तु लम्बोदरायैकदन्ताय विघ्नविनाशिने शिवसुताय श्रीवरदमूर्तये नमो नमः।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सामवेदीय

जाबालदर्शनोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम खण्ड

योगके आठ अङ्ग और दस यमोंका वर्णन

सम्पूर्ण भूतोंकी उत्पत्ति और पालन करनेवाले चतुर्भुज भगवान् महाविष्णु महायोगी दत्तात्रेयके रूपमें अवतीर्ण हुए। दत्तात्रेयजी योग-साम्राज्य (के अधिपति-पद) पर दीक्षित हैं—वे योगमार्गके सम्राट् हैं। उनके शिष्य मुनिवर्य साङ्कृति नामसे प्रसिद्ध थे। वे गुरुके बड़े ही भक्त थे। एक दिन एकान्तमें गुरुजीकी सेवामें उपस्थित हो उन्होंने हाथ जोड़कर विनयपूर्वक पूछा—'भगवन् ! आठ अङ्गोंसहित योगका मेरे लिये विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये, जिसके जान लेनेमात्रसे मैं जीवन्मुक्त हो जाऊँ' ॥ १–३ ॥

भगवान् दत्तात्रेयने कहा—'साङ्कृते ! सुनो, मैं तुम्हें आठ अङ्गोंसहित योगदर्शनका उपदेश करता हूँ। ब्रह्मन् ! यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं। इनमेंसे यमके दस भेद हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव (सरलता), क्षमा, धृति, परिमित आहार और बाहर-भीतरकी पवित्रता ॥ ४–६ ॥

'तपोधन ! वेदमें बतायी हुई विधिके अतिरिक्त जो मन, वाणी और शरीरद्वारा किसीको किसी प्रकारका कष्ट दिया जाता या उसका प्राणोंसे वियोग कराया जाता है, वही वास्तविक हिंसा है; इसके सिवा दूसरी कोई हिंसा नहीं है (इस हिंसाका सर्वथा त्याग ही अहिंसा है)। मुने ! आत्मा सर्वत्र व्याप्त है, उसका शस्त्र आदिके द्वारा छेदन नहीं हो सकता। हाथों या इन्द्रियोंके द्वारा उसका ग्रहण होना भी सम्भव नहीं है—इस प्रकारकी जो बुद्धि है, उसे ही वेदान्तवेत्ता महात्माओंने श्रेष्ठ अहिंसा बताया है। मुनीश्वर ! नेत्र आदि इन्द्रियोंके द्वारा जो जिस रूपमें देखा, सुना, सूँघा और समझा हुआ विषय है, उसको उसी रूपमें वाणीद्वारा (अथवा संकेत आदिके द्वारा) प्रकट करना सत्य है। ब्रह्मन् ! इसके सिवा सत्यका और कोई प्रकार नहीं है। अथवा सब कुछ सत्यस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही है, परमात्माके सिवा दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं—इस प्रकारका जो निश्चय है, उसीको वेदान्तज्ञानके पारगामी विद्वानोंने सबसे श्रेष्ठ सत्य कहा है। दूसरेके रत्न, सुवर्ण अथवा मुक्तामणिसे लेकर एक तृणके लिये भी मन न चलाना—दूसरोंकी छोटी या बड़ी किसी भी वस्तुके लिये मनमें कभी लोभ न लाना ही अस्तेय है। विद्वान् महापुरुषोंने इसीको अस्तेय (चोरी न करना) माना है। इसके अतिरिक्त महामुने ! जगत्के समस्त व्यवहारोंमें अनात्मबुद्धि रखकर उन्हें आत्मासे दूर रखनेका जो भाव है, उसीको आत्मज्ञ महात्माओंने अस्तेय कहा है। मन, वाणी और शरीरके द्वारा स्त्रियोंके सहवासका परित्याग तथा ऋतुकालमें (धर्मबुद्धिसे) केवल अपनी ही पत्नीसे सम्बन्ध—यही ब्रह्मचर्य कहा गया है। अथवा काम-क्रोधादि शत्रुओंको संताप देनेवाले मुनीश्वर ! मनको परब्रह्म परमात्माके चिन्तनमें संचरित करना—लगाये रखना ही सर्वोत्तम

ब्रह्मचर्य है। सब प्राणियोंको अपने ही समान समझकर उनके प्रति मन, वाणी और शरीरद्वारा आत्मीयताका अनुभव करना (अपनी ही भाँति उनके दुःखको दूर करने और उन्हें सुख पहुँचानेकी चेष्टा करना) ही वेदान्तवेत्ता महात्माओंके द्वारा दया कही गयी है। पुत्र, मित्र, स्त्री, शत्रु तथा अपने आत्मामें भी सदा मनका एक-सा भाव रखना ही मेरी दृष्टिमें आर्जव (सरलता) है—सर्वत्र समतापूर्ण भावको ही मैं आर्जव कहता हूँ। मुनिश्रेष्ठ! शत्रुओंद्वारा मन, वाणी और शरीरसे भी भलीभाँति पीड़ा दी जानेपर भी बुद्धिमें तनिक भी क्षोभ न आने देना ही क्षमा है। वेदसे ही (वैदिक आज्ञाओंके पालनसे ही) संसारको मोक्षकी प्राप्ति होती है, अन्यथा नहीं—इस प्रकारका जो दृढ़ निश्चय है, उसीको वैदिकोंने धृति कहा है। अथवा 'मैं आत्मा हूँ, आत्मासे भिन्न दूसरा कुछ नहीं हूँ'—इस निश्चयसे कभी विचलित न होनेवाली जो बुद्धि है, वही सर्वोत्तम धृति है। थोड़ी मात्रामें शुद्ध सात्त्विक अन्न ग्रहण करना, उदरके दो भाग अन्नसे और एक अंशको जलसे पूर्ण करके चतुर्थ अंशको खाली रख छोड़ना—इस प्रकार जो योगमार्गके अनुकूल भोजन है, वही परिमित आहार कहा जाता है। महामुने! मिट्टी और जलसे जो अपने शरीरके मलको छुड़ाया जाता है, उसे बाह्य शौच कहते हैं तथा मनके द्वारा शुद्ध भावोंका जो मनन है, उसे मानसिक शौच माना गया है। इसके अतिरिक्त मनीषी महात्मा 'मैं विशुद्ध आत्मा हूँ' इस ज्ञानको ही सर्वश्रेष्ठ शौच (पवित्रता) कहते हैं। यह शरीर अत्यन्त मलिन है और देहधारी आत्मा अत्यन्त निर्मल है, इस प्रकार शरीर और आत्माका अन्तर जान लेनेपर किसको पवित्र किया जाय! सुव्रत! जो मनुष्य ज्ञान-शौचका परित्याग करके बाह्य शौचमें ही रमा रहता है, वह मूढ़ सुवर्णको त्यागकर मिट्टीके ढेलेका संग्रह करता है। ज्ञानरूपी अमृतसे तृप्त एवं कृतार्थ हुए योगीके लिये कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रहता; यदि रहता है तो वह तत्त्ववेत्ता नहीं है। आत्मज्ञ महात्माओंके लिये तीनों लोकोंमें भी कहीं कोई कर्तव्य नहीं है। इसलिये मुने! तुम सब प्रकारसे प्रयत्न करके अहिंसा आदि साधनोंके द्वारा अनुभवात्मक ज्ञान प्राप्त करके आत्माको अविनाशी ब्रह्मस्वरूप समझो' ॥ ७—२५ ॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

दस नियमोंका वर्णन

'तप, संतोष, आस्तिकता, दान, ईश्वरपूजा, सिद्धान्तश्रवण, लज्जा, मति, जप और व्रत—ये दस नियम कहे गये हैं; इनका क्रमशः वर्णन करता हूँ, सुनो। वेदमें बताये हुए प्रकारसे कृच्छ्र और चान्द्रायण आदि व्रतोंद्वारा जो शरीरको सुखाया—उसे क्षीण किया जाता है, उसे ही विद्वान् पुरुष तप कहते हैं। मोक्ष क्या है तथा आत्मा कैसे और किस हेतुसे संसार-बन्धनको प्राप्त हुआ है, इन सब बातोंके विचारको ही तत्त्वज्ञ विद्वान् तप कहते हैं। दैवेच्छासे जो कुछ मिल जाय, उतनेसे ही मनुष्योंके हृदयमें जो सदा प्रसन्नता बनी रहती है, उसीको ज्ञान-मार्गपर चलनेवाले विद्वान् संतोष मानते हैं। अथवा सर्वत्र आसक्तिरहित होकर ब्रह्मा आदि देवताओं-के लोकतकके सुखोंसे वैराग्य होनेके कारण जो मनमें एक स्वाभाविक प्रसन्नता बनी रहती है, महात्मा पुरुष उसीको उत्तम संतोष मानते हैं। वेदों और स्मृतियोंमें बताये हुए धर्मपर दृढ़ विश्वास होनेको ही आस्तिकता कहते हैं। क्लेशमें पड़े हुए वेदज्ञ पुरुषोंको जो न्यायोपार्जित धन अथवा अन्य आवश्यक वस्तुएँ दी जाती हैं, उसीको मैं दान कहता हूँ॥ १—७॥

'राग आदि दोषोंसे रहित हृदय, असत्य आदिसे अदूषित वाणी और हिंसा आदि दोषोंसे मुक्त जो (भगवत्-प्रीत्यर्थ) कर्म हैं, उन्हींका नाम ईश्वर-पूजन है। सत्य, ज्ञान, अनन्त, सर्वोत्कृष्ट, नित्य—अविचल एवं परमानन्दस्वरूप वही अपना अन्तर्यामी आत्मा है—इस सिद्धान्तको बारंबार सुनना ही सिद्धान्त-श्रवण जानना चाहिये। वैदिक तथा लौकिक मार्गोंमें जो निन्दित कर्म माना गया है, उसको करनेमें जो स्वाभाविक संकोच होता है, उसे ही लज्जा कहा गया है। गुरुजनोंके कहनेपर भी वेद-विरुद्ध मार्गसे सम्बन्ध न रखते हुए सम्पूर्ण वैदिक उपदेशोंमें जो पूर्णतः श्रद्धा होती है, उसी-का नाम मति है। वेदोक्त रीतिसे ही मन्त्रोंकी बार-बार आवृत्तिको जप कहते हैं। इसके अतिरिक्त वेदोंकी ही भाँति कल्पसूत्र, धर्मशास्त्र, पुराण और इतिहासमें जो मनकी वृत्तियों-को निरन्तर लगाये रखना है—अर्थात् इतिहास-पुराण आदिका जो सदैव अनुशीलन करना है, उसीको मैं जप कहता हूँ। जप दो प्रकारका बताया गया है—वाचिक और मानसिक। वाचिक जप 'उच्चैः' और 'उपांशु'—दो प्रकारका माना गया

है। इसी प्रकार मानसिक जप भी मनन और ध्यानके भेदसे दो प्रकारका है। उच्चस्वरसे किये जानेवाले जपकी अपेक्षा उपांशु जप (अत्यन्त मन्दस्वरसे किया गया जप) हजारगुना उत्तम बताया गया है। इसी प्रकार उपांशुकी अपेक्षा मानसिक जप सहस्रगुना श्रेष्ठ कहा गया है। उच्चस्वरसे किया गया जप सब लोगोंको यथावत् फल देनेवाला होता है; परंतु यदि उस मन्त्रको नीच पुरुषोंने अपने कानोंसे सुन लिया तो वह निष्फल हो जाता है (शास्त्रीय पर्वोंपर उपवासादि करना तथा किसी प्रकारका नियम ग्रहण करना व्रत कहलाता है)' ॥ ८–१६ ॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय खण्ड

नौ प्रकारके यौगिक आसनोंका वर्णन

'मुनिश्रेष्ठ! आसन नौ प्रकारके हैं—स्वस्तिकासन, गोमुखासन, पद्मासन, वीरासन, सिंहासन, भद्रासन, मुक्तासन, मयूरासन और सुखासन। घुटनों और जाँघोंके बीचमें अपने दोनों पैरोंको भलीभाँति रखकर ग्रीवा, मस्तक और शरीरको समभावसे धारण किये रहना स्वस्तिकासन कहलाता है; इसका नित्य अभ्यास करना चाहिये। दाहिने पैरके गुल्फ (टखने) को बायीं ओरके पृष्ठभागतक और बायें पैरके गुल्फ (टखने) को दाहिनी ओरके पृष्ठभागतक ले जाय, इसीको गोमुखासन कहते हैं। विप्रवर! दोनों पैरोंको दोनों जाँघोंपर (व्युत्क्रमसे अर्थात् बायें पैरको दाहिनी जाँघपर और दाहिने पैरको बायीं जाँघपर) रखकर उनके अँगूठोंको दोनों हाथोंसे पीठके पीछेसे पकड़ ले। यही पद्मासन है। यह सम्पूर्ण रोगोंका भय दूर करनेवाला है। बायें पैरको दाहिनी जाँघपर रक्खे और शरीरको सीधा रखकर बैठे; इसको वीरासन कहा गया है। (दोनों टखनोंको अण्डकोषके नीचे सीवनीके दोनों पार्श्वोंमें ले जाय और उन्हें इस प्रकार रक्खे कि बायें टखनेसे सीवनीका दाहिना पार्श्व और दायें टखनेसे सीवनीका बायाँ पार्श्व लगा रहे। फिर दोनों हाथोंको घुटनोंपर रखकर सब अँगुलियोंको फैला दे। मुँहको खोलकर एकाग्रचित्त हो नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाये रक्खे। यह योगियोंद्वारा सदा सम्मानित होनेवाला सिंहासन कहा गया है।) दोनों टखनोंको अण्डकोषके नीचे सीवनीके दोनों पार्श्वभागोंमें (इस प्रकार) लगाकर रक्खे (कि पैरोंका अग्रभाग पीछेकी ओर मुड़ा रहे) और दोनों हाथोंसे पार्श्वभाग और पैरोंको दृढ़तापूर्वक बाँधकर स्थिरभावसे बैठ जाय—यह भद्रासन है, जो विषजनित रोगका नाश करनेवाला है। सीवनीकी सूक्ष्म रेखाको बायें टखनेसे दबाकर उस बायें टखनेको फिर दायें टखनेसे दबा दे तो यह मुक्तासन होता है। मुने! लिङ्गके ऊपरी भागमें बायें टखनेको रखकर फिर उसके ऊपर दाहिने टखनेको रख दे तो यह भी मुक्तासन कहलाता है। मुनिश्रेष्ठ! अपनी दोनों हथेलियोंको पृथ्वीपर टिकाकर, कोहनियोंके अग्रभागको नाभिके दोनों पार्श्वोंमें लगाये। फिर एकाग्रचित्त हो सिर और पैरको ऊँचा करके आकाशमें दण्डकी भाँति (पृथ्वीके समानान्तरमें) स्थित हो जाय। यह मयूरासन है, जो सब पापोंका नाश करनेवाला है। जिस-किसी प्रकार बैठनेसे सुख और धैर्य बना रहे, वह सुखासन कहा गया है। असमर्थ साधक इसी आसनका आश्रय ले। जिसने आसन जीत लिया, उसने मानो तीनों लोक जीत लिये। साङ्कृते! इसी विधिसे योगयुक्त होकर तुम सदा प्राणायाम किया करो' ॥ १–१३ ॥

॥ तृतीय खण्ड समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थ खण्ड

नाड़ी-परिचय तथा आत्मतीर्थ और आत्मज्ञानकी महिमा

'साङ्कृते! मनुष्यका शरीर अपने हाथके मानसे ९६ अंगुलका होता है। इस शरीरका जो मध्यभाग है, उसमें अग्निका स्थान है। उसका रंग तपाये हुए सोनेके समान माना गया है। उसकी आकृति त्रिकोण है। यह मैंने तुमसे सत्य बात बतायी है। गुदासे दो अंगुल ऊपर और लिङ्गसे दो अंगुल नीचेका जो स्थान है, उसे ही मनुष्योंके शरीरका मध्यभाग समझो। वही मूलाधार है। मुनिश्रेष्ठ! वहाँसे नौ अंगुल ऊपर कन्दस्थान है। उसकी लंबाई-चौड़ाई चार-चार अंगुलकी है और आकृति मुर्गीके अंडेके समान है। वह ऊपरसे चमड़े आदिके द्वारा विभूषित है। मुनिपुङ्गव! उस कन्दस्थानके

मध्यभागमें नाभि है, यों योगवेत्ता महात्माओंने कहा है। कन्दके मध्यभागमें जो नाड़ी है, उसका सुषुम्नाके नामसे वर्णन हुआ है। उसके चारों ओर ७२ हजार नाड़ियाँ हैं। उनमें चौदह प्रधान हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—सुषुम्ना, पिङ्गला, इडा, सरस्वती, पूषा, वरुणा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, अलम्बुसा, कुहू, विश्वोदरा, पयस्विनी, शङ्खिनी और गान्धारा। ये ही चौदह नाड़ियाँ प्रधान मानी गयी हैं। इन चौदहमें भी प्रथम तीन ही सबसे प्रधान हैं। इनमें भी एक ही नाड़ी—सुषुम्ना सर्वश्रेष्ठ है। मुने! वेदान्तशास्त्रके ज्ञाता विद्वानोंने इसे ब्रह्मनाड़ी कहा है। पीठके मध्यभागमें जो वीणादण्ड (मेरुदण्ड) नामसे प्रसिद्ध हड्डियोंका समुदाय है, उससे होकर सुषुम्नानाड़ी मस्तकतक पहुँची हुई है। मुने! नाभि-कन्दसे दो अंगुल नीचे कुण्डलिनीका स्थान है। वह अष्टप्रकृतिरूपा[1] मानी गयी है। वह वायुकी यथावत् चेष्टा और जल तथा अन्न आदिको रोक करके ही सदा नाभि-कन्दके दोनों पार्श्वोंको घेरकर स्थित रहती है तथा ब्रह्मरन्ध्रके मुखको अपने मुखसे सदा आवेष्टित किये रहती है। सुषुम्नाके वाम-भागमें इडा और दक्षिण भागमें पिङ्गला स्थित है। सरस्वती और कुहू—ये दोनों सुषुम्नाके उभय पार्श्वोंमें स्थित हैं। गान्धारा और हस्तिजिह्वा—ये क्रमशः इडाके पृष्ठ और पूर्व भागोंमें स्थित हैं। पूषा और यशस्विनी क्रमशः पिङ्गलाके पृष्ठ और पूर्व भागोंमें स्थित हैं। कुहू और हस्तिजिह्वाके बीचमें विश्वोदरा नाड़ी है। यशस्विनी और कुहूके मध्य भागमें वरुणा नाड़ी प्रतिष्ठित है। पूषा और सरस्वतीके मध्यमें पयस्विनी नाड़ीकी स्थिति बतायी गयी है। गान्धारा और सरस्वतीके बीचमें शङ्खिनीका स्थान है। अलम्बुसा नाभिकन्दके मध्यभागसे होती हुई गुदातक फैली हुई है। सुषुम्नाका दूसरा नाम राका है। उसके पूर्वभागमें कुहू नामकी नाड़ी है। यह नाड़ी ऊपर और नीचे स्थित है। इसकी स्थिति दक्षिण नासिकातक मानी गयी है। इडा नामकी नाड़ी बायीं नासिकातक स्थित है। यशस्विनी नाड़ी दायें पैरके अँगूठेतक फैली हुई है। पूषा पिङ्गलाके पृष्ठभागसे होती हुई दायें नेत्रतक फैली हुई है और पयस्विनी नाड़ी विद्वानोंद्वारा दाहिने कानतक फैली हुई बतायी जाती है। सरस्वती नाड़ी ऊपरकी ओर जिह्वातक फैली हुई है। हस्तिजिह्वा नाड़ी बायें पैरके अँगूठेतक स्थित है। शङ्खिनी नामकी जो नाड़ी बतायी गयी है, वह बायें कानतक फैली हुई है। गान्धाराकी स्थिति वेदान्तज्ञोंद्वारा बायें नेत्रतक बतायी गयी है। विश्वोदरा नामकी नाड़ी नाभिकन्दके मध्यमें स्थित है॥ १—२२॥

'प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकर (कृकल), देवदत्त और धनञ्जय—ये दस प्राणवायु सब नाड़ियोंमें सञ्चरण करते हैं। इन दसोंमें प्राण आदि पाँच ही मुख्य हैं। सुव्रत! इन पाँचोंमें भी प्राण और अपान ही श्रेष्ठ एवं आदरणीय माने गये हैं। इनमेंसे प्राण नामक वायु मुख और नासिकाके मध्यभागमें, नाभिके मध्यभागमें तथा हृदयमें नित्य निवास करता है। अपान वायु गुदा, लिङ्ग, जाँघों, घुटनों, सम्पूर्ण उदर, कटि, नाभि तथा पिण्डलियोंमें भी सदा वर्तमान रहता है। व्यान वायु दोनों कानों, दोनों नेत्रों, दोनों कंधों, दोनों टखनों, प्राणके स्थानों और कण्ठमें भी व्याप्त रहता है। उदान वायुकी स्थिति दोनों हाथों और पैरोंमें जाननी चाहिये। समान वायु निःसंदेह सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त होकर रहता है। नाग आदि पाँचों वायु चमड़ी और हड्डी आदिमें रहते हैं॥ २३—२९॥

'साङ्कृते! उच्छ्वास और निःश्वास (श्वासको भीतर ले जाना और बाहर निकालना) और खाँसना—ये प्राणवायुके कार्य हैं। मल-मूत्रादिका त्याग अपान वायुका कार्य है। मुनिपुङ्गव! समान वायु सब शरीरको सम अवस्थामें रखता है। उदान वायु ही ऊपरकी ओर गमन करता है। वेदान्ततत्त्वके ज्ञाता विद्वानोंका कहना है कि व्यानवायु ध्वनिका व्यञ्जक है। महामुने! डकार, वमन आदि नाग वायुका कार्य है। शरीरमें शोभा आदिका सम्पादन धनञ्जय वायुका कार्य बताया गया है। आँखोंका खोलना, मीचना आदि कूर्म नामक वायुकी प्रेरणासे होता है। कृकर (कृकल) नामकी वायु भूख-प्यासका कारण है। तन्द्रा और आलस्य देवदत्त वायुका कार्य बताया गया है॥ ३०—३४॥

'मुने! सुषुम्ना नाड़ीके देवता शिव और इडाके देवता भगवान् विष्णु हैं। पिङ्गला नाड़ीके ब्रह्माजी और सरस्वती नाड़ीके विराट् देवता हैं। पूषाके देवता पूषा नामक आदित्य हैं। वरुणा नाड़ीके देवता वायु हैं। हस्तिजिह्वा नामक नाड़ीके वरुण देवता हैं। मुनिश्रेष्ठ! यशस्विनी नाड़ीके देवता भगवान् भास्कर हैं। जलस्वरूप वरुण ही अलम्बुसा नाड़ीके देवता माने गये हैं। कुहूकी अधिष्ठात्री देवी क्षुधा हैं। गान्धारीके चन्द्रमा देवता हैं। इसी प्रकार शङ्खिनीके देवता भी चन्द्रमा

१. पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार—ये आठ प्रकृतियाँ हैं।

ही हैं। पयस्विनीके देवता प्रजापति हैं। विश्वोदरा नाड़ीके अधिदेवता भगवान् अग्निदेव हैं ॥ ३५—३८ ॥

'वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ मुनीश्वर! इडा नामकी नाड़ीमें नित्य ही चन्द्रमा सञ्चार करते हैं और पिङ्गला नाड़ीमें सूर्यदेव सञ्चरण करते हैं। पिङ्गला नाड़ीसे इडा नाड़ीमें जो संवत्सरात्मक प्राणमय सूर्यका संक्रमण होता है, उसे वेदान्ततत्त्वके ज्ञाता महर्षियोंने उत्तरायण कहा है। इसी प्रकार इडासे पिङ्गलामें जो प्राणात्मक सूर्यका संक्रमण होता है, वह दक्षिणायन कहा गया है। जब प्राण इडा और पिङ्गलाकी संधिमें आता है, उस समय, हे पुरुषश्रेष्ठ! इस शरीरके भीतर अमावस्या कही जाती है। जब प्राण मूलाधारमें प्रवेश करता है, उस समय हे तापसोंमें श्रेष्ठ विद्वद्वर! तपस्वियोंने आद्य विषुव नामक योगका उदय कहा है। मुनिश्रेष्ठ! जब प्राणवायु मूर्द्धा (सहस्रार) में प्रवेश करता है, उस समय तत्त्वका विचार करनेवाले महर्षियोंने अन्तिम विषुव योगकी स्थिति बतायी है। समस्त उच्छ्वास और निःश्वास मास-संक्रान्ति माने गये हैं। इडा नाड़ीद्वारा जब प्राण कुण्डलिनीके स्थानपर आ जाता है, तब हे तत्त्वज्ञशिरोमणि! चन्द्रग्रहण-काल कहा जाता है। इसी प्रकार जब प्राण पिङ्गला नाड़ीके द्वारा कुण्डलिनीके स्थानपर आता है, तब हे मुनिवर! सूर्यग्रहणकी वेला होती है ॥ ३९—४७ ॥

'अपने शरीरमें मस्तकके स्थानपर श्रीशैल नामक तीर्थ है। ललाटमें केदारतीर्थ है। हे महाप्राज्ञ! नासिका और दोनों भौंहोंके मध्यमें काशीपुरी है। दोनों स्तनोंकी जगहपर कुरुक्षेत्र है। हृदयकमलमें तीर्थराज प्रयाग है। हृदयके मध्यभागमें चिदम्बरतीर्थ है। मूलाधार-स्थानमें कमलालय तीर्थ है। जो इस आत्मतीर्थ (अपने भीतर रहनेवाले) का परित्याग करके बाहरके तीर्थोंमें भटकता रहता है, वह हाथमें रक्खे हुए बहुमूल्य रत्नको त्यागकर काँच खोजता फिरता है। भावनामय तीर्थ ही सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है। भाव ही सम्पूर्ण कर्मोंमें प्रमाणभूत है। पत्नी और पुत्री दोनोंका आलिङ्गन किया जाता है, किंतु दोनोंमें भावका बहुत अन्तर होता है; पत्नीका आलिङ्गन दूसरे भावसे और पुत्रीका आलिङ्गन दूसरे भावसे किया जाता है। योगी पुरुष अपने आत्मतीर्थमें अधिक विश्वास और श्रद्धा रखनेके कारण जलसे भरे तीर्थों और काष्ठ आदिसे निर्मित देवप्रतिमाओंकी शरण नहीं लेते। महामुने! बाह्यतीर्थसे श्रेष्ठ आन्तरिक तीर्थ ही है। आत्मतीर्थ ही महातीर्थ है; उसके सामने दूसरे तीर्थ निरर्थक हैं। शरीरके भीतर रहनेवाला दूषित चित्त बाह्यतीर्थोंमें गोते लगानेमात्रसे शुद्ध नहीं होता, जैसे मदिरासे भरा हुआ घड़ा ऊपरसे सैकड़ों बार जलसे धो लिया जाय तो भी वह अपवित्र ही रहता है। अपने भीतर होनेवाले जो विषुव-योग, उत्तरायण-दक्षिणायन काल और सूर्य-चन्द्रमाके ग्रहण हैं, उनमें नासिका और भौंहोंके मध्यमें स्थित वाराणसी आदि तीर्थोंमें भावनाद्वारा स्नान करके मनुष्य शुद्ध हो सकता है। मुनिश्रेष्ठ! ज्ञानयोगमें तत्पर रहनेवाले महात्माओंका चरणोदक अज्ञानी मनुष्योंके अन्तःकरणको शुद्ध करनेके लिये उत्तम तीर्थ है ॥ ४८—५६ ॥

'शिवस्वरूप परमात्मा इस शरीरमें ही प्रतिष्ठित हैं; इनको न जाननेवाला मूढ़ मनुष्य तीर्थ, दान, जप, यज्ञ, काठ और पत्थरमें ही सर्वदा शिवको ढूँढ़ा करता है। साङ्कृते! जो अपने भीतर नित्य-निरन्तर स्थित रहनेवाले मुझ परमात्माकी उपेक्षा करके केवल बाहरकी स्थूल प्रतिमाका ही सेवन करता है, वह हाथमें रक्खे हुए अन्नके ग्रासको फेंककर केवल अपनी कोहनी चाटता है। योगी पुरुष अपने आत्मामें ही शिवका दर्शन करते हैं, प्रतिमाओंमें नहीं। अज्ञानी मनुष्योंके हृदयोंमें भगवान्‌के प्रति भावना जाग्रत् करनेके लिये ही प्रतिमाओंकी कल्पना की गयी है ॥ ५७—५९ ॥

'जिससे भिन्न न कोई पूर्व है न पर (न कारण है, न कार्य), जो सत्य, अद्वितीय और प्रज्ञानघनस्वरूप है, उस आनन्दमय ब्रह्मको जो अपने आत्माके रूपमें देखता है, वही यथार्थ देखता है। महामुने! यह मनुष्यका शरीर नाड़ियोंका समुदायमात्र है, जो सदा सारहीन है। इसके प्रति आत्मभावका परित्याग करके बुद्धिके द्वारा यह निश्चय करो कि 'मैं' ही परमात्मा हूँ। जो इस शरीरमें रहकर भी इससे सदा भिन्न है, महान् है, व्यापक है और सबका ईश्वर है, उस आनन्दस्वरूप अविनाशी परमात्माको जानकर धीर पुरुष कभी शोक नहीं करता ॥ ६०—६२ ॥

'मुने! ज्ञानके बलसे भेदजनक अज्ञानका नाश हो जानेपर कौन आत्मा और ब्रह्ममें मिथ्या भेदका आरोप करेगा' ॥ ६३ ॥

॥ चतुर्थ खण्ड समाप्त ॥ ४ ॥

पञ्चम खण्ड

नाड़ी-शोधन एवं आत्मशोधनकी विधियाँ

साङ्कृतिने पूछा—'ब्रह्मन्! नाड़ीकी शुद्धि कैसे होती है, यह मुझे ठीक-ठीक और संक्षेपमें बताइये जिससे कि नाड़ी-शुद्धिपूर्वक सदा परमात्माका चिन्तन करते हुए मैं जीवन्मुक्त हो जाऊँ' ॥ १ ॥

भगवान् दत्तात्रेयने कहा—'साङ्कृते! सुनो, मैं संक्षेपसे नाड़ी-शुद्धिका वर्णन करता हूँ। शास्त्रोंके विधिवाक्योंद्वारा जो कर्म बतलाये गये हैं, उनमें कर्तव्यबुद्धिसे संलग्न रहे। कामना और फलप्राप्तिके संकल्पको त्याग दे। योगके यम आदि आठों अङ्गोंका सेवन करते हुए शान्त एवं सत्यपरायण रहे। अपने आत्माके चिन्तनमें ही स्थित रहे और ज्ञानी महापुरुषोंकी सेवामें उपस्थित हो उनसे भलीभाँति शिक्षा ले। तत्पश्चात् पर्वतशिखर, नदी-तट, बिल्व-वृक्षके समीप, एकान्त वन अथवा और किसी पवित्र एवं मनोरम प्रदेशमें आश्रम बनाकर एकाग्रचित्तसे वहाँ रहे। फिर वहाँ पूर्व या उत्तरकी ओर मुँह करके किसी आसनसे बैठे। ग्रीवा, मस्तक और शरीरको समान भावसे रखकर मुख बंद किये हुए भलीभाँति स्थिर हो जाय। नासिकाके अग्रभागपर चन्द्रमण्डलकी भावना करे और वहाँ प्रणवके बिन्दुमें तुरीयस्वरूप परमात्माको अमृतका स्रोत बहाते हुए नेत्रोंद्वारा प्रत्यक्ष देखे। उस समय चित्तको पूर्णतः एकाग्र रक्खे। फिर इडा नाड़ीके द्वारा (अर्थात् नासिकाके बायें छिद्रसे) प्राणवायुको खींचकर उदरमें भर ले और देहके मध्यमें स्थित जो अग्नि है, उसका ध्यान करे मानो उस वायुका सम्पर्क पाकर अग्निदेव ज्वालाओंके साथ प्रज्वलित हो उठे हों। फिर प्रणवके बिन्दु और नादसे संयुक्त अग्नि-बीज (रं) का चिन्तन करे। तदनन्तर बुद्धिमान् साधक पिङ्गला नाड़ी (अर्थात् नासिकाके दाहिने छिद्रद्वारा) प्राणवायुको विधिपूर्वक शनैः-शनैः बाहर निकाले। फिर पिङ्गला नाड़ीद्वारा पूर्ववत् प्राणवायुको खींचकर अपने भीतर भर ले और अग्निबीजका चिन्तन करे। उसके बाद इडा नाड़ीद्वारा फिर उसे धीरे-धीरे बाहर निकाल दे। इस प्रकार एकान्तमें लगातार तीन-चार दिनोंतक अथवा प्रतिदिन तीनों संध्याओंमें तीन-चार या छः बार यह क्रिया करे। इससे उसकी नाड़ी शुद्ध हो जाती है। फिर इस नाड़ीशुद्धिके पृथक् चिह्न भी उपलक्षित होते हैं। शरीर हल्का हो जाता है, जठराग्नि उद्दीप्त हो जाती है और अनाहतनादकी अभिव्यक्ति होने लगती है। यह चिह्न सिद्धिका सूचक है। जबतक यह चिह्न दिखायी न दे, तबतक इसी प्रकार अभ्यास करता रहे ॥ २–१२ ॥

'अथवा यह सब छोड़कर आत्मशुद्धिका अनुष्ठान करे। यह आत्मा सदा शुद्ध, नित्य, सुखस्वरूप तथा स्वयम्प्रकाश है। अज्ञानवश ही यह मलिन प्रतीत होता है। ज्ञान होनेपर यह सदा विशुद्धरूपमें ही प्रकाशित होता है। जो ज्ञानरूपी जलसे अज्ञानरूपी मल और कीचड़को धो डालता है, वही सर्वदा शुद्ध है; दूसरा नहीं। क्योंकि वह दूसरा मनुष्य ज्ञानकी अवहेलना करके लौकिक कर्मोंमें आसक्त है ॥ १३-१४ ॥

॥ पञ्चम खण्ड समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठ खण्ड

प्राणायामकी विधि, उसके प्रकार, फल तथा विनियोग

'साङ्कृते! अब मैं प्राणायामका क्रम बतलाता हूँ, इसे श्रद्धापूर्वक सुनो। पूरक, कुम्भक और रेचक—इन तीनोंसे जो प्राण-संयम सम्पन्न होता है, उसे प्राणायाम कहा गया है। ॐकारके जो तीन वर्ण अकार, उकार और मकार हैं, वे क्रमशः पूरक, कुम्भक और रेचकसे सम्बन्ध रखनेवाले बताये गये हैं। इन तीनों वर्णोंका समूह ही प्रणव कहा गया है। अतः प्राणायाम भी प्रणवमय ही है। इडा नाड़ीके द्वारा वायुको धीरे-धीरे भीतर खींचकर उसे उदरमें भरे और वहाँ स्थित षोडशमात्राविशिष्ट अकारका चिन्तन करे। तत्पश्चात् उस उदरमें भरी हुई वायुको कुछ कालतक धारण किये रहे और उस समय चौसठ मात्रासे विशिष्ट उकारके स्वरूपका चिन्तन करते हुए प्रणवका जप करता रहे। जबतक सम्भव हो, जपमें संलग्न रहकर वायुको धारण किये रहे। तदनन्तर विद्वान् पुरुष बत्तीस मात्राओंसे विशिष्ट मकारका चिन्तन करते हुए पिङ्गला नाड़ीके द्वारा धीरे-धीरे उस भरी हुई वायुको बाहर निकाले। यह एक प्राणायाम है। इसी प्रकार अभ्यास करता रहे ॥ १-६ ॥

'पुनः पिङ्गला नाड़ीके द्वारा वायुको धीरे-धीरे भीतर

भरते हुए षोडश मात्रासे विशिष्ट अकारस्वरूप प्रणवका एकाग्रचित्त होकर चिन्तन करे। जब वायु भर जाय तब विद्वान् पुरुष मन और इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए चौसठ मात्राओंसे विशिष्ट उकारके स्वरूपका कुछ कालतक चिन्तन करे और प्रणवका जप करते हुए वायुको धारण किये रहे। इसके बाद बत्तीस मात्राओंसे विशिष्ट मकारका चिन्तन करते हुए इडा नाड़ीके द्वारा धीरे-धीरे वायुको निकाल दे। बुद्धिमान् पुरुष इसी प्रकार इडा नाड़ीके द्वारा वायुको भरते हुए पुनः अभ्यास करे। मुनीश्वर! इस प्रकार प्रतिदिन प्राणायामका अभ्यास करना चाहिये। नित्य ऐसा अभ्यास करनेसे मनुष्य छः महीनोंमें ज्ञानवान् हो जाता है। एक वर्षतक पूर्वोक्त प्रकारसे प्राणायाम करनेसे साधकको ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है। इसलिये प्राणायामका नित्य अभ्यास करना चाहिये। जो मनुष्य योगाभ्यासमें संलग्न और सदा अपने धर्मके पालनमें तत्पर है, वह प्राणायामके द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करके संसारसे मुक्त हो जायगा ॥ ७–११ ॥

'जिसके द्वारा बाहरसे वायुको उदरके भीतर भरा जाता है, वह पूरक है। जलसे भरे हुए कुम्भ (घड़े) की भाँति वायुको उदरमें धारण किये रहना कुम्भक कहलाता है और उस वायुको पुनः उदरसे बाहर निकालना रेचक कहलाता है ॥ १२–१३ ॥

'जो प्राणायाम प्रस्वेदजनक होता है अर्थात् जिसको करते समय शरीरमें पसीना निकल आता है, वह सब प्राणायामोंमें अधम माना गया है। यदि प्राणायाम करते समय शरीरमें कम्पन होने लगे तो उसे मध्यम श्रेणीका प्राणायाम समझना चाहिये; तथा यदि प्राणायामके समय शरीर ऊपरको उठता हुआ-सा जान पड़े तो उसे उत्तम माना गया है। जबतक उत्थानकारक प्राणायाम सिद्ध न हो जाय, तबतक पूर्वोक्त दोनों प्रकारके प्राणायामोंका ही अभ्यास करता रहे। उपर्युक्त उत्तम प्राणायामके सम्पन्न हो जानेपर विद्वान् पुरुष सुखी हो जाता है। सुव्रत! प्राणायामसे चित्त शुद्ध हो जाता है और विशुद्ध चित्तमें अन्तःप्रकाशस्वरूप शुद्ध आत्मतत्त्वका साक्षात्कार होने लगता है। प्राणायाममें संलग्न रहनेवाले महात्मा पुरुषका प्राण चित्तके साथ संयुक्त हो परमात्मामें स्थित हो जाता है और उसका शरीर कुछ-कुछ ऊपरको उठने लगता है। इससे ज्ञान होकर मोक्ष प्राप्त होता है। रेचक और पूरक छोड़कर विशेषतः कुम्भकका ही नित्य अभ्यास करना चाहिये। यों करनेवाला योगी सब पापोंसे मुक्त होकर उत्तम ज्ञानको प्राप्त कर लेता है। वह मनके समान वेगवान् होता एवं मनपर विजय पा जाता है। उसके शरीरमें बालोंका पकना आदि दोष दूर हो जाते हैं। प्राणायाममें अनन्य निष्ठा रखनेवाले पुरुषके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है। इसलिये पूर्ण प्रयत्न करके प्राणायामोंका अभ्यास करे ॥ १४–२० ॥

'सुव्रत! अब मैं प्राणायामके विनियोग (रोगविशेषकी निवृत्तिके लिये उपयोग) बतलाता हूँ। दोनों संध्याओंके समय अथवा ब्राह्मवेलामें अथवा मध्याह्नके समय सदा बाहरकी वायुको भीतर खींचकर उदरमें भरने तथा उदर, नासिकाके अग्रभाग, नाभिके मध्यभाग और पैरके अँगूठेमें उस वायुको धारण करनेसे मनुष्य सब रोगोंसे मुक्त हो जाता है तथा सौ वर्षोंतक जीवित रहता है। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले मुनीश्वर! नासिकाके अग्रभागमें धारण करनेसे भी प्राण-वायुपर विजय प्राप्त हो जाती है। नाभिके मध्यभागमें धारण करनेसे समस्त रोगोंका निवारण हो जाता है। ब्रह्मन्! पैरके अँगूठेमें वायुका निरोध करनेसे शरीरमें हल्कापन आता है। योगका साधन करनेवाला जो मनुष्य सदा जिह्वाके द्वारा वायु खींचकर उसे पीता रहता है, वह थकावट और जलनसे मुक्त होकर नीरोग रहता है। जिह्वाद्वारा वायुको खींचकर उसे जिह्वाके मूलभागमें ही रोक दें और शान्तभावसे (भावनाद्वारा) अमृतपान करे। यों करनेसे वह सब प्रकारके सुख प्राप्त कर लेता है। जो इडा नाड़ीके द्वारा वायुको खींचकर उसे भौंहोंके बीचमें धारण करता और (भावनाद्वारा) विशुद्ध अमृतका पान करता है, वह सब रोगोंसे मुक्त हो जाता है। वैदिक तत्त्वको जाननेवाले साङ्कृति मुनि! इडा और पिङ्गला नाड़ियोंके द्वारा वायुको खींचकर यदि उसे नाभिमें धारण करे तो उससे भी मनुष्य सब व्याधियोंसे मुक्त हो जाता है। यदि एक मासतक तीनों सन्ध्याओंके समय जिह्वाद्वारा धीरे-धीरे वायुको भीतर खींचकर और पूर्वोक्त अमृतपानकी भावना करते हुए उसे नाभिमें रोके रहे तो वात और पित्तसे उत्पन्न सम्पूर्ण दोष निःसन्देह नष्ट हो जाते हैं। दोनों नासिका-छिद्रोंद्वारा वायुको भीतर खींचकर यदि उसे दोनों नेत्रोंमें धारण करे तो नेत्रके रोग नष्ट हो जाते हैं और कानोंमें उसे रोकनेसे कानके सब रोग नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार वायुको भीतर खींचकर यदि उसे मस्तकमें स्थापित करे तो सिरके सब रोग नष्ट हो जाते हैं। साङ्कृते! ये सब मैंने तुमसे सच्ची बातें बतायीं हैं ॥ २१—३१ ॥

'एकाग्रचित्त होकर स्वस्तिकासनसे बैठे और प्रणवका जप करते हुए धीरे-धीरे अपानवायुको ऊपरकी ओर उठाये

और कान आदि इन्द्रियोंको दोनों हाथोंसे भलीभाँति दबाये रक्खे—दोनों अँगूठोंसे दोनों कानोंको ढक ले, दोनों तर्जनी अँगुलियोंसे दोनों नेत्र आच्छादित कर ले तथा अन्य दो-दो अँगुलियोंसे नासिकाके दोनों छिद्रोंको बंद कर ले; इस प्रकार ऊपरकी सब इन्द्रियोंको आच्छादित करके उस वायुको तबतक मस्तकमें धारण किये रहे, जबतक आनन्दमय अमृतका आविर्भाव न हो जाय। महामुने! यों करनेसे ही प्राण ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश करता है। हे निष्पाप सांकृति! जब वायु ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश कर जाय तब पहले शङ्खध्वनिके समान एक गम्भीर नाद होने लगता है। बीचमें वह नाद मेघकी गर्जनाके समान हो जाता है। जब वायु मस्तकके मध्य भलीभाँति स्थित हो जाती है, उस समय पर्वतसे गिरते हुए झरनेकी कलकल-ध्वनिके समान शब्द होने लगता है। महामते! ऐसा होनेके पश्चात् योगी अत्यन्त प्रसन्नताका अनुभव करते हुए साक्षात् आत्माके सम्मुख हो जाता है। फिर आत्मतत्त्वका सम्यक् ज्ञान होता है और उस योगके प्रभावसे संसार-बन्धनका नाश हो जाता है॥ ३२–३७॥

'(अब प्राणवायुको जीतनेका दूसरा प्रकार बतलाते हैं—) गुदा और लिङ्गके बीचमें जो नाड़ी है, उसे सीवनी कहते हैं; क्योंकि वही शरीरके दो अर्धांशोंको सीलकर एक करती है। बुद्धिमान् मनुष्य अपने दायें और बायें रखनेसे उस सीवनीको स्थिरभावसे दबाकर बैठे और घुटनोंके नीचे जो सन्धि है, उसमें भगवान् त्र्यम्बकनामक ज्योतिर्लिङ्गकी भावना करे। साथ ही सरस्वतीदेवी और गणेशजीका भी ध्यान कर ले। फिर बिन्दुयुक्त प्रणवका जप करते हुए लिङ्गकी नलीके छिद्रद्वारा आगेकी ओरसे वायुको खींचकर उसे मूलाधारके मध्यमें स्थापित करे। वहाँ उस वायुको रोकनेसे वहाँकी अग्नि प्रदीप्त होकर कुण्डलिनीपर आरूढ़ हो जाती है। फिर उस अग्निको साथ लेकर वायु सुषुम्ना नाड़ीके द्वारा ऊपरको जाने लगती है। इस प्रकार अभ्यास करनेसे वायुपर विशेष रूपसे विजय प्राप्त हो जाती है॥ ३८—४२॥

'मुनिश्रेष्ठ! पहले पसीना निकलना, फिर कम्पन होना तत्पश्चात् शरीरका ऊपरकी ओर उठना—ये सब वायुपर विजय प्राप्त कर लेनेके चिह्न हैं। इस प्रकार अभ्यास करनेवाले पुरुषके सब रोग मूलतः नष्ट हो जाते हैं। साङ्कृते! भगन्दर तथा अन्य सब रोग भी मिट जाते हैं। बड़े और छोटे—सभी पातक नष्ट हो जाते हैं। पाप नष्ट हो जानेसे चित्त परम शुद्ध और दर्पणकी भाँति स्वच्छ हो जाता है। तत्पश्चात् हृदयमें ब्रह्मा आदि देवताओंके लोकोंतकमें प्राप्त होनेवाले भोगजनित सुखोंके प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार जो संसारसे विरक्त होता है, उसे कैवल्य-मोक्षका साधनभूत ज्ञान प्राप्त हो जाता है। उस ज्ञानसे नित्य कल्याणमय परमात्मदेवका तत्त्व जान लेनेके कारण सब प्रकारके बन्धनोंका सर्वथा नाश हो जाता है। जिसने एक बार भी ज्ञानमय अमृतरसका आस्वादन कर लिया, वह सब कार्योंको छोड़कर उसीकी ओर दौड़ पड़ता है। ज्ञानी पुरुष इस सम्पूर्ण जगत्को ज्ञानस्वरूप ही बताते हैं; जिनकी दृष्टि कुत्सित है, वे दूसरे-दूसरे अज्ञानी मनुष्य इस जगत्को विषयरूपमें देखते हैं। आत्मस्वरूपका भलीभाँति ज्ञान होनेपर अज्ञानका पूर्णतः नाश हो जाता है। और हे महाप्राज्ञ! अज्ञानके नष्ट हो जानेपर राग आदिका भी संहार हो जाता है। राग आदि न रहनेसे पुण्य-पापका भी लय हो जाता है। पुण्य-पापके न रहनेसे ज्ञानी मनुष्यको फिर शरीर धारण नहीं करना पड़ता॥ ४३–५१॥

॥ षष्ठ खण्ड समाप्त॥ ६॥

सप्तम खण्ड

प्रत्याहारके विविध प्रकार तथा फल

'महामुने! अब मैं प्रत्याहारका वर्णन करूँगा। विषयोंमें स्वभावतः विचरनेवाली इन्द्रियोंको बलपूर्वक वहाँसे लौटा लानेका जो प्रयत्न है, उसीको प्रत्याहार कहते हैं। 'मनुष्य जो कुछ देखता है, वह सब ब्रह्म है' यों समझते हुए ब्रह्ममें चित्तको एकाग्र कर लेना—यह ब्रह्मवेत्ताओंद्वारा बतलाया हुआ प्रत्याहार है। मनुष्य मरणकालतक जो कुछ भी शुद्ध या अशुद्ध कर्म करता है, वह सब परमात्माके लिये करे—परमात्माको ही उसे समर्पित कर दे; यह भी प्रत्याहार कहलाता है। अथवा नित्य और काम्य, सब प्रकारके कर्मोंको भगवान्की आराधनाके भावसे करे—उन कर्मोंद्वारा भगवान्की पूजा करे; इसे भी प्रत्याहार कहते हैं। अथवा वायुको एक स्थानसे खींचकर दूसरे स्थानपर स्थापित करे—दाँतके मूलभागसे वायुका आकर्षण करके उसे कण्ठमें स्थापित करे, कण्ठसे हृदयमें ले जाय, हृदयसे खींचकर उसे नाभि-प्रदेशमें स्थापित करे, नाभि-प्रदेशसे कुण्डलिनीमें ले जाकर रोके, कुण्डलिनीके स्थानसे हटाकर विद्वान् पुरुष उसे मूलाधारमें

स्थापित करे, तदनन्तर अपानवायुके स्थानसे उस वायुको हटाकर कटिके दोनों भागोंमें ले जाय और वहाँसे जाँघोंके मध्यभागमें ले जाय । जाँघोंसे दोनों घुटनोंमें, घुटनोंसे पिंडलियोंमें और पिंडलियोंसे पैरके अँगूठेमें ले जाकर उस वायुको रोके । प्रत्याहार-परायण महात्माओंने प्राचीन कालसे इसीको प्रत्याहार कहा है ॥ १—९ ॥

'इस प्रकार प्रत्याहारके अभ्यासमें लगे हुए महात्मा पुरुषके सब पाप तथा जन्म-मरणरूप व्याधि नष्ट हो जाती है। स्वस्तिकासनका आश्रय ले विद्वान् पुरुष स्थिरभावसे बैठे और नासिकाके दोनों छिद्रोंसे वायुको भीतर खींचकर उसे पैरसे लेकर मस्तकतकके स्थानोंमें पूर्ण कर दे । दोनों पैरोंमें, मूलाधारमें, नाभिकन्दमें, हृदयके मध्यभागमें, कण्ठके मूलभागमें, तालुमें, भौंहोंके मध्यभागमें, ललाटमें तथा मस्तकमें वायुको धारण करे । यह वायु-धारणात्मक प्रत्याहार है ॥ १०—१२ ॥

'विद्वान् पुरुष एकाग्रचित्त हो देहसे आत्मबुद्धिको हटाकर उसे स्वयं ही निर्द्वन्द्व एवं निर्विकल्पस्वरूप अपने आत्मामें स्थापित करे । वेदान्ततत्त्वके जाननेवाले महात्माओंने इसीको वास्तविक प्रत्याहार बताया है । इस प्रकार प्रत्याहारका अभ्यास करनेवाले पुरुषके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है' ॥ १३—१४ ॥

॥ सप्तम खण्ड समाप्त ॥ ७ ॥

अष्टम खण्ड

धारणाके दो प्रकार

'सुव्रत ! अब मैं पञ्च धारणाओंका वर्णन करूँगा । अपने शरीरके भीतर जो आकाश है, उसमें बाह्य आकाशकी धारणा करे । इसी प्रकार प्राणमें बाहरी वायुकी, जठरानलमें बाह्य अग्निकी, शरीरगत जलके अंशमें ही बाह्य जल-तत्त्वकी तथा शरीरके पार्थिव भागमें ही समस्त पृथ्वीकी धारणा करे और प्रत्येक तत्त्वकी धारणाके समय क्रमशः हं, यं, रं, वं, लं—इन बीज-मन्त्रोंका उच्चारण करे । यह धारणा सर्वश्रेष्ठ बतायी गयी है; यह सब पापोंका नाश करनेवाली है । पैरसे लेकर घुटनेतकका भाग पृथिवीका अंश माना गया है । घुटनेसे लेकर गुदातकका भाग जलका अंश बताया जाता है । गुदासे ऊपर हृदयतकका भाग अग्निका अंश है । हृदयसे ऊपर भौंहोंके मध्यभागतक वायुका अंश है तथा मस्तकका भाग आकाशका अंश बताया गया है । हे महाप्राज्ञ ! पृथिवीके भागमें ब्रह्माका, जलके अंशमें भगवान् विष्णुका, अग्निके अंशमें महादेवजीका, वायुके अंशमें ईश्वरका तथा आकाशके अंशमें सदाशिवका ध्यान करे* ॥ १—६ ॥

'अथवा मुनिश्रेष्ठ ! तुमसे एक दूसरी धारणाका वर्णन करता हूँ । बुद्धिमान् पुरुष अन्तर्यामी पुरुष (आत्मा)में सबपर शासन करनेवाले बोधमय, आनन्दमय एवं कल्याणस्वरूप परमात्माकी प्रतिदिन धारणा करे । इससे सब पापोंकी शुद्धि हो जाती है । कार्यस्वरूप ब्रह्मा आदिका अपने-अपने कारणमें लय करके सबके परम कारण, अनिर्वचनीय तथा बुद्धिसे परे जो अव्यक्त परमात्मा हैं, उनकी अपने आत्मामें धारणा करे—अर्थात् ये साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा ही अन्तर्यामी आत्माके रूपमें विराजमान हैं, ऐसा निश्चय करे तथा इस प्रकार आत्मधारणा करते समय अपने मनको सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त प्रणवस्वरूप परमात्मामें ही स्थापित करे । साथ ही मनके द्वारा समस्त इन्द्रियोंको भी अपने-अपने विषयोंसे हटाकर आत्मामें संयुक्त करे' ॥ ७—९ ॥

॥ अष्टम खण्ड समाप्त ॥ ८ ॥

नवम खण्ड

दो प्रकारके ध्यान तथा उनका फल

'अब मैं संसार-बन्धनका नाश करनेवाले ध्यानका प्रकार बतलाता हूँ । जो समस्त संसाररूपी रोगके एकमात्र औषध, ऊर्ध्वरेता, भयङ्कर नेत्रोंवाले, योगीश्वरोंके भी ईश्वर, विश्वरूप तथा महेश्वररूप हैं, उन ऋत एवं सत्यस्वरूप परब्रह्म परमात्माका अपने आत्मारूपसे आदरपूर्वक चिन्तन करे । अपनी बुद्धिमें यह निश्चय करे कि वह परब्रह्म परमात्मा मैं ही हूँ ॥ १-२ ॥

'अथवा ध्यानका दूसरा प्रकार यों है—जो सत्यस्वरूप, सबका ईश्वर, ज्ञानरूप, आनन्दमय, अद्वितीय, अत्यन्त निर्मल, नित्य तथा आदि, मध्य एवं अन्तसे रहित है, स्थूल प्रपञ्चसे

* यह पञ्चभूतोंकी धारणा 'रामतापनीयोपनिषद्' पृष्ठ ५३८ की टिप्पणीमें 'भूत-शुद्धि'के नामसे दी गयी है, उसको पढ़नेसे भूतधारणाका स्वरूप स्पष्ट हो जायगा ।

सर्वथा परे है, आकाशसे भिन्न है, स्पर्शमें आने योग्य वायुसे भी विलक्षण है, नेत्रोंसे दीख पड़नेवाले अग्नितत्त्वसे भी सर्वथा भिन्न है, रसस्वरूप जल और गन्धस्वरूप पृथिवीसे भी सर्वथा विलक्षण है, जिसे प्रत्यक्षादि प्रमाणोंद्वारा नहीं जाना जा सकता, जो अनुपम है, देहसे अतीत है, उस सच्चिदानन्द-स्वरूप एवं अन्तरहित परब्रह्मका अपने आत्माके रूपमें ध्यान करे; बुद्धिके द्वारा यह निश्चय करे कि वह परब्रह्म परमात्मा मैं ही हूँ। इस प्रकार किया हुआ निर्विशेषका ध्यान मोक्षका साधक होता है ॥ ३–५ ॥

'इस तरह ध्यानके अभ्यासमें लगे हुए महात्मा पुरुषको क्रमशः वेदान्तवर्णित ब्रह्मतत्त्वका विशेष ज्ञान हो जाता है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है' ॥ ६ ॥

॥ नवम खण्ड समाप्त ॥ ९ ॥

दशम खण्ड

समाधि एवं उसका फल

'अब मैं संसार-बन्धनका नाश करनेवाली समाधिका वर्णन करूँगा। परमात्मा और जीवात्माकी एकताके विषयमें निश्चयात्मक बुद्धिका उदय होना ही समाधि है। यह आत्मा नित्य, सर्व-व्यापी, कूटस्थ—एकरस एवं सब प्रकारके दोषोंसे रहित है। यह एक होते हुए भी मायाजनित भ्रमके कारण भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है; स्वरूपतः उसमें कोई भेद नहीं है। अतः केवल अद्वैत ही सत्य है। प्रपञ्च या संसार नामकी कोई वस्तु नहीं है। जैसे आकाश ही घटाकाश और मठाकाशके नामसे पुकारा जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुषोंने एक ही परमात्माको जीव और ईश्वर—इन दो रूपोंमें कल्पित कर लिया है। मैं न देह हूँ, न प्राण हूँ, न इन्द्रियसमुदाय हूँ और न मन ही हूँ; सदा साक्षीरूपमें स्थित होनेके कारण मैं एकमात्र शिवस्वरूप परमात्मा हूँ—मुनिश्रेष्ठ! इस प्रकारकी जो निश्चयात्मिका बुद्धि है, वही यहाँ समाधि कहलाती है ॥ १–५ ॥

'मैं वह परमात्मा ही हूँ, संसार-बन्धनमें बँधा हुआ जीव नहीं हूँ; इसलिये मुझसे भिन्न किसी भी वस्तुकी किसी भी कालमें सत्ता नहीं है। जैसे फेन और तरङ्ग आदि समुद्रसे ही उठते हैं और पुनः समुद्रमें ही लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार यह जगत् मुझमें ही उत्पन्न और विलीन होता रहता है। अतः सृष्टिका कारणभूत समष्टि मन भी मुझसे पृथक् नहीं है। यह जगत् और माया भी मुझसे अलग कोई अस्तित्व नहीं रखते। इस प्रकार जिस पुरुषको ये परमात्मा अपने आत्मा-रूपसे अनुभव होने लगते हैं, वह परम पुरुषार्थस्वरूप साक्षात् परमामृतमय परमात्मभावको प्राप्त हो जाता है। जब योगीके मनमें सर्वत्र व्यापक आत्मचैतन्यका अपरोक्ष अनुभव होने लगता है, तब वह स्वयं परमात्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाता है। जब ज्ञानी महात्मा सब भूतोंको अपनेमें ही देखता है और अपनेको ही सम्पूर्ण भूतोंमें प्रतिष्ठित देखता है, तब वह साक्षात् ब्रह्म हो जाता है। जब समाधिमें स्थित पुरुष परमात्मासे एकीभूत होकर अपनेसे भिन्न किसी भी भूतको नहीं देखता, तब वह केवल परमात्म-स्वरूपसे प्रतिष्ठित होता है। जब मनुष्य केवल अपने आत्मा-को ही परमार्थ—सत्यस्वरूप देखता है और सम्पूर्ण जगत्को मायाका विलासमात्र मानता है, तब उसे परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।'

महामुनि भगवान् दत्तात्रेयजी इस प्रकार उपदेश देकर मौन हो गये तथा मुनिवर साङ्कृति उस उपदेशको हृदयङ्गम करके अपने यथार्थ स्वरूपसे स्थित हो अत्यन्त निर्भय स्थितिमें पहुँचकर सुखसे रहने लगे ॥ ६–१३ ॥

॥ दशम खण्ड समाप्त ॥ १० ॥

॥ सामवेदीय जाबालदर्शनोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कृष्णयजुर्वेदीय

शुकरहस्योपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम खण्ड

भगवान् शंकरका शुकदेवजीको उपदेश; 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके षडङ्गन्यास

अब हम रहस्योपनिषद्की व्याख्या करते हैं । एक समय देवर्षिगणोंने पितामह ब्रह्माजीकी पूजा की और प्रणाम करके उनसे पूछा—'भगवन् ! हमें गूढ़ उपनिषत्तत्त्व बतलायें ।' तब ब्रह्माजीने कहा—पहले एक समय महातेजस्वी, समस्त वेदोंके ज्ञाता, तपोनिधि वेदव्यासने पार्वतीके साथ भगवान् शंकरको दण्डवत् प्रणाम करके, हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना की थी—॥ १ ॥

श्रीवेदव्यासजीने कहा—'देव-देव, महाप्राज्ञ, जीवके बन्धनको काटनेका दृढ़ व्रत धारण करनेवाले प्रभो ! मेरे पुत्र शुकदेवके वेदाध्ययनके लिये किये जानेवाले उपनयन-संस्कार-कर्ममें यह प्रणव एवं गायत्री-मन्त्रके उपदेशका समय आ गया है । अतः हे जगद्गुरो ! आप उन्हें ब्रह्म—प्रणव एवं परमात्म-तत्त्वका उपदेश करें' ॥ २-३ ॥

भगवान् शङ्करने कहा—'मेरे द्वारा कैवल्यस्वरूप साक्षात् सनातन परब्रह्मका उपदेश दिये जानेपर तुम्हारा पुत्र वैराग्य-पूर्वक सब कुछ छोड़कर स्वतः प्रकाशस्वरूपको प्राप्त कर लेगा । तात्पर्य यह कि मेरे द्वारा पुत्रको ब्रह्मज्ञानका उपदेश करानेका आग्रह करोगे तो पुत्र विरक्त हो जायगा' ॥ ४ ॥

श्रीवेदव्यासजीने प्रार्थना की—'महेश्वर ! मेरे पुत्रका जो भी होना हो, सो हो; किंतु इस उपनयन-कर्मके समय आपकी कृपासे, आपके द्वारा ब्रह्मज्ञानका उपदेश पाकर मेरा पुत्र शीघ्र ही सर्वज्ञ हो जाय ! आपकी कृपासे वह चारों प्रकारके (सायुज्य, सामीप्य, सारूप्य एवं सालोक्य) मोक्षोंको प्राप्त करे' ॥ ५-६ ॥

श्रीवेदव्यासजीकी ऐसी प्रार्थना सुनकर भगवान् शङ्कर प्रसन्न होकर सम्पूर्ण देवर्षियोंकी सभामें उपदेश देनेके लिये भगवती पार्वतीके साथ दिव्य आसनपर विराजमान हुए । तब कृत-कृत्य (सफलमनोरथ) श्रीशुकदेवजीने आकर अत्यन्त भक्तिपूर्वक उन (भगवान् शिव)से प्रणवकी दीक्षा ग्रहण की और फिर उन भगवान् शङ्करसे यह प्रार्थना की—'देवाधिदेव, सर्वज्ञ, सच्चिदानन्दस्वरूप, उमारमण, भूत-नाथ, दयानिधे ! आप प्रसन्न हों । आपने मुझे प्रणवके अन्तर्गत (प्रणवात्मारूप) एवं उससे परे स्थित परम ब्रह्मका उपदेश तो कर दिया; अब मैं विशेषतः **'तत्त्वमसि'**, **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** प्रभृति चारों महावाक्योंका षडङ्गन्यास क्रमपूर्वक सुनना चाहता हूँ । सदाशिव प्रभो ! अब कृपा करके आप उनका रहस्य बतलायें' ॥ ७—११ ॥

भगवान् सदाशिव बोले—'हे ज्ञाननिधि शुकदेवजी ! मुने ! तुम अत्यन्त बुद्धिमान् हो । तुम्हें अनेकों साधुवाद । तुमने वेदोंमें छिपे हुए, पूछने योग्य रहस्यको ही पूछा है; अतः रहस्योपनिषद् नामसे प्रसिद्ध इस गूढ़ रहस्यमय उपदेशका षडङ्गन्यास-सहित वर्णन किया जाता है, जिसके भली प्रकार जान लेने मात्रसे साक्षात् मोक्ष प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं । फिर (नियम यह है कि) गुरु अङ्गहीन वाक्योंका उपदेश न करे । सभी महावाक्योंका उपदेश उनके षडङ्गके साथ ही करे । जैसे चारों वेदोंमें उपनिषद्भाग (ज्ञानकाण्ड) शिरःस्थानीय (सर्वोत्तम) है, वैसे ही समस्त उपनिषदोंमें यह रहस्यो-

पनिषद् शिरःस्थानीय (सर्वोत्तम) है। जिस विचारवान्ने रहस्योपनिषद्में उपदिष्ट ब्रह्मका ध्यान किया है, उसे पुण्यके हेतुभूत तीर्थ-स्नान, मन्त्रजप, वेद-पाठ तथा जपादिसे क्या प्रयोजन है। महावाक्योंके अर्थको सौ वर्षोंतक विचार करनेसे जो फल प्राप्त होता है, वह उनके ऋष्यादि-स्मरण तथा ध्यानपूर्वक एक बारके जपसे ही प्राप्त हो जाता है ॥१२-१७॥

[ऋष्यादि षडङ्गका पाठ करके पुनः उनका मस्तकादिमें न्यास करना चाहिये। वह इस प्रकार है —]

ॐ अस्य श्रीमहावाक्यमहामन्त्रस्य हंस ऋषिः। अव्यक्तगायत्री छन्दः। परमहंसो देवता। हं बीजम्। सः शक्तिः। सोऽहं कीलकम्। मम परमहंसप्रीत्यर्थे महावाक्यजपे विनियोगः।

[निम्न प्रकारसे दोनों हाथोंकी निर्दिष्ट अँगुलियोंका स्पर्श करते हुए न्यास करना चाहिये—]

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।
'नित्यानन्दो ब्रह्म' तर्जनीभ्यां स्वाहा।
'नित्यानन्दमयं ब्रह्म' मध्यमाभ्यां वषट्।
'यो वै भूमा' अनामिकाभ्यां हुम्।
'यो वै भूमाधिपतिः' कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्।
'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्।

[फिर नीचेकी रीतिसे हृदयादिको स्पर्श करते हुए न्यास करना चाहिये।]

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' हृदयाय नमः।
'नित्यानन्दो ब्रह्म' शिरसे स्वाहा।
'नित्यानन्दमयं ब्रह्म' शिखायै वषट्।
'यो वै भूमा' कवचाय हुम्।
'यो वै भूमाधिपतिः' नेत्रत्रयाय वौषट्।
'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' अस्त्राय फट्।

'भूर्भुवः सुवरोम्' इस मन्त्रसे दिग्बन्ध करना चाहिये।

ध्यान

नित्यानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥*

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

'तत्त्वमसि' महावाक्यके प्रत्येक पदके पृथक्-पृथक् षडङ्गन्यास

महावाक्य चार हैं—१—**'ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म'**। २—**'ॐ अहं ब्रह्मास्मि'**।३—**'ॐ तत्त्वमसि'** और ४—**'ॐ अयमात्मा ब्रह्म।'** इनमेंसे **'तत्त्वमसि'** इस अभेदवाचक (जीवब्रह्मके अभेदके प्रतिपादक) महावाक्यका जो लोग जप करते हैं, वे भगवान् शङ्करकी सायुज्यमुक्तिके अधिकारी होते हैं।

[**'तत्त्वमसि'** महावाक्यके 'तत्' पदरूप महामन्त्रके ऋषि आदिका स्मरण निम्नरूपसे करके उनका यथास्थान न्यास करना चाहिये—]

तत्पदमहामन्त्रस्य परमहंस ऋषिः। अव्यक्तगायत्री छन्दः। परमहंसो देवता। हं बीजम्। सः, शक्तिः। सोऽहं कीलकम्। मम सायुज्यमुक्त्यर्थे जपे विनियोगः।

[करन्यास]

'तत्पुरुषाय' अङ्गुष्ठाभ्यां नमः।
'ईशानाय' तर्जनीभ्यां स्वाहा।
'अघोराय' मध्यमाभ्यां वषट्।
'सद्योजाताय' अनामिकाभ्यां हुम्।
'वामदेवाय' कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्।
'तत्पुरुषेशानाघोरसद्योजातवामदेवेभ्यो नमः' करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्।

इन्हीं करन्यासके मन्त्रोंसे हृदयादिन्यास करके **'भूर्भुवः सुवरोम्'** इस मन्त्रसे दिग्बन्ध करना चाहिये।

ध्यान

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यादतीतं
शुद्धं बुद्धं मुक्तमप्यव्ययं च।
सत्यं ज्ञानं सच्चिदानन्दरूपं
ध्यायेदेवं तन्महो भ्राजमानम् ॥†

---

* नित्यानन्दरूप, परमसुखदायी, कैवल्यरूप, ज्ञानमूर्ति, द्वन्द्वोंसे परे, आकाशके समान व्यापक एवं निर्लेप, 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके लक्ष्य, एक, नित्य, निर्मल, स्थिर, सम्पूर्ण बुद्धियोंके साक्षिरूपमें अवस्थित, षड्भावविकारोंसे अतीत, त्रिगुणोंसे रहित, उन परमब्रह्मस्वरूप सद्गुरुदेवको हम नमस्कार करते हैं।

† ज्ञानके साधन एवं ज्ञानके विषय, तथा साथ ही ज्ञानकी गम्यतासे परे, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अव्यय, सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं सच्चिदानन्दस्वरूप प्रकाशमय रूपमें उस दिव्य प्रकाशका ध्यान करे।

[उसी 'तत्त्वमसि' महावाक्यके 'त्वम्' पदके ऋषि आदिका जप निम्न प्रकारसे करके उसका न्यास करना चाहिये।]

त्वंपदमहामन्त्रस्य विष्णुर्ऋषिः । गायत्री छन्दः । परमात्मा देवता । ऐं बीजम् । ह्रीं शक्तिः । सौः कीलकम् । मम मुक्त्यर्थे जपे विनियोगः ।

'वासुदेवाय' अङ्गुष्ठाभ्यां नमः ।
'संकर्षणाय' तर्जनीभ्यां स्वाहा ।
'प्रद्युम्नाय' मध्यमाभ्यां वषट् ।
'अनिरुद्धाय' अनामिकाभ्यां हुम् ।
'वासुदेवाय' कनिष्ठिकाभ्यां वौषट् ।
'वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धेभ्यः' करतलकर-पृष्ठाभ्यां फट् ।

[यह करन्यास करके] इसी मन्त्रसे हृदयादिन्यास करना चाहिये । **'भूर्भुवः सुवरोम्'** इस मन्त्रसे दिग्बन्ध करना चाहिये ।

ध्यान

जीवत्वं सर्वभूतानां सर्वत्राखण्डविग्रहम् ।
चित्ताहङ्कारयन्तारं जीवाख्यं त्वंपदं भजे ॥*

[अन्तमें महावाक्यके अन्तिम तीसरे 'असि' पदके ऋषि आदिका एवं न्यास-मन्त्रोंका उल्लेख किया जाता है ।]

'असि'पदमहामन्त्रस्य मन ऋषिः । गायत्री छन्दः । अर्धनारीश्वरो देवता । अव्यक्तादिर्बीजम् । नृसिंहः शक्तिः । परमात्मा कीलकम् । जीवब्रह्मैक्यार्थे जपे विनियोगः ।

'पृथ्वीद्व्यणुकाय' अङ्गुष्ठाभ्यां नमः ।
'अब्द्व्यणुकाय' तर्जनीभ्यां स्वाहा ।
'तेजोद्व्यणुकाय' मध्यमाभ्यां वषट् ।
'वायुद्व्यणुकाय' अनामिकाभ्यां हुम् ।
'आकाशद्व्यणुकाय' कनिष्ठिकाभ्यां वौषट् ।
'पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशद्व्यणुकेभ्यः' करतलकरपृष्ठाभ्यां फट् ।

[इस मन्त्रसे करन्यास करके इसी प्रकार हृदयादि-न्यास करे ।] **'भूर्भुवः सुवरोम्'** इस मन्त्रसे दिग्बन्ध कर ले ।

ध्यान

जीवो ब्रह्मेति वाक्यार्थं यावदस्ति मनःस्थितिः ।
ऐक्यं तत्त्वं लये कुर्वन्ध्यायेदसिपदं सदा ॥†

इस प्रकार महावाक्यके षडङ्ग (-न्यास) बतलाये गये ।

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय खण्ड

चारों महावाक्योंकी पदविन्यासपूर्वक व्याख्या

अब रहस्योपनिषद्के विभागके अनुसार वाक्योंका अर्थ बतलानेवाले श्लोक कहे जाते हैं । [वाक्यार्थ श्लोकोंमें है, और श्लोकोंका भाव इस प्रकार है-] जिसके द्वारा (प्राणी) देखता है, इस जगत्के विषयोंको सुनता है, सूँघता है, वाणी-द्वारा कहता है और स्वादिष्ठ या अस्वादिष्ठको पहचानता है (रसज्ञान करता है), उसे **'प्रज्ञान'** कहा गया है । चतुर्मुख ब्रह्माजी, देवराज इन्द्र, देवगण, मनुष्य एवं घोड़े, गाय प्रभृति पशुओंमें एक ही चेतनतत्त्व ब्रह्म है । वही प्रज्ञान (ज्ञानरूप) ब्रह्म मुझमें भी है ॥ १-२ ॥

ब्रह्मविद्याको प्राप्त करनेके अधिकारी इस (मानव) देहमें परिपूर्ण परमात्मा बुद्धिके साक्षिरूपसे अवस्थित होकर स्फुरित होनेपर **'अहं'** कहे जाते हैं । स्वतः पूर्ण परात्मा यहाँ **'ब्रह्म'** शब्दसे वर्णित हैं, तथा **'अस्मि'** (मैं हूँ) यह पद उनके साथ अपनी एकताका बोध कराता है, अतः मैं ब्रह्मस्वरूप ही हूँ ॥ ३-४ ॥

[**'तत्त्वमसि'** वाक्यमें] सृष्टिके पूर्व एकमात्र द्वैतकी सत्ता-से रहित, नाम-रूपहीन सत्ता थी और अब भी वह सत्ता वैसी ही है—'तत्' पदसे यह प्रतिपादित होता है । उपदेश श्रवण करनेवाले शिष्यका जो देह और इन्द्रियोंसे अतीतस्वरूप है, वही यहाँ महावाक्यके 'त्वं' पदसे वर्णित है तथा महावाक्यके

---

* जो सम्पूर्ण प्राणियोंके जीव-तत्त्वका बोधक है, जिसकी मूर्ति सर्वत्र अखण्डित है और जो चित्त तथा अहङ्कारका नियन्त्रणकर्ता है, उस 'त्वम्' पदके द्वारा बोध्य जीव-नामक परमेश्वरका हम स्मरण करते हैं ।

† जबतक मनकी स्थिति है (जबतक मनोनाश नहीं हो जाता), तबतक 'जीव ब्रह्म ही है', इस वाक्यार्थके रूपमें 'असि' पदका चिन्तन करे, अर्थात् 'असि' पद जीव और ब्रह्मकी एकता बतला रहा है—इस भावका मनन करता रहे । फिर यों करते-करते जब मनका लय हो जाय, तब जीव और ब्रह्म दोनोंकी एकतारूप तत्त्वका अनुभव करते हुए 'असि' पदके तात्पर्यको सदा ध्यानके द्वारा प्रत्यक्ष करता रहे ।

'असि' पदके द्वारा उन 'तत्' एवं 'त्वम्' पदोंके बोध्य ब्रह्म और जीवकी एकताका ग्रहण कराया गया है। उस एकत्वका अनुभव करो।

['अयमात्मा ब्रह्म' इस महावाक्यमें] 'अयम्' पदके द्वारा स्वतःप्रकाश अपरोक्ष—नित्य प्रत्यक्ष स्वरूपका वर्णन हुआ है। अहंकारसे लेकर शरीरपर्यन्तको प्रत्यगात्मा बताया गया है। दिखायी पड़नेवाले सम्पूर्ण जगत्में जो व्यापक तत्त्व है, वही 'ब्रह्म' शब्दसे वर्णित है। वह ब्रह्म स्वतःप्रकाश, आत्मस्वरूप है ॥ ५–८ ॥

"अनात्मामें आत्मदृष्टि करनेसे मैं अज्ञानकी निद्रामें पड़कर 'मैं' और 'मेरे' की प्रतीति करानेवाली स्वप्नावस्थामें आ पहुँचा था। श्रीगुरुदेवके द्वारा महावाक्यके पदोंका स्पष्ट उपदेश दिये जानेपर स्वरूपरूपी सूर्यके उदित होनेसे मैं जग गया हूँ। [ऐसा अनुभव करके शुकदेवजी मनन आरम्भ करते हैं—]

महावाक्यके अर्थको समझनेके लिये वाच्य और लक्ष्य—इन दोनों ही अर्थोंकी प्रणालीका अनुसरण करना चाहिये। वाच्य-सरणीके अनुसार भौतिक इन्द्रिय आदि भी 'त्वं' पदके वाच्य होते हैं; किंतु लक्ष्यार्थ वही है, जो इन्द्रियादिसे अतीत विशुद्ध चेतन है। इसी प्रकार 'तत्' पदका वाच्य तो ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व आदि गुणोंसे विशिष्ट परमात्मा है; किंतु लक्ष्यार्थ है—केवल सच्चिदानन्दमय ब्रह्म। अतः यहाँ भाग-त्याग लक्षणासे 'असि' पदके द्वारा उक्त दोनों पदोंके लक्ष्यार्थको ही लेकर जीव और ब्रह्मकी एकता बतायी जाती है।

'त्वं' और 'तत्'—ये कार्य (शरीर) तथा कारण (माया)रूप उपाधिके द्वारा ही दो हैं। उपाधि न रहनेपर दोनों ही एकमात्र सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। जगत्में भी 'यह वही देवदत्त है (जो अमुक स्थानपर अमुक समयमें मिला था)—इस वाक्यमें 'यह' और 'वह' इन दोनों वचनोंके हेतुभूत देश और कालका अन्तर छोड़ देनेपर देवदत्त एक ही निश्चित होता है। यह जीव कार्य (शरीर) की उपाधिसे युक्त है और ईश्वर कारण (माया) की उपाधिसहित है। कार्य एवं कारणरूपको छोड़ देनेपर पूर्ण ज्ञानस्वरूप बच रहता है ॥९–१२॥

पहले गुरुके द्वारा श्रवण करे। अनन्तर मनन किया जाय। फिर निदिध्यासन करे। यह पूर्णबोधका कारण होता है। दूसरी विद्याओंका सम्यक् ज्ञान भी निश्चय ही नश्वर है, किंतु ब्रह्मविद्याका सम्यक् ज्ञान स्थिर ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाला है। भगवान् ब्रह्माजीकी आज्ञा है कि गुरु 'षडङ्ग' सहित महावाक्योंका उपदेश करे। केवल महावाक्योंका उपदेश न करे ॥ १३–१५ ॥

भगवान् शङ्कर बोले—'मुनिश्रेष्ठ शुकदेव ! तुम्हारे ब्रह्मवेत्ता पिता व्यासजीकी प्रार्थनासे प्रसन्न होकर मैंने तुम्हें इस रहस्योपनिषद्का उपदेश किया है। इसमें सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्मका उपदेश है। तुम उसका नित्य ध्यान करते हुए जीवन्मुक्त होकर विचरण करोगे। जो स्वर (प्रणव) वेदके प्रारम्भमें उच्चारण किया जाता है और जो वेदान्तमें (ज्ञानकाण्डमें) प्रतिष्ठित है, उसकी प्रकृति (त्रिमात्रा) में लीन होनेपर जो उससे परे (अर्धमात्रास्वरूप) अवस्थित है, वही महेश्वर (परमब्रह्मका स्वरूप) है' ॥ १६–१८ ॥

भगवान् शङ्करके द्वारा इस प्रकार उपदेश दिये जानेपर शुकदेवजी सम्पूर्ण जगत्के साथ तन्मयावस्थाको प्राप्त हो गये। फिर उठकर भगवान् शङ्करको प्रणाम करके सम्पूर्ण परिग्रहको छोड़कर वे मानो परमब्रह्मके समुद्रमें तैर रहे हों—इस प्रकार आनन्दमग्न होकर वहाँसे चल पड़े। पुत्रको जाते देखकर महामुनि कृष्णद्वैपायन व्यासजीने उनके पीछे चलते हुए पुत्र-वियोगसे कातर होकर उन्हें पुकारा। उस समय जगत्के समस्त जड-चेतन पदार्थोंने (व्यासजीकी पुकारका) प्रत्युत्तर दिया। सत्यवतीनन्दन भगवान् व्यासने उस उत्तरको सुनकर पुत्रको सकल—जगदात्माकार देखकर अपने पुत्र शुकदेवजीके साथ (समान) परमानन्द प्राप्त किया (उन्हें परम प्रसन्नता हुई) ॥ १९–२२ ॥

जो गुरुकी कृपासे इस रहस्योपनिषद्का अध्ययन करता है—इसे समझ लेता है, वह सभी पापोंसे छूटकर साक्षात् कैवल्यपदका उपभोग करता है, साक्षात् कैवल्यपदका उपभोग करता है ॥ २३ ॥

॥ तृतीय खण्ड समाप्त ॥ ३ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय शुकरहस्योपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

पूर्वकाण्ड

प्रथम अध्याय

पाद-चतुष्टयके स्वरूपका निर्णय

परमतत्त्वके रहस्यको जाननेकी इच्छासे श्रीब्रह्माजीने देवताओंके वर्षोंसे सहस्र वर्षोंतक तपस्या की । सहस्र देववर्ष व्यतीत होनेपर ब्रह्माजीकी अत्यन्त उग्र एवं तीव्र तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान् महाविष्णु प्रकट हुए । ब्रह्माजीने उनसे कहा—'भगवन् ! मुझे परमतत्त्वका रहस्य बतलाइये; क्योंकि परमतत्त्वके रहस्यको बतलानेवाले एकमात्र आप ही हैं, दूसरा कोई नहीं है । यह किस प्रकार ? (यदि आप यह पूछें तो) वही बतलाता हूँ । आप ही सर्वज्ञ हैं । आप ही सर्वशक्तिमान् हैं । आप ही सबके आधार हैं । आप ही सब कुछ बने हुए हैं । आप ही सबके स्वामी हैं । आप ही समस्त कार्योंके प्रवर्तक हैं । आप ही सबके पालनकर्ता हैं । आप ही सबके निवर्तक (विनाशक) हैं । आप ही सत् एवं असत्स्वरूप हैं । आप ही सत् एवं असत्से विलक्षण हैं । आप ही भीतर और बाहर—सर्वत्र व्यापक हैं । आप ही अत्यन्त सूक्ष्मतर हैं । आप ही महान्से भी अत्यन्त महान् हैं । आप ही सबकी मूल-अविद्याके विनाशक हैं । आप ही अविद्यामें विहार करनेवाले भी हैं । आप ही अविद्याको धारण करनेवाले अधिष्ठान हैं । आप ही विद्या (ज्ञान) द्वारा जाने जाते हैं । आप ही विद्यास्वरूप हैं । आप ही विद्यासे परे भी हैं । आप ही समस्त कारणोंके कारण हैं । आप ही समस्त कारणोंकी समष्टि (समुदाय) हैं । आप ही समस्त कारणोंकी व्यष्टि (पृथक्-पृथक् कारण) हैं । आप ही अखण्ड आनन्द-रूप हैं । आप ही पूर्णानन्द हैं । आप ही निरतिशय आनन्द-स्वरूप हैं । आप ही तुरीय-तुरीय (तुरीयावस्थाके तुरीय) हैं । आप ही तुरीयातीत हैं । अनन्त उपनिषदोंद्वारा आप ही अन्वेषणीय हैं । निखिल शास्त्रोंके द्वारा आप ही ढूँढ़ने योग्य हैं । आप ही ब्रह्मा (मैं), शंकरजी, इन्द्र आदि सब देवताओं तथा समस्त तन्त्रशास्त्रोंद्वारा अन्वेषण करने योग्य हैं । सभी मुमुक्षुओंद्वारा आप ही ढूँढ़े जाने योग्य हैं । सभी अमृतमय (मुक्त) पुरुषोंद्वारा आप ही खोजने योग्य हैं । आप ही अमृतमय हैं, आप ही अमृतमय हैं, आप ही अमृतमय हैं । आप ही सर्वरूप हैं, आप ही सर्वरूप हैं, आप ही सर्वरूप हैं । आप ही मोक्षस्वरूप हैं, आप ही मोक्षदाता हैं तथा मोक्षके सम्पूर्ण साधनस्वरूप भी आप ही हैं । आपके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । आपके अतिरिक्त जो कुछ भी प्रतीत होता है, वह सब (बुद्धिद्वारा) बाधित (अतत्त्व—मिथ्या) है—यह निश्चित है । इसलिये आप ही वक्ता हैं, आप ही गुरु हैं, आप ही पिता हैं, आप ही सबके नियन्ता हैं, आप ही सर्वस्वरूप हैं और आप ही सदा ध्यान करने योग्य हैं—यह सुनिश्चित है' ॥ १ ॥

परमतत्त्वज्ञ भगवान् महाविष्णु 'साधु-साधु' कहकर प्रशंसा

करते हुए (साधुवाद देते हुए) अत्यन्त प्रसन्न होकर ब्रह्माजीसे बोले—"सम्पूर्ण परमतत्त्वका रहस्य तुम्हें बतलाता हूँ। सावधान होकर सुनो। ब्रह्माजी ! अथर्ववेदकी देवदर्शी नामक शाखामें परमतत्त्वरहस्य नामक अथर्ववेदीय महानारायणोपनिषद्में प्राचीन कालसे गुरु-शिष्य-संवाद अत्यन्त सुप्रसिद्ध होनेसे सर्वज्ञात है। पहले (अतीत कल्पमें) उसके स्वरूपको जाननेसे सभी महत्तम पुरुष ब्रह्मभावको प्राप्त हुए हैं। जिसके सुननेसे सभी बन्धन समूल नष्ट हो जाते हैं, जिसके ज्ञानसे सभी रहस्य ज्ञात हो जाते हैं, उसका स्वरूप कैसा है, यह बतलाते हैं—॥ २-३ ॥

"शान्त, अप्रमत्त, अत्यन्त विरक्त, अत्यन्त पवित्र, गुरु-भक्त, तपस्वी शिष्यने ब्रह्मनिष्ठ गुरुको प्राप्तकर, उनकी प्रदक्षिणा की, भूमिपर लेटकर उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया और दोनों हाथोंकी अञ्जलि बाँधकर, विनयपूर्वक समीप जाकर कहा—'भगवन् ! गुरुदेव ! मुझे परमतत्त्वके रहस्यको खोलकर बतलाइये।' अत्यन्त आदरपूर्वक हर्षसे शिष्यकी बहुत प्रशंसा करके गुरु बोले—'परमतत्त्व-रहस्योपनिषद्का क्रम बतला रहा हूँ, सावधानीसे सुनो—

'ब्रह्म कैसा है ? (भूत, भविष्य, वर्तमान) तीनों कालोंसे जो अबाधित है—किसी भी कालमें जिसका अभाव नहीं होता, वह ब्रह्म है। समस्त कालोंसे अबाधित (अनवच्छिन्न) तत्त्व ब्रह्म है। ब्रह्म सगुण एवं निर्गुण दोनों है। ब्रह्म आदि, मध्य एवं अन्तसे रहित है। यह सब (दृश्यादृश्य जगत्) ब्रह्म है। ब्रह्म मायातीत है और गुणातीत है। ब्रह्म अनन्त, प्रमाणोंसे अज्ञेय, अखण्ड और परिपूर्ण है। अद्वितीयरूप, परमानन्द, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वरूप, व्यापक, भेदहीन एवं अपरिच्छिन्न है। ब्रह्म सच्चिदानन्दस्वरूप एवं स्वतःप्रकाश है। ब्रह्म मन-वाणीसे अतीत है। ब्रह्म सम्पूर्ण प्रमाणोंसे परे है। अगणित वेदान्तों (उपनिषदों) द्वारा ब्रह्म ही जानने योग्य है। देशसे, कालसे तथा वस्तुसे ब्रह्म परिच्छेदहीन (असीमित) है। ब्रह्म सब प्रकार परिपूर्ण है। ब्रह्म तुरीयस्वरूप, निराकार एवं अद्वितीय है। ब्रह्म द्वैतके साथ अवर्णनीय है। ब्रह्म प्रणवस्वरूप है। ब्रह्म प्रणवात्मारूपसे कहा गया है। प्रणवप्रभृति समस्त मन्त्रोंका स्वरूपभूत ब्रह्म है। ब्रह्मके चार पाद हैं ॥ ४-५ ॥

'ब्रह्मके वे चार पाद कौन-कौन हैं?—अविद्यापाद, सुविद्या-पाद, आनन्दपाद और तुरीयपाद—ये ही वे चार पाद हैं। तुरीयपाद तुरीयावस्थाका भी तुरीय तथा तुरीयातीत है। इन चारों पादोंमें भेद क्या है? अविद्यापाद प्रथम पाद है, विद्यापाद दूसरा है, आनन्दपाद तीसरा है और तुरीयपाद चौथा है। मूल-अविद्या प्रथम पादमें ही है, दूसरोंमें नहीं। विद्या, आनन्द एवं तुरीयके अंश सभी पादोंमें व्याप्त होकर रहते हैं। यदि ऐसी बात है तो विद्यादि पादोंमें भेद किस प्रकार है ?—उन विद्यादिकी प्रधानताके कारण उनके द्वारा नामोंका निर्देश होता है। वस्तुतः तो अभेद ही है। उन चार पादोंमें एक नीचेका पाद ही अविद्यामिश्रित होता है। ऊपरके तीनों पाद शुद्ध ज्ञान एवं आनन्दस्वरूप तथा अमृत (शाश्वत) रहते हैं। वे तीनों पाद अलौकिक परमानन्दस्वरूप अखण्ड अमित तेजोराशि-के रूपमें प्रकाशित रहते हैं। और वे अनिर्वचनीय, अनिर्देश्य, अखण्ड आनन्दैकरसात्मक हैं। उनमेंसे मध्यम अर्थात् आनन्द-पादके मध्यप्रदेशमें अमित तेजके प्रवाहरूपमें नित्य वैकुण्ठसे विराजमान है और वह निरतिशय आनन्द एवं अखण्ड ब्रह्मा-नन्दस्वरूप अपनी मूर्तिसे प्रकाशित है। जैसे अनन्त मण्डल दिखायी पड़ते हैं, उसी प्रकार अखण्ड आनन्दमय भगवान् विष्णुकी अमित दिव्य तेजोराशिके अन्तर्गत सुशोभित श्रीमहा-विष्णुका श्रेष्ठ स्थान विराजमान है। भगवान् विष्णुका यह परमधाम क्षीरसमुद्रके मध्यमें स्थित अविनाशी अमृतके कलशके समान दिखायी पड़ता है। सुदर्शनचक्रके दिव्य तेजके मध्यमें जैसे सुदर्शनके अभिमानी देवपुरुष रहते हैं, जैसे सूर्यमण्डलमें सूर्यनारायण हैं, वैसे ही अमित, अपरिच्छिन्न, अद्वैत परमानन्दरूप तेजोराशिमें आदिनारायण दिखलायी पड़ते हैं।

'वे ही (आदिनारायण) तुरीय ब्रह्म हैं। वे ही तुरीयातीत हैं। वे ही विष्णु (व्यापक) हैं। वे ही समस्त ब्रह्मवाचक शब्दोंके वाच्य हैं। वे ही परम ज्योति हैं। वे ही मायातीत हैं। वे ही गुणातीत हैं। वे ही कालातीत हैं। वे ही समस्त कर्मों-से परे हैं। वे ही सत्य एवं उपाधिरहित हैं। वे ही परमेश्वर (सर्वसंचालक) हैं। वे ही पुराणपुरुष हैं। प्रणवादि समस्त मन्त्ररूप वाचकोंके वाच्य, आदि-अन्तरहित, आदि-देश-काल-वस्तु तथा तुरीय संज्ञावाले (इन सबके वाच्य) एवं नित्य परिपूर्ण, सब प्रकारसे पूर्ण, सत्यसंकल्प, आत्माराम, तीनों कालोंसे अबाधित स्वरूपवाले, स्वयंज्योति, स्वयंप्रकाशमय, अपने समान वस्तुसे रहित अर्थात् सर्वथा अद्वितीय, जिनके समान भी कोई नहीं है, फिर अधिककी तो बात ही क्या, जिनमें दिन-रात्रिके विभाग नहीं हैं, जिनमें संवत्सरादि काल-विभाग नहीं हैं, निजानन्दमय अनन्त-अचिन्त्य ऐश्वर्यवाले, आत्माके भी अन्तरात्मा, परमात्मा, ज्ञानात्मा, तुरीयात्मा आदि

शब्दोंके वाच्य, अद्वैत परमानन्दरूप, विभु (सर्वव्यापक), नित्य, निष्कलङ्क, निर्विकल्प, निरञ्जन, संशयरहित, शुद्ध देवता एकमात्र नारायण ही हैं; दूसरा कोई नहीं है। जो इस प्रकार जानता है, वह पुरुष उन (श्रीनारायणभगवान्) की उपासनासे उनके सायुज्यको प्राप्त करता है—यह संशयरहित बात है' ॥ ६–११ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय अध्याय

साकार-निराकार परब्रह्मके स्वरूपका निरूपण

तब (प्रथमाध्यायके उपदेशको सुनकर) शिष्यने अपने भगवत्स्वरूप गुरुदेवसे कहा—'भगवन् ! वैकुण्ठ एवं श्रीमन्नारायणको भी आपने नित्य बतलाया है। वे ही (वैकुण्ठ एवं श्रीनारायण) तुरीयतत्त्व हैं, यह भी कहा ही है। श्रीवैकुण्ठधाम साकार है और श्रीमन्नारायण भी साकार हैं; किंतु तुरीयतत्त्व निराकार है। साकारतत्त्व अवयवयुक्त होता है और निराकार अवयवरहित। अतः श्रुति यह कहती है कि साकार अनित्य होता है और निराकार नित्य होता है। जो-जो (पदार्थ) अवयववाले हैं, वे सब अनित्य हैं—अनुमान-प्रमाणसे यही सिद्ध होता है तथा प्रत्यक्ष भी देखा जाता है। अतः उन दोनों (वैकुण्ठ एवं नारायण) की अनित्यता बतलाना ही उचित है। आपने उनका नित्यत्व किस प्रकार बतलाया है ? तुरीयतत्त्व अक्षर (अविनाशी) है—यह श्रुति कहती है; अतः तुरीयतत्त्वका नित्यत्व प्रसिद्ध है। नित्य एवं अनित्य—ये परस्पर-विरोधी धर्म हैं। इन दोनों विरोधी धर्मोंका एक ही ब्रह्ममें होना अत्यन्त विरोधी (असंगत) है। इसलिये श्रीवैकुण्ठ-धाम एवं श्रीमन्नारायणकी भी अनित्यता ही बतलाना उचित है।' (शिष्य यह शङ्का करता है।) ॥ १ ॥

गुरु शङ्काका निवारण करते हुए कहते हैं—"(तुम जो कहते हो, वह) ठीक ही है; (किंतु) साकार-तत्त्व दो प्रकारका होता है—उपाधिसहित तथा उपाधिरहित। इनमें उपाधि-सहित साकार किस प्रकारका है ? अविद्यासे उत्पन्न समस्त कार्य एवं कारण अविद्यापादमें ही हैं, और कहीं नहीं। इसलिये समस्त अविद्योपाधिसे युक्त साकार-तत्त्व (पदार्थ) अवयवयुक्त ही है। अवयवयुक्त होनेसे (वे) अवश्य अनित्य होंगे ही। (इस प्रकार) उपाधियुक्त साकारका वर्णन हो चुका।

"तब उपाधिहीन साकार किस प्रकारका है ? निरुपाधिक साकार तीन प्रकारका है—ब्रह्मविद्यासाकार, आनन्दसाकार तथा उभयात्मक (ब्रह्मविद्यानन्दात्मक) साकार। (यह) त्रिविध साकार भी फिर दो प्रकारका होता है—नित्यसाकार और मुक्तसाकार। नित्यसाकार तो आदि-अन्तहीन सनातन (शाश्वत) है। जो उपासनाद्वारा मुक्तिपदको प्राप्त हुए हैं, उनका साकार देह मुक्तसाकार है। उस (मुक्त पुरुषके आकार) का आविर्भाव अखण्ड ज्ञानसे होता है। अर्थात् भगवद्धाममें स्थित मुक्तात्माओंका शरीर ज्ञानघन है। वह (मुक्तात्माओं-का साकार शरीर) भी शाश्वत होता है; परंतु वह मुक्त-साकार ऐच्छिक (इच्छाधीन) होता है। दूसरे कहते हैं (ऐसी स्थितिमें) उसका शाश्वतपना (नित्यत्व) कैसे होगा ? (इसपर कहते हैं—) ॥ २–७ ॥

"अद्वैत, अखण्ड, परिपूर्ण, निरतिशय परमानन्दरूप, शुद्ध, ज्ञानस्वरूप, मुक्त, सत्यस्वरूप ब्रह्मकी चैतन्यरूप साकारता होनेसे उपाधिहीन साकारका नित्यत्व सिद्ध ही है। इसीलिये निरुपाधिक साकारके निरवयव होनेके कारण उससे कोई अधिक (महान्) होगा, ऐसी शङ्का दूरसे ही निवृत्त हो जाती है। सभी उपनिषदोंमें, समस्त शास्त्र-सिद्धान्तोंमें 'ब्रह्म निरवयव चैतन्य है' यही सुना जाता है। और विद्या, आनन्द तथा तुरीयका सर्वत्र अभेद ही सुना जाता है।'

'(तब) विद्या आदि साकारका भेद किस प्रकार है ?' शिष्यकी इस शङ्काका समाधान करते हुए गुरु कहते हैं—'(तुमने) सत्य कहा है—विद्याकी प्रधानतासे विद्यासाकार, आनन्दकी प्रधानतासे आनन्दसाकार तथा (विद्या, आनन्द) दोनोंकी प्रधानतासे उभयात्मक साकार कहे जाते हैं। यहाँ प्रधानताको लेकर ही भेद है, वह भेद वस्तुतः अभेद ही है' ॥ ८–१० ॥

'भगवन्! अखण्ड अद्वैत परमानन्दस्वरूप ब्रह्मके लिये साकार और निराकार—ये दो विरोधी धर्म प्रतीत होते हैं। दो विरोधी धर्म उनमें किस प्रकार रह सकते हैं ?' इस शङ्काका निवारण करते हुए गुरु कहते हैं—'यह ठीक है। जैसे सर्वव्यापी निराकार महावायुका और उसीके स्वरूपभूत त्वक्-इन्द्रियके अधिष्ठाता-रूपमें प्रसिद्ध साकार महावायु-देवताका अभेद ही सब कहीं सुना जाता है, जैसे पृथिवी आदि व्यापक शरीरवाले देवविशेषोंके

उनके उस व्यापक रूपसे विलक्षण किंतु उस (व्यापक रूप) से अभिन्न, तथा अपरिच्छिन्न होते हुए भी अपनी मूर्तिके आकारके, देवता सर्वत्र सुने जाते हैं—अर्थात् जैसे पृथिवी आदिके अधिष्ठाता देवता अपने पृथिवीरूपी भौतिक शरीर एवं देव-शरीर दोनोंसे युक्त हैं, वैसे ही सर्वात्मक परब्रह्ममें साकार एवं निराकारका भेद होनेपर भी विरोध नहीं है। विविध प्रकारकी अनन्त विचित्र शक्तियोंसे सम्पन्न परब्रह्मके स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर विरोध नहीं रह जाता। अर्थात् जब जान लिया जाता है कि परब्रह्ममें विविध प्रकारकी अनन्त विचित्र शक्तियाँ हैं, तब विरोधी धर्मोंका विरोध असङ्गत नहीं लगता। इस (ज्ञान) के अभावमें ही अनन्त विरोध प्रतीत होते हैं ॥ ११-१२ ॥

'और जब श्रीराम-श्रीकृष्णादि अवतारस्वरूपोंमें अद्वैत परमानन्दस्वरूप परब्रह्मके परमतत्त्व एवं परमैश्वर्यकी स्मृति सर्वत्र स्वाभाविक रूपसे ही विद्यमान सुनी जाती है, तब अद्वैत परमानन्दस्वरूप, सब प्रकारसे परिपूर्ण परब्रह्मके विषयमें क्या कहा जाय। अन्यथा यदि सर्वपरिपूर्ण परब्रह्मका साकार-रहित केवल निराकार स्वरूप ही वास्तवमें अभिप्रेत हो, तब तो केवल निराकार आकाशके समान परब्रह्ममें भी जडता आ जायगी। इसलिये परमार्थतः परब्रह्मके साकार एवं निराकार दोनों रूप स्वभावतः सिद्ध हैं ॥ १३ ॥

'इस प्रकारके अद्वैत परमानन्दस्वरूप आदिनारायणके पलक उठाने और गिरानेसे मूल-अविद्याकी उत्पत्ति, स्थिति एवं लय हुआ करते हैं। आत्माराम, अखिल-परिपूर्ण आदि-नारायणकी अपनी इच्छासे जब कभी उनका उन्मेष होता है (पलक उठते हैं), तब उस (उन्मेष) से परब्रह्मके निचले पादमें, जो सब (अभिव्यक्तियों) का कारण है, मूलकारणरूप अव्यक्त (प्रकृति) का आविर्भाव होता है। अव्यक्तसे मूल (संस्कार) का एवं मूल-अविद्याका आविर्भाव होता है। उसी (अव्यक्त) से 'सत्'-शब्दसे वाच्य अविद्यामिश्रित ब्रह्म (जीव) व्यक्त होता है। उस (अव्यक्त-प्रकृति) से महत्तत्त्व, महत्से अहङ्कार, अहङ्कारसे (शब्दादि) पाँचों तन्मात्राएँ, पाँचों तन्मात्राओंसे (आकाशादि) पञ्चमहाभूत और पाँचों महाभूतोंसे ब्रह्मके एक पादसे व्याप्त एक अविद्यात्मक अण्ड उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

'उस (अविद्याण्ड) में तत्त्वतः गुणातीत, शुद्ध सत्त्वमय तथा लीला (क्रीड़ा) के लिये निरतिशय आनन्दरूप धारण किये मायोपाधियुक्त नारायण होते हैं। तात्पर्य यह कि अविद्याण्ड गुणातीत शुद्ध सत्त्वमय नारायणका ही लीलाके लिये धारण किया हुआ निरतिशय आनन्दरूप मायोपाधिक स्वरूप ही है। ये वही नित्य परिपूर्ण पादविभूतिस्वरूप वैकुण्ठवासी नारायण हैं। वे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयादि समस्त कार्य एवं कारणसमूहोंके (प्रकृतिरूप) परम कारणके भी कारणरूप महामायातीत तुरीयस्वरूप परमेश्वर विराजित हैं। उनसे स्थूल विराट्स्वरूप उत्पन्न होता है। वही विराट्-स्वरूप समस्त कारणोंका मूल है। वह (विराट्) अनन्त मस्तकों तथा अनन्त नेत्रों, हाथों और पैरोंसे युक्त पुरुष है। वह अनन्त कानोंवाला सबको घेरकर (व्याप्त करके) स्थित है। वह सर्वव्यापक है। वह सगुण एवं निर्गुणस्वरूप है। वह ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, शक्ति तथा तेजःस्वरूप है। नाना प्रकारके अनन्त विचित्र जगत्के आकारमें वही स्थित है। वही निरतिशय आनन्दमय अनन्त परमविभूतिके समुदायसे सम्पन्न विश्वरूप परमात्मा है। वह निरतिशय निरङ्कुशता (परम-स्वतन्त्रता) सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता सर्व-नियन्तृत्व आदि अनन्त कल्याणकारी गुणोंका आकर है। वह अवर्णनीय अनन्त दिव्य तेजोराशिके रूपमें स्थित है। वह अविद्याके पूरे अण्डमें व्यापक है। वह महामायाके अनन्त विलासोंका अधिष्ठानविशेष एवं निरतिशय अद्वैत परमानन्दस्वरूप परब्रह्मका विलास-विग्रह है ॥ १५ ॥

'इस (विराट्-पुरुष) के एक-एक रोमकूप-छिद्रमें अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड और (उनके) स्थावर भी उत्पन्न होते हैं। उन सब अण्डोंमेंसे प्रत्येकमें नारायणका एक-एक अवतार होता है। उन्हीं नारायणसे हिरण्यगर्भ(ब्रह्मा)उत्पन्न होते हैं। नारायणसे ही उस अण्डका विराट्स्वरूप उत्पन्न होता है, नारायणसे ही सब लोकोंके स्रष्टा प्रजापति उत्पन्न होते हैं। नारायणसे ही एकादश रुद्र भी उत्पन्न होते हैं। नारायणसे ही अखिल लोक उत्पन्न होते हैं। नारायणसे इन्द्र उत्पन्न होते हैं। नारायणसे समस्त देवता उत्पन्न होते हैं। नारायणसे बारह आदित्य उत्पन्न होते हैं। सब (आठों) वसुनामक देवता, सभी ऋषि, सम्पूर्ण प्राणी तथा समस्त छन्द नारायणसे ही उत्पन्न होते हैं। नारायणसे ही प्रवृत्त होते (क्रियाशील बनते) हैं। नारायणमें ही सब लीन हो जाते हैं। अतः (ये ही) नित्य, अविनाशी, सर्वश्रेष्ठ एवं स्वयंप्रकाश हैं। नारायण ही ब्रह्मा हैं। नारायण ही शिव हैं। नारायण ही इन्द्र हैं। नारायण ही दिशाएँ हैं। नारायण ही विदिशारूप (कोण) हैं। नारायण ही काल हैं। नारायण ही समस्त कर्म हैं। नारायण ही मूर्त एवं अमूर्तरूप हैं। नारायण ही समस्त कारणरूप तथा सम्पूर्ण कार्यस्वरूप हैं। इन दोनों (कारण तथा

कार्य) से विलक्षण भी नारायण ही हैं। परमज्योति, स्वयं-प्रकाशमय, ब्रह्मानन्दमय, नित्य, निर्विकल्प, निरञ्जन, अवर्णनीय, शुद्ध एकमात्र देवता नारायण ही हैं; दूसरा कोई नहीं है। न वे (किसीके) समान हैं और न (किसीसे) अधिक हैं (उनके सिवा कोई दूसरा है ही नहीं)।

'संशयरहित होकर परमार्थतः जो इस प्रकार जानता है, वह सम्पूर्ण बन्धनोंको छेदन करके, मृत्युको पार करके मुक्त हो जाता है, मुक्त हो जाता है। जो इस प्रकार जानकर सर्वदा उन (श्रीनारायण) की उपासना करता है, वह पुरुष नारायण-स्वरूप हो जाता है, वह नारायणस्वरूप हो जाता है' ॥ १६ ॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय अध्याय

मूलाविद्या और प्रलयके स्वरूपका निरूपण

शिष्यने 'ठीक है' कहकर फिर पूछा—'भगवन्! परमतत्त्वज्ञ गुरुदेव! आपने विलासके सहित महामूल-अविद्याके उदयक्रमका वर्णन किया। उस (मूलाविद्या) से प्रपञ्चकी उत्पत्तिका क्रम किस प्रकार है, इसे विशेषतः वर्णन करें। मैं उसका तत्त्व जानना चाहता हूँ' ॥ १ ॥

'ऐसा ही हो' यह कहकर गुरु बोले—'यह अनादि प्रपञ्च जैसा दिखायी पड़ता है, वह नित्य है या अनित्य—इस प्रकारका संशय उत्पन्न होता है। प्रपञ्च भी दो प्रकारका है—विद्या-प्रपञ्च और अविद्या-प्रपञ्च। विद्या-प्रपञ्चकी नित्यता तो इसीसे सिद्ध है कि वह नित्यानन्दमय चैतन्यका विलास तथा शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य एवं आनन्दस्वरूप है। अविद्याप्रपञ्च नित्य है या अनित्य?—कुछ लोग प्रवाहरूपसे उसकी नित्यता बतलाते हैं। शास्त्रोंमें प्रलयादिका वर्णन सुना जाता है, इस कारणसे दूसरे उसकी अनित्यता बतलाते हैं। वस्तुतः दोनों ही (बातें) नहीं हैं। फिर है किस प्रकार? समस्त अविद्या-प्रपञ्च महामायाका संकोच एवं विकासरूप विलास ही है। क्षण-क्षणमें शून्य (तिरोहित) होनेवाला अनादि मूल-अविद्याका विलास होनेके कारण परमार्थतः कुछ भी नहीं है। अर्थात् समस्त अविद्याप्रपञ्च प्रतिक्षण विलीन होनेवाला है, अतः उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। वह किस प्रकार? एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म ही है। यहाँ नाना (अनेक) नामकी वस्तु कुछ भी नहीं है (—ऐसी श्रुति है)। अतएव ब्रह्मसे भिन्न सब बाधित (प्रतीतिमात्र, सत्ताहीन) ही है। सत्य ही परम ब्रह्म है। ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं अन्तहीन है' ॥ २ ॥

'तब विलास (अभिव्यक्ति)-सहित मूल-अविद्याके उपसंहारका क्रम किस प्रकार है?' (यों शिष्यके पूछनेपर) अत्यन्त आदरपूर्वक बड़ी प्रसन्नतासे गुरु उपदेश करते हैं—'सहस्र चतुर्युगोंका ब्रह्माजीका एक दिवस होता है। इतने ही समयकी फिर उनकी रात्रि होती है। रात और दिवस दोनोंका सम्मिलित रूप एक दिन होता है। उस एक दिनमें सत्यलोकतकके समस्त लोकोंकी उत्पत्ति, स्थिति एवं लय हो जाते हैं। (ऐसे) पंद्रह दिनोंका (ब्रह्माजीका) पक्ष (पखवाड़ा) होता है। दो पक्षोंका महीना होता है। दो महीनोंका ऋतु होता है। तीन ऋतुओंका अयन होता है। दो अयनोंका वर्ष होता है। ब्रह्माके वर्षोंके प्रमाणसे सौ वर्षकी ब्रह्माजीकी परमायु (पूर्ण आयु) होती है। इतने समयतक उन (ब्रह्माजी) की स्थिति कही जाती है। स्थितिके अन्तमें अण्डगत विराट्पुरुष अपने अंशी हिरण्यगर्भको प्राप्त होते (उनमें लीन हो जाते) हैं। हिरण्यगर्भके कारण परमात्मा अण्डपरिपालक नारायणको वे हिरण्यगर्भ प्राप्त होते हैं। फिर सौ वर्षोंतक उनकी प्रलय होती है। उस समय सब जीव प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं। प्रलयके समय सब शून्य (अभावरूप) हो जाता है ॥ ३-४ ॥

'उन ब्रह्माजीकी स्थिति एवं प्रलय आदि-नारायणके अंशसे अवतीर्ण इन अण्ड-परिपालक महाविष्णुके दिवस एवं रात्रि कहे जाते हैं। इन दिवस एवं रात्रिका (अर्थात् ब्रह्माके सौ वर्षोंके जीवन एवं सौ वर्षोंकी प्रलयका) महाविष्णुका एक दिन होता है। इसी प्रमाणसे दिन, पक्ष, मास, संवत्सर आदि भेदसे उनके सौ करोड़ (एक अरब) वर्षोंतक उनकी स्थिति कही जाती है। स्थितिके अन्तमें (वे) अपने कारण महाविराट् पुरुषको प्राप्त होते (उनमें लीन हो जाते) हैं। तब आवरणके साथ ब्रह्माण्ड विनष्ट हो जाता है। ब्रह्माण्डका आवरण विनष्ट होता है, वही (आवरण) विष्णुका स्वरूप है। उनकी (श्रीमहाविष्णुकी) उतनी ही (उनके एक अरब वर्षकी) प्रलय होती है। प्रलयके समय सब शून्य हो जाता है ॥ ५ ॥

'अण्डपरिपालक महाविष्णुकी स्थिति एवं प्रलय (उनके दो अरब वर्ष) आदिविराट् पुरुषके दिवस-रात्रि कहे जाते हैं। उन

दिवस-रात्रिका एक दिन होता है। इसी प्रकार दिन, पक्ष, मास, संवत्सर आदि भेदसे उनके कालमानके सौ करोड़ (एक अरब) वर्षपर्यन्त उनकी स्थिति कही जाती है। स्थितिके अन्तमें आदिविराट् पुरुष अपने अंशी मायोपाधिक नारायणको प्राप्त होता है, अर्थात् उनमें लीन हो जाता है। उस विराट् पुरुषका जितना स्थितिकाल है, उतना ही प्रलयकाल भी होता है। प्रलयके समय सब शून्य हो जाता है ॥ ६ ॥

'विराट्की स्थिति एवं प्रलय मूल-अविद्याण्ड-परिपालक आदि-नारायणके दिवस-रात्रि कहे जाते हैं। उन दिवस-रात्रिका एक दिन होता है। इसी प्रकार दिन, पक्ष, मास, संवत्सर आदि भेदसे उनके कालमानके सौ करोड़ वर्षोंके समयतक उनकी स्थिति कही जाती है। स्थितिके अन्तमें त्रिपाद्विभूति-नारायणकी इच्छासे उनका निमेष होता है (उनकी पलकें गिरती हैं)। इस निमेषसे मूल-अविद्याण्डका उसके आवरणके साथ प्रलय हो जाता है। तब मूल-अविद्या, जो सत्-असत्से विलक्षण, अनिर्वचनीय, लक्षणरहित, आविर्भाव-तिरोभावरूप, अनादि अखिल कारणोंकी कारणरूप एवं अनन्त महामायाविशेषणोंसे युक्त है, अपने विलासके साथ तथा सम्पूर्ण कार्यरूप उपाधिके सहित परमसूक्ष्म मूल कारण—अव्यक्तमें प्रवेश कर जाती है। अव्यक्त फिर ब्रह्ममें प्रवेश कर जाता है; उस समय ईंधनके जल जानेपर जैसे अग्नि अपने वास्तविक स्वरूपको प्राप्त कर लेता है, वैसे ही मायोपाधिक आदिनारायण मायारूप उपाधिके नष्ट हो जानेपर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं। समस्त जीव अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। जैसे जपा (जवा) पुष्पके सान्निध्य (समीपता) से स्फटिकमें ललाईकी प्रतीति होती है और उस (पुष्प) के अभावमें शुद्ध स्फटिक प्रतीत होता है, वैसे ही ब्रह्ममें भी मायारूप उपाधिसे ही सगुणत्व, परिच्छिन्नत्व आदिकी प्रतीति होती है। उपाधिका नाश हो जानेपर निर्गुणत्व, निरवयवत्व आदिकी प्रतीति होती है' ॥ ७ ॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थ अध्याय

महामायातीत अखण्ड अद्वैत परमानन्दमय परतत्त्व-स्वरूपका निरूपण

ॐ। उपाधिका नाश हो जानेके कारण ब्रह्मका निर्विशेष रूप अत्यन्त निर्मल होता है। वह अविद्यासे परे, अतः अत्यन्त शुद्ध है। शुद्ध बोधानन्दमय कैवल्यस्वरूप है। ब्रह्मके चारों पाद निर्विशेष हैं। वह अखण्डस्वरूप, सर्वतः परिपूर्ण, स्वयंप्रकाश सच्चिदानन्द है। अद्वितीय तथा ईश्वररहित है—अर्थात् उसका कोई स्वामी, नियन्ता नहीं है। वह ब्रह्म समस्त कार्य-कारण-स्वरूप, अखण्ड चिद्घनानन्दरूप, अतिदिव्य मङ्गलाकार, निरतिशय आनन्दरूप तेजोराशिविशेष, सर्वपरिपूर्ण, अनन्त चिद्विलासमय विभूतिका समष्टिरूप, अद्भुत आनन्दमय आश्चर्य-पूर्ण विभूतिविशेषस्वरूप, अनन्त चिन्मय स्तम्भाकार, शुद्ध ज्ञान-आनन्दविशेषस्वरूप, अनन्त परिपूर्णानन्दमय दिव्य विद्युन्मालास्वरूप है। इस प्रकार ब्रह्मका अद्वितीय अखण्डानन्दमय स्वरूप वर्णित हुआ ॥ १ ॥

फिर शिष्य कहता है—'भगवन्! ब्रह्मके पादभेदादि कैसे सम्भव हैं और यदि हैं तो वह अद्वैतस्वरूप है—यह किस प्रकार कहा गया?' ॥ २ ॥

गुरु शङ्काका समाधान करते हैं—'इसमें विरोध नहीं है। ब्रह्म अद्वैत है, यही सत्य है। और यही कहा गया है। ब्रह्ममें भेद नहीं बताया गया है; (क्योंकि) ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। पादभेदादिका वर्णन तो ब्रह्मके स्वरूपका ही वर्णन है। वही कहा जा रहा है। ब्रह्म चार पादवाला (चतुःपादात्मक) है। इन (चारों पादों) में एक अविद्यापाद है और तीन पाद अमृत (नित्य) हैं। (दूसरी शाखाओंके) उपनिषदोंमें वर्णित स्वरूपका ही यहाँ वर्णन किया गया है। (शाखान्तरीय उपनिषदोंमें इस प्रकारके वचन मिलते हैं—) 'त्रिपादस्वरूप ब्रह्म अविद्यारूप अन्धकारसे परे, ज्योतिर्मय, परमानन्दस्वरूप एवं सनातन परम कैवल्यरूप है। मैं इस आदित्यके समान प्रकाशमय, तमस्के परे स्थित महान् पुरुषको जानता हूँ। उसको इस प्रकार (तमस्से परे तेजोमयरूपमें) जाननेवाला यहाँ (संसारमें) अमृतस्वरूप (मुक्त) हो जाता है। मोक्षप्राप्तिके लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है। सम्पूर्ण ज्योतियोंकी ज्योति तमस्से परे कही गयी है। सबकी आधार-भूत, अचिन्त्यस्वरूप, आदित्यवर्ण (प्रकाशस्वरूप) परम ज्योति तमस्से ऊपर (परे) प्रकाशित है। जो एक, अव्यक्त, अनन्तस्वरूप, विश्वरूप पुरातन तत्त्व तमससे परे अवस्थित है, वही अमृत (समस्त काम्य कर्मोंका फल—स्वर्गादि) है। उसीको सत्य (निष्कामभावका प्राप्य) कहा गया है। वही सत्य (नित्यसत्ता) है। वही परम विशुद्ध ब्रह्म है। (इन मन्त्रोंमें)

तमस्-शब्दके द्वारा अविद्या कही जाती है ॥ ३–८ ॥

'समस्त भूत इन (ब्रह्म) का एक पाद (भाग) हैं। इनके शेष तीन पाद अमृतस्वरूप (नित्य) हैं, जो परम व्योममें प्रतिष्ठित हैं। तीन पादोंवाला पुरुष सबसे ऊपर प्रकाशित है और इसका अवशिष्ट एक पाद सम्पूर्ण जीवोंके रूपमें इस जगत्में प्रकट हुआ। इसके बाद वह जड-चेतनात्मक विश्वमें चारों ओर व्याप्त हो गया। विद्या, आनन्द एवं तुरीय नामक तीन पाद शाश्वत हैं। शेष चौथा पाद अविद्याके आश्रित है' ॥ ९-१० ॥

[शिष्य पूछता है—] 'आत्माराम श्रीआदिनारायणके उन्मेष-निमेष (नेत्रोन्मीलन-निमीलन) कैसे होते हैं ? उनका स्वरूप क्या है ?' ॥ ११ ॥

गुरु बतलाते हैं—'बाह्य-दृष्टि उन्मेष (पलक खोलना) है और आन्तरिक-दृष्टि निमेष (पलक बंद करना) है। अन्तर्दृष्टिसे अपने स्वरूपका चिन्तन करना ही निमेष (पलक बंद करना) है। बाह्य-दृष्टिसे अपने स्वरूपका चिन्तन करना ही उन्मेष (पलक खोलना) है। जितने परिमाणका उन्मेषकाल होता है, उतने ही परिमाणका निमेषकाल भी होता है। उन्मेष-कालमें अविद्याकी स्थिति होती है। निमेषकालमें उस (अविद्या) का लय होता है। जैसे उन्मेष होता है, वैसे ही चिरंतन अत्यन्त सूक्ष्म वासनाके प्रभावसे फिर अविद्याका उदय हो जाता है। पहलेकी भाँति ही अविद्याके कार्य उत्पन्न हो जाते हैं। फिर कार्य तथा कारणरूप उपाधिके भेदसे जीव एवं ईश्वरका भेद भी दिखायी देने लगता है। यह जीव कार्यरूप उपाधिसे युक्त है और ईश्वर कारणरूप उपाधिसे युक्त हैं। ईश्वरकी महामाया उन्हींकी आज्ञाके अधीन रहती हैं। वे (महामाया) उन (ईश्वर) के संकल्पके अनुसार कार्य करनेवाली, विविध प्रकारकी अनन्त महामायाशक्तियोंसे भली प्रकार सेवित, अनन्त महामायाजालकी उत्पत्तिका स्थान, महाविष्णुकी लीला-शरीर-रूपिणी तथा ब्रह्मादिके लिये भी अगोचर हैं। जो भगवान् विष्णुका ही भजन करते हैं, वे इन महामायाको अवश्य पार कर जाते हैं। दूसरे लोग (जो भगवान् विष्णुका भजन नहीं करते) अनेक उपायोंका अवलम्बन करके भी कभी नहीं तरते। अविद्याके कार्यरूप अन्तःकरणोंका आश्रय लेकर वे अनन्तकालतक जन्मते रहते हैं; क्योंकि उन (अन्तःकरणों) में ब्रह्मचैतन्य प्रतिबिम्बित होता है। प्रतिबिम्ब ही जीव कहलाते हैं। सभी जीव अन्तःकरणकी उपाधिसे युक्त हैं, यों (कुछ लोग) कहते हैं। समस्त जीव महाभूतोंसे उत्पन्न सूक्ष्मशरीररूप उपाधिसे युक्त हैं, इस प्रकार दूसरे लोग कहते हैं। बुद्धिमें प्रतिबिम्बित चैतन्य ही जीव है, ऐसा दूसरोंका मत है। इन सब (जीवों) में उपाधिको लेकर ही भेद है, अत्यन्त भेद नहीं है। सर्वतः परिपूर्ण श्रीनारायण तो अपनी इस इच्छाशक्तिसे सदा लीला किया करते हैं। इसी प्रकार सब जीव अज्ञानवश उन तुच्छ विषयोंमें, जिनमें सुख नहीं है, सुखप्राप्तिकी आशासे असार संसारचक्रमें दौड़ते रहते हैं। इस प्रकार अनादि संसार-वासनारूप विपरीत-भ्रमके कारण ही जीवोंकी संसार-चक्रमें घूमनेकी अनादि-परम्परा चलती रहती है' ॥ १२–१४ ॥

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

॥ पूर्वकाण्ड समाप्त ॥

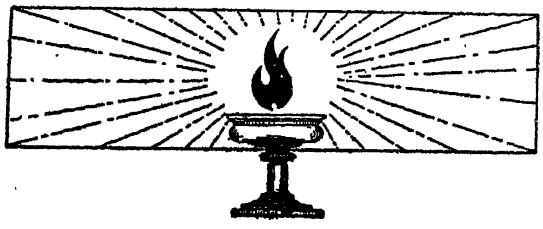

उत्तरकाण्ड

पञ्चम अध्याय

संसारसे तरनेका उपाय और मोक्षमार्गका निरूपण

श्रीगुरुभगवान्‌को नमस्कार करके फिर शिष्य पूछता है—'भगवन्! सम्पूर्णतः नष्ट हुई अविद्याका फिर उदय कैसे होता है?' ॥ १ ॥

'यह सत्य है' यों कहकर गुरु बोले—'वर्षा ऋतुके प्रारम्भमें जैसे मेढ़क आदिका फिरसे प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार पूर्णतः नष्ट हुई अविद्याका उन्मेषकालमें (भगवान्‌के पलक खोलनेपर) फिर उदय हो जाता है ॥ २ ॥

(शिष्यने फिर पूछा—) 'भगवन्! जीवोंका अनादि संसाररूप भ्रम किस प्रकार है? और उसकी निवृत्ति कैसे होती है? मोक्षके मार्गका स्वरूप कैसा है? मोक्षका साधन कैसा है? अथवा मोक्षका उपाय क्या है? मोक्षका स्वरूप कैसा है? सायुज्य-मुक्ति क्या है? यह सब तत्त्वतः वर्णन करें' ॥ ३ ॥

अत्यन्त आदरपूर्वक, बड़े हर्षसे शिष्यकी बहुत प्रशंसा करके गुरु कहते हैं—'सावधान होकर सुनो! निन्दनीय, अनन्त जन्मोंमें बार-बार किये हुए अत्यन्त पुष्ट अनेक प्रकारके विचित्र अनन्त दुष्कर्मोंके वासनासमूहोंके कारण (जीव) को शरीर एवं आत्माके पृथक्त्वका ज्ञान नहीं होता। इसीसे 'देह ही आत्मा है' ऐसा अत्यन्त दृढ़ भ्रम हुआ रहता है। 'मैं अज्ञानी हूँ, मैं अल्पज्ञ हूँ, मैं जीव हूँ, मैं अनन्त दुःखोंका निवास हूँ, मैं अनादि कालसे जन्म-मरणरूप संसारमें पड़ा हुआ हूँ' इस प्रकारके भ्रमकी वासनाके कारण संसारमें ही प्रवृत्ति (चेष्टा) होती है। इस (प्रवृत्ति) की निवृत्तिका उपाय कदापि नहीं होता। मिथ्यास्वरूप, स्वप्नके समान विषयभोगोंका अनुभव करके, अनेक प्रकारके असंख्य अत्यन्त दुर्लभ मनोरथोंकी निरन्तर आशा करता हुआ अतृप्त (जीव) सदा दौड़ा करता है। अनेक प्रकारके विचित्र स्थूल-सूक्ष्म, उत्तम-अधम अनन्त शरीरोंको धारण करके उन-उन शरीरोंमें विहित (प्राप्त होने योग्य) विविध विचित्र, अनेक शुभ-अशुभ प्रारब्धकर्मोंका भोग करके, उन-उन कर्मोंके फलकी वासनासे वासित (लिप्त) अन्तःकरणवालोंकी बार-बार उन-उन कर्मोंके फलरूप विषयोंमें ही प्रवृत्ति होती है। संसारकी निवृत्तिके मार्गमें प्रवृत्ति (रुचि) भी नहीं उत्पन्न होती। इसलिये (उनको) अनिष्ट ही इष्ट (मङ्गलकारी) की भाँति जान पड़ता है। संसार-वासनारूप विपरीत भ्रमसे इष्ट (मङ्गलस्वरूप मोक्षमार्ग) अनिष्ट (अमङ्गलकारी) की भाँति जान पड़ता है। इसलिये सभी जीवोंकी इष्टविषयमें सुखबुद्धि है तथा (उसके न मिलनेमें) दुःखबुद्धि है। वास्तवमें अबाधित ब्रह्मसुखके लिये तो प्रवृत्ति ही उत्पन्न नहीं होती; क्योंकि उसके स्वरूपका ज्ञान जीवोंको है नहीं। वह (ब्रह्मसुख) क्या है, यह जीव नहीं जानते; क्योंकि बन्धन कैसे होता है और मोक्ष कैसे होता है, इस विचारका ही (उनमें) अभाव है। यह (जीवोंकी अवस्था) कैसे है? अज्ञानकी प्रबलतासे। अज्ञानकी प्रबलता किस कारणसे है?—भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी वासना न होनेसे। इस प्रकारकी वासनाका अभाव क्यों है?—अन्तःकरणकी अत्यन्त मलिनताके कारण ॥ ४ ॥

'अतः (ऐसी दशामें) संसारसे पार होनेका उपाय क्या है?' गुरु यही बतलाते हैं—'अनेक जन्मोंके किये हुए अत्यन्त श्रेष्ठ पुण्योंके फलोदयसे सम्पूर्ण वेद-शास्त्रके सिद्धान्तोंका रहस्यरूप सत्पुरुषोंका संग प्राप्त होता है। उस (सत्संग) से विधि तथा निषेधका ज्ञान होता है। तब सदाचारमें प्रवृत्ति होती है। सदाचारसे सम्पूर्ण पापोंका नाश हो जाता है। पापनाशसे अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो जाता है ५-६

'तब (निर्मल होनेपर) अन्तःकरण सद्गुरुका कटाक्ष (दयादृष्टि) चाहता है। सद्गुरुके (कृपा-) कटाक्षके लेशसे ही सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। सब बन्धन पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं। श्रेयके सभी विघ्न विनष्ट हो जाते हैं। सभी श्रेय (कल्याणकारी गुण) स्वतः आ जाते हैं। जैसे जन्मान्धको रूपका ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार गुरुके उपदेश बिना करोड़ों कल्पोंमें भी तत्त्वज्ञान नहीं होता। इसलिये सद्गुरुके (कृपा-) कटाक्षके लेशसे अविलम्ब ही तत्त्वज्ञान हो जाता है ॥ ७ ॥

'जब सद्गुरुका कृपा-कटाक्ष होता है, तब भगवान्‌की कथा सुनने एवं ध्यानादि करनेमें श्रद्धा उत्पन्न होती है। उस (ध्यानादि) से हृदयमें स्थित दुर्वासनाकी अनादि ग्रन्थिका विनाश हो जाता है। तब हृदयमें स्थित सम्पूर्ण कामनाएँ विनष्ट हो जाती हैं। इससे हृदय-कमलकी कर्णिकामें परमात्मा आविर्भूत होते हैं।

'इससे भगवान् विष्णुमें अत्यन्त दृढ़ भक्ति उत्पन्न होती है। तब (विषयोंके प्रति) वैराग्य उदय होता है। वैराग्यसे बुद्धिमें विज्ञान (तत्त्वज्ञान) का प्राकट्य होता है। अभ्यासके द्वारा वह ज्ञान क्रमशः परिपक्व होता है ॥ ८-९ ॥

'परिपक्व विज्ञानसे (पुरुष) जीवन्मुक्त हो जाता है। सभी शुभ एवं अशुभ कर्म वासनाओंके साथ नष्ट हो जाते हैं। तब अत्यन्त दृढ़ शुद्ध सात्त्विक वासनाद्वारा अतिशय भक्ति होती है। अतिशय भक्तिसे सर्वमय नारायण सभी

अवस्थाओंमें प्रकाशित होते हैं। समस्त संसार नारायणमय प्रतीत होता है। नारायणसे भिन्न कुछ नहीं है, इस बुद्धिसे उपासक सर्वत्र विहार करता है॥ १० ॥

'(इस प्रकार) निरन्तर (भाव-) समाधिकी परम्परासे सब कहीं, सभी अवस्थाओंमें जगदीश्वरका रूप ही प्रतीत होता है। ऐसे महापुरुषको कभी-कभी ईश्वर-साक्षात्कार भी होता है॥११॥

'इस (महापुरुष) को जब शरीर छोड़नेकी इच्छा होती है, तब भगवान् विष्णुके सब पार्षद उसके पास आते हैं। तब भगवान्‌का ध्यान करता हुआ हृदय-कमलमें स्थित आत्म-तत्त्वका अपने अन्तरात्माके रूपमें चिन्तन करके भली प्रकार (मानसिक) उपचारोंसे (उसकी) अर्चा करता है। फिर हंस-मन्त्र **'सोऽहम्'** का उच्चारण करता हुआ, सभी (इन्द्रिय-) द्वारोंका संयम करके, मनका भली प्रकार निरोध करता है और प्रणव (के उच्चारण) से प्रणव (के अर्थ) का अनुसंधान (विचार) करता हुआ ऊपरकी ओर गमन करनेवाले वायु (प्राण) के साथ धीरे-धीरे ब्रह्मरन्ध्रसे बाहर चला जाता है। वहाँ **'सोऽहम्'** इस मन्त्रसे बारह (दस इन्द्रियाँ और मन तथा बुद्धि) के अन्तमें (उनके आधाररूपसे) स्थित परमात्मा (चेतनतत्त्व) को एकत्र करके (अर्थात् इन्द्रियों, मन एवं बुद्धिसे चेतना आकर्षित करके) पञ्चोपचार (जल, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य) से (मानसिक रूपमें उस चेतन-तत्त्वका) पूजन करता है। फिर **'सोऽहम्'** इस मन्त्रसे षोडश तत्त्वोंमें स्थित ज्ञानात्माको एकत्र करके भली प्रकार उपचारोंसे उसकी पूजा करता है। इस प्रकार पहलेके प्राकृत शरीरका त्याग करके फिर कल्पनामय, मन्त्रमय, शुद्ध ब्रह्म-तेजोमय, निरतिशय आनन्दमय महाविष्णुके स्वरूपके समान स्वरूपवाले शरीरको धारण करता है और सूर्यमण्डलमें स्थित भगवान् अनन्तके दिव्य चरणारविन्दके अङ्गुष्ठसे निकले हुए निरतिशय आनन्दमय देवनदी गङ्गाजीके प्रवाहका आकर्षण करके भावनाके द्वारा इस (देवगङ्गा-प्रवाह) में स्नान करता है। तत्पश्चात् वस्त्र-आभरणादि सामग्रियोंसे अपनी पूजा (अलङ्कृति) करके, साक्षात् नारायण-स्वरूप होकर फिर गुरुको नमस्कार करके प्रणवस्वरूप गरुड़का ध्यान करता है और ध्यानके द्वारा प्रकट महाप्रणवरूप गरुड़की पञ्चोपचारसे अर्चा करता है। इसके बाद वह गुरुकी आज्ञासे प्रदक्षिणा एवं नमस्कार करके प्रणवरूप गरुड़पर सवार होता है और महाविष्णुके समस्त असाधारण चिह्नोंसे चिह्नित होकर तथा उन्हींके समस्त असाधारण दिव्य आभूषणोंसे भूषित होकर, सुदर्शन-पुरुष (पुरुष-विग्रहधारी सुदर्शनचक्र) को आगे करके, विष्वक्सेनसे रक्षित, भगवान्‌के पार्षदोंसे घिरा हुआ आकाशमार्गमें प्रवेश करता है। मार्गके दोनों पार्श्वोंमें स्थित अनेक पुण्यलोकोंको पार करके, वहाँ रहनेवाले पुण्य-पुरुषोंसे पूजित होकर, सत्यलोकमें प्रवेश करके ब्रह्माजीकी पूजा करता है और ब्रह्मा तथा सत्यलोकके सभी वासियोंद्वारा भली प्रकार पूजित होकर, भगवान् शङ्करके ईशान-कैवल्य (दिव्य कैलास) में जा पहुँचता है। वहाँ भगवान् शङ्करका ध्यान करके, शिवजी-की पूजा करके, सभी शिवगणों एवं शङ्करजीद्वारा भी पूजित होकर ग्रहमण्डल तथा सप्तर्षिमण्डलको पार करके सूर्यमण्डल एवं चन्द्रमण्डलका भेदन करता है और कीलकनारायणका ध्यान करके, ध्रुवमण्डलका दर्शन करके, भगवान् ध्रुवकी पूजा करता है। फिर शिंशुमार-चक्रका भेदन करके, शिंशुमार प्रजापतिकी भली प्रकार अर्चा करता है और चक्र (शिंशुमारचक्र) के मध्यमें स्थित सर्वाधार सनातन महाविष्णुकी आराधना करके, उनके द्वारा पूजित होकर तब ऊपर जाकर परमानन्दको प्राप्त होता है॥१२॥

'तब सब वैकुण्ठनिवासी उसके पास आते हैं। उन सबकी पूजा करके, उन सबसे पूजित होकर तथा और ऊपर जाकर विरजा नदीको प्राप्त करता है। वहाँ स्नान करके भगवान्‌का ध्यान करते हुए फिर उसमें डुबकी लगाकर, वहाँ अपञ्चीकृत (मूलरूप, अमिश्रित) पञ्च महाभूतोंसे बने सूक्ष्म अङ्गवाले भोगके साधनरूप सूक्ष्मशरीरको छोड़ देता है तथा मन्त्रमय, दिव्य तेजोमय, निरतिशय आनन्दमय महाविष्णुके स्वरूपके समान शरीर धारण करके, फिर जलसे बाहर निकल आता है। वहाँ अपनी पूजा करके, प्रदक्षिणा एवं नमस्कार करते हुए ब्रह्ममय वैकुण्ठमें प्रवेश करके, वहाँके निवासियोंकी भली प्रकार पूजा करके (देखता है कि) उस दिव्यधामके मध्यमें ब्रह्मा-नन्दमय अनन्त परकोटे, भवन, फाटक, विमान एवं उपवन-समूहोंसे तथा देदीप्यमान शिखरोंसे उपलक्षित निरुपम, नित्य, निर्दोष, निरतिशय, असीम ब्रह्मानन्दनामक पर्वत सुशोभित है १३

'उस (पर्वत) के ऊपर निरतिशयानन्दमय दिव्य तेजोराशि प्रज्वलित है। उस (तेजोराशि) के मध्यमें शुद्ध ज्ञानमय आनन्दस्वरूप प्रकाशित है। उसके मध्यमें चिन्मय वेदी है। वह (वेदी) आनन्दमय एवं आनन्दवनसे भूषित है। उसके मध्यमें उसके ऊपर अमित तेजोराशि प्रज्वलित है। (उस तेजोराशिमें) परममङ्गलमय आसन सुशोभित है। उस (भद्रासनपद्म) की कर्णिकापर शुद्ध शेषभगवान्‌का भोगासन सुशोभित है। उसके ऊपर भली प्रकार विराजमान आनन्द-परिपालक आदि-नारायणका ध्यान करके, उन सर्वेश्वरका विविध उपचारोंसे पूजन करता है। फिर प्रदक्षिणा तथा नमस्कार करके, उनकी आज्ञा लेकर और ऊपर-ऊपर जाकर पाँचों वैकुण्ठों-को पार करता है तथा अण्डविराट्‌के कैवल्यपदको प्राप्त करके, उनकी आराधना करके उपासक परमानन्द प्राप्त करता है' १४

॥ पञ्चम अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठ अध्याय

मोक्षमार्गके स्वरूपका निरूपण

'तब परमानन्दकी प्राप्ति होनेपर उपासक आवरणसहित ब्रह्माण्डका भेदन करके, चारों ओर देखकर ब्रह्माण्डके स्वरूपका निरीक्षण करता है तथा परमार्थतः उसके स्वरूपको ब्रह्मज्ञानके द्वारा जानकर (समझ जाता है कि) समस्त वेद, शास्त्र, इतिहास, पुराण, समस्त विद्या-समूह, ब्रह्मादि सब देवता और सभी परमर्षि भी ब्रह्माण्डके भीतर स्थित प्रपञ्चके एक देश (एक अङ्ग) का ही वर्णन करते हैं। (वे सब) ब्रह्माण्डके स्वरूपको नहीं जानते। ब्रह्माण्डसे बाहर स्थित प्रपञ्चके रहस्यको तो जानते ही नहीं। फिर ब्रह्माण्डके भीतर एवं बाहरके प्रपञ्चज्ञानसे दूर मोक्षप्रपञ्च (स्वरूप)-ज्ञान तथा अविद्या-प्रपञ्चज्ञानको तो जान ही कैसे सकते हैं' ॥ १ ॥

'ब्रह्माण्डका स्वरूप कैसा है ?' ॥ २ ॥

'वह मुर्गेके अंडेके समान आकारका महत्तत्त्वादि-समष्टिमय ब्रह्माण्ड तेजोमय, तपे हुए स्वर्णके समान प्रभावाला, उदय होते हुए करोड़ों सूर्योंके समान कान्तिवाला, चारों प्रकारकी (उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज) सृष्टिसे उपलक्षित पाँचों (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाशरूप) महाभूतोंसे ढका हुआ, तथा महत्तत्त्व, अहङ्कार, तम और मूलप्रकृतिसे घिरा हुआ है ॥ ३ ॥

'अण्डकी भित्ति सवा करोड़ योजन विशाल है। प्रत्येक आवरण उसी प्रमाणका (उतना ही विशाल) है ॥ ४ ॥

'चारों ओरसे ब्रह्माण्डका प्रमाण दो खरब योजन है। महामण्डूक आदि अनन्त शक्तियोंसे वह अधिष्ठित (धारण किया हुआ) है। श्रीनारायणके खेलनेकी गेंदके समान वह है। परमाणुके समान विष्णुलोकसे चिपका है। किसीके द्वारा न देखी, न सुनी अनेक प्रकारकी अनन्त विचित्रताओंकी विशेषतासे युक्त है ॥ ५ ॥

'इस ब्रह्माण्डके चारों ओर ऐसे ही दूसरे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड अपने आवरणोंके साथ प्रकाशित होते हुए अवस्थित हैं ॥ ६ ॥

'(वे ब्रह्माण्ड) चार मुखोंके, पाँच मुखोंके, छः मुखोंवाले, सात मुखोंके, आठ मुखोंके—इस प्रकार संख्याक्रमसे सहस्र मुखोंतकके, श्रीनारायणके अंशरूप, रजोगुणप्रधान एक-एक सृष्टिकर्ता (ब्रह्मा) द्वारा अधिष्ठित हैं। विष्णु, महेश्वर नामवाले, श्रीनारायणके अंशरूप, सत्त्व तथा तमोगुणप्रधान एक-एक स्थिति तथा संहारकर्तासे भी अधिष्ठित हैं। (वे सब ब्रह्माण्ड) विशाल जलप्रवाहमें मत्स्य तथा बुलबुलोंके अनन्त समूहोंकी भाँति घूमते रहते हैं ॥ ७ ॥

'क्रीड़ामें लगे बालककी हथेलीमें आँवलोंके समूहकी भाँति महाविष्णुकी हथेलीमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड शोभित हो रहे हैं ॥ ८ ॥

'जलयन्त्र (रहँट) में लगे घड़ोंकी मालाके समूहकी भाँति महाविष्णुके एक-एक रोमकूपके छिद्रोंमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड अपने आवरणोंके साथ घूमते रहते हैं ॥ ९ ॥

'(उपर्युक्त गति-प्राप्त उपासक) समस्त ब्रह्माण्डोंके भीतर एवं बाहरके प्रपञ्चके रहस्यको ब्रह्मज्ञानके द्वारा जानकर तथा नाना प्रकारकी विचित्र अनन्त परमैश्वर्यकी समष्टिरूप विशेषोंको भली प्रकार देखकर अत्यन्त आश्चर्यमय अमृतसागरमें गोता लगाता है और निरतिशय आनन्द-समुद्ररूप होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्डसमूहोंको पार कर जाता है। इसी प्रकार अमित, अपरिच्छिन्न तमःसागरको पार करके, मूल अविद्यापुरको देखकर, विविध विचित्र अनन्त महामायाविशेषोंसे घिरी हुई, अनन्त महामायाशक्तियोंकी समष्टिरूपा, अनन्त दिव्य तेजोमय ज्वालामालाओंसे सुशोभित, अनन्त महामायाविलासोंकी परम अधिष्ठानस्वरूपा, निरन्तर अमित आनन्द-पर्वतपर विहार करनेवाली, मूल-प्रकृतिकी जननी अविद्यालक्ष्मीका इस प्रकार (वर्णित रूपसे) ध्यान करता है। फिर विविध उपचारोंसे उनकी आराधना करके, समस्त ब्रह्माण्ड-समष्टिकी जननी भगवान् विष्णुकी महामायाको नमस्कार करके उनसे आज्ञा लेकर और ऊपर-से-ऊपर जाकर महाविराट्-पदको पाता है' ॥ १० ॥

'महाविराट्-स्वरूप कैसा है ?' 'समस्त अविद्यापाद विराट् है। सब ओर आँखोंवाला, सब ओर मुखोंवाला, सब ओर हाथोंवाला तथा सब ओर पैरोंवाला है। हाथोंके द्वारा (हाथवालोंको) तथा पंखोंके द्वारा उड़नेवालोंको युक्त करता है। यह देवता अकेला ही स्वर्ग तथा पृथिवीको उत्पन्न करता है। इसका रूप दृष्टिमें नहीं ठहरता। इसे कोई नेत्रोंसे नहीं देखता। हृदयसे, बुद्धिसे तथ मनसे इसका ध्यान किया जाता है। जो इसको जानते हैं, वे अमृतस्वरूप (मुक्त) हो जाते हैं ॥ ११–१४ ॥

'(ऐसे) मन तथा वाणीसे अगोचर विराट्स्वरूपका ध्यान करके नाना प्रकारके उपचारोंसे उनकी आराधना करता

है तथा उनकी आज्ञा लेकर और ऊपर जाकर विविध विचित्र अनन्त मूल-अविद्याके विलासोंको देखकर उपासक परम आश्चर्यान्वित होता है ॥ १५ ॥

'वहाँ अखण्ड परिपूर्ण परमानन्दस्वरूप परब्रह्मके समस्त स्वरूपोंमें विरोध प्रदर्शित करनेवाली (सब प्रकारसे विरुद्ध धर्मोंवाली), अपरिच्छिन्न यवनिका (पर्दे) के आकारवाली, भगवान् विष्णुकी महायोगमाया मूर्तिमान् अनन्त महामाया-स्वरूपोंसे भली प्रकार सेवित हैं। उनका नगर अत्यन्त कौतुकोंसे पूर्ण, अत्यन्त आश्चर्यसागर, आनन्दस्वरूप, शाश्वत है। अविद्यासागरमें प्रतिबिम्बित नित्य वैकुण्ठके प्रतिबिम्बरूप दूसरे वैकुण्ठकी भाँति (वह) प्रकाशित है ॥ १६ ॥

'उस पुरमें पहुँचकर, उपासक योगलक्ष्मी अङ्गमायाका ध्यान करके अनेक प्रकारके उपचारोंसे उनकी आराधना करता है तथा उनके द्वारा पूजित होकर और उनकी आज्ञा प्राप्त करके और ऊपर जाता है। वहाँ मायाके अनन्त विलासोंको देखकर वह परम आश्चर्यमें डूब जाता है ॥ १७ ॥

'उससे ऊपर पादविभूति नामक वैकुण्ठ-नगर शोभित है। अत्यन्त आश्चर्यमय अनन्त ऐश्वर्यका समष्टिस्वरूप, आनन्द-रसके प्रवाहोंसे भूषित, चारों ओर अमृत नदीके प्रवाहसे अत्यन्त मङ्गलस्वरूप, ब्रह्मतेजोविशेषस्वरूप अनन्त ब्रह्मवनोंसे चारों ओर घिरा हुआ, अनन्त नित्य-मुक्तोंसे चारों ओर व्याप्त, अनन्त चिन्मय भवनसमूहोंसे भरा हुआ अनादि पादविभूति नामक वैकुण्ठ इस प्रकार सुशोभित है। और उसके मध्यमें चिदानन्द-पर्वत शोभित है। उस (पर्वत) के ऊपर निरतिशय आनन्द-स्वरूप दिव्य तेजोराशि प्रज्वलित है। उसके मध्यमें परमानन्द-रूप विमान प्रकाशित है। उसके भीतर मध्यस्थानमें चिन्मय आसन विराजमान है। उस (आसनरूप) पद्मकी कर्णिकापर निरतिशय दिव्य तेजोराशिके मध्य समासीन आदि-नारायणका ध्यान करके विविध उपचारोंसे उनकी आराधना करता है, तथा उनसे पूजित होकर, उनकी आज्ञा लेकर और ऊपर जाता है। आवरणसहित अविद्या-अण्डका भेदन करके, अविद्या-पादको पारकर विद्या-अविद्याकी संधि (मध्यस्थान) में जो विष्वक्सेन-वैकुण्ठ नामक नगर शोभित है (साधक वहाँ पहुँचता है) ॥ १८-१९ ॥

'अनन्त दिव्य तेजकी ज्वालामालाओंसे चारों ओर निरन्तर प्रज्वलित, अनन्त ज्ञान एवं आनन्दके मूर्तिमान् स्वरूपोंद्वारा चारों ओर घिरा हुआ, शुद्ध ज्ञानरूप विमानावलियोंसे विराजित वह नगर अनन्त आनन्दरूप पर्वतोंसे परम कौतुकमय प्रतीत होता है। उस (पुर) के मध्यमें कल्याणपर्वतके ऊपर शुद्ध आनन्द-रूप विमान शोभित है। उसके भीतर दिव्य मङ्गलमय आसन विराजमान है। उस (आसनरूप) पद्मकी कर्णिकापर ब्रह्म-तेजोराशिके मध्यमें समासीन भगवान्के अनन्त ऐश्वर्यस्वरूप, विधि-निषेधके परिपालक, समस्त प्रवृत्तियों एवं सम्पूर्ण कारणोंके कारणस्वरूप, निरतिशय आनन्दलक्षण, महाविष्णुस्वरूप, समस्त मोक्षोंके परिपालक, अमितपराक्रमी—इस प्रकारके श्रीविष्वक्सेनजीका ध्यान करके, प्रदक्षिणा तथा नमस्कार करता है। फिर विविध उपचारोंसे (उनकी) पूजा करके, उनकी आज्ञा लेकर, और ऊपर जाकर उपासक विद्याविभूतिको प्राप्त करता है तथा विद्यामय, चारों ओर स्थित ब्रह्मतेजोमय अनन्त वैकुण्ठोंको देखकर परमानन्द प्राप्त करता है ॥ २० ॥

'(वहाँसे आगे) विद्यामय अनन्त समुद्रोंको पार करके ब्रह्मविद्या नदीको पाकर (उसके पार पहुँचकर) वहाँ स्नान करके, भगवान्का ध्यान करते हुए उपासक पुनः गोता लगाता है और मन्त्रमय शरीरको छोड़कर, विद्यानन्दमय अमृत दिव्य शरीर ग्रहण करता है। इस प्रकार नारायणकी सरूपता (उनके-जैसा विग्रह) प्राप्त करके, आत्माकी पूजा करता है, फिर नित्यमुक्त सभी वैकुण्ठवासियोंद्वारा भलीभाँति पूजित होकर, आनन्द-रससे भरपूर ब्रह्मविद्या-प्रवाहोंसे, अनन्त क्रीडानन्द नामक पर्वतोंसे चारों ओर व्याप्त, ब्रह्म-विद्यामय सहस्रों प्राचीरोंसे तथा आनन्दामृतसे पूर्ण स्वाभाविक दिव्य गन्धसे युक्त चिन्मय अनन्त ब्रह्मवनोंसे अत्यन्त शोभित—इस प्रकारके ब्रह्मविद्या-वैकुण्ठमें उपासक प्रवेश करता है। उसके भीतर अवस्थित अत्यन्त उन्नत बोधानन्द-मय भवनके अग्र (सम्मुख)-भागमें स्थित प्रणवरूप विमानके ऊपर विराजमान अपार ब्रह्मविद्या-साम्राज्यकी अधिष्ठातृदेवी, अपने अमोघ मन्दकटाक्षसे अनादि मूल-अविद्याको नष्ट कर देनेवाली, एकमात्र अद्वितीया, अनन्त मोक्षसाम्राज्य-लक्ष्मीका इस प्रकार ध्यान करके, प्रदक्षिणा तथा नमस्कार करके अनेक प्रकारके उपचारोंसे उनकी आराधना करता है। फिर पुष्पाञ्जलि समर्पित करके, विशिष्ट स्तोत्रोंसे उनकी स्तुति करके, उनके द्वारा भलीभाँति पूजित होकर, उनकी आज्ञा लेकर उन्हींके साथ और ऊपर जाता है। वहाँ ब्रह्मविद्याके तटपर पहुँचकर, ज्ञान एवं आनन्दमय अनन्त वैकुण्ठोंको देखकर, निरतिशय आनन्द प्राप्त करता है तथा ज्ञानानन्दमय अनन्त समुद्रोंको पार करके, ब्रह्मवनोंमें तथा परम मङ्गलमय पर्वत-शिखरपर बराबर चलते हुए, ज्ञानानन्दरूप विमानोंकी

क्रमबद्ध पङ्क्तियोंमें (पहुँचकर) उपासक परमानन्द लाभ करता है ॥ २१ ॥

'उसके बाद तुलसी नामका वैकुण्ठ-नगर प्रकाशित है। वह परम कल्याणरूप, अनन्त ऐश्वर्ययुक्त, अमित तेजोराशि-स्वरूप, अनन्त ब्रह्मतेजोराशिका समष्टिस्वरूप, चिदानन्दमय अनेक प्राकार-विशेषों (चहारदीवारियों) से घिरा हुआ, अमितबोधमय आनन्दपर्वतके ऊपर स्थित, बोधानन्द-नदीके प्रवाहसे अत्यन्त मङ्गलमय, निरतिशयानन्दस्वरूप अनन्त तुलसी-वनोंसे अत्यन्त शोभित, सम्पूर्ण पवित्रोंमें परम पवित्र, चित्स्वरूप, अनन्त नित्यमुक्त पुरुषोंसे अत्यधिक संकुल तथा आनन्दमय अनन्त विमान-समूहोंसे सुशोभित, अमित तेजोराशिके अन्तर्गत दिव्य तेजःस्वरूप है ॥ २२ ॥

'उपासक ऐसे आकारवाले तुलसी-वैकुण्ठमें प्रवेश करके, उसके भीतर दिव्य विमानके ऊपर विराजमान, सर्वपरिपूर्ण महाविष्णुके सर्वाङ्गोंमें विहार करनेवाली, निरतिशय सौन्दर्य-लावण्यकी अधिष्ठात्री देवी, बोधानन्दमय अनन्त नित्य परिजनोंसे परिसेविता, महालक्ष्मीकी सखी श्रीतुलसी-लक्ष्मीका इस प्रकार ध्यानकर, उनकी प्रदक्षिणा तथा (उन्हें) नमस्कार करता है तथा अनेक प्रकारके उपचारोंसे उनकी पूजा करके, स्तोत्रविशेषसे स्तुति करता है। फिर उनके द्वारा भली प्रकार पूजित होकर तथा वहाँके निवासियोंद्वारा भलीभाँति पूजित होकर, उनकी आज्ञा पाकर और ऊपर-ऊपर जाकर परमानन्द नदीके किनारे पहुँचता है। वहाँ चारों ओर स्थित शुद्ध ज्ञानानन्दमय अनन्त वैकुण्ठोंको देखकर, निरतिशय आनन्द प्राप्त करता है तथा वहाँके निवासी चिद्रूप (ज्ञानस्वरूप) पुराणपुरुषोंद्वारा भली प्रकार पूजित होता है। आगे दिव्य गन्ध एवं आनन्दमय पुष्पवृष्टिसमन्वित दिव्य मङ्गल-भवन ब्रह्मवनोंमें, अमित तेजोराशिस्वरूप एवं तरङ्ग-मालाओंसे परिपूर्ण निरतिशय आनन्दरूप अमृतके सागरोंमें, फिर अनन्त शुद्ध ज्ञानस्वरूप विमान-समुदायोंसे भरे आनन्द-गिरिके शिखरसमूहोंमें बराबर चलते हुए उपासक वहाँसे भी ऊपर-ऊपर विमानपङ्क्तियों तथा अनन्त तेजोमय पर्वतपंक्तियोंमें चलकर, इस क्रमसे विद्यापाद तथा आनन्दपादकी संधि (मध्यस्थान) में पहुँचता है। वहाँ आनन्दनदीके प्रवाहमें स्नान करके, बोधानन्द-वनमें पहुँचकर (देखता है कि) वहाँ अमृतमय पुष्पोंकी निरन्तर वर्षासे युक्त शुद्धबोधमय परमानन्द-स्वरूप वन है। परमानन्दरूप प्रवाहोंसे (वह वन चारों ओर) व्याप्त है। मूर्तिमान् परम मङ्गलोंसे परमाश्चर्य-स्वरूप हो रहा है। वह अपार आनन्द-सिन्धुरूप है। क्रीडानन्द नामक पर्वतोंद्वारा सब ओर शोभित है। उसके बीचमें शुद्ध बोधानन्दमय वैकुण्ठ है। यही ब्रह्मविद्यापादका वैकुण्ठ है, जो सहस्रों आनन्द-प्राचीरोंसे प्रज्वलित (भलीभाँति प्रकाशमान) है। वह अनन्त आनन्दरूप विमान-समूहोंसे भरा हुआ, अनन्त बोधमयविशेष भवनोंसे चारों ओर निरन्तर जगमगाता हुआ अनन्त क्रीडा-मण्डपोंसे युक्त, बोध-आनन्दमय, अनन्त श्रेष्ठ छत्र, ध्वजाएँ चँवर, वितान (चँदोवे) तथा द्वारोंसे अलङ्कृत, परमानन्द-व्यूहरूप (घनीभूत परमानन्दविग्रह) नित्य-मुक्तोंद्वारा चारों ओरसे व्याप्त, अनन्त दिव्यतेजोमय पर्वतोंका समष्टिरूप, अपरिच्छिन्न अनन्त शुद्धबोधमय आनन्दका मण्डल, वाणीसे अगोचर (अवर्ण्य), आनन्दमय ब्रह्म-तेजोराशि-मण्डल, अखण्ड तेजोमण्डलरूप, शुद्धानन्द-स्वरूपका समष्टि-मण्डलरूप, अखण्ड चिद्घनानन्द-स्वरूप है ॥ २३ ॥

'उपासक इस प्रकारके बोधानन्दमय वैकुण्ठमें प्रवेश करके, वहाँके सभी निवासियोंद्वारा भलीभाँति पूजित होता है। परमानन्द पर्वतपर अखण्ड बोधरूप विमान प्रकाशमय रूपमें स्थित है। उसके भीतर चिन्मय आसन विराजमान है। उस (आसन) के ऊपर अखण्ड आनन्दमय तेजोमण्डल सुशोभित है। उसके मध्यमें समासीन आदि-नारायणका ध्यान करके, प्रदक्षिणा एवं नमस्कार करके, उपासक विविध प्रकारके उपचारोंसे उनकी भली प्रकार पूजा करता है तथा पुष्पाञ्जलि निवेदित करके, स्तोत्र-विशेषसे स्तुति करता है। अपने (नारायण) स्वरूपसे अवस्थित उपासकको देखकर, उस उपासकको आदि-नारायण अपने सिंहासनपर भली प्रकार बैठाकर, उस वैकुण्ठके सभी निवासियोंके साथ समस्त मोक्ष-साम्राज्यके पट्टाभिषेक (राज-तिलक) के उद्देश्यसे उसे मन्त्रोंद्वारा पवित्र किये हुए आनन्दस्वरूप कलशोंके (जल) द्वारा स्नान कराते हैं, तथा दिव्य मङ्गलस्वरूप महावाद्योंके (घोषके) साथ नाना प्रकारके उपचारोंसे उसकी भली प्रकार अर्चा करते हैं। फिर अपने सभी मूर्तिमान् अलङ्कारोंसे अलङ्कृत करके, (उसकी) प्रदक्षिणा तथा (उसको) नमस्कार करते हैं और 'तुम ब्रह्म हो। मैं ब्रह्म हूँ। हम दोनोंमें अन्तर नहीं है। तुम्हीं 'मैं' (मेरे स्वरूप) हो। मैं ही तुम (तुम्हारा स्वरूप) हूँ।' यों उच्चारण-कर (दीक्षा देकर), यों कहकर (उसका तत्त्व प्रत्यक्ष कराके) उस समय आदिनारायण अन्तर्हित हो जाते हैं' ॥ २४-२५ ॥

॥ षष्ठ अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥

सप्तम अध्याय

महानारायण-यन्त्रका वर्णन

'[भगवान् नारायणके पुनः प्रकट होनेपर] उपासक उनकी आज्ञासे नित्य-गरुड़पर चढ़कर, समस्त वैकुण्ठ-वासियोंसे घिरा हुआ, महासुदर्शनको आगे करके, विष्वक्सेन-द्वारा परिपालित (रक्षित) हो, ऊपर-ऊपर जाकर ब्रह्मानन्द-विभूतिमें पहुँच जाता है। वहाँ वह सर्वत्र स्थित ब्रह्मानन्दमय अनन्त वैकुण्ठोंका दर्शन करता है; फिर निरतिशय आनन्द-समुद्ररूप होकर वह आत्माराम, आनन्दविभूतिस्वरूप अनन्त पुरुषोंको देखता और उन सबका उपचारोंसे भली-भाँति अर्चन करता है। फिर उन सबसे भी पूजित होकर उपासक, वहाँसे ऊपर-ऊपर जाते हुए, ब्रह्मानन्दविभूतिमें पहुँच जाता है। तत्पश्चात् अनन्त दिव्य तेजोमय पर्वतोंसे अलङ्कृत, परमानन्दरूप तरङ्गमालाओंसे शोभित असंख्य आनन्दसमुद्रोंको पार करके, तथा विविध विचित्र अनन्त परमतत्त्व-विभूति-समष्टिस्वरूपोंको एवं परमाश्चर्यरूप ब्रह्मानन्द-विभूति-स्वरूपोंको भी अतिक्रमण करके उपासक परमाश्चर्यमें डूब जाता है ॥ १ ॥

'इसके पश्चात् सुदर्शन-नामक वैकुण्ठ नगर प्रकाशित होता है। वह नित्य मङ्गलरूप, अनन्त वैभवपूर्ण, सहस्रों आनन्दरूप प्राचीरों (चहारदीवारियों) से घिरा, दस सहस्र कक्षोंसे युक्त, अनन्त उत्कट प्रज्वलित (प्रकाशमय) अरोंके मण्डलसे युक्त, निरतिशय दिव्य तेजोमण्डलरूप, देवताओंके लिये भी परमानन्दस्वरूप, शुद्ध-बुद्धस्वरूप, अनन्त आनन्दरूप विद्युत्के परम विलासके समान प्रकाशमान, निरतिशय परमानन्दसागर तथा अनन्त चिद्रूप (ज्ञानमूर्ति) आनन्दमय पुरुषोंसे अधिष्ठित है ॥ २ ॥

''उसके मध्यमें सुदर्शन नामक महाचक्र है। 'वह (नित्य) गतिशील, पवित्र, विस्तृत एवं पुरातन है, जिसके द्वारा पवित्र होकर मनुष्य पापोंसे तर जाता है—उस पवित्र, शुद्ध, परमपावन चक्रके द्वारा पवित्र होकर हम अतिपापरूप शत्रुको पार कर जायँगे। वह गतिशील चक्र भगवद्धामका द्वाररूप है; वह ज्वालाओंसे परिपूर्ण, पवित्र, ज्योतिर्मय, अतिशय प्रकाशमान, अत्यन्त तेजस्वी तथा अमृतकी असंख्य धाराओंको स्रवित करनेवाला चक्र हमको लोकमें सुबुद्धियुक्त बनाये।' [श्रुति इस प्रकार जिसकी स्तुति करती है, वह] दस सहस्र अरोंसे युक्त, प्रज्वलित, दस सहस्र अरोंका समष्टिरूप एवं निरतिशय पराक्रमका विलास है, वह अनन्त दिव्यायुधों एवं दिव्य शक्तियोंका समष्टिरूप, महाविष्णुका मूर्तिमान् अमोघ प्रताप अयुतायुत-कोटि योजन विशाल, अनन्त ज्वाला-मालाओंसे अलङ्कृत, समस्त दिव्य मङ्गलोंका निदान (आदिकारण) तथा अनन्त दिव्य तीर्थोंका निज मन्दिरस्वरूप सुदर्शन महाचक्र इस प्रकार प्रज्वलित होता रहता है ॥ ३–६ ॥

'उस (चक्र) के नाभिमण्डलस्थानमें निरतिशय आनन्द-मयी दिव्य तेजोराशि लक्षित होती है। उसके मध्यमें सहस्रार-चक्र प्रज्वलित है। वह (सहस्रारचक्र) अखण्ड दिव्य तेजोमण्डलके आकारका तथा परमानन्दमय विद्युत्-पुञ्जके समान उज्ज्वल है। उसके मध्यमें छः सौ अरोंका चक्र प्रज्वलित है। उसका भी स्वरूप अमित, परम तेजोमय, श्रेष्ठविहारका स्थान एवं विज्ञानका घनीभूत पुञ्ज है। उसके मध्यमें तीन सौ अरोंवाला चक्र प्रकाशित है। वह भी परम कल्याणका विलास-स्वरूप, तथा अनन्त चिन्मय सूर्योंका समष्टिरूप है। उसके भीतर सौ अरोंका चक्र प्रकाशमान है। वह भी परम तेजोमण्डल-रूप है। उसके बीचमें साठ अरोंका चक्र प्रकाशित है। वह ब्रह्मतेजका परम विलासरूप है। उसके भीतरी भागमें षट्कोण-चक्र प्रज्वलित है। वह अपरिच्छिन्न अनन्त दिव्य तेजोराशिस्वरूप है। उसके भीतर महानन्दपद्म शोभित है। उसकी कर्णिकामें चिन्मय सूर्य, चन्द्र तथा अग्निके मण्डल प्रज्वलित हैं। वहाँ निरतिशय दिव्य तेजोराशि दिखायी पड़ती है। उसके भीतरी भागमें एक साथ उदित अनन्तकोटि सूर्योंके समान प्रकाशमय सुदर्शन-पुरुष विराजमान हैं। सुदर्शन-पुरुष महाविष्णु ही हैं; क्योंकि वे महाविष्णुके समस्त असाधारण चिह्नोंसे चिह्नित हैं।

'उपासक इस प्रकार सुदर्शन-पुरुषका ध्यान करके अनेक प्रकारके उपचारोंसे उनकी आराधना करके प्रदक्षिणा तथा नमस्कार करता है; फिर वह उपासक उनके द्वारा भी भली प्रकार पूजित होकर, उनकी आज्ञा प्राप्तकर ऊपर-ऊपरको जाता हुआ परमानन्दमय अनन्त वैकुण्ठोंको देखकर परमानन्द प्राप्त करता है ॥ ७–१५ ॥

'उससे ऊपर विविध विचित्र अनन्त चिद्विलासमय विभूति-स्वरूपोंको पार करके, तथा अनन्त परमानन्द-विभूतिके समष्टि-रूप अनन्त निरतिशय आनन्द-समुद्रोंको लाँघकर उपासक क्रमशः अद्वैत-संस्थान (धाम) को प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

'अद्वैत-संस्थान (कैवल्यधाम) कैसा है ? अखण्ड

आनन्दस्वरूप, अनिर्वचनीय, अमितबोधसागर, अपार आनन्द-का समुद्र, विजातीय विशेषताओं (विशेषों) से रहित, सजातीय विशेषताओंसे युक्त, निरवयव, निराधार, निर्विकार, निरञ्जन, अनन्त, ब्रह्मानन्द-समष्टिका घनीभाव, परमचिद्विलासका समष्टि-स्वरूप, निर्मल, निष्कलङ्क एवं दूसरे किसीके आश्रयसे रहित है। अत्यन्त निर्मल अनन्तकोटि सूर्योंके प्रकाश उसके सम्मुख एक चिनगारीके समान हैं; जो अनन्त उपनिषदोंका अर्थ-स्वरूप, समस्त प्रमाणोंसे अतीत, मन एवं वाणीका अविषय और नित्यमुक्तस्वरूप है। उसका कोई आधार नहीं है; वह आदि-मध्य-अन्तरहित, कैवल्यरूप, परम शान्त, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर, महान्‌से भी परम महान्, अमित आनन्दस्वरूप, शुद्ध बोध-आनन्द-ऐश्वर्यरूप, अनन्त आनन्दमय स्वरूपोंका समष्टिरूप, अविनाशी, अनिर्देश्य, कूटस्थ (निर्विकार), अचल, ध्रुव, दिशा-देश एवं कालसे रहित, भीतर और बाहरसे भी सम्पूर्ण जगत्-को व्याप्त करके परिपूर्ण, परम योगियोंद्वारा अन्वेषणीय, देश-काल तथा वस्तुके परिच्छेदसे रहित, निरन्तर नूतन, नित्य परिपूर्ण, अखण्ड आनन्द अमृतरूप, शाश्वत, परमपद, निरतिशय आनन्दमय अनन्त विद्युत्पर्वतोंके समान, अद्वितीय, तथा अपने ही प्रकाशसे निरन्तर प्रकाशित है। (वहाँ) परमानन्दस्वरूप अपरिच्छिन्न अनन्त परम ज्योति, जो शाश्वत है, निरन्तर प्रकाशमान है ॥ १७-१८ ॥

'उसके भीतर बोधानन्द-महोज्ज्वल, नित्य मङ्गल-मन्दिर, चिन्मय समुद्रके मन्थनसे उत्पन्न चित्साररूप, अनन्त आश्चर्योंका सागर, अमित तेजोराशिके अन्तर्गत विशेष तेजः-स्वरूप, अनन्त आनन्द-प्रवाहोंसे अलङ्कृत निरतिशय आनन्द-सागर-स्वरूप, निरुपम, नित्य, निर्दोष, निरतिशय, निस्सीम तेजोराशिरूप, निरतिशय आनन्दस्वरूप सहस्रों प्राकारों (चहारदीवारियों) से अलङ्कृत, शुद्ध बोधमय भवनसमूहोंसे भूषित, चिदानन्दमय अनन्त दिव्य उपवनोंसे सुशोभित, निरन्तर होनेवाली अपार पुष्पवर्षासे चारों ओरसे व्याप्त धाम है। वही त्रिपाद्विभूति वैकुण्ठ-स्थान है।

'वही परम कैवल्य है। वही अबाधित परमतत्त्व है। वही अनन्त उपनिषदोंद्वारा अन्वेषणीय पद है। वही समस्त परम-योगियों तथा मुमुक्षुओंद्वारा चाहा जाता है। वही घनीभूत सत् है। वही घनीभूत चित् है। वही घनीभूत आनन्द है। वही घनीभूत शुद्धबोधरूप अखण्ड आनन्दमय ब्रह्मचैतन्यका अधिदेवता-स्वरूप है। सबका अधिष्ठान, अद्वय परब्रह्मका विहार-मण्डल, निरतिशय आनन्दरूप तेजोमण्डल, अद्वैत परमानन्दरूप परब्रह्मका परम अधिष्ठानरूप मण्डल, निरतिशय परमानन्दका परममूर्तस्वरूप मण्डल, अनन्त श्रेष्ठ मूर्तियोंका समष्टिरूप मण्डल, निरतिशय परमानन्दरूप-स्वरूप परमब्रह्मकी परममूर्तिरूप परमतत्त्वके विलासका स्वरूपभूत मण्डल, बोधानन्दमय अनन्त परम विलासोंकी विभूतियोंका समष्टिरूप मण्डल, अनन्त चिद्विलासकी विभूतियोंका समष्टिरूप मण्डल, अखण्ड शुद्ध चैतन्यका निजमूर्तिरूप विग्रह, वाणीके अगोचर अनन्त शुद्धबोधका विग्रहरूप, अनन्त आनन्दसमुद्रों-का समष्टिरूप, अनन्त बोधस्वरूप पर्वतों तथा अनन्त बोधानन्द-रूप पर्वतोंसे अधिष्ठित, निरतिशय आनन्द एवं परम मङ्गलमय स्वरूपोंका समष्टिरूप, अखण्ड अद्वैत परमानन्दस्वरूप परब्रह्मकी परममूर्तिके परम तेजःपुञ्जका पिण्डरूप, चिद्रूप (ज्ञानस्वरूप) सूर्यका मण्डलरूप तथा बत्तीस विभिन्न व्यूहोंसे अधिष्ठित है। केशवादि चौबीस व्यूह, सुदर्शन आदिके न्यास-मन्त्र, सुदर्शनादि यन्त्रोंका उद्धार, अनन्त-गरुड़-विष्वक्सेनादि (पार्षद) तथा निरतिशय आनन्दरूप भी उसीमें हैं ॥ १९-२० ॥

'उपर्युक्त आनन्द-व्यूहके बीचमें सहस्रकोटि योजन विस्तीर्ण उन्नत चिन्मय प्रासाद है। (वह) ब्रह्मानन्दमय करोड़ों विमानसे युक्त एवं अत्यन्त मङ्गलस्वरूप है। अनन्त उपनिषदोंके अर्थ-स्वरूप उपवन-समुदायोंसे भरा है। सामवेदरूपी हंसोंके कलनादसे उसकी अत्यन्त शोभा होती है। आनन्दमय अनन्त शिखरोंसे वह अलङ्कृत है। चिदानन्द-रसके झरनोंसे व्याप्त है। अखण्डा-नन्दरूप तेजोराशिके भीतर स्थित है। अनन्त आनन्दमय आश्चर्योंका समुद्र है। उसके भीतरी भागमें निरतिशय आनन्दस्वरूप प्रणव नामक विमान है, जिसका प्राकार अनन्तकोटि सूर्योंके प्रकाशसे भी अतिशय प्रकाशमय है (वह विमान) आनन्दमय शतकोटि शिखरोंसे जगमगा रहा है। उसके भीतर बोधानन्द-पर्वतके ऊपर अष्टाक्षरीमण्डप सुशोभित है। उस (मण्डप) के मध्यमें आनन्दवनसे विभूषित चिदानन्दमयी वेदिका है। उसके ऊपर निरतिशयानन्दस्वरूप तेजोराशि प्रज्वलित हो रही है। उसके भीतर अष्टाक्षरी पद्मसे विभूषित चिन्मय आसन विराजमान है। उस (आसनरूप पद्म) की प्रणवरूपी कर्णिकापर चिन्मय सूर्य, चन्द्र तथा अग्निके मण्डल (क्रमशः एकके ऊपर एक) प्रज्वलित हैं। वहाँ अखण्ड आनन्दरूप तेजोराशिके भीतर परम मङ्गलाकार अनन्तासन विराजमान है। उसके ऊपर महायन्त्र प्रज्वलित है। निरतिशय ब्रह्मानन्दकी परममूर्तिरूप वह महायन्त्र समस्त ब्रह्मतेजकी राशिका समष्टिस्वरूप, चित्स्वरूप, निर्मल, परब्रह्म-स्वरूप, एवं परब्रह्मका परम रहस्यमय कैवल्यरूप है।

महायन्त्रमय परम वैकुण्ठका यह नारायणयन्त्र विजयी होता है ॥ २१–२९ ॥

'उसका स्वरूप कैसा है ?' शिष्यके इस प्रकार पूछनेपर गुरु 'वह ऐसा है' कहकर (यन्त्रका स्वरूप) बतलाते हैं—"पहले षट्कोण चक्र बनाना चाहिये। उसके मध्यमें छः दलोंका कमल अङ्कित करे। उस कमलकी कर्णिकापर प्रणव (ॐ) लिखे। प्रणवके बीचमें नारायणका बीज-मन्त्र (अं) लिखे। वह बीज-मन्त्र साध्यगर्भित होना चाहिये। अर्थात् उसके साथ जिस उद्देश्यसे यन्त्र-पूजा करनी हो, उसका सूचक **'मम सर्वाभीष्टसिद्धिं कुरु कुरु स्वाहा'** यह वाक्य लिखना चाहिये[1]। कमलके दलोंपर विष्णु एवं नृसिंहके षडक्षर मन्त्रोंको लिखना चाहिये।* विष्णु-षडक्षर मन्त्र **'ॐ विष्णवे नमः'** और नृसिंह-षडक्षर मन्त्र **'ऐं क्लीं श्रीं ह्रीं क्ष्रौं फट्'** है। दल-कपोलोंमें (दो दलोंके मध्यमें) श्रीराम तथा श्रीकृष्णके षडक्षर मन्त्रोंको लिखे। राम-षडक्षर मन्त्र **'रां रामाय नमः'** और कृष्ण-षडक्षर मन्त्र **'क्लीं कृष्णाय नमः'** है। षट्कोण चक्रके छः कोणोंमें **'सहस्रार हुं फट्'** यह सुदर्शन-षडक्षर मन्त्र लिखे। छहों कोण-कपोलोंमें (दो कोनोंके मध्य अर्थात् रेखाओंके सामने बाहर) **'ॐ नमः शिवाय'** यह प्रणव-युक्त शिव-पञ्चाक्षर मन्त्र लिखे ॥ ३० ॥

"उस (षट्कोण चक्र) के बाहर प्रणवको इस प्रकार मालाकी भाँति लिखे कि वृत्त बन जाय। वृत्तके बाहर अष्टदल कमल बनाये। उसके दलोंपर **'ॐ नमो नारायणाय'** यह नारायण-अष्टाक्षर मन्त्र और **'जय जय नरसिंह'** यह नृसिंह-अष्टाक्षर मन्त्र लिखे। दलोंके बीचके स्थानोंपर राम, कृष्ण तथा श्रीकरके अष्टाक्षर मन्त्र लिखे। मन्त्र क्रमशः ये हैं—**'ॐ रामाय हुं फट् स्वाहा' 'क्लीं दामोदराय नमः' 'उत्तिष्ठ श्रीकर स्वाहा'** ॥ ३१ ॥

"उस (अष्टदल कमल) के बाहर प्रणवके मालाकी तरह लिखते हुए वृत्ताकार बना दे। वृत्तके बाहर नौ दलोंका कमल बनाये। कमलके दलोंमें (क्रमशः) राम, कृष्ण एवं हयग्रीवके नवाक्षर मन्त्र लिखे। मन्त्र क्रमशः ये हैं—**'ॐ रामचन्द्राय नमः ॐ', 'क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय क्लीं', 'ह्सौं हयग्रीवाय नमः ह्सौं।'** दलोंके मध्यमें **'ॐ दक्षिणामूर्तिरीश्वरोम्'** यह दक्षिणामूर्ति-नवाक्षर मन्त्र लिखे ॥३२॥

"उसके बाहर नारायण-बीज (**अं**) से युक्त (अर्थात् **अं अं** लिखते हुए) वृत्त बनाये। वृत्तसे बाहर दस दलोंका कमल बनाये। उन दलोंपर राम तथा कृष्णके दशाक्षर मन्त्र लिखे। वे मन्त्र ये हैं—**'हुं जानकीवल्लभाय स्वाहा' 'गोपीजनवल्लभाय स्वाहा'**। दलोंके संधिस्थानोंमें **'ॐ नमो भगवते श्रीमहानृसिंहाय कालदंष्ट्रवदनाय मम विघ्नान् पच पच स्वाहा'** यह नृसिंह-माला-मन्त्र लिखे ॥३३॥

"दशदल कमलके बाहर नृसिंहके एकाक्षर मन्त्र **'क्ष्रौं'**के द्वारा वृत्त बनाये। वृत्तके बाहर बारह दलोंका कमल बनाये। दलोंपर नारायण तथा वासुदेवके द्वादशाक्षर मन्त्र लिखे। मन्त्र क्रमशः ये हैं—**'ॐ नमो भगवते नारायणाय', 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।'** दलोंके कपोलोंमें (क्रमशः) महाविष्णु, श्रीराम तथा श्रीकृष्णके द्वादशाक्षर मन्त्र लिखे। मन्त्र इस प्रकार हैं—**'ॐ नमो भगवते महाविष्णवे', 'ॐ ह्रीं भरताग्रज राम क्लीं स्वाहा', 'श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय नमः'** ॥३४॥

"उसके बाहर जगन्मोहन बीज-मन्त्र **'क्लीं'** से वृत्त बनाये। वृत्तसे बाहर चौदह दलोंका कमल बनाये। उन दलोंपर (क्रमशः) लक्ष्मीनारायण, हयग्रीव, गोपाल तथा दधिवामनके मन्त्रोंको लिखे। मन्त्र ये हैं—**'ॐ ह्रीं ह्रीं श्रीं श्रीं लक्ष्मीवासुदेवाय नमः', 'ॐ नमः सर्वकोटिसर्वविद्याराजाय', 'क्लीं कृष्णाय गोपालचूडामणये स्वाहा', 'ॐ नमो भगवते दधिवामनाय ॐ।'** दो दलोंके सन्धि-स्थानोंपर **'ह्रीं पद्मावत्यन्नपूर्णे माहेश्वरि स्वाहा'** यह अन्नपूर्णेश्वरी-मन्त्र लिखे ॥३५॥

"उसके बाहर केवल प्रणवसे एक वृत्त बनाये। वृत्तसे बाहर सोलह दलोंका कमल बनाये। उसके दलोंपर श्रीकृष्ण तथा सुदर्शनके षोडशाक्षर मन्त्रोंको लिखे। मन्त्र क्रमशः इस प्रकार हैं—**'ॐ नमो भगवते रुक्मिणीवल्लभाय स्वाहा', 'ॐ नमो भगवते महासुदर्शनाय हुं फट्।'** उसके दलोंके सन्धि-भागोंमें

---

१. 'मम' यह पद अथवा साधकका षष्ठ्यन्त नाम बीज-मन्त्रके ऊपर होगा 'सर्वाभीष्टसिद्धिम्' यह पद बीज-मन्त्रके नीचे होगा। बीजके वामपार्श्वमें 'कुरु कुरु' लिखा जायगा और दक्षिण पार्श्वमें 'स्वाहा' रहेगा।

* इस प्रकार जहाँ भी मन्त्र लिखनेका वर्णन आता है, वहाँ मन्त्रका एक-एक अक्षर एक-एक दलपर, दलोंके मध्यमें या कोणपर—जहाँ लिखे हैं—क्रमशः लिखने चाहिये। एक मन्त्रको लिखकर उसके अक्षरोंके नीचे दूसरे मन्त्रके अक्षरोंको उसी प्रकार लिखना चाहिये। इस प्रकार जितने मन्त्र लिखने हों, उनके अक्षरोंको क्रमशः एकके नीचे एक लिखता जाय। संयुक्ताक्षरोंको एक ही अक्षर मानकर लिखे।

सब स्वर तथा सुदर्शन-माला-मन्त्र लिखे। पूरा मन्त्र यह है—**'सुदर्शनमहाचक्राय दीप्तरूपाय सर्वतो मां रक्ष रक्ष सहस्रार हुं फट् स्वाहा।'** (पहले एक-एक स्वर लिखा जायगा, फिर स्वरोंके नीचे क्रमशः प्रत्येक दलपर मन्त्रके दो-दो अक्षर जैसे प्रथम दलपर **'सुद'** दूसरेपर **'र्शन'** इस प्रकार लिखे जायँगे) ॥३६॥

"उसके बाहर वराह-बीजसे युक्त वृत्त रहेगा। वह बीज **'हुं'** है। वृत्तसे बाहर अठारह दलोंका कमल बनाये। उन दलोंपर श्रीकृष्ण तथा वामनके अष्टादशाक्षर मन्त्र लिखे। मन्त्र क्रमशः इस प्रकार हैं—**'क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा', 'ॐ नमो विष्णवे सुरपतये महाबलाय स्वाहा।'** दलोंके सन्धि-स्थानोंपर गरुड-पञ्चाक्षर मन्त्र और गरुड-माला-मन्त्र लिखे। मन्त्र क्रमशः ये हैं—**'क्षिप ॐ स्वाहा', 'ॐ नमः पक्षिराजाय सर्वविषभूतरक्षःकृत्यादिभेदनाय सर्वेष्टसाधकाय स्वाहा।'** (इसमें पहले दलपर **'क्षिप'**, दूसरेपर **'ॐ'**, तीसरेपर **'स्वाहा'**, चौथेपर **'ॐ नमः'**, पाँचवेंपर **'पक्षि'**, छठेपर **'राजाय'** और शेषपर शेष मन्त्रभागके दो-दो अक्षर लिखे जायँगे) ॥३७॥

"उसके बाहर **'ह्रीं'** इस माया-बीजसे वृत्त बनाये। उसके बाहर फिर अष्टदल कमल बनाये। उन दलोंपर श्रीकृष्ण तथा वामनके अष्टाक्षर मन्त्र **'ॐ नमो दामोदराय'** और **'ॐ वामनाय नमः ॐ'** इनको (क्रमशः) लिखे। दलोंके सन्धि-स्थलोंपर नीलकण्ठके त्र्यक्षर तथा गरुडके पञ्चाक्षर मन्त्रोंको (पहले तीन दलोंपर पहलेका एक-एक अक्षर, फिर शेषपर दूसरेका एक-एक अक्षर—इस प्रकार) लिखे। मन्त्र ये हैं—**'प्रें रीं ठः, नमोऽण्डजाय'** ॥ ३८ ॥

"उसके बाहर कामदेवके बीज-मन्त्र (**क्लीं**) से वृत्त बनाये। वृत्तसे बाहर चौबीस दलोंका कमल निर्मित करे। उन दलोंपर शरणागत-मन्त्र एवं नारायण-मन्त्र (पहले एक-एक अक्षरके क्रमसे शरणागत-मन्त्र और शेष दलोंपर नारायण-मन्त्रके अक्षर) तथा नारायण एवं हयग्रीवके गायत्री-मन्त्र (क्रमशः) लिखे। मन्त्र इस प्रकार हैं—**'श्रीमन्नारायण-चरणौ शरणं प्रपद्ये', 'श्रीमते नारायणाय नमः', 'नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्' 'वागीश्वराय विद्महे हयग्रीवाय धीमहि तन्नो हंसः प्रचोदयात्।'** उसके दलोंके सन्धि-भागोंमें नृसिंह-गायत्री, सुदर्शन-गायत्री तथा ब्रह्मगायत्री-मन्त्र (क्रमशः) लिखे। मन्त्र ये हैं—**'वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि तन्नः सिंहः प्रचोदयात्', 'सुदर्शनाय विद्महे हेतिराजाय धीमहि तन्नश्चक्रः प्रचोदयात्' 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्'** ॥३९॥

"उसके बाहर **'ह्सौं'** इस हयग्रीवके एकाक्षर बीज-मन्त्रसे वृत्त बनाये। उसके बाहर बत्तीस दलोंका कमल बनाये। उसके दलोंपर (क्रमशः) नृसिंह एवं हयग्रीवके अनुष्टुप् मन्त्रोंको लिखे। मन्त्र ये हैं—

उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्।
नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्॥
ऋग्यजुःसामरूपाय वेदाहरणकर्मणे।
प्रणवोद्गीथवपुषे महाश्वशिरसे नमः॥

"दलोंके सन्धि-भागोंमें (क्रमशः) राम तथा कृष्णके अनुष्टुप्-मन्त्र लिखें—

रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम।
भो दशास्यान्तकास्माकं रक्षां देहि श्रियं च ते॥
देवकीसुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः॥

"उसके बाहर प्रणवसे सम्पुटित अग्निबीज (**ॐ रमोम्**) से वृत्त बनाये। वृत्तसे बाहर छत्तीस दलोंका कमल बनाये। उसके दलोंपर हयग्रीवका छत्तीस अक्षरोंवाला और फिर (उसके नीचे) अड़तीस अक्षरोंवाला मन्त्र लिखे। मन्त्र क्रमशः यों हैं—

'हंसः' विश्वोत्तीर्णस्वरूपाय चिन्मयानन्दरूपिणे।
तुभ्यं नमो हयग्रीव विद्याराजाय विष्णवे 'सोऽहम्'॥

'ह्सौं ॐ नमो भगवते हयग्रीवाय सर्ववागीश्वरेश्वराय सर्ववेदमयाय सर्वविद्यां मे देहि स्वाहा।'

"(इस मन्त्रमें ३८ अक्षर होनेसे पहलेके दो **'ह्सौमोम्'** प्रथम दलपर तथा **'नमो'** दूसरे दलपर और शेषपर एक-एक अक्षर लिखे जायँगे।) दलोंके सन्धि-स्थलोंमें आदिमें **'ॐ'** तथा अन्तमें **'नमः'** लगाकर केशवादिके चतुर्थी विभक्ति-युक्त चौबीस नाममन्त्र (प्रत्येक दलपर पूरा एक मन्त्र) तथा शेष बारह दलोंपर राम-कृष्णके दोनों गायत्री-मन्त्रोंके चार-चार अक्षर एक-एक स्थलपर (पहली गायत्रीके चार-चार अक्षरके बाद दूसरीके चार-चार अक्षर क्रमसे) लिखे। मन्त्र ये हैं—

ॐ केशवाय नमः, ॐ नारायणाय नमः, ॐ माधवाय नमः, ॐ गोविन्दाय नमः, ॐ विष्णवे नमः, ॐ मधुसूदनाय नमः, ॐ त्रिविक्रमाय नमः, ॐ वामनाय नमः, ॐ श्रीधराय नमः, ॐ हृषीकेशाय नमः, ॐ पद्मनाभाय नमः, ॐ दामोदराय नमः, ॐ संकर्षणाय नमः, ॐ वासुदेवाय नमः, ॐ प्रद्युम्नाय नमः, ॐ अनिरुद्धाय नमः, ॐ पुरुषोत्तमाय

नमः, ॐ अधोक्षजाय नमः, ॐ नारसिंहाय नमः, ॐ अच्युताय नमः, ॐ जनार्दनाय नमः, ॐ उपेन्द्राय नमः, ॐ हरये नमः, ॐ श्रीकृष्णाय नमः ।'

(श्रीरामगायत्री—)

दाशरथाय विद्महे सीतावल्लभाय धीमहि तन्नो रामः प्रचोदयात् ।

(श्रीकृष्णगायत्री—)

दामोदराय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नः कृष्णः प्रचोदयात्।

"उसके बाहर प्रणवसे सम्पुटित अंकुश-बीज 'ॐ क्रों ॐ' मन्त्रसे वृत्त बनाये। उस वृत्तसे बाहर (कुछ अन्तर छोड़कर उसी मन्त्रसे) फिर वृत्त बनाये। दोनों वृत्तोंके मध्यमें बारह कोष्ठ (वृत्त) बनाये, जिनके मध्यमें अन्तर हो। उन कोष्ठों (वृत्तों) में आदिमें प्रणव तथा अन्तमें 'नमः' लगाकर चतुर्थी विभक्तियुक्त कौस्तुभ, वनमाला, श्रीवत्स, सुदर्शन, गरुड़, पद्म, ध्वज, अनन्त, शार्ङ्ग, गदा, शङ्ख एवं नन्दकके मन्त्र लिखे। मन्त्र इस प्रकार होंगे—

ॐ कौस्तुभाय नमः, ॐ वनमालायै नमः, ॐ श्रीवत्साय नमः, ॐ सुदर्शनाय नमः, ॐ गरुडाय नमः, ॐ पद्माय नमः, ॐ ध्वजाय नमः, ॐ अनन्ताय नमः, ॐ शार्ङ्गाय नमः, ॐ गदायै नमः, ॐ शङ्खाय नमः, ॐ नन्दकाय नमः ।

"कोष्ठोंके अन्तरालोंमें आदिमें प्रणवयुक्त ये मन्त्र लिखे—

ॐ विष्वक्सेनाय नमः, ॐ आचक्राय स्वाहा, ॐ विचक्राय स्वाहा, ॐ सुचक्राय स्वाहा, ॐ धीचक्राय स्वाहा, ॐ संचक्राय स्वाहा, ॐ ज्वालाचक्राय स्वाहा, ॐ क्रुद्धोल्काय स्वाहा, ॐ महोल्काय स्वाहा, ॐ वीर्योल्काय स्वाहा, ॐ विद्योल्काय स्वाहा, ॐ सहस्रोल्काय स्वाहा ॥ ४०–४२ ॥

"उसके बाहर प्रणवसे सम्पुटित गरुडपञ्चाक्षर 'ॐ क्षिप ॐ स्वाहा ॐ' मन्त्रसे वृत्त बनाये। दोनों वृत्तोंके मध्य भागमें अन्तर छोड़कर बारह वज्र बनाये। उन वज्रोंके कोणोंमें ये मन्त्र लिखे—

ॐ पद्मनिधये नमः, ॐ महापद्मनिधये नमः, ॐ गरुडनिधये नमः, ॐ शङ्खनिधये नमः, ॐ मकरनिधये नमः, ॐ कच्छपनिधये नमः, ॐ विद्यानिधये नमः, ॐ परमानन्दनिधये नमः, ॐ मोक्षनिधये नमः, ॐ लक्ष्मीनिधये नमः, ॐ ब्रह्मनिधये नमः, ॐ मुकुन्दनिधये नमः ।

"उन वज्रोंके बीचके भागोंमें ये मन्त्र लिखे—

ॐ विद्याकल्पकतरवे नमः, ॐ आनन्दकल्पकतरवे नमः, ॐ ब्रह्मकल्पकतरवे नमः, ॐ मुक्तिकल्पकतरवे नमः, ॐ अमृतकल्पकतरवे नमः, ॐ बोधकल्पकतरवे नमः, ॐ विभूतिकल्पकतरवे नमः, ॐ वैकुण्ठकल्पकतरवे नमः, ॐ वेदकल्पकतरवे नमः, ॐ योगकल्पकतरवे नमः, ॐ यज्ञकल्पकतरवे नमः, ॐ पद्मकल्पकतरवे नमः ।

"इस वृत्तको शिवगायत्री तथा परब्रह्म-मन्त्रके अक्षरोंद्वारा वृत्तरूपसे घेरे। (अर्थात् वृत्तके बाहर पहले शिवगायत्री इस प्रकार लिखे कि वृत्तके चारों ओर गोलाईमें आधी दूरके लगभग वह लिखी जाय और आगे **'परब्रह्म'** मन्त्र लिखकर उस गोलेको पूरा कर दे।) मन्त्र ये हैं—

(शिव-गायत्री—)

तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्।

(परब्रह्ममन्त्र—)

श्रीमन्नारायणो ज्योतिरात्मा नारायणः परः ।
नारायणपरं ब्रह्म नारायण नमोऽस्तु ते ॥

"उसके बाहर प्रणवसे सम्पुटित श्रीबीज अर्थात् **'ॐ श्रीमोम्'** मन्त्रसे वृत्त बनाये। वृत्तके बाहर चालीस दलोंका कमल बनाये। उसके दलोंपर व्याहृति एवं शिरोभागसे सम्पुटित वेद-गायत्रीके चारों पाद तथा सूर्याष्टाक्षर मन्त्र लिखे। मन्त्र इस प्रकार होंगे—

'ॐ भूः ॐ भुवः ॐ सुवः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यम् ॐ तत्सवितुर्वरेण्यम् ॐ भर्गो देवस्य धीमहि ॐ धियो यो नः प्रचोदयात् । ॐ परो रजसे सावदोम् ओमापो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरोम् ।' 'ॐ घृणिः सूर्य आदित्यः ।'

"दलोंके सन्धि-स्थलोंपर सब कहीं प्रणव और श्रीबीजसे सम्पुटित नारायण-बीज अर्थात् **'ॐ श्रीमं श्रीमोम्'** यह मन्त्र लिखे ॥ ४३-४४ ॥

"उसके बाहर आठ शूलोंसे अङ्कित भू-चक्र बनाये। चक्रके भीतर चारों दिशाओंमें प्रणवसे सम्पुटित **'हंसः सोऽहम्'** मन्त्र और नारायणास्त्र मन्त्र लिखे। पूरा मन्त्र यह है— **'ॐ हंसः सोऽहमोम्' 'ॐ नमो नारायणाय हुं फट्'** ॥ ४५ ॥

"उसके बाहर प्रणव-मालासे युक्त वृत्त बनाये। वृत्तके बाहर पचास दलोंका कमल बनाये। उन दलोंमें 'ळ' को छोड़कर मातृकाके सभी शेष पचास अक्षर (अर्थात् **अ आ इ ई उ ऊ**

ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व श ष स ह क्ष) लिखे । उसके दलोंकी सन्धियोंमें प्रणव तथा श्रीबीजसे सम्पुटित राम एवं कृष्णके माला-मन्त्र (क्रमशः ऊपर-नीचे) लिखे । मंन्त्र इस प्रकार होंगे—

(राममाला-मन्त्र—)

'ॐ श्रीमों नमो भगवते रघुनन्दनाय रक्षोघ्नविशदाय मधुरप्रसन्नवदनायामिततेजसे बलाय रामाय विष्णवे नमः श्रीमोम्'

(श्रीकृष्णमाला-मन्त्र—)

'ॐ श्रीमों नमः कृष्णाय देवकीपुत्राय वासुदेवाय निगलच्छेदनाय सर्वलोकाधिपतये सर्वजगन्मोहनाय विष्णवे कामितार्थदाय स्वाहा श्रीमोम्' ॥ ४६ ॥

"उसके बाहर अष्ट शूलोंसे अङ्कित एक भूचक्र और बनाये। उन शूलोंमें प्रणवसम्पुटित महानीलकण्ठ-मन्त्रके अक्षर अर्थात् **'ॐ ॐ नमो नीलकण्ठाय ॐ'** लिखे । शूलोंके अग्रभागमें आदिमें **प्रणव** तथा अन्तमें **नमः** लगाकर चतुर्थी विभक्तियुक्त लोकपालोंके मन्त्र इस प्रकार क्रमशः लिखे—

ओमिन्द्राय नमः, ओमग्नये नमः, ॐ यमाय नमः, ॐ निर्ऋतये नमः, ॐ वरुणाय नमः, ॐ वायवे नमः, ॐ सोमाय नमः, ओमीशानाय नमः ॥ ४७ ॥

"उसके बाहर प्रणव (ॐ) की मालासे युक्त तीन वृत्त बनाये। उसके बाहर चार द्वारोंसे युक्त चार भूपुर बनाये, जिसमें चक्रके चारों कोनोंपर महावज्र शोभित हों। उन वज्रोंमें प्रणव तथा श्रीबीजसे सम्पुटित दो अमृत-बीज—**'ॐ श्रीं वं चं श्रीं ॐ'** लिखे । प्रणव-वृत्तोंके बाहर सबसे बाहरी भूपुर-वीथीमें ये मन्त्र लिखे— **'ओमाधारशक्त्यै नमः, ॐ मूलप्रकृत्यै नमः, ओमादिकूर्माय नमः, ओमनन्ताय नमः, ॐ पृथिव्यै नमः ।'** मध्यभूपुर-मार्गमें ये मन्त्र लिखे—**ॐ क्षीरसमुद्राय नमः, ॐ रत्नद्वीपाय नमः, ॐ रत्नमण्डपाय नमः, ॐ श्वेतच्छत्राय नमः, ॐ कल्पकवृक्षाय नमः, ॐ रत्नसिंहासनाय नमः ।'** प्रथम भूपुर-वीथीमें आदिमें **प्रणव** तथा अन्तमें **नमः** लगाकर चतुर्थी विभक्तियुक्त धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य, सत्त्व, रजस्, तमस्, माया, अविद्या, अनन्त एवं पद्मके मन्त्र लिखे । (इन मन्त्रोंके ये रूप होंगे—**ॐ धर्माय नमः, ॐ ज्ञानाय नमः, ॐ वैराग्याय नमः, ओमैश्वर्याय नमः, ओमधर्माय नमः, ओमज्ञानाय नमः, ओमवैराग्याय नमः, ओमनैश्वर्याय नमः, ॐ सत्त्वाय नमः, ॐ रजसे नमः, ॐ तमसे नमः, ॐ मायायै नमः, ओमविद्यायै नमः, ओमनन्ताय नमः, ॐ पद्माय नमः ।**) बाहरी वृत्तकी वीथीमें—विमला, उत्कर्षिणी, ज्ञाना, क्रिया, योगा, प्रह्वी, सत्या, ईशाना—इन सबके चतुर्थ्यन्त नाम आदिमें प्रणव और अन्तमें 'नमः' लगाकर लिखे **(ॐ विमलायै नमः, ओमुत्कर्षिण्यै नमः, ॐ ज्ञानायै नमः, ॐ क्रियायै नमः, ॐ योगायै नमः, ॐ प्रह्व्यै नमः, ॐ सत्यायै नमः, ओमीशानायै नमः)** । भीतरी वृत्तकी वीथीमें **'ओमनुग्रहायै नमः, ॐ नमो भगवते विष्णवे सर्वभूतात्मने वासुदेवाय सर्वात्मसंयोगयोगपीठात्मने नमः'** लिखे ।

'वृत्तोंके बीचके स्थानोंमें—मन्त्रोंके बीज, प्राण, शक्ति, दृष्टि, वश्य आदि, मन्त्र-यन्त्रोंके नाम, गायत्री, प्राणप्रतिष्ठा, भूतशुद्धि तथा दिक्पालोंके बीज—ये यन्त्रके दस अङ्ग (तथा इनके अतिरिक्त) मूलमन्त्र, मालामन्त्र, कवच तथा दिग्बन्धनके मन्त्र भी दिये जाते हैं ।

'इस प्रकारका यह यन्त्र महायन्त्रमय है । योगके द्वारा जिनका अन्तःकरण ज्ञानसे आलोकित हो उठा है, ऐसे पुरुषोंद्वारा इसे परम मन्त्रोंसे अलङ्कृत किया गया है । षोडशोपचारोंसे पूजे जानेपर तथा जप-हवनादिसे साधित (सिद्ध) होनेपर यह यन्त्र शुद्ध ब्रह्मतेजोमय, सब प्रकारके भयोंसे छुड़ानेवाला, समस्त पापोंका नाशक, सभी अभीष्टोंको देनेवाला तथा सायुज्य मुक्ति देनेवाला है। यह परमवैकुण्ठ-महानारायण-यन्त्र प्रकाशमान है ॥ ४८-४९ ॥

'उस (यन्त्र) के ऊपर भी आदिनारायणका ध्यान करे । वे निरतिशय आनन्दमयी तेजोराशिके भीतर भलीभाँति विराजमान हैं । शब्दातीत आनन्दमय तेजोराशिस्वरूप, चैतन्य (ज्ञान) के सारसे आविर्भूत आनन्दमय विग्रहयुक्त, बोधानन्दस्वरूप, निरतिशय सौन्दर्यसिन्धु, तुरीयस्वरूप, तुरीयातीत तथा अद्वैत परमानन्दमय हैं । निरन्तर तुरीयातीत निरतिशय सौन्दर्य एवं आनन्दके पारावार हैं, लावण्य-सरिताकी लहरोंसे उल्लसित तथा विद्युत्की-सी कान्तिसे प्रकाशित हैं, उनका विग्रह दिव्य एवं मङ्गलमय है । वे मूर्तिधारी परम मङ्गलोंसे सेवित हैं । चिदानन्दमय अनन्तकोटि सूर्योंके समान तेजोमय प्रकाशवाले अनन्त भूषणोंसे अलङ्कृत हैं। सुदर्शन, चक्र, पाञ्चजन्य शङ्ख, पद्म, कौमोदकी गदा, नन्दक खड्ग, शार्ङ्ग-धनुष, मुसल, परिघ आदि चिन्मय अनेकों मूर्तिमान् आयुधोंसे सुसेवित हैं । श्रीवत्स, कौस्तुभ एवं वनमालासे उनका वक्षःस्थल अङ्कित (शोभित) है । ब्रह्मरूप कल्पवनके अमृतमय पुष्पोंकी वर्षासे निरन्तर आनन्दस्वरूप हैं । ब्रह्मानन्दमय

रसके असंख्य झरनोंसे अत्यन्त मङ्गलरूप हैं। शेषनागके दस सहस्र फणसमूहोंके विशाल छत्रसे शोभित हैं। उस फणोंके मण्डलमें स्थित अत्यन्त तेजस्वी मणियोंकी ज्योतिसे उनका श्रीविग्रह विशेष देदीप्यमान है, तथा शेषनागकी अङ्ग-कान्तिके निर्झरोंसे व्याप्त है। वे निरतिशय ब्रह्मगन्धस्वरूपकी निरतिशय आनन्दरूप ब्रह्ममय गन्धके विशेष (घन) स्वरूप हैं। अनन्त ब्रह्मगन्ध-मूर्तियोंके समष्टिरूप हैं। अनन्त आनन्दमय तुलसीकी मालाओंसे नित्य नूतनरूप हैं। चिदानन्दमय अनन्त पुष्प-मालाओंसे सुशोभित हैं। तेज-प्रवाहकी तरङ्गोंके अविरल प्रवाहसे प्रकाशमान हैं। निरतिशय अनन्त कान्तिविशेषके आवर्तोंसे सर्वदा सब ओर प्रज्वलित हैं। बोधानन्दमय अनन्त-धूप-दीपावलियोंसे अत्यन्त शोभित हैं। निरतिशय आनन्द-स्वरूप चँवरोंसे परिसेवित हैं। निरन्तर निरुपम निरतिशय उत्कट ज्ञानानन्दमय अनन्त फलोंके गुच्छोंसे अलङ्कृत हैं। चिन्मयानन्दरूप दिव्य विमान, छत्र एवं ध्वजसमूहोंसे विशेष शोभित हैं। परम मङ्गलमय अनन्त दिव्य तेजोंसे सर्वदा प्रकाशमान हैं। वाणीसे अतीत अनन्त तेजोराशिके अन्तर्गत, अर्धमात्रास्वरूप, तुरीय, अनाहत ध्वनिरूप, तुरीयातीत, अकथनीय तथा नाद-विन्दु-कला एवं अध्यात्मस्वरूप आदि अनन्त रूपोंमें अवस्थित, निर्गुण, निष्क्रिय, निर्मल, निर्दोष, निरञ्जन, निराकार, दूसरेके आश्रयसे हीन, निरतिशय अद्वैत परमानन्दस्वरूप (उन) आदिनारायणका ध्यान करे' ॥५०॥

॥ सप्तम अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥

अष्टम अध्याय

परम सायुज्य-मुक्तिके स्वरूपका निरूपण

तब पितामह ब्रह्माजी भगवान् महाविष्णुसे पूछते हैं—भगवन्! शुद्ध अद्वैत परमानन्दस्वरूप आप ब्रह्मके (स्वरूपके) विरुद्ध (ये पूर्ववर्णित) वैकुण्ठ, भवन, प्राचीरें, विमान प्रभृति अनन्त वस्तुरूप भेद कैसे हैं? ॥ १ ॥

'तुमने ठीक ही कहा' यह कहकर भगवान् महाविष्णु शङ्का-का निवारण करते हैं—'जैसे शुद्ध स्वर्णके कड़े, मुकुट, बाजूबंद आदि भेद होते हैं (जैसे ये आकार-भेद स्वर्णकी एकताके बाधक नहीं), जैसे समुद्रीय जलके बड़ी-छोटी तरङ्गें, फेन, बुलबुले, ओले, नमक, बर्फ आदि अनन्त वस्तुरूप भेद हैं (जैसे ये भेद जलके एकत्वमें बाधक नहीं), जैसे भूमिके पर्वत, वृक्ष, तिनके, झाड़ियाँ, लता आदि अनन्त वस्तुभेद हैं (जैसे ये भेद भूमिके एकत्वके विरोधी नहीं), वैसे ही अद्वैत परमानन्द-स्वरूप मुझ परम ब्रह्मका सब कुछ अद्वैतरूप सिद्ध ही है। सब (प्रतीयमान लौकिक-पारलौकिक भेद) मेरे स्वरूप ही हैं। मेरे अतिरिक्त एक अणु भी विद्यमान नहीं। (मुझसे भिन्न तुच्छतम भी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है)' ॥ २ ॥

पितामह ब्रह्मा फिर पूछते हैं—'भगवन्! परम वैकुण्ठ ही परम मोक्ष (धाम) है। सर्वत्र (सभी शास्त्रोंमें) परम मोक्ष एक ही सुनायी पड़ता (वर्णित) है। फिर अनन्त वैकुण्ठ तथा अनन्त आनन्द-समुद्रादि अनन्त मूर्तियाँ किस प्रकार हैं?' ॥ ३ ॥

'यह ठीक ही है' कहकर भगवान् महाविष्णु बोले—'एक ही अविद्यापादमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड अपने आवरणोंके साथ सुने जाते (शास्त्रोंमें प्रतिपादित) हैं। (जैसे अनन्त ब्रह्माण्ड-भेद होनेसे अविद्याकी एकतामें बाधा नहीं आती, वैसे ही) एक ही अण्ड (ब्रह्माण्ड)में बहुत-से लोक, बहुत-से वैकुण्ठ और अनन्त विभूतियाँ भी हैं ही। सभी ब्रह्माण्डोंमें अनन्त लोक हैं और अनन्त वैकुण्ठ हैं, यह सभी (शास्त्रों)को निश्चित रूपसे मान्य है। (जब एक अविद्यापादकी यह स्थिति है तो) पादत्रयके सम्बन्धमें भी यही बात है, उसमें कहना क्या है। निरतिशय आनन्दका आविर्भाव मोक्ष है, यह मोक्षका लक्षण तीनों पादोंमें है; इसलिये तीनों पाद परम मोक्षधाम हैं। तीनों पाद परम वैकुण्ठ हैं। तीनों पाद परम कैवल्य (धाम) हैं। वहाँ शुद्ध चिदानन्द ब्रह्मके विलासरूप आनन्द, अनन्त परमा-नन्दमय ऐश्वर्य, अनन्त वैकुण्ठ और अनन्त परमानन्द-समुद्रादि हैं ही ॥ ४ ॥

"उपासक वहाँ (सातवें अध्यायमें वर्णित श्रीनारायणके समीप) पहुँचकर इस प्रकारके (जैसा स्वरूप उनका वर्णित है) नारायणका ध्यान करके, (उनकी) प्रदक्षिणा तथा (उन्हें) नमस्कार करता है, तथा अनेक प्रकारके उपचारोंसे उनकी अर्चना करके निरतिशय अद्वैत परमानन्दस्वरूप हो जाता है। उनके आगे सावधानीसे बैठकर अद्वैतयोगका आश्रय लेता है और सर्वाद्वैत परमानन्दस्वरूप अखण्ड अमित तेजोराशि-स्वरूपकी विशेष रूपसे (सम्यक्) भावना करके उपासक स्वयं शुद्ध बोधानन्दमय अमृतस्वरूप एवं निरतिशय आनन्दमय तेजोराशिस्वरूप हो जाता है। तब महावाक्योंके अर्थका बार-बार स्मरण करता हुआ—'ब्रह्म मैं हूँ, मैं ही हूँ,

ब्रह्म मैं हूँ, जो भी मैं हूँ, ब्रह्म ही मैं हूँ, मैं ही मैं हूँ, मैं अहंता (भेद-प्रतीति) का हवन करता हूँ—स्वाहा (वह भस्म हो जाय), मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकारकी भावनाद्वारा, जैसे परम तेजोरूप महानदीका प्रवाह परम तेजोरूप समुद्रमें प्रवेश कर जाय, जैसे परम तेजोमय समुद्रकी तरङ्गें उस परम तेजोमय समुद्रमें प्रवेश कर जायँ, उसी प्रकार सच्चिदानन्द-स्वरूप उपासक सर्वरूपसे परिपूर्ण, अद्वैत परमानन्दस्वरूप परब्रह्म मुझ नारायणमें 'मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ, मैं अजन्मा हूँ, मैं परिपूर्ण हूँ' इस प्रकार (स्वरूपभूत होकर) प्रविष्ट हो जाता है। तब उपासक तरङ्गहीन, अद्वैत, अपार, निरतिशय सच्चिदानन्द-समुद्र हो जाता है॥ ५ ॥

'जो इस (उपदिष्ट) मार्गके द्वारा भलीभाँति आचरण (उपासना) करता है, वह निश्चय ही नारायण हो जाता है। सभी मुनिगण इसी मार्गसे सिद्धिको प्राप्त हुए हैं। असंख्यों परम योगी (इसी मार्गसे) सिद्धिको (परम गतिको) पहुँचे हैं" ॥ ६ ॥

तब (उपर्युक्त उपदेशके अनन्तर) शिष्य गुरुसे पूछता है—भगवन्! सालम्ब एवं निरालम्ब योग किस प्रकारके हैं ॥ ७ ॥

(गुरुदेव बतलाते हैं—) 'सालम्बयोग वह है, जिसमें सब प्रकारके कर्मोंसे दूर रहकर कर-चरण आदि अङ्गोंवाली मूर्तिविशेष अथवा मण्डल (ज्योति) आदिका (ध्यान-उपासनादिके लिये) आलम्बन किया जाय; यही सालम्ब योग है।

'निरालम्बयोग वह है, जिसमें समस्त नाम, रूप, कर्मको अत्यन्त दूरसे छोड़कर, समस्त कामनादि अन्तःकरणकी वृत्तियोंके साक्षीरूपसे, उस (अन्तःकरणकी किसी भी वृत्ति) के आलम्बनसे शून्य रहकर भावना की जाय। यही (भावनाहीन स्थितिमें स्थित होना ही) निरालम्बयोग है' ॥ ८ ॥

'तब तो (जब निरालम्बयोग इतना दुरूह है) निरालम्बयोगका अधिकारी किस प्रकारका होता है?'॥ ९ ॥

'जो पुरुष अमानित्व आदि (ज्ञानके) लक्षणोंसे युक्त हो, उसीको निरालम्बयोगका अधिकारी बनाना (मानना) चाहिये। ऐसा अधिकारी कोई विरला ही है। इसलिये सभी अधिकारी-अनधिकारियोंके लिये भक्तियोग ही श्रेष्ठ कहा जाता है। भक्तियोग उपद्रव (विघ्न)-रहित है। भक्तियोगसे मुक्ति प्राप्त होती है। भक्तोंको बिना परिश्रमके अविलम्ब ही तत्त्वज्ञान हो जाता है॥ १०-११ ॥

'वह (अनायास अविलम्ब तत्त्वज्ञान) कैसे होता है?' इस शंकाके उत्तरमें बतलाते हैं—'भक्तवत्सल भगवान् स्वयं ही मोक्षके सभी विघ्नोंसे सभी भक्तिनिष्ठ लोगों (भक्तों) की रक्षा करते हैं। (उनके) समस्त अभीष्ट प्रदान करते हैं। मोक्ष दिलवाते हैं। (भक्त स्वतः मोक्ष नहीं चाहता। भगवान् उसे अपनी ओरसे मोक्ष प्रदान करते हैं, इसीसे दिलवाते हैं—बरबस देते हैं, यह कहा गया।) विष्णु-भक्तिके बिना ब्रह्मादि समस्त (देवताओं) का भी करोड़ों कल्पोंमें भी मोक्ष नहीं होता। क्योंकि कारणके बिना कार्य प्रकट नहीं होता, अतः भक्ति (जो कारण है, उस) के बिना (कार्य) ब्रह्मज्ञान कभी उत्पन्न नहीं होता। इसलिये तुम भी समस्त उपायोंको छोड़कर भक्तिका आश्रय लो। भक्तिनिष्ठ बनो। भक्तिनिष्ठ बनो। भक्तिके द्वारा सभी सिद्धियाँ सिद्ध (प्राप्त) होती हैं। भक्तिके द्वारा कुछ भी असाध्य नहीं है ॥ १२ ॥

"इस प्रकार गुरुके उपदेशको सुनकर, परम तत्त्वके सभी रहस्योंको जानकर, सम्पूर्ण संशयोंको दूर करके 'शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लूँगा' ऐसा निश्चय करके, तब शिष्य उठा। उठकर गुरुकी प्रदक्षिणा एवं उन्हें नमस्कार करके, गुरुकी पूजा करके, गुरुकी ही आज्ञासे उसने क्रमशः भक्तिनिष्ठ होकर परिपक्व भक्तिके आधिक्यसे परिपक्व विज्ञान प्राप्त किया। उस (परिपक्व विज्ञान) से बिना परिश्रमके ही शिष्य शीघ्र ही साक्षात् नारायणस्वरूप हो गया' ॥ १३ ॥

(यह आख्यान सुनाकर) तब भगवान् महाविष्णु चतुर्मुख ब्रह्माजीकी ओर देखकर बोले—'ब्रह्माजी! मैंने आपसे परम तत्त्वका समस्त रहस्य कह दिया। उसके स्मरणमात्रसे मोक्ष हो जाता है। उसके अनुष्ठानसे सम्पूर्ण अज्ञात ज्ञात हो जाता है। जिसके स्वरूपको जान लेनेसे अज्ञात भी ज्ञात हो जाता है, वह सम्पूर्ण परमतत्त्व-रहस्य मैंने बतला दिया' ॥ १४॥

'गुरु कौन है?' ब्रह्माजीके इस प्रश्नके उत्तरमें भगवान् बतलाते हैं—'गुरु साक्षात् आदिनारायण पुरुष हैं। वह आदि-नारायण मैं ही हूँ। इसलिये एकमात्र मेरी शरणमें आओ। मेरी भक्तिमें निष्ठावान् होओ। मेरी उपासना करो। इस प्रकार मुझे ही प्राप्त करोगे। मेरे अतिरिक्त सब कुछ बाधित (अतत्त्व) है। मुझसे अतिरिक्त अबाधित (सत्ता रखनेवाला) कुछ भी नहीं है। अद्वितीय निरतिशय आनन्द मैं ही हूँ। सब प्रकार परिपूर्ण मैं ही हूँ, मैं ही सबका आश्रय हूँ। वाणीका अविषय निराकार परब्रह्मस्वरूप मैं ही हूँ। मुझसे भिन्न अणुमात्र भी नहीं है' ॥ १५ ॥

इस प्रकार भगवान् महाविष्णुके इस परम उपदेशका लाभ करके पितामह ब्रह्माजीने परम आनन्द प्राप्त किया। तदनन्तर भगवान् विष्णुके कर-स्पर्शसे दिव्यज्ञान प्राप्त करके पितामह उठे और उठकर उन्होंने प्रदक्षिणा तथा नमस्कार करके विविध उपचारोंसे भगवान् महाविष्णुकी भलीभाँति पूजा की। फिर अञ्जलि बाँधकर, विनयपूर्वक समीप जाकर बोले—'भगवन्! मुझे भक्तिनिष्ठा प्रदान करें! हे कृपानिधे! मैं आपसे अभिन्न हूँ, मेरा सब प्रकार पालन करें' ॥ १६-१७ ॥

'वही हो, साधु! साधु!' इस प्रकार (ब्रह्माजीकी) भलीभाँति प्रशंसा करते हुए भगवान् महाविष्णु बोले—'मेरा उपासक सबसे उत्कृष्ट हो जाता है। मेरी उपासनासे सब मङ्गल होते हैं। मेरी उपासनासे वह सबको विजय कर लेता है। मेरा उपासक सबके द्वारा वन्दनीय होता है। मेरे उपासकके लिये असाध्य कुछ नहीं है। सम्पूर्ण बन्धन पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं। सदाचारीकी जैसे सब लोग सेवा करते हैं, वैसे ही समस्त देवता उसकी सेवा करते हैं। महाश्रेय भी (उसकी) सेवा करते हैं। मेरा उपासक उस (उपासना) से निरतिशय अद्वैत परमानन्दस्वरूप परब्रह्म हो जाता है। जो भी मुमुक्षु इस मार्गसे सम्यक् आचरण करता है, वह परमानन्दस्वरूप परब्रह्म हो जाता है ॥ १८ ॥

'जो कोई (इस) परमतत्त्व-रहस्य आथर्वण महानारायणोपनिषद्का अध्ययन करता है, वह समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है। वह जान-बूझकर तथा अनजानमें किये पापोंसे मुक्त हो जाता है। महापापोंसे पवित्र हो जाता है। छिपाकर किये गये, प्रकट-रूपसे किये गये, बहुत दिनोंतक अधिक रूपमें किये गये सभी पापोंसे मुक्त हो जाता है। वह सभी लोकोंको जीत लेता है। उसकी सभी मन्त्रोंके जपमें निष्ठा हो जाती है। वह समस्त वेदान्तके रहस्यको प्राप्त करके परमार्थका ज्ञाता हो जाता है। वह सम्पूर्ण भोगोंका भोक्ता (उन भोगोंके द्वारा मिलनेवाले आनन्दसे युक्त) हो जाता है। उसे सभी योगोंका ज्ञान हो जाता है। वह समस्त जगत्का परिपालक हो जाता है। वह अद्वैत-परमानन्दस्वरूप परब्रह्म हो जाता है ॥ १९ ॥

'यह परमतत्त्व-रहस्य गुरुभक्तिविहीनको नहीं बतलाना चाहिये। जो सुनना न चाहता हो, उसे भी नहीं बतलाना चाहिये; न तपस्याविहीन नास्तिकको और न मेरी (भगवान्की) भक्तिसे रहित दाम्भिकको बतलाना चाहिये। मत्सरयुक्त पुरुषको नहीं बतलाना चाहिये। मेरी निन्दामें लगे (भगवान्में दोषदृष्टि करनेवाले) कृतघ्नको भी नहीं बतलाना चाहिये ॥२०॥

'जो यह परम रहस्य मेरे (भगवान्के) भक्तको बतलावेगा, वह मेरी भक्तिमें निष्ठावान् होकर मुझे (भगवान्को) ही प्राप्त करेगा। जो हम दोनों (ब्रह्माजी एवं भगवान् विष्णु) के इस संवादका अध्ययन करेगा, वह मनुष्य ब्रह्मनिष्ठ हो जायगा। जो श्रद्धावान् तथा असूया (दोषदृष्टि) रहित होकर सुनेगा या हम दोनोंके इस संवादको पढ़ेगा, वह पुरुष मेरे सायुज्यको प्राप्त करेगा' ॥ २१–२३ ॥

(इतना कहकर) तब महाविष्णु अन्तर्धान हो गये। तत्पश्चात् ब्रह्माजी अपने स्थान (ब्रह्मलोक) को चले गये ॥२४॥

॥ अष्टम अध्याय समाप्त ॥ ८ ॥

॥ उत्तरकाण्ड समाप्त ॥

॥ अथर्ववेदीय त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

अथर्ववेदीय

नारदपरिव्राजकोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

प्रथम उपदेश

नारद-शौनक-संवाद

एक समयकी बात है, परिव्राजकोंके समुदायको सुशोभित करनेवाले नारदजी सब लोकोंमें विचरण कर रहे थे । उन्होंने अपूर्व-अपूर्व पुण्य-स्थलों एवं पुण्य-तीर्थोंमें जाकर उन्हें और भी पवित्र बनाया और उन तीर्थोंके दर्शनसे स्वयं भी चित्तशुद्धि प्राप्त की । उनके मनमें कहीं किसी भी प्राणीके प्रति वैरका भाव नहीं था । उनका मन शान्त था और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ वशमें हो गयी थीं । वे सब ओरसे विरक्त होकर अपने स्वरूपके अनुसंधानमें लगे हुए थे । घूमते-घूमते वे नैमिषारण्यमें आये, जो नियमजनित आनन्दके कारण विशेषरूपसे गणना करनेयोग्य पवित्र तीर्थ है । वह स्थान असंख्य मुनिजनोंसे भरा हुआ था । उन्होंने उस पुण्य-स्थलीका दर्शन किया । वे अपनी वीणाके तारोंसे वैराग्य-बोधक 'स रि ग म प ध नि' इन स्वरविशेषोंका झंकार कर रहे थे । वे जागतिक चर्चासे दूर रहकर मुखसे भगवान्‌की मधुर कथाके गीत अलाप रहे थे । उन्हें सुनकर स्थावर-जङ्गम सभी प्राणी आनन्दसे झूम उठते थे। वे उस भक्तिप्रधान संगीतसे मनुष्य, मृग, किम्पुरुष;देवता, किंनर तथा अप्सराओंको भी मोहित कर रहे थे । नैमिषारण्यमें बारह वर्षोंका सत्रयाग चल रहा था । उसमें वेदाध्ययनसे सम्पन्न, सर्वज्ञ, तपस्यामें संलग्न रहनेवाले और ज्ञान-वैराग्यसे विभूषित शौनक आदि महर्षि सम्मिलित हुए थे । उन्होंने परम भागवत ब्रह्मकुमार देवर्षि नारदको आया देख उनकी अगवानी की । उनके चरणोंमें मस्तक झुकाया और यथायोग्य अतिथि-सत्कार करके उन्हें एक सुन्दर आसनपर बैठाया । फिर स्वयं भी सब लोग यथास्थान बैठ गये । तत्पश्चात् शौनक आदि महर्षियोंने विनयपूर्वक उनसे पूछा—'भगवन् ! ब्रह्मकुमार नारदजी ! संसार-बन्धन-से मुक्ति कैसे होती है ? उस मुक्तिका उपाय क्या है—यह हमलोगोंको बतानेकी कृपा करें' ॥ १ ॥

उनके इस प्रकार प्रश्न करनेपर वे त्रिभुवनप्रसिद्ध देवर्षि नारदजी इस प्रकार बोले—'उत्तम कुलमें उत्पन्न पुरुष यदि उपनयन-संस्कारसे युक्त न हुआ हो तो पहले विधिपूर्वक उपनयन-संस्कार कराये । फिर चौवालीस* संस्कारोंसे सम्पन्न

---

* चौवालीस संस्कार इस प्रकार हैं—(१) गर्भाधान, (२) पुंसवन, (३) सीमन्तोन्नयन, (४) विष्णुबलि, (५) जातकर्म, (६) नामकरण, (७) उपनिष्क्रमण, (८) अन्नप्राशन, (९) चूडाकर्म, (१०) कर्णवेध, (११) अक्षरारम्भ, (१२) उपनयन, (१३) व्रतारम्भ, (१४) समावर्तन, (१५) विवाह, (१६) उपाकर्म, (१७) उत्सर्जन ।

सप्त पाकयज्ञ-संस्था

(१८) हुत, (१९) प्रहुत, (२०) आहुत, (२१) शूलगव, (२२) बलिहरण, (२३) प्रत्यवरोहण, (२४) अष्टकाहोम ।

सप्त हविर्यज्ञ-संस्था

(२५) अग्न्याधान, (२६) अग्निहोत्र, (२७) दर्श-पूर्णमास, (२८) चातुर्मास्य, (२९) आग्रयणेष्टि, (३०) निरूढपशु-बन्ध, (३१) सौत्रामणी ।

सप्त सोमयज्ञ-संस्था

(३२) अग्निष्टोम, (३३) अत्यग्निष्टोम, (३४) उक्थ्य, (३५) षोडशी, (३६) वाजपेय, (३७) अतिरात्र, (३८) आप्तोर्याम ।

(३९) वानप्रस्थ, (४०) संन्यास—ये तो चालीस संस्कार हैं; इनके साथ शौच, संतोष, तप और स्वाध्याय—ये चार और गिन लेनेसे चौवालीस संस्कार होते हैं ।

और अपने मनके अनुरूप एक गुरुके समीप निवास करे। वहाँ गुरुकी सेवा करते हुए पहले अपनी शाखाका अध्ययन करे। फिर क्रमशः सम्पूर्ण विद्याओंका अभ्यास करते हुए बारह वर्षोंतक गुरु-सेवापूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करे। तत्पश्चात् क्रमशः पचीस वर्षोंतक गृहस्थ-धर्मका और पचीस वर्षोंतक वानप्रस्थ-आश्रमके धर्मोंका विधिपूर्वक पालन करे। चार प्रकारके ब्रह्मचर्य,* छः प्रकारके गार्हस्थ्य† तथा चार प्रकारके वानप्रस्थ‡-धर्मका भलीभाँति अभ्यास करके उन-उन आश्रमोंके उचित समस्त कर्मोंका यथावत् अनुष्ठान करे। फिर साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न हो समस्त संसारसे ऊपर उठकर मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा सब प्रकारकी आशाको त्याग दे। इसी प्रकार वासनाओं और एषणाओंके भी ऊपर उठे—उनका भी त्याग कर दे। फिर सबके प्रति वैरभावका त्याग करके मन और इन्द्रियोंको वशमें रखते हुए संन्यासी हो जाय। परमहंस-आश्रम (संन्यास) में रहकर अपने अच्युतस्वरूपका चिन्तन करते हुए जो शरीर-त्याग करता है, वह मुक्त हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है। यह उपनिषद् (गूढ़ रहस्यमय ज्ञान) है ॥ २ ॥

॥ प्रथम उपदेश समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय उपदेश

संन्यास-ग्रहणका क्रम

तदनन्तर वे शौनक आदि सम्पूर्ण महर्षि इन भगवान् नारदजीसे विनयपूर्वक बोले—'भगवन्! हमें संन्यासकी विधि बताइये।' नारदजीने उनकी ओर देखकर कहा—'संन्यासका सारा स्वरूप लोकपितामह ब्रह्माजीके मुखसे ही समझना उचित होगा।' यों कहकर सत्रयागकी पूर्तिके पश्चात् उन सबको साथ ले वे सत्यलोकमें गये और विधिवत् ब्रह्मचिन्तनमें लगे हुए परमेष्ठीको प्रणाम करके उनकी स्तुति करने लगे। स्तुति करनेके अनन्तर पितामहकी आज्ञासे वे सबके साथ वहाँ यथायोग्य आसनपर बैठे। तदनन्तर नारदजीने पितामहसे कहा—"भगवन्! आप हमारे गुरु, पिता, सम्पूर्ण विद्याओंके रहस्यको जाननेवाले तथा सर्वज्ञ हैं। अतः आप मुझे एक रहस्यकी बात, जो मुझे बहुत प्रिय है,

* चार प्रकारके ब्रह्मचारी ये हैं—गायत्र, ब्राह्म, प्राजापत्य तथा बृहत्। इनमेंसे उपनयनके बाद जो तीन राततक बिना नमकका भोजन करके गायत्रीका जप करता है, वह गायत्र है; जो वेदाध्ययनपर्यन्त ब्रह्मचर्यका पालन करता है, वह ब्राह्म है, जो एक वर्षतक वैदिकव्रत (ब्रह्मचर्य) का पालन करता है, वह प्राजापत्य कहलाता है और जो मृत्युपर्यन्त गुरुकुलमें रहकर ब्रह्मचर्यका पालन करता है, वह नैष्ठिक ब्रह्मचारी बृहत् कहा गया है।

† छः प्रकारके गृहस्थोंके नाम ये हैं—वार्ताक, शालीन, यायावर, घोर संन्यासिक, उञ्छवृत्ति और अयाचित। इनमें जो खेती, गो-रक्षा और वाणिज्यरूप वैश्योचित वृत्तिसे जीवन-निर्वाह करते हुए स्व-धर्मका पालन करता है, वह वार्ताक कहलाता है; जो यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह—इन छः कर्मोंमें संलग्न रहकर याजन, अध्यापन और प्रतिग्रहके द्वारा जीवन-निर्वाह करता है, वह शालीन माना गया है; जो सत्पुरुषोंके घरोंपर जा-जाकर उनसे थोड़ा-थोड़ा माँगकर अपने कुटुम्बके भरण-पोषणके लिये आवश्यक अन्नका संग्रह करता है, वह यायावर कहलाता है; जो अपने हाथसे निकाले हुए पवित्र जलसे सब कार्य करते हुए प्रतिदिन साधुपुरुषोंसे एक दिनके निर्वाहके लिये अन्न ग्रहण करता है, वह घोर संन्यासिक है; जो खेत कट जानेपर या बाजार उठ जानेपर वहाँ बिखरे हुए अनाजके दानोंको चुन-चुनकर लाता है और उन्हींसे जीवन-निर्वाह करता है, उसे उञ्छ कहते हैं और जो किसीसे याचना न करके दैवेच्छासे प्राप्त हुए अन्नपर ही जीवन-निर्वाह करता है, वह अयाचक कहलाता है।

‡ वानप्रस्थके भी चार भेद हैं—वैखानस, औदुम्बर, वालखिल्य और फेनप। इनमेंसे जो बिना जोते-बोये उत्पन्न हुए नीवार आदि जंगली अन्नोंसे अग्निहोत्र आदि कर्म करता है, वह वैखानस कहलाता है; जो सबेरे उठते ही जिस दिशाकी ओर दृष्टि जाय, उसी दिशामें जाकर वहाँके गूलर, बेर आदि फलों तथा नीवार और श्यामाक आदि अन्नोंका संग्रह करके उन्हींसे प्रतिदिन जीविका चलाता है, वह औदुम्बर माना गया है; जो जटा और वल्कल धारण करके आठ महीनोंतक वृत्ति उपार्जन करता, चौमासेमें संगृहीत अन्नका भोजन करता तथा कार्तिकी पूर्णिमाको संगृहीत फूल और फलका त्याग करता है, वह वालखिल्य कहलाता है; तथा जो सूखे पत्ते और फलका आहार करते हुए जहाँ-कहीं भी रहकर अपने कर्तव्यका पालन करता है, उसे फेनप कहते हैं।

बतलानेकी कृपा करें। आपके सिवा दूसरा कौन है, जो मेरे अभीष्ट रहस्यका भलीभाँति प्रतिपादन कर सके। यदि कहें, 'पूछो, वह तुम्हारा अभीष्ट विषय क्या है?' तो सुनिये। मेरी प्रार्थना है कि यहाँ बैठे हुए हम सब लोगोंसे आप संन्यासके स्वरूप और क्रमका वर्णन करें।'

इस प्रकार नारदजीके प्रार्थना करनेपर ब्रह्माजीने सब ओर दृष्टिपात करके सबको देखा और दो घड़ीतक वे जन्म-मृत्युरूप सांसारिक क्लेशके निवारणका उपाय ढूँढ़नेके लिये समाधिनिष्ठ हो गये। समाधिके द्वारा किसी निश्चयपर पहुँचकर ब्रह्माजीने पुनः नारदजीकी ओर देखा और इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया—

'बेटा नारद! पूर्वकालमें पुरुषसूक्त और उपनिषदोंमें वर्णित गूढ़ रहस्यके अनुरूप सर्वोत्कृष्ट दिव्य विग्रह धारण करनेवाले भगवान् विराट् पुरुषने जिस रहस्यका उपदेश मुझे दिया था, उसीको सोच-विचारकर मैं तुम्हें बतलाता हूँ। संन्यासका स्वरूप और क्रम अत्यन्त गूढ़ है। अतः तुम पूर्ण सावधान होकर उसे सुनो। नारद! उत्तम कुलमें उत्पन्न और माता-पिताकी आज्ञाके अधीन रहनेवाला बालक यदि उपनयन-संस्कारसे सम्पन्न न हुआ हो तो सबसे पहले विधि-पूर्वक उसका उपनयन-संस्कार होना चाहिये। तत्पश्चात् वह अपने पिताके समीपसे अन्यत्र किसी उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए सद्गुरुकी सेवामें उपस्थित होवे। वे सद्गुरु किसी श्रेष्ठ सम्प्रदायमें स्थित, श्रद्धालु, श्रोत्रिय, शास्त्रके प्रति अनुराग रखनेवाले, गुणवान् तथा सरल हों। उनके पास पहुँचकर शिष्य गुरुके चरणोंमें नमस्कार करे और आवश्यक सेवा-शुश्रूषाके अनन्तर गुरुको अपना अभीष्ट बताये। फिर बारह वर्षोंतक गुरुकी सेवा करते हुए सम्पूर्ण विद्याओंका अभ्यास करे। अध्ययन समाप्त करके गुरुकी आज्ञासे किसी ऐसी कन्याके साथ विवाह करे, जो उसके कुलके योग्य तथा मनके अनुरूप हो। फिर पचीस वर्षोंतक गुरुकुलवास करके गुरुकी आज्ञासे गृहस्थोचित कर्म करते हुए,—ब्राह्मणोंके लिये जो दोषकी बातें हैं, उनका त्याग करके,—अपने वंशकी वृद्धि-के उद्देश्यसे एक पुत्र उत्पन्न करे। और गृहस्थोचित पचीस वर्ष व्यतीत करनेके अनन्तर वानप्रस्थका आश्रय ले। उसमें भी पचीस वर्षोंतक तीनों समय स्नान करते हुए दिनके चौथे पहरमें एक बार भोजन करे, अकेला होकर ही वनमें रहे, ग्राम और नगरके पूर्वपरिचित मार्गोंको छोड़ दे और बिना जोते-बोये उत्पन्न तिन्नीके चावल आदि संग्रह करके उसीके द्वारा आश्रमोचित धर्मका निर्वाह करते हुए, दृष्ट और श्रुत लोक और परलोकके भोगोंसे पूर्णतः विरक्त हो जाय। चालीस संस्कारोंसे सम्पन्न हो, सब ओरसे वैराग्य धारणकर चित्तशुद्धि प्राप्त करे। और आशा, असूया, ईर्ष्या (दोषदृष्टि), तथा अहङ्कार आदि दोषोंको भस्म करके साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न होवे। ऐसा होनेपर वह संन्यास लेनेका अधिकारी हो जाता है। यह उपनिषद् है'॥ १-२॥

॥ द्वितीय उपदेश समाप्त ॥ २॥

तृतीय उपदेश

संन्यासके अधिकारी, स्वरूप, विधि, नियम एवं आचार आदिका निरूपण

तदनन्तर देवर्षि नारदने अपने पिता ब्रह्माजीसे पूछा—'भगवन्! किस प्रकार संन्यास लिया जाता है? तथा संन्यासका अधिकारी कौन है?' ब्रह्माजीने कहा—'अच्छा, पहले संन्यासका अधिकारी कौन है, इसका निरूपण करके पश्चात् संन्यासकी विधि बतायी जायगी; सावधान होकर सुनो। नपुंसक, पतित, किसी अङ्गसे हीन, स्त्रीके प्रति अधिक आसक्त, बहरा, बालक, गूँगा, पाखण्डी, चक्री (षडयन्त्रकारी), लिङ्गी (वेषधारी), वैखानसहर द्विज, वेतन लेकर अध्यापन करनेवाला, शिपिविष्ट (गंजा अथवा कोढ़ी) तथा अग्निहोत्र न करनेवाला—ये वैराग्यवान् होनेपर भी संन्यासके अधिकारी नहीं हैं। यदि संन्यास ले भी लें, तो भी 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्योंका उपदेश प्राप्त करनेके अधिकारी नहीं होते। जो पहलेसे ही संन्यासी है, अर्थात् कर्मफलकी इच्छा न रखते हुए वर्णाश्रमोचित कर्तव्यका पालन करता है, वही संन्यास-आश्रममें प्रवेश करनेका अधिकारी है॥ १॥

'जो दूसरोंसे स्वयं नहीं डरता तथा दूसरोंको अपनेद्वारा भय नहीं पहुँचाता, वही परिव्राजक (संन्यासी) है—ऐसा स्मृतियोंका कथन है। नपुंसक, किसी अङ्गसे हीन, अंधा, बालक, पापी, पतित, परस्त्रीगामी, वैखानसहर द्विज, चक्री, लिङ्गी, पाखण्डी, शिपिविष्ट, अग्निहोत्र न करनेवाला, दो-तीन बार संन्यास ग्रहण करनेवाला तथा वेतन लेकर अध्यापन करनेवाला—ये आतुर-संन्यासके सिवा क्रम-संन्यासके अधिकारी नहीं होते॥ २—४॥

'यदि कहो, आतुर संन्यासका कौन-सा समय विद्वानोंको मान्य है, तो सुनो। जब प्राण निकलनेका समय अत्यन्त निकट हो, वह आतुर-संन्यासका ठीक समय माना गया है। इससे भिन्न समयको ठीक नहीं माना गया है। आतुर संन्यास यदि ठीक समयसे हो तो वह मुक्तिमार्गकी प्राप्ति करानेवाला होता है। आतुर-संन्यासमें भी विद्वान् पुरुष शास्त्रविहित मन्त्रोंका पाठ करते हुए विधिवत् सब आवश्यक कृत्य करके ही मन्त्रोच्चारणपूर्वक संन्यास ग्रहण करे। आतुर-संन्यास हो चाहे क्रम-संन्यास, उसके विधि-विधानमें कोई भेद नहीं है; क्योंकि कर्म मन्त्रकी अपेक्षा करता है और कोई भी मन्त्र ऐसा नहीं है, जो किसी-न-किसी कर्मसे सम्बन्ध न रखता हो। मन्त्रहीन कर्म वास्तवमें कर्म ही नहीं है। अतः मन्त्रका परित्याग न करे। यदि मन्त्रके बिना कर्म करे तो वह राखमें छोड़ी हुई आहुतिके समान व्यर्थ होता है। मुने! शास्त्रविधिके अनुसार बताये हुए कर्मको संक्षेपमें करनेसे आतुर-संन्यास सम्पन्न होता है। इसलिये आतुर-संन्यासमें मन्त्रोंका बार-बार उच्चारण आवश्यक एवं विहित है॥ ५—९॥

'यदि अग्निहोत्री पुरुष देशान्तरमें गया हुआ हो और उसे वैराग्य हो जाय तो जलमें ही प्राजापत्येष्टि करके तत्काल संन्यास ले ले। यह प्राजापत्य याग केवल मनसे करे अथवा विधिमें बताये अनुसार मन्त्रोंका उच्चारणमात्र करके करे अथवा वेदोक्त अनुष्ठान-पद्धतिके अनुसार विधिवत् कर्म-अनुष्ठान करे। यह सब करके ही विद्वान् पुरुष संन्यास ग्रहण करे। अन्यथा वह पतित हो जाता है॥ १०-११॥

'जब मनमें सब पदार्थोंकी ओरसे पूर्ण वैराग्य हो जाय, तभी संन्यासकी इच्छा करनी चाहिये। इसके विपरीत आचरण करनेसे मनुष्य पतित हो जाता है। विरक्त बुद्धिमान् संन्यास ग्रहण करे और रागवान् पुरुष घरपर ही निवास करे। जो मनमें राग (आसक्ति) होते हुए भी संन्यास ग्रहण करता है, वह द्विजोंमें अधम है तथा उसे नरककी प्राप्ति होती है॥ १२-१३॥

'जिसकी जिह्वा, शिश्नेन्द्रिय, उदर और हाथ आदि सभी इन्द्रियाँ भलीभाँति वशमें हों तथा जिसने विवाह न किया हो, ऐसा ब्रह्मचारी ब्राह्मण ही संन्यास ले। संसारको सारहीन समझकर सार वस्तुको प्राप्त करनेकी इच्छासे बुद्धिमान् पुरुष पूर्ण वैराग्यका आश्रय लेकर विवाह किये बिना ही संन्यास ले लेते हैं। कर्म ही प्रवृत्ति (संसारमें प्रवृत्त होने) का लक्षण है और ज्ञान ही संन्यासका मुख्य लक्षण है। अतः बुद्धिमान् पुरुष ज्ञानको सामने रखकर ही यहाँ संन्यास ग्रहण करे॥ १४—१६॥

'जब परमतत्त्वरूप सनातन ब्रह्मका ज्ञान हो जाय, तब एक दण्ड धारण करके यज्ञोपवीतसहित शिखाको त्याग दे। जो परमात्मामें अनुरक्त और उनसे भिन्न वस्तुओंकी ओरसे विरक्त है, जिसके मनसे लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा—ये सभी एषणाएँ निकल गयी हैं, वही भिक्षान्नभोजन करने (संन्यास लेने) का अधिकारी है। जैसे साधारण मनुष्य अपनी पूजा और वन्दना होनेपर अत्यधिक प्रसन्न होता है, वैसी ही प्रसन्नता जब डंडोंसे पीटे जानेपर भी हो, तभी वह भिक्षु होनेका अधिकारी होता है। मैं ही वासुदेव नामसे प्रसिद्ध अद्वितीय अविनाशी ब्रह्म हूँ—ऐसा भाव जिसके मनमें दृढ़ हो गया है, वही भिक्षान्नभोजनका अधिकारी है। जिस पुरुषमें शान्ति, शम (मनोनिग्रह), दम (इन्द्रियनिग्रह), शौच, संतोष, सत्य, सरलता, कुछ भी संग्रह न करनेका भाव तथा दम्भका अभाव हो, वही संन्यास-आश्रममें प्रवेश करे। जब मनुष्य मन, वाणी और क्रियाद्वारा किसी भी प्राणीके प्रति पापका भाव नहीं रखता, तभी संन्यासका अधिकारी होता है। (मनुप्रोक्त) दस प्रकारके धर्मोंका अनुष्ठान करते हुए एकाग्रचित्त हो विधिपूर्वक उपनिषदोंका श्रवण करे तथा ब्रह्मचर्य-पालन एवं स्वाध्यायद्वारा ऋषि-ऋणसे, यज्ञानुष्ठानद्वारा देव-ऋणसे और पुत्रकी उत्पत्तिद्वारा पितृ-ऋणसे मुक्त होकर (विरक्त) द्विज संन्यास ग्रहण करे। धृति, क्षमा, दम (मनोनिग्रह), अस्तेय (चोरी न करना), शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), इन्द्रियनिग्रह, ह्री (निषिद्ध कर्म एवं अविनय आदिसे स्वाभाविक संकोच), विद्या, सत्य तथा अक्रोध (क्रोधका अभाव)—ये दस धर्मके स्वरूप हैं। जो भूतकालमें किये हुए भोगोंका चिन्तन, भविष्यमें मिलनेवाले भोगोंकी आकाङ्क्षा तथा वर्तमान समयमें प्राप्त हुए भोगोंका अभिनन्दन नहीं करता, वही संन्यास-आश्रममें निवास कर सकता है। जो अन्तःकरणमें स्थित इन्द्रियोंको अपने भीतर और बाहरके विषयोंको बाहर ही रोक रखनेमें सदा समर्थ है, वही संन्यास-आश्रममें निवास करे। जैसे प्राण निकल जानेपर शरीर सुख-दुःखका अनुभव नहीं करता, उसी प्रकार प्राण रहते हुए भी जिसपर सुख-दुःखका प्रभाव नहीं पड़ता, वही संन्यास-आश्रममें निवास करनेका अधिकारी है॥ १७—२७॥

'दो कौपीन (लँगोटियाँ), एक कन्था (गुदड़ी) और एक दण्ड—इतनी ही वस्तुओंका परमहंस संन्यासीको संग्रह करनेका अधिकार है; इससे अधिक संग्रहका उसके लिये विधान नहीं

है। यदि रागवश अधिक वस्तुओंका संग्रह करता है तो वह मृत्युके पश्चात् रौरव नरकमें जाकर पुनः पशु-पक्षी आदि योनियोंमें जन्म लेता है। शीत आदिसे बचनेके लिये फटे-पुराने साफ कपड़ोंको सीकर एक गुदड़ी बना ले और बस्तीसे बाहर रहकर गेरुए रंगका वस्त्र धारण करे। संन्यासी एक ही वस्त्र धारण करे अथवा बिना वस्त्रके ही (दिगम्बर) रहे। दृष्टिको इधर-उधर चारों ओर न ले जाकर एक ही स्थानपर नियन्त्रित रक्खे। मनमें किसी भी वस्तुके लिये लोभ न आने दे। सदा अकेला ही विचरण करे। वर्षा ऋतुमें किसी एक ही स्थानपर निवास करे। कुटुम्ब, स्त्री-पुत्र, (व्याकरण आदि) वेदाङ्गोंके ग्रन्थ, यज्ञ और यज्ञोपवीतका त्याग करके संन्यासीको सर्वत्र गूढ़ भावसे (बिना अपना विज्ञापन किये) विचरण करना चाहिये॥ २८—३२॥

'काम, क्रोध, घमंड, लोभ और मोह आदि जितने भी दोष हैं, उन सबका परित्याग करके संन्यासी सब ओरसे ममताको हटा ले। अपने मनमें राग और द्वेषको स्थान न दे। मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्णको समान समझे। प्राणियोंकी हिंसासे सर्वथा दूर रहे तथा सब ओरसे निःस्पृह होकर मुनिवृत्तिसे रहे। जो दम्भ और अहङ्कारसे मुक्त है, हिंसा और चुगली आदि दोषोंसे दूर है तथा आत्मज्ञानके लिये उपयोगी गुणोंसे सुशोभित है, वह संन्यासी मोक्षको प्राप्त होता है। इन्द्रियोंकी विषयोंमें आसक्ति रहनेपर मनुष्य निःसंदेह अनेक प्रकारके दोषोंमें फँस जाता है; किंतु यदि उन्हीं इन्द्रियोंको अच्छी प्रकार वशमें कर ले तो वह (मोक्षरूप) सिद्धिको प्राप्त होता है। विषय-भोगोंकी कामना भोगोंके उपभोगसे कदापि शान्त नहीं होती। भोगसे तो वह उल्टे बढ़ती ही है—ठीक उसी तरह, जैसे घी डालनेसे आग और भी प्रज्वलित हो उठती है। जो मधुर या कटु शब्द सुनकर, कोमल या कठोर वस्तुका स्पर्श कर, स्वादिष्ठ या स्वादहीन भोजन करके, सुन्दर या विकृत रूप देखकर और सुगन्ध या दुर्गन्ध सूँघकर न तो हर्षसे फूल उठता है और न ग्लानिका ही अनुभव करता है, उसीको जितेन्द्रिय जानना चाहिये। जिसके मन और वाणी शुद्ध हैं तथा सर्वदा भलीभाँति दोषोंसे सुरक्षित (बचे हुए) हैं, वही वेदान्तश्रवणका पूर्ण फल प्राप्त करता है। ब्राह्मण सम्मानसे विषकी भाँति उद्विग्न रहे और अपमानको अमृतकी भाँति समझकर सदा उसकी अभिलाषा करे। अपमानित पुरुष सुखसे सोता, सुखसे जागता और इस लोकमें सुखसे ही विचरता है; किंतु अपमान करनेवाला स्वतः नष्ट हो जाता है। अतिवादों (कठोर वचनों) को सहन करे, किसीका अनादर न करे तथा इस (नश्वर) देहको लेकर किसीके साथ वैर न करे। जो अपने ऊपर क्रोध करता है, उसके प्रति बदलेमें क्रोध न करे। यदि वह गाली देता हो, तो भी स्वयं तो उसे अच्छी ही बात कहे। दो नेत्र, दो कान, दो नासिकाछिद्र और एक मुख—इन सातों द्वारोंके अनुभवसे सम्बन्ध रखनेवाली वाणीको कभी असत्यरूपमें न बोले। सुख चाहनेवाला पुरुष अध्यात्मतत्त्वमें अनुराग रखकर स्थिरभावसे बैठे, किसीसे कोई अपेक्षा न रक्खे, मनसे सब तरहकी कामनाओंको निकाल दे तथा अपने सिवा किसी दूसरेको सहायक न बनाकर अकेला ही इस संसारमें विचरता रहे। इन्द्रियोंको वशमें रखने, राग-द्वेषका नाश करने तथा किसी भी प्राणीकी हिंसा न करनेसे मनुष्य अमृतत्व (मोक्ष) का अधिकारी होता है। यह शरीर रोगोंका घर है, इसमें हड्डियोंके खंभे लगे हैं। स्नायुजालकी डोरीसे यह बँधा है। मांस और रक्त इसपर थोप दिया गया है। इसे चमड़ेसे मढ़ दिया गया है। यह मल और मूत्रसे सदा ही पूर्ण रहता है। इससे दुर्गन्ध निकलती रहती है। बुढ़ापे और शोकसे व्याप्त होनेके कारण यह सदा आतुर (असमर्थ) रहता है। वीर्य और रजसे उत्पन्न होनेके कारण यह रजस्वल (रजोगुणी अथवा धूलसे भरा हुआ) है। साथ ही यह अनित्य भी है (आज गिरेगा या कल, इसका कुछ भी ठिकाना नहीं है)। इसमें पाँच भूत सदा ही डेरा डाले रहते हैं; अतः इसे त्याग दे (इसके प्रति अहंता और ममता न रक्खे)। यदि मूर्ख मनुष्य मांस, रक्त, पीब, मल, मूत्र, नाड़ी, मज्जा और हड्डियोंके समुदायभूत इस शरीरसे प्रेम करता है तो वह नरकसे भी अवश्य प्रेम करेगा। इस शरीरमें जो अहंभाव है, वही कालसूत्र नामक नरकका मार्ग है, वही महावीचि नामक नरकमें ले जानेके लिये बिछा हुआ जाल है। तथा वही असिपत्र वन नामक नरककी श्रेणी है। शरीरमें होनेवाली अहंता कुत्तेका मांस लेकर चलनेवाली चाण्डालिनीके समान है। उसको सब प्रकारके यत्नोंद्वारा त्याग दे। सर्वनाश उपस्थित हो, तो भी कल्याणकामी पुरुषको उसका स्पर्शतक नहीं करना चाहिये। अपने प्रियजनोंमें सुकृत (पुण्य) को और अप्रियजनोंमें दुष्कृत (पाप) को छोड़कर—स्वयं उनसे सम्बन्ध न रखकर ध्यानयोगके द्वारा साधक सनातन ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार धीरे-धीरे सम्पूर्ण आसक्तियोंका त्याग करके संन्यासी पुरुष सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे मुक्त हो परब्रह्म परमात्मामें ही स्थिति प्राप्त करता है। सिद्धिलाभके

लिये किसी दूसरेको साथी न बनाकर सदा अकेला ही विचरण करे। एककी सिद्धि देखकर संन्यासी न तो अपने साधनको छोड़ता है और न सिद्धिसे वञ्चित होता है॥ ३३—५३॥

'पानी पीनेके लिये कपाल (लकड़ी या नारियलका पात्र), रहनेके लिये किसी वृक्षकी जड़, पहननेको फटे पुराने कपड़े, सदा अकेले रहनेका स्वभाव और सबमें समताका भाव—यही जीवन्मुक्त पुरुषका लक्षण है। संन्यासी सम्पूर्ण भूतोंका हितैषी हो, शान्तभावसे रहे, त्रिदण्ड और कमण्डलु धारण करे, एकमात्र आत्मामें ही रमण करनेवाला हो तथा सब कुछ छोड़कर अकेला घूमता रहे। केवल भिक्षाके लिये ही वह गाँवमें प्रवेश करे। संन्यासी यदि अकेला रहे, तभी वह शास्त्रीय आदेशके अनुसार यथार्थ भिक्षु होता है। एकसे दो होते ही वह 'मिथुन' (जोड़ा) माना गया है। तीनका समुदाय होनेपर उसे 'गाँव' कहा गया है; तथा इससे अधिक व्यक्ति एक साथ हो जायँ, तब तो पूरा नगर-सा ही हो जाता है। संन्यासीको कभी अपने पास अधिक व्यक्तियोंको आनेका अवसर देकर नगर, गाँव अथवा मिथुनकी स्थिति नहीं उत्पन्न करनी चाहिये। इन तीनों (नगर, ग्राम और मिथुन) का आयोजन करनेवाला संन्यासी अपने धर्मसे गिर जाता है। अनेक व्यक्तियोंका एकत्र संयोग होनेपर उनमें या तो राजा—प्रभु, सेठ आदिकी बातें होंगी; अथवा कहाँ कैसी भिक्षा मिलती है—यह चर्चा शुरू हो जायगी; अथवा परस्पर स्नेह, चुगली और मत्सरता आदिके भाव उत्पन्न होंगे। इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। संन्यासी निःस्पृह होकर सदा अकेला रहे। किसीके साथ वार्तालाप न करे। वह सदा 'नारायण' कहकर ही दूसरोंकी बात या नमस्कार आदिका उत्तर दे। वह एकाकी रहकर मन, वाणी, शरीर तथा क्रियाद्वारा केवल ब्रह्मका ही चिन्तन करे। किसी तरह भी मृत्यु या जीवनका अभिनन्दन न करे। जबतक आयु पूरी न हो, तबतक केवल कालकी ही प्रतीक्षा करता रहे। न तो वह मृत्युकी प्रशंसा करे और न जीवनका अभिनन्दन करे। जैसे भृत्य अपने स्वामीकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करता रहता है, उसी प्रकार वह एकमात्र कालकी प्रतीक्षा करे। (जिह्वारहित), नपुंसक, लूला, अंधा, बहिरा एवं मुग्ध (जड) की भाँति रहनेवाला भिक्षु—इन छः प्रकारके गुणोंसे निश्चय ही मुक्त हो जाता है। जो भोजन करते हुए भी 'यह स्वादिष्ट है, यह स्वादयुक्त नहीं है।' इस भावसे अन्नके रसमें आसक्त नहीं होता तथा हितकर, सत्य और नपी-तुली बात कहता है, उसे 'अजिह्व' (जिह्वारहित) कहते हैं। जो आजकी जन्मी हुई नवजात कन्या, सोलह वर्षोंकी युवती नारी तथा सौ वर्षोंकी आयुवाली वृद्धा स्त्रीको देखकर कहीं भी राग-द्वेष आदि विकारोंके वशीभूत नहीं होता, वह 'षण्डक' (नपुंसक) कहा गया है। भिक्षाके लिये तथा मल-मूत्रका त्याग करनेके लिये ही जिसका घूमना होता है, और एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जानेके लिये भी जो प्रतिदिन एक योजन (चार कोस) से आगे नहीं जाता (एक योजनका रास्ता तै करके शेष समय ध्यान आदिमें व्यतीत करता है), वह 'पङ्गु' (लूला) ही है। चलते या खड़ा होते समय जिसके नेत्र चार युग (लगभग दस हाथ) भूमि छोड़कर इससे अधिक दूरतक नहीं देखते, वह संन्यासी 'अन्ध' कहलाता है। हितकी बात हो या अहितकी, मनको सुख देनेवाली बात हो या शोक प्रदान करनेवाली, उसे सुनकर भी जो मानो नहीं सुनता (उसपर ध्यान नहीं देता), वह 'बधिर' कहा गया है। विषय अपने समीप हों, शरीरमें शक्ति हो और सभी इन्द्रियाँ स्वस्थ हों, तब भी जो सोये हुए पुरुषकी भाँति उन विषयोंके प्रति आकृष्ट नहीं होता, उस भिक्षुको 'मुग्ध' (भोलाभाला) कहते हैं॥ ५४–६८॥

'नट आदिके खेल, जूआ, युवती स्त्री, सम्बन्धियों, भक्ष्य-भोज्य पदार्थ तथा रजस्वला स्त्री—इन छः वस्तुओंकी ओर संन्यासी कभी दृष्टिपात न करे। राग, द्वेष, मद, माया, दूसरोंके प्रति द्रोह तथा अपनोंके प्रति मोह—इन छः बातोंको संन्यासी कभी मनसे भी न सोचे। मञ्च (कुर्सी), श्वेत वस्त्र, स्त्रियोंकी चर्चा, इन्द्रियोंकी लोलुपता, दिनमें सोना और सवारीपर चलना—ये संन्यासियोंके लिये छः पातक हैं। आत्मचिन्तन करनेवाला संन्यासी दूरकी यात्राका यत्नपूर्वक त्याग करे॥ ६९–७१॥

'संन्यासी सदा मोक्षकी हेतुभूता उपनिषद्-विद्याका अभ्यास करे। वह न तो सदा तीर्थोंका सेवन करे और न अधिक उपवास ही करे। वह अधिक विद्याएँ पढ़नेका स्वभाव न बनाये। सभाओंमें व्याख्यान देनेवाला न बने। सदा ऐसा बर्ताव करे जिसमें पाप, शठता और कुटिलता न हो। जैसे कछुआ सब ओरसे अपने अङ्गोंको समेट लेता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंको विषयोंकी ओरसे समेटकर जो इन्द्रिय और मनके व्यापारको क्षीण कर देता है, कामना और परिग्रहसे मुँह मोड़ लेता है, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे हर्ष या शोकके वशीभूत नहीं होता, नमस्कार (भिन्न-भिन्न देवताओंकी स्तुति) और स्वधा (श्राद्ध-तर्पण) को छोड़ देता है,

ममता और अहङ्कारसे शून्य हो जाता है, किसी भी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रखता, निष्काम तथा एकान्तसेवी हो जाता है, वह निश्चय ही संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है ॥ ७२–७६ ॥

'प्रमादरहित, कर्म, भक्ति एवं ज्ञानसे सम्पन्न तथा केवल आत्माके ही अधीन रहनेवाला साधक, चाहे वह—ब्रह्मचारी, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ—कोई भी क्यों न हो, वैराग्य होनेपर संन्यास ग्रहण कर सकता है। अथवा यदि वैराग्य मन्द होनेके कारण उन-उन आश्रमोंमें प्रधानतः आस्था बनी हुई हो तो पहले ब्रह्मचर्याश्रमकी अवधि पूरी करके गृहस्थ बने, गृहस्थसे वानप्रस्थ हो जाय और वानप्रस्थ होनेके अनन्तर संन्यास ले। अथवा तीव्र वैराग्य होनेपर ब्रह्मचर्य-आश्रमसे ही संन्यासमें प्रवेश करे। या गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ-आश्रमसे संन्यास ग्रहण करे। अथवा ब्रह्मचारी हो या अब्रह्मचारी, स्नातक हो या न हो, अग्निहोत्र त्याग चुका हो या उससे अलग ही रहा हो—जिस दिन उसे वैराग्य हो, उसी दिन वह घर छोड़कर संन्यासी हो जाय। संन्यास-आश्रममें प्रवेशके समय कुछ विद्वान् प्राजापत्य नामक इष्टि करते हैं; उसे करे अथवा न करे। अथवा केवल 'आग्नेयी' इष्टिका ही अनुष्ठान करे (अग्नि देवतासे सम्बन्ध रखनेके कारण यह इष्टि 'आग्नेयी' कहलाती है)। अग्नि ही प्राण है, अतः इस आग्नेयी इष्टिद्वारा साधक प्राणका ही पोषण करता है। अथवा 'त्रैधातवीया' इष्टि का ही (जिसका इन्द्र देवतासे सम्बन्ध है) अनुष्ठान करे। सत्त्व, रज और तम—ये ही तीन धातु हैं, जिनका इस त्रैधातवीय इष्टिके द्वारा हवन किया जाता है। शास्त्रोक्त विधिसे इष्टि करके 'अयं ते योनेः···'* इस मन्त्रसे अग्निको सूँघे। मन्त्रका अर्थ इस प्रकार है—'हे अग्निदेव ! यह समष्टि प्राण तुम्हारे आविर्भावका कारण है। यह प्राण ही संवत्सरात्मक काल है, जिससे उत्पन्न होकर तुम उत्तम कान्तिसे देदीप्यमान हो रहे हो। अपनी उत्पत्तिके कारणभूत इस प्राणको जानकर तुम इसीमें स्थित हो जाओ और इस प्रकार हमारे प्राणसे तादात्म्य प्राप्त करके हमारे ज्ञानरूपी धनको बढ़ाओ।' निश्चय ही यह प्राण अग्निकी उत्पत्तिका कारण है। इसलिये **'प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहा'** (हे अग्निदेव ! तुम प्राणको प्राप्त कर, अपने कारणको प्राप्त कर उसके साथ एक हो जाओ) इसी प्रकार यह मन्त्र कहता है। (इसी प्रकार साधक भी कहे।)

* अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः।
तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥

'आहवनीय अग्निमेंसे अग्नि ले जाकर पूर्वोक्त प्रकारसे इष्टि करके अग्निको सूँघे। यदि अग्नि न मिल सके तो जलमें ही हवन करे। 'निश्चय ही सम्पूर्ण देवता जलस्वरूप हैं। सम्पूर्ण देवताओंके लिये मैं हवन करता हूँ, यह उन्हें प्राप्त हो' (**आपो वै सर्वा देवताः सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहा**) यों कहकर हवन करे। फिर उस जलमेंसे थोड़ा-सा जल उठाकर उसका आचमन कर ले। वह घृतयुक्त जल आरोग्यकारक एवं मोक्षदायक होता है। फिर शिखा, यज्ञोपवीत, पिता, पुत्र, स्त्री, कर्म, अध्ययन एवं अन्यान्य मन्त्रोंका जप त्यागकर ही आत्मवेत्ता पुरुष परिव्राजक (संन्यासी) होता है। त्रैधातवीय मोक्षसम्बन्धी मन्त्रोंसे ब्रह्मको जाने। जो सत्य, ज्ञान आदि लक्षणोंसे युक्त है, वही ब्रह्म है, वही उपासनाके योग्य है। यह ठीक ऐसा ही है' ॥ ७७–७९ ॥

नारदजीने ब्रह्माजीसे पुनः प्रश्न किया—'यज्ञोपवीत न रहनेपर वह ब्राह्मण कैसे रह सकता है ?' तब ब्रह्माजीने उनसे कहा—'विद्वान् पुरुष शिखासहित सम्पूर्ण सिरके बालोंका मुण्डन कराके शरीरपर यज्ञोपवीतके रूपमें धारण किये जानेवाले बाह्य सूत्रको तो त्याग दे और जो अविनाशी परब्रह्म परमात्मा हैं, उन्हींको सबमें व्यापक सूत्ररूप समझकर अपने भीतर धारण करे। जो सूचन (ज्ञान) का हेतु हो, उसे 'सूत्र' कहते हैं। अतः 'सूत्र' परमपदका नाम है। जिसने उस परमपदरूप सूत्रको जान लिया, वही वेदोंका पारगामी ब्राह्मण है। जैसे सूत्रमें मनके पिरोये हुए होते हैं उसी प्रकार जिस परमात्मामें यह सम्पूर्ण जगत् पिरोया हुआ है, वही सूत्र है। योगका ज्ञाता तत्त्वदर्शी योगी उसी सूत्रको धारण करे। विद्वान् पुरुष उत्तम योगका आश्रय ले बाह्य सूत्रका तो त्याग करे और इस ब्रह्मस्वरूप सूत्रको धारण करे। जो यों करता है, वही चेतन है। उस ब्रह्मरूप सूत्रके धारण करनेसे संन्यासी न तो कभी उच्छिष्ट (जूठे मुँह) होता है और न कभी अपवित्र ही होता है। ज्ञानरूपी यज्ञोपवीत धारण करनेवाले जिन संन्यासियोंके भीतर वह ब्रह्मरूपी सूत्र विद्यमान है, वे ही इस संसारमें सूत्रके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले तथा यज्ञोपवीतधारी हैं। संन्यासी ज्ञानमयी शिखा धारण करते हैं, ज्ञानमें ही स्थित होते हैं और ज्ञानका ही यज्ञोपवीत पहनते हैं। उनके लिये ज्ञान ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। ज्ञान ही सबसे पवित्र बताया गया है। जैसे अग्निकी शिखा उसके स्वरूपसे भिन्न नहीं होती, उसी प्रकार जिस विद्वान् संन्यासीने ज्ञानमयी शिखा धारण कर रक्खी है, वही शिखाधारी कहलाता है; दूसरे

लोग, जो केवल केश धारण करते हैं, वास्तविक शिखाधारी नहीं हैं। जो ब्राह्मण आदि द्विज वैदिक कर्मके अधिकारी माने जाते हैं, उन्हींको यह बाह्य सूत्र—यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये; क्योंकि वह कर्मका अङ्ग माना गया है। जिसके ज्ञानमयी शिखा और ज्ञानमय ही यज्ञोपवीत है, उसीमें पूर्णरूपसे ब्राह्मणत्व प्रतिष्ठित है—ब्रह्मज्ञ पुरुष यही मानते हैं ॥ ८०–८९ ॥

'यह सब जानकर ब्राह्मण घरका त्याग करके संन्यासी हो जाय; एक वस्त्र धारण करे, सिरके बाल मुँडा ले और किसी भी वस्तुका संग्रह न करे। यदि शारीरिक क्लेश सहनेमें समर्थ न हो, तो कौपीन आदि धारण करे। यदि वह शारीरिक क्लेश सह सकता हो तो विधिपूर्वक संन्यास ले दिगम्बर रहे। अपने पुत्र, मित्र, स्त्री, माननीय गुरुजन तथा भाई-बन्धु आदिको छोड़कर चला जाय, स्वाध्याय एवं वैदिक कर्मोंके अनुष्ठानका त्याग करके समस्त ब्रह्माण्डके साथ सम्बन्ध त्याग दे। कौपीन, दण्ड और अङ्ग ढकनेका वस्त्र भी न रक्खे। सब प्रकारके द्वन्द्वोंका सहन करते हुए न सर्दीकी परवा करे न गर्मीकी; न सुखके लिये लालायित हो और न दुःखसे भयभीत ही हो। निद्राकी भी चिन्ता न करे। मान-अपमानमें समान भावसे रहे। छहों ऊर्मियोंसे प्रभावित न हो। निन्दा, अहङ्कार, मत्सरता (डाह), गर्व, दम्भ, ईर्ष्या, असूया (दोषदृष्टि), इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि छोड़कर, अपने शरीरको मुर्देके समान मानकर, आत्मासे अतिरिक्त दूसरी किसी भी वस्तुको बाहर-भीतर न स्वीकार करते हुए, न तो किसीके सामने मस्तक झुकाये, न यज्ञ और श्राद्ध करे, न किसीकी निन्दा या स्तुति करे। अकेला ही स्वतन्त्रतापूर्वक विचरण करता रहे। दैवेच्छासे भोजन आदिके लिये जो कुछ भी मिल जाय, उसीपर संतुष्ट रहे। सुवर्ण आदिका संग्रह न करे। न किसीका आवाहन करे न विसर्जन। न मन्त्रका प्रयोग करे न मन्त्रका त्याग करे। न ध्यान करे न उपासना। न कोई लक्ष्य हो न लक्ष्यहीनता। न किसीसे अलग रहे, न संयुक्त। न किसी एक स्थानपर रहनेका आग्रह हो, न अन्यत्र जानेका। कोई उसका अपना घर या आश्रम न हो। उसकी बुद्धि सदा स्थिर रहे। जनशून्य भवन, वृक्षकी जड़, देवालय, घास-फूसकी कुटिया, कुलालशाला, अग्निहोत्रशाला, अग्निदिगन्तर, नदी-तट, पुलिन (कछार), भूगृह (गुफा), पर्वतीय गुफा, झरनेके पास, चबूतरे या वेदीपर अथवा वनमें रहे। श्वेतकेतु, ऋभु, निदाघ, ऋषभ, दुर्वासा, संवर्तक, दत्तात्रेय तथा रैवतककी भाँति न कोई चिह्न धारण करे और न अपने आचारको ही किसीपर प्रकट होने दे। बालक, उन्मत्त अथवा पिशाचकी भाँति व्यवहार करे। उन्मत्त न होते हुए भी उन्मत्तकी भाँति आचरण करे। त्रिदण्ड, झोली, पात्र, कमण्डलु, कटिसूत्र और कौपीन—सब कुछ 'भूः स्वाहा' कहकर जलमें छोड़ दे ॥ ९० ॥

'कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड, वस्त्र और कमण्डलु—सबको जलमें छोड़कर दिगम्बर होकर विचरे। आत्माका अनुसंधान करे। दिगम्बरकी भाँति रहकर द्वन्द्वोंको सहन करे—उनसे प्रभावित न हो। किसी भी वस्तुका संग्रह न करे। तत्त्व एवं ब्रह्मकी प्राप्ति करानेवाले ज्ञानमार्गमें भलीभाँति स्थित रहे। मनको शुद्ध रक्खे। प्राण-रक्षाके लिये उचित समयपर हाथरूपी पात्रसे अथवा और किसी पात्रसे बिना माँगे ही मिले हुए आहारको ग्रहण करे। लाभ-हानिको समान मानकर ममतासे रहित हो जाय। केवल ब्रह्मका चिन्तन करे। अध्यात्म-चिन्तनमें ही निष्ठा रक्खे। शुभाशुभ कर्मोंका निर्मूलन करके अपने आत्माके अतिरिक्त प्रत्येक वस्तुको सर्वथा त्याग दे। एकमात्र पूर्णानन्दस्वरूप परमात्माके बोधसे सम्पन्न हो, 'अहं ब्रह्मास्मि' (वह ब्रह्म मैं ही हूँ) ऐसी निश्चित धारणा रखकर भ्रमरका चिन्तन करनेवाले कीटकी तरह केवल ब्रह्मस्वरूप प्रणवका ही चिन्तन करे। तीनों शरीरोंके प्रति अहंता और ममताका भाव त्यागकर, सर्वत्याग करके ही वह शरीरका त्याग करे। इस प्रकार करनेवाला संन्यासी कृतकृत्य होता है, यह उपनिषद् है ॥ ९१-९२ ॥

॥ तृतीय उपदेश समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थ उपदेश

संन्यास-धर्मके पालनका महत्त्व तथा संन्यासग्रहणकी शास्त्रीय विधि

'जो लोक, वेद, विषय-भोग तथा इन्द्रियोंकी अधीनता त्यागकर केवल आत्मामें ही स्थित रहता है, वह संन्यासी परमगतिको प्राप्त होता है। श्रेष्ठ संन्यासी नाम, गोत्र आदिके वरण देश, काल, शास्त्रज्ञान, कुल, अवस्था, आचार, व्रत और शीलका विज्ञापन न करे। किसी भी स्त्रीसे बातचीत न करे। पहलेकी देखी हुई किसी स्त्रीका स्मरणतक न करे, उनकी चर्चासे भी दूर रहे तथा स्त्रियोंका चित्र भी न देखे। सम्भाषण, स्मरण, चर्चा और चित्रावलोकन—स्त्रीसम्बन्धी

इन चार बातोंका जो मोहवश आचरण करता है, उसके चित्तमें अवश्य ही विकार उत्पन्न होता है और उस विकारसे उसका धर्म निश्चय ही नष्ट हो जाता है। तृष्णा, क्रोध, असत्य, माया, लोभ, मोह, प्रिय, अप्रिय, शिल्पकला, व्याख्यानमें योग देना, कामना, राग, संग्रह, अहङ्कार, ममता, चिकित्साका व्यवसाय, धर्मके लिये साहसका कार्य, प्रायश्चित्त, दूसरोंके घरपर रहना, मन्त्र-प्रयोग, औषध-वितरण, जहर देना, आशीर्वाद देना—ये सब संन्यासीके लिये निषिद्ध हैं। इनका सेवन करनेवाला संन्यासी अपने धर्मसे नीचे गिर जाता है। मोक्षधर्ममें तत्पर रहनेवाला मुनि (संन्यासी) अपने किसी सुहृद्के लिये भी 'आओ, जाओ, ठहरो' स्वागत और सम्मान-की बात न करे। भिक्षु स्वप्नमें भी कभी किसीका दिया हुआ दान न ले। दूसरेको भी न दिलाये और न स्वयं किसीको देने-लेनेके लिये प्रेरित ही करे। स्त्री, भाई, पुत्र आदि तथा अन्य बन्धु-बान्धवोंके शुभ या अशुभ समाचारको सुनकर या देखकर भी संन्यासी कभी कम्पित (विचलित) न हो; वह शोक और मोहको सर्वथा त्याग दे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (किसी वस्तुका संग्रह न करना), उद्दण्डताका अभाव, किसीके सामने दीन न बनना, स्वाभाविक प्रसन्नता, स्थिरता, सरलता, स्नेह न करना, गुरुकी सेवा करना, श्रद्धा, क्षमा, इन्द्रियसंयम, मनोनिग्रह, सबके प्रति उदासीनताका भाव, धीरता, स्वभावकी मधुरता, सहन-शीलता, करुणा, लज्जा, ज्ञान-विज्ञान-परायणता, स्वल्प आहार तथा धारणा—यह मनको वशमें रखनेवाले संन्यासियोंका विख्यात सुधर्म है। द्वन्द्वोंसे रहित, सत्त्वगुणमें सर्वदा स्थित और सर्वत्र समान दृष्टि रखनेवाला तुरीयाश्रममें स्थित परमहंस संन्यासी साक्षात् नारायणका स्वरूप है। गाँवमें एक रात रहे और बड़े नगरमें पाँच रात; किंतु यह नियम वर्षाके अतिरिक्त समयके लिये ही है, वर्षामें चार महीनेतक वह किसी एक ही स्थानपर निवास करे। भिक्षु गाँवमें दो रात कभी न रहे। यदि रहता है तो उसके अन्तःकरणमें राग आदिका प्रसङ्ग आ सकता है। इससे वह नरकगामी होता है। गाँवके एक किनारे किसी निर्जन प्रदेशमें मन और इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए निवास करे। कहीं भी अपने लिये मठ या आश्रम न बनाये। जैसे कीड़े हमेशा घूमते रहते हैं, उसी प्रकार आठ महीनोंतक संन्यासी इस पृथिवीपर विचरता रहे। केवल वर्षाके चार महीनोंमें वह एकत्र निवास करे। वह एक वस्त्र पहन-कर रहे अथवा बिना वस्त्रके दिगम्बर होकर रहे। उसकी दृष्टि इधर-उधर चञ्चल न होकर एक लक्ष्यपर ही स्थिर रहे। वह कभी विषयोंमें आसक्त न हो तथा सत्पुरुषोंके पथको कलङ्कित न करते हुए ध्यानपरायण रहकर पृथ्वीपर विचरे। संन्यासी अपने धर्मका पालन करते हुए सदा पवित्र स्थानपर रहे। योगपरायण भिक्षु पृथ्वीतलपर दृष्टि रखते हुए ही सदा विचरण करे। रातको, दोपहरमें तथा दोनों सन्ध्याओंके समय कभी भ्रमण न करे तथा ऐसे स्थानोंपर भी न घूमे जो शून्य, दुर्गम तथा प्राणियोंके लिये बाधाकारक हों। गाँवमें एक रात, पुरवेमें दो दिन, पत्तन (छोटे शहर, कस्बे) में तीन दिन और नगरमें पाँच रात्रियोंतक संन्यासीको रहना चाहिये। वर्षाकालमें किसी एक स्थानपर, जो पवित्र जलसे घिरा हुआ हो, निवास करना चाहिये। भिक्षु सम्पूर्ण भूतोंको अपने ही समान देखता हुआ अंधे, जड़, बहरे, पागल और गूँगेकी भाँति चेष्टा रखकर पृथ्वीपर विचरण करे। बहूदक और वनस्थ यतियोंके लिये तीनों कालोंका स्नान बताया गया है। परंतु जो 'हंस' संन्यासी है, उसके लिये एक ही बार स्नान करनेका विधान है। हंससे भी ऊँची स्थितिमें जो परमहंस है, उसके लिये स्नान आदिका कोई बन्धन नहीं है॥ १–२२॥

'मौन, योगासन, योग, तितिक्षा, एकान्तशीलता, निःस्पृहता तथा समता—ये सात एकदण्डी संन्यासियोंके पालन करनेयोग्य नियम हैं। जो परमहंसकी स्थितिमें पहुँचा हुआ है, उसके लिये स्नान आदि अनिवार्य न होनेके कारण वह केवल सम्पूर्ण चित्तवृत्तियोंका त्यागमात्र करे। चमड़ी, मांस, रक्त, नाड़ी, मज्जा, मेद और हड्डियों-के समुदायरूप इस शरीरमें रमनेवाले पुरुषों तथा मल, मूत्र और पीबमें रमनेवाले कीड़ोंमें कितना अन्तर है? सम्पूर्ण कफ आदि घृणित वस्तुओंकी महाराशिरूप यह शरीर कहाँ और अङ्गशोभा, सौन्दर्य एवं कमनीयता आदि गुण कहाँ। मूर्ख मनुष्य मांस, रक्त, पीब, विष्ठा, मूत्र, नाड़ी, मज्जा और हड्डियोंके समुदायरूप इस शरीरमें यदि प्रीति करता है, तो नरकमें भी उसकी अवश्य प्रीति होगी। स्त्रियोंके उच्चारण न करने योग्य गुप्त अङ्ग और सड़े हुए नाड़ीके घावमें कोई भेद न होनेपर भी मनुष्य अपने मनकी मान्यताके भेदसे प्रायः ठगा जाता है। स्त्रियोंका वह गुप्त अङ्ग क्या है? —दो भागोंमें विदीर्ण हुआ चर्मखण्डमात्र। वह भी अपानवायु-के निकलनेसे दुर्गन्धपूर्ण रहता है। जो लोग उसमें रमण करते हैं, उन्हें नमस्कार है! भला, इससे बढ़कर दुस्साहस और क्या हो सकता है! विद्वान् संन्यासीके लिये न कोई कर्तव्य शेष रहता है और न चिह्नविशेषको धारण करनेकी आवश्यकता। वह ममतारहित, निर्भय, शान्त, निर्द्वन्द्व, वर्ण

आदिके अभिमानसे रहित एवं आहारोपार्जनकी चेष्टासे रहित होता है। संन्यासी मुनि कौपीन पहनकर रहे अथवा नंगा ही रहकर ध्यानमें तत्पर रहे। इस प्रकार ज्ञानपरायण योगी ब्रह्मभावकी प्राप्तिमें समर्थ होता है। संन्यासका चिह्नविशेष होते हुए भी उसमें ज्ञान ही मोक्षका विशेष कारण है। प्राणियोंके लिये नाना प्रकारके चिह्नोंका धारण मोक्षसाधक ज्ञानके अभावमें निरर्थक ही होता है। जिसके विषयमें कोई भी यह नहीं जानता कि यह साधु है या असाधु, मूर्ख है या बहुत बड़ा विद्वान्, अथवा सदाचारी है या दुराचारी, वही ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण है। इसलिये विद्वान् संन्यासी किसी भी चिह्नविशेषको न धारण करके स्वधर्मका ज्ञान रखते हुए सर्वोत्तम ब्रह्मचिन्तन-व्रतका पालन करे। वह गूढ़ धर्मका आश्रय लेकर इस प्रकार आचरण करे, जिससे उसके आचरणके विषयकी कोई बात दूसरोंपर प्रकट न हो। समस्त प्राणियोंके लिये संदेहका विषय बना हुआ वह वर्ण और आश्रमसे रहित हो अन्ध, जड और मूककी भाँति पृथिवीपर विचरण करे। उस शान्तचित्त संन्यासीका दर्शन करके देवता भी वैसी स्थिति प्राप्त करनेके लिये लालायित होते हैं। जब आत्मसत्ताके अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तुके अस्तित्वका चिह्न भी न रह जाय, तभी कैवल्य प्राप्त होता है। यही ब्रह्म-तत्त्वका उपदेश है' ॥ २३–३६ ॥

तदनन्तर नारदजीने ब्रह्माजीसे पूछा—'भगवन्! संन्यासकी विधि क्या है, यह बतानेकी कृपा करें।' तब ब्रह्माजीने 'तथास्तु' कहकर स्वीकृति दी और इस प्रकार कहा—'आतुर-संन्यासमें अथवा क्रम-संन्यासमें चतुर्थ आश्रम स्वीकार करनेके लिये पहले प्रायश्चित्तरूपमें कृच्छ्र आदि व्रत करके फिर अष्टश्राद्ध करे। देवता, ऋषि, दिव्यमनुष्य, भूत, पितर, माताएँ और आत्मा—इन आठके निमित्त आठ श्राद्ध करना आवश्यक है। पहले 'सत्य' और 'वसु' नामके विश्वेदेवोंका आवाहन करे; फिर देवश्राद्धमें ब्रह्मा, विष्णु तथा महादेवजीका; ऋषिश्राद्धमें देवर्षि, राजर्षि तथा मानवर्षियोंका; दिव्यश्राद्धमें आठ वसुओं, ग्यारह रुद्रों तथा बारह आदित्योंका; मनुष्य-श्राद्धमें सनक, सनन्दन, सनत्कुमार तथा सनत्सुजातका; भूतश्राद्धमें पृथिवी आदि पञ्च महाभूतों, नेत्र आदि इन्द्रियों तथा जरायुज आदि चतुर्विध प्राणिसमुदायोंका; पितृश्राद्धमें पिता, पितामह तथा प्रपितामहका; मातृश्राद्धमें माता, पितामही और प्रपितामहीका तथा आत्मश्राद्धमें अपना, अपने पिताका और पितामहका—यदि उसके पिता जीवित हों तो पिताको छोड़कर अपना, पितामह और प्रपितामहका आह्वान करे। आठों श्राद्धोंको एक ही यज्ञका अङ्ग बनाकर करनेपर प्रत्येक श्राद्धमें दो-दोके क्रमसे ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करके उनका विधिवत् पूजन करे। अथवा यदि आठ पृथक्-पृथक् यज्ञ किये जायँ तो ऐसी स्थितिमें अपनी शाखामें आये हुए मन्त्रोंद्वारा इन आठ श्राद्धोंको आठ दिनमें या एक दिनमें करे। पितृयाग (श्राद्धकल्प) में बताये हुए विधानके अनुसार ब्राह्मणोंके पूजनसे लेकर भोजनतक सब कृत्य विधिपूर्वक सम्पन्न करके पिण्डदान दे। फिर दक्षिणा और ताम्बूलसे ब्राह्मणोंको संतुष्ट करके उन्हें विदा करे और शेष कर्मकी सिद्धिके लिये सात या आठ छोड़कर शेष सभी केशोंको मुँड़वा दे। साथ ही मूँछ, दाढ़ी और नख भी कटवा दे। ऊपर बताये अनुसार सात केशोंको अवश्य बचा ले। काँख और उपस्थके केश भी न कटाये। क्षौरके पश्चात् स्नान करे। उसके बाद सायंकालीन संध्या-वन्दन करके एक सहस्र गायत्रीका जप करे। फिर ब्रह्मयज्ञ करके स्वतन्त्र अग्निकी स्थापना करे। फिर अपनी शाखाका उपसंहार करके उसमें बताये अनुसार आज्यभागपर्यन्त घीकी आहुति दे। हवनकी विधि पूरी करके तीन ग्रास सत्तूका प्राशन (भोजन) करे। फिर आचमन करके अग्निकी रक्षाके लिये उसमें ईंधन आदि रखकर स्वयं अग्निसे उत्तरकी ओर काले मृगचर्मपर बैठ जाय और पुराण-कथा सुनते हुए रातभर जागरण करे। रातके चौथे पहरके अन्तमें स्नान करके पूर्वोक्त अग्निमें चरु पकाये। फिर पुरुषसूक्तके सोलह मन्त्रोंद्वारा उस चरुकी सोलह आहुतियाँ अग्निमें डाले और विरजा-होम करके आचमनपूर्वक दक्षिणासहित वस्त्र, सुवर्ण, पात्र और धेनुका दान करे, और इस प्रकार विधिको पूर्ण करे। इसके बाद ब्रह्माका विसर्जन करके—

सं मा सिञ्चन्तु मरुतः समिन्द्रः सं बृहस्पतिः।
सं मायमग्निः सिञ्चत्वायुषा च धनेन च बलेन चायुष्मन्तं करोतु मा ॥*

या ते अग्ने यज्ञिया तनूस्तयेहारोहात्मात्मानम्।
अच्छा वसूनि कृण्वन्नस्मे नर्या पुरूणि ॥
यज्ञो भूत्वा यज्ञमासीद स्वां योनिम्।
जातवेदो भुव आजायमानः सक्षय एहि ॥†

* अर्थात् मरुद्गण, इन्द्र, बृहस्पति तथा अग्नि—ये सभी देवता मुझपर कल्याणकी वर्षा करें। ये अग्निदेव मुझे आयु, ज्ञान-रूपी धन तथा साधनकी शक्तिसे सम्पन्न करें, साथ ही मुझको दीर्घजीवी भी बनायें।

† हे अग्निदेव! जो तुम्हारा यज्ञिय (यज्ञोंमें प्रकट होनेवाला) स्वरूप है, उसी स्वरूपसे तुम यहाँ पधारो और मेरे लिये बहुत-से

—इन दो मन्त्रोंद्वारा अग्निके आधिदैविक स्वरूपको अपने आत्मामें स्थापित कर ले। फिर अग्निका ध्यान करके प्रदक्षिणा और नमस्कारपूर्वक अग्निशालामें उसका विसर्जन कर दे। तदनन्तर प्रातःसंध्योपासन करके सहस्र बार गायत्रीका जप और सूर्योपस्थान करे। तत्पश्चात् नाभितक जलमें प्रवेश करके उसमें बैठकर अष्ट दिक्पालोंको अर्घ्य दे। फिर गायत्रीका विसर्जन करके सावित्रीको व्याहृतियोंमें प्रविष्ट करे अर्थात् सावित्रीदेवीसे व्याहृतियोंमें प्रवेश करनेकी प्रार्थना करे।

प्रार्थनाके मन्त्र इस प्रकार हैं—

'अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणं सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्।' *

'यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्॥' †

शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधयापिहितः। श्रुतं मे गोपाय॥' ‡

'दारैषणायाश्च धनैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थितोऽहम्' 'ॐ भूः संन्यस्तं मया' 'ॐ भुवः संन्यस्तं मया' 'ॐ सुवः संन्यस्तं मया' 'ॐ भूर्भुवः सुवः संन्यस्तं मया' §

'इस प्रकार मन्द, मध्यम और उच्च स्वरसे वाणीद्वारा अथवा मन-ही-मन इन मन्त्रोंका उच्चारण करके तथा **'अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते स्वाहा'** (मेरी ओरसे सब प्राणियोंको अभयदान दिया गया, मुझसे ही सबकी प्रवृत्ति होती है) इस मन्त्रसे जलका आचमन करके पूर्व दिशाकी ओर पूरी अञ्जलि भर जल डालकर **'ॐ स्वाहा'** कहकर शेष बचे हुए शिखाके बालोंको उखाड़ डाले। तत्पश्चात्—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥
यज्ञोपवीतं बहिर्न निवसेत् त्वमन्तः प्रविश्य मध्ये ह्यजस्रम्।
परमं पवित्रं यशो बलं ज्ञानवैराग्यं मेधां प्रयच्छ॥ *

—यह मन्त्र पढ़कर यज्ञोपवीत तोड़ डाले। और उसे जलाञ्जलिके साथ हाथमें लेकर **'ॐ भूः समुद्रं गच्छ स्वाहा'**—इस मन्त्रके द्वारा जलमें ही होम दे। फिर **'ॐ भूः संन्यस्तं मया' 'ॐ भुवः संन्यस्तं मया' 'ॐ सुवः संन्यस्तं मया'**—इस प्रकार तीन बार कहकर, तीन बार जलको अभिमन्त्रित करके उसका आचमन करे। तत्पश्चात् **'ॐ भूः स्वाहा'** कहकर वस्त्र और कटिसूत्रको भी जलमें ही त्याग दे। तदनन्तर इस बातका स्मरण करते हुए कि मैं सब कर्मोंका त्यागी हूँ, दिगम्बर होकर स्वरूपका चिन्तन करते हुए ऊपर बाँह उठाये हुए उत्तर दिशाकी ओर चला जाय॥ ३७॥

'यदि पूर्ववत् विद्वत्-संन्यासी हो तो गुरुसे प्रणव और महावाक्यका उपदेश प्राप्त करके, मुझसे भिन्न दूसरा कोई नहीं है—इस निश्चयके साथ आनन्दपूर्वक विचरण करता रहे। फल, पत्र और जलका ही आहार करे। पर्वत, वन तथा देवमन्दिरोंमें संचरण करे। संन्यासके बाद यदि दिगम्बर हो गया तो वह अपने हृदयमें सदा केवल आनन्दस्वरूप आत्माकी अनुभूतिको ही भरकर कर्मोंसे अत्यन्त दूर रहनेमें ही लाभ मानता हुआ फलोंके रस, छिलके, पत्ते, मूल एवं जलसे प्राण धारण करे और केवल मोक्षकी ही अभिलाषा रखकर पर्वतकी कन्दराओंमें प्रणवका जप एवं ब्रह्मका चिन्तन करते हुए सर्वत्र संचरण करनेवाले अपने शरीरका त्याग कर दे॥३८॥

मनुष्योपयोगी विशुद्ध धन (साधन-सम्पत्ति) की सृष्टि करते हुए आत्मारूपसे मेरे आत्मामें विराजमान हो जाओ। तुम यज्ञरूप होकर अपने कारणरूप यज्ञमें पहुँच जाओ। हे जातवेदा! तुम पृथिवीसे उत्पन्न होकर अपने धामके साथ यहाँ पधारो।

* इस मन्त्रका अर्थ इसी अङ्कके पृष्ठ ३२८ पर देखिये।

†-‡ ये दोनों मन्त्र एक ही मन्त्रके भाग हैं। पूरे मन्त्रका अर्थ इसी अङ्कके पृष्ठ ३१८ पर देखिये।

§ इन वाक्योंका अर्थ इस प्रकार है—'मैं स्त्रीकी कामना, धनकी कामना और लोकमें ख्यातिकी कामनासे ऊपर उठ गया हूँ। मैंने भूलोकका संन्यास (पूर्णतः त्याग) कर दिया। मैंने भुवः (अन्तरिक्ष) लोकका परित्याग कर दिया तथा मैंने स्वर्गलोकको भी सर्वथा त्याग दिया। मैंने भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक—इन तीनोंको भलीभाँति त्याग दिया।'

* यह यज्ञसूत्र परम पवित्र है। यह पूर्वकालमें प्रजापतिके साथ ही प्रकट हुआ था। यह सर्वश्रेष्ठ आयुष्य (आयु बढ़ानेका साधन) है। इस यज्ञोपवीतको मेरे कण्ठमें पहना दो। यह शुभ्र यज्ञोपवीत मेरे बल और तेजको बढ़ानेवाला हो। यज्ञोपवीत बाहर न रहे। हे यज्ञमय सूत्र! तुम मेरे भीतर प्रवेशकर मेरे आत्माके साथ निरन्तर एक होकर रहो। तुम परम पवित्र हो। मुझे सुयश, बल, ज्ञान, वैराग्य तथा धारणाशक्ति प्रदान करो।

'यदि ज्ञानप्राप्तिकी इच्छासे संन्यासी हुआ हो तो वह सौ पग जानेके पश्चात् आचार्य आदि ब्राह्मणोंद्वारा यों कहकर बुलानेपर कि—'हे महाभाग ! ठहरो, ठहरो; यह दण्ड, वस्त्र और कमण्डलु ग्रहण करो। तुम्हें प्रणव और महावाक्यका उपदेश ग्रहण करनेके लिये गुरुके निकट आना चाहिये।' उनके समीप आ जाय। फिर आचार्योंद्वारा देनेपर दण्ड, कटिसूत्र, कौपीन, एक शाटी (चादर) और एक कमण्डलु ग्रहण करे। दण्ड बाँसका होना चाहिये। उसकी ऊँचाई पैरसे लेकर मस्तक तककी हो। वह खरोंच अथवा छेदसे रहित, बराबर चिकना एवं उत्तम लक्षणोंसे युक्त हो। उसका रंग काला न हो। इन सब वस्तुओंको लेनेके पहले वह आचमन कर ले और—

सखा मा गोपायौजः सखा योऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारय।*

—इस मन्त्रका उच्चारण करके दण्डको हाथमें ले। फिर—

जगज्जीवनं जीवनाधारभूतं मा ते मा मन्त्रयस्व सर्वदा सर्वसौम्य।

—इस मन्त्रके साथ प्रणवका उच्चारण करते हुए कमण्डलु ग्रहण करे। तत्पश्चात् **'कौपीनाधारं कटिसूत्रमोम्'** यों कहकर कटिसूत्र ग्रहण करे; **'गुह्याच्छादकं कौपीनमोम्'** यों कहकर कौपीन ग्रहण करे तथा **'शीतवातोष्णत्राणकरं देहैकरक्षणं वस्त्रमोम्'** इस मन्त्रका उच्चारण करके वस्त्र ग्रहण करे। तदनन्तर पुनः आचमन करके योगपट्टाभिषिक्त हो 'मैं कृतार्थ हो गया,' यह मानता हुआ अपने आश्रमोचित सदाचारके पालनमें तत्पर हो जाय। यह उपनिषद् है॥ ३९॥

॥ चतुर्थ उपदेश समाप्त ॥ ४ ॥

पञ्चम उपदेश

संन्यास और संन्यासीके भेद तथा संन्यास-धर्म और उसके पालनका महत्त्व

इसके बाद अपने पिता ब्रह्माजीसे देवर्षि नारदने पूछा—'भगवन् ! आपने ही बताया है कि संन्यास सब कर्मोंकी निवृत्ति करनेवाला है; फिर आप ही यह भी कहते हैं कि संन्यासी अपने आश्रमोचित आचारके पालनमें तत्पर हो जाय। (ये दोनों बातें परस्परविरुद्ध जान पड़ती हैं। इस विरोधका परिहार कैसे हो ?)' तब पितामहने कहा—'शरीरमें स्थित देहधारी जीवकी चार अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। इन अवस्थाओंके अधीन होकर ही पुरुष कर्म, ज्ञान और वैराग्यके प्रवर्त्तक होते हैं। तथा समस्त प्राणी इन चार अवस्थाओंके अधीन होकर जब-जब जिस अवस्थामें स्थित होते हैं, उसके अनुकूल आचरण करते हैं। (इसी प्रकार जो जिस आश्रममें स्थित होता है, वह उसीके अनुकूल आचरण करता है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थके द्वारा अनिवार्यरूपसे सेवन करनेयोग्य जो श्रौत-स्मार्त कर्म हैं, संन्यास उन्हीं कर्मोंका निवर्तक है। परंतु संन्यास-आश्रमके अनुकूल जो श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि साधन हैं, उनका त्याग वहाँ भी नहीं होता। इसी दृष्टिसे यह कहा गया है कि संन्यासी अपने आश्रमोचित सदाचारके पालनमें तत्पर हो जाय।' नारदजीने कहा—'भगवन् ! ठीक है। अब हमें यथार्थरूपसे यह बताइये कि संन्यासके कितने भेद हैं और उनके अनुष्ठानमें किस प्रकारका अन्तर है ?'

ब्रह्माजीने कहा—'बहुत अच्छा। संन्यास-भेदसे आचार-भेद कैसे होता है, यह जानना चाहते हो तो बतलाता हूँ; श्रवण करो। वास्तवमें तो संन्यास एक ही है; किंतु अज्ञानसे, असमर्थतावश और कर्मलोपके कारण तीन भेदोंमें विभक्त होकर वैराग्य-संन्यास, ज्ञान-संन्यास, ज्ञान-वैराग्य-संन्यास और कर्म-संन्यास—इन चार भेदोंको प्राप्त होता है। वह सब इस प्रकार है। मनमें अनर्थकारी दुष्ट कामका अभाव होनेसे विषयोंकी ओरसे विरक्त होकर जो पूर्वजन्मके पुण्यकर्मके प्रभावसे संन्यास लेता है, वह वैराग्य-संन्यासी कहलाता है। जो शास्त्रको जाननेसे तथा पापमय एवं पुण्यमय लोकोंका अनुभव और श्रवण करनेसे प्रपञ्चकी ओरसे स्वभावतः विरक्त हो गया है, क्रोध, ईर्ष्या, असूया (दोषदृष्टि), अहंकार और अभिमान ही जिसके स्वरूप हैं, ऐसे समस्त संसारको अपने मनसे हटाकर, स्त्री-कामना धन-कामना और लोकमें ख्यातिकी

* हे दण्ड ! तुम मेरे सखा (सहायक) हो, मेरी रक्षा करो। मेरे ओज (प्राणशक्ति) की रक्षा करो। तुम वही मेरे सखा हो, जो इन्द्रके हाथमें वज्रके रूपमें रहते हो। तुमने ही वज्ररूपसे आघात करके वृत्रासुरका संहार किया है। तुम मेरे लिये कल्याणमय बनो। मुझमें जो पाप हो, उसका निवारण करो।

कामना—इन त्रिविध स्वरूपोंवाली दैहिक वासनाको, शास्त्रवासनाको तथा लोक-वासनाको त्याग देता है; तथा जैसे साधारण लोग वमन किये हुए अन्नको त्याज्य समझते हैं, उसी प्रकार इन समस्त भोगोंको त्याज्य मानकर जो साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न हो संन्यास ग्रहण करता है, वही ज्ञान-संन्यासी कहलाता है। जो क्रमशः सब शास्त्रोंका अभ्यास करके, सब कुछ अनुभवमें लाकर ज्ञान और वैराग्यके द्वारा केवल अपने स्वरूपका ही चिन्तन करते हुए दिगम्बर हो जाता है, वही यह ज्ञान-वैराग्य-संन्यासी है। जो ब्रह्मचर्यको समाप्त करके गृहस्थ होकर, तथा गृहस्थसे वानप्रस्थ-आश्रममें प्रवेश करके पूर्ण वैराग्य न होनेपर भी आश्रम-क्रमके अनुसार अन्तमें संन्यास ग्रहण करता है, वह कर्म-संन्यासी है। अथवा ब्रह्मचर्यसे ही संन्यास लेकर संन्याससे जो दिगम्बर हो जाता है, वह वैराग्य-संन्यासी है। विद्वत्संन्यासी ज्ञान-संन्यासी है। तथा विविदिषा-संन्यासी कर्म-संन्यासी है ॥ १–७ ॥

"कर्म-संन्यास भी दो प्रकारका होता है—एक निमित्त-संन्यास और दूसरा अनिमित्त-संन्यास। आतुर-संन्यास निमित्त-संन्यास कहलाता है और क्रम-संन्यासको अनिमित्त-संन्यास कहते हैं। रोग आदिसे आतुर होनेके कारण जिसमें सब कर्मोंका लोप हो जाता है, अर्थात् जिसमें नित्य-नैमित्तिक आदि कोई कर्म नहीं बन सकते, तथा जो प्राणत्यागके समय स्वीकार किया जाता है, वह संन्यास निमित्त-संन्यास माना गया है। (इसीको आतुर-संन्यास भी कहते हैं।) शरीरके सबल होनेपर जो विचारके द्वारा यह निश्चय करके कि उत्पन्न होनेवाली सब वस्तुएँ नश्वर हैं, देह आदि सबको त्याज्य मानता और—

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥

'वह परमात्मा आकाशमें विचरनेवाला हंस (सूर्य) है, अन्तरिक्षचारी वसु है। वही होता और वेदीपर स्थापित अग्नि है। गृहस्थोंके घरोंमें अतिथिरूपसे आश्रय लेनेवाला भी वही है। मनुष्योंमें उसीकी सत्ता है। श्रेष्ठ वस्तुओंमें भी उसीका अस्तित्व है। सत्यमें उसीका निवास है। आकाशमें भी वही सत्य है। वही जलसे प्रकट होता है। वही गौ (पृथ्वी एवं वाणी) से प्रकट होनेवाला है। सत्यसे भी उसीका प्रादुर्भाव होता है। वही पर्वतोंसे प्रकट होता है तथा इन सबसे भिन्न एवं विलक्षणरूपमें वही एकमात्र महान् सत्य है।'

—इस मन्त्रके अनुसार केवल परब्रह्म परमेश्वरको ही सत्य समझता और ब्रह्मसे अतिरिक्त सब कुछ नश्वर है, इस निश्चयपर पहुँचकर क्रमशः संन्यास-आश्रम ग्रहण करता है, उसका वह संन्यास अनिमित्त-संन्यास कहा गया है। संन्यासी छः प्रकारके होते हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत तथा अवधूत। कुटीचक संन्यासी शिखा और यज्ञोपवीतसे युक्त होता है। वह दण्ड, कमण्डलु, कौपीन और कन्था धारण करता है। पिता, माता और गुरु—तीनोंकी सेवामें संलग्न रहता है। पिठर (पात्र), खनित्र (खनती) और झोली आदि साथ रखता है और मन्त्र-साधनमें लगा रहता है, एक ही जगह भोजन करता रहता है, श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करता है और त्रिदण्डी होता है। बहूदक भी कुटीचककी भाँति शिखा, यज्ञोपवीत, दण्ड, कमण्डलु, कौपीन और कन्था धारण करते हैं। ललाटमें त्रिपुण्ड्र लगाते हैं। सबके प्रति समभाव रखते हैं और मधुकरी-वृत्तिसे कई घरोंसे अन्न लाकर केवल आठ ग्रास भोजन करते हैं। हंसनामक संन्यासी जटा धारण करनेवाले, त्रिपुण्ड्रोर्ध्व-पुण्ड्रधारी, अनिश्चित घरोंसे मधुकरी लाकर भोजन करनेवाले तथा कौपीनखण्ड एवं तुण्ड (तूँबी) धारण करते हैं। परमहंस शिखा और यज्ञोपवीतसे रहित होते हैं। वे पाँच गृहोंसे अन्न लाकर केवल एक रात भोजन करते हैं अर्थात् दूसरे दिन दूसरे पाँच गृहोंका अन्न ग्रहण करते हैं। उनका हाथ ही पात्र होता है। अतएव वे 'करपात्री' कहलाते हैं। एक कौपीन धारण करते, एक ओढ़नेका वस्त्र रखते और बाँसका दण्ड धारण करते हैं। वे या तो एक चादर ओढ़कर रहते हैं या सब अङ्गोंमें भस्म रमाये रहते हैं। परमहंस सर्वत्यागी होते हैं। तुरीयातीत संन्यासी गोमुख होते हैं अर्थात् जैसे गायें दैवेच्छावश जो तृण आदि प्राप्त हो जाय, उसीसे निर्वाह करती हैं, उसी प्रकार वे दैवेच्छावश जो कुछ प्राप्त हो जाय उसीको अपना ग्रास बनाते हैं। विशेषतः वे फलाहारी होते हैं। यदि अन्नाहारी हों तो केवल तीन घरोंका अन्न ग्रहण करते हैं। देहके सिवा और कुछ उनके पास शेष नहीं रहता। वे दिगम्बर रहते और मुर्दोंकी तरह शारीरिक चेष्टासे रहित होते हैं। अवधूत किसी नियमके बन्धनमें नहीं रहता। वह कलङ्कित और पतित मनुष्योंको छोड़कर शेष सभी वर्णोंके मनुष्योंसे अजगर-वृत्तिके अनुसार आहार ग्रहण करता है तथा सर्वदा अपने स्वरूपके चिन्तनमें लगा रहता है ॥ ८—१७ ॥

'आतुर पुरुष संन्यास लेनेके बाद यदि जी जाय तो उसे सम्पूर्ण विधियोंका पालन करते हुए क्रम-संन्यास ग्रहण करना चाहिये। कुटीचक, बहूदक और हंस—इन तीन प्रकारके संन्यासियोंकी संन्यास-विधि ब्रह्मचर्यादि आश्रमसे लेकर चतुर्था-

श्रमतककी भाँति है अर्थात् उनके लिये क्रम-संन्यासका विधान है। परमहंस आदि (अर्थात् परमहंस, तुरीयातीत एवं अवधूत—इन) तीन प्रकारके संन्यासियोंके लिये कटिसूत्र, कौपीन, वस्त्र, कमण्डलु और दण्ड धारण करनेकी आवश्यकता नहीं है। वे सभी वर्णोंके घरसे एक बार भिक्षाटन कर सकते हैं, तथा उन्हें दिगम्बर होना चाहिये। यही उनके लिये सामान्य विधि है। संन्यास-ग्रहणके समय भी जबतक उनके भीतर अलंबुद्धि न हो जाय अर्थात् अबतक मैंने जो कुछ अध्ययन किया है, वह पर्याप्त है; उससे अधिक अध्ययन करनेकी अपने लिये कोई आवश्यकता नहीं है—ऐसी बुद्धि जबतक उत्पन्न न हो जाय, तबतक उन्हें अध्ययन करना चाहिये। उसके पश्चात् कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड, वस्त्र और कमण्डलु—सबका जलमें विसर्जन कर देना चाहिये। यदि वह दिगम्बर हो तो कन्थाका लेशमात्र भी अपने पास न रक्खे। न अध्ययन करे, न व्याख्यान दे और न कुछ श्रवण ही करे। प्रणवके सिवा और कुछ न पढ़े। न तर्कशास्त्र पढ़े, न शब्दशास्त्र। बहुत-से शब्दोंकी शिक्षा न दे। वागिन्द्रियके द्वारा वाणीका व्यर्थ अपव्यय न करे (अधिक न बोले)। हाथ आदिके इशारे-से बात करना या अन्य किसी भाषाविशेषके द्वारा भी बात करना निषिद्ध है। शूद्र, स्त्री, पतित एवं रजस्वलासे बातचीत न करे। यतिके लिये देव-पूजाका विधान नहीं है। उसे उत्सव नहीं देखना चाहिये तथा तीर्थ-यात्रा भी उसके लिये आवश्यक नहीं है॥ १८—२०॥

'अब पुनः संन्यासीके विशेष नियम बताये जाते हैं। कुटीचक संन्यासीके लिये ही एक स्थानपर भिक्षा ग्रहण करनेकी विधि है। बहूदकके लिये अनिश्चित घरोंसे मधुकरी ग्रहण करने-का विधान है। हंसके लिये आठ घरोंसे आठ ग्रास अन्न लेकर भोजन करनेका विधान है। परमहंसके लिये पाँच घरोंसे अन्न लेनेका नियम है। हाथ ही उसका पात्र है। तुरीयातीत-के लिये गोमुख-वृत्तिसे फलाहारका नियम है। अर्थात् जैसे गायको जो कुछ भी खिलाया जाय, वह मुँह खोलकर ले लेती है, उसी प्रकार दैवेच्छासे जो कुछ भी फल-फूल मिल जाय, उसीको वह ग्रहण करे। अवधूतके लिये सभी वर्णोंके लोगोंके यहाँसे अजगरवृत्तिके अनुसार अन्न-ग्रहण करनेका नियम है। यति किसी गृहस्थके घर एक रात भी न ठहरे। किसीको भी नमस्कार न करे। तुरीयातीत और अवधूत—इन दोनोंमें अवस्थाके अनुसार कोई जेठा या छोटा नहीं होता। जिसे अपने स्वरूपका ज्ञान नहीं है, वह अवस्थामें बड़ा होनेपर भी छोटा ही है। संन्यासी अपने हाथसे तैरकर नदी पार न करे। पेड़पर न चढ़े। सवारीपर न चले। खरीद-बिक्री न करे। किसी वस्तुकी अदला-बदली भी न करे। दम्भी और असत्य-वादी न बने। यतिके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है। यदि है तो उसमें अन्य आश्रमोंके धर्मोंकी संकरताका दोष आता है। इसलिये संन्यासियोंका मनन आदिमें ही अधिकार है॥२१॥

'आतुर और कुटीचकके लिये भूर्लोक और भुवर्लोककी प्राप्ति होती है। बहूदकको स्वर्गलोक, हंसको तपोलोक तथा परमहंसको सत्यलोक प्राप्त होता है। तुरीयातीत एवं अवधूतको अपने आत्मामें ही कैवल्य प्राप्त होता है। वह भ्रमरका चिन्तन करनेवाले कीटकी भाँति निरन्तर स्वरूपका अनुसंधान करते रहनेके कारण आत्मरूप ही हो जाता है। मनुष्य जिस-जिस भावका चिन्तन करते हुए अन्तमें शरीरका त्याग करता है, उसी-उसीको वह प्राप्त होता है—यह बात अन्यथा नहीं है। यह श्रुतिका उपदेश है॥ २२-२३॥

'अतः यों जानकर संन्यासी आत्माके स्वरूपका चिन्तन छोड़कर और किसी आचारमें तत्पर न हो। भिन्न-भिन्न आचारोंका अनुष्ठान करनेसे तदनुकूल लोकोंकी प्राप्ति होती है; परंतु ज्ञान-वैराग्यसम्पन्न संन्यासीकी अपने आपमें ही मुक्ति होती है। किसी भी अन्य आचारमें आसक्त न होना ही उसका अपना आचार है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओंमें वह एकरूप होता है। जाग्रत्कालमें वही विश्व, स्वप्नकालमें तैजस और सुषुप्तिकालमें प्राज्ञ कहलाता है। अवस्था-भेदसे उन-उन अवस्थाओंके स्वामीमें भेद होता है। कार्य-भेदसे ही कारण-भेद माना जाता है। जाग्रत् आदि अवस्थाओंमें चौदह करणोंकी[1] जो बाह्य वृत्तियाँ और अन्तर्वृत्तियाँ हैं, उनका उपादान-कारण एक है। आन्तरिक वृत्तियाँ चार मानी गयी हैं—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त। उन-उन वृत्तियोंके व्यापार-भेदसे पृथक्-पृथक् आचार-भेद होता है॥ २४॥

'जाग्रत्-अवस्था और उसके स्वामी विश्वकी स्थिति नेत्रके भीतर है। स्वप्न और उसके अधिष्ठाता तैजसका कण्ठमें समावेश है। सुषुप्त और उसके स्वामी प्राज्ञकी स्थिति हृदयमें है तथा तुरीय परमेश्वरकी स्थिति मस्तक (ब्रह्मरन्ध्र)में मानी

१. श्रोत्र, नेत्र, घ्राण, त्वचा, रसना—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ; वाक्, पाणि, चरण, गुदा और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये चार अन्तःकरण—सब मिलकर चौदह करण कहे गये हैं।

गयी है। जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओंको प्रकाशित करते हुए तुरीयरूपमें जिसकी स्थिति बतायी गयी है, वह तुरीयस्वरूप अविनाशी परमात्मा मैं ही हूँ—यों जानकर जो जाग्रत्-अवस्थामें भी सुषुप्तकी भाँति रहता है; जो-जो सुनी और जो-जो देखी हुई वस्तु है, वह सब मानो अविज्ञात (अपरिचित)-सी है—इस प्रकार उनकी ओर ध्यान न देते हुए जो निवास करता है, उसकी स्वप्नावस्थामें भी वैसी ही अवस्था बनी रहती है। अर्थात् वह स्वप्नमें उपलब्ध पदार्थोंको भी ग्रहण नहीं करता। ऐसा पुरुष जीवन्मुक्त है—इस प्रकार ज्ञानीजन कहते हैं। समस्त श्रुतियोंके अर्थका प्रतिपादन भी यही है कि उसी-की मुक्ति होती है। भिक्षु इहलोक और परलोकके विषयोंकी भी अपेक्षा नहीं रखता। यदि उसमें अपेक्षा हो तो उसीके अनुरूप वह बन जायगा—अपने स्वरूपसे नीचे गिर जायगा। स्वरूपानुसन्धानको छोड़कर अन्य शास्त्रोंका अभ्यास उसके लिये उसी प्रकार व्यर्थ है, जैसे ऊँटकी पीठपर लदा हुआ केसरका भार। उसकी योगशास्त्रमें प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। उसे सांख्यशास्त्रका अभ्यास तथा मन्त्र-तन्त्रका व्यापार भी नहीं करना चाहिये। यदि संन्यासीकी प्रवृत्ति अन्यान्य शास्त्रों-में होती है, तो वह सब उसके लिये मुर्देको पहनाये हुए आभूषणके समान है। चमारकी भाँति सबसे अत्यन्त दूर रहकर कर्म, आचार और विद्यासे भी दूर रहे। प्रणवका भी उच्च स्वरसे कीर्तन न करे; क्योंकि मनुष्य जो-जो कर्म करता है, उसका फल भी उसे भोगना पड़ता है। अतः सबको रेड़ी-के तेलके फेनकी भाँति निःसार समझकर त्याग दे और परमात्मचिन्तनमें संलग्न मनोमय दण्ड तथा हाथरूपी पात्र धारण करनेवाले दिगम्बर संन्यासीका दर्शन करके—उसके आदर्शको सामने रखकर भिक्षु सब ओर विचरण करे। वह बालक, उन्मत्त तथा पिशाचकी भाँति जीवन अथवा मृत्युकी कामना न करे। आज्ञाकारी भृत्यकी भाँति भिक्षु केवल काल-की ही प्रतीक्षा करता रहे॥ २५-२६॥

'जो तितिक्षा (सहनशीलता), ज्ञान, वैराग्य और शम-दम आदि सद्गुणोंसे शून्य रहकर केवल भिक्षासे जीवन-निर्वाह करता है, वह संन्यासी संन्यास-वृत्तिका हनन करनेवाला है। केवल दण्ड धारण करने, मूँड़ मुँड़ाने, वेष बनाने और दिखावेके लिये किसी आचारका पालन करनेसे मोक्ष नहीं मिलता। जिसने ज्ञानरूप दण्ड धारण किया है, वही एकदण्डी कहलाता है। जिसने काष्ठका दण्ड तो धारण कर लिया है किंतु मनमें सम्पूर्ण कामनाओंको स्थान दे रक्खा है, तथा जो ज्ञानसे सर्वथा शून्य है, वह संन्यासी महारौरव नामक घोर नरकोंमें पड़ता है। महर्षियोंने प्रतिष्ठाको शूकरीकी विष्ठाके समान बताया है। अतः संन्यासी इस प्रतिष्ठाको त्यागकर, कीटकी भाँति सर्वत्र विचरण करे। दिगम्बर संन्यासी बिना माँगे जो मिल जाय, वही भोजन करे और वैसे ही वस्त्रसे अपने शरीरको ढँके। वह दूसरोंकी इच्छासे ही वस्त्र पहने और दूसरोंकी इच्छासे ही स्नान करे। जो स्वप्नमें भी जाग्रत्-अवस्थाकी भाँति ही विशेषरूपसे सावधान हो वैसी ही चेष्टा करता है, वह श्रेष्ठ संन्यासी ब्रह्मवेत्ताओंमें वरिष्ठ (प्रधान) माना गया है। भिक्षा आदि न मिलनेपर विषाद न करे और मिल जानेपर हर्षसे फूल न उठे। भिक्षा उतनी ही ग्रहण करे, जितनेसे प्राण-रक्षा हो सके। शब्द आदि विषयोंकी आसक्तिसे सर्वथा दूर रहे। सम्मानकी प्राप्तिको वह सब प्रकारसे घृणाकी दृष्टिसे ही देखे। सम्मानका लाभ उठानेवाला संन्यासी मुक्त होनेपर भी बँध जाता है॥ २७—३४॥

'जब चूल्हेकी आग बुझ जाय, घरके सब लोग भोजन कर लें, ऐसे समयमें संन्यासी उत्तम वर्णवाले गृहस्थोंके घर भिक्षा लेने जाय। भिक्षाका उद्देश्य प्राण-यात्राका निर्वाहमात्र होना चाहिये। हाथको ही पात्र बनाकर विचरनेवाला करपात्री यति बार-बार भिक्षा न माँगे। एक बारमें जो मिल जाय, उसे खड़े-खड़े पा ले या चलते-चलते भोजन करे। जबतक हाथका भोजन समाप्त न हो जाय, बीचमें आचमन (जलपान) न करे। संन्यासी समुद्रकी भाँति मर्यादाके भीतर ही रहते हैं। उनका आशय महान् होता है। वे महान् होकर भी सूर्यकी भाँति नियति (नियत मार्ग) का त्याग नहीं करते। जिस समय संन्यासी मुनि गौकी भाँति मुखसे आहार ग्रहण करने लगता है अर्थात् यदि कोई उसके मुखमें कुछ डाल दे, तभी वह भोजन करता है, उस समय सम्पूर्ण प्राणियोंके प्रति उसका समभाव हो जाता है और वह अमृतत्व (मोक्ष)-प्राप्तिका अधिकारी बन जाता है। जो घर निन्दनीय न हो, वहीं भिक्षा लेनेके लिये जाय। निन्दनीय घरोंको छोड़ दे। जिस घरका दरवाजा खुला हो, उसीमें प्रवेश करे। जिसका द्वार बंद हो, उस घरमें न जाय। वह धूलसे आच्छादित निर्जन घरोंमें आश्रय ले अथवा वृक्षकी जड़को ही अपना निवासस्थान बनाये। समस्त प्रिय और अप्रियकी भावनाओंको त्याग दे॥ ३५—४०॥

'संन्यासी मुनि जहाँ सूर्यास्त हो जाय, वहीं सो रहे। न तो अग्नि रक्खे और न कोई घर ही बनाये। दैवेच्छासे जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीपर जीवन-निर्वाह करे। मन

और इन्द्रियोंको सदा अपने वशमें रक्खे। जो संन्यासी घरसे निकलकर वनका आश्रय ले इन्द्रिय-संयमपूर्वक ज्ञानयज्ञका अनुष्ठान करता है और कालकी प्रतीक्षा करता हुआ विचरता रहता है, वह निश्चय ही ब्रह्मभावको प्राप्त करनेका अधिकारी होता है। जो मुनि सम्पूर्ण भूतोंको अभय-दान करके विचरता है, उसे भी किसी प्राणीसे कहीं भय उत्पन्न नहीं होता। जो मान और अहंकारका त्याग करके द्वन्द्वजनित विकारसे रहित हो जाता है; जिसके मनके संदेह नष्ट हो जाते हैं; जो न तो किसीपर क्रोध करता, न किसीसे द्वेष रखता और न वाणीसे कभी असत्य ही बोलता है; जो पुण्य-स्थानोंमें विचरता, किसी भी प्राणीकी हिंसा नहीं करता तथा समय प्राप्त होनेपर भिक्षासे जीवन-निर्वाह करता है, वह ब्रह्मभावको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है। संन्यासी वानप्रस्थ और गृहस्थोंसे कभी संसर्ग न रक्खे। वह इस बातको चाहता रहे कि जिससे उसकी जीवन-चर्या दूसरोंपर प्रकट न हो। संन्यासीमें हर्षका आवेश नहीं होना चाहिये। जैसे कीट सदा चलते रहते हैं, उसी प्रकार संन्यासी भी सूर्यके दिखाये हुए मार्गसे पृथिवीपर विचरता रहे अर्थात् रातको न चले॥ ४१—४६॥

'कामनासे युक्त, हिंसासे युक्त तथा लोक-संग्रहसे युक्त जो-जो कर्म हैं, उनको संन्यासी न तो स्वयं करे और न दूसरोंसे ही कराये। असत् शास्त्रोंमें कभी आसक्त न हो। कोई जीविकाका साधनभूत कर्म करके जीवन-निर्वाह न करे। अनावश्यक बात करना और तर्क करना छोड़ दे। वादी और प्रतिवादीमेंसे किसीका पक्ष ग्रहण न करे। शिष्योंका संग्रह न करे। बहुत-से ग्रन्थोंका अभ्यास न करे तथा अपने पक्षकी सिद्धिके लिये खींचतानकी व्याख्याका उपयोग न करे। नये-नये आयोजन कभी न करे—सर्वथा निःसङ्कल्प होकर रहे। वह अपने आश्रमके चिह्नविशेष तथा अपने गूढ़ अभिप्रायको दूसरोंपर प्रकट न होने दे। मुनि होकर भी उन्मत्त और बालकोंकी भाँति चेष्टा करे। विद्वान् होते हुए भी मूककी भाँति रहे। मनुष्योंके समक्ष उन्हींकी दृष्टिके अनुसार अपनेको प्रदर्शित करे। वह न तो कुछ करे, न कुछ बोले और न भले अथवा बुरेका चिन्तन ही करे। अपने आत्मामें ही रमण करता रहे। संन्यासी मुनि इसी वृत्तिसे रहकर जड़की भाँति सर्वत्र विचरता रहे। इन्द्रियोंको संयममें रखते हुए आसक्तिका सर्वथा त्याग करके वह अकेला ही इस पृथिवीपर भ्रमण करे। आत्मामें ही क्रीडा और आत्मामें ही रमण करनेवाला मनस्वी पुरुष सर्वत्र समान दृष्टि रक्खे। विद्वान् होकर भी बालककी भाँति क्रीडा करे। कार्यकुशल होकर भी मूर्खकी भाँति आचरण करे, उन्मत्तकी भाँति बात करे और वेदोंका विद्वान् होकर भी गौकी भाँति आचरण करे अर्थात् यह हो और यह न हो—इस बातके लिये कोई आग्रह न रक्खे। दुष्ट पुरुषोंके आक्षेप करने, अपमान करने, वञ्चना एवं दोषारोपण करनेपर भी सम रहे। उनके मारने, बाँध रखने या वृत्तिमें बाधा डालकर कष्ट पहुँचानेपर भी वह विचलित न हो। मूर्ख लोग शरीरपर या आसपास मल-मूत्रका त्याग कर दें अथवा और भी अनेक प्रकारके कष्ट देकर तंग करें, तो भी कल्याणकामी पुरुष चुपचाप सहन करे। संकटमें पड़नेपर भी वह अपने आत्माके द्वारा अपना ही उद्धार करे। लोगोंसे मिला हुआ सम्मान योग-सम्पत्तिकी बड़ी भारी हानि करता है। साधारण लोगोंद्वारा अपमानित योगी योगसिद्धिको अवश्य प्राप्त कर लेता है। योगी पुरुष सत्पुरुषोंके धर्मको कलङ्कित न करते हुए अवश्य ही ऐसा आचरण करे, जिससे साधारण लोग उसका अपमान ही करें औरउसके सम्पर्कमें न आवें। संन्यासी योगयुक्त होकर मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा जरायुज और अण्डज आदि किसी भी प्राणीके साथ द्रोह न करे तथा सब प्रकारकी आसक्तियोंको त्याग दे। काम, क्रोध, घमंड, लोभ और मोह आदि जितने भी दोष हैं, उनका परित्याग करके संन्यासी निर्भय हो जाता है॥ ४७—५९॥

'भिक्षाका अन्न भोजन करना, मौन रहना, तपस्या करना, विशेषतः ध्यानमें लगे रहना, उत्तम ज्ञान प्राप्त करना और वैराग्यवान् होना—यह भिक्षुका धर्म माना गया है। गेरुआ वस्त्र पहनकर संन्यासी सदा ध्यानयोगमें तत्पर रहे। गाँवके किनारे, वृक्षके नीचे अथवा किसी देवालयमें निवास करे। वह नित्य भिक्षाके अन्नसे ही जीवन-निर्वाह करे। किसी एकके अन्नका भोजन तो वह कभी न करे। बुद्धिमान् पुरुष प्रतिदिन अपने आश्रमोचित आचारका पालन करे और तबतक करता रहे जबतक, अन्तःकरण पूर्णतः शुद्ध न हो जाय। अन्तःकरण शुद्ध हो जानेपर वह संन्यास लेकर जहाँ-कहीं भी स्वेच्छानुसार विचरण करे। संन्यासी बाहर और भीतर—सर्वत्र नारायणका दर्शन करते हुए वायुकी भाँति पाप-सम्पर्कसे रहित होकर मौनभावसे सब ओर विचरता रहे। वह सुख-दुःखमें समान भावसे रहे। मनमें क्षमा-भाव रक्खे। हाथपर जो कुछ आ जाय, उसीको भोजन करे। कहीं भी वैर न रखते हुए ब्राह्मण, गौ, घोड़े और मृग आदि सभी प्राणियोंमें समदृष्टि

रक्खे। मन-ही-मन सबके ईश्वर सर्वव्यापी परमात्माका चिन्तन करते हुए, 'मैं ही परमानन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ', ऐसी भावना रक्खे। जो इस प्रकार जानकर, मनोमय दण्ड धारण करके, आशासे निवृत्त हो जाता है तथा दिगम्बर होकर सदा मन, वाणी, शरीर और क्रियाद्वारा समस्त संसारको त्यागकर, प्रपञ्चकी ओरसे मुँह मोड़कर भ्रमरका चिन्तन करनेवाले कीटकी भाँति सदा अपने स्वरूपके चिन्तनमें ही संलग्न रहता है, वह मुक्त हो जाता है। यह उपनिषद् है' ॥ ६०—६६ ॥

॥ पञ्चम उपदेश समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठ उपदेश

तुरीयातीत पद और उसकी प्राप्तिके उपाय तथा यतिकी जीवनचर्या

तदनन्तर नारदजीने ब्रह्माजीसे पूछा—'भगवन्! भ्रमर-कीट-न्यायसे अपने स्वरूपका अनुसन्धान करनेपर मोक्ष प्राप्त होता है—यह आपने बताया; किंतु उस स्वरूपानुसन्धानका अभ्यास कैसे हो?' तब ब्रह्माजीने नारदजीसे कहा—'सत्यवादी होकर ज्ञान और वैराग्यद्वारा इस शरीरकी आसक्तिको त्यागकर, शेष बचे हुए एक विशिष्ट शरीरमें स्थित होकर रहे ॥ १ ॥

"ज्ञान ही वह शरीर है। वैराग्यको ही उसका प्राण समझो। शम और दम—ये दो नेत्र हैं। विशुद्ध मन मुख है, बुद्धि कला है; पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, पाँच विषय, चार अन्तःकरण तथा अव्यक्त प्रकृति—ये पचीस तत्त्व ही उस शरीरके अवयव हैं। समष्टिगत जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत—ये पाँच अवस्थाएँ ही उस विशिष्ट शरीरके पाँच महाभूत हैं। कर्म, भक्ति, ज्ञान और वैराग्य—ये शरीरकी शाखा अर्थात् भुजाएँ हैं। अथवा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ये चार अवस्थाएँ ही चार भुजाएँ हैं। पहले बताये हुए चौदह करण पङ्कमें स्थित कमजोर खंभोंके समान हैं। ऐसी स्थितिमें भी जैसे कीचड़में पड़ी हुई नावको भी अच्छा नाविक ढकेलकर उसे ठीक मार्गपर ला ही देता है, उसी प्रकार संसार-सिन्धुके पङ्कमें फँसी हुई इस जीवनरूपी नौकाको उत्तम बुद्धिके द्वारा वशमें रखकर पार लगाये—ठीक उसी तरह, जैसे हाथीवान् हाथीको अपने वशमें रखकर उसे ठीक रास्तेसे ले जाता है। ज्ञानमय विशिष्ट शरीरमें स्थित हुआ पुरुष 'मेरे अतिरिक्त जो कुछ भी है, वह सब कल्पित होनेके कारण नश्वर है'—यों समझकर सदा **'अहं ब्रह्मास्मि'** (मैं ब्रह्म ही हूँ) इस प्रकार उच्चारण करे। अपने आत्माके अतिरिक्त दूसरी कोई भी वस्तु ज्ञातव्य नहीं है, ऐसा निश्चय करके जीवन्मुक्त होकर रहे। इस प्रकार रहनेवाला पुरुष कृतकृत्य हो जाता है। व्यवहार-कालमें भी यों न कहे कि 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ।' अपितु निरन्तर 'मैं ब्रह्म हूँ' इस धारणाको ही पुष्ट करता रहे। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओंको पार करके तुरीयावस्थामें पहुँचकर संन्यासी तुरीयातीत परमात्मपदमें प्रवेश करे ॥ २ ॥

'दिन जाग्रत्-अवस्था है, रात्रि स्वप्न है, अर्द्धरात्रि सुषुप्ति-स्थानीय है। ये तीनों अवस्थाएँ तुरीयमें हैं और तुरीयकी स्थिति तुरीयातीतमें है। इस प्रकार एककी अवस्थामें चार अवस्थाएँ हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार—इन चार अन्तःकरणोंमेंसे प्रत्येकके अधीन जो नेत्र आदि चौदह करण हैं, उनके व्यापार बतलाये जाते हैं। नेत्रोंका काम है रूपको ग्रहण करना, श्रोत्रोंका कार्य है शब्दकी उपलब्धि; जिह्वाका कार्य है रसास्वादन, गन्धका अनुभव घ्राणेन्द्रियका काम है, बोलनेकी क्रिया वाक्-इन्द्रियका व्यापार है, हाथोंका काम है किसी वस्तुको ग्रहण करना, पैरोंका कार्य है चलना, मलत्याग गुदाका और विषयजनित आनन्दका अनुभव उपस्थका कार्य है। त्वचाका कार्य स्पर्शका अनुभव करना है। इनके अधीन विषय-ग्रहणकी बुद्धि है। बुद्धिसे जानता है। चित्तसे चेतना प्राप्त करता है। अहङ्कारसे अहंताका अनुभव करता है। इन सब भावोंकी विशेषरूपसे सृष्टि करके इनके समुदायरूपी शरीरमें आत्माभिमान करनेके कारण तुरीय-चेतन ही जीव हो जाता है। जैसे घरमें अभिमान करके मनुष्य गृहस्थ बनता है, उसी प्रकार शरीरमें अभिमान करके तुरीय-चेतन जीव होकर विचरता है। शरीरके भीतर जो अष्टदल कमलसे युक्त हृदय है, उसमें रहनेवाला जीव जब उक्त कमलके पूर्ववर्ती दलमें विचरता है, तब उसमें पुण्यानुष्ठानकी प्रवृत्ति होती है। आग्नेय कोणवाले दलमें जानेपर उसे निद्रा और आलस्य सताते हैं। दक्षिण दिशाके दलमें स्थित होनेपर उसमें क्रूरताका भाव आता है। नैर्ऋत्यकोणवाले दलका आश्रय लेनेपर उसमें पापबुद्धि जाग्रत् होती है। पश्चिम दलमें स्थिति होनेपर उसका क्रीडामें अनुराग होता है। वायव्यकोणके दलमें जानेपर उसकी बुद्धि गमनमें लगती है—वह इधर-उधर जानेका संकल्प

करता है। उत्तर दिशावाले दलमें प्रवेश करनेपर उसे शान्ति-का अनुभव होता है। ईशान-दलमें जानेपर ज्ञान होता है। उस कमलकी कर्णिकामें स्थित होनेपर उसके भीतर वैराग्य-भाव जाग्रत् होता है तथा केसरोंमें स्थित होनेपर उसका मन आत्मचिन्तनमें लगता है। इस प्रकार चैतन्य ही जिसमें मुखकी भाँति प्रधान है, उस आत्मस्वरूपको जानकर विद्वान् पुरुष तुरीयातीत ब्रह्मरूपमें स्थित हो जाता है॥ ३॥

'जीवकी चार अवस्थाओंमें प्रथम अवस्था जाग्रत् है, दूसरी अवस्था स्वप्न है, तीसरी अवस्था सुषुप्ति है, चौथी अवस्था तुरीय है तथा इन चारोंसे रहित तुरीयातीत है। एक ही आत्मा विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तटस्थ-भेदसे चार प्रकार-का प्रतीत होता है। अतः 'एक ही परमात्मदेव सबके साक्षी एवं सत्त्वादि गुणोंसे रहित हैं और वह ब्रह्म मैं स्वयं हूँ' यों कहे। तुरीयातीत पुरुषको जाग्रत् आदि चारों अवस्थाओंके अनुभवसे परे मानना चाहिये। नहीं तो जैसे जाग्रत्-अवस्थामें जाग्रत् आदि चार अवस्थाएँ होती हैं, स्वप्नमें स्वप्नादि चार अवस्थाएँ होती हैं, सुषुप्तिमें सुषुप्ति आदि चार अवस्थाएँ होती हैं तथा तुरीयमें तुरीयादि चार अवस्थाएँ होती हैं, उसी प्रकार तुरीयातीतमें भी इन अवस्थाओंके होनेकी सम्भावना हो सकती है। किंतु वास्तवमें तुरीयातीत-तत्त्व निर्गुण है, अतः उसमें इस प्रकारके अवस्था-भेद सम्भव नहीं हैं। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणरूप जो विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ ईश्वर हैं, उनके साथ सब अवस्थाओंमें एक ही साक्षी स्थित होता है। अथवा तटस्थ ईश्वर ही द्रष्टा हैं—यदि यों कहें तो ठीक नहीं; क्योंकि तटस्थ पुरुष बीजोपाधिक (मायोपाधिक) ईश्वररूपसे देखे जाते हैं। अतः उनका भी कोई द्रष्टा होनेके कारण तटस्थको द्रष्टा नहीं माना जा सकता। इसलिये वह द्रष्टा नहीं है, ऐसा ही निश्चय करना चाहिये। फिर तो जीवको ही द्रष्टा मान लिया जा सकता है। नहीं, जीव द्रष्टा नहीं हो सकता; क्योंकि वह कर्तृत्व, भोक्तृत्व और अहङ्कार आदिसे संयुक्त है। जीवसे इतर जो तुरीयातीत परमात्मा हैं, वे उक्त दोषोंके सम्पर्कसे रहित हैं। यदि कहें जीव भी तो स्वरूपतः शुद्ध चैतन्य ही है, अतः वह भी कर्तृत्व आदिके संस्पर्शसे रहित है, तो यह ठीक नहीं। क्योंकि उसमें जीवत्वका अभिमान होनेसे इस शरीररूपी क्षेत्र-में भी उसका अभिमान है और शरीराभिमानके कारण ही उसमें जीवत्व है। परमात्मासे जीवत्वका व्यवधान वैसा ही है, जैसे महाकाशसे घटाकाशका। व्यवधानके कारण ही यह हंस-स्वरूप जीव उच्छ्वास और निःश्वासके बहाने सदा 'सोऽहम्' इस मन्त्रका जप करते हुए अपने स्वरूपका अनुसंधान करता है। यों समझकर शरीरमें आत्माभिमान त्याग दे। जो शरीराभिमानी नहीं होता, वही ब्रह्म है, यह कहा जाता है। संन्यासी आसक्तिका त्याग करके क्रोधपर विजय प्राप्त करे, स्वल्पाहारी एवं जितेन्द्रिय हो तथा बुद्धिके द्वारा समस्त इन्द्रिय-द्वारोंको बंद करके मनको परमात्मचिन्तनमें लगाये। योगी सदा साधनमें संलग्न रहकर कहीं निर्जन स्थानोंमें, गुफाओं और वनोंमें बैठ जाय और भलीभाँति ध्यान आरम्भ करे। सिद्धिकी इच्छा रखनेवाला योगवेत्ता पुरुष अतिथि-सत्कार, श्राद्ध और यज्ञोंमें तथा देवयात्रा-सम्बन्धी उत्सवोंमें जहाँ अधिक जनसमुदाय एकत्र होता हो, कदापि न जाय। योगी पुरुष योगमें प्रवृत्त होकर ऐसा बर्ताव करे, जिससे दूसरे लोग उसका अनादर और तिरस्कार करें। परंतु वह सत्पुरुषोंके मार्गको कलङ्कित न करे। वाग्दण्ड, कर्मदण्ड और मनो-दण्ड—ये तीन दण्ड सदा जिसके नियन्त्रणमें रहते हों, वह महासंन्यासी ही यथार्थ त्रिदण्डी है। जो यति धुआँ निकलना बंद हो जाने और अग्नि बुझ जानेपर श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके घरसे मधुकरी लाकर उसका आहार करता है, वह सर्वश्रेष्ठ माना गया है। जो बिना अनुराग ही संन्यास-धर्ममें स्थित रहकर दण्ड धारणपूर्वक भिक्षासे जीवन-निर्वाह करता है, किंतु जिसे संसारसे वैराग्य नहीं होता, वह संन्यासी नीच श्रेणीका माना गया है। जिस घरमें उसे विशेषरूपसे भिक्षा मिलती है, उसमें वासनावश पुनः भिक्षाके लिये जो नहीं जाता, वही वास्तविक यति माना गया है—इससे विपरीत आचरण करनेवाला नहीं। जो शरीर और इन्द्रिय आदिसे रहित, सर्वसाक्षी, पारमार्थिक विज्ञानस्वरूप, सुखमय, स्वयम्प्रकाश एवं परमतत्त्वरूप परमात्माको अपने आत्मारूपसे जानता है, वही वर्ण और आश्रमसे अतीत यथार्थ संन्यासी है। देहमें वर्ण और आश्रम आदिकी कल्पना मायासे ही हुई है। 'मैं बोधस्वरूप आत्मा हूँ, मुझसे उन वर्ण और आश्रम आदिका किसी कालमें सम्बन्ध नहीं है'—इस प्रकार जो उपनिषदोंके अनुशीलनद्वारा भली-भाँति समझ लेता है, वही अतिवर्णाश्रमी (यथार्थ संन्यासी) है। अपने आत्माका साक्षात्कार कर लेनेके कारण जिसके वर्ण और आश्रमसम्बन्धी आचार छूट गये हैं, वह समस्त वर्णों और आश्रमोंसे ऊपर उठकर अपने आत्मामें ही स्थित है। जो पुरुष अपने आश्रमों और वर्णोंसे ऊपर उठकर आत्मामें ही स्थित है, उसीको सम्पूर्ण वेदार्थका ज्ञान रखनेवाले ज्ञानी पुरुषोंने अतिवर्णाश्रमी (यथार्थ संन्यासी) कहा है। इसलिये नारद! सभी वर्ण और आश्रम अन्यगत (शरीरगत) होनेपर भी

भ्रान्तिवश आत्मामें आरोपित कर लिये जाते हैं; परंतु आत्मवेत्ता पुरुष ऐसा नहीं करते। नारद ! ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंके लिये न कोई विधि है न निषेध। उनके लिये अमुक वस्तु त्याज्य है और अमुक वस्तु त्याज्य नहीं है, इस तरहकी कल्पना नहीं होती। और भी नियम उनपर लागू नहीं होते ॥ ४–१९ ॥

'जिज्ञासुको चाहिये कि वह सम्पूर्ण भूतोंसे तथा ब्रह्मातकके पदसे भी विरक्त हो, सबमें, पुत्र और धन आदिमें भी प्रेम न रखते हुए मोक्षके साधनोंमें श्रद्धा करे और उपनिषदोंका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छासे हाथमें कुछ भेंट लेकर ब्रह्मवेत्ता गुरुकी सेवामें जाय। वहाँ दीर्घकालतक अपनी सेवाओंसे गुरुको संतुष्ट रखते हुए चित्तको भलीभाँति एकाग्र करके ध्यानपूर्वक उपनिषद्-वाक्योंके अर्थका श्रवण करे। ममता और अहङ्कार त्याग दे। सब प्रकारकी आसक्तियोंसे पृथक् रहे तथा शम-दम आदि साधनोंसे सम्पन्न होकर अपनेमें ही आत्माका दर्शन करे। संसारमें सदा जन्म, मृत्यु और जरा आदि दोषोंका दर्शन करनेसे ही उसकी ओरसे विरक्ति होती है। और जो संसारसे विरक्त हो गया है, उसीके द्वारा यथार्थरूपसे संन्यासग्रहण सम्भव होता है। इसमें तनिक भी संदेहके लिये स्थान नहीं है। मुक्तिकी इच्छा रखनेवाला परमहंस उपनिषदोंके श्रवण आदिके द्वारा साक्षात् मोक्षके एकमात्र साधन ब्रह्मविज्ञानका अभ्यास करे। परमहंस-नामक यति ब्रह्मविज्ञानकी प्राप्तिके लिये शम-दम आदि सम्पूर्ण साधनोंसे सम्पन्न होवे। वेदान्तवेत्ता विद्वान् योगी सदा उपनिषदोंके अभ्यासमें तत्पर रहे। शम-दम आदिसे सम्पन्न हो मन और इन्द्रियोंको अपने वशमें कर ले। भयको त्याग दे। कहीं भी ममता न रक्खे। सदा निर्द्वन्द्व रहे। परिग्रहको सर्वथा त्याग दे। सिरके बालोंको मुँड़ा ले। पुराने वस्त्रका कौपीन पहने अथवा दिगम्बर रहे। मनमें ममता और अहङ्कारको कभी स्थान न दे। जो मित्र और शत्रु आदिमें समान भाव रखता है तथा सम्पूर्ण जीवोंके प्रति मैत्रीका भाव रखता है, जिसका अन्तःकरण सर्वथा शान्त है, वह एकमात्र ज्ञानी पुरुष ही संसार-समुद्रसे पार होता है, दूसरा —अज्ञानी नहीं ॥ २०–२९ ॥

'जिज्ञासु पुरुष गुरुके हितमें तत्पर रहकर वहाँ एक वर्षतक निवास करे। नियमोंके पालनमें कभी प्रमाद न करे तथा ब्रह्मचर्य और अहिंसा आदि यमोंके पालनमें भी सतत सावधान रहे। इस प्रकार साधन करते हुए (गुरुकृपासे) वर्षके अन्तमें सर्वोत्तम ज्ञानयोगकी उपलब्धि करके धर्मानुकूल आचरण करते हुए इस पृथ्वीपर विचरण करे। ऊपर बताये अनुसार वर्षके अन्तमें सर्वोत्तम ज्ञानयोगकी प्राप्तिके अनन्तर ब्रह्मचर्य आदि तीनों आश्रमोंका त्याग करके अन्तिम आश्रम संन्यासको ग्रहण करे तथा गुरुकी आज्ञा लेकर इस पृथ्वीपर विचरण करे। वह आसक्तिको त्याग दे। क्रोधको काबूमें रक्खे। आहार स्वल्पमात्र करे और सदा जितेन्द्रिय बना रहे ॥ ३०–३३ ॥

'कर्म न करनेवाला गृहस्थ और कर्मपरायण भिक्षु—ये दोनों अपने आश्रमके विपरीत व्यवहार करनेके कारण कभी शोभा नहीं पाते। मनुष्य मदिराको तो पीनेपर मतवाला होता है, परंतु तरुणी स्त्रीको देखकर ही उन्मत्त हो उठता है। इसलिये दर्शनमात्रसे विषका-सा प्रभाव डालनेवाली नारीको संन्यासी दूरसे ही त्याग दे। स्त्रियोंके साथ बातचीत करना, उनके पास संदेश भेजना, नाचना, गाना, हास-परिहास करना तथा परायी निन्दा करना—संन्यासी इन सबका त्याग कर दे। नारद ! यतिके लिये (नैमित्तिक) स्नान, जप, पूजा, होम तथा अग्निहोत्र आदि कार्य कर्तव्य नहीं हैं। उसके लिये देव-पूजन, श्राद्ध-तर्पण, तीर्थयात्रा, व्रत, धर्म-अधर्म तथा लोकाचारसम्बन्धी कार्य भी नहीं हैं। योगयुक्त संन्यासी सम्पूर्ण कर्मोंको त्याग दे, समस्त लोकाचारोंसे भी दूर रहे। विद्वान् यति अपनी बुद्धिको परमार्थमें लगाकर कृमि, कीट, पतङ्ग तथा वनस्पति आदि जीवोंकी कभी हिंसा न करे। वह सदा अन्तर्मुख रहे; बाहर और भीतरसे भी स्वच्छता रक्खे। अपने अन्तःकरणको पूर्णतः शान्त बनाये रहे तथा बुद्धिको आत्मानन्दसे ही परिपूर्ण किये रहे। नारद ! तुम भीतरसे सम्पूर्ण आसक्तियोंका परित्याग करके संसारमें विचरते रहो। संन्यासीको अकेले किसी ऐसे प्रदेशमें नहीं घूमना चाहिये, जहाँ अराजकता फैली हुई हो। संन्यासी स्तुति और नमस्कारसे दूर रहे। श्राद्ध और तर्पणसे भी अलग रहे। किसी शून्य भवनमें अथवा पर्वतकी गुफाओंमें आश्रय ले। संन्यासीको सदा स्वच्छन्दरूपसे विचरना चाहिये। यह उपनिषद् है' ॥ ३४–४२ ॥

॥ षष्ठ उपदेश समाप्त ॥ ६ ॥

सप्तम उपदेश

संन्यासीके सामान्य नियम और कुटीचक आदिके विशेष नियम

तदनन्तर नारदजीके यह पूछनेपर कि 'यतिका नियम कैसा होना चाहिये ?' ब्रह्माजीने इस प्रश्नको सामने रखकर उत्तर देना आरम्भ किया। उन्होंने कहा, 'संन्यासी विरक्त होकर केवल वर्षाके चार महीनोंमें ही किसी निश्चित स्थानपर विश्राम करे। शेष आठ महीनोंमें एकाकी विचरण करे। कहीं एक स्थानपर अधिक दिनोंतक निवास न करे; क्योंकि वैसा करनेसे पतनका भय है। भ्रमरोंकी भाँति एक स्थानपर न ठहरे। अपने अन्यत्र जानेका यदि कोई विरोध करे तो संन्यासी उस विरोधको स्वीकार न करे। अपने हाथों तैरकर नदी पार न करे। पेड़पर भी न चढ़े। देव-उत्सवके निमित्त होनेवाले मेलेको न देखे। सदा एक घरका भोजन और आत्माके अतिरिक्त बाह्य देवताओंका पूजन न करे। आत्माके अतिरिक्त सबका त्याग करके मधुकरी वृत्तिसे भिक्षा लाकर ग्रहण करे। शरीरको कृश बनाये रक्खे। मेदेकी वृद्धि न होने दे। घीको रुधिरके समान समझकर त्याग दे। एक घरके अन्नको मांसकी भाँति समझकर छोड़ दे। इत्र या चन्दन आदिके लेपको अशुद्ध मल-मूत्रादिके लेपकी भाँति मानकर उसका त्याग करे। क्षार (सोडा, साबुन आदि) को चाण्डालके समान अस्पृश्य समझे। कौपीन आदिके अतिरिक्त अन्य वस्त्रोंको जूठे बर्तनके समान समझकर उन्हें त्याग दे। अभ्यङ्ग (तेल आदि मलने) को स्त्रीके आलिङ्गनकी भाँति मानकर उससे दूर रहे। मित्रोंके आनन्ददायक सङ्गको मूत्रके समान त्याज्य समझे। किसी वस्तुकी प्राप्तिके लिये मनमें होनेवाली स्पृहाको अपने लिये गोमांसके समान वर्जनीय माने। परिचित स्थानको चाण्डालका बगीचा समझे। स्त्रीको सर्पिणीके समान भयङ्कर समझे। सुवर्णको कालकूट, सभा-स्थलको श्मशानभूमि, राजधानीको कुम्भीपाक नरक तथा एक स्थानके अन्नको मुर्देके लिये अर्पित पिण्डकी भाँति समझकर त्याग दे। देहको आत्मासे पृथक् देखना और प्रवृत्तिमें फँसना छोड़ दे। स्वदेशको त्याग दे और परिचित स्थानोंसे भी दूर रहे। अपनी आनन्दरूपताका निरन्तर चिन्तन करते हुए ऐसी प्रसन्नताका अनुभव करे मानो कोई भूली हुई बहुमूल्य वस्तु पुनः प्राप्त हो गयी हो। जहाँ जानेपर अपने शरीरमें ही आत्माभिमान जाग्रत् हो जाय, जिसमें अपने शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले लोग रहते हों, उस प्रदेशको सदाके लिये भूल जाय। अपने शरीरको भी मुर्देकी भाँति त्याज्य मानकर उसमें आसक्त न हो। जैसे जेलखानेसे छूटा हुआ चोर लज्जावश अपनी जन्मभूमिको न जाकर कहीं दूर जा बसता है, उसी प्रकार संन्यासी जहाँ उसके पुत्र और माता-पितादि गुरुजन रहते हों, उस स्थानको छोड़कर वहाँसे दूर ही रहे। बिना यत्न किये ही जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीका आहार करे। ब्रह्मस्वरूप प्रणवके चिन्तनमें तत्पर रहकर अन्य समस्त कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जाय। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सरता आदिको जलाकर त्रिगुणातीत हो जाय। क्षुधा, पिपासा आदि छः प्रकारकी ऊर्मियोंसे प्रभावित न हो। जन्म, वृद्धि आदि छः प्रकारके भावविकारोंसे भी अपना सम्बन्ध न माने। सत्य बोले, शरीर और मनसे पवित्र रहे तथा किसीसे भी द्रोह न करे। गाँवमें एक रात, नगरमें पाँच रात, किसी पुण्यक्षेत्रमें पाँच रात तथा तीर्थमें भी पाँच रातसे अधिक न रहे। कहीं भी अपने लिये घर न बनाये। बुद्धिको परमात्मचिन्तनमें स्थिर रक्खे। झूठ कभी न बोले। पर्वतकी गुफाओंमें निवास करे। भ्रमणकालमें सदा अकेला ही रहे। (चौमासेके समय) दो व्यक्तियोंके साथ भी रह सकता है। तीनके साथ रहनेपर तो गाँव-सा ही बन जाता है; और चारके साथ वहाँ नगर-सा बस जाता है। अतः संन्यासी अकेला ही रहे। अपने चौदह करणों (इन्द्रियों) को पृथक्-पृथक् विषयोंके चिन्तनका अवकाश न दे। अखण्ड बोधसे वैराग्य-सम्पत्तिका अनुभव करके 'मुझसे भिन्न दूसरा कोई नहीं है; मेरे सिवा दूसरेका अस्तित्व ही नहीं है'—ऐसा मन-ही-मन विचार करके सब ओर अपने स्वरूपका ही साक्षात्कार करता हुआ जीवन्मुक्त-अवस्थाको प्राप्त करे। जबतक प्रारब्धके प्रतिभासका नाश न हो जाय, प्रणव-चिन्तनपूर्वक ओत, अनुज्ञातृ आदि चार स्वरूपोंमें अभिव्यक्त होनेवाले तुरीय-तुरीयरूपमें स्थित अपने निर्विकल्प आत्माका सम्यक् बोध प्राप्त करे। स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर जबतक यह शरीर गिर न जाय, तबतक स्वरूपका चिन्तन करते हुए ही कालयापन करता रहे॥ १॥

'कुटीचकके लिये तीनों काल स्नानका विधान है। बहूदक सायं-प्रातः दो बार स्नान करे। हंसके लिये दिनमें एक बार ही स्नानका नियम है। परमहंस मानसिक स्नान करे। तुरीयातीतके लिये भस्मस्नान बताया गया है। अर्थात् वह सारे शरीरमें केवल विभूति लगा ले। तथा अवधूतके लिये वायव्य-

स्नान कहा गया है। अर्थात् शरीरमें वायुके स्पर्शमात्रसे ही वह शुद्ध हो जाता है, उसे जलसे स्नान करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ २ ॥

'कुटीचकके लिये ललाटमें ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक लगानेका विधान है। बहूदकके लिये त्रिपुण्ड्रका तथा हंसके लिये ऊर्ध्वपुण्ड्र, त्रिपुण्ड्र दोनोंकी विधि है। परमहंस केवल विभूति धारण करे। तुरीयातीतके लिये तिलकपुण्ड्र कहा गया है। अवधूतके लिये किसी प्रकारका तिलक आवश्यक नहीं है अथवा तुरीयातीत एवं अवधूत दोनोंके लिये ही तिलक अनावश्यक है ॥ ३ ॥

'कुटीचक दो महीनेपर बाल बनवाये; बहूदक चार महीनेपर। हंस और परमहंसके लिये बाल बनवानेका विधान नहीं है। यदि है भी तो छः महीनेपर। तुरीयातीत और अवधूतके लिये तो क्षौरका नियम है ही नहीं ॥ ४ ॥

'कुटीचकके लिये एक स्थानका अन्न खानेकी विधि है। बहूदकको मधुकरीका अन्न खाना चाहिये। हंस और परमहंसके लिये हाथ ही पात्र है; उसपर जो कुछ आ जाय, उतना ही खाकर सन्तोष करे। तुरीयातीतके लिये गो-मुखवृत्ति है अर्थात् उसके मुखमें दूसरा कोई जो कुछ फल-फूल देना चाहे, उसे वह गायकी भाँति मुँह फैलाकर ले ले। अवधूतके लिये अजगर-वृत्ति है अर्थात् दैवेच्छा या परेच्छासे कभी जो कुछ भी प्राप्त हो जाय, उसीपर वह संतोष करे ॥ ५ ॥

'कुटीचकके लिये दो वस्त्र रखनेका विधान है। बहूदकके लिये एक चादर और हंसके लिये वस्त्रका एक टुकड़ा रखनेका नियम है। परमहंस दिगम्बर रहे अथवा एक कौपीनमात्र धारण करे। तुरीयातीत और अवधूतको तो दिगम्बर ही रहना चाहिये। हंस और परमहंसके लिये ही मृगचर्म रखनेका विधान है, अन्य संन्यासियोंके लिये नहीं ॥ ६ ॥

'कुटीचक और बहूदकके लिये प्रत्यक्ष देवपूजनका विधान है। हंस और परमहंस केवल मानसिक पूजन कर सकते हैं। तुरीयातीत और अवधूत केवल **'सोऽहमस्मि'** (वह ब्रह्म मैं ही हूँ) यही भावना करें ॥ ७ ॥

'कुटीचक और बहूदकका मन्त्र-जपमें अधिकार है। हंस और परमहंस केवल ध्यानके अधिकारी हैं। तुरीयातीत और अवधूतका स्वरूपानुसंधानके सिवा और किसी कार्यमें अधिकार नहीं है। तुरीयातीत, अवधूत और परमहंस—इन तीनको ही 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंके उपदेशका अधिकार प्राप्त है। कुटीचक, बहूदक और हंस—ये तीनों दूसरोंके लिये उपदेश देनेके अधिकारी नहीं हैं ॥ ८ ॥

'कुटीचक और बहूदकके लिये मानुषप्रणव अर्थात् बाह्य-प्रणवके चिन्तनका विधान है। हंस और परमहंसको अन्तः-प्रणवका तथा तुरीयातीत और अवधूतको ब्रह्मरूप प्रणवका चिन्तन करना चाहिये ॥ ९ ॥

'कुटीचक और बहूदकका प्रमुख साधन है—श्रवण। हंस और परमहंसका प्रमुख साधन है मनन तथा तुरीयातीत और अवधूतका प्रमुख साधन है निदिध्यासन। आत्मानुसंधानकी इन सभीके लिये विधि है ॥ १० ॥

'इस प्रकार मुक्तिकी इच्छा रखनेवाला संन्यासी सदा संसार-सागरसे पार उतारनेवाले तारकमन्त्र (प्रणव) का चिन्तन करते हुए जीवन्मुक्त होकर रहे। वह अधिकार-विशेषके अनुसार कैवल्य-प्राप्तिके उपायका अन्वेषण करे। यह उपनिषद् है' ॥ ११ ॥

॥ सप्तम उपदेश समाप्त ॥ ७ ॥

अष्टम उपदेश

प्रणवके स्वरूपका विवेचन

तत्पश्चात् नारदजीने भगवान् ब्रह्माजीसे पूछा—'भगवन्! जन्म-मृत्युसे तारनेवाला मन्त्र कौन-सा है? मैं आपकी शरणमें हूँ, बतानेकी कृपा करें।' ब्रह्माजीने 'तथास्तु' कहकर इस प्रकार उपदेश आरम्भ किया—'वत्स! ॐ यही तारक-मन्त्र है। यह ब्रह्मस्वरूप है। व्यष्टि और समष्टि दोनों प्रकारसे इसीका चिन्तन करना चाहिये।' नारदजीने पूछा—'भगवन्! व्यष्टि और समष्टि क्या है?' ब्रह्माजीने कहा—'व्यष्टि और समष्टि ब्रह्म-प्रणवके अङ्ग हैं। एक ही ब्रह्म-प्रणवके तीन भेद माने

जाते हैं—एक संहार-प्रणव, दूसरा सृष्टि-प्रणव और तीसरा उभयात्मक प्रणव। उभयात्मक प्रणवके आन्तर और बाह्य—दो स्वरूप हैं। इसीलिये उसे उभयात्मक कहते हैं। अन्तः-प्रणवका स्वरूप आगे बतलायेंगे। उपर्युक्त ब्रह्म-प्रणवका एक भेद व्यावहारिक प्रणव है। व्यष्टि-प्रणवका ही दूसरा नाम बाह्य-प्रणव है। इन सबके अतिरिक्त एक आर्षप्रणव भी है। अन्तर्-बाह्य—उभयस्वरूप जो ब्रह्म-प्रणव है, वही विराट्प्रणवके नामसे कहा गया है। संहार-प्रणव ब्रह्मादिसे अधिष्ठित होनेके कारण ही ब्रह्म-प्रणव माना गया है। स्थूल आदि भेदसे युक्त अकारादि चार मात्राएँ जिसका स्वरूप हैं, उस मात्रा-चतुष्टयात्मक प्रणवका नाम अर्द्धमात्रा-प्रणव है॥ १॥

अब अन्तःप्रणवका स्वरूप बतलाते हैं। ॐ यह ब्रह्म

---

१. अर्द्धमात्रा, अकार और उकार जिसके अङ्ग हैं, ऐसा मकारमात्रा-प्रधान 'संहार-प्रणव' होता है। ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इसके अधिष्ठाता हैं। अतः यह मात्रात्रयप्रधान माना गया है, जैसा कि कहा गया है—

त्रिमात्राकलनोपेतसंहारप्रणवासनाः। ब्रह्मविष्ण्वीश्वरा विश्वसर्गस्थित्यन्तहेतवः॥
भवेयुर्यत एवायं संहारप्रणवो भवेत्॥

२. उकार, मकार और अर्धमात्राको अङ्ग बनाकर अकारमात्रकी प्रधानतासे बोला जानेवाला प्रणव 'सृष्टि-प्रणव' कहलाता है। इसके अधिष्ठाता देवता ब्रह्माजी हैं; अतः यह एकमात्राप्रधान है। जैसा कि वचन है—

एकमात्रात्मकं तारमुपादाय चतुर्मुखः। यतः ससर्ज सकलं सृष्टितारो ह्यतो भवेत्॥

३. उपर्युक्त संहार और सृष्टि-प्रणवके अतिरिक्त एक अन्तर्बाह्योभयस्वरूप प्रणव और होनेसे 'ब्रह्म-प्रणव' तीन प्रकारका होता है। संहार-प्रणवकी तीन मात्राएँ, सृष्टि-प्रणवकी एक मात्रा, अन्तःप्रणवकी आठ मात्राएँ तथा बाह्यप्रणवकी चार मात्राएँ—ये सब मिलकर सोलह होती हैं। इन सोलह मात्राओंसे विशिष्ट प्रणवको 'ब्रह्म-प्रणव' कहा जाता है। यद्यपि यह एक ही है, तथापि दृष्टिभेदसे अनेक भेदवाला हो जाता है।

४. जिसके गर्भमें (वर्णमालाके) पचास अक्षर छिपे हुए हैं, उस 'अकार' की प्रधानताको लेकर व्यवहृत होनेवाला प्रणव व्यावहारिक प्रणव कहलाता है। 'अकारो वै सर्वा वाक् सैषा स्पर्शोष्मभिः व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति' (अकार ही समस्त वाणी है। यह अकार-मात्रा ही स्पर्श और ऊष्मा आदि वर्णोंके रूपमें व्यक्त होकर बहुत-सी होती है, अनेक रूपोंमें दिखायी देती है)—इस श्रुतिके अनुसार अकार ही समस्त वर्णोंका मूल है। पचास वर्णोंसे विभूषित एकमात्राप्रधान यह प्रणव है। वैखरी वाणीका, जिसके द्वारा मानवमात्र व्यवहार करते हैं, हेतु होनेसे इस प्रणवको 'व्यावहारिक' कहा गया है। दुर्गा आदि तथा इच्छा आदि तीन शक्तियोंसे यह युक्त है। वसुगण, रुद्रगण और आदित्यगण इसके अङ्ग हैं। नौ ब्रह्मा एवं पाँच ब्रह्मा इसके अधिष्ठाता देवता हैं। जैसा कि कहा गया है—

एकमात्रात्मकस्तारः पञ्चाशद्वर्णभूषितः। वैखरीकलनाहेतुर्व्यावहारिक ईरितः॥
दुर्गादिशक्तित्रितयं तथेच्छादित्रिशक्तिकम्। वस्वादित्यरुद्रजातं नवब्रह्माधिदैवतम्॥
तथा पञ्चब्रह्मदैवं तद्वाच्यार्थ इतीरितः।

५. विराट्-प्रणव समष्टिरूप है; इससे बाह्य व्यष्टि-प्रणव है, उसकी चार मात्राएँ हैं। उसीको 'बाह्य प्रणव' कहते हैं। विश्व या वैश्वानर ही इसका अधिष्ठाता है। कहा भी है—

व्यष्टेः समष्टिबाह्यत्वात्तूलातुर्यांशयोगतः। बाह्यप्रणव आम्नातो विश्वाद्या वाच्यतां गताः॥

६. अकार, उकार, मकार, बिन्दु, नाद, कला और कलातीतरूपसे ऋषिमण्डलीद्वारा उपास्यमान सप्तमात्रात्मक प्रणवका नाम 'आर्षप्रणव' है। पञ्चब्रह्मा, विराट् और अन्तर्यामी इसके अधिष्ठाता हैं। कहा भी है—

सप्तमात्रात्मकः पञ्चब्रह्मान्तर्याम्यधिष्ठितः। ऋषिमण्डलसेव्यत्वादार्षप्रणव उच्यते॥

७. आर्ष-प्रणवके अतिरिक्त एक स्थिति-प्रणव भी होता है; यह अकार-उकार—उभयमात्रारूप है। ब्रह्मा और विष्णु इसके अधिष्ठाता हैं। समष्टि अकार आदि मात्राचतुष्टयात्मक प्रणवको 'विराट्-प्रणव' कहते हैं। 'विराट्' आदि इसके अधिष्ठाता हैं। जैसा कि कहा है—

चतुःसमष्टिमात्रायुग् विराट्प्रणव उच्यते। विराडादिर्भवेद्वाच्यं तल्लक्ष्यं परमाक्षरम्॥

८. स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षी—इन चारकी मात्राओंसे युक्त 'अर्धमात्रा-प्रणव' होता है। ओत, अनुशासु, अनुशा और अविकल्परूप परमात्मा ही इसके अधिष्ठाता हैं।

है। 'ॐ' इस एकाक्षर मन्त्रको अन्तःप्रणव समझो। यह आठ भागोंमें विभक्त होता है। अकार, उकार, मकार, अर्द्धमात्रा, बिन्दु, नाद, कला और शक्ति—ये ही उसके आठ भाग हैं। यह प्रणव केवल चार ही मात्राओंसे युक्त नहीं है; उसकी एक-एक मात्रा भी अनेकानेक भेदोंसे सम्पन्न है। केवल अकार ही दस हजार अवयवोंसे सम्पन्न है। उकारके एक सहस्र और मकारके एक सौ अवयव हैं। इसी प्रकार अर्द्धमात्रा-प्रणवका स्वरूप अनन्त अवयवोंसे युक्त है। विराट्-प्रणव सगुणरूप है, संहार-प्रणव निर्गुणरूप है और सृष्टि-प्रणव उभयात्मक है—वह सगुण-निर्गुण उभयरूप है। जैसे विराट्-प्रणव प्लुत अर्थात् अकार आदि चार मात्राओंकी समष्टिसे युक्त है, उसी प्रकार संहार-प्रणव प्लुत-प्लुत अर्थात् चतुर्थमात्रात्मक अर्द्धमात्रास्वरूप है ॥ २ ॥

विराट्-प्रणव अर्थात् विराट्स्वरूप ब्रह्म-प्रणव सोलह मात्राओंका है। यह छत्तीस तत्त्वोंसे परे है। वह षोडश मात्रारूप कैसे है, यह बताते हैं। अकार पहली मात्रा है, उकार दूसरी, मकार तीसरी, अर्द्धमात्रा चौथी, बिन्दु पाँचवीं, नाद छठी, कला सातवीं, कलातीता आठवीं, शान्ति नवीं, शान्त्यतीता दसवीं, उन्मनी ग्यारहवीं, मनोन्मनी बारहवीं, पुरी (वैखरी) तेरहवीं, मध्यमा चौदहवीं, पश्यन्ती पंद्रहवीं और परा सोलहवीं मात्रा है। यह सोलह मात्राओंवाला ब्रह्म-प्रणव ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्परूप चतुर्विध तुरीयसे अभिन्न होनेके कारण पुनः चौसठ मात्राओंवाला होता है। यही प्रकृति और पुरुषरूपसे पुनः दो भेदोंको प्राप्त होकर एक सौ अट्ठाईस मात्राओंवाला स्वरूप धारण करता है। इस प्रकार एक होकर भी ब्रह्म-प्रणव दृष्टिभेदसे अनेकविध सगुण और निर्गुण स्वरूपको प्राप्त होता है ॥३॥

(ॐकारको ब्रह्मस्वरूप बताया गया है। वह परब्रह्म परमात्मा कैसा है, यह बताते हैं।) ये ब्रह्म-प्रणवरूप परमात्मा सबके आधारभूत तथा परम ज्योतिःस्वरूप हैं। ये ही सबके ईश्वर और सर्वत्र व्यापक हैं। सम्पूर्ण देवता इन्हींके स्वरूप हैं। समस्त प्रपञ्चका आधार—प्रकृति भी इन्हींके गर्भमें है। ये सर्वाक्षरमय हैं— वर्णमालाके पचास वर्ण और उनके द्वारा बोध्य अर्थ, सब इनके स्वरूप ही हैं। ये कालस्वरूप, समस्त शास्त्रमय तथा कल्याणरूप हैं। समस्त श्रुतियोंमें श्रेष्ठ तत्त्व पुरुषोत्तमरूपसे इनका ही अनुसंधान करना चाहिये। समस्त उपनिषदोंके मुख्य अर्थ ये ही हैं। इन्हींमें उपनिषदें गतार्थ होती हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य—इन तीनों कालोंमें होनेवाला जो जगत् है तथा इन तीनों लोकोंसे परे जो कोई अविनाशी तत्त्व है, वह सब ॐकारस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही है—यह जानो। श्रेष्ठ नारद! ॐकारको ही मोक्षदायक समझो। प्रणवके वाच्यार्थभूत परमात्मा ही यह आत्मा हैं। **'अयमात्मा ब्रह्म'** (यह आत्मा ब्रह्म है)—इस श्रुतिद्वारा 'ब्रह्म' शब्दसे उन्हींका वर्णन हुआ है। ब्रह्मकी आत्माके साथ ॐकारके वाच्यार्थरूपसे एकता करके वह एकमात्र (अद्वितीय), जरारहित (मृत्युरहित) एवं अमृतस्वरूप चिन्मय तत्त्व ॐ है—इस प्रकार अनुभव करो। इस अनुभवके पश्चात् उस परमात्मस्वरूप ॐकारमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीरोंवाले इस सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्चका आरोप करके—अर्थात् एक परमात्मा ही सत्य हैं, उन्हींमें इस स्थूल, सूक्ष्म और कारण-जगत्की कल्पना हुई है—विवेकद्वारा ऐसा अनुभव करके यह निश्चय करे कि यह जगत् ॐ (सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा) ही है। तथा तन्मय (परमात्ममय) होनेके कारण यह अवश्य तत्स्वरूप (परमात्मरूप) ही है। इस प्रकार जगत्को 'ॐ' समझो अर्थात् इसे 'ॐ'के वाच्यार्थभूत परमात्मामें विलीन कर डालो तथा त्रिविध शरीरवाले अपने आत्माको भी 'यह त्रिविध शरीररूप उपाधिसे युक्त ब्रह्म ही है' ऐसी भावना करते हुए ब्रह्मरूप ही निश्चय करो। इस तरह आत्मा और परब्रह्मकी एकताका दृढ़ निश्चय हो जानेपर आत्मस्वरूप परब्रह्मका निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये। अब क्रमशः विश्व, तैजस आदिके वाचक प्रणवकी मात्राओंका क्रम बताया जाता है।

'स्थूल (विराट् जगत्स्वरूप) एवं स्थूल जगत्का भोक्ता होनेसे, सूक्ष्म (सूक्ष्म जगत्स्वरूप) एवं सूक्ष्म जगत्का भोक्ता होनेके कारण, एकमात्र आनन्दस्वरूप एवं आनन्दमात्रका उपभोक्ता होनेसे तथा इन तीनोंकी अपेक्षा भी विलक्षण होनेके कारण वह आत्मा चार भेदोंवाला है। ये चार भेद ही उसके चार पाद हैं, अतः वह चार पादोंवाला है। जाग्रत्-अवस्था तथा इसके द्वारा उपलक्षित होनेवाला यह सम्पूर्ण जगत् ही जिनका स्थान अर्थात् शरीर है—जो सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हो रहे हैं, जिनका ज्ञान इस स्थूल (बाह्य) जगत्में सब ओर फैला हुआ है, जो इस समस्त विश्वके भोक्ता (रक्षक) हैं; पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मे-

१. पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, पाँच शब्दादि विषय, चार अन्तःकरण, पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्राएँ, महत्तत्त्व और अव्यक्त प्रकृति—ये छत्तीस तत्त्व हैं।

न्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा चार अन्तःकरण—ये उन्नीस समष्टि-करण ही जिनके मुख हैं; पाताल, भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्—ये आठ लोक ही जिनके आठ अङ्ग हैं; जो स्थूल जगत्के उपभोक्ता हैं; स्थूल, सूक्ष्म, कारण और साक्षी—इन चार स्वरूपोंमें जिनकी अभिव्यक्ति होती है; वे स्थूल विश्वमें सर्वत्र व्यापक एवं अखिल विश्वरूप वैश्वानर पुरुष ही विश्वविजेता प्रभुके प्रथम पाद हैं।

'स्वप्नावस्था और उसके द्वारा उपलक्षित सूक्ष्म जगत्में व्याप्त परमात्मा सूक्ष्मप्रज्ञ हैं—उनका विज्ञान बाह्य जगत्की अपेक्षा आन्तरिक अर्थात् सूक्ष्म जगत्में व्याप्त है। स्वतः वे पूर्वोक्तरूपसे आठ अङ्गोंवाले हैं। काम-क्रोधादि शत्रुओंको तपानेवाले नारद! वे स्वप्नलोकमें एकमात्र ही हैं, उनके सिवा दूसरा नहीं है। (उनके भी पूर्ववत् उन्नीस ही मुख हैं।) वे सूक्ष्म जगत्के सूक्ष्म तत्त्वोंका अनुभव और पालन करनेवाले हैं। उनके भी पूर्ववत् स्थूल-सूक्ष्म आदि भेदसे चार स्वरूप हैं। उन्हें तैजस पुरुष कहते हैं; क्योंकि वे तेजोमय एवं प्रकाशके स्वामी हैं। वे समस्त भूतोंके स्वामी हिरण्यगर्भ हैं। पूर्वोक्त वैश्वानर तो स्थूल हैं और हिरण्यगर्भ अन्तःप्रदेशमें स्थित होनेके कारण सूक्ष्म बताये गये हैं। इन्हें परमात्माका द्वितीय पाद बताया जाता है ॥ ४–१३ ॥

'जिस अवस्थामें सोया हुआ पुरुष किसी भी भोगकी कामना नहीं करता, कोई भी स्वप्न नहीं देखता, वह स्पष्ट ही सुषुप्ति है। ऐसी सुषुप्ति तथा उसके द्वारा उपलक्षित सम्पूर्ण जगत्-की प्रलयावस्था (जब कि सम्पूर्ण विश्व अपने कारणमें विलीन हो जाता है) जिनका स्थान (शरीर) है, अर्थात् समष्टि कारण-तत्त्वमें जिनकी स्थिति है, जो एकीभूत (अद्वितीय) हैं—जिनकी अभी नाना रूपोंमें अभिव्यक्ति नहीं हुई है, जो घनीभूत प्रज्ञानसे परिपूर्ण हैं, सुखी अर्थात् आनन्दस्वरूप हैं, नित्यानन्दमय हैं, सब जीवोंके भीतर स्थित अन्तर्यामी आत्मा हैं तथा अपने स्वरूपभूत आनन्दमात्रका उपभोग करने-वाले हैं, चिन्मय प्रकाश ही जिनका मुख है, जो सर्वत्र व्यापक एवं अविनाशी हैं; ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प—इन चार स्वरूपोंमें जिनकी अभिव्यक्ति होती है; वे प्राज्ञनामसे प्रसिद्ध ईश्वर ही परब्रह्म परमात्माके तृतीय पाद हैं ॥ १४–१६ ॥

'इस प्रकार तीनों पादोंके रूपमें वर्णित ये परमात्मा सबके ईश्वर हैं। ये सर्वज्ञ हैं। ये सूक्ष्मरूपसे भावना (ध्यान) करने योग्य परमेश्वर ही अन्तर्यामी आत्मा हैं। ये सम्पूर्ण विश्वके कारण हैं तथा सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके स्थान भी ये ही हैं। जाग्रत् आदि तीनों ही अवस्थाओंमें लक्षित होनेवाला यह जगत् भी वास्तवमें सुषुप्तरूप ही है। यह सब प्रकारकी उपरतिमें बाधक बना रहता है। (सुषुप्तरूप इसलिये है कि इससे मोहित हुए मनुष्योंको कभी किसी वस्तुका तात्त्विक ज्ञान नहीं होता।) इसी प्रकार यह त्रिविध जगत् स्वप्नवत् भी है; क्योंकि यहाँ वस्तुका प्रायः विपरीत ही ज्ञान होता है। इतना ही नहीं, कुछ-का-कुछ प्रतीत होनेके कारण यहाँ सब कुछ मायामात्र ही है।

'उक्त तीनों पादोंके अतिरिक्त जो चौथा तुरीय पाद है, वह ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा और अविकल्प—इन चार भेदोंके कारण चार रूपवाला है। तुरीयरूपमें स्थित ये परमात्मा एकमात्र सच्चिदानन्दरूप हैं। ओत आदि चार भेदोंमें स्थित होनेपर भी चतुर्थ पाद 'तुरीय' ही कहलाता है, उसके चारों भेद तुरीय नामसे ही प्रतिपादित होते हैं; क्योंकि प्रत्येक रूपका तुरीयमें ही पर्यवसान—लय होता है। इस तुरीय पादमें भी जो ओत, अनुज्ञातृ और अनुज्ञारूप तीन भेद हैं, वे विकल्प-ज्ञानके साधन हैं; अतः इन तीन विकल्पों (भेदों) को भी यहाँ पूर्ववत् सुषुप्ति एवं मनोमय स्वप्नके समान तथा मायामात्र ही समझना चाहिये। यों जानकर यह निश्चय करना चाहिये कि इन विकल्पोंसे परे जो निर्विकल्परूप तुरीय-तुरीय परमात्मा हैं, वे एकमात्र सच्चिदानन्दरूप ही हैं* ॥ १७–२० ॥

'मुने! इसके अनन्तर श्रुतिका यह स्पष्ट उपदेश है—जो सदा ही न तो स्थूलको जानता है, न सूक्ष्मको ही जानता है और न दोनोंको ही जानता है; जो न तो अधिक जाननेवाला है न नहीं जाननेवाला है, न अन्तःप्रज्ञ है न बहिःप्रज्ञ (न भीतरका ज्ञान रखनेवाला है न बाहरका); तथा जो प्रज्ञानका घनीभूत स्वरूप भी नहीं है; जिसे नेत्रों-द्वारा नहीं देखा गया; जिसका कोई लक्षण नहीं है; जो कभी पकड़में नहीं आ सकता, व्यवहारमें नहीं लाया जा सकता; जिसका चिन्तन नहीं हो सकता; जिसे किसी परिभाषामें नहीं बाँधा जा सकता; एकमात्र आत्मसत्ताकी प्रतीति ही जिसका

* इस प्रसङ्गको स्पष्ट समझनेके लिये नृसिंहोत्तरतापनी-योपनिषद्का प्रथम खण्ड और वहाँ दी हुई टिप्पणियोंको ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये।

सार अथवा स्वरूप है; जिसमें प्रपञ्चका सर्वथा अभाव है—ऐसा परम कल्याणमय शान्त, अद्वितीय तत्त्व ही उन पूर्ण ब्रह्म परमात्माका चतुर्थ पाद है—यह ज्ञानी महात्मा मानते हैं। वही ब्रह्म-प्रणव है। वही जानने योग्य है, दूसरा नहीं। सर्वप्रकाशक सूर्यकी भाँति वही मुमुक्षुजनोंका जीवनाधार है। स्वयम्प्रकाश ब्रह्म परम आकाशरूप है। परब्रह्म होनेके कारण ही वह सदा सर्वत्र विराजमान है। यह उपनिषद्का गूढ़ रहस्य है' ॥ २१–२३ ॥

॥ अष्टम उपदेश समाप्त ॥ ८ ॥

नवम उपदेश

ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन; आत्मवेत्ता संन्यासीके लक्षण

तदनन्तर नारदजीने पूछा—'भगवन्! ब्रह्मका स्वरूप कैसा है?' तब ब्रह्माजीने उनसे कहा—'वत्स! ब्रह्म और क्या है, अपना स्वरूप ही तो है—(यह आत्मा ब्रह्म ही है—सब कुछ ब्रह्म ही है, ब्रह्मके सिवा कुछ नहीं है)। ब्रह्म दूसरा है और मैं दूसरा हूँ—इस प्रकार जो लोग जानते हैं, वे पशु हैं; जो स्वभावसे पशु-योनिमें उत्पन्न हैं, केवल उन्हींका नाम पशु नहीं है। उन परब्रह्म परमात्माको इस प्रकार सर्वात्मा और सर्वरूपमें जानकर विद्वान् पुरुष मृत्युके मुखसे सदाके लिये छूट जाता है। परमात्मज्ञानके सिवा दूसरा कोई मार्ग मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला नहीं है' ॥ १ ॥

(ब्रह्मविषयक चर्चा करनेवाले कुछ जिज्ञासु आपसमें कहते हैं—) 'क्या काल, स्वभाव, निश्चित फल देनेवाला कर्म, आकस्मिक घटना, पाँचों महाभूत या जीवात्मा (जगत्का) कारण है? इसपर विचार करना चाहिये। इन काल आदिका समुदाय भी इस जगत्का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि वे चेतन आत्माके अधीन हैं (जड होनेके कारण स्वतन्त्र नहीं हैं)। जीवात्मा भी इस जगत्का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह सुख-दुःखोंके हेतुभूत प्रारब्धके अधीन है। इस प्रकार विचार करके उन्होंने ध्यानयोगमें स्थित होकर अपने गुणोंसे ढकी हुई उन परमात्मदेवकी स्वरूपभूत अचिन्त्यशक्तिका साक्षात्कार किया, जो परमात्मदेव अकेले ही उन कालसे लेकर आत्मातक (पहले बताये हुए) सम्पूर्ण कारणोंपर शासन करते हैं। उस एक नेमिवाले, तीन घेरोंवाले, सोलह सिरोंवाले, पचास अरोंवाले, बीस सहायक अरोंसे तथा छः अष्टकोंसे युक्त, अनेक रूपोंवाले एक ही पाशसे युक्त, मार्गके तीन भेदोंवाले तथा दो निमित्त और मोहरूपी एक नाभिवाले चक्रको उन्होंने देखा। पाँच स्रोतोंसे आनेवाले विषयरूप जलसे युक्त, पाँच स्थानोंसे उत्पन्न होकर भयानक और टेढ़ी-मेढ़ी चालसे चलनेवाली, पाँच प्राणरूप तरङ्गोंवाली, पाँच प्रकारके ज्ञानके आदिकारण मनरूप मूलवाली, पाँच भँवरोंवाली, पाँच दुःखरूप प्रवाहके वेगसे युक्त, पाँच पर्वोंवाली और पचास भेदोंवाली नदीको हमलोग जानते हैं। सबकी जीविकारूप, सबके आश्रयभूत इस विस्तृत ब्रह्मचक्रमें जीवात्मा घुमाया जाता है। वह अपने-आपको और सबके प्रेरक परमात्माको अलग-अलग जानकर उसके बाद उन परमात्मासे स्वीकृत होकर अमृतभावको प्राप्त हो जाता है। ये वेदवर्णित परब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ आश्रय और अविनाशी हैं। उनमें तीनों लोक स्थित हैं। वेदके तत्त्वको जाननेवाले महापुरुष यहाँ (हृदयमें) अन्तर्यामीरूपसे स्थित उन ब्रह्मको जानकर उन्हींके परायण हो उन परब्रह्म परमात्मामें ही लीन हो गये। विनाशशील जडवर्ग एवं अविनाशी जीवात्मा—इन दोनोंके संयुक्त रूप व्यक्त और अव्यक्तस्वरूप इस विश्वका परमेश्वर ही धारण और पोषण करते हैं तथा जीवात्मा इस जगत्के विषयोंका भोक्ता बना रहनेके कारण प्रकृतिके अधीन हो इसमें बँध जाता है और उन परमदेव परमेश्वरको जानकर सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। सर्वज्ञ और अज्ञानी, सर्वसमर्थ और असमर्थ—ये दो अजन्मा आत्मा हैं तथा भोगनेवाले जीवात्माके लिये उपयुक्त भोग्यसामग्रीसे युक्त अनादि प्रकृति एक तीसरी शक्ति है। (इन तीनोंमें जो ईश्वरतत्त्व है, वह शेष दोसे विलक्षण है; क्योंकि) वे परमात्मा अनन्त, सम्पूर्ण रूपोंवाले और कर्तापनके अभिमानसे रहित हैं। जब मनुष्य इस प्रकार ईश्वर, जीव और प्रकृति—इन तीनोंको ब्रह्मरूपमें प्राप्त कर लेता है, तब वह सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। प्रकृति तो विनाशशील है और इसको भोगनेवाला जीवात्मा अमृतस्वरूप अविनाशी है। इन विनाशशील जडतत्त्व और चेतन आत्मा दोनोंको एक ईश्वर अपने शासनमें रखते हैं; (इस प्रकार जानकर) उनका निरन्तर ध्यान करनेसे, मनको उन्हींमें लगाये रहनेसे तथा तन्मय हो जानेसे मनुष्य अन्तमें उन्हें प्राप्त कर लेता है; फर तो समस्त मायाकी निवृत्ति हो जाती है। उन परमदेव

का निरन्तर ध्यान करनेसे उन प्रकाशमय परमात्माको जानकर मनुष्य समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है; क्योंकि क्लेशोंका नाश हो जानेके कारण जन्म-मृत्युका सर्वथा अभाव हो जाता है। (अतः वह) शरीरका नाश होनेपर तीसरे लोक (स्वर्ग) तकके समस्त ऐश्वर्यका त्याग करके सर्वथा विशुद्ध एवं पूर्णकाम हो जाता है। अपने ही भीतर स्थित इन ब्रह्मको सदा ही जानना चाहिये। इनसे बढ़कर जाननेयोग्य तत्त्व दूसरा कुछ भी नहीं है। भोक्ता (जीवात्मा), भोग्य (जडवर्ग) और उनके प्रेरक परमेश्वर—इन तीनोंको जानकर मनुष्य सब कुछ जान लेता है। इस प्रकार इन तीन भेदोंमें बताया हुआ यह सब कुछ ब्रह्म ही है। आत्मविद्या और तपस्या ही जिसकी प्राप्तिके मूल साधन हैं, वह उपनिषद्-वर्णित परमतत्त्व ही ब्रह्म है। (दृष्टिभेदसे वह द्विविध या त्रिविध बताया जाता है; परंतु वास्तवमें भेद-दृष्टि अज्ञान-मूलक है, अतः सब रूपोंमें वह एक ही ब्रह्म विराजमान है) ॥ २–१३ ॥

जो इस प्रकार जानकर निरन्तर अपने स्वरूपभूत ब्रह्मका ही चिन्तन करता है, उस एकत्वदर्शी ज्ञानीको वहाँ क्या शोक है और क्या मोह। इसलिये भूत, भविष्य और वर्तमान —तीनों कालोंमें प्रकट होनेवाला यह विराट् जगत् अविनाशी ब्रह्मस्वरूप ही है। यह सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म और महान्से भी परम महान् परमात्मा इस जीवकी हृदयरूपी गुहामें स्थित है। सबकी सृष्टि एवं रक्षा करनेवाले परमात्माकी कृपासे जो मनुष्य उस संकल्परहित परमेश्वरको तथा उसकी महिमाको भी देख लेता है, वह सब प्रकारके दुःखोंसे रहित हो जाता है। वह परमात्मा हाथ-पैरोंसे रहित होकर भी सब वस्तुओंको ग्रहण करनेवाला तथा वेगपूर्वक सर्वत्र गमन करनेवाला है। आँखोंके बिना ही वह सब कुछ देखता है। कानोंके बिना ही वह सब कुछ सुनता है। वह जाननेमें आनेवाली सभी वस्तुओंको जानता है; परंतु उसको जाननेवाला कोई नहीं है। ज्ञानी पुरुष उसे पुरातन महान् पुरुष (पुरुषोत्तम) कहते हैं। वह इन अनित्य शरीरोंमें नित्य एवं शरीररहित होकर स्थित है; उन सर्वव्यापी महान् परमात्माको जान लेनेपर धीर पुरुष कभी शोक नहीं करता। वह सबका धारण-पोषण करनेवाला है, उसकी अघटित-घटना-पटीयसी शक्ति अचिन्त्य है, सम्पूर्ण शास्त्रोंके सिद्धान्तरूपसे स्वीकृत अर्थविशेष—परमात्माके रूपमें वही जाननेयोग्य है। परात्पर परब्रह्मरूपमें भी वही ज्ञातव्य है तथा सबके अवसानमें अर्थात् सम्पूर्ण जगत्का प्रलय होनेपर सबके संहारकरूपमें भी उसीको जानना चाहिये। वह कवि (त्रिकालज्ञ), पुराण-पुरुष तथा सबसे उत्तम पुरुषोत्तम है। वही सबका ईश्वर तथा सम्पूर्ण देवताओं-द्वारा उपासना करनेयोग्य है। वह आदि, मध्य और अन्तसे रहित है, उसका कभी विनाश नहीं होता। वही शिव, विष्णु तथा कमलजन्मा ब्रह्मारूपी वृक्षोंको प्रकट करनेवाला महान् भूधर (पर्वत) है। जो पञ्चभूतात्मक है तथा पाँच इन्द्रियों-में विद्यमान रहता है, जिसने अनन्त जन्मोंके विस्तारकी परम्पराको बढ़ा रक्खा है, उस सम्पूर्ण प्रपञ्चको उस परमात्माने पञ्चभूतोंके रूपोंमें प्रकट किये हुए अपने ही अवयवोंद्वारा स्वयं ही व्याप्त कर रक्खा है; फिर भी वह स्वयं इन पञ्चभूतात्मक अवयवोंसे आवृत नहीं है। वह परसे भी पर और महान्से भी महान् है। वह स्वरूपतः स्वतः प्रकाशमय, सनातन एवं कल्याणरूप है। जो दुराचारसे निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ अशान्त हैं—वशमें नहीं हैं, जो एकाग्रचित्त नहीं हुआ है तथा जिसका मन पूर्णतः शान्त नहीं हो पाया है, वह इस परमात्माको उत्तम ज्ञानद्वारा नहीं पा सकता (उसके भीतर आत्मज्ञानका उदय होगा ही नहीं)। वह पूर्ण ब्रह्म न भीतर जानता है, न बाहर जानता है, न बाहर-भीतर—दोनोंको ही जानता है; वह न स्थूल है न सूक्ष्म है; न वह ज्ञानरूप है, न अज्ञानरूप है, वह पकड़में आनेवाला तथा व्यवहारका विषय नहीं है। वह अपने भीतर स्वयं ही स्थित है। जो इस प्रकार जानता है, वह मुक्त हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है—इस प्रकार भगवान् ब्रह्माजीने उपदेश दिया ॥ १४–२२ ॥

अपने स्वरूपको जाननेवाला संन्यासी अकेला ही विचरता है। वह भयभीत मृगकी भाँति कभी एक स्थानपर नहीं ठहरता। अन्यत्र जानेका यदि कोई विरोध (अथवा न जानेका अनुरोध) करता है, तो उसे वह स्वीकार नहीं करता। अपने शरीरके सिवा अन्य सब वस्तुओंको त्यागकर वह मधुकरी-वृत्तिसे भिक्षा ग्रहण करता है। सदा अपने स्वरूपका ही चिन्तन करते हुए उसकी सबके प्रति अनन्य बुद्धि हो जाती है—वह सबको अपना आत्मा ही समझता है तथा इस प्रकार अपने-आपमें ही स्थित रहनेवाला वह यति सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। वह परिव्राजक सम्पूर्ण क्रियाओं और कारकोंसे भेद-बुद्धि त्याग देता है। गुरु (शास्ता), शिष्य और शास्त्र

आदिकी त्रिपुटीसे भी वह मुक्त हो जाता है। समस्त संसारको त्यागकर वह कभी उसके दुःखसे मोहित नहीं होता। परिव्राजक कैसा हो ? वह लौकिक धनसे रहित होनेपर ही सुखी होता है। वह ब्रह्मात्मज्ञानरूप धनसे सम्पन्न हो ज्ञान-अज्ञान दोनोंसे ऊपर उठ जाता है। सुख-दुःख दोनोंके पार पहुँच जाता है। वह आत्मज्योतिसे ही प्रकाश ग्रहण करता है। सब ज्ञातव्य पदार्थ उसे ज्ञात हो जाते हैं। वह सर्वज्ञ, सब सिद्धियोंका दाता और सर्वेश्वर हो जाता है। क्योंकि 'सोऽहम्' (वह ब्रह्म मैं हूँ)—इस महावाक्यके उपदेशमें उसकी सहज स्थिति हो जाती है। वह परब्रह्म ही भगवान् विष्णुका परमधाम है; जहाँ जाकर योगी पुरुष वहाँसे इस संसारमें नहीं लौटते। वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है और न चन्द्रमा ही प्रकाश फैलाता है। उस परम पदको प्राप्त होनेवाला वह महात्मा इस संसारमें नहीं लौटता, इस संसारमें नहीं लौटता। वही कैवल्यपद है। इतना ही यह उपनिषद् है ॥ २३ ॥

॥ नवम उपदेश समाप्त ॥ ९ ॥

॥ अथर्ववेदीय नारदपरिव्राजकोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

अमृतत्वकी प्राप्तिका साधन

तपोविजितचित्तस्तु निःशब्दं देशमास्थितः। निःसङ्गतत्त्वयोगज्ञो निरपेक्षः शनैः शनैः ॥
पाशं छित्त्वा यथा हंसो निर्विशङ्कं खमुत्क्रमेत्। छिन्नपाशस्तथा जीवः संसारं तरते सदा ॥
यथा निर्वाणकाले तु दीपो दग्ध्वा लयं व्रजेत्। तथा सर्वाणि कर्माणि योगी दग्ध्वा लयं व्रजेत् ॥
अमृतत्वं समाप्नोति यदा कामात्स मुच्यते। सर्वैषणाविनिर्मुक्तश्छित्त्वा तं तु न बध्यते ॥
(क्षुरिकोपनिषद्)

तपके द्वारा जिसने चित्तको जीत लिया है, उसे शब्दरहित एकान्त स्थानमें स्थित होकर सङ्गशून्य तत्त्वके लिये योगका ज्ञाता बनना और धीरे-धीरे अपेक्षारहित बनना चाहिये। जैसे बन्धनको काटकर हंस आकाशमें निःशङ्क उड़ जाता है, वैसे ही जिसके बन्धन कट गये हैं, वह जीव संसारसे सदाके लिये तर जाता है। जैसे दीपक बुझनेके समय सारे तेलको जलाकर बुझ जाता है, वैसे ही योगी समस्त कर्मोंको जलाकर ब्रह्ममें लीन हो जाता है। साधक जब समस्त कामनाओंसे छूट जाता है और सारी एषणाओंसे रहित हो जाता है, तब वह अमृतत्वको प्राप्त होता है। यों संसार-बन्धनको काट डालनेके बाद वह बँधता नहीं।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सामवेदीय

आरुणिकोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

संन्यासग्रहणकी विधि तथा संन्यासके नियम

ॐ—प्रजापतिके उपासक अरुणके पुत्र आरुणि ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीके पास गये । वहाँ जाकर बोले—'भगवन् ! किस प्रकार मैं समस्त कर्मोंका त्याग कर सकता हूँ ?' ब्रह्माजीने उनसे कहा—'अपने पुत्र, भाई-बन्धु आदिको, शिखा, यज्ञोपवीत, यज्ञ एवं स्वाध्यायको तथा भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक, सत्यलोक एवं अतल, तलातल, वितल, सुतल, रसातल, महातल और पातालको—इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्डका त्याग कर दे । केवल दण्ड, आच्छादनके लिये वस्त्र तथा कौपीन धारण करे । शेष सब कुछ त्याग दे ॥ १ ॥

'गृहस्थ हो, ब्रह्मचारी हो या वानप्रस्थ हो, यज्ञोपवीतको भूमिपर अथवा जलमें छोड़ दे । लौकिक अग्नियोंको अर्थात् अग्निहोत्रकी तीनों अग्नियोंको अपनी जठराग्निमें लीन करे तथा गायत्रीको अपनी वाणीरूपी अग्निमें स्थापित करे । कुटीमें रहनेवाला ब्रह्मचारी अपने कुटुम्बको छोड़ दे, पात्रका त्याग कर दे, पवित्री (कुशा) को त्याग दे । दण्डों और लोकोंका त्याग करे—इस प्रकार उन्होंने कहा । इसके बाद मन्त्रहीनके समान आचरण करे । ऊर्ध्वगमन अर्थात् ऊर्ध्वलोकोंमें जानेकी इच्छा भी न करे । औषधकी भाँति (स्वाद-बुद्धि न रखकर, केवल शरीर-रक्षाके लिये) अन्न ग्रहण करे, तीनों सन्ध्याओंके पूर्व स्नान करे । सन्ध्याकालमें समाधिमें स्थित होकर परमात्माका अनुसन्धान करे । सब वेदोंमें आरण्यकोंकी आवृत्ति (पाठ एवं मनन) करे, उपनिषदों-की आवृत्ति करे । उपनिषदोंकी आवृत्ति करे ॥ २ ॥

'निश्चय ही ब्रह्मको सूचित करनेवाला सूत्र—ब्रह्मसूत्र मैं ही हूँ, यों समझकर त्रिवृत्सूत्र अर्थात् उपवीतका त्याग करे । इस प्रकार समझनेवाला विद्वान् 'मया संन्यस्तम्, मया संन्यस्तम्, मया संन्यस्तम्' (मैंने संन्यास लिया, मैंने सर्वत्याग कर दिया, मैंने सब कुछ छोड़ दिया)—यों तीन बार कहकर—

अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।
सखा मा गोपायौजः सखा योऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि
वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारय ॥*

—इस मन्त्रसे अभिमन्त्रित बाँसका दण्ड और कौपीन धारण करे; ओषधिकी भाँति भोजन करे; ओषधिकी भाँति अल्पमात्रामें भोजन करे; जो कुछ मिल जाय वही खा ले । आरुणि ! ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह तथा सत्यकी यत्नपूर्वक रक्षा करो, रक्षा करो, रक्षा करो ॥ ३ ॥

---

* सब (हिंस्र तथा अहिंस्र) प्राणियोंको अभय प्राप्त हो—किसीको भी मुझसे भय न हो; क्योंकि मुझसे ही सारा विश्व प्रवर्तित होता है । दण्ड ! तुम मेरे मित्र हो, मेरे ओजकी रक्षा करो । तुम मेरे मित्र हो, वृत्रासुरको मारनेवाले इन्द्रके वज्र हो । वज्र ! मुझे सुख प्रदान करो । मुझे संन्यास-धर्मसे गिरानेवाला जो भी पाप हो, उसका निवारण करो ।

'इसके पश्चात् परमहंस परिव्राजकोंके लिये भूमिपर ही आसन और शयन आदिका, ब्रह्मचर्यपूर्वक रहनेका तथा मिट्टी-का पात्र, तूँबी अथवा काष्ठका कमण्डलु रखनेका विधान है। संन्यासियोंको काम, क्रोध, हर्ष, रोष, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, इच्छा, परनिन्दा, ममता, अहङ्कार आदिका भी परित्याग कर देना चाहिये। वर्षा ऋतुमें एक स्थानमें स्थिर होकर रहे; शेष आठ महीने अकेला विचरण करे, अथवा एक और साथी लेकर, दो होकर विचरे, दो होकर विचरे॥ ४॥

'इस प्रकार जाननेवाला जो विद्वान् (संन्यासी होना चाहे) वह उपनयनके अनन्तर अथवा पहले भी उपर्युक्त विधिसे अपने माता-पिता, पुत्र, अग्नि, उपवीत, कर्म, पत्नी अथवा अन्य जो कुछ भी हो—सबका परित्याग कर दे। संन्यासियोंको चाहिये कि हाथोंको ही पात्र बनाकर अथवा उदरको ही पात्रके रूपमें लेकर भिक्षाके लिये गाँवमें प्रवेश करे। उस समय 'ॐ हि ॐ हि ॐ हि' इस उपनिषद्-मन्त्रका उच्चारण करे। यह उपनिषद् है; जो इस उपनिषद्को निश्चयपूर्वक यों जानता है, वही विद्वान् है। पलाश, बेल, पीपल अथवा गूलरके दण्ड, मूँजकी मेखला तथा यज्ञोपवीत (अर्थात् द्विजत्वके बाह्य उपकरणों) को त्यागकर जो इस प्रकार जानता है, वही शूरवीर है। जो आकाशमें तेजोमय सूर्यमण्डलकी भाँति, परम व्योममें चिन्मय प्रकाशद्वारा सब ओर व्याप्त है, भगवान् विष्णुके उस परम धामको विद्वान् उपासक सदा ही देखते हैं। साधनामें सदा जाग्रत् रहनेवाले निष्काम उपासक ब्राह्मण वहाँ पहुँचकर उस परमधामको और भी उद्दीप्त किये रहते हैं, जिसे विष्णुका परम पद कहते हैं। वह परम पद निष्काम उपासकको प्राप्त होता है। जो इस प्रकार जानता है, वह उक्त फलका भागी होता है। यह महा उपनिषद् है'॥ ५॥

॥ सामवेदीय आरुणिकोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

दो विद्याएँ

द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥
ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्त्वतः। पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः॥

(ब्रह्मबिन्दूपनिषद् १७-१८)

दो विद्याएँ जाननेकी हैं—'शब्दब्रह्म' और 'परब्रह्म'—शास्त्रज्ञान और भगवान्का यथार्थ स्वरूपज्ञान। शास्त्रज्ञानमें निपुण हो जानेपर मनुष्य भगवान्को भी जान लेता है। बुद्धिमान् पुरुषको चाहिये कि वह ग्रन्थका अभ्यास करके उसके ज्ञान-विज्ञानरूप तत्त्वको प्राप्त कर ले, फिर उस ग्रन्थको वैसे ही त्याग दे, जैसे धान चाहनेवाला मनुष्य धानको लेकर पुआलको खलिहानमें छोड़ देता है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सामवेदीय

जाबाल्युपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

पाशुपत-मतके अनुसार तत्त्वविचार; भस्म-धारणकी विधि तथा माहात्म्य; त्रिपुण्ड्रकी तीन रेखाओंका अर्थ

हरिः ॐ । एक बार भगवान् जाबालिके पास पिप्पलादके पुत्र पैप्पलादि मुनि गये और उनसे बोले—'भगवन् ! मुझे परमतत्त्वका रहस्य बतलाइये। क्या तत्त्व है, कौन जीव है, कौन पशु है, कौन ईश्वर है और मोक्षका उपाय क्या है ?' भगवान् जाबालिने उनसे कहा—'तुमने बहुत अच्छी बात पूछी है, जैसा मुझे ज्ञात है, वह सब निवेदन करूँगा ।' फिर पैप्पलादि मुनिने उनसे पूछा—'आपको यह किसके द्वारा ज्ञात हुआ ?' वे पुनः उनसे बोले—'श्रीकार्तिकेयजीसे ।' पैप्पलादिने फिर पूछा—'षडाननको किससे ज्ञात हुआ ?' वे बोले—'श्रीमहादेवजीसे ।' पैप्पलादिने फिर उनसे पूछा—'महादेवजीसे उन्होंने किस प्रकार जाना ?' तब जाबालिने उत्तर दिया—'महादेवजीकी उपासनाके द्वारा ।' फिर पैप्पलादिने जाबालिसे कहा—'भगवन् ! कृपापूर्वक हमें यह सब कुछ रहस्यसहित बतलाइये ।' उनके द्वारा पूछे जानेपर जाबालिने सब तत्त्व बतलाया—'पशुपति ही अहङ्कारसे युक्त होकर जब सांसारिक जीव बनते हैं, तब पशु कहलाते हैं । पाँच कृत्योंसे सम्पन्न सर्वज्ञ, सर्वेश्वर महेश्वर ही पशुपति हैं ।' 'पशु कौन हैं ?' यह पूछनेपर उन्होंने बतलाया कि 'जीव ही पशु कहलाते हैं ।' उनके पति होनेके कारण महेश्वर पशुपति हैं। पैप्पलादिने फिर पूछा—'जीव कैसे पशु कहलाते हैं और महेश्वर कैसे पशुपति ?' भगवान् जाबालिने उनसे कहा—'जिस प्रकार घास-चारा खानेवाले, अविवेकी—जड, दूसरोंके द्वारा हाँके जानेवाले, खेती आदिके काममें नियुक्त, सब दुःखोंको सहनेवाले तथा अपने स्वामीके द्वारा बाँधे जानेवाले गौ आदि पशु होते हैं, वैसे ही जीव भी पशु कहलाते हैं । तथा उनके स्वामीके समान होनेके कारण सर्वज्ञ ईश्वर ही पशुपति हैं ।' 'उनका ज्ञान किस उपायसे होता है ?' तब भगवान् जाबालिने उत्तर दिया 'विभूति धारण करनेसे ।' 'उसकी क्या विधि है ? कहाँ-कहाँ उसे धारण करना चाहिये ?' भगवान् जाबालि पुनः उनसे कहने लगे—'सद्योजातादि' पाँच ब्रह्मसंज्ञक मन्त्रोंसे* भस्म

---

* ॐ सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमः ।
भवे भवेनातिभवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः ॥

ॐ वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नमः कालाय नमः कलविकरणाय नमो बलविकरणाय नमो बलाय नमो बलप्रमथनाय नमः सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मथाय नमः ॥

ॐ अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः सर्वेभ्यः सर्वशर्वेभ्यो नमस्तेऽस्तु रुद्ररूपेभ्यः ॥

ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ॥

ॐ ईशानः सर्वविद्यानाम् ईश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणो ब्रह्मा शिवो मेऽस्तु सदाशिवोम् ॥

संग्रह करे। 'अग्निरिति भस्म'* इस मन्त्रसे भस्मको अभिमन्त्रित करे, 'मा नस्तोके०'† इस मन्त्रसे उठाकर जलसे मले, 'त्र्यायुषम्०'‡ इत्यादि मन्त्रसे मस्तक, ललाट, वक्षःस्थल और कन्धोंपर त्रिपुण्ड्र करे। 'त्र्यायुषम्०' तथा 'त्र्यम्बकम्०'§ इन दोनों मन्त्रोंको तीन-तीन बार पढ़ते हुए तीन रेखाएँ खींचे। यह 'शाम्भव' व्रत है, सम्पूर्ण वेदोंमें वेदज्ञोंद्वारा कहा गया है। मुमुक्षु आवागमनसे बचनेके लिये इसका सम्यक् आचरण करे।' तदनन्तर सनत्कुमारने इन रेखाओंका परिमाण पूछा। त्रिपुण्ड्र-धारणकी तीन रेखाएँ ललाटभरमें चक्षु और भ्रुवोंके मध्यतक होती हैं। इनमें जो प्रथमा रेखा है, वह गार्हपत्य-अग्निका प्रतीक, प्रणवका अकार, रजोगुणस्वरूप, भूर्लोक, देहात्मा, क्रियाशक्ति, ऋग्वेद, प्रातःकालीन सवन और ब्रह्मादेवताका स्वरूप है। इसकी जो द्वितीय रेखा है, वह दक्षिणाग्निका प्रतीक, उकार, सत्त्वगुण, अन्तरिक्ष, अन्तरात्मा, इच्छाशक्ति, यजुर्वेद, माध्यन्दिन सवन और विष्णुदेवताका स्वरूप है। जो इसकी तृतीय रेखा है, वह आहवनीय अग्निका प्रतीक, मकार, तमोगुण, द्युलोक, परमात्मा, ज्ञानशक्ति, सामवेद, तृतीय सवन और महादेवदेवताका स्वरूप है। यों समझकर जो भस्मका त्रिपुण्ड्र धारण करता है, वह विद्वान्, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी—जो भी कोई हो, महापातक और उपपातकोंसे मुक्त हो जाता है। सब देवताओंके ध्यानका फल उसको मिलता है। उसे सब तीर्थोंके स्नानका फल प्राप्त हो जाता है। वह समस्त रुद्रमन्त्रोंके जापका फल प्राप्त कर लेता है। वह पुनः आवागमनमें नहीं पड़ता, पुनः आवागमनमें नहीं पड़ता। ॐ सत्यम्—यह उपनिषद् है।

॥ सामवेदीय जाबाल्युपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

शिवका उपासक धन्य है

सर्गादिकाले भगवान् विरिञ्चिरुपास्यैनं सर्गसामर्थ्यमाप्य।
तुतोष चित्ते वाञ्छितार्थांश्च लब्ध्वा धन्यः सोपास्योपासको भवति धाता ॥(दक्षिणामूर्ति० २०)

सृष्टिके आदिकालमें भगवान् ब्रह्मा इन (शिव) की उपासना करनेसे सामर्थ्य प्राप्तकर और मनोऽभिलषित अर्थको पाकर सन्तुष्ट होते हैं। इन उपास्य (शिव) का उपासक धन्य है; क्योंकि वह भी धाता (सबका धारण-पोषण करने-वाला) हो जाता है।

* ॐ अग्निरिति भस्म वायुरिति भस्म व्योमेति भस्म जलमिति भस्म स्थलमिति भस्म ॥

† मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। मा नो वीरान्रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥ (यजुर्वेद १६ । १६)

‡ त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्। यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नोऽस्तु त्र्यायुषम् ॥ (यजुर्वेद ३ । ६२)

§ त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ॥ (यजुर्वेद ३ । ६०)

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

सामवेदीय

वासुदेवोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

गोपीचन्दनका महत्त्व, उसके धारणकी विधि और फल

देवर्षि नारदने सर्वेश्वर भगवान् वासुदेवको नमस्कार करके उनसे पूछा—भगवन् ! द्रव्य, मन्त्र, स्थान आदि (देवता, रेखा, रंग एवं परिमाण) के साथ मुझे ऊर्ध्वपुण्ड्रकी विधि बतलाइये ।

तब देवर्षि नारदसे भगवान् वासुदेव बोले—'जिसे ब्रह्मादि मेरे भक्त धारण करते हैं, वह वैकुण्ठधाममें उत्पन्न, मुझे प्रसन्न करनेवाला विष्णुचन्दन मैंने वैकुण्ठधामसे लाकर द्वारकामें प्रतिष्ठित किया है । कुङ्कुमादिसहित विष्णुचन्दन ही चन्दन है । मेरे अङ्गोंमें वह चन्दन गोपियोंद्वारा उपलेपित और प्रक्षालित होनेसे गोपीचन्दन कहा जाता है । मेरे अङ्गका वह पवित्र उपलेपन चक्रतीर्थमें स्थित है । चक्र (गोमतीचक्र) सहित तथा पीले रंगका वह मुक्ति देनेवाला है । [चक्रतीर्थमें जहाँ गोमती-चक्रशिला हो, उस शिलासे लगा पीला चन्दन ही गोपी-चन्दन है । शिलासे पृथक् तथा दूसरे रंगका नहीं ।]

पहले गोपीचन्दनको नमस्कार करके उठा ले, फिर इस मन्त्रसे प्रार्थना करे—

गोपीचन्दन पापघ्न विष्णुदेहसमुद्भव ।
चक्राङ्कित नमस्तुभ्यं धारणान्मुक्तिदो भव ॥

'हे विष्णुभगवान्‌के देहसे समुत्पन्न पापनाशक गोपी-चन्दन ! हे चक्राङ्कित ! आपको नमस्कार है । धारण करनेसे मेरे लिये मुक्ति देनेवाले होइये ।'

इस प्रकार प्रार्थना करके 'इमं मे गङ्गे०'[1] इस मन्त्रसे जल लेकर 'विष्णोर्नु कम्०'[2] इस मन्त्रसे (उस चन्दनको) रगड़े ।

फिर 'अतो देवा अवन्तु नो०'[3] आदि ऋग्वेदके मन्त्रोंसे तथा

---

१. 'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या । असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयाऽऽर्जीकीये शृणुह्या सुषोमया ॥'

(ऋक्० १० । ७५ । ५)

इस मन्त्रके सिन्धुद्वीप ऋषि हैं, मन्त्रोक्त सब नदियाँ देवता हैं, जगती छन्द है, जलदानमें इसका विनियोग है ।' इन ऋषि आदिका न्यास करना चाहिये ।

२. 'विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्र वोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥'

(ऋक्० १ । १५४ । १)

इस मन्त्रका 'विष्णोर्नु कमिति मन्त्रस्य दीर्घतमा ऋषिः नारायणो देवता त्रिष्टुप् छन्दः मर्दने विनियोगः ।' इस प्रकार विनियोग है । इन ऋषि आदिका न्यास करना चाहिये ।

३. 'अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णुर्विचक्रमे । पृथिव्याः सप्त धामभिः ॥'

'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् । तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते । विष्णोर्यत्परमं पदम् ।'

(ऋक्० १ । २२ । १६, २०-२१)

इन तीनों मन्त्रोंको पढ़े । इनका विनियोग वाक्य यह है—'अतो देवा

विष्णुगायत्रीसे तीन बार अभिमन्त्रित करे। तदनन्तर—

शङ्खचक्रगदापाणे द्वारकानिलयाच्युत।
गोविन्द पुण्डरीकाक्ष मां पाहि शरणागतम्॥

'हाथोंमें शङ्ख, चक्र तथा गदा धारण किये, द्वारकाधाममें रहनेवाले हे अच्युत! हे कमललोचन गोविन्द! मैं आपकी शरणमें आया हूँ, मेरी रक्षा करो।'

इस प्रकार मेरा ध्यान करके गृहस्थ अनामिका अंगुलिद्वारा ललाट आदि (ललाट, उदर, हृदय, कण्ठ, दोनों भुजाएँ, दोनों कुक्षि, कान, पीठका (पेटके पीछेका) भाग, गर्दनके पीछे तथा मस्तक—इन) बारह स्थानोंपर विष्णुगायत्रीसे अथवा केशव आदि बारह नामोंसे (चन्दन) धारण करे। ब्रह्मचारी अथवा वानप्रस्थ (अनामिकासे ही) ललाट, कण्ठ, हृदय तथा बाहुमूल (कन्धोंके पास बाहुके कूल्हों) पर विष्णुगायत्रीके द्वारा अथवा कृष्णादि पाँच नामोंसे (चन्दन) धारण करे। संन्यासी तर्जनी अँगुलीसे सिर, ललाट तथा हृदयपर प्रणवके द्वारा (चन्दन) धारण करे।

इति ब्रूचस्य काण्वो मेधातिथि ऋषिः विष्णुः देवता गायत्री छन्दः अभिमन्त्रणे विनियोगः।' पूर्ववत् न्यास करे।

१. (विष्णुगायत्री)—नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्।

२. ललाटे केशवं विद्यान्नारायणमथोदरे।
माधवं हृदये न्यस्य गोविन्दं कण्ठकूपके॥
विष्णुञ्च दक्षिणे कुक्षौ तद्भुजे मधुसूदनम्।
त्रिविक्रमं कर्णदेशे वामे कुक्षौ तु वामनम्॥
श्रीधरं तु सदा न्यस्येद् वामबाहौ नरः सदा।
पद्मनाभं पृष्ठदेशे ककुद्दामोदरं स्मरेत्॥
वासुदेवं स्मरेन्मूर्ध्नि तिलकं कारयेत् क्रमात्।

ललाटमें केशव, उदरमें नारायण, हृदयमें माधव, कण्ठकूपमें गोविन्द, दाहिनी कुक्षिमें विष्णु, दाहिनी भुजामें मधुसूदन, कानोंमें त्रिविक्रम, बायीं कुक्षिमें वामन, वामबाहुमें श्रीधर, पीठमें पद्मनाभ, ककुत् (गर्दनके पीछे) में दामोदर, मस्तकपर वासुदेव—इस प्रकार भगवन्नामका न्यास करते हुए तिलक करे।

३. 'कृष्णः सत्यः सात्वतः स्याच्छौरिः शूरो जनार्दनः।'

अथवा—

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः॥

कृष्ण, सत्य, सात्वत, शौरि एवं जनार्दन अथवा कृष्ण, वासुदेव, देवकीनन्दन, नन्दगोपकुमार और गोविन्द—इन नामोंसे तिलक करे।

ब्रह्मादि (ब्रह्मा, विष्णु, शिव), तीनों मूर्तियाँ, तीनों (भूः भुवः स्वः) व्याहृतियाँ, तीन (गण-छन्द, मात्रा-छन्द तथा अक्षर-छन्द) छन्द, तीनों (ऋक्, यजुः एवं साम) वेद, तीनों (ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत) स्वर, तीनों (आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि) अग्नियाँ, तीनों (चन्द्र, सूर्य, अग्नि) ज्योतिष्मान्, तीनों (भूत, वर्तमान, भविष्य) काल, तीनों (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) अवस्थाएँ, तीनों (क्षर, अक्षर, परमात्मा) आत्मा, तीनों पुण्ड्र (अकार, उकार, मकार—प्रणवकी ये तीन मात्राएँ)—ये सब प्रणवात्मक तीनों ऊर्ध्वपुण्ड्रके स्वरूप हैं। अतः ये तीन रेखाएँ एकत्रित होकर ॐके रूपमें एक हो जाती हैं (अर्थात् तीनों पुण्ड्र मिलकर प्रणवरूप होते हैं)। अथवा परमहंस प्रणवद्वारा एक ही ऊर्ध्वपुण्ड्र ललाटपर धारण करे। वहाँ (ललाटमें) दीपके प्रकाशके समान अपने आत्माको देखता हुआ तथा 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसी भावना करता हुआ योगी मेरा सायुज्य (मोक्ष) प्राप्त करता है और दूसरे (परमहंसके अतिरिक्त) कुटीचक, त्रिदण्डी, बहूदक आदि संन्यासी हृदयपरके ऊर्ध्वपुण्ड्रके मध्यमें या हृदयकमलके मध्यमें अपने आत्मतत्त्वकी भावना (ध्यान) करें।

उस हृदयकमलके मध्यमें नीले बादलके मध्यमें प्रकाशमान विद्युल्लताकी भाँति अत्यन्त सूक्ष्म ऊर्ध्वमुखी अग्निशिखा स्थित है। वह नीवारके शूक (सिके—कोंपलमूल) की भाँति पतली, पीतवर्ण तथा प्रकाशमय अणुके समान है। उसी अग्निशिखाके मध्यमें परमात्मा स्थित हैं। पहले हृदयके ऊपरके ऊर्ध्वपुण्ड्रमें (अग्निशिखाके मध्य परमात्माकी भावनाका) अभ्यास करे। उसके पश्चात् हृदय-कमलमें (उसी ध्यानका) अभ्यास करे। इस प्रकार क्रमशः अपने आत्मरूपकी मुझ परम हरिरूपसे भावना करे।

जो एकाग्र मनसे मुझ अद्वैतरूप (जिसके अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं, उस) हरिका हृदय-कमलमें अपने आत्मरूपसे ध्यान करता है, वह मुक्त है; इसमें सन्देह नहीं। अथवा जो भक्तिद्वारा मेरे अव्यय, ब्रह्म (व्यापक), आदि-मध्य एवं अन्तसे रहित, स्वयंप्रकाश, सच्चिदानन्दस्वरूपको जानता है (वह भी मुक्त है, इसमें सन्देह नहीं)।

मैं एक ही विष्णु अनेक रूपवाले जङ्गमों तथा स्थावर भूतोंमें भी ओतप्रोत होकर उनके आत्मरूपसे

निवास करता हूँ । जैसे तिलोंमें तेल, लकड़ीमें अग्नि, दूधमें घी तथा पुष्पमें गन्ध (व्याप्त है), वैसे ही भूतोंमें उनके आत्मरूपसे मैं अवस्थित हूँ । जगत्‌में जो कुछ भी दिखायी पड़ता है अथवा सुना भी जाता है, उस सबको बाहर और भीतरसे भी व्याप्त करके मैं नारायण स्थित हूँ । मैं देहादिसे रहित, सूक्ष्म, चित्प्रकाश (ज्ञानस्वरूप), निर्मल, सबमें ओतप्रोत, अद्वैत परम ब्रह्मस्वरूप हूँ ।

ब्रह्मरन्ध्रमें, दोनों भौंहोंके मध्यमें तथा हृदयमें चेतनाको प्रकाशित करनेवाले श्रीहरिका चिन्तन करे । इन स्थानोंको गोपीचन्दनसे उपलिप्त करके (वहाँ गोपीचन्दनका तिलक करके) तथा ध्यान करके साधक परमतत्त्वको प्राप्त करता है । ऊर्ध्वदण्डी, ऊर्ध्वरेता (ब्रह्मचारी), ऊर्ध्वपुण्ड्र (धारी) तथा ऊर्ध्वयोग (उत्तम गति देनेवाले योग) को जाननेवाला—इस ऊर्ध्व-चतुष्टयसे सम्पन्न संन्यासी ऊर्ध्वपद (दिव्यधाम) को प्राप्त करता है ।

इस प्रकार यह निश्चित ज्ञान है । यह मेरी भक्तिसे स्वयं सिद्ध हो जाता है । नित्य गोपीचन्दन धारण करनेसे एकाग्र भक्ति प्राप्त होती है । वैदिक ज्ञानसम्पन्न सर्वश्रेष्ठ सभी ब्राह्मणोंके लिये पानीके साथ घिसकर गोपीचन्दनके ऊर्ध्वपुण्ड्र (करने) का विधान है । जो मुमुक्षु (मोक्षकी इच्छा रखनेवाला) है, वह अपरोक्ष आत्मदर्शनकी सिद्धिके लिये गोपीचन्दनके अभावमें (गोपीचन्दन न हो, तब) तुलसीके जड़की मिट्टी (से) नित्य (तिलक) धारण करे । जिसका शरीर गोपीचन्दनसे लिप्त रहता है, उसके शरीरकी हड्डियाँ निश्चय ही (दधीचिकी हड्डियोंके समान) दिनोंदिन चक्र (वज्रके समान सुदृढ़) होती जाती हैं ।

(दिनमें तो गोपीचन्दनका ऊर्ध्वपुण्ड्र करे) और रात्रिको अग्निहोत्रकी भस्मसे **'अग्नेर्भस्मासि[1]०'** आदिसे (भस्म लेकर) **'इदं विष्णु[2]०'** आदि मन्त्रसे मलकर तथा **'त्रीणि पदा[3]०'** आदि मन्त्रसे, विष्णुगायत्रीसे तथा (यदि साधु हो तो) प्रणवसे उद्धूलन करे (सम्पूर्ण शरीरको मले) ।

जो इस विधिसे गोपीचन्दन धारण करता है, अथवा जो इस (उपनिषद्) का अध्ययन करता है, वह समस्त महापातकोंसे पवित्र हो जाता है । उसे पाप-बुद्धि उत्पन्न नहीं होती । वह सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नान कर चुकता है । (सब तीर्थोंके स्नानका पुण्य प्राप्त कर लेता है ।) सम्पूर्ण यज्ञोंका यजन करनेवाला (उनके यजनके फलको प्राप्त) होता है । सम्पूर्ण देवताओंसे पूजनीय हो जाता है । उसकी मुझ नारायणमें अचला भक्ति वृद्धिको प्राप्त होती है । वह सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके भगवान् विष्णुका सायुज्य (मोक्ष) प्राप्त करता है । फिर (संसारमें) लौटकर नहीं आता, नहीं आता ।

आकाशमें व्याप्त हुए सूर्यकी भाँति भगवान् विष्णुके उस परमपदको सूक्ष्मदर्शी (ज्ञानी) सदा अपने हृदयाकाशमें देखते (साक्षात् करते) हैं । भगवान् विष्णुका वह जो परम पद है, उसे लोक-व्यवहारमें अनासक्त एवं साधनके लिये सदा जाग्रत् रहनेवाले विप्रगण ध्यानमें प्रकाशित करते हैं । (ध्यानमें उसका साक्षात् दर्शन करते हैं ।)

॥ सामवेदीय वासुदेवोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

---

१. 'अग्नेर्भसास्यग्नेः पुरीषमसि चितः स्थ परिचित ऊर्ध्वचितः श्रयध्वम् ।' (वाजसनेयिसंहिता १२ । ४६)

२. 'इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पाꣳसुरे ॥' (ऋक्० १ । २२ । १७)

३. 'त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः । अतो धर्माणि धारयन् ।' (ऋक्० १ । २२ । १८)

उपनिषदोंमें श्रीसर्वेश्वर

(लेखक—विद्याभूषण, सांख्य-साहित्य-वेदान्ततीर्थ श्रीव्रजवल्लभशरणजी वेदान्ताचार्य)

वेदेषु यत्किमपि गुप्तमनन्ततत्त्वं
ब्रह्मात्मसत्पुरुषशब्दमुखैर्विनीतम् ।
नत्वेह निर्गुणमशेषगुणाश्रयं तं
सर्वेश्वरं श्रुतिगिरा सुविभावयामि ॥

अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड-नायक विश्वम्भर परमपिता परमेश्वर-तत्त्वकी वेद एवं उपनिषदोंमें जो मीमांसा की गयी है, वह ब्रह्म, आत्मा, विष्णु, रुद्र, शिव, केवल, सर्वज्ञ, इन्द्र, उपेन्द्र, नारायण, नृसिंह, कृष्ण, गोपाल, गोविन्द, परमात्मा, परमेश्वर, पुरुषोत्तम, वासुदेव, राम, यम, काल, ईश्वर, प्राण, आकाश, कं, खं, ॐ, सत्, असत्, चित्, आनन्द और अक्षर आदि अनेकों नामोंसे की गयी है। उपर्युक्त सभी नाम सार्थक हैं। इन सभीमें श्रीसर्वेश्वरके ही स्वरूप-गुणोंकी झाँकी होती है; क्योंकि शब्द और अर्थका तादात्म्य-सम्बन्ध माना जाता है। अतः शब्दके उच्चारण होते ही उसका अर्थ भाषित हो जाता है; परंतु जो व्यक्ति शब्दकी शक्तिसे अनभिज्ञ हों, उनको बारंबार उच्चारण करनेपर भी इन शब्दोंका अर्थ ज्ञात नहीं हो पाता। जबतक शब्दशक्ति-को द्योतन करनेवाले साधनोंकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक अर्थ चाहे स्वयं मूर्तिमान् बनकर भी किसीके सामने उपस्थित हो जाय, अबोध व्यक्तिको यह पता नहीं चल सकता कि यह कौन वस्तु है, इसका क्या महत्त्व है एवं यह किस उपयोगमें आती है। जैसे नवजात शिशुको उसके माता-पिता, भाई आदि तत्तद्व्यक्तियोंको दिखलाकर जबतक बारंबार उनके नाम नहीं सुनाये जाते, तबतक वह शिशु अपने जनक-जननी आदि परमहितैषी आत्मीयोंको भी नहीं जान पाता। परंतु उनका ज्ञान हो जानेपर वह अपने उन माता-पिता-भ्राता आदिको उन-उन नामोंसे पुकारने लगता है और उनमें आत्मरक्षाका अभिनिवेश बना लेता है। अतएव जब कभी कोई भी आपत्ति आती दीखती है, तो वह तत्क्षण तल्लीन होकर रोता है और अपने उन पोषक-रक्षक माता-पिता आदिको पुकारता है और वे अपने कर्तव्यानुसार यथाशक्ति उसकी रक्षा करते हैं। अवस्था बढ़ जानेपर भी जबतक उस व्यक्ति-को किसी विशिष्ट शक्तिशाली संरक्षकका ज्ञान नहीं होता, तबतक वह उन्हीं भौतिकविग्रही माता-पिता आदिपर निर्भर रहता है। यही कारण है कि कुछ लोग वृद्ध हो जानेपर भी दुःखके अवसरपर अरी मैया! अरे बाप! आदि शब्दोंके वाच्यार्थको ही अपना संरक्षक मानते हैं। अतः ईश्वर आदि शब्दोंसे पुकार न करके अरी मा! आदि-आदि सम्बोधनोंके साथ-साथ ही रुदन करते देखे जाते हैं। यह लौकिक ज्ञानका उदाहरण शास्त्रीय ज्ञानके साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। जैसे माता-पिता शब्दोंके प्रतिपाद्य व्यक्ति अपने पालनीयोंकी जहाँतक जितनी रक्षा करते हैं, वैसे ही उस सर्वाधार सर्वनियन्ता सर्वेश्वर प्रभुके ब्रह्म आत्मा आदि अन्यान्य नाम एवं उन नामोंके द्वारा अभिव्यक्त होनेवाला तत्तद्गुणशक्ति-विशिष्ट परमात्म-तत्त्व भी वहींतक उतनी ही रक्षा करता है, जितनी मात्रामें कि उन-उन नामोंसे परमात्म-शक्तिका आविर्भाव होता है, क्योंकि 'सर्वे शब्दा ब्रह्म-वाचकाः' इस उक्तिके अनुसार माता-पिता, भैया आदि सभी शब्द ब्रह्म (परमेश्वर) के ही वाचक होनेपर भी उनसे परिसीमित त्राणरूप ही फल मिलता है। अतः असीम रक्षाके लिये माता-पिता आदि शब्दोंके अतिरिक्त किसी दूसरे ही शब्दका अवलम्ब लिया जाता है; किंतु परमात्माके नाम अनन्त हैं। क्रमशः एक-एक नामकी उपासना करते-करते सहस्रों मानवजन्म व्यतीत हो जायँ तब भी, निर्हेतुक असीम कृपाकारक सर्वोच्च परमात्मतत्त्व-प्रतिपादक नामका प्राप्त होना कठिन है। अतः उपनिषदोंमें उस अनन्त ब्रह्माण्डनायक सर्वाधार सर्वेश्वर प्रभुके कुछ ऐसे विशिष्ट नामोंका उल्लेख है कि जिनका क्रम पूर्ण होकर एक ही जन्ममें मनुष्यको सर्वोच्च नामकी प्राप्ति हो सकती है, जिसके प्रयोगसे असीम रक्षा सुलभ हो जाती है और फिर अन्य नामादिका अन्वेषण भी अवशिष्ट नहीं रहता।

वेद, उपनिषद् आदि समस्त निगमागममें ऐसा एक महान् शब्द 'श्रीसर्वेश्वर' है, जिसका उच्चारण करते ही साधकको सर्वोच्च परमात्मतत्त्वकी झाँकी हो जाती है। किंतु यह शब्द, इस शब्दकी महिमा, इस नामकी प्रतिमा और उसकी उपासना—ये सब प्राचीन कालसे ही बड़ी गोपनीय वस्तु मानी गयी हैं। यही कारण है कि जैसे लोकमें विशेष गोप्यवस्तु, जो अत्यन्त अभीष्ट हो उसका अत्यन्त गोपन (छिपाव) किया जाता है, वैसे ही वेद और उपनिषदोंमें 'श्रीसर्वेश्वर' शब्दका अत्यन्त गोपन किया गया है। अर्थात्

ब्रह्म, आत्मा आदि अन्यान्य परमात्मवाचक शब्दोंकी अपेक्षा 'श्रीसर्वेश्वर' शब्दका प्रयोग अत्यन्त स्वल्प संख्यामें ही हुआ है। दूसरा हेतु यह भी माना जा सकता है कि ब्रह्म, आत्मा आदि शब्द अनेकार्थ-द्योतक हैं और सर्वेश्वर शब्द केवल एक ही सर्वोच्च पारमार्थिक पदार्थका प्रतिपादक है। अतएव उनका प्रयोग विभिन्न अर्थोंमें होनेके कारण अधिक स्थलोंमें एवं अधिक रूपेण हुआ है और 'सर्वेश्वर' शब्दका प्रयोग उसी स्थलमें हुआ है, जहाँ कि एक सर्वोच्च पारमार्थिक परमात्मतत्त्वके प्रतिपादनकी आवश्यकता हुई। इसलिये अन्यान्य उपनिषदोंमें प्रयुक्त 'सर्वेश्वर' शब्दकी चर्चा न करके केवल माण्डूक्य और बृहदारण्यक उपनिषद्में पठित सर्वेश्वर शब्दका ही पाठकोंको दिग्दर्शनमात्र करा दिया जाता है।

'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।' (माण्डूक्य० १।५)

'यही सर्वेश्वर प्रभु हैं, जो चराचरके शासक और भूत-भविष्यत्-वर्तमान कालत्रयमें बाहर-भीतरकी समस्त वस्तु और भावोंके ज्ञाता हैं। अतएव ये ही अन्तर्यामी हैं और ये ही प्रभु समस्त चराचरके उपादान और समस्त भूत-प्राणियोंके निमित्तकारण तथा संहारक भी ये ही हैं।' यद्यपि कुछ महानुभाव इस श्रुतिकी व्याख्या करते हुए इसके 'सर्वेश्वर' शब्दको वैसे ही परब्रह्मका प्रतिपादक नहीं मानते हैं, जैसा कि उन्होंने परब्रह्म मान रक्खा है, तथापि उपक्रमोपसंहारादिपर विचार करनेसे उनकी वह व्याख्या असंगत-सी हो जाती है। क्योंकि इस उपनिषद्के आरम्भमें ही ॐकारपदवाच्य परब्रह्मकी प्रस्तावना की गयी है, फिर उस परब्रह्मको सुगमरूपसे जाननेके लिये उसी परब्रह्मके चार पादोंकी गणना की गयी है। यद्यपि वह परमात्मतत्त्व एक ही है। किसी प्रकारसे विभक्त नहीं होता तथापि स्थानादिके विभेदसे विश्व, तैजस, प्राज्ञ, तुरीय आदि उसकी अनेकों संज्ञाएँ हो जाती हैं। उपर्युक्त सभी संज्ञाएँ सापेक्ष हैं, इनमें अन्तर्यामिता एवं सर्वेश्वरता सर्वत्र निरपेक्षरूपेण विद्यमान रहती है। जाग्रत्-अवस्थामें आत्मा, इन्द्रिय, शरीर—ये सब सञ्चरित रहते हैं। अतः इस अवस्थामें वह अन्तर्यामी 'विश्व' कहलाता है। जब सब इन्द्रियोंकी शक्ति मनमें लीन हो जाती है, तब उस स्वप्नावस्थामें वह अन्तर्यामी प्रभु 'तैजस' कहलाता है, क्योंकि वहाँ मनका ही अन्तर्नियमन करता है। जब वह मन भी आत्मामें लीन हो जाता है, तब उस सुषुप्ति-अवस्थामें केवल जीवात्माका ही अन्तर्नियमन करनेसे वह अन्तर्यामी प्रभु 'प्राज्ञ' कहलाता है। जब वह प्रभु जाग्रत् आदि समस्त भेदोंको अत्यन्त सूक्ष्मरूपसे अपनेमें लीन करके योगनिद्रास्थ होता है—तब वही 'तुरीय' कहलाता है। यद्यपि जाग्रदादि अवस्थाएँ बदलती रहती हैं; किंतु परब्रह्मका सच्चिदानन्दात्मक वास्तविक स्वरूप चारों पादों (अवस्थाओं) में अनुस्यूत रहता है। अतः सभी पादों (अवस्थाओं) के अन्तर्यामीमें सर्वेश्वरत्व भी निर्बाध है ही। यदि इस उपनिषद्में स्वप्रतिपाद्य चतुर्थ पादमात्र ही परब्रह्मत्वेन अभीष्ट होता तो आरम्भमें 'सर्वं हि एतद्ब्रह्म' ऐसी प्रतिज्ञा न करके 'चतुर्थपाद एव ब्रह्म' ऐसी प्रतिज्ञा की जाती। अतः तृतीय पादके पश्चात् और चतुर्थ पादके पूर्वपठित 'सर्वेश्वर' शब्द देहली-दीपकन्यायसे दोनों पादोंके साथ ही अन्वित हो सकता है—यह नहीं, अपितु चारों पादोंके साथ ही अन्वित समझना चाहिये। उपनिषदोंमें जहाँ कहीं किसी श्रुतिके शब्दार्थमें सन्देह प्रतीत होता है, वह अन्यत्र दूसरी श्रुतिमें स्पष्ट हो जाता है, अतएव यही 'सर्वेश्वर' शब्द बृहदारण्यक उपनिषद्में स्पष्टतया उसी परात्पर ब्रह्मका प्रतिपादन करता हुआ दृष्टिगत होता है, जैसा कि समस्त व्याख्याकारोंने उच्च-से-उच्च परात्मतत्त्व मान रक्खा है। क्योंकि इसके अतिरिक्त फिर और कोई उपनिषत्-प्रतिपाद्य सर्वोच्च तत्त्व है ही नहीं।

'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान् एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति।' (बृहदारण्यक० ४।४।२२)

'वह यही परमपिता परमेश्वर महान् अज है, जिसका शास्त्रोंमें अनेकों नामोंसे उल्लेख मिलता है। यही प्रभु शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राणादिमें विज्ञान (प्रकाश) मयरूपसे विराजमान है, अन्तर्यामीरूपसे हृदयान्तर्वर्ति-आकाशमें सदा स्थित रहता है। अतएव समस्त प्राणी इसीके वशमें हैं; इसीकी प्रेरणासे प्रवृत्त होते हैं, क्योंकि यही प्रभु सबके शासक हैं एवं चराचरके अधिपति हैं। यद्यपि प्रत्येक जीव और समस्त सदसद् वस्तुओंके भीतर यह प्रभु विराजमान है तथापि उनके गुण-दोषोंसे एवं भले-बुरे कर्मोंसे लिप्त नहीं होता, पक्षपातरहित, न्यायकर्ता और सर्वत्र समान दयालु होनेके कारण यही सर्वेश्वर है, यही सर्वेश्वर प्रभु समस्त भूतप्राणियोंका अधिपति, पालक और सेतुस्वरूप सर्वाधार है। इसीके आश्रित

रहनेके कारण अत्यन्त सूक्ष्म जीवसमूह और परमाणु आदि वस्तुओंका साङ्कर्य नहीं होता। विद्वान् भक्त वेदादि सच्छास्त्रों-द्वारा एवं यज्ञ-दान-तप आदि साधनोंसे इसी सर्वेश्वर प्रभुको जानने एवं प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं; क्योंकि इसी सर्वेश्वर प्रभुको जानने एवं प्राप्त करनेमें जीवनकी परम सफलता है।'

प्राचीन समयमें सभी मुनिजन 'श्रीसर्वेश्वर' नाम और श्रीसर्वेश्वरकी ही उपासना करते थे। श्रीसर्वेश्वर-प्राप्तिके लिये लौकिक प्रपञ्चको त्यागकर विरक्तिका अवलम्ब लेते थे। श्रीसनकादि-जैसे मुनिजनोंने पुत्रादि लौकिक एषणाओं-को छोड़कर श्रीसर्वेश्वरको ही अपना परमाराध्य एवं परम प्राप्य माना है; क्योंकि श्रुतियोंमें 'नेति-नेति' कहकर जिस तत्त्वको सर्वोच्च बतलानेका संकेत किया है, वह यही सर्वेश्वर-तत्त्व है। अतएव इसी तत्त्वके उपासक प्राचीन ऋषि-मुनि सर्वेश्वरवादी कहलाते थे। श्रीहंसभगवान्‌ने श्रीसनकादिको इसी सर्वेश्वर-तत्त्वका उपदेश किया था। फिर सनकादिने श्रीनारदजीको इसी तत्त्वकी उपासनाका उपदेश दिया—जो छान्दोग्य-उपनिषद्‌में भूमाविद्याके नामसे वर्णित है। बृहदारण्यक उपनिषद्‌में वही भूमाविद्या सर्वेश्वरविद्याके रूपसे उपदिष्ट हुई है। देवर्षि श्रीनारदजीने श्रीनिम्बार्क आदि मुनिवरोंको इसी सर्वेश्वर-उपासना (विद्या) का उपदेश किया। इस प्रकार परम्पराके रूपमें यह विद्या चली आ रही है। श्रीनिम्बार्काचार्य-के परवर्ती सभी आचार्योंने इसे अपनी परम गोप्य विद्या मानकर केवल उत्तमोत्तम अधिकारियोंको ही इसका उपदेश किया, जिससे उत्तरोत्तर यह विद्या विरलप्रचार बनती गयी। अन्यान्य नामोंसे इस विद्याका विशेष विस्तार हुआ।

श्रीभगवान्‌के सभी नाम सर्वविधि कल्याणप्रद एवं समान ही हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। तथापि नामोंमें प्रकृति-प्रत्ययात्मक विशेषता कुछ-न-कुछ अवश्य माननी पड़ती है। क्योंकि जिन-जिन नामोंमें जैसा-जैसा प्रकृति-प्रत्ययका योग है, उन-उन नामोंसे वैसे ही शक्तिविशेषका विकास होता है। इसलिये उन-उन नामोंसे उपासना करनेवाले साधकोंको उन्हीं अर्थोंके अनुसार फल-प्राप्ति होती है। अतएव वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, आरण्यक, इतिहास, पुराण आदि शास्त्रोंमें ध्यान, यजन, पूजन, कीर्तन आदि विभिन्न-विभिन्न युगोंके विशेष साधनोंकी भाँति परमात्माके नामोंकी उपासनाका भी क्रम देखा जाता है; जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किस-किस अवसरपर किन-किन ऋषि-मुनियोंने किन-किन नामोंसे परमात्माकी उपासना की।

जिस प्रकार 'ब्रह्म' 'विष्णु' आदि व्यापकत्व-प्रतिपादक शब्द प्रकृति-प्रत्ययके तात्पर्यानुसार उस परमात्म-तत्त्वकी व्यापकताको सूचित करते हैं। 'आत्म' शब्द निरन्तर स्थिति और 'सत्' शब्द अस्तिता, 'पुरुष' शब्द पुरीरूप समस्त क्षेत्रोंमें स्थिति और 'असत्' शब्द सूक्ष्म-कारणत्व प्रदर्शित करता है। 'अक्षर' शब्द अविनाशिता एवं 'राम' शब्द योगियोंके रमण-स्थलका द्योतन करता है। तथा 'कृष्ण' शब्द अपनी ओर आकर्षित कर संसारसे निवृत्तिकारिता प्रकटित करता है। 'रुद्र' शब्द भयदर्शकत्व, 'शिव' शब्द मङ्गलमयता, 'शङ्कर' शब्द कल्याण-कारकता, 'इन्द्र' शब्द आह्लादकत्व, 'सूर्य' शब्द प्रकाशकत्व, 'काल' शब्द गणनात्मकता, 'यम' शब्द नियामकता, 'प्रजापति' शब्द प्रजापालकता, 'गणपति' शब्द गणोंका आधिपत्य द्योतित करता है। 'महादेव' शब्द एक बड़े प्रकाशात्मक स्वरूपका निर्देश करता है और 'ईश्वर' शब्द शासकता प्रकटित करता है। 'विश्वेश्वर' शब्द प्राकृत विश्वकी शासकता प्रदर्शित करता है। 'पुरुषोत्तम' और 'परमात्म' शब्द भी सदा स्थित रहनेवालोंमें सर्वोच्च आत्मत्व-का प्रदर्शन कराते हैं। उसी प्रकार 'सर्वेश्वर' शब्द समस्त प्राकृत-अप्राकृत वस्तुजातकी शासकता एवं नित्य-निरतिशय ऐश्वर्य आदि सर्वोपरि शक्तिका प्रकाश करता है। यद्यपि 'ईश्वर' शब्दके साथ अखिल और निखिल शब्दोंके योगसे भी उपर्युक्त अर्थ सम्भावित हो सकता है; किंतु उपनिषदोंमें ऐसे विशेषणविशिष्ट शब्द सर्वोच्च-तत्त्व प्रतिपादनके अवसरपर कहीं नहीं अपनाये गये। इसलिये यही निश्चित होता है कि उपनिषदोंमें 'सर्वेश्वर' शब्द सर्वोच्च परमात्मतत्त्वका प्रतिपादक है। क्योंकि 'ब्रह्म' 'विष्णु' 'रुद्र' आदि जितने भी परमात्मतत्त्वके वाचक शब्द हैं, उन सभीकी शक्ति एक 'सर्वेश्वर' शब्दमें समाविष्ट है।

इसलिये प्रभुको प्रसन्न कर अपनी समस्त आपत्तियोंको मिटाने एवं नित्य निरतिशय आनन्दकी प्राप्तिके लिये, किस अवसरपर प्रभुके किस नामसे किस स्वरूपकी उपासना (प्रार्थना) करनी चाहिये—यह समझकर इस महान् धार्मिक सङ्कटके समय, उपनिषदोंके सर्वस्वरूप रहस्यात्मक इसी 'सर्वेश्वर' मन्त्रका उपयोग करना विशेष हितकर है। श्रीसर्वेश्वर प्रभुमें अपनी रक्षाके लिये ऐसा घनिष्ट अभिनिवेश कर लेना चाहिये कि—

मां चेन्न पास्यसि ततो भगवन्ममैव
हानिर्भवेदिति तु नो मननीयमीश।
सर्वेश्वरस्य करुणादिगुणामृताब्धे-
र्दासो हि सीदति जना इति वै क्षिपेयुः॥

हे भगवन्! हे ईश! आप यदि मेरी रक्षा न करेंगे तो आप यह न समझें कि उससे केवल मेरी ही हानि होगी, किंतु 'अहा देखो, सर्वेश्वरका सेवक होकर भी दुःख पा रहा है' यह कहकर जनता आपको भी उलाहना दिये बिना नहीं रहेगी।

ऐसे विश्वासी भक्तोंपर ही सर्वेश्वर प्रभु शीघ्रातिशीघ्र द्रवित होते हैं।

उपनिषदोंमें आत्मानुभव

(लेखक—श्रीबाबूलालजी गुप्त 'श्याम')

सृष्टिके पूर्व जो जगत्‌की अनिर्वचनीय अव्याकृत अवस्था है, उसीको 'अव्यक्त' कहते हैं। यह 'अव्यक्त' ही परमेश्वरकी 'माया' नामक शक्ति है। सृष्टिके प्रारम्भमें परमात्माद्वारा जो सृष्टिविषयक ईक्षण[1] (आलोचन) होता है, उसका नाम समष्टि 'बुद्धि' (महत्तत्त्व) है। अथवा यों कहिये कि सृष्टि-रचनाविषयक परमेश्वरका ज्ञान ही 'ईक्षण' है। ईक्षणके अनन्तर 'अहं बहु स्याम्' (मैं बहुत रूपोंमें प्रकट हो जाऊँ)—इस प्रकारका जो परमेश्वरीय संकल्प है, वही 'अहङ्कार'[2] कहलाता है। उस अहङ्कारसे ही आकाशादि-क्रमसे पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति हुई है[3]।

ये पञ्चमहाभूत तमःप्रधान प्रकृतिसे उत्पन्न हुए हैं। इन सबके जो पृथक्-पृथक् सत्त्व-अंश हैं, उनसे श्रोत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियोंका प्रादुर्भाव हुआ है। इन पाँचों सत्त्वांशोंका संघात ही अन्तःकरण है। इसी प्रकार आकाश आदि पाँचों भूतोंके जो पृथक्-पृथक् राजस अंश हैं, उनसे क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, गुदा तथा उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। उक्त पाँचों राजस अंशोंके मेलसे प्राणका प्रादुर्भाव हुआ, जो वृत्तिभेदसे मुख्यतः पाँच प्रकारका माना गया है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन तथा बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वोंका समुदाय ही सूक्ष्म शरीर है। पिण्ड और ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिके लिये पाँचों भूतोंका पञ्चीकरण हुआ। पञ्चीकृत भूतोंसे बना हुआ यह स्थूल शरीर 'अन्नमय कोष' कहलाता है। सूक्ष्म शरीरके रजोमय अंश—पाँच प्राण एवं पाँच कर्मेन्द्रियोंका समुदाय मिलकर 'प्राणमय कोष' है। मन तथा सात्त्विक अंशभूत ज्ञानेन्द्रियाँ 'मनोमय कोष'के अन्तर्गत हैं। निश्चयात्मिका बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रियाँ 'विज्ञानमय कोष' हैं। कारण शरीर ही 'आनन्दमय कोष' है। यही संक्षेपसे सृष्टिकी प्रक्रिया है (पञ्चदशी तत्त्व-विवेक १७ । ३६)। पञ्चीकृत भूतोंसे उत्पन्न विषयोंका ही दर्शन-स्पर्श आदि होता है। प्रत्येक इन्द्रिय अपनेसे संबन्ध रखनेवाले केवल एक ही विषयको ग्रहण करती है; इसलिये सम्पूर्ण इन्द्रियग्राह्य विषय पाञ्चभौतिक होनेके कारण विनश्वर हैं। उनकी उत्पत्ति होती है, अतः विनाश भी अवश्यम्भावी है। आत्मा नित्य-सिद्ध चेतन है; इन विनाशशील जड वस्तुओंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह इनसे सर्वथा पृथक् एवं विलक्षण है। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेकसे आत्माको इन भूतोंसे पृथक् और अपना ही स्वरूप जानकर उसमें स्थिति प्राप्त की जा सकती है। आत्मस्थिति प्राप्त होनेपर ही जीव कृतकृत्य होता है। श्रीगुरुदेवकी कृपासे इस शरीरके रहते हुए ही आत्माका अनुभव होता है; और प्रयत्न करनेपर सबको हो सकता

१. 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' (उन्होंने ध्यानयोगमें स्थित होकर परमात्माकी अपनी ही शक्तिका, जो अपने गुणोंसे आच्छादित (अव्यक्त) है, साक्षात्कार किया)—श्वेताश्वतर० १ । ३ । यह श्रुतिप्रतिपादित अव्यक्त है।

२. 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' (श्वेता० ४ । ९) यह श्रुति परमेश्वरकी शक्तिका नाम 'माया' बतलाती है।

३. 'तदैक्षत' इति ईक्षणरूपा बुद्धिः।

४. 'बहु स्यां प्रजायेय' (छान्दो० ४ । ९) इति बहुभवन-संकल्परूपः अहङ्कारः।

५. तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः, आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी' (तैत्ति० ३ । १) इति पञ्चभूतानि श्रौतानि।

है। अतः प्रस्तुत लेखमें इसी विषयका दिग्दर्शन कराया जाता है।

गीतोपनिषद्में आत्माको 'ज्योति' कहा गया है—**'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः'** (गीता १३। १७)। 'ज्योति'शब्दका अर्थ है—अवभासक, प्रकाशक अथवा चैतन्य। आत्मा सर्वत्र विद्यमान होनेपर भी मन तथा बुद्धिके द्वारा गम्य नहीं है। उसे 'अस्ति' या 'नास्ति' भावसे बुद्धिका विषय नहीं बनाया जा सकता। वह अप्रमेय है, बुद्धि उसे माप नहीं सकती। लौकिक बुद्धिसे आत्माका रहना और न रहना—दोनों समान जान पड़ते हैं; क्योंकि बुद्धिकी पहुँच वहाँतक है ही नहीं। आत्मा सबका आश्रय है; किंतु वह आश्रय-आश्रित-सम्बन्धसे लिप्त नहीं है। उसका आश्रय-भाव भी कल्पित ही है। आत्मा एक सर्वविलक्षण वस्तु है। भेद-अभेद, विभक्त-अविभक्त किसी भी लक्षणद्वारा उसे यथार्थतः व्यक्त नहीं किया जा सकता। श्रीगुरुके मुखसे आत्मतत्त्वका इस प्रकार प्रतिपादन सुनकर शिष्य चकित हो उठता है और पूछता है—'भगवन्! यदि सर्वत्र विद्यमान होनेपर भी आत्माकी उपलब्धि सम्भव नहीं है, तब तो वह परमाणु आदिकी भाँति जडरूप ही हो जायगा?' इस शङ्काका समाधान करते हुए श्रीगुरुदेव कहते हैं—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्॥
(गीता १३। १७)

बुद्धि अथवा इन्द्रियोंद्वारा उपलब्ध न होनेसे ही आत्माको 'जड' नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह उन बुद्धि आदिकी पहुँचसे परे है। इन्द्रियोंद्वारा जिन रूप आदि विषयोंका ग्रहण होता है, उन सबसे रहित होनेके कारण ही आत्माकी उनके द्वारा उपलब्धि नहीं होती। अतः उसका इन्द्रियाग्राह्यत्व उचित ही है। 'तत्' वह ज्ञेय ब्रह्म **'ज्योतिषामपि ज्योतिः'** प्रकाशकोंको भी प्रकाश देनेवाला है। सूर्य आदि बाह्य ज्योति हैं और बुद्धि आदि आन्तरिक ज्योति हैं—इन सबका वह प्रकाशक है। चैतन्य-ज्योति ही जड-ज्योतिकी प्रकाशिका है—चैतन्यसे ही जडका प्रकाश होता है। यदि ऐसा न हो तो जड निःसाक्षिक होकर अप्रकाशित ही रह जाय।

'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'

—इत्यादि श्रुतियोंसे तथा—

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥
(गीता १५। १२)

—इत्यादि भगवद्वाक्योंसे भी यही बात सिद्ध होती है। यदि कहें, आत्मा स्वरूपतः चैतन्य होते हुए भी जडसे संसर्ग-युक्त तो है ही; तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि वह **'तमसः परम्'** है—अविद्याकल्पित जडवर्गसे परे है। जड अविद्याका कार्य होनेसे असत् है और आत्मा नित्य सत् है; अतः उससे उसका संसर्ग नहीं है। तात्त्विक दृष्टिसे सत् और असत्का सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। सम्बन्धकी प्रतीति भी अज्ञानके ही कारण होती है। **'उच्यते'**—यह बात श्रुतियों और स्मृतियोंद्वारा वर्णित है। यथा—

'अक्षरात् परतः परः' (मुण्डक० २। १। २)

निःसङ्गस्य ससङ्गेन कूटस्थस्य विकारिणा।
आत्मनोऽनात्मना योगो वास्तवो नोपपद्यते॥*

'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' (श्वेताश्वतरोपनिषद् ३। ८)

अर्थात् आत्मा आदित्यवर्ण और तमसे परे है। यहाँ 'आदित्यवर्ण'का अर्थ है—आदित्य (सूर्य) जिस प्रकार अपने प्रकाशके लिये अन्य किसीकी भी अपेक्षा नहीं करता, उसी प्रकार ब्रह्म भी अपने प्रकाशके लिये किसीकी अपेक्षा नहीं रखता अर्थात् वह सर्वप्रकाशक तथा स्वयंप्रकाश है। वह आत्मा **'स्वयंज्योतिः'** अर्थात् जड़वर्गके साथ असंस्पृष्ट होनेसे **'ज्ञानम्'**—ज्ञानस्वरूप है। तात्पर्य यह कि प्रमाणजन्य जो चित्तवृत्ति है अर्थात् वेदान्त-श्रवणादि-रूप शब्द-प्रमाणसे जो चित्तवृत्ति विशेष उत्पन्न होती है, उस अविद्या-कालुष्यरहित चित्तवृत्तिमें जो संवित् (चेतना या ज्ञान) अभिव्यक्त होती है वह आत्मा (ब्रह्म) की ही एक झलक है; वह आत्मा संवित्-स्वरूप है और इसीलिये वह चेतन ही **'ज्ञेयम्'**—ज्ञेय है; क्योंकि वही अविद्यासे आवृत रहनेके कारण अज्ञात है। जड़ वस्तुकी अज्ञातता न रहनेसे वह ज्ञेय नहीं कही जा सकती।†

* असङ्ग एवं निर्विकार आत्माका आसक्तियुक्त विकारी अनात्माके साथ वास्तविक सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है।

† अभिप्राय यह कि आवृत वस्तु ही अज्ञात होती है, ज्ञानके द्वारा आवरणभङ्गमात्र होता है। जड वस्तुका आवरण नहीं स्वीकार किया गया है; क्योंकि वह इन्द्रियग्राह्य है। अनावृत होनेसे वह अज्ञात नहीं है, अतएव ज्ञेय भी नहीं है; क्योंकि अज्ञात ही ज्ञातव्य होता है, जो ज्ञात है, वह ज्ञातव्य नहीं।

अब प्रश्न होता है, यदि वह ज्ञानके योग्य है तो सभी लोग उसे क्यों नहीं जान सकते ? इसके उत्तरमें कहते हैं—**'ज्ञानगम्यम्'**—वह ज्ञानगम्य है अर्थात् **'अमानित्व'**से लेकर **'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्'** (गीता १३ । ७—११) पर्यन्त जिस साधन-कलापको ज्ञानका हेतु कहा है, ज्ञानशब्दवाच्य उन साधन-समूहोंसे ही आत्मा गम्य (प्राप्य) है, अन्यथा उसे नहीं प्राप्त किया जा सकता। फिर प्रश्न होता है कि यदि आत्मा साधनोंसे ही गम्य होता है तो क्या वह किसी दूर स्थानमें मिलेगा ? इसका उत्तर है—नहीं **'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्'**—वह सबके हृदयमें अर्थात् निखिल प्राणियोंकी बुद्धिरूप हृदय-गुहामें ही स्थित है। सूर्यके प्रकाशके सर्वत्र सामान्यभावसे रहनेपर भी जैसे वह दर्पण किंवा सूर्यकान्तमणि आदिमें विशेष रूपसे अभिव्यक्त होता है, उसी प्रकार वह आत्मा भी सर्वत्र सामान्यभावसे रहनेपर भी उस हृदयकन्दरारूप बुद्धि-गुहामें विशेष रूपसे प्रकाशित होता है। वह वस्तुतः व्यवधानरहित है, परन्तु भ्रान्ति (अविद्या)के कारण व्यवहित प्रतीत होता है तथा सब प्रकारके भ्रमका कारण जो अज्ञान है, उसकी निवृत्ति होनेपर प्राप्त हुआ-सा ज्ञात होता है। ज्ञानक्रियाका कर्म, जो ज्ञेय वस्तुका जानना है, उस प्रकार ज्ञानके फलरूपसे ज्ञेय न होनेपर भी वह आत्मा सबके हृदयमें अधिष्ठित है तथा स्वयं साक्षात् ज्ञानस्वरूप है। अमानित्वादि साधनोंसे प्रतिबन्ध दूर होकर इसका प्रकाश्य होनेके कारण इसे 'ज्ञेय' कहा गया है। आत्मा स्वप्रकाशस्वरूप स्वयंसिद्ध है, अतएव वह आवरण-भङ्गरूप वृत्तिव्याप्तिका ही विषय है; उसमें फल-व्याप्ति कैसे हो सकती है ?

स्वप्रकाशस्वरूपत्वात् सिद्धत्वाच्च चिदात्मनः।
वृत्तिव्याप्यत्वमेवास्तु फलव्याप्तिः कथं भवेत्॥

(सदाचारा० ५)

अर्थात् उसमें फल-व्याप्ति नहीं हो सकती। अस्तु, जाग्रदादि सभी अवस्थाओंमें एक अद्वितीय निर्मल ज्ञान (सत्ता) ही सदा भास रहा है; परंतु उस सर्वव्यापक निरवधिक, केवल शुद्ध विज्ञानघनस्वरूपको मन्द भाग्यवाले नहीं जान सकते—

ज्ञानमेकं सदा भाति सर्वावस्थासु निर्मलम्।
मन्दभाग्या न जानन्ति स्वरूपं केवलं बृहत्॥

(सदाचारानुसन्धानम् ३१)

जो संकल्पका साक्षी ज्ञानस्वरूप है, जो सब चराचर प्राणियोंका जीवनरूप है 'चेतनश्चेतनानाम्' है, वही आत्मा है और वही 'मैं हूँ' इस प्रकार जो जानता है और अनुभव करता है, वह मुक्त और कृतकृत्य है—इसमें कुछ भी संशय नहीं। प्रमाता (अन्तःकरणविशिष्ट जीवात्मा), प्रमाण (प्रत्यक्षादि), प्रमेय (घट-पट आदि) तथा (वृत्तिज्ञान) प्रमा जिस चैतन्य-प्रकाशसे प्रतीत होते हैं, उस चैतन्य-ज्ञानके लिये कौन प्रमाण चाहिये अर्थात् वह चैतन्य वस्तु स्वतः-सिद्ध स्वयंप्रकाश है, प्रमाणान्तरसे उसका ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि वही तो प्रमाणोंका भी प्रमाण है अर्थात् प्रमाण भी उस चैतन्यसे ही प्रकाशित होकर प्रमाणित होते हैं।

इसी आत्माको—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

(श्वेताश्वतर० ६ । ११)

'समस्त प्राणियोंमें एक ही देव स्थित है। वह सर्वव्यापक, समस्त भूतोंका अन्तरात्मा, कर्मोंका अधिष्ठाता, समस्त प्राणियोंमें बसा हुआ, सबका साक्षी, सबको चेतनत्व प्रदान करनेवाला, शुद्ध और निर्गुण है।' इस श्रुतिमें 'साक्षी' कहा गया है। श्रीगीताजीमें भी **'उपद्रष्टानुमन्ता च'** (१३ । २२) कहा गया है अर्थात् देह, चक्षु, मन और बुद्धिरूप दृश्य-पदार्थोंमें रहकर भी उन देह, चक्षु, मन और बुद्धि आदिके समस्त व्यापारोंको एवं दृश्योंको अविक्रियरूपसे वह देखता है। इसलिये 'उपद्रष्टा' है और उन देह, इन्द्रिय प्रभृतिको अपने-अपने व्यापारमें अपनी-अपनी इच्छानुसार प्रवृत्त होनेपर उन्हें रोकता भी नहीं—वह केवल साक्षीरूपसे सब कुछ देखता है—अतः आत्मा स्वभावसे ही साक्षी एवं द्रष्टा है। इसलिये द्रष्टाभाव आत्माका स्वरूप है। इसकी गाढ़ अवस्थामें सविकल्प समाधि लगती है। अतः सब कालमें विराजमान सच्चिदानन्द-घन निर्गुण निर्विकार निराकार आत्माका द्रष्टाभाव रखना ब्रह्माभ्यास ही है तथा यह उच्चकोटिकी साधना है।

चित्तगत काम, संकल्प प्रभृति वृत्तियाँ दृश्य हैं, आत्म-चैतन्य उनका द्रष्टा है, इस भावसे आत्मचैतन्यका ध्यान करना चाहिये अर्थात् उन काम-संकल्पादि वृत्तियोंमेंसे प्रत्येक वृत्तिको द्रष्टाका दृश्यरूप जानकर तथा जो चैतन्य उन वृत्तियोंका साक्षी हुआ है, उस द्रष्टा साक्षीको ही अपना यथार्थ स्वरूप जानना चाहिये। मैं असङ्ग, सच्चिदानन्द स्वयंप्रकाश हूँ तथा सब प्रकारके काम-संकल्पादि द्वैतसे वर्जित हूँ; स्वगत, सजातीय तथा विजातीय भेदसे शून्य अन्तरात्मस्वरूप साक्षी

हूँ—इस प्रकारका भाव सदा जागरित रखना चाहिये और मैं अन्तरात्मस्वरूप चैतन्य-मात्र, द्रष्टा, साक्षी हूँ—इस चिन्तन-धाराको ऐसे प्रवाहित करना चाहिये कि तार न टूटने पावे। इस प्रकारका अभ्यास सहज होनेपर स्वरूपभूत ज्ञानानन्दका आविर्भाव होकर आत्मस्थितिपूर्वक जीव कृतकृत्य हो जाता है।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
(श्वेताश्वतर० ६। २३)

'जिसकी परमेश्वरमें अत्यन्त भक्ति है और जैसी परमात्मामें है वैसी ही श्रीगुरुदेवमें भी है, उसीके अन्तःकरणमें इन तत्त्वोंका प्रकाश होता है।'

निवेदन और क्षमा-प्रार्थना

मनुष्य-जीवनका चरम और परम उद्देश्य है—अखण्ड पूर्ण आनन्द तथा सनातन शान्तिरूप भगवान्‌को प्राप्त करना। जीवनके अन्य सारे कार्य इसी एकमात्र चरम लक्ष्यकी सिद्धिके लिये किये जाने चाहिये। हमारे उपनिषद् इसी परम लक्ष्यके स्वरूप तथा उसकी प्राप्तिके विविध अनुभवपूर्ण साधनोंका उपदेश करते हैं। हम भारतीय आज इस अपने घरके दिव्य परमोज्ज्वल प्रकाशको छोड़कर अज्ञानान्धकारके नाशके लिये दूसरोंकी टिमटिमाती चिराग़पर मुग्ध हुए जा रहे हैं! हमारा यह मोह दूर हो। हम उपनिषदोंका किसी अंशमें यत्किञ्चित् परिचय प्राप्त कर सकें, इसी उद्देश्यसे 'उपनिषद्-अङ्क'के प्रकाशनका हमारा यह क्षुद्र प्रयास है।

उपनिषदें ज्ञानकी खानें हैं। जीवनकी सभी दिशाओंमें प्रकाश देनेवाली अखण्ड परम ज्योति हैं। परमात्माके पुनीत मार्गकी पथप्रदर्शिका हैं और परमात्मा परमेश्वरके विभिन्न रूपोंके निर्भ्रान्त और समन्वयात्मक स्वरूपका साक्षात्कार करानेवाली हैं। उपनिषदोंकी महिमा इसलिये नहीं है कि दाराशिकोहने इनसे प्रकाश प्राप्त किया या शोपेनहर, मैक्समूलर एवं अन्यान्य पाश्चात्य विद्वानोंने इनकी प्रशंसा की है। यह उनका सौभाग्य है, जो उन्हें उपनिषदोंका कुछ आभास प्राप्त हुआ। वे उपनिषदोंको न जान पाते, जानकर भी प्रशंसा न करते या कोई इन्हें व्यर्थ बताकर निन्दा भी करता तो इससे उपनिषदोंका महत्त्व तो अक्षुण्ण ही रहता। क्योंकि उनकी महिमाका आधार उनका निर्मल मङ्गलमय-प्रकाशमय स्वरूप ही है।

आजकल काल-निर्णयकी पद्धति चली है, और पाश्चात्य विद्वानोंके मतोंका अनुकरण करके भारतीय विद्वान् भी उसी पद्धतिके अनुसार चल रहे हैं। इसीसे उपनिषदोंका निर्माण-काल ईसासे सात-आठ सौ वर्ष पूर्व बतलाते हैं। पर उन्हें यह समझना चाहिये कि ब्रह्मसूत्रमें उपनिषदोंकी व्याख्या है और ब्रह्मसूत्रका श्रीमद्भगवद्गीतामें उल्लेख है, इससे यह सिद्ध है कि भगवद्गीतासे पूर्व उपनिषदोंका अस्तित्व था। श्रीमद्भगवद्गीताका प्रादुर्भाव ईसासे ३१०० वर्ष पूर्व महाभारत-युद्धमें हुआ था—यह प्रायः निर्णीत हो चुका है। ऐसी अवस्थामें दूसरोंके अन्धेरेमें काल टटोलनेकी यह पद्धति कहाँतक समीचीन है, इसपर विद्वान् सज्जन विचार करें। वस्तुतः उपनिषदोंकी महत्ता कालपर नहीं है, वह तो उनकी महान् ज्ञानराशिको लेकर है, जो वेदोंके सारके रूपमें ऋषियों-द्वारा श्रुत और संगृहीत है एवं जो नित्य, सत्य और सनातन है।

उपनिषदोंमें तत्त्वज्ञान या ज्ञानके परम साध्य तत्त्वके स्वरूपका साक्षात्कार ही नहीं है, वहाँतक पहुँचनेके विभिन्न रुचिके अधिकारियोंके अनुकूल विविध साधनोंका भी वर्णन है, और साथ ही मनुष्यको ऊँचे उठानेवाले उस सदाचारका भी महत्त्वपूर्ण उल्लेख है, जिसे जानकर प्रत्येक मनुष्य अपनेको ऊँचा उठानेका प्रयत्न कर सकता है। यह भारतीयोंकी परम निधि है और किसी दिन इन्हींके प्रकाशसे विश्वमें यथार्थ सुख-शान्तिका प्रसार होगा।

उपनिषद् सैकड़ों हैं। उनमें बारह प्रधान मानी जाती हैं। इन बारहमेंसे—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय और श्वेताश्वतर इन नौ उपनिषदोंको तो मूल, पदच्छेद, अन्वय तथा व्याख्यासहित प्रकाशित किया जा रहा है। समय-संकोचसे शेष तीन—छान्दोग्य, बृहदारण्यक और कौषीतकि-ब्राह्मणपर व्याख्या नहीं लिखी जा सकी।

अतएव उन तीनोंका तथा बयालीस अन्य उपनिषदोंका केवल हिंदी-भाषान्तर दिया गया है। यों इस अङ्कमें कुल ५४ उपनिषदें आ गयी हैं। **नौ उपनिषदोंकी जो पदच्छेद-अन्वयसहित व्याख्या प्रकाशित हुई है, वह 'कल्याण' पाठकोंके सुपरिचित गीताशाङ्करभाष्य और गीता-रामानुजभाष्यके अनुवादक भाई श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दकाकी उनके अपने दृष्टिकोणसे लिखी हुई है और उसमें प्रकाशित मतके लिये वे ही उत्तरदाता हैं।** शेष उपनिषदोंमें, कुछ स्थलोंको टिप्पणियाँ आदि देकर स्पष्ट करनेके अतिरिक्त प्रायः सभीका अक्षरानुवाद देनेका प्रयत्न किया गया है। विषय गहन है, हमलोगोंका ज्ञान सीमित और अल्प है तथा समय भी कम था, इसलिये यह निश्चित है कि यथासाध्य बहुत सावधानी बर्तनेपर भी अनुवादमें तथा छपाईमें भूलें रही हैं। इसलिये हम अपने कृपालु पाठकोंसे क्षमा चाहते हैं। उपनिषदोंके अतिरिक्त इस अङ्कमें उपनिषदोंपर कुछ प्रबन्ध भी प्रकाशित किये गये हैं। निबन्धलेखक परमादरणीय आचार्यों एवं विद्वानोंने अपने-अपने दृष्टिकोणसे विचार प्रकट किये हैं। उनमें भी विभिन्न मत हैं और उनके लिये वे लेखक महानुभाव ही उत्तरदाता हैं।

यह सत्य है कि गतवर्षके 'नारी-अङ्क' के सदृश 'उपनिषद्-अङ्क' की सामग्री 'कल्याण' के सभी पाठकोंके लिये सरलतासे समझने योग्य नहीं है। तथापि यह एक ऐसी महान् और परम आवश्यक वस्तु है कि जिसपर प्रत्येक भारतीयको गर्व है और जो प्रत्येक भारतीयके घरमें परम प्रिय तथा अत्यन्त समादरणीय अमूल्य रत्नकी भाँति सुरक्षित रहनी चाहिये। इससे अपनी-अपनी योग्यता, रुचि और अधिकारके अनुसार जो लोग जितना भी प्रकाश प्राप्त कर सकेंगे, उनके लिये वह उतना ही परम कल्याणकारी होगा। इस हेतुसे, विश्वास है कि सभी श्रेणीके पाठक इस अङ्कका हृदयसे विशेष सत्कार तथा स्वागत करेंगे। और जिस उत्सुकताके साथ तथा जिस बड़ी संख्यामें पुराने तथा नये ग्राहकोंके पत्र इस अङ्कको प्राप्त करनेके लिये आ रहे हैं, उसे देखनेसे हमारा विश्वास सर्वथा सफल प्रतीत होता है।

उपनिषदोंका भाषान्तर तथा इस अङ्कका सम्पादन करनेमें सम्पादक-मण्डलके सदस्योंने तो न्यूनाधिकरूपसे पर्याप्त परिश्रम किया ही है, भाई श्रीहरिकृष्णदासजीने नौ उपनिषदोंपर व्याख्या लिखकर, अन्यान्य कतिपय हमारे पूज्य महानुभावोंने संशोधन आदिमें पूरा सहयोग देकर तथा विद्वान् लेखकोंने लेख भेजकर जो सहायता की है, उसके लिये हम उन सभीके हृदयसे कृतज्ञ हैं। इस अङ्कमें जो कुछ अच्छापन है, उसका श्रेय तो वस्तुतः उपनिषदोंको ही है और है उन महानुभावोंको, जिन्होंने अपना समय और मस्तिष्क लगाकर सहायता की है और लेख भेजे हैं। और भ्रम, प्रमाद, अज्ञान तथा असावधानीसे जो दोष रह गये हैं, वे सब निश्चय ही हमारे हैं। विज्ञ पाठकगण हमारे इस प्रयासको बाल-प्रयास समझकर प्रसन्न ही होंगे, ऐसी आशा है। हमारा तो यही सौभाग्य है कि इस अङ्कके सम्पादनका अनिच्छित भार आ पड़नेसे जीवनका कुछ समय महान् ज्ञानार्णवमें गोते लगानेके प्रयासमें बीता, यद्यपि यह निर्विवाद सत्य है कि हमलोग, अपनी अयोग्यतावश गहरे गोते लगानेमें असमर्थ ही रहे। पर यह जो कुछ हुआ, सब केवल भगवत्कृपा और संत-कृपाका ही प्रसाद है। हमारा यह अनुभव है कि हमपर भगवान्‌की तो असीम और अपार कृपा है, परन्तु हमारी असीम अयोग्यता और नीचता भी कम नहीं है। परन्तु विश्वास यही है कि भगवत्कृपामें इतनी अपरिमित शक्ति है कि उसके सामने हमारी अयोग्यता और नीचता परास्त होकर ही रहेगी।

हनुमानप्रसाद पोद्दार
चिम्मनलाल गोस्वामी } सम्पादक

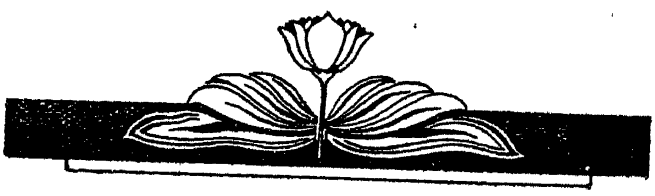

कल्याणके नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचार-समन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषाङ्कसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ६≡) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ८॥=) (१३ शिलिंग) नियत है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता।

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं, किन्तु जनवरीके अङ्कके बाद निकले हुए तब-तकके सब अङ्क उन्हें लेने होंगे। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनेके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें अड़चन हो सकती है।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये। महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो, तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता-बदलनेकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जानेकी अवस्थामें दूसरी प्रति बिना मूल्य न भेजी जा सकेगी।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला जनवरीका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया जायगा। विशेषाङ्क जनवरीका ही तथा वर्षका पहला अङ्क होगा। फिर दिसम्बर तक महीने-महीने नये अङ्क मिला करेंगे।

(८) छः आना एक साधारण संख्याका मूल्य मिलनेपर नमूना भेजा जाता है; ग्राहक बननेपर वह अङ्क न लें तो ।=) बाद दिया जा सकता है।

आवश्यक सूचनाएँ

(९) 'कल्याण'में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण'की किसीको एजेन्सी देनेका नियम नहीं है।

(१०) पुराने अङ्क, फाइलें तथा विशेषाङ्क कम या रियायती मूल्यमें नहीं दिये जाते।

(११) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनी चाहिये। पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

(१२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तिथि तथा विषय भी देना चाहिये।

(१३) ग्राहकोंको चंदा मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये। वी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं।

(१४) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। 'कल्याण'के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते। प्रेससे १) से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।

(१५) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१६) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नंबर (नये ग्राहक हों तो 'नया' लिखें), पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुरके नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि सम्पादक "कल्याण" गोरखपुरके नामसे भेजने चाहिये।

(१८) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे चंदा कम नहीं लिया जाता।

Regd. No. A. 175.

श्रीहरिः

भगवान् ही सब कुछ हैं

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः ॥
स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम् ।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
सम्पश्यन् ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना ॥

(कैवल्योपनिषद् ८—१०)

वे (परात्पर परब्रह्म परमेश्वर ही) चतुर्मुख ब्रह्मा हैं, वे ही पञ्चमुख शिव हैं, वे ही देवराज इन्द्र हैं, वे ही अक्षर परमात्मा हैं, वे ही चतुर्भुज विष्णु हैं, वे प्राण हैं, वे काल हैं, वे अग्नि हैं, वे चन्द्रमा हैं। जो कुछ हो चुका और जो कुछ आगे होनेवाला है, सब वे ही हैं। उन सनातन भगवान्‌को जानकर जीव मृत्युके परे चला जाता है। इसके अतिरिक्त मुक्तिका अन्य कोई उपाय नहीं है। जो इन परमात्माको सब चराचर भूत-प्राणियोंमें देखता है और सब भूतप्राणियोंको परमात्मामें देखता है अर्थात् सब प्रकारसे एक भगवान्‌को ही सदा सर्वत्र देखता है, वह उन पर-ब्रह्मको प्राप्त करता है। दूसरे किसी उपायसे उनकी प्राप्ति नहीं होती।

ह. ठ. ए 1954 7-
M. Vaishnava
22-2-49
वर्ष २३
अङ्क २

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर फाल्गुन, फरवरी सन् १९४९ की

विषय			पृष्ठ-संख्या
१–सेवाके आदर्श [कविता]	...	...	७७७
२–कल्याण ('शिव')	...	...	७७८
३–संसारका वास्तविक स्वरूप (श्री १००८ श्रीपूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)			७७९
४–जीवन जलके बुद्बुदेके समान है [कविता] ('रत्नाकर')	...	...	७८०
५–दुःखनाशका अमोघ उपाय	...	...	७८१
६–दुःखसे तरनेका उपाय [कविता] (श्रीनानकजी)		...	७८४
७–श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन	...	...	७८५
८–श्रीरामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैतवाद (साहित्यमहोपाध्याय पं० श्रीजनार्दनजी मिश्र 'पङ्कज' साहित्यव्याकरणाचार्य, काव्यतीर्थ, बी० ए०, साहित्यरत्न, साहित्यालङ्कार)		...	७८८
९–नाथ-भागवत (श्रीवि० हर्षे एम्० ए०, साहित्यविशारद)		...	७९३
१०–दीनता (पं० श्रीमूलनारायणजी मालवीय)		...	७९९
११–वैदिक-साहित्यका परिचय (पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)		...	८०२
१२–किसके द्वार जायँ [कविता] (श्रीव्यासजी)		...	८०७
१३–प्रशान्त [कहानी] (श्री 'चक्र')	...	...	८०८
१४–शान्तिकी खोज (साधुवेषमें एक पथिक)		...	८१५
१५–पक्षी [कहानी] (श्रीआत्मारामजी देवकर 'साहित्यमनीषी')		...	८१७
१६–जीवनका दार्शनिक विश्लेषण और प्राच्यदर्शनके अनुसार उसकी व्याख्या (श्रीजयनारायणजी मल्लिक, एम्० ए०, साहित्याचार्य, साहित्यालङ्कार)		...	८१८
१७–वही बचेगा [कविता] (श्रीभारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी)		...	८२४
१८–चातक चतुर राम स्याम घनके (पं० श्रीरामकिङ्करजी उपाध्याय)		...	८२५
१९–कामके पत्र	...	...	८२९
२०–संसारमें मनुष्यका वास्तविक शत्रु (डा० महम्मद हाफिज सैयद, एम्० ए०, पी-एच्०डी०, डी० लिट्)			८३७
२१–अपूर्व आत्मसमर्पण (श्रीयुत एस० एम० बोरा)		...	८३९

चित्र-सूची

तिरंगा

१–सेवाके आदर्श श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी	...	... ७७७

वार्षिक मूल्य
भारतमें ६≡)
विदेशमें ८॥=)
(१२ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।=)
विदेशमें ॥–)
(१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

सेवाके आदर्श श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।

वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने । कालिन्दीकूललीलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥
वल्गुवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने । नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥

वर्ष २३ | गोरखपुर, सौर फाल्गुन २००५, फरवरी १९४९ | संख्या २ पूर्ण संख्या २६७

सेवाके आदर्श

बसे रघुनंदन कानन जाय ।
जनकलली लछिमन दोउ सेवत संतत सहज सुभाय ॥
प्रमुदित-मन पदकमल पलोटति सीय सहित अनुराग ।
निरखति नित निरुपम छबि माधुरि भरि नयनन्हि, बड़भाग ॥
सूर संत सौमित्रि अन्न-निद्रा-तियदर्शन त्याग ।
सदा सचेत धनुष कर धारे रहे रैन-दिन जाग ॥
अतुलित मूर्तिमंत सेवा जनु शोभित उभय शरीर ।
सर्वभाव सर्बस करि अर्पन भजत सदा रघुबीर ॥

याद रक्खो—श्रीभगवान्‌के आश्रय बिना सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्यादि सद्गुण वैसे ही नहीं ठहर सकते, जैसे बिना प्राणोंके शरीरकी इन्द्रियाँ। भगवान्‌का आश्रय न होनेपर सद्गुणोंसे मनुष्यके मनमें वह अभिमान उत्पन्न होता है, जो समस्त सद्गुणोंका नाशक और दुर्गुणोंका जनक है और तुरंत ही अपने परिवारको फैलाकर सद्गुणोंको हृदयसे निकाल देता है।

याद रक्खो—अभिमान मनुष्यको अपने दोष देखनेका अवसर ही नहीं आने देता, वह निरन्तर उसे अंधा बनाये रखता है, जिससे मनुष्य अपनी तनिक-सी भी सच्ची समालोचना, जो उसके लिये परम हितकर होती है, नहीं सह सकता; एवं इसलिये सहज ही दोषोंका घर बन जाता है।

याद रक्खो—जो मनुष्य अभिमानके वशमें होकर केवल जगत्-सम्मानके लिये लालायित हो उठता है, उसमें एक ऐसी दुर्बलता आ जाती है जो उसके हृदयमें एक विषाक्त क्षत कर देती है। फिर वह सम्मानके लोभसे अपने अपराध, पाप, दोष, स्वार्थपरता, कृतघ्नता, नीचाशयता, परस्वापहरणला, परसुखकातरता आदि जघन्य वृत्तियोंको छिपाकर अपनेको सत्पुरुष प्रसिद्ध करनेके लिये न मालूम कितनी नयी-नयी झूठ बोलता है, कितने सुन्दर स्वाँग बनाता है और कितने उपदेश करता है, इससे उसको परिणाममें सम्मान तो मिलता ही नहीं; प्रत्युत उसके भीतरका घाव बढ़ता ही जाता है एवं अन्तमें ऐसी स्थिति हो जाती है कि एक दिन उसकी भीषण यन्त्रणासे छटपटाकर उसे आर्त पुकार करनी पड़ती है, परंतु फिर उसकी रक्षाका कोई सहज साधन नहीं रह जाता।

याद रक्खो—जो अपने अपराधोंको छिपाता है और दूसरोंपर सहस्रों नये-नये दोष मढ़नेका प्रयत्न करता है—वह बड़ा ही अभागा है। उसमें कभी सद्गुण आ ही नहीं सकते। सद्गुणोंको लाना और उन्हें स्थायीरूपसे अपने अंदर बसाना हो तो समस्त सद्गुणोंके समुद्र भगवान्‌को हृदयमें बसा लो।

याद रक्खो—भगवान्‌के हृदयमें आते ही समस्त दुर्गुण वैसे ही नष्ट हो जायँगे, जैसे सूर्यका उदय होते ही अन्धकार मर जाता है। जगत्‌का यह सूर्य तो फिर छिपता भी है, परंतु भगवान् एक बार जिसके हृदयमें उदय हो जाते हैं—फिर वे कभी छिपते ही नहीं; एक बार जिसके हृदयमें आ बसते हैं, फिर वहाँसे निकालनेपर भी नहीं निकलते।

याद रक्खो—दुर्गुणोंका ही परिणाम दुःख है, जब दुर्गुण नहीं रहेंगे, तब दुःख भी नहीं रहेंगे। और सद्गुण आ जायँगे तो सद्गुणोंका स्वाभाविक परिणाम सुख भी अनायास ही आवेगा। साथ ही भगवान्‌की निवासभूमिमें सद्गुण उनके स्वभावगत होनेसे सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि ये सद्गुण फिर कभी नष्ट नहीं होंगे, इसलिये सुख भी स्थायी और आत्यन्तिक होगा।

याद रक्खो—वस्तुतः सुख किसी सद्गुणमें नहीं है या सद्गुणका परिणाम भी नहीं है। यह तो भगवान्‌में स्वभावगत वैसे ही है, जैसे सूर्यमें स्वभावतः ही प्रकाश और उष्णता होती है और उनसे अन्धकार एवं सर्दीका स्वाभाविक नाश होकर विलक्षण दृष्टिशक्ति और स्फूर्ति प्राप्त होती है। भगवान्‌से रहित जो सद्गुण हैं, वे वस्तुतः सद्गुण ही नहीं हैं। वे तो वैसे ही नकली गुण हैं जैसे मिट्टीपर रंग चढ़ाये हुए नकली आम, अमरूद, संतरे, सेब आदि खिलौने होते हैं। जो ऊपरसे फल-से दीखते हैं परंतु वे हैं केवल मिट्टी-ही-मिट्टी। इसी प्रकार भगवान्‌से रहित सद्गुण केवल

कल्पनामात्र होते हैं। इस बातको समझो और समझकर निरन्तर अपने हृदयमें भगवान्‌को बसानेका प्रयत्न करो।

याद रक्खो—भगवान् तो सभीके हृदयमें हैं; परंतु तुम इस बातपर विश्वास नहीं करते, इसीसे नित्य निवास करनेवाले भगवान् भी वहाँ प्रकट नहीं हो पाते। और इसीसे सद्गुण टिक नहीं पाते तथा दुर्गुणोंका परिवार बढ़ता रहता है। भजनके द्वारा विश्वास प्राप्त करो और फिर विश्वासकी आँखोंसे देखो, भगवान् तुम्हारे अंदर प्रकट हो जायँगे। उनके प्रकट होते ही तुम सब प्रकारसे निहाल हो जाओगे।

'शिव'

संसारका वास्तविक स्वरूप

(श्री १००८ श्रीपूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

सम्पूर्ण व्यावहारिक प्रपञ्च स्वप्नवत् है, फिर भी अबाधित चिरकालानुवृत्त होनेके कारण उसमें दृढ़ प्रत्यय होता है, अचित् बाधित होनेसे स्वप्नमें इतना दृढ़ प्रत्यय नहीं होता। कभी किसी दीर्घ स्वप्नमें अभिनिवेशाधिक्यसे जागनेपर भय-कम्पादि होता रहता है, सहसा उसकी सत्तामें अविश्वास नहीं होता। प्राणियोंके भोगारम्भक शुभाशुभ अदृष्ट भी कुछ प्रत्यय-दार्ढ्यमें हेतु हो जाते हैं। यह बात अलग है कि सब स्वप्न एक-से नहीं होते, उनकी विचित्रता स्पष्ट ही है। भ्रममें कोई भी बात असम्भव नहीं है। समुद्रमें बड़वानलके समान जलमें अग्नि, आकाशमें नगर, शिलामें पङ्कज, शिलाके भीतर सृष्टि, शिलाओंका उड़ना आदि भी सम्भव होते हैं। यन्त्रपुमान्‌के समान अचेतनका भी कर्म करना दृष्ट है। स्वप्ननिमग्नबुद्धि प्राणी स्वप्नकी स्थिरता और सत्यताका जैसे अनुभव करता है, वैसे ही सर्गनिमग्नबुद्धि प्राणी सर्गको सत्य और स्थिर देखता है। स्वप्नसे स्वप्नान्तरगमनके समान ही सर्गभ्रमण भी होता है।

इसी सम्बन्धमें 'योगवाशिष्ठ'का भिक्षूपाख्यान है। समाधिसम्पन्न भिक्षुके शुद्ध चित्तके सङ्कल्पसे लीलया एक जीवट नामक सामान्य मनुष्य उत्पन्न हुआ। वही स्वप्नमें अपने-आपको वेदपाठी ब्राह्मण देखने लगा। ब्राह्मणने भी निद्रामें पड़कर स्वप्नमें अपनेको सामन्त देखा। सामन्तने स्वप्नमें अपनेको सम्राट् देखा। सम्राट् स्वप्नमें अप्सरा हो गये। अप्सरा भी स्वप्नमें मृगी बन गयी। मृगी स्वप्नमें लता बन गयी। लता कटकर भ्रमर बन गयी और पद्मिनीमें आसक्त होकर मदान्ध गजद्वारा कमलिनीके साथ ही वह भी नष्ट होकर मदान्ध गज बन गया। गज भी मरकर भ्रमरोंको देखता-देखता भ्रमर हो गया और फिर गजपादसे चूर्णित हो गया। हंसकी भावनासे वही हंस हो गया। हंस मरकर सारस हो गया, सारसने रुद्रको देखकर रुद्र होना चाहा और रुद्र हो गया (यहाँ रुद्रका अर्थ रुद्रसारूप्यप्राप्त रुद्रगण है)। रुद्र होते ही जब सर्वज्ञता आ गयी, तब अपने अनेकानेक जन्मों और स्वप्नोंकी सब कथा उसकी स्मृतिमें आयी। अहो! असत्या ही जगन्मोहिनी माया मरुभूमिमें यद्यपि जलके समान ही है, तथापि कितनी विचित्रता इसमें है। जो मैं प्रथम केवल चिन्मात्र था, वह चित्त बना। गगनादि प्रपञ्चकी भावना करके जीव बना। फिर भिक्षु, फिर स्वप्नसे स्वप्नमें भटकते हुए कहाँसे कहाँ गया। यह सब भावना और सङ्कल्पके अभ्यासका ही परिणाम है। देहादिप्राप्तिमें भी सङ्ग, सङ्कल्प, भावना ही निमित्त होती है। यह भावना आदि विचार करने-

पर कुछ भी नहीं ठहरते। इस सम्पूर्ण संसारभ्रमका एकमात्र असंवेदन ही मार्जन है। यह सब विचारकर रुद्रने शयान भिक्षुको जगाया। जागकर तत्त्वज्ञ भिक्षुने विचित्र स्वप्नपरम्पराका स्मरण किया। पुनः दोनों मिलकर जीवटके पास गये, उसे प्रबुद्ध किया। ये सब पृथक्-पृथक् सर्गके ही आकाशमें थे। फिर उन तीनोंने विप्रके संसारमें जाकर उसे जगाया। इस तरह सामन्त, राजा, सुराङ्गना आदि पूर्वोक्त सभी मिलकर अन्तमें रुद्रभावको प्राप्त हुए। सभी निरावरण चित्स्वरूप होकर अवेदनात्मक मोक्षको प्राप्त हुए।

संवेदन ही सर्ग और बन्ध है, अवेदन ही मोक्ष है। सर्वसाधारणके सङ्कल्पमें अभ्यासाभावसे शक्ति नहीं होती, तथापि एकाग्रतासे दृढ़ सङ्कल्प करनेवाले योगीलोग एक क्षणमें ही अनेक देहोंका निर्माण कर लेते हैं। जैसे क्षीरसागरमें रहते हुए शेषशायी भगवान् अन्यत्र सहस्रों अवतारकार्य करते हैं, वैसे ही सिद्धसङ्कल्प योगियोंके सङ्कल्पानुसार ही सृष्टिपरम्परा चल पड़ती है। दूसरे प्राणी प्राक्तन शुभाशुभ कर्मानुसारी दृढ़ सङ्कल्पके अनुसार संसारको प्राप्त होते हैं। इस तरह कर्मानुसार सभी जीव एक स्वप्नसे दूसरे स्वप्नमें भटक रहे हैं। शान्त, निर्विकार ब्रह्मभावका बोध होनेपर प्राणरोध, इन्द्रियरोधके बिना, दृश्य प्रपञ्चके अस्तगमनके बिना भी सब कुछ सर्वदा शान्त, शुद्ध, मौन ब्रह्म ही उपलब्ध होता है। प्रयत्नानपेक्ष इसी अवस्थाको सौषुप्त-मौन कहा है। इसमें यथास्थित वस्तुके बोधमात्रसे यथास्थित अनाद्यनन्त उदयास्तवर्जित, आकाशसे भी परम सूक्ष्म, शिलासे भी अनन्त घन, निरवकाश, ठोस, शुद्ध, अमल ब्रह्म अपने आपमें ही स्थित रहता है।

वासनामात्र ही चित्त है। चित्तके अभावमें ही परमपद है। रज्जु-सर्पभ्रमके समान इस संसृतिका विवेकमात्रसे बाध हो जाता है। एकार्थाभ्यास, प्राणरोध, मनोनाश ये सब संसृतिसमाप्तिमें कारण हैं। प्राणके शान्त होनेपर मन शान्त होता है, मनःस्पन्दके शान्त होनेपर प्राणस्पन्द भी शान्त होता है। ये दोनों आपसमें रथ-रथीके समान हैं। एकके अभावमें दोनोंका ही अभाव हो जाता है। अनन्तात्मतत्त्वका विचार करके उसीका दृढाभ्यास करनेसे मनको ब्रह्माकार बनाना चाहिये। अज्ञान और ज्ञान दोनोंका ही बाध होनेसे अधिष्ठानतत्त्व ही रह जाता है। सम्पूर्ण द्वैत अविद्यामात्र है। अविद्या भी चित्तमात्र है। चित्त भी स्वभासक अधिष्ठानमात्र है। विचारसे क्षणमें जीव अजीव, चित्त अचित्त हो जाता है। मृगतृष्णा-जलके समान ही मन और अहन्तादि संसार उपलब्ध होता है। सब असत् ही है। किञ्चिन्मात्र विचारसे इसका बाध हो जाता है।

जीवन जलके बुद्बुदेके समान है

फूले फूले फिरत कहौ तौ तुम कापै अहो याकी तो महत्ता सत्ता सब कछु जानी है।
कहै 'रतनाकर' विडंबना विचित्र जेती जीवनके चित्र सौं न अधिक प्रमानी है॥
हाँ सौं नहीं होति औ नहीं सौं होति हाँ है सदा तातैं हाँ चहैयनि नहीं सौं रुचि मानी है।
इहिं भवसागर मैं स्वास आस ही पै बस पानीके बबूले-सी थिरानी जिंदगानी है॥

हमारे अंदर ये तीन बातें होनी चाहिये । वास्तवमें ही प्रभुका प्रत्येक विधान मङ्गलसे ही भरा होता है, प्रत्येक परिस्थितिकी ओटमें उनके मङ्गलमय हाथ छिपे हैं। लोगों-को ऐसी अनुभूति होती है, हो चुकी है, हमें भी ऐसा अनुभव हो सकता है, यह दृढ़ विश्वास हमारे अंदर हो । तथा इस विश्वासके अनन्तर इसे प्रत्यक्ष अनुभव कर लेनेके लिये हमारा प्रयत्न आरम्भ हो । प्रयत्नका रूप सर्वथा सबके लिये एक नहीं हो सकता । अधिकारी-भेदसे उसके अनेकों रूप बन सकते हैं । पर अधिकांश-के लिये लाभकारी एक साधन यह है—

हमारा जीवन कितना भी व्यस्त क्यों न हो, हमें चाहिये कि प्रतिदिन हम कुछ समय निकालकर यथा-सम्भव किसी एकान्तस्थानमें जा बैठें । सुखपूर्वक बैठकर अपने नेत्र बंद कर लें । निद्रा आ जानेकी सम्भावना हो तो नेत्र खुले ही रक्खें । तदनन्तर मनकी वृत्तियोंको सब ओरसे बटोरकर शान्तिसे मन-ही-मन इन भावोंकी आवृत्ति आरम्भ करें—

'हमारे चारों ओर इस निर्मल आकाशके अणु-अणुमें प्रभु ओतप्रोत हैं, वायुके प्रत्येक स्पन्दनमें प्रभु भरे हैं, सूर्य-चन्द्रकी किरणोंमें, अग्निमें प्रभुकी ही ज्योति भरी है, जल प्रभुके ही रससे परिपूर्ण है, पृथ्वीके कण-कणमें प्रभु विराजित हैं, चर-अचर समस्त प्राणियोंमें प्रभुका निवास है, सबकी सत्ता प्रभुकी सत्तापर ही निर्भर है, हमारी इन्द्रियोंमें समस्त शक्तियाँ सर्वशक्तिमान् प्रभुकी ओरसे आ रही हैं। नेत्र प्रभुकी शक्तिसे देख पाते हैं । कान प्रभुकी शक्तिसे श्रवण करते हैं । त्वचा प्रभुकी शक्तिसे स्पर्शका अनुभव करती है। नासा प्रभुकी शक्तिसे गन्ध ग्रहण करती है । रसना प्रभुकी शक्तिसे रस लेती है । हाथोंमें काम करनेकी शक्ति प्रभुकी ओर-से आ रही है । पैरोंमें चलनेकी शक्ति प्रभु देते हैं । हमारा मन प्रभुकी शक्तिसे मनन करता है । हमारी बुद्धि प्रभुकी शक्तिसे निश्चय करती है । समस्त जगत्में जहाँ जिसमें, जो कुछ भी हलन-चलन क्रिया है, सब प्रभुकी सत्ता एवं शक्तिसे ही हो रही है । प्रभु अनन्त मङ्गलमय हैं, उनमें सर्वथा सदा मङ्गल-ही-मङ्गल भरा है । प्रभु एवं प्रभुका विधान दो वस्तु नहीं है । जो प्रभु है, वही प्रभुका विधान है । विधाता और विधान, लीलामय और लीला एक ही है । अतः मङ्गलमय प्रभुका प्रत्येक विधान अनन्त असीम मङ्गलसे भरा है । जगत्में जो कुछ हुआ है, हो रहा है, होगा—सबमें मङ्गल भरा है । अबतक मेरे लिये जिसने जो भी जैसी भी चेष्टा की है, कर रहा है, करेगा—सबमें मेरे प्रभु भरे हैं, उनकी मङ्गलमयता भरी है ।'

इस प्रकारके भावोंकी, कुछ देर पुनः-पुनः रस ले-लेकर आवृत्ति करते रहें । इस भावनाका परिणाम यह होगा कि ये विचार हमारे चारों ओर फैल जायँगे तथा अन्य समयमें भी, जब कि हम दूसरे-दूसरे कार्योंमें व्यस्त रहेंगे, ये रह-रहकर हमारे मनमें स्फुरित होते रहेंगे । जैसे-जैसे एकान्तका अभ्यास दृढ़ होगा, वैसे-वैसे व्यवहारके समय ऐसी स्फुरणाएँ अधिकाधिक होने लगेंगी । आज जो हमारा वातावरण प्रभुसे शून्य है, वह प्रभुसे भरने लगेगा। क्षण-क्षणमें क्षुद्र-से-क्षुद्र घटनामें अमङ्गलकी भावना होकर हमें जो प्रतिकूलताकी प्रतीति होती है, वह मिटने लगेगी । पद-पदपर जो हमारा अहङ्कार जाग उठता है, वह भी शिथिल पड़ने लगेगा। शत्रु-मित्र, दुष्ट-साधु, ऊँच-नीच—सर्वत्र सबमें समान-रूपसे एकमात्र प्रभुकी सत्ता स्फुरित होने लगेगी । अन्तमें प्रभुके अतिरिक्त अन्य कोई भी सत्ता नहीं बच रहेगी । बस, उसी समय हमारी प्रतिकूलताका भी अन्त हो जायगा, हमारा दुःख भी सदाके लिये जाता रहेगा ।

किंतु यह स्थिति प्राप्त होगी पूरी लगनसे इस अभ्यासमें जुट पड़नेपर ही । आज किया, कल नहीं; दो दिन भावना की, चार दिन नहीं—ऐसे अभ्याससे सफलताकी आशा नहीं है । प्रतिदिन नियमपूर्वक

कोई भी व्यतिक्रम न करके ऐसी भावनाके अभ्यासमें जब हम लगेंगे, तभी हमारे उद्देश्यकी सिद्धि होगी। अन्यथा प्रतिकूल परिस्थिति सामने आते ही ठीक अवसर-पर ही हमें इस भावनाकी विस्मृति हो जायगी तथा स्वभाववश पूर्वकी भाँति ही प्रतिकूलताका अनुभव करके हम दुखी होते रहेंगे।

इस अभ्यासका क्रम निभता रहे, इसके लिये अपने अंदर प्रभुकी दी हुई शक्तियोंका सदा सदुपयोग हो, दुरुपयोग कदापि न हो जाय, इसके लिये भी सावधानी रखना आवश्यक है। जबतक हममें अहङ्कार है, तबतक हम सदा सजग रहें—व्यवहारके समय हमारे नेत्र सदा उचित, आवश्यक, पवित्र, निर्मल दृश्य-को ही अपने अंदर भरें; कदापि अनुचित, अनावश्यक अशुद्ध मलिनको स्थान न दें। श्रवणेन्द्रिय सदा पवित्र शब्द ही ग्रहण करे, कदापि अश्लील अनावश्यक शब्दों-की ओर न झुके। घ्राण, त्वक्, रसना, कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि—सभी शुभमें प्रवृत्त हों; भूलकर भी घ्राण शौकीनीके लिये किसी गंदी गन्धसे न जुड़ जाय; ऐश-आरामकी भावना लेकर त्वक् कदापि अनुचित अवैध स्पर्शमें न संलग्न हो जाय; स्वादकी आसक्तिवश रसना अखाद्य-में तो प्रवृत्त हो ही नहीं, खाद्यमें भी चटोरी न बन जाय। कर्मेन्द्रियाँ अनावश्यक क्रियाशील कदापि न हों; हमारा मन अनर्थक सङ्कल्प-विकल्पोंमें न लगे। बुद्धि क्षणभरके लिये भी व्यर्थ बातोंका निर्णय देनेमें निश्चय करनेमें न फँस जाय। इस प्रकार हमारे अंदर प्रभुकी दी हुई सम्पूर्ण शक्तियोंको हम नियन्त्रित करके अपने निश्चित उद्देश्यकी सिद्धिमें लगा दें। इनका सदुपयोग करें, दुरुपयोग नहीं। फिर प्रत्येक घटनाको ठीक-ठीक ग्रहण करनेकी—प्रभुसे जुड़ी हुई देखनेकी योग्यता हमारे अंदर उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी। क्षोभ—दुःखके प्रसङ्ग उपस्थित होनेपर भी क्रमशः दुःखका भाव कम होता जायगा।

हम कह सकते हैं कि ठीक है, बाहरकी घटनाओंमें तो हमारा प्रतिकूल भाव ही हमारे दुःखमें हेतु है, उसके प्रति भावना परिवर्तन करनेसे हमारा दुःख मिट सकता है; किंतु मान लें, हमारे शरीरमें कहीं भयङ्कर फोड़ा हो गया, उसकी पीड़ासे हम व्याकुल हो रहे हैं। हमें दुःख हो रहा है। ऐसे अवसरपर तो हमें प्रतिकूलताकी अनुभूति होगी ही, दुःख होगा ही। यह दुःख तो घटनाजन्य ही है, इसमें हमारा भाव कैसे हेतु हुआ? तो इसका उत्तर यह है कि यहाँ भी हमारे दृष्टिकोणका ही अन्तर है। साथ ही यह भी समझ रखनेकी बात है कि पीड़ाका अनुभव होना और बात है तथा दुःख होना दूसरी बात है। यदि हमारा दृष्टिकोण बदल जाय, इस घटनाको भी हम ठीक-ठीक ग्रहण करना सीख जायँ तो पीड़ाकी अनुभूति तो होगी, पर दुःख हमें सर्वथा नहीं होगा। यदि किसी प्रकार फोड़ेके प्रति हमारी यह भावना हो जाय कि यह तो प्रभुका प्रसाद है, दयामयके विधानसे आया है, और आया है मेरे दुष्कर्मोंका भार हलका करनेके लिये; नहीं-नहीं, स्वयं ही प्रभु इस रूपमें मुझे स्पर्श कर रहे हैं—ऐसा हमारा दृष्टिकोण हो जाय तो फिर सच मानें, पीड़ाकी अनुभूतिके साथ-ही-साथ एक परम सात्त्विक सुखकी अनुभूति होगी; दुःख तो रत्तीमात्र भी नहीं होगा। ऐसी भावना हो जाना अथवा इस भावना-की बातको अच्छी तरह समझ लेना मात्र भी कठिन अवश्य है। पर कठिनाई भी इसीलिये है कि हमने कभी भी सच्चे मनसे प्रभुकी सत्ताको स्वीकार नहीं किया। जिन्होंने स्वीकार किया है, उनके लिये यह ध्रुव सत्य सिद्धान्त है। उन्हें इसके आचरणमें ऐसी भावना करने-में परिश्रम भी नहीं करना पड़ता। प्रभुके अस्तित्वकी स्वीकृति उन्हें स्वतः ऐसे भावना-राज्यमें पहुँचा देती है।

बृहदारण्यक श्रुति है—

एतद् वै परमं तपो यद् व्याहितस्तप्यते परमं ह वै लोकं जयति य एवं वेद।

कोई ज्वरादि व्याधियोंसे अत्यन्त पीड़ित है, शरीर ज्वरके तापसे जल रहा है। उसे ऐसी भावना करनी चाहिये कि यही मेरे लिये परम तप है, मैं तप कर रहा हूँ। जो ऐसा मानता है वह इस भावनाके फलस्वरूप परम लोकको जीत लेता है।'

ऐसे ही यदि हम फोड़ेमें अथवा शरीरकी अन्य व्याधियोंमें, शरीरसम्बन्धी प्रत्येक प्रतिकूल घटनामें प्रभुके प्रसादकी, स्वयं प्रभुकी भावना करके उस घटनाके प्रति अपना दृष्टिकोण बदल लें, तो पीड़ाकी अनुभूति होनेपर भी हमारा दुःख तो निश्चय ही जाता रहे।

लोकमें भी हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि एक व्यक्ति आत्मशुद्धिके लिये किसी दिन व्रत रखकर उपवास करता है, वही किसी दिन संयोग-क्रमसे भोजनकी व्यवस्था न होनेके कारण भूखा रह जाता है। दोनों ही दिन भूखकी पीड़ा तो उसे समान भावसे होती है; किंतु व्रतवाले दिन वह पीड़ाको सुखपूर्वक सहन करता है, साथ ही व्रतका पालन हो रहा है, इस सुखका अनुभव करते हुए उस दिन होनेवाले उत्सवमें वह उल्लास-पूर्वक सम्मिलित भी होता है। भूखकी पीड़ा होते हुए भी उसके अन्तरमें दुःखकी छाया भी नहीं है। पर वही व्यक्ति दूसरे दिन भोजन न मिलनेके कारण दुखी है, चिन्तित हो रहा है कि क्या करें, भोजनकी व्यवस्था अभीतक नहीं हो सकी है, सन्ध्या होने जा रही है। उस दिन अन्य कार्योंमें भी उसका मन नहीं लगता। भूखकी पीड़ासे मन-ही-मन व्यथित होकर वह सारा उत्साह खो बैठता है। ऐसा क्यों? भूखका अनुभव तो दोनों दिन समान भावसे ही होता है? ऐसा इसीलिये कि पहले दिन वह भूख, भूखकी पीड़ा उसके लिये अनुकूल है, और दूसरे दिन प्रतिकूल। दृष्टिकोणमें भेद होनेसे ही एक ही प्रकारकी घटना एक दिन सुख और दूसरे दिन दुःखका कारण बन जाती है। कदाचित् वह दृष्टिकोण बदल सके; ऐसा सोच ले कि मङ्गलमय प्रभु-के विधानसे ही आज मुझे भोजन नहीं मिला, इसमें निश्चय ही मेरा कोई अत्यन्त मङ्गल छिपा है, तो वह तत्क्षण सुखी हो जाय।

अबतकके विवेचनका सारांश यह है कि घटनामें दुःख नहीं है। घटनाके प्रति प्रतिकूल भावना ही हमारे दुःखका सृजन करती है। अतः यदि हम अपना दुःख मिटाना चाहते हों तो घटनाकी ओर न देखकर उसमें ओतप्रोत प्रभुकी ओर दृष्टि स्थिर करें। उनकी ओर दृष्टि लगी कि बस, वे-ही-वे दीखने लगेंगे, सर्वत्र उनके ही मङ्गलमय कर-कमल काम करते दीखेंगे। फिर हमारी प्रतिकूलता मिट जायगी और हमारा दुःख भी सदाके लिये समाप्त हो जायगा। दुःखनाशका यही अमोघ उपाय है।

दुःखसे तरनेका उपाय

जो नर दुखमें दुख नहिं मानै।
सुख सनेह अरु भय नहिं जाके, कंचन माटी जानै॥
नहिं निंदा नहिं अस्तुति जाके, लोभ मोह अभिमाना।
हरष-सोकतें रहै नियारो, नाहिं मान-अपमाना॥
आसा-मनसा सकल त्यागिकै, जगतें रहै निरासा।
काम क्रोध जेहि परसै नाहिन, तेहिं घट ब्रह्म निवासा॥
गुरु किरपा जेहिं नरपै कीन्ही, तिन यह जुगति पिछानी।
नानक लीन भयो गोविंदसों, ज्यों पानी सँग पानी॥

—नानकजी

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

[वर्ष २२, पृष्ठ १४५६ से आगे]

(२८)

कज्जलमिश्रित अश्रुप्रवाह उनके कपोलोंको सिक्त कर रहा है, आकुल नेत्र बारंबार आभीरसुन्दरियोंसे कुछ मूक विनय, दया-याचना-सी कर रहे हैं; कुन्तलराशि मुखचन्द्रपर बिखर गयी है—इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र अतिशय करुण-अवस्थामें ऊखलसे बँधे खड़े हैं। गोपसुन्दरियाँ उन्हें घेरे खड़ी हैं। सभी चाहती हैं—व्रजेश्वरी अब द्रवित हो जायँ, स्वल्प अपराधके लिये पर्याप्त दण्ड वे अपने नीलमणिको दे चुकीं। एकने यशोदारानीसे बन्धन खोल देनेकी प्रार्थना की—

जसुदा तेरौ मुख हरि जोवै।
कमलनैन हरि हिचिकिनि रोवै, बंधन छोरि जसोवै॥

दूसरी समझाने लगी—

जो तेरौ सुत खरौ अचगरौ, तऊ कोखिकौ जायौ।
कहा भयौ जो घरकैं ढोटा, चोरी माखन खायौ॥

तीसरीने भी समझाया—

जसुदा यह न बूझिकौ काम।
कमलनैनकी भुजा देखि धौं, तैं बाँधे हैं दाम॥
पुत्रहु ते प्यारौ कोउ है री, कुल-दीपक मनि-धाम।
हरि पर वारि डारि सब तन, मन, धन गोरस अरु ग्राम॥

एक वृद्धा गोपीमें तो कुछ दैवी आवेश हो गया, उसके नेत्रोंमें रोष भर आया, सारे अङ्ग किसी विचित्र तेजःपुञ्जसे व्याप्त हो गये। वह यशोदारानीकी भर्त्सना करती हुई भगवत्तत्त्वकी बातें बताने लगी और श्रीकृष्ण-चन्द्रको छोड़ देनेके लिये व्रजेश्वरीको शपथ देने लगी—

(जसोदा !) तेरौ भलौ हियौ है माई।
कमल-नैन माखनकैं कारन, बाँधे ऊखल ल्याई॥
जो संपदा देव-मुनि-दुर्लभ सपनेहुँ देइ न दिखाई।
याही तैं तू गर्ब भुलानी, घर बैठे निधि पाई॥
जो मूरति जल-थल मैं व्यापक निगम न खोजत पाई।
सो मूरति तैं अपनैं आँगन, चुटकी दै जु नचाई॥
तब काहू सुत रोवत देखति, दौरि लेति हिय लाई।
अब अपने घरके लरिका सौं इती करति निठुराई॥
बारंबार सजल लोचन करि चितवत कुँवर कन्हाई।
कहा करौं, बलि जाउँ छोरि तू, तेरी सौंह दिवाई॥
सुर पालक, असुरनि उर सालक, त्रिभुवन जाहि डराई।
सूरदास प्रभुकी यह लीला, निगम नेति नित गाई॥

किंतु व्रजेश्वरीका हृदय तो आज मानो पाषाण बन गया है। वे किसीकी बातसे तनिक भी द्रवित नहीं होतीं। अपि तु सबका इतना आग्रह देखकर उलटे खीझ जाती हैं और कहने लगती हैं—

जाहु चली अपनैं-अपनैं घर।
तुमहिं सबनि मिलि ढीठ करायौ, अब आईं छोरन बर॥
मोहिं अपने बाबाकी सौंहैं, कान्हहिं अब न पत्याउँ।
भवन जाहु अपनैं-अपनैं सब, लागति हौं मैं पाउँ॥
मोकौ जनि बरजौ जुवती कोउ, देखौ हरिके ख्याल।
सूर स्याम सौं कहति जसोदा, बड़े नंदके लाल॥

व्रजरानी इतनी कठोर तो कभी नहीं थीं! उन्होंने इतना रूक्ष व्यवहार तो हम सबसे आजतक कभी नहीं किया! गोपरामाओंके हृदयमें ठेस-सी लगती है। उन सबमें रोषका सञ्चार हो जाता है। वे बोलीं—

ऐसी रिस तोकौं नँदरानी।
भली बुद्धि तेरैं जिय उपजी, बड़ी बैस अब भई सयानी॥
ढोटा एक भयौ कैसैंहु करि, कौन-कौन करबर बिधि भानी।
क्रम-क्रम करि अब लौं उबरयौ है, ताकौं मारि पितर दै पानी!
को निरदई रहै तेरैं घर, को तेरैं सँग बैठै आनी॥

तथा हृदयमें दुःखका भार लिये, अत्यन्त उदास, अतिशय खिन्न वे अपने घरकी ओर चल पड़ीं—

सुनहु सूर कहि-कहि पचि हारीं, जुवती चलीं घरनि बिरुझानी॥

पुरसुन्दरियाँ मुझे जननीके अनुशासनसे, जननी-प्रदत्त बन्धनसे मुक्त कर देंगी—श्रीकृष्णचन्द्रकी यह आशा टूट गयी। अब वे अश्रुपूरित कण्ठसे अग्रज बलरामका

नाम ले-लेकर पुकारने लगते हैं; किंतु अग्रज यहाँ कहाँ ? वे तो जननीके साथ उपनन्द-गृहमें हैं। फिर भी अनुजका आह्वान व्यर्थ नहीं होता। रोहिणी मैया कुछ भी न जान सकीं, पर रोहिणीनन्दन बलरामके हृत्तन्तुओंपर श्रीकृष्णचन्द्रका करुण क्रन्दन झङ्कृत हो उठा। वे व्याकुल हो उठे। माताके लौटनेमें तो अभी पहरभरका विलम्ब है। इतना धैर्य राममें कहाँ ? वे भाग चले, क्षणोंमें ही निर्विघ्न नन्दभवनके समीप जा पहुँचे। मार्गमें कोई बाधा नहीं आयी; क्योंकि योगमायाने उपनन्दपत्नी एवं श्रीरोहिणीके स्मृति-पथमें, 'राम यहीं खेल रहा है, या कहीं चला गया ?' इसके सामने एक झीनी चादर डाल दी थी। अस्तु—

नन्दप्राङ्गणसे लौटती हुई कुछ व्रजपुरन्ध्रियोंने बलराम-की ओर देखा एवं बलरामने उनकी ओर। एक अतिशय व्यथित गोपी चटपट श्रीकृष्णचन्द्रके ऊखल-बन्धनकी सारी बात रामको सुनाने लगी—

हलधरसौं कहि ग्वालि सुनायौ।
प्रातहिं तैं तुम्हरौ लघु भैया, जसुमति ऊखल बाँधि लगायौ॥

फिर तो रोहिणीनन्दन दौड़ पड़े, श्रीकृष्णचन्द्रके समीप चले आये। पर आह ! अनुजकी दशा देखकर रोहिणीनन्दनके नेत्र तो छल-छल करने लगे—

यह सुनिकै हलधर तहँ धाए।
देखि स्याम ऊखल सौं बाँधे, तबहीं दोउ लोचन भरि आए॥

बलराम अपने हाथसे यशोदारानीका अञ्चल धारण-कर गद्‌गद कण्ठसे बोले—

स्यामहिं छोरि मोहिं बाँधै बरु, निकसत सगुन भले नहिं पाए।
मेरे प्रान-जिवन-धन कान्हा, तिनकें भुज मोहिं बँधे दिखाए॥

ओह ! अग्रजकी बात सुनते ही यशोदारानीके प्राणोंमें टीस-सी चलने लगी। उन्हें भान हुआ कि अब कठोरताके इस झूठे स्वाँगका निर्वाह करना उनके लिये तो असंभव है; किंतु नहीं, उसी क्षण अचिन्त्यलीला-महाशक्तिने वात्सल्यरसघनमूर्ति यशोदारानीके मनको अपने हाथोंमें ले लिया। व्रजेश्वरी तो उमड़ते हुए वात्सल्य-सिन्धुमें बहने जा रही थीं, पर लीलाशक्ति उन्हें बाहर निकाल ले आयीं तथा उनपर अपना हाथ फेरकर कुछ समयके लिये धैर्य धारण करने योग्य बना डाला। अवश्य ही मैया अग्रजको बोलकर उत्तर न दे सकीं। केवल उनकी प्रार्थनाको अस्वीकार करते हुए अपना सिर किञ्चिन्मात्र हिला पायीं।

अब तो रोहिणीनन्दनको क्रोध हो आया। नेत्र और भी अरुण हो उठे। कुछ क्षण तिरछी चितवनसे जननीकी ओर देखकर वे बोले—

काहे कौं कलह नाध्यौ, दारुन दाँवरि बाँध्यौ,
कठिन लकुट लै तैं, त्रास्यौ मेरैं भैया।
नाहीं कसकत मन, निरखि कोमल तन,
तनिक-से दधि-काज, भली री तू मैया॥
हौं तौ न भयौ री घर, देख्यौ तेरी यौं भर,
फोरतौ बासन सब, जानति बलैया।
सूरदास हित हरि, लोचन आए हैं भरि,
बलहू कौं बल जाकौं सोई री कन्हैया॥

इस बार जननी मन-ही-मन हँस पड़ती हैं। साथ ही यह अनुभव करती हैं कि अब यहाँ और रुकना उचित नहीं; अन्यथा वे अपना धैर्य खो बैठेंगी; तथा इस प्रकार अबतकका सारा प्रयास निष्फल हो जायगा। इस विचारसे व्रजेश्वरी पार्श्ववर्ती प्राङ्गणमें चली जाती हैं। यहाँ रह जाते हैं—गोपशिशुओंसे आवृत, ऊखलमें निबद्ध श्रीकृष्णचन्द्र एवं उनकी ओर सकरुण दृष्टिसे देखते हुए रोहिणीनन्दन बलराम। इनके अतिरिक्त अन्तरिक्षमें अवस्थित हैं अमरवृन्द, जो श्रीकृष्णचन्द्रकी इस भक्तवत्सलताको निहार-निहारकर आनन्दसिन्धुमें डूब-उतरा रहे हैं। क्यों न हों ? सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका जननीके प्रति यह आत्मसमर्पण इस योग्य ही है। समस्त लोकपालोंके सहित यह परिदृश्यमान जगत् जिनके वशमें है, जिनपर किसीका बन्धन—शासन नहीं है, जो नित्य परम स्वतन्त्र हैं, उन

अनन्त ऐश्वर्यनिकेतन, यशोदानन्दन श्रीकृष्णचन्द्रने जननीके द्वारा दिये हुए बन्धनको स्वीकार कर आज वास्तवमें अपनी भक्ताधीनताको प्रत्यक्ष प्रकट जो कर दिया है—

एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भृत्यवश्यता।
स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे॥
(श्रीमद्भा० १०।९।१९)

जिस कृपा-वैभवका आस्वाद व्रजेश्वरीने पाया, उसे आजतक नारायणके नाभिकमलसे उत्पन्न, प्रापञ्चिक भक्तोंके आदिगुरु जगत्-विधाता ब्रह्माने भी न पाया, आत्मस्वरूप शङ्करने भी कभी उसे अनुभव न किया, वक्षःस्थल-विलासिनी लक्ष्मीको भी वह न मिला। मुक्तिपर्यन्त पुरुषार्थदाता श्रीकृष्णचन्द्रसे जो प्रसाद गोपमहिषीने पाया, वह किसीने नहीं—

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्॥
(श्रीमद्भा० १०।९।२०)

आज यह भी प्रत्यक्ष हो गया—यशोदानन्दन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको अनायास सुखपूर्वक पा लेनेका मार्ग कौन-सा है? व्रजवासियोंके समान केवल प्रेमके लिये ही प्रेम करनेवाले भक्तोंको वे जितने सुलभ हैं, उतने सुलभ किसी भी प्राणीके लिये नहीं और तो क्या अपने आत्मभूत तत्त्वज्ञानियोंके लिये भी नहीं—

नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः।
ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह॥
(श्रीमद्भा० १०।९।२१)

यह सब प्रत्यक्ष देखकर, अनुभव कर देववृन्द तो आनन्दमत्त हो गये हैं; किंतु यशोदारानीके ध्यानमें बस, इतनी-सी बात है कि अपने चञ्चल नीलमणिको उन्होंने कुछ क्षणोंके लिये ऊखलसे बाँध दिया है। 'भर्त्सनासे अपमानित मानकर, रूठकर कहीं वह वनकी ओर एकाकी भाग न जाय, इसकी उचित व्यवस्थामात्र मैंने की है।' वे तो इतना ही जानती हैं। इसीलिये दूसरे कक्षमें जाकर निश्चिन्त मनसे गृहकार्यमें संलग्न हो गयी हैं।

इधर अनुजके प्रति इतनी कठोरता एवं अपनी प्रार्थनाकी जननीकृत उपेक्षा—दोनों ही रोहिणीनन्दनके लिये असह्य हो जाती है। वे क्रोधसे दाँत पीसने लगते हैं; किंतु श्रीकृष्णचन्द्रका क्रन्दन क्रमशः शान्त होने लगता है। जबतक गोपसुन्दरियाँ थीं, जननी उपस्थित थीं, तबतक तो वे अत्यन्त व्याकुल थे। पर उनके जानेके कुछ क्षणोंके पश्चात् ही वे शान्त होने लगे। धीरे-धीरे क्रन्दन समाप्त हो जाता है; और अब तो उसके बदले उनके अरुण अधरोंपर मन्द मुसकान छा जाती है। अवश्य ही अभी यह मुसकान व्रजरानीके वात्सल्य-रसपानसे मत्त हुए, अपने अनन्त ऐश्वर्यको विस्मृत हुए स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्रकी नहीं है, यह मुसकान है उनके अधरोंकी ओटमें उनके लीलामञ्चकी अधिष्ठात्री योगमायाकी! वह व्यक्त हुई है अतिशय व्याकुल बलरामको आश्वासन देनेके लिये, क्षणभरके लिये बलराममें उनके अनुजके अनन्त असमोर्द्ध्व ऐश्वर्यका उन्मेष कर उनकी चिन्ता हर लेनेके लिये, साथ ही रसपानप्रमत्त श्रीकृष्णचन्द्रमें एक सुदूर अतीतकी—अपने परमभक्त नारदके द्वारा दी हुई प्रतिश्रुतिकी स्मृति जगानेके लिये। उस मुस्कानने रोहिणीनन्दनकी चिन्ता हर ली। ठीक वैसी ही एक किरण उनके अधरोंपर भी व्यक्त हो जाती है, तथा नेत्रोंमें ऐश्वर्यका चित्रपट भर जाता है—

निरखि स्याम हलधर मुसुकाने।
को बाँधै, को छोरै इनकौं, यह महिमा येई पै जाने॥
उतपति प्रलय करत हैं येई, सेष सहस-मुख सुजस बखाने।
जमलार्जुन तरु तोरि उधारन, कारन करन आपु मन माने॥
असुर-सँहारन, भक्तनि तारन, पावन-पतित कहावत बाने।
सूरदास प्रभु भाव-भक्तिके, अति हित जसुमति हाथ बिकाने॥

श्रीकृष्णचन्द्र भी मानो जाग-से उठते हैं। नन्दसदनके समीप खड़े गगनचुम्बी यमलार्जुन वृक्षोंकी ओर उनकी दृष्टि चली जाती है। उसी क्षण बाल्यावेशके अन्तरालसे उनकी सर्वज्ञता-शक्ति सङ्केत करने लगती

है—'लीलाविहारिन् ! दामोदर ! देखो नाथ ! देव-परिमाणसे शतवर्ष पूर्व ये युग्म अर्जुन-वृक्ष यहाँ आकर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। कुबेरपुत्र नलकूबर एवं मणिग्रीव ही वृक्ष बनकर तुम्हारी कृपाकी बाट देख रहे हैं। धनमदने इन्हें अन्धा कर दिया था; किंतु तुम्हारे परम भक्त देवर्षि नारदकी इनपर कृपा हुई। देवर्षिने शाप देकर इन्हें वृक्ष-योनि दे दी, अनुग्रह करके तुम्हारे क्रीडा-प्राङ्गणके किनारे निवास दे दिया। तबसे बारंबार ग्रीष्मके आतपका, पावसकी झड़ीका, शिशिरके हिमका और पवनके प्रचण्ड झंझावातका उपभोग करते हुए ये अपनी सारी मलिनता धो चुके हैं। अब समय पूर्ण हो चुका है, नाथ ! अपना पावन स्पर्श दानकर इन्हें कृतार्थ करो, प्रभो ! अवसर भी सुन्दर है, जननी गृहकार्यमें व्यस्त हैं।'—

कृष्णस्तु गृहकृत्येषु व्यग्रायां मातरि प्रभुः।
अद्राक्षीदर्जुनौ पूर्वं गुह्यकौ धनदात्मजौ॥
पुरा नारदशापेन वृक्षतां प्रापितौ मदात्।
नलकूबरमणिग्रीवाविति ख्यातौ श्रियान्वितौ॥

(श्रीमद्भा० १०। ९। २२-२३)

सर्वज्ञताशक्तिके उपर्युक्त सङ्केतपर श्रीकृष्णचन्द्र भी अपनी स्वीकृति दे देते हैं—

हरि चितए जमलार्जुनके तन।
अबहीं आजु इन्हैं उद्धारौं, ये हैं मेरे निज जन॥
× × × ×
ये सुकुमार, बहुत दुख पायौ, सुत कुबेरके तारौं।
सूरदास प्रभु कहत मनहिं मन, यह बंधन निरवारौं॥

श्रीरामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैतवाद

[एक विहङ्गम-दृष्टि]

(साहित्यमहोपाध्याय पं० श्रीजनार्दनजी मिश्र 'पङ्कज' साहित्य-व्याकरणाचार्य, काव्यतीर्थ, बी० ए०, साहित्यरत्न, साहित्यालङ्कार)

आचार्य श्रीरामानुजकी दार्शनिक चिन्तन-धारा श्रीशङ्कराचार्यके अद्वैतवाद और मायावादके विरोध और प्रतिक्रियाका परिणाम है। इनकी दार्शनिक अट्टालिकाके तीन स्तम्भ हैं—चित् (जीव), अचित् (जड-समूह) और पुरुषोत्तम। उनका ईश्वर अचिन्त्यानन्त-कल्याण-गुणाकर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और स्वतःप्रकाश है। वह सृष्टि-स्थिति-पालनका एकमात्र नियन्ता है। स्थूल, सूक्ष्म—चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही ईश्वर है। अनन्त जीव और जगत् उसीके शरीर हैं।

श्रीप्रज्ञानन्द सरस्वतीने (यतीन्द्रमतदीपिका—प्रथम परिच्छेदके आधारपर) अपने वेदान्त-दर्शनके इतिहास, द्वितीय भागमें ऊपरके तीनों तत्त्वोंके समर्थनके लिये निम्नलिखित विषयोंपर विचार किया है।

१. स्थूल-सूक्ष्म—चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्मका एकत्व।
२. द्वैत और अद्वैत श्रुतिका अविरोध।
३. ब्रह्मका सगुणत्व और विभुत्व—ब्रह्म सविशेष।
४. ब्रह्मके निर्गुणत्व और निर्विशेषत्ववादका खण्डन।
५. जीवका अणुत्व, ब्रह्मस्वभावत्व और दासत्व।
६. जीवका बन्धन और उसका कारण—अविद्या।
७. जीवका मोक्ष और उसका उपाय—विद्या।
८. उपासनारूपी भक्तिका श्रेष्ठत्व और मोक्षसाधनत्व।
९. मुक्तावस्थामें जीवकी ब्रह्मस्वभाव-प्राप्तिका निरसन।
१०. शाङ्करमतकी अविद्या या मायावादका खण्डन।
११. अनिर्वचनीयतावादका खण्डन।
१२. जगत्की तुच्छताका खण्डन और सत्यताका स्थापन।
१३. जीव और जगत्का ब्रह्म अथवा ईश्वर-शरीरत्वका निरूपण।

आचार्य रामानुजके मतानुसार प्रमाण तीन प्रकारके हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। प्रमेय दो प्रकारके हैं—द्रव्य और अद्रव्य। और पदार्थसमूह प्रमाण-प्रमेयके भेदसे दो प्रकारके हैं। द्रव्यके दो भेद हैं—जड और अजड। जडके दो भेद हैं—प्रकृति और काल। प्रकृति चतुर्विंशत्यात्मिका (२४ प्रकारकी) है और काल तीन प्रकारके हैं—अतीत, वर्तमान और भविष्यत्। पराक् और प्रत्यक्के भेदसे अजडके दो प्रकार हैं—नित्य विभूति और धर्मभूत ज्ञानरूप पराक् तथा जीव और ईश्वर—प्रत्यक् कहलाते हैं। बद्ध, मुक्त और नित्यके भेदसे जीव तीन प्रकारके हैं। बद्धके दो भेद हैं—बुभुक्षु और मुमुक्षु। बुभुक्षु दो प्रकारके

हैं—'अर्थकामपरायण' और 'धर्मपरायण'। मुमुक्षु भी दो प्रकारके हैं—कैवल्यपर और मोक्षपर।

आचार्य रामानुजके छः प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—(१) वेदार्थसंग्रह—इसमें श्रीशङ्कराचार्य और भास्कराचार्यके मतवादोंका खण्डन है। (२) वेदान्तसार—ब्रह्मसूत्रकी लघ्वक्षरटीका। (३) वेदान्त-दीप—ब्रह्मसूत्रकी वेदान्तसारसे विस्तृत टीका। (४) गद्यत्रय—इसमें ईश्वरका, प्रपत्तिका उत्कृष्ट वर्णन है। (५) गीताभाष्य—वेदान्तदेशिककृत तात्पर्यचन्द्रिका टीका और (६) श्रीभाष्य—यह श्रीरामानुजके दार्शनिक पाण्डित्यका उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें विशिष्टाद्वैतके सिद्धान्तोंकी विस्तृत और प्रामाणिक आलोचना की गयी है।

श्रीरामानुजके चित्, अचित् और ईश्वर—पदार्थत्रयकी कल्पना मौलिक नहीं है। बल्कि श्वेताश्वतर-उपनिषद्के भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता ब्रह्मके आधारपर प्रतिष्ठित है। ईश्वर पाँच प्रकारके हैं—पर, विभु, व्यूह, अन्तर्यामी और अर्चावतार। पर—एक नारायण हैं। व्यूह—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्धके भेदसे चार हैं। केशवादि व्यूहान्तर हैं। मत्स्य-कच्छपादि अनन्त विभव हैं। अन्तर्यामी प्रत्येक शरीरमें स्थित है। जीव नित्य पदार्थ होते हुए भी ईश्वराधीन है। अर्चावतार—श्रीरंगम्, वेंकट और वरदराजादि स्थूल-मूर्तिविशेष हैं। अद्रव्य—दस प्रकारके हैं—सत्त्व, रज, तम, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति।

आचार्य रामानुजके मतानुसार जगत्में निर्गुण वस्तुकी कल्पना असम्भव है। अतएव सगुण या सविशेष ब्रह्म ही उपनिषत्प्रतिपाद्य है। जगत्के सभी पदार्थ परिदृश्यमान और गुणविशिष्ट होते हैं। अतएव निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें भी सगुण या सविशेष वस्तुकी प्रतीति होती है।

श्रीरामानुजके मतसे प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—ये तीन ही प्रमाण हैं। प्रमाका करण ही प्रमाण है और यथावस्थित व्यवहारानुगुण ज्ञान ही प्रमा है। शुक्ति (सीप) में रजत-ज्ञान भी ज्ञानपद-वाच्य हो सकता है। उसकी निवृत्तिके लिये व्यवहारानुगुण शब्द व्यवहृत हुआ है। प्रमाणके बलसे तत्काल ही ज्ञानोत्पत्ति होती है। सविकल्प और निर्विकल्पके भेदसे प्रत्यक्ष दो प्रकारके होते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञानकी प्रक्रिया—जैसे, आत्मा मनके साथ युक्त होता है और इन्द्रियाँ विषयोंके साथ। ज्ञानोत्पत्तिका यही क्रम है। अथ च ज्ञान विषयावगाही है। निर्गुण या निर्विशेष वस्तुका ज्ञान नहीं हो सकता। कारण, स्मृति भी प्रत्यक्षके ही अन्तर्भुक्त है। पूर्वानुभूत वस्तुके संस्कारसे स्मृति जगती है, अतएव वह कोई प्रमाण नहीं। प्रत्यभिज्ञा भी प्रत्यक्षके अन्तर्भुक्त है। अभाव भावान्तररूप है। अतएव वह भी प्रत्यक्षके अन्तर्भुक्त है। पुण्यवान् मनुष्यकी प्रतिभा (योगजज्ञान) भी प्रत्यक्षके अन्तर्भुक्त है। इनके मतसे सभी ज्ञान सत्य और सविशेषविषयक हैं*, आचार्य श्रीरामानुज विशिष्टाद्वैतके प्रवर्तक हैं। अतएव इनकी ईश्वर-कल्पना शाङ्करमतकी कल्पनासे बिल्कुल भिन्न है। इनके मतानुसार अन्तर्यामी ईश्वर और जगत्प्रपञ्चका निर्माता ईश्वर दोनोंमें तत्त्वतः एकता है। इसी तात्त्विक एकताके कारण एक विशेषणसे विशिष्ट ईश्वर तदन्यविशेषणसे विशिष्ट ईश्वरके साथ बिल्कुल अभिन्न है। यह नितान्त अभिन्नता अर्थात् एकता विशिष्ट (ईश्वर) की है। 'अथ च विशिष्टयोरैक्यम्'—सूत्रके अनुसार आचार्य श्रीरामानुजद्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है।

श्रीरामानुजकी 'अपृथक्सिद्धि' से भी विशिष्टाद्वैतका ही समर्थन होता है। उन्होंने द्रव्य और गुण अथवा द्रव्य और अन्य द्रव्यमें विद्यमान रहनेवाले सम्बन्धको स्वीकार किया है। उनका यह स्वीकृत सम्बन्ध न्याय-वैशेषिक-सम्मत होते हुए भी समवायकी अनुरूपताके कारण उससे प्रभिन्न है। समवाय बाह्य और अपृथक्सिद्धि आन्तर सम्बन्ध है।† शरीर वही है, जिसे आत्मा धारण करती है, नियमन करती है और कार्यमें प्रवृत्त करती है।

ईश्वर भी उसी प्रकार चित् (जीव) और अचित् (जडसमूह) को आश्रित और कार्यमें प्रेरित करता है। इनमें जो प्रमुख है, वही नियामक होता है और विशेष कहलाता है। जो गौण होता है, वह नियम्य होता है और विशेषण कहलाता है। नियम्य और गौण होनेसे जीव 'विशेषण' तथा नियामक और प्रधान होनेसे ईश्वर 'विशेष्य' कहलाता है। चित् और अचित् उस विशेष्य भूतके ही विशेषण हैं। विशेषण विशेष्यसे पृथक् नहीं हो सकता। अथ च विशेषणयुक्त विशेष्यकी एकत्व-कल्पना युक्तिसंगत है और विशिष्टाद्वैतका यही गूढार्थ है।

अपौरुषेय और नित्य वेदवाक्य ही रामानुजका शब्द-प्रमाण है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य रामानुजने

* 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥' (श्वेता० १। १२)।

† श्रीभाष्य।

जैमिनिकी पूर्वमीमांसाके मतके सामञ्जस्यकी रक्षा की है। जैमिनिके मतानुसार सभी वेदवाक्य प्रामाणिक हैं और आचार्यके मतसे सभी सिद्ध ब्रह्मपर-वाक्य उपासनारूप कार्यान्वयी हैं।

ज्ञान—श्रीशङ्करके मतानुसार निरपेक्ष और रामानुजके मतानुसार आपेक्षिक है। शङ्करके मतसे ज्ञान स्वप्रकाश और निर्विशेष है। ज्ञानका सविशेषत्व उपाधिकृत है और ज्ञान प्रत्यगात्मस्वरूप है; किंतु रामानुजके मतसे ज्ञान सविशेष-विषयक हैं। दोनोंमें दर्शनगत यही मौलिक भेद है। शङ्करके मतसे माया अथवा अज्ञान एक ही पदार्थ है। संशय, विपर्यय और मिथ्या ज्ञान सभी अज्ञान हैं। रामानुजके मतसे माया भगवान्‌की शक्ति है। माया और अज्ञान एक ही पदार्थ नहीं। माया भगवान्‌की आश्रिता है और अज्ञान ज्ञानका अभाव है और वह जीवाश्रित है। दोनोंके दार्शनिक सिद्धान्तोंमें यह मौलिक पार्थक्य है।

आचार्य रामानुजके मतानुसार कर्म-सम्बन्धमें जिसका ज्ञान है, वही व्यक्ति ब्रह्मजिज्ञासाका अधिकारी है। जैसे—पहले वेदाध्ययन, वेदाध्ययनके फलस्वरूप कर्मके अनित्य फलका ज्ञान, उसके बाद मुक्तिकी ब्रह्मजिज्ञासा उत्पन्न होती है। कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा—दोनोंका मूल एक ही वेद है। वेदमें प्रथम कर्मकाण्ड और पश्चात् ज्ञानकाण्ड है। अथ च मुक्तिका प्रथम साधन कर्ममीमांसा है। ब्रह्ममीमांसा द्वितीय साधन है। ज्ञान और कर्ममें कार्य-कारण-भाव विद्यमान है। निष्काम कर्मसे चित्तकी शुद्धि होती है। सुतरां ज्ञान कार्य या उत्पाद्य है और कर्म उसका कारण या उत्पादक है।

रामानुजके मतानुसार कहीं भी निर्विशेष वस्तुकी सिद्धि या प्रतीति नहीं होती। यहाँतक सुषुप्ति, मत्तता और मूर्च्छाकालीन अनुभव भी निर्विशेषमें नहीं होता। वह भी सविशेष ही है। यहाँतक कि शब्द और शास्त्र भी निर्विशेष वस्तुका प्रतिपादन नहीं कर सकते; क्योंकि शब्द और पद वाक्यरूपमें परिणत होकर ही अर्थबोधक होते हैं। अथ च शब्द सगुण—सविशेष वस्तुके प्रतिपादनमें ही समर्थ हैं; क्योंकि पद प्रकृति और प्रत्ययके योगसे सिद्ध होता है। प्रकृति और प्रत्यय एक नहीं हैं। यही कारण है कि कोई भी विशिष्टार्थके प्रतिपादनका परित्याग नहीं कर सकता है। अर्थभेदके कारण पद-पार्थक्य होता है। अथ च निर्विशेष वस्तुका प्रतिपादन करना शब्दकी सामर्थ्यसे बाहर है।

आचार्य शङ्करके मतानुसार निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है। एक अद्वितीय ब्रह्म ही तत्त्व है। श्रुति निषेधमुखसे ही उसका प्रतिपादन करती है। उसका इदमित्थं या इदन्तया प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। कारण, वह अवाङ्मनसगोचर है। वह प्रत्यगात्मस्वरूप है। ब्रह्म ज्ञानकी वस्तु नहीं है। ज्ञानके विषय जड पदार्थ हैं। ज्ञान प्रकाशक है और जड दृश्य—प्रकाश्य। यदि ब्रह्म ज्ञानका विषय हो तब तो वह भी दृश्य हो जाता है और दृश्य होते ही वह जड हो जायगा। अथ च ब्रह्मका जडत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता।

शङ्करके मतसे ब्रह्मका गुणमय भाव मायिक है—निर्गुण-भाव ही पारमार्थिक है। ब्रह्मको सगुण और ज्ञानका विषयी-भूत स्वीकार करते ही ब्रह्म मूर्त वस्तु बन जाता है और मूर्त वस्तुका परिणाम अनिवार्य विनाश है; अतएव ब्रह्म निर्गुण है।

इसके उत्तरमें रामानुजका तर्क है कि ब्रह्म या पुरुषोत्तम प्रतिपाद्य और शास्त्र प्रतिपादक है। शास्त्र सगुण और सविशेष ब्रह्मका ही प्रतिपादन करता है। निर्विशेष वस्तुकी प्रतिपत्ति (या प्रपत्ति) असम्भव है। साथ ही अनुमानादिकी सहायतासे ब्रह्मका निर्णय नहीं किया जा सकता।

ईश्वर सम्पूर्ण जगत्‌का निमित्त और उपादान-कारण है। यह कारण न तो अविद्या-कर्मनिबन्धन है और न परनियोग-मूलक। यह स्वेच्छाजन्य है। सृष्टिका प्रयोजन केवल लीला है। आचार्य रामानुजके मतानुसार ब्रह्म सविशेष और सगुण है। माया ब्रह्मकी शक्ति है। जीव और जगत् दोनों उसके शरीर हैं और दोनों ही नित्य हैं। ब्रह्मके गुणोंकी इयत्ता नहीं और न उसमें कोई दोष है। वही सृष्टिकर्ता है—वही कर्मफलदाता है। वही नियन्ता है—वही सर्वान्तर्यामी है। प्रकृति पुरुषसे भिन्न है। तद्विशिष्ट परब्रह्म नारायण ही पुरुषोत्तम है। शिव प्रभृति पुरुषोत्तम या परब्रह्म नहीं हैं। परंतु शङ्करके मतमें शिव ही परब्रह्म है।

आचार्य रामानुजके मतानुसार अविद्या-निवृत्तिका प्रयोजन है, क्योंकि जीवमें अज्ञान है। उपासनाके बलसे ब्रह्म-साक्षात्कार होनेपर अज्ञान विदूरित हो जाता है। जीव मुक्त होकर भी ईश्वरका दास बना रहता है और वह ईश्वरकी अपार लीलामें आनन्दका उपभोग करता है। ब्रह्मरूपता ही परमानन्दस्वरूपता है। अविद्या शङ्कर और रामानुज दोनोंको मान्य है। शङ्करके मतसे ज्ञान होनेपर अविद्या या अज्ञान लुप्त हो जाता है और रामानुजके मतसे ईश्वरकी उपासनासे

अविद्याका नाश होता है; परंतु शङ्करके मतानुसार अज्ञान ज्ञानका अभाव नहीं, बल्कि वह भाव वस्तु है।

रामानुजका ईश्वर विभु है। विभुका अर्थ है व्यापक। ईश्वरका व्यापकत्व तीन प्रकारका है—स्वरूपतः, धर्मभूत-ज्ञानतः और विग्रहतः। वह अनन्त है। अनन्तका अर्थ त्रिविध परिच्छेदशून्य है। देश, काल और वस्तु ही त्रिविध परिच्छेद हैं।

आचार्य रामानुजके मतानुसार ब्रह्म ही जगत्का सूक्ष्म-रूपमें कारण है। स्थूलरूपमें वह जगत् है। जगत्रूपमें परिणत होते हुए भी वह अविकृत है। जगत् सत् है—मिथ्या नहीं।

जीव ब्रह्मका शरीर है। ब्रह्म और जीव दोनों ही चेतन हैं। ब्रह्म विभु और जीव अणु है। दोनोंमें सजातीय या विजातीय भेद नहीं है। फिर भी स्वगतभेद है। जीव कार्य और ईश्वर कारण है। ब्रह्म पूर्ण और जीव खण्डित (अंश) है। दोनों ही स्वयंप्रकाश हैं।

दोनों चेतन और ज्ञानाश्रय हैं। जीव तीन प्रकारके हैं—बद्ध, मुक्त और नित्य। जिसकी संसारसे निवृत्ति नहीं हुई है, वह बद्ध है। देवता, मनुष्य, तिर्यग्, वनस्पति और अचरादि सभी बद्ध हैं। अविद्या जीवके बन्धनका कारण है। वह बीजाङ्कुरन्यायेन अनादि है। भक्ति या उपासनासे अविद्या-का नाश होता है। भक्तिमार्गमें त्रिवर्णका अधिकार है।

श्रीरामानुजके मतानुसार भगवान्का कैङ्कर्य मिलना ही मुक्ति है। प्राकृत देहके छूट जानेपर अप्राकृत देहसे नारायणके समान उपभोग करना ही मुक्ति है। वैकुण्ठमें श्री, भू, लीला देवियोंके साथ नारायणकी सेवा करना ही परम पुरुषार्थ है। जीव स्वभावतः नित्य है। जीव नित्य दास है—वह नित्य अणु है। वह अणु है—अतएव विभु कभी नहीं हो सकता। मुक्त जीव अपने प्रयोजनवश ही नित्य नैमित्तिक भगवान्की आज्ञाका कैङ्कर्य साधन करता हुआ देहावसानके समय पुण्य और पाप, मित्र और शत्रु—सभीको समर्पण कर देता है।

हाँ, एक बात और है। रामानुज योगशास्त्रपर भी चर्चा करना नहीं भूले हैं। मुक्तिद्वारभूत सुषुम्ना नामकी हृदय-नाड़ीमें प्रविष्ट होकर जीव ब्रह्मरन्ध्र नाड़ीसे उत्क्रमण करता है। हृदयस्थित देवताओंके साथ वह सूर्य-किरणके द्वारा अग्निलोकमें प्रवेश करता है। रास्तेमें दिन, पूर्वपक्ष, (कृष्ण-शुक्ल) उत्तरायण और संवत्सर प्रभृति अभिमानी देवताओंके द्वारा सत्कृत होकर सूर्यमण्डलका भेद करता है। तत्पश्चात् चन्द्र, विद्युत्, वरुण और इन्द्रादि लोकोंका अतिक्रमण करता हुआ वैकुण्ठ-सीमा-परिच्छेदक 'विरजा' उत्तीर्ण होता है। यहाँ आनेपर सूक्ष्म शरीर छूट जाता है। तब मानवीय स्पर्श नहीं रह जाता। वहाँ दिव्य—अप्राकृत देह प्राप्त होती है। चतुर्भुज होकर ब्रह्मालङ्कारोंसे अलङ्कृत इन्द्र और प्रजापति नामके द्वारपालोंकी अनुमतिसे वह वैकुण्ठनगरमें उपनीत होता है। वहाँ पहुँचकर गरुड़ और अनन्तयुक्त ध्वजाओंसे अलङ्कृत—दधि-प्रासादवेष्टित गोलोकमें वह प्रवेश करता है। वहाँ 'ऐरम्मद' नामक सरोवर और 'सोम-सवन' नामक अश्वत्थ वृक्षके दर्शनके उपरान्त अप्सराओंसे अभिनन्दित होता है। अनन्त, गरुड़ और विष्वक्सेन प्रभृतिको प्रणाम करनेके पश्चात् अपने आचार्यगणको प्रणाम करता है। उसके बाद पर्यङ्कके समीप पहुँचाया जाता है। उसी पर्यङ्कपर—धर्म्यादि पीठकमलके ऊपर नानाभरणभूषित, अपरिमित उदार, कल्याण-गुण-गण-सागर, श्री, भू, लीलासेवित भगवान् विराजमान हैं।

श्रीशङ्करके मतानुसार उत्क्रान्ति-गति-वर्जित ब्रह्मस्वरूपता ही मुक्ति है। अविद्याका अस्त होना ही मोक्ष है। शङ्कर जीवन्मुक्तिको स्वीकार करते हैं। उनके मतसे मुक्ति क्रिया-साध्य नहीं—आत्मा नित्य मुक्त है। केवल अज्ञानका नाश होते ही मुक्त आत्मा अपने स्वरूपमें प्रकाशित होता है। मुक्ति आप्य है—संस्कार्य, उत्पाद्य या विकार्य नहीं।

उन्होंने सबल युक्तियोंसे जीवन्मुक्तिका प्रतिपादन किया है; परंतु रामानुजने उसका खण्डन किया है। उनका मत है कि मुक्तावस्थामें भी जीव ब्रह्मका दास ही है; क्योंकि एक ईश है, दूसरा अनीश। एक असीम है—दूसरा ससीम। एक प्राज्ञ है—दूसरा अज्ञ। जिस प्रकार स्फुलिङ्ग (चिनगारी) अग्निका अंश है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्मका अंश है। अतएव जीव और ब्रह्ममें अंशांशिभाव या विशेषण-विशेष्य-भाव है।

रामानुजका 'तत्त्वमसि' भी इस प्रसङ्गमें उल्लेखनीय है। उनके मतानुसार 'तत्त्वमसि' वाक्य जीव और ब्रह्मका अभिन्नताबोधक नहीं है; किंतु आचार्य शङ्करके मतानुसार 'तत्त्वमसि' वाक्य सामानाधिकरण्यके बलसे निर्विशेष ब्रह्मात्मैक्यपर है। रामानुजने सामानाधिकरण्यको स्वीकार किया है। पर साथ ही यह बतलाया है कि 'तत्' और 'त्वम्' सविशेष ब्रह्मपरक है। 'त्वम्' पदार्थका साधारणतः जीवको ही प्रतीक

माना जाता है। पर 'विशिष्टाद्वैत' में 'त्वम्'का अर्थ है विशिष्ट जीव—शरीरवाला ब्रह्म। 'तत्' पदसे सर्वज्ञ, सत्सङ्कल्प और जगत्कारण ईश्वरसे ही अभिप्राय है। साथ ही विशेषण-विशेष्य-भावापन्न 'त्वम्' पद भी जडसहकृत जीव-शरीरधारी ब्रह्मका ही बोधक है। कारण, विभिन्न पदार्थोंकी एकार्थबोधकता ही सामानाधिकरण्य है। 'तत्' और 'त्वम्'—पदोंमें यदि प्रकारगत भेद स्वीकार न किया जाय, तब तो शब्द-व्यवहारमें जो प्रधान कारण है, वह प्रवृत्ति-निमित्तमें प्रभेद न रहनेसे दोनों ही पदोंका सामानाधिकरण्य छोड़ना होगा। पक्षान्तरमें दोनों पदोंका मुख्यार्थ बाधित होनेके कारण गौणार्थकी भी लक्षणा या कल्पना करनी पड़ेगी; किंतु मुख्यार्थ सम्भव हो तो लक्षणा दोषावह हो जाती है।

आचार्य रामानुजने शङ्कराचार्यके—'सोऽयं देवदत्तः'—वह देवदत्त यही है—का इस प्रकार खण्डन किया है। कहा है कि यहाँ लक्षणा करनेकी कुछ आवश्यकता ही नहीं। कारण, एक ही देवदत्तमें अतीत और वर्तमानकालकी प्रतीतिमें कुछ भी विरोध नहीं है। भिन्न देशोंमें अवस्थितिसे भी ऐक्य-प्रतीतिमें बाधा नहीं पड़ती। कारण, एक ही व्यक्ति विभिन्न समयमें—विभिन्न स्थानमें बिना किसी बाधाके रह सकता है। विशेषतः 'तत्' शब्दका निर्विशेषत्व-अर्थ ग्रहण कर लेनेपर जिस उपक्रममें 'तदैच्छत्, बहु स्याम्' श्रुतिमें प्रयुक्त हुए हैं, उनके साथ भी विरोध घटित होता है। यहाँतक कि 'एकविज्ञाने सर्वविज्ञानम्'-जैसी प्रतिज्ञा भी नहीं टिक सकती। अतएव रामानुजके मतसे 'तत्' और 'त्वम्' इन पदोंसे जीव जिसका शरीर है और जो जगत्का कारण है, उसीका बोध होता है।

परंतु आचार्य शङ्करका कहना है कि 'सोऽयं देवदत्तः' अर्थात् यह वही देवदत्त है—ऐसा कहनेपर लक्षणाके बिना तो इस वाक्यका अर्थ ही नहीं सङ्गत होता। कारण, 'तत्' शब्दका साधारण अर्थ अतीतकालीन इन्द्रियोंका अगोचर कोई पदार्थ है और 'अयम्' शब्दका अर्थ वर्तमान और नेत्रादि इन्द्रियोंका ग्राह्य पदार्थ है। जो इन्द्रियोंद्वारा अग्राह्य और अतीत है, वही फिर इन्द्रियग्राह्य और वर्तमान किस तरह रह सकता है? फलतः एक ही पदार्थ, एक ही समयमें कभी अतीत और कभी वर्तमान रह ही नहीं सकता।

अतएव 'सः अयम्' वाक्योक्त सामानाधिकरण्यमें विरोध पड़ता है। अथ च 'सः' और 'अयम्' पदोंका मुख्य अर्थ परोक्षत्व, अपरोक्षत्व आदि विशेष-विशेष धर्मोंको छोड़कर केवल देवदत्तरूपी एकमात्र विशेष्यरूप अर्थमें लक्षणा करनी पड़ती है। अतएव 'तत्त्वमसि' वाक्यमें भी उसी प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' पदोंके विरोधी अंशोंको छोड़कर केवल एक निर्विशेष चैतन्य आत्मामें लक्षणा करनेसे ही विरोधका परिहार हो सकता है।

जीव-पक्षमें ईश्वरकी शरणागति और ईश्वर-पक्षमें जीवके प्रति 'अहैतुकी' कृपा है—ये श्रीरामानुजके दर्शनमें दो सबसे बड़ी खूबियाँ हैं। जीवके शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व और सत्त्वशून्य—ये तीन भेद हैं। शुद्धसत्त्वमें रजोगुण और तमोगुणका लेश भी नहीं रहता। मिश्रसत्त्व रजोगुण और तमोगुणसे मिश्रित रहता है और यही सृष्टिका उपादानकारण है। सत्त्वशून्य तत्त्वको ही 'काल' कहते हैं।

न्यासविद्या रामानुजके शब्दमें प्रपत्ति है। आनुकूल्यका सङ्कल्प और प्रातिकूल्यका वर्जन ही प्रपत्ति है। संक्षेपमें भगवान्को आत्मसमर्पण करना ही प्रपत्ति है। उनके 'गद्यत्रय' में इसपर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है। साथ ही इसमें शरणापत्तिके विषय भी प्रतिपादित हुए हैं। आत्मनिवेदनका भाव इसमें सर्वत्र परिस्फुटित—ओतप्रोत है। श्रीरामानुजकी भक्तिमें भावुकता अधिक है।

शङ्करके मतानुसार मायावादकी प्रधानता सर्वोपरि है। रामानुजके मतानुसार शङ्करकी माया या अविद्या एक कल्पनामात्र है और यह कल्पना सात प्रकारसे अनुपपन्न की गयी है। शङ्करके मतानुसार अविद्या सत् भी हो सकती है। कारण, सत्पदार्थकी कोई भी बाधा नहीं हो सकती; किंतु अविद्या या अज्ञानकी बाधा ज्ञानोदय है। अतएव अविद्याको सत् (Existing) क्योंकर कहा जा सकता है?

फिर भी अविद्याको असत् कैसे कहा जाय? कारण, असत् वस्तु प्रत्यक्ष नहीं होती। जैसे—आकाशकुसुम, वन्ध्यापुत्र और शशक-शृङ्ग। विशेषतः जिसका अस्तित्व था ही नहीं, उसकी बाधा कैसी? जिसकी सत्ता है, अवस्थाभेदसे उसकी बाधा हो सकती है। अविद्याकी जब प्रतीति होती है, तब वह नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

श्रीरामानुजने शङ्कराचार्यके अनिर्वचनीयतावादका खण्डन किया है। श्रीशङ्करके मतसे सदसद्-विलक्षण होनेके कारण ही माया अनिर्वचनीय है। कारण, सीपमें चाँदीका भ्रम होता है और वहाँ सचमुच ही चाँदीकी तत्काल सृष्टि हो जाती है। शुक्ति-अविच्छिन्न जो चैतन्य है, वही चैतन्यनिष्ठ है और जो

अज्ञान है, वही अज्ञान रजतका उपादान और शुक्ति उसका अधिष्ठान या आश्रय है। यह रजत 'प्रातिभासिक' और अनिर्वचनीय है।

इसपर श्रीरामानुजका तर्क है कि अनिर्वचनीयता युक्ति-युक्त नहीं हो सकती। कारण, एक वस्तुकी अन्य आकारमें प्रतीति ही भ्रम है। इस प्रकारका भ्रम तो अनिर्वचनीयतावादियों-को भी मानना पड़ेगा। शुक्तिमें उत्पन्न प्रतीतिको, जो इस तरहका भ्रम स्वीकार कर लिया जायगा—जब कि पूर्वोक्त प्रतीति, प्रवृत्ति और बाध-व्यवहारादि सङ्गत हो सकते हैं—तो अनुभवविरुद्ध और प्रत्यक्षादिके प्रमाणोंसे अग्राह्य अनिर्वचनीयताको स्वीकार करनेकी आवश्यकता ही क्या है? विशेषतः वह रजत, जो अनिर्वचनीय है, लोकप्रसिद्ध रजतसे सर्वथा भिन्न है, ऐसा तो कोई भी दर्शक उस समय अनुभव नहीं कर पाता। यदि ऐसी अनुभूति हो सकती तो यह भ्रम ही किस प्रकार हो सकता था? अथ च कहना पड़ता है कि वास्तवमें सीप ही मिथ्या चाँदीके रूपमें प्रकाशित होती है। अतएव अनिर्वचनीयतावाद अयौक्तिक और अश्रौत है।

साथ ही श्रीरामानुजने इस प्रकरणमें असत् ख्याति—माध्यमिक बौद्धोंकी, आत्मख्याति—योगाचार बौद्धोंकी, अख्याति—प्रभाकरनामक पूर्वमीमांसककी, अन्यथाख्याति नैयायिकोंकी—का खण्डन किया है। उनके मतमें निर्विकल्पक ज्ञान न्याय, शाङ्करमत, सांख्य और पातञ्जल मतसे पृथक् है। न्यायके अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान विशेष्य-विशेषण-भावरहित वस्तु-स्वरूपमात्र ज्ञान है। शङ्करका मत भी प्रायः वैसा ही है। पातञ्जलकी असम्प्रज्ञात समाधिमें निरवलम्ब स्वरूपमात्रनिष्ठ ज्ञानका उदय होता है; परंतु रामानुजके मतानुसार निर्विकल्पक ज्ञान सविकल्पक ज्ञानका आश्रित है। निर्विकल्पक विषयमें प्रत्यक्ष ज्ञान तो हो ही नहीं सकता।

नाथ-भागवत

(लेखक—श्रीवि० हर्षे एम्० ए०, 'साहित्य-विशारद')

संतशिरोमणि एकनाथजीका लिखा हुआ 'नाथ-भागवत' मराठीके धार्मिक साहित्यका एक अमर ग्रन्थ-रत्न है। यह श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धकी एक विस्तृत टीकाके रूपमें है। श्रीमद्भागवतके प्रथम दस स्कन्धोंतक चला आता हुआ कथा-सूत्र एकादश स्कन्धमें लुप्त-सा हो जाता है। इस स्कन्धमें केवल अध्यात्म-चर्चाको ही स्थान दिया गया है। इसमें परमार्थके विविध अङ्गोपाङ्गोंका जो विस्तृत विवरण है, कदाचित् उसीके कारण श्रीएकनाथजीकी अध्यात्म-प्रवण बुद्धिको इस स्कन्धमें अनुपम माधुरी दीख पड़ी होगी और सम्भवतः इसीलिये अपने प्रवचनके लिये उन्होंने इस स्कन्ध-का चुनाव किया होगा। इसमें कुल ३२ अध्याय हैं। इन अध्यायोंके प्रत्येक श्लोकपर श्रीएकनाथजीने मराठीमें विस्तृत टीका लिखी है। टीका पद्यबद्ध है। सम्पूर्ण ग्रन्थकी छन्द-संख्या १८००० के ऊपर है। इसीसे ग्रन्थ-विस्तारकी कल्पना की जा सकती है। दूसरी बात यह है कि इस ग्रन्थमें कई छन्द ऐसे भी हैं, जिनका अर्थ पूर्णरूपसे समझने-समझानेके लिये विवेचनात्मक व्याख्याकी आवश्यकता पड़ जाती है। अतः अर्थबोधकी दृष्टिसे ग्रन्थका विस्तार और भी अधिक हो जाता है। इस द्विविध विस्तार और भाषाकी क्लिष्टताके कारण सहस्रों अध्यात्मप्रेमी इस ग्रन्थकी माधुरीका आस्वाद नहीं ले सकते। इसीलिये नाथ-भागवतका सारांश एक लेख-मालामें देनेका विचार है। यद्यपि ऐसी इच्छा करना बौनेका आकाश छूना है; और जिस ग्रन्थको समझनेके लिये विस्तृत टीकाकी आवश्यकता है, उसीको संक्षिप्त करके छोटा बनाना उल्टी गङ्गा बहाना है, तथापि जिस प्रकार परम पावनी श्रीगङ्गाजी-का थोड़ा-सा भी जल समस्त पाप-ताप-नाशनमें समर्थ है, उसी प्रकार नाथ-भागवतका सारांश भी परम कल्याणमय होगा।

अपनी टीकामें श्रीएकनाथजीने संस्कृत-श्लोकोंका केवल अनुवाद ही नहीं किया है। कुछका अनुवाद, कुछका विस्तार और कई स्थानोंपर परिवर्तन भी किया है। जहाँ मूल श्लोकों-का केवल अनुवाद है, उन स्थानोंपर प्रस्तुत लेख-मालामें विशेष प्रकाश नहीं डाला जायगा, क्योंकि उन्हें तो हिंदी-टीकाद्वारा हिंदी-भाषी जान सकते हैं; किंतु श्रीएकनाथजीने जिन आध्यात्मिक सिद्धान्तोंका वैशिष्ट्यपूर्ण प्रतिपादन किया है तथा जिन सिद्धान्तोंको उन्होंने व्यावहारिक दृष्टान्तोंद्वारा हृदयङ्गम करनेके योग्य बना दिया है, उन्हीं सिद्धान्तोंका यहाँपर संक्षेपमें सारांश दिया गया है। आज इस प्रथम लेखमें एकादश स्कन्धके प्रथम पाँच अध्यायोंकी चर्चा की जाती है।

एकादश स्कन्धके प्रथम पाँच अध्यायोंका मुख्य विषय नारदकथित 'जनक और नौ ऋषियोंका संवाद' है। एक बार महामुनि नारदजी भगवान् श्रीकृष्णके पिता वसुदेवजीके यहाँ

गये। वसुदेवजीने उनका यथोचित स्वागत-सत्कार किया। उनकी पूजा करनेके बाद वसुदेवजीने उनसे प्रार्थना की, 'हे मुनीश्वर! जिन धर्मोंके आचरणका सहारा लेकर मनुष्य समस्त भयोंसे मुक्त हो जाता है, उन धर्मोंका उपदेश आप हमें कीजिये।' वसुदेवजीके इस प्रश्नका साङ्गोपाङ्ग उत्तर देनेके उद्देश्यसे नारदजीने उन्हें उस संवादका वृत्तान्त सुनाया जो राजा जनकका नौ ऋषियोंके साथ एक यज्ञ-सत्रमें हुआ था। इस संवादमें राजा जनकने उन नौ ऋषियोंसे अध्यात्मविषयक नौ प्रश्न पूछे थे, जिनके उत्तर ऋषियोंने दिये थे। इन प्रश्नोत्तरोंमें एक प्रकारसे समस्त अध्यात्म-शास्त्रका सार आ जाता है। इसीलिये श्रीएकनाथजीने समूचे एकादश स्कन्धमें इस पञ्चाध्यायीको परमोच्च स्थान दिया है। उनका कहना है कि ये पाँच अध्याय ही एकादश स्कन्धके पञ्च-प्राण हैं, और भगवद्भक्तोंको उपदेशामृत पिलानेके लिये ही इनका आविर्भाव हुआ है। एकादश स्कन्धरूपी सुहावनी वसंत ऋतुमें यह पञ्चाध्यायी कोयलका मधुर पञ्चम स्वर है और पाठकगण अलिकुलके समान हैं। इस प्रकारके काव्यात्मक वर्णनके अनन्तर श्रीएकनाथजी कहते हैं कि जो इस जनक-नौ ऋषि-संवादका अध्ययन करके उसका रहस्य समझ लेगा, उसका अन्तःकरण विशुद्ध हो जायगा, उसका जीव-ईश्वर-भेद नष्ट हो जायगा एवं आत्मज्ञानके प्रकाशसे वह आनन्दमय परब्रह्मस्वरूप बन जायगा। इस दृष्टिसे श्रीएकनाथजीने इन पाँच अध्यायोंका सावधान चित्तसे अध्ययन करनेका आदेश किया है।

राजा जनकने नौ ऋषियोंसे निम्नाङ्कित नौ प्रश्न पूछे थे।

१. भागवत-धर्म कौन-सा है?
२. भागवतोंके लक्षण क्या हैं?
३. माया क्या है?
४. मायासे छूटनेका क्या उपाय है?
५. ब्रह्म क्या है?
६. कर्मयोग क्या है?
७. परमेश्वरके अवतार-चरित्र कितने हैं?
८. अभक्तोंकी गति कौन-सी है?
९. किस युगमें, किस नाम-रूप-वर्ण-आकारके ईश्वरका किस प्रकार पूजन करना चाहिये।

मूल भागवतके एकादश स्कन्धमें इन प्रश्नोंके उत्तर संक्षेपमें इस प्रकार हैं—

प्रश्न १—भागवत-धर्म कौन-सा है?

इस प्रश्नका उत्तर उन नौ ऋषियोंमेंसे 'कवि'नामक ऋषिने इस प्रकार दिया—

जिस धर्मके आचरणसे मायाग्रसित मनुष्यको आत्मज्ञान हो जाता है, वही भागवत-धर्म है। इस धर्मके सहारे आँखें बंद करके भी चलनेसे मनुष्यका पतन नहीं होता। मायाके कारण द्वन्द्वाभासकी उत्पत्ति होती है। इस मायाको लाँघकर निर्द्वन्द्व स्थितिमें पहुँचनेके लिये ईश्वरार्पण-बुद्धिसे कर्म करना तथा ईश्वर-भक्ति करना ही भागवत-धर्मका आचरण करना है। भक्तिसे ईश्वर-प्रीति बढ़ती है एवं पञ्चमहाभूतात्मक इस विश्वमें ईश्वरका रूप प्रकट होता है। भक्तिकी परिपक्व दशामें साधकको भक्ति-ज्ञान-वैराग्य एक साथ ही प्राप्त होते हैं। अन्तमें ईश्वर और भक्त एकरूप हो जाते हैं। यह भागवत-धर्मका स्वरूप है।

प्रश्न २—भागवतोंके लक्षण क्या हैं?

इस प्रश्नका उत्तर द्वितीय ऋषि 'हरि'ने इस प्रकार दिया—

जो भक्त जन्म-मरण, क्षुधा-तृषा, अहंभाव आदि मायोत्पादित विकारोंसे पूर्णतया मुक्त है, जो सारे कर्म निष्काम बुद्धिसे करता है, जो सर्वत्र परमेश्वरका स्वरूप देखता है एवं जो विषयभोगोंसे अलिप्त है वह भागवतोत्तम कहलाता है। उसमें देहात्मबुद्धि नहीं रहती। उसका जाति-वर्ण-वैभव-ज्ञान आदिका अभिमान नष्ट हो जाता है। त्रिभुवनकी सम्पत्तिके लिये भी उसका चित्त भगवत्स्मरणसे विचलित नहीं होता। परम भक्तिरूपी रज्जुसे वह ईश्वरको बाँध लेता है। परमेश्वरकी पादकिरणोंकी चन्द्रिकासे उसके काम-क्रोधादि सब तम-ताप नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न ३—माया क्या है?

इस प्रश्नका उत्तर ऋषि अन्तरिक्षने इस प्रकार दिया—

अव्यक्त परब्रह्मसे पञ्चमहाभूत, पञ्चधातु, त्रिगुण आदि-की और इनसे दृश्य-जगत्‌की उत्पत्ति होती है। उसके पश्चात् आत्माभिमानके कारण काम्य-कर्म करनेवाला जीव जन्म-मरणके चक्करमें पड़ता है। यही माया है। इसी प्रकार यह दृश्य, साकार सगुण जगत् विपरीत क्रमसे पुनः अव्यक्त परब्रह्ममें विलीन हो जाता है। ब्रह्माण्डकी इन अवस्थाओंकी कारणभूत शक्ति ही माया है।

प्रश्न ४—मायासे छूटनेके क्या उपाय हैं?

इस प्रश्नका उत्तर प्रबुद्ध ऋषिने इस प्रकार दिया—

जो मायाके ऊपर विजय प्राप्त करना चाहता है, उसे अपने मनमें गृह, अपत्य, पशु आदि ऐहिक विषयोंके प्रति अनासक्ति उत्पन्न करनी चाहिये। उसके बाद उसे

शाब्दिक ज्ञान एवं स्वसंवेद्य विज्ञानमें निष्णात सद्गुरुकी शरणमें जाना चाहिये और उनसे भागवत-धर्मोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये । शौच, तप, तितिक्षा, मौन, स्वाध्याय आदि यम-नियमोंसे अपना अन्तःकरण शुद्ध कर लेना चाहिये । इसके पश्चात् समस्त कर्मोंको ईश्वरार्पण करना, ईश्वरके प्रति अनन्य प्रीति, ईश्वर-भक्ति तथा आत्मानुभूति आदिके द्वारा सर्वत्र ईश्वरके रूपका साक्षात्कार करना चाहिये । इस प्रकार साधक सहजमें ही मायासे मुक्त हो सकता है ।

प्रश्न ५—ब्रह्म क्या है ?

इस प्रश्नका उत्तर ऋषि पिप्पलायनने इस प्रकार दिया—

जो स्थिति, उद्भव और प्रलयका कारण है, जो मन-बुद्धि आदि इन्द्रियोंसे परे है, जो वाणीका विषय नहीं हो सकता, जो प्राणका भी आधार है एवं जो जन्म-मरण आदि विकारोंसे अलिप्त रहता है, वह ब्रह्म है तथा वही सबका मूल-तत्त्व है । वह सबमें है और सब उसमें हैं ।

प्रश्न ६—कर्मयोग क्या है ?

इस प्रश्नका उत्तर ऋषि आविर्होत्रने इस प्रकार दिया—

निःसङ्ग होकर तथा कर्मफलकी इच्छा न करते हुए वेदोक्त कर्म करना कर्मयोग है । वेदोक्त कर्मका त्याग करना दोषार्ह है । अतः ईश्वरप्राप्तिके लिये उसकी विधिपूर्वक अर्चा करके तथा ध्येयमूर्तिसे तदाकार होकर मोक्ष प्राप्त करना चाहिये । इसे नैष्कर्म्य कहते हैं और यही कर्मयोग है ।

प्रश्न ७—परमेश्वरके अवतार-चरित्र कितने हैं ?

इस प्रश्नका उत्तर मुनि द्रुमिलने इस प्रकार दिया—

परमेश्वरके गुणकर्मोंकी गणना करना धूलिकणोंकी गणना करनेके समान असम्भव है । तो भी यह कहा जा सकता है कि ईश्वरने इस ब्रह्माण्डकी सृष्टि रजोगुणसे की । उसकी रक्षा वह सत्त्वगुणसे करता है और उसका नाश तमोगुणसे करता है । ईश्वरके प्रथमावतारोंमें मुनि नारायणकी गणना की जाती है । इन्द्रप्रेषित अप्सराओंके मोह-जालमें न फँसकर उन्होंने अपने वैराग्यकी रक्षा की । उसके बाद हंसावतारमें ईश्वरने आत्मज्ञानका उपदेश किया । तत्पश्चात् मत्स्य, कूर्म, वामन आदि अवतार हुए । उनमें श्रीरामचन्द्रजी-का अवतार मुख्य है । इस समय श्रीकृष्णावतार चल रहा है ।

प्रश्न ८—अभक्तोंकी गति कौन-सी है ?

इस प्रश्नका उत्तर मुनि चमसने इस प्रकार दिया—

जो परमेश्वरको सबका कर्ता नहीं मानते, जो ज्ञानाभिमान-के कारण ईश्वर-सेवासे विमुख रहते हैं तथा जो स्तैण एवं कामी हैं, वे अभक्त कहलाते हैं । ज्ञान, विभूति, त्याग आदिमें अपनेसे जो श्रेष्ठ हैं, उन भगवद्भक्तोंकी वे अभक्त अवहेलना करते हैं । वे विषयोंका उपभोग करनेमें धार्मिक बन्धनोंका उल्लङ्घन किया करते हैं । इस प्रकार धर्मसे विमुख होनेके कारण उन्हें मानसिक शान्ति कभी नहीं मिलती । धीरे-धीरे ऐहिक सुखभोगोंसे भी वे वञ्चित हो जाते हैं । अन्तमें मायारूपी अन्धकारमें वे सदाके लिये डूब जाते हैं ।

प्रश्न ९—किस युगमें, किस नाम-रूप-वर्ण-आकारके ईश्वरका किस प्रकार पूजन करना चाहिये ?

इस प्रश्नका उत्तर ऋषि करभाजनने इस प्रकार दिया—

कृतयुगके निर्वैर, शान्त, वल्कलधारी, श्वेतवर्णमय ईश्वरको हंस, सुपर्ण आदि नामोंसे पुकारते हैं तथा शम, दम आदि तपसे उसका अर्चन करते हैं । त्रेतायुगके सर्वत्र ईश्वरका स्वरूप देखनेवाले, ब्रह्मवादी, स्रुक्-स्रुवा धारण करनेवाले, रक्तवर्ण परमेश्वरको विष्णुयज्ञ आदि नामोंसे पहचानते हैं और विद्याके द्वारा उसका अर्चन करते हैं । द्वापरयुगके जिज्ञासु, मर्त्यनिवासी, श्रीवत्सलाञ्छनधारी, पीतवसन, श्यामवर्ण ईश्वरको नारायण, पुरुष आदि नामोंसे जानते हैं तथा वेदमन्त्रोंसे उसका अर्चन करते हैं । कलियुगमें बुद्धिमान् मनुष्य कृष्णवर्ण श्रीकृष्णचन्द्र एवं श्रीरामचन्द्रजीको नाम-सङ्कीर्तनद्वारा पूजते हैं । कलियुगमें नाम-सङ्कीर्तन ही एकमात्र पर्याप्त साधन है । यही कारण है कि अन्य युगवाले जीव कलियुगमें जन्म लेनेकी इच्छा करते हैं ।

एकादश स्कन्धके मूल पञ्चाध्यायीका संक्षेपमें यही सारांश है । अब उसीकी श्रीएकनाथजीकृत मराठी टीका 'नाथ-भागवत' की व्याख्या देखिये ।

ग्रन्थके आरम्भमें श्रीएकनाथजीने गणेश प्रभृति देव, सद्गुरु, पूर्ववर्ती साहित्याचार्य एवं अपने पूज्य पूर्वज आदिको नमन किया है । इसके पश्चात् उन्होंने उस घटनाका वर्णन किया, जिसके कारण वे ग्रन्थ-रचनाके लिये उद्यत हुए । उन्होंने लिखा है—'एक बार साधुवृन्दने मुझसे कहा कि पुराणोंमें भागवत सबसे श्रेष्ठ है । उसमें भी श्रीकृष्ण-उद्धव-संवाद तो बहुत ही मनोहर है । उस कथाको हमें सुनाओ । हमें हरि-कथा-श्रवणकी चाह तो पहलेसे ही थी । अब तेरे-जैसा रसिक वक्ता मिल गया तो मानो दूधमें शक्कर मिल गयी । संतोंके इन कृपापूर्ण वचनोंको सुनते ही मैं फूला नहीं समाया और उसी प्रकार हर्षित हुआ जिस प्रकार मेघ-

गर्जनसे मयूर अथवा चन्द्रमाको देखकर चकोर हर्षित होता है। योग्य न होते हुए भी मैंने संतोंके प्रोत्साहन एवं सद्गुरु पूज्यपाद श्रीजनार्दन स्वामीजीकी कृपासे ग्रन्थ आरम्भ कर दिया, जो भगवत्कृपासे पूरा भी हो गया।'

श्रीएकनाथजीने इस प्रकारकी विनययुक्त भूमिका लिखी है। इसके पश्चात् उन्होंने भाषाके प्रश्नको उठाया है। आध्यात्मिक ग्रन्थकी रचना प्राकृत भाषामें करना तत्कालीन विचारधाराके सर्वथा विरुद्ध था; किंतु उन्होंने इसका खण्डन करके प्राकृत भाषाका सबल समर्थन किया है। उन्होंने लिखा है, 'संस्कृतमें ग्रन्थ-रचना करनेवाले यदि महाकवि बन सकते हैं तो प्राकृत-भाषामें कविता करनेवाले महाकवि क्यों नहीं हो सकते? स्वर्णका पुष्प नया हो या पुराना, उसके मूल्यमें अन्तर नहीं पड़ सकता। कपिला धेनुका दूध 'दूध' कहलायेगा और दूसरी गायोंका दूध क्या 'पानी' कहलायगा? जो तत्त्वज्ञान संस्कृतमें लिखनेसे पवित्र रहता है, वह दूसरी भाषामें लिखनेसे अपवित्र कैसे हो जायगा? प्राकृत भाषाओंमें प्रादेशिक रूपके कारण शब्दों या पदोंमें भले ही कुछ अन्तर हो जाय; किंतु इस भाषा-भेदके कारण राम-कृष्ण आदि परम पावन विभूतियोंमें तो अन्तर नहीं पड़ सकता? हरि-कथा किसी भी भाषामें हो, वह परम पावन होगी। हरि-कथाके लिये जिस किसी भाषाका उपयोग किया जायगा, वह संस्कृत हो या अन्य कोई भाषा, उसी भाषाके साधनसे सत्यके आविष्कारका कार्य ही होगा।

इतनी प्रस्तावनाके बाद श्रीएकनाथजीने प्रथम अध्यायमें साम्बका स्त्रीवेष, ऋषियोंका शाप, यादवकुलका नाश एवं श्रीकृष्ण-निर्याण आदि घटनाओंका वर्णन किया है। तत्पश्चात् लोकोद्धारके लिये अपनी कीर्ति जगत्में रखकर श्रीकृष्णके स्वधाम पधारनेके अनन्तर प्रथम अध्याय समाप्त होता है। मुख्य विषयका प्रारम्भ द्वितीय अध्यायसे होता है। दूसरेसे पाँचवें अध्यायतक श्रीएकनाथजीने जनक-नौ ऋषि-संवादके प्रश्नोत्तरोंका सविस्तर विवेचन किया है। प्रथम पाँच अध्यायोंका महत्त्वपूर्ण विषय भी यही है। उन नौ प्रश्नोत्तरोंपर श्रीएकनाथजीकी टीकाका सारांश आगे दिया जाता है।

प्रश्न १—भागवत-धर्म कौन-सा है?

भागवत-धर्मकी व्याख्यामें श्रीएकनाथजीने सामान्य मानवकी द्वन्द्वस्थितिसे मुक्त पुरुषकी निर्द्वन्द्व अवस्थातक शास्त्रोक्त धर्मोंके आचरणसे जो उत्क्रान्ति होती है, उसका विस्तृत वर्णन किया है। उनका कहना है कि जो देहमें आत्म-बुद्धि रखता है, उसे सुख कभी नहीं मिल सकता। वह सदा आधि-व्याधिके महार्णवमें डूबा रहेगा। दुःखसागरसे पार होनेका प्रयत्न करनेवाले मनुष्यको विषयलोलुप इन्द्रियों-का दमन करते ही बीतता है। मनके लिये विषयोंका आकर्षण इतना प्रबल है कि उसको वशमें रखना कठिन हो जाता है। आध्यात्मिक साधनामें विषय-सुखोंकी इच्छा सदा बाधक होती है। इन मायिक विषयोंपर विजय प्राप्त करके आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये यदि कोई मार्ग है तो वह ईश्वरभजन है। माया भी ईश्वरीय शक्ति है, अतः उसे जीतनेके लिये ईश्वरकी कृपा आवश्यक है। इस भव-भयनाशक भगवद्भजनका रहस्य समझनेके लिये सद्गुरुकी कृपा चाहिये, क्योंकि भक्तिभण्डार-की कुंजी उन्हीं सद्गुरुके पास ही है। सद्गुरुकी कृपा प्राप्त होनेपर विषयोंका चिन्तन करनेवाला चञ्चल मन अपनी चञ्चलता खो बैठता है। इस अवस्थामें मन जिन-जिन विषयोंका ध्यान करता है, वे विषय ही भगवद्रूप हो जाते हैं। तब साधकके सब कर्म निष्काम और मोक्षप्रद हो जाते हैं; किंतु जबतक इस प्रकारकी सद्गुरु-कृपा न प्राप्त हो जाय, तबतक भक्तिके मार्गोंका ही अनुसरण करना चाहिये।

श्रीएकनाथजी कहते हैं कि भगवद्भजन अपनी सभी इन्द्रियोंके द्वारा होना चाहिये। मनसे भगवान्का चिन्तन करना, कानोंसे हरि-कथा सुनना, जिह्वासे अहर्निश हरि-कीर्तन करना, हाथोंसे हरि-पूजन करना, पैरोंसे तीर्थ एवं हरि-मन्दिरोंमें जाना तथा नासिकासे भगवत्-निर्माल्यकी सुगन्ध लेना आदि उपायोंसे हरि-कृपा प्राप्त करनी चाहिये। इस प्रकारकी भक्तिसे अन्तःकरणमें प्रभु-प्रीति बढ़ती है। हरि-कथाका मननयुक्त श्रवण करनेसे मनमें अनुपम शान्तिका सञ्चार होता है और लोक-लाज छोड़कर भगवद्भक्त कीर्तना-नन्दमें बेसुध होकर नाचने लगता है। हरि-नामकी परम पावन और मधुर ध्वनिमें निरभिमान होकर वह तल्लीन हो जाता है। इस प्रकार बढ़ते हुए पुण्यके प्रभावसे वह सद्गुरु-की कृपाका अधिकारी हो जाता है। इसके अनन्तर जब वह आत्मज्ञानके भव्य प्राङ्गणमें प्रवेश करता है, तब उसे वहाँ जीव-ईश्वर-सम्मिलन दिखायी पड़ता है। जिस प्रकार बहुत दिनोंसे खोया हुआ बालक अपनी माताको देखते ही उससे चिपककर सिसकने लगता है, उसी प्रकार चिर-विरही जीवका ईश्वरके साथ सम्मिलन देखकर भक्तकी आँखोंसे हर्ष-की अश्रुधारा बहने लगती है। परमात्माके आलिङ्गनसे भक्त-को रोमाञ्च हो जाता है। जिस भक्तिके साधनसे उसे इस अनुपम सुखकी प्रत्यक्षानुभूति मिली, उस भक्तिकी वह मुक्त-कण्ठसे प्रशंसा करता है। उस समय वह समदृष्टि हो जाता है और हैतुक अथवा अहैतुक सभी कर्म भगवान्को अर्पण कर देता है। जिस प्रकार सतरंजकी गोटें राजा, हाथी, ऊँट, प्यादे सब काष्ठ-ही-काष्ठ हैं, उसी प्रकार भगवद्भक्तके सब संकल्प-विकल्प भी भगवद्रूप बन जाते हैं। जाग्रत्, स्वप्न और

सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें उसका परमात्मानुसन्धान नहीं छूटता। जैसे घरमें दीपक जलानेसे उसका प्रकाश गवाक्ष-द्वारोंसे सभी ओर फैलता है, वैसे ही जब हृदयमें परम ज्योति प्रकाशमान होती है तब उसका प्रकाश भगवद्भक्तकी सभी इन्द्रियोंमें प्रतीत होता है। वह समझ जाता है कि जिसके कारण पुष्पको पुष्पत्व प्राप्त हुआ, उसीके कारण उस पुष्पमें सुगन्ध आयी और तब ज्ञेय, ज्ञाता एवं ज्ञान आदि त्रिपुटी-का नाश हो जाता है। सब कर्मोंका ब्रह्मार्पण होनेसे भागवतों-के सब बन्धन छूट जाते हैं। उसकी बुद्धि आत्मरूप चिन्तन-में निरवधि निमग्न रहनेके योग्य हो जाती है। उसकी लीला ईश्वरकी महापूजा है और उसके निरर्थक शब्द भी ईश्वरकी स्तुति हैं। आत्मस्वरूपके चिन्तनसे ऐसे भक्तोंके हृदयमें प्रतिक्षण आनन्दकी लहरें उठती हैं। जिस प्रकार बीजरूपसे एक होते हुए भी वटवृक्षकी लटकती सोरोंसे दूसरे वटवृक्ष बन जाते हैं, उसी प्रकार यद्यपि मूल-चैतन्यसे ही सरितारूप अनेक धाराएँ निकलती हैं तथापि वे सब भी चैतन्यरूप ही हैं। जिस प्रकार चन्द्रबिम्बमें अमृत बिम्बरूपसे रहता है, उसी प्रकार इस नामरूपभासात्मक जगत्में सर्वव्याप्त ईश्वर-का रूप यह भक्त सभी जगह देखता है। जैसे लवण सागरमें एकरूप होकर रहता है, वैसे ही वह सर्वभूतनिवासी परमात्मा-से अभिन्न रूपसे रहता है। इस प्रकारकी निर्द्वन्द्व स्थिति जिसे प्राप्त हो गयी, उसे भक्ति, विरक्ति तथा भगवत्प्राप्ति एक साथ ही मिल जाती है और वह 'जीवन्मुक्त' अभिधानका पात्र हो जाता है।

प्रश्न २—भागवतोंके क्या लक्षण हैं?

भागवतोंके लक्षण बतलाते हुए श्रीएकनाथजीने विषय-विरक्ति, निरभिमानता, जगदीश्वरैक्यकी भावना एवं प्रीतियुक्त ईश्वरभक्ति—इन चारोंको महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। जिस प्रकार कल्पनाके सरोवरमें स्नान करनेवालेका अन्तर्बाह्य शुष्क ही रहता है, उसी प्रकार सब इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका उपभोग करते हुए भी भागवतके मनमें सुख-दुःखका उद्भव नहीं होता। विषयसुखोंकी क्षणभङ्गुरता वह अच्छी तरह जानता है; किंतु साथ-ही-साथ यह भी है कि यदि भागवत विषयोंका उपभोग करता है तो स्वयं विषय ही भगवद्रूप बन जाते हैं। उसकी दृष्टि पड़ते ही दृश्य-वस्तु नारायणरूप हो जाती है। कानोंमें पड़ते ही ध्वनि नारायणरूप हो जाती है। इस प्रकार भागवतके सब विषय नारायणरूप हो जानेसे उसे बाँधनेवाले नहीं होते। विषयोंसे आसक्ति हटते ही जीव और ईश्वरमें भेद दिखानेवाला देहाभिमान नष्ट होने लगता है। उसे यह प्रतीत होने लगता है कि जन्म-मरण तो देहकी उपाधि है। जिस प्रकार अपनी छायाको पालकीमें बिठाकर सुख पहुँचानेकी इच्छा कोई नहीं करता, उसी प्रकार देहके सम्मान या अपमानके विषयमें भागवत सर्वथा निरीह हो जाता है। उसकी देहमें अहंबुद्धि नष्ट हो जाती है। वह समझता है कि स्वर्णको अँगूठीका आकार देनेसे स्वर्ण अँगूठीपनमें विलीन नहीं होता। देह-प्रेम नष्ट होनेसे भक्त ईश्वरसे प्रेम करने लगता है और फिर स्वयं भगवान् उस निरभिमान भक्तकी देख-भाल ऐसे करते हैं, जैसे मा अपने नन्हे बच्चेका सारा भार वहन करती है।

ऐसे भक्तको धीरे-धीरे भगवत्कृपासे निर्द्वन्द्व आत्मतत्त्वका बोध होने लगता है। वह अपनेको सभी भूतोंमें और सभी भूतोंको अपनेमें देखता है। क्षणमात्रके लिये भी वह आत्म-चिन्तनसे विलग नहीं होता। जैसे निशानाथके उदय होनेसे उनकी शीतल चन्द्रिकाके कारण किसी प्रकारका ताप नहीं रह जाता, वैसे ही हृदयाकाशमें परमात्मस्वरूपका उदय होनेसे कामादि ताप भक्तको नहीं सता सकते। इस प्रकारका भगवद्भक्त 'भागवतोत्तम' कहलानेका अधिकारी है। जो अनन्य-भावसे परमेश्वरकी भक्ति करता है, उसकी प्रीतिमें भगवान् बँध जाते हैं। जो प्रेमोल्लासके साथ हरिनामकीर्तनमें मस्त रहता है, उसका सारा भार स्वयं भगवान् अपने सिरपर लेते हैं। भगवान् अत्यन्त करुणापूर्ण हैं। वे भक्तोंके प्रेममें बँध जाते हैं। भगवान्के चरणोंमें जिसकी अनन्य भक्ति है, वही आध्यात्मिक उन्नतिके परमोच्च शिखरतक पहुँच सकता है। अतः वह धन्य है। इस प्रकारका भगवद्भक्त या भागवत सर्वश्रेष्ठ है।

प्रश्न ३—माया क्या है?

मायाका वर्णन करते हुए श्रीएकनाथजीने कहा है कि मायाका वर्णन करना अनुत्पन्न बालककी श्राद्धविधि करनेके समान है, अथवा अश्वशृङ्गसे आकाशको चीरना है, या वन्ध्यापुत्रकी जन्मपत्रिका बनाना है, या मृगमरीचिकाका पान करके प्यास बुझाना है, या वायुको पीसकर आटा बनाना है, अथवा आकाश-कुसुमकी सुगन्ध या निर्गन्धके विषयमें तर्क करना है। ये सब जितने निरर्थक हैं, उतना ही निरर्थक मायाके स्वरूपकी चर्चा करना है, क्योंकि अस्तित्व न होते हुए भी वह भासमान होती है। इस प्रकार यद्यपि मायाका प्रत्यक्ष वर्णन नहीं किया जा सकता तो भी उसकी कल्पना उपलक्षणोंसे की जा सकती है।

इतनी प्रस्तावनाके पश्चात् श्रीएकनाथजीने मायाका आभासकत्व, उसका स्वरूप और कार्य—इन तीनोंकी चर्चा की है। मायाके विषयमें उनका पहला सिद्धान्त यह है कि 'माया आभासात्मक है।' जिस प्रकार आकाशमें नीलिमा दृश्यमान होती है; किंतु खोजनेसे वहाँ तनिक भी नहीं मिलती,

उसी प्रकार सत्यरूप परब्रह्ममें मायाका आभास होता है। अथवा जिस प्रकार देहके साथ मिथ्या छाया रहती है, उसी प्रकार ब्रह्मके साथ मिथ्या माया रहती है। मृगजलकी महानदी किस पर्वतसे निकली है—जैसे यह बताना असम्भव है वैसे ही मायाके उद्गमस्थानका पता लगाना असम्भव है। वह कल्पनाके सहारे बनाया हुआ एक आभासमात्र है। भ्रम मायाका मूल है और भ्रान्ति उसका फल है। यदि मायाको सत्य मानें तो उसका नाश होता है, अतः ऐसा कहना ठीक नहीं। यदि उसे असत्य कहें तो भी ठीक नहीं, क्योंकि वह भासमान होती है। इसलिये यही कहना उचित है कि अज्ञानावस्थामें उसका अस्तित्व है; किंतु ज्ञानावस्थामें उसका अस्तित्व नहीं है। दर्पणमें कोई प्रतिबिम्ब नहीं रहता, उसमें देखनेवाला अपना ही प्रतिबिम्ब देखता है। इसी प्रकार अपने ही संकल्प-विकल्पोंसे उत्पन्न होनेवाली माया एक शक्ति है। शुद्ध ब्रह्ममें कोई विकल्प या द्वन्द्व नहीं है। फिर भी अहंकी जो भावना स्फुरित होती है, वही माया है।

मायाके स्वरूपके पश्चात् श्रीएकनाथजीने मायाके कार्यका वर्णन किया है। वे कहते हैं कि मायाके कारण निर्विकार आत्मतत्त्वकी विस्मृति हो जाती है। देह और मैं—इन दोनोंमें अभिन्नताका अभिमान पैदा हो जाता है। इसी अभिमानके मूलसे अखिल संसारकी उत्पत्ति होती है। इसीलिये जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी कारणभूता शक्ति माया ही है। इन्द्रियाँ और विषय—इन दोनोंमें चराचरव्यापी ईश्वर प्रकाशमान है, तो भी मायाके कारण ही देहात्मबुद्धिसे मनुष्य विषयोंका सेवन करता है। देहाभिमानसे इन्द्रियोंकी विषयासक्ति बढ़ती है तथा आत्मवृत्ति लुप्त होती है। वह देहको ही 'अहं' कहता है। अपने भाई, बन्धु, सम्बन्धी, मित्र आदिको अपनाता है और विषयोंके लिये लालायित रहता है। विषयकामनासे किये हुए कर्मोंमें बन्धन आ जाता है। धर्माधर्म, पाप-पुण्य-आदिके प्रश्न खड़े होते हैं। कर्म और उनके फलोंसे बद्ध होकर वह जन्म-मरणके चक्करमें फँस जाता है। जैसे आँखोंपर पट्टी बँधी होनेसे तेलीका बैल लगातार अपनी वर्तुलाकार-लीकमें घूमता रहता है, वैसे ही विवेकपूर्ण आँखोंपर अज्ञानका परदा डालकर, अपने काम्य-कर्मोंका फल भोगते हुए संसारके विविध सुख-दुःखोंका अनुभव करते-करते बेचारा मानव विकल हो जाता है, परंतु जन्म-मरणके अटल चक्रसे नहीं छूटता। जन्म-मरणकी अनन्त यात्रामें उसे सुख-दुःखोंके आवर्त और मोह-शोकोंकी विकराल गुफाएँ मिलती हैं। अनन्त यातनाओंका अनुभव करके वह निरन्तर कालके भयसे भीत रहता है। इस प्रकार मायाके आक्रमणसे परास्त होकर वह अनन्त जन्मोंतक आत्मज्ञानसे वञ्चित रहता है।

प्रश्न ४—मायासे छूटनेके क्या उपाय हैं ?

मायासे मुक्त होनेकी विधिका वर्णन करते हुए श्रीएकनाथजीने उसे तीन भागोंमें विभक्त किया है—(१) विषय-विरक्ति, (२) सद्गुरुकी शरणागति और (३) भागवत-धर्मोंका आचरण।

विषय-विरक्तिके विषयमें वे लिखते हैं कि जहाँ विषयोंके लिये मन लालायित है, वहाँ विरक्तिका पूर्णतया अभाव ही होगा। उस दशामें मायासे छूटना असम्भव ही है। अतः साधकको पहले समझ लेना चाहिये कि विषय मूलतः नश्वर हैं और उनसे जो सुख मिलता है वह दुःखमूलक और बन्धनकारक है। देह और इन्द्रियाँ जो विषयभोगोंके साधन हैं, दोनों क्षणभङ्गुर हैं। अतः विषय भी वैसे ही होंगे। इतनेपर भी अज्ञानी मनुष्य विषयसुखके लिये, स्त्रीसुखके लिये तथा धनोपार्जनके लिये अविरत श्रम करता है। यहाँतक कि यज्ञादि धार्मिक कृत्य भी स्वर्गके विषय-भोगोंकी इच्छासे करता है। वह इसे समझता है कि बार-बार उन्हीं विषयोंको भोगनेपर भी तृप्ति नहीं होती, फिर भी विषयोंका वास्तविक स्वरूप उसके ध्यानमें नहीं आता। यही मायाकी मोहिनी शक्ति है। वासनामय किसी भी कर्मका फल बन्धनकारक ही होता है। परिणामतः जन्म-मरणके फंदेमें उसे फँसना ही पड़ता है।

अतः साधकको सबसे पहले यह ज्ञान होना चाहिये कि विषयोंमें चिरशान्ति देनेकी शक्ति नहीं है। यदि मिट्टीकी दीवारको जलसे धोवें तो दीवार तो स्वच्छ होगी नहीं, उलटे जल और हाथ मैले होंगे। विषयोंसे सुख पानेकी लालसा कभी पूरी नहीं हो सकती। वेश्या कितना भी साज-शृङ्गार करे, किंतु तो भी उसके निर्भ्रान्त रमणीय सौन्दर्यसे सुखकी उत्पत्ति नहीं होती, वरं धनकी हानि होती है। विषयोंके संगसे मनुष्य अधिकाधिक दुखी होता है। अतः जो लोग सांसारिक अथवा स्वर्गीय विषयभोगोंकी इच्छासे काम्य कर्म करते हैं, वे मायाके फंदेमें फँसे हुए हैं। उनका अमूल्य मानव-जन्म व्यर्थ गया समझिये। इस घोर पतनका कारण है विषयोंका संग। (शेष आगे)

दीनता

(लेखक—पं० श्रीमूलनारायणजी मालवीय)

दीनता, दरिद्रता और निर्धनता इत्यादि ऐसे जितने शब्द हैं, उन सबका प्रायः एक ही अर्थ है। यद्यपि कोषकारोंने नम्रताको भी इसी श्रेणीमें रक्खा है; किंतु मेरे इस लेखका अभिप्राय अर्थहीनता अर्थात् गरीबी है। वास्तवमें दरिद्रता बुरी वस्तु है। देखा गया है गरीबका अपना भी पराया हो जाता है, कहीं उसका आदर नहीं होता। पग-पगपर उसे अपमानित होना पड़ता है। निर्धनका जीवन कष्टमय होता है। 'कष्टं निर्धनजीवनम्', 'सर्वशून्यं दरिद्रता', 'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं' आदि कहावतें इसके ऊपर पूर्णरूपसे चरितार्थ होती हैं। दूसरी ओर धनवान्‌का आदर सर्वत्र होता है; और दूसरे भी उसके सगे हो जाते हैं। अगस्त्यजीने लक्ष्मीजीकी स्तुति करते हुए लक्ष्मीवान्‌का चित्र बड़े अच्छे ढंगसे चित्रित किया है—

लक्ष्मि त्वयालङ्कृतमानवा ये
पापैर्विमुक्ता नृपलोकमान्याः।
गुणैर्विहीना गुणिनो भवन्ति
दुःशीलिनः शीलवतां वरिष्ठाः॥

'लक्ष्मी! तुमसे अलङ्कृत मनुष्य पाप अर्थात् दुःखसे मुक्त होते हैं, राजदरबारमें और लोकमें आदर पाते हैं। गुणहीन होते हुए भी गुणवान् माने जाते और बुरे स्वभावके होते हुए भी शीलवानोंमें श्रेष्ठ गिने जाते हैं।'

यह अक्षरशः सत्य है कि दीनजनोंकी बड़ी दुर्गति होती है, उन्हें अनेक प्रकारकी यातनाएँ सहनी पड़ती हैं, किंतु दीनजनोंका एक सहायक दीनबन्धु, दीननाथ, दीनदयालु होता है। श्रीमद्भागवतमें देवर्षि नारदजीने दीनोंके सम्बन्धमें यह कहा है कि—

दरिद्रो निरहंस्तम्भो मुक्तः सर्वमदैरिह।
कृच्छ्रं यदृच्छयाऽऽप्नोति तद्धि तस्य परं तपः॥
नित्यं क्षुत्क्षामदेहस्य दरिद्रस्यान्नकाङ्क्षिणः।
इन्द्रियाण्यनुशुष्यन्ति हिंसापि विनिवर्तते॥
दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवः समदर्शिनः।
सद्भिः क्षिणोति तं तर्षं तत आराद् विशुद्ध्यति॥
(१०। १०। १५—१७)

'दरिद्र पुरुषके मनमें 'मैं हूँ', 'मेरा है' इस प्रकारका अहंभाव नहीं रहता, वह सब प्रकारके मदोंसे मुक्त रहता है। उसे अनायास जो कष्ट मिलता है, वही उसका परम तप है। अन्नहीन दरिद्र पुरुषका शरीर क्षुधा सहनेसे निर्बल और क्षीण हो जाता है, इन्द्रियोंकी भी प्रबलता जाती रहती है, जिससे हिंसाकी प्रवृत्ति भी निवृत्त हो जाती है। समदर्शी साधुगण दरिद्रोंसे ही मिलते हैं। उन साधुओंके संगसे सब प्रकारकी तृष्णा त्यागकर दरिद्र पुरुष शीघ्र ही शुद्ध हो जाते हैं।'

देवर्षि नारदजीके उपर्युक्त शब्दोंमें जितना तथ्य है, वह प्रत्यक्ष है पर दरिद्रतासे सभी डरते हैं। हाँ, कुछ ऐसे लोग भी हैं, जिनको दीनता प्रिय है। सहजोबाई गरीबीकी प्रशंसामें कहती हैं—

भली गरीबी नवनता, सकै न कोई मार।
सहजो रुई कपास की, काटै ना तरवार॥

यह ठीक है कि दीनतामें दुःख बहुत है; किंतु गरीब अपने सत्कर्तव्योंको करता हुआ सदाचार तथा सन्तोषके साथ जीवनयापन करता है, यही उसकी शोभा है। गरीबीके कारण धनवान् बननेकी लालसासे जो असत्-मार्गका अनुसरण करता है, वह पथभ्रष्ट होकर अधोगतिको प्राप्त होता है। दीनजनोंको चाहिये कि वे अपने प्रारब्धको बनायें। अच्छे-से-अच्छा भाग्य सत्कर्मोंसे बनता है और निष्काम सत्कर्मोंके द्वारा ही ईश्वरकी प्राप्ति होती है। दीनोंके लिये धैर्य ही उनके कष्टोंके काटनेका एकमात्र

अस्त्र है। दुःख सहते हुए ईश्वरपर विश्वास रखना ही उनका परम तप है। प्रारब्ध बलवान् होता है, उसीके बन्धनमें बँधा जीव अपने किये हुए कर्मोंके फलस्वरूप सुख-दुःखोंको भोगा करता है।* ऐसी दशामें ईश्वरको छोड़कर गरीब क्यों इधर-उधर भटके, क्यों दूसरोंका मुँह देखे। रैदासजी तो दीनोंसे जोर देकर यह कहते हैं कि—

हरि-सा हीरा छाँड़ि कै, करै और की आस।
सो नर जमपुर जायँगे, सत भाषै रैदास॥

रैदासजीसे भी जोरदार शब्दोंमें किसी कविने कहा है—

धीरज ना छोड़ो औ जाओ नहिं धाम धाम
दीन वचन कहे नाहिं दीनता सरैगी।
चिंता ना करो चित्त, चातुरी न छाँड़ो मीत,
नीचनको नवाये सिर ना आपदा टरैगी॥
अधमनके आगे रहिये ना अधीन ह्वै कै,
सेखी के छाँड़े नाहिं संपदा जुरैगी।
जा दिन दीनानाथ हाथ छाया तरे छत्र धरैं
ता दिन प्रारब्ध आय पाँयन परैगी॥

वास्तवमें यह बिल्कुल ठीक है कि कोई किसीको कुछ दे नहीं सकता, भले ही गरीब इधर-उधर दर-दरकी ठोकरें खाय। प्रारब्धका अन्न खलिहानसे स्वयं उठकर आ जाता है। यह देखा गया है कि जबतक मनुष्य किसीसे याचना नहीं करता, तभीतक सब कुछ है। माँगते ही मर्यादा नष्ट हो जाती है। विद्वानोंका मत है कि दूसरेके घर जाकर माँगनेसे अपना रहस्य प्रकट हो जाता है और अपमानित भी होना पड़ता है। रहीमजी कहते हैं कि—

'रहिमन' पर घर जायके दुःख न कहियो रोय।
अपनो भरम गँवायके बात न पूछै कोय॥

यह स्वतः सिद्ध है कि ईश्वर ही जब विश्वका भरण-पोषण करता है और यह भी प्रत्यक्ष है कि उससे की गयी याचना कभी निष्फल नहीं होती। फिर एकको छोड़कर अनेकोंके पास क्यों ठोकर खायँ। प्रयागीय महाकवि अकबरने बड़ी खूबसूरतीसे यह फरमाया है कि—

जो कुछ माँगना हो खोदासे माँग ऐ 'अकबर'।
यही वह दर है कि जिल्लत नहीं सवाल के बाद॥

इन्हीं सब बातोंको पढ़-सुनकर दीनजनोंको ईश्वरपर निष्ठा और विश्वास रखना चाहिये। ईश्वर ही सबका सुखदाता है और दीन हुए बिना वह किसीसे मिलता भी नहीं। जीवन उसीका सफल है, जो भगवान्‌का भक्त बनता है तथा ईश्वरप्राप्तिका उपाय किया करता है। बड़े-बड़े सम्राट्, धनवान् और बलवान् ईश्वरकी कृपा-कोरके अभिलाषी रहते हैं, फिर गरीब क्यों न गरीब-निवाजका आश्रय ग्रहण करे।

सुदामा दीन थे। घरमें न खानेको अन्न था, न तन ढाँकनेको वस्त्र ही। उनकी पत्नीने किसी धनवान्‌के पास धनके माँगनेकी सलाह नहीं दी। उसने दीनबन्धु भगवान् श्रीकृष्णके पास यह कहकर पतिको भेजा कि—

हरिहैं दुख-दारिदके हर्ता, कर्ता सुखके सो कृपा करिहैं।
करिहैं यदुनाथ सनाथ जबै अघ ओघ सबै छनमें टरिहैं॥
टरिहैं मनके दुख औ दुबिधा जनके हिय तोष सुधा भरिहैं।
भरिहैं धन सों पिय भवन भँडार दरिद्र तुम्हार हरी हरिहैं॥

फिर जितना ही जिनके पास धन अधिक है, उतना ही उसका हृदय अधिक जलता रहता है। धनियोंके हृदयकी बात जाननेवालोंसे उनका अपार दुःख छिपा नहीं है। वास्तवमें संसारभरका ऐश्वर्य प्राप्त होनेपर

---

* यह सत्य है कि मनुष्य अपने पूर्वकृत कर्मोंके फल-स्वरूप ही सुख-दुःखका भोग करता है। दुःखमें पड़े हुए मनुष्यको यही मानना चाहिये। परंतु जो सुखमें है, उसके लिये तो यही कर्तव्य है कि वह दुखी प्राणीके दुःखको उसके प्रारब्धका फल मानकर टाल न दे, बल्कि उसके दुःखमें सच्चे हृदयसे साथ देकर उसे दूर करनेका प्रयत्न करे। यही समझे कि हमारा सुख वस्तुतः दुखियोंकी ही धरोहर है और उसे उनको तुरंत सहर्ष लौटा देनेमें ही कल्याण है।—सम्पादक

भी प्राणी सुख-शान्ति प्राप्त नहीं करता। ('न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः' कठ०) सुख-शान्तिकी प्राप्ति तो संतोषसे होती है। विषयोंके त्यागका नाम ही संतोष है। इसीको भगवान् श्रीकृष्णने महारानी रुक्मिणीका संदेश ले जानेवाले ब्राह्मणसे कहा था—

असन्तुष्टोऽसकृल्लोकानाप्नोत्यपि सुरेश्वरः।
अकिञ्चनोऽपि संतुष्टः शेते सर्वाङ्गविज्वरः॥
विप्रान् स्वलाभसंतुष्टान् साधून्भूतसुहृत्तमान्।
निरहङ्कारिणः शान्तान्नमस्ये शिरसासकृत्॥
(श्रीमद्भा १० । ५२ । ३२-३३)

'जो कोई बार-बार अभिलषित पदार्थ पाकर भी असन्तुष्ट रहता है, वह इन्द्रकी पदवी पाकर भी सुख-शान्ति नहीं पा सकता; क्योंकि उसके मनमें संतोष-रूपी वृक्षकी शीतल छाया नहीं है और जो दरिद्र होते हुए भी सुखसे अपने जीवनको बिताते हैं, वे साधु हैं, सब प्राणियोंके परम बन्धु हैं, अहङ्कारशून्य हैं और शान्त हैं। उन ब्राह्मणोंको सिर झुकाकर मैं बारंबार प्रणाम करता हूँ।' यह हैं भगवद्वाक्य, जो कभी मिथ्या नहीं हो सकते। इसी संतोषके सम्बन्धमें तुलसीदासजी कहते हैं कि—

गोधन, गजधन, बाजिधन, और रतन धन खान।
जब आवै संतोष मन, सब धन धूरि समान॥

प्राणीकी एक ऐसी भी अवस्था होती है जब उसका धन-बल, जन-बल और शरीर-बल भी काम नहीं देता। इसे भी दीनावस्था कहा जाता है। देखिये, जगदम्बा जानकीजीके हरणके समय रावणके हाथोंसे बूढ़ा जटायु आहत होकर पड़ा था, उस समय वह दीनकी तरह असहाय था। ऐसे अवसरोंपर दीनबन्धु ही कृपा किया करते हैं। किसीने बड़े अच्छे ढंगसे कहा है कि—

दीन मलीन अधीन है अंग बिहंग परयो छिति खिन्न-दुखारी।
राघव दीनदयाल कृपालु कों देख दुखी करुणा भई भारी॥
गीधको गोदमें राखि कृपानिधि नैन सरोजनमें भरि बारी।
बारहिं बार सुधारत पंख जटायुकी धूरि जटान सों झारी॥

द्रौपदीके पाँच बलवान् पति थे, किंतु जिस समय वह भरी सभामें दुर्योधनकी आज्ञासे नंगी की जा रही थी, उस समय उसने दीनकी तरह यह कहकर दीनबन्धु दीननाथको पुकारा था—

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय।
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव॥
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन!
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन॥
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम्॥
(महा० सभा० ६७ । ४१—४४)

'हे गोविन्द! हे द्वारकावासी! हे सच्चिदानन्दस्वरूप प्रेमघन! हे गोपीजनवल्लभ! हे सर्वशक्तिमान् प्रभो! कौरव मुझपर जो अत्याचार कर रहे हैं, इस बातको क्या आप जानते नहीं हैं? हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे आर्तिनाशन जनार्दन! मैं कौरवोंके समुद्रमें डूब रही हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिये। श्रीकृष्ण! आप सच्चिदानन्दस्वरूप महायोगी हैं। आप सर्वस्वरूप और सबके जीवनदाता हैं। हे गोविन्द! मैं कौरवोंसे घिर-कर बड़े संकटमें पड़ गयी हूँ। आपकी शरण हूँ। आप मेरी रक्षा कीजिये।'

द्रौपदीकी ही तरह गजराजकी भी दयनीय दशा थी और वह भी दीनोंकी तरह यह कहकर चिल्लाया था—

यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्
प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भयान्
मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि॥
(श्रीमद्भा० ८ । २ । ३३)

'जो कोई सर्वसमर्थ ईश्वर अधिक बलवान् एवं बड़ी तीव्र गतिसे दौड़ रहे कालरूप भयङ्कर सर्पके भयसे घबड़ाये हुए, आपत्तिमें पड़े हुए प्राणीकी रक्षा करते हैं और जिनके डरसे काल अपने कार्यमें लगा हुआ है, मैं उन्हीं ईश्वरकी शरणमें हूँ।'

कहते हैं कि द्रौपदीकी पुकारकी तरह गजकी

टेर भी खाली नहीं गयी। भगवान्‌ने अपने वाहनको छोड़कर शीघ्र-से-शीघ्र गजके पास पहुँचकर ग्राहको मारकर गजकी रक्षा की।

गजकी टेर सुनते ही परमधाममें हलचल मच गयी—

पर्यङ्कं विसृजन् गणानगणयन् भूषामणिं विस्मर-
न्नुत्तानोऽपि गदागदेति निगदन् पद्मामनालोकयन्।
निर्गच्छन्नपरिच्छदं खगपतिं चारोहमाणोऽवतु
ग्राहग्रस्तमतङ्गपुङ्गवसमुद्धाराय नारायणः॥

'ग्राहके चंगुलमें फँसे हुए गजराजका उद्धार करनेके लिये भगवान् श्रीहरि इतने उतावले हो उठे कि लक्ष्मीजीकी बिछायी हुई सुखदायिनी शय्याको भी तत्काल त्यागकर चल पड़े। सामने सेवाके लिये आये हुए पार्षदोंको भी कुछ नहीं गिना। गलेमें कौस्तुभ मणि पहननेकी भी सुध न रही; उतान सोये थे, उसी दशामें 'गदा! गदा!' कहते हुए सहसा उठकर खड़े हो गये। प्रियतमा लक्ष्मीकी ओर भी दृष्टि नहीं डाली। पक्षिराज गरुड़की पीठपर बिना गद्दी कसे ही सवार हो गये और बड़े वेगसे गजराजके पास जा पहुँचे।'

इसलिये दीन होना बहुत बुरा नहीं है, क्योंकि इसी स्थितिमें दीनबन्धुकी कृपाका प्रसाद मिलता है, जो मदान्ध धनियोंके लिये सर्वथा दुर्लभ है।

ऊपर जो बातें लिखी हैं, उन्हें मैंने अपनी ओरसे नहीं लिखा है, यह बातें शास्त्र तथा विद्वानोंकी हैं। ऐसी दशामें मुझे कोई कारण नहीं दिखलायी पड़ता कि इन बातोंपर दीनजन विश्वास न करें। यह सत्य है कि दरिद्रके समान कोई बड़ा दुःख नहीं होता; किंतु 'निर्बल-के बल राम' तो होते ही हैं। व्यासजी तो डंकेकी चोटपर कहते हैं—

केचिद् वदन्ति धनहीनजनो जघन्यः
केचिद् वदन्ति गुणहीनजनो जघन्यः।
व्यासो वदत्यखिलवेदपुराणविज्ञो
नारायणस्मरणहीनजनो जघन्यः॥

वैदिक-साहित्यका परिचय

ऋग्वेद-संहिता

(लेखक—पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी)

छन्दों और चरणोंसे युक्त मन्त्रोंको ऋक् वा ऋचा कहा जाता है। वेद शब्दका अर्थ ज्ञान है। ऋचाओंका जो ज्ञान है, उसे ऋग्वेद कहते हैं। गुप्त कथनका नाम मन्त्र है। किसी देवताकी स्तुतिमें प्रयुक्त होनेवाले अर्थके स्मरण करानेवाले वाक्यको भी मन्त्र कहा जाता है। संहिता मन्त्रोंके संग्रहका नाम है।

अनेक पुराणों और पातञ्जल महाभाष्य (पस्पशाह्निक) आदिके अनुसार ऋग्वेदकी २१ संहिताएँ वा शाखाएँ हैं; परंतु इन दिनों केवल एक शाकल-संहिता ही उपलब्ध है। देश-विदेशमें यही छपी है। इसके विभाग दो तरहसे किये गये हैं—(१) मण्डल, अनुवाक और वर्ग तथा (२) अष्टक, अध्याय और सूक्त। सारी संहितामें १० मण्डल, ८५ अनुवाक और २००८ वर्ग (वालखिल्यके १६ सूक्तोंको छोड़कर) हैं तथा ८ अष्टक, ६४ अध्याय और १०१७ सूक्त हैं। १४ छन्दोंमें समस्त मन्त्र गाये गये हैं। सब १०४६७ मन्त्र हैं। केवल दो चरणवाले १७ और एक चरणवाले ६ मन्त्र हैं। स्वरपर ३५८९, कवर्गपर ४०७, चवर्गपर १४२, तवर्गपर १८३३, पवर्गपर १३७७, अन्तःस्थ अक्षरोंपर १७६३ और ऊष्म-अक्षरोंपर १३५६ मन्त्र हैं। शौनक ऋषिकी 'अनुक्रमणी' के अनुसार तो १०५८०½ मन्त्र, १५३८२६ शब्द और ४३२००० अक्षर हैं। औसतसे प्रत्येक सूक्तमें १० मन्त्र और प्रत्येक मन्त्रमें ५ अक्षर हैं; परंतु शाकल-संहिताके कितने ही संस्करणोंके मन्त्रोंकी गणना करनेपर उक्त 'अनुक्रमणी' के मन्त्रों, शब्दों और अक्षरोंकी संख्या कम मिलती है। सम्भव है, कुछ मन्त्र लुप्त हो गये हों। ऋग्वेद (१०।११४।८) में जो ऋग्वेदकी १५००० मन्त्र-संख्या मानी गयी है, उससे भी कुछ मन्त्रोंके लोप होने-का अनुमान होता है। ऋग्वेद संसारकी सबसे प्राचीन पुस्तक है—ऐसा विश्वकी चोटीके ऐतिहासिक भी मानते हैं। कुछ ऐतिहासिक कहते हैं कि 'कोणाकार लिपिमें लिखी असी-

रियाकी खण्डित धर्म-पुस्तक ऋग्वेदके समयकी है; परंतु अब तो इस मतका प्रामाणिक खण्डन हो चुका है। ऋग्वेदकी भाषा ऐसी है कि केवल लौकिक संस्कृतका ज्ञाता मन्त्रोंका अर्थ नहीं समझ सकता। इसीलिये संहिताओंके आधारपर बने संस्कृत-साहित्यके अच्छे विद्वान् भी संहिताओंसे उदासीन रहते हैं—वेद-प्रचारसे दूर भागते हैं; यद्यपि 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' की 'रट' लगाने और 'वैदिक-धर्मानुयायी' बननेका इनका मन बना रहता है। जिसने वैदिक संहिताओंका सविधि स्वाध्याय नहीं किया, वह भला वेद-धर्म समझने और उसका अनुयायी बननेका अधिकारी कैसे हुआ? संस्कृतके विद्वानों और वेदधर्मानुयायी कहलानेवालोंकी यह स्थिति बहुत ही कारुणिक है।

वेदार्थ समझनेके साधन सायण-भाष्य, ब्राह्मण-ग्रन्थ, प्रातिशाख्य, बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणी, कल्पसूत्र, निरुक्त, जैमिनीय मीमांसा आदि हैं—सायण, स्कन्द-स्वामी, उद्गीथ, वेङ्कट-माधव, उव्वट और महीधरके भाष्य भी हैं; परंतु शाकल-संहितापर सायणाचार्यके सिवा किसीका भी भाष्य पूर्ण नहीं है। इसलिये एकमात्र आधार सायण ही हैं। सन् १३५० से १३७९ ई० तकमें सायणने वेदों (शाकल, तैत्तिरीय, काण्व, कौथुम, शौनक आदि संहिताओं), ब्राह्मणों (ऐतरेय, तैत्तिरीय, शतपथ, ताण्ड्य, सामविधान, गोपथ आदि), आरण्यकों (ऐतरेयारण्यक, तैत्तिरीयारण्यक आदि) और साम-प्रातिशाख्यपर भाष्य लिखा था। इस महाकार्यमें हरिहर आदि अनेक सत्पुरुष सायणाचार्यके सहायक थे। विजय-नगराधिपति बुक्करायके समयमें भाष्य-लेखन समाप्त हुआ और विजयनगरमें ही ऋग्वेद-भाष्य सर्वप्रथम प्रकाशित भी हुआ।

वेदाध्ययनसे विमुख हो केवल वाणी-मात्रसे वेद-भक्त बननेवाले कुछ लोग कहते हैं कि, 'अनेक जन्म तपस्या किये बिना और जीवन्मुक्ति प्राप्त किये बिना कोई भी न तो वेदोंका अर्थ ही समझ सकता है और न उनके बारेमें कोई राय ही दे सकता है।' किन्तु इन पङ्क्तियोंके लेखकमें न तो ये गुण ही हैं, न लेखक इस मतका समर्थक ही है। यह बात तो अवश्य है कि नैरुक्त, नैदान, ऐतिहासिक, ब्रह्मवादी, याज्ञिक, परिव्राजक, स्वरमुक्तिवादी आदि कितने ही ऐसे सम्प्रदाय हैं, जो वेदार्थके सम्बन्धमें विभिन्न मत रखते हैं। औपमन्यव, कौत्स, यास्क, उद्गीथ, स्कन्दस्वामी, भरतस्वामी, रावण, भट्टभास्कर, वेङ्कट माधव, उव्वट, महीधर, सत्यव्रत सामश्रमी, स्वा० दयानन्द, लो० तिलक, अविनाशचन्द्रदास, राथ, ग्रिफिथ, मैक्डानल, मैक्समूलर, लुड्विग, लांगलोआ, ग्रासमान रेले, दाराशिकोह आदि-आदि वेद-समीक्षकोंकी वेदार्थ-सम्बन्धिनी अनेक सम्मतियाँ भी हैं; परंतु सारे मत इन तीन वर्गोंमें ही आ जाते हैं—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—ये तीनों ही मत वेदोंमें यथास्थान विन्यस्त हैं। इनमेंसे किसी एकको लेकर और सारे मन्त्रोंकी खींचतान करके एक-सा ही अर्थ निकालना साम्प्रदायिक वा एकपक्षीय मनोवृत्तिका परिचायक है। निरपेक्षता, उदारता और दृष्टि-व्यापकताका नहीं। प्रयोग, निरीक्षण, व्यवहार, निर्वचन, अभ्यास, समनुगमन आदिका विचार किये बिना केवल अध्यात्मवादकी काल्पनिक उड़ान उड़ने और ग्रीक, लैटिन भाषाओंका कोरा अभ्यास करनेसे कोई भी वेदार्थ नहीं समझ सकता।

वेदोंमें आध्यात्मिक आदि तीनों ही अर्थ हैं और सायणाचार्यने निरपेक्ष होकर तीनों ही अर्थोंको यथास्थान लिखा है। वेदोंमें समाधिभाषा, परकीय भाषा और लौकिक भाषा—तीनों ही भाषाओंका प्रयोग है और सायणने यथास्थान तीनोंका ही रहस्य बताया है। इसीलिये उन्होंने इन्द्रका अर्थ ईश्वर, देव, ज्ञान, विद्युत्तक लिखा है और वृत्रका अर्थ असुरराज, असुर, अज्ञान और मेघतक। जहाँ जिस भाषा और जिस वादका कथन है, वहाँ उसीका उल्लेख करके सायणने अर्थ-समन्वय किया है।

यह सब होते हुए भी देश और विदेशमें सायण-द्रोहियोंकी कमी नहीं है। विदेशी वेदाभ्यासियोंमें 'Los von Sayana' (सायणका बहिष्कार करो) की आवाज कई बार उठायी गयी। ऋग्वेदके सायण-भाष्यके प्रकाशक मैक्समूलरने भी सायणको 'Blind man's stick' (अन्धेकी लकड़ी) कहा है। 'वैदिक कोष' लिखनेवाले राथ और ग्रासमानका सायण-द्रोह तो विश्व-विदित है ही; परंतु लेखकके मतसे ये सारे द्रोह-विद्रोह निरर्थक हैं; क्योंकि—

१—वेदार्थ-निर्णय करनेमें सायणने आर्य-जातिकी प्राचीन मर्यादा और परम्पराका पालन किया है।

२—स्कन्द स्वामी, वेङ्कट माधव और उद्गीथ आदि ऋग्वेदके प्राचीन टीकाकारोंका सायणने अनुगमन किया है।

३—सायण-भाष्यका समर्थन सारे वैदिक साहित्य, प्राचीन इतिहास और आर्यजातिके आचार-विचारोंसे होता है।

४—विश्वकी विविध भाषाओंमें प्रकाशित वेद-सम्बन्धी ग्रन्थोंके प्रणेता सायणानुयायी हैं।

५—सनातन धर्मानुयायी सदासे सायण-भाष्यको आर्य-जातिकी संस्कृति, सभ्यता और रीति-नीतिके अनुयायी मानते हैं।

६—सायण-भाष्यके सिवा ऋग्वेदपर किसीका भी पूर्ण भाष्य नहीं है। इसलिये सायण-भाष्यके अभावमें ऋग्वेदका न तो सम्यक् अर्थ-ग्रहण होता, न रोठराचार्य (राथ) की 'पीटर्सबर्ग लेक्जिकन' नामक कोष-पुस्तक बन पाती और न ग्रासमानका 'वैदिक-कोष' ही लिखा जाता।

फलतः जिन विद्वानोंकी धारणा है कि ग्रीक और लैटिन भाषाओंका ज्ञान और साधारण संस्कृत-ज्ञान रहनेसे मनुष्य वेदार्थ समझ सकता है, वे भारी भ्रममें हैं। हिंदू-संस्कृति, हिंदू-धर्म और हिंदू-शास्त्रोंका मर्म समझनेवाले सायणभाष्यसे वेदार्थ समझनेमें जो सहायता मिलेगी, उसकी टुकड़ी सहायता भी ग्रीक और लैटिनके ज्ञानसे अथवा लांगलोआ (फ्रेंच), लुड्विग (जर्मन) और ग्रीफिथ (इंगलिश) के किये वेदार्थसे नहीं मिलेगी। इसलिये वैदिक-साहित्यका परिचय पानेके लिये सायण-भाष्य प्रधान सहायक है। इन पङ्क्तियोंका लेखक सायण-भाष्यके अनुकूल वेद-परिचय देना उत्तम समझता है। इसीलिये यहाँ सायणके सम्बन्धमें थोड़ी-सी चर्चा की गयी।

ऋग्वेदकी यह शाकल-शाखा वैदिक-साहित्यमें रत्न है। यद्यपि 'अनुवाकानुक्रमणी'में लिखा है कि 'शाकलासे वाष्कलामें केवल ८ सूक्त अधिक हैं; परंतु 'वाष्कल-संहिता' का पता नहीं चलता। यह कहीं भी नहीं छपी। कहते हैं, 'बर्लिन-लाइब्रेरी (जर्मनी) में ४० हजार और इंडिया हाउस (लंदन) में ३० हजार हस्तलिखित संस्कृत-पुस्तकें हैं। पता नहीं, इनमें वाष्कल-संहिता है कि नहीं। जबतक वाष्कला नहीं छपती, तबतक तो शाकला ही वैदिक-साहित्यका खजाना और विराट् पुस्तक मानी जायगी। इसके सामने सामवेदकी कौथुमसंहिताका प्रायः अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि कौथुममें शाकलके ही सारे मन्त्र हैं—केवल ७५ मन्त्र ही कौथुमके अपने हैं। अथर्ववेदकी शौनकसंहितामें शाकलसंहिताके १२०० मन्त्र पाये जाते हैं। शौनकके बीसवें काण्डके सारे मन्त्र (कुन्ताप-सूक्त और दो अन्य मन्त्रोंको छोड़कर) शाकलके हैं। कृष्णयजुर्वेदकी तैत्तिरीय संहितामें भी शाकलके बहुत मन्त्र हैं। इसलिये ऋग्वेदसंहिता (शाकल-शाखा)के अन्तर्गत ही प्रायः तीनों वेद हैं और इसके सविधि अध्ययनसे प्रायः चारों वेदोंका स्वाध्याय हो जाता है। इसीलिये ऋग्वेद सबसे महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अनेक लोगोंने तो इसके अध्ययनमें अपना सारा जीवन ही खपा डाला है।

करोड़ों हिंदुओंका विश्वास है कि वेद ईश्वरका श्वास है, इसलिये वेद ईश्वरकी ही तरह नित्य है, शाश्वत है, अपौरुषेय है और ऋषियोंने समाधि-दशामें अपने विशुद्धान्तःकरणमें वेदको उसी रूपमें प्राप्त किया था जिस रूपमें—छन्द, वाक्य, शब्द और अक्षरके रूपमें—वह इन दिनों पाया जाता है। अनन्त हिंदुओंकी धारणा है कि वेद ईश्वरकृत है। बहुतोंका विश्वास है—

'वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ।'

'वेदसे ही धर्म निकला है।' इसीलिये अनन्त कालसे लाखों हिंदू वेद-विद्याकी रक्षाके लिये अपने प्राणतक देते आये हैं।

लोग पूछते हैं—'क्या वेदकी नित्यतामें प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण है?' परंतु हमारे यहाँ शङ्कराचार्य आदिने प्रत्यक्ष और अनुमानका खण्डनकर शब्द-प्रमाणको ही स्थापित किया है। (शारीरक-भाष्य २। ३। १) क्षुद्रतम मानव-मस्तिष्क अज्ञेय-कालके तत्त्वोंका कैसे प्रत्यक्ष करेगा और अनन्त समयकी बातोंकी कैसे अनुमिति करेगा? इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णकी इस उक्तिपर हिंदुओंका दृढ़ विश्वास है—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।

(गीता १६। २४)

'इसलिये कार्य और अकार्यकी व्यवस्थिति अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय करनेके निमित्त तेरे लिये शास्त्र प्रमाण हैं।'

और हिंदुओंके समस्त शास्त्र वेदको नित्य मानते हैं। जैमिनीय मीमांसामें ऐसे अनेक प्रमाण हैं, जिनसे वेदकी नित्यता सिद्ध होती है। कौषीतकिब्राह्मणके मतसे (१०। ३०) वेद-मन्त्र देखे गये हैं, बनाये नहीं। ऐतरेय ब्राह्मणसे (३। १९) मालूम होता है कि गौरवीतिने सूक्तों वा मन्त्रसमूहोंको देखा था। ईश्वरतकका खण्डन करनेवाले सांख्यने लिखा है—

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्।

(वेद अपौरुषेय है; क्योंकि वेद-कर्ताका अभाव है।)

बृहदारण्यकका कहना है—

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः।

—इत्यादि। अर्थात् वेद भगवान्‌का श्वास है।

श्वेताश्वतर (६। ८) का कहना है—

यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।

(ब्रह्माको पहले उत्पन्न कर ईश्वर ब्रह्माको लोक-शिक्षाके लिये वेद देता है।) स्मृति-ग्रन्थोंमें तो वेदकी नित्यताके अनेकों प्रमाण हैं। सायणाचार्य भी वेदको नित्य मानते हैं।

ये ही कारण हैं कि वेदपर हिंदू-जातिकी अविचल श्रद्धा है और वेदके प्रत्येक शब्दको मानना हिंदुत्व और हिंदू-धर्मका लक्षण है—

प्रामाण्यबुद्धिर्वेदेषु। (लो० तिलक)

यही नहीं, वेद हिंदुओंकी प्रायः समूची कलाओं और विद्याओंका मूल भी है—

सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति। (मनु)

मनुष्य-जातिके प्राचीनतम इतिहास, सामाजिक नियम, राष्ट्र, धर्म, सदाचार, कला, त्याग, सत्य आदिका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये एकमात्र साधन वेद ही है। वैदिक ग्रन्थोंमें ऋग्वेद, सभी दृष्टियोंसे सर्वश्रेष्ठ और विशाल है।

शाकल-संहिताके प्रत्येक सूक्तके ऊपर उसके ऋषि, देवता, छन्द और विनियोग लिखे रहते हैं। वेदार्थ जाननेके लिये इन चारोंका ज्ञान रखना आवश्यक है। शौनककी अनुक्रमणी (११)में लिखा है कि 'जो ऋषि, देवता, छन्द और विनियोगका ज्ञान प्राप्त किये बिना वेदका अध्ययन, अध्यापन, हवन, यजन, याजन आदि करते हैं, उनका सब कुछ निष्फल हो जाता है और जो ऋष्यादिको जानकर अध्ययनादि करते हैं, उनका सब कुछ फलप्रद होता है तथा ऋष्यादिके ज्ञानके साथ जो वेदार्थ भी जानते हैं, उनको अतिशय फल प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य और व्यासने भी अपनी स्मृतियोंमें ऐसा ही लिखा है।

'ऋषिर्दर्शनात्' अर्थात् मन्त्रको देखनेवाले या साक्षात्कार करनेवालेको ऋषि कहा जाता है।(निरुक्त, नैगमकाण्ड २।११) महर्षि कात्यायनने भी 'सर्वानुक्रमसूत्र'में ऋषिको स्मर्ता वा द्रष्टा बताया है। याज्ञवल्क्यने भी ऐसा ही लिखा है। जिन ऋषिने जिस सूक्तका आविष्कार किया, उनका वा उनके वंशका ही सूक्तके ऊपर नाम रहता है।

ऋग्वेद (शाकलसंहिता)के दस मण्डलोंमेंसे द्वितीय मण्डलके गृत्समद, तृतीयके विश्वामित्र, चतुर्थके वामदेव, पञ्चमके अत्रि, षष्ठके भारद्वाज और सप्तमके वसिष्ठ और इनका परिवार ऋषि हैं। अष्टम मण्डलके ऋषि कण्व और उनके वंशज तथा उनके गोत्रज हैं। आश्वलायनने प्रगाथ-परिवारको अष्टमका ऋषि माना है; परंतु षड्गुरु शिष्यने प्रगाथको कण्व ही माना है। नवम मण्डलके ऋषि अनेक हैं। आश्वलायनने लिखा है कि 'दशम मण्डलके ऋषि क्षुद्रसूक्त और महासूक्त हैं।' परंतु वस्तुतः दशम मण्डलके ऋषि और उनके वंशज अनेकानेक हैं। प्रथम मण्डलके तो २३ ऋषि हैं।

सब ऋषि ब्राह्मण थे; परंतु ऐतिहासिक कहते हैं कि 'दशम मण्डल'के इन सूक्तोंके बनानेवाले ये राजर्षि भी थे—सूक्त ३१ कवष ९१ आरुण वैतहव्य, १३३ सुदास पैजवन और १३४ मान्धाता यौवनाश्व। ४६ वें सूक्तके ऋषि वत्सप्रि भालन्दन वैश्य थे और १७५ सूक्तके ऋषि ऊर्द्ध्वग्रावा अनार्य थे। परंतु यह विषय अभी सन्दिग्ध है।

निरुक्तकारने लिखा है—

देवो दानाद् द्योतनाद् दीपनाद् वा।

(दैवत १।५)

लोकोंमें भ्रमण करनेवाले, प्रकाशित होनेवाले या भोज्य आदि सारे पदार्थ देनेवालेको देवता कहा जाता है। तीन प्रकारके देवोंको निरुक्तकारने माना है—पृथिवी-स्थान अग्नि, अन्तरिक्ष-स्थान वायु वा इन्द्र और द्युस्थान सूर्य। इन्हींकी अनेक नामोंसे स्तुतियाँ की गयी हैं। जिस सूक्त वा मन्त्रके ऊपर जो देवता लिखे रहते हैं, उस सूक्त वा मन्त्रके वे ही प्रतिपादनीय और स्तवनीय हैं। जहाँ ओषधि, जल, शाखा आदि जड पदार्थोंको देवता लिखा गया है, वहाँ ओषधि आदि वर्णनीय हैं और उनके अधिष्ठाता देवता स्तवनीय हैं। आर्यलोग प्रत्येक जड पदार्थका एक अधिष्ठाता देवता मानते थे। इसीलिये उन्होंने जडकी स्तुति चेतनकी ही तरह की है। मीमांसक कहते हैं, 'जिस मन्त्रमें जिस देवताका वर्णन है, उसमें उसीकी-सी दिव्य शक्ति अनादि कालसे निहित है। मीमांसा मन्त्रमें ही देवत्व-शक्ति मानती है।

ऋग्वेद (१।१३९।११)से मालूम पड़ता है कि पृथिवीस्थानीय ११, अन्तरिक्षस्थानीय ११ और द्युस्थानीय ११—सब ३३ देवता माने गये हैं। कृष्ण-यजुर्वेदकी तैत्तिरीय-संहिता (१।४।१०१)में भी यही बात है। ऋग्वेदके अनेक स्थानों (१।३४।११; १।४५।२; ९।९३।२; १०।५५।३ आदि)में तथा शतपथ ब्राह्मण (४।५।७।२) और ऐतरेय ब्राह्मण (२।२८)में ३३ देवोंका उल्लेख है। शतपथमें ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, आकाश और पृथिवी—ये ३३ देवता हैं और ऐतरेयमें ११

प्रयाज देव, ११ अनुयाजदेव और ११ उपयाजदेव—३३ देवता हैं। विष्णुपुराणके मतसे ११ रुद्र, १२ आदित्य, ८ वसु, प्रजापति और वषट्कार—ये ३३ देवता हैं। परंतु ऋग्वेदके दो स्थानों (३ । ९ । ९ और १० । ५२ । ६)में ३३३९ देवताओंका कथन है। सायणाचार्यने लिखा है कि देवता तो ३३ ही हैं; परंतु देवोंकी विशाल महिमा बतानेके लिये ३३३९ देवोंका उल्लेख किया गया है।

जो मनुष्योंको प्रसन्न करे और यज्ञादिकी रक्षा करे, उसे छन्द कहा जाता है (निरुक्त, दैवत १ । १२)। मुख्य छन्द २१ हैं। २४ अक्षरसे लेकर १०४ अक्षरतक ये सब छन्द होते हैं।

जिस कामके लिये मन्त्रका प्रयोग होता है, उसे विनियोग कहा जाता है। मन्त्रमें अर्थान्तर वा विषयान्तर होनेपर भी विनियोगके द्वारा अन्य कार्यमें उस मन्त्रको विनियुक्त किया जा सकता है—पूर्वाचार्योंने ऐसा माना है। इससे ज्ञात होता है कि शब्दार्थसे भी अधिक आधिपत्य मन्त्रोंपर विनियोगका है। ब्राह्मण-ग्रन्थों और कल्पसूत्रोंसे ऋषि, देवता आदि जाने जाते हैं।

विदेशी, विधर्मी और संशयात्मा लोग कहते हैं कि 'आर्योंको परमात्माका ज्ञान नहीं था। उनकी पहुँच देवोंतक ही थी। प्राकृतिक शक्तियों (अग्नि, वायु आदि)में अद्भुत शक्ति देखकर वे इन्हें ही चेतन शक्तिवाले देवता समझते थे। इसीलिये उन्होंने अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा, वायु, पूषा, सरस्वती, आदित्यगण, विष्णु, मरुत्, स्वर्ग, सोम, रुद्र, अदिति, ब्रह्मणस्पति, भग, बृहस्पति, त्वष्टा, ऋभुगण आदि-आदिको देवता मान लिया। (ऋग्वेद १० । ६५ । १) प्रकृतिकी लोल-लीलाओंको न समझनेके कारण आर्योंने इन्हें देवता जान लिया।'

परंतु उनका कथन निराधार है—देवता-रहस्य न समझनेका फल है। देवताका रहस्य 'बृहद्देवता' बताती है। उसके प्रथमाध्यायके पाँच श्लोकों (६१–६५) से पता चलता है कि इस ब्रह्माण्डकी जड़में एक ही शक्ति विद्यमान है, जिसे ईश्वर कहा जाता है। वह 'एकमेवाद्वितीयम्' है। उसी एककी नाना रूपोंमें—विविध शक्तियोंके अधिष्ठातृरूपोंमें—स्तुति की गयी है। नियन्ता एक ही है; इसी मूल सत्ताके विकास सारे देव हैं। इसी बातको यास्कने (निरुक्त, दैवत-काण्ड, ७ अध्यायमें) कितनी सुन्दरतासे कहा है—

महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवा प्रत्यङ्गानि भवन्ति॥

इसी तरह—

तस्या महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति।

(नि० दै० १ । ५)

ऐतरेयारण्यक (३ । २ । ३ । १२) ने भी कहा है कि ऋग्वेदी लोग एक ही सत्ताकी उपासना ऋग्वेदीय मन्त्रों (उक्थों) में करते हैं। दूर न जाकर यदि ऋग्वेदको ही देखें, तो इस बातके अनेकानेक प्रमाण मिलेंगे।

ऋग्वेद तृतीय मण्डल ५५वें सूक्तमें २२ मन्त्र हैं और सबके अन्तमें 'महद्देवानामसुरत्वमेकम्' वाक्य आया है। तात्पर्य यह है कि देवोंकी शक्ति (असुरत्व=बल) एक ही है, दो नहीं अर्थात् महाशक्तिका विकास होनेके कारण देवोंकी शक्ति पृथक् नहीं—स्वतन्त्र नहीं है।

ऋषियोंने जिन प्राकृत शक्तियोंकी स्तुति वा प्रशंसा की है, उनके स्थूल रूपकी नहीं की है, प्रत्युत उनकी शासिका वा अधिष्ठात्री चेतन-शक्तिकी की है। इस चेतन-शक्तिको वे परमात्मासे पृथक् या स्वतन्त्र नहीं मानते थे—परमात्म-रूप ही मानते थे। उन्होंने ऋग्वेदके प्रथम मन्त्रमें ही अग्नि-की स्तुति की है; परंतु अग्निको परमात्मासे स्वतन्त्र मानकर नहीं। वे स्थूल अग्निके रूपके ज्ञाता होते हुए भी सूक्ष्म अग्नि—परमात्मशक्ति-रूप—के स्तोता और प्रशंसक थे। वे मरण-शील अग्निमें व्याप्त अमरताके उपासक थे। इसीलिये उन्होंने गाया है—

अपश्यमहं महतो महित्वममर्त्यस्य मर्त्यासु विक्षु।

(ऋ० १० । ७९ । १)

'मरणशील प्रजामें मैंने अमर अग्निकी महिमाको देखा है इसी तरह इन्द्रको वे देवता मानते हुए भी इन्द्रकी सूक्ष्म शक्तिको परमात्मशक्तिसे पृथक् नहीं समझते थे—परमात्मरूप समझते थे।' तभी तो उन्होंने कहा है—'इन्द्र मनुष्योंके धारक हैं। उनकी महिमा समुद्रोंसे भी अधिक है। इन्द्र तेजसे सारे संसारको पूर्ण कर देते हैं।' (ऋ० १० । ८९ । १) 'स्तुत्य, नाना मूर्तियोंवाले, दीप्तियुक्त, अनुपम प्रभु और श्रेष्ठ आत्मीय इन्द्रकी मैं स्तुति करता हूँ।' (ऋ० १० । १२० । ६) 'जो इन्द्र सृष्टिकर्ताओंके भी कर्ता हैं, जो भुवनोंके अधिपति हैं, जो रक्षक और शत्रुविजेता हैं, उनकी मैं स्तुति करता हूँ।' (ऋ० १० । १२८ । ७)

भला, परमात्माके सिवा किसकी महिमा समुद्रोंसे भी

अधिक हो सकती है ? कौन संसारको तेजसे पूर्ण कर सकता है ? कौन नाना मूर्तियोंवाला और अनुपम प्रभु हो सकता है ? दूसरा कौन भुवनाधिपति और सृष्टिकर्ताका भी कर्ता है ?

इसी तरह सूर्य, विष्णु, वाग्देवी, अदिति वा जितने देवता हैं, सबको वे उसी तरह परमात्मरूप समझते थे, जिस तरह एक ही धागेमें मालाकी सारी मनियाँ ओतप्रोत रहती हैं और केवल माला ही कहाती हैं।

यह कहना तो बिल्कुल व्यर्थ है कि 'आर्योंको परमात्माका ज्ञान नहीं था।' परमात्मतत्त्वका जैसा गहन-गम्भीर ज्ञान उनको था, वैसा तो आजतक प्रायः किसी भी मनुष्यजातिको नहीं हुआ। लो० तिलकने ठीक ही लिखा है कि 'ऋग्वेदके नासदीय सूक्तमें जितनी स्वाधीन उच्चतम चिन्ता है, उतनी आजतक मनुष्यजाति नहीं कर सकी।' नासदीय सूक्तमें ही नहीं, ऋग्वेदके अनेक स्थानोंमें ऐसी ही गम्भीर चिन्ताएँ हैं। दो-चार उदाहरण देखिये—

ऋग्वेद १ मण्डल, १६४ सूक्तके ६ और २० मन्त्रोंमें परमात्माका स्पष्ट निर्वचन है। ३। ५५। ३ और ५। ८५। १ में ईश्वरीय सत्ताका अनुभव है। १०। २७। ९ में ऋषि समाधि-दशाका अनुभव करते हुए कहते हैं—'संसारमें घास और अन्न खानेवाले जितने मनुष्य हैं, सब मैं ही हूँ। हृदयाकाशमें जो अन्तर्यामी ब्रह्म अवस्थित हैं, वह मैं ही हूँ।' भला, इससे बढ़कर अद्वैतवादकी अनुभूति क्या होगी ? १०। ३१। ८ में कहा गया है—'ईश्वर प्रजाका बनानेवाला और द्यावापृथिवीका धारण करनेवाला है। इससे अधिक ईश्वरत्वका ज्ञान किस धर्मको है ?'

कुछ मन्त्र और देखिये—'परमात्मा एक हैं परंतु क्रान्तिदर्शी विद्वान् उनकी अनेक प्रकारसे कल्पना करते हैं।' (१०। ११४। ५) जो देवता-तत्त्व नहीं जानते, वे इस मन्त्रको बार-बार पढ़नेका कष्ट करें। १०वें मण्डलका ९० सूक्त 'पुरुषसूक्त' कहाता है। यह सारा सूक्त ही ईश्वरमय है। नमूनेके तौरपर इसका दूसरा मन्त्र देखिये—'जो कुछ हुआ है और जो कुछ होनेवाला है, वह सब ईश्वर है। ईश्वर देवताके स्वामी हैं। प्राणियोंके भाग्यके निमित्त वे अपनी कारणावस्थाको छोड़कर जगदवस्थाको प्राप्त होते हैं।' इसमें स्पष्ट ही 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का उद्घोष है। इसमें यह भी बता दिया गया है कि जैसे जीवात्माके स्वामी होते हुए भी परमात्मा और जीवात्मा एक हैं, उसी तरह देवोंके स्वामी होते हुए भी ईश्वर और देवता एक हैं। इससे यह भी सूचित होता है कि जीवोंके कर्मफलभोगके लिये ईश्वर सृष्टिकी रचना करते हैं। आगे देखिये—'उस समय—प्रलयावस्थामें—मृत्यु नहीं थी, अमरता भी नहीं थी, रात और दिनका भेद भी नहीं था। वायुशून्य और आत्मावलम्बनसे श्वास-प्रश्वासयुक्त केवल एक ब्रह्म थे। उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं था।' (१०। १२९। २) 'चूँकि सृष्टि-कालमें कर्मफल-बीज था; इसलिये परमात्माके मनमें प्रथम सिसृक्षा उत्पन्न हुई। (१०। १२९। ४) 'जिनसे ज्योतिर्मय सूर्य उत्पन्न हुए हैं, वे ही सबसे ज्येष्ठ हैं। उनके पहले कोई नहीं था।' (१०। ११४। ७) 'परमात्माके चौदह भुवन हैं।' १०। ११४। ७) दसवें मण्डलका एक सौ इक्कीसवाँ सूक्त 'हिरण्यगर्भ-सूक्त' कहाता है। यह भी ईश्वरमय है। इसके दसों मन्त्र कण्ठस्थ करनेयोग्य हैं।

इन समस्त उद्धृत मन्त्रोंपर विचार करनेसे विदित होता है कि ऋग्वेदसे बढ़कर ईश्वरवादका स्पष्ट विवरण किसी भी धर्म, धर्मशास्त्र वा पुराणमें नहीं है। जिनकी अन्तर्दृष्टि नष्ट नहीं हुई है, वे सभी लेखकके इस मतका समर्थन करेंगे।

(शेष आगे)

किसके द्वार जायँ

जैयें कौनके अब द्वार।
जो जिय होय प्रीति काहूके, दुख सहिये सौ बार॥
घर-घर राजस, तामस बाढ़्यो धन-जोबनकौ गार।
कामबिबस ह्वै दान देत नीचनकौं होत उदार॥
साधु न सूझत, बात न बूझत, ये कलिके ब्यौहार।
ब्यासदास कत भाजि उबरियै परियै माँझीधार॥

—व्यासजी

तथा एक सीमातक सहन कर सकें।' बड़े स्नेहसे कंधेपर हाथ रक्खा उन्होंने। भला ऐसे पुरुषसे कौन उद्विग्न होगा।

'अरे, किसीने स्मरणतक नहीं किया।' एकने मुखपर अंगुली रखकर सङ्केत किया और वह उन्मुक्त हास्य, अनर्गल प्रलाप, सब सहसा बंद हो गया। कूपकी पश्चिम दिशामें अस्तंगत भगवान् आदित्यकी ओर मुख किये वे ध्यानस्थ बैठे थे। सन्ध्याकी अरुणिमा उनके भव्य भालपर अन्तरका अनुराग लेकर प्रतिबिम्बित हो रही थी। शिक्षकोंका भी उपहास करनेवाले वे उद्धत इस प्रकार शान्त एवं मृदुपदोंसे चले जा रहे थे जैसे अपराधी बालक गुरुजनोंके समीपसे दूर जानेका प्रयत्न करते हैं।

'हमने प्रमादवश बाधा दी आपकी सायं-उपासनामें।' सन्ध्यासे उठते ही मण्डलीने उनको घेर लिया। 'हाकीके उल्लासमें हममेंसे किसीको स्मरण नहीं रहा कि आप समीप ही पूजा कर रहे हैं। खेलमें कोलाहल तो होना ही था। अब कलसे पीछेके पार्कमें सब जाया करेंगे।' सब समझ रहे थे कि यदि उनकी आराधनामें बाधा पहुँची तो शीघ्र चले जायँगे। पता नहीं क्यों, एक ऐसा सौहार्द हो गया था कि कोई नहीं चाहता था कि वे जायँ।

'इस प्रकार सङ्कुचित वातावरणमें तो मुझसे नहीं रहा जायगा।' हँसकर उन्होंने आशङ्का दूर कर दी। 'यदि मेरे कारण सबको सदा सशङ्क रहना पड़े तो मुझे यहाँ नहीं रहना चाहिये। मैं भी तुमलोगोंमेंसे ही एक हूँ। मनुष्यको इस कोलाहलपूर्ण विश्वमें ही रहना है। वह कहाँ-कहाँसे उद्वेग प्राप्त करता रहेगा। यदि खेलका कोलाहल मुझे बाधा पहुँचाता तो कमरेमें आसन लगा लेता। अपने मनके भीतर उद्विग्नता न हो तो बाहरसे कोई उद्विग्न नहीं कर सकता। मनमें उद्विग्नता हो तो वनमें भी भ्रमर, पक्षी, बंदर आदि उद्विग्नताके निमित्त बन जाते हैं।' यह तत्त्वज्ञान छात्रोंके मस्तिष्कमें उतरनेवाला नहीं था। उनके लिये यही बहुत था कि उनके आदरणीय अतिथिको कष्ट नहीं हुआ है और कलसे तो वे अपने खेलका स्थान बदल ही देंगे।

× × × ×

[२]

घरपर वृद्ध पिता हैं और छोटा भाई है। थोड़ेसे खेत हैं। भाई खेतीका प्रबन्ध कर लेता है। एक वर्ष अनावृष्टि और फिर अतिवृष्टि। इस वर्ष आशा थी कि कुछ हो जायगा। विशेषतः ईख अच्छी लगी थी। ऋणसे छुटकारा मिल जायगा। पिछले वर्षका लगान भी देना है। सारी आशाएँ भगवती जाह्नवीकी बाढ़में बह गयीं। इतनी बड़ी बाढ़ अभी कई वर्षोंमें नहीं आयी थी। अब क्या हो? यदि इस वर्ष लगान न दिया जा सका तो पूर्वजोंकी सम्पत्ति जो थोड़ी-सी भूमि है, वह भी चली जायगी। वर्षभर पेटकी ज्वालाको भी शान्त करना ही होगा। घरका बीज भी तो गङ्गाजी ले गयीं। सोचा था कि इस वर्ष आचार्यका खण्ड देंगे। परिस्थितिने विवश किया। कहीं कामके अन्वेषणमें नगरमें भ्रमण प्रारम्भ हुआ। वह तो अपने ग्रामका छात्र है एक छात्रावासमें। अध्ययन छोड़नेपर कौन अपने यहाँ रहने देता। छात्रावास ही पण्डित मदनमोहनजीका आश्रयस्थल बन गया है इस समय।

'आपका प्रार्थना-पत्र स्वीकार हो गया है।' कितना उल्लास था सुनानेवालेमें। छात्रोंने घेर लिया। उन सबको अत्यन्त प्रसन्नता थी। अब वे उनके ही विद्यालयमें संस्कृतका अध्यापन करेंगे।

'आपके द्वारा मैं तो अब संस्कृत पढ़ूँगा।' यहाँके छात्र संस्कृतको मृत-भाषा मानते हैं। प्रायः संस्कृत अध्यापकको दो-चार छात्र ही मिलते हैं और वे भी विद्यालयमें 'खूसट' समझे जाते हैं। शेष सब अर्थशास्त्र, राजनीति और विज्ञानको महत्त्व देते हैं। 'मैं भी' एक

साथ कई कण्ठ-स्वरोंने आवृत्ति की। पण्डितजीके कारण संस्कृतका स्नेह उमड़ पड़ा था।

'मैं सन्ध्या करनेके लिये कुछ समय चाहता हूँ।' स्थिर शान्त शब्दोंमें सबसे उन्होंने आग्रह किया। आज-तक जिस स्थानपर दो-दो, तीन-तीन विषयोंके आचार्य ही नियुक्त होते रहे हैं, उस स्थानपर एक शास्त्रीकी नियुक्ति और वह भी ऐसे व्यक्तिकी जो इधर दो सप्ताह-से छात्रावासका अतिथि हो रहा है। दस, पंद्रह रुपये-के स्थानोंके लिये दिन-दिनभर नगरमें यहाँ-वहाँ भटकता रहता है। एक बार भी नहीं पूछा गया कि नियुक्तिकी सूचना कैसे मिली। प्रार्थना-पत्र कैसे स्वीकृत हुआ। सन्ध्याके आसनपर पहुँच चुके थे और कुछ क्षण भी व्यर्थ खोने अब सह्य नहीं थे।

'आप हमलोगोंको मिठाई कब खिलायेंगे?' छात्रों-का उत्साह शिथिल नहीं हुआ था। वे अबतक यही सोच रहे थे कि किस प्रकार अपने नये शिक्षकका सत्कार किया जाय। आयोजनोंकी रूप-रेखा अभी सम्पूर्ण नहीं हुई थी। सन्ध्यासे उठते ही पण्डितजीको उन्होंने पुनः घेर लिया।

'मेरे भगवान् तो मिठाई खाते नहीं।' हँस रहे थे वे। 'प्रसाद सबको नित्य प्राप्त ही होता है और मिठाई ही खानी हो तो प्रतीक्षा करनी चाहिये, जबतक मैं प्रथम पारिश्रमिक कहींसे प्राप्त करूँ।' यह प्रसङ्ग यहीं समाप्त करके उन्होंने पुस्तक उठायी अपने आसन-पर पहुँचकर। इस समय गीता पढ़ाया करते हैं वे कई छात्रोंको।

पानी पड़े या पत्थर—उनका कार्य चलता रहेगा अपनी स्वाभाविक गतिसे। दूसरे तो उनके समान नहीं हैं। छात्रोंका मन गीतामें नहीं लग रहा था। अन्तरका उल्लास दबाना उन्होंने सीखा नहीं है। जीवनके जटिल भारके नीचे जबतक हृदयका उन्मद ओज पिस नहीं जाता; दया, करुणा, ममता, त्याग एवं कष्टको सहनेका उत्साह तभीतक रहता है। युवक प्रेरणाशील होता है। वह प्रेरणाको गम्भीरतासे ग्रहण करता है और उसीमें शक्ति होती है आदर्शपर मिट जानेकी। उसे भ्रान्त आदर्शसे प्रेरित करना समाजको विनाशके हाथोंमें सौंप देना है। एक बार जब युवक उल्लसित हो जाता है, उसका वेग अदम्य होता है। उसकी श्रद्धा उमड़ती है और जहाँ भी उमड़ती है, सम्पूर्ण वेग होता है, उसमें।

जिसके हर्षका समय था, वह तो आज एकाकी हो गया था। पता नहीं अपने तख्तेपर बैठा किस अज्ञात-का ध्यान कर रहा था। हर्ष जैसे उसके लिये अस्पृश्य है। जब वह प्रातः उठा तो समझते देर न लगी कि छात्रोंके उल्लासने बहुत रात्रितक उन्हें जाग्रत् रक्खा है और इसीलिये उनमेंसे प्रत्येक अभी गम्भीर निद्रामें निमग्न है।

'आदेशको सञ्चालकने पुनः निरीक्षणके लिये माँगा है।' सबसे प्रथम छात्र पहुँचे विद्यालयके अध्यक्षके समीप। वे नियुक्तिपत्रको पढ़ लेना चाहते थे। उन्हें कुछ खिन्नता हुई इस उत्तरसे। 'मैं स्वयं चाहता हूँ पण्डित मदनमोहनजीकी नियुक्ति। अपनी सम्मतिके साथ शीघ्रता करनेको भी लिखा है मैंने।' छात्रोंको आश्वस्त करना चाहा उन्होंने। उनको विश्वास था कि कोई परिवर्तन नहीं किया जायगा। एक बार जो बात निश्चित हो चुकी है, उसे पुनः देखनेकी सञ्चालककी इच्छा कुछ अस्वाभाविक अवश्य प्रतीत होती थी; किंतु आशंकाका कोई कारण नहीं जान पड़ता था। छात्रों-को सन्तोषप्रद उत्तर मिले वहाँसे।

'आपके साथ अन्याय हुआ है!' सायंकाल छात्रोंमें प्रबल असन्तोष था। ज्ञात हुआ था कि सञ्चालकने नियुक्ति परिवर्तित कर दी है। 'अच्छी मोटी रकम दी गयी होगी या किसी 'बड़े' का दबाव पहुँचा होगा!' अनुमानने निश्चयका रूप लिया और कुछ लोगोंने तो यहाँतक बता दिया कि किस प्रलोभनने सञ्चालकसे यह दुष्कृत्य करा लिया है।

'भाई दिनेशचन्द्र मुझसे अधिक योग्य हैं।' पण्डितजीको न दुःख था और न रोष। 'वे मेरे सहाध्यायी रहे हैं। उनके किसी सद्गुणके कारण ही उन्हें सञ्चालकजीने उपयुक्त समझा है। हमें स्वार्थ एवं पक्षपातके कारण दूसरोंपर आक्षेप नहीं करना चाहिये।' जान-बूझकर भी उन्होंने नहीं बताया कि दिनेशचन्द्र द्वितीय श्रेणीमें उत्तीर्ण हुए हैं और कक्षामें भी सबसे पीछे ही बैठना अपने लिये उपयुक्त समझा करते थे वे।

'उनका सबसे बड़ा सद्गुण यह है कि वे सञ्चालकजीके सम्बन्धीके पुत्र हैं!' एक छात्र रोषसे उबल पड़ा। 'लेकिन विद्यालय तथा हमारे हितका यह दमन हमलोग नहीं करेंगे।' प्रदर्शन तथा हड़तालके निश्चयके साथ विद्यालयसमितिके सदस्योंके समीप आवेदन करना भी स्थिर हो गया।

'मैं इस परिस्थितिमें अपनेको उलझाना नहीं चाहता और यदि मुझे सन्तुष्ट करके तुमलोगोंको मेरा सहयोग अभीष्ट है तो शान्त रहना चाहिये। यदि असन्तोष व्यक्त किया गया तो मुझे छात्रावास छोड़ना होगा और तब तुम्हारे प्रयत्नोंका कोई अर्थ ही नहीं होगा।' उन्होंने एकदम शान्त कर दिया सबको। 'मेरे एक सहपाठीको यह पद प्राप्त करनेका अवसर मिला है, मैं इससे प्रसन्न हूँ। मेरे कष्ट, मेरी कठिनाइयाँ और यही सब उनके सम्मुख भी तो होंगी। वे अपनी विकट परिस्थितियोंसे किसी प्रकार छूटें तो सही।' कौन जानता था छात्रोंमें कि दिनेशचन्द्र सर्वदा उन्हें अपमानित किया करते थे। उनसे द्वेष रखते तथा शिक्षकसे उनकी निन्दा करते रहते थे। इस ईर्ष्याका कारण था उनकी प्रतिभा। कक्षामें दिनेश कभी उनके समकक्ष न हो सके। आवश्यकता न होनेपर भी अध्यापनका स्थान उन्होंने प्राप्त किया था, केवल मदनमोहनजीकी ईर्ष्याके कारण। सञ्चालक उनके सम्बन्धी थे और यह सह्य नहीं हुआ कि अपने प्रतिस्पर्धीको वे इस पदपर प्रतिष्ठित देखें।

'आप क्या करेंगे?' हतोत्साह छात्रोंने प्रश्न किया।

'मैं प्रयत्न कर रहा हूँ और यही प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है।' स्वर शान्त था। 'प्रत्येक जल-सीकर तथा प्रत्येक अन्न-कणपर—विश्वके प्रत्येक पदार्थपर नामाङ्कन कर रक्खा है स्रष्टाने। जो जिसके प्रारब्धका है, केवल वही उसे प्राप्त कर सकता है। मनुष्यका लोभ, अमर्ष व्यर्थ है।' मदनमोहनजीके सन्ध्याका समय हो गया था और वे आसन उठा चुके थे।

'अपने पुस्तकालयमें एक स्थान रिक्त है!' एक छात्रने सूचना दी।

'तुम चाहते हो कि पण्डितजी अपने सहपाठीके निरीक्षणमें काम करें?' दूसरेने डाँटा। पुस्तकालयके निरीक्षणका भार संस्कृत-अध्यापकके ऊपर होता है और वही उस विभागके कर्मचारियोंको नियन्त्रित करता है।

'मैंने उसके लिये प्रार्थना कर दी है!' उन्होंने पीछे मुख किये बिना ही सूचित किया। 'ग्रन्थावलोकन तथा अध्ययनका अवकाश है उसमें। जब कार्य करना है तो किसीके भी नियन्त्रणमें कार्य करना अपमानका कारण नहीं हो सकता।' छात्रोंको आश्चर्य हुआ। इस प्रकारके निर्लिप्त पुरुषके परिचयमें वे प्रथम बार आये थे।

'आप ग्रन्थोंकी पुरानी सूची देख लें! मिला लें और नवीन सूची बना लें।' नवीन संस्कृत अध्यापकने प्रार्थनापत्र स्वीकार कर लिया था। कक्षामें जिससे सदा वे पीछे रहे, उसीपर शासन करनेकी भावनाने उदार बना दिया उन्हें। पहले ही दिन उन्होंने आदेश दिया—'जिन ग्रन्थोंके आवरण-पृष्ठ नष्ट या अस्त-व्यस्त हुए हैं, उन्हें सुधर जाना चाहिये। एक व्यवस्थित सूचीपत्र चाहिये कि किन आवश्यक ग्रन्थोंका अभाव है।' आज ग्रन्थोंके प्रति उनमें अनुराग जाग्रत् हो गया था। अध्ययन-कालमें की गयी उपेक्षाका जैसे पूरा प्रायश्चित्त कर लेना चाहते हों। मदनमोहनजीने शान्तिपूर्वक सावधानीसे समस्त आदेश स्वीकार कर लिये।

× × ×

[३]

'आपको रहना चाहिये। कम-से-कम एक व्यक्ति तो रहे विद्यालयके निरीक्षणार्थ !' दिनेशचन्द्रने आज स्वरको नम्र बना लिया था। 'ग्रामशिविरमें पुस्तकालय ले जाना अनावश्यक है और ऐसे समय यह बहुत निश्चित है कि मरे हुए चूहोंकी दुर्गन्धिसे वह भर जायगा। आपके रहनेसे उसकी सँभाल रहेगी और साथ ही सँभाल रहेगी विद्यालयकी भी।' नगरमें प्लेग फैल चुका था। नागरिकोंमेंसे अधिकांश बाहर जा चुके थे और जो रह गये थे, भागनेकी चिन्तामें थे। विद्यालयके तंबू-खेमे आदि नगरसे दूर भेजे जा चुके थे। दूसरे ही दिन विद्यालय वहाँ चला जायगा।

'क्लेश और मृत्यु—दोनों प्रारब्धके भोग हैं। यदि उन्हें आना है तो वन रोक नहीं सकता और नहीं आना है तो नगर उन्हें बुलानेमें समर्थ नहीं !' पण्डित मदन-मोहनजीने शान्तिपूर्वक स्वीकृति दी। 'मैं अपने दायित्वका अनुभव करता हूँ। आप निश्चिन्त होकर जा सकते हैं !' घरसे बार-बार आग्रहभरे पिताके पत्र आ रहे थे कि इस समय वे घर चले आवें; किंतु ऐसे कठिन समयमें विद्यालयको छोड़ना उपयुक्त नहीं जान पड़ा उनको।

'गणेशजीके एक बाहन इधर पड़े हैं !' मध्याह्नमें सेवकने सूचित किया। वह पुस्तकोंको स्वच्छ करनेमें लगा था।

'रुको !' पण्डितजी जानते थे कि अशिक्षित जन आशङ्कासे अधिक आक्रान्त हुआ करते हैं। 'अब यहाँ काम करना बंद कर दो !' उन्होंने स्वयं एक कागजपर चूहेको उठाया और दूर ले जाकर अग्निसंस्कार कर दिया। स्नान तो करना ही था इसके पश्चात्।

'तड़-तड़ तड़-तड़ !' कोई मुख्य द्वारपर आघात कर रहा था। पण्डितजीको साधारण ज्वर हो आया था। वे उठे। दीपककी बत्ती ऊँची हुई। 'कौन है ?' ज्ञात हो रहा था कि एक पूरी भीड़ खड़ी है बाहर। खिड़कीके छेदोंसे उन्होंने देखा। अन्धकारमें पता नहीं भालोंके नोक चमक रहे थे या नंगी तलवारें। लाठियोंकी खटपट सुनायी पड़ती थी। द्वारका प्रकाश आततायियोंने नष्ट कर दिया था।

'द्वार खोलो !' बाहरसे किसी भारी कण्ठने क्रुद्ध स्वरमें आदेश दिया। जनहीन नगरमें कई स्थानोंपर गतरात्रि ताले टूटनेकी बात सुनी जा चुकी है। 'तुम लोगोंने बड़ा ऊधम मचा रक्खा है ! तुम्हारे संग्रहालयमें सुनते हैं, दूसरोंके धर्मग्रन्थोंकी खोज हो रही है और इस तरह तुम हमारी खिल्ली उड़ाया करते हो ! हमें महज अपनी चीजोंसे मतलब है और तुम सीधे उन्हें दे दो, यह तुम्हारे भलेके लिये है।' विद्यालयके प्रति एक वर्ग रुष्ट रहा करता है और विशेषतः उसके साहित्यिक अन्वेषण-विभागसे। आज अवसर पाकर आततायी बन गया है वह समूह।

'आपलोग लौट जायँ ! जबतक मैं यहाँ हूँ, आप भीतर आनेका व्यर्थ प्रयास कर रहे हैं !' एक ज्वरार्तके कण्ठस्वर-जैसा नहीं था वह स्वर। यह समझ लिया गया था कि यदि द्वार खोला गया तो पुस्तकालय अग्निकी लपटोंमें होगा। आततायियोंके हाथोंके जलते उल्मुक उन्हें रात्रिमें पिशाच बनाये हुए थे।

'अच्छा, देखेंगे हम !' द्वारपर आघात और प्रबल हो गया। 'काफिरको कुत्तेकी मौत न मारा तो आना ही बेकार हुआ।' गालियोंकी बीभत्सताका वर्णन व्यर्थ है।

'मैं अन्तिम बार कहता हूँ, आपलोग हट जायँ !' भय जब मनुष्यके मानसको अव्यवस्थित नहीं करता, स्थिर बुद्धि स्वतः आपत्तिमेंसे मार्ग निकाल लेती है। द्वारके ऊपरसे पण्डितजीका निश्चयात्मक स्वर सुनायी पड़ा। 'अब मैं यहाँसे ईंटें डाल रहा हूँ नीचे और उससे आहतोंका उत्तरदायित्व स्वयं उनपर होगा।' एक क्षण—एक धमाका और एक कोई आह करके बैठ

गया। मुख्य द्वारके ऊपरके कमरेसे सचमुच पण्डितजीने एक ईंटा छोड़ दिया था।

'अच्छा, देख लेंगे !' क्रुद्ध आततायी पीछे हटनेको विवश हो गये। एक ब्राह्मणने उन्हें इस प्रकार नीचा दिखाया, इसका बदला लेंगे वे। पण्डितजी परिस्थिति न समझते हों, ऐसी बात नहीं। वे जानते थे कि ये लोग विद्यालयके समीपके घरोंसे ही आये हैं। छिपकर उनका आघात कभी भी सम्भव है। कोई कबतक अपनेको विद्यालयके घेरेमें बन्दी रक्खेगा। यह ठीक होकर भी ठीक नहीं था। पण्डितजी जानते हैं कि विश्वनियन्ताकी इच्छाके विरुद्ध कोई कुछ कर नहीं सकता। ऐसा विश्वासी हृदय भयके लिये कभी उन्मुक्त नहीं होता।

'पण्डितजी ! आप विद्यालयके आदर्शको जानते हैं !' दिनेशचन्द्रजीने नगरमें पहुँचते ही व्यङ्ग्यवर्षा प्रारम्भ कर दी। आभार मानना तो किसीका उन्होंने सीखा ही नहीं है। 'आपसे आशा थी कि अपनेको उसके अनुकूल बना लेंगे। हमें इन ट्रेडमार्कोंकी अब आवश्यकता नहीं है।' यह आक्षेप था तिलकपर। उनकी पूजा-पाठका तो प्रायः परिहास किया जाता रहा है।

'मेरे व्यक्तिगत आचरणोंका कोई अनिष्ट प्रभाव मेरे कार्यपर नहीं पड़ता।' पण्डितजीका एक नियमित उत्तर रहा है।

'आपके द्वारा छात्रोंके सम्मुख एक भ्रान्त आदर्श उपस्थित होता है।' जो आक्षेप करनेपर ही उतारू हो, उसके लिये निमित्तोंका क्या अभाव। 'इसी छूत-छातके खटरागके कारण देशका सर्वनाश हुआ और आप यहाँ भी वही रोग संक्रामक बना रहे हैं। आपका यह नाक दबाना और घंटी हिलाना, यहाँके सुसंस्कृत वातावरणके उपयुक्त नहीं है।' इधर कई छात्र पूजाके अवसरपर ही उन्हें स्पर्श कर दिया करते हैं। कई बार स्नान करना पड़ता है। भोजनालयमें भी उच्छृङ्खलता होने लगी है। फलतः कई समय फलोंपर रहना पड़ता है। इस सबमें जिसका गुप्त संकेत है, वह अज्ञात नहीं।

'मैं समीपमें कोई स्थान देख रहा हूँ।' पण्डितजीने शान्तिसे सूचित कर दिया। 'शीघ्र ही छात्रावाससे वहाँ अपना आसन बदल लूँगा और तब आपको कोई अवसर नहीं प्राप्त होगा।' एक मकान उन्होंने देख भी लिया है। पड़ोस अच्छा नहीं। आसपासके लोग द्वेष करते हैं उनसे। उनके कारण ही उस रात्रिमें विफल जो लौटना पड़ा था। जो भी हो, स्थान तो बदलना ही होगा।

अब भी गिल्टियोंमें पीड़ा है मन्द-मन्द। ज्वरने छोड़ दिया; किंतु शरीरमें शक्ति नहीं लौटी। नवीन स्थान अनुकूल तो क्या पड़ेगा, जो छात्रों और विद्यालयके सेवकोंकी सहायता मिल जाती थी, उससे भी वञ्चित हो गये। अब अपने ही हाथों सब कार्य करना है। ठीक समयसे तनिक भी विलम्ब हुआ पुस्तकालय पहुँचनेमें तो बहुत कठोर शब्द मिलेंगे स्वागतमें। इधर एक और आपत्ति आ गयी। कभी आँगनमें अस्थिखण्ड मिलता है और कभी मांसके टुकड़े। पड़ोसियोंका रोष इस रूपमें प्रकट हुआ है। पूरा स्थान प्रक्षालित करना और फिर स्नान करना। दिनमें दो बार यह करनेमें भोजन बनानेको समय कहाँ रह जाता है।

'दिनेशचन्द्रजीको तो गिल्टियाँ आ गयी हैं।' पहुँचते ही किसीने सूचित किया। दो दिनसे संस्कृतके अध्यापक ज्वरमें पड़े थे। पण्डितजी उनकी दिनमें दो बार पूछ-ताछ कर आते थे। शीघ्रतासे उनके निवासपर पहुँचे। वहाँ उनके पिता आ गये थे और पुत्रको घर ले जानेकी व्यवस्था हो रही थी।

'भाई मदनमोहनजी !' बहुत दिनोंपर दिनेशजीके मुखसे ये शब्द निकले थे। 'मैंने जो नीच व्यवहार किया है, उसके लिये क्षमा करना।' जो कोई नहीं

समझा सकता था, रोग एवं मृत्यु-भयने उसे समझा दिया।

'भाई ! लज्जित न करो मुझे।' पण्डितजी बैठ गये उनके सिरहाने। 'तुम स्वस्थ हो जाओ ! मैं हृदयसे चाहता हूँ, तुम अच्छे हो और यदि मेरे कोई सत्कर्म तुम्हारी सहायता कर सकें, तो तुम्हारे लिये मैं उन्हें अर्पित करता हूँ।' तबतक वे वहीं रहे, जबतक दिनेशकी मोटर चली नहीं गयी वहाँसे।

'मालिक आपका भला करे !' दिनेशजीके यहाँसे लौटकर वे इस बुढ़ियाके घर जानेको विवश हुए। क्या हुआ जो इसी मकानसे हड्डी और मांसके टुकड़े गिरते रहे हैं, उनके यहाँ। क्या हुआ जो स्थान सर्वथा दूषित, दुर्गन्धित एवं अशुद्ध है। वे कुछ थोड़ा-सा उपचार जानते हैं और एक वृद्धाका एकमात्र पुत्र रोग-शय्यापर पड़ा था। रात्रिभर रोगीके सिरहाने जागते हुए व्यतीत करके लौटे हैं वे। 'आपकी दुआसे बच्चेने आँखें खोल दी हैं और बुखार कम हो गया है।' बेचारी बुढ़िया कृतज्ञताके आवेशमें पैरोंपर पड़ते समय भूल ही गयी कि पण्डितजी स्नान करके पूजापर बैठने जा रहे हैं।

'उहूँ, तुम्हारी यह छोटी-सी माला हमारे गलेमें नहीं आवेगी। डाल दो इसे चरणोंपर !' दुबारा स्नान करके पण्डितजी आसनपर बैठे। यह क्या हो रहा है आज। उनके श्रीविग्रह तो इतने बड़े नहीं हैं। अहा ! ये ज्योतिर्मय अरुण चरण ! यह स्निग्ध धवल प्रकाश और यह मन्द-मुसकानसे वह नटखट कह क्या रहा है। हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेगपर विजय पाकर जो कर्तव्य एवं आर्तोंकी सेवामें अपनेको समर्पित कर चुका है, सर्वस्वरूप आज उसके सम्मुख नवजलधर श्यामके रूपमें घनीभूत हो गया था।

शान्तिकी खोज

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

मनुष्य जबतक पूर्ण परात्पर परमात्मामें ही बुद्धि स्थिरकर उन्हींमें निवास नहीं करता, तबतक पूर्ण शान्ति अथवा परमानन्दका अनुभव कहीं नहीं कर सकता, उसे नित्य किसी-न-किसी अभावसे दुखी रहना पड़ता है। सभी प्रकारके अभाव—दुःखकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्तिका साधन सत्याधार परमात्माका पूर्ण योगानुभव है।

परमानन्दस्वरूप परमात्माके योगानुभवसे सांसारिक पदार्थोंके संयोग-वियोगजनित सुख-दुःख मिट जाते हैं। संसारके सुख तथा दुःख ही तो प्राणीके बन्धनका कारण हैं। अब प्रश्न उठता है कि परमात्माका योगानुभव किस तरह हो, तो इसका साधन परमात्माके प्रति प्रगाढ़ भक्ति है। इस प्रकारकी भक्तिका साधन प्रगाढ़ ध्यान है। ध्यान करना नहीं पड़ता है, स्वतः ही होता रहता है और वही सच्चा ध्यान है। इस तरहके ध्यानका साधन प्रगाढ़ प्रेम है, प्रेम होनेपर स्वतः ध्यान रहता है और प्रेम वह है जिसमें प्रेमपात्रके अतिरिक्त अन्य किसीके लिये हृदयमें स्थान न रहे, अपने तन-मनके सुख-दुःखका भी ध्यान न रहे। इस प्रकारके प्रेमका साधन परम प्रभु परमात्माकी नित्य कृपाका अनुभव है। सांसारिक सम्बन्धियोंमें जिसकी जितनी अधिक सुखमय कृपाका अनुभव होता है, उतना ही उससे प्रगाढ़ स्नेह होता है। विचार-दृष्टिसे देखनेपर पता चलता है कि परमात्माकी हमपर अनन्त कृपा है, वे तो हमारा कभी त्याग या तिरस्कार करते ही नहीं हैं, उन्हींमें रहकर उन्हींकी सत्तासे हम अपनी सभी प्रकारकी वासनाओं, कामनाओंकी पूर्ति करते हैं। नाना प्रकारके सुख भोगते हैं; अज्ञानवश अपने सुखकी प्राप्तिके लिये हम चाहे जितने पाप-अपराध करें फिर भी उन्हींसे नित्य जीवनकी शक्ति पाते हैं। इस तरहकी कृपाका जितना ही अधिक अनुभव होता है, उतना ही परम प्रभुके प्रति प्रेम बढ़ता जाता है। इस प्रकार कृपानुभवका साधन

परमाधार प्रभुका ज्ञान है। परमाधार परमात्माको जाननेका साधन सूक्ष्मबुद्धि और सद्गुरुदेवके प्रति सात्त्विक श्रद्धा है। कदाचित् किसीकी बुद्धि मन्द है तो ज्ञानी सत्पुरुषका समागम करते हुए भी अधिक कालतक ज्ञान नहीं होता। यदि किसीकी बुद्धि तीव्र है परंतु सद्गुरुके प्रति शुद्ध श्रद्धा नहीं है तो भी यथार्थ ज्ञान नहीं होता। श्रद्धाके अभावमें अपनी सीमित जानकारीका अभिमान ज्ञानके उच्च सोपानोंमें नहीं बढ़ने देता। शुद्ध ज्ञानके लिये ज्ञानीके प्रति श्रद्धा और तीव्र बुद्धि दोनोंका होना अत्यावश्यक है। इस प्रकारकी श्रद्धा तथा तीव्र बुद्धिका साधन संत-महात्माओंका सत्संग है। संगके अनुसार ही बुद्धि बनती है और बुद्धिके अनुसार ही न्यूनाधिक ज्ञान होता है।

मनुष्यको अपने जन्मके साथ ही किसी-न-किसी तरहका संग अवश्य मिलता है, जिस प्रकारके भाव-विचार और भाषा-भूषावाले लोगोंका संग सुलभ रहता है उसी प्रकारके भाव-विचार, वेष-भूषा आदि मनुष्यमें दृढ़ हो जाते हैं। यदि किसीको जन्म लेनेके साथ ही यथार्थदर्शी ज्ञानी महात्माओंका संग सुलभ हो जाता है तो निस्सन्देह उसकी बुद्धिमें उन्हीं ज्ञानी पुरुषोंका ज्ञान बढ़ता जाता है। यह भी समझ लेना आवश्यक है कि संगका आशय शरीरमात्रकी समीपतासे ही नहीं है अपि तु शरीरके साथ इन्द्रिय-मन और बुद्धिके संयोगसे है, क्योंकि किसीका शरीर कदाचित् ज्ञानी पुरुषके समीप रहने लगे और मन-बुद्धि किसी अज्ञानी प्रपञ्चोपासक व्यक्तिमें लगे रहें तो उसके मन-बुद्धिपर प्रपञ्चीका ही प्रभाव पड़ेगा, जिसमें मन लगा होता है, जिसमें बुद्धि स्थिर होती है उसीका प्रभाव पड़ता है, उसीका ज्ञान होता है; इसीलिये ज्ञानी संत-महात्माओंका मनोयोगपूर्वक बुद्धिसे संग होना चाहिये। ऐसा होनेपर ही ज्ञानी पुरुषोंकी कृपासे बुद्धि सूक्ष्मातिसूक्ष्म होती जाती है और गुरुदेवके प्रति श्रद्धा भी शुद्ध और स्थिर होती है।

ज्ञानी संत-महात्माओंके सुसंगका साधन सञ्चित पुण्य है, मन्दभागीको संत-समागम सुलभ नहीं होता, पाप संतोंके प्रति झुकने नहीं देते हैं। जब कभी पुण्य बन गये तो उन्हींके प्रभावसे संत-महात्माओंके प्रति आकर्षण होता है, उनका सुयोग सुलभ हो जाता है। पुण्य-प्राप्तिका साधन दूसरोंकी सेवा और हित है।

सेवा करनेवालोंको सदा यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि सेवा करते हुए दूसरोंको केवल बाहरसे सुखी करनेका ही पक्ष लिया जाता है और उसके हितका ध्यान नहीं रक्खा जाता है तो वह कभी-कभी पुण्य न होकर पाप एवं अपराध बन जाता है। इसलिये बुद्धिमान्को दूसरेके सुखका ही ध्यान न रखकर उसके हितका ध्यान रखना चाहिये। हितमूलक सेवाका परिणाम अत्यन्त सुखमय होता है। सुखकी अनुभूति इन्द्रिय-मन आदि निम्नक्षेत्रोंद्वारा होती है और हितका ज्ञान बुद्धि अर्थात् विज्ञानमय क्षेत्रसे होता है। पुण्यवान् होनेके लिये सेवारूप साधनमें यदि निर्बलता बाधक बने तो निर्बलता दूर करनेका साधन तप है। तपका अर्थ है—सभी प्रकारके कष्टोंको धैर्यपूर्वक सहते चलना। यदि कष्ट सहनेकी शक्ति न हो तो शक्ति-प्राप्तिका साधन संयम है। मर्यादाके भीतर आहार-विहारमें संयमसे देहमें कष्टसहिष्णुताकी शक्ति बढ़ती है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादिमें संयम रखनेसे इन्द्रियोंमें शक्ति दौड़ती है, इसी प्रकार सङ्कल्प, विकल्प, वासना और इच्छामें संयम रखनेसे मनोबलकी वृद्धि होती है और विचारोंमें संयम रखनेसे बुद्धिमें योग्यता आती है। संयमीको अपनी शक्तिका कहीं भी दुरुपयोग नहीं करना चाहिये और यह तभी सम्भव है जब साधक सद्गुणोंसे सम्पन्न हो जाय। सद्गुणोंसे सम्पन्न होनेका साधन मोह-माया, मान, लोभ और क्रोधादि विकारोंका त्याग है। विकाररहित एवं निरभिमान होनेका साधन विनम्रतापूर्वक निर्विकार ज्ञानी पुरुषकी उपासना है। ज्ञानी पुरुषके निकटस्थ होनेपर ही साधक अपने दोषोंको देख पाता है और

अपने दोषोंको ही समस्त दुःखोंका कारण समझकर सदाके लिये उनका त्याग कर देता है। निर्दोष जीवन पूर्णानन्दकी प्राप्तिका साधन है। इस प्रकारका जीवन ही भगवान्‌को अति प्रिय होता है। निर्दोष जीवन अपने सर्वाङ्गोंसे पवित्र होनेके कारण ही भगवान्‌को पूर्णरूपसे ग्रहण करनेमें सफल होता है। वह निर्दोष शरीरसे सर्वरूपमय भगवान्‌के साकार रूपकी सेवा करता है, अपने निर्दोष नेत्रोंसे भगवान्‌की विश्व-व्याप्त सुन्दरताको देखता रहता है और उन्हींको अपना सर्वस्व मानकर निरन्तर मनन करते हुए परम संतुष्ट रहता है। इसी प्रकार अपनी निर्दोष बुद्धिसे नाम-रूपमय जगत्‌के पीछे रहनेवाली सर्वाधार भगवान्‌की सत्ताको जानते हुए निर्भर रहता है और अपने निर्दोष अहंसे भगवान्‌के अखण्ड चिन्मात्र स्वरूपका अनुभव करते हुए विन्दुकी भाँति आनन्दसिन्धुमें तन्मय रहता है। और इस तरह अपूर्ण संसारमें अभावग्रस्त जीवात्मारूपी साधक अपने निर्दोष जीवनरूपी साधनके द्वारा पूर्णानन्दस्वरूप जगदाधार परमात्माको प्राप्त करता है। यही पूर्णसिद्धावस्था है, इसमें पहुँचे बिना संसारमें किसीको कहीं भी परम शान्ति नहीं मिल सकती।

पक्षी

[कहानी]

(लेखक—श्रीआत्मारामजी देवकर 'साहित्यमनीषी')

घोंसलेमें बैठा हुआ पक्षी मधुर स्वरसे गा रहा था। प्रातःकालकी भीनी-भीनी वायु चित्तको प्रसन्न कर रही थी। भगवान् भास्करका स्वागत करनेवाले सहयोगी पक्षियोंका कलरव आनन्दको बढ़ा रहा था। नैसर्गिक शोभा किसी अलक्षित प्रेम-राज्यका स्मरण दिला रही थी। अचानक एक अहेरी आकर घोंसलेके आगे खड़ा हो गया। उसने भैरव-हुंकार करके पक्षीको ललकारा और तत्काल धनुषपर बाण चढ़ा लिया। घोंसला कदलीपत्रकी नाईं काँप उठा। पक्षीने व्यग्र होकर कहा—'तुम कौन हो?' अहेरीने कड़ककर उत्तर दिया—'मुझे लोग कराल काल कहते हैं।' पक्षीने प्रश्न किया—'तुम्हारे आनेका क्या कारण है?' अहेरीने निःस्पृहतासे कहा—'मैं तुम्हारा अन्त करनेके लिये आया हूँ।' पक्षी मुसकराकर बोला—'मैंने क्या अपराध किया है?' अहेरीने उत्तर दिया—'तुमने कर्म-सूत्र छिन्न नहीं किया; बस, यही तुम्हारा अपराध है।' पक्षी खिल-खिलाकर हँसने लगा और भौंहें चढ़ाकर बोला—'तुम महामूर्ख हो।' अहेरीने गर्जकर कहा—'यह उद्दण्डता! तुम मुझे किस आधारपर मूर्ख बना रहे हो?' पक्षीने उत्तर दिया—'न जानना ही मूर्खता है, जिसे जीवका धर्म कहते हैं।' अहेरीने तीव्र स्वरसे कहा—'मैं त्रिकालज्ञ हूँ, ऐसी कौन-सी बात है, जिसे मैं नहीं जान सकता?' पक्षीने शान्तभावसे उत्तर दिया—'अच्छा, तो बतलाओ मैं कौन हूँ?' अहेरी बोला—'पाञ्चभौतिक शरीरधारी संसारी।' पक्षीने अट्टहास किया और भर्त्सना करके कहा—'यही तुम्हारा अज्ञान है, तुम घोंसलेको मेरा रूप मान रहे हो, इसीसे मुझे पाञ्चभौतिक कहते हो। यह नहीं जानते कि तुम्हारे नष्ट हो जानेपर भी मैं बना रहूँगा।' अहेरीने साश्चर्य घोंसलेकी ओर देखकर उत्तर दिया—'अच्छा, तुम्हीं मुझे अपना वास्तविक रूप बतला दो।' पक्षीने आश्वस्त स्वरसे कहा—'मैं वही हूँ, जिसका भेद आजतक किसीको नहीं मिला, न मिल सकता है, वेदोंने जिसका अन्त नहीं पाया, जिसपर सुख-दुःखका प्रभाव नहीं पड़ता, जो काल, कर्म और स्वभावके बन्धनसे मुक्त है, जिसको नित्य, निरञ्जन एवं सच्चिदानन्द कहते हैं।' अहेरी लाल-लाल नेत्र दिखलाकर बोला—'इसका क्या प्रमाण है?' पक्षीने दृढ़तासे कहा—'प्रत्यक्षके लिये प्रमाणकी क्या आवश्यकता है, करके देख लो।'

अहेरीने कानतक धनुष खींचकर बाण छोड़ दिया। घोंसला शाखाका आधार त्याग नीचे गिर पड़ा। अहेरीने देखा कि घास-फूसके अतिरिक्त उसमें अन्य कोई पार्थिव पदार्थ नहीं है। एक ही क्षणके अनन्तर अहेरीको स्पष्ट सुनायी दिया कि दूसरे घोंसलेमें बैठा हुआ वही पक्षी अत्यन्त ललित, आकर्षक एवं हर्षोत्फुल्ल स्वरसे स्वर्गीय गानकी तान छेड़ रहा है।

जीवनका दार्शनिक विश्लेषण और प्राच्यदर्शनके अनुसार उसकी व्याख्या

(लेखक—श्रीजयनारायणजी मल्लिक, एम्० ए०, साहित्याचार्य, साहित्यालङ्कार)

जीवन एक समष्टि है। शरीर और आत्मा—दोनोंके संयुक्त समूहका नाम जीवन है और दोनोंके वियोगका नाम मृत्यु है। बिना शरीरका आत्मा शक्तिहीन है तथा बिना आत्माका शरीर शवके रूपमें जड तथा चैतन्यहीन है। हम किसीके शरीरको जीवनके नामसे नहीं पुकार सकते और न उसके आत्माको ही। दोनोंकी समष्टिको ही हम जीवन कहते हैं। इसी प्रकार इस विशाल सृष्टिका भी एक शरीर है और एक इसका आत्मा है। सृष्टिकी अवस्थामें ये संयुक्त तथा प्रलयकी अवस्थामें वियुक्त रहते हैं। सृष्टिका शरीर प्रकृति और सृष्टिका आत्मा परब्रह्म या परमात्मा है। इन्हीं दोनों तत्त्वोंको हम चित् और अचित् (Nature and God), प्रकृति और पुरुष (Matter and Spirit), ब्रह्म और माया, आत्मा और शरीर (Soul and Body) तथा अन्य भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारते हैं। इन्हीं दोनों तत्त्वोंकी समष्टिका नाम संसार है। सृष्टिकी अवस्थामें ये अपने स्थूल तथा प्रलयकी अवस्थामें ये अपने सूक्ष्मरूपमें पाये जाते हैं। संसारमें कुछ लोगोंका ध्यान सृष्टिके शरीरतत्त्वकी ओर गया और अन्य लोगोंका ध्यान उसके आत्मतत्त्वकी ओर। पश्चिमने जीवन और सृष्टिके शरीरको ग्रहण किया, प्राचीने उसकी आत्माको। शरीर भौतिक और दृष्टिगोचर है, अतः इसमें Observation और Experiment (दृष्टि-गणना तथा जाँच) की गुंजाइश है। अतः यह विज्ञानका विषय है। आत्मतत्त्व स्थूल इन्द्रियोंसे नहीं देखा जा सकता। यह गम्भीर विचार तथा सूक्ष्म-बुद्धिका विषय है। अब इसको दर्शनने अपनाया। पश्चिम विज्ञानकी ओर झुका; पूर्व दर्शनकी ओर। पश्चिम सृष्टिके शरीर-तत्त्व—प्रकृतिका विश्लेषण करने लगा; पूर्व दार्शनिक सिद्धान्तके आधारपर आत्माका अन्वेषण करने लगा। पश्चिमकी कला और साहित्यपर भौतिक विज्ञानकी छाप है। वह भौतिक और शारीरिक सौन्दर्यकी ओर विशेष आकृष्ट हुआ है; प्राचीने शारीरिक सौन्दर्यके अन्तर्गत अध्यात्मवादकी एक रूपरेखा देखी। पश्चिमकी सर्वोत्कृष्ट नायिका—हेलेनमें हम शारीरिक सौन्दर्यकी प्रधानता पाते हैं, पर पूर्वकी सर्वोत्कृष्ट नायिका—सीताका सौन्दर्य उसकी पवित्र आत्माका दिव्य प्रतिबिम्बमात्र है। हेलेन हमारे सामने भोग्या नारीके रूपमें आती है, सीता परम पूज्या नारीके रूपमें। आज पश्चिम विज्ञानके द्वारा बाह्य प्रकृतिपर बहुत अंशोंमें विजय प्राप्त कर चुका है, पर आत्मतत्त्वकी अवहेलना करनेके कारण अन्तःप्रकृतिके ऊपर विजय प्राप्त करनेकी चेष्टा नहीं करनेके कारण पश्चिमके जीवनमें एक विराट् हाहाकार है—विलासिताकी लपट है—और स्वार्थ, हिंसा तथा द्वेषके कारण पारस्परिक संघर्ष है। पर पूर्व अध्यात्मवादकी धारामें इतनी दूरतक बह गया कि वह भौतिक विज्ञान तथा वास्तविक जीवनसे बहुत दूर चला गया था। (दुःख है आजकल वह भी अपने आदर्शको भूलकर पश्चिमका अन्धानुकरण करने लगा है!)

मैं कह चुका हूँ कि जीवन एक समष्टि है—शरीर और आत्मा दोनोंका समूह है। शुद्ध आत्मतत्त्व तो निर्विकार और सच्चिदानन्द है, पर शरीरके आवरणके अन्तर्गत ढँका हुआ आत्मा जीवात्माके रूपमें हमारे सामने आता है। आत्मा तीन शरीरों और पाँच कोशोंसे आच्छादित है—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण या लिङ्ग शरीर तथा अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश। स्थूल शरीर ही हमारा अन्नमय कोश है। स्थूल शरीरका निर्माण तथा वृद्धि खाये हुए भोजनसे होती है। हमारे सूक्ष्म शरीरमें प्राणमय कोश, मनोमय कोश तथा विज्ञानमय कोश स्थित हैं। हमारे कारण-शरीरमें आनन्दमय कोश है। मृत्युके समय स्थूल शरीरसे हमारा वियोग हो जाता है, पर सूक्ष्म शरीर मृत्युके बाद स्वर्ग, नरक एवं पुनर्जन्मकी अवस्थामें भी हमारे साथ रहता है। हमारे कर्मोंके संस्कार इसी सूक्ष्म शरीरपर अङ्कित रहते हैं और वही सूक्ष्म शरीर स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म तथा भव-बन्धनका कारण है। इसी सूक्ष्म शरीरसे छुटकारा पाना मोक्ष है। कारण-शरीर तो जीवात्माके साथ सदैव रहता है। गीतामें एक श्लोक है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥

अर्थात् सृष्टिकी रचना प्रकृतिके आठ अवयवोंसे हुई है। भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश (Ether)—इन पाँच स्थूल तत्त्वोंसे स्थूल शरीरका निर्माण तथा मन, बुद्धि और अहङ्कार—इन तीन सूक्ष्म तत्त्वोंसे सूक्ष्म शरीरका निर्माण हुआ है। हमारे असंख्य पुनर्जन्मों तथा योनि-परिवर्तनोंका कारण यही मन-बुद्धि-अहङ्कारसे बना हुआ सूक्ष्म शरीर है।

हमारे कर्मोंकी छाप इसी सूक्ष्म शरीरपर पड़ती है। हमारा वर्तमान जीवन हमारे अतीत जीवनका फल और हमारे भविष्य-जीवनका बीज है। जिस प्रकार एक छोटे-से वट-वृक्षमें सम्पूर्ण वट-वृक्षका विस्तार अन्तर्हित है, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीरमें भी सारे स्थूल शरीरका विस्तार और विकास अन्तर्हित है। अनुकूल परिस्थितिमें यह विस्तार विकसित एवं प्रत्यक्ष होने लगता है। यह आश्चर्यकी बात है कि हमारे पूर्वजन्मका कर्म किस प्रकार हमारे वर्तमान जीवनको आन्दोलित तथा प्रभावित करता है। साधारणतः कर्म हम-लोग अपने स्थूल शरीरसे करते हैं और मृत्युके समय हमारा स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, फिर स्थूल शरीरसे किया हुआ कर्म क्यों नहीं नष्ट होता और किस प्रकार यह प्रारब्ध तथा संस्कारके रूपमें दूसरे जन्मपर भी प्रभाव डालता है? कर्म स्वतः न तो अच्छा है न बुरा। कर्म किस ध्येयसे किया जाता है, उसका लक्ष्य (Motive) क्या है, उसीपर कर्मका स्वरूप निर्भर करता है। जब हमलोग कोई कर्म करते हैं तो ज्ञानेन्द्रियाँ तथा स्नायु-जालकी ज्ञान-तन्तुएँ इसकी खबरें हमारे मस्तिष्कमें ले जाती हैं। हमारे बृहत् मस्तिष्क (Cerebrum) में कुछ कम्पन होता है—मानसिक जगत्में कुछ उथल-पुथल हो जाती है—और सूक्ष्म-शरीर-पर एक गहरी छाप पड़ जाती है, कर्मका संस्कार अङ्कित हो जाता है। यही संस्कार हमारा प्रारब्ध बन जाता है। स्थूल शरीरके नष्ट होनेपर भी सूक्ष्म शरीर तो हमारे साथ रहता है और यही सूक्ष्म शरीर अपने पूर्व-जन्मका कर्म-संस्कार प्रवृत्तिके रूपमें ले आता है, एवं प्रवृत्ति (Instincts) अज्ञातरूपसे हमारे जीवनका पथ-प्रदर्शन करती है। यदि कर्म करनेपर भी हमारे सूक्ष्म शरीरमें कोई लहर—कोई तरङ्ग उत्पन्न न हो, हमारे मानसिक जगत्में कोई उथल-पुथल न हो, तो कर्म न तो हमारे लिये बन्धनका कारण हो सकता है और न पाप या पुण्य उत्पन्न कर सकता है। उदाहरणके लिये—किसी नग्न युवतीका दर्शन या उसके वक्षःस्थलका स्पर्श पाप है; क्योंकि इन कर्मोंसे मनमें एक विकार उत्पन्न हो जाता है और सूक्ष्म शरीरपर एक छाप पड़ जाती है। पर यदि किसी नवजात शिशुके सम्मुख कोई युवती नग्न हो जाय, या किसी सोये हुए व्यक्तिका हाथ भूलसे किसी युवतीके शरीरका स्पर्श कर ले, तो कोई पापका भागी नहीं होता, क्योंकि किसीके सूक्ष्म शरीरमें विकार उत्पन्न नहीं होता। एक व्यक्ति किसी नवयुवतीकी अङ्गुलिका स्पर्श भी यदि काम-भावनासे कर ले, तो वह पापका भागी हो जाता है, पर यदि उसी नवयुवतीके वक्षःस्थलमें कोई घाव हो जाय और कोई चिकित्सक चिकित्साके हेतु उसके वक्षःस्थलका स्पर्श करे, तो वह पापका भागी नहीं होता। क्योंकि पहलेके सूक्ष्म शरीरमें कामवासनाकी लहर उत्पन्न होती है और दूसरेके सूक्ष्म शरीरमें शुद्ध कर्तव्य-प्रेरणाकी।

मैं कह चुका हूँ कि हमारा सूक्ष्म शरीर मन, बुद्धि, अहङ्कार—इन तीन तत्त्वोंसे निर्मित है। पुनर्जन्मके सारे खेल इन्हीं तीन तत्त्वोंकी न्यूनाधिक मात्राओंपर निर्भर हैं। अहङ्कार पहला तत्त्व है और इसीसे हमें प्रथम-प्रथम स्वार्थ, ममत्व (अपनापन) तथा अहं (मैं) की भावना आती है। निर्जीव और सजीवमें यही अन्तर है कि निर्जीवमें अहंकी भावना नहीं रहती और सजीवमें रहती है। इसी अहङ्कार-तत्त्वसे हमें भोजनकी तथा विकास और वृद्धिकी प्रेरणा मिलती है। वृक्ष-योनिमें केवल अहङ्कार-तत्त्वकी प्रधानता रहती है।

सूक्ष्म शरीरका दूसरा तत्त्व मनस्तत्त्व है। मनस्तत्त्वसे प्रवृत्ति (Instincts), इच्छा (Will), सुख-दुःखका अनुभव (Capacity of feeling pleasure and pain), स्मृति (Memory), विचार (Thinking) तथा कल्पना (Imagination) की प्रेरणा मिलती है। पशु-योनिमें अहङ्कार और मन—दो तत्त्वोंकी प्रधानता रहती है। भोजन और विकास, जो अहङ्कार-तत्त्वके प्रधान कार्य हैं, वृक्ष-योनि और पशु-योनिमें समान रूपसे पाये जाते हैं, पर मनस्तत्त्वके कार्य, इच्छा, अनुभूति, स्मृति इत्यादि प्रधानतः पशुओंमें पाये जाते हैं, वृक्षोंमें नहीं।

सूक्ष्म शरीरका तीसरा तत्त्व बुद्धि है। बुद्धि विवेककी जननी है और कर्तव्याकर्तव्यका निर्णय करती है। मनुष्य-योनिमें सम्पूर्ण सूक्ष्म शरीर—मन, बुद्धि, अहङ्कार—तीनों विकसित रूपमें पाये जाते हैं। पशुओंको कर्म करनेकी प्रेरणा प्रवृत्तिसे मिलती है, मनुष्योंको बुद्धि-तत्त्व और विवेकसे। पशु यह नहीं समझते कि समाजके कल्याणके लिये—जीवनको उन्नत बनानेके लिये सेवा, प्रेम और त्यागकी कितनी आवश्यकता है। यह मानवताकी पुकार है। पशुता तो प्रवृत्ति-हीका दूसरा नाम है। यदि हम अपनी प्रवृत्तिके अनुसार कार्य करते हैं, तो हममें पशुताकी प्रधानता है और यदि हम कर्तव्यकी प्रेरणासे विवेककी कसौटीपर कसकर कर्म करते हैं, तो वह पशुतापर मानवताकी विजय है।

जीवात्मा जिस किसी योनिमें क्यों न रहे, पर वह एक सूक्ष्म शरीरके आवरणके अन्तर्गत बंद है।

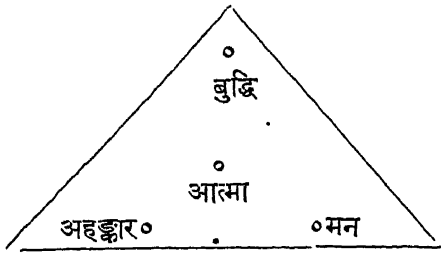

जीवनका विकासवाद हमें जीवनके सोपानकी ओर संकेत करता है। जीवनके मुख्यतः पाँच स्तर हैं। दो तो हम (मानव) पार कर चुके, अभी तीसरे स्तरमें वर्तमान हैं, किंतु दो उन्नत स्तर हमारे आगे हैं।

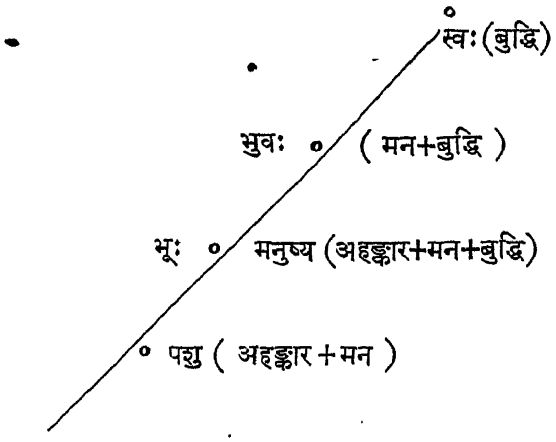

अभी हम जीवनके विकासके मध्यमें हैं। जीवनके प्रथम सोपान—वृक्षयोनिमें अहंकार जाग्रत् और मन तथा बुद्धि—ये दोनों न्यूनाधिक मात्रामें सुषुप्त रहते हैं। जीवनके द्वितीय सोपान—पशुयोनिमें बुद्धि-तत्त्व न्यूनाधिक मात्रामें सुषुप्त एवं मन तथा अहङ्कार जगे रहते हैं। मनुष्य-योनिमें तीनों तत्त्व जगे रहते हैं। अभी हम भूलोकके स्तरमें हैं। दो उन्नत स्तर—भुवर्लोक और स्वर्लोक हमसे आगे हैं। भुवर्लोकमें अहङ्कार सो जायगा, केवल बुद्धि और मन जगे रहेंगे। स्वर्लोकमें मन और अहङ्कार—दोनों सो जायँगे, केवल बुद्धि-तत्त्वकी प्रधानता रहेगी। जीवनके विकासमें वृक्ष-योनि निम्नतम है और देव-योनि उच्चतम। अहङ्कारमें तमकी प्रधानता है, मनमें रजकी और बुद्धिमें सत्त्वकी। मन, बुद्धि, अहङ्कार—इन्हीं तीन तत्त्वोंमें सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण—ये तीनों गुण वर्तमान रहते हैं। अहङ्कारमें प्राणमय कोशकी झलक मिलती है, मनस्तत्त्वमें मनोमय कोशकी और बुद्धिमें विज्ञानमय कोशकी। वृक्ष-योनिमें तमकी प्रधानता है, पशुयोनिमें रज और तमकी, मनुष्य-योनिमें सत्त्व, रज, तम—तीनोंकी; भुवर्लोकके स्तरमें, जो मनुष्य-योनि और देव-योनि दोनोंके बीचका जीवन है, सत्त्व और रजकी; तथा देव-योनिमें केवल सत्त्वकी प्रधानता है। गायत्री इसी भुवर्लोक और स्वर्लोककी ओर संकेत करती है। 'ॐ भूर्भुवः स्वः' के द्वारा वह हमें याद दिलाती है कि जीवनके नीचेके सोपानोंकी ओर मत देखो। जीवनके ऊपरके दो स्तरोंकी ओर देखो। गायत्रीका संकेत पशुताके ऊपर मानवताकी विजय है। पशुतामें प्रवृत्तिकी प्रधानता है, मानवतामें विवेककी। गायत्री हमें कहती है कि प्रवृत्तिकी धारामें—सुख-भोगकी लालसामें अपनेको मत बहने दो, किन्तु विवेकके द्वारा अपने कर्तव्यका निश्चय करो।

वृक्ष-योनिसे लेकर देव-योनितक—स्वर्लोकतक सूक्ष्म शरीरका क्रीड़ास्थल है—मायाका राज्य है। सूक्ष्म शरीरमें चाहे बुद्धिकी प्रधानता हो या अहङ्कारकी—चाहे देव-योनि हो या वृक्षयोनि—पर आत्मा जबतक सूक्ष्म शरीरमें है, तबतक वह कर्म-संस्कारके अधीन—प्रारब्धके अधीन है और बद्ध है। जब वह सूक्ष्म शरीरसे—मन, बुद्धि अहङ्कारसे—सत्त्व, रज, तमसे पूर्णतया स्वतन्त्र हो जाता है, तभी वह मुक्त कहलाता है। इसी बातकी ओर गीताके ये श्लोक संकेत करते हैं—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
(९। २१)

अथवा—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
(८। १६)

मोक्ष-मार्ग किधर है, और सूक्ष्म शरीरसे छुटकारा हम कैसे पायँगे ? सूक्ष्म शरीरका विकास कर्म-संस्कारसे होता है। हम जो अच्छे या बुरे कर्म करते हैं, वे अपनी छाप—अपना प्रभाव सूक्ष्म शरीरपर रख देते हैं। इसीका नाम आसक्ति है। यदि हम अनासक्त और निर्लिप्त होकर केवल कर्तव्यकी प्रेरणासे कार्य करें, यदि कर्म करनेपर भी हमारे सूक्ष्म शरीरमें—हमारे अन्तःकरणमें किसी प्रकारकी हलचल न हो, तो उस कर्मसे सूक्ष्म शरीरका विकास नहीं होगा और उस कर्मके संस्कारसे हमारी प्रवृत्ति भी नहीं बनेगी। यदि आगे हमारे सूक्ष्म शरीरका विकास रुक गया तो प्रारब्ध भोगनेके पश्चात् हम मुक्त हो जायँगे। गीतामें कहा है कि—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(१८। १७)

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।

(४। १४)

इसीका नाम कर्मयोग है। पर कर्मकाण्ड इससे भिन्न है। कर्मकाण्ड सकाम है, कर्मयोग निष्काम। कर्मकाण्ड हमें स्वर्ग दे सकता है, पर हमारे सूक्ष्म शरीरका विकास नहीं रोक सकता। शारीरिक कर्म अच्छा भी हो, पर यदि मनको वह पवित्र नहीं बना सकता, तो उससे विशेष लाभ नहीं होता।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

इसी उपनिषद्-वाक्यको लक्ष्य करके तुलसीदासजीने लिखा है—

माधव! मोह-फाँस क्यों टूटै।
बाहिर कोटि उपाय करिय, अभ्यंतर ग्रंथि न छूटै॥
घृतपूरन कराह अंतरगत ससि-प्रतिबिंब दिखावै।
ईंधन अनल लगाय कलप सत, औटत नास न पावै॥

यदि हम अपने अन्तःकरणको निर्मल नहीं कर सकते, यदि हम कर्मेन्द्रियोंको विषय-भोगसे रोककर मनमें उनका चिन्तन करते रहते हैं तो हम मोक्ष-मार्गकी ओर अग्रसर नहीं हो सकते।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

(गीता ३। ६)

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥

(गीता २। ५९)

मैं कह चुका हूँ कि जीवन शरीर और आत्मा—दोनोंकी समष्टि है। किसीने जीवनमें—सृष्टिमें शरीरको देखा, किसीने आत्माको। शरीर स्थूल है, इसलिये कर्मका विषय है; आत्मा सूक्ष्म है, इसलिये ज्ञानका विषय है। शरीरमें हम मूर्त्त सुन्दरताकी झलक देखते हैं, इसलिये शारीरिक कर्मसे रस और आनन्दकी सृष्टि होती है। आत्माका ज्ञान शुष्क और नीरस विचारका विषय है। वेदके पूर्वभाग संहिता और ब्राह्मणने कर्मको अपनाया। वेदके उत्तरभाग—उपनिषद् और आरण्यकने ज्ञानको लिया। जैमिनिने पूर्वमीमांसामें कर्मकी मीमांसा की तथा बादरायणने उत्तरमीमांसा या वेदान्त-सूत्रमें ज्ञानकी। माता कर्मका प्रतीक है, पिता ज्ञानका। शाक्तधर्मने सृष्टिके शरीर, सृष्टिकी जननी प्रकृति देवीकी अनेक रूपोंमें, अनेक प्रकारोंमें अर्चना की। निवृत्तिमार्गी विद्वानोंने सृष्टिको, प्रकृतिको तथा संसारको माया एवं मिथ्या समझकर केवल सृष्टिके आत्मा ब्रह्मको खोजने तथा समझनेकी चेष्टा की। शाक्तों तथा मीमांसकोंका कर्म-मार्ग रहा, वेदान्तियोंका तथा निवृत्तिमार्गियोंका ज्ञानमार्ग। गीतामें कहा है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

(३। ३)

कर्म और ज्ञान दोनों मोक्षके मार्ग हैं, पर दोनोंमेंसे प्रत्येक एकाङ्गी है, अतः अपूर्ण है। मानव न तो केवल शरीर है और न केवल आत्मा, पर दोनोंकी समष्टि है। न तो हम माताकी अवहेलना कर सकते, न पिताकी। न तो हम कर्मको छोड़ सकते, न ज्ञानको। न हम संसारका तिरस्कार कर सकते हैं, न परमात्माका। श्रीरामानुजाचार्यने अपने श्रीभाष्यमें कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनोंका संमिश्रण कर उसपर भक्तियोगका आवरण दे दिया है। रामानुजका विशिष्टाद्वैत-वेदान्त पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा—कर्म और ज्ञान दोनोंपर अवलम्बित है। अपने मतमें उन्होंने श्रीमन्नारायणके रूपमें भगवती और भगवान्—दोनोंकी उपासना की है। श्रीशङ्कराचार्यका निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म, श्रीरामानुजाचार्यका चिदचिद्विशिष्ट सगुण ब्रह्म हो जाता है। पर सगुण ब्रह्मकी उपासनाकी अपेक्षा निर्गुण ब्रह्मज्ञान अधिक कष्टकर है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।

(गीता १२। ५)

श्रीशङ्कराचार्यने संसारको मिथ्या और भ्रममात्र समझा है, अतः उनकी दृष्टिमें स्त्री, पुत्र, धन, शरीर सभी भ्रम हैं। इसलिये शरीरको स्वस्थ तथा नीरोग रखना, द्रव्योपार्जन करना, सन्तानोत्पत्ति इत्यादि सभी कार्य भ्रम मान लिये गये। और उन्हें तभीतक करना चाहिये जबतक ब्रह्मज्ञान हो जाय। पर मनोविज्ञान बतलाता है कि प्रवृत्तिकी धाराको एकाएक हम नहीं रोक सकते। हमारे अनेक जन्मोंके कर्म-संस्कार हमारी प्रवृत्तिमें एकत्रित हो गये हैं। कर्मेन्द्रियोंको बलपूर्वक हम रोक सकते हैं, पर प्रवृत्तिकी छाप जो हमारे सूक्ष्म शरीरपर अङ्कित है, उसको हम सर्वथा नहीं मिटा सकते। पर प्रवृत्तिकी धारामें निश्चेष्ट होकर बहते रहना तो पशुता है। प्रवृत्तिकी धारा बड़े वेगसे ऊपरसे नीचेकी ओर बह रही है—

मानवतासे पशुताकी ओर जा रही है। यदि हम अपनेको इस धारामें छोड़ देंगे तो यह हमें पशुताके निम्नतम स्तरमें ले जायगी। यदि हम इस धाराको जबर्दस्ती रोकनेकी चेष्टा करें तो हम सहसा सफल नहीं हो सकते। प्रवृत्तिकी धारा इतनी प्रबल है कि रोकनेकी चेष्टा किये जानेपर वह अपना मार्ग छोड़कर और भी कण्टकाकीर्ण मार्गसे बहने लगेगी। पहला मार्ग अनुचित है, तो दूसरा असम्भव। पहलेकी झलक हमें बार्हस्पत्य-दर्शनमें मिलती है, दूसरेकी श्रीशङ्कराचार्यके ज्ञानमार्गमें। चार्वाकके भौतिकवादने प्रवृत्ति-पथपर अबाध निरङ्कुश होकर चलनेका आदेश दिया। उन्होंने यहाँतक कह डाला कि—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।

तथा—

मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु।

उन्होंने कामिनी और काञ्चनके बीच रसना तथा उपस्थको मुक्त होकर विचरनेकी अनुमति दे दी। इधर निरे निवृत्तिवादने विवाह, भोजन तथा गार्हस्थ्य-धर्मतकको अनुचित ठहराकर, संसारको मिथ्या बताकर, संसारको तथा प्रवृत्तिको सर्वथा त्याग करनेका आदेश किया। श्रीरामानुजाचार्य आदिने बतलाया कि न तो हम निरी प्रवृत्तिकी धारामें बह सकते, क्योंकि वह पशुताकी ओर ले जाती है; और न हम प्रवृत्तिको सर्वथा रोक ही सकते हैं, क्योंकि प्रवृत्ति प्रकृतिका सूक्ष्मरूप है और प्रकृतिके साथ सङ्घर्षमें हम विजय प्राप्त नहीं कर सकते। हमें प्रवृत्तिके साथ चलना चाहिये, पर प्रवृत्तिको परिमार्जित कर लेना चाहिये (We should sublimate the instincts)। भोजन तथा अन्य भोग हम नहीं छोड़ सकते, पर विषय-भोगकी लालसासे नहीं—मौज उड़ाने-के खयालसे नहीं, किंतु कर्तव्यकी प्रेरणासे विवेककी आज्ञासे हमें ये कार्य करने चाहिये। स्वादिष्ठ भोजन हम कर सकते हैं, पर शरीर-रक्षाके निमित्त। स्त्री-सहवास हम कर सकते हैं, पर समाजके कल्याणकी दृष्टिसे, विवाहिता पत्नीके साथ और वह भी नियम तथा संयमके साथ केवल सन्तानोत्पत्तिके लिये ही। द्रव्योपार्जन हम कर सकते हैं, पर कर्तव्यकी दृष्टिसे और वह भी सदुपयोगके लिये। गार्हस्थ्य जीवनके सारे कर्म हम कर सकते हैं, पर निष्काम निर्लिप्त अनासक्त होकर केवल कर्तव्य-की प्रेरणासे—केवल भगवत्प्रीत्यर्थ। रामानुजके मतमें कर्मयोग और ज्ञानयोग एक ही मोक्षमार्गके दो दृष्टिकोण हैं। गीता कहती है—

'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।'

.....

'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥'

(गीता ५। ४-५)

प्रवृत्तिको सर्वथा रोकनेकी चेष्टा करते हुए प्रकृतिको शत्रु बनाकर हम मोक्षमार्गमें जितनी दूरतक अग्रसर हो सकते हैं, उससे कहीं आगे हम प्रकृतिको मित्र बनाकर जा सकते हैं; क्योंकि प्रकृतिके साथ सङ्घर्ष करनेमें हमारी जितनी शक्तिका अपव्यय होगा, उतनी शक्तिके सदुपयोगसे हम परमात्माके और भी समीप पहुँच सकते हैं।

मैं कह चुका हूँ कि कर्तव्यका पथ-प्रदर्शक बुद्धि-तत्त्व या विवेक है। प्रवृत्ति तो केवल इच्छाकी जननी है। जब हम कोई कर्म करते हैं, तब बुद्धि-तत्त्व उसका पथ-प्रदर्शन करता है, वह यह बतलाता है कि कर्मको किस रास्तेसे किस रूपमें चलना चाहिये। प्रवृत्ति जो पूर्वकर्मोंके संस्कारको लेकर बलवती हो गयी है, कर्मको अपनी ओर खींचती है और बुद्धि-तत्त्व यदि विकसित तथा बलवान् नहीं रहा, तो कर्म-प्रवृत्तिका अनुसरण करने लगता है। जिन योनियोंमें बुद्धि-तत्त्व विकसित नहीं रहता, उन योनियोंके कर्मके लिये जीव उत्तरदायी नहीं होता। पशु प्रवृत्तिसे प्रेरित होकर कर्म करते हैं, न कि विवेकके द्वारा विचारकर। वृक्षयोनि और पशुयोनि भोगयोनि हैं और मनुष्य कर्मयोनि। वृक्ष और पशु अपने पूर्वजन्मके किये हुए कर्मके फलको प्रवृत्तिसे प्रेरित होकर भोगते रहते हैं। वे नवीन कर्म-संस्कारका निर्माण नहीं करते। मनुष्य अपने कर्मके लिये जिम्मेवार है, क्योंकि उसके पास बुद्धि-तत्त्व है। मनुष्योंमें भी शिशु, पागल और सोये हुए व्यक्ति अपने कर्मके लिये उत्तरदायी नहीं होते; क्योंकि शिशुका बुद्धि-तत्त्व पूर्ण विकसित नहीं रहता, पागलका निश्चेष्ट रहता है और सोये हुएका सुषुप्त। प्रवृत्तिका स्थान मनस्तत्त्वमें है। अतः शिशुमें, पागलमें और सोये हुए व्यक्तियोंमें भी प्रवृत्ति काम करती रहती है।

संसार प्रत्येक क्षण परिवर्तित होता रहता है। जीवन चञ्चल है, पर हम इस बातकी जाँच कर सकते हैं कि हम किधर जा रहे हैं। यदि हमारे जीवनमें अभिमान, जडता, अकर्मण्यता तथा स्वार्थकी मात्रा अधिक है, यदि हममें तमोगुणकी प्रधानता है, तो इसके बाद हम वृक्षयोनिमें जायँगे। यदि हमारे जीवनमें प्रवृत्ति, भोगलिप्सा तथा कामनाकी मात्रा अधिक है। यदि हममें रजोगुणकी प्रधानता

है, तो हम पशु-योनिमें जा रहे हैं। यदि हममें प्रवृत्ति और भोगलिप्साके साथ-साथ कर्तव्यज्ञान और विवेक भी है, तो हम फिर मनुष्ययोनिमें आ रहे हैं। यदि पशुताके ऊपर मानवताकी—विवेककी पूरी विजय हो गयी, यदि हमारे सारे कर्म केवल कर्तव्यकी भावनासे प्रेरित होते हैं, तो हम जीवनके उच्च सोपान—भुवर्लोक और स्वर्लोककी ओर बढ़ते जाते हैं। हम जीवनके कितने ऊँचे सोपानपर चले आये, हम स्वर्गके कितने समीप पहुँच गये, यह उतनी प्रधान बात नहीं है, पर हमारा मुख किधर है, यही सबसे प्रधान बात है। जीवनके निम्नतम सोपानपरका व्यक्ति भी यदि स्वर्गकी ओर मुँह किये हुए है, तो वह एक-न-एक दिन स्वर्ग अवश्य पहुँचेगा, पर स्वर्गके समीप पहुँचा हुआ व्यक्ति भी यदि नीचेकी ओर मुँह करके चलेगा, तो वह कभी-न-कभी पतनके गर्त्तमें जा गिरेगा!

शरीर-विज्ञान (Physiology) शरीरके जिन-जिन अवयवोंका ज्ञान देता है, वे सभी अन्नमय कोशके अन्तर्गत हैं; क्योंकि उनका विकास खाये हुए अन्नसे होता है, पर स्नायु-संस्थान और मस्तिष्क (Nervous system and Brain) अन्नमय कोशमें रहनेपर भी अन्नमय कोश और प्राणमय कोश—दोनोंका सन्धिस्थल है। यह संवेदनाका केन्द्र है और यहींसे प्राणमय कोश अपना कार्य प्रारम्भ करता है। जब प्रारब्धका क्षय हो जाता है और सञ्चित कर्म ज्ञानयोगकी अग्निमें जल जाता है तथा क्रियमाण कर्म अनासक्त कर्मयोगके कारण नवीन संस्कारका निर्माण ही नहीं करता, तब सूक्ष्म शरीर क्षीण और निर्जीव-सा हो जाता है। भक्तियोग और प्रपत्तियोग सूक्ष्म शरीरके बचे हुए अंशको भी छिन्न-भिन्न कर देता है। उस समय जब प्राणमय कोश सुषुम्णा नाड़ी (Central nervous system) के द्वारा सुषुम्णाद्वार (Medula) पर पहुँचता है, उस समय शरीर निश्चेष्ट हो जाता है और प्राणमय कोशकी समाप्ति हो जाती है। लघु मस्तिष्क (Cerebellum) में मनोमय कोशका भी अन्त हो जाता है तथा बृहत् मस्तिष्क (Cerebrum) के ब्रह्मरन्ध्रके समीप विज्ञानमय कोश तथा सूक्ष्म शरीरका पूर्ण अन्त हो जाता है। वह आत्मा अपने कारण-शरीर तथा आनन्दमय कोशमें आगे बढ़ता है। सूक्ष्म शरीरके नष्ट हो जानेसे पुनर्जन्म तथा स्वर्ग-नरकका कोई झंझट नहीं रहता। वह आत्मा छान्दोग्य तथा बृहदारण्यकमें कहे हुए अर्चिरादि मार्गपर अग्रसर होता है। हमें याद रखना चाहिये कि जीवात्मा प्रकाश-कण है और परमात्मा प्रकाशपुञ्ज। भौतिक विज्ञानका नियम है कि बड़ा पदार्थ छोटे पदार्थको अपनी ओर खींचता है। यदि छोटा पदार्थ किसी अन्य पदार्थसे बँधा न हो। परमात्मा भी जीवात्माको अपनी ओर खींचता है, यदि वह सूक्ष्म शरीरसे बँधा न हो। जब प्रकाशकण प्रकाशसमूहसे मिलनेके लिये प्रस्थान करता है तो प्रकाशमार्ग इसमें सहायक होता है और अन्धकार बाधक। गीता कहती है—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥
(८। २४)

इसीलिये अर्चिरादि मार्गको मोक्षमार्ग कहा गया है। ईशावास्योपनिषद्के अन्तमें इसी मार्गसे जानेकी प्रार्थना की गयी है। रामानुजने इसे सद्योमुक्ति और शङ्करने इसे क्रममुक्ति बतलाया है।

आर्यजाति सदासे प्रकाशकी आराधना और प्रकाशका अन्वेषण करती आयी है। उपनिषद्वाक्य है कि—

असतो मा सद्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय।

अन्धकार, अहङ्कार और पशुता—अज्ञान और तमोगुणका प्रतीक है, प्रकाश ज्ञान और मानवताका। गायत्री आर्यजातिकी चिरन्तन प्रार्थना है। गायत्री कहती है कि—

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

हम सवितादेवके उस पवित्र प्रकाशका ध्यान करते हैं जो हमारी बुद्धिको प्रकाशित करे। यहाँ सविताका अर्थ कोई-कोई सूर्य करते हैं, पर सविताका वास्तविक अर्थ परब्रह्म परमात्मा है।

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती नारायणः।

परमात्मा ही सृष्टिका मूल कारण है।

जन्माद्यस्य यतः। (ब्रह्मसूत्र)

अथवा—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।

प्राणि-विद्या (Biology) बतलाती है कि सूर्यहीसे हममें जीवन आता है—सूर्यकी (Ultra-Violate) किरणोंसे हमें जीवनीशक्ति मिलती है। पर आकाशमें—इस विराट् प्रकृतिके वक्षःस्थलपर असंख्य सूर्य और असंख्य सौर-मण्डल

हैं । सूर्यके अन्तस्तलमें जो प्रकाश और जीवनीशक्ति है, उसका स्रोत परमात्मा ही है। फिर सूर्यकी किरण हमारे शरीरको प्रकाशित कर सकती है, पर हमारी बुद्धिको प्रकाशित नहीं कर सकती। परमात्माका प्रकाश हमारे अन्तस्तलमें पैठकर हमारी बुद्धिको उज्ज्वल और ज्योतिर्मय बना सकता है। फिर यदि हमारा अन्तःकरण पवित्र हो गया, हमारी बुद्धि प्रकाशित हो गयी, पशुता और अज्ञान हमसे दूर हो गये, तब तो हमारा जीवन ही सफल हो गया। इसीलिये गायत्रीकी इतनी महत्ता है।

आधुनिक विज्ञान बच्चेके शरीरको और स्वभावको पिता-माता तथा वंशपरम्परा (Heredity) पर निर्भर बतलाता है। बात है भी सही, पर इससे पुनर्जन्मका सिद्धान्त खण्डित नहीं होता। जिस प्रकार वटका बीज मिट्टीमें जाकर अपने अनुकूल रस खींचकर एक विशाल वटवृक्षमें परिणत होता है और धानका बीज अपने अनुकूल रस खींचकर धानके रूपमें, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर अपने संस्कार और प्रवृत्तिके अनुरूप अनुकूल योनि तथा अनुकूल पिता-माता और वंश-परम्परा खोज लेता है और तदनुसार अपने स्थूल शरीर और स्वभावका विकास करता है। सूक्ष्म शरीर तथा प्राणमय कोश प्रथम-प्रथम पिताके गर्भमें वीर्य-कीटके रूपमें अन्नमय कोश ग्रहण करता है और वर्षों वहाँ रहकर फिर माताके गर्भमें प्रवेश करता है। इस बीचमें वह अपने सूक्ष्म शरीरके संस्कार-के अनुकूल पिता-मातासे स्वभाव, विचारधारा और जीवन-शैली ग्रहण करने जाता है। जन्म लेनेके बाद फिर मित्रोंसे और समाजसे अपने सूक्ष्म शरीरके अनुकूल संस्कार ग्रहण करने जाता है।

अब हम एक बात कहकर इस लेखको समाप्त करते हैं। परमात्मा एक है और वही इस विराट् सृष्टिके स्वामी तथा सञ्चालक हैं। शक्ति, शील, सौन्दर्यके द्वारा वे सृष्टि-के सारे कार्य सम्पन्न करते हैं। सौन्दर्यगुणके सहारे ब्रह्मा-रूपसे सृष्टि, शीलगुणके सहारे विष्णुरूपसे पालन और शक्ति-गुणके सहारे रुद्ररूपसे संहार करते हैं। पाञ्चरात्रकी भाषामें जिसे संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध कहा गया है, पुराणकी भाषामें उसे ही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र कहा गया है। उसी परमात्मा-का अंश जीवात्मा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।

(गीता १५ । ७)

और प्रत्येक प्राणीके शरीरमें इसी जीवात्माका निवास-स्थान है। इसलिये प्रत्येक प्राणीका शरीर परमात्माका मन्दिर है। किसीके साथ द्वेष रखना, किसीकी हिंसा तथा किसीके साथ अन्याय या बुराई करना, किसीको किसी रूपमें कष्ट पहुँचाना परमात्माकी अवहेलना है। सबके साथ प्रेम, न्याय तथा उपकार करना सर्वोत्कृष्ट कर्तव्य है। यही उपनिषद्की शिक्षा है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

वही बचेगा

तुझपर काल अचानक टूटैगो।
गाफिल मत हो, लवा बाज ज्यों हँसी खेलमें लूटैगो॥
कब आवैगो कौन राहसे प्रान कौन विधि छूटैगो।
यह नहिं जानि परैगो बीचहिं यह तन-दर्पन फूटैगो॥
तब न बचावैगो कोई जब काल दंड सिर कूटैगो।
'हरीचंद' एक वही बचैगो जो हरिपद-रस घूँटैगो॥

—भारतेन्दु

चातक चतुर राम स्याम घनके

(लेखक—पं० श्रीरामकिङ्करजी उपाध्याय)

नमस्कार है उस महाभाग चातकको, जिसपर केवल प्रभुके गुणानुवाद ही गानेको दृढप्रतिज्ञ महाकविकी लेखनी भी मचल उठी। इतना ही नहीं, उसके मनमें स्वयं भी 'राम-घनस्याम तुलसी पपीहा' बन जानेकी चाह मुखरित हो उठी।

चातक पक्षी जो ठहरा, बिना पक्षके प्रेम-निष्ठा सम्भव भी तो नहीं है। अन्य पक्षी तो केवल साधारण अर्थमें ही पक्षी (पङ्खवाले) हैं, पर चातक तो हृदयसे भी पक्षी है। इसीसे तो महाकविने अन्य पक्षियोंसे तुलना करते हुए एक चातककी ही प्रशंसा की—

मुख मीठे मानस मलिन, कोकिल मोर चकोर।
सुजस धवल चातक नवल, रहो भुवन भरि तोर॥

यों तो पक्षियोंमें मराल प्रत्येक दृष्टिसे प्रशंसित है, फिर भी उसके प्रेममें त्यागकी वह कमनीय कान्ति कहाँ, जो चातकमें है। वह तो मानस-सरका प्रेमी है, जहाँ आनन्द और सुखका ही साम्राज्य है। मराल! तुम प्रत्येक दृष्टिसे प्रशंसित हो, पर ध्यान रहे, अनन्यप्रेमी चातककी तुलना तुम नहीं कर सकोगे।

बास बेष बोलनि चलनि, मानस मंजु मराल।
तुलसी चातक प्रेम की, कीरति बिसद बिसाल॥

चातक घनश्यामको देखकर सदा 'पिउ-पिउ' पुकारा करता है, इससे कहीं भ्रम न हो जाय कि उसकी यह पुकार जलके लिये है। वह जलका प्यासा होता तो सरिता-सरोवरकी क्या कमी थी। वह भी अन्य पक्षियोंकी भाँति चाहे जहाँ जल पीकर प्रसन्न और तृप्त हो जाता—

डोलत बिपुल बिहंग बन पिअत पोखरनि बारि।
सुजस धवल चातक नवल तुही भुवन दस चारि॥

पर वह तो प्रेमका ही प्यासा है—

चातक तुलसी के मते, स्वातिहिं पिये न पानि।
प्रेमतृषा बाढ़ति भली, घटे घटैगी आनि॥

वह तो स्वाती-मेघके दर्शनका ही प्रेमी है। इसीलिये वह यदि स्वातीकी बूँदें भी तिरछी गिरती हैं तो उन्हें पानेके लिये अपने मुखको टेढ़ा नहीं करता। दर्शन करते समय यदि एक-आध स्नेह-बिन्दु उसके मुखमें गिर जाय तो वही उसके लिये बहुत है। दर्शनसे वञ्चित होकर उसे स्वातीका जल भी नहीं चाहिये—

तुलसी चातक ही फबै, मान राखिबो प्रेम।
बक्र बुंद लखि स्वातिहू, निदरि निबाहत नेम॥

धन्य है चातक तुम्हारी अनोखी प्रेम-तृषाको!

चातक वृद्ध हो चला, मृत्यु क्रमशः निकट आ रही है। पर उसे इसकी चिन्ता कहाँ! वह तो बार-बार पुत्रोंको पास बैठाकर दोहराता है। पुत्र! कहीं तुम मेरे मरनेके बाद स्वाति-जल छोड़कर दूसरे जलसे तर्पण न कर देना—

तुलसी चातक देत सिख, सुतहिं बारहीं बार।
तात! न तर्पन कीजियो, बिना बारिधर धार॥

पर ऐसा अनन्यप्रेमी अपनी वृद्धावस्थासे न मरा। मर जाता तो प्रेमका यह दिव्य आदर्श उपस्थित करता। बधिकका बाण चातकके शरीरको क्षत-विक्षत करके उसे गङ्गाजीमें गिरा देता है। पर वह गङ्गाजी, जिसे पानेके लिये मृत्युके समय महामुनि भी तरसा करते हैं, आज चातकके लिये परम सुलभ होनेपर भी उसकी प्रेमभरी दृष्टिमें हेय—तुच्छ जँचती हैं। इसलिये वह चोंचको ऊपर उठाकर उसे बंद कर लेता है कि जिससे गङ्गा-जल मुखमें प्रविष्ट न हो जाय। बधिकका बाण शरीरमें छेद कर सका, पर प्रेम-पटमें नहीं—

बध्यो बधिक पर्‌यो पुन्य जल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट मरतहुँ लगी न खोंच॥

पक्षी चातक-जैसा प्रेम प्रभुसे जबतक नहीं हो जाता, तबतक प्रेमका दम भरना व्यर्थ है।

एक ऐसे ही चातकका चरित्र-चित्रण मानसमें भी श्रीगोस्वामीजीने अपनी चमत्कारपूर्ण लेखनीसे किया है।

आइये, हम उस मूर्तिमान् प्रेम श्रीलक्ष्मणजीके दर्शन कर अपनेको कृतकृत्य करें। गोस्वामीजीका तो वह परम धन ही है—

भावते भरतके, सुमित्रा-सीताके दुलारे
चातक चतुर राम स्याम घनके।
बल्लभ उरमिलाके, सुलभ सनेहबस,
धनी धन तुलसीसे निरधनके॥

मानसमें ऐसे महान् पात्रोंका अभाव नहीं, जो महान् मर्यादापालक, धर्मधुरीण और प्रभुके प्रिय चरणसेवक हैं।

जिनका चरित्र एक पूर्ण मानवका चरित्र है । जो पूर्णताकी कसौटीपर पूर्ण रीतिसे खरे उतरते हैं । जिनका वैराग्य, जिनकी तपस्या अद्वितीय है। जिनका निर्मल यश चन्द्रमाके सदृश हृदयके समस्त पाप-तापोंका शमन करनेवाला और असमर्थ-से-असमर्थके लिये भी आशाका उज्ज्वल सन्देश देनेवाला है । जिनकी यश-प्रभासे सारा मानस प्रकाशित हो रहा है। जिनके हृदयकी भक्ति, ज्ञान और कर्मकी समन्वयात्मक त्रिवेणीमें स्नान कर महामुनियोंने भी अपनेको कृतार्थ अनुभव किया । अधिक क्या, जिनकी यश-गाथा गाते-गाते भगवान् श्रीराघवेन्द्र भी कभी नहीं थकते ।

पर इस परम प्रेमीमें यदि आप उपर्युक्त गुण ढूँढ़ने जायँगे तो सम्भव है कि आपको निराश होना पड़े । यहाँ तो प्राप्त होगा, केवल चातकका-सा अनन्य प्रेम । न यहाँ धर्म है, न ज्ञान ही । यह तो एक 'शिशु'की कथा है । जो एकको छोड़ 'सब भाँति अयाना' है । पर फिर भी मैं स्मरण करा दूँ—

बास बेष बोलनि चलनि मानस मंजु मराल ।
तुलसी चातक प्रेमकी कीरति बिसद बिसाल ॥

यद्यपि इस महाप्रेमीका यश लोकदृष्टिसे न तो उतना आदर्श ही है, और न निर्मल ही । पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस यशके बिना प्रभुकी वह गरिमामयी गुण-गाथा, जिससे मानसका कण-कण ओतप्रोत है और जिसकी निर्मलता असन्दिग्ध है, न तो निर्मल ही रह पाती और न तो प्रकाशित ही हो पाती । ध्वज-वस्त्रके सौन्दर्य, रंग और ऊँचाईको देखकर भले ही अधिकांश व्यक्तियोंकी दृष्टि दण्डपर न पड़े, पर ध्वजको उठाने और उसको ऊँचे आकाशपर ले जाकर लोगोंकी दृष्टि आकर्षित करनेका सारा श्रेय तो उस दण्डको है! इसे भला, दृष्टिहीनको छोड़कर कौन अस्वीकार करेगा । इसीसे तो सूक्ष्मद्रष्टा कविने उसकी वन्दनामें दण्डकी उपमा देकर उसके महत्त्वकी ओर सङ्केत किया—

बंदउँ लछिमन पद जलजाता । सीतल सुभग भगत सुख दाता ॥
रघुपति कीरति बिमल पताका । दंड समान भयउ जस जाका ॥
सेष सहससीस जग कारन । जो अवतरेउ भूमि भय टारन ॥
सदा सो सानुकूल रह मो पर । कृपासिंधु सौमित्रि गुनाकर ॥

देवताओंको अमरत्व प्रदान करनेवाला यद्यपि अमृत ही माना जाता है । पर कौन कह सकता है कि परम कृपालु शिवके बिना वह अपना कार्य करनेमें समर्थ होता अथवा नहीं । यहाँ मेरा अभिप्राय है श्रीशङ्करजीके गरल-पानसे । भूतभावन भगवान् शिवने यदि कृपा करके उस भीषण गरलका पान न कर लिया होता—जिससे समस्त सचराचर जला जा रहा था, तो अमृत पान करके अमर होनेके लिये शेष ही कौन रहता ! यद्यपि यह सत्य है कि अमरताका सारा श्रेय अमृतको ही प्राप्त हुआ और भगवान् शिवका कण्ठ नील हो गया, पर क्या वह नीलिमा शिव-सौन्दर्यका दूषण है ? स्वीकार करना पड़ता है कि कदापि नहीं; वह नीलिमा तो उनके सौन्दर्यका भूषण है । 'नीलकण्ठ' उनका पवित्र नाम है, जिसका स्मरण होते ही उनके इस अकारण-कारुण्यसे श्रद्धावनत हो यह कहना ही पड़ता है कि—

जरत सकल सुर बृंद बिषम गरल जेहिं पान किय ।
तेहि न भजसि मन मंद को कृपाल संकर सरिस ॥

एवं—

चलत्कुंडलं भ्रू सुनेत्रं विशालं । प्रसन्नाननं नीलकंठं दयालं ॥

यदि एक बार विष पान कर लेनेसे शङ्करकी कृपा अतुलनीय हो जाती है तो जिसने 'मानस'में न जाने कितनी बार 'अयश-विष'का पान किया, उसके लिये कौन-सा शब्द प्रयुक्त किया जाय ? निश्चित रूपसे शब्द उसकी महत्ताको व्यक्त करनेमें असमर्थ हैं । प्रेम और प्रेमी दोनों ही अनिर्वचनीय हैं।

प्रायः आलोचकोंने इनके चरित्रमें असहिष्णुता, क्रोध और उद्दण्डतासम्बन्धी आरोप लगाये हैं ।

आइये, इस दृष्टिसे हम इनके चरित्रपर एक दृष्टि डालें । जनकपुरका धनुष-यज्ञस्थल, जहाँपर आये हुए हैं देश-देशके भूपति । मानवकी तो कथा ही क्या, देव-दानव भी लोभका संवरण न कर सके; क्योंकि वहाँ 'त्रिभुवन जय समेत बैदेही' जो प्राप्त होनेवाली थी । यद्यपि उसे प्राप्त करना सरल न था क्योंकि उसके साथ जुड़ी हुई थी धनुर्भङ्गकी प्रतिज्ञा । और वह धनु भी था महाकाल रुद्रका पिनाक । यथा—

सोइ पुरारि कोदंडु कठोरा । राज समाज आजु जोइ तोरा ।
त्रिभुवन जय समेत बैदेही । बिनहिं बिचार बरइ हठि तेही ॥

भगवान् श्रीराघवेन्द्र भी सानुज महर्षि विश्वामित्रजीके साथ रङ्गभूमिमें पधारे । महाराज जनकजीने बड़े सत्कारपूर्वक एक विशाल मञ्चपर तीनों मूर्तियोंको ले जाकर बैठा दिया । इसके बाद प्रारम्भ हुआ राजाओंद्वारा धनुष तोड़नेका प्रयत्न । पर तोड़नेकी तो बात ही क्या, सहस्रों राजा मिलकर भी उसे अपनी जगहसे तिलभर न हिला सके । वह वैसे ही अडिग रहा, जैसे पतिव्रता नारीका मन कामी पुरुषके सहस्रों उपलोभनोंको ठुकराकर अटल रहता है ।

डगइ न संभु सरासनु कैसें। कामी बचन सती मनु जैसें॥

लज्जित नरेश सिर नीचा करके अपने-अपने आसनोंपर बैठ गये, पर श्रीजनकजीकी अवस्था तो उस रेशमके कीटकी-सी हो गयी जो अपने बनाये हुए बन्धनमें आप ही जकड़ गया हो।

एक ओर था प्राणप्रिय पुत्रीका नित्य कौमार्य और दूसरी ओर थी सत्यनिष्ठा। धर्मभीरु महाराज अन्तमें निर्णय कर लेते हैं कि सत्य-रक्षाके लिये यह पुत्रीके कुमारी रहनेका दुःसह कष्ट भी सहन करना ही होगा। पर जगत्‌में वीरोंका अभाव देखकर उनकी व्याकुलता अपनी चरम सीमापर पहुँच गयी, बिना कुछ कहे न रहा गया उनसे और वे उद्वेगभरी वाणीमें बोल पड़े—

अब जनि कोउ माखै भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी॥
तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू॥
जौं जनतेउँ बिनु भट भुबि भाई। तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई॥
सुकृतु जाइ जौं पनु परिहरऊँ। कुअँरि कुआरि रहउ का करऊँ॥

योगिराज जनककी यह अवस्था देख नगरनिवासी नर-नारियोंके नेत्रोंमें आँसू भर आये!

चारों ओर घोर निराशाका साम्राज्य छा गया। और यह सब हुआ सर्वाभयप्रद वीरेन्द्रमुकुटमणि भगवान् श्रीराघवेन्द्रकी उपस्थितिमें! अवश्य ही इस समय प्रभुका विरद उस शोक-सरितामें बहा जा रहा था, पर गुणसागर प्रभु न बोले। बोलते भी कैसे! उनका एक गुण नम्रता जो है! अपने मुखसे, अपनी वीरताका वर्णन भला मर्यादापुरुषोत्तम कैसे करते? सभी किंकर्तव्यविमूढ़ थे; बस, वहाँ एक ही महात्यागी था, जिसका न कोई स्वतन्त्र अस्तित्व था और न कोई विरद। उसे केवल एक चिन्ता थी—प्रभुके यशकी रक्षा कैसे हो। और सब कुछ शोक-सरितामें बह जाता, पर प्रभुके विरदको शोक-सरितामें बहते वह महात्यागी कैसे देख सकता था! वह जानता था, उसकी रक्षाके लिये अपनी नम्रता और मर्यादाका बलिदान करना ही होगा। पर प्रेम तो सर्वस्व बलिदान चाहता है। लक्ष्मण-जैसे बलिदानीके लिये यह कुछ कठिन नहीं था, और उन्होंने वही किया भी। वे बोले—खूब बोले। आत्मप्रशंसा भी करनी पड़ी। पर किसके लिये? उन्होंने जो कुछ कहा, उसमें जनकजीकी अवहेलना थी और मर्यादाका अभाव भी था। पर एक वस्तु उसमें आदिसे अन्ततक ओतप्रोत थी और वह थी श्रीलक्ष्मणजीका प्रभुके प्रति अगाध स्नेह। उन्होंने जो कुछ कहा—उसे गोस्वामीजीके शब्दोंमें ही पढ़िये—

कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान।
नाइ राम पद कमल सिरु बोले गिरा प्रमान॥
रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई। तेहिं समाज अस कहइ न कोई॥
कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुल मनि जानी॥
सुनहु भानुकुल-पंकज-भानू। कहउँ सुभाउ न कछु अभिमानू॥
जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी॥
तव प्रताप महिमा भगवाना। को बापुरो पिनाक पुराना॥
नाथ जानि अस आयसु होऊ। कौतुकु करौं बिलोकिअ सोऊ॥
कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं। जोजन सत प्रमान लै धावौं॥
तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जौं न करौं प्रभु पद सपथ कर न धरौं धनु माथ॥

'सुनहु भानुकुल-पंकज-भानू' में तो मानो कविने श्रीलक्ष्मणजीके हृदयको ही खोलकर रख दिया। वह महाव्रती चतुर चातक तो महाज्ञानी जनकसे भी सीधे बात करनेमें अपमानका अनुभव करता है। उत्तर देनेमें भी सजल घनश्याम-रामको छोड़ और दूसरेकी ओर कैसे देखे? धन्य है महाप्रेमी चातक तुम्हारे इस मानको—

चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर।

यद्यपि श्रीजनकजीका भाव प्रभुको अपमानित करनेका नहीं था। पर राम-प्रेमोन्मत्त श्रीलखनलालजी अनजानमें भी प्रभुका अनादर सहन करें—यह असम्भव है।

महात्यागी लक्ष्मणजीके इस अद्भुत प्रेममय त्यागको देख प्रभुके युगल कमल-नयन प्रेमाश्रुओंसे भर जाते हैं। उस समय उन्होंने जिस प्रेम और कृतज्ञताभरी दृष्टिसे लक्ष्मणको देखा, उसका वर्णन लेखनीका विषय नहीं। प्रेमके कारण प्रभुका कण्ठ रुद्ध हो गया। सङ्केतसे ही उन्होंने लक्ष्मणको बैठा लिया। उनके हाथोंको अपने श्रीकर-कमलोंमें लेकर भक्तवत्सल भगवान् अपनी सुधि-बुधि खो बैठे। विश्वके इतिहासमें न मिलेगा ऐसा चातक, न दूसरा घनश्याम। पर ऋणी कौन है पयद या पपीहा (चातक)? गोस्वामीजी तो पयदको ही ऋणी बताते हैं—

को को न ज्यायो जगतमें, जीवन दायक पानि।
भयो कनौड़ो जाचकहि पयद प्रेम पहिचानि॥

(२)

पूर्व-प्रसङ्गसे भी अधिक आक्षेप किया जाता है परशुराम-संवादके समय किये गये लक्ष्मणजीके भाषणपर। प्रभुके द्वारा

धनुर्भङ्ग हो जानेपर श्रीकिशोरीजीके साथ ही त्रिभुवनव्यापी यश भी प्राप्त हुआ। फिर भी आये हुए राजाओंमें क्षोभकी एक लहर-सी फैल गयी और उन्होंने युद्ध करने तथा श्रीजानकीजीको छीन लेनेके लिये योजना बनाना प्रारम्भ कर दिया—

लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ। धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ॥
तोरें धनुषु चाड़ नहिं सरई। जीवत हमहि कुअँरि को बरई॥

उसी समय आगमन होता है 'भृगुकुल-कमल-पतंग' श्रीपरशुरामजीका। क्रोधके कारण जिनका मुख और नेत्र रक्त-वर्ण हो रहे हैं। उन्हें देखते ही वे अहंमन्य राजा, जो अभी-अभी युद्ध और वीरताकी बड़ी-बड़ी बातें सोच रहे थे, काँपने लग जाते हैं और अपने नामके साथ बापका नाम बता-बताकर परशुरामजीके पाद-पद्मोंमें प्रणत होते हैं—

पितु समेत कहि कहि निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा॥

इसके पश्चात् उभय रघुकुलवीर भी प्रेमपूर्वक परशुरामजीको प्रणाम करते हैं। प्रभुका कोटि-कन्दर्प-कमनीय सौन्दर्य देखकर कुछ क्षणोंके लिये परशुरामजी देहस्मृति भूल जाते हैं—

रामहि चितइ रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन॥

फिर स्मरण आता है अपने आनेकी आवश्यकताका। और तब उबल पड़ते हैं सारे राजसमाजपर; किंतु क्रोध तो उन्हें उससे भी अधिक आ रहा था महाराज जनकपर, क्योंकि वे ही यहाँ इस काण्डके मूल कारण थे। क्रुद्ध स्वरमें उन्होंने प्रश्न किया—

अति रिस बोले बचन कठोरा। कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा॥
बेगि देखाउ मूढ़ न त आजू। उलटउँ महि जहँ लगि तव राजू॥

योगिराज जनकका भी सारा ज्ञान साथ छोड़ बैठा। भयके मारे उनके मुखसे कोई उत्तर नहीं निकला।

अति डरु उतरु देत नृपु नाहीं।.....॥

कुटिल राजाओंके हृदयमें प्रसन्नताकी किरण चमक उठी। पर जनकपुरवासी स्त्री-पुरुषोंकी दशा तो बड़ी ही दयनीय हो रही थी। करुणामय भगवान् श्रीराघवेन्द्र लोगोंको भयभीत देख स्वयं आगे बढ़े। 'बिनय सील करुना गुन सागर' होनेके नाते उनकी वाणी भी उनके अनुरूप ही थी। बड़ी नम्रतासे प्रभुने कहा कि—'धनुष तोड़नेवाला कोई आपका दास ही होगा—

नाथ संभुधनु भंजनिहारा। होइहि केउ एक दास तुम्हारा॥

पर इसका फल तो उलटा ही हुआ। परशुरामजीने क्रुद्ध स्वरमें धनुष तोड़नेवालेको सहस्रबाहुके समान अक्षम्य शत्रुओंकी श्रेणीमें घोषित कर दिया—

सुनहु राम जेहिं सिवधनु तोरा। सहसबाहु सम सो रिपु मोरा॥
सो बिलगाउ बिहाइ समाजा। न त मारे जैहहिं सब राजा॥

महाधीर श्रीलक्ष्मणजी सारी घटनाका अध्ययन बड़े ही ध्यानके साथ कर रहे थे। उनकी दूरदर्शिनी दृष्टिने भविष्यका भलीभाँति दर्शन कर लिया। वे तो देख रहे थे—प्रभुकी नम्रताका इनके ऊपर क्या प्रभाव पड़ता है? नम्रताका यह उलटा प्रभाव तथा श्रीकोशलेन्द्रके प्रति इन शब्दोंका प्रयोग उन्हें असह्य-सा हो गया। पर इसका कारण केवल इतना ही न था, अपि तु उससे भी एक महत्त्वपूर्ण बात थी, जिसपर श्रीलक्ष्मणजीकी दृष्टि पड़ चुकी थी। उन्होंने सोचा—'यदि नम्रतासे परशुरामजी शान्त भी हो जायँ तो इससे लोगोंमें कुछ भ्रान्ति फैलनेकी ही सम्भावना है, विशेषकर वे 'कुटिल राजा' जो प्रभुका अगाध बाहु-बल देखकर भी प्रभावित नहीं हुए थे, युद्ध करनेके लिये पुनः विशेषरूपसे उत्साहित होंगे, क्योंकि उन्हें तो प्रभुकी नम्रतामें भी उनका भयभीत हो जाना ही भान होगा। वे समझेंगे कि परशुरामजीने भयभीत रामपर क्षमा कर दी। इससे उनमें तामसी आग्रह उत्पन्न होगा और तब होगा एक भयानक संग्राम। संग्राममें विजय तो निश्चित प्रभुकी ही होगी। तथापि प्रभुके पवित्र पाणिग्रहणके इस पुनीत अवसरपर ऐसे बीभत्स काण्डका होना सर्वथा अशोभन है। इससे तो प्रभुके विरदकी वृद्धि नहीं होगी। पर प्रभुसे तो उग्रताकी आशा व्यर्थ है, फिर नम्र बने रहनेमें उनकी शोभा भी जो है।'

फिर क्या था, अपना कर्तव्य निर्णय करनेमें उन्हें देर न लगी। उन्होंने टेढ़ी और उग्रतासे भरी हुई जिस व्यङ्गवाणीका परशुरामजीके प्रति प्रयोग किया, उससे दो बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य हुए। प्रथम तो—राजाओंमें यह भ्रम न फैल सका कि श्रीराघवेन्द्रकी नम्रता भयमूलक है। दूसरे, श्रीराघवेन्द्रकी तो यश-चन्द्रिका इससे चौगुनी चमक उठी। लोगोंने यह अनुभव किया कि बड़े भाईमें बड़प्पनके अनुरूप गम्भीरता भी है। वीरताके साथ नम्रताके इस अद्भुत संयोगको लोगोंने मणिकाञ्चनयोग समझा। इस प्रकार श्रीलक्ष्मणजीद्वारा दिखायी गयी असहिष्णुतासे ही प्रभुकी सहिष्णुताका मूल्य बढ़ गया। लोगोंने 'छोट कुमार खोट बड़ भारी' कहकर जिस उपाधिसे लक्ष्मणको पुरस्कृत किया, वह सच्चे प्रेमीके लिये दूषण नहीं, भूषण है। इस प्रकार श्रीलक्ष्मणजीने अपने

कार्यके द्वारा शत्रु-मित्र दोनोंके मनोंमें अपने प्रति नहीं, अपितु श्रीराघवेन्द्रके प्रति महान् आदर और श्रद्धाका भाव भर दिया। अपने यशका बलिदान करके प्रभुकी यश-पताकाको उठाये रखना इस अनन्यप्रेमीका ही कार्य था। आलोचक आलोचना करते समय यह भूल जाते हैं कि श्रीलक्ष्मणजीके जीवनका एकमात्र लक्ष्य है—'प्रभुकी विरद-रक्षा', अपनी यश-रक्षा नहीं। क्या वे चाहते हैं कि वे भी नम्र बनकर एक महायुद्धको आमन्त्रण दे देते। प्रभुकी यशःपताकाको झुक जाने देते! यदि नहीं, तो फिर श्रीलक्ष्मण-जैसे मूर्तिमान् प्रेमको आवेश-शील बताना कहाँतक युक्तियुक्त है? इसीसे तो गोस्वामीजी उनकी वन्दना करते हुए उनमें सबसे पहला गुण शीतलताका ही बताते हैं—

बंदउँ लछिमन पद जल जाता। सीतल सुभग भगत सुख दाता॥

नमस्कार है महाव्रती लक्ष्मण तुमको और तुम्हारे बलिदानमय जीवनको! लोग यदि तुम्हें 'खोट' कहते हैं तो यह तो तुम्हारी नाट्य-कुशलताका ही सूचक है। सच्चा प्रेमी प्रदर्शन चाहता ही कब है। इस प्रकार 'रघुबर बाल पतङ्ग'की तुलनामें आये हुए 'भृगुकुल कमल पतङ्ग'के लिये श्रीलक्ष्मणजी अस्ताचल सिद्ध हुए और प्रभु प्रतिद्वन्द्वितारहित सूर्यकी तरह चमकते ही रहे! (क्रमशः)

कामके पत्र

(१)

बुराईका कारण अपने ही अंदर खोजिये

आपका कृपापत्र मिला। उत्तरमें कुछ विलम्ब हो गया है, इसके लिये क्षमा करें। बात यह है कि हम-लोग दूसरोंके अच्छे-बुरे कार्योंपर, दूसरोंकी उन्नति-अवनति-पर और दूसरोंकी सद्गति-दुर्गतिपर विचार करनेमें और उन-पर अपना मत देनेमें जितना समय नष्ट करते हैं, उतना समय यदि श्रीभगवान्‌के नाम-लीला आदिके चिन्तनमें और उनके गुण-कीर्तनमें लगावें तो हमें बहुत बड़ा लाभ हो सकता है। जहाँ दूसरोंके गुण-दोष-चिन्तन और कथनमें राग-द्वेष, स्तुति-निन्दा होती है और मनमें वैसे ही संस्कार अङ्कित होते हैं, वहाँ यदि हम श्रीभगवान्‌के दिव्य कल्याणमय गुणगणका स्मरण-कीर्तन करें तो हमारे अंदर छिपे हुए पाप नष्ट हो जाते हैं। अन्तः-करण शुद्ध होता है और भगवान्‌की भक्ति प्राप्त होती है। पर हम इतने मूढ़ हैं कि हमें परचर्चा बहुत मीठी लगती है और इसीसे हम अपने जीवनके अमूल्य समय-को व्यर्थ ही इसमें लगाकर विविध भाँतिकी असत् भावनाओं, कुविचारों एवं दुर्गुणोंको अपने अंदर भरते रहते हैं!

इससे एक बड़ी हानि यह होती है कि हमें अपने दोषोंकी ओर देखनेका समय नहीं मिलता और अंदर-ही-अंदर दोष बढ़ते जाते हैं। असलमें बुद्धिमान् मनुष्य तो वही है कि जो अपने उत्थान-पतनकी ओर दृष्टि रखकर नित्य-निरन्तर सावधानीके साथ पतनके कारणों-को दूर करता रहता है।

आपको मैं क्या परामर्श दूँ। मुझे तो ऐसा लगता है कि जबतक आप अपनी बुराइयोंकी ओर ध्यान देकर उनको मिटानेका पूर्ण प्रयत्न नहीं करेंगे, तबतक अपने प्रतिद्वन्द्वियोंसे अच्छाईकी आशा करना आपके लिये निराशाका ही कारण होगा। मनुष्य अपनी बुराई नहीं देखता, इसीसे उसे दूसरोंमें सारी बुराईका विस्तार दीखता है। और जितनी बुराई दीखती है, उतना ही द्वेष बढ़ता है तथा जितना द्वेष बढ़ता है, उतनी ही बुराई भी अधिक दीखने लगती है। यह नियम है कि जिसमें राग होता है, उसके दोष भी गुणके रूपमें दिखायी देते हैं और जिसके प्रति द्वेष होता है, उसके गुण भी दोष दीखते हैं। मनुष्यको दूसरेकी बुराईका कारण अपनेमें खोजना चाहिये। सचाई और गहराईसे देखनेपर तुरंत ऐसा कोई दोष अपनेमें दीख जायगा, जो दूसरेमें बुराई उत्पन्न करनेमें हेतु है।

आप पढ़े-लिखे हैं, समझदार हैं। सोचिये, अपनी ओर देखिये। यदि मेरी बात मानें तो श्रीमद्भगवद्गीताके १६वें अध्यायको ध्यानसे पढ़िये और उसमें वर्णित आसुरी-सम्पदाके लक्षणोंसे अपने आचरणोंकी तुलना कीजिये। आपको पता लगेगा कि आपमें दोष हैं कि नहीं। और यदि दोष हों तो फिर, उनको दूर करनेका प्रयत्न करना आपका कर्तव्य ही होगा।

इसीके साथ-साथ आप नित्य कुछ समयतक भगवान्‌के मङ्गलमय नामका जप कीजिये और इस मानसिक अशान्तिके कारणका सच्चा सन्धान बतलाने और उसे दूर करनेके लिये दयासिन्धु भगवान्‌से कातर प्रार्थना कीजिये। आप विश्वास रखिये, आपकी कातर प्रार्थना अकारण सुहृद् भगवान् अवश्य सुनेंगे और आपको मानस शान्ति प्राप्त हो, इसकी समुचित व्यवस्था कर देंगे। आपको ऐसी आँख देंगे जिससे आप अशान्तिके कारणको, जो आपके ही अंदर वर्तमान है, स्पष्ट देख सकेंगे और साथ ही ऐसी शक्ति देंगे, जिससे आप उसका अनायास ही विनाश भी कर सकेंगे। उस कारणके मिटते ही आप निर्मल शान्तिका अनुभव करेंगे।

(२)

मान-बड़ाईसे बचिये

आपका पत्र मिला था। इधर काम-काज बहुत अधिक रहा, इससे समयपर उत्तर नहीं दिया जा सका। मनुष्यमें यह एक बड़ी दुर्बलता है कि वह अपनी बड़ाई सुनकर प्रसन्न हो जाता है और अपनी वास्तविक स्थितिको भूलकर अपने सम्बन्धमें लोगोंकी मिथ्या उच्च धारणाको स्वीकार कर लेता है। आप सोचिये तो, किसी कंगालको यदि दूसरा कोई पुरुष या समाजके बहुसंख्यक लोग भी बड़ा धनी मानकर उसकी प्रशंसा करने लगें तो इससे क्या वह धनी हो जाता है? दूसरोंकी प्रशंसासे उसे क्या लाभ हुआ? इसी प्रकार हमारे अंदर यदि सद्गुण नहीं हैं, हमारे हृदयमें यदि प्रभुके प्रति निष्काम प्रेम नहीं है, हमारे पास यदि भगवान्‌के भजनका परम धन नहीं है और लोग हमें बड़ा सद्गुणसम्पन्न, बड़ा प्रेमी और बड़ा भजनानन्दी मानते हैं तो इससे हमें क्या मिल गया और हमारा क्या उपकार हो गया? और यदि इसको हम स्वीकार कर लेते हैं तो अपनेको धोखेमें डालनेके अतिरिक्त और क्या करते हैं। इस झूठी बड़ाई तथा मिथ्या सम्मानके बोझको उठाकर हम सिवा बोझ मरनेके और कुछ भी तो नहीं पा सकेंगे।

बड़ाई तथा सम्मान यदि सच्चे गुणोंको लेकर भी हों, तो भी साधकके लिये उनका स्वीकार करना परम हानिकर है। जहाँ मान-बड़ाईमें मिठास आया (और वह आता ही है), वहीं हमारी क्रियामेंसे वास्तविकता निकल जायगी और हम वही काम करने लगेंगे, जिसमें हमें लोगोंके द्वारा सम्मान मिले एवं लोग हमारी प्रशंसा करें। मतलब यह कि फिर हमारे कार्य सत्यकी सेवा—प्रभुकी भक्तिके लिये न होकर केवल लोकरञ्जनके लिये होंगे, फिर वे चाहे अकार्य या अधर्म ही क्यों न हों और उनसे परिणाममें हमारा परम अकल्याण ही क्यों न होता हो। इसलिये साधकको चाहिये कि वह सदा सचेत रहे और मान-बड़ाईका दूरसे ही त्याग करता रहे। उन्हें पास भी न आने दे। साधकका आचरण विषयी पुरुषसे सर्वथा प्रतिकूल होना चाहिये, तभी उसे साधनामें सिद्धि मिलती है और तभी वह सिद्धावस्थाके समत्वमें स्थित होता है। विषयी मान-बड़ाईका भूखा रहता है और इन्हें पानेके लिये कोई भी अकार्य करनेको तैयार रहता है। पर साधक मान-बड़ाईको विषवत् मानकर उनका त्याग करता है तथा अपमानके योग्य किसी भी निन्दनीय कार्यको न करता हुआ भी अपमान और निन्दाको अपने लिये शुभ समझता है एवं बड़ी प्रसन्नतासे इनका वरण करता है। वही जब सिद्धावस्थामें पहुँच जाता है, तब उसके लिये मानापमान और

निन्दा-स्तुति समान हो जाते हैं। अपने प्रिय भक्तोंका लक्षण बतलाते हुए भगवान् उन्हें मानापमानको तथा निन्दा-स्तुतिको समान माननेवाले बतलाते हैं। 'मानाप-मानयोस्तुल्यः' 'तुल्यनिन्दास्तुतिः।'

(गीता १४, १२ अध्याय)

आपको जो बड़ाई हो रही है तथा आपको जो सम्मान मिल रहा है, आप इनको अपनी साधनाका विघ्न मानिये। भजन तो खूब कीजिये। और भी बढ़ाइये, परंतु मान-बड़ाईको तनिक भी पास मत फटकने दीजिये। इसीलिये भक्तलोग अपने भजन-धनको बहुत छिपाकर रखते हैं, वैसे ही जैसे सम्भ्रान्त कुलकी कोई नारी जारके प्रेमको गुप्त रखती है। पर यदि अब आप-के लिये ऐसा सम्भव न हो तो आप मान-बड़ाईका स्वीकार तो मत कीजिये। सम्भव हो तो लोगोंको नम्रता और विनयके साथ रोकर समझा दीजिये कि 'जब आप-लोग मेरे हितैषी हैं, मेरा पतन नहीं चाहते हैं और कल्याण ही चाहते हैं, तब फिर मुझे मान-बड़ाई देकर मेरा अकल्याण क्यों कर रहे हैं। मेरे पतनका मार्ग क्यों प्रशस्त कर रहे हैं।' और यदि वे मान जायँ तो बहुत ही अच्छी बात है। परंतु यहाँ भी बहुत सावधानीकी आवश्यकता है। कहीं-कहीं ऐसा भी होता है कि मनको तो मान-बड़ाई प्रिय लगते हैं और उन्हें प्राप्त करनेकी लालसा भी रहती है; परंतु ऊपरसे उनका विरोध किया जाता है, वह इस अभिप्रायसे कि ऐसा करनेपर लोगोंकी यह धारणा होगी कि ये कितने अच्छे पुरुष हैं, जो मान-बड़ाईको सर्वथा नहीं चाहते और इसके लिये इतने दुःखी होकर—रो-रोकर प्रार्थना करते हैं—और फलतः वे पहलेसे भी अधिक सम्मान और प्रशंसा करने लगेंगे।

मनके इस दुर्भावकी परीक्षा दूसरे सहजमें नहीं कर पाते—यह तो स्वयं आपके ही देखनेकी चीज है। आप अपने मनसे मान-बड़ाईको सचमुच बुरा समझने लगें और जैसे किसीके द्वारा आदरपूर्वक दिये जानेपर भी बुद्धिमान् मनुष्य अपने लिये हानिकर और घृणित वस्तुको स्वीकार नहीं करते, वैसे ही मान-बड़ाईको स्वीकार न करें। फिर यदि कहीं कोई आपका सम्मान कर भी देगा, बड़ाई कर भी देगा तो उससे आपकी हानि नहीं होगी। यद्यपि साधकको इससे बचना ही चाहिये, क्योंकि यह मीठा विष है, और है अत्यन्त आकर्षक। समझता हुआ भी मनुष्य मोहवश इसे स्वीकार कर लेता है। इसीलिये कोई-कोई संत जान-बूझकर ऐसी चेष्टा किया करते हैं कि जिससे लोगोंके हृदयोंमें उनके प्रति जो सम्मानकी भावना होती है, वह नष्ट हो जाय। यह तो सच्चे सद्गुणोंके लिये प्राप्त होनेवाले सम्मान और प्रशंसाके लिये बात हुई। जहाँ बिना ही किसी सद्गुणके कोई अपनी बड़ाई या सम्मान करे और उसे हम स्वीकार कर लें तो यही समझना चाहिये कि या तो हम महामूर्ख हैं, या हममें किसी अंशमें दम्भ आ गया है जो हमारा पतन करके छोड़ेगा। मैं मानता हूँ—आपमें सद्गुण हैं और लोग आपका जो सम्मान तथा प्रशंसा करते हैं, वे सम्भवतः सद्भावसे ही करते हैं, तथापि उन्हें स्वीकार करना न तो आदर्श है और न आपके लिये तनिक भी लाभ-दायक ही है। हानिकारक तो प्रत्यक्ष ही है। मान-बड़ाईको सुनकर मनुष्यमें कहीं अपने सम्बन्धमें यथार्थसे अधिक उच्च धारणा हो गयी कि वह डूब गया। फिर उसमें अनेक दोष अपने-आप ही आ जायँगे।

असलमें मनुष्यको चाहिये कि वह नित्य-निरन्तर अपनेको देखता रहे। मैं किस ओर जा रहा हूँ। मेरे पास कितना धन है। मैं किस स्थितिमें हूँ। और यह सब भलीभाँति देखकर जैसा अपनेको पावे, वैसा ही समझे और दोष हों तो उन्हें स्पष्ट व्यक्त कर दे, एवं कदाचित् कुछ गुण हों तो उन्हें छिपा ले तथा अपनेसे अधिक सद्गुणवालोंकी ओर देखकर—

अनन्त अपार कल्याणगुण-सागर श्रीभगवान्‌के गुणोंका स्मरण कर अपनेको तुच्छ समझे, मनमें जरा भी अभिमानका अङ्कुर न उत्पन्न होने दे। इसीमें उसका कल्याण है।

धनी तो मनुष्य धन होनेपर ही हो सकता है, लोगोंके कहनेसे नहीं हो सकता। इसलिये मनुष्यको नित्य-निरन्तर भजनरूपी धनको बढ़ाना चाहिये और उसके लिये उत्तरोत्तर लोभ भी अधिक-से-अधिक करना चाहिये। विषयोंका लोभ जितना हानिकारक है, उतना ही भजनका लोभ महान् लाभदायक है। काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि दुर्गुण भी यदि भगवान्‌के सम्बद्ध हो जाते हैं, तो सद्गुण बन जाते हैं।

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥

(श्रीमद्भा० १०। २९। १५)

'काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य और सौहार्द—इनमेंसे कोई भी भाव भगवान् श्रीहरिके साथ जोड़ दिया जाय तो फिर ये भाव भगवद्रूप ही हो जाते हैं।'

मेरे इस पत्रसे आपको कुछ भी सत्-प्रेरणा मिली तो आप उसे भगवान्‌की कृपा समझिये। मैं तो निमित्तमात्र हूँ।

(३)

उपदेशक बननेके पहले योग्यता-सम्पादन करना आवश्यक है

सप्रेम हरिस्मरण! आपका बहुत लंबा-चौड़ा पत्र मिला। आपके चित्तमें बहुत उत्साह है और आप पढ़ना छोड़कर तथा घरके काम-काजका भी त्याग कर समाज और देशकी सेवा करना चाहते हैं, एवं गाँव-गाँव घूमकर जनताको सदुपदेश देना चाहते हैं। सो यह तो बहुत ही श्रेष्ठ भाव है। जो मनुष्य अपने-को सेवाव्रती बनाना और निःस्वार्थभावसे समाज एवं देशकी सेवा करना चाहता है, वह धन्य है। ऐसा होते हुए भी मेरी रायमें अभी आपको पढ़ना चाहिये तथा घरका काम-काज भी नहीं छोड़ना चाहिये। आप अभी अल्पवयस्क हैं और आपकी बुद्धि भी अभी स्थिर नहीं है। आप यह भी स्वीकार करते हैं कि मनमें बहुत बार पापभावना भी आती है। असत्य, कपट तथा काम-क्रोध भी हैं ही। द्वेष-दम्भके कार्य भी आपसे होते हैं। तथा भगवान्‌की ओर वैसा आपका आकर्षण भी नहीं है। भजन आपसे बहुत ही कम बनता है। ये सभी बातें आपने लिखी हैं। ऐसी अवस्थामें अभी आपको यह चाहिये कि आप स्वयं पहले देश तथा समाजकी सेवा करनेके योग्य बनें। इसके लिये पहले अपनी समुचित सेवा करें। पढ़-लिखकर तथा अपने शास्त्रोंका यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर ऐसी योग्यता प्राप्त कर लें कि जिससे आप शास्त्रानुसार लोगोंको अच्छी-से-अच्छी बात सुन्दर भाषामें और आकर्षक रीतिसे भलीभाँति समझा सकें तथा उनपर अपने भाषणका प्रभाव डाल सकें। इसके साथ ही यह भी परम आवश्यक है कि आप अपने मनकी पापभावनाको समूल नष्ट कर दें; असत्य-कपट तथा काम-क्रोधसे सर्वथा छूट जायँ; द्वेष-दम्भ भी आपमें सर्वथा न रहें; भगवान्‌के प्रति आपका सच्चा आकर्षण हो और भगवान्‌के मङ्गलमय भजनमें आपकी असीम अभिरुचि हो। जब ये बातें आपमें आ जायँगी, सचमुच तभी आप सच्चे सेवाव्रती बन सकेंगे, तभी आपके द्वारा देश तथा समाजकी यथार्थ सेवा होगी एवं तभी आपको किसीके प्रति उपदेशादि देनेका अधिकार प्राप्त होगा। आपने जो 'समाचार-पत्र' निकालने-की इच्छा प्रकट की है, सो समाचारपत्र निकालकर उसके द्वारा लोगोंको उपदेश देनेका अधिकार भी आपको वस्तुतः तभी प्राप्त होगा।

दूसरेका सुधार होना—उसकी बुराइयोंका दूर होना आवश्यक है, और उसमें हमारे द्वारा जितनी

सेवा हो, उतना ही उत्तम है; परंतु दूसरोंकी बुराई वही निकाल सकता है, दूसरोंका सुधार वही कर सकता है, जो स्वयं बुराइयोंसे रहित होकर सर्वथा सुधर गया हो। जनताको उपदेश देकर उनकी सेवा करना बहुत बड़े दायित्वका कार्य है। दूसरेके घरका कूड़ा साफ करना पुण्य है, पर वह कूड़ा हम तभी साफ कर सकेंगे, जब हमारा झाड़ू साफ होगा, झाड़नेकी कला हम जानते होंगे, और कौन कूड़ा है तथा कौन किसके लिये कामकी चीज है, इसको भलीभाँति जान सकेंगे। तीनोंमेंसे एक बात भी नहीं होगी, तो किसीका सुधार करने जाकर हम उसका बिगाड़ कर देंगे। हमारे झाड़ूमें यदि गंदा मैला लगा होगा तो हम दूसरोंके घरकी धूल झाड़नेके बदले वहाँ गंदा मैला फैला देंगे। झाड़ना नहीं जानते होंगे तो इकट्ठे कूड़ेको उल्टे इधर-उधर बिखेर आवेंगे और कौन कूड़ा है—इस बातको नहीं जानेंगे तो किसीके बड़े ही कामकी आवश्यक वस्तुको हम कूड़ा समझकर फेंक देंगे और उसकी बड़ी हानि कर देंगे—उसके जीवनकी जड़ ही काट डालेंगे।

मनुष्यकी वाणीसे तथा क्रियासे वही वस्तु प्रकट होती है, जो उसके हृदयमें होती है। मनुष्य चाहे कितना भी कपट-दम्भ करे, हृदयका असली भाव किसी-न-किसी क्रियामें प्रकट हो ही जाता है। अतएव जबतक हमारे हृदयमें काम-क्रोध, असत्य-कपट, द्वेष-दम्भ, हिंसा-प्रतिहिंसा, लोभ-मोह, कामना-वासना, अभिमान-अहङ्कार, ममता-माया आदि दोष वर्तमान हैं, जबतक हमारे द्वारा पाप बनते हैं और उनमें हमें रस आता है, तबतक हम दूसरोंको क्या देंगे? ऐसे हृदयको लेकर किसीका सुधार करने जायँगे तो सिवा अपने हृदयकी इस गंदगीको वहाँ भी फैला देनेके और उसका क्या उपकार करेंगे। यदि जनतामें वैसी बुरी बातें पहले न भी रही होंगी तो हमारी वाणी और लेखनीसे निकली हुई बुरी बातें उनमें आ जायँगी, वहाँके वातावरणमें हम एक नया क्षोभ उत्पन्न कर देंगे। जागृति, क्रान्ति, सुधार, अधिकार, उन्नति, शिक्षा, बुद्धिवाद, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और लोकतन्त्र आदिके मनोहर नामोंपर हम लोगोंमें द्रोह, द्वेष, कर्तव्यशून्यता, प्रमाद, अश्रद्धा, नास्तिकता, उच्छृङ्खलता, स्वेच्छाचारिता, असंयम, असत्य, स्तेय, अहङ्कार, हिंसा आदि अनेकों दोषोंको बढ़ाकर परस्पर दलबन्दियाँ और उन्हें एक दूसरेको गिरानेके प्रयत्नमें लगाकर उनके लोक-परलोक दोनोंको नष्ट कर देंगे, जैसा कि आजकल न्यूनाधिकरूपमें संसारमें प्रायः सर्वत्र हो रहा है। इसका एक प्रधान कारण यह भी है कि उपदेशकों, पथप्रदर्शकों और नेताओंके पवित्र और दायित्वपूर्ण स्थानोंपर ऐसे लोगोंका अधिकार हो गया है, जो स्वयं असंस्कृत, असंयमी और दायित्वज्ञानशून्य हैं। आजकी हिंसा-प्रतिहिंसा-मयी ध्वंसकारिणी प्रवृत्ति इसीका कुपरिणाम है! इस प्रकार सुधारके बदले बिगाड़ तो होता ही है—सफाईके बदले गंदा मैला तो फैलता ही है। साथ ही यदि कहीं सचमुच झाड़नेका काम किया जाता भी है तो वहाँ झाड़ना न जाननेसे जैसे कूड़ा इधर-उधर बिखर जाता है, वैसे ही एक या कुछ थोड़ेसे लोगोंमें रही हुई परिमित बुराई समाजभरमें फैल जाती है। चौबेजीको छब्बेजी न बनकर दूबेजी बननेको बाध्य होना पड़ता है। इसके अतिरिक्त ऐसे उपदेशकों और सुधारकोंके द्वारा अविवेकवश सुधारके नामपर समाजमें विस्तृत अमृतवल्लीपर ही भयानक विषसिञ्चन या उनके जीवनके मूलपर ही कुठाराघात किया जाता है। भगवद्भजन, देवपूजाराधना, शास्त्रीय आचरण, वर्णाश्रमधर्म, शौचाचार, सदाचार, संयम, मातृ-पितृ-भक्ति, पातिव्रत-धर्म, ब्राह्मणमहत्ता, सात्त्विक यज्ञ-दानादि, सन्ध्यावन्दन, शास्त्रीय भेद, नियमानुवर्तिता एवं वंशपरम्परागत पवित्र सुप्रथाओं आदिका विरोध और ऐसे पवित्र कार्योंके

प्रति लोगोंमें अश्रद्धा उत्पन्न करानेकी चेष्टा—इसी प्रकारके जीवनमूलका उच्छेद करनेवाले कुकार्य हैं, जो विपरीत शिक्षा और उच्छृङ्खल उपदेशादिके फलस्वरूप बड़े गर्व एवं उल्लासके साथ किये जाते हैं ! इस प्रकार जनताको खास करके अपक्वबुद्धि सरलहृदय बालकों, नवयुवकों और नवयुवतियोंको उभाड़कर सदाचारके विरुद्ध खड़े कर देना सुधारके नामपर कितना बड़ा बिगाड़ है, संस्कारके नामपर कितना भयानक संहार है ! इसपर आप विचार करें ।

अतएव प्रत्येक मनुष्यको आत्मसुधारके लिये प्रयत्न करना चाहिये । उन लोगोंको तो विशेष रूपसे करना चाहिये जो समाज और देशकी सेवा करना चाहते हैं । वाणीसे या लेखनीसे वह कार्य नहीं होता, जो स्वयं वैसा ही कार्य करके आदर्श उपस्थित करनेसे होता है । यहाँतक कि फिर उपदेशकी भी आवश्यकता नहीं होती । महापुरुषोंके आचरण ही सबके लिये आदर्श और अनुकरणीय होते हैं । इसीलिये महापुरुषोंको यह ध्यान भी रखना पड़ता है कि उनके द्वारा ऐसा कोई कार्य न हो जाय जो नासमझीके कारण जगत्‌के लिये हानिकर हो । इसलिये वे उन्हीं निर्दोष कर्मोंको करते हैं जो उनके लिये आवश्यक न होनेपर भी जगत्‌के लिये आदर्शरूप होते हैं और करते भी इस प्रकारसे हैं, जिनका लोग सहज ही अनुकरण करके लाभ उठा सकें । स्वयं सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे गीतामें इसी दृष्टिसे कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥

(३ । २१—२४)

'श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है, दूसरे लोग भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं । वह अपने आचरणसे जो कुछ प्रमाण कर देते हैं—जैसा आदर्श उपस्थित करते हैं, सारा जनसमुदाय उसीका अनुकरण करने लगता है । अर्जुन ! मेरे लिये तीनों लोकोंमें कोई भी कर्तव्य शेष नहीं है और न कोई ऐसी वस्तु ही है जिसे मुझको प्राप्त करना हो, एवं जो मुझे प्राप्त न हो, ऐसा आप्तकाम एवं पूर्णकाम होनेपर भी मैं कर्माचरण करता हूँ । यदि कदाचित् मैं सजग रहकर (जगत्‌को लाभ पहुँचानेवाले) कर्मोंका आचरण न करूँ तो बहुत बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि भैया अर्जुन ! लोग तो मुझे श्रेष्ठ मानकर मेरे पीछे-पीछे ही चलते हैं । मेरे कर्म न करनेका फल यह हो कि, सब लोग नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका उत्पन्न करनेवाला और इस सारी प्रजाका उच्छेद करनेवाला बनूँ ।'

इससे पता लगता है कि अपनेको श्रेष्ठ माननेवाले अगुआ पुरुषपर कितना बड़ा दायित्व है और उसे अपने दायित्वका निर्वाह करनेके लिये कितनी योग्यता प्राप्त करनी चाहिये, एवं किस प्रकारसे स्वयं आचरण करके लोगोंके सामने पवित्र आदर्श उपस्थित करना चाहिये ।

फिर, एक बात यह भी है कि व्यक्तियोंके समूहको लेकर ही समाज बनता है । यदि एक व्यक्ति यथार्थरूपमें सुधर गया तो समाजका एक अङ्ग सुधर गया । यों सभी व्यक्ति अपना-अपना सुधार करने लगें तो सारा समाज अपने-आप सुधर जाय । एवं यदि इसके विपरीत सभी लोग दूसरोंका सुधार करनेमें लग जायँ, और अपने सुधारकी ओर ध्यान ही न दें तो किसीका भी सुधार न हो ।

इसलिये मेरा आपसे यही निवेदन है कि आप दूसरोंके लिये उपदेशक बननेकी लालसाको दबाकर पहले अपनेमें योग्यता बढ़ावें, एवं अपने जीवनको परम विशुद्ध और भगवान्‌की सेवाके परायण बना दें । फिर आपके द्वारा

जो कुछ होगा, सब विश्वकी सेवा ही होगी। विश्वकी सच्ची सेवा वही कर सकता है, जिसका जीवन विश्वात्मा भगवान्‌के अनुकूल होता है और जो अपनेको विश्वम्भरकी सेवामें समर्पित कर देता है।

(४)

परिस्थितिपर फिरसे विचार कीजिये

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिले चार महीने हो गये। समयाभाव और स्वभावदोषसे मैं उत्तर नहीं लिख सका, इसके लिये क्षमा चाहता हूँ। आपने अपनी परिस्थिति लिखी, वह अवश्य ही विचारणीय है। ऐसी परिस्थितिमें, आपने जैसा लिखा है, दुर्बल-हृदय और अनिश्चित-बुद्धि मनुष्यके लिये बाध्य होकर इस प्रकारके कर्म करना स्वाभाविक हो जाता है, यह भी ठीक ही है। ऐसी परिस्थितिमें पड़े बिना कोई कैसे कह सकता है कि इस प्रकारके आपद्धर्ममें क्या करना चाहिये। वस्तुतः—

'जाके कबहुँ न फटी बेवाँई। सो का जानै पीर पराई॥

—के अनुसार दूसरेकी परिस्थितिका अनुभव करना और उसे उस परिस्थितिमें इच्छा न रहते हुए भी क्यों ऐसा कार्य करना पड़ता है, इसका यथार्थ निर्णय करना बहुत ही कठिन है। तथापि यह तो मानना ही पड़ेगा कि मनुष्य पापको पाप बताते हुए भी यदि उसे करता है तो या तो वह उसे पाप बताता है पर यथार्थमें समझता नहीं। संखिया खानेसे मनुष्य मर जाता है, यह पक्का विश्वास जिसको होता है वह सुन्दर दीखनेवाले सुमिष्ट लड्डुओंमें भी संखियेका सन्देह हो जानेपर उन्हें नहीं खाता; क्योंकि वह समझता है कि खाऊँगा तो मैं मर जाऊँगा। या इतना उन्मत्त हो गया है कि अपने भले-बुरेका ज्ञान ही खो बैठा है; अथवा उसकी पापमें पापबुद्धि है ही नहीं, केवल दम्भसे उन्हें पाप बतलाता है और परिस्थितिका बहाना लेकर युक्तिवादके द्वारा अपनी दुर्बलताको अवश्यकर्तव्य बतलाकर उसका समर्थन करता है। बहुत बार अच्छाईके वेषमें बुराई आती है, धर्मके नामपर अधर्म आता है और कर्तव्यका स्वरूप धारण करके नितान्त अकर्तव्य आया करता है। ऐसी अवस्थामें मनुष्य उन शास्त्रीय शब्दों या लोकोक्तियोंका, जो अवस्थाविशेषके लिये कर्तव्य होती हैं, सहारा लेकर बुराई, अधर्म या अकर्तव्यका प्रसन्नतापूर्वक वरण करता है। जैसे—

(१) झूठ बोलनेवाला व्यापारी कहता है—व्यापारमें झूठ मिले हुए सत्यके बिना काम ही नहीं चलता। मनुमहाराजने—'सत्यानृतं तु वाणिज्यम्' कहा है। महाभारतादिमें भी व्यापार-विवाह आदिमें मिथ्या भाषण अपराध नहीं माना गया है।

(२) परिवारमें मोह-आसक्ति रखनेवाला सोचता है—भगवान्‌ने इनको हमारे हाथों सौंपा है, इसलिये इनकी सार-सँभाल करना हमारा धर्म है। भरतजीने भी यही किया था।

(३) आलसी कहता है—

अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम।
दास मलूका यों कहै सबके दाता राम॥

(४) भक्त बनकर अपनी पूजा करानेवाला कहता है—

'राम तें अधिक राम कर दासा।'

(५) कड़वा बोलनेवाला कहता है—

बुरे लगें हितके बचन हिये बिचारो आप।
कड़वी भेषज बिनु पिये मिटै न तनकी ताप॥

(६) अपनेको गुरु बताकर पुजवानेवाला उपदेश करता है—

गुरु गोबिंद दोऊ खड़े काकै लागूँ पाय।
बलिहारी गुरुदेवकी जिन गोबिंद दिये मिलाय॥

(७) संत सजकर पूजा करानेवाला भगवान् रामके वचनोंका प्रमाण देता है—

'मोते अधिक संत करि लेखे'

(८) चोर कहता है—स्वयं श्रीकृष्णने माखन चुराया था। इसीसे उनका नाम 'चौराग्रगण्य' है।

(९) जुआरी मानता है—'द्यूतं छलयतामस्मि' गीताके वचनानुसार जुआ तो भगवान्‌का स्वरूप है।

(१०) शराबी और मांसाहारी मनुका प्रमाण देते हैं—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।

'न तो मांसभक्षणमें दोष है, न मद्यमें और न मैथुनमें ही।'

(११) स्त्री और सेवकोंपर अत्याचार करनेवाले सारा दोष तुलसीदासजीपर मँढ़ते हुए कहते हैं—

ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी। ए सब ताड़न के अधिकारी॥

(१२) क्रोधी कहता है—

साँच कहूँ होकर निडर कोई हो नाराज।
मैंने तो सीखा यही साँच बोलिये गाज॥

(१३) माता-पिताकी अवहेलना करके अपने मतका समर्थन करनेवाला गाता है—

जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही॥

(१४) झूठा आश्वासन देनेवाले सोचते हैं—कुछ भी कह देना है, करना तो है नहीं 'वचने का दरिद्रता।'

(१५) बात-बातमें डाँट-डपट करनेवाला कहता है—'साँप काटे नहीं तो क्या फुफकारे भी नहीं?'

(१६) भाई-भाईसे लोभवश लड़नेवाला—कौरव-पाण्डवोंकी कथा उपस्थित करता है।

(१७) पर-दोष-दर्शन तथा परनिन्दा करनेवाले प्रमाण देते हैं—

बैद्य न जानैं रोगकौं औ जो नहिं देत बताहिं।
बैद्य धरमतें सो गिरैं रोगी प्रान नसाहिं॥

—और कहते हैं कि यदि हम किसीके दोष न देखें एवं लोगोंको बताकर सावधान न करें तो कैसे उसके दोष छूटें और कैसे लोग उसके दोषोंसे बचें।

(१८) वर्णाश्रमानुकूल धर्म, संयम-नियम, सन्ध्या-वन्दनादिका त्याग करनेवाले अपनेको प्रेमी घोषित करके कहते हैं—'भाई! ये सब तो उन लोगोंके लिये हैं, जिन्होंने प्रेमका मुख नहीं देखा है, प्रेम-राज्यमें इनका क्या काम? एवं नारायण स्वामीके ये दोहे पढ़ देते हैं—

तब लौं यह फाँसी गले, बरनाश्रम ब्रत नेम।
नारायण जब लौं नहीं, मुख दिखलावे प्रेम॥
धर्म धैर्य संयम-नियम, सोच बिचार अनेक।
नारायण प्रेमी निकट, इनमें रहैं न एक॥

(१९) कर्तव्य-कर्मोंका त्याग करनेवाला अपनेको ज्ञानी मानकर भगवान्‌के शब्दोंकी दुहाई देता है—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

जिसकी आत्मामें ही रति है, जो आत्मामें ही तृप्त है और आत्मामें ही सन्तुष्ट है, उस मनुष्यके लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है।

(२०) आहार-विहारमें पशुवत् व्यवहार करनेवाला गीताका श्लोक पढ़ देता है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

विद्या-विनयसम्पन्न ब्राह्मण, चाण्डाल, गौ, हाथी और कुत्ता इन सभीमें ज्ञानी पुरुष समदर्शी होते हैं।

इसी प्रकार और भी अनेकों बहाने होते हैं बुराईका समर्थन करनेके लिये। वस्तुतः यह इन सद्विचारों एवं सदुक्तियोंका भीषण दुरुपयोग और अर्थका अनर्थ है, जो मूर्खतासे या दम्भसे अपनी दुर्बलताको छिपानेके लिये मनुष्य करता है।

अतएव आप अपने हृदयको टटोलकर देखिये, उसमें कोई छिपा हुआ ऐसा दोष तो नहीं है जो युक्तिवादसे परिस्थितिका बहाना करके आपको धोखा देता हो।

फिर जो धर्मका सच्चा सेवक है और भगवान्‌के पवित्र पथपर चलना ही जीवनका परम कर्तव्य समझता है उसके लिये तो खुला मार्ग है, उसमें किंतु-परंतुको स्थान ही नहीं है। वह तो ऐसा कोई भी कर्म, किसी भी हेतुसे नहीं करता जो अधर्म हो और भगवान्‌के पवित्र पथसे च्युत करानेवाला हो।

संसारमें मनुष्यका वास्तविक शत्रु

(लेखक—डा० महम्मद हाफिज सैयद, एम्०ए०, पी-एच्० डी०, डी०लिट्०)

अर्जुनके भगवान्‌से यह पूछनेपर कि 'मनुष्य बलात्कारसे लगाये हुए-के सदृश न चाहता हुआ भी किसकी प्रेरणासे पापाचरणमें प्रवृत्त होता है?' श्रीभगवान्‌ने उत्तर दिया—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

(गीता ३। ३७)

'रजोगुणसे उत्पन्न यह 'काम' ही क्रोध है, यही महाशन (भोगोंसे कभी तृप्त न होनेवाला) और बड़ा पापी है। यहाँ तुम इसीको वैरी समझो।'

सामान्यतया शोक और संतापके शिकार होकर हम अपने दुर्भाग्यके लिये भगवान्‌को अपराधी ठहराया करते हैं। ऐसी प्रवृत्तिका आधार केवल एक भ्रान्त धारणा है। श्रीभगवान् तो सदा निरपेक्ष और तटस्थ हैं, उनमें न तो कोई राग है न द्वेष। हमारे पथ-प्रदर्शनके लिये उन्होंने केवल किसी अटल नियमविशेषका निर्माण भर कर दिया है। यदि हम उसके अनुकूल आचरण करते हैं तो सुखका अनुभव करते हैं और प्रतिकूल करनेपर स्वाभाविक ही दुःखको प्राप्त होते हैं। भगवदीय इच्छाकी अभिव्यञ्जनास्वरूप यह नियम अपने काममें बिल्कुल अचूक और पक्का है तथा हमारी सत्ताके शारीरिक, मानसिक और नैतिक—सभी क्षेत्रोंको अनुशासित करता है। अपने शोक-संतापोंको उत्पन्न करनेवाले स्वयं हमी हैं, वे हमारी ही कुकृतियों एवं कुविचारोंके परिणाम हैं।

बुद्धि मनुष्यके श्रेष्ठतम तत्त्वोंमेंसे एक है। यदि इसका उचित रीतिसे विकास किया जाय और सचाईसे अनुगमन किया जाय तो यह कठिनाइयोंमें तो बहुत कम डालती है, उल्टे हमें सब ओरसे बचाते हुए बड़ी सुरक्षित रीतिसे मनोवाञ्छित उद्देश्य तक पहुँचा देती है। स्वर्ण तो सभी चाहते हैं, पर उसके लिये परिश्रम करनेसे, उसे खानसे खनकर निकालनेसे भागते हैं। प्रत्येक प्राणी शान्ति, सुरक्षा और सुखकी इच्छा करता है; पर उन्हें वहाँ ढूँढ़ता है, जहाँ वे हैं नहीं। आजकल बहुत-से ऐसे लोग मिलेंगे, जो बुद्धिकी श्रेष्ठताके विषयमें बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बातें करते हैं और उसे मनुष्यके लिये निरापद मार्गकी निर्देशिका बताते हैं; पर ऐसे लोगोंकी संख्या ही कितनी है जो अपने व्यवहारको शुद्ध और निर्लिप्त—अनासक्त बुद्धिके आदेशानुसार ठीक रखते हैं। यदि लोग अपनी बुद्धि और साधारण समझकी प्रेरणाओंको सचाईसे मानें तो उनके शोक-संताप बहुत अंशमें कम हो जायँगे।

जब हम अपने हृदयमें खोज-खोजकर यह देखने चलते हैं कि कौन हमारी असंख्य व्याधियोंका कारण बन रहा है, कौन हमें दासताकी बेड़ियोंमें बाँधे हुए और बंद किये हुए है, तो बहुत ध्यानसे देखनेपर यही विदित होता है कि हमारी अनियन्त्रित कामनाएँ ही हमारे अपमान, असफलता, निराशा, शोक और संतापकी जननी हैं। हम बिना विचारे ही इन्द्रिय-भोगोंकी ओर, उनसे अधिक से-अधिक सुख पानेकी आशामें दौड़ पड़ते हैं। परंतु सूक्ष्म विश्लेषण करनेपर हमको पता चलता है कि भोगों और भोग-सामग्रियोंसे हमें जो कुछ मिल रहा था, वह एक ऐसे सुखकी क्षणिक प्रतीति भर है कि जिससे न तो हमें कोई नैतिक संतोषकी प्राप्ति होती है और न वह मनकी उस शान्तिकी ओर ले जाता है जिसे पानेके लिये हमें वास्तवमें प्रयत्नशील होना चाहिये। ज्ञात साधनोंसे हम चाहे जबतक सुखकी आकाङ्क्षा करनेके लिये स्वतन्त्र हैं, पर उचित यही होगा कि कम-से-कम एक बार तो ठहरकर हम अपने अन्तरात्मासे पूछें कि जिसके पीछे हम दौड़ रहे हैं, वह वास्तवमें स्पृहणीय है या नहीं। जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णके शब्द हमें बार-बार यही चेतावनी देते हैं कि—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

'इन्द्रिय-विषय-संस्पर्शसे उत्पन्न सभी भोग दुःखको प्राप्त करानेवाले हैं, वे आदि-अन्तवाले होनेसे अस्थायी हैं। अतः भैया अर्जुन! बुद्धिमान् पुरुष उनमें नहीं रमते।'

अब यह हमलोगोंका कर्तव्य है कि भगवान्‌के इस कथनकी सत्यताको प्रमाणित करें और स्वयं इस बातका पता लगावें कि भोगोंसे अन्तमें जाकर हमें कोई सन्तोष प्राप्त होता है या नहीं। दूसरी ओर जो लोग भगवान्‌के शब्दोंकी परीक्षा करके उसकी सत्यता प्रमाणित कर चुके हैं, वे हमें निश्चयपूर्वक विश्वास दिलाते हैं कि क्षणिक सुखोंकी आराधना मानसिक शान्तिको उत्पन्न करनेकी जगह हमारे हृदय तथा मनमें और भी अधिक अराजकता, अशान्ति एवं अव्यवस्था उत्पन्न कर देती है। जीवनके उन क्षणोंमें जब हमें ऐसा अनुभव होता है कि हमें किसीके पीछे दौड़ना नहीं है, किसीके पीछे-पीछे चलना नहीं है, किसीके लिये लालसा

नहीं करनी है और कुछ पाना नहीं है, तब हमें भान होता है कि हमारा बोझा हल्का हो गया है, मन शान्त हो गया है और हृदय निर्मल हो गया है। केवल शुद्ध बौद्धिक दृष्टिकोणसे देखते हुए विवेककी कसौटीपर कसकर हमें ग्रहण करना है या तो सुखकी क्षणिक अनुभूतियोंको या उनकी तुलनामें अधिक चिरस्थायी एवं शाश्वत सुखसाधनको। श्री जे० एस्० मिलके शब्दोंमें ऐन्द्रिय-सुखसे बौद्धिक सुख अधिक कालव्यापी होता है।

सुरक्षा एवं सुखकी अधिक विशाल तथा उत्तमतर भावनासे भूषित होनेके लिये हमें अपने समस्त उपद्रवोंके मूलको ढूँढ़ निकालना है और जहाँतक हो सके इसको निकालकर दूर फेंक देना है एवं अपनेको इसके जालसे मुक्त कर लेना है। केवल इसी रीतिसे चिन्ता, अव्यवस्था और कलहके बोझसे हम वास्तविक स्वतन्त्रता तथा सन्त्राण पाकर भारमुक्त हो सकते हैं। सुख और अपने शत्रुपर विजय-प्राप्तिके मार्गमें प्रत्येक पदपर हमें अपनी कामनाके महाशन और महापापात्मक स्वरूपको पहचानकर उसे किसी महत्तर उद्देश्यकी प्राप्तिकी अभिवाञ्छामें परिणत एवं रूपान्तरित कर देना चाहिये। भगवदीय इच्छाकी योजनानुसार हमारे विकास-के उषःकालमें हमें क्रियाशील बनाने तथा योग्यताकी कतिपय दिशाओंमें जानेवाली प्रवृत्तियोंको विकसित करनेमें कामनाका कुछ कम हाथ नहीं रहता। यदि हम निश्चेष्ट रह जायँ तो वे प्रवृत्तियाँ पनपें ही नहीं। भौतिक जगत्के नाना क्षेत्र तथा सांसारिक व्यापारोंके बृहत् विस्तार, जिनसे हम कई विशेष प्रकारकी योग्यताओंको प्राप्त करते हैं—निष्फल हो जाते, यदि हमें अपनी कामनाकी प्रेरणा न प्राप्त होती रहती। यह भी स्वीकार किया जा सकता है कि कम विकसित लोगोंके लिये एक सीमातक कामनाके अनुगमनका भी अपना एक महत्त्व है। पर जब हम अपने मानसिक वृत्तका पर्याप्त विस्तार कर चुके हों और अपनी कुछ नैतिक दुर्बलताओंपर विजय प्राप्त कर चुके हों, तब यह उचित और न्याय्य होगा कि हम अपने भीतर तर्क-वितर्क करके यह जानते कि कौन-सी कार्य-प्रणाली तथा कौन-सी विचारधारा हमें अपने लक्ष्यके समीप ले जानेवाली तथा नष्ट होनेसे बचानेवाली है। अपने विकासके इसी दुराहेपर हम अपने शत्रु और मित्रकी पहचान करना प्रारम्भ कर देते हैं। हमारे विकासके प्रारम्भिक दिनोंमें जो हमारा मित्र था, वही जब हम वयस्क हो जाते हैं और अपने आत्मा तथा भाग्यपर अपना ही शासन एवं प्रभुत्व स्थापित करनेकी इच्छा-से अपने पैरोंपर स्वयं खड़ा होना सीखने लगते हैं, हमारा शत्रु हो जाता है। केवल बुद्धि और सद्विवेक ही हमें यह निर्णय करनेमें सहायता प्रदान कर सकते हैं कि किस कार्य-प्रणालीका अनुसरण करके हमें उसपर चलते रहना चाहिये—बुद्धि एवं धर्मका अथवा इनके विरोधी भावोंका।

कुछ ऐसे नैतिक तथ्य और आदेश हैं, जिनका प्राचीन और अर्वाचीन—सभी धर्मोंने सार्वभौमरूपसे और एक स्वरसे उपदेश किया है। इन धर्मोंके आदि-प्रवर्तकोंको मानव-जाति-के विगत विकास तथा भावी भाग्यका पूरा-पूरा अनुभव और ज्ञान था। अपनी लंबी अनुभूतिके द्वारा वे जानते थे कि नैतिक उन्नतिके मार्गमें मनुष्यके लिये किधर पग बढ़ाना ठीक है। वे व्यवहारके कुछ नियम बना गये हैं जो युग-युगसे-कालकी कसौटीपर खरे उतरते चले आ रहे हैं। इसलिये नैतिक तथ्योंमें विश्वास रखनेवाले एवं अपने कल्याण तथा सुखके लिये नैतिक संतोषकी खोज करनेवाले व्यक्तियोंके लिये उनका पालन करना अनिवार्य हो गया है। हमें बार-बार कुमार्गसे बचनेके लिये तथा सत्य और अहिंसा आदि धनात्मक गुणोंका विकास करनेके लिये कहा गया है। हमें अपने भीतर-की कुप्रवृत्तियोंको, उनके विरोधी गुणोंका विकास करके निकाल देना है। मनुष्यकी सत् अथवा असत् प्रवृत्तियाँ उसके बहुधा आवृत्त विचारों और क्रियाओंका ही परिणाम बनकर आती हैं। निरन्तर चिन्तन तथा विचारके सतत आग्रहसे हम अपने चरित्रमें कतिपय गुणोंका विकास कर सकते हैं और जब हम प्रलोभनमें पड़कर भ्रान्त हों अथवा जीवनकी स्वीकृत और यथोचित योजनाके विरुद्ध काम करनेको उद्यत हों, तब उन विकसित गुणोंके प्रकाशसे यथार्थ मार्ग देख सकते हैं। इस प्रकार हम अपने नैतिक चरित्रका पुनर्निर्माण और सुधार कर सकते हैं और समस्त दोषोंकी मूल कामनारूपी अपने शत्रुको परास्त करनेमें सफल हो सकते हैं।

पथ-प्रकाशके शब्दोंमें जीवनके कष्टों तथा कामनाके दुःखोंको दूर करनेकी इसके सिवा और कोई दवा नहीं है कि हम अपने ध्यानको उसपर केन्द्रित करें जो अविनाशी, अपरिवर्तनशील और अनामय है। दूसरे शब्दोंमें हमें सदैव अपने दिव्य स्वरूपका ध्यान करना चाहिये और अपनेको अपने अन्तरमें स्थित परमात्माके उस सनातन अंशसे एकीभूत करना सीखना चाहिये जो वास्तविक सुख और नित्यजीवनका एक-मात्र स्रोत है। अपने इस महान् काम-शत्रुको परास्त करनेका केवल यही एक उपाय है।

अपूर्व आत्मसमर्पण

(लेखक—श्रीयुत एस० एम० बोरा)

दक्षिण भारतके एक छोटे-से गाँवकी एक छोटी-सी कोठरीमें रेड़ीके तेलका दीपक जल रहा है। कोठरीका कच्चा आँगन और मिट्टीकी दीवालें गोबरसे लिपी-पुती बड़ी स्वच्छ और सुन्दर दिखायी दे रही हैं। एक कोनेमें कुछ मिट्टी पड़ी है, एक ओर पानीका घड़ा रक्खा है; दूसरे कोनेमें एक चक्की, मिट्टीके कुछ बरतन और छोटी-सी एक चारपाई पड़ी है। दीपकके समीप कुशके आसनपर एक पण्डितजी बैठे हैं, पास ही मिट्टीकी दावात रक्खी है और हाथमें कलम लिये वे कुछ लिख रहे हैं। आसपास कुछ पुस्तकें पड़ी हैं, कुछ ही दूरपर पोथियाँ बाँधनेके बैठन पड़े हैं। पण्डितजी बड़ी एकाग्रतासे लिख रहे हैं। बीच-बीचमें पास रक्खी पोथियोंके पन्ने उलट-पलटकर पढ़ते हैं, फिर पन्ने रखकर आँखें मूँद लेते हैं। कुछ देर गहरा विचार करनेके पश्चात् पुनः आँखें खोल-कर लिखने लगते हैं। इतनेमें दीपकका तेल बहुत कम हो जानेके कारण बत्तीपर गुल आ गया और प्रकाश मन्द पड़ गया। इसी बीच एक प्रौढा स्त्रीने आकर दीपकमें तेल भर दिया और वह बत्तीसे गुल झाड़ने लगी। ऐसा करते दीपक बुझ गया। पण्डितजीका हाथ अँधेरेमें रुक गया। स्त्री बत्ती जलाकर तुरंत वहाँसे लौट रही थी कि पण्डितजीकी दृष्टि उधर चली गयी। उन्होंने कौतूहलमें भरकर पूछा—'देवी! आप कौन हैं?' 'आप अपना काम कीजिये। दीपक बुझनेसे आपके काममें विघ्न हुआ इसके लिये क्षमा कीजिये' स्त्रीने जाते-जाते बड़ी ही नम्रतासे कहा। 'परंतु ठहरो, बताओ तो आप कौन हैं? और यहाँ क्यों आयी हैं?' पण्डितजीने बल देकर पूछा। स्त्रीने कहा, 'महाराज! आपके काममें विघ्न पड़ रहा है, इस विक्षेपके लिये मैं बड़ी अपराधिनी हूँ।'

अब तो पण्डितजीने पन्ने नीचे रख दिये, कलम भी रख दी, मानो उन्हें जीवनका कोई नया तत्त्व प्राप्त हुआ हो। वे बड़ी आतुरतासे बोले—'नहीं, नहीं, आप अपना परिचय दीजिये—जबतक परिचय नहीं देंगी, मैं पन्ना हाथमें नहीं लूँगा।' स्त्री सकुचायी, उसके नेत्र नीचे हो गये और बड़ी ही विनयके साथ उसने कहा—"प्राणनाथ! मैं आपकी परिणीता पत्नी हूँ, मुझे 'आप' कहकर मुझपर पाप न चढ़ाइये।"

पण्डितजी आश्चर्यचकित होकर बोले—'हैं, मेरी पत्नी? विवाह कब हुआ था?' स्त्रीने कहा—'लगभग पचास साल हुए होंगे, तबसे दासी आपके चरणोंमें ही है।'

पण्डितजी—तुम इतने वर्षोंसे मेरे साथ रहती हो, मुझे आजतक इसका पता कैसे नहीं लगा।

स्त्री—प्राणनाथ! आपने विवाहमण्डपमें दाहिने हाथसे मेरा बायाँ हाथ पकड़ा था और आपके बायें हाथमें ये पन्ने थे। विवाह हो गया, पर आप इन पन्नोंमें संलग्न रहे। तबसे आप और आपके ये पन्ने नित्य संगी बने हुए हैं।

पण्डितजी—पचास वर्षका लंबा समय तुमने कैसे बिताया—मैं तुम्हारा पति हूँ, यह बात तो तुमने इससे पहले मुझको क्यों नहीं बतलायी?

स्त्री—प्राणेश्वर! आप दिन-रात अपने काममें लगे रहते थे और मैं अपने काममें। मुझे बड़ा सुख मिलता था इसीमें कि आपका कार्य निर्विघ्न चल रहा है। आज दीपक बुझनेसे विघ्न हो गया! इसीसे यह प्रसङ्ग आ गया।

पण्डितजी—तुम प्रतिदिन क्या करती रहती थी?

स्त्री—नाथ! और क्या करती, जहाँतक बनता, स्वामीके कार्यको निर्विघ्न रखनेका प्रयत्न करती। प्रातःकाल आपके जागनेसे पहले उठकर धीरे-धीरे चक्की चलाती। आप उठते तब आपके शौच-स्नानके लिये जल दे देती। तदनन्तर सन्ध्या आदिकी व्यवस्था करती, फिर भोजनका प्रबन्ध होता। रातको पढ़ते-पढ़ते आप सो जाते, तब मैं पोथियाँ बाँधकर ठिकाने रखती और आपके सिरहाने एक तकिया लगा देती एवं आपके चरण दबाते-दबाते वहीं चरणप्रान्तमें सो जाती।

पण्डितजी—मैंने तो तुमको कभी नहीं देखा।

स्त्री—देखना अकेली आँखोंसे थोड़े ही होता है, उसके लिये तो मन चाहिये। दृष्टिके साथ मन न हो तो फिर ये चक्षुगोलक कैसे किसको देख सकते हैं। चीज सामने रहती है, पर दिखायी नहीं देती। आपका मन तो नित्य निरन्तर तल्लीन रहता है अध्ययन, विचार और लेखनमें। फिर आप मुझे कैसे देखते?

पण्डितजी—अच्छा तो, हमलोगोंके खान-पानकी व्यवस्था कैसे होती है ?

स्त्री—दुपहरको अवकाशके समय अड़ोस-पड़ोसकी लड़कियोंको बेल-बूटे निकालना तथा गाना सिखा आती हूँ और वे सब अपने-अपने घरोंसे चावल, दाल, गेहूँ आदि ला देती हैं, उसीसे निर्वाह होता है।

यह सुनकर पण्डितजीका हृदय भर आया, वे उठकर खड़े हो गये और गद्गद कण्ठसे बोले—'तुम्हारा नाम क्या है देवी !' स्त्रीने कहा—'भामती।' 'भामती ! भामती ! मुझे क्षमा करो, पचास-पचास सालतक चुपचाप सेवा ग्रहण करनेवाले और सेविकाकी ओर आँख उठाकर देखनेतककी शिष्टता न करनेवाले इस पापीपर क्षमा करो' यों कहते हुए पण्डितजी भामतीके चरणोंपर गिरने लगे।

भामतीने पीछे हटकर नम्रतासे कहा—'देव ! आप इस प्रकार बोलकर मुझे पापग्रस्त न कीजिये। आपने मेरी ओर दृष्टि डाली होती, तो आज मैं मनुष्य न रहकर विषयविमुग्ध पशु बन गयी होती। आपने मुझे पशु बननेसे बचाकर मनुष्य ही रहने दिया, यह तो आपका अनुग्रह है। नाथ ! आपका सारा जीवन शास्त्रके अध्ययन और लेखनमें बीता है। मुझे उसमें आपके अनुग्रहसे जो यत्किञ्चित् सेवा करनेका सुअवसर मिला है, यह तो मेरा महान् भाग्य है। किसी दूसरे घरमें विवाह हुआ होता तो मैं संसारके प्रपञ्चमें कितना फँस जाती। और पता नहीं शूकर-कूकरकी भाँति कितनी वंश-वृद्धि होती। आपकी तपश्चर्यासे मैं भी पवित्र बन गयी। यह सब आपका ही प्रताप और प्रसाद है। अब आप कृपापूर्वक अपने अध्ययन-लेखनमें लगिये। मुझे सदाके लिये भूल जाइये।' यों कहकर वह जाने लगी।

पण्डितजी—भामती ! भामती ! तनिक रुक जाओ, मेरी बात तो सुनो !

भामती—नाथ ! आप अपनी जीवनसंगिनी साधनाका विस्मरण करके क्यों मोहकी गर्तमें गिरते हैं और मुझको भी क्यों इस पाप-पङ्कमें फँसाते हैं ?

पण्डितजी—भामती ! मैं तुझे पाप-पङ्कमें नहीं फँसाना चाहता। मैं तो अपने लिये सोच रहा हूँ कि मैं पाप-गर्तमें गिरा हूँ या किसी ऊँचाईपर स्थित हूँ।

भामती—नाथ ! आप तो देवता हैं, आप जो कुछ लिखेंगे, उससे जगत्का उद्धार होगा।

पण्डितजी—'भामती ! तुम सच मानो ! भगवान् व्यासने वर्षों तप करनेके बाद इस ग्रन्थकी रचना की और मैंने जीवनभर इसका पठन एवं मनन किया; परंतु तुम विश्वास करो कि मेरा यह समस्त पठन-मनन, मेरा समग्र विवेक, यह सारा वेदान्त तुम्हारे पवित्र सहज तपोमय जीवनकी तुलनामें सर्वथा नगण्य हैं। व्यास भगवान्ने ग्रन्थ लिखा, मैंने पठन-मनन किया, परंतु तुम तो मूर्तिमान् वेदान्त हो।' यों कहते-कहते पण्डितजी पुनः उसके चरणोंपर गिरने लगे। भामतीने उन्हें उठाकर विनम्रभावसे कहा—'पतिदेव ! यह क्या कर रहे हैं ? मैंने तो अपने जीवनमें आपकी सेवाके अतिरिक्त कभी कुछ चाहा नहीं। आपने मुझ-जैसीको ऐसी सेवाका सुअवसर दिया। यह आपका मुझपर महान् उपकार है। आजतक मैं प्रतिदिन आपके चरणोंमें सुखसे सोकर नींद लेती रही हूँ, यों इन चरणोंमें ही सोती-सोती महानिद्रामें पहुँच जाऊँ, तो मेरा महद्-भाग्य हो।'

पण्डितजी—भामतीदेवी ! सुनो, मैंने अपना सारा जीवन इन पन्नोंके लिखनेमें ही बिता दिया। परंतु तुमने मेरे पीछे जैसा जीवन बिताया है, उसके सामने मुझे अपना जीवन अत्यन्त क्षुद्र और नगण्य प्रतीत हो रहा है। मुझे इस ग्रन्थके एक-एक पन्नेमें, एक-एक पङ्क्तिमें और अक्षर-अक्षरमें तुम्हारा जीवन दीख रहा है, अतः जगत्में यह ग्रन्थ अब तुम्हारे ही नामसे प्रसिद्ध होगा। तुमने मेरे लिये जो अपूर्व त्याग किया, उसकी चिरस्मृतिके लिये मेरा यह अनुरोध स्वीकार करो। 'प्रभो ! आप ऐसा कीजिये जिसमें इस अतुलनीय आत्मत्यागके सामने मुझ-जैसे क्षुद्र मनुष्यको जगत् भूल जाय।' 'आप अपने काममें लगिये देव !' यों कहकर भामती जाने लगी। तब 'तुमको जहाँ जाना हो, जाओ। परंतु अब मैं जीवित मूर्तिमान् वेदान्तको छोड़कर वेदान्तके मृत शवका स्पर्श नहीं करना चाहता।' यों कहकर पण्डितजीने पोथी-पत्रे बाँध दिये।

पण्डितजीके द्वारा रचित महान् ग्रन्थ आज भी वेदान्तका एक अप्रतिम रत्न माना जाता है। इस ग्रन्थका नाम है—'भामती' और इसके लेखक हैं—पण्डित वाचस्पति मिश्र।

॥ श्रीहरिः शरणम् ॥

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घका निवेदन

'कल्याण' में 'गीता-जयन्ती' तक सवा लाख गीतापाठके लिये प्रार्थना की गयी थी। इस सम्बन्धमें पाठकोंकी सूचना प्राप्त हो गयी थी। साथ ही श्रीगीताजी और श्रीरामचरितमानस-प्रचार-सङ्घके सदस्य बननेके लिये भी निवेदन किया गया था। हर्ष और संतोषकी बात है कि 'कल्याण'के पाठक-पाठिकाओंने बड़े ही उत्साहके साथ इस ज्ञानयज्ञमें हाथ बँटाया है तथा हार्दिक सहयोग प्रदान किया है। अबतक श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घके गीता-विभागमें ३२४५ सदस्य और रामायण-विभागमें ३१२५ सदस्य बने हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर प्रतिदिन ७८४ पाठ श्रीगीताजीके और ५२ पाठ श्रीरामायणजीके, इसी हिसाबसे २८२२४० पाठ गीताजीके और १८७२० रामायणजीके वार्षिक स्थायी रूपसे हो रहे हैं।

जिन महानुभावोंने पाठका नियम लिया है आशा है, वे सब-के-सब उसी उत्साहसे नियमानुसार बराबर पाठ करते रहेंगे। यदि किसी कारणविशेषसे किसी सज्जनका कोई पाठ छूट जाय तो वे कृपापूर्वक पाठकी पूर्ति कर लें और भविष्यमें अनुष्ठानका क्रम न टूटे—इस बातका विशेष ध्यान रक्खें। कृपापूर्वक सालमें दो बार, 'पाठ बराबर चालू है' यह सूचना अवश्य देनेकी कृपा करें।

× × ×

आप जानते ही हैं कि गीता और रामायणके पाठकी कितनी अपार महिमा है। विश्व-साहित्यके ये दो अमूल्य रत्न हैं। ये दोनों प्रासादिक ग्रन्थ माने गये हैं और इनके प्रेमपूर्वक स्वाध्यायसे बड़ा भारी लाभ मिलता है। अतः प्रत्येक व्यक्तिका इनके स्वाध्यायके लिये प्रयत्न करना परम कर्तव्य है—ऐसा समझकर आप भी इस कार्यमें योग प्रदान करते रहनेकी कृपा करें।

जिन महानुभावोंने गीता-रामायण-प्रचारमें अपना हार्दिक सहयोग प्रदान कर सदस्य बनाये हैं और बना रहे हैं, उनके प्रति हम बहुत अधिक कृतज्ञ हैं और हम आशा करते हैं कि इसी प्रकार वे विशेष उत्साहसे इस भगवत्कार्यमें हाथ बँटाते रहेंगे—जिससे इसके लाखों सदस्य बनाये जा सकें। प्रत्येक सदस्य कम-से-कम एक-एक और सदस्य बना दें तो यह संख्या सहज ही दुगुनी हो सकती है। सदस्य बनने और बनानेके-लिये आवेदनपत्र नीचे लिखे पतेसे मँगवानेकी कृपा करें।

आशा और विश्वास है—आपका सहयोग हमें सदा मिलता रहेगा।

विनीत,

संयोजक—श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घ
पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

Regd. No. A. 175.

श्रीहरिः

परोपकारकी महत्ता

दानेन भूतानि वशीभवन्ति
दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् ।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानै-
र्दानं हि सर्वव्यसनानि हन्ति ॥

तृणं चाहं वरं मन्ये नरादनुपकारिणः । घासो भूत्वा पशून् पाति भीरून् पाति रणाङ्गणे ॥
परोपकृतिकैवल्ये तोलयित्वा जनार्दनः । गुर्वीमुपकृतिं मत्वा ह्यवतारान् दशाग्रहीत् ॥
परोपकारशून्यस्य धिङ् मनुष्यस्य जीवितम् । जीवन्तु पशवो येषां चर्माप्युपकरिष्यति ॥

दानसे सब प्राणी वशमें हो जाते हैं, दानसे वैर नष्ट हो जाते हैं, दानसे पराये भी अपने भाई-बन्धु बन जाते हैं और दान सारे व्यसनोंको मिटा देता है। उपकार न करनेवाले मनुष्यसे मैं तिनकेको भी श्रेष्ठ मानता हूँ, क्योंकि वह घास बनकर पशुओंकी रक्षा करता है और रणाङ्गणसे भागे हुए डरपोक मनुष्योंको छिपाकर बचा लेता है। एक बार विष्णु भगवान्‌ने मुक्ति और परोपकारको तराजूके पलड़ोंपर रखकर तौला तो परोपकार-का पलड़ा ही भारी रहा। इसीलिये उन्होंने दस अवतार धारण करके परोपकार किया। परोपकार न करनेवाले मनुष्यके जीवनको धिक्कार है। जीते रहें वे पशु, जिनका चमड़ा भी जूता बनकर उपकार करेगा।

१०८ उपनिषद्

[सरल हिन्दी भावार्थ सहित]

ब्रह्मविद्याखण्ड

*

सम्पादक

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

*

*

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना

गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ. प्र.)

२००५

मूल्य 125 रुपये

• प्रकाशक

युग निर्माण योजना

गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ. प्र.

• लेखक

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

• सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

• मुद्रक

युग निर्माण योजना प्रेस

गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ. प्र.

ॐ

भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यं
भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥

(त्रिपुरातापिन्युपनिषद् १.१)

*****

उस प्राणस्वरूप, दुःखनाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ,
तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा को
हम अन्तरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा
हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर
प्रेरित करे।

उपनिषदों का महत्त्व, अध्येताओं की दृष्टि में

मैं उपनिषदों को पढ़ता हूँ, तो मेरे आँसू बहने लगते हैं। यह कितना महान ज्ञान है ? हमारे लिए यह आवश्यक है कि उपनिषदों में सन्निहित तेजस्विता को अपने जीवन में विशेष रूप से धारण करें।

– स्वामी विवेकानंद

'उपनिषद्' में 'उप' और 'नि' उपसर्ग हैं। 'सद्' धातु 'गति' के अर्थ में प्रयुक्त होती है। 'गति' शब्द का उपयोग ज्ञान, गमन और प्राप्ति इन तीन संदर्भों में होता है। यहाँ प्राप्ति अर्थ अधिक उपयुक्त है। ''उप सामीप्येन, नि-नितरां, प्राप्नुवन्ति परं ब्रह्म यया विद्यया सा उपनिषद्'' अर्थात् जिस विद्या के द्वारा परब्रह्म का सामीप्य एवं तादात्म्य प्राप्त किया जाता है, वह 'उपनिषद्' है।

– पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

चक्षु सम्पन्न व्यक्ति देखेंगे कि भारत का ब्रह्मज्ञान समस्त पृथिवी का धर्म बनने लगा है। प्रातः कालीन सूर्य की अरुणिम किरणों से पूर्व-दिशा आलोकित होने लगी है; परन्तु जब वह सूर्य मध्याह्न गगन में प्रकाशित होगा, तब उस समय उसकी दीप्ति से समग्र भूमण्डल दीप्तिमय हो उठेगा।

– विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर

सारे पृथ्वी मण्डल में मूल उपनिषद् के समान इतना फलोत्पादक और उच्च भावोद्दीपक ग्रन्थ कहीं भी नहीं है। इसने मुझको जीवन में शान्ति प्रदान की है और मरण में भी यह शान्ति देगा।'

–शोपेन हॉवर

सुकरात, अफलातून, अरस्तू आदि कितने दार्शनिकों के ग्रन्थ मैंने ध्यानपूर्वक पढ़े हैं, पर जैसी शांतिमयी आत्म विद्या मैंने उपनिषदों में पायी, वैसी और कहीं देखने को नहीं मिली।

– प्रो० ह्यूम

मैंने कुरान, तौरेत, इञ्जील, जबुर आदि ग्रन्थ पढ़े, उनमें ईश्वर सम्बन्धी जो वर्णन है, उनसे मन की प्यास न बुझी। तब हिन्दुओं की ईश्वरीय पुस्तकें पढ़ीं। इनमें से उपनिषदों का ज्ञान ऐसा है, जिससे आत्मा को शाश्वत शांति तथा सच्चे आनंद की प्राप्ति होती है। हजरतनवी ने भी एक आयत में इन्हीं प्राचीन रहस्यमय पुस्तकों के सम्बन्ध में संकेत किया है।

– दाराशिकोह

विषयानुक्रमणिका

क्र०	विषय	पृ० से तक
क.	प्रकाशकीय	७
ख.	संकेत विवरण	८
१.	अथर्वशिर उपनिषद्	९-१६
२.	अध्यात्मोपनिषद्	१७-२४
३.	अवधूतोपनिषद्	२५-२९
४.	आत्मपूजोपनिषद्	३०-३०
५.	आत्मबोधोपनिषद्	३१-३५
६.	आत्मोपनिषद्	३६-४०
७.	आरुण्युपनिषद्	४१-४३
८.	आश्रमोपनिषद्	४४-४६
९.	कठरुद्रोपनिषद्	४६-५२
१०.	कुण्डिकोपनिषद्	५३-५६
११.	कैवल्योपनिषद्	५७-६०
१२.	कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्	६१-९०
१३.	क्षुरिकोपनिषद्	९१-९४
१४.	जाबालदर्शनोपनिषद्	९५-११५
१५.	जाबालोपनिषद्	११६-११९
१६.	जाबाल्युपनिषद्	१२०-१२२
१७.	तुरीयातीतोपनिषद्	१२३-१२४
१८.	द्वयोपनिषद्	१२५-१२५
१९.	नारदपरिव्राजकोपनिषद्	१२६-१६४
२०.	निर्वाणोपनिषद्	१६५-१७७
२१.	पंच ब्रह्मोपनिषद्	१७८-१८१
२२.	परब्रह्मोपनिषद्	१८२-१८८
२३.	परमहंस परिव्राजकोपनिषद्	१८९-१९४

क्र०	विषय	पृ० से तक
२४.	परमहंसोपनिषद्	१९५-१९६
२५.	पैङ्गलोपनिषद्	१९७-२०९
२६.	ब्रह्मबिन्दूपनिषद्	२१०-२१२
२७.	ब्रह्मविद्योपनिषद्	२१३-२२२
२८.	ब्रह्मोपनिषद्	२२३-२२६
२९.	भिक्षुकोपनिषद्	२२७-२२८
३०.	मण्डलब्राह्मणोपनिषद्	२२९-२४१
३१.	महावाक्योपनिषद्	२४२-२४४
३२.	मैत्रेय्युपनिषद्	२४५-२५३
३३.	याज्ञवल्क्योपनिषद्	२५४-२५८
३४.	योगतत्त्वोपनिषद्	२५९-२७०
३५.	वज्रसूचिकोपनिषद्	२७१-२७२
३६.	शाट्यायनीयोपनिषद्	२७३-२७८
३७.	शाण्डिल्योपनिषद्	२७९-३०१
३८.	शारीरकोपनिषद्	३०२-३०४
३९.	संन्यासोपनिषद्	३०५-३१९
४०.	सुबालोपनिषद्	३२०-३३८
४१.	स्वसंवेद्योपनिषद्	३३९-३४१
४२.	हंसोपनिषद्	३४२-३४४
ग.	**परिशिष्ट**	
	१. परिभाषाकोश	३४५-३९८
	२. मन्त्रानुक्रमणिका	३९९-४२४

प्रकाशकीय

उपनिषदों को आर्ष साहित्य के शीर्ष भाग की मान्यता प्राप्त है। नवयुग सृजन के पुष्ट आध्यात्मिक आधार को विकसित करने के लिए उपनिषदों के ज्ञानामृत को विचारशीलों तक पहुँचाने की आवश्यकता **परम पूज्य, युगऋषि, वेदमूर्ति,तपोनिष्ठ पं०श्रीराम शर्मा आचार्य जी** ने अनुभव की। तदनुसार सन् १९६१ में उन्होंने १०८ उपनिषदों के सुगम अनुवाद एवं जनसुलभ प्रकाशन का अनोखा पुरुषार्थ कर दिखाया। बाद में शान्ति-कुञ्ज में प्रज्ञा पुराण के अवतरण क्रम में ही उन्होंने गीता विश्वकोश तैयार करने तथा उपनिषदों के नये संस्करण से सम्बन्धित योजना प्रदान की। उस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूत्र संकेत भी प्रदान किये। उनके निर्देशानुसार **शक्ति स्वरूपा वन्दनीया माता भगवतीदेवी शर्मा** के मार्गदर्शन में वेदों के साथ ही उपनिषदों पर भी शोध स्तर का कार्य प्रारम्भ किया गया। १०८ उपनिषदों का प्रस्तुत संस्करण उसी योजना के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है।

पूज्य आचार्य श्री द्वारा प्रारम्भ में १०८ उपनिषदें तीन (ज्ञान, ब्रह्मविद्या और साधना) खण्डों में प्रकाशित की गयी थीं। उस परिपाटी को यथावत् बनाये रखकर भी कतिपय परिवर्तन करने पड़े हैं। पूर्व प्रकाशित ज्ञानखण्ड में बृहदारण्यकोपनिषद् सहित २४ उपनिषदें हैं, जबकि सर्व प्रथम प्रकाशन (१९६१) में बृहदारण्यक० को छोड़कर भी ३५ उपनिषदें थीं।

इस ब्रह्मविद्याखण्ड में ४२ उपनिषदें हैं। इसमें भी उपनिषदों का क्रम अकारादि ही रखा गया है, इससे उपनिषदों को ढूँढ़ने में सुविधा रहेगी। तीनों खण्डों के कलेवर लगभग समान रखने की दृष्टि को ध्यान में रखकर ऐसा करना आवश्यक समझा गया। अध्येताओं की सुविधा के लिए कुछ और प्रयास इस संग्रह में किये गये हैं-१. मन्त्रों का प्रामाणिक पाठ प्रस्तुत करने के लिए प्राचीन पाठों को भी ढूँढ़ने का प्रयास किया गया है। इसके लिए अड्यार लाइब्रेरी-मद्रास' से प्रकाशित उपनिषदों के प्रथम संस्करण (१९२०-५०) प्राप्त किये गये हैं। साथ ही 'भाण्डारकर प्राच्य शोध प्रतिष्ठान, पूना'; सिन्धिया प्राच्य विद्या शोध संस्थान,उज्जैन'; एशियाटिक रिसर्च इंस्टीट्यूट, मुम्बई','अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् लखनऊ' तथा 'सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी' से प्राप्त 'हस्त-लिखित' उपनिषदों का भी सहयोग लिया गया है।

२. प्रत्येक खण्ड में 'मन्त्रानुक्रमणिका' देने का भी श्रमसाध्य प्रयास किया गया है। अभी तक गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित कुछ गिनी-चुनी उपनिषदों की ही मन्त्रानुक्रमणिका उपलब्ध थी। अब इस संग्रह की सभी उपनिषदों की क्रमणी दी जा रही है। इससे मन्त्रों की ढूँढ़-खोज में सरलता रहेगी।

३. प्रत्येक खण्ड में एक परिशिष्ट जोड़ने का नूतन प्रयास किया गया है। उपनिषदों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों को व्याख्यायित करके अकारादि क्रम में प्रस्तुत किया गया है। इससे उपनिषद् विद्या में अभिरुचि रखने वाले अध्येताओं को बड़ी सहायता मिलेगी।

४. यथाशक्ति उपनिषदों के मूलस्रोतों का पता लगाकर उनके सन्दर्भ देने का प्रयास भी किया गया है। इससे यह जानना सुगम होगा कि कौन सी उपनिषद् संहिता का भाग है, कौन ब्राह्मण का, कौन आरण्यक का और कौन उनसे भिन्न है।

५. प्रत्येक उपनिषद् के प्रारम्भ में उसका संक्षिप्त सारांश दे दिया गया है, जिससे उपनिषद् की विषय-वस्तु पर एक विहंगम दृष्टि पड़ सके, जो पाठकों के लिए सुविधापूर्ण सिद्ध होगा।

इस प्रकार परम पूज्य गुरुदेव एवं वन्दनीया माताजी की थाती को उन्हीं की प्रेरणा एवं शक्ति से आपके समक्ष प्रस्तुत करने में अतीव सन्तोष का अनुभव हो रहा है। इस ज्ञान यज्ञ में जिस समिधा और हव्य का उपयोग हुआ है,उसे जुटाने एवं प्रयुक्त करने में जिनके भी श्रम-साधन सार्थक हुए हैं, उन्हें निःसन्देह इस ज्ञानयज्ञ की दिव्य सुगन्ध आप्यायित करके धन्य बना देगी। उनके लिए शब्दों से आभार प्रदर्शन का कोई मूल्य नहीं। इस प्रयास को और अधिक उत्कृष्टता प्रदान करने में पाठकों के सुझाव सदैव प्रार्थनीय रहेंगे,क्योंकि वे ही इसके सच्चे पारखी हैं। उन्हीं के हाथों में इसे इस आशा के साथ सौंप रहे हैं कि वे इस ज्ञानामृत का रसास्वादन उसी भाव से करेंगे, जिस भाव से यह प्रस्तुत किया गया है।

- प्रकाशक

संकेत विवरण

अथर्व० - अथर्ववेद
अथर्वशिख०- अथर्वशिखोपनिषद्
अथर्वशिर०- अथर्वशिरउपनिषद्
अद्वयता०- अद्वयतारकोपनिषद्
अध्यात्मो०- अध्यात्मोपनिषद्
अमृतनादो०- अमृतनादोपनिषद्
अवधूतो०- अवधूतोपनिषद्
आत्म०- आत्मपूजोपनिषद्
आत्मबोधो०- आत्मबोधोपनिषद्
आत्मो० - आत्मोपनिषद्
आप०श्रौ०सू०- आपस्तम्ब श्रौत सूत्र
आरुणि०- आरुण्युपनिषद्
आश्रमो०- आश्रमोपनिषद्
उ० - उत्तर
ऋ० - ऋग्वेद
एकाक्षरो०- एकाक्षरोपनिषद्
कठरुद्रो०- कठरुद्रोपनिषद्
कठो० - कठोपनिषद्
कुण्डिको०- कुण्डिकोपनिषद्
कर्म०भा०- कर्मकाण्ड भास्कर
का०श्रौ०सू०- कात्यायन श्रौत सूत्र
कैवल्यो०- कैवल्योपनिषद्
कौ०ब्रा०उ०-कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्
क्षुरिको०- क्षुरिकोपनिषद्
खं०- खण्ड
गी०- गीता
गोरक्ष० सं०- गोरक्ष संहिता
घेर० सं०- घेरण्ड संहिता
छान्दो०- छान्दोग्योपनिषद्
जा०दर्शनो०- जाबालदर्शनोपनिषद्
जाबालो०- जाबालोपनिषद्
जाबाल्यु०- जाबाल्युपनिषद्
तं०सा०सं०- तंत्र सार संग्रह
तां०ब्रा०- तांड्य ब्राह्मण
तुरीया०-तुरीयातीतोपनिषद्
ते०बि०- तेजबिन्दूपनिषद्
तैत्ति०ब्रा०-तैत्तिरीय ब्राह्मण
दर्शनो०- दर्शनोपनिषद्
द्वयो०- द्वयोपनिषद्
ना०परि०- नारदपरिव्राजकोपनिषद्
नादबिन्दु०- नादबिन्दूपनिषद्
नि०- निरुक्त
निरा०- निरालम्बोपनिषद्
नैषधी०- नैषधीयचरितम्
पं० ब्र०-पंचब्रह्मोपनिषद्
पंच०- पंचवार्तिक
परब्रह्मो०- परब्रह्मोपनिषद्
परम०प०- परमहंस परिव्राजकोपनिषद्
परमहंसो०- परमहंसोपनिषद्
पा०गृ०सू०- पारस्कर गृह्य सूत्र
पातं०यो०प्र०- पातंजल योग प्रदीप
पातं०यो०सू०- पातंजल योग सूत्र
पाशुपत०- पाशुपत ब्रह्मोपनिषद्
पृ०- पृष्ठ
पैङ्गलो०- पैङ्गलोपनिषद्
प्र०- प्रश्न
प्रश्नो०- प्रश्नोपनिषद्
बृह०उ०- बृहदारण्यक उपनिषद्
बौधा०ध०सू०- बौधायन धर्म सूत्र
ब्र०सू०- ब्रह्मसूत्र
ब्रह्मबिन्दु०- ब्रह्मबिन्दूपनिषद्
ब्रह्म०भा०- ब्रह्मयोगी भाष्य
ब्रह्मविद्यो०- ब्रह्मविद्योपनिषद्
ब्रह्मवै०पु०- ब्रह्मवैवर्त्त पुराण
ब्रह्मो०- ब्रह्मोपनिषद्
भर्तृ०- भर्तृहरि शतक
भा०- भागवत
भिक्षु०- भिक्षुकोपनिषद्
मं०ब्रा०उ०- मंडल ब्राह्मण उपनिषद्
मत्स्यपु०- मत्स्यपुराण
मनु०- मनुस्मृति
महा०- महाभारत
म०वा०-महावाक्योपनिषद्
महो०- महोपनिषद्
माण्डू०- माण्डूक्योपनिषद्
मुण्डको०- मुण्डकोपनिषद्
मैत्रा०- मैत्रायण्युपनिषद्
मैत्रे०- मैत्रेय्युपनिषद्
यजु०- यजुर्वेद
याज्ञ०स्मृ०- याज्ञवल्क्य स्मृति
यो०कु०- योगकुण्डल्युपनिषद्
योगियाज्ञ०- योगियाज्ञवल्क्य
यो०त०- योगतत्त्वोपनिषद्
यो०द०-योगदर्शन
यो०शि०-योग शिखोपनिषद्
यो०सू०- योगसूत्र
वज्र०-वज्रसूचिकोपनिषद्
वटुको०- वटुकोपनिषद्
वसिष्ठ स्मृ०- वसिष्ठ स्मृति
वाच० - वाचस्पत्यम्
वात्स्या०-वात्स्यायनभाष्य
वायुपु०-वायु पुराण
विद्व०- विद्वन्मनोरञ्जनी
वि०पु०- विष्णुपुराण
वि०मार्त०- विवेक मार्तण्ड
वे०वि०- वेदान्त विमर्श
वे०सा०- वेदान्त सार
वे०सा०सु०- वेदान्त सार सुबोधिनी
व्या०भा०- व्यास भाष्य
श०क०- शब्द कल्पद्रुम
शत०ब्रा०- शतपथ ब्राह्मण
शाट्यायनी०- शाट्यायनीयोपनिषद्
शाण्डिल्यो०- शाण्डिल्योपनिषद्
शा० प०- शान्तिपर्व
शा०भा०- शाङ्कर भाष्य
शारीरको०- शारीरकोपनिषद्
श्रौ०प०नि०- श्रौत पदार्थ निर्वचनम्
श्वेता०- श्वेताश्वतरोपनिषद्
संन्यासो०-संन्यासोपनिषद्
सं०प्र०- सन्ध्याप्रयोग
सं०हि०को०- संस्कृत हिन्दी कोश
स०पा०- समाधि पाद
सां०यो०द०- सांग योग दर्शन
सा०- सामवेद
सा०पा०- साधन पाद
सा०भा०- सायण भाष्य
सि०कौ०- सिद्धान्त कौमुदी
सुबालो०- सुबालोपनिषद्
स्वसं०-स्वसंवेद्योपनिषद्
हंस०- हंसोपनिषद्
हठ०प्र०- हठयोग प्रदीपिका
हला०- हलायुध कोश
हि०वि०को०- हिन्दी विश्व कोश

ॐ

॥ अथर्वशिर उपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध है। इसमें सात कण्डिकाएँ हैं। कण्डिका क्र० १,२,३ में देवगणों द्वारा रुद्र रूप में परमात्म-सत्ता के साक्षात्कार का वर्णन और उनकी स्तुति है। उन्हें आदिकारण रूप; भूत, भविष्यत्, वर्तमान; पुरुष-अपुरुष-स्त्री, क्षर-अक्षर, गोप्य-गुह्य कहा गया है, वे ही चराचर जगत् को उनकी विशेषताओं से विभूषित करने वाले हैं। उन्हें ही ॐ तथा अ,उ, म् से भी परे कहा गया है। कण्डिका क्र. ४, ५ में उन्हें प्रणव रूप कहते हुए उनकी विशेषताओं, क्षमताओं और उपासना का महत्त्व बताया गया है। छठवीं कण्डिका में उन्हीं से सत, रज, तम आदि गुणों एवं मूल क्रियाशील तत्त्व 'आपः' की उत्पत्ति तथा उससे सृष्टि के विकास का वर्णन है। सातवीं कण्डिका में उपनिषद् के अध्ययन का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा ꣳ सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न ऽ इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे देव ! हम कानों से कल्याणकारी बातें सुनें, आँखों से कल्याणकारी (दृश्य) देखें, हम हृष्ट-पुष्ट अंगों और शरीर से ईश्वर द्वारा प्रदत्त पूरी आयु देवहित कार्यों में बिताएँ। महान् कीर्ति सम्पन्न देवराज इन्द्र हमारा कल्याण करें। सर्वज्ञाता पूषा देवता हमारा कल्याण करें। अरिष्टनेमि (जिसकी गति अवरुद्ध न की जा सके), तार्क्ष्य (गरुड़) तथा बृहस्पतिदेव हमारा कल्याण करें। त्रिविध तापों की शान्ति हो।

देवा ह वै स्वर्गं लोकमायँस्ते देवा रुद्रमपृच्छन्को भवानिति। सोऽब्रवीदहमेकः प्रथममासं वर्तामि च भविष्यामि च नान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्त इति। सोऽन्तरादन्तरं प्राविशत् दिशश्चान्तरं प्राविशत् सोऽहं नित्यानित्योऽहं व्यक्ताव्यक्तो ब्रह्माहमब्रह्माहं प्राञ्चः प्रत्यञ्चोऽहं दक्षिणाञ्च उदञ्चोऽहं अधश्चोर्ध्वं चाहं दिशश्च प्रतिदिशश्चाहं पुमानपुमान् स्त्रियश्चाहं गायत्र्यहं सावित्र्यहं सरस्वत्यहं त्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप् चाहं छन्दोऽहं गार्हपत्यो दक्षिणाग्निराहवनीयोऽहं सत्योऽहं गौरहं गौर्यहमृगहं यजुरहं सामाहमथर्वाङ्गिरसोऽहं ज्येष्ठोऽहं श्रेष्ठोऽहं वरिष्ठोऽहमापोऽहं तेजोऽहं गुह्योऽहमरण्योऽहमक्षरमहं क्षरमहं पुष्करमहं पवित्रमहमग्रं च मध्यं च बहिश्च पुरस्ताज्ज्यो-तिरित्यहमेव सर्वं मामेव स सर्वं स मां यो मां वेद स देवान्वेद स सर्वांश्च वेदान्साङ्गानपि ब्रह्म ब्राह्मणैश्च गां गोभिर्ब्राह्मणान्ब्राह्मण्येन हविर्हविषा आयुरायुषा सत्येन सत्यं धर्मेण धर्मं तर्पयामि स्वेन तेजसा। ततो ह वै ते देवा रुद्रमपृच्छन् ते देवा रुद्रमपश्यन्। ते देवा रुद्रमध्यायंस्ततो देवा ऊर्ध्वबाहवो रुद्रं स्तुन्वन्ति॥ १॥

एक समय देवताओं ने स्वर्गलोक में जाकर रुद्र से पूछा- आप कौन हैं ? रुद्र ने उत्तर दिया- मैं एक हूँ, भूतकाल हूँ, वर्तमान काल हूँ और भविष्यत्काल भी मैं ही हूँ। मेरे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जो अन्तर के भी अन्तर में विद्यमान है, जो समस्त दिशाओं में सन्निविष्ट है, वह मैं ही हूँ। मैं ही नित्य और अनित्य, व्यक्त और अव्यक्त, ब्रह्म और अब्रह्म हूँ। मैं ही प्राची (पूर्व) और प्रतीची (पश्चिम), उत्तर और दक्षिण, ऊर्ध्व और अधः आदि दिशाएँ तथा विदिशाएँ हूँ। पुमान् (पुरुष), अपुमान् (अपुरुष) और स्त्री भी मैं ही हूँ। मैं ही गायत्री, सावित्री और सरस्वती हूँ। त्रिष्टुप्, जगती और अनुष्टुप् आदि छन्द भी मैं ही हूँ। मैं गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय अग्नि हूँ। मैं सत्य, गौ, गौरी, ज्येष्ठ, श्रेष्ठ और वरिष्ठ हूँ। आपः और तेजस् भी मैं ही हूँ। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद भी मैं ही हूँ। अक्षर-क्षर, गोप्य (छिपाने योग्य) और गुह्य (छिपाया हुआ) भी मैं हूँ। अरण्य, पुष्कर (तीर्थ), पवित्र मैं हूँ। अग्र, मध्य, बाह्य और पुरस्ताद् (पूर्व) आदि दसों दिशाओं में अवस्थित और अनवस्थित ज्योतिरूप शक्ति मुझे ही मानना चाहिए और सब कुछ मुझमें ही व्याप्त जानना चाहिए। इस प्रकार जो मुझे जानता है, वह समस्त देवों और अङ्गों सहित समस्त वेदों को जानता है। मैं गौओं को गोत्व से, ब्राह्मणों को ब्राह्मणत्व से, हवि को हविष्य से, आयु को आयुष्य से, सत्य को सत्यता से, धर्म को धर्म तत्त्व से तृप्त करता हूँ। यह सुनकर देवगणों ने रुद्र को देखा और उनका ध्यान करने लगे। तत्पश्चात् भुजाएँ उठाकर इस प्रकार स्तुति की॥ १॥

ॐ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च ब्रह्मा तस्मै वै नमो नमः॥ १॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च विष्णुस्तस्मै वै नमो नमः॥ २॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च स्कन्दस्तस्मै वै नमो नमः॥ ३॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्चेन्द्रस्तस्मै वै नमो नमः॥ ४॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्चाग्निस्तस्मै वै नमो नमः॥ ५॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च वायुस्तस्मै वै नमो नमः॥ ६॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च सूर्यस्तस्मै वै नमो नमः॥ ७॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च सोमस्तस्मै वै नमो नमः॥ ८॥ यो वै रुद्रः स भगवान्ये चाष्टौ ग्रहास्तस्मै वै नमो नमः॥ ९॥ यो वै रुद्रः स भगवान्ये चाष्टौ प्रतिग्रहास्तस्मै वै नमो नमः॥ १०॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च भूस्तस्मै वै नमो नमः॥ ११॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च भुवस्तस्मै वै नमो नमः॥ १२॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ १३॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च महस्तस्मै वै नमो नमः॥ १४॥ यो वै रुद्रः स भगवान्या च पृथिवी तस्मै वै नमो नमः॥ १५॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्चान्तरिक्षं तस्मै वै नमो नमः॥ १६॥ यो वै रुद्रः स भगवान्या च द्यौस्तस्मै वै नमो नमः॥ १७॥ यो वै रुद्रः स भगवान्याश्चापस्तस्मै वै नमो नमः॥ १८॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च तेजस्तस्मै वै नमो नमः॥ १९॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्चाकाशं तस्मै वै नमो नमः॥ २०॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च कालस्तस्मै वै नमो नमः॥ २१॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च यमस्तस्मै वै नमो नमः॥ २२॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च मृत्युस्तस्मै वै नमो नमः॥ २३॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्चामृतं तस्मै वै नमो नमः॥ २४॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च विश्वं तस्मै वै नमो नमः॥ २५॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च स्थूलं तस्मै वै नमो नमः॥ २६॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च सूक्ष्मं तस्मै वै नमो नमः॥ २७॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च शुक्लं तस्मै वै नमो नमः॥ २८॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च कृष्णं तस्मै वै नमो नमः॥ २९॥ यो वै रुद्रः स

भगवान्यच्च कृत्स्नं तस्मै वै नमो नमः ॥ ३० ॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च सत्यं तस्मै वै नमो नमः ॥ ३१ ॥ यो वै रुद्रः स भगवान्यच्च सर्वं तस्मै वै नमो नमः ॥ ३२ ॥॥ २ ॥

हे भगवान् रुद्र ! आप ब्रह्मा स्वरूप हैं, आपको नमन है। हे भगवान् रुद्र ! आप विष्णु स्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। हे भगवान् रुद्र ! आप स्कन्द रूप हैं, आपको नमन है। आप इन्द्र स्वरूप, अग्नि स्वरूप, वायु स्वरूप और सूर्य स्वरूप हैं, आपको नमन है। हे भगवान् रुद्र ! आप सोम स्वरूप हैं, अष्टग्रह स्वरूप, प्रतिग्रह स्वरूप हैं, आपको नमस्कार है। आप भूः स्वरूप, भुवः स्वरूप, स्वः स्वरूप और महः स्वरूप हैं, आपको नमन है। हे रुद्र भगवान् ! आप पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौ, आपः और आकाश रूप हैं, आपको नमस्कार है। हे रुद्र भगवान् ! आप विश्वरूप, स्थूलरूप, सूक्ष्मरूप, कृष्ण और शुक्ल स्वरूप हैं, आपको नमन है। आप सत्यरूप और सर्वस्वरूप हैं, आपको बारम्बार नमन है॥ २ ॥

भूस्ते आदिर्मध्यं भुवस्ते स्वस्ते शीर्षं विश्वरूपोऽसि ब्रह्मैकस्त्वं द्विधा त्रिधा बद्धस्त्वं शान्तिस्त्वं पुष्टिस्त्वं हुतमहुतं दत्तमदत्तं सर्वमसर्वं विश्वमविश्वं कृतमकृतं परमपरं परायणं च त्वम्। अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्। किं नूनमस्मान्कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृतं मर्त्यस्य च।

हे रुद्र भगवान् ! भूः, भुवः और स्वः लोक क्रमशः आपके नीचे, मध्य और शीर्ष के लोक हैं। आप विश्वरूप हैं और एक मात्र ब्रह्म हैं; किन्तु भ्रमवश दो और तीन संख्या वाले प्रतीत होते हैं। आप वृद्धि स्वरूप, शान्तिस्वरूप, पुष्टिरूप, हुत-अहुतरूप, दत्तरूप-अदत्तरूप,सर्वरूप-असर्वरूप, विश्व-अविश्वरूप, कृतरूप-अकृतरूप, पर-अपररूप और परायणरूप हैं। आपने हमें (देवों को) अमृत स्वरूप सोमपान कराकर अमृतत्व प्रदान किया है। हम ज्योति स्वरूप होकर ज्ञान को प्राप्त हुए हैं। अब कामादि शत्रु हमें क्षति नहीं पहुँचा सकते। आप मर्त्यों (मनुष्यों) के लिए अमृत तुल्य हैं।

[सोम स्थूल ही नहीं, सूक्ष्म दिव्य ज्ञान रूप भी है। सोम रूप ज्ञान को आत्मसात् करके साधक स्वयं ज्योतित हो जाता है। तब दिव्य ज्ञान के साथ स्वाभाविक रूप से योग होता है और कामादि विकार प्रभावी नहीं हो पाते।]

सोमसूर्य पुरस्तात् सूक्ष्मः पुरुषः। सर्वं जगद्धितं वा एतदक्षरं प्राजापत्यं सौम्यं सूक्ष्मं पुरुषमग्राह्यमग्राह्येण भावं भावेन सौम्यं सौम्येन सूक्ष्मं सूक्ष्मेण वायव्यं वायव्येन ग्रसति स्वेन तेजसा तस्मा उपसंहर्त्रे महाग्रासाय वै नमो नमः।हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः।

हे देव ! आप सोम (चन्द्र) और सूर्य से भी पूर्व उत्पन्न सूक्ष्म पुरुष हैं। आप सम्पूर्ण जगत् का हित करने वाले, अक्षर रूप, प्राजापत्य (प्रजापतियों द्वारा स्तुत्य), सूक्ष्म, सौम्य पुरुष हैं, जो अपने तेज से अग्राह्य को अग्राह्य से, भाव को भाव से, सौम्य को सौम्य से, सूक्ष्म को सूक्ष्म से, वायु को वायु से ग्रस लेते हैं, ऐसे महाग्रास करने वाले आप (रुद्र भगवान्) को नमस्कार है। सभी हृदयों में देवगण, प्राण और आप विराजते हैं।

[मनुष्य के अन्तस् में जीवन ऊर्जारूप प्राणों, दिव्य संवेदना रूप देवगणों तथा आत्म चेतन रूप में परमात्मा का आवास ऋषि अनुभव करते हैं। उन्हें उनसे सम्बन्धित अनुशासनों के माध्यम से सक्रिय एवं फलित किया जा सकता है।]

हृदि त्वमसि यो नित्यं तिस्रो मात्राः परस्तु सः। तस्योत्तरतः शिरो दक्षिणतः पादौ य उत्तरतः स ओङ्कारः य ओङ्कारः स प्रणवो यः प्रणवः स सर्वव्यापी यः सर्वव्यापी सोऽनन्तो योऽनन्तस्तत्तारं यत्तारं तत्सूक्ष्मं यत्सूक्ष्मं तच्छुक्लं यच्छुक्लं तद्वैद्युतं यद्वैद्युतं तत्परं ब्रह्म यत्परं ब्रह्म स एकः य एकः स रुद्रो यो रुद्रः स ईशानो य ईशानः स भगवान् महेश्वरः॥ ३ ॥

. हृदय में विराजते हुए (वह) आप तीनों मात्राओं (अ, उ, म्) से परे हैं। (हृदय के) उत्तर में उसका सिर है, दक्षिण में पाद हैं, जो उत्तर में विराजमान है, वही ओंकार है। ओंकार को ही 'प्रणव' कहते हैं और प्रणव ही सर्वव्यापी है। वह सर्वव्यापी प्रणव ही अनन्त है। जो अनन्त है, वही तारक स्वरूप है। जो तारक है, वही सूक्ष्म स्वरूप है। जो सूक्ष्म स्वरूप है, वही शुक्ल है। जो शुक्ल (प्रकाशित) है, वही विद्युत् (विशेष रूप से द्युतिमान्) है। जो विद्युत् है, वही परब्रह्म है। जो परब्रह्म है, वही एक रूप है। जो एक रूप है, वही रुद्र है। जो रुद्र है, वही ईशानरूप है। जो ईशान है, वही भगवान् महेश्वर है॥ ३॥

[ऋषि यहाँ 'स्व'-जीव चेतना, ईश- नियामक चेतना तथा महेश्वर-परमात्म चेतना तीनों की एकरूपता का आभास करा रहे हैं।]

अथ कस्मादुच्यत ओङ्कारो यस्मादुच्चार्यमाण एव प्राणानूर्ध्वमुत्क्रामयति तस्मादुच्यते ओङ्कारः। अथ कस्मादुच्यते प्रणवः यस्मादुच्चार्यमाण एव ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसो ब्रह्म ब्राह्मणेभ्यः प्रणामयति नामयति च तस्मादुच्यते प्रणवः। अथ कस्मादुच्यते सर्वव्यापी यस्मादुच्चार्यमाण एव सर्वान् लोकान् व्याप्नोति स्नेहो यथा पललपिण्डमिव शान्तरूपमोतप्रोतमनुप्राप्तो व्यतिषिक्तश्च तस्मादुच्यते सर्वव्यापी। अथ कस्मादुच्यतेऽनन्तो यस्मादुच्चार्यमाण एव तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्चास्यान्तो नोपलभ्यते तस्मादुच्यतेऽनन्तः। अथ कस्मादुच्यते तारं यस्मादुच्चार्यमाण एव गर्भजन्मव्याधिजरामरणसंसारमहाभयात्तारयति त्रायते च तस्मादुच्यते तारम्। अथ कस्मादुच्यते शुक्लं यस्मादुच्चार्यमाण एव क्लन्दते क्लामयते च तस्मादुच्यते शुक्लम्। अथ कस्मादुच्यते सूक्ष्मं यस्मादुच्चार्यमाण एव सूक्ष्मो भूत्वा शरीराण्यधितिष्ठति सर्वाणि चाङ्गान्यभिमृशति तस्मादुच्यते सूक्ष्मम्। अथ कस्मादुच्यते वैद्युतं यस्मादुच्चार्यमाण एवाव्यक्ते महति तमसि द्योतयते तस्मादुच्यते वैद्युतम्। अथ कस्मादुच्यते परं ब्रह्म यस्मात्परमपरं परायणं च बृहद्बृहत्या बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म। अथ कस्मादुच्यते एको यः सर्वान्प्राणान्संभक्ष्य संभक्षणेनाजः संसृजति विसृजति च। तीर्थमेके व्रजन्ति तीर्थमेके दक्षिणाः प्रत्यञ्च उदञ्चःप्राञ्चोऽभिव्रजन्त्येके तेषां सर्वेषामिह संगतिः। साकं स एको भूतश्चरति प्रजानां तस्मादुच्यत एकः। अथ कस्मादुच्यते रुद्रः यस्मादृषिभिर्नान्यैर्भक्तैर्द्रुतमस्य रूपमुपलभ्यते तस्मादुच्यते रुद्रः। अथ कस्मादुच्यते ईशानः यःसर्वान्देवानीशते ईशनीभिर्जननीभिश्च परम शक्तिभिः। अभि त्वा शूर नोनुमो दुग्धा इव धेनवः। ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुष इति तस्मादुच्यत ईशानः। अथ कस्मादुच्यते भगवान्महेश्वरः यस्माद्भक्ताज्ञानेन भजन्त्यनुगृह्णाति च वाचं संसृजति विसृजति च सर्वान्भावान्परित्यज्यात्मज्ञानेन योगैश्वर्येण महति महीयते तस्मादुच्यते भगवान्महेश्वरः। तदेतद्रुद्रचरितम्॥ ४॥

ॐकार किस कारण से कहा जाता है? यह इसलिए कहा जाता है कि ॐकार उच्चारित करने में श्वास (प्राणों) को ऊपर की ओर खींचना पड़ता है। प्रणव इसलिए कहा जाता है कि इसका उपयोग (उच्चारण) ऋक्, यजुः, साम, अथर्वाङ्गिरस और ब्राह्मणों को प्रणाम करने के लिए किया जाता है। इसीलिए इसका नाम 'प्रणव' ऐसा हुआ है। इसे सर्वव्यापी क्यों कहा जाता है? इसलिए कि जिस प्रकार तिल में तेल विद्यमान (संव्याप्त) है, उसी प्रकार यह अव्यक्त रूप से सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त है, इसी कारण 'सर्वव्यापी' ऐसा कहा

जाता है। इसका नाम अनन्त इसलिए है कि इस 'शब्द' का उच्चारण करते हुए ऊपर-नीचे और तिरछे कहीं भी इसका अन्त प्रतीत नहीं होता। 'तारक' नाम इसलिए दिया गया है कि यह गर्भ, जन्म, व्याधि, वृद्धावस्था और मरण से युक्त संसार के भय से तारने वाला है। इसका नाम 'शुक्ल' इसलिए है कि यह स्व प्रकाशित है, अन्यों के लिए प्रकाशक है। इसे 'सूक्ष्म' इस कारण कहा जाता है कि इसका उच्चारण करने पर यह सूक्ष्म स्वरूप होकर स्थावर आदि सभी शरीरों में अधिष्ठित होता है। इसे 'वैद्युत' कहने का कारण यह है कि इसका उच्चारण करने से घोर अन्धकार (अज्ञान) की स्थिति में भी समग्र काया (स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि) विशेष रूप से द्युतिमान् हो जाती है। परब्रह्म कहने का कारण यह है कि वह पर, अपर और परायण (इन तीनों) बृहत् (व्यापक घटकों) को बृहत्या (विशालता के माध्यम से) व्यापक बनाता है।

[ऋषि द्वारा परमात्म-सत्ता को परब्रह्म कहने का तात्पर्य प्रकट किया गया है- पर+ब्रह्म के संयोग से परब्रह्म बना है। जो पर (अव्यक्त) है तथा जो अपर (व्यक्त) है, वे एक दूसरे के परायण-एक दूसरे के प्रति जागरूक-परस्पर पूरक हैं। इस भाव को प्रथम पद 'पर' से प्रकट किया गया है। जो बृहत्-विशाल है तथा विशालता (संकीर्णता से मुक्तभाव) से सभी घटकों को व्यापकता प्रदान करता है, उसके लिए दूसरा पद 'ब्रह्म' प्रयुक्त किया गया है।]

इसे (ब्रह्म को) एक इसलिए कहा जाता है कि यह समस्त प्राणों का भक्षण करके 'अज' स्वरूप होकर उत्पत्ति और संहार करता है। समस्त तीर्थों में वह 'एक' ही (तत्त्व) विद्यमान है। अनेक लोग पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण के विभिन्न तीर्थों में परिभ्रमण करते हैं। वहाँ भी उनकी सद्गति का कारण वह एक ही (तत्त्व) है। समस्त प्राणियों में एक रूप में निवास करने के कारण उस तत्त्व को 'एक' कहते हैं। 'रुद्र' इसलिए कहा जाता है कि इसके स्वरूप का ज्ञान ऋषियों को सहज ही हो सकता है। सामान्य जनों को इसका ज्ञान हो सकना कठिन है। 'ईशान' क्यों कहते हैं, इसलिए कि वह समस्त देवों और उनकी शक्तियों पर अपना प्रभुत्व (ईशत्व) रखता है। (सो हे रुद्र!) आप शूर की हम उसी प्रकार स्तुति करते हैं, जिस प्रकार दुग्ध प्राप्त करने के लिए गौ को प्रसन्न किया जाता है। (हे रुद्र!) आप ही इन्द्र रूप होकर स्थावर-जंगम संसार के ईश और दिव्य दृष्टि सम्पन्न हैं, इसी कारण आपको 'ईशान' नाम से सम्बोधित किया जाता है। आपको भगवान् महेश्वर क्यों कहते हैं? इसलिए कि जो भक्तजन ज्ञान पाने के लिए आपका भजन करते हैं और आप उन पर कृपा-वर्षण करते हैं, वाक् शक्ति का प्रादुर्भाव करते हैं, साथ ही समस्त भावों का परित्याग करके आत्मज्ञान और योग के ऐश्वर्य से अपनी महिमा में स्थित रहते हैं, इसीलिए आपको 'महेश्वर' कहा जाता है। इस प्रकार इस रुद्र के चरित का वर्णन हुआ॥ ४॥

एषो ह देवः प्रदिशो नु सर्वाःपूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः। एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्मै य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः। प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपा। यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको येनेदं संचरति विचरति सर्वम्। तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति। क्षमां हित्वा हेतुजालस्य मूलं बुद्ध्या संचितं स्थापयित्वा तु रुद्रे रुद्रमेकत्वमाहुः। शाश्वतं वै पुराणमिषमूर्जेन पशवोऽनुनामयन्तं मृत्युपाशान्। तदेतेनात्मन्नेतेनार्ध-चतुर्थमात्रेण शान्तिं संसृजति पाशविमोक्षणम्। या सा प्रथमा मात्रा ब्रह्मदेवत्या रक्ता वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेद्ब्राह्मं पदम्। या सा द्वितीया मात्रा विष्णुदेवत्या कृष्णा वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेद्वैष्णवं पदम्। या सा तृतीया मात्रा ईशानदेवत्या कपिला वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेदैशानं पदम्। या साऽर्धचतुर्थी मात्रा सर्वदेवत्याऽव्यक्तीभूता खं

विचरति शुद्धस्फटिकसन्निभा वर्णेन यस्तां ध्यायते नित्यं स गच्छेत्पदमनामयम् तदेतमुपासीत मुनयोऽर्वाग्वदन्ति न तस्य ग्रहणमयं पन्था विहित उत्तरेण येन देवा यान्ति येन पितरो येन ऋषयः परमपरं परायणं चेति। बालाग्रमात्रं हृदयस्य मध्ये विश्वं देवं जातरूपं वरेण्यम्। तमात्मस्थं ये नु पश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिर्भवति नेतरेषाम्। यस्मिन्क्रोधं यां च तृष्णां क्षमां च तृष्णां हित्वा हेतुजालस्य मूलम्। बुद्ध्या संचितं स्थापयित्वा तु रुद्रे रुद्रमेकत्वमाहुः। रुद्रो हि शाश्वतेन वै पुराणेनेषमूर्जेण तपसा नियन्ता। अग्निरिति भस्म वायुरिति भस्म जलमिति भस्म स्थलमिति भस्म व्योमेति भस्म सर्वꣳह वा इदं भस्म मन एतानि चक्षूंषि भस्मानि यस्माद्व्रतमिदं पाशुपतं यद्भस्मनाङ्गानि संस्पृशेत्तस्माद्ब्रह्म तदेतत्पाशुपतं पशुपाशविमोक्षणाय॥ ५॥

एक ही ऐसा देवता है, जो समस्त दिशाओं में निवास करता है। सर्वप्रथम उसी का आविर्भाव हुआ। वही मध्य और अन्त में स्थित है। वही उत्पन्न होता है और आगे भी उत्पन्न होगा। प्रत्येक में वही संव्याप्त हो रहा है। अन्य कोई नहीं, केवल एक रुद्र ही इस लोक का नियमन (नियंत्रण) कर रहा है। समस्त प्राणी उसी के अन्दर निवास करते हैं और अन्ततः सबका उसी में विलय भी होता है। विश्व का उद्भव और संरक्षण-कर्त्ता भी वही है, जो समस्त जीवों में संव्याप्त हो रहा है और समस्त प्राणी जिसमें संव्याप्त हो रहे हैं, उस 'ईशान' देव के ध्यान से मनुष्य को परम शान्ति का लाभ मिल सकता है। समस्त प्रपञ्चों के हेतु भूत-अज्ञान का परित्याग करके संचित कर्मों को बुद्धि के द्वारा रुद्र में अर्पित करके परमात्मा का एकत्व प्राप्त होता है।

जो शाश्वत और पुराण पुरुष अपनी सामर्थ्य से अन्न आदि प्रदान करके प्राणियों को मृत्युपाश से मुक्त करता है। वही आत्मज्ञान प्रदान करने वाला ॐ चतुर्थ मात्रा से शान्ति प्रदाता और बन्धन मुक्ति प्रदाता है। उन रुद्रदेव की प्रथम मात्रा ब्रह्मा की है, जो लाल वर्ण की है, उसके नियमित ध्यान से ब्रह्मपद प्राप्त होता है। दूसरी मात्रा विष्णु की है, जो कृष्ण वर्ण की है, उसके नियमित ध्यान से विष्णु पद की प्राप्ति होती है। तृतीय मात्रा ईशान की है, जिसका वर्ण पीला है, उसका ध्यान करने से ईशान पद की प्राप्ति होती है। जो अर्ध चतुर्थ मात्रा है, वह समस्त देवों के रूप में अव्यक्त होकर आकाश में विचरण करती है, वह शुद्ध स्फटिक मणि के वर्ण की है, जिसके ध्यान से मुक्ति प्राप्त होती है। मनीषियों का कहना है कि इस अर्ध मात्रा की उपासना ही उचित है; क्योंकि इससे कर्मों के बन्धन कट जाते हैं। इस उत्तरायण (उत्तरी मार्ग) से ही देव, पितर और ऋषिगण गमन करते हैं। यही पर, अपर तथा परायण मार्ग है। बाल के अग्रभाग के तुल्य, सूक्ष्म रूप से हृदय में निवास करने वाले, विश्वरूप, देवरूप, समस्त उत्पन्न हुए लोगों को जानने वाले श्रेष्ठ परमात्मा को जो ज्ञानी जन अपने अन्दर देखते हैं, वे ही शान्ति प्राप्त करते हैं, अन्य किसी को वह शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। तृष्णा, क्रोध आदि हेतु समूह के मूल का परित्याग करके संचित कर्मों का बुद्धिपूर्वक रुद्र में स्थापन करने से रुद्र से एकत्व प्राप्त होता है। रुद्र ही शाश्वत और पुराण (प्राचीन) हैं। अस्तु, वे अपनी शक्ति और तप से सबके नियंत्रक हैं। अग्नि, वायु, जल, स्थल (भूमि) और आकाश ये सभी भस्म रूप हैं। भगवान् पशुपति (बंधन से बँधे प्राणियों के स्वामी) की भस्म का जिसके अङ्ग में स्पर्श नहीं हुआ, वह भी भस्म के समान ही है। इस प्रकार पशुपति रुद्र की ब्रह्मरूप-भस्म पशु (प्राणियों) के बन्धनों को काटने वाली है॥ ५॥

[पदार्थ अपने रूप में इसलिए रहता है कि उसमें कणों को जोड़े रहने वाली प्रवृत्ति (वाइन्डिंग टैण्डेन्सी) सक्रिय होती है। भस्म बनने पर उसका वह रूप समाप्त हो जाता है; क्योंकि उसकी वह बाँधे रहने वाली क्षमता समाप्त हो जाती है। पशुपति के रूप में वही आदि सत्ता जीव को काया के साथ बाँधे रहती है तथा ब्रह्मरूप में वही सत्ता बाँधे रहने की प्रवृत्ति से मुक्त रहती है, इसीलिए परब्रह्म को रूप, गुण के बन्धन से मुक्त भस्मरूप कहा गया है।]

योऽग्नौ रुद्रो योऽप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश। य इमा विश्वा भुवनानि चक्लृपे तस्मै रुद्राय नमोऽस्त्वग्नये। यो रुद्रोऽग्नौ यो रुद्रोप्स्वन्तर्यो रुद्र ओषधीर्वीरुध आविवेश। यो रुद्र इमा विश्वा भुवनानि चक्लृपे तस्मै रुद्राय वै नमो नमः। यो रुद्रोऽप्सु यो रुद्र ओषधीषु यो रुद्रो वनस्पतिषु। येन रुद्रेण जगदूर्ध्वं धारितं पृथिवी द्विधा त्रिधाधर्ता धारिता नागा येऽन्तरिक्षे तस्मै रुद्राय वै नमो नमः। मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्। मस्तिष्कादूर्ध्वं प्रेरयन् पवमानोऽधि शीर्षतः। तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुज्झितः। तत्प्राणोऽभिरक्षति शिरोऽन्तमथो मनः। न च दिवो देवजनेन गुप्ता नचान्तरिक्षाणि न च भूम इमाः। यस्मिन्निदं सर्वमोतप्रोतं यस्मादन्यन्न परं किंचनास्ति। न तस्मात्पूर्वं न परं तदस्ति न भूतं नोत भव्यं यदासीत्। सहस्त्रपादेकमूर्ध्दा व्याप्तं स एवेदमावरीवर्ति भूतम्। अक्षरात्संजायते कालः कालाद्व्यापक उच्यते। व्यापको हि भगवान्रुद्रो भोगायमानो यदा शेते रुद्रस्तदा संहार्यते प्रजाः। उच्छ्वसिते तमो भवति तमस आपोऽप्स्वङ्गुल्या मथिते मथितं शिशिरे शिशिरं मथ्यमानं फेनो भवति, फेनादण्डं भवत्यण्डाद्ब्रह्मा भवति, ब्रह्मणो वायुः वायोरोंकार ॐकारात्सावित्री सावित्र्या गायत्री गायत्र्या लोका भवन्ति। अर्चयन्ति तपः सत्यं मधु क्षरन्ति यद्ध्रुवम्। एतद्धि परमं तप आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरों नम इति ॥ ६ ॥

जो रुद्र, अग्नि और जल में निवास करते हैं। वे ही ओषधियों और वनस्पतियों में भी प्रविष्ट हो गये हैं। जिनके द्वारा यह समस्त विश्व उत्पन्न हुआ है, उन अग्नि रूप रुद्र को नमन है। जो रुद्रदेव, अग्नि, ओषधियों तथा वनस्पतियों में वास करते हैं और जिनके द्वारा विश्व और समस्त भुवनों का सृजन किया जाता है, उन्हें नमस्कार है। जो रुद्रदेव जल, वनस्पतियों और ओषधियों में विराजमान हैं, जिनके द्वारा यह समस्त जगत् धारण किया गया है, जो रुद्र द्विधा (शिव और शक्ति) तथा त्रिधा (सत्, रज, तम) से इस पृथिवी को संचालित करते हैं, जिनने नागों (बादलों) को अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित कर रखा है, उन्हें नमन है। भगवान् रुद्र की प्रणवरूप मूर्धा की उपासना करने वाले अथर्वा की उच्च स्थिति प्राप्त करते हैं और उपासना न करने वाले निम्न स्थिति में ही रहते हैं। समस्त देवताओं का सामूहिक स्वरूप रुद्र भगवान् का सिर ही है। उनका प्राण मन और मस्तक का रक्षक है। पृथिवी, आकाश अथवा स्वर्ग का संरक्षण करने में देवता स्वयं समर्थ नहीं हैं। सभी कुछ रुद्र भगवान् में ही समाहित है, उनसे परे कुछ भी नहीं है, उनसे पूर्व भी कुछ नहीं था। उनसे पूर्व भूतकाल में और उनसे आगे (भविष्यत्काल) में भी कुछ नहीं है। सहस्त्रपद और एक मस्तक वाले रुद्र समस्त भूतों में संव्याप्त हैं।

[रुद्र का संकल्प निर्धारण एक ही है। अस्तु, उन्हें एक सिर वाला कहा गया है। उनकी गतिशीलता के हजारों पक्ष हैं, इसलिए उन्हें सहस्त्रपाद कहा गया है।]

अक्षर से काल की उत्पत्ति होती है और काल से वह व्यापक कहलाता है। व्यापक और शोभायमान रुद्र जब शयन करने लगते हैं, तब समस्त प्रजा (प्राणि समुदाय) का संहार हो जाता है। जब भगवान् रुद्र श्वास लेते हैं, तो तम उत्पन्न हो जाता है। तम से आपः तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है। उस आपः को (रुद्र द्वारा) अपनी अङ्गुली द्वारा मथे जाने पर शिशिर (आपः तत्त्व का जमा हुआ गाढ़ा रूप) उत्पन्न होता है। उस शिशिर के मथे जाने पर फेन उत्पन्न होता है, फेन से अण्डा और अण्डे से ब्रह्मा का प्रादुर्भाव होता है। तत्पश्चात् ब्रह्मा से वायु और वायु से ओंकार, ओंकार से सावित्री प्रकट होती हैं। सावित्री से गायत्री और गायत्री से लोकों का उद्भव

होता है। जब वे (रुद्र) तप करते हैं, तब सत्यरूपी मधु क्षरित होता है, जो शाश्वत होता है। यह परम तप है। आपः, ज्योतिः, रस, अमृत, ब्रह्म, भूः, भुवः और स्वः रूप परब्रह्म को नमस्कार है॥ ६॥

[इस कण्डिका में आपः का अर्थ जल करना उचित नहीं है। वेद में आपः को सृष्टि का मूल क्रियाशील तत्त्व कहा गया है। आपः की उसी अवधारणा से मन्त्र का भाव स्पष्ट होता है। इसी प्रकार शिशिर का अर्थ ऋतु विशेष यहाँ उचित नहीं है। शिशिर का अर्थ जमा हुआ भी होता है, इसी भाव से मन्त्रार्थ स्पष्ट होता है। गाढ़े आपः तत्त्व को मथने से फेन अर्थात् फूला हुआ पदार्थ पैदा होता है। वेद और विज्ञान दोनों इस तथ्य से सहमत हैं कि प्रारम्भिक मूल पदार्थ का घनत्व अत्यधिक था। उसे फुलाकर हलका करने पर ही वह सृष्टि के योग्य बना। ब्रह्माण्ड फेन रूप ही है। इसी प्रकार अण्ड का अर्थ अण्डा नहीं ब्रह्माण्ड ही उचित है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत सृजनशील 'ब्रह्मा' का विकास होता है, तब दृश्य सृष्टि बनती है। वायु से ओंकार की उत्पत्ति भी विवेक सम्मत है। ओंकार एक ध्वनि विशेष है। ध्वनि की उत्पत्ति वायु से ही होती है। इसी क्रम से ऋषि ने सृष्टि के विकास के चरण स्पष्ट किये हैं।]

य इदमथर्वशिरो ब्राह्मणोऽधीते अश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति अनुपनीत उपनीतो भवति सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स सूर्यपूतो भवति स सोमपूतो भवति स सत्यपूतो भवति स सर्वपूतो भवति स सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति स सर्वैर्वेदैरनुध्यातो भवति स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति तेन सर्वैः क्रतुभिरिष्टं भवति गायत्र्याः षष्टिसहस्राणि जप्तानि भवन्ति इतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि भवन्ति। प्रणवानामयुतं जप्तं भवति। आ चक्षुषः पङ्क्तिं पुनाति। आ सप्तमात्पुरुषयुगान्पुनातीत्याह भगवानथर्वशिरः सकृज्जप्त्वैव शुचिः स पूतः कर्मण्यो भवति। द्वितीयं जप्त्वा गणाधिपत्यमवाप्नोति। तृतीयं जप्त्वैवमेवानुप्रविशत्यों सत्यमों सत्यम्॥ ७॥

जो ब्राह्मण इस अथर्वशिर उपनिषद् का अध्ययन करता है, वह श्रोत्रिय न हो, तो भी श्रोत्रिय हो जाता है। अनुपवीत व्यक्ति, उपवीत सम्पन्न हो जाता है। वह अग्नि के समान, वायु के समान, सूर्य के समान, सोम के समान और सत्य के समान पवित्र हो जाता है। वह समस्त देवों का ज्ञाता, समस्त वेदों का अध्येता और समस्त तीर्थों का स्नातक हो जाता है, वह समस्त यज्ञों के पुण्य का फल तथा साठ हजार गायत्री मन्त्र के जप का फल प्राप्त करता है। उसे इतिहास और पुराणों के अध्ययन का, एक लक्ष रुद्र के जप का तथा दस हजार प्रणव के जप का प्रतिफल प्राप्त होता है। उसका दर्शन पाकर लोग पवित्र हो जाते हैं। वह अपने पूर्व की सात पीढ़ियों का उद्धार कर देता है। भगवान् ने कहा कि अथर्वशिर के एक बार के जप से साधक पवित्र होकर कल्याण कर्म का अधिकारी बन जाता है। दूसरी बार जप करने से गाणपत्य पद प्राप्त करता है तथा तृतीय बार जप करने से वह सत्यरूप ओंकार में प्रविष्ट हो जाता है। यह सत्यरूप ओंकार ही (त्रिकाल) सत्य है॥ ७॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः.....इति शान्तिः॥

॥ इति अथर्वशिर उपनिषत्समाप्ता॥

॥ अध्यात्मोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें अपने नाम के अनुरूप आत्म तत्त्व के साक्षात्कार का विषय प्रतिपादित है। अज (अजन्मा) रूप में यह सभी चराचर घटकों में संव्याप्त है; किन्तु वे (प्राणी) इसे नहीं जानते। यह समझाते हुए 'सोऽहम्' एवं 'तत्त्वमसि' आदि सूत्रों के आधार पर शरीर और विकारों से ऊपर उठकर आत्म साधना में रत रहने का निर्देशन किया गया है। स्वप्न-सुषुप्ति आदि स्थितियों से ऊपर उठते हुए निर्विकल्प समाधि अवस्था में परमात्म तत्त्व से एक रस होने की बात कही गयी है। इस समाधि अवस्था को 'धर्ममेघ' कहकर उसी में सभी वृत्तियों को लीन करके मुक्ति अवस्था पाने का सुझाव दिया गया है। जीवन्मुक्त अवस्था का वर्णन करते हुए उस स्थिति में प्रारब्ध कर्म के भी समाप्त हो जाने की बात समझायी गयी है; लेकिन यह स्पष्ट कर दिया गया है कि उक्त अवस्था पाने के पूर्व किए गये कर्मों का प्रारब्ध फल अवश्य भोगना पड़ता है। इन्द्रिय वृत्तियों की तरह प्रारब्ध कर्म भी केवल देहाभिमानियों को ही बाँधते हैं। गुरु-अनुशासन का अनुगमन करके शिष्य को ऐसी अवस्था प्राप्त होने पर उसका क्या प्रतिफल प्राप्त होता है, इसका वर्णन करते हुए इस औपनिषदीय ज्ञान के हस्तान्तरण की परम्परा बतायी गयी है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

'ॐ' रूप में जिसे अभिव्यक्त किया जाता है, वह परब्रह्म स्वयं में सब प्रकार से पूर्ण है और यह सृष्टि भी स्वयं में पूर्ण है। उस पूर्ण तत्त्व में से इस पूर्ण विश्व की उत्पत्ति हुई है। उस पूर्ण में से यह पूर्ण निकाल लेने पर भी वह शेष भी पूर्ण ही रहता है। आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक ताप-सन्ताप शान्त हों।

अन्तःशरीरे निहितो गुहायामज एको नित्यमस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे संचरन् यं पृथिवी न वेद। यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरे संचरन् यमापो न विदुः। यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरे संचरन् यं तेजो न वेद। यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरे संचरन् यं वायुर्न वेद। यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरे संचरन् यमाकाशो न वेद। यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरे संचरन् यं मनो न वेद। यस्य बुद्धिः शरीरं यो बुद्धिमन्तरे संचरन् यं बुद्धिर्न वेद। यस्याहंकारः शरीरं योऽहंकारमन्तरे संचरन् यमहंकारो न वेद। यस्य चित्तं शरीरं यश्चित्तमन्तरे संचरन् यं चित्तं न वेद। यस्याव्यक्तं शरीरं योऽव्यक्तमन्तरे संचरन् यमव्यक्तं न वेद। यस्याक्षरं शरीरं योऽक्षरमन्तरे संचरन् यमक्षरं न वेद। यस्य मृत्युः शरीरं यो मृत्युमन्तरे संचरन् यं मृत्युर्न वेद। स एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः। अहं ममेति यो भावो देहाक्षादावनात्मनि। अध्यासोऽयं निरस्तव्यो विदुषा ब्रह्मनिष्ठया॥ १॥

शरीर के अन्दर स्थित हृदय रूपी गुहा में एक (अद्वितीय), अज (कभी जन्म न लेने वाला), नित्य (शाश्वत) निवास करता है। पृथिवी इसका शरीर है, यह पृथिवी के अन्दर रहता है; किन्तु पृथिवी इस (अज) को नहीं जानती। जल जिसका शरीर है, जो जल में निवास करता है, पर जल को उसका ज्ञान नहीं है। तेज

जिसका शरीर है, जो तेज के अन्तर्गत संचरित होता है, पर तेज जिसे (जिसका संचरित होना) नहीं जानता। वायु जिसका शरीर है, जो वायु के अन्दर संचरित होता है, पर वायु जिसे नहीं जानता। आकाश जिसका शरीर है, जो आकाश में संचरित होता है, पर आकाश जिसे नहीं जानता। मन जिसका शरीर है, जो मन में संचरित होता है, पर मन जिसे नहीं जानता। बुद्धि जिसका शरीर है, जो बुद्धि में निवास करता है, पर बुद्धि जिसे जानती नहीं। जिसका शरीर अहंकार है, जो अहंकार में निवास करता है, पर अहंकार जिसे जानता नहीं। चित्त जिसका शरीर है, जो चित्त में संचरित होता है, पर चित्त जिसे जानता नहीं। अव्यक्त जिसका शरीर है, जो अव्यक्त में संचरित होता है, पर अव्यक्त जिसे जानता नहीं। अक्षर जिसका शरीर है, जो अक्षर में संचरित होता है,पर अक्षर जिसे जानता नहीं। जिसका शरीर मृत्यु है, जो मृत्यु में संचरित होता है, पर मृत्यु जिसे जानती नहीं—वही सर्वभूतों में स्थित उनका अन्तरात्मा है, वह निष्पाप है और वही एक दिव्य देवनारायण है। शरीर और इन्द्रियादि अनात्म विषय हैं। इनके विषय में 'मैं और मेरा का भाव' अध्यास (भ्रान्ति) मात्र है, इसलिए विद्वान् को चाहिए कि वह ब्रह्मनिष्ठ (ब्रह्मज्ञान) के द्वारा इस अध्यास (भ्रान्ति) को दूर करे॥ १॥

ज्ञात्वा स्वं प्रत्यगात्मानं बुद्धितद्वृत्तिसाक्षिणम्। सोऽहमित्येव तद्वृत्त्या स्वान्यत्रात्ममतिं त्यजेत्॥२

अपने को ही बुद्धि और उसकी वृत्ति का साक्षी मानकर स्वयं को प्रत्यगात्मा समझे। वह मैं ही हूँ। इस 'सोऽहम्' वृत्ति से अपने अतिरिक्त समस्त पदार्थों से आत्म बुद्धि का परित्याग कर दे॥ २॥

लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम्। शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु॥ ३

लोकानुवर्तन (संसार का अनुसरण) छोड़कर देहानुवर्तन भी त्याग देना चाहिए। देहानुवर्तन के पश्चात् शास्त्रानुवर्तन भी त्याग दे, इसके बाद आत्म-अध्यास (आत्म-भ्रान्ति) का भी परित्याग कर देना चाहिए॥ ३॥

[मनुष्य प्रारम्भ में लोक, देह, शास्त्र आदि के माध्यम से सत्यानुगमन का प्रयास करता है। जैसे-जैसे सत्य का स्वरूप समझ में आता रहता है, वैसे-वैसे स्थूल आधारों का सहारा लेने की आवश्यकता घटती जाती है। इस तथ्य को न समझने वाले लोग मर्यादाएँ तोड़ने लगते हैं। ऋषि का भाव मर्यादा त्याग नहीं, स्थूल आधारों से ऊपर उठने का है।]

स्वात्मन्येव सदा स्थित्या मनो नश्यति योगिनः।
युक्त्या श्रुत्या स्वानुभूत्या ज्ञात्वा सार्वात्म्यमात्मनः॥ ४॥

सदा अपने आत्म स्वरूप में स्थित रहकर युक्ति, श्रुति (श्रवण) और स्वानुभूति द्वारा सबको अपना ही आत्म स्वरूप जानकर योगी पुरुष का मन (संकीर्ण भाव) विनष्ट होता है॥ ४॥

[मन जब तक संकीर्णता से ग्रस्त रहता है, तब तक मेरे-तेरे के बचकाने भाव आते हैं। व्यक्तिगत संकीर्णता से योगी का मन मुक्त हो जाता है, वह समष्टि मन का अंग बन जाता है।]

निद्राया लोकवार्तायाः शब्दादेरात्मविस्मृतेः। क्वचिन्नावसरं दत्त्वा चिन्तयात्मानमात्मनि॥ ५॥

निद्रा, लोकवार्ता, शब्दादि विषयों तथा आत्म विस्मृति का कभी अवसर न आने देकर आत्मा में आत्मा का चिन्तन करना चाहिए॥ ५॥

मातापित्रोर्मलोद्भूतं मलमांसमयं वपुः। त्यक्त्वा चण्डालवद्दूरं ब्रह्मीभूय कृती भव॥ ६॥

माता और पिता के मल (मैल) से उत्पन्न हुए इस शरीर को, जिसमें मल और मांस भरा है, इसे चाण्डाल के समान दूर करके (काया के साथ स्व के बोध को त्यागकर) ब्रह्मरूप होकर कृतार्थ हो॥ ६॥

घटाकाशं महाकाश इवात्मानं परात्मनि। विलाप्याखण्डभावेन तूष्णीं भव सदा मुने॥ ७॥

हे मुने! महाकाश में घटाकाश के समान परमात्मा में आत्मा को विलीन (एकरूप) करके अखण्ड भाव से सदैव शान्त रहो॥ ७॥

स्वप्रकाशमधिष्ठानं स्वयंभूय सदात्मना। ब्रह्माण्डमपि पिण्डाण्डं त्यज्यतां मलभाण्डवत्॥ ८॥

स्वप्रकाशित, स्वयंभू और अधिष्ठान (ब्रह्म) रूप होकर ब्रह्माण्ड और पिण्डाण्ड का भी विष्ठा पात्र के समान परित्याग (उसके साथ स्वानुभूति का त्याग) कर देना चाहिए॥ ८॥

चिदात्मनि सदानन्दे देहरूढामहंधियम्। निवेश्य लिङ्गमुत्सृज्य केवलो भव सर्वदा॥ ९॥

शरीर के ऊपर आरूढ़ अहं बुद्धि को सदानन्द और चित्त स्वरूप आत्मा में लगाकर लिङ्ग (स्वज्ञानचिह्न) को छोड़कर सर्वदा केवल आत्मरूप हो (जाओ)॥ ९॥

यत्रैष जगदाभासो दर्पणान्तः पुरं यथा। तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा कृतकृत्यो भवानघ॥ १०॥

हे निष्पाप! जिस प्रकार (छोटे से, किन्तु स्वच्छ) दर्पण में (विशाल) पुर (नगर) दिखाई देता है, उसी प्रकार अपने को 'मैं ब्रह्म हूँ,' ऐसा जानकर कृतार्थ हो (जाये)॥ १०॥

अहंकारग्रहान्मुक्तः स्वरूपमुपपद्यते। चन्द्रवद्विमलः पूर्णः सदानन्दः स्वयंप्रभः॥११॥

अहंकार से मुक्त हुआ पुरुष आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है। वह चन्द्रमा के समान विमल होकर पूर्ण सदानन्द और स्वप्रकाश बनता है॥ ११॥

क्रियानाशाद्भवेच्चिन्तानाशोऽस्माद्वासनाक्षयः। वासनाप्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते॥

(सांसारिक) क्रियानाश से चिन्ता विनष्ट होती है और चिन्तानाश से वासना का क्षय होता है। वासना का विनष्ट हो जाना मोक्ष है और इसे ही जीवन्मुक्ति भी कहते हैं॥ १२॥

सर्वत्र सर्वतः सर्वब्रह्ममात्रावलोकनम्। सद्भावभावनादार्ढ्याद्वासनालयमश्नुते॥ १३॥

जो सर्वत्र सब तरफ सभी को मात्र 'ब्रह्म' रूप में देखता है और जिसकी सद्भावना दृढ़ हो गई है, उसकी वासना का लय हो जाता है अर्थात् वासना विनष्ट हो जाती है॥ १३॥

प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्तव्यः कदाचन। प्रमादो मृत्युरित्याहुर्विद्वायां ब्रह्मवादिनः॥ १४॥

ब्रह्मनिष्ठा में कभी प्रमाद न करे, क्योंकि प्रमाद ही मृत्यु है (अपनी आत्मा के अनुसन्धान को छोड़कर जीवन बिताना प्रमाद है), ऐसा विद्या के ज्ञाता (विद्यावान्) ब्रह्मवादी कहते हैं॥ १४॥

यथाऽपकृष्टं शैवालं क्षणमात्रं न तिष्ठति। आवृणोति तथा माया प्राज्ञं वापि पराङ्मुखम्॥१५॥

जिस प्रकार शैवाल को पानी के ऊपर से कुछ हटा देने के बाद वह क्षण मात्र भी वहाँ नहीं ठहरती (और पूर्ववत् पानी को ढक लेती है), उसी प्रकार बुद्धिमान् व्यक्ति भी यदि ब्रह्मनिष्ठा से थोड़ा भी हट जाये या दूर हो जाये, तो माया उसे आवृत कर लेती है॥ १५॥

जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहोऽपि स केवलः। समाधिनिष्ठतामेत्य निर्विकल्पो भवानघ॥१६॥

जिसे जीवित स्थिति में ही कैवल्यावस्था प्राप्त हो गयी हो, वह विदेह (देहरहित) होने पर केवल (ब्रह्म) ही रहेगा। इसलिए हे निष्पाप! समाधिनिष्ठ होकर निर्विकल्प (विकल्परहित) बनो॥ १६॥

अज्ञानहृदयग्रन्थेर्निःशेषविलयस्तदा। समाधिनाऽविकल्पेन यदाऽद्वैतात्मदर्शनम्॥ १७॥

जिस समय निर्विकल्प समाधि से अद्वैत आत्मा का दर्शन होता है, उसी समय हृदय की अज्ञान रूपा ग्रन्थि का पूर्णरूपेण विनाश और विलय हो जाता है॥ १७॥

अत्रात्मत्वं दृढीकुर्वन्नहमादिषु संत्यजन्। उदासीनतया तेषु तिष्ठेद्घटपटादिवत्॥ १८॥

आत्मत्व अर्थात् आत्मभाव को दृढ़ करके, अहंकारादि का परित्याग करके उनसे उसी प्रकार से उदासीन रहे, जिस प्रकार बरतन-वस्त्रादि के प्रति उदासीन भाव रखा जाता है॥ १८॥

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं मृषामात्रा उपाधयः। ततः पूर्णं स्वमात्मानं पश्येदेकात्मना स्थितम्॥ १९॥

ब्रह्मा से स्तम्ब (तृण) पर्यन्त समस्त उपाधियाँ मिथ्या हैं, इसलिए सदा एक स्वरूप में अवस्थित रहने वाले अपने पूर्ण आत्मा का ही सर्वत्र दर्शन करना चाहिए॥ १९॥

स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुःस्वयमिन्द्रः स्वयं शिवः। स्वयं विश्वमिदं सर्वं स्वस्मादन्यन्न किंचन॥२०

स्वयं ब्रह्मा, स्वयं विष्णु, स्वयं इन्द्र, स्वयं शिव, स्वयं विश्व और स्वयं ही यह सब कुछ है। स्वयं के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है॥ २०॥

स्वात्मन्यारोपिताशेषाभासवस्तुनिरासतः। स्वयमेव परंब्रह्म पूर्णमद्वयमक्रियम्॥ २१॥

अपनी आत्मा में समस्त वस्तुओं का आभास (रस्सी में सर्प की तरह) केवल आरोपित है, उसका निराकरण (निरसन) कर देने से वह स्वतः पूर्ण, अद्वैत और अक्रिय (क्रियारहित) परब्रह्म बन जाता है॥ २१॥

असत्कल्पो विकल्पोऽयं विश्वमित्येकवस्तुनि। निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः॥ २२

एक ही आत्मा रूपी वस्तु में जो यह विकल्प (भेद) प्रतीत होता है, वह प्रायः मिथ्या है; क्योंकि निर्विकार, निराकार और निर्विशेष में भेद ही कहाँ है?॥ २२॥

द्रष्टृदर्शनदृश्यादिभावशून्ये निरामये। कल्पार्णव इवात्यन्तं परिपूर्णे चिदात्मनि॥ २३॥

वह चैतन्य (आत्मा) द्रष्टा, दर्शन और दृश्य आदि भावों से शून्य है, जो निरामय (निर्दोष) तथा प्रलय-कालीन सागर की तरह परिपूर्ण है॥ २३॥

तेजसीव तमो यत्र विलीनं भ्रान्तिकारणम्। अद्वितीये परे तत्त्वे निर्विशेषे भिदा कुतः॥२४॥

जिस प्रकार अन्धकार प्रकाश में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार अद्वितीय परम तत्त्व में भ्रान्ति का कारण भी विलुप्त हो जाता है। वह आत्मा अवयव रहित है, अस्तु, उसमें भेद कहाँ है? ॥ २४॥

एकात्मके परे तत्त्वे भेदकर्त्ता कथं वसेत्। सुषुप्तौ सुखमात्रायां भेदः केनावलोकितः॥२५॥

एकात्मक परमतत्त्व में भेदकर्त्ता किस प्रकार रह सकता है? सुषुप्तावस्था में सुख मात्र है, उसमें भेद किसके द्वारा देखा गया है॥ २५॥

चित्तमूलो विकल्पोऽयं चित्ताभावे न कश्चन। अतश्चित्तं समाधेहि प्रत्यग्रूपे परात्मनि॥ २६॥

इस विकल्प (भेद) का मूल कारण चित्त है। यदि चित्त न हो, तो कोई भी विकल्प नहीं है। अतः प्रत्यग् रूप परमात्मा में अपने चित्त को समाधिस्थ (समाहित) कर दो॥ २६॥

अखण्डानन्दमात्मानं विज्ञाय स्वस्वरूपतः। बहिरन्तः सदानन्दरसास्वादनमात्मनि॥ २७॥

अखण्डानन्द रूप आत्मा को अपना वास्तविक स्वरूप जानकर, सदा इस आत्मा में ही बाहर और अन्दर आनन्द रस का आस्वादन, करो ॥ २७॥

वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम्। स्वानन्दानुभवाच्छान्तिरेषैवोपरतेः फलम् ॥२८॥

वैराग्य का फल बोध (ज्ञान) है, ज्ञान का फल उपरति (विषयों से विरत होना) है और उपरति का फल आत्मानन्द के अनुभव से प्राप्त शान्ति है॥ २८॥

यद्युत्तरोत्तराभावे पूर्वपूर्वं तु निष्फलम्। निवृत्तिः परमा तृप्तिरानन्दोऽनुपमः स्वतः॥ २९॥

उपर्युक्त वस्तुओं में जो उत्तरोत्तर न हो, उससे पूर्व की वस्तु निष्फल है। विषयों से निवृत्ति ही परम तृप्ति है और आत्मा का आनन्द स्वयं ही अनुपम है॥ २९॥

मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः। पारोक्ष्यशबलःसत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिधः॥ ३०॥

मायारूप उपाधि से युक्त, जगत् का कारणरूप सर्वज्ञत्व आदि लक्षणों से युक्त, परोक्ष रूप से शबल (अर्थात् मायावेष्टित) ब्रह्म जो सत्यादि स्वरूप वाला है, वही 'तत्' शब्द से विख्यात है॥३०॥

आलम्बनतया भाति योऽस्मत्प्रत्ययशब्दयोः। अन्तःकरणसंभिन्नबोधः स त्वंपदाभिधः ॥३१॥

जो 'मैं' शब्द तथा प्रत्यय का आश्रय स्वरूप प्रतीत होता है, जिसका ज्ञान अन्तःकरण से मिथ्या है, वह (जीव) 'त्वम्' शब्द से जाना जाता है॥३१॥

मायाविद्ये विहायैव उपाधी परजीवयोः। अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्म विलक्ष्यते॥ ३२॥

ब्रह्म एवं जीव की क्रमशः माया और अविद्या—यह दो ऐसी उपाधियाँ हैं, जिनका परित्याग कर देने से अखण्ड सच्चिदानंद परब्रह्म ही भासित होता है (दिखाई पड़ता है)॥ ३२॥

इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसंधानं श्रवणं भवेत्। युक्त्या संभावितत्वानुसंधानं मननं तु तत्॥ ३३॥

इस प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों द्वारा उनके (जीव और ब्रह्म के एकत्व का) अर्थ और अनुसंधान करना 'श्रवण' है और जो कुछ सुना गया है, उसके अर्थ पर युक्तिपूर्वक विचार-विमर्श करके अनुसंधान करना 'मनन' है॥ ३३॥

ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्। एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते॥३४

श्रवण और मनन द्वारा सन्देह रहित हुए अर्थ में चित्त को स्थापित करके एकतानत्व प्राप्त करना-यह 'निदिध्यासन' है॥ ३४॥

[ध्वनि का ऊँचा-नीचा, पैना या भारी होना उसके दोलन (फ्रीक्वेंसी) पर निर्भर करता है। समान दोलन वाले साज जब एक साथ बजते हैं, तो उसके स्वर एक दूसरे में घुल-मिल जाते हैं। इसे ध्वनि दोलन का सुसंयोग (रैजोनेन्स ऑफ फ्रीक्वेंसी) कहते हैं। एकतानत्व का अर्थ यहाँ भावात्मक सुसंयोग (रैजोनेन्स) जैसा कुछ होना चाहिए।]

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम्। निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते॥ ३५॥

इसके पश्चात् ध्याता और ध्यान का परित्याग करके ध्येय में ही चित्त को स्थापित करें। वायुरहित स्थान में रखे दीपक की तरह जब चित्त निश्चल बन जाए, यही समाधि है॥ ३५॥

वृत्तयस्तु तदानीमप्यज्ञाता आत्मगोचराः। स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थिताः॥ ३६॥

समाधि की अवस्था में वृत्तियाँ केवल आत्मगोचर होती हैं, इसके कारण प्रतीत नहीं होतीं; किन्तु समाधि में से उठे हुए साधक की उन उन्नत वृत्तियों का स्मरण द्वारा अनुमान लगाया जाता है॥ ३६॥

अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः। अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मो विवर्धते॥ ३७॥

इस अनादि जगत् में करोड़ों कर्म एकत्र हो जाते हैं, किन्तु समाधि के द्वारा उनका विलय हो जाता है और शुद्ध धर्म की वृद्धि होती है॥ ३७॥

धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः। वर्षत्येष यथा धर्मामृतधाराः सहस्त्रशः॥ ३८॥

उत्तम कोटि के योगवेत्ता इस समाधि को 'धर्ममेघ' कहते हैं, क्योंकि वह मेघ के समान ही धर्मामृत रूप सहस्रों धाराओं की वर्षा करती है॥ ३८॥

अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते। समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसंचये॥ ३९॥
वाक्यमप्रतिबद्धं सत्प्राक्परोक्षावभासते। करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते॥ ४०॥

(जब) इस समाधि के द्वारा वासना का जाल पूर्णरूपेण लय को प्राप्त हो जाता है एवं जब पुण्य-पाप नामवाला कर्मसमूह समूल रूप से विनष्ट हो जाता है, तब (तत्त्वमसि आदि) वाक्यों के माध्यम से पहले परोक्ष ज्ञान प्रतिभासित होता है और बाद में (वह) हस्तामलकवत् अपरोक्ष बोध (तत्त्वज्ञान) को प्रकट करता है॥

वासनानुदयो भोग्ये वैराग्यस्य तदावधिः। अहंभावोदयाभावो बोधस्य परमावधिः॥ ४१॥

(जब) भोगने योग्य पदार्थ की उपस्थिति में भी वासना उदित न हो, तब वैराग्य की स्थिति जान लेनी चाहिए और जब अहं भाव के उदय का अभाव हो जाए अर्थात् जब वैसी (अहंकार होने योग्य) परिस्थिति बन जाने पर भी अहं न आये, तब ज्ञान की परम स्थिति जाननी चाहिए॥ ४१॥

लीनवृत्तेरनुत्पत्तिर्मर्यादोपरतेस्तु सा। स्थितप्रज्ञो यतिरयं यः सदानन्दमश्नुते॥ ४२॥

लीन वृत्तियाँ पुनः उदित न हों, तो वह उपरति की स्थिति समझनी चाहिए। इस स्थिति वाला यति 'स्थितप्रज्ञ' कहलाता है, जो सदा आनन्दानुभूति करता रहता है॥ ४२॥

ब्रह्मण्येव विलीनात्मा निर्विकारो विनिष्क्रियः। ब्रह्मात्मनोः शोधितयोरेकभावावगाहिनि॥ ४३॥
निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते। सा सर्वदा भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते॥४४॥

जिसका आत्मतत्त्व एकमात्र ब्रह्म में ही विलीन हुआ हो, वह निर्विकार और निष्क्रिय हो जाता है। ब्रह्म और आत्मा के एकत्व के अनुसंधान में लीन हुई वृत्ति जब विकल्प रहित (ऊहापोह रहित) और मात्र चैतन्य रूप बन जाती है, तब उसे प्रज्ञा कहते हैं। वह (प्रज्ञा) जिसमें सर्वदा विद्यमान रहती है, वह 'जीवन्मुक्त' कहलाता है॥ ४३-४४॥

देहेन्द्रियेष्वहंभाव इदंभावस्तदन्यके। यस्य नो भवतः क्वापि स जीवन्मुक्त इष्यते॥ ४५॥

शरीर और इन्द्रियों में जिसका अहं भाव न हो तथा इनके अतिरिक्त अन्य पदार्थों पर भी जिसका ममत्व न हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है॥ ४५॥

न प्रत्यग्ब्रह्मणोर्भेदं कदापि ब्रह्मसर्गयोः। प्रज्ञया यो विजानाति स जीवन्मुक्त इष्यते॥ ४६॥

जो जीव और ब्रह्म में तथा ब्रह्म और सृष्टि में भेद बुद्धि नहीं रखता, वह जीवन्मुक्त कहलाता है॥ ४६॥

साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन्पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः। समभावो भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते॥ ४७॥

सज्जनों द्वारा पूजे जाने पर और दुर्जनों द्वारा ताड़ित किये जाने पर भी जिसमें समभाव बना रहे, वह जीवन्मुक्त कहलाता है॥ ४७॥

विज्ञातब्रह्मतत्त्वस्य यथापूर्वं न संसृतिः। अस्ति चेन्न स विज्ञातब्रह्मभावो बहिर्मुखः॥ ४८॥

जिसके द्वारा ब्रह्म तत्त्व जान लिया गया है, संसार के प्रति उसकी दृष्टि पूर्ववत् नहीं रहती। इसलिए यदि वह संसार को पूर्व के समान ही देखता है, तो यह जानना चाहिए कि वह अभी तक ब्रह्म भाव को समझा नहीं है और बहिर्मुख है॥ ४८॥

सुखाद्यनुभवो यावत्तावत्प्रारब्धमिष्यते। फलोदयः क्रियापूर्वो निष्क्रियो नहि कुत्रचित्॥४९॥

जब तक सुख आदि का अनुभव होता है, तब तक इसे प्रारब्ध भोग मानना चाहिए, क्योंकि कोई भी फल पूर्व में क्रिया करने के कारण ही उदित होता है। बिना क्रिया के कोई फल नहीं मिलता॥ ४९॥

अहं ब्रह्मेति विज्ञानात् कल्पकोटिशतार्जितम्। संचितं विलयं याति प्रबोधात्स्वप्नकर्मवत्॥५०

जिस प्रकार जाग्रत् हो जाने पर स्वप्न रूप कर्म विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान हो जाने पर करोड़ों कल्पों से अर्जित (संचित) कर्म विलीन (नष्ट) हो जाते हैं॥ ५०॥

स्वमसङ्गमुदासीनं परिज्ञाय नभो यथा। न श्लिष्यते यतिः किंचित्कदाचिद्भाविकर्मभिः॥ ५१॥

योगी आकाश के सदृश अपने को असङ्ग और उदासीन जानकर भावी कर्मों में किञ्चित् भी लिप्त नहीं होता॥ ५१॥

न नभो घटयोगेन सुरागन्धेन लिप्यते। तथाऽऽत्मोपाधियोगेन तद्धर्मैर्नैव लिप्यते॥ ५२॥

जिस प्रकार सुरा कुम्भ में स्थित आकाश, सुरा की गन्ध से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार शरीर रूपी उपाधि के साथ संयुक्त रहने पर भी आत्मा उसके गुण-धर्मों से प्रभावित नहीं होता॥ ५२॥

ज्ञानोदयात्पुराऽऽरब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति। अदत्त्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत्॥ ५३॥

जिस प्रकार छोड़ा हुआ बाण निर्धारित लक्ष्य को बेधता ही है, उसी प्रकार ज्ञानोदय होने से पूर्व (अज्ञान की स्थिति में) किये गये कर्म का फल अवश्य मिलता है अर्थात् ज्ञान उत्पन्न हो जाने से पूर्व जो कृत्य किये गये थे, उनका फल ज्ञान उत्पन्न हो जाने से विनष्ट नहीं होता॥ ५३॥

व्याघ्रबुद्ध्या विनिर्मुक्तो बाणः पश्चात्तु गोमतौ। न तिष्ठति भिनत्त्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम्॥ ५४

बाघ समझकर (उसे मारने के लिए) छोड़ा गया बाण यह जान लेने पर कि 'यह बाघ नहीं गाय है', रुकता नहीं और वेगपूर्वक लक्ष्य वेध करता ही है, उसी प्रकार ज्ञान हो जाने पर भी पूर्वकृत कर्म का फल मिलता ही है॥ ५४॥

अजरोऽस्म्यमरोऽस्मीति य आत्मानं प्रपद्यते। तदात्मना तिष्ठतोऽस्य कुतः प्रारब्धकल्पना॥ ५५॥

'मैं अजर और अमर हूँ', इस प्रकार अपने आत्मरूप को जो स्वीकार कर लेता है, वह आत्मरूप में ही स्थित रहता है, फिर उसे प्रारब्ध कर्म की कल्पना ही कैसे हो सकती है॥ ५५॥

प्रारब्धं सिद्ध्यति तदा यदा देहात्मना स्थितिः। देहात्मभावो नैवेष्टः प्रारब्धं त्यज्यतामतः॥ ५६॥

प्रारब्ध कर्म उसी समय सिद्ध होता है, जब देह में आत्मभाव होता है; परन्तु देह में आत्मभाव रखना इष्ट नहीं है। अस्तु, देह के ऊपर आत्म बुद्धि का परित्याग करके प्रारब्ध कर्म का परित्याग करना चाहिए॥ ५६॥

प्रारब्धकल्पनाप्यस्य देहस्य भ्रान्तिरेव हि॥ ५७॥ अध्यस्तस्य कुतस्तत्त्वमसत्यस्य कुतो जनिः। अजातस्य कुतो नाशः प्रारब्धमसतः कुतः॥ ५८॥

देह के प्रति भ्रान्ति ही प्राणी के प्रारब्ध की परिकल्पना है और आरोपित अथवा भ्रान्त धारणा से जो कल्पित हो, वह सत्य कैसे हो सकता है? जो सत्य नहीं है, उसका जन्म कहाँ से हो और जिसका जन्म नहीं है, उसका विनाश कैसे हो? अस्तु, जो असत् है, उसका प्रारब्ध कर्म कैसे बने?॥ ५७-५८॥

ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य समूलस्य लयो यदि। तिष्ठत्ययं कथं देह इति शङ्कावतो जडान्॥ ५९॥

यदि अज्ञान (देहासक्ति आदि) का पूर्ण विलय ज्ञान में हो जाये, तो फिर देह का अस्तित्व ही कैसे रह सकता है, ऐसी शंका जड़ (स्थूल) बुद्धि वाले ही करते हैं॥ ५९॥

समाधातुं बाह्यदृष्ट्या प्रारब्धं वदति श्रुतिः। न तु देहादिसत्यत्वबोधनाय विपश्चिताम्॥ ६०॥

बहिर्मुखी दृष्टि वाले (अज्ञानियों) को समझाने के लिए श्रुति प्रारब्ध की बात कहती है। ज्ञानियों के लिए या देहादि की सत्यता प्रकट करने के लिए प्रारब्ध का उल्लेख नहीं किया गया है॥ ६०॥

परिपूर्णमनाद्यन्तमप्रमेयमविक्रियम्। सद्घनं चिद्घनं नित्यमानन्दघनमव्ययम्॥ ६१॥
प्रत्यगेकरसं पूर्णमनन्तं सर्वतोमुखम्। अहेयमनुपादेयमनाधेयमनाश्रयम्॥ ६२॥
निर्गुणं निष्क्रियं सूक्ष्मं निर्विकल्पं निरञ्जनम्। अनिरूप्यस्वरूपं यन्मनोवाचामगोचरम्॥ ६३॥
सत्समृद्धं स्वतःसिद्धं शुद्धं बुद्धमनीदृशम्। एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन॥ ६४॥

वस्तुतः परिपूर्ण, आदि-अन्तरहित, अप्रमेय, विकाररहित, सद्घन, चिद्घन, नित्य, आनन्दघन, अव्यय, प्रत्यग्, एकरस, पूर्ण, अनन्त, सब ओर मुख वाला, त्याग और ग्रहण न करने वाला, किसी आधार के ऊपर न

रहने वाला और किसी का आश्रय भी न लेने वाला, निर्गुण, क्रियारहित, सूक्ष्म स्वरूप, निर्विकल्प, दोष-दुर्गुण रहित, अनिरूप्य (जिसका निरूपण नहीं किया जा सकता, ऐसे स्वरूप वाला), मन और वाणी द्वारा अगोचर, सत्समृद्ध, (सतोगुण की अधिकता वाला) स्वतः सिद्ध, शुद्ध, बुद्ध, अनीदृश (जिसकी किसी के साथ तुलना न की जा सके)—वह एक ही अद्वैत रूप ब्रह्म है, उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है॥ ६०-६४॥

स्वानुभूत्या स्वयं ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डितम्। ससिद्धः ससुखं तिष्ठन् निर्विकल्पात्मनात्मनि॥

इस प्रकार अपनी अनुभूति से स्वयं ही अपनी आत्मा को अखण्डित जानकर (तू) सिद्ध हो और निर्विकल्प (विकल्प रहित) आत्मा से अपने को सुख पूर्ण स्थिति में प्रतिष्ठित कर॥ ६५॥

क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत्। अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम्॥ ६६॥

(गुरु के इस उपदेश से शिष्य को ज्ञान हो गया और वह कहने लगा -) जिस जगत् को अभी मैंने देखा था, वह कहाँ चला गया? किसके द्वारा वह हटा लिया गया? वह कहाँ लीन हो गया? बहुत आश्चर्य का विषय है कि अभी तो वह मुझे दिखाई पड़ रहा था, क्या वह अब नहीं है? ॥ ६६॥

किं हेयं किमुपादेयं किमन्यत्किं विलक्षणम्। अखण्डानन्दपीयूषपूर्ण ब्रह्ममहार्णवे॥ ६७॥

अखण्ड आनन्द रूप पीयूष से पूरित ब्रह्म रूप सागर में अब मेरे लिए क्या त्याग करने योग्य है? क्या ग्रहण करने योग्य है? अन्य कुछ है भी क्या? यह कैसी विलक्षणता है?॥ ६७॥

न किंचिदत्र पश्यामि न शृणोमि न वेद्म्यहम्। स्वात्मनैव सदानन्दरूपेणास्मि स्वलक्षणः॥ ६८

यहाँ मैं न कुछ देखता हूँ, न सुनता हूँ और न ही कुछ जानता हूँ; क्योंकि मैं सदा आनन्द रूप से अपने आत्मतत्त्व में ही स्थित हूँ और स्वयं ही अपने लक्षण वाला हूँ॥ ६८॥

असङ्गोऽहमनङ्गोऽहमलिङ्गोऽहमहं हरिः। प्रशान्तोऽहमनन्तोऽहं परिपूर्णश्चिरन्तनः॥ ६९॥

मैं सङ्ग रहित हूँ,अङ्ग रहित हूँ, चिह्न रहित और स्वयं हरि हूँ। मैं प्रशान्त हूँ, अनन्त हूँ, परिपूर्ण और चिरन्तन अर्थात् प्राचीन से प्राचीन हूँ॥ ६९॥

अकर्ताऽहमभोक्ताऽहमविकारोऽहमव्ययः। शुद्धो बोधस्वरूपोऽहं केवलोऽहं सदाशिवः॥ ७०॥

मैं अकर्त्ता हूँ, अभोक्ता हूँ, अविकारी और अव्यय हूँ। मैं शुद्ध बोधस्वरूप और केवल सदाशिव हूँ॥

एतां विद्यामपान्तरतमाय ददौ। अपान्तरतमो ब्रह्मणे ददौ। ब्रह्मा घोराङ्गिरसे ददौ। घोराङ्गिरा रैक्काय ददौ। रैक्को रामाय ददौ। रामः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ददावित्येतन्निर्वाणानुशासनं वेदानुशासनं वेदानुशासनमित्युपनिषत्॥ ७१॥

यह विद्या (सदाशिव) गुरु ने अपान्तरतम नामक (देवपुत्र) ब्राह्मण को दी थी। अपान्तरतम ने ब्रह्मा को दी थी। ब्रह्मा ने घोर आङ्गिरस को दी। घोर आङ्गिरस ने रैक्क को दी। रैक्क ने राम (परशुराम) को दी। राम ने समस्त प्राणियों के लिए प्रदान की। यह निर्वाण (प्राप्त करने) का अनुशासन है, वेद का अनुशासन है और वेद का आदेश है। इस प्रकार यह उपनिषद् (रहस्य विद्या) पूर्ण हुई॥ ७१॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः॥

॥ इत्यध्यात्मोपनिषत्समाप्ता॥

॥ अवधूतोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय है। इस उपनिषद् में सांकृति की जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान् दत्तात्रेय अवधूत स्थिति के स्वरूप और महत्ता का वर्णन करते हैं। अवधूत स्थिति में किस प्रकार श्रेष्ठ तत्त्व के समाहित होने से व्यक्ति धन्य हो जाता है, इसका वर्णन भी किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परमात्मन्! आप हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें। हम दोनों साथ-साथ शक्ति अर्जित करें। हम दोनों की पढ़ी हुई विद्या तेजस्वी (प्रखर) हो। हम दोनों एक दूसरे के प्रति कभी ईर्ष्या-द्वेष न करें। हे शक्ति सम्पन्न! (हमारे) त्रिविध (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) तापों का शमन हो, अक्षय शान्ति की प्राप्ति हो।

अथ ह सांकृतिर्भगवन्तमवधूतं दत्तात्रेयं परिसमेत्य पप्रच्छ। भगवन्कोऽवधूतस्तस्य का स्थितिः किं लक्ष्म किं संसरणमिति। तं होवाच भगवो दत्तात्रेयः परमकारुणिकः॥१॥ अक्षरत्वाद्वरेण्यत्वाद्धूतसंसारबन्धनात्। तत्त्वमस्यादिलक्ष्यत्वादवधूत इतीर्यते॥ २॥

सांकृति ने भगवान् दत्तात्रेयजी के समीप जाकर पूछा- 'हे भगवन्! अवधूत कौन है? उसकी स्थिति किस तरह की होती है? उसका लक्षण किस प्रकार का होता है? तथा उसका संसार (सांसारिक व्यवहार) किस प्रकार का होता है?' उनके इन प्रश्नों को सुनकर परम कृपालु भगवान् दत्तात्रेयजी ने कहा- जो अक्षर - अर्थात् अविनाशी (भावयुक्त) हो, वरण करने योग्य हो, संसार रूपी बन्धनों से रहित हो तथा 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों के लक्ष्यार्थ बोध से युक्त हो, उसे ही अवधूत (अक्षर का 'अ', वरेण्य का 'व', धूतसंसारबन्धन का 'धू' तथा तत्त्वमस्यादि लक्ष्य का 'त' लेने से 'अवधूत') कहा जाता है॥ १-२॥

यो विलङ्घ्याश्रमान्वर्णानात्मन्येव स्थितः सदा।
अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूतः स कथ्यते॥ ३॥

जो योगी पुरुष आश्रम एवं वर्ण व्यवस्था से ऊपर उठकर आत्मा में ही सदैव स्थित रहता हो, वह वर्णाश्रम रहित योगी पुरुष 'अवधूत' कहा जाता है॥ ३॥

तस्य प्रियं शिरः कृत्वा मोदो दक्षिणपक्षकः।
प्रमोद उत्तरः पक्ष आनन्दो गोष्पदायते॥४॥

उस (योगी) का प्रिय (ब्रह्म) ही सिर है, 'मोद' दायाँ बाजू और 'प्रमोद' बायाँ बाजू है तथा 'आनन्द' मध्य आत्मा है। उसकी (आत्मा की) स्थिति गाय के पैर के सदृश (चार-प्रिय, मोद, प्रमोद एवं आनन्द रूप) हो जाती है॥ ४॥

[यही प्रकरण तैत्तिरीयोपनिषद् (२.५) में भी आया है।]

गोवालसदृशं शीर्षे नापि मध्ये न चाप्यधः। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति पुच्छाकारेण कारयेत्। एवं चतुष्पदं कृत्वा ते यान्ति परमां गतिम्॥ ५॥

उस सिर (हर्ष) में, अधः (मोद-प्रमोद) में तथा मध्य (आनन्द) में आत्मबुद्धि नहीं करनी चाहिए (आत्मा नहीं मानना चाहिए, तो किसे मानना चाहिए, इस पर कहते हैं कि) गोवाल (गौ की पूँछ) सदृश उस ब्रह्म की पुच्छ प्रतिष्ठा है, उस ब्रह्म को इसी पुच्छाकार में जानना चाहिए। इस प्रकार ब्रह्म को भलीप्रकार जानकर वे (योगीपुरुष) परमगति को प्राप्त करते हैं॥ ५॥

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः॥ ६॥

अमरत्व की प्राप्ति न तो विभिन्न कर्मों के द्वारा, न प्रजा के द्वारा और न ही धन के द्वारा होती है। एक मात्र त्याग के द्वारा ही अमरत्व को प्राप्त किया जा सकता है॥ ६॥

स्वैरं स्वैरविहरणं तत्संसरणम्। साम्बरा वा दिगम्बरा वा। न तेषां धर्माधर्मौ न मेध्यामेध्यौ। सदा सांग्रहण्येष्ट्याश्वमेधमन्तर्यागं यजते। स महामखो महायोगः॥ ७॥

अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार व्यवहार करना ही उन योगियों का संसार है। उनमें से कितने ही तो वस्त्रों को धारण करते हैं और कितने ही दिगम्बर अर्थात् बिना वस्त्रों के ही रहते हैं। उन योगियों के लिए न कुछ धर्म है और न ही कुछ अधर्म है, पवित्र एवं अपवित्र आदि भी कुछ नहीं है। (इन्द्रियों को वश में करने के रूप में) सदा संग्रह की दृष्टि से वे (योगीजन) अन्तःकरण में (आत्मा का ध्यान रूप) अश्वमेध यज्ञ किया करते हैं। यही उनका महायज्ञ और महायोग है॥ ७॥

[अन्तः स्थित परमात्म चेतना में बहिर्मुखी व्यक्त शक्ति धाराओं को समर्पित कर देना-विसर्जित कर देना ही आन्तरिक अश्वमेध कहा गया है। इसे ही महायज्ञ या महायोग भी कहा गया है।]

कृत्स्नमेतच्चित्रं कर्म। स्वैरं न विगायेत्तन्महाव्रतम्। न स मूढवल्लिप्यते॥ ८॥

इस प्रकार उन योगियों का सम्पूर्ण चरित्र आश्चर्य युक्त होता है। उनके इस प्रकार के चित्र-विचित्र कर्मों की निन्दा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यही उनका महाव्रत है। वे अज्ञानी मनुष्यों की भाँति (पाप-पुण्यादि में) लिप्त नहीं होते। वे सदैव निर्लिप्त भाव से इच्छानुसार विचरण करते रहते हैं॥ ८॥

यथा रविः सर्वरसान्प्रभुङ्क्ते हुताशनश्चापि हि सर्वभक्षः।
तथैव योगी विषयान्प्रभुङ्क्ते न लिप्यते पुण्यपापैश्च शुद्धः॥ ९॥

जिस प्रकार सूर्य सभी प्रकार के रसों को ग्रहण करता है तथा अग्नि सभी कुछ भक्षण कर लेता है, उसी प्रकार योगी पुरुष विषयादि भोगों का उपभोग करता हुआ भी शुद्ध होने के कारण पाप-पुण्यादि का भागीदार नहीं बनता॥ ९॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ १०॥

जिस प्रकार चारों ओर से परिपूर्ण होने पर भी अचल प्रतिष्ठा (स्थिति) वाले समुद्र में जल प्रविष्ट होता है, वैसे ही योगी पुरुष सभी विषय-भोगों के रहने पर भी अचल रहता है और शान्ति को प्राप्त करता है। विषय-भोगों की इच्छा करने वाला कामना युक्त मनुष्य वैसी शान्ति नहीं प्राप्त करता॥ १०॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥११॥

अतः सत्य बात तो यह है कि किसी का (निरोध) लय नहीं है, किसी की उत्पत्ति नहीं है, कोई आबद्ध

(बँधा) हुआ नहीं है, कोई साधक नहीं है, कोई (मुमुक्षु) अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करने वाला नहीं है तथा कोई मुक्त भी नहीं है, यही वास्तविक स्थिति है॥ ११॥

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्धयै मुक्तेश्च सिद्धये। बहुकृत्यं पुरा स्यान्मे तत्सर्वमधुना कृतम्॥ १२॥
तदेव कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम्। दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया॥ १३॥
परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया। अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः॥ १४॥
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम्। व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा॥१५
येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः। निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च॥१६
द्रष्टारश्चेत्कल्पयन्तु किं मे स्यादन्यकल्पनात्। गुञ्जापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना।
नान्यारोपितसंसार धर्मानेवमहं भजे॥ १७॥

इस लोक एवं परलोक के कृत्यों की सिद्धि के लिए, वैसे ही मुक्ति की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम मुझे बहुत कुछ करना अत्यन्त आवश्यक था; परन्तु अब यह सभी कुछ हो चुका है। इस तरह से हर एक योग का मुख्यरूप से अनुसंधान करता हुआ वह अवधूत इसी में कृतकृत्य होता हुआ सदैव तृप्त होता रहता है। (इसके पश्चात् वह ध्यान करता हुआ कहता है-) अज्ञानीजन पुत्रादि की इच्छा से अत्यन्त दुःखी होकर संसार के आवागमन में फँसते रहे; किन्तु मैं तो परम आनन्द से परिपूर्ण हूँ, तब फिर कौन सी इच्छा के कारण इस संसार में पुनः फसूँ? जिन्हें परलोक गमन की इच्छा हो, वे लोग चाहे उस इच्छा से भले ही कर्म किया करें; परन्तु मैं समस्त लोकों का आत्मा हूँ, सर्वलोकमय बन गया हूँ, तो फिर मैं कोई भी कर्म क्यों करूँ। जिन लोगों को इस बात का अधिकार हो, वे भले ही प्रवचन किया करें, चाहे वेदों को पढ़ाते रहें, किन्तु मुझे तो इसका अधिकार ही नहीं; क्योंकि मैं तो निष्क्रिय (क्रिया रहित) हूँ। मैं निद्रा की, भिक्षा की, स्नान अथवा शौच आदि की तनिक भी इच्छा नहीं करता। जो लोग द्रष्टा स्तर के हों, वे भले ही अन्य कोई कल्पना करें; परन्तु मुझे किसी अन्य की कल्पना करने से कोई लाभ नहीं। अन्य लोग गुञ्जा (चिरमिरी) की लालिमा के कारण उसमें भले ही अग्नि को प्रतिष्ठित करें, किन्तु इस अग्नि से गुञ्जा का ढेर नहीं जलता है। तब फिर मेरे अन्दर तो संसार के धर्म आरोपित ही नहीं ९, इस कारण मैं किसी का भी भजन नहीं करता॥ १२-१७॥

शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन्कस्माच्छृणोम्यहम्। मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः॥ १८॥

जो लोग तत्त्व को न जानते हों, वे भले ही कुछ भी श्रवण करें; किन्तु मैं (अवधूत) तो स्वयं ही तत्त्व को जानने में समर्थ हूँ। फिर किस लिए श्रवण करूँ ? जो लोग संशय में पड़े हों, वे मनन करें। मुझे तो किसी भी तरह का संशय ही नहीं है, इस कारण से मैं (अवधूत) मनन नहीं करता॥ १८॥

विपर्यस्तो निदिध्यासे किं ध्यानमविपर्यये।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम्॥ १९॥

जिसको विपर्यास अर्थात् विपरीत ज्ञान हुआ हो, वह भले ही निदिध्यासन करे; परन्तु जहाँ पर विपर्यास ही नहीं, वहाँ पर ध्यान की आवश्यकता नहीं होती। शरीर को आत्मा मान लेने का विपर्यास मुझ (अवधूत) को नहीं होता। इस कारण निदिध्यासन की आवश्यकता ही नहीं पड़ती॥ १९॥

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम्। विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते॥ २०॥

मैं मनुष्य हूँ, इस तरह का व्यवहार भी बिना विपर्यास (विपरीत ज्ञान) के नहीं होता। यह विपर्यास भी दीर्घकाल से अभ्यास में पड़ी वासना के कारण ही होता है॥ २०॥

आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते। कर्मक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ॥ २१ ॥

प्रारब्ध कर्मों के विनष्ट होने पर ही यह व्यवहार निवर्तित (बन्द) होता है; किन्तु प्रारब्ध कर्मों का नाश न हुआ हो, तब तक सहस्रों बार चिन्तन करने के बाद भी यह व्यवहार शान्त नहीं होता॥ २१ ॥

विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते। बाधिकर्मव्यवहृतिं पश्यन्ध्यायाम्यहं कुतः॥ २२ ॥

यदि व्यवहार कर्म करने की इच्छा हो, तो तुम अपनी इच्छानुसार ध्यान करो; परन्तु मेरी दृष्टि में तो कर्मों का कोई व्यवहार ही नहीं, तो मैं किसलिए ध्यान करूँ॥ २२ ॥

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः॥ २३ ॥

मुझे विक्षेप अर्थात् चित्त की अस्थिरता होती ही नहीं, इस कारण से मुझे समाधि-अवस्था की जरूरत ही नहीं पड़ती। जब यह मन विकारग्रस्त होता है, तब चित्त अस्थिर होता है और तभी समाधि की आवश्यकता होती है। मैं तो नित्य ही अनुभव रूप हूँ। समाधि में मुझे और क्या कुछ भिन्न अनुभव हो सकता है?॥ २३ ॥

नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक्। कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव नित्यशः॥ २४॥
व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वाऽन्यथापि वा। ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम्॥ २५

मुझे जो-जो करना है, वह-वह मैंने किया तथा जो कुछ भी प्राप्त करना है, वह सदा ही प्राप्त करता रहा। इस कारण लौकिक, शास्त्रीय या फिर अन्य किसी भी तरह का व्यवहार मुझे क्यों करना चाहिए? अतः मैं नहीं करता हूँ। मुझे किसी भी बात की लिप्तता नहीं है। सहज प्राकृतिक ढंग से जो होता है, उसी में रत रहता हूँ॥ २४-२५ ॥

अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया। शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं मम का क्षतिः॥ २६ ॥

अथवा मैं कृत-कृत्य (पूर्णकाम) हूँ, तब भी साधारण लोगों पर अनुग्रह करने की इच्छा से यदि शास्त्राज्ञानुसार मैं चलता हूँ, तो इसमें मेरी क्या हानि है?॥ २६ ॥

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः। तारं जपतु वाक्तद्वत्पठत्वाम्नायमस्तकम्॥ २७ ॥
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम्। साक्ष्यहं किंचिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये॥२८ ॥

देवताओं की स्तुति- अर्चना, स्नान, शौच, शिक्षा आदि में शरीर भले ही लगा रहे। वाणी ॐकार रूपी प्रणव को भले ही जपती रहे, उपनिषदों का पाठ भले ही होता रहे, बुद्धि सदैव भगवान् विष्णु का चिन्तन भले ही करती रहे या फिर भले ही (वह) ब्रह्मलीन रहे; किन्तु मैं तो केवल साक्षी रूप हूँ। मैं (अवधूत) इनमें से किसी भी काम को कभी भी नहीं करता हूँ और न करवाता ही हूँ॥२७-२८ ॥

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः। तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम्॥ २९ ॥

मैं (अवधूत) कृत-कृत्य होने से पूर्ण तृप्त हूँ तथा जो कुछ भी मुझे प्राप्त करना था, वह सभी कुछ प्राप्त कर लिया है। इस प्रकार से इस तृप्ति को ही मैं निरन्तर अपने मन में मानता रहता हूँ॥ २९ ॥

· धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम्॥ ३० ॥

मैं धन्य हूँ-धन्य हूँ; क्योंकि मैं नित्य, अविनाशी अपने आत्म-तत्त्व को सहज रूप से ही जानता हूँ। मैं धन्य हूँ- मैं धन्य हूँ; क्योंकि मुझे ब्रह्म का आनन्द स्पष्टतया प्रकाश प्रदान करता है॥ ३० ॥

धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य। धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि॥ ३१॥ धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किंचित्। धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमत्र संपन्नम्॥ ३२॥ धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके। धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥ ३३॥ अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम्। अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम्॥ ३४॥ अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम्। अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः॥ ३५॥

मैं धन्य हूँ- मैं धन्य हूँ; क्योंकि मैं अब इस नाशवान् संसार का दुःख बिलकुल भी नहीं देखता। मैं धन्य हूँ- मैं धन्य हूँ; क्योंकि मेरा अज्ञान कभी का (अर्थात् बहुत पहले ही) विनष्ट हो गया है। मैं धन्य हूँ- मैं धन्य हूँ; क्योंकि मुझे अब कुछ भी करना शेष नहीं है। मैं धन्य हूँ-मैं धन्य हूँ; क्योंकि मुझे जो कुछ भी प्राप्त करना है, वह सभी कुछ मैंने यहीं पर पहले ही प्राप्त कर लिया है। मैं धन्य हूँ- मैं धन्य हूँ; क्योंकि मेरी तृप्ति की क्या इस लोक में कोई उपमा है (अर्थात् कोई नहीं है)। मैं धन्य हूँ- मैं धन्य हूँ; मैं बारम्बार धन्य हूँ- धन्य हूँ। अहो पुण्य! अहो पुण्य!! इस पुण्य की सफलता दृढ़तापूर्वक फलीभूत हुई है। धन्य हैं हम सब। अहो ज्ञान! अहो ज्ञान!! अहो सुख! अहो सुख!! अहो शास्त्र! अहो शास्त्र!! अहो गुरु! अहो गुरु!! (वास्तव में सफल होने के कारण सब धन्यवाद के पात्र हैं)॥ ३१-३५॥

इति य इदमधीते सोऽपि कृतकृत्यो भवति। सुरापानात्पूतो भवति। स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति। ब्रह्महत्यात्पूतो भवति। कृत्याकृत्यात्पूतो भवति। एवं विदित्वा स्वेच्छाचारपरो भूयादोंसत्यमित्युपनिषत्॥ ३६॥

इस प्रकार जो भी मनुष्य इस उपनिषद् का पाठ करता है, वह कृत-कृत्य हो जाता है। मदिरापान करने वाला, सुवर्ण की चोरी करने वाला, ब्रह्महत्या करने वाला, कृत्याकृत्य (अर्थात् कार्य-अकार्य) करने वाला भी इसका (भावनापूर्वक) पाठ करने से पवित्र (श्रेष्ठ प्रकृतियों वाला) हो जाता है। मनुष्य इसका पाठ करने मात्र से पवित्र हो जाता है। मनुष्य इस तरह का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त अपनी इच्छानुसार (आत्म प्रेरणा से ही श्रेष्ठता-पवित्रता की दिशा में) प्रवृत्त हो जाता है। ॐ (ब्रह्म) ही सत्य है, यही उपनिषद् है॥ ३६॥

ॐ सह नाववतु.....इति शान्तिः॥

॥ इति अवधूतोपनिषत् समाप्ता॥

॥ आत्मपूजोपनिषद् ॥

इस उपनिषद् में काया में स्थित आत्म तत्त्व की-आत्मदेव की पूजा-उपासना की विधि समझायी गयी है। जीवन के विभिन्न क्रिया-कलापों को ही पूजा-आराधना बना लेने का कौशल समझाया गया है, इसी से मोक्ष प्राप्ति का कल्याणकारी पथ भी प्रशस्त होता है।

ॐ तस्य निश्चिन्तनं ध्यानम्। सर्वकर्मनिराकरणमावाहनम्। निश्चलज्ञानमासनम्। समुन्मनीभावः पाद्यम्। सदामनस्कमर्घ्यम्। सदादीप्तिराचमनीयम्। वराकृतप्राप्तिः स्नानम्। सर्वात्मकत्वं दृश्यविलयो गन्धः। दृगविशिष्टात्मानः अक्षताः। चिदादीप्तिः पुष्पम्। सूर्यात्मकत्वं दीपः। परिपूर्णचन्द्रामृतरसैकीकरणं नैवेद्यम्। निश्चलत्वं प्रदक्षिणम्। सोऽहंभावो नमस्कारः। परमेश्वरस्तुतिर्मौनम्। सदासन्तोषो विसर्जनम्। एवं परिपूर्णराजयोगिनः सर्वात्मकपूजोपचारः स्यात्। सर्वात्मकत्वं आत्माधारो भवति। सर्वनिरामयपरिपूर्णोऽहमस्मीति मुमुक्षूणां मोक्षैकसिद्धिर्भवति॥ इत्युपनिषत्॥

उस आत्म तत्त्व का सतत चिन्तन ही उसका ध्यान है। समस्त कर्मों का निराकरण ही आवाहन है। अविचल ज्ञान ही उसका आसन है। उस आत्म तत्त्व के प्रति सदा उन्मुख रहना ही पाद्य है। उस ओर सदैव मनोयोग ही अर्घ्य है। आत्मा की निरन्तर दीप्ति ही आचमन है। श्रेष्ठता की प्राप्ति ही उसका स्नान है। सर्वात्मक दृश्य का विलय (शून्य-लयसमाधि) ही गन्ध है। विशिष्ट नेत्र (अन्तर्नेत्र) ही अक्षत हैं। चित् (चैतन्य) दीप्ति ही पुष्प है। उस (आत्म तत्त्व) का सूर्यात्मकत्व ही दीपक है। पूर्ण चन्द्र और उसके अमृत रूपी रस का एकीकरण ही नैवेद्य है। उसकी सुनियोजित गतिशीलता ही प्रदक्षिणा है। उसका सोऽहम् (मैं वही ब्रह्म हूँ) भाव ही नमन है। मौन (अन्तर्मुखी) रहना ही उसकी स्तुति करना है। सदैव सन्तुष्ट रहना, उसका विसर्जन है। इस प्रकार परिपूर्ण राजयोगी का सर्वात्मक पूजा-उपचार ही उस आत्म तत्त्व का आधार है। समस्त आधि-व्याधियों से रहित मैं पूर्ण ब्रह्म हूँ, ऐसा भाव रखने से ही मुमुक्षुओं (मोक्ष के अभिलाषियों) की मोक्ष प्राप्त करने की अभिलाषा सिद्ध होती है। यही उपनिषद् (तत्त्वज्ञान) है।

॥ इति आत्मपूजोपनिषत् समाप्ता ॥

॥ आत्मबोधोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध है। इसे आत्मप्रबोधोपनिषद् भी कहते हैं। इसमें दो अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में ॐकार रूप नारायण को नमस्कार करते हुए हृदय को ब्रह्मपुर और स्वप्रकाशित कहा गया है। हृदय में और सर्वत्र 'प्रज्ञारूप'-प्रज्ञानेत्र 'चेतन' का निवास बताया गया है। इस ज्ञान का महत्त्व तथा उसके प्रभाव से नित्य ज्योतित अमरलोक में आवास प्राप्त होने की बात कही गयी है। दूसरे अध्याय में आत्म साक्षात्कार प्राप्त कर चुके साधक की अनुभूतियों का उल्लेख है। गन्ने के रस में व्याप्त शक्कर और समुद्र की लहरों की उपमा देकर ब्रह्म, जगत् और जीव की स्थितियाँ समझायी गयी हैं। आत्मानुभूति की इस अवस्था में सभी लौकिक सम्बन्धों तथा भेदभावों का अस्तित्व समाप्त हो जाने और जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त हो जाने की बात कही गयी है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्य एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीते नाहोरात्रान्संदधाम्यृतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परमात्मन्! मेरी वाणी मन में स्थित हो, मन वाणी में प्रतिष्ठित हो। (हे परमात्मन्!) आप मेरे समक्ष प्रकट हों। मेरे लिए वेद का ज्ञान लाएँ (प्रकट करें)। मैं पूर्वश्रुत ज्ञान को विस्मृत न करूँ। इस स्वाध्यायशील प्रवृत्ति से मैं दिन और रात्रियों को एक कर दूँ (मेरा स्वाध्याय सतत चलता रहे)। मैं सदैव ऋत और सत्य बोलूँगा। ब्रह्म मेरी रक्षा करे। वह (ब्रह्म) वक्ता (आचार्य) की रक्षा करे। त्रिविध ताप शान्त हों।

ॐ प्रत्यगानन्दं ब्रह्मपुरुषं प्रणवस्वरूपं अकार उकारो मकार इति त्र्यक्षरं प्रणवं तदेतदोमिति। यमुक्त्वा मुच्यते योगी जन्मसंसारबन्धनात्। ॐ नमो नारायणाय शङ्खचक्रगदाधराय तस्मात् ॐ नमो नारायणायेति मंत्रोपासको वैकुण्ठभुवनं गमिष्यति ॥१ ॥

स्वयं अपने आप में आनन्द स्वरूप विराट् ब्रह्म पुरुष 'अकार-उकार-मकार' से युक्त यह तीन अक्षरों वाला ॐकार रूप प्रणव का स्वरूप है। इसका जप करने से योगीजन सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं। शंख, चक्र एवं गदा को धारण करने वाले परमात्मा स्वरूप नारायण के लिए नमस्कार है। 'ॐ नमो नारायणाय' नामक इस मन्त्र की उपासना करने वाला मनुष्य वैकुण्ठ धाम को प्राप्त करता है॥ १ ॥

अथ यदिदं ब्रह्मपुरं पुण्डरीकं तस्मात्तडिदाभमात्रं दीपवत्प्रकाशम्॥ २ ॥

जो यह हृदय रूपी कमल है, वही ब्रह्मपुर है। केवल अकेला वही क्षेत्र विद्युत् अथवा दीपक के सदृश प्रकाशमान होता है॥ २ ॥

[आध्यात्मिक दृष्टि से भी हृदय क्षेत्र में दिव्य प्रकाश का बोध होता है तथा शरीर विज्ञान के अनुसार 'पेसमेकर' में भी हृदय को संचालित करने वाले स्पन्दन स्वतः ही उभरते रहते हैं। इन्हीं काय विद्युत् स्पन्दनों का अंकन ई.सी. जी. आदि यन्त्र करते हैं।]

ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः। ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरच्युतः॥ ३ ॥

देवकी पुत्र भगवान् कृष्ण ब्राह्मणों का हित चाहने वाले हैं, (वे) मधुसूदन ब्राह्मणों का सदा हित करने वाले हैं, कमल के सदृश नेत्र वाले भगवान् विष्णु ब्राह्मणों के शुभचिन्तक हैं तथा वे अविनाशी भगवान् अच्युत ब्राह्मणों के प्रिय हैं॥ ३ ॥

विवेकयुक्तिबुद्ध्याहं जानाम्यात्मानमद्वयम्। तथापि बन्धमोक्षादिव्यवहारः प्रतीयते॥ ११॥

मैं विवेक-बुद्धि से युक्त हूँ। मैं आत्मा को अद्वैत रूप में जानता हूँ, तब भी (शरीर रहते) बन्ध, मोक्ष आदि व्यवहार वाला हूँ॥ ११॥

निवृत्तोऽपि प्रपञ्चो मे सत्यवद्भाति सर्वदा। सर्पादौ रज्जुसत्तेव ब्रह्मसत्तैव केवलम्॥ १२॥
प्रपञ्चाधाररूपेण वर्ततेऽतो जगन्न हि। यथेक्षुरससंव्याप्ता शर्करा वर्तते तथा॥ १३॥
अद्वयब्रह्मरूपेण व्याप्तोऽहं वै जगत्त्रयम्। ब्रह्मादिकीटपर्यन्ताः प्राणिनो मयि कल्पिताः॥ १४॥
बुद्बुदादिविकारान्तस्तरङ्गः सागरे यथा। तरङ्गस्थं द्रवं सिन्धुर्न वाञ्छति यथा तथा॥ १५॥
विषयानन्दवाञ्छा मे मा भूदानन्दरूपतः। दारिद्र्याशा यथा नास्ति संपन्नस्य तथा मम॥ १६॥
ब्रह्मानन्दे निमग्नस्य विषयाशा न तद्भवेत्। विषं दृष्ट्वाऽमृतं दृष्ट्वा विषं त्यजति बुद्धिमान्॥ १७॥
आत्मानमपि दृष्ट्वाहमनात्मानं त्यजाम्यहम्। घटावभासको भानुर्घटनाशे न नश्यति॥ १८॥
देहावभासकः साक्षी देहनाशे न नश्यति। न मे बन्धो न मे मुक्तिर्न मे शास्त्रं न मे गुरुः॥ १९॥

मेरी दृष्टि से प्रपञ्च निवृत्त (दूर) हो गया है, तब भी सर्वदा वह सत्य के सदृश प्रतिभासित होता है। निश्चय ही सर्प आदि में जिस प्रकार रस्सी का अस्तित्व है, उसी प्रकार ही प्रपञ्च का भी अस्तित्व है। केवल मात्र ब्रह्म सत्ता के आधार पर ही प्रपञ्च का व्यवहार है, यह जगत् तो है ही नहीं। जिस तरह शक्कर गन्ने के रस में व्याप्त है, उसी तरह ही अद्वैत ब्रह्म आनन्द रूप में तीनों लोकों में विद्यमान है। जिस प्रकार सागर में बुलबुले से लेकर तरंगें तक कल्पित हैं, उसी प्रकार मेरे द्वारा ब्रह्म से लेकर कीट पर्यन्त प्राणिमात्र कल्पित हैं। जिस तरह समुद्र की तरंगों में रहने वाले जल की इच्छा नहीं करते, उसी तरह केवल आनन्द स्वरूप होने में मुझे विषयों के आनन्द की कोई भी इच्छा नहीं रहती। जिस तरह सम्पत्ति से सम्पन्न व्यक्ति को दरिद्रता की कोई संभावना नहीं रहती, उसी तरह ही ब्रह्म के आनन्द में निमग्न रहने वाले मुझको विषयों की कोई आशा नहीं रहती। बुद्धिमान् पुरुष जिस प्रकार विष और अमृत को देख करके विष का परित्याग कर देता है, उसी प्रकार मैं आत्मा को देख करके अनात्मा का परित्याग कर देता हूँ। जैसे घट (घड़े) को प्रकाश देने वाला सूर्य घड़े के नष्ट होने से स्वयं नष्ट नहीं हो जाता, वैसे ही शरीर को प्रकाश देने वाला साक्षी-परमात्मा, शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता। न मेरे लिए कोई बन्धन है और न ही मुक्ति, न मेरे लिए कोई शास्त्र है और न ही मेरा कोई गुरु॥ १२-१९॥

मायामात्रविकासत्वान्मायातीतोऽहमद्वयः। प्राणाश्चलन्तु तद्धर्मैः कामैर्वा हन्यतां मनः॥२०॥
आनन्दबुद्धिपूर्णस्य मम दुःखं कथं भवेत्। आत्मानमञ्जसा वेद्मि क्वाप्यज्ञानं पलायितम्॥२१॥

ये सब तो माया के विकास मात्र हैं तथा मैं (आत्मा) माया से परे स्वयं अद्वैत रूप हूँ। प्राण भले ही निकल जायें और मन चाहे अपने धर्मों एवं कामनाओं से विनाश को प्राप्त हो जाये; परन्तु आनन्द एवं बुद्धि की पूर्णता के कारण मुझे कैसे दुःख प्राप्त हो सकता है? मैं आत्मा को तो अनायास-सहज ही जानता हूँ, मेरा अज्ञान न मालूम कहाँ पलायन कर गया है॥ २०-२१॥

कर्तृत्वमद्य मे नष्टं कर्तव्यं वापि न क्वचित्। ब्राह्मण्यं कुलगोत्रे च नामसौन्दर्यजातयः॥ २२॥
स्थूलदेहगता एते स्थूलाद्भिन्नस्य मे नहि। क्षुत्पिपासान्ध्यबाधिर्यकाम-क्रोधादयोऽखिलाः॥२३॥
लिङ्गदेहगता एते ह्यलिङ्गस्य न सन्ति हि। जडत्वप्रियमोदत्वधर्माः कारणदेहगाः॥२४॥

अब मेरा कर्तृत्व-भाव बिल्कुल नष्ट हो गया है तथा मुझे कुछ भी करना शेष नहीं है। ब्राह्मण कुल- गोत्र, नाम की सुन्दरता एवं जाति का अस्तित्व तो मात्र स्थूल शरीर में ही होता है, मैं तो स्थूल पदार्थों से बिल्कुल पृथक् हूँ। क्षुधा (भूख), पिपासा (प्यास), अन्धापन, बहरापन, काम-क्रोध आदि सभी तरह के धर्म-लिङ्ग (चिह्न) आदि शरीर में स्थित रहते हैं, मैं तो इस लिंग शरीर से रहित हूँ। मुझमें इनमें से कोई भी विकार नहीं है। जड़ता, प्रियता और आनन्द मनाना आदि कारण शरीर के धर्म हैं॥ २२-२४॥

न सन्ति मम नित्यस्य निर्विकारस्वरूपिणः। उलूकस्य यथा भानुरन्धकारः प्रतीयते॥ २५॥
स्वप्रकाशे परानन्दे तमो मूढस्य जायते। चतुर्दृष्टिनिरोधेऽभ्रैः सूर्यो नास्तीति मन्यते॥ २६॥
तथाऽज्ञानावृतो देही ब्रह्म नास्तीति मन्यते। यथामृतं विषाद्भिन्नं विषदोषैर्न लिप्यते॥ २७॥

मैं तो नित्य और निर्विकार स्वरूप से युक्त हूँ, अतः ये (उपर्युक्त) सभी मेरे धर्म नहीं हैं। जैसे उलूक (उल्लू) को सूर्य अन्धकार युक्त दिखाई देता है, वैसे ही मूढ़ (अज्ञानी) मनुष्य को स्वयं प्रकाश स्वरूप परमानन्द में अज्ञान दृष्टिगोचर होता है। जैसे बादलों के कारण चारों ओर से दृष्टि के रुक जाने से लोग समझने लगते हैं कि सूर्य नहीं है, वैसे ही मूढ़ता से आवृत प्राणी यह मान लेता है कि ब्रह्म है ही नहीं। जिस प्रकार से अमृत विष से अलग है, इस कारण विष के दोषों से वह दूषित नहीं होता, उसी प्रकार मैं (आत्मा) जड़ से भिन्न हूँ। अतः जड़ के दोषों का मुझमें स्पर्श नहीं होता॥ २५-२७॥

न स्पृशामि जडाद्भिन्नो जडदोषान् प्रकाशतः। स्वल्पापि दीपकणिका बहुलं नाशयेत्तमः॥२८॥
स्वल्पोऽपि बोधो निबिडं बहुलं नाशयेत्तथा। कालत्रये यथा सर्पो रज्जौ नास्ति तथा मयि॥ २९
अहंकारादिदेहान्तं जगन्नास्त्यहमद्वयः। चिद्रूपत्वान्न मे जाड्यं सत्यत्वान्नानृतं मम ॥ ३०॥

जैसे दीपकणिका अर्थात् दीपक की छोटी सी ज्योति भी बहुत बड़े अन्धकार को विनष्ट कर देती है, वैसे ही थोड़े से ज्ञान का प्रकाश भी घने अन्धकार रूपी अज्ञान को विनष्ट कर देता है। जैसे रस्सी में तीनों कालों में कभी भी सर्प नहीं है, वैसे ही अहंकार से लेकर शरीर तक का संसार मेरे अन्दर तीनों काल में नहीं है, मैं तो केवल अद्वैत रूप में ही हूँ। मैं चैतन्य स्वरूप हूँ, इसलिए मुझ में जड़ता नहीं है। मैं सत्य स्वरूप हूँ, इस कारण मुझ में झूठ नहीं है। मैं आनन्द स्वरूप हूँ ॥ २८-३०॥

आनन्दत्वान्न मे दुःखमज्ञानाद्भाति सत्यवत्। आत्मप्रबोधोपनिषन्मुहूर्तमुपासित्वा न स पुनरावर्तते। न स पुनरावर्तत इत्युपनिषत्॥ ३१॥

आनन्द स्वरूप होने के कारण मुझ में दुःख नहीं हैं। ये सभी (जगत्प्रपंच) तो केवल अज्ञान से ही प्रतिभासित होते हैं। इस आत्मप्रबोध उपनिषद् का जो व्यक्ति कुछ क्षण भी उपासना (साक्षात्कार प्राप्त) कर लेता है, वह पुनः इस संसार में नहीं आता है, ऐसी यह उपनिषद् (रहस्य विद्या) है॥ ३१॥

ॐ वाङ्मे मनसि..... इति शान्तिः॥

॥ इत्यात्मबोधोपनिषत्समाप्ता॥

॥ आत्मोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध है। नाम के अनुसार इस उपनिषद् में आत्म तत्त्व की विभिन्न स्थितियों-आत्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा को स्पष्ट किया गया है। शरीर एवं इन्द्रियादि में सक्रिय चेतन को आत्मा, प्रकृति के विभिन्न घटकों, पंचतत्त्वों आदि में संव्याप्त को अन्तरात्मा तथा इन सब घटकों से परे चेतन प्रवाह को परमात्मा-ब्रह्म कहा गया है। सूर्य जैसे राहुग्रस्त दिखता है; पर होता नहीं, उसी प्रकार आत्मा भी अज्ञानग्रस्त दिखता है; पर होता नहीं, यह कहकर ऋषि ने सूर्यग्रहण के तथ्य के साथ ही जीवन के तथ्य को भी उजागर किया है। रस्सी में सर्पबोध तथा सर्प का केंचुली से मुक्त होने के उदाहरणों से संसार रूपी भ्रमों और आत्मा की सहज मुक्तावस्था को समझाया गया है। ब्रह्म को सभी उपमाओं, सम्बोधनों और शब्दार्थों से परे सिद्ध किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अथर्वशिर उपनिषद्)

अथाङ्गिरास्त्रिविधः पुरुषोऽजायतात्माऽन्तरात्मा परमात्मा चेति ॥ १-क ॥

अङ्गिरा (अंग, अंगी, अंग-ज्ञ आदि दृष्टि से) पुरुष (परमात्मा) त्रिविध 'आत्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा' रूप में प्रादुर्भूत (प्रकट) हुआ ॥ १-क ॥

त्वक् चर्ममांसरोमाङ्गुष्ठाङ्गुल्यः पृष्ठवंशनखगुल्फोदरनाभिमेढ्रकट्यूरुकपोलश्रोत्र भ्रूललाटबाहुपार्श्वशिरोधमनिकाऽक्षीणि भवन्ति जायते म्रियत इत्येष बाह्यात्मा ॥ १-ख ॥

(अब क्रमशः आत्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का स्वरूप वर्णित कर रहे हैं-) जो त्वक् (त्वचा), चर्म, मांस, रोम (बाल), अँगूठा, अँगुलियों , पीठ (पृष्ठभाग), नख, गुल्फ (टखनों), उदर (पेट), नाभि, जननेन्द्रिय, कटि (कमर), जंघा, कपोल, भौंह, मस्तक, भुजाओं, पार्श्वभाग, सिर एवं आँखों आदि (स्थूल शरीर) के माध्यम से जन्म-मरण के चक्र में घूमता है, वह आत्मा है ॥ १-ख ॥

अथान्तरात्मा नाम पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशेच्छाद्वेषसुखदुःखकाममोह विकल्पनादिभिः स्मृतिलिङ्ग उदात्तानुदात्तह्रस्वदीर्घप्लुतस्खलितगर्जितस्फुटितमुदितनृत्तगीतवादित्रप्रलय विजृम्भितादिभिः श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः पुराणन्याय - मीमांसाधर्मशास्त्राणीति श्रवणघ्राणाकर्षणकर्मविशेषणं करोत्येषोऽन्तरात्मा ॥ १-ग ॥

अन्तरात्मा (दृश्य पदार्थों में अव्यक्त रूप से स्थित अन्तर्यामी चेतन) वह है, जो पृथ्वी, जल, सुख-दुःख आदि (गुण), काम, मोह, तर्क-वितर्क आदि, स्मृति, लिंग, उदात्त, अनुदात्त, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि (स्वर भेद), स्खलित, गर्जित (मेघ शब्द), स्फुटित, मुदित, नृत्य, गीत, वादित (आदि ध्वनि रूप), प्रलय, विजृम्भण (विकास) आदि के द्वारा श्रवण करने वाला, सूँघने वाला, रस लेने वाला, मनन करने वाला, जानने वाला, कार्य करने वाला, विज्ञानात्मा, पुराण, न्याय, मीमांसा आदि जो धर्मशास्त्रों का ज्ञाता, श्रवण, घ्राण (सूँघना), आकर्षण एवं कार्य विशेष को पूर्ण करता है ॥ १-ग ॥

अथ परमात्मा नाम यथाक्षर उपासनीयः। स च प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधियोगानुमानाध्यात्मचिन्तकं वटकणिका वा श्यामाकतण्डुलो वा वालाग्रशतसहस्रविकल्पनाभिः स लभ्यते नोपलभ्यते न जायते न म्रियते न शुष्यति न क्लिद्यते न दह्यति न कम्पते न भिद्यते न च्छिद्यते निर्गुणः साक्षीभूतः। शुद्धो निरवयवात्मा केवलः सूक्ष्मो निष्कलो निरञ्जनो निर्विकारः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवर्जितो निर्विकल्पो निराकाङ्क्षः सर्वव्यापी सोऽचिन्त्यो निर्वर्ण्यश्च पुनात्यशुद्धान्यपूतानि। निष्क्रियस्तस्य संसारो नास्ति॥ १-घ॥

परमात्मा नाम से सम्बोधित अक्षर (अविनाशी या ॐकार रूप में) आराध्य है। वह (परमात्मा) प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, योग, अनुमान, आत्मचिन्तन आदि के द्वारा; वट कणिका (वट वृक्ष के सूक्ष्म बीज), श्यामाक-तण्डुल (सावाँ के सूक्ष्म चावल) तथा अत्यन्त सूक्ष्म बाल के अग्रभाग के सैकड़ों-हजारों हिस्सों से भी अति सूक्ष्म; इस प्रकार से चिन्तन किया जाता हुआ प्राप्त भी होता है और नहीं भी होता है। वह न कभी प्रकट होता है और न ही मरता है, न शुष्क होता है, न आर्द्र होता है, न चलायमान है, न कम्पन करता है, न टूटता है, न स्थिर रहता है, वह तो गुणों से रहित, सर्व प्रमाण भूत, शुद्ध स्वरूप, अययवरहित आत्मा केवल, सूक्ष्म, निर्मल, निरंजन, विकारहीन, शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धहीन, ज्ञान से रहित, कल्पना रहित, आकांक्षा से रहित, सर्वत्र व्याप्त, अचिन्त्य एवं इस प्रकार का परमात्मा है कि जिसका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं किया जा सकता। (वह) अशुद्ध-अपवित्र को शुद्ध-पवित्र करता है, वह क्रियारहित है, उस परमात्मा का कोई संसार नहीं है अर्थात् संसार रहित है॥ १-घ॥

[संसार का अर्थ (संसरति इति संसारः) गतिशील या परिवर्तनशील होता है। परमात्मा एक रूप रहने वाला होने से उसका कोई संसरण नहीं होता; इस भाव से उसे संसार रहित कहा गया है। अगले मन्त्रों में उस आत्म तत्त्व का स्वरूप दृष्टिगोचर होने पर सब जगह उस परमात्मतत्त्व-ब्रह्म के ही भासित होने की बात कही गई है।]

आत्मसंज्ञः शिवः शुद्ध एक एवाद्वयः सदा। ब्रह्मरूपतया ब्रह्म केवलं प्रतिभासते॥ १-ङ॥

'आत्मा' नामक वह परमपवित्र, कल्याणकारी, एकमात्र, अद्वैत, ब्रह्मरूप होने के कारण केवल ब्रह्म ही प्रतिभासित होता है॥ १-ङ॥

जगद्रूपतयाप्येतद्ब्रह्मैव प्रतिभासते। विद्याऽविद्यादिभेदेन भावाऽभावादिभेदतः॥ २॥

इस जगत् के रूप में ब्रह्म ही परिलक्षित होता है। विद्या-अविद्या, भाव-अभाव आदि के भेद से जो भी दृष्टिगोचर होता है, वह अविनाशी ब्रह्म का ही रूप है॥ २॥

गुरुशिष्यादिभेदेन ब्रह्मैव प्रतिभासते। ब्रह्मैव केवलं शुद्धं विद्यते तत्त्वदर्शने॥ ३॥

गुरु एवं शिष्य आदि के भेद से ब्रह्म ही दृष्टिगोचर होता हैं। वास्तव में यदि देखा जाए, तो यत्र-तत्र-सर्वत्र वह शुद्ध प्रकाश स्वरूप ब्रह्म ही है॥ ३॥

न च विद्या न चाविद्या न जगच्च न चापरम्। सत्यत्वेन जगद्भानं संसारस्य प्रवर्तकम्॥ ४॥

वस्तुतः न तो विद्या है और न ही अविद्या है, न जगत् है और न ही अन्य कोई वस्तु सत्य है; लेकिन सत्यरूप में जगत् का भान होना ही इस (संसार) का प्रवर्तक (इस प्रकृति का मूल कारण) है॥ ४॥

असत्यत्वेन भानं तु संसारस्य निवर्तकम्। घटोऽयमिति विज्ञातुं नियमः को न्वपेक्षते॥ ५॥

यह (संसार) असत्य है, यह भान होना ही इसका निवर्तक (मुक्तिदाता) है, जैसे सामने रखे हुए घट (घड़े) के ज्ञान के लिए कोई भी अन्य नियम (प्रमाण) अपेक्षित नहीं है (वह तो प्रत्यक्ष ही है)॥ ५॥

विना प्रमाणसुष्ठुत्वं यस्मिन्सति पदार्थधीः। अयमात्मा नित्यसिद्धः प्रमाणे सति भासते॥ ६॥

जिस प्रकार से प्रत्येक सामने स्थित पदार्थ का ज्ञान बिना ही प्रमाण के हो जाता है, ठीक उसी प्रकार नित्य-सिद्ध यह आत्मा प्रमाणित (प्रत्यक्ष) होकर ही प्रतिभासित (प्रकाशित) होता है अर्थात् प्रत्येक वस्तु का ब्रह्ममय रूप होने के कारण ब्रह्म के प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं रहती है॥ ६॥

न देशं नापि कालं वा न शुद्धिं वाप्यपेक्षते। देवदत्तोऽहमित्येतद्विज्ञानं निरपेक्षकम्॥ ७॥

जिस प्रकार देवदत्त आदि नाम के प्रति विज्ञानी (पुरुष) निरपेक्ष (पूर्ण आश्वस्त)हो जाता है, उसी प्रकार वह (आत्मतत्त्व) देश, काल अथवा किसी भी तरह की पवित्रता की अपेक्षा नहीं रखता॥ ७॥

तद्वद्ब्रह्मविदोऽप्यस्य ब्रह्माहमिति वेदनम्। भानुनेव जगत्सर्वं भास्यते यस्य तेजसा॥ ८॥

उसी प्रकार ब्रह्म को जानने वाले का ब्रह्माहम् (मैं ब्रह्म हूँ) ऐसा समझना ही ब्रह्म का साक्षात्कार (प्रत्यक्षानुभूति) है। जिस तरह सूर्य से सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है, उसी तरह ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उस ब्रह्म के तेज से प्रकाशित होता है॥ ८॥

अनात्मकमसत्तुच्छं किं नु तस्यावभासकम्। वेदशास्त्रपुराणानि भूतानि सकलान्यपि। येनार्थवन्ति तं किं नु विज्ञातारं प्रकाशयेत्॥ ९॥

उस ब्रह्म के प्रत्यक्ष सिद्धत्व में अन्य कोई साक्ष्य देना अनात्मक, असत् एवं तुच्छ है, उसका अवभासक (बोध् कराने वाला) कौन है? (अर्थात् कोई नहीं।) वेद, शास्त्र, पुराण एवं समस्त भूत (प्राणि - जगत्) जिसके माध्यम से अर्थवान् हैं, वह (ब्रह्म) तो स्वयं प्रकाशित है॥ ९॥

क्षुधां देहव्यथां त्यक्त्वा बालः क्रीडति वस्तुनि॥ १०॥ तथैव विद्वान् रमते निर्ममो निरहं सुखी। कामान्निष्कामरूपी संचरत्येकचरो मुनिः॥ ११॥

जिस प्रकार बालक भूख अथवा शरीर की किसी भी तरह की पीड़ा-परेशानी को त्याग कर (अर्थात् भूलकर) आकर्षक वस्तुओं (खिलौनों) के साथ क्रीड़ा करता रहता है, उसी प्रकार ही विद्वज्जन ममता-रहित, अहंकाररहित, सुखी रहते हुए ब्रह्म में ही रमण किया करता है। वह (आत्मज्ञानी) सभी तरह की इच्छाओं से मुक्त होकर मुनिरूप में एकान्तवासी होकर विचरण करता रहता है॥ १०-११॥

स्वात्मनैव सदा तुष्टः स्वयं सर्वात्मना स्थितः। निर्धनोऽपि सदा तुष्टोऽप्यसहायो महाबलः॥ १२

स्वयं अपनी ही आत्मा से सदा सन्तुष्ट तथा अपने को सर्वत्र स्थित मानता हुआ (लौकिक दृष्टि से) निर्धन भी सदैव सन्तुष्ट एवं असहाय भी अपने को महाबलवान् समझता है॥ १२॥

नित्यतृप्तोऽप्यभुञ्जानोऽप्यसमः समदर्शनः। कुर्वन्नपि न कुर्वाणश्चाभोक्ता फलभोग्यपि॥ १३॥

वह किसी भी तरह का भोजन न ग्रहण करता हुआ भी नित्य तृप्त रहता है, देखने में असमान व्यवहार करता हुआ भी सबको बराबर देखने वाला, कार्य करता हुआ भी काम न करता हुआ-सा तथा फल का उपभोग करता हुआ भी भोगरहित माना जाता है॥ १३॥

मन्त्र क्र० १५-१६ में ऋषि यह बात स्पष्ट करते हैं कि सूर्य (ग्रहण या बादलों के कारण) अन्धकार ग्रस्त दिखता भर है; किन्तु वास्तव में वह ग्रसित होता नहीं है। जन सामान्य को समझने के लिए कहे गये बाल सुलभ उदाहरणों के आधार पर किसी को यह नहीं सोच लेना चाहिए कि शास्त्र विज्ञान सम्मत नहीं हैं-

शरीर्यप्यशरीर्येष परिच्छिन्नोऽपि सर्वगः। अशरीरं सदा सन्तमिदं ब्रह्मविदं क्वचित्॥ १४॥ प्रियाप्रिये न स्पृशतस्तथैव च शुभाशुभे। तमसा ग्रस्तवद्भानादग्रस्तोऽपि रविर्जनैः॥ १५॥

ग्रस्त इत्युच्यते भ्रान्त्या ह्यज्ञात्वा वस्तुलक्षणम्। तद्वद्देहादिबन्धेभ्यो विमुक्तं ब्रह्मवित्तमम्॥ १६॥
पश्यन्ति देहिवन्मूढाः शरीराभासदर्शनात्। अहिनिर्ल्वयनीवायं मुक्तदेहस्तु तिष्ठति॥ १७॥

वह आत्मा शरीर में रहते हुए भी अशरीरी है, वह परिच्छिन्न (शरीर में आबद्ध) रहता हुआ भी सर्वत्र गमनशील अर्थात् व्याप्त है। इसलिए शरीररहित उस ब्रह्मज्ञानी को कहीं पर भी प्रिय तथा अप्रिय ज्ञान स्पर्श नहीं करता (अर्थात् वह आत्मा किसी को प्रिय या अप्रिय नहीं समझता), शुभ एवं अशुभ उसे स्पर्श भी नहीं कर सकते। उसकी दृष्टि में सभी समान हैं। जिस प्रकार लोगों के द्वारा सूर्य राहु से ग्रसित न होने पर भी ग्रसित मान लिया जाता है, लोग भ्रान्तिवश उसे ग्रसित मानते हैं; क्योंकि उन्हें वस्तु-स्थिति का पता नहीं होता। उसी प्रकार शरीरादि के बन्धनों से मुक्त श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी को शरीरी के रूप में मानने वाले मूढ़ (वज्रमूर्ख) समझे जाते हैं; वास्तव में वह ब्रह्मज्ञानी (आत्मा) साँप की केंचुली के सदृश शरीर से सर्वथा मुक्त रहता है॥ १४-१७॥

इतस्ततश्चाल्यमानो यत्किंचित्प्राणवायुना। स्त्रोतसा नीयते दारु यथानिम्नोन्नतस्थलम्॥ १८॥

यह शरीर प्राण वायु के द्वारा ही इधर-उधर संचालित किया जाता है, जैसे झरने-नदी आदि के स्रोतों द्वारा लकड़ियों को ऊपर-नीचे ले जाया जाता है॥ १८॥

दैवेन नीयते देहो तथा कालोपभुक्तिषु। लक्ष्यालक्ष्यगतिं त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत्केव-लात्मना॥१९॥
शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्मविदुत्तमः। जीवन्नेव सदा मुक्तः कृतार्थो ब्रह्मवित्तमः॥ २०॥

जैसे दैव (भाग्य) के द्वारा देह कालोपभोग (सुख-दुःख आदि उपभोगों) में ले जाई जाती है, ऐसे जो केवल अपनी आत्मा के सहारे लक्ष्य-अलक्ष्य की गति को त्यागकर स्थिर हो जाता है, वह (आत्मानुभूतियुक्त साधक) ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ साक्षात् भगवान् शिव ही है। शिवस्वरूप वह कृतार्थ ब्रह्मज्ञानी जीवित रहते हुए भी मुक्तावस्था को प्राप्त हो जाता है॥ १९-२०॥

उपाधिनाशाद्ब्रह्मैव सद्ब्रह्माप्येति निर्द्वयम्। शैलूषो वेषसद्भावाभावयोश्च यथा पुमान्॥ २१॥

यह (आत्मा), उपाधि (शरीरादि) के विनष्ट हो जाने पर ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म में विलीन हो जाता है, जिस तरह विविध वेश को धारण करने पर व्यक्ति नट आदि के रूप में समझा जाता है तथा अपने वास्तविक रूप में आ जाने पर वही (पूर्व जैसा) व्यक्ति समझा जाता है॥ २१॥

तथैव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठः सदा ब्रह्मैव नापरः। घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम्॥ २२॥

उसी तरह ही ब्रह्म को जानने वाला भी स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है। केवल शरीरादि (वेश) के कारण वह भिन्न प्रतीत होता है। वस्तुतः वह ब्रह्म ही है, उससे भिन्न अन्य और कुछ भी नहीं है। जैसे घट के फूट जाने पर घट के अन्दर का आकाश-आकाश रूप ही हो जाता है॥ २२॥

तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित्स्वयम्। क्षीरं क्षीरे यथा क्षिप्तं तैलं तैले जलं जले॥ २३॥
संयुक्तमेकतां याति तथाऽऽत्मन्यात्मविन्मुनिः। एवं विदेहकैवल्यं सन्मात्रत्वमखण्डितम्॥२४॥
ब्रह्मभावं प्रपद्यैष यतिर्नावर्तते पुनः। सदात्मकत्वविज्ञानदग्धाविद्यादिवर्ष्मणः॥ २५॥

वैसे ही उपाधि अर्थात् शरीरादि के विलय हो जाने के पश्चात् ब्रह्म को जानने वाला स्वयं ब्रह्म रूप ही हो जाता है। जिस तरह दुग्ध में दुग्ध, तेल में तेल और जल में जल मिला देने पर एक हो जाते हैं; ठीक उसी तरह आत्मज्ञानी मुनि एवं आत्मा की स्थिति भी एक ही है। इस प्रकार विदेह रूप कैवल्य-पद की प्राप्ति के पश्चात् सन्मात्र अखण्डित विग्रहवान् ब्रह्मभाव की प्राप्ति करके पुनः संसारावर्तन (आवागमन) से मुक्त हो जाता है; क्योंकि सदात्मकत्व विज्ञान से उसकी अविद्या दग्ध हो जाती है॥ २३-२५॥

अमुष्य ब्रह्मभूतत्वाद्ब्रह्मणः कुत उद्भवः। मायाक्लृप्तौ बन्धमोक्षौ न स्तः स्वात्मनि वस्तुतः ॥२६

ऐसे यति के ब्रह्मरूप हो जाने पर यह कैसे हो सकता है कि ब्रह्म का पुनः उद्भव हो। माया के द्वारा रचित बन्धन और मोक्ष वस्तुतः उस ब्रह्म में नहीं हुआ करते॥२६॥

यथा रज्जौ निष्क्रियायां सर्पाभासविनिर्गमौ। आवृतेः सदसत्त्वाभ्यां वक्तव्ये बन्धमोक्षणे ॥२७॥

जिस प्रकार निष्क्रिय रस्सी में सर्प का बोध हो जाने पर यदि वह (सर्पाभास) पुनः समाप्त हो जाता है, तो फिर केवल-मात्र रस्सी ही आभासित होने लगती है। उसी प्रकार आवरण के सत् और असत् भाव को ही बन्धन और मोक्ष कहना चाहिए॥ २७॥

नावृतिर्ब्रह्मणःकाचिदन्याभावादनावृतम्। अस्तीति-प्रत्ययो यश्च यश्च नास्तीति वस्तुनि॥ २८॥
बुद्धेरेव गुणावेतौ न तु नित्यस्य वस्तुनः। अतस्तौ मायया क्लृप्तौ बन्धमोक्षौ न चात्मनि॥२९॥

ब्रह्म का कोई भी आवरक नहीं होता। वह अन्य के अभाव के कारण अनावृत है। वस्तु के होने या न होने के विषय में जो कुछ भी विश्वास किया जाता है,ये तो वस्तुतः बुद्धि के ही गुण हैं,उस नित्य वस्तु (अविनाशी ब्रह्म) के नहीं। अतः माया के द्वारा प्रादुर्भूत होने वाले बन्धन और मोक्ष आत्मा में नहीं होते॥ २८-२९॥

[ऋषि यहाँ यह तथ्य बहुत स्पष्ट कर देते हैं कि बन्धन या मुक्ति आत्मा के लिए नहीं, बुद्धि के लिए है। मेरे-तेरे में बुद्धि ही उलझती-सुलझती है, आत्मा तो सहज मुक्तावस्था में ही स्थित है।]

निष्कले निष्क्रिये शान्ते निरवद्ये निरञ्जने। अद्वितीये परे तत्त्वे व्योमवत्कल्पना कुतः॥ ३०॥

उस कलारहित, निष्क्रिय, शान्त, निष्पाप, निरञ्जन, अद्वितीय परमात्म तत्त्व में आकाश के भेदों की भाँति (घटाकाश, महाकाश आदि) कल्पना कहाँ से हो सकती है?॥ ३०॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥ ३१॥

सत्य तो यह है कि वह परब्रह्म न तो जन्म लेता है और न ही जन्मरहित है,न वह बन्धन में रहता है, न ही साधक है, न ही वह मोक्ष की इच्छा वाला है और न ही वह मुक्त है (वह इन सबसे परे है।)॥ ३१॥

[जन्म लेने वाली काया के साथ वह प्रकट होता दीखता है, इसलिए वह जन्म रहित नहीं है, लेकिन जन्म तो काया का होता है, चेतना का नहीं, पात्र बनते-टूटते हैं, उनमें रहने वाला जल तो पात्र के जन्म और क्षय से मुक्त है, इसलिए अजन्मा है। इसी भाव से उसे न मुक्त कह सकते हैं, न अमुक्त, न मोक्षाकांक्षी।]

ॐ भद्रं कर्णेभिः .....इति शान्तिः॥

॥ इत्यात्मोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ आरुण्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेदीय मानी जाती है। इसे आरुणिकोपनिषद् के नाम से भी जाना जाता है। इसमें ऋषि आरुणि की वैराग्य जिज्ञासा के उत्तर में ब्रह्मा जी ने संन्यास में दीक्षित होने के सूत्र समझाये हैं। संन्यास में प्रवेश के लिए ब्रह्मचारी, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ तीनों को ही अधिकृत किया गया है। संन्यासी के यज्ञ-यज्ञोपवीत आदि कर्मकाण्ड के प्रतीकों के त्याग का बड़ा मार्मिक स्वरूप समझाया गया है। संन्यासी यज्ञ का त्याग नहीं करता, स्वयं यज्ञरूप बन जाता है, वह ब्रह्मसूत्र त्यागता नहीं, उसका जीवन ही ब्रह्मसूत्र हो जाता है। वह मंत्र त्यागता नहीं, उसकी वाणी ही मंत्र रूप हो जाती है। इन सब महत्त्वपूर्ण सूत्रों को अंतरंग जीवन में ही धारण करने के कारण उसे संन्यासी अर्थात् सम्यक् रूप से धारण करने वाला कहा गया है। संन्यास ग्रहण करने के स्थूल कर्मकाण्ड का भी उल्लेख किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥ ॐ शान्तिःशान्तिः शान्तिः ॥

मेरे समस्त अंग-अवयव वृद्धि को प्राप्त करें। वाणी, प्राण, नेत्र, कान, बल एवं सभी इन्द्रियाँ विकसित हों। समस्त उपनिषदें 'ब्रह्म' हैं। मुझसे ब्रह्म का त्याग न हो तथा ब्रह्म हमारा परित्याग न करे, मेरा परित्याग न हो-न हो। इस प्रकार ब्रह्म में निरत (लगे हुए) हमें उपनिषद्-प्रतिपादित धर्म की प्राप्ति हो। हमारे त्रिविध तापों का शमन हो तथा हमें शान्ति प्राप्त हो।

ॐ आरुणिः प्रजापतेर्लोकं जगाम। तं गत्वोवाच। केन भगवन्कर्माण्यशेषतो विसृजानीति। तं होवाच प्रजापतिस्तव पुत्रान्भ्रातॄन्बन्ध्वादीञ्छिखां यज्ञोपवीतं यागं सूत्रं स्वाध्यायं च भूर्लोकभुवर्लोकस्वर्लोकमहर्लोकजनोलोकतपोलोकसत्यलोकं चातलतला-तलवितलसुतलरसातलमहातलपातालं ब्रह्माण्डं च विसृजेत्। दण्डमाच्छादनं चैव कौपीनं च परिग्रहेत्। शेषं विसृजेदिति ॥ १ ॥

प्रजापति की उपासना करने वाले अरुण के पुत्र आरुणि ब्रह्मलोक में भगवान् ब्रह्माजी के समक्ष उपस्थित हुए तथा प्रार्थना करते हुए पूछा-हे भगवन्! मैं सभी कर्मों का किस तरह से परित्याग कर सकता हूँ। तब ब्रह्माजी ने उनसे कहा-हे ऋषे! अपने पुत्र, स्वजन-सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव आदि को यज्ञोपवीत, यज्ञ, शिखा और स्वाध्याय को तथा भू लोक, भुवः लोक, स्वः लोक, महः लोक, जनःलोक, तपःलोक, सत्यलोक और अतल, तलातल, वितल, सुतल, रसातल, महातल तथा पाताल आदि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का परित्याग कर देना चाहिए। मात्र दण्ड, आच्छादन के लिए वस्त्र एवं कौपीन (लँगोटी) को धारण करना चाहिए। शेष अन्य सभी वस्तुओं का परित्याग कर देना चाहिए॥ १ ॥

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थो वा उपवीतं भूमावप्सु वा विसृजेत्। अलौकिकाग्नीनुदराग्नौ समारोपयेत्। गायत्रीं च स्ववाच्यग्नौ समारोपयेत्। कुटीचरो ब्रह्मचारी कुटुम्बं विसृजेत्। पात्रं विसृजेत्। पवित्रं विसृजेत्। दण्डाँल्लोकाग्नीन् विसृजेदिति होवाच। अत ऊर्ध्वममन्त्रवदाचरेत्। ऊर्ध्वगमनं विसृजेत्। औषधवदशनमाचरेत्। त्रिसंध्यादौ स्नानमाचरेत्। संधिं समाधावात्म - न्याचरेत्। सर्वेषु वेदेष्वारण्यकमावर्तयेदुपनिषदमावर्तयेदुपनिषदमावर्तयेदिति॥ २॥

ब्रह्मचारी हो, गृहस्थ हो या वानप्रस्थी सभी को (अपने-अपने आश्रमों में विहित) दिव्य अग्नियों को अपने जठराग्नि में आरोपित कर लेना चाहिए। गायत्री को अपनी वाणी रूपी अग्नि में प्रतिष्ठित करे। यज्ञोपवीत को पृथ्वी पर अथवा जल में विसर्जित कर देना चाहिए। कुटी में निवास करने वाले ब्रह्मचारी को अपने परिवार (कुटुम्ब) का परित्याग कर देना चाहिए, पात्र का त्याग करे एवं पवित्री (कुशा) को भी त्याग दे। दण्ड और लौकिक अग्नि का भी त्याग करे, ऐसा ब्रह्माजी ने आरुणि से कहा। आगे उन्होंने कहा कि वह मंत्रहीन की तरह आचरण करे। ऊर्ध्व (स्वर्गादि) लोकों में जाने की इच्छा भी न करे। औषधि की भाँति अन्न ग्रहण करे तथा त्रिकाल संध्या-स्नान करे। संध्या काल में समाधिस्थ होकर परब्रह्म परमात्मा का अनुसंधान करे, सभी वेदों में आरण्यकों की आवृत्ति करे अर्थात् पढ़े और मनन करे तथा उपनिषदों का बार-बार अध्ययन करें॥ २॥

खल्वहं ब्रह्मसूत्रं सूचनात्सूत्रं ब्रह्मसूत्रमहमेव विद्वांस्त्रिवृत्सूत्रं त्यजेद्विद्वान्य एवं वेद संन्यस्तं मया संन्यस्तं मया संन्यस्तं मयेति त्रिरुक्त्वाऽभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। सखा मा गोपायोजःसखायोऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारयेति। अनेन मन्त्रेण कृतं वैणवं दण्डं कौपीनं परिग्रहेदौषधवदशनमाचरेदौषधवदशनं प्राश्नीयाद्यथालाभमश्नीयात्। ब्रह्मचर्यमहिंसां चापरिग्रहं च सत्यं च यत्नेन हे रक्षतो३ हे रक्षतो३ हे रक्षत इति॥ ३॥

निश्चय ही ब्रह्म का बोध कराने वाला सूत्र ब्रह्मसूत्र मैं स्वयं ही हूँ, ऐसा जानकर त्रिवृत्सूत्र (उपवीत) का भी परित्याग कर दे। ऐसा जानने वाला विद्वान् 'मया संन्यस्तम्' अर्थात् मैंने संन्यास ले लिया, मैंने सर्वस्व का त्याग कर दिया, सब कुछ छोड़ दिया, ऐसा तीन बार कहे। इसके पश्चात् 'अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (अर्थात् सभी हिंस्र और अहिंस्र प्राणियों को अभय प्राप्त हो, सम्पूर्ण जगत् मुझमें ही विद्यमान है।) इत्यादि मन्त्र से-हे दण्ड! आप मेरे मित्र हैं, आप मेरे ओज की रक्षा करें। आप मेरे मित्र तथा आप ही वृत्रासुर का विनाश करने वाले देवराज इन्द्र के वज्र हैं। हे वज्र ! आप हमें सुख प्राप्त करायें तथा हमें संन्यास धर्म से पथभ्रष्ट करने वाला जो भी पाप हो, उसका निवारण करें; यह कहते हुए अभिमंत्रित बाँस का दण्ड और कौपीन (लँगोटी) धारण करे। औषधि की तरह से भोजन ग्रहण करे, जो कुछ भी मिल जाए, उसे अल्पमात्रा में औषधि समझ कर खाए। हे आरुणि! संन्यास धर्म को ग्रहण करने के उपरान्त ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह और सत्य का निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिए। हे वत्स! उन (संन्यास के सभी अनुशासनों) की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करो, रक्षा करो, रक्षा करो॥ ३॥

अथातः परमहंसपरिव्राजकानामासनशयनादिकं भूमौ ब्रह्मचारिणां मृत्पात्रं वाऽलाबुपात्रं दारुपात्रं वा। कामक्रोधहर्षरोषलोभमोहदम्भदर्पेच्छासूयाममत्वाहंकारादीनपि परित्यजेत्। वर्षासु ध्रुवशीलोऽष्टौ मासानेकाकी यतिश्चरेद् द्वावे वा चरेद् द्वावे वा चरेदिति॥ ४॥

तदनन्तर (ब्रह्माजी ने पुनः कहा) ब्रह्मभाव को प्राप्त परमहंस परिव्राजकों के लिए पृथ्वी पर ही आसन और शयन आदि का नियम है। मिट्टी के पात्र को या फिर तूँबी अथवा काष्ठ के कमण्डलु को अपने पास रखे। संन्यासियों को काम, क्रोध, हर्ष, शोक, रोष, लोभ, मोह, दम्भ, ईर्ष्या, इच्छा, परनिन्दा एवं ममता और अहंकार आदि का भी परित्याग पूर्ण रूप से कर देना चाहिए। उन्हें वर्षा ऋतु के चार माह तक एक ही स्थान पर स्थिर होकर रहना चाहिए, इसके अतिरिक्त शेष आठ माह एकाकी भ्रमण करे अथवा कम से कम दो माह तक एक ही स्थान में रहे॥ ४॥

स खल्वेवं यो विद्वान्सोपनयनादूर्ध्वमेतानि प्राग्वा त्यजेत्। पितरं पुत्रमग्निमुपवीतं कर्म कलत्रं चान्यदपीह। यतयो भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशन्ति पाणिपात्रमुदरपात्रं वा। ॐ हि ॐ हि ॐ हीत्येतदुपनिषदं विन्यसेत्। खल्वेतदुपनिषदं विद्वान्य एवं वेद पालाशं बैल्वमाश्वत्थमौदुम्बरं दण्डं मौञ्जीं मेखलां यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा शूरो य एवं वेद। तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदमिति। एवं निर्वाणानुशासनं वेदानुशासनं वेदानुशासनम्। इत्युपनिषद्॥ ५॥

इसके समस्त नियम-उपनियम की पूर्ण जानकारी रखने वाला विद्वान् यदि संन्यास धर्म को ग्रहण करना चाहे, तो उसे उपनयन के पश्चात् अथवा पूर्व में भी अपने माता-पिता, पुत्र, अग्नि, उपवीत, कर्म, पत्नी अथवा अन्य और जो भी कुछ हो उन समस्त वस्तुओं-पदार्थों का त्याग कर देना चाहिए। संन्यास धर्म ग्रहण करने वाले को चाहिए कि वह अपने हाथों को ही पात्र बना ले या फिर अपने उदर (पेट) को ही पात्र रूप में उपयोग कर भिक्षार्थ गाँव में गमन करे। ॐ हि इस उपनिषद् मन्त्र का तीन बार उच्चारण करते हुए (भिक्षार्थ गाँव में) प्रवेश करे। यह उपनिषद् है। जो (विद्वान्) इस उपनिषद् को पूर्णरूप से जानता है, वही विद्वान् है। पलाश (छिउल), बेल, पीपल या गूलर आदि में से किसी का दण्ड, मूँज की मेखला धारण कर एवं यज्ञोपवीत आदि का परित्याग कर जो इस (उपनिषद्) को भली प्रकार जान लेता है, वही श्रेष्ठ है, वही शूरवीर है। जो (परमात्मा) आकाश में प्रकाश युक्त सूर्य मण्डल की तरह परम व्योम में चिन्मय तेज के द्वारा सभी ओर संव्याप्त है, ऐसे भगवान् विष्णु के उस परमधाम का विद्वान् उपासक सदैव दर्शन करते हैं। साधना में सतत लगे रहने वाले निष्काम उपासक ब्राह्मण वहाँ पहुँच कर उस परमधाम को और भी प्रदीप्त किए रहते हैं, ऐसे उस पद को विष्णु का परमधाम कहते हैं। इस प्रकार यह निर्वाण (मुक्ति प्राप्ति) का अनुशासन है, वेद का अनुशासन है, यही उपनिषद् है।॥ ५॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि ..... इति शान्तिः॥

॥ इति आरुण्युपनिषत्समाप्ता॥

॥ आश्रमोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है। यह अथर्ववेद से सम्बद्ध है। इसमें आश्रम व्यवस्था-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास, इन चारों आश्रमों के विभिन्न पक्षों एवं उनके अनुशासनों का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। चार कण्डिकाएँ चारों आश्रमों से सम्बन्धित हैं।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अथर्वशिर उपनिषद्)

अथातश्चत्वार आश्रमाः षोडशभेदा भवन्ति। तत्र ब्रह्मचारिणश्चतुर्विधा भवन्ति गायत्रो ब्राह्मणः प्रजापत्यो बृहन्निति। य उपनयनादूर्ध्वं त्रिरात्रमक्षारलवणाशी गायत्रीमन्त्रे स गायत्रः। योऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरेत्प्रतिवेदं द्वादश वा यावद्ग्रहणान्तं वा वेदस्य स ब्राह्मणः। स्वदारनिरत ऋतुकालाभिगामी सदा परदारवर्जी प्राजापत्यः। अथवा चतुर्विंशति-वर्षाणि गुरुकुलवासी ब्राह्मणोऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षवासी च प्राजापत्यः। आ प्रायणाद्गुरो-रपरित्यागी नैष्ठिको बृहन्निति ॥ १ ॥

चार आश्रम होते हैं, जिनके सोलह प्रकार होते हैं। ब्रह्मचारी चार प्रकार के होते हैं-गायत्र, ब्राह्मण, प्राजापत्य और बृहन्। जो उपनयन संस्कार के पश्चात् तीन रात्रि तक लवणरहित भोजन ग्रहण कर गायत्री जप करता है, उसे गायत्र कहते हैं। जो अड़तालीस वर्ष ब्रह्मचर्य धारण करते हुए वेदाध्ययन करता है तथा प्रत्येक बारह वर्ष का समय नियोजित करता है अथवा जब तक वेद का सम्यक् ज्ञान न हो जाए, तब तक वह ब्रह्मचर्य धारण करता है अर्थात् ब्रह्म (ज्ञान) प्राप्ति हेतु नियमों का पालन करता है, उसे 'ब्राह्मण' कहते हैं। अपनी स्त्री (धर्म पत्नी) से ऋतुकाल में ही समागम करने वाला तथा पर-स्त्री के प्रति वासनात्मक सम्बन्ध न रखने वाला 'प्राजापत्य' होता है अथवा जो चौबीस वर्ष तक गुरुकुल में वास करे, वह ब्राह्मण और जो अड़तालीस वर्ष तक वास करे, वह प्राजापत्य कहलाता है। जो नैष्ठिक (ब्रह्मचारी) जीवन पर्यन्त गुरु का परित्याग न करे, वह बृहन् कहलाता है ॥ १ ॥

गृहस्था अपि चतुर्विधा भवन्ति वार्त्ताकवृत्तयः शालीनवृत्तयो यायावरा घोरसंन्या - सिकाश्चेति। तत्र वार्त्ताकवृत्तयः कृषिगोरक्षवाणिज्यमगर्हितमुपयुञ्जानाः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। शालीनवृत्तयो यजन्तो न याजयन्तोऽधीयाना नाध्यापयन्तो ददतो न प्रतिगृह्णन्तः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। यायावरा यजन्तो याजयन्तोऽधीयाना अध्यापयन्तो ददतः प्रतिगृह्णन्तः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। घोरसंन्यासिका उद्धृतपरिपूताभिरद्भिः कार्यं कुर्वन्तः प्रतिदिवसमाहृतोञ्छवृत्ति - मुपयुञ्जानाः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

गृहस्थ भी चार प्रकार के होते हैं-वार्ताकवृत्ति, शालीनवृत्ति, यायावर और घोर संन्यासिक। वार्ताकवृत्ति गृहस्थ वे हैं; जो कृषि, गोरक्षा (पशुपालन) व व्यापार आदि अनिन्दित कर्म करते हुए सौ वर्ष (पूर्ण आयु)

तक यज्ञादि करते हुए आत्म-उपासना करते हैं। शालीनवृत्ति गृहस्थ वे होते हैं, जो स्वयं यज्ञ करते हैं; किन्तु अन्यों को कराते नहीं है। स्वयं अध्ययन करते हैं; किन्तु औरों को पढ़ाते नहीं हैं। दान देते तो हैं; किन्तु दूसरों से स्वयं नहीं लेते। इस प्रकार सौ वर्ष (पूर्ण आयु) तक यज्ञादि करते हुए आत्म-उपासना करते हैं। यायावर गृहस्थ वे होते हैं, जो यज्ञ करते हैं और दूसरों को भी कराते हैं। स्वयं अध्ययन करते हैं तथा दूसरों को भी कराते हैं। दान देते हैं तथा लेते भी हैं। इस प्रकार सौ वर्ष (पूर्ण आयु) तक यज्ञादि करते हुए आत्म-साधना करते हैं। घोर संन्यासिक गृहस्थ वे हैं, जो पवित्र जल स्वयं लाकर कार्य करते हुए उञ्छवृत्ति (खेत से फसल उठाने के बाद गिरे हुए अन्न को बीन कर जीविका चलाना) अपना कर जीवन निर्वाह करते हुए तपश्चर्या में निरत रहकर सौ वर्ष (पूर्ण आयु) तक यज्ञादि करते हुए आत्म-साधना करते हैं॥ २॥

वानप्रस्था अपि चतुर्विधा भवन्ति वैखानसा उदुम्बरा बालखिल्याः फेनपाश्चेति। तत्र वैखानसा अकृष्टपच्यौषधिवनस्पतिभिर्ग्रामबहिष्कृताभिरग्निपरिचरणं कृत्वा पञ्चमहायज्ञ क्रियां निर्वर्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। उदुम्बराः प्रातरुत्थाय यां दिशमभिप्रेक्षन्ते तदाहृतोदुम्बरबदरनीवारश्यामाकैरग्निपरिचरणं कृत्वा पञ्चमहायज्ञक्रियां निर्वर्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। बालखिल्या जटाधराश्चीरचर्मवल्कलपरिवृताः कार्तिक्यां पौर्णमास्यां पुष्पफलमुत्सृजन्तः शेषानष्टौ मासान् वृत्त्युपार्जनं कृत्वाऽग्निपरिचरणं कृत्वा पञ्चमहायज्ञक्रियां निर्वर्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। फेनपा उन्मत्तकाः शीर्णपर्णफलभोजिनो यत्र यत्र वसन्तोऽग्निपरिचरणं कृत्वा पञ्चमहायज्ञक्रियां निर्वर्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते॥ ३॥

वानप्रस्थ भी चार प्रकार के होते हैं, वे हैं— वैखानस, उदुम्बर, बालखिल्य और फेनप। इनमें वैखानस वानप्रस्थी वे हैं, जो स्वतः उत्पन्न तथा पक्व ओषधियों और वनस्पतियों, जो ग्रामीणों द्वारा बहिष्कृत कर दी जाती हैं, से अग्नि परिचरण करके पञ्चमहायज्ञ करते हुए आत्म-साधना करते हैं। उदुम्बर वानप्रस्थी वे हैं, जो प्रातःकाल उठकर जिस किसी दिशा में दृष्टिपात होने पर उधर ही जाकर गूलर, बेर, नीवार तथा साँवाँ से अग्निहोत्र करके पञ्चमहायज्ञ सम्पन्न करते हुए आत्म-साधना करते हैं। बालखिल्य वानप्रस्थी वे हैं-जो जटा धारण करते हैं, चीर, चर्म (मृगचर्मादि) और वृक्षों की छाल रूप वस्त्र धारण करते हैं तथा (चार मास तक पुष्प-फल आदि ग्रहण करके) कार्तिकी पूर्णिमा पर (संचित) पुष्प-फल आदि का परित्याग कर देते हैं और (अगले) शेष आठ मास अपना जीविकोपार्जन (स्वयं उपार्जित) करके, अग्नि परिचरण करके पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान करते हुए आत्म-साधना करते हैं। फेनप वानप्रस्थी वे हैं, जो विक्षिप्त के समान रहते हुए जीर्ण पत्ते तथा फल ग्रहण करते हुए जहाँ कहीं भी स्थान मिले, वहीं निवास करते हुए अग्नि परिचरण करके पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान करते हुए आत्म-साधना करते हैं॥ ३॥

परिव्राजका अपि चतुर्विधा भवन्ति कुटीचरा बहूदका हंसाः परमहंसाश्चेति। तत्र कुटीचराः स्वपुत्रगृहेषु भिक्षाचर्यं चरन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। बहूदकास्त्रिदण्डकमण्डलुशिक्यपक्षजलपवित्रपात्रपादुकासनशिखायज्ञोपवीतकौपीनकाषायवेषधारिणः साधुवृत्तेषु ब्राह्मणकुलेषु भैक्षाचर्यं चरन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। हंसा एकदण्डधराः शिखावर्जिता यज्ञोपवीतधारिणः शिक्यकमण्डलुहस्ता ग्रामैकरात्रवासिनो नगरे तीर्थेषु पञ्चरात्रं वसन्त एकरात्रद्विरात्रकृच्छ्रचान्द्रायणादि चरन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। परमहंसा नदण्डधरा मुण्डाः

कन्थाकौपीनवाससोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तस्त्रिदण्डकमण्डलु-शिक्यपक्षजलपवित्रपात्रपादुकासनशिखायज्ञोपवीतानां त्यागिनः शून्यागारदेवगृहवासिनो न तेषां धर्मो नाधर्मो न चानृतं सर्वसहाःसर्वसमाः समलोष्टाश्मकाञ्चना यथोपपन्नचातुर्वर्ण्य-भैक्षाचर्यं चरन्त आत्मानं मोक्षयन्त आत्मानं मोक्षयन्त इति॥ ४॥

परिव्राजक (संन्यासी) भी चार प्रकार के होते हैं-कुटीचर (या कुटीचक), बहूदक, हंस और परमहंस। इनमें कुटीचर वे होते हैं, जो अपने पुत्र आदि के गृहों से भिक्षाचरण करते हुए आत्म-साधना करते हैं (आत्म चिन्तन करते हैं)। बहूदक वे हैं, जो त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिक्यपक्ष (रस्सी से बुना हुआ सींका अथवा झोला) पवित्र जलपात्र, पादुका, आसन, शिखा, यज्ञोपवीत, कौपीन तथा कषाय (भगवा) वेष धारण करते हुए सच्चरित्र ब्राह्मणों के घरों में भिक्षाचरण करते हुए आत्मतत्त्व का चिन्तन करते हैं। हंस वे हैं, जो एक दण्ड धारण करते हैं, शिखारहित यज्ञोपवीतधारी हाथ में शिक्य (सींका) और कमण्डलु धारण करने वाले हैं। वे ग्राम में केवल एक रात्रि तथा नगर और तीर्थ में पाँच रात्रि विश्राम करते हैं। वे एक रात्रि, दो रात्रि कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रत करते हुए आत्म-तत्त्व का चिन्तन करते हैं। परमहंस वे हैं, जो दण्ड धारण नहीं करते, मुण्डित रहते हुए कन्था और कौपीन धारण करते हैं। वे अव्यक्त लिङ्ग (अर्थात् अप्रकट चिह्न) वाले, अव्यक्त (गुप्त) आचरण वाले अर्थात् धीर-शान्त रहने वाले होते हैं, जो अनुन्मत्त होते हुए भी उन्मत्त की तरह व्यवहार करते हैं। वे त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिक्यपक्ष (छीका), पवित्र जलपात्र, पादुका, आसन, शिखा और यज्ञोपवीत आदि का त्याग कर देते हैं। वे शून्यगृह (निर्जन घर) अथवा देवालय में वास करते हैं। उनके लिए धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य कुछ नहीं होता। वे सब कुछ सहन करने वाले, समदर्शी और मिट्टी के ढेले, पत्थर और स्वर्ण को समान समझने वाले होते हैं। वे यथालब्ध सन्तोषी तथा चारों वर्णों से भिक्षा प्राप्त करते हुए आत्मा को बन्धन से मुक्त करते हैं, आत्मा के मोक्ष हेतु उपाय करते हैं॥ ४॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .....इति शान्तिः॥

॥ इति आश्रमोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ कठरुद्रोपानषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय शाखा के अन्तर्गत है। इसे 'कण्ठरुद्रोपनिषद्' भी कहा जाता है। इसमें देवताओं द्वारा ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा किए जाने पर भगवान् प्रजापति ने संन्यास आश्रम में प्रवेश की विधि सहित आत्म तत्त्व का विवेचन किया है। प्रथम तीन कण्डिकाओं में संन्यास ग्रहण करने की विधि है। ४ से ११ तक संन्यासोपरांत निर्वाह किए जाने वाले विविध अनुशासनों का वर्णन है। उसके बाद ब्रह्म एवं माया का वर्णन करते हुए तन्मात्राओं एवं ब्रह्माण्ड रचना का उल्लेख है। पंचआत्मा-पंचकोशों का मर्म समझाते हुए परमात्म तत्त्व को ही ईश्वर, जीव, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय एवं फल आदि के रूप में स्थापित किया गया है। अंत में इस सारे कथोपकथन को वेदान्त का सार कहा गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अवधूतोपनिषद्)

देवा ह वै भगवन्तमब्रुवन्नधीहि भगवन्ब्रह्मविद्याम्। स प्रजापतिरब्रवीत् ॥ १ ॥

एक बार समस्त देवगण भगवान् प्रजापति ब्रह्माजी के समीप जाकर बोले-हे भगवन्! आप कृपा करके हम लोगों को ब्रह्मविद्या का उपदेश करें; तब प्रजापति ने कहा- ॥ १ ॥

सशिखान्केशान्निष्कृष्य विसृज्य यज्ञोपवीतं निष्कृष्य ततः पुत्रं दृष्ट्वा त्वं ब्रह्मा त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोंकारस्त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं धाता त्वं विधाता। अथ पुत्रो वदत्यहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं वषट्कारोऽहमोंकारोऽहं स्वाहाहं स्वधाहं धाताहं विधाताहं त्वष्टाहं प्रतिष्ठास्मीति। तान्येतान्यनुव्रजन्नाश्रुमापातयेत्। यदश्रुमापातयेत्प्रजां विच्छिन्द्यात्। प्रदक्षिणमावृत्त्यैतच्चैतच्चा-नवेक्षमाणाः प्रत्यायन्ति। स स्वर्ग्यो भवति ॥ २ ॥

शिखा के साथ बालों का मुण्डन कराकर और यज्ञोपवीत का परित्याग करके, अपने पुत्र को देखकर उससे इस प्रकार कहे कि 'तुम ब्रह्मा हो, तुम यज्ञ हो, तुम वषट्कार हो, तुम ॐकार हो , तुम स्वाहा हो, तुम स्वधा हो, तुम धाता हो, तुम विधाता हो'। ऐसा सुनने के बाद पुत्र कहे कि 'मैं ब्रह्मा हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं वषट्कार हूँ, मैं ॐकार हूँ, मैं स्वाहा और स्वधा हूँ, मैं ही धाता, विधाता, त्वष्टा भी हूँ तथा प्रतिष्ठा भी मैं ही हूँ।' इस प्रकार से परिव्राजक (संन्यासी) होकर घर से बाहर निकलने पर जब पुत्र-पत्नी आदि पीछे-पीछे गमन करें, तो उन्हें देखकर के अश्रुपात न करे। यदि अश्रुपात करेगा, तो उसकी संतान विनष्ट हो जायेगी। तदनन्तर वे समस्त परिवारीजन संन्यासी की प्रदक्षिणा करने के पश्चात् उसे बिना देखे ही यदि वापस लौट जाते हैं, तो इस तरह का संन्यासी देवलोक का अधिकारी होता है॥ २ ॥

[पिता द्वारा पुत्र से दुहरवाये जाने वाले वाक्यों के पीछे उनका महत्त्वपूर्ण मन्तव्य है। सद्गृहस्थ जब संन्यासी बने, तो पुत्र को दायित्व सौंपने के साथ उसे आत्म गौरव का बोध करा दे; ताकि पिता का संरक्षण हट जाने पर भी वह आत्महीनता से ग्रस्त न हो, जाग्रत् आत्मविश्वास के साथ अपने दायित्वों का आदर्शनिष्ठ ढंग से निर्वाह कर सके। बिना अश्रुपात के विदाई के पीछे भी मोह मुक्त और आत्म विश्वास युक्त होकर होने का भाव है।]

ब्रह्मचारी वेदमधीत्य वेदोक्ताचरितब्रह्मचर्यो दारानाहृत्य पुत्रानुत्पाद्य ताननुरूपो पाधिभिर्वितत्येष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैस्तस्य संन्यासो गुरुभिरनुज्ञातस्य बान्धवैश्च। सोऽरण्यं परेत्य द्वादशरात्रं पयसाग्निहोत्रं जुहुयात्। द्वादशरात्रं पयोभक्षः स्यात्। द्वादशरात्रस्यान्ते-ऽग्नये वैश्वानराय प्रजापतये च प्राजापत्यं चरुं वैष्णवं त्रिकपालमग्निम्। संस्थितानि पूर्वाणि दारुपात्राण्यग्नौ जुहुयात्। मृण्मयान्यप्सु जुहुयात्। तैजसानि गुरवे दद्यात्। मा त्वं मामपहाय परागाः। नाहं त्वामपहाय परागामिति। गार्हपत्यदक्षिणाग्न्याहवनीयेष्वरणिदेशाद्भस्ममुष्टिं पिबेदित्येके। सशिखान्केशान्निष्कृष्य विसृज्य यज्ञोपवीतं भूः स्वाहेत्यप्सु जुहुयात्। अत ऊर्ध्वमनशनमपां प्रवेशमग्निप्रवेशनं वीराध्वानं महाप्रस्थानं वृद्धाश्रमं वा गच्छेत्। पयसा यं प्राश्नीयात्सोऽस्य सायंहोमः। यत्प्रातः सोऽयं प्रातः। यद्दर्शे तद्दर्शम्। यत्पौर्णमास्ये तत्पौर्णमास्यम्। यद्वसन्ते केशश्मश्रुलोमनखानि वापयेत्सोऽस्याग्निष्टोमः॥ ३॥

ब्रह्मचारी द्वारा वेदों-शास्त्रों के अनुसार ब्रह्मचर्य का पालन करने के बाद विवाह करके गृहस्थ धर्म का निर्वाह करते हुए पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् उनको सुसंस्कृत बनाकर, अपनी शक्ति के अनुसार यज्ञ-हवन आदि करने के उपरान्त अपने इष्ट-मित्रों तथा गुरुजनों से आज्ञा लेकर संन्यास ग्रहण किया जा सकता है। इस प्रकार संन्यास आश्रम में प्रवेश करने वाला वन में जाकर द्वादश रात्रियों तक दुग्ध से अग्निहोत्र करे और साथ ही द्वादश रात्रियों तक केवल दुग्धाहार पर रहे। द्वादश रात्रियों के पश्चात् विष्णु एवं रुद्र से सम्बन्धित चरु को, जो तीन कपाल (मिट्टी के पात्रों) पर सिद्ध किया (पकाया) गया हो; वैश्वानर अग्नि तथा प्रजापति के उद्देश्य से हवन कर दे। अग्निहोत्र में उपयोग किये हुए काष्ठ पात्रों को भी अग्नि में आहुति रूप में समर्पित कर दे। मिट्टी के पात्रों को जलाशय में समर्पित कर दे और स्वर्णादि के बने पदार्थों को अपने गुरु को दे दे। उस समय (गुरु के प्रति) इस प्रकार कहे 'तुम मुझे छोड़कर दूर गमन न करना तथा मैं तुम्हें त्याग कर दूर नहीं जाऊँगा।' कुछ शास्त्रों का मत है कि इसके पश्चात् गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय इन तीन प्रकार की यज्ञाग्नियों से अरणियों के पास से एक मुट्ठी भस्म लेकर पान (ग्रहण) करे। शिखा के साथ बालों का मुण्डन कराके तथा यज्ञोपवीत को उतार कर 'ॐ भूः स्वाहा' मंत्र को पढ़ते हुए जलाशय में विसर्जित कर दे। तत्पश्चात् अनशन, जल प्रवेश, अग्नि प्रवेश, वीरों के मार्ग का अनुसरण करके महाप्रस्थान करे या फिर किसी वृद्ध संन्यासी के आश्रम में निवास हेतु गमन करे। दुग्ध अथवा जल के सहित जो कुछ भी वह भोजन करे, वही भोजन उसका सायंकालीन यज्ञ है और प्रातःकाल के समय में जो भोज्य पदार्थ ग्रहण करे, वही उसका प्रातःकालीन हवन है। अमावस्या के दिन जिस भोजन को ग्रहण करता है, वही उसका दर्शयज्ञ है। पूर्णिमा को जो भोजन ग्रहण करता है, वही उसका पौर्णमास्य यज्ञ है और वसन्त ऋतु में जो वह केश, दाढ़ी, मूँछ, रोएँ, नख आदि कटवाता है, वही उसका अग्निष्टोम कहा गया है॥ ३॥

[संन्यासी कर्मकाण्डपरक अग्निहोत्र का त्याग करके जीवन की प्रत्येक क्रिया को यज्ञ रूप बनाये, यह भाव यहाँ स्पष्ट है। उच्चस्तरीय जीवन साधना अपनाये बिना केवल कर्मकाण्ड त्याग कर संन्यास धर्म की पूर्ति संभव नहीं है।]

संन्यस्याग्निं न पुनरावर्तयेन्मृत्युर्जयमावहमित्यध्यात्ममन्त्राञ्जपेत्। स्वस्ति सर्वजीवेभ्य इत्युक्त्वाऽऽत्मानमनन्यं ध्यायन् तदूर्ध्वबाहुर्विमुक्तमार्गो भवेत्। अनिकेतश्चरेत्। भिक्षाशी यत्किंचिन्नाद्यात्। लवैकं न धावयेज्जन्तुसंरक्षणार्थं वर्षवर्जमिति। तदपि श्लोका भवन्ति॥४॥

संन्यास ग्रहण करने के पश्चात् पुनः अग्नि का आधान अर्थात् अग्नि की स्थापना नहीं करनी चाहिए।

केवल 'मृत्युर्जयमावहम्' आदि आध्यात्मिक मन्त्रों का जप करना चाहिए। समस्त भूत-प्राणियों का कल्याण हो, ऐसा कहकर केवल आत्मतत्त्व का चिन्तन करता हुआ, ऊर्ध्व की ओर हाथों को उठाये हुए (परमात्मा के अतिरिक्त और किसी से साधन प्राप्त होने की कामना से मुक्त होकर) प्रपञ्च रहित मार्ग में गृहहीन होकर विचरण करे। भिक्षा के द्वारा प्राप्त अन्न के अतिरिक्त और कुछ भी ग्रहण न करे। एक स्थान पर क्षण-मात्र भी न रुके, सतत विचरण करता रहे। जीव-हिंसा से बचे रहने के लिए वर्षाकाल में विचरण की प्रक्रिया को विराम दे दे। इस संदर्भ (संन्यासी की मर्यादा) में कुछ श्लोक भी हैं॥ ४॥

कुण्डिकां चमसं शिक्यं त्रिविष्टपमुपानहौ। शीतोपघातिनीं कन्थां कौपीनाच्छादनं तथा॥ ५॥
पवित्रं स्नानशाटीं च उत्तरासङ्गमेव च। यज्ञोपवीतं वेदांश्च सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः ॥ ६॥
स्नानं पानं तथा शौचमद्भिः पूताभिराचरेत्। नदीपुलिनशायी स्याद्देवागारेषु वा स्वपेत्॥ ७॥
नात्यर्थं सुखदुःखाभ्यां शरीरमुपतापयेत्। स्तूयमानो न तुष्येत निन्दितो न शपेत्परान् ॥ ८॥

संन्यास ग्रहण करने वाले मनुष्य को चाहिए कि वह कुण्डिका, चमस (यज्ञीय पात्र) और शिक्य (झोली) आदि को एवं तिपाई, जूते, (जाड़े को दूर करने वाली) कन्था (कथरी), कौपीन के ऊपर अङ्गाच्छादन करने वाला वस्त्र, कुश की बनी हुई पवित्रो, स्नान के पश्चात् धारण करने वाले वस्त्र, उत्तरीय वस्त्र, यज्ञोपवीत तथा वेदाध्ययन आदि सभी का परित्याग कर दे। वह अपना स्नान, पान एवं शौच आदि कृत्य पवित्र जल से सम्पन्न करे। नदी के तट पर अथवा देव मंदिर में जाकर शयन करे। वह अधिक विश्राम न करे अथवा अधिक परिश्रम से शरीर को व्यर्थ में कष्ट न दे। वह दूसरों के द्वारा अपनी प्रशंसा श्रवण करके न प्रसन्न हो तथा न निन्दा या अपमान किये जाने पर गाली अथवा शाप दे॥ ५-८॥

ब्रह्मचर्येण संतिष्ठेदप्रमादेन मस्करी। दर्शनं स्पर्शनं केलिः कीर्तनं गुह्यभाषणम्॥ ९॥
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च। एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १०॥
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः। यज्जगद्भासकं भानं नित्यं भाति स्वतः स्फुरत् ॥ ११॥

संन्यासी को आलस्य-प्रमाद से रहित होकर संयमपूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते हुए जीवनयापन करना चाहिए। स्त्रियों का दर्शन, स्पर्श, क्रीड़ा, चर्चा, गुह्य (काम तत्त्व से सम्बन्धित) विषयों की बात-चीत, काम-सङ्कल्प, सम्भोग के लिए प्रयत्न तथा सम्भोग की क्रिया-ये आठ प्रकार के मैथुन विद्वान् पुरुषों के द्वारा बताये गये हैं। उक्त आठ प्रकार के मैथुन के त्याग रूप ब्रह्मचर्य का पालन मोक्ष प्राप्ति की इच्छा रखने वाले लोगों को करना चाहिए॥ ९-११॥

स एष जगतः साक्षी सर्वात्मा विमलाकृतिः। प्रतिष्ठा सर्वभूतानां प्रज्ञानघनलक्षणः॥ १२॥
न कर्मणा न प्रजया न चान्येनापि केनचित्। ब्रह्मवेदनमात्रेण ब्रह्माप्नोत्येव मानवः॥१३॥

जो जगत् को प्रकाश देने वाला है, नित्य प्रकाश रूप में स्वप्रकाशित है, वही समस्त जगत् का साक्षी है, निर्मल आकृति वाला (वह) सभी की आत्मा है। वह प्रज्ञानघन के रूप में है, समस्त प्राणि-समुदाय उसी ब्रह्म में प्रतिष्ठित हैं। मनुष्य परब्रह्म परमात्मा को न कर्म के द्वारा, न सन्तान के द्वारा और न ही दूसरे अन्य किसी साधन के द्वारा पा सकता है; अपितु वह उस परब्रह्म को ब्रह्मानुभव के द्वारा ही प्राप्त कर सकता है॥ १२-१३॥

तद्विद्याविषयं ब्रह्म सत्यज्ञानसुखाद्वयम्। संसारे च गुहावाच्ये मायाज्ञानादिसंज्ञिके ॥ १४॥
निहितं ब्रह्म यो वेद परमे व्योम्नि संज्ञिते। सोऽश्नुते सकलान्कामान्क्रमेणैव द्विजोत्तमः॥ १५॥
प्रत्यगात्मानमज्ञानमायाशक्तेश्च साक्षिणम्। एकं ब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मैव भवति स्वयम्॥ १६॥

वह सत्य-ज्ञान-आनन्द स्वरूप अद्वितीय ब्रह्म इस माया, अज्ञान एवं गुहा आदि नामों से कहे जाने वाले संसार में विद्यमान है। उस ब्रह्म को मात्र विद्या (सद्ज्ञान) के माध्यम से ही जाना जाता है। जो मनुष्य परम व्योम रूपी नित्य धाम में विद्यमान इस अविनाशी ब्रह्म को जानता है, वह (द्विजों में श्रेष्ठ) ब्राह्मण क्रमानुसार समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। उसकी सभी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं। अज्ञान एवं माया शक्ति के साक्षीरूप प्रत्यगात्मा को जो मनुष्य 'मैं एक ब्रह्मस्वरूप हूँ' इस प्रकार जानता है, वह (मनुष्य) स्वयं ही ब्रह्मस्वरूप हो जाता है॥ १४-१६॥

[ब्रह्मसाक्षात्कार कर लेने वाले साधक को यह गूढ़ तथ्य समझ में आने लगता है कि अव्यक्त आत्मतत्त्व से किस प्रकार व्यक्त सृष्टि प्रकट होती है। सृष्टि का यह क्रम आगे के मंत्रों में स्पष्ट किया गया है।]

ब्रह्मभूतात्मनस्तस्मादेतस्माच्छक्तिमिश्रितात्। अपञ्चीकृत आकाशः संभूतो रज्जुसर्पवत्॥ १७॥
आकाशाद्वायुसंज्ञस्तु स्पर्शोऽपञ्चीकृतः पुनः। वायोरग्निस्तथा चाग्नेराप अद्भ्यो वसुन्धरा॥ १८॥
तानि सर्वाणि सूक्ष्माणि पञ्चीकृत्येश्वरस्तदा। तेभ्य एव विसृष्टं तद्ब्रह्माण्डादि शिवेन ह॥१९॥
ब्रह्माण्डस्योदरे देवा दानवा यक्षकिन्नराः। मनुष्याः पशुपक्ष्याद्यास्तत्तत्कर्मानुसारतः॥ २०॥

शक्ति सम्पन्न इस ब्रह्म रूप आत्मा से उसी प्रकार अपञ्चीकृत आकाश अर्थात् शब्द आदि तन्मात्राएँ उत्पन्न हुईं, जिस प्रकार रज्जु (रस्सी) में सर्प की प्रतीति होती है। इसके पश्चात् पुनः आकाश से वायु संज्ञक अपञ्चीकृत स्पर्श-तन्मात्राओं की उत्पत्ति हुई। तदनन्तर वायु से अग्नि की उत्पत्ति, अग्नि से जल की उत्पत्ति और जल से पृथिवी की उत्पत्ति हुई। उन सूक्ष्म भूतों को शिवस्वरूप ईश्वर ने पञ्चीकृत करके उन्हीं से ब्रह्माण्ड आदि की रचना की। ब्रह्माण्ड के उदर में समस्त भूत-प्राणियों के पूर्वकृत कर्मानुसार देव, दानव, यक्ष, किन्नर, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियों की सृष्टि-रचना हुई॥ १७-२०॥

[रस्सी में साँप की प्रतीति तभी तक होती है, जब तक देखने वाले की दृष्टि यथार्थ तक नहीं पहुँच पाती। पदार्थ की रचना की प्राथमिक इकाई परमाणु है। सभी पदार्थों के परमाणु इलैक्ट्रॉन, प्रोट्रॉन, न्यूट्रॉन आदि के विविध संयोगों से ही बने हैं। उन उपकणों (सबएटामिक पॉर्टिकल्स) को देख सकने वाले के लिए सभी पदार्थों का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार मूल तत्त्व आत्म तत्त्व को देख पाने वाले के लिए यह संसार एक भ्रम जैसा ही रह जाता है।]

अस्थिस्नाय्वादिरूपोऽयं शरीरं भाति देहिनाम्। योऽयमन्नमयो ह्यात्मा भाति सर्वशरीरिणः॥२१॥
ततः प्राणमयो ह्यात्मा विभिन्नश्चान्तरस्थितः। ततो मनोमयो ह्यात्मा विभिन्नश्चान्तरस्थितः॥ २२॥
ततो विज्ञान आत्मा तु ततोऽन्यश्चान्तरः स्वतः। आनन्दमय आत्मा तु ततोऽन्यश्चान्तरस्थितः॥२३॥
योऽयमन्नमयः सोऽयं पूर्णः प्राणमयेन तु। मनोमयेन प्राणोऽपि तथा पूर्णः स्वभावतः॥ २४॥
तथा मनोमयो ह्यात्मा पूर्णो ज्ञानमयेन तु। आनन्देन सदा पूर्णः सदा ज्ञानमयः सुखम्॥ २५॥
तथानन्दमयश्चापि ब्रह्मणोऽन्येन साक्षिणा। सर्वान्तरेण पूर्णश्च ब्रह्म नान्येन केनचित्॥ २६॥

अस्थि, स्नायु आदि से निर्मित यह समस्त जीवों का शरीर भी अपने कर्मानुसार ही प्रकाशित हो रहा है। सभी शरीर धारण करने वालों का यह जो अन्नमय आत्मा स्थूल शरीर के माध्यम से प्रकाशित हो रहा है, उससे पृथक् एक प्राणमय आत्मा और है, जो कि इस अन्नमय आत्मा के अन्दर विद्यमान है। इससे भी सूक्ष्म और भिन्न मनोमय आत्मा है, जो प्राणमय के अन्दर स्थित है। इससे सूक्ष्म विज्ञानमय आत्मा है, जो मनोमय आत्मा के अन्दर विद्यमान है। इससे भी अतिसूक्ष्म आनन्दमय आत्मा है, जो विज्ञानमय आत्मा के अन्दर स्थित है। अन्नमय आत्मा प्राणमय से परिपूर्ण है, वैसे ही प्राणमय आत्मा स्वभावानुसार मनोमय आत्मा से पूर्ण है। मनोमय आत्मा विज्ञानमय से पूर्ण है तथा सदा सुखस्वरूप विज्ञानमय आत्मा आनन्दमय से परिपूर्ण रहता है। आनन्दमय

आत्मा अपने से अलग साक्षिरूप सर्वत्र व्याप्त, अन्तर्यामी ब्रह्म के द्वारा परिपूर्ण है। वह ब्रह्म किसी दूसरे के द्वारा नहीं; वरन् अपने आप ही सभी तरफ से परिपूर्ण है॥ २१-२६॥

[यहाँ पंच कोश और पंचात्मा का मर्म स्पष्ट किया गया है। हर काया को आकार अन्नमय से, ऊर्जा प्राणमय से, कामना मनोमय से, नैसर्गिक विभूतियाँ आदि विज्ञानमय से तथा आनन्दानुभूति आनन्दमयकोश से प्राप्त होती है। किसी स्थूल माध्यम से व्यक्त होने के कारण उसे आत्मा तथा किसी सूक्ष्म से परिपूर्ण होने के नाते उसे कोश कहा गया है।]

यदिदं ब्रह्मपुच्छाख्यं सत्यज्ञानाद्वयात्मकम्। सारमेव रसं लब्ध्वा साक्षाद्देही सनातनम्॥ २७॥
सुखी भवति सर्वत्र अन्यथा सुखिता कुतः। असत्यस्मिन्परानन्दे स्वात्मभूतेऽखिलात्मनाम्॥२८
को जीवति नरो जातु को वा नित्यं विचेष्टते। तस्मात्सर्वात्मना चित्ते भासमानो ह्यसौ नरः॥ २९
आनन्दयति दुःखाढ्यं जीवात्मानं सदा जनः। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्यत्वादिलक्षणे॥ ३०॥
निर्भेदं परमाद्वैतं विन्दते च महायतिः। तदेवाभयमित्यन्तं कल्याणं परमामृतम् ॥३१॥
सद्रूपं परमं ब्रह्म त्रिपरिच्छेदवर्जितम्। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नल्पमप्यन्तरं नरः ॥३२॥
विजानाति तदा तस्य भयं स्यान्नात्र संशयः। अस्यैवानन्दकोशेन स्तम्बान्ता विष्णुपूर्वकाः॥३३
भवन्ति सुखिनो नित्यं तारतम्यक्रमेण तु। तत्तत्पदविरक्तस्य श्रोत्रियस्य प्रसादिनः॥ ३४॥
स्वरूपभूत आनन्दः स्वयं भाति परे यथा। निमित्तं किंचिदाश्रित्य खलु शब्दः प्रवर्तते॥ ३५॥
यतो वाचो निवर्तन्ते निमित्तानामभावतः। निर्विशेष परानन्दे कथं शब्दः प्रवर्तते॥ ३६॥
तस्मादेतन्मनः सूक्ष्मं व्यावृत्तं सर्वगोचरम्। यस्माच्छ्रोत्रत्वगक्ष्यादिखादिकर्मेन्द्रियाणि च॥ ३७॥

जो यह ज्ञान एवं सत्य के रूप में अद्वितीय परब्रह्म है, वही सबका आश्रय-स्थल है। वह सबका सार एवं रसस्वरूप है। उस सनातन तत्त्व को पाकर के यह देही (जीवात्मा) सर्वत्र सुखानुभव प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र सुख का भाव कहाँ है? सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के आत्मस्वरूप इस परानन्द (परमानन्द) ब्रह्म के उपस्थित न रहने पर भला कौन मनुष्य जीवित रह सकता है अथवा कौन-सा प्राणी नित्य चेष्टा करता है? अतः जो सर्वान्तर्यामी रूप से सभी के चित्त में प्रतिभासित होता है, वही परब्रह्म अविनाशी परमात्मा दुःखों से घिरे हुए जीवात्मा को सदैव आनन्द प्रदान करता है। जो अदृश्यत्व आदि लक्षणों से युक्त इस पर-तत्त्व से अभेदरूप परम अद्वैतरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, वही महायति (संन्यासी) है। देश-काल एवं पात्र से अपरिच्छिन्न, सत्यस्वरूप परब्रह्म ही अभयपद, परम अमृततुल्य एवं कल्याणमय है। जब तक मनुष्य को इसमें थोड़ा भी व्यवधान दृष्टिगोचर होता है, तब तक उसे (जन्म-मृत्यु का) भय बना रहता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। छोटे से छोटे क्षुद्र तृण से लेकर भगवान् विष्णु तक सभी तारतम्य के अनुसार आनन्द रूप कोश से नित्य ही आनन्द की अनुभूति करते हैं। इस लोक और परलोक के भोगों से विरक्त, प्रसन्नमना श्रोत्रिय को यह स्वरूप भूत-आनन्द स्वयमेव अनुभूत होता है। यह अनुभूति उस परमात्म पद के अनुरूप ही होती है, वह शब्दों में व्यक्त नहीं हो सकती; क्योंकि शब्द तो किसी आश्रय के सहारे ही व्यक्त होता है। परातत्त्व में निमित्त का अभाव होने के कारण वाणी वहाँ से वापस लौट आती है। जो सभी विशेषों से रहित परानन्दरूप तत्त्व है, वहाँ पर शब्द की प्रवृत्ति किस प्रकार से हो? इसलिए यह मन अतिसूक्ष्म और सीमित शक्ति से युक्त होकर इधर-उधर सभी जगह गमन करता रहता है; क्योंकि श्रोत्र, त्वक् एवं नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ और शब्द स्पर्शादि उनके विषय तथा वाणी, हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियाँ सीमित शक्ति वाली हैं॥ २७-३७॥

व्यावृत्तानि परं प्राप्तुं न समर्थानि तानि तु। तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्घनम्॥ ३८॥

विदित्वा स्वात्मरूपेण न बिभेति कुतश्चन। एवं यस्तु विजानाति स्वगुरोरुपदेशतः॥ ३९॥
स साध्वसाधुकर्मभ्यां सदा न तपति प्रभुः। तप्यतापकरूपेण विभातमखिलं जगत्॥४०॥

इसलिए परमात्म तत्त्व को प्राप्त करने में ये समस्त इन्द्रियाँ समर्थ नहीं हैं। जो पुरुष उस द्वन्द्वातीत, निर्गुण, सत्यस्वरूप और विज्ञानघन ब्रह्मानन्द को 'यह मेरा ही स्वरूप है,' ऐसा जान लेता है, उसे कहीं पर भी भय नहीं व्याप्त होता। इस तरह से जो भी जितेन्द्रिय मनुष्य अपने गुरु के उपदेश द्वारा आत्म साक्षात्कार के माध्यम से ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर लेता है, वह सत्य-असत्य कर्मों के द्वारा कभी भी संतप्त नहीं होता। विषय-भोग तापक हैं और चित्त ताप्य है, चित्त एवं उसके विषयों से यह सम्पूर्ण विश्व विभासित हो रहा है॥३८-४०॥

[पदार्थ विज्ञान ने पदार्थ के स्पन्दनों के अनुभव करने वाले माध्यम (सैन्सर्स) खोजे हैं, भाव स्पन्दनों का अनुभव करने वाला माध्यम (सैन्सर) चित्त है। विषय-भोगों द्वारा स्पंदन उत्पन्न करने तथा चित्त द्वारा उनका अनुभव किए जाने की क्षमताओं का संयोग ही भासित होने वाले विश्व का मूल कारण है, अन्यथा कुछ नहीं है। जैसे पदार्थ द्वारा प्रकाश का परावर्तन तथा आँख द्वारा उसका अनुभव करने की क्षमता के संयोग से हर दृश्य-रूप बनता है।]

प्रत्यगात्मतया भाति ज्ञानाद्वेदान्तवाक्यजात्। शुद्धमीश्वरचैतन्यं जीवचैतन्यमेव च॥ ४१॥
प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं च फलं तथा। इति सप्तविधं प्रोक्तं भिद्यते व्यवहारतः॥ ४२॥
मायोपाधिविनिर्मुक्तं शुद्धमित्यभिधीयते। मायासंबन्धश्चेशो जीवोऽविद्यावशस्तथा॥ ४३॥
अन्तःकरणसंबन्धात्प्रमातेत्यभिधीयते। तथा तद्वृत्तिसंबन्धात्प्रमाणमिति कथ्यते॥ ४४॥
अज्ञातमपि चैतन्यं प्रमेयमिति कथ्यते। तथा ज्ञातं च चैतन्यं फलमित्यभिधीयते॥ ४५॥

वेदान्त-शास्त्रों में वर्णन मिलता है कि वह प्रत्येक आत्मा के रूप में है। सात तरह के जिन तत्त्वों का वर्णन किया गया है, वे ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और फल हैं, इसमें व्यावहारिक दृष्टि से भेद माना गया है। परब्रह्म परमात्मा तो शुद्ध-चैतन्य स्वरूप है, वह माया के द्वारा निर्मित उपाधियों से सदा-सर्वदा मुक्त रहता है। मायारूप होने से वह ईश्वर है एवं अविद्या (अज्ञान) के वश में होने के कारण वह जीव हो जाता है। उसका अन्तःकरण से सम्बन्ध होने से वही प्रमाता (ज्ञाता) कहा जाता है। उसके चित्त द्वारा अनुभूति के सम्बन्ध से वह प्रमाण संज्ञा को प्राप्त होता है। वह चैतन्य युक्त ब्रह्म जब तक खोजा जाता है, तब तक प्रमेय है और वही जब ज्ञात हो जाता है, तब फल संज्ञक हो जाता है॥ ४१-४५॥

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं स्वात्मानं भावयेत्सुधीः। एवं यो वेद तत्त्वेन ब्रह्मभूयाय कल्पते॥ ४६॥
सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारं वच्मि यथार्थतः। स्वयं मृत्वा स्वयं भूत्वा स्वयमेवावशिष्यते॥ ४७॥

इसलिए बुद्धिमान् पुरुष, अपने आपको 'मैं सब उपाधियों से मुक्त हूँ'- ऐसा मानकर मुक्तावस्था का सतत चिंतन करे। इस प्रकार जो तत्त्वतः जानता है, वह ब्रह्मत्व को प्राप्त करने में सदा ही समर्थ होता है। मैंने वेदान्त के सर्वसिद्धान्तों का सार यथार्थरूप में कहा है। अपने कर्मों से जीव स्वयं ही उत्पन्न होता है, स्वयं ही मृत्यु को प्राप्त होता है और स्वयं ही अवशिष्ट रूप में बचा रहता है। यह सब आत्मा का ही खेल है, आत्मा के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। यही इस उपनिषद् का रहस्य है॥ ४६-४७॥

ॐ सह नाववतु .....इति शान्तिः॥

॥ इति कठरुद्रोपनिषत्समाप्ता॥

॥ कुण्डकापानषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेद से सम्बद्ध है। इसमें मंत्र क्र० १ से १३ तक सद्गृहस्थ के दायित्व पूरे होने पर संन्यास आश्रम में प्रवेश तथा उसकी जीवनचर्या पर प्रकाश डाला गया है। उसके बाद संन्यासी की अन्तर्मुखी साधनाओं का उल्लेख किया गया है। कहा गया है कि पहले जप-ध्यान के माध्यम से उस ब्राह्मी चेतना की अवतरण-प्रक्रिया का बोध करे और सर्वत्र उसे आत्म-चेतना के रूप में संव्याप्त अनुभव करे। इसके बाद तन्मात्राओं के संयम के द्वारा अनाहत नाद के माध्यम से जीव चेतना के उन्नयन की साधना सम्पन्न करे-इसी विशिष्ट साधना क्रम का यहाँ स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

आप्यायन्तु .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-आरुण्युपनिषद्)

ब्रह्मचर्याश्रमे क्षीणे गुरुशुश्रूषणे रतः । वेदानधीत्यानुज्ञात उच्यते गुरुणाश्रमी ॥ १ ॥

वेदों का अध्ययन करने के पश्चात् ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति पर गुरु की सेवा में लगे हुए जिस पुरुष को गुरु (अपने घर) जाने की आज्ञा प्रदान कर देते हैं, वह व्यक्ति आश्रमी कहा जाता है॥ १ ॥

दारमाहृत्य सदृशमग्निमाधाय शक्तितः । ब्राह्मीमिष्टिं यजेत्तासामहोरात्रेण निर्वपेत् ॥ २ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह अपने अनुकूल स्त्री को स्वीकार करके तथा अपनी शक्ति के अनुसार अग्नि को ग्रहण करके ब्रह्म यज्ञ में संलग्न रहकर अपना जीवन-यापन करे॥ २ ॥

संविभज्य सुतानर्थे ग्राम्यकामान्विसृज्य च । संचरन्वनमार्गेण शुचौ देशे परिभ्रमन् ॥ ३ ॥

तदनन्तर अपने पुत्रों में धन को बाँट करके, ग्राम (गाँव-घर) से सम्बन्धित सभी कार्यों को पुत्रों को सौंप करके, पवित्र देश (क्षेत्र) में भ्रमण करते हुए वन के लिए प्रस्थान करना चाहिए॥ ३ ॥

वायुभक्षोऽम्बुभक्षो वा विहितैः कन्दमूलकैः । स्वशरीरे समाप्याथ पृथिव्यां नाश्रु पातयेत् ॥४

संन्यासी को वायु अथवा जल सेवन करके अथवा विहित (शास्त्रानुमोदित) कन्द-मूल आदि से सतत अपने शरीर की रक्षा करनी चाहिए। साथ ही (संसार को) शरीर तक सीमित मानकर (मोह-ममतावश) अश्रुपात नहीं करना चाहिए॥ ४ ॥

सह तेनैव पुरुषः कथं संन्यस्त उच्यते । सनामधेयो यस्मिंस्तु कथं संन्यस्त उच्यते ॥ ५ ॥

परन्तु इतने सामान्य से कर्म के करने मात्र से कोई भी व्यक्ति संन्यासी नहीं कहा जा सकता है। यह तो साधारण नियम का पालन है, संन्यासी के नियम इससे कहीं अधिक श्रेष्ठ कहे गये हैं॥ ५ ॥

तस्मात्फलविशुद्धाङ्गी संन्यासं संहितात्मनाम् । अग्निवर्णं विनिष्क्रम्य वानप्रस्थं प्रपद्यते ॥६ ॥

इसके लिए फल की इच्छा न रखते हुए संन्यास धर्म से मुक्ति प्राप्त करके वर्णाश्रम व्यवस्था एवं अग्नि का परित्याग करते हुए वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए॥ ६ ॥

लोकवद्धार्ययाऽऽसक्तो वनं गच्छति संयतः । संत्यक्त्वा संसृतिसुखमनुतिष्ठति किं मुधा ॥ ७ ॥
किंवा दुःखमनुस्मृत्य भोगांस्त्यजति चोच्छ्रितान् । गर्भवासभयाद्भीतः शीतोष्णाभ्यां तथैव च ॥८ ॥

साधारण लोगों की तरह स्त्री एवं सांसारिक सुखों का परित्याग कर वन में गमन करके अनुष्ठान आदि करने से क्या लाभ है? अथवा गर्भवास के भय से ठंडी-गर्मी, सुख-दुःख आदि से भयभीत हुआ मनुष्य सांसारिक भोगों का त्याग क्यों करता है? ॥ ७-८ ॥

गुह्यं प्रवेष्टुमिच्छामि परं पदमनामयमिति। संन्यस्याग्निमपुनरावर्तनं यन्मृत्युर्जाय-मावहमिति। अथाध्यात्ममन्त्राञ्जपेत्। दीक्षामुपेयात्काषायबासाः। कक्षोपस्थलोमानि वर्जयेत्। ऊर्ध्वबाहुर्विमुक्तमार्गो भवति। अनिकेतश्चरेद्भिक्षाशी। निदिध्यासनं दध्यात्। पवित्रं धारयेज्जन्तुसंरक्षणार्थम्। तदपि श्लोका भवन्ति। कुण्डिकां चमसं शिक्यं त्रिविष्टपमुपानहौ। शीतोपघातिनीं कन्थां कौपीनाच्छादनं तथा॥ ९॥ पवित्रं स्नानशाटीं च उत्तरासङ्गमेव च। अतोऽतिरिक्तं यत्किंचित्सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः॥ १०॥

इस प्रकार के कृत्य करने का कारण यही है कि वह (संन्यासी) उस गूढ़ परमपद में प्रविष्ट होने की इच्छा रखता है। वह मृत्यु को जीत लेने वाले महाकाल का सतत स्मरण करता रहता है, वह सदा ही आध्यात्मिक मंत्रों का जप करता है तथा काषाय (भगवा) वस्त्रों को धारण करके दीक्षा ग्रहण कर लेता है। कुक्षि (कोख-काँख) और उपस्थ (जननेन्द्रिय) स्थान के बालों को छोड़कर अन्य सभी बालों का क्षौर करा लेता है। वह अपनी दोनों भुजाएँ ऊर्ध्व की ओर करके इच्छानुसार भ्रमण करता है। गृह विहीन वह भिक्षा ग्रहण करके जीवन-यापन करता है। उसे निदिध्यासन करते रहना चाहिए। जन्तुओं से संरक्षण के लिए पवित्री को धारण किये रहना चाहिए। कमण्डलु, चमस, छींका, त्रिविष्टप, जाड़े से रक्षा हेतु गुदड़ी, कौपीन (लँगोटी), स्नान करने के लिए धोती एवं अँगौछा पास में रखना चाहिए। इन वस्तुओं के अतिरिक्त और सभी कुछ संन्यासी को परित्याग कर देना चाहिए॥ ९-१०॥

नदीपुलिनशायी स्याद्देवागारेषु बाह्यतः। नात्यर्थं सुखदुःखाभ्यां शरीरमुपतापयेत्॥ ११॥

(वह यदि) चाहे तो अपनी इच्छानुसार नदी के तट पर शयन करे। बिना कोई विशेष कारण के शरीर को सुख-दुःखादि द्वारा कष्ट नहीं देना चाहिए॥ ११॥

स्नानं पानं तथा शौचमद्भिः पूताभिराचरेत्। स्तूयमानो न तुष्येत निन्दितो न शपेत्परान्॥ १२॥

स्नान के लिए, पीने के लिए तथा शौचादि के लिए शुद्ध जल का सेवन करना चाहिए। वह न तो स्तुति-प्रशंसा आदि से प्रसन्न हो और न ही निन्दा-अपमान होने पर किसी को शाप आदि ही दे॥ १२॥

भिक्षादिवैदलं पात्रं स्नानद्रव्यमवारितम्। एवं वृत्तिमुपासीनो यतेन्द्रियो जपेत्सदा॥ १३॥

भिक्षा के लिए पात्र तथा स्नान आदि के लिए जल जिस किसी भी तरह से मिले, उसे प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार से अनुपम, श्रेष्ठ आचरण को स्वीकार करके यति को सदा ही जप करते रहना चाहिए॥१३॥

विश्वाय मनुसंयोगं मनसा भावयेत्सुधीः। आकाशाद्वायुर्वायोर्ज्योतिर्ज्योतिष आपोऽद्भ्यः पृथिवी। एतेषां भूतानां ब्रह्म प्रपद्ये। अजरममरमक्षरमव्ययं प्रपद्ये। मय्यखण्डसुखाम्भोधौ बहुधा विश्ववीचयः। उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमात्॥ १४॥

सुधीजनों को अपने मन में यह भावना करनी चाहिए कि यह विश्वरूप ब्रह्म और मनु अर्थात् प्रणव रूप अक्षर ब्रह्म दोनों एक ही हैं। आकाश से वायु, वायु से ज्योति (अग्नि), ज्योति से जल और जल से पृथ्वी इन सभी भूतों में जो अविनाशी ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, ऐसे उस (ब्रह्म) को मैं प्राप्त हुआ हूँ। अजर, अमर, अक्षर, अव्यय को (मैं) प्राप्त हुआ हूँ। मैं अखण्ड सुख-सागर रूप हूँ। मेरे मध्य में बहुत सी लहरें मायारूपी वायु के द्वारा प्रादुर्भूत एवं विलीन होती हैं॥ १३-१४॥

[यहाँ ब्राह्मी चेतना के सूक्ष्म से स्थूल में क्रमशः अवतरण का ध्यान बतलाया गया है। आगे इसी चेतना के स्थूल से सूक्ष्म में आरोहण की साधना पर भी प्रकाश डाला गया है।]

न मे देहेन संबन्धो मेघेनेव विहायसः। अतः कुतो मे तद्धर्मा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु॥ १५॥

मेरा इस शरीर से उसी तरह का सम्बन्ध नहीं है, जैसे-आकाश का मेघ से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता। अतः इस शरीर के जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में मेरा (जीवात्मा का) क्या सम्बन्ध है?॥ १५॥

आकाशवत्कल्पविदूरगोऽहमादित्यवद्भास्यविलक्षणोऽहम्।
अहार्यवन्नित्यविनिश्चलोऽहमम्भोधिवत्पारविवर्जितोऽहम्॥१६॥

मैं (जीवात्मा) आकाश की भाँति कल्पना से परे अर्थात् ऊपर हूँ, सूर्य के सदृश अन्य सुनहले आकर्षक पदार्थों से पृथक् हूँ, पर्वत की तरह सतत स्थिर रहता हूँ तथा समुद्र की तरह अपार हूँ॥ १६॥

नारायणोऽहं नरकान्तकोऽहं पुरान्तकोऽहं पुरुषोऽहमीशः।
अखण्डबोधोऽहमशेषसाक्षी निरीश्वरोऽहं निरहं च निर्ममः॥ १७॥

मैं ही नारायण हूँ। नरकान्तक (नरकासुर का वध करने वाले), पुरान्तक (त्रिपुरासुर का वध करने वाले), पुरुष तथा ईश्वर भी मैं ही हूँ। मैं ही अखण्ड बोध स्वरूप, समस्त प्राणियों का साक्षी, ईश्वररहित (मेरे ऊपर नियन्त्रण करने वाला कोई नहीं), अहंकाररहित तथा ममतारहित हूँ॥ १७॥

तदभ्यासेन प्राणापानौ संयम्य तत्र श्लोका भवन्ति। वृषणापानयोर्मध्ये पाणी आस्थाय संश्रयेत्। संदश्य शनकैर्जिह्वां यवमात्रे विनिर्गताम्॥ १८॥

अब प्राण एवं अपान के अभ्यास के विषय में वर्णन करते हैं। वृषण तथा गुदा के बीच में दोनों हाथों को रखे। दाँतों से जिह्वा को शनैः-शनैः दबाते हुए एक जौ के बराबर बाहर निकाले॥ १८॥

माषमात्रां तथा दृष्टिं श्रोत्रे स्थाप्य तथा भुवि। श्रवणे नासिके गन्धा यतः स्वं न च संश्रयेत्॥

माष मात्र (उड़द के बराबर) लक्ष्य को अनुसंधान करके दृष्टि को श्रोत्र और पृथ्वी पर स्थिर करे। जिससे श्रवण (शब्द) और नासिका में गन्ध न स्थापित हो सके॥ १९॥

आगे के मंत्र क्र० २०,२१,२२ में सभी तन्मात्राओं को रुद्ध करके हृदय के तप से उत्पन्न नाद के माध्यम से आत्म-चेतना को ब्राह्मी चेतना के साथ संयुक्त करने की साधना का संकेत है। उसके लिए देहस्थ सभी तन्मात्राओं को संयमित करने की स्वानुभूत प्रक्रिया का संकेत ऋषि ने मंत्र क्र० १८,१९ में किया है। इसमें स्थूल और सूक्ष्म क्रियाओं का संयोग है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पाँचों तन्मात्राओं को बाहरी संवेदना से असम्बद्ध करके ही अन्तः अनुभूति में उतरा जा सकता है। ध्यान में नेत्र बन्द करने से अग्नि की तन्मात्रा 'रूप' के बाह्य संकेत बद्ध हो जाते हैं। मंत्र १८ के अनुसार-संयम, धारणा, ध्यान, समाधि से स्पर्श एवं रस की तन्मात्राएँ अन्तर्मुखी होती हैं। मंत्र १९ में पृथ्वी और श्रोत्र पर दृष्टि स्थिर करने के लिए उड़द के बराबर लक्ष्य का अनुसंधान करने को कहा गया है। वह बिन्दु कहीं नासिका मूल और कर्णमूलों के मध्य मस्तिष्क में ही हो सकता है, जहाँ गंध और शब्द का अनुभव करने वाले संवेदन कोष (सैंसिग सैल) स्थित हों, वहाँ अन्तः दृष्टि- ध्यान केन्द्रित करने से नासिकारंध्रों में प्रवेश करने वाली गंध तथा कर्णरंध्रों से प्रवेश करने वाले शब्द-अन्तःक्षेत्र की तन्मात्राओं में स्थापित नहीं हो सकते। इस प्रकार बहिर्जगत् से सभी तन्मात्राओं को असम्बद्ध करके ही अन्तःस्थिति-ब्राह्मीचेतना की प्रभावी अनुभूति संभव होती है—

अथ शैवपदं यत्र तद्ब्रह्म ब्रह्म तत्परम्। तदभ्यासेन लभ्येत पूर्वजन्मार्जितात्मनाम्॥ २०॥

जो ब्रह्म का चिंतन करता है, वही स्वयं ब्रह्म रूप हो जाता है तथा वही शिव है। उस (अविनाशी ब्रह्म) को पूर्व जन्म में किये हुए पुण्य कर्मों के फलस्वरूप अभ्यास द्वारा ही प्राप्त किया जाता है॥ २०॥

संभूतैर्वायुसंश्रावैर्हृदयं तप उच्यते। ऊर्ध्वं प्रपद्यते देहाद्भित्त्वा मूर्धानमव्ययम्॥ २१॥

वायु के नाद का प्रकट होना ही हृदय का तप कहा जाता है, वह शरीर को भेदकर ऊर्ध्व की ओर गमन करता हुआ मूर्धा को प्राप्त कर लेता है॥ २१॥

सामान्य जीवन में पृथ्वी तत्त्व के संचरण से गंध उत्पन्न होती है। गंध की अनुभूति से जल-रस सक्रिय होकर स्वाद को उत्तेजना मिलती है। रस की उत्तेजना से अग्नि-जठराग्नि में तीव्रता आती है। अग्नि की तीव्रता से शरीरस्थ वायु-प्राण की संचरण प्रक्रिया तीव्र होती है। प्राण की गतिशीलता से विविध सांसारिक सुखोपभोगों की क्षमता का विकास होता है। योगस्थ स्थिति में तन्मात्राओं को रुद्ध करके बाह्य सुखानुभूति-परक उनकी सक्रियता को घटाकर अन्तः आनन्द की ओर उन्हें उन्मुख किया जाता है। ऐसी स्थिति शरीरस्थ वायु-प्राण के गतिशील होने पर अक्षर अनाहत नाद की अनुभूति होती है। यह नाद मूर्धास्थित सहस्रार एवं ब्रह्मरंध्र को सक्रिय करके परमगति का मार्ग खोलने में समर्थ होता है-

स्वदेहस्य तु मूर्धानं ये प्राप्य परमां गतिम्। भूयस्ते न निवर्तन्ते परावरविदो जनाः ॥ २२॥

अपने इस शरीर में मूर्धा को प्राप्त कर लेना ही परमगति कहा गया है। जो मनुष्य इस गति को प्राप्त कर लेते हैं, वे ब्रह्मज्ञानी जन आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाते हैं॥ २२॥

न साक्षिणं साक्ष्यधर्माः संस्पृशन्ति विलक्षणम्। अविकारमुदासीनं गृहधर्माः प्रदीपवत्॥ २३॥

विकाररहित और उदासीन भावयुक्त साक्षी को साक्ष्य-धर्म वैसे ही स्पर्श नहीं कर सकता, जिस प्रकार गृह-धर्म प्रज्वलित दीप पर कोई भी प्रभाव नहीं डाल सकता॥ २३॥

[दीपक के प्रकाश में ही गृही (घर में रहने वाला) अपने विभिन्न धर्म कर्त्तव्यों को सम्पन्न करता है; लेकिन दीपक उन सबसे अप्रभावित रहता है, उसी प्रकार योगी की चेतना उसकी काया द्वारा विविध कर्म किये जाने की स्थिति तो पैदा करती है; लेकिन स्वयं उससे अप्रभावित रहती है।]

जले वापि स्थले वापि लुठत्वेष जडात्मकः। नाहं विलिप्ये तद्धर्मैर्घटधर्मैर्नभो यथा ॥ २४॥

यह जड़ात्मक शरीर चाहे जल-राशि में पड़ा रहे अथवा स्थल अर्थात् जल से रहित भूमि पर पड़ा रहे, मैं (जीवात्मा) जो स्वयं चैतन्य रूप हूँ, इस कारण से उसमें लिप्त नहीं हो सकता। जैसे घड़े के कारण घटाकाश में किसी भी तरह की विकृति नहीं आने पाती॥ २४॥

निष्क्रियोऽस्म्यविकारोऽस्मि निष्कलोऽस्मि निराकृतिः। निर्विकल्पोऽस्मि नित्योऽस्मि निरालम्बोऽस्मि निर्द्वयः॥ २५॥सर्वात्मकोऽहं सर्वोऽहं सर्वातीतोऽहमद्वयः। केवलाखण्डबोधोऽहं स्वानन्दोऽहं निरन्तरः॥ २६॥

मैं तो निष्क्रिय,विकाररहित,निष्कल,आकृतिरहित,निर्विकल्प,अनित्य,निरालम्ब,अद्वैत,सर्वात्मा, सर्वातीत एवं द्वयरहित हूँ। मैं केवल अखण्ड बोधस्वरूप हूँ तथा निरन्तर स्वयं आनन्दमय हूँ॥२५-२६

स्वमेव सर्वतः पश्यन्मन्यमानः स्वमद्वयम्। स्वानन्दमनुभुञ्जानो निर्विकल्पो भवाम्यहम्॥

मैं स्वयं को ही सतत देखता हूँ, स्वयं को ही अद्वैत रूप में मानता हुआ, स्वयं के आनन्द का उपभोग करता हुआ, मैं स्वयं ही निर्विकल्प रूप हूँ॥ २७॥

गच्छंस्तिष्ठन्नुपविशञ्छयानो वाऽन्यथापि वा।
यथेच्छया वसेद्विद्वानात्मारामः सदा मुनिरित्युपनिषत्॥ २८॥

सतत चला हुआ, रुका हुआ, बैठा हुआ, सोता हुआ या कुछ भी करता हुआ, वह विद्वान् मुनि रूप आत्मा अपने में ही संतुष्ट हुआ अपनी इच्छानुसार जीवनयापन करे,ऐसी ही यह उपनिषद् है॥२८॥

ॐ आप्यायन्तु.....इति शान्तिः॥

॥ इति कुण्डिकोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ कैवल्योपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय शाखान्तर्गत है। इसमें महर्षि आश्वलायन द्वारा जिज्ञासा प्रकट करने पर ब्रह्माजी ने कैवल्य पद प्राप्ति का मर्म समझाया है। इस ब्रह्मविद्या की प्राप्ति कर्म, धन या संतान के सहारे असंभव बतलाते हुए उसके लिए श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योग का आश्रय लेने के लिए कहा गया है। अन्त:करण को नीचे की अरणि तथा 'ॐकार' को ऊर्ध्व अरणि के रूप में प्रयुक्त कर ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करके सांसारिक विकारों को दहन करने का निर्देश दिया गया है। स्वयं को ब्राह्मी चेतना से अभिन्न अनुभव करते हुए सबको स्वयं में तथा स्वयं को सबमें अनुभव करते हुए त्रिदेवों, चराचर, पंचभूतों सभी में अभेद की स्थिति का वर्णन किया गया है। अंत में इस उपनिषद् के अध्ययन की फलश्रुति कही गयी है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अवधूतोपनिषद्)

अथाश्वलायनो भगवन्तं परमेष्ठिनमुपसमेत्योवाच। अधीहि भगवन्ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां सदा सद्भिः सेव्यमानां निगूढाम्। यथाऽचिरात्सर्वपापं व्यपोह्य परात्परं पुरुषं याति विद्वान्॥१॥

महान् ऋषि आश्वलायन भगवान् प्रजापति ब्रह्माजी के समक्ष हाथ में समिधा लिए हुए पहुँचे और कहा- हे भगवन्! आप मुझे सदैव संतजनों के द्वारा सेवित, अतिगोपनीय एवं अतिशय वरिष्ठ उस 'ब्रह्मविद्या' का उपदेश प्रदान करें, जिसके द्वारा विद्वज्जन शीघ्र ही समस्त पापों से मुक्त होकर उन 'परम पुरुष' परब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं॥ १॥

तस्मै स होवाच पितामहश्च श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैहि॥ २॥

तदनन्तर ब्रह्माजी ने कहा-हे आश्वलायन! तुम उस अतिश्रेष्ठ परात्पर तत्त्व को श्रद्धा, भक्ति, ध्यान (चिंतन) और योगाभ्यास का आश्रय लेकर जानने का प्रयास करो॥ २॥

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति॥ ३॥

उस (अमृत) की प्राप्ति न कर्म के द्वारा, न सन्तान के द्वारा और न ही धन के द्वारा हो पाती है। (उस) अमृतत्व को सम्यक् रूप से (ब्रह्म को जानने वालों ने) केवल त्याग के द्वारा ही प्राप्त किया है। स्वर्गलोक से भी ऊपर गुहा अर्थात् बुद्धि के गह्वर में प्रतिष्ठित होकर जो ब्रह्मलोक प्रकाश से परिपूर्ण है, ऐसे उस (ब्रह्मलोक) में संयमशील योगीजन ही प्रविष्ट होते हैं॥ ३॥

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥ ४॥

जिन (योगीजनों) ने वेदान्त के विशेष ज्ञान से एवं श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन (अनुभूति) के द्वारा (उस) परमात्मतत्त्व को प्राप्त करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है, ऐसे वे पवित्र अन्त:करण से युक्त योगीजन संन्यास-योग के द्वारा ब्रह्मलोक में गमन करके अमृततुल्य हो कल्पान्त में मुक्त हो जाते हैं॥ ४॥

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरः शरीरः।
अन्त्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य॥ ५॥

(योगीजन) स्नान आदि से अपने शरीर को शुद्ध करने के पश्चात् एकान्त स्थान में सुखासन से बैठें। उसके पश्चात् ग्रीवा, सिर तथा शरीर को एक सीध में रखकर समस्त इन्द्रियों का निरोध करके भक्तिपूर्वक अपने गुरु को प्रणाम करें। तदनन्तर संन्यास आश्रम में स्थित (वे) योगीजन अपने हृदय-कमल में रजोगुण से रहित, विशुद्ध, दु:ख-शोक से रहित आत्म तत्त्व का विशद चिन्तन करें॥ ५॥

हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम्।
अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्॥ ६॥
तमादिमध्यान्तविहीनमेकं विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्।
उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥ ७॥

इस तरह से जो अचिन्त्य, अव्यक्त तथा अनन्तरूप से युक्त है, कल्याणकारी है, शान्त-चित्त है, अमृत है, जो निखिल ब्रह्माण्ड का मूल कारण है, जिसका आदि, मध्य और अन्त नहीं है, जो अनुपम है, विभु (विराट्) और चिदानन्द स्वरूप है, अरूप और अद्‌भुत है, ऐसे उस उमा (ब्रह्मविद्या) के साथ परमेश्वर को, सम्पूर्ण चर-अचर के पालनकर्त्ता को, शान्त स्वरूप, तीन नेत्रों वाले, नीलकण्ठ को-जो समस्त भूत-प्राणियों का मूल कारण है, सभी का साक्षी है और अविद्या से रहित हो प्रकाशमान हो रहा है, ऐसे उस (प्रकाशपुञ्ज परमात्मा) को योगीजन ध्यान के माध्यम से ग्रहण करते हैं॥ ६-७॥

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः॥ ८॥

वही (परात्पर पुरुष) ब्रह्मा है, वही शिव है, वही इन्द्र है, वही अक्षर रूप में शाश्वत ब्रह्म है, वही भगवान् विष्णु है, वही प्राणतत्त्व है, वही कालाग्नि और चन्द्रमा के रूप में भी है॥ ८॥

स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम्। ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये॥ ९॥

जो कुछ व्यतीत हो चुका है तथा जो भविष्य में होने वाला है, सभी कुछ वही परात्पर परब्रह्म है; ऐसे उस श्रेष्ठ सनातन परमात्म तत्त्व को प्राप्त करके प्राणी मृत्यु से परे अर्थात् मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। वह फिर जन्म-मृत्यु के चक्र में नहीं फँसता॥ ९॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। संपश्यन्ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना॥ १०॥

जो मनुष्य अपनी आत्मा को समस्त भूत-प्राणियों के समान देखता है और समस्त भूत-प्राणियों को अपनी अन्तरात्मा में देखता है, ऐसा ही वह (साधक) परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति करता है; वह अन्य दूसरे और किसी उपाय से उस (ब्रह्म) को नहीं प्राप्त कर सकता है॥ १०॥

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्पापं दहति पण्डितः॥ ११॥

ज्ञानीजन अपनी आत्मा अर्थात् अन्त:करण को नीचे की अरणि एवं ॐकार (प्रणव) को ऊर्ध्व की अरणि बनाते हुए ज्ञानरूपी मन्थन के अभ्यास-प्रक्रिया द्वारा जगत् के बन्धनों-पापों को विनष्ट कर डालते हैं अर्थात् ज्ञानाग्नि में जलाकर भस्म कर देते हैं॥ ११॥

स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम्।
स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत्परितृप्तिमेति॥ १२॥

वही (जीवात्मा) माया के अधीन हुआ, अति मोहग्रस्त होकर शरीर को ही अपना स्वरूप स्वीकार करते हुए सभी तरह के कर्मों को करता रहता है। वही जाग्रत् अवस्था में स्त्री, अन्न-पान आदि विभिन्न प्रकार के भोगों का उपभोग करता हुआ तृप्ति लाभ प्राप्त करता है॥ १२॥

स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पितजीवलोके।
सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति॥ १३॥

स्वप्नावस्था में वही जीव अपनी माया के द्वारा कल्पित जीवलोक में सभी तरह के सुख और दुःख का उपभोग करने वाला बनता है तथा सुषुप्ति काल में माया द्वारा रचित समस्त प्रपञ्चों के विलीन होने के उपरान्त वह (जीव) तमोगुण से अभिपूरित हुआ सुख के स्वरूप को प्राप्त करता है॥ १३॥

पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः। पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम्। आधारमानन्दमखण्डबोधं यस्मिँल्लयं याति पुरत्रयं च ॥ १४॥
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी॥१५॥

तत्पश्चात् पुनः वह जीव जन्म-जन्मान्तरों के कर्मों की प्रेरणा से सुषुप्ति से स्वप्नावस्था में अवतरित होता है। इसके अनन्तर (वह) जाग्रत् अवस्था में गमन करता है। इस तरह स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर रूप तीनों पुरियों में जो जीव क्रीड़ा करता है, उसी से यह सभी प्रपञ्चों की विचित्रता उत्पन्न होती है। इन सम्पूर्ण प्रपञ्चों का आधार-स्तम्भ आनन्दस्वरूप अखण्ड बोधस्वरूप है, जिसमें स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर रूप तीनों पुरियाँ लय को प्राप्त होती हैं। इसी से प्राण, मन एवं समस्त इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है; आकाश, वायु, अग्नि, जल और समस्त विश्व का धारण-पोषण करने वाली पृथ्वी की उत्पत्ति होती है॥१४-१५॥

यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्। सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं तत्त्वमेव त्वमेव तत्॥ १६॥

जो परब्रह्म परमेश्वर समस्त भूत प्राणियों की आत्मा है, जो सभी कार्य-कारण रूप जगत् का महान् आयतन (आधार) है, जो सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म है, नित्य है, (वह) तत्त्व तुम्हीं हो, तुम वही हो॥ १६॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिप्रपञ्चं यत्प्रकाशते। तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते॥ १७॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-अवस्था आदि जो प्रपञ्च प्रतिभासित है, वह परब्रह्म रूप है और वही मैं भी हूँ-ऐसा जानकर जीव समस्त बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ १७॥

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्। तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः॥
मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्। मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्॥ १९॥

तीनों अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति) में जो कुछ भी भोक्ता, भोग्य और भोग के रूप में है, उनसे विलक्षण, साक्षीरूप, चिन्मय स्वरूप, वह सदाशिव स्वयं मैं ही हूँ। मैं ही स्वयं वह ब्रह्मरूप हूँ, मुझमें ही यह सब कुछ प्रादुर्भूत हुआ है, मुझमें ही यह सभी कुछ स्थित है और मुझमें ही सभी कुछ विलीन हो जाता है; वह अद्वय ब्रह्मरूप परमात्मा मैं ही हूँ॥ १८-१९॥

अणोरणीयानहमेव तद्वन्महानहं विश्वमहं विचित्रम्।
पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि॥ २०॥

मैं (परब्रह्म) अणु से भी अणु अर्थात् परमाणु हूँ, ठीक ऐसे ही मैं महान् से महानतम अर्थात् विराट् पुरुष हूँ, यह विचित्रताओं से भरा-पूरा सम्पूर्ण विश्व ही मेरा स्वरूप है। मैं पुरातन पुरुष हूँ, मैं ही ईश्वर हूँ, मैं ही हिरण्यमय पुरुष हूँ और मैं ही शिवस्वरूप (परमतत्त्व हूँ)॥ २०॥

अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः पश्याम्यचक्षुः स शृणोम्यकर्णः।
अहं विजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम्॥ २१॥
वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ २२॥

वह हाथ-पैरों से रहित होते हुए भी सतत गतिशील है, जो चिन्तन से परे है, ऐसा शक्ति स्वरूप ब्रह्म मैं ही हूँ। मैं नेत्रों के अभाव में सभी कुछ देखता हूँ, कानों के बिना भी सब कुछ श्रवण करता हूँ, बुद्धि आदि से पृथक् होकर भी मैं सब कुछ जानता हूँ; किन्तु मुझे जानने वाला कोई नहीं है, मैं सदा ही चित् स्वरूप हूँ। समस्त वेद-उपनिषदादि द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ। मैं ही वेदान्त का कर्त्ता हूँ और वेदवेत्ता भी स्वयं मैं ही हूँ॥

न पुण्यपापे मम नास्ति नाशो न जन्म देहेन्द्रियबुद्धिरस्ति।
न भूमिरापो न च वह्निरस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च॥ २३॥

मुझ (ब्रह्म) को पुण्य-पापादि कर्म स्पर्श नहीं करते , मैं कभी विनष्ट नहीं होता और न ही मेरा कभी जन्म ही होता है। न मेरे शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ ही हैं। मेरे लिए न भूमि है, न जल है, न अग्नि है, न वायु है और न आकाश तत्त्व ही है॥ २३॥

एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम्। समस्तसाक्षिं सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम्॥ २४॥ यः शतरुद्रियमधीते सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स आत्मपूतो भवति स सुरापानात्पूतो भवति स ब्रह्महत्यायाः पूतो भवति स सुवर्णस्तेयात्पूतो भवति स कृत्याकृत्यात्पूतो भवति तस्मादविमुक्तमाश्रितो भवत्यत्याश्रमी सर्वदा सकृद्वा जपेत्॥

जो भी मनुष्य अविनाशी ब्रह्म को इस प्रकार से गुहा-अर्थात् बुद्धि के गह्वर में स्थित, निष्कल (अंग विहीन) एवं अद्वितीय,सदसत् से परे, सभी के साक्षीरूप में विद्यमान जानता है, वह पवित्रतम परमात्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। जो भी मनुष्य इस शतरुद्रिय का पाठ करता है, वह अग्नि के सदृश पवित्र हो जाता है, वायु की भाँति गतिशील रहते हुए शुचिता का वरण करता है। वह सुरापान और ब्रह्म हत्या के दोष से मुक्त हो जाता है; उसे स्वर्ण की चोरी का पाप भी नहीं लगता, शुभाशुभ कर्मों से उसका उद्धार हो जाता है। भगवान् सदाशिव के प्रति समर्पित हो वह अविमुक्त स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इसलिए जो (मनुष्य) आश्रम से अतीत हो गये हैं, ऐसे उन परमहंसों को सर्वदा या फिर कम से कम एक बार इस (उपनिषद्) का पाठ अवश्य करना चाहिए॥ २४-२५॥

अनेन ज्ञानमाप्नोति संसारार्णवनाशनम्।
तस्मादेवं विदित्वैनं कैवल्यं पदमश्नुते कैवल्यं पदमश्नुत इति॥ २६॥

इससे उस विशेष ज्ञान की प्राप्ति होती है, जो ज्ञान भवसागर को नष्ट कर देता है। इस प्रकार इस उपनिषद् को ऐसा जानकर व्यक्ति कैवल्य फल को प्राप्त कर लेता है, कैवल्य पद को प्राप्त हो जाता है॥ २६॥

ॐ सह नाववतु.....इति शान्तिः॥

॥ इति कैवल्योपनिषत्समाप्ता॥

॥ कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेद के कौषीतकि ब्राह्मण का अंश है। इसमें कुल चार अध्याय हैं।

प्रथम अध्याय में गौतम (उद्दालक) एवं चित्र (गर्ग के प्रपौत्र) के संवाद द्वारा अग्निहोत्र एवं उसकी फलश्रुति पर प्रकाश डालते हुए अग्निहोत्री के मरणोपरान्त उसकी जीवात्मा किन-किन लोकों में होती हुई ब्रह्मलोक पहुँचती है, जहाँ अप्सराएँ उसका स्वागत-सत्कार करती हैं, वहाँ एक विचित्र पर्यंक (पलंग) पर ब्रह्माजी विराजमान होते हैं, जिनसे अग्निहोत्र साधक की वार्ता होती है, अन्त में वह साधक ब्रह्माजी की विशेष विभूति से युक्त होकर उन्हीं के सदृश हो जाता है, इत्यादि वर्णन है। इसी को पर्यंक विद्या भी कहा जाता है। द्वितीय अध्याय में प्राणोपासना, आध्यात्मिक-अग्निहोत्र, विविध उपासनाएँ, दैवपरिमर में प्राणोपासना, मोक्ष हेतु सर्वश्रेष्ठ प्राणोपासना तथा प्राणोपासक का सम्प्रदान कर्म वर्णित है। तृतीय अध्याय में इन्द्र-प्रतर्दन संवाद के माध्यम से प्रज्ञा स्वरूप प्राण की महिमा का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में अजातशत्रु और गार्ग्य संवाद द्वारा सर्वप्रथम सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, मेघ, आकाश, वायु, अग्नि, जल, दर्पण, प्रतिध्वनि इत्यादि में विद्यमान चैतन्य तत्त्व की उपासना की बात कही गई है और अन्त में 'आत्मतत्त्व' के स्वरूप और उसकी उपासना की फलश्रुति का प्रतिपादन किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि.....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-आत्मबोधोपनिषद्)

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

चित्रो ह वै गार्ग्यायणिर्यक्ष्यमाण आरुणिं वव्रे । स ह पुत्रं श्वेतकेतुं प्रजिघाय याजयेति । तं हासीनं पप्रच्छ गौतमस्य पुत्रास्ते संवृतं लोके यस्मिन्माधास्यस्यन्यमुताहो बोद्धवा तस्य मा लोके धास्यसीति । स होवाच नाहमेतद्वेद हन्ताचार्यं पृच्छानीति । स ह पितरमासाद्य पप्रच्छेतीति मा प्राक्षीत्कथं प्रतिब्रवाणीति । स होवाचाहमप्येतन्न वेद सदस्येव वयं स्वाध्यायमधीत्य हरामहे यन्नः परे ददत्येह्युभौ गमिष्याव इति । स ह समित्पाणिश्चित्रं गार्ग्यायणिं प्रतिचक्राम उपायानीति । तं होवाच ब्रह्मार्घोऽसि गौतम यो मानमुपागा एहि त्वा ज्ञपयिष्यामीति ॥ १ ॥

गर्ग ऋषि के प्रपौत्र महर्षि चित्र ने यज्ञ करने का निश्चय करके अरुण के पुत्र महात्मा उद्दालक को प्रधान ऋत्विक् के रूप में आमन्त्रित किया; किन्तु प्रसिद्ध मुनि उद्दालक स्वयं न जाकर अपने पुत्र श्वेतकेतु को महर्षि चित्र के यज्ञ को सम्पन्न कराने के लिए भेजा। श्वेतकेतु अपने पिता की आज्ञानुसार यज्ञ में पहुँच कर एक ऊँचे आसन पर आसीन हुए। श्वेतकेतु को उच्च आसन पर आसीन हुआ देखकर चित्र ने प्रश्न किया-हे गौतम कुमार! इस लोक में कोई ऐसा आवरण युक्त स्थान है, जिसमें मुझे ले जाकर रखोगे? या फिर उसमें भी कोई पृथक्-सर्वथा विलक्षण आवरण शून्य पद है, जिसको जान करके तुम उसी विशेष लोक में मुझे प्रतिष्ठित करोगे? ऐसा सुनकर श्वेतकेतु ने महर्षि चित्र से कहा-हे भगवन्! मैं यह सब नहीं जानता; मेरे पिता आचार्य हैं, अतः उन्हीं से इस प्रश्न को पूछूँगा। इस प्रकार से कहकर श्वेतकेतु, उद्दालक के पास जाकर बोले-हे पिता जी! महर्षि चित्र ने इस तरह से प्रश्न किया है; तो मैं इसके सन्दर्भ में उन्हें किस तरह से उत्तर दूँ? उद्दालक ने कहा-हे वत्स! मैं भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं जानता। हम दोनों लोग महाभाग चित्र की यज्ञशाला में चलकर इस प्रश्न

का अध्ययन करके ही इस विद्या को प्राप्त करेंगे। जब दूसरे अन्य लोग हमें विद्या एवं धन आदि प्रदान करते हैं, तो फिर चित्र भी देंगे ही। अतः आओ, हम दोनों महर्षि चित्र के पास चलें। तदनन्तर वे प्रसिद्ध आरुणि मुनि हाथ में समिधा ग्रहण करके जिज्ञासु भाव से गर्ग के प्रपौत्र महर्षि चित्र के यहाँ गये और कहा- 'मैं विद्या प्राप्ति हेतु आपके पास आया हूँ' । चित्र ने कहा-हे गौतम! आप ब्राह्मणों में अति पूजनीय एवं ब्रह्मविद्या के अधिकारी हैं; क्योंकि मेरे जैसे लघु व्यक्ति के समीप आते हुए आपके मन में अपनी श्रेष्ठता का अभिमान नहीं हुआ। अतः आप आइये, आपको निश्चय ही इस पूछे हुए प्रश्न का स्पष्ट रूप से बोध कराऊँगा॥१॥

स होवाच ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति। तेषां प्राणैः पूर्वपक्ष आप्यायते। अथापरपक्षे न प्रजनयति। एतद्वै स्वर्गस्य लोकस्य द्वारं यश्चन्द्रमास्तं यत्प्रत्याह तमतिसृजतेऽथ य एनं प्रत्याहतमिह वृष्टिर्भूत्वा वर्षति स इह कीटो वा पतङ्गो वा शकुनिर्वा शार्दूलो वा सिंहो वा मत्स्यो वा परश्वा वा पुरुषो वान्यो वैतेषु स्थानेषु प्रत्याजायते यथाकर्म यथाविद्यम्। तमागतं पृच्छति कोऽसीति तं प्रतिब्रूयाद्विचक्षणादृतवो रेत आभृतं पञ्चदशात्प्रसूतात्पित्र्यावतस्तन्मा पुंसि कर्तर्येरयध्वं पुंसा कर्त्रा मातरि मा निषिक्तः स जायमान उपजायमानो द्वादश त्रयोदश उपमासो द्वादशत्रयोदशेन पित्रा संतद्विदेहं तन्म ऋतवो मर्त्यव आरभध्वम्। तेन सत्येन तपसर्तुरस्म्यार्तवोऽस्मि कोऽसि त्वमस्मीति तमतिसृजते॥ २॥

महर्षि चित्र ने कहा-हे ब्रह्मन् ! जो भी कोई लोग अग्निहोत्रादि सत्कार्यों का अनुष्ठान करने वाले हैं, वे सभी जब इस लोक से प्रयाण करते हैं, तो वे चन्द्रलोक अर्थात् स्वर्ग लोक में गमन करते हैं। पूर्व पक्ष में (पुण्य शेष रहने तक) वे प्राणों द्वारा वहाँ के भोग पदार्थों का सेवन करते हैं। दूसरे पक्ष में (अर्थात् स्वर्ग प्राप्ति के निमित्त भूत पुण्यों के क्षीण होने पर) चन्द्र लोक प्राणियों को तृप्ति नहीं दे पाता।

निश्चय ही यह चन्द्रमा स्वर्ग लोक के द्वार के नाम से प्रसिद्ध है। जो अधिकारी (दैवी सम्पत्ति से युक्त होने के कारण) उस स्वर्ग रूप चन्द्रमा का प्रत्याख्यान कर देता है (अर्थात् जहाँ से फिर से नीचे गिरना पड़े, ऐसा स्वर्ग मुझे नहीं चाहिए। ऐसा कहते हुए चन्द्रलोक का परित्याग कर देता है।), उस पुरुष को उसका वह शुभ संकल्प चन्द्रलोक से भी ऊपर अविनाशी ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित करा देता है; लेकिन जो पुरुष स्वर्गीय सुख के प्रति ही आसक्त होने के कारण चन्द्रलोक को स्वीकार कर लेता है, उस कामनायुक्त स्वर्गवासी को उसके पुण्य भोग के समाप्त होने पर उसे सभी देव वर्षा के रूप में परिवर्तित करके उसी लोक में ही पुनः बरसा देते हैं। वर्षा के रूप में वह यहाँ आया हुआ कर्मफल का भोक्ता जीव स्वकृत पूर्व वासनानुसार कीट-पतंग या पक्षी, व्याघ्र, सिंह, मछली, साँप, बिच्छू, मनुष्य या अन्य कोई दूसरा जीव होकर अनुकूल शरीरों में स्वकर्म एवं विद्या (उपासना) के अनुसार ही यहाँ-वहाँ जन्म लेता है। इस प्रकार अपने पास में आए हुए शिष्य से दयालु एवं तत्त्वज्ञान धारण करने वाले गुरु को इस तरह से पूछना चाहिए-हे वत्स! तुम कौन हो? गुरु के इस तरह से पूछने पर शिष्य को इस तरह उत्तर देना चाहिए। हे देवताओ! जो पन्द्रह कलाओं से युक्त शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष के कारणभूत श्रद्धा के माध्यम से प्रादुर्भूत, पितृलोक स्वरूप एवं विभिन्न प्रकार के भोगों को प्रदान करने में समर्थ हैं, उन चन्द्रमा के समीप से उत्पन्न होकर पुरुष रूप अग्नि में स्थापित हुआ, जो श्रद्धा, सोम, वृष्टि एवं अन्न का परिणामभूत वीर्य है, उस वीर्य के ही रूप में केन्द्रित हुए मुझ कर्मफल के भोक्ता जीव को तुमने वीर्याधान करने वाले पुरुष में प्रेरित किया। तदनन्तर गर्भाधान करने वाले पुरुष (पिता) के द्वारा तुमने मुझको माता के गर्भ में धारण करवाया। माता के गर्भ में द्वादश-त्रयोदश आर्षमास (२३ दिन का एक

आर्षमास) तक रहकर जन्म लिया। इस कारण अब मुझे अमृतत्व की प्राप्ति के साथ साधनभूत ब्रह्मज्ञान हेतु अनेक ऋतुओं तक अक्षय रहने वाली दीर्घायु प्रदान करें। ब्रह्म के साक्षात्कार तक मेरे दीर्घ जीवन हेतु चिरस्थाई आयु की पुष्टि प्रदान करें, क्योंकि यह सब कुछ जानकर के मैं समस्त देवताओं से प्रार्थना करता हूँ। इसीलिए उसी सत्य से, उसी तप से, जिनका कि मैंने अभी उल्लेख किया है, मैं वही ऋतु हूँ अर्थात् संवत्सरादि रूप मरणधर्मा मनुष्य हूँ। आर्तव हूँ-ऋतु अर्थात् रज-वीर्य के माध्यम से प्रादुर्भूत हुआ शरीर हूँ और यदि ऐसी बात नहीं है, तो आप ही कृपा करके बतायें कि मैं कौन हूँ? उस (शिष्य) के इस तरह से कहने पर संसार के भय से भयभीत हुए शिष्य को गुरु ब्रह्मविद्या के उपदेश द्वारा भवसागर से पार करके बन्धनों से मुक्ति प्रदान कर देता है॥ २॥

स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकं तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मलोकस्य आरो ह्रदो मुहूर्तोऽन्वेष्टिहा विरजा नदील्यो वृक्षः सालज्यं संस्थानमपराजितमायतनमिन्द्रप्रजापती द्वारगोपौ। विभुप्रमितं विचक्षणाऽऽसन्द्यमितौजाः पर्यङ्कः प्रिया च मानसी प्रतिरूपा च चाक्षुषी पुष्पाण्यावयतौ वै च जगान्यम्बाश्चाम्बावयवीश्चाप्सरसः। अम्बया नद्यस्तमित्थंविदा गच्छति तं ब्रह्मा हाभिधावत मम यशसा विरजां वा अयं नदीं प्रापन्न वा अयं जरयिष्यतीति॥ ३॥

वह विराट् ब्रह्म का उपासक पूर्व में कहे हुए देवयान मार्ग पर पहुँच कर सर्वप्रथम अग्निलोक में गमन करता है। तदनन्तर वायुलोक में प्रस्थान करता है, फिर वहाँ से वह सूर्यलोक में गमन करता है, इसके बाद वरुण लोक में आता है, फिर वह इन्द्रलोक में आता है, इन्द्रलोक से प्रजापति के लोक में गमन करता हुआ ब्रह्म लोक में आ जाता है। इस ख्याति प्राप्त ब्रह्मलोक के प्रवेश मार्ग पर सर्वप्रथम 'अर' नामक एक महान् प्रसिद्ध जलाशय है। (काम, क्रोध, लोभादि अरियों-शत्रुओं के द्वारा निर्मित होने से ही उस जलाशय को अर के नाम से जाना गया है।) उस अर नामक जलाशय से आगे मुहूर्ताभिमानी देवता का स्थान है, काम, क्रोध, लोभादि की प्रवृत्ति प्रादुर्भूत करके ब्रह्मलोक प्राप्ति के अनुकूल की हुई उपासना एवं यज्ञादि पुण्य को नष्ट करने से 'इष्टिहा' (जो इष्ट वस्तु की प्राप्ति में बाधा पहुँचाते हैं) कहलाते हैं। इसके आगे 'विरजा' नाम वाली नदी विद्यमान है, इस नदी के दर्शन मात्र से ही वृद्धावस्था दूर हो जाती है। इस नदी से आगे 'इल्य' नामक वृक्ष स्थित है। 'इला' पृथ्वी का नाम है और उस (इला) का ही स्वरूप होने के कारण उस वृक्ष का नाम 'इल्य' पड़ा। उससे आगे कई अनेक देवों के द्वारा सेव्यमान उद्यान, बावली, कूप, सरोवर एवं नदी आदि अलग-अलग जलाशयों से युक्त एक नगर है, उस नगर के एक ओर विरजा नामक नदी है एवं दूसरी ओर धनुष की प्रत्यञ्चा के आकार का (अर्धचन्द्राकार) एक परकोटा (चहारदीवारी) है। उसके आगे ब्रह्माजी का निवासभूत विशाल देवालय है, जो 'अपराजित' के नाम से प्रख्यात है। सूर्य के सदृश तेजस्वरूप होने के कारण वह कभी भी किसी के द्वारा पराजित नहीं होता। मेघ एवं यज्ञरूप से उपलक्षित वायु तथा आकाश स्वरूप इन्द्र एवं प्रजापति उस ब्रह्म देवालय के द्वार-रक्षक के रूप में विद्यमान हैं।

वहाँ पर एक सभा मण्डप है, जिसका नाम 'विभुप्रमित' है। उस सभा मण्डप के मध्य भाग में स्थित एक वेदी (चबूतरा) है, जो 'विचक्षणा' के नाम से प्रख्यात है। (उस वेदी का प्रतिपादन बुद्धि एवं महत्तत्त्व आदि के नामों से भी होता है) वह अति विशेष लक्षणों से युक्त है। जो अपरिमित बल से सम्पन्न है, ऐसा वह 'अमितौजस्' नामक प्राण ही भगवान् ब्रह्मा जी का सिंहासन (पलंग) है। मानसी प्रकृति मन की कारणभूता होने से या फिर मन को आनन्द प्रदान करने वाली होने के कारण वह मानसी कहलाती है। उसके आभूषण

भी उसी के अनुरूप हैं। 'चाक्षुषी' के नाम से उसकी छायामूर्ति की ख्याति है। वह तेजोयुक्त नेत्रों की प्रकृति होने के कारण अति तेज स्वरूप है। उसके अलंकारादि भी अत्यन्त तेजोमय हैं। यह संसार इन चतुर्विध प्राणियों-जरायुज, स्वेदज, अण्डज तथा उद्भिज्ज से परिपूर्ण है। समस्त विश्व, जड़-चेतन समुदाय भगवान् ब्रह्मा जी की वाटिका के पुष्प एवं उनके धौत (धोती) और उत्तरीय के रूप में युगल वस्त्र हैं। वहाँ की अप्सरायें (साधारण युवतियाँ) 'अम्बा' एवं 'अम्बावयवी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। सम्पूर्ण विश्व को जन्म देने वाली श्रुतिरूपा होने से वह 'अम्बा' के नाम से प्रसिद्ध है और 'अम्ब' (अधिक) एवं 'अवयव' (अंश-न्यून) भाव से रहित बुद्धिरूपा होने के कारण उनका नाम 'अम्बावयवी' पड़ा। इसके अतिरिक्त वहाँ 'अम्बया' नाम वाली नदियाँ भी प्रवाहित होती हैं। अम्बक अर्थात् नेत्ररूप ब्रह्मज्ञान की ओर गमन करने के कारण उनकी 'अम्बया' संज्ञा है। ऐसे उस श्रेष्ठ ब्रह्म के लोक को जो भी मनुष्य जानता है, वह उसी को प्राप्त होता है। उस पुरुष को जब कोई अमानव पुरुष आदित्यलोक से हमारे अर्थात् ब्रह्मलोक के लिए लाता है, तब उस समय ब्रह्मा जी अपने सहायकों एवं अप्सराओं से कहते हैं—दौड़ो, उस महात्मा पुरुष का मेरे यश एवं प्रतिष्ठा के अनुकूल स्वागत करो। मेरे लोक में लाने वाली उपासना आदि के कारण निश्चय ही यह (महान् पुरुष) उस विरजा नदी के पास तक आ गया है। निश्चय ही अब वह पुरुष वृद्धावस्था नहीं प्राप्त करेगा॥ ३॥

तं पञ्चशतान्यप्सरसां प्रतियन्ति शतं चूर्णहस्ताः शतं वासोहस्ताः शतं फलहस्ताः शतमाञ्जनहस्ताः शतं माल्यहस्तास्तं ब्रह्मालंकारेणालंकुर्वन्ति स ब्रह्मालंकारेणालंकृतो ब्रह्म विद्वान्ब्रह्माभिप्रैति स आगच्छत्यारं ह्रदं तं मनसाऽत्येति। तमित्वा संप्रतिविदो मज्जन्ति स आगच्छति मुहूर्तान्विहेष्टिहास्तेऽस्मादपद्रवन्ति स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति। तत्सुकृतदुष्कृते धुनुते। तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतं तद्यथा रथेन धावयन्रथचक्रे पर्यवेक्षत, एवमहोरात्रे पर्यवेक्षत एवं सुकृतदुष्कृते सर्वाणि च द्वंद्वानि स एष विसुकृतो विदुष्कृतो ब्रह्म विद्वान्ब्रह्मैवाभिप्रैति॥ ४॥

(ब्रह्माजी का आदेश प्राप्त होने पर उस पुरुष के सम्मान के लिए) पाँच सौ अप्सरायें जाती हैं। उनमें से सौ अप्सराएँ तो हाथों में (मंगल द्रव्य, केशर, हल्दी एवं रोली आदि के) चूर्ण लिए रहती हैं। अन्य सौ के हाथों में तरह-तरह के दिव्य वस्त्र तथा आभूषण आदि होते हैं। अन्य सौ अप्सराएँ अपने हाथों में फल लिए होती हैं, अन्य सौ के हाथों में विभिन्न तरह के दिव्य अङ्गराग होते हैं एवं सौ अप्सराएँ अपने हाथों में भाँति-भाँति की मालाएँ उसके सम्मानार्थ लिए होती हैं। वे सभी अप्सराएँ उस महान् आत्मा को ब्रह्मोचित अलंकारों से सुसज्जित करती हैं। वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्माजी के योग्य आभूषणों को धारण करके ब्रह्माजी के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। तदनन्तर वह 'अर' नाम वाले सरोवर के समीप आकर उसे मन के द्वारा संकल्प मात्र से पार कर लेता है। उस जलाशय के समीप पहुँच कर अज्ञानी मनुष्य उसमें डूब जाते हैं। तत्पश्चात् वह ब्रह्मज्ञानी मुहूर्त्ताभिमानी 'इष्टिहा' नामक देवताओं के समीप में आता है; लेकिन वे विघ्नकारी देवता उसके पास से डरकर भाग जाते हैं। उसके बाद वह विरजा नदी के तट पर आ करके उस नदी को भी संकल्प मात्र से लाँघ जाता है। वहाँ पर वह ब्रह्मज्ञानी अपने समस्त पुण्य एवं पापों को त्याग देता है। जो उसके कुटुम्बी प्रिय-परिजन आदि होते हैं, वे सभी लोग तो उसके पुण्य के भागीदार बनते हैं; किन्तु जो उस (दिव्यात्मा) से द्वेष करने वाले होते हैं, उन्हें उसके द्वारा त्यागे हुए पापों का भागीदार बनना पड़ता है। (उस सन्दर्भ में यह दृष्टान्त इस प्रकार है)-रथ के द्वारा यात्रा करने वाला पुरुष दौड़ाते हुए रथ के दोनों चक्रों का भूमि से जो संयोग-वियोग होता है, वह उन चक्रों को देखते रहने पर भी आरोही को प्राप्त नहीं होता, वैसे ही वह ब्रह्मवेत्ता पुरुष रात एवं

दिन को , पाप एवं पुण्य को तथा अन्य सभी तरह के द्वन्द्वों को देखता है, परन्तु द्रष्टा होने के कारण ही वह इनसे सम्बन्धरहित रहता है। इस कारण.वह पुण्य एवं पाप से रहित होता है। अत: ब्रह्मज्ञान के कारण ही वह ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है॥ ४॥

स आगच्छतील्यं वृक्षं तं ब्रह्मगन्धः प्रविशति, स आगच्छति सालज्यं संस्थानं तं ब्रह्मरसः प्रविशति, स आगच्छत्यपराजितमायतनं तं ब्रह्मतेजः प्रविशति स आगच्छति। इन्द्रप्रजापती द्वारगोपौ तावस्मादपद्रवतः स आगच्छति विभुप्रमितं तं ब्रह्मतेजः प्रविशति स आगच्छति विचक्षणामासन्दीं बृहद्रथन्तरे सामनी पूर्वौ पादौ श्यैतनौधसे चापरौ वैरूपवैराजे अनूच्येते शाक्करैवते तिरश्ची सा प्रज्ञा प्रज्ञया हि विपश्यति स आगच्छत्यमितौजसं पर्यङ्कं स प्राणस्तस्य भूतं च भविष्यच्च पूर्वौ पादौ श्रीश्चेरा चापरौ बृहद्रथंतरे अनूच्ये भद्रयज्ञायज्ञीये शीर्षण्ये ऋचश्च सामानि च प्राचीनातानानि यजूंषि तिरश्चीनानि सोमांशव उपस्तरणमुद्गीथ उपश्रीः श्रीरुपबर्हणं तस्मिन्ब्रह्मास्ते तमित्थंवित्पादेनैवाग्र आरोहति। तं ब्रह्मा पृच्छति कोऽसीति तं प्रतिब्रूयात्॥ ५॥

इसके पश्चात् वह (पुरुष) 'इल्य' नामक वृक्ष के पास गमन करता है। उस समय उसकी घ्राणेन्द्रिय में ब्रह्म-गन्ध का प्रवेश होता है। तदनन्तर वह 'सालज्य' नामक नगर के पास आता है, वहाँ उसकी स्वादेन्द्रिय में उस दिव्यातिदिव्य ब्रह्मरस की अनुभूति होती है, जिसका कि उसे इसके पहले कभी भी अनुभव नहीं हुआ होता। इसके बाद वह 'अपराजित' नाम वाले ब्रह्म मन्दिर के पास में आता है। वहाँ पर उसमें ब्रह्मतेज का प्रवेश होता है। फिर वह द्वार रक्षक इन्द्र एवं प्रजापति के समीप में गमन करता है, प्रजापति उसके सामने से रास्ता छोड़कर अलग हट जाते हैं। इसके अनन्तर वह 'विभुप्रमित' नामक सभा मण्डप में पहुँचता है, वहाँ पर उसके अन्त:करण में ब्रह्मयश प्रविष्ट करता है, फिर वह 'विचक्षणा' नाम से युक्त वेदी के समीप में आता है। 'बृहत्' एवं 'रथन्तर' ये दो साम उस पलंग के दोनों अग्रभाग के पाये हैं और 'श्यैत' एवं 'नौधस' नामक साम उसके दोनों पृष्ठ भाग के पाये हैं। 'वैरूप' तथा 'वैराज' नाम से युक्त ये साम उसके दक्षिणी एवं उत्तरी पार्श्व हैं। 'शाक्कर' एवं 'रैवत' नामक साम उसके पूर्वी और पश्चिमी पार्श्व हैं। वह समष्टि-बुद्धिरूपा है। वह ब्रह्मवेत्ता उस बुद्धि के माध्यम से विशेष दृष्टि प्राप्त कर लेता है। इसके बाद वह 'अमितौजस्' नामक पलंग अथवा सिंहासन के समीप में आता है, वह पर्यङ्क (पलंग) प्राणरूप ही है, भूत एवं भविष्यत् काल उसके अग्रभाग के पाये हैं, श्रीदेवी या भूदेवी ये दोनों उस सिंहासन के पृष्ठभाग के पाये हैं। उसके उत्तर एवं दक्षिण क्षेत्र में जो 'अनूच्य' नामक दीर्घ खट्वाङ्ग हैं, वे 'बृहत्' एवं 'रथन्तर' नाम से युक्त साम हैं और पूर्व एवं पश्चिम क्षेत्र में जो छोटे खट्वाङ्ग हैं और जिन पर सिर एवं पैर रखे जाते हैं, वे 'यज्ञायज्ञीय' नामक साम हैं। पूर्व से पश्चिम दीर्घाकार के रूप में लगी हुई पाटियाँ ऋक् एवं साम की प्रतीक हैं। दक्षिण एवं उत्तर की ओर जो आड़ी तिरछी लगी हुई पाटियाँ हैं, स्वयं यजुर्वेद स्वरूप ही हैं। चन्द्रमा की कोमल एवं शीतल रश्मियाँ ही उस पर्यङ्क (पलंग) के मुलायम गद्दे के रूप में हैं। उद्गीथ ही उस पर बिछी हुई उपश्री अर्थात् श्वेत चादर है। श्रीलक्ष्मी जी, उस पलंग पर तकिया के रूप में हैं। ऐसे दिव्य पर्यङ्क पर भगवान् ब्रह्माजी सुशोभित होते हैं। इस श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान को इस प्रकार से भली-भाँति जानने वाला ब्रह्मज्ञानी उस पलंग पर सर्वप्रथम पैर रखकर आसीन होता है।

तदनन्तर ब्रह्माजी उस ब्रह्मज्ञानी से प्रश्न करते हैं-तुम कौन हो? उन भगवान् ब्रह्माजी के प्रश्न का उत्तर उसे इस प्रकार से देना चाहिए॥ ५॥

ऋतुरस्म्यार्तवोऽस्म्याकाशाद्योनेः संभूतो भार्या एतत्संवत्सरस्य तेजोभूतस्य भूतस्य भूतस्य भूतस्यात्मा त्वमात्मासि यस्त्वमसि सोऽहमस्मीति तमाह कोऽहमस्मीति सत्यमिति ब्रूयात्किं तद्यत्सत्यमिति यदन्यद्देवेभ्यश्च प्राणेभ्यश्च तत्सदथ यद्देवाश्च प्राणाश्च तत्त्यं तदेतया वाचाऽभिव्याह्रियते सत्यमित्येतावदिदं सर्वमिदं सर्वमसि। इत्येवैनं तदाह। तदेतदृक्श्लोकेनाभ्युक्तम् यजूदरः सामशिरा आसावृङ्मूर्तिरव्ययः। स ब्रह्मेति स विज्ञेय ऋषिर्ब्रह्ममयो महानिति। तमाह केन मे पौंस्यानि नामान्याप्नोतीति प्राणेनेति ब्रूयात्। केन स्त्रीनामानीति वाचेति केन नपुंसकानीति मनसेति केन गन्धानिति प्राणेनेत्येव ब्रूयात्। केन रूपाणीति चक्षुषेति केन शब्दानिति श्रोत्रेणेति केनान्नरसानिति जिह्वयेति केन कर्माणीति हस्ताभ्यामिति केन सुखदुःखे इति शरीरेणेति केनानन्दं रतिं प्रजातिमित्युपस्थेनेति। केनेत्या इति पादाभ्यामिति केन धियो विज्ञातव्यं कामानिति प्रज्ञयेति ब्रूयात्तमाह। आपो वै खलु मे ह्यसावयं ते लोक इति सा या ब्रह्मणो जितिर्या व्यष्टिस्तां जितिं जयति तां व्यष्टिं व्यश्नुते य एवं वेद य एवं वेद॥ ६॥

मैं स्वयं ही वसन्तादि ऋतु स्वरूप हूँ, ऋतु से सम्बन्धित हूँ। मैं कारणभूत अव्याकृत आकाश एवं स्वयं प्रकाश रूप परब्रह्म अविनाशी परमात्म तत्त्व से प्रादुर्भूत हुआ हूँ। जो भूत (अतीत, यथार्थ कारण, जड़-चेतन स्वरूप चतुर्विध सर्ग एवं पञ्च महाभूत स्वरूप) है, उस संवत्सर का तेज मैं स्वयं हूँ। मैं स्वयं आत्मा हूँ। आप आत्मा हैं, हे भगवन् ! जो आप हैं, वही मैं हूँ। उस ब्रह्मवेत्ता के इस तरह से उत्तर देने पर ब्रह्माजी पुनः पूछते हैं कि मैं कौन हूँ? इसके उत्तर में वह इस प्रकार कहे-'आप सत्य हैं'। जो सत्य है, जिसे तुम सत्य कहते हो, वह क्या है? ऐसा प्रश्न ब्रह्माजी के द्वारा पूछने पर वह इस प्रकार उत्तर दे-जो समस्त देवताओं एवं प्राणों से भी सर्वथा भिन्न एवं विशेष लक्षणों से युक्त हो, वह 'सत्' है और जो देवता प्राणस्वरूप है, वह 'त्य' है। वाणी के द्वारा जिस तत्त्व को 'सत्य' कहते हैं, वह यही है। यही सभी कुछ है। आप ही यह सभी कुछ हैं, अतः आप ही सत्य हैं। यही तथ्य ऋग्वेद के मन्त्र में इस प्रकार व्यक्त हुआ है-'जिसका उदर यजुर्वेद है, मस्तक सामवेद है तथा सम्पूर्ण शरीर ऋग्वेद है, वह अविनाशी परमात्मा 'ब्रह्मा' के नाम से विख्यात है, वह जानने योग्य है। वह ब्रह्ममय-ब्रह्मरूप महान् ऋषि है।' इसके बाद पुनः ब्रह्माजी उस उपासक से पूछते हैं- तुम मेरे पुरुषवाचक नामों को किससे ग्रहण करते हो? वह उत्तर दे-प्राण से । (प्र०)- स्त्रीवाचक नामों को किससे ग्रहण करते हो? (उ०) वाणी से। (प्र०) नपुंसक वाची नामों को किससे ग्रहण करते हो? (उ०) मन से। (प्र०) गन्ध का अनुभव किससे करते हो? (उ०) प्राण से -घ्राणेन्द्रिय से। (प्र०) रूपों को किससे ग्रहण करते हो? (उ०) नेत्र से। (प्र०) शब्दों को किससे सुनते हो? (उ०) कानों से (प्र०) अन्न का आस्वादन किससे करते हो ? (उ०) जिह्वा से (प्र०) कर्म किससे करते हो? (उ०) हाथों से। (प्र०) सुख-दुःखों का अनुभव किससे करते हो? (उ०) शरीर से। (प्र०) रति का आनन्द एवं प्रजोत्पत्ति का सुख किससे उठाते हो? (उ०) उपस्थ से। (प्र०) गमन क्रिया किससे करते हो? (उ०) दोनो पैरों से। (प्र०) बुद्धि-वृत्तियों को, ज्ञातव्य विषयों को और मनोरथों को किससे ग्रहण करते हो? (उ०) प्रज्ञा से-ऐसा कहे। तब ब्रह्मा उससे कहते हैं-'जल आदि प्रसिद्ध पाँच महाभूत मेरे स्थान हैं, अतः यह मेरा लोक भी जलादि-तत्त्व-प्रधान ही है। तुम मुझसे अभिन्न मेरे उपासक हो, अतः यह तुम्हारा भी लोक है।' वह ब्रह्मा की जो जिति (विजय करने की शक्ति) तथा व्यष्टि (सर्वव्यापकता) शक्ति है, वह उपासक इन दोनों शक्तियों को भी प्राप्त कर लेता है, जो इस प्रकार जानता है अर्थात् इस प्रकार का ज्ञान रखने वाला ब्रह्मा की तरह शक्ति-सम्पन्न हो जाता है॥ ६॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कौषीतकिस्तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो दूतं वाक्परिवेष्ट्री चक्षुर्गोप्तृ श्रोत्रं संश्रावयितृ तस्मै वा एतस्मै प्राणाय ब्रह्मण एताः सर्वा देवता अयाचमानाय बलिं हरन्ति तथो एवास्मै सर्वाणि भूतान्ययाचमानायैव बलिं हरन्ति य एवं वेद तस्योपनिषन्न याचेदिति। तद्यथा ग्रामं भिक्षित्वाऽलब्ध्वोपविशेन्नाहमतो दत्तमश्नीयामिति। य एवैनं पुरस्तात्प्रत्याचक्षीरंस्त एवैनमुपमन्त्रयन्ते ददाम त इति। एष धर्मो याचितो भवति। अन्यतस्त्वेवैनमुपमन्त्रयन्ते ददाम त इति॥ १ ॥

(प्राण तत्त्व की उपासना) सुप्रसिद्ध 'कुषीतक' ऋषि के सुपुत्र ऋषि कौषीतकि कहते हैं कि यह प्राण ही ब्रह्म है। उन प्रसिद्ध प्राण रूप ब्रह्म को यहाँ पर राजा के स्वरूप में कल्पित किया गया है। उन (प्राण) का मन ही दूत है, वाणी परोसने वाली उनकी रानी है, चक्षु संरक्षक (मन्त्री) है और कर्णेन्द्रिय संदेश सुनाने वाला द्वारपाल है। उन सुप्रसिद्ध प्राणरूप ब्रह्म को बिना माँगे ही ये सभी इन्द्रियाभिमानी देवगण भेंट प्रदान करते हैं। (प्राण के संसर्ग से मन एवं इन्द्रियों की क्रियाएँ सहज ही होने लगती हैं, यह प्रक्रिया स्वचालित होने से इसे बिना माँगे दी जाने वाली भेंट कहा गया है।) इस तरह से जो इस रहस्य का ज्ञाता है, उसको बिना याचना किये ही समस्त चराचर प्राणी भेंट समर्पित करते हैं। उस श्रेष्ठ प्राण के उपासक के लिए यह गूढ़ व्रत है कि 'वह किसी से कभी कुछ भी न माँगे। ठीक वैसे ही, जैसे कोई भिक्षुक गाँव में भीख माँगने पर जब कुछ भी नहीं पाता, तो निराश होकर बैठा रहता है एवं कुपित होकर यह प्रतिज्ञा कर लेता है कि अब से इस गाँव के लोगों के द्वारा देने पर भी दान ग्रहण नहीं करूँगा। वह भिक्षु जिस दृढ़ता से अपनी बात पर आरूढ़ रहता है, वैसे ही प्राण की उपासना करने वाले को अपने न माँगने के व्रत पर दृढ़ रहना चाहिए। याचक धर्म के साथ दीनता का भाव जुड़ा रहता है। याचना एवं दैन्य प्रदर्शन से सदा दूर रहने वाले साधक को लोग ऐसे ही आमन्त्रण देते रहते हैं- 'आओ' हम तुम्हें भिक्षा प्रदान करेंगे॥ १ ॥

प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह पैङ्ग्यस्तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो वाक्परस्ताच्चक्षुरारुन्धे चक्षुः परस्ताच्छ्रोत्रमारुन्धे श्रोत्रं परस्तान्मन आरुन्धे मनः परस्तात्प्राण आरुन्धे तस्मै वा एतस्मै प्राणाय ब्रह्मण एताः सर्वा देवता अयाचमानाय बलिं हरन्ति तथो एवास्मै सर्वाणि भूतान्ययाचमानायैव बलिं हरन्ति य एवं वेद तस्योपनिषन्न याचेदिति तद्यथा ग्रामं भिक्षित्वाऽलब्ध्वोपविशेन्नाहमतो दत्तमश्नीयामिति य एवैनं पुरस्तात्प्रत्याचक्षीरंस्त एवैनमुपमन्त्रयन्ते ददाम त इत्येष धर्मो याचितो भवत्यन्यतस्त्वेवैनमुपमन्त्रयन्ते ददाम त इति॥२ ॥

'प्राण ही ब्रह्म है' ऐसा प्रसिद्ध महात्मा पैङ्ग्य भी कहते हैं। उन प्रसिद्ध प्राण रूप ब्रह्म के लिए वाणी से परे नेत्र-इन्द्रिय है, जो वाक् इन्द्रिय को सभी ओर से व्याप्त करके विद्यमान है। चक्षु से परे श्रोत्रेन्द्रिय है,उसने नेत्र को सब ओर से व्याप्त कर रखा है। श्रवणेन्द्रिय से परे मन है, जो कि श्रवणेन्द्रिय को सब ओर से व्याप्त करके स्थित है; क्योंकि मन के सावधान रहने पर ही यह श्रोत्रेन्द्रिय श्रवण करने में समर्थ हो सकती है। मन से परे प्राण है, जो मन को सभी ओर से व्याप्त करके स्थित है। प्राण ही मन को बाँधकर रखने वाला है, ऐसी बात प्रसिद्ध है। प्राण के न रहने पर तो मन भी नहीं रह सकता, इसलिए सब की अपेक्षा श्रेष्ठ एवं आन्तरिक आत्मा होने से प्राण का ब्रह्म होना उचित ही है। उस प्राण स्वरूप परमात्मा को ये सभी देवगण उसके न माँगने

पर भी उपहार समर्पित करते हैं। इसी तरह से जो उसे ऐसा जानता है, उस साधक को समस्त जीव बिना याचना के ही पृथक्-पृथक् उपहार प्रदान करते हैं। उसका यह अत्यन्त दृढ़ निश्चय है कि वह किसी से कभी भी याचना न करे। इस सन्दर्भ में वही पूर्वोक्त उदाहरण है॥ २॥

अथात एकधनावरोधनं यदेकधनमभिध्यायात्पौर्णमास्यां वाऽमावास्यायां वा शुद्धपक्षे वा पुण्ये नक्षत्रेऽग्निमुपसमाधाय परिसमूह्य परिस्तीर्य पर्युक्ष्योत्पूय दक्षिणं जान्वाच्य स्रुवेण वा चमसेन वा कंसेन वैता आज्याहुतीर्जुहोति वाङ्नाम देवताऽवरोधिनी सा मेऽमुष्मादिदमवरुन्धां तस्यै स्वाहा। प्राणो नाम देवताऽवरोधिनी सा मेऽमुष्मादिदमवरुन्धां तस्यै स्वाहा। चक्षुर्नाम देवताऽवरोधिनी सा मेऽमुष्मादिदमवरुन्धां तस्यै स्वाहा। श्रोत्रं नाम देवताऽवरोधिनी सा मेऽमुष्मादिदमवरुन्धां तस्यै स्वाहा। मनो नाम देवताऽवरोधिनी सा मेऽमुष्मादिदमवरुन्धां तस्यै स्वाहा। प्रज्ञा नाम देवताऽवरोधिनी सा मेऽमुष्मादिदमवरुन्धां तस्यै स्वाहेत्यथ धूमगन्धं प्रजिघ्रायाज्यलेपेनाङ्गान्यनु विमृज्य वाचंयमोऽभिप्रव्रज्यार्थं ब्रुवीत दूतं वा प्रहिणुयाल्लभते हैव॥ ३॥

अब एकमात्र धन (प्राण) के निरोध की बात कही जाती है। यदि एक मात्र धन (प्राण) का ध्यान करे, तो पूर्णिमा अथवा अमावस्या को या फिर शुक्ल अथवा कृष्ण पक्ष की किसी भी शुभ-तिथि को पुण्य (श्रेष्ठ) नक्षत्र में अग्नि की स्थापना, (वेदी का) परिसमूहन संस्कार, कुशों का बिछाना, अभिमन्त्रित जल से अग्निवेदी आदि का अभिषेक एवं अग्नि पर पात्र में रखे हुए घृत का शोधन करके दाहिने घुटने को पृथ्वी पर स्थिर करके स्रुवा से, चमस से या काँसे की करछुल से (मूल संस्कृत में दिये गये वाङ्नाम देवता ..... स्वाहा आदि मन्त्रों द्वारा) विधिवत् आहुति समर्पित करे।

मन्त्रों के भाव इस प्रकार हैं- ॐ वाङ्नाम देवतावरोधिनी..... अवरुन्धां तस्यै स्वाहा- 'वाणी' नाम से प्रसिद्ध देवी अवरोधिनी साधक की कामना पूर्ति करने वाली है। वह मुझ प्राण की उपासना करने वाले को अमुक व्यक्ति से इच्छित अर्थ की सिद्धि कराये; उसके लिए यह घृताहुति सादर समर्पित है। प्राण देवता अभीष्ट सिद्धि प्रदान करने में समर्थ हैं, वे मुझ प्राणोपासक को धन (प्राण) की प्राप्ति कराएँ। इसके लिए यह आहुति समर्पित है। चक्षु नाम से युक्त देवी कामनापूर्ति में सहायक है, वह देवी मुझ प्राणोपासक को अमुक व्यक्ति से अभीष्ट धन (प्राण) प्राप्त कराए। यह घृताहुति उसी के लिए समर्पित है। श्रोत्र नाम से युक्त देवी अभीष्ट फल प्रदान करने वाली है, वह मुझ प्राणस्वरूप ब्रह्म के साधक को अमुक व्यक्ति से इच्छित धन (प्राणों) की प्राप्ति कराये, इसके निमित्त यह घृताहुति समर्पित है। 'मन' नाम वाली देवी अभीष्ट फल प्रदान करने वाली है, वह मुझ प्राण की उपासना करने वाले को अमुक व्यक्ति से इच्छित धन (प्राण) की प्राप्ति कराये, यह घृताहुति उसके निमित्त समर्पित है। 'प्रज्ञा' नामक देवी इच्छित फल देने वाली है। वह मुझ प्राणदेव के उपासक को अमुक व्यक्ति से अभीष्ट धन (प्राण) की प्राप्ति कराये। यह आहुति उसके लिए ही समर्पित है। इस तरह से आहुतियाँ देने के बाद धूम की गन्ध को ग्रहण करके हवन से बचे हुए घृत से अपने अंगों में लेपन करके मौन भाव से धन-स्वामी के समीप में गमन करे और इच्छित अर्थ के सम्बन्ध में कहे कि इतने धन की मुझे विशेष आवश्यकता है। अत: आपके यहाँ प्राप्त हो जाना चाहिए अथवा यदि धनिक कहीं दूर है, तो किसी दूत के द्वारा उक्त संदेश कहलाने के लिए उसके पास भेज देना चाहिए। इस प्रकार के कार्य द्वारा अभीष्ट धन (प्राण) की प्राप्ति हो जाती है॥ ३॥

अथातो दैवः स्मरो यस्य प्रियो बुभूषेद्यस्यै वा एषां वै तेषामेवैकस्मिन्पर्वण्य-ग्निमुपसमाधायैतयैवावृतैता आज्याहुतीर्जुहोति वाचं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। प्राणं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। चक्षुस्ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। श्रोत्रं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। मनस्ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। प्रज्ञां ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहेत्यथ धूमगन्धं प्रजिघ्रायाज्यलेपेनाङ्गान्यनु विमृज्य वाचंयमोऽभिप्रव्रज्य संस्पर्शं जिगमिषेदपि वाताद्वा संभाषमाणस्तिष्ठेत्प्रियो हैव भवति स्मरन्ति हैवास्य॥ ४॥

अब इसके पश्चात् वाणी आदि देवों के द्वारा सिद्ध होने वाले अभीष्ट की पूर्ति का प्रकार बताया गया है। यदि उपासक किसी का आत्मीय बनने की इच्छा करे, तो उसे किसी का भी प्रिय होने से पूर्व 'वाक्' आदि देवों का आत्मीय-प्रिय बनना चाहिए। किसी एक शुभ पर्व के दिन पूर्वोक्त नियमानुसार शुभ तिथि एवं शुभ मुहूर्त में पहले कहे हुए के अनुसार ही अग्नि की स्थापना, (वेदी का) परिसमूहन (संस्कार करना), कुशों का बिछाना, वेदी आदि का अभिषेक, घृत का उत्पवन (शोधन) आदि करके 'वाचं ते मयि..... स्वाहा' आदि मंत्रों से घृताहुतियाँ समर्पित करे। मंत्रों के अर्थ इस प्रकार हैं-मैं तुम्हारी वागिन्द्रिय का अपने में हवन करता हूँ, मेरा अभीष्ट कार्य सिद्ध हो जाये, इस भाव से यह आहुति समर्पित है। मैं अपने अभीष्ट की पूर्ति के लिए आपके प्राण, चक्षु, श्रोत्र एवं मन आदि इन्द्रियों तथा आपकी प्रज्ञा को भी अपने में हवन करता हूँ। इस भाव से ये विशेष घृताहुतियाँ आपके लिए समर्पित हैं।

इन आहुतियों के पश्चात् होम-धूम की गन्ध को घ्राणेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण कर होमावशिष्ट घृत का अपने अंगों पर लेपन करके मौन रहते हुए अमुक व्यक्ति के पास जाए अथवा ऐसे स्थान पर खड़ा होकर कहे कि जहाँ वायु के सहयोग से उसके शब्द इच्छित व्यक्ति के कानों में सुनाई पड़ें, तो निश्चय ही वह उस (व्यक्ति) का प्रिय हो जाता है। इतना ही नहीं बल्कि उस जगह से हट जाने पर वहाँ के निवासी उसको सदैव स्मरण करते रहते हैं॥४॥

अथातः सांयमनं प्रातर्दनमान्तरमग्निहोत्रमिति चाचक्षते यावद्वै पुरुषो भाषते न तावत्प्राणितुं शक्नोति प्राणं तदा वाचि जुहोति। यावद्वै पुरुषः प्राणिति न तावद्भाषितुं शक्नोति वाचं तदा प्राणे जुहोति। एते अनन्ते अमृताहुती जाग्रच्च स्वपंश्च संततमव्यवच्छिन्नं जुहोत्यथ या अन्या आहुतयोऽन्तवत्यस्ताः कर्ममय्यो हि भवन्त्येतद्ध वै पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवांचक्रुः॥ ५॥

आध्यात्मिक अग्निहोत्र-

अब दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन के द्वारा किया गया अनुष्ठान, 'प्रातर्दन' नाम से प्रख्यात और संयम से पूर्ण होने से 'सांयमन' कहलाने वाले अग्निहोत्र के सम्बन्ध में बतलाते हैं। निश्चय ही व्यक्ति मुख से जब तक कुछ बोलता रहता है, तब तक वह पूर्ण रूप से श्वास नहीं ग्रहण कर पाता । उस समय वह प्राण का वाणीरूप अग्नि में हवन कर देता है। ये वाणी एवं प्राणरूप दो आहुतियाँ कभी अन्त न होने वाली तथा अमृत स्वरूप हैं। जाग्रत् एवं स्वप्नकाल में भी प्राणी सदैव अविच्छिन्न रूप से इन आहुतियों को होमता रहता है। इसके अतिरिक्त वाणी एवं प्राणरूप आहुतियों से भिन्न जो अन्य दूसरी द्रव्यमयी आहुतियाँ हैं, वे कर्म द्वारा ही गतिमान् रहती हैं। यह प्रसिद्ध है कि इस रहस्य को जानने वाले प्राचीनकालीन विद्वान् केवल कर्ममय अग्निहोत्र का अनुष्ठान सम्पन्न नहीं करते थे॥ ५॥

[यहाँ ऋषि यह स्पष्ट कर रहे हैं कि पदार्थ परक अग्निहोत्र के साथ भाव-संयोग पूर्वक वाणी और प्राण की अमृत आहुतियाँ भी समर्पित की जानी चाहिए, तभी उनका आध्यात्मिक प्रभाव उभरता है। इसके लिए साधकों को वाक् और प्राण की साधना विशेष रूप से करनी पड़ती है।]

उक्थं ब्रह्मेति ह स्माह शुष्कभृङ्गारस्तदृगित्युपासीत सर्वाणि हास्मै भूतानि श्रैष्ठ्यायाभ्यर्चन्ते तद्यजुरित्युपासीत सर्वाणि हास्मै भूतानि श्रैष्ठ्याय युज्यन्ते तत्सामेत्युपासीत सर्वाणि हास्मै भूतानि श्रैष्ठ्याय संनमन्ते तच्छ्रीरित्युपासीत तद्यश इत्युपासीत तत्तेज इत्युपासीत तद्यथैतच्छास्त्राणां श्रीमत्तमं यशस्वितमं तेजस्वितमं भवति। तथैवैवं विद्वान् सर्वेषां भूतानां श्रीमत्तमो यशस्वितमस्तेजस्वितमो भवति। तमेतमैष्टकं कर्ममयमात्मानमध्वर्युः संस्करोति तस्मिन्यजुर्मयं प्रवयति यजुर्मय ऋङ्मयं होता ऋङ्मये साममयमुद्गाता स एष सर्वस्यै त्रयीविद्याया आत्मैष उ एवास्यात्मा एतदात्मा भवति य एवं वेद॥ ६ ॥

सुप्रसिद्ध महात्मा शुष्कभृङ्गार भी 'उक्थ' अर्थात् प्राण ही ब्रह्म है-ऐसा कहते हैं। उक्थरूपी प्राण को ऋक् मानकर बुद्धिपूर्वक उपासना करे। जो उक्थ में ऋक् को जान लेता है, उस ज्ञानी की समस्त प्राणी श्रेष्ठ बनने के लिए प्रार्थना करते हैं। वह उक्थ रूप प्राण 'यजुर्वेद' है, इसकी श्रेष्ठ बुद्धि से उपासना करे। इससे समस्त प्राणी श्रेष्ठता के लिए उस ज्ञानी के साथ सहयोग करते हैं। जिस साधक की उक्थ में साम बुद्धि हो, उसके सामने समस्त श्रेष्ठ-काम्य प्राणी सिर झुकाते हैं। वह उक्थ रूप प्राण 'श्री' है। उसकी श्री भाव से उपासना की जाती है। वह उक्थ 'यश' है, इस भाव से उपासना करनी चाहिए। वह 'तेजरूप' है, इस भावना से उपासना करे। इस सन्दर्भ में यह उदाहरण है-जिस प्रकार अध्यात्म शास्त्र सभी शास्त्रों में अत्यन्त श्री-सम्पन्न, परम यशस्वी एवं परम तेजोमय होता है, वैसे ही जो इस तरह से उस उक्थरूप प्राण को जानता है, वह मनीषी सम्पूर्ण प्राणियों में सर्वाधिक श्री-सम्पन्न, परम यशस्वी तथा परम तेजोमय होता है। इस उक्थरूप प्राण को एवं ईंटों के द्वारा निर्मित वेदी पर संचित कर्ममय अग्नि को भी अभिन्न अनुभव करते हुए अध्वर्यु नामक ऋत्विक् अपना संस्कार सम्पन्न करता है। उस प्राण में ही वह यजुर्वेद साध्य कार्यों का विस्तार करता है। इस वेदरूपी त्रयी विद्या की आत्मा-यह अध्वर्यु रूप प्राण है। प्राण को ही इस विद्या की आत्मा कहा गया है। जो प्राणी इस प्राण को इस प्रकार से जानता है, वह स्वयं भी प्राण के सदृश हो जाता है॥ ६ ॥

अथातः सर्वजितः कौषीतकेस्त्रीण्युपासनानि भवन्ति यज्ञोपवीतं कृत्वाऽप आचम्य त्रिरुदपात्रं प्रसिच्योद्यन्तमादित्यमुपतिष्ठेत वर्गोऽसि पाप्मानं मे वृङ्ध्यीत्येतयैवावृता मध्ये सन्तमुद्वर्गोऽसि पाप्मानं मे वृङ्ध्यीत्येतयैवावृताऽस्तं यन्तं संवर्गोऽसि पाप्मानं मे संवृङ्ध्यीति। यदहोरात्राभ्यां पापं करोति सं तद्वृङ्क्ते॥ ७॥

(विविध उपासनाओं का वर्णन-) इसके पश्चात् अब कौषीतकि ऋषि के द्वारा अनुभव में लायी हुई तीन बार सम्पन्न की जाने वाली उपासना पद्धति कही जाती है। यज्ञोपवीत को सव्य भाव से बायें कन्धे पर रखकर आचमन करे तदनन्तर जल पात्र को तीन बार शुद्ध जल से भरकर उदय होते हुए सूर्य को अर्घ्य प्रदान करे। (अर्घ्य प्रदान करते समय इस मन्त्र का उच्चारण करे-) 'ॐ वर्गोऽसि पाप्मानं मे वृङ्धि' अर्थात् 'संसार को तृणवत् त्याग देने से तुम वर्ग कहलाते हो, मेरे पापों को मुझसे दूर करो।' इसी तरह मध्याह्नकाल में भी भगवान् भास्कर का उपस्थान करे। (उस समय इस मंत्र का उच्चारण करे) 'ॐ उद्वर्गोऽसि पाप्मानं मे संवृङ्धि' अर्थात् 'तुम उद्वर्ग कहे जाते हो, मेरे पापों को नष्ट करो।' इसी तरह से सायंकाल में अस्त होते हुए

भगवान् सूर्य का निम्न मंत्र से उपस्थान करे- 'ॐ संवर्गोऽसि पाप्मानं मे संवृङ्धि' अर्थात् 'तुम संवर्ग कहलाते हो, अतः मेरे पापों को दूर करो।' इस उपासना का परिणाम यह है कि मनुष्य दिन एवं रात्रि में होने वाले समस्त पापों का पूर्णतः परित्याग करने में समर्थ हो जाता है॥ ७॥

अथ मासि मास्यमावास्यायां पश्चाच्चन्द्रमसं दृश्यमानमुपतिष्ठेतैतयैवावृता हरिततृणाभ्यां वाक्प्रत्यस्यति यत्ते सुसीमं हृदयमधि चन्द्रमसि श्रितं तेनामृतत्वस्येशाने माऽहं पौत्रमघं रुदमिति न हास्मात्पूर्वाः प्रजाः प्रैतीति नु जातपुत्रस्याथाजातपुत्रस्याप्यायस्व समेतु ते सं ते पयांसि समु यन्तु वाजा यमादित्या अंशुमाप्याययन्तीत्येतास्तिस्त्र ऋचो जपित्वा माऽस्माकं प्राणेन प्रजया पशुभिराप्यायिष्ठा योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्य प्राणेन प्रजया पशुभिराप्याययस्वेति दैवीमावृतमावर्त आदित्यस्यावृतमन्वावर्त इति दक्षिणं बाहुमन्वावर्तते॥ ८॥

(अब दूसरी उपासना का वर्णन करते हैं) हर महीने की अमावस्या को, जब सूर्य के पश्चिम भाग में स्थित सुषुम्ना नामक रश्मि में चन्द्रमा का स्थित होना स्पष्ट परिलक्षित हो, उस समय उपर्युक्त विधि से ही उपस्थान (पूजन) करे। इसकी विशेषता मात्र इतनी ही है कि अर्घ्यपात्र में दो हरी दूर्वा के अंकुर भी रखे एवं उससे अर्घ्य देते हुए चन्द्रमा के प्रति "यत्ते सुसीमं हृदयमधि.....पौत्रमघं रुदम्" मंत्र से वाणी का प्रयोग करें। (इस मंत्र का भाव यह है-) 'हे सोममंडल की अधिष्ठात्री देवि! अतिसुन्दर भावना से युक्त आपका हृदय (हृदय में स्थित आनन्दमय स्वरूप) चन्द्रमण्डल में विद्यमान है, उसके द्वारा आप अमृतत्व पद पर भी अधिकार रखने वाली हैं। आप मुझ पर ऐसी कृपा करें, जिससे कि कभी पुत्र के शोक से मुझे व्यथित होकर रोना न पड़े'। इस तरह से उपासना करने वाला यदि पुत्र को प्राप्त कर चुका हो, तो उसका पुत्र उसके मरने से पूर्व मृत्यु को नहीं प्राप्त होगा। यदि उसके कोई पुत्र उत्पन्न न हुआ हो, तो वह भी पूर्व की ही तरह सभी कार्य सम्पन्न करके दो हरी दूर्वा के अंकुर रख करके नीचे लिखे तीन मंत्रों का जप करे-

(क) 'आप्यायस्व समेतु.....संवृष्ण्यान्यभिमातिषाहः'।

(ख) 'आप्यायमानो.....धिष्वा' (ग) 'यमादित्या ..... भुवनस्य गोपाः'। इन तीनों ऋचाओं का भावार्थ इस प्रकार है-(क) हे स्त्रीरूपी सोम! तुम पुरुष रूपी सूर्य के प्रकाश से विकास को प्राप्त हो। पुरुष के प्राकट्य का कारणभूत जो वीर्य अर्थात् अग्नि सम्बन्धी तेज है, वह तुम में स्थित हो। तुम सभी ओर से अन्न की प्राप्ति में सहायक बनो। (ख) हे सोम! तुम सौम्य गुणों से युक्त हो। तुम्हारा दिव्य रस सूर्य के तेज को प्राप्त करके पुरुष मात्र के लिए अत्यन्त हितकारी हो जाता है। इस दिव्य रस का सेवन करने वाले पुरुषों को पुष्टि दे करके उनके सभी शत्रुओं का पराभव कराने में भी आप पूर्ण सक्षम हैं। वे दुग्ध एवं जल, अन्न से निर्वाह करने वाले निरामिषभोजी जीवों को सुगमतापूर्वक मिलते रहें। आग्नेय तेज से प्रसन्नता को प्राप्त करते हुए तुम अमृतत्व की प्राप्ति में सहयोगी बनो तथा स्वयं ही स्वर्गलोक में अनुपम यश को स्थिर करो।

(ग) द्वादश आदित्य रूपी पुरुष जिस स्त्री रूपी-प्रकृतिमय सोम को अपने दिव्य तेज से आनन्दित करते हैं एवं स्वयं पुष्ट रहते हुए अक्षय बल से सम्पन्न, त्रिलोक को संरक्षण देते हैं, ऐसे राजा वरुण और बृहस्पति हम सभी को उस सोम रूपी अंशु (किरण) से आनन्द एवं शक्ति प्रदान करें।

(घ) उपर्युक्त तीन ऋचाओं के जप के पश्चात् चन्द्रमा के समक्ष अपना दाहिना हाथ उठाये तथा नीचे लिखे मंत्र का उच्चारण करे-"मास्माकं प्राणेन.....आदित्यस्यावृतमन्वावर्त इति।" मंत्र का भावार्थ इस प्रकार है-हे सोम ! तुम हमारे प्राण, संतान एवं पशुओं से स्वयं अपनी पुष्टि एवं तुष्टि न करो; वरन् जो हमसे वैर-भाव रखते हैं तथा जिससे हम द्वेष-भाव रखते हैं, उनके प्राण, संतान और पशुओं से अपनी पुष्टि एवं तुष्टि

अर्जित करो। इस प्रकार मैं इन मंत्र के अधिपति देवता का एवं तुम्हारी संचरण क्रिया का अनुवर्तन करता हूँ अर्थात् हे सोम! मैं तुम्हारी ही गति का अनुगमन करता हूँ। इस तरह ऋचा-पाठ से अपनी दाहिनी भुजा का अन्वावर्तन करे अर्थात् बार-बार घुमाये और अन्त में हाथ को नीचे कर ले॥ ८॥

अथ पौर्णमास्यां पुरस्ताच्चन्द्रमसं दृश्यमानमुपतिष्ठेतैतयैवावृता सोमो राजाऽसि विचक्षणः पञ्चमुखोऽसि प्रजापतिर्ब्राह्मणस्त एकं मुखं तेन मुखेन राज्ञोऽत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु राजा त एकं मुखं तेन मुखेन विशोऽत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु श्येनस्त एकं मुखं तेन मुखेन पक्षिणोऽत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुर्वग्निष्ट एकं मुखं तेन मुखेनेमं लोकमत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु त्वयि पञ्चमं मुखं तेन मुखेन सर्वाणि भूतान्यत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु माऽस्माकं प्राणेन प्रजया पशुभिरवक्षेष्ठा योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्य प्राणेन प्रजया पशुभिरवक्षीयस्वेति दैवीमावृतमावर्त आदित्यस्यावृतमन्वावर्तन्त इति दक्षिणं बाहुमन्वावर्तते॥ ९॥

(अब यहाँ पर एक अन्य प्रकार की उपासना बतलायी जाती है-) पूर्णिमा के दिन सायंकाल में जब पूर्व दिशा में चन्द्रदेव का दर्शन होने लगे, तब उस समय पूर्व मन्त्र में बताई गई रीति के द्वारा उन चन्द्रदेव को अर्घ्य समर्पित करे। उपस्थान के समय निम्नांकित मंत्र का पाठ करना चाहिए। "सोमो राजाऽसि विचक्षणः .....आदित्यस्यावृतमन्वावर्तन्त" इस मन्त्र का भावार्थ इस प्रकार है-हे सोम! संसार-प्रकृतिरूपा उमा के साथ रहने वाले तुम सोम नाम वाले राजा हो। तुम सभी लौकिक एवं वैदिक कार्यों में प्रवीण हो। तुम पाँच मुखों से युक्त प्रजापति हो। प्रजापति के रूप में सम्पूर्ण प्रजा का पालन करते हो। ब्राह्मण तुम्हारा एक मुख है। उस मुख के द्वारा तुम क्षत्रियों का भक्षण अर्थात् दमन करते हो। उस मुख द्वारा तुम मुझे अन्न को खाने एवं पचाने की सामर्थ्य प्रदान करो। क्षत्रिय तुम्हारा एक मुख है, उस मुख से तुम वैश्यों का भक्षण अर्थात् उन पर शासन करते हो, उस मुख द्वारा तुम मुझे अन्न का भक्षण करने एवं पचाने की शक्ति से सम्पन्न बनाओ। श्येन (बाज़) भी तुम्हारा एक मुख है, तुम उस (बाज़) मुख से पक्षियों का दमन करते हो, उस मुख से तुम मुझे अन्न का भोगने वाला बनाओ। अग्नि भी तुम्हारा एक मुख है, उस मुख के द्वारा तुम इस लोक का दमन करते हो, उस मुख द्वारा मुझे भी अन्न का उपभोग करने वाला बनाओ । पाँचवाँ मुख तो तुम में ही है, उस मुख के द्वारा तुम समस्त भूत-प्राणियों का संहार करते हो, उस मुख द्वारा मुझे भी अन्न का उपभोग करने वाला बनाओ। तुम मेरे प्राण, संतान एवं पशुओं से हमें कमजोर न करो, वरन् जो हमसे द्वेष-भाव रखते हों तथा जिससे हम द्वेष रखते हैं, उसे संतान, प्राण और पशुओं से नष्ट करो। मैं मन्त्राधिपति देवता का एवं तुम्हारी संचरण क्रिया का अनुसरण करने वाला हूँ। इस प्रकार से उपर्युक्त मंत्र का पाठ करते हुए दाहिनी भुजा को बारम्बार घुमाये तथा बाद में भुजा नीचे कर ले॥ ९॥"

अथ संवेश्यञ्जायायै हृदयमभिमृशेद्यत्ते सुसीमे हृदये हितमन्तः प्रजापतौ मन्येऽहं मां तद्विद्वांसं तेन माऽहं पौत्रमघं रुदमिति न हास्मात्पूर्वाः प्रजाः प्रैतीति॥ १०॥

इस प्रकार से सोम की प्रार्थना करने के बाद (गर्भाधान के लिए) पत्नी के पास में बैठने से पहले उसके हृदय का स्पर्श करे। उस समय नीचे लिखे मन्त्र का पाठ करे-(मन्त्र इस प्रकार है-) "यत्ते सुसीमे.....पौत्रमघं रुदम्।" इस मन्त्र का भाव इस प्रकार है-हे सुन्दर सीमन्त (माँग) वाली सुन्दरी! तुम सोम रूप वाली हो। तुम्हारा हृदय प्रजा (संतति) का पालक है। उसके अन्दर जो सोम मण्डल की तरह अमृत-राशि

(दुग्ध) निहित है, उसे मैं जानता हूँ। अपने को मैं उसका पूर्ण ज्ञाता मानता हूँ। इस सत्य के प्रभाव से मैं कभी पुत्र से सम्बन्धित शोक से न रोऊँ अर्थात् मुझे पुत्र का शोक कभी भी न झेलना पड़े। इस तरह की प्रार्थना करने से साधक के संतान की मृत्यु नहीं होती॥ १०॥

अथ प्रोष्यायन्पुत्रस्य मूर्धानमभिमृशेत्। अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे। आत्मा त्वं पुत्र माविथ स जीव शरदः शतमसाविति नामास्य गृह्णाति। अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव तेजो वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतमसाविति नामास्य गृह्णाति येन प्रजापतिः प्रजाः पर्यगृह्णादरिष्ट्यै तेन त्वा परिगृह्णाम्यसाविति नामास्य गृह्णात्यथास्य दक्षिणे कर्णे जपत्यस्मै प्रयन्धि मघवन्नृजीषिन्नितीन्द्र श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहीति सव्ये मा च्छित्था मा व्यथिष्ठाः शतं शरद आयुषो जीव पुत्र ते नाम्ना मूर्धानमवजिघ्राम्यसाविति त्रिर्मूर्धानमवजिघ्रेद्गवां त्वा हिंकारेणाभि हिं करोमीति त्रिर्मूर्धानमभि हिं कुर्यात्॥ ११॥

(इसके पश्चात् अब दूसरी उपासना का वर्णन करते हैं-) परदेश में रहकर, वहाँ से वापस आया हुआ व्यक्ति अपने पुत्र के मस्तक का स्पर्श करते हुए निम्न मन्त्र को पढ़े 'अङ्गादङ्गात्सम्भवसि.....शरदः शतम् असौ।' (मंत्रार्थ-) 'अमुक नाम से युक्त हे पुत्र! तुम नरक से पार करने वाले हो। तुम मेरे अंग-प्रत्यङ्ग से उत्पन्न हुए हो। मेरे हृदय से तुम्हारा प्राकट्य हुआ है। तुम स्वयं मेरे ही आत्म स्वरूप हो। तुमने ही हमारी (हमारे वंश की) रक्षा की है। हे पुत्र! तुम शतायु हो'। यहाँ 'असौ' की जगह पर पुत्र के नाम का उच्चारण करना चाहिए और साथ ही नामोच्चारण के समय निम्न मंत्र का पाठ करना चाहिए "अश्मा भव..... शतम् असौ" (इसका भावार्थ इस प्रकार है-) " हे वत्स! तुम पत्थर, कुठार एवं बिछा हुआ सुवर्ण बनो अर्थात् तुम्हारा शरीर पत्थर की तरह सुगठित, बलवान्, स्वस्थ एवं नीरोग बने। तुम कुठार के सदृश शत्रुओं का दमन करने वाले तथा सुवर्ण राशि की तरह सभी के प्रिय बनो। समस्त अंग-अवयवों का सारभूत, संसार-वृक्ष का बीजरूप जो दिव्य तेज है, हे पुत्र! वह तेज तुम्हीं हो, तुम सौ वर्षों तक जीवित रहो" यहाँ पर फिर से 'असौ' के स्थान पर पुत्र का नाम लेना चाहिए और साथ ही निम्न मंत्र का पाठ भी करना चाहिए-'येन प्रजापतिः ....परिगृह्णामि असौ।' (प्रस्तुत मंत्र का भावार्थ इस प्रकार है-) "हे पुत्र! प्रजापति ब्रह्मा जी अपनी सृष्टि को नष्ट न होने देने के लिए उसे जिस तेज से युक्त करके अनुगृहीत करते हैं, उसी तेज से तुम भी युक्त हो। हे पुत्र! मैं तुम्हें सभी तरफ से स्वीकार करता हूँ।" तत्पश्चात् यहाँ भी 'असौ' के स्थान पर पुत्र का ही नाम उच्चारण करे तथा पुत्र के दाहिने कान में नीचे लिखे मंत्र का पाठ करे-'अस्मै प्रयन्धि.....द्रविणानि धेहि।' (मन्त्रार्थ इस प्रकार है-) हे मघवन्! आप सरल भाव का आश्रय लेकर इस पुत्र को संरक्षण प्रदान करें। पुनः इसी मंत्र को बायें कान में जपे। तत्पश्चात् पुत्र के मस्तक को सूँघे तथा इस मन्त्र का पाठ करे- 'मा च्छित्था मा .....मूर्धानमवजिघ्रामि असौ। (इस मन्त्र का भावार्थ इस प्रकार है-) हे पुत्र! संतान परम्परा का उच्छेद न करना। मन, वाणी एवं शरीर से तुम्हें कभी कष्ट न हो। तुम सैकड़ों वर्षों तक जीवित रहो। मैं तुम्हारा अमुक नाम से प्रख्यात पिता तुम्हारा नाम लेकर तुम्हारे मस्तक को सूँघ रहा हूँ।' (यहाँ पर असौ के स्थान पर पिता को अपना नाम लेना चाहिए।) इस मन्त्र पाठ के बाद तीन बार पुत्र का मस्तक सूँघे, तत्पश्चात् निम्न मंत्र को पढ़कर मस्तक के सभी तरफ तीन बार हिंकार (हिं शब्द का उच्चारण) करे। 'गवां त्वा' ..... हिंकरोमि।' हे वत्स! गौएँ जिस तरह से अपने बछड़े को बुलाने के लिए रँभाती हैं, वैसे ही प्रेमपूर्वक मैं भी तुम्हारे लिए हिंकार करता हूँ अर्थात् हिंकार द्वारा तुम्हें बुलाता हूँ॥ ११॥

अथातो दैवः परिमर एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यदग्निर्ज्वलत्यथैतन्म्रियते यन्न ज्वलति तस्यादित्यमेव तेजो गच्छति वायुं प्राण एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यदादित्यो दृश्यतेऽथैतन्म्रियते यन्न दृश्यते तस्य चन्द्रमसमेव तेजो गच्छति वायुं प्राण एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यच्चन्द्रमा दृश्यते। अथैतन्म्रियते यन्न दृश्यते तस्य विद्युतमेव तेजो गच्छति वायुं प्राण एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यद्विद्युद्विद्योततेऽथैतन्म्रियते यन्न विद्योतते तस्य वायुमेव तेजो गच्छति वायुं प्राणः। ता वा एताः सर्वा देवता वायुमेव प्रविश्य वायौ मृता न मृच्छन्ते तस्मादेव उ पुनरुदीरत इत्यधिदैवत-मथाध्यात्मम्॥ १२॥

(दैव 'परिमर' के रूप में प्राण की उपासना-) अब इसके अनन्तर देवों से सम्बन्धित 'परिमर' का वर्णन करते हैं। (अग्नि एवं वाणी आदि देवता हैं, ये सभी क्षीण अथवा मृत होकर महाप्राण प्रवाह में ही विलीन होते हैं। इस ब्रह्मरूप प्राण को ही यहाँ पर 'परिमर' कहा गया है।) यहाँ यह जो (प्रत्यक्ष रूप में अग्नि) प्रज्वलित है, इस रूप में स्वयं ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जब अग्नि नहीं जलती है, तब उस मृत अर्थात् बुझी हुई अग्नि का तेज सूर्य में ही विलीन हो जाता है। इस प्रकार सूर्य जब दृष्टिगोचर नहीं होता, तब उसका तेज वायु और प्राण में विलीन हो जाता है। यह जो चन्द्रमा दृष्टिगोचर हो रहा है, निश्चय ही इस रूप में ब्रह्म ही दीप्तिमान् हो रहा है। चन्द्र (जब वह दृष्टिगोचर नहीं होता है) का तेज भी प्राण एवं वायु को प्राप्त हो जाता है। यह जो विद्युत् कौंधती है, निश्चय ही उस रूप में ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जब यह नहीं कौंधती है, तब मानो यह मृत्यु को प्राप्त हो जाती है। उस समय विद्युत् का तेज, वायु एवं प्राण को प्राप्त हो जाता है। वे सभी प्रसिद्ध अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा एवं विद्युत्-स्वरूप सभी देवगण प्राण में प्रविष्ट होकर स्थिर रहते हैं। वायु अर्थात् आधिदैविक प्राण में विलय को प्राप्त होकर वे विनष्ट नहीं होते, वरन् पुनः उस वायु से ही उनका प्राकट्य होता है। इस तरह से यह आधिदैविक दृष्टि हुई। अब आध्यात्मिक दृष्टि बतलाई जाती है॥ १२॥

एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यद्वाचा वदत्यथैतन्म्रियते यन्न वदति तस्य चक्षुरेव तेजो गच्छति प्राणं प्राण एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यच्चक्षुषा पश्यत्यथैतन्म्रियते यन्न पश्यति तस्य श्रोत्रमेव तेजो गच्छति प्राणं प्राण एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यच्छ्रोत्रेण शृणोत्यथैतन्म्रियते यन्न शृणोति तस्य मन एव तेजो गच्छति प्राणं प्राण एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यन्मनसा ध्यायत्यथैतन्म्रियते यन्न ध्यायति तस्य प्राणमेव तेजो गच्छति प्राणं प्राणस्ता वा एताः सर्वा देवताः प्राणमेव प्रविश्य प्राणे मृता न मृच्छन्ते तस्मा देव उ पुनरुदीरते तद्यदिह वा एवं विद्वांस उभौ पर्वतावभिप्रवर्तेयातां तुस्तूर्षमाणौ दक्षिणश्चोत्तरश्च न हैवैनं स्तृण्वीयाताम्। अथ य एनं द्विषन्ति यांश्च स्वयं द्वेष्टि त एनं सर्वे परिम्रियन्ते॥ १३॥

पुरुष वाणी के द्वारा जो भी कुछ बोलता है, वह मानो ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जब वह नहीं बोलता, उस समय 'वाक्' का तेज चक्षु को मिल जाता है, इस प्रकार प्राण का मिलन प्राण में हो जाता है। यह पुरुष चक्षु के माध्यम से जो भी कुछ देखता है, ऐसा लगता है कि ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है। जब चक्षु से कुछ भी नहीं दिखाई देता, उस समय चक्षु का तेज श्रोत्र को मिल जाता है एवं प्राण प्राण में ही विलीन हो जाता है। यह जो भी कुछ श्रोत्र द्वारा श्रवण करता है, यह ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं ब्रह्म ही घोषित हो रहा है और जब यह श्रवण नहीं करता, उस समय उसका प्रकाश मन को प्राप्त हो जाता है तथा प्राण का प्राण में विलय हो जाता है। यह जो मन के द्वारा ध्यान करता है, यह मानो ब्रह्म ही घोषित हो रहा है और जब चिन्तन नहीं करता, तब उस समय मन का तेज भी प्राण में विलीन हो जाता है। इस तरह ये समस्त वाक्-इन्द्रिय आदि देवता प्राण में ही प्रवेश करके स्थित होते हैं। प्राण में विलीन होकर वे विनष्ट नहीं होते, इसलिए पुनः प्राण के द्वारा ही वे

प्रकट होते हैं। उस दैव-परिमर अर्थात् प्राण का पूर्ण ज्ञान हो जाने के बाद यदि वे ज्ञानी पुरुष ऐसे दो ऊँचे पर्वतों को, जो पृथ्वी मण्डल के उत्तरी ध्रुव से लेकर दक्षिणी ध्रुव तक फैले हों, अपनी इच्छानुसार चलने के लिए प्रेरित करें, तो वे पर्वत इन विद्वान् श्रेष्ठ पुरुषों की आज्ञा की उपेक्षा नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त जो भी मनुष्य इस 'दैव परिमर' के जानकार श्रेष्ठ पुरुष से द्वेष-भाव करते हैं या फिर वह खुद ही जिनसे द्वेष रखता है, वे सब के सब सदैव के लिए विनष्ट हो जाते हैं॥ १३॥

अथातो निःश्रेयसादानं सर्वा ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः। अस्माच्छरीरादुच्च-क्रमुस्तद्दारुभूतं शिश्येऽथैनद्वाक्प्रविवेश तद्वाचा वदच्छिश्य एव। अथैनच्चक्षुः प्रविवेश तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छिश्य एवाथैनच्छ्रोत्रं प्रविवेश तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छ्रोत्रेण शृण्वच्छिश्य एवाथैनन्मनः प्रविवेश तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छ्रोत्रेण शृण्वन्मनसा ध्यायच्छिश्य एवाथैनत्प्राणः प्रविवेश तत्तत एव समुत्तस्थौ ते देवाः प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा प्राणमेव प्रज्ञात्मानमभिसंभूय सहैतैः सर्वैरस्माल्लोकादुच्चक्रमुः। ते वायुप्रतिष्ठा आकाशात्मानः स्वरीयुस्तथो एवैवं विद्वान्सर्वेषां भूतानां प्राणमेव प्रज्ञात्मानमभिसंभूय सहैतैः सर्वैरस्माच्छरीरादुत्क्रामति स वायुप्रतिष्ठ आकाशात्मा स्वरेति स तद्भवति यत्रैते देवास्तत्प्राप्य तदमृतो भवति यदमृता देवाः ॥१४

अब मोक्ष (मोक्ष हेतु सर्वश्रेष्ठ प्राण की उपासना-) आदि साधन के गुणों से विशिष्ट सर्वश्रेष्ठ प्राण की उपासना का वर्णन किया जाता है। एक समय वाणी आदि समस्त देवता अहंकार के वशीभूत हो, अपनी-अपनी महत्ता सिद्ध करने हेतु आपस में विवाद करने लगे। वे सभी प्राण के साथ ही शरीर से बहिर्गमन कर गये। उन वाणी आदि सभी इन्द्रियों के निकल जाने पर वह शरीर काष्ठ की भाँति चेष्टारहित होकर सो गया। इसके अनन्तर उस शरीर में वाणी ने प्रवेश किया। वाक् शक्ति के प्रविष्ट होते ही वह वाणी से बोलने लगा, लेकिन वह अपने स्थान से उठ न सका, सोया ही रहा। इसके बाद नेत्रेन्द्रिय ने उस शरीर में प्रवेश किया। तब वह वाणी से बोलता और चक्षु से देखता हुआ भी सोया ही रहा, उठने में प्रायः असमर्थ ही रहा। तदनन्तर उस शरीर में श्रोत्रेन्द्रिय ने प्रवेश किया। उस समय भी वह वाक् से बोलता, चक्षु से देखता एवं कानों से श्रवण करता हुआ भी सोया ही रहा, वह उठने में असमर्थ ही बना रहा । तत्पश्चात् उस शरीर में मन प्रविष्ट हुआ। तब वह शरीर वाणी से बोलता, चक्षु से देखता, कान से श्रवण करता एवं मन से सोचता (विचार करता) हुआ भी पड़ा ही रहा, उठ नहीं सका। तब सभी के बाद में प्राण ने उस शरीर में प्रवेश किया। उस प्राण तत्त्व के प्रविष्ट होते ही वह शरीर उठ बैठा। तत्पश्चात् उन वाणी आदि देवताओं ने प्राण में ही मोक्ष आदि साधन की शक्ति को जानकर एवं विशिष्ट ज्ञान स्वरूप प्राण को ही सभी तरफ से व्याप्त जानकर के प्राण-अपान आदि सभी प्राणों के सहित इस शरीर रूपी लोक से ऊर्ध्व की ओर अर्थात् शरीर से बाहर गमन किया। इसके बाद वे प्राण वायु में अर्थात् आधिदैविक प्राण में स्थिर होकर के आकाश रूप में परिणत हो स्वर्ग लोक में गये। वे अपने अधिष्ठातृ देवता अग्नि आदि के स्वरूप को प्राप्त हो गये। वैसे ही इस रहस्य को जानने वाले विद्वान् सम्पूर्ण प्राणियों के प्राण को ही प्रज्ञात्मारूप से पाकर इन प्राण-अपान आदि सभी प्राणों के साथ इस शरीर से उत्क्रमण कर, वायु में स्थित हो, आकाशरूप में परिणत हो स्वर्ग लोक को गमन करते हैं। वह मनीषी वहाँ उस प्रसिद्ध प्राण का ही रूप हो जाता है, जिसमें ये सभी वाक् आदि देवता प्रतिष्ठित होते हैं। उस प्राण-तत्त्व को पाकर वह मनीषी प्राण के उस अमृतत्व गुण से सम्पन्न हो जाता है, जिस अमृतत्व गुण से वे वाणी आदि समस्त देवता भी प्रकट होते हैं॥ १४॥

अथातः पितापुत्रीयं संप्रदानमिति चाचक्षते। पिता पुत्रं प्रेष्यन्नाह्वयति नवैस्तृणैरगारं संस्तीर्याग्निमुपसमाधायोदकुम्भं सपात्रमुपनिधायाहतेन वाससा संप्रच्छन्नः स्वयं श्येत एत्य पुत्र उपरिष्टादभिनिपद्यते, इन्द्रियैरस्येन्द्रियाणि संस्पृश्यापि वाऽस्याभिमुखत एवासीताथास्मै संप्रयच्छति वाचं मे त्वयि दधानीति पिता वाचं ते मयि दध इति पुत्रः प्राणं मे त्वयि दधानीति पिता प्राणं ते मयि दध इति पुत्रः। चक्षुर्मे त्वयि दधानीति पिता चक्षुस्ते मयि दध इति पुत्रः। श्रोत्रं मे त्वयि दधानीति पिता श्रोत्रं ते मयि दध इति पुत्रः। मनो मे त्वयि दधानीति पिता मनस्ते मयि दध इति पुत्रः। अन्नरसान्मे त्वयि दधानीति पिता अन्नरसांस्ते मयि दध इति पुत्रः। कर्माणि मे त्वयि दधानीति पिता कर्माणि ते मयि दध इति पुत्रः। सुखदुःखे मे त्वयि दधानीति पिता सुखदुःखे ते मयि दध इति पुत्रः। आनन्दं रतिं प्रजातिं मे त्वयि दधानीति पिता, आनन्दं रतिं प्रजातिं ते मयि दध इति पुत्रः। इत्या मे त्वयि दधानीति पिता, इत्यास्ते मयि दध इति पुत्रः। धियो विज्ञातव्यं कामान्मे त्वयि दधानीति पिता धियो विज्ञातव्यं कामांस्ते मयि दध इति पुत्रः। अथ दक्षिणावुत्प्राङुपनिष्क्रामति तं पिताऽनुमन्त्रयते यशो ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यं कीर्तिस्त्वा जुषतामित्यथेतरः सव्यमंसमन्ववेक्षते पाणिनाऽन्तर्धाय वसनान्तेन वा प्रच्छाद्य स्वर्गाँल्लोकान्कामानाप्नुहीति स यद्यगदः स्यात्पुत्रस्यैश्वर्ये पिता वसेत्परि वा व्रजेद्यद्यु वै प्रेयाद्यदेवैनं समापयति तथा समापयितव्यो भवति तथा समापयितव्यो भवति॥ १५॥

(प्राणोपासक का सम्प्रदान-कर्म-) अब पिता-पुत्र के सम्प्रदान कर्म का वर्णन करते हैं। जब पिता यह निश्चय करे कि मुझे अब इस शरीर का परित्याग करना है, तब वह अपने पुत्र को पास में बुलाए। तत्पश्चात् कुश-कासादि तृणों से यज्ञशाला को ढक करके विधि-विधान से अग्नि को स्थापित करे। अग्नि के उत्तर या पूर्व दिशा में जल से भरा हुआ कलश प्रतिष्ठित करे। कलश के ऊपर धान्य से भरा हुआ पूर्ण-पात्र भी रखे। स्वयं भी नवीन वस्त्र (धोती एवं उत्तरीय) का आच्छादन करे। इस तरह श्वेत शुभ्र वस्त्र एवं माला आदि धारण करते हुए घर में प्रवेश करके पुत्र को अपने पास बुलाये। जब पुत्र पास में आ जाए, तो उसे अपने अङ्क में भर ले एवं अपनी इन्द्रियों से पुत्र की इन्द्रियों का स्पर्श करे। या फिर केवल पुत्र के समक्ष बैठ जाए और उसे अपनी वाक् आदि समस्त इन्द्रियों का दान करे। पिता कहे-हे पुत्र! मैं तुम में अपनी वाक् शक्ति की स्थापना करता हूँ। पुत्र कहे-पिताजी मैं आपकी वागिन्द्रिय को ग्रहण करता हूँ। पिता-हे पुत्र! मैं अपने प्राण को तुममें स्थित करता हूँ। पुत्र-मैं आपके प्राणतत्त्व को अपने में धारण करता हूँ। पिता-हे पुत्र! मैं अपनी नेत्रेन्द्रिय की तुममें स्थापना करता हूँ। पुत्र-मैं आपके नेत्रेन्द्रिय को अपने में धारण करता हूँ। पिता- मैं अपनी श्रोत्रेन्द्रिय की तुममें स्थापना करता हूँ। पुत्र-मैं आपकी श्रोत्रेन्द्रिय को अपने में धारण करता हूँ। पिता-मैं अपने अन्न-रसों को तुममें स्थिर करता हूँ। पुत्र-मैं आपके अन्न रसों को अपने में धारण करता हूँ। पिता-मैं अपने सभी श्रेष्ठ कर्मों को तुममें स्थापित करता हूँ। पुत्र-मैं आपके समस्त शुभ कर्मों को अपने में धारण करता हूँ। पिता-मैं अपने सुख एवं दुःख को भी तुममें प्रतिष्ठित करता हूँ। पुत्र-मैं आपके सभी तरह के सुख एवं दुःखों को स्वीकार करता हूँ। पिता-हे पुत्र! मैं तुममें मैथुन जनित आनन्द, रति एवं सन्तान की उत्पत्ति की शक्ति स्थापित करता हूँ। पुत्र-मैं आपकी उस शक्ति को अपने में धारण करता हूँ। पिता-हे पुत्र! मैं अपनी गतिशक्ति तुममें स्थापित करता हूँ। पुत्र-मैं आपकी गतिशक्ति को स्वयं में ग्रहण करता हूँ। पिता-मैं अपनी बुद्धि-वृत्तियों को, बुद्धि द्वारा ज्ञात विषयों

को एवं विशेष इच्छाओं को तुममें स्थित करता हूँ। पुत्र-मैं आपकी बुद्धि वृत्तियों को, बुद्धि के द्वारा ज्ञात विषयों को एवं इच्छाओं को धारण करता हूँ। तत्पश्चात् पुत्र पिता की प्रदक्षिणा करते हुए प्राची दिशा की तरफ पिता के पास से निकलता है। उस समय पिता पुत्र को सम्बोधित करते हुए कहे-'यश, ब्रह्मतेज, अन्न को ग्रहण करने एवं पचाने की सामर्थ्य तथा श्रेष्ठ-कीर्ति ये सभी सद्गुण तुम्हारा सेवन करें।' पिता के इस तरह कहने पर पुत्र अपने बायें कन्धे की तरफ नजर घुमाकर देखते हुए हाथ से ओट-करके या फिर कपड़े को सामने करके उसकी आड़ से पिता से इस प्रकार कहे-'आप अपनी इच्छानुसार कामनायुक्त स्वर्ग को एवं वहाँ के समस्त भोगों की प्राप्ति करें।' इसके अनन्तर यदि पिता नीरोग हो, तो वह पुत्र को घर का स्वामी मानकर उसके साथ निवास करे या सर्वस्व त्यागकर घर से बाहर निकलकर संन्यासी हो जाए या फिर यदि वह दूसरे लोक को चला जाये, तो जिन-जिन वाणी आदि इन्द्रियों को उसने पुत्र में प्रतिष्ठित किया था, उन सभी की शक्ति धाराओं का वह अधिकारी बन जाता है। वे सम्पूर्ण शक्ति-धाराएँ उसे प्राप्त हो जाती हैं। (यही वास्तव में सही उत्तराधिकार है।) ॥ १५ ॥

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

(इन्द्र एवं प्रतर्दन का संवाद; प्रज्ञास्वरूप प्राण की महिमा का वर्णन-)

प्रतर्दनो ह दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम। युद्धेन च पौरुषेण च तं हेन्द्र उवाच। प्रतर्दन वरं ते ददानीति स होवाच प्रतर्दनः। त्वमेव मे वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यस इति तं हेन्द्र उवाच। न वै वरोऽवरस्मै वृणीते त्वमेव वृणीष्वेत्येवमवरो वै किल म इति होवाच प्रतर्दनोऽथो खल्विन्द्रः सत्यादेव नेयाय। सत्यं हीन्द्रः स होवाच। मामेव विजानीह्येतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये। यन्मां विजानीयात्। त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुन्मुखान्यतीन्सालावृकेभ्यः प्रायच्छं बह्वीः संधा अतिक्रम्य दिवि प्रह्लादीयानतृणमहमन्तरिक्षे पौलोमान्पृथिव्यां कालखाञ्जान्। तस्य मे तत्र न लोम च मा मीयते। स यो मां विजानीयान्नास्य केन च कर्मणा लोको मीयते। न मातृवधेन न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया नास्य पापं च न चकृषो मुखान्नीलं वेत्तीति ॥१ ॥

ऐसा प्रसिद्ध है कि राजा दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन (एक बार देवासुर-संग्राम में) देवताओं के सहायतार्थ इन्द्र के श्रेष्ठ धाम स्वर्ग लोक में गये। वहाँ उनकी अद्वितीय युद्धकला एवं शौर्य से अति संतुष्ट होकर इन्द्र ने कहा-हे प्रतर्दन! कहो, मैं तुम्हें कौन-सा वर प्रदान करूँ? वीर प्रतर्दन ने कहा-हे देवेन्द्र! जिस श्रेष्ठ वर को आप मानव जाति के लिए परम कल्याण युक्त मानते हों, वैसा ही कोई श्रेष्ठ वर आप स्वयं ही मेरे लिए प्रदान करें। इन्द्र ने कहा- हे राजन्! इस संसार में यह सभी जगह विदित है कि कोई भी व्यक्ति दूसरे के लिए वर की माँग नहीं करता। इसलिए आप अपने लिए कोई भी वर माँगें। प्रतर्दन ने कहा कि तब तो मेरे लिए वर का अभाव ही रह गया। प्रतर्दन के ऐसा कहने के पश्चात् देवराज इन्द्र निश्चय ही अपने सत्य पथ पर आरूढ़ रहे, वे स्वयं ही साक्षात् सत्य के स्वरूप हैं। उन प्रख्यात देवराज इन्द्र ने कहा-हे प्रतर्दन! तुम मुझे ही यानी मेरे ही यथार्थ स्वरूप को जानो। इसे ही मैं मानव जाति के लिए परम कल्याणकारी वर मानता हूँ। त्वष्टा प्रजापति के पुत्र विश्वरूप को, जिसके तीन सिर थे, उसे मैंने अपने वज्र के प्रहार से मार डाला है। कितने ही (मिथ्या अहंकारी) संन्यासियों को जो अपने आश्रम के श्रेष्ठ आचरण से पदच्युत हुए एवं बहिर्मुख अर्थात् ब्रह्म के श्रेष्ठ

विचारों से रहित हो चुके थे, ऐसे उन सभी को खण्ड-खण्ड करके भेड़ियों के सम्मुख डाल दिया है। कई बार-प्रह्लाद के सहयोगी दैत्य राजाओं को मौत की नींद सुला दिया है। पुलोम नामक असुर के सहयोगी दैत्यों एवं पृथिवी पर निवास करने वाले कालखाञ्ज नाम से युक्त अधिकांश असुरों को भी विनष्ट कर दिया; किन्तु इतने पर भी अहंकार एवं कर्मफल की कामना से रहित होने के कारण मुझ प्रसिद्ध देवेन्द्र के एक रोम को भी नुकसान नहीं पहुँचा। इसी तरह जो मुझे ठीक प्रकार से जान ले, उसके पुण्य लोक को किसी भी कर्म से हानि नहीं होती। मेरे सत्यरूप का विवेक रखने वाले मनुष्य को बड़ा से बड़ा पाप भी प्रभावित नहीं कर पाता (इन्द्रदेव वृत्तियों के रक्षक हैं। देव प्रवृत्तियों की रक्षार्थ यदि किसी आततायी का वध भी करना पड़े, तो उस क्रिया का पातक नहीं लगता। इसीलिए इन्द्र कहते हैं कि-) मेरे स्वरूप को जानने वाले को पाप नहीं लगता और न उसका मुख कभी (भय या अशक्ति के कारण) नीला पड़ता है॥१॥

स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्व। आयुः प्राणः प्राणो वा आयुः प्राण एवामृतम्। यावद्ध्यस्मिञ्छरीरे प्राणो वसति तावदायुः। प्राणेन ह्येवामुष्मिँल्लोकेऽमृतत्वमाप्नोति। प्रज्ञया सत्यं संकल्पम्। स यो ममायुरमृतमित्युपास्ते सर्वमायुरस्मिँल्लोक एति। आप्नोत्यमृतत्वमक्षितिं स्वर्गे लोके। तद्धैक आहुरेकभूयं वै प्राणा गच्छन्तीति। न हि कश्चन शक्नुयात्सकृद्वाचा नाम प्रज्ञापयितुं चक्षुषा रूपं श्रोत्रेण शब्दं मनसा ध्यातुमित्येकभूयं वै प्राणाः। एकैकमेतानि सर्वाण्येव प्रज्ञापयन्ति। वाचं वदन्तीं सर्वे प्राणा अनुवदन्ति । चक्षुः पश्यत्सर्वे प्राणा अनुपश्यन्ति श्रोत्रं शृण्वत्सर्वे प्राणा अनुशृण्वन्ति मनो ध्यायत्सर्वे प्राणा अनुध्यायन्ति प्राणं प्राणन्तं सर्वे प्राणा अनुप्राणन्तीति। एवमु हैवैतदिति हेन्द्र उवाच। अस्ति त्वेव प्राणानां निःश्रेयसमिति॥ २॥

उन प्रसिद्ध इन्द्रदेव ने कहा कि "मैं स्वयं ही प्रज्ञास्वरूप प्राण हूँ। उस प्राण एवं श्रेष्ठ ज्ञान से युक्त आत्मारूप में प्रख्यात मुझ इन्द्र की तुम आयु एवं अमृतरूप से उपासना करो।" आयु ही प्राण है, प्राण ही आयु एवं प्राण ही अमृतत्व है। इस शरीर में जब तक प्राण का निवास है, तभी तक आयु है। प्राण के द्वारा ही प्राणी अन्य दूसरे लोक में अमृतत्व के विशेष सुख की अनुभूति करता है।

प्रज्ञा द्वारा व्यक्ति शाश्वत सत्य का निश्चय एवं ऊहा-पोह आदि करता है। जो व्यक्ति 'आयु' एवं 'अमृत' के रूप से मेरी अर्थात् इन्द्र की उपासना करता है, वह इस लोक में पूर्णायु का गौरव प्राप्त करता है और स्वर्ग लोक में जाकर अक्षय अमृतत्व के सुख का भागीदार बनता है। इस प्राण के सन्दर्भ में कोई-कोई विद्वज्जन ऐसा कहते हैं कि निश्चय ही सभी प्राण (वाक् आदि समस्त इन्द्रियों सहित प्राण) एकीभाव को प्राप्त करते हैं। कोई भी व्यक्ति एक ही समय में वाणी द्वारा नाम सूचित करने, नेत्र द्वारा रूप देखने, कान से शब्द श्रवण करने एवं मन के द्वारा ध्यान करने में समर्थ नहीं हो सकता, इससे यह सिद्ध होता है कि निश्चय ही सभी प्राण अपने एक ही भाव को प्राप्त करते हैं। वे सभी प्राण एकीकृत हो समस्त कार्य करते हैं। ये सब एक-एक विषय की क्रमशः अनुभूति करते हैं। जब वाक्-इन्द्रिय बोलने लगती है, उस समय सभी प्राण उसका (वाणी का) मौन रूप से अनुमोदन करते हैं। जब चक्षु देखता है, तब अन्य सभी प्राण भी उसके पृष्ठ भाग में रहकर दृष्टिपात करते हैं। जब कान श्रवण करने लगता है, तब दूसरे अन्य समस्त प्राण भी उस कर्णेन्द्रिय का अनुसरण करते हैं। जब मन ध्यान करने लगता है, तब अन्य सभी प्राण भी उसका साथ देते हुए चिन्तन करते हैं और जब मुख्य प्राण अपना कार्य करना प्रारम्भ करता है, तो अन्य समस्त प्राणेन्द्रियाँ भी उसके साथ-साथ वैसी चेष्टा

करती हैं, ऐसा प्रतर्दन ने निवेदन किया। इस तरह से उन देवों में श्रेष्ठ इन्द्र ने कहा–यह बात ऐसी ही है। 'समस्त प्राण एक होते हुए भी जो अन्य पाँच प्राण हैं, वे निःश्रेयस अर्थात् परम कल्याण स्वरूप हैं निश्चय ही यही बात है॥ २॥'

जीवति वागपेतो मूकान्हि पश्यामो जीवति चक्षुरपेतोऽन्धान्हि पश्यामो जीवति श्रोत्रापेतो बधिरान्हि पश्यामो जीवति मनोपेतो बालान्हि पश्यामो जीवति बाहुच्छिन्नो जीवत्यूरुच्छिन्न इति। एवं हि पश्याम इति। अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति। तस्मादेतदेवोऽथमुपासीत। यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः। सह ह्येतावस्मिञ्शरीरे वसतः सहोत्क्रामतस्तस्यैषैव दृष्टिः। एतद्विज्ञानम्। यत्रैतत्पुरुषः सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति। तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति। स यदा प्रतिबुध्यते। यथाग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः। तस्यैषैव सिद्धिः एतद्विज्ञानम्। यत्रैतत्पुरुष आर्तो मरिष्यन्नाबल्यं न्येत्य संमोहं न्येति तदाहुः। उदक्रमीच्चित्तम्। न शृणोति न पश्यति न वाचा वदति न ध्यायत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति यदा प्रतिबुध्यते यथाग्नेर्ज्वलतो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा याथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः॥३॥

'वागिन्द्रिय से रहित होने पर भी व्यक्ति जीवित बना रहता है, क्योंकि गूँगों को प्रत्यक्ष ही देखा जाता है। नेत्रों से रहित होने पर भी व्यक्ति जीवन धारण किये रहता है, क्योंकि अंधों को प्रायः देखते ही हैं। श्रोत्रेन्द्रिय हीन व्यक्ति भी जीवित ही रहता है, क्योंकि बधिरों को प्रायः ही देखा जाता है। मनः शक्ति से रहित होने पर भी जीवन धारण किया जा सकता है, क्योंकि प्रायः ही छोटे बालकों को जीवित देखते हैं। प्राण के रहते, अंग-भंग हो जाने पर भी जीवन बना रहता है, किन्तु प्राण के रहित होने पर तो एक क्षण भी जीवन धारण करना असम्भव है। क्रिया शक्ति का बोध कराने वाला प्राण ही ज्ञान में प्रवृत्ति कराने वाले ज्ञान से युक्त आत्मा है। यही प्रज्ञात्मा इस शरीर को सभी तरफ से आबद्ध करके भिन्न-भिन्न क्रियायें कराता रहता है। अतः इस प्राण की ही 'उक्थ' रूप से उपासना करनी चाहिए। निश्चय ही जो प्रसिद्ध प्राण है, वही प्राण है या फिर जो प्रज्ञा कही गई है, वही प्राण है; क्योंकि प्रज्ञा एवं प्राण दोनों साथ-साथ ही इस शरीर में निवास करते हैं तथा जीवात्मा के साथ मिलकर एक साथ ही इस शरीर से उत्क्रमण करते अर्थात् बाहर निकलते हैं। इस प्राणमय परब्रह्म का यही दर्शन (ज्ञान) है और यही विज्ञान है; क्योंकि सुषुप्त अवस्था में जब सोया हुआ मनुष्य किसी भी तरह के स्वप्न नहीं देखता, उस समय शब्द सभी नामों के साथ, नेत्र रूपानुभूति सहित, कान शब्दों सहित और मन, चिन्तन सहित मुख्य प्राण में ही समाहित हो जाते हैं। वह मनुष्य जब जाग्रत् अवस्था को प्राप्त होता है, तब उस समय जैसे जलती हुई अग्नि से सभी दिशाओं की ओर चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही इस प्राण स्वरूप आत्मा से सभी वाणी आदि प्राण बाहर निकल कर अपने-अपने उचित स्थान की ओर गमन कर जाते हैं। तत्पश्चात् उन प्राणों से उनके अधिष्ठाता अग्नि आदि देवगण प्रादुर्भूत होते हैं तथा उन देवों से लोक एवं नामादि विषय उत्पन्न होते हैं।

इस प्राणरूप आत्मा की सिद्धि का वर्णन आगे किया जा रहा है। यही विज्ञान है कि जिस अवस्था में

रोग से पीड़ित व्यक्ति मरणासन्न हो जाता है, शक्तिहीन होकर चेतना रहित हो जाता है, उस समय वह किसी भी प्रिय अथवा परिचित व्यक्ति को पहचानने में समर्थ नहीं होता, उस समय कहते हैं कि उसका चित्त (मन) उत्क्रमण कर गया है। यही कारण है कि वह न तो सुनता, न कुछ देखता है, न वाणी से कुछ बोलता है और न ही ध्यान करता है। उस समय वह केवल प्राणों में ही लीन हो जाता है। ऐसी स्थिति में वाणी समस्त नामों के सहित, चक्षु सभी रूपों के सहित, कान सभी शब्दों के सहित एवं मन सभी ध्यानस्थ विषयों के सहित, उस प्राण तत्त्व में विलीन हो जाता है। वह मनुष्य जब फिर से जागता है, उस समय जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से सभी दिशाओं की तरफ चिनगारियाँ प्रस्फुटित होती हैं, उसी प्रकार इस प्राण स्वरूप आत्मा से वाणी आदि समस्त प्राण उत्पन्न होकर यथा-स्थान अपना स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। तदनन्तर प्राणों से उनके अधिष्ठाता अग्नि आदि सभी देवता प्रादुर्भूत होकर समस्त लोक आदि को उत्पन्न कर देते हैं॥ ३॥

स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैरुत्क्रामति वागस्मात्सर्वाणि नामान्यभिविसृजते। वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति प्राणोऽस्मात्सर्वान्गन्धानभिविसृजते प्राणेन सर्वान्गन्धानाप्नोति चक्षुरस्मात्सर्वाणि रूपाण्यभिविसृजते चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति श्रोत्रमस्मात्सर्वाञ्शब्दानभिविसृजते श्रोत्रेण सर्वाञ्शब्दानाप्नोति मनोऽस्मात्सर्वाणि ध्यानान्यभिविसृजते मनसा सर्वाणि ध्यानान्याप्नोति सैषा प्राणे सर्वात्मिः। यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः सह ह्येतावस्मिञ्शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः। अथ खलु यथाऽस्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतान्येकं भवन्ति तद्व्याख्यास्यामः॥ ४॥

शरीर से उन्मुक्त होने वाला वह प्राण जब उत्क्रमण करता है, तब उस समय वह इन सभी इन्द्रियों के सहित ही उत्क्रमण करता है। उस समय वाक्-इन्द्रिय इस पुरुष के सभी नामों का परित्याग कर देती है; क्योंकि वागिन्द्रिय से ही मनुष्य नामों को ग्रहण कर पाता है। (ऐसा ही तथ्य सभी इन्द्रियों के विषय में है।) प्राण (घ्राणेन्द्रिय) सभी गंधों का त्याग कर देती है, चक्षु सभी रूपों को त्याग देता है, कर्णेन्द्रिय सभी तरह के शब्दों का परित्याग कर देती है और मन ध्यानस्थ विषयों का परित्याग कर देता है। इसी प्राणरूप आत्मा में समस्त इन्द्रियाँ समर्पित होकर अपने-अपने विषयों का पूर्ण रूप से परित्याग कर देती हैं। प्राण ही प्रज्ञा है और प्रज्ञा ही प्राण है अथवा जो प्रज्ञा है, वही प्राण है; क्योंकि ये दोनों इस शरीर में एक साथ ही निवास करते हैं और एक साथ ही इस शरीर से उत्क्रमण करते हैं। अब जिस तरह से समस्त भूत-प्राणी इस प्रज्ञा में एक रूप हो जाते हैं, इसकी (अगले मंत्र में) स्पष्ट शब्दों में व्याख्या करेंगे॥ ४॥

वागेवास्या एकमङ्गमदूह्यं तस्यै नाम परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा। घ्राणमेवास्या एकमङ्गमदूह्यं तस्य गन्धः परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा चक्षुरेवास्या एकमङ्गमदूह्यं तस्य रूपं परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा श्रोत्रमेवास्या एकमङ्गमदूह्यं तस्य शब्दः परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा जिह्वैवास्या एकमङ्गमदूह्यं तस्या अन्नरसः परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा हस्तावेवास्या एकमङ्गमदूह्यं तयोः कर्म परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा शरीरमेवास्या एकमङ्गमदूह्यं तस्य सुखदुःखे परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रोपस्थ एवास्या एकमङ्गमदूह्यं तस्यानन्दो रतिः प्रजातिः परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा पादावेवास्या एकमङ्गमदूह्यं तयोरित्या परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा प्रज्ञैवास्या एकमङ्गमदूह्यं तस्यै धियो विज्ञातव्यं कामाः परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा॥ ५॥

निश्चय ही इस वाणी ने इस प्रज्ञा के एक अंग की क्षति-पूर्ति की है। बाहर की ओर उसके (वाणी के) विषय रूप से कल्पित (भूतमात्रा अर्थात् पञ्चभूतों का अंश-विशेष) नाम-शब्द है। घ्राणेन्द्रिय ने भी इस प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति की है। बाहर की तरफ उस घ्राणेन्द्रिय के विषयरूप से जो कल्पित भूतमात्रा है, वह गन्ध है। चक्षु ने भी इस प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति की है। बाहर की तरफ से उसके विषय रूप से कल्पित जो भूतमात्रा है, वही रूप है। ऐसे ही कर्णेन्द्रिय ने भी इस प्रज्ञा के एक अंग की क्षति-पूर्ति की है। बाहर की तरफ से उसके विषय रूप से कल्पित जो भूत मात्रा है, वही शब्द है। स्वादेन्द्रिय ने भी इस प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति की है। बाहर की तरफ से उसके विषय रूप से कल्पित जो भूत मात्रा है,वही अन्न का रस है। इसी प्रकार निश्चय ही हाथो ने भी प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति की है। बाहर की ओर से उनके विषय रूप से कल्पित जो भूत मात्रा है, वही कर्म है। ऐसे ही शरीर ने भी प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति की है। बाहर की ओर उसके विषय रूप से कल्पित जो भूत मात्रा है, वही सुख एवं दु:ख है। इसी तरह निश्चय ही उपस्थ ने भी उस प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति की है, बाहर की तरफ उसके विषय रूप से कल्पित जो भूत मात्रा है, वही रति, आनन्द एवं प्रजा (सन्तान) की उत्पत्ति है। अवश्य ही पैरों ने भी इस प्रज्ञा के एक अंग की पूर्ति की है। बाहर की ओर उनके विषय रूप से कल्पित जो भूतमात्रा है, वहँ विचरण-क्रिया है। ऐसे ही प्रज्ञा के एक अंग की प्रज्ञा ने ही पूर्ति की है। उस (प्रज्ञा) से सम्बन्धित बाह्य विषय रूप से कल्पित जो भूतमात्रा है, वह बुद्धि के द्वारा अनुभूत वस्तुएँ एवं मनुष्योचित इच्छाएँ-कामनाएँ हैं॥ ५॥

प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति। प्रज्ञया प्राणं समारुह्य प्राणेन सर्वान्गन्धानाप्नोति प्रज्ञया चक्षुः समारुह्य चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति प्रज्ञया श्रोत्रं समारुह्य श्रोत्रेण सर्वाञ्शब्दानाप्नोति प्रज्ञया जिह्वां समारुह्य जिह्वया सर्वानन्नरसानाप्नोति प्रज्ञया हस्तौ समारुह्य हस्ताभ्यां सर्वाणि कर्माण्याप्नोति प्रज्ञया शरीरं समारुह्य शरीरेण सुखदुःखे आप्नोति प्रज्ञयोपस्थं समारुह्योपस्थेनानन्दं रतिं प्रजातिमाप्नोति प्रज्ञया पादौ समारुह्य पादाभ्यां सर्वा इत्या आप्नोति प्रज्ञयैव धियं समारुह्य प्रज्ञयैव धियो विज्ञातव्यं कामानाप्नोति॥ ६॥

प्रज्ञा के द्वारा वाणी पर आरूढ़ हो, अर्थात् वाणी को वश में करके मनुष्य वाक् शक्ति के द्वारा नामों को स्वीकार करता है। प्रज्ञा द्वारा ही प्राण (घ्राणेन्द्रिय) पर अधिकार करके सभी तरह की गन्धों को स्वीकार करता है। प्रज्ञा द्वारा ही नेत्रों को वश में रखकर समस्त रूपों को ग्रहण करता है। प्रज्ञा से ही मनुष्य श्रोत्रेन्द्रिय पर आरूढ़ होकर उसके द्वारा सभी तरह के शब्दों को स्वीकार करता है। प्रज्ञा द्वारा ही जिह्वा को वश में करके सम्पूर्ण अन्न के रसों को प्राप्त करता है। प्रज्ञा से ही हाथों को वश में करके हाथों द्वारा सभी प्रकार के कार्यों को पूर्ण करता है। प्रज्ञा द्वारा ही शरीर को वश में रखकर शरीर से भोग एवं पीड़ा जनित सुख-दु:खों को स्वीकार करता है। प्रज्ञा से ही उपस्थ को वश में रखकर उसके द्वारा रति, आनन्द एवं प्रजनन सामर्थ्य को प्राप्त करता है। प्रज्ञा द्वारा ही पैरों को वश में करके पैरों द्वारा सम्पूर्ण विचरण क्रियाओं को स्वीकार करता है एवं प्रज्ञा से ही बुद्धि को वश में करके उस (बुद्धि) के द्वारा अनुभूति जन्य वस्तुओं एवं कामनाओं को ग्रहण करता है॥ ६॥

न हि प्रज्ञापेता वाङ् नाम किंचन प्रज्ञापयेत्। अन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतन्नाम प्राज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञापेतः प्राणो गन्धं कंचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह नाहमेतं गन्धं प्राज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञापेतं चक्षू रूपं किंचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतद्रूपं प्राज्ञासिषमिति न प्रज्ञापेतं श्रोत्रं शब्दं कंचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतं शब्दं

प्राज्ञासिषमिति न हि प्रज्ञापेता जिह्वाऽन्नरसं कंचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतमन्नरसं प्राज्ञासिषमिति न प्रज्ञापेतौ हस्तौ कर्म किंचन प्रज्ञापयेतामन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह नाहमेतत्कर्म प्राज्ञाससिषमिति न हि प्रज्ञापेतं शरीरं सुखं दुःखं किंचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह नाहमेतत्सुखं दुःखं प्राज्ञासिषमिति न हि प्रज्ञापेत उपस्थ आनन्दं रतिं प्रजातिं कांचन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतमानन्दं न रतिं न प्रजातिं प्राज्ञासिषमिति न हि प्रज्ञापेतौ पादावित्यां कांचन प्रज्ञापयेतामन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतामित्यां प्राज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञापेता धीः काचन सिध्येन्न प्रज्ञातव्यं प्रज्ञायेत॥ ७॥

प्रज्ञा के अभाव में वाणी किसी भी नाम का ज्ञान नहीं करा सकती; क्योंकि ऐसी अवस्था में व्यक्ति इस तरह कहता है कि मेरा मन अमुक ओर था, अतः मैं इस नाम को नहीं जान सका। प्रज्ञा से हीन होने पर प्राण (घ्राणेन्द्रिय) भी किसी गन्ध का बोध नहीं करा सकता। ऐसी स्थिति में व्यक्ति इस प्रकार कहता है कि मेरा मन दूसरी जगह चला गया था, इस कारण से मैं इस घ्राणेन्द्रिय की गन्ध को जानने में असमर्थ रहा, ऐसे ही प्रज्ञा से रहित होने पर, चक्षु-इन्द्रिय भी किसी भी तरह के रूप का ज्ञान नहीं करा सकती। ऐसी दशा में व्यक्ति ऐसा कहता है कि 'मेरा मन उस समय अन्यत्र था, अतः मैं इसके उस रूप को नहीं जान सका।' प्रज्ञा से अलग रहकर कर्णेन्द्रिय भी किसी तरह के शब्द का बोध नहीं करा सकती। ऐसी दशा में व्यक्ति यह कहता है कि मेरा मन उस समय अन्यत्र गमन कर रहा था, इस कारण से मैं इन शब्दों को नहीं जान सका। प्रज्ञा से रहित होने पर जिह्वा किसी भी अन्न के रस का अनुभव नहीं कर सकती। ऐसी स्थति में व्यक्ति, 'यह कहता है कि मेरा मन अन्यत्र चला गया था', अतः मैं अन्न के रस की अनुभूति नहीं कर पाया।' प्रज्ञा से रहित होते हुए हाथ किसी भी तरह के कर्म का बोध नहीं करा सकते। ऐसी दशा में मानव यह कहता है कि उस समय मेरा मन अन्यत्र गमन कर गया था। इसलिए मैं इस अमुक कार्य को नहीं समझ सका। प्रज्ञा से अलग रहते हुए शरीर भी किसी तरह के सुख-दुःख की अनुभूति नहीं करा सकता। ऐसी स्थिति में मनुष्य कहता है कि 'मेरा मन अन्यत्र गमन कर गया था।' अतः मैं इस शरीर के सुख-दुःखों को नहीं समझ सका। प्रज्ञा से रहित होकर उपस्थ भी किसी तरह के आनन्द, रति एवं प्रजा की उत्पत्ति का ज्ञान नहीं करा सकता है। उस स्थिति में व्यक्ति कहता है कि 'मेरा मन उस समय अन्यत्र था, इस कारण से मैं उस आनन्द, रति एवं प्रजा के उत्पत्ति की जानकारी नहीं पा सका। प्रज्ञा से अलग रहकर दोनों पैर भी किसी तरह की गमन क्रिया का ज्ञान नहीं करा सकते, उस स्थिति में व्यक्ति यह कहता है कि 'मेरा मन उस समय अन्य किसी स्थान की ओर चला गया था, इस कारण मैं इस आवागमन की क्रिया का अनुभव नहीं कर सका। प्रज्ञा के अभाव में कोई भी बौद्धिक-वृत्ति नहीं सिद्ध हो सकती है, उस बुद्धि वृत्ति के द्वारा ज्ञात वस्तु के ज्ञान का एहसास नहीं हो सकता॥ ७॥

न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यान्न गन्धं विजिज्ञासीत घ्रातारं विद्यान्न रूपं विजिज्ञासीत रूपविद्यं विद्यान्न शब्दं विजिज्ञासीत श्रोतारं विद्यान्नान्नरसं विजिज्ञासीतान्नरसस्य विज्ञातारं विद्यान्न कर्म विजिज्ञासीत कर्तारं विद्यान्न सुखदुःखे विजिज्ञासीत सुखदुःखयोर्विज्ञातारं विद्यान्नानन्दं न रतिं न प्रजातिं विजिज्ञासीतानन्दस्य रतेः प्रजातेर्विज्ञातारं विद्यान्नेत्यां विजिज्ञासीतैतारं विद्यात्। न मनो विजिज्ञासीत मन्तारं विद्यात्। ता वा एता दशैव भूतमात्रा अधिप्रज्ञं दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतं यद्धि भूतमात्रा न स्युर्न प्रज्ञामात्राः स्युर्यद्वा प्रज्ञामात्रा न स्युर्न भूतमात्राः स्युः॥ ८॥

वाक् शक्ति को जानने की इच्छा नहीं करनी चाहिए; वरन् वाणी को प्रेरित करने वाले आत्मा को जानना चाहिए। गन्ध को जानने का प्रयास नहीं करना चाहिए, बल्कि गन्ध को ग्रहण करने वाले आत्मा को जानना चाहिए; रूप को जानने की इच्छा नहीं करनी चाहिए, रूप के ज्ञाता साक्षी स्वरूप आत्मा को जानना चाहिए; शब्द को जानने की इच्छा नहीं करनी चाहिए, शब्द श्रवण करने वाले आत्मा को जानने की इच्छा रखनी चाहिए। अन्न-रस के ज्ञान की कामना व्यर्थ है, अन्न-रस के ज्ञाता आत्मा को जानना चाहिए। कर्म को जानने की इच्छा नहीं रखनी चाहिए, कर्म-कर्त्तारूप आत्मा को जानना चाहिए। सुख-दुःख आदि के जानने की इच्छा नहीं करनी चाहिए, सुख-दुःख के विशेषज्ञ साक्षी रूप आत्मा को जानना चाहिए। आनन्द, रति एवं प्रजनन सामर्थ्य के जानने की इच्छा नहीं करनी चाहिए; वरन् आनन्द, रति एवं प्रजनन सामर्थ्य के जानकार (आत्मतत्त्व) को समझना चाहिए; विचरण की क्रिया को समझने की इच्छा नहीं करनी चाहिए, विचरण करने वाले साक्षी स्वरूप आत्मा को ही जानने का प्रयास करना चाहिए। इसी तरह मन को भी जानने की अभिलाषा नहीं रखनी चाहिए; बल्कि मनन करने वाले आत्मा को ही जानना चाहिए। इस प्रकार ये दस ही भूत मात्राएँ अर्थात् नाम आदि विषय हैं; जो प्रज्ञा में विद्यमान हैं एवं प्रज्ञा की भी दस मात्राएँ (वाणी आदि इन्द्रिय रूप) हैं, जो कि समस्त प्राणियों में विद्यमान हैं। यदि ये प्रख्यात समस्त भूत मात्राएँ न हों, तो प्रज्ञा की मात्राएँ भी स्थित नहीं रह सकतीं और यदि प्रज्ञा की मात्राएँ न हों, तो भूत मात्राएँ भी स्थित नहीं रह सकतीं ॥८॥

न ह्यन्यतरतो रूपं किंचन सिध्येत्। नो एतन्नाना, तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पितो नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्मानन्दोऽजरोऽमृतः। न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्। एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते। एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष सर्वेशः स म आत्मेति विद्यात्स म आत्मेति विद्यात्॥ ९ ॥

इन दोनों में से किसी भी एक के माध्यम से किसी भी रूप, विषय अथवा इन्द्रिय की सिद्धि नहीं हो सकती है। प्रज्ञा मात्रा और भूतमात्रा के स्वरूप में कोई भेद नहीं है। उसे इस तरह से जानना चाहिए, जिस प्रकार रथ की नेमि अरों में और अरे रथ की नाभि के आश्रित रहते हैं; उसी प्रकार ही ये समस्त भूत मात्राएँ प्रज्ञा मात्राओं में विद्यमान हैं एवं प्रज्ञा मात्राएँ प्राण में स्थित हैं। यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्दस्वरूप, अजर-अमर है। यह न तो अच्छे कर्म से वृद्धि को प्राप्त होता है और न ही बुरे कर्म से छोटा होता है। यह प्राण एवं प्रज्ञा रूप चैतन्य युक्त परब्रह्म ही इस देहाभिमानी पुरुष से श्रेष्ठ कार्य करवाता है। वह ऐसे श्रेष्ठ कृत्य उसी से करवाता है, जिसे वह इन प्रत्यक्ष लोकों से ऊर्ध्व की तरफ ले जाना चाहता है और जिसे वह इन श्रेष्ठ लोकों की अपेक्षा नीचे ले जाना चाहता है,उससे अशुभ कार्य करवाता है। यह आत्मा समस्त लोकों का अधिपति है एवं यही सभी का स्वामी है। इन सभी श्रेष्ठ गुणों से युक्त वह प्राण ही आत्मा है, ऐसा जानना चाहिए। वह प्राण ही हमारा आत्मा है, ऐसा जानना चाहिए। वह प्राण ही हमारा आत्मा है, ऐसा ही जानना चाहिए॥ ९ ॥

॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥

काशी नरेश अजातशत्रु एवं ब्रह्मर्षि गार्ग्य का संवाद—

अथ गार्ग्यो ह वै बालाकिरनूचानःसंस्पृष्ट आस सोऽवददुशीनरेषु स वसन्मत्स्येषु कुरुपञ्चालेषु काशिविदेहेष्विति स हाजातशत्रुं काश्यमेत्योवाच। ब्रह्म ते ब्रवाणीति तं होवाचाजातशत्रुः। सहस्रं दद्मस्त इत्येतस्यां वाचि जनको जनक इति वा उ जना धावन्तीति॥ १॥

गर्ग गोत्र में प्रादुर्भूत बलाका ऋषि के पुत्र एवं गार्ग्य के नाम से प्रख्यात एक ब्राह्मण-ऋषि थे। उन्होंने चारों वेदों का पूर्ण अध्ययन किया था, साथ ही वेदों के अच्छे प्रख्यात वक्ता भी थे। उस समय जगत् में उनकी बड़ी ख्याति थी। उनका निवास उशीनर प्रदेश में था, किन्तु सतत गतिशील रहने के कारण, वे कभी मत्स्यदेश, तो कभी कुरु-पाञ्चाल में रहा करते थे। इस भाँति वे प्रख्यात गार्ग्य एक काशी के विद्वान् राजा अजातशत्रु के समीप में पहुँचे और अहंकार से युक्त वाणी में बोले-'हे राजन्! मैं आपके लिए ब्रह्मतत्त्व का उपदेश करूँगा।' गार्ग्य के इस तरह से कहने पर उन प्रसिद्ध काशी नरेश ने कहा-'हे ब्रह्मन्! आपकी इस बात पर हम आपको एक सहस्र गौएँ प्रदान करते हैं। अवश्य ही आज-कल लोग प्रायः जनक-जनक कहते हुए ही उनके पास में दौड़ जाते हैं (अर्थात् राजा जनक ही इस ब्रह्मविद्या के श्रोता एवं दानी हैं, इस प्रकार कहकर प्रायः लोग उन्हीं के समीप में जाते हैं, आज आप हमारे पास आकर विदेहराज जनक की भाँति हमारा गौरव बढ़ाया है, इसलिए हम आपको सहर्ष एक सहस्र गौएँ प्रदान करते हैं) ॥ १ ॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष आदित्ये पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः। बृहन्पाण्डरवासा अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा भवति॥ २॥

तब वे प्रसिद्ध बलाका-पुत्र विप्रवर गार्ग्य जी कहने लगे-'हे राजन्! यह जो सूर्यमण्डल में अन्तर्यामी परमेश्वर स्थित है, मैं उसी की ब्रह्मबुद्धि से साधना करता हूँ।' ऐसा सुनकर उन श्रेष्ठ ऋषि से काशी नरेश अजातशत्रु बोले-'हे ब्रह्मन्! नहीं-नहीं, इस विषय में आप कुछ भी न कहें। अवश्य ही यह शुक्लवस्त्रधारी सभी से महान् है। यह सभी का अतिक्रमण करता हुआ सबसे उच्च स्थिति में केन्द्रित है, यह सबका शीश है। इस तरह से मैं इसकी उपासना करता हूँ, जो मनुष्य सूर्य मण्डल में स्थित उस विराट् पुरुष की इस तरह से उपासना करता है, वह सभी का अतिक्रमण कर सबसे उच्च स्थिति में पहुँचता है एवं समस्त भूत-प्राणियों का शीश माना जाता है॥ २॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष चन्द्रमसि पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः सोमो राजाऽन्नस्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो मेवमुपास्तेऽन्नस्यात्मा भवति॥ ३॥

उन सुप्रसिद्ध बलाका-पुत्र गार्ग्य जी ने कहा-'हे राजन्! चन्द्रमण्डल में जो यह अन्तर्यामी विराट् पुरुष है, मैं इसी को ब्रह्मरूप में मानकर उपासना करता हूँ।' ऐसा सुन करके उन (गार्ग्य) से राजा अजातशत्रु ने कहा- 'हे ब्रह्मन्! नहीं-नहीं, इस विषय में आप कुछ भी न कहें। यह सोम ही राजा है एवं अन्न का आत्मा भी यही है। इस प्रकार से मैं इसकी उपासना करता हूँ।' इसी तरह वह भी, जो इस प्रसिद्ध चन्द्र मण्डल के अन्तर्गत इस पुरुष की ब्रह्म रूप में उपासना करता है, वह निश्चय ही अन्न की आत्मा हो जाता है अर्थात् अन्न राशि से युक्त हो जाता है॥ ३॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष विद्युति पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठास्तेजस आत्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते तेजस आत्मा भवति॥ ४॥

तब वे विप्रश्रेष्ठ गार्ग्य मुनि कहने लगे-'हे राजन्! विद्युत् मण्डल के अन्तर्गत जो यह अन्तर्यामी विराट् परब्रह्म है, मैं उसी का उपासक हूँ।' ऐसा सुनकर राजा अजातशत्रु तुरन्त बोले-'हे ब्रह्मन्! आप इस सन्दर्भ में कुछ भी न कहें। मैं इस (विद्युत्) को प्रकाश की आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूँ।' इस प्रकार जो भी मनुष्य विद्युत्-मण्डल में स्थित ब्रह्म की उपासना करता है, वह प्रकाश स्वरूप आत्मा ही हो जाता है॥ ४॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष स्तनयित्नौ पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः शब्दस्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते शब्दस्यात्मा भवति॥ ५॥

तदुपरान्त बलाका-तनय गार्ग्य ने पुनः कहना प्रारम्भ किया- 'हे राजन्! मेघमण्डल में गर्जना रूप में विद्यमान उस अन्तर्यामी अविनाशी परम ईश्वर की मैं साक्षात् परम ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ।' ऐसा सुनकर उन प्रख्यात नरेश अजातशत्रु ने उत्तर देते हुए कहा- हे ब्रह्मन्! आप इस सन्दर्भ में कुछ भी न कहें। मैं इसे शब्द की आत्मा समझकर इस श्रेष्ठ तत्त्व की उपासना करता हूँ। इस भाँति से जो भी मनुष्य इस मेघमण्डल में विद्यमान परब्रह्म को शब्द की आत्मा मानकर उपासना करता है, वह मनुष्य स्वयं ही शब्द की आत्मा के रूप में परिणत हो जाता है॥ ५॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष आकाशे पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः पूर्णमप्रवर्ति ब्रह्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिः। नो एव स्वयं नास्य प्रजा पुरा कालात्प्रवर्तते॥ ६॥

तत्पश्चात् पुनः बलाका-नन्दन गार्ग्य ऋषि ने कहा-'हे राजन्! आकाश मण्डल में प्रतिष्ठित परब्रह्म परमेश्वर की मैं अविनाशी ब्रह्म के रूप में उपासना करता हूँ।' इस पर राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! आपको इस सन्दर्भ में कुछ भी नहीं कहना चाहिए।' यह तो पूर्ण, प्रवृत्ति रहित (क्रिया रहित) एवं ब्रह्म अर्थात् सभी से विशाल है। अवश्य ही इसी रूप में मैं इसकी उपासना करता हूँ। इसी तरह जो भी मनुष्य इस प्रसिद्ध आकाश मण्डल के अन्तर्गत स्थित पुरुष की इस रूप में उपासना करता है, वह प्रजा एवं पशुओं से युक्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त, न तो स्वयं वह और न उसकी संतान ही समय से पूर्व मृत्यु को प्राप्त होते हैं॥ ६॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष वायौ पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते। जिष्णुर्ह वापराजयिष्णुरन्यतस्त्यजायी भवति॥ ७॥

वे प्रसिद्ध बलाका-पुत्र गार्ग्य पुनः कहने लगे-'हे राजन्! यह जो वायुमण्डल में स्थित विराट् पुरुष है, मैं (गार्ग्य) अविनाशी ब्रह्म के रूप में इसकी उपासना करता हूँ।' गार्ग्य से ऐसा सुनने पर उन प्रसिद्ध नरेश अजातशत्रु ने कहा- 'हे ब्रह्मन्! आपको इस विषय में कुछ भी नहीं कहना चाहिए; यह इन्द्र अर्थात् श्रेष्ठ ऐश्वर्य से युक्त, वैकुण्ठ अर्थात् कहीं भी कुण्ठाग्रस्त न रहने वाला तथा कहीं भी न हारने वाली सेना है। अवश्य ही मैं इसकी इसी भावना से उपासना करता हूँ; इसी तरह से जो भी मनुष्य इस वायु मण्डल के मध्य में स्थित

विराट् पुरुष की इस रूप में उपासना करता है, वह मनुष्य निश्चित ही सदा विजयी रहने वाला, दूसरों से कभी भी न हारने वाला एवं अपने को पराक्रम के द्वारा वश में करने वाला होता है॥ ७॥

स होवाच बालाकिर्य एवैषोऽग्नौ पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते विषासहिर्हैवान्वेष भवति॥ ८॥

तदनन्तर उन सुप्रसिद्ध बलाका-पुत्र गार्ग्य जी ने कहा-'हे राजन्! यह जो अग्नि मण्डल के मध्य में अन्तर्यामी विराट् पुरुष विद्यमान है, इसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।' इस प्रकार कहे जाने पर वे राजा अजातशत्रु गार्ग्य ऋषि से कहने लगे-'हे ब्रह्मन्! इस सन्दर्भ में आप कृपा करके कुछ भी संवाद न करें। यह 'विषासहि' अर्थात् दूसरों के प्रहार को सहन करने की सामर्थ्य वाला है। अवश्य ही इसी भावना से मैं इस तत्त्व की उपासना करता हूँ।' इसी तरह से जो भी मनुष्य इस प्रसिद्ध अग्नि के मध्य में स्थित विराट् पुरुष की उपासना करता है, वह इस उपासना के बाद दूसरों का आवेग सहन करने में समर्थ हो जाता है॥ ८॥

स होवाच बालाकिर्य एवैषोऽप्सु पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा नाम्न आत्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते नाम्न आत्मा भवतीत्यधिदैवतमथाध्यात्मम्॥ ९॥

उन ख्याति प्राप्त बलाका-पुत्र गार्ग्य जी ने कहा-'हे राजन्! जो यह जल मण्डल के मध्य में अन्तर्यामी विराट् पुरुष स्थित है, इसकी ही मैं ब्रह्म के रूप में उपासना करता हूँ।' ऐसा सुनकर उन (गार्ग्य ऋषि) से राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! इस विषय में कृपा करके आप कुछ भी न कहें। यह नामधारी जीवात्मा है, ऐसा जानकर ही मैं इसकी उपासना करता हूँ।' जो मनुष्य इसी भाव से इसकी उपासना करता है, वह नामधारी समस्त प्राणिमात्र की आत्मा हो जाता है। इसे आधिदैवत उपासना कहा जाता है। आगे अब अध्यात्म उपासना का वर्णन करते हैं॥ ९॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष आदर्शे पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते प्रतिरूपो हैवास्य प्रजायामाजायते नाप्रतिरूपः॥ १०॥

उन प्रसिद्ध बलाका-तनय गार्ग्य जी ने कहा- 'हे राजन्! जो यह दर्पण में विराट् पुरुष विद्यमान है, इसी की मैं अविनाशी ब्रह्म के रूप में उपासना करता हूँ।' यह सुनकर उन गार्ग्य मुनि से राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे मुने! इसके सन्दर्भ में आप कुछ भी न कहें। यह प्रतिरूप (रूप का ठीक वैसा ही प्रतिबिम्ब) है, अवश्य ही मैं इसकी इसी भावना से उपासना करता हूँ।' इसी तरह से वह मनुष्य भी यदि इस दर्पण के मध्य में विराट् पुरुष की इस रूप में उपासना करता है, तो वह उस प्रतिरूप गुण से विभूषित हो जाता है। उसकी संतानें उसके अनुरूप ही होती हैं। प्रतिकूल रूप व स्वभाव वाली नहीं होती॥१०॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष प्रतिश्रुत्कायां पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते विन्दते द्वितीयाद्द्वितीयवान्भवति॥ ११॥

वे प्रसिद्ध बलाका-पुत्र गार्ग्य फिर बोले- 'हे राजन्! जो यह विराट् पुरुष प्रतिध्वनि में स्थित है, इसकी मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।' इस प्रकार उन गार्ग्य ऋषि से राजा अजातशत्रु ने कहा-हे ब्रह्मन्! आप इस

सन्दर्भ में कुछ भी न कहें। यह 'द्वितीय' एवं 'अनपग' (एक ध्वनि के पुनरावृत्ति एवं प्रतिध्वनि में गति का अभाव) है। अवश्य ही मैं इसकी इसी भावना के साथ उपासना करता हूँ।' ऐसे ही जो भी उपासक इस प्रतिध्वनिगत विराट् पुरुष की इस ब्रह्म के रूप में उपासना करता है, वह अपने अतिरिक्त दूसरे अर्थात् स्त्री-पुत्रादि को प्राप्त कर लेता है और सदा द्वितीयवान् रहता है अर्थात् स्त्री-पुत्रादि से वह वियोग को नहीं प्राप्त होता॥ ११ ॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष शब्दः पुरुषमन्वेति तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते नो एव स्वयं नास्य प्रजा पुरा कालात्संमोहमेति ॥ १२॥

वे प्रसिद्ध बलाका-पुत्र गार्ग्य पुनः बोले- 'हे राजन्! जो यह गमन करते हुए विराट् पुरुष के पीछे ध्वन्यात्मक शब्द उसका अनुसरण करता है, उसी अविनाशी परमात्मा की मैं ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ।' ऐसा सुनकर प्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा- 'हे ब्रह्मन्! इस संदर्भ में आप कुछ भी न कहें। यह प्राण स्वरूप है, इसलिए निश्चित रूप से इसी भाव से मैं इसकी उपासना करता हूँ।' जो भी उपासक इस श्रेष्ठ तत्त्व की इस रूप में उपासना करता है, वह पूर्ण आयु के पहले मृत्यु को नहीं प्राप्त होता है और न ही उसकी सन्तान ही पूर्ण आयु के पूर्व मृत्यु को प्राप्त होती है॥ १२॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष छायापुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते नो एव स्वयं नास्य प्रजा पुरा कालात्प्रमीयते॥ १३॥

सुप्रसिद्ध बलाका-तनय गार्ग्य जी पुनः कहने लगे-'हे राजन्! शरीरधारी के साथ जो छाया विचरण करती है, मैं उसी छायारूप विराट् पुरुष की उपासना करता हूँ।' ऐसा सुनकर उन गार्ग्य ऋषि से सुप्रसिद्ध राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! आप इस विषय में कुछ भी न कहें। यह छाया तो मृत्युरूप है, मैं इसकी उसी भाव से उपासना करता हूँ।' जो उपासक उस विराट् ब्रह्म की इस रूप में उपासना करता है, वह समय से पहले मृत्यु को नहीं प्राप्त होता है और न ही उसके पुत्र ही समय से पूर्व मृत्यु को प्राप्त होते हैं॥ १३॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष शारीरः पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः प्रजापतिरिति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते प्रजायते प्रजया पशुभिः॥ १४॥

गार्ग्य जी ने आगे कहा- 'हे राजन्! यह जो विराट् पुरुष शरीर में स्थित है, उसे मैं साक्षात् ब्रह्म का स्वरूप मानकर उपासना करता हूँ।' ऐसा सुनकर राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! आप इस विषय में कुछ भी न कहें। यह प्रजापति स्वरूप है, इसी भाव से मैं इसकी उपासना करता हूँ।' जो भी मनुष्य इस शरीर में निवास करने वाले पुरुष की प्रजापति भाव से उपासना करता है, वह प्रजा एवं पशुओं से युक्त हो जाता है॥१४

स होवाच बालाकिर्य एवैष प्राज्ञ आत्मा येनैतत्पुरुषः सुप्तः स्वप्न्यया चरति तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा यमो राजेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्ते सर्वं हास्मा इदं श्रैष्ठ्याय यम्यते॥ १५॥

गार्ग्य जी पुनः बोले-'हे राजन्! यह जो प्रज्ञा से नित्य-युक्त प्राण स्वरूप आत्मा है, जिससे एकता को प्राप्त करके यह सोया हुआ विराट् पुरुष स्वप्न मार्ग से विचरण करता है (अर्थात् विभिन्न तरह के स्वप्नों का

अनुभव करता है), उसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।' यह सुनकर राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! इस सन्दर्भ में आप कुछ भी न कहें। यह यम राजा है, ऐसा जानकर मैं इसी भाव से इसकी उपासना करता हूँ।' जो मनुष्य इसकी इसी तरह से उपासना करता है, उस उपासक की श्रेष्ठता-अभिवर्धन हेतु यह समस्त संसार नियमपूर्वक चेष्टा करता है॥ १५॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचा-जातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठा नाम्न आत्माऽग्नेरात्मा ज्योतिष आत्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्त एतेषां सर्वेषामात्मा भवति॥ १६॥

पुनः गार्ग्य जी ने कहा-'हे राजन्! जो यह दाहिने नेत्र में विराट् पुरुष स्थित है, मैं उसी की ब्रह्मरूप में उपासना करता हूँ।' ऐसा गार्ग्य ऋषि से सुनकर राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! कृपया आप इस विषय में कुछ भी न कहें।' यह नाम, अग्नि एवं ज्योति की आत्मा है। इसकी मैं इसी भावना के अनुसार उपासना करता हूँ। इसी तरह से जो भी उपासक इसकी उपासना करता है, वह इन सभी की आत्मा के समान हो जाता है॥

स होवाच बालाकिर्य एवैष सव्येऽक्षन्पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवादयिष्ठाः सत्यस्यात्मा विद्युत आत्मा तेजस आत्मेति वा अहमेतमुपास इति स यो हैतमेवमुपास्त एतेषां सर्वेषामात्मा भवतीति॥ १७॥

तब गार्ग्य पुनः बोले-'हे राजन्! यह जो बायें नेत्र में विराट् पुरुष विद्यमान है, इसी श्रेष्ठ पुरुष की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।' ऐसा सुनकर उन (गार्ग्य ऋषि) से राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! आप इस विषय में कुछ भी न कहें। यह सत्य का, विद्युत् का एवं तेज का आत्मा है। इसकी मैं इसी भाव से उपासना करता हूँ।' जो भी उपासक इसकी इस भाव से उपासना करता है, वह सभी की आत्मा हो जाता है॥

तत उ ह बालाकिस्तूष्णीमास तं होवाचाजातशत्रुः। एतावन्नु बालाका३इ इत्येतावद्धीति होवाच बालाकिस्तं होवाचाजातशत्रुर्मृषा वै किल मा समवादयिष्ठा ब्रह्म ते ब्रवाणीति। स होवाच। यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्य इति तत उ ह बालाकिः समित्पाणिः प्रतिचक्रम उपायानीति तं होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमरूपमेव तत्स्याद्यत्क्षत्रियो ब्राह्मणमुपनयेत्। एहि व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति तं ह पाणावभिपद्य प्रवव्राज तौ ह सुप्तं पुरुषमाजग्मतुस्तं हाजातशत्रुरामन्त्रयांचक्रे। बृहन्पाण्डरवासः सोमराजन्निति। स उ ह तूष्णीमेव शिश्ये। तत उ हैनं यष्ट्याविचिक्षेप स तत एव समुत्तस्थौ तं होवाचाजातशत्रुः। क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्वैतदभूत्कुत एतदागाइदिति। तत उ ह बालाकिर्न विजज्ञौ॥१८

राजा अजातशत्रु के इस तरह से कहने के पश्चात् वे बलाका-तनय गार्ग्य जी मौन हो गये। तदनन्तर उन (गार्ग्य जी) से राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे बलाके! क्या इतना ही आपका ब्रह्मज्ञान है?' इस प्रश्न पर बलाका-पुत्र गार्ग्य ने कहा-'हाँ, इतना ही है।' तब राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे ब्रह्मन्! तब तो व्यर्थ ही आपने यह कहा कि तुम्हारे लिए ब्रह्म का उपदेश करूँगा।' निश्चय ही जो आपके द्वारा कहे हुए इन सभी सोपाधिक पुरुषों का कर्त्ता है-वही जानने योग्य है। उन श्रेष्ठ राजा अजातशत्रु के इस तरह कहने पर वे प्रसिद्ध बलाका-तनय गार्ग्य हाथ में समिधा ग्रहण कर उनके पास जाकर कहने लगे-'हे राजन्! मैं आपको गुरु बनाने के लिए आपके पास आया हूँ।' ऐसा सुनकर राजा ने कहा-'यह विपरीत बात हो जायेगी, यदि क्षत्रिय ब्राह्मण को शिष्य

बनाने के लिए अपने पास बुलाये। अत: आप आयें (एकान्त स्थान की ओर चलें), वहाँ आपको निश्चय ही मैं स्वयं विराट् ब्रह्म का बोध कराऊँगा।' ऐसा कहकर राजा (अजातशत्रु) बलाका-तनय गार्ग्य का हाथ पकड़ करके वहाँ से चल दिये। वे दोनों (राजा एवं गार्ग्य) एक सोये हुए व्यक्ति के पास आये। वहाँ पर राजा अजातशत्रु ने उस सोये हुए व्यक्ति को जगाने का प्रयास करते हुए बुलाया-'हे ब्रह्मन्! हे पाण्डरवास! हे सोम राजन्! इस तरह से सम्बोधन करने पर भी जब वह व्यक्ति सोया ही रहा, तब उस व्यक्ति के शरीर में छड़ी से प्रहार किया। जैसे ही उसके शरीर में प्रहार किया गया, वह सोया हुआ व्यक्ति उस छड़ी की चोट से उठकर खड़ा हो गया। ऐसा दृश्य देखकर बलाका-पुत्र गार्ग्य से राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे बलाके! यह व्यक्ति इस तरह अचेत सा रहकर कहाँ शयन करता था? किस प्रदेश में इसका शयन हुआ था? तथा इस जाग्रत्-अवस्था में यह कहाँ से आ गया है?'॥ १८॥

तं होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट यत्रैतदभूद्यत एतदागादिति। हिता नाम हृदयस्य नाड्यो हृदयात्पुरीततमभिप्रतन्वन्ति तद्यथा सहस्त्रधा केशो विपाटितस्तावदण्व्यः पिङ्गलस्याणिम्ना तिष्ठन्ति। शुक्लस्य कृष्णस्य पीतस्य लोहितस्येति तासु तदा भवति। यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यस्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति स यदा प्रतिबुध्यते यथाऽग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नैवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः तद्यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्यात्। विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाय एवमेवैष प्रज्ञ आत्मेदं शरीरमात्मानमनुप्रविष्ट आलोमभ्य आनखेभ्यः॥ १९॥

गार्ग्य इस रहस्य को न समझ पाये, तब पुनः उनसे राजा अजातशत्रु ने कहा-'हे बलाका-तनय! यह पुरुष इस तरह से अचेत-सा होकर जहाँ सोता था, जहाँ शयन करता था और इस जाग्रत्-अवस्था में इसका जहाँ से आगमन हुआ है, वह स्थान इस प्रकार से जाना जाता है। 'हिता' नाम से प्रसिद्ध बहुत-सी नाड़ियाँ हैं,जो कि हृदय-कमल से सम्बन्ध रखने वाली हैं। वे (नाड़ियाँ) हृदय-कमल से निकलकर सम्पूर्ण शरीर में विस्तृत होकर फैली हुई हैं। इन नाड़ियों का परिमाण इस तरह से है-एक बाल के हजारवें भाग के बराबर ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म वे सभी नाड़ियाँ हैं। पिङ्गल अर्थात् विभिन्न तरह के रंगों का जो अति सूक्ष्मतम रस है, इससे वे पूर्ण हैं। शुक्ल, कृष्ण, पीत एवं रक्त आदि इन सभी रंगों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंशों से वे सम्पन्न हैं। उन्हीं समस्त नाड़ियों में यह पुरुष सुषुप्तावस्था के समय विद्यमान रहता है।

जिस समय यह सोया हुआ पुरुष किसी भी तरह का स्वप्न नहीं देखता, तब उस समय यह इस मुख्य प्राण तत्त्व में ही एकात्मभाव को प्राप्त कर लेता है। उस समय वाणी अपने समस्त नामों सहित इस प्राणतत्त्व में विलीन हो जाती है। चक्षु भी अपने सभी रूपों के साथ इस प्राण में ही मिल जाता है। कर्णेन्द्रिय अपने सभी शब्दों के साथ इस प्राण में विलीन हो जाती है और मन भी सभी चिन्तनयुक्त विषयों के सहित इस प्राण-तत्त्व में विलीन हो जाता है। यह पुरुष जब जाग जाता है, तब उस समय जैसे जलती हुई अग्नि से सभी दिशाओं की तरफ चिनगारियाँ प्रस्फुटित होती हैं, वैसे ही इस प्राण स्वरूप आत्मा से सभी वाणी आदि प्राणतत्त्व बहिर्गमन कर अपने-अपने भोग्य-स्थल की तरफ गमन कर जाते हैं। तत्पश्चात् प्राणों से उनके अधिष्ठाता अग्नि आदि देवों का प्रादुर्भाव होता है एवं साथ ही देवताओं से लोक अर्थात् नाम आदि विषयों का प्राकट्य होता है। उस

श्रेष्ठ आत्मा की प्राप्ति का उदाहरण इस तरह से है-जैसे क्षुरधान (अर्थात् छुरा रखने हेतु निर्मित की हुयी चर्मयुक्त पेटी) में छुरा रखा रहता है, वैसे ही शरीर के अन्दर हृदय-कमल में अङ्गुष्ठ-मात्र पुरुष के रूप में परमात्म सत्ता की स्थिति होती है एवं जिस तरह अग्नि अपने नीड-भूत अरणी आदि काष्ठ में सभी जगह फैली रहती है, उसी प्रकार यह प्रज्ञावान् आत्मा इस 'आत्मा' नाम से सम्बोधित किये जाने वाले शरीर में नख से शिखा तक व्याप्त है॥ १९॥

तमेतमात्मामेनत आत्मानोऽन्ववस्यन्ति यथा श्रेष्ठिनं स्वाः। तद्यथा श्रेष्ठी स्वर्भुङ्क्ते यथा वा स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्त्येवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर्भुङ्क्ते। एवं वै तमात्मानमेत आत्मानो भुञ्जन्ति। स यावद्ध वा इन्द्र एतमात्मानं न विजज्ञे तावदेनमसुरा अभिबभूवुः। स यदा विजज्ञेऽथ हत्वाऽसुरान्विजित्य सर्वेषां देवानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं परीयाय तथो एवैवं विद्वान्सर्वान्पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एवं वेद य एवं वेद॥ २०॥

उसी साक्षीरूप आत्मा का ये वाणी आदि आत्मा (इन्द्रियाँ) अनुगत सेवक की भाँति ठीक वैसे ही अनुसरण करती हैं, जैसे श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न धनी का, उसके आश्रय में जीवन-व्यतीत करने वाले स्वजन अनुवर्तन करते हैं। जिस तरह धनी अपने आत्मीय जनों के साथ भोजन करता है और स्वजन जैसे उस धनी का ही उपभोग करते हैं, उसी प्रकार यह प्रज्ञा सम्पन्न आत्मा इन वाणी आदि आत्माओं के सहित उपभोग करता है और अवश्य ही इस आत्मा का ये वाणी आदि आत्मा उपभोग करते हैं।

वे प्रख्यात देवराज इन्द्र जब तक इस आत्मा को नहीं जान पाये थे, तब तक उन्हें समस्त दैत्य समूह पराजित करते रहते थे; किन्तु जैसे ही उन्होंने अपनी आत्मा को जाना, वैसे ही देवराज इन्द्र ने उन समस्त दैत्यों को विनष्ट कर, उन्हें परास्त करके सम्पूर्ण देवों में श्रेष्ठता का पद, स्वर्ग का राज्य एवं त्रिलोकी का अधिकार प्राप्त कर लिया। इसी प्रकार आत्मा को जानने वाला ज्ञानी अपने समस्त पापों को मिटाकर सभी भूत-प्राणियों में श्रेष्ठ होकर स्वाराज्य और प्रभुता को प्राप्त कर सभी का स्वामी बन जाता है। जो भी उपासक इस प्रकार से उसे जानता है, उसे ऊपर कहे हुए सम्पूर्ण फलों की प्राप्ति हो जाती है॥ २०॥

वाङ्मे मनसि .....इति शान्तिः॥

॥ इति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत्समाप्ता॥

॥ क्षुरकापानषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल २५ मन्त्र हैं। यह उपनिषद् तत्त्व-ज्ञान के प्रति-बन्धक घटकों को काटने में क्षुरिका (छुरी-चाकू) सदृश समर्थ है। योग के अष्टांगों (यम. नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) में से धारणा की सिद्धि और उसके प्रतिफल की यहाँ विशेष रूप से चर्चा है।

इस उपनिषद् में कहा गया है कि सर्वप्रथम योग साधना के लिए दृढ़ आसन पर बैठकर प्राणायाम की विशेष क्रियाओं का अभ्यास करते हुए शरीर के सभी मर्म स्थानों में प्राण का संचार उसी प्रकार करे, जिस प्रकार मकड़ी अपने द्वारा निर्मित अति सूक्ष्म तन्तुओं पर गतिशील रहती है। तत्पश्चात् क्रमशः नीचे से ऊपर की ओर बढ़ते हुए हृदय कमल स्थित सुषुम्ना नाड़ी से प्राण तत्त्व का संचार करते हुए तथा अन्य ७२ हजार नाड़ियों का छेदन करते हुए उस परब्रह्म स्थान तक पहुँचा जा सकता है, जहाँ पहुँचने पर जीव (हंस) समस्त बन्धनों को काट डालने में समर्थ हो जाता है। उस समय वह अपने समस्त कर्म बन्धनों को जलाकर परम तत्त्व में उसी प्रकार लय को प्राप्त हो जाता है, जिस प्रकार दीपक निर्वाण (बुझने) के समय तेल-बाती सभी को जलाकर परम ज्योति में विलीन हो जाता है। इस प्रकार वह (जीव) पुनः कर्म बन्धन में नहीं बँधता-जीवन मुक्त हो जाता है। यही इस उपनिषद् का सार है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु.....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अवधूतोपनिषद्)

क्षुरिकां संप्रवक्ष्यामि धारणां योगसिद्धये।
यां प्राप्य न पुनर्जन्म योगयुक्तस्य जायते ॥१ ॥

योग की सिद्धि हेतु मैं धारणा रूपी छुरिका के सम्बन्ध में यहाँ वर्णन करता हूँ, जिसे प्राप्त करके योग युक्त हो जाने वाले मनुष्य को पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता अर्थात् वह आवागमन के बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥१

[सुझाई गयी धारणा का उपयोग करके मनुष्य बन्धन मुक्त होता है, इसलिए उसे बन्धन काटने वाली छुरी कहा गया है। संसारी व्यक्ति लौकिक कामनाओं के वशीभूत होकर भव-बन्धनों में बँधते हैं। योगी जन अष्टांग योग के अन्तर्गत यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार की साधना करते हुए धारणा तक पहुँचते हैं, तो आत्म सत्ता, परमात्म सत्ता और दोनों के बीच आदान-प्रदान, इन तीन में अपने चित्त को बाँध लेते हैं। इस धारणा के प्रभाव से सांसारिक बन्धन छिन्न हो जाते हैं।]

मन्त्र क्र० २ से ५ तक निर्धारित धारणा के पूर्व प्राणायाम का वर्णन है—

वेदतत्त्वार्थविहितं यथोक्तं हि स्वयंभुवा। निःशब्दं देशमास्थाय तत्रासनमवस्थितः ॥ २ ॥
कूर्मोऽङ्गानीव संहृत्य मनो हृदि निरुध्य च। मात्राद्वादशयोगेन प्रणवेन शनैः शनैः ॥ ३ ॥
पूरयेत्सर्वमात्मानं सर्वद्वारं निरुध्य च। उरोमुखकटिग्रीवं किंचिद्धृदयमुन्नतम् ॥ ४ ॥
प्राणान्संधारयेत्तस्मिन्नासाभ्यन्तरचारिणः। भूत्वा तत्र गतप्राणः शनैरथ समुत्सृजेत् ॥ ५ ॥

जैसा कि स्वयंभू ब्रह्माजी का कथन है और जो भाव वेद के तत्त्वार्थ में सन्निहित है, तदनुसार कोलाहल रहित स्थान में इसके लिए उचित आसन में स्थित होकर जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने संकल्प से समेट लेता है, वैसे ही मन और हृदय (के भावों) को निरुद्ध (बिखरने से रोक) करे तथा ॐ कार की बारह मात्राओं के माध्यम से (उतने समय में) धीरे-धीरे प्राण रूप सर्वात्मा को (पूरक द्वारा) अपने अन्दर पूरित करे। इस समय (प्राण के) सभी द्वारों को (बन्धों के माध्यम से) रोक करके छाती, मुख, कमर, गर्दन (को ऊपर की ओर खींचकर सीधा) तथा हृदय को कुछ उन्नत रखे। इस स्थिति में नासिका द्वारा संचरित प्राण को (कुम्भक के द्वारा) सभी स्थानों में धारण करे। जहाँ-तहाँ प्राणों का संचरण हो जाने पर फिर धीरे-धीरे वायु को (रेचक क्रिया द्वारा) बाहर छोड़ दे॥ २-५॥

[ॐ कार में तीन मात्राएँ होती हैं। १२ मात्रा का अर्थ हुआ, ४ बार ओंकार के सहज उच्चारण जितना समय लगाकर पूरक करे। उसी अनुसार कुम्भक एवं रेचक की मात्रा निश्चित करे।]

स्थिरमात्रादृढं कृत्वा अङ्गुष्ठेन समाहितः। द्वे तु गुल्फे प्रकुर्वीत जङ्घे चैव त्रयस्त्रयः॥ ६॥
द्वे जानुनी तथोरुभ्यां गुदे शिश्ने त्रयस्त्रयः। वायोरायतनं चात्र नाभिदेशे समाश्रयेत्॥ ७॥

धारणा युक्त उक्त प्राणायाम का अभ्यास दृढ़ हो जाने पर, पूरी सावधानी के साथ पैर के अँगूठे सहित टखनों में दो-दो बार, (टखनों और घुटनों के बीच के भाग) जंघाओं या पिंडलियों में तीन-तीन बार, घुटनों और ऊरु (जाँघों) में दो-दो बार तथा गुदा एवं जननेन्द्रिय में तीन-तीन बार (प्राणायाम द्वारा) प्राणों के संचार की धारणा करे। इसके बाद नाभि प्रदेश में प्राणों की धारणा करे॥ ६-७॥

कटि प्रदेश से नीचे का भाग, जो मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान चक्रों से सम्बद्ध है, उसमें प्राण-प्रवाह की धारणा स्थिर होने के बाद क्रमशः नाभि, हृदय, कण्ठ एवं उससे ऊपर मन-बुद्धि (आज्ञा-सहस्त्रार आदि) तक प्राण-प्रवाह द्वारा धारणा को दृढ़ करने का संकेत आगे के मंत्रों में किया गया है-

तत्र नाडी सुषुम्ना तु नाडीभिर्बहुभिर्वृता।
अणुरक्ताश्च पीताश्च कृष्णास्ताम्रविलोहिताः॥ ८॥

वहाँ पर इड़ा, पिङ्गला आदि दस नाड़ियों से आवृत सुषुम्ना नाम की ब्रह्म नाड़ी स्थित है। वहाँ भी अनेक नाड़ियाँ स्थित हैं, जो अति सूक्ष्म, लाल, पीली, काली एवं ताँबे के रंग की हैं॥ ८॥

अतिसूक्ष्मां च तन्वीं च शुक्लां नाडीं समाश्रयेत्।
ततः संचारयेत्प्राणानूर्णनाभीव तन्तुना॥ ९॥

वहाँ पर जो नाड़ी अति सूक्ष्म, पतली एवं शुक्ल वर्ण की है, उसका आश्रय प्राप्त करना चाहिए। जिस प्रकार ऊर्णनाभि (मकड़ी) अपनी लार के तन्तुओं द्वारा गतिशील होती है, उसी प्रकार योगी को उस नाड़ी मण्डल में प्राणों को संचरित करना चाहिए॥ ९॥

[मकड़ी अपने ही अंश से सूक्ष्म तन्तु पैदा करती है, फिर उन्हीं तन्तुओं के सहारे से इच्छित दिशाओं में गमन करती है। नाड़ी तन्तु प्राण द्वारा ही सृजित होते हैं और उन्हीं के माध्यम से प्राणशक्ति को काया तन्त्र में गतिशील किया जाता है।]

ततो रक्तोत्पलाभासं हृदयायतनं महत्।
दहरं पुण्डरीकं तद् वेदान्तेषु निगद्यते ॥ १०॥
तद्भित्त्वा कण्ठमायाति तां नाडीं पूरयन्यतः।
मनसस्तु परं गुह्यं सुतीक्ष्णं बुद्धिनिर्मलम्॥११॥

उस (नाभि) के बाद वेदान्त में जिसे दहर या पुण्डरीक कहा गया है, वह महत् आयतन वाला हृदय क्षेत्र है। वह क्षेत्र रक्त कमल की तरह सदा प्रकाशित रहता है। उस (हृदयक्षेत्र) के बाद नाड़ियों को पूरित करता हुआ (प्राण-प्रवाह) कण्ठ में आता है। उसके बाद मन:क्षेत्र और उससे परे गुह्य, निर्मल और तीक्ष्ण बुद्धि का स्थान है॥ १०-११॥

पादस्योपरि यन्मर्म तद्रूपं नाम चिन्तयेत्। मनोद्वारेण तीक्ष्णेन योगमाश्रित्य नित्यश: ॥ १२॥
इन्द्रवज्र इति प्रोक्तं मर्मजङ्घानुकृन्तनम्। तद्ध्यानबलयोगेन धारणाभिर्निकृन्तयेत्॥१३॥
ऊर्वोर्मध्ये तु संस्थाप्य मर्मप्राणविमोचनम्। चतुरभ्यासयोगेन छिन्देदनभिशङ्कित:॥१४॥

इस प्रकार पैरों के ऊपर जो मर्म स्थान हैं, उनके नाम-रूप का चिन्तन करे। नित्य योगाभ्यास का आश्रय लेकर तीक्ष्ण मन के द्वारा जंघाओं से लगा हुआ जो 'इन्द्रवज्र' नामक क्षेत्र है, उसका छेदन करे। वहाँ उरुओं के बीच मर्म स्थलों का विमोचन करने वाले प्राण को ध्यान बल और धारणा के योग से स्थापित करके योगाभ्यास द्वारा मन की तीक्ष्ण धारणा से, नि:शंक होकर (मूलाधार से हृदय पर्यन्त) चारों मर्म स्थलों का छेदन (भेदन) करे॥ १२-१४॥

तत: कण्ठान्तरे योगी समूहं नाडिसंचयम्। एकोत्तरं नाडिशतं तासां मध्ये परा स्थिरा॥१५॥
सुषुम्ना तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी। इडा तिष्ठति वामेन पिङ्गला दक्षिणेन च॥१६॥

इसके बाद योगी कण्ठ के अन्दर स्थित नाड़ी समूह में प्राणों को संचरित करे। उस नाड़ी समूह में एक सौ एक नाड़ियाँ हैं। उनके मध्य में पराशक्ति स्थित है। सुषुम्ना नाड़ी परम तत्त्व में लीन रहती है और विरजा नाड़ी ब्रह्ममय है। इड़ा का निवास बायीं ओर है और पिङ्गला दाहिनी ओर स्थित है॥ १५-१६॥

तयोर्मध्ये वरं स्थानं यस्तं वेद स वेदवित्। द्वासप्ततिसहस्राणि प्रति नाडीषु तैतिलम्॥ १७॥

इन (इड़ा एवं पिङ्गला) दोनों नाड़ियों के मध्य में जो श्रेष्ठ स्थान है, उसे जो जानता है, वह वेद (अर्थात् शाश्वत ज्ञान) को जानने में समर्थ होता है। सभी सूक्ष्म नाड़ियों की संख्या बहत्तर हजार बतायी गयी है, जिन्हें तैतिल कहा गया है॥ १७॥

छिन्द्यते ध्यानयोगेन सुषुम्नैका न छिद्यते। योगनिर्मलधारेण क्षुरेणानलवर्चसा ॥ १८॥
छिन्देन्नाडीशतं धीर: प्रभावादिह जन्मनि। जातीपुष्पसमायोगैर्यथा वास्यति वै तिलम्॥ १९॥

ध्यान योग के द्वारा समस्त नाड़ियों का छेदन किया जा सकता है; किन्तु एक सुषुम्ना ही ऐसी है, जिसका कि छेदन नहीं किया जाता। धीर पुरुष को इस जन्म में आत्मा के प्रभाव से अग्निवत् तेजोमयी एवं योग रूपी निर्मल धार से युक्त (धारणा रूपी) छुरी से सैकड़ों (सभी) नाड़ियों का छेदन करना चाहिए। इससे नाड़ियाँ उसी तरह से सुवास युक्त हो जाती हैं, जिस तरह जाती (चमेली) के पुष्प से तिल (का तैल) सुवासित हो जाते हैं॥ १८-१९॥

एवं शुभाशुभैर्भावै: सा नाडी तां विभावयेत्। तद्भाविता: प्रपद्यन्ते पुनर्जन्मविवर्जिता:॥२०॥

इस प्रकार योगी को चाहिए कि वह शुभाशुभ भावों से युक्त विभिन्न नाड़ियों को समझे। उनसे परे सुषुम्ना नाड़ी में धारणा स्थिर करने से योगी पुनर्जन्म से रहित होकर शाश्वत परमब्रह्म को प्राप्त कर लेता है॥ २०

तपोविजितचित्तस्तु नि:शब्दं देशमास्थित:। नि:सङ्गस्तत्त्वयोगज्ञो निरपेक्ष: शनै: शनै:॥ २१॥

जिस व्यक्ति ने तप के द्वारा अपने चित्त को जीत लिया है, वह व्यक्ति शब्दरहित, एकान्त, निर्जन स्थान में स्थित होकर नि:सङ्ग तत्त्व के योग का अभ्यास करे तथा शनै:-शनै: निरपेक्ष हो जाए॥ २१॥

पाशं छित्त्वा यथा हंसो निर्विशङ्कः खमुत्क्रमेत्। छिन्नपाशस्तथा जीवः संसारं तरते सदा ॥२२॥

जिस प्रकार बन्धन-जाल को काटकर हंस निःशंक होकर आकाश में गमन कर जाता है, उसी प्रकार योगी मनुष्य इस योग के अभ्यास द्वारा सभी बन्धनों के कट जाने के पश्चात् बन्धन-मुक्त होकर संसार-सागर से सदा के लिए पार हो जाता है॥ २२॥

यथा निर्वाणकाले तु दीपो दग्ध्वा लयं व्रजेत्।
तथा सर्वाणि कर्माणि योगी दग्ध्वा लयं व्रजेत्॥ २३॥

जिस प्रकार निर्वाण काल में (बुझने के समय) दीप ज्योति (दीपक की तेल-बाती) सभी को जलाकर स्वयं परम प्रकाश में लीन हो जाती है, वैसे ही योगी मनुष्य अपने सभी कर्मों को योगाग्नि से भस्म करके अविनाशी परमात्म तत्त्व में लीन हो जाता है॥ २३॥

प्राणायामसुतीक्ष्णेन मात्राधारेण योगवित्।
वैराग्योपलघृष्टेन छित्त्वा तं तु न बध्यते॥ २४॥

वैराग्य रूपी पत्थर पर ॐकार युक्त प्राणायाम से घिसकर तीक्ष्ण की गयी धारणा रूपी छुरी से संसार के (विषयादि) सूत्रों के काटने वाले योगी को सांसारिक बन्धन बाँध नहीं पाते॥ २४॥

अमृतत्वं समाप्नोति यदा कामात्प्रमुच्यते। सर्वैषणाविनिर्मुक्तश्छित्त्वा तन्तुं न बध्यते छित्त्वा तन्तुं न बध्यते। इत्युपनिषत्॥ २५॥

जब वह (योगी मनुष्य) कामनाओं से छूट जाता है तथा एषणाओं से रहित हो जाता है, तभी (वह) अमृतत्व को प्राप्त कर सकता है और पुनः बन्धनों में नहीं बँधता। क्षुरिकोपनिषद् का यही रहस्य है॥ २५॥

ॐ सह नाववतु .....इति शान्तिः॥

॥ इति क्षुरिकोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ जाबालदर्शनोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेदीय है। इसे 'दर्शनोपनिषद्' भी कहा जाता है। इसमें कुल दस खण्ड हैं, जिसमें भगवान् विष्णु के अवतार दत्तात्रेय जी और उनके शिष्य सांकृति का 'अष्टांगयोग' के विषय में विस्तृत प्रश्नोत्तर रूप में वर्णन हुआ है।

प्रथम खण्ड में योग के आठ अंगों तथा दस यमों का उल्लेख हुआ है। द्वितीय खण्ड में दस नियमों का वर्णन है। तृतीय खण्ड में नौ प्रकार के यौगिक आसन बताए गये हैं। चतुर्थ खण्ड में नाड़ियों का परिचय तथा आत्मतीर्थ और आत्मज्ञान की महिमा वर्णित की गई है। पंचम खण्ड में नाड़ी शोधन की प्रक्रिया एवं आत्मशोधन की विधियों का वर्णन है। छठें खण्ड में प्राणायाम की विधि, उसके प्रकार, फल तथा प्रयोग का उल्लेख किया गया है। सातवें में प्रत्याहार के विविध प्रकारों तथा उसके फल का विवरण है। आठवें एवं नवें में धारणा तथा ध्यान का वर्णन है। दोनों के दो-दो प्रकारों का भी उल्लेख किया गया है। अन्तिम दसवें खण्ड में समाधि अवस्था का वर्णन हुआ है। साथ ही उसके फल का भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार इस उपनिषद् को पूर्णतया 'योगपरक' कहा जा सकता है।

ॐ आप्यायन्तु .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-आरुण्युपनिषद्)

॥ प्रथमः खण्डः ॥

दत्तात्रेयो महायोगी भगवान्भूतभावनः। चतुर्भुजो महाविष्णुर्योगसाम्राज्यदीक्षितः ॥ १ ॥
तस्य शिष्यो मुनिकरः सांकृतिर्नाम भक्तिमान्। पप्रच्छ गुरुमेकान्ते प्राञ्जलिर्विनयान्वितः ॥२ ॥
भगवन्ब्रूहि मे योगं साष्टाङ्गं सप्रपञ्चकम्। येन विज्ञातमात्रेण जीवन्मुक्तो भवाम्यहम् ॥३ ॥

समस्त भूत-प्राणियों के पालक चतुर्भुज भगवान् विष्णु, योगिराज भगवान् दत्तात्रेय के रूप में प्रादुर्भूत हुए। भगवान् दत्तात्रेय जी योग-साम्राज्य (के अधिपति रूप) में दीक्षित हैं। उनके शिष्य मुनिश्रेष्ठ साङ्कृति नाम से प्रख्यात हैं। वे गुरु के परम भक्त हुए। उन्होंने एक दिन एकान्त में अपने गुरुदेव से विनयावनत होकर पूछा-'हे भगवन्! अष्टांगयोग का मेरे लिए सविस्तार वर्णन कीजिए ,जिसे जानकर मैं जीवन्मुक्त हो सकूँ'॥

सांकृते शृणु वक्ष्यामि योगं साष्टाङ्गदर्शनम्। यमश्च नियमश्चैव तथैवासनमेव च॥ ४॥
प्राणायामस्तथा ब्रह्मन्प्रत्याहारस्ततः परम्। धारणा च तथा ध्यानं समाधिश्चाष्टमं मुने॥ ५॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्। क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चैव यमा दश॥ ६॥

महायोगी दत्तात्रेय जी ने अपने शिष्य से कहा- 'हे साङ्कृते! मैं अष्टांग योग दर्शन का वर्णन करता हूँ। तुम उसका श्रवण करो। हे ब्रह्मन्! यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि ही योग के आठ अंग हैं। इनमें यम के दस भेद बताये गये हैं। वे इस प्रकार हैं-१. अहिंसा, २. सत्य, ३. अस्तेय, ४.ब्रह्मचर्य, ५. दया, ६. क्षमा, ७. सरलता, ८. धृति, ९. मिताहार एवं १०. बाह्याभ्यन्तर की पवित्रता॥ ४-६॥

वेदोक्तेन प्रकारेण विना सत्यं तपोधन। कायेन मनसा वाचा हिंसा हिंसा न चान्यथा॥ ७॥
आत्मा सर्वगतोऽच्छेद्यो न ग्राह्य इति या मतिः। सा चाहिंसा वरा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः॥

हे तपोधन! वेद में वर्णित विधि के अतिरिक्त मन, वाणी एवं शरीर के द्वारा यदि किसी को किसी भी तरह से पीड़ित किया जाता है अथवा उससे प्राणों को शरीर से अलग कर दिया जाता है, तो वही वास्तविक हिंसा कही गयी है। इससे भिन्न और कोई हिंसा नहीं है। हे मुने! यह भाव रखना चाहिए कि आत्म तत्त्व सर्वत्र

व्याप्त है,शस्त्र आदि के द्वारा वह नष्ट नहीं हो सकता। हाथों या अन्य इन्द्रियों के द्वारा भी आत्मा का ग्रहण होना असम्भव ही है। अत: इस तरह से जो श्रेष्ठ बुद्धि है, उसे ही वेदान्त के मर्मज्ञ विद्वानों ने श्रेष्ठ अहिंसा कहा है॥

चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं घ्रातं मुनीश्वर। तस्यैवोक्तिर्भवेत्सत्यं विप्र तन्नान्यथा भवेत्॥ ९॥
सर्वं सत्यं परं ब्रह्म न चान्यदिति या मति:। तच्च सत्यं वरं प्रोक्तं वेदान्तज्ञानपारगै:॥ १०॥
अन्यदीये तृणे रत्ने काञ्चने मौक्तिकेऽपि च। मनसा विनिवृत्तिर्या तदस्तेयं विदुर्बुधा:॥११॥
आत्मन्यनात्मभावेन व्यवहारविवर्जितम्। यत्तदस्तेयमित्युक्तमात्मविद्भिर्महामुने ॥१२॥

हे साङ्कृते! चक्षु आदि इन्द्रियों के माध्यम से जो जिस रूप में देखा, सुना, सूँघा और समझा हुआ विषय है, उसको उसी रूप में वाक्-इन्द्रिय के द्वारा या फिर संकेत आदि के द्वारा कहना ही 'सत्य' है। इसके अतिरिक्त सत्य का और कोई भी स्वरूप नहीं है। सभी कुछ सत्य रूप परब्रह्म परमात्मा ही है, परमात्मा के अतिरिक्त अन्य और कोई दूसरी वस्तु नहीं है। इस तरह का जो दृढ़ निश्चय है, उसी को वेदान्त ज्ञान के विशेषज्ञों ने सर्वश्रेष्ठ सत्य बताया है। दूसरे (व्यक्ति) के रत्न-आभूषण, सुवर्ण अथवा मणिमुक्तक आदि से लेकर तृण आदि के लिए मन में भी कभी प्राप्त करने की इच्छा न करना, दूसरों की बड़ी अथवा छोटी वस्तु के लिए मन में कभी लोभ-लालच न लाना ही अस्तेय है। विद्वज्जनों ने इसी को ही 'अस्तेय' अर्थात्- चोरी न करना कहा है। हे मुने! इस संसार के समस्त व्यवहारों में अनात्म बुद्धि रखकर आत्मा से दूर रखने का जो भाव है, उसी को आत्मज्ञानी जनों ने अस्तेय कहा है॥ ९-१२॥

कायेन वाचा मनसा स्त्रीणां परिविवर्जनम्। ऋतौ भार्यां तदा स्वस्य ब्रह्मचर्यं तदुच्यते॥१३॥
ब्रह्मभावे मनश्चारं ब्रह्मचर्यं परन्तप॥ १४॥ स्वात्मवत्सर्वभूतेषु कायेन मनसा गिरा।
अनुज्ञा या दया सैव प्रोक्ता वेदान्तवेदिभि:॥ १५॥

मन, वचन एवं शरीर के द्वारा स्त्रियों के सहवास का त्याग और ऋतुकाल में मात्र अपनी ही पत्नी से सम्बन्ध रखना 'ब्रह्मचर्य' कहा गया है या फिर काम-क्रोधादि रिपुओं को कष्ट पहुँचाने वाले मन को परब्रह्म अविनाशी परमात्म तत्त्व के ध्यान में लगाये रखना सबसे श्रेष्ठ 'ब्रह्मचर्य' है। समस्त भूतप्राणियों को अपनी ही भाँति जानकर उनके प्रति मन, वचन एवं शरीर द्वारा आत्मीयता का अनुभव करना (अर्थात् अपनी ही तरह उनके दु:खों को दूर करने तथा अधिक से अधिक सुख पहुँचाने का प्रयास करना) ही वेदवेत्ता विद्वज्जनों के द्वारा 'दया' बताई गयी है॥ १३-१५॥

पुत्रे मित्रे कलत्रे च रिपौ स्वात्मनि संततम्। एकरूपं मुने यत्तदार्जवं प्रोच्यते मया॥ १६॥

पुत्र, मित्र, स्त्री, रिपु एवं स्व-आत्मा में भी सदैव मन का समान भाव रखना ही आर्जव (सरलता) है॥

कायेन मनसा वाचा शत्रुभि: परिपीडिते। बुद्धिक्षोभनिवृत्तिर्या क्षमा सा मुनिपुङ्गव॥ १७॥

हे श्रेष्ठ मुने! रिपुओं के द्वारा मन, वचन एवं शरीर से कष्ट दिये जाने पर भी बुद्धि में थोड़ा भी क्षोभ न आने देना ही 'क्षमा' कहलाता है॥ १७॥

वेदादेव विनिर्मोक्ष: संसारस्य न चान्यथा। इति विज्ञाननिष्पत्तिर्धृति: प्रोक्ता हि वैदिकै:।
अहमात्मा न चान्योऽस्मीत्येवमप्रच्युता मति:॥ १८॥

वेद-ज्ञान से ही सम्पूर्ण जगत् मोक्ष को प्राप्त होता है और अन्य किन्हीं भी कारणों से नहीं।.ऐसा जो दृढ़ संकल्प है, उसी को ही वेदज्ञों ने धृति की उपाधि प्रदान की है या फिर 'मैं आत्मा हूँ,' आत्मा से पृथक् दूसरा और कुछ भी नहीं हूँ। इस प्रकार से कभी भी विचलित न होने वाली बुद्धि ही श्रेष्ठ-उत्तम 'धृति' है॥१८॥

अल्पमृष्टाशनाभ्यां च चतुर्थांशावशेषकम्। तस्माद्योगानुगुण्येन भोजनं मितभोजनम्॥ १९॥

अल्प मात्रा में शुद्ध-सात्त्विक भोजन ग्रहण करना,पेट के दो भाग भोजन से,तृतीय भाग को जल से तथा चौथे भाग को वायु केलिए खाली छोड़ना ही योगमार्ग के अनुकूल भोजन है,वही मिताहार कहलाता है॥ १९॥

स्वदेहमलनिर्मोक्षो मृज्जलाभ्यां महामुने। यत्तच्छौचं भवेद्बाह्यं मानसं मननं विदुः। अहं शुद्ध इति ज्ञानं शौचमाहुर्मनीषिणः॥ २०॥

हे महामुने! अपने शरीर के मल को मिट्टी एवं जल से परिमार्जित किया जाता है, इस कृत्य को 'बाह्य शौच' कहते हैं और मन के माध्यम से श्रेष्ठ, पवित्र भावों का जो चिन्तन-मनन किया जाता है, उसे 'मानसिक शौच' कहा गया है। इसके अतिरिक्त विद्वज्जन 'मैं विशुद्ध आत्मा हूँ,' इस श्रेष्ठ ज्ञान को ही शौच कहते हैं॥ २०

अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः। उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते॥ २१॥

यह शरीर अन्तः एवं बाह्य दोनों ओर से ही अत्यन्त मलिन है और शरीर को धारण करने वाला आत्मा अत्यन्त पवित्र, मलरहित है। इस प्रकार देह एवं आत्मा के अन्तर का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर फिर किसको पवित्रतम बनाया जाये॥ २१॥

ज्ञानशौचं परित्यज्य बाह्ये यो रमते नरः। स मूढः काञ्चनं त्यक्त्वा लोष्टं गृह्णाति सुव्रत॥ २२॥

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः। न चास्ति किंचित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥२३॥

हे श्रेष्ठव्रती मुने! ज्ञानरूप पवित्रता को भुलाकर जो साधक केवल बाहरी पवित्रता में ही रमा रहता है, वह सुवर्ण का त्याग करके मिट्टी के ढेलों का संग्रह करने वाले मूर्ख की ही भाँति है। जो योगी ज्ञानरूप अमृत से तृप्त एवं कृतार्थ हो जाता है, उसके लिए इस जगत् में कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं रहता है और यदि रह जाता है, तो वह तत्त्ववेत्ता नहीं है॥ २२-२३॥

लोकत्रयेऽपि कर्तव्यं किंचिन्नास्त्यात्मवेदिनाम्॥ २४॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मुनेऽहिंसादि साधनैः। आत्मानमक्षरं ब्रह्म विद्धि ज्ञानात्तु वेदनात्॥ २५॥

आत्मज्ञानी महान् आत्माओं के लिए तीनों लोकों में भी कहीं कोई कर्त्तव्य नहीं है। अतः हे मुनीश्वर! तुम सभी तरह से प्रयत्न करके अहिंसा आदि साधनों के माध्यम से अनुभवयुक्त ज्ञान को प्राप्त करके आत्मा को अविनाशी ब्रह्म के रूप में जानो॥ २४-२५॥

॥ द्वितीयः खण्डः॥

तपः संतोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्। सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्॥ १॥

एते च नियमाः प्रोक्तास्तान्वक्ष्यामि क्रमाच्छृणु॥ २॥

तप, संतोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर की पूजा, लज्जा, जप, मति, व्रत एवं सिद्धान्त श्रवण करना-ये दस नियम बताये गये हैं। नीचे क्रमानुसार इनका उल्लेख करता हूँ॥ १-२॥

वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः। शरीरशोषणं यत्तत्तपं इत्युच्यते बुधैः॥३॥

वेद में वर्णित कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रतों के द्वारा शरीर क्षीण करने को ही विद्वज्जन तप कहते हैं॥ ३॥

को वा मोक्षः कथं तेन संसारं प्रतिपन्नवान्। इत्यालोकनमर्थज्ञास्तपः शंसन्ति पण्डिताः॥४॥

मोक्ष क्या है और आत्मा कैसे तथा किस कारण से संसार-बन्धन को प्राप्त हुआ है, इन सभी बातों के विचार को ही तत्त्वज्ञानी जन 'तप' कहते हैं॥ ४॥

यदृच्छालाभतो नित्यं प्रीतिर्या जायते नृणाम्। तत्संतोषं विदुः प्राज्ञाः परिज्ञानैकतत्पराः॥५॥
ब्रह्मादिलोकपर्यन्ताद्विरक्त्या यल्लभेत्प्रियम्। सर्वत्र विगतस्नेहः संतोषं परमं विदुः। श्रौते स्मार्ते च विश्वासो यत्तदास्तिक्यमुच्यते॥ ६॥

दैव-इच्छा से जो भी कुछ प्राप्त हो जाए, उतने मात्र से ही हृदय में जो प्रसन्नता सदैव बनी रहती है, ज्ञानी जन उसी को 'संतोष' मानते हैं अथवा सर्वत्र अनासक्त रहकर ब्रह्मा आदि देवताओं के लोक तक के सुखों से विरक्त होने के कारण मन में जो प्रसन्नता बनी रहती है, महान् पुरुष उसी को श्रेष्ठ संतोष मानते हैं। वेदों एवं स्मृति-ग्रन्थों में कहे हुए धर्म में दृढ़ आत्मविश्वास होने को ही 'आस्तिकता' कहते हैं॥ ५-६॥

न्यायार्जितधनं श्रान्ते श्रद्धया वैदिके जने। अन्यद्वा यत्प्रदीयन्ते तद्दानं प्रोच्यते मया॥ ७॥

न्यायोपार्जित जो धन संकटग्रस्त, क्लेश आदि से पीड़ित वेदज्ञ पुरुषों अथवा श्रेष्ठ आचरण वालों को श्रद्धापूर्वक दिया जाता है, उसी धन को मैं 'दान' की श्रेणी में मानता हूँ॥ ७॥

रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टानृतादिना। हिंसादिरहितं कर्म यत्तदीश्वरपूजनम् ॥ ८॥

राग आदि विकारों से मुक्त हृदय, असत्य भाषण आदि दोषों से परे वाणी एवं हिंसा आदि दोषों से मुक्त (श्रेष्ठ भगवत्-प्रीत्यर्थ) कर्म ही 'ईश्वर-पूजन' है॥ ८॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं च परानन्दं परं ध्रुवम्। प्रत्यगित्यवगन्तव्यं वेदान्तश्रवणं बुधाः ॥ ९॥

यह सत्य, ज्ञानस्वरूप, अनन्त, सर्वोत्कृष्ट एवं नित्य है। अविचल एवं परमानन्द स्वरूप यही अन्तर्यामी आत्मा है। इस सिद्धान्त को बारम्बार श्रवण कर उसके अनुकूल विश्वास करना ही 'सिद्धान्त-श्रवण' है॥ ९॥

वेदलौकिकमार्गेषु कुत्सितं कर्म यद्भवेत्। तस्मिन्भवति या लज्जा ह्रीः सैवेति प्रकीर्तिता। वैदिकेषु च सर्वेषु श्रद्धा या सा मतिर्भवेत्॥ १०॥

वैदिक एवं लौकिक मार्गों में जो निन्दित कार्य कहे गये हैं, उनको करने में जो स्वभावतः संकोच होता है, उसे ही लज्जा के रूप में जाना जाता है। वेदोक्त उपदेशों में पूर्णतः श्रद्धा रखना ही मति है॥ १०॥

गुरुणा चोपदिष्टोऽपि तत्र संबन्धवर्जितः। वेदोक्तेनैव मार्गेण मन्त्राभ्यासो जपः स्मृतः॥११॥

गुरुजनों के द्वारा अनुमति मिल जाने पर भी वेद के विरुद्ध मार्ग का अवलम्बन न प्राप्त कर वेदोक्त विधि से मन्त्रों का बारम्बार उच्चारण करना ही 'जप' कहा गया है॥ ११॥

कल्पसूत्रे तथा वेदे धर्मशास्त्रे पुराणके। इतिहासे च वृत्तिर्या स जपः प्रोच्यते मया॥ १२॥
जपस्तु द्विविधः प्रोक्तो वाचिको मानसस्तथा॥१३॥

वेद, कल्पसूत्र, धर्मशास्त्र, पुराण एवं इतिहास आदि में मन की वृत्तियों को लगाये रखना, मेरे विचार से 'जप' है। जप के दो प्रकार कहे गये हैं, प्रथम वाचिक जप एवं द्वितीय मानसिक जप ॥ १२-१३

वाचिकोपांशुरुच्चैश्च द्विविधः परिकीर्तितः। मानसो मननध्यानभेदाद्द्वैविध्यमाश्रितः॥ १४॥

वाचिक जप के दो प्रकार माने गये हैं, प्रथम 'उच्चस्वरयुक्त' और द्वितीय 'उपांशु' (फुसफुसाहट युक्त)। इसी तरह से मानसिक जप भी 'मनन' एवं 'ध्यान' के भेद से दो प्रकार का है॥ १४॥

उच्चैर्जपादुपांशुश्च सहस्रगुणमुच्यते । मानसश्च तथोपांशोः सहस्रगुणमुच्यते ॥ १५॥
उच्चैर्जपश्च सर्वेषां यथोक्तफलदो भवेत्। नीचैः श्रोत्रेण चेन्मन्त्रः श्रुतश्चेन्निष्फलं भवेत्॥१६॥

'उच्च' अर्थात् ऊँचे स्वर से किये जाने वाले जप की अपेक्षा 'उपांशु' अर्थात् फुसफुसाकर किया गया जप सहस्त्रगुना श्रेष्ठ कहा गया है। इसी तरह उपांशु की अपेक्षा मानसिक जप सहस्त्रगुना अधिक उत्तम कहा गया है। उच्च स्वर से सम्पन्न किया गया जप सभी लोगों को भली-भाँति फल प्रदान करने वाला होता है,किन्तु यदि उस मन्त्र को निम्न स्तर के व्यक्तियों ने श्रवण कर लिया, तो वह व्यर्थ हो जाता है॥ १५-१६॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

स्वस्तिकं गोमुखं पद्मं वीरसिंहासने तथा। भद्रं मुक्तासनं चैव मयूरासनमेव च॥१॥
सुखासनसमाख्यं च नवमं मुनिपुङ्गव। जानूर्वोरन्तरे कृत्वा सम्यक् पादतले उभे॥२॥
समग्रीवशिरःकायः स्वस्तिकं नित्यमभ्यसेत्। सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत्॥३॥
दक्षिणेऽपि तथा सयं गोमुखं तत्प्रचक्षते। अङ्गुष्ठावधि गृह्णीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु॥४॥
ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र कृत्वा पादतलद्वयम्। पद्मासनं भवेत्प्राज्ञ सर्वरोगभयापहम् ॥५॥

हे मुनिश्रेष्ठ! आसन नौ प्रकार के कहे गये हैं-स्वस्तिक आसन, गोमुख आसन, पद्मासन, वीरासन, सिंहासन, मुक्तासन, भद्रासन, मयूरासन तथा सुखासन। घुटनों एवं जाँघों के मध्य में अपने दोनों पैरों को भली-भाँति रखकर ग्रीवा, मस्तिष्क एवं शरीर को समान भाव से बनाये रखना ही स्वस्तिक आसन कहा जाता है; इस आसन का प्रतिदिन अभ्यास करने का प्रयास करना चाहिए। दाहिने पैर के टखने को बायीं ओर के पीछे भाग तक तथा बायें पैर के टखने को दाहिनी ओर के पीछे भाग तक ले जाये, इसी को गोमुखासन कहते हैं। हे विप्र! दोनों पैरों को दोनों जाँघों पर रखकर उनके अँगूठों को दोनों हाथों से पीठ के पृष्ठ भाग से पकड़ ले। इसी को पद्मासन कहा जाता है। यह आसन सभी तरह के रोगों का भय हटाने वाला है॥ १-५॥

दक्षिणेतरपादं तु दक्षिणोरुणि विन्यसेत्। ऋजुकायः समासीनो वीरासनमुदाहृतम्॥ ६॥

बायें पैर को दाहिनी जाँघ के ऊपर रखे तथा शरीर को सीधा करके बैठे, यही वीरासन है॥ ६॥

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्। दक्षिणं सव्यगुल्फेन दक्षिणेन तथेतरत्॥
हस्तौ जानौ समास्थाप्य स्वाङ्गुलींश्च प्रसार्य च। व्यक्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः॥
सिंहासनं भवेदेतत् पूजितं योगिभिःसदा॥ ६.१-३॥

दोनों टखनों को अण्डकोष के नीचे सीवनी के दोनों पार्श्वों में ले जाकर उन्हें इस तरह से रखे कि बायें टखने से सीवनी का दक्षिण पार्श्व और दक्षिण टखने से सीवनी का बायाँ पार्श्व सटा रहे। तदनन्तर दोनों हाथों को घुटनों पर रखकर अँगुलियों को फैला दे। मुँह खोलकर एकाग्रचित्त हो घ्राणेन्द्रिय के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर रखे यही सिंहासन है॥ ६-१ से ३॥

गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्। पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम्। भद्रासनं भवेदेतद्विषरोगविनाशनम्॥ ७॥

दोनों टखनों को अण्डकोष के नीचे सीवनी के दोनों पार्श्वभागों में लगाकर रखे तथा दोनों हाथों से पार्श्वभाग एवं पैरों को दृढ़तापूर्वक बाँध करके एकाग्रतापूर्वक बैठे, इस स्थिति को भद्रासन कहते हैं। यह समस्त विषयुक्त रोगों का शमन करने वाला है॥ ७॥

निपीड्य सीवनीं सूक्ष्मं दक्षिणेतरगुल्फतः। वामं याम्येन गुल्फेन मुक्तासनमिदं भवेत्॥ ८॥

सीवनी की सूक्ष्म रेखा को बायें टखने से दबाकर, दायें टखने से बायें को दबाने पर मुक्तासन होता है॥

मेढ्रादुपरि निक्षिप्य सव्यं गुल्फं तथोपरि। गुल्फान्तरं च संक्षिप्य मुक्तासनमिदं मुने॥ ९॥

हे मुने! मेढ्र (जननेन्द्रिय) के ऊपर बायें टखने को रखे तथा उसके ऊपर दायाँ टखना रखे, यह स्थिति भी मुक्तासन कहलाती है॥ ९॥

कूर्परागे मुनिश्रेष्ठ निक्षिपेन्नाभिपार्श्वयोः। भूम्यां पाणितलद्वन्द्वं निक्षिप्यैकाग्रमानसः॥ १०॥
समुन्नतशिरःपादो दण्डवद्व्योम्नि संस्थितः। मयूरासनमेतत्स्यात्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ११॥.

हे मुनि श्रेष्ठ! अपनी दोनों हथेलियों को भूमि पर रखकर कुहनियों के अग्रभाग को नाभि के दोनों पार्श्वों में लगाये। तत्पश्चात् सिर एवं पैरों को ऊँचा करके आकाश में दण्ड के सदृश स्थित हो जाये। यह मयूर आसन है, जो सभी तरह के पापों को विनष्ट करने वाला है॥ १०-११॥

येन केन प्रकारेण सुखं धैर्यं च जायते। तत्सुखासनमित्युक्तमशक्तस्तत्समाश्रयेत् ॥ १२॥

जिस किसी भी तरह से बैठने में सुख एवं धैर्य बना रहे, वह आसन ही सुखासन है। अशक्त साधकों को इसी सुखासन का ही आश्रय लेना चाहिए॥ १२॥

आसनं विजितं येन जितं तेन जगत्त्रयम्। अनेन विधिना युक्तः प्राणायामं सदा कुरु॥१३॥

जिसने इन आसनों को जीत लिया, उसने सम्पूर्ण त्रिलोकी को अपने वश में कर लिया। अतः हे साङ्कृते! इसी विधि से (योग) युक्त होकर तुम सदा ही प्राणायाम किया करो॥ १३॥

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

इस खण्ड में नाड़ी-परिचय, आत्मतीर्थ तथा आत्मज्ञान की महिमा का वर्णन है-

शरीरं तावदेव स्यात्षण्णवत्यङ्गुलात्मकम्। देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम्॥ १॥
त्रिकोणं मनुजानां तु सत्यमुक्तं हि सांकृते। गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः॥ २॥
देहमध्यं मुनिप्रोक्तमनुजानीहि सांकृते। कन्दस्थानं मुनिश्रेष्ठ मूलाधारान्नवाङ्गुलम् ॥ ३॥

हे साङ्कृते! यह मानव शरीर अपने हाथ की माप से ९६ अंगुल का होता है। इस शरीर के मध्य भाग में अग्नि का स्थान निहित है। उसका वर्ण तपाये हुए स्वर्ण के सदृश कहा गया है। उसकी त्रिकोण आकृति है। यह हमने यथार्थ बात ही तुमसे बतायी है। गुदा भाग से दो अंगुल ऊर्ध्व की ओर तथा लिङ्ग से दो अंगुल नीचे की ओर जो स्थान है, उसे ही मनुष्य-देह का मध्य भाग समझना चाहिए। वही मूलाधार है, पर हे मुनिश्रेष्ठ! इस स्थान से नौ अंगुल ऊर्ध्व में कन्द स्थान है॥ १-३॥

चतुरङ्गुलमायामविस्तारं मुनिपुङ्गव। कुक्कुटाण्डसमाकारं भूषितं तु त्वगादिभिः ॥ ४॥

उस कन्द की लम्बाई-चौड़ाई चार-चार अंगुल की है तथा उसकी आकृति मुर्गी के अण्डे की भाँति है। वह ऊपर से चमड़े आदि के द्वारा सुसज्जित है॥ ४॥

तन्मध्ये नाभिरित्युक्तं योगज्ञैर्मुनिपुङ्गव। कन्दमध्यस्थिता नाडी सुषुम्नेति प्रकीर्तिता॥ ५॥

हे मुनि पुङ्गव! उस कन्द स्थान के मध्य भाग में नाभि केन्द्र है, ऐसा योग विज्ञानियों ने कहा है। कन्द के बीच में जो नाड़ी स्थित है, उसका सुषुम्ना के नाम से उल्लेख किया गया है॥ ५॥

तिष्ठन्ति परितस्तस्या नाडयो हि मुनिपुङ्गव। द्विसप्ततिसहस्राणि तासां मुख्याश्चतुर्दश॥ ६॥

सुषुम्ना पिङ्गला तद्वदिडा चैव सरस्वती। पूषा च वरुणा चैव हस्तिजिह्वा यशस्विनी॥ ७॥
अलम्बुसा कुहूश्चैव विश्वोदरी पयस्विनी। शङ्खिनी चैव गान्धारा इति मुख्याश्चतुर्दश॥ ८॥

उस कन्द के चारों तरफ ७२ हजार नाड़ियों का समूह स्थित है। उनमें सुषुम्ना, पिङ्गला, इड़ा, सरस्वती, वरुणा, पूषा, यशस्विनी, हस्तिजिह्वा, अलम्बुसा, कुहू, विश्वोदरा, पयस्विनी, शंखिनी और गान्धारी— ये चौदह नाड़ियाँ प्रमुख मानी गयी हैं॥ ६-८॥

आसां मुख्यतमास्तिस्त्रस्तिसृष्वेकोत्तमोत्तमा। ब्रह्मनाडीति सा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः॥९॥

इन चौदह नाड़ियों में भी प्रथम तीन ही सबसे प्रमुख हैं। इन तीनों में भी एक ही नाड़ी सुषुम्ना सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। शास्त्रज्ञों ने इसे 'ब्रह्मनाड़ी' के नाम से सम्बोधित किया है॥ ९॥

पृष्ठमध्यस्थितेनास्थ्ना वीणादण्डेन सुव्रत। सह मस्तकपर्यन्तं सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता॥ १०॥

पीठ के मध्य में जो वीणा दण्ड (मेरुदण्ड) नाम से प्रसिद्ध है, वही हड्डियों का समुच्चय है। इससे होकर सुषुम्ना नाड़ी मस्तिष्क तक पहुँचती है॥ १०॥

नाभिकन्दादधः स्थानं कुण्डल्या द्व्यङ्गुलं मुने। अष्टप्रकृतिरूपा सा कुण्डली मुनिसत्तम॥११॥
यथावद्वायुचेष्टां च जलान्नादीनि नित्यशः। परितः कन्दपार्श्वेषु निरुध्यैव सदा स्थिता॥१२॥

हे मुनीश्वर! नाभि-कन्द से दो अंगुल नीचे कुण्डलिनी स्थित है। इसको अष्टप्रकृति रूपा (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकारयुक्त) कहा गया है। वह वायु—चेष्टा, जल और अन्न आदि का अवरोध करके सदैव नाभिकन्द के पार्श्वों को चारों ओर से आच्छादित करके विद्यमान रहती है॥ ११-१२॥

स्वमुखेन समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रमुखं मुने। सुषुम्नाया इडा सव्ये दक्षिणे पिङ्गला स्थिता॥ १३॥
सरस्वती कुहूश्चैव सुषुम्नापार्श्वयोः स्थिते। गान्धारा हस्तिजिह्वा च इडायाः पृष्ठपूर्वयोः॥ १४॥
पूषा यशस्विनी चैव पिङ्गला पृष्ठपूर्वयोः। कुहोश्च हस्तिजिह्वाया मध्ये विश्वोदरी स्थिता॥१५॥
यशस्विन्याः कुहोर्मध्ये वरुणा सुप्रतिष्ठिता। पूषायाश्च सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता यशस्विनी॥१६॥

हे मुने ! यह अपने मुख से ब्रह्मरन्ध्र के मुख को ढक कर रखती है। सुषुम्ना के बायें भाग में इड़ा और दाहिने भाग में पिङ्गला स्थित है। सरस्वती और कुहू सुषुम्ना के दोनों पार्श्वों में स्थित हैं। इड़ा के पृष्ठ भाग में गान्धारी तथा पूर्व भाग में हस्तिजिह्वा प्रतिष्ठित है। पिङ्गला के पृष्ठ भाग में पूषा और पूर्व भाग में यशस्विनी स्थित है। कुहू और हस्तिजिह्वा के मध्य विश्वोदरी नाड़ी विद्यमान है। यशस्विनी और कुहू के मध्य भाग में वरुणा नाड़ी स्थित है। पयस्विनी नाड़ी की स्थिति पूषा और सरस्वती के बीच में कही गई है॥ १३-१६॥

गान्धारायाःसरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता च शङ्खिनी। अलम्बुसा स्थिता पायुपर्यन्तं कन्दमध्यगा॥१७
पूर्वभागे सुषुम्नाया राकायाः संस्थिता कुहूः। अधश्चोर्ध्वं स्थिता नाडी याम्यनासान्तमिष्यते॥
इडा तु सव्यनासान्तं संस्थिता मुनिपुङ्गव। यशस्विनी च वामस्य पादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते॥ १९॥
पूषा वामाक्षिपर्यन्ता पिङ्गलायास्तु पृष्ठतः। पयस्विनी च याम्यस्य कर्णान्तं प्रोच्यते बुधैः॥२०॥

शङ्खिनी का स्थान गान्धारी और सरस्वती के बीच में है। अलम्बुसा नाभिकन्द के मध्य भाग से होती हुई गुदा तक व्याप्त है। सुषुम्ना का द्वितीय नाम राका है, उसके पूर्वी क्षेत्र में कुहू नाम की नाड़ी है। यह नाड़ी ऊर्ध्व एवं अधः दोनों ओर प्रतिष्ठित है। इसकी स्थिति दाहिनी नासिका तक कही गयी है। इड़ा नामक नाड़ी बायीं नासिका तक स्थित है। यशस्विनी नाड़ी बायें पैर के अँगूठे तक व्याप्त है। पूषा पिङ्गला के पृष्ठ भाग से होती हुई बायें नेत्र तक पहुँचती है और पयस्विनी विद्वज्जनों द्वारा दाहिने कान तक फैली हुई बताई गयी है॥

सरस्वती तथा चोर्ध्वगता जिह्वा तथा मुने। हस्तिजिह्वा तथा सव्यपादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते॥ २१॥
शङ्खिनी नाम या नाडी सव्यकर्णान्तमिष्यते। गान्धारा सव्यनेत्रान्ता प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः॥

सरस्वती नाड़ी ऊपर की ओर जिह्वा तक व्याप्त है। हस्तिजिह्वा नाड़ी बायें पैर के अँगूठे तक फैली है। शङ्खिनी नाम की नाड़ी बायें कान तक स्थित है। वेदज्ञों के द्वारा गान्धारी नाड़ी की स्थिति बायें नेत्र तक व्याप्त बतायी गई है॥ २१-२२॥

विश्वोदराभिधा नाडी कन्दमध्ये व्यवस्थिता। प्राणोऽपानस्तथा व्यानः समानोदान एव च॥२३॥
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः। एते नाडीषु सर्वासु चरन्ति दश वायवः॥ २४॥
तेषु प्राणादयः पञ्च मुख्याः पञ्चसु सुव्रत। प्राणसंज्ञस्तथापानः पूज्यः प्राणस्तयोर्मुने॥ २५॥

विश्वोदरा की स्थिति नाभिकन्द के बीच में कही गयी है। प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकर (कृकल), देवदत्त और धनञ्जय-ये दस प्राण वायु बताये गये हैं। ये प्राण समस्त नस-नाड़ियों में संचरित होते हैं। इन दसों में प्राण आदि पाँच वायु ही प्रमुख हैं। हे मुने! इन पाँचों में भी प्राण और अपान को ही सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है॥ २३-२५॥

आस्यनासिकयोर्मध्ये नाभिमध्ये तथा हृदि। प्राणसंज्ञोऽनिलो नित्यं वर्तते मुनिसत्तम॥ २६॥
अपानो वर्तते नित्यं गुदमध्योरुजानुषु। उदरे सकले कट्यां नाभौ जङ्घे च सुव्रत॥ २७॥
व्यानः श्रोताक्षिमध्ये च ककुद्धयां गुल्फयोरपि। प्राणस्थाने गले चैव वर्तते मुनिपुङ्गव॥२८॥
उदानसंज्ञो विज्ञेयः पादयोर्हस्तयोरपि। समानः सर्वदेहेषु व्याप्य तिष्ठत्यसंशयः॥ २९॥

इनमें से प्राण नामक वायु नासिका एवं मुख के बीच में, नाभि के मध्यभाग में और हृदय में हमेशा निवास करता है। अपान वायु गुदा, लिङ्ग, जाँघों, घुटनों, समस्त उदर, कटि, नाभि तथा पिण्डलियों में भी सदा स्थित रहता है। व्यान वायु दोनों कानों, दोनों चक्षुओं, दोनों कन्धों, दोनों टखनों, प्राण के स्थानों और कंठ में भी व्याप्त रहता है। उदान वायु की स्थिति दोनों हाथों एवं पैरों में समझनी चाहिए। समान वायु निःसन्देह समस्त शरीर में फैल कर रहता है॥ २६-२९॥

नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिषु संस्थिताः। निःश्वासोच्छ्वासकासाश्च प्राणकर्म हि सांकृते॥
अपानाख्यस्य वायोस्तु विण्मूत्रादिविसर्जनम्। समानः सर्वसामीप्यं करोति मुनिपुङ्गव॥ ३१॥

नाग आदि पाँचों वायु त्वचा एवं अस्थि में निवास करते हैं। हे साङ्कृते! उच्छ्वास अर्थात् श्वास को अन्दर की ओर खींचना, निःश्वास अर्थात् श्वास को बाहर निकालना तथा खाँसना, ये तीनों कार्य प्राण वायु के द्वारा सम्पन्न होते हैं। मल-मूत्रादि कार्य का परित्याग अपान वायु के द्वारा होता है। हे मुनि पुङ्गव! समान वायु सम्पूर्ण शरीर को सम अवस्था में बनाये रखता है॥ ३०-३१॥

उदान ऊर्ध्वगमनं करोत्येव न संशयः। व्यानो विवादकृत्प्रोक्तो मुने वेदान्तवेदिभिः॥ ३२॥
उद्गारादिगुणः प्रोक्तो नागाख्यस्य महामुने। धनंजयस्य शोभादि कर्म प्रोक्तं हि सांकृते॥ ३३॥
निमीलनादि कूर्मस्य क्षुधा तु कृकरस्य च। देवदत्तस्य विप्रेन्द्र तन्द्रीकर्म प्रकीर्तितम्॥ ३४॥

उदान वायु ही ऊर्ध्व की ओर प्रस्थान करता है। वेदान्त तत्व के विशेषज्ञ विद्वज्जनों का मानना है कि व्यान वायु ही ध्वनि का व्यञ्जक है। हे श्रेष्ठ मुने! डकार, वमन आदि का कार्य नाग वायु के द्वारा पूर्ण होता है। इस सम्पूर्ण देह में सौन्दर्य आदि का सम्पादन धनञ्जय वायु का कार्य कहा गया है। आँखों का खोलना एवं

मूँदना आदि कूर्म नामक वायु की प्रेरणा से सम्पन्न होता है। कृकर (कृकल) नामक वायु के द्वारा भूख-प्यास की इच्छा होती है तथा तन्द्रा-आलस्य देवदत्त वायु का कार्य कहा गया है॥ ३२-३४॥

सुषुम्नायाः शिवो देव इडाया देवता हरिः। पिङ्गलाया विरञ्चिः स्यात्सरस्वत्या विराण्मुने॥
पूषाधिदेवता प्रोक्तो वरुणा वायुदेवता। हस्तिजिह्वाभिधायास्तु वरुणो देवता भवेत्॥३६॥

हे मुनीश्वर! सुषुम्ना नाड़ी के अधिष्ठाता देव शिव और इड़ा के देवता विष्णु तथा पिङ्गला नाड़ी के देवता भगवान् ब्रह्माजी हैं। सरस्वती नाड़ी के देवता विराट् हैं। पूषा नाड़ी के देवता पूषा नाम से युक्त आदित्य हैं। वरुणा के वायु देवता हैं। हस्तिजिह्वा नाड़ी के देवता वरुण हैं॥ ३५-३६॥

यशस्विन्या मुनिश्रेष्ठ भगवान्भास्करस्तथा। अलम्बुसाया अम्ब्वात्मा वरुणः परिकीर्तितः॥
कुहोः क्षुद्देवता प्रोक्ता गान्धारी चन्द्रदेवता। शङ्खिन्याश्चन्द्रमास्तद्वत्पयस्विन्याः प्रजापतिः॥३८॥

हे श्रेष्ठ मुने! भगवान् भास्कर यशस्विनी नाड़ी के देवता हैं। अलम्बुसा नाड़ी के देवतां भी जलस्वरूप वरुण कहे गये हैं। कुहू नाड़ी की अधिष्ठात्री क्षुधा देवी हैं। गान्धारी के देवता चन्द्रमा हैं। ऐसे ही शंखिनी नाड़ी के देवता भी चन्द्रमा को कहा गया है। पयस्विनी नामक नाड़ी के देवता प्रजापति हैं॥ ३७-३८॥

विश्वोदराभिधायास्तु भगवान्पावकः पतिः। इडायां चन्द्रमा नित्यं चरत्येव महामुने॥ ३९॥
पिङ्गलायां रविस्तद्वन्मुने वेदविदां वर। पिङ्गलायामिडायां तु वायोः संक्रमणं तु यत्॥ ४०॥
तदुत्तरायणं प्रोक्तं मुने वेदान्तवेदिभिः। इडायां पिङ्गलायां तु प्राणसंक्रमणं मुने॥ ४१॥
दक्षिणायनमित्युक्तं पिङ्गलायामिति श्रुतिः। इडापिङ्गलयोः संधिं यदा प्राणः समागतः॥ ४२॥
अमावास्या तदा प्रोक्ता देहे देहभृतां वर।

विश्वोदरा नाड़ी के देवता भगवान् अग्निदेव हैं। हे वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ महर्षे! चन्द्रमा देवता सदा ही इड़ा नामक नाड़ी में और सूर्य देवता पिङ्गला नाम वाली नाड़ी में संचरित होते हैं। पिङ्गला नाड़ी से इड़ा नाड़ी में जो संवत्सरात्मक प्राणमय सूर्य का संक्रमण होता है, उसे विद्वज्जन महर्षियों ने उत्तरायण की संज्ञा प्रदान की है। इसी भाँति इड़ा से पिङ्गला में जो प्राणमय सूर्य का संक्रमण होता है, उसे दक्षिणायन के नाम से व्यक्त किया है। जब प्राण इड़ा और पिङ्गला की संधि में गमन करता है, तब उस समय हे महर्षे! इस देह के अन्दर अमावस्या कही गयी है॥ ३९-४२॥

मूलाधारं यदा प्राणः प्रविष्टः पण्डितोत्तम॥ ४३॥ तदाद्यं विषुवं प्रोक्तं तापसैस्तापसोत्तम।
प्राणसंज्ञो मुनिश्रेष्ठ मूर्धानं प्राविशद्यदा॥ ४४॥ तदन्त्यं विषुवं प्रोक्तं तापसैस्तत्त्वचिन्तकैः।
निःश्वासोच्छ्वासनं सर्वं मासानां संक्रमो भवेत्॥ ४५॥ इडायाः कुण्डलीस्थानं यदा प्राणः समागतः। सोमग्रहणमित्युक्तं तदा तत्त्वविदां वर॥ ४६॥ यदा पिङ्गलया प्राणः कुण्डलीस्थानमागतः। तदा तदा भवेत्सूर्यग्रहणं मुनिपुङ्गव॥ ४७॥

जब प्राण मूलाधार में प्रविष्ट होता है, तब हे विद्वद्वर! तपस्वियों ने आद्य विषुव नामक योग का प्राकट्य कहा है। हे श्रेष्ठ मुने! जब प्राणवायु सहस्रार चक्र में प्रविष्ट होता है, तब उस समय श्रेष्ठ तत्त्व का विचार करते हुए महान् ऋषियों ने अन्तिम विषुव योग की स्थिति कही है। सभी उच्छ्वास एवं निःश्वास मास-संक्रान्ति माने गये हैं। हे तत्त्वज्ञ शिरोमणे! जब प्राण इड़ा नाड़ी के माध्यम से कुण्डलिनी के पास आ जाता है, तब उस समय को चन्द्रग्रहण-काल कहा जाता है। ठीक ऐसे ही जब प्राण पिङ्गला नाड़ी के माध्यम से कुण्डलिनी के क्षेत्र में आता है, तभी हे मुने! सूर्य ग्रहण का समय होता है॥ ४३-४७॥

श्रीपर्वतं शिरःस्थाने केदारं तु ललाटके। वाराणसीं महाप्राज्ञ भ्रुवोर्घ्राणस्य मध्यमे ॥ ४८ ॥

अपने इस देह में सिर के स्थान पर श्रीशैल नाम से युक्त तीर्थ स्थित है। ललाट में केदार तीर्थ प्रतिष्ठित है। हे महाप्राज्ञ! नासिका एवं भृकुटी (दोनों भौंहों) के बीच में काशीपुरी स्थित है॥ ४८ ॥

कुरुक्षेत्रं कुचस्थाने प्रयागं हृत्सरोरुहे। चिदम्बरं तु हृन्मध्ये आधारे कमलालयम्॥ ४९ ॥

स्तन-द्वय मण्डलों में कुरुक्षेत्र का निवास है। कमलरूपी हृदय में तीर्थराज प्रयाग स्थापित है। हृदय के मध्यक्षेत्र में चिदम्बर तीर्थ विद्यमान है। मूलाधार-स्थान में कमलालय तीर्थ की स्थापना की गयी है॥ ४९॥

आत्मतीर्थं समुत्सृज्य बहिस्तीर्थानि यो व्रजेत्। करस्थं स महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्गते ॥५०॥

जो ऐसे श्रेष्ठ आत्मतीर्थ का त्याग करके बाह्य क्षेत्र के तीर्थों में भ्रमण करता रहता है, वह हाथ में रखे हुए बहुमूल्य रत्न का परित्याग करके काँच को ही ढूँढ़ता रहता है॥ ५०॥

भावतीर्थं परं तीर्थं प्रमाणं सर्वकर्मसु। अन्यथालिङ्ग्यते कान्ता अन्यथालिङ्ग्यते सुता॥ ५१ ॥
तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान्काष्ठादिनिर्मितान्। योगिनो न प्रपूज्यन्ते स्वात्मप्रत्ययकारणात्॥५२॥

भावतीर्थ ही सबसे उत्तम तीर्थ है। पत्नी एवं पुत्री दोनों का ही आलिङ्गन किया जाता है; किन्तु दोनों में भावना का बहुत अधिक अन्तर होता है, पत्नी का आलिङ्गन दूसरे भाव से और पुत्री का आलिङ्गन दूसरे भाव से किया जाता है। योगी मनुष्य अपने आत्मा के तीर्थ में ज्यादा से ज्यादा विश्वास एवं श्रद्धा रखने के कारण जल से पूर्ण तीर्थों एवं काष्ठ आदि से विनिर्मित देव-प्रतिमाओं की शरण नहीं प्राप्त करते॥ ५१-५२॥

बहिस्तीर्थात्परं तीर्थमन्तस्तीर्थं महामुने। आत्मतीर्थं महातीर्थमन्यत्तीर्थं निरर्थकम्॥ ५३ ॥

बाह्य जगत् के तीर्थ से अन्तः क्षेत्र के तीर्थ अति श्रेष्ठ हैं, ये महातीर्थ हैं, इन आन्तरिक तीर्थों के समक्ष अन्य सभी तीर्थ व्यर्थ हैं॥ ५३॥

चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानैर्न शुध्यति। शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि॥ ५४॥
विषुवायनकालेषु ग्रहणे चान्तरे सदा। वाराणस्यादिके स्थाने स्नात्वा शुद्धो भवेन्नरः॥ ५५॥

शरीर के अन्दर निवास करने वाला प्रदूषित चित्त बाहर के तीर्थों में गोते लगाने मात्र से पवित्र नहीं होता; क्योंकि मदिरा से भरा हुआ घड़ा ऊपर से सैकड़ों बार पवित्र जल में धोया जाये, तब भी उस घड़े के अन्दर मदिरा के रहने से वह अपवित्र ही बना रहता है। अपने शरीर में ही जो विषुव योग, उत्तरायण एवं दक्षिणायन काल तथा सूर्य-चन्द्रमा के ग्रहण हैं, उनमें नासिका एवं भौंहों के मध्य में वाराणसी आदि तीर्थों में भावनापूर्वक स्नान करके मनुष्य पवित्र हो सकता है॥ ५४-५५॥

ज्ञानयोगपराणां तु पादप्रक्षालितं जलम्। भावशुद्ध्यर्थमज्ञानां तत्तीर्थं मुनिपुङ्गव॥ ५६ ॥

अज्ञानियों के अन्तःकरण की शुद्धि के लिए ज्ञानयोगियों के चरणों का जल ही उत्तम तीर्थ रूप है॥ ५६

तीर्थे दाने जपे यज्ञे काष्ठे पाषाणके सदा। शिवं पश्यति मूढात्मा शिवे देहे प्रतिष्ठिते ॥ ५७॥

इसी शरीर में भगवान् शिव के रूप में परमात्मसत्ता विद्यमान है। इन भगवान् शिव को न जानने वाला मूढ़, अज्ञानी मनुष्य तीर्थ, दान, जप, यज्ञ, काष्ठ एवं पत्थर में ही सदैव भगवान् को ढूँढ़ता रहता है॥ ५७॥

अन्तःस्थं मां परित्यज्य बहिष्ठं यस्तु सेवते। हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य लिहेत्कूर्परमात्मनः॥ ५८ ॥

हे साङ्कृते! जो अपने अन्तःकरण में नित्य-सतत स्थिर रहने वाले मुझ परमात्मतत्त्व की अवहेलना करके केवल मात्र बाहर की स्थूल प्रतिमाओं का ही सेवन करता है, वह हाथ में रखे हुए अन्न के ग्रास को फेंककर केवल अपनी कोहनी ही चाटता रहता है॥ ५८॥

शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः। अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिताः॥५९

योगी मनुष्य अपनी आत्मा में ही भगवान् शिव का दर्शन करते हैं, प्रस्तर खण्ड एवं काष्ठ से विनिर्मित प्रतिमाओं में नहीं। अज्ञानी मनुष्यों के हृदयों में भगवान् शिव के प्रति भावना जाग्रत् करने के लिए ही प्रतिमाओं की कल्पना की गयी है॥ ५९॥

अपूर्वमपरं ब्रह्म स्वात्मानं सत्यमद्वयम्। प्रज्ञानघनमानन्दं यः पश्यति स पश्यति॥ ६०॥
नाडीपुञ्जं सदाऽसारं नरभावं महामुने। समुत्सृज्यात्मनाऽऽत्मानमहमित्येव धारय ॥ ६१॥

जिससे भिन्न न कोई पूर्व (कारण) है और न ही पर (कार्य) ही है। जो सत्यस्वरूप, अनुपम और प्रज्ञान घनस्वरूप है,ऐसे उस आनन्दमय ब्रह्म को जो स्वयं अपने आत्मा के रूप में दृष्टिपात करता है,वही वास्तव में यथार्थ देखता है। हे महामुने! यह मानव शरीर नाड़ियों का समुदाय मात्र है,जो सदा ही सारहीन है। इसके प्रति आत्मभाव का परित्याग करके बुद्धि के द्वारा यह निश्चय करो कि मैं स्वयं ही परमात्म स्वरूप हूँ॥

अशरीरं शरीरेषु महान्तं विभुमीश्वरम्। आनन्दमक्षरं साक्षान्मत्वा धीरो न शोचति॥ ६२॥
विभेदजनके ज्ञाने नष्टे ज्ञानबलान्मुने। आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं किं करिष्यति ॥ ६३॥

जो इस शरीर में रहकर भी इससे सदा ही पृथक् है, महान् है, व्यापक है तथा सभी का ईश्वर है, उस आनन्दस्वरूप शाश्वत परमात्म तत्त्व को जानकर बुद्धिमान् धीर पुरुष कभी भी शोक को नहीं प्राप्त होता। हे श्रेष्ठ मुने! सद्ज्ञान के बल से भेदजनक अज्ञान का विनाश हो जाने पर कौन आत्मा एवं ब्रह्म में मिथ्या भेद की बात कहेगा॥ ६२-६३॥

॥ पञ्चमःखण्डः ॥

यहाँ आत्मशोधन की विधि कही जा रही है-

सम्यक्कथय मे ब्रह्मन्नाडीशुद्धिं समासतः। यथा शुद्ध्या सदा ध्यायञ्जीवन्मुक्तो भवाम्य-हम्॥१ ॥

साङ्कृति ने भगवान् दत्तात्रेय जी से पुनः प्रश्न किया- 'हे ब्रह्मन्! नाड़ी शोधन की क्या प्रक्रिया है, यह मुझे ठीक तरह से एवं अति संक्षेप में बताइये, जिससे कि मैं नाड़ी शुद्धिपूर्वक सदा ही परमात्मतत्त्व का ध्यान करते हुए इस जीवन से मुक्ति प्राप्त कर सकूँ॥ १॥'

सांकृते शृणु वक्ष्यामि नाडीशुद्धिं समासतः। विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पवर्जितः॥२ ॥

तब भगवान् दत्तात्रेय जी ने कहा-हे साङ्कृते! मैं अति संक्षेप से नाड़ी शुद्धि का वर्णन आपके सम्मुख करता हूँ। शास्त्रादि के विधि वाक्यों द्वारा जो भी कर्म कहे गये हैं, उनके प्रति कर्त्तव्य बुद्धि से संलग्न रहना चाहिए। कामना एवं फलप्राप्ति के संकल्प को त्याग देना चाहिए॥ २॥

यमाद्यष्टाङ्गसंयुक्तः शान्तः सत्यपरायणः। स्वात्मन्यवस्थितः सम्यग्ज्ञानिभिश्च सुशिक्षितः॥३ ॥

योग के यम आदि आठों अंगों का उपयोग करते हुए शान्त एवं सत्य परायण रहना चाहिए। अपने आत्मा के ध्यान में सतत लगा रहे तथा ज्ञानी विद्वज्जनों की सेवा में उपस्थित होकर उनसे भली-भाँति शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए॥ ३॥

पर्वताग्रे नदीतीरे बिल्वमूले वनेऽथवा। मनोरमे शुचौ देशे मठं कृत्वा समाहितः॥ ४॥
आरभ्य चासनं पश्चात्प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा। समग्रीवशिरः कायः संवृतास्यः सुनिश्चलः॥
नासाग्रे शशभृद्बिम्बे बिन्दुमध्ये तुरीयकम्। स्त्रवन्तममृतं पश्येन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः॥ ६॥

तदनन्तर पर्वत शिखर, नदी-तट, बिल्व वृक्ष के पास में, एकान्त वन अथवा और अन्य किसी पवित्र एवं सुन्दर प्रदेश में आश्रम का निर्माण कर चित्त को एकाग्र करके वहाँ निवास करे। तत्पश्चात् वहाँ पूर्व या उत्तर की ओर मुँह करके किसी भी आसन से बैठे। ग्रीवा, मस्तक तथा शरीर को समान भाव से रखकर मुख बंद किये हुए ठीक प्रकार से स्थित हो जाये। नासिका के अग्र भाग पर चन्द्रमण्डल की भावना करनी चाहिए तथा वहाँ ओंकार रूप प्रणव के बिन्दु में तुरीयस्वरूप परमात्मतत्त्व को अमृत का स्रोत बहाते हुए आँखों के द्वारा प्रत्यक्ष देखना चाहिए। उस समय चित्त को पूर्णरूप से एकाग्र रखना चाहिए॥ ४-६॥

इडया प्राणमाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम्। ततोऽग्निं देहमध्यस्थं ध्यायज्ज्वालावलीयुतम् ॥७॥
बिन्दुनादसमायुक्तमग्निबीजं विचिन्तयेत्। पश्चाद्विरेचयेत्सम्यक्प्राणं पिङ्गलया बुधः ॥८॥
पुनः पिङ्गलयापूर्य वह्निबीजमनुस्मरेत्। पुनर्विरेचयेद्धीमानिडयैव शनैः शनैः ॥९॥
त्रिचतुर्वासरं वाथ त्रिचतुर्वारमेव च। षट्कृत्वा विचरेन्नित्यं रहस्येवं त्रिसंधिषु॥१०॥

इसके पश्चात् इड़ा नाड़ी के द्वारा अर्थात् नासिका के बायें छिद्र से प्राणवायु को आकृष्ट करके उदर में ग्रहण कर लेना चाहिए और शरीर के बीच में प्रतिष्ठित जो अग्नि तत्त्व है, उसी का चिन्तन करते हुए ऐसा भाव करना चाहिए कि उस वायु का सान्निध्य प्राप्त करके अग्निदेव ज्वालाओं के सहित मानो प्रज्वलित हो उठे हों। इसके पश्चात् प्रणव के बिन्दु एवं नाद से संयुक्त होकर अग्नि-बीज (रं) का चिन्तन करना चाहिए। इसके बाद श्रेष्ठ साधक पिङ्गला नाड़ी (अर्थात् नासिका के दक्षिण छिद्र के द्वारा) प्राणवायु को विधिपूर्वक धीरे-धीरे बहिर्गमन करे। फिर पिङ्गला नाड़ी के माध्यम से पहले की भाँति प्राणवायु को अपने अन्दर धारण करके अग्नि बीज का चिन्तन करना चाहिए। इसके बाद इड़ा नाड़ी के द्वारा फिर उसे शनैः-शनैः बाहर निकाल देना चाहिए। इस तरह से इस प्रक्रिया द्वारा एकान्त में लगातार तीन-चार दिनों तक अथवा प्रतिदिन त्रिकाल समय की संध्याओं में तीन-चार अथवा छः बार यह क्रिया करनी चाहिए॥ ७-१०॥

नाडीशुद्धिमवाप्नोति पृथक्चिह्नोपलक्षितः। शरीरलघुता दीप्तिर्वह्नेर्जाठरवर्तिनः॥ ११॥
नादाभिव्यक्तिरित्येतच्चिह्नं तत्सिद्धिसूचकम्। यावदेतानि संपश्येत्तावदेवं समाचरेत्॥१२॥

इस क्रिया से उस (साधक) की नाड़ी पवित्र हो जाती है और इस नाड़ी शुद्धि के पृथक् चिह्न भी दृष्टिगोचर होने लगते हैं। शरीर हल्का हो जाता है, जठराग्नि तीव्र हो उठती है और अनाहत नाद की अभिव्यक्ति होने लगती है। ये लक्षण ही सिद्धि के प्राकट्य का बोध कराते हैं। जब तक ये लक्षण दिखाई न दें, तब तक इसी तरह अभ्यास करते रहना चाहिए॥ ११-१२॥

अथवैतत्परित्यज्य स्वात्मशुद्धिं समाचरेत्। आत्मा शुद्धः सदा नित्यः सुखरूपः स्वयम्प्रभः॥
अज्ञानान्मलिनो भाति ज्ञानाच्छुद्धो विभात्ययम्। अज्ञानमलपङ्कं यः क्षालयेज्ज्ञानतोयतः।
स एव सर्वदा शुद्धो नान्यः कर्मरतो हि सः॥ १४॥

अथवा इन सभी का परित्याग करके मात्र आत्मा की शुद्धि का ही अनुष्ठान करना चाहिए। यह आत्मा सदैव पवित्र, नित्य, सुखरूप एवं स्वप्रकाशित है। अज्ञानता के कारण ही इसमें मलिनता प्रतीत होती है। ज्ञान होने पर यह सदैव विशुद्ध रूप से प्रकाशित होने लगता है, जो मनुष्य अज्ञानरूपी मल एवं कीचड़ को ज्ञानरूपी जल से धो डालता है, वही मनुष्य परम पवित्र है; जो मनुष्य ज्ञान की उपेक्षा करके लौकिक कर्मों में आसक्त रहता है, वह पवित्र नहीं है॥ १३-१४॥

॥ षष्ठः खण्डः ॥

यहाँ प्राणायाम की विधि, उसके प्रकार, फल एवं विनियोग का वर्णन है-

प्राणायामक्रमं वक्ष्ये सांकृते शृणु सादरम्। प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ॥१ ॥
वर्णत्रयात्मकाः प्रोक्ता रेचपूरककुम्भकाः। स एष प्रणवः प्रोक्तः प्राणायामस्तु तन्मयः ॥२ ॥

भगवान् दत्तात्रेय जी ने कहा- 'हे साङ्कृते! अब मैं तुम्हारे लिए प्राणायाम का क्रमशः वर्णन करता हूँ, इस विधि का श्रद्धापूर्वक श्रवण करो। इन तीनों पूरक, कुम्भक एवं रेचक के द्वारा जो प्राणों का संयम पूर्ण होता है, उसे ही प्राणायाम बतलाया गया है। प्रणव के तीन वर्ण अकार, उकार तथा मकार हैं, उन्हें क्रमशः पूरक, रेचक एवं कुम्भक से समानता रखने वाला कहा गया है। इन तीनों वर्णों के समूह को ही ओंकार बताया गया है। इस कारण से प्राणायाम भी प्रणव रूप ही है'॥ १-२ ॥

इडया वायुमाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम्। शनैः षोडशभिर्मात्रैरकारं तत्र संस्मरेत् ॥ ३ ॥
पूरितं धारयेत्पश्चाच्चतुःषष्ट्या तु मात्रया । उकारमूर्तिमत्रापि संस्मरन्प्रणवं जपेत् ॥ ४ ॥
यावद्वा शक्यते तावद्धारयेज्जपतत्परः। पूरितं रेचयेत्पश्चान्मकारेणानिलं बुधः ॥ ५ ॥
शनैः पिङ्गलया तत्र द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः। प्राणायामो भवेदेवं ततश्चैवं समभ्यसेत् ॥ ६ ॥

इड़ा नाड़ी के माध्यम से वायु को शनैः-शनैः अन्दर की ओर खींचकर के उदर में धारण करे, उस (पूरक) काल में सोलह मात्राओं का प्रयोग करे और श्रेष्ठ अकार का ध्यान करे। तदनन्तर उदर में भरी हुई उस वायु को कुछ समय तक अन्दर धारण किये रहे। उस समय चौंसठ मात्राओं जितना समय लगाकर उकार प्रधान ॐकार का जप करे। जब तक सम्भव हो सके, तब तक जप में मन को एकाग्र करके वायु को आत्मसात् किये रहे। तत्पश्चात् विद्वान् पुरुष बत्तीस मात्राओं का समय लगाकर मकार प्रमुख ॐकार के भाव सहित पिङ्गला नाड़ी के माध्यम से शनैः-शनैः धारण की हुई वायु को बाहर निकाले। इस प्रकार से यह एक प्राणायाम हुआ। इसी भाँति नित्य अभ्यास करते रहना चाहिए॥ ३-६ ॥

पुनः पिङ्गलयापूर्य मात्रैः षोडशभिस्तथा। अकारमूर्तिमत्रापि स्मरेदेकाग्रमानसः॥ ७॥
धारयेत्पूरितं विद्वान्प्रणवं संजपन्वशी। उकारमूर्तिं स ध्यायंश्चतुःषष्ट्या तु मात्रया ॥ ८॥

इसके पश्चात् पुनः पिङ्गला नाड़ी के द्वारा वायु को शनैः-शनैः अन्दर खींचते हुए षोडश मात्रा से अकार स्वरूप प्रणव का ध्यान मन को एकाग्र करके करना चाहिए। जब वायु पूरी तरह से उदर में भर जाये, तब विद्वज्जन मन एवं इन्द्रियों को अपने वश में रखते हुए चौंसठ मात्राओं से उकार के ध्यान सहित ॐकार का जप करते हुए वायु को अन्दर धारण किये रहे॥ ७-८ ॥

मकारं तु स्मरन्पश्चाद्रेचयेदिडयाऽनिलम्। एवमेव पुनः कुर्यादिडयापूर्य बुद्धिमान् ॥ ९ ॥
एवं समभ्यसेन्नित्यं प्राणायामं मुनीश्वर। एवमभ्यासतो नित्यं षण्मासाद् ज्ञानवान्भवेत्॥ १० ॥

तत्पश्चात् बत्तीस मात्राओं से 'मकार' का ध्यान करते हुए इड़ा नाड़ी के द्वारा शनैः-शनैः वायु को बाहर निकाल दे। बुद्धिमान् मनुष्य इसी तरह बार-बार अभ्यास करे। हे श्रेष्ठ मुनीश्वर! इस तरह से प्रत्येक दिन प्राणायाम का अभ्यास निरन्तर करते रहना चाहिए। इस प्रकार से प्रतिदिन अभ्यास करते रहने से साधक मात्र छः मास में ही ज्ञान-सम्पन्न हो जाता है॥ ९-१० ॥

वत्सराद्ब्रह्मविद्वान्स्यात्तस्मान्नित्यं समभ्यसेत्। योगाभ्यासरतो नित्यं स्वधर्मनिरतश्च यः॥ ११ ॥

प्राणसंयमनेनैव ज्ञानान्मुक्तो भविष्यति। बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः॥१२॥
संपूर्णकुम्भवद्वायोर्धारणं कुम्भको भवेत्। बहिर्विरेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः॥ १३॥

एक वर्ष तक लगातार ऊपर कहीं हुई विधि से प्राणायाम करने से साधक को अविनाशी ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। अत: प्राणायाम का नित्य ही अभ्यास किया जाना चाहिए। जो पुरुष योग के अभ्यास में संलग्न रहकर सदैव अपने धर्म के पालन में लगा रहता है। वह पुरुष प्राणायाम के द्वारा ही सद्ज्ञान रूपी प्रकाश को प्राप्त करके संसार-सागर से मुक्त हो जाता है। वायु को बाहर से खींचकर उदर के भीतर भरे जाने की प्रक्रिया को पूरक कहा गया है। जल से परिपूर्ण कुम्भ की भाँति वायु को उदर में स्थिर किये रहना ही कुम्भक कहा जाता है और उसे फिर उदर से बाहर निकालने की क्रिया को रेचक कहा जाता है॥ ११-१३॥

प्रस्वेदजनको यस्तु प्राणायामेषु सोऽधमः। कम्पनं मध्यमं विद्यादुत्थानं चोत्तमंविदुः॥ १४॥
पूर्वं पूर्वं प्रकुर्वीत यावदुत्थानसंभवः। संभवत्युत्तमे प्राज्ञः प्राणायामे सुखी भवेत्॥१५॥

जिस प्राणायाम के करने से शरीर में पसीना आ जाए, उसे सभी प्राणायामों में निम्न श्रेणी का माना गया है। यदि प्राणायाम करते समय शरीर काँपने लगे, तो उसे मध्यम श्रेणी का प्राणायाम कहा गया है और यदि प्राणायाम के समय में देह ऊर्ध्व की ओर उठता हुआ-सा लगे, तो उसे उत्तम कोटि का माना गया है। जब तक ऊपर की ओर उठने की अनुभूति वाले प्राणायाम की सिद्धि प्राप्त न हो जाए, तब तक पूर्वोक्त विधि से दोनों तरह के प्राणायामों का ही अभ्यास करता रहे। उपर्युक्त उत्तम श्रेणी के प्राणायाम के पूर्ण हो जाने पर ज्ञानी मनुष्य सुखी हो जाता है॥ १४-१५॥

प्राणायामेन चित्तं तु शुद्धं भवति सुव्रत। चित्ते शुद्धे शुचिः साक्षात्प्रत्यग्ज्योति र्व्यवस्थितः॥
प्राणश्चित्तेन संयुक्तः परमात्मनि तिष्ठति। प्राणायामपरस्यास्य पुरुषस्य महात्मनः॥ १७॥
देहश्चोत्तिष्ठते तेन किंचिज्ज्ञानाद्विमुक्तता। रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भकं नित्यमभ्यसेत्॥ १८॥

हे सुव्रत! प्राणायाम के द्वारा चित्त पवित्र हो जाता है एवं उस पवित्र चित्त में अन्त: प्रकाशस्वरूप शुद्ध आत्म तत्त्व का धीरे-धीरे साक्षात्कार होने लगता है। प्राणायाम में सदा रत रहने वाले श्रेष्ठ पुरुष का प्राण चित्त के साथ संयुक्त होकर परमात्मा में स्थित हो जाता है और उसका शरीर क्रमश: धीरे-धीरे ऊपर को उठने लगता है। इस प्राणायाम से ज्ञान को प्राप्त करके वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है। रेचक एवं पूरक से मुक्त होकर विशेषरूप से कुम्भक का ही प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिए॥ १६-१८॥

सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यग्ज्ञानमवाप्नुयात्। मनोजवत्वमाप्नोति पलितादि च नश्यति॥ ११॥
प्राणायामैकनिष्ठस्य न किंचिदपि दुर्लभम्। तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्राणायामान्समभ्यसेत्॥ २०॥

(इस प्रकार से नित्य प्राणायाम करने वाला योगी) सभी तरह के पापों से मुक्त होकर श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त कर लेता है। वह मनुष्य मन के सदृश वेगवान् एवं मनोजयी हो जाता है, बालों का पकना एवं अन्य दोष भी नष्ट हो जाते हैं। प्राणायाम में अटूट निष्ठा रखने वाले मनुष्य के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है। अत: मनुष्य को पूर्ण प्रयत्नशील रहते हुए प्राणायामों का अभ्यास करना चाहिए॥ १९-२०॥

विनियोगान्प्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य सुव्रत। संध्ययोर्ब्राह्मकालेऽपि मध्याह्ने वाऽथवासदा॥२१
बाह्यं प्राणं समाकृष्य पूरयित्वोदरेण च। नासाग्रे नाभिमध्ये च पादाङ्गुष्ठे च धारयेत्॥ २२॥

हे सुव्रत! अब हम प्राणायाम के विनियोग (विशेष प्रयोग) तुम्हें बतलाते हैं। दोनों सन्ध्याओं के समय में अथवा ब्राह्ममुहूर्त में या फिर मध्याह्न काल में सतत बाह्य क्षेत्र की प्राण वायु को अन्दर खींचकर उदर में

भगन्दरं च नष्टं स्यात्सर्वरोगाश्च सांकृते। पातकानि विनश्यन्ति क्षुद्राणि च महान्ति च॥ ४५॥
नष्टे पापे विशुद्धं स्याच्चित्तदर्पणमद्भुतम्। पुनर्ब्रह्मादिभोगेभ्यो वैराग्यं जायते हृदि ॥ ४६॥

हे साङ्कृते! (इस प्राणायाम से) भगन्दर एवं अन्य सभी तरह के रोगों का भी शमन हो जाता है। बड़े से बड़े एवं छोटे से छोटे सभी तरह के पातक भी विनष्ट हो जाते हैं। पापों के विनष्ट हो जाने से चित्त परम पवित्र एवं दर्पण की भाँति निर्मल हो जाता है। तदनन्तर हृदय में ब्रह्मा आदि समस्त देवों के लोकों तक में मिलने वाले भोगजनित सुखों के प्रति वैराग्य की उत्पत्ति हो जाती है॥ ४५-४६॥

विरक्तस्य तु संसाराज्ज्ञानं कैवल्यसाधनम्। तेन पाशापहानिः स्याज्ज्ञात्वा देवं सदाशिवम्॥४७
ज्ञानामृतरसो येन सकृदास्वादितो भवेत्। स सर्वकार्यमुत्सृज्य तत्रैव परिधावति॥ ४८॥
ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद्विचक्षणाः। अर्थस्वरूपमज्ञानात्पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः॥ ४९॥
आत्मस्वरूपविज्ञानादज्ञानस्य परिक्षयः। क्षीणेऽज्ञाने महाप्राज्ञ रागादीनां परिक्षयः॥ ५०॥
रागाद्यसंभवे प्राज्ञ पुण्यपापविमर्दनम्। तयोर्नाशे शरीरेण न पुनः संप्रयुज्यते ॥५१॥

इस भाँति से जो भी मनुष्य इस संसार-सागर से विरक्त होता है, उसे कैवल्य मोक्ष के साधनभूत ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। उस ज्ञान से नित्य कल्याणमय परमात्मदेव का तत्त्व ज्ञात कर लेने के कारण सभी तरह के बन्धनों का समूल विनाश हो जाता है। जिस पुरुष ने एक बार भी ज्ञानरूपी अमृत का रसास्वादन प्राप्त कर लिया, वह समस्त कर्मों का परित्याग करके उसी ओर चल पड़ता है। बुद्धिमान् मनुष्य इस सम्पूर्ण विश्व को ज्ञानस्वरूप ही कहते हैं, जिन मनुष्यों की दृष्टि कुत्सित है, वे दूसरे अज्ञानी मनुष्य इस विश्व को विषय रूप में ही देखते हैं। आत्मस्वरूप का सम्यक् ज्ञान हो जाने पर अज्ञान का नाश हो जाता है। अज्ञान के नष्ट हो जाने पर राग-द्वेष आदि का भी विनाश हो जाता है। राग आदि विषयों के न रहने से पाप-पुण्य का भी विलय हो जाता है और पुण्य-पाप आदि के न रहने से ज्ञानी मनुष्य को पुनः शरीर नहीं धारण करना पड़ता है॥ ४७-५१॥

॥ सप्तमःखण्डः ॥

यहाँ प्रत्याहार के विविध प्रकार एवं फल का वर्णन किया जा रहा है-

अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रत्याहारं महामुने। इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः॥ १॥
बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते। यत्पश्यति तु तत्सर्वं ब्रह्म पश्यन्समाहितः॥ २॥
प्रत्याहारो भवेदेष ब्रह्मविद्भिः पुरोदितः। यद्यच्छुद्धमशुद्धं वा करोत्यामरणान्तिकम्॥ ३॥
तत्सर्वं ब्रह्मणे कुर्यात्प्रत्याहारः स उच्यते। अथवा नित्यकर्माणि ब्रह्माराधनबुद्धितः॥ ४॥

हे महामुने! अब मैं प्रत्याहार का वर्णन करता हूँ। विषय-भोगों में स्वभाववश विचरण करने वाली समस्त इन्द्रियों को बलात् वहाँ से वापस लाने का जो प्रयत्न है, उसी को प्रत्याहार कहते हैं। 'मनुष्य जो कुछ भी देखता है', वह सब ब्रह्म ही है, इस प्रकार समझते हुए ब्रह्म में चित्त को एकाग्र कर लेना ही प्रत्याहार है, ऐसा ब्रह्मवेत्ता कहते हैं। मनुष्य मृत्यु पर्यन्त जो कुछ भी पवित्र अथवा अपवित्र कार्य करता है, वह सभी कुछ परमात्मा को ही समर्पित कर देना चाहिए, यह भी प्रत्याहार कहा गया है अथवा नित्य एवं काम्य सभी तरह के कर्मों को भगवान् की सेवा-प्रार्थना के भाव से करना चाहिए॥१-४॥

काम्यानि च तथा कुर्यात्प्रत्याहारः स उच्यते। अथवा वायुमाकृष्य स्थानात्स्थानं निरोधयेत्॥

दन्तमूलात्तथा कण्ठे कण्ठादुरसि मारुतम्। उरोदेशात्समाकृष्य नाभिदेशे निरोधयेत्॥ ६॥
नाभिदेशात्समाकृष्य कुण्डल्यां तु निरोधयेत्। कुण्डलीदेशतो विद्वान्मूलाधारे निरोधयेत्॥७॥
अथापानात्कटिद्वन्द्वे तथोरौ च सुमध्यमे। तस्माज्जानुद्वये जङ्घे पादाङ्गुष्ठे निरोधयेत्॥ ८॥
प्रत्याहारोऽयमुक्तस्तु प्रत्याहारस्मरैः पुरा। एवमभ्यासयुक्तस्य पुरुषस्य महात्मनः ॥ ९॥

सभी काम्य कर्मों के द्वारा भगवान् का पूजन करने को भी प्रत्याहार कहते हैं अथवा वायु को एक जगह से खींचकर दूसरी जगह पर प्रतिष्ठित करे, यथा-दाँत के मूलभाग से वायु को खींचकर के उसे कण्ठ में प्रतिष्ठित करे, कण्ठ से हृदय क्षेत्र में स्थिर करे, हृदय से खींचकर उसे नाभि-प्रदेश में ले जाये, नाभि प्रदेश से कुण्डलिनी में स्थापित करे, कुण्डलिनी क्षेत्र से हटाकर विद्वान् पुरुष उसे मूलाधार में रोके, तत्पश्चात् अपानवायु के स्थान से उस वायु को हटाकर कटि-प्रदेश के दोनों भागों में स्थिर करे और वहाँ से जाँघों के मध्य भाग में ले जाये। जाँघों से दोनों घुटनों में, घुटनों से पिण्डलियों में और पिण्डलियों से पैर के अँगूठे में उस प्राणवायु को स्थापित करे। प्रत्याहार में पारंगत विद्वानों ने प्राचीनकाल से उपर्युक्त इसी क्रिया को ही प्रत्याहार के नाम से बतलाया है॥ ५-९॥

सर्वपापानि नश्यन्ति भवरोगश्च सुव्रत। नासाभ्यां वायुमाकृष्य निश्चलः स्वस्तिकासनः ॥१०॥
पूरयेदनिलं विद्वानापादतलमस्तकम्। पश्चात्पादद्वये तद्वन्मूलाधारे तथैव च ॥११॥
नाभिकन्दे च हृन्मध्ये कण्ठमूले च तालुके। भ्रुवोर्मध्ये ललाटे च तथा मूर्धनि धारयेत्॥१२॥

इस भाँति प्रत्याहार की क्रिया में रत बुद्धिमान् पुरुष के सभी पाप एवं जन्म-मृत्युरूप समस्त व्याधियाँ स्वयमेव नष्ट हो जाती हैं। स्वस्तिक-आसन का आश्रय प्राप्त कर ज्ञानी मनुष्य शान्त चित्त से स्थान ग्रहण करे तथा नासिका के दोनों छिद्रों से प्राणवायु को भीतर खींचकर, उसे पैर से लेकर सिर तक के सभी स्थानों में पूरा कर दे। दोनों पैरों में, मूलाधार में, नाभिकेन्द्र में, हृदय के मध्य भाग में, कण्ठ के मूल में, तालु में, भौंहों के बीच में, ललाट में एवं सिर में वायु को प्रतिष्ठित करे, (यह वायु प्रतिष्ठितात्मक प्रत्याहार है)॥ १०-१२॥

देहे स्वात्ममतिं विद्वान्समाकृष्य समाहितः। आत्मनाऽऽत्मनि निर्द्वन्द्वे निर्विकल्पे निरोधयेत् ॥
प्रत्याहारः समाख्यातः साक्षाद्वेदान्तवेदिभिः। एवमभ्यसतस्तस्य न किंचिदपि दुर्लभम्॥१४॥

ज्ञानी पुरुष चित्त को एकाग्र करके शरीर से आत्म-बुद्धि को अलग कर उसे, खुद ही निर्द्वन्द्व एवं निर्विकल्प स्वरूप में अपने अन्तरात्मा में स्थित करे। वेदान्ततत्त्व के ज्ञाता विद्वानों ने इसी को ही वास्तविक प्रत्याहार कहा है। इस प्रकार प्रत्याहार का अभ्यास करने वाले मनुष्य के लिए कुछ भी अप्राप्य नहीं है॥

॥ अष्टमः खण्डः ॥

यहाँ धारणा के भेद-उपभेद का वर्णन है-

अथातः संप्रवक्ष्यामि धारणाः पञ्च सुव्रत। देहमध्यगते व्योम्नि बाह्याऽऽकाशं तु धारयेत्॥ १॥
प्राणे बाह्यानिलं तद्वज्ज्वलने चाग्निमौदरे। तोयं तोयांशके भूमिं भूमिभागे महामुने॥ २॥
हयरावलकाराख्यं मंत्रमुच्चारयेत्क्रमात्। धारणैषा परा प्रोक्ता सर्वपापविशोधिनी ॥ ३॥

हे सुव्रत! अब मैं तुम्हारे लिए पञ्च धारणाओं के सम्बन्ध में बतलाता हूँ। अपने शरीर के अन्दर जो आकाश तत्त्व स्थित है, उसमें बाह्य आकाश की धारणा करनी चाहिए। इसी प्रकार प्राण में बाह्य वायु तत्त्व

की, जठरानल में बाह्य अग्नितत्त्व की, देहगत जल के अंश में बाह्य जल तत्त्व की एवं शरीर के पार्थिव भाग में ही सम्पूर्ण पृथ्वी की धारणा करनी चाहिए तथा हर एक तत्त्व की धारणा के समय क्रमशः हँ,यं,रं,वं,लं-इन बीजमंत्रों का उच्चारण करे। इस धारणा को सर्वोत्तम बताया है। यह पापों का विनाश करने वाली क्रिया है॥

जान्वन्तं पृथिवी ह्यंशो ह्यपां पाय्वन्तमुच्यते। हृदयांशस्तथाग्न्यंशो भ्रूमध्यान्तोऽनिलांशकः॥४॥
आकाशांशस्तथा प्राज्ञ मूर्धांशः परिकीर्तितः। ब्रह्माणं पृथिवीभागे विष्णुं तोयांशके तथा॥५॥
अग्न्यंशे च महेशानमीश्वरं चानिलांशके। आकाशांशे महाप्राज्ञ धारयेत्तु सदाशिवम्॥६॥

पैर से लेकर घुटने तक का भाग पृथिवी का अंश कहा गया है। घुटने से लेकर गुदा तक का भाग जल का अंश बतलाया गया है। गुदा भाग से ऊपर हृदय प्रदेश तक का क्षेत्र अग्नि अंश माना गया है। हृदय से ऊपर भौंहों के मध्यभाग तक वायु का अंश निश्चित किया गया है और मस्तक का क्षेत्र आकाश तत्त्व का अंश कहा गया है। हे महाप्राज्ञ! पृथ्वी तत्त्व के अंश में ब्रह्माजी का, जल-तत्त्व के अंश में विष्णुजी का, अग्नि तत्त्व के अंश में महादेवजी का, वायु तत्त्व के अंश में ईश्वर का और आकाश तत्त्व के अंश में सदाशिव का चिन्तन करना चाहिए॥ ४-६॥

अथवा तव वक्ष्यामि धारणां मुनिपुङ्गव। पुरुषे सर्वशास्तारं बोधानन्दमयं शिवम्॥ ७॥
धारयेद्बुद्धिमान्नित्यं सर्वपापविशुद्धये। ब्रह्मादिकार्यरूपाणि स्वे स्वे संहृत्य कारणे॥ ८॥
सर्वकारणमव्यक्तमनिरूप्यमचेतनम् । साक्षादात्मनि संपूर्णे धारयेत्प्रणवे मनः।
इन्द्रियाणि समाहृत्य मनसात्मनि योजयेत्॥ ९॥

हे मुनिश्रेष्ठ! अब तुम्हारे लिए एक और दूसरी धारणा का वर्णन करता हूँ। ज्ञानी मनुष्य अन्तर्यामी पुरुष (आत्मा) में सभी पर शासन करने वाले बोधमय, आनन्दस्वरूप तथा कल्याणमय अविनाशी परमात्मतत्त्व की प्रत्येक दिन धारणा करे। इससे सभी तरह के पापों का शमन हो जाता है। कार्यस्वरूप ब्रह्मा आदि का अपने-अपने कारण में लय करके सभी के परम कल्याण, अनिर्वचनीय एवं बुद्धि से परे जो अव्यक्त परमात्मतत्त्व है, ऐसे उन श्रेष्ठ परमात्मा को अपनी आत्मा में धारण करे अर्थात् ये साक्षात् पूर्ण परब्रह्म परमात्मा ही अन्तर्यामी आत्मा के रूप में विद्यमान हैं, ऐसा दृढ़ निश्चय करे और इस प्रकार से आत्म धारणा करते समय अपने मन को सभी कलाओं से युक्त प्रणवस्वरूप परमात्मा में ही स्थित करे। इसके साथ ही मन के द्वारा समस्त इन्द्रियों को भी अपने-अपने विषयों से अलग कर के आत्मा में नियोजित कर दे॥ ७-९॥

॥ नवमः खण्डः ॥

यहाँ दो प्रकार के ध्यान तथा उनका फल बताया जा रहा है-

अथातः संप्रवक्ष्यामि ध्यानं संसारनाशनम्। ऋतं सत्यं परं ब्रह्म सर्वसंसारभेषजम्॥ १॥
ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपं महेश्वरम्। सोऽहमित्यादरेणैव ध्यायेद्योगीश्वरेश्वरम् ॥ २॥

अब मैं जगत् के बन्धनों का विनाश करने वाले ध्यान का वर्णन करता हूँ, जो समस्त संसाररूपी रोग के एक मात्र औषध रूप, ऊर्ध्वरेता, विषम नेत्रों वाले, योगीश्वरों के भी ईश्वर, विश्वरूप एवं महेश्वररूप हैं, उन ऋत एवं सत्यस्वरूप अविनाशी परब्रह्म परमात्मा का अपनी आत्मा के रूप में आदरपूर्वक ध्यान करे। अपनी बुद्धि में यह भाव पूर्ण निष्ठा से प्रतिष्ठित करे कि वह अविनाशी परमात्मस्वरूप परब्रह्म मैं ही हूँ॥ १-२॥

अथवा सत्यमीशानं ज्ञानमानन्दमद्वयम्। अत्यर्थममलं नित्यमादिमध्यान्तवर्जितम्॥३॥
तथाऽस्थूलमनाकाशमसंस्पृश्यमचाक्षुषम्। न रसं न च गन्धाख्यमप्रमेयमनूपमम् ॥४॥
आत्मानं सच्चिदानन्दमनन्तं ब्रह्म सुव्रत। अहमस्मीत्यभिध्यायेद्ध्येयातीतं विमुक्तये ॥५॥

ध्यान का दूसरा भेद इस प्रकार है-जो सत्यरूप, सर्वेश्वर, ज्ञानमय, आनन्दस्वरूप, अनुपम, अतिनिर्मल, नित्य एवं आदि, मध्य तथा अन्त रहित है, स्थूल प्रपञ्च से वह सर्वथा परे है, आकाश से अलग, स्पर्श में आने वाली वायु से भी विलक्षण है, चक्षुओं से दृष्टिगोचर होने वाले अग्नितत्त्व से भी हमेशा पृथक् है, रसस्वरूप जल एवं गन्धस्वरूप पृथिवी से भी सर्वथा विलक्षण है, जिसकी स्वयं प्रत्यक्ष प्रमाणों के द्वारा जानकारी नहीं प्राप्त की जा सकती, जो अनुपम है, शरीर से अतीत है, ऐसे उस सत्-चित्, आनन्दमय एवं अन्तरहित परब्रह्म का अपनी आत्मा के रूप में चिन्तन करे, बुद्धि के द्वारा यह निश्चित करे कि वह परब्रह्म परमात्मा मैं स्वयं ही हूँ। इस तरह से किया हुआ ध्यान मोक्ष प्रदान करने वाला होता है॥ ३-५॥

एवमभ्यासयुक्तस्य पुरुषस्य महात्मनः। क्रमाद्वेदान्तविज्ञानं विजायेत न संशयः॥ ६॥

इस प्रकार से ध्यान के अभ्यास में जो भी बुद्धिमान् पुरुष लगा रहता है, उसे वेदान्त वर्णित ब्रह्म तत्त्व का निःसन्देह ही विशेष ज्ञान प्राप्त हो जाता है-इसमें कुछ भी संशय नहीं है॥ ६॥

॥ दशमः खण्डः ॥

यहाँ समाधि एवं उसके फल का वर्णन प्रस्तुत है-

अथातः संप्रवक्ष्यामि समाधिं भवनाशनम्। समाधिः संविदुत्पत्तिः परजीवैकतां प्रति ॥ १॥

अब मैं इन समस्त सांसारिक-बन्धनों का विनाश कर देने वाली समाधि का वर्णन करता हूँ। परमात्मा तथा जीवात्मा के एकीभाव के सम्बन्ध में निश्चयात्मक बुद्धि का प्राकट्य होना ही समाधि है॥ १॥

नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः। एकः संभिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः॥२

यह आत्मा अविनाशी, नित्य, सर्वव्यापी, एकरस एवं सर्वदोषहीन है। यह एक होते हुए भी माया द्वारा उत्पन्न हुए भ्रम के कारण इसकी पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है। यथार्थ में उसमें कोई भी भेद नहीं है॥२॥

तस्मादद्वैतमेवास्ति न प्रपञ्चो न संसृतिः। यथाकाशो घटाकाशो मठाकाश इतीरितः॥ ३॥
तथा भ्रान्तैर्द्विधा प्रोक्तो ह्यात्मा जीवेश्वरात्मना। नाहं देहो न च प्राणो नेन्द्रियाणि मनो नहि॥४॥
सदा साक्षिस्वरूपत्वाच्छिव एवास्मि केवलः। इति धीर्या मुनिश्रेष्ठ सा समाधिरिहोच्यते॥५॥

इस कारण केवल अद्वैत ही सत्य स्वरूप है। प्रपञ्च या संसार नामक कोई भी वस्तु नहीं है। जिस प्रकार आकाश को घटाकाश एवं मठाकाश भी कहा जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य एक ही परमात्मा को जीव एवं ईश्वर-इन दो रूपों में मानते हैं। न मैं शरीर हूँ, न प्राण हूँ, न इन्द्रिय समूह हूँ और न ही मैं मन हूँ, सदैव साक्षीरूप में स्थित होने के कारण मैं एक मात्र शिवस्वरूप परमात्म तत्त्व हूँ। हे श्रेष्ठ मुने! इस प्रकार की जो श्रेष्ठ निश्चयात्मिका बुद्धि है, उसी को यहाँ समाधि कहा गया है॥ ३-५॥

सोऽहं ब्रह्म न संसारी न मत्तोऽन्यः कदाचन। यथा फेनतरङ्गादि समुद्रादुत्थितं पुनः॥ ६॥
समुद्रे लीयते तद्वज्जगन्मय्यनुलीयते। तस्मान्मनः पृथङ्नास्ति जगन्माया च नास्ति हि ॥ ७॥

मैं ही वह परमेश्वर हूँ, संसार के बन्धनों में पड़ा हुआ जीव नहीं हूँ, अतः मुझसे भिन्न किसी वस्तु का किसी भी काल में अस्तित्व नहीं रहा है। जिस प्रकार फेन और लहरें समुद्र से उठते ही फिर समुद्र में विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार यह जगत् मुझसे ही प्रकट होता है और मुझमें ही विलीन हो जाता है। इसलिए सृष्टि का कारणभूत मन भी मुझसे पृथक् नहीं है। इस जगत् और माया का भी मुझसे भिन्न अस्तित्व नहीं है॥ ६-७॥

यस्यैवं परमात्माऽयं प्रत्यग्भूतः प्रकाशितः। स तु याति च पुंभावं स्वयं साक्षात्परा मृतम्॥८॥

इस प्रकार से जिस पुरुष को यह परमात्मा अपनी आत्मा के रूप में अनुभव होने लगता है, वह परम पुरुषार्थरूप साक्षात् परम अमृतस्वरूप परमात्मभाव को प्राप्त कर लेता है॥ ८॥

यदा मनसि चैतन्यं भाति सर्वत्रगं सदा। योगिनोऽव्यवधानेन तदा संपद्यते स्वयम्॥ ९॥
यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येव हि पश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ १०॥

जिस समय योगी के मन में सर्वत्र व्यापक आत्म चैतन्यस्वरूप का अपरोक्ष रूप में अनुभव होने लगता है, तब उस समय वह स्वयं ही परमात्मस्वरूप में स्थापित हो जाता है। जब वह श्रेष्ठ ज्ञानी मनुष्य सब भूत-प्राणियों को अपने में ही अवलोकन करता है तथा अपने को ही सम्पूर्ण भूतों में प्रतिष्ठित देखता है, तब वह साक्षात् स्वयं ब्रह्मरूप ही हो जाता है॥ ९-१०॥

यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति। एकीभूतः परेणाऽसौ तदा भवतिकेवलः॥११॥
यदा पश्यति चात्मानं केवलं परमार्थतः। मायामात्रं जगत्कृत्स्नं तदा भवति निर्वृतिः॥१२॥

जब समाधिस्थ पुरुष परमात्मा से एकत्व प्राप्त करके अपने से अलग किसी भी भूत-प्राणी को नहीं देखता, तब वह केवल परमात्मरूप से ही प्रतिष्ठित हो जाता है। जब पुरुष केवल अपनी आत्मा को ही परमार्थ सत्यस्वरूप में देखता है, सम्पूर्ण विश्व को माया का विलास मात्र मानता है, तब वह परमानन्द को प्राप्त कर लेता हैं॥ ११-१२॥

एवमुक्त्वा स भगवान्दत्तात्रेयो महामुनिः। सांकृतिः स्वस्वरूपेण सुखमास्तेऽतिनिर्भयः॥१३

इस प्रकार महाज्ञानी भगवान् दत्तात्रेय जी उपदेश देकर मौन हो गये एवं मुनीश्वर साङ्कृति उस उपदेश को हृदयंगम करके अपने यथार्थ स्वरूप में स्थित एवं भयमुक्त होकर आनन्दपूर्वक रहने लगे॥ १३॥

ॐ आप्यायन्तु..... इति शान्तिः॥

॥ इति जाबालदर्शनोपनिषत्समाप्ता॥

॥ जाबालापानषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल छः खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में भगवान् बृहस्पति एवं याज्ञवल्क्य का संवाद है, जिसमें प्राण विद्या का विवेचन हैं। याज्ञवल्क्य ने प्राण का स्थान, ब्रह्म सदन तथा देवयजन का एक मात्र स्थान, 'अविमुक्त' (ब्रह्मरन्ध्र-काशी) कहा है। वहीं रुद्रदेव विद्यमान रह कर अन्तिम क्षणों में तारक ब्रह्म का उपदेश देकर जीव को विमुक्त करते हैं। द्वितीय खण्ड में अत्रि मुनि एवं याज्ञवल्क्य का संवाद है, जिसमें 'अविमुक्त' क्षेत्र को भृकुटि-मध्य में बताया गया है। इसकी उपासना से प्राप्त ज्ञान के आधार पर दूसरों को आत्मज्ञान का उपदेश देना सम्भव होता है। तृतीय खण्ड में याज्ञवल्क्य द्वारा अमृतत्व प्राप्ति का उपाय बताया गया है। वह उपाय है शतरुद्रीय का जप। साधक इससे मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। चतुर्थखण्ड में विदेहराज के द्वारा संन्यास के सम्बन्ध में पूछे जाने पर ऋषि याज्ञवल्क्य ने संन्यास ग्रहण करने का क्रम, उसकी विधि-व्यवस्था, उसके करणीय कृत्य आदि का वर्णन किया है। पंचम खण्ड में पुनः अत्रि मुनि ने संन्यासी के यज्ञोपवीत, वस्त्र, मुण्डन, भिक्षा आदि विषयों पर याज्ञवल्क्य से मार्गदर्शन प्राप्त किया है, जिसका निष्कर्ष है, संन्यासी को मन-वाणी से पूर्णतया विषय-विकार से दूर रहना चाहिए। षष्ठ खण्ड में प्रसिद्ध संन्यासियों- संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु आदि के आचरण की समीक्षा की गई है और अन्त में दिगम्बर परमहंस का लक्षण बताया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- अध्यात्मोपनिषद्)

॥ प्रथमःखण्डः ॥

बृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यं यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। तस्माद्यत्र क्वचन गच्छति तदेव मन्येत तदविमुक्तमेव। इदं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृतीभूत्वा मोक्षीभवति। तस्मादविमुक्तमेव निषेवेत अविमुक्तं न विमुञ्चेदेवमेवैतद्याज्ञवल्क्यः ॥ १ ॥

भगवान् बृहस्पति ऋषि याज्ञवल्क्य से बोले-प्राणों का कौन सा स्थान (क्षेत्र) है? इन्द्रियों के देवयजन का क्या अभिप्राय है? एवं समस्त प्राणियों का ब्रह्मसदन क्या है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर देते हुए कहा- अविमुक्त ही प्राणों का क्षेत्र है। उसे ही इन्द्रियों का देवयजन कहा गया है और वही समस्त प्राणियों का ब्रह्मसदन है। अस्तु, किसी भी स्थान पर जाने वाले को यही समझना चाहिए। वही (कुरुक्षेत्र) प्राण-स्थान इन्द्रियों का देवयजन है और समस्त प्राणियों का ब्रह्मसदन (ब्रह्मस्थान) है। जब इस जगत् में जीव के प्राण का उत्क्रमण होता है, उस समय रुद्रदेव तारक ब्रह्म के सम्बन्ध में उपदेश करते हैं, जिससे वह जीव अमृतत्व पाकर मोक्ष पद की प्राप्ति करता है। इसीलिए प्राणी के लिए उचित है कि वह सदैव अविमुक्त की उपासना करता रहे, उसे कभी न छोड़े। इस प्रकार ऋषि याज्ञवल्क्य ने यह तथ्य प्रतिपादित किया ॥ १ ॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा तं कथमहं विजानीयामिति। स होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति ॥ १ ॥

इसके पश्चात् अत्रि मुनि ने याज्ञवल्क्य ऋषि से पूछा- 'इस अनन्त और अव्यक्त आत्मा को किस प्रकार जाना जा सकता है'? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- 'इसका ज्ञान प्राप्त करने के लिए अविमुक्त की ही उपासना करनी चाहिए, क्योंकि वह अनन्त और अव्यक्त आत्मा अविमुक्त में ही प्रतिष्ठित है'॥ १ ॥

सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति। का वै वरणा का च नासीति सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषान्वारयतीति तेन वरणा भवति। सर्वानिन्द्रियकृतान्पापान्नाशयतीति तेन नासी भवतीति। कतमच्चास्य स्थानं भवतीति। भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः संधिः स एष द्योर्लोकस्य परस्य च संधिर्भवतीति। एतद्वै संधिं संध्यां ब्रह्मविद उपासत इति सोऽविमुक्त उपास्य इति। सोऽविमुक्तं ज्ञानमाचष्टे यो वै तदेतदेवं वेदेति॥ २ ॥

यह अविमुक्त किसमें प्रतिष्ठित है ? यह पूछे जाने पर ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- 'यह वरणा और नासी के मध्य में विराजमान है।' अत्रि मुनि ने पुनः पूछा-यह वरणा और नासी क्या है ? ऋषि ने उत्तर दिया-'समस्त इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों) द्वारा किये गये पापों (दोषों) का जो निवारण करती है, वह वरणा है तथा जो समस्त इन्द्रियों द्वारा किये गये पापों को विनष्ट करती है, वह नासी है।' उनके पुनः यह पूछने पर कि इसका स्थान कौन सा है ? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- 'भृकुटी और नासिका का सन्धि स्थल ही इसका स्थान है। इसी को इस द्यु लोक और परलोक का संगम स्थल भी कहा गया है। ब्रह्मविद् इस सन्धि स्थल (भ्रू-घ्राण सन्धि) की उपासना करते हैं। अस्तु, वह अविमुक्त ही उपास्य है। इस प्रकार अविमुक्त की उपासना के फलस्वरूप जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वही दूसरों को आत्मा के सन्दर्भ में उपदेश करने में समर्थ है'॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

अथ हैनं ब्रह्मचारिण ऊचुः किं जप्येनामृतत्वं ब्रूहीति। स होवाच याज्ञवल्क्यः। शतरुद्रियेणेत्येतानि ह वा अमृतनामधेयान्येतैर्ह वा अमृतो भवतीति॥ १ ॥

इसके पश्चात् ब्रह्मचारी शिष्यों ने ऋषि याज्ञवल्क्य से पूछा-किसका जप करने से अमृतत्व प्राप्त किया जा सकता है ? ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- 'शतरुद्रीय जप के द्वारा अमृतत्व प्राप्त होता है। इसके द्वारा वह (साधक) मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है'॥ १ ॥

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

अथ ह जनको ह वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच भगवन् संन्यासमनुब्रूहीति। स होवाच याज्ञवल्क्यो ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्॥ १ ॥

एक बार विदेहराज जनक ने ऋषि याज्ञवल्क्य के समीप पहुँचकर सविनय यह कहा-'हे भगवन्! मुझे संन्यास के सम्बन्ध में बताइये।' ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- 'सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिए। उसे समाप्त करके गृहस्थ बनना चाहिए। गृहस्थ बनकर तब वानप्रस्थ (वानप्रस्थी) बनना चाहिए। वानप्रस्थ होकर प्रव्रज्या अर्थात् संन्यास ग्रहण करना चाहिए। यदि (विषयों से) विरक्ति हो जाये, तो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ किसी भी आश्रम के पश्चात् प्रव्रज्या अर्थात् संन्यास में प्रवेश किया जा सकता है। इसी प्रकार

व्रती हो या अव्रती, स्नातक हो या अस्नातक, स्त्री की मृत्यु हो जाने पर अग्नि ग्रहण करके त्याग किया हो अथवा अग्नि ग्रहण करके संस्कार न किया गया हो, चाहे जो भी स्थिति हो, जब मन विषयों से पूर्ण विरक्त हो जाए, तभी प्रव्रज्या अर्थात् संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए'॥ १ ॥

तद्धैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति। तदु तथा न कुर्यादाग्नेयीमेव कुर्यात्। अग्निर्ह वै प्राणः। प्राणमेवैतया करोति पश्चान्त्रैधातवीयामेव कुर्यात्। एतस्यैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति। अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः। तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धयरयिम् इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत्। एष ह वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणः। प्राणं गच्छ स्वाहेत्येव मेवैतदाह॥

(इस अवसर पर)कुछ लोग प्राजापत्य इष्टि करते हैं; किन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। उन्हें आग्नेयी इष्टि करनी चाहिए; क्योंकि अग्नि ही प्राण है। इसकी इष्टि करने से प्राणाभिवर्धन होता है। इसके पश्चात् त्रिधातु इष्टि करनी चाहिए। सत, रज और तम ये तीन धातुएँ हैं (सत शुक्ल वर्ण है, रज लोहित वर्ण है और तम कृष्ण वर्ण है)। इन इष्टियों के पश्चात् इस मन्त्र से अग्नि का अवघ्राण करना चाहिए-हे अग्ने! यह प्राण सामान्य कारण स्वरूप है, क्योंकि आपकी उत्पत्ति इस प्राण से ही हुई है। हे अग्ने! आप प्राण को दग्ध करने वाले हैं, आप प्रकाश और वृद्धि को प्राप्त करने वाले हैं। आप हमारी भी वृद्धि करें। जो अग्नि की योनि (अग्नि का उत्पादक) है, वह प्राण है। अतः हे अग्निदेव! आप उस प्राण में प्रविष्ट हों-यह कहकर आहुति दी जानी चाहिए ॥ २॥

ग्रामादग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाघ्रापयेत्। यद्यग्निं न विन्देदप्सु जुहुयात्। आपो वै सर्वा देवताः। सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वा समुद्धृत्य प्राश्नीयात्साज्यं हविरन्नामयं मोक्षमन्त्रस्त्र्यक्षरं विन्देत्। तद्ब्रह्मैतदुपासितव्यम्। एवमेवैतद्भगवन्निति वै याज्ञवल्क्यः ॥३ ॥

ग्राम से (गाँव के किसी श्रोत्रिय के गृह से) अग्नि को लाकर पूर्व वर्णित मन्त्र द्वारा उसका अवघ्राण करना (सूँघना) चाहिए। यदि अग्नि प्राप्त न हो, तो जल में आहुति प्रदान करनी चाहिए, क्योंकि जल ही समस्त देवता रूप है। मैं समस्त देवताओं को आहुति प्रदान कर रहा हूँ, ऐसा भाव करके जल में आहुति प्रदान करके घृत युक्त उस अवशिष्ट हविष्यान्न को उठाकर ग्रहण करे। मोक्षमन्त्र तीन अक्षरों (अ उ म् - ॐ) वाला है, ऐसा जानना चाहिए। वही ब्रह्म है और वही उपासना के योग्य है। ऐसा भगवान् याज्ञवल्क्य ने कहा ॥ ३॥

॥ पञ्चमः खण्डः ॥

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम्। पृच्छामि त्वा याज्ञवल्क्य अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मण इति। स होवाच याज्ञवल्क्य इदमेवास्य तद्यज्ञोपवीतं य आत्मा अपः प्राश्याचम्यायं विधिः परिव्राजकानाम्॥ १ ॥

इसके बाद अत्रि मुनि ने ऋषि याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया-'मैं यह जानना चाहता हूँ कि जिसने यज्ञोपवीत धारण नहीं किया है, वह ब्राह्मण किस प्रकार हो सकता है?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- 'उसका आत्मा ही उसका यज्ञोपवीत होता है। वह जल से (तीन बार) प्राशन और आचमन करे। यह संन्यासियों (परिव्राजकों) की विधि है'॥ १ ॥

वीराध्वाने वाऽनाशके वाऽपां प्रवेशे वाऽग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वाऽथ परिव्राड् - विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय भवति। यद्यातुरः स्यान्मनसा वाचा संन्यसेत्। एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति संन्यासी ब्रह्मविदित्येवमेवैष भगवन्निति वै याज्ञवल्क्यः॥ २ ॥

वीर पथ में, अनशन की स्थिति में, (गंगा आदि के) जल में प्रवेश करने पर, अग्नि प्रवेश में और महाप्रस्थान में परिव्राजक संन्यासी के लिए यही धर्म निश्चित है कि वह भगवा वस्त्र धारण करके मुण्डित होकर, अपरिग्रही बनकर, पवित्र और द्रोहरहित होकर भिक्षावृत्ति (लोकमंगल के लिए) अपनाकर जीवित रहे। यदि कोई संन्यास के लिए आतुर है, तो उसे मन और वाणी से (विषयों का) परित्याग करना चाहिए (विषयों से संन्यस्त होना चाहिए)। यह ज्ञान का पन्थ वेद प्रतिपादित है। इसीलिए संन्यासी के लिए यह सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि संन्यासी ब्रह्मविद् होता है। इस प्रकार भगवान् याज्ञवल्क्य ने यह मत प्रकट किया॥ २॥

॥ षष्ठः खण्डः ॥

तत्र परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुदुर्वासऋभुनिदाघजडभरतदत्तात्रेयरै-वतकप्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तः॥ १॥

संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ, जड़भरत, दत्तात्रेय और रैवतक आदि जो परमहंस संन्यासी हुए हैं, वे सभी अव्यक्त लिङ्ग अर्थात् संन्यास के चिह्नों से रहित थे। उनका आचरण भी अव्यक्त था। वे अन्दर से उन्मत्त न होते हुए भी बाहर से उन्मत्त लगते थे॥ १॥

त्रिदण्डं कमण्डलुं शिक्यं पात्रं जलपवित्रं शिखां यज्ञोपवीतं चेत्येतत्सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्॥ २॥

ऐसे (उपर्युक्त स्थिति वाले) संन्यासी को चाहिए कि वह त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिक्य (छींका भिक्षाधार पात्र), जल-पवित्र, शिखा और यज्ञोपवीत आदि प्रतीकों को 'भूः स्वाहा', ऐसा कहते हुए जल में विसर्जित कर दे। इसके उपरान्त संन्यासी को आत्मा का ही अनुसन्धान करना चाहिए॥ २॥

यथाजातरूपधरो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहस्तत्तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नः शुद्धमानसः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभौ समौ भूत्वा शून्यागारदेवगृहतृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रशालानदीपुलिन गिरिकुहरक-न्दरकोटरनिर्झरस्थण्डिलेष्वनिकेतवास्यप्रयत्नो निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नाम स परमहंसो नामेति॥३॥

संन्यासी (परमहंस) यथा जातरूप धारण करने वाला अर्थात् निश्छल-निःस्पृह होता है। वह निर्द्वन्द्व, अपरिग्रही, तत्त्व ब्रह्म मार्ग में निरन्तर गतिमान् तथा शुद्ध मन वाला होता है। जीवन्मुक्त होने पर भी वह प्राण धारणार्थ भिक्षा आदि के द्वारा आहार को उचित समय पर 'उदर' रूपी पात्र में डाल देता है। उसे किसी प्रकार के लाभ और अलाभ की चिन्ता नहीं होती ; अतः उन्हें समान समझता है। वह शून्य स्थल, देवगृह, तिनकों के समूह, सर्प की बाँबी (बिल), वृक्ष के मूल, कुम्हार के घर, अग्निहोत्र स्थल, नदी तट, पर्वत, खाई या गुफा, खोह और निर्झर आदि विशुद्ध प्रदेश में पूर्व घर का ध्यान न रख, ममता रहित होकर रहता है। वह सतत शुक्ल (सात्त्विक) ध्यान में तल्लीन रहकर अध्यात्मनिष्ठ होकर शुभ और अशुभ कर्मों को निर्मूल करता रहता है, ऐसा (संन्यास धर्म का पालन)करते हुए जो संन्यासी देह का परित्याग कर देता है, वह परमहंस कहलाता है॥ ३॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति जाबालोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ जाबाल्युपानषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल २३ मन्त्र हैं, जिसमें पिप्पलाद पुत्र पैप्पलादि और भगवान् जाबालि का परम तत्त्व के विषय में प्रश्नोत्तर है।

प्रमुख प्रश्न है, तत्त्व क्या है, जीव कौन है, पशु कौन है, ईश कौन है और मोक्ष प्राप्ति का उपाय क्या है? इन्हीं सब प्रश्नों का उत्तर क्रमशः जाबालि मुनि ने दिया है। अन्त में उपनिषद्-प्रतिपादित ज्ञान की महिमा का वर्णन करते हुए प्रश्नोत्तर को विराम दिया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- आरुण्युपनिषद्)

अथ हैनं भगवन्त जाबालिं पैप्पलादिः पप्रच्छ भगवन्मे ब्रूहि परमतत्त्वरहस्यम्॥ १ ॥ किं तत्त्वं को जीवः कः पशुः क ईशः को मोक्षोपाय इति ॥ २ ॥ स तं होवाच साधु पृष्टं सर्वं निवेदयामि यथाज्ञातमिति ॥ ३ ॥ पुनः स तमुवाच कुतस्त्वया ज्ञातमिति ॥ ४ ॥ पुनः स तमुवाच षडाननादिति ॥ ५ ॥ पुनः स तमुवाच तेनाथ कुतो ज्ञातमिति ॥ ६ ॥ पुनः स तमुवाच तेनेशानादिति ॥ ७ ॥ पुनः स तमुवाच कथं तस्मात्तेन ज्ञातमिति ॥ ८ ॥ पुनः स तमुवाच तदुपासनादिति ॥ ९ ॥ पुनः स तमुवाच भगवन्कृपया मे सरहस्यं सर्वं निवेदयेति ॥ १० ॥

ऋषि पैप्पलादि (पिप्पलाद के पुत्र) ने भगवान् जाबालि से प्रश्न किया-हे भगवन्! मेरे प्रति परम तत्त्व के रहस्य का वर्णन कीजिए। तत्त्व क्या है? जीव कौन है? पशु कौन है? ईश कौन है? मोक्ष प्राप्ति का उपाय क्या है? महर्षि जाबालि ने कहा-आपने बहुत श्रेष्ठ प्रश्न किया। जो मुझे ज्ञात है, वह सब मैं आपसे निवेदन करता हूँ। पैप्पलादि ने पूछा-यह सब आपको कहाँ से ज्ञात हुआ? जाबालि ने कहा-षडानन से ज्ञात हुआ। पैप्पलादि ने पुनः पूछा-उन (षडानन) को कहाँ से यह ज्ञान प्राप्त हुआ? जाबालि ने कहा-उन्हें यह ज्ञान ईशान से प्राप्त हुआ। पैप्पलादि ने पुनः प्रश्न किया कि उन्होंने यह कैसे प्राप्त किया? जाबालि ने उत्तर दिया कि उन्होंने (ईशान ने) उपासना के द्वारा यह ज्ञान प्राप्त किया। (यह सुनकर) पैप्पलादि ने कहा-हे भगवन्! मुझे यह सब कुछ रहस्य सहित बताइये॥ १-१० ॥

स तेन पृष्टः सर्वं निवेदयामास तत्त्वम्। पशुपतिरहंकाराविष्टःसंसारी जीवः स एव पशुः। सर्वज्ञः पञ्चकृत्यसंपन्नः सर्वेश्वर ईशः पशुपतिः ॥ ११ ॥ के पशव इति पुनः स तमुवाच ॥ १२ ॥ जीवाः पशव उक्ताः। तत्पतित्वात्पशुपतिः ॥ १३ ॥ स पुनस्तं होवाच कथं जीवाः पशव इति। कथं तत्पतिरिति ॥ १४ ॥ स तमुवाच यथा तृणाशिनो विवेकहीनाः परप्रेष्याः कृष्यादिकर्मसु नियुक्ताः सकलदुःखसहाः स्वस्वामिबध्यमाना गवादयः पशवः। यथा तत्स्वामिन इव सर्वज्ञ ईशः पशुपतिः ॥ १५ ॥ तज्ज्ञानं केनोपायेन जायते ॥ १६ ॥ पुनः स तमुवाच विभूतिधारणादेव ॥ १७ ॥ तत्प्रकारः कथमिति। कुत्र कुत्र धार्यम् ॥१८ ॥

पैप्पलादि द्वारा पूछे जाने पर जाबालि ने कहा–मैं सम्पूर्ण तत्त्व कहता हूँ। स्वयं पशुपति ही अहंकार युक्त होकर संसारी जीव हो जाता है। वही पशु है। सर्वज्ञ और पञ्च कृत्यों से सम्पन्न, सर्वेश्वर ईश ही पशुपति है। पैप्पलादि ने पुनः प्रश्न किया–पशु कौन है ? जाबालि ने कहा–जीव को ही पशु कहा गया है। जीवों के पति होने के कारण उन्हें पशुपति कहते हैं। उन्होंने फिर पूछा–जीव पशु किस तरह है ? और (पशुपति) उनके पति कैसे हैं ? महर्षि जाबालि ने उत्तर दिया–जिस प्रकार घास का सेवन करने वाले, विवेक हीन, किसी अन्य के दास, कृषि आदि कार्यों में नियोजित अनेक प्रकार के दुःखों को सहन करने वाले, अपने स्वामी के बन्धन में बँधे हुए गौ आदि पशु होते हैं (उसी प्रकार ये जीव भी ईश्वर के बन्धन में बँधे रहते हैं)। जैसे–उन पशुओं के स्वामी (कोई मनुष्य) होते हैं उसी प्रकार समस्त जीवों के स्वामी (पति) सर्वज्ञ, ईश्वर–पशुपति होते हैं। पैप्पलादि ने पुनः पूछा– वह ज्ञान किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है ? जाबालि ने कहा–विभूति धारण के द्वारा उस ज्ञान को प्राप्त किया जा सकता है। पैप्पलादि ने पूछा–उसे धारण करने की विधि क्या है ? उसे कहाँ–कहाँ धारण करना चाहिए ?॥ ११–१८॥

पुनः स तमुवाच सद्योजातादिपञ्चब्रह्ममन्त्रैर्भस्म संगृह्याग्निरिति भस्मेत्यनेनाभिमन्त्र्य मानस्तोक इति समुद्धृत्य जलेन संसृज्य त्र्यायुषमिति शिरोललाटवक्षःस्कन्धेष्विति तिसृभिस्त्र्यायुषैस्त्र्यम्बकैस्तिस्रो रेखाः प्रकुर्वीत। व्रतमेतच्छाम्भवं सर्वेषु वेदेषु वेदवादिभिरुक्तं भवति। तत्समाचरेन्मुमुक्षुर्न पुनर्भवाय॥ १९॥

ऋषि जाबालि ने कहा– 'सद्योजात' आदि पाँच ब्रह्म मन्त्रों से भस्म का संग्रह करे, फिर 'अग्निरिति' इस मन्त्र से उसे अभिमन्त्रित करे, 'मानस्तोक' (यजु० १६.१६) इस मंत्र से उसे उठाये, तत्पश्चात् उसे जल से गीला करके 'त्र्यायुषम्' (यजु० ३.६२) इस मंत्र से सिर, ललाट, वक्षस्थल, कन्धों पर धारण करे। इसके बाद तीन त्र्यायुष और तीन त्र्यम्बक (यजु० ३.६०) मन्त्रों से तीन रेखायें खींचे। वेदों में यह शाम्भव व्रत वेदवादियों के द्वारा बतलाया गया है। इसका (इस व्रत का) आचरण करने वाले मुमुक्षु का पुनर्जन्म नहीं होता॥ १९॥

[यहाँ जिन मन्त्रों का संक्षिप्तांश दिया है, उनमें जो मन्त्र यजुर्वेद के हैं, उनके सन्दर्भ दे दिये गये हैं। शेष के मन्त्र इस प्रकार हैं– सद्योजातादि पाँच मन्त्र– ॐ सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमः। भवेभवे नाति भवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः॥ १॥ वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः। श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नमः। कालाय नमः कल विकरणाय नमो बल विकरणाय नमः॥ २॥ बलाय नमो बल प्रमथनाय नमः। सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय नमः॥ ३॥ अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः सर्वेभ्यः सर्व शर्वेभ्यो नमस्तेऽअस्तु रुद्ररूपेभ्यः ॥ ४॥ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि। तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्॥ ५॥ (रुद्राष्टाध्यायी) अग्निरिति–ॐ अग्निरिति भस्म। वायुरिति भस्म। जलमिति भस्म। स्थलमिति भस्म। व्योमेति भस्म। सर्व ँ ह वा इदं भस्म। मन एतानि चक्षूंषि भस्मानि इति॥ (आह्निक सूत्रावलिः पृ. ६५)]

अथ सनत्कुमारः प्रमाणं पृच्छति । त्रिपुण्ड्रधारणस्य

त्रिधा रेखा आललाटादाचक्षुषोराभ्रुवोर्मध्यतश्च॥ २०॥

प्रमाण के विषय में पूछने पर सनत्कुमार ने बताया कि त्रिपुण्ड्र धारण करने के लिए तीन आड़ी रेखायें सम्पूर्ण ललाट के मध्य, भौंहों और नेत्रों तक खींचे॥ २०॥

याऽस्य प्रथमा रेखा सा गार्हपत्यश्चाकारो रजो भूर्लोकः स्वात्मा क्रियाशक्तिः ऋग्वेदः प्रातःसवनं प्रजापतिर्देवो देवतेति। याऽस्य द्वितीया रेखा सा दक्षिणाग्निरुकारः सत्त्वमन्तरिक्षमन्तरात्मा चेच्छाशक्तिर्यजुर्वेदो माध्यन्दिनसवनं विष्णुर्देवो देवतेति। याऽस्य

तृतीया रेखा साऽऽहवनीयो मकारस्तमो द्यौर्लोकः परमात्मा ज्ञानशक्तिः सामवेदस्तृतीयसवनं महादेवो देवतेति॥ २१॥

जो इसकी प्रथम रेखा है, वह गार्हपत्य अग्नि रजोगुण 'अ' कार भूलोक, अपनी आत्मा की क्रिया - शक्ति स्वरूप, ऋग्वेद रूप और प्रातः सवन स्वरूप है, इसके देवता स्वयं प्रजापति हैं। जो इसकी द्वितीय रेखा है, वह दक्षिणाग्नि स्वरूप, सत्त्वगुण रूप, 'उ' कार रूप, अन्तरिक्ष स्वरूप, अपनी अन्तरात्मा की इच्छा-शक्ति रूप, यजुर्वेद रूप और माध्यन्दिन सवनरूप है, इसके देवता विष्णु हैं। जो इसकी तृतीय रेखा है, वह आहवनीय अग्निरूप, 'म' कार रूप, तमोगुण स्वरूप, द्युलोकरूप, परमात्मा की ज्ञान-शक्ति स्वरूप, सामवेद रूप तथा तृतीय सवन स्वरूप है, इसके देवता स्वयं महादेव (शिव) हैं॥ २१॥

त्रिपुण्ड्रं भस्मना करोति यो विद्वान्ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिर्वा स महापातकोपपातकेभ्यः पूतो भवति। स सर्वान् वेदानधीतो भवति। स सर्वान्देवान्ध्यातो भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सकलरुद्रमन्त्रजापी भवति। न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते॥ इति॥ २२॥ ॐ सत्यमित्युपनिषत्॥ २३॥

जो विद्वान् ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी या यति भस्म का त्रिपुण्ड्र धारण करता है, (पूर्वमंत्र में दर्शाये गये त्रिपुण्ड्र के मर्म को आत्मसात् करता है।) वह महापातकों और उपपातकों से विमुक्त हो जाता है। वह समस्त वेदों का अवगाहन करने वाला, समस्त देवताओं का ध्यान करने वाला, समस्त तीर्थों के स्नान का पुण्य प्राप्त करने वाला और सकल रुद्र मन्त्रों का जप कर्त्ता हो जाता है। उसका (ऐसा करने वाले का) इस जगत् में पुनरावर्तन नहीं होता, पुनरावर्तन नहीं होता। यह सत्य है (इस प्रकार) यह उपनिषद् पूर्ण हुई॥ २२-२३॥

ॐ आप्यायन्तु .....इति शान्तिः॥

॥ इति श्रीजाबाल्युपनिषत्समाप्ता॥

॥ तुरीयातीतोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसे तुरीयातीतावधूतोपनिषद् भी कहा जाता है। इस उपनिषद् में पितामह ब्रह्माजी तथा आदिनारायण का प्रश्नोत्तर विद्यमान है, जिसमें पितामह ब्रह्माजी ने अपने पिता आदिनारायण से तुरीयातीत-अवधूत का मार्ग पूछा है। आदिनारायण ने इस मार्ग पर चलने वालों की दुर्लभता बताते हुए अवधूत का आचरण-व्यवहार,चिन्तन-मनन आदि की वह कार्यपद्धति बताई है, जिस पर चल कर व्यक्ति अपने जीवन का चरम लक्ष्य प्राप्त कर लेता है। अन्त में इस उपनिषद् की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए इसे पूर्णता प्रदान की गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- अध्यात्मोपनिषद्)

अथ तुरीयातीतावधूतानां कोऽयं मार्गस्तेषां का स्थितिरिति सर्वलोक पितामहो भगवन्तं पितरमादिनारायणं परिसमेत्योवाच। तमाह भगवान्नारायणो योऽयमवधूतमार्गस्थो लोके दुर्लभतरो नतु बाहुल्यो यद्येको भवति स एव नित्यपूतः स एव वैराग्यमूर्तिः स एव ज्ञानाकारः स एव वेदपुरुष इति ज्ञानिनो मन्यन्ते। महापुरुषो यस्तच्चित्तं मय्येवावतिष्ठते। अहं च तस्मिन्नेवावस्थितः। सोऽयमादौ तावत्क्रमेण कुटीचको बहूदकत्वं प्राप्य बहूदको हंसत्वमवलम्ब्य हंसः परमहंसो भूत्वा स्वरूपानुसंधानेन सर्वप्रपञ्चं विदित्वा दण्डकमण्डलुकटिसूत्रकौपीनाच्छादनं स्वविध्युक्तक्रियादिकं सर्वमप्सु संन्यस्य दिगम्बरो भूत्वा विवर्णजीर्णवल्कलाजिनपरिग्रहमपि संत्यज्य तदूर्ध्वममन्त्रवदाचरन्क्षौराभ्यङ्गस्नानोर्ध्व-पुण्ड्रादिकं विहाय लौकिकवैदिकमप्युपसंहृत्य सर्वत्र पुण्यापुण्यवर्जितो ज्ञानाज्ञानमपि विहाय शीतोष्णसुखदुःखमानावमानं निर्जित्य वासनात्रयपूर्वकं निन्दाऽनिन्दागर्वमत्सर-दम्भदर्पेच्छाद्वेषकामक्रोधलोभमोहहर्षामर्षासूयात्मसंरक्षणादिकं दग्ध्वा स्ववपुः कुणपाकारमिव पश्यन्नयत्नेनानियमेन लाभालाभौ समौ कृत्वा गोवृत्त्या प्राणसंधारणं कुर्वन्यत्प्राप्तं तेनैव निर्लोलुपः सर्वविद्यापाण्डित्यप्रपञ्चं भस्मीकृत्य स्वरूपं गोपयित्वा ज्येष्ठाऽज्येष्ठत्वानपलापकः सर्वोत्कृष्टत्वसर्वात्मकत्वाद्वैतं कल्पयित्वा मत्तो व्यतिरिक्तः कश्चिन्नान्योऽस्तीति देवगुह्यादिध-नमात्मन्युपसंहृत्य दुःखेन नोद्विग्नः सुखेन नानुमोदको रागे निःस्पृहः सर्वत्र शुभाशुभयोरनभिस्नेहः सर्वेन्द्रियोपरमः स्वपूर्वापन्नाश्रमाचारविद्याधर्म-प्राभवमननुस्मरन्त्यक्तवर्णाश्रमाचारः सर्वदा दिवानक्तसमत्वेनास्वप्नः सर्वत्र सर्वदा संचारशीलो देहमात्रावशिष्टो जलस्थलकमण्डलुः सर्वदानुन्मत्तो बालोन्मत्तपिशाचवदेकाकी संचरन्नसंभाषणपरः स्वरूपध्यानेन निरालम्बम-वलम्ब्य स्वात्मनिष्ठानुकूलेन सर्वं विस्मृत्य तुरीयातीतावधूतवेषेणाद्वैतनिष्ठापरः प्रणवात्मकत्वेन देहत्यागं करोति यः सोऽवधूतः स कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषत् ॥

(एक बार) समस्त लोकों के पितामह ब्रह्मा ने अपने पिता आदिनारायण के निकट जाकर उनसे पूछा-भगवन् तुरीयातीत अवधूत का मार्ग कौन सा है और उसकी कैसी स्थिति होती है?

भगवान् नारायण ने उनसे कहा-अवधूत पथ पर चलने वाले इस लोक में दुर्लभ हैं, वे बहुत नहीं होते, यदि एकाध होता भी है, तो वह नित्य पवित्र, वैराग्य मूर्ति, ज्ञानाकार और वेद पुरुष होता है, ऐसा विद्वज्जन मानते हैं। ऐसा महापुरुष अपने चित्त को मुझ में अवस्थित रखता है और मैं उसी में स्थित होता हूँ। वह प्रारम्भ में कुटीचक होता है, तत्पश्चात् बहूदकत्व प्राप्त करके हंसत्व का अवलम्बन लेता है। हंस होकर फिर परमहंस बनता है। वह निजस्वरूप के अनुसन्धान द्वारा समस्त प्रपञ्चों के रहस्य को जानकर, दण्ड, कमण्डलु, कटिसूत्र, कौपीन, आच्छादन वस्त्र और विधिपूर्वक की जाने वाली नित्य क्रियाओं को जल में विसर्जित कर देता है और दिगम्बर होकर जीर्ण वल्कल और अजिन (मृग) चर्म के भी परिग्रह को छोड़कर समस्त प्रकार का निषेध करके (अमन्त्रवत् होकर), क्षौर कर्म (केश-कर्तन-दाढ़ी बाल आदि बनवाने), अभ्यङ्ग स्नान (उबटन लगाकर स्नान करने) तथा ऊर्ध्व पुण्ड्र (मस्तक पर तिलक) लगाने को भी छोड़कर, वैदिक और लौकिक कर्मों का उपसंहार करके, सर्वत्र पुण्य और अपुण्य को भी त्याग कर ज्ञान और अज्ञान को भी छोड़ देता है। वह शीत-उष्ण (सर्दी-गर्मी), सुख-दुःख, मान-अपमान को भी जीत लेता है। वह शरीर की तीनों वासनाओं सहित निन्दा-अनिन्दा, गर्व, मत्सर, दम्भ, दर्प,इच्छा, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, अमर्ष, असूया और आत्म संरक्षण आदि को (भावाग्नि में) जलाकर, अपनी काया को मुर्दे की तरह देखता हुआ, प्रयत्न और नियम के बिना लाभ और हानि को समान करके, गोवृत्ति से (गौ की तरह) जो कुछ मिल गया, उसी में सन्तोष करके प्राण धारण किए रहता है। वह सब प्रकार से लालचरहित होकर समस्त विद्याओं और पाण्डित्य को भस्मीभूत करके, अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाते हुए, छोटे-बड़े के भाव को (बाह्य व्यवहार में) पूर्ववत् (अज्ञानी के समान) बनाये रखता है। सर्वोत्कृष्ट सर्वात्मक रूप अद्वैत की कल्पना करके उसका यह मानना होता है कि मेरे अतिरिक्त कुछ और नहीं है। वह देव रहस्य (गुह्य) आदि धन को अपने अन्दर समेट करके (अर्थात् देव रहस्यों को अपने में गोपनीय करके) न दुःख में उद्विग्न होता है और न सुख में प्रसन्न होता है। वह राग में स्पृहा नहीं रखता और न शुभ-अशुभ किसी बात से स्नेह रखता है। उसकी समस्त इन्द्रियाँ उपराम को प्राप्त हो जाती हैं। वह अपने पूर्व के आश्रम, विद्या, धर्म, प्रभाव का स्मरण नहीं करता और वर्णाश्रम आचार का परित्याग कर देता है। दिन और रात के प्रति समान भाव रखने के कारण वह कभी सोता नहीं (अर्थात् सदैव जाग्रत् रहकर सावधान रहता है)। वह सतत सर्वत्र विचरणशील रहता है। उसका शरीर मात्र अवशिष्ट रहता है (अर्थात् वह सदैव ब्रह्मरूप होकर शरीर में रहता है और शरीर द्वारा व्यवहार करता है)। जलस्थल (सरोवर-कूप आदि) उसका कमण्डलु होता है। वह सदा अनुन्मत्त रहता है, किन्तु बाहर से बालक,उन्मत्त और पिशाच आदि के समान एकाकी विचरण करता हुआ किसी से सम्भाषण नहीं करता और अपने वास्तविक रूप के ध्यान द्वारा निरालम्ब का अवलम्बन लेकर अपनी आत्मनिष्ठा की अनुकूलता से (अर्थात् आत्मनिष्ठ होकर) सब को भुला देता है। इस प्रकार से जो तुरीयातीत अवधूत के वेश वाला सतत अद्वैत निष्ठा परायण होकर 'प्रणव' भाव में निमग्न होकर शरीर का परित्याग करता है, वह कृतकृत्य हो जाता है, यही इस उपनिषद् का प्रतिपादन है॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति तुरीयातीतोपनिषत्समाप्ता॥

॥ द्वयोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् किस वेद से सम्बद्ध है, यह तथ्य अभी अज्ञात है। इस उपनिषद् में कुल सात मन्त्र हैं, जिसमें 'द्वय' की उत्पत्ति और स्वरूप का बड़े ही रहस्यमय ढंग से प्रतिपादन किया गया है।

ॐ अथातः श्रीमद्द्वयोत्पत्तिः। वाक्यो द्वितीयः। षट्पदान्यष्टादश। पञ्चविंशत्यक्षराणि। पञ्चदशाक्षरं पूर्वम्। दशाक्षरं परम्। पूर्वो नारायणः प्रोक्तोऽनादिसिद्धो मन्त्ररत्नः सदाचार्यमूलः।

अब श्रीमद्द्वय की उत्पत्ति विवेचित की जाती है (इसकी महत्ता वर्णित की जाती है)। द्वितीय वाक्य है। षट्पद अष्टादश संख्या वाले हैं। इसमें पच्चीस अक्षर हैं। पन्द्रह अक्षर पहले और दस अक्षर बाद में हैं। पूर्व में नारायण को अनादि सिद्ध कहा गया है, जो सदाचार के मूल और मंत्रों में रत्न स्वरूप हैं।

[यह उपनिषद् श्रीमद् (श्रीसम्पन्न) द्वय (दो) की उत्पत्ति के संकल्प के साथ प्रारम्भ होता है। 'वाक्य' को द्वितीय कहने से स्पष्ट होता है कि प्रथम 'अक्षर' को माना गया है। अक्षर अविनाशी-अव्यक्त भी है, जो सदैव से है, अतः प्रथम है; वाक्य उसकी अभिव्यक्ति होने से द्वितीय है। ऋषि ने उस प्रथम या पूर्व को अनादिसिद्ध-मन्त्ररत्न नारायण कहा है, इस आधार पर वह प्रथम अक्षर 'ॐ' कहा जा सकता है। ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्ति अक्षर या नारायण है, वह द्वितीय वाक्य या आचार्य रूप गुरु का मूल है। इस द्वितीय आचार्यरूप गुरु का विवेचन आगे के मन्त्रों में किया गया है।]

आचार्यो वेदसंपन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः। मन्त्रज्ञो मन्त्रभक्तश्च सदामन्त्राश्रयः शुचिः ॥ १ ॥
गुरुभक्तिसमायुक्तः पुराणज्ञो विशेषवित्। एवं लक्षणसंपन्नो गुरुरित्यभिधीयते ॥ २ ॥

जो आचार्य वेद सम्पन्न, मंत्रों का ज्ञाता, मंत्रों का भक्त, मंत्रों का आश्रय लेने वाला, पुराणज्ञ, विशेषज्ञ, पवित्र, ईर्ष्यारहित, विष्णु भक्त और गुरु भक्त है, ऐसे लक्षणों से सम्पन्न व्यक्ति को 'गुरु' कहते हैं ॥१-२॥

आचिनोति हि शास्त्रार्थानाचारस्थापनादपि। स्वयमाचरते यस्तु तस्मादाचार्य उच्यते ॥ ३ ॥

जो शास्त्रों के अर्थ को सम्यक् प्रकार से चुनता है (समझता है) और सदाचार की न केवल स्थापना करता है, वरन् स्वयं भी वैसा ही आचरण (सदाचरण) करता है, उसे आचार्य कहते हैं ॥ ३ ॥

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात् रुशब्दस्तन्निरोधकः। अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥ ४ ॥

गुरु शब्द में 'गु' का अर्थ अन्धकार और 'रु' शब्द का अर्थ उसका (अन्धकार का) निरोधक है। (अज्ञान के) अन्धकार को रोकने के कारण ही (अन्धकार रोकने वाले व्यक्ति को) गुरु कहते हैं ॥ ४ ॥

गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः। गुरुरेव परं विद्या गुरुरेव परं धनम् ॥ ५ ॥

गुरु ही परम ब्रह्म है, गुरु ही परागति है, गुरु ही परम विद्या है और गुरु को ही परम धन कहा गया है ॥

गुरुरेव परः कामः गुरुरेव परायणः। यस्मात्तदुपदेष्टासौ तस्माद्गुरुतरो गुरुः ॥ ६ ॥

गुरु ही सर्वोत्तम अभिलषित वस्तु है, गुरु ही परम आश्रय स्थल है तथा परम ज्ञान का उपदेष्टा होने के कारण ही गुरु महान् (गुरुतर) होता है ॥ ६ ॥

यस्सकृदुच्चारणः संसारविमोचनो भवति। सर्वपुरुषार्थसिद्धिर्भवति। न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तत इति। य एवं वेदेत्युपनिषत्॥ ७ ॥

'गुरु' शब्द का उच्चारण एक बार भी कर लेने से संसार से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। उसके (गुरु उच्चारण से) सभी पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। फिर वह कदापि इस संसार में पुनरागमन नहीं करता, कभी पुनरावर्तन नहीं करता, यह सत्य है। जो इसे ठीक प्रकार समझता है (उसे सभी फल प्राप्त होते हैं) ॥ ७ ॥

॥ इति द्वयोपनिषत् समाप्ता ॥

॥ नारदपरिव्राजकोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध है। इसमें परिव्राजक-संन्यासी के सिद्धान्तों, आचरणों आदि का विस्तृत वर्णन है। इसके नाम से ही प्रकट है कि इस उपनिषद् के उपदेष्टा देवर्षि नारदजी हैं, जो परिव्राजकों (परितः व्रजन्ति इति परिव्राजकः) के सर्वोत्कृष्ट आदर्श हैं।

इस उपनिषद् के कुल नौ प्रखण्ड हैं, जिन्हें 'उपदेश' की संज्ञा प्रदान की गई है। प्रथम उपदेश में शौनक आदि अनेक ऋषियों ने देवर्षि नारद जी से संसारबन्धन से मुक्ति का उपाय जानना चाहा है, उसी के उत्तर में नारद जी ने विस्तार से वर्णाश्रम धर्म का विवेचन किया है। द्वितीय उपदेश में शौनक जी ने 'संन्यास' की विधि के विषय में नारद जी से पूछा है। तृतीय उपदेश में नारदजी ने संन्यास का सच्चा अधिकारी कौन है? यह प्रश्न पितामह से पूछा है। इसके बाद आतुर संन्यास का विवेचन किया गया है। चतुर्थ-पंचम उपदेश में संन्यास धर्म के पालन का महत्त्व एवं संन्यास-धर्म ग्रहण करने की शास्त्रीय विधि का विस्तृत वर्णन किया गया है। साथ ही संन्यासी के भेद भी वर्णित किए गए हैं। षष्ठ उपदेश में तुरीयातीत पद की प्राप्ति के उपाय तथा परिव्राजक (संन्यासी) की जीवनचर्या पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। सातवें उपदेश में संन्यास धर्म के सामान्य नियमों का तथा कुटीचक, बहूदक आदि संन्यासियों के विशेष नियमों का उल्लेख किया गया है। अष्टम उपदेश में प्रणवानुसन्धान के क्रम में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अन्तिम नवें उपदेश में ब्रह्म के स्वरूप का विस्तृत वर्णन है, साथ ही आत्मवेत्ता संन्यासी का लक्षण बताकर उसके द्वारा परमपद प्राप्त करने की प्रक्रिया का निरूपण करते हुए उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- अथर्वशिर उपनिषद्)

॥ प्रथमोपदेशः ॥

अथ कदाचित्परिव्राजकाभरणो नारदः सर्वलोकसंचारं कुर्वन्नपूर्वपुण्यस्थलानि पुण्यतीर्थानि तीर्थीकुर्वन्नवलोक्य चित्तशुद्धिं प्राप्य निर्वैरः शान्तो दान्तः सर्वतो निर्वेदमासाद्य स्वरूपानुसंधानमनुसंधाय नियमानन्दविशेषगण्यं मुनिजनैरुपसंकीर्णं नैमिषारण्यं पुण्यस्थलमवलोक्य सरिगमपधनिससंज्ञैर्वैराग्यबोधकरैः स्वरविशेषैःप्रापञ्चिकपराङ्-मुखैर्हरिकथालापैःस्थावरजङ्गमनामकैर्भगवद्भक्तिविशेषैर्नरमृगकिंपुरुषामरकिंनराप्सरो गणान्संमोहयन्नागतं ब्रह्मात्मजं भगवद्भक्तं नारदमवलोक्य द्वादशवर्षसत्रयागोपस्थिताः श्रुताध्ययनसंपन्नाः सर्वज्ञास्तपोनिष्ठापराश्च ज्ञानवैराग्यसंपन्नाः शौनकादिमहर्षयः प्रत्युत्थानं कृत्वा नत्वा यथोचितातिथ्यपूर्वकमुपवेशयित्वा स्वयं सर्वेऽप्युपविष्टा भो भगवन् ब्रह्मपुत्र कथं मुक्त्युपायोऽस्माकं वक्तव्यम् ॥ १ ॥

एक बार परिव्राजकों में सर्वश्रेष्ठ देवर्षि नारद जी समस्त लोकों में भ्रमण करते हुए अत्यन्त पुण्यदायी स्थानों एवं तीर्थ स्थलों में गये। वे समस्त स्थल उनके शुभागमन से और भी अधिक पवित्र हो गये। उन सभी तीर्थों के दर्शन मात्र से ही उन देवर्षि ने अपने चित्त की शुद्धि प्राप्त की। उन देव ऋषि का मन अत्यधिक शान्त था, सभी इन्द्रियाँ उनके वश में थीं, वे सभी तरफ से विरक्त थे तथा उनके मन में किसी भी जीव के प्रति द्वेष-

भाव नहीं था। वे सभी तरफ से विरक्त हो, स्वयं के स्वरूप के अनुसंधान में लगे हुए थे। भ्रमण करते-करते वे नैमिषारण्य में आये, जो नियम-संयम से आनन्दित करने के कारण विशेष गणना करने योग्य पवित्र तीर्थ है। उस तीर्थ में अनेकों ऋषि-मुनि निवास करते थे। उन देवर्षि नारद जी ने उस पुण्य भूमि का दर्शन किया, वहाँ वैराग्य का बोध कराने वाले विशेष वीणा के स्वर झंकृत हो रहे थे। वे सांसारिक चर्चा से परे रहकर भगवान् की वीणा द्वारा मधुर कथा के गीतों में रस लेते थे। उन देवर्षि के गीतों का श्रवण करके समस्त स्थावर-जंगम प्राणिसमुदाय आनन्द से झूम उठता था। उनका भक्ति रस से परिपूर्ण संगीत मनुष्य, पशु, देवता, किन्नर, गन्धर्व एवं अप्सरा आदि को भी आकृष्ट कर रहा था। उस समय उस सुप्रसिद्ध स्थल पर बारह वर्षीय सत्र-याग सम्पन्न किया जा रहा था। उस महान् यज्ञ में समस्त देवगण, तपस्वीजन, ज्ञान-वैराग्य से ओत-प्रोत शौनक आदि महर्षि जन सम्मिलित हुए। उन महर्षिजनों ने परम भागवत देवर्षि नारद को आया देखकर अतिभव्य स्वागत-सत्कार किया। उनके चरणों में मस्तक झुकाया तथा उन्हें सर्वश्रेष्ठ आसन पर प्रतिष्ठित किया। तदनन्तर समस्त महर्षिजन अपने-अपने आसनों पर सुशोभित हुए, फिर शौनक आदि ऋषियों ने उनसे नम्रतापूर्वक प्रश्न किया-हे देवर्षे! संसार के बन्धनों से मुक्ति का क्या उपाय है? कृपा करके हमें यह बताने का अनुग्रह करें॥ १॥

इत्युक्तस्तान् स होवाच नारदः सत्कुलभवोपनीतः सम्यगुपनयनपूर्वकं चतुश्चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः स्वाभिमतैकगुरुसमीपे स्वशाखाध्ययनपूर्वकं सर्वविद्याभ्यासं कृत्वा द्वादशवर्षशुश्रूषापूर्वकं ब्रह्मचर्यं पञ्चविंशतिवत्सरं गार्हस्थ्यं पञ्चविंशतिवत्सरं वानप्रस्थाश्रमं तद्विधिवत्क्रमान्निर्वर्त्य चतुर्विधब्रह्मचर्यं षड्विधं गार्हस्थ्यं चतुर्विधं वानप्रस्थधर्मं सम्यगभ्यस्य तदुचितं कर्म सर्वं निर्वर्त्य साधनचतुष्टयसंपन्नः सर्वसंसारोपरि मनोवाक्कायकर्मभिर्यथाशानिवृत्तस्तथा वासनैषणोपर्यपि निर्वैरः शान्तो दान्तः संन्यासी परमहंसाश्रमेणास्खलित-स्वस्वरूपध्यानेन देहत्यागं करोति स मुक्तो भवति स मुक्तो भवतीत्युपनिषत्॥ २॥

उन शौनकादि महर्षिजनों के इस प्रकार प्रश्न करने पर उन त्रिलोक-प्रसिद्ध देवर्षि नारद जी ने कहा-श्रेष्ठ कुल में प्रादुर्भूत पुरुष यदि उपनयन संस्कार में संस्कृत न हुआ हो, तो सर्वप्रथम उसका विधिवत् उपनयन-संस्कार सम्पन्न कराये। तदनन्तर चवालीस संस्कारों से सम्पन्न होकर तथा अपने मनोनुरूप गुरु के समीप आश्रम में प्रतिष्ठित हो। वहाँ (आश्रम में) गुरु की सेवा-शुश्रूषा करते हुए सर्वप्रथम अपनी (वेद की) शाखा का अध्ययन करे। तदनन्तर क्रमानुसार समस्त विद्याओं का अभ्यास करते हुए बारह वर्षों तक गुरु सेवा करते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करता रहे। इसके पश्चात् क्रमशः पच्चीस वर्षों तक गृहस्थ-धर्म का तथा पच्चीस वर्षों तक वानप्रस्थ धर्म का विधिवत् पालन करना चाहिए। प्रबुद्धजन चार तरह का ब्रह्मचर्य बतलाते हैं, गार्हस्थ्य छः प्रकार का तथा वानप्रस्थ चार तरह का बतलाया गया है। इन सभी आश्रमों का भलीभाँति अभ्यास करते हुए उन-उन आश्रमों के सभी कर्मों का समुचित अनुष्ठान करे। तत्पश्चात् साधन चतुष्टय से युक्त होकर सम्पूर्ण विश्व से ऊपर उठकर मन, वाणी, कर्म, देह आदि के द्वारा सभी तरह की आशा का परित्याग करे और वासनाओं एवं एषणाओं का भी सर्वथा त्याग कर दे। इसके बाद सभी के प्रति वैरभाव का परित्याग करके मन एवं इन्द्रियों को वश में रखते हुए संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए तथा संन्यास आश्रम में रहकर अपने अविनाशी स्वरूप का ध्यान करते रहना चाहिए। इस प्रकार से चिन्तन में लीन हुआ जो पुरुष शरीर का परित्याग करता है वह मुक्ति प्राप्त कर लेता है, वह मुक्त हो जाता है। यही उपनिषद् (गूढ़ रहस्य युक्त विशिष्ट ज्ञान) है॥ २॥

॥ द्वितीयोपदेशः ॥

अथ हैनं भगवन्तं नारदं सर्वे शौनकादयः पप्रच्छुर्भो भगवन् संन्यासविधिं नो ब्रूहीति तानवलोक्य नारदस्तत्स्वरूपं सर्वं पितामहमुखेनैव ज्ञातुमुचितमित्युक्त्वा सत्रयागपूर्त्यनन्तरं तैः सह सत्यलोकं गत्वा विधिवद्ब्रह्मनिष्ठवरं परमेष्ठिनं नत्वा स्तुत्वा यथोचितं तदाज्ञया तैः सहोपविश्य नारदः पितामहमुवाच गुरुस्त्वं जनकस्त्वं सर्वविद्यारहस्यज्ञः सर्वज्ञस्त्वमतो मत्तो मदिष्टं रहस्यमेकं वक्तव्यं त्वद्विना मदभिमतरहस्यं वक्तुं कः समर्थः। किमिति चेत् पारिव्राज्यस्वरूपक्रमं नो ब्रूहीति नारदेन प्रार्थितः परमेष्ठी सर्वतः सर्वानवलोक्य मुहूर्तमात्रं समाधिनिष्ठो भूत्वा संसारार्तिनिवृत्त्यन्वेषण इति निश्चित्य नारदमवलोक्य तमाह पितामहः। पुरा मत्पुत्र पुरुषसूक्तोपनिषद्रहस्यप्रकारं निरतिशयाकारावलम्बिना विराट्पुरुषेणोपदिष्टं रहस्यं ते विविच्योच्यते तत्क्रममतिरहस्यं बाढमवहितो भूत्वा श्रूयताम्।

भो नारद विधिवदादावनुपनीतोपनयनानंतरं तत्सत्कुलप्रसूतः पितृमातृविधेयः पितृसमीपादन्यत्र सत्संप्रदायस्थं श्रद्धावन्तं सत्कुलभवं श्रोत्रियं शास्त्रवात्सल्यं गुणवंतमकुटिलं सद्गुरुमासाद्य नत्वा यथोपयोगशुश्रूषापूर्वकं स्वाभिमतं विज्ञाप्य द्वादशवर्षसेवापुरःसरं सर्वविद्याभ्यासं कृत्वा तदनुज्ञया स्वकुलानुरूपामभिमतकन्यां विवाह्य पञ्चविंशतिवत्सरं गुरुकुलवासं कृत्वाथ गुर्वनुज्ञया गृहस्थोचितकर्म कुर्वन्दौर्ब्राह्मण्यनिवृत्तिमेत्य स्ववंशवृद्धिकामः पुत्रमेकमासाद्य गार्हस्थ्योचितपञ्चविंशतिवत्सरं तीर्त्वा ततः पञ्चविंशतिवत्सरपर्यन्तं त्रिषवणमुदकस्पर्शनपूर्वकं चतुर्थकालमेकवारमाहारमाहरन्नयमेक एव वनस्थो भूत्वा पुरग्रामप्राक्तनसंचारं विहाय निकिर विरहिततदाश्रितकर्मोचितकृत्यं दृष्टश्रवणविषयवैतृष्ण्यमेत्य चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः सर्वतो विरक्तश्चित्तशुद्धिमेत्याशासूयेर्ष्याहंकारं दग्ध्वा साधनचतुष्टयसंपन्नः संन्यस्तुमर्हतीत्युपनिषत्॥ १ ॥

इसके पश्चात् वे शौनक आदि महर्षिजन पुनः देवर्षि नारद जी से प्रार्थना करते हुए कहने लगे—हे भगवन्! आप हम सभी को संन्यास की विधि बताने की कृपा करें। नारद जी ने उन सभी पर स्नेहपूरित दृष्टिपात किया और कहने लगे- 'हे महर्षे! संन्यास का सम्पूर्ण स्वरूप लोक पितामह ब्रह्माजी के श्रीमुख से ही श्रवण करना श्रेयस्कर होगा।' ऐसा कहकर सत्र-याग के सम्पन्न होने पर उन सभी के सहित वे देवर्षि नारद ब्रह्मलोक में आकर परब्रह्म का चिन्तन करते हुए, नमन-वन्दन करते हुए ब्रह्माजी की स्तुति करने लगे। तदनन्तर ब्रह्माजी ने सभी को यथोचित आसन पर बैठने को कहा। तत्पश्चात् नारद जी भगवान् ब्रह्माजी की स्तुति करते हुए कहने लगे- 'ब्रह्मन्! आप हम सभी के गुरु एवं पिता हैं। आप सभी कुछ जानने वाले तथा सम्पूर्ण विद्याओं के ज्ञाता हैं। अतः आप हमारे एक अत्यन्त-प्रिय रहस्य को प्रकट करने का अनुग्रह करें। आपके अतिरिक्त ऐसा कोई भी नहीं है, जो हम सभी के इच्छित रहस्य को भली प्रकार से स्पष्ट कर सके। यदि आप हमारे अभीष्ट विषय के रहस्य को बताने के लिए तैयार हों, तो सर्वप्रथम कृपा करके आप 'परिव्राजक के स्वरूप एवं क्रम (नियम) को हम सभी के समक्ष उपदेश करने की कृपा करें। देवर्षि नारद के द्वारा इस प्रकार की जिज्ञासा व्यक्त किये जाने पर ब्रह्मा जी ने एक बार देखा तथा दो घड़ी के लिए समाधिस्थ होकर जन्म-मृत्यु रूप सांसारिक कष्टों से मुक्ति प्राप्त करने का उपाय खोजने लगे- "हे नारद! पुरातन समय में 'पुरुषसूक्त' में तथा उपनिषदों में वर्णित

किये गये गूढ़ रहस्यानुकूल अति श्रेष्ठ दिव्य विग्रहधारी विराट् पुरुष ने जो मेरे लिए उपदेश किया था, उसी दिव्य ज्ञान को तुम सभी के समक्ष प्रकट कर रहा हूँ''।

परिव्राजक का स्वरूप एवं क्रम अत्यधिक रहस्यमय है। उसको तुम एकाग्रचित्त होकर सुनो। माता-पिता की आज्ञा मानने वाले सर्वश्रेष्ठ कुल में प्रादुर्भूत बालक का यदि उपनयन संस्कार न सम्पन्न हुआ हो, तो सर्वप्रथम उस बालक का उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार सम्पन्न कराना चाहिए। तदनन्तर उस बालक को अपने माता-पिता के समीप न रहकर किसी उच्चकुलीन उत्पन्न सद्गुरु के आश्रम में जाकर निवास करना चाहिए। वे महान् गुरु श्रोत्रिय शास्त्र के प्रति अनुराग रखने वाले श्रद्धावान् एवं गुणवान् हों। उन समर्थ गुरु की सेवा में उपस्थित होकर उनके चरणों में नमन-वन्दन करते हुए उन पर सर्वस्व समर्पित कर देना चाहिए। तत्पश्चात् उन की आज्ञा प्राप्त करके बारह वर्षों तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए गुरु की सेवा-शुश्रूषा करते हुए समस्त विद्याओं का अभ्यास करना चाहिए। अध्ययन पूर्ण हो जाने के पश्चात् कुलानुरूप किसी श्रेष्ठ कन्या से गुरु की आज्ञा प्राप्त करके विवाह करे तथा पच्चीस वर्षों तक गृहस्थाश्रम का पालन करना चाहिए। अपने वंश की अभिवृद्धि हेतु पुत्रोत्पत्ति कर्म पूर्ण करे। गृहस्थ के पच्चीस वर्ष पूर्ण करने के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करे। इस आश्रम में सतत परिव्रज्या करते हुए पच्चीस वर्ष तक निवास करे। तीनों संध्याओं में स्नान एवं दिवस के चौथे प्रहर में एक बार भोजन ग्रहण करे। ग्राम या नगर के परिचित मार्गों का परित्याग करके अकेला ही वन में विचरण करे। बिना जोती-बोई हुई भूमि में उत्पन्न हुए चावल आदि इकट्ठा करके उसी से आश्रमानुरूप धर्म का पालन करते हुए दृश्य-श्रव्यादि विषयों से विरक्त होकर चालीस संस्कारों से युक्त होकर चित्त को सर्वतोभावेन सदैव के लिए पवित्र कर ले। आशा, असूया, ईर्ष्या, अहंकार आदि का परित्याग करके साधन चतुष्टय से परिपूर्ण हो जाए। इन सभी से युक्त होकर वह संन्यास ग्रहण करने का अधिकारी बन जाता है॥१॥

॥ तृतीयोपदेशः ॥

अथ हैनं नारदः पितामहं पप्रच्छ भगवन् केन संन्यासाधिकारी वेत्येवमादौ संन्यासाधिकारिणं निरूप्य पश्चात्संन्यासविधिरुच्यते अवहितः शृणु। अथ षण्ढः पतितोऽङ्गविकलः स्त्रैणो बधिरोऽर्भको मूकः पाषण्डश्चक्री लिङ्गी वैखानसहरद्विजौ भृतकाध्यापकः शिपिविष्टोऽनग्निको वैराग्यवन्तोऽप्येते न संन्यासार्हाः संन्यस्ता यद्यपि महावाक्योपदेशेनाधिकारिणः पूर्वसंन्यासी परमहंसाधिकारी॥ १॥

इसके पश्चात् देवर्षि नारद ने पितामह ब्रह्माजी से प्रश्न किया—भगवन्! संन्यास किसके द्वारा लिया जाता है तथा संन्यास का अधिकारी कौन है? ब्रह्माजी ने कहा—पहले यह निरूपण करते हैं कि संन्यास का अधिकारी कौन है? तत्पश्चात् संन्यास धारण करने की तिधि पर प्रकाश डालेंगे। सावधानी पूर्वक सुनो—नपुंसक, पतित, अंगविहीन, अत्यधिक स्त्री आसक्त, बधिर, गूँगे, बालक, पाखण्डी, चक्री (कुचक्र रचने वाला), लिङ्गी (वेषधारण करने वाला), वैखानस (वानप्रस्थी), हरद्विज (शिवभक्त), वेतन लेकर शिक्षण करने वाले अध्यापक, शिपिविष्ट (गंजे या कोढ़ी), अग्निहोत्र न करने वाले ये सभी विरक्त होने पर भी संन्यास ग्रहण करने के अधिकारी नहीं हैं। यदि वे किसी प्रकार संन्यास ग्रहण कर भी लें, तो भी महावाक्यों का उपदेश ग्रहण करने के अधिकारी नहीं हैं। जो पूर्व से (ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थाश्रम के समय से) ही संन्यासाश्रम के अनुसार आचरण करने वाले हैं,वे ही संन्यास धारण करने के अधिकारी हैं॥ १॥

परेणैवात्मनश्चापि परस्यैवात्मना तथा। अभयं समवाप्नोति स परिव्राडिति स्मृतिः ॥ २॥

जो दूसरों से न भयभीत होता है और न ही स्वयं दूसरों को भयभीत करता है, वही वस्तुतः परिव्राजक है, ऐसा स्मृतियों का कथन है॥ २॥

षण्ढोऽथ विकलोऽप्यन्धो बालकश्चापि पातकी। पतितश्च परद्वारी वैखानसहरद्विजौ॥ ३॥ चक्री लिङ्गी च पाषण्डी शिपिविष्टोऽप्यनग्निकः। द्वित्रिवारेण संन्यस्तो भृतकाध्यापकोऽपि च। एते नार्हन्ति संन्यासमातुरेण विना क्रमम्॥ ४॥

नपुंसक, विकलाङ्ग, अन्धे, बालक, पातकी, पतित, परस्त्रीरत, वैखानस, हरद्विज (शिवभक्त), कुचक्र रचने वाले, लिङ्गी (वेषधारी), पाखण्डी, शिपिविष्ट, अयाज्ञिक, वेतनभोगी शिक्षक तथा दो-तीन बार संन्यास ले चुकने वाले ये सभी आतुर संन्यास लेने योग्य हो सकते हैं, क्रमशः संन्यास लेने योग्य नहीं ॥ ३-४॥

आतुरकालः कथमार्यसम्मतः। प्राणस्योत्क्रमणासन्नकालस्त्वातुरसंज्ञकः। नेतरस्त्वातुरः कालो मुक्तिमार्गप्रवर्तकः॥ ५॥ आतुरेऽपि च संन्यासे तत्तन्मन्त्रपुरःसरम्। मन्त्रावृत्तिं च कृत्वैव संन्यसेद्विधिवद्बुधः॥ ६॥ आतुरेऽपि क्रमे वापि प्रैषभेदो न कुत्रचित्। न मन्त्रं कर्मरहितं कर्म मन्त्रमपेक्षते॥ ७॥ अकर्म मन्त्ररहितं नातो मन्त्रं परित्यजेत्। मन्त्रं विना कर्म कुर्याद्भस्मन्याहुतिवद्भवेत्॥ ८॥ विध्युक्तकर्म संक्षेपात्संन्यासस्त्वातुरःस्मृतः। तस्मादातुरसंन्यासे मन्त्रावृत्तिविधिर्मुने॥ ९॥

(नारद का प्रश्न) आतुर संन्यास का कौन सा समय विद्वज्जनों द्वारा माना गया है? (ब्रह्मा का उत्तर-) प्राणों के निकलने का समय जब अत्यन्त निकट हो, तभी आतुर संन्यास लेने का उचित समय माना गया है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई समय उचित नहीं है। आतुर संन्यास यदि ठीक समय पर सम्पन्न हो जाये, तो वह मुक्ति प्रदायक होता है। आतुर संन्यास ग्रहण में भी विद्वान् पुरुष शास्त्र विहित मन्त्रों का विधिवत् उच्चारण करके ही संन्यास ग्रहण करे। आतुर संन्यास और क्रम संन्यास के विधान में प्रायः कोई भेद नहीं है। प्रत्येक मन्त्र कर्म से ही सम्बन्धित होता है और कर्म मन्त्र द्वारा प्रेरित होता है। मन्त्र के बिना किया गया कोई भी कर्म वस्तुतः कर्म नहीं है। अस्तु, मन्त्र का कभी परित्याग नहीं करना चाहिए। मन्त्ररहित किया गया कोई भी कर्म भस्म (राख) में छोड़ी हुई आहुति के समान व्यर्थ होता है। हे मुने! शास्त्र वर्णित कर्म के संक्षेप में करने से आतुर संन्यास की विधि पूर्ण होती है। इसलिए इस (प्रक्रिया) में मन्त्रों का बारम्बार उच्चारण शास्त्र सम्मत एवं उचित है॥ ५-९॥

आहिताग्निर्विरक्तश्चेद्देशान्तरगतो यदि। प्राजापत्येष्टिमप्स्वेव निर्वृत्यैवाथ संन्यसेत्॥ १०॥ मनसा वाथ विध्युक्तमन्त्रावृत्त्याथ वा जले। श्रुत्यनुष्ठानमार्गेण कर्मानुष्ठानमेव वा। समाप्य संन्यसेद्विद्वान्नो चेत्पातित्यमाप्नुयात्॥ ११॥

यदि अग्निहोत्र सम्पन्न करने वाला पुरुष किसी अन्य देश में गया हो और वहाँ उसे वैराग्य उत्पन्न हो जाए, तो जल में प्राजापत्य इष्टि सम्पन्न करके संन्यास ग्रहण कर ले। यह प्राजापत्य याग केवल मन से करे अथवा शास्त्र विहित मन्त्रों के उच्चारण पूर्वक अथवा वेदोक्त विधान से कर्मानुष्ठान पूर्वक सम्पन्न करे। यह सब करके ही विद्वान् पुरुष संन्यास ले, अन्यथा वह अपने धर्म से च्युत हो जाता है॥ १०-११॥

यदा मनसि संजातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु। तदा संन्यासमिच्छेत पतितः स्याद्विपर्यये॥१२॥ विरक्तः प्रव्रजेद्धीमान्सरक्तस्तु गृहे वसेत्। सरागो नरकं याति प्रव्रजन्हि द्विजाधमः॥१३॥

जब मन में सभी पदार्थों के प्रति वितृष्णा उत्पन्न हो जाए, तभी संन्यास ग्रहण करने की इच्छा करनी चाहिए। इससे विपरीत आचरण से मनुष्य पतित हो जाता है। जिसके मन में सम्पूर्ण वैराग्य हो, उसी बुद्धिमान् पुरुष को संन्यास लेकर प्रव्रज्या करनी चाहिए और रागवान् को घर में ही रहना चाहिए। जो अधम द्विज मन में राग रहते हुए भी संन्यास ग्रहण कर लेता है, वह नरक को प्राप्त होता है॥ १२-१३॥

यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्वोपस्थोदरं करः। संन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान्॥१४॥
संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया। प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहः परं वैराग्यमाश्रितः॥ १५॥
प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यासलक्षणम्। तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान्॥ १६॥

जिसकी रसना (जिह्वा), उपस्थेन्द्रिय, उदर और हस्त-पाद आदि इन्द्रियाँ पूर्णरूपेण वश में हों अथवा जिसने विवाह न किया हो, ऐसा ब्रह्मचर्यवान् ब्राह्मण ही संन्यास ग्रहण करने का अधिकारी है। विद्वान् पुरुष संसार को निस्सार समझकर सार तत्त्व पाने की कामना से अविवाहित रहकर ही वैराग्याश्रित होकर संन्यास ग्रहण कर लेते हैं। कर्म प्रवृत्ति का लक्षण है तथा ज्ञान संन्यास का मुख्य लक्षण है। अस्तु, बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वह ज्ञान को लक्ष्य करके ही संन्यासाश्रम में प्रवेश करे॥ १४-१६॥

यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम्। तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतां शिखां त्यजेत्॥१७॥
परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि। सर्वैषणाविनिर्मुक्तः स भैक्षं भोक्तुमर्हति॥ १८॥
पूजितो वन्दितश्चैव सुप्रसन्नो यथा भवेत्। तथा चेत्ताड्यमानस्तु तदा भवति भैक्षभुक्॥ १९॥
अहमेवाक्षरं ब्रह्म वासुदेवाख्यमद्वयम्। इति भावो ध्रुवो यस्य तदा भवति भैक्षभुक्॥ २०॥
यस्मिन्शान्तिः शमः शौचं सत्यं संतोष आर्जवम्। अकिंचनमदम्भश्च स कैवल्याश्रमे वसेत्॥२१॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्। कर्मणा मनसा वाचा तदा भवति भैक्षभुक्॥ २२॥
दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः। वेदान्तान्विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः॥ २३॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ २४॥
अतीतान्न स्मरेद्भोगान्न तथानागतानपि। प्राप्तांश्च नाभिनन्देद्यः स कैवल्याश्रमे वसेत्॥ २५॥
अन्तःस्थानीन्द्रियाण्यन्तर्बहिष्ठान्विषयान्बहिः। शक्नोति यः सदा कर्तुं स कैवल्याश्रमे वसेत्॥२६॥
प्राणे गते यथा देहः सुखं दुःखं न विन्दति। तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत्॥२७॥

जब परमतत्त्वरूप सनातन ब्रह्म का सम्यक् ज्ञान हो जाए, तब एक दण्ड धारण करके शिखा और यज्ञोपवीत का परित्याग कर देना चाहिए। जो परमात्मा में अनुरक्त है तथा उससे भिन्न समस्त वस्तुओं के प्रति विरक्त है, जो सभी एषणाओं (पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा) से मुक्त है, वही भिक्षा का अन्न ग्रहण करने का अधिकारी है। अपनी पूजा और वन्दना किये जाने पर जिस प्रकार सामान्य जन प्रसन्न होते हैं, डण्डों से पीटे जाने पर भी जिसे उसी प्रकार की प्रसन्नता हो, वही भिक्षु होने के योग्य है। जिसके मन में इस प्रकार का भाव दृढ़ हो गया है कि मैं ही वासुदेव नाम प्रख्यात अद्वितीय, अक्षर ब्रह्म हूँ; वही भिक्षान्न ग्रहण करने का अधिकारी है। जिसमें शान्ति, शम (शमन), दम (दमन), शौच (पवित्रता), सत्य, सन्तोष, सरलता, अपरिग्रह का भाव तथा दम्भ का अभाव हो, वही कैवल्याश्रम (संन्यासाश्रम) में प्रवेश करने का अधिकारी है। जो मन, वचन कर्म से भी किसी के प्रति पाप का भाव नहीं रखता, वही भिक्षान्न ग्रहण करने का अधिकारी होता है। (मनुक-थित) धर्म के दस लक्षणों को जीवन में एकाग्रता पूर्वक उतार कर जो सविधि वेदान्त श्रवण, स्वाध्याय तथा ब्रह्मचर्य पालन करते हुए तीनों ऋणों (ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋण) से मुक्त हो (ब्रह्मचर्य तथा स्वाध्याय

द्वारा ऋषिऋण से, यज्ञानुष्ठान द्वारा देवऋण से तथा पुत्रोत्पत्ति द्वारा पितृऋण से मुक्ति का प्रयास करे) वही संन्यास ग्रहण करने का अधिकारी है। धैर्य, क्षमा, दमन (मन को वश में रखना), अस्तेय (चोरी न करना), पवित्रता, इन्द्रिय निग्रह, धी (सद्बुद्धि), विद्या, सत्य एवं अक्रोध ये धर्म के दस लक्षण कहे गये हैं। जो पुरुष अतीत के भोगों का चिन्तन नहीं करता, वर्तमान में प्राप्त भोगों का अभिनन्दन (स्वागत) नहीं करता तथा भविष्य में प्राप्त होने वाले भोगों की कामना नहीं करता, वही संन्यासाश्रम में प्रवेश करने का अधिकार रखता है। जो पुरुष अन्तःकरण में विराजमान इन्द्रियों तथा बाह्याभ्यन्तर के विषयों को मन में स्थान न दे, वही कैवल्याश्रम (संन्यास) में रहने के योग्य है। जिस प्रकार प्राणविहीन शरीर सुख-दुःख का अनुभव नहीं करता, उसी प्रकार जो व्यक्ति प्राणों के रहने पर भी सुख-दुःख का अनुभव न करे, वही संन्यास लेने के योग्य है॥ १७-२७॥

कौपीनयुगलं कन्था दण्ड एकः परिग्रहः। यतेः परमहंसस्य नाधिकं तु विधीयते॥ २८॥
यदि वा कुरुते रागादधिकस्य परिग्रहम्। रौरवं नरकं गत्वा तिर्यग्योनिषु जायते॥ २९॥
विशीर्णान्यमलान्येव चेलानि ग्रथितानि तु। कृत्वा कन्थां बहिर्वासो धारयेद्धातुरञ्जितम्॥ ३०॥
एकवासा अवासा वा एकदृष्टिरलोलुपः। एक एव चरेन्नित्यं वर्षास्वेकत्र संवसेत्॥ ३१॥
कुटुम्बं पुत्रदारांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः। यज्ञं यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा गूढश्चरेद्यतिः॥ ३२॥

दो कौपीन, एक कन्था (गुदड़ी) तथा एक दण्ड इनसे अधिक वस्तुएँ संग्रह करने का परमहंस (संन्यासी) को अधिकार नहीं है। यदि वह इनसे अधिक वस्तुएँ संग्रह करता है, तो वह मरणोपरान्त रौरव नामक नरक में जाता है, तत्पश्चात् तिर्यक् (पशु-पक्षी आदि) योनियों में जाता है। संन्यासी को चाहिए कि वह शीत आदि से रक्षा के लिए जीर्ण-शीर्ण; किन्तु साफ-सुथरे वस्त्रों को सिलकर कन्था (गुदड़ी) बनाये और नगर या ग्राम से बाहर निर्जन स्थान में जाकर रहे तथा गेरुआ वस्त्र धारण करे। संन्यासी एक वस्त्र धारण करे अथवा वस्त्रहीन रहे। दृष्टि को इधर-उधर न रखकर एकाग्रचित्त रहे तथा समस्त वस्तुओं के प्रति अलोलुप रहे। वह सतत एकाकी ही विचरण करे और वर्षाकाल (चातुर्मास) में एक स्थान पर निवास करे। स्त्री-पुत्र, कुटुम्ब, वेदाङ्गों के ग्रन्थ (व्याकरण आदि), यज्ञ और यज्ञोपवीत को सर्वथा विसर्जित करके संन्यासी को सदैव अपने को गूढ़ बनाकर (अपना विज्ञापन किये बिना) विचरण करना चाहिए॥ २८-३२॥

कामः क्रोधस्तथा दर्पो लोभमोहादयश्च ये। तांस्तु दोषान्परित्यज्य परिव्राण्निर्ममो भवेत्॥३३॥
रागद्वेषवियुक्तात्मा समलोष्टाश्मकाञ्चनः। प्राणिहिंसानिवृत्तश्च मुनिः स्यात्सर्वनिस्पृहः॥३४॥
दम्भाहंकारनिर्मुक्तो हिंसापैशुन्यवर्जितः। आत्मज्ञानगुणोपेतो यतिर्मोक्षमवाप्नुयात्॥३५॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयः। संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं निगच्छति॥ ३६॥
न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥ ३७॥
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा च दृष्ट्वा घ्रात्वा च यो नरः। न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥
यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग्गुप्ते च सर्वदा। स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्॥३९॥
संमानाद्ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव। अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा ॥४०॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकारादि समस्त दोषों का परित्याग करके संन्यासी को सब ओर से निर्मम (ममतारहित) हो जाना चाहिए। उसे समस्त रागों से विरक्त होकर मिट्टी के ढेले, पत्थर और स्वर्ण में समान भाव रखना चाहिए। उसे हिंसा से परे और निस्पृह हो जाना चाहिए। जो संन्यासी दम्भ, अहंकार, हिंसा, परनिन्दा आदि दोषों से दूर है तथा आत्मज्ञान उपलब्ध कराने वाले गुणों से सुशोभित है, वही मुक्ति का अधिकारी है।

इन्द्रियों के विषयों में आसक्त हो जाने पर व्यक्ति नि:सन्देह दुर्गुणों से लिप्त हो जाता है; परन्तु इन्हीं इन्द्रियों को वह सम्यक् रूप से वश में कर ले, तो (मुक्ति रूप) सिद्धि को प्राप्त करता है। सांसारिक भोगों का निरन्तर उपभोग करने से, उन्हें भोगने की कामना कभी शान्त नहीं होती, वह उसी तरह और बढ़ती जाती है, जैसे अग्नि में घृत डालने पर वह और अधिक प्रज्वलित होती है। जो (साधक) मृदु या कटु वचनों का श्रवण करके, स्वादिष्ट या स्वादरहित भोजन करके, सुन्दर या कुरूप दृश्य देखकर तथा सुगन्धित या दुर्गन्धपूर्ण पदार्थ सूँघ कर न तो हर्षोल्लसित होता है और न ही ग्लानि का अनुभव करता है, उसी को जितेन्द्रिय जानना चाहिए। जिसका मन और वाणी पवित्रता से ओत-प्रोत है, जो सभी प्रकार के दोषों से सर्वथा मुक्त है, वही वेदान्त सुनने का फल प्राप्त करता है। ब्राह्मण को चाहिए कि वह सम्मान को विष तुल्य उद्विग्नकारी तथा अपमान को अमृत तुल्य मानकर सदा उसकी कामना करे॥ ३३-४०॥

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते। सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति॥ ४१॥
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन। न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥ ४२॥ क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत्। सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत्॥ ४३॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निराशिषः। आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह॥ ४४॥
इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च। अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते॥ ४५॥
अस्थिस्थूणं स्नायुबद्धं मांसशोणितलेपितम्। चर्मावबद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः॥ ४६॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम्। रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत्॥ ४७॥
मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ। देहे चेत्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः॥ ४८॥
सा कालपुत्रपदवी सा महावीचिवागुरा। सासिपत्रवनश्रेणी या देहेऽहमिति स्थितिः॥ ४९॥
सा त्याज्या सर्वयत्नेन सर्वनाशेऽप्युपस्थिते। स्प्रष्टव्या सा न भव्येन सश्वमांसेव पुल्कसी॥ ५०॥
प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम्। विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माप्येति सनातनम्॥ ५१॥
अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा सङ्गान्शनैः शनैः। सर्वद्वन्द्वैर्विनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते॥ ५२॥
एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायकः। सिद्धिमेकस्य पश्यन्हि न जहाति न हीयते ॥ ५३॥

अपमान प्राप्त करने वाला पुरुष सुखपूर्वक शयन करता, सुखपूर्वक जागता और इस संसार में सुखी होकर विचरता है, परन्तु (किसी का) अपमान करने वाला व्यक्ति अपने आप ही विनष्ट हो जाता है। दूसरों के कठोर वचनों (अतिवादों) को सहन करने का अभ्यास करे, किसी का भी अनादर न करे तथा इस नाशवान् शरीर के लिए किसी से वैर न करे। जो अपने ऊपर क्रोध करे, उसके प्रति क्रोधित न हो, यदि कोई अपशब्द कहे तो उसके प्रति भी मधुर वचन कहे। सप्तद्वारों (दो आँख, दो कान, दो नासिका छिद्र और एक मुख) से सम्बद्ध जिह्वा को कभी अनृत भाषण (झूठ बोलने) के लिए प्रयुक्त न करे। सुख प्राप्ति की इच्छा वाले को चाहिए कि वह आध्यात्मिक विषयों में मन को संलग्न करके, स्थिर भाव से बैठे,किसी से कुछ अपेक्षा न रखे, मन से समस्त कामनाओं को निष्कासित कर दे और अपने आप अपनी सहायता करते हुए इस संसार में एकाकी ही विचरता रहे। इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखे, राग-द्वेष को समाप्त कर दे एवं किसी की भी हिंसा न करे। ऐसा करने से मनुष्य मुक्ति को प्राप्त करता है। यह काया रोगों का आगार है, जिसमें अस्थिरूपी स्तम्भ लगे हैं, जिसमें स्नायुओं का जाल डोरियों के रूप में पूरित है, जिस पर रक्त और मांस का लेपन (प्लास्टर) है तथा जिसे चर्म से मानो मढ़ दिया गया है। यह सदैव मल-मूत्र से पूरित रहता है, जिसमें दुर्गन्ध भरी है। इस (शरीर)

में जरावस्था और रोगों के कारण निरन्तर संताप और आतुरता रहती है। रज और वीर्य से उत्पन्न होने के कारण यह शरीर रजस्वल (रजोगुण प्रधान अथवा धूलि से भरा-विकारों से भरा) है। यह शरीर अनित्य है अर्थात् किस दिन इसका अवसान हो जायेगा, यह पता नहीं है। पञ्च महाभूत (पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल और आकाश) सदैव डेरा डाले रहते हैं, अत: इसे त्याग देना चाहिए अर्थात् इसके प्रति मोह को त्याग देना चाहिए। यदि कोई मनुष्य रक्त, रस, मांस, मज्जा, अस्थि, मल-मूत्र और नाड़ियों से निर्मित इस शरीर से प्रेम करता है, तो वह नरक से भी अवश्य प्रेम करेगा। शरीर में स्थित अहंभाव ही कालसूत्र नामक नरक को ले जाने वाला है, वही कालवीचि नरक में भी ले जाने वाले जाल के रूप में भी बिछा है। वही (अहं) असिपत्र वन नामक नरक की कोटि का है। शरीर में स्थित अहंता कुत्ते का मांस भक्षण करने वाली चण्डालिनी के समान है। सभी प्रकार के उपाय करके इस अहंता को त्याग देना चाहिए। कल्याण कामी पुरुष को चाहिए कि वह सर्वनाश उपस्थित हो जाने पर भी इस अहंता का स्पर्श तक न होने दे। अपने प्रिय जनों में स्थित पुण्य और अप्रियजनों में स्थित दुष्कृत्यों (पाप) के अतिरिक्त स्वयं उनसे किसी प्रकार भी सम्बन्ध न रखे। ऐसा करने वाला साधक ध्यान योग के द्वारा सनातन पुरुष ब्रह्म की प्राप्ति करता है। इस तरह समस्त विषयों से धीरे-धीरे आसक्ति का परित्याग करके संन्यासी समस्त द्वन्द्वों से मुक्त होकर परब्रह्म परमेश्वर में स्थित हो जाता है। सिद्धि के इच्छुक साधक को चाहिए कि वह असहायक बनकर सतत एकाकी ही विचरण करे। संन्यासी किसी की सिद्धि को देखकर अपनी साधना नहीं छोड़ता और वह सिद्धि से वञ्चित भी नहीं होता॥ ४१-५३॥

कपालं वृक्षमूलानि कुचेलान्यसहायता। समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम्॥ ५४॥
सर्वभूतहितः शान्तस्त्रिदण्डी सकमण्डलुः। एकारामः परिव्रज्य भिक्षार्थं ग्राममाविशेत्॥ ५५॥
एको भिक्षुर्यथोक्तः स्याद्द्वावेव मिथुनं स्मृतम्। त्रयो ग्रामः समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते॥५६॥
नगरं नहि कर्त्तव्यं ग्रामो वा मिथुनं तथा। एतत्त्रयं प्रकुर्वाणः स्वधर्माच्च्यवते यतिः॥ ५७॥
राजवार्तादि तेषां स्याद्भिक्षावार्ता परस्परम्। स्नेहपैशुन्यमात्सर्यं संनिकर्षान्न संशयः॥ ५८॥
एकाकी निःस्पृहस्तिष्ठेन्न हि केन सहालपेत्। दद्यान्नारायणेत्येव प्रतिवाक्यं सदा यतिः॥ ५९॥
एकाकी चिन्तयेद्ब्रह्म मनोवाक्कायकर्मभिः। मृत्युं च नाभिनन्देत जीवितं वा कथंचन॥ ६०॥
कालमेव प्रतीक्षेत यावदायुः समाप्यते। नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा॥ ६१॥

जल पीने के लिए कपाल (नारियल अथवा लकड़ी का पात्र), निवास करने के लिए किसी वृक्ष का मूल, धारण करने के लिए जीर्ण-शीर्ण वस्त्र, सदैव अकेले रहने का स्वभाव एवं समस्त जीव-धारियों के प्रति समत्व का भाव ये सभी जीवनमुक्त पुरुष के लक्षण हैं। संन्यासी को समस्त प्राणियों का हितैषी होना चाहिए। उसे शान्तचित्त रहकर सतत त्रिदण्ड और कमण्डलु धारण करके केवल आत्मा में ही रमण करते रहना चाहिए। वह सब कुछ त्यागकर अकेला ही विचरण करे, जब भिक्षा लेना हो तभी ग्राम में प्रवेश करे। शास्त्रों में एकाकी रहने वाले संन्यासी को ही भिक्षु कहा गया है; क्योंकि एक से दो होते ही उसे मिथुन (युगल) माना जाता है। दो से तीन हो, तो ग्राम और इससे अधिक व्यक्तियों का समुदाय एक साथ हो जाय, तब तो नगर ही कहा जायेगा। संन्यासी को अपने पास किसी अन्य को आने का अवसर नहीं देना चाहिए; ताकि मिथुन, ग्राम या नगर की स्थिति न बने। ऐसा करने से वह अपने धर्म से पतित हो जाता है। अनेक व्यक्तियों का एक साथ संयोग होने से उनमें विभिन्न चर्चाएँ प्रारम्भ हो जायेंगी और उनमें राजा, सेठ आदि के विषय में तथा कहाँ-कैसी

भिक्षा मिलती है, इस पर चर्चा होगी। इसके पश्चात् विभिन्न बातों के फलस्वरूप परस्पर राग-द्वेष, चुगली आदि के भाव उत्पन्न होंगे ही, इसमें कोई संशय नहीं है। इसीलिए शास्त्रों ने संन्यासी को निस्पृह भाव से एकाकी ही रहने का आदेश दिया है। वह किसी के साथ व्यर्थ बातचीत न करे। दूसरों की बात या नमन का उत्तर नारायण कहकर दे। निर्जन स्थान में अकेले रहकर मन, वचन, शरीर और क्रिया द्वारा एकमात्र ब्रह्म का ही ध्यान करता रहे। जीवन अथवा मृत्यु का कभी अभिनन्दन न करे। मृत्युकाल आने तक की प्रतीक्षा करता रहे। संन्यासी जीवन और मृत्यु में से किसी की प्रतीक्षा न करे। साधक को चाहिए कि वह भृतक (वैतनिक कर्मचारी) के द्वारा अपने स्वामी के आदेश की प्रतीक्षा करने की तरह एकमात्र काल की प्रतीक्षा करता रहे॥ ५४-६१॥

अजिह्वः षण्डकः पङ्गुरन्धो बधिर एव च। मुग्धश्च मुच्यते भिक्षुः षड्भिरेतैर्न संशयः॥ ६२॥
इदमिष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जति। हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते॥ ६३॥
अद्यजातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम्। शतवर्षां च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स षण्डकः॥६४॥
भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च। योजनान्न परं याति सर्वथा पङ्गुरेव सः॥ ६५॥
तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम्। चतुर्युगां भुवं मुक्त्वा परिव्राट् सोऽन्ध उच्यते॥ ६६॥
हिताहितं मनोरामं वचः शोकावहं तु यत्। श्रुत्वापि न शृणोतीव बधिरः स प्रकीर्तितः॥ ६७॥
सान्निध्ये विषयाणां यः समर्थो विकलेन्द्रियः। सुप्तवद्वर्तते नित्यं स भिक्षुर्मुग्ध उच्यते॥ ६८॥
नटादिप्रेक्षणं द्यूतं प्रमदासुहृदं तथा। भक्ष्यं भोज्यमुदक्यां च षण्ढ पश्येत्कदाचन॥ ६९॥
रागं द्वेषं मदं मायां द्रोहं मोहं परात्मसु। षडेतानि यतिर्नित्यं मनसापि न चिन्तयेत्॥ ७०॥
मञ्चकं शुक्लवस्त्रं च स्त्रीकथालौल्यमेव च। दिवा स्वापं च यानं च यतीनां पातनानि षट्॥७१॥
दूरयात्रां प्रयत्नेन वर्जयेदात्मचिन्तकः। सदोपनिषदं विद्यामभ्यसेन्मुक्तिहैतुकीम्॥ ७२॥
न तीर्थसेवी नित्यं स्यान्नोपवासपरो यतिः। न चाध्ययनशीलः स्यान्न व्याख्यानपरो भवेत्॥७३॥
अपापमशठं वृत्तमजिह्मं नित्यमाचरेत्। इन्द्रियाणि समाहृत्य कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः॥ ७४॥
क्षीणेन्द्रियमनोवृत्तिर्निराशीर्निष्परिग्रहः। निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च॥ ७५॥
निर्ममो निरहंकारो निरपेक्षो निराशिषः। विविक्तदेशसंसक्तो मुच्यते नात्र संशय इति॥ ७६॥

नपुंसक (काम भाव शून्य), अन्धे, लूले, बहरे, मुग्ध (जड़) और अजिह्व के समान रहने वाला भिक्षु उपर्युक्त छः गुणों से सम्पन्न होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। जो स्वाद-अस्वाद को न देखकर भोजन ग्रहण करता है और हितकर, मृदु तथा सत्य बोलता है उसे 'अजिह्व' कहा जाता है। जो पुरुष नवजात कन्या, षोडशी युवती और शतवर्षा वृद्धा को देखकर मन में किसी प्रकार का राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होने देता, उसे 'षण्डक' कहते हैं। जो भिक्षु मात्र भिक्षा अथवा मल-मूत्र त्याग के लिए ही भ्रमण करता है तथा एक दिन में एक योजन (चार कोस) से अधिक गमन नहीं करता (शेष समय ध्यानादि करते हुए खड़े होकर व्यतीत करता है) वह पङ्गु ही है। चलते हुए या खड़े होकर जिसकी आँखें चार युग (प्रायः दस हाथ) भूमि की दूरी तक ही देखती हैं, उसे 'अन्ध' कहते हैं। हित अथवा अहित की तथा सुख अथवा दुःख की बात को जो नहीं सुनता (इस प्रकार की बात सुनकर भी उससे प्रभावित होकर कोई ध्यान नहीं देता), वह 'बधिर' (बहरे के समान) है। विषयों की समीपता, शरीर में सामर्थ्य और इन्द्रियों में स्वस्थता होते हुए भी जो भिक्षु सोये हुए के समान उन विषयों की ओर आकृष्ट नहीं होता, उसे 'मुग्ध' (जड़ या भोला-भाला) कहा गया है। भिक्षु (संन्यासी) को चाहिए कि वह

अपने सम्बन्धियों, नटों के खेल, द्यूतक्रीड़ा, युवती स्त्री, भोज्य पदार्थ तथा रजस्वला स्त्री इन छः की ओर कभी दृष्टिपात न करे। दूसरों के प्रति द्रोह, अपनों के प्रति मोह, मद, माया और राग-द्वेष इन (दोषों) से सदैव अलग रहे तथा मन में भी इनके प्रति कभी विचार तक न आने दे। मञ्च (कुर्सी आदि), श्वेत वस्त्र, स्त्रीचर्चा, इन्द्रियलोलुपता, दिवा-शयन और सवारी पर यात्रा करना—ये छः (दोष) संन्यासी के लिए पातक रूप हैं। आत्म चिन्तन की कामना वाले संन्यासी के लिए उचित है कि वह दूर की यात्रा न करने का प्रयत्न करता रहे और मोक्ष प्रदायिनी उपनिषद् विद्या का सतत अभ्यास करे। संन्यासी के लिए अधिक तीर्थ सेवन तथा अधिक उपवास उचित नहीं है। अधिक विद्याओं के पठन-पाठन का स्वभाव भी वह न बनाए। सभाओं में व्याख्यान भी न दे और पाप, दुष्टता तथा कुटिलता पूर्ण व्यवहार न करे। जिस प्रकार कछुआ सभी तरफ से अपने अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार संन्यासी भी सभी विषयों की ओर से अपनी इन्द्रियों को समेट ले तथा इन्द्रियों और मन के कार्य-व्यापारों को क्षीण कर दे। कामना और परिग्रह को त्यागकर हर्ष-शोक से विरत हो जाए। वह नमस्कार (देव स्तुति) और स्वधा (श्राद्ध-तर्पण) को भी त्याग दे। वह ममता और अहंकार से शून्य होकर किसी भी वस्तु की अपेक्षा न करे। सदैव एकान्तवास करे। इस प्रकार उपर्युक्त ढंग से जीवनयापन करने से वह संसार के बन्धन से मुक्त हो जाता है॥ ६२-७६॥

अप्रमत्तः कर्मभक्तिज्ञानसंपन्नः स्वतन्त्रो वैराग्यमेत्य ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो वा मुख्यवृत्तिका चेद्ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद्गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेद्यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वाऽथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्तद्धैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्त्यथवा न कुर्यादाग्न्येय्यामेव कुर्यादग्निर्हि प्राणः प्राणमेवैतया करोति तस्मात्त्रैधातवीयामेव कुर्यादेतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति॥ ७७॥ अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः। तं जानन्नग्न आरोहाथानो वर्धया रयिम्॥ ७८॥ इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेदेष वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणः'प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाहवनीयादग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाजिघ्रेद्यदग्निं न विन्देदप्सु जुहुयादापो वै सर्वा देवताः सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य तदुदकं प्राश्नीयात्साज्यं हविरनामयं मोदमिति शिखां यज्ञोपवीतं पितरं पुत्रं कलत्रं कर्म चाध्ययनं मन्त्रान्तरं विसृज्यैव परिव्रजत्यात्म-विन्मोक्षमन्त्रैस्त्रैधातवीयैर्विधेस्तद्ब्रह्म तदुपासितव्यमेवैतदिति॥ ७९॥

कोई भी ब्रह्मचारी, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थी जो ज्ञान, कर्म, और भक्ति से युक्त है तथा प्रमादरहित होकर आत्मा के अधीन रहता है, उसे यदि वैराग्य उत्पन्न हो जाए, तो वह संन्यास ग्रहण कर सकता है। यदि वैराग्य परिपक्व न हुआ हो, तो क्रमशः ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि पूरी करके गृहस्थ में प्रविष्ट हो, तत्पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम में जाए और उसकी भी अवधि पूर्ण करके संन्यास ग्रहण करे। यदि वैराग्य तीव्र हो जाए, तो ब्रह्मचर्याश्रम के बाद सीधे ही संन्यास ग्रहण कर ले। गृहस्थाश्रम अथवा वानप्रस्थाश्रम में यदि तीव्र वैराग्य हो जाए, तो उसके बाद भी सीधे ही संन्यास ग्रहण किया जा सकता है। ब्रह्मचारी-अब्रह्मचारी, स्नातक-अस्नातक, अग्निहोत्री-अनग्निहोत्री (अग्निहोत्र का त्याग कर चुकने वाला कोई भी हो), जब उसे तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो जाये, तभी गृह-त्याग करके संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए। संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होते समय कुछ विद्वान् प्राजापत्य इष्टि सम्पन्न करते हैं, (तीव्र वैराग्य होने पर) उसे भी करना आवश्यक नहीं है अथवा केवल आग्नेयी इष्टि ही सम्पन्न करे। अग्नि ही प्राण है, इस इष्टि से साधक प्राण का ही पोषण करता है अथवा त्रैधातवी (जो

इन्द्र से सम्बन्धित है) इष्टि ही सम्पन्न करे। सत्त्व, रज और तम ये तीन ही धातुएँ हैं। इस इष्टि द्वारा साधक इन्हीं तीनों का हवन करता है। विधिवत् इष्टि करके 'अयं ते योनि:' इस मंत्र से अग्नि को सूँघे। मन्त्रार्थ इस प्रकार है- 'हे अग्निदेव! यह समष्टिगत प्राण ही तुम्हारी उत्पत्ति का मूल है। इसी कारण तुम उत्तम कान्ति से सुशोभित हो रहे हो। तुम अपने उत्पादक प्राण को जानकर इसमें विराजो। इस प्रकार हमारे प्राण में प्रतिष्ठित होकर हमारे ज्ञान-धन को समृद्ध करो।' निश्चय ही यह प्राणतत्त्व अग्नि के प्राकट्य का हेतु है। अत: इस कारण मन्त्र में अग्नि एवं प्राण की एकात्मता सिद्ध हुई है। आहवनीय अग्नि में से अग्नि प्राप्त कर उपर्युक्त तरीके से इष्टि करके अग्नि का अवघ्राण करे। यदि किसी कारणवश अग्नि प्राप्त न हो सके, तो जल में ही यजन कृत्य पूर्ण कर लेना चाहिए। अवश्य ही समस्त देवगण जलरूप हैं। समस्त देवों के लिए मैं यजन-कृत्य कर रहा हूँ, यह हवि उन देवों को प्राप्त हो (ऐसा भाव करना चाहिए)। तत्पश्चात् उस जल-राशि में से थोड़ा सा जल लेकर उससे आचमन कर लेना चाहिए। वह घृत मिश्रित जल आरोग्यप्रद एवं मोक्षप्रदाता होता है। तदनन्तर शिखा (चोटी), यज्ञोपवीत, पिता, पुत्र, स्त्री, कर्म, अध्ययन-अध्यापन तथा अन्यान्य विभिन्न तरह के मन्त्रों का परित्याग कर देने वाला ही आत्मवेत्ता मनुष्य परिव्राजक होता है। त्रैधातवीय मोक्ष से सम्बन्धित मन्त्रों से ब्रह्म को जानना चाहिए। जो शाश्वत सत्य एवं ज्ञान आदि श्रेष्ठ लक्षणों से सम्पन्न है, वही परब्रह्म परमेश्वर है, वही उपासना के अनुकूल है। उसी की ही उपासना करनी चाहिए। यह ठीक इसी प्रकार ही है॥ ७७-७९॥

पितामहं पुनः पप्रच्छ नारदः कथमयज्ञोपवीती ब्राह्मण इति। तमाह पितामहः॥ ८०॥ सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद्बुधः। यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत्॥ ८१॥ सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम्। तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः॥ ८२॥ येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदर्शनः॥ ८३॥ बहिः सूत्रं त्यजेद्विद्वान्योगमुत्तममास्थितः। ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः सचेतनः। धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत्॥ ८४॥ सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्। ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः॥ ८५॥ ज्ञानशिखा ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः। ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते॥ ८६॥ अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा। स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः॥ ८७॥ कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः। तैर्विधार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम्॥ ८८॥ शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम्। ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुरिति॥ ८९॥

देवर्षि नारद जी ने पितामह ब्रह्माजी से पुन: प्रश्न किया- 'हे ब्रह्मन्! मनुष्य यज्ञोपवीत को धारण न किये रहने से ब्राह्मण कैसे हो सकता है? तब पितामह ने उन देवर्षि नारद से कहा-हे नारद! ज्ञानवान् पुरुषों को शिखा के सहित सिर के सभी केशों का मुण्डन कराके शरीर पर यज्ञोपवीत के रूप में धारण किये हुए बाह्य सूत्र का परित्याग कर देना चाहिए तथा जो अविनाशी शाश्वत परब्रह्म परमेश्वर है, उसी को सभी में व्याप्त सूत्र रूप में जान करके अपने अन्त: में धारण करे। जो सूचना अर्थात् जानकारी का कारण हो, उसे ही सूत्र कहते हैं। इसके कारण से 'सूत्र' परमपद का नाम है। जिस ज्ञानी पुरुष ने उस परमपद रूप सूत्र को जान लिया, वही वेदों का जानने वाला श्रेष्ठ ब्राह्मण है। जिस प्रकार सूत्र (धागे) में मनके (दाने) पिरोये होते हैं, उसी प्रकार जिस अविनाशी परमात्मतत्त्व में यह सम्पूर्ण संसार पिरोया हुआ है, वही सूत्र है। योग-विद्या का जानकार तत्त्वज्ञ योगी उसा श्रेष्ठ सूत्र को अपने अन्त: में धारण करे। ज्ञानी मनुष्य श्रेष्ठ योग का आश्रय प्राप्त करके बाह्य सूत्र का त्याग

कर दे; क्योंकि इस ब्रह्मरूप सूत्र के धारण करने से परिव्राजक न तो कभी उच्छिष्ट (जूठा) होता है और न ही कभी अपवित्र होता है। सद्ज्ञान रूप यज्ञोपवीत धारण करने वाले जिन परिव्राजकों के अन्त:करण में वह ब्रह्मरूप सूत्र प्रतिष्ठित है, वे ही इस जगत् में सूत्र के यथार्थ रूप को जानने वाले तथा यज्ञोपवीत धारण करने वाले हैं। परिव्राजक (संन्यासी) ज्ञानरूपी शिखा को धारण करते हैं, ज्ञान में ही प्रतिष्ठित होते हैं तथा ज्ञानरूपी यज्ञोपवीत को ही धारण करते हैं। उन परिव्राजकों के लिए ज्ञान ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ होता है। ज्ञान को ही सबसे पवित्र कहा गया है। जिस तरह से अग्नि की शिखा उसके स्वरूप से अलग नहीं होती, उसी तरह जिस श्रेष्ठज्ञानी परिव्राजक ने ज्ञानरूपी शिखा को धारण कर रखा है, वही शिखाधारी कहा जाता है; दूसरे अन्य लोग जो मात्र केश को धारण करते हैं, वे वास्तविक शिखा को धारण करने वाले नहीं होते। जो ब्राह्मण आदि द्विज वैदिक कर्मादि के श्रेष्ठ अधिकारी माने जाते हैं, उन्हीं श्रेष्ठजनों को यह बाह्य सूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि वही कर्म का श्रेष्ठ अंग माना गया है। जिन परिव्राजकों के पास ज्ञानरूपी शिखा एवं ज्ञानरूपी यज्ञोपवीत है, उसी परिव्राजक में पूर्णरूपेण ब्राह्मणत्व विद्यमान है। ब्रह्मज्ञानी जन ऐसा ही मानते हैं॥ ८०-८९॥

तदेतद्विज्ञाय ब्राह्मण: परिव्रज्य परिव्राडेकशाटी मुण्डोऽपरिग्रह: शरीरक्लेशासहिष्णुश्चेदथवा यथाविधिश्चेज्जातरूपधरो भूत्वा सपुत्रमित्रकलत्रास्तबन्ध्वादीनि स्वाध्यायं सर्वकर्मणि संन्यस्यायं ब्रह्माण्डं च सर्वं कौपीनं दण्डमाच्छादनं च त्यक्त्वा द्वन्द्वसहिष्णुर्न शीतं न चोष्णं न सुखं न दु:खं न निद्रा न मानावमाने च षड्ऊर्मिवर्जितो निन्दाहंकारमत्सरगर्वदम्भेर्ष्यासूयेच्छाद्वेषसुखदु:ख-कामक्रोधलोभमोहादीन्विसृज्य स्ववपु: शवाकारमिव स्मृत्वा स्वव्यतिरिक्तं सर्वमन्तर्बहिरमन्य-मान: कस्यापि वन्दनमकृत्वा न नमस्कारो न स्वाहाकारो न स्वधाकारो न निन्दास्तुतिर्यादृच्छिको भवेद्यदृच्छालाभसंतुष्ट: सुवर्णादीन्न परिग्रहेन्नावाहनं न विसर्जनं न मन्त्रं नामन्त्रं न ध्यानं नोपासनं न लक्ष्यं नालक्ष्यं न पृथक् नापृथक् न त्वन्यत्र सर्वत्रानिकेत: स्थिरमति: शून्यागारवृक्षमूलदेवगृह तृणकूटकुलालशालाग्निहोत्रशालाग्निदिगन्तरनदीतटपुलिनभूगृहकन्दरनिर्झरस्थण्डिलेषु वने वा श्वेतकेतुऋभुनिदाघऋषभदुर्वास:संवर्तकदत्तात्रेयरैवतकवदव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारो बालो-न्मत्तपिशाचवदनुन्मत्तोन्मत्तवदाचरंस्त्रिदण्डं शिक्यं पात्रं कमण्डलुं कटिसूत्रं कौपीनं च तत्सर्वं भू:स्वाहेत्यप्सु परित्यज्य॥ ९०॥

इस प्रकार से ब्राह्मण उपर्युक्त सभी नियमोपनियम जानकर घर का परित्याग करके संन्यासी हो जाए; मात्र एक ही वस्त्र धारण करे, सिर के बालों का मुण्डन करा ले तथा किसी भी तरह की वस्तुओं, पदार्थों आदि का संग्रह न करे। यदि वह शारीरिक क्लेशों को सहने में सक्षम न हो, तो उसे कौपीन (लँगोटी) धारण कर लेनी चाहिए और यदि शारीरिक क्लेशों-परेशानियों को सहने में समर्थ हो, तो विधिवत् संन्यास धर्म को ग्रहण कर वस्त्र रहित हो, जीवन-यापन करे। (वह) अपने मित्र, पुत्र, स्त्री, श्रेष्ठ गुरुजन एवं बन्धु-बान्धव, भाई आदि को त्यागकर विचरण करे। स्वाध्याय तथा वैदिक कर्मों के अनुष्ठान को छोड़कर सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड के साथ अपना सम्बन्ध परित्याग कर दे। अपने पास कौपीन, दण्ड एवं अंगाच्छादन हेतु वस्त्रादि ही रखे। सभी तरह के द्वन्द्वों को पूर्णरूपेण सहन करते हुए सर्दी-गर्मी आदि पर ध्यान न दे; न कभी सुख की इच्छा करे और न ही कभी दु:ख आदि द्वन्द्वों से परेशान हो। निद्रा की भी चिन्ता न करे। मान-अपमान में सदैव सम भाव से रहे। छहों प्रकार की ऊर्मियों से वह कभी भी प्रभावित न हो। निन्दा, मत्सर (डाह), अहंकार, गर्व, दम्भ, ईर्ष्या, दोष-दृष्टि, इच्छा, द्वेष, सुख-दु:ख, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का परित्याग कर अपने शरीर को मृतवत् मानकर, आत्मा के अलावा दूसरी अन्य किसी भी वस्तु को बाह्य एवं अन्त: से स्वीकार न करते हुए कभी भी किसी के

समक्ष सिर न झुकाये और न ही यज्ञ एवं श्राद्धादि करे, किसी की निन्दा एवं स्तुति (अनुनय-विनय) आदि भी न करे। एकाकी ही स्वच्छन्द सर्वत्र विचरण करता रहे। ईश्वरेच्छा से जो कुछ भी भोजन आदि मिले, उस पर ही सन्तोष रखे। स्वर्णाभूषण आदि रत्नों का कभी भी अपने पास संग्रह न करे। न कभी किसी का आवाहन करे और न ही कभी विसर्जन। मन्त्रादि का न तो प्रयोग करे और न ही उसका त्याग करे। ध्यान एवं उपासनादि भी न करे। न कोई उसका लक्ष्य हो तथा लक्ष्यहीनता भी नहीं होनी चाहिए। न कभी किसी से अलग रहे और न ही कभी किसी के साथ रहे। न कभी किसी एक स्थान पर निवास करने का आग्रह करे और न ही किसी दूसरी जगह जाने का अनुरोध करे। उस ब्राह्मण का अपना निज का कोई आश्रम अथवा घर आदि भी नहीं होना चाहिए। उसकी बुद्धि सदैव स्थिर रहनी चाहिए। परिजनों से रहित भवन, वृक्ष की जड़, मन्दिर, पर्णकुटी, कुलालशाला, अग्निहोत्रशाला, अग्निदिगन्तर (आग्नेयदिशा), नदी का किनारा, कछार, भूगृह अर्थात् गुफा, पर्वतीय गुफा, झरने के समीप चबूतरे या वेदी या फिर जंगल में निवास करे। ऋभु, श्वेतकेतु, निदाघ, ऋषभ, संवर्तक, दुर्वासा, दत्तात्रेय एवं रैवतक की भाँति न कोई चिह्न स्वीकार करे और न ही अपने आचरण को ही किसी पर प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होने दे। उन्मत्त बालक अथवा पिशाच की तरह से व्यवहार करे। उन्मत्त न होते हुए भी उन्मत्त की तरह से आचरण करे। त्रिदण्ड, पात्र, झोली, कमण्डलु, कटिसूत्र एवं कौपीन आदि सभी कुछ 'भूः स्वाहा कहकर के जल में विसर्जित कर दे॥ ८९-९०॥

कटिसूत्रं च कौपीनं दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं। सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेत्॥ ९१॥

आत्मानमन्विच्छेद्यथा जातरूपधरो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहस्तत्त्वब्रह्ममार्गे सग्यक्सम्पन्नः शुद्धमानसः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले करपात्रेणान्येन वा याचिताहारमाहरन् लाभालाभे समो भूत्वा निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्मनिष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यस्य पूर्णानन्दैकबोधस्तद्ब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मप्रणवमनुस्मरन्भ्रमरकीटन्यायेन शरीरत्रयमुत्सृज्य संन्यासेनैव देहत्यागं करोति स कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषत्॥ ९२॥

परिव्राजक कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड, वस्त्र एवं कमण्डलु आदि सभी को (नदी या सरोवर के) जल में विसर्जित करके वस्त्र रहित हो सर्वत्र विचरण करे। अपनी ही आत्मा का सतत अनुसंधान करता रहे, दिगम्बर (वस्त्र रहित) होकर द्वन्द्वों (विकारों) को सहन करता रहे। उन द्वन्द्वों से प्रभावित न हो। किसी भी तरह की वस्तुओं का संग्रह कदापि न करे। आत्मतत्त्व एवं परब्रह्म परमात्मा का बोध कराने वाले ज्ञान-मार्ग में दृढ़निश्चय होकर प्रतिष्ठित रहे। अपने मन को सदा पवित्र रखे। (अपने) प्राणों की रक्षा के लिए निश्चित समय पर कर (हाथ) रूपी पात्र से या फिर किसी पात्र से, बिना किसी से याचना किये ही जो कुछ मिल जाए, उसी आहार (भोजन) को स्वीकार करे। हानि-लाभ को समान समझते हुए ममता से विलग हो जाए। मात्र अविनाशी शाश्वत परब्रह्म का ही सतत चिन्तन करे। अध्यात्म के चिन्तन में ही अपनी निष्ठा को सतत नियोजित किया करे। शुभ एवं अशुभ कर्मों का मूल्यांकन करता हुआ सदैव अपने आत्मा के उत्थान के अतिरिक्त सभी प्रिय वस्तुओं-पदार्थों का हमेशा के लिए परित्याग कर दे। एक मात्र आनन्द स्वरूप परब्रह्म परमात्मा के साक्षात्कार से युक्त हो, 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ, इस प्रकार दृढ़निश्चयी हो भ्रमर का ध्यान करने वाले कृमि-कीट की भाँति एक मात्र परब्रह्म स्वरूप ॐकार का ही ध्यान करता रहे। तीनों शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर) के प्रति अहंकार एवं मोह के भाव का परित्याग करके, सर्वस्व विसर्जित करके ही परिव्राजक अपने शरीर का परित्याग करे। इस तरह से उपर्युक्त बताये हुए नियमों को जो भी संन्यासी अपनाता है, वह कृतार्थ हो जाता है। ईश्वर सान्निध्य को प्राप्त कर लेता है, यह ऐसा ही उपनिषद् है॥ ९१-९२॥

॥ चतुर्थोपदेशः ॥

[संन्यास-धर्म के पालन का महत्त्व एवं संन्यास-धर्म को धारण करने की शास्त्रीय विधि]

त्यक्त्वा लोकांश्च वेदांश्च विषयानिन्द्रियाणि च। आत्मन्येव स्थितो यस्तु स याति परमां गतिम्॥१॥
नामगोत्रादिवरणं देशं कालं श्रुतं कुलम्। वयो वृत्तं शीलं ख्यापयेन्नैव सद्यतिः॥२॥
न संभाषेत्स्त्रियं कांचित्पूर्वदृष्टां च न स्मरेत्। कथां च वर्जयेत्तासां न पश्येल्लिखितामपि॥३॥
एतच्चतुष्टयं मोहात्स्त्रीणामाचरतो यतेः। चित्तं विक्रियतेऽवश्यं तद्विकारात्प्रणश्यति॥४॥
तृष्णा क्रोधोऽनृतं माया लोभमोहौ प्रियाप्रिये। शिल्पं व्याख्यानयोगश्च कामो रागपरिग्रहः॥५॥
अहंकारो ममत्वं च चिकित्सा धर्मसाहसम्। प्रायश्चित्तं प्रवासश्च मन्त्रौषधपराशिषः।
प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो व्रजेदधः॥६॥ आगच्छ गच्छ तिष्ठेति स्वागतं सुहृदोऽपि वा।
सम्माननं च न ब्रूयान्मुनिर्मोक्षपरायणः॥७॥ प्रतिग्रहं न गृह्णीयान्नैव चान्यं प्रदापयेत्।
प्रेरयेद्वा तया भिक्षुः स्वप्नेऽपि न कदाचन॥८॥ जायाभ्रातृसुतादीनां बन्धूनां च शुभाशुभम्।
श्रुत्वा दृष्ट्वा न कम्येत शोकहर्षौ त्यजेद्यतिः॥९॥ अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।
अनौद्धत्यमदीनत्वं प्रसादः स्थैर्यमार्जवम्॥१०॥ अस्नेहो गुरुशुश्रूषा श्रद्धा क्षान्तिर्दमः शमः।
उपेक्षा धैर्यमाधुर्ये तितिक्षा करुणा तथा॥११॥ ह्रीस्तथा ज्ञानविज्ञाने योगो लघ्वशनं धृतिः।
एष स्वधर्मो विख्यातो यतीनां नियतात्मनाम्॥१२॥

जो ज्ञानी मनुष्य लोक, वेद, विषय-वासनाओं के भोग एवं समस्त इन्द्रियों की अधीनता का परित्याग करके एक मात्र अपने आत्मा के उत्थान में सतत स्थिर रहता है, वही परिव्राजक (संन्यासी) श्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है। उत्तम परिव्राजक नाम, गोत्र आदि के वरण, देश, काल, शास्त्रीय ज्ञान, कुल, अवस्था, आचार, व्रत-उपवास एवं शील आदि का प्रकाशन (प्रचार-प्रसार) कदापि न करे। (वह) किसी भी स्त्री से वार्त्तालाप कभी न करे। पूर्व में देखी हुई किसी भी परिचित स्त्री का अपने मन में स्मरण तक भी न करे, उन स्त्रियों की चर्चा से सदैव दूर रहे और उनके चित्र आदि को भी कभी न देखे। भाषण-सम्भाषण, स्मरण, चर्चा एवं चित्रों को देखना, स्त्रियों से सम्बन्धित इन चार तरह की बातों का जो (मनुष्य) मोह के वश हुआ आचरण करता है, निश्चय ही उसके चित्त में विकार उत्पन्न हो जाते हैं और उन विकारों से उसका धर्म अवश्य ही नष्ट हो जाता है। संन्यासियों के लिए आसक्ति, क्रोध, झूठ, माया, मोह, लोभ, प्रिय, अप्रिय, शिल्पकला, व्याख्यान करना, कामना, राग, संग्रह, अहंकार, परगृह निवास, चिकित्सा का व्यवसाय, ममता, धर्म के लिए साहसिक कार्य, मन्त्र प्रयोग, औषधि-वितरण, जहर देना, आशीर्वाद देना आदि ये सभी कार्य वर्जित हैं। इनका उपयोग करने वाला परिव्राजक अपने धर्म (लक्ष्य) से पदच्युत हो जाता है। मोक्ष धर्म में सतत संलग्न रहने वाला ज्ञानी संन्यासी अपने किसी हितैषी (शुभचिन्तक) के लिए भी आओ, जाओ, रुको आदि स्वागत एवं सम्मान की बात कभी न करे। स्वप्न में भी कभी किसी के द्वारा दिया हुआ दान स्वीकार न करे। दूसरे अन्य किसी को भी न दिलवाए और न खुद ही किसी को देने-लेने के लिए बाध्य करे। स्त्री-पुरुष आदि भी आत्मीय स्वजनों के शुभ अथवा अशुभ समाचारों को सुनकर-देखकर कभी भी अपने लक्ष्य से विचलित न हो, दुःख-सुख को सदैव के लिए त्याग दे। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, इन्द्रिय-निग्रह, अपरिग्रह (आदि का पालन करना), उद्दण्डता के भाव से रहित होना, किसी व्यक्ति विशेष के समक्ष दीन-हीन न होना, प्रसन्नता, स्थिरता, सरलता,

अस्नेह (किसी से अत्यधिक लगाव न रखना), गुरु की सेवा-शुश्रूषा करना, श्रद्धा, क्षमा, इन्द्रियों का संयम, मन का निग्रह, सभी प्रियजनों के प्रति उदासीनता का भाव, धीरता, मृदुलता, सहनशीलता, करुणा, लज्जा, ज्ञान-विज्ञान-परायणता , स्वल्प आहार एवं धृति (धैर्य), ये सभी मन को वश में रखने वाले परिव्राजकों (संन्यासियों) के श्रेष्ठ प्रख्यात धर्म हैं॥ १-१२॥

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थः सर्वत्र समदर्शनः। तुरीयः परमो हंसः साक्षान्नारायणो यतिः॥ १३॥
एकरात्रं वसेद्ग्रामे नगरे पञ्चरात्रकम्। वर्षाभ्योऽन्यत्र वर्षासु मासांश्च चतुरो वसेत्॥ १४॥
द्विरात्रं न वसेद्ग्रामे भिक्षुर्यदि वसेत्तदा। रागादयः प्रसज्येरंस्तेनासौ नारकी भवेत्॥ १५॥
ग्रामान्ते निर्जने देशे नियतात्माऽनिकेतनः। पर्यटेत्कीटवद्भूमौ वर्षास्वेकत्र संवसेत्॥१६॥
एकवासा अवासा वा एकदृष्टिरलोलुपः । अदूषयन्सतां मार्गं ध्यानयुक्तो महीं चरेत्॥ १७॥
शुचौ देशे सदा भिक्षुः स्वधर्ममनुपालयन्। पर्यटेत सदा योगी वीक्षयन्वसुधातलम्॥ १८॥
न रात्रौ न च मध्याह्ने संध्ययोर्नैव पर्यटन् । न शून्ये न च दुर्गे वा प्राणिबाधाकरे न च॥ १९॥
एकरात्रं वसेद्ग्रामे पत्तने तु दिनत्रयम् । पुरे दिनद्वयं भिक्षुर्नगरे पञ्चरात्रकम् ।
वर्षास्वेकत्र तिष्ठेत स्थाने पुण्यजलावृते ॥ २०॥ आत्मवत्सर्वभूतानि पश्यन्भिक्षुश्चरेन्महीम्।
अन्धवत्कुब्जवच्चैव बधिरोन्मत्तमूकवत्॥ २१॥ स्नानं त्रिषवणं प्रोक्तं बह्वूदकवनस्थयोः ।
हंसे तु सकृदेव स्यात्परहंसे न विद्यते ॥ २२॥

द्वन्द्व आदि विकारों से रहित होकर, सात्त्विक गुणों में सर्वदा प्रतिष्ठित रहकर सर्वत्र सम दृष्टि रखने वाला तुरीयावस्था में स्थित परमहंस संन्यासी साक्षात् भगवान् श्रीमन्नारायण का साकार रूप है। (वह) गाँव में एक रात्रि ही निवास के लिए रहे और बड़े नगर में मात्र पाँच रात्रि ही व्यतीत करे, परन्तु यह नियम वर्षाऋतु के अतिरिक्त समय के लिए ही निर्धारित है। वर्षाकाल में वह (संन्यासी) चार माह तक किसी एक निश्चित स्थान पर वास करे। संन्यासी एक गाँव में दो रात्रियाँ कभी न रहे। यदि वह रहता है, तो सम्भव है कि उसके अन्त:करण में राग आदि विकारों का भाव आ जाय। इन विकारों से वह नरक में गमन करने वाला हो जाता है। गाँव से बाहर किसी एकान्त स्थल में मन एवं इन्द्रियों को संयमित करके निवास करे। कहीं पर भी (वह) अपने निवास के लिए आश्रम या कुटी (मठ) आदि न बनाये। जिस तरह से कृमि-कीट हमेशा यत्र-तत्र भ्रमण करते रहते हैं, उसी तरह से आठ मास तक परिव्राजक इस वसुन्धरा पर विचरण करता रहे। मात्र वर्षाकाल चार मास वह एक ही स्थल पर निवास करे। संन्यासी मात्र एक ही वस्त्र अपने शरीर पर धारण करे या फिर वस्त्ररहित होकर रहे। उस (संन्यासी) की दृष्टि यत्र-तत्र अस्थिर (चंचल) न होकर एक लक्ष्यविशेष पर ही केन्द्रित रहे। कभी भी विषयभोगों में आसक्त न होकर एवं सज्जन पुरुषों के मार्ग को कलुषित न करते हुए सतत परमात्मा के ध्यान में स्थित होकर पृथ्वी पर विचरण करे, वह अपने धर्म का निर्वाह करते हुए सदैव पवित्र स्थल पर ही निवास करे। योग-परायण परिव्राजक पृथ्वी तल पर (नीचे की ओर) दृष्टि रखते हुए ही सर्वदा विचरण करता रहे। रात्रि को, मध्याह्न में तथा दोनों सन्ध्याओं (प्रात:-सायं) के समय कभी भी इधर-उधर भ्रमण न करे और ऐसे स्थलों पर भी भ्रमण न करे, जो निर्जन, दुर्गम एवं समस्त प्राणियों के लिए बाधा पहुँचाने वाले हों। गाँव में एक रात्रि, पुरवे में दो दिन, पत्तन अर्थात् छोटे शहर-कस्बे में तीन दिन तथा नगर में पाँच रात्रियों तक परिव्राजक को ठहरना चाहिए। वर्षाकाल में किसी एक विशेष स्थल पर, जो चारों तरफ से शुद्ध जल से घिरा हुआ हो, अपना निवास बनाए। परिव्राजक समस्त भूत-प्राणियों को अपने ही सदृश देखता हुआ

अंधे, मूर्ख, बधिर, पागल तथा गूँगे की तरह से इच्छा रखता हुआ भूमि पर विचरता रहे। बहूदक एवं वन में स्थिर संन्यासियों के लिए त्रिकाल स्नान कहा गया है, लेकिन 'हंस' नामक संन्यासी के लिए दिन में मात्र एक ही बार स्नान करने का नियम है। 'हंस' नामक संन्यासी से श्रेष्ठ-उच्च स्थिति वाले 'परमहंस' नामक संन्यासी के लिए स्नान आदि का कोई विशेष नियम नहीं है॥ १३-२३॥

मौनं योगासनं योगस्तितिक्षैकान्तशीलता। निःस्पृहत्वं समत्वं च सप्तैतान्येकदण्डिनाम्॥ २३॥
परहंसाश्रमस्थो हि स्नानादेरविधानतः। अशेषचित्तवृत्तीनां त्यागं केवलमाचरेत्॥ २४॥
त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमज्जामेदोस्थिसंहतौ। विण्मूत्रपूये रमतां क्रिमीणां कियदन्तरम् ॥ २५॥
क्व शरीरमशेषाणां श्लेष्मादीनां महाचयः। क्व चाङ्गशोभा सौभाग्यकमनीयादयो गुणाः ॥ २६॥
मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ। देहे चेत्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः ॥ २७॥
स्त्रीणामवाच्यदेशस्य क्लिन्ननाडीव्रणस्य च। अभेदेऽपि मनोभेदाज्जनः प्रायेण वञ्च्यते ॥ २८॥
चर्मखण्डं द्विधा भिन्नमपानोद्गारधूपितम्। ये रमन्ति नमस्तेभ्यः साहसं किमतः परम्॥ २९॥
न तस्य विद्यते कार्यं न लिङ्गं वा विपश्चितः। निर्ममो निर्भयः शान्तो निर्द्वन्द्वोऽवर्णभोजनः॥३०॥
मुनिः कौपीनवासाः स्यान्नग्नो वा ध्यानतत्परः। एवं ज्ञानपरो योगी ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ३१॥
लिङ्गे सत्यपि खल्वस्मिञ्ज्ञानमेव हि कारणम्। निर्मोक्षायेह भूतानां लिङ्गग्रामो निरर्थकः ॥३२॥
यन्न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्। न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स ब्राह्मणः॥ ३३॥
तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञो ब्रह्मवृत्तमनुव्रतम्। गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत् ॥ ३४॥
संदिग्धः सर्वभूतानां वर्णाश्रमविवर्जितः। अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत्॥ ३५॥
तं दृष्ट्वा शान्तमनसं स्पृहयन्ति दिवौकसः। लिङ्गाभावात्तु कैवल्यमिति ब्रह्मानुशासनमिति॥३६॥

एकदण्डी संन्यासियों के पालन करने योग्य ये सात प्रकार के नियम- 'वाणी का मौन, योगासन, योग, तप-तितिक्षा, एकान्तवास, निःस्पृहभाव एवं समभाव' बतलाये गये हैं। जो परिव्राजक परमहंस की उच्च श्रेणी में पहुँच चुका है, उसके लिए स्नान आदि आवश्यक न होने के कारण केवल वह समस्त चित्त-वृत्तियों का त्याग मात्र करे। त्वचा, मांस, रक्त, नाड़ी, मेद, मज्जा एवं अस्थि सहित इस देह में रमण करने वाले पुरुषों और मल-मूत्र एवं पीप में रहने वाले कृमि-कीटकों में कितना अन्तर है? कहाँ समस्त कफ आदि घृणित पदार्थों का एकत्रित विशाल रूप यह शरीर और कहाँ अंग-अवयवों की शोभा, विशेष सौन्दर्य एवं कमनीयता आदि गुण। अज्ञानी मनुष्य रक्त, मांस, पीप, मल-मूत्र, मज्जा, नाड़ी एवं अस्थियों के सहित इस देह में यदि प्रीति करता है, तो उसे नरक की निश्चय ही प्राप्ति होगी। उच्चारण न करने योग्य स्त्रियों के गुप्ताङ्ग तथा सड़े हुए नाड़ी के घाव में विशेष कोई अन्तर न होने पर भी व्यक्ति अपने अन्तःकरण की मान्यता के भेद से प्रायः वंचित किया जाता है। आखिर स्त्रियों का वह गुप्ताङ्ग क्या है?- दो भागों में विदीर्ण हुआ चर्मखण्ड मात्र और वह भी अपान वायु के निष्क्रमण से दुर्गन्धयुक्त रहता है। जो मनुष्य सतत उसमें रमण करते रहते हैं, उन्हें नमस्कार है। इससे अधिक बड़ा दुस्साहस और क्या हो सकता है? ज्ञानी परिव्राजक के लिए न कोई कर्त्तव्य शेष रहता है और न ही चिह्न विशेष को धारण करने की कोई विशेष आवश्यकता। वह संन्यासी ममता-विहीन, भय रहित, शान्त, द्वन्द्वरहित, जाति-वर्ग आदि के अहं से रहित तथा भोजन आदि के उपार्जन की चेष्टा से रहित होता है। संन्यासी मुनि लँगोटी धारण करके ही रहे या फिर वस्त्र रहित होकर नग्नावस्था में रहता हुआ परमात्मा के चिन्तन में सदा लगा रहे। इस तरह से ज्ञानपरायण यति ब्रह्म के भाव की प्राप्ति में सक्षम होता है। परिव्राजक का

चिह्न विशेष होते हुए भी उसमें ज्ञान ही विशेष रूप से मुक्ति का माध्यम होता है। प्राणियों के लिए विभिन्न तरह के चिह्नों का धारण मोक्ष साधक ज्ञान के अभाव में व्यर्थ ही होता है। जिस (व्यक्ति) के सन्दर्भ में कोई भी यह न जानने में समर्थ हो कि वह साधु है या असाधु, अज्ञानी है या ज्ञानवान् या फिर वह सदाचारी है या दुराचारी, वास्तव में वही सच्चा ब्रह्मपरायण ब्राह्मण है। इस कारण ज्ञानी परिव्राजक चिह्न विशेष को न धारण करके अपने धर्म का ज्ञान रखते हुए सर्वश्रेष्ठ अविनाशी परमात्म सत्ता के ध्यान-व्रत का पालन करे। वह गूढ़ातिगूढ़ धर्म का आश्रय प्राप्त करके ऐसा आचरण करे, जिससे उस संन्यासी के आचरण के सम्बन्ध में कोई भी बात दूसरे अन्य लोगों पर परिलक्षित न हो। समस्त प्राणिजनों के लिए संदेह का विषय बना हुआ वह वर्ण-जाति एवं आश्रय से विहीन होकर अन्धे, जड़ एवं गूँगे के सदृश भूमि पर विचरण करता रहे। ऐसे श्रेष्ठ शान्तचित्त परिव्राजक का दर्शन करके देवगण भी उसके जैसी स्थिति पाने के लिए सर्वदा आतुर होते रहते हैं। जब अपनी आत्मसत्ता के सिवाय दूसरी अन्य किसी वस्तु के अस्तित्व का चिह्न भी शेष न रह जाए, तभी कैवल्य की प्राप्ति होती है। ऐसा ही यह ब्रह्मतत्त्व का विशेष दिव्य सन्देश है॥ २३-३६॥

अथ नारदः पितामहं संन्यासविधिं नो ब्रूहीति पप्रच्छ। पितामहस्तथेत्यङ्गीकृत्यातुरे वा क्रमे वापि तुरीयाश्रमस्वीकारार्थं कृच्छ्रप्रायश्चित्तपूर्वकमष्टश्राद्धं कुर्याद्देवर्षिदिव्यमनुष्यभूत पितृमात्रात्मेत्यष्टश्राद्धानि कुर्यात्। प्रथमं सत्यवसुसंज्ञकान्विश्वान्देवान्देवश्राद्धे ब्रह्मविष्णुमहेश्वरानृषिश्राद्धे देवर्षिक्षत्रियर्षिमनुष्यर्षीन् दिव्यश्राद्धे वसुरुद्रादित्यरूपान्मनुष्यश्राद्धे सनकसनन्दन-सनत्कुमारसनत्सुजातान्भूतश्राद्धे पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतानि चक्षुरादिकरणानि चतुर्विधभूत-ग्रामान्पितृश्राद्धे पितृपितामहप्रपितामहान्मातृश्राद्धे मातृपितामहीप्रपितामहीरात्मश्राद्धे आत्म-पितृपितामहाञ्जीवत्पितृकश्चेत्पितरं त्यक्त्वा आत्मपितामहप्रपितामहानिति सर्वत्र युग्मक्लृप्त्या ब्राह्मणानर्चयेदेकाध्वरपक्षेऽष्टाध्वरपक्षे वा स्वशाखानुगतमन्त्रैरष्टश्राद्धान्यष्टदिनेषु वा एकदिने वा पितृयागोक्तविधानेन ब्राह्मणानभ्यर्च्य भुक्त्यन्तं यथाविधि निर्वर्त्य पिण्डप्रदानानि निर्वर्त्य दक्षिणाताम्बूलैस्तोषयित्वा ब्राह्मणान्प्रेषयित्वा शेषकर्मसिद्ध्यर्थं समकेशान्विसृज्य-'शेषकर्मप्रसिद्ध्यर्थं केशान्समाष्ट वा द्विजः। संक्षिप्य वापयेत्पूर्वं केशश्मश्रुनखानि च' इति समकेशान्संरक्ष्य कक्षोपस्थवर्जं क्षौरपूर्वकं स्नात्वा सायंसंध्यावन्दनं निर्वर्त्य सहस्रगायत्रीं जप्त्वा ब्रह्मयज्ञं निर्वर्त्य स्वाधीनाग्निमुपस्थाप्य स्वशाखोपसंहरणं कृत्वा तदुक्तप्रकारेणाज्याहुतिमा-ज्यभागान्तं हुत्वाहुतिविधिं समाप्यात्मादिभिस्त्रिवारं सक्तुप्राशनं कृत्वाचमनपूर्वकमग्निं संरक्ष्य स्वयमग्नेरुत्तरतः कृष्णाजिनोपरि स्थित्वा पुराणश्रवणपूर्वकं जागरणं कृत्वा चतुर्थयामान्ते स्नात्वा तदग्नौ चरुं श्रपयित्वा पुरुषसूक्तेनान्नस्य षोडशाहुतीर्हुत्वा विरजाहोमं कृत्वा अथाचम्य सदक्षिणं वस्त्रं सुवर्णपात्रं धेनुं दत्त्वा समाप्य ब्रह्मोद्वासनं कृत्वा। सं मा सिञ्चन्तु मरुतः समिन्द्रः सं बृहस्पतिः। सं मायमग्निः सिञ्चत्वायुषा च धनेन च बलेन चायुष्मन्तं करोतु मा इति। या ते अग्ने यज्ञिया तनूस्तयेह्यारोहात्मात्मानम्। अच्छा वसूनि कृण्वन्नस्मे नर्या पुरूणि। यज्ञो भूत्वा यज्ञमासीद स्वां योनिं जातवेदो भुव आजायमानः स क्षय एधीत्यनेनाग्निमात्मन्यारोप्य ध्यात्वाग्निं प्रदक्षिणनमस्कारपूर्वकमुद्वास्य प्रातःसंध्यामुपास्य सहस्रगायत्रीपूर्वकं सूर्योपस्थानं कृत्वा

प्राणियों को अभयदान प्रदान किया गया है, मुझमें ही सबकी प्रवृत्ति होती है।) जल का आचमन करके पूर्व दिशा की ओर पूरी अञ्जलि भरकर जल डालकर 'ॐ स्वाहा' कहकर शेष बचे हुए शिखा के बालों को उखाड़ डाले। इसके पश्चात् अगले मन्त्र "यह यज्ञोपवीत परम पवित्र है। यह पूर्वकाल में प्रजापति भगवान् ब्रह्मा जी के साथ ही प्रादुर्भूत हुआ है। यह सर्वश्रेष्ठ एवं आयुष्य की वृद्धि करने वाला है। यज्ञोपवीत को बाहर न रखना चाहिए। हे यज्ञमय सूत्र! आप मेरे अन्तः में प्रविष्ट होकर आत्मा के साथ निरन्तर एकाकार होकर रहें। आप परम पवित्र हैं। मुझे सुयश, बल, ज्ञान, वैराग्य एवं धारण शक्ति प्रदान करें।"(यह मन्त्र पढ़कर) यज्ञोपवीत को तोड़ डाले और जलाञ्जलि के साथ उसे हाथ में लेकर 'ॐ भूः समुद्रं गच्छ स्वाहा'—इस मन्त्र के द्वारा जल में हवन (विसर्जन) कर दे। तदनन्तर 'ॐ भूः संन्यस्तं मया' 'ॐ भुवः संन्यस्तं मया' 'ॐ सुवः संन्यस्तं मया'-इस प्रकार तीन बार इस मन्त्र को पढ़कर तीन बार जल को अभिमन्त्रित करके उसका आचमन करे। इसके बाद 'ॐ भूः स्वाहा' कहता हुआ वस्त्र एवं कटि सूत्र को भी जल में समर्पित कर दे। तत्पश्चात् इस बात को याद करते हुए कि मैं समस्त कर्मों का त्यागी हूँ, दिगम्बर (वस्त्र रहित) होकर अपने आत्म-स्वरूप का चिन्तन करते हुए ऊपर की ओर बाँह उठाये हुए उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान कर जाए॥ ३७॥

पूर्ववद्विद्वत्संन्यासी चेद्गुरोः सकाशात्प्रणवमहावाक्योपदेशं प्राप्य यथासुखं विहरन्मत्तः कश्चिन्नान्यो व्यतिरिक्त इति फलपत्रोदकाहारः पर्वतवनदेवतालयेषु संचरेत्संन्यस्याथ दिगम्बरः सकलसञ्चारकः सर्वदानन्दस्वानुभवैकपूर्णहृदयः कर्मातिदूरलाभः प्राणायामपरायणः फलर-सत्वक्पत्रमूलोदकैर्मोक्षार्थी गिरिकन्दरेषु विसृजेद्देहं स्मरंस्तारकम्॥ ३८॥

यदि पूर्व की भाँति विद्वान्-संन्यासी हो, तो वह गुरु से ॐकार एवं महावाक्यों का उपदेश ग्रहण करके, मेरे से भिन्न और दूसरा कोई नहीं है, इस निश्चय दृष्टिकोण के साथ आनन्दपूर्वक भ्रमण करता रहे। पत्र, पुष्प, फल एवं जल का ही आहार ग्रहण करे। पर्वत, वन एवं देवालयों में ही विचरण करता हुआ निवास करे। संन्यास के पश्चात् यदि वह दिगम्बर (वस्त्र रहित) हो गया हो, तो वह अपने हृदय कमल में स्थित सदैव आनन्द-स्वरूप आत्मा की ही अनुभूति को भरकर, कर्मों के द्वारा अत्यधिक दूर रहने में ही लाभ मानता हुआ, प्राणायाम का अभ्यास करता हुआ (फल-फूलों के) रस, छिलके, पत्ते, मूल (जड़) तथा जल के माध्यम से प्राण तत्त्व को धारण करे एवं मात्र मोक्ष की ही इच्छा रखकर पर्वत की गुफाओं में रहकर तारक मन्त्र (अथवा परब्रह्म) का सतत जप एवं चिन्तन करते हुए अपने शरीर का परित्याग कर दे॥ ३८॥

विविदिषासंन्यासी चेच्छतपथं गत्वाचार्यादिभिर्विप्रैस्तिष्ठ तिष्ठ महाभाग दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं गृहाण प्रणवमहावाक्यग्रहणार्थं गुरुनिकटमागच्छेत्याचार्यैर्दण्डकटिसूत्रकौपीनं शाटीमेकां कमण्डलुं पादादिमस्तकप्रमाणमव्रणं समं सौम्यमकालपृष्ठं सलक्षणं वैणवं दण्डमेकमाचमनपूर्वकं सखा मा गोपायौजः सखायोऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारयेति दण्डं परिग्रहेज्जगज्जीवनं जीवनाधारभूतं माते मा मन्त्रयस्व सर्वदा सर्वसौम्येति प्रणवपूर्वकं कमण्डलुं परिगृह्य कौपीनाधारं कटिसूत्रमोमिति गुह्याच्छादकं कौपीनमोमिति शीतवातोष्णत्राणकरं देहैकरक्षणमोमिति कटिसूत्रकौपीनबस्त्रमाचमनपूर्वकं योगपट्टाभिषिक्तो भूत्वा कृतार्थोऽहमिति मत्वा स्वाश्रमाचारपरो भवेदित्युपनिषत्॥ ३९॥

'यदि ज्ञान को प्राप्त करने की आकांक्षा से परिव्राजक (संन्यास) धर्म का वरण किया हो, तो वह सौ कदम आगे की ओर चलने के पश्चात् आचार्य आदि गुरुजनों-ब्राह्मणों के द्वारा यों कहकर बुलाये जाने पर कि

'हे महाभाग! रुको, रुको; यह ब्रह्मदण्ड, वस्त्र एवं कमण्डलु धारण करो। तुम्हें ॐकार एवं महावाक्य का उपदेश स्वीकार (ग्रहण) करने के लिए गुरु के समीप आ जाना चाहिए। गुरु के समीप आ जाने के पश्चात् गुरुजनों एवं आचार्यों द्वारा प्रदान किये जाने पर ही दण्ड, कटिसूत्र, कौपीन, एक शाटी (चादर) तथा एक कमण्डलु अपने पास धारण करे। दण्ड बाँस का ही हो। उसकी ऊँचाई पैरों से लेकर सिर तक ही होनी चाहिए। वह खरोंच अथवा छेद से रहित, बराबर, चिकना तथा श्रेष्ठ लक्षणों से सम्पन्न हो। उस दण्ड का रंग काला न हो। इन सभी वस्तुओं को ग्रहण करने से पूर्व आचमन आदि कृत्य पूर्ण कर ले, तत्पश्चात् निर्धारित मन्त्र- 'सखा मा गोपायौजः .....तन्निवारय।' (अर्थात्-'हे दण्ड! आप मेरे सखा अर्थात् प्राण शक्ति की रक्षा करें। आप ही मेरे सखा हैं, जो इन्द्र के हाथ में वज्र के रूप में रहते हैं। आपने ही वज्ररूप से आहत करके वृत्रासुर का विनाश किया है। आप हमारे लिए कल्याण रूप बनें। हमारे अन्दर जो भी पाप हों, उनका शमन करें)' का उच्चारण करके दण्ड को हाथ में धारण करे, तदनन्तर 'जगज्जीवनं .....सर्वसौम्य' मन्त्र के साथ ॐकार का उच्चारण करते हुए कमण्डलु को धारण करे। तदुपरान्त 'कौपीनाधारं कटिसूत्रमोम्' ऐसा कहकर कटिसूत्र धारण करे। 'गुह्याच्छादकं कौपीनमोम्', यह कहकर कौपीन (लँगोटी) धारण करे और 'शीतवातोष्ण त्राणकरं देहैक रक्षणमोम्' इस मन्त्र का उच्चारण करने के पश्चात् ही वस्त्र धारण करे। इसके बाद पुनः आचमन करके योगपट्टाभिषिक्त हो 'मैं कृतार्थ हो गया,' ऐसा मानता हुआ अपने आश्रम के उचित सदाचार के पालन में संलग्न हो जाए। ऐसी ही है यह उपनिषद्॥ ३९॥

॥ पञ्चमोपदेशः ॥

अथ हैनं पितामहं नारदः पप्रच्छ भगवन्सर्वकर्मनिवर्तकः संन्यास इति त्वयैवोक्तः पुनः स्वाश्रमाचारपरो भवेदित्युच्यते। ततः पितामह उवाच। शरीरस्य देहिनो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति-तुरीयावस्थाः सन्ति।तदधीनाः कर्मज्ञानवैराग्यप्रवर्तकाः पुरुषा जन्तवस्तदनुकूलाचाराः सन्ति। तथैव चेद्भगवन्संन्यासाः कतिभेदास्तदनुष्ठानभेदाः कीदृशास्तत्त्वतोऽस्माकं वक्तुमर्हसीति। तथेत्यङ्गीकृत्य तं पितामहेन॥ १॥

(संन्यास एवं संन्यासी के प्रकार और संन्यास धर्म तथा उसके पालन का महत्त्व)

इसके पश्चात् भगवान् ब्रह्माजी से देवर्षि नारद ने पूछा- 'हे भगवन् ! आप ने ही कहा है कि संन्यास आश्रम समस्त कर्मों का निवृत्तिकारक है; पुनः यह भी कहते हैं कि संन्यासी अपने आश्रमोचित आचार-विचार के पालन में संलग्न हो जाएँ। इस विषय में समाधान करने की कृपा करें। तदनन्तर ब्रह्मा जी ने कहा-'हे नारद! शरीर में प्रतिष्ठित देहधारी प्राणी की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय-ये चार अवस्थाएँ होती हैं। इन्हीं अवस्थाओं के अधीन रहकर पुरुष कर्म, ज्ञान तथा वैराग्य के प्रवर्तक होते हैं। सभी प्राणी इन्हीं चारों अवस्थाओं के अधीन रहकर जब-जब जिस अवस्था में स्थित होते हैं, उसी के अनुकूल रहते हुए आचरण करते हैं। संन्यासी, ब्रह्मचारी, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ के द्वारा आवश्यक रूप से सेवनीय तथा श्रौत-स्मार्त कर्मों का ही संन्यासी अपने आश्रमोचित सदाचार के पालन में संलग्न हो जाए। ऐसा सुनकर नारद जी ने कहा-'हे भगवन्! आप अब कृपा करके यथार्थ रूप से संन्यास के कितने प्रकार हैं तथा उनके अनुष्ठान में क्या अन्तर है, बतलाएँ?॥ १॥

संन्यासभेदैराचारभेदः कथमिति चेत्तत्त्वतस्त्वेक एव संन्यासः अज्ञानेनाशक्तिवशात्क-र्मलोपतश्च त्रैविध्यमेत्य वैराग्यसंन्यासो ज्ञानसंन्यासो ज्ञानवैराग्यसंन्यासः कर्मसंन्यासश्चेति

चातुर्विध्यमुपागतः ॥ २ ॥ तद्यथेति दुष्टमदनाभावाच्चेति विषयवैतृष्ण्यमेत्य प्राक्पुण्यकर्मवशात्संन्यस्तः स वैराग्यसंन्यासी ॥ ३ ॥ शास्त्रज्ञानात्पाप पुण्यलोकानुभवश्रवणात्प्रपञ्चोपरतः क्रोधेर्ष्यासूयाहङ्काराभिमानात्मकसर्वसंसारं निर्वृत्य दारेषणाधनेषणालोकेषणात्मकदेहवासनां शास्त्रवासनां लोकवासनां त्यक्त्वा वमनान्नमिव प्रकृतीयं सर्वमिदं हेयं मत्वा साधनचतुष्टयसंपन्नो यः संन्यस्यति स एव ज्ञानसंन्यासी ॥ ४ ॥ क्रमेण सर्वमभ्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपानुसंधानेन देहमात्रावशिष्टः संन्यस्य जातरूपधरो भवति स ज्ञानवैराग्यसंन्यासी ॥ ५ ॥ ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भूत्वा वानप्रस्थाश्रममेत्य वैराग्यभावेऽप्याश्रमक्रमानुसारेण यः संन्यस्यति स कर्मसंन्यासी ॥ ६ ॥ ब्रह्मचर्येण संन्यस्य संन्यासाज्जातरूपधरो वैराग्यसंन्यासी । विद्वत्संन्यासी ज्ञानसंन्यासी विविदिषासंन्यासी कर्मसंन्यासी ॥ ७ ॥

ब्रह्माजी ने कहा- 'हे नारद! संन्यास के भेद से आचरण के भेद में क्या अन्तर पड़ता है, यह मैं तुम्हें बतलाता हूँ; श्रवण करो। वास्तव में संन्यास एक ही प्रकार का है; किन्तु ज्ञानरहित होने के कारण, असमर्थतावश तथा कर्मलोप के कारण तीन भेदों में बँटकर वैराग्य-संन्यास, ज्ञान-संन्यास, ज्ञान-वैराग्य-संन्यास तथा कर्म-संन्यास' इन चार भेदों को प्राप्त होता है। जो मन में दूषित भावनाओं का अभाव होने पर विषय वासनाओं में आसक्त न होकर पूर्व जन्म के पुण्य कर्म के प्रभाव से संन्यास ग्रहण कर लेता है, वह वैराग्य संन्यासी कहलाता है। जो मनुष्य शास्त्रों की जानकारी प्राप्त करने से तथा पापरूप और पुण्यरूप लोकों का अनुभव तथा श्रवण करने के कारण प्रपञ्चादि से स्वभावतः विरक्त हो गया है; क्रोध, ईर्ष्या, असूया (दृष्टिदोष), अहंकार तथा अभिमान ही जिसके प्रत्यक्ष स्वरूप हैं, ऐसे इस सम्पूर्ण जगत् को अपने मन से रहित करके, स्त्री कामना, धन कामना तथा लोक में प्रसिद्धि की कामना आदि त्रिविध रूपों वाली दैहिक-वासना, शास्त्र-वासना एवं लोक-वासना का परित्याग कर देता है और जैसे सामान्यजन वमन किए हुए भोजन को त्याज्य समझते हैं, वैसे ही इन सभी तरह के भोगों को त्याज्य मानते हुए जो व्यक्ति साधन-चतुष्टय से युक्त हो, वही संन्यास ग्रहण करता है, वही ज्ञान संन्यासी कहलाने का अधिकारी होता है। जो मनुष्य क्रमानुसार (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ आदि का) अभ्यास करता हुआ, सभी कुछ अनुभव में लाकर के ज्ञान तथा वैराग्य के द्वारा निरन्तर अपने ही स्वरूप-मात्र का ध्यान करता हुआ जातरूपधर (बालकवत् निश्छल) हो जाता है, वही ज्ञान-वैराग्य-संन्यासी कहलाता है। जो ब्रह्मचर्य धर्म को पूर्ण करके गृहस्थ होकर एवं गृहस्थ से वानप्रस्थ-धर्म में प्रविष्ट हो करके पूर्ण वैराग्य न होने पर भी आश्रम-क्रमानुसार सबसे बाद में जो संन्यास ग्रहण करता है, वही कर्म-संन्यासी है अथवा ब्रह्मचर्य के पश्चात् ही संन्यास ग्रहण कर संन्यास-धर्म से जो जातरूपधर हो जाता है, वही वैराग्य संन्यासी कहलाता है। विद्वान् संन्यासी ही ज्ञान संन्यासी है और विविदिषा संन्यासी ही कर्म संन्यासी बतलाया गया है॥

कर्मसंन्यासोऽपि द्विविधः निमित्तसंन्यासोऽनिमित्तसंन्यासश्चेति। निमित्तस्त्वातुरः। अनिमित्तः क्रमसंन्यासः। आतुरः सर्वकर्मलोपः प्राणस्योत्क्रमणकालसंन्यासः सनिमित्त-संन्यासः। दृढाङ्गो भूत्वा सर्वं कृतकं नश्वरमिति देहादिकं सर्वं हेयं प्राप्य॥ ८-९ ॥ हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥ १० ॥

"कर्म संन्यास के भी दो भेद होते हैं-प्रथम निमित्त संन्यास तथा द्वितीय अनिमित्त संन्यास। आतुर-संन्यास ही निमित्त संन्यास कहा जाता है तथा क्रम-संन्यास को अनिमित्त संन्यास कहते हैं। रोगादि के कारण

जिसमें समस्त कर्म लुप्त हो जाते हैं, अर्थात् जिसमें नित्य-नैमित्तिक आदि कोई भी कर्म निर्मित नहीं हो सकते एवं जो प्राण के परित्याग करने के समय ग्रहण किया जाता है, ऐसा वह संन्यास ही निमित्त संन्यास कहा गया है, इसे ही आतुर-संन्यास भी कहते हैं। शरीर के बलवान् होने पर जो विचार द्वारा यह दृढ़-निश्चय करके कि प्रादुर्भूत होने वाली सम्पूर्ण वस्तुएँ नाशवान् हैं और इसी तरह से शरीर को भी त्याज्य मान लेता है "वह परमात्मा आकाश में विचरण करने वाला हंस (सूर्य) है, वही अन्तरिक्ष में स्वेच्छापूर्वक विचरण करने वाला वसु है। वही होता तथा यज्ञ-वेदी पर प्रतिष्ठित रहने वाला अग्नि रूप है। सद्गृहस्थों के भवनों में आतिथ्यरूप में आश्रय प्राप्त करने वाला भी वही है। पुरुषों में उसकी ही सत्ता सर्वश्रेष्ठ है। अत्यधिक श्रेष्ठ एवं अनुपम वस्तुओं में उसका ही अस्तित्व है। शाश्वत सत्य में उसी का निवास है। आकाश में वही सत्य रूप है। वही जल से प्रादुर्भूत होता है। वही गौ अर्थात् पृथ्वी एवं वाणी से उत्पन्न होने वाला है। सत्य से भी उसी का प्राकट्य होता है। वही पर्वतों से उत्पन्न होकर इन सभी से भिन्न एवं अति विलक्षण एक मात्र महान् सत्य है"॥ ८-१०॥

ब्रह्मव्यतिरिक्तं सर्वं नश्वरमिति निश्चित्याथो क्रमेण यः संन्यस्यति स संन्यासोऽनिमित्त-संन्यासः॥ ११॥ संन्यासः षड्विधो भवति। कुटीचको बहूदको हंसः परमहंसः तुरीयातीतोऽ-वधूतश्चेति॥ १२॥ कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनकन्थाधरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठरखनित्रशिक्यादिमन्त्रसाधनपर एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः। बहूदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवत्सर्वसमो मधुकरवृत्त्याष्टक-वलाशी॥ १३॥ हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधारी असंक्लृप्तमाधूकरान्नाशी कौपीनखण्ड-तुण्डधारी॥ १४॥ परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहेष्वेकरात्रान्नादनपरः करपात्री एककौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो वा भस्मोद्धूलनपरः सर्वत्यागी॥१५॥

(इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्र के भावार्थानुसार) जो केवल परब्रह्म परमात्मा को ही सत्य-स्वरूप जानता है तथा ब्रह्म से अलग और सभी कुछ नाशवान् है, ऐसा दृढ़-निश्चय करता हुआ क्रमशः संन्यास-आश्रम में प्रविष्ट होता है। उसका यही संन्यास अनिमित्त संन्यास कहलाता है। संन्यासी के छह भेद इस प्रकार कहे गये हैं-१ कुटीचक, २. बहूदक, ३. हंस, ४. परमहंस, ५. तुरीयातीत, तथा ६. अवधूत। कुटीचक संन्यासी शिखा एवं सूत्र (यज्ञोपवीत) से सम्पन्न होता है। वह दण्ड, कमण्डलु, कौपीन एवं कन्था (कथरी) को धारण करता है। माता, पिता तथा गुरु की सेवा में निरन्तर लगा रहता है। पात्र, खनती (मिट्टी खोदने वाला) तथा झोली आदि को सतत अपने साथ रखता है और मन्त्रादि की साधना में सदैव तत्परतापूर्वक लगा रहता है। एक ही स्थान पर भोजन करता है, श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र (ऊर्ध्वमुख तिलक) धारण करता तथा त्रिदण्ड को भी धारण किये रहता है। बहूदक भी कुटीचक की तरह से शिखा (चोटी) यज्ञोपवीत, दण्ड, कमण्डलु, कौपीन (लँगोटी) और कन्था (कथरी) को धारण करता है। मस्तक में त्रिपुण्ड्र धारण किये रहता है। सभी के प्रति समान भाव रखने वाला होता है और मधुकरी वृत्ति से विभिन्न गृहों से अन्न प्राप्त करके मात्र आठ ग्रास भोजन ही ग्रहण करता है। हंस नाम वाला संन्यासी जटा-जूट धारण करने वाला होता है, त्रिपुण्ड्र एवं ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करता है, अनिश्चित गृहों से मधुकरी (भिक्षा) लाकर भोजन करने वाला तथा कौपीन खण्ड एवं तुम्बी धारण करने वाला होता है। परमहंस नामक संन्यासी शिखा और यज्ञोपवीत को धारण नहीं करता है। यह संन्यासी पाँच घरों से अन्न (भोजन) प्राप्त करके केवल एक रात ही भोजन करता है अर्थात् दूसरे दिन दूसरे अन्य पाँच घरों से अन्न प्राप्त करता है। एक कौपीन, एक ओढ़ने का वस्त्र तथा एक बाँस का दण्ड अपने पास में रखता है। यह संन्यासी या

तो एक चादर अपने शरीर में सदैव ओढ़कर रहता है अथवा सम्पूर्ण अंगों में भस्म धारण किये रहता है, परमहंस सर्वत्यागी होता है॥ ११-१५॥

तुरीयातीतो गोमुखः फलाहारी। अन्नाहारी चेद्गृहत्रये देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः॥ १६॥ अवधूतस्त्वनियमोऽभिशस्तपतितवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगरवृत्त्याहारपरः स्वरूपानुसंधानपरः॥ १७॥

तुरीयातीत संन्यासी गौ के सदृश ईश्वरेच्छा से जो कुछ भी प्राप्त हो जाए, उसी में निर्वाह कर लेता है। यह संन्यासी कभी किसी से कुछ नहीं माँगता। यह प्रायः फलाहारी ही होता है और यदि अन्नाहार करता है, तो केवल तीन घरों से ही अन्न लेता है। शरीर के अतिरिक्त उसके पास और कुछ भी नहीं होता। वह दिगम्बर (नग्न) रहते हुए अपनी इन्द्रियों को मृतकों की भाँति चेष्टारहित बना लेता है। अवधूत नामक संन्यासी किसी भी तरह के बन्धन को नहीं मानता। कलंक युक्त और पथ-भ्रष्ट मनुष्यों को त्यागकर बिना-किसी वर्ण-भेद के अजगर वृत्ति से अन्न प्राप्त करते हुए अपने आत्मा के स्वरूप के चिन्तन में सतत संलग्न रहता है॥ १६-१७॥

आतुरो जीवति चेत्क्रमसंन्यासः कर्तव्यः॥ १८॥

आतुर मनुष्य संन्यास स्वीकार करने के बाद जीवित रहे, तो उसे क्रम-संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए॥

कुटीचकबहूदकहंसानां ब्रह्मचर्याश्रमादितुरीयाश्रमवत् कुटीचकादीनां संन्यासविधिः॥ १९॥

कुटीचक, बहूदक तथा हंस नामक इन तीन तरह के संन्यासियों को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ के क्रमानुसार ही चतुर्थ आश्रम अर्थात् संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने का नियम है॥ १९॥

परमहंसादित्रयाणां न कटिसूत्रं न कौपीनं न वस्त्रं न कमण्डलुर्न दण्डः। सार्ववर्णैकभैक्षाटनपरत्वं जातरूपधरत्वं विधिः। संन्यासकालेऽप्यलंबुद्धिपर्यन्तमधीत्य तदनन्तरं कटिसूत्रं कौपीनं दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेन्न कन्थावेशो नाध्येतव्यो न वक्तव्यो न श्रोतव्यमन्यत्किंचित्प्रणवादन्यं न तर्कं पठेन्न शब्दमपि बृहच्छब्दान्नाध्यापयेन्न महद्वाचो विग्लापनं गिरा पाण्यादिना संभाषणं नान्यस्माद्वा विशेषेण न शूद्रस्त्रीपतितोदक्या संभाषणं न यतेर्देवपूजा नोत्सवदर्शनं तीर्थयात्रावृत्तिः॥ २०॥

परमहंस, तुरीयातीत एवं अवधूत संन्यासियों के लिए कटिसूत्र, कौपीन दण्ड, कमण्डलु एवं वस्त्रादि धारण करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। वे जातरूपधर रहकर समस्त वर्ण-जाति के घरों से भिक्षा याचना के लिए स्वतन्त्र हैं। संन्यास धर्म स्वीकार करने के समय 'मैंने जितना भी कुछ अध्ययन किया है, वह अपने आप में पर्याप्त है' इस तरह का दृढ़-निश्चय जब तक न हो जाए, तब तक अध्ययन करते रहना चाहिए। तत्पश्चात् कौपीन, कटिसूत्र आदि को जल में विसर्जित कर देना चाहिए। यदि वह दिगम्बर (वस्त्र से रहित) हो, तो फिर वह कन्था (कथरी) आदि अपने पास न रखे, पठन-पाठन न करे, प्रवचन, कथा-स्तुति आदि श्रवण न करे तथा उसे व्याख्यान आदि भी नहीं देना चाहिए। तर्कशास्त्र एवं शब्दशास्त्र आदि कुछ भी पढ़ने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। उसे मात्र प्रणव रूपी ॐकार का ही जप करना चाहिए। वाणी का व्यर्थ में अपव्यय करना वर्जित है। संकेत मात्र से बात करना भी निषिद्ध है। वह शूद्र, पदच्युत एवं स्त्री से बात बिल्कुल न करे। रजस्वला स्त्री से तो भूलकर भी बात न करे। विशेष उत्सव समारोह-पूजा आदि देखना, तीर्थ यात्रा करना या देवताओं का पूजन-अर्चन आदि भी यति के लिए आवश्यक नहीं है॥ २०॥

पुनर्यतिविशेषः। कुटीचकस्यैकत्र भिक्षा बहूदकस्यासंक्लृप्तं माधूकरं हंसस्याष्टगृहेष्वष्टक-वलं परमहंसस्य पञ्चगृहेषु करपात्रं फलाहारो गोमुखं तुरीयातीतस्यावधूतस्याजगरवृत्तिः सार्ववर्णिकेषु यतिर्नैकरात्रं वसेन्न कस्यापि नमेत्तुरीयातीतावधूतयोर्न ज्येष्ठो यो न स्वरूपज्ञः। स ज्येष्ठोऽपि कनिष्ठो हस्ताभ्यां नद्युत्तरणं न कुर्यान्न वृक्षमारोहेन्न यानादिरूढो न क्रयविक्रयपरो न किंचिद्विनिमयपरो न दाम्भिको नानृतवादी न यतेः किंचित्कर्तव्यमस्त्यस्ति चेत्सांकर्यम्। तस्मान्मननादौ संन्यासिनामधिकारः॥ २१॥

अब संन्यासियों के फिर से कुछ विशेष नियमोपनियम वर्णित किये जाते हैं। कुटीचक संन्यासी के लिए एक ही स्थान विशेष पर भिक्षा स्वीकार करने की विधि है। बहूदक संन्यासी के लिए निश्चयरहित घरों से मधुकरी (भिक्षा) प्राप्त करने का नियम है। हंस संन्यासी के लिए आठ गृहों से मात्र आठ ग्रास अन्न लेकर भोजन ग्रहण करने का विधान है। परमहंस के लिए पाँच गृहों से अन्न (भोजन) प्राप्त करने का विधान है। हाथ ही उसका पात्र है, इस कारण उसे 'करपात्री' भी कहते हैं। तुरीयातीत के लिए गोमुख-वृत्ति से फलाहार का ही विधान है। यानी जिस प्रकार गाय को जो कुछ भी भोजन कराया जाय, वह मुँह खोलकर ग्रहण कर लेती है, उसी प्रकार दैव इच्छा से जो भी कुछ फल-फूल प्राप्त हो जाए, उसे ही ले लेना चाहिए। अवधूत संन्यासी के लिए समस्त वर्ण-जाति के लोगों के यहाँ से अजगर-वृत्ति के अनुसार अन्न-प्राप्त करने का विधान है। यति (संन्यासी) किसी गृहस्थ के घर एक रात्रि भी निवास न करे। किसी को भी नमन-वंदन न करे। तुरीयातीत एवं अवधूत इन दोनों संन्यासियों में अवस्थानुसार न कोई बड़ा होता है और न ही कोई छोटा होता है। जिसे अपने स्वरूप का ही बोध नहीं है, वह अवस्था में बड़ा होते हुए भी छोटा ही कहा जायेगा। संन्यासी को कभी भी तैरकर नदी पार नहीं करनी चाहिए। वृक्षों पर भी नहीं चढ़ना चाहिए। सवारी पर न चले। क्रय-विक्रय आदि कुछ भी न करे। किसी भी वस्तु की अदला-बदली न करे। दम्भी (अहंकारी) एवं असत्यवादी कदापि न बने। यति के लिए कुछ भी करना कर्त्तव्य नहीं है। संन्यासियों का चिन्तन-मनन में ही समग्र रूप से पूर्ण अधिकार है॥ २१॥

आतुरकुटीचकयोर्भूर्लोकभुवर्लोकौ बहूदकस्य स्वर्गलोको हंसस्य तपोलोकः परमहंसस्य सत्यलोकस्तुरीयातीतावधूतयोः स्वात्मन्येव कैवल्यं स्वरूपानुसन्धानेन भ्रमरकीटन्यायवत्॥२२ यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेव समाप्नोति नान्यथा श्रुतिशासनम्॥ २३॥

आतुर एवं कुटीचक नाम वाले संन्यासी पृथिवी लोक और भुवः लोक को प्राप्त करते हैं। बहूदक संन्यासी स्वर्ग को अर्थात् स्वः लोक को तथा हंस-संन्यासी को तपोलोक की प्राप्ति होती है। परमहंस संन्यासी को सत्यलोक की प्राप्ति होती है। तुरीयातीत एवं अवधूत संन्यासी अपनी अन्तरात्मा में एकमात्र कैवल्य प्राप्ति का ही अधिकारी होता है। वह भ्रमर का ध्यान करने वाले कृमि-कीटकों के सदृश सतत अपने स्वरूप का अनुसंधान करते रहने के कारण आत्मस्वरूप ही हो जाता है। व्यक्ति मृत्यु के समय जिस-जिस भाव का ध्यान करते हुए अपने शरीर का परित्याग करता है, वह उसी-उसी भाव को प्राप्त करता है, यह बात व्यर्थ नहीं है, यह श्रुति-सम्मत उपदेश है॥ २२-२३॥

तदेवं ज्ञात्वा स्वरूपानुसंधानं विनान्यथाचारपरो न भवेत्तदाचारवशात्तत्तल्लोकप्राप्तिर्ज्ञा-नवैराग्यसंपन्नस्य स्वस्मिन्नेव मुक्तिरिति न सर्वत्राचारप्रसक्तिस्तदाचारः। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति-ष्वेकशरीरस्य जाग्रत्काले विश्वः स्वप्नकाले तैजसः सुषुप्तिकाले प्राज्ञः अवस्थाभेदादवस्थेश्वरभेदः

कार्यभेदात्कारणभेदस्तासु चतुर्दशकरणानां बाह्यवृत्तयोऽन्तर्वृत्तयस्तेषामुपादानकारणम्। वृत्तयश्चत्वारः मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति । तत्तद्वृत्तिव्यापारभेदेन पृथगाचारभेदः ॥ २४॥

अतः इस तरह से समझकर संन्यासी को चाहिए कि वह अपने आत्मस्वरूप के चिन्तन के अतिरिक्त और किसी भी आचार में संलग्न न रहे। अलग-अलग आचारों का अनुष्ठान संकल्प लेने से तदनुकूल लोकों की प्राप्ति होती है; किन्तु ज्ञान-वैराग्य से युक्त संन्यासी की अपने आप में अर्थात् स्वयं में ही मुक्ति प्राप्त होती है। अन्य और किसी भी आचार में आसक्त न होना ही उसका अपना विशिष्ट आचार है। जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीनों स्थितियों में वह एक रूप होता है। जाग्रत् अवस्था में वही विश्वरूप, स्वप्नावस्था में तैजस-सम्पन्न तथा सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ-स्वरूप कहलाता है। काल-भेद से उन-उन अवस्थाओं के स्वामी में भेद होता है, कार्यभेद से ही कारण भेद की जानकारी प्राप्त होती है। जाग्रदादि अवस्थाओं में चौदह करणों (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा चार अन्तःकरण) की जो बाह्य वृत्तियाँ हैं, उनका उपादान कारण एक ही है अन्तः की वृत्तियाँ। अन्तः की चार वृत्तियाँ-मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार बतलायी गई हैं। उन-उन वृत्तियों के व्यापार-भेद से अलग-अलग आचरण भेद होते हैं॥ २४॥

नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत्। सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्॥ २५॥ तुरीयमक्षरमिति ज्ञात्वा जागरिते सुषुप्त्यवस्थापन्न इव यद्यच्छ्रुतं यद्यद्दृष्टं तत्तत्सर्वमविज्ञातमिव यो वसेत्तस्य स्वप्नावस्थायामपि तादृगवस्था भवति। स जीवन्मुक्त इति वदन्ति। सर्वश्रुत्यर्थप्रतिपादनमपि तस्यैव मुक्तिरिति। भिक्षुर्नैहिकामुष्मिकापेक्षः। यद्यपेक्षास्ति तदनुरूपो भवति। स्वरूपानुसन्धानव्यतिरिक्तान्यशास्त्राभ्यासैरुष्ट्रकुङ्कुमभारवद्व्यर्थो न योगशास्त्रप्रवृत्तिर्न सांख्यशास्त्राभ्यासो न मन्त्रतन्त्रव्यापारः। इतरशास्त्रप्रवृत्तिर्यतेरस्ति चेच्छ्वालंकारवच्चर्मकारवदतिविदूरकर्माचारविद्यादूरो न प्रणवकीर्तनपरो यद्यत्कर्म करोति तत्तत्फलमनुभवति। एरण्डतैलफेनवदतः सर्वं परित्यज्य तत्प्रसक्तं मनोदण्डं करपात्रं दिगम्बरं दृष्ट्वा परिव्रजेद्भिक्षुः। बालोन्मत्तपिशाचवन्मरणं जीवितं वा न काङ्क्षेत कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशभृतकन्यायेन परिव्राडिति॥ २६॥

जाग्रत् अवस्था तथा उसके नियन्ता विश्व की स्थिति नेत्र के अन्दर निहित है। स्वप्न एवं उसके अधिष्ठाता तैजस का कण्ठ में निवास है। सुषुप्ति तथा उसके स्वामी प्राज्ञ की स्थिति हृदय क्षेत्र में है और तुरीय तथा उसके स्वामी परमेश्वर का निवास ब्रह्मरन्ध्र (सिर) में कहा गया है। जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं का वर्णन करते हुए तुरीयरूप में जिसकी स्थिति कही गई है, वह तुरीय स्वरूप अविनाशी परमात्मतत्त्व मैं ही हूँ, ऐसा जानकर जो जाग्रत् अवस्था में ही सुषुप्त की स्थिति में रहता है; जो-जो सुनी तथा जो-जो दृष्टिपात की हुई वस्तुएँ हैं, वे सब मानों अपरिचित सी हैं। इस तरह से उनकी ओर चिन्तन न करते हुए, जो स्थित रहता है, उसकी स्वप्नावस्था में भी वैसी ही स्थिति बनी रहती है अर्थात् वह स्वप्न में उपलब्ध पदार्थों को भी स्वीकार नहीं करता है। इस तरह का पुरुष जीवनमुक्त है, ऐसा विद्वज्जन कहते हैं। समस्त श्रुतियों का मन्तव्य भी यही है कि उसी की मुक्ति होती है। भिक्षु इस लोक एवं परलोक के विषयों की भी आकांक्षा नहीं रखता है; किन्तु यदि उसकी उसके प्रति आकांक्षा हो, तो वह तदनुरूप ही हो जायेगा। अपने स्वरूप के अनुसंधान को त्यागकर दूसरे शास्त्रों का अभ्यास उसके लिए उसी तरह से बेकार है, जिस तरह से ऊँट की पीठ पर लदा हुआ केसर का भार। उस यति की योगशास्त्र में रुचि नहीं रहनी चाहिए। उसको सांख्य-शास्त्र का अभ्यास एवं मन्त्र-तन्त्र का व्यापार भी उचित नहीं है। यदि संन्यासी की रुचि अन्यान्य शास्त्रों में होती है, तो वह सभी कुछ उसके लिए

मृतक को धारण कराये हुए आभूषणों के सदृश हैं। चर्मकार की तरह से सभी से अत्यधिक दूर रहकर कर्म-आचरण एवं विद्या से भी दूर रहना चाहिए। ॐकार का भी ऊँचे स्वर से कीर्तन नहीं करना चाहिए; क्योंकि व्यक्ति जो-जो कार्य करता है, उन-उन सबका फल भी उसे भुगतना पड़ता है। इस कारण सभी को अंडी (एरण्ड) के तेल के फेन की तरह से साररहित जानकर छोड़ देना चाहिए और परमात्मा के ध्यान में रत रहकर मनोमय दण्ड तथा हाथ रूपी पात्रों को ग्रहण करने वाले दिगम्बर (वस्त्ररहित) संन्यासी का दर्शन करके उसके आदर्श को अपने समक्ष रखकर संन्यासी सर्वत्र भ्रमण करे। वह बालक, मतवाला तथा पिशाचों की तरह से जीवन अथवा मृत्यु की इच्छा न करे। आज्ञापालक भृत्य (नौकर) की तरह से परिव्राजक को मात्र काल की ही प्रतीक्षा करते रहना चाहिए अर्थात् समय के अनुसार चलना चाहिए।॥ २५-२६ ॥

तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः। भिक्षामात्रेण जीवी स्यात्स यतिर्यतिवृत्तिहा ॥२७॥ न दण्डधारणेन न मुण्डनेन न वेषेण न दम्भाचारेण मुक्तिः।॥ २८॥ ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते। काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः। स याति नरकान्घोरान्महारौरवसंज्ञितान्॥ २९॥ प्रतिष्ठा सूकरीविष्ठासमा गीता महर्षिभिः। तस्मादेनां परित्यज्य कीटवत्पर्यटेद्यतिः ॥ ३०॥ अयाचितं यथालाभं भोजनाच्छादनं भवेत्। परेच्छया च दिग्वासाः स्नानं कुर्यात्परेच्छया॥ ३१॥ स्वप्नेऽपि यो हि युक्तः स्याज्जाग्रतीव विशेषतः। ईदृक्चेष्टः स्मृतः श्रेष्ठो वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम्॥ ३२॥ अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत्। प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गविवर्जितः ॥ ३३॥ अभिपूजितलाभांश्च जुगुप्सेतैव सर्वशः। अभिपूजितलाभैस्तु यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते॥ ३४॥

जो संन्यासी सहनशील, ज्ञान, वैराग्य तथा शम-दम आदि श्रेष्ठ गुणों से रहित रहते हुए भिक्षा मात्र से ही जीवनयापन करता है, वह संन्यासी संन्यासवृत्ति का हनन करने वाला कहा गया है। केवल दण्ड ग्रहण करने, सिर मुँड़ाने, विभिन्न तरह के वेश बनाने तथा प्रदर्शनात्मक दृष्टि से किसी भी तरह के आचरण करने से मुक्ति नहीं मिलती। जिस यति ने ज्ञान-स्वरूप दण्ड को ग्रहण किया है, वही एकदण्डी होता है। जिस संन्यासी ने लकड़ी का दण्ड तो धारण कर लिया है; लेकिन मन में सभी तरह की इच्छाओं को स्थान दे रखा है और जो सर्वथा ज्ञान से रहित है, वह संन्यासी महारौरव आदि नाम वाले भयानक नरक को प्राप्त होता है। महान् ऋषि-मनीषियों ने प्रतिष्ठा को शूकरी के मल (विष्ठा) के सदृश बतलाया है। इस कारण से संन्यासी प्रतिष्ठा को छोड़कर कृमि-कीटकों की तरह से यत्र-तत्र भ्रमण करता रहे। दिगम्बर (वस्त्र रहित) संन्यासी बिना याचना के जो कुछ प्राप्त हो जाए, वही भोजन करे तथा वैसे ही वस्त्रादि से अपने तन को ढककर रहे। वह अन्य दूसरों के कहने से वस्त्रों को धारण करे तथा दूसरों की ही इच्छा से स्नानादि सम्पन्न करे। जो संन्यासी स्वप्नावस्था में भी जाग्रदवस्था के सदृश ही विशेष रूप से सतर्क होकर के वैसी ही चेष्टा निरन्तर करता है,वही ब्रह्मवादियों में श्रेष्ठ माना गया है। भिक्षा आदि न प्राप्त होने पर विषाद नहीं करना चाहिए तथा भिक्षा के प्राप्त हो जाने पर अत्यधिक हर्षान्वित न हो जाए। भिक्षा उतनी ही स्वीकार करे, जितने से प्राणों की रक्षा हो सके। रूप, रस और शब्दादि विषयों की आसक्ति से सदैव दूर रहे। सम्मान मिलने को वह सभी तरह से घृणा की दृष्टि से ही देखे। सम्मान का लाभ प्राप्त करने वाला संन्यासी मुक्ति प्राप्त करने पर भी आबद्ध हो जाता है॥ २७-३४॥

[ऋषि ने आन्तरिक स्तर पर वैराग्य भाव न होने पर भी संन्यासी जैसा वेश बनाने की प्रवृत्ति को नर्क का मार्ग कहा है। दण्ड आत्मानुशासन का प्रतीक है। यदि वह न हो, तो उसे धारण करना व्यर्थ है। प्रतिष्ठा- सम्मान प्राप्त करने की

इच्छा को लोकैषणा कहा जाता है। कामासक्ति और अर्थासक्ति से छुटकारा पा लेने पर भी यथाशक्ति पीछा, नहीं छोड़ती। सम्मान की आकांक्षा के कारण सम्मान-सुविधा देने वालों के प्रति भी आसक्ति होने लगती है। आसक्ति ही बन्धन है, जो मुक्ति में बाधक है।]

प्राणयात्रानिमित्तं च व्यङ्गारे भुक्तवज्जने। काले प्रशस्ते वर्णानां भिक्षार्थं पर्यटेद्गृहान्॥३५॥
पाणिपात्रश्चरन्योगी नासकृद्भैक्षमाचरेत्। तिष्ठन्भुञ्ज्याच्चरन्भुञ्ज्यान्मध्येनाचमनं तथा॥ ३६॥
अब्धिवद्धृतमर्यादा भवन्ति विशदाशयाः। नियतिं न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव ॥ ३७॥
आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः। तदा समः स्यात्सर्वेषु सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ३८॥
अनिन्द्यं वै व्रजेद्गेहं निन्द्यं गेहं तु वर्जयेत्। अनावृते विशेद्द्वारि गेहे नैवावृते व्रजेत्॥ ३९॥
पांसुना च प्रतिच्छन्नशून्यागारप्रतिश्रयः। वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः ॥ ४०॥

जब चूल्हे की अग्नि बुझ जाए अर्थात् भोजन बनकर तैयार हो जाए और घर के सभी सदस्य भोजन प्राप्त कर लें, तब ऐसे ही उपयुक्त समय में संन्यासी श्रेष्ठ वर्ण वाले गृहस्वामियों के घर भिक्षार्थ गमन करे। भिक्षा का उद्देश्य केवल प्राण यात्रा का निर्वाह ही होना चाहिए। हाथों को ही पात्र रूप निर्मित करके भ्रमण करने वाला करपात्री संन्यासी बार-बार भिक्षा की याचना न करे। एक ही बार में जो कुछ प्राप्त हो जाए, उसे खड़े-खड़े ही ग्रहण कर ले या फिर चलते-चलते ही भोजन ग्रहण कर ले। हाथ का भोजन जब तक पूर्ण न हो जाए, बीच में जल कदापि ग्रहण न करे। संन्यासी को समुद्र के सदृश मर्यादित होकर के रहना चाहिए। उन श्रेष्ठ महाभाग का आशय महान् होता है। वे महान् रहकर सूर्य के सदृश अपने नियमों का उल्लंघन कभी नहीं करते। जिस समय संन्यासी मुनि गौ की तरह मुख से भोजन स्वीकार करने लगता है अर्थात् यदि कोई भी व्यक्ति उस यति के मुख में कुछ डाल दे, तब ही वह भोजन ग्रहण करता है। उस समय समस्त प्राणि-समुदाय के प्रति उसका समान भाव हो जाता है तथा वह अमृतत्व अर्थात् मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। जो घर निन्दनीय न हो, वहीं भिक्षा ग्रहण हेतु जाये। निन्दित गृहों का परित्याग कर दे। जिस भवन का दरवाजा खुला हो, उसी में प्रवेश करे। जिसका दरवाजा बन्द हो, उस घर में उसे नहीं जाना चाहिए। धूल आदि से आच्छादित निर्जन भवनों में उसे आश्रय प्राप्त करना चाहिए। सभी प्रकार प्रिय एवं अप्रिय का परित्याग कर देना चाहिए॥ ३५-४०॥

यत्रास्तमितशायी स्यान्निरग्निरनिकेतनः। यथालब्धोपजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः ॥ ४१॥
निष्क्रम्य वनमास्थाय ज्ञानयज्ञो जितेन्द्रियः। कालकाङ्क्षी चरन्नेव ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ४२॥
अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा चरति यो मुनिः। न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित्॥ ४३॥
निर्मानश्चानहंकारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः। नैव क्रुध्यति न द्वेष्टि नानृतं भाषते गिरा॥ ४४॥
पुण्यायतनचारी च भूतानामविहिंसकः। काले प्राप्ते भवेद्भैक्षं कल्पते ब्रह्मभूयसे॥ ४५॥
वानप्रस्थगृहस्थाभ्यां न संसृज्येत कर्हिचित्। अज्ञातचर्यां लिप्सेत न चैनं हर्ष आविशेत्। अध्वा सूर्येण निर्दिष्टः कीटवद्विचरेन्महीम्॥ ४६॥

जहाँ सूर्यास्त हो जाए, संन्यासी को वहीं पर शयन करना चाहिए। अपने पास न तो कोई अग्नि ही रखे तथा न ही अपना कोई घर ही निर्माण करे। ईश्वरेच्छा से जो भी कुछ मिल जाए, उसी पर आश्रित होकर जीवन-यापन करे। मन तथा इन्द्रियों को सदैव अपने अंकुश में रखे। जो 'यति' अपने घर का परित्याग करके, वन का आश्रय प्राप्त करता है, अपनी इन्द्रियों को वश में रखते हुए ज्ञान-यज्ञ का अनुष्ठान सम्पन्न करता है तथा काल की प्रतीक्षा करता हुआ निरन्तर विचरण करता है, ऐसा वह संन्यासी निश्चय ही ब्रह्म भाव को प्राप्त करने का

अधिकारी होता है। जो परिव्राजक समस्त प्राणियों को अभयदान करके विचरण करता है, उसे भी किसी प्राणी से कहीं पर भी भय नहीं होता; जो मान और अहंकार का परित्याग करके द्वन्द्व जनित विकार से रहित हो जाता है; उसके मन के सभी संशय मिट जाते हैं; वह न तो किसी प्राणी पर क्रोध करता है, न किसी से ईर्ष्या-द्वेष आदि रखता है तथा न वाणी से कभी मिथ्यावादन ही करता है। जो पुण्य स्थलों में सतत विचरण करता रहता है, किसी भी भूत (प्राणी) की हिंसा नहीं करता तथा समय मिलने पर भिक्षा-मात्र से ही अपना जीवन-निर्वाह पूर्ण करता है; ऐसा यति ब्रह्म के भाव को प्राप्त करने में समर्थ होता है। उसे वानप्रस्थ तथा गृहस्थों से कभी भी संसर्ग नहीं रखना चाहिए। वह इस बात का ध्यान रखे कि उसकी जीवनचर्या अन्य दूसरों पर परिलक्षित न हो। संन्यासी में कभी भी प्रसन्नता का आवेश नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार कृमि-कीटक सतत विचरण करते रहते हैं, उसी प्रकार संन्यासी भी सूर्य के द्वारा दिखलाए हुए मार्ग से पृथिवी पर विचरण करे अर्थात् रात्रि में विचरण न करे॥ ४१-४६॥

आशीर्युक्तानि कर्माणि हिंसायुक्तानि यानि च। लोकसंग्रहयुक्तानि नैव कुर्यान्न कारयेत्॥४७॥
नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम्। अतिवादांस्त्यजेत्तर्कान्पक्षं कंचन नाश्रयेत्॥ ४८॥
न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद्बहून्। न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत्क्वचित्॥ ४९॥
अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्तार्थो मुनिरुन्मत्तबालवत्। कविर्मूकवदात्मानं तदृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम्॥ ५०॥
न कुर्यान्न वदेत्किंचिन्न ध्यायेत्साध्वसाधु वा। आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः॥५१॥
एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः। आत्मक्रीड आत्मरतिरात्मवान्समदर्शनः॥५२॥
बुधो बालकवत्क्रीडेत्कुशलो जडवच्चरेत्। वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत्॥ ५३॥
क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽपि वा। ताडितः संनिरुद्धो वा वृत्त्या वा परितापितः॥
विष्ठितो मूत्रितो वाङ्गैर्बहुधैवं प्रकल्पितः। श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनात्मानमुद्धरेत्॥ ५५॥
संमाननं परां हानिं योगर्द्धैः कुरुते यतः। जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं च विन्दति॥ ५६॥
तथा चरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन्। जना यथावमन्येरन्गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम्॥ ५७॥
जरायुजाण्डजादीनां वाङ्मनःकायकर्मभिः। युक्तः कुर्वीत न द्रोहं सर्वसङ्गांश्च वर्जयेत्॥ ५८॥
कामक्रोधौ तथा दर्पलोभमोहादयश्च ये। तांस्तु दोषान्परित्यज्य परिव्राड् भयवर्जितः॥ ५९॥

'कामनाओं, हिंसा एवं लोक संग्रह से संयुक्त जो-जो भी कर्म हैं, उन समस्त कर्मों को परिव्राजक न तो खुद करे और न ही दूसरे अन्य लोगों से ही कराये। असत् शास्त्रों के प्रति कभी भी आसक्त न हो। वह किसी भी तरह का जीविका-उपार्जन का साधनभूत कर्म सम्पन्न करके जीवनयापन कदापि न करे। अनावश्यक बात कभी न करे तथा तर्क-वितर्क आदि भी करना त्याग दे। वादी एवं प्रतिवादी में से किसी का भी पक्ष ग्रहण न करे। शिष्यों का भी संग्रह नहीं करना चाहिए। विभिन्न तरह के अधिकाधिक ग्रंथों का अध्ययन न करे तथा अपने पक्ष की सफलता के लिए अपने मन की व्याख्या का प्रयोग न करे। भिन्न-भिन्न आयोजनों-उत्सवों आदि के द्वारा अपनी ख्याति न फैलाए। अपने आश्रमादि का कोई चिह्न विशेष न लगाए। दूसरे लोगों के समक्ष पागल अथवा बालकों के सदृश अज्ञानी बना रहे। ज्ञानवान् होकर के भी गूँगे की भाँति मौन धारण किये रहे। दूसरे अन्य लोग जिस प्रकार का भाव रखें, उनके सामने वैसा ही अपना स्वरूप बनाकर रहे। अच्छे-बुरे विचारों को अपने मन में न आने दे। मूक होकर विचरण करे तथा किसी भी तरह का कोई कर्म न करे। अपनी आत्मा में ही सदैव रमण करता रहे। सर्वत्र जड़वत् शान्त होकर रहे। अपनी इन्द्रियों को संयमित रखे। वासना का

परित्याग कर दे तथा भूमि पर अकेला ही भ्रमण करे। किसी को अपना साथी-सहचर आदि न बनाये। सभी को सम्यक् दृष्टि से देखे। बालक की तरह चेष्टा करे। समस्त कार्यों में पारंगत होते हुए भी अज्ञानियों की तरह रहे। वेदों का पूर्ण ज्ञान होने पर भी गौ की तरह से (सहज) रहे। सदैव उन्मत्तों की तरह से बात करे। दुष्टजनों के द्वारा किये गये अपमान, झूठे आरोप, लांछन आदि को शान्त मन से सहन कर ले। यदि वे दुष्टजन प्रताड़ित करते हैं, बाँधकर के रखते हैं या क्रियाकलाप में व्यवधान उत्पन्न करते हैं, तब भी विचलित न होकर शान्त ही बने रहना चाहिए। अज्ञानी लोग यदि शरीर के ऊपर थूक दें, मल-मूत्र त्याग करें अथवा अन्य किसी भी तरह का कष्ट दें, तो उसे भी सहन कर लेना चाहिए। संकट के उत्पन्न होने पर अपना ही उद्धार करने का सदैव प्रयत्न करना चाहिए। दूसरे अन्य लोगों के द्वारा प्राप्त हुआ आदर-सम्मान तप के उपार्जन में हानि प्रदान करने वाला है; किन्तु अपमानित हुआ परिव्राजक बहुत शीघ्र ही अपने लक्ष्य (योगसिद्धि) को प्राप्त कर लेता है। श्रेष्ठयोगी परिव्राजक श्रेष्ठ जनों के धर्म को कलङ्कित न करते हुए दृढ़-निश्चय होकर ऐसा आचरण करे, जिससे कि सामान्य जन उसका अपमान ही करें तथा उसके सम्पर्क में न आयें। परिव्राजक योगारूढ़ हो मन, वचन, कर्म एवं शरीर द्वारा जरायुज तथा अण्डज आदि किसी भी प्राणी के साथ द्रोह न करे एवं सभी तरह की आसक्तियों का परित्याग कर दे। काम, क्रोध, मद, लोभ तथा मोह आदि जितने भी प्रकार के दोष हैं, उनका त्याग करके परिव्राजक भयरहित हो जाता है॥ ४७-५९॥

भैक्षाशनं च मौनित्वं तपो ध्यानं विशेषतः। सम्यग्ज्ञानं च वैराग्यं धर्मोऽयं भिक्षुके मतः॥ ६०॥
काषायवासाः सततं ध्यानयोगपरायणः। ग्रामान्ते वृक्षमूले वा वसेद्देवालयेऽपि वा ।
भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नाशी भवेत्क्वचित्॥ ६१॥ चित्तशुद्धिर्भवेद्यावत्तावन्नित्यं चरेत्सुधीः।
ततः प्रव्रज्य शुद्धात्मा संचरेद्यत्र कुत्रचित्॥ ६२॥ बहिरन्तश्च सर्वत्र संपश्यन्हि जनार्दनम्।
सर्वत्र विचरेन्मौनी वायुवद्वीतकल्मषः॥ ६३॥ समदुःखसुखः क्षान्तो हस्तप्राप्तं च भक्षयेत्।
निर्वैरेण समं पश्यन्द्विजगोऽश्वमृगादिषु॥ ६४॥ भावयन्मनसा विष्णुं परमात्मानमीश्वरम्। चिन्मयं परमानन्दं ब्रह्मैवाहमिति स्मरन्॥ ६५॥ ज्ञात्वैवं मनोदण्डं धृत्वा आशानिवृत्तो भूत्वा आशाम्बरधरो भूत्वा सर्वदा मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वसंसारमुत्सृज्य प्रपञ्चावाङ्मुखः स्वरूपानुसन्धानेन भ्रमरकीटन्यायेन मुक्तो भवतीत्युपनिषत्॥ ६६॥

परिव्राजक का निश्चय किया हुआ धर्म—भिक्षा की वृत्ति द्वारा अर्जित भोज्य-पदार्थ ग्रहण करना, मौन व्रत का अवलम्बन ग्रहण करना, तपस्या में निरन्तर लगे रहना, सद्ज्ञान के अनुसंधान में रत रहना तथा मन में सदैव विरक्ति भाव उत्पन्न होना है। गेरुआ वस्त्र धारण कर योगी निरन्तर ध्यान-योग में संलग्न रहे। गाँव के बाहर, वृक्ष की जड़ के समीप में या किसी देव मन्दिर में वास करे। नित्य वह भिक्षा द्वारा अर्जित भोज्य-सामग्री से ही अपना निर्वाह करे। किसी एक ही सद्गृहस्थ के घर का अन्न-भोज्य पदार्थ तो उसे कभी नहीं ग्रहण करना चाहिए। श्रेष्ठ ज्ञानी मनुष्य को प्रतिदिन अपने आश्रमानुसार श्रेष्ठ आचरण का पालन करना चाहिए तथा यह श्रेष्ठ आचरण तब तक करता रहे, जब-तक कि अन्तःकरण पूरी तरह से पवित्र न हो जाए। अन्तःकरण के शुद्ध हो जाने पर वह योगी संन्यास-धर्म ग्रहण कर यत्र-तत्र इच्छानुसार भ्रमण करे। संन्यासी बाह्य-जगत् एवं अन्तर्जगत् सभी जगह एकमात्र श्रीमन्नारायण का ही दर्शन करते हुए वायु की तरह से पाप-सम्पर्क से अलग होकर मौन रहते हुए सर्वत्र विचरण करे। उसे सुख-दुःख में समान रूप से रहना चाहिए। अपने मन में सदैव क्षमा-भाव बनाये रखे। हाथ पर जो भी कुछ भोज्य-पदार्थ आ जाए, उसे ही ग्रहण कर लेना चाहिए। कहीं पर

भी किसी से बैर न रखते हुए ब्राह्मण, गौ, अश्व एवं मृग आदि समस्त जीवों में समान दृष्टि रखे। मन ही मन सभी परमपिता सर्वव्यापी परमात्मस्वरूप का ही ध्यान करते हुए मैं ही 'परमानन्द स्वरूप परब्रह्म हूँ' ऐसी भावना करनी चाहिए। 'यति' परिव्राजक इस तरह से समझकर मनोमय ज्ञानरूपी दण्ड धारण करके समस्त आशाओं से मुक्त हो जाता है तथा वस्त्र रहित होकर सदैव मन, वचन, कर्म एवं शरीर के द्वारा सम्पूर्ण जगत् का परित्याग करके, मायाजनित प्रपञ्चों की ओर से मुख मोड़कर भ्रमर कीटक न्याय के अनुसार(ब्रह्म में निमग्न) रहकर मुक्ति प्राप्त करता है। ऐसा ही यह उपनिषद् है॥ ६०-६६॥

['भ्रमरकीटक-न्याय' का उल्लेख ध्यान-धारणा के क्रम में बहुधा आता है। भृंगी नामक कीट किसी कीट को पकड़कर अपने बिल में ले जाता है। वहाँ वह उसे भ्रमर गुंजार से इतना प्रभावित कर लेता है कि वह कीट भी भृंगी बन जाता है। यति को सतत ब्रह्म चिन्तन में लीन रहकर स्वयं को ब्रह्मरूप अनुभव करना चाहिए। यह इस उक्ति का भाव है।]

॥ षष्ठोपदेशः ॥

(तुरीयातीत पद एवं उसकी प्राप्ति के उपाय तथा परिव्राजक की जीवनचर्या)

अथ नारदः पितामहमुवाच। भगवन् तदभ्यासवशात् भ्रमरकीटन्यायवत्तदभ्यासः कथमिति। तमाह पितामहः। सत्यवाग्ज्ञानवैराग्याभ्यां विशिष्टदेहावशिष्टो वसेत्॥ १॥

तत्पश्चात् पितामह ब्रह्मा जी से देवर्षि नारद ने पूछा- "हे पितामह! आपने यह कहा है कि भ्रमर-कीट-न्याय द्वारा अपने स्वरूप को जान लेने के पश्चात् मुक्ति को प्राप्त कर लेता है, परन्तु उस स्वरूप को जान लेने का अभ्यास कैसे किया जाये?" ऐसा श्रवण कर पितामह ब्रह्माजी ने कहा- "हे नारद! जीवन में सत्य को धारण करते हुए ज्ञान एवं वैराग्य के द्वारा इस शरीर की आसक्ति का परित्याग करे, शेष बचे हुए एक अतिश्रेष्ठ शरीर में प्रतिष्ठित होकर रहे॥ १॥"

ज्ञानं शरीरं वैराग्यं जीवनं विद्धि शान्तिदान्ती नेत्रे मनो मुखं बुद्धिः कला पञ्चविंशति-तत्त्वान्यवयवा अवस्था पञ्चमहाभूतानि कर्म भक्तिज्ञानवैराग्यं शाखा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीया-श्चतुर्दशकरणानि पङ्कस्तम्भाकाराणीति। एवमपि नावमतिपङ्कं कर्णधार इव यन्तेव गजं स्वबुद्ध्या वशीकृत्य स्वव्यतिरिक्तं सर्वं कृतकं नश्वरमिति मत्वा विरक्तः पुरुषः सर्वदा ब्रह्माहमिति व्यवहरेन्नान्यत्किंचिद्वेदितव्यं स्वव्यतिरेकेण। जीवन्मुक्तो वसेत्कृतकृत्यो भवति। न नाहं ब्रह्मेति व्यवहरेत्किंतु ब्रह्माहमस्मीत्यजस्त्रं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु। तुरीयावस्थां प्राप्य तुरीयातीतत्वं व्रजेत्॥२॥

ज्ञान ही वह अवशिष्ट शरीर है। वैराग्य ही उस देह का प्राण है, शम एवं दम ही दो नेत्र हैं। पूर्णरूपेण शुद्ध मन ही मुख है, बुद्धि कला है, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, पाँच विषय, चार अन्तःकरण एवं अव्यक्त प्रकृति-यही पच्चीस तत्त्व उस अवशिष्ट शरीर के अंग-अवयव हैं। उस शरीर के पंचमहाभूत जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय एवं तुरीयातीत ये पाँच अवस्थायें हैं। इस शरीर की शाखाएँ अर्थात् भुजाएँ कर्म, भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्य कही गयी हैं अथवा ये चारों अवस्थायें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय ही चार भुजाएँ हैं। पूर्व में कहे हुए चौदह करण पङ्क में विद्यमान जीर्ण खम्भों के सदृश हैं। इस तरह की स्थिति में भी, जिस प्रकार कीचड़ में पड़ी हुई नाव को भी श्रेष्ठ नाविक ठीक रास्ते पर ढकेल कर ला ही देता है, वैसे ही संसार रूपी सागर के कीचड़ में फँसी हुई इस जीवन रूपी नौका को श्रेष्ठ बुद्धि के द्वारा अपने वश में रख कर ठीक उसी प्रकार पार लगायें, जैसे महावत हाथी को अपने अंकुश में रखकर सही मार्ग से ले जाता है। ज्ञानस्वरूप उस श्रेष्ठ शरीर

में प्रतिष्ठित हुआ पुरुष 'मेरे सिवाय जो भी है, वह सभी कुछ काल्पनिक होने के कारण नाशवान् है', ऐसा समझकर सदैव 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म ही हूँ) का उच्चारण करे। अपनी अन्तरात्मा के अलावा दूसरी अन्य कोई भी वस्तु ज्ञात नहीं है, इस प्रकार से दृढ़ निश्चय करके जीवन्मुक्त होकर विचरण करे। इस तरह से जीवन-यापन करने वाला परिव्राजक कृतकृत्य हो जाता है। अपने व्यावहारिक जगत् में भी इस प्रकार न कहे कि " मैं ब्रह्म नहीं हूँ।" वरन् निरन्तर इस धारणा को पुष्टि प्रदान करता रहे कि "मैं स्वयं ही ब्रह्म हूँ।" इन तीन अवस्थाओं-जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति को क्रमशः पार करके तुरीयावस्था में पहुँचकर परिव्राजक तुरीयातीत परमात्मा के पद में प्रविष्ट होता है॥ २॥

दिवा जाग्रन्नक्तं स्वप्नं सुषुप्तमर्धरात्रं गतमित्येकावस्थायां चतस्रोऽवस्थास्त्वेकैक - करणाधीनानां चतुर्दशकरणानां व्यापारश्चक्षुरादीनाम्। चक्षुषो रूपग्रहणं श्रोत्रयोः शब्दग्रहणं जिह्वाया रसास्वादनं घ्राणस्य गन्धग्रहणं वचसो वाग्व्यापारः पाणेरादानं पादयोः संचारः पायोरुत्सर्ग उपस्थस्यानन्दग्रहणं त्वचः स्पर्शग्रहणम्। तदधीना च विषयग्रहणबुद्धिः बुद्ध्या बुद्ध्यति चित्तेन चेतयत्यहंकारेणाहंकरोति। विसृज्य जीव एतान्देहाभिमानेन जीवो भवति। गृहाभिमानेन गृहस्थ इव शरीरे जीवः संचरति। प्राग्दले पुण्यावृत्तिराग्नेय्यां निद्रालस्यौ दक्षिणायां क्रौर्यबुद्धिर्नैर्ऋत्यां पापबुद्धिः पश्चिमे क्रीडारतिर्वायव्यां गमने बुद्धिरुत्तरे शान्तिरीशान्ये ज्ञानं कर्णिकायां वैराग्यं केसरेष्वात्मचिन्ता इत्येवं वक्त्रं ज्ञात्वा॥ ३॥

दिन जाग्रत्-अवस्था है, रात्रि स्वप्नावस्था है तथा सुषुप्ति अर्द्धरात्रि स्वरूप है। ये तीनों अवस्थाएँ तुरीयावस्था में विद्यमान हैं। तुरीयावस्था तुरीयातीत में प्रतिष्ठित है। इस तरह से एक ही अवस्था में चार अवस्थायें निहित हैं। मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार-इन चार अन्तःकरणों में से हर एक के अधीन जो नेत्र आदि चौदह करण आगे स्पष्ट किये गये हैं, उनके पृथक्-पृथक् कार्य बतलाये जाते हैं। चक्षुओं का कार्य रूप को आकृष्ट करना है, श्रोत्रों का कार्य-क्षेत्र शब्द की उपलब्धि अर्जित करना है, जिह्वा का कार्य रसास्वादन लेने का है, गन्ध की अनुभूति नासिका का कार्य है, वाक्शक्ति का कार्य बोलना है। हाथों का कार्य किसी वस्तु को प्राप्त करना, उठाना व पहुँचाना है, पैरों का कार्य निरन्तर चलते रहना है, गुदा का काम मल विसर्जन है तथा विषय जनित आनन्दानुभव जननेन्द्रिय का काम है। स्पर्शानुभव त्वचा का कार्य है। इनके आश्रित विषय-ग्रहण की बुद्धि है। बुद्धि के द्वारा जानकारी प्राप्त करता है। चित्त से चैतन्यता की प्राप्ति करता है। अहंकार से अहंता का अनुभव होता है। इन सभी (चौदह) भावों की विशेषरूप से सृष्टि करके इनके समूह रूपी देह में आत्माभिमान करने के कारण तुरीय-चेतनतत्त्व ही जीवरूप में हो जाता है। जिस प्रकार गृह में अभिमानपूर्वक व्यक्ति गृहस्थ बन जाता है, उसी प्रकार देह में अभिमानपूर्वक तुरीय चेतन जीव होकर विचरण करता है। शरीर के अन्तःकरण में अष्टपंखुड़ियों से युक्त हृदय रूपी कमल है, उस हृदय में प्रतिष्ठित रहने वाला जीव जब उक्त कमल के पूर्ववर्त्ती दल में विचरण करता है, तब उसमें पुण्यरूपी अनुष्ठान की प्रवृत्ति होती है। आग्नेय कोण वाले दल में स्थित होने पर वह पुरुष आलस्य एवं निद्रा से ग्रस्त हो जाता है। दक्षिण दिशा के दल में प्रतिष्ठित होने पर उस व्यक्ति में क्रूरता का भाव आ जाता है। नैर्ऋत्य कोण का आश्रय प्राप्त करने पर उस पुरुष में सद्बुद्धि जाग्रत् हो जाती है। पश्चिम दिशा के दल में प्रतिष्ठित होने पर वह क्रीड़ा में अत्यधिक आसक्त हो जाता है। वायव्य कोण के दल में गमन करने पर उस पुरुष की बुद्धि श्रेष्ठ मार्ग में गमन करने लगती है। उत्तर दिशा के दल में प्रविष्ट होने पर उसे शान्ति की अनुभूति होती है। ईशानकोण में स्थिति होने पर विशेष ज्ञान की प्राप्ति

होती है। उस कमल की कर्णिका में विद्यमान रहने पर उस पुरुष के अन्त: में वैराग्य-भाव की जागृति होती है तथा केसरों में प्रविष्ट होने पर उस पुरुष श्रेष्ठ का मन आत्मा के ध्यान में लगता है। इस तरह से जिसमें चैतन्यतत्त्व ही मुख के सदृश प्रमुख है, ऐसे उस आत्मस्वरूप को समझ कर ज्ञानवान् मनुष्य (परिव्राजक) तुरीयातीत ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है॥ ३॥

जीवदवस्थां प्रथमं जाग्रद्द्वितीयं स्वप्नं तृतीयं सुषुप्तं चतुर्थं तुरीयं चतुर्भिर्विरहितं तुरीयातीतम्। विश्वतैजसप्राज्ञतटस्थभेदैरेक एव एको देवः साक्षी निर्गुणश्च तद्ब्रह्माहमिति व्याहरेत्। नो चेज्जाग्रदवस्थायां जाग्रदादिचतस्त्रोऽवस्थाः स्वप्ने स्वप्नादिचतस्त्रोऽवस्थाः सुषुप्ते सुषुत्यादिचतस्त्रोऽवस्थाः तुरीये तुरीयादिचतस्त्रोऽवस्थाः न त्वेवं तुरीयातीतस्य निर्गुणस्य। स्थूलसूक्ष्मकारणरूपैर्विश्वतैजसप्राज्ञेश्वरैः सर्वावस्थासु साक्षी त्वेक एवावतिष्ठते। उत तटस्थो द्रष्टा तटस्थो न द्रष्टा द्रष्टृत्वान्न द्रष्टैव कर्तृत्वभोक्तृत्वाहंकारादिभिः स्पृष्टो जीवः जीवेतरो न स्पृष्टः। जीवोऽपि न स्पृष्ट इति चेन्न। जीवाभिमानेन क्षेत्राभिमानःशरीराभिमानेन जीवत्वम्। जीवत्वं घटाकाशमहाकाशवद्व्यवधानोऽस्ति। व्यवधानवशादेव हंसः सोऽहमिति मन्त्रेणोच्छ्वासनिः - श्वासव्यपदेशेनानुसन्धानं करोति। एवं विज्ञाय शरीराभिमानं त्यजेन्न शरीराभिमानी भवति। स एव ब्रह्मेत्युच्यते॥ ४॥

जीव की चार अवस्थाओं में से पहली जाग्रत् अवस्था, दूसरी स्वप्नावस्था, तीसरी सुषुप्ति तथा चौथी तुरीयावस्था है। इन चारों अवस्थाओं से परे तुरीयातीत अवस्था है। एक ही आत्मा विश्व, तैजस, प्राज्ञ एवं तटस्थ के भेद से चार तरह का प्रतीत होता है। इस कारण एक ही परमात्मदेव सभी के साक्षी स्वरूप एवं सत्त्वादि गुणों से परे माने गये हैं तथा वह ब्रह्म मैं स्वयं हूँ, ऐसा ही कहे। तुरीयातीत अवस्था से युक्त पुरुष को उपर्युक्त चारों अवस्थाओं के अनुभव से रहित मानना चाहिए। अन्यथा जिस तरह से जाग्रत् अवस्था में जाग्रत् आदि चार अवस्थायें होती हैं, स्वप्न में स्वप्नादि चार अवस्थाएँ होती हैं, सुषुप्ति में सुषुप्ति आदि चार अवस्थाएँ होती हैं तथा तुरीय में तुरीयादि चार अवस्थाएँ होती हैं, वैसे ही तुरीयातीत में भी इन चारों अवस्थाओं के होने की स्थिति हो सकती है; किन्तु यथार्थ में तुरीयातीत के निर्गुण होने से उसमें अवस्था भेद संभव नहीं है। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणरूप जो विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ ब्रह्मरूप हैं, इन सभी के साथ समस्त अवस्थाओं में एक ही साक्षी रहता है; किन्तु तटस्थ ईश्वर द्रष्टा नहीं, क्योंकि तटस्थ मायाधारी ईश्वर के रूप में होता है, किन्तु उसका कोई द्रष्टा नहीं है, अत: तटस्थ ही द्रष्टा नहीं हो सकता। इस कारण वह द्रष्टा नहीं है, ऐसा ही मानना चाहिए। तब जीव को ही द्रष्टा मान लिया जा सकता है। नहीं, जीव द्रष्टा नहीं हो सकता है; क्योंकि वह कर्तृत्व, भोक्तृत्व एवं अहंकार आदि से युक्त है। जीव के अतिरिक्त जो तुरीयातीत परमात्मसत्ता है, वह ऊपर कहे हुए दोषों के सम्पर्क से परे है। यदि यह कहें कि जीव भी स्वरूपानुसार शुद्ध चैतन्य ही है, इस कारण वह भी कर्तृत्व आदि के संस्पर्श से परे है, तो यह भी सही नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उसमें जीवत्व का अहं होने से इस देह रूपी क्षेत्र में उसका अभिमान है तथा शरीर के अहं (अभिमान) के कारण ही उसमें जीवत्व निहित है। परमात्मतत्त्व से जीव तत्त्व का व्यवधान ठीक उसी तरह से है, जिस तरह महाकाश से घटाकाश का है। व्यवधान के कारण ही हंसरूपी जीव उच्छ्वास एवं नि:श्वास के माध्यम से सदैव 'सोऽहम्' नामक मंत्र का चिन्तन करते हुए निरन्तर अपने आत्म-स्वरूप का अनुसंधान करता है। ऐसा समझकर शरीर में आत्माभिमान का परित्याग कर दे। जो 'यति' शरीराभिमानी नहीं होता, वही ब्रह्म कहलाता है॥ ४॥

ततः संवत्सरस्यान्ते ज्ञानयोगमनुत्तमम् । आश्रमत्रयमुत्सृज्य प्राप्तश्च परमाश्रमम् ॥ ३२ ॥
अनुज्ञाप्य गुरूंश्चैव चरेद्धि पृथिवीमिमाम्।त्यक्तसङ्गो जितक्रोधो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः॥ ३३ ॥

गुरु के हित में सतत संलग्न रहते हुए जिज्ञासु पुरुष को गुरु-आश्रम में एक वर्ष तक निवास करना चाहिए। आश्रम के नियमोपनियमों के पालन में कभी भी आलस्य-प्रमादादि नहीं करना चाहिए एवं ब्रह्मचर्य और अहिंसा आदि यमों के पालन में भी सदैव सतर्क रहना चाहिए। इस तरह से साधना करते हुए गुरु की विशेष कृपा से वर्ष के अन्त में सर्वश्रेष्ठ ज्ञानयोग को प्राप्त करके धर्मानुकूल सदाचार पूर्वक ब्रह्मचर्य आदि तीनों आश्रमों का विधिवत् सेवन करता हुआ परिव्राजक-संन्यासी पृथ्वी पर विचरण करे। आसक्ति का परित्याग कर क्रोध को अपने वश में कर ले। 'योगी' को स्वल्प आहार ग्रहण करने वाला और वाक् आदि इन्द्रियों पर संयम रखने वाला होना चाहिए॥ ३०-३३ ॥

द्वाविमौ न विराज्येते विपरीतेन कर्मणा। निरारम्भो गृहस्थश्च कार्यवांश्चैव भिक्षुकः॥ ३४॥
माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा च माद्यति। तस्माद्दृष्टिविषां नारीं दूरतः परिवर्जयेत्॥ ३५॥
संभाषणं सह स्त्रीभिरालापः प्रेक्षणं तथा । नृत्तं गानं सहासं च परिवादांश्च वर्जयेत्॥ ३६॥
न स्नानं न जपः पूजा न होमो नैव साधनम्। नाग्निकार्यादिकार्यं च नैतस्यास्तीह नारद॥ ३७॥
नार्चनं पितृकार्यं च तीर्थयात्रा व्रतानि च। धर्माधर्मादिकं नास्ति न विधिर्लौकिकी क्रिया॥३८॥
संत्यजेत्सर्वकर्माणि लोकाचारं च सर्वशः। कृमिकीटपतङ्गांश्च तथा योगी वनस्पतीन्॥ ३९॥
न नाशयेद्बुधो जीवान्परमार्थमतिर्यतिः। नित्यमन्तर्मुखः स्वच्छः प्रशान्तात्मा स्वपूर्णधीः॥ ४०॥
अन्तःसङ्गपरित्यागी लोके विहर नारद। नाराजके जनपदे चरत्येकचरो मुनिः॥ ४१॥
निःस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च। चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत्॥४२॥
इत्युपनिषत्।

निरारम्भ (कामनापूर्वक किसी कार्य का प्रारंभ न करने वाले) गृहस्थ एवं कर्मरत (प्रव्रज्या में सतत सचेष्ट) परिव्राजक इन दोनों की शोभा तभी तक होती है, जब तक कि वे अपने आश्रम धर्म के अनुकूल श्रेष्ठ आचरण करें। मनुष्य मदिरा-पान करने से मतवाला होता है; किन्तु रूपवान् सुन्दर तरुणी नारी के दर्शन-मात्र से ही उन्मत्त हो उठता है। इस कारण दर्शन मात्र से विष जैसा प्रभाव डालने वाली नारी का परिव्राजक दूर से ही परित्याग कर दे। नारियों के साथ वार्तालाप करना, उनके समक्ष संदेश भेजना, नृत्य-गायन आदि करना, हास-परिहास करना एव छिद्रान्वेषण करना आदि दुर्गुण परिव्राजक को त्याग देना चाहिए। हे नारद! संन्यासी के लिए [नैमित्तिक] स्नान, देवपूजन, जप, यज्ञ-यागादि कर्म-नहीं करने हैं। उसके लिए तो श्राद्ध-तर्पण, तीर्थों की यात्रा करना, व्रत-उपवास, धर्म-अधर्म और लोकाचार सम्बन्धी कर्म भी आवश्यक नहीं है। योगारूढ़ संन्यासी सभी कर्मों का परित्याग कर दे तथा समस्त लोकाचारों से भी उसे दूर रहना चाहिए। विद्वान् 'योगी' अपनी बुद्धि एवं सामर्थ्य को परमार्थ में लगाकर कृमि, कीट-पतङ्गों तथा वनस्पति आदि प्राणियों को कभी नष्ट न करे। संन्यासी सर्वदा अन्तर्मुखी रहे, बाह्य एवं अन्तः से सदैव अपने को स्वच्छ रखे। अपने अन्तःकरण को पूरी तरह से शान्त रखकर बुद्धि को आत्मानन्द से परिपूर्ण किये रहे। हे नारद! तुम अन्तः से सभी तरह की आसक्तियों का त्याग करके इस जगत् में विचरण करते रहो। 'यति' को एकाकी किसी ऐसे प्रदेश में भ्रमण नहीं करना चाहिए, जहाँ अराजकता फैली हुई हो। संन्यासी को स्तुति एवं नमस्कार आदि से दूर रहना चाहिए। श्राद्ध एवं तर्पण से योगी सदा दूर रहे। किसी सुनसान घर में या पर्वत की गुफा में निवास करे। परिव्राजक को सदैव स्वछन्दरूप में सर्वत्र विचरण करना चाहिए। यही उपनिषद् है॥ ३४-४२॥

॥ सप्तमोपदेशः ॥

अथ यतेर्नियमः कथमिति पृष्टं नारदं पितामहः पुरस्कृत्य विरक्तः सन्यो वर्षासु ध्रुवशीलोऽष्टौ मास्येकाकी चरन्नैकत्र निवसेद्भिक्षुर्भयात्सारङ्गवदेकत्र न तिष्ठेत्स्वगमननिरोधग्रहणं न कुर्याद्ध-स्ताभ्यां नद्युत्तरणं न कुर्यान्न वृक्षारोहणमपि न देवोत्सवदर्शनं कुर्यान्नैकत्राशी न बाह्यदेवार्चनं कुर्यात्स्वव्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा मधुकरवृत्त्याहारमाहरन्कृशो भूत्वा मेदोवृद्धिमकुर्वन्नाज्यं रुधिरमिव त्यजेदेकत्रान्नं पललमिव गन्धलेपनमशुद्धिलेपनमिव क्षारमन्त्यजमिव वस्त्रमुच्छिष्टपात्रमिवाभ्यङ्गं स्त्रीसङ्गमिव मित्राह्लादकं मूत्रमिव स्पृहां गोमांसमिव ज्ञातचरदेशं चण्डालवाटिकामिव स्त्रियमहिमिव सुवर्णं कालकूटमिव सभास्थलं श्मशानस्थलमिव राजधानीं कुम्भीपाकमिव शवपिण्डवदेकत्रान्नं न देहान्तरदर्शनं प्रपञ्चवृत्तिं परित्यज्य स्वदेशमुत्सृज्य ज्ञातचरदेशं विहाय विस्मृतपदार्थं पुनः प्राप्तहर्ष इव स्वमानन्दमनुस्मरन्स्वशरीराभिमानदेशविस्मरणं मत्वा स्वशरीरं शवमिव हेयमुपगम्य कारागृहविनिर्मुक्तचोरवत्पुत्राप्तबन्धुभवस्थलं विहाय दूरतो वसेत्॥ अयत्नेन प्राप्तमाहरन्ब्रह्मप्रणवध्यानानुसन्धानपरो भूत्वा सर्वकर्मनिर्मुक्तः कामक्रोधलोभ-मोहमदमात्सर्यादिकं दग्ध्वा त्रिगुणातीतः षड्ऊर्मिरहितः षड्भावविकारशून्यः सत्यवाक् शुचिरद्रोही ग्रामैकरात्रं पत्तने पञ्चरात्रं क्षेत्रे पञ्चरात्रं तीर्थे पञ्चरात्रमनिकेतः स्थिरमतिर्नानृतवादी गिरिकन्दरेषु वसेदेक एव द्वौ वा चरेत् ग्रामं त्रिभिर्नगरं चतुर्भिर्ग्राममित्येकश्चरेत्। भिक्षुश्चतुर्दशकरणानां न तत्रावकाशं दद्यादविच्छिन्नज्ञानाद्वैराग्यसंपत्तिमनुभूय मत्तो न कश्चिन्नान्यो व्यतिरिक्त इत्यात्मन्या-लोच्य सर्वतः स्वरूपमेव पश्यञ्जीवन्मुक्तिमवाप्य प्रारब्धप्रतिभासनाशपर्यन्तं चतुर्विधं स्वरूपं ज्ञात्वा देहपतनपर्यन्तं स्वरूपानुसंधानेन वसेत्॥ १ ॥

संन्यासी के सामान्य नियम तथा कुटीचक आदि के विशेष नियम-

इसके पश्चात् देवर्षि नारद जी ने पितामह ब्रह्मा जी से यह प्रश्न किया-हे ब्रह्मन्! संन्यासी के नियम किस प्रकार के हैं? पितामह ब्रह्मा जी ने नारद जी के इस प्रश्न को अपने समक्ष रखते हुए उत्तर देना प्रारम्भ किया। उन्होंने कहा-हे नारद! संन्यासी विरक्त होकर मात्र चार मासीय वर्षा के दिनों में किसी एक निश्चित क्षेत्र में निवास करे और शेष आठ मास में वह अकेले ही भ्रमण करे। किसी एक स्थान विशेष पर ज्यादा दिनों तक निवास न करे, क्योंकि ऐसा करने से 'यति' के पतित होने का भय रहता है। भ्रमर की तरह से कभी एक स्थल पर न रुके। यदि कोई अन्यत्र जाने का विरोध करे, तो परिव्राजक उस विरोध को न माने। अपने हाथों अर्थात् अपने आप ही नदी तैरकर के पार न हो। वृक्षों पर भी उसे नहीं चढ़ना चाहिए। देवों के निमित्त होने वाले आयोजनों को नहीं देखना चाहिए। सदैव एक ही घर का भोजन न करे और आत्मा के अतिरिक्त अन्य बाह्य देवगणों का पूजन-अर्चन भी न करे। आत्मा के सिवाय अन्य सभी का परित्याग कर, मधुकरी-वृत्ति से भिक्षा प्राप्त भोजन करे। शरीर को कमजोर बनाकर रखे। देह में मेद (चर्बी) की वृद्धि बिल्कुल न होने दे। घी को रुधिर के समान जानकर परित्याग कर दे। एक ही परिजन के घर के अन्न को मांसवत् जानकर छोड़ देना चाहिए। इत्र अथवा चन्दन आदि के लेप को अपवित्र मल-मूत्रादि के लेप की तरह से मान करके छोड़ देना चाहिए। क्षार (साबुन, सोडा आदि के मुख्य घटक) आदि को चाण्डाल की तरह से जानकर अस्पृश्य माने। कौपीन आदि के अलावा अन्य वस्त्रों को उच्छिष्ट पात्रों के सदृश समझकर छोड़ दे। अभ्यङ्ग (तेल आदि की

मालिश करने) को स्त्री के आलिङ्गन की तरह मानकर सदैव उससे दूर रहे। मित्रों के आनन्ददायक सङ्ग को मूत्र के सदृश त्याज्य जाने। किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए अपने मन में उत्पन्न होने वाली स्पृहा (इच्छा शक्ति) को अपने लिए गोमांस के सदृश वर्जनीय मानना चाहिए। चिर परिचित एवं प्रिय स्थल को चाण्डाल का बगीचा समझना चाहिए। सुवर्ण को कालकूट के समान, सभास्थल को श्मशान भूमि की भाँति, राजधानी को कुम्भीपाक नरक के समान तथा एक जगह के अन्न (भोजन) को मृत व्यक्ति के लिए दिए हुए पिण्ड के समान जानकर त्याग देना चाहिए। शरीर को आत्मा से अलग देखना तथा प्रवृत्तियों में फँसना भी छोड़ देना चाहिए। अपने देश को छोड़कर अपने परिचित स्थलों से सदैव दूर बने रहने का प्रयास करना चाहिए। अपने आनन्दमय स्वरूप का सतत ध्यान करते हुए, इस तरह की प्रसन्नता की अनुभूति करे, जैसे कि कोई विस्मृत हुई कीमती वस्तु पुनः मिल गयी हो। जिस स्थान पर जाने से अपने शरीर में ही आत्माभिमान जाग जाये, जहाँ अपनी देह से सम्बन्ध रखने वाले लोग निवास करते हों, उस स्थान को हमेशा के लिए भूल जाना चाहिए। अपनी इस देह को भी मृत व्यक्ति की तरह से त्याज्य मानते हुए उसमें आसक्त नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार जेलखाने से मुक्त हुआ मनुष्य (चोर) शर्म के कारण अपनी जन्मस्थली पर न जाकर अन्यत्र कहीं दूर जाकर निवास करने लगता है, उसी प्रकार परिव्राजक जहाँ उसके पुत्र और माता-पिता आदि समस्त गुरुजन निवास करते हों, उस स्थल को छोड़कर वहाँ से सदैव के लिए दूर ही अपना निवास-स्थल बनाना चाहिए। बिना प्रयास के ही जो भी कुछ प्राप्त हो जाये, वही आहार (भोजन) ग्रहण कर लेना चाहिए। निरन्तर ब्रह्ममय स्वरूप ॐकार के ध्यान में संलग्न होकर अन्य दूसरे सभी तरह के कर्म-बन्धनों से मुक्त हो जाना चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य आदि को जलाकर सत, रज, तम आदि तीन गुणों से परे हो जाना चाहिए। भूख-प्यास आदि छः प्रकार की ऊर्मियों का प्रभाव योगी में नहीं होना चाहिए। जन्म, वृद्धि आदि षड्भाव विकारों से भी अपना सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। सर्वदा सत्यमय वाणी बोले, शरीर एवं मन से पूर्ण पवित्र रहे और किसी भी मनुष्य आदि से द्रोह न करे। ग्राम में एक रात्रि, नगर में पाँच रात्रि, किसी धार्मिक पुण्य स्थली में पाँच रात्रि एवं तीर्थ में भी पाँच रात्रि से ज्यादा नहीं ठहरना चाहिए। परिव्राजक कहीं पर भी अपने लिए घर न बनाये। बुद्धि को सदैव परमात्मा के ध्यान में लगाये रखे। कभी व किसी भी स्थिति में असत्य वाणी न बोले। पर्वत की गुफाओं में अपना निवास बनाये। सदैव एकाकी ही भ्रमण करे। परिव्राजक (चौमासे के समय) वर्षाकालीन चार मास में दो व्यक्तियों को अपने साथ रख सकता है। तीन के साथ रहने पर तो गाँव जैसा ही हो जाता है और चार आदमियों के साथ उस स्थल पर नगर जैसा ही बस जाता है। अतः परिव्राजक एकाकी ही रहे। अपने चौदह करणों (इन्द्रियों) को अलग-अलग विषयों के ध्यान का अवकाश नहीं देना चाहिए एवं अपने से भिन्न अन्य किसी को मान्यता न दे। किसी भी अन्य दूसरे पदार्थ की तनिक भी भावना न करते हुए सभी का अवलोकन अपनी आत्मा के अनुरूप ही करे। अपने स्वरूप का साक्षात्कार करता हुआ जीवन से मुक्ति प्राप्त कर ले। अपने स्वरूप का विवेक हो जाने पर भी जब तक मृत्यु न आ जाये, तब तक अपने स्वरूप का ही ध्यान करता रहे। परिव्राजक का यह परमदायित्व है कि वह अपनी अन्तरात्मा का सम्यक् रूप से चिन्तन करते हुए कालयापन करे॥ १॥

त्रिषवणस्नानं कुटीचकस्य बहूदकस्य द्विवारं हंसस्यैकवारं परमहंसस्य मानसस्नानं तुरीयातीतस्य भस्मस्नानमवधूतस्य वायव्यस्नानम्॥ २॥

कुटीचक-संन्यासी के लिए तीनों समय (प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल) का स्नान करने का नियम है। बहूदक-संन्यासी प्रातः काल एवं सायंकाल (दो संध्याओं) में स्नान करे। हंस नामक संन्यासी के लिए दिन में केवल एक ही बार स्नान करने का विधान बतलाया गया है। परमहंस नाम वाले संन्यासी को केवल मानसिक स्नान ही करना चाहिए। तुरीयातीत के लिए भस्म-स्नान कहा गया है अर्थात् वह सम्पूर्ण देह में केवल भस्म

(विभूति) ही धारण कर ले और अवधूत नामक संन्यासी के लिए वायव्य स्नान अर्थात् वह सम्पूर्ण देह में वायु के संस्पर्श से ही पवित्र हो जाता है। उसको जल-स्नान की कोई विशेष आवश्यकता नहीं रहती है॥ २॥

ऊर्ध्वपुण्ड्रं कुटीचकस्य त्रिपुण्ड्रं बहूदकस्य ऊर्ध्वपुण्ड्रं त्रिपुण्ड्रं हंसस्य भस्मोद्धूलनं परमहंसस्य तुरीयातीतस्य तिलकपुण्ड्रमवधूतस्य न किंचित्। तुरीयातीतावधूतयोः॥ ३॥

कुटीचक संन्यासी को मस्तक पर ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करना चाहिए। बहूदक को त्रिपुण्ड्र धारण करना चाहिए, हंस नामक संन्यासी ऊर्ध्वपुण्ड्र अथवा त्रिपुण्ड्र एवं परमहंस नाम वाले संन्यासी को केवल भस्म (विभूति) धारण करनी चाहिए। तुरीयातीत के लिए तिलक पुण्ड्र का नियम बतलाया गया है और अवधूत संन्यासी के लिए किसी भी तरह का विशेष चिह्न आवश्यक नहीं है॥ ३॥

ऋतुक्षौरं कुटीचकस्य ऋतुद्वयक्षौरं बहूदकस्य न क्षौरं हंसस्य परमहंसस्य च न क्षौरम्। अस्ति चेदयनक्षौरं तुरीयातीतावधूतयोर्न क्षौरम्॥ ४॥

कुटीचक संन्यासी को दो-दो मास में क्षौर-कर्म कराना चाहिए। बहूदक को चार-चार मास में क्षौर कर्म करना चाहिए। हंस एवं परमहंस अपनी इच्छानुसार यदि चाहें, तो छः-छः महीने के अन्तराल से क्षौर कर्म करवा सकते हैं। अवधूत तथा तुरीयातीत परिव्राजक के लिए क्षौर-कर्म कराना आवश्यक नहीं है॥ ४॥

कुटीचकस्यैकान्नं माधूकरं बहूदकस्य हंसपरमहंसयोः करपात्रं तुरीयातीतस्य गोमुखं अवधूतस्याजगरवृत्तिः॥ ५॥

कुटीचक के लिए एक ही जगह के अन्न (भोजन) ग्रहण करने का विधान है। बहूदक-संन्यासी को मधुकरी-वृत्ति से अर्थात् भिक्षा द्वारा प्राप्त अन्न ही ग्रहण करना चाहिए। हंस एवं परमहंस के लिए हाथ ही भोजन ग्रहण करने का पात्र होता है। ये संन्यासी कर-पात्री कहलाते हैं। उस (करपात्री) संन्यासी के हाथ में जो कुछ भी आ जाए, उतना ही खा कर संतोष करना चाहिए। तुरीयातीत को गो-मुख वृत्ति अर्थात् उस संन्यासी के मुख में अन्य दूसरा कोई मुनष्य जो कुछ भी फल-फूल दे, उसे गाय के सदृश मुँह फैलाकर ले लेना चाहिए। अवधूत संन्यासी के लिए अजगर वृत्ति अर्थात् ईश्वरेच्छा अथवा दूसरे अन्य लोगों की इच्छानुसार जो कुछ भी मिल जाये, उसी पर संतोष कर लेना चाहिए॥ ५॥

शाटीद्वयं कुटीचकस्य बहूदकस्यैकशाटी हंसस्य खण्डं दिगम्बरं परमहंसस्य एककौपीनं वा तुरीयातीतावधूतयोर्जातरूपधरत्वं हंसपरमहंसयोरजिनं न त्वन्येषाम्॥ ६॥

कुटीचक को अपने पास दो वस्त्र रखने का नियम है, बहूदक अपने पास केवल एक चादर रखे तथा हंस नामक संन्यासी को वस्त्र का एक टुकड़ा रखने का विधान है। परमहंस दिगम्बर (वस्त्ररहित) रहे या फिर एक कौपीन मात्र ही स्वीकार करे। तुरीयातीत और अवधूत को तो वस्त्ररहित ही रहने का नियम है। हंस एवं परम्हंस के लिए मृग-चर्म धारण करने का नियम है, अन्य संन्यासियों के लिए मृगचर्म अनिवार्य नहीं है॥ ६॥

कुटीचकबहूदकयोर्देवार्चनं हंसपरमहंसयोर्मानसार्चनं तुरीयातीतावधूतयोः सोहंभावना॥ ७॥

कुटीचक एवं बहूदक-परिव्राजकों के लिए प्रत्यक्षरूप में देवताओं के पूजन का नियम है। हंस एवं परमहंस के लिए मानसिक पूजन का अधिकार है। तुरीयातीत और अवधूत के लिए केवल 'सोऽहमस्मि' अर्थात् वह ब्रह्म मैं स्वयं ही हूँ, ऐसी भावना करनी चाहिए॥ ७॥

कुटीचकबहूदकयोर्मन्त्रजपाधिकारो हंसपरमहंसयोर्ध्यानाधिकारस्तुरीयातीतावधूतयोर्न त्वन्याधिकारस्तुरीयातीतावधूतयोर्महावाक्योपदेशाधिकारः परमहंसस्यापि। कुटीचकबहूदक-हंसानां नान्यस्योपदेशाधिकारः॥ ८॥

कुटीचक और बहूदक-योगियों को मंत्रादि के जप का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। हंस एवं परमहंस नामक योगी एकमात्र ध्यान के ही अधिकारी हैं। तुरीयातीत और अवधूत को अपने स्वंरूपानुसंधान के अतिरिक्त अन्य किसी भी तरह के कार्य का अधिकार नहीं है। इन तीनों तुरीयातीत, अवधूत एवं परमहंस को ही एक मात्र 'तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म' आदि महावाक्यों के उपदेश का अधिकार है। कुटीचक, बहूदक एवं हंस नामक संन्यासी दूसरे अन्य लोगों को उपदेश प्रदान करने के अधिकारी नहीं हैं॥ ८॥

कुटीचकबहूदकयोर्मानुषप्रणवः हंसपरमहंसयोरान्तरप्रणवः। तुरीयातीतावधूतयोर्ब्रह्म प्रणवः॥९

कुटीचक एवं बहूदक को मानुष प्रणव अर्थात् साधारण-बाह्य प्रणव (ॐ कार) का ध्यान करने का नियम है। हंस और परमहंस को आन्तरिक (मानसिक) प्रणव का तथा तुरीयातीत और अवधूत नामक संन्यासियों को ब्रह्मस्वरूप प्रणव का ध्यान करने का नियम बतलाया गया है॥ ९॥

कुटीचकबहूदकयोः श्रवणं हंसपरमहंसयोर्मननं तुरीयातीतावधूतयोर्निदिध्यासः। सर्वेषामात्मानुसन्धानं विधिरिति॥ १०॥

कुटीचक एवं बहूदक को श्रवण करने का अधिकार प्राप्त है। हंस एवं परमहंस का मुख्य साधन चिन्तन-मनन और तुरीयातीत एवं अवधूत का मुख्य साधन निदिध्यासन करना है। इन सभी का एकमात्र लक्ष्य अपनी आत्मा का अनुसंधान करना ही होता है॥ १०॥

एवं मुमुक्षुः सर्वदा संसारतारकं तारकमनुस्मरञ्जीवन्मुक्तो वसेदधिकारविशेषेण कैवल्य-प्राप्त्युपायमन्विष्येद्यतिरित्युपनिषत्॥ ११॥

इस प्रकार सभी को मुक्ति के लिए सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए और सांसारिक विषय-वासनाओं से मुक्ति दिलाने वाले तारक मंत्र (ॐ कार) का चिन्तन करते हुए जीवन्मुक्त होकर विचरण करते रहना चाहिए। उसे अधिकार विशेष के आधार पर निरन्तर कैवल्य प्राप्ति के उपाय के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए॥ ११॥

॥ अष्टमोपदेशः ॥

अथ हैनं भगवन्तं परमेष्ठिनं नारदः पप्रच्छ संसारतारकं प्रसन्नो ब्रूहीति। तथेति परमेष्ठी वक्तुमुपचक्रमे ओमिति ब्रह्मेति व्यष्टिसमष्टिप्रकारेण। का व्यष्टिः का समष्टिः संहारप्रणवः सृष्टिप्रणवश्चान्तर्बहिश्चोभयात्मकत्वात्त्रिविधो ब्रह्मप्रणवः। अन्तःप्रणवो व्यावहारिकप्रणवः। बाह्यप्रणव आर्षप्रणवः। उभयात्मको विराट्प्रणवः। संहारप्रणवो ब्रह्मप्रणवोऽर्धमात्राप्रणवः॥१॥

इसके पश्चात् भगवान् ब्रह्माजी से देवर्षि नारद ने पुनः प्रश्न किया- 'हे भगवन्! जन्म-मरण के चक्र से पार लगाने वाला कौन सा मंत्र है? मैं आपकी शरण में आया हूँ, कृपया बताने का अनुग्रह करें।' भगवान् ब्रह्मा जी ने 'तथास्तु' कहकर उपदेश देना शुरू किया। 'हे वत्स नारद! 'ॐकार' ही तारक मंत्र है, यही ब्रह्म का स्वरूप है। व्यष्टि और समष्टि दोनों तरह से ही ॐकार का ध्यान करना चाहिए। देवर्षि नारद ने पुनः प्रश्न किया- 'पितामह! व्यष्टि और समष्टि का अभिप्राय क्या है? कृपया बताने का अनुग्रह करें। तदनन्तर प्रजापति ब्रह्मा जी ने कहा- 'व्यष्टि और समष्टि ब्रह्म-प्रणव के अंग-अवयव हैं। एक ही ब्रह्म-प्रणव के तीन भेद माने जाते हैं- प्रथम संहार-प्रणव, द्वितीय सृष्टि-प्रणव और तृतीय उभयात्मक-प्रणव। उभयात्मक प्रणव के दो रूप अन्तः एवं बाह्य हैं। इस कारण उसे उभयात्मक कहते हैं। अन्तः प्रणव का स्वरूप अगले मंत्र में कहेंगे। उपर्युक्त

ब्रह्म-प्रणव का एक भेद व्यावहारिक प्रणव है। व्यष्टि प्रणव का द्वितीय नाम बाह्य-प्रणव है। इन चारों के अतिरिक्त एक आर्ष-प्रणव भी है। वही विराट् प्रणव के नाम से बतलाया गया है। संहार प्रणव ब्रह्मादि से प्रतिष्ठित होने के कारण ही ब्रह्म-प्रणव कहा गया है। स्थूल आदि भेद से परिपूर्ण अकारादि चार मात्राएँ जिस ॐकार का स्वरूप हैं, उसी मात्रा चतुष्टयात्मक प्रणव को अर्द्धमात्रा प्रणव भी कहा जाता है॥ १॥

ओमिति ब्रह्म। ओमित्येकाक्षरमन्तःप्रणवं विद्धि। स चाष्टधा भिद्यते। अकारोकारमकारार्धमात्रानादबिन्दुकलाशक्तिश्चेति। तत्र चत्वार अकारश्चायुतावयवान्वित उकारः सहस्रावयवान्वितो मकारः शतावयवोपेतोऽर्धमात्राप्रणवोऽनन्तावयवाकारः। सगुणो विराट्प्रणवः संहारो निर्गुणप्रणव उभयात्मकोत्पत्तिप्रणवो यथाप्लुतो विराट्प्लुत प्लुतःसंहारः॥ २॥

अब अन्तः प्रणव के स्वरूप का वर्णन करते हैं। यह प्रणव (ॐ) ही ब्रह्म है। 'इस अन्तः प्रणव को ही एकाक्षर रूप मंत्र जानो।' यह आठ भागों में विभाजित है। इस ॐकार (प्रणव) के अकार, उकार, मकार, अर्धमात्रा, नाद, बिन्दु, कला और शक्ति ही आठ भेदों के रूप हैं। यह प्रणव मात्र चार-चार मात्राओं से ही संयुक्त नहीं है, उसकी एक-एक मात्रा भी कई-कई भेदों से युक्त है। केवल अकार ही दस सहस्र अंग-अवयवों से परिपूर्ण है। उकार के एक सहस्र तथा मकार के एक सौ अंग हैं। ऐसे ही अर्ध मात्रा-प्रणव भी अनन्त अंग-अवयवों से युक्त है। विराट् प्रणव सगुण एवं संहार प्रणव निर्गुण माना गया है। सृष्टि प्रणव सगुण-निर्गुण दोनों से ही सम्बन्धित है। विराट् प्रणव अकारादि चार मात्राओं की समष्टि वाला कहा गया है और संहार प्रणव प्लुत-प्लुत अर्थात् चतुर्थ मात्राओं से युक्त अर्धमात्रा स्वरूप है॥ २॥

विराट्प्रणवः षोडशमात्रात्मकः षट्त्रिंशत्तत्त्वातीतः। षोडशमात्रात्मकत्वं कथमित्युच्यते। अकारः प्रथमोकारो द्वितीया मकारस्तृतीयार्धमात्रा चतुर्थी नादः पञ्चमी बिन्दुः षष्ठी कला सप्तमी कलातीताष्टमी शान्तिर्नवमी शान्त्यतीता दशमी उन्मन्येकादशी मनोन्मनी द्वादशी पुरी त्रयोदशी मध्यमा चतुर्दशी पश्यन्ती पञ्चदशी परा षोडशी पुनश्चतुःषष्टिमात्रा प्रकृतिपुरुषद्वैविध्यमासाद्याष्टाविंशत्युत्तरभेदमात्रास्वरूपमासाद्य सगुणनिर्गुणत्वमुपेत्यैकोऽपि ब्रह्मप्रणवः॥ ३॥

विराट् प्रणव सोलह मात्राओं से संयुक्त होता है। इस प्रणव को ३६ प्रकार के तत्त्वों से भी परे कहा गया है। 'अ' कार इस ॐ कार की प्रथम मात्रा है। 'उकार' द्वितीय, मकार तृतीय, चतुर्थ अर्द्धमात्रा, पञ्चम नाद, षष्ठ बिन्दु, सप्तम कला, अष्टम कलातीता, नवम शांति, दशम शान्त्यतीता, एकादश उन्मनी, द्वादश मनोन्मनी, त्रयोदश पुरी (बैखरी), चतुर्दश मध्यमा, पश्यन्ती पञ्चदश एवं षोडश परा मात्रा है। यह सोलह मात्राओं से संयुक्त ब्रह्म-प्रणव ओत, अनुज्ञात, अनुज्ञा एवं अविकल्प रूप चतुर्विध तुरीय से भिन्न न होने के कारण फिर से चौसठ मात्राओं से युक्त हो जाता है। यह प्रणव ही प्रकृति एवं पुरुष रूप से पुनः दो भेदों को पाकर एक सौ अट्ठाईस मात्राओं से युक्त स्वरूप को ग्रहण करता है। इस तरह एक होकर भी ब्रह्म-प्रणव दृष्टि-भेद से अनेकविध साकार एवं निराकार स्वरूप को प्राप्त कर लेता है॥ ३॥

सर्वाधारः परंज्योतिरेष सर्वेश्वरो विभुः। सर्वदेवमयः सर्वप्रपञ्चाधारगर्भितः॥ ४॥
सर्वाक्षरमयः कालः सर्वागममयः शिवः। सर्वश्रुत्युत्तमो मृग्यः सकलोपनिषन्मयः॥ ५॥
भूतं भव्यं भविष्यद्यत्त्रिकालोदितमव्ययम्। तदप्योंकारमेवायं विद्धि मोक्षप्रदायकम्॥ ६॥
तमेवात्मानमित्येतद्ब्रह्मशब्देन वर्णितम्। तदेकममृतमजरमनुभूय तथोमिति॥ ७॥
सशरीरं समारोप्य तन्मयत्वं तथोमिति। त्रिशरीरं तमात्मानं परं ब्रह्म विनिश्चिनु॥ ८॥

(ॐकार रूप प्रणव को परब्रह्म स्वरूप कहा गया है। वह अविनाशी ब्रह्म कैसा है? इसका वर्णन करते हैं।) ब्रह्म-ॐकार रूप अविनाशी परमात्मतत्त्व सबका आश्रयभूत एवं परम प्रकाशस्वरूप है। यह ॐ कार ही समस्त प्राणियों का ईश्वर एवं सर्वत्र व्यापक है। समस्त देवगण इन्हीं के प्रतिरूप हैं। सभी तरह के प्रपञ्चों का आधार प्रकृति भी इन्हीं के गर्भ में है। ये प्रणव ही सर्वाक्षर (वर्णमाला के पचास वर्ण एवं उनके माध्यम से बोध्य अर्थ आदि) स्वरूप हैं। ये कालरूप, सभी शास्त्रों से युक्त एवं कल्याण स्वरूप हैं। समस्त श्रुतियों में श्रेष्ठतत्त्व पुरुषोत्तमरूप से इनका ही निरन्तर अनुसंधान करना चाहिए। सभी उपनिषदों के वाच्यार्थ यही हैं। यही सर्व कालरूप हैं तथा भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् युक्त त्रिकालात्मक जगत् और तीनों भुवनों से भी ऊपर जो शाश्वत तत्त्व है, वह सभी कुछ इस ओंकार का ही प्रतिरूप है। इस ओंकार को ही मुक्ति प्रदान करने वाला मानना चाहिए। इस ॐ कार का अर्थ भूत अविनाशी परब्रह्म ही आत्मारूप है। उस ब्रह्म का अन्तरात्मा के साथ प्रणव के वाच्यार्थरूप से एकीभाव करके वही एकमात्र (अद्वितीय, अनुपम), मृत्युरहित एवं अमृतरूप अविनाशी तत्त्व 'ॐ' है, ऐसा अनुभव करना चाहिए। इस अनुभव के बाद उस परमात्मारूप ॐ कार में स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों वाले इस सम्पूर्ण दृश्य-प्रपञ्च का आरोप करे (अर्थात् एक मात्र परमात्मा ही सत्यरूप है, ऐसा अनुभव करना चाहिए)। इसी प्रकार आत्मा एवं परमात्मा में दृढ़ एकभाव प्रतिष्ठित करके आत्मस्वरूप परब्रह्म का ध्यान करते हुए सतत अभ्यास करते रहना चाहिए॥ ४-८॥

परं ब्रह्मानुसंदध्याद्विश्वादीनां क्रमः क्रमात्। स्थूलत्वात्स्थूलभुक्त्वाच्च सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्म भुक् परम्॥९
ऐक्यत्वानन्दभोगाच्च सोऽयमात्मा चतुर्विधः। चतुष्पाज्जागरितः स्थूलः स्थूलप्रज्ञो हि विश्वभुक्॥
एकोनविंशतिमुखः साष्टाङ्गः सर्वगः प्रभुः। स्थूलभुक् चतुरात्माथ विश्वो वैश्वानरः पुमान्॥११॥
विश्वजित्प्रथमः पादः स्वप्नस्थानगतः प्रभुः। सूक्ष्मप्रज्ञः स्वतोऽष्टाङ्ग एको नान्यः परंतपः॥ १२॥
सूक्ष्मभुक् चतुरात्माथ तैजसो भूतराडयम्। हिरण्यगर्भः स्थूलोऽन्तर्द्वितीयः पाद उच्यते॥ १३॥
कामं कामयते यावद्यत्र सुप्तो न कंचन। स्वप्नं पश्यति नैवात्र तत्सुषुप्तमपि स्फुटम्॥ १४॥
एकीभूतः सुषुप्तस्थः प्रज्ञानघनवान्सुखी। नित्यानन्दमयोऽप्यात्मा सर्वजीवान्तरस्थितः॥ १५॥
तथाप्यानन्दभुक् चेतोमुखः सर्वगतोऽव्ययः। चतुरात्मेश्वरः प्राज्ञस्तृतीयः पादसंज्ञितः॥ १६॥

अब क्रमानुसार विश्व, तैजस आदि के वाचक प्रणव की मात्राओं के क्रम का वर्णन किया जा रहा है। स्थूल अर्थात् विराट् जगद्रूप एवं उसका भोक्ता तथा सूक्ष्म जगद्रूप सूक्ष्म जगत् का उपभोक्ता होने के कारण एकमात्र आनन्दस्वरूप तथा आनन्द मात्र का उपभोक्ता होने के कारण इन तीनों की अपेक्षा भी विशेष लक्षणों से युक्त होने के कारण वह आत्मा चार भेदों वाला है। यह चार पाद ही उसके चार भेद हैं, इस कारण वह पादों से संयुक्त है। जाग्रत्-अवस्था एवं उससे उपलक्षित होने वाला यह जगत् ही जिनका शरीर है,जो पूरे विश्व में व्याप्त हो रहे हैं,जिनका विवेक इस स्थूल जगत् में चतुर्दिक् फैला है,जो इस समस्त जगत् के रक्षक हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा चार अन्तःकरण आदि ये सभी उन्नीस समष्टि कारण ही जिनके मुख हैं, आठ लोक, (पाताल,भूः,भुवः,स्वः,महः,जनः,तपः एवं सत्यम्) ही जिनके अवयव हैं। जो इस स्थूल जगत् के उपभोक्ता हैं। जिनकी स्थूल, सूक्ष्म, कारण एवं साक्षी रूप में अभिव्यक्ति होती है, वही सर्वव्यापी अखिल विश्वरूप वैश्वानर पुरुष ही परब्रह्म के प्रथम पाद कहे गये हैं। चारों अवस्थाओं में से स्वप्नावस्था तथा उस अवस्था के द्वारा उपलक्षित सूक्ष्म जगत् में व्याप्त परब्रह्म सूक्ष्मप्रज्ञ हैं। उनका विज्ञान स्थूल जगत् की अपेक्षा सूक्ष्म जगत् में व्याप्त हो रहा है। स्वयं वे ही पूर्व में कहे हुए आठ अङ्गों से सम्पन्न हैं। काम, क्रोधादि समस्त रिपुओं को तप्त करने में समर्थ हे नारद! वे स्वप्नलोक में एकाकी ही हैं, उनके अतिरिक्त अन्य दूसरा कोई नहीं

है। वे सूक्ष्म जगत् के सूक्ष्म तत्त्वों की अनुभूति एवं पालन करने वाले हैं। उनके भी पूर्व की भाँति स्थूल-सूक्ष्मादि भेद से युक्त चार स्वरूप हैं। उन्हें ही तैजस पुरुष कहते हैं; क्योंकि वे तेजस्वरूप एवं प्रकाश के स्वामी हैं। वे सभी प्राणियों के स्वामी हिरण्यगर्भ हैं, पूर्व में कहे हुए वैश्वानर तो स्थूल हैं; किन्तु अन्तः प्रदेश में प्रतिष्ठित होने के कारण हिरण्यगर्भ सूक्ष्म कहे गये हैं। इन्हें परब्रह्म परमात्मा का द्वितीय पाद कहा जाता है। सुषुप्तावस्था में स्थित पुरुष किसी भी तरह का स्वप्न नहीं देखता और न ही किसी भोग की कामना करता है। इस प्रकार की सुषुप्ति तथा उसके द्वारा उपलक्षित सम्पूर्ण विश्व की प्रलयावस्था ही जिनका शरीर है, अर्थात् समष्टि कारणतत्त्व में जिनकी स्थिति है,जो एकीभूत (अनुपम) हैं, जिनकी अभी विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति नहीं हुई है,जो घनीभूत प्रज्ञान से सम्पन्न हैं, आनन्दमय हैं, नित्यानन्द स्वरूप हैं, समस्त प्राणियों के अन्तः में विद्यमान अन्तर्यामी आत्मा हैं तथा अपने स्वरूपभूत आनन्द मात्र का उपभोग करने में समर्थ हैं, चिन्मय प्रकाश ही जिन परमात्मा का मुख है, जो सर्वत्र व्याप्त एवं शाश्वत हैं, ओत,अनुज्ञातृ, अनुज्ञा एवं अविकल्प आदि इन चारों रूपों में जिनकी अभिव्यक्ति है, वे ईश्वर ही प्राज्ञ नाम से परमात्मा के तृतीय पाद के रूप में जाने जाते हैं॥ ९-१६॥

एष सर्वेश्वरश्चैष सर्वज्ञः सूक्ष्मभावनः। एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ॥ १७॥
भूतानां त्रयमप्येतत्सर्त्वोपरमबाधकम्। तत्सुषुप्तं हि यत्स्वप्नं मायामात्रं प्रकीर्तितम् ॥ १८॥

ये परब्रह्म ही समस्त स्थावर-जंगम,भूत-प्राणियों के स्वामी हैं। ये सभी कुछ जानने में समर्थ हैं। सूक्ष्मरूप से चिन्तन करने योग्य परब्रह्म ही सबके अन्तर्यामी एवं आत्मस्वरूप हैं। सम्पूर्ण जगत् के कारणरूप हैं तथा समस्त भूत-प्राणियों की उत्पत्ति, पालन एवं विनाश के स्थल भी यही हैं। जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं में परिलक्षित होने वाला यह संसार भी सुषुप्ति रूप ही है। यह सभी प्रकार की उपरति में अवरोधक ही बना रहता है। इसी तरह यह त्रिविध जगत् स्वप्नरूप ही है; क्योंकि यहाँ पर वस्तु का प्रायः विपरीत ज्ञान ही होता है। इतना ही नहीं, यहाँ पर हर वस्तु कुछ की कुछ दिखाई पड़ने के कारण स्वप्नवत् मायामय ही है॥ १७-१८॥

चतुर्थश्चतुरात्मापि सच्चिदेकरसो ह्ययम्। तुरीयावसितत्वाच्च एकैकत्वानुसारतः ॥१९॥
ओतानुज्ञात्रनुज्ञातृविकल्पज्ञानसाधनम्। विकल्पत्रयमत्रापि सुषुप्तं स्वप्नमान्तरम्। मायामात्रं विदित्वैवं सच्चिदेकरसो ह्यथ॥ २०॥

उपर्युक्त त्रिपादों के अतिरिक्त चतुर्थ पाद तुरीय है। वह इन चार भेदों-ओत, अनुज्ञातृ, अनुज्ञा एवं अविकल्प के कारण चार रूपों से युक्त है। उसे तुरीयपाद कहा गया है, यही सच्चिदानन्दमय है-इसके चारों भेद तुरीय ही कहे गय हैं, क्योंकि प्रत्येक रूप का तुरीय में ही पर्यवसान (विलय) होता है। इस चतुर्थ तुरीयपाद में भी जो ओत, अनुज्ञातृ एवं अनुज्ञारूप तीन प्रकार के भेद हैं, वे विकल्प-ज्ञान के साधन रूप हैं। अतः इन तीन विकल्पों को भी यहाँ पर पहले की भाँति सुषुप्ति एवं मनोमय स्वप्नवत् मायामय ही जानना चाहिए। ऐसा समझकर यह निश्चय कर लेना चाहिए कि इन भेदों से परे जो निर्विकल्परूप तुरीय-तुरीय परब्रह्म ही एकमात्र सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। ऐसा निश्चय कर लेना ही श्रेयस्कर है॥ १९-२०॥

विभक्तो ह्ययमादेशो न स्थूलप्रज्ञमन्वहम्। न सूक्ष्मप्रज्ञमत्यन्तं न प्रज्ञं न क्वचिन्मुने॥ २१॥
नैवाप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञमान्तरम्। नाप्रज्ञमपि न प्रज्ञाघनं चादृष्टमेव च॥ २२॥तदलक्षणमग्राह्यं यदव्यवहार्यमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शिवं शान्तमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते। स ब्रह्मप्रणवः स विज्ञेयो नापरस्तुरीयः सर्वत्र भानुवन्मुमुक्षूणामाधारः स्वयंज्योतिर्ब्रह्माकाशः सर्वदा विराजते परंब्रह्मत्वादित्युपनिषत्॥ २३॥

इसके पश्चात् पुनः ब्रह्मा जी ने कहा-'हे नारद! श्रुति का यह स्पष्ट आदेश है कि जो सदैव न तो स्थूलज्ञ

है, न सूक्ष्म का ही ज्ञाता है और न ही दोनों का ज्ञाता है, जो न तो सर्वाधिक जानने वाला है और न ही बिल्कुल जानने वाला है, न अन्त:प्रज्ञ अर्थात् अन्त: का ज्ञान रखने वाला है और न ही बहि: प्रज्ञ (स्थूल जगत् का) ज्ञान रखने वाला है, जिसे नेत्रों से नहीं देखा जा सकता (क्योंकि उसका कोई रूप नहीं है), जो कभी पकड़ में नहीं आ सकता और न ही व्यवहार में लाया जा सकता है। जो अचिन्त्य है, जिसे किसी परिभाषा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। एकमात्र आत्मसत्ता की प्रतीति ही जिसका सार अथवा स्वरूप है, जिसमें प्रपञ्च (माया) का अभाव है। ऐसा परम कल्याणकारी शान्त-अद्वितीय तत्त्व ही उन पूर्ण परब्रह्म का चतुर्थ पाद है,ऐसा ज्ञानीजन मानते हैं। वह ब्रह्म-प्रणव है; वही जानने और समझने के योग्य है, दूसरा नहीं। सभी को प्रकाश देने वाला सूर्य के सदृश वही मुमुक्षुजनों का एकमात्र जीवन रक्षक है। स्वयं प्रकाश परम ब्रह्म आकाश रूप है। परम ब्रह्म होने के कारण ही वह सदैव सर्वत्र विद्यमान है। यही उपनिषद् (रहस्यमयी विद्या) है॥ २१-२३॥

॥ नवमोपदेश: ॥

अथ ब्रह्मस्वरूपं कथमिति नारद: पप्रच्छ। तं होवाच पितामह: किं ब्रह्मस्वरूपमिति। अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति ये विदुस्ते पशवो न स्वभावपशवस्तमेवं ज्ञात्वा विद्वान्मृत्युमुखात्प्र-मुच्यते नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय॥ १ ॥

इसके पश्चात् नारद जी ने पुन: प्रश्न किया- 'हे भगवन्! ब्रह्म का स्वरूप कैसा है, कृपा करके बताने का अनुग्रह करें? ऐसा श्रवण कर पितामह ब्रह्मा जी ने कहा-हे वत्स नारद! ब्रह्म और क्या है, अपना निजस्वरूप आत्मा ही तो ब्रह्म है। ब्रह्म दूसरा और मैं दूसरा हूँ-ऐसा जो भी लोग समझते हैं, वे पशुवत् हैं, जो स्वभाववश पशुयोनि में ही प्रादुर्भूत हुए हैं, उन्हीं का नाम पशु है। उन परम प्रभु परमेश्वर को जो ज्ञानी पुरुष इस तरह सर्वात्मा एवं सर्वरूपमय जानता है, वह सदा के लिए मृत्यु के मुख से छूट जाता है। एकमात्र परमात्मसत्ता का सद्ज्ञान ही है, जो मुक्ति (मोक्ष) प्रदान कराने में सर्वसमर्थ है॥ १॥

काल: स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनि: पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्मा ह्यनीश: सुखदु:खहेतो: ॥ २॥
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
य: कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येक: ॥ ३॥
तमेकस्मिंस्त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभि:।
अष्टकै: षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥ ४॥
पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्त्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदु:खौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीम: ॥ ५॥

(परमात्म विषयक परस्पर चर्चा करने वाले कुछ जिज्ञासु जन कहते हैं कि) 'क्या काल, स्वभाव, निश्चित ही फल प्रदान करने वाला कर्म, आकस्मिक घटना, पाँचों महाभूत अथवा जीवात्मा (इस जगत् का) कारण रूप है? इस विषय पर चिन्तन करना चाहिए। काल आदि का समूह भी इस नश्वर जगत् का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि यह चैतन्य आत्मा के आश्रित है। जीवात्मा भी इस नाशवान् जगत् का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह सुख-दु:ख के कारणभूत प्रारब्ध-कर्म के आश्रित है। ऐसा विचार करते हुए उन्होंने ध्यानावस्था में

प्रतिष्ठित होकर अपने गुणों से आवृत उन परब्रह्म की स्वरूपभूता अचिन्त्य शक्ति का साक्षात्कार किया, जो परब्रह्म अकेले ही काल से लेकर आत्मा तक अर्थात् पूर्व में कहे हुए सभी कारणों पर शासन करते हैं। उस एक नेमि वाले, तीन घेरों से युक्त, षोडश शिरों से संयुक्त, पचास अरों से परिपूर्ण, बीस सहयोगी अरों से युक्त एवं छः अष्टकों से पूर्ण, अनेक रूपों वाले एक ही पाश से संयुक्त, मार्ग के तीन भेदों से युक्त तथा दो निमित्त एवं मोह-रूपी एक नाभि (केन्द्र) से युक्त चक्र को उन जिज्ञासु जनों ने देखा। यहाँ विश्व व्यवस्था को एक चक्र (पहिए) के रूप में वर्णित किया गया है। नेमिचक्र को बाँधे रखने वाली एक परिधि (प्रकृति) तथा तीन वृत-तीन गुण (सत, रज, तम) हैं। परिधि के अन्त-सिरे का जोड़ सोलह कलाएँ हैं, प्रश्नोपनिषद् के छठे प्रश्न के अन्तर्गत चौथे एवं पाँचवें मन्त्र में इनका वर्णन है। ५० अरे (विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि आदि ५० प्रत्यय) अन्तःकरण की वृत्तियों के ५० भेद तथा २० सहायक अरे (१० इन्द्रियाँ, ५ विषय एवं ५ प्राण) कहे गये हैं। चक्र में अष्टक किसे कहा गया है, यह स्पष्ट नहीं हैं। इन छः के आठ-आठ भेद कहे गए हैं-प्रकृति शरीरगत धातु, सिद्धियाँ, भय, देव योनियाँ तथा विशिष्ट गुण तीन मार्ग-धर्म, अधर्म एवं ज्ञान मार्ग तथा दो निमित्त-पाप और पुण्य कर्म हैं। यह सब मोहरूपी नाभिक को केन्द्र मानकर घूम रहे हैं। पाँच स्रोतों से निःसृत होने वाले विषय रूपी जल से परिपूर्ण, पाँच स्थलों से प्रादुर्भूत होकर भय प्रदान करने वाली एवं तिर्यक् चाल से गमन करने वाली, पाँच दुःख रूपी प्रवाह के वेग से संयुक्त, पाँच पर्तों वाली तथा पचास भेदों से परिपूर्ण नदी को हम सभी लोग जानते हैं॥ ५॥

[ऋषि ने यहाँ विश्व प्रवाह को नदी के रूप में वर्णित किया है। ५ धाराएँ, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ उद्गम, ५ तत्त्व, ५ प्राण की तरंगें, ५ भँवरें, ५ तन्मात्राएँ, ५ दुःख-गर्भ, जन्म, रोग, जरा और मृत्यु हैं। ५ विभाग-अज्ञान, अहंकार, राग, द्वेष और भय हैं। अन्तःकरण की ५० वृत्तियाँ उसके भेद हैं। उक्त दोनों उपमाओं की विस्तृत व्याख्या आचार्य शंकर के भाष्य में देखी जा सकती है।]

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे। पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥ ६॥ उद्गीथमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं स्वप्रतिष्ठाक्षरं च। अत्रान्तरं वेदविदो विदित्वा लीनाः परे ब्रह्मणि तत्परायणाः॥ ७॥ संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः। अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ ८॥ ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता। अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्म ह्येतत्॥ ९॥ क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः। तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥ १०॥

समस्त प्राणियों के आश्रयभूत एवं जीविका स्वरूप इस विशाल ब्रह्मचक्र में जीवात्मा को भ्रमण कराया जाता है। वह स्वयं अपने-आपको एवं सभी के प्रेरणास्रोत परमात्मा को पृथक्-पृथक् जानकर उसके पश्चात् उन परब्रह्म से स्वीकृत होकर अमृत भाव को प्राप्त कर लेता है। वेद में कहे हुए ये परमात्मा ही सर्वश्रेष्ठ आश्रयभूत एवं शाश्वत अविनाशी हैं। उन परमात्म देव में तीनों लोक सन्निहित हैं। वेद के तत्त्वज्ञ महापुरुष यहाँ (हृदय क्षेत्र में) अन्तर्यामी स्वरूप में प्रतिष्ठित उन परमात्मदेव को जानकर उन्हीं में आश्रित होकर, उन आदिदेव में ही विलीन हो गये। सतत विनाश युक्त जड़वर्ग एवं अविनाशी जीवात्मा तथा इन दोनों के संयुक्त रूप व्यक्त एवं अव्यक्त रूप इस जगत् का परब्रह्म ही धारण तथा पोषण करते हैं और जीवात्मा इस जगत् के विषय-भोगों का भोक्ता होने के कारण प्रकृति के अधीन होकर इसमें आबद्ध हो जाता है और उन परमात्मदेव को जानकर सभी तरह के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। सर्वज्ञ एवं अज्ञानी, सर्वसमर्थ एवं सामर्थ्यरहित ये दो ही

जन्मरहित शाश्वत आत्मा हैं तथा भोगभोगने वाले जीवात्मा के लिए उपयुक्त भोग्य सामग्री से संयुक्त अनादि प्रकृति एक तीसरी शक्ति के रूप में है। वे परमात्मदेव अन्तरहित, सम्पूर्ण रूपों से युक्त एवं कर्त्तापन के अभिमान से रहित हैं। जब मनुष्य इस तरह ईश्वर, जीव एवं प्रकृति-इन तीनों को ब्रह्म के रूप में प्राप्त कर लेता है, तो वह सभी तरह के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। प्रकृति तो विनाशशील है और इसका भोक्ता जीवात्मा अमृतरूप अविनाशी है। इस विनाशशील जड़तत्त्व एवं चेतन आत्मा दोनों को एक ही ईश्वर अपने विशेष निर्देशन में रखते हैं। इस तरह से उन परमेश्वर का सदैव चिन्तन करते रहने से, मन को उन्हीं में लगाये रहने से तथा तन्मय हो जाने से मनुष्य अन्त में उन्हें प्राप्त कर लेता है। तदनन्तर सभी प्रकार की माया (प्रपञ्च) की निवृत्ति हो जाती है॥ ६-१०॥

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः। तस्याभिध्यानात्त्रितयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः॥ ११॥ एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किंचित्। भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म ह्येतत्॥ १२॥ आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम्॥ १३॥

उन परमात्म स्वरूप का सतत चिन्तन करने मात्र से, उन प्रकाश स्वरूप परब्रह्म को ध्यान के द्वारा जानकर मनुष्य सभी तरह के बन्धनों से मुक्ति (मोक्ष) प्राप्त कर लेता है; क्योंकि क्लेशादि विकारों का शमन हो जाने के पश्चात् जन्म-मरण का सर्वथा अभाव ही हो जाता है। इस कारण से वह देह के नष्ट होने पर तृतीय लोक अर्थात् स्वर्गलोक तक के सभी तरह के ऐश्वर्यों का परित्याग करके सर्वथा विशुद्ध तथा आप्तकाम हो जाता हैं। अपने ही अन्दर प्रतिष्ठित इन ब्रह्मदेव को सर्वदा जानना चाहिए। इनसे उत्कृष्ट स्मरण करने योग्य तत्त्व दूसरा और कुछ भी नहीं है। भोक्ता अर्थात् जीवात्मा, भोग्य अर्थात् जड़वर्ग एवं उनके प्रेरणास्रोत परब्रह्म को जानकर पुरुष सभी कुछ जान लेता है। इस प्रकार इन तीन भेदों में वर्णित यह सब कुछ ब्रह्ममय ही है। आत्मविद्या एवं तप ही जिस की प्राप्ति के मुख्य स्रोत (साधन) हैं, वह उपनिषदों में वर्णित श्रेष्ठ तत्त्व ही परम ईश्वर है अर्थात् दृष्टि भेद द्वारा वह ब्रह्म द्विविध अथवा त्रिविध कहा जाता है, किन्तु यथार्थ में भेद-दृष्टि अज्ञान मूलक है। इस कारण वह समस्त रूपों में एक ही परमात्मदेव विद्यमान है॥ ११-१३॥

य एवं विदित्वा स्वरूपमेवानुचिन्तयंस्तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः। तस्माद्विराड्भूतं भव्यं भविष्यद्भवत्यनश्वरस्वरूपम्॥ १४॥ अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्॥ १५॥ अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥ १६॥ अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ १७॥ सर्वस्य धातारमचिन्त्यशक्तिं सर्वागमान्तार्थविशेषवेद्यम्। परात्परं परमं वेदितव्यं सर्वावसानेऽन्तकृद्वेदितव्यम्॥ १८॥

जो मनुष्य इस तरह से जानकर सतत अपने स्वरूपमय परब्रह्म का ही ध्यान करता रहता है, उस समदर्शी ब्रह्मज्ञानी को वहाँ क्या शोक है और क्या मोह? इसलिए भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान आदि इन तीनों कालों में प्रादुर्भूत होने वाला यह विराट् संसार ही अविनाशी ब्रह्ममय है। यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं महान् (बृहत्) से भी परम महान् (अति बृहत्) परब्रह्म इस प्राणी के हृदय रूपी गुहा में विद्यमान है। सबकी सृष्टि एवं सुरक्षा करने वाले परमात्मा की विशेष अनुकम्पा से जो पुरुष उस संकल्प विहीन परम ईश्वर का और उसकी महान्

महिमा का भी अवलोकन कर लेता है, वह सभी प्रकार के दु:खों से मुक्त हो जाता है। वह परमेश्वर हाथ-पैर आदि से रहित होते हुए भी सभी प्रकार की वस्तुओं को प्राप्त कर लेने वाला है और शीघ्रतापूर्वक यत्र-तत्र-सर्वत्र गमन करने वाला है। नेत्र विहीन होते हुए भी सभी कुछ देखने में समर्थ है। कानों (कर्णों) से रहित होते हुए भी सभी कुछ श्रवण करने में सक्षम है। वह जानकारी प्राप्त होने वाली सभी प्रकार की वस्तुओं को जानता है, किन्तु उस महान् ईश्वर को जानने वाला कोई भी नहीं है। विद्वान् मनुष्य उसे प्राचीन एवं महान् पुरुष (पुरुषोत्तम,पुरुष श्रेष्ठ) आदि कहते हैं। जो इन नाशवान् शरीरों में नित्य एवं देहरहित होकर भी प्रतिष्ठित है। उस सर्वत्र व्याप्त महान् परमेश्वर को जान लेने पर धैर्यवान् पुरुष कभी शोकाकुल नहीं होता। वह समस्त भूत-प्राणियों का धारण-पोषण करने वाला है। उस परमेश्वर की अघटित-घटना-पटीयसी शक्ति अचिन्त्य है, समस्त शास्त्रों के सिद्धान्त रूप से स्वीकृत अर्थ विशेष-परब्रह्म के रूप में वही जानने योग्य है। परात्पर परब्रह्म के रूप में भी वही ज्ञातव्य है एवं सभी के अवसान में अर्थात् समस्त विश्व के प्रलय होने पर सबके संहार के रूप में उसी श्रेष्ठ प्रभु को जानना चाहिए॥ १४-१८॥

कविं पुराणं पुरुषोत्तमोत्तमं सर्वेश्वरं सर्वदेवैरुपास्यम्। अनादिमध्यान्तमनन्तमव्ययं शिवाच्युताम्भोरुहगर्भभूधरम्॥ १९॥ स्वेनावृतं सर्वमिदं प्रपञ्चं पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानम्। पञ्चीकृतानन्तभवप्रपञ्चं पञ्चीकृतस्वावयवैरसंवृतम्। परात्परं यन्महतो महान्तं स्वरूपतेजोमयशाश्वतं शिवम्॥ २०॥ नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ २१॥ नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं न स्थूलं नास्थूलं न ज्ञानं नाज्ञानं नोभयतः प्रज्ञमग्राह्यमव्यवहार्यं स्वान्तःस्थितः स्वयमेवेति य एवं वेद स मुक्तो भवति स मुक्तो भवतीत्याह भगवान्पितामहः॥ २२॥

वह कवि, जो त्रिकाल को जानने वाला है, पुराण पुरुष, सर्वोत्तम एवं पुरुष श्रेष्ठ है। वही सबका परमेश्वर तथा देवों के द्वारा उपासनीय है। आदि, मध्य एवं अन्त से परे है, वह कभी विनष्ट नहीं होता। वही शिव, विष्णु एवं कमल से प्रादुर्भूत होने वाले ब्रह्मारूपी वृक्षों को उत्पन्न करने वाला महान् पर्वत है। जो पञ्चभूतों से युक्त है और पाँच इन्द्रियों में स्थित रहता है, जिसने अनन्त जन्मों के विस्तार की परम्परा अभिवर्द्धित कर रखी है, इस समस्त प्रपञ्च को उस परमात्मा ने पञ्चमहाभूतों के रूप में प्रादुर्भूत किये हुए अपने ही अंगों द्वारा स्वयं ही फैला रखा है; फिर भी वह स्वयं पञ्चभूतों से युक्त अंगों से ढका नहीं है। वह पर से परे और महान् से भी महान् है। वह अपने स्वरूपानुसार स्वत: स्वरूप है, सनातन एवं कल्याणमय है। जो दुराचार से निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्तरहित अर्थात् अपने वश में नहीं हैं, जो स्थिर चित्त नहीं हुआ है तथा जिसका मन पूर्णरूपेण शान्त नहीं हो सका है, वह इन परमात्म स्वरूप को श्रेष्ठ, पवित्र ज्ञान के द्वारा नहीं प्राप्त कर सकता है। वह पूर्ण परमेश्वर न अन्त:प्रज्ञ है, न बाह्य प्रज्ञ है, वह न स्थूल है और न ही सूक्ष्म है। वह न ज्ञानस्वरूप है और न ही वह अज्ञानी है। वह मनुष्य की पकड़ से परे तथा व्यवहार का विषय नहीं है। वह अपने अन्दर स्वयं ही विद्यमान है। जो ज्ञानी पुरुष उस अनादि परमेश्वर को इस प्रकार से जानता है, वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है, वह मुक्त हो जाता है। ऐसा उपदेश पितामह ब्रह्माजी ने देवर्षि नारद को प्रदान किया॥ १९-२२॥

स्वस्वरूपज्ञः परिव्राट् परिव्राडेकाकी चरति भयत्रस्तसारङ्गवत्तिष्ठति। गमनविरोधं न करोति। स्वशरीरव्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा षट्पदवृत्त्या स्थित्वा स्वरूपानुसन्धानं कुर्वन्सर्वमनन्यबुद्ध्या स्वस्मिन्नेव मुक्तो भवति। स परिव्राट् सर्वक्रियाकारकनिवर्तको

गुरुशिष्यशास्त्रादिविनिर्मुक्तः सर्वसंसारं विसृज्य चामोहितः परिव्राट् कथं निर्धनिकः सुखी धनवाञ्ज्ञानाज्ञानोभयातीतः सुखदुःखातीतः स्वयंज्योतिः प्रकाशः सर्ववेद्यः सर्वज्ञः सर्वसिद्धिदः सर्वेश्वरः सोऽहमिति। तद्विष्णोः परमं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः। सूर्यो न तत्र भाति न शशाङ्कोऽपि न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते तत्कैवल्यमित्युपनिषत्॥ २३॥

जो परिव्राजक अपने निज स्वरूप को जान लेता है, वह अकेले ही विचरण करता है। वह 'यति' डरे हुए हरिण के सदृश कभी एक स्थल पर नहीं रुकता। इधर-उधर जाने के लिए यदि कोई विरोध अथवा न जाने का आग्रह करता है, तो उसे वह कभी स्वीकार नहीं करता। अपनी देह के अतिरिक्त अन्य समस्त तरह की वस्तुओं का परित्याग करके वह मधुकरी-वृत्ति से भिक्षा प्राप्त करता है। सदैव अपने निज रूप का ध्यान करते हुए उसकी सभी के प्रति अनन्य बुद्धि हो जाती है। वह समस्त प्राणियों को अपने आत्मारूप में ही समझने लगता है तथा इस तरह से वह यति अपने-आप में ही प्रतिष्ठित होकर सभी तरह के बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। वह संन्यासी समस्त क्रियाओं एवं कारकों से भेद-बुद्धि का परित्याग कर देता है। गुरु, शिष्य एवं शास्त्र आदि की त्रिपुटी से भी वह मुक्त हो जाता है। सम्पूर्ण जगत् का परित्याग करके वह कभी उसके दुःख से विचलित नहीं होता है। परिव्राजक का आचरण किस तरह का हो? (इसके उत्तर में बताते हैं कि) वह लौकिक धन से विहीन होते हुए भी सर्वदा सुखी रहता है। वह ब्रह्मात्म-ज्ञान स्वरूप धन से परिपूर्ण होकर ज्ञान-अज्ञान दोनों से ऊपर उठ जाता है। सुख एवं दुःख दोनों से परे हो जाता है। वह 'यति' आत्म ज्योति से ही प्रकाश प्राप्त करता है। सभी जानने योग्य पदार्थ उसे ज्ञात हो जाते हैं। वह सब कुछ जानने में समर्थ, सभी सिद्धियों का प्रदाता एवं सभी का ईश्वर हो जाता है; क्योंकि 'सोऽहम्' (वह ब्रह्म मैं हूँ) इस महावाक्य के उपदेश में उसकी सहज उपस्थिति हो जाती है। वह परमेश्वर ही भगवान् विष्णु का परम शाश्वत धाम है, जहाँ पर जाकर योगी पुरुष वापस इस नश्वर जगत् में नहीं आते। वहाँ उस विष्णुधाम में न तो सूर्य प्रकाशित होता है और न ही चन्द्रमा अपना प्रकाश देता है। उस परम अविनाशी महान् पद को प्राप्त करने वाला वह महात्मा पुरुष इस नश्वर जगत् में पुनः वापस नहीं आता। वही एक मात्र परम कैवल्य पद है। ऐसा ही है यह उपनिषद्॥ २३॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति नारदपरिव्राजकोपनिषत्समाप्ता॥

॥ निर्वाणोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध है। इसमें जीवन के परमलक्ष्य तथा आवागमन से मुक्त होने के साधनभूत 'निर्वाण' के विषय में विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

इस उपनिषद् में सूत्रात्मक पद्धति द्वारा परमहंस-संन्यासी के गूढ़ सिद्धान्तों को रहस्यात्मक ढंग से विवेचित किया गया है। सर्वप्रथम परमहंस संन्यासी का परिचय दिया गया है, तत्पश्चात् दीक्षा, देवदर्शन, क्रीड़ा, गोष्ठी, भिक्षा, आचरण आदि का परमहंस संन्यासी के लिए क्या स्वरूप है, विवेचना की गई है। आगे चलकर पुनः मठ, ज्ञान, ध्येय, कन्था (गुदड़ी), आसन, पटुता, तारक उपदेश, नियम, अनियामकत्व, यज्ञोपवीत, शिखा तथा मोक्ष आदि की वास्तविक स्थिति संन्यासी के लिए क्या है? इसका निरूपण करते हुए कहा गया है कि यही 'निर्वाण' का तत्त्वदर्शन है। यह तत्त्वदर्शन श्रद्धा-समर्पण युक्त शिष्य या पुत्र को ही प्रदान करना चाहिए। सामान्य व्यक्ति को इस तत्त्वदर्शन से कोई लाभ नहीं प्राप्त हो पाता।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि..... इति शान्तिः। (द्रष्टव्य-आत्मबोधोपनिषद्)

अथ निर्वाणोपनिषदं व्याख्यास्यामः। परमहंसः सोऽहम्। परिव्राजकाः पश्चिमलिङ्गाः। मन्मथक्षेत्रपालाः। गगनसिद्धान्तः। अमृतकल्लोलनदी। अक्षयं निरञ्जनम्। निःसंशयः ऋषिः। निर्वाणो देवता। निष्कुलप्रवृत्तिः। निष्केवलज्ञानम्॥ १-११ ॥

अब निर्वाणोपनिषद् का वर्णन करते हैं। मैं परमहंस हूँ। मैं वही (ब्रह्म) हूँ। परिव्राजक (संन्यासी) पश्चिमलिङ्ग (अन्तिम स्थिति रूप चिह्न युक्त) होते हैं। कामदेव के लिए क्षेत्रपाल जैसे (अर्थात् कामदेव को रोकने में समर्थ) होते हैं। वे गगन सिद्धान्त वाले अर्थात् आकाश की तरह निर्लिप्त और व्यापक सिद्धान्त वाले होते हैं। वे अमृत तरंगों वाली (आत्मारूपी) नदी के समान होते हैं। उनका स्वरूप अक्षय निरञ्जन अर्थात् अनश्वर और निर्लेप होता है। 'निःसंशय' ही उनका ऋषि है, निर्वाण ही उनका देवता है। उनकी प्रवृत्ति निष्कुल (स्वकुल-गोत्र से परे) होती है। उनका ज्ञान समस्त उपाधियों से मुक्त होता है। ॥ १-११ ॥

ऊर्ध्वाम्नायः। निरालम्बपीठः। संयोगदीक्षा। वियोगोपदेशः। दीक्षासंतोषपावनं च। द्वादशादित्यावलोकनम्। विवेकरक्षा। करुणैव केलिः। आनन्दमाला। एकान्तगुहायां मुक्तासनसुखगोष्ठी। अकल्पितभिक्षाशी। हंसाचारः। सर्वभूतान्तर्वर्ती हंस इति प्रतिपादनम्॥१२-२४॥

उनका अभ्यास उच्चस्थिति के लिए होता है। उनका आसन आश्रयरहित होता है। परमात्मा (ईश्वर) के साथ संयोग ही उनकी दीक्षा है। संसार से वियोग करना (मुक्त होना) ही उनका उपदेश है। दीक्षा लेकर सन्तोष करना ही उनका पावन कर्म करना है। द्वादश आदित्यों का (प्रलयकाल का) वे दर्शन करते हैं (क्योंकि प्रलय काल में ही द्वादश आदित्य एक साथ उदीयमान होते हैं)। वे विवेक के द्वारा अपनी रक्षा करते हैं। दया (करुणा) ही उनकी क्रीड़ा (खेल) है। आत्मिक आनन्द ही उनकी माला है। एकान्त रूपी गुहा में मुक्त होकर सुखपूर्वक बैठना ही उनकी गोष्ठी है। (अपने हाथ से) न बनाया हुआ, (अपितु माँग कर प्राप्त किया हुआ) भोजन ही उनकी भिक्षा है। वे हंसाचारी होते हैं अर्थात् उनका आचरण हंसों जैसा (नीरक्षीरविवेकी) होता है। समस्त प्राणियों के अन्तर में रहने वाला आत्मा ही हंस है, ऐसा उनका प्रतिपादन है॥ १२-२४॥

धैर्यकन्था। उदासीनकौपीनम्। विचारदण्डः। ब्रह्मावलोकयोगपट्टः। श्रियां पादुका। परेच्छाचरणम्। कुण्डलिनीबन्धः। परापवादमुक्तो जीवन्मुक्तः। शिवयोगनिद्रा च। खेचरीमुद्रा च। परमानन्दी। निर्गुणगुणत्रयम्। विवेकलभ्यम्। मनोवागगोचरम्। अनित्यं जगद्यज्जनितं स्वप्नजगदभ्रगजादितुल्यम्। तथा देहादिसंघातं मोहगुणजालकलितं तद्रज्जुसर्पवत्कल्पितम्। विष्णुविध्यादिशताभिधानलक्ष्यम्। अङ्कुशो मार्गः। शून्यं न संकेतः। परमेश्वरसत्ता। सत्यसिद्ध-योगो मठः। अमरपदं न तत्स्वरूपम्। आदिब्रह्मस्वसंवित्। अजपा गायत्री। विकारदण्डो ध्येयः॥

धैर्य उन (संन्यासियों) की गुदड़ी है। उदासीन प्रवृत्ति उनकी कौपीन (लँगोटी) है। विचार ही उनका दण्ड है, ब्रह्म का अवलोकन ही उनका योगपट्ट है, सम्पदा उनकी पादुका है (धन-सम्पदा को वे पैर की जूती की तरह तुच्छ वस्तु समझते हैं)। परेच्छा ही उनका आचरण है (ईश्वर की इच्छा से ही वे देह धारण और चेष्टा करते हैं)। कुण्डलिनी ही उनका बन्ध है। वे परापवाद (परनिन्दा) से मुक्त होकर जीवन्मुक्त होते हैं। कल्याणकारी ईश्वर के साथ योग ही उनकी निद्रा है। उस निद्रा और खेचरी मुद्रा को धारण करके वे परमानन्द का अनुभव करते हैं। वह (ब्रह्म) तीनों गुणों से अतीत अर्थात् त्रिगुणातीत-निर्गुण है। वह विवेक द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। वह मन और वाणी द्वारा प्राप्य नहीं है अर्थात् वह मन और वाणी का अविषय है। (जिस प्रकार) यह जगत् अनित्य है, इससे जो जन्मा है, वह स्वप्न के संसार की तरह और आकाश में बने बादलों के हाथी आदि की तरह मिथ्या है, उसी प्रकार यह देह आदि संघात, मोह आदि दोषों से युक्त है और यह सब रस्सी में सर्प की भ्रान्ति के समान मिथ्या है। विष्णु, विधि (ब्रह्मा) आदि सैकड़ों नामों वाला ब्रह्म ही लक्ष्य है। इन्द्रियों पर अंकुश रखना ही (ब्रह्म प्राप्ति का) मार्ग है। ब्रह्म प्राप्ति का वह मार्ग शून्य संकेत (विष्णु आदि देव शक्तियों से रहित) नहीं है। समस्त जीवों पर ईश्वर की सत्ता है। सत्य और सिद्ध हुआ योग ही (संन्यासी का) मठ है। अमर पद (स्वर्ग) उस (ब्रह्म) का स्वरूप नहीं है। आदि ब्रह्म से स्व की एकरूपता ही ज्ञान है। उक्तभाव (सोऽहं) का अजपा जप ही गायत्री है। विकारों के ऊपर नियन्त्रण पाना ही ध्येय है॥ २५-३६॥

मनोनिरोधिनी कन्था। योगेन सदानन्दस्वरूपदर्शनम्। आनन्दभिक्षाशी। महाश्मशाने-ऽप्यानन्दवने वासः। एकान्तस्थानम्। आनन्दमठम्। उन्मन्यवस्था। शारदा चेष्टा। उन्मनी गतिः। निर्मलगात्रम्। निरालम्बपीठम्। अमृतकल्लोलानन्दक्रिया। पाण्डरगगनमहासिद्धान्तः। शमदमा-दिदिव्यशक्त्याचरणे क्षेत्रपात्रपटुता। परावरसंयोगः। तारकोपदेशः। अद्वैतसदानन्दो देवता॥

मन का निरोध करने वाली प्रवृत्ति ही कन्था (गुदड़ी) है। (संन्यासीगण) योग के द्वारा परब्रह्म के सदानन्द स्वरूप का दर्शन करते हैं। वे (परिव्राजक-संन्यासी) आनन्दरूप भिक्षा का ही भोजन करते हैं। वे महाश्मशान में भी आनन्द वन की भाँति निवास करते हैं। एकान्त स्थल ही उनका मठ होता है। उनकी उन्मनी (निर्विकल्पक) अवस्था तथा शारदा (उज्ज्वल) चेष्टा होती है। उनकी उन्मनी निर्विकल्पकरूपा गति होती है। उनका निर्मल शरीर और आश्रयरहित आसन होता है। अमृत रूपी महान् सागर की तरंगों में आनन्दित रहना ही उनकी क्रिया है। चिदाकाश ही उनका महा सिद्धान्त है। शम, दम आदि दिव्य शक्तियों के आचरण (व्यवहार) में क्षेत्र और पात्र का ध्यान रखना उनकी पटुता (कुशलता) है। परावर (ब्रह्म) के साथ संयोग ही उनका तारक उपदेश है। अद्वैत सदानन्द ही उनका देवता है॥ ३७-४८॥

नियमः स्वान्तरिन्द्रियनिग्रहः। भयमोहशोकक्रोधत्यागस्त्यागः। परावैरक्यरसास्वादनम्। अनियामकत्वनिर्मलशक्तिः। स्वप्रकाशब्रह्मतत्त्वे शिवशक्तिसंपुटितप्रपञ्चच्छेदनम्। तथा

पत्राक्षाक्षिकमण्डलभावाभावदहनम्। बिभ्रत्याकाशाधारम्। शिवं तुरीयं यज्ञोपवीतम्। तन्मया शिखा। चिन्मयं चोत्सृष्टिरण्डम् संततोक्षिकमण्डलम्। कर्मनिर्मूलनं कथा। मायाममताहंकारदहनम्। श्मशाने अनाहताङ्गी। निस्त्रैगुण्यस्वरूपानुसन्धानं समयं भ्रान्तिहननम्। कामादिवृत्तिदहनम्। काठिन्यदृढकौपीनम्। चिराजिनवासः। अनाहतमन्त्रं अक्रिययैव जुष्टम्। स्वेच्छाचारस्वस्वभावो मोक्षः। परं ब्रह्म प्लववदाचरणम्। ब्रह्मचर्यशान्तिसंग्रहणम्। ब्रह्मचर्याश्रमेऽधीत्य वानप्रस्थाश्रमेऽधीत्य स सर्वसंविन्न्यासं संन्यासम्। अन्ते ब्रह्माखण्डाकारम्। नित्यं सर्वसंदेहनाशनम्॥ ४९-६०॥

अपनी इन्द्रियों का निग्रह करना ही उन (परिव्राजक संन्यासियों) का नियम होता है। भय, मोह, शोक एवं क्रोध का परित्याग करना ही उनका त्याग है। वे परब्रह्म के साथ एकत्व का रसास्वादन करते हैं। अनियामकत्व (न किसी को वश में करना और न ही किसी का तिरस्कार करना) ही उनकी निर्मल शक्ति होती है। वे स्व प्रकाशित ब्रह्म तत्त्व में शिव-शक्ति से संपुटित प्रपञ्च का उच्छेदन करते हैं। वे पत्र (कारण शरीर), अक्ष (सूक्ष्म शरीर) और अक्षि (स्थूल शरीर) इन तीनों शरीरों के भाव और अभाव को दग्ध (विनष्ट) करने वाले होते हैं। वे आकाशरूपी आधार को धारण करने वाले होते हैं। तुरीयावस्था में स्थित शिव अथवा ब्रह्म ही उनका यज्ञोपवीत और शिवमयी (ब्रह्ममयी ज्ञान) शक्ति ही उनकी शिखा है। चिन्मय स्वरूप होने के कारण उनकी दृष्टि में स्थावर और जङ्गम समूची सृष्टि ब्रह्म ही है। कर्मों को निर्मूल कर देना (अर्थात् कर्मफल से न बँधना) ही उनकी कथा है। वे माया, ममता और अहंकार को दग्ध कर डालने के लिए श्मशान भूमि में अनाहत अंग (अवधूत-विदेह) होकर विचरण करते हैं। जो त्रिगुणातीत हैं, निज स्वरूप के अनुसन्धान और भ्रान्ति के हनन में ही जिनका समय लगता है; जो काम आदि वृत्तियों का दहन करते रहते हैं, जो कौपीन धारण करके कठोरतापूर्वक संयम का पालन करते हैं, जो चिरकाल तक मृगचर्म रूप वस्त्र धारण करते हैं, जो निरन्तर अक्रिया द्वारा ही अनाहत नाद रूप मन्त्र का सेवन करते हैं; उन (संन्यासी परिव्राजकों) का स्वभाव स्वेच्छाचारी (अपनी आत्मा के निर्देश के अनुरूप आचरण करने वाला) होता है, यही उनका मोक्ष है। परब्रह्म स्वरूप लक्ष्य की प्राप्ति हेतु ज्ञानरूपी नौका के समान आचरण करने वाला अवधूत पहले ब्रह्मचर्य द्वारा शान्ति प्राप्त करता है। ब्रह्मचर्याश्रम में अध्ययन के उपरान्त वानप्रस्थ आश्रम में भी अध्ययन(चिन्तन-मनन-निदिध्यासन) करता है और ज्ञान सम्पन्न होकर समस्त ज्ञान (लौकिक ज्ञान) का परित्याग कर देता है- यही संन्यास है। अन्त में नित्य ब्रह्म के अखण्ड आकार की स्थिति में पहुँचकर समस्त संशयों का नाश कर देता है॥ ४९-६०॥

एतन्निर्वाणदर्शनं शिष्यं पुत्रं विना न देयमित्युपनिषत्॥ ६१॥

यही निर्वाण का तत्त्वदर्शन है। इसका उपदेश शिष्य या पुत्र (अत्यधिक श्रद्धा-समर्पण भाव वाले) के अतिरिक्त अन्य किसी के प्रति नहीं करना चाहिए। यही उपनिषद् (रहस्य) है॥ ६१॥

ॐ वाङ्मे मनसि..... इति शान्तिः॥

॥ इति निर्वाणोपनिषत्समाप्ता॥

॥ पञ्चब्रह्मोपानषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय परम्परा की है। इसमें कुल ४१ मन्त्र हैं। इसका शुभारम्भ शाकल द्वारा पैप्पलाद से पूछे गये प्रश्न–सर्वप्रथम सृष्टि के प्रारम्भ में क्या उत्पन्न हुआ ?–से हुआ है। पहले तो पैप्पलाद ने क्रमशः सद्योजात, अघोर, वामदेव, तत्पुरुष तथा ईशान के उत्पन्न होने की बात कही, बाद में क्रमशः उनका स्वरूप वर्णित किया। इन्हीं पाँचों को 'पंचब्रह्म' की संज्ञा प्रदान की गई है तथा कहा गया है कि इस पंचब्रह्मात्मक स्वरूप को अपनी आत्मा में अवस्थित मानकर 'पंचब्रह्म मैं ही हूँ'– इस प्रकार का आनुभविकज्ञान प्राप्त कर लेने वाला साधक ब्रह्मामृत का रसास्वादन करता हुआ मुक्ति प्राप्त कर लेता है। अन्त में इस पंचब्रह्मात्मक विद्या की महती महिमा का गुणगान करते हुए हृदयकमल में विद्यमान सदाशिव तत्त्व के अनुसन्धान करने का निर्देश देकर उपनिषद् को पूर्ण किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु.....इति शान्तिः ॥(द्रष्टव्य-अवधूतोपनिषद्)

अथ पैप्पलादो भगवान्भो किमादौ किं जातमिति। सद्यो जातमिति किं भगव इति। अघोर इति। किं भगव इति। वामदेव इति। किं वा पुनरिमे भगव इति। तत्पुरुष इति। किं वा पुनरिमे भगव इति। सर्वेषां दिव्यानां प्रेरयिता ईशान इति। ईशानो भूतभव्यस्य सर्वेषां देवयोनिनाम्॥ १ ॥

एक बार शाकल के द्वारा पूछने पर कि सर्वप्रथम क्या उत्पन्न हुआ ? पैप्पलाद ने उत्तर देते हुए कहा– सर्वप्रथम 'सद्योजात' नामक ब्रह्म का आविर्भाव हुआ। शाकल ने पूछा–इसके अतिरिक्त क्या और भी कोई अन्य भेद है ? पैप्पलाद जी ने कहा– 'हाँ , 'अघोर' है। शाकल ने फिर प्रश्न किया कि क्या और भी अन्य भेद है ? पैप्पलाद ने उत्तर दिया– 'वामदेव । शाकल ने पुनः पूछा–'क्या यही भेद हैं ?' पैप्पलाद जी ने कहा 'नहीं, 'तत्पुरुष' नामक एक और भी भेद है। शाकल ने पुनः प्रश्न किया– अच्छा तो क्या यही चार भेद हैं ? पैप्पलाद जी ने कहा नहीं, सभी देवों को प्रेरित करने वाला 'ईशान' नामक एक भेद और है। यह सभी भूत, भविष्यत् एवं समस्त देवयोनियों का शासक है॥ १ ॥

कति वर्णाः। कति भेदाः। कति शक्तयः। यत्सर्वं तद्गुह्यम्॥ २ ॥

इसके कितने वर्ण हैं ? कितने भेद (प्रकार) हैं ? तथा कितनी शक्तियाँ हैं ? ये समस्त बातें बड़ी गोपनीय हैं (अतः अनधिकारियों से छिपाकर रखनी चाहिए)॥ २ ॥

तस्मै नमो महादेवाय महारुद्राय॥ ३ ॥ प्रोवाच तस्मै भगवान्महेशः॥ ४॥

महारुद्र उन महादेव को नमस्कार है। भगवान् महेश ने पैप्पलाद जी को ये सभी उपदेश प्रदान किये॥

गोप्याद्गोप्यतरं लोके यद्यस्ति शृणु शाकल। सद्योजातं मही पूषा रमा ब्रह्मा त्रिवृत्स्वरः॥ ५ ॥
ऋग्वेदो गार्हपत्यं च मन्त्राः सप्त स्वरास्तथा। वर्णं पीतं क्रिया शक्तिः सर्वाभीष्टफलप्रदम्॥६ ॥

हे शाकल! इस लोक में अति गोपनीय बातों में भी जो अति गूढ़ है, उसे सुनो। वह है 'सद्योजात' नामक ब्रह्म। सभी तरह की अभीष्ट सिद्धियों को देने वाली मही,पूषा,रमा,ब्रह्मा, त्रिवृत् (सत्,रज,तम), अकारादि स्वर, ऋग्वेद, गार्हपत्य(अग्नि),विविध मंत्र (नमः शिवाय आदि) सात स्वर (स,रे,ग,म,प,ध,नि), पीला वर्ण (रंग) तथा क्रिया नामक शक्ति आदि जिसके अनेक स्वरूप हैं॥ ५-६ ॥

अघोरं सलिलं चन्द्रं गौरी वेदद्वितीयकम्। नीरदाभं स्वरं सान्द्रं दक्षिणाग्निरुदाहृतम्॥ ७॥
पञ्चाशद्वर्णसंयुक्तं स्थितिरिच्छाक्रियान्वितम्। शक्तिरक्षणसंयुक्तं सर्वाघौघविनाशनम्॥ ८॥
सर्वदुष्टप्रशमनं सर्वैश्वर्यफलप्रदम्॥ ९॥

जल, चन्द्र,गौरी, यजुर्वेद, नीरदाभ (मेघ की आभा वाले), स्वर (उकार), स्निग्ध, दक्षिणाग्नि आदि ये सभी अघोर के स्वरूप बतलाये गये हैं। ये तथा इनके अतिरिक्त पचास (अ से लेकर क्ष तक जो) वर्ण हैं, उनसे युक्त स्थिति, इच्छा तथा क्रिया शक्ति से युक्त (अपनी विकल्पित) शक्ति के रक्षण से युक्त जो अघोर का स्वरूप है, वह सभी तरह के पापों के समूह का शमन करने वाला, सभी दुष्टों का विनाश करने वाला तथा सभी तरह के ऐश्वर्य के फल को प्रदान करने वाला है॥ ७-९॥

वामदेवं महाबोधदायकं पावकात्मकम्। विद्यालोकसमायुक्तं भानुकोटिसमप्रभम्॥ १०॥
प्रसन्नं सामवेदाख्यं गानाष्टकसमन्वितम्। धीरस्वरमधीनं चाहवनीयमनुत्तमम्॥ ११॥
ज्ञानसंहारसंयुक्तं शक्तिद्वयसमन्वितम्। वर्णं शुक्लं तमोमिश्रं पूर्णबोधकरं स्वयम्॥ १२॥
धामत्रयनियन्तारं धामत्रयसमन्वितम्। सर्वसौभाग्यदं नृणां सर्वकर्मफलप्रदम्॥ १३॥
अष्टाक्षरसमायुक्तमष्टपत्रान्तरस्थितम्॥ १४॥

'वामदेव' महान् ज्ञान प्रदायक एवं तेजस्वी अग्नि के स्वरूप, विद्या के आलोक से आलोकित, करोड़ों सूर्यों के सदृश तेजोमय तथा सर्वदा आनन्द स्वरूप हैं। अष्टगान (सामवेद के कहे गये सात गान एवं एक भरत शास्त्र निष्पन्न गीति) से समन्वित मन्द स्वर (आ, आ, आम्) के अधीन तथा सर्वोत्तम आहवनीय (अग्निसदृश), ज्ञान एवं संहार शक्ति से समन्वित उनका (वामदेव का) स्वरूप है। वह शुक्ल वर्ण, तमोगुण युक्त तथा स्वयं ही पूर्णज्ञाता, (जाग्रत् आदि) तीनों धामों के नियामक, तीनों धामों (विश्व, तैजस, प्राज्ञ) से युक्त, सभी को सौभाग्य प्रदान करने वाले, मनुष्यों के सभी कर्मों के फल प्रदाता तथा (अ, क, च, ट,त, प, य, श) इन आठ अक्षरों (अथवा आठ क्षरित न होने वाले तत्त्वों अथवा ॐनमो महादेवाय के आठ अक्षरों) तथा अष्टदल (पंखुड़ियों) से युक्त कमल अर्थात् हृदय रूपी कमल में निवास करने वाले हैं॥ १०-१४॥

यत्तत्तत्पुरुषं प्रोक्तं वायुमण्डलसंवृतम्। पञ्चाग्निना समायुक्तं मन्त्रशक्तिनियामकम्॥१५॥
पञ्चाशत्स्वरवर्णाख्यमथर्ववेदस्वरूपकम्। कोटिकोटिगणाध्यक्षं ब्रह्माण्डाखण्डविग्रहम्॥१६
वर्णं रक्तं कामदं च सर्वाधिव्याधिभेषजम्। सृष्टिस्थितिलयादीनां कारणं सर्वशक्तिधृक्॥१७॥
अवस्थात्रितयातीतं तुरीयं ब्रह्मसंज्ञितम्। ब्रह्मविष्ण्वादिभिः सेव्यं सर्वेषां जनकं परम्॥ १८॥

जो यह 'तत्पुरुष' हमने कहा है, वह वायुमण्डल से आपूरित पाँच अग्नियों से संयुक्त होकर मंत्र शक्ति का नियामक अर्थात् नियमन करने वाला है। वे स्वर एवं व्यञ्जन के रूप में पचास संख्या से प्रसिद्ध, अथर्ववेद के स्वरूप वाले, अनन्त कोटि गणों के अध्यक्ष तथा अखण्ड अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड रूप शरीर वाले हैं। उन (तत्पुरुष) का वर्ण लाल है, वे समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने वाले तथा सब प्रकार की आधि-व्याधियों (मानसिक एवं शारीरिक रोगों) की अनुपम औषधि हैं। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, पालन एवं संहार के एक मात्र कारण हैं और समस्त शक्तियों को धारण करने में समर्थ हैं। इसके अतिरिक्त वे (जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति) तीनों अवस्थाओं से परे तुरीयावस्था (चतुर्थ अवस्था) स्वरूप एवं ब्रह्म की संज्ञा से युक्त हैं। वे (ब्रह्म) ही सभी को प्रादुर्भूत करने वाले, ब्रह्मा एवं विष्णु आदि के द्वारा सर्वदा सेवित होने वाले हैं॥ १५-१८॥

ईशानं परमं विद्यात्प्रेरकं बुद्धिसाक्षिणम्। आकाशात्मकमव्यक्तमोंकारस्वरभूषितम्॥ १९॥
सर्वदेवमयं शान्तं शान्त्यतीतं स्वराद्बहिः। अकारादिस्वराध्यक्षमाकाशमयविग्रहम्॥ २०॥

पञ्चकृत्यनियन्तारं पञ्चब्रह्मात्मकं बृहत्॥ २१ ॥ पञ्चब्रह्मोपसंहारं कृत्वा स्वात्मनि संस्थितः। स्वमायावैभवान्सर्वान्संहृत्य स्वात्मनि स्थितः॥ २२ ॥ पञ्चब्रह्मात्म कातीतो भासते स्वस्वते-जसा। आदावन्ते च मध्ये च भासते नान्यहेतुना॥ २३ ॥

'ईशान' को परमात्मतत्त्व के रूप में प्रेरणा प्रदान करने वाला जानना चाहिए। (वे) बुद्धि के साक्षीरूप, आकाश स्वरूप (सर्वत्र व्यापक), अव्यक्त एवं ॐकार के स्वर से (ध्वनि से) विभूषित हैं। वे समस्त देवों के स्वरूप वाले, शान्त, शान्ति से भी परे अर्थात् अत्यन्त शान्ति से सम्पन्न, स्वरों से परे (अर्थात् स्वरों से जिनका ज्ञान सम्भव नहीं), 'अकार' आदि स्वरों के जो अधिष्ठाता स्वरूप हैं तथा जो आकाशमय (व्यापक) शरीर से युक्त हैं। (वे) सृष्टि आदि पाँच (सृष्टि, स्थिति, ध्वंस, विधान और अनुग्रह) कृत्यों के नियन्ता एवं सर्वव्यापक विराट् पंच ब्रह्मस्वरूप हैं। वे (ईशान) पंचब्रह्म का उपसंहार (निर्वाण) करके अपनी आत्मा में प्रतिष्ठित होकर अपनी माया के वैभव-प्रभाव से सबका संहार करके अपनी ही आत्मा में प्रतिष्ठित रहने वाले हैं। वे (ईशान) पंच ब्रह्म से परे रहकर स्वयं अपने ही तेज से प्रकाशित हैं और आदि, मध्य एवं अन्त में भी किसी अन्य कारण से भासित नहीं होते, वरन् (वह) स्वयं प्रकाश स्वरूप एवं स्वयम्भू हैं॥ १९-२३॥

मायया मोहिताः शंभोर्महादेवं जगद्गुरुम्। न जानन्ति सुराः सर्वे सर्वकारणकारणम्। न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य परात्परं पुरुषं विश्वधाम॥ २४॥ येन प्रकाशते विश्वं यत्रैव प्रविलीयते। तद्ब्रह्म परमं शान्तं तद्ब्रह्मास्मि परं पदम्॥ २५॥

भगवान् शम्भु की माया से मोहित देवगण, सम्पूर्ण जगत् के गुरु एवं समस्त कारणों के कारण उन देवाधिदेव महादेव को नहीं जानते। सम्पूर्ण विश्व को प्रकाश देने वाले उन परात्पर विराट् पुरुष का रूप सामान्य दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। जिसके द्वारा यह विश्व प्रकाशित होता है, जिसमें विलय को प्राप्त हो जाता है, ऐसा वह परम अविनाशी ब्रह्म शान्त स्वरूप है। वही अद्वितीय परमपद स्वरूप मैं स्वयं हूँ॥२४-२५

पञ्चब्रह्ममिदं विद्यात्सद्योजातादिपूर्वकम्। दृश्यते श्रूयते यच्च पञ्चब्रह्मात्मकं स्वयम्॥ २६॥ पञ्चधा वर्तमानं तं ब्रह्मकार्यमिति स्मृतम्। ब्रह्मकार्यमिति ज्ञात्वा ईशानं प्रतिपद्यते॥ २७॥ पञ्चब्रह्मात्मकं सर्वं स्वात्मनि प्रविलाप्य च। सोऽहमस्मीति जानीयाद्विद्वान्ब्रह्मामृतो भवेत्॥२८॥ इत्येतद्ब्रह्म जानीयाद्यः स मुक्तो न संशयः॥ २९॥

'सद्योजात' आदि यही पंचब्रह्म हैं, इस चराचर जगत् में जो भी दृष्टिगोचर हो रहा है अथवा सुनाई पड़ रहा है, वह सभी कुछ पंच ब्रह्मात्मक ही है। पाँच रूपों में प्रतिष्ठित वह (सद्योजात) ब्रह्मकार्य कहा गया है। इस ब्रह्मकार्य को जान करके 'ईशान' को प्राप्त किया जाता है। यदि विद्वान् मनुष्य उन पंच ब्रह्मात्मक को अपनी आत्मा में विलीन करके (अर्थात् मान कर) 'सोऽहमस्मि' अर्थात् 'मैं वही पंचब्रह्म हूँ, स्वयं उन्हीं का रूप हूँ।' इस प्रकार समझे, तो (वह) ब्रह्मामृत का रसास्वादन करने वाला हो जाता है। अतः इस प्रकार से जो ब्रह्म के स्वरूप को जान लेता है, वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है॥ २६-२९॥

पञ्चाक्षरमयं शम्भुं परब्रह्मस्वरूपिणम्। नकारादियकारान्तं ज्ञात्वा पञ्चाक्षरं जपेत्॥ ३०॥ सर्वं पञ्चात्मकं विद्यात्पञ्चब्रह्मात्मतत्त्वतः॥३१॥ पञ्चब्रह्मात्मिकीं विद्यां योऽधीते भक्तिभावितः। स पञ्चात्मकतामेत्य भासते पञ्चधा स्वयम्॥३२॥

पंचाक्षरमय उस परब्रह्म स्वरूप भगवान् शम्भु को जान करके प्रारम्भ में 'नकार' और अन्त में 'यकार' है जिसके, ऐसे पंचाक्षर मंत्र (नमः शिवाय) को जपना चाहिए। समस्त वस्तुओं को पंचात्मक ब्रह्म के रूप में जानकर सर्वत्र पंचब्रह्म तत्त्व का ही दर्शन करना चाहिए। जो भी व्यक्ति भक्ति-भावनापूर्वक पंचब्रह्मात्मक विद्या को पढ़ता है, वह स्वयं ही पंचब्रह्म का साकार रूप होकर पंचब्रह्म की समीपता को प्राप्त कर लेता है॥

एवमुक्त्वा महादेवो गालवस्य महात्मनः। कृपां चकार तत्रैव स्वान्तर्धिमगमत्स्वयम्॥३३॥

इस प्रकार इस ज्ञान को महादेव जी 'गालव' मुनि को कृपापूर्वक बताते हुए वहीं आत्मलीन हो गए॥

यस्य श्रवणमात्रेणाश्रुतमेव श्रुतं भवेत्। अमतं च मतं ज्ञातमविज्ञातं च शाकल॥ ३४॥
एकेनैव तु पिण्डेन मृत्तिकायाश्च गौतम। विज्ञातं मृण्मयं सर्वं मृदभिन्नं हि कार्यकम्॥ ३५॥

हे शाकल! जिसके श्रवण मात्र से ही अश्रुत (अनसुना) श्रुत (ज्ञात) हो जाता है। जाना हुआ, न जाना हुआ सभी प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो जाता है और जिन सिद्धान्तों का ज्ञान न हो, वे सभी स्वयं ही ज्ञात हो जाते हैं। हे गौतम! जिस प्रकार से मिट्टी के एक ही पिण्ड से अभिन्न समस्त वस्तुओं का पूर्ण ज्ञान हो जाता है; क्योंकि कार्य-कारण से अभिन्न होता है, वैसे ही पंचब्रह्म के ज्ञान द्वारा समस्त वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है॥३४-३५॥

एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं यथा। विज्ञातं स्यादथैकेन नखानां कृन्तनेन च॥ ३६॥
सर्वं काष्णायसं ज्ञातं तदभिन्नं स्वभावतः। कारणाभिन्नरूपेण कार्यकारणमेव हि॥ ३७॥

जिस प्रकार एक लोहमणि के द्वारा समस्त लोहतत्त्व ज्ञात हो जाते हैं, उसी प्रकार नाखून को काटने की छुरी से सभी लोहे के बने अस्त्रों की जानकारी प्राप्त हो जाती है; यह स्वाभाविक है कि उससे अपृथक् जितनी भी वस्तुएँ होंगी, वे सभी तदनुरूप होंगी; क्योंकि कारण से अभिन्न जो भी कार्य है,वह कारण रूप ही होता है॥

तद्रूपेण सदा सत्यं भेदेनोक्तिर्मृषा खलु। तच्च कारणमेकं हि न भिन्नं नोभयात्मकम्॥ ३८॥
भेदः सर्वत्र मिथ्यैव धर्मादेरनिरूपणात्। अतश्च कारणं नित्यमेकमेवाद्वयं खलु। अत्र कारणमद्वैतं शुद्धचैतन्यमेव हि॥ ३९॥

यदि किसी भी वस्तु को (कार्य को) तद्रूप अर्थात् कारण के अनुरूप मान लिया जाए, तो वह सदा सत्य है। जब उसे भिन्न (तद्रूप से भिन्न) कहेंगे, तो वह मिथ्या कथन होगा; क्योंकि सभी कार्यों का कारण तो एक ही है। वह न तो भिन्न है और न ही उभयात्मक है। यह जो सभी जगहों पर भेद की प्रतीति होती है, उसका कारण धर्म के निरूपण का अभाव ही है। अतः कारण तो वस्तुतः एक ही है, वह दूसरा (भिन्न) नहीं है। इसलिए इस चराचर विश्व का कारण शुद्ध चैतन्यरूप अद्वैत ही है॥ ३८-३९॥

अस्मिन्ब्रह्मपुरे वेश्म दहरं यदिदं मुने। पुण्डरीकं तु तन्मध्ये आकाशो दहरोऽस्ति तत्। स शिवः सच्चिदानन्दः सोऽन्वेष्टव्यो मुमुक्षुभिः॥ ४०॥ अयं हृदि स्थितः साक्षी सर्वेषामविशेषतः। तेनायं हृदयं प्रोक्तः शिवः संसारमोचकः। इत्युपनिषत्॥ ४१॥

हे मुने! इस अविनाशी ब्रह्म के आश्रयस्थल शरीर में जो दहर नामक निवास स्थल (हृदय में) है, जिसे पुण्डरीक (कमल) भी कहते हैं, उसी में दहराकाश स्थित है। उसी में ही मोक्ष के इच्छुक साधकों को सत्-चित् एवं आनन्दस्वरूप उस शिव को ढूँढ़ना चाहिए। यह शिव सदैव हृदय कमल में ही प्रतिष्ठित रहता है एवं निर्विशेष (सामान्य) दृष्टि से सभी का साक्षीभूत है। इस कारण से हृदय को शिवस्वरूप कहकर इस (हृदय) को ही संसार का मोचक अर्थात् संसार से मुक्त करने वाला कहा गया है॥ ४०-४१॥

ॐ सह नाववतु .....इति शान्तिः॥

॥ इति पञ्चब्रह्मोपनिषत्समाप्ता॥

॥ परब्रह्मोपनिषद् ॥

यह अथर्ववेदीय उपनिषद् है। इसमें कुल २० मन्त्र हैं, जिसमें परब्रह्म की प्राप्ति हेतु संन्यास-धर्म का विस्तृत विवेचन किया गया है।

उपनिषद् का शुभारंभ महाशाल शौनक के उस प्रश्न से हुआ है, जिसमें उन्होंने महर्षि पिप्पलाद से पूछा है कि संसार में उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ इसके पूर्व कहाँ स्थित रहते हैं? भगवान् हिरण्यगर्भ ने उन पदार्थों को किस प्रकार सृजित किया और वस्तुतः वे कौन हैं? महर्षि पिप्पलाद ने इसी प्रश्न का विशद विवेचन किया है तथा उस परम सत्ता को; जो सृष्टि का आदिकारण है, जानने के लिए अष्टकपाल-अष्टांगयोग का आश्रय लेना बताया है। आगे चलकर संन्यास-धर्म का अतीव प्रभावोत्पादक वर्णन किया गया है, जिसमें संन्यासी को बाह्य यज्ञोपवीत और शिखा के स्थान पर आन्तरिक यज्ञोपवीत एवं शिखा की अनिवार्यता बताई गई है। साथ ही यह कहा गया है कि जिसने अग्निमय-ज्ञानमय शिखा और यज्ञोपवीत धारण किया है, वही सच्चा साधक और मुक्ति का अधिकारी बनता है। अन्त में बाहरी प्रपञ्चमय शिखा और यज्ञोपवीत का परित्याग करके प्रणव हंस (ॐ कार ब्रह्म) रूपी शिखा और यज्ञोपवीत का आश्रय लेकर मोक्ष का अधिकारी बनने का निर्देश दिया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अथर्वशिर उपनिषद्)

अथ हैनं महाशालः शौनकोऽङ्गिरसं भगवन्तं पिप्पलादं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ दिव्ये ब्रह्मपुरे संप्रतिष्ठिता भवन्ति खलु। कथं सृज्यन्ते। नित्यात्मन एष महिमा। विभज्य एष महिमा विभुः। क एषः। तस्मै स होवाच। एतत्सत्यं यत्प्रब्रवीमि ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां देवेभ्यः प्राणेभ्यः। परब्रह्मपुरे विरजं निष्कलं शुभ्रमक्षरं विरजं विभाति। स नियच्छति मधुकरराश्या निर्मकः। अकर्मस्वपुरस्थितः। कर्मतरः कर्षकवत्फलमनुभवति। कर्ममर्मज्ञाता कर्म करोति। कर्ममर्म ज्ञात्वा कर्म कुर्यात्। को जालं विक्षिपेदेको नैनमपकर्षत्यपकर्षति ॥ १ ॥

एक बार बुद्धिमान् शौनक ने विधिवत् समीप बैठकर अङ्गिरस गोत्रीय भगवान् पिप्पलाद से पूछा-क्या संसार में उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ पहले दिव्य ब्रह्मपुर अर्थात् भगवान् हिरण्यगर्भ के हृदयाकाश में प्रतिष्ठित होते हैं? ये व्यापक महिमाशाली भगवान् अपने अन्दर से उन पदार्थों को यथा विभाग किस तरह सृजित करते हैं? इन विभु की महिमा क्या है? अर्थात् ये वस्तुतः कौन हैं? महर्षि पिप्पलाद ने उनसे कहा-जो श्रेष्ठ ब्रह्म विद्या मैं तुमसे कहूँगा, वह सत्य है। यह सत्, देवों (इन्द्रियों) तथा प्राण-अपान आदि दस प्राणों को अपने-अपने विषय ग्रहण करने की शक्ति प्रदान करता है। यह परब्रह्मपुर में विरज (रज आदि गुणत्रय के अभाव वाला) और निष्कल (प्राण आदि नामवाली षोडश कलाओं से रहित) है। इसी कारण शुभ्र (स्वच्छ) और अक्षर (अविनाशी) है, जो गुणातीत होकर सुशोभित होता है, वह जीव समूह के बन्धन और मोक्ष का निर्माण कर्त्ता होने से 'निर्मक' कहलाता है। इसी प्रकार जो निर्माता है,वह परमात्मा मुमुक्षुओं की अविद्या का समापन कर देता है, जिससे वे शुद्ध चैतन्य उस परमात्मा का अनुभव (दर्शन) कर पाते हैं। वह परब्रह्म अपने

ही स्थान में रहकर अकर्म (कर्महीन) स्वरूप में अवस्थित रहता है, क्योंकि वह कृत-कृत्य होता है, अर्थात् उसके लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता। वह पराग् दृष्टि (विपरीत दृष्टि) वाला व्यक्ति तो इह लोक और परलोक के फल प्राप्त करने की दृष्टि से विविध कर्म करता है और कृषक की भाँति अपने द्वारा किये हुए कर्मों का फल प्राप्त करता है। जो ज्ञानी कर्म के मर्म को (कर्म को जन्म आदि का कारण) जानकर कर्म करता है, वह तो चित्त की शुद्धि के लिए परमेश्वर की आराधना रूप कर्म करता है। जो मुनि अपने अतिरिक्त (अपने को ब्रह्म मानकर) अन्य भ्रम से मुक्ति चाहता है, वह कर्म के मर्म को जानकर (कर्मानुसार ही उच्च-नीच योनियाँ मिलती हैं, यह जानकर) अपने आश्रम के अनुरूप निष्काम कर्म करता है। एक मात्र ब्रह्म में चित्त को लगाने वाला कौन ऐसा विवेकी है, जो विविध प्रकार के कर्म जाल में फँसकर अपना अपकर्ष करता है? अर्थात् कोई नहीं (इसका आशय है कि निष्काम कर्म करने वाले को उसके कर्म सांसारिक विषयों में नहीं खींच सकते) ॥१॥

प्राणदेवताश्चत्वारः। ताः सर्वा नाड्यः सुषुप्तश्येनाकाशवत्। यथा श्येनः खमाश्रित्य याति स्वमालयं कुलायम्। एवं सुषुप्तं ब्रूत। अयं च परं च स सर्वत्र हिरण्मये परे कोशे। अमृता ह्येषा नाडीत्रयं संचरति। तस्य त्रिपादं ब्रह्म। एषात्रेष्य ततोऽनुतिष्ठति। अन्यत्र ब्रूत। अयं च परं च सर्वत्र हिरण्मये परे कोशे। यथैष देवदत्तो यष्ट्या च ताड्यमानो नैवैति। एवमिष्टापूर्तकर्मा शुभाशुभैर्न लिप्यते। यथा कुमारको निष्काम आनन्दमभियाति। तथैष देवः स्वप्न आनन्दमभिधावति। वेद एव परं ज्योतिः। ज्योतिषा मा ज्योतिरानन्दयत्येवमेव। तत्परं यच्चित्तं परमात्मानमानन्दयति। शुभ्रवर्णमाजायतेश्वरात्। भूयस्तेनैव मार्गेण स्वप्नस्थानं नियच्छति। जलूकाभाववद्व्यर्थाकाममाजायतेश्वरात्। तावतात्मानमानन्दयति। परसंधि यदपरसन्धीति। तत्परं नापरं त्यजति। तदैवं कपालाष्टकं संधाय य एष स्तन इवावलम्बते सेन्द्रयोनिः स वेदयोनिरिति। अत्र जाग्रति शुभाशुभातिरिक्तः शुभाशुभैरपि कर्मभिर्न लिप्यते। य एष देवोऽन्यदेवस्य संप्रसादोऽन्तर्याम्यसङ्गचिद्रूपः पुरुषः। प्रणवहंसः परं ब्रह्म। न प्राणहंसः। प्रणवो जीवः। आद्या देवता निवेदयति। य एवं वेद। तत्कथं निवेदयते। जीवस्य ब्रह्मत्वमापादयति॥ २॥

(त्रिपाद् ब्रह्म की प्राप्ति के उपाय बताते हुए ऋषि कहते हैं कि) जीव के प्राणाधार रूप में विश्वादि तुरीयान्त भेद से प्राण के चार भेद होते हैं। उन्हें प्राप्त करने वाली नाड़ियाँ भी चार प्रकार की होती हैं। ये चार-रमा,अरमा, इच्छा और पुनर्भवा नामक हैं। इनमें रमा और अरमा नाड़ियों का अवलम्बन लेकर वह (प्राण) आकाशगामी श्येन (बाज़) की तरह जाग्रत्, स्वप्न आदि के व्यवहार से थकित होकर सुषुप्तावस्था में चला जाता है, अर्थात् जिस प्रकार श्येन आकाश में उड़ते-उड़ते थककर अपने घोंसले में विश्राम हेतु चला जाता है, उसी प्रकार जीव भी जाग्रत् स्वप्नादि प्रपञ्चों से थककर दोनों नाड़ियों का आश्रय लेकर सुषुप्ति में विश्रान्ति प्राप्त करता है। वह (जीव) कभी-कभी सुषुप्तावस्था में अन्यत्र भी भ्रमण करता है, इस संदर्भ में बताते हैं-यह वस्तुतः अमृत रूप देवता सर्वत्र व्यापक हिरण्यमय परकोश अर्थात् हृदयाकाश में रमा आदि नाड़ीत्रय का आश्रय लेकर संचरण करता है। उसके बाद उसका त्रिपाद् रूप ब्रह्म ही शेष रह जाता है। यह जीव (प्राणवत्ता) रूप देवता अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर तत्स्वरूप में स्थित रहकर मुक्त हो जाता है। इस प्रकार जीव इस जाग्रदवस्था के अतिरिक्त भी अन्य अवस्थाओं में अपनी स्वतन्त्र सत्ता समझकर परिभ्रमण करता रहता है। सर्वत्र सदैव हिरण्यमय परकोश में विचरण करता हुआ भी स्वाज्ञानावरणाच्छन्न होकर जाग्रत्

आदि अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) के गर्त में गिरता है अर्थात् बन्धनयुक्त होता है। जिस प्रकार कोई देवदत्त नामक व्यक्ति शयन की स्थिति में हो, उसे कोई बेंत से ताड़ित करे, तो जागने के बाद वह पुनः नहीं सोता; उसी प्रकार यह जीव भी श्रुतिरूप (वेद शास्त्रादि) आचार्य द्वारा जाग्रत् हो जाने पर पुनः अवस्थात्रय रूप गर्त में नहीं पड़ता और न ही इष्टापूर्त आदि शुभाशुभ कर्मों में लिप्त होता है। इसी प्रकार जैसे बालक किसी वस्तु में विशेष आसक्ति न होने के कारण जो भी मिल जाए, उसी को पाकर आनन्दित होता रहता है, उसी प्रकार यह जीव भी स्वप्न अथवा जाग्रत्-अवस्था में भी निरन्तर आनन्द का अनुभव करता है अथवा आनन्द की ओर ही दौड़ता है।

अतः जो कोई श्रुतिरूप आचार्य के मुख से यह जान लेता है कि मैं परम ज्योति और आनन्द का स्वरूप हूँ तथा परम ज्योति सूर्यादि की किरण हूँ, प्रकाश हूँ, अपने आप में आनन्दित रहता हूँ। इस प्रकार जिसका हृदय (चित्त) उस परब्रह्म में तत्पर (समर्पित) हो जाता है, वह परमात्मा को प्राप्त कर आत्मा को तृप्त (आनन्दित) करता रहता है अथवा अपने आत्मस्वरूप आनन्दस्वरूप में स्थित रहता है। ईश्वर से शुभ्रवर्ण (निर्विकल्प भाव) उत्पन्न होता है, जिससे चित्त प्रसन्न होता है। इस प्रकार त्रिपुटि विरल निर्विकल्प समाधि का अनुभव करके स्वप्न स्थान में विश्राम करता है अर्थात् त्रिपुटि विशिष्ट अखण्डाकार वृत्ति से शीघ्र ही स्वप्नावस्था को प्राप्त कर 'तत्त्वमसि,' 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव करके आत्मा को विश्राम प्रदान करता है। जिस प्रकार जलूका (जोंक) एक तिनके से दूसरे तिनके पर जाती है, उसी प्रकार यह विद्वान् भी तुरन्त जागरणस्थ और तुरन्त स्वप्नस्थ हो जाता है। पुनः जागरण को त्याग कर फिर स्वप्नस्थ हो जाता है। ईश्वर की कृपा से (अवस्था विभाग से) तीनों अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) में सञ्चरण करने की इच्छा करने मात्र से वैसी स्थिति बन जाती है। इस कारण यह (जीव) सविकल्प और निर्विकल्प समाधि से अपनी आत्मा को आनन्दित करता है। तत्पश्चात् जीवात्मा और परमात्मा के एकत्व में जो भेद सापेक्षत्व (अविद्या) है, उसका यह आत्मतत्त्व त्याग कर देता है। इस प्रकार वह अविद्यारहित आत्मतत्त्व (परब्रह्म) अपर (उस ब्रह्म से भिन्न कुछ न होने से) का त्याग नहीं करता। स्वयमेव विद्यमान रहता है।

यदि केवल श्रवणादि के माध्यम से निर्विशेष ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, तो कपालाष्टक का आश्रय लेना चहिए। कपालाष्टक के आठ (८) अंग हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनके द्वारा अन्तर के कलुष को शुद्ध करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इस कपालाष्टक-अष्टांगयोग के द्वारा स्तन (हृदय स्थान में स्थित केले के पुष्प) की भाँति लटका रहता है, जो योग के समय ऊपर उठता हुआ विकास को प्राप्त होता है; इसमें ही इन्द्रयोनि (परमात्मा की प्राप्ति का मार्ग), जिसे वेदयोनि कहते हैं, वह ईश्वर जाग्रत् रहता है। इस प्रकार जो अपने हृदयकमल में ईश्वर का ध्यान करता है, वह शुभ-अशुभ से परे होकर शुभाशुभ कर्मों के द्वारा कभी लिप्त नहीं होता। वह देव कैसा है ? इस संदर्भ में बताते हैं-वह अन्य देवों का संप्रसाद (अत्यन्त प्रसन्नता) दाता, अन्तर्यामी, असङ्ग, चैतन्य स्वरूप, पुरुष, प्रणव हंस (ॐकार), परमब्रह्म है, जो प्राण हंस नहीं है। (यहाँ प्राण हंस से अभिप्राय मुख्य प्राण से है, क्योंकि यह परब्रह्म प्रकरण है, प्राण का नहीं) प्रणव ही जीव है; क्योंकि वह ओंकार के अवयव के आकार से समझा जाने वाला है। वह जीवरूपी आद्य देवता कहा जाता है। जो इस यथार्थता को इस प्रकार जानता है, वह जीव-ब्रह्म के भेद को कैसे निरूपित (निवेदित) कर सकता है। वह तो जीव और ब्रह्म का एकत्व ही प्रतिपादित करता है, उनका भेद कभी स्मरण नहीं करता ॥ २ ॥

[यहाँ ऋषि ने योग के अष्टांगों को कपालाष्टक कहा है। अपनी भाव दृष्टि से ऋषि उसे एक कमल पुष्प की तरह

अनुभव करते हैं। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से लटका हुआ बंद कमल ऊर्ध्वमुख होकर खिल जाता है, उसी प्रकार सुप्तावस्था में स्थित योग वृत्तियाँ ब्राह्मी चेतना के संयोग से जाग्रत् और ऊर्ध्वमुखी हो उठती हैं।]

सत्त्वमथास्य पुरुषान्तःशिखोपवीतत्वम्। ब्राह्मणस्य मुमुक्षोरन्तःशिखोपवीतधारणम्। बहिर्लक्ष्यमाणशिखायज्ञोपवीतधारणं कर्मिणो गृहस्थस्य। अन्तरुपवीतलक्षणं तु बहिस्तन्तुवदव्यक्तमन्तस्तत्त्वमेलनम्॥ ३॥

ब्रह्म रूप इस पुरुष का सत्त्व आन्तरिक शिखा और यज्ञोपवीत है। मुमुक्षु ब्राह्मण को यह आन्तरिक शिखा और यज्ञोपवीत ही धारण करना चाहिए। बाहर दिखाई देने वाले शिखा और यज्ञोपवीत को धारण करना गृहस्थ का कर्त्तव्य है। आन्तरिक शिखा और यज्ञोपवीत बाह्य सूत्रवत् शिखा और यज्ञोपवीत के समान व्यक्त नहीं है। वे तो अव्यक्त हैं और ब्रह्मत्व से मेल कराने वाले हैं॥ ३॥

न सन्नासन्न सदसद्भिन्नाभिन्नं न चोभयम्। न सभागं न निर्भागं न चाप्युभयरूपकम्। ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं हेयं मिथ्यात्वकारणादिति॥ ४॥

अविद्या का स्वरूप न सत् है, न असत्; न भिन्न है, न अभिन्न और न दोनों का उभय स्वरूप है। वह न सभाग है, न निर्भाग और न इनका उभय रूप ही है। अतः जब तक अनिर्वचनीय ब्रह्म का आत्मैकत्व (प्रत्येक आत्मा ब्रह्म है, यह ज्ञान) उदित नहीं होता, तभी तक अविद्या की स्थिति है। ब्रह्म स्वरूप का वास्तविक ज्ञान हो जाने पर, यह सभी हेय है, त्याग देने योग्य है, क्योंकि यह सब मिथ्या है॥ ४॥

पञ्चपाद्ब्रह्मणो न किंचन। चतुष्पादन्तर्वर्तिनोऽन्तर्जीवब्रह्मणश्चत्वारि स्थानानि। नाभिहृदयकण्ठमूर्धसु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयावस्थाः। आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणसभ्याग्निषु। जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरं चिन्मयम्। तस्माच्चतुरवस्था। चतुरङ्गुलवेष्टनमिव षण्णवतितत्त्वानि तन्तुवद्विभज्य तदाहितं त्रिगुणीकृत्य द्वात्रिंशत्तत्त्वनिष्कर्षमापाद्य ज्ञानपूतं त्रिगुणस्वरूपं त्रिमूर्तित्वं पृथग्विज्ञाय नवब्रह्माख्यनवगुणोपेतं ज्ञात्वा नवमानमितं त्रिःपुनस्त्रि गुणीकृत्य सूर्येन्द्वग्निकलास्वरूपत्वेनैकीकृत्याद्यन्तरेकत्वमपि मध्ये त्रिरावृत्य ब्रह्म विष्णुमहेश्वरत्वमनुसंधायाद्यन्तमेकीकृत्य चिद्ग्रन्थावद्वैतग्रन्थिं कृत्वा नाभ्यादिब्रह्म बिलप्रमाणं पृथक् पृथक् सप्तविंशतितत्त्वसंबन्धं त्रिगुणोपेतं त्रिमूर्तिलक्षणलक्षित मप्येकत्वमापाद्य वामांसादिदक्षिणाकट्यन्तं विभाव्याद्यन्तग्रहसंमेलनमेवं ज्ञात्वा मूलमेकं सत्यं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। हंसेति वर्णद्वयेनान्तःशिखोपवीतित्वं निश्चित्य ब्राह्मणत्वं ब्रह्मध्यानार्हत्वं यतित्वमलक्षितान्तः शिखोपवीतित्वमेवं बहिर्लक्षितकर्मशिखाज्ञानोपवीतं गृहस्थस्याभासब्राह्मणत्वस्य केशसमूहशिखाप्रत्यक्षकार्पासतन्तुकृतोपवीतत्वम्। चतुः चतुर्गुणीकृत्य चतुर्विंशतितत्त्वापादनतन्तुकृत्त्वं नवतत्त्वमेकमेव परंब्रह्म तत्प्रतिसरयोग्यत्वाद्बहुमार्गप्रवृत्तिं कल्पयन्ति। सर्वेषां ब्रह्मादीनां देवर्षीणां मनुष्याणां मुक्तिरेका। ब्रह्मैकमेव। ब्राह्मणत्वमेकमेव। वर्णाश्रमाचारविशेषाः पृथक्पृथक् शिखा वर्णाश्रमिणामेककैव। अपवर्गस्य यतेः शिखायज्ञोपवीतमूलं प्रणवमेकमेव वदन्ति। हंसः शिखा। प्रणव उपवीतम्। नादः संधानम्। एष धर्मो नेतरो धर्मः। तत्कथमिति। प्रणवहंसो नादस्त्रिवृत्सूत्रं स्वहृदि चैतन्ये तिष्ठति त्रिविधं ब्रह्म। तद्विद्धि प्रापञ्चिकशिखोपवीतं त्यजेत्॥ ५॥

पंचपाद (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत) ब्रह्म अपने से पृथक् अविद्यारूप है या नहीं, यह भ्रान्ति कुछ नहीं है अर्थात् वह सर्वमय है। व्यष्टि और समष्टि रूप चतुष्पाद के अन्तर्गत विद्यमान जीवरूप ब्रह्म के चार स्थान हैं-नाभि, हृदय, कण्ठ और मूर्धा (सिर)। ब्रह्म चार अवस्थाओं में प्राप्त होता है-जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्य (तुरीय)। आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिण और सभ्य अग्नियों में यथाशक्य आत्मभाव करना चाहिए। जाग्रत्-अवस्था में ब्रह्मा, स्वप्नावस्था में विष्णु, सुषुप्तावस्था में रुद्र तथा तुरीयावस्था में अक्षर चिद्रूप ब्रह्म ध्यातव्य है।

अब ब्रह्म को यज्ञोपवीत स्वरूप विवेचित किया जाता है, क्योंकि संन्यासी इसी ब्रह्मरूप यज्ञोपवीत को धारण करता है-चार अवस्थाएँ (जो ऊपर कही गई हैं) ही चार अँगुलियों का वेष्टन है (चार अँगुलियों में लपेट कर ही यज्ञोपवीत का निर्माण किया जाता है) जो छः बार किया जाता है। इसमें ९६ तत्त्व लपेटे जाते हैं। इसके तीन विभाग करके ३ गुने (३२×३=९६) रूप द्वारा बत्तीस तत्त्वों के निष्कर्ष का सम्पादन करके ज्ञानपूत, त्रिगुण (सत्,रज, तम) रूप (तीन गुण अर्थात् यज्ञोपवीत की तीन लड़ें) और त्रिमूर्ति रूप को पृथक् जानकर, नौ ब्रह्म अर्थात् नौ गुणों (नौ धागों) को जानकर नौ के मान से (परिमाण से) तीन को पुनः तीन गुना करके सूर्य, इन्दु(चन्द्रमा) और अग्नि की कला के स्वरूप से एकीकृत करके फिर आदि, मध्य और अन्त की तीन आवृत्तियाँ करके, ब्रह्मा, विष्णु, और महेश (रुद्र) का अनुसन्धान करके, उन आवृत्तियों को आदि से अन्त तक एक करके चिद्ग्रन्थि में अद्वैत ग्रन्थि बनाकर नाभि से लेकर ब्रह्म बिल (ब्रह्मरन्ध्र) तक के परिमाण में पृथक्-पृथक् सत्ताईस (२७) तत्त्वों से सम्बन्धित त्रिगुणयुक्त (तीन लड़ों से युक्त), त्रिमूर्तिरूप (तीन अलग-अलग रूपों में) दीखने पर भी उसमें एकत्व सम्पादन करके बाँयें कन्धे से लेकर दाहिने भाग की कमर तक इसकी भावना करके (इसे धारण करके) ही चित्त शुद्ध हो सकता है। इस यज्ञोपवीत के विषय में ऐसा जानना चाहिए कि इसमें प्रारम्भ से अन्त तक विभिन्न तत्त्वों के सम्मेलन में मूल तत्त्व एक ही है- जैसे- मिट्टी से बने हुए कुम्भ आदि विभिन्न पात्र होते हैं, पर उनमें सत्य केवल मिट्टी ही है। इसी प्रकार ब्रह्म निर्मित सभी कुछ ब्रह्म ही है, उससे पृथक् अन्य कोई सत्ता नहीं है। अस्तु सोऽहं (हंस) वही ब्रह्म मैं हूँ, ऐसा भाव सतत करना ही अन्तर्वर्ती शिखा और यज्ञोपवीतत्व है, ऐसा निश्चय करके ब्राह्मणत्व (ब्रह्म ध्यान की अर्हता-योग्यता) और यतित्व की प्राप्ति होती है। इनके (ब्राह्मणत्व और यतित्व प्राप्त व्यक्तियों की) शिखा और यज्ञोपवीत अलक्षित अर्थात् अन्तर्वर्ती होते हैं। बाहर दीखने वाले कर्म रूप शिखा और ज्ञानरूप उपवीत गृहस्थों के होते हैं। बाहर से दीखने वाले केश समूह शिखा और प्रत्यक्ष कपास के धागों से निर्मित उपवीत तो ब्राह्मणत्व अथवा वैदिक धर्मानुष्ठान योग्यता के आभासक हैं। यज्ञोपवीत के सूत्र चौबीस (२४) तत्त्वों का चौगुना (अर्थात् २४×४=९६) अर्थात् छियानवे तत्त्व रूपी ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं, यज्ञोपवीत के नौ तत्त्व (धागे) भी ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं, यज्ञोपवीत के नौ तत्त्व (धागे) भी ब्रह्म के ही प्रतिपादक हैं। ब्रह्म एक ही है, किन्तु बहुत से लोग अपनी-अपनी बुद्धि से उसकी प्राप्ति के विविध उपायों (सांख्ययोगादि) की कल्पना करते हैं। सभी ब्राह्मणों, देवर्षियों और मनुष्यों के लिए मुक्ति, ब्रह्म और ब्राह्मणत्व एक समान हैं। वर्णाश्रम और आचार पृथक्-पृथक् हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था वालों के लिए शिखा का स्वरूप एक ही है। मोक्ष के अधिकारी यति की शिखा और यज्ञोपवीत का मूल प्रणव (ॐकार) ही है, ऐसा कहते हैं। इनके (यतियों के) लिए हंस (ब्रह्मज्ञान) ही शिखा और तुरीय ॐकार (प्रणव) ही उपवीत है तथा नाद ही इन दोनों को जोड़ने वाला अर्थात् सन्धान है।

यही इनका धर्म है, अन्य कोई नहीं। इनका यह धर्म किस प्रकार है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं-

प्रणव (ॐकार) ही हंस (ब्रह्म) और नाद ही यह त्रिवृत् (तीन लड़ी) वाला सूत्र है। यह अपनी ही महिमा से अपने में स्थित है। वह चैतन्य रूप से हृदय में विराजता है। पर और अपर के भेद से इस ब्रह्म को दो प्रकार से समझना चाहिए। यदि कोई अपने से पृथक् अन्य कुछ नहीं देखता, सब आत्मरूप में ही देखता है, ऐसे मुमुक्षु को प्रपञ्चयुक्त शिखा और यज्ञोपवीत का परित्याग कर देना चाहिए॥ ५॥

सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद्बुधः। यदक्षरं परंब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत्॥ ६॥

बुद्धिमानों (अर्थात् उपर्युक्त स्थिति वालों) को शिखा सहित केश कर्तन करके बाह्य उपवीत (यज्ञोपवीत) का विसर्जन कर देना चाहिए और अक्षर ब्रह्म को ही सूत्र स्वरूप धारण करना चाहिए॥ ६॥

पुनर्जन्मनिवृत्त्यर्थं मोक्षस्याहर्निशं स्मरेत्। सूचनात्सूत्रमित्युक्तं सूत्रं नाम परं पदम्॥ ७॥

पुनर्जन्म से निवृत्ति के लिए सतत मोक्ष का स्मरण करे। सूचना देने वाला होने से ही ब्रह्मरूपी सूत्र को परमपद रूप 'सूत्र' कहा जाता है॥ ७॥

तत्सूत्रं विदितं येन स मुमुक्षुः स भिक्षुकः। स वेदवित्सदाचारः स विप्रः पंक्तिपावनः॥ ८॥

उस सूत्र (ब्रह्मसूत्र) का जिसे ज्ञान हो गया, वही मुमुक्षु, भिक्षुक, वेदज्ञ, सदाचारी और विप्र है, जो अनेक प्राणियों को पावन करता है॥ ८॥

येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगविद्ब्राह्मणो यतिः॥ ९॥

जिस परब्रह्म ने इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को मणि-मनकों की तरह एक ही सूत्र में पिरोया है, उस सूत्र को धारण करने वाला योगी, योगविद् ब्राह्मण और यति होता है॥ ९॥

बहिःसूत्रं त्यजेद्विप्रो योगविज्ञानतत्परः। ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स मुक्तिभाक्। नाशुचित्वं न चोच्छिष्टं तस्य सूत्रस्य धारणात्॥ १०॥

ब्राह्मण, योगविद् और ज्ञानतत्पर व्यक्ति को चाहिए कि वह बाहरी सूत्र का परित्याग कर दे; क्योंकि जो ब्रह्मभाव युक्त सूत्र को धारण करता है, वह मुक्ति का अधिकारी होता है। उस (ब्रह्मभावमय) सूत्र को धारण करने में किसी प्रकार की अपवित्रता, उच्छिष्टता (जूठा होना) नहीं रहती॥ १०॥

सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्। ते तु सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः॥ ११॥

संसार में जिन यज्ञोपवीतधारियों के यज्ञोपवीत (सूत्र) के अन्तर्गत ज्ञान समाहित है, वे ही इस जगत् में सूत्रविद् और सच्चे यज्ञोपवीतधारी हैं॥ ११॥

ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः। ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमीरितम्॥ १२॥

जो ज्ञानरूपी शिखा, ज्ञान की निष्ठा और ज्ञानरूपी यज्ञोपवीत धारण करने वाले हैं, उनके लिए ज्ञान ही सर्वस्व है; क्योंकि ज्ञान को परम पवित्र कहा गया है॥ १२॥

अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा। स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः॥१३॥

जिनकी अग्नि के समान तेजस्वी ज्ञानरूपी शिखा है, अन्य कोई जिनकी शिखा नहीं है, वस्तुतः वे ही शिखी (चोटी वाले) हैं, शेष तो मात्र केशधारी हैं, ऐसा विद्वान् कहते हैं॥ १३॥

कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके लौकिकेऽपि वा। ब्राह्मणाभासमात्रेण जीवन्ते कुक्षिपूरकाः। व्रजन्ते निरयं ते तु पुनर्जन्मनि जन्मनि॥ १४॥

जो वैदिक (यज्ञादि) कर्मों अथवा लौकिक (आहार-विहार आदि) कर्मों में निरत हैं, वे तो आभास मात्र ब्राह्मण हैं; क्योंकि वे केवल उदर-पूर्ति के लिए जीते हैं, ऐसे लोग प्रत्येक जन्म के अन्त में नरक में जाते हैं (अथवा संसार के इस जन्म-मृत्यु रूपी नरक में विविध कष्ट सहते हैं)॥ १४॥

वामांसदक्षकट्यन्तं ब्रह्मसूत्रं तु सव्यतः। अन्तर्बहिरिवात्यर्थं तत्त्वतन्तुसमन्वितम्। नाभ्यादिब्रह्मरन्ध्रान्तप्रमाणं धारयेत्सुधीः॥ १५॥

सुधी (विद्वान्) के लिए उचित है कि वह बाँयें कन्धे से दाहिनी कमर पर्यन्त ब्रह्मसूत्र (यज्ञोपवीत) धारण करे। यह तो बाह्य यज्ञोपवीत की बात हुई, इसी प्रकार अन्तर में परमतत्त्व रूप तन्तु (धागे) से निर्मित ब्रह्मसूत्र नाभि से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त यथा प्रमाण (परिमाण) धारण करे॥ १५॥

तेभिर्धार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तन्तुनिर्मितम्। शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम्। ब्राह्मण्यं सकलं तस्य नेतरेषां तु किंचन॥ १६॥

इस प्रकार परमतत्त्व रूपी तन्तु से निर्मित विविध क्रियाओं के अङ्ग रूप इस ब्रह्मसूत्र को धारण करना चाहिए। जिसकी शिखा और यज्ञोपवीत ज्ञानमय होते हैं, उसके लिए सब कुछ ब्रह्ममय है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है॥ १६॥

इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत्परायणम्। विद्वान्यज्ञोपवीती संधारयेद्यः स मुक्तिभाक्॥ १७॥

जो विद्वान् इस परम तत्त्व रूपी और ब्रह्मपरायण यज्ञोपवीत को धारण करता है, वही सच्चा यज्ञोपवीती और मुक्ति का अधिकारी है॥ १७॥

बहिरन्तश्चोपवीती विप्रः संन्यस्तुमर्हति। एकयज्ञोपवीती तु नैव संन्यस्तुमर्हति॥ १८॥

जो बाहर और अन्दर दोनों प्रकार से यज्ञोपवीत धारण करता है, वही विप्र वस्तुतः संन्यास का अधिकारी है अर्थात् बाह्य यज्ञोपवीत धारण कर लौकिक-वैदिक कर्मों को विधिवत् सम्पन्न करते हुए आन्तरिक यज्ञोपवीत द्वारा जिसके अन्दर ब्रह्मतत्त्व जिज्ञासा से वैराग्य वृत्ति उत्पन्न हो गई हो, वही संन्यास का अधिकारी है। केवल एक (बाह्य) यज्ञोपवीत धारण करने वाला विप्र संन्यास का अधिकारी नहीं है॥ १८॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मोक्षापेक्षी भवेद्यतिः। बहिःसूत्रं परित्यज्य स्वान्तःसूत्रं तु धारयेत्॥१९॥

इसलिए यति को चाहिए कि वह सभी प्रयत्नों से मोक्षापेक्षी (मुमुक्षु) बने तथा बाह्यसूत्र का परित्याग करके अपने अन्दर सूत्र को धारण करे॥ १९॥

बहिःप्रपञ्चशिखोपवीतित्वमनादृत्य प्रणवहंसशिखोपवीतित्वमवलम्ब्य मोक्षसाधनं कुर्यादित्याह भगवाञ्छौनक इत्युपनिषत्॥ २०॥

(अन्त में) भगवान् शौनक ने कहा कि बाहरी प्रपञ्चमय शिखा और यज्ञोपवीत का परित्याग करके प्रणव हंस (ॐकार ब्रह्म) रूपी शिखा तथा यज्ञोपवीत का अवलम्बन लेकर मोक्ष के लिए प्रयत्न करे। ऐसी यह रहस्यमयी विद्या है॥ २०॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .....इतिः शान्तिः॥

॥ इति परब्रह्मोपनिषत्समाप्ता॥

॥ परमहंसपरिव्राजकोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध है। गद्यात्मक इस उपनिषद् में ५ बड़े अनुच्छेद हैं, जिसमें परमहंस-परिव्राजक के लक्षण, परिव्रजन के अधिकारी, परिव्रज्या प्राप्ति की विधि आदि का विवेचन किया गया है।

उपनिषद् का शुभारम्भ पितामह ब्रह्मा द्वारा अपने पिता आदिनारायण से परमहंस परिव्राजक विषयक प्रश्न से हुआ है। नारायण ने उत्तर देते हुए कहा कि पहले व्यक्ति को वर्णाश्रम धर्म की मर्यादाओं का पालन करना चाहिए। तदुपरान्त क्रमशः संन्यास ग्रहण करना चाहिए। संन्यास ग्रहण की विधि का उल्लेख करते हुए नारायण ने आगे उसकी जीवनचर्या पर प्रकाश डाला है। पुनः ब्रह्माजी के पूछने पर नारायण ने ब्रह्म-प्रणव का रहस्य समझाते हुए कहा है कि यह 'ब्रह्म प्रणव' षोडशमात्रात्मक होता है। इसे भली प्रकार जानकर इसकी उपासना करने वाला परमहंस अन्ततः विदेह मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इस स्थिति की प्राप्ति के बाद शिखा, यज्ञोपवीत आदि बाह्य उपचारों की आवश्यकता नहीं रहती। उसे अन्य मन्त्र-तन्त्र, उपासना-ध्यान की भी आवश्यकता नहीं रहती। वह तो ब्रह्म-प्रणव के अनुसन्धानपूर्वक सच्चिदानन्द, अद्वैत, चिद्घन स्वरूप 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसी भावना से अपने जीवन को कृतकृत्य बना लेता है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अथर्वशिर उपनिषद)

अथ पितामहः स्वपितरमादिनारायणमुपसमेत्य प्रणम्य पप्रच्छ । भगवंस्त्वन्मुखाद्वर्णाश्रमधर्मक्रमं सर्वं श्रुतं विदितमवगतम्। इदानीं परमहंसपरिव्राजकलक्षणं वेदितुमिच्छामि कः परिव्रजनाधिकारी, कीदृशं परिव्राजकलक्षणं, कः परमहंसः, परिव्राजकत्वं कथं, तत्सर्वं मे ब्रूहीति। स होवाच भगवानादिनारायणः ॥ १ ॥

(एक बार) पितामह (ब्रह्मा) ने अपने पिता आदि नारायण के पास जाकर उन्हें प्रणाम करके पूछा- हे भगवन् ! आपके श्रीमुख से सुनकर वर्णाश्रम धर्म का क्रम तो मैंने पूरी तरह जान लिया है। अब मैं परमहंस परिव्राजक के लक्षण जानने की इच्छा रखता हूँ। परिव्रजन का अधिकारी कौन है ? परिव्राजक के क्या लक्षण हैं ? परमहंस कौन है ? परिव्राजकत्व कैसे प्राप्त होता है ? यह सब मुझे बताने की कृपा करें। भगवान् आदि-नारायण ने कहा- ॥ १ ॥

सद्गुरुसमीपे सकलविद्यापरिश्रमज्ञो भूत्वा विद्वान्सर्वमैहिकामुष्मिकसुखश्रमं ज्ञात्वैषणात्रयवासनात्रयममत्वाहंकारादिकं वमनान्नमिव हेयमधिगम्य मोक्षमार्गैकसाधनो ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्। गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेदिति बुद्ध्वा सर्वसंसारेषु विरक्तो ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो वा पितरं मातरं कलत्रपुत्रमासबन्धुवर्गं तदभावे शिष्यं सहवासिनं वाऽनुमोदयित्वा तद्धैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति। तदु तथा न कुर्यात्। आग्नेय्यामेव कुर्यात्। अग्निर्हि प्राणः प्राणमेवैतया

करोति। त्रैधातवीयामेव कुर्यात्। एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति। अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः। तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिमित्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत्। एष वा अग्रेर्योनिर्यः प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह। ग्रामाच्छ्रोत्रियागारादग्निमाहृत्य स्वविध्युक्तक्रमेण पूर्ववदग्निमाजिघ्रेत्। यद्यातुरो वाग्निं न विन्देदप्सु जुहुयात्। आपो वै सर्वा देवताः सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नीयात् साज्यं हविरनामयम्। एष विधिर्वीराध्वाने वाऽनाशके वापां प्रवेशे वाऽग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा। यद्यातुरः स्यान्मनसा वाचा वा संन्यसेदेष पन्थाः॥ २॥

सद्गुरु के समीप परिश्रमपूर्वक समस्त विद्याओं का ज्ञाता होकर वह विद्वान् इहलौकिक और पारलौकिक सुखों को श्रम स्वरूप (श्रमसाध्य) जानकर एषणात्रय (पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा), वासनात्रय (देह, मन तथा बुद्धिजन्य मिथ्या संस्कार), ममत्व और अहंकारादि को वमन किए (उगले हुए) अन्न के समान हेय समझ कर मोक्षपथ के एकमात्र साधन ब्रह्मचर्य को पूरा करके (अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात्) गृहस्थ बने। गृहस्थ धर्म के पालन के बाद 'वनी' (वानप्रस्थी) बने, तब परिव्राजक संन्यासी बने। (यह सामान्य अनुशासन है) इसके अतिरिक्त विशेष संदर्भों में किसी भी आश्रम-ब्रह्मचर्याश्रम से अथवा गृहस्थाश्रम से या वानप्रस्थाश्रम से भी प्रव्रज्या में प्रवेश कर सकता है। अतः व्रती हो या अव्रती, स्नातक हो या अस्नातक, अग्निहोत्र करने वाला हो अथवा न हो, जब भी विरक्ति उत्पन्न हो जाए, तभी संन्यास ग्रहण करके परिव्राजक हो जाना चाहिए। संसार से सभी प्रकार से विरक्त ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी अपने माता,पिता, पत्नी, पुत्र, सम्बन्धी, बन्धुओं और उनके अभाव में शिष्यों अथवा साथ में रहने वालों से सम्मति लेकर प्राजापत्य इष्टि (यज्ञ) करते हैं। उन्हें वैसा नहीं करना चाहिए। आग्नेयी इष्टि ही करनी चाहिए। अग्नि ही प्राण है। इसके (अग्नि) द्वारा ही प्राण क्रिया करता है-ऐसा भाव करते हुए त्रैधातवी (इष्टि) करे। सत्त्व,रज और तम ये ही त्रिधातु हैं। इसके पश्चात् इस मंत्र से अग्नि को सूँघे 'हे अग्निदेव! यह प्राण आपका कारण रूप है, यह जानते हुए आप इसमें प्रवेश करें। आप प्राण से उद्भूत हैं। इसलिए आप हमें प्रकाश और वृद्धि प्रदान करें।' हे अग्निदेव! आप अपने योनि स्थल (प्राण) में प्रविष्ट हों, अपने उत्पत्ति स्थल में गमन करें। 'स्वाहा' इस प्रकार ऐसा कहा गया है। ग्राम के श्रोत्रिय के घर से अग्नि लाकर पूर्वोक्त विधि से अग्नि को सूँघे। यदि आतुरतापूर्ण भाव हो और अग्नि उपलब्ध न हो, तो जल में ही हवन करे। 'आपः' (जल) ही समस्त देवताओं का स्वरूप है 'समस्त देवताओं के निमित्त हवन कर रहा हूँ' ऐसा भाव करते हुए स्वाहा सहित आहुति प्रदान करे। तत्पश्चात् हवन किए हुए पदार्थ को उठाकर, घृत सहित हवि को ग्रहण (भक्षण) करे। इस विधि का प्रयोग वीर मार्ग में अथवा अनशन द्वारा शरीर छोड़ने के क्रम में अथवा जल प्रवेश में अथवा अग्नि प्रवेश में अथवा महाप्रस्थान में किया जाता है। यदि आतुरता हो, तो मन अथवा वाणी से संन्यास की विधि सम्पन्न कर लेनी चाहिए, यही मार्ग है॥ २॥

स्वस्थक्रमेणैव चेदात्मश्राद्धं विरजाहोमं कृत्वाऽग्निमात्मन्यारोप्य लौकिकवैदिकसामर्थ्यं स्वचतुर्दशकरणप्रवृत्तिं च पुत्रे समारोप्य तदभावे शिष्ये वा तदभावे स्वात्मन्येव वा ब्रह्मा त्वं यज्ञस्त्वमित्यभिमन्त्र्य ब्रह्मभावनया ध्यात्वा सावित्रीप्रवेशपूर्वकमप्सु सर्वविद्यार्थस्वरूपां ब्राह्मण्याधारां वेदमातरं क्रमाद्व्याहृतिषु त्रिषु प्रविलाप्य व्याहृतित्रयमकारोकारमकारेषु प्रविलाप्य तत्सावधानेनापः प्राश्य प्रणवेन शिखामुत्कृष्य यज्ञोपवीतं छित्त्वा वस्त्रमपि भूमौ वाऽप्सु वा विसृज्य ॐ भूः स्वाहा ॐ भुवः स्वाहा ॐ सुवः स्वाहेत्यनेन जातरूपधरो भूत्वा

स्वं रूपं ध्यायन्पुनः पृथक् प्रणवव्याहृतिपूर्वकं मनसा वचसापि संन्यस्तं मया संन्यस्तं मया संन्यस्तं मयेति मन्द्रमध्यमतारध्वनिभिस्त्रिवारं त्रिगुणीकृतप्रैषोच्चारणं कृत्वा प्रणवैकध्यानपरायणः सन्नभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहेत्यूर्ध्वबाहुर्भूत्वा ब्रह्माहमस्मीति तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थस्वरूपानुसंधानं कुर्वन्नुदीचीं दिशं गच्छेत्। जातरूपधरश्चरेत्। एष संन्यासः॥ ३क

स्वस्थ क्रम से आत्मश्राद्ध एवं विरजा होम (संन्यास ग्रहण के समय किया जाने वाला यज्ञ विशेष) करके अग्नि को आत्मा में आरोपित करके अपनी लौकिक और वैदिक सामर्थ्य को तथा अपनी चतुर्दशकरण प्रवृत्ति को पुत्र में आरोपित करे। पुत्र के न होने पर शिष्य में और शिष्य के अभाव में अपनी आत्मा में ही आरोपित कर दे। इसके पश्चात् 'ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं' मंत्र का उच्चारण करके, भावनापूर्वक ब्रह्म का ध्यान करके सावित्री में प्रवेश करे। तब अप्तत्त्व (जल) में समस्त विद्याओं के अर्थरूप, ब्राह्मण्य की आधाररूपा वेदमाता (गायत्री) को व्याहृतित्रय (भूः, भुवः, स्वः) में विलीन करके इन तीनों व्याहृतियों को अकार, उकार और मकार [अ,उ,म् (ॐ)] में विलीन करे। इसके पश्चात् सावधान होकर जल का पान करे। इसके बाद प्रणव (ॐ) मंत्र का उच्चारण करते हुए शिखा को त्यागकर, यज्ञोपवीत को काटकर, वस्त्रों को भूमि अथवा जल में विसर्जित कर, ॐभूः स्वाहा, ॐ भुवः स्वाहा, ॐ स्वः स्वाहा, इस मन्त्र से जातरूपधर (शिशुवत् निश्छल) होकर अपने स्वरूप का ध्यान करे। फिर पृथक् प्रणव और व्याहृतिपूर्वक मन और वाणी से भी 'मैंने संन्यास लिया, मैंने संन्यास लिया, मैंने संन्यास लिया, ऐसा मन्द्र, मध्य और तार सप्तक की ध्वनि में तीन बार तीन गुना प्रैष मंत्र उच्चारण करके कहे। तत्पश्चात् 'प्रणव' का ध्यान करते हुए समस्त प्राणियों को मैं अभयदान कर रहा हूँ—ऐसा भुजा उठाकर बोले कि 'मैं ब्रह्म हूँ' (अहं ब्रह्मास्मि), 'तुम वही (ब्रह्म) हो' (तत्त्वमसि) आदि और इन्हीं महावाक्यों के अर्थ पर चिन्तन करता हुआ अपने वास्तविक स्वरूप के अनुसंधान हेतु निर्लिप्त होकर उत्तर दिशा में जाकर विचरण करे—यही संन्यास (धर्म) है॥ ३-क॥

तदधिकारी न भवेद्यदि गृहस्थप्रार्थनापूर्वकमभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते सखा मा गोपायौजःसखा योऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारयेत्यनेन मन्त्रेण प्रणवपूर्वकं सलक्षणं वैणवं दण्डं कटिसूत्रं कौपीनं कमण्डलुं विवर्णवस्त्रमेकं परिगृह्य सद्गुरुमुपगम्य नत्वा गुरुमुखात्तत्त्वमसीति महावाक्यं प्रणवपूर्वकमुपलभ्याथ जीर्णवल्कलाजिनं धृत्वाथ जलावतरणमूर्ध्वगमनमेकभिक्षां परित्यज्य त्रिकालस्नानमाचरन्वेदान्तश्रवणपूर्वकं प्रणवानुष्ठानं कुर्वन्ब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नः स्वाभिमतमात्मनि गोपयित्वा निर्ममोऽध्यात्मनिष्ठः कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यदम्भदर्पाहंकारासूयागर्वेच्छाद्वेषहर्षामर्षममत्वादींश्च हित्वा ज्ञानवैराग्ययुक्तो वित्तस्त्रीपराङ्मुखः शुद्धमानसः सर्वोपनिषदर्थमालोच्य ब्रह्मचर्यापरिग्रहाहिंसासत्यं यत्नेन रक्षञ्जितेन्द्रियो बहिरन्तः स्नेहवर्जितः शरीरसंधारणार्थं चतुर्षु वर्णेष्वभिशस्तपतितवर्जितेषु पशुरद्रोही भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय भवति॥३-ख॥

यदि इस विधि का अधिकारी न हो-अर्थात् दिगम्बर वृत्ति न अपना सके, तो दूसरी विधि कहते हैं। वह गृहस्थ प्रार्थना पूर्वक समस्त प्राणियों को अभय प्रदान करे। कहे-हे सखा! तुम मेरे बल का रक्षण करो। तुम वृत्रासुर को मारने वाले इन्द्र के वज्र हो, मेरे लिए शान्ति प्रदायक हो, मुझे पापों से मुक्त करो, इस मन्त्र का प्रणवपूर्वक उच्चारण करके, श्रेष्ठ लक्षण युक्त (दोषमुक्त) बाँस के दण्ड, कटिसूत्र, कौपीन, कमण्डलु और एक गेरुआ वस्त्र को धारण करके सद्गुरु के निकट जाकर उन्हें प्रणाम करे और उन (गुरुदेव) से प्रणवपूर्वक 'तत्त्वमसि' महावाक्य को प्राप्त करे (श्रवण करे)। इसके उपरान्त जीर्ण वल्कल अथवा मृगचर्म धारण करके

जल में उतरना, ऊपर चढ़ना तथा एक ही (घर की) भिक्षा का परित्याग करके (अर्थात् कई घरों से थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लेकर), त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न और सायं) स्नान के नियम का आचरण करते हुए वेदान्त दर्शन का श्रवण और प्रणव (ॐकार) का अनुष्ठान सम्पन्न करे। ब्रह्म मार्ग में विस्तृत (सम्यक्) ज्ञान प्राप्त करके, अपने मत (भावनाओं) को आत्मा (मन) में छिपाकर रखते हुए अपने को ममतारहित और अध्यात्मनिष्ठ बनाए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, दम्भ, दर्प, अहंकार, असूया, गर्व, इच्छा, द्वेष, हर्ष, अमर्ष, ममत्व आदि का परित्याग करके, ज्ञान वैराग्य से युक्त होकर, कञ्चन और कामिनी से पराङ्मुख होकर, शुद्ध मन से समस्त उपनिषदों की समालोचना करके ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अहिंसा, सत्य आदि की यत्नपूर्वक रक्षा करते हुए जितेन्द्रिय बने। बाह्याभ्यन्तर से रागरहित होकर शरीर रक्षण के लिए चारों वर्णों में पतितों (अनुशासनों से गिरे हुओं) को छोड़कर किसी वर्ण के सदाचारी गृहस्थों से भी उसी प्रकार निर्वैर होकर भिक्षा ग्रहण कर ले, जैसे पशु बिना भेद-भाव के आहार ग्रहण करता है। ऐसा करने वाला सबमें ब्रह्म भाव रखता है॥ ३-ख॥

सर्वेषु कालेषु लाभालाभौ समौ कृत्वा करपात्रमाधूकरेणान्नमश्नन्मेदोवृद्धिमकुर्वन्कृशीभूत्वा ब्रह्माहमस्मीति भावयन्गुर्वर्थं ग्राममुपेत्य ध्रुवशीलोऽष्टौ मास्येकाकी चरेद्द्वावेवाचरेत्। यदालंबुद्धिर्भवेत्तदा कुटीचको वा बहूदको वा हंसो वा परमहंसो वा तत्तन्मन्त्रपूर्वकं कटिसूत्रं कौपीनं दण्डं कमण्डलुं सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेत्। ग्राम एकरात्रं तीर्थे त्रिरात्रं पत्तने पञ्चरात्रं क्षेत्रे सप्तरात्रमनिकेतः स्थिरमतिरनग्निसेवी निर्विकारो नियमानियममुत्सृज्य प्राणसंधारणार्थमयमेव लाभालाभौ समौ कृत्वा गोवृत्त्या भैक्षमाचरन्नुदकस्थलकमण्डलुरबाधकरहस्यस्थलवासो न पुनर्लाभालाभरतः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः सर्वत्र भूतलशयनः क्षौरकर्मपरित्यक्तो मुक्तचातुर्मास्यव्रतनियमः शुक्लध्यानपरायणोऽर्थस्त्रीपुरपराङ्मुखोऽनुन्मत्तोऽप्युन्मत्तवदाचरन्नव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारो दिवानक्तसमत्वेनास्वप्नः स्वरूपानुसंधानब्रह्मप्रणवध्यानमार्गेणावहितः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसपरिव्राजको भवति॥

समस्त कालों में लाभ-हानि को समान मानता हुआ हाथ (करपात्र) में ही अल्प भिक्षा ग्रहण करे। शरीर मोटा न करके कृशकाय होकर, मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा भाव करते हुए आठ महीने तक गुरु के निमित्त अडिग होकर भिक्षाशील होकर एकाकी विचरण करे। जब सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो जाए, तब कुटीचक अथवा बहूदक अथवा हंस अथवा परमहंस होकर मंत्रपूर्वक कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड और कमण्डलु आदि सभी को जल में विसर्जित करके जातरूपधर (शिशुवत् निर्लिप्त) होकर विचरण करे। (विचरण के अन्तराल में) ग्राम में एक रात्रि, तीर्थ में तीन रात्रि, नगर में पाँच रात्रि और क्षेत्र में सात रात्रि तक निवास करता हुआ वह अनिकेत (घर रहित), स्थिर बुद्धि, निरग्निसेवी (अग्नि का सेवन न करने वाला), निर्विकार, नियम-अनियम का परित्याग करने वाला, लाभ और हानि को समान समझने वाला, मात्र प्राण धारण के लिए गोवृत्ति से भिक्षा ग्रहण करने वाला हो। जलस्थल (जलाशय) को ही वह कमण्डलु माने और अबाध (बाधा रहित एकान्त) स्थान में ही रहे। लाभ-हानि के विचार में रत न हो, सर्वत्र भूतल पर शयन करे, क्षौर कर्म (हजामत का कार्य) त्याग दे। चातुर्मास्य आदि व्रतों के नियमों से मुक्त रहे और मात्र शुक्ल (सात्त्विक) ध्यान परायण रहे। धन-सम्पदा, स्त्री और नगर से पराङ्मुख रहे और ज्ञान-सम्पन्न होने पर भी प्रत्यक्षतः उन्मत्त की तरह रहे। अपने लिङ्ग और आचार को अव्यक्त रहने दे। दिन और रात्रि को समान भाव से देखने के कारण वह सदैव अस्वप्न अर्थात् जाग्रत्-अवस्था में ही रहे। अस्तु, जो निज स्वरूप के अनुसंधान और प्रणव के ध्यान में रत रहकर संन्यास पथ के द्वारा देह का परित्याग करता है, वह परमहंस -परिव्राजक होता है॥ ३-ग॥

भगवन् ब्रह्मप्रणवः कीदृश इति ब्रह्मा पृच्छति। स होवाच नारायणः। ब्रह्मप्रणवः षोडशमात्रात्मकः सोऽवस्थाचतुष्टयगोचरः। जाग्रदवस्थायां जाग्रदादिचतस्त्रोऽवस्थाः स्वप्ने स्वप्नादिचतस्त्रोऽवस्थाः सुषुप्तौ सुषुप्त्यादिचतस्त्रोऽवस्थास्तुरीये तुरीयादिचतस्त्रोऽवस्था भवन्तीति। व्यष्टिजाग्रदवस्थायां विश्वस्य चातुर्विध्यं विश्वविश्वो विश्वतैजसो विश्वप्राज्ञो विश्वतुरीय इति। व्यष्टिस्वप्नावस्थायां तैजसस्य चातुर्विध्यं तैजसविश्वस्तैजसतैजसस्तैजसप्राज्ञस्तैजसतुरीय इति। सुषुप्त्यवस्थायां प्राज्ञस्य चातुर्विध्यं प्राज्ञविश्वः प्राज्ञतैजसः प्राज्ञप्राज्ञः प्राज्ञतुरीय इति। तुरीयावस्थायां तुरीयस्य चातुर्विध्यं तुरीयविश्वस्तुरीयतैजसस्तुरीयप्राज्ञस्तुरीयतुरीय इति। ते क्रमेण षोडशमात्रारूढा अकारे जाग्रद्विश्व उकारे जाग्रत्तैजसो मकारे जाग्रत्प्राज्ञ अर्धमात्रायां जाग्रत्तुरीयो बिन्दौ स्वप्नविश्वो नादे स्वप्नतैजसः कलायां स्वप्नप्राज्ञः कलातीते स्वप्नतुरीयः शान्तौ सुषुप्तविश्वः शान्त्यतीते सुषुप्ततैजस उन्मन्यां सुषुप्तप्राज्ञो मनोन्मन्यां सुषुप्ततुरीयः तुर्यां तुरीयविश्वो मध्यमायां तुरीयतैजसः पश्यन्त्यां तुरीयप्राज्ञः परायां तुरीयतुरीयः। जाग्रन्मात्राचतुष्टयमकारांशं स्वप्नमात्राचतुष्टयमुकारांशं सुषुप्तिमात्राचतुष्टयं मकारांशं तुरीयमात्राचतुष्टयमर्धमात्रांशम्। अयमेव ब्रह्मप्रणवः। स परमहंसतुरीयातीतावधूतैरुपास्यः। तेनैव ब्रह्म प्रकाशते तेन विदेहमुक्तिः॥ ४॥

ब्रह्मा जी ने (आदि पिता नारायण से) आगे प्रश्न किया-हे भगवन्! ब्रह्म प्रणव कैसा होता है? आदिनारायण ने कहा-ब्रह्म प्रणव षोडशमात्रात्मक होता है। चारों अवस्थाओं में प्रत्येक की चार-चार स्थितियों के संयोग से इनकी संख्या सोलह हो जाती है। जाग्रत् अवस्था में जाग्रत् आदि चारों (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय) अवस्थाएँ, स्वप्नावस्था में स्वप्न आदि चारों (स्वप्न, जाग्रत्, सुषुप्ति, तुरीय) अवस्थाएँ, सुषुप्तावस्था में सुषुप्ति आदि चारों (सुषुप्ति, जाग्रत्, स्वप्न, तुरीय) अवस्थाएँ तथा तुरीयावस्था में तुरीय आदि चारों (तुरीय, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) अवस्थाएँ रहती हैं। व्यष्टि जाग्रत् अवस्था में विश्व के चार स्वरूप होते हैं, विश्व-विश्व, विश्व तैजस, विश्व प्राज्ञ और विश्व तुरीय। व्यष्टि स्वप्नावस्था में तैजस के चार रूप होते हैं-तैजस विश्व, तैजस-तैजस, तैजस प्राज्ञ और तैजस तुरीय। इसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ चार प्रकार के होते हैं-प्राज्ञ विश्व, प्राज्ञ तैजस, प्राज्ञ-प्राज्ञ और प्राज्ञ तुरीय। तुरीयावस्था में तुरीय के भी चार प्रकार होते हैं-तुरीय विश्व, तुरीय तैजस, तुरीय-तुरीय और तुरीय प्राज्ञ। इस प्रकार यह (ब्रह्म प्रणव) षोडशमात्रारूढ़ रहता है। अकार में जाग्रत् विश्व, उकार में जाग्रत् तैजस और मकार में जाग्रत् प्राज्ञ होता है। अर्धमात्रा में जाग्रत् तुरीय, बिन्दु में स्वप्न विश्व, नाद में स्वप्न तैजस, कला में स्वप्न प्राज्ञ और कलातीत में स्वप्न तुरीय होता है। शान्ति में सुषुप्त विश्व, शान्ति अतीत में सुषुप्त तैजस, उन्मनी अवस्था में सुषुप्त-प्राज्ञ और मनोन्मनी अवस्था में सुषुप्त तुरीय होता है। तुर्या (वैखरी) में तुरीय विश्व, मध्यमा में तुरीय तैजस, पश्यन्ती में तुरीय प्राज्ञ और परा में तुरीय-तुरीय होता है। (प्रणव ॐ के) जाग्रत् अवस्था की चार मात्राएँ अकार अंश की, स्वप्नावस्था की चार मात्राएँ उकार अंश की, सुषुप्ति अवस्था की चार मात्राएँ मकार अंश की और तुरीयावस्था की चार मात्राएँ अर्धमात्रा के अंश की हैं। यही ब्रह्म प्रणव है। यह (ब्रह्मप्रणव) ही परमहंस तुरीयातीत अवधूतों द्वारा उपास्य है। इसी के द्वारा ब्रह्म प्रकाशित होता है। इसी से विदेह मुक्ति प्राप्त होती है॥ ४॥

भगवन् कथमयज्ञोपवीत्यशिखी सर्वकर्मपरित्यक्तः कथं ब्रह्मनिष्ठापरः कथं ब्राह्मण इति ब्रह्मा पृच्छति। स होवाच विष्णुर्भो भोऽर्भक यस्यास्त्यद्वैतमात्मज्ञानं तदेव यज्ञोपवीतम्।

तस्य ध्याननिष्ठैव शिखा। तत्कर्म स पवित्रम्। स सर्वकर्मकृत्। स ब्राह्मणः। स ब्रह्मनिष्ठापरः। स देवः। स ऋषिः। स तपस्वी। स श्रेष्ठः। स एव सर्वज्येष्ठः। स एव जगद्गुरुः। स एवाहं विद्धि। लोके परमहंसपरिव्राजको दुर्लभतरो यद्येकोऽस्ति। स एव नित्यपूतः। स एव वेदपुरुषो महापुरुषो यस्तच्चित्तं मय्येवावतिष्ठते। अहं च तस्मिन्नेवावस्थितः। स एव नित्यतृप्तः। स शीतोष्णसुखदुःखमानावमानवर्जितः। स निन्दामर्षसहिष्णुः। स षड्ऊर्मिवर्जितः। षड्भावविकारशून्यः। स ज्येष्ठाज्येष्ठव्यवधानरहितः। स स्वव्यतिरेकेण नान्यद्रष्टा। आशाम्बरो ननमस्कारो नस्वाहाकारो नस्वधाकारश्च नविसर्जनपरो निन्दास्तुतिव्यतिरिक्तो नमन्त्रतन्त्रोपासको देवान्तरध्यानशून्यो लक्ष्यालक्ष्यनिवर्तकः सर्वोपरतः स सच्चिदानन्दाद्वयचिद्घनः सम्पूर्णानन्दैकबोधो ब्रह्मैवाहमस्मीत्यनवरतं ब्रह्मप्रणवानुसंधानेन यः कृतकृत्यो भवति स ह परमहंसपरिव्राडित्युपनिषत्॥ ५॥

ब्रह्मा ने पुनः प्रश्न किया–हे भगवन्! अयज्ञोपवीती, अशिखी एवं समस्त कर्मों का परित्याग कर देने वाला ब्रह्मनिष्ठ परायण ब्राह्मण कैसे हो सकता है? भगवान् विष्णु ने कहा– अद्वैतरूप आत्मज्ञान ही जिसका यज्ञोपवीत है और ध्यान निष्ठा ही जिसकी शिखा है, वह अपने सत्कर्म से पवित्र हो जाता है। सम्पूर्ण कर्मों को वह कर चुका है। वह ब्राह्मण है, वह ब्रह्मनिष्ठ परायण है, वह देव है, वह ऋषि है, वह तपस्वी है, वह श्रेष्ठ है, सर्वज्येष्ठ एवं जगद्गुरु है, वह मैं ही हूँ, ऐसा जानना चाहिए। इस लोक में परमहंस परिव्राजक दुर्लभ है। यदि कोई एकाध (परमहंस) होता है, तो वह नित्यपावन और वेद पुरुष है। वह महापुरुष जिसका चित्त मुझमें ही अवस्थित रहता है, मैं उसमें अवस्थित रहता हूँ। वही नित्य तृप्त होता है। वह सर्दी–गर्मी, मान–अपमान और सुख–दुःख से रहित होता है। वह निन्दा और क्रोध को सहन कर लेने वाला होता है तथा षड्ऊर्मियों से रहित होता है। वह षड्भाव विकारों से शून्य होता है। उसकी दृष्टि में बड़े–छोटे का कोई भेद नहीं रहता अर्थात् वह सबके प्रति समान दृष्टि रखता है। वह (सर्वत्र) अपने आत्मा के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता। दिशाएँ ही उसके वस्त्र हैं। वह नमस्कार, स्वाहाकार, स्वधाकार और विसर्जन कुछ भी नहीं करता है। वह निन्दा–स्तुति से परे होता है। वह मन्त्र–तन्त्र की उपासना भी नहीं करता। वह किसी अन्य देव का भी ध्यान नहीं करता। वह लक्ष्य–अलक्ष्य से रहित होता है। वह सभी से उपरत रहता है। वह सच्चिदानन्द, अद्वैत, चिद्घन और सम्पूर्ण आनन्द के बोधवाला 'मैं ब्रह्म हूँ'–ऐसी अनवरत भावना रखने वाला है। जो ब्रह्म प्रणव के अनुसंधान से कृतकृत्य हो जाता है, उसे ही परमहंस परिव्राजक कहते हैं, ऐसा इस उपनिषद् का मत है॥ ५॥

[अन्तरंग यज्ञोपवीत और अन्तरंग शिखा का विस्तार से उल्लेख 'परब्रह्मोपनिषद्' में किया गया है।]

ॐ भद्रं कर्णेभिः .....इति शान्तिः॥

॥ इति परमहंसपरिव्राजकोपनिषत्समाप्ता॥

॥ परमहसापानषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेदीय है। इस लघुकाय (कुल ४ मन्त्र) उपनिषद् में महामुनि नारद ने भगवान् ब्रह्मा जी से 'परमहंस' की स्थिति और मार्ग के विषय में पूछा है। जिसके उत्तर में भगवान् ब्रह्मा ने परमहंस का स्वरूप, उसका वेश-विन्यास, प्रमुख दीक्षा, उसका व्यवहार आदि विस्तार से बताया है। इससे विपरीत आचरण करने वाले को संन्यास के नाम पर कलंक स्वरूप और घोर रौरव नरक में जाने वाला बताया है। परमहंस को स्वर्ण आदि धन किसी भी स्थिति में अपने पास नहीं रखना चाहिए, यदि कोई ऐसा करता है, तो वह ब्रह्म हत्या, चाण्डाल एवं आत्महत्या सदृश स्थिति में पहुँच जाता है। परमहंस तो आप्तकाम, कामनाशून्य, सुख-दुःख, राग-द्वेष, शुभाशुभ आदि से ऊपर होता है। वह जितेन्द्रिय, आत्मस्थ और पूर्णानन्द-पूर्णबोध स्वरूप होता है। यही जीवन की सर्वोच्च स्थिति है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद्)

अथ योगिनां परमहंसानां कोऽयं मार्गस्तेषां का स्थितिरिति नारदो भगवन्तमुपगत्योवाच। तं भगवानाह। योऽयं परमहंसमार्गो लोके दुर्लभतरो न तु बाहुल्यो यद्येको भवति स एव नित्यपूतस्थः स एव वेदपुरुष इति विदुषो मन्यन्ते महापुरुषो यच्चित्तं तत्सर्वदा मय्येवावतिष्ठते तस्मादहं च तस्मिन्नेवावस्थीयते। असौ स्वपुत्रमित्रकलत्रबन्ध्वादीञ्छिखायज्ञोपवीतं स्वाध्यायं च सर्वकर्माणि संन्यस्यायं ब्रह्माण्डं च हित्वा कौपीनं दण्डमाच्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय च लोकस्योपकारार्थाय च परिग्रहेत्। तच्च न मुख्योऽस्ति कोऽयं मुख्य इति चेदयं मुख्यः ॥१॥

एक बार नारद मुनि ने भगवान् (ब्रह्मा) के पास जाकर पूछा—योगी पुरुषों में जो परमहंस हैं, उनकी स्थिति कैसी होती है और उनका मार्ग कौन सा है? यह सुनकर भगवान् ने कहा-परमहंसों का मार्ग इस जगत् में अति दुर्लभ है, ऐसे व्यक्ति संसार में बहुत कम ही होते हैं। परमहंस संन्यासी एकाध ही मिलते हैं, वे नित्य पवित्र भाव में स्थित रहते हैं। ऐसे परमहंस ही वेद-पुरुष हैं; ऐसा विद्वज्जन मानते हैं। ऐसे महापुरुष का चित्त सदैव मुझमें ही अधिष्ठित रहता है और मैं भी उस महापुरुष में ही स्थित रहता हूँ। परमहंस संन्यासी अपने पुत्र, पत्नी, बन्धु, शिखा, यज्ञोपवीत, स्वाध्याय आदि समस्त कर्मों का परित्याग कर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के हित में शरीर की रक्षा के लिए मात्र कौपीन, दण्ड और आच्छादन (उपवस्त्र) धारण करता है; किन्तु यह भी परमहंस की मुख्य दीक्षा नहीं है। नारद ने पूछा—फिर मुख्य दीक्षा कौन सी है? ॥ १ ॥

न दण्डं न शिखां न यज्ञोपवीतं न चाच्छादनं चरति परमहंसो न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न मानावमाने च षड्ऊर्मिवर्जं निन्दागर्वमत्सरदम्भदर्पेच्छाद्वेषसुखदुःखकामक्रोधलोभमोहहर्षासूयाहंकारादींश्च हित्वा स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते यतस्तद्वपुरपध्वस्तं संशयविपरीतमिथ्याज्ञानानां यो हेतुस्तेन नित्यनिवृत्तस्तन्नित्यबोधस्तत्स्वयमेवावस्थितिस्तं शान्तमचलमद्वयानन्दचिद्घन एवास्मि। तदेव मम परमधाम तदेव शिखा च तदेवोपवीतं च। परमात्मात्मनोरेकत्वज्ञानेन तयोर्भेद एव विभग्नः सा संध्या ॥ २ ॥

परमहंस की प्रमुख दीक्षा इस प्रकार है—वह दण्ड, शिखा, यज्ञोपवीत, आच्छादन धारण न करे। इसके अतिरिक्त शीत, उष्ण, मान-अपमान, सुख और दुःख इन षड्ऊर्मियों से रहित हो। वह निन्दा, गर्व, मत्सर, दर्प, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, असूया, अहंकार को त्यागकर अपनी काया को मृतक के समान देखता है। उसका संशय और मिथ्याभाव तिरोहित हो जाता है। वह नित्य बोध स्वरूप होता

है,जो संसार में किसी भी पदार्थ की अपेक्षा न रखता हुआ यह मानता है कि मैं एक मात्र अचल, अद्वयानन्द और चिद्घन ही हूँ। यही मेरा परमधाम है, शिखा और यज्ञोपवीत सभी कुछ यही है। वह आत्मा और परमात्मा में समान दृष्टि रखता है, उसके लिए दोनों का भेद नष्ट हो जाता है, यही उसकी सन्ध्या है॥ २॥

सर्वान्कामान्परित्यज्य अद्वैते परमे स्थितिः। ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते। काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः। तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः।भिक्षामात्रेण यो जीवेत्स पापी यतिवृत्तिहा। स याति नरकान्घोरान्महारौरवसंज्ञकान्। इदमन्तरं ज्ञात्वा स परमहंसः॥ ३॥

वह (परमहंस) समस्त कामनाओं का परित्याग करके अद्वैत परब्रह्म के स्वरूप में स्थित रहता है। ज्ञान का दण्ड धारण किये रहने के कारण उसे एकदण्डी स्वामी भी कहते हैं; किन्तु जो काष्ठ दण्ड धारण किये रहकर समस्त आशाओं से पूर्ण है, अज्ञानी है, तितिक्षा, ज्ञान, वैराग्य, शम आदि गुणों से रहित है तथा भिक्षा मात्र से जीवनयापन करते हुए, जिसने यति वृत्ति का विनाश कर दिया है, वह पापी घोर रौरव नामक नरक में जाता है। जो इस अन्तर (पापी संन्यासी और परमहंस के अन्तर) को समझता है, वह परमहंस है॥ ३॥

आशाम्बरो न नमस्कारो न स्वाहाकारो न स्वधाकारो न निन्दा न स्तुतिर्यादृच्छिको भवेद्भिक्षुः। नावाहनं न विसर्जनं न मन्त्रं न ध्यानं नोपासनं च। न लक्ष्यं नालक्ष्यं न पृथङ् नापृथगहं न न त्वं न सर्वं चानिकेतस्थिरमतिरेव स भिक्षुः सौवर्णादीनां नैव परिग्रहेन्न लोकनं नावलोकनं च न च बाधकः क इति चेद्बाधकोऽस्त्येव। यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन दृष्टं चेत्स ब्रह्महा भवेद्यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन स्पृष्टं चेत्स पौल्कसो भवेद्यस्माद्भिक्षु र्हिरण्यं रसेन ग्राह्यं चेत्स आत्महा भवेत्तस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन न दृष्टं च न स्पृष्टं च न ग्राह्यं च। सर्वे कामा मनोगता व्यावर्तन्ते। दुःखे नोद्विग्नः सुखे न स्पृहा त्यागो रागे सर्वत्र शुभाशुभयोरनभिस्नेहो न द्वेष्टि न मोदं च। सर्वेषामिन्द्रियाणां गतिरुपरमते य आत्मन्येवावस्थीयते। तत्पूर्णानन्दैकबोधस्त-दब्रह्मैवाहमस्मीति कृतकृत्यो भवति कृतकृत्यो भवति॥ ४॥

वह दिगम्बर, नमस्कार, स्वाहाकार, स्वधाकार, निन्दा, स्तुति की ओर ध्यान न देकर स्वेच्छापूर्वक भिक्षु बनता है। उसका आवाहन, विसर्जन, मन्त्र, ध्यान, उपासना, लक्ष्य, अलक्ष्य कुछ भी नहीं होता। उसका पृथक्, अपृथक्, मेरे-तेरे का भाव और सर्वभाव भी नहीं होता। वह अनिकेत अर्थात् निवास रहित और स्थिर-मति वाला होता है। वह भिक्षु स्वर्ण आदि के संग्रह में प्रवृत्त नहीं होता। उसे कोई वस्तु आकर्षक और अनाकर्षक प्रतीत नहीं होती। उसके लिए क्या बाधक है? अर्थात् कुछ नहीं। भिक्षु परमहंस होकर यदि वह स्वर्ण (धन) से प्रेम करे, तो उसे ब्रह्महत्या का पाप लगता है। भिक्षु होकर यदि परमहंस स्वर्ण से लगाव रखता है, तो चाण्डाल की तरह होता है। स्वर्ण से प्रेम करने वाला भिक्षु आत्मघाती होता है। इसलिए भिक्षु (परमहंस) को चाहिए कि वह न तो स्वर्ण को देखे, न स्पर्श करे और न ग्रहण ही करे। ऐसा परमहंस आप्तकाम हो जाता है अर्थात् या तो उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं या समाप्त हो जाती हैं। वह दुःख से उद्विग्न नहीं होता और सुख से भी निस्पृह रहता है। राग को त्याग कर वह शुभ और अशुभ के प्रति स्नेहहीन (आसक्ति रहित) हो जाता है, जो न द्वेष करता है, न मुदित होता है। उसकी समस्त इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं। वह अपने आत्म-तत्त्व में ही स्थित रहता है। वह अपने को सदा पूर्णानन्द, पूर्ण बोध स्वरूप ब्रह्म ही समझता है। ऐसी मान्यता रखने (और अनुभव करने) से वह कृत-कृत्य हो जाता है॥ ४॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति परमहंसोपनिषत्समाप्ता॥

॥ पैङ्गलोपनिषद् ॥

यह शुक्ल यजुर्वेदीय उपनिषद् है। इसमें कुल चार अध्याय हैं, जिनमें ऋषि पैंगल और महर्षि याज्ञवल्क्य के प्रश्नोत्तर के माध्यम से परम कैवल्य का रहस्य वर्णित है।

प्रथम अध्याय में महर्षि याज्ञवल्क्य ने सृष्टि के प्राकट्य का बड़ा ही वैज्ञानिक एवं स्पष्ट विवेचन किया है। द्वितीय अध्याय में 'ईश्वर द्वारा सृष्टि की रचना, पालन एवं संहार करने की सामर्थ्य से युक्त होने पर भी वह 'जीव भाव' को कैसे प्राप्त होता है? इसका वर्णन किया गया है। तृतीय अध्याय में 'तत्त्वमसि' (वह तुम हो), त्वं तदसि (तुम वह हो), त्वं ब्रह्मासि (तुम ब्रह्म हो) तथा अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ) इन चार महावाक्यों का विवेचन है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि वेदान्त प्रसिद्ध चार महावाक्यों (अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, प्रज्ञानं ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म) से इनकी कुछ भिन्नता है। चतुर्थ अध्याय में 'ज्ञानियों की स्थिति एवं कर्म' पर प्रश्न पूछा गया है, जिसका उत्तर याज्ञवल्क्य जी ने बड़े विस्तार से दिया है, जिसका सारांश है कि 'ज्ञानी' अपने ज्ञानाग्नि से समस्त प्रारब्ध कर्मों को जला डालता है और आवागमन के बन्धन से पूर्णतया मुक्त होकर परम कैवल्य की प्राप्ति कर लेता है। अन्त में उपनिषद् का माहात्म्य बताते हुए उसे पूर्ण कर दिया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद्)

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

अथ ह पैङ्गलो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्य द्वादशवर्षशुश्रूषापूर्वकं परमरहस्यकैवल्यमनुब्रूहीति पप्रच्छ ॥ १ ॥

(एक बार) ऋषि पैङ्गल याज्ञवल्क्य ऋषि के पास गये और बारह वर्ष तक उनकी सेवा-शुश्रूषा करने के पश्चात् उनसे कहा कि मुझे परम रहस्य कैवल्य का उपदेश कीजिए॥ १ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। तन्नित्यमुक्तमविक्रियं सत्यज्ञानानन्दं परिपूर्णं सनातनमेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ॥ २ ॥

(यह सुनकर) ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा-पूर्व में केवल सत् ही था। वही नित्य, मुक्त, अविकारी, सत्य, ज्ञान और आनन्द से पूरित सनातन तथा एकमात्र अद्वैत ब्रह्म है॥ २ ॥

तस्मिन्मरुशुक्तिकास्थाणुस्फटिकादौ जलरौप्यपुरुषरेखादिवल्लोहितशुक्लकृष्णगुणमयी गुणसाम्यानिर्वाच्या मूलप्रकृतिरासीत्। तत्प्रतिबिम्बितं यत्तत्साक्षिचैतन्यमासीत् ॥३ ॥

जिस प्रकार मरुस्थल में जल, सीप में रजत, स्थागु में पुरुष और स्फटिक में रेखा का आभास होता है, उसी प्रकार उस (ब्रह्म) से रक्त (लाल), श्वेत और कृष्ण वर्णा (सत्,रज,तम रूपी) मूल प्रकृति उत्पन्न हुई, जिसमें तीनों गुण समानावस्था में विद्यमान थे। उसमें जो प्रतिबिम्बित हुआ, उसे ही साक्षी चैतन्य कहा गया॥३

सा पुनर्विकृतिं प्राप्य सत्त्वोद्रिक्ताऽव्यक्ताख्यावरणशक्तिरासीत्। तत्प्रतिबिम्बितं यत्तदीश्वरचैतन्यमासीत्। स स्वाधीनमायः सर्वज्ञः सृष्टिस्थितिलयानामादिकर्ता जगदङ्कुररूपो भवति स्वस्मिन्विलीनं सकलं जगदाविर्भावयति। प्राणिकर्मवशादेष पटो यद्वत् प्रसारितः प्राणिकर्मक्षयात् पुनस्तिरोभावयति। तस्मिन्नेवाखिलं विश्वं संकोचितपटवद्वर्तते ॥ ४॥

वह (मूल प्रकृति) जब पुन: विकार युक्त हो गई, तब सत्त्वगुण युक्त अव्यक्त आवरण शक्ति कहलाई। जो ईश्वर उसमें प्रतिबिम्बित हुआ, वह चैतन्य था। वह माया को अपने अधीन रखता है, जो सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कर्त्ता है और संसार का अङ्कुर स्वरूप है। वह अपने अन्दर विलीन सम्पूर्ण जगत् का आविर्भाव करने वाला है। वह प्राणियों के कर्मों के अनुसार इस विश्वरूपी पट को जिस प्रकार प्रसारित करता है, उसी प्रकार उनके कर्म क्षय हो जाने पर समेट भी लेता है। फिर समस्त विश्व उसी में संकुचित (समेटे हुए) पट(वस्त्र) के समान रहता है॥ ४॥

ईशाधिष्ठितावरणशक्तितो रजोद्रिक्ता महदाख्या विक्षेपशक्तिरासीत्। तत्प्रतिबिम्बितं यत्तद्धिरण्यगर्भचैतन्यमासीत्। स महत्तत्त्वाभिमानी स्पष्टास्पष्टवपुर्भवति॥ ५॥

ईशाधिष्ठित आवरणशक्ति से रजोगुणयुक्त विक्षेपशक्ति प्रकट होती है, जिसे महत् कहते हैं। उसमें प्रति बिम्बित होने वाला हिरण्यगर्भ चैतन्य हुआ। वह महत्तत्त्वयुक्त कुछ स्पष्ट-कुछ अस्पष्ट शरीर वाला होता है॥५

हिरण्यगर्भाधिष्ठितविक्षेपशक्तितस्तमोद्रिक्ताहंकाराभिधा स्थूलशक्तिरासीत्। तत्प्रतिबिम्बितं यत्तद्विराट्चैतन्यमासीत्। स तदभिमानी स्पष्टवपुः सर्वस्थूलपालको विष्णुः प्रधानपुरुषो भवति। तस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यःपृथिवी। तानि पञ्च तन्मात्राणि त्रिगुणानि भवन्ति॥ ६॥

हिरण्यगर्भ में निवास करने वाली विक्षेप शक्ति से, तमोगुणवाली अहंकार नामक स्थूल शक्ति आविर्भूत हुई। जो उसमें प्रतिबिम्बित हुआ, वह विराट् चैतन्य था। उसका अभिमानी स्पष्ट शरीर वाला, समस्त स्थूल जगत् का पालक प्रधान पुरुष विष्णु होता है। उसकी आत्मा से आकाश तत्त्व की उत्पत्ति हुई। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी तत्त्व का आविर्भाव हुआ। उन्हीं से पञ्च तन्मात्राएँ और तीन गुण उत्पन्न होते हैं॥ ६॥

स्रष्टुकामो जगद्योनिस्तमोगुणमधिष्ठाय सूक्ष्मतन्मात्राणि भूतानि स्थूलीकर्तुं सोऽकामयत। सृष्टेः परिमितानि भूतान्येकमेकं द्विधा विधाय पुनश्चतुर्धा कृत्वा स्वस्वेतरद्वितीयांशैः पञ्च पञ्चधा संयोज्य पञ्चीकृतभूतैरनन्तकोटिब्रह्माण्डानि तत्तदण्डोचितचतुर्दशभुवनानि तत्तद्भुवनोचितगोलकस्थूलशरीराण्यसृजत्॥ ७॥

जब उस जगत् रचयिता को सृष्टि के निर्माण की इच्छा हुई, तब उसने तमोगुण में अधिष्ठित होकर सूक्ष्म तन्मात्राओं को स्थूल पञ्चतत्त्वों में प्रतिष्ठित करने की कामना की। उन रचित भूतों में से एक-एक के दो भाग किए, फिर उनमें से प्रत्येक के चार-चार भाग किए। इसके पश्चात् प्रत्येक भूत के अर्धांश में अन्य भूतों के अष्टमांश को मिलाकर सबका पंचीकरण किया; तत्पश्चात् इन पञ्चीकृत भूतों से अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों की सृष्टि की, फिर उनके योग्य चतुर्दश भुवन रचे तथा उन भुवनों के उपयुक्त स्थूल शरीरों का सृजन किया॥ ७॥

स पञ्चभूतानां रजोंशांश्चतुर्धा कृत्वा भागत्रयात्पञ्चवृत्त्यात्मकं प्राणमसृजत्। स तेषां तुर्यभागेन कर्मेन्द्रियाण्यसृजत्॥ ८॥

इसके पश्चात् पञ्चभूतों के रजोगुणयुक्त अंश के चार भाग करके तीन भागों से पाँच प्रकार के प्राणों का सृजन किया और चतुर्थांश से कर्मेन्द्रियों का निर्माण किया॥ ८॥

स तेषां सत्त्वांशं चतुर्धा कृत्वा भागत्रयसमष्टितः पञ्चक्रियावृत्त्यात्मकमन्तःकरणमसृजत्। स तेषां सत्त्वतुरीयभागेन ज्ञानेन्द्रियाण्यसृजत्॥ ९॥

इसी प्रकार उसके (पञ्चभूतों के) सतोगुण युक्त अंश को चार हिस्सों में विभाजित करके उसके तीन भागों से पंचवृत्त्यात्मक अन्त:करण और चौथे भाग से ज्ञानेन्द्रियों का सृजन किया॥ ९॥

[अन्त:करण को योगशास्त्र ने भी पाँच वृत्तियों वाला कहा है। वे हैं— प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति (योग० १.१.६)। यथार्थज्ञान (प्रमा) के साधन (करण) को प्रमाण कहते हैं, अर्थात् जिस वृत्ति से प्रमा (यथार्थ बोध) उत्पन्न होता है, उसका नाम प्रमाण है। सीप में चाँदी और रस्सी में सर्प की तरह मिथ्याज्ञान (जैसा न हो, वैसा ज्ञान) 'विपर्यय' कहलाता है। यथार्थ न होते हुए भी केवल शब्द सुनने मात्र से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह 'विकल्प' कहा जाता है। यह ज्ञान मिथ्या भी नहीं होता। भेद में अभेद और अभेद में भेद का ज्ञान जैसे राहु का सिर, काठ की पुतली में राहु और सिर तथा काठ और पुतली में कोई भेद नहीं है, फिर भी भेद जैसा प्रतीत हो रहा है-यही विकल्प वृत्ति है। अन्धकार में वस्तुओं के छिप जाने की तरह जिस वृत्ति से जाग्रत् और स्वप्नावस्था की वृत्तियों का अभाव हो जाता है, उसे निद्रावृत्ति कहते हैं। अनुभवजन्य ज्ञान, जो कालान्तर में प्रबुद्ध हो जाता है, 'स्मृति' कहलाता है।]

सत्त्वसमष्टित इन्द्रियपालकानसृजत्। तानि सृष्टान्यण्डे प्राचिक्षिपत्। तदाज्ञया समष्ट्यण्डं व्याप्य तान्यतिष्ठन्। तदाज्ञयाऽहंकारसमन्वितो विराट् स्थूलान्यरक्षत्। हिरण्यगर्भस्तदाज्ञया सूक्ष्माण्यपालयत्॥ १०॥

सत्त्व समष्टि से उसने पाँचों इन्द्रियों के पालक देवताओं का सृजन किया और उन्हें ब्रह्माण्डों में स्थापित कर दिया। उसकी (विष्णु रूप ब्रह्म की) आज्ञा से वे सभी (देवगण) ब्रह्माण्डों में स्थित होकर निवास करने लगे। उस (ब्रह्म) की आज्ञा से अहंकार समन्वित विराट्, स्थूल जगत् का संरक्षण करने लगा। हिरण्यगर्भ उसकी आज्ञा से सूक्ष्म तत्त्व का पालन करने लगा॥ १०॥

अण्डस्थानि तानि तेन विना स्पन्दितुं चेष्टितुं वा न शेकुः। तानि चेतनीकर्तुं सोऽकामयत ब्रह्माण्डब्रह्मरन्ध्राणि समस्तव्यष्टिमस्तकान्विदार्य तदेवानुप्राविशत्। तदा जडान्यपि तानि चेतनवत्स्वकर्माणि चक्रिरे॥ ११॥

ब्रह्माण्ड में स्थित वे देवगण उस (ब्रह्म) के बिना न तो स्पन्दन कर सके और न ही कोई चेष्टा कर सके। तब उस (ब्रह्म) ने उन्हें चैतन्य करने की इच्छा की। वह ब्रह्माण्ड, ब्रह्मरन्ध्र और समस्त व्यष्टि के मस्तक को विदीर्ण करके उसी में प्रवेश कर गया, तब वे जड़ता सम्पन्न होते हुए भी चेतन की तरह अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त हो गये॥ ११॥

सर्वज्ञेशो मायालेशसमन्वितो व्यष्टिदेहं प्रविश्य तया मोहितो जीवत्वमगमत्। शरीरत्रयता-दात्म्यात्कर्तृत्वभोक्तृत्वतामगमत्। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छामरणधर्मयुक्तो घटीयन्त्रवदुद्विग्नो जातो मृत इव कुलालचक्रन्यायेन परिभ्रमतीति॥ १२॥

सर्वज्ञ ईश्वर मायायुक्त होकर व्यष्टि रूप शरीर में प्रविष्ट हो गया और मोह के कारण जीवत्व (जीव भाव) को प्राप्त हो गया। तीन प्रकार के (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) शरीरों से तादात्म्य स्थापित करके कर्तापन और भोक्तापन का अनुभव करने लगा। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि स्थितियों वाला होकर मरण धर्म को प्राप्त करके घटीयंत्र (रहट) के समान उद्विग्न (चंचल) होकर तथा कुम्भकार के चक्र के समान उत्पन्न और मृत होता हुआ जगत् में परिभ्रमण करने लगा॥ १२॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथ पैङ्गलो याज्ञवल्क्यमुवाच सर्वलोकानां सृष्टिस्थित्यन्तकृद्विभुरीशः कथं जीवत्वमगमदिति ॥ १ ॥

पैङ्गल ऋषि ने पुनः याज्ञवल्क्य ऋषि से प्रश्न किया कि समस्त लोकों की सृष्टि, उनका पालन और अन्त करने वाला विभु ईश्वर किस तरह जीवभाव को प्राप्त होता है ? ॥ १ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः स्थूलसूक्ष्मकारणदेहोद्भवपूर्वकं जीवेश्वरस्वरूपं विविच्य कथयामीति सावधानेनैकाग्रतया श्रूयताम्। ईशः पञ्चीकृतमहाभूतलेशानादाय व्यष्टिसमष्ट्यात्मकस्थूलशरीराणि यथाक्रममकरोत्। कपालचर्मान्त्रास्थिमांसनखानि पृथिव्यंशाः। रक्तमूत्रलालास्वेदादिका अबंशाः। क्षुत्तृष्णोष्णमोहमैथुनाद्या अग्न्यंशाः। प्रचारणोत्तारणाश्वासादिका वाय्वंशाः। कामक्रोधादयो व्योमांशाः। एतत्संघातं कर्मणि संचितं त्वगादियुक्तं बाल्याद्यवस्थाभिमानास्पदं बहुदोषाश्रयं स्थूलशरीरं भवति ॥ २ ॥

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों के उद्भवपूर्वक जीव और ईश्वर के स्वरूप की विवेचना करता हूँ, उसे सावधान और एकाग्रचित्त होकर सुनो। ईश्वर ने पंचीकृत महाभूतों के अंशों को लेकर व्यष्टि और समष्टि के स्थूल शरीरों का क्रमशः सृजन किया है। कपाल, चर्म, आँतें, अस्थि, मांस और नख (नाखून) ये पृथिवी तत्त्व के अंश से निर्मित हैं। रक्त, मूत्र, लाल (लार) और पसीना आदि जल तत्त्व के अंश से बने हैं। क्षुधा, तृष्णा (प्यास), उष्णता (गर्मी), मोह, मैथुन आदि अग्नि तत्त्व के अंश से बने हैं। चलना, उठना, बैठना, श्वास आदि वायु तत्त्व के अंश से हैं। काम, क्रोध आदि आकाश तत्त्व के अंश से हैं। इस प्रकार इन सबके संघात (समुच्चय) स्वरूप एवं संचित कर्मों से निर्मित त्वचा आदि से युक्त बाल्यावस्था आदि के भाव वाला अनेक दोषों का आश्रय रूप यह स्थूल शरीर होता है ॥ २ ॥

अथापञ्चीकृतमहाभूतरजोंशभागत्रयसमष्टितः प्राणमसृजत्। प्राणापानव्यानोदानसमानाः प्राणवृत्तयः। नागकूर्मकृकरदेवदत्तधनंजया उपप्राणाः। हृदासननाभिकण्ठसर्वाङ्गानि स्थानानि। आकाशादिरजोगुणतुरीयभागेन कर्मेन्द्रियमसृजत्। वाक्पाणिपादपायूपस्थास्तद्वृत्तयः। वचनादानगमनविसर्गानन्दास्तद्विषयाः। एवं भूतसत्त्वांशभागत्रयसमष्टितोऽन्तःकरणमसृजत्। अन्तःकरणमनोबुद्धिचित्ताहंकारास्तद्वृत्तयः। संकल्पनिश्चयस्मरणाभिमानानुसंधानास्तद्विषयाः। गलवदननाभिहृदयभ्रूमध्यं स्थानम्। भूतसत्त्वतुरीयभागेन ज्ञानेन्द्रियमसृजत्। श्रोत्रत्वङ्नक्षुर्जिह्वाघ्राणास्तद्वृत्तयः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्तद्विषयाः। दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः। चन्द्रो विष्णुश्चतुर्वक्त्रः शंभुश्च करणाधिपाः ॥ ३ ॥

इसके पश्चात् अपञ्चीकृत महाभूतों के रजोगुण युक्त अंश के तीन भागों को समन्वित करके प्राण का सृजन किया गया। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान ये पाँच प्राण हैं। इसी प्रकार नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय ये पाँच उपप्राण हैं। हृदय, आसन (मूलाधार), नाभि, कण्ठ और सर्वाङ्ग उस (प्राण) के स्थान हैं। आकाश आदि पञ्चमहाभूतों के रजोगुणयुक्त अंश के चतुर्थ भाग से कर्मेन्द्रियों का सृजन किया गया। वाणी,हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ (शिश्न) इसके प्रकार हैं। वचन, आदान, गमन, विसर्जन और आनन्द ये इन (कर्मेन्द्रियों) के विषय हैं। इस प्रकार पञ्चमहाभूतों के सत्त्व अंश के तीन भागों से अन्तःकरण का सृजन

किया। अन्त:करण में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और उनकी वृत्तियाँ समाहित हैं। संकल्प, निश्चय, स्मरण, अभिमान तथा अनुसन्धान क्रमश: इनके विषय हैं। गला, मुख, नाभि, हृदय और भौंहों के मध्य का भाग इनके स्थान हैं। महाभूतों के सत्त्व अंश के चतुर्थ भाग से ज्ञानेन्द्रियों का सृजन किया गया। श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और घ्राण ये इनके (ज्ञानेन्द्रियों के) प्रकार हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इनके विषय हैं। दिशाएँ, वायु, अर्क (सूर्य), वरुण, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मृत्यु के देवता यम, चन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा और शिव ये सभी देवगण इन इन्द्रियों के स्वामी हैं॥ ३॥

अथान्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया: पञ्च कोशा:। अन्नरसेनैव भूत्वाऽन्नरसेनाभिवृद्धिं प्राप्यान्नरसमयपृथिव्यां यद्विलीयते सोऽन्नमयकोश:। तदेव स्थूलशरीरम्। कर्मेन्द्रियै: सह प्राणादिपञ्चकं प्राणमयकोश:। ज्ञानेन्द्रियै: सह मनो मनोमयकोश:। ज्ञानेन्द्रियै: सह बुद्धिर्विज्ञानमयकोश:। एतत्कोशत्रयं लिङ्गशरीरम्। स्वरूपाज्ञानमानन्दमयकोश:। तत् कारणशरीरम्॥ ४॥

इसके बाद अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय ये पंचकोश हैं। अन्नमय कोश वह है, जो अन्न से उत्पन्न होता है, उसी से प्रवृद्ध होता है और अन्तत: अन्न-रसमय पृथिवी में ही विलीन हो जाता है। यही स्थूल शरीर है। कर्मेन्द्रियों के साथ पंचप्राणों का समुच्चय प्राणमय कोश कहलाता है। ज्ञानेन्द्रियों सहित मन मनोमय कोश कहलाता है। ज्ञानेन्द्रियों के साथ बुद्धि का योग विज्ञानमय कोश कहलाता है। इन (प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय) तीनों कोशों का समुच्चय ही लिङ्ग शरीर है। जिसमें अपने स्वरूप का भान नहीं रहता है, वह आनन्दमय कोश है। इसे ही कारण शरीर कहते हैं॥ ४॥

अथ ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं प्राणादिपञ्चकं वियदादिपञ्चक मन्त:करण-चतुष्टयं कामकर्मतमांस्यष्टपुरम्॥ ५॥

इस प्रकार ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक, कर्मेन्द्रिय पञ्चक, प्राणादि पञ्चक, वियदादिपञ्चक (पाँच महाभूत), अन्त:करण चतुष्टय, काम, कर्म और अविद्या ये पुर्यष्टक (आठ पुरियों का समूह) कहलाता है॥ ५॥

ईशाज्ञया विराजो व्यष्टिदेहं प्रविश्य बुद्धिमधिष्ठाय विश्वत्वमगमत्। विज्ञानात्मा चिदाभासो विश्वो व्यावहारिको जाग्रत्स्थूलदेहाभिमानी कर्मभूरिति च विश्वस्य नाम भवति॥ ६॥

ईश्वर की आज्ञा से विराट् ने व्यष्टि में प्रविष्ट होकर तथा बुद्धि में प्रतिष्ठित होकर विश्वत्व को प्राप्त किया अर्थात् विश्व की संज्ञा प्राप्त की। विज्ञानात्मा, चिदाभास, विश्व, व्यावहारिक, जाग्रत्, स्थूल देहाभिमानी और कर्मभू ये विश्व के विभिन्न नाम हैं॥ ६॥

ईशाज्ञया सूत्रात्मा व्यष्टिसूक्ष्मशरीरं प्रविश्य मन अधिष्ठाय तैजसत्वमगमत्। तैजस: प्रातिभासिक: स्वप्नकल्पित इति तैजसस्य नाम भवति॥ ७॥

ईश्वर के आदेश से सूत्रात्मा, व्यष्टि के सूक्ष्म शरीर में प्रविष्ट होकर मन में अधिष्ठित होकर तैजसत्व को प्राप्त हुआ। तैजस, प्रातिभासिक और स्वकल्पित ये तैजस के नाम हैं॥ ७॥

ईशाज्ञया मायोपाधिरव्यक्तसमन्वितो व्यष्टिकारणशरीरं प्रविश्य प्राज्ञत्वमगमत्। प्राज्ञोऽविच्छिन्न: पारमार्थिक: सुषुप्त्यभिमानीति प्राज्ञस्य नाम भवति॥ ८॥

ईश्वर की आज्ञा से माया की उपाधि से युक्त अव्यक्त, व्यष्टि के कारण शरीर में प्रविष्ट होकर प्राज्ञत्व को प्राप्त हुआ। प्राज्ञ, अविच्छिन्न, पारमार्थिक और सुषुप्ति-अभिमानी ये प्राज्ञ के नाम हैं॥ ८॥

अव्यक्तलेशाज्ञानाच्छादितपारमार्थिकजीवस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यानि ब्रह्मणैकतां जगुर्नेतरयोर्व्यावहारिकप्रातिभासिकयोः॥ ९॥

पारमार्थिक जीव के ऊपर अव्यक्त का अंश रूप अज्ञान आच्छादित है। वह भी ब्रह्म का ही अंश है। 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से ब्रह्म की एकता प्रकट होती है, परन्तु व्यावहारिक और प्रातिभासिक अंश ब्रह्म से इस प्रकार की एकता नहीं रखते॥ ९॥

अन्तःकरणप्रतिबिम्बितचैतन्यं यत्तदेवावस्थात्रयभाग्भवति। स जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थाः प्राप्य घटीयन्त्रवदुद्विग्नो जातो मृत इव स्थितो भवति॥ १०॥

अन्तःकरण में जो चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है, वही अवस्थात्रय (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति) का भागी होता है। चैतन्य तत्त्व ही उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं को प्राप्त होकर घटीयन्त्र के समान उद्विग्न (चंचल) होता है, जो निरन्तर जन्म-मरण को प्राप्त होता रहता है॥ १०॥

अथ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छामरणाद्यवस्थाः पञ्च भवन्ति। तत्तद्देवताग्रहान्वितैः श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियैः शब्दाद्यर्थविषयग्रहणज्ञानं जाग्रदवस्था भवति। तत्र भ्रूमध्यं गतो जीव आपादमस्तकं व्याप्य कृषिश्रवणाद्यखिलक्रियाकर्ता भवति। तत्तत्फलभुक् च भवति। लोकान्तरगतः कर्मार्जितफलं स एव भुङ्क्ते। स सार्वभौमवद्व्यवहाराच्छ्रान्त अन्तर्भवनं प्रवेष्टुं मार्गमाश्रित्य तिष्ठति॥

इस प्रकार जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और मरण ये पाँच अवस्थाएँ होती हैं। जाग्रत् अवस्था उसे कहते हैं, जिसमें श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने देवता के अनुग्रह (शक्ति) से युक्त होकर शब्दादि विषयों को ग्रहण करती हैं। इस अवस्था में जीव भ्रूमध्य में निवास करते हुए पैरों से लेकर मस्तक पर्यन्त व्याप्त रहता है और कृषि से श्रवण तक (अर्थात् अपनी कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के) समस्त कार्यों को सम्पादित करता हुआ उनके फल भी प्राप्त करता है। वह अपने इन अर्जित कर्मों का फल लोकान्तर (परलोक) में भी भोगता है। वह सार्वभौम के समान लौकिक कार्यों से थककर विश्रान्ति पाने हेतु अन्दर के विश्राम स्थल में जाने की इच्छा से मार्ग में ही आश्रय लेकर ठहरता है॥ ११॥

करणोपरमे जाग्रत्संस्कारार्धप्रबोधवद्ग्राह्यग्राहकरूपस्फुरणं स्वप्नावस्था भवति। तत्र विश्व एव जाग्रद्व्यवहारलोपान्नाडीमध्यं चरंस्तैजसत्वमवाप्य वासनारूपकं जगद्वैचित्र्यं स्वभासा भासयन्यथेप्सितं स्वयं भुङ्क्ते॥ १२॥

इन्द्रियों के अपने कार्यों से उपराम हो जाने पर, जाग्रत् अवस्था के संस्कारों से ग्राह्य-ग्राहक रूप जो अर्ध प्रबोधवत् स्फुरणा होती है, उसे स्वप्नावस्था कहते हैं। उस अवस्था में विश्व (स्थूल शरीर भी व्यष्टि-चेतना शक्ति) जाग्रत् अवस्था के व्यवहार के लोप हो जाने से नाड़ी के बीच में संचरित होता हुआ तैजसत्व को प्राप्त करता है। तत्पश्चात् अपनी वासना के अनुरूप अपने ही भासा (तेज) के द्वारा एक विचित्र जगत् की सृष्टि करता है और स्वयं ही अपनी इच्छानुसार उसका भोग करता है॥ १२॥

चित्तैककरणा सुषुप्त्यवस्था भवति। भ्रमविश्रान्तशकुनिः पक्षौ संहृत्य नीडाभिमुखं यथा गच्छति तथा जीवोऽपि जाग्रत्स्वप्नप्रपञ्चे व्यवहृत्य श्रान्तोऽज्ञानं प्रविश्य स्वानन्दं भुङ्क्ते॥

चित्त की एकीकरण (एकाग्रता से युक्त) अवस्था ही सुषुप्ति अवस्था होती है। जिस प्रकार भ्रमण से थककर पक्षी पंखों को समेट कर अपने नीड़ (घोंसले) की ओर गमन करता है, उसी प्रकार जीव भी जाग्रत् और स्वप्नावस्था के प्रपञ्चों से थक जाने पर अज्ञान में प्रविष्ट होकर आनन्द भोगता है॥ १३॥

अकस्मान्मुद्गरदण्डाद्यैस्ताडितवद्भयाज्ञानाभ्यामिन्द्रियसंघातैः कम्पन्निव मृततुल्या मूर्च्छा भवति॥ १४॥

अकस्मात् मुद्गर और दण्ड आदि के द्वारा ताड़ित किये जाने पर जिस प्रकार व्यक्ति कम्पित होता है, उसी प्रकार मूर्च्छा की स्थिति में भी भय और अज्ञान के कारण समस्त इन्द्रियाँ कम्पित होती हैं। यह अवस्था (मूर्च्छा) मृत तुल्य होती है॥ १४॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छावस्थानामन्याब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं सर्वजीवभयप्रदा स्थूलदेहविसर्जनी मरणावस्था भवति॥ १५॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और मूर्च्छा अवस्थाओं से भिन्न एक अवस्था है, जो ब्रह्म (अत्यधिक महान्) से लेकर तिनका (अत्यधिक तुच्छ) पर्यन्त सभी जीवों के लिए भयप्रदा है, जिसके प्राप्त होने पर स्थूल शरीर का परित्याग करना पड़ता है, वह मरणावस्था होती है॥ १५॥

कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि तत्तद्विषयान्प्राणान्संहृत्य कामकर्मान्वित अविद्याभूतवेष्टितो जीवो देहान्तरं प्राप्य लोकान्तरं गच्छति। प्राक्कर्मफलपाकेनावर्तान्तरकीटवद्विश्रान्तिं नैव गच्छति॥ १६॥

उस समय (मृत्यु हो जाने पर) कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, उनके विषय (तन्मात्राओं), प्राणों को एकत्र करके काम और कर्म से समन्वित हुआ जीव अविद्या से आवेष्टित होकर अन्य शरीर को प्राप्त करके दूसरे लोक (परलोक) में गमन करता है। पूर्वकृत कर्मों के फलभोग में फँसे रहने के कारण वह (जीव), उसी प्रकार शान्ति प्राप्त नहीं कर पाता, जिस प्रकार भँवर में फँसा हुआ कीट॥ १६॥

सत्कर्मपरिपाकतो बहूनां जन्मनामन्ते नृणां मोक्षेच्छा जायते। तदा सद्गुरुमाश्रित्य चिरकालसेवया बन्धं मोक्षं कश्चित्प्रयाति॥ १७॥

सत्कर्मों के परिपक्व हो जाने पर जब अनेक जन्मों के पश्चात् मनुष्य की मोक्ष प्राप्त करने की (बलवती) इच्छा उत्पन्न होती है, तब वह किसी सद्गुरु का अवलम्बन लेकर, लम्बे समय तक उनकी सेवा करके (ज्ञान प्राप्ति के पश्चात्) बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है॥ १७॥

अविचारकृतो बन्धो विचारान्मोक्षो भवति। तस्मात्सदा विचारयेत्। अध्यारोपापवादतः स्वरूपं निश्चयीकर्तुं शक्यते। तस्मात्सदा विचारयेज्जगज्जीवपरमात्मनो जीवभावजगद्भावबाधे प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मैवावशिष्यत इति॥ १८॥

अविचार करने से बन्धन और विचार (सद्विचार) करने से मोक्ष होता है। इसलिए सदैव विचार (सद्विचार) करना चहिए। अध्यारोप और अपवाद से स्वरूप का निश्चय किया जा सकता है। इसलिए सदा जगत्, जीव और परमात्मा के विषय में ही विचार (चिन्तन) करना चाहिए। जीव भाव और जगद्भाव का निराकरण करने से अपने प्रत्यगात्मा (जीव) से अभिन्न केवल ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है॥ १८॥

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

अथ हैनं पैङ्गलः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं महावाक्यविवरणमनुब्रूहीति ॥ १ ॥

इसके पश्चात् पैङ्गल ऋषि ने याज्ञवल्क्य से कहा- 'मुझे महावाक्यों का विवरण समझाइये' ॥ १ ॥

स होवाच याज्ञवल्क्यस्तत्त्वमसि त्वं तदसि त्वं ब्रह्मास्यहं ब्रह्मास्मीत्यनुसंधानं कुर्यात् ॥२

याज्ञवल्क्य बोले-'वह तुम हो' (तत्त्वमसि), 'तुम वह हो' (त्वं तदसि), 'तुम ब्रह्म हो' (त्वं ब्रह्मासि), 'मैं ब्रह्म हूँ' (अहं ब्रह्मास्मि), ये महावाक्य हैं, जिन पर अनुसन्धान (विचार) करना चाहिए ॥ २ ॥

तत्र पारोक्ष्यशबलः सर्वज्ञत्वादिलक्षणो मायोपाधिः सच्चिदानन्दलक्षणो जगद्योनिस्तत्पदवाच्यो भवति। स एवान्तःकरणसंभिन्नबोधोऽस्मत्प्रत्ययावलम्बनस्त्वंपदवाच्यो भवति। परजीवोपाधिमायाविद्ये विहाय तत्त्वंपदलक्ष्यं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म ॥ ३ ॥

'तत्त्वमसि' में 'तत्' पद सर्वज्ञत्व आदि लक्षण से युक्त, माया की उपाधि से युक्त, सच्चिदानन्द रूप, जगत् योनि (मूलकारण) रूप अव्यक्त ईश्वर का बोधक है। वही ईश्वर अन्तःकरण की उपाधि के कारण भिन्नता का बोध होने से 'त्वं' पद का आलम्बन लेकर प्रकट किया जाता है। ईश्वर की उपाधि माया और जीव की उपाधि अविद्या है, इनका परित्याग कर देने से 'तत्' और 'त्वं' पदों का लक्ष्य (आशय) उस ब्रह्म से है, जो प्रत्यगात्मा से अभिन्न है ॥ ३ ॥

तत्त्वमसीत्यहं ब्रह्मास्मीति वाक्यार्थविचारः श्रवणं भवति। एकान्तेन श्रवणार्थानुसंधानं मननं भवति। श्रवणमननिर्विचिकित्स्येऽर्थे वस्तुन्येकतानवत्तया चेतःस्थापनं निदिध्यासनं भवति। ध्यातृध्याने विहाय निवातस्थितदीपवद्ध्येयैकगोचरं चित्तं समाधिर्भवति ॥ ४ ॥

'तत्त्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि' इन महावाक्यों के अर्थ पर विचार करना श्रवण कहलाता है। श्रवण किए हुए विषय के अर्थों का एकान्त में अनुसन्धान करना मनन कहलाता है। श्रवण और मनन द्वारा निर्णीत अर्थ रूप वस्तु में एकाग्रतापूर्वक चित्त का स्थापन निदिध्यासन कहलाता है। जब ध्याता और ध्यान के भाव को छोड़कर चित्तवृत्ति वायु रहित स्थान में रखे दीपक की ज्योति के सदृश केवल ध्येय में स्थिर हो जाती है, तब उस अवस्था को समाधि कहते हैं ॥ ४ ॥

तदानीमात्मगोचरा वृत्तयः समुत्थिता अज्ञाता भवन्ति। ताः स्मरणादनुमीयन्ते। इहानादिसंसारे संचिताः कर्मकोटयोऽनेनैव विलयं यान्ति। ततोऽभ्यासपाटवात्सहस्त्रशः सदाऽमृतधारा वर्षन्ति। ततो योगवित्तमाः समाधिं धर्ममेघं प्राहुः। वासनाजाले निःशेषममुना प्रविलापिते कर्मसंचये पुण्यपापे समूलोन्मूलिते प्राक्परोक्षमपि करतलामलकवद्वाक्यमप्रतिबद्धापरोक्षसाक्षात्कारं प्रसूयते। तदा जीवन्मुक्तो भवति ॥ ५ ॥

उसमें (उस अवस्था में) आत्मगोचर वृत्तियाँ उत्पन्न होकर अज्ञात हो जाती हैं, जो स्मरण के द्वारा अनुमानित होती हैं (अर्थात् जिनका स्मरण के द्वारा अनुमान लगाया जाता है)। संसार में अनादिकाल से संचित करोड़ों कर्म इस अवस्था में ही विनष्ट हो जाते हैं। इसके पश्चात् अभ्यास पटुता (परिपक्वता) प्राप्त हो जाने पर सतत सहस्त्रों अमृत धाराओं की वर्षा होती रहती है। इसीलिए योगज्ञाता समाधि को धर्ममेघ कहते हैं। इसके माध्यम से सम्पूर्ण वासनाजाल निःशेष (समाप्त) हो जाता है तथा पाप और पुण्य दोनों प्रकार के संचित कर्म समूल विनष्ट हो जाते हैं। यह स्थिति प्राप्त होने पर, प्राक् (पहले) जो, 'तत्त्वमसि' महावाक्य का आशय

परोक्ष रूप से विदित होता था, वही अब हस्तामलकवत् अवरोध रहित स्पष्ट विदित होने लगता है और ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है, तब योगी जीवन्मुक्त हो जाता है॥ ५॥

ईश: पञ्चीकृतभूतानामपञ्चीकरणं कर्तुं सोऽकामयत। ब्रह्माण्डतद्गतलोकान्कार्य-रूपांश्च कारणत्वं प्रापयित्वा तत:सूक्ष्माङ्गं कर्मेन्द्रियाणि प्राणांश्च ज्ञानेन्द्रियाण्यन्त:करण-चतुष्टयं चैकीकृत्य सर्वाणि भौतिकानि कारणे भूतपञ्चके संयोज्य भूमिं जले जलं वह्नौ वह्निं वायौ वायुमाकाशे चाकाशमहंकारे चाहंकारं महति महदव्यक्तेऽव्यक्तं पुरुषे क्रमेण विलीयते। विराड्हिरण्यगर्भेश्वरा उपाधिविलयात्परमात्मनि लीयन्ते॥ ६॥

ईश्वर ने पञ्चीकृत भूतों का पुन: अपञ्चीकरण करने की कामना की। अत: उसने ब्रह्माण्ड और उसके अन्तर्गत लोकों को कार्य रूप से पुन: कारण रूप प्राप्त करा दिया। इसके बाद उसने सूक्ष्म अङ्ग, कर्मेन्द्रियों, प्राणों, ज्ञानेन्द्रियों और अन्त:करण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) को एकीकृत करके समस्त भौतिक पदार्थों को उनके कारणभूत पंचक में संयोजित करके भूमि को जल में, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में, वायु को आकाश में, आकाश को अहंकार में, अहंकार को महत् (विराट्) में, विराट् को अव्यक्त में और अव्यक्त को पुरुष में क्रमश: विलीन कर दिया। इस प्रकार विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर भी उपाधियों के विलीन हो जाने पर परमात्मा में ही विलीन हो जाते हैं॥ ६॥

पञ्चीकृतमहाभूतसंभवकर्मसंचितस्थूलदेह: कर्मक्षयात्सत्कर्मपरिपाकतोऽपञ्चीकरणं प्राप्य सूक्ष्मेणैकीभूत्वा कारणरूपत्वमासाद्य तत्कारणं कूटस्थे प्रत्यगात्मनि विलीयते। विश्वतैजसप्राज्ञा: स्वस्वोपाधिलयात्प्रत्यगात्मनि लीयन्ते॥ ७॥

पञ्चीकृत महाभूतों द्वारा निर्मित और संचित कर्मों से प्राप्त स्थूल देह, कर्मों के क्षय हो जाने तथा सत्कर्मों के परिपाक होने से अपञ्चीकृत हो जाती है। वह देह, सूक्ष्मरूप से एकीभूत होकर, कारण रूप को प्राप्त होकर अन्त में उस कारण के भी कारण कूटस्थ प्रत्यगात्मा में विलीन हो जाती है। फिर विश्व, तैजस और प्राज्ञ की भी अपनी-अपनी उपाधियों के लय हो जाने से ये सभी प्रत्यगात्मा में विलीन हो जाते हैं॥ ७॥

अण्डं ज्ञानाग्निना दग्धं कारणै:सह परमात्मनि लीनं भवति। ततो ब्राह्मण: समाहितो भूत्वा तत्त्वंपदैक्यमेव सदा कुर्यात्। ततो मेघापायेंऽशुमानिवात्माऽऽविर्भवति॥ ८॥

अण्ड (ब्रह्माण्ड) अपनी कारण सत्ता के साथ ज्ञानाग्नि में भस्म होकर परमात्मा में विलीन हो जाता है। इस प्रकार ब्राह्मण (ब्रह्म में रत) पुरुष को समाहित चित्त (ब्रह्म में चित्त को समाहित करके) होकर सदैव 'तत्' और 'त्वं' पदों के साथ ऐक्य करते रहना चाहिए। इस प्रक्रिया से उसी प्रकार आत्म साक्षात्कार होने लगता है, जिस प्रकार मेघों के छँट जाने से अंशुमान् (सूर्य) का प्रकाश प्रकट हो जाता है॥ ८॥

ध्यात्वा मध्यस्थमात्मानं कलशान्तरदीपवत्। अङ्गुष्ठमात्रमात्मानमधूमज्योति रूपकम्॥९॥ प्रकाशयन्तमन्त:स्थं ध्यायेत्कूटस्थमव्ययम्। ध्यायन्नास्ते मुनिश्चैव चासुप्तेरामृतेस्तु य:॥१०॥ जीवन्मुक्त: स विज्ञेय: स धन्य: कृतकृत्यवान्। जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते। विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव॥ ११॥

कलश के अन्दर स्थित दीपक के सदृश, शरीर में स्थित (हृदय कमल के मध्यस्थित) धूम रहित ज्योति स्वरूप अङ्गुष्ठ परिमाण आत्मा का ध्यान करके जो मुनि अन्त:प्रान्त में स्थित प्रकाशयुक्त कूटस्थ, अव्यय आत्मा का ध्यान नित्य सोते समय तथा मृत्यु के समय भी करता है, वह जीवन्मुक्त है, धन्य है,

कृतकृत्य है, ऐसा मानना चाहिए। जीवन्मुक्तत्व (जीवन्मुक्त स्थिति) को छोड़कर वह इस शरीर का परित्याग करके अदेह और मुक्ति को उसी प्रकार प्राप्त हो जाता है, जिस प्रकार पवन स्पन्दन रहित हो जाता है अर्थात् पवन का प्रवाह बन्द हो जाता है॥ ९-११॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं तदेव शिष्यत्यमलं निरामयम्॥ १२॥

तत्पश्चात् वह अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस और अगन्धवत् होकर अव्यय, अनादि, अनन्त, महत् से भी परे, ध्रुव, निर्मल तथा निरामय ब्रह्म ही शेष बचता है॥ १२॥

॥ चतुर्थोऽध्यायः॥

अथ हैनं पैङ्गलः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं ज्ञानिनः किं कर्म का च स्थितिरिति॥ १॥

इसके बाद पैङ्गल ऋषि ने याज्ञवल्क्य ऋषि से पुनः प्रश्न किया कि ज्ञानियों के कर्म कौन से हैं और उनकी स्थिति कैसी होती है?॥ १॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः।अमानित्वादिसंपन्नो मुमुक्षुरेकविंशतिकुलं तारयति। ब्रह्मविन्मात्रेण कुलमेकोत्तरशतं तारयति॥ २॥

याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि जो मुमुक्षु अमानित्व आदि गुणों से सम्पन्न होता है, वह अपनी इक्कीस पीढ़ियों को तार देता है और ब्रह्मविद् हो जाने मात्र से वह अपने कुल की एक सौ एक पीढ़ियाँ तार देता है॥२

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ ३॥

अपनी आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि तथा मन को ही लगाम जानना चाहिए॥ ३॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। जङ्गमानि विमानानि हृदयानि मनीषिणः॥ ४॥

इन्द्रियों को अश्व कहा गया है, जो अपने विषय रूपी मार्ग पर गमन करते हैं, परन्तु मनीषियों का हृदय विमान के समान इन सबसे ऊपर उठा हुआ होता है॥ ४॥

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्महर्षयः। ततो नारायणः साक्षाद्धृदये सुप्रतिष्ठितः॥ ५॥

महान् ऋषियों का कथन है कि यह आत्मा, इन्द्रिय और मन से युक्त होकर भोक्ता बनता है, इसके बाद हृदय में साक्षात् नारायण प्रतिष्ठित होते हैं॥ ५॥

प्रारब्धकर्मपर्यन्तमहिनिर्मोकवद्व्यवहरति। चन्द्रवच्चरते देही स मुक्तश्चानिकेतनः॥ ६॥

प्रारब्ध कर्मों के क्षय होने तक जीव, सर्प के केंचुल बदलते रहने की तरह अन्य शरीर धारण करता रहता है; किन्तु अनिकेतन (एक ग्राम में एक रात्रि ही निवास करने वाला परिव्राजक) और मुक्त पुरुष आकाश में चन्द्रमा के समान सर्वत्र सञ्चरित होता रहता है॥ ६॥

तीर्थे श्वपचगृहे वा तनुं विहाय याति कैवल्यम्। प्राणानवकीर्य याति कैवल्यम्॥ ७॥

ज्ञानी पुरुष तीर्थ में शरीर त्याग करे अथवा चाण्डाल के घर में, प्राणों को छोड़कर वह सदा कैवल्य को ही प्राप्त होता है॥ ७॥

तं पश्चाद्दिग्बलिं कुर्यादथवा खननं चरेत्। पुंसः प्रव्रजनं प्रोक्तं नेतराय कदाचन॥ ८॥

शरीर त्याग के पश्चात् उसके शरीर की चाहे दिशाओं को बलि दे दी जाए अर्थात् खुले में डाल दिया

जाए अथवा खोदकर जमीन में गाड़ दिया जाए (वह कैवल्य को ही प्राप्त करता है)। यह विधि परिव्राजक (संन्यासी) के लिए है, इतर (अन्य) किसी के लिए कभी नहीं॥ ८॥

नाशौचं नाग्निकार्यं च न पिण्डं नोदकक्रिया। न कुर्यात्पार्वणादीनि ब्रह्मभूताय भिक्षवे॥ ९॥

जो संन्यासी ब्रह्मलीन हो गया है, उसके निमित्त अशौच (सूतक) नहीं रहता। उसकी आत्म शान्ति के लिए न अग्नि कार्य, न पिण्ड, न तर्पण और न ही पर्व पर किये जाने वाले श्राद्ध (पार्वण) आदि की ही आवश्यकता है॥ ९॥

दग्धस्य दहनं नास्ति पक्वस्य पचनं यथा। ज्ञानाग्निदग्धदेहस्य न च श्राद्धं न च क्रिया॥ १०॥

जिस प्रकार जले हुए को जलाया नहीं जाता और पके हुए को पुनः पकाया नहीं जाता, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि से दग्ध (संन्यासी) के लिए न कोई श्राद्ध आवश्यक है और न ही कोई क्रिया-कर्म॥ १०॥

यावच्चोपाधिपर्यन्तं तावच्छुश्रूषयेद्गुरुम्। गुरुवद्गुरुभार्यायां तत्पुत्रेषु च वर्तनम्॥ ११॥

जब तक सांसारिक उपाधियाँ हैं, तब तक गुरु की शुश्रूषा (सेवा) करनी चाहिए। गुरु के समान ही गुरु पत्नी और गुरु सन्तानों के प्रति भी सम्मान पूर्ण व्यवहार करना चाहिए॥ ११॥

शुद्धमानसः शुद्धचिद्रूपः सहिष्णुः सोऽहमस्मि सहिष्णुः सोऽहमस्मीति प्राप्ते ज्ञानेन विज्ञाने ज्ञेये परमात्मनि हृदि संस्थिते देहे लब्धशान्तिपदं गते तदा प्रभामनोबुद्धिशून्यं भवति॥ १२॥

मैं शुद्ध मानस, शुद्ध चैतन्य रूप, सहिष्णु, वह सहिष्णु मैं ही हूँ, इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो जाने से, ज्ञान के अनुभव से और ज्ञेय परमात्मा के हृदय में भली प्रकार प्रतिष्ठित हो जाने से जब देह को शान्ति पद की प्राप्ति हो जाए, तब साधक मन-बुद्धि शून्य होकर चैतन्य रूप हो जाता है॥ १२॥

अमृतेन तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम्। एवं स्वात्मानं ज्ञात्वा वेदैः प्रयोजनं किं भवति। ज्ञानामृततृप्तयोगिनो न किंचित्कर्तव्यमस्ति। तदस्ति चेन्न स तत्त्वविद्भवति। दूरस्थोऽपि न दूरस्थः पिण्डवर्जितः पिण्डस्थोऽपि प्रत्यगात्मा सर्वव्यापी भवति॥ १३॥

अमृत का पान कर लेने पर दूध से क्या प्रयोजन? इसी प्रकार अपने आपका ज्ञान (आत्मज्ञान) प्राप्त कर लेने पर वेदों से क्या प्रयोजन (सिद्ध) होता है? ज्ञानामृत से तृप्त योगी के लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता। यदि कोई कर्त्तव्य शेष रहता है, तो इसका अभिप्राय है कि वह तत्त्वविद् नहीं है। वह दूर स्थित होने पर भी दूर नहीं और पिण्ड में स्थित होने पर भी पिण्ड से पृथक् प्रत्यगात्मा है, जो सर्वव्यापी होता है॥१३॥

हृदयं निर्मलं कृत्वा चिन्तयित्वाप्यनामयम्। अहमेव परं सर्वमिति पश्येत्परं सुखम्॥ १४॥

हृदय को निर्मल करके और अपने को 'मैं अनामय ब्रह्म हूँ', ऐसा चिन्तन करके मैं ही सब कुछ हूँ, ऐसा सोचने व देखने से परम सुख प्राप्त होता है॥ १४॥

यथा जले जलं क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम्। अविशेषो भवेत्तद्वज्जीवात्मपरमात्मनोः॥ १५॥

जिस प्रकार जल में जल, दुग्ध में दुग्ध और घृत में घृत डाल देने से, वे एकरूप हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा दोनों मिलकर अविशेष अर्थात् अभिन्न (एक) हो जाते हैं॥ १५॥

देहे ज्ञानेन दीपिते बुद्धिरखण्डाकाररूपा यदा भवति तदा विद्वान्ब्रह्मज्ञानाग्निना कर्मबन्धं निर्दहेत्॥ १६॥

जब ज्ञान के द्वारा देह में स्थित अभिमान विनष्ट हो जाता है तथा बुद्धि अखण्डाकार हो जाती है, तब विद्वान् पुरुष ब्रह्मज्ञान रूपी अग्नि से कर्म बन्धनों को भस्म कर देता है॥ १६॥

ततः पवित्रं परमेश्वराख्यमद्वैतरूपं विमलाम्बराभम्।
यथोदके तोयमनुप्रविष्टं तथात्मरूपो निरुपाधिसंस्थितः ॥ १७॥

इसके पश्चात् वह विमल वस्त्र के समान पवित्र और अद्वैतरूप परमेश्वर को प्राप्त करके उसी प्रकार अपने आत्म रूप (सत्य स्वरूप) में प्रतिष्ठित हो जाता है, जिस प्रकार जल दूसरे जल में प्रविष्ट होकर (मिलकर) एकरूप हो जाता है॥ १७॥

आकाशवत्सूक्ष्मशरीर आत्मा न दृश्यते वायुवदन्तरात्मा।
स बाह्यमभ्यन्तरनिश्चलात्मा ज्ञानोल्कया पश्यति चान्तरात्मा॥ १८॥

आत्मा आकाश के सदृश सूक्ष्म और वायु के सदृश दिखाई न पड़ने वाली है। वह बाह्य और अन्दर से भी निश्चल है, जिसे मात्र ज्ञान रूपी उल्का (विद्युत् या मशाल) से ही देखा जा सकता है॥ १८॥

यत्र यत्र मृतो ज्ञानी येन वा केन मृत्युना। यथा सर्वगतं व्योम तत्र तत्र लयं गतः॥ १९॥

ज्ञानी कहीं भी और कैसे भी मृत्यु को प्राप्त करे, वह हर स्थिति में ब्रह्म में ही लय हो जाता है, क्योंकि आकाश के समान ही ब्रह्म भी सर्वव्यापी है॥ १९॥

घटाकाशमिवात्मानं विलयं वेत्ति तत्त्वतः। स गच्छति निरालम्बं ज्ञानालोकं समन्ततः॥ २०

जिस प्रकार घटाकाश आकाश में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार जो योगी अपने को तत्त्वतः जान लेता है, वह सभी ओर से निरालम्ब और ज्ञानालोक स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है॥ २०॥

तपेद्वर्षसहस्राणि एकपादस्थितो नरः। एतस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हति षोडशीम्॥ २१॥

यदि कोई एक पैर पर खड़े होकर एक सहस्र वर्ष तक तप करे, तो भी वह ध्यान योग की षोडश कलाओं में से एक के बराबर भी नहीं हो सकता॥ २१॥

इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयं तत्सर्वं ज्ञातुमिच्छति। अपि वर्षसहस्रायुः शास्त्रान्तं नाधिगच्छति ॥ २२॥

ज्ञान और ज्ञेय को यदि कोई सम्पूर्णरूप से जानना चाहे, तो सहस्र वर्ष की आयु पर्यन्त शास्त्राध्ययन करने पर भी उसका पार नहीं पा सकता ॥ २२॥

विज्ञेयोऽक्षरतन्मात्रो जीवितं वापि चञ्चलम्। विहाय शास्त्रजालानि यत्सत्यं तदुपास्यताम्॥२३

मनुष्य को जानना चाहिए कि मात्र अक्षर ब्रह्म ही सत्य है। मनुष्य का जीवन चञ्चल है; इसलिए शास्त्र-जाल को छोड़कर जो सत्य है, उसी की उपासना करे॥ २३॥

अनन्तकर्म शौचं च जपो यज्ञस्तथैव च। तीर्थयात्राभिगमनं यावत्तत्त्वं न विन्दति ॥ २४॥

विभिन्न कर्म-शौच,जप,यज्ञ, तीर्थयात्रा आदि की सार्थकता तभी तक है,जब तक तत्त्व की प्राप्ति न हो॥

अहं ब्रह्मेति नियतं मोक्षहेतुर्महात्मनाम्। द्वे पदे बन्धमोक्षाय न ममेति ममेति च॥ २५॥

'मैं ब्रह्म हूँ' यही भाव महात्मा पुरुषों के मोक्ष का आधार होता है। बन्धन और मोक्ष के कारण रूप ये ही दो पद हैं, 'यह मेरा है' (बन्धन), 'यह मेरा नहीं है' (मोक्ष)॥ २५॥

ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते। मनसो ह्युन्मनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥ २६॥

मेरा है, यह भाव बन्धन में डालता है और मेरा नहीं है, यह भाव मोक्ष प्रदान करता है। जब मन उन्मनी अवस्था (भाव) को प्राप्त हो जाता है, तब द्वैत भाव समाप्त हो जाता है॥ २६॥

यदा यात्युन्मनीभावस्तदा तत्परमं पदम्। यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परं पदम्॥ २७॥

जब उन्मनी भाव प्राप्त हो जाता है, तभी परम पद प्राप्त होता है। उस अवस्था में जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहीं-वहीं परम पद है॥ २७॥

तत्र तत्र परं ब्रह्म सर्वत्र समवस्थितम्। हन्यान्मुष्टिभिराकाशं क्षुधार्तः खण्डयेत्तुषम्। नाहंब्रह्मेति जानाति तस्य मुक्तिर्न जायते॥ २८॥

परब्रह्म यत्र-तत्र-सर्वत्र अवस्थित है, पर जो व्यक्ति यह नहीं जानता कि ' मैं ब्रह्म हूँ' उसकी मुक्ति उसी प्रकार नहीं होती (अथवा मुक्ति के लिए किया गया प्रयास निष्फल जाता है), जिस प्रकार कोई आकाश में मुष्टि प्रहार करे या भूखा व्यक्ति चावल प्राप्त करने के लिए भूसी को कूटे॥ २८॥

य एतदुपनिषदं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स आदित्यपूतो भवति। स ब्रह्मपूतो भवति। स विष्णुपूतो भवति। स रुद्रपूतो भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सर्वेषु वेदेष्वधीतो भवति। स सर्ववेदव्रतचर्यासु चरितो भवति। तेनेतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति। प्रणवानामयुतं जप्तं भवति। दश पूर्वान्दशोत्तरान्पुनाति। स पङ्क्तिपावनो भवति। स महान्भवति। ब्रह्महत्यासुरापानस्वर्णस्तेयगुरुतल्पगमनतत्संयोगिपातकेभ्यः पूतो भवति॥ २९॥

जो इस उपनिषद् का नित्य पाठ करता है (अध्ययन करता है), वह अग्नि के समान, वायु के समान, आदित्य के समान, ब्रह्म के समान, विष्णु के समान और रुद्र के समान पवित्र होता है। वह समस्त तीर्थों में स्नान किए हुए के समान होता है, समस्त वेदों का ज्ञाता होता है, समस्त वेदों में वर्णित व्रतों का पालन करने वाला होता है। उसे इतिहास-पुराण आदि के अध्ययन तथा एक लक्ष रुद्रमन्त्र के जप का फल प्राप्त होता है। उसे दस सहस्र 'प्रणव' नाम के जप का फल मिलता है। उसके पूर्व की दस और बाद की दस पीढ़ियाँ पवित्र हो जाती हैं। वह साथ में बैठने वालों को पवित्र करता है, जिसके कारण 'पंक्ति पावन' हो जाता है। वह महान् होता है। वह ब्रह्महत्या, सुरापान, सुवर्ण की चोरी, गुरुपत्नी-गमन तथा ऐसे महापातक करने वालों की संगति से उत्पन्न पातकों से मुक्त (पवित्र) हो जाता है॥ २९॥

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥ ३०॥

ज्ञानीजन विश्वव्यापी भगवान् विष्णु के परमपद को द्युलोक में व्याप्त दिव्य प्रकाश की भाँति देखते हैं॥

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम्। ॐ सत्यमित्युपनिषद्॥ ३१॥

वे विप्र (ब्रह्मनिष्ठ जीवनयापन करने वाले) आलस्य प्रमादादि से रहित, सदैव श्रेष्ठ कर्म करने वाले साधक विष्णु (अन्तर्यामी परमेश्वर) के परम पद को प्राप्त करते हैं। यह बात सत्य है-ऐसी यह उपनिषद् (रहस्यमयी विद्या) है॥ ३१॥

ॐ पूर्णमदः..... इति शान्तिः॥

॥ इति पैङ्गलोपनिषत्समाप्ता॥

॥ ब्रह्मबिन्दूपानषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसका दूसरा नाम 'अमृतबिन्दूपनिषद्' भी है। इसमें कुल २२ मन्त्र हैं, जिसमें ब्रह्म के अनुसन्धान (साक्षात्कार) का क्रमिक स्वरूप वर्णित हुआ है।

'मन ही मनुष्य के बन्धन एवं मोक्ष का कारणभूत है'-इस शाश्वत तथ्य के उद्घाटन के साथ उपनिषद् का शुभारम्भ हुआ है। 'मन' को निर्विषय बनाकर मुक्ति की प्राप्ति, निर्विषय बनाने की विधि, स्वर (प्रणव) तथा अस्वर द्वारा व्यक्त एवं अव्यक्त 'ब्रह्म' का अनुसन्धान, तीनों अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) में एक ही आत्मतत्त्व की स्थिति, आत्मा का शाश्वत-स्वरूप, माया से जीवात्मा का आवृत होना, अज्ञानान्धकार के विनष्ट होने पर जीवात्मा-परमात्मा के एकत्व का बोध, दूध में विद्यमान घृत की तरह चिन्तन-मनन रूप मन्थन द्वारा परमात्मतत्त्व की प्राप्ति और अन्ततः स्वयं के रूप में उस (परमात्मतत्त्व) की अनुभूति-यही सब वर्ण्य विषय हैं, इस ब्रह्मबिन्दूपनिषद् के ये सभी विषय बड़े सरल ढंग से इस उपनिषद् में प्रतिपादित हुए हैं।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु.....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अवधूतोपनिषद्)

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च। अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम्॥ १ ॥

मन के दो प्रकार कहे गये हैं, शुद्ध मन और अशुद्ध मन। जिसमें इच्छाओं, कामनाओं के संकल्प उत्पन्न होते हैं,वह अशुद्ध मन है और जिसमें इन समस्त इच्छाओं का सर्वथा अभाव हो गया है,वही शुद्ध मन है॥ १ ॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥ २ ॥

मन ही सभी मनुष्यों के बन्धन एवं मोक्ष का प्रमुख कारण है। विषयों में आसक्त मन बन्धन का और कामना-संकल्प से रहित मन ही मोक्ष (मुक्ति) का कारण कहा गया है॥ २ ॥

यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते । अतो निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा॥ ३ ॥
निरस्तविषयासङ्गं संनिरुद्धं मनो हृदि। यदा यात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥ ४ ॥

विषय-भोगों के संकल्प से रहित होने पर ही इस मन का विलय होता है। अतः मुक्ति की इच्छा रखने वाला साधक अपने मन को सदा ही विषयों से दूर रखे। इसके अनन्तर जब मन से विषयों की आसक्ति निकल जाती है तथा वह हृदय में स्थिर होकर उन्मनी भाव को प्राप्त हो जाता है, तब वह उस परमपद को प्राप्त कर लेता है॥ ३-४ ॥

तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदि गतं क्षयम्। एतज्ज्ञानं च मोक्षं च अतोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः॥ ५ ॥

मनुष्य को अपना मन तभी तक रोकने का प्रयास करना चाहिए, जब तक कि वह हृदय में विलीन नहीं हो जाता। मन का हृदय में लीन हो जाना ही ज्ञान और मुक्ति है, इसके अतिरिक्त और जो कुछ भी है, वह सब ग्रन्थ का मात्र विस्तार ही है॥ ५ ॥

नैव चिन्त्यं न चाचिन्त्यमचिन्त्यं चिन्त्यमेव च। पक्षपातविनिर्मुक्तं ब्रह्म संपद्यते तदा॥ ६ ॥

जब चिन्तनीय और अचिन्तनीय का उस (साधक) के समक्ष कोई अन्तर न रह जाए तथा दोनों में से किसी के प्रति भी मन का पक्षपात भी न रह जाए , तब साधक ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है॥ ६ ॥

स्वरेण संधयेद्योगमस्वरं भावयेत्परम्। अस्वरेण हि भावेन भावो नाभाव इष्यते॥ ७॥

(साधक को) स्वर अर्थात् प्रणव के द्वारा व्यक्त ब्रह्म की अनुभूति करनी चाहिए तथा इसके पश्चात् अस्वर द्वारा (प्रणव से अतीत) अव्यक्त ब्रह्म का चिन्तन करे। प्रणवातीत उस श्रेष्ठ परब्रह्म की प्राप्ति भावना के माध्यम से भाव-रूप में होती है, अभाव रूप में नहीं॥ ७॥

तदेव निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम्। तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ब्रह्म संपद्यते ध्रुवम्॥ ८॥

वह ब्रह्म कलाओं से रहित (एक रस-प्राणादि कलाओं से ऊपर), निर्विकल्प एवं निरञ्जन अर्थात् माया और मल से रहित है। 'वह ब्रह्म मैं ही हूँ', इस प्रकार जान करके मनुष्य निश्चित ही ब्रह्ममय हो जाता है॥

निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितम्। अप्रमेयमनादिं च यत् ज्ञात्वा मुच्यते बुधः॥ ९॥

निर्विकल्प, अन्तरहित (अनन्त), हेतु और दृष्टान्त से शून्य, प्रपञ्च से रहित, अनादि, परम कल्याणमय परब्रह्म को जानकर विद्वान् पुरुष स्वयमेव मुक्त हो जाता है॥ ९॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षा न मुक्तिश्च इत्येषा परमार्थता॥ १०॥

न निरोध (प्रलय) है, न उत्पत्ति है, न बन्धन है और न ही (मोक्ष) साधकता है, न मुक्ति की इच्छा है और न ही मुक्ति है। इस तरह का निश्चय होना ही परमार्थ बोध अर्थात् वास्तविक ज्ञान है॥ १०॥

एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु। स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥ ११॥

शरीर की इन तीनों जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में एक ही आत्मतत्त्व का सम्बन्ध मानना चाहिए। जो भी व्यक्ति इन तीनों अवस्थाओं से परे हो गया है,उस व्यक्ति का दूसरा जन्म फिर नहीं होता॥११॥

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ १२॥

समस्त भूत प्राणियों का एक ही अन्तर्यामी हर एक प्राणी के अन्तःकरण में विद्यमान है। अलग-अलग जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा की तरह वही एक, अनेक रूपों में दिखाई देता है॥ १२॥

घटसंवृतमाकाशं लीयमाने घटे यथा। घटो लीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो नभोपमः ॥ १३॥

घट (घड़े) में आकाश तत्त्व पूर्णरूप से विद्यमान है; किन्तु जिस प्रकार घड़े के क्षत-विक्षत होने पर मात्र घड़े का ही विनाश होता है, उसमें भरे हुए आकाश तत्त्व का नहीं, उसी प्रकार शरीर धारण करने वाला जीव भी आकाश के ही सदृश है। शरीर के विनष्ट होने से आत्मा का विनाश नहीं होता, वह शाश्वत है॥ १३॥

घटवद्विविधाकारं भिद्यमानं पुनः पुनः। तद्भग्नं न च जानाति स जानाति च नित्यशः॥ १४ ॥

समस्त जीव-प्राणियों का भिन्न-भिन्न शरीर, घट के ही समान है, जो बार-बार टूटता-फूटता या विनाश को प्राप्त होता रहता है। यह विनाश को प्राप्त होने वाला जड़ शरीर अपने अन्तःकरण में विद्यमान चिन्मय परब्रह्म को नहीं जानता; किन्तु वह सभी का साक्षी परमात्मा, सभी शरीरों को सदा से जानता रहता है॥ १४॥

शब्दमायावृतो यावत्तावत्तिष्ठति पुष्करे। भिन्ने तमसि चैकत्वमेकमेवानुपश्यति ॥ १५॥

जब तक नाम-रूपात्मक अस्तित्व रखने वाली माया के द्वारा (यह) जीवात्मा आवृत रहता है, तब तक बँधे हुए की भाँति हृदय-कमल में स्थित रहता है, जब अज्ञान रूपी अन्धकार का विनाश हो जाता है, तब ज्ञान रूपी प्रकाश में विद्वान् पुरुष जीवात्मा एवं परमात्मा के एकत्व का दर्शन प्राप्त कर लेता है॥ १५॥

शब्दाक्षरं परं ब्रह्म तस्मिन्क्षीणे यदक्षरम्। तद्विद्वानक्षरं ध्यायेद्यदीच्छेच्छान्तिमात्मनः ॥ १६॥

शब्द ब्रह्म (प्रणव) और परब्रह्म दोनों ही अक्षर हैं। इन दोनों में से जिस किसी एक के क्षीण होने पर शेष जो अक्षय की स्थिति में बना रहता है, वह (परब्रह्म) ही वास्तविक अक्षर (अविनाशी) है। विद्वान्

पुरुष यदि शान्ति चाहते हों, तो उन्हें उस अक्षर रूप परब्रह्म का ही चिन्तन करना चाहिए॥ १६॥

द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति॥ १७॥

दो विद्याएँ जानने योग्य हैं, प्रथम विद्या को 'शब्द ब्रह्म' और दूसरी विद्या को 'परब्रह्म' के नाम से जाना जाता है। 'शब्द ब्रह्म' अर्थात् वेद-शास्त्रों के ज्ञान में निष्णात होने पर विद्वान् मनुष्य परब्रह्म को जानने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है॥ १७॥

ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्त्वतः। पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः॥ १८॥

ज्ञानी मनुष्य को चाहिए कि ग्रन्थ का अभ्यास करने के पश्चात् उसमें निहित ज्ञान-विज्ञान को (मूलतत्त्व को) ग्रहण कर ले, तदनन्तर ग्रन्थ को त्याग देना चाहिए। ठीक उसी भाँति, जैसे कि धान्य (अन्न) को प्राप्त करने वाला व्यक्ति अन्न तो प्राप्त कर लेता है और पुआल को खलिहान में ही छोड़ देता है॥ १८॥

गवामनेकवर्णानां क्षीरस्याप्येकवर्णता। क्षीरवत्पश्यते ज्ञानं लिङ्गिनस्तु गवां यथा ॥ १९॥

अनेक रूप-रंगों वाली गौओं का दुग्ध एक ही रंग का होता है। ठीक वैसे ही बुद्धिमान् व्यक्ति अनेक साम्प्रदायिक चिह्नों को धारण करने वाले मनुष्यों के विवेक को भी गौओं के दूध की तरह ही देखता है। बाहर के चिह्न-भेद से ज्ञान में किसी भी तरह का अन्तर नहीं आने पाता॥ १९॥

घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते च वसति विज्ञानम्।
सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थानभूतेन॥ २०॥

जिस प्रकार दूध में घृत (घी) मूल रूप से छिपा रहता है, उसी तरह ही प्रत्येक प्राणी के अन्तः-करण में विज्ञान (चिन्मय ब्रह्म) स्थित रहता है। जैसे घृत प्राप्ति के लिए दूध का मंथन किया जाता है, वैसे ही विज्ञान स्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति के लिए मन को मथानी रूप में परिणत करके सतत मन्थन (ध्यान एवं विचार) करते रहना चाहिए॥ २०॥

ज्ञाननेत्रं समादाय चोद्धरेद्वह्निवत् परम्। निष्कलं निश्चलं शान्तं तद्ब्रह्माहमिति स्मृतम्॥ २१॥

इसके पश्चात् ज्ञान दृष्टि प्राप्त करके अग्नि के सदृश तेजःस्वरूप परमात्मा का इस भाँति अनुभव करें कि वह कला शून्य, निश्चल एवं अतिशान्त परब्रह्म मैं स्वयं ही हूँ। यही विज्ञान कहा गया है॥ २१॥

सर्वभूताधिवासं च यद्भूतेषु वसत्यपि।
सर्बानुग्राहकत्वेन तदस्म्यहं वासुदेवः तदस्म्यहं वासुदेव इति॥ २२॥

जिसमें समस्त भूत प्राणियों का निवास है, जो स्वयं भी सभी भूत प्राणियों के हृदय में स्थित है एवं सभी पर अहैतुकी कृपा करने के कारण प्रसिद्ध है। वह सभी आत्माओं में स्थित वासुदेव मैं ही हूँ, वह सर्वात्मा वासुदेव मैं स्वयं ही हूँ। इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हुई॥ २२॥

ॐ सह नाववतु..... इति शान्तिः॥

॥ इति ब्रह्मबिन्दूपनिषत्समाप्ता॥

॥ ब्रह्मविद्योपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें ब्रह्म की प्राप्ति के उपाय और उसके स्वरूप का विशद विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम ब्रह्मविद्या के रहस्यभूत प्रणव ब्रह्म का उल्लेख करते हुए प्रणव की चार मात्राओं की विवेचना है। जीव का स्वरूप, बन्ध-मोक्ष का कारण, हंस विद्या द्वारा परमेश्वर की प्राप्ति, सकल और निष्कल ब्रह्म का स्वरूप, केवल शास्त्रीय ज्ञान एवं आचरण से पाप-पुण्य की प्राप्ति, प्रणव-हंस का अनुसन्धान ही प्रत्यक्ष यजन, हंस-मंत्र के अभ्यास से समाधि की प्राप्ति, हंस योग का अभ्यास क्रम तथा हंस योगी द्वारा आत्मा के स्वरूप का चिन्तन इत्यादि विषयों का क्रमशः विवेचन किया गया है। ये सभी विषय 'ब्रह्म' के तात्त्विक स्वरूप को स्पष्ट करते हैं, इसलिए इस उपनिषद् की 'ब्रह्मविद्या' यह संज्ञा सार्थक ही है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य अवधूतोपनिषद्)

अथ ब्रह्मविद्योपनिषदुच्यते।

प्रसादाद्ब्रह्मणस्तस्य विष्णोरद्भुतकर्मणः। रहस्यं ब्रह्मविद्याया ध्रुवाग्निं संप्रचक्षते॥ १ ॥

अब 'ब्रह्मविद्या' नामक उपनिषद् का वर्णन करते हैं-अद्भुत एवं श्रेष्ठ कर्म करने वाले विष्णु रूप परब्रह्म की कृपा से ध्रुवाग्नि (अटल अग्नि या ज्ञान) के स्वरूप वाली ब्रह्मविद्या का रहस्य बताया जाता है ॥१॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म यदुक्तं ब्रह्मवादिभिः। शरीरं तस्य वक्ष्यामि स्थानं कालत्रयं तथा॥ २ ॥

जिस प्रकार ब्रह्म को प्रणव के एक अक्षर (ॐ) के रूप में ब्रह्मज्ञानियों ने कहा है। उसी प्रकार उस (ब्रह्मविद्या) के शरीर, स्थान एवं तीन काल का वर्णन करता हूँ॥ २ ॥

[ब्रह्म की अक्षरात्मक अभिव्यक्ति ॐ से की जाती है, इसलिए ऋषि यहाँ उसको स्पष्ट कर रहे हैं।]

तत्र देवास्त्रयः प्रोक्ता लोका वेदास्त्रयोऽग्नयः। तिस्रो मात्रार्धमात्रा च त्र्यक्षरस्य शिवस्य तु॥३ ॥

उस ओंकार में तीन देवता, तीन लोक, तीन वेद (ऋक्, यजुः, साम) और तीन अग्नियाँ हैं। शिव स्वरूप इस त्र्यक्षर की तीन और आधी मात्राएँ (अकार, उकार, मकार और अनुस्वार) हैं॥ ३ ॥

ऋग्वेदो गार्हपत्यं च पृथिवी ब्रह्म एव च। अकारस्य शरीरं तु व्याख्यातं ब्रह्मवादिभिः॥ ४॥

ब्रह्मज्ञानियों ने 'अ' कार का शरीर ऋग्वेद, गार्हपत्य अग्नि, पृथिवी तत्त्व और ब्रह्मा को बतलाया है॥४॥

यजुर्वेदोऽन्तरिक्षं च दक्षिणाग्निस्तथैव च। विष्णुश्च भगवान्देव उकारः परिकीर्तितः॥ ५॥

'उ' कार का शरीर यजुर्वेद, दक्षिणाग्नि, आकाशतत्त्व तथा भंगवान् विष्णु को बताया है॥ ५ ॥

सामवेदस्तथा द्यौश्चाहवनीयस्तथैव च। ईश्वरः परमो देवो मकारः परिकीर्तितः॥ ६ ॥

'म' कार का शरीर सामवेद, आहवनीय अग्नि, द्युलोक, ईश्वर और परमदेव को कहा गया है॥ ६ ॥

सूर्यमण्डलमध्येऽथ ह्यकारः शङ्खमध्यगः। उकारश्चन्द्रसंकाशस्तस्य मध्ये व्यवस्थितः॥ ७॥
मकारस्त्वग्निसंकाशो विधूमो विद्युतोपमः। तिस्रो मात्रास्तथा ज्ञेयाः सोमसूर्याग्निरूपिणः॥८ ॥

शंख के मध्य भाग की तरह 'अ' कार सूर्य मण्डल के मध्य में प्रतिष्ठित है और चन्द्रमा के सदृश 'उ' कार उसी चन्द्र मण्डल में स्थित है। निर्धूम (धूम रहित) अग्नि और विद्युत् में अग्नि सदृश 'म'कार प्रतिष्ठित है। इस तरह से तीन मात्राओं को सूर्य, चन्द्र, अग्नि के रूप में जानना चाहिए॥ ७-८ ॥

शिखा तु दीपसंकाशा तस्मिन्नुपरि वर्तते। अर्धमात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता ॥ ९॥

जिस तरह से दीपक की शिखा (लौ) ऊपर की ओर रहती है, इसी तरह से प्रणव के ऊपर की अर्द्धमात्रा की स्थिति को जानना चाहिए॥ ९॥

[दीपक की लौ सदा ऊर्ध्वमुखी होती है। अनुस्वार नासिका मूल-मस्तिष्क के उच्च भाग में गुंजरित होता है। इस मात्रा के कारण अ, उ,म् का संयुक्त स्वर ऊर्ध्वोन्मुख हो उठता है, इसलिए इसे ज्योति के अनुरूप कहा गया है।]

पद्मसूत्रनिभा सूक्ष्मा शिखा सा दृश्यते परा। सा नाडी सूर्यसंकाशा सूर्यं भित्त्वा तथा परा ॥ १०
द्विसप्ततिसहस्त्राणि नाडीं भित्त्वा च मूर्धनि। वरदः सर्वभूतानां सर्वं व्याप्येव तिष्ठति ॥ ११॥

वह शिखा (लौ) पद्म सूत्र के सदृश दृष्टिगोचर होती है। सूर्य सदृश वह नाड़ी सूर्य का भेदन करके तथा बहत्तर हजार नाड़ियों का भेदन करके मूर्धा में प्रतिष्ठित होने वाली, सभी प्राणियों को वरदान प्रदान करने वाली एवं सबको व्याप्त करके स्थित रहने वाली है॥ १०-११॥

कांस्यघण्टानिनादस्तु यथा लीयति शान्तये। ओङ्कारस्तु तथा योज्यः शान्तये सर्वमिच्छता ॥१२

काँस्य (ताँबा तथा टीन से मिलकर बनी) धातु निर्मित घण्टे का शब्द जिस प्रकार शान्ति प्रदान करता हुआ विलीन हो जाता है, उसी प्रकार ॐ कार की साधना द्वारा सभी तरह की इच्छाएँ शान्त हो जाती हैं॥१२॥

यस्मिन्विलीयते शब्दस्तत्परं ब्रह्म गीयते। धियं हि लीयते ब्रह्म सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ १३॥

जिस (तत्त्व) में शब्द विलीन हो जाता है, उसे परब्रह्म कहा गया है। जो बुद्धि ब्रह्म में विलीन हो जाती है, वह अमृत स्वरूप-ब्रह्म स्वरूप कही गई है॥ १३॥

वायुस्तेजस्तथाकाशस्त्रिविधो जीवसंज्ञकः। स जीवः प्राण इत्युक्तो वालाग्रशतकल्पितः॥१४॥

वायु, तेज तथा आकाश इन तीनों से जीव की उपमा दी जाती है। इस जीव का प्रमाण (आकार) बाल की नोक का सौवाँ भाग (अति सूक्ष्म) कल्पित किया गया है॥ १४॥

नाभिस्थाने स्थितं विश्वं शुद्धतत्त्वं सुनिर्मलम्। आदित्यमिव दीप्यन्तं रश्मिभिश्चाखिलं शिवम्॥

वह (जीव) विश्व (संज्ञक), शुद्ध तत्त्व, निर्मल स्वरूप नाभि प्रदेश (नाभिक-न्यूक्लियस) में प्रतिष्ठित है। वह सूर्य के सदृश सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करने वाला और कल्याणकारी है॥ १५॥

सकारं च हकारं च जीवो जपति सर्वदा। नाभिरन्ध्राद्विनिष्क्रान्तं विषयव्याप्तिवर्जितम्॥ १६॥

जीव (श्वासोच्छ्वास के रूप में) 'स' कार और 'ह' कार (सोऽहं का जप) सर्वदा करता है, इस के प्रभाव से वह जीव नाभिरंध्र से उत्क्रमण करता रहता है और उसे किसी प्रकार के विषय व्याप्त नहीं करते॥

तेनेदं निष्कलं विद्यात्क्षीरात्सर्पिर्यथा तथा। कारणेनात्मना युक्तः प्राणायामैश्च पञ्चभिः॥१७॥

दुग्ध से (मथकर निकाले गये) घृत की भाँति उस निष्कल (कला रहित), सबके कारण रूप आत्म तत्त्व को प्राण के पाँच आयामों द्वारा जाना जाता है। (देह के पाँचों तत्त्वों में प्राण तत्त्व प्रवाहित होते हैं। इन पाँचों में प्रवाहित प्राण के पाँच आयाम माने गये हैं)॥ १७॥

चतुष्कलासमायुक्तो भ्राम्यते च हृदि स्थितः। गोलकस्तु यदा देहे क्षीरदण्डेन वाऽहतः॥१८॥

जिस प्रकार मथने वाले दण्ड से दुग्ध को मथा जाता है, उसी प्रकार चार कलाओं से युक्त हृदय में स्थित प्राण तत्त्व को (श्वास-प्रश्वास को) शरीर में भ्रमण कराया जाता है॥ १८॥

एतस्मिन्वसते शीघ्रमविश्रान्तं महाखगः। यावन्निःश्वसितो जीवस्तावन्निष्कलतां गतः ॥ १९॥

इस (शरीर) में शीघ्रगामी महापक्षी (खग रूपी जीव) विश्राम न करता हुआ निवास करता है। जब श्वास रुक जाता है, तब जीव निष्कल (कला रहित) हो जाता है॥ १९॥

[ऋषि ने हृदय को चार कलाओं-विभागों वाला कहा है। वर्तमान शरीर विज्ञानी भी इसे बायें एवं दायें ऑरिकल तथा बायें एवं दायें बेन्ट्रिक इन चार भागों में ही बँटा हुआ मानते हैं।]

नभस्थं निष्कलं ध्यात्वा मुच्यते भवबन्धनात्। अनाहतध्वनियुतं हंसं यो वेद हृद्गतम् ॥ २० ॥
स्वप्रकाशचिदानन्दं स हंस इति गीयते। रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भकेन स्थितः सुधीः ॥ २१ ॥
नाभिकन्दे समौ कृत्वा प्राणापानौ समाहितः। मस्तकस्थामृतास्वादं पीत्वा ध्यानेन सादरम्॥२२
दीपाकारं महादेवं ज्वलन्तं नाभिमध्यमे। अभिषिच्यामृतेनैव हंसहंसेति यो जपेत्॥ २३॥
जरामरणरोगादि न तस्य भुवि विद्यते। एवं दिने दिने कुर्यादणिमादिविभूतये ॥ २४॥

आकाश में स्थित निष्कल तत्त्व का चिन्तन करता हुआ, वह भव-बन्धन से मुक्त हो जाता है। जो पुरुष हृदय में स्थित इस अनाहत ध्वनि युक्त, प्रकाशयुक्त, चिदानन्द 'हंस' को जानता है, वह हंस कहा जाता है। जो ज्ञानी पुरुष रेचक और पूरक को त्याग करके कुम्भक में स्थित होकर प्राण एवं अपान को एक करके मस्तक में प्रतिष्ठित अमृत को ध्यानपूर्वक आदर सहित पीता है तथा जो नाभि के मध्य में दीपक की तरह सुप्रकाशित महादेव पर अमृत का सिंचन करता हुआ 'हंस-हंस' का जप करता है, उसे पृथ्वी पर निवास करते हुए जरा, मरण, रोग आदि विकार नहीं होते तथा वह अणिमादि सिद्धियों-विभूतियों का अधिकारी हो जाता है॥२०-२४

[सोऽहं को उलटने पर हंसः बनता है। हंस उस प्राण रूप जीव को कहा गया है। वह हंस इस परमात्म तत्त्व को लक्ष्य करके 'सोऽहं' मैं वही हूँ यह भाव करता है, तो वह पदार्थगत विकारों से प्रभावित नहीं होता]

ईश्वरत्वमवाप्नोति सदाभ्यासरतः पुमान्। बहवो नैकमार्गेण प्राप्ता नित्यत्वमागताः॥ २५ ॥

जो ज्ञानी पुरुष सदा ही इस (ब्रह्मविद्या) के अभ्यास में लगा रहता है, उसे ईश्वरत्व की प्राप्ति हो जाती है। अनेक पुरुष इसी एक ही पथ के द्वारा नित्य पद को प्राप्त कर चुके हैं॥ २५॥

हंसविद्यामृते लोके नास्ति नित्यत्वसाधनम्। यो ददाति महाविद्यां हंसाख्यां पारमेश्वरीम्॥२६॥
तस्य दास्यं सदा कुर्यात्प्रज्ञया परया सह। शुभं वाऽशुभमन्यद्वा यदुक्तं गुरुणा भुवि॥ २७॥
तत्कुर्यादविचारेण शिष्यः संतोषसंयुतः। हंसविद्यामिमां लब्ध्वा गुरुशुश्रूषया नरः ॥ २८॥

हंस रूपी विद्यामृत के सदृश नित्यत्व का इस जगत् में और कोई साधन नहीं है। जो ज्ञानी मनुष्य इस हंस नाम की परम पावन परमेश्वरी महाविद्या को प्रदान करता है, उसकी सर्वदा ज्ञानपूर्वक प्रजा के सहित सेवा करनी चाहिए। गुरु जो कुछ शुभ या अशुभ आदेश दे,उसका पालन शिष्य को बिना कुछ विचार किये सन्तोष वृत्ति से सतत करना चाहिए। इस हंस विद्या को गुरु से प्राप्त करके मनुष्य सदा ही गुरु की शुश्रूषा करे॥

आत्मानमात्मना साक्षादब्रह्म बुद्धवा सुनिश्चलम्। देहजात्यादिसंबन्धान्वर्णाश्रमसमन्वितान्॥२९
वेदशास्त्राणि चान्यानि पदपांसुमिव त्यजेत्। गुरुभक्तिं सदा कुर्याच्छ्रेयसे भूयसे नरः ॥ ३०॥

गुरु की सहायता से आत्मा द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करके तथा ब्रह्म को निश्चयपूर्वक बुद्धि द्वारा जान करके वर्णाश्रम, जाति आदि के सम्बन्ध एवं वेद तथा शास्त्रों की बातों को निःसंकोच भाव से त्याग कर, गुरु की सदा ही सेवा-शुश्रूषा करे। इसी से मनुष्य का सच्चा कल्याण होता है॥ २९-३०॥

गुरुरेव हरिः साक्षान्नान्य इत्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥ ३१॥

गुरु ही स्वयं साक्षात् हरि हैं, कोई और अन्य नहीं, ऐसा श्रुति का कथन है॥ ३१॥

श्रुत्या यदुक्तं परमार्थमेव तत्संशयो नात्र ततः समस्तम्।
श्रुत्या विरोधे न भवेत्प्रमाणं भवेदनर्थाय विना प्रमाणम्॥ ३२॥

श्रुति का कथन संशयरहित परमार्थ रूप ही है। श्रुति का विरोध होने पर अन्य और कुछ भी प्रमाण नहीं है। जो बिना प्रमाण होगा, वह अनर्थकारी अर्थात् हानिकारक होगा॥ ३२॥

देहस्थः सकलो ज्ञेयो निष्कलो देहवर्जितः। आप्तोपदेशगम्योऽसौ सर्वतः समवस्थितः ॥३३॥

देह में स्थित (चेतना) को सकल (कला या विभागयुक्त) तथा देहरहित (परम चेतना) को 'निष्कल' (कलारहित) जानना चाहिए। आप्त गुरु के उपदेश से ज्ञात होने वाला यह तत्त्व सर्वत्र समभाव से प्रतिष्ठित है॥

हंसहंसेति यो ब्रूयाद्धंसो ब्रह्मा हरिः शिवः। गुरुवक्त्रात्तु लभ्येत प्रत्यक्षं सर्वतोमुखम्॥ ३४॥

जो ज्ञानी पुरुष हंस-हंस बोलता (सोऽहं साधनारत रहता) है, वह ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव का कल्याणकारी रूप है। वह गुरु के उपदेश से सर्वतोमुख वाले (सर्वत्र व्याप्त) ब्रह्म को जानने में समर्थ हो सकता है॥ ३४॥

तिलेषु च यथा तैलं पुष्पे गन्ध इवाश्रितः। पुरुषस्य शरीरेऽस्मिन्स बाह्याभ्यन्तरे तथा ॥ ३५॥

जिस प्रकार तिलों में तैल एवं पुष्पों में गंध विद्यमान रहता है, उसी प्रकार पुरुष के इस शरीर में बाहर-भीतर वही ब्रह्म विद्यमान रहता है॥ ३५॥

उल्काहस्तो यथालोके द्रव्यमालोक्य तां त्यजेत्। ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चाज्ज्ञानं परित्यजेत्॥३६

जिस प्रकार मशाल के प्रकाश से द्रव्य (वस्तु) को देख करके मशाल का परित्याग कर दिया जाता है, उसी प्रकार ज्ञान के माध्यम से ज्ञातव्य विषय की प्राप्ति हो जाने पर ज्ञान का परित्याग कर दिया जाता है॥ ३६॥

पुष्पवत्सकलं विद्याद्गन्धस्तस्य तु निष्कलः। वृक्षस्तु सकलं विद्याच्छाया तस्य तु निष्कला॥३७

'सकल' अर्थात् कलायुक्त को पुष्प की भाँति एवं उसकी गंध को 'निष्कल' (कलारहित) की भाँति माने अथवा 'सकल' वृक्ष के सदृश है और उसकी छाया निष्कल (कलारहित) है॥ ३७॥

निष्कलः सकलो भावः सर्वत्रैव व्यवस्थितः। उपायः सकलस्तद्वदुपेयश्चैव निष्कलः ॥ ३८॥

(ऊपर कहे अनुसार) निष्कल एवं सकल भाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। कला सम्पन्न वस्तु उपाय या साधन है तथा उपेय या साध्य (ब्रह्म) कलारहित है॥ ३८॥

सकले सकलो भावो निष्कले निष्कलस्तथा। एकमात्रो द्विमात्रश्च त्रिमात्रश्चैव भेदतः॥३९॥
अर्धमात्रा परा ज्ञेया तत ऊर्ध्वं परत्परम्। पञ्चधा पञ्चदैवत्यं सकलं परिपठ्यते ॥ ४०॥

सकल में कलायुक्त भाव तथा निष्कल(अखण्ड-निर्विकार) में निष्कल भाव रहता है। (वह सकल) एक मात्रा, दो मात्रा एवं तीन मात्रा के भेद वाला अर्धमात्रा को पर मानना चाहिए, उसके ऊपर परात्पर है। (इस प्रकार) सकल पाँच दैवत वाला पाँच प्रकार का (पंच प्राण एवं पंचभूतात्मक)जानना चाहिए॥ ३९-४०॥

ब्रह्मणो हृदयस्थानं कण्ठे विष्णुः समाश्रितः। तालुमध्ये स्थितो रुद्रो ललाटस्थो महेश्वरः॥४१

ब्रह्म का स्थान हृदय में है, विष्णु कण्ठ में निवास करते हैं, तालु में भगवान् रुद्र तथा ललाट (मस्तक) में महेश्वर स्थित हैं॥ ४१॥

नासाग्रे अच्युतं विद्यात्तस्यान्ते तु परं पदम्। परत्वात्तु परं नास्तीत्येवं शास्त्रस्य निर्णयः॥४२॥

नासिका के अग्रभाग में अच्युत (सदाशिव) तथा उसके अन्तिम भाग (भ्रूमध्य) में परम पद को प्रतिष्ठित जानना चाहिए। (उस) पर (श्रेष्ठ) से पर (श्रेष्ठ) और कुछ भी नहीं है, ऐसा शास्त्रों का निर्णय है॥

देहातीतं तु तं विद्यान्नासाग्रे द्वादशाङ्गुलम्। तदन्तं तं विजानीयात्तत्रस्थो व्यापयेत्प्रभुः ॥ ४३॥

उस देहातीत को नासिका के अग्र भाग से बारह अंगुल ऊपर जानना चाहिए तथा उसके अन्तिम भाग (सहस्रार चक्र) में व्यापक प्रभु को स्थित जानना चाहिए॥ ४३॥

मनोऽप्यन्यत्र निक्षिप्तं चक्षुरन्यत्र पातितम्। तथापि योगिनां योगो ह्यविच्छिन्नः प्रवर्तते॥४४॥

मन चाहे इधर-उधर चला जाये और चाहे नेत्र अन्यत्र ही देखते रहें, तब भी योगियों का योग अविच्छिन्न भाव से चलता रहता है॥ ४४॥

एतत्तु परमं गुह्यमेतत्तु परमं शुभम्। नातः परतरं किंचिन्नातः परतरं शुभम् ॥ ४५॥

यह सबसे गूढ़ रहस्य है,यही सर्वाधिक श्रेष्ठ है, इससे बढ़कर तथा इससे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है॥४५

शुद्धज्ञानामृतं प्राप्य परमाक्षरनिर्णयम्। गुह्याद्गुह्यतमं गोप्यं ग्रहणीयं प्रयत्नतः ॥ ४६॥

शुद्ध ज्ञानामृत को प्राप्त करके परम अक्षर तत्त्व का निर्णय करना चाहिए। यह गुह्य से गुह्य एवं गोपनीय है, जो प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करने योग्य है॥ ४६॥

नापुत्राय प्रदातव्यं नाशिष्याय कदाचन। गुरुदेवाय भक्ताय नित्यं भक्तिपराय च॥ ४७॥
प्रदातव्यमिदं शास्त्रं नेतरेभ्यः प्रदापयेत्। दाताऽस्य नरकं याति सिध्यते न कदाचन॥ ४८॥

यह ब्रह्मविद्या न तो अपुत्र को देनी चाहिए और न ही अशिष्य को कभी देनी चहिए। यह विद्या उसी को देनी चाहिए, जो गुरु का सच्चा भक्त हो। सदा नित्य भक्ति परायण रहे, इस शास्त्र विद्या को किसी अन्य को नहीं देना चाहिए। यदि कोई देगा भी, तो वह देने वाला नरक को जायेगा और सिद्धि भी नहीं प्राप्त होगी॥

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः। यत्र तत्र स्थितो ज्ञानी परमाक्षरवित्सदा॥ ४९॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी कोई भी हो एवं कहीं भी निवास करता हो, परम अक्षर तत्त्व को जानने वाला सर्वदा ज्ञानी ही होता है॥ ४९॥

विषयी विषयासक्तो याति देहान्तरे शुभम्। ज्ञानादेवास्य शास्त्रस्य सर्वावस्थोऽपि मानवः॥५०

यदि कोई मनुष्य विषय-भोगी, विषयों में आसक्त रहने वाला हो, तब भी वह इस शास्त्र के ज्ञान से देहान्तर (मृत्यु) के पश्चात् शुभ गति को प्राप्त हो जाता है॥ ५०॥

ब्रह्महत्याश्वमेधाद्यैः पुण्यपापैर्न लिप्यते। चोदको बोधकश्चैव मोक्षदश्च परः स्मृतः ॥ ५१॥
इत्येषां त्रिविधो ज्ञेय आचार्यस्तु महीतले। चोदको दर्शयेन्मार्गं बोधकः स्थानमाचरेत्॥ ५२॥
मोक्षदस्तु परं तत्त्वं यज्ज्ञात्वा परमश्नुते। प्रत्यक्षयजनं देहे संक्षेपाच्छृणु गौतम ॥ ५३॥

जो ब्रह्महत्या के पाप तथा अश्वमेधादि के पुण्य में लिप्त नहीं रहते हैं, ऐसे श्रेष्ठ ज्ञानी प्रेरक, बोधक एवं मोक्षदाता माने गये हैं। संसार में आचार्य इन्हीं तीन श्रेणियों के कहे गये हैं। प्रेरक मार्ग दिखलाता है, बोधक-यथार्थ बोध (ज्ञान का आचरण) कराता है, मोक्षप्रदाता-परम श्रेष्ठ तत्त्व प्रदान करता है, जिसे जानकर परमात्मा की प्राप्ति की जा सकती है। हे गौतम! अब तुम शरीर में यजन के सन्दर्भ में श्रवण करो॥ ५१-५३॥

तेनेष्ट्वा स नरो याति शाश्वतं पदमव्ययम्। स्वयमेव तु संपश्येद्देहे बिन्दुं च निष्कलम्॥ ५४॥

इस (कृत्य) के करने से मनुष्य शाश्वत, अव्यय पद को प्राप्त कर लेता है तथा स्वयं अपने शरीर (देह) के अन्दर ही निष्कल (कलारहित) और बिन्दु को देख लेता है॥ ५४॥

अयने द्वे च विषुवे सदा पश्यति मार्गवित्। कृत्वा यामं पुरा वत्स रेचपूरककुम्भकान्॥ ५५॥

दोनों अयनों के सदृश दिन-रात्रि के एक-एक प्रहर तक रेचक,पूरक तथा कुम्भक प्राणायाम करे॥५५॥

पूर्वं चोभयमुच्चार्य अर्चयेत्तु यथाक्रमम्। नमस्कारेण योगेन मुद्रयारभ्य चार्चयेत् ॥ ५६॥

सर्वप्रथम दोनों (ॐ तथा हंस) का उच्चारण करके यथाक्रमानुसार पूजन सम्पन्न करे। (हंसः, सोऽहम्-इस) नमस्कार योग के द्वारा तथा (शाम्भवी, खेचरी आदि) मुद्राओं के माध्यम से अर्चन-पूजन करे॥ ५६॥

सूर्यस्य ग्रहणं वत्स प्रत्यक्षयजनं स्मृतम्। ज्ञानात्सायुज्यमेवोक्तं तोये तोयं यथा तथा ॥ ५७॥

हे वत्स! सूर्य का (पूजन हेतु) ग्रहण प्रत्यक्ष यजन (सोऽहम् साधना रूप में) कहा गया है। जिस प्रकार जल में जल होता है, उसी प्रकार से सायुज्यपद सद्ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होता है॥ ५७॥

एते गुणाः प्रवर्तन्ते योगाभ्यासकृतश्रमैः। तस्माद्योगं समादाय सर्वदुःखबहिष्कृतः ॥ ५८॥

योग के अभ्यास में जो श्रम किया जाता है, उसमें इतने गुण हैं कि इस क्रिया द्वारा उद्योगपूर्वक सभी दुःखों को दूर करने की सतत चेष्टा करनी चाहिए॥ ५८॥

योगध्यानं सदा कृत्वा ज्ञानं तन्मयतां व्रजेत्। ज्ञानात्स्वरूपं परमं हंसमन्त्रं समुच्चरेत् ॥ ५९॥

सदा ही इस (ब्रह्मविद्या) के मन्त्र का जप करते हुए योग रूपी चिन्तन के द्वारा तन्मयता को प्राप्त करना चाहिए। ज्ञान के माध्यम से ही (ब्रह्म का) परम स्वरूप (हंस मन्त्र) प्राप्त किया जाता है॥ ५९॥

प्राणिनां देहमध्ये तु स्थितो हंसः सदाऽच्युतः। हंस एव परं सत्यं हंस एव तु शक्तिकम्॥ ६०॥

प्राणियों के शरीर में अच्युतरूपी हंस (चेतन जीव) सदा ही प्रतिष्ठित रहता है। हंस ही परम सत्य है तथा हंस ही शक्ति का स्वरूप है॥ ६०॥

हंस एव परं वाक्यं हंस एव तु वैदिकम्। हंस एव परो रुद्रो हंस एव परात्परम्॥ ६१॥

हंस ही परम वाक्य है,हंस ही वेदों का सार है। हंस ही परम रुद्र है और हंस ही परमात्मा है॥ ६१॥

सर्वदेवस्य मध्यस्थो हंस एव महेश्वरः। पृथिव्यादिशिवान्तं तु अकाराद्याश्च वर्णकाः॥ ६२॥
कूटान्ता हंस एव स्यान्मातृकेति व्यवस्थिताः। मातृकारहितं मन्त्रमादिशन्ते न कुत्रचित् ॥६३॥

सभी देवताओं के मध्य में हंस ही परमेश्वर है। पृथ्वी से लेकर भगवान् शिव तक तथा 'अकार' से लेकर 'क्ष' तक हंस ही वर्ण-मात्राओं की तरह से स्थित है। मातृका (वर्ण) विहीन मन्त्र का उपदेश कहीं भी नहीं दिया जाता है॥ ६२-६३॥

हंसज्योतिरनूपम्यं देव मध्ये व्यवस्थितम्। दक्षिणामुखमाश्रित्य ज्ञानमुद्रां प्रकल्पयेत् ॥ ६४॥
सदा समाधिं कुर्वीत हंसमन्त्रमनुस्मरन्। निर्मलस्फटिकाकारं दिव्यरूपमनुत्तमम् ॥ ६५॥

हंस की अनुपम ज्योति देवताओं के मध्य में प्रतिष्ठित है। दक्षिणामुख (भगवान् शिव) का आश्रय लेकर ज्ञान मुद्रा करे तथा सर्वदा समाधि अवस्था में हंस का चिन्तन करता रहे और निर्मल स्फटिक के समान उत्तम दिव्य रूप का ध्यान करे॥ ६४-६५॥

मध्यदेशे परं हंसं ज्ञानमुद्रात्मरूपकम्। प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ॥ ६६॥
पञ्चकर्मेन्द्रियैर्युक्ताः क्रियाशक्तिबलोद्यताः। नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः॥ ६७॥
पञ्चज्ञानेन्द्रियैर्युक्ता ज्ञानशक्तिबलोद्यताः। पावकः शक्तिमध्ये तु नाभिचक्रे रविः स्थितः॥६८

मध्य देश में ज्ञान-मुद्रा के स्वरूप वाले परम हंस का सदैव ध्यान करना चाहिए। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान-ये पाँच वायु (प्राण) तथा पञ्च कर्मेन्द्रियों से सम्पन्न क्रियाशक्ति अधिक बलवती होती है। नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और पञ्च ज्ञानेन्द्रियों से सम्पन्न ज्ञानशक्ति अत्यन्त बलवती होती है। (कुण्डलिनी) शक्ति के बीच में अग्नि और नाभिचक्र में रवि प्रतिष्ठित रहता है॥ ६६-६८॥

बन्धमुद्रा कृता येन नासाग्रे तु स्वलोचने। अकारे वह्निरित्याहुरुकारे हृदि संस्थितः॥ ६९॥
मकारे च भ्रुवोर्मध्ये प्राणशक्त्या प्रबोधयेत्। ब्रह्मग्रन्थिरकारे च विष्णुग्रन्थिर्हृदि स्थितः॥७०

सर्वप्रथम बन्ध एवं मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। नासाग्र एवं अपने दोनों नेत्रों में 'अ' कार अग्नि, हृदय में 'उ' कार अग्नि और भृकुटियों के मध्य में 'म' कार अग्नि प्रतिष्ठित कही गयी है। इनमें प्राणशक्ति को संयुक्त करे। ब्रह्मग्रन्थि ॐकार (नासाग्र एवं नेत्र) में और विष्णुग्रन्थि हृदय में स्थित कही गयी है॥ ६९-७०॥

रुद्रग्रन्थिर्भ्रुवोर्मध्ये भिद्यतेऽक्षरवायुना। अकारे संस्थितो ब्रह्मा उकारे विष्णुरास्थितः ॥ ७१ ॥
मकारे संस्थितो रुद्रस्ततोऽस्यान्तः परात्परः। कण्ठं संकुच्य नाड्यादौ स्तम्भिते येन शक्तितः॥
रसना पीड्यमानेयं षोडशी वोर्ध्वगामिनी। त्रिकूटं त्रिविधा चैव गोलाखं निखरं तथा॥ ७३ ॥
त्रिशङ्खवज्रमोंकारमूर्ध्वनालं भ्रुवोर्मुखम्। कुण्डलीं चालयन्प्राणान्भेदयन्शशिमण्डलम्॥ ७४॥

रुद्र ग्रन्थि भृकुटियों के मध्य में स्थित है। यह (तीनों) ग्रन्थि अक्षर वायु (हंस ज्ञान) से भेदन की जाती है। 'अ' कार में ब्रह्मा का, 'उकार' में विष्णु का तथा 'म' कार में रुद्र का स्थान बताया गया है,उसके अन्त में परात्पर ब्रह्म है। कण्ठ का संकोचन (जालन्धरबन्ध) करके आदि शक्ति (कुण्डलिनी शक्ति) को स्तम्भित करे,तत्पश्चात् जिह्वा को दबाकर सोलह आधार वाली, ऊर्ध्वगामिनी, त्रिकूट (इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना तीनों के मिलन स्थल) वाली, तीन प्रकार वाली, ब्रह्मरन्ध्र को जानने वाली अति सूक्ष्म सुषुम्ना नाड़ी को एवं त्रिशंख (सुख, दुःख, सुख-दुःख तीनों को खाने वाले),वज्र (अयोगी द्वारा दुर्भेद्य), ओंकार युक्त, ऊर्ध्वनाल, भृकुटियों की ओर गमन करने वाली कुण्डली शक्ति तथा प्राणों को चालित करके शशि मण्डल का भेदन करे॥७४॥

साधयन्वज्रकुम्भानि नव द्वाराणि बन्धयेत्। सुमनः पवनारूढः सरागो निर्गुणस्तथा॥ ७५ ॥

नव द्वारों को बन्द करके वज्र कुम्भक(उज्जायी, शीतली आदि प्राणायाम)का साधन करना चाहिए। मन को प्रसन्न रखकर,सहज स्थिति में निर्गुण होकर पवन पर आरूढ़ (प्राणायाम परायण) होना चाहिए॥७५॥

ब्रह्मस्थाने तु नादः स्याच्छंकिन्यमृतवर्षिणी। षट्चक्रमण्डलोद्धारं ज्ञानदीपं प्रकाशयेत्॥ ७६ ॥

इस (ध्यान) से ब्रह्मस्थान में नाद सुनाई पड़ने लगता है तथा शंकिनी नाड़ी से अमृत की वर्षा होने लगती है और षट्चक्र मण्डल का भेदन होने से ज्ञानरूपी दीपक प्रकाश से युक्त हो जाता है॥ ७६ ॥

सर्वभूतस्थितं देवं सर्वेशं नित्यमर्चयेत्। आत्मरूपं तमालोक्य ज्ञानरूपं निरामयम् ॥ ७७॥

समस्त भूत-प्राणियों में प्रतिष्ठित परम देव का सदा ही पूजन करना चाहिए। वे आत्मस्वरूप, ज्ञानस्वरूप तथा व्याधि से रहित हैं॥ ७७॥

दृश्यन्तं दिव्यरूपेण सर्वव्यापी निरञ्जनः। हंस हंस वदेद्वाक्यं प्राणिनां देहमाश्रितः। स प्राणापानयोर्ग्रन्थिरजपेत्यभिधीयते॥ ७८॥ सहस्त्रमेकं द्व्ययुतं षट्शतं चैव सर्वदा। उच्चरन्पठितो हंसः सोऽहमित्यभिधीयते ॥ ७९॥

उन सर्वव्यापी निरञ्जन के दिव्य रूप का दर्शन करके हंस-हंस का निरन्तर जप करते रहना चाहिए। प्राणियों की देह (शरीर) में स्थित प्राण और अपान की ग्रन्थि को अजपा जप कहा जाता है, इससे नित्य प्रति इक्कीस हजार छः सौ बार जप करता हुआ हंस 'सोऽहम्' के रूप में परिणत हो जाता है ॥ ७८-७९॥

पूर्वभागे ह्यधोलिङ्गं शिखिन्यां चैव पश्चिमम्। ज्योतिर्लिङ्गं भ्रुवोर्मध्ये नित्यं ध्यायेत्सदा यतिः॥

साधक को सदा ही कुण्डलिनी के पूर्व में अधोलिङ्ग का, शिखा स्थान में पश्चिमलिङ्ग का, भृकुटियों के मध्य में ज्योतिर्लिङ्ग का ध्यान करना चाहिए॥ ८०॥

अच्युतोऽहमचिन्त्योऽहमतर्क्योऽहमजोऽस्म्यहम्। अव्रणोऽहमकायोऽहमनङ्गोऽस्म्यभयोऽस्म्यहम्॥

मैं अच्युत हूँ, मैं अचिन्त्य अर्थात् चिन्तन से परे हूँ, मैं तर्क की सीमा से बाहर हूँ, मैं अजन्मा हूँ, मैं

व्रणरहित (स्वस्थ) हूँ, मैं काया से विहीन हूँ, मैं अनङ्ग (अंगरहित) एवं भय से रहित हूँ॥ ८१ ॥

अशब्दोऽहमरूपोऽहमस्पर्शोऽस्म्यहमद्वयः। अरसोऽहमगन्धोऽहमनादिरमृतोऽस्म्यहम् ॥८२॥

मैं शब्दरहित हूँ, रूप रहित (आकाररहित), स्पर्श से परे एवं अद्वय हूँ। मैं रस से विहीन (रसरहित) हूँ, गन्ध से रहित तथा अनादि अमृत का रूप हूँ॥ ८२ ॥

अक्षयोऽहमलिङ्गोऽहमजरोऽस्म्यकलोऽस्म्यहम्।
अप्राणोऽहममूकोऽहमचिन्त्योऽस्म्यकृतोऽस्म्यहम्॥ ८३ ॥

मैं अक्षय (क्षयरहित) हूँ, लिङ्गरहित हूँ, अजर एवं निष्कल अर्थात् कलारहित हूँ। मैं अमूक (वाक् शक्तियुक्त) एवं प्राणरहित हूँ, अचिन्त्य (चिन्तन से परे) तथा मैं ही क्रियारहित हूँ॥ ८३ ॥

अन्तर्याम्यहमग्राह्योऽनिर्देश्योऽहमलक्षणः। अगोत्रोऽहमगात्रोऽहमचक्षुष्कोऽस्म्यवागहम् ॥८४॥

मैं अन्तर्यामी हूँ, अग्राह्य अर्थात् पकड़ने में न आने वाला हूँ, मैं निर्देशरहित एवं लक्षणरहित हूँ। मैं कुल, गोत्र एवं शरीररहित हूँ, मैं नेत्रेन्द्रिय रहित हूँ तथा वागिन्द्रिय रहित भी हूँ॥ ८४ ॥

अदृश्योऽहमवर्णोऽहमखण्डोऽस्म्यहमद्भुतः। अश्रुतोऽहमदृष्टोऽहमन्वेष्टव्योऽमरोऽस्म्यहम्॥ ८५ ॥

मैं अदृश्य हूँ, अवर्ण हूँ, अखण्ड एवं अद्भुत हूँ। मैं अश्रुत हूँ, अदृष्ट हूँ, अन्वेषण योग्य एवं अमर हूँ॥

अवायुरप्यनाकाशोऽतेजस्कोऽव्यभिचार्यहम्। अमतोऽहमजातोऽहमतिसूक्ष्मोऽविकार्यहम्॥ ८६

मैं वायुरहित, आकाश तत्त्व से रहित, तेजो विहीन, व्यभिचार (नियमोल्लंघन) से रहित, अज्ञेय, अजन्मा (जन्मरहित), सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं अविकारी (विकार रहित) हूँ॥ ८६ ॥

अरजस्कोऽतमस्कोऽहमसत्त्वोऽस्म्यगुणोऽस्म्यहम्।
अमायोऽनुभवात्माहमनन्योऽविषयोऽस्म्यहम्॥ ८७॥

मैं सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण से रहित हूँ। गुणों से अतीत हूँ, मायारहित, अनुभव स्वरूप हूँ, अनन्य तथा अविषय अर्थात् विषयरहित हूँ॥ ८७ ॥

अद्वैतोऽहमपूर्णोऽहमबाह्योऽहमनन्तरः। अश्रोत्रोऽहमदीर्घोऽहमव्यक्तोऽहमनामयः ॥८८॥

मैं अद्वैत हूँ, पूर्ण हूँ। मैं न बाहर हूँ और न ही भीतर हूँ, मैं श्रोत्ररहित हूँ, अदीर्घ हूँ, अव्यक्त हूँ और मैं व्याधिरहित भी हूँ ॥ ८८ ॥

अद्वयानन्दविज्ञानघनोऽस्म्यहमविक्रियः। अनिच्छोऽहमलेपोऽहमकर्तास्म्यहमद्वयः ॥८९॥

मैं अद्वय, आनन्दरूप, विज्ञानघन एवं अविकारी अर्थात् विकार रहित हूँ। मैं इच्छा रहित हूँ, अलेप (लिप्त न रहने वाला) हूँ। मैं ही अकर्ता तथा अद्वैत भी मैं ही हूँ॥ ८९ ॥

अविद्याकार्यहीनोऽहमवाङ्मनसगोचरः। अनल्पोऽहमशोकोऽहमविकल्पोऽस्म्यविज्वलन्॥ ९०

मैं अविद्यायुक्त कार्य से रहित हूँ, मैं मन एवं वाणी से अगोचर अर्थात् परे हूँ। मैं अनल्प (अल्परहित) हूँ, शोकरहित हूँ, विकल्परहित एवं विशिष्ट अग्नि से रहित हूँ॥ ९० ॥

आदिमध्यान्तहीनोऽहमाकाशसदृशोऽस्म्यहम्। आत्मचैतन्यरूपोऽहमहमानन्दचिद्घनः॥ ९१ ॥

मैं आदि, मध्य एवं अन्त से विहीन हूँ। मैं आकाश के समान हूँ। मैं आत्म चैतन्य रूप हूँ तथा आनन्द चेतन घन के सदृश हूँ॥ ९१ ॥

आनन्दामृतरूपोऽहमात्मसंस्थोऽहमन्तरः। आत्मकामोऽहमकाशात्परमात्मेश्वरोऽस्म्यहम्॥ ९२ ॥

मैं आनन्द रूप, अमृत स्वरूप हूँ, मैं आत्म-संस्थित हूँ, अन्तर (सभी की अन्तरात्मा) भी मैं ही हूँ। (मैं) आत्मकाम हूँ तथा आकाश से (अधिक व्यापक) परमात्मा स्वरूप परमेश्वर मैं ही हूँ॥ ९२॥

ईशानोऽस्म्यहमीड्योऽहमहमुत्तमपूरुषः। उत्कृष्टोऽहमुपद्रष्टाऽहमुत्तरतरोऽस्म्यहम् ॥ ९३॥

मैं ईशान हूँ, पूजनीय हूँ, उत्तम पुरुष हूँ। मैं उत्कृष्ट हूँ, उपद्रष्टा (साक्षीरूप) हूँ तथा परे से परे हूँ॥ ९३॥

केवलोऽहं कविः कर्माध्यक्षोऽहं करणाधिपः। गुहाशयोऽहं गोप्ताहं चक्षुषश्चक्षुरस्म्यहम्॥ ९४॥

मैं केवल हूँ, कवि हूँ, कर्माध्यक्ष हूँ। मैं ही कारणों का कारण अर्थात् अधिपति हूँ, मैं गुप्त आशय हूँ, गुप्त रखने वाला हूँ एवं मैं ही नेत्रों का भी नेत्र हूँ॥ ९५॥

चिदानन्दोऽस्म्यहं चेता चिद्धनश्चिन्मयोऽस्म्यहम्।
ज्योतिर्मयोऽस्म्यहं ज्यायाञ्ज्योतिषां ज्योतिरस्म्यहम् ॥ ९५॥

मैं चिदानन्द हूँ, चेतना प्रदान करने वाला हूँ, चिद्घन एवं चिन्मय स्वरूप हूँ। मैं ज्योतिर्मय हूँ और ज्योतियों में सर्वश्रेष्ठ ज्योतिरूप मैं ही हूँ॥ ९५॥

तमसः साक्ष्यहं तुर्यतुर्योऽहं तमसः परः। दिव्यो देवोऽस्मि दुर्दर्शो दृष्टाध्यायो ध्रुवोऽस्म्यहम्॥९६

मैं अन्धकार में साक्ष्य स्वरूप हूँ, तुर्य का भी तुर्य हूँ, अन्धकार से परे हूँ, मैं दिव्य देवस्वरूप हूँ, दुर्दर्श और दृष्टि का आधार ध्रुव (शाश्वत) हूँ॥ ९६॥

नित्योऽहं निरवद्योऽहं निष्क्रियोऽस्मि निरञ्जनः।
निर्मलो निर्विकल्पोऽहं निराख्यातोऽस्मि निश्चलः॥ ९७॥

मैं नित्य हूँ, निर्दोष हूँ, क्रियारहित तथा निरञ्जन हूँ। मैं निर्मल, निर्विकल्प, निराख्यात और निश्चल हूँ॥

निर्विकारो नित्यपूतो निर्गुणो निस्पृहोऽस्म्यहम्। निरिन्द्रियो नियन्ताहं निरपेक्षोऽस्मि निष्कलः॥

मैं निर्विकार (विकार रहित), नित्यपूत (सदैव पवित्र), निर्गुण, निस्पृह हूँ। मैं इन्द्रियों से रहित, नियन्ता, निरपेक्ष एवं निष्कल (कलारहित) हूँ॥ ९८॥

पुरुषः परमात्माहं पुराणः परमोऽस्म्यहम्। परावरोऽस्म्यहं प्राज्ञः प्रपञ्चोपशमोऽस्म्यहम्॥ ९९॥

मैं परमात्म पुरुष हूँ, परम पुराण हूँ। मैं परावर(ज्ञानसमुद्र)हूँ, प्राज्ञ-प्रपञ्च का शमन करने वाला भी हूँ॥

परामृतोऽस्म्यहं पूर्णः प्रभुरस्मि पुरातनः। पूर्णानन्दैकबोधोऽहं प्रत्यगेकरसोऽस्म्यहम्॥ १००॥

मैं परामृत तथा पुरातन पूर्ण प्रभु हूँ। मैं पूर्णानन्द, एक बोध रूप हूँ तथा प्रत्यग् (अन्तरात्मा) एवं एक-रस (सर्वदा एक रूप) भी मैं ही हूँ॥ १००॥

प्रज्ञातोऽहं प्रशान्तोऽहं प्रकाशः परमेश्वरः। एकधा चिन्त्यमानोऽहं द्वैताद्वैतविलक्षणः ॥ १०१॥

मैं प्रज्ञाता (विशेष ज्ञाता) हूँ, मैं प्रशान्त हूँ तथा (मैं ही) प्रकाश स्वरूप परमेश्वर हूँ। द्वैत एवं अद्वैत के लक्षणों से भिन्न मैं ही एक चिन्तन-मनन करने योग्य हूँ॥ १०१॥

बुद्धोऽहं भूतपालोऽहं भारूपो भगवानहम्। महादेवो महानस्मि महाज्ञेयो महेश्वरः ॥ १०२॥

मैं बुद्धि हूँ, मैं ही भूतपाल अर्थात् समस्त प्राणियों का पालन करने वाला हूँ, प्रकाश स्वरूप भगवान् भी मैं हूँ। महादेव, महाज्ञेय एवं महान् महेश्वर भी मैं ही हूँ॥ १०२॥

विमुक्तोऽहं विभुरहं वरेण्यो व्यापकोऽस्म्यहम्। वैश्वानरो वासुदेवो विश्वतश्चक्षुरस्म्यहम्॥ १०३॥

मैं विमुक्त हूँ, विभु हूँ, वरण करने योग्य हूँ तथा मैं ही व्यापक हूँ। मैं श्रेष्ठ वैश्वानर एवं वासुदेव हूँ तथा सम्पूर्ण विश्व का चक्षु रूप भी मैं ही हूँ॥ १०३॥

विश्वाधिकोऽहं विशदो विष्णुर्विश्वकृदस्म्यहम्।
शुद्धोऽस्मि शुक्रः शान्तोऽस्मि शाश्वतोऽस्मि शिवोऽस्म्यहम् ॥ १०४॥

मैं विश्व से अधिक हूँ, मैं विश्व का कर्त्ता विशद विष्णु हूँ, मैं शुद्ध, शुक्र, शान्त स्वरूप हूँ, शाश्वत तथा शिव भी मैं हूँ॥ १०४॥

सर्वभूतान्तरात्माहमहमस्मि सनातनः। अहं सकृद्विभातोऽस्मि स्वे महिम्नि सदा स्थितः ॥ १०५॥

मैं समस्त भूत-प्राणियों का अन्तरात्मा हूँ, मैं नित्य एवं सनातन हूँ। मैं अपनी महिमा में स्थित रहकर सदैव प्रकाशित होता रहता हूँ॥ १०५॥

सर्वान्तरः स्वयंज्योतिः सर्वाधिपतिरस्म्यहम्। सर्वभूताधिवासोऽहं सर्वव्यापी स्वराडहम् ॥१०६

मैं सभी के अन्तःकरण में स्वयं ज्योति रूप में स्थित एवं समस्त प्राणियों का अधिपति हूँ। सभी भूत-प्राणी मुझमें ही निवास करते हैं, मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ तथा सभी का सम्राट् हूँ॥ १०६॥

समस्तसाक्षी सर्वात्मा सर्वभूतगुहाशयः। सर्वेन्द्रियगुणाभासः सर्वेन्द्रियविवर्जितः ॥ १०७॥

मैं सभी का साक्षी, सर्वात्मा, सब भूतों का गुह्य आशय हूँ, मैं सब इन्द्रियों के गुणों का प्रकाशक हूँ तथा समस्त इन्द्रियों से रहित भी हूँ॥ १०७॥

स्थानत्रयव्यतीतोऽहं सर्वानुग्राहकोऽस्म्यहम्। सच्चिदानन्दपूर्णात्मा सर्वप्रेमास्पदोऽस्म्यहम्॥१०८

मैं तीन स्थान (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) से अतीत (परे) हूँ, सभी पर अनुग्रह-अनुकम्पा करने वाला हूँ। मैं सच्चिदानन्द पूर्णात्मा हूँ तथा सभी का प्रेमास्पद हूँ॥ १०८॥

सच्चिदानन्दमात्रोऽहं स्वप्रकाशोऽस्मि चिद्घनः। सत्त्वस्वरूपसन्मात्रसिद्धसर्वात्मकोऽस्म्यहम्॥

मैं सच्चिदानन्द मात्र हूँ एवं स्वयं प्रकाशमान चेतन घनस्वरूप हूँ। मैं सत्य स्वरूप, सन्मात्र (सत्यस्वरूप), सिद्ध तथा सभी की आत्मा हूँ॥ १०९॥

सर्वाधिष्ठानसन्मात्रः सर्वबन्धहरोऽस्म्यहम्।
सर्वग्रासोऽस्म्यहं सर्वद्रष्टा सर्वानुभूरहम् ॥ ११०॥
एवं यो वेद तत्त्वेन स वै पुरुष उच्यते इत्युपनिषत् ॥

समस्त (प्राणियों का) आधार स्वरूप, सत्य स्वरूप, सभी के बन्धन को हरने (काटने) वाला, सबको अपना ग्रास बनाने वाला, सभी को देखने वाला और सभी का अनुभव रूप मैं ही हूँ। जो इस प्रकार तत्त्व का ज्ञाता है, वही पुरुष कहा जाता है, इस प्रकार की यह उपनिषद् (रहस्य) विद्या है॥ ११०॥

ॐ सह नाववतु .....इति शान्तिः॥

॥ इति ब्रह्मविद्योपनिषत्समाप्ता ॥

हृदय में सभी देवगण स्थित हैं, प्राण भी हृदय में निवास करता है और हृदय में ही प्राण तथा ज्योति भी प्रतिष्ठित है। इस तरह से हृदय में तीन स्वरूपों में परम ब्रह्म का निवास है। (इस तथ्य को प्रकट करने के लिए) तीन सूत्रों (धागों) से युक्त 'यज्ञ सूत्र' अर्थात् जनेऊ (यज्ञोपवीत) है, ऐसा उसके रहस्य को समझने वाले मानते हैं। वह अविनाशी परमब्रह्म चेतना के रूप में हृदय में प्रतिष्ठित है॥ ४॥

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः॥ ५॥

(यह) परम पवित्र यज्ञोपवीत सर्वप्रथम प्रजापति (ब्रह्माजी) के साथ ही सहज (देहेन्द्रिय की तरह) प्रादुर्भूत हुआ। वह दीर्घायुष्य प्रदान करने वाला है। (हे मनुष्य !) ऐसा जान करके तुम उत्तम और शुभ्र यज्ञोपवीत धारण करो। यह यज्ञोपवीत तुम्हारे लिए बल एवं तेज प्रदान करने वाला (सिद्ध) हो॥ ५॥

सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद्बुधः। यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत्॥ ६॥

शिखा के सहित मुण्डन करने के पश्चात् (संन्यास धर्म को ग्रहण करके) ज्ञानी जनों को ब्रह्मसूत्र अर्थात् यज्ञोपवीत का परित्याग कर देना चाहिए। जिस अविनाशी तत्त्व को परब्रह्म कहा गया है, वही इस सूत्र के रूप में प्रतिष्ठित है। ऐसा जान करके उसी श्रेष्ठ यज्ञोपवीत को हृदय में प्रतिष्ठित करना चाहिए॥ ६॥

सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम्। तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः॥ ७॥

यज्ञोपवीत यह सूचित करता है (कि अविनाशी शाश्वत परब्रह्म हृदय में ही स्थित है), इस कारण से उसे 'सूत्र' के नाम से जाना जाता है। यह 'सूत्र' ही परम पद है। इस परम पद रूपी सूत्र को जिस मनुष्य ने जान लिया, वही ब्राह्मण वेद को जानने में समर्थ अर्थात् पारगामी होता है॥ ७॥

येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव। तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदर्शिवान्॥ ८॥

जिस प्रकार सूत्र रूपी धागों में माला के रूप में मणियों के दाने पिरोये जाते हैं, उसी तरह अविनाशी ब्रह्म में यह सम्पूर्ण जगत् गुँथा हुआ है, इसलिए इसे सूत्र कहा गया है। तत्त्वज्ञानी एवं योग में निष्णात मनुष्यों को इस सूत्र रूप ब्रह्म को हृदय में प्रतिष्ठित करना चाहिए॥ ८॥

बहिःसूत्रं त्यजेद्विद्वान्योगमुत्तममास्थितः।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः।
धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत्॥ ९॥

इस श्रेष्ठ योग रूपी ब्रह्मसूत्र को धारण करने वाला विद्वान् मनुष्य ब्रह्मसूत्र का परित्याग कर दे। ब्रह्म स्वरूप को जानना ही 'सूत्र' समझना चाहिए। इस 'ब्रह्मसूत्र' को जो भी मनुष्य धारण करता है, वह चैतन्य स्वरूप है। इस ब्रह्मरूपी सूत्र को धारण करने से व्यक्ति न उच्छिष्ट होता है और न ही अशुद्ध होता है॥ ९॥

सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्। ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः॥ १०॥

इस शाश्वत ज्ञान रूपी यज्ञोपवीत को ग्रहण करने वाले मनुष्यों के हृदय में ब्रह्मरूपी सूत्र स्थित रहता है। इस प्रकार के ही मुनष्य ब्रह्मरूपी सूत्र के वास्तविक स्वरूप को जानने वाले होते हैं तथा वे ही व्यक्ति वास्तव में सच्चे यज्ञोपवीतधारी हैं॥ १०॥

ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः। ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते॥ ११॥

जो मनुष्य ज्ञानरूप शिखा वाले, ज्ञान में ही निष्ठा रखने वाले और ज्ञानरूपी यज्ञोपवीत को धारण करने वाले हैं,ऐसे उन श्रेष्ठ व्यक्तियों को ज्ञान ही परम पवित्र बना देता है॥ ११॥

॥ ब्रह्मोपनिषद् ॥

यह कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषद् है। इसमें कुल २३ मन्त्र हैं, जिसमें ब्रह्म का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय वर्णित होने से इसका नाम 'ब्रह्मोपनिषद्' पड़ा है।

सर्वप्रथम इसमें चतुष्पाद् ब्रह्म का स्वरूप बताया गया है, तत्पश्चात् परब्रह्म की अक्षरता, ब्रह्म और निर्वाण की एकरूपता, त्रिवृत्सूत्र (ब्रह्म का तीन रूप-देवगण, प्राण और ज्योति-हृदय में विद्यमान) यज्ञोपवीत का तात्त्विक स्वरूप, शिखा-यज्ञोपवीत आदि का ज्ञान स्वरूप होना ब्राह्मणत्व के लिए आवश्यक है, इत्यादि विषय बड़े अच्छे ढंग से प्रतिपादित हैं। अन्त में 'ब्रह्म' की प्राप्ति का उपाय-सत्य एवं तप को बताते हुए सिद्ध किया गया है कि यह 'आत्मा' ही ब्रह्म है, जैसे दूध में घृत विद्यमान रहता है, उसी तरह सर्वत्र ब्रह्म की सत्ता विद्यमान है। ऐसा अनुभव करने वाला साधक ब्रह्म स्वरूप हो जाता है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अवधूतोपनिषद्)

अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति। नाभिर्हृदयं कण्ठं मूर्धेति। तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति। जागरितं स्वप्नं सुषुप्तं तुरीयमिति। जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरम्। स आदित्यो विष्णुश्चेश्वरश्च स्वयममनस्कमश्रोत्रमपाणिपादं ज्योतिर्विदितम्॥ १ ॥

इस विराट् पुरुष के शरीर में आत्मा के चार विशेष स्थान-नाभि, हृदय, कण्ठ एवं ब्रह्मरन्ध्र बताये गये हैं। वहाँ इन चारों क्षेत्रों में चतुर्थ चरण से युक्त ब्रह्म प्रकाशित होता है। ऐसे ही आत्मा की चार अवस्थाएँ-जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तथा तुरीय कही गयी हैं। इन अवस्थाओं में से जाग्रत् अवस्था में ब्रह्मा, स्वप्नावस्था में विष्णु, सुषुप्तावस्था में रुद्र तथा चतुर्थ तुरीयावस्था में अक्षर रूप परमात्मा प्रकाशित होता रहता है। यह आत्म तत्त्व स्वयं मन एवं हाथ-पैर आदि इन्द्रियों से रहित होते हुए भी प्रकाश युक्त कहा गया है॥ १ ॥

यत्र लोका न लोका देवा न देवा वेदा न वेदा यज्ञा न यज्ञा माता न माता पिता न पिता स्नुषा न स्नुषा चाण्डालो न चाण्डालः पौल्कसो न पौल्कसः श्रमणो न श्रमणः तापसो न तापस इत्येकमेव परं ब्रह्म विभाति निर्वाणम्॥ २ ॥

यहाँ (आत्मा अर्थात् ब्रह्म में) लोक-लोक के रूप में नहीं है, देव-देवरूप में नहीं है, वेद-वेदरूप में नहीं है, यज्ञ-यज्ञरूप में नहीं है, माता-माता के रूप में नहीं है, पिता-पितारूप में नहीं है, स्नुषा (पुत्रवधू)-स्नुषा रूप में नहीं है, चाण्डाल-चाण्डालरूप में नहीं है, पौल्कस (भील)-पौल्कस रूप में नहीं है, श्रमण (संन्यासी)-श्रमण के रूप में नहीं है, और तपस्वी-तपस्वी के रूप में नहीं है; किन्तु वह ब्रह्म सदैव एक निर्वाण स्वरूप एवं प्रकाश स्वरूप है॥ २ ॥

न तत्र देवा ऋषयः पितर ईशते प्रतिबुद्धः सर्वविद्येति॥ ३ ॥

वहाँ (इस ब्रह्म पर) देवगण, ऋषिगण और पितृगण भी शासन करने में समर्थ नहीं हैं। उस अविनाशी ब्रह्म को ज्ञान के द्वारा ही जाना जा सकता है, वह सर्वविद्या के स्वरूप वाला है॥ ३ ॥

हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः।
हृदि प्राणश्च ज्योतिश्च त्रिवृत्सूत्रं च तद्विदुः। हृदि चैतन्ये तिष्ठति॥ ४॥

अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा। स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥१२

जिस मनुष्य के अग्नि की शिखा की भाँति ज्ञान की शिखा होती है, उनके लिए और दूसरी अन्य शिखा होती ही नहीं है और वे ही सच्चे अर्थों में शिखा को धारण करने वाले तथा विशेष ज्ञानी कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त जो अन्य मनुष्य बाह्य केशों की चोटी रखते हैं, वे व्यक्ति शिखा को धारण करने वाले नहीं कहे जा सकते॥ १२॥

कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः।
तैः संधार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम्॥ १३॥

ब्राह्मण आदि जो (वर्ण) वैदिक कर्म के अधिकारी हैं, उन्हीं (मनुष्यों) को ही यह ब्रह्मसूत्र धारण करना चाहिए, क्योंकि यही इसकी कार्य पद्धति का अनिवार्य अङ्ग कहा गया है॥ १३॥

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम्।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः॥ १४॥

जिस (ब्राह्मण) की शिखा एवं यज्ञोपवीत दोनों ही ज्ञानस्वरूप हैं, ऐसे उन (ब्राह्मणों) का ब्राह्मणत्व ही पूर्ण सफल है, ऐसा ब्रह्मपरायण विद्वज्जन कहते हैं॥ १४॥

इदं यज्ञोपवीतं तु पवित्रं यत्परायणम्।
स विद्वान्यज्ञोपवीती स्यात्स यज्ञः तं यज्वानं विदुः॥ १५॥

यह (ज्ञान ही) यज्ञोपवीत है, यही परम पवित्र और परायण अर्थात् कल्याणकारी है। अतः ज्ञानवान् मनुष्य ही वास्तव में (सच्चे) यज्ञोपवीत धारण करने वाले हैं, स्वयं यज्ञरूप हैं और उन्हीं श्रेष्ठ पुरुषों को 'यज्वा' कहते हैं॥ १५॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ १६॥

एक ही परमात्मा समस्त भूत-प्राणियों में विद्यमान (छिपा हुआ) है, (वह) सर्वव्यापी है। समस्त भूतों का अन्तरात्मा है, सभी के कर्मों को नियन्त्रित रखने वाला है, सभी भूतों का अधिवास है, साक्षीरूप, चैतन्य स्वरूप, पवित्र एवं निर्गुण (त्रिगुणातीत) है॥ १६॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शांतिः शाश्वती नेतरेषाम्॥१७॥

वह (परमात्मा) एक होते हुए भी सभी को वश में रखने वाला है, सभी प्राणियों का अन्तरात्मा है तथा अपने एक ही रूप को विभिन्न रूपों में प्रकट करता है। इस परम तत्त्व को जो बुद्धिमान् व्यक्ति अपने में प्रतिष्ठित देखते हैं, उन्हें शाश्वत शान्ति की प्राप्ति होती है, दूसरों को इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती॥ १७॥

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥ १८॥

आत्मा को नीचे की अरणि और प्रणव को ऊर्ध्व की अरणि बनाकर ध्यान रूपी मंथन के अभ्यास द्वारा इस अप्रकट आत्मा का साक्षात्कार मनुष्य को करना चाहिए॥ १८॥

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्त्रोतः स्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति॥ १९॥

जिस प्रकार तिल में तैल, दही में घृत, स्रोत के प्रवाह में जल, काष्ठ में अग्नि अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान रहती है, उसी प्रकार से आत्मा भी हमारे अन्त:करण में विद्यमान है। वह आत्मा सत्य एवं तप के द्वारा देखा जा सकता है॥ १९॥

ऊर्णनाभिर्यथा तन्तून्सृजते संहरत्यपि। जाग्रत्स्वप्ने तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुनः॥ २०॥

जिस प्रकार ऊर्णनाभि (मकड़ी) तन्तु (सूत्र) का सृजन एवं संहार अर्थात् सूत्र का निर्माण करती और पुनः खींच (निगल) लेती है, उसी प्रकार जीवात्मा भी जाग्रत् एवं स्वप्नावस्था में पुनः-पुनः गमनागमन करता रहता है॥ २०॥

नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत्।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्॥ २१॥

जाग्रत् अवस्था का वैश्वानर नाम से युक्त आत्मा चक्षु में प्रतिष्ठित रहता है, स्वप्नावस्था का तैजस नामक आत्मा कण्ठ में निवास करता है, सुषुप्तावस्था का प्राज्ञ नामक आत्मा हृदय में स्थित रहता है और तुरीय अर्थात् तीनों अवस्थाओं से परे इस तुर्या नामक चौथी अवस्था का आत्मा ब्रह्मरन्ध्र में निवास करता है, इस प्रकार से बुद्धिमान् मनुष्य को जानना चाहिए॥ २१॥

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दमेतज्जीवस्य यं ज्ञात्वा मुच्यते बुधः॥२२॥

जहाँ मनुष्य की वाक्शक्ति एवं एकादश इन्द्रिय मन नहीं पहुँच सकते, वहाँ पर उस आत्मा के आनन्द को जान करके बुद्धिमान् मनुष्य मुक्त हो जाते हैं॥ २२॥

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवान्वितम्।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्यदं तद्ब्रह्मोपनिषत्पदमिति॥ २३॥

दुग्ध में घृत के सदृश सर्वत्र विद्यमान आत्म तत्त्व, आत्म-विद्या एवं तप के द्वारा ही प्राप्त होता है। यह आत्मा ही स्वयं ब्रह्म है और यही उपनिषदों का परम पद (परब्रह्म) है॥ २३॥

सह नाववतु .....इति शान्तिः॥

॥ इति ब्रह्मोपनिषत्समाप्ता॥

॥ भिक्षुकोपनिषद् ॥

यह शुक्ल यजुर्वेदीय उपनिषद् है। इसमें आत्मकल्याण एवं लोक कल्याण हेतु भिक्षाचर्या द्वारा जीवनयापन करने वाले संन्यास धर्म का संक्षिप्त किन्तु प्रभावपूर्ण वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम कुटीचक, बहूदक, हंस एवं परमहंस नामक संन्यासियों के उदाहरण देकर उनके आहार-विहार,शिखा-सूत्र, वस्त्रादि का उल्लेख किया गया है। अन्त में परमहंस संन्यास के विषय में अपेक्षाकृत विस्तृत वर्णन किया गया है, जिसके द्वारा परमहंस संन्यास की महनीय महिमा एवं उसके कठोर अनुशासन का पता चलता है। कलेवर की दृष्टि से यह उपनिषद् कुल पाँच मन्त्रों की अति लघुकाय स्वरूप वाली है, परन्तु महत्त्व की दृष्टि से अत्यधिक श्रेष्ठ मानी जाती है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः..... इति शान्तिः ॥(द्रष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद्)

ॐ अथ भिक्षूणां मोक्षार्थिनां कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसाश्चेति चत्वारः ॥ १ ॥

मोक्षार्थी भिक्षुओं की चार श्रेणियाँ होती हैं-कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस ॥ १ ॥

[यहाँ मोक्षार्थी भिक्षुओं के बारे में अनुशासन में बताये जा रहे हैं। भोगार्थी-स्वार्थी भिक्षु वे, जो अपनी असमर्थता के कारण भिक्षा माँगते हैं । मोक्षार्थी समर्थ होते हुए भी लौकिक बन्धनों से ऊपर उठने के क्रम में भिक्षाजीवी बनते हैं।]

कुटीचका नाम गौतमभरद्वाजयाज्ञवल्क्यवसिष्ठप्रभृतयोऽष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

कुटीचक-भिक्षु गौतम, भरद्वाज, याज्ञवल्क्य और वसिष्ठ आदि के समान अष्टग्रास भोजन लेकर योगमार्ग में (योग के माध्यम से) मोक्ष के लिए प्रयत्न करते हैं ॥ २ ॥

[मात्र शरीर रक्षा के लिए न्यूनतम भोजन का एक प्रमाण अष्टग्रास माना गया है। एक ग्रास उतना अंश माना जा सकता है, जिसे एक साथ मुख में रखकर चबाया जा सके। ऐसे आठ ग्रास खाकर शरीर रक्षा की जा सकती है, ऐसा अनुभव करके यह नियम बनाया गया प्रतीत होता है।]

अथ बहूदका नाम त्रिदण्डकमण्डलुशिखायज्ञोपवीतकाषायवस्त्रधारिणो ब्रह्मर्षिगृहे मधुमांसं वर्जयित्वाऽष्टौ ग्रासान्भैक्षाचरणं कृत्वा योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ ३ ॥

बहूदक-भिक्षु त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिखा, यज्ञोपवीत और काषाय वस्त्र धारण करते हैं तथा मधु-मांस को छोड़कर ब्रह्मर्षि (किसी सदाचारी नैष्ठिक) के घर में भिक्षाचरण द्वारा आठ ग्रास भोजन ग्रहण करते हुए योगमार्ग द्वारा मोक्षानुसंधान करते हैं ॥ ३ ॥

अथ हंसा नाम ग्राम एकरात्रं नगरे पञ्चरात्रं क्षेत्रे सप्तरात्रं तदुपरि न वसेयुः। गोमूत्रगोमयाहारिणो नित्यं चान्द्रायणपरायणा योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥ ४ ॥

हंस नामक-भिक्षु किसी गाँव में एक रात्रि, नगर में पंचरात्रि तथा (तीर्थ) क्षेत्र में सात रात्रि से अधिक निवास नहीं करते। वे गोमूत्र और गोमय (गोबर) का आहार ग्रहण करते हुए नित्य चान्द्रायण व्रत परायण होकर योग मार्ग से मोक्ष की खोज करते हैं ॥ ४ ॥

[यहाँ गोमूत्र और गोमय को अन्तःकरण शोधन के उद्देश्य से आहार रूप में-पंचगव्य आदि के रूप में ग्रहण करने का विधान प्रस्तुत किया गया है।]

अथ परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुजडभरतदत्तात्रेयशुकवामदेवहारीतक-प्रभृतयोऽष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते। वृक्षमूले शून्यगृहे श्मशानवासिनो वा साम्बरा वा दिगम्बरा वा। न तेषां धर्माधर्मौ लाभालाभौ शुद्धाशुद्धौ द्वैतवर्जिता समलोष्टाश्म-काञ्चनाः सर्ववर्णेषु भैक्षाचरणं कृत्वा सर्वत्रात्मैवेति पश्यन्ति। अथ जातरूपधरा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः शुक्लध्यानपरायणा आत्मनिष्ठाः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले भैक्षमाचरन्तः शून्यागारदेवगृहतृणकूट वल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रशालानदीपुलिनगिरिकन्दर-कुहरकोटरनिर्झरस्थण्डिले तत्र ब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नाः शुद्धमानसाः परमहंसाचरणेन संन्यासेन देहत्यागं कुर्वन्ति ते परमहंसा नामेत्युपनिषत्॥ ५॥

परमहंस नामक भिक्षु संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, जड़भरत, दत्तात्रेय, शुकदेव, वामदेव और हारीतक आदि की तरह अष्टग्रास भोजन ग्रहण करके योगमार्ग में विचरण करते हुए मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। परमहंसों का निवास स्थान वृक्षमूल, शून्यगृह अथवा श्मशान होता है। वे वस्त्रयुक्त (साम्बर) अथवा दिगम्बर होते हैं। उनके लिए धर्म-अधर्म, लाभ-अलाभ कुछ नहीं होता। वे शुद्ध और अशुद्ध द्वैत के सन्दर्भ में कोई अभिमत नहीं रखते। वे मिट्टी, पत्थर और सोने में कोई भेद नहीं करते अर्थात् उनके लिए ये सभी समान हैं। सभी वर्णों में वे भिक्षाचरण करते हैं एवं सर्वत्र अपनी आत्मा का ही दर्शन करते हैं। वे जातरूप धर (पैदा हुए बालक की तरह निर्लिप्त, निर्विकार, शुचि-अशुचि भाव से परे) होते हैं। वे (परमहंस) निर्द्वन्द्व, परिग्रहरहित, शुक्ल-ध्यान परायण, आत्मनिष्ठ, जीवन धारण करने की इच्छा से यथोक्त काल में भिक्षाटन करने वाले, एकान्त घर, देवस्थल, झोपड़ी, वल्मीक(बाँबी), वृक्षमूल, कुलालशाला (कुम्भकार गृह), यज्ञशाला, नदीतट, पर्वत स्थित गुहा, टीला, गड्ढा, झरना आदि किसी भी स्थल पर निवास करते हैं। वहाँ निवास करते हुए वे भली प्रकार (आत्मिक विभूतियों से) सम्पन्न होकर शुद्ध मन से परमहंस वृत्ति का पालन करते हुए संन्यास द्वारा शरीर त्याग करते हैं। वे (ऐसा करने वाले) परमहंस (कहलाते) हैं-ऐसा इस उपनिषद् का अभिमत है॥ ५॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति भिक्षुकोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ मण्डलब्राह्मणोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल पाँच ब्राह्मण हैं, जिसमें महर्षि याज्ञवल्क्य एवं भगवान् सूर्य नारायण के प्रश्नोत्तर रूप में 'आत्मतत्त्व' का विशद विवेचन हुआ है।

प्रथम ब्राह्मण में सर्वप्रथम तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए अष्टांग योग की आवश्यकता और पुनः चार यम,नौ नियम, आसन, प्राणायामादि षडंग योग, देह के पंच दोष, तारक दर्शन, लक्ष्यत्रय दर्शन, तारक और अमनस्क रूप योग के दो भेद, आत्मनिष्ठ की ब्रह्मरूपता आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। द्वितीय ब्राह्मण में सर्वाधाररूप ज्योति का आत्मतत्त्व के रूप में वर्णन किया गया है, साथ ही ज्योति रूप आत्मा के ज्ञान का फल, शाम्भवी मुद्रा, पूर्णिमा दृष्टि, मुद्रा की सिद्धि और उसके लक्षण, प्रणवरूप आत्म प्रकाश का अनुभव, षण्मुखी मुद्रा से प्रणव की सिद्धि, प्रणवविद् पर कर्म का अप्रभाव, उन्मनी अवस्था से अमनस्क स्थिति की प्राप्ति, ब्रह्मानुसन्धान से कैवल्य की प्राप्ति, ब्रह्मविद् का स्वरूप, सुषुप्ति और समाधि में भेद, ब्रह्म का ब्रह्म रूप होना, जाग्रत् आदि पंच-अवस्था, संसार से पार होने का मार्ग, मन ही बन्ध-मोक्ष का कारण, निर्विकल्पक समाधि के अभ्यास से श्रेष्ठ ब्रह्मविद् होना और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति आदि का विशद विवेचन है। तृतीय ब्राह्मण में परमात्मज्ञान एवं लक्ष्य दर्शन से अमनस्कता की प्राप्ति और उससे संसार बन्धन से निवृत्ति, तारक मार्ग से मनोनाश की प्राप्ति, उन्मनी सिद्ध योगी का ब्रह्मरूप होना आदि वर्णित है। चतुर्थ ब्राह्मण में व्योम पंचक का ज्ञान और उसका प्रतिफल तथा राजयोग का सारांश विवेचित है। पंचम ब्राह्मण में, परमात्मा में मन को लीन करने का अभ्यास, अमनस्क अवस्था के अभ्यास से ब्रह्म स्थिति की प्राप्ति, अमनस्कसिद्ध पुरुष की महिमा आदि का वर्णन है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद्)

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

याज्ञवक्ल्यो ह वै महामुनिरादित्यलोकं जगाम।
तमादित्यं नत्वा भो भगवन्नादित्यात्मतत्त्वमनुब्रूहीति॥ १ ॥

महामुनि याज्ञवल्क्य (एकबार) आदित्यलोक में गये और वहाँ भगवान् आदित्य को प्रणाम करके कहा-हे भगवन् आदित्य! आप हमें आत्म तत्त्व का उपदेश प्रदान करें॥ १ ॥

स होवाच नारायणः। ज्ञानयुक्तयमाद्यष्टाङ्गयोग उच्यते॥ २ ॥

तब सूर्यनारायण ने कहा—तत्त्वज्ञान सहित यम-नियम आदि को अष्टाङ्ग योग कहा जाता है॥ २॥

शीतोष्णाहारनिद्राविजयः सर्वदा शान्तिर्निश्चलत्वं विषयेन्द्रियनिग्रहश्चैते यमाः॥ ३ ॥

सर्दी-गर्मी, आहार एवं निद्रा पर विजय प्राप्त करना, सर्वदा शान्त रहना और निश्चल होकर इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना, ये सभी यम हैं॥ ३ ॥

गुरुभक्तिः सत्यमार्गानुरक्तिः सुखागतवस्त्वनुभवश्च तद्वस्त्वनुभवेन। तुष्टिर्निःसङ्गता एकान्तवासो मनोनिवृत्तिः फलानभिलाषो वैराग्यभावश्च नियमाः॥ ४॥

गुरु भक्ति, सत्य मार्ग में अनुरक्ति, यथालाभ-सन्तोष, एकान्त निवास, अनासक्ति, मनोनिवृत्ति, फल की इच्छा न करना और वैराग्य भाव-ये सभी नियम हैं॥ ४॥

सुखासनवृत्तिश्चिरवासश्चैवमासननियमो भवति॥ ५॥

सुखासन वृत्ति (सुखपूर्वक एक वृत्ति में दीर्घकाल तक स्थित रहना) और चिरनिवास (बिना प्रयास के चिरकाल तक एक स्थिति में रहना)—ये आसन के नियम हैं॥ ५॥

पूरककुम्भकरेचकैः षोडशचतुःषष्टिद्वात्रिंशत्संख्यया यथाक्रमं प्राणायामः॥ ६॥

षोडश मात्राओं द्वारा पूरक, चौंसठ मात्राओं द्वारा कुम्भक और बत्तीस मात्राओं द्वारा रेचक करने को प्राणायाम कहते हैं॥ ६॥

विषयेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यो मनोनिरोधनं प्रत्याहारः॥ ७॥

इन्द्रियों के विषयों से मन का निरोध करना प्रत्याहार कहलाता है॥ ७॥

विषयव्यावर्तनपूर्वकं चैतन्ये चेतःस्थापनं धारणं भवति॥ ८॥

विषयों से निरोधित मन को चैतन्य सत्ता में स्थित करना धारणा है॥ ८॥

सर्वशरीरेषु चैतन्यैकतानता ध्यानम्॥ ९॥ ध्यानविस्मृतिःसमाधिः॥ १०॥

सभी शरीरों में एक ही चैतन्य तत्त्व विद्यमान है, इसी एकतानता (निरन्तर चिन्तन) को ध्यान कहा गया है और ध्यान को भी विस्मृत कर देना (भूल जाना) समाधि है॥ ९-१०॥

एवं सूक्ष्माङ्गानि। य एवं वेद स मुक्तिभाग्भवति॥ ११॥

इस प्रकार ये सभी सूक्ष्म अङ्ग हैं, जो इन्हें इस प्रकार जानता है,वह मुक्ति का अधिकारी होता है॥११॥

॥ द्वितीयः खण्डः॥

देहस्य पञ्च दोषा भवन्ति कामक्रोधनिःश्वासभयनिद्राः॥ १॥

इस शरीर के काम,क्रोध,निःश्वास(श्वासावरोध),भय और निद्रा(अज्ञान-निद्रा)-ये पाँच दोष होते हैं॥१

तन्निरासस्तु निःसंकल्पक्षमालघ्वाहाराप्रमादतातत्त्वसेवनम्॥ २॥

संकल्परहित होना, क्षमाशील होना, अल्पाहार करना, निर्भय होना और तत्त्व चिन्तन करना, ये उपर्युक्त (शरीर के)दोषों को दूर करने के साधन हैं॥ २॥

निद्राभयसरीसृपं हिंसादितरङ्गं तृष्णावर्तं दारपङ्कं संसारवार्धिं तरीतुं सूक्ष्ममार्गमवलम्ब्य सत्त्वादिगुणानतिक्रम्य तारकमवलोकयेत्॥ ३॥

निद्रा (अज्ञान-निद्रा) और भय सर्प हैं, हिंसा आदि तरंगें हैं, तृष्णा भँवर है, स्त्री पङ्क है (स्त्री के प्रति भोग्याभाव कीचड़ है)—ऐसे संसार रूपी सागर से पार जाने के लिए सूक्ष्म मार्ग का अवलम्बन लेकर सत्त्व आदि गुणों से परे (ऊपर) होकर तारक ब्रह्म का दर्शन करना चाहिए (उसका ध्यान करना चाहिए)॥ ३॥

भ्रूमध्ये सच्चिदानन्दतेजःकूटरूपं तारकं ब्रह्म॥ ४॥

दोनों भौंहों के मध्य में सच्चिदानन्द स्वरूप, तेजः-सम्पन्न, कूट रूप तारक ब्रह्म का निवास है॥ ४॥

तदुपायं लक्ष्यत्रयावलोकनम्॥ ५॥

उस (तारक ब्रह्म) की प्राप्ति के उपायों में लक्ष्यत्रय का अवलोकन करना चाहिए॥ ५॥

मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं सुषुम्ना सूर्याभा। तन्मध्ये तडित्कोटिसमा मृणालतन्तु-सूक्ष्मा कुण्डलिनी। तत्र तमोनिवृत्तिः। तद्दर्शनात्सर्वपापनिवृत्तिः॥ ६॥

मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त सूर्य के समान आभा वाली सुषुम्ना नामक नाड़ी है। उसके बीच में उससे कोटिगुनी मृणाल तन्तु जितनी सूक्ष्म कुण्डलिनी है। वहाँ (उसके ज्ञान से) तमोगुण की निवृत्ति होती है। उसके दर्शन से समस्त पाप विनष्ट होते हैं॥ ६॥

तर्जन्यग्रोन्मीलितकर्णरन्ध्रद्वये फूत्कारशब्दो जायते।

तत्र स्थिते मनसि चक्षुर्मध्यनीलज्योतिः पश्यति। एवं हृदयेऽपि॥ ७॥

तर्जनी अँगुली के अग्रभाग से दोनों कानों को बन्द करने पर उस (साधक) के कर्णछिद्रों से फूत्कार शब्द होता है। जब उस शब्द में मन को स्थिर किया जाता है, तब नेत्रों के मध्य में नीलवर्ण ज्योति का दर्शन होता है। इसी प्रकार हृदय में भी (वही ज्योति) दिखाई पड़ती है॥ ७॥

बहिर्लक्ष्यं तु नासाग्रे चतुःषडष्टदशद्वादशाङ्गुलीभिः क्रमान्नीलद्युतिश्यामत्वसदृग्रक्त-भङ्गीस्फुरत्पीतवर्णद्वयोपेतं व्योमत्वं पश्यति स तु योगी ॥ ८॥

बाह्य लक्ष्य यह है कि (जिसे) नासिका के अग्रभाग से चार, छः, आठ, दस और बारह अंगुल की दूरी पर क्रम से नीलवर्ण, श्यामवर्ण, रक्तवर्ण, पीतवर्ण और दो रंगों के मिश्रित रंग युक्त आकाश दिखाई पड़ता है, वह योगी हो जाता है॥ ८॥

चलनदृष्ट्या व्योमभागवीक्षितुः पुरुषस्य दृष्ट्यग्रे ज्योतिर्मयूखा वर्तन्ते। तद्दृष्टिः स्थिरा भवति॥ ९

चल दृष्टि (चञ्चल दृष्टि) से व्योम भाग को देखते हुए पुरुष की दृष्टि के अग्रभाग में ज्योति युक्त किरणें दिखाई पड़ती हैं, उससे दृष्टि में स्थिरत्व आ जाता है॥ ९॥

शीर्षोपरि द्वादशाङ्गुलिमानं ज्योतिः पश्यति तदाऽमृतत्वमेति॥ १०॥

शीर्ष (मस्तिष्क) के ऊपर द्वादशाङ्गुल की दूरी पर ज्योति दिखाई पड़ती है। उसे देखने वाले को अमरत्व प्राप्त हो जाता है॥ १०॥

मध्यलक्ष्यं तु प्रातश्चित्रादिवर्णसूर्यचन्द्रवह्निज्वाला वलीवत्तद्विहीनान्तरिक्षवत्पश्यति॥ ११॥
तदाकाराकारी भवति ॥ १२॥

मध्य लक्ष्य इस प्रकार है कि प्रातःकालीन वेला में सूर्य, चन्द्र और अग्नि ज्वालवत् और उससे विहीन अन्तरिक्षवत् दिखाई देता है। उसके आकार की तरह ही आकार वाला हो जाता है॥ ११-१२॥

अभ्यासान्निर्विकारं गुणरहिताकाशं भवति। विस्फुरत्तारकाकारगाढतमोपमं पराकाशं भवति। कालानलसमं द्योतमानं महाकाशं भवति। सर्वोत्कृष्टपरमाद्वितीयप्रद्योतमानं तत्त्वाकाशं भवति। कोटिसूर्यप्रकाशसंकाशं सूर्याकाशं भवति॥ १३॥

अभ्यास के द्वारा वह विकाररहित, त्रिगुणातीत आकाश रूप होता है। अत्यंत प्रगाढ़ प्रकाशयुक्त तारकों के समान पराकाश होता है। कालाग्नि के समान प्रकाशमान महाकाश होता है। सर्वोत्कृष्ट परम अद्वितीय और विशिष्ट रूप से द्योतमान प्रकाश तत्त्वाकाश होता है। करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान सूर्याकाश होता है॥

एवमभ्यासात्तन्मयो भवति य एवं वेद ॥ १४॥

जो इस तथ्य को इस प्रकार जानता है, वह अभ्यासपूर्वक तन्मय हो जाता है॥ १४॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरविभागतः। पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरमिति। तारकं द्विविधम् मूर्तितारकममूर्तितारकमिति। यदिन्द्रियान्तं तन्मूर्तितारकम्। यद्भ्रूयुगातीतं तदमूर्तितारकमिति॥ १ ॥

उस योग के दो विभाग हैं। एक पूर्व तथा दूसरा उत्तर। पूर्व विभाग को तारक ब्रह्म कहते हैं और उत्तर विभाग को अमनस्क कहते हैं। तारक ब्रह्म के भी दो प्रकार हैं-एक मूर्तितारक और दूसरा अमूर्ति तारक। जो इन्द्रियों तक सीमित है, वह मूर्तितारक है, जो दोनों भौंहों से परे- आगे है, वह अमूर्तितारक है॥ १ ॥

उभयमपि मनोयुक्तमभ्यसेत्। मनोयुक्तान्तरदृष्टिस्तारकप्रकाशाय भवति॥ २ ॥

इन दोनों (मूर्तितारक और अमूर्तितारक) का मनयुक्त (मनोयोग पूर्वक) होकर अभ्यास करना चाहिए; क्योंकि मनयुक्त अन्तर्दृष्टि तारक ब्रह्म को प्रकट करने में सक्षम होती है॥ २ ॥

भ्रूयुगमध्यबिले तेजस आविर्भावः। एतत्पूर्वतारकम्॥ ३ ॥

इसके बाद भ्रूयुगल के मध्य स्थित छिद्र में तेज आविर्भूत होता है। यह पूर्व तारक ब्रह्म है॥ ३॥

उत्तरं त्वमनस्कम्। तालुमूलोर्ध्वभागे महज्ज्योतिर्विद्यते। तद्दर्शनादणिमादिसिद्धिः॥ ४॥

उत्तर विभाग तो अमनस्क (मनरहित) होता है। तालुमूल के ऊर्ध्व भाग में महाज्योति का निवास होता है। उसके दर्शन से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं॥ ४॥

लक्ष्येऽन्तर्बाह्यायां दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां चेयं शाम्भवी मुद्रा भवति। सर्वतन्त्रेषु गोप्यमहाविद्या भवति। तज्ज्ञानेन संसारनिवृत्तिः। तत्पूजनं मोक्षफलदम्॥ ५॥

जब लक्ष्य में अन्तः-बाह्य दृष्टि निर्निमेष (स्थिर) हो जाती है, तो यह शाम्भवी मुद्रा होती है। समस्त तन्त्रों में गोपनीय यह ब्रह्म विद्या है। उसके ज्ञान से संसार से निवृत्ति हो जाती है, उसका पूजन मोक्षरूपी फल प्रदान करता है॥ ५॥

अन्तर्लक्ष्यं जलज्ज्योतिःस्वरूपं भवति। महर्षिवेद्यं अन्तर्बाह्येन्द्रियैरदृश्यम्॥ ६॥

अन्तर्लक्ष्य दीप्तिमान् ज्योति के समान है, इसे महर्षिगण ही जान सकते हैं। यह बाह्य और आन्तरिक इन्द्रियों (नेत्रों-मन आदि) के द्वारा अगोचर है॥ ६॥

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

सहस्रारे जलज्ज्योतिरन्तर्लक्ष्यम्। बुद्धिगुहायां सर्वाङ्गसुन्दरं पुरुषरूपमन्तर्लक्ष्यमित्यपरे। शीर्षान्तर्गतमण्डलमध्यगं पञ्चवक्त्रमुमासहायं नीलकण्ठं प्रशान्तमन्तर्लक्ष्यमिति केचित्। अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तर्लक्ष्यमित्येके॥ १ ॥

सहस्रार दल में दीप्तिमान् ज्योति के समान अन्तर्लक्ष्य है। कुछ अन्य लोग ऐसा मानते हैं कि बुद्धि रूपी गुहा में सर्वाङ्ग सुन्दर पुरुष का रूप अन्तर्लक्ष्य है। कितने ही ऐसा मानते हैं कि शीर्ष के अन्तर्गत स्थित मण्डल के मध्य पाँच मुख वाले और उमा सहित नीलकण्ठ भगवान् शंकर का प्रशान्त रूप भी अन्तर्लक्ष्य है। अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष ही अन्तर्लक्ष्य है, ऐसा भी कितने ही विद्वान् मानते हैं॥ १ ॥

उक्तविकल्पं सर्वमात्मैव। तल्लक्ष्यं शुद्धात्मदृष्ट्या वा यः पश्यति स एव ब्रह्मनिष्ठो भवति॥ २॥

उपर्युक्त सभी विकल्प (विभेद) आत्मा के ही हैं। उस लक्ष्य (अन्तर्लक्ष्य) को जो शुद्ध आत्म-दृष्टि से देखता है, वह ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है॥ २॥

जीवः पञ्चविंशकः स्वकल्पितचतुर्विंशतितत्त्वं परित्यज्य षड्विंशः परमात्माहमिति निश्चयाज्जीवन्मुक्तो भवति॥ ३॥

जीव पच्चीसवाँ तत्त्व है। स्वकल्पित चौबीस तत्त्वों को त्यागकर छब्बीसवाँ मैं स्वयं परमात्मा हूँ, जब वह ऐसा निश्चय करता है, तो इस निश्चय से वह जीवन्मुक्त हो जाता है॥ ३॥

एवमन्तर्लक्ष्यदर्शनेन जीवन्मुक्तिदशायां स्वयमन्तर्लक्ष्यो भूत्वा परमाकाशाखण्ड-मण्डलो भवति॥ ४॥

इस प्रकार अन्तर्लक्ष्य का दर्शन प्राप्त कर लेने से वह (जीव) जीवन्मुक्त की ओर अग्रसर होते हुए स्वयं अन्तर्लक्ष्य होकर परम आकाशस्वरूप अखण्ड मण्डल हो जाता है॥ ४॥

॥ द्वितीयं ब्राह्मणम्॥

॥ प्रथमः खण्डः॥

अथ ह याज्ञवल्क्य आदित्यमण्डलपुरुषं पप्रच्छ। भगवन्नन्तर्लक्ष्यादिकं बहुधोक्तम्। मया तन्न ज्ञातम्। तद्ब्रूहि मह्यम्॥ १॥

इसके पश्चात् ऋषि याज्ञवल्क्य ने आदित्य मण्डल में स्थित पुरुष से प्रश्न किया-भगवन्! अन्तर्लक्ष्य आदि के विषय में बहुत कुछ कहा गया। उसे मैं नहीं समझ सका। उसे अब आप स्वयं ही मुझे समझाएँ॥१॥

तदु होवाच पञ्चभूतकारणं तडित्कूटाभं तद्वच्यतुःपीठम्। तन्मध्ये तत्त्वप्रकाशो भवति। सोऽतिगूढ अव्यक्तश्च॥ २॥

(यह सुनकर) सूर्यनारायण ने कहा—पञ्चभूतों का आदिकारण विद्युत् पुंज के समान है, उसमें एक चतुःपीठ है, जिसके बीच में तत्त्व का प्रकाश होता है, वह प्रकाश अतिगूढ़ और अव्यक्त है॥ २॥

तज्ज्ञानप्लवाधिरूढेन ज्ञेयम्। तद्बाह्याभ्यन्तर्लक्ष्यम्॥ ३॥

वह (अव्यक्त प्रकाश) ज्ञानरूपी प्लव (नौका) में आरूढ़ व्यक्ति के लिए जानने योग्य है। वह बाह्य और आभ्यन्तर लक्ष्य है॥ ३॥

तन्मध्ये जगल्लीनम्। तन्नादबिन्दुकलातीतमखण्डमण्डलम्।

तत्सगुणनिर्गुणस्वरूपम्। तद्वेत्ता विमुक्तः॥ ४॥

उसी के मध्य जगत् लीन हो जाता है। वह नाद, बिन्दु और कला से परे अखण्ड मण्डल है। वह सगुण और निर्गुण स्वरूप है। उसको जानने वाला विमुक्त हो जाता है॥ ४॥

आदावग्निमण्डलम्। तदुपरि सूर्यमण्डलम्। तन्मध्ये सुधाचन्द्रमण्डलम्। तन्मध्येऽखण्ड-ब्रह्मतेजो मण्डलम्। तद्विद्युल्लेखावच्छुक्लभास्वरम्। तदेव शाम्भवीलक्षणम्॥ ५॥

सर्वप्रथम अग्नि मण्डल है। उसके ऊपर सूर्य मण्डल है। उसके बीच में सुधा स्वरूप चन्द्र मण्डल है। उसके बीच में अखण्ड ब्रह्म का तेजोमण्डल है। वह विद्युत् रेखावत् श्वेत और प्रकाशमान है। वही शाम्भवी मुद्रा का लक्षण है॥ ५॥

तद्दर्शने तिस्त्रो दृष्टय: अमा प्रतिपत् पूर्णिमा चेति। निमीलितदर्शनममादृष्टिः। अर्धोन्मीलितं प्रतिपत्। सर्वोन्मीलनं पूर्णिमा भवति। तासु पूर्णिमाभ्यास: कर्तव्य:॥ ६॥

उसका दर्शन करने से तीन स्वरूप दृष्टि में आते हैं। ये रूप-अमावस्या, प्रतिपदा और पूर्णिमा रूप हैं। निमीलित (पलक बन्द होने की स्थिति) दृष्टि अमावस्या स्वरूप है, अर्धनिमीलित दृष्टि प्रतिपदा स्वरूप है और पूरी तरह खुली हुई दृष्टि पूर्णिमा स्वरूप है। इसलिए पूर्णिमा रूप दृष्टि का ही अभ्यास करना चहिए॥ ६॥

तल्लक्ष्यं नासाग्रम्। यदा तालुमूले गाढतमो दृश्यते। तदभ्यासादखण्डमण्डलाकार-ज्योतिर्दृश्यते। तदेव सच्चिदानन्दं ब्रह्म भवति॥ ७॥

उस (पूर्णिमारूप दृष्टि) का लक्ष्य नासिकाग्र है। जिस समय तालुमूल में प्रगाढ़ अन्धकार के दर्शन होते हैं, उस समय अभ्यास के द्वारा अखण्ड मण्डलाकार ज्योति दिखाई देती है। वही सच्चिदानन्द ब्रह्म है॥ ७॥

एवं सहजानन्दे यदा मनो लीयते तदा शाम्भवी भवति। तामेव खेचरीमाहु:॥ ८॥

इस प्रकार जब सहजानन्द में मन लीन हो जाता है, तब शाम्भवी मुद्रा (सिद्ध) होती है और उसे ही खेचरी मुद्रा कहते हैं॥ ८॥

तदभ्यासान्मन:स्थैर्यम्। ततो बुद्धिस्थैर्यम्॥ ९॥

उसके अभ्यास से मन स्थिर हो जाता है, तत्पश्चात् बुद्धि स्थिर होती है॥ ९॥

तच्चिह्नानि आदौ तारकवद्दृश्यते। ततो वज्रदर्पणम्। तत उपरि पूर्णचन्द्रमण्डलम्। ततो नवरत्न प्रभामण्डलम्। ततो मध्याह्नार्कमण्डलम्। ततो वह्निशिखामण्डलं क्रमाद्दृश्यते॥

उसके चिह्न इस प्रकार हैं- सर्वप्रथम तारा के समान दिखाई देता है, तत्पश्चात् वज्र दर्पण (अर्थात् हीरे का दर्पण) जैसा दिखाई देता है, इसके पश्चात् पूर्ण चन्द्र मण्डल दिखाई देता है, इसके बाद नवरत्न प्रभा का मण्डल दृश्यमान होता है, इसके बाद मध्याह्न का सूर्य मण्डल परिलक्षित होता है, तत्पश्चात् क्रमशः अग्निशिखा मण्डल दिखाई देता है॥ १०॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

तदा पश्चिमाभिमुखप्रकाश: स्फटिकधूम्रबिन्दुनादकलानक्षत्रखद्योतदीपनेत्रसवर्ण-नवरत्नादिप्रभा दृश्यन्ते। तदेव प्रणवस्वरूपम्॥ १॥

उस समय वह पश्चिमाभिमुख (आन्तरिक) प्रकाश दृष्टिगोचर होता है, जिसकी आभा धूम्र वर्णिक स्फटिकमणि तुल्य, बिन्दु (मनस्तत्त्व), नाद (बुद्धि तत्त्व), कला (महत्तत्त्व), नक्षत्र, खद्योत (जुगनू), दीप, नेत्र, सुवर्ण और नवरत्न आदि जैसी होती है। वही प्रणव (ॐ) का स्वरूप है॥ १॥

प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा धृतकुम्भको नासाग्रदर्शनदृढभावनया द्विकराङ्गुलिभि: षण्मु-खीकरणेन प्रणवध्वनिं निशम्य मनस्तत्र लीनं भवति॥ २॥

प्राण और अपान वायु को एक करके कुम्भक धारण करे, तत्पश्चात् नासिकाग्र पर दृष्टि को एकाग्र करके दृढ़ भावना से करद्वय (दोनों हाथों) की अँगुलियों से षण्मुखी मुद्रा धारण करके 'प्रणव' (ॐ) नाद का श्रवण करे, इसमें मन लीन हो जाता है॥ २॥

तस्य न कर्मलेपः। रवेरुदयास्तमययोः किल कर्म कर्तव्यम्। एवंविधश्चिदादित्यस्योदयास्तमयाभावात्सर्वकर्माभावः॥ ३॥

ऐसा अभ्यास करने वाले को कर्म लिप्त नहीं करते। रवि के उदय और अस्त के समय (प्रातः-सायं) कर्म (धर्मकृत्य) सम्पन्न किये जाते हैं, किन्तु चिदादित्य (चैतन्य स्वरूप आदित्य) का तो उदय-अस्त होता ही नहीं, इसलिए उसे जानने (अथवा दर्शन करने) वाले के लिए कोई कर्म शेष नहीं रहते॥ ३॥

शब्दकाललयेन दिवारात्र्यतीतो भूत्वा सर्वपरिपूर्णज्ञानेनोन्मन्यवस्थावशेन ब्रह्मैक्यं भवति। उन्मन्या अमनस्कं भवति॥ ४॥

शब्द और काल के लय हो जाने से मनुष्य दिवा और रात्रि से अतीत होकर सभी का परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है, जिसके द्वारा उन्मनी अवस्था प्राप्त होती है और ब्रह्म के साथ एकत्व हो जाता है। उन्मनी अवस्था से व्यक्ति अमनस्क हो जाता है॥ ४॥

तस्य निश्चिन्ता ध्यानम्। सर्वकर्मनिराकरणमावाहनम्। निश्चयज्ञानमासनम्। उन्मनीभावः पाद्यम्। सदाऽमनस्कमर्घ्यम्। सदादीप्तिरपारामृतवृत्तिः स्नानम्। सर्वत्र भावना गन्धः। दृक्स्वरूपावस्थानमक्षताः। चिदाप्तिः पुष्पम्। चिदग्निस्वरूपं धूपः। चिदादित्यस्वरूपं दीपः। परिपूर्णचन्द्रामृतरसस्यैकीकरणं नैवेद्यम्। निश्चलत्वं प्रदक्षिणम्। सोऽहंभावो नमस्कारः। मौनं स्तुतिः। सर्वसंतोषो विसर्जनमिति य एवं वेद॥ ५॥

निश्चिन्त अवस्था ही उसका ध्यान है। समस्त कर्मों का निराकरण (दूर करना) ही उसका आवाहन है। निश्चय ज्ञान ही उसका आसन है। उन्मन भाव (मनरहित होना) ही उसका पाद्य है। सदैव अमनस्क भाव ही अर्घ्य है। सतत दीप्ति और अपार अमृतवृत्ति ही उसका स्नान है। सर्वत्र ब्रह्म भावना ही गन्ध है। दर्शन के स्वरूप का अवस्थान ही अक्षत है। चैतन्य की प्राप्ति ही पुष्प है। चैतन्य अग्नि का स्वरूप ही धूप है। चैतन्य आदित्य का स्वरूप ही दीप है। परिपूर्ण चन्द्र के अमृत का एकीकरण ही नैवेद्य है। निश्चलत्व ही प्रदक्षिणा है। 'सोऽहम्' भाव ही नमस्कार है। मौन ही स्तुति है। सभी प्रकार का सन्तोष ही उसका विसर्जन है। जो इस प्रकार जानता है (वह ब्रह्म स्वरूप हो जाता है)॥ ५॥

॥ तृतीयः खण्डः॥

एवं त्रिपुट्यां निरस्तायां निस्तरङ्गसमुद्रवन्निवातस्थितदीपवदचलसंपूर्णभावाभावविहीनकैवल्यज्योतिर्भवति॥ १॥

इस प्रकार जब (ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय स्वरूप) त्रिपुटी निरस्त (दूर) हो जाती है, तब तरंगहीन सागर के समान, वायुरहित स्थान में स्थित दीपक की तरह अचल, सम्पूर्ण भाव और अभाव से विहीन कैवल्य-ज्योति प्रकट होती है, अर्थात् मात्र कैवल्यज्योति शेष रहती है॥ १॥

जाग्रन्निद्रान्तःपरिज्ञानेन ब्रह्मविद्भवति॥ २॥

जिसे जाग्रदवस्था और निद्रावस्था में भी अन्तर्ज्ञान बना रहता है, वह ब्रह्मविद् होता है॥ २॥

सुषुप्तिसमाध्योर्मनोलयाविशेषेऽपि महदस्त्युभयोर्भेदस्तमसि लीनत्वान्मुक्तिहेतुत्वाभावाच्च॥ ३॥

सुषुप्ति और समाधि की स्थिति में मनोलय समान होने पर भी दोनों में महान् भेद है। सुषुप्ति में मन अज्ञान में लय हो जाता है, जिससे मुक्ति की स्थिति नहीं बनती ॥ ३॥

समाधौ मृदिततमोविकारस्य तदाकाराकारिताखण्डाकारवृत्त्यात्मकसाक्षिचैतन्ये प्रपञ्चलयः संपद्यते प्रपञ्चस्य मनःकल्पितत्वात्॥ ४॥

समाधि अवस्था में तमोविकार विनष्ट हो जाता है, जिसके कारण तदाकार और अखण्डाकार बने हुए वृत्ति रूप साक्षिचैतन्य में प्रपञ्च का विलय हो जाता है; क्योंकि प्रपञ्च मनःकल्पित होता है॥ ४॥

ततो भेदाभावात् कदाचिद्बहिर्गतेऽपि मिथ्यात्वभानात्। सकृद्विभातसदानन्दानुभवैकगोचरो ब्रह्मवित्तदैव भवति॥ ५॥

तत्पश्चात् भेद के अभाव में समाधि से बाहर आने पर भी प्रपञ्च के मिथ्यात्व का बोध बना रहता है। एक बार सदानन्द का अनुभव हो जाने से वही प्रमुख विषय हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म को जानने वाला (ब्रह्मविद्) ब्रह्म ही हो जाता है॥ ५॥

यस्य संकल्पनाशः स्यात्तस्य मुक्तिः करे स्थिता।
तस्माद्भावाभावौ परित्यज्य परमात्मध्यानेन मुक्तो भवति॥ ६॥

जिसके संकल्प विनष्ट हो गये हैं, उसी के हाथ में मुक्ति है। इसलिए (वह साधक) भाव और अभाव का परित्याग करके परमात्मा का ध्यान करने से मुक्त हो जाता है॥ ६॥

पुनःपुनः सर्वावस्थासु ज्ञानज्ञेयौ ध्यानध्येयौ लक्ष्यालक्ष्ये दृश्यादृश्ये चोहापोहादि परित्यज्य जीवन्मुक्तो भवेत्। य एवं वेद ॥ ७॥

इस प्रकार समस्त अवस्थाओं में बारम्बार ज्ञान और ज्ञेय, ध्यान और ध्येय, लक्ष्य और अलक्ष्य, दृश्य और अदृश्य तथा ऊहापोह आदि का परित्याग करके मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। जो इस प्रकार जानता है (वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है)॥ ७॥

॥ चतुर्थः खण्डः॥

पञ्चावस्थाः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयतुरीयातीताः॥ १॥

पाँच अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत॥ १॥

जाग्रति प्रवृत्तो जीवः प्रवृत्तिमार्गासक्तः।
पापफलनरकादि मास्तु शुभकर्मफलस्वर्गमस्त्विति काङ्क्षते॥ २॥

इन पाँच अवस्थाओं में से जाग्रदवस्था में जीव प्रवृत्ति मार्ग में प्रवृत्त होता है, जिससे वह यह आकांक्षा करता है कि पाप का फल नरक मुझे न प्राप्त हो और शुभ कर्मों का फल स्वर्ग मुझे अवश्य प्राप्त हो॥ २॥

एवं स एव स्वीकृतवैराग्यात्कर्मफलजन्माऽलं।
संसारबन्धनमलमिति विमुक्त्यभिमुखो निवृत्तिमार्गप्रवृत्तो भवति॥ ३॥

इस प्रकार वही जीव जब वैराग्य को स्वीकार कर लेता है, तब कर्मफल स्वरूप जन्म और संसार रूप बन्धन से मुक्ति प्राप्त करने का आकांक्षी होकर मुक्ति की ओर अग्रसर होता है और निवृत्ति पथगामी होता है॥३

स एव संसारतारणाय गुरुमाश्रित्य कामादि त्यक्त्वा विहितकर्माचरन्साधनचतुष्टयसंपन्नो हृदयकमलमध्ये भगवत्सत्तामात्रान्तर्लक्ष्यरूपमासाद्य सुषुप्त्यवस्थाया मुक्तब्रह्मानन्दस्मृतिं लब्ध्वा एक एवाहमद्वितीयः कंचित्कालमज्ञानवृत्त्या विस्मृतजाग्रद्वासनानुफलेन तैजसोऽस्मीति तदुभयनिवृत्त्या प्राज्ञ इदानीमस्मीत्यहमेक एव स्थानभेदादवस्थाभेदस्य परंतु नहि मदन्यदिति जातविवेकः शुद्धाद्वैतब्रह्माहमिति भिदागन्धं निरस्य स्वान्तर्विजृम्भितभानुमण्डलध्यानतदाकाराकारितपरंब्रह्माकारितमुक्तिमार्गमारूढः परिपक्को भवति॥ ४॥

(तत्पश्चात्) वही जीव संसार सागर से पार होने हेतु गुरु का आश्रय लेकर, कामादि (विकारों का) परित्याग करके विहित (वेदोक्त) कर्म का आचरण करता हुआ साधन चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व) से सम्पन्न होता है और हृदय कमल के मध्य एकमात्र भगवत्सत्ता को अन्तर्लक्ष्य करके एक उसी के रूप का आश्रय लेकर सुषुप्ति अवस्था से मुक्त ब्रह्मानन्द की स्मृति पाकर ऐसा विचारता है (अनुभव करता है) कि मैं एक और अद्वितीय ही हूँ; किन्तु कुछ काल पूर्व अज्ञान ग्रसित होकर आत्म स्वरूप को भूल गया था और जाग्रदवस्था में स्थित वासना के फलस्वरूप स्वप्न में मेरा यह मानना था कि 'मैं तैजस हूँ।' उसी प्रकार जाग्रत् और स्वप्न इन दोनों अवस्थाओं से निवृत्ति हो जाने पर (सुषुप्तावस्था में) 'मैं प्राज्ञ हूँ' ऐसा मानता था; किन्तु अब 'मैं एक ही हूँ' ऐसा अनुभव होता है। स्थान भेद के कारण वे अलग-अलग अवस्थाएँ थीं; किन्तु मुझसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं था, ऐसा विवेक होने से 'मैं शुद्ध अद्वैत ब्रह्म हूँ' यह अनुभव होता है, जिसके कारण भेदभाव की समस्त वासनाएँ (आरोपित वृत्तियाँ) दूर हो जाती हैं। साधक अपने भीतर प्रकाशित तेजोमण्डल का ध्यान करने से तदाकार बनकर परब्रह्म के स्वरूप को पाकर मुक्तिपथारूढ़ होता है और परिपक्व हो जाता है॥ ४॥

संकल्पादिकं मनो बन्धहेतुः। तद्वियुक्तं मनो मोक्षाय भवति॥ ५॥

संकल्प आदि से युक्त मन बन्धन का और उससे रहित मन मोक्ष का कारण होता है॥ ५॥

तद्वांश्चक्षुरादिबाह्यप्रपञ्चोपरतो विगतप्रपञ्चगन्धः सर्वजगदात्मत्वेन पश्यंस्त्यक्ताहंकारो ब्रह्माहमस्मीति चिन्तयन्निदं सर्वं यदयमात्मेति भावयन्कृतकृत्यो भवति॥ ६॥

उससे सम्पन्न (जीवित अवस्था में ही मोक्ष प्राप्त कर लेने वाला) साधक चक्षु आदि बाह्य प्रपञ्चों से उपरत हो जाता है। उसमें प्रपञ्चों की गन्ध तक शेष नहीं रहती। वह सम्पूर्ण जगत् को आत्म स्वरूप में देखता है और त्यक्त अहंकार होकर 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा चिन्तन करता हुआ 'यह सब कुछ आत्मा ही है, ऐसी भावना करता हुआ कृतकृत्य हो जाता है॥ ६॥

॥ पञ्चमः खण्डः॥

सर्वपरिपूर्णतुरीयातीतब्रह्मभूतो योगी भवति। तं ब्रह्मेति स्तुवन्ति॥ १॥

सब प्रकार से परिपूर्ण होकर वह तुरीयातीत योगी ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। 'यह ब्रह्म है,' लोग इस प्रकार उसकी स्तुति करते हैं॥ १॥

सर्वलोकस्तुतिपात्रः सर्वदेशसंचारशीलः परमात्मगगने बिन्दुं निक्षिप्य शुद्धाद्वैताजाड्य-सहजामनस्कयोगनिद्राखण्डानन्दपदानुवृत्त्या जीवन्मुक्तो भवति॥ २॥

वह समस्त लोकों की स्तुति का पात्र बनता है, समस्त लोकों में संचार करने वाला होता है और परमात्मा रूप गगन में बिन्दु स्थापित करके (चिदाकाश में मन को विलीन करके) शुद्ध, अद्वैत, जड़तारहित, सहज और अमनस्क स्थिति रूपी योगनिद्रा में अखण्डानन्द का अनुसरण करके जीवन्मुक्त हो जाता है॥ २॥

तच्चानन्दसमुद्रमग्ना योगिनो भवन्ति॥ ३॥

उस आनन्द के समुद्र में मग्न रहने वाले (सिद्ध) योगी कहे जाते हैं॥३॥

तदपेक्षया इन्द्रादयः स्वल्पानन्दाः। एवं प्राप्तानन्दः परमयोगी भवतीत्युपनिषत्॥ ४॥

उन योगियों की अपेक्षा इन्द्रादि देवगण भी स्वल्प आनन्द प्राप्त करने वाले होते हैं। इस प्रकार परमानन्द प्रात करने वाला परम योगी होता है, यह (अद्भुत) रहस्य है॥ ४॥

॥ तृतीयं ब्राह्मणम्॥

॥ प्रथमः खण्डः॥

याज्ञवल्क्यो महामुनिर्मण्डलपुरुषं पप्रच्छ स्वामिन्नमनस्कलक्षणमुक्तमपि विस्मृतं पुनस्तल्लक्षणं ब्रूहीति॥ १॥

महामुनि याज्ञवल्क्य ने सूर्य मण्डल स्थित पुरुष से कहा-"हे स्वामी! आपने अमनस्क स्थिति के लक्षणों के विषय में मुझे उपदेश दिया, अब वह मुझे विस्मृत हो गया है, अतः कृपा करके पुनः उसके लक्षणों को मुझे बताएँ"॥ १॥

तथेति मण्डलपुरुषोऽब्रवीत्। इदममनस्कमतिरहस्यम्। यज्ज्ञानेन कृतार्थो भवति तन्नित्यं शांभवीमुद्रान्वितम्॥ २॥

वह मण्डल पुरुष बोला-बहुत अच्छा, "यह अमनस्क स्थिति अतिरहस्यमय है। इसके ज्ञान से मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है और वह नित्य ही शाम्भवी मुद्रा से समन्वित होता है"॥ २॥

परमात्मदृष्ट्या तत्प्रत्ययलक्ष्याणि दृष्ट्वा तदनु सर्वेशमप्रमेयमजं शिवं परमाकाशं निरालम्ब-मद्वयं ब्रह्मविष्णुरुद्रादीनामेकलक्ष्यं सर्वकारणं परंब्रह्मात्मन्येव पश्यमानो गुहाविहरणमेव निश्चयेन ज्ञात्वा भावाभावादिद्वन्द्वातीतः संविदितमनोन्मन्यनुभवस्तदनन्तरमखिलेन्द्रियक्षयवशा-दमनस्कसुखब्रह्मानन्दसमुद्रे मनः प्रवाहयोगरूपनिवातस्थितदीपवदचलं परंब्रह्म प्राप्नोति॥ ३॥

परमात्म दृष्टि से उसका अनुभव कराने वाले लक्ष्यों को देखकर सबके ईश्वर, अप्रमेय, अज, शिव (कल्याणकारी), परम आकाश, निरालम्ब, अद्वितीय, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि के एकमात्र लक्ष्यरूप सभी के कारण परम ब्रह्म को आत्मरूप में देखने वाला पुरुष हृदयगुहा में ही विहार करता हुआ निश्चय पूर्वक जानकर, भाव-अभाव आदि द्वन्द्वों से अतीत होकर, मन की उन्मनी अवस्था का अनुभव करता है। तत्पश्चात् समस्त इन्द्रियों के (इन्द्रिय जन्य प्रवृत्ति के) क्षय होने पर, अमनस्क सुख रूप ब्रह्मानन्द सागर में उसका मनः-प्रवाह बहता है, जिसके योग से वह वायुशून्य स्थल में स्थित दीपक के समान अचल परब्रह्म को प्राप्त करता है॥ ३॥

ततः शुष्कवृक्षवन्मूर्च्छानिद्रामयनिःश्वासोच्छ्वासाभावान्नष्टद्वन्द्वः सदाऽचञ्चलगात्रः परमशान्तिं स्वीकृत्य मनःप्रचारशून्यं परमात्मनि लीनं भवति॥ ४॥

तत्पश्चात् शुष्क वृक्षवत् मूर्च्छा और निद्रा की स्थिति में श्वासोच्छ्वास के अभाव में सुख-दुःख आदि द्वन्द्व विनष्ट हो जाते हैं और शरीर अचञ्चल हो जाता है। ऐसी स्थिति का व्यक्ति परम शान्ति को स्वीकार कर लेता है, जिससे मन प्रचार-शून्य बन जाता है तथा परमात्मा में लीन हो जाता है॥ ४॥

पयःस्रावानन्तरं धेनुस्तनक्षीरमिव सर्वेन्द्रियवर्गे परिनष्टे मनोनाशो भवति तदेवामनस्कम्॥ ५॥

जिस प्रकार दुग्ध दोहन कर लेने के उपरान्त वह गाय के स्तनों में नहीं रहता, उसी प्रकार समस्त इन्द्रिय वर्ग के विनष्ट हो जाने पर मन का भी विनाश हो जाता है—यही अमनस्क स्थिति है॥ ५॥

तदनु नित्यशुद्धः परमात्माहमेवेति तत्त्वमसीत्युपदेशेन त्वमेवाहमहमेव त्वमिति तारकयोगमार्गेणाखण्डानन्दपूर्णः कृतार्थो भवति॥ ६॥

इसके उपरान्त 'मैं ही नित्य शुद्ध परमात्मा हूँ' इस प्रकार 'तत्त्वमसि' उपदेश प्राप्त हो जाने से 'तुम ही मैं हूँ', 'मैं ही तुम हो' इस तारक योग मार्ग से अखण्डानन्द पाकर(साधक)पूर्णरूपेण कृतकृत्य हो जाता है॥६

॥ द्वितीयः खण्डः॥

परिपूर्णपराकाशमग्नमनाः प्राप्तोन्मन्यवस्थः संन्यस्तसर्वेन्द्रियवर्गोऽनेकजन्मार्जितपुण्यपुञ्जपक्वकैवल्यफलोऽखण्डानन्दनिरस्तसर्वक्लेशकश्मलो ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति॥१

जिसका मन परमाकाश में पूर्णरूपेण मग्न हो गया हो, जिसे उन्मनी अवस्था प्राप्त हो गई हो एवं जो समस्त इन्द्रिय वर्ग से वियुक्त हो गया हो, अनेक जन्मों से प्राप्त हुए पुण्यपुञ्ज द्वारा उसका कैवल्य स्वरूप फल परिपक्व हो जाता है। अखण्डानन्द प्राप्त कर लेने से उसके समस्त क्लेश रूप पाप विनष्ट हो जाते हैं। तदुपरान्त 'मैं ब्रह्म हूँ' इस भाव से वह निरन्तर अभिभूत रहता हुआ कृतकृत्य हो जाता है॥ १॥

त्वमेवाहं न भेदोऽस्ति पूर्णत्वात्परमात्मनः। इत्युच्चरन्त्समालिङ्ग्य शिष्यं ज्ञप्तिमनीनयत्॥ २॥

परमात्मा पूर्ण है, इसलिए 'तू ही मैं हूँ' ऐसा उच्चारण करते हुए गुरु (मण्डल पुरुष) ने शिष्य (याज्ञवल्क्य) का आलिङ्गन (भेंट) करते हुए उसे इस ज्ञान का उपदेश किया था॥ २॥

॥ चतुर्थं ब्राह्मणम्॥

॥ प्रथमः खण्डः॥

अथ ह याज्ञवल्क्यो मण्डलपुरुषं पप्रच्छ व्योमपञ्चकलक्षणं विस्तरेणानुब्रूहीति॥१॥

इसके बाद ऋषि याज्ञवल्क्य ने मण्डल पुरुष (सूर्यमण्डल स्थित पुरुष) से प्रश्न किया कि अब आप मुझे 'आकाश पञ्चक' का लक्षण सविस्तार बताएँ॥ १॥

स होवाचाकाशं पराकाशं महाकाशं। सूर्याकाशं परमाकाशमिति पञ्च भवन्ति॥ २॥

उन्होंने कहा कि आकाश के पाँच प्रकार हैं-आकाश,पराकाश, महाकाश, सूर्याकाश और परमाकाश॥२॥

स बाह्याभ्यन्तरमन्धकारमयमाकाशम्। स बाह्यस्याभ्यन्तरे कालानलसदृशं पराकाशम्। सबाह्याभ्यन्तरेऽपरिमितद्युतिनिभं तत्त्वं महाकाशम्। सबाह्याभ्यन्तरे सूर्यनिभं सूर्याकाशम्। अनिर्वचनीयज्योतिः सर्वव्यापकं निरतिशयानन्दलक्षणं परमाकाशम्॥ ३॥

जो बाहर और भीतर से अन्धकारमय है, वह आकाश है। जो बाहर और भीतर से कालाग्नि सदृश है, वह पराकाश है। जो बाहर और अन्दर से अपरिमित कान्ति के समान है, वह तत्त्व महाकाश है। जो बाहर और भीतर से सूर्य सदृश है, वह सूर्याकाश है तथा जो अनिर्वचनीय ज्योति वाला सर्वव्यापक और अतिशय आनन्द के लक्षण से युक्त है, वह परमाकाश है॥ ३॥

एवं तत्तल्लक्ष्यदर्शनात्तत्तद्रूपो भवति॥ ४॥

इस प्रकार मनुष्य जिस-जिस लक्ष्य का दर्शन करता है, वह उसी-उसी की तरह हो जाता है॥ ४॥

नवचक्रं षडाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्। सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामतो भवेत्॥ ५॥

जो नवचक्र (षड्चक्र तथा तालु, आकाश एवं भ्रूचक्र), षड्आधार (मूलाधार आदि षड्आधार), त्रिलक्ष्य (अन्तर्लक्ष्य, बहिर्लक्ष्य एवं मध्यलक्ष्य) और व्योम पञ्चक (आकाश, पराकाश, महाकाश, सूर्याकाश और परमाकाश) को सम्यक् प्रकार से नहीं जानता है, वह नाममात्र का योगी है (अर्थात् योगी को इन सभी का ज्ञान होना आवश्यक है)॥ ५॥

॥ पञ्चमं ब्राह्मणम्॥

॥ प्रथमः खण्डः॥

सविषयं मनो बन्धाय निर्विषयं मुक्तये भवति॥ १॥

सविषय मन बन्धन का और निर्विषय मन मुक्ति का कारण होता है॥ १॥

अतः सर्वं जगच्चित्तगोचरम्। तदेव चित्तं निराश्रयं मनोन्मन्यवस्थापरिपक्वं लययोग्यं भवति॥

अतः समस्त जगत् चित्तगोचर है। वही चित्त यदि निराश्रय हो जाए, तो मन उन्मनी अवस्था से परिपक्व होकर (ईश्वर में) लय होने योग्य बन जाता है॥ २॥

तल्लयं परिपूर्णे मयि समभ्यसेत्। मनोलयकारणमहमेव॥ ३॥

इस लय का परिपूर्ण 'मैं' में अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि मनोलय का कारण 'मैं' ही हूँ॥ ३॥

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः। ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः॥ ४॥

अनाहत शब्द और उस शब्द के अन्दर जो ध्वनि होती है, उस ध्वनि के अन्तर्गत ज्योति रहती है और ज्योति के अन्तर्गत मन होता है॥ ४॥

यन्मनस्त्रिजगत्सृष्टिस्थितिव्यसनकर्मकृत्। तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ ५॥

जो मन त्रिजगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार रूप कर्म सम्पादन करता है, वही मन जिसमें विलय होता है, वह विष्णु का परम पद है॥ ५॥

तल्लयाच्छुद्धाद्वैतसिद्धिर्भेदाभावात्। एतदेव परमतत्त्वम्॥ ६॥

विष्णु के परमपद में लय होने से शुद्ध अद्वैत तत्त्व की सिद्धि होती है; क्योंकि उसमें भेद का अभाव रहता है। यही परमतत्त्व है॥ ६॥

स तज्ज्ञो बालोन्मत्तपिशाचवज्जडवृत्त्या लोकमाचरेत्॥ ७॥

इस (परमतत्त्व) को जानने वाला बालकवत्, उन्मत्तवत् या पिशाचवत् जड़ वृत्ति से लोक (संसार) में आचरण करता है॥ ७॥

एवममनस्काभ्यासेनैव नित्यतृप्तिरल्पमूत्रपुरीषमितभोजनदृढाङ्गाजाड्यनिद्रादृग्वायुचलनाभावब्रह्मदर्शनाज्ज्ञातसुखस्वरूपसिद्धिर्भवति॥ ८॥

इस प्रकार अमनस्क स्थिति के अभ्यास से नित्य तृप्ति का अनुभव होने लगता है। मल-मूत्र की मात्रा भी अल्प हो जाती है तथा स्वल्प आहार से काम चल जाता है। अङ्गों में दृढ़ता आ जाती है, शरीर में जड़ता नहीं रहती, निद्रा, नेत्र (आँख झपकने), वायु (श्वास) की (चंचल) गति समाप्त हो जाती है, (जिसके फलस्वरूप) ब्रह्म दर्शन तथा अज्ञात सुखमय स्वरूप की सिद्धि हो जाती है॥ ८॥

एवं चिरसमाधिजनितब्रह्मामृतपानपरायणोऽसौ संन्यासी परमहंस अवधूतो भवति। तद्दर्शनेन सकलं जगत्पवित्रं भवति। तत्सेवापरोऽज्ञोऽपि मुक्तो भवति। तत्कुलमेकोत्तरशतं तारयति। तन्मातृपितृजायापत्यवर्गं च मुक्तं भवतीत्युपनिषत्॥ ९॥

इस प्रकार दीर्घ काल तक समाधि की स्थिति के अभ्यास से उत्पन्न ब्रह्मामृत पान करने में परायण रहता हुआ संन्यासी अवधूत हो जाता है। उसके दर्शन से सम्पूर्ण जगत् पवित्र हो जाता है। उसकी सेवा में परायण रहने वाला अज्ञानी भी बन्धन से मुक्त हो जाता है। वह अपने कुल की एक सौ एक पीढ़ियाँ तार देता है। उसके माता-पिता, पत्नी और सन्तति वर्ग भी मुक्त हो जाते हैं। ऐसा यह उपनिषद् है॥ ९॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति मण्डलब्राह्मणोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ महावाक्यापानषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल १२ मन्त्र हैं, जिसमें भगवान् ब्रह्मा ने देवों के समक्ष उस रहस्यज्ञान को प्रकट किया है, जो नितान्त गोपनीय है। इसे केवल उन्हीं जिज्ञासुओं के समक्ष प्रकट करना चाहिए, जो सात्त्विक गुणों से ओत-प्रोत, अन्तर्मुखी तथा गुरुजनों की सेवा में संलग्न रहते हों।

इस उपनिषद् का प्रमुख प्रतिपाद्य आत्मतत्त्व है, जो अविद्यारूपी 'तम' से आच्छन्न है। इस ज्ञान के उदय होने के साथ ही आत्मतत्त्व का वास्तविक रूप-आदित्य वर्ण सदृश प्रकट हो जाता है और परमअर्क-(आदित्य), परम ज्योति, परमशिव, परम शुक्र, परम ब्रह्मरूप का बोध हो जाता है। जिससे परम आनन्द की अनुभूति-अमृतत्व की प्राप्ति हो जाती है। अन्त में उपनिषद् की महिमा बताते हुए इस रहस्यात्मक ज्ञान का उपसंहार किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐभद्रं कर्णेभिः.....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अथर्वशिरउपनिषद्)

अथ होवाच भगवान्ब्रह्मापरोक्षानुभवपरोपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥ गुह्याद्गुह्यतर मेषा न प्राकृतायोपदेष्टव्या। सात्त्विकायान्तर्मुखाय परिशुश्रूषवे ॥ २ ॥

एक समय भगवान् ब्रह्मा जी ने (समस्त देवताओं के समक्ष) कहा कि (हे देवो!) अपरोक्षानुभव (इन्द्रियातीत अनुभूति) परक उपनिषद् की व्याख्या करते हैं। इस उपनिषद् को सामान्य मनुष्यों के समक्ष प्रकट नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह गूढ़ से गूढ़तर (गोपनीय) है; किन्तु सात्त्विक गुणों से ओत-प्रोत, अन्तर्मुखी तथा अपने गुरुजनों की सेवादि में संलग्न मनुष्यों को ही इस उपनिषद् का उपदेश करना चाहिए॥

अथ संसृतिबन्धमोक्षयोर्विद्याविद्ये चक्षुषी उपसंहृत्य विज्ञायाविद्यालोकाण्डस्तमोदृक् ॥ ३ ॥

तदनन्तर संसार के बन्धन और मोक्ष की कारणभूता विद्या-अविद्या रूपी नेत्रों को बन्द करके (अहं ब्रह्मास्मि की अनुभूति करता हुआ) साधक (सम्यक् ज्ञानानुभूति के साथ ही) अविद्या रूप संसार के प्रति तमोमयी दृष्टि-अज्ञानदृष्टि से मुक्त हो जाता है॥ ३॥

तमो हि शारीरप्रपञ्चमाब्रह्मस्थावरान्तमनन्ताखिलाजाण्डभूतम्।
निखिलनिगमोदितसकामकर्मव्यवहारो लोकः ॥ ४ ॥

यह आत्मतत्त्व को आच्छादित करने वाला अज्ञानान्धकार रूपी तम है, अविद्या है, यही चर और अचर जगत् का इस देह से लेकर ब्रह्मपर्यन्त अखण्ड मण्डल का कारण स्वरूप है। इस तम से ही इन सभी वस्तुओं की ब्रह्म से भिन्न एक अलग सत्ता का ज्ञान प्राप्त होता है। वेदों में जो धर्म-कर्त्तव्य का निर्देश है, उसका प्राकट्य करने वाला कारण स्वरूप भी वह तमरूपी अविद्या ही है॥ ४॥

नैषोऽन्धकारोऽयमात्मा। विद्या हि काण्डान्तरादित्यो ज्योतिर्मण्डलं ग्राह्यं नापरम्॥ ५ ॥

जब तक अपनी आत्मा के सन्दर्भ में ऐसा ज्ञान न हो जाए कि यह आत्मा अन्धकार रूप नहीं है, अपितु प्रकाश रूप ब्रह्म से प्रकट होने के कारण स्वयं प्रकाशस्वरूप है, तब तक पुरुष को सद्ज्ञान रूपी विद्या का सतत अभ्यास करते रहना चाहिए। विद्या ही अज्ञानरूपी अविद्या से भिन्न, चिद् आदित्यस्वरूप, स्वप्रकाशित,

ज्योतिरूप है। उसका मण्डल परम ज्योति से सम्पन्न है, वही ग्रहणीय है; क्योंकि वह ब्रह्ममात्र पर ही आश्रित है, स्वयं ब्रह्म का स्वरूप ही है, अन्य और कुछ भी नहीं है॥ ५॥

असावादित्यो ब्रह्मेत्यजपयोपहितं हंसः सोऽहम्। प्राणापानाभ्यां प्रतिलोमानुलोमाभ्यां समुपलभ्यैवं सा चिरं लब्ध्वा त्रिवृदात्मनि ब्रह्मण्यभिध्यायमाने सच्चिदानन्दःपरमात्मा-विर्भवति॥ ६॥

यह (आत्मा) आदित्यरूप ब्रह्म श्वास-प्रश्वास रूप अजपाजप से युक्त हर एक देह में प्रतिष्ठित रहने वाला 'हंस' नाम से युक्त परमात्मा है। इसी हंसरूपी परमात्मा का अंश अपने आपको मानकर और प्राण-अपान, श्वास-प्रश्वास का ज्ञान प्राप्त करके चिरकाल तक साधना करने से इस विद्या द्वारा समष्टि, व्यष्टि एवं तदैक्य रूप आत्म-ब्रह्म में रत रहने पर ही सत्, चित् एवं आनन्द स्वरूप परब्रह्म का प्रादुर्भाव होता है॥ ६॥

सहस्त्रभानुमच्छुरिता पूरितत्वादलीया पारावारपूर इव। नैषा समाधिः। नैषा योगसिद्धिः। नैषा मनोलयः। ब्रह्मैक्यं तत्॥ ७॥ आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे। सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः। नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते॥ ८॥

वह श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान वृत्ति सहस्रों सूर्यों के प्रकाश से परिपूर्ण, निस्तरंग (तरंगरहित) समुद्र की जलराशि के सदृश, ब्रह्मभाव रस से युक्त एवं सदैव रहने वाली अर्थात् लय से रहित है। ऐसी स्थिति न तो समाधि की है और न ही योगसिद्धि की ही है; न ही मनोलय है; अपितु वह जीव-ब्रह्म की एकता ही है। वह ब्रह्म (आत्म तत्त्व) अज्ञान से परे आदित्य (शुक्ल) वर्ण है। धीर (विद्वान्) पुरुष नाम और रूप (की नश्वरता) पर विचार करके जिस परात्पर ब्रह्म की अनुभूति करते हैं, वे तद्रूप (ब्रह्मरूप) ही हो जाते हैं॥ ७-८॥

धाता पुरस्ताद्यमुदाजहार। शक्रः प्रविद्वान्प्रदिशश्चतस्त्रः तमेवं विद्वानमृत इह भवति। नान्यः पन्था अयनाय विद्यते॥ ९॥

इस स्थिति (स्वरूप) को ब्रह्माजी ने सबसे पहले कहा और ऐसा ही सर्वातिशायी, देवों में अनुपम, अतिश्रेष्ठ देवराज इन्द्र ने भी कहा है। ऐसे अविनाशी उस ब्रह्म को इस प्रकार से जानने वाला विद्वान् पुरुष परमात्मा के रूप को (अमृतत्व को) प्राप्त कर लेता है, इससे भिन्न अन्य कोई भी दूसरा मार्ग मुक्ति के लिए नहीं है॥ ९॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्ते। यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ १०॥

पुरातन कालीन श्रेष्ठ धर्मावलम्बी इन्द्रादि देवों ने ज्ञान-यज्ञ द्वारा यज्ञरूप विराट् का यजन किया। वे ही यज्ञीय जीवनयापन करने वाले (याजक) प्राचीन काल से सिद्ध-साध्यगणों एवं देवों के निवास स्थल महिमामण्डित देवलोक को प्राप्त करते हुए प्रकाशित हो रहे हैं॥ १०॥

सोऽहमर्कः परं ज्योतिरर्कज्योतिरहं शिवः।
आत्मज्योतिरहं शुक्रः सर्वज्योतिरसावदोम्॥ ११॥

मैं ही वह चिद् आदित्य हूँ, मैं ही आदित्यरूप वह परम ज्योति हूँ, मैं ही वह शिव (कल्याणकारी तत्त्व) हूँ। मैं ही वह श्रेष्ठ आत्म-ज्योति हूँ। सभी को प्रकाश प्रदान करने वाला शुक्र(ब्रह्म) मैं ही हूँ तथा उस (परमसत्ता) से कभी भी अलग नहीं रहता हूँ॥ ११॥

य एतदथर्वशिरोऽधीते। प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। तत्सायं प्रातः प्रयुञ्जानः पापोऽपापो भवति। मध्यन्दिनमादित्याभिमुखोऽधीयानः पञ्चमहापातकोपपातकात्प्रमुच्यते। सर्ववेदपारायणपुण्यं लभते। श्रीमहाविष्णुसायुज्यमवाप्नोतीत्युपनिषत् ॥ १२॥

इस उपनिषद् को प्रातःकाल पाठ करने से रात्रि में हुए पापों से मुक्ति मिल जाती है तथा सायंकालीन वेला में इसका पाठ करने वाला (मनुष्य) दिन में हुए पापों से मुक्त हो जाता है। प्रातः-सायं (दोनों सन्ध्याओं) में पाठ करने से व्यक्ति को बड़े से बड़े पाप से भी मुक्ति मिल जाती है। मध्याह्न कालीन वेला में सूर्य के समक्ष इस उपनिषद् का पाठ करने वाला मनुष्य पाँच महापातक (ब्रह्महत्या, परस्त्रीगमन, सुरापान, द्यूतक्रीड़ा और मांसादि भक्षण) तथा अन्य और दूसरे जघन्य पापों से भी मुक्त हो जाता है। वह चारों वेदों के पारायण का पुण्य-फल प्राप्त करता हुआ भगवान् विष्णु के स्वरूप को प्राप्त हो जाता है॥ १२॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति महावाक्योपनिषत्समाप्ता ॥

॥ मैत्रेय्युपनिषद् ॥

यह सामवेदीय उपनिषद् है। इसमें कुल तीन अध्याय हैं। राजा बृहद्रथ को अपने शरीर के नाशवान् होने का बोध होने पर उन्होंने अपने ज्येष्ठपुत्र को राजा बना दिया और आत्मज्ञान की प्राप्ति के उद्देश्य से घोर तप करने के लिए वन चले गये। जहाँ उनके उग्रतप से प्रसन्न होकर महातेजस्वी शाकायन्य मुनि पधारे और वर माँगने को कहा। आत्मतत्त्व का वर माँगने वाले राजा से मुनि का लम्बा कथोपकथन चला, जिसमें पहले शरीर की नश्वरता और उसके वीभत्स स्वरूप का उल्लेख है और बाद में आत्मतत्त्व की प्राप्ति के उपाय पर प्रकाश डाला गया है। इतना सब प्रथम अध्याय में है।

द्वितीय में भगवान् मैत्रेय और कैलासपति महादेव का संवाद वर्णित है, जिसमें सर्वप्रथम महादेव शिव ने ज्ञान, ध्यान, स्नान आदि के यथार्थ स्वरूप को स्पष्ट किया है और बाद में संन्यास द्वारा मुक्ति प्राप्ति का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया।

तृतीय अध्याय में विशुद्ध आत्मतत्त्व की अनुभूति का विस्तृत विवेचन करते हुए उपनिषद् की महिमा के वर्णन के साथ समापन किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-आरुण्युपनिषद्)

ॐ बृहद्रथो वै नाम राजा राज्ये ज्येष्ठं पुत्रं निधापयित्वेदमशाश्वतं मन्यमानः शरीरं वैराग्यमुपेतोऽरण्यं निर्जगाम। स तत्र परमं तप आस्थायादित्यमीक्षमाण ऊर्ध्वबाहुस्तिष्ठत्यन्ते सहस्रस्य मुनेरन्तिकमाजगामाग्निरिवाधूमकस्तेजसा निर्दहन्निवात्मविद्भगवाञ्छाकायन्य उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं वृणीष्वेति राजानमब्रवीत्स तस्मै नमस्कृत्योवाच भगवन्नाहमात्मवित्त्वं तत्त्वविच्छृणुमो वयं स त्वं नो ब्रूहीत्येतद्वृत्तं पुरस्तादशक्यं मा पृच्छ प्रश्नमैक्ष्वाकान्यान्कामान्वृणीष्वेति शाकायन्यस्य चरणावभिमृश्यमानो राजेमां गाथां जगाद ॥ १ ॥

बृहद्रथ नामक राजा को यह अनुभव हुआ कि यह शरीर नाशवान् है। ऐसी अनुभूति होने पर उन्हें वैराग्य हो गया। इस कारण वह अपने बड़े पुत्र को राज्य देकर तपस्या करने वन को चले गये। वहाँ उस राजा ने उग्र तपश्चर्या की। वह सूर्य के समक्ष अपनी दृष्टि स्थिर करके तथा हाथ ऊपर करके खड़े रहे। एक सहस्र वर्ष पर्यन्त तपस्या के फल स्वरूप एक बार निर्धूम अग्नि के सदृश तेजस्वी शाकायन्य नामक आत्मवेत्ता महामुनि उनके समीप आये। उन्होंने राजा बृहद्रथ से कहा— 'उठो-उठो! वर माँगो।' तदनन्तर ऐसा सुनकर एवं देखकर राजा ने उन्हें नमन करते हुए कहा—हे भगवन्! मैं आत्मवेत्ता नहीं हूँ। आप तत्त्वज्ञाता हैं, ऐसा हमने सुना है। अतः आप मुझे 'तत्त्व' का उपदेश करने की कृपा करें। इस पर महामुनि शाकायन्य ने इस विषय को अति कठिन बताकर अन्य कोई वर माँगने के लिए कहा। ऐसा सुनकर बृहद्रथ राजा ने शाकायन्य मुनि के चरणों का स्पर्श करते हुए कहा॥ १ ॥

अथ किमेतैर्वान्यानां शोषणं महार्णवानां शिखरिणां प्रपतनं ध्रुवस्य प्रचलनं स्थानं वा तरूणां निमज्जनं पृथिव्याः स्थानादपसरणं सुराणां सोऽहमित्येतद्विधेऽस्मिन्संसारे किं कामोपभोगैर्यैरेवाश्रितस्यासकृदुपावर्तनं दृश्यत इत्युद्धर्तुमर्हसीत्यन्धोदपानस्थो भेक इवाहमस्मिन्संसारे भगवंस्त्वं नो गतिरिति ॥ २ ॥

बड़े-बड़े समुद्र शुष्क पड़ जाते हैं, पर्वत शिखर टूट-फूट जाते हैं, ध्रुव भी अपने स्थान से चलायमान हो जाते हैं, वृक्ष गिर जाते हैं, पृथ्वी डूब जाती है, देव भी (सदैव स्वर्ग में) स्थित नहीं रह पाते, तो फिर ऐसे नाशवान् संसार के विषय-भोगों से क्या लाभ? विषयों में डूबे हुए प्राणियों को बार-बार जन्म-मरण के चक्र में भ्रमण करना पड़ता है। इसलिए हे मुनि प्रवर! अँधेरे कुएँ में मेंढक की भाँति पड़े हुए मेरा उद्धार करने में आप ही समर्थ हैं। हे भगवन्! इस संसार में मुझे शरण प्रदान करने वाले आप ही हैं॥ २॥

भगवञ्छरीरमिदं मैथुनादेवोद्भूतं संविदपेतं निरय एव मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तमस्थिभिश्चितं मांसेनानुलिप्तं चर्मणावबद्धं विण्मूत्रवातपित्तकफमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्च मलैर्बहुभिः परिपूर्णमेतादृशे शरीरे वर्तमानस्य भगवंस्त्वं नो गतिरिति॥ ३॥

हे भगवन्! स्त्री-पुरुष जन्य यह शरीर यदि ज्ञान रहित हो, तो इसे नरक ही समझना चाहिए; क्योंकि यह मूत्र के द्वार से बाहर निःसृत हुआ है, अस्थियों के द्वारा निर्मित है, मांस द्वारा लेपन किया गया है, चमड़े के द्वारा मढ़ा गया है एवं विष्ठा-मूत्र-वात-पित-कफ-मज्जा-मेद (चर्बी) तथा अन्य कई तरह के मलों से भरा हुआ है। इस प्रकार के (बीभत्स) शरीर वाले मुझको शरण प्रदान करने में आप ही समर्थ हैं॥ ३॥

अथ भगवाञ्छाकायन्यः सुप्रीतोऽब्रवीद्राजानं महाराज बृहद्रथेक्ष्वाकुवंशध्वजशीर्षात्मज्ञः कृतकृत्यस्त्वं मरुन्नाम्नो बिश्रुतोऽसीत्ययं खल्वात्मा ते कतमो भगवन्वर्ण्य इति तं होवाच॥४॥

ऐसा कहे जाने पर भगवान् शाकायन्य मुनि ने अति प्रसन्न होकर राजा से कहा —'हे महाराज बृहद्रथ! तुम इक्ष्वाकु वंशीय श्रेष्ठ पुरुष हो, आत्मज्ञ हो,कृतकृत्य हो, मरुत् नाम से प्रख्यात हो, यही तुम्हारी आत्मा है।' तदनन्तर राजा बृहद्रथ ने कहा— 'हे भगवन्! आत्मा (का स्वरूप) क्या है? इस आत्मतत्त्व का वर्णन करने की कृपा करें? यह सुनकर मुनि ने कहा—॥ ४॥

शब्दस्पर्शादयो येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः। येषां सक्तस्तु भूतात्मा न स्मरेच्च परं पदम्॥५॥

शब्द, स्पर्शादि विषय अनर्थ उत्पन्न करने वाले हैं तथा उसमें आसक्त हुए जीवात्मा को परम (श्रेष्ठ) पद का स्वरूप स्मृति में नहीं आता॥ ५॥

तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्संप्राप्यते मनः। मनसा प्राप्यते ह्यात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तते॥ ६॥

तप के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है, ज्ञान के वश में होने से मन वशीभूत होता है, मन वश में होने से आत्मा की प्राप्ति होती है और आत्मा के प्राप्त हो जाने पर इस नश्वर संसार से मुक्ति मिल जाती है॥ ६॥

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति। तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति॥७॥

जैसे ईंधन (लकड़ी) के समाप्त हो जाने पर अग्नि स्वयमेव बुझ जाती है, वैसे ही वृत्तियों के नष्ट होने पर चित्त अपने कारण रूप आत्मा में शान्त रूप हो जाता है॥ ७॥

स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यगामिनः। इन्द्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः॥८॥

अपने मूल कारण में शान्त एवं सत्य की ओर उन्मुख हुए मन को,इन्द्रियों के विषय-सम्बन्धी मूढ़ता (आसक्ति) के दूर होते ही, कर्मों के वशीभूत ये विषय झूठे (असत्य) मालूम होते हैं॥ ८॥

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्। यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम्॥९॥

चित्त ही संसार है, अतः प्रयत्नपूर्वक उस (चित्त) का शोधन करना चाहिए। जिस प्रकार का जिसका चित्त होगा, उसकी उसी प्रकार की गति होती है, यह एक गूढ़ सनातन सिद्धान्त है॥ ९॥

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्। प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमक्षयमश्नुते॥१०॥

चित्त के शान्त होने पर शुभाशुभ कर्मों का शमन हो जाता है तथा शान्त बना मनुष्य, जब-जब आत्मा में लीन होता है, तब-तब उसे अक्षय एवं असीम आनन्द की प्राप्ति होती है॥ १०॥

समासक्तं यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरम्। यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात्॥११॥

मनुष्यों का चित्त जितना बाह्य विषय-भोगों में आसक्त रहता है, उतना यदि ब्रह्म में आसक्त हो जाए, तो फिर बन्धनों से कौन मुक्त न हो जाए? (अर्थात् सभी मुक्त हो जाएँ)॥ ११॥

हृत्पुण्डरीकमध्ये तु भावयेत्परमेश्वरम्। साक्षिणं बुद्धिवृत्तस्य परमप्रेमगोचरम् ॥१२॥

हृदय कमल के मध्य, बुद्धि के समस्त कर्मों के साक्षी रूप एवं परम-अनुपम प्रेम के विषयभूत परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए॥ १२॥

अगोचरं मनोवाचामवधूताधिसंप्लवम्। सत्तामात्रप्रकाशैकप्रकाशं भावनातिगम् ॥१३॥

यह अविनाशी परमात्मा मन एवं वाणी से नहीं जाना जा सकता। यह आदि तथा अन्त से रहित है। यह एक मात्र सत् रूपी प्रकाश से सतत प्रकाशित होता है और कल्पनातीत है॥ १३॥

अहेयमनुपादेयमसामान्यविशेषणम्। ध्रुवं स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्। निर्विकल्पं निराभासं निर्वाणमयसंविदम् ॥१४॥

उस परमात्म तत्त्व को स्वीकार करने एवं छोड़ने के लिए सामान्य भाव की अथवा विशेष भाव की कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह परमात्मा तो शान्त, स्थिर एवं गम्भीर है। वह प्रकाश युक्त भी नहीं है और अन्धकार रूप में फैला हुआ भी नहीं है; बल्कि संकल्परहित, आभासरहित एवं मुक्त-चैतन्य रूप है॥ १४॥

नित्यः शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभावः सत्यः सूक्ष्मः संविभुश्चाद्वितीयः।
आनन्दाब्धिर्यः परः सोऽहमस्मि प्रत्यग्धातुर्नात्र संशीतिरस्ति॥ १५॥

वह परमात्मा नित्य, शुद्ध, ज्ञान स्वरूप, मुक्त स्वभाव, सत्यरूप, सूक्ष्म, सर्वत्र व्यापक और अद्वितीय है। इस परमानन्द सागर एवं प्रत्येक स्वरूप का धारण करने वाला मैं ही हूँ, इसमें कोई संशय नहीं है॥ १५॥

आनन्दमन्तर्निजमाश्रयं तमाशापिशाचीमवमानयन्तम्।
आलोकयन्तं जगदिन्द्रजालमापत्कथं मां प्रविशेदसङ्गम् ॥१६॥

अन्तःकरण में प्राप्त होने वाले आनन्द के आश्रित रहने वाली आशारूपी पिशाचिनी को दूर धकेलने वाले, सम्पूर्ण जगत् को मदारी के खेल की भाँति देखने वाले एवं असंग (आसक्ति रहित) रहने वाले (ऐसे) मेरे अन्तःकरण में दुःखों का प्रवेश कहाँ से हो सकता है?॥ १६॥

वर्णाश्रमाचारयुता विमूढाः कर्मानुसारेण फलं लभन्ते।
वर्णादिधर्मं हि परित्यजन्तः स्वानन्दतृप्ताः पुरुषा भवन्ति ॥१७॥

वर्ण एवं आश्रम धर्म का पालन करने वाले अज्ञानी जन ही अपने कर्मों का फल भोगते हैं; लेकिन वर्ण आदि के धर्मों को त्यागकर आत्मा में ही स्थिर रहने वाले मनुष्य अन्तः के आनन्द से ही पूर्ण सन्तुष्ट रहते हैं॥

वर्णाश्रमं सावयवं स्वरूपमाद्यन्तयुक्तं ह्यतिकृच्छ्रमात्रम्।
पुत्रादिदेहेष्वभिमानशून्यं भूत्वा वसेत्सौख्यतमे ह्यनन्त इति ॥१८॥

वर्ण एवं आश्रम के धर्म तथा वैसे ही अंग-अवयवों से युक्त यह शरीर-ये सभी आदि-अन्त वाले होने के कारण अत्यन्त कष्टप्रद ही हैं। अतः पुत्र आदि के शरीरों पर मोह न रखते हुए परमानन्द रूप अनन्त में प्रतिष्ठित रहना चाहिए॥ १८॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथ भगवान्मैत्रेयः कैलासं जगाम तं गत्वोवाच भो भगवन्परमतत्त्वरहस्यमनुब्रूहीति। स होवाच महादेवः। देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलःशिवः। त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहं-भावेन पूजयेत्॥ १ ॥

एक बार भगवान् मैत्रेय कैलास पर्वत पर गये। वहाँ जाकर महादेव जी से उन्होंने कहा—'हे भगवन्! मुझे परम तत्त्व का रहस्य बताने की कृपा करें।' महादेव जी ने कहा— 'शरीर देवालय है तथा उसमें रहने वाला जीव ही केवल शिव-परमात्मा है।' अतः अज्ञान रूप निर्माल्य को (पुरानी (बासी) माला की तरह से) छोड़ देना चाहिए तथा परमात्मा मैं ही हूँ, ऐसा समझकर ही उसकी पूजा करनीं चाहिए॥ १॥

अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः। स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रियनिग्रहः॥२॥

जीव तथा ब्रह्म एक है,ऐसा मानना ही ज्ञान है और मन को विषयों से अलग रखना ही ध्यान है, मन के मैल को छुड़ाना ही स्नान तथा इन्द्रियों को वश में रखना ही पवित्रता है॥ २॥

ब्रह्मामृतं पिबेद्भैक्षमाचरेद्देहरक्षणे। वसेदेकान्तिको भूत्वा चैकान्ते द्वैतवर्जिते। इत्येवमाचरेद्धीमान्स एवं मुक्तिमाप्नुयात् ॥ ३॥

ब्रह्मरूपी अमृत का पान करना, शरीर रक्षा के उद्देश्य से ही भिक्षा माँगना, स्वयं अकेला रहकर एकान्त में निवास करना, इस प्रकार से जीवनयापन करता हुआ ज्ञानवान् मनुष्य मुक्ति को प्राप्त करता है॥ ३॥

जातं मृतमिदं देहं मातापितृमलात्मकम्। सुखदुःखालयामेध्यं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ४॥

माता-पिता के मलरूप (शुक्रशोणित) से उत्पन्न, जन्म-मृत्यु वाले, सुख-दुःख के भण्डार-रूप एवं अपवित्र इस शरीर को स्पर्श करने के पश्चात् स्नान किया जाता है॥ ४॥

धातुबद्धं महारोगं पापमन्दिरमध्रुवम्। विकाराकारविस्तीर्णं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ५॥

सात धातुओं मे निर्मित, महारोग से युक्त, पाप के घर की भाँति, सतत चलायमान (अस्थिर), विकारों से भरे हुए इस शरीर को स्पर्श करने के उपरान्त स्नान अवश्य करना चाहिए॥ ५॥

नवद्वारमलस्रावं सदा काले स्वभावजम्। दुर्गन्धं दुर्मलोपेतं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ६॥

आँख, कान आदि नौ द्वारों से युक्त इस शरीर से सदा स्वाभाविक रीति से हर समय मल-स्रवित होता (निकलता) रहता है तथा इस मल की दुर्गन्ध से यह शरीर हमेशा परिपूर्ण रहता है, ऐसे इस दुर्गन्धयुक्त, मलिन शरीर का स्पर्श करने के बाद स्नान अवश्य करना चाहिए॥ ६॥

मातृसूतकसंबन्धं सूतके सह जायते। मृतसूतकजं देहं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ ७॥

माता के सूतक से सम्बन्धित होने से मनुष्य के साथ ही सूतक भी जन्म ले लेता है तथा मरण काल का सूतक भी इस देह के साथ ही लगा रहता है। अतः शरीर का स्पर्श होने पर स्नान अवश्य करना चाहिए॥ ७॥

अहंममेति विण्मूत्रलेपगन्धादिमोचनम्। शुद्धशौचमिति प्रोक्तं मृज्जलाभ्यां तु लौकिकम्॥ ८

मल, मूत्रादि दुर्गन्धयुक्त शरीर की शुद्धि तो मिट्टी एवं जल आदि से होती है; लेकिन वह सब तो लौकिक शुद्धि है। वास्तविक पवित्रता तो 'मैं और मेरा' का परित्याग करने से ही होती है॥ ८॥

चित्तशुद्धिकरं शौचं वासनात्रयनाशनम्। ज्ञानवैराग्यमृत्तोयैः क्षालनाच्छौचमुच्यते ॥ ९॥

पवित्रता चित्त का शोधन करती है और वासनाओं को नष्ट करती है; परन्तु ज्ञानरूपी मिट्टी और वैराग्य रूपी जल से प्रक्षालन के द्वारा जो पवित्रता होती है, वही वास्तविक पवित्रता है॥ ९॥

अद्वैतभावना भैक्षमभक्ष्यं द्वैतभावनम्। गुरुशास्त्रोक्तभावेन भिक्षोर्भैक्षं विधीयते ॥ १० ॥

अद्वैत की भावना ही वास्तव में सच्ची भिक्षावृत्ति है एवं द्वैत की भावना ही अभक्ष्य वस्तु है। भिक्षुक को गुरु तथा शास्त्र के आदेशानुसार भिक्षा माँगनी चाहिए॥ १०॥

विद्वान्स्वदेशमुत्सृज्य संन्यासानन्तरं स्वतः। कारागारविनिर्मुक्तचोरवद्दूरतो वसेत् ॥ ११ ॥

जिस तरह से चोर कैदखाने से छूटकर दूर जाकर निवास करता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष को संन्यास ग्रहण कर अपने देश से दूर निवास के लिए चले जाना चाहिए॥ ११॥

अहंकारसुतं वित्तभ्रातरं मोहमन्दिरम्। आशापत्नीं त्यजेद्यावत्तावन्मुक्तो न संशयः ॥ १२ ॥

अहंकार रूपी पुत्र का, वित्त (धन) रूपी भाई का, मोहरूपी घर का तथा आशा रूपी पत्नी का परित्याग कर देने वाला शीघ्र ही मुक्त हो जाता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है॥ १२॥

मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः। सूतकद्वयसंप्राप्तौ कथं संध्यामुपास्महे ॥ १३ ॥

मोहरूपी माँ मृत्यु को प्राप्त हो गयी और ज्ञानरूपी पुत्र उत्पन्न हो गया है, इस कारण मरण और जन्म के दो सूतक लगे हुए हैं, तो फिर सन्ध्या-वन्दन आदि कार्य किस प्रकार किये जा सकते हैं?॥ १३॥

हृदाकाशे चिदादित्यः सदा भासति भासति। नास्तमेति न चोदेति कथं संध्यामुपास्महे ॥१४॥

हृदयरूपी आकाश में चैतन्य रूप सूर्य सदैव प्रकाशित रहता है और फिर वह न अस्त होता है न उदय ही। तब फिर सन्ध्या किस प्रकार (कब) करे?॥ १४॥

एकमेवाद्वितीयं यद्गुरोर्वाक्येन निश्चितम्। एतदेकान्तमित्युक्तं न मठो न वनान्तरम् ॥ १५ ॥

यहाँ पर सभी कुछ एक ही है, दूसरा कुछ भी नहीं है, ऐसा गुरु के उपदेश द्वारा निश्चय हो गया है। यह भावना ही एकान्त स्वरूप है, मठ अथवा वन का मध्य भाग एकान्त नहीं है।॥ १५॥

असंशयवतां मुक्तिः संशयाविष्टचेतसाम्। न मुक्तिर्जन्मजन्मान्ते तस्माद्विश्वासमाप्नुयात्। ॥ १६ ॥

जो मनुष्य संशयरहित हैं,वे ही मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं तथा जिन लोगों को संशय है,वे अनेक जन्मों के अन्त में भी मुक्त नहीं हो सकते। इसलिए गुरु एवं शास्त्र के वचनों पर पूर्ण विश्वास रखना चाहिए॥

कर्मत्यागान्न संन्यासो न प्रैषोच्चारणेन तु। संधौ जीवात्मनोरैक्यं संन्यासः परिकीर्तितः ॥१७॥

कर्मों को छोड़ देना ही संन्यास नहीं है। इसी प्रकार 'मैं संन्यासी हूँ' ऐसा कह देने से भी कोई संन्यासी नहीं हो सकता। समाधि अवस्था में जीव-परमात्मा की एकता का भान होना ही संन्यास कहा जाता है॥ १७॥

वमनाहारवद्यस्य भाति सर्वेषणादिषु। तस्याधिकारः संन्यासे त्यक्तदेहाभिमानिनः ॥ १८ ॥

जिस मनुष्य को समस्त एषणाएँ-इच्छायें वमन किये हुए (उगले हुए) आहार के समान लगती हैं और जिसने शरीर की ममता त्याग दी है, उसको संन्यास का अधिकार है॥ १८॥

यदा मनसि वैराग्यं जातं सर्वेषु वस्तुषु। तदैव संन्यसेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेत् ॥ १९ ॥

जब सभी वस्तुओं से मन में वैराग्य उत्पन्न हो जाए, तभी विद्वान् मनुष्य को संन्यास-धर्म ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा उसका अवश्य ही पतन हो जाता है॥ १९॥

द्रव्यार्थमन्नवस्त्रार्थं यः प्रतिष्ठार्थमेव वा। संन्यसेदुभयभ्रष्टः स मुक्तिं नाप्नुमर्हति ॥ २० ॥

जो मनुष्य द्रव्य (धन) के, अन्न के, वस्त्रों के अथवा ख्याति के लोभ में संन्यास-धर्म ग्रहण कर लेता है, वह दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ, कभी भी मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता॥ २०॥

उत्तमा तत्त्वचिन्तैव मध्यमं शास्त्रचिन्तनम्। अधमा मन्त्रचिन्ता च तीर्थभ्रान्त्यधमाधमा ॥ २१ ॥

तत्त्व का चिन्तन ही उत्तम (श्रेष्ठ) है, शास्त्र का चिन्तन मध्यम है, मन्त्रों का चिन्तन (साधना) अधम है और तीर्थों में भ्रमण करना अधम से भी अधम है॥ २१॥

अनुभूतिं विना मूढो वृथा ब्रह्मणि मोदते। प्रतिबिम्बितशाखाग्रफलास्वादनमोदवत् ॥ २२॥

जिस प्रकार कोई भी मनुष्य शाखा के अग्र भाग में प्रतिबिम्ब के रूप में दिखाई देने वाले फल का रसास्वादन कर आनन्द प्राप्त करना चाहे, उसी प्रकार वास्तविक अनुभव के बिना अज्ञानी मनुष्य ब्रह्म का आनन्द पाने की व्यर्थ कल्पना करता है॥ २२॥

न त्यजेच्चेद्यतिर्मुक्तो यो माधूकरमान्तरम्। वैराग्यजनकं श्रद्धाकलत्रं ज्ञाननन्दनम् ॥ २३॥

जो संन्यासी मुक्त हो चुका है, वह वैराग्य रूपी पिता को, श्रद्धा रूपी पत्नी को और ज्ञान रूपी पुत्र को न छोड़ते हुए अन्त:करण में स्थित अद्वैतभावना का आनन्दमय रूप में चिन्तन करे॥ २३॥

धनवृद्धा वयोवृद्धा विद्यावृद्धास्तथैव च। ते सर्वे ज्ञानवृद्धस्य किंकराः शिष्यकिंकराः ॥२४

जो (मनुष्य) धन में बड़ा है, जो आयु में बड़ा है अथवा जो विद्या में बड़ा है, वे सब अनुभव में बड़े के समक्ष नौकर अथवा शिष्य की भाँति ही हैं॥ २४॥

यन्माययया मोहितचेतसो मामात्मानमापूर्णमलब्धवन्तः।
परं विदग्धोदरपूरणाय भ्रमन्ति काका इव सूरयोऽपि ॥ २५ ॥

जो माया के प्रभाव से मूढ़ चित्त वाले होकर के 'मैं' रूपी आत्मा को सम्यक् रूप से नहीं जानते, वे यदि बुद्धिमान् भी हों, तो कौए की भाँति अभागे पेट को भरने के लिए जहाँ-तहाँ मारे-मारे फिरते हैं॥ २५॥

पाषाणलोहमणिमृण्मयविग्रहेषु पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षोः।
तस्माद्यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्याद्बाह्यार्चनं परिहरेदपुनर्भवाय ॥ २६॥

प्रस्तर खण्ड, स्वर्ण अथवा मिट्टी द्वारा निर्मित मूर्तियों की पूजा, मोक्ष की इच्छा वाले को पुनः जन्म एवं भोग प्राप्त कराने वाली होती है। इस कारण पुनः जन्म न ग्रहण करना पड़े, इस उद्देश्य से संन्यासी को इस प्रकार बाह्य जगत् की पूजा का परित्याग करके हृदय में ही (आत्मा की) पूजा करनी चाहिए॥ २६॥

अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे। अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे ॥२७॥

समुद्र में रखा हुआ घड़ा अन्दर और बाहर जल से पूर्ण है तथा बाहर शून्य में स्थित घड़ा अन्दर और बाहर खाली ही है॥ २७॥

मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव। भावनामखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव ॥२८

आप ग्रहण करने वाले न बनें। इसी तरह से ग्रहण करने योग्य विषयरूप भी न बनें। इस प्रकार की सभी कल्पनाओं का त्याग करके शेष जो कुछ भी रहे, उसी में तन्मय रहें॥ २८॥

द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह। दर्शनप्रथमाभासमात्मानं केवलं भज ॥ २९॥

द्रष्टा, दृश्य एवं दर्शन को वासना के साथ ही त्याग करके, जिसमें से दर्शन का सर्वप्रथम आभास होता है,उस आत्मा का ही तुम भजन करो॥ २९॥

संशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः। जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥३०

सभी संकल्प जिसमें शान्त हो गये हैं, जागृति तथा निद्रा जिससे परे हो गयी है, ऐसी जो प्रस्तर खण्ड की भाँति (दृढ़ एवं निश्चेष्ट) अवस्था है, वही चरम स्वरूप की अवस्था है॥ ३०॥

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

अहमस्मि परश्चास्मि ब्रह्मास्मि प्रभवोऽस्म्यहम्।
सर्वलोकगुरुश्चास्मि सर्वलोकेऽस्मि सोऽस्म्यहम्॥ १ ॥

(अन्तः स्थित ब्रह्म) मैं हूँ और (बाह्य स्थित) पर (ब्रह्म) भी मैं ही हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, उत्पत्ति हूँ, समस्त लोकों का गुरु हूँ और सभी लोकों में जो भी कुछ है, वह मैं ही हूँ॥ १ ॥

अहमेवास्मि सिद्धोऽस्मि शुद्धोऽस्मि परमोऽस्म्यहम्।
अहमस्मि सदासोऽस्मि नित्योऽस्मि विमलोऽ स्म्यहम्॥ २ ॥

मैं ही सिद्ध हूँ, मैं ही शुद्ध हूँ तथा परम तत्त्व भी मैं ही हूँ। मैं सदैव (विद्यमान रहता) हूँ, मैं नित्य हूँ एवं मलरहित भी मैं ही हूँ॥ २ ॥

विज्ञानोऽस्मि विशेषोऽस्मि सोमोऽस्मि सकलोऽस्म्यहम्।
शुभोऽस्मि शोकहीनोऽस्मि चैतन्योऽस्मि समोऽस्म्यहम् ॥ ३ ॥

मैं विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न हूँ, मैं विशेष हूँ, सोम मैं हूँ, सभी कुछ मैं ही हूँ। मैं शुभ हूँ, शोकरहित हूँ, सम हूँ तथा चैतन्य भी मैं ही हूँ॥ ३ ॥

मानावमानहीनोऽस्मि निर्गुणोऽस्मि शिवोऽस्म्यहम्।
द्वैताद्वैतविहीनोऽस्मि द्वन्द्वहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम्॥ ४ ॥

मैं मान एवं अपमान से रहित हूँ, निर्गुण (गुणरहित) हूँ, मैं ही शिव हूँ, द्वैत एवं अद्वैत के भाव से रहित हूँ, सुख तथा दुःख आदि द्वन्द्वों से रहित हूँ तथा वह (ब्रह्म) मैं ही हूँ॥ ४ ॥

भावाभावविहीनोऽस्मि भासाहीनोऽस्मि भास्म्यहम्।
शून्याशून्यप्रभावोऽस्मि शोभनाशोभनोऽस्म्यहम् ॥ ५ ॥

भाव-अभाव अर्थात् उत्पत्ति और विनाश से परे हूँ। भासा (प्रकाश) से अलग हूँ, किन्तु प्रकाश भी मैं ही हूँ। मैं शून्य और अशून्य रूप हूँ तथा मैं ही सुन्दर और असुन्दर भी हूँ॥ ५ ॥

तुल्यातुल्यविहीनोऽस्मि नित्यः शुद्धः सदाशिवः।
सर्वासर्वविहीनोऽस्मि सात्त्विकोऽस्मि सदास्म्यहम्॥ ६ ॥

तुल्य-अतुल्य अर्थात् समता एवं विषमता से रहित हूँ, नित्य हूँ, शुद्ध हूँ एवं सदाशिव हूँ। मैं सर्व-असर्व की कल्पना से रहित हूँ, सात्त्विक हूँ और मैं सदैव (विद्यमान रहने वाला) हूँ॥ ६ ॥

एकसंख्याविहीनोऽस्मि द्विसंख्यावानहं न च। सदसद्भेदहीनोऽस्मि संकल्परहितोऽस्म्यहम्॥७

मैं एक संख्या विहीन (अद्वैतरहित) और दो संख्या रहित (द्वैतरहित) हूँ, सत् और असत् के भेद से रहित हूँ तथा मैं संकल्प से रहित हूँ॥ ७ ॥

नानात्मभेदहीनोऽस्मि ह्यखण्डानन्दविग्रहः। नाहमस्मि न चान्योऽस्मि देहादिरहितोऽस्म्यहम्॥८

मैं विविधता से रहित तथा अखण्ड आनन्द स्वरूप हूँ। न मैं (अहं रूप) हूँ और अन्य भी नहीं हूँ। मैं शरीरादि से रहित हूँ॥ ८ ॥

आश्रयाश्रयहीनोऽस्मि आधाररहितोऽस्म्यहम्।
बन्धमोक्षादिहीनोऽस्मि शुद्धब्रह्मास्मि सोऽस्म्यहम्॥ ९ ॥

मैं आश्रय-निराश्रय से रहित हूँ, मैं आधार रहित हूँ, बन्ध एवं मोक्ष से भी रहित हूँ तथा मैं ही शुद्ध ब्रह्म स्वरूप हूँ॥ ९॥

चित्तादिसर्वहीनोऽस्मि परमोऽस्मि परात्परः।
सदा विचाररूपोऽस्मि निर्विचारोऽस्मि सोऽस्म्यहम्॥ १०॥

मैं चित्त आदि सभी से रहित हूँ, मैं परात्पर (ब्रह्म) हूँ। मैं सर्वदा विचार रूप हँ. साथ ही विचार से परे भी हूँ॥ १०॥

अकारोकाररूपोऽस्मि मकारोऽस्मि सनातनः।
ध्यातृध्यानविहीनोऽस्मि ध्येयहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम्॥ ११॥

'अकार', 'उकार' एवं 'मकार' रूप सनातन मैं ही हूँ। मैं ध्याता, ध्यान एवं ध्येय से परे भी हूँ॥ ११॥

सर्वत्रपूर्णरूपोऽस्मि सच्चिदानन्दलक्षणः। सर्वतीर्थस्वरूपोऽस्मि परमात्मास्म्यहं शिवः॥ १२॥

मैं सर्वत्र पूर्णरूप हूँ, सच्चिदानन्द के लक्षणों से युक्त हूँ। सम्पूर्ण तीर्थों का स्वरूप भी मैं हूँ और परमात्म स्वरूप कल्याणकारी भगवान् शिव भी मैं ही हूँ॥ १२॥

लक्ष्यालक्ष्यविहीनोऽस्मि लयहीनरसोऽस्म्यहम्। मातृमानविहीनोऽस्मि मेयहीनः शिवोऽस्म्यहम्॥

मैं लक्ष्य एवं अलक्ष्य से विहीन हूँ तथा लय न होने वाला रस स्वरूप हूँ। मैं ही प्रमाण, प्रमेय और प्रमाता से रहित तथा मैं ही शिव स्वरूप हूँ॥ १३॥

न जगत्सर्वद्रष्टास्मि नेत्रादिरहितोऽस्म्यहम्। प्रवृद्धोऽस्मि प्रबुद्धोस्मि प्रसन्नोऽस्मि हरोऽस्म्यहम्॥१४

मैं इस संसार का सर्वद्रष्टा नहीं हूँ। मैं आँख आदि समस्त इन्द्रियों से रहित हूँ। मैं ही वृद्धि को प्राप्त करता हुआ, ज्ञानवान्, प्रसन्न एवं हर (पापों को हरने वाला) हूँ॥ १४॥

सर्वेन्द्रियविहीनोऽस्मि सर्वकर्मकृदप्यहम्। सर्ववेदान्ततृप्तोऽस्मि सर्वदा सुलभोऽस्म्यहम्॥ १५॥

मैं सभी इन्द्रियों से रहित हूँ, तब भी समस्त कर्म करने वाला मैं स्वयं ही हूँ। समस्त वेदान्त द्वारा सर्वदा तृप्त एवं सर्व सुलभ मैं ही हूँ॥ १५॥

मुदितामुदिताख्योऽस्मि सर्वमौनफलोऽस्म्यहम्।
नित्यचिन्मात्ररूपोऽस्मि सदा सच्चिन्मयोऽस्म्यहम्॥ १६॥

मैं आनन्द एवं शोक रूप हूँ, सर्वदा मौन रहने का फल रूप हूँ। नित्य चिद् रूप हूँ तथा मैं ही सच्चिद् रूप भी हूँ॥ १६॥

यत्किंचिदपि हीनोऽस्मि स्वल्पमप्यति नास्म्यहम्। हृदयग्रन्थिहीनोऽस्मि हृदयाम्बुजमध्यगः॥१७

जो कुछ भी है, मैं उससे रहित हूँ, मैं अति अल्प और अत्यधिक भी नहीं हूँ। (मैं) हृदय की ग्रन्थि से रहित हूँ तथा हृदय कमल के मध्य में रहने वाला भी हूँ॥ १७॥

षड्विकारविहीनोऽस्मि षट्कोशरहितोऽस्म्यहम्।
अरिषड्वर्गमुक्तोऽस्मि अन्तरादन्तरोऽस्म्यहम्॥ १८॥

मैं (जन्म, अस्तित्व, विपरिणमन, विकास, अपक्षय और विनाश) छः विकारों से रहित, चर्म आदि छः कोशों (चर्म, मांस, रक्त, नाड़ी, मेद और मज्जा) से रहित तथा काम, क्रोधादि षड् रिपुओं से हीन हूँ और नितान्त अन्तः स्थान में रहने वाला हूँ॥ १८॥

देशकालविमुक्तोऽस्मि दिगम्बरसुखोऽस्म्यहम्।
नास्ति नास्ति विमुक्तोऽस्मि नकाररहितोऽस्म्यहम्॥ १९॥

मैं देश और काल से रहित हूँ, दिगम्बर एवं आनन्द स्वरूप हूँ। यह नहीं है, यह नहीं है-इससे मैं मुक्त हूँ अर्थात् मैं अभावशून्य हूँ तथा 'नकार' से रहित भी मैं ही हूँ॥ १९॥

अखण्डाकाशरूपोऽस्मि ह्यखण्डाकारमस्म्यहम्।
प्रपञ्चमुक्तचित्तोस्मि प्रपञ्चरहितोऽस्म्यहम्॥ २०॥

मैं अखण्ड आकाश स्वरूप हूँ, अखण्डाकार भी मैं ही हूँ, मैं सांसारिक प्रपञ्चों से परे चित्त वाला हूँ तथा संसार प्रपञ्चादि से रहित हूँ॥ २०॥

सर्वप्रकाशरूपोऽस्मि चिन्मात्रज्योतिरस्म्यहम्।
कालत्रयविमुक्तोऽस्मि कामादिरहितोऽस्म्यहम्॥ २१॥

मैं सर्वप्रकाश स्वरूप हूँ तथा चैतन्य रूपी ज्योति भी मैं ही हूँ। तीनों कालों से परे अर्थात् मुक्त हूँ एवं मैं काम-क्रोधादि से रहित हूँ॥ २१॥

कायिकादिविमुक्तोऽस्मि निर्गुणः केवलोऽस्म्यहम्।
मुक्तिहीनोऽस्मि मुक्तोऽस्मि मोक्षहीनोऽस्म्यहं सदा॥ २२॥

मैं देह-अदेह (शरीर-अशरीर) से मुक्त हूँ, निर्गुण हूँ तथा मैं केवल एक हूँ। मुक्ति रहित होते हुए भी मुक्त हूँ तथा मैं सदैव मोक्षरहित हूँ॥ २२॥

सत्यासत्यादिहीनोऽस्मि सन्मात्रान्नास्म्यहं सदा।
गन्तव्यदेशहीनोऽस्मि गमनादिविवर्जितः॥ २३॥

(मैं) सत्य-असत्य से रहित हूँ, केवल मैं ही सत्य स्वरूप से (भिन्न) सभी कालों में नहीं हूँ। मैं गमनागमन से रहित हूँ अर्थात् मुझे कहीं जाना अथवा न जाना नहीं है एवं मेरा गन्तव्य (जाने का स्थान) भी नहीं है॥ २३॥

सर्वदा समरूपोऽस्मि शान्तोऽस्मि पुरुषोत्तमः।
एवं स्वानुभवो यस्य सोऽहमस्मि न संशयः॥ २४॥

(मैं) सर्वदा समरूप एवं शान्त परमात्मा (पुरुषोत्तम) हूँ। जिसका इस प्रकार से स्वानुभव है, वह (ब्रह्म) निश्चित ही मैं हूँ। इसमें किसी भी तरह का संशय नहीं है॥ २४॥

यः शृणोति सकृद्वापि ब्रह्मैव भवति स्वयमित्युपनिषत्॥२५॥

जो (मनुष्य) एक बार भी इस (मैत्रेयी) उपनिषद् का श्रवण करता है, वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है। ऐसी ही यह उपनिषद् है॥ २५॥

ॐ आप्यायन्तु .....इति शान्तिः॥

॥ इति मैत्रेय्युपनिषत्समाप्ता ॥

॥ याज्ञवल्क्यापानषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें राजा जनक और याज्ञवल्क्य का संवाद वर्णित है, जिसमें संन्यास धर्म की विस्तृत विवेचना हुई है। संन्यास धर्म की जिज्ञासा रखने वाले राजा जनक से याज्ञवल्क्य जी ने कहा कि ब्रह्मचारी के बाद गृहस्थ, गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ तथा वानप्रस्थ के बाद संन्यास का क्रम है; किन्तु भावप्रवणता की स्थिति में-वैराग्य भाव की प्रचुरता की स्थिति में कभी भी संन्यास लिया जा सकता है। संन्यास ग्रहण करने वाले को शिखा, यज्ञोपवीत आदि के त्याग का विधान है। यज्ञोपवीत के बिना ब्राह्मण कैसे कहा जाएगा? इसका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य जी ने कहा कि ॐकार ही संन्यासी का यज्ञोपवीत होता है। आगे क्रमशः संन्यासी के गुणों, आचार-विचार आदि की विस्तृत चर्चा है। साथ ही संन्यासी को उसके पथ से विचलित करने वाली स्त्री के दोषों का बीभत्स चित्रण भी किया गया है। सन्तान भी दुःखदायी ही है-यह कहते हुए संन्यासी को लोभ, मोह, काम-क्रोध से बचने का निर्देश है। अन्त में संन्यासी को जितेन्द्रिय बने रहने की सलाह देते हुए उसे अपने एक मात्र लक्ष्य 'परब्रह्म' के चिन्तन-मनन करने का निर्देश है, क्योंकि इसी से उसे मोक्ष की प्राप्ति होना सम्भव है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद्)

अथ जनको ह वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच भगवन्संन्यासमनुब्रूहीति। स होवाच याज्ञवल्क्यो ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा। अथ पुनर्व्रती वाऽव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्।॥ १ ॥

एक समय विदेहराज जनक महर्षि याज्ञवल्क्य जी के समक्ष जाकर बोले- "हे भगवन्! आप कृपा करके हमें संन्यास-धर्म समझाने का कष्ट करें।" तब याज्ञवल्क्य जी ने कहा-हे राजन्! ब्रह्मचर्याश्रम को विधि-विधान से पूर्ण करके, गृहस्थ आश्रम को ग्रहण करना चाहिए। गृहस्थ धर्म में पुत्र-कलत्रादि का सुख भोगकर वन में निवास करे। वानप्रस्थ आश्रम के बाद संन्यास आश्रम को धारण कर लेना चाहिए। यदि जितेन्द्रिय हो जाये, तो ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ले ले या फिर अपनी इच्छानुसार गृहस्थ आश्रम के पश्चात् ले लेना चाहिए। वस्तुतः वानप्रस्थ के पश्चात् या फिर जिस दिन संसार से सर्वथा वैराग्य हो जाए, उसी दिन संन्यास ले लेना चाहिए। चाहे व्रती हो या नहीं, स्नातक हो अथवा न हो, अग्नि की सेवा कर चुका हो अथवा नहीं, जिस क्षण वैराग्य उत्पन्न हो जाए, उसी क्षण संन्यास ले लेना चाहिए॥ १ ॥

तदेके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति। अथवा न कुर्यादाग्नेय्यामेव कुर्यात्। अग्निर्हि प्राणः। प्राणमेवैतया करोति। त्रैधातवीयामेव कुर्यात्। एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति। अयं ते योनिर्ऋत्विजो यतो जातो अरोचथाः। तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिमित्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत्। एष वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह॥

इसके पश्चात् कुछ लोग प्राजापत्य यज्ञ करते हैं। या फिर इस यज्ञ को न कर आग्नेय यज्ञ ही कर ले, क्योंकि अग्नि ही प्राण है। इस यज्ञ द्वारा प्राण का ही पोषण होता है या सत, रज, तम त्रिधातुओं से सम्बन्धित यजन करे। तब इस मंत्र से अग्नि का आघ्राण करे-'हे अग्निदेव! जिस मूल कारण से आप प्रादुर्भूत होकर प्रकाशित हो रहे हैं, उसको जानते हुए आप खूब प्रज्वलित हों एवं हमारे ऐश्वर्य को बढ़ाएँ।' यही अग्नि का

मूल कारण है-यही प्राण है। अत: हे अग्निदेव! आप अपने योनि रूप प्राण में प्रतिष्ठित हो जाएँ॥ २॥

ग्रामादग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाजिघ्रेत्। यदग्निं न विन्देदप्सु जुहुयादापो वै सर्वा देवता: सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नीयात् साज्यं हविरनामयम्। मोक्षमन्त्रैस्त्रय्येवं वेद तद्ब्रह्म तदुपासितव्यम्। शिखां यज्ञोपवीतं छित्त्वा संन्यस्तं मयेति त्रिवारमुच्चरेत्। एवमेवैतद्भगवन्निति वै याज्ञवल्क्य: ॥ ३॥

ग्राम (गाँव) से अग्नि को लाकर पूर्व की भाँति ही उसका आघ्राण करे। यदि अग्नि न मिल सके,तो जल में ही यजन कृत्य सम्पन्न करे; क्योंकि जल को सर्वदेवमय कहा गया है। मैं सभी देवों के प्रति हवन करता हूँ,'स्वाहा'यह आहुति उन्हें प्राप्त हो। इस प्रकार हवन करके उसका प्राशन करे अर्थात् उसे खा ले। यह रोगनाशक घृतयुक्त हवि है। मोक्ष मंत्रों के द्वारा इस तरह से वेदत्रयी की प्राप्ति करे। वह ही ब्रह्म है,उसकी उपासना करनी चाहिए। चोटी एवं यज्ञोपवीत का परित्याग करके 'मैंने संन्यास ग्रहण कर लिया है,' इस प्रकार से इसका तीन बार उच्चारण करे। हे विदेहराज जनक जी! यह विधि ऐसी ही है,ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा ॥३॥

अथ हैनमत्रि: पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मण इति। स होवाच याज्ञवल्क्य इदं प्रणवमेवास्य तद्यज्ञोपवीतं य आत्मा। प्राश्याचम्यायं विधि: ॥ ४॥

इसके पश्चात् याज्ञवल्क्य जी से अत्रि ऋषि ने पूछा- 'हे महर्षे! यज्ञोपवीत के बिना कोई ब्राह्मण कैसे रह सकता है? याज्ञवल्क्य ऋषि ने कहा कि यह ॐकार ही उस संन्यासी का यज्ञोपवीत है, यही आत्मा है। जो पूर्वोक्त प्रकार से हवन करके उसका प्राशन कर आचमन कर लेता है। उस के लिए मात्र यही विधि है॥ ४॥

अथ वा परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रह: शुचिरद्रोही भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय भवति। एष पन्था: परिव्राजकानां वीराध्वाने वाऽनाशके वापां प्रवेशे वाग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा। एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनेति स संन्यासी ब्रह्मविदिति। एवमेवैष भगवन्निति वै याज्ञवल्क्य॥ ५॥

इस प्रकार गेरुवे वस्त्र धारण करने वाला संन्यासी मुण्डनयुक्त, अपरिग्रही, पवित्रतायुक्त, किसी से द्रोह (ईर्ष्या-द्वेष) न करने वाला, भिक्षाचरण करता हुआ ब्रह्मपद को प्राप्त होता है, वह ब्रह्मस्वरूप है अर्थात् ब्रह्म की प्राप्ति के लिए समर्थ है। संन्यासियों के लिए यही मार्ग है-यही विधि है। जल प्रवेश, अग्नि प्रवेश, वीरगति, महाप्रस्थान(मृत्युमोक्ष)आदि में परिव्राजकों (संन्यासियों) के लिए यह रास्ता निर्दिष्ट किया है। इसी कारण से संन्यासी ब्रह्म का ज्ञाता (जानकार) होता है। यह विधि ऐसी ही है महाराज; ऐसा याज्ञवल्क्य जी ने कहा॥ ५॥

तत्र परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुदुर्वासऋभुनिदाघदत्तात्रेयशुकवामदेवहारीतक प्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गाऽव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्त: ॥ ६॥

यहाँ इन संन्यासियों में श्रेष्ठ परमहंस नाम वाले, अव्यक्त चिह्न को धारण करने वाले, अव्यक्त स्वभाव वाले, अनुन्मत्त होते हुए भी उन्मत्त (पागलों की भाँति) आचरण करने वाले हैं। (इनके नाम इस प्रकार हैं-) संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु , निदाघ, दत्तात्रेय, शुक, वामदेव, हारीतक आदि-आदि॥ ६॥

परस्त्रीपुरपराङ्मुखास्त्रिदण्डं कमण्डलुं भुक्तपात्रं जलपवित्रं शिखां यज्ञोपवीतं बहिरन्तश्चेत्येतत्सर्वं भू: स्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत्॥ ७॥

संन्यासी को चाहिए कि वह दूसरों की स्त्रियों को न देखता हुआ तथा नगर में न रहता हुआ, त्रिदण्ड, कमण्डलु, भुक्तपात्र (भोजन पात्र), जल पवित्र, शिखा, यज्ञोपवीत आदि सभी बाह्य एवं आन्तरिक प्रतीक चिह्नों को 'भू: स्वाहा' कहकर जल में विसर्जित करता हुआ निरन्तर आत्मा का अनुसंधान करता रहे॥ ७॥

यथा जातरूपधरा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहास्तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नाः शुद्धमानसाः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभौ समौ भूत्वा करपात्रेण वा कमण्डलूदकपो भैक्षमाचरन्नुदरमात्रसंग्रहः पात्रान्तरशून्यो जलस्थलक मण्डलुरबाधकरहः स्थलनिकेतनो लाभालाभौ समौ भूत्वा शून्यागार देवगृहतृणकूट वल्मीकवृक्षमूलकुलाल-शालाग्निहोत्र शालानदीपुलिनगिरि कुहरकोटर कन्दरनिर्झर स्थण्डि लेष्वनिकेतनिवास्यप्रयत्नः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नामेति॥ ८॥

दिगम्बर,(शीत-उष्ण, सुख-दुःखादि) द्वन्द्वों से रहित, परिग्रहरहित, ब्रह्मरूप तत्त्व की प्राप्ति के मार्ग में सम्यक् रूप से लगे हुए शुद्ध हृदय वाले, केवल प्राण तत्त्व को धारण करने के लिए यथा समय स्वच्छन्दतापूर्वक भिक्षा द्वारा उदर-पूर्ति करने वाले, लाभ-हानि की चिन्ता न करते हुए, हाथ के पात्र अथवा खप्पर में माँगकर भोजन ग्रहण करते हुए तथा कमण्डलु का जल पीकर आनन्दपूर्वक विचरण करे। भोजन मात्र इतना ही माँगे, जिससे कि उदर पूर्ति हो जाये, संग्रह करके रखने की आवश्यकता न हो। अपने निवास के लिए बाधारहित कोई एकान्त गुप्त स्थल का चुनाव करे। खाली खण्डहर, देवमन्दिर, तृण आदि की झोपड़ी, वल्मीक, वृक्ष की जड़ के समीप, कुम्हारों की झोपड़ी, यज्ञशाला, नदी का तट, गुफा (खोह) अथवा झरनों के बड़े-बड़े पत्थरों पर हमेशा के लिए घर न बनाते हुए भी निवास करता हुआ, अपने शुभाशुभ समस्त कर्मों को निर्मूल करता हुआ जो संन्यास धर्म से शरीर को त्याग देता है, वह परमहंस के रूप में जाना जाता है॥ ८॥

आशाम्बरो न नमस्कारो न दारपुत्राभिलाषी लक्ष्यालक्ष्यनिर्वर्तकः परिव्राट् परमेश्वरो भवति। अत्रैते श्लोका भवन्ति॥ ९॥

वस्त्रादि से रहित, सभी में एक मात्र ब्रह्म को देखता हुआ किसी भी व्यक्ति को नमन के योग्य न समझते हुए, स्त्री-पुत्रादिकों के प्रति आसक्ति से हीन, लक्ष्य (लक्षणादि से ज्ञात) तथा अलक्ष्य (समाहित व असमाहित अवस्थाओं द्वारा) दोनों का निर्वर्तक (सब कुछ त्याग देने वाला) संन्यासी ही परमेश्वर होता है। इस सम्बन्ध में ये श्लोक कहे गये हैं॥ ९॥

यो भवेत्पूर्वसंन्यासी तुल्यो वै धर्मतो यदि। तस्मै प्रणामः कर्तव्यो नेतराय कदाचन॥ १०॥

जिस मनुष्य ने अपने से पूर्व (पहले ही) संन्यास ग्रहण कर लिया हो अथवा जो धर्म तुल्य हो अर्थात् आचार-विचार एवं सम्प्रदाय से जो श्रेष्ठ हो, उसे ही प्रणाम करना चाहिए, किसी अन्य को नहीं॥ १०॥

प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः। संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते वेदसंदूषिताशयाः॥

प्रमादी, बहिर्मुखी, विषयों में आसक्त रहने वाले, नीच, कलह प्रिय एवं वेद के आशय (विचार) को दोषपूर्ण प्रतिपादित करने वाले संन्यासी भी देखने में आते हैं॥ ११॥

नामादिभ्यः परे भूम्नि स्वाराज्ये चेत्स्थितोऽद्वये। प्रणमेत्कं तदात्मज्ञो न कार्यं कर्मणा तदा॥

नाम, धाम, काम एवं अवस्था आदि से परे, ऊँचे श्रेष्ठ स्थान पर प्रतिष्ठित, अद्वय रूप स्वाराज्य में (जिसमें अपने से भिन्न कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता) स्थित, स्थिर मति, आत्म तत्त्व में निष्णात संन्यासी भला कैसे किसी को प्रणाम करे; क्योंकि वह तो सभी में अपना ही रूप देखता है। उसके लिए तो कोई भी कार्य संसार में शेष नहीं रहता॥ १२॥

ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति। प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचण्डालगोखरम् ॥ १३॥

(आत्म-तत्त्वज्ञ तो किसी व्यक्ति विशेष को भी प्रणाम नहीं करता अथवा फिर) ईश्वर को यह समझकर कि वह जीव के रूप में इस संसार के समस्त प्राणियों में स्थित है, घोड़े, चाण्डाल, गौ तथा गधे आदि सभी को दण्डवत् प्रणाम करता है॥ १३॥

मांसपाञ्जालिकायास्तु यन्त्रलोकेऽङ्गपञ्जरे।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम्॥ १४॥

मांस-मेदा आदि द्वारा निर्मित, यत्र-तत्र गमन करने वाली पिटारी रूप नारी के शरीर में, जिसमें कि नसें, हड्डी एवं ग्रन्थियाँ ही स्थित हैं, कौन-सी वस्तु शोभनीय है॥ १४॥

त्वङ्मांसरक्तवाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचने। समालोकय रम्यं चेत्किं मुधा परिमुह्यसि॥१५॥

इस (देवी स्वरूपा नारी) की त्वचा, मांस, रक्त, अश्रु एवं नेत्र आदि पृथक्-पृथक् करके (उसके शरीर के आन्तरिक अवयवों को) तो देखो। क्या वे शोभनीय लगते हैं? यदि नहीं, तो फिर क्यों इस पर व्यर्थ में इतने मुग्ध (आसक्त) हुए जाते हो॥ १५॥

मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाजलरयोपमा। दृष्टा यस्मिन्मुने मुक्ताहारस्योल्लासशालिता ॥ १६॥

जिसके स्तनों पर लटकने वाले हार को मेरुपर्वत के शिखरों के बीच से गिरने वाली गंगाजल की धारा की उपमा दी गई है और वैसे ही वह हार परिलक्षित भी होता है॥ १६॥

श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः। श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः ॥ १७॥

श्मशान में तथा यत्र-तत्र दिशाओं में कटकर गिरा हुआ वही नारी का स्तन समय आने पर कुत्तों द्वारा इस तरह से खाया जाता हुआ दिखाई पड़ता है, जैसे कि एक सामान्य-सा खाद्य पदार्थ का टुकड़ा॥ १७॥

केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः। दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम्॥

सुन्दर केशों को सुव्यवस्थित किये हुए, नेत्रों में कज्जल (काजल) लगाने वाली, दुःस्पर्श (स्पर्श के लिए दुष्प्राप्य), नेत्रों को प्रिय लगने वाली, प्रज्वलित अग्नि शिखा के सदृश जो स्त्रियाँ हैं; वे मनुष्य को तृणवत् क्षणभर में जला देती हैं॥ १८॥

ज्वलिता अतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः। स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम्॥१९

ये स्त्रियाँ दूर से ही दग्ध कर देने वाली, अत्यन्त रसयुक्त लगती हुई भी रसहीन कर देने वाली, नरक की अग्नि की लकड़ियाँ हैं, जो कि चारु दारुण (सुन्दर होने पर भी अत्यन्त दुःख दायी) प्रतीत होती हैं १९॥

कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसः। नार्यो नरविहङ्गानामङ्गबन्धनवागुराः ॥ २०॥

कामदेव रूपी बहेलिये ने मानव रूपी पक्षियों को आबद्ध करने के लिए हृदय को मुग्ध (मोहित) कर देने वाला स्त्रीरूपी जाल बिछा रखा है॥ २०॥

जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम्। पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी बडिशपिण्डिका॥ २१

जन्म रूपी तलैया में निवास करने वाली, कलुषित हृदय रूपी कीचड़ में चलने वाले मनुष्य रूपी मछलियों के लिए दुर्वासना रूपी रस्सी से बँधी ये स्त्रियाँ मछली पकड़ने वाले काँटे की भाँति हैं ॥ २१॥

सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्गिकयानया। दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया ॥ २२॥

सभी तरह के दोष रत्नों की पिटारी रूप इन दुःखों की जंजीर रूपी स्त्री से तो भगवान ही बचाये॥ २२॥

यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्व भोगभूः।
स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥ २३॥

जिसके पास स्त्री है, उसी के पास भोग की इच्छा है तथा जिसके पास स्त्री ही नहीं, वह कहाँ किसके साथ भोगे? यदि कोई मनुष्य स्त्री का त्याग कर दे, तो यह समझना चाहिए कि उसने संसार को ही छोड़ दिया। संसार छोड़ देने पर तो प्रत्येक व्यक्ति सुखी हो ही जाता है॥ २३॥

अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम्। लब्धो हि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ॥ २४॥

वैसे पुत्र भी कष्ट देने वाला ही होता है; क्योंकि पुत्र न होने पर माता-पिता को बहुत क्लेश होता है। यदि

किसी तरह से प्राप्त भी हो जाए, तो गर्भपात हो जाने अथवा प्रसव पीड़ा का कष्ट ही देता है॥ २४॥

जातस्य ग्रहरोगादि कुमारस्य च धूर्तता। उपनीतेऽप्यविद्यत्वमनुद्वाहश्च पण्डिते ॥ २५॥

यदि किसी प्रकार से (पुत्र) हो भी जाता है, तो उसे ग्रह, रोग आदि हो जाते हैं या फिर बालक ही नालायक हो जाता है। वह यज्ञोपवीत हो जाने के बाद भी अज्ञानी रह जाता है और यदि पढ़-लिख जाये, तो विवाह होना दुष्कर हो जाता है॥ २५॥

यूनश्च परदारादि दारिद्र्यं च कुटुम्बिनः। पुत्रदुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेन्म्रियते तदा॥ २६॥

इसके अतिरिक्त जवान लड़के का 'पर नारी से बुरा सम्पर्क न हो जाये' आदि भय बना रहता है या फिर यदि विवाह हो जाये, तो बालकों की इतनी संख्या हो जाती है कि परिवार का भरण-पोषण भी कठिन हो जाता है। इस तरह से पुत्र से होने वाले दुःखों की कोई गणना नहीं। इसके अलावा यह भी देखने में आता है कि सेठ लोगों के बच्चे ही नहीं होते और यदि होते भी हैं, तो मर जाते हैं आदि-आदि। (अतः इन समस्त दुःखों की कारण-भूत स्त्री का परित्याग कर देना चाहिए या विवाह ही न करे)॥ २६॥

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो यतिः। न च वाक्चपलश्चैव ब्रह्मभूतो जितेन्द्रियः ॥ २७॥

यति को हाथ, पैर, आँखों और वाणी का चंचल नहीं होना चाहिए अर्थात् उसे पूर्ण जितेन्द्रिय होना चाहिए। तभी वह ब्रह्मचर्य-धर्म का पालन कर सकता है॥ २७॥

रिपौ बद्धे स्वदेहे च समैकात्म्यं प्रपश्यतः। विवेकिनः कुतः कोपः स्वदेहावयवेष्विव॥ २८

शत्रु एवं सांसारिक बन्धनों से युक्त शरीर में जो एक भाव से देखने वाला ज्ञानशील यति होता है, उसे किसी पर भी क्रोध नहीं आता। जिस प्रकार कि व्यक्ति को अपने हाथ-पैर आदि अंगों पर क्रोध नहीं आता॥

अपकारिणि कोपश्चेत्कोपे कोपः कथं न ते। धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसह्य परिपन्थिनि॥ २९

क्रोध करने वाले आदमी से पूछना चाहिए कि क्रोध पर ही तुम क्रोध क्यों नहीं करते हो; जो समस्त वस्तुओं का मूल कारण है। साथ ही जो धर्म,अर्थ, काम एवं मोक्ष का बलवान् बैरी है॥ २९॥

नमोऽस्तु मम कोपाय स्वाश्रयज्वालिने भृशम्। कोपस्य मम वैराग्यदायिने दोषबोधिने॥

अपने स्वयं के आधार को ही भस्म कर देने वाले क्रोध के लिए मेरा बारम्बार नमस्कार है। मुझे वैराग्य प्रदान करने वाले एवं दोषों का बोध कराने वाले कोप को बारम्बार नमन-वंदन है॥ ३०॥

यत्र सुप्ता जना नित्यं प्रबुद्धस्तत्र संयमी। प्रबुद्धा यत्र ते विद्वान्सुषुप्तिं याति योगिराट्॥ ३१॥

जहाँ (जब)सामान्य जन शयन करते हैं, वहाँ (तब) संयमी पुरुष जागता है(संयमी पुरुष पूर्ण सावधान रहता है)तथा जब अन्य सामान्य जन जागते हैं, तब योगी पुरुष सुषुप्ति का आश्रय प्राप्त कर लेता है॥ ३१॥

चिदिहास्तीति चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च। चित्त्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति भावय॥३२

यति को यही भावना करनी चाहिए कि मैं इस संसार में चित्स्वरूप ही हूँ। अखण्ड ब्रह्माण्ड चिन्मय है तथा सभी कुछ चिद्रूप ही है। मैं भी चिद् ही हूँ एवं सम्पूर्ण सृष्टि चिद्रूप ही है॥ ३२॥

यतीनां तदुपादेयं पारहंस्यं परं पदम्। नातः परतरं किंचिद्विद्यते मुनिपुङ्गव इत्युपनिषत्॥ ३३

हे मुनि श्रेष्ठ! परमहंस का परम श्रेष्ठ पद मोक्ष ही यतियों के लिए उपादेय (अर्थात् आवश्यक वस्तु) है। इससे बढ़कर और कुछ भी नहीं है। यही सर्वोत्कृष्ट है। इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हुई॥ ३३॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति याज्ञवल्क्योपनिषत्समाप्ता ॥

॥ योगतत्त्वोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें योग विषयक विविध उपादानों का विस्तृत वर्णन किया गया है। भगवान् विष्णु के द्वारा पितामह ब्रह्मा के लिए योग विषयक गूढ़ तत्त्वों के निरूपण के साथ उपनिषद् का शुभारम्भ हुआ है। कैवल्य रूपी परमपद की प्राप्ति के लिए योग मार्ग ही श्रेष्ठ साधन बताया गया है। मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग के क्रम में इनकी चार अवस्थाओं (आरम्भ, घट, परिचय एवं निष्पत्ति) का वर्णन हुआ है। आगे चलकर योगी के आहार-विहार एवं दिनचर्या का उल्लेख किया गया है। उसी क्रम में योगसिद्धि के प्रारम्भिक लक्षणों का वर्णन तथा उससे सावधान रहने का निर्देश भी दिया गया है।

पूर्णमनोयोग से की गयी योगसाधना निःसन्देह सफल होती है, जो योगी साधक को सभी सिद्धियों (अणिमा, गरिमा, महिमा आदि) से सम्पन्न कर देती है, वह ईश्वरीय शक्तियों का अधिकारी बन जाता है। अन्ततः वह आत्मतत्त्व का निर्वात दीपशिखा की तरह अन्तःकरण में साक्षात्कार करके आवागमन से मुक्त हो जाता है। इसी फलश्रुति के साथ योगतत्त्व उपनिषद् का समापन हुआ है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अवधूतोपनिषद्)

योगतत्त्वं प्रवक्ष्यामि योगिनां हितकाम्यया। यच्छ्रुत्वा च पठित्वा च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १

योगियों की हित-कामना की दृष्टि से मैं योगतत्त्व का वर्णन करता हूँ, जिसके श्रवण-अध्ययन तथा आचरण में धारण करने से समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं॥ १ ॥

विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपाः। तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः ॥ २ ॥

विष्णु नामक महायोगी ही समस्त (भूत) प्राणियों के आदि महाभूत एवं महातपस्वी हैं। वे पुरुषोत्तम तत्त्वमार्ग में दीपक के सदृश प्रकाशमान हैं॥ २॥

तमाराध्य जगन्नाथं प्रणिपत्य पितामहः। पप्रच्छ योगतत्त्वं मे ब्रूहि चाष्टाङ्गसंयुतम्॥ ३ ॥

पितामह ब्रह्माजी ने उन जगत् के स्वामी (भगवान् विष्णु) की आराधना एवं प्रणाम करके, कहा-हे जगन्नाथ! आप अष्टाङ्ग युक्त योग का उपदेश मुझे प्रदान करें॥ ३ ॥

तमुवाच हृषीकेशो वक्ष्यामि शृणु तत्त्वतः। सर्वे जीवाः सुखैर्दुःखैर्मायाजालेन वेष्टिताः ॥ ४ ॥

यह सुनकर उन भगवान् हृषीकेश ने कहा कि मैं उस तत्त्व का वर्णन करता हूँ, तुम ध्यानयुक्त हो कर श्रवण करो। ये सभी जीव सुख-दुःख के माया रूपी जाल में आबद्ध हैं॥ ४॥

तेषां मुक्तिकरं मार्गं मायाजालनिकृन्तनम्। जन्ममृत्युजरा व्याधिनाशनं मृत्युतारकम्॥ ५ ॥

इस सुख-दुःख रूप माया के जाल को काटकर उन (समस्त जीवों) को मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने वाला तथा जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि से छुटकारा दिलाने वाला यही मृत्युतारक मार्ग है॥ ५ ॥

नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम्। पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः ॥ ६ ॥

कैवल्य रूपी परम पद, अन्य दूसरे मार्गों का आश्रय लेने से कठिनता से प्राप्त होता है। भिन्न-भिन्न शास्त्रों के मतों में पड़कर ज्ञानी जनों की बुद्धि मोह-ग्रस्त हो जाती है॥ ६ ॥

अनिर्वाच्यं पदं वक्तुं न शक्यं तैः सुरैरपि। स्वात्मप्रकाशरूपं तत्किं शास्त्रेण प्रकाश्यते॥ ७ ॥

उस अनिर्वचनीय पद का उल्लेख देवगण भी नहीं कर सकते, तब उस स्वप्रकाशित आत्मा के रूप का वर्णन शास्त्रों में कैसे किया जा सकता है?॥ ७॥

निष्कलं निर्मलं शान्तं सर्वातीतं निरामयम्। तदेव जीवरूपेण पुण्यपापफलैर्वृतम्॥ ८॥

वह निष्कल (कलारहित), मल रहित, शान्त, सर्वातीत (सबसे परे), निरामय (रोगरहित) तत्त्व जीव रूप में पुण्य और पाप के फलों से पूर्ण हो जाता है॥ ८॥

परमात्मपदं नित्यं तत्कथं जीवतां गतम्। सर्वभावपदातीतं ज्ञानरूपं निरञ्जनम् ॥ ९॥

(यहाँ यह प्रश्न उठता है कि) जब वह परमात्मा सभी भाव और पद से परे, नित्य, ज्ञानरूप एवं मायारहित है, तब वह जीव भाव को कैसे प्राप्त हो जाता है॥ ९॥

वारिवत्स्फुरितं तस्मिंस्तत्राहंकृतिरुत्थिता। पञ्चात्मकमभूत्पिण्डं धातुबद्धं गुणात्मकम् ॥ १०

उस परमात्म तत्त्व में जल के सदृश स्फुरण हुआ और उसमें अहंकार की उत्पत्ति हुई। तब पञ्च महाभूत रूप, धातु से आबद्ध, गुणात्मक पिण्ड उत्पन्न हुआ॥ १०॥

सुखदुःखैः समायुक्तं जीवभावनया कुरु। तेन जीवाभिधा प्रोक्ता विशुद्धैः परमात्मनि॥ ११॥

उस विशुद्ध परमात्मा ने सुख-दुःख से युक्त होकर जीव-भावना की, इससे उसे जीव नाम दिया गया॥

कामक्रोधभयं चापि मोहलोभमदो रजः। जन्म मृत्युश्च कार्पण्यं शोकस्तन्द्रा क्षुधा तृषा ॥ १२
तृष्णा लज्जा भयं दुःखं विषादो हर्ष एव च। एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः स जीवः केवलो मतः॥ १३

काम, क्रोध, भय, मोह, लोभ, मद, रजोगुण, जन्म-मृत्यु, कार्पण्य (कंजूसी), शोक, तन्द्रा, क्षुधा, तृष्णा, लज्जा, भय, दुःख, विषाद, हर्ष आदि समस्त दोषों से मुक्ति मिल जाने पर जीव को 'केवल' (विशुद्ध) माना गया है॥

तस्माद्दोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते। योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम् ॥ १४॥
योगो हि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि। तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्॥ १५॥

अब उन दोषों को दूर करने का उपाय कहता हूँ। योग-विहीन ज्ञान मोक्ष देने वाला कैसे हो सकता है? ज्ञानरहित योग से भी मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता। इस कारण मोक्ष के अभिलाषी को ज्ञान और योग दोनों का ही दृढ़ अभ्यास करना चाहिए॥ १४-१५॥

अज्ञानादेव संसारो ज्ञानादेव विमुच्यते। ज्ञानस्वरूपमेवादौ ज्ञानं ज्ञेयैकसाधनम् ॥ १६॥

अज्ञान से ही यह संसार बन्धन स्वरूप है तथा ज्ञान के द्वारा ही इस संसार से निवृत्ति हो सकती है। ज्ञान स्वरूप ही आदि में है और ज्ञान के माध्यम से ही ज्ञेय को प्राप्त किया जा सकता है॥ १६॥

ज्ञातं येन निजं रूपं कैवल्यं परमं पदम्। निष्कलं निर्मलं साक्षात्सच्चिदानन्दरूपकम् ॥ १७॥
उत्पत्तिस्थितिसंहारस्फूर्तिज्ञानविवर्जितम्। एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमथ योगं ब्रवीमि ते॥ १८॥

जिसके द्वारा अपने स्वरूप का ज्ञान हो और कैवल्यपद, परमपद, निष्कल (कलारहित), निर्मल, सच्चिदानन्द स्वरूप, उत्पत्ति, स्थिति, संहार एवं स्फुरण का ज्ञान हो, वही वास्तविक ज्ञान है। अब इसके आगे योग के सन्दर्भ में वर्णन करते हैं॥ १७-१८॥

योगो हि बहुधा ब्रह्मन्भिद्यते व्यवहारतः। मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगतः॥ १९॥

हे ब्रह्मन्! व्यवहार की दृष्टि से योग के अनेकानेक भेद बताये गये हैं, जैसे- मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग आदि॥ १९॥

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयः स्मृतः। निष्पत्तिश्चेत्यवस्था च सर्वत्र परिकीर्तिता॥ २०॥

योग की चार अवस्थायें सर्वत्र वर्णित की गई हैं। ये अवस्थायें-आरम्भ, घट, परिचय एवं निष्पत्ति हैं॥२०

एतेषां लक्षणं ब्रह्मन्वक्ष्ये शृणु समासतः। मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत्॥ २१॥
क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम्। अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः॥ २२॥

इन (चारों अवस्थाओं) के लक्षण संक्षेप में वर्णित किये जाते हैं-(मन्त्रयोग) जो मातृका आदि से युक्त मन्त्र को बारह वर्ष जप करता है, वह क्रमशः अणिमा आदि का ज्ञान प्राप्त कर लेता है; परन्तु इस तरह का योग अल्प बुद्धि वाले लोग करते हैं तथा वे अधम कोटि के साधक होते हैं॥ २१-२२॥

लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः। गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्भुञ्जन्ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम्॥२३

चित्त का लय ही लययोग है, वह करोड़ों तरह का कहा गया है, चलते, बैठते, रुकते, शयन करते, भोजन करते, कलारहित परमात्मा का निरन्तर चिन्तन करता रहे॥ २३॥

स एव लययोगः स्याद्धठयोगमतः शृणु। यमश्च नियमश्चैव आसनं प्राणसंयमः॥ २४॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं भ्रूमध्यमे हरिम्। समाधिः समतावस्था साष्टाङ्गो योग उच्यते॥ २५

इस प्रकार वह तो लययोग हुआ। अब हठयोग का श्रवण करो-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, भृकुटी के मध्य में श्रीहरि का ध्यान तथा समाधि-साम्यावस्था को अष्टांग योग कहते हैं॥

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी। जालंधरोड्डियाणश्च मूलबन्धस्तथैव च ॥ २६॥
दीर्घप्रणवसंधानं सिद्धान्तश्रवणं परम्। वज्रोली चामरोली च सहजोली त्रिधा मता॥ २७॥

महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध और खेचरी मुद्रा, जालन्धर बन्ध, उड्डियान बन्ध, मूलबन्ध, दीर्घ प्रणव संधान, परम सिद्धान्त का सुनना तथा वज्रोली, अमरोली एवं सहजोली ये तीन मुद्रायें हैं॥ २६-२७॥

एतेषां लक्षणं ब्रह्मन्प्रत्येकं शृणु तत्त्वतः। लघ्वाहारो यमेष्वेको मुख्यो भवति नेतरः॥ २८॥
अहिंसा नियमेष्वेका मुख्या वै चतुरानन। सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ॥ २९॥

हे ब्रह्मन्! अब आप इनमें से प्रत्येक के लक्षणों को सुनें। यमों में एक मात्र सूक्ष्म आहार ही प्रमुख है तथा नियमों के अन्तर्गत अहिंसा प्रधान है। सिद्ध, पद्म, सिंह तथा भद्र ये चार मुख्य आसन हैं॥ २८-२९॥

प्रथमाभ्यासकाले तु विघ्नाः स्युश्चतुरानन। आलस्यं कत्थनं धूर्तगोष्ठी मन्त्रादिसाधनम्॥ ३०॥

हे चतुरानन! सर्वप्रथम अभ्यास के प्रारम्भिक काल में ही विघ्न उपस्थित होते हैं, जैसे आलस्य, अपनी बड़ाई, धूर्तपने की बातें करना तथा मन्त्रादिक का साधन॥ ३०॥

धातुस्त्रीलौल्यकादीनि मृगतृष्णामयानि वै। ज्ञात्वा सुधीस्त्यजेत्सर्वान् विघ्नान्पुण्यप्रभावतः॥

श्रेष्ठ, बुद्धिमान् साधक को धातु (रुपया आदि धन), स्त्री, लौल्यता (चंचलता) आदि को मृगतृष्णा रूप समझकर तथा विघ्न रूप जानकर त्याग देना चाहिए॥ ३१॥

प्राणायामं ततः कुर्यात्पद्मासनगतः स्वयम्। सुशोभनं मठं कुर्यात्सूक्ष्मद्वारं तु निर्व्रणम्॥ ३२॥

तदनन्तर उस श्रेष्ठ साधक को पद्मासन लगाकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। इसके लिए सबसे पहले एक छोटी-सी पर्णकुटी छोटे द्वार से युक्त तथा बिना छिद्र वाली विनिर्मित करे॥ ३२॥

सुष्ठु लिप्तं गोमयेन सुधया वा प्रयत्नतः । मत्कुणैर्मशकैर्लूतैर्वर्जितं च प्रयत्नतः॥ ३३॥

तत्पश्चात् उस कुटी को गाय के गोबर से लीपकर शोभनीय बनाये तथा ठीक तरह से स्वच्छ करे और प्रयत्नपूर्वक खटमल, मच्छर, मकड़ी आदि जीवों से रहित करे॥ ३३॥

दिने दिने च संमृष्टं संमार्जन्या विशेषतः। वासितं च सुगन्धेन धूपितं गुग्गुलादिभिः॥ ३४॥

प्रतिदिन उस (कुटिया) को झाड़-बुहार करके स्वच्छ करता रहे एवं साथ ही उसे धूप, गूगल आदि की धूनी देकर सुवासित भी करता रहे॥ ३४॥

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्। तत्रोपविश्य मेधावी पद्मासनसमन्वितः॥ ३५॥

जो न तो बहुत अधिक ऊँचा तथा न ही अतिनीचा हो, ऐसे वस्त्र, मृगचर्म या कुश के आसन पर बैठकर पद्मासन लगाना चाहिए॥ ३५॥

ऋजुकायः प्राञ्जलिश्च प्रणमेदिष्टदेवताम्। ततो दक्षिणहस्तस्य अङ्गुष्ठेनैव पिङ्गलाम्॥ ३६॥
निरुध्य पूरयेद्वायुमिडया तु शनैः शनैः। यथाशक्त्यविरोधेन ततः कुर्याच्च कुम्भकम्॥३७॥

शरीर को सीधा रखकर, हाथ जोड़ते हुए इष्ट देवता को प्रणाम करे, तत्पश्चात् दाँयें हाथ के अँगूठे से पिंगला को दबाकर शनैः-शनैः वायु को भीतर की ओर खींचे तथा उसे यथा शक्ति रोककर कुम्भक करे॥

पुनस्त्यजेत्पिङ्गलया शनैरेव न वेगतः। पुनः पिङ्गलयापूर्य पूरयेदुदरं शनैः ॥ ३८॥
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदिडया शनैः। यया त्यजेत्तयापूर्य धारयेदविरोधतः ॥ ३९॥

तत्पश्चात् पिंगला द्वारा उस वायु को सामान्य गति से बाहर निकाल देना चाहिए। इसके बाद पिंगला से वायु को पेट में पुनः भर कर, शक्ति के अनुसार ग्रहण करके रेचक करे। इस प्रकार जिस तरफ के नथुने से वायु बाहर निकाले, उसी तरफ से पुनः भरकर दूसरे नथुने से बाहर निकालता रहे॥ ३८-३९॥

जानु प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम्। अङ्गुलिस्फोटनं कुर्यात्सा मात्रा परिगीयते॥४०॥

न तो अत्यन्त द्रुतगति से और न ही अत्यन्त धीमी गति से, वरन् सहज-सामान्य गति से जानु की प्रदक्षिणा करके एक चुटकी बजाए, इतने समय को एक मात्रा कहा जाता है॥ ४०॥

इडया वायुमारोप्य शनैः षोडशमात्रया। कुम्भयेत्पूरितं पश्चाच्चतुःषष्ट्या तु मात्रया॥ ४१॥
रेचयेत्पिङ्गलानाड्या द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः। पुनः पिङ्गलयापूर्य पूर्ववत्सुसमाहितः ॥ ४२॥

सर्वप्रथम 'इड़ा' में सोलह मात्रा तक वायु को खींचे, तत्पश्चात् चौंसठ मात्रा तक कुम्भक करे और तब इसके बाद बत्तीस मात्रा तक 'पिंगला' नाड़ी से रेचक करे। इसके बाद दूसरी बार 'पिंगला' से वायु खींचकर पहले की भाँति ही सारी क्रिया सम्पन्न करे॥ ४१-४२॥

प्रातर्मध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान्। शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ ४३॥

प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल एवं अर्द्धरात्रि के समय चार बार धीरे-धीरे क्रमशः अस्सी कुम्भक तक का अभ्यास बढ़ाना चाहिए॥ ४३॥

एवं मासत्रयाभ्यासान्नाडीशुद्धिस्ततो भवेत्। यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तदा चिह्नानि बाह्यतः॥

इस तरह से तीन मास तक अभ्यास करने से नाड़ी-शोधन हो जाता है। ऐसी शुद्धि होने से उस (श्रेष्ठ साधक) के चिह्न भी योगी की देह में दृष्टिगोचर होने लगते हैं॥ ४४॥

जायन्ते योगिनो देहे तानि वक्ष्याम्यशेषतः। शरीरलघुता दीप्तिर्जाठराग्निविवर्धनम्॥ ४५॥
कृशत्वं च शरीरस्य तदा जायेत निश्चितम्। योगविघ्नकराहारं वर्जयेद्योगवित्तमः॥ ४६॥

वे चिह्न ऐसे हैं कि शरीर में हल्कापन मालूम पड़ता है, जठराग्नि तीव्र हो जाती है,शरीर भी निश्चित रूप से कृश हो जाता है। ऐसे समय में योग में बाधा पहुँचाने वाले आहार का परित्याग कर देना चाहिए॥४५- ४६॥

लवणं सर्षपं चाम्लमुष्णं रूक्षं च तीक्ष्णकम्। शाकजातं रामठादि वह्निस्त्रीपथसेवनम्॥४७
प्रातः स्नानोपवासादिकायक्लेशांश्च वर्जयेत्। अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराज्यभोजनम्॥

नमक, तेल, खटाई, गर्म, रूखा, तीक्ष्ण भोजन, हरे साग, हींग आदि मसाले, आग से तापना, स्त्री प्रसंग, अधिक चलना, प्रातः काल का स्नान, उपवास तथा अपने शरीर को पीड़ा पहुँचाने वाले अन्य कार्यों को प्रायः त्याग ही देना चाहिए। अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में दुग्ध, घृत का भोजन ही सर्वश्रेष्ठ है॥ ४७-४८॥

गोधूममुद्गशाल्यन्नं योगवृद्धिकरं विदुः। ततः परं यथेष्टं तु शक्तः स्याद्वायुधारणे॥ ४९॥

गेहूँ, मूँग एवं चावल का भोजन योग में वृद्धि प्रदान करने वाला बतलाया गया है। इस प्रकार अभ्यास करने से वायु को इच्छानुसार धारण करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है॥ ४९॥

यथेष्टधारणाद्वायोः सिध्येत्केवलकुम्भकः। केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरविवर्जिते ॥ ५०॥

यथेष्ट वायु धारण कर सकने के उपरान्त 'केवल कुम्भक' सिद्ध हो जाता है और तब रेचक और पूरक का परित्याग कर देना चाहिए॥ ५०॥

न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते। प्रस्वेदो जायते पूर्वं मर्दनं तेन कारयेत् ॥ ५१॥

(ऐसा कर लेने के बाद) फिर उस (श्रेष्ठ) योगी के लिए तीनों लोकों में कभी कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। अभ्यास के समय जो पसीना निकले, उसे अपने शरीर में ही मल लेना चाहिए॥ ५१॥

ततोऽपि धारणाद्वायोः क्रमेणैव शनैः शनैः। कम्पो भवति देहस्य आसनस्थस्य देहिनः॥ ५२

इसके अनन्तर वायु की धारणा शक्ति निरन्तर शनैः-शनैः बढ़ती रहने से आसन पर बैठे हुए साधक के शरीर में कम्पन होने लगता है॥ ५२॥

ततोऽधिकतराभ्यासाद्दार्दुरी स्वेन जायते। यथा च दर्दुरो भाव उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छति॥ ५३
पद्मासनस्थितो योगी तथा गच्छति भूतले। ततोऽधिकतराभ्यासाद्भूमित्यागश्च जायते॥ ५४॥

इससे आगे और अधिक अभ्यास होने पर मेढ़क की तरह चेष्टा होने लगती है। जिस तरह से मेढक उछलकर, फिर जमीन पर आ जाता है, उसी तरह की स्थिति पद्मासन पर बैठे योगी की हो जाती है। जब अभ्यास इससे भी अधिक बढ़ता है, तो फिर वह योगी जमीन से ऊपर उठने लगता है॥ ५३-५४॥

पद्मासनस्थ एवासौ भूमिमुत्सृज्य वर्तते। अतिमानुषचेष्टादि तथा सामर्थ्यमुद्भवेत्॥ ५५॥

पद्मासन पर बैठा हुआ योगी अत्यन्त अभ्यास के कारण भूमि से ऊपर ही उठा रहता है। वह इस तरह से और भी अतिमानुषी चेष्टाएँ निरन्तर करने लगता है॥ ५५॥

न दर्शयेच्च सामर्थ्यं दर्शनं वीर्यवत्तरम्। स्वल्पं वा बहुधा दुःखं योगी न व्यथते तदा॥ ५६॥

(परन्तु) योगी को इस प्रकार की शक्ति एवं सामर्थ्य का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए, वरन् स्वयं ही देखकर अपना उत्साहवर्द्धन करना चाहिए। तब थोड़ा या बहुत कष्ट भी योगी को पीड़ा नहीं पहुँचा सकता॥

अल्पमूत्रपुरीषश्च स्वल्पनिद्रश्च जायते। कीलवो दूषिका लाला स्वेददुर्गन्धतानने॥ ५७॥
एतानि सर्वथा तस्य न जायन्ते ततः परम्। ततोऽधिकतराभ्यासाद्बलमुत्पद्यते बहु॥ ५८॥

योगी का मल-मूत्र अति न्यून हो जाता है तथा निद्रा भी घट जाती है। कीचड़, नाक, थूक, पसीना, मुख की दुर्गन्ध आदि योगी को नहीं होती तथा निरन्तर अभ्यास बढ़ाने से उसे बहुत बड़ी शक्ति मिल जाती है॥

येन भूचरसिद्धिः स्याद्भूचराणां जये क्षमः। व्याघ्रो वा शरभो वापि गजो गवय एव वा॥ ५९
सिंहो वा योगिना तेन म्रियन्ते हस्तताडिताः। कन्दर्पस्य यथा रूपं तथा स्यादपि योगिनः॥

इस प्रकार से योगी को भूचर सिद्धि की प्राप्ति होने से समस्त भू-चरों पर विजय की प्राप्ति हो जाती है। व्याघ्र, शरभ, हाथी, गवय (नीलगाय), सिंह आदि योगी के हाथ मारने मात्र से ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। उस योगी का स्वरूप भी कामदेव के सदृश सुन्दर हो जाता है॥ ५९-६०॥

तद्रूपवशगा नार्यः काङ्क्षन्ते तस्य सङ्गमम्। यदि सङ्गं करोत्येष तस्य बिन्दुक्षयो भवेत्॥ ६१

उस योगी के रूप का अवलोकन कर अनेकानेक स्त्रियाँ आकृष्ट होकर उससे भोग की इच्छा करने लगती हैं, लेकिन यदि योगी उनकी इच्छा की पूर्ति करेगा, तो उसका वीर्य नष्ट हो जायेगा॥ ६१॥

वर्जयित्वा स्त्रियाः सङ्गं कुर्यादभ्यासमादरात् । योगिनोऽङ्गे सुगन्धश्च जायते बिन्दुधारणात् ॥

अतः स्त्रियों का चिन्तन न करके दृढ़ निश्चयी होकर, निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिए। वीर्य को धारण करने से योगी के शरीर से सुगन्ध आने लगती है ॥ ६२ ॥

ततो रहस्युपाविष्टः प्रणवं प्लुतमात्रया। जपेत्पूर्वार्जितानां तु पापानां नाशहेतवे ॥ ६३ ॥

तदनन्तर एकान्त स्थल पर बैठकर प्लुत मात्रा (तीन मात्रा) से युक्त प्रणव (ॐकार) का जप करते रहना चाहिए, जिससे पूर्व जन्मों के पापों का विनाश हो जाए ॥ ६३ ॥

सर्वविघ्नहरो मन्त्रः प्रणवः सर्वदोषहा । एवमभ्यासयोगेन सिद्धिरारम्भसंभवा ॥ ६४ ॥

यह ओंकार मंत्र सभी तरह के विघ्न-बाधाओं एवं दोषों का हरण करने वाला है। इसका निरन्तर अभ्यास करते रहने से सिद्धियाँ हस्तगत होने लगती हैं ॥ ६४ ॥

ततो भवेद्घटावस्था पवनाभ्यासतत्परा। प्राणोऽपानो मनो बुद्धिर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥६५ ॥
अन्योन्यस्याविरोधेन एकता घटते यदा। घटावस्थेति सा प्रोक्ता तच्चिह्नानि ब्रवीम्यहम् ॥ ६६

इसके पश्चात् वायु-धारण का अभ्यास करना चाहिए। इस क्रिया से घटावस्था की प्राप्ति सहज रूप से होने लगती है। जिस अभ्यास में प्राण, अपान, मन, बुद्धि, जीव तथा परमात्मा में जो पारस्परिक निर्विरोध एकता स्थापित होती है, उसे घटावस्था कहा गया है। उसके चिह्नों का वर्णन आगे के श्लोकों में करते हैं ॥ ६५-६६ ॥

पूर्वं यः कथितोऽभ्यासश्चतुर्थांशं परिग्रहेत्। दिवा वा यदि वा सायं याममात्रं समभ्यसेत् ॥६७
एकवारं प्रतिदिनं कुर्यात्केवलकुम्भकम्। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरणं स्फुटम् ॥६८
योगी कुम्भकमास्थाय प्रत्याहारः स उच्यते। यद्यत्पश्यति चक्षुभ्यां तत्तदात्मेति भावयेत् ॥६९

पूर्व में जितना अभ्यास योगी करता था, उसका चतुर्थ भाग ही अब करे। दिन अथवा रात्रि में मात्र एक प्रहर ही अभ्यास करना चाहिए। दिन में एक बार ही 'केवल-कुम्भक' करे एवं कुम्भक में स्थिर होकर इन्द्रियों को उनके विषयों से खींचकर लाये, यही प्रत्याहार होता है। उस समय आँखों से जो कुछ भी देखे, उसे आत्मवत् समझे ॥ ६७-६९ ॥

यद्यच्छृणोति कर्णाभ्यां तत्तदात्मेति भावयेत्। लभते नासया यद्यत्तत्तदात्मेति भावयेत् ॥ ७०

जो भी कुछ कर्णेन्द्रिय से श्रवण करे तथा जो कुछ भी नासिका के द्वारा सूँघे, उस सभी को आत्म-भावना से ही स्वीकार करे ॥ ७० ॥

जिह्वया यद्रसं ह्यत्ति तत्तदात्मेति भावयेत्। त्वचा यद्यत्स्पृशेद्योगी तत्तदात्मेति भावयेत् ॥ ७१

जिह्वा के माध्यम से जो भी कुछ रस ग्रहण करे, उसको भी आत्मरूप जाने। त्वचा से जो कुछ भी स्पर्श हो, उसमें भी अपनी आत्मा की ही भावना करे ॥ ७१ ॥

एवं ज्ञानेन्द्रियाणां तु तत्तदात्मनि धारयेत्। याममात्रं प्रतिदिनं योगी यत्नादतन्द्रितः ॥ ७२ ॥

इसी तरह से ज्ञानेन्द्रियों के जितने भी विषय हैं, उन सबको योगी अपनी अन्तरात्मा में धारण करे तथा प्रतिदिन एक प्रहर तक इस (क्रिया) का आलस्य त्यागकर प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करे ॥ ७२ ॥

यथा वा चित्तसामर्थ्यं जायते योगिनो ध्रुवम्। दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः क्षणाद्दूरागमस्तथा ॥ ७३ ॥
वाक्सिद्धिः कामरूपत्वमदृश्यकरणी तथा। मलमूत्रप्रलेपेन लोहादेः स्वर्णता भवेत् ॥ ७४ ॥
खे गतिस्तस्य जायेत संतताभ्यासयोगतः। सदा बुद्धिमता भाव्यं योगिना योगसिद्धये ॥ ७५ ॥

इस प्रकार के अभ्यास द्वारा जैसे-जैसे योगी की चित्त-शक्ति बढ़ती है, वैसे-वैसे ही उसको दूर-श्रवण, दूर-दर्शन, क्षण भर में सुदूर क्षेत्र से आ जाना, वाणी की सिद्धि, जब चाहे जैसा रूप ग्रहण कर लेना, अदृश्य हो जाना, उसके मल-मूत्र के स्पर्श से लोहे का स्वर्ण में परिवर्तन हो जाना, आकाश मार्ग से गमन कर सकना आदि सिद्धियाँ प्रकट होने लगती हैं। बुद्धिमान् श्रेष्ठ योगी सदैव योग की सिद्धि की ओर ही ध्यान बनाये रखे॥

एते विघ्ना महासिद्धेर्न रमेत्तेषु बुद्धिमान्। न दर्शयेत्स्वसामर्थ्यं यस्य कस्यापि योगिराट्॥ ७६

(परन्तु) ये सभी सिद्धियाँ योग-सिद्धि के लिए विघ्नरूप हैं, बुद्धिमान् योगी साधक को इन (सिद्धियों) से बचना चाहिए। अपनी इस तरह की सामर्थ्य को कभी भी किसी के समक्ष प्रकट नहीं करना चाहिए॥ ७६

यथा मूढो यथा मूर्खो यथा बधिर एव वा। तथा वर्तेत लोकस्य स्वसामर्थ्यस्य गुप्तये॥ ७७॥

इसलिए श्रेष्ठ योगी को जन सामान्य के समक्ष अज्ञानी, मूर्ख एवं बधिर की भाँति बनकर रहना चाहिए। अपनी सामर्थ्य को सभी तरह से छिपाकर गुप्त रीति से रहना चाहिए॥ ७७॥

शिष्याश्च स्वस्वकार्येषु प्रार्थयन्ति न संशयः। तत्तत्कर्मकरव्यग्रः स्वाभ्यासेऽविस्मृतो भवेत्॥

शिष्य-समुदाय अपने-अपने कार्यों के लिए योगी साधक से निश्चित ही प्रार्थना करेंगे; किन्तु योगी को उन (शिष्यगणों) के काम में पड़कर अपने कर्त्तव्य (अभ्यास) को विस्मृत नहीं कर देना चाहिए॥ ७८॥

सर्वव्यापारमुत्सृज्य योगनिष्ठो भवेद्यतिः। अविस्मृत्य गुरोर्वाक्यमभ्यसेत्तदहर्निशम्॥ ७९॥

उस योगी को चाहिए कि गुरु के वाक्यों को याद करके सभी तरह के क्रिया-कलापों को छोड़कर योग के अभ्यास में लगा रहे॥ ७९॥

एवं भवेद्घटावस्था संतताभ्यासयोगतः। अनभ्यासवतश्चैव वृथागोष्ठ्या न सिद्ध्यति॥ ८०॥

इस प्रकार लगातार योग के अभ्यास से उसे घटावस्था की प्राप्ति हो जाती है; परन्तु इस तरह की सिद्धि अभ्यास के द्वारा ही मिल सकती है, केवल बातों से कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता॥ ८०॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन योगमेव सदाभ्यसेत्। ततः परिचयावस्था जायतेऽभ्यासयोगतः॥ ८१॥

वायुः परिचितो यत्नादग्निना सह कुण्डलीम्। भावयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः॥ ८२॥

अतः योगी को निरन्तर प्रयत्नपूर्वक योग का अभ्यास करते रहना चाहिए। तदनन्तर अभ्यास योग से 'परिचय अवस्था' का शुभारम्भ होता है। उस (अवस्था) के लिए प्रयत्नपूर्वक वायु से प्रदीप्त अग्नि सहित कुण्डलिनी को साधना के द्वारा जाग्रत् करके भावनापूर्वक सुषुम्ना में अवरोध रहित प्रवेश कराना चाहिए॥

वायुना सह चित्तं च प्रविशेच्च महापथम्। यस्य चित्तं स्वपवनं सुषुम्नां प्रविशेदिह॥ ८३॥

भूमिरापोऽनलो वायुराकाशश्चेति पञ्चकः। येषु पञ्चसु देवानां धारणा पञ्चधोच्यते॥ ८४॥

तत्पश्चात् वायु के सहित चित्त को महापथ में अग्रसर करना चाहिए। जिस योगी का चित्त वायु के सहित 'सुषुम्ना' नाड़ी में प्रविष्ट हो जाता है, उसे पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु तथा आकाश इन पञ्च महाभूत रूपी देवों की पाँच प्रकार की धारणा हो जाती है॥ ८३-८४॥

पादादिजानुपर्यन्तं पृथिवीस्थानमुच्यते। पृथिवी चतुरस्त्रं च पीतवर्णं लवर्णकम्॥ ८५॥

पार्थिवे वायुमारोप्य लकारेण समन्वितम्। ध्यायंश्चतुर्भुजाकारं चतुर्वक्त्रं हिरण्मयम्॥ ८६॥

पैरों से जानु (घुटनों) तक पृथ्वी तत्त्व का स्थान बतलाया गया है। चार कोनों से युक्त यह पृथ्वी, पीत वर्ण, 'ल' कार से युक्त कही गयी है। पृथ्वी तत्त्व में वायु को आरोपित करते हुए 'ल' कार को उसमें संयुक्त करके उस स्थान में स्वर्ण के समान रंग से युक्त चार भुजाओं एवं चतुर्मुख ब्रह्मा जी का ध्यान करना चाहिए॥

धारयेत्पञ्च घटिका: पृथिवीजयमाप्नुयात्। पृथिवीयोगतो मृत्युर्न भवेदस्य योगिनः ॥ ८७॥

इस तरह से पाँच घटी (२ घंटे) तक ध्यान करने से योगी पृथ्वी तत्त्व को जीत लेता है। ऐसे योगी की पृथ्वी के संयोग (विकार या आघात) से मृत्यु नहीं होती॥ ८७॥

आजानोः पायुपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम्। आपोऽर्धचन्द्रं शुक्लं च वंबीजं परिकीर्तितम्॥
वारुणे वायुमारोप्य वकारेण समन्वितम्। स्मरन्नारायणं देवं चतुर्बाहुं किरीटिनम् ॥ ८९॥
शुद्धस्फटिकसंकाशं पीतवाससमच्युतम्। धारयेत्पञ्च घटिका: सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ९०॥

घुटनों से गुदास्थान तक जल-तत्त्व का क्षेत्र बतलाया गया है। यह जल-तत्त्व अर्द्ध चन्द्र के रूप में 'वं' बीज वाला होता है। इस जल-तत्त्व में वायु को आरोपित करते हुए 'वं' बीज को समन्वित करके चतुर्भुज, मुकुट धारण किये हुए, पवित्र स्फटिक के सदृश, पीत वस्त्रों से आच्छादित अच्युतदेव श्री नारायण का पाँच घटी (२ घंटे) तक ध्यान करना चाहिए। इससे सभी पापों से छुटकारा मिल जाता है॥ ८८-९०॥

ततो जलाद्भयं नास्ति जले मृत्युर्न विद्यते। आपायोर्हृदयान्तं च वह्निस्थानं प्रकीर्तितम्॥ ९१॥

इसके पश्चात् उस योगी को जल से किसी भी तरह का डर नहीं रहता और न ही जल से उसकी मृत्यु हो सकती है। जलतत्त्व (गुदा भाग) से हृदय क्षेत्र तक अग्नि का स्थान बताया गया है॥ ९१॥

वह्निस्त्रिकोणं रक्तं च रेफाक्षरसमुद्भवम्। वह्नौ चानिलमारोप्य रेफाक्षरसमुज्ज्वलम्॥ ९२॥

तीन कोणों से युक्त अग्नि, लाल रंग वाला एवं 'र' कार से संयुक्त होता है। अग्नि में वायु को आरोपित करके उस समुज्ज्वल 'र' कार को समन्वित करना चाहिए॥ ९२॥

त्रियक्षं वरदं रुद्रं तरुणादित्यसंनिभम्। भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं सुप्रसन्नमनुस्मरन् ॥ ९३॥

त्रियक्ष (तीन नेत्रों) से युक्त वर प्रदान करने वाले, तरुण आदित्य के सदृश प्रकाशमान तथा समस्त अङ्गों में भस्म धारण किये हुए भगवान् रुद्र का प्रसन्न मन से सदा ध्यान करना चाहिए॥ ९३॥

धारयेत्पञ्च घटिका वह्निनासौ न दाह्यते। न दह्यते शरीरं च प्रविष्टस्याग्निमण्डले॥ ९४॥

पाँच घटी (२ घंटे) तक इस तरह से चिन्तन करने से वह (योगी) अग्नि से नहीं जलाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रखर जलती हुई अग्नि में भी संयोगवश प्रविष्ट कराया जाए, तो भी वह नहीं जलता॥९४॥

आहृदयाद्भ्रुवोर्मध्यं वायुस्थानं प्रकीर्तितम्। वायुःषट्कोणकं कृष्णं यकाराक्षरभासुरम्॥

हृदय क्षेत्र से भृकुटियों तक का स्थान वायु का क्षेत्र कहा गया है, यह षट्कोण के आकार वाला, कृष्ण वर्ण से युक्त भास्वर 'य' अक्षर वाला होता है॥ ९५॥

मारुतं मरुतां स्थाने यकाराक्षरभासुरम्। धारयेत्तत्र सर्वज्ञमीश्वरं विश्वतोमुखम् ॥ ९६॥

मस्त् स्थान पर यकार होता है। यहाँ 'य' अक्षर के सहित विश्वतोमुख सर्वज्ञ ईश्वर का सतत चिन्तन करना चाहिए॥

धारयेत्पञ्च घटिका वायुवद्व्योमगो भवेत्। मरणं न तु वायोश्च भयं भवति योगिनः॥ ९७॥

इस तरह पाँच घटी अर्थात् दो घंटे तक उन विश्वतोमुख भगवान् का ध्यान करने से योगी वायु के सदृश आकाश में गमन करने वाला हो जाता है। उस महान् योगी को वायु से किसी भी तरह का भय नहीं व्याप्त होता तथा वह वायु से मृत्यु को भी नहीं प्राप्त होता॥ ९७॥

आंभ्रूमध्यात्तु मूर्धान्तमाकाशस्थानमुच्यते। व्योम वृत्तं च धूम्रं च हकाराक्षरभासुरम्॥ ९८॥

भृकुटी के मध्य भाग से लेकर मूर्धा के अन्त तक का आकाश तत्त्व का क्षेत्र कहा गया है। यह व्योमवृत्त के आकार वाला, धूम्र वर्ण से युक्त तथा 'ह' कार (अक्षर) से प्रकाशित है॥ ९८॥

आकाशे वायुमारोप्य हकारोपरि शंकरम् । बिन्दुरूपं महादेवं व्योमाकारं सदाशिवम्॥ ९९ ॥

इस आकाश तत्त्व में वायु का आरोपण करके 'ह' कार के ऊपर भगवान् शंकर (का ध्यान करे), जो बिन्दु रूप महादेव हैं। वही व्योमाकार में सदाशिव रूप हैं॥ ९९ ॥

शुद्धस्फटिकसंकाशं धृतबालेन्दुमौलिनम् । पञ्चवक्त्रयुतं सौम्यं दशबाहुं त्रिलोचनम्॥ १०० ॥

वे भगवान् शिव परम पवित्र स्फटिक के सदृश निर्मल हैं, बालरूप चन्द्रमा को मस्तक में धारण किये हुए हैं, पाँच मुखों से युक्त, सौम्य, दश भुजा एवं तीन नेत्रों से युक्त हैं॥ १००॥

सर्वायुधैर्धृताकारं सर्वभूषणभूषितम्। उमार्धदेहं वरदं सर्वकारणकारणम्॥ १०१ ॥

वे भगवान् शिव सभी प्रकार के शस्त्रास्त्रों को धारण किये हुए, विभिन्न प्रकार के आभूषणों से विभूषित, पार्वती जी से सुशोभित अर्धाङ्ग वाले, वर प्रदान करने वाले तथा सभी कारणों के भी कारण रूप हैं॥ १०१॥

आकाशधारणात्तस्य खेचरत्वं भवेद्ध्रुवम् । यत्र कुत्र स्थितो वापि सुखमत्यन्तमश्नुते॥ १०२॥

उन भगवान् शिव का ध्यान आकाश तत्त्व में करने से निश्चित ही आकाश मार्ग में गमन की शक्ति मिल जाती है। इस ध्यान से साधक कहीं भी रहे, वह अत्यन्त सुख की प्राप्ति करता है॥ १०२॥

एवं च धारणाः पञ्च कुर्याद्योगी विचक्षणः। ततो दृढशरीरः स्यान्मृत्युस्तस्य न विद्यते॥ १०३॥

इस प्रकार विशेष लक्षणों से संयुक्त योगी को पाँच तरह की धारणा करनी चाहिए। इस धारणा से उस योगी का शरीर अत्यन्त दृढ़ हो जाता है तथा उसे मृत्यु का भय भी व्याप्त नहीं होता॥ १०३॥

ब्रह्मणः प्रलयेनापि न सीदति महामतिः। समभ्यसेत्तथा ध्यानं घटिकाषष्टिमेव च। वायुं निरुध्य चाकाशे देवतामिष्टदामिति॥ १०४॥ सगुणं ध्यानमेतत्स्यादणिमादिगुणप्रदम्। निर्गुणध्यानयुक्तस्य समाधिश्च ततो भवेत्॥ १०५॥

ब्रह्म-प्रलय अर्थात् चराचर में जल ही जल की स्थिति होने पर भी वह महामति दुःख को प्राप्त नहीं होता। छः घटी अर्थात् दो घंटे चौबीस मिनट तक वायु को रोककर आकाश तत्त्व में इष्ट सिद्धिदाता-देवों का निरन्तर ध्यान करते रहना चाहिए। सगुण ध्यान करने से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं तथा निर्गुण रूप में चिन्तन करने से समाधि की स्थिति प्राप्त होती है॥१०४- १०५॥

दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात्। वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवत्ययम्॥ १०६॥

योग में निष्णात साधक मात्र बारह दिन में ही समाधि की सिद्धावस्था को प्राप्त कर लेता है। वह योगी वायु (प्राण) को स्थिर करके (समाधि को सिद्ध करके) अपने जीवन में मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥१०६॥

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः। यदि स्वदेहमुत्स्रष्टुमिच्छा चेदुत्सृजेत्स्वयम्॥ १०७॥

समाधि में जीवात्मा एवं परमात्मा की समान अवस्था हो जाती है। उसमें यदि अपना शरीर छोड़ने की इच्छा हो, तो उसका परित्याग भी किया जा सकता है॥ १०७॥

परब्रह्मणि लीयेत न तस्योत्क्रान्तिरिष्यते। अथ नो चेत्समुत्स्रष्टुं स्वशरीरं प्रियं यदि॥ १०८॥ सर्वलोकेषु विहरन्नणिमादिगुणान्वितः। कदाचित्स्वेच्छया देवो भूत्वा स्वर्गे महीयते॥ १०९॥

इस प्रकार से योगी अपने आपको परब्रह्म में विलीन कर लेता है, उसे पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता; किन्तु यदि उसको शरीर प्रिय लगता है, तो वह स्वयं ही अपने शरीर में स्थित होकर अणिमा आदि समस्त सिद्धियों से युक्त हो सभी लोकों में गमन कर सकता है तथा यदि चाहे तो कभी भी देवता होकर स्वर्ग में निवास कर सकता है॥ १०८-१०९॥

मनुष्यो वापि यक्षो वा स्वेच्छयापि क्षणाद्भवेत्।
सिंहो व्याघ्रो गजो वाश्वः स्वेच्छया बहुतामियात्॥ ११०॥

योगी स्वेच्छा से मनुष्य अथवा यक्ष का रूप भी क्षणभर में धारण कर सकता है। वह सिंह, हाथी, घोड़ा आदि अनेक रूपों को स्वेच्छापूर्वक धारण कर सकने में समर्थ होता है॥ ११०॥

यथेष्टमेव वर्तेत यद्वा योगी महेश्वरः। अभ्यासभेदतो भेदः फलं तु सममेव हि॥ १११॥

महेश्वर पद के प्राप्त हो जाने पर योगी इच्छानुकूल व्यवहार कर सकता है। यह भेद तो मात्र अभ्यास का ही है, फल की दृष्टि से तो दोनों समान ही हैं॥ १११॥

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्। प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम्॥

साधक को चाहिए कि बाँयें पैर की एड़ी के द्वारा योनि स्थान को दबाये तथा दायें पैर को फैलाकर के उस पैर के अँगूठे को मजबूती से पकड़ ले॥ ११२॥

चुबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद्वायुना पुनः। कुम्भकेन यथाशक्ति धारयित्वा तु रेचयेत्॥ ११३॥

इसके बाद ठोड़ी को छाती से लगा लेना चाहिए। तदनन्तर वायु को धीरे-धीरे अन्दर धारण करे और शक्ति के अनुसार कुम्भक करे, फिर रेचक के द्वारा वायु को बाहर निकाल देना चाहिए॥ ११३॥

वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेन ततोऽभ्यसेत्। प्रसारितस्तु यः पादस्तमूरूपरि नामयेत्॥ ११४

इस क्रिया को निरन्तर अभ्यास पूर्वक बाँयें अंग से करने के उपरान्त दाँयें अंग से करे अर्थात् जो पैर फैलाया हुआ था, उसे योनि के स्थान पर लगाये और जो योनि के स्थान पर था, उसे फैलाकर अँगूठे को दृढ़तापूर्वक पकड़ लेना चाहिए॥ ११४॥

अयमेव महाबन्ध उभयत्रैवमभ्यसेत्। महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः॥ ११५॥
वायुना गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया। पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम्॥ ११६॥

यह ही महाबन्ध कहलाता है। इस बन्ध का दोनों ही प्रकार से अभ्यास किया जाता है। महाबन्ध की क्रिया में सतत संलग्न रहने वाले योगी को एकाग्र होकर कण्ठ की मुद्रा द्वारा वायु की गति को आवृत करके दोनों नासिका-रन्ध्रों को संकुचित करने से तत्परतापूर्वक वायु भर जाती है॥ ११५-११६॥

अयमेव महावेधःसिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम्। अन्तःकपालकुहरे जिह्वां व्यावृत्य धारयेत्॥ ११७
भ्रूमध्यदृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी। कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद्दृढया धिया॥ ११८॥
बन्धो जालंधराख्योऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी। बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः॥ ११९॥
उड्यानाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहृतः। पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चये-
द्दृढम्॥१२०॥ अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य योनिबन्धोऽयमुच्यते। प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन
चैकताम्॥ १२१॥ गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः। करणी विपरीताख्या
सर्वव्याधिविनाशिनी॥ १२२॥

सिद्ध योगीजन इस (ऊपर वर्णित) महावेध का निरन्तर अभ्यास करते रहते हैं। जिह्वा को लौटाकर, अन्तः कपाल-कुहर में लगाकर दोनों भृकुटियों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करना खेचरी मुद्रा है। कण्ठ को संकुचित करके (ठोड़ी को) दृढ़तापूर्वक वक्ष पर स्थापित करना ही जालन्धर बन्ध कहलाता है। जो मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान होता है। जिस बन्ध से प्राण सुषुम्ना में उठ जाता है। उसे योगी लोग उड्डियान

बन्ध कहते हैं। एड़ी से योनि स्थान को ठीक प्रकार से दबाकर अन्दर की तरफ खींचे, इस तरह अपान को ऊर्ध्व की ओर उठाये, यही योनि बन्ध कहलाता है। इस क्रिया से प्राण, अपान, नाद और बिन्दु में मूलबन्ध के द्वारा एकता की प्राप्ति होती है तथा यह संशयरहित योग सिद्ध कराने वाला है। अब विपरीतकरणी मुद्रा के सन्दर्भ में बतलाते हैं। इसे समस्त व्याधियों का विनाश करने वाली कहा गया है॥ ११७-१२२॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जाठराग्निविवर्धनी। आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥ १२३

इस विपरीतकरणी मुद्रा का नित्य अभ्यास करने से साधक की जठराग्नि बढ़ जाती है। इस कारण साधक अधिक आहार (भोजन) को पचा सकने में समर्थ हो जाता है॥ १२३॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्देहं हरेत्क्षणात्। अधः शिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने॥ १२४

यदि साधक कम भोजन ग्रहण करेगा, तो उसकी जठराग्नि उसके शरीर को ही नष्ट करने लगेगी। इस मुद्रा के लिए प्रथम दिन क्षणभर के लिए सिर नीचे की ओर करके तथा पैरों को ऊपर की ओर करे॥ १२४॥

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेत्तु दिनेदिने। वली च पलितं चैव षण्मासार्धान्न दृश्यते॥ १२५

इसके पश्चात् प्रत्येक दिन एक-एक क्षण भर निरन्तर अभ्यास बढ़ाता रहे, तो छः मास में ही साधक के शरीर की झुर्रियाँ तथा बालों की सफेदी समाप्त हो जायेगी॥ १२५॥

याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्। वज्रोलीमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धिभाजनम् ॥
लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता। अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम्॥

जो प्रतिदिन एक प्रहर (तीन घंटे) तक (इस विपरीतकरणी मुद्रा का) अभ्यास करता है, वह योगी काल को अपने वश में कर लेता है। जो योगी वज्रोली मुद्रा का नित्य अभ्यास करता है, वह जल्दी ही सिद्धावस्था को प्राप्त कर सकता है। जो उस मुद्रा का अभ्यास कर लेता है, तो योग की सिद्धि उसके हाथ में ही जानना चाहिए। वह भूत, भविष्यत् का ज्ञाता हो जाता है तथा वह अवश्य ही आकाश मार्ग से गमन करने में समर्थ हो जाता है॥ १२६-१२७॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने। वज्रोलीमभ्यसेन्नित्यममरोलीति कथ्यते॥ १२८॥

जो (योगी) 'अमरी' (मूत्र) को प्रतिदिन पीता है एवं घ्राणेन्द्रिय के द्वारा उसका नस्य करता (सूँघता) है तथा वज्रोली का अभ्यास करता है, तो उसे अमरोली का साधक कहा जाता है॥ १२८॥

ततो भवेद्राजयोगो नान्तरा भवति ध्रुवम्। यदा तु राजयोगेन निष्पन्ना योगिभिः क्रियाः॥१२९

इसके पश्चात् वह राजयोग सिद्ध करने में समर्थ हो जाता है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। राजयोग के सिद्ध हो जाने से योगी को हठयोग की शरीर सम्बन्धी क्रियाओं की जरूरत नहीं पड़ती ॥ १२९॥

तदा विवेकवैराग्यं जायते योगिनो ध्रुवम्। विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपाः॥ १३०॥

उसे निश्चय ही वैराग्य एवं विवेक की प्राप्ति सहजतया हो जाती है। भगवान् विष्णु ही महायोगी, महाभूत स्वरूप तथा महान् तपस्वी हैं॥ १३०॥

तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः। यः स्तनः पूर्वपीतस्तं निष्पीड्य मुदमश्नुते॥ १३१॥

तत्त्वमार्ग पर गमन करने वाले को वे पुरुषोत्तम दीपक की भाँति दृष्टिगोचर होते हैं। (यह जीवन विभिन्न योनियों में घूमता हुआ मानव योनि में आता है,) तब वह जिस स्तन को पीता है, दूसरी अवस्था में वैसे ही स्तन को दबाकर आनन्दानुभूति करता है॥ १३१॥

यस्माज्जातो भगात्पूर्वं तस्मिन्नेव भगे रमन्। या माता सा पुनर्भार्या या भार्या मातरेव हि॥

(जीव ने) जिस योनि में जन्म लिया था, वैसी ही योनि में पुनः-पुनः रमण किया करता है। एक जन्म में जो माँ होती है, वही दूसरे जन्म में पत्नी भी हो जाती है तथा जो पत्नी होती है, वह माता बन जाती है॥१३२॥

यः पिता स पुनः पुत्रो यः पुत्रः स पुनः पिता। एवं संसारचक्रेण कूपचक्रे घटा इव॥
भ्रमन्तो योनिजन्मानि श्रुत्वा लोकान्समश्नुते। त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्तिस्त्रः संध्यास्त्रयः स्वराः॥
त्रयोऽग्नयश्च त्रिगुणाः स्थिताः सर्वे त्रयाक्षरे। त्रयाणामक्षराणां च योऽधीतेऽप्यर्धमक्षरम्॥

जो पिता होता है, वह पुत्र बन जाता है तथा जो पुत्र होता है, वह पिता के रूप में जन्म ले लेता है। इस तरह से यह संसार चक्र, कूप-चक्र (पानी खींचने की रहट) के सदृश है, जिसमें प्राणी नाना प्रकार की योनियों में सतत गमनागमन करता रहता है। तीन ही लोक हैं, तीन ही वेद कहे गये हैं, तीन संध्यायें हैं, तीन स्वर हैं, तीन अग्नि हैं, तीन गुण (सत्, रज, तम) बतलाये गये हैं तथा तीन अक्षरों में सभी कुछ विद्यमान है। अतः इन तीन अक्षरों तथा अर्द्धाक्षर का भी योगी को अध्ययन करना चाहिए॥ १३३-१३५॥

तेन सर्वमिदं प्रोतं तत्सत्यं तत्परं पदम्। पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये यथा घृतम्॥ १३६॥
तिलमध्ये यथा तैलं पाषाणेष्विव काञ्चनम्। हृदि स्थाने स्थितं पद्मं तस्य वक्त्रमधोमुखम्॥१३७॥
ऊर्ध्वनालमधोबिन्दुस्तस्य मध्ये स्थितं मनः। अकारे रेचितं पद्ममुकारेणैव भिद्यते॥ १३८॥
मकारे लभते नादमर्धमात्रा तु निश्चला। शुद्धस्फटिकसंकाशं निष्कलं पापनाशनम् ॥१३९॥

सभी कुछ उसी (तीन अक्षरों) में पिरोया हुआ है, वही सत्यस्वरूप है, वही शाश्वत परमपद है। जैसे-पुष्प में सुगन्ध होती है, दुग्ध में घृत सन्निहित है, तिलों में तेल उत्पन्न होता है और प्रस्तर खण्ड में स्वर्ण निहित है, वैसे ही वह भी सभी में व्याप्त है। हृदय-संस्थान में जो कमल-पुष्प स्थित है, उसका मुख नीचे की ओर है एवं उसकी नाल (दण्डी) ऊर्ध्व की ओर है। नीचे बिन्दु है, उसी के मध्य में मन प्रतिष्ठित है। 'अ' कार में रेचित किया हुआ हृदय कमल का 'उ' कार से भेदन किया जाता है एवं 'म' कार में नाद (ध्वनि) को प्राप्त होता है। अर्द्ध मात्रा निश्चल, शुद्ध स्फटिक के समान निष्कल एवं पापनाशक है॥ १३६-१३९॥

लभते योगयुक्तात्मा पुरुषस्तत्परं पदम्। कूर्मः स्वपाणिपादादिशिरश्चात्मनि धारयेत्॥ १४०॥
एवं द्वारेषु सर्वेषु वायुपूरितरेचितः। निषिद्धं तु नवद्वारे ऊर्ध्वं प्राङ्निःश्वसस्तथा ॥ १४१॥

इस प्रकार योग से संयुक्त हुआ योगी पुरुष मुक्तावस्था को प्राप्त कर लेता है। जिस तरह से कच्छप अपने हाथ, पैर एवं सिर को अपने अन्दर प्रतिष्ठित कर लेता है, उसी तरह से सभी द्वारों से भर करके दबाया हुआ वायु,नौ द्वारों के बन्द होने से ऊर्ध्व की ओर गमन कर जाता है॥ १४०-१४१॥

घटमध्ये यथा दीपो निवातं कुम्भकं विदुः। निषिद्धैर्नवभिर्द्वारैर्निर्जने निरुपद्रवे॥
निश्चितं त्वात्ममात्रेणावशिष्टं योगसेवयेत्युपनिषत्॥१४२॥

जिस तरह वायुरहित घड़े के मध्य में (स्थिर लौ वाला) दीपक रखा होता है, उसी तरह से कुम्भक को जानना चाहिए। इस योग-साधना में नौ द्वारों के अवरुद्ध किये जाने पर सुनसान एवं निरुपद्रव स्थान में आत्मतत्त्व ही मात्र शेष रहता है। ऐसा ही यह योगतत्त्व उपनिषद् है॥ १४२॥

ॐ सह नाववतु..... इति शान्तिः॥

॥ इति योगतत्त्वोपनिषत्समाप्ता॥

॥ वज्रसूचकोपानषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल ९ मन्त्र हैं। सर्वप्रथम चारों वर्णों में से ब्राह्मण की प्रधानता का उल्लेख किया गया तथा ब्राह्मण कौन है, इसके लिए कई प्रश्न किये गये। क्या ब्राह्मण जीव है? शरीर है, जाति है, ज्ञान है, कर्म है या धार्मिकता है? इन सब सम्भावनाओं का निरसन कोई न कोई कारण बताकर कर दिया गया, अन्त में 'ब्राह्मण' की परिभाषा बताते हुए उपनिषद्कार कहते हैं कि जो समस्त दोषों से रहित, अद्वितीय, आत्मतत्त्व से सम्पृक्त है, वह ब्राह्मण है। चूँकि आत्मतत्त्व सत्, चित्, आनन्द रूप ब्रह्म भाव से युक्त होता है, इसलिए इस ब्रह्म भाव से सम्पन्न मनुष्य को ही (सच्चा) ब्राह्मण कहा जा सकता है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-आरुण्युपनिषद्)

वज्रसूचीं प्रवक्ष्यामि शास्त्रमज्ञानभेदनम्। दूषणं ज्ञानहीनानां भूषणं ज्ञानचक्षुषाम् ॥ १ ॥

अज्ञान नाशक, ज्ञानहीनों के दूषण, ज्ञान नेत्र वालों के भूषण रूप वज्रसूची उपनिषद् का वर्णन करता हूँ॥

ब्रह्मक्षत्रियवैश्यशूद्रा इति चत्वारो वर्णास्तेषां वर्णानां ब्राह्मण एव प्रधान इति वेदवचनानुरूपं स्मृतिभिरप्युक्तम्। तत्र चोद्यमस्ति को वा ब्राह्मणो नाम किं जीवः किं देहः किं जातिः किं ज्ञानं किं कर्म किं धार्मिक इति ॥ २ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं। इन वर्णों में ब्राह्मण ही प्रधान है, ऐसा वेद वचन है और स्मृति में भी वर्णित है। अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि ब्राह्मण कौन है? क्या वह जीव है अथवा कोई शरीर है अथवा जाति अथवा कर्म अथवा ज्ञान अथवा धार्मिकता है॥ २॥

तत्र प्रथमो जीवो ब्राह्मण इति चेत्तन्न। अतीतानागतानेकदेहानां जीवस्यैकरूपत्वात् एकस्यापि कर्मवशादनेकदेहसंभवात् सर्वशरीराणां जीवस्यैकरूपत्वाच्च। तस्मान्न जीवो ब्राह्मण इति ॥ ३ ॥

इस स्थिति में यदि सर्वप्रथम जीव को ही ब्राह्मण मानें (कि ब्राह्मण जीव है), तो यह सम्भव नहीं है; क्योंकि भूतकाल और भविष्यत्काल में अनेक जीव हुए हैं व होंगे। उन सबका स्वरूप भी एक जैसा ही होता है। जीव एक होने पर भी स्व-स्व कर्मों के अनुसार उनका जन्म होता है और समस्त शरीरों में, जीवों में एकत्व रहता है, इसलिए जीव को ब्राह्मण नहीं कह सकते॥ ३॥

तर्हि देहो ब्राह्मण इति चेत्तन्न। आचाण्डालादिपर्यन्तानां मनुष्याणां पाञ्चभौतिकत्वेन देहस्यैकरूपत्वाज्जरामरणधर्माधर्मादिसाम्यदर्शनाद् ब्राह्मणः श्वेतवर्णः क्षत्रियो रक्तवर्णो वैश्यः पीतवर्णः शूद्रः कृष्णवर्ण इति नियमाभावात्। पित्रादिशरीरदहने पुत्रादीनां ब्रह्महत्यादिदोष-संभवाच्च। तस्मान्न देहो ब्राह्मण इति ॥ ४ ॥

क्या शरीर ब्राह्मण (हो सकता) है? नहीं, यह भी नहीं हो सकता। चाण्डाल से लेकर सभी मानवों के शरीर एक जैसे ही अर्थात् पाञ्चभौतिक होते हैं, उनमें जरा-मरण, धर्म-अधर्म आदि सभी समान होते हैं। ब्राह्मण-गौर वर्ण, क्षत्रिय-रक्त वर्ण, वैश्य-पीत वर्ण और शूद्र-कृष्ण वर्ण वाला ही हो, ऐसा कोई नियम देखने में नहीं आता तथा (यदि शरीर ब्राह्मण है तो) पिता, भाई के शरीर के दाह संस्कार करने से पुत्र आदि को ब्रह्म हत्या आदि का दोष भी लग सकता है। अस्तु, शरीर का ब्राह्मण होना सम्भव नहीं है॥ ४॥

तर्हि जातिर्ब्राह्मण इति चेत्तन्न। तत्र जात्यन्तरजन्तुष्वनेकजातिसंभवा महर्षयो बहवः सन्ति। ऋष्यशृङ्गो मृग्याः कौशिकः कुशात् जाम्बूको जम्बूकात्। वाल्मीको वल्मीकात् व्यासः कैवर्तकन्यकायाम् शशपृष्ठात् गौतमः वसिष्ठ उर्वश्याम् अगस्त्यः कलशे जात इति श्रुतत्वात्। एतेषां जात्या विनाप्यग्रे ज्ञानप्रतिपादिता ऋषयो बहवः सन्ति। तस्मान्न जातिर्ब्राह्मण इति ॥ ५

क्या जाति ब्राह्मण है (अर्थात् ब्राह्मण कोई जाति है)? नहीं, यह भी नहीं हो सकता; क्योंकि विभिन्न जातियों एवं जन्तुओं में भी बहुत से ऋषियों की उत्पत्ति वर्णित है। जैसे-मृगी से शृंगी ऋषि की, कुश से कौशिक की, जम्बूक से जाम्बूक की, वल्मीक (बाँबी) से वाल्मीकि की, मल्लाह (धीवर) कन्या (मत्स्यगन्धा) से वेदव्यास की, शशक पृष्ठ से गौतम की, उर्वशी नामक अप्सरा से वसिष्ठ की, कुम्भ (कलश) से अगस्त्य ऋषि की उत्पत्ति वर्णित है। इस प्रकार पूर्व में ही कई ऋषि बिना (ब्राह्मण) जाति के ही प्रकाण्ड विद्वान् हुए हैं, इसलिए जाति विशेष भी ब्राह्मण नहीं हो सकती॥ ५॥

तर्हि ज्ञानं ब्राह्मण इति चेत्तन्न। क्षत्रियादयोऽपि परमार्थदर्शिनोऽभिज्ञा बहवः सन्ति। तस्मान्न ज्ञानं ब्राह्मण इति॥ ६॥

क्या ज्ञान को ब्राह्मण माना जाए? ऐसा भी नहीं हो सकता; क्योंकि बहुत से क्षत्रिय (राजा जनक) आदि भी परमार्थ दर्शन के ज्ञाता हुए हैं (होते हैं)। अस्तु, ज्ञान भी ब्राह्मण नहीं हो सकता॥ ६॥

तर्हि कर्म ब्राह्मण इति चेत्तन्न। सर्वेषां प्राणिनां प्रारब्धसंचितागामिकर्मसाधर्म्यदर्शनात्कर्माभिप्रेरिताः सन्तो जनाः क्रियाः कुर्वन्तीति। तस्मान्न कर्म ब्राह्मण इति॥ ७॥

तो क्या कर्म को ब्राह्मण कहा जाए? नहीं, ऐसा भी सम्भव नहीं है; क्योंकि समस्त प्राणियों के संचित, प्रारब्ध और आगामी कर्मों में साम्य प्रतीत होता है तथा कर्माभिप्रेरित होकर ही व्यक्ति क्रिया करते हैं। अतः कर्म को भी ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता॥ ७॥

तर्हि धार्मिको ब्राह्मण इति चेत्तन्न। क्षत्रियादयो हिरण्यदातारो बहवः सन्ति। तस्मान्न धार्मिको ब्राह्मण इति॥ ८॥

क्या धार्मिक ब्राह्मण हो सकता है? यह भी सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता; क्योंकि क्षत्रिय आदि बहुत से लोग स्वर्ग आदि का दान करते रहते हैं। अतः धार्मिक भी ब्राह्मण नहीं हो सकता॥ ८॥

तर्हि को वा ब्राह्मणो नाम। यः कश्चिदात्मानमद्वितीयं जातिगुणक्रियाहीनं षड्ऊर्मिषड्भावेत्यादिसर्वदोषरहितं सत्यज्ञानानन्दानन्तस्वरूपं स्वयं निर्विकल्पमशेषकल्पाधारमशेषभूतान्तर्यामित्वेन वर्तमानमन्तर्बहिश्चाकाशवदनुस्यूतमखण्डानन्द स्वभावमप्रमेयमनुभवैकवेद्यमापरोक्षतया भासमानं करतलामलकवत्साक्षादपरोक्षीकृत्य कृतार्थतया कामरागादिदोषरहितः शमदमादिसंपन्नो भावमात्सर्यतृष्णाशामोहादिरहितो दम्भाहंकारादिभिरसंस्पृष्टचेता वर्तत एवमुक्तलक्षणो यः स एव ब्राह्मण इति श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासानामभिप्रायः। अन्यथा हि ब्राह्मणत्वसिद्धिर्नास्त्येव। सच्चिदानन्दमात्मानमद्वितीयं ब्रह्म भावयेदात्मानं सच्चिदानन्दं ब्रह्म भावयेदित्युपनिषत्॥ ९॥

तब ब्राह्मण किसे माना जाय? (इसका उत्तर देते हुए उपनिषद्कार कहते हैं-) जो आत्मा के द्वैत भाव से युक्त न हो; जाति, गुण और क्रिया से भी युक्त न हो; षड् ऊर्मियों और षड्भावों आदि समस्त दोषों से मुक्त हो; सत्य, ज्ञान, आनन्द स्वरूप, स्वयं निर्विकल्प स्थिति में रहने वाला, अशेष कल्पों का आधार रूप, समस्त प्राणियों के अन्तस् में निवास करने वाला, अन्दर-बाहर आकाशवत् संव्याप्त; अखण्ड आनन्दवान्, अप्रमेय, अनुभवगम्य, अप्रत्यक्ष भासित होने वाले आत्मा का करतल आमलकवत् परोक्ष का भी साक्षात्कार करने वाला; काम-रागद्वेष आदि दोषों से रहित होकर कृतार्थ हो जाने वाला; शम-दम आदि से सम्पन्न; मात्सर्य, तृष्णा, आशा, मोह आदि भावों से रहित; दम्भ, अहङ्कार आदि दोषों से चित्त को सर्वथा अलग रखने वाला हो, वही ब्राह्मण है; ऐसा श्रुति, स्मृति-पुराण और इतिहास का अभिप्राय है। इस (अभिप्राय) के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार से ब्राह्मणत्व सिद्ध नहीं हो सकता। आत्मा ही सत्-चित् और आनन्द स्वरूप तथा अद्वितीय है। इस प्रकार के ब्रह्मभाव से सम्पन्न मनुष्यों को ही ब्राह्मण माना जा सकता है। यही उपनिषद् का मत है॥ ९॥

ॐ आप्यायन्तु ..... इति शान्तिः॥

॥ इति वज्रसूच्युपनिषत्समाप्ता ॥

॥ शाट्यायनायापानषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेदीय है। इसमें कुल ४० मंत्र हैं, जिसमें मुख्यतया विष्णुलिंग संन्यास धर्म का विवेचन किया गया है।

सर्वप्रथम मन को बन्धन एवं मोक्ष का कारण बताया गया है, तत्पश्चात् साधन चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, शमादि सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व), कुटीचक का स्वरूप तथा अन्य संन्यासियों के धर्म, योग-यज्ञ आदि के चार रूप, परिव्राजकों के कर्त्तव्य, उनके निवास विषयक नियम, आत्मज्ञान से युक्त साधक की स्थिति, संन्यास धर्म से च्युत होने पर प्रत्यवाय (पाप) लगने का विशद वर्णन है। अन्त में विष्णुलिंग संन्यासी की फलश्रुति बताई गई है। जिस वंश में एक भी विष्णुलिंग संन्यासी होता है, उसकी तीस पीढ़ी पूर्व, तीस पीढ़ी बाद की तथा तीस पीढ़ी उसके बाद की भी तर जाती हैं। इस प्रकार वह संन्यासी ब्रह्मपद का अधिकारी बन जाता है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद्)

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥ १ ॥

मन ही मनुष्यों के बन्धन एवं मोक्ष का कारण है। विषयादि भोगों में आसक्त मन बन्धन कां और विषय-वासनाओं से पराङ्मुख मन मोक्ष का कारण है॥ १ ॥

समासक्तं सदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे। यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात्॥ २ ॥

जैसे यह मन सांसारिक विषय-भोगों में आसक्त रहता है, ऐसा यदि ब्रह्म में आसक्त हो जाये, तो फिर ऐसे कौन से सांसारिक बन्धन हैं, जिनसे मुक्ति न मिलती हो, अर्थात् सभी बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है॥ २ ॥

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्। यच्चित्तस्तन्मयो भाति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥ ३ ॥

चित्त ही संसार है। हर पुरुष को अभ्यास द्वारा अपने चित्त का शोधन करना चाहिए। जो अपने चित्त को ब्रह्म में लगाता है, वह मनुष्य ब्रह्ममय हो जाता है। यह शाश्वत और परम गोपनीय बात है॥ ३ ॥

नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं नाब्रह्मवित्परमं प्रैति धाम। विष्णुक्रान्तं वासुदेवं विजानन्विप्रो विप्रत्वं गच्छते तत्त्वदर्शी॥ ४ ॥

वेदतत्त्व को न जानने वाले के लिए तो विराट् है ही नहीं, वह उसे मानता ही नहीं। ब्रह्म के ज्ञान से हीन मनुष्य उस परम स्वप्रकाशित धाम को प्राप्त ही नहीं करता। तत्त्वदर्शी विवेकवान् ब्राह्मण ही व्यापक, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी उस वासुदेव को अपने स्वरूप में (अहं ब्रह्मास्मि) समझता हुआ विप्रत्व और जीवन्मुक्ति के तत्त्व को प्राप्त कर पाता है॥ ४ ॥

अथ ह यत्परं ब्रह्म सनातनं ये श्रोत्रिया अकामहता अधीयुः। शान्तो दान्त उपरतस्तिति-क्षुर्योऽनूचानो ह्यभिजज्ञौ समानःत्यक्तेषणो ह्यनृणस्तं विदित्वा मौनी वसेदाश्रमे यत्र कुत्र ॥५ ॥

वेद में निष्णात तथा सभी तरह की इच्छाओं-कामनाओं से रहित होकर जो पुरुष सनकादिक की भाँति उस परमब्रह्म, सत्य-सनातन के स्वरूप को समझते हैं। वे सभी ब्रह्म के रूप वाले ही हो जाते हैं। ऐसा पुरुष अपनी इन्द्रियों को वश में रखने वाला सभी विषय-भोगों से तृप्त, पराङ्मुख, सहनशील, वेदज्ञ, मुमुक्षुओं की भाँति उस परमब्रह्म को समझ लेता है। वह पुरुष सभी इच्छाओं से विरत, पितृदेव एवं गुरु के ऋणों से मुक्त होकर उस परब्रह्म को जान करके शान्त-मौन होकर कहीं आश्रम में निवास करे॥ ५ ॥

अथाश्रमं चरमं संप्रविश्य यथोपपत्तिं पञ्चमात्रां दधानः॥ ६॥

इसके बाद अन्तिम संन्यास-आश्रम में प्रविष्ट होकर के यथाबल त्रिदण्ड आदि पंच मात्राओं को स्वीकार करता हुआ मोक्ष को प्राप्त करे॥ ६॥

त्रिदण्डमुपवीतं च वासः कौपीनवेष्टनम्। शिक्यं पवित्रमित्येतद्बिभृयाद्यावदायुषम्॥ ७॥

जब तक आयु रहे, तब तक त्रिदण्ड, उपवीत, वस्त्र (उत्तरीय), कौपीन (लँगोटी), शिक्य (छींका), पवित्र (पवित्री) को धारण करे॥ ७॥

पञ्चैतास्तु यतेर्मात्रास्ता मात्रा ब्रह्मणे श्रुताः। न त्यजेद्यावदुत्क्रान्तिरन्तेऽपि निखनेत्सह॥ ८॥

यति की ये पाँचों मात्राएँ ही ब्रह्म (ॐकार) में समाहित हैं। इनका त्याग कभी नहीं करना चाहिए। इन सभी को मृत्यु के उपरान्त शरीर के साथ ही भूमि में गाड़ देना चाहिए॥ ८॥

विष्णुलिङ्गं द्विधा प्रोक्तं व्यक्तमव्यक्तमेव च। तयोरेकमपि त्यक्त्वा पतत्येव न संशयः॥ ९॥

विष्णुलिङ्ग व्यक्त और अव्यक्त ऐसे दो प्रकार के चिह्न विष्णु (संन्यासी) के कहे गये हैं। इन दोनों में से किसी एक का भी परित्याग कर देने पर संन्यासी पथभ्रष्ट हो जाता है। इसमें कुछ भी संशय नहीं ॥ ९॥

त्रिदण्डं वैष्णवं लिङ्गं वि प्राणां मुक्तिसाधनम्। निर्वाणं सर्वधर्माणामिति वेदानुशासनम्॥१०॥

त्रिदण्ड जो वैष्णवलिङ्ग (संन्यासी के चिह्न विशेष) के रूप में जाना जाता है। यह चिह्न ब्राह्मणों को मुक्ति प्रदान करने वाला है। यह चिह्न वेद का अनुशासन रूप एवं समस्त धर्मों का निर्वाण स्वरूप है॥ १०॥

अथ खलु सौम्य कुटीचको बहूदको हंसः परमहंस इत्येते परिव्राजकाश्चतुर्विधा भवन्ति। सर्व एते विष्णुलिङ्गिनः शिखिन उपवीतिनः शुद्धचित्ता आत्मानमात्मना ब्रह्म भावयन्तः शुद्धचिद्रूपोपासनरता जपयमवन्तो नियमवन्तः सुशीलिनः पुण्यश्लोका भवन्ति। तदेतदृचाभ्युक्तम्। कुटीचको बहूदकश्चापि हंसः परमहंस इव वृत्त्या च भिन्नाः। सर्व एते विष्णुलिङ्गं दधाना वृत्त्या व्यक्तं बहिरन्तश्च नित्यम्॥ ११॥

हे सौम्य! संन्यासी के कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहस-ये चार भेद होते हैं। ये चारों यज्ञोपवीत शिखा तथा विष्णु लिंग (संन्यासी के प्रतीक सर्वव्यापकता-समदर्शिता) को धारण करने वाले शुद्ध चित्त, स्वयं अपनी आत्मा में ब्रह्म को प्रतिष्ठित करने की भावना करते हुए उपासना करने वाले, जप और यम-नियम का पालन करने वाले एवं सुन्दर स्वभाव वाले होते हैं। इस सम्बन्ध में यह ऋचा है-'कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस ये चार प्रकार अपनी-अपनी पृथक् वृत्तियों से भिन्न-भिन्न बताये गये हैं। ये सभी व्यक्त एवं अव्यक्त, बाह्य एवं अन्तःरूप विष्णु लिंग (संन्यास के चिह्न) को धारण करने वाले होते हैं'॥ ११॥

पञ्चयज्ञा वेदशिः प्रविष्टाः क्रियावन्तोऽमि संगता ब्रह्मविद्याम्। त्यक्त्वा वृक्षं वृक्षमूलं श्रितासः संन्यस्तपुष्पा रसमेवाश्नुवानाः। विष्णुक्रीडा विष्णुरतयो विमुक्ता विष्णवात्मका विष्णुमेवापियन्ति॥ १२॥

ये पञ्चयज्ञ (गायत्री मन्त्र जप,योग, तप, स्वाध्याय एवं ज्ञान) तथा उपनिषदों के अर्थ का श्रवण करने वाले होते हैं। सभी अपने-अपने धर्मानुकूल कर्म करने वाले एवं ब्रह्मविद्या का आश्रय प्राप्त करने वाले हैं। ये सभी संसार रूपी वृक्ष को त्यागकर इसके मूलभाग (ब्रह्म) का आश्रय प्राप्त करने वाले तथा सभी कर्मकाण्ड आदि को छोड़कर सारभूत तत्त्व के रस का आनन्द प्राप्त करने वाले हैं। ये संन्यासी बाह्य क्रीड़ाओं को छोड़कर विष्णु के साथ ही क्रीड़ा करने वाले, विष्णु रूप आत्मा विष्णु का ही अर्चन एवं ध्यान करके कृतार्थ होते हैं॥

त्रिसंध्यं शक्तितः स्नानं तर्पणं मार्जनं तथा। उपस्थानं पञ्चयज्ञान्कुर्यादामरणान्तिकम्॥ १३॥

सभी को मृत्यु पर्यन्त प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकालीन संध्या, स्नान, तर्पण, मार्जन, उपस्थान तथा पञ्चयज्ञ (देवयज्ञ, पितृयज्ञ, नृयज्ञ या अतिथि यज्ञ, भूतयज्ञ एवं ब्रह्मयज्ञ) अवश्य ही करना चाहिए॥ १३॥

दशभिः प्रणवैः सप्तव्याहृतिभिश्चतुष्पदा। गायत्रीजप यज्ञश्च त्रिसंध्यं शिरसा सह॥ १४॥

दश प्रणव (ॐकार) तथा सात व्याहृतियों (भूः,भुवः,स्वः,महः,जनः,तपः,सत्यम्) के सहित चार पाद युक्त एवं सिर (आपोज्योती इत्यादि) युक्त गायत्री का जप एवं यज्ञ त्रिकाल सन्ध्या के साथ करना चाहिए॥१४॥

योगयज्ञः सदैकाग्र्यभक्त्या सेवा हरेर्गुरोः। अहिंसा तु तपोयज्ञो वाङ्मनःकायकर्मभिः॥१५॥

एकाग्रचित्त होकर भक्ति भाव से योग, यज्ञ भगवान् (विष्णु) तथा गुरु की सेवा और मन, वाणी एवं कर्म के द्वारा हिंसारहित तप रूपी यज्ञ सतत करते रहना चाहिए॥ १५॥

नानोपनिषदभ्यासः स्वाध्यायो यज्ञ ईरितः। ओमित्यात्मानमव्यग्रो ब्रह्मण्यग्नौ जुहोति यत्॥१६॥

समस्त उपनिषदों का अभ्यास (पाठ) स्वाध्याय यज्ञ कहा गया है। 'ॐ' इस प्रकार उच्चारण करते हुए ब्रह्मरूपी अग्नि में ही आत्मा की आहुति दी जाती है अर्थात् आत्मा को ब्रह्म में विलीन किया जाता है॥ १६॥

ज्ञानयज्ञः स विज्ञेयः सर्वयज्ञोत्तमोत्तमः। ज्ञानदण्डा ज्ञानशिखा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः॥ १७॥

वह (ॐकार ही) सभी श्रेष्ठ यज्ञों से भी उत्तम ज्ञानयज्ञ कहा गया है। इन सभी का ज्ञान ही दण्ड है, ज्ञान ही शिखा है और ज्ञान ही इनका यज्ञोपवीत है॥ १७॥

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम्। ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति वेदानुशासनम्॥ १८

जिसकी शिखा (चोटी) एवं यज्ञोपवीत ज्ञानमय होता है। उसकी समस्त वस्तुयें ब्रह्मरूप ही हैं, ऐसा वेद का अनुशासन (आदेश है)॥ १८॥

अथ खलु सोम्यैते परिव्राजका यथा प्रादुर्भवन्ति तथा भवन्ति। कामक्रोधलोभमोहदम्भदर्पासूयाममत्वाहंकारादींस्तितीर्य मानावमानौ निन्दास्तुती च वर्जयित्वा वृक्ष इव तिष्ठासेत्। छिद्यमानो न ब्रूयात्। तदेवं विद्वांस इहैवामृता भवन्ति। तदेतदृचाभ्युक्तम्। बन्धुपुत्रमनुमोदयित्वानवेक्ष्यमाणो द्वन्द्वसहः प्रशान्तः। प्राचीमुदीचीं वा निर्वर्तयंश्चरेत॥ १९॥

हे प्रिय सोम्य! ये परिव्राजक जिस प्रकार प्रादुर्भूत होते हैं, वह बतला दिया गया है। ये संन्यासी काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प (घमण्ड), असूया (दूसरे के गुणों में दोष निकालना), ममता, अहंकार आदि को पार करके, मान-अपमान, निन्दा-प्रशंसा को देखकर वृक्षवत् अविचल रहते हैं, काटे जाने (कष्ट पड़ने) पर भी कुछ बोलते नहीं। इस प्रकार से विद्वज्जन इस लोक में ही अमृत-जीवन्मुक्त हो जाते हैं। इस सन्दर्भ में यह ऋचा द्रष्टव्य है-'भाई, पुत्रादि का पालन-पोषण करने के पश्चात् फिर कभी उनकी ओर नहीं देखे। दुःखादि सहते हुए पूर्व एवं उत्तर दिशाओं में अपने-अपने स्वरूप का अनुसंधान करते हुए भ्रमण करे॥ १९॥

पात्री दण्डी युगमात्रावलोकी शिखी मुण्डी चोपवीती कुटुम्बी।
यात्रामात्रं प्रतिगृह्णन्मनुष्यात् अयाचितं याचितं वोत भैक्षं॥ २०॥

पात्र एवं दण्ड धारण करते हुए युग (दो-जीवात्मा-परमात्मा) मात्र के दर्शन करने वाले,विशाल जटा - वाले या मुण्डन किये हुए मस्तक वाले,उपवीत ही जिसका कुटुम्ब है,ऐसे संन्यासी को केवल अपने प्राणयात्रा के लिए मनुष्यों से भिक्षा माँगकर या बिना माँगे ही भिक्षा ग्रहण करते हुए निरन्तर विचरण करना चाहिए॥ २०॥

मृद्दार्वलाबूफलंतन्तुपर्णपात्रं तत्तथा यथा तु लब्धम्।
क्षाणं क्षामं तृणं कन्थाजिने च पर्णमाच्छादनं स्यादहतं वा विमुक्तः॥ २१॥

मिट्टी, लकड़ी की तुम्बी, श्रीफल, तन्तु ग्रथित या पत्तों से निर्मित पात्र जिस तरह का भी मिले, ग्रहण कर लेना चहिए। चटाई, वृक्षों की छाल या सूखी घास से बनी कथरी, अजिन (कृष्णमृग चर्म) तथा जो पत्ते कीड़ों द्वारा खाये न गये हों, ऐसे श्रेष्ठ पत्तों के द्वारा बनाई गयी ओढ़नी-उत्तरीय को धारण करना चाहिए॥ २१॥

ऋतुसन्धौ मुण्डयेन्मुण्डमात्रं नाधो नाक्षं जातु शिखां न वापयेत्। चतुरो मासान्ध्रुवशीलतः स्यात्स यावत्सुप्तोऽन्तरात्मा पुरुषो विश्वरूपः॥ २२॥

हंस (संन्यासी) को ऋतु सन्धि के समय क्षौर कर्म अर्थात् मुण्डन कराना चाहिए, किन्तु कुटीचक (यह भी संन्यासियों का एक भेद है) शिखा (जटा) को कभी न कटाये। जब विश्वरूप विराट् पुरुष भगवान् नारायण शयन करते हैं, तब तक चार मास (चौमासा) एक ही स्थान पर स्थिर चित्त से निवास करे॥ २२॥

अन्यानथाष्टौ पुनरुत्थितेऽस्मिन्स्व कर्मलिप्सुर्विहरेद्वा वसेद्वा। देवाग्न्यगारे तरुमूले गुहायां वसेदसङ्गोऽलक्षितशीलवृत्तः। अनिन्धनो ज्योतिरिवोपशान्तो न चोद्विजेदुद्विजेद्यत्र कुत्र॥२३॥

इस प्रकार अन्य (श्रवण, ध्यान एवं समाधि आदि की) अवस्थाओं को प्राप्त करने का इच्छुक संन्यासी स्वकर्म करते हुए एक स्थान पर ही निवास हेतु रह जाये अथवा उसे अन्यत्र आश्रय प्राप्त कर लेना चाहिए। अपना निवास किसी देवालय में वृक्ष के मूल (जड़) के समीप में अथवा गुफा में कर लेना चाहिए तथा वहाँ निःसंग एवं सर्वथा अलक्षित (जन संसर्ग से दूर रहकर) बिना काष्ठ की अग्नि के समान शान्त चित्त होकर रहे। किसी को भी देखकर क्षुभित न हो, सभी में आत्मबुद्धि कर लेनी चाहिए॥ २३॥

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥ २४॥

यदि पुरुष अपनी आत्मा को ब्रह्म रूप में जान ले, तो फिर वह क्या चाहता हुआ किस इच्छा से शरीर का पोषण अथवा शोषण करे? अर्थात् उसे नहीं करना चाहिए॥ २४॥

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः। नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्॥२५॥

धैर्यवान् ब्राह्मण उस अविनाशी परब्रह्म को पहचान कर, उसी (ब्रह्म) में बुद्धि को स्थिर करे। अधिकाधिक शब्दाडम्बर में नहीं पड़ना चाहिए; क्योंकि यह सब वाणी का दुरुपयोग है॥ २५॥

बाल्येनैव हि तिष्ठासेन्निर्विद्य ब्रह्मवेदनम्। ब्रह्मविद्यां च बाल्यं च निर्विद्य मुनिरात्मवान्॥२६॥

वैराग्ययुक्त होकर ही स्थिर रहने की इच्छा करनी चाहिए। ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है,ऐसा दृढ़ निश्चय कर ब्रह्म को पहचान एवं वैराग्य को भली-भाँति समझकर आत्माराम होकर सर्वत्र आत्मदर्शन करे॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

जब हृदय में रहने वाली समस्त कामनाएँ शान्त हो जाती हैं, तब यह मरणधर्मा होता हुआ भी मृत्युहीन होकर ब्रह्मानन्द का रसास्वादन करता है॥ २७॥

अथ खलु सोम्येदं परिव्राज्यं नैष्ठिकमात्मधर्मं यो विजहाति स वीरहा भवति। स ब्रह्महा भवति। स भ्रूणहा भवति। स महापातकी भवति। य हमां वैष्णवीं निष्ठां परित्यजति। स स्तेनो भवति। गुरुतल्पगो भवति। समित्रध्रुग्भवति। स कृतघ्नो भवति। स सर्वस्मा ल्लोकात्प्रच्युतो भवति। तदेतदृचाभ्युक्तम्। स्तेनः सुरापो गुरुतल्पगामी मित्रध्रुगेते निष्कृतेर्यान्ति शुद्धिम। व्यक्तमव्यक्तं वा विधृतं विष्णुलिङ्गं त्यजन्न शुध्येदखिलैरात्मभासा॥ २८॥

हे प्रिय सोम्य! जो अपने इस नैष्ठिक संन्यासियों के धर्म को छोड़ देता है, वह पुरुषत्वनाशक, ब्रह्मघाती,

गर्भघाती तथा महापातकी (के सदृश) होता है। जो (संन्यासी) इस वैष्णवी निष्ठा को त्याग देता है, वह चोर होता है। गुरुपत्नीगामी, मित्रद्रोही एवं कृतघ्न हो जाता है तथा समस्त लोकों से भ्रष्ट होकर अधोगति को प्राप्त होता है। इस सन्दर्भ में ये ऋचाएँ हैं-चोर, शराबी, गुरुपत्नीगामी, एवं मित्रद्रोही ये प्रायश्चित्त से शुद्ध हो जाते हैं; किन्तु व्यक्त एवं अव्यक्त स्वरूप विष्णु लिङ्ग (अनुशासन सूत्रों) को छोड़ने पर संन्यासी किसी भी तरह से पवित्र नहीं हो सकता है॥ २८॥

त्यक्त्वा विष्णोर्लिङ्गमन्तर्बहिर्वा यः स्वाश्रमं सेवतेऽनाश्रमं वा। प्रत्यापत्तिं भजते वातिमूढो नैषां गतिः कल्पकोट्यापि दृष्टा॥ २९॥

अन्तः तथा बाह्य विष्णु लिङ्ग को छोड़कर जो संन्यासी अपने आश्रम में ही निवास करता है अथवा आश्रम का त्याग कर देता है, वह प्रतिपल विपत्तियों से घिरा रहता है, ऐसे व्यक्तियों की सद्गति अनन्तकाल तक भी देखने में नहीं आती॥ २९॥

त्यक्त्वा सर्वाश्रमान्धीरो वसेन्मोक्षाश्रमे चिरम्। मोक्षाश्रमात्परिभ्रष्टो न गतिस्तस्य विद्यते॥३०॥

धैर्यवान् पुरुष समस्त आश्रमों का परित्याग करके मोक्षरूपी आश्रम में दीर्घकाल तक निवास करे। यदि मोक्ष-आश्रम से भी भ्रष्ट हो जाये, तो फिर उसको कहीं पर भी ठौर नहीं है॥ ३०॥

पारिव्राज्यं गृहीत्वा तु यः स्वधर्मे न तिष्ठति। तमारूढच्युतं विद्यादिति वेदानुशासनम्॥ ३१॥

जो (पुरुष) संन्यास-आश्रम को ग्रहण करके अपने धर्म में स्थिर नहीं रहता, ऐसे (पुरुष) को आरूढ़ च्युत (पातकी) समझना चाहिए, क्योंकि वह (पुरुष) संन्यास आश्रम में आकर के भी पातकी हो चुका है, ऐसा वेद का अनुशासन (आदेश) है॥ ३१॥

अथ खलु सोम्येमं सनातनमात्मधर्मं वैष्णवीं निष्ठां लब्ध्वा यस्तामदूषयन्वर्तते स वशी भवति। स पुण्यश्लोको भवति। स लोकज्ञो भवति। स वेदान्तज्ञो भवति। स ब्रह्मज्ञो भवति। स सर्वज्ञो भवति। स स्वराड् भवति। स परं ब्रह्म भगवन्तमाप्नोति। स पितृन्संबन्धिनो बान्धवान्सुहृदो मित्राणि च भवादुत्तारयति॥ ३२॥

हे प्रिय सोम्य! जो पुरुष इस सनातन आत्मधर्म, विष्णु से सम्बन्धित निष्ठा को प्राप्त करके उसको प्रदूषित न करता हुआ प्रतिष्ठित रहता है, वह जितेन्द्रिय होता है। वह विशाल कीर्ति एवं लोकतत्त्व का ज्ञाता होता है। वह ब्रह्मवेत्ता होता है, वह सर्वज्ञ होता है। वह स्वयं प्रकाश स्वरूप होता हुआ परब्रह्म को प्राप्त करता है। वह अपने पितरों, सम्बन्धियों, बन्धुओं, मित्रों तथा समस्त प्रेमी-सम्बन्धियों को संसार-सागर से तार देता है॥३२॥

तदेतदृचाभ्युक्तम्। शतं कुलानां प्रथमं बभूव तथा पराणां त्रिशतं समग्रम्। एते भवन्ति सुकृतस्य लोके येषां कुले संन्यसतीह विद्वान्॥ ३३॥

जो विद्वान् इस संन्यास-धर्म को ग्रहण करता है, उसके कुल में सौ पीढ़ी पूर्व तथा तीन सौ पीढ़ी बाद तक जन्म लेने वालों का उद्धार हो जाता है। ऐसे श्रेष्ठ कृत्य करने वाले विद्वान् संन्यासी कभी-कभी ही इस लोक में प्रकट होकर इसे कृतार्थ करते हैं॥ ३३॥

त्रिंशत्परांस्त्रिंशदपरांस्त्रिशच्च परतः परान्। उत्तारयति धर्मिष्ठः परिव्राडिति वै श्रुतिः॥ ३४॥

विद्वान् धर्मिष्ठ संन्यासी तीस पर (बाद की), तीस अपर (पूर्व की) एवं तीस पर से भी पर(बाद से बाद की) पीढ़ियों-पूर्वजों को तार देता है, ऐसा श्रुति का वचन है॥ ३४॥

संन्यस्तमिति यो ब्रूयात्कण्ठस्थप्राणवानपि। तारिताः पितरस्तेन इति वेदानुशासनम्॥ ३५॥

प्राणों के कण्ठगत (मृत्यु के समीप) होने पर भी जो इस प्रकार कह दे कि 'मैंने संन्यास ले लिया है', तो ऐसा समझना चाहिए कि उसने पितरों को तार दिया, ऐसी वेद की आज्ञा (अनुशासन) है॥ ३५॥

अथ खलु सोम्येमं सनातनमात्मधर्मं वैष्णवीं निष्ठां नासमाप्य प्रब्रूयात्। नानूचानाय नानात्मविदे नावीतरागाय नाविशुद्धाय नानुपसन्नाय नाप्रयतमानसायेति ह स्माहुः। तदेतदृचाभ्युक्तम्। विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायानृजवे शठाय मा मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्॥ ३६॥

हे प्रिय सोम्य! विद्वान् पुरुष को चाहिए कि वह इस सनातन आत्मनिरूपक धर्म को विष्णु सम्बन्धी निष्ठा को सम्यक् रूप से निर्वाह किये (स्वयं आचरण किये) बिना उपदिष्ट न करे। इसके साथ ही जो वेदान्त का ज्ञानी न हो, आत्मबोध युक्त न हो, वीतराग न हो, शुद्धचित्त, विनीत एवं जिज्ञासु न हो, ऐसे पुरुष को इसका उपदेश नहीं करना चाहिए। इस बात को पोषण प्रदान करने वाली ऋचाएँ ये हैं-ब्रह्मविद्या ब्राह्मण के समीप में आयी एवं बोली—हे ब्रह्मन्! मेरी रक्षा करो, मैं ही तुम्हारी निधि हूँ। मुझे दूसरों के गुणों में दोष देखने वाले कुटिल, धूर्त, मूर्ख पुरुष को उपदिष्ट मत करो। ऐसा करने पर मैं प्रभावशालिनी न रह सकूँगी॥ ३६॥

यमेवैष विद्याच्छुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
अस्मा इमामुपसन्नाय सम्यक् परीक्ष्य दद्याद्वैष्णवीमात्मनिष्ठाम्॥ ३७॥

जिसे पवित्र, अभिमानशून्य, सावधान, मेधावी एवं ब्रह्मचारी समझे, ऐसे समीप में आये हुए उस जिज्ञासु की भली-भाँति परीक्षा करके इस आत्मतत्त्व बोधिका वैष्णवी विद्या का उपदेश करना चाहिए॥ ३७॥

अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव तेन न गुरुर्भोजनीयस्तथैव चान्नं न भुनक्ति श्रुतं तत्॥ ३८॥

शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् भी जो (पुरुष) मन, वाणी तथा कर्म से अपने गुरुजनों का आदर नहीं करते, ऐसे लोगों के अन्न को कल्याण की इच्छा रखने वाले ग्रहण नहीं करते तथा गुरु भी उसके अन्न को स्वीकार नहीं करते। ठीक वैसे ही यति भी उस कृतघ्न के घर का अन्न ग्रहण न करे, ऐसा श्रुति का कथन है॥

गुरुरेव परो धर्मो गुरुरेव परा गतिः। एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नाभिनन्दति। तस्य श्रुतं तपो ज्ञानं स्रवत्यामघटाम्बुवत्॥ ३९॥

गुरु ही परम धर्म है, गुरु ही परम गति है। ज्ञान प्रदाता गुरु को जो पुरुष आद्रित नहीं करता अर्थात् उनका सम्मान हीं करता, उस पुरुष का पढ़ा हुआ (उसकी शिक्षा), उसकी तपस्या, उसका ज्ञान धीरे-धीरे उसी प्रकार क्षीण होकर समाप्त हो जाता है, जिस प्रकार कच्चे घड़े से जल॥ ३९॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। स ब्रह्मवित्परं प्रेयादिति वेदानुशासनम् इत्युपनिषत्॥

जिस पुरुष की देवताओं में परम भक्ति होती है एवं जैसे देवताओं में वैसे ही गुरु में भी उसकी परम भक्ति होती है। ऐसा (पुरुष) ब्रह्मज्ञानी परम पद की प्राप्ति करता है, ऐसा वेदानुशासन है, वेद की आज्ञा (आदेश) है। इस प्रकार यह उपनिषद् (विद्या) पूर्ण हुई॥ ४०॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति शाट्यायनीयोपनिषत्समाप्ता॥

॥ शाण्डल्योपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध है। इसमें 'योगविद्या' का समग्र वर्णन महर्षि शाण्डिल्य और मुनि अथर्वा के प्रश्नोत्तर रूप में प्रस्तुत है। इसमें कुल तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय ११ खण्डों वाला विस्तृत है। जिसका शुभारम्भ शाण्डिल्य ऋषि के आत्मतत्त्व की प्राप्ति के उपाय स्वरूप अष्टाङ्गयोग के प्रश्न से हुआ है। महामुनि अथर्वा इसके उत्तर में अष्टांगयोग का विशद वर्णन करते हैं। यम-नियम को दस-दस बताते हुए पातंजलयोग से इसकी विशिष्टता सिद्ध कर देते हैं। नाड़ी शोधन की प्रक्रिया का विशेष रूप से उल्लेख करते हैं, जिससे प्राण-जय किया जा सके और अनेकानेक सिद्धियों का अधिकारी बना जा सके।

दूसरे अध्याय में ऋषि शाण्डिल्य ने महामुनि अथर्वा से ब्रह्म विद्या का रहस्य पूछा है, जिसके उत्तर में महामुनि ने ब्रह्म का सर्वव्यापी स्वरूप, उसकी अनिर्वचनीयता, उसका लोकोत्तर रूप बताते हुए कहा कि 'वह ब्रह्म तुम्हीं हो, उसे ज्ञान के द्वारा जानो'। तीसरे अध्याय में ऋषि शाण्डिल्य ने पुनः प्रश्न किया कि जो ब्रह्म एक, अक्षर, निष्क्रिय, शिव, सत्तामात्र एवं आत्म स्वरूप है, उससे जगत् का निर्माण, पोषण एवं संहार किस प्रकार हो सकता है? इसके उत्तर में महामुनि ने ब्रह्म का सकल, निष्कल एवं सकल-निष्कल भेद बताते हुए कहा कि ब्रह्म के सकल-निष्कल रूप से उसके संकल्प मात्र से सृष्टि का प्राकट्य, विकास और विलय होता रहता है। अन्त में ब्रह्म, आत्मा, महेश्वर एवं दत्तात्रेय शब्द का निर्वचन प्रस्तुत करते हुए आदि देवपुरुष दत्तात्रेय का सतत ध्यान करते रहने की बात कही और यह भी कहा कि इसी ध्यान से मनुष्य समस्त पापों से मुक्त होकर परम कल्याण (मोक्ष) का अधिकारी बन जाता है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः.....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अथर्वशिर उपनिषद्)

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

शाण्डिल्यो ह वा अथर्वाणं पप्रच्छआत्मलाभोपायभूतमष्टाङ्गयोगमनुब्रूहीति। स होवाचाथर्वा यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टाङ्गानि। तत्र दश यमाः। तथा नियमाः। आसनान्यष्टौ। त्रयः प्राणायामाः। पञ्च प्रत्याहाराः। तथा धारणा। द्विप्रकारं ध्यानम्। समाधिस्त्वेकरूपः। तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयार्जवक्षमाधृतिमिताहारशौचानि चेति यमा दश। तत्राहिंसा नाम मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वभूतेषु सर्वदाऽक्लेशजननम्। सत्यं नाम मनोवाक्कायकर्मभिर्भूतहितयथार्थाभिभाषणम्। अस्तेयं नाम मनोवाक्कायकर्मभिः परद्रव्येषु निःस्पृहता। ब्रह्मचर्यं नाम सर्वावस्थासु मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वत्र मैथुनत्यागः। दया नाम सर्वभूतेषु सर्वत्रानुग्रहः। आर्जवं नाम मनोवाक्कायकर्मणां विहताविहितेषु जनेषु प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा एकरूपत्वम्। क्षमा नाम प्रियाप्रियेषु सर्वेषु ताडनपूजनेषु सहनम्। धृतिर्नामार्थहानौ स्वेष्टबन्धुवियोगे तत्प्राप्तौ सर्वत्र चेतःस्थापनम्। मिताहारो नाम चतुर्थांशावशेषकसुस्निग्धमधुराहारः। शौचं नाम द्विविधं बाह्यमान्तरं चेति। तत्र मृज्जलाभ्यां बाह्यम्। मनःशुद्धिरान्तरम्। तदध्यात्मविद्यया लभ्यम्॥१॥

महर्षि शाण्डिल्य अथर्वा मुनि से पूछते हैं कि 'हे मुने! आत्मतत्त्व की प्राप्ति के उपाय स्वरूप अष्टाङ्ग योग का वर्णन करने की कृपा करें।' ऐसा सुनकर उन अथर्वा मुनि ने कहा-हे महर्षे! यम, नियम,आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि-ये ही योग के आठ अंग कहे गये हैं। 'यम' एवं 'नियम' की संख्या दस-दस है, 'आसन' आठ प्रकार के हैं, 'प्राणायाम' की संख्या तीन है, 'प्रत्याहार' एवं 'धारणा' दोनों के पाँच-पाँच भेद हैं, 'ध्यान' दो प्रकार के होते हैं तथा 'समाधि' का एक ही भेद है। इसमें यम के दस भेद इस प्रकार हैं-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, सरलता, क्षमा, धैर्य, अल्प-आहार ग्रहण करना तथा पवित्रता। अहिंसा का तात्पर्य है-मन, वचन, शरीर एवं अपने कार्य के द्वारा किसी भी प्राणी को कभी भी दुःख न देना। सत्य का अर्थ है कि मन, वचन, शरीर एवं कर्म से जो हितकारी हो, वही वाणी प्राणियों के समक्ष बोलना। अस्तेय अर्थात् मन, वचन, शरीर एवं अपने कार्य के द्वारा दूसरों के धन-साधनों के प्रति निस्पृह रहना। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य है कि सभी अवस्थाओं में मन, वचन, शरीर एवं कर्म के द्वारा सभी तरह के मैथुन (असंयम) का परित्याग करना। दया अर्थात् समस्त प्राणियों पर सदैव अपना अनुग्रह बनाये रखना। आर्जव अर्थात् मन, वचन, शरीर एवं कर्म से लोगों के द्वारा उचित अथवा अनुचित व्यवहार करने अथवा न करने पर भी समभाव बनाये रखना। क्षमा का तात्पर्य है-सदैव प्रिय-अप्रिय, पूजा अथवा ताड़ना आदि का बर्ताव किया जाए, तब भी उसे सहन करना। धृति अर्थात् धन हानि हो, अपने इष्ट-मित्रों का वियोग अथवा संयोग हो, हर स्थिति में चित्त को स्थिर रखना। अल्पाहार अर्थात् पेट में चौथा भाग खाली रहे, इस प्रकार अपने आहार में श्रेष्ठ घी, दुग्ध वाले मधुर पदार्थों का समावेश रखना। शौच का तात्पर्य है-बाह्य एवं अन्तः दोनों प्रकार की शुद्धि रखना। मिट्टी तथा जल के द्वारा बाहर की पवित्रता होती है तथा मन की शुद्धि आन्तरिक है जो अध्यात्म विद्या से होती है॥ १॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

तपःसन्तोषास्तिक्यदानेश्वरपूजनसिद्धान्तश्रवणह्रीमतिजपव्रतानि दश नियमाः। तत्र तपो नाम विध्युक्तकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः शरीरशोषणम्। संतोषो नाम यदृच्छालाभसंतुष्टिः। आस्तिक्यं नाम वेदोक्तधर्माधर्मेषु विश्वासः। दानं नाम न्यायार्जितस्य धनधान्यादेः श्रद्धयार्थिभ्यः प्रद्धानम्। ईश्वरपूजनं नाम प्रसन्नस्वभावेन यथाशक्ति विष्णुरुद्रादिपूजनम्। सिद्धान्तश्रवणं नाम वेदान्तार्थविचारः। ह्रीर्नाम वेदलौकिकमार्गकुत्सितकर्मणि लज्जा। मतिर्नाम वेदविहितकर्ममार्गेषु श्रद्धा। जपो नाम विधि वद्गुरूपदिष्टवेदाविरुद्धमन्त्राभ्यासः। तद्द्विविधं वाचिकं मानसं चेति। मानसं तु मनसा ध्यानयुक्तम्। वाचिकं द्विविधमुच्चैरुपांशुभेदेन। उच्चैरुच्चारणं यथोक्तफलम्। उपांशु सहस्त्रगुणम्। मानसं कोटिगुणम्। व्रतं नाम वेदोक्तविधिनिषेधानुष्ठाननैयत्यम्॥ १॥

तप, संतोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर-पूजन, सिद्धान्त-श्रवण, ह्री (लज्जा), मति, जप तथा व्रत-ये दस प्रकार के भेद 'नियम' के कहे गये हैं। इसमें तप का तात्पर्य यह है कि विधिपूर्वक कृच्छ्र चान्द्रायण आदि से शरीर को सुखाना। संतोष अर्थात् दैव की इच्छा से जो भी कुछ प्राप्त हो जाए, उस पर संतोष रखना। आस्तिक्य का भाव यह है कि वेद द्वारा कहे हुए धर्म और अधर्म में विश्वास रखना। नीति पूर्वक प्राप्त हुए धन-धान्य आदि को श्रद्धापूर्वक गरीबों को देना ही दान कहा जाता है। ईश्वर-पूजन प्रसन्न स्वभाव से यथोचित मात्रा में विष्णु, रुद्र आदि का पूजन-अर्चन करना। सिद्धान्त श्रवण अर्थात् वेदान्त के अर्थ का चिन्तन करना। ह्री अर्थात् वेद मार्ग में तथा लोकमार्ग में नीच माने जाने वाले कृत्य के करने में लज्जा का अनुभव होना। मति अर्थात्

वेदोक्त कर्म में श्रद्धा का उत्पन्न होना। जप का तात्पर्य यह है कि विधिपूर्वक गुरु ने जिस वैदिक मन्त्र का उपदेश दिया है, उसका अभ्यास करना। जप का अभ्यास दो तरह से होता है- वाचिक और मानसिक। मानसिक-जप मन के द्वारा ध्यान युक्त होने से होता है तथा वाचिक दो प्रकार से होता है-१. उच्चारण पूर्वक से तथा २. उपांशु (फुसफुसाहट) रूप में उच्चारण पूर्वक जप का यथोक्त फल होता है। उपांशु का उससे सहस्रगुना फल प्राप्त होता है तथा मानसिक जप करने का फल तो करोड़ गुना मिलता है। व्रत का तात्पर्य वेद के द्वारा कहे हुए विधि-निषेध का नियमित आचरण करना है॥ १॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

स्वस्तिकगोमुखपद्मवीरसिंहभद्रमुक्तमयूराख्यान्यासनान्यष्टौ। स्वस्तिकं नाम जानूर्वोरन्तरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे। ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते॥ १॥

स्वस्तिक, गोमुख, पद्म, वीर, सिंह, भद्र, मुक्त तथा मयूर नाम वाले ये आठ प्रकार के आसन कहे गये हैं-इस (स्वस्तिक आसन) में पैर के दोनों तलवों को दोनों जानुओं (घुटनों) के बीच में बराबर रखकर सीधा तनकर बैठना पड़ता है। इस क्रिया को ही स्वस्तिकासन कहा जाता है॥ १॥

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत्। दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखं यथा॥२

पीठ के बायीं ओर दाहिना गुल्फ एवं दायीं तरफ बायाँ गुल्फ (टखनां) जोड़कर गोमुख के सदृश बैठना ही गोमुखासन है॥ १॥

अङ्गुष्ठेन निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण च।
ऊर्वोरुपरि शाण्डिल्य कृत्वा पादतले उभे।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वेषामपि पूजितम्॥३॥

हे शाण्डिल्य! दोनों जंघाओं के ऊपर दोनों पैरों के तलवों को रखकर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अँगूठों को उल्टी रीति से पकड़कर रखना ही सर्वमान्य पद्मासन कहलाता है॥ ३॥

एकं पादमथैकस्मिन्विन्यस्योरुणि संस्थितः। इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमुदीरितम्॥ ४॥

एक जाँघ को एक पैर से तथा दूसरी जाँघ को दूसरे पैर से जोड़कर बैठने को वीरासन कहते हैं॥ ४॥

दक्षिणं सव्यगुल्फेन दक्षिणेन तथेतरम्। हस्तौ च जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीश्च प्रसार्य च॥५॥
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः। सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिभिः सदा॥ ६॥

दाहिने टखने के साथ बायाँ टखना तथा बायें टखने के साथ दायें टखने को लगाकर बैठ जाना और दोनों हाथों को दोनों जानुओं (घुटनों) पर रखकर अँगुलियों को फैलाकर रखना चाहिए। तत्पश्चात् ठीक तरह से एकाग्र होकर मुँह फैलाकर घ्राणेन्द्रिय के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करनी चाहिए। इसको ही सिंहासन कहते हैं और योगीजन सदैव इस आसन की प्रशंसा करते हैं॥ ५-६॥

योनिं वामेन संपीड्य मेढ्रादुपरि दक्षिणम्। भ्रूमध्ये च मनोलक्ष्यं सिद्धासनमिदं भवेत्॥ ७॥

गुदा क्षेत्र को बायें पैर से दबाकर दायें पैर को लिङ्ग के ऊपर स्थिर करना; तत्पश्चात् भौंहों के बीच में लक्ष्य स्थिर करना ही सिद्धासन कहा जाता है॥ ७॥

गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्। पादपार्श्वे तु पाणिभ्यां दृढं बद्धा सुनिश्चलम्। भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविषापहम्॥ ८॥

लिङ्ग के नीचे की ओर सीवनी प्रदेश में दोनों टखनों को स्थिर करने तथा हाथों से पैरों के दोनों पार्श्वों को मजबूती से पकड़कर निश्चलतापूर्वक बैठना ही भद्रासन कहलाता है, जो सभी तरह के रोग एवं विष आदि को विनष्ट करने वाला है॥ ८॥

संपीड्य सीविनीं सूक्ष्मां गुल्फेनैव तु सव्यतः। सव्यं दक्षिणगुल्फेन मुक्तासनमुदीरितम्॥ ९॥

सूक्ष्म सीवनी प्रदेश को बायें टखने के द्वारा दबा करके दाहिने गुल्फ (टखने) से बायें टखने को दबा करके (बैठना) ही मुक्तासन कहलाता है॥ ९॥

अवष्टभ्य धरां सम्यक्तलाभ्यां तु करद्वयोः। हस्तयोः कूर्परौ चापि स्थापयेन्नाभिपार्श्वयोः॥१०॥

समुन्नतशिरः पादो दण्डवद्व्योम्नि संस्थितः। मयूरासनमेतत्तु सर्वपापप्रणाशनम्॥ ११॥

दोनों हाथ की हथेलियों को भूमि से सटाकर स्थिर करना और हाथ की कोहनियों से नाभि के दोनों ओर दबा करके बैठना चाहिए। तदनन्तर मस्तक और पैरों को ऊर्ध्व की ओर उठाकर लकड़ी की तरह से आकाश में अधर स्थिर रखना ही मयूरासन कहलाता है। यह आसन सभी तरह के पापों का विनाश करने वाला है॥

शरीरान्तर्गताः सर्वे रोगा विनश्यन्ति। विषाणि जीर्यन्ते॥ १२॥

इन आसनों के करने से शरीर के अन्दर विद्यमान रहने वाले सभी तरह के रोग विनष्ट हो जाते हैं तथा सभी प्रकार के विष स्वयं ही समाप्त हो जाते हैं॥ १२॥

येन केनासनेन सुखधारणं भवत्यशक्तस्तत्समाचरेत्॥ १३॥

जो (मनुष्य) अशक्त हो, उसे जिस किसी आसन से सुख मिले, वही आसन करना चाहिए॥ १३॥

येनासनं विजितं जगत्त्रयं तेन विजितं भवति॥ १४॥

जिसने इन सभी आसनों को जीत लिया है, उसने तीनों लोक जीत लिये हैं, ऐसा समझना चाहिए॥१४॥

यमनियमासनाभ्यासयुक्तः पुरुषः प्राणायामं चरेत्। तेन नाड्यः शुद्धा भवन्ति॥ १५॥

यम, नियम एवं आसन से पूर्णरूपेण सम्पन्न होने के पश्चात् मनुष्य को प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। इसके अभ्यास से नाड़ियों की शुद्धि हो जाती है॥ १५॥॥।

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

अथ हैनमथर्वाणं शाण्डिल्यः पप्रच्छ केनोपायेन नाड्यः शुद्धाः स्युः। नाड्यः कतिसंख्याकाः। तासामुत्पत्तिः कीदृशी। तासु कति वायवस्तिष्ठन्ति। तेषां कानि स्थानानि। तत्कर्माणि कानि। देहे यानि यानि विज्ञातव्यानि तत्सर्वं मे ब्रूहीति॥ १॥

तत्पश्चात् महात्मा शाण्डिल्य ने अथर्वा मुनि से पूछा-किस उपाय से नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं? नाड़ियों की संख्या कितनी होती है? उनकी उत्पत्ति किस तरह से हुई? उसमें कितने प्रकार के वायु रहते हैं? उनका स्थान कौन सा है? उनके कार्य क्या-क्या होते हैं? इस शरीर में जो भी कुछ जानने के लिए आवश्यक है, वह सभी कुछ आप मुझे बताने की कृपा करें॥ १॥

स होवाचाथर्वा। अथेदं शरीरं षण्णवत्यङ्गुलात्मकं भवति। शरीरात्प्राणो द्वादशाङ्गुलाधिको भवति॥ २॥ शरीरस्थं प्राणमग्निना सह योगाभ्यासेन समं न्यूनं वा यः करोति स योगिपुङ्गवो भवति॥ ३॥

तदनन्तर उन अथर्वा ऋषि ने कहा कि यह शरीर छियानबे (९६) अंगुल का प्रमाण स्वरूप है। यह

प्राण-शरीर की अपेक्षा बारह अंगुल और अधिक होता है। इस शरीर में उपस्थित रहने वाले प्राण को योग के अभ्यास द्वारा जो भी मनुष्य अग्नि के साथ सम अवस्था में स्थिर करता है या फिर उससे भी कम करता है, वह श्रेष्ठ योगी कहलाता है॥ २-३॥

देहमध्ये शिखिस्थानं त्रिकोणं तप्तजाम्बूनदप्रभं मनुष्याणाम्। चतुष्पदां चतुरश्रम्। विहङ्गानां वृत्ताकारम्। तन्मध्ये शुभा तन्वी पावकी शिखा तिष्ठति॥ ४॥

मनुष्यों की देह में अग्नि का स्थान त्रिकोण की भाँति तप्तस्वर्ण के सदृश प्रकाश युक्त होता है। चौपायों का आयताकार तथा पक्षियों का गोलाकार होता है। इस अग्नि स्थान में क्षीणकाय, शुभ अग्निशिखा रहती है॥ ४॥

गुदाद्द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्राद्द्व्यङ्गुलादधो देहमध्यं मनुष्याणां भवति। चतुष्पदां हृन्मध्यम्। विहगानां तुन्दमध्यम्। देहमध्यं नवाङ्गुलं चतुरङ्गुलमुत्सेधायतमण्डाकृति॥ ५॥

गुदामार्ग से दो अङ्गुल ऊर्ध्व की ओर तथा लिङ्ग से दो अङ्गुल नीचे की ओर मनुष्य के शरीर का मध्यस्थल होता है। चौपायों के हृदय का मध्य एवं पक्षियों के पेट का मध्य ही उनके शरीरों के बीच का मध्य स्थल होता है। शरीर का वह बीच का भाग नौ अंगुल ऊँचा तथा चार अंगुल विस्तार वाला होता है। उसकी आकृति अण्डे के सदृश होती है॥ ५॥

तन्मध्ये नाभिः। तत्र द्वादशारयुतं चक्रम्। तच्चक्रमध्ये पुण्यपापप्रचोदितो जीवोभ्रमति॥६ तन्तुपञ्जरमध्यस्थलूतिका यथा भ्रमति तथा चासौ तत्र प्राणश्चरति। देहेऽस्मिञ्जीवः प्राणारूढो भवेत्॥ ७॥

उसके मध्य में नाभि है तथा उसमें बारह अरों से युक्त चक्र स्थित है। उस चक्र के मध्य में पुण्य-पाप से प्रेरणा प्राप्त करता हुआ जीव यत्र-तत्र भ्रमण करता रहता है। जिस प्रकार से मकड़ी अपने द्वारा निर्मित तन्तु (जाल) के अन्दर भ्रमण करती रहती है, उसी तरह से यह जीव भी वहीं पर विचरण करता रहता है। इस देह में जीव प्राण के ऊपर सतत आरूढ़ रहता है॥ ६-७॥

नाभेस्तिर्यगध ऊर्ध्वं कुण्डलिनीस्थानम्। अष्टप्रकृतिरूपाऽष्टधा कुण्डलीकृता कुण्डलिनी शक्तिर्भवति। यथावद्वायुसंचारं जलान्नादीनि परितः स्कन्धपार्श्वेषु निरुध्यैनं मुखेनैव समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रं योगकाले चापानेनाग्निना च स्फुरति। हृदयाकाशे महोज्ज्वला ज्ञानरूपा भवति॥ ८॥

नाभि के समीप नीचे एवं ऊपर की ओर कुण्डलिनी का क्षेत्र स्थित है। कुण्डलिनी शक्ति आठ प्रकार की प्रकृति से युक्त एवं आठ कुण्डली (घुमाव) बनाये हुए है। यह शक्ति योग की अवस्था में वायु के संचार को यथावत् करके जल एवं अन्न आदि को चारों ओर से कन्धों के पार्श्व में स्थिर करके पुनः मुख से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक अपान तथा अग्नि के द्वारा जाग्रत् होती है। यह स्फुरणयुक्ता शक्ति हृदयाकाश में महान् उज्ज्वल एवं ज्ञानरूपा होती है॥ ८॥

मध्यस्थकुण्डलिनीमाश्रित्य मुख्या नाड्यश्चतुर्दश भवन्ति। इडा पिङ्गला सुषुम्ना सरस्वती वारुणी पूषा हस्तिजिह्वा यशस्विनी विश्वोदरी कुहूःशङ्खिनी पयस्विनी अलम्बुसा गान्धारीति नाड्यश्चतुर्दश भवन्ति॥ ९॥

कुण्डलिनी का आश्रय प्राप्त करके मध्य में स्थित रहने वाली चौदह मुख्य नाड़ियाँ हैं। ये क्रमशः इड़ा,

पिंगला, सुषुम्ना, सरस्वती, वारुणी, पूषा, हस्तजिह्वा, यशस्विनी, विश्वोदरी, कुहू, शंखिनी, पयस्विनी, अलंबुसा एवं गान्धारी नामवाली हैं॥ ९॥

तत्र सुषुम्ना विश्वधारिणी मोक्षमार्गेति चाचक्षते। गुदस्य पृष्ठभागे वीणादण्डाश्रिता मूर्धपर्यन्तं ब्रह्मरन्ध्रे विज्ञेया व्यक्ता सूक्ष्मा वैष्णवी भवति॥ १०॥

इन समस्त नाड़ियों में सुषुम्ना नाड़ी विश्व को धारण करने में समर्थ तथा मोक्षमार्ग को प्रदान करने वाली है, ऐसा योगीजन कहते हैं। गुदा के पृष्ठ भाग में वह नाड़ी मेरुदण्ड के आश्रित रहती है तथा मस्तक में ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचती है। यह स्पष्ट, सूक्ष्म एवं वैष्णवी रूपा होती है॥ १०॥

सुषुम्नायाः सव्यभागे इडा तिष्ठति। दक्षिणभागे पिङ्गला। इडायां चन्द्रश्चरति। पिङ्गलायां रविः। तमोरूपश्चन्द्रः। रजोरूपो रविः। विषभागो रविः। अमृतभागश्चन्द्रमाः। तावेव सर्वकालं धत्तः। सुषुम्ना कालभोक्त्री भवति। सुषुम्नापृष्ठपार्श्वयोः सरस्वतीकुहू भवतः। यशस्विनी-कुहूमध्ये वारुणी प्रतिष्ठिता भवति। पूषासरस्वतीमध्ये पयस्विनी भवति। गान्धारीसरस्वतीमध्ये यशस्विनी भवति। कन्दमध्येऽलम्बुसा भवति। सुषुम्नापूर्वभागे मेढ्रान्तं कुहूर्भवति। कुण्ड-लिन्या अधश्चोर्ध्वं वारुणी सर्वगामिनी भवति। यशस्विनी सौम्या च पादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते। पिङ्गला चोर्ध्वगा याम्यनासान्तं भवति। पिङ्गलायाः पृष्ठतो याम्यनेत्रान्तं पूषा भवति। याम्यक-र्णान्तं यशस्विनी भवति। जिह्वाया ऊर्ध्वान्तं सरस्वती भवति। आसव्यकर्णान्तमूर्ध्वगा शङ्खिनी भवति। इडापृष्ठभागात्सव्यनेत्रान्तगा गान्धारी भवति। पायुमूलादधोर्ध्वगाऽलम्बुसा भवति। एतासु चतुर्दशसु नाडीष्वन्या नाड्यः संभवन्ति। तास्वन्यास्तास्वन्या भवन्तीति विज्ञेयाः। यथाऽश्वत्थादिपत्रं सिराभिर्व्याप्तमेवं शरीरं नाडीभिर्व्याप्तम्॥ ११॥

इस सुषुम्ना नाड़ी के बायीं ओर इड़ा नामक नाड़ी है तथा दायीं ओर पिंगला नाड़ी स्थित है। इड़ा में चन्द्रमा चलायमान रहता है और पिंगला में सूर्य विचरण करता है। चन्द्रमा तमोगुण के स्वरूप वाला एवं सूर्य रजोगुण के स्वरूप से युक्त है। चन्द्रमा अमृत का क्षेत्र है तथा सूर्य विष का प्रभाग है। ये दोनों सम्पूर्ण काल को धारण करते हैं। सुषुम्ना नाड़ी काल का उपभोग करने वाली है। सुषुम्ना के पृष्ठ भाग की तरफ सरस्वती नाड़ी विद्यमान है तथा उसके बगल के क्षेत्र में कुहू नाड़ी स्थित है। यशस्विनी एवं कुहू के मध्य में वारुणी नाड़ी प्रतिष्ठित है। पूषा और सरस्वती के मध्य में पयस्विनी नाड़ी स्थित है। गान्धारी और सरस्वती के मध्य में यशस्विनी नाड़ी विद्यमान है। कन्द के बीच में अलम्बुसा नाड़ी है। सुषुम्ना नाड़ी के पूर्व भाग में लिंग क्षेत्र तक कुहू नाड़ी फैली हुई है। कुण्डलिनी के नीचे एवं ऊपर की ओर वारुणी नाड़ी चारों तरफ गयी हुई है। यशस्विनी और सौम्या पैर के अँगूठे तक फैली हुई है। पिङ्गला नाड़ी ऊपर की तरफ चलकर के दायीं नासिका तक पहुँचती है। पिंगला के पृष्ठ भाग की तरफ से दायीं आँख तक पूषा नाड़ी फैली हुई है। दायें कान तक यशस्विनी स्थित है। जिह्वा के ऊपरी भाग तक सरस्वती नाड़ी प्रतिष्ठित है। बायें कान तक ऊपर की ओर गमन करती हुई शंखिनी नाड़ी स्थित है। इड़ा नाड़ी के पृष्ठ भाग की ओर से बायें नेत्र तक गमन करने वाली गांधारी नाड़ी कहलाती है। गुदा क्षेत्र के मूल से नीचे-ऊपर की ओर जाने वाली अलम्बुसा नाड़ी कहलाती है। इन चौदह प्रकार की नाड़ियों में अन्य और दूसरी नाड़ियाँ भी स्थित हैं। उन नाड़ियों के अन्दर भी अन्य इस प्रकार की बहुत सी नाड़ियाँ हैं। जिस प्रकार से पीपल आदि के पत्ते शिराओं (केशों) से संव्याप्त होते हैं,उसी तरह शरीर भी तरह-तरह की नाड़ियों से संव्याप्त है॥११॥

प्राणापानसमानोदानव्याना नागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जया एते दश वायवः सर्वासु नाडीषु चरन्ति॥ १२॥

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त एवं धनञ्जय- ये दस तरह के वायु इन समस्त नाड़ी-संस्थानों में विचरण करते रहते हैं॥ १२॥

आस्यनासिकाकण्ठनाभिपादाङ्गुष्ठद्वयकुण्डल्यधश्चोर्ध्वभागेषु प्राणः संचरति। श्रोत्राक्षि-कटिगुल्फघ्राणगलस्फिग्देशेषु व्यानः संचरति। गुदमेढ्रोरुजानूदरवृषणकटिजङ्घानाभिगु-दाग्न्यगारेष्वपानः संचरति। सर्वसंधिस्थ उदानः। पादहस्तयोरपि सर्वगात्रेषु सर्वव्यापी समानः। भुक्तान्नरसादिकं गात्रेऽग्निना सह व्यापयन्द्विसप्ततिसहस्त्रेषु नाडीमार्गेषु चरन्समानवायुरग्निना सह साङ्गोपाङ्गकलेवरं व्याप्नोति। नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिसंभवाः। तुन्दस्थं जलमन्नं च रसादिषु समीरितं तुन्दमध्यगतः प्राणस्तानि पृथक्कुर्यात्। अग्नेरुपरि जलं स्थाप्य जलोपर्य-न्नादीनि संस्थाप्य स्वयमपानं संप्राप्य तेनैव सह मारुतः प्रयाति देहमध्यगतं ज्वलनम्। वायुना पालितो वह्निरपानेन शनैर्देहमध्ये ज्वलति। ज्वलनो ज्वालाभिः प्राणेन कोष्ठमध्यगतं जलमत्यु-ष्णमकरोत्। जलोपरि समर्पितव्यञ्जनसंयुक्तमन्नं वह्निसंयुक्तवारिणा पक्वमकरोत्। तेन स्वेदमूत्रजलरक्तवीर्यरूपरसपुरीषादिकं प्राणः पृथक्कुर्यात्। समानवायुना सह सर्वासु नाडीषु रसं व्यापयञ्छ्वासरूपेण देहे वायुश्चरति। नवभिर्व्योमरन्ध्रैः शरीरस्य वायवः कुर्वन्ति विण्मूत्रादिविसर्जनम्। निश्वासोच्छ्वासकासश्च प्राणकर्मोच्यते। विण्मूत्रादिविसर्जनमपानवा-युकर्म। हानोपादानचेष्टादि व्यानकर्म। देहस्योन्नयनादिकमुदानकर्म। शरीरपोषणादिकं समानकर्म। उद्गारादि नागकर्म। निमीलनादि कूर्मकर्म। क्षुत्करणं कृकरकर्म। तन्द्रा देवदत्त-कर्म। श्लेष्मादि धनञ्जयकर्म॥ १३॥

मुख , नासिका, गला, नाभि, पैर के दोनों अँगूठे तथा कुण्डलिनी के नीचे एवं ऊर्ध्व के भागों में प्राणतत्त्व विचरण करता रहता है। कर्णेन्द्रिय, नेत्र, कमर, गुल्फ, नासिका, गला एवं कूल्हे के क्षेत्रों में व्यान भ्रमण करता रहता है। गुदा, लिंग, जानु, पेट, वृषण, कटि प्रदेश, नाभि और अग्निसंस्थान में अपान संव्याप्त रहता है। समस्त संधि अर्थात् जोड़ के संस्थानों में उदान सतत विचरण करता रहता है। पैर, हाथ एवं अन्य सभी अंग-अवयवों में समान संव्याप्त रहता है। खाये हुए अन्न के रस को शरीर की अग्नि के साथ संव्याप्त करके समान वायु बहत्तर हजार नाड़ियों के मार्ग में विचरण करता रहता है एवं अग्नि के साथ सांगोपांग शरीर में विद्यमान रहता है। नाग आदि पाँच प्रकार की वायु त्वचा, अस्थि आदि में प्रतिष्ठित रहते हैं। उदर में रहने वाले जल तथा अन्न को रस आदि के रूप में ले जाकर पेट में रहने वाला प्राण-वायु पृथक्-पृथक् करता है। आग के ऊपर जल रखकर तथा जल के ऊपर अन्न आदि प्रतिष्ठित कर स्वयं अपान के पास पहुँचकर वायु तत्त्व इसी अपान के साथ शरीर में स्थित अग्नि की ओर गमन करता है। अपान वायु से रक्षित अग्नि शरीर के मध्य में मन्द-मन्द प्रज्वलित रहता है। यह अग्नि अपनी ज्वाला एवं प्राण-वायु के द्वारा कोठे के मध्य में स्थित रहने वाले जल को खूब गर्म करता है और उस पानी के ऊपर रखे शाक-दाल के सहित अन्न को प्राणवायु, अग्नियुक्त जल के द्वारा पकाता अर्थात् पचाता है तथा उसी में से पसीना, मूत्र, खून, वीर्य, रस, विष्ठा (मल) आदि को पृथक्-पृथक् करता है। तदनन्तर समान वायु के साथ-साथ समस्त नाड़ियों में रस को प्रसारित करता हुआ प्राण-वायु श्वास के रूप में

शरीर में विचरण करता रहता है। शरीर के नौ व्योमरन्ध्रों (घटाकाश के छिद्रों) के द्वारा वायु, मल, मूत्र आदि को बाहर निष्कासित करता है। श्वासोच्छ्वास तथा खाँसी यह दोनों ही प्राण तत्त्व के कर्म कहलाते हैं। मल-मूत्र का बहिर्गमन कराना अपान वायु का कार्य कहलाता है। त्याग करना एवं स्वीकार करना आदि चेष्टाएँ व्यान का कार्य कहलाती हैं, शरीर का उन्नयन उदान का कार्य कहलाता है। शरीर को पोषण प्रदान करना समान का कार्य कहलाता है। डकार आदि नाग का कार्य है। पलक झपकाना कूर्म का कार्य है, भूख लगना कृकर का कार्य है। आलस्य देवदत्त का कार्य है तथा कफ आदि का उत्पन्न करना धनञ्जय का कार्य कहलाता है॥१३॥

एवं नाडीस्थानं वायुस्थानं तत्कर्म च सम्यग्ज्ञात्वा नाडीसंशोधनं कुर्यात्॥ १४॥

इस तरह से नाड़ी-संस्थान, वायु-संस्थान एवं उन सभी के कार्यों को ठीक तरह से जान-समझ कर नाड़ी को शुद्ध करना चाहिए॥ १४॥

॥ पंचमः खण्डः ॥

यमनियमयुतः पुरुषः सर्वसङ्गविवर्जितः कृतविद्यः सत्यधर्मरतो जितक्रोधो गुरुशुश्रूषानिरतः पितृमातृविधेयः स्वाश्रमोक्तसदाचारविद्वच्छिक्षितः फलमूलोदकान्वितं तपोवनं प्राप्य रम्यदेशे ब्रह्मघोषसमन्विते स्वधर्मनिरतब्रह्मवित्समावृते फलमूलपुष्पवारिभिः सुसंपूर्णे देवायतने नदीतीरे ग्रामे नगरे वापि सुशोभनमठं नात्युच्चनीचायतमल्पद्वारं गोमयादिलिप्तं सर्वरक्षासमन्वितं कृत्वा तत्र वेदान्तश्रवणं कुर्वन्योगं समारभेत्॥ १॥

जिस पुरुष ने विद्या का अभ्यास किया हो, उसको यम-नियम से युक्त होकर सभी तरह की संगति का परित्याग करके सत्य रूपी धर्म में आरूढ़ होना चाहिए। क्रोध को वश में रखना, गुरु की सेवा शुश्रूषा में सतत लगे रहना, माता-पिता के आश्रित (संरक्षण में) रहना तथा पुनः अपने आश्रम में बताये गये श्रेष्ठ आचरण को समझने वाले के समीप में शिक्षा पाकर के फल, मूल तथा जलयुक्त तपोवन में जाना चाहिए। वहाँ जाकर सुरम्य प्रदेश में ब्रह्मघोष से युक्त, अपने धर्म में परायण ब्रह्मवेत्ताओं के सान्निध्य में तथा फल-मूल, पुष्प एवं जल आदि से परिपूर्ण किसी भी देव-स्थल में या नदी के तट पर किसी गाँव या शहर में अनुपम श्रेष्ठ मठ बनाना चाहिए। वह स्थान न तो बहुत ऊँचा हो और न ही अत्यन्त नीचा ही हो, न तो बहुत लम्बा तथा न ही अति चौड़ा ही हो। छोटे दरवाजे वाला, गोमय आदि से लीपा हुआ एवं पूर्णरूपेण सुरक्षित होना चाहिए। वहाँ वेदान्त का श्रवण करते हुए पुरुष को निरन्तर योगाभ्यास आदि आरम्भ कर देना चाहिए॥ १॥

आदौ विनायकं संपूज्य स्वेष्टदेवतां नत्वा पूर्वोक्तासने स्थित्वा प्राङ्मुख उदङ्मुखो वापि मृद्वासनेषु जितासनगतो विद्वान्समग्रीवशिरोनासाग्रदृग्भ्रूमध्ये शशभृद्बिम्बं पश्यन्नेत्राभ्याममृतं पिबेत्। द्वादशमात्रया इडया वायुमापूर्योदरे स्थितं ज्वालावलीयुतं रेफबिन्दुयुक्तमग्निमण्डलयुतं ध्यायेद्रेचयेत्पिङ्गलया। पुनः पिङ्गलयाऽऽपूर्य कुम्भित्वा रेचयेदिडया॥ २॥

देवों में प्रथम पूज्य गणपति का पूजन करने के पश्चात् अपने इष्टदेव को नमन-वंदन करके पूर्व में कहे गये आसन पर बैठना चाहिए। उस समय पूर्व अथवा उत्तर दिशा की तरफ मुख रखना और सुकोमल आसन पर आसीन होकर के आसन को जय (सिद्ध) करना चाहिए। तत्पश्चात् विद्वान् पुरुष को गर्दन और मस्तक को सीधा रखकर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखनी चाहिए। दोनों भौंहों के मध्य चन्द्रमण्डल को देखना तथा दोनों नेत्रों से अमृत तत्त्व का पान करना चाहिए। इसके बाद बारह मात्राओं से इड़ा नाड़ी के माध्यम से वायु

खींचकर उसे पेट के अन्दर रहने वाले, ज्वालाओं से युक्त, रेफ और बिन्दु सहित अग्नि मण्डल से संयुक्त करने का ध्यान (चिन्तन) करना चाहिए तथा इसके बाद पिंगला नाड़ी द्वारा अन्दर की वायु को बाहर निकालना चाहिए। तदनन्तर पिंगला से वायु भरकर अन्तःकुम्भक करके इड़ा नाड़ी से उसे बाहर निकालना चाहिए॥ २॥

त्रिचतुस्त्रिचतुःसप्तत्रिचतुर्मासपर्यन्तं त्रिसंधिषु तदन्तरालेषु च षट्कृत्व आचरेन्नाडीशुद्धिर्भवति। ततः शरीरे लघुदीप्तिवह्निवृद्धिनादाभिव्यक्तिर्भवति॥ ३-४॥

इस तरह से ४३ दिन (त्रिचतुः=४३), तीन, चार या सात मास (त्रि चतुः सप्त) अथवा एक वर्ष (त्रिचतुः ३×४=१२ मास) पर्यन्त त्रिकाल सन्ध्या के साथ तीन-तीन अथवा चार-चार बार तथा उनके मध्य में छः बार तक अभ्यास करना चाहिए। इस अभ्यास से नाड़ी की शुद्धि हो जाती है। तदनन्तर इस अभ्यास से शरीर में हल्कापन, चेहरे में चमक (कान्ति), अग्नि की अभिवृद्धि तथा नाद श्रवण होने लगता है॥ ३-४॥

॥ षष्ठः खण्डः ॥

प्राणापानसमायोगः प्राणायामो भवति। रेचकपूरककुम्भकभेदेन स त्रिविधः। ते वर्णात्मकाः। तस्मात्प्रणव एव प्राणायामः॥ १-२॥

प्राण तथा अपान को एकत्रित कर देना ही प्राणायाम होता है। रेचक, पूरक तथा कुम्भक के भेद से प्राणायाम तीन तरह का होता है। वे रेचक, पूरक, कुम्भक (प्राणायाम) वर्ण के स्वरूप से युक्त हैं इस कारण प्रणव ही प्राणायाम कहलाता है॥ १-२॥

पद्माद्यासनस्थः पुमान्नासाग्रे शशभृद्बिम्बज्योत्स्नाजालवितानिताकारमूर्ती रक्ताङ्गी हंसवाहिनी दण्डहस्ता बाला गायत्री भवति। उकारमूर्तिः श्वेताङ्गी तार्क्ष्यवाहिनी युवती चक्रहस्ता सावित्री भवति। मकारमूर्तिः कृष्णाङ्गी वृषभवाहिनी वृद्धा त्रिशूलधारिणी सरस्वती भवति॥३॥ अकारादित्रयाणां सर्वकारणमेकाक्षरं परंज्योतिः प्रणवं भवतीति॥ ४॥

पद्म आदि किसी भी आसन पर आसीन होकर पुरुष को ध्यान करना चाहिए- 'नासिका' के अग्रभाग पर चन्द्रमण्डल की ज्योत्स्ना से आवृत, लाल रंग के अंगवाली, हंस पर आसीन, अपने हाथ में दण्ड को धारण किये हुए, बालरूप, 'अ' कार मूर्ति से युक्त 'गायत्री' हैं। 'उ' कार मूर्ति सावित्री श्वेत-शुभ्र अंग से युक्त, गरुड़ के आसन पर प्रतिष्ठित युवावस्था से युक्त, अपने हाथ में चक्र धारण किये हुए हैं। इसी तरह से 'म' कार मूर्ति सरस्वती कृष्णांगी, वृषभ पर आसीन, वृद्धावस्था को प्राप्त, अपने हाथ में त्रिशूल को धारण किये हुए हैं। इस प्रकार 'अ' कार आदि तीनों वर्णों का सम्मिलित रूप 'ॐ' है तथा वह सम्पूर्ण का कारण एकाक्षर स्वरूप परम ज्योति है। ऐसा चिन्तन करना चाहिए॥ ३-४॥

ध्यायेत् इडया बाह्याद्वायुमापूर्य षोडशमात्राभिरकारं चिन्तयन्पूरितं वायुं चतुःषष्टिमात्राभिः कुम्भयित्वोकारं ध्यायन्पूरितं पिङ्गलया द्वात्रिंशन्मात्रया मकारमूर्तिध्यानेनैवं क्रमेण पुनः-पुनः कुर्यात्॥ ५॥

इस ध्यान के पश्चात् पुनः इड़ा नाड़ी के द्वारा बाहर की वायु सोलह मात्रा में खींचे तथा उस समय 'अ' कार का ध्यान करना चाहिए। इसके बाद इसी वायु को चौंसठ मात्रा में अन्तःकुम्भक करे तथा उस समय 'उ' कार का ध्यान करना चाहिए तथा उसके पश्चात् पिंगला नाड़ी के द्वारा बत्तीस मात्राओं से संयुक्त उस अन्दर भरी हुई वायु को बाहर निष्कासित करे । उस समय 'म' कार मूर्ति का ध्यान करना चाहिए। इसी प्रकार से यह क्रिया निरन्तर बार-बार करते रहना चाहिए॥ ५॥

॥ सप्तमः खण्डः ॥

अथासनदृढो योगी वशी मितहिताशनः सुषुम्नानाडीस्थमलशोषार्थं योगी बद्धपद्मासनो वायुं चन्द्रेणापूर्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा सूर्येण रेचचित्वा पुनः सूर्येणापूर्य कुम्भयित्वा चन्द्रेण विरेच्य यया त्यजेत्तया संपूर्य धारयेत्। तदेते श्लोका भवन्तिप्राणं प्रागिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया। सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाऽभ्यासं सदा तन्वतां शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः॥ १॥

इसके पश्चात् आसन के दृढ़ हो जाने पर योगी अपनी इन्द्रियों को वश में करके, दूसरों का हित चाहते हुए, स्वल्पाहार पर रहते हुए, सुषुम्ना नाड़ी में स्थित मल को शुष्क करने के लिए निरन्तर योगाभ्यास करता रहे। उस समय बद्धपद्मासन पर आरूढ़ हो, चन्द्र नाड़ी के द्वारा वायु को भरकर शक्ति के अनुसार कुम्भक करने के बाद सूर्य नाड़ी के द्वारा रेचक करना चाहिए। तदनन्तर सूर्यनाड़ी से पूरक करके कुम्भक करे तथा चन्द्र नाड़ी से रेचक करना चाहिए। इस प्रकार जिस नाड़ी के द्वारा रेचक करे, उसी नाड़ी से पुनः पूरक करने के बाद कुम्भक करना चाहिए। इस भाव को प्रकट करने वाले निम्न प्रकार के श्लोक वर्णित किये गये हैं- "सर्वप्रथम इड़ा नाड़ी के द्वारा प्राण को अन्दर भरकर कुम्भक करे तथा दूसरी पिंगला नाड़ी से रेचक करे। तत्पश्चात् पुनः पिंगला से पूरक करके कुम्भक करते हुए इड़ा नाड़ी से रेचक करना चाहिए। इस प्रक्रिया से सूर्य और चन्द्र नाड़ी के द्वारा प्राणायाम का प्रतिदिन निरन्तर अभ्यास करने से योगी की सभी नाड़ियाँ तीन मास में ही पूर्ण शुद्ध हो जाती हैं॥ १॥

प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्धरात्रे तु कुम्भकान्। शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत्॥ २॥

प्रातःकाल, मध्याह्नकाल, सायंकाल तथा मध्य रात्रि में इसी तरह से चार बार मन्द-मन्द गति से अस्सी मात्राओं तक कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए॥ २॥

कनीयसि भवेत्स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे। उत्तिष्ठत्युत्तमे प्राणरोधे पद्मासनं भवेत्॥ ३॥

कनिष्ठ प्राणायाम के करते समय शरीर में पसीना आ जाता है, मध्यम स्तर का प्राणायाम करने में शरीर में कँप-कँपी छूटती है और श्रेष्ठ प्राणायाम में पद्मासन में अवस्थित योगी अपने आसन से उठ जाता है॥ ३॥

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत्। दृढता लघुता चापि तस्य गात्रस्य जायते॥ ४॥

प्राणायाम करते समय श्रम के कारण शरीर में से जो पसीना निकल आता है, उस पसीने को शरीर में मसल लेना चाहिए, क्योंकि इससे योगी का शरीर अत्यधिक मजबूत और हल्का हो जाता है॥ ४॥

अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराज्यभोजनम्। ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते न तावन्नियमग्रहः॥५॥

प्राणायाम का अभ्यास करते समय प्रारम्भिक अवस्था में दुग्ध एवं घृत के भोजन को ही अत्यधिक श्रेष्ठ बतलाया गया है। तत्पश्चात् जब अभ्यास स्थिर हो जाता है, तब किसी नियम की आवश्यकता नहीं रहती॥ ५॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैःशनैः। तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम्॥ ६

जिस प्रकार शनैः-शनैः सिंह, गज और व्याघ्र आदि को वश में कर लिया जाता है, उसी प्रकार वायु भी प्राणायाम के अभ्यास से धीरे-धीरे वश में आ जाती है; लेकिन इसके विपरीत नियम से चलने पर यानी जल्दबाजी करने से वायु योगी का विनाश कर देती है॥ ६॥

युक्तंयुक्तं त्यजेद्वायुं युक्तंयुक्तं च पूरयेत्। युक्तंयुक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात्॥ ७॥

अत: जिस प्रकार से ठीक बने, वैसे ही रेचक करना चाहिए, जैसे ठीक लगे, वैसे ही पूरक करना तथा ठीक लगने तक ही कुम्भक करना चाहिए। इस प्रकार का अभ्यास करने से शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है॥७

यथेष्टधारणाद्वायोरनलस्य प्रदीपनम्। नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात्॥ ८॥

यथेष्ट शक्ति के अनुसार कुम्भक करने से अग्नि प्रज्वलित होती है तथा नाड़ियों के शुद्ध होने से नाद-श्रवण होता है और शरीर रोगरहित हो जाता है॥ ८॥

विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते। सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुत:॥ ९॥

विधि-विधान पूर्वक प्राणायाम करने से योगी के समस्त नाड़ी-समूह शुद्ध हो जाते हैं। तब सुषुम्ना नाड़ी का मुख भेदन करके वायु सुखपूर्वक उसमें प्रविष्ट हो जाता है ॥ ९॥

मारुते मध्यसंचारे मन:स्थैर्यं प्रजायते। यो मन: सुस्थिरो भाव: सैवावस्था मनोन्मनी॥ १०॥

वायु जब बीच में सञ्चरित होती है, तब मन सुस्थिर होता है और जब मन की ठीक तरह से स्थिरता हो जाती है, तब उसी स्थिरता को मनोन्मनी अवस्था कहा जाता है॥ १०॥

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिध:। कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणक:॥११

साधक को पूरक के अन्त में (कुम्भक के समय) जालन्धर नामक बन्ध करना चाहिए तथा कुम्भक के अन्त एवं रेचक के प्रारंभ में उड्डियान नामक बन्ध करना चाहिए॥ ११॥

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते। मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिग:॥ १२॥

नीचे की ओर मूलरन्ध्र का संकोचन करने में कण्ठ का संकोचन होता है और बीच के भाग को पश्चिम (पीछे) की ओर खींचने से प्राणवायु ब्रह्मनाड़ी में निरन्तर गतिमान् होती रहती है॥ १२॥

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयन्। योगी जराविनिर्मुक्त: षोडशो वयसा भवेत्॥१३

अपान वायु को ऊर्ध्व की तरफ ले जाकर तथा प्राणवायु को कण्ठ से नीचे की ओर लाकर के योगी साधक वृद्धावस्था से रहित होकर सोलह वर्ष की आयु वाला हो जाता है॥ १३॥

सुखासनस्थो दक्षनाड्या बहि:स्थं पवनं समाकृष्याकेशमानखाग्रं कुम्भयित्वा सव्यनाड्या रेचयेत्। तेन कपालशोधनं वातनाडीगतसर्वरोगसर्वविनाशनं भवति॥ १३-१॥

योगी सुखासन पर बैठकर दाहिनी नाड़ी के द्वारा बाहर की वायु को अन्दर की ओर खींचकर सिर के बालों से लेकर पैर के नख की नोंक तक में वायु को रोक कर अर्थात् कुम्भक करके बायीं नाड़ी के द्वारा वायु को बाहर निकाले अर्थात् रेचक करे। ऐसी क्रिया करने से कपाल की शुद्धि होती है और नाड़ियों में रहने वाले समस्त रोगों का पूर्णतया विनाश ही हो जाता है॥ १३-१॥

हृदयादिकण्ठपर्यन्तं सस्वनं नासाभ्यां शनै: पवनमाकृष्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा इडया विरेच्य गच्छंस्तिष्ठन्कुर्यात्। तेन श्लेष्महरं जठराग्निवर्धनं भवति॥ १३-२॥

हृदय से लेकर कण्ठ पर्यन्त शब्द के साथ दोनों नासिका छिद्रों के द्वारा धीरे-धीरे वायु को खींचकर शक्ति के अनुसार कुम्भक करने के बाद इड़ा नाड़ी के द्वारा रेचक करना चाहिए। यह क्रिया चलते हुए तथा खड़े हुए भी करते ही रहना चाहिए, क्योंकि इस क्रिया से कफ का शमन और जठराग्नि की वृद्धि होती है॥ १३-२॥

वक्त्रेण सीत्कारपूर्वकं वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेंचयेत्। तेन क्षुत्तृष्णालस्यनिद्रा न जायन्ते॥ १३-३॥

मुख के द्वारा सीत्कार अर्थात् सी-सी करते हुए वायु अन्दर भरकर शक्ति के अनुसार कुम्भक करने के पश्चात् दोनों नासिका छिद्रों द्वारा रेचक की क्रिया करनी चाहिए। इससे भूख-प्यास, आलस्य अथवा निद्रा का प्रादुर्भाव नहीं होता॥ १३-३॥

जिह्वया वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत्। तेन गुल्मप्लीहज्वरपित्त-क्षुधादीनि नश्यन्ति॥ १३-४॥

जिह्वा द्वारा वायु को अन्दर खींचकर शक्ति के अनुसार कुम्भक करके दोनों नासिका छिद्रों द्वारा रेचक करना चाहिए। इससे गुल्म (गोला), तिल्ली, ज्वर, पित्त और भूख आदि रोगों का शमन हो जाता है॥ १३-४॥

अथ कुम्भकः। स द्विविधः सहितः केवलश्चेति। रेचकपूरकयुक्तः सहितः। तद्विवर्जितः केवलः। केवलसिद्धिपर्यन्तं सहितमभ्यसेत्। केवलकुम्भके सिद्धे त्रिषु लोकेषु न तस्य दुर्लभं भवति। केवलकुम्भकात्कुण्डलिनीबोधो जायते॥ १३-५॥

अब कुम्भक के सन्दर्भ में कहते हैं, उसके दो भेद हैं- (१) सहित और (२) केवल। रेचक तथा पूरक से जो संयुक्त हो, उसे सहित और उनसे जो रहित हो, वह केवल है। इसमें से केवल जब तक सिद्ध न हो, तब तक सहित का अभ्यास करते रहना चाहिए और जब 'केवल' कुम्भक सिद्ध हो जाता है, तब योगी को तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। केवल कुम्भक के द्वारा ही कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है॥ १३-५॥

ततः कृशवपुः प्रसन्नवदनो निर्मललोचनोऽभिव्यक्तनादो निर्मुक्तरोगजालो जितबिन्दुः पट्वग्निर्भवति॥ १३-६॥

इस सिद्धि के पश्चात् योगी-साधक कृश शरीर से युक्त, प्रसन्न मुख वाला, निर्मल नेत्रों से सम्पन्न, नाद श्रवण करने वाला, समस्त रोगों से रहित, बिन्दु को जय करने वाला (ब्रह्मचर्यसिद्ध) तथा प्रज्वलित जठराग्नि से युक्त हो जाता है॥१३-६॥

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता। एषा सा वैष्णवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥ १४॥

अन्तःकरण में लक्ष्य निहित हो तथा बाह्य की दृष्टि निमेष-उन्मेष अर्थात् पलक झपकने से विहीन हो, यही वैष्णवी मुद्रा है तथा इसे ही समस्त तन्त्र-शास्त्रों में गुप्त रहस्य के रूप में मान्यता प्राप्त है॥ १४॥

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी सदा वर्तते दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि। मुद्रेयं खलु खेचरी भवति सा लक्ष्यैकताना शिवा शून्याशून्यविवर्जितं स्फुरति सा तत्त्वं पदं वैष्णवी॥ १५॥

अन्तर्लक्ष्य में जिस योगी का चित्त और पवन विलय को प्राप्त हो गया हो, वह योगी साधक सतत निश्चल नेत्रों द्वारा बाहर की ओर नीचे की तरफ देखता हो, किन्तु इसके अतिरिक्त और कुछ न देखता हो, यही खेचरी मुद्रा है। यह केवल लक्ष्य में ही एकतान एवं मङ्गलमयी होने के कारण वैष्णवी मुद्रा भी कही जाती है। उसमें शून्य एवं अशून्य रहित परमतत्त्व अविनाशी पद रूप में प्रकाशित होता रहता है॥ १५॥

अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षणश्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्पन्द-भावोत्तरम्। ज्योतीरूपमशेषबाह्यरहितं देदीप्यमानं परं तत्त्वं तत्परमस्ति वस्तुविषयं शाण्डिल्य विद्धीह तत्॥ १६॥

अर्ध उन्मीलित नेत्रों से युक्त, एकाग्र मनवाला तथा नासिका के अग्रभाग पर स्थित दृष्टि से सम्पन्न योगी

अचल भाव को पाने के पश्चात् सूर्य एवं चन्द्र नाड़ी को भी विलय करा देता है। इस समय ज्योति रूप समस्त बाहरी विषयों से विहीन एवं दीप्तिमान् जो तत्त्व प्रकाशित हो रहा है, वही परम वस्तु के रूप में उसका विषय होता है। हे शाण्डिल्य! इस प्रकार तुम्हें जानना चाहिए॥ १६॥

तारं ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयन्भ्रुवौ। पूर्वाभ्यासस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात्॥ १७॥ तस्मात्खेचरीमुद्रामभ्यसेत्। तत उन्मनी भवति। ततो योगनिद्रा भवति। लब्धयोगनिद्रस्य योगिनः कालो नास्ति। ॥ १७.१॥

योगी साधक दोनों नेत्रों की पुतलियों को ज्योति से जोड़कर दोनों भौंहों को कुछ ऊँचा रखता है। यह साधक के प्रारम्भिक अभ्यास का मार्ग है और इससे क्षणमात्र में ही 'उन्मनी' स्थिति प्राप्त हो जाती है। इसलिए साधक को खेचरी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए, उससे वह उन्मनी दशा को प्राप्त करता है, फिर उसे योग-निद्रा की प्राप्ति हो जाती है। जिस साधक को योग-निद्रा की प्राप्ति हो, वह योगी फिर काल के वश में नहीं होता॥ १७-१७.१॥

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम्।
मनसा मन आलोक्य शाण्डिल्य त्वं सुखी भव॥ १८॥

इस कारण हे शाण्डिल्य! शक्ति के बीच में मन को केन्द्रित करो। शक्ति को मन के अन्दर गतिशील रखकर तुम मन के द्वारा मन को ही देखो तथा सुखी-समुन्नत जीवन व्यतीत करो॥ १८॥

खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु। सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तय॥

ऐसे ही (चैतन्य) आकाश के बीच में आत्मा को स्थित करके तथा आत्मा के मध्य में (चैतन्य) आकाश को प्रतिष्ठित देखना चाहिएं। इसके पश्चात् सभी को (चैतन्य) आकाशमय करके, ऐसा ध्यान करें कि इसके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं॥ १९॥

बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तिका। सर्वचिन्तां परित्यज्य चिन्मात्रपरमो भव॥ २०॥

योगी को बाह्यजगत् की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, उसी प्रकार अपने भीतर की भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। इस तरह समस्त प्रकार की चिन्ताओं का परित्याग करके मात्र चैतन्य स्वरूप हो जाना चाहिए॥ २०॥

कर्पूरमनले यद्वत्सैन्धवं सलिले यथा। तथा च लीयमानं सन्मनस्तत्त्वे विलीयते॥ २१॥

जिस तरह से कपूर अग्नि में तथा नमक जल में विलीन हो जाता है, उसी तरह से ध्यानस्थ हुए योगी का मन परम तत्त्व में विलीन हो जाता है॥ २१॥

ज्ञेयं सर्वप्रतीतं च तज्ज्ञानं मन उच्यते। ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वितीयकः॥ २२॥

जो भी कुछ जानने योग्य है और जो प्रतीत होता है, उसका जो ज्ञान है, उसे ही मन कहते हैं। ज्ञान एवं ज्ञेय सभी कुछ एक ही साथ विनष्ट हो गया है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी पथ नहीं है॥ २२॥

ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम्। मानसे विलयं याते कैवल्यमवशिष्यते॥ २३॥

ज्ञेय वस्तु का परित्याग कर देने से मन विलीनता को प्राप्त हो जाता है और जब मन विलीनता को प्राप्त हो जाता है, तब कैवल्य ही कैवल्य शेष रह जाता है॥ २३॥

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं मुनीश्वर। योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥ २४॥

हे मुनीश्वर! चित्त को विनष्ट करने के दो प्रमुख मार्ग हैं- १. योग और २. ज्ञान। योग अर्थात् चित्त की वृत्तियों का शमन करना तथा ज्ञान अर्थात् वस्तु के तत्त्व को यथार्थ रूप में देखना॥ २४॥

तस्मिन्निरोधिते नूनमुपशान्तं मनो भवेत्। मनः स्पन्दोपशान्त्यायं संसारः प्रविलीयते॥ २५॥

मन को जब अपने वश में कर लिया जाता है, तब वह निश्चित ही शान्त हो जाता है। मन की चंचलता के शान्त होते ही इस संसार का विलय हो जाता है॥ २५॥

सूर्यालोकपरिस्पन्दशान्तौ व्यवहृतिर्यथा। शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासयोगतः॥ २६॥

जिस प्रकार सूर्य की गति (आलोक) शान्त हो जाने पर संसार का व्यवहार शान्त हो जाता है, वैसे ही शास्त्रों एवं सज्जनों की संगति से वैराग्य के अभ्यास का योग हो जाने से भी संसार शान्त हो जाता है॥ २६॥

अनास्थायां कृतास्थायां पूर्वं संसारवृत्तिषु। यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोहितात्॥ २७॥
एकतत्त्वदृढाभ्यासात्प्राणस्पन्दो निरुध्यते। पूरकाद्यनिलायामाद्दृढाभ्यासादखेदजात्॥ २८॥
एकान्तध्यानयोगाच्च मनःस्पन्दो निरुध्यते। ओङ्कारोच्चारणप्रान्तशब्दतत्त्वानुभावनात्।
सुषुप्ते संविदा ज्ञाते प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ २९॥

सर्वप्रथम सांसारिक वृत्तियों के प्रति अनास्था उत्पन्न की जाए, तत्पश्चात् लम्बे समय तक ध्यान एवं एक तत्त्व का दृढ़ अभ्यास हो जाने से प्राण का स्पन्दन बन्द हो जाता है अर्थात् प्राणवायु को अपने वश में कर लिया जाता है। इसी प्रकार बिना श्रम के अधिक देर तक श्वास खींचते हुए पूरक आदि वायु के दृढ़ अभ्यास तथा एकान्त चिन्तन करने से मन की गति पूर्णतया बन्द हो जाती है (मन वश में हो जाता है)। तदनन्तर ॐकार के उच्चारण के बाद शब्द तत्त्व की अनुभूति होने से सद्ज्ञान द्वारा सुषुप्ति का रूप जान लिया जाता है, तब प्राण की गति रुक जाती है अर्थात् प्राण तत्त्व को अपने वश में कर लिया जाता है॥ २७-२९॥

तालुमूलगतां यत्नाज्जिह्वयाक्रम्य घण्टिकाम्। ऊर्ध्वरन्ध्रं गते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥

तालु के मूल में स्थित रहने वाली ग्रन्थि को जब सतर्कतापूर्वक जिह्वा द्वारा दबाया जाता है, तब प्राणवायु ऊपर के छिद्र में आ जाता है और तभी प्राणगति अवरुद्ध (अपने वश में) हो जाती है॥ ३०॥

प्राणे गलितसंवित्तौ तालूर्ध्वं द्वादशान्तगे। अभ्यासादूर्ध्वरन्ध्रेण प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ ३१॥

तालु से ऊर्ध्व की ओर बारह अंगुल दूर तक गमन करने वाला प्राण गलित (चेष्टा-शून्य) हो जाता है, तब अभ्यास मात्र से ही ऊपर के छिद्र द्वारा प्राण का स्पन्दन अवरुद्ध किया जाता है॥ ३१॥

द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रे विमलेऽम्बरे। संविद्दृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ ३२॥

नासिका के अग्रभाग के सामने द्वादश अंगुल की दूरी पर पवित्र आकाश में ज्ञान-दृष्टि जब अत्यन्त शान्त हो जाती है, तभी प्राणों का स्पन्दन अवरुद्ध हो जाता है॥ ३२॥

भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते। चेतनैकतने बद्धे प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ ३३॥

भौंहों के मध्य में तारक ब्रह्म के साक्षात्कार होने पर शान्ति के मिल जाने से जगत् व्यापार बन्द होने लगते हैं तथा मानसिक संकल्प विराम लेते हैं, तभी प्राणगति अवरुद्ध हो जाती है॥ ३३॥

ओमित्येव यदुद्भूतं ज्ञानं ज्ञेयात्मकं शिवम्। असंस्पृष्टविकल्पांशं प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥३४

केवल प्रणव के स्वरूप में ही प्रादुर्भूत जो ज्ञानज्ञेय रूप तथा मंगलमय बनकर प्रकट होता है तथा जिसमें विकल्प के अंश का स्पर्श भी नहीं रहता, तभी प्राण की गति अवरुद्ध हो जाती है॥ ३४॥

चिरकालं हृदेकान्तव्योमसंवेदनान्मुने। अवासनमनोध्यानात्प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥ ३५॥

हे मुने! चिरकाल तक हृदय प्रदेश में एकान्त आकाश की अनुभूति होने से वासना विहीन मन ध्यान-मग्न होने लगता है। इससे प्राण का स्पन्दन अवरुद्ध हो जाता है॥ ३५॥

एभिः क्रमैस्तथान्यैश्च नानासंकल्पकल्पितैः। नानादेशिकवक्त्रस्थैः प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥३६

इस प्रकार क्रमानुसार अन्य अनेक गुरुओं के अमृत वचनों-उपदेशों का अनुसरण करके भाँति-भाँति के संकल्पों की कल्पना के माध्यम से प्राण का स्पन्दन अवरुद्ध हो जाता है॥ ३६-क॥

आकुञ्चनेन कुण्डलिन्याः कवाटमुद्घाट्य मोक्षद्वारं विभेदयेत्॥ ३६-ख॥

योगी साधक कुण्डलिनी को संकुचित करके (ऊपर खींचकर) किवाड़ को खोलकर मुक्ति का द्वार प्रशस्त करे॥ ३६-ख॥

येन मार्गेण गन्तव्यं तद्द्वारं मुखेनाच्छाद्य प्रसुप्ता।
कुण्डलिनी कुटिलाकारा सर्पवद्वेष्टिता भवति॥ ३६-ग॥

जिस मार्ग से गमन करना होता है, उसी मार्ग का द्वार मुख से आच्छादित करके कुण्डलिनी शयन करती है। वह तिर्यक् स्वरूप वाली सर्प की भाँति लिपटी हुई है॥ ३६-ग॥

सा शक्तिर्येन चालिता स्यात्स तु मुक्तो भवति। सा कुण्डलिनी कण्ठोर्ध्वभागे सुप्ता चेद्योगिनां मुक्तये भवति। बन्धनायाधो मूढानाम्॥ ३६-घ॥

इस कुण्डलिनी महाशक्ति को जो योगी निरन्तर संचालित करता है, वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। वह कुण्डलिनी साधक के कण्ठ में ऊर्ध्व भाग की तरफ यदि शयन करती हुई हो, तो वह योगियों को मुक्ति प्रदान कर देने वाली होती है, किन्तु यदि वह कण्ठ के नीचे शयन करती हो, तो ज्ञानरहित साधकों के लिए बन्धनकारी सिद्ध होती है॥ ३६-घ॥

इडादिमार्गद्वयं विहाय सुषुम्नामार्गेणागच्छेत्तद्विष्णोः परमं पदम्॥ ३६-ङ॥

इड़ा आदि दोनों मार्गों का परित्याग करके सुषुम्ना के रास्ते उसका आगमन होता है, क्योंकि वही विष्णु का परम पद है॥ ३६-ङ॥

मरुदभ्यसनं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत्। इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा॥ ३७॥

वायु (प्राणायाम) का संपूर्ण अभ्यास मन के साथ ही होना चाहिए। इस अवसर पर ज्ञानी पुरुष को मन की वृत्ति को अन्यत्र संयुक्त नहीं होने देना चाहिए॥ ३७॥

दिवा न पूजयेद्विष्णुं रात्रौ नैव प्रपूजयेत्। सततं पूजयेद्विष्णुं दिवारात्रं न पूजयेत्॥ ३८॥

यहाँ पर यह बात नहीं है कि अमुक दिन विष्णु का पूजन नहीं करना चाहिए अथवा अमुक रात्रि को विष्णु को न पूजना चाहिए, बल्कि सदा ही विष्णु की पूजा करते रहना चाहिए। केवल रात्रि में अथवा दिन में ही न पूजना चाहिए॥ ३८॥

सुषिरो ज्ञानजनकः पञ्चस्रोतः समन्वितः। तिष्ठते खेचरी मुद्रा त्वं हि शाण्डिल्य तां भज॥३९

हे शाण्डिल्य! पाँच इन्द्रियों के प्रवाह वाला हृदय रूप रिक्त (आकाश) स्थान ज्ञान को प्रादुर्भूत करने वाला है तथा वहीं खेचरी मुद्रा स्थित रहती है। अतः आप उसी का सेवन करें॥ ३९॥

सव्यदक्षिणनाडीस्थो मध्ये चरति मारुतः। तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्स्थाने न संशयः॥ ४०

बायीं एवं दाहिनी नाड़ी में स्थित होकर मध्य में वायु का संचरण होता रहता है तथा उस स्थान में खेचरी मुद्रा प्रतिष्ठित रहती है, इसमें किसी भी तरह का संशय नहीं है॥ ४०॥

इडापिङ्गलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत्। तिष्ठन्ती खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं प्रतिष्ठितम्॥ ४१॥

इड़ा एवं पिंगला के मध्य में शून्य भाग स्थित है। वहाँ वह वायु को ग्रस लेता है, खेचरी मुद्रा भी वहीं पर प्रतिष्ठित रहती है एवं वहीं सत्य भी स्थित रहता है॥ ४१॥

सोमसूर्यद्वयोर्मध्ये निरालम्बतले पुनः। संस्थिता व्योमचक्रे सा मुद्रा नाम्ना च खेचरी ॥ ४२क

चन्द्रमा एवं सूर्य की दोनों नाड़ियों के बीच में आधार-रहित धरातल स्थित है, वहीं व्योम मण्डल में खेचरी मुद्रा प्रतिष्ठित है॥ ४२-क॥

छेदनचालनदोहैः फलां परां जिह्वां कृत्वा दृष्टिं भ्रूमध्ये स्थाप्य कपालकुहरे जिह्वा विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरी मुद्रा जायते। जिह्वा चित्तं च खे चरति तेनोर्ध्वजिह्वः पुमानमृतो भवति॥ ४२-ख॥

छेदन, चालन एवं दोहन के द्वारा जिह्वा को ज्यादा से ज्यादा नुकीला बनाकर, भृकुटि के बीच में दृष्टि स्थिर करके, कपाल के छिद्र में जब जिह्वा विपरीत (उल्टी) होकर गमन करने लगती है, तभी खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है। जिह्वा एवं चित्त दोनों ही कपाल के छिद्र रूपी आकाश में विचरण करते हैं, तभी ऊर्ध्व की ओर गई हुई जिह्वा वाला पुरुष अमरता को प्राप्त कर लेता है॥ ४२-ख॥

वामपादमूलेन योनिं संपीड्य दक्षिणपादं प्रसार्य तं कराभ्यां धृत्वा नासाभ्यां वायुमापूर्य कण्ठबन्धं समारोप्योर्ध्वतो वायुं धारयेत्। तेन सर्वक्लेशहानिः। ततः पीयूषमिव विषं जीर्यते। क्षयगुल्मगुदावर्तजीर्णत्वगादिदोषा नश्यन्ति। एष प्राणजयोपायः सर्वमृत्यूपघातकः॥ ४२ग

बायें पैर की एड़ी से मूलरन्ध्र को दबाकर दाहिना पैर आगे की तरफ फैलाकर उसे दोनों हाथों से पकड़ना तथा इसके पश्चात् नासिका के दोनों छिद्रों से वायु को भर कर कण्ठबन्ध (जालन्धर बन्ध) लगाना एवं ऊपर की ओर उठी हुई वायु को स्थिर करना चाहिए। इस क्रिया से समस्त क्लेशों का विनाश हो जाता है। इसके बाद विष भी अमृत के सदृश पच जाता है। क्षय, गुल्म, गुदावर्त्त एवं त्वचा के असाध्य एवं पुराने रोग विनष्ट हो जाते हैं। प्राण को जीतने का यह उपाय मृत्यु को पूर्णरूप से विनष्ट करने वाला है॥ ४२-ग॥

वामपादपार्ष्णियोनिस्थाने नियोज्य दक्षिणचरणं वामोरूपरि संस्थाप्य वायुमापूर्य हृदये चुबुकं निधाय योनिमाकुञ्च्य मनोमध्ये यथाशक्ति धारयित्वा स्वात्मानं भावयेत्। तेनापरोक्षसिद्धिः॥

बायें पैर की एड़ी को योनि स्थान के साथ संयुक्त करके, दाहिना पैर बायें पैर पर रखे तथा वायु को अन्दर भरकर, ठुड्डी को हृदय की तरफ दबाकर योनि स्थान को संकुचित कर मन के मध्य अपनी आत्मा का चिन्तन करना चाहिए। इस क्रिया से अपरोक्ष सिद्धि की प्राप्ति होती है॥ ४२-घ॥

बाह्यात्प्राणं समाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम्। नाभिमध्ये च नासाग्रे पादाङ्गुष्ठे च यत्नतः ॥४३॥
धारयेन्मनसा प्राणं सन्ध्याकालेषु वा सदा। सर्वरोगविनिर्मुक्तो भवेद्योगी गतक्लमः॥ ४४क॥

बाहर से प्राणवायु को अन्दर की ओर आकृष्ट करके उदर में प्रतिष्ठित करे और वहाँ से उसे नाभि के मध्य में, नाक के अग्रभाग में तथा पैर के अँगूठे में मन द्वारा प्रयासपूर्वक धारण करे। इस तरह से सन्ध्याकाल में यह क्रिया सदैव करने वाला योगी साधक समस्त रोगों से मुक्ति पाकर श्रम-रहित हो जाता है॥ ४३-४४-क॥

नासाग्रे वायुविजयं भवति। नाभिमध्ये सर्वरोगविनाशः।
पादाङ्गुष्ठधारणाच्छरीरलघुता भवति॥ ४४-ख॥

नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि केन्द्रित करने से वायु को वश में किया जा सकता है, नाभि के मध्य में स्थिर करने से सभी रोगों का नाश होता है तथा पैर के अँगूठे में स्थिर करने से शरीर हल्का हो जाता है॥ ४४ख

रसनाद्वायुमाकृष्य यः पिबेत्सततं नरः। श्रमदाहौ तु न स्यातां नश्यन्ति व्याधयस्तथा॥ ४५॥

जो मनुष्य जिह्वा द्वारा वायु को खींचकर सतत पान किया करता है, उसे श्रम या दाह नहीं होता तथा उसके समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं॥ ४५॥

सन्ध्ययोर्ब्राह्मणः काले वायुमाकृष्य यः पिबेत्। त्रिमासात्तस्य कल्याणी जायते वाक् सरस्वती॥ ४६॥

जो ब्राह्मण दोनों सन्ध्याकाल में वायु को अपनी ओर आकृष्ट करके उसको पीता रहता है, उसकी वाणी में तीन मास में ही कल्याण स्वरूपा माँ सरस्वती प्रकट हो जाती हैं॥ ४६॥

एवं षण्मासाभ्यासात्सर्वरोगनिवृत्तिः। जिह्वया वायुमानीय जिह्वामूले निरोधयेत्। यः पिबेदमृतं विद्वान्सकलं भद्रमश्नुते॥ ४७॥

इसी तरह से छः मास पर्यन्त अभ्यास करने से समस्त प्रकार के रोगों का शमन हो जाता है। जो विद्वान् पुरुष जिह्वा द्वारा वायु को ग्रहण करके जिह्वा के मूल में उसे अवरुद्ध करता है, वह अमृत का पान करता है तथा उसका सब प्रकार से कल्याण ही होता है॥ ४७॥

आत्मन्यात्मानमिडया धारयित्वा भ्रुवोऽन्तरे। विभेद्य त्रिदशाहारं व्याधिस्थोऽपि विमुच्यते॥

इड़ा नाड़ी के द्वारा दोनों भौंहों के मध्य में आत्मा में ही आत्मा (मन) को धारण कर लेने से पुरुष देवों के आहार का भेदन करता है, इस क्रिया को सम्पन्न करते समय यदि वह रोगी भी होता है, तो समस्त रोगों से मुक्त हो जाता है॥ ४८॥

नाडीभ्यां वायुमारोप्य नाभौ तुन्दस्य पार्श्वयोः। घटिकैकां वहेद्यस्तु व्याधिभिः स विमुच्यते॥

(इड़ा एवं पिंगला) दोनों नाड़ियों के द्वारा वायु को नाभि तक खींचकर पेट के दोनों भागों में जो मनुष्य एक घड़ी तक चलाता रहता है, वह सभी रोगों से छूट जाता है॥ ४९॥

मासमेकं त्रिसन्ध्यं तु जिह्वयारोप्य मारुतम्। विभेद्य त्रिदशाहारं धारयेत्तुन्दमध्यमे॥ ५०॥

जो मनुष्य एक मास तक तीनों (प्रातः, मध्याह्न, सायं) काल में जिह्वा द्वारा वायु को अन्दर आकृष्ट करके उदर के मध्य भाग में अवरुद्ध करता है, वह भी देवताओं के आहार का भेदन करने वाला हो जाता है॥ ५०॥

[मनुष्य का आहार तब पचता है जब उसके पाचक रस खाये हुए पदार्थों का भेदन करने में समर्थ होते हैं। देवताओं के सूक्ष्म आहार मनुष्य के प्रभाव क्षेत्र में रहते हैं, लेकिन सामान्य लोग उसका उपयोग नहीं कर पाते। योगी अपनी चेतना से उसका भेदन करके उसका लाभ प्राप्त करने की स्थिति में पहुँच जाता है।]

ज्वराः सर्वेऽपि नश्यन्ति विषाणि विविधानि च। मुहूर्तमपि यो नित्यं नासाग्रे मनसा सह। सर्वं तरति पाप्मानं तस्य जन्मशतार्जितम्॥ ५१॥

जो पुरुष नित्य मुहूर्त भर के लिए मन के साथ वायु को नासिका के अग्रभाग पर धारण करता है, उसके सभी तरह के ज्वर विनष्ट हो जाते हैं। विभिन्न प्रकार के विषों का शमन हो जाता है। उसके सैकड़ों जन्म के पाप पूर्णरूप से छूट जाते हैं॥ ५१॥

तारसंयमात्सकलविषयज्ञानं भवति। नासाग्रे चित्तसंयमादिन्द्रलोकज्ञानम्। तदधश्चित्तसंयमादग्निलोकज्ञानम्। चक्षुषि चित्तसंयमात्सर्वलोकज्ञानम्। श्रोत्रे चित्तस्य संयमाद्यमलोकज्ञानम्। तत्पार्श्वे संयमान्निर्ऋतिलोकज्ञानम्। पृष्ठभागे संयमाद्वरुणलोकज्ञानम्। वामकर्णे संयमाद्वायुलोकज्ञानम्। कण्ठे संयमात्सोमलोकज्ञानम्। वामचक्षुषि संयमाच्छिवलोकज्ञानम्।

मूर्ध्नि संयमाद्ब्रह्मलोकज्ञानम्। पादाधोभागे संयमादतललोकज्ञानम्। पादे संयमाद्वितललोकज्ञानम्। पादसन्धौ संयमान्नितललोकज्ञानम्। जङ्घे संयमात्सुतललोकज्ञानम्। जानौ संयमान्महातललोकज्ञानम्। ऊरौ चित्तसंयमाद्रसातललोकज्ञानम्। कटौ चित्तसंयमात्तलातललोकज्ञानम्। नाभौ चित्तसंयमाद्भूलोकज्ञानम्। कुक्षौ संयमाद्भुवर्लोकज्ञानम्। हृदि चित्तस्य संयमात्स्वर्लोकज्ञानम्। हृदयोर्ध्वभागे चित्तसंयमान्महर्लोकज्ञानम्। कण्ठे चित्तसंयमाज्जनोलोकज्ञानम्। भ्रूमध्ये चित्तसंयमात्तपोलोकज्ञानम्। मूर्ध्नि चित्तसंयमात्सत्यलोकज्ञानम्। धर्माधर्मसंयमादतीतानागतज्ञानम्। तत्तज्जन्तुध्वनौ चित्तसंयमात्सर्वजन्तुरुतज्ञानम्। संचितकर्मणि चित्तसंयमात्पूर्वजातिज्ञानम्। परचित्ते चित्तसंयमात्परचित्तज्ञानम्। कायरूपे चित्तसंयमादन्यादृश्यरूपम्। बले चित्तसंयमाद्धनुमदादिबलम्। सूर्ये चित्तसंयमाद्भुवनज्ञानम्। चन्द्रे चित्तसंयमात्ताराव्यूहज्ञानम्। ध्रुवे तद्गतिदर्शनम्। स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्। नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्। कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः। कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्। तारे सिद्धदर्शनम्। कायाकाशसंयमादाकाशगमनम्। तत्तत्स्थाने संयमात्तत्तत्सिद्धयो भवन्ति॥ ५२॥

आँख की पुतली पर संयम करने से सभी प्रकार के विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है, नासिका के अग्रभाग पर चित्त का संयम करने से इन्द्रलोक का ज्ञान प्राप्त होता है। उसके नीचे चित्त का संयम करने से अग्निलोक का ज्ञान प्राप्त होता है। नेत्र में चित्त का संयम करने से सभी लोकों का ज्ञान प्राप्त होता है। श्रोत्र में संयम करने से यम लोक का ज्ञान प्राप्त होता है। उसके बगल में चित्त का संयम करने से राक्षसों के लोक का ज्ञान होता है। पीठ के भाग में संयम करने से वरुण लोक का ज्ञान होता है। बायें कान में चित्त का संयम करने पर वायु लोक का ज्ञान होता है। कण्ठ में संयम करने से चन्द्रलोक का ज्ञान होता है। बाँयीं आँख में संयम करने से शिवलोक का ज्ञान प्राप्त होता है। मस्तक में संयम करने से ब्रह्मलोक का ज्ञान होता है, पैर के नीचे (तलवे) में संयम करने से अतल लोक का ज्ञान होता है। पैर (पंजे) में संयम करने से वितल लोक का ज्ञान होता है। पैर के जोड़ (टखने) में चित्त का संयम करने से नितल लोक का ज्ञान होता है। पैर की जंघा (पिंडली) में संयम करने से सुतल लोक का ज्ञान होता है। जानु (घुटने) में संयम करने से महातल लोक का ज्ञान प्राप्त होता है, ऊरु (जाँघ) में संयम करने से रसातल का ज्ञान होता है। कमर में संयम करने से तलातल लोक का ज्ञान होता है, नाभि में चित्त का संयम करने से भूलोक का ज्ञान होता है। पेट में संयम करने से भुवः लोक का ज्ञान होता है। हृदय में चित्त का संयम रखने से स्वः लोक का ज्ञान प्राप्त होता है, हृदय के ऊर्ध्व भाग में चित्त का संयम करने से महः लोक का ज्ञान प्राप्त होता है। कण्ठ में संयम करने से जनः लोक का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। भौंहों के मध्य में संयम करने से तपःलोक का ज्ञान प्राप्त होता है। मस्तक में चित्त का संयम करने से सत्यलोक का ज्ञान प्राप्त होता है। धर्म तथा अधर्म में संयम करने से भूत-भविष्यत् का ज्ञान हो जाता है। विभिन्न प्राणियों की आवाज में संयम करने से उनकी बोली का ज्ञान होता है। सञ्चित कर्म में संयम करने से पूर्व जन्म का ज्ञान होता है। दूसरे लोगों के चित्त में संयम रखने से दूसरे के चित्त का ज्ञान होता है। शरीर के रूप में संयम करने से दूसरे का-सा रूप हो जाता है, बल में संयम करने से हनुमान् आदि के जैसा बल प्राप्त हो जाता है। सूर्य में संयम करने से समस्त भुवनों का ज्ञान हो जाता है। चन्द्र में संयम करने से समस्त तारामण्डलों का ज्ञान हो जाता है, ध्रुव में संयम करने से उसकी गति का दर्शन होता है। स्वार्थ में संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है। नाभिचक्र में संयम करने से शरीर व्यूह का ज्ञान होता है। कण्ठ कूप में संयम करने से भूख-प्यास समाप्त

हो जाती है। कूर्म नाड़ी में संयम करने से स्थिरता आती है। तारा में संयम करने से सिद्ध दर्शन होता है तथा शरीर के आकाश में संयम करने से मनुष्य आकाश में गमन कर सकता है। इस तरह से भिन्न-भिन्न स्थानों में संयम करने से उस स्थान में स्थित विभिन्न प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं॥ ५२॥

[यहाँ संयम का अर्थ अपने चित्त के माध्यम से स्थान विशेष में स्थित दिव्य चेतन धारा के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेना। तादात्म्य की स्थिति में उस चेतना विशेष के साथ जुड़े सारे तथ्य चित्त की अनुभूति में सहज ही आने लगते हैं। योगदर्शन में धारणा, ध्यान और समाधि की एकत्र स्थिति को 'संयम' कहा जाता है।]

॥ अष्टमः खण्डः ॥

अथ प्रत्याहारः। स पञ्चविधः विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणां बलादाहरणं प्रत्याहारः। यद्यत्पश्यति तत्सर्वमात्मेति प्रत्याहारः। नित्यविहितकर्मफलत्यागः प्रत्याहारः। सर्वविषयपराङ्मुखत्वं प्रत्याहारः। अष्टादशसु मर्मस्थानेषु क्रमाद्धारणं प्रत्याहारः॥ १॥

अब प्रत्याहार का वर्णन करते हैं। वह पाँच प्रकार का है। विषयों में विचरण करती हुई इन्द्रियों को बलपूर्वक अपनी ओर आकृष्ट कर लेने (इन्द्रियाँ बाह्य भोगों में रस लेने की अभ्यस्त होती हैं, उन्हें बाह्य उपकरण में से हटाकर अन्तःकरण की रसानुभूति से जोड़ लेने) को प्रत्याहार कहा जाता है। जो-जो दिखाई देता है, वह सब आत्मा है, ऐसा समझना चाहिए, (आँख, नाक, कान आदि विभिन्न अवयवों की अनुभूति वास्तव में आत्मा के ही कारण है। इसका बोध होना) यही प्रत्याहार है। नित्य किये गये कर्मों के फल का परित्याग (कर्म के फल में रस लेने की अपेक्षा कर्म करने में ही रस एवं सार्थकता की अनुभूति होने पर फल की कामना न रहना) ही प्रत्याहार है। समस्त प्रकार की विषय-वासनाओं से रहित होना (अन्तःस्थिति उच्च रसों की अनुभूति के आधार पर विषयों के रस की कामना न रहना), यह प्रत्याहार है। अट्ठारह मर्म-स्थलों (आगे कहे गये) में क्रमशः धारणा करना (उन स्थानों पर स्थित चेतन दिव्य प्रवाहों के साथ चित्त का तादात्म्य स्थापित करके दिव्यानुभूति प्राप्त करना), यही प्रत्याहार है॥ १॥

पादाङ्गुष्ठगुल्फजङ्घाजानूरुपायुमेढ्रनाभिहृदयकण्ठकूपतालुनासाक्षिभ्रूमध्यललाटमूर्ध्नि स्थानानि। तेषु क्रमादारोहावरोहक्रमेण प्रत्याहरेत्॥ २॥

पैर का अँगूठा, गुल्फ (टखने), जंघा (पिंडली), जानु (घुटने), ऊरु (जाँघ), गुदा, लिङ्ग, नाभि, हृदय, गले का छिद्र, तालु, नासिका, आँख, भौंहों के बीच का भाग, ललाट एवं सिर-इन सभी स्थलों में उतार-चढ़ाव के क्रम से प्रत्याहार करना चाहिए॥ २॥

॥ नवमः खण्डः ॥

अथ धारणा। सा त्रिविधा आत्मनि मनोधारणं दहराकाशे बाह्याकाशधारणं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशेषु पञ्चमूर्तिधारणं चेति॥ १॥

अब धारणा को स्पष्ट करते हैं। यह तीन प्रकार की होती है। अपनी अन्तरात्मा में मन की धारणा करना, दहरा (हृदय) आकाश में बाह्याकाश की धारणा करना तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश में पाँच मूर्तियों की धारणा करनी चाहिए। ये ही तीन प्रकार हैं॥ १॥

॥ दशमः खण्डः ॥

अथ ध्यानम्। तद्द्विविधं सगुणं निर्गुणं चेति। सगुणं मूर्तिध्यानम्। निर्गुणमात्मया-थात्म्यम्॥ १ ॥

अब इसके बाद ध्यान को बतलाते हैं-यह दो प्रकार का होता है, प्रथम-निर्गुण एवं द्वितीय-सगुण। मूर्ति का चिन्तन करना सगुण कहलाता है तथा आत्मा के स्वरूप का ध्यान करना निर्गुण कहलाता है॥ १ ॥

॥ एकादशः खण्डः ॥

अथ समाधिः। जीवात्मपरमात्मैक्यावस्था त्रिपुटीरहिता परमानन्दस्वरूपा शुद्धचैतन्यात्मिका भवति॥ १ ॥

अब इसके अनन्तर समाधि का वर्णन करते हैं। जीवात्मा एवं परमात्मा की ऐक्यावस्था, (ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता) की त्रिपुटीविहीन,परमानन्द के रूप से युक्त एवं शुद्ध चैतन्यमय अवस्था ही समाधि कहलाती है॥१ ॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथ ह शाण्डिल्यो ह वै ब्रह्मऋषिश्चतुर्षु वेदेषु ब्रह्मविद्यामलभमानः किं नामेत्यथर्वाणं भगवन्तमुपसन्नः पप्रच्छाधीहि भगवन् ब्रह्मविद्यां येन श्रेयोऽवाप्स्यामीति॥ १ ॥

तदनन्तर ब्रह्मर्षि शाण्डिल्य ने चारों वेदों में (चारों वेदों का अध्ययन करने पर भी) ब्रह्म विद्या को प्राप्त न कर पाने से भगवान् अथर्वा की शरण में पहुँचकर प्रश्न किया- 'हे भगवन्! आप हमें ब्रह्म विद्या का अध्ययन कराएँ, जिससे कि मुझे कल्याण की प्राप्ति हो'॥ २ ॥

स होवाचाथर्वा शाण्डिल्य सत्यं विज्ञानमनन्तं ब्रह्म। ॥ २ ॥

तत्पश्चात् अथर्वा मुनि ने कहना प्रारम्भ किया ''हे शाण्डिल्य! ब्रह्म, सत्य, विज्ञान एवं अनन्त रूपों में संव्याप्त है॥ २ ॥

यस्मिन्निदमोतं च प्रोतं च। यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वं यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति। तदपाणिपादमचक्षुःश्रोत्रमजिह्वमशरीरमग्राह्यमनिर्देश्यम्॥ ३ ॥

जिसमें यह सभी कुछ ओत-प्रोत है। जिसमें यह प्रादुर्भूत होता है तथा अस्त भी होता है,उसी तरह से जिसको समझ लेने से यह सभी कुछ समझ लिया जाता है,वह हाथ-पैर से विहीन,नेत्रों से रहित,कार्य विहीन,जिह्वा रहित, शरीर विहीन, स्वीकार न किये जाने योग्य तथा स्पष्ट रूप से बताये न जा सकने योग्य है॥३

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। यत्केवलं ज्ञानगम्यम्। प्रज्ञा च यस्मात्प्रसृता पुराणी। यदेकमद्वितीयम्। आकाशवत्सर्वगतं सुसूक्ष्मं निरञ्जनं निष्क्रियं सन्मात्रं चिदानन्दैकरसं शिवं प्रशान्तममृतं तत्परं च ब्रह्म। तत्त्वमसि तज्ज्ञानेन हि विजानीहि॥ ४॥

जिसे प्राप्त किये बिना वाणी एवं मन पीछे की ओर वापस हो जाते हैं। जो मात्र ज्ञान से ही पाया जा सकता है, जिससे प्राचीन प्रज्ञा का प्रचार-प्रसार हुआ है, जो अनुपम एवं अद्वितीय है, आकाश के सदृश सर्वत्र व्याप्त रहने वाले, अति सूक्ष्म, निरञ्जन, क्रियाविहीन, एकमात्र सत्य स्वरूप, चेतना से सम्पन्न, आनन्द स्वरूप,

एकरस से सम्पन्न, मंगलमय, अत्यन्त शांत एवं अमर है, वही परम अविनाशी ब्रह्म है। वही तुम हो। ज्ञान के द्वारा तुम उसे जानो॥ ४॥

य एको देव आत्मशक्तिप्रधानः सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वभूतान्तरात्मा सर्वभूताधिवासः सर्वभूतनिगूढो भूतयोनिर्योगैकगम्यः। यश्च विश्वं सृजति विश्वं बिभर्ति विश्वं भुङ्क्ते स आत्मा। आत्मनि तं तं लोकं विजानीहि॥ ५॥

जो एक ही देव आत्मा की शक्ति के रूप में प्रमुख, सब प्रकार से ज्ञान सम्पन्न, सर्वेश्वर, समस्त प्राणियों की अन्तरात्मा, सभी प्राणियों में निवास करने वाले, सब प्राणियों में छिपे हुए, सभी प्राणियों का मूल उत्पत्ति स्थान, केवल योग के द्वारा ही जाने जा सकने योग्य है, जो विश्व की सृष्टि, पालन एवं विलय स्वयं करता है, वही आत्मा है। तुम आत्मा में ही उन सबको स्थित जानो॥ ५॥

मा शोचीरात्मविज्ञानी शोकस्यान्तं गमिष्यसि॥ ६॥

तुम शोक बिल्कुल न करो। आत्मा का विशिष्ट ज्ञान पाकर के तुम शोक का अन्त कर सकोगे॥ ६॥

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

अथ हैनं शाण्डिल्योऽथर्वाणं पप्रच्छ यदेकमक्षरं निष्क्रियं शिवं सन्मात्रं परंब्रह्म। तस्मात्कथमिदं विश्वं जायते कथं स्थीयते कथमस्मिल्लीयते। तन्मे संशयं छेत्तुमर्हसीति॥१॥

इस प्रकार अथर्वा मुनि से जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् महात्मा शाण्डिल्य ने पुनः प्रश्न किया- हे भगवन्! जो परब्रह्म एकाक्षर, क्रिया विहीन, मङ्गलमय, सत्ता मात्र एवं आत्म स्वरूप है, उससे यह जगत् किस प्रकार से प्रादुर्भूत होता है? किस प्रकार वह प्रतिष्ठित होता है तथा किस तरह से उसमें विलीन हो जाता है? मेरी यह शंका दूर करना अत्यन्त आवश्यक है॥ १॥

स होवाचाथर्वा सत्यं शाण्डिल्य परब्रह्म निष्क्रियमक्षरमिति। अथाप्यस्यारूपस्य ब्रह्मणस्त्रीणि रूपाणि भवन्ति सकलं निष्कलं सकलनिष्कलं चेति॥२-३॥

ऐसा सुनकर अथर्वा मुनि ने कहा-हे शाण्डिल्य! यह सत्य है कि परब्रह्म निष्क्रिय एवं अक्षर रूप है, तब भी इस अविनाशी परब्रह्म के तीन स्वरूप-सकल, निष्कल एवं सकल-निष्कल हैं॥ २-३॥

यत्सत्यं विज्ञानमानन्दं निष्क्रियं निरञ्जनं सर्वगतं सुसूक्ष्मं सर्वतोमुखमनिर्देश्य-ममृतमस्ति तदिदं निष्कलं रूपम्॥ ४॥

जो सत्यरूप, विज्ञानयुक्त, आनन्दस्वरूप, क्रियारहित, निरञ्जन, सर्वव्यापी, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, चतुर्दिक् मुखवाला, अनिर्वचनीय और अमर है, यह ब्रह्म का निष्कल रूप है॥ ४॥

अथास्य या सहजास्त्यविद्या मूलप्रकृतिर्माया लोहितशुक्लकृष्णा। तया सहायवान् देवः कृष्णपिङ्गलो महेश्वर ईष्टे। तदिदमस्य सकलं रूपम्॥ ५॥

इसके पश्चात् अब इस परब्रह्म की जो सहज अविद्या, मूल प्रकृति और माया शक्ति है, वह लाल, श्वेत एवं कृष्ण रंग से युक्त है। उस (माया) की सहायता प्राप्त करके यह देव कृष्ण एवं पीत रंग से युक्त होकर सभी का ईश्वर और नियन्ता होता है। यह इस ब्रह्म का 'सकल' रूप है॥ ५॥

अथैष ज्ञानमयेन तपसा चीयमानोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति। अथैतस्मात्तप्यमानात्सत्यकामात्त्रीण्यक्षराण्यजायन्त। तिस्त्रो व्याहृतयस्त्रिपदा गायत्री त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो वर्णास्त्रयोऽग्नयश्च जायन्ते। योऽसौ देवो भगवान्सर्वैश्वर्यसंपन्नः सर्वव्यापी सर्वभूतानां हृदये संनिविष्टो मायावी मायया क्रीडति स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रः स इन्द्रः स सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि स एव पुरस्तात्स एव पश्चात्स एवोत्तरतः स एव दक्षिणतः स एवाधस्तात्स एवोपरिष्टात्स एव सर्वम्। अथास्य देवस्यात्मशक्तेरात्मक्रीडस्य भक्तानुकम्पिनो दत्तात्रेयरूपा सुरूपा तनूरवासा इन्दीवरदलप्रख्या चतुर्बाहुरघोरापापकाशिनी। तदिदमस्य सकलनिष्कलं रूपम्॥६

तत्पश्चात् इस परब्रह्म ने ज्ञानमय तप से वृद्धि प्राप्त कर इच्छा की कि "मैं विभिन्न रूपों में प्रकट (प्रादुर्भूत) हो जाऊँ।" तदनन्तर तप प्रारम्भ किया। तभी समस्त कामनाओं से सम्पन्न तीन अक्षर प्रादुर्भूत हुए, वैसे ही तीन व्याहृतियाँ, तीन पदों वाली गायत्री, तीन वेद, तीन देव, तीन वर्ण एवं तीन अग्नियाँ उत्पन्न हुईं। जो यह देव भगवान् होकर समस्त ऐश्वर्यों से सम्पन्न, सर्वत्र व्याप्त रहने वाला, समस्त प्राणियों के हृदय में रहने वाला, मायावी एवं माया के साथ क्रीड़ा- कल्लोल करता है, वही ब्रह्मा, वही विष्णु, वही रुद्र, वही इन्द्र, वही समस्त देवताओं एवं सभी भूत-प्राणियों के रूप में है। वही अग्रभाग में, वही पृष्ठभाग में, वही उत्तर की ओर, वही दक्षिण की ओर, वही नीचे की ओर तथा वही ऊर्ध्व की ओर प्रतिष्ठित है। इस तरह से वही सब कुछ है। यह देव अपनी शक्ति से क्रीड़ा करने वाला तथा अपने भक्तों के प्रति अनुकम्पा बनाये रखने वाला है। इसका शरीर दत्तात्रेय रूप, सुन्दर, वस्त्र रहित, कमल की पंखुड़ी के सदृश कोमल, चार भुजाओं से सम्पन्न, भयंकरता से रहित एवं पापरहित होकर प्रकाश से युक्त है। यही उसका 'सकल-निष्कल' रूप है॥ ६॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

अथ हैनमथर्वाणं शाण्डिल्यः पप्रच्छ भगवन्सन्मात्रं चिदानन्दैकरसं कस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति। स होवाचाथर्वा यस्माच्च बृहति बृंहयति च सर्वं तस्मादुच्यते परंब्रह्मेति॥ १-२॥

इसके पश्चात् महर्षि शाण्डिल्य ने अथर्वा मुनि से पुनः प्रश्न किया- "हे भगवन्! मात्र सत्य स्वरूप, चैतन्य युक्त एवं आनन्दस्वरूप एकरस सम्पन्न यह परब्रह्म क्यों कहा जाता है?" तब अथर्वा मुनि ने उत्तर दिया- "हे शाण्डिल्य! वह ब्रह्म स्वयं वृद्धि को प्राप्त होता है तथा अन्य दूसरों को वृद्धि प्रदान करता है, अतः इस कारण से वह अविनाशी शाश्वत ब्रह्म कहलाता है॥ १-२॥

अथ कस्मादुच्यते आत्मेति। यस्मात्सर्वमाप्नोति सर्वमादत्ते सर्वमत्ति च तस्मादुच्यते आत्मेति॥ ३-४॥

इसके अनन्तर 'वह आत्मा क्यों कहा जाता है?' (ऐसा पूछने पर अथर्वा मुनि ने कहा -) वह (ब्रह्म) सर्वत्र सभी में विद्यमान रहता है, सभी को स्वीकार करता है तथा सभी का भक्षण कर लेता है अर्थात अपने में मिला लेता है, इस कारण वह आत्मा कहलाता है॥ ३-४॥

अथ कस्मादुच्यते महेश्वर इति। यस्मान्महत ईशः शब्दध्वन्या चात्मशक्त्या च महत ईशते तस्मादुच्यते महेश्वर इति॥ ५-६॥

वह महेश्वर क्यों कहा जाता है? (अथर्वा मुनि ने कहा-) क्योंकि वह शब्द ध्वनि एवं आत्मशक्ति से बड़ों-बड़ों का नियंत्रण करता है तथा बड़ों-बड़ों का ईश्वर है, इसलिए वह महेश्वर कहलाता है॥ ५-६॥

अथ कस्मादुच्यते दत्तात्रेय इति। यस्मात्सुदुश्चरं तपस्तप्यमानायात्रये पुत्रकामायातितरां तुष्टेन भगवता ज्योतिर्मयेनात्मैव दत्तो यस्माच्चानसूयायामत्रेस्तनयो ऽभवत्तस्मादुच्यते दत्तात्रेय इति॥

वह दत्तात्रेय क्यों कहा जाता है? (अथर्वा मुनि ने उत्तर दिया-) क्योंकि अत्यन्त उग्र तपश्चर्या करने के उपरान्त अत्रि ऋषि ने पुत्र प्राप्ति की कामना की। तदनन्तर उनके ऊपर अत्यधिक प्रसन्न होते हुए ज्योतिष्मान् भगवान् (शिव) ने स्वयं को ही उन अत्रि ऋषि को पुत्र रूप में प्रदत्त किया और वे स्वयं अत्रि एवं अनसूया के द्वारा प्रादुर्भूत हुए। इस प्रकार से वे दत्तात्रेय के नाम से प्रसिद्ध हुए ॥ ७-८ ॥

अथ योऽस्य निरुक्तानि वेद स सर्वं वेद। अथ यो ह वै विद्ययैनं परमुपास्ते सोऽहमिति स ब्रह्मविद्भवति॥ ९-१० ॥

इन समस्त अर्थ सहित नामों को जो व्युत्पत्ति सहित समझता है, वह सभी कुछ जानने में समर्थ हो जाता है। इसके अनन्तर जो (इस आत्म) विद्या के द्वारा इस परमात्म तत्त्व की उपासना करता है, वह "मैं ही परमात्मा हूँ" इस प्रकार के भाव से ब्रह्म का वर्णन करने वाला (ब्रह्मवेत्ता) बन जाता है॥ ९-१० ॥

अत्रैते श्लोका भवन्ति। दत्तात्रेयं शिवं शान्तमिन्द्रनीलनिभं प्रभुम्। आत्ममायारतं देवमवधूतं दिगम्बरम्॥ ११ ॥ भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं जटाजूटधरं विभुम्। चतुर्बाहुमुदाराङ्गं प्रफुल्लकमलेक्षणम्॥ १२ ॥ ज्ञानयोगनिधिं विश्वगुरुं योगिजनप्रियम्। भक्तानुकम्पिनं सर्वसाक्षिणं सिद्धसेवितम्॥ १३ ॥ एवं यः सततं ध्यायेद्देवदेवं सनातनम्। स मुक्तः सर्वपापेभ्यो निःश्रेयसमवाप्नुयात्॥ १४ ॥ इत्यों सत्यमित्युपनिषद्॥ १५ ॥

यहाँ पर ये निम्न श्लोक कहे गये हैं— "मंगल स्वरूप वाले, शान्तरूप वाले, इन्द्रनीलमणि के समान श्याम, आत्ममाया के साथ रमण करने वाले, अवधूत, नग्न शरीर वाले, भस्म लगे हुए शरीर वाले, जटाजूट धारण किये हुए, सर्वत्र व्याप्त रहने वाले, चार भुजाओं से युक्त, उदार अंग वाले, प्रफुल्ल कमल के समान नेत्र वाले, ज्ञानयोग के भण्डार, सम्पूर्ण विश्व के गुरु, योगी जनों के प्रिय, अपने भक्तजनों पर दया करने वाले, सबके साक्षी एवं सिद्धजनों द्वारा सेवित प्रभु दत्तात्रेय देव शाश्वत, सनातन पुरुष हैं तथा देवों के भी देव अर्थात् आदिदेव हैं। इस तरह से जो पुरुष निरन्तर सदा ही उन (देवपुरुष) का ध्यान करता रहता है, वह समस्त पापों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। इति ॐ सत्यम् अर्थात् यही सत्य है। इस प्रकार से यह उपनिषद् (रहस्यमयी विद्या) पूर्ण हुई ॥ ११-१५ ॥"

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति शाण्डिल्योपनिषत्समाप्ता ॥

॥ शारीरकोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल २० मन्त्र हैं, जिसमें सृष्टि प्रक्रिया का विशद वर्णन है। सर्वप्रथम शरीर में विद्यमान पंचतत्त्वों का परिचय कराया गया है। इसके बाद पंच ज्ञानेन्द्रियों, पंचकर्मेन्द्रियों, पंच तन्मात्राओं आदि का उत्पत्ति-क्रम वर्णित है। अन्त:करण चतुष्टय तथा उनका शरीर में स्थान कहाँ है? इसका भी उल्लेख है। इसी प्रकार अन्य अनेक तत्त्वों का क्रमश: उद्भव और विकास वर्णित है। आगे चल कर सत,रज, तम-तीनों गुणों का स्वरूप और विभाग का वर्णन किया गया है। अन्त में १७ तत्त्वों वाले सूक्ष्म शरीर, २४ तत्त्वों वाली प्रकृति तथा पुरुष को लेकर २५ तत्त्व वाले पूरे विश्वब्रह्मांड का स्वरूप प्रतिपादित हुआ है। तत्त्वबोध की दृष्टि से इस उपनिषद् का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान कहा जा सकता है।

॥ शान्तिपाठ: ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्ति: ॥ (द्रष्टव्य-अवधूतोपनिषद्)

ॐ अथात: पृथिव्यादिमहाभूतानां समवायं शरीरम्। यत्कठिनं सा पृथिवी यद्द्रवं तदापो यदुष्णं तत्तेजो यत्संचरति स वायुर्यत्सुषिरं तदाकाशम्॥ १ ॥

पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों का समुच्चय ही यह शरीर है। इस शरीर में जो ठोस पदार्थ हैं, वह पृथ्वी तत्त्व हैं। जो द्रव पदार्थ हैं, वह जल तत्त्व है। जो ऊष्मा है, वही अग्नि तत्त्व है। जो सतत गतिशील है, वह वायु तत्त्व हैं और जो सुषिर (पोला-छिद्रयुक्त) है, वह ही आकाश तत्त्व है॥ १ ॥

श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि। श्रोत्रमाकाशे वायौ त्वगग्नौ चक्षुरप्सु जिह्वा पृथिव्यां घ्राणमिति। एवमिन्द्रियाणां यथाक्रमेण शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्चेति विषया: पृथिव्यादिमहाभूतेषु क्रमेणोत्पन्ना: ॥ २ ॥

श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। आकाश तत्त्व में श्रोत्र, वायु तत्त्व में त्वचा, अग्नि (तेज) तत्त्व में नेत्र, जल तत्त्व में जिह्वा तथा पृथिवी तत्त्व में घ्राणेन्द्रिय विद्यमान है। इन सभी इन्द्रियों के विषय क्रमश: शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं, वे सभी पृथिवी आदि महाभूतों से प्रादुर्भूत हुए हैं॥ २ ॥

वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि कर्मेन्द्रियाणि। तेषां क्रमेण वचनादानगमनविसर्गानन्दाश्चैते विषया: पृथिव्यादिमहाभूतेषु क्रमेणोत्पन्ना: ॥ ३ ॥

वाक्, हस्त, पाद, गुदा एवं उपस्थ (जननेन्द्रिय)-कर्मेन्द्रियाँ कही गयी हैं। इन सभी इन्द्रियों के विषय क्रम से वचन, आदान-प्रदान, गमन, विसर्जन और आनन्द हैं, जो पृथ्वी आदि महाभूतों से ही प्रकट होते हैं॥

मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तमित्यन्त:करणचतुष्टयम्। तेषां क्रमेण संकल्पविकल्पाध्यवसायाभिमानावधारणास्वरूपाश्चैते विषया:। मन:स्थानं गलान्तं बुद्धेर्वदनमहंकारस्य हृदयं चित्तस्य नाभिरिति॥ ४ ॥

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार- इन चारों को अन्त:करण (चतुष्टय) कहा गया है। इनके विषय क्रमश: इस प्रकार हैं-१. संकल्प-विकल्प, २. निश्चय, ३. अवधारणा और ४. अभिमान। मन का क्षेत्र गले का अन्तिम भाग, बुद्धि का स्थान मुख, चित्त का क्षेत्र नाभि और अहंकार का क्षेत्र हृदय बताया गया है॥ ४॥

अस्थिचर्मनाडीरोममांसाश्चेति पृथिव्यंशाः। मूत्रश्लेष्मरक्तशुक्रस्वेदा अबंशाः। क्षुत्तृष्णालस्यमोहमैथुनान्यग्नेः। प्रचारणविलेखनस्थूलाक्ष्युन्मेषनिमेषादि वायोः। कामक्रोधलोभमोहभयान्याकाशस्य॥ ५॥

अस्थि, त्वचा, नाड़ी, रोमकूप तथा मांस- ये सभी पृथ्वी तत्त्व के अंश हैं। मूत्र, कफ, रक्त, शुक्र तथा स्वेद (पसीना)—जल तत्त्व के अंश हैं। क्षुधा, पिपासा, आलस्य, मोह और मैथुन-अग्नि तत्त्व के अंश हैं। फैलाना, दौड़ना, गति करना (चलना), उड़ना, पलकों को संचालित करना आदि वायु तत्त्व के अंश हैं और काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि आकाश तत्त्व के अंश हैं॥ ५॥

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पृथिवीगुणाः। शब्दस्पर्शरूपरसाश्चापां गुणाः। शब्दस्पर्शरूपाण्यग्निगुणाः। शब्दस्पर्शाविति वायुगुणौ। शब्द एक आकाशस्य॥ ६॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध- ये सभी पृथिवी तत्त्व के गुण कहे गये हैं। शब्द, स्पर्श, रूप और रस- ये सभी जल तत्त्व के गुण बताए गये हैं। शब्द, स्पर्श और रूप-ये तीनों अग्नि तत्त्व के गुण कहे गये हैं। शब्द तथा स्पर्श वायु तत्त्व के गुण बताये गये हैं और आकाश तत्त्व का मात्र एक ही गुण शब्द कहा गया है॥ ६॥

सात्त्विकराजसतामसलक्षणानि त्रयो गुणाः॥ ७॥

सात्त्विक, राजस और तामस इन तीन लक्षणों से युक्त ये तीन गुण कहे गये हैं॥ ७॥

अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः। अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचं संतोष आर्जवम्॥ ८॥ अमानित्वमदम्भित्वमास्तिकत्वमहिंस्रता। एते सर्वे गुणाः ज्ञेयाः सात्त्विकस्य विशेषतः॥ ९॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, क्रोध न करना, गुरु की सेवा करना, शुचिता (पवित्रता), संतोष, सरलता, अमानिता का भाव, दम्भ न करना, आस्तिकता, हिंसा न करना आदि ये सभी गुण विशेषतया सात्त्विक स्वभाव वाले मनुष्यों के कहे गये हैं॥ ८-९॥

अहं कर्ताऽस्म्यहं भोक्ताऽस्म्यहं वक्ताऽभिमानवान्। एते गुणा राजसस्य प्रोच्यन्ते ब्रह्मवित्तमैः॥

मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता अर्थात् भोग करने वाला हूँ, मैं वक्ता (बोलने वाला) हूँ-इस तरह के अभिमान युक्त गुण, राजस स्वभाव वाले मनुष्यों के बताए गए हैं॥ १०॥

निद्रालस्ये मोहरागौ मैथुनं चौर्यमेव च। एते गुणास्तामसस्य प्रोच्यन्ते ब्रह्मवादिभिः॥ ११॥

निद्रा, आलस्य, मोह, आसक्ति, मैथुन और चौर कृत्य- ये समस्त गुण तामस वृत्ति से युक्त मनुष्यों के कहे गये हैं॥ ११॥

ऊर्ध्वे सात्त्विको मध्ये राजसोऽधस्तामस इति॥ १२॥

सर्वश्रेष्ठ ऊर्ध्व पद सात्त्विक गुण को कहा गया है, राजस गुण को मध्यम तथा तामस गुण को अधम बताया गया है॥ १२॥

सत्यज्ञानं सात्त्विकम्। धर्मज्ञानं राजसम्। तिमिरान्धं तामसमिति॥ १३॥

पूर्णसत्य (ब्रह्म) ज्ञान सात्त्विक है। धर्मज्ञान राजस है और अन्धकार से युक्त अर्थात् तिमिरान्ध (अधर्ममूढ़ता) ही तामस है॥ १३॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयमिति चतुर्विधा अवस्थाः। ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियान्तःकरणचतुष्टयं चतुर्दशकरणयुक्तं जाग्रत्। अन्तःकरणचतुष्टयैरेव संयुक्तः स्वप्नः। चित्तैककरणा सुषुप्तिः। केवलजीवयुक्तमेव तुरीयमिति॥ १४॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय- ये चार अवस्थाएँ हैं। जाग्रत् अवस्था में ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा चार अन्तःकरण मिलकर के चौदह करण (सक्रिय) रहते हैं। स्वप्नावस्था में चार अन्तःकरण संयुक्त रूप से (सक्रिय) रहते हैं। सुषुप्ति अवस्था में केवल चित्त ही एक करण (सक्रिय) रहता है तथा तुरीयावस्था में केवल जीवात्मा ही रह जाता है॥ १४॥

उन्मीलितनिमीलितमध्यस्थजीवपरमात्मनोर्मध्ये जीवात्मा क्षेत्रज्ञ इति विज्ञायते ॥ १५॥

उन्मीलित (अर्थात् खुले हुए) तथा निमीलित (अर्थात् बन्द नेत्रों) की मध्य स्थिति में जीव और परमात्मा के बीच में जीवात्मा क्षेत्रज्ञ होता है॥ १५॥

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया। शरीरं सप्तदशभिः सुसूक्ष्मं लिङ्गमुच्यते ॥ १६॥

ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन एवं बुद्धि-इन सत्रह का सूक्ष्म स्वरूप लिङ्ग शरीर कहा गया है, ऐसा जानना चाहिए॥ १६॥

मनो बुद्धिरहंकार खानिलाग्निजलानि भूः। एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ विकाराः षोडशापरे॥ १७॥

मन, बुद्धि, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी ये आठ प्रकृति के विकार कहे गये हैं। इनके अतिरिक्त सोलह विकार और बताये गये हैं॥ १७॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं चैव तु पंचमम्। पायूपस्थौ करौ पादौ वाक्चैव दशमी मता॥ शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च। त्रयोविंशतिरेतानि तत्त्वानि प्रकृतानि तु॥ १९॥ चतुर्विंशतिरव्यक्तं प्रधानं पुरुषः परः इत्युपनिषत्॥ २०॥

श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राणेन्द्रिय-ये पाँच विकार तथा गुदा, उपस्थ (जननेन्द्रिय), हाथ, पैर, तथा वाक्—ये पाँच और शब्द,स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध—ये पाँच, ये सभी तथा उपर्युक्त मन आदि अष्टविकार मिलकर प्रकृति के (८+५+५+५ = २३) तेईस तत्त्व हुए। चौबीसवाँ अव्यक्त प्रधान (प्रकृति) है, पुरुष उससे भी परे (कहा गया) है, (इस प्रकार कुल पच्चीस तत्त्वों के समुच्चय वाला यह विश्वब्रह्माण्ड है) यही (शारीरक) उपनिषद् है॥१८-२०॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः॥

॥ इति शारीरकोपनिषत्समाप्ता॥

॥ संन्यासोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल दो अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में संन्यास क्या है? कैसे ग्रहण किया जाता है? उसके लिए कैसा आचार-व्यवहार होना चाहिए आदि का विशद वर्णन है। दूसरा अध्याय काफी बड़ा है। इसकी शुरुआत साधन चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति, मुमुक्षुत्व) से की गई है। संन्यास का अधिकारी कौन है? इसकी विस्तृत गवेषणा की गई है। संन्यासी का भेद बताते हुए १. वैराग्य संन्यासी २. ज्ञान संन्यासी ३. ज्ञान-वैराग्य संन्यासी और ४. कर्म संन्यासी की विस्तृत व्याख्या की गई है। आगे चलकर छः प्रकार के संन्यास का क्रम उल्लिखित हुआ है-कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत। इसी क्रम में आत्मज्ञान की स्थिति और स्वरूप का भी वर्णन उपनिषद्कार ने कर दिया है। संन्यासी के लिए आचरण की पवित्रता और भिक्षा में मिले स्वल्प भोजन में ही संतुष्ट होने का विधान बताया गया है। उसे स्त्री, भोग आदि शारीरिक आनन्द प्राप्ति से दूर रहने का निर्देश है। इस प्रकार आहार-विहार का संयम बरतते हुए नित्य प्रति आत्म चिन्तन में तल्लीन रहना चाहिए। ॐकार का जप करते रहना चाहिए-इसी से उसके अन्तःकरण में ब्रह्म का प्रकाश प्रकट होता है और वह मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी बनता है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-आरुण्युपनिषद्)

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

अथातः संन्यासोपनिषदं व्याख्यास्यामो योऽनुक्रमेण संन्यस्यति स संन्यस्तो भवति। कोऽयं संन्यास उच्यते। कथं संन्यस्तो भवति। य आत्मानं क्रियाभिर्गुप्तं करोति मातरं पितरं भार्यां पुत्रान्बन्धूननुमोदयित्वा ये चास्यर्त्विजस्तान्सर्वांश्च पूर्ववद्वृणीत्वा वैश्वानरेष्टिं निर्वपेत्सर्वस्वं दद्याद्यजमानस्य गा ऋत्विजः सर्वैः पात्रैः समारोप्य यदाहवनीये गार्हपत्ये वान्वाहार्यपचने सभ्यावसथ्ययोश्च प्राणापानव्यानोदानसमानान्सर्वान्सर्वेषु समारोपयेत्। सशिखान्केशान्विसृज्य यज्ञोपवीतं छित्त्वा पुत्रं दृष्ट्वा त्वं यज्ञस्त्वं सर्वमित्यनुमन्त्रयेत्। यद्यपुत्रो भवत्यात्मानमेवेमं ध्यात्वाऽनवेक्षमाणः प्राचीमुदीचीं वा दिशं प्रव्रजेच्च। चतुर्षु वर्णेषु भिक्षाचर्यं चरेत्। पाणिपात्रेणाशनं कुर्यात् औषधवदशनमाचरेत्। औषधवदशनं प्राश्नीयात्। यथालाभमश्नीयात्प्राणसंधारणार्थं यथा मेदोवृद्धिर्न जायते। कृशो भूत्वा ग्राम एकरात्रं नगरे पञ्चरात्रं चतुरो मासान्वार्षिकान्ग्रामे वा नगरे वापि वसेत्। पक्षा वै मासो इति द्वौ मासौ वा वसेत् । विशीर्णवस्त्रं वल्कलं वा प्रतिगृह्णीयान्नान्यत्प्रतिगृह्णीयाद्यद्यशक्तो भवति क्लेशतस्तप्यते तप इति। यो वा एवं क्रमेण संन्यस्यति यो वा एवं पश्यति किमस्य यज्ञोपवीतं कास्य शिखा कथं वास्योपस्पर्शनमिति। तं होवाचेदमेवास्य तद्यज्ञोपवीतं यदात्मध्यानं विद्या शिखा नीरैः सर्वत्रावस्थितैः कार्यं निर्वर्तयन्नुदरपात्रेण जलतीरे निकेतनम्। ब्रह्मवादिनो वदन्त्यस्तमित आदित्ये कथं वास्योपस्पर्शनमिति। तान्होवाच यथाहनि तथा रात्रौ नास्य नक्तं न दिवा तदप्येतदृषिणोक्तम्। सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एवं विद्वानेतेनात्मानं संधत्ते॥ १ ॥

अब संन्यास उपनिषद् का वर्णन करते हैं। क्रमानुसार नश्वर जगत् का परित्याग कर देने वाला विरक्त ही संन्यासी होता है। (प्रश्न) संन्यास किसे कहते हैं? संन्यासी किस तरह का होता है? (उत्तर) संन्यासी वह है, जो आत्मा के उत्थान हेतु माता-पिता, स्त्री-पुत्र, बान्धव आदि के द्वारा अनुमोदित पूर्व में कही क्रियाओं का परित्याग कर देता है; जो हमेशा की तरह ऋत्विजों को नमन-वंदन करने के पश्चात् वैश्वानर यज्ञ सम्पन्न करता है। इस पुनीत अवसर पर यजमान अपना सभी कुछ दान कर दे तथा ऋत्विज् सम्पूर्ण सामग्री को पात्रों समेत हवन कर दे। संन्यासी द्वारा आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि इन तीनों अग्नियों तथा सभ्य (वैदिक कालीन अग्नि) एवं आवसथ्य (स्मृतिकालीन अग्नि) को प्राण, अपान, व्यान, उदान एवं समान पाँचों वायुओं में आरोपित करना चाहिए। शिखा (चोटी) सहित सभी केशों का मुण्डन करा देना चाहिए। यज्ञोपवीत को त्याग दे एवं पुत्र को देखकर इस तरह कहे कि तुम यज्ञ रूप हो, सर्वस्वरूप हो। यदि पुत्र न हो, तो वह अपनी आत्मा को ही लक्ष्य करके उपदेश देकर पूर्व अथवा उत्तर दिशा की ओर गमन कर जाए। चारों वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) से भिक्षा स्वीकार करनी चाहिए। हाथ रूपी पात्र में भिक्षा ग्रहण कर भोजन करना चाहिए। भोजन को औषधि के समान ग्रहण करना चाहिए अर्थात् मात्र प्राण रक्षा की दृष्टि से आहार लेना चाहिए और जो कुछ प्राप्त हो जाए, वही ग्रहण करना चाहिए, जिससे चर्बी की वृद्धि न हो। इस प्रकार क्षीणकाय होकर गाँव में एक रात्रि एवं नगर में पाँच रात्रि तक निवास करना चाहिए। चातुर्मास (वर्षा के मास) में एक ही गाँव अथवा नगर में रुक जाना चाहिए या फिर पक्ष (पखवारा) को ही मास समझकर दो महीने तक निवास करना चाहिए। फटे वस्त्र अथवा वल्कल वस्त्र ही धारण करना चाहिए, अन्य वस्त्रों को ग्रहण न करे। इस तरह क्लेश सहना ही तप-तितिक्षा है। जो इस क्रम से संन्यास धारण करता है, उसके लिए यज्ञोपवीत क्या है? शिखा क्या है? आचमन किस तरह का है? इन सभी का उत्तर इस प्रकार है- आत्मा का ध्यान ही संन्यासी का यज्ञोपवीत है। विद्या ही उसकी शिखा (चोटी) है। सर्वत्र स्थित जल के लिए उदर (पेट) ही संन्यासी का पात्र है तथा जलाशय का तट ही उसका आश्रय-स्थल है। इसी प्रकार का ब्रह्मवादी भी होता है। उसके लिए सूर्य के अस्ताचल की ओर गमन करने पर आचमन किस तरह का है? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है-उस (संन्यासी) के लिए रात्रि एवं दिन दोनों ही एक जैसे हैं। उसके लिए न रात्रि होती है, न दिन होता है। जो (संन्यासी अथवा साधक) अपनी आत्मा के अनुसंधान में सतत लगा रहता है, विद्वज्जनों के अनुसार उसके लिए सदैव दिन ही है॥ १॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः सर्वतो विरक्तश्चित्तशुद्धिमेत्याशासूयेर्ष्याहंकारं दग्ध्वा साधनचतुष्टयसंपन्न एव संन्यस्तुमर्हति॥ १॥

चालीस तरह के संस्कारों से सम्पन्न, सभी से पूर्ण रूप से विरक्त, चित्त को परिष्कृत रखने वाला, आशा, असूया, ईर्ष्या, अहंकार को भस्मीभूत करके चारों साधनों (१) विवेक (नित्यानित्य वस्तु का ज्ञान), (२) वैराग्य (लौकिक एवं पारलौकिक भोगों की इच्छा का न होना), (३) षड्सम्पत्ति (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान एवं श्रद्धा), (४) मुमुक्षुत्व (मोक्ष की प्रबल इच्छा) से सम्पन्न ही संन्यास ग्रहण करने का अधिकारी होता है॥ १॥

संन्यासे निश्चयं कृत्वा पुनर्न च करोति यः। स कुर्यात्कृच्छ्रमात्रं तु पुनः संन्यस्तुमर्हति॥ २॥

जो (साधक) संन्यास का निश्चय कर ले और फिर उसे स्वीकार न करे, तो वह कृच्छ्र (कठोर-तप) व्रत करने पर ही दुबारा संन्यास धर्म ग्रहण कर सकता है॥ २॥

संन्यासं पातयेद्यस्तु पतितं न्यासयेत्तु यः। संन्यासविघ्नकर्त्ता च त्रीनेतान्पति-तान्विदुः॥ ३॥

जो (व्यक्ति) संन्यास से पतित (गिर) हो जाते हैं, जो पतित को संन्यास की दीक्षा प्रदान करते हैं अथवा जो संन्यास धर्म ग्रहण करने में बाधा उत्पन्न करते हैं, वे तीनों ही (महा) पतित कहे गये हैं॥ ३॥

अथ षण्डः पतितोऽङ्गविकलः स्त्रैणो बधिरोऽर्भको मूकः पाषण्डश्चक्री लिङ्गी कुष्ठी वैखानसहरद्विजौ भृतकाध्यापकः शिपिविष्टोऽनग्निको नास्तिको वैराग्यवन्तोऽप्येते न संन्यासार्हाः। संन्यस्ता यद्यपि महावाक्योपदेशे नाधिकारिणः॥ ४॥

नपुंसक, पतित, अङ्गहीन, स्त्रैण (नारी स्वभाव वाला), बधिर, बालक, वाचाल, पाखण्डी, चक्री (चक्र चिह्न से अंकित अपराधी या कुचक्र रचने वाला), कुष्ठी, वैखानस एवं ब्राह्मण पद से भ्रष्ट, वेतनभोगी अध्यापक, अजितेन्द्रिय, अग्निहोत्र से रहित, नास्तिक विरक्त होते हुए भी संन्यास-दीक्षा के उपयुक्त नहीं होते। यदि कहीं वे संन्यासी हो भी जाएँ, तब भी वे महावाक्य के उपदेश में पूर्ण सक्षम अधिकारी नहीं होते॥ ४॥

आरूढपतितापत्यं कुनखी श्यावदन्तकः। क्षयीतथाङ्गविकलो नैव संन्यस्तुमर्हति॥ ५॥

पतित की सन्तान, निकृष्ट नख से युक्त, मैले-दुर्गन्धयुक्त दाँत वाले, क्षयरोग ग्रस्त, विकलांग आदि संन्यास-धर्म की दीक्षा ग्रहण करने योग्य नहीं होते॥ ५॥

संप्रत्यवसितानां च महापातकिनां तथा। व्रात्यानामभिशस्तानां संन्यासं नैव कारयेत्॥ ६॥

जिन्हें अकस्मात् वैराग्य हो गया हो, महापातकी, व्रात्य (संस्कारहीन) एवं लोक में निंदित व्यक्तियों को संन्यास की दीक्षा नहीं देनी चाहिए॥ ६॥

व्रतयज्ञतपोदानहोमस्वाध्यायवर्जितम्। सत्यशौचपरिभ्रष्टं संन्यासं नैव कारयेत्। एते नार्हन्ति संन्यासमातुरेण विना क्रमम्॥ ७॥

जो (मनुष्य) व्रत, यज्ञ, तप, दान, होम और स्वाध्याय-रहित हैं, सत्य एवं शुचिता से विहीन हैं, उन्हें संन्यास की दीक्षा नहीं देनी चाहिए। इस तरह के लोग चाहें तो 'आतुर संन्यासी' हो सकते हैं; किन्तु ऐसे लोग संन्यास के नियमानुसार अधिकारी नहीं हो सकते॥ ७॥

ॐ भूः स्वाहेति शिखामुत्पाट्य यज्ञोपवीतं बहिर्न निवसेत्। यशो बलं ज्ञानं वैराग्यं मेधां प्रयच्छेति यज्ञोपवीतं छित्त्वा ॐ भूः स्वाहेत्यप्सु वस्त्रं कटिसूत्रं च विसृज्य संन्यस्तं मयेति त्रिवारमभिमन्त्रयेत्॥ ८॥

'ॐ भूः स्वाहा' मन्त्र पढ़कर शिखा (चोटी) को दूर कर दे अर्थात् काट दे; किन्तु यज्ञोपवीत को रहने दे। 'हे यज्ञ! (आप हमें) बल, ज्ञान, वैराग्य एवं मेधा को प्रदान करें, इस प्रकार कहकर यज्ञोपवीत को छिन्न-भिन्न कर दे। 'ॐ भूः स्वाहा' मंत्र पढ़कर वस्त्र एवं कटि-सूत्र को जलाशय में विसर्जित करके 'संन्यस्तं मया' (मैंने संन्यास ग्रहण कर लिया), इस मंत्र का उच्चारण तीन बार करना चाहिए॥ ८॥

संन्यासिनं द्विजं दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः। एष मे मण्डलं भित्त्वा परं ब्रह्माधिगच्छति॥९॥

संन्यासी एवं द्विज को देखकर भास्कर अपने स्थल से चलायमान होने लगता है कि कहीं यह हमारे मण्डल को भेद करके परब्रह्म में न समा जाए॥ ९॥

षष्टिं कुलान्यतीतानि षष्टिमागामिकानि च। कुलान्युद्धरते प्राज्ञः संन्यस्तमिति यो वदेत्॥१०॥

जो ज्ञानी मनुष्य 'मैं संन्यासी हो गया' ऐसा स्वीकार वचन बोलता है, वह अपने जन्म के पूर्व की साठ पीढ़ियों तथा आगे आने वाली साठ पीढ़ियों को भवसागर से मुक्त कर देता है॥ १०॥

ये च संतानजा दोषा ये दोषा देहसंभवाः। प्रैषाग्निर्निर्दहेत्सर्वांस्तुषाग्निरिव काञ्चनम्॥ ११॥

संन्यासी के जो पैतृक दोष हैं तथा जो स्वयं के अपने शारीरिक दोष हैं, उन सभी को वह उसी तरह से भस्म कर देता है, जिस तरह तुषाग्नि सुवर्ण की गन्दगी को जला डालती है॥ ११॥

सखा मा गोपायेति दण्डं परिग्रहेत्॥ १२॥

हे सखा! आप हमारी रक्षा करें, इस प्रकार कहकर दण्ड को धारण करना चाहिए॥ १२॥

दण्डं तु वैणवं सौम्यं सत्वचं समपर्वकम्। पुण्यस्थलसमुत्पन्नं नानाकल्मषशोधितम्॥ १३॥
अदग्धमहतं कीटैः पर्वग्रन्थिविराजितम्। नासादघ्नं शिरस्तुल्यं भ्रुवोर्वा बिभृंयाद्यतिः॥ १४॥

दण्ड उत्तम-श्रेष्ठ बाँस का सीधा, छाल सहित, समान (संख्या युक्त) गाँठ वाला होना चाहिए। उसका आविर्भाव श्रेष्ठ स्थान में हुआ हो, किसी भी तरह का दाग-धब्बा आदि न हो, जला हुआ भी न हो तथा कृमि-कीटक आदि के द्वारा खाया भी न गया हो पर्व ग्रन्थि-युक्त (गाँठ सहित) वह (दण्ड) लम्बाई में नासिका, शिखा (चोटी) अथवा भृकुटी तक का होना चाहिए॥ १३-१४॥

दण्डात्मनोस्तु संयोगः सर्वथा तु विधीयते। न दण्डेन विना गच्छेदिषुक्षेपत्रयं बुधः ॥ १५॥

दण्ड एवं आत्मा का संयोग सदा ही श्रेयस्कर है। इस कारण संन्यासी को दण्ड के अभाव में तीन बार बाण फेंकने की दूरी से बाहर न जाना चाहिए॥ १५॥

जगज्जीवनं जीवनाधारभूतं मा ते मा मन्त्रयस्व सर्वदा सर्वसौम्येति कमण्डलुं परिगृह्य योगपट्टाभिषिक्तो भूत्वा यथासुखं विहरेत्॥ १६॥

हे सर्वसौम्य! आप जीवन के आधारभूत जल को धारण करने वाले हैं, मुझसे मन्त्रणा करते रहें— इस प्रकार से कहकर संन्यासी कमण्डलु को हाथ में ग्रहण कर योग पट्ट से सुशोभित होकर सुखानुभूतिपूर्वक यत्र-तत्र भ्रमण करे॥ १६॥

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज। उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ॥ १७॥

(संन्यासी को) सभी तरह के धर्म-अधर्म तथा सत्य-असत्य दोनों का ही परित्याग कर देना चाहिए। तदनन्तर जिसके द्वारा इस प्रकार सत्य-असत्य का परित्याग क्रिया जाता है, उसका भी त्याग कर देना चाहिए॥ १७॥

वैराग्यसंन्यासी ज्ञानसंन्यासी ज्ञानवैराग्यसंन्यासी । कर्मसंन्यासीति चातुर्विध्यमुपागतः॥ १८॥

संन्यासी के चार भेद बतलाये गये हैं- (१) वैराग्य संन्यासी (२) ज्ञान संन्यासी (३) ज्ञान-वैराग्य संन्यासी (४) कर्म संन्यासी ॥१८॥

तद्यथेति। दृष्टानुश्रविकविषयवैतृष्ण्यमेत्य । प्राक्पुण्यकर्मविशेषात्संन्यस्तः स वैराग्यसंन्यासी॥

दृष्ट एवं आनुश्रविक विषयों के प्रति तृष्णारहित होकर तथा पूर्व-जन्म के पुण्यों के फलस्वरूप वैराग्य उत्पन्न होने के कारण जिस मनुष्य ने संन्यास-धर्म ग्रहण किया है, वह 'वैराग्य संन्यासी' है॥ १९॥

[सांख्य-योग की मान्यतानुसार 'दृष्ट' विषय वे हैं, जो इस लोक में 'दृष्टिगोचर' होते हैं, जैसे-रूप,रस, गन्ध आदि, धन-सम्पत्ति, स्त्री, राज-ऐश्वर्य इत्यादि। 'आनुश्रविक' विषय वे हैं, जो वेद और शास्त्रों द्वारा सुने गए हैं, ये भी

दो प्रकार के होते हैं-(क) देवलोक, स्वर्ग, विदेह और प्रकृतिलय का आनन्द (ख) दिव्य गन्ध-रस आदि, अणिमा-गरिमा-महिमा आदि सिद्धियाँ। वैराग्य संन्यासी उक्त दोनों प्रकार के विषयों से विरक्त होता है।]

शास्त्रज्ञानात्पापपुण्यलोकानुभवश्रवणात्प्रपञ्चोपरतो देहवासनां शास्त्रवासनां लोकवासनां त्यक्त्वा वमनान्नमिव प्रवृत्तिं सर्वं हेयं मत्वा साधनचतुष्टयसंपन्नो यः संन्यस्यति स एव ज्ञानसंन्यासी॥ २०॥

शास्त्रों का ज्ञान पाकर, पाप-पुण्य और सांसारिक अनुभवों को सुनकर, प्रपञ्च से परे (उपराम) होकर, शरीर वासना (पुत्रैषणा, वित्तैषणा, लौकैषणा), शास्त्र वासना (शास्त्रों पर अत्यधिक निर्भर करना), लोक वासना (लौकिक व्यवहारों की प्रमुखता) का परित्याग करके, समस्त प्रकार की सांसारिक प्रवृत्तियों को वमन किये हुए अन्न की भाँति मान करके, साधन चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व) से सम्पन्न होकर जो संन्यास धर्म को स्वीकार करता है, 'उसे ज्ञान संन्यासी' कहा गया है॥ २०॥

क्रमेण सर्वमभ्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपानुसंधानेन देहमात्रावशिष्टः संन्यस्य जातरूपधरो भवति स ज्ञानवैराग्यसंन्यासी॥ २१॥

क्रमानुसार सभी का अभ्यास करके, सभी अनुभव लेकर, ज्ञान एवं वैराग्य के तत्त्व को अच्छी तरह से जान करके, देह मात्र अवशिष्ट मानकर जो संन्यास-धर्म को ग्रहण करता है, 'वह ज्ञान वैराग्य संन्यासी' कहलाता है॥ २१॥

ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भूत्वा वानप्रस्थाश्रममेत्य वैराग्याभावेऽप्याश्रमक्रमानुसारेण यः संन्यस्यति स कर्मसंन्यासी॥ २२॥

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ- इन तीनों आश्रमों का पालन करने के पश्चात् वैराग्य (की दृढ़ स्थिति) न होने पर भी नियमानुसार संन्यास ग्रहण करना चाहिए, यह लक्षण 'कर्म-संन्यासी' के कहे गये हैं॥ २२॥

स संन्यासः षड्विधो भवति कुटीचकबहूदकहंस। परमहंसतुरीयातीतावधूताश्चेति॥ २३॥

इस संन्यास के छः भेद हैं- कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत तथा अवधूत॥ २३॥

कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनशाटीकन्थाधरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठरखनित्रशिक्यादिमात्रसाधनपर एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः॥ २४॥

कुटीचक संन्यासी शिखा (चोटी) एवं यज्ञोपवीत को अपने शरीर में धारण किये रहता है। इसके अतिरिक्त वह दण्ड, कमण्डलु, कौपीन (लँगोटी), चादर, कंथा (कथरी) को ग्रहण करने वाला, माता-पिता तथा गुरु की आराधना करने वाला; बटलोई, कुदाली और छीका मात्र अपने पास रखने वाला तथा एक ही जगह पर भोजन करने वाला, ऊपर की ओर श्वेत त्रिपुण्ड्र मस्तक में धारण करने वाला और त्रिदण्ड भी धारण करने वाला होता है॥ २४॥

बहूदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी। कुटीचकवत्सर्वसमो इ मधुकरवृत्त्याष्टकवलाशी॥२५

बहूदक संन्यासी शिखा आदि, कंथा (कथरी) त्रिपुण्ड्र को धारण करने वाला तथा सभी तरह से कुटीचक की भाँति मधुकरी (भिक्षा) की वृत्ति वाला होता है, वह केवल आठ ग्रास भोजन ग्रहण करता है॥ २५॥

हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधारी। असंक्लृप्तमाधुकरान्नाशी कौपीनखण्डतुण्डधारी॥२६

'हंस' नामक संन्यासी जटाधारी (लम्बे केशों वाला,) त्रिपुण्ड्र एवं ऊर्ध्व पुण्ड्र को धारण करने वाला, अनजान स्थान पर माँगकर भोजन करने वाला तथा कौपीन (लँगोटी) मात्र धारण करने वाला होता है॥ २६

परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहेषु करपात्री एककौपीनधारी।
शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो वा भस्मोद्धूलनपरः सर्वत्यागी।॥ २७॥

'परमहंस' संन्यासी शिखा-यज्ञोपवीत से विहीन पाँच घरों से हाथ रूपी पात्र में भिक्षा प्राप्त करने वाला, एक लँगोटी, एक चादर तथा एक बाँस का दण्ड अपने पास में रखने वाला होता है अथवा शरीर पर भस्म धारण कर एक चादर ही अपने पास रखता है और सभी कुछ का परित्याग कर देता है॥ २७॥

तुरीयातीतो गोमुखवृत्त्या फलाहारी अन्नाहारी ।
चेद्गृहत्रये देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः ॥ २८॥

'तुरीयातीत' संन्यासी सब कुछ त्याग देने वाला, गोमुख वृत्ति वाला, तीन गृहों से फल अथवा अन्न की भिक्षा लेने वाला, अपना शरीर नग्न रखने वाला अर्थात् बिना वस्त्रादि के शरीर को रखने वाला होता है। वह अपने शरीर को मरे हुए की भाँति जान करके किसी तरह जीवन निर्वाह करता है॥ २८॥

अवधूतस्त्वनियमः पतिताभिशस्तवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगरवृत्त्याहारपरः स्वरूपानुसंधानपरः॥ २९॥ जगत्तावदिदं नाहं सवृक्षतृणपर्वतम्। यद्बाह्यं जडमत्यन्तं तत्स्यां कथमहं विभुः। कालेनाल्पेन विलयी देहो नाहमचेतनः॥ ३०॥

'अवधूत' नामक संन्यासी किसी भी तरह का नियम नहीं मानता। पतित और निन्दित के अतिरिक्त समस्त जातियों में अजगर वृत्ति से आहार प्राप्त करने वाला होता है। वह अपने स्वरूप की खोज में ही सतत लगा रहता है। यह जो वृक्ष, घास-पात, पर्वत आदि सम्पूर्ण विश्व है, वह मेरे से अलग है। जो कुछ बाह्य जगत् में दृष्टिगोचर हो रहा है, वह अत्यन्त जड़ है। मैं किस तरह उसमें स्थित रह सकता हूँ; क्योंकि मैं विराट् हूँ, काल के द्वारा कल्पित एवं जल्दी ही विलय होने वाला भी मैं नहीं हूँ॥ २९-३०॥

जडया कर्णशष्कुल्या कल्यमानक्षणस्थया। शून्याकृतिः शून्यभवः शब्दो नाहमचेतनः॥३१॥

मैं (संन्यासी) वह जड़ शब्द रूप नहीं हूँ; जो कि क्षण-मात्र ही ठहरता है। शून्य आकृति एवं स्वरूप से युक्त अचेतन भी मैं नहीं हूँ॥ ३१॥

त्वचा क्षणविनाशिन्या प्राप्योऽप्राप्योऽयमन्यथा। चित्प्रसादोपलब्धात्मा स्पर्शो नाहमचेतनः॥३२

इस प्रकार क्षण भर में नष्ट होने वाली एवं बनने-बिगड़ने वाली त्वचा भी मुझसे अलग है। मैं वह जड़ (अचेतन) स्पर्श नहीं हूँ, जो कि चैतन्यता के प्रभाव से आत्मानुभूति प्राप्त करता है॥ ३२॥

लब्धात्मा जिह्वया तुच्छो लोलया लोलसत्तया। स्वल्पस्पन्दो द्रव्यनिष्ठो रसो नाहमचेतनः॥३३॥

चंचलता से युक्त मन एवं मन से युक्त जिह्वा द्वारा द्रव्य से उत्पन्न तुच्छ स्पन्दन शक्ति भी मैं नहीं हूँ॥ ३३

दृश्यदर्शनयोर्लीनं क्षयि क्षणविनाशिनोः। केवले द्रष्टरि क्षीणं रूपं नाहमचेतनः॥ ३४॥

इसी तरह से दृश्य एवं दर्शन के विलीन हो जाने से विनष्ट हो जाने वाला अचेतन जड़ अनुभव भी मैं नहीं हूँ, मैं तो केवल द्रष्टा मात्र हूँ॥ ३४॥

नासया गन्धजडया क्षयिण्या परिकल्पितः। पेलवोऽनियताकारो गन्धो नाहमचेतनः॥ ३५॥

गन्ध भी जड़ पदार्थ से युक्त तथा घ्राणेन्द्रिय के द्वारा परिकल्पित है, ऐसी तुच्छ जड़-गन्ध भी मैं नहीं हूँ॥

निर्ममोऽमननः शान्तो गतपञ्चेन्द्रियभ्रमः। शुद्धचेतन एवाहं कलाकलनवर्जितः ॥ ३६॥

मैं (संन्यासी) पञ्च इन्द्रियों के भ्रम से विहीन, मनन रहित. शान्त स्वरूप से युक्त तथा मलिनता रहित शुद्ध चैतन्य मात्र हूँ। ॥ ३६॥

चैत्यवर्जितचिन्मात्रमहमेषोऽवभासकः। सबाह्याभ्यन्तरव्यापी निष्कलोऽहं निरञ्जनः। निर्विकल्पचिदाभास एक आत्मास्मि सर्वगः॥ ३७॥

मैं (संन्यासी) चैतन्य से भी परे चिन्मात्र प्रकाश से युक्त हूँ। मैं बाह्य एवं अन्तः में संव्याप्त रहने वाला निष्कल (कलारहित), निरञ्जन, निर्विकल्प, चिदाभास एवं सर्वत्र व्याप्त रहने वाला आत्मतत्त्व हूँ॥ ३७॥

मयैव चेतनेनेमे सर्वे घटपटादयः। सूर्यान्ता अवभास्यन्ते दीपेनेवात्मतेजसा॥ ३८॥

मुझ एक चैतन्य स्वरूप के द्वारा ही घट-पट आदि से लेकर सूर्य पर्यन्त सभी दीपक के सदृश तेजवान् विनिर्मित किये जाते हैं॥ ३८॥

मयैवैताः स्फुरन्तीह विचित्रेन्द्रियवृत्तयः। तेजसान्तः प्रकाशेन यथाग्निकणपङ्क्तयः॥ ३९॥

ये सभी इन्द्रियों की विचित्र एवं भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्तियाँ (पंक्तियाँ) मेरे अन्तःकरण के प्रकाश से ही प्रादुर्भूत होती हैं। जैसे-अग्नि से चिनगारियाँ निःसृत होती हैं॥ ३९॥

अनन्तानन्दसंभोगा परोपशमशालिनी। शुद्धेयं चिन्मयी दृष्टिर्जयत्यखिलदृष्टिषु॥ ४०॥

यह पवित्र चिन्मय दृष्टि अन्तरहित, शाश्वत, आनन्द का उपभोग करने वाली एवं अत्यन्त शान्ति प्रदान करने वाली है। यह अन्य समस्त दृष्टियों पर विजय पाने वाली है॥ ४०॥

सर्वभावान्तरस्थाय चैत्यमुक्तचिदात्मने। प्रत्यक्चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमो नमः॥ ४१॥

यह मुक्तात्मा सभी तरह की भावनाओं में स्थायी रूप से स्थित रहता है, यह चैत्य अवस्था से भी मुक्त चिदात्मा है। इस प्रत्येक चैतन्य रूप वाले आत्मा को नमस्कार है॥ ४१॥

विचित्राः शक्तयः स्वच्छाः समा या निर्विकारया। चिता क्रियन्ते समया कलाकलनमुक्तया॥ कालत्रयमुपेक्षित्र्या हीनायाश्चैत्यबन्धनैः। चितश्चैत्यमुपेक्षित्र्याः समतैवावशिष्यते॥ ४३॥

कला एवं कल्पनाविहीन चित्शक्ति से ही इन विचित्र, स्वच्छ तथा समभाव सम्पन्न शक्तियों का प्राकट्य हुआ है। यह चित् शक्ति तीनों कालों में सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न, दृश्यजगत् के बन्धनों से मुक्त है॥४२-४३॥

सा हि वाचामगम्यत्वादसत्तामिव शाश्वतीम्। नैरात्मसिद्धात्मदशामुपयातैव शिष्यते॥ ४४॥ ईहानीहामयैरन्तर्या चिदावलिता मलैः। सा चिन्नोत्पादितुं शक्ता पाशबद्धेव पक्षिणी॥४५॥ इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन जन्तवः। धराविवरमग्नानां कीटानां समतां गताः॥ ४६॥

यह वाणी से न जाने जा सकने वाली है। शाश्वत असत्ता तथा निरति आत्मा के सदृश वही शेष रहती है। जो चित्शक्ति इच्छा एवं अनिच्छा में स्थित है, वह मलों से आच्छादित है तथा पाश से आबद्ध पक्षिणी की भाँति उड़ने में असमर्थ होती है। इच्छा एवं द्वेष से प्रादुर्भूत द्वन्द्वभाव के कारण ये मोहवश पृथिवीरूपी गड्ढे में पतित हुए कृमि-कीटकों के ही समान है॥ ४४-४६॥

आत्मनेऽस्तु नमो मह्यमविच्छिन्नचिदात्मने। परामृष्टोऽस्मि बुद्धोऽस्मि प्रोदितोऽस्म्यचिरादहम्॥४७

मुझ अविच्छिन्न चिद्रूप आत्मा को नमन-वंदन है। मैं सतत, परम प्रत्यक्ष, बुद्ध एवं उदित हूँ॥४७॥

उद्भूतोऽस्मि विकल्पेभ्यो योऽस्मि सोऽस्मि नमोऽस्तु ते। तुभ्यं मह्यमनन्ताय मह्यं तुभ्यं चिदात्मने॥

मैं उद्भूत हूँ, विकल्पों से परे हूँ, मैं जो हूँ, मैं ही सो हूँ, मुझे नमस्कार है। तुम और मैं अन्तरहित हैं। मैं एवं तुम दोनों ही चिदात्मा हैं। दोनों को नमस्कार है॥ ४८॥

नमस्तुभ्यं परेशाय नमो मह्यं शिवाय च। तिष्ठन्नपि हि नासीनो गच्छन्नपि न गच्छति। शान्तोऽपि व्यवहारस्थः कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ४९॥

मुझ परम ईश्वर तथा शिव स्वरूप को नमस्कार है। यह (आत्मा) बैठता हुआ आसीन नहीं होता, जाते हुए भी नहीं जाता, शान्त रहते हुए भी व्यवहार में लगा रहता है, कार्य करता हुआ भी कभी आसक्त नहीं होता॥

सुलभश्चायमत्यन्तं सुज्ञेयश्चाप्तबन्धुवत्। शरीरपद्मकुहरे सर्वेषामेव षट्पदः ॥५०॥

यह (आत्मा) सुलभ है, आप्त बन्धु के सदृश है एवं शरीर रूपी कमल पुष्प में भ्रमर की भाँति है॥५०॥

न मे भोगस्थितौ वाञ्छा न मे भोगविसर्जने। यदायाति तदायातु यत्प्रयाति प्रयातु तत्॥५१॥

न तो मुझ (आत्मा) को भोग करते रहने की इच्छा है और न ही भोग को त्यागने की, जो आता हो, वह आ जाए एवं जो जाना चाहता हो, वह चला जाये॥ ५१॥

मनसा मनसि च्छिन्ने निरहंकारतां गते। भावेन गलिते भावे स्वस्थस्तिष्ठामि केवलः॥५२॥

मन से मन के अलग हो जाने पर, अहंकार के विसर्जित हो जाने पर तथा भाव के विनष्ट हो जाने पर मैं (आत्मा) केवल स्वस्थ रूप में स्थित रहता हूँ॥ ५२॥

निर्भावं निरहंकारं निर्मनस्कमनीहितम्। केवलास्पन्दशुद्धात्मन्येव तिष्ठति मे रिपुः॥५३॥

(मैं) भाव शून्य, अहंकाररहित, मनः शून्य, चेष्टारहित, स्पन्द विहीन तथा केवल शुद्ध आत्मा स्वरूप हूँ। मेरा शत्रु कहाँ हो सकता है?॥ ५३॥

तृष्णारज्जुगणं छित्त्वा मच्छरीरकपञ्जरात्। न जाने क्व गतोड्डीय निरहंकारपक्षिणी॥५४॥

मेरे शरीर रूपी पिंजड़े में निवास करने वाली निरहंकारिता रूपी पक्षिणी, तृष्णा रूपी रज्जु (रस्सी) को काटकर न जाने कहाँ उड़कर चली गई॥ ५४॥

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते। यः समः सर्वभूतेषु जीवितं तस्य शोभते॥५५॥

जिसमें अकर्तापन का भाव विद्यमान है, जिसकी बुद्धि में आसक्ति नहीं है, जो समस्त भूत-प्राणियों को समान भाव से देखता है, निश्चय ही उसी का जीवन शोभनीय है॥ ५५॥

योऽन्तःशीतलया बुद्ध्या रागद्वेषविमुक्तया। साक्षिवत्पश्यतीदं हि जीवितं तस्य शोभते॥५६॥

जिसका अन्तःकरण अत्यन्त शीतल है, जिसकी बुद्धि राग-द्वेष आदि से मुक्त हो चुकी है तथा जो साक्षी भाव से इस जगत् का अवलोकन करता है, ऐसे उस श्रेष्ठ संन्यासी का जीवन अत्यधिक शोभनीय है॥

येन सम्यक्परिज्ञाय हेयोपादेयमुज्झता। चित्तस्यान्तेऽर्पितं चित्तं जीवितं तस्य शोभते॥५७॥

जिसको पूर्ण रूप से ज्ञान प्राप्त हो गया है, जिसने अच्छाई एवं बुराई के ध्यान का परित्याग कर दिया है तथा जिस (संन्यासी) ने चित्त को चित्त में ही संयुक्त कर दिया है, उसका ही जीवन अत्यन्त सुन्दर है॥५७॥

ग्राह्यग्राहकसंबन्धे क्षीणे शान्तिरुदेत्यलम्। स्थितिमभ्यागता शान्तिर्मोक्षनामाभिधीयते॥५८॥

ग्राह्य एवं ग्राहक का सम्बन्ध विनष्ट हो जाने के पश्चात् स्थिर शान्ति का उदय होता है, इस कारण शान्ति को ही मोक्ष कहा जाता है॥ ५८॥

भ्रष्टबीजोपमा भूयो जन्माङ्कुरविवर्जिता। हृदि जीवद्विमुक्तानां शुद्धा भवति वासना॥५९॥

जिस प्रकार से भुना हुआ बीज अंकुर प्रकट करने में असमर्थ रहता है, उसी प्रकार जो जीवन से मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं, उन सभी के हृदय की वासना-आसक्ति प्रायः पवित्रता से युक्त हो जाती है॥ ५९॥

पावनी परमोदारा शुद्धसत्त्वानुपातिनी। आत्मध्यानमयी नित्या सुषुप्तिस्थेव तिष्ठति॥६०॥

वह पतित-पावन, परम उदार, शुद्ध सत्य को आत्मसात् करने वाले, आत्मध्यान सम्पन्न एवं अपने-अपने नित्य स्वरूप में प्रतिष्ठित रहते हैं॥ ६०॥

चेतनं चित्तरिक्तं हि प्रत्यक्चेतनमुच्यते। निर्मनस्कस्वभावत्वान्न तत्र कलनामलम् ॥ ६१ ॥

जब चेतन तत्त्व-'चित्त-मुक्त' हो जाता है, तभी यह आत्मरूप चैतन्य तत्त्व कहा जाता है। जब स्वभाव-मन (इच्छा) रहित हो जाता है, तब उसमें किसी भी तरह के दोष प्रकट नहीं होते॥ ६१ ॥

सा सत्यता सा शिवता सावस्था पारमात्मिकी। सर्वज्ञता सा संतृप्तिर्नतु यत्र मनः क्षतम्॥६२ ॥

वही सत्यता है, वही शिव स्वरूप है, उसमें ही परमात्मा अवस्थित है। वही सर्वज्ञता है, वही सम्पूर्ण तृप्ति है, न कि जहाँ मन क्षतिग्रस्त (मेरे-तेरे में बँटा हुआ) हो। ॥ ६२ ॥

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि । निरस्तमननानन्दःद संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम् ॥ ६३ ॥

यद्यपि मैं प्रलाप करता, परित्याग करता, स्वीकार करता, चक्षुओं को खोलता एवं बन्द करता रहता हूँ, फिर भी मैं मननशील, आनन्दस्वरूप, संवित् (ज्ञानरूप) आत्मा ही हूँ॥ ६३ ॥

मलं संवेद्यमुत्सृज्य मनो निर्मूलयन्परम्। आशापाशानलं छित्त्वा संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम्॥ ६४ ॥

संवेद्य रूपी मन को दूर करके तथा मन को निर्मूल अर्थात् बिना इच्छा किये हुए आशा रूपी फन्दे को काट करके मैं केवल संवित् रूप ही हूँ॥ ६४ ॥

अशुभाशुभसंकल्पः संशान्तोऽस्मि निरामयः। नष्टेष्टानिष्टकलनः संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम्॥ ६५ ॥

शुभ एवं अशुभ संकल्पों से मुक्त तथा सम्यक् रूप से शान्त होकर मैं आरोग्य अवस्था में स्थित हूँ। इष्ट तथा अनिष्ट के भाव का परित्याग करके मैं केवल संवित् रूप ही हो गया हूँ॥ ६५ ॥

आत्मतापरते त्यक्त्वा निर्विभागो जगत्स्थितौ।
वज्रस्तम्भवदात्मानमवलम्ब्य स्थिरोऽस्म्यहम्।
निर्मलायां निराशायां स्वसंवित्तौ स्थितोऽस्म्यहम्॥ ६६ ॥

राग एवं द्वेष के भावों का परित्याग करके, विभागरहित, नश्वर जगत् में प्रतिष्ठित अत्यधिक विशेष रूप से दृढ़ आत्मारूपी साम्य के आश्रय में मैं पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हूँ। मैं अपनी निर्मल एवं आशारहित संवित् (आत्मिक दशा) में प्रतिष्ठित हूँ। ॥ ६६ ॥

ईहितानीहितैर्मुक्तो हेयोपादेयवर्जितः । कदान्तस्तोषमेष्यामि स्वप्रकाशपदे स्थितः॥ ६७ ॥

चेष्टा और चेष्टारहित तथा हेय एवं उपादेय की भावना से मैंने मुक्ति को प्राप्त कर लिया है। मैं आत्मिक संतोष को कब प्राप्त करूँगा? स्वयं प्रकाश स्वरूप पद में कब प्रतिष्ठित होऊँगा॥ ६७ ॥

कदोपशान्तमननो धरणीधरकन्दरे । समेष्यामि शिलासाम्यं निर्विकल्पसमाधिना॥ ६८ ॥

पर्वत-शृंखला की गुफा में आसन ग्रहण करके शांत भाव से कब चिन्तन-मनन करूँगा। मैं निर्विकल्प समाधि लगाकर शिला के समान कब चेष्टारहित हो जाऊँगा?॥ ६८ ॥

निरंशध्यानविश्रान्तिमूकस्य मम मस्तके। कदा तार्णं करिष्यन्ति कुलायं वनपत्रिणः॥ ६९ ॥

मैं उस अंश-विहीन अविनाशी ब्रह्म के चिन्तन में इस तरह से कब निश्चल हो जाऊँगा कि कोयल पक्षी हमारे मस्तक पर घोंसला विनिर्मित कर लें॥ ६९ ॥

संकल्पपादपं तृष्णालतं छित्त्वा मनोवनम् । विततां भुवमासाद्य विहरामि यथासुखम्॥ ७० ॥

मैं संकल्प रूपी वृक्षों तथा तृष्णा रूपी लताओं को काटकर मन रूपी विशाल वन को पारकर विस्तृत भूमि (मैदान) में पहुँचकर आनन्द पूर्वक विचरण करता हूँ ॥ ७० ॥

पदं तदनुयातोऽस्मि केवलोऽस्मि जयाम्यहम्। निर्वाणोऽस्मि निरीहोऽस्मि निरंशोऽस्मि निरीप्सितः॥ ७१॥ स्वच्छतोर्जितता सत्ता हृद्यता सत्यता ज्ञता। आनन्दितोपशमता सदा प्रमुदितोदिता। पूर्णतोदारता सत्या कान्तिसत्ता सदैकता॥ ७२॥ इत्येवं चिन्तयन्भिक्षुः स्वरूपस्थितिमञ्जसा। निर्विकल्पस्वरूपज्ञो निर्विकल्पो बभूव ह॥ ७३॥

मैं उस अविनाशी पद का स्वरूप हूँ, केवल हूँ, जय रूप हूँ, निर्वाण, निरीह (अहंरहित), अंशरहित, निरीप्सित (इच्छारहित) स्वच्छ, वीर्यवान्, सत्ताशाली, सत्य एवं ज्ञान स्वरूप हो गया हूँ। आनन्द, उपशम, प्रसन्नता, पूर्णता, उदारता, सत्य, द्वैतरहित आदि की भावना करते हुए संन्यासी को अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहना चाहिए। निर्विकल्प स्वरूप का पूर्ण जानकार होकर, निर्विकल्प बन करके ही रहना चाहिए॥ ७१-७३॥

आतुरो जीवति चेत्क्रमसंन्यासः कर्तव्यः। न शूद्रस्त्रीपतितोदक्या संभाषणम्। न यतेर्देवपूजनोत्सवदर्शनम्। तस्मान्न संन्यासिन एष लोकः। आतुरकुटीचकयोर्भूर्लोकभुवर्लोकौ। बहूदकस्य स्वर्गलोकः। हंसस्य तपोलोकः। परमहंसस्य सत्यलोकः। तुरीयातीतावधूतयोः स्वात्मन्येव कैवल्यं स्वरूपानुसंधानेन भ्रमरकीटन्यायवत्॥ ७४॥

आतुर संन्यासी यदि संन्यास लेने की इच्छा से जीवित रहे, तभी उसे क्रम-संन्यास प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। शूद्र, स्त्री, पद-भ्रष्ट तथा रजस्वला से कभी भी सम्भाषण नहीं करना चाहिए। किसी भी देवता के पूजनोत्सव को देखने के लिए संन्यासी को कभी नहीं जाना चाहिए। वे लौकिक कार्य संन्यासी के लिए नहीं हैं। आतुर और कुटीचक का भूः एवं भुवः लोक होता है, बहूदक का स्वर्गलोक होता है, हंस का तपोलोक एवं परमहंस का स्थान सत्यलोक होता है। तुरीयातीत तथा अवधूत श्रेणी के लोग भ्रमर-कीट के सदृश अपने स्वरूप का अन्वेषण करते हुए कैवल्य (केवल आत्मतत्त्व) रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं॥ ७४॥

स्वरूपानुसंधानव्यतिरिक्तान्यशास्त्राभ्यास उष्ट्रकुङ्कुमभारवद्व्यर्थः। न योगशास्त्रप्रवृत्तिः। न सांख्यशास्त्राभ्यासः। न मन्त्रतन्त्रव्यापारः। नेतरशास्त्रप्रवृत्तिर्यतेरस्ति। अस्ति चेच्छवालंकारवत्कर्माचारविद्यादूरः। न परित्राण्नामसंकीर्तनपरो यद्यत्कर्म करोति तत्तत्फलमनुभवति। एरण्डतैलफेनवत्सर्वं परित्यजेत्। न देवताप्रसादग्रहणम्। न बाह्यदेवाभ्यर्चनं कुर्यात्॥ ७५॥

संन्यासी के लिए अपने स्वरूप के अनुसंधान के अलावा अन्य विभिन्न शास्त्रों का निरन्तर अभ्यास करना, ऊँट के ऊपर केशर लादने के सदृश बेकार है। संन्यासी के लिए योग की प्रवृत्ति अथवा सांख्य शास्त्र का मंत्र-तंत्र का व्यापार आदि तथा किसी भी शास्त्र की प्रवृत्ति वर्जनीय है। यदि कोई संन्यासी ऐसा करता है, तो वह मृतक शव के ऊपर आभूषणों के समान है तथा संन्यासी के कर्म एवं विद्या के अनुकूल नहीं है। संन्यासी को किसी भी देवता के नाम तथा कीर्तन आदि में भाग नहीं लेना चाहिए। कारण यह है कि कोई भी कार्य करने के बाद उसका फल तो भोगना ही पड़ेगा। इसलिए एरण्ड (रेड़ी) तेल के फेन के सदृश सभी का परित्याग कर देना चाहिए। संन्यासी को न तो किसी देवी-देवता का प्रसाद ग्रहण करना चाहिए और न ही किसी बाह्य देवता आदि की पूजा ही करनी चाहिए॥ ७५॥

स्वव्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा मधुकरवृत्त्याहारमाहरन्कृशीभूत्वा मेदोवृद्धिमकुर्वन्विहरेत्। माधुकरेण करपात्रेणास्यपात्रेण वा कालं नयेत्। आत्मसंमितमाहारमाहरेदात्मवान्यतिः॥ ७६॥

संन्यासी को चाहिए कि वह अपने अतिरिक्त सभी का त्याग करके अपने हाथ रूपी पात्र से मधुकरी

वृत्ति पर जीवनयापन करे। जिससे कि उसके शरीर में चर्बी की वृद्धि न हो तथा उसको सतत विचरण करते रहना चाहिए। वह हाथ रूपी पात्र के द्वारा या मुख रूपी पात्र के द्वारा भिक्षा ग्रहण करते हुए जीवन व्यतीत करे॥

आहारस्य च भागौ द्वौ तृतीयमुदकस्य च। वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत्॥ ७७॥

संन्यासी को पेट के चार भागों में से दो भाग में आहार (भोजन) ग्रहण करना चाहिए। एक भाग में जल तथा एक भाग वायु-संचरण के लिए रिक्त रखना चाहिए॥ ७७॥

भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नाशी भवेत्क्वचित्। निरीक्षन्ते त्वनुद्विग्नास्तद्गृहं यत्नतो व्रजेत्॥ ७८॥

(संन्यासी) सतत भिक्षावृत्ति पर ही आश्रित रहे। हमेशा एक ही घर से भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिए। जो शान्त-भाव से उसकी राह देखते हों, उन्हीं के यहाँ प्रयासपूर्वक भोजन के लिए जाना चाहिए॥ ७८॥

पञ्चसप्तगृहाणां तु भिक्षामिच्छेत्क्रियावताम्। गोदोहमात्रमाकाङ्क्षेन्निष्क्रान्तो न पुनर्व्रजेत्॥७९

संन्यासी को श्रेष्ठ आचरण वाले पाँच या सात घरों में भिक्षा के लिए जाना चाहिए तथा गौ के दोहन में जितना समय लगता है, उतनी ही देर तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। वह जहाँ से एक बार भिक्षा ग्रहण कर ले, वहाँ पुनः नहीं जाना चाहिए॥ ७९॥

नक्ताद्वरश्चोपवास उपवासादयाचितः। अयाचिताद्वरं भैक्षं तस्मात्भैक्षेण वर्तयेत्॥ ८०॥

रात्रि के आहार (भोजन) से उपवास अधिक श्रेष्ठ है, उपवास की अपेक्षा अयाचित अर्थात् बिना माँगी हुई भिक्षा अधिक श्रेष्ठ है। अयाचित भिक्षा की अपेक्षा माँगकर खाना कहीं अधिक श्रेष्ठ है। अतः यथा सम्भव भिक्षा का ही आश्रय लेना चाहिए॥ ८०॥

नैव सव्यापसव्येन भिक्षाकाले विशेद्गृहान्। नातिक्रामेद्गृहं मोहाद्यत्र दोषो न विद्यते॥ ८१॥

भिक्षा काल में सव्य-अपसव्य (दायें-बायें) मार्ग से घर में प्रविष्ट नहीं होना चाहिए। जिस घर में किसी तरह का दोष न हो, उसे भूल या मोह से भी नहीं छोड़ा जाना चाहिए (वहाँ भिक्षा ग्रहण कर लेनी चाहिए)॥

श्रोत्रियान्नं न भिक्षेत श्रद्धाभक्तिबहिष्कृतम्। व्रात्यस्यापि गृहे भिक्षेच्छ्रद्धाभक्तिपुरस्कृते॥८२

यदि श्रोत्रिय अर्थात् वेदज्ञ श्रद्धा-भक्ति से विहीन हो, तो उसके यहाँ भिक्षा नहीं स्वीकार करनी चाहिए तथा जो संस्कार विहीन (व्रात्य) भी यदि श्रद्धा-भक्ति रखता हो, तो उसके यहाँ भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए॥

माधूकरमसंक्लृप्तं प्राक्प्रणीतमयाचितम्। तात्कालिकं चोपपन्नं भैक्षं पञ्चविधं स्मृतम्॥ ८३॥

(संन्यासियों की) भिक्षा पाँच तरह की कही गयी है- असंकल्पित माधूकर, प्राक्प्रणीत, अयाचित, तात्कालिक तथा उपपन्न॥ ८३॥

मनः संकल्परहितांस्त्रीन्गृहान्पञ्च सप्त वा। मधुमक्षिकवत्कृत्वा माधूकरमिति स्मृतम्॥ ८४॥

मन में किसी भी तरह का संकल्प किये बिना किन्हीं तीन, पाँच अथवा सात घरों में से मधुमक्खी के सदृश थोड़ी-थोड़ी भिक्षा ग्रहण करना असंकल्पित माधूकर है॥ ८४॥

प्रातःकाले च पूर्वेद्युर्यद्भक्तैः प्रार्थितं मुहुः। तद्भैक्षं प्राक्प्रणीतं स्यात्स्थितिं कुर्यात्तथापि वा॥८५

प्रातःकाल अथवा पिछले दिन कोई भी मनुष्य भक्तिपूर्वक भिक्षा के लिए निवेदन करे, तो उसके यहाँ जो भिक्षा ग्रहण की जाती है, उसे प्राक्प्रणीत भिक्षा कहते हैं॥ ८५॥

भिक्षाटनसमुद्योगाद्येन केन निमन्त्रितम्। अयाचितं तु तद्भैक्षं भोक्तव्यं च मुमुक्षुभिः॥ ८६॥

भिक्षा के लिए विचरण करते समय संन्यासी को यदि कोई (व्यक्ति) निमंत्रित करे, तो उस (व्यक्ति) के यहाँ (अयाचित) भिक्षा ग्रहण कर लेना चाहिए॥ ८६॥

उपस्थानेन यत्प्रोक्तं भिक्षार्थं ब्राह्मणेन तत्। तात्कालिकमिति ख्यातं भोक्तव्यं यतिभिः सदा॥ सिद्धमन्नं यदा नीतं ब्राह्मणेन मठं प्रति। उपपन्नमिति प्राहुर्मुनयो मोक्षकाङ्क्षिणः॥ ८८॥

भिक्षा के लिए निकलते समय (संन्यासी को) यदि कोई ब्राह्मण उसके समीप में आकर भोजन करने को कहे, तो उस 'तात्कालिक' भिक्षा को सदा ही स्वीकार कर सकता है। यदि कोई ब्राह्मण मठ (आश्रम) में सिद्ध (तैयार) करके भोजन ले आये, तो उसे साधु 'उपपन्न' भिक्षा कहते हैं॥ ८७-८८॥

चरेन्माधुकरं भैक्षं यतिर्म्लेच्छकुलादपि। एकान्नं नतु भुञ्जीत बृहस्पतिसमादपि। याचितायाचिताभ्यां च भिक्षाभ्यां कल्पयेत्स्थितम्॥ ८९॥

यदि संन्यासी को भिक्षा की विशेष आवश्यकता पड़ जाये, तो उसे म्लेच्छ के यहाँ से भी भिक्षा माँग लेनी चाहिए; परन्तु कभी भी एक ही स्थान से आहार स्वीकार नहीं करना चाहिए। चाहे वह बृहस्पति के सदृश पूज्य का ही घर क्यों न हो? संन्यासी को सर्वदा 'याचित' अथवा 'अयाचित' भिक्षा के द्वारा निर्वाह करना सर्वथा उचित है॥ ८९॥

न वायुः स्पर्शदोषेण नाग्निर्दहनकर्मणा। नापो मूत्रपुरीषाभ्यां नान्नदोषेण मस्करी॥ ९०॥

वायु हर किसी को स्पर्श करता है, अग्नि सभी को जलाता है, जल में सभी तरह के मल-मूत्रादि डाल दिये जाते हैं, फिर भी ये सभी इन दोषों के स्पर्श से प्रदूषित नहीं होते। इसी तरह संन्यासी भी किन्हीं अन्य दोषों से दूषित नहीं होता॥ ९०॥

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने। कालेऽपराह्णे भूयिष्ठे भिक्षाचरणमाचरेत्॥ ९१॥

अग्नि-धूम्र एवं मूसल के शब्द से रहित, जिस जगह पर अग्नि बुझकर समाप्त हो चुकी हो तथा उपस्थित सभी लोग भोजन कर चुके हों, वहाँ पर ही योगी को मध्याह्न काल के पश्चात् भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए॥९१॥

अभिशस्तं च पतितं पाषण्डं देवपूजकम्। वर्जयित्वा चरेद्भैक्षं सर्ववर्णेषु चापदि॥ ९२॥

आपत्ति कालीन स्थिति में संन्यासी निन्दनीय परिवार, पतित एवं पाखण्डी-पदच्युत का परित्याग करके समस्त वर्ण-जातियों के यहाँ से भिक्षा प्राप्त कर सकता है॥ ९२॥

घृतं श्वमूत्रसदृशं मधु स्यात्सुरया समम्। तैलं सूकरमूत्रं स्यात्सूपं लशुनसंमितम्॥
माषापूपादि गोमांसं क्षीरं मूत्रसमं भवेत्। तस्मात्सर्वप्रयत्नेन घृतादीन्वर्जयेद्यतिः॥ ९३-९४॥

संन्यासी के लिए घृत कुत्ते के मूत्र के सदृश है, शहद मदिरा पान के समान है, तेल शूकर के मूत्र के समतुल्य है, लहसुन युक्त पदार्थ एवं उड़द, अपूप (मालपुआ) आदि के पदार्थ गोमांस के सदृश हैं, दूध मूत्र के सदृश है, अतः संन्यासी को सर्वदा घृत आदि से विहीन भिक्षा ही प्रयत्नपूर्वक स्वीकार करनी चाहिए॥

घृतसूपादिसंयुक्तमन्नं नाद्यात्कदाचन। पात्रमस्य भवेत्पाणिस्तेन नित्यं स्थितिं नयेत्। पाणिपात्रश्चरन्योगी नासकृद्भैक्षमाचरेत्॥ ९५॥ आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः। तदा समः स्यात्सर्वेषु सोऽमृतत्वाय कल्पते॥ ९६॥

घृत एवं सूपादि (चटनी, मिर्च-मसाला आदि) से युक्त पकवान को कभी ग्रहण नहीं करना चाहिए। संन्यासी के लिए उसका हाथ भोजन ग्रहण करने का पात्र है। उस हाथ रूपी पात्र में सर्वदा भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। इस प्रकार संन्यासी को दिन में एक ही बार भोजन ग्रहण करना चाहिए। दो बार भोजन कदापि न करे। जो मुनि गौ की भाँति केवल मुख से आहार ग्रहण करता है, (संचित नहीं करता) वह सभी में समभाव प्राप्त करके अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है॥ ९५-९६॥

आज्यं रुधिरमिव त्यजेदेकत्रान्नं पललमिव गन्धलेपनमशुद्धलेपनमिव क्षारमन्त्यजमिव वस्त्रमुच्छिष्टपात्रमिवाभ्यङ्गं स्त्रीसङ्गमिव मित्राह्लादकं मूत्रमिव स्पृहां गोमांसमिव ज्ञातचरदेशं चण्डालवाटिकामिव स्त्रियमहिमिव सुवर्णं कालकूटमिव सभास्थलं श्मशानस्थलमिव राजधानीं कुम्भीपाकमिव शवपिण्डवदेकत्रान्नं न देवतार्चनम्। प्रपञ्चवृत्तिं परित्यज्य जीवन्मुक्तो भवेत्॥ ९७॥

घृत (आज्य) को रुधिर के समान तथा इकट्ठा किये हुए अन्न को मांस की भाँति त्याग देना चाहिए। गन्ध एवं लेपन को गन्दी वस्तु के समान, नमक को अन्त्यज के समान, वस्त्र को जूँठे पात्र के सदृश, तेल मालिश को स्त्री प्रसंग की भाँति, मित्रों की हँसी-मजाक को मूत्र के समान, घमण्ड को गौ-मांस के समान, परिचित-मित्रों के घर की भिक्षा को चण्डाल के सदृश, स्त्री को सर्पिणी के समान, सुवर्ण (सोने) को कालकूट के समान, सभा आदि को श्मशानवत्, राजधानी को कुम्भीपाक नरक के समान, एक ही घर के भोजन को मृतक-पिण्ड के समान जानकर इनका परित्याग कर देना चाहिए। देवताओं का पूजन-अर्चन कभी न करे। सांसारिक प्रपञ्चों को त्यागकर उसे जीवन्मुक्त बनना चाहिए॥ ९७॥

आसनं पात्रलोपश्च संचयः शिष्यसंचयः। दिवास्वापो वृथालापो यतेर्बन्धकराणि षट्॥ ९८॥

आसन, पात्रलोप (बर्तन की चाह), सञ्चय, शिष्य बनाना, दिन में शयन करना तथा बेकार की बातें करना इत्यादि ये छः प्रकार के कार्य संन्यासी को बन्धन में डालने वाले हैं॥ ९८॥

वर्षाभ्योऽन्यत्र यत्स्थानमासनं तदुदाहृतम्। उक्तालाब्वादिपात्राणामेकस्यापीह संग्रहः॥ ९९॥
यतेः संव्यवहाराय पात्रलोपः स उच्यते। गृहीतस्य तु दण्डादेर्द्वितीयस्य परिग्रहः॥ १००॥

वर्षा (पानी) के अलावा जो स्थान है, उसे आसन कहा जाता है। कहे हुए पात्रों के संग्रह में से एक ही तुम्बी आदि पात्र को ग्रहण करना चाहिए। संन्यासी के व्यवहार के लिए जो तुम्बी आदि पात्र कहे गये हैं, उनके खो जाने पर दूसरे के पात्रों को ले लेना ही पात्र-लोप है। अपना दण्ड खो जाने पर दूसरे का दण्ड ग्रहण कर लेना ही परिग्रह है॥ ९९-१००॥

कालान्तरोपभोगार्थं संचयः परिकीर्तितः। शुश्रूषालाभपूजार्थं यशोऽर्थं वा परिग्रहः॥ १०१॥

कालान्तर (भविष्य) में भोगार्थ के लिए संग्रह करके रखना ही सञ्चय कहा जाता है। शुश्रूषा लाभ, पूजा एवं यश के लिए चेष्टा करना भी परिग्रह है॥ १०१॥

शिष्याणां नतु कारुण्याच्छिष्यसंग्रह ईरितः। विद्या दिवा प्रकाशत्वादविद्या रात्रिरुच्यते॥१०२॥

(जो शिष्य) आत्मकल्याण के लिए करुणा से युक्त होकर आये, उसे ही शिष्य बनाये। उसके अतिरिक्त अन्य किसी को शिष्य बनाना ही शिष्य संग्रह कहा जाता है। संन्यास में विद्या को दिन और अविद्या को रात्रि जाना जाता है॥ १०२॥

विद्याभ्यासे प्रमादो यः स दिवास्वाप उच्यते। आध्यात्मिकीं कथां मुक्त्वा भिक्षावार्तां विना तथा। अनुग्रहं परिप्रश्नं वृथाजल्पोऽन्य उच्यते॥ १०३॥

इस कारण से विद्या के अभ्यास में प्रमाद बरतना दिन में शयन करना कहा जाता है। आध्यात्मिक कथा को छोड़कर भिक्षा की बात, अनुग्रह-परिप्रश्न (का उत्तर देने) के अतिरिक्त और जो बात की जाये, वह बेकार का बोला जाना समझा जाता है॥ १०३॥

एकान्नं मदमात्सर्यं गन्धपुष्पविभूषणम्। ताम्बूलाभ्यञ्जने क्रीडा भोगाकाङ्क्षा रसायनम्॥ १०४ ॥ कत्थनं कुत्सनं स्वस्ति ज्योतिश्च क्रयविक्रयम्। क्रिया कर्मविवादश्च गुरुवाक्य-विलङ्घनम्॥ १०५॥ संधिश्च विग्रहो यानं मञ्चकं शुक्लवस्त्रकम्। शुक्रोत्सर्गो दिवास्वापो भिक्षाधारस्तु तैजसम्॥ १०६ ॥ विषं चैवायुधं बीजं हिंसां तैक्ष्ण्यं च मैथुनम्। त्यक्तं संन्यासयोगेन गृहधर्मादिकं व्रतम् ॥ १०७॥ गोत्रादिचरणं सर्वं पितृमातृकुलं धनम्। प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो व्रजेदधः॥ १०८॥

एकान्न, घमण्ड और मत्सरता, गन्ध, पुष्प, आभूषण, पान खाना, तेल लगाना, क्रीड़ा, भोग की आकांक्षा, रसायन, खुशामद करना, निन्दा, कुशल, प्रश्न, खरीदने-बेचने की बातें, क्रियाकर्म, वाद-विवाद, गुरु के वाक्य का उल्लंघन, सन्धि विग्रह की बातें, पलङ्ग, सफेद वस्त्र, वीर्य त्याग, दिन में शयन करना, भिक्षा पात्र, स्वर्ण, विष, शस्त्र, जीव, हिंसा, क्रोध तथा मैथुन-इन सभी का संन्यासी पूर्णरूप से परित्याग कर दे। जो गृहस्थियों के धर्म, व्रत, गोत्रादि के आचरण, पिता तथा माता के कुल की सम्पत्ति आदि निषिद्ध कहे गये हैं, इन सभी का सेवन करने से नीच गति की प्राप्ति होती है॥ १०४-१०८॥

सुजीर्णोऽपि सुजीर्णासु विद्वांस्त्रीषु न विश्वसेत्। सुजीर्णास्वपि कन्थासु सज्जते जीर्णमम्बरम्॥१०९ स्थावरं जङ्गमं बीजं तैजसं विषमायुधम्। षडेतानि न गृह्णीयाद्यतिर्मूत्रपुरीषवत् ॥ ११०॥

वृद्धावस्था को प्राप्त विद्वान् संन्यासी को वृद्धा स्त्री पर भी विश्वास नहीं करना चाहिए; क्योंकि पुरानी गुदड़ी (कथरी) में पुराना वस्त्र ही लगाया जाता है। स्थावर (जड़), जंगम, बीज, सुवर्ण, विष, आयुध आदि इन छः वस्तुओं को संन्यासी मूत्र एवं विष्ठा के समतुल्य त्याज्य समझ करके कभी ग्रहण न करे॥ १०९-११०

नैवाददीत पाथेयं यतिः किंचिदनापदि। पक्वमापत्सु गृह्णीयाद्यावदन्नं न लभ्यते॥ १११॥

आपत्ति कालीन समय के अतिरिक्त रास्ते के लिए संन्यासी को अपने पास कुछ भी नहीं रखना चाहिए। कुयोग वश यदि अन्न न प्राप्त हो, तो पक्वान्न (पका हुआ अन्न) प्राप्त कर लेना चाहिए॥ १११॥

नीरुजश्च युवा चैव भिक्षुर्नावसथे वसेत्। परार्थं न प्रतिग्राह्यं न दद्याच्च कथंचन॥ ११२॥

स्वस्थ तथा युवावस्था को प्राप्त हुए संन्यासी को कभी भी किसी के घर में नहीं रुकना चाहिए। दूसरे किसी की कोई भी वस्तु न लेनी चाहिए और न ही किसी को अपनी वस्तु देनी चाहिए॥ ११२॥

दैन्यभावात्तु भूतानां सौभगाय यतिश्चरेत्। पक्वं वा यदि वाऽपक्वं याचमानो व्रजेदधः॥ ११३॥

संन्यासी को दूसरे अन्य भूत-प्राणियों के कल्याण हेतु दीनता (दया)का आचरण करना चाहिए। पका हुआ या फिर बिना पका हुआ अन्न माँगने से संन्यासी निम्न गति को प्राप्त करता है॥ ११३॥

अन्नपानपरो भिक्षुर्वस्त्रादीनां प्रतिग्रही। आविकं वानाविकं वा तथा पट्टपटानपि॥ ११४॥ प्रतिगृह्य यतिश्चैतान्पतत्येव न संशयः। अद्वैतं नावमाश्रित्य जीवन्मुक्तत्वमाप्नुयात्॥ ११५॥

खाने-पीने वाले पदार्थों की सतत इच्छा रखने वाला एवं वस्त्रों में ऊनी वस्त्रों अथवा बिना ऊन से निर्मित वस्त्र, रेशमी वस्त्रादि वस्तुओं को स्वीकार करने से संन्यासी का निश्चित रूप से अधःपतन हो जाता है। उसे तो अद्वैतरूपी नौका में आसीन होकर जीवन-मुक्ति की अवस्था प्राप्त कर लेनी चाहिए॥ ११४-११५॥

वाग्दण्डे मौनमातिष्ठेत्कायदण्डे त्वभोजनम्। मानसे तु कृते दण्डे प्राणायामो विधीयते॥११६

यदि वाणी को दण्ड देना हो, तो (संन्यासी को) मौन रहना चाहिए, काया (शरीर) को दण्ड देना हो, तो भोजन नहीं करना चाहिए अर्थात् व्रत-उपवास रखे और यदि मन को दण्ड देने की इच्छा हो, तो फिर प्राणायाम करना चाहिए॥ ११६॥

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते। तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः॥ ११७॥

समस्त प्राणी कर्मों के द्वारा बन्धन में बँधते हैं और विद्या (आत्मज्ञान) के द्वारा मुक्ति को प्राप्त करते हैं। इसी कारण ज्ञानवान् संन्यासी कर्म से सर्वदा दूर रहते हैं॥ ११७॥

रथ्यायां बहुवस्त्राणि भिक्षा सर्वत्र लभ्यते। भूमिः शय्यास्ति विस्तीर्णा यतयः केन दुःखिताः॥

(छोटी-छोटी) गलियों (वीथियों) में बहुत सारे प्राचीन वस्त्र प्राप्त हो जाते हैं तथा भिक्षा भी सर्वत्र प्राप्त होती रहती है। पृथिवी में चाहे जिस स्थान पर शयन करने हेतु स्थान मिल सकता है, तो फिर संन्यासी को और किस बात का दुःख है?॥ ११८॥

प्रपञ्चमखिलं यस्तु ज्ञानाग्नौ जुहुयाद्यतिः। आत्मन्यग्नीन्समारोप्य सोऽग्निहोत्री महायतिः॥ ११९॥

संन्यासी को सभी तरह के प्रपञ्च अर्थात् माया को ज्ञानाग्नि में भस्म कर देना चाहिए। जो संन्यासी अपनी अन्तरात्मा में ज्ञानरूपी अग्नि को समारोपित कर लेता है, वही महान् ज्ञानी-अग्निहोत्री कहलाता है॥

प्रवृत्तिर्द्विविधा प्रोक्ता मार्जारी चैव वानरी। ज्ञानाभ्यासवतामोतुर्वानरीभाक्तमेव च॥ १२०॥

संन्यासियों की दो प्रकार की प्रवृत्ति होती है- १. मार्जारी और २. वानरी। जो संन्यासी ज्ञान का अभ्यास करते हैं, उनमें मुख्य रूप से मार्जारी प्रवृत्ति होती है और गौण रूप से वानरी प्रवृत्ति होती है॥ १२०॥

नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः। जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत्॥१२१

(किसी व्यक्ति के) बिना पूछे ही संन्यासी को नहीं बोलना चाहिए तथा अनीति एवं अन्यायपूर्वक प्रश्न करे, तब भी उसे नहीं बोलना चाहिए। ज्ञानवान् होकर भी संन्यासी को (जन सामान्य के समक्ष) मूढ़ के सदृश आचरण करना चाहिए॥ १२१॥

सर्वेषामेव पापानां सङ्घाते समुपस्थिते। तारं द्वादशसाहस्त्रमभ्यसेच्छेदनं हि तत्॥ १२२॥

यद्यपि किसी कारणवश पाप-प्रसङ्ग उपस्थित हो जाए, तो बारह हजार की संख्या में तारक मंत्र का जाप करके, उस पाप को विनष्ट कर देना चाहिए॥ १२२॥

यस्तु द्वादशसाहस्त्रं प्रणवं जपतेऽन्वहम्।
तस्य द्वादशभिर्मासैः परं ब्रह्म प्रकाशते इत्युपनिषद्॥ १२३॥

जो संन्यासी नित्य-प्रतिदिन बारह हजार बार ॐकार रूपी प्रणव मंत्र का जप करता है, उसे बारह मास के अन्दर ही अविनाशी परब्रह्म का (अपने इष्ट का) साक्षात्कार हो जाता है। ऐसी यह (रहस्यमयी संन्यास) उपनिषद् है॥ १२३॥

ॐ आप्यायन्तु ..... इति शान्तिः॥

॥ इति संन्यासोपनिषत्समाप्ता॥

॥ सुबालोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें कुल सोलह खण्ड हैं, जिसमें प्रश्नोत्तर शैली में अध्यात्मदर्शन के गूढ़ विषयों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

पहले-दूसरे खण्ड में रैक्व ऋषि के द्वारा प्रश्न पूछे जाने पर घोरांगिरस ने सृष्टि प्रक्रिया के शुभारम्भ तथा विराट् ब्रह्म द्वारा सभी वर्णों, प्राणों, वेदों, वृक्षों, पशुओं-प्राणियों आदि के सृजन का उल्लेख है। तीसरे खण्ड में आत्मतत्त्व का स्वरूप तथा उसको जानने का उपाय बताया गया है। चौथे खण्ड में हृदय के मध्यभाग में आत्मा की संस्थिति, जो बहत्तर हजार नाड़ी समूहों में विद्यमान बताई गई है, पंचम खण्ड में अजर-अमर आत्मा की उपासना का उल्लेख चक्षु, श्रोत्र, नासिका, जिह्वा, त्वचा, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, वाक्, हाथ, पैर, पायु (गुदा), उपस्थ (जननेन्द्रिय) आदि के उपलक्षण के साथ किया गया है। छठवें खण्ड में चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा आदि तथा आदित्य, रुद्र, वायु आदि ऋग्वेद, सामवेदादि सभी नारायण रूप हैं- ऐसा कहा गया है। सातवें खण्ड में पृथिवी, जल, वायु, तेज आदि में विद्यमान उस चेतना का उल्लेख जिसे पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन, बुद्धि आदि जान नहीं पाते, वह भी नारायण का प्रतिरूप है। आठवें खण्ड में हृदय गुहा में विद्यमान आनन्दरूप आत्मतत्त्व का उल्लेख है। नौवें खण्ड में समस्त पदार्थ किसमें अस्त होते हैं-यह पूछे जाने पर चक्षु, श्रोत्र, नासिका आदि से होते हुए अन्ततः, तुरीय में विलीन होते हैं-यह कहा गया। दसवें खण्ड में सभी किसमें प्रतिष्ठित हैं ? इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न लोकों के रूप में बताते हुए अन्त में आत्मस्वरूप परब्रह्म में प्रतिष्ठित बताया गया है। ग्यारहवें खण्ड में शरीर से आत्मा के उत्क्रमण का क्रम उल्लिखित है। बारहवें और तेरहवें खण्ड में संन्यासी-मोक्षार्थी के आहार-विहार और चिन्तन-मनन का ढंग वर्णित है। चौदहवें में एक-दूसरे के अन्न (भक्ष्य) का उल्लेख करते हुए मृत्यु को परमदेव के साथ एकाकार बताया गया है। पन्द्रहवें खण्ड में विज्ञान सब आत्मतत्त्व के शरीर के उत्क्रमण के बाद किसे दग्ध करता है, इस परम्परा का उल्लेख है-प्राण, अपान, व्यान, उदान आदि के क्रम में अन्ततः मृत्यु को भी दग्ध कर देता है- यह बताते हुए कहा गया है कि उस समय न सत् रहता है, न असत् और न सदसत्। इसी को निर्वाण (मुक्ति) विद्या कहा गया है। सोलहवें खण्ड में इस उपनिषद् की महत्ता और फलश्रुति का वर्णन करते हुए बात समाप्त की गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद्)

॥ प्रथमः खण्डः ॥

तदाहुः किं तदासीत्तस्मै स होवाच न सन्नासन्न सदसदिति ॥ १ ॥

ऋषियों की सभा में ऋषि प्रमुख रैक्व ऋषि के द्वारा सृष्टि के सन्दर्भ में प्रश्न किये जाने पर कि सृष्टि के पूर्व क्या था ? घोराङ्गिरस ने कहा-सृष्टि के पूर्व न सत् था, न असत् और न सदसत् था॥ १ ॥

तस्मात्तमः संजायते तमसो भूतादिर्भूतादेराकाशमाकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी ॥२ ॥

(इसके बाद क्या-क्या उत्पन्न हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर में ऋषि ने कहा-सर्वप्रथम आदितत्त्व से) तम की उत्पत्ति हुई, तम से भूत आदि (अक्षर, अव्यक्त, अहंकार आदि) का आविर्भाव हुआ। भूतादि से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई॥ २॥

तदण्डं समभवत्तत्संवत्सरमात्रमुषित्वा द्विधाऽकरोदधस्ताद्भूमिमुपरिष्टादाकाशं मध्ये पुरुषो दिव्यः सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्त्रपात्। सहस्त्रबाहुरिति ॥ ३ ॥

यही (सब मिलकर) ब्रह्माण्ड रूप अण्ड हो गया। इसमें एक संवत्सर (अवधि विशेष) तक स्थित होकर पुरुष ने इसे दो भागों में विभक्त कर दिया। नीचे का भाग पृथिवी और ऊपर का भाग आकाश हुआ, इन दोनों के मध्य में सहस्त्र शिर वाला, सहस्र नेत्रों वाला, सहस्त्र पैरों और सहस्त्र बाँहों वाला दिव्य पुरुष (विराट् पुरुष) प्रकट हुआ॥ ३ ॥

सोऽग्रे भूतानां मृत्युमसृजत्त्र्यक्षं त्रिशिरस्कं त्रिपादं खण्डपरशुम् ॥ ४ ॥

उसने सर्वप्रथम प्राणियों की मृत्यु को सृजा। जिसका स्वरूप तीन नेत्रों वाले रुद्र, तीन मस्तक वाले और तीन पैरों वाले खण्डपरशु का था॥ ४ ॥

तस्य ब्रह्मा बिभेति स ब्रह्माणमेव विवेश स मानसान्सप्त पुत्रानसृजत्ते ह विराजः सप्त मानसानसृजन्ते ह प्रजापतयः॥ ५ ॥

अपने द्वारा रचे हुए इस रूप को देखकर वह (ब्रह्मा) भयभीत हुए, तब वे (रुद्र) ब्रह्मा में ही प्रविष्ट हो गये। तदनन्तर उन्होंने (ब्रह्मा ने) सात मानस पुत्र उत्पन्न किये, उन सात पुत्रों ने (पुनः) सात विराट् मानसपुत्रों को जन्म दिया, वे (सात पुत्र) ही प्रजापति हुए॥ ५ ॥

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत। चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत। श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च हृदयात्सर्वमिदं जायते॥६ ॥

इस विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, दोनों बाँहों से क्षत्रिय, दोनों जंघाओं से वैश्य तथा दोनों पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। मन से चन्द्रमा,चक्षु से सूर्य,श्रोत्र से वायु तथा प्राण और हृदय से यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ॥६ ॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

अपानान्निषादा यक्षराक्षसगन्धर्वाश्चास्थिभ्यः पर्वता लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो ललाटात्क्रोधजो रुद्रो जायते॥ १ ॥

(उस पूर्व वर्णित विराट् के) अपान वायु से निषाद, यक्ष, राक्षस और गन्धर्व, अस्थियों से पर्वत, रोमों से ओषधि-वनस्पतियाँ और क्रोध (युक्त) ललाट से रुद्र उत्पन्न हुए॥ १ ॥

तस्यैतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषामयनं न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणि व्याख्यानान्युप-व्याख्यानानि च सर्वाणि च भूतानि ॥ २ ॥

वह विराट् पुरुष महान् भूतरूप है,उसके निःश्वास ही ऋग्, यजु, साम, अथर्व, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष शास्त्र, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, व्याख्यान, उपव्याख्यान और सभी प्राणी हैं॥ २ ॥

हिरण्यज्योतिर्यस्मिन्नयमात्माधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा। आत्मानं द्विधाऽकरोदर्धेन स्त्री अर्धेन पुरुषो देवो भूत्वा देवानसृजदृषिर्भूत्वा ऋषीन्यक्षराक्षसगन्धर्वान्ग्राम्यानारण्यांश्च पशूनसृज-दितरा गौरितरोऽनड्वानितरा वडवेतरोऽश्व इतरा गर्दभीतरो गर्दभ इतरा विश्वंभरीतरो विश्वंभरः ॥३ ॥

वह (विराट्) हिरण्य (स्वर्ण) के समान ज्योतिर्मय है, जिसमें यह आत्मा (प्रत्यगात्मा) और समस्त लोक अवस्थित हैं। उसने अपने दो भाग किये, जिनमें आधे से स्त्री और आधे से पुरुष प्रकट हुआ। उसने देव

होकर देवों का सृजन किया, ऋषि होकर ऋषियों का सृजन किया। इसी प्रकार यक्ष, राक्षस और गन्धर्वों को बनाया। तत्पश्चात् ग्रामों तथा अरण्यों में रहने वाले पशुओं का सृजन किया। इनमें कोई गाय, कोई बैल, कोई घोड़ी, कोई घोड़ा, कोई गधा, कोई गधी, कोई सबका पालन करने वाली और कोई सबका पालक हुआ॥ ३॥

सोऽन्ते वैश्वानरो भूत्वा संदग्ध्वा सर्वाणि भूतानि पृथिव्यप्सु प्रलीयत आपस्तेजसि प्रलीयन्ते तेजो वायौ विलीयते वायुराकाशे विलीयत आकाशमिन्द्रियेष्विन्द्रियाणि तन्मात्रेषु तन्मात्राणि भूतादौ विलीयन्ते भूतादिर्महति विलीयते महानव्यक्ते विलीयतेऽव्यक्तमक्षरे बिलीयते अक्षरं तमसि विलीयते तमः परे देव एकीभवति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतन्निर्वाणा-नुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम्॥ ४॥

अन्त में वह (विराट् पुरुष) वैश्वानराग्नि होकर समस्त प्राणियों को जला देता है। यह पृथिवी जल में लय हो जाती है, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में, आकाश इन्द्रियों में, इन्द्रियाँ तन्मात्राओं में, तन्मात्राएँ भूतादि (अहंकार) में, अहंकार-महत् तत्त्व में, महत् तत्त्व अव्यक्त में ,अव्यक्त अक्षर में, अक्षर तमस् (अज्ञान) में लय हो जाता है और तमस् परम देव (परमेश्वर) में एकाकार हो जाता है। इसके पश्चात् न सत् रहता है, न असत् रहता है और न सत्-असत् का सम्मिलित रूप रहता है। यही निर्वाण का अनुशासन है और यही वेद का अनुशासन एवं शिक्षा है॥ ४॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

द्वितीय खण्ड में विश्वोत्पत्ति के पूर्व की स्थिति सत्-असत् से परे कही गई है। यहाँ दूसरा मत प्रकट करते हुए ऋषि कहते हैं-

असद्वा इदमग्र आसीदजातमभूतमप्रतिष्ठितमशब्दमस्पर्शमरूपमरसमगन्धमव्ययम-महान्तमबृहन्तमजमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ १॥

अथवा प्रथम सृष्टि के पूर्व यह जगत् असत् (अस्तित्व में होते हुए भी अप्रकट या अव्यक्त) था।। यह आत्मा उससे उत्पन्न नहीं हुई है और न ही उसने इससे प्रतिष्ठा पायी है। वह आत्मा अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगन्ध, अव्यय है, न महान् है, न विस्तार युक्त है, वह जन्म रहित (अजन्मा) है, ऐसा मानकर धीर पुरुष शोक नहीं करते॥ १॥

अप्राणममुखमश्रोत्रमवाग्मनोऽतेजस्कमचक्षुष्कमनामगोत्रमशिरस्कमपाणिपा-दमस्निग्धमलोहितमप्रमेयमह्रस्वमदीर्घमस्थूलमनण्वनल्पमपारमनिर्देश्यमनपावृतम-प्रतर्क्यमप्रकाश्यमसंवृतमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन॥ २॥ एतद्वै सत्येन दानेन तपसाऽनाशकेन ब्रह्मचर्येण निर्वेदनेनानाशकेन षडङ्गेनैव साधयेदेतत्त्रयं वीक्षेत दमं दानं दयामिति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति य एवं वेद॥३॥

यह आत्मा प्राण रहित, मुख रहित, श्रोत्र रहित, वाणी रहित, मन रहित, तेज रहित, नेत्र रहित, अनाम, अगोत्र, सिर रहित, बिना हाथ-पैर का, स्नेह रहित, अलोहित (रक्तरहित अथवा रज आदि गुणत्रय रहित) और अप्रमेय है। यह न लम्बा है, न मोटा है, न स्थूल है, न छोटा है, न कम है। यह अपार है, इसे बताया भी नहीं जा सकता। यह अनावृत है, इसके नियम पर तर्क नहीं किया जा सकता, यह अप्रकाश्य है, असंवृत (असंकीर्ण) है, अन्तर-बाह्य रहित है, न वह कुछ खाता है और न कोई उसे खाता है। इसे सत्य, दान, अनशन प्रधान तप, ब्रह्मचर्य, अखण्ड वैराग्य और अनाशक (स्त्री आदि विषय भोगों के प्रति आसक्ति रहित

होना) इन षट् साधनों द्वारा ही जानना चाहिए। इसी प्रकार दम (इन्द्रियदमन), दान और दया इन तीनों की ओर दृष्टि रखनी चाहिए। ऐसा करने वाले का प्राण उत्क्रमण नहीं करता (अर्थात् अन्यत्र नहीं जाता), वरन् इस आत्मतत्त्व में ही विलीन हो जाता है और ब्रह्म होकर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है॥ २-३॥

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

हृदयस्य मध्ये लोहितं मांसपिण्डं यस्मिंस्तद्दहरं पुण्डरीकं कुमुदमिवानेकधा विकसितं हृदयस्य दश छिद्राणि भवन्ति येषु प्राणाः प्रतिष्ठिताः॥ १॥

हृदय के मध्यभाग में रक्त वर्ण के मांस पिण्ड के बीच वह सूक्ष्म आत्म-तत्त्व विद्यमान है। वह कुमुद (रात्रि में विकसित होने वाले कुमुद पुष्प) के समान श्वेतवर्ण वाला और अनेक प्रकार से विकसित हुआ है। हृदय में दस छिद्र होते हैं, जिनके अन्दर प्राण निवास करते हैं॥ १॥

[ऋषि स्थूल हृदय के मध्य में स्थित पिण्ड में आत्मतत्त्व के होने की बात कहते हैं। वर्तमान विज्ञान के अनुसार हृदय में स्थित पेसमेकर, के साथ इसकी संगति बैठती है। हृदय की धड़कन का मूल स्पंदन वहीं से उभरता है, जिसे जीव चेतना द्वारा उद्भूत स्पंदन ही कहा जा सकता है। हृदय में १० छिद्रों की बात स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों संदर्भों में सिद्ध होती है। हृदय की धड़कन के साथ प्राण संचरित होते हैं, ५ प्राण एवं ५उपप्राण कुल दस प्रकार के प्राणों का संचरण हृदय से होता है, यह सूक्ष्म व्याख्या हुई। स्थूल हृदय में भी १० छिद्र इस प्रकार पाये जाते हैं-दाहिने ऑरिकल में शरीर के ऊपरी भाग से आने वाले रक्त का छिद्र सुपीरियर वैनाकोवा तथा २. नीचे से आने वाले के लिए इन्फीरियर वैनाकोवा ३. दाहिने आरि० से दाहिने वेंट्रिक्ल का छिद्र, ४. दायें वेंट्रिक्ल से फेफड़ों से रक्त जाने का मार्ग 'ट्रंक्स', ५,६. बायें फेफड़े से बायें आरि० में प्रवेश के दो मार्ग; ७,८. दायें फेफड़े से रक्त प्रवेश के दो मार्ग, ९. बायें आरि० से बायें वेन्ट्रि० में रक्त जाने का मार्ग एवं १०. बायें वेंट्रिक्ल से शरीर पोषण के लिए रक्त से भेजने का मार्ग।]

स यदा प्राणेन सह संयुज्यते तदा पश्यति नद्यो नगराणि बहूनि विविधानि च यदा व्यानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति देवांश्च ऋषींश्च यदाऽपानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति यक्षराक्षसगन्धर्वान्यदोदानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति देवलोकान्देवान्स्कन्दं जयन्तं चेति यदा समानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति देवलोकान्धनानि च यदा वैरम्भेण सह संयुज्यते तदा पश्यति दृष्टं च श्रुतं च भुक्तं चाभुक्तं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति॥ २॥

यह जीव (जाग्रदवस्था में) जब प्राण के साथ संयुक्त होता है, तब बहुत सी नदियों और विविध प्रकार के नगरों को देखता है। जब व्यान के साथ संयुक्त होता है, तब देवों और ऋषियों का दर्शन करता है। जब अपान के साथ संयुक्त होता है, तब यक्ष, राक्षस और गन्धर्वों का दर्शन करता है। जब उदान के साथ संयुक्त होता है, तब देवलोकों, देवों और जयन्त को देखता है। जब समान के साथ संयुक्त होता है, तब देवलोकों और धन का दर्शन करता है। जब वैरम्भ के साथ संयुक्त होता है, तब देखे हुए को, सुने हुए को, खाये हुए को, बिना खाये हुए को, सत् और असत् सभी को देखता है॥ २॥

अथेमा दश दश नाड्यो भवन्ति। तासामेकैकस्या द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः शाखा नाडीसहस्राणि भवन्ति यस्मिन्नयमात्मा स्वपिति शब्दानां च करोत्यथ यदद्वितीये स कोशे स्वपिति तदेमं च लोकं परं च लोकं पश्यति सर्वाञ्छब्दान्विजानाति स संप्रसाद इत्याचक्षते प्राणः शरीरं परिरक्षति हरितस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्य श्वेतस्य नाड्यो रुधिरस्य पूर्णाः॥३॥

इस हृदय की दस-दस अर्थात् सौ नाड़ियाँ होती हैं। इनमें से प्रत्येक की बहत्तर-बहत्तर हजार नाड़ी -

शाखायें होती हैं। इस प्रकार हजारों नाड़ियाँ होती हैं, जिनमें यह आत्मा शयन करता है और शब्दों की क्रिया करता है। द्वितीय कोश में जब आत्मा शयन करता है, तब इह लोक और परलोक का दर्शन करता है, समस्त शब्दों को जानता है, उस स्थिति में इसे संप्रसाद कहते हैं । प्राण शरीर की रक्षा करता है। ये नाड़ियाँ हरित वर्ण, नीले, पीले, लाल और श्वेत वर्ण के रक्त से अभिपूरित हैं (अर्थात् वात, पित्तादि रसों से पूर्ण हैं)॥ ३ ॥

अथात्रैतद्धहरं पुण्डरीकं कुमुदमिवानेकधा विकसितं यथा ऽकेशः सहस्त्रधा भिन्नस्तथा हिंता नाम नाड्यो भवन्ति हृद्याकाशे परे कोशे दिव्योऽयमात्मा स्वपिति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति न तत्र देवा न देवलोका यज्ञा न यज्ञा वा न माता न पिता न बन्धुर्न बान्धवो न स्तेनो न ब्रह्महा तेजस्कायममृतं सलिल एवेदं सलिलं वनं भूयस्तेनैव मार्गेण जाग्राय धावति सम्राडिति होवाच॥ ४॥

इस शरीर में स्थित सूक्ष्म हृदय कमल, रात्रि में खिलने वाले कुमुद के सदृश श्वेत वर्ण का है, जो अनेक प्रकार से विकास को प्राप्त हुआ है। एक बाल को हजार हिस्सों में चीर दिया जाए, इतनी पतली हिता नामक नाड़ियाँ होती हैं। हृदयाकाश परम कोश है, जिसमें यह दिव्य आत्म तत्त्व निवास करता है। जब यह निद्रा की अवस्था में होता है, तो किसी प्रकार की कामना नहीं करता और न ही कोई स्वप्न देखता है। वहाँ न कोई देवता है, न देवलोक है, न यज्ञ है, न उसकी क्रियाएँ हैं। उस स्थिति में (वह) न माता है, न पिता है, न बन्धु है, न बान्धव है, न चोर है, न ब्रह्म हत्यारा है। वह (आत्मा) तेजस्वरूप है, अमृत है। जल ही जल है, वन के समान है। इस मार्ग से आत्मा जाग्रदवस्था की ओर दौड़ता है, सम्राट् (जिसका अन्तःकरण ज्ञान से प्रकाशित हो चुका है, ऐसे अनुभूतिवान् व्यक्ति) ने ऐसा कहा है॥ ४॥

॥ पञ्चमः खण्डः ॥

इस खण्ड में ज्ञानेन्द्रियों,अन्तःकरण एवं कर्मेन्द्रियों के माध्यम से आत्मा की सक्रियता का विवेचन किया गया है। इस प्रकरण में जो आत्मा से सम्बद्ध है,उसे अध्यात्म,भौतिक सृष्टि से सम्बद्ध को अधिभूत तथा देव शक्तियों से सम्बद्ध को अधिदैवत कहा गया है। जीवन की विभिन्न धाराओं की व्याख्या इन्हीं तीनों विशेषणों के संदर्भ में की गयी है-

स्थानानि स्थानिभ्यो यच्छति नाडी तेषां निबन्धनं चक्षुरध्यात्मं द्रष्टव्यमधिभूतमादित्यस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यश्चक्षुषि यो द्रष्टव्ये य आदित्ये यो नाड्यां यः प्राणे यो विज्ञाने य आनन्दे यो हृद्याकाशे य एतस्मिन्सर्वस्मिन्नन्तरे संचरति सोऽयमात्मा तमात्मानमुपासीताजरममृतमभयमशोकमनन्तम्॥ १ ॥

(इस प्रकार जाग्रत् आदि कोशत्रय में निवास करने वाला) आत्मा उन-उन स्थानों में रहने वालों को स्थान प्रदान करता है। नाड़ी उनका मूल साधन है। चक्षु अध्यात्म है। देखा जाने वाला (द्रष्टव्य) पदार्थ अधिभूत है और आदित्य अधिदैवत है। नाड़ी उसका मूल कारण है। जो चक्षु इन्द्रिय में, द्रष्टव्य पदार्थ में, आदित्य में, नाड़ी में, प्राण में, विज्ञान में, आनन्द में, हृदयाकाश में और इस सम्पूर्ण शरीर में संचरण करता है, यह आत्मा है। उस आत्मा की ही उपासना करनी चाहिए, जो अजर, अमर, अभय, अशोक और अनन्त है॥ १ ॥

[नाड़ी को अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैवत का मूलकारण कहा गया है। दृष्टि का विकास और विलय उससे सम्बद्ध नाड़ी में होता है, यह स्पष्ट है। जिस प्रकार आत्मा के स्थान शरीर में विभिन्न नाड़ियाँ हैं, वैसे ही अधिभूत के लिए प्रकृति में तथा अधिदैवत के लिए विराट् पुरुष में नाड़ियाँ हैं। आगे नवम खण्ड में स्पष्ट किया गया है कि आदित्य आदि

भी उनसे सम्बद्ध विराट् नाड़ियों से ही उद्भूत और उन्हीं में विलीन होते हैं।]

श्रोत्रमध्यात्मं श्रोतव्यमधिभूतं दिशस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यः श्रोत्रे यः श्रोतव्ये यो दिक्षु यो नाड्यां यः प्राणे यो विज्ञाने य आनन्दे यो हृद्याकाशे य एतस्मिन्सर्वस्मिन्नन्तरे संचरति सोऽयमात्मा तमात्मानमुपासीताजरममृतमभयमशोकमनन्तम्॥ २॥

इसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय भी अध्यात्म है, श्रोतव्य शब्द अधिभूत है और दिशाएँ अधिदैवत हैं। इन तीनों का मूल कारण नाड़ी है। श्रोत्र में, श्रोतव्य शब्द में, दिशाओं में, नाड़ी में, प्राण में, विज्ञान में, आनन्द में, हृदयाकाश में और सम्पूर्ण शरीर के अन्दर जो संचरित होता है, वह आत्मा है। इसी की उपासना करनी चाहिए। यह जरारहित, मृत्युरहित, भयरहित, शोकरहित और अनन्त है॥ २॥'

नासाध्यात्मं घ्रातव्यमधिभूतं पृथिवी तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो नासायां यो घ्रातव्ये यः पृथिव्यां यो नाड्यां .....नन्तम्॥ ३॥

(उपर्युक्त के समान ही) नासिका अध्यात्म है, घ्रातव्य(सूँघने के विषय)अधिभूत हैं और पृथिवी अधिदैवत है। नाड़ी उनका मूल स्थान है। जो नासिका में, घ्रातव्य गन्ध में, पृथिवी में, नाड़ी में....अनन्त है॥ ३॥

जिह्वाध्यात्मं यो रसयितव्यमधिभूतं वरुणस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो जिह्वायां यो रसयितव्ये यो वरुणे यो नाड्यां .....नन्तम्॥ ४॥

(इसी प्रकार) जिह्वा अध्यात्म है, स्वादिष्ट पदार्थ अधिभूत हैं और वरुण अधिदैवत है। नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो जिह्वा में, स्वाद लेने के रस में, वरुण में और नाड़ी में .....अनन्त है॥ ४॥

त्वगध्यात्मं स्पर्शयितव्यमधिभूतं वायुस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यस्त्वचि यः स्पर्शयितव्ये यो वायौ यो नाड्यां.....नन्तम्॥ ५॥

(इसी प्रकार) त्वचा अध्यात्म है, स्पर्श योग्य वस्तु अधिभूत है और वायु अधिदैवत है। नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो त्वगिन्द्रिय में, स्पर्श किये गये पदार्थ में, वायु में और नाड़ी में .....अनन्त है॥ ५॥

मनोऽध्यात्मं मन्तव्यमधिभूतं चन्द्रस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो मनसि यो मन्तव्ये यश्चन्द्रे यो नाड्यां .....नन्तम्॥ ६॥

(इसी प्रकार) मन भी अध्यात्म है, मन्तव्य (मन का विषय) अधिभूत है, चन्द्रमा अधिदैवत है। नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो मन में, जो मन्तव्य में, जो चन्द्रमा में, जो नाड़ी में .....अनन्त है॥ ६॥

बुद्धिरध्यात्मं बोद्धव्यमधिभूतं ब्रह्मा तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो बुद्धौ यो बोद्धव्ये यो ब्रह्मणि यो नाड्यां..... नन्तम्॥ ७॥

(इसी प्रकार) बुद्धि अध्यात्म है, बोद्धव्य (बुद्धि का विषय) अधिभूत है, ब्रह्मा अधिदैवत हैं और नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो बुद्धि में, बोद्धव्य में, ब्रह्मा में, जो नाड़ी में ..... अनन्त है॥ ७॥

अहंकारोऽध्यात्ममहंकर्तव्यमधिभूतं रुद्रस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं योऽहंकारे योऽहंकर्तव्ये यो रुद्रे यो नाड्यां..... नन्तम्॥ ८॥

अहंकार अध्यात्म है, अहंकर्तव्य (अहं का विषय) अधिभूत है, रुद्र अधिदैवत हैं और नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो अहंकार में, अहं के विषय में , रुद्र में, नाड़ी में .....अनन्त है॥ ८॥

चित्तमध्यात्मं चेतयितव्यमधिभूतं क्षेत्रज्ञस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यश्चित्ते

यश्चेतयितव्ये यः क्षेत्रज्ञे यो नाड्यां..... नन्तम्॥ ९ ॥

(इसी प्रकार) चित्त अध्यात्म है, चेतयितव्य (चिन्तन का विषय) अधिभूत है, उसमें क्षेत्रज्ञ अधिदैवत है। नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो चित्त में, चेतयितव्य में, क्षेत्रज्ञ में, नाड़ी में .....अनन्त है॥ ९॥

वागध्यात्मं वक्तव्यमधिभूतमग्निस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो वाचि यो वक्तव्ये योऽग्नौ यो नाड्यां.....नन्तम्॥ १०॥

(उपर्युक्त की तरह ही) वाक् (वाणी) अध्यात्म है, वक्तव्य अधिभूत है और अग्नि अधिदैवत हैं। नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो वाणी में,वक्तव्य में, अग्नि में, नाड़ी में .....अनन्त है॥ १०॥

हस्तावध्यात्ममादातव्यमधिभूतमिन्द्रस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो हस्तै य आदातव्ये य इन्द्रे यो नाड्यां..... नन्तम्॥ ११ ॥

(इसी प्रकार) दोनों हाथ अध्यात्म हैं, ग्रहणीय पदार्थ अधिभूत हैं, इन्द्र अधिदैवत हैं तथा नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो हाथ में, ग्रहण करने के विषय में, इन्द्र में, नाड़ी में ..... अनन्त है॥ ११॥

पादावध्यात्मं गन्तव्यमधिभूतं विष्णुस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यः पादे यो गन्तव्ये यो विष्णौ यो नाड्यां..... नन्तम्॥ १२॥

(इसी तरह) दोनों पैर अध्यात्म हैं, गन्तव्य अधिभूत है, विष्णु अधिदैवत हैं। नाड़ी इनका मूलस्थान है। जो पैर में, गन्तव्य में, विष्णु में, नाड़ी में.....अनन्त है॥ १२॥

पायुरध्यात्मं विसर्जयितव्यमधिभूतं मृत्युस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यः पायौ यो विर्जयितव्ये यो मृत्यौ यो नाड्यां .....नन्तम्॥ १३॥

(उपर्युक्त जैसा) पायु (गुदा) अध्यात्म है, विसर्जयितव्य(विसर्जन करने का विषय)अधिभूत है और मृत्यु अधिदैवत है। नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो गुदा में, विसर्जनीय में, मृत्यु में, नाड़ी में ...अनन्त है॥१३॥

उपस्थोऽध्यात्ममानन्दयितव्यमधिभूतं प्रजापतिस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं य उपस्थे य आनन्दयितव्ये यः प्रजापतौ यो नाड्यां यः प्राणे यो विज्ञाने य आनन्दे यो हृद्याकाशे य एतस्मिन्सर्वस्मिन्नन्तरे संचरति सोऽयमात्मा तमात्मानमुपासीताजरममृतमभयमशोकमनन्तम्॥१४

इसी प्रकार उपस्थेन्द्रिय अध्यात्म है, आनन्दयितव्य (आनन्द का विषय) अधिभूत है और प्रजापति अधिदैवत हैं। नाड़ी इनका मूल स्थान है। जो उपस्थ (जननेन्द्रिय) में, जो आनंद के विषय में, जो प्रजापति में, जो नाड़ी में, जो प्राण में, जो विज्ञान में, जो आनन्द में, जो हृदयाकाश में और जो इस सम्पूर्ण शरीर में संचरित होता है, वही यह आत्मा है। इस आत्मा की ही उपासना करनी चाहिए। यह जरा रहित, मरण रहित, भयरहित, शोकरहित और अनन्त है॥ १४॥

एष सर्वज्ञ एष सर्वेश्वर एष सर्वाधिपतिरेषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य सर्वसौख्यैरुपास्यमानो न च सर्वसौख्यान्युपास्यति वेदशास्त्रैरुपास्यमानो न च वेदशास्त्राण्युपास्यति यस्यान्नमिदं सर्वे न च योऽन्नं भवत्यतः परं सर्वनयनः प्रशास्तान्नमयो भूतात्मा प्राणमय इन्द्रियात्मा मनोमयः संकल्पात्मा विज्ञानमयः कालात्मानन्दमयो लयात्मैकत्वं नास्ति द्वैतं कुतो मर्त्यं नास्त्यमृतं कुतो नान्तःप्रज्ञो न बहिःप्रज्ञो नोभयतःप्रज्ञो न प्रज्ञानघनो न प्रज्ञो नाप्रज्ञोऽपि नो विदितं वेद्यं नास्तीत्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति

वेदानुशासनम्॥ १५॥

यह (तुर्यातिरिक्त) ईश्वर सर्वज्ञ है, यह सर्वेश है, सर्वाधिपति है, अन्तर्यामी है और यही सबका उत्पत्ति स्थान है। समस्त सुखों के द्वारा यही उपास्य है, पर यह समस्त सुखों की उपासना नहीं करता। यह वेद और शास्त्रों का भी उपास्य है, पर यह वेद और शास्त्रों की उपासना नहीं करता। सभी अन्न इसके हैं, पर यह किसी का अन्न नहीं है। इसके अतिरिक्त यह सभी का नेत्र, सब को आज्ञा देने वाला, अन्नमय भूतों (प्राणियों) की आत्मा, प्राणमय इन्द्रियों की आत्मा, मनोमय संकल्प स्वरूप, विज्ञानमय कालरूप, आनन्दमय और लयात्मक है। उसमें अद्वैत (एकत्व) नहीं है, तो द्वैत कहाँ हो सकता है? वह मर्त्य नहीं है, तो अमृत कैसे हो सकता है? वह न अन्तःप्रज्ञ है और न बाह्यप्रज्ञ है। वह दोनों (अन्तर् और बाह्य) में भी प्रज्ञ नहीं है। वह प्रज्ञानघन नहीं है, न प्रज्ञ (बहुत जानने वाला) ही है, न अप्रज्ञ (बिना जानने वाला) होकर भी इसे कुछ जानना शेष है। इसके अतिरिक्त निर्वाण के लिए और कोई उपदेश (अनुशासन) नहीं है अर्थात् मोक्ष के लिए यही अनुशासन है। यही वेद की शिक्षा व अनुशासन है॥ १५॥

॥ षष्ठःखण्डः ॥

नैवेह किंचनाग्र आसीदमूलमनाधारा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते॥ १॥

सृष्टि के पूर्व इस संसार में कुछ भी नहीं था। यह निर्मूल और निराधार था, (उसी से) इस प्रजा का आविर्भाव हुआ॥ १॥

चक्षुश्च द्रष्टव्यं च नारायणः श्रोत्रं च श्रोतव्यं च नारायणो घ्राणं च घ्रातव्यं च नारायणो जिह्वा च रसयितव्यं च नारायणस्त्वक् च स्पर्शयितव्यं च नारायणो मनश्च मन्तव्यं च नारायणो बुद्धिश्च बोद्धव्यं च नारायणोऽहंकारश्चाहंकर्तव्यं च नारायणश्चित्तं च चेतयितव्यं च नारायणो वाक् च वक्तव्यं च नारायणो हस्तौ चादातव्यं च नारायणःपादौ च गन्तव्यं च नारायणः पायुश्च विसर्जयितव्यं च नारायण उपस्थश्चानन्दयितव्यं च नारायणो धाता विधाता कर्ता विकर्ता दिव्यो देव एको नारायणः॥ २॥

चक्षु और द्रष्टव्य नारायण हैं, श्रोत्र और श्रोतव्य नारायण हैं, घ्राण शक्ति और घ्रातव्य नारायण हैं, जिह्वा और रस लेने का विषय नारायण हैं, त्वचा और स्पर्शयितव्य नारायण हैं, मन और मन्तव्य (मन का विषय) नारायण हैं, बुद्धि और बुद्धि का विषय नारायण हैं, अहंकार और अहंकर्त्तव्य नारायण हैं, चित्त और चिन्तन नारायण हैं, वाक् और वक्तव्य नारायण हैं, हाथ और दातव्य (देने का विषय) नारायण हैं, पैर और गन्तव्य नारायण हैं, पायु (गुदा) और विसर्जयितव्य नारायण हैं, उपस्थ और आनन्दयितव्य (आनन्द का विषय) नारायण हैं। नारायण ही धाता (धारण कर्त्ता), विधाता, कर्त्ता, विकर्ता (विशिष्ट रूप से रचना करने वाला) और एकमात्र दिव्य देव हैं॥ २॥

आदित्या रुद्रा मरुतो वसवोऽश्विनावृचो यजूंषि सामानि मन्त्रोऽग्निराज्याहुतिर्नारायण उद्भवः संभवो दिव्यो देव एको नारायणः॥ ३॥

आदित्य, रुद्र, वायु, वसु, अश्विनीकुमार, ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदादि के मन्त्र, अग्नि और घृत की आहुति भी नारायण ही हैं। यही नारायण एक, दिव्य, देव और सभी के उत्पत्ति रूप हैं॥ ३॥

माता पिता भ्राता निवासः शरणं सुहृद्गतिर्नारायणः॥ ४॥

नारायण ही माता-पिता, भाई, निवास, शरण, मित्र तथा गति (सद्गति) हैं॥ ४॥

विराजा सुदर्शनाजितासोम्यामोघाकुमारामृतासत्यामध्यमानासीराशिशुरासुरासूर्या-भास्वतीविज्ञेयानि नाडीनामानि दिव्यानि॥ ५॥

नारायण ही विराजा, सुदर्शना, जिता, सोम्या, अमोघा (मोघा), कुमारा, अमृता, सत्या, मध्यमा, नासीरा, शिशुरा, असुरा, सूर्या, भास्वती—इन दिव्य नाड़ियों के रूप में हैं॥ ५॥

गर्जति गायति वाति वर्षति वरुणोऽर्यमा चन्द्रमाः कालः कविर्धाता ब्रह्मा प्रजापतिर्मघवा दिवसाश्चार्धदिवसाश्च कलाः कल्पाश्चोर्ध्वं य दिशश्च सर्वं नारायणः॥ ६॥

जो गरजता है, गाता है, (वायु रूप होकर) बहता है, बरसता है, जो वरुण, अर्यमा, चन्द्रमा, काल, कवि, धाना, प्रजापति, ब्रह्मा, मघवा (इन्द्र), दिवस, अर्ध दिवस, कलाएँ, कल्प, ऊर्ध्वभाग, दिशाएँ और सभी कुछ है, वे सब नारायण ही हैं॥ ६॥

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति। तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम्। तदेतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम्॥ ७॥

यह जो कुछ वर्तमान में है, जो पूर्व में हो चुका है और जो आगे भविष्य में होगा, वह सब पुरुष (परमेश्वर) ही है। इस अमर जीव-जगत् के भी वही स्वामी हैं। जो अन्न द्वारा वृद्धि प्राप्त करते हैं, उनके भी वही स्वामी हैं। वही विष्णु का परम पद है, जिसे विद्वज्जन सदैव देखते हैं। यह अन्तरिक्ष में फैले हुए चक्षु के समान है। क्रोधित न होने वाले तथा सतत जाग्रत् रहने वाले विप्रगण इसका साक्षात्कार करते हैं, यही विष्णु का परम पद है। यही निर्वाण का उपदेश है, यही वेद का अनुशासन है। यही वेद की सीख है॥ ७॥

॥ सप्तमः खण्डः ॥

अन्तःशरीरे निहितो गुहायामज एको नित्यो यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे संचरन् यं पृथिवी न वेद। यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरे संचरन्यमापो न विदुः। यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोन्तरे संचरन् यं तेजो न वेद। यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरे संचरन् यं वायुर्न वेद। यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरे संचरन् यमाकाशो न वेद। यस्य मनः शरीरं यो मनोन्तरे संचरन् यं मनो न वेद। यस्य बुद्धिः शरीरं यो बुद्धिमन्तरे संचरन् यं बुद्धिर्न वेद। यस्याहंकारः शरीरं योऽहंकारमन्तरे संचरन् यमहंकारो न वेद। यस्य चित्तं शरीरं यश्चित्तमन्तरे संचरन् यं चित्तं न वेद। यस्याव्यक्तं शरीरं योऽव्यक्तमन्तरे संचरन् यमव्यक्तं न वेद। यस्याक्षरं शरीरं योऽक्षरमन्तरे संचरन् यमक्षरं न वेद। यस्य मृत्युः शरीरं यो मृत्युमन्तरे संचरन् यं मृत्युर्न वेद। स एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः॥ १॥

जो शरीर के अन्दर हृदय रूपी गुहा में निवास करता है, वह आत्मा अज, एक और नित्य है। उसका शरीर पृथिवी है, जो पृथिवी में संचरित होता है; पर पृथिवी जिसे नहीं जानती। जल जिसका शरीर है, जो जल में संचरित होता है; पर जल जिसे नहीं जानता। तेज जिसका शरीर है, जो तेज में संचरित होता है; पर तेज जिसे नहीं जानता। वायु जिसका शरीर है, वायु में जो संचरित होता है; पर वायु जिसे नहीं जानता । आकाश जिसका शरीर है, जो आकाश में संचरित होता है; पर आकाश जिसे नहीं जानता। मन जिसका शरीर है, जो मन में

संचरित होता है; पर मन जिसे नहीं जानता । बुद्धि जिसका शरीर है, जो बुद्धि में संचरित होता है; पर बुद्धि जिसे नहीं जानती। अहंकार जिसका शरीर है, जो अहंकार में संचरित होता है; पर अहंकार जिसे नहीं जानता। चित्त जिसका शरीर है, जो चित्त में संचरित होता है; पर चित्त जिसे नहीं जानता। अव्यक्त जिसका शरीर है, जो अव्यक्त में सञ्चरित होता है; पर अव्यक्त जिसे नहीं जानता। अक्षर जिसका शरीर है, जो अक्षर में संचरित होता है; पर अक्षर जिसे नहीं जानता। मृत्यु जिसका शरीर है, जो मृत्यु में संचरित होता है; पर मृत्यु जिसे नहीं जानती, वे सर्वभूतों के अन्तरात्मा, विनष्ट पाप वाले, एक, दिव्य, देव, नारायण हैं॥ १॥

एतां विद्यामपान्तरतमाय ददावपान्तरतमो ब्रह्मणे ददौ ब्रह्मा घोराङ्गिरसे ददौ घोराङ्गिरा रैक्काय ददौ रैक्को रामाय ददौ रामः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ददावित्येवं निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम्॥ २॥

यह विद्या (नारायण ने) अपान्तरतम नामक ब्राह्मण (अति प्राचीन काल के सिद्ध ब्राह्मण) को दी थी। अपान्तरतम ने ब्रह्मा को, ब्रह्मा ने घोराङ्गिरस को, घोराङ्गिरस ने रैक्क को, रैक्क ने राम को और राम ने समस्त भूतों को प्रदान की। इस प्रकार यह निर्वाण का अनुशासन है, वेद का अनुशासन है और वेद की शिक्षा है॥२॥

॥ अष्टमः खण्डः ॥

अन्तःशरीरे निहितो गुहायां शुद्धः सोऽयमात्मा सर्वस्य मेदोमांसक्लेदावकीर्णे शरीरमध्येऽत्यन्तोपहते चित्रभित्तिप्रतीकाशे गान्धर्वनगरोपमे कदलीगर्भवन्निःसारे जलबुद्बुदवच्चञ्चले निःसृतमात्मानमचिन्त्यरूपं दिव्यं देवमसङ्गं शुद्धं तेजस्कायमरूपं सर्वेश्वरमचिन्त्यमशरीरं निहितं गुहाया ममृतं विभ्राजमानमानन्दं तं पश्यन्ति विद्वांसस्तेन लये न पश्यन्ति॥१

सभी शरीरों के अन्दर हृदय रूपी गुहा में यह शुद्ध आत्मा निवास करता है। शरीर तो मेद, मांस और रक्त से अभिपूरित है, जो अत्यन्त नश्वर और चित्रभित्ति (चित्रस्थ दीवार) के समान गन्धर्व नगर तुल्य, केले के गर्भ की तरह निस्सार, जल के बुलबुले की तरह चञ्चल है; किन्तु उससे परे रहने वाला आत्मा अचिन्त्यरूप, दिव्य, प्रकाशवान्, असङ्ग, शुद्ध, तेजःस्वरूप, अरूप, सर्वेश्वर, अचिन्त्य और अशरीर है। हृदय रूपी गुहा में निवास करने वाला वह (आत्मा) अमृत और देदीप्यमान है। विद्वान् उसको आनन्दरूप में देखते हैं और उसमें विलय हो जाने के पश्चात् उससे भिन्न कुछ भी नहीं देखते॥ १॥

॥ नवमः खण्डः ॥

अथ हैनं रैक्कः पप्रच्छ भगवन्कस्मिन्सर्वेऽस्तं गच्छन्तीति। तस्मै स होवाच चक्षुरेवाप्येति यच्चक्षुरेवास्तमेति द्रष्टव्यमेवाप्येति यो द्रष्टव्यमेवास्तमेत्यादित्यमेवाप्येति य आदित्यमेवास्तमेति विराजामेवाप्येति यो विराजामेवास्तमेति प्राणमेवाप्येति यः प्राणमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति यो विज्ञानमेवास्तमेत्यानन्दमेवाप्येति य आनन्दमेवास्तमेति तुरीयमेवाप्येति यस्तुरीयमेवास्तमेति तदमृतमभयमशोकमनन्तनिर्बीजमेवाप्येतीति होवाच॥ १॥

इसके पश्चात् रैक्क ने घोराङ्गिरस से प्रश्न किया-हे भगवन्! ये समस्त पदार्थ किसमें अस्त होते हैं? (यह सुनकर) घोराङ्गिरस ने रैक्क को उत्तर दिया-जो पदार्थ चक्षु के प्रति प्राप्त (प्रकट) होते हैं (दिखाई देते हैं), वे चक्षु (अपने अन्तर्यामी) में ही अस्त हो जाते हैं। जो द्रष्टव्य पदार्थ आदित्य के प्रति प्रकट होता है, वह आदित्य में ही विलीन हो जाता है। जो आदित्य, विराजा (सुषुम्ना नामक नाड़ी का ही एक नाम) के प्रति प्रकट होता है,

वह विराजा में ही विलीन हो जाता है। जो विराजा प्राण के प्रति प्रकट होती है, वह प्राण में ही विलीन हो जाती है। जो प्राण, विज्ञान के प्रति प्रकट होता है, वह विज्ञान में ही अस्त होता है। जो विज्ञान, आनन्द के प्रति प्रकट होता है, वह आनन्द में ही अस्त होता है। जो आनन्द, तुरीय के प्रति प्रकट होता है, वह तुरीय में ही अस्त होता है। वह तुरीय अमृत, अभय, अशोक,अनन्त और निर्बीज ब्रह्म को प्राप्त होता है॥ १॥

[जिस-जिस संज्ञा वाली नाड़ियाँ मनुष्य में होती हैं, वे सभी मूलतः विराट् पुरुष में भी होती हैं, जिस तरह विराट् पुरुष-परमात्मा का अंश आत्मा है, वैसे ही नाड़ियाँ भी विराट् के नाड़ी तंत्र की अंग हैं। आदित्य आदि देवों का प्राकट्य और विलय उन्हीं के प्रति कहा गया है। आगे के मंत्रों में भी अधिदेवता का विलय जिन नाड़ियों में कहा गया है, वे सभी विराट् की नाड़ियाँ ही मान्य हैं।]

श्रोत्रमेवाप्येति यः श्रोत्रमेवास्तमेति श्रोतव्यमेवाप्येति यः श्रोतव्यमेवास्तमेति दिशमेवाप्येति यो दिशमेवास्तमेति सुदर्शनामेवाप्येति यः सुदर्शनामेवास्तमेत्यपानमेवाप्येति योऽपानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति यो विज्ञानमेवास्तमेति तदमृतमभयमशोकमनन्त-निर्बीजमेवाप्येतीति होवाच॥ २॥

इसी प्रकार जो श्रोत्र के प्रति प्रकट होता है, वह श्रोत्र में ही अस्त होता है। जो श्रोत्र, श्रोतव्य के प्रति प्रकट होता है, वह श्रोतव्य में ही अस्त होता है। जो श्रोतव्य, दिशाओं के प्रति प्रकट होता है, वह दिशाओं में ही अस्त होता है। जो दिशाएँ, सुदर्शना के प्रति प्रकट होती हैं, वे सुदर्शना में ही अस्त होती हैं। जो सुदर्शना, अपान के प्रति प्रकट होती है, वह अपान में ही अस्त होती है। जो अपान विज्ञान के प्रति प्रकट होता है, वह विज्ञान में ही अस्त होता है। वह विज्ञान अमृत, अभय, अशोक, अनन्त और निर्बीज ब्रह्म में विलीन हो जाता है॥ २॥

नासामेवाप्येति यो नासामेवास्तमेति घ्रातव्यमेवाप्येति यो घ्रातव्यमेवास्तमेति पृथिवीमेवाप्येति यः पृथिवीमेवास्तमेति जितामेवाप्येति यो जितामेवास्तमेति व्यानमेवाप्येति यो व्यानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत..... होवाच॥ ३॥

इसी प्रकार जो पदार्थ नासिका के प्रति (गन्धरूप में) प्रकट होते हैं, वे नासिका में ही अस्त होते हैं। जो नासिका, घ्रातव्य (सूँघे जाने योग्य) पदार्थों के प्रति प्रकट होती है, वह घ्रातव्य में ही अस्त हो जाती है। जो घ्रातव्य, पृथिवी के प्रति प्रकट होता है, वह पृथिवी में ही विलीन हो जाता है। जो पृथिवी, जिता नामक नाड़ी के प्रति प्रकट होती है, वह जिता में ही अस्त होती है। जो जिता, व्यान के प्रति प्रकट होती है, वह व्यान में ही विलीन हो जाती है। जो व्यान, विज्ञान के प्रति प्रकट होता है, वह विज्ञान में ही विलुप्त हो जाता है। वह विज्ञान, अमृत, अभय, अशोक, अनन्त और निर्बीज ब्रह्म में लय हो जाता है॥ ३॥

जिह्वामेवाप्येति यो जिह्वामेवास्तमेति रसयितव्यमेवाप्येति यो रसयितव्यमेवास्तमेति वरुणमेवाप्येति यो वरुणमेवास्तमेति सौम्यामेवाप्येति यः सौम्यामेवास्तमेत्युदानमेवाप्येति य उदानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत..... होवाच॥ ४॥

इसी प्रकार जो पदार्थ जिह्वा के प्रति प्रकट होते हैं, वे जिह्वा में ही विलीन हो जाते हैं। जो जिह्वा, रसयितव्य के प्रति प्रकट होती है, वह रसयितव्य में ही विलीन हो जाती है। जो रसयितव्य, वरुण को प्राप्त होता है, वह वरुण में ही विलीन हो जाता है। जो वरुण, सौम्या नामक नाड़ी को प्राप्त होता है, वह सौम्या में ही विलीन हो जाता है। जो सौम्या, उदान के प्रति प्रकट होती है, वह उदान में ही अस्त हो जाती है। जो उदान, विज्ञान के प्रति प्रकट होता है, वह विज्ञान में ही लय हो जाता है। वह विज्ञान अमृत, भयरहित, शोकरहित, अन्तरहित और बीजरहित ब्रह्म को प्राप्त होता है॥ ४॥

त्वचमेवाप्येति यस्त्वचमेवास्तमेति स्पर्शयितव्यमेवाप्येति यः स्पर्शयितव्यमेवास्तमेति वायुमेवाप्येति यो वायुमेवास्तमेति मोघामेवाप्येति यो मोघामेवास्तमेति समानमेवाप्येति यः समानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत..... होवाच॥ ५ ॥

जो पदार्थ त्वचा को प्राप्त होते हैं, वे त्वचा में ही विलीन हो जाते हैं। जो त्वचा, स्पर्शयितव्य के प्रति प्रकट होती है, वह स्पर्शयितव्य में ही अस्त हो जाती है। जो स्पर्शयितव्य, वायु को प्राप्त होता है, वह वायु में ही विलीन हो जाता है। जो वायु मोघा के प्रति प्रकट होती है, वह मोघा नामक नाड़ी में ही विलीन हो जाती है। जो मोघा, समान के प्रति प्राप्त होती है, वह समान में ही अस्त हो जाती है। जो समान, विज्ञान को प्राप्त होती है,वह विज्ञान में ही अस्त हो जाती है। वह अमर,अभय,अशोक,अन्तरहित और बीजरहित ब्रह्म में विलीन हो जाता है॥५॥

वाचमेवाप्येति यो वाचमेवास्तमेति वक्तव्यमेवाप्येति यो वक्तव्यमेवास्तमेत्यग्निमेवाप्येति योऽग्निमेवास्तमेति कुमारामेवाप्येति यः कुमारामेवास्तमेति वैरम्भमेवाप्येति यो वैरम्भमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत..... होवाच॥ ६ ॥

जो पदार्थ वाक् को प्राप्त होते हैं, वे वाक् में ही अस्त होते हैं। जो वाक्, वक्तव्य को प्राप्त होती है, वह वक्तव्य में ही अस्त होती है। जो वक्तव्य, अग्नि को प्राप्त होता है, वह अग्नि में ही विलीन हो जाता है। जो अग्नि, कुमारा नामक नाड़ी को प्राप्त होती है, वह कुमारा में ही विलीन हो जाती है। जो कुमारा, वैरम्भ को प्राप्त होती है, वह वैरम्भ में ही अस्त हो जाती है। जो वैरम्भ, विज्ञान को प्राप्त होता है, वह विज्ञान में ही अस्त होता है। वह विज्ञान अमर, भयरहित, शोकरहित, अन्तरहित और बीजरहित ब्रह्म में विलीन हो जाता है॥ ६ ॥

हस्तमेवाप्येति यो हस्तमेवास्तमेत्यादातव्यमेवाप्येति य आदातव्यमेवास्तमेतीन्द्रमेवाप्येति य इन्द्रमेवास्तमेत्यमृतामेवाप्येति योऽमृतामेवास्तमेति मुख्यमेवाप्येति यो मुख्यमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत..... होवाच॥ ७॥

(ऐसा कहने के पश्चात् उन घोराङ्गिरस ने पुनः कहना प्रारम्भ किया कि) जो हाथ को प्राप्त कर लेता है, वह हाथ में ही विलीन हो जाता है। यह हाथ, लेने योग्य पदार्थ के प्रति गमन करता है, अतः यह लेने वाले पदार्थ में ही लीन होता है, यह पदार्थ, इन्द्र के प्रति प्रस्थान करता है, इस कारण से यह इन्द्र में ही विलीन हो जाता है, यह इन्द्र, अमृता नाड़ी के प्रति जाता है, इस कारण यह अमृता में ही अस्त हो जाता है, यह अमृता, मुख्य के पास जाती है, अतः मुख्य में ही अस्त हो जाती है, यह मुख्य, विज्ञान के पास जाता है, इस कारण से विज्ञान में ही अपने को विलीन कर लेता है और यह विज्ञान, तुरीय के प्रति गमन करता है, इस कारण यह अमर, निर्भय, अशोक एवं अन्तरहित तथा बीजविहीन तुरीयावस्था को ही प्राप्त कर लेता है॥ ७॥

पादमेवाप्येति यः पादमेवास्तमेति गन्तव्यमेवाप्येति यो गन्तव्यमेवास्तमेति विष्णुमेवाप्येति यो विष्णुमेवास्तमेति सत्यामेवाप्येति यः सत्यामेवास्तमेत्यन्तर्याममेवाप्येति योऽन्तर्याममेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद..... होवाच॥ ८ ॥

(इसी प्रकार) जो पैर के प्रति गमन करता है, वह पैर में ही विलीन होता है, यह पैर, गन्तव्य स्थान की ओर प्रस्थान करता है, इस कारण से यह गन्तव्य स्थान में विलीन हो जाता है, यह गन्तव्य स्थान विष्णु के प्रति जाता है, इस कारण से यह विष्णु में ही विलीन हो जाता है, यह विष्णु, सत्या नाड़ी की ओर प्रस्थान करता है, इसलिए यह सत्या नाड़ी में ही अपने को विलीन कर लेता है, यह सत्या, अन्तर्याम की ओर गमन करती है, इसलिए यह अन्तर्याम में ही लय हो जाती है, यह अन्तर्याम, विज्ञान की ओर गमन करता है, इसलिए यह

विज्ञान में ही विलय हो जाता है तथा यह विज्ञान, तुरीय के समक्ष जाता है, इस कारण से यह मृत्युरहित, भयरहित, शोकरहित, अन्तरहित एवं अबीज तुरीयावस्था को प्राप्त कर लेता है॥ ८॥

पायुमेवाप्येति यः पायुमेवास्तमेति विसर्जयितव्यमेवाप्येति यो विसर्जयितव्यमेवास्तमेति मृत्युमेवाप्येति यो मृत्युमेवास्तमेति मध्यमामेवाप्येति यो मध्यमामेवास्तमेति प्रभञ्जनमेवाप्येति यः प्रभञ्जनमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तद..... होवाच॥ ९॥

(ऐसा कहने के अनन्तर फिर उन्होंने कहा-) जो गुदा को प्राप्त करता है, वह गुदा में ही विलय को पाता है, यह गुदा, विसर्जन योग्य मल त्याग को प्राप्त करता है, अतः यह त्यागने योग्य में ही विलय को प्राप्त करता है, यह मलत्याग, मृत्यु को प्राप्त करता है, इस कारण यह मृत्यु में ही विलीन हो जाता है,यह मृत्यु, मध्यमा नाड़ी को प्राप्त करती है, इसलिए यह मध्यमा में ही विलीन होती है,यह मध्यमा, प्रभञ्जन नामक वायु को प्राप्त करती है, अतः यह प्रभञ्जन वायु में ही विलय को प्राप्त होती है,यह प्रभञ्जन वायु विज्ञान को प्राप्त होती है, इस कारण प्रभञ्जन वायु का अस्त विज्ञान में ही होता है। यह विज्ञान, तुरीय के पास जाता है, इसलिए वह मृत्युरहित, भयविहीन, अशोक, अनन्त एवं निर्बीज तुरीयावस्था को प्राप्त हो जाता है॥ ९॥

उपस्थमेवाप्येति य उपस्थमेवास्तमेत्यानन्दयितव्यमेवाप्येति य आनन्दयितव्यमेवास्तमेति प्रजापतिमेवाप्येति यः प्रजापतिमेवास्तमेति नासीरामेवाप्येति यो नासीरामेवास्तमेति कुर्मिरमेवाप्येति यः कुर्मिरमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत ..... होवाच॥ १०॥

(यह कहने के पश्चात् पुनः उन्होंने कहना प्रारंभ किया कि) जो उपस्थ को प्राप्त करता है, वह उपस्थ में ही लीन हो जाता है और यह उपस्थ, आनन्द स्वरूप विषयों को प्राप्त करता है, इस कारण यह आनन्द में विलय हो जाता है। यह आनन्द, प्रजापति के पास जाता है, इस कारण यह प्रजापति में विलीन हो जाता है। यह प्रजापति, नासीरा नाड़ी की ओर प्रस्थान करता है, अतः यह नासीरा में ही विलीन हो जाता है। यह नासीरा, कुर्मिर नाड़ी की ओर गमन करता है, इस कारण से यह कुर्मिर नाड़ी में ही लय होती है। यह कुर्मिर विज्ञान की ओर जाती है, इसलिए इसका विलय विज्ञान में ही हो जाता है। यह विज्ञान तुरीय को प्राप्त करता है, इस कारण यह मृत्युरहित, भयरहित, शोकविहीन, अनन्त एवं अबीज तुरीयावस्था को ही प्राप्त करता है॥ १०॥

मन एवाप्येति यो मन एवास्तमेति मन्तव्यमेवाप्येति यो मन्तव्यमेवास्तमेति चन्द्रमेवाप्येति यश्चन्द्रमेवास्तमेति शिशुमेवाप्येति यः शिशुमेवास्तमेति श्येनमेवाप्येति यः श्येनमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत..... होवाच॥ ११॥

(इसके बाद उन्होंने पुनः कहा कि) जो मन को प्राप्त करता है, वह मन में ही विलीन हो जाता है। यह मन, विचारणीय विषय को प्राप्त करता है, इस कारण से यह विचारणीय विषयों में लीन हो जाता है,यह विचारणीय, चन्द्रमा की तरफ गमन कर जाता है, इसलिए यह चन्द्रमा में ही लय हो जाता है, यह चन्द्रमा, शिशु नाड़ी की ओर गमन करता है, इस कारण यह शिशु में ही विलीन हो जाता है, यह शिशु नाड़ी श्येन की ओर गमन करती है, इस कारण वह श्येन में ही लय होती है, यह श्येन, विज्ञान की तरफ गमन करता है, इस कारण से यह विज्ञान में ही विलीन हो जाता है तथा यह विज्ञान, तुरीय के प्रति गमन करता है, इस कारण से यह मृत्युरहित, भयरहित, अशोक, अनन्त एवं अबीज तुरीयावस्था को प्राप्त होता है॥ ११॥

बुद्धिमेवाप्येति यो बुद्धिमेवास्तमेति बोद्धव्यमेवाप्येति यो बोद्धव्यमेवास्तमेति ब्रह्माणमेवाप्येति यो ब्रह्माणमेवास्तमेति सूर्यामेवाप्येति यः सूर्यामेवास्तमेति कृष्णमेवाप्येति यः कृष्णमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत..... होवाच॥ १२॥

(ऐसा कहने के उपरान्त उन्होंने फिर कहा कि) जो बुद्धि को प्राप्त करता है, वह बुद्धि में ही विलीन हो जाता है। यह बुद्धि, जानने योग्य विषयों की ओर प्रस्थान कर जाती है, इस कारण यह जानने योग्य विषयों में ही विलीन हो जाती है। यह जानने का विषय, ब्रह्मा की ओर गमन कर जाता है, इसलिए यह ब्रह्मा में ही अस्त हो जाता है, यह ब्रह्मा सूर्या नाड़ी को प्राप्त करता है, इसलिए इसका विलय सूर्या में ही हो जाता है, यह सूर्या कृष्ण को प्राप्त करती है, इसलिए यह कृष्ण में ही विलीन हो जाती है, यह कृष्ण, विज्ञान को प्राप्त करता है, इसलिए इसका विलय विज्ञान में ही हो जाता है और यह विज्ञान, तुरीय को प्राप्त हो जाता है, इस कारण यह मृत्युरहित, भयरहित, अशोक, अनन्त एवं अबीज तुरीयावस्था को ही प्राप्त करता है॥ १२॥

अहंकारमेवाप्येति योऽहंकारमेवास्तमेत्यहंकर्तव्यमेवाप्येति योऽहंकर्तव्यमेवास्तमेति रुद्रमेवाप्येति यो रुद्रमेवास्तमेत्यसुरामेवाप्येति योऽसुरामेवास्तमेति श्वेतमेवाप्येति यः श्वेतमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत..... होवाच॥ १३॥

(इस प्रकार कहने के पश्चात् उन महर्षि ने कहा कि) जो अहंकार को प्राप्त करता है, वह अहंकार में ही विलीन हो जाता है। यह अहंकार, कर्त्तव्य को प्राप्त करता है, इसलिए यह कर्त्तव्य में ही लय हो जाता है। यह कर्त्तव्य, रुद्र को प्राप्त करता है, इस कारण इसका लय रुद्र में ही होता है, यह रुद्र, असुरा नाड़ी को प्राप्त करता है, इसलिए इस रुद्र का विलय असुरा नाड़ी में ही हो जाता है। यह असुरा नाड़ी श्वेत को प्राप्त करती है, अतः इस असुरा का विलय श्वेत में ही होता है। यह श्वेत, विज्ञान को प्राप्त करता है, इसलिए इसका विलय विज्ञान में ही हो जाता है। यह विज्ञान, तुरीय को प्राप्त करता है, इस कारण यह मृत्युरहित, भयरहित, अशोक, अनन्त एवं अबीज तुरीय को ही प्राप्त होता है॥ १३॥

चित्तमेवाप्येति यश्चित्तमेवास्तमेति चेतयितव्यमेवाप्येति यश्चेतयितव्यमेवास्तमेति क्षेत्रज्ञमेवाप्येति यः क्षेत्रज्ञमेवास्तमेति भास्वतीमेवाप्येति यो भास्वतीमेवास्तमेति नागमेवाप्येति यो नागमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति यो विज्ञानमेवास्तमेत्यानन्दमेवाप्येति य आनन्दमेवास्तमेति तुरीयमेवाप्येति यस्तुरीयमेवास्तमेति तदमृतमभयमशोकमनन्तं निर्बीजमेवाप्येति तदमृत..... होवाच॥ १४॥

(इस प्रकार कहने के बाद पुनः उन्होंने कहना शुरू किया कि) जो चित्त को प्राप्त कर लेता है, वह चित्त में ही विलीन हो जाता है। यह चित्त, चिन्तन योग्य को पा लेता है, इस कारण यह चिन्तन करने योग्य में ही लय हो जाता है। यह चिन्तन करने योग्य, क्षेत्रज्ञ को प्राप्त कर लेता है, इस कारण इसका विलय क्षेत्रज्ञ में ही होता है। यह क्षेत्रज्ञ, भास्वती नाड़ी में गमन कर जाता है, इस कारण यह भास्वती नाड़ी में ही विलीन हो जाता है। यह भास्वती, नाग वायु के पास जाती है, इस कारण यह नाग वायु में ही अस्त हो जाती है। यह नाग वायु, विज्ञान की ओर जाती है, इस कारण यह विज्ञान में विलय हो जाती है। यह विज्ञान, आनन्द को प्राप्त कर लेता है, इस कारण यह आनन्द में ही विलीन हो जाता है और वह आनन्द मृत्युरहित, भयरहित, अशोक, अनन्त एवं निर्बीज तुरीय में जाता है, इस कारण से यह तुरीयावस्था को प्राप्त कर लेता है॥ १४॥

य एवं निर्बीजं वेद निर्बीज एव स भवति न जायते न म्रियते न मुह्यते न भिद्यते न दह्यते न छिद्यते न कम्पते न कुप्यते सर्वदहनोऽयमात्मेत्याचक्षते॥ १५॥

(उन घोराङ्गिरस जी ने पुनः कहा कि) जो भी मनुष्य इस तरह से निर्बीज रूपी तत्त्व को जान लेता है, वह निर्बीज हो जाता है। वह अजन्मा हो जाता है, मृत्यु एवं मोह को भी नहीं प्राप्त करता। उसका भेदन नहीं

होता, जलता भी नहीं, छेदा भी नहीं जाता, कम्पायमान भी नहीं होता तथा कुपित भी नहीं होता है। इस प्रकार सभी कुछ दग्ध करने वाली यह आत्मा ही है, ऐसा शास्त्रवेत्ताओं का मत है॥ १५॥

नैवमात्मा प्रवचनशतेनापि लभ्यते न बहुश्रुतेन न बुद्धिज्ञानाश्रितेन न मेधया न वेदैर्न यज्ञैर्न तपोभिरुग्रैर्न सांख्यैर्न योगैर्नाश्रमैर्नान्यैरात्मानमुपलभन्ते प्रवचनेन प्रशंसया व्युत्थानेन तमेतं ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचाना उपलभन्ते शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वस्यात्मा भवति य एवं वेद॥ १६॥

यह आत्मा सैकड़ों तरह के प्रवचन करने मात्र से नहीं प्राप्त होता, अनेकों शास्त्रों का अध्ययन करने से भी नहीं मिलता, बुद्धि तथा ज्ञान का सान्निध्य प्राप्त कर लेने से भी यह आत्मा प्राप्त नहीं होता। वैसे ही मेधा, वेदों, यज्ञों, उग्र-तपश्चर्या, सांख्यज्ञान, योग, आश्रम अथवा अन्य दूसरे प्रयत्नों से भी वह आत्मा प्राप्त नहीं होता। ब्रह्म में निष्ठा रखने वाला जो मनुष्य प्रवचन के द्वारा, प्रशंसा (गुरु सेवा) के द्वारा तथा व्युत्थान (सामान्य जीवन क्रम से ऊपर उठकर) के द्वारा आत्मज्ञानपरक शास्त्रों का श्रवण करता हुआ शम, दम, उपरति एवं तितिक्षा में स्थित होकर समाधिनिष्ठ हुआ आत्मा को आत्मा में ही देखता है, वही आत्म तत्त्व को प्राप्त कर पाता है। जो भी मनुष्य इस तरह से आत्मतत्त्व को जानता है, वह सभी का आत्मा हो जाता है॥ १६॥

॥ दशमः खण्डः ॥

अथ हैनं रैक्कः पप्रच्छ भगवन्कस्मिन्सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति रसातललोकेष्विति होवाच कस्मिन्नसातललोका ओताश्च प्रोताश्चेति भूर्लोकेष्विति होवाच। कस्मिन्भूर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति भुवर्लोकेष्विति होवाच। कस्मिन्भुवर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति सुवर्लोकेष्विति होवाच। कस्मिन्सुवर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति महर्लोकेष्विति होवाच। कस्मिन्महर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति जनोलोकेष्विति होवाच। कस्मिन् जनोलोका ओताश्च प्रोताश्चेति तपोलोकेष्विति होवाच। कस्मिँस्तपोलोका ओताश्च प्रोताश्चेति सत्यलोकेष्विति होवाच। कस्मिन्सत्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेष्विति होवाच। कस्मिन्प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेष्विति होवाच। कस्मिन्ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति सर्वलोका आत्मनि ब्रह्मणि मणय इवौताश्च प्रोताश्चेति स होवाच॥ १॥

इसके बाद पुनः रैक्क मुनि ने घोराङ्गिरस से प्रश्न किया कि "हे भगवन्! किसमें सभी प्रतिष्ठित हैं?" तदनन्तर उन घोराङ्गिरस ने कहना प्रारम्भ किया कि रसातल के लोकों में सभी कुछ रहता है। "यह रसातल का लोक किसमें स्थित है?" तब उन्होंने कहा कि यह 'भू लोक' में स्थित है। यह भूलोक किसमें स्थित है? उन्होंने कहा- "यह भुवः लोक में प्रतिष्ठित है।" यह भुवर्लोक किसमें ओत-प्रोत है? तब उन्होंने बताया कि "यह स्वर्लोक में स्थित है"। यह स्वर्लोक किसमें ओत-प्रोत है? उन्होंने उत्तर दिया कि "यह महर्लोक में प्रतिष्ठित है।" यह महर्लोक किसमें ओत-प्रोत है?" (उत्तर) यह जनोलोक में प्रतिष्ठित है।" इस प्रकार उन ऋषि ने पुनः कहा-यह जनोलोक किसमें ओत-प्रोत है?" (उत्तर) यह तपोलोक में स्थित है, ऐसा उन्होंने कहा। (प्रश्न) यह तपोलोक किसमें ओत-प्रोत है? उन्होंने कहा कि यह सत्यलोक में स्थित है। यह सत्य लोक किसमें ओत-प्रोत है? यह प्रजापति लोक में प्रतिष्ठित है, ऐसा उन्होंने कहा-"यह प्रजापति लोक किसमें ओत-प्रोत है?" यह ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित है" ऐसा उन्होंने बताया। यह ब्रह्मलोक किसमें ओत-प्रोत

है ? (यह अन्य किसी में ओत-प्रोत नहीं है) "समस्त लोक आत्म स्वरूप परब्रह्म में माला के दानों की भाँति ओत-प्रोत हैं। इस प्रकार उन्होंने कहा"॥ १ ॥

एवमेतान् लोकानात्मनि प्रतिष्ठितान्वेदात्मैव स भवतीत्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम्॥ २ ॥

जो पुरुष इन सभी लोकों की आत्मा में ही स्थित रहता है, वह आत्मस्वरूप ही हो जाता है। इस तरह यह निर्वाण (मोक्ष) विषय का अनुशासन है, यही वेद की शिक्षा है एवं यही वेद की आज्ञा है॥ २॥

॥ एकादशः खण्डः ॥

अथ हैनं रैक्कः पप्रच्छ भगवन्योऽयं विज्ञानघन उत्क्रामन्स केन कतरद्भाव स्थानमुत्सृज्यापक्रामतीति तस्मै स होवाच। हृदयस्य मध्ये लोहितं मांसपिण्डं यस्मिंस्तद्दहरं पुण्डरीकं कुमुदमिवानेकधा विकसितं तस्य मध्ये समुद्रः समुद्रस्य मध्ये कोशस्तस्मिन्नाड्यश्चतस्रो भवन्ति रमारमेच्छाऽपुनर्भवेति तत्र रमा पुण्येन पुण्यं लोकं नयत्यरमा पापेन पापमिच्छया यत्स्मरति तदभिसंपद्यते अपुनर्भवया कोशं भिनत्ति कोशं भित्त्वा शीर्षकपालं भिनत्ति शीर्षकपालं भित्त्वा पृथिवीं भिनत्ति पृथिवीं भित्त्वाऽपो भिनत्त्यपो भित्त्वा तेजो भिनत्ति तेजो भित्त्वा वायुं भिनत्ति वायुं भित्त्वाकाशं भिनत्त्याकाशं भित्त्वा मनो भिनत्ति मनो भित्त्वा भूतादिं भिनत्ति भूतादिं भित्त्वा महान्तं भिनत्ति महान्तं भित्त्वाव्यक्तं भिनत्त्यव्यक्तं भित्त्वाक्षरं भिनत्त्यक्षरं भित्त्वा मृत्युं भिनत्ति मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम्॥ १ ॥

इसके बाद रैक्क मुनि ने पुनः प्रश्न किया-हे भगवन्! यह विज्ञानघन आत्मा जब शरीर से उत्क्रमण करता है, तब किस जगह का परित्याग करके, किस रास्ते से बाहर की ओर प्रस्थान करता है ? यह सुनकर घोराङ्गिरस ने कहना प्रारम्भ किया कि "हृदय के मध्य भाग में मांस का लाल पिण्ड स्थित है। उस पिण्ड में चन्द्रमा के द्वारा विकसित होने वाले कमलिनी पुष्प की भाँति शुभ्र श्वेत एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म कमल विद्यमान है। उस सूक्ष्म कमल का विभिन्न तरह से विकास हुआ है। उसके मध्य में समुद्र स्थित है, इस समुद्र के बीच में कोश (स्थान विशेष) स्थित है। उसमें चार प्रकार की नाड़ियाँ-रमा,अरमा, इच्छा एवं अपुनर्भवा हैं। इनमें से रमा नाड़ी पुण्य कृत्यों के माध्यम से पुण्य लोक में ले जाती है, अरमा नाड़ी पाप कृत्य के द्वारा पापलोक में ले जाती है, इच्छा नाड़ी के द्वारा जिसको याद किया जाता है, उसको प्राप्त किया जाता है तथा अपुनर्भवा नाड़ी के द्वारा इस हृदय के मध्य में स्थित कोश को खोला जाता है, कोश को खोलकर मस्तक के शीर्ष (ब्रह्मरन्ध्र) को खोला जाता है, मस्तक के शीर्ष को खोलकर पृथिवी का भेदन करता है, पृथिवी का भेदन करने के पश्चात् जल का भेदन करता है, जल का भेदन करने के बाद तेज (प्रकाश) को भेदता है, तेज का भेदन करने के पश्चात् वायु का भेदन करता है, वायु को भेदकर आकाश को भेदता है, आकाश को भेदकर मन का भेदन करता है, मन को भेदकर अहंकार का भेदन करता है, अहंकार का भेदन करने के पश्चात् वह महत्तत्त्व का भेदन करता है, महत्तत्त्व को भेद कर प्रकृति को भेदता है, प्रकृति का भेदन करने के पश्चात् वह अक्षर का भेदन करता है, अक्षर का भेदन करने के बाद वह मृत्यु का भेदन करता है और वह मृत्यु परमादिदेव परमात्मा में ही एक रूप रहती है। इस एकाकार के पश्चात् सत्, असत् तथा सदसत् आदि कुछ भी नहीं रहता।

इस प्रकार से यह निर्वाण (मोक्ष) का अनुशासन है और यही वेद का अनुशासन है, वेद की आज्ञा है॥ १॥

॥ द्वादशः खण्डः ॥

ॐ नारायणाद्वा अन्नमागतं पक्वं ब्रह्मलोके महासंवर्तके पुनः पक्वमादित्ये पुनः पक्वं क्रव्यादि पुनः पक्वं जालकिलक्लिन्नं पर्युषितं पूतमन्नमयाचितमसंक्लृप्तमश्नीयान्न कंचन याचेत॥ १॥

नारायण के द्वारा अन्न का आगमन हुआ है। वह (अन्न) महासंवर्तक (प्रलय काल में) ब्रह्म के लोक में पका है, इसके बाद वह आदित्य (कालाग्नि) में पका है और इसके पश्चात् वह क्रव्यादि (कल्याण-आवसथ्याग्नि) में पका है। पुनः (प्राणियों के द्वारा खाये जाने पर) जठराग्नि में पका है। इस गीले-बासी (अन्न) को संन्यासी (कभी न खाये, अपितु) पवित्र, अयाचित (बिना माँगे हुए), असंकल्पित (किसी घर विशेष से संकल्पपूर्वक न लेना) भिक्षा में प्राप्त अन्न को ही ग्रहण करे। इस तरह से संन्यासी को किसी से भी अन्न की याचना नहीं करनी चाहिए॥ १॥

॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

बाल्येन तिष्ठासेद्बालस्वभावोऽसङ्गो निरवद्यो मौनेन पाण्डित्येन निरवधिकारतयोपलभ्येत कैवल्यमुक्तं निगमनं प्रजापतिरुवाच महत्पदं ज्ञात्वा वृक्षमूले वसेत कुचेलोऽसहाय एकाकी समाधिस्थ आत्मकाम आप्तकामो निष्कामो जीर्णकामो हस्तिनि सिंहे दंशे मशके नकुले सर्पराक्षसगन्धर्वे मृत्यो रूपाणि विदित्वा न बिभेति कुतश्चनेति वृक्षमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत न कम्पेतोत्पलमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत न कम्पेताकाशमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत न कम्पेत सत्येन तिष्ठासेत्सत्योऽ यमात्मा॥ १॥

(ज्ञानी के लिए) बाल्यकाल में ही सदैव बने रहने की कामना करना, बालकों जैसे स्वभाव वाला, असंग (आसक्ति रहित) रहना एवं निरवद्य (बिना दोष के) रहना, मौन रहना तथा पाण्डित्य को प्राप्त करना, अवधि रहित (वर्णाश्रम आदि से परे रहने वाले) अधिकार को प्राप्त करना, यही अन्तिम कैवल्य स्थिति बतलायी गयी है। प्रजापति ने कहा कि श्रेष्ठ पद को जान लेने के बाद वृक्षों के नीचे निवास करना, जीर्ण वस्त्रों को धारण करना, किसी की भी सहायता न प्राप्त करना तथा एकाकी ही समाधि अवस्था में लीन रहना चाहिए। इस तरह से पुरुष आत्मा को प्राप्त करने की इच्छा वाला, पूर्णकाम एवं कामनाओं से रहित होता है। उस पुरुष की समस्त इच्छाएँ जीर्ण-शीर्ण हो जाती हैं। फिर वह पुरुष हाथी, सिंह, डाँस, मच्छर, न्यौला, सर्प, राक्षस या गन्धर्व आदि में मृत्यु का रूप समझकर किसी से भी भयभीत नहीं होता। वृक्ष की भाँति स्थिर रहने की कामना करता रहता है। उसे यदि कोई काटकर नष्ट कर दे, तब भी वह क्रोधरहित रहता है, कम्पायमान नहीं होता, कमल की तरह निर्लिप्त रहना चाहता है। अस्त्र-शस्त्रादि से छेदा भी जाये, तब भी क्रोधित न हो, अपनी जगह पर स्थिर रहकर आकाश की तरह से वह (निर्लिप्त) रहना चाहता है। छिन्न-भिन्न कर देने पर क्रोधित न हो, कंपित न हो, सदैव सत्य के प्रति आरूढ़ रहना चाहता है। यही आत्मा का सत्य रूप है॥ १॥

सर्वेषामेव गन्धानां पृथिवी हृदयं सर्वेषामेव रसानामापो हृदयं सर्वेषामेव रूपाणां तेजो हृदयं सर्वेषामेव स्पर्शानां वायुर्हृदयं सर्वेषामेव शब्दानामाकाशं हृदयं सर्वेषामेव गतीनामव्यक्तं हृदयं सर्वेषामेव सत्त्वानां मृत्युर्हृदयं मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न

सदसदित्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम्॥ २॥

समस्त गन्धों का हृदय पृथ्वी है, सभी तरह के रसों का हृदय जल है, समस्त रूपों का हृदय तेज (प्रकाश) है, सभी स्पर्शों का हृदय वायु है, सभी प्रकार के शब्दों का हृदय आकाश है, समस्त गतियों का हृदय अव्यक्त (प्रकृति) है, सभी तरह के सत्त्वों (प्राणियों) का हृदय मृत्यु है तथा वह मृत्यु परमादिदेव परमात्मतत्त्व में एक रूप होकर रहता है। इसके बाद न सत् है, न असत् है और न ही सदसत् है। इस तरह यह मोक्ष का उपदेश है, यही वेदों की शिक्षा है, वेदों का अनुशासन है॥ २॥

॥ चतुर्दशः खण्डः ॥

पृथिवी वान्नमापोऽन्नादा आपो वान्नं ज्योतिरन्नादं ज्योतिर्वान्नं वायुरन्नादो वायुर्वान्नमाकाशोऽन्नाद आकाशो वान्नमिन्द्रियाण्यन्नादानीन्द्रियाणि वान्नं मनोऽन्नादं मनो वान्नं बुद्धिरन्नादा बुद्धिर्वान्नमव्यक्तमन्नादमव्यक्तं वान्नमक्षरमन्नादमक्षरं वान्नं मृत्युरन्नादो मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम्॥ १॥

पृथ्वी अन्न है, जल अन्न का भक्षण करने वाला है, जल अन्न है तथा ज्योति (तेज या अग्नि) अन्न का भक्षण करने वाली है, ज्योति ही अन्न है, वायु अन्न का भक्षण करने वाली है, वायु ही अन्न है और आकाश अन्न खाने वाला है, आकाश ही अन्न है तथा इन्द्रियाँ अन्न ग्रहण करने वाली हैं, इन्द्रियाँ ही अन्न हैं, मन अन्न ग्रहण करने वाला है, मन ही अन्न है और बुद्धि अन्न ग्रहण करने वाली है, बुद्धि ही अन्न है तथा प्रकृति अन्न ग्रहण करने वाली है, प्रकृति ही अन्न है और अक्षर अन्न को खाने वाला है, अक्षर ही अन्न है और मृत्यु अन्न को ग्रहण करने वाली है। यह मृत्यु ही परमदेव परब्रह्म में एक रूप हो जाती है। इसके पश्चात् सत् नहीं है, असत् भी नहीं है, सत्-असत् भी नहीं है। यही निर्वाण (मुक्ति) का उपदेश है, यही वेद का अनुशासन है, यही वेद की शिक्षा है॥ १॥

॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

अथ हैनं रैक्वः पप्रच्छ भगवन्योऽयं विज्ञानघन उत्क्रामन्स केन कतरद्वाव स्थानं दहतीति तस्मै स होवाच योऽयं विज्ञानघन उत्क्रामन्प्राणं दहत्यपानं व्यानमुदानं समानं वैरम्भं मुख्यमन्तर्यामं प्रभञ्जनं कुमारं श्येनं श्वेतं कृष्णं नागं दहति पृथिव्यापस्तेजोवाय्वाकाशं दहति जागरितं स्वप्नं सुषुप्तं तुरीयं च महतां च लोकं परं च लोकं दहति लोकालोकं दहति धर्माधर्मं दहत्यभास्करममर्यादं निरालोकमतः परं दहति महान्तं दहत्यव्यक्तं दहत्यक्षरं दहति मृत्युं दहति मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतन्निर्वाणानुशासन मिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम्॥ १॥

इसके पश्चात् रैक्व मुनि ने घोराङ्गिरस से पुनः प्रश्न किया-" हे भगवन्! यह विज्ञान स्वरूप आत्मा जब शरीर से बाहर उत्क्रमण करता है, तब वह किसके द्वारा, किस स्थान को जलाता है?" ऐसा सुनकर उन घोराङ्गिरस ने कहा- "वह विज्ञानघन आत्मा बाहर उत्क्रमण करता है," तब सबसे पहले प्राण को, क्रमशः अपान को, व्यान को, उदान को, समान को, वैरंभ को, मुख्य को, अन्तर्याम को, प्रभञ्जन को, कुमार को, श्येन को, श्वेत को, कृष्ण को एवं नाग को दग्ध करता है। तत्पश्चात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश को

दग्ध करता है, इसके बाद जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या, महानता के लोक तथा परलोक को भी दग्ध कर देता है, तदनन्तर लोक एवं अलोक को दग्ध करता है, धर्म एवं अधर्म को दग्ध करता है, तत्पश्चात् बिना सूर्य के, बिना मर्यादा के और बिना आलोक के वह सभी स्थलों को दग्ध कर देता है, उसके बाद महत्तत्त्व को दग्ध कर देता है, प्रकृति को दग्ध करता है, अक्षर को दग्ध करता है तथा मृत्यु को भी दग्ध कर देता है। मृत्यु ही .परमादिदेव परमतत्त्व में एकाकार हो जाती है , उसके बाद न सत् है, न असत् और न ही सत्-असत् है। यही निर्वाण (मुक्ति) का अनुशासन है, यही वेद की शिक्षा है, यही वेद का अनुशासन है॥ १ ॥

॥ षोडशः खण्डः ॥

सौबालबीजब्रह्मोपनिषन्नाप्रशान्ताय दातव्या नापुत्राय नाशिष्याय नासंवत्सररात्रोषिताय नापरिज्ञातकुलशीलाय दातव्या नैव च प्रवक्तव्या। यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मन इत्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम्॥ १ ॥

सौबाल (सुबाल सम्बन्धी) जिस ब्रह्म का बीज है, ऐसे इस उपनिषद् को अन्य किसी को नहीं प्रदान करना चाहिए, जो अत्यधिक शान्त न हो, जो पुत्र न हो, जो शिष्य न हो तथा जो एक वर्ष तक पास में न रहा हो। इस प्रकार से अनजान कुलशील वाले मनुष्य को भी नहीं प्रदान करना चाहिए और न ही उसे बताना चाहिए। जिस व्यक्ति की परमात्मशक्ति के ऊपर तथा परमात्मा के सदृश ही गुरु के ऊपर परम श्रेष्ठ भक्ति हो, उसी के लिए ये अर्थ (विशेष ज्ञान) बतलाये गये हैं तथा ऐसे ही महान् आत्मा को ये प्रकाशित करते हैं। यही निर्वाण (मुक्ति) का आदेश है, यही वेदों की शिक्षा है तथा यही वैदिक अनुशासन है॥ १ ॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति सुबालोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ स्वसवद्यापानषद् ॥

'स्व'-आत्मतत्त्व का, संवेद्य-अनुभव प्राप्त करना, इस उपनिषद् का प्रयोजन है। इसमें एक ही मन्त्र चार प्रखण्डों में विभक्त है। पहले प्रखण्ड में प्राणियों की उपमा जल बुद्बुद से दी गई है और कहा गया है, जैसे जल का बुद्बुद जल में विलीन होकर जल के साथ एकाकार हो जाता है, उसी प्रकार प्राणियों का समूह, अमृतसागर स्वरूप परब्रह्म में विलीन हो जाता है, परन्तु ऐसी स्थिति ज्ञान-प्राप्ति के बाद ही सम्भव होती है, अधिकांशतया तो प्राणी अज्ञान से ही आवृत होते हैं।

दूसरे प्रखण्ड में बताया गया है कि सभी काल, कर्मात्मक और स्वभावात्मक होते हैं। यथार्थ में पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा कोई नहीं होता, केवल 'मत' (आत्मतत्त्व की निष्ठा) की ही यथार्थता है। इसमें परिनिष्ठित व्यक्ति के लिए मोक्ष-नरक आदि कुछ भी नहीं होता।

तीसरे प्रखण्ड में तत्त्वज्ञान को गुहा में प्रविष्ट बताते हुए कहा गया है कि सामान्य जनों की इस मार्ग में प्रवृत्ति ही नहीं हो पाती। साकार उपासना प्रधान लोग अज्ञान में भटकते रहते हैं। तत्त्वज्ञानी को ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा कुत्ते, गधे, बिल्ली में चैतन्यतत्त्व की दृष्टि से कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता।

अन्तिम चतुर्थ प्रखण्ड में सभी को आत्मतत्त्व सम्पन्न मानकर, सबकी सेवा करने का मर्म समझाया गया है। अन्त में 'गुरु' की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि सब कुछ गुरु की कृपा से ही जाना जा सकता है, उनसे बढ़कर कोई भी नहीं-यह तथ्य जानने वाला ही जीवन्मुक्त हो पाता है।

ॐ सर्वेषां प्राणिबुद्बुदानां निरंजनाव्यक्तामृतनिधौ विलयविलासः स्थितिर्विजृम्भते। तेषामेव पुनर्भवनं नो इहास्ति। स यथा मृत्पिण्डे घटानां तन्तौ पटानां तथैवेति भवति। वस्तुतो नोपादानमत एव नोपादेयमत एव न निमित्तमत एव न विद्या न पुराणं नो वेदा नेतिहासा इति न जगदिति न ब्रह्मा नो विष्णुः नाथ रुद्रो नेश्वरो न बिन्दुः नो कलेति अग्रे मध्येऽवसाने सर्वं यथावस्थितं यथावस्थितज्ञानं तेषां नो भवत्यागमपुराणेतिहासधर्मशास्त्रेषु धृताभिमानास्ते। यत्तानि तु मुग्धतरमुनिशब्दवाच्यैः जीवबुद्बुदैः रचितानीति भवन्ति। तत्र प्रामाण्यं तादृशानामेव। ते त्वज्ञानेनावृताः सयत्नेन गर्भास्तदप्येष श्लोको भवति। तदत्र श्लोको भवति॥ १-क॥

ॐ प्राणिस्वरूप बुलबुलों (पानी के बुलबुलों) का निरञ्जन और अव्यक्त अमृत के सागर परब्रह्म में विलीन हो जाने की स्थिति प्रकट और सत्य है। यह अवश्य ही होती है। ब्रह्मलीन हो जाने वालों का पुनरागमन नहीं होता। उनकी स्थिति मृत्तिकापिण्ड में कुम्भ की तरह और धागों में कपड़े की तरह हो जाती है। वस्तुतः वह न उपादान है, न उपादेय और न निमित्त ही है। वह विद्या, पुराण, वेद, इतिहास भी नहीं है। न जगत् है, न ब्रह्मा, न विष्णु, न रुद्र, न ईश्वर न बिन्दु और न कला ही है। आगे (आदि), मध्य और अन्त में उन सबको (प्राणियों को) यथावस्थित ज्ञान नहीं होता, क्योंकि वे आगम, पुराण, इतिहास एवं धर्मशास्त्रों में अभिमान धारण करने वाले होते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि वे जीव मुनि द्वारा उच्चरित किये गये श्रेष्ठ वचनों रूपी बुद्बुदों द्वारा विनिर्मित होते हैं। वहाँ (उस सन्दर्भ में) वैसों की ही प्रामाणिकता मान्य होती है। वे तो

अज्ञान से आवृत हैं। बहुत प्रयत्न करने पर कुछ ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं, फिर भी यह उक्ति प्रसिद्ध है,कि वे सब (जीव) अज्ञान युक्त हैं, मुग्धतर हैं॥ १-क॥

इह तेनाप्यज्ञानेन नो किञ्चित्। अथ यथावस्थितज्ञानेन किंचित् नेति यदस्ति तदस्ति यन्नास्ति नास्ति तत्। कालकर्मात्मकमिदं स्वभावात्मकं चेति। न सुकृतं नो दुष्कृतम्। अत एव सुमेरुदातारो गोदातारो वा गोघ्नैः ब्राह्मणघ्नैः सुरापानैः पश्यतोहरैः परोक्षहरैर्वा गुरुपापनिष्ठैः सर्वपापनिष्ठैः समानास्त एते। तैश्च न गौः न ब्राह्मणः न सुरा न पश्यतोहरः न परोक्षहरः न गुरुपापानि न लघुपापानि मत एव तन्निष्ठाः मत एव न निर्वाणं नो निरय इति तदप्येष श्लोको भवति॥ १-ख॥

यहाँ उस अज्ञान से कोई प्रयोजन नहीं है और उस यथावस्थित ज्ञान से भी कोई प्रयोजन नहीं है। जिसका अस्तित्व है, उसका है। जिसका अस्तित्व नहीं है, उसका नहीं है। ये सभी काल-कर्मात्मक और स्वभावात्मक हैं। पुण्य और पाप भी नहीं है। अतएव सुमेरु (स्वर्ण) दाता, गोदाता अथवा गोहन्ता, ब्राह्मणहन्ता, सुरापायी, डाकू, चोर, गुरु (महान्) पापनिष्ठ तथा सर्वपापनिष्ठ ये सभी एक ही समान हैं। उनके लिए न गौ है, न ब्राह्मण है, न शराब पीने वाला है, न डाकू है, न चोर है, न बड़े पाप हैं, न छोटे पाप हैं। उनके लिए तो (उनका) मत सर्वोपरि है, क्योंकि मत में ही उनकी निष्ठा है। मोक्ष और नरक भी उनके लिए कुछ भी नहीं है। ऐसा इस श्लोक का अर्थ है॥ १-ख॥

तत्त्वज्ञानं गुहायां निविष्टमज्ञानिकृतमार्गं सुष्ठु वदन्ति। ते तत्र साभिमाना वर्तन्ते। पुष्पितवचनेन मोहितास्ते भवन्ति। स यथातुरा भिषग्ग्रहणकाले बाला अपथ्याहितगुडादिना जनन्या वञ्चिता इति नानादेवता गुरुकर्मतीर्थनिष्ठाश्च ते भवन्ति। केचिद्वयं वैदिका इति वदन्ति। नान्येऽस्मभ्यम्। केचिद्वयं सर्वशास्त्रज्ञा इति। केचिद्वयं देवानुग्रहवन्तः। केचिद्वयं स्वप्ने उपास्यदेवताभाषिणः। केचिद्वयं देवा इति। केचिद्वयं श्रीमद्रमारमणनलिनभृङ्गा इति। केचित्तु नृत्यन्तु। केचित्तु मूर्खा वयं परमभक्ता इति वदन्तो रुदन्ति पतन्ति च। ये केचनैते ते सर्वेऽप्यज्ञानिनः। ये तु ज्ञानिनो भवन्ति ये तत्त्वज्ञानिनश्च तैस्तेषां को विशेषः। मत एव केषाञ्चित्कैश्चिद्भेदः। मत एव यत्र विरिञ्चिविष्णुरुद्रा ईश्वरश्च गच्छन्ति तत्रैव श्वानो गर्दभाः मार्जाराः कृमयश्च मत एव न श्वानगर्दभौ न मार्जारः न कृमिः नोत्तमाः न मध्यमाः न जघन्याः। तदप्येष श्लोको भवति॥१-ग॥

तत्त्वज्ञान को गुहा में प्रविष्ट कहा गया है। अज्ञानियों द्वारा किये गये (ज्ञान हेतु अपनाये गये) मार्ग को श्रेष्ठ कहा गया है; क्योंकि वे अभिमान सहित उस मार्ग पर चलते हैं। वे पुष्पित (मुग्ध) वचनों के द्वारा मोहित हो जाते हैं। जिस प्रकार माताएँ बच्चों को दवा खिलाते समय अपथ्य गुड़ आदि मिलाकर उन्हें दवा खिलाती हैं अर्थात् अपथ्य गुड़ का प्रलोभन देकर औषधि खिला देती हैं; उसी प्रकार अनेक देवों की उपासना, गुरुओं के प्रति निष्ठा, तीर्थ सेवन और विभिन्न सत्कर्म करने वाले भी इन्हें (देवों आदि को) ठगते हैं अर्थात् उनके उपर्युक्त कर्मों के पीछे भी उनकी यही इच्छा रहती है कि हमारी सद्गति हो। कुछ लोग हम वैदिक हैं, ऐसा कहते हैं। अन्य लोग ऐसा नहीं कहते। कुछ अपने को समस्त शास्त्रों का ज्ञाता कहते हैं, कुछ अपने को देव अनुग्रहवान् कहते हैं। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि हम स्वप्न में अपने उपास्य देवता द्वारा बताई गई बात बता

देते हैं (जैसे लोग चोरी का सामान मिलने आदि के विषय में बता देते हैं।) कुछ लोग अपने को देवता बताते हैं। कुछ कहते हैं कि हम भगवान् विष्णु रूपी कमल पर गुंजार करने वाले भ्रमर (अर्थात् वैष्णव) हैं। कुछ (परम भक्त होने की) प्रसन्नता में नृत्य करें, तो करें। कुछ मूर्खजन अपने को परम भक्त बताते हुए रोते हैं और पतित होते हैं। जो भी इस प्रकार के हैं, वे प्राय: सभी अज्ञानी हैं। जो ज्ञानी हैं और जो तत्त्वज्ञानी हैं, उनमें परस्पर कौन वरिष्ठ (विशेष) है (अर्थात् कोई नहीं)। किन्हीं का किन्हीं से केवल मत में ही भेद दृष्टिगोचर होता है। यह सर्वमान्य मत है कि जहाँ ब्रह्मा,विष्णु, रुद्र और ईश्वर जाते हैं, वहीं कुत्ते, गधे, बिल्लियाँ और कृमि भी जाते हैं। यह भी सर्वमान्य है कि कुत्ते, गधे, बिल्लियाँ और कृमि न उत्तम हैं, न मध्यम हैं और न नीच हैं (सबका सृष्टि में अपना-अपना उपयुक्त स्थान है)। इस श्लोक का यही अर्थ हुआ॥ १-ग॥

न तच्छब्दः न किंशब्दः न सर्वे शब्दाः न माता नो पिता न बन्धुः न भार्या न पुत्रो न मित्रं नो सर्वे तथापि साधकैरात्मस्वरूपं वेदितुमिच्छद्भिर्जीवन्मुमुक्षुभिः सन्तः सेव्याः। भार्या पुत्रो गृहं धनं सर्वं तेभ्यो देयम्। कर्माद्वैतं न कार्यं भावाद्वैतं तु कार्यं। निश्चयेन सर्वाद्वैतं कर्तव्यम्। गुरौ द्वैतमवश्यं कार्यम्। यतो न तस्मादन्यत्। येन सर्वमिदं प्रकाशितम्। कोऽन्यः तस्मात्परः। स जीवन्मुक्तो भवति स जीवन्मुक्तो भवति। य एवं वेद। य एवं वेद॥१-घ॥

इसलिए न 'तत्' शब्द है, न 'किम्' शब्द है (अर्थात् प्रश्न और उत्तर कुछ नहीं है) और न सभी शब्द (अर्थात् अन्य कोई शब्द) हैं। न माता, न पिता, न बंधु, न पत्नी, न पुत्र, न मित्र और अन्य सब भी नहीं हैं, तो भी साधकों को आत्म स्वरूप को समझने की आकांक्षा से और जीवन्मुक्त होने की आकांक्षा से सन्त सेवा करनी चाहिए। स्त्री, पुत्र, धन, गृह सब कुछ उन्हें अर्पित कर देना चाहिए अर्थात् उनके निमित्त उनका मोह छोड़ देना चाहिए। कर्माद्वैत नहीं भावाद्वैत करना चाहिए। निश्चित ही सर्वाद्वैत करना चाहिए। गुरु में द्वैत अवश्य करना चाहिए, क्योंकि उनसे बढ़कर और कुछ भी नहीं है। उनके द्वारा ही सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है अर्थात् गुरु की कृपा से ही सब कुछ जाना जाता है। उनसे बढ़कर अन्य कौन है अर्थात् कोई नहीं। जो इस तथ्य को सम्यक् रूप से जानता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है॥१-घ॥

॥ इति स्वसंवेद्योपनिषत् समाप्ता ॥

॥ हंसोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध हैं। इसमें कुल २१ मन्त्र हैं। ऋषि गौतम एवं सनत्कुमार के प्रश्नोत्तर रूप में यह उपनिषद् प्रकट हुई है। इसमें ऋषि गौतम द्वारा ब्रह्मविद्या की बात पूछे जाने पर सनत्कुमार जी ने वह प्रसंग सुनाया, जो महादेव जी ने श्री पार्वती जी को सुनाया था।

यह बड़ा ही गुह्य ज्ञान है, जिसे महादेव ने शान्त (मनोनिग्रह युक्त), दान्त (इन्द्रियनिग्रह युक्त) और गुरुभक्त को ही देने की बात कही है। वह हंस (जीवात्मा) सभी शरीरों में उसी प्रकार विद्यमान है, जैसे काष्ठ में अग्नि और तिलों में तेल। उसकी प्राप्ति के लिए षट्चक्र वेधन की प्रक्रिया अपनानी पड़ती है। अष्टदल कमल से उसकी वृत्तियों का साम्य बताते हुए शुद्ध स्फटिक मणि सदृश ब्रह्म 'का स्वरूप वर्णित किया है। यही 'हंस' भी कहा जाता है। इसके ध्यान से नाद की उत्पत्ति कही गई है। जिसकी अनेक रूपों में अनुभूति होती है। इसी की चरमावस्था में परब्रह्म से साक्षात्कार होता है। यही अवस्था समाधि की स्थिति है। इसी स्थिति में शुद्ध-बुद्ध, नित्य, निरञ्जन, शान्त स्वरूप परब्रह्म के प्रकाशित होने का वेदानुवचन भी प्रसिद्ध है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः । (द्रष्टव्य-अध्यात्मोपनिषद्)

गौतम उवाच-भगवन्सर्वधर्मज्ञ सर्वशास्त्रविशारद। ब्रह्मविद्याप्रबोधो हि केनोपायेन जायते ॥

ऋषि गौतम ने (सनत्कुमार से) प्रश्न किया-हे भगवन्! आप समस्त धर्मों के ज्ञाता और समस्त शास्त्रों के विशारद हैं। आप यह बताने की कृपा करें कि ब्रह्म विद्या किस उपाय द्वारा प्राप्त की जा सकती है॥ १ ॥

सनत्कुमार उवाच-विचार्य सर्वधर्मेषु मतं ज्ञात्वा पिनाकिनः।
पार्वत्या कथितं तत्त्वं शृणु गौतम तन्मम ॥ २ ॥

सनत्कुमार ने कहा-हे गौतम! महादेव जी ने समस्त धर्मों (उपनिषदों) के मतों को विचार कर श्री पार्वती जी के प्रति जो भी कहा (व्याख्यान दिया) उसे तुम मुझसे सुनो॥ २॥

अनाख्येयमिदं गुह्यं योगिने कोशसंनिभम्। हंसस्याकृतिविस्तारं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥ ३ ॥

यह गूढ़ रहस्य किसी अज्ञात (अनधिकारी) से नहीं बताना चाहिए। योगियों के लिए तो यह (ज्ञान) एक कोश के समान है। हंस (परम आत्मा) की आकृति (स्थिति) का वर्णन भोग एवं मोक्षफल प्रदाता है॥

अथ हंसपरमहंसनिर्णयं व्याख्यास्यामः।
ब्रह्मचारिणे शान्ताय दान्ताय गुरुभक्ताय। हंसहंसेति सदा ध्यायन् ॥ ४ ॥

जो गुरुभक्त सदैव हंस-हंस (सोऽहम्, सोऽहम्) का ध्यान करने वाला, ब्रह्मचारी, जितेन्द्रिय तथा शान्त मनःस्थिति (इन्द्रियों) वाला हो, उसके समक्ष हंस-परमहंस का रहस्य प्रकट करना चाहिए॥ ४॥

सर्वेषु देहेषु व्याप्तो वर्तते। यथा ह्यग्निः काष्ठेषु तिलेषु तैलमिव तं विदित्वा मृत्युमत्येति ॥ ५ ॥

जिस प्रकार तिल में तेल और काष्ठ में अग्नि संव्याप्त रहती है। उसी प्रकार समस्त शरीरों में व्याप्त होकर यह जीव 'हंस-हंस' इस प्रकार जप करता रहता है। इसे जानने के पश्चात् जीव मृत्यु से परे हो जाता है॥ ५॥

गुदमवष्टभ्याधाराद्वायुमुत्थाप्य स्वाधिष्ठानं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य मणिपूरकं गत्वा अनाहतमतिक्रम्य विशुद्धौ प्राणान्निरुध्याज्ञामनुध्यायन्ब्रह्मरन्ध्रं ध्यायन् त्रिमात्रोऽहमित्येव सर्वदा पश्यत्यनाकारश्च भवति ॥ ६ ॥

(हंस ज्ञान का उपाय-) सर्वप्रथम गुदा को खींचकर आधार चक्र से वायु को ऊपर उठा करके स्वाधिष्ठान चक्र की तीन प्रदक्षिणाएँ करे, तदुपरांत मणिपूरक चक्र में प्रवेश करके अनाहत चक्र का अतिक्रमण करे। इसके पश्चात् विशुद्ध चक्र में प्राणों को निरुद्ध करके आज्ञाचक्र का ध्यान करे, फिर ब्रह्मरंध्र का ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार ध्यान करते हुए कि मैं त्रिमात्र आत्मा हूँ। योगी सर्वदा अनाकार ब्रह्म को देखता हुआ अनाकारवत् हो जाता है अर्थात् तुरीयावस्था को प्राप्त हो जाता है॥ ६॥

एषोऽसौ परमहंसो भानुकोटिप्रतीकाशो येनेदं सर्वं व्याप्तम्॥ ७॥

वह परमहंस अनन्तकोटि सूर्य सदृश प्रकाश वाला है, जिसके प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् संव्याप्त है॥ ७॥

तस्याष्टधा वृत्तिर्भवति। पूर्वदले पुण्ये मतिः। आग्नेये निद्रालस्यादयो भवन्ति। याम्ये क्रौर्ये मतिः। नैर्ऋते पापे मनीषा। वारुण्यां क्रीडा। वायव्यां गमनादौ बुद्धिः। सौम्ये रतिप्रीतिः। ईशान्ये द्रव्यादानम्। मध्ये वैराग्यम्। केसरे जाग्रदवस्था। कर्णिकायां स्वप्नम्। लिङ्गे सुषुप्तिः। पद्मत्यागे तुरीयम्। यदा हंसे नादो विलीनो भवति तत् तुरीयातीतम्॥ ८॥

उस (जीव भाव सम्पन्न) हंस की आठ प्रकार की वृत्तियाँ हैं। हृदय स्थित जो अष्टदल कमल है, उसके विभिन्न दिशाओं में विभिन्न प्रकार की वृत्तियाँ विराजती हैं। इसके पूर्व दल में पुण्यमति, आग्नेय दल में निद्रा और आलस्य आदि, दक्षिणदल में क्रूरमति, नैर्ऋत्य दल में पाप बुद्धि, पश्चिमदल में क्रीड़ा वृत्ति, वायव्य दल में गमन करने की बुद्धि, उत्तर दल में आत्मा के प्रति प्रीति, ईशान दल में द्रव्यदान की वृत्ति, मध्य दल में वैराग्य की वृत्ति, (उस अष्टदल कमल के) केसर (तन्तु) में जाग्रदवस्था, कर्णिका में स्वप्नावस्था, लिङ्ग में सुषुप्तावस्था होती है। जब वह हंस (जीव) उस पद्म का परित्याग कर देता है, तब तुरीयावस्था को प्राप्त होता है। जब नाद उस हंस में विलीन हो जाता है, तब तुरीयातीत स्थिति को प्राप्त होता है॥ ८॥

अथो नाद आधाराद्ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं शुद्धस्फटिकसंकाशः। स वै ब्रह्म परमात्मेत्युच्यते॥ ९॥

इस प्रकार मूलाधार से लेकर ब्रह्मरंध्र तक जो नाद विद्यमान रहता है, वह शुद्ध स्फटिकमणि सदृश ब्रह्म है, उसी को परमात्मा कहते हैं॥ ९॥

अथ हंस ऋषिः। अव्यक्तगायत्री छन्दः। परमहंसो देवता।
हमिति बीजम्। स इति शक्तिः। सोऽहमिति कीलकम्॥ १०॥

इस प्रकार इस (अजपा मंत्र) का ऋषि हंस (प्रत्यगात्मा) है, अव्यक्त गायत्री छन्द है और देवता परमहंस (परमात्मा) है। 'हं' बीज और 'सः' शक्ति है। सोऽहम् कीलक है॥ १०॥

षट्संख्यया अहोरात्रयोरेकविंशतिसहस्राणि षट्शतान्यधिकानि भवन्ति। सूर्याय सोमाय निरञ्जनाय निराभासायातनुसूक्ष्म प्रचोदयादिति॥ ११॥ अग्नीषोमाभ्यां वौषट् हृदयाद्यङ्गन्यासकरन्यासौ भवतः॥ १२॥ एवं कृत्वा हृदयेऽष्टदले हंसात्मानं ध्यायेत्॥ १३॥

इस प्रकार इन षट् संख्यकों द्वारा एक अहोरात्र (अर्थात् २४ घंटों) में इक्कीस हजार छः सौ श्वास लिए जाते हैं। (अथवा गणेश आदि ६ देवताओं द्वारा दिन-रात्रि में २१,६०० बार सोऽहम् मंत्र का जप किया जाता है।) 'सूर्याय सोमाय निरञ्जनाय निराभासाय अतनु सूक्ष्म प्रचोदयात् इति अग्नीषोमाभ्यां वौषट्' इस मंत्र को जपते हुए हृदयादि अंगन्यास तथा करन्यास करे। तत्पश्चात् हृदय स्थित अष्टदल कमल में हंस (प्रत्यगात्मा) का ध्यान करे॥ ११-१३॥

अग्नीषोमौ पक्षावोंकारः शिर उकारो बिन्दु स्त्रिणेत्रं मुखं रुद्रो रुद्राणी चरणौ।
द्विविधं कण्ठतः कुर्यादित्युन्मनाः अजपोपसंहार इत्यभिधीयते॥ १४॥

अग्नि और सोम उस (हंस) के पक्ष (पंख) हैं, ओंकार सिर, बिन्दु सहित उकार (हंस का) तृतीय नेत्र है, मुख रुद्र है, दोनों चरण रुद्राणी हैं। इस प्रकार सगुण-निर्गुण भेद से-दो प्रकार से कण्ठ से नाद करते हुए, हंस रूप परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। अतः नाद द्वारा ध्यान करने पर साधक को उन्मनी अवस्था प्राप्त हो जाती है। इस स्थिति को 'अजपोपसंहार' कहते हैं॥ १४॥

एवं हंसवशात्तस्मान्मनो विचार्यते॥ १५॥

समस्त भाव हंस के अधीन हो जाते हैं, अतः साधक मन में स्थित रहते हुए हंस का चिन्तन करता है॥

अस्यैव जपकोट्यां नादमनुभवति एवं सर्वं हंसवशान्नादो दशविधो जायते। चिणीति प्रथमः। चिञ्चिणीति द्वितीयः। घण्टानादस्तृतीयः। शङ्खनादश्चतुर्थम्। पञ्चमस्तन्त्रीनादः। षष्ठस्तालनादः। सप्तमो वेणुनादः। अष्टमो मृदङ्गनादः। नवमो भेरीनादः। दशमो मेघनादः॥ १६॥ नवमं परित्यज्य दशममेवाभ्यसेत्॥ १७॥

इसके (सोऽहम् मंत्र के) दस कोटि जप कर लेने पर साधक को नाद का अनुभव होता है। वह नाद दस प्रकार का होता है। प्रथम-चिणी, द्वितीय-चिञ्चिणी, तृतीय-घण्टनाद, चतुर्थ-शंखनाद, पंचम-तंत्री, षष्ठ-तालनाद, सप्तम-वेणुनाद, अष्टम-मृदङ्गनाद, नवम-भेरीनाद और दशम-मेघनाद होता है। इनमें से नौ का परित्याग करके दसवें नाद का अभ्यास करना चाहिए॥ १६-१७॥

प्रथमे चिञ्चिणीगात्रं द्वितीये गात्रभञ्जनम्। तृतीये खेदनं याति चतुर्थे कम्पते शिरः॥१८॥ पञ्चमे स्रवते तालु षष्ठेऽमृतनिषेवणम्। सप्तमे गूढविज्ञानं परा वाचा तथाऽष्टमे॥ १९॥ अदृश्यं नवमे देहं दिव्यं चक्षुस्तथाऽमलम्। दशमं परमं ब्रह्म भवेद्ब्रह्मात्मसंनिधौ॥ २०॥

इन नादों के प्रभाव से शरीर में विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं। प्रथम नाद के प्रभाव से शरीर में चिन-चिनी हो जाती है अर्थात् शरीर चिन-चिनाता है। द्वितीय से गात्र भंजन (अंगों में अकड़न) होती है, तृतीय से शरीर में पसीना आता है, चतुर्थ से सिर में कम्पन (कँप-कँपी) होती है, पाँचवें से तालु से स्राव उत्पन्न होता है, छठे से अमृत वर्षा होती है, सातवें से गूढ़ ज्ञान-विज्ञान का लाभ प्राप्त होता है, आठवें से परावाणी प्राप्त होती है, नौवें से शरीर को अदृश्य करने (अन्तर्धान करने) तथा निर्मल दिव्य दृष्टि की विद्या प्राप्त होती है और दसवें से परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके साधक ब्रह्म साक्षात्कार कर लेता है॥ १८-२०॥

तस्मिन्मनो विलीयते मनसि संकल्पविकल्पे दग्धं पुण्यपापे सदाशिवः शक्त्यात्मा सर्वत्रावस्थितः स्वयंज्योतिः शुद्धो बुद्धो नित्यो निरञ्जनः शान्तः प्रकाशत इति वेदानुवचनं भवतीत्युपनिषत्॥ २१॥

जब मन उस हंस रूप परमात्मा में विलीन हो जाता है, उस स्थिति में संकल्प-विकल्प मन में विलीन हो जाते हैं तथा पुण्य और पाप भी दग्ध हो जाते हैं, तब वह हंस सदा शिवरूप, शक्ति (चैतन्य स्वरूप) आत्मा सर्वत्र विराजमान, स्वयं प्रकाशित, शुद्ध-बुद्ध, नित्य-निरञ्जन, शान्तरूप होकर प्रकाशमान होता है, ऐसा वेद का वचन है। इस रहस्य के साथ इस उपनिषद् का समापन होता है॥ २१॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति हंसोपनिषत्समाप्ता॥

पाराशष्ट-१

परिभाषा-कोश -१०८उपनिषद्-ब्रह्मविद्या खण्ड

१. **अक्षय—** कोश ग्रन्थों के अनुसार अक्षय का अर्थ है-'**नास्ति क्षयोऽस्य**' अर्थात् जिसका कभी क्षय (क्षरण) न हो, जो अविनाशी हो। जो सदा रहने वाला शाश्वत और कल्पान्त स्थायी हो। उपर्युक्त सभी गुणों का ईश्वर में समावेश है। अत: परमात्मा को अक्षय कहते हैं। अक्षय अर्थ में ही 'अक्षर' शब्द भी प्रयुक्त होता है- '**न क्षरमिति अक्षरम्**' अर्थात् जो कभी अपने स्वरूप से विचलित न हो, वह अक्षर है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि जो इस 'अक्षर' (ब्रह्म) को (भलीप्रकार) जान लेता है, वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है-**एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्** (कठो० १.२.१६)।

वस्तुत: संसार में दो प्रकार की सृष्टि है-क्षर और अक्षर। सभी परिवर्तनशील, यहाँ तक जीव-जगत् भी 'क्षर' हैं; किन्तु जो सदैव एक सा ही रहता है, कूटस्थ है-वह 'अक्षर' है-**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षर: सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते** (गी० १५.१६)। कभी विनष्ट न होने के अर्थ में-विशेषण रूप में भी अक्षय शब्द कई शब्दों के साथ प्रयुक्त होता है, जैसे-अक्षय तृतीया, अक्षय चतुर्थी, अक्षय नवमी, अक्षय पात्र तथा अक्षय वट आदि।

२. **अग्निष्टोम** —अग्निष्टोम एक श्रौत यज्ञ है। यह यज्ञ प्राय: दो प्रकार का होता है—१. सोमयज्ञ २. हविर्यज्ञ। जिस यज्ञ में सोमरस से आहुति प्रदान की जाती है, वह सोमयज्ञ तथा जिसमें दूध, दही, घी और पुरोडाश आदि पिष्टक आहुति देकर यजन किया जाता है, वह हविर्यज्ञ कहलाता है। 'अग्निष्टोम' सोमयज्ञ के अन्तर्गत आता है। इसमें प्रथम सोमरस से आहुति दी जाती है, तत्पश्चात् सोमरस का पान किया जाता है। इस यज्ञ का काल वसन्त ऋतु माना जाता है; क्योंकि वसन्त में सोम प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होता रहा-**वसन्ते अग्निष्टोम: इति कात्यायन:**। इस यज्ञ में प्रमुखत: अग्निदेव का स्तवन किया जाता है, इसलिए इसका नाम अग्निष्टोम पड़ा है- **अग्नीनां स्तोम: इति अग्निष्टोम:**। इसमें अग्निदेव के अतिरिक्त कुछ विशेष उद्देश्यों से इन्द्र और वायु आदि देवताओं का स्तवन भी किया जाता है। ताण्ड्य महाब्राह्मण (६.१.१) में उल्लेख है कि प्रजापति ने बहु प्रजा के सृजन की इच्छा से अग्निष्टोम का दर्शन किया, उसे लाये और उसके माध्यम से प्रजा का सृजन किया-**प्रजापतिरकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति स एतमग्निष्टोममपश्यत्तमाहरत्तेनेमा: प्रजा असृजत।**

३. **अग्निहोत्र—** अग्निहोत्र एक यज्ञ विशेष है, जिसमें मात्र अग्निदेव के लिए ही आहुतियाँ प्रदान की जाती हैं—**अग्नये हूयतेऽत्र** (वाच० पृ० ६१)। तैत्तिरीय ब्राह्मण में उल्लेख है कि प्राचीन काल में एक बार प्रजापति के भय से अग्निदेव के पलायन करने पर प्रजापति ने उसी अग्नि में 'स्वाहा' पूर्वक आहुतियाँ देना प्रारम्भ कर दिया। प्रथम आहुति से पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, द्वितीय आहुति से अश्वादि जन्मे। इस पर अग्नि को यह भय उत्पन्न हो गया कि प्रजापति बारम्बार आहुतियाँ प्रदान करके अपना अभीष्ट प्राप्त करेंगे और उन्हें (अग्नि को) उन आहुतियों का भाग भी न देंगे। आहुतियों का भाग मात्र देवगण ही ग्रहण करेंगे, तब तो मैं भूखा ही रहूँगा। अत: इस बार अग्निदेव पलायन न करके प्रजापति के अन्दर ही प्रविष्ट हो गये। प्रजापति ने कहा कि हे अग्ने! जन्म ग्रहण करो-जन्म ग्रहण करो। अग्निदेव ने कहा कि मुझे आहुतियों का भाग नहीं मिलता, अत: भूखा रहकर मैं सेवा करने में असमर्थ हूँ। प्रजापति ने यह कहकर उन्हें भाग प्रदान किया कि अग्निहोत्रगत वह हवि आपके लिए ही दी गई थी (**अग्नये हूयते इति अग्निहोत्रम्**)। इसके पश्चात् प्रजापति के उदर से अग्निदेव का पुन: प्राकट्य हुआ-**सोऽग्निरबिभेत्। आहुतीभिर्वै माऽऽप्नोतीति। स प्रजापतिं पुन: प्राविशत्** .....(तैत्ति० ब्रा० २.१.२.५)। अग्निहोत्र के दो प्रकार बताए गए हैं-एक तो प्रतिदिन चलते रहकर एक मास में पूर्ण होने वाला तथा दूसरा यावज्जीवन (जीवनभर) चलने वाला। आजीवन चलने वाले अग्निहोत्र में प्रात:-सायं दोनों समय अग्नि में आहुति प्रदान की जाती है और अन्त में अग्निहोत्री का दाह संस्कार भी उसी अग्नि से किया जाता है। विवाह के पश्चात् ब्राह्मण को वसन्त ऋतु में, क्षत्रिय को ग्रीष्म ऋतु में तथा वैश्य को शरद ऋतु में अग्नि स्थापन करके शास्त्र वर्णित मन्त्र से अग्निहोत्र प्रारम्भ करना चाहिए। प्राचीनकाल में तो विभिन्न प्रकार के हव्य पदार्थों से अग्निहोत्र होता था; पर अब दुग्ध, घृत आदि सुलभ द्रव्यों द्वारा ही अग्निहोत्र करने का प्रचलन है।

४. **अजपा गायत्री—** जो जप बिना प्रयत्न के ही स्वाभाविक रूप से चलता रहे, वह अजपा जप कहलाता है- **प्रयत्नेन न जप्या अप्रयत्नोच्चारितत्वात् जप कर्मणि** .....(वाच० पृ० ८९)। इसे सोऽहम् तथा हंस साधना भी कहते हैं। सहज

श्वास-प्रश्वास के क्रम में जब हम श्वास को अन्दर खींचते हैं, तो वायु प्रवेश के साथ ही एक सूक्ष्म ध्वनि होती है, जिसका उच्चारण 'सो ऽऽऽ' जैसा होता है। कुछ देर श्वास अन्दर ठहरती है, उस समय 'अ ऽऽऽ' जैसी ध्वनि होती है तथा जब श्वास बाहर निकलती है, तो 'हं' जैसी ध्वनि होती है। इन्हीं तीनों ध्वनियों पर ध्यान केन्द्रित करने से 'सोऽहम्' के अजपा जप की स्थिति बन जाती है—**श्वासप्रश्वासयोः बहिर्गमनागमनाभ्याम् अक्षरनिष्पादनरूपे जपे स च हंसः सोहमित्याकारस्यैव तदाकारमन्त्रे च** (वाच०पृ०८९)। शास्त्रों के अनुसार रात्रि और दिन में कुल मिलाकर हम २१,६०० बार श्वास ग्रहण करते हैं। इस प्रक्रिया में स्वाभाविक रूप से जिस मन्त्र का जप चलता है, उसे हंस मन्त्र या अजपा मन्त्र कहते हैं। प्राणों की रक्षा करने वाली शक्ति का नाम गायत्री है-**गयान् प्राणान् त्रायते इति गायत्री**। इस साधना से प्राण शक्ति की रक्षा होती है। अतः इसे अजपा गायत्री कहते हैं।

५. **अजपा जप**— द्र०- अजपा गायत्री।

६. **अजपा मन्त्र**— द्र०- अजपा गायत्री।

७. **अजर**— अध्यात्म सम्बन्धी प्रकरणों में प्रायः 'अजर' शब्द का प्रयोग होता है। अजर का शाब्दिक अर्थ है- '**नास्ति जराऽस्याः**' अर्थात् जिसकी वृद्धावस्था न हो। देवों को भी 'अजर' कहा जाता है; क्योंकि वे भी कभी वृद्ध नहीं होते। कोश ग्रन्थों में उल्लेख है कि '**नास्ति जरा यस्य, देवे। तेषां षड्भावविकारमध्ये जायतेऽस्ति वर्धते इति तिसृणामेव दशानां सद्भावात् तदुत्तरवर्त्तिनीनां 'विपरिणमते अपक्षीयते नश्यतीति' तिसृणामभावादजरत्वम्** (वाच०पृ०९०)' अर्थात् जिसकी वृद्धावस्था न हो, जैसे देवता। उनमें छः भाव विकारों के बीच-जन्म,अस्तित्व तथा विकास इन तीन अवस्थाओं की स्थिति तथा परिवर्तन, क्षरण और नाश, इन तीन अवस्थाओं का अभाव होने से 'अजरता' सिद्ध होती है। आत्मा और परमात्मा के विशेषण रूप में भी 'अजर' शब्द का प्रयोग होता है; क्योंकि ये सभी अवस्थाओं (जन्म, शैशव, कैशोर्य, युवावस्था, जरावस्था और मृत्यु) से परे हैं। घृतकुमारी को भी अजरा कहते हैं; क्योंकि वह औषधि-वनस्पति कभी सूखती नहीं अर्थात् कभी वृद्ध नहीं होती।

८. **अज्ञान-आवरण**— नैयायिकों के अनुसार ज्ञान का अभाव ही अज्ञान है- **अज्ञानञ्च ज्ञानाभाव इति नैयायिकाः**। श्रीमद्भागवत में उल्लेख है कि सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा ने पाँच प्रकार के अज्ञान का सृजन किया था, ये हैं-तम, मोह,महामोह,तामिस्र और अन्धतामिस्र-**सृष्टिकाले ब्रह्मा प्रथमं पञ्च प्रकारमज्ञानं ससर्ज। यथा तमः, मोहः, महामोहः, तामिस्रं, अन्धतामिस्रं इति श्रीभागवतम्** (श०क० खं०१ पृ० २३)। ज्ञान के विरोधी भाव को अज्ञान कहते हैं, ऐसा वेदान्त का मत है। सत् और असत् के वास्तविक रूप को जानने के लिए त्रिगुणात्मक भावरूप ज्ञान आवश्यक है और जो इसमें अवरोध उत्पन्न करे, वही अज्ञान है। कई स्थलों पर 'अज्ञान' के साथ 'आवरण' शब्द का भी प्रयोग किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि अज्ञान वस्तुस्थिति पर आवरण के समान होता है, जो मूल स्थिति से अवगत नहीं होने देता, इसी से जीव मोहित होते देखे जाते हैं। गीता (५.१५) में उल्लेख है- '**अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः**'। वेदान्त के अनुसार अज्ञान की दो शक्तियाँ मानी गयी हैं- १. आवरण २. विक्षेप। अज्ञान अपनी प्रथम शक्ति-आवरण से रज्जु के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझने देता और अपनी द्वितीय शक्ति-विक्षेप से उसमें 'सर्प' होने की नवीन कल्पना उत्पन्न कर देता है। आवरण शक्ति के विषय में श्री नृसिंह सरस्वती ने लिखा है कि जो सच्चिदानन्द स्वरूप को आवृत कर लेती है, वह आवरण शक्ति है- **सच्चिदानन्द -स्वरूपमावृणोत्यावरणशक्तिः** (वे० सा० सु०पृ० १३)।

९. **अद्वयानन्द**—ब्रह्म और जीव तथा आत्मा और जगत् को एक ही मानने वाली विचारधारा को अद्वैतवाद कहते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार ये दोनों पृथक्-पृथक् हैं; पर आचार्य शंकर ने इन्हें एक ही माना है। वेदों और उपनिषदों में भी यही प्रतिपादन है कि ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' (छान्दो० ३.१४.१); **नेह नानास्ति किंचन** (बृह०उ० ४.४.१९)। ऋग्वेद में उल्लेख है कि '**एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति**' (ऋ० १.१६४.४६)। द्वित्व का भेद जहाँ नहीं है, उस भाव की अनुभूति का नाम ही अद्वयानन्द है। कोश ग्रन्थों में उल्लेख है-**नास्ति द्वयं द्वित्वं भेदः तज्ज्ञानं वा यस्य यत्र वा तादृश आनन्दः** (वाच० पृ० ११९)। ब्रह्मरूप आनन्द ही अद्वयानन्द है-**ब्रह्मरूपानन्दे अद्वैतानन्दे। अर्थतो ऽप्यद्वयानन्दमतीतद्वैतभानत इति वे० सा०** (वाच०पृ० ११९)। हिन्दी विश्वकोश में उल्लेख है कि अद्वय से उत्पन्न आनन्द या ब्रह्मज्ञान से उत्पन्न आनन्द या आत्मबोध से उत्पन्न आनन्द ही अद्वयानन्द है-**अद्वयात् लब्धः आनन्दः। ब्रह्मानन्द, ब्रह्मज्ञानोदित आनन्द** (हि०वि० को० खं०१पृ० ३४३)। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान या आत्मबोध से उत्पन्न आनन्द को आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द या परमानन्द कहते हैं। सतत स्थिर रहने के कारण इस आनन्द को अखण्डानन्द-सदानन्द भी

कहते हैं-**अखण्डानन्दमात्मानं विज्ञाय स्वस्वरूपतः। बहिरन्तः सदानन्द रसास्वादनमात्मनि** (अध्यात्मो० २७)।

१०. **अद्वैत**— द्र०-ज्ञान खण्ड।

११. **अध्यारोप-अपवाद**— अध्यारोप और अपवाद न्याय का उल्लेख वेदान्त दर्शन में मिलता है। जिसके माध्यम से ब्रह्म-जीव का ऐक्य प्रतिपादित किया जाता है, उस प्रणाली को अध्यारोप कहते हैं। दूसरे शब्दों में अवस्तु में वस्तु का आरोप अध्यारोप है। जैसे रज्जु (रस्सी) में सर्प का आरोप, सर्प रूप अवस्तु (जो वहाँ उपस्थित नहीं है) का रज्जु रूप-वस्तु (जो वहाँ उपस्थित है) में आरोप ही अध्यारोप है; उसी प्रकार ब्रह्म रूप वस्तु में जगत् रूप अवस्तु का आरोप ही अध्यारोप है। वेदान्त विमर्श पृ० १०३ में यह तथ्य इस प्रकार निर्दिष्ट है-"**असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद् वस्तुन्यवस्त्वारोपोऽध्यारोपः। वस्तु सच्चिदानन्दानन्ताद्वयं ब्रह्म। अज्ञानादि सकलजड समूहोऽवस्तु।**" इस अध्यारोप को ही आचार्य शंकर ने अध्यास कहा है- **अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिरिति** (ब्र० सू० शां०भा० १.१.१)।

इसी प्रकार विपर्यय या विपर्यास (वस्तु के विपरीत प्रतीति), भ्रम आदि शब्द भी अध्यारोप के ही पर्यायवाची हैं। अध्यारोप (मिथ्या-प्रतीति) का निराकरण अपवाद द्वारा होता है। अपवाद की व्युत्पत्ति अप उपसर्ग पूर्वक वद् धातु से घञ् प्रत्यय से मानी गयी है, जिसका अर्थ निषेध या निराकरण है। अध्यारोप के कारण वस्तु में अवस्तु का आरोप हो जाने से-रज्जु में सर्प के आरोप से वह सर्प ही प्रतीत होती है; पर जब प्रकाश के माध्यम से यह सिद्ध हो जाये कि यह सर्प नहीं रज्जु ही है, तो यह प्रक्रिया (निराकरण प्रक्रिया) अपवाद कहलायेगी। वे०सा० में यह तथ्य इन शब्दों में निर्दिष्ट है-**अपवादो नाम रज्जुविवर्तस्य सर्पस्य रज्जुमात्रत्वाद् वस्तु विवर्तस्यावस्तुनोऽज्ञानादेः प्रपञ्चस्य वस्तुमात्रत्वम्** (वे०सा० खण्ड २१) अर्थात् अध्यारोप के कारण रस्सी सर्पाभास (सर्प होने का आभास) रज्जु का विवर्त [रज्जु का अपने स्वरूप का त्याग न करते हुए, अन्यरूप (सर्प के रूप में) भासित होना] होने से रज्जु मात्र ही हो जाती है अर्थात् सर्प की अधिष्ठान (आधार) रूप रज्जु को अपने मूल रूप में पहचान लेना ही अपवाद है। इसी प्रकार वस्तुरूप ब्रह्म में अध्यारोपित अवस्तु जड़ जगत् को वस्तुतः ब्रह्म ही जान लेना अपवाद है। पैङ्गलोपनिषद् में भी अध्यारोप और अपवाद द्वारा स्वरूप का निश्चय करने के तथ्य की पुष्टि की गई है-.....**अध्यारोपापवादतः स्वरूपं निश्चयीकर्त्तुं शक्यते** (पैङ्गलो० २.१.८)।

१२. **अध्यास**—द्र०-अध्यारोप-अपवाद।

१३. **अध्वर्यु**— आर्ष ग्रन्थों में यज्ञ सम्पन्न कराने वाले ऋत्विजों (ब्राह्मणों) के अन्तर्गत 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विज् का भी उल्लेख मिलता है। विभिन्न विद्वानों के मतानुसार इनकी (ऋत्विजों की) संख्या प्रायः सोलह (ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र,पोता, उद्गाता,प्रस्तोता, प्रतिहर्ता, सुब्रह्मण्य, होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक्, ग्रावस्तुत, अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता) बतायी गई है; पर प्रमुखतः इनकी संख्या सात ही है। ऋग्वेद में इनका वर्णन इन शब्दों में मिलता है-**तवाग्ने होत्रं तव पोत्रमृत्वियं तव नेष्टृं त्वमग्निदृतायतः। तव प्रशास्त्रं त्वमध्वरीयसि ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नो दमे** (ऋ० २.१.२)। ये ऋत्विज् होता, पोता, नेष्टा, आग्नीध्र, प्रशास्ता, अध्वर्यु और ब्रह्मा हैं। इनमें होता का कार्य ऋचाओं का गान करना तथा अध्वर्यु का कार्य प्रार्थना, निर्ऋतिनाशक मन्त्रोच्चारण तथा यज्ञ के व्यावहारिक कार्य करना है। वाचस्पत्यम् के अनुसार अध्वर्यु का प्रमुख कार्य यजुर्वेदज्ञ होकर यज्ञ की विधि-व्यवस्था बनाना तथा होता को प्रोत्साहित करना है— **अध्वरमिच्छति .....। यजुर्वेदज्ञे होमकारिणि ऋत्विजि। 'निर्मिमीते क्रिया संघैरध्वर्य्युर्यज्ञियं वपु' रिति सा०भा०। .....होता प्रथमं शंसति तमध्वर्युः प्रोत्साहयतीति.....सि०कौ०** (वाच०पृ०१४२)।

१४. **अनन्त**— द्र०- ज्ञानखण्ड।

१५. **अनाहत नाद**— अनाहत शब्द दो पदों से मिल कर बना है। अन्+आहत अर्थात् जो शब्द बिना आघात या धक्का के अपने आप उत्पन्न हुआ हो। योगीजन इस नाद को दोनों कानों में अँगुली लगाकर सुनते हैं। ओंकार ध्वनि या सोऽहम् ध्वनि अनाहत या अनहद नाद कहलाती है। तन्त्र शास्त्र में वर्णन मिलता है कि हृदय स्थित सुषुम्ना के मध्य में द्वादशदल कमल में स्थित शब्द ब्रह्ममय है, जो अनाहत है-**तन्त्रशास्त्रे प्रसिद्धे हृदयस्थिते सुषुम्णामध्यस्थे द्वादशदलपद्मे शब्दो ब्रह्ममयः, शब्दोऽनाहतो यत्र दृश्यते अनाहताख्यं तत् पद्मं मुनिभिः परिकीर्त्तित-मित्युक्तलक्षणे** (वाच०पृ० १६१)। शास्त्रों में उल्लेख है कि हठयोग में कुण्डलिनी को जाग्रत् किया जाता है। वह जब जाग्रत् होने की स्थिति में ऊर्ध्वमुखी होती है, उस समय बिना किसी आघात के जो विस्फोट होता है, वही अनाहत नाद है। इसका अनुभव किसी को शंख

ध्वनि की तरह, किसी को भ्रमरगुञ्जन और किसी को सोऽहम् नाद तथा किसी को ॐकार ध्वनि की तरह होता है।

१६. **अनियामकत्व**— उपनिषदों में कई स्थानों पर 'अनियामकत्व' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो 'नियामक' शब्द से बना है। प्रख्यात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है- **नि+यम-णिच्-ण्वुल्, नियमकारके नियामकत्वम् अदृष्टकालादेः "कारणस्य कार्यं प्रति नियामकत्वम्"** अर्थात् कारण का नियमन,नियन्त्रण करने वाला। हिन्दी विश्वकोश में भी इसका अर्थ नियम करने वाला, नियम या कायदा बाँधने वाला, व्यवस्था करने वाला आदि दिया है। इसी नियामक शब्द में अभावार्थक 'अ' उपसर्ग जोड़ने से भाववाचक संज्ञा में 'अनियामकत्व' शब्द बनता है, जो किसी को वश में-नियन्त्रण में न रखने वाले गुण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। निर्वाण उपनिषद् में परमहंस की स्थिति का वर्णन करते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है- **'अनियामकत्व निर्मल शक्तिः'** अर्थात् अनियामकत्व ही उनकी (परमहंसों की) निर्मल शक्ति होती है। ईश्वर के द्वारा सभी जीव नियन्त्रित हैं; क्योंकि वह उनका नियामक है- **ईश्वरेण स्वस्वकार्ये नियम्यत इति नियम्यं जीवजातम्। तदन्तर्यामिनियामकः ईश्वरः** (निर्वाणो० ५२ टीका)। परमहंस लोग मायातीत हो जाने के कारण तथा सर्वसाक्षित्व के कारण अनियामकत्व गुण से ओत-प्रोत होते हैं अर्थात् वे न किसी के द्वारा नियन्त्रित होते हैं और न ही वे किसी को अपने वश में करते हैं,वरन् साक्षीभाव से युक्त रहते हैं-**तयोः मायिकत्वेन तदतीतत्वं अनियामकत्वं सर्वसाक्षित्वम्** (निर्वाणो० ५२ टीका)।

१७. **अनुपवीत** — भारतीय संस्कृति में द्विज को यज्ञोपवीतधारी होना आवश्यक माना जाता है। जिसका दूसरा जन्म हुआ हो, वह द्विज कहलाता है- **द्वाभ्यां जन्मसंस्काराभ्यां जायते इति द्विजः** अर्थात् जिसने वर्तमान ढर्रे के जीवन को छोड़कर आदर्शवादिता के क्षेत्र में प्रवेश करके नया जन्म धारण किया हो, वह द्विज कहलाता है और उसका प्रतीक होता है, यज्ञ का उपवीत (धागा) यज्ञोपवीत। यज्ञोपवीतधारी होने का अर्थ है कि वह व्यक्ति जो यज्ञीय जीवन (त्यागमयजीवन) जीता हुआ, अपने को पवित्र बनाता हुआ, परमार्थ परायणता के पथ पर अग्रसर होता है। अपने धर्म का पालन न करता हुआ, जो यज्ञोपवीत भी धारण नहीं करता, वह अनुपवीत कहलाता है। प्राचीन काल में वर्णाश्रम धर्मानुसार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार था। ये यदि यज्ञोपवीत धारण नहीं करते थे, तो इन्हें अनुपवीत कहा जाता था। उपवीतधारी को यज्ञीय जीवन जीने के साथ ही गायत्री उपासक होना आवश्यक है; क्योंकि यज्ञोपवीत वस्तुतः गायत्री की ही मूर्तिमान् प्रतिमा है। गायत्री मन्त्र के नौ शब्द यज्ञोपवीत के नौ धागे तथा एक प्रणव व तीन व्याहृतियाँ उसकी चार ग्रन्थियाँ हैं। उपवीत रूप में गायत्री की प्रतिमा को धारण न करने वाला ही अनुपवीत है। अथर्वशिर उपनिषद् में उल्लेख है कि इस उपनिषद् का पाठ करने वाला श्रोत्रिय न हो, तो श्रोत्रिय और अनुपवीत हो, तो उपवीत वाला हो जाता है- **य इदमथर्वशिरो ब्राह्मणोऽधीते अश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति, अनुपनीत उपनीतो भवति .....**(अथर्वशिर० ७)।

१८. **अनुष्टुप्**— महर्षि कात्यायन ने सर्वानुक्रमणिका में सात वैदिक छन्दों का उल्लेख किया है- गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती। जिसमें अनुष्टुप् भी एक छन्द है। इसमें आठ-आठ अक्षर के चार पाद होते हैं। वैदिक काल में अनुष्टुप् छन्द का नाम मिलता है- **"अनुष्टुभा सोम उक्थैः"** (ऋ० १०.१३०.४)। अनुष्टुप् छन्द सरल और मधुर होने से श्लोक रचना में सहज पड़ता है। श्रुतबोध में अनुष्टुप् छन्द का लक्षण बताते हुए लिखा है-**पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः। षष्ठं गुरु विजानीयादित्यनुष्टुभ लक्षणम्** (श्रुतबोध) अर्थात् सभी पादों का पञ्चम वर्ण एवं द्वितीय-चतुर्थ पाद का सप्तम वर्ण लघु और षष्ठ वर्ण गुरु रहने से अनुष्टुप् छन्द कहलाता है। किसी-किसी स्थल में पञ्चम वर्ण भी गुरु रहता है। यथा- **"तिथ्यादितत्त्वं तत् प्रीत्यै"** (स्मार्त्त)। ऐतरेय आरण्यक में लिखा है कि अनुष्टुप् छन्द से स्वर्ग प्राप्ति की कामना पूर्ण होती है- **अनुष्टुभौ स्वर्गकामः कुर्वीतः**। विष्णु पुराण में उल्लेख है कि एकविंशस्तोम, अथर्ववेद, आप्तोर्याम नामक याग, अनुष्टुप् छन्द और वैराजसाम ब्रह्मा के उत्तर मुख से उत्पन्न हुआ था- **"एकविंशमथर्वाणमाप्तोर्यामाणमेव च। अनुष्टुभं स वैराजम् उत्तरादसृजन् मुखात्"** (वि०पु० १.५.४५)। इसी प्रकार जगती छन्द में चार चरण होते हैं,जिनमें प्रत्येक में बारह-बारह वर्ण होते हैं। त्रिष्टुप् छन्द में भी चार चरण होते हैं, जिनमें प्रत्येक में ग्यारह-ग्यारह वर्ण (अक्षर) होते हैं।

१९. **अन्तर्यामी**— द्र०-ज्ञानखण्ड -अन्तर्यामी साक्षी।

२०. **अन्तःकरण चतुष्टय**— द्र० - ज्ञानखण्ड ।

२१. **अपरिग्रह**— द्र०- यम।

२२. **अपरिग्रही**— भारतीय योग दर्शन में यम-नियम के अन्तर्गत अपरिग्रह का बहुत महत्त्व है। योग दर्शन में यम के पाँच भेद निरूपित किये गये हैं- **अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः** अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (अधिक संग्रह न करना)-ये यम कहलाते हैं। इसी प्रकार गायत्री उपासक-यज्ञोपवीतधारी को शास्त्र वर्णित जिन नौ गुणों से युक्त होना अनिवार्य है, उनमें भी अपरिग्रह महत्त्वपूर्ण गुण है- **अहिंसा सत्यमस्तेयं तितिक्षा चापरिग्रहः। आस्तिक्यं संयमं शान्तिः शुचिश्च नवसंख्यकाः।** जो साधक आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह करता है, वह परिग्रही तथा जो ऐसा नहीं करता वह अपरिग्रही कहलाता है। जैन धर्म के अनुसार मोह का परित्याग कर देना ही अपरिग्रह है। विषय वस्तुओं को अस्वीकार कर देना भी अपरिग्रह की श्रेणी में माना जाता है। महर्षि व्यास का कथन है कि विषयों में विविध दोष दर्शन कर, उन्हें ग्रहण न करना अपरिग्रह है- **विषयाणामर्जनरक्षण-क्षयसंगहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः** (सां०यो०द०व्या०भा०)। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि अपरिग्रह स्थिर हो जाने पर साधक को जन्म-जन्मान्तरों के विषय में सम्पूर्ण ज्ञान हो जाता है- **अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता-सम्बोधः** (यो०द० २.३९)। समाज में अपरिग्रह धर्म का पालन करना सभी के लिए आवश्यक है। इस व्रत का समुचित रूप से पालन न होने से समाज में असमानता दिखाई देती है। यदि समाज के व्यक्ति अपनी आवश्यकता से अधिक धन-साधन अपने पास न रखें (अपरिग्रही बनें), तो उससे अनेक अभावग्रस्तों की पूर्ति हो सकती है और सम्पूर्ण समाज सुखी-समुन्नत बन सकता है।

२३. **अपान**— पाँचों प्राणों में से यह एक है। वेदान्तसार के अनुसार ये प्राणादिवायु निम्नलिखित हैं- प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान- **वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः** (वे०सा०, खण्ड १३)। ऊर्ध्वगमनशील नासाग्रवर्ती वायु को प्राण कहा जाता है। अपान मलादि का निःसरण करके जीवन प्रदान करता है, जैसा कि हलायुध कोश में कहा गया है- **'अपानयति मलादिनिःसारणेन जीवयति।'** अपान वायु की अवस्थिति गुदा और उपस्थ में होती है। नाभि से नीचे की ओर जाना इसका स्वभाव है। अतः इसे अधोगमनशील कहा गया है। योग दर्शन के अनुसार मूत्र, पुरीष (मल), गर्भादि के बहिर्निःसरण की प्रक्रिया जिसके द्वारा सम्पन्न होती है, उसे अपान कहा जाता है (यो०सू० ३.३९)। योगी लोग मलद्वार से जल को ऊपर खींचकर आँतों का शोधन कर लेते हैं, इसी से इसका नाम अपान है। इस प्रक्रिया के लिए आधुनिक योगियों में श्री देवरहा बाबा विशेष ख्याति-सिद्ध थे।

२४. **अमनस्क स्थिति**— योग की विभिन्न स्थितियों में एक उन्मनी अवस्था या उन्मनी भाव का भी वर्णन मिलता है। मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् में उल्लेख है कि साधक जब ब्रह्म से एकाकार हो जाता है, तब उन्मनी अवस्था प्राप्त होती है। उन्मनी अवस्था अर्थात् तत्त्वज्ञान पूर्ण स्थिति-**उन्मनी नाम तत्त्वज्ञानम्** (मं०ब्रा०उ० २.२.४ टीका)। उन्मनी अवस्था के द्वारा मनरहित स्थिति हो जाती है, जिसे अमनस्क स्थिति कहते हैं- **उन्मन्या अमनस्कं भवति** (मं०ब्रा०उ० २.२.४) अर्थात् मन संकल्प-विकल्प से रहित हो जाता है। मन का प्रमुख कार्य इच्छा करना, संकल्प-विकल्प करना है; किन्तु अमनस्क स्थिति में साधक इन से रहित हो जाता है। संस्कृत के प्रख्यात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् में उल्लेख है- **नास्ति कार्य्यक्षमं मनो यस्य। .....मनोवृत्तिहीने योगिनि च। सर्वथा मनःशून्य** (वाच०पृ० ३१८)। इस अमनस्क स्थिति वाले साधक के लिए स्थूल पूजा-उपचार का कोई महत्त्व नहीं रहता, फिर तो निश्चिन्त (चिन्ता रहित) अवस्था ही उसका ध्यान है, सर्वकर्म निराकरण ही आवाहन है, निश्चयात्मक ज्ञान ही आसन है,उन्मनी भाव ही पाद्य है, अमनस्क स्थिति अर्घ्य है, सदैव दीप्ति और अमृतवृत्ति ही स्नान है, सबमें ब्रह्म भावना ही गन्ध है, दर्शन के स्वरूप में स्थित होना ही अक्षत है। .....मौन ही स्तुति है तथा सभी प्रकार से हर स्थिति में सन्तोष ही विसर्जन है— **तस्य निश्चिन्ता ध्यानम्। सर्वकर्मनिराकरणमावाहनम् .....सर्वसंतोषो विसर्जनमिति ...** (मं०ब्रा०उ० २.२.५)। इस प्रकार ब्रह्म-अनुसन्धान करने वाला साधक ब्रह्मरूप ही हो जाता है।

२५. **अमरोली मुद्रा**— द्र०-मुद्रा।

२६. **अमानित्वगुण** — अनेक सद्गुणों में अमानित्व गुण का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे एक प्रकार से लज्जाशीलता का गुण भी कह सकते हैं। निरहंकारिता या दम्भ शून्यता भी अमानित्व है। वाचस्पत्यम् पृ० ३२१ में उल्लेख है- **अभिमानशून्ये "अमानित्वमदम्भित्वम्" गीता।** निरहंकारी या अमानित्व गुण सम्पन्न व्यक्ति सबके हृदय में अपना

स्थान बना लेता है तथा कठोर से कठोर व्यक्ति से वह अपना कार्य अपनी विनम्रता द्वारा सम्पन्न करा लेता है। इस गुण का कोई मूल्य नहीं; किन्तु इससे सब कुछ क्रय किया जा सकता है। यह संत वचन है कि **शालीनता बिना मोल मिलती है; किन्तु उससे सब कुछ खरीदा जा सकता है।** सामान्य स्थिति में जहाँ अपनी थोड़ी सी निन्दा सुनकर व्यक्ति उत्तेजित हो जाते हैं, वहीं अमानित्व सम्पन्न व्यक्ति उसे (निन्दक को) अपनी साधना में सहायक मानते हुए उसका उपकार मानते हैं। एक सूफी संत ने लिखा है- **'निन्दक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय, बिन पानी साबुन बिना निर्मल करे सुभाय।'** संन्यासी व्यक्ति को मान-अपमान से अलग रहना चाहिए। नारद परिव्राजकोपनिषद् के अनुसार दूसरों के द्वारा प्राप्त आदर साधक के तप-उपार्जन में बाधक है एवं दूसरों के द्वारा किया गया अपमान उसके तप-उपार्जन में सहायक है। इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए संन्यासी के गुणों के सन्दर्भ में उपनिषद्कार ने लिखा है- **न सुखं न दुःखं न निद्रा न मानावमाने च षड्मिवर्जितः, निन्दाहंकारमत्सरग-र्वदम्भेर्ष्या.... निन्दास्तुतिर्यादृच्छिको भवेत्** (ना०परि० ३.९०)।

२७. **अवधारणा—** अवधारणा शब्द का उपयोग प्रायः किसी विषय में मन में उत्पन्न कल्पना, धारणा या विचार के उदय होने, बनने या स्थिर होने के सन्दर्भ में किया जाता है। कुछ कोश ग्रन्थों में इसका अर्थ किसी तथ्य के सम्बन्ध में निश्चय, पुष्टिकरण, (विषय की)सीमा निश्चित करना आदि किया गया है। संस्कृत हिन्दी कोश में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार निर्दिष्ट है — **अवधारणा-अव+धृ+णिच्+ल्युट्,** जिसके उपर्युक्त कई अर्थ बताये गये हैं। उपनिषदों में अन्तःकरण चतुष्टय के नियमों के सन्दर्भ में अवधारणा का उल्लेख हुआ है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये अन्तःकरण चतुष्टय के अन्तर्गत आते हैं। शारीरकोपनिषद् में सङ्कल्प-विकल्प को मन का विषय, अध्यवसाय (निश्चित होने की प्रक्रिया) को बुद्धि का विषय, अभिमान को अहंकार का विषय तथा अवधारणा (किसी विषय का तथ्य निश्चित हो जाने) को चित्त का विषय कहा गया है—**मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तमित्यन्तःकरणचतुष्टयम्। तेषां क्रमेण संकल्पविकल्पाध्यवसायाभिमानावधारणास्वरूपाश्चैते विषयाः** (शारीरको० ४)। इसी उपनिषद् में मन का स्थान गलान्त (गले का अन्तिम भाग), बुद्धि का स्थान मुख, अहंकार का हृदय तथा चित्त का स्थान नाभि कहा गया है— **मनः स्थानं गलान्तं बुद्धेर्वदनमहंकारस्य हृदयं चित्तस्य नाभिरिति** (शारीरको० ४)।

२८. **अवधूत—** सनातन धर्म के अनुसार चार आश्रम माने जाते हैं, जिनमें जीवनावधि को चार भागों में विभक्त कर दिया गया है। ये हैं- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। इनमें अन्तिम आश्रम संन्यास है। इसे प्रव्रज्या आश्रम भी कहते हैं, क्योंकि इसमें परिव्राजक (संन्यासी) लोकमंगल और आत्म कल्याण के निमित्त निरन्तर परि+व्रज्या (परिभ्रमण) करता रहता है। संन्यासी व्यक्ति उसे कहते हैं, जिसने अपनी समस्त इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके संसार के समस्त आकर्षणों का परित्याग कर दिया हो, साथ ही वह एक मात्र मोक्ष के उपाय में लगा हो। संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने वाले के लिए पञ्चमात्राएँ धारण करने का निर्देश दिया गया है— **अथाश्रमं चरमं संप्रविश्य यथोपपत्तिं पञ्चमात्रां दधानः** (शाट्यायनी० ६)। त्रिदण्ड, उपवीत, वस्त्र-कौपीन (उत्तरीय-लँगोटी), शिक्य (छींका) और पवित्री ये ही स्थितिभेद से संन्यासियों के लिए निर्धारित पञ्चमात्राएँ कहलाती हैं। इन्हें स्थिति के अनुरूप यथा-शास्त्र-निर्देश यति को आजीवन धारण करना चाहिए-**त्रिदण्डमुपवीतं च वासः कौपीनवेष्टनम्। शिक्यं पवित्रमित्येतद्बिभृयाद्यावदायुषम्** (शाट्यायनी० ७)। यति की इन पंचमात्राओं को ब्रह्म (ॐकार) में समाहित माना गया है- **पञ्चैतास्तु यतेर्मात्रास्ता मात्रा ब्रह्मणे श्रुताः** (शाट्यायनी० ८)।

संन्यासोपनिषद् में संन्यासियों के छः प्रकार वर्णित हैं- कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत-**संन्यासः षड्विधो भवति कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसतुरीयातीतावधूताश्चेति** (संन्यासो० २.२३)। अवधूत संन्यास की सर्वोच्च श्रेणी है। अवधूतोपनिषद् के मन्त्र २ में अवधूत को इन शब्दों में परिभाषित किया गया है- **अक्षरत्वाद्वरेण्यत्वाद्धूतसंसारबन्धनात्। तत्त्वमस्यादिलक्ष्यत्वादवधूत इतीर्यते** अर्थात् जो अक्षर (अविनाशी), वरेण्य (श्रेष्ठ) तथा संसार के बन्धन से मुक्त हो गया हो, साथ ही तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के लक्ष्य का अर्थरूप हो उसे अवधूत कहते हैं। इसी प्रकार संन्यासोपनिषद् में अवधूत की स्थिति का विवेचन करते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है कि अवधूत अनियम वाला होता है (अर्थात् उसके लिए जप, यज्ञादि का कोई नियम अनिवार्य नहीं है)। वह पतित और निन्दित व्यक्ति के अतिरिक्त सभी वर्णों में अजगर वृत्ति (जो कुछ अपने आप प्राप्त हो जाए) से भोजन ग्रहण करता है। अवधूत सतत आत्मानुसंधान में निरत रहता हुआ पर्वत, वृक्ष, घास, तृणादि जड़ पदार्थों से अपने को पृथक् मानता है कि

मैं तो चेतन तत्त्व हूँ तथा काल से कवलित और शीघ्र नष्ट होने वाला नहीं हूँ—**अवधूतस्त्वनियमः पतिताभिशस्तवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगरवृत्त्याहारपरः स्वरूपानुसंधानपरः। .....नाहमचेतनः** (संन्यासो० २.२९-३०)। संन्यासी के अन्य भेद इस प्रकार हैं—

(क) **कुटीचक**- कुटीचक (जिसे कुटीचर भी कहते हैं) शिखा और यज्ञोपवीतधारी होता है, जो दण्ड, कमण्डलु, लँगोटी, चादर और कन्था (गुदड़ी) धारण करता है। वह माता-पिता और गुरु की आराधना में तन्मय रहते हुए पिठर (बटलोई), खनित्र (फावड़ा) और शिक्य (छींका) धारण करके मन्त्र साधन परायण रहकर एक ही स्थान पर अन्नग्रहण करने वाला, श्वेत और ऊर्ध्वमुखी त्रिपुण्ड्र धारण करने वाला तथा तीन दण्ड रखने वाला होता है-**कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनशाटीकन्थाधरः पितृमातृगुर्वाराधनपरःपिठरखनित्रशिक्यादिमन्त्रसाधनपर एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः** (संन्यासो० २.२४)।

(ख) **बहूदक**- बहूदक शिखा आदि तथा कन्था, त्रिपुण्ड्रधारी होकर सब प्रकार कुटीचक के समान आचरण वाला होता है तथा मधुकरी वृत्ति से केवल अष्टग्रास भोजनग्राही होता है-**बहूदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवत्सर्वसमो मधुकरवृत्त्याष्टकबलाशी** (संन्यासो० २.२५)।

(ग) **हंस**— हंस का रूप इस प्रकार विवेचित है- **हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधार्यसंक्लृप्तमाधूकरान्नाशी कौपीनखण्डतुण्डधारी** (संन्यासो० २.२६) अर्थात् हंस प्रवृत्ति वाला संन्यासी जटाधारण करने वाला त्रिपुण्ड्र और ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करने वाला, अनिश्चित स्थान पर भिक्षाटन करके भोजन ग्रहण करने वाला और शरीर पर मात्र कौपीन धारण करने वाला होता है।

(घ) **परमहंस**- परमहंस की वृत्ति बताते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है- **परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहेषु करपात्र्येककौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो वा भस्मोद्धूलनपरः सर्वत्यागी** (संन्यासो० २.२७) अर्थात् परमहंस वृत्तिवाला संन्यासी शिखा और यज्ञोपवीत धारण न करके करपात्री होकर मात्र पाँच घरों से ही भिक्षा ग्रहण करता है, जो मात्र एक कौपीन, एक चादर और एक दण्ड धारण करने वाला होता है अथवा शरीर पर केवल भस्म लगाकर मात्र चादर धारण करता है, इसके अतिरिक्त सर्वत्यागी होता है। परमहंस को ही भिक्षु कहते हैं। सामान्यतः भिक्षु शब्द से तात्पर्य भिक्षा माँगने वाला प्रतीत होता है; पर इस वृत्ति की निन्दा करते हुए परमहंसोपनिषद् में लिखा है कि जो काष्ठ दण्ड धारण करके सब आशाओं से युक्त है तथा ज्ञान, क्षमा, वैराग्य आदि गुणों से शून्य होकर मात्र भिक्षावृत्ति से ही जीवनयापन करता है, वह पापी यतिवृत्ति का विनाशक है और रौरव नामक नरक में जाता है। सच्चा भिक्षु वह है, जो आशाम्बर है तथा नमस्कार, स्वाहा, स्वधा से रहित, स्वर्ण आदि का संग्रह न करके, राग-द्वेष से रहित होकर अपने आत्मतत्त्व में ही स्थित रहता है- **आशाम्बरो न नमस्कारो न स्वाहाकारो..... स भिक्षुस्सौवर्णादीनां नैव परिग्रहेन्न लोकनं ..... आत्मन्येवावस्थीयते** (परमहंसो० ४)।

(ङ) **तुरीयातीत**- तुरीयातीत को इन शब्दों में परिभाषित किया गया है- **तुरीयातीतो गोमुखवृत्त्या फलाहारी, अन्नाहारी चेद्गृहत्रये, देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः** (संन्यासो० २.२८) अर्थात् तुरीयातीत संन्यासी गोमुखवृत्ति से केवल तीन घरों से फल अथवा अन्नाहार ग्रहण करता है। वह भोजन देह धारण करने मात्र के लिए ही ग्रहण करता है तथा यह मानता है कि मैं तो चेतन आत्मा हूँ, शरीर तो मृतक के समान है।

इस प्रकार संन्यासियों की छः श्रेणियाँ हैं, जो स्वरूप भेद से अलग-अलग नाम वाली हैं। इनके अतिरिक्त संन्यासोपनिषद् ने संन्यासियों की चार अन्य श्रेणियों का भी उल्लेख किया है। ये हैं-वैराग्य संन्यासी, ज्ञान-संन्यासी, ज्ञान वैराग्य संन्यासी और कर्म संन्यासी। इनमें वैराग्य संन्यासी वह है, जो दृश्य-श्रव्य विषयों के प्रति निःस्पृह है और पूर्वार्जित पुण्यों के फलस्वरूप वैराग्य होने के कारण जिसने संन्यास धर्म ग्रहण किया है- **तद्यथेति। दृष्टानुश्रविक ..... वैराग्य संन्यासी** (संन्यासो० २.१९)। ज्ञान संन्यासी वह है, जो शास्त्रज्ञान पाकर, सांसारिक सद्गुणों एवं दुर्गुणों का अनुभव करके प्रपञ्च से उपराम होकर शरीर, शास्त्र और लोक वासनाओं का परित्याग करके, संसार की समस्त प्रवृत्तियों को वमनान्न मानकर चारों साधनों से मुक्त होकर संन्यास धर्म स्वीकार करता है— **शास्त्रज्ञानात्पापपुण्य ..... ज्ञानसंन्यासी** (संन्यासो० २.२०)। ज्ञान वैराग्य संन्यासी उसे कहा गया है, जो क्रमशः सभी का अभ्यास करके, समस्त अनुभव प्राप्त करके, ज्ञान और वैराग्य के तत्त्व को भलीभाँति समझकर, देह मात्र को अवशिष्ट मानकर संन्यासधर्म ग्रहण करता है- **क्रमेण सर्वमभ्यस्य .....ज्ञानवैराग्य संन्यासी** (संन्यासो० २.२१)। इसी प्रकार कर्म संन्यासी वह है, जो ब्रह्मचर्य,

गृहस्थ एवं वानप्रस्थ आश्रमों में विधिवत् रहने के पश्चात् भी वैराग्य उत्पन्न न होने पर नियमानुसार संन्यास ग्रहण करता है- **ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भूत्वा ..... स कर्मसंन्यासी** (संन्यासो० २.२२)। यहाँ यह ध्यातव्य है कि संन्यास के पूर्वोक्त छः भेद इसी कर्म संन्यास के भेद कहे गये हैं।

२९. **अविद्या** — द्र० - ज्ञानखण्ड।

३०. **अविमुक्त** — अविमुक्त का शाब्दिक अर्थ है, जो मुक्त न हो अर्थात् मुक्ति लाभ न कर सके। हिन्दी विश्वकोश के अनुसार कनपटी को 'अविमुक्त' कहते हैं। जाबाल उपनिषद् (१.१) के अनुसार यह ब्रह्म का स्थान है। मूर्द्धा (ब्रह्मरन्ध्र) और चिबुक (दाढ़ी) का मध्यवर्ती स्थान भी अविमुक्त कहलाता है। अन्यत्र उल्लेख पाया जाता है कि भौंहों एवं घ्राण का मध्य स्थान अविमुक्त क्षेत्र है-**अविमुक्तं नाम .....वक्ष्यमाण आत्मविदां काशीनगरस्थानीयो भ्रुवोर्घ्राणस्य च सन्धिः** (जाबालो०-अड्यार माइनर उपनिषद् पृ० ४०१)। काशी क्षेत्र भी अविमुक्त कहा जाता है। स्कन्दपुराण के काशी खण्ड में लिखा है- **"न विमुक्तं शिवाभ्यां यदविमुक्तं ततो विदुः"** अर्थात् शिव और शिवा के परित्याग न करने से काशी को अविमुक्त क्षेत्र कहते हैं। कुछ लोग काशी के निकट गंगातट से पाँच कोश दूर स्थान को भी अविमुक्त क्षेत्र कहते हैं।

३१. **अष्टग्रह**— ग्रह के सन्दर्भ में सामान्य अवधारणा नवग्रहों की है, जिन्हें सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु नाम से जाना जाता है। बाद में हुई खोजों के अनुसार नेप्च्यून, प्लूटो और यूरेनस ग्रहों को भी सम्मिलित कर लेने पर यह संख्या बारह मानी जाने लगी है, किन्तु आध्यात्मिक सन्दर्भ में कुछ उपनिषदों में ग्रह शब्द का अर्थ व संख्या इस अवधारणा से भिन्न है, जैसे—अथर्वशिर उपनिषद् में भगवान् रुद्र की स्तुति करते हुए देवों द्वारा उन्हें अष्टग्रह रूप कहा गया है—**यो वै रुद्रः स भगवान्ये चाष्टौ ग्रहास्तस्मै वै नमो नमः** (अथर्वशिर० ४)। बृहदारण्यक उपनिषद् में अष्टग्रह और अष्ट अतिग्रहों का संकेत इन शब्दों में उपन्यस्त है— **इत्यष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति .....कतमे त इति** (बृह० उ० ३.२.१)। ये अष्टग्रह प्राण, वाक्, जिह्वा, चक्षु, श्रोत्र, मन, हस्त और त्वचा नाम से वर्णित हैं। इसी प्रकार इन ग्रहों (पंच ज्ञान इन्द्रियों, एक कर्मेन्द्रिय तथा मन, प्राण) के विषयों को अतिग्रह कहा गया है। जैसे प्राण ग्रह का अतिग्रह अपान है और अपान अतिग्रह द्वारा वह गृहीत है, इससे ही प्राण ग्रह गन्धों को सूँघने का कार्य सम्पन्न करता है—**प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनातिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रति** (बृह०उ० ३.२.३)। इसी प्रकार वाक् शक्ति ग्रह है, नाम रूपी अतिग्रह से वह गृहीत है, इसीलिए वाणी से उच्चारण सम्पन्न हो पाता है— **वाग्वै ग्रहः स नाम्नातिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति** (बृह०उ० ३.२.३)। इसी प्रकार जिह्वा को ग्रह, रस को उसका अतिग्रह; श्रोत्र को ग्रह, शब्द को उसका अतिग्रह; मन को ग्रह, कामना को उसका अतिग्रह; हाथों को ग्रह, कर्म को उसका अतिग्रह तथा त्वचा को ग्रह और स्पर्श को उसका अतिग्रह निरूपित करके इन ग्रहों की सक्रियता अतिग्रहों के माध्यम से ही बताई गई है।

३२. **अष्टदलकमल**— उपनिषदों में शरीरगत चक्रों का आलंकारिक वर्णन है। जैसे-कुण्डलिनी को सर्पिणी, सहस्रार चक्र के स्थल को क्षीर सागर, इसी प्रकार अनाहत चक्र को अष्टदल कमल अथवा हृदय कमल भी कहते हैं। प्रख्यात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् में अष्टदलकमल इन शब्दों में परिभाषित है- **अष्टौ दलानि यस्य। अष्टपत्रकमले** अर्थात् जिसमें आठ दल या पत्ते हों ऐसा कमल। अष्टदलकमल हृदय कमल को कहा जाता है। इसी को ब्रह्मपुर की संज्ञा भी प्रदान की गई है। इसका स्थान हृदय के पास है। क्षुरिकोपनिषद्कार ने प्रत्याहार प्रकरण में हृदय स्थित रक्तोत्पल (लाल कमल) जैसे प्रतीत होने वाले को 'दहर पुण्डरीक' कहा है, वेदान्त में भी इसे दहर पुण्डरीक ही कहा गया है- **ततो रक्तोत्पलाभासं हृदयायतनं महत्। दहरं पुण्डरीकं तत् वेदान्तेषु निगद्यते** (क्षुरिको० १०)। इसे ही अनाहत चक्र भी कहा जाता है। इसकी साधना करने से यह (अनाहत चक्र) जाग्रत् हो जाता है। इसका लक्षण इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त हो जाना है। इससे वाक्पतित्व, कवित्वशक्ति भी प्राप्त होती है। शिवसार तन्त्र में कहा गया है कि इस स्थान में उत्पन्न होने वाली अनाहत ध्वनि ही सदाशिव है और त्रिगुणमय ओंकार इसी स्थान में अभिव्यक्त होता है, यथा-**शब्दं ब्रह्मेति तं प्राह साक्षाद्देवः सदाशिवः। अनाहतेषु चक्रेषु स शब्दः परिकीर्त्यते॥**

३३. **अष्टाङ्ग योग**— चित्तवृत्ति के निरोध के लिए की जाने वाली योग क्रिया के आठ उपाय या अंग माने जाते हैं। इनमें से पाँच बहिरंग कहलाते हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार। तीन अन्तरंग कहलाते हैं- धारणा, ध्यान और समाधि। इन्हीं को अष्टांग योग कहते हैं। पातञ्जल योग में मन और इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोकने को यम कहा जाता है। यम के पाँच भेद हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। वेदान्तसार में नियम की विवेचना

करते हुए लिखा है, जो साधक को जन्म के हेतुभूत काम्य धर्मों से निवर्तित कर मोक्ष के हेतुभूत निष्काम धर्म में बाँध देते हैं, उन्हें नियम कहा जाता है। नियम पाँच प्रकार के हैं- शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार शरीर जिस स्थिति में स्थिर एवं सुखपूर्वक रहे, उसे आसन कहा जाता है। जिसे आसन की सिद्धि हो जाती है, उसे शीतोष्णादि द्वन्द्व अभिभूत नहीं करते हैं। पातञ्जल योग प्रदीप के अनुसार प्राणों को वश में करने का नाम प्राणायाम है। प्राणों को अपने अधिकार में चलाने वाले मनुष्य का अधिकार अपने शरीर, इन्द्रियों तथा मन पर हो जाता है। प्राणायाम के मुख्यत: तीन भेद हैं- रेचक, पूरक और कुम्भक । प्रत्याहार में चित्तवृत्तियों को या इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर चित्त को हर स्थिति में शान्त रखा जाता है। अपने चिन्तन को अनात्म पदार्थों से हटाकर आत्मा में लगाये रहना प्रत्याहार है। चित्तवृत्तियों को चारों ओर से हटाकर एक स्थान या विषय में लगाना धारणा है। योग सूत्र के अनुसार चित्त को एक स्थान पर दृढ़ करना धारणा है- **'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा'**(यो०द० ३.१)। चित्त को चारों ओर से हटाकर किसी एक विषय पर सतत स्थिर करना ध्यान कहलाता है। उपनिषद् में कहा गया है- मन का विकारों से मुक्त होना ही ध्यान है- **''ध्यानं निर्विषयं मन:''** (मैत्रे० २.३)। योग के आठ अंगों में अन्तिम अंग समाधि है। ध्यान की पराकाष्ठा को समाधि कहा गया है। इसे योग का चरम फल भी कहते हैं। इसमें साधक अपने चित्त को बाह्य जगत् से मोड़कर आत्मा में स्थिर कर लेता है, ऐसी अवस्था में वह विविध शक्तियों को धारण करने में समर्थ हो जाता है और अन्त में कैवल्य पद को प्राप्त होता है। समाधि के प्राय: दो भेदों का निरूपण किया जाता है- १. सविकल्पक समाधि और २. निर्विकल्पक समाधि।

३४. **असूया—** अध्यात्म के पथ पर अग्रसर होने वाले साधक के अन्दर अनेक प्रकार के विकार भी प्राय: उत्पन्न होते रहते हैं, जैसे- काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। इन पर विजय प्राप्त कर साधक जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य प्राप्त करता है। इसी प्रकार का एक दोष 'असूया' है। असूया का अर्थ किसी के गुणों में भी दोष देखने की प्रवृत्ति से है-**असूया परगुणेषु दोषाविष्करणम्** (वाच० पृ० ५५८)। अमरकोश भी इसी तथ्य की पुष्टि करता है-**असूया तु दोषारोपो गुणेष्वपि**। यह किसी के प्रति क्रोध-द्रोह के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। काव्यकारों ने इसे एक प्रकार का संचारी भाव माना है। योग दर्शन में मनोगत कालुष्य के भेदों में असूया भी वर्णित है। उसके अनुसार अपने से श्रेष्ठ पुरुष के सद्गुणों में भी दोषदर्शन-दोषारोपण करना 'असूया' कहा जाता है। न्याय दर्शन के अनुसार दूसरे के गुणों को सहन न करना (उनसे ईर्ष्या रखना) असूया कहलाता है-**ईर्ष्याऽसूया....** (वात्स्या० ४.१.३)

३५. **अस्तेय—** द्र०-यम।

३६. **अहंकार—** द्र०- ज्ञानखण्ड-अन्त:करण चतुष्टय।

३७. **अहिंसा—** द्र०-यम-नियम।

३८. **आग्नेय—** सामान्यत: आग्नेय शब्द का अर्थ अग्नि से सम्बन्धित है। यह शब्द विभिन्न शब्दों के विशेषण के रूप में भी प्रयुक्त होता है। अग्नि में दी जाने वाली विशेष प्रकार की आहुति 'पुरोडाश' को भी आग्नेय कहा गया है- **''आग्नेय: पुरोडाशो भवति''** (वाच०पृ० ६२०)। अठारह पुराणों में अग्निपुराण को भी अग्नि से सम्बन्धित होने के कारण आग्नेय पुराण कहते हैं- **''आग्नेयं वेदसम्मितम्।'' इत्युक्ते अग्निप्रोक्ते महापुराणभेदे अग्निपुराणशब्दे विवृति:** (वाच०पृ० ६२०)। दक्षिण और पूर्व के मध्यवर्ती दिशा को भी आग्नेय दिशा कहते हैं; क्योंकि उसके देवता अग्नि होते हैं। स्वर्ण को भी आग्नेय कहते हैं; क्योंकि उसका आविर्भाव अग्नि के वीर्य से ही हुआ है। जैमिनीय उपनिषद् के अनुसार यह पृथिवी भी आग्नेय है; क्योंकि प्रारम्भ में यह अग्नि का गोला मात्र थी। बदलते-बदलते इस वर्तमान रूप में आ गई है।

३९. **आग्नेय यज्ञ—** द्र०-आग्नेयी इष्टि।

४०. **आग्नेयी इष्टि—** श्रौत सूत्रों में कामनाओं की पूर्ति के लिए विभिन्न इष्टियों का विधान है। सामान्यत: इष्टि शब्द- कामना, कामना की गई वस्तु, दान संग्रह तथा यज्ञ के अर्थ में प्रयुक्त होता है; किन्तु श्रौत ग्रन्थों में इसे विशेष प्रयोजनों के लिए किया जाने वाला याग (यज्ञ) माना गया है। कात्यायन यज्ञ पद्धति विमर्श पृ० ४६८ में इष्टि इन शब्दों में परिभाषित है ''आहिताग्नि (नियमित रूप से यज्ञ करने वाले) के द्वारा दर्श (अमावस्या) तथा पूर्णिमा को सम्पन्न किया जाने वाला याग इष्टि है।'' प्रयोजन भेद से इष्टियों के कई प्रकार हैं। जैसे-मित्रविन्देष्टि, आग्नेयी इष्टि, अधिक श्रीकामेष्टि, चित्रेष्टि, प्रजा कामेष्टि, प्राजापत्येष्टि, त्रैधातवी इष्टि, वैमृधीष्टि, अन्वारम्भणीय इष्टि तथा अन्त्येष्टि आदि। इष्टियाँ असंख्य हैं;

किन्तु स्थानाभाव से यहाँ कुछ प्रमुख इष्टियों की चर्चा की जा रही है। महर्षि कात्यायन के अनुसार किसी भी कामना की सिद्धि के लिए **आग्नेयी इष्टि** करनी चाहिए-**आग्नेयं प्रतिकाममाहरेत्** (का० श्रौ० सू० ४.५.१५)। आग्नेयी इष्टि में अग्निदेव के निमित्त आठ कपाल [कपाल मिट्टी का एक पात्र होता है, जिसमें पुरोडाश (हव्य विशेष) पकाया जाता है] पुरोडाश पूर्वक याग सम्पन्न होता है। आग्नेयी इष्टि को ही आग्नेय यज्ञ भी कहते हैं। आग्नेयी इष्टि के अधिष्ठाता अग्निदेव होते हैं। जाबालोपनिषद् में आहिताग्नि संन्यास विधि प्रकरण में आग्नेयी इष्टि करके ही संन्यास लेने का विधान बताया गया है -..... **तदु तथा न कुर्यात्। आग्नेयीमेव कुर्यात्। अग्निर्हि वै प्राणः**' (जाबालो० ४.२) अर्थात् आहिताग्नि यदि संन्यास ले, तो उसे आग्नेयी इष्टि ही करनी चाहिए; क्योंकि अग्नि ही प्राण है। इस इष्टि से प्राण की वृद्धि होती है।

कुछ विद्वानों का मत है कि संन्यास धारण करने के पूर्व द्विज (चाहे वह गृहस्थ हो या वनस्थ) को चाहिए कि वह सर्वस्व दक्षिणा देकर प्रजापति का यज्ञ (प्राजापत्य यज्ञ) करे अर्थात् इस इष्टि के अधिष्ठाता प्रजापति के लिए पुरोडाशपूर्वक आहुतियाँ समर्पित करके **प्राजापत्य इष्टि** करे तथा अग्नियों (ज्ञानाग्नि) को अपने आत्मा में स्थापित करे। याज्ञवल्क्य स्मृति में इस तथ्य का उल्लेख इस प्रकार मिलता है-**वनाद् गृहाद्वा कृत्वेष्टिं सर्ववेद सदक्षिणाम्। प्राजापत्यां तदन्ते तानग्नीनारोप्य चात्मनि** (याज्ञ० स्मृ० ३.५६)। प्रख्यात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् पृ० ४५०७ में प्राजापत्य इष्टि को सर्ववेद दक्षिणा कोटि की इष्टि विवेचित करते हुए ग्रन्थकार ने उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि की है-"**प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेद सदक्षिणाम्। आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्॥**" पाठ भेद से यह श्लोक शंख स्मृति ७.१ में भी मिलता है। जाबालोपनिषद् में भी कुछ आचार्यों का मन्तव्य विवेचित है कि वे संन्यास धारण करते समय आग्नेयी इष्टि के स्थान पर प्राजापत्य इष्टि करते हैं-'.....**केचन आचार्याः प्रजापतिदेवताकां प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति** ..... (जाबालो० ४.२ टीका)।' प्राजापत्य इष्टि के पुरोडाश के सम्बन्ध में कपाल संख्या का विवरण प्राप्त नहीं होता।

त्रैधातवी इष्टि काम्य इष्टि है, जिसका अनुष्ठान गवामयन सत्र (जिसका दूसरा नाम संवत्सर सत्र है), जो एक वर्ष तक होता है, के अन्त में किया जाता है। इसके प्रमुख देव इन्द्र और विष्णु हैं; क्योंकि वृत्र से युद्ध करके इन्होंने वीर्यरूप यजु, ऋक् और सामवेद प्राप्त किये थे। इन्हीं तीनों वेदों (त्रिधातु वाली विद्या) से क्रमशः इष्टि करते हैं, इसीलिए इसे त्रैधातवी इष्टि कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में इसका वर्णन इन शब्दों में मिलता है-**तमनुपरामृश्य संलुप्याच्छिनत्सैषेष्टिरभवत्तद्यदेतस्मिन्नाशये त्रिधातुरिवैषा विद्याऽऽशेत तस्मात्त्रैधातवी नाम** (शत० ब्रा० ५.५.५.६)। जाबालोपनिषद् में भी त्रैधातवी इष्टि का उल्लेख मिलता है; किन्तु वहाँ इसे त्रैधातवी इसलिए माना गया है कि इसमें प्रयुक्त अग्नि तीन रूप शुक्ल, रोहित (लोहित) और कृष्ण वर्ण वाली होती है, जो क्रमशः तीन धातुओं सत, रज और तम से युक्त होती है-.....**ततस्त्रैधातवीयामेवेन्द्रदेवता .....कुर्यात्। तत्रोपपत्तिः। एतयैवेष्ट्या त्रयो धातवो यदुताग्नेयं रूपत्रयं सत्त्वं शुक्लं रजो रोहितं तमः कृष्णम्** (जाबालो० ४.२ टीका)। इस इष्टि में बारह कपाल हवि विशेष से (त्रैधातवी इष्टि के लिए चावल और जौ से निर्मित की जाती है) यजन किया जाता है; क्योंकि यह वर्षभर (बारह महीने) की इष्टि होती है। कात्यायन श्रौत सूत्र में इसे उदवसानीया इष्टि भी कहा गया है-'**त्रैधातव्युदवसानीया सर्वत्र**' (का०श्रौ०सू० १३.४.७)।

४१. **आत्मज्ञान**— द्र०-ज्ञानखण्ड-आत्मा-जीवात्मा।

४२. **आत्मतत्त्व** — द्र०- ज्ञानखण्ड-आत्मा-जीवात्मा।

४३. **आत्मविद्या**— द्र०- ज्ञानखण्ड- श्रेय-प्रेय मार्ग, आत्मा-जीवात्मा।

४४. **आत्मश्राद्ध**— स्वर्गस्थ देवों, ऋषियों, देवमानवों आदि की आत्माओं की शान्ति के लिए श्राद्ध कर्म का विधान है। श्राद्ध प्रायः आठ प्रकार के होते हैं-देवश्राद्ध, ऋषिश्राद्ध, दिव्यश्राद्ध, मनुष्यश्राद्ध, भूतश्राद्ध, पितृश्राद्ध, मातृश्राद्ध और आत्मश्राद्ध। जब व्यक्ति अपनी आत्मा की शान्ति के लिए स्वयं श्राद्ध करे, तो उसे आत्मश्राद्ध कहा जाता है। जब कोई क्रमिक अथवा आतुर संन्यास धारण करता है, तो वह प्रायश्चित्त स्वरूप कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रत सम्पन्न करके अष्ट श्राद्ध करता है, जिसके अन्तर्गत आत्मश्राद्ध में अपना, पिता का और पितामह का श्राद्ध किया जाता है; परन्तु पिता जीवित हों, तो उनका श्राद्ध न करके अपना, पितामह का और प्रपितामह का श्राद्ध किया जाता है। नारद परिव्राजकोपनिषद् में इसका उल्लेख इन शब्दों में संप्राप्य है- **प्रथमं .....आत्मश्राद्धे आत्मपितृ पितामहान् जीवत्पितृ कश्चेत्पितरं त्यक्त्वा आत्मपितामहप्रपितामहानिति** (ना० परि० ४.३७)।

४५. **आत्म साक्षात्कार**— द्र०-ज्ञानखण्ड-साक्षात्कार।

४६. **आत्मा**— द्र०- ज्ञानखण्ड -आत्मा-जीवात्मा।

४७. **आत्मा-परमात्मा**—द्र०-ज्ञानखण्ड -आत्मा-जीवात्मा।

४८. **आनन्द**— द्र०- ज्ञानखण्ड -आनन्द-परमानन्द।

४९. **आपः**— द्र०- ज्ञानखण्ड।

५०. **आवागमन**— द्र०-ज्ञानखण्ड -आवागमन चक्र।

५१. **आसन**— हठ योग के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार की मुद्राओं, बन्ध तथा आंसनों द्वारा यौगिक क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं, जिनके द्वारा नस-नाड़ियों का शोधन करके शरीर को स्वस्थ, चित्त को प्रसन्न और एकाग्र किया जाता है।

पातञ्जल योग में 'आसन' इन शब्दों में परिभाषित है- **'स्थिरसुखमासनम्** (पातं०यो० सा० पा० सूत्र-४६)' अर्थात् जो स्थिर और सुखदायी हो, वही आसन है। जिस प्रकार स्थिर होकर, अविचल होकर, कष्ट रहित होकर, सुखपूर्वक लम्बे समय तक बैठा जा सके, वह आसन है। स्थिति के अनुरूप विभिन्न साधकों के लिए पृथक्-पृथक् आसन ग्रहणीय होते हैं। वैसे तो विभिन्न प्रकार के आसनों का वर्णन पृथक्-पृथक् ग्रन्थों में मिलता है; किन्तु नौ प्रकार के आसन ही प्रमुख हैं। जो इस प्रकार हैं-**स्वस्तिकं गोमुखं पद्मं वीरसिंहासने तथा। भद्रं मुक्तासनं चैव मयूरासनमेव च॥ सुखासनसमाख्यं च नवमं मुनिपुङ्गव** (जां०दर्शनो० ३.१-२) अर्थात् स्वस्तिक, गोमुख, पद्म, वीर, सिंह, भद्र, मुक्त, मयूर और सुख ये नौ प्रकार के आसन हैं।

क. **स्वस्तिकासन**— स्वस्तिक आसन का वर्णन करते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है- **जानूर्वोरन्तरे कृत्वा सम्यक् पादतले उभे। समग्रीवशिरःकायः स्वस्तिकं नित्यमभ्यसेत्** (जा०दर्शनो० ३.२) अर्थात् जिसमें घुटनों और जंघाओं के बीच दोनों पैरों कां सम्यक् प्रकार से रखकर ग्रीवा, मस्तक और शरीर को समान भाव से धारण कर (अथवा एक सीध में रखकर) अभ्यास किया जाता है, वह स्वस्तिकासन कहलाता है।

ख. **गोमुखासन**— गोमुख आसन की स्थिति इस प्रकार वर्णित है- **सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत्। दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं तत्प्रचक्षते** (जा० दर्शनो० ३.३) अर्थात् दाहिने पैर के गुल्फ (टखने) को बायीं ओर के पृष्ठ पार्श्व (नितम्ब) के नीचे ले जाये और बायें पैर के गुल्फ को दायीं ओर के पृष्ठ पार्श्व के नीचे ले जाकर बैठे—यह गोमुखासन कहलाता है। कुछ ग्रन्थों में गोमुखासन में उपर्युक्त स्थिति के अतिरिक्त दायें हाथ को सिर की तरफ से तथा बायें हाथ को नीचे होकर पीठ पर ले जाकर दायें हाथ की तर्जनी अँगुली से बायें हाथ की तर्जनी अँगुली को मजबूती से पकड़ने का भी उल्लेख मिलता है।

ग. **पद्मासन**— जाबालदर्शन उपनिषद् ३.४-५ में पद्मासन इस प्रकार परिभाषित है-**अङ्गुष्ठावधि गृह्णीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु॥ ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र कृत्वा पादतलद्वयम्। पद्मासनं भवेत्प्राज्ञ सर्वरोगभयापहम्** अर्थात् जंघाओं के ऊपर दोनों पाद तलों को स्थिर करके(रखकर)दोनों हाथों से (पीछे होकर) पैरों के अँगूठों को पकड़कर स्थिरता से बैठना पद्मासन कहलाता है। कुछ ग्रन्थों में इस स्थिति में दृष्टि को नासाग्र पर स्थिर रखना तथा चिबुक (ठोड़ी) को हृदय के पास सटाकर रखने का भी उल्लेख मिलता है। यह आसन समस्त रोगों के भय से मुक्ति दिलाने वाला है।

घ. **वीरासन**— वीरासन की स्थिति इस प्रकार है-**दक्षिणेतरपादं तु दक्षिणोरुणि विन्यसेत्। ऋजुकायः समासीनो वीरासनमुदाहृतम्** (जा० दर्शनो० ३.६)। जाबालदर्शन उपनिषद् में वीरासन की स्थिति संक्षेप में वर्णित है; किन्तु हठयोग प्रदीपिका में इसका उल्लेख अधिक स्पष्ट है- यथा-**एकं पादं तथैकस्मिन्विन्यसेदूरुणि स्थितम्। इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमितीरितम्** (हठ०प्र० १.२१) अर्थात् दक्षिण पाद वाम ऊरु पर और वाम पाद दक्षिण ऊरु (जंघा) पर रखकर शरीर को सीधा रखने से वीरासन की स्थिति बनती है।

ङ. **सिंहासन**— सिंहासन का स्वरूप इस प्रकार है-**गुल्फौ च वृषणस्याधः सीविन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्। दक्षिणं सव्यगुल्फेन दक्षिणेन तथेतरत् ॥ हस्तौ जानौ .....योगिभिः सदा** (जा० दर्शनो० ३.६.१-३) अर्थात् दक्षिण टखने (गुल्फ) को बायीं ओर वृषण के नीचे सीवन के बगल में रखे, इसी प्रकार बायें टखने को दायीं ओर वृषण के नीचे सीवन के बगल में रखे, तत्पश्चात् दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर जमाकर तथा अँगुलियाँ फैलाकर मुख को भी खोलकर फैलाए तथा दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर केन्द्रित करे। यह सिंह नामक आसन सदैव योगियों द्वारा पूजित है। कुछ ग्रन्थों में उपर्युक्त स्थिति में जीभ को बाहर निकाल कर ठोड़ी पर लगाने तथा सिंह की तरह आवाज निकालने का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

च. **भद्रासन—** भद्रासन इस प्रकार है-**गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीविन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्। पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्धवा सुनिश्चलम्॥ भद्रासनं भवेदेतद्विषरोगविनाशनम्** (जा०दर्शनो० ३.७) अर्थात् इस आसन में दोनों पैरों के गुल्फों (टखनों) को वृषण के नीचे सीवन के दोनों पार्श्व भागों में इस प्रकार रखा जाता है कि बायाँ टखना सीवन के वाम पार्श्व में और दायाँ टखना सीवन के दक्षिण पार्श्व भाग में स्थिर हो जाए। इसके बाद सीवन के पार्श्व भागों में स्थित पैरों का हाथों द्वारा दृढ़तापूर्वक पकड़कर स्थिर हुआ जाता है। भद्रासन विष से उत्पन्न रोगों का विनाशक है।

छ. **मुक्तासन—** मुक्तासन की स्थिति इस प्रकार है-**निपीड्य सीविनीं सूक्ष्मां दक्षिणेतरगुल्फतः। वामं याम्येन गुल्फेन मुक्तासनमिदं भवेत्** (जा०दर्शनो०३.८-१) अर्थात् सीवन की सूक्ष्म रेखा को बायें टखने से दबाकर, बायें टखने को दायें टखने से दबाकर बैठने की स्थिति मुक्तासन कहलाती है। इसकी दूसरी विधि इस प्रकार बतायी गई है-**मेढ्रादुपरि निक्षिप्य सव्यं गुल्फं ततोपरि। गुल्फान्तरं च संक्षिप्य मुक्तासनमिदं मुने** (जा० दर्शनो० ३.९) अर्थात् उपस्थ (लिङ्ग) के ऊपर बायें टखने को स्थिर करके, बायें टखने पर दायें टखने को स्थिर करके बैठने की स्थिति भी मुक्तासन कहलाती है।

ज. **मयूरासन—**मयूरासन की परिभाषा इस प्रकार विवेचित है-**कूर्परागं मुनिश्रेष्ठ निक्षिपेन्नाभिपार्श्वयोः॥ भूम्यां पाणितलद्वन्द्वं निक्षिप्यैकाग्रमानसः। समुन्नतशिरः पादो दण्डवद्व्योम्नि संस्थितः॥ मयूरासनमेतत्स्या-त्सर्वपापप्रणाशनम्** (जा० दर्शनो० ३.१०-१२) अर्थात् दोनों हथेलियों को भूमि पर टिकाकर, कोहनियों के आगे के भाग को नाभि के दोनों पार्श्वों में स्पर्श करके स्थिर चित्त होकर सिर और पादों को ऊँचा करके आकाश में दण्डवत् (पृथिवी के समानान्तर) होकर स्थित हो जाये। यह मयूर नामक आसन समस्त पापों का विनाश करने वाला है।

झ. **सुखासन—** सुखासन का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है-**येन केन प्रकारेण सुखं धैर्यं च जायते॥ तत्सुखासनमित्यु-क्तमशक्तस्तत्समाश्रयेत्** (जा० दर्शनो० ३.१२-१३) अर्थात् जिस प्रकार भी बैठने से सुख और धैर्य बना रहे, वही सुखासन कहलाता है। अशक्त साधकों को इसी आसन का आश्रय लेना चाहिए।

ञ. **सिद्धासन—** उपर्युक्त नौ आसनों के अतिरिक्त एक अन्य आसन 'सिद्धासन' भी प्रचलित है। उसकी स्थिति इस प्रकार वर्णित है-बायें पैर की एड़ी को सीवन के मध्य में मजबूती पूर्वक इस प्रकार स्थिर करके कि उसका तलवा दायें पैर की ऊरु (जंघा) को छूता हुआ हो। इसी प्रकार दायें पैर को लिङ्ग की जड़ के ऊपर इस तरह स्थापित करे कि उसका तलवा बायें पैर की जंघा का स्पर्श करे। तदुपरान्त बायें पैर के अँगूठे और तर्जनी को दायें पैर की जंघा और पिण्डली के बीच में ले ले तथा इसी तरह दायें पैर के अँगूठे और तर्जनी को बायें पैर की जंघा और पिण्डली के बीच में ले ले, यह सिद्धासन कहलाता है। कुछ ग्रन्थों में इस स्थिति में ठोड़ी को हृदय के समीप रखकर दृष्टि को भृकुटि के मध्य में स्थिर करने का वर्णन भी मिलता है। यह आसन मोक्ष कपाट का भेदन करने वाला कहा गया है-**योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेन्मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम्॥ .....सिद्धासनं प्रोच्यते** (हठ० प्र० १.३५)।

५२. **आस्तिकता—** द्र०-ज्ञानखण्ड।

५२. **आहवनीय —** वैदिक ग्रन्थों में अग्नियों के अनेक प्रकार वर्णित हैं। जैसे—आहवनीय अग्नि, गार्हपत्य अग्नि और दक्षिणाग्नि आदि। अथर्ववेद ९.७.१३ में इन तीनों अग्नियों की संक्षिप्त परिभाषा इस प्रकार दी गई है- **योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः** अर्थात् जिस अग्नि से अतिथियों (देवों) का आवाहन किया जाता है, वह आहवनीय, गृहस्थित अग्नि गृहपति तथा अन्नपाचन करने वाली अग्नि को दक्षिणाग्नि कहते हैं। इन्हें श्रौत अग्नियाँ भी कहते हैं। महाराज मनु ने गार्हपत्य अग्नि को पिता, दक्षिणाग्नि को माता तथा आहवनीयाग्नि को गुरु की संज्ञा प्रदान की है-**'पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी'** (मनु० २.२३१)। कात्यायन यज्ञ पद्धति विमर्श में पारिभाषिक शब्दकोश के अन्तर्गत आहवनीय कुण्ड का भी नाम है। जिसमें आहवनीयाग्नि द्वारा देवों का आवाहन किया जाता है, उसे आहवनीय ख़र (कुण्ड) कहते हैं, जिसका स्थान यज्ञशाला में पूर्व की ओर होता है- **आहूयन्तेऽस्मिन्नाहुतयइत्याहवनीयः**। गार्हपत्याग्नि का स्वरूप सात्त्विक है, यज्ञशाला में गार्हपत्य खर (कुण्ड) का स्थान पश्चिम की ओर होता है। दक्षिणाग्नि का स्वरूप रजोगुणी है, यज्ञशाला में इसका स्थान दक्षिण की ओर होता है। कठरुद्रोपनिषद् में भी आहवनीय, दक्षिणाग्नि और गार्हपत्य अग्नियों का उल्लेख हुआ है- **.....गार्हपत्यदक्षिणा-ग्न्याहवनीयेषु अरणिदेशाद्धस्ममुष्टिं पिबेदित्येके** (कठरुद्रो०३)। आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और सभ्य—ये श्रौत अग्नियाँ तथा आवसथ्य अग्नि स्मार्त कही जाती है।

५४. **इड़ा**— द्र०-ज्ञानखण्ड-सुषुम्ना नाड़ी।

५५. **इन्द्रयोनि-वेदयोनि** —द्र०-कपालाष्टक।

५६. **इन्द्रियाँ**— द्र०-ज्ञानखण्ड- अंतःकरण चतुष्टय।

५७. **इष्ट**— भारतीय धर्म ग्रन्थों में इष्ट एक बहुप्रचलित शब्द है। जिसका सामान्य अर्थ है-अभिलषित, चाहा हुआ अथवा वाञ्छनीय। वाचस्पत्यम् पृ० ९९० में इष्ट की व्युत्पत्ति इस प्रकार विवेचित है- **इष्ट त्रि० इष कर्मणि क्त। अभिलषिते, प्रिये .....**। यज्ञ, संस्कार तथा एरंण्ड वृक्ष आदि शब्दों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है। अपने पूजित देव के लिए भी इष्ट शब्द प्रयुक्त होता है। जैसे-किसी के इष्ट देव हनुमान् जी हैं, तो किसी के गणपति और किसी के राम और कृष्ण। इच्छा के विषय में भी इस शब्द का प्रयोग कई जगह होता है, जैसे- **सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः। अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्** (गी०-३.१०)।

५८. **ईशान**—द्र०- त्र्यम्बक।

५९. **ईश्वर पूजन**—द्र०- नियम।

६०. **उञ्छवृत्ति**— द्र०- गृहस्थ।

६१. **उड्डियान बन्ध**—द्र०- बन्ध।

६२. **उत्तरायण**— ज्योतिर्विदों ने सम्पूर्ण आकाश मण्डल को दो भागों में विभक्त किया है- १. विषुवत् (मध्य) रेखा का उत्तरीभाग, २. विषुवत् रेखा का दक्षिणी भाग। सूर्य वर्षभर में छः माह उत्तरी भाग और छः माह दक्षिणी भाग में दृश्यमान होता है। जब सूर्य मकर रेखा से उत्तर (कर्क रेखा) की ओर जाता है, तो उसे उत्तरायण कहा जाता है तथा जब सूर्य कर्क रेखा से दक्षिण (मकर रेखा) की ओर जाता है, तो उसे दक्षिणायन कहा जाता है। यह ६-६ मास का समय होता है। सूर्य सिद्धान्त के अनुसार-**भानोर्मकरसंक्रान्तेः षण्मासा उत्तरायणम्**। सूर्य मकर संक्रान्ति से छः मास तक उत्तर की ओर रहता है, इस काल को उत्तरायण कहा जाता है। उत्तरायण में शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ऋतुएँ परिगणित की जाती हैं। **''शिशिरश्च वसन्तोऽपि ग्रीष्मः स्यादुत्तरायणे'** (हारीत)।

६३. **उदुम्बर**—द्र०-वानप्रस्थ।

६४. **उन्मनी अवस्था**—द्र० - अमनस्क स्थिति।

६५. **उन्मनी भाव**—द्र०- अमनस्क स्थिति।

६६. **उपदेष्टा**— सामान्यतः उपदेष्टा धर्म का उपदेश करने वाले को कहते हैं, इसीलिए इसके लिए धर्मोपदेशक या उपदेशक शब्द भी प्रयुक्त होता है। वाचस्पत्यम् के अनुसार उपदेष्टा शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है- **उपदेष्टृ-पु० उप+दिश-तृच्। १. गुरौ कर्मोपदेशके २. आचार्य्ये** अर्थात् कर्मोपदेशक और गुरु तथा आचार्य के अर्थ में उपदेष्टा शब्द का प्रयोग किया जाता है। आचार्य के अर्थ में ऋत्विजों को भी परिगणित किया गया है; क्योंकि वे यज्ञादि कर्मों में प्रत्यक्ष मार्गदर्शन (उपदेश) देते हैं। शास्त्र मान्यता है कि आचार्यों, ऋत्विजों के रूप में स्वयं भगवान् हरि ही कर्म का उपदेश प्रदान करते हैं- **चत्वारो वयमृत्विजः स भगवान् कर्मोपदेष्टा हरिः''** वेणी० (वाच०पृ० १२११)।

भारतीय संस्कृति में उपदेष्टा की बहुत महत्ता है; क्योंकि वह जो कुछ उपदेश करता है, उसे पहले अपने जीवन में उतारता है, इसलिए वह आचरणीय होता है। इसी कारण उपदेष्टा का दूसरा नाम आचार्य है। वैसे तो गुरु को गोविन्द (ब्रह्म) से भी बड़ा बताया गया है तथा प्रणाम-अभिवादन के क्रम में गोविन्द से पहले गुरु को प्रणाम करने का परामर्श दिया गया है- **गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूँ पाँय। बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो बताय (कबीर)**; किन्तु उपदेशक की अर्चना गुरु से भी पूर्व करने का शास्त्रीय विधान मिलता है- **तस्योपदेष्टारमपि पूजयेच्च ततो गुरुम्** (वाच०पृ० १२११)।

६७. **उपनयन**—द्र०-अनुपवीत।

६८. **उपरति**— जीवन के चार लक्ष्यों में मोक्ष प्राप्ति अन्तिम लक्ष्य है। इसकी प्राप्ति के लिए साधक को षट्सम्पत्तियों का आश्रय लेना पड़ता है। ये षट्सम्पत्तियाँ- शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान कहलाती हैं। इनमें उपरति का

बहुत महत्त्व है। प्रख्यात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् के अनुसार 'उपरति' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है- उप+रम+क्तिन्। जिसके कई अर्थ होते हैं, जैसे-विरति (विरक्ति), मृत्यु, प्राप्त विषयों के प्रति इन्द्रियों की उदासीनता तथा विहित कर्म विधान का संन्यास की स्थिति में परित्याग (**विहित कर्मणाम् विधानतस्त्यागरूपे संन्यासे "पुमर्थः कर्मणा नेति धीर्या सोपरतिर्भवेत्**"-वाच०पृ० १२८३); किन्तु विषयों से वैराग्य या उनके प्रति उदासीनता के भावार्थ में ही उपरति का अधिक प्रचलन है। अध्यात्मोपनिषद् मंत्र २८ में उपरति का उल्लेख इस रूप में आया है- **वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम्। स्वानन्दानुभवाच्छान्तिरेषैवोपरतेः फलम्** (अध्यात्मो० २८) अर्थात् वैराग्य का प्रतिफल बोध (आत्मज्ञान) है और बोध (ज्ञान) का फल उपरति अर्थात् विषयों से विरक्ति है। (उपरति के फलस्वरूप) आत्मानन्द से जो शान्ति प्राप्त होती है, वह उस उपरति का ही फल है। अतः आसक्ति ही अशान्ति और उपरति ही शान्ति का कारण है। उपरति धारण करने वाले साधक को उपराम कहते हैं।

६९. **उपराम**— द्र०-उपरति।

७०. **उपवीत**— द्र०-अनुपवीत।

७१. **उपाधि**— द्र०-ज्ञानखण्ड।

७२. **ऊर्ध्वपुण्ड्र**— द्र०-त्रिदण्ड-त्रिपुण्ड्र।

७३. **ऊर्ध्वरेता**— ऊर्ध्वरेता शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है-**ऊर्ध्वमूर्ध्वगं नाथः पतत् रेतो यस्य** अर्थात् जिसका रेतस् (वीर्य) अधोगामी न होकर ऊर्ध्वगामी हो गया हो, उसे ऊर्ध्वरेता कहा जाता है। रेतस्, पौरुष का प्रतीक है। अधिकांश लोगों का रेतस् अधोगामी होता है; किन्तु जिसके वीर्य की गति नीचे की ओर जाने से रुककर ऊर्ध्वगामी हो जाती है, वह ऊर्ध्वरेता कहलाता है-**रेतो हि पुंचिह्नेन प्रायः सर्वेषामधो गच्छति यस्तस्य अधोगतिं संरुणद्धि स ऊर्ध्वरेता इत्युच्यते** (वाच० पृ० १३९२)। इसलिए अखण्ड ब्रह्मचारी को भी ऊर्ध्वरेता कहा जाता है। जैसे- भीष्म, हनुमान्, सनकादिमुनि, भगवान् महादेव आदि। भीष्म (देवव्रत) ने अपने पिता शान्तनु के अभीष्ट विवाह के लिए स्वयं विवाह नहीं किया। अतः वे आजीवन ब्रह्मचारी रहने के कारण ऊर्ध्वरेता नाम से प्रख्यात हो गये। शंकर का भी एक नाम ऊर्ध्वरेता है- **ऊर्ध्वरेता ऊर्ध्वलिङ्ग ऊर्ध्वशायी नभस्थलः** (वाच० १३९२)। जाबाल दर्शनोपनिषद् के नवें खण्ड में भी भगवान् शंकर की स्तुति में ऊर्ध्वरेता शब्द आया है-**ऊर्ध्वरेतं विश्वरूपं विरूपाक्षं महेश्वरम्। सोऽहमित्यादरेणैव ध्यायेद्योगीश्वरेश्वरम्** (जा० दर्शनो० ९.२)। इस प्रकार शास्त्रों में ऊर्ध्वरेता की बहुत महिमा गायी गई है; क्योंकि अधोगामी रेतस् जहाँ कुछ ही सृजनात्मक कार्य कर पाता है, वही ऊर्ध्वगामी रेतस् से चित्त के एकाग्र होने, चिन्तन परिष्कृत होने से लेकर विभिन्न महत्त्वपूर्ण ऋद्धियों-सिद्धियों का स्वामी बना देता है। हनुमान् जैसे भक्त इसी शक्ति के सहारे 'अष्ट सिद्धि नव निधि के दाता' बन गये थे।

७४. **ऋचा**— ऋचा शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है- **ऋच्यते स्तूयतेऽनया** (वाच०) अर्थात् जिससे देवों की स्तुति या अर्चना की जाती है, वह ऋचा है। सामान्य रूप से ऋचा का अर्थ स्तुति या पूजा से लिया जाता है। वैदिक मंत्रों के लिए भी इस शब्द का प्रयोग किया जाता है; किन्तु विशेष रूप से ऋग्वेद के मंत्रों को ऋचा कहा जाता है। डॉ० राजबली पाण्डेय ने भी हिन्दू धर्मकोश में लिखा है कि प्राचीन वैदिक काल में देवताओं के सम्मानार्थ उनकी जो स्तुति की जाती थी, उन्हें ऋक् या ऋचा कहते थे। ऋग्वेद ऐसी ही ऋचाओं का संग्रह है, इसीलिए उसका नाम ऋग्वेद पड़ा।

७५. **ऋत** —द्र०-ज्ञानखण्ड-ऋत-सत्य।

७६. **ऋत्विक्**— द्र०-ज्ञानखण्ड- ऋत्विज्।

७७. **ऋषि**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

७८. **एकत्व**—द्र०-ज्ञानखण्ड-एकत्व-ऐक्य।

७९. **एषणात्रय**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

८०. **ओंकार**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

८१. **कपालाष्टक**— प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में योग विषयक विवेचन में कपालाष्टक शब्द का उल्लेख मिलता है। योग के आठ अंग बताये गये हैं। इन्हीं आठ अङ्गों (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) को

कपालाष्टक भी कहते हैं। कपालाष्टक की व्याख्या करते हुए उपनिषद्व्याख्याकार ब्रह्मयोगी ने लिखा है-**कं परमसुखमसुखकामादिवृत्तिभ्यः पृथक् कृत्य पालयन्तीति कपालानि योगाङ्गानि** (परब्रह्मो० २ टीका) अर्थात् 'क' से तात्पर्य परमसुख प्रदाता और कामादिवृत्तियों से उत्पन्न होने वाले असुख (कष्ट) को पृथक् करके पाल अर्थात् साधक का पालन-पोषण करने वाले कृत्य कपाल (योगाङ्ग) कहलाते हैं। इनके अष्टक को ही कपालाष्टक कहते हैं, जो कि योगदर्शन में आसन-प्राणायाम आदि आठ अङ्ग प्रख्यात हैं-**तेषामष्टकं यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहा-रधारणाध्यानसमाध्यात्मकं कपालाष्टकमष्टाङ्गयोगमनुसन्धाय यथावदभ्यस्य तद्बलेन चित्तगतमालिन्यं संक्षाल्य निर्विशेषज्ञानमवाप्य कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः** (परब्रह्मो० २ टीका) अर्थात् यम नियमादि अष्टाङ्ग योग अथवा कपालाष्टक का यथावत् अभ्यास करने से उत्पन्न ऊर्जा द्वारा चित्तगत मलिनता धुल जाती है, जिससे साधक निर्विशेष ज्ञान को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है। इसी प्रक्रिया (कपालाष्टक-अष्टांगयोग) द्वारा हृदय स्थल में जो स्तन या कदली पुष्पवत् लटका रहता है और योग के समय ऊपर उठता हुआ विकसित होता है। इसी में वह ईश्वर जाग्रत् रहता है। इस प्रकार अपने हृदय कमल में ध्यान करने वाला शुभाशुभ से परे होकर कर्मों से निर्लिप्त हो जाता है-**तदैवं कपालाष्टकं संधाय य एव स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः वेदयोनिरिति। .....कर्मभिर्न लिप्यते** (परब्रह्मो० २)।

८२. **कर्मफल**— द्र० - ज्ञानखण्ड।

८३. **कर्म संन्यासी**-द्र- अवधूत।

८४. **कर्मेन्द्रियाँ**— द्र०- ज्ञानखण्ड-अन्तःकरण चतुष्टय।

८५. **कला**— कला एक व्यापक अर्थवाला तथा बहुप्रचलित शब्द है। वाचस्पत्यम् पृष्ठ १७८३ में कला की व्युत्पत्ति इन शब्दों में विवेचित है-**कलयति कलते वा कर्त्तरि अच्, कल्यते ज्ञायते कर्मणि अच् वा** अर्थात् जो किसी के कर्म अथवा स्थिति को द्योतित करती है,वह कला है। जैसे चन्द्रमा के सोलहवें भाग को उसकी एक कला कहते हैं— **चन्द्रमण्डलस्य षोडशे भागे यथा च चन्द्रस्य षोडशभागस्य कला शब्द वाच्यत्वम्** (वाच० पृ०१७८३)। यों तो तिथियाँ पन्द्रह होती हैं; किन्तु प्रतिपदा से चतुर्दशी तक १४ तिथियाँ दोनों पक्षों (शुक्ल एवं कृष्ण पक्ष) में उभयनिष्ठ हैं। इनमें चन्द्रमा के घटने-बढ़ने की १४ कलाएँ होती हैं। अमावस्या और पूर्णिमा में, एक में चन्द्रमा बिल्कुल नहीं दीखता व दूसरे में पूरा दीखता है, अतः ये भी दो कलाएँ होने से १४+२=१६ कलाएँ कहलाती हैं। चन्द्रमा की सोलह कलाओं के नाम इस प्रकार हैं-अमृता, मानदा, पूषा, तुष्टि, पुष्टि, रति, धृति, शशिनी, चन्द्रिका, कान्ति, ज्योत्स्ना, श्री, प्रीतिरङ्गा, पूर्णा तथा स्वरजा। इसी प्रकार सूर्य की भी द्वादश कलाएँ वर्णित हैं। इन्हें द्वादशादित्य भी कहते हैं। सूर्य की कलाएँ इस प्रकार हैं-तपिनी, तापिनी, धूम्रा, मरीचि, ज्वालिनी, रुचि, सुषुम्ना, भोगदा, विश्वा, बोधिनी, धारिणी और क्षमा। वैसे कुल चौंसठ कलाएँ बतायी गई हैं; जो पूर्णतया परब्रह्म में मानी जाती हैं। वैदिक मान्यतानुसार परब्रह्म का त्रिपाद् ऊर्ध्वलोकों में और एक पाद (चतुर्थांश) भूलोक (विश्व ब्रह्माण्ड के रूप में) व्याप्त है (**त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहा भवत्पुनः** - ऋ० १०.९०.४)। इसी कारण भूलोक पर १६ कलाएँ ही विद्यमान हैं और इन्हें 'पूर्ण कला' कहा जाता है। अवतारों के विषय में भी उनकी दस कलाओं, बारह कलाओं, सोलह कलाओं का उल्लेख मिलता है, जो उनकी विशेषताओं, शक्ति व स्थिति का बोध कराती हैं। जैसे राम बारह कला के और कृष्ण सोलह कला के अवतार माने जाते हैं।

वस्तुतः जीव मात्र में एक-दो कलाएँ होती हैं और जैसे-जैसे वह अपने को विकसित करता जाता है; वैसे-वैसे उसकी कलाएँ भी बढ़ती जाती हैं। जैसे उद्भिज्जों-वृक्ष, लता, गुल्म आदि में एक (अन्नमय) कला होती है अर्थात् ये भोजन ग्रहण करते व विकसित होते हैं; इसी प्रकार स्वेदजों (मक्खी, मच्छर, जूँ, लीख आदि) में दो (अन्नमय व प्राणमय) कलाएँ होती हैं। अण्डजों (कबूतर, चिड़िया, तोता, मयूर आदि) में तीन (अन्नमय, प्राणमय व मनोमय) कलाएँ होती हैं। जरायुजों (घोड़ों, कुत्तों, हाथियों व गाय-भैंस आदि) में चार (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय) कलाएँ होती हैं। मानव श्रेणी उपर्युक्त जीवों के बाद की सृष्टि में गिनी जाती है। मानवों में अन्नमय, प्राणयम, मनोमय, विज्ञानमय के अतिरिक्त आनन्दमय कला भी पायी जाती है। कुछ विशिष्ट मनुष्यों में उपर्युक्त पाँच कलाओं (पंचकोशों) के अतिरिक्त तीन अन्य कलाएँ भी देखी जाती हैं। जो इस प्रकार हैं- १. अतिशायिनी कला २. विपरिणामिनी कला ३. संक्रामिणी कला। **प्रथम** अतिशायिनी कला के कारण ही आद्यशंकराचार्य ने दस-बारह वर्ष की अवस्था में वह कार्य कर लिया था, जो सामान्य व्यक्ति के लिए कल्पनातीत होते थे।

द्वितीय विपरिणामिनी कला के द्वारा साधक अणिमा आदि आठ सिद्धियों के माध्यम से शरीर को हल्का-भारी,

छोटा-बड़ा करके परकाया प्रवेश भी कर सकते हैं। तृतीय संक्रामिणी कला के द्वारा साधक अपनी शक्ति दूसरों में भी प्रविष्ट कर सकते हैं, जैसे रामकृष्ण परमहंस जी ने स्वामी विवेकानन्द में शक्तिपात किया था और योगेश्वर कृष्ण ने संजय को दिव्य दृष्टि प्रदान की थी। उपर्युक्त कलाएँ मानवों तक सीमित हैं, इसके ऊपर की ९से १६ तक की कलाएँ देवों व अवतारों में होती हैं। पूर्णकलाएँ १६ मानी गई हैं अर्थात् पूर्ण अवतार षोडश कलायुक्त होता है। देवों-अवतारों की ८ कलाएँ इस प्रकार हैं- १. प्रभ्वी २. कुण्ठिनी ३. विकासिनी ४. मर्यादिनी ५. संह्लादिनी ६. आह्लादिनी ७. परिपूर्ण ८. स्वरूपावस्थिति। इनमें **प्रभ्वी** का अर्थ ईश्वर की उस परिभाषा से सम्बन्धित है, जिसमें उन्हें 'कर्तुं अकर्तुं अन्यथाकर्तुं समर्थ प्रभु' कहा गया है अर्थात् असम्भव को भी संभव कर दिखाना—जैसे खम्भे में से नृसिंह अवतार। **कुण्ठिनी** कला से पंचमहाभूत या विषादि को प्रभावरहित किया जा सकता है, जैसे शिव ने विष प्रभाव कम करके ही हलाहल पान किया था। **विकासिनी** कला के द्वारा ही भगवान् वामन ने तीन पगों में समूचे ब्रह्माण्ड को नाप लिया था। **मर्यादिनी** कला के द्वारा श्रीराम सर्वशक्ति सम्पन्न होते हुए भी मर्यादाओं में बँधे रहे व मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाए।

संह्लादिनी कला से भगवान् कृष्ण ने अऋतु में फूल-फल आदि उत्पन्न करके प्रकृति के नियम में हस्तक्षेप कर दिया था। **आह्लादिनी** कला से ही राधिका ने नित्य कृष्ण जी के साथ रहकर उनका अनुरञ्जन किया था। **स्वरूपावस्थिति** कला के द्वारा सम्पूर्ण कलाओं को समेट कर अपने मूलरूप में अवस्थित हुआ जा सकता है, जैसे—द्वापर में श्री कृष्ण जी ने अपनी सभी कलाओं को समेटकर मूल रूप में धारण किया था, जिससे उन्हें पूर्ण अवतार माना जाता है।

उपर्युक्त कलाओं के अतिरिक्त अन्य भी लौकिक कलाएँ हैं, जैसे—वास्तुकला, चित्रकला, हस्तकला, काष्ठकला, स्थापत्यकला, वक्तृताकला, संगीतकला, नृत्यकला आदि।

८६. **कल्पान्त—** भारतीय कालगणना के क्रम में 'कल्प' का उल्लेख किया जाता है। यह एक बहुत लम्बी अवधि होती है। सृष्टि का कालचक्र चार युगों में विभक्त है। सतयुग (कृतयुग), त्रेतायुग, द्वापरयुग और कलियुग। इनमें सतयुग की अवधि १७,२८,००० वर्ष, त्रेतायुग की १२,९६,००० वर्ष, द्वापरयुग की ८,६४,००० वर्ष तथा कलियुग की अवधि ४,३२,००० वर्ष मानी गई है। चारों युगों की सम्मिलित अवधि ४३,२०,००० वर्ष को एक चतुर्युगी कहते हैं। इस प्रकार की एक सहस्र चतुर्युगी का ब्रह्माजी का एक दिन और इतनी ही बड़ी एक रात्रि होती है। एक हजार चतुर्युगी अथवा ब्रह्मा का एक दिन 'कल्प' कहलाता है। तदुपरान्त प्रलय की स्थिति आती है, जिसमें सब कुछ विनष्ट हो जाता है। इस अवधि को कल्पान्त कहते हैं। इस प्रकार कल्प का साधारण अर्थ हुआ सृष्टि रचना से लेकर उसके विनाश तक का समय। विद्वानों का कहना है कि अब तक ब्रह्माजी के ५० वर्ष बीत चुके हैं, ५१ वाँ वर्ष चल रहा है, जिसके तीन युग बीत चुके हैं, चौथा चल रहा है। युगों की काल-गणना के अनुसार एक कल्प की अवधि चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष मानी जाती है। एक अन्य मान्यता के अनुसार कलियुग की आयु १२०० वर्ष, द्वापर २४०० वर्ष, त्रेता की ३६०० वर्ष और सतयुग की आयु ४८०० वर्ष है। इस प्रकार एक चतुर्युगी १२००० वर्षों की हुई तथा ७१ चतुर्युगी का एक मन्वन्तर तथा १४ मन्वन्तरों का एक कल्प होता है। अस्तु, १४ मन्वन्तरों के समापन की अवधि कल्पान्त कहलाती है।

८७. **कामना— द्र०-ज्ञानखण्ड-षड्रिपु-षड्वर्ग।**

८८. **कुटीचक— द्र० - अवधूत।**

८९. **कुण्डलिनी—** भारतीय योग शास्त्रों में कुण्डलिनी महाशक्ति का बहुत महत्त्व है। कहते हैं कि यदि किसी साधक की कुण्डलिनी जाग जाये, तो वह सभी ऋद्धियों-सिद्धियों का स्वामी बन जाता है। तांत्रिक मतानुसार इसे परमेश्वर की वह पराशक्ति कहा गया है, जो प्रत्येक जीव के शरीर में प्रसुप्तावस्था में रहती है। यह मनुष्य देह में मेरुदण्ड से नीचे मूलाधार (गुदा और उपस्थ के मध्य स्थित चक्र) में कुण्डली मारकर सर्पिणी की तरह स्थित है, इसीलिए इसका नाम कुण्डलिनी पड़ा है। तन्त्रसार में इसे एक देवी माना गया है, जो षट्चक्रों के अन्तर्गत मूलाधार में सूक्ष्म रूप से निवास करती है। कुण्डलिनी के सन्दर्भ में उल्लेख है कि वह स्वयम्भू लिङ्ग में साढ़े तीन चक्कर लगाये देवी रूप (सर्पिणी रूप) में प्रतिष्ठित है। करोड़ों विद्युत्प्रभा के प्रकाश की तरह देदीप्यमान तथा उदीयमान सूर्य की कान्ति वाली उस कुण्डलिनी का ध्यान करते हुए साधक दृढ़ासन पर बैठकर श्वासोच्छ्वास प्रक्रिया (प्राणायाम) द्वारा प्राण मन्त्र (गायत्री मन्त्र) से उसे उठाकर (जाग्रत् करके) मन की एकाग्रता तथा सम्पूर्ण शुभ-शान्ति प्राप्त करते हैं-**ध्यायेत् कुण्डलिनीं सूक्ष्मां मूलाधारनिवासिनीम्। तामिष्टदेवतारूपां सार्द्धत्रिवलयान्विताम्॥ कोटिसौदामिनीभासां स्वयम्भूलिङ्गवेष्टिनीम्। तामुत्थाप्य महादेवीं प्राणमन्त्रेण साधकः॥ उद्यद्दिनकरोद्योतां .....चिन्तयेत्** (श०क० खण्ड २, पृ० १४०)।

विवेक मार्तण्ड में कुण्डलिनी शक्ति का स्वरूप इस प्रकार विवेचित है कि वह कुण्डलिनी देदीप्यमान सर्पाकार कमल नाल के समान शुभ प्रतिफल प्रदान करने वाली है, जो योगविद्या के जानकारों के लिए मोक्ष प्रदान करने वाली तथा इस विद्या से अनभिज्ञ व्यक्तियों के लिए बन्धन का कारण है। मानवी काया में कन्दस्थल (उपस्थ के ऊपर और नाभि से नीचे स्थित नाड़ियों का गुच्छक) के ऊपर अष्टप्रकृति वाली कुण्डलिनी शक्ति वलयाकार में ब्रह्मरंध्र के द्वार को अपने मुख से आच्छादित किए (रोके) हुए प्रसुप्तावस्था में है। साधक हठयोग, प्राण साधना द्वारा उस कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत् करके मानो मोक्ष प्राप्ति के द्वार ब्रह्मरंध्र में लगे ताले को ताली (चाभी) द्वारा खोलता है-**प्रस्फुरद् भुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा। मूढ्नां बन्धिनी सास्ति योगिनां मोक्षदायिनी॥ कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिरष्टधा कुटिलाकृतिः। ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति॥ येन मार्गेण .....मोक्षद्वारं प्रभेदयेत्** (वि०मार्त० ५२-५६)। जाबाल दर्शनोपनिषद् में कुण्डलिनी का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित है- **नाभिकन्दादधः स्थानं कुण्डल्या द्व्यङ्गुलं मुने। अष्टप्रकृतिरूपा सा कुण्डली मुनिसत्तम** (जा०दर्शनो० ४.११) अर्थात् नाभि स्थल से दो अंगुल नीचे अष्ट प्रकृति (पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार) से युक्त वह कुण्डलिनी शक्ति निवास करती है। कुण्डलिनी शक्ति के सन्दर्भ में महायोग विज्ञान में उल्लेख है कि जिसकी मूलाधार शक्ति प्रसुप्त है, उसका सारा संसार प्रसुप्त है; जिसकी कुण्डलिनी जगी, समझना चाहिए कि उसका भाग्योदय हो गया है। योगिनी तंत्र के अनुसार कुण्डलिनी के जागते ही अन्तराल में छिपा वैभव अनायास ही दृष्टिगोचर होने लगता है। कुण्डलिनी जाग्रत् कर लेने वाले साधक के लिए जगत् में कुछ भी असंभव नहीं।

१०. **कूटस्थ**— द्र०-ज्ञानखण्ड।

११. **कृच्छ्र चान्द्रायण**—कृच्छ्र शब्द का सामान्य अर्थ कष्टसाध्य या कठिनाई से प्राप्त होने वाला है। शारीरिक तप या प्रायश्चित्त के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है। चन्द्रमा की कलाओं के साथ जो कष्टसाध्य प्रायश्चित्त तप किया जाता है, उसे कृच्छ्र चान्द्रायण कहते हैं। प्रायश्चित्त के अतिरिक्त यह व्रत धर्म संचय के लिए भी किया जाता है। चान्द्रायण व्रत में चन्द्र कलाओं के बढ़ने एवं घटने के अनुरूप भोजन ग्रहण किया जाता है। प्राचीन काल से ही चान्द्रायण व्रत दो प्रकार से किए जाते हैं, यवमध्य (जौ के समान बीच में मोटा एवं दोनों छोरों में पतला) एवं पिपीलिका मध्य (चींटी के समान बीच में पतला एवं दोनों छोरों में मोटा) मनु० (११.२७), याज्ञ० स्मृ० (३.३२३), वसिष्ठ स्मृ०(२७.२१), बौधा० ध०सू०(४.५.१८) आदि में चान्द्रायण व्रत (यवमध्यप्रकार) की परिभाषा इस प्रकार दी है- मास के शुक्ल पक्ष से प्रथम दिन एक ग्रास (कौर) भोजन किया जाता है, दूसरी तिथि को दो ग्रास, तीसरी तिथि को तीन ग्रास और इसी प्रकार बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा के दिन १५ ग्रास भोजन ग्रहण किया जाता है। तत्पश्चात् कृष्ण पक्ष के प्रथम दिन १४ ग्रास, दूसरे दिन १३ ग्रास, इस प्रकार एक-एक ग्रास कम करते-करते कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को एक ग्रास खाया जाता है और अमावस्या के दिन निराहार रहकर पूर्ण उपवास किया जाता है।

दूसरी विधि (पिपीलिका मध्य) में यदि कोई कृष्ण पक्ष की प्रथम तिथि को व्रत आरम्भ करता है, तो वह एक-एक ग्रास कम करते हुए प्रथम दिन में केवल १४ ग्रास, फिर १३ ग्रास, फिर बारह ग्रास खाता है, इसी प्रकार ग्रासों में कमी करते हुए कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को केवल एक ग्रास खाता है तथा अमावस्या को एक ग्रास भी नहीं लेता। इसके उपरान्त शुक्ल पक्ष के प्रथम दिन एक ग्रास लेता है और इस प्रकार बढ़ाता-बढ़ाता पूर्णमासी के दिन १५ ग्रास खाता है। इस प्रकार ये दो प्रकार के कृच्छ्र चान्द्रायण व्रत होते हैं। कृच्छ्र चान्द्रायण के सन्दर्भ में आश्रमोपनिषद् में संन्यासियों की आचार संहिता के क्रम में हंस (संन्यासियों का एक प्रकार) के विषय में उल्लेख है कि वह एक दण्ड धारण करने वाले, शिखा विहीन, यज्ञोपवीतधारी, हाथ में शिक्य (छींका) और कमण्डलु धारण करने वाले, ग्राम व शहर में निर्धारित रात्रियों तक ही विश्राम करने वाले होते हैं। वे कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रत सम्पन्न करके आत्मा की प्रार्थना अर्थात् आत्म दर्शन का प्रयास करते हैं- **हंसा एक दण्डधराः शिखा वर्जिता ...कृच्छ्र चान्द्रायणादि चरन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते** (आश्रमो० ४)।

१२. **कैवल्य**— हिन्दी विश्वकोश में कैवल्य शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार विवेचित है- **कैवलस्य औपाधिक सुखदुःखादि रहितस्य चित्स्वरूपस्य भावः** अर्थात् उपाधि रूप सुख-दुःख रहित चैतन्य स्वरूप स्थिति कैवल्य है। जब व्यक्ति को विवेक का साक्षात्कार हो जाता है, तो अहंकार स्वतः ही मिट जाता है। फिर ऐसा नहीं लगता कि मैं कर्त्ता, सुखी व दुःखी हूँ। अहंकार विनष्ट हो जाने पर उसके कार्यरूप राग-द्वेष, धर्म और अधर्म आदि भी उत्पन्न नहीं हो सकते। प्रारब्ध कर्म धीरे-धीरे मिट जाते हैं और अविद्या न रहने से फिर नया संस्कार नहीं बनता तथा संस्कार के अभाव में पुनर्जन्म नहीं

होता। वर्तमान शरीर का अवसान होने पर आत्मा चित् स्वरूप में अवस्थित हो जाती है। इसी अवस्था को कैवल्य कहते हैं। पातञ्जल योग सूत्र के अनुसार पुरुषार्थ से शून्य हुए गुण, जब अपने कारण में विलीन हो जाते हैं, तब उस स्थिति को कैवल्य कहते हैं अथवा चिति-शक्ति का अपने वास्तविक स्वरूप (चैतन्य स्वरूप) में प्रतिष्ठित हो जाना ही कैवल्य है। व्यक्ति त्रिगुणातीत हो जाता है, उसकी यही स्थिति कैवल्य है- **पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति** (पातं० यो० सू० ४/३४)।

सांख्य दर्शन के अनुसार दुःख की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति ही कैवल्य है- **आत्यन्तिको दुःख त्रयाभावः कैवल्यम्**। हिन्दी विश्वकोश में वर्णित जैन मान्यता के अनुसार कैवल्य अवस्था मुक्ति से पूर्व होती है। **ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय**—ये चार कर्म विनष्ट हो जाने पर आत्मा का 'केवल' (विशुद्ध) ज्ञान प्राप्त होता है, तब समस्त पदार्थों के सभी पर्यायों को यह जीव जान जाता है (तत्त्वार्थ सूत्र टीका)।

अध्यात्मोपनिषद् (१६) में कैवल्यावस्था इन शब्दों में निरूपित है- **जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहोऽपि स केवलः। समाधिनिष्ठतामेत्य निर्विकल्पो भवानघ** अर्थात् जो जीवित स्थिति में ही कैवल्य-स्थिति (ब्रह्मनिष्ठा) प्राप्त कर चुका हो, वह विदेह (देहरहित) हो जाने पर ब्रह्मरूप हो जायेगा। इसलिए हे पापरहित! समाधिनिष्ठ होकर निर्विकल्प बनो। इस प्रकार जीवित रहते हुए समस्त संकल्प-विकल्पों एवं गुणों से रहित होकर केवल ब्रह्म में ही समाहित हो जाना (ब्रह्मनिष्ठ हो जाना) कैवल्यावस्था को प्राप्त कर लेना है।

९३. **क्षेत्रपाल**— तैंतीस कोटि देवों में क्षेत्रपाल देवता को भी परिगणित किया जाता है। सामान्यतः क्षेत्रपाल से तात्पर्य क्षेत्ररक्षक अथवा खेत का रखवाला होता है— **क्षेत्रं पालयति रक्षति** (हि०वि०को० खं० ५ पृ० ६२५)। प्रयोग सार में क्षेत्रपाल के ४९ भेद वर्णित हैं। जैसे-अजर, आपकुन्त, इन्द्रस्तुति, ईड़ाचार, उक्त, उन्माद और ऋषिसूदन आदि। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार-'क्षेत्रपाल शिव के अनुचर हैं।'

कार्तवीर्य को भी क्षेत्रपाल कहते हैं (मत्स्य पु० ४३.२७, वा०पु० ९४.२४)। शास्त्रों में यज्ञादि देव कार्यों में भी यज्ञ की रक्षार्थ क्षेत्रपालों को आवाहित करने का विधान है-**क्षेत्रपालान्नमस्यामि सर्वारिष्टनिवारकान्। अस्य यागस्य सिद्ध्यर्थं पूजयाराधितान् मया** (कर्म०भा०)। क्षेत्रपाल के तीन नेत्रों का उल्लेख मिलता है। इनका वर्ण नीलगिरि की तरह है। उनके मस्तक पर शुभ्र चन्द्र और सिर पर जटायें हैं। इनके चार हाथ हैं, जिनमें गदा, कपाल, रक्तवर्ण की पुष्पमाला और गन्धवस्त्र हैं। उनके कानों में सर्पकुण्डल हैं। क्षेत्रपाल की अर्चना से कान्ति, मेधा, बल, आरोग्य, तेज, पुष्टि, यश और सम्पत्ति आदि की वृद्धि होती है। समस्त प्रमुख पुण्य क्षेत्रों में एक-एक क्षेत्रपाल होते हैं, उनकी विधिवत् पूजा सम्पन्न होती है। कुमायूँ क्षेत्र में क्षेत्रपाल को कहीं भूमिया और कहीं स्वयम्भू कहते हैं।

९४. **खेचरी मुद्रा**— द्र०-मुद्रा।

९५. **गायत्र**— द्र०- ब्रह्मचारी।

९६. **गार्हपत्य**— द्र०- आहवनीय।

९७. **गुरु**— द्र०- ज्ञानखण्ड- गुरु-शिष्य।

९८. **गुरुकुल**— द्र०- ज्ञानखण्ड-गुरु-शिष्य।

९९. **गृहस्थ**— आश्रम धर्म के अनुसार चार आश्रमों में ब्रह्मचर्य के बाद दूसरा आश्रम गृहस्थ कहलाता है। लक्ष्य की दृष्टि से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से इस आश्रम में अर्थ और काम (कामनाओं) की प्राप्ति (पूर्ति) की जाती है। इसे भी २५ वर्ष का माना गया है। इसमें व्यक्ति घर में रहकर पत्नी समेत अपने कुटुम्ब का पालन-पोषण करता है। गरुड़ पुराण के अनुसार परिवार का नियमपूर्वक पालन-पोषण करता हुआ गृहस्थ साधक स्वाध्याय द्वारा ऋषि ऋण, यज्ञादि द्वारा देव ऋण और सन्तानोत्पादन (अथवा आश्रितों के परिपालन) द्वारा पितृऋण से मुक्त होता है।

गृहस्थों के चार भेद हैं- वार्ताकवृत्ति; शालीनवृत्ति, यायावर और घोर संन्यासिक। आश्रमोपनिषद् में इसका उल्लेख इन शब्दों में उपलब्ध है- **गृहस्था अपि चतुर्विधा भवन्ति वार्ताकवृत्तयः शालीनवृत्तयो यायावरा घोर-संन्यासिकाश्चेति।**

वार्ताकवृत्ति गृहस्थ वे कहलाते हैं, जो कृषि एवं पशुपालन आदि आनन्दित व्यापार करते हुए सौ वर्ष तक यज्ञादि (जीवन यज्ञ) करते हुए आत्म उपासना (जीवन देवता की साधना-आराधना) करते हैं-**तत्र वार्ताकवृत्तयः**

.....**आत्मानं प्रार्थयन्ते** (आश्रमो० २)। **शालीनवृत्तिगृहस्थ** उन्हें कहा जाता है, जो स्वयं तो यज्ञादि कृत्य सम्पन्न करते हैं; पर दूसरों की वह क्रिया सम्पन्न नहीं कराते। स्वयं तो अध्ययन करते हैं, पर कराते नहीं; इसी प्रकार स्वयं दान देते हैं, पर दूसरों से दान-दक्षिणा ग्रहण नहीं करते। इस प्रकार सौ वर्ष यज्ञादि सम्पन्न करते हुए आत्म साधना करते हैं। **यायावर गृहस्थ** वे हैं, जो स्वयं तो यज्ञादि करते ही हैं, दूसरों को भी कराते हैं; स्वयं भी अध्ययन करते हैं व दूसरों को भी तथा स्वयं (श्रेष्ठ कार्यों के निमित्त) दानादि ग्रहण करते हैं और लोकोपयोगी कार्यों के लिए दूसरों को भी दान देते हुए सौ वर्ष तक यज्ञीय जीवन जीकर आत्म प्रार्थना (आत्मा की साधना) करते हैं-**यायावरा यजन्तो याजयन्तोऽधीयाना नाध्यापयन्तो ददतो न प्रतिगृह्णन्तः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते** (आश्रमो०२)।

घोर संन्यासिक गृहस्थ उन्हें कहा जाता है, जो पवित्र जल द्वारा दैनिक कृत्य सम्पन्न करते हुए, उञ्छवृत्ति (खेतों में अवशिष्ट अनाज द्वारा आजीविका चलाना) अपनाकर अकिञ्चनवत् अपना निर्वाह करते हुए, सौ वर्ष तक यज्ञीय जीवन जीते हुए आत्म साधना करते हैं- **घोरसंन्यासिका उद्धृतपरिपूताभिरद्भिः कार्यं कुर्वन्तः प्रतिदिवसमाहृतोञ्छ-वृत्तिमुपयुञ्जानाः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते** (आश्रमो० २)। इस प्रकार स्थिति भेद से गृहस्थों के ये चार प्रकार होते हैं।

१००. घोर संन्यासिक— द्र०- गृहस्थ।

१०१. चतुर्दश भुवन— सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में चौदह भुवन माने गये हैं, जिन्हें चतुर्दश भुवन भी कहा गया है। संस्कृत हिन्दी कोश पृ० ७४५ में इसकी पुष्टि इन शब्दों में की गई है- **इह हि भुवनान्यन्ये धीराश्चतुर्दश भुञ्जते** (भर्तृ०३.२३)। चतुर्दश भुवन से तात्पर्य चौदह लोकों से है। चौदह लोकों में से सात लोक ऊपर हैं एवं सात लोक नीचे हैं। ऊपर के लोकों को ऊर्ध्व लोक अथवा स्वर्गलोक कहत्ते हैं। नीचे के लोकों को अधोलोक अथवा पाताल लोक कहते हैं। हि०वि० कोश में सात स्वर्ग अथवा ऊर्ध्वलोक इस प्रकार हैं- **भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्**। अधोलोक अर्थात् पाताल लोक इस प्रकार हैं- **अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल**।

भारतीय संस्कृति कोश के अनुसार अतल लोक वह है, जिसकी मिट्टी कृष्णवर्णा है तथा जहाँ मय दानव का पुत्र अपनी माया की सृष्टि रचते हुए निवास कर रहा है। वितल लोक में शंकर और पार्वती का निवास बताया गया है। सुतल लोक में राजा बलि रहते हैं, यहाँ की मिट्टी रक्तवर्णा है। तलातल लोक में दानवराज मय का निवास है, यहाँ की मिट्टी पीतवर्णा है। महातल लोक में काद्रवेय सर्पों का निवास स्थल है, जहाँ की मिट्टी मीठी बतायी जाती है। रसातल लोक में ऐसे दैत्य-दानव आदि निवास करते हैं, जो देवराज इन्द्र से भयभीत रहते हैं। यहाँ की मिट्टी पथरीली है। पाताल लोक वासुकि सहित विशालकाय सर्पों का निवास स्थल है, जहाँ की भूमि स्वर्णमयी है। इस प्रकार नीचे के ये सात लोक हैं।

उपनिषदों में इहलोक और परलोक दो ही लोक माने गये हैं, जबकि वेदादि में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक ये तीन लोक वर्णित हैं।

१०२. चरु— 'चरु' शब्द वैदिक काल से ही प्रचलित है। प्राचीन काल में यज्ञीय पदार्थों (हविष्यान्न) को निर्मित करने के पात्र विशेष के रूप में सम्भवतः कड़ाही के रूप में इसका प्रयोग किया जाता था। ऋग्वेद और अथर्ववेद में चरु का कई बार उल्लेख हुआ है। यथा-**स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपा वृधि। अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः** (ऋ० १.७.६)।

इस प्रकार अथर्ववेद में भी चरु का वर्णन इन शब्दों में संप्राप्य है- **उत्क्रामातः परि चेदतप्तस्तप्ताच्चरोरधि नाकं तृतीयम्** (अथर्व० ९.५.६)। पात्र विशेष के रूप में 'चरु' शब्द का इतना प्रयोग हुआ कि बाद में उसमें पकाये जाने वाले हविष्यान्न को ही 'चरु' कहने लगे और हविष्यान्न के अर्थ में ही चरु शब्द रूढ़ हो गया। इसीलिए हिन्दी विश्वकोश में इस शब्द की व्युत्पत्ति में लिखा है-**चर्यते भक्ष्यतेऽग्न्यादिभिः। यद्वा चरति होमादिकम्** अर्थात् हव्यान्न अथवा होम के लिए पाक किया जाने वाला अन्न। चरु (विशिष्ट प्रकार का हविष्यान्न), जिसमें तण्डुल (चावल) की प्रमुखता रहती है, के निर्माण की विधि बहुत लम्बी है. जिसका सम्पूर्ण उल्लेख स्थानाभाव के कारण यहाँ सम्भव नहीं है। इसे कात्यायन श्रौत सूत्र ४.१.६.७ में देखा जा सकता है। 'श्रौत पदार्थ निर्वचनम्' नामक ग्रन्थ में भी चरु का उल्लेख पक्व तण्डुल के रूप में मिलता है- **ते च परिपक्वास्तण्डुलाः चरुपदवाच्याः** (श्रौ०प०नि० पृ० १९)। उपनिषद् ग्रन्थों में भी चरु का वर्णन आया है। कठरुद्रोपनिषद् के संन्यास प्रकरण में चरु का उल्लेख द्रष्टव्य है- **द्वादशरात्रस्यान्तेऽग्नये वैश्वानराय प्रजापतये च प्राजापत्यं चरुं, वैष्णवं त्रिकपालं अग्निम्** (कठरुद्रो० ३)।

१०३. चातुर्मास्य— द्र०-ज्ञानखण्ड -चातुर्मास्य-आग्रयण।

१०४. चान्द्रायण व्रत—द्र०- कृच्छ्र चान्द्रायण।

१०५. चित्त शुद्धि— द्र०-ज्ञानखण्ड -चित्त।

१०६. चिदात्मा— द्र०-चिद्घन।

१०७. चिदानन्द— द्र०-चिद्घन।

१०८. चिद्घन—परमात्मा को सत्, चित् और आनन्दस्वरूप कहते हैं। तीन तत्त्वों सत् (सत्य), चित् (चैतन्यता) और आनन्द (परम सुख-आन्तरिक सुख) की सघनता के कारण ही उसे सद्घन, चिद्घन और आनन्दघन कहते हैं। इसीलिए उपर्युक्त गुणों से युक्त ईश्वर को समस्तपद के रूप में सच्चिदानन्दघन कहते हैं। अध्यात्मोपनिषद् में इसी तथ्य का उल्लेख इन शब्दों में है-**परिपूर्णमनाद्यन्तमप्रमेय..... विक्रियम्। सद्घनं चिद्घनं नित्यमानन्दघनम० ययम्** (अध्यात्मो० ६१) अर्थात् उस परब्रह्म को परिपूर्ण, आदि और अन्त से रहित, परिमाप रहित, विकार शून्य, सन्मय (सद्घन,) चिन्मय (चिद्घन), नित्य आनन्दमय (नित्य और आनन्दघन) तथा अविनाशी कहा गया है। कई अन्य विशेषताओं के कारण उस परमात्मा के और भी कई नाम हैं। जैसे- चैतन्य स्वरूप होने के कारण उसे चिदात्मा कहते हैं, जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है- **चित् चैतन्यमात्मा स्वरूपमस्य** (हि०वि०को०ख०६, पृ० ३९१) अर्थात् चैतन्य स्वरूप परब्रह्म ही चिदात्मा है। चैतन्य रूप होने से ही उसे चैतन्य व चिद्रूप भी कहते हैं। चैतन्य और आनन्द स्वरूप होने से उसे ही चिदानन्द कहते हैं। चित् शब्द में मयट् प्रत्यय लगने से उस परमेश्वर को चिन्मय अर्थात् ज्ञानमय कहते हैं। निर्दोष, माया से रहित और विकाररहित होने के कारण उस ब्रह्म को ही निरञ्जन तथा निर्विकार कहते हैं— **निरञ्जनो निर्विकार: .....नास्ति** (आत्मो० १-घ)। कलाओं से रहित अथवा कलातीत होने के कारण उस ईश्वर को ही निष्कल कहते हैं—**तेनेदं निष्कलं .....पञ्चभि: (ब्रह्मविद्यो० १७)**। श्रेष्ठ (परम) पुरुष होने के कारण उस ब्रह्म को ही परम अथवा पुरुषोत्तम भी कहते हैं। ज्योतिस्वरूप होने के कारण उसे ही परम-ज्योति कहते हैं। प्राचीनतम होने के कारण उस ईश्वर को ही पुराण पुरुष तथा सम्पूर्ण सृष्टि का मूल तत्त्व होने से उसे ही परम तत्त्व कहते हैं। इसी तरह सबसे परे अथवा परे से भी परे होने के कारण उस परब्रह्म का एक नाम 'परात्पर' भी है। परमात्मा के उपर्युक्त गुणों का निरन्तर चिन्तन करते रहकर सतत आनन्दित रहने वाले परमात्म भाव में स्थित रहते हैं। इस प्रकार उस एक ही परब्रह्म के ये अनेक नाम हैं।

१०९. चिन्मय— द्र०-चिद्घन।

११०. चैतन्य— द्र०-चिद्घन।

१११. जगत्— द्र०-ज्ञानखण्ड।

११२. जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति— द्र०-ज्ञानखण्ड।

११३. जालन्धर बन्ध— द्र०-बन्ध।

११४. जितेन्द्रिय — धर्म पथगामी मुमुक्षु के लिए जितेन्द्रिय होना आवश्यक है। जितेन्द्रिय का सामान्य अर्थ है-इन्द्रियों को जीत लेने वाला अथवा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेने वाला। प्रख्यात संस्कृत कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् में जितेन्द्रिय इन शब्दों में परिभाषित है-**जितानि वशीकृतानीन्द्रियाणि येन** अर्थात् जिसके द्वारा समस्त इन्द्रियाँ वश में कर ली गईं या जीत ली गई हैं, वह जितेन्द्रिय है। महाराज मनु ने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा है-**श्रुत्वा स्पृष्ट्वाथ दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नर:। न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रिय:** (वाच०पृ० ३१२०)। इसका अभिप्राय है, किसी भी प्रकार का विषय सुनकर, कुछ भी स्पर्श करके, कुछ भी देखकर, कुछ भी भक्षण करके तथा कुछ भी सूँघ कर जो व्यक्ति न तो हर्षित होता है और न ही ग्लानि अनुभव करता है, उसे ही जितेन्द्रिय जानना चाहिए। महर्षि पतञ्जलि के योग दर्शन में इस विषय में उल्लेख है कि आत्म शुद्धि हो जाने पर सत्त्वगुण प्रकट होता है, तब रजोगुण और तमोगुण नहीं आ सकते। कारण-कार्य न्याय से चित्त शुद्धि हो जाने पर रज और तम सत्त्वगुण से प्रभावित हो जाते हैं, जिससे वे चित्त में चञ्चलता उत्पन्न करने रूप कार्य को नहीं कर पाते; वरन् सत्त्वगुण की सहायता करके हर विषय में अनासक्ति पैदा कर देते हैं, जिससे न किसी से राग होता है, न द्वेष या क्षोभ। निश्चित विषय (ईश्वर) में चित्त अनुरक्त होने के कारण अन्य विषयों (श्रोत्रादि इन्द्रियों के विषयों) में मन नहीं रमता, जिससे इन्द्रियाँ पराजित हो जाती हैं। इस जितेन्द्रिय स्थिति के प्राप्त हो जाने पर आत्म दर्शन और मोक्ष का पथ प्रशस्त होता है। नारद परिव्राजकोपनिषद् (३.३८) में भी उपर्युक्त मनु कथित

श्लोक की तरह ही कुछ पाठ भेद से जितेन्द्रिय की परिभाषा उल्लिखित है- **श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा च ... जितेन्द्रियः**।

११५. **ज्ञान-वैराग्य-संन्यासी**- द्र०-अवधूत।

११६. **ज्ञान-संन्यासी**-द्र०-अवधूत।

११७. **ज्ञानाग्नि**—ज्ञान और अग्नि दो शब्दों का समस्त पद ज्ञानाग्नि है, जिसका सामान्य अर्थ है-ज्ञान की अग्नि अथवा ज्ञानरूपी अग्नि। जिस प्रकार अग्नि का कार्य जलाकर भस्म कर देना है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि अज्ञान जनित विकारों को जलाकर भस्म कर देती है। श्रीमद्भगवद्गीता में उल्लेख है कि जिसके सभी कार्य कामना और संकल्प से रहित हो जाते हैं, उसके सभी कर्म (प्रारब्ध कर्म) ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाते हैं। ऐसे उस पुरुष को ज्ञानीजन पण्डित कहते हैं- **यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः** (गी० ४.१९)।

वेदान्त दर्शन में जीवन्मुक्त की स्थिति के सन्दर्भ में विवेचन है कि ज्ञानरूप ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर अज्ञान और अज्ञान द्वारा संचित कर्म—संशय, विपर्यय आदि बाधित हो जाते हैं, जिससे व्यक्ति समस्त बन्धनों से रहित होकर जीवन्मुक्त हो जाता है—**अथ जीवन्मुक्तलक्षणमुच्यते। जीवन्मुक्तो नाम स्वरूपाखण्ड ब्रह्मज्ञानेन.....साक्षात्कृतेऽज्ञानतत्कार्य सञ्चित कर्मसंशयविपर्ययादीनामपि बाधितत्वादखिल बन्धरहितो ब्रह्मनिष्ठः** (वे०सा० खं०-३४)। मुण्डक उपनिषद् में भी ब्रह्मज्ञानरूप ज्ञानाग्नि द्वारा कर्मों के विनष्ट होने तथा हृदयग्रन्थि के खुल जाने से समस्त संशयों के विनष्ट होने का वर्णन है-**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे** (मुण्डको० २.२.८)।

ब्रह्मविद्योपनिषद् में ज्ञानाग्नि को ध्रुवाग्नि भी कहा गया है; क्योंकि ध्रुव (स्थिर) ज्ञानरूपी अग्नि का प्राकट्य हो जाने के बाद अज्ञान जनित समस्त विकार विनष्ट हो जाते हैं। स्व अज्ञान एवं उसके कार्यरूप प्रपञ्च के रूई के समान पर्वत (अम्बर) को जला देने में ज्ञानाग्नि ही सक्षम है, इसलिए इसे ध्रुवाग्नि कहा गया है-**स्वाज्ञान तत्कार्य स्वातिरिक्त प्रपञ्चतूलाचलभस्मीकरणपटुत्वात् ध्रुवाग्निः .....प्रचक्षते** (ब्रह्मविद्यो० १ ब्रह्म० भा०)।

११८. **ज्ञानेन्द्रियाँ**— द्र०-ज्ञानखण्ड—अन्तःकरण-चतुष्टय।

११९. **तत्त्वमसि**— द्र०-ज्ञानखण्ड -महावाक्य।

१२०. **तप**— द्र०-ज्ञानखण्ड -नियम।

१२१. **तारक ब्रह्म-तारक मन्त्र**— उपनिषदों में तारक ब्रह्म और तारक मंत्र की महत्ता प्रतिपादित की गई है। अथर्वशिखोपनिषद् में तारक को इन शब्दों में परिभाषित किया गया है- **.....सर्वेभ्यो दुःखभयेभ्यः संतारयतीति तारणात्तारः** (अथर्वशिख० २.१) अर्थात् जो समस्त दुःखों और भयों से मुक्त कर दे, वही तारक है। इसी प्रकार अथर्वशिर उपनिषद् में तारक का अर्थ किया गया है कि जिसके (ज़िस तारक मंत्र के) उच्चारण करने से ही गर्भ, जन्म, जरा-मरण एवं संसार के महाभयों से मुक्ति मिल जाती है, वह तारक ब्रह्म या तारक मंत्र है- **अथ कस्मादुच्यते तारं यस्मादुच्चार्यमाण एव गर्भजन्मजरामरणसंसारमहाभयात् संतारयति तस्मादुच्यते तारम्** (अथर्वशिर० ४९)। अद्वयतारकोपनिषद् में तो तारक का विस्तार से वर्णन किया गया है। उसमें भी तारक ब्रह्म का स्वरूप इसी प्रकार विवेचित है-**गर्भजन्मजरा-मरणसंसारमहद्भयात् संतारयति तस्मात्तारकमिति** (अद्वयता० ३)। उपनिषद्कार ने तारक योग का स्वरूप इस प्रकार बताया है कि नेत्र बन्द अथवा अर्धोन्मीलित रखकर भ्रूमध्य के ऊपरी स्थान में अन्तर्दृष्टि से इस प्रकार का भाव करे कि मैं चैतन्य स्वरूप हूँ। इस प्रकार का ध्यान करते रहकर सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने वाला तद्रूप (तारक रूप) हो जाता है-**योगी स्वान्तः .....ब्रह्माहमस्मीत्यालोकयन् तद्रूपः तारकरूपो भवति** (अद्वयता० २ ब्रह्म० भा०)। तारक ब्रह्म को प्रत्यगात्मा माना गया है- **.....संसारतारकत्वात् तारकं प्रत्यगात्मेत्यर्थः** (अद्वयता० ३ ब्रह्म० भा०) हिन्दी विश्वकोश में षडक्षर मंत्र को तारक मंत्र बताया गया है, जिसमें श्रीराम को इसका अधिष्ठाता माना गया है, यह षडक्षर मंत्र 'ॐ रामाय नमः' है। उपनिषदों (रामोत्तरतापनीयोपनिषद् २.३, अथर्वशिर० ४४ आदि) में 'ॐ कार' को भी तारक ब्रह्म—तारक मन्त्र कहा गया है।

१२२. **तुरीयातीत**— द्र०-ज्ञानखण्ड—अवधूत।

१२३. **तुरीयावस्था**— द्र०-ज्ञानखण्ड-तुरीय-तुरीयातीत।

१२४. **तुर्यावस्था**— द्र०-ज्ञानखण्ड -तुरीय-तुरीयातीत।

१२५. तैजस— द्र०-ज्ञानखण्ड ।

१२६. त्रय शरीर— द्र०-ज्ञानखण्ड।

१२७. त्रिगुणातीत-निर्गुण — द्र०-ज्ञानखण्ड—निर्गुण-सगुण।

१२८. त्रिदण्ड-त्रिपुण्ड्र— संन्यासाश्रम में अनेक प्रकार के संन्यासी होते हैं। उनकी कई शाखाएँ हैं, जिनके अनुसार उनके चिह्न भी पृथक्-पृथक् होते हैं। जैसे कुछ संन्यासी एक दण्ड और कुछ त्रिदण्ड धारण करते हैं। इसी प्रकार कुछ त्रिपुण्ड्र, कुछ ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करते हैं। प्रख्यात संस्कृत शब्दकोश 'शब्द कल्पद्रुम' में त्रिदण्ड के सम्बन्ध में उल्लेख है- **'त्रिदण्डं चतुरङ्गुलगोबालवेष्टनादन्योन्यसम्बन्धं अस्त्यस्येति'** (श०क०खं० २ पृ० ६५६) अर्थात् त्रिदण्ड यतियों का वह चिह्न है, जिसमें चार-चार अङ्गुल के तीन दण्ड एक दूसरे में बँधे रहते हैं। यह तो त्रिदण्ड का स्थूल स्वरूप हुआ। इसके धारण करने के मूल में भाव यह है कि त्रिदण्डधारी-त्रिदण्डी यतियों के कायदण्ड, मनोदण्ड और वाग्दण्ड बुद्धि में स्थापित रहते हैं अर्थात् वे (त्रिदण्डी) ज्ञानशक्ति से मन, वचन और कर्म को नियन्त्रित रखते हैं- **वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च। यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते** (श०क० खं०२, पृ० ६५६)। हिन्दूधर्म कोश के अनुसार त्रिदण्डी संन्यासी श्री वैष्णव संन्यासी कहे जाते हैं, जो शैव दशनामी संन्यासियों से भिन्न हैं। इनमें केवल ब्राह्मण वर्णोत्पन्न ही ग्रहण किए जाते हैं, वे ही त्रिदण्ड धारण कर सकते हैं। नारद परिव्राजकोपनिषद् में उपनिषद्कार ने यतिचर्या का विवेचन करते हुए लिखा है कि यति को सतत सर्वभूतहितरत रहते हुए शान्त, त्रिदण्डी तथा कमण्डलुधारी होकर आत्मा में रमण करते हुए परिव्रज्या करनी चाहिए और एकाकी ही विचरण करना चाहिए, उसे मात्र भिक्षा के लिए ही ग्राम में प्रवेश करना चाहिए, अन्य कार्यों के लिए नहीं- **सर्वभूतहितः शान्तस्त्रिदण्डी सकमण्डलुः। एकारामः परिव्रज्य भिक्षार्थं ग्राममाविशेत्** (ना०परि०३.५५)। काया, मन और वाणी को नियन्त्रित रखने वाले त्रिदण्डी को महायति की संज्ञा देते हुए उपनिषद् भाष्यकार ब्रह्मयोगी ने श्रुति का एक श्लोक उद्धृत किया है-**वाग्दण्डः कायदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः। यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी महायतिः** (ना०परि० ३.५४.६२ ब्रह्म० भा०)। शैव सम्प्रदाय का धार्मिक चिह्न त्रिपुण्ड्र है, जो भृकुटी (भौंहों) के ऊपर मस्तक के एक सिरे से दूसरे तक भस्म की तीन आड़ी रेखाओं के द्वारा अंकित किया जाता है। हिन्दी विश्वकोश में त्रिपुण्ड्र शब्द का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है- **त्रयाणां पुण्ड्राणां इक्षुवदाकाराणां समाहारः** अर्थात् ईख के आकार की तीन रेखाओं का समुच्चय त्रिपुण्ड्र है। इसे ललाट के अतिरिक्त वक्षस्थल, भुजाओं एवं अन्य अंगों पर भी अंकित किया जाता है। नारद परिव्राजकोपनिषद् में बहूदक संन्यासी के लक्षण के सन्दर्भ में त्रिपुण्ड्र का उल्लेख किया गया है-**बहूदकः शिखादि कन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी .....कबलाशी** (ना०परि० ५.१३)। रामानन्दी वैष्णव सम्प्रदाय के सन्तों के ऊर्ध्व पुण्ड्र (मस्तक पर ऊपर की ओर खड़ी रेखा) धारण करने का विधान भी कुछ ग्रन्थों में मिलता है। कुटीचक के लक्षण में भी श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र और त्रिदण्ड धारण करने का उल्लेख है-**एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः** (ना०परि०५.१२)।

१२९. त्रिपाद् ब्रह्म— ब्रह्म की अनेक संज्ञाओं में एक संज्ञा त्रिपाद् ब्रह्म भी है। वेदों, उपनिषदों और पुराणों में सभी जगह त्रिपाद् ब्रह्म का उल्लेख मिलता है। शब्द कल्पद्रुम के अनुसार इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है-"**त्रयः पादा अस्य संख्या सुपूर्व्वस्य।**" जिसके पैरों (पादों या चरणों) की संख्या तीन हो, वह अर्थात् विष्णु भगवान्। पुराणों में उल्लेख है कि एक बार भगवान् विष्णु ने वामन रूप धारण करके राजा बलि से तीन पग भूमि की याचना की, बलि ने वह देना स्वीकार कर लिया, तब वामन ने अपना मूल स्वरूप (विराट् स्वरूप) दिखाया। बलि को ऐसा अनुभव हुआ कि पृथिवी उनके (विराट् भगवान् के) पाददय, अन्तरिक्ष मस्तक, सूर्य और चन्द्र दोनों नेत्र हैं आदि। इसे देखकर वे सम्मोहित हो गये। उस समय भगवान् के एक पाद से बलि की समस्त भूमि (पृथिवी), शरीर से आकाश, भुजाओं से समस्त दिशाएँ छा गईं। उनके दूसरे पाद में स्वर्ग के सभी लोक आ गये, परन्तु तीसरा पाद रखने की जगह शेष न बचने पर उनने उसे स्वर्ग लोक से लेकर मर्त्यलोक, जनः लोक, तपःलोक और सत्यलोक में विस्तारित किया। श्रीमद्भागवत में यह प्रकरण इस प्रकार विवेचित है— "**क्षितिं पदैकेन बलेर्विचक्रमे, नभः शरीरेण दिशश्च बाहुभिः। पदं द्वितीयं क्रमतस्त्रिविष्टपं, न वै तृतीयाय तदीयमण्वपि। उरुक्रमस्याङ्घ्रिरुपरुपर्य्यथो, महर्जनाभ्यां तपसः परं गतः**" (भा० ८.२०.३३-३४)। वेद के मत में संसाररहित ब्रह्मस्वरूप पुरुष ही त्रिपाद् ब्रह्म है। उस ब्रह्मरूप पुरुष (त्रिपाद् ब्रह्म) के सन्दर्भ में ऋग्वेद के पुरुषसूक्त के ऋषि नारायण द्वारा दृष्ट एक ऋचा में तीन पादों का वर्णन इस प्रकार है—**त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः। ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि** (ऋ० १०.९०.४) अर्थात् ऊपर (दिव्यलोक में)

जिसके तीन चरण हैं, उस विराट् पुरुष के एक भाग-से यह जगत् पुन: प्रकट हुआ। इसके पश्चात् उसने (विराट् पुरुष ने) अन्नभोजी (प्राणियों) तथा अन्न न खाने वाले (वनस्पति आदि) को संव्याप्त किया। परब्रह्मोपनिषद् में भी जीव के, हृदयाकाश में 'रमा' आदि तीनों नाड़ियों के आश्रय से जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओं तथा बन्ध-मोक्ष आदि की अवस्था में विचरण करने एवं उस जीव का त्रिपाद् ब्रह्म ही शेष रहने का उल्लेख किया गया है—**सर्वत्र हिरण्मये परे .....तस्य त्रिपादं ब्रह्म एषात्रेष्य ततोऽनु तिष्ठति** (परब्रह्मो०२)।

१३०. **त्रिपुटी**— त्रिपुटी शब्द का उल्लेख प्राय: सभी कोशग्रन्थों में मिलता है। प्रख्यात कोशग्रन्थ हिन्दी विश्वकोश में त्रिपुटी इस प्रकार व्याख्यायित है- **त्रीणि पुटानि सन्त्यस्या:** अर्थात् जिसमें तीन पुट हों वह त्रिपुटी कहलाती है। त्रिवृता, निसोथ, सूक्ष्मैला (छोटी इलायची) आदि के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है। दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों पुटों का समाहार त्रिपुटी कहलाता है- **.....त्रयाणां ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपाणां पुटानामाकाराणां समाहार:। .....भूतोत्पत्ते: पुरा भूमा त्रिपुटीद्वैतवर्जनात्। ज्ञातृज्ञानज्ञेयरूपा त्रिपुटी प्रलये हि नो** (श०क० खं०२, पृ०६५९)। बृहत् हिन्दी कोश के अनुसार ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय के अतिरिक्त ध्याता, ध्यान, ध्येय और द्रष्टा, दृश्य तथा दर्शन का समाहार भी त्रिपुटी कहलाता है। मंडलब्राह्मण उपनिषद् में भी त्रिपुटी का उल्लेख हुआ है- **एवं त्रिपुट्यां निरस्तायां निस्तरङ्ग समुद्रवन्निवातस्थित दीपवदचल संपूर्णभावाभावविहीन कैवल्य ज्योतिर्भवति** (मं० ब्रा०उ० २.३.१) अर्थात् कैवल्यावस्था प्राप्त साधक की जब ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप त्रिपुटी निरस्त हो जाती है, तब लहररहित सागर और वायुरहित स्थल में रखे दीप के समान वह स्थिर हो जाता है तथा सम्पूर्ण भाव और अभावों से रहित होकर केवल ज्योति रूप अवशिष्ट रहता है।

१३१. **त्रिष्टुप्**—द्र०-अनुष्टुप्।

१३२. **त्रैधातवी इष्टि**—द्र०-आग्नेयी इष्टि।

१३३. **त्र्यम्बक**— त्र्यम्बक देव का उल्लेख वैदिक काल से ही मिलता है। कोशग्रन्थों के अनुसार त्र्यम्बक शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है-**त्रीणि अम्बकानि, नयनान्यस्य, त्रयाणां लोकानां अम्बक: पितेति वा** (वाच०पृ० ३३९६) अर्थात् तीन नेत्रों वाले भगवान् शिव या तीनों लोकों के पिता भगवान् रुद्र ही त्र्यम्बक हैं। त्रिदेवों (ब्रह्मा, विष्णु और महेश) में महेश या महादेव को रुद्र भी कहा जाता है; क्योंकि वे सृष्टि के संहारक हैं। रुद्र शब्द की व्युत्पत्ति से उनका रुद्र नाम और भी सार्थक हो जाता है-**रुद्रो रौतीति सतो, रोरूयमाणो द्रवतीति वा। रोदयतेर्वा** (नि० १.१.५) अर्थात् वे (संहार करके) रुलाते हैं अथवा जीवों को कठोर दण्ड प्रदान करके रोने को विवश करते हैं, इसलिए ही वे रुद्र कहलाते हैं। रुद्रों की संख्या ग्यारह मानी गई है। एकादश रुद्रों में से एक का नाम त्र्यम्बक है। यजुर्वेद ३.६० में त्र्यम्बक देव की स्तुति इस प्रकार की गई है- **त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टि वर्धनम्, उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्।** शिवजी को महेश या महेश्वर भी कहते हैं। महेश्वर का अर्थ है, महान् ईश्वर। हिन्दी विश्वकोश खं० १७ पृ०२९१ में इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है-**महांश्चासावीश्वरश्च कर्त्तुमकर्तुमन्यथाकर्त्तुं वा समर्थ: यद्वा महत्या महामायया ईश्वर: शिव, महादेव।** ब्रह्मवै० पु० २.५.६.६७ में उल्लेख है- **विश्वस्थानाञ्च सर्वेषां महतामीश्वर: स्वयम्। महेश्वरञ्च तेनेमं प्रवदन्ति मनीषिण:॥** इसी प्रकार उपनिषद् में भी रुद्र को ही परब्रह्म, ईशान, महादेव और महेश्वर उपन्यस्त किया गया है-**तत् परंब्रह्मेति स एक: स एको रुद्र: स ईशान: स भगवान् स महेश्वर: स महादेव:** (अथर्वशिर०३)। ज्ञानाकांक्षी भक्तों को ज्ञान प्रदान करने, समस्त भावों का परित्याग कर आत्मज्ञान और योगैश्वर्य से अपनी महिमा में ही स्थित रहने के कारण इन्हें महेश्वर कहा गया है-**.....योगैश्वर्येण महति महीयते तस्मादुच्यते भगवान्महेश्वर:** (अथर्वशिर०-४)।
नोट- त्र्यम्बक के स्थान पर पाठ भेद से कुछ ग्रन्थों में त्रयम्बक अथवा त्रियम्बक शब्द भी मिलता है।

१३४. **दक्षिणाग्नि**—द्र०-आहवनीय।

१३५. **दक्षिणायन**—द्र०- उत्तरायण।

१३६. **दर्शयज्ञ**—आर्ष ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार के यज्ञों का उल्लेख है, जैसे राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध यज्ञ आदि। दर्श और पौर्णमास यागों (यज्ञों) का नामकरण इनके समय की स्थिति के अनुसार किया गया है। वाचस्पत्यम् में दर्श को इस प्रकार परिभाषित किया गया है-**दृश्येते शास्त्रदृष्ट्या सूर्य्यचन्द्रौ एकत्र स्थितौ यत्र। .....सूर्य्येन्दु सङ्गमकाले अमावास्या तिथौ 'एकत्रस्थौ चन्द्रसूर्य्यौ दर्शनात् दर्श उच्यते** (वाच०पृ० ३४७३) अर्थात् जिस तिथि को चन्द्र और सूर्यदेव एक ही

स्थान पर एकत्र हुए दृष्टिगोचर होते हैं, उस तिथि को अमावस्या कहते हैं। चन्द्रमा और सूर्य के एक स्थान पर दृश्यमान होने के कारण इस अमावस्या तिथि को ही दर्श कहते हैं एवं इस तिथि में सम्पन्न होने वाले यज्ञ को दर्शयज्ञ कहते हैं। इसी प्रकार जिस दिन चन्द्र पूर्ण कलायुक्त दिखाई देता है, उसे पूर्णिमा तिथि कहते हैं- **पूर्ण: कलाभि: पूर्णोमाश्चन्द्रमा यत्र। पूर्णिमायाम्** (वाच० पृ० ४४०२)। पूर्णिमा को सम्पन्न किये जाने वाले यज्ञ को पूर्णमास या पौर्णमास यज्ञ कहते हैं। श्रुतियों में भी प्रतिपक्ष दर्श और पूर्णमास यज्ञ सम्पन्न करने का वर्णन मिलता है,**'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत', 'सर्वेभ्यो दर्श पूर्णमासौ श्रुति:'** (वाच०पृ० ४४०२)। इसीलिए इन्हें श्रौतयाग कहा जाता है। दर्शपौर्णमास याग (यज्ञ) क्रमश: पूर्णिमा और अमावस्या को किये जाते हैं। समस्त कामनाओं की सिद्धि हेतु अग्निहोत्री इन अनुष्ठानों को प्रतिपक्ष करते रहते हैं- **सर्वेभ्य: कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ** (आप०श्रौ०सू० ३.१४.९)। दर्श और पौर्णमास में प्रमुखता पौर्णमास याग की ही है, इसी कारण पूर्णिमा को अग्नि परिग्रह के पश्चात् प्रथम पूर्णिमा आने पर ही पौर्णमास यागानुष्ठान प्रारम्भ होता है। अग्नि परिग्रह अमावस्या और पूर्णिमा दोनों को ही किया जा सकता है। यदि अमावस्या को अग्नि परिग्रह किया गया हो, तो पूर्णमासी आने तक प्रतीक्षा करने के बाद ही याग अनुष्ठान प्रारम्भ होता है। श्रौत ग्रन्थों में अग्निहोत्री को दर्श और पौर्णमास याग का अनुष्ठान सम्पूर्ण जीवन अथवा तीस वर्ष तक अथवा शारीरिक सामर्थ्य रहने तक करने का विधान है- **त्रिंशतवर्षाणि दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत** (का०श्रौ०सू० ४.२.४७)। **यावज्जीवं दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत।.....त्रिंशतं वा वर्षाणि जीर्णो वा विरमेत्** (आप०श्रौ०सू० ३.१४.१२-१३)। कठरुद्रोपनिषद् में उच्चस्थिति के संन्यासी की स्थिति बताते हुए उपनिषद्कार ने कहा है कि उसके द्वारा अमावस्या को किया गया भोजन ही उसका दर्शयज्ञ तथा पूर्णिमा को किया गया भोजन ही उसका पौर्णमास यज्ञ है-**यद्दर्शे तद्दर्शं यत्पौर्णमास्ये तत्पौर्णमास्यं .....वापयेत्सोऽस्याग्निष्टोम:** (कठरुद्रो० ३)। दर्श और पौर्णमास यज्ञ को दर्शेष्टि और पौर्णमासेष्टि भी कहते हैं।

१३७. दहर पुण्डरीक— द्र०- अष्टदल कमल।

१३८. दीक्षा— भारतीय संस्कृति में जीवन की सफलता तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिए दीक्षा अति आवश्यक मानी गयी है। हिन्दी विश्वकोश में दीक्षा शब्द की रचना इस प्रकार वर्णित है- **दक्षी भावे अ स्त्रियां टाप्।** इसके कई अर्थ हैं, जैसे नियम-संकल्प पूर्वक अनुष्ठान, अभीष्ट देवमन्त्र ग्रहण, यजन, पूजन, व्रत-संग्रह, उपनयन संस्कार आदि। उपनयन संस्कार में भी गुरु या आचार्य यज्ञोपवीत प्रदान करते समय शिष्य को गायत्री मंत्र की दीक्षा प्रदान करते हैं। तन्त्र ग्रन्थों में दीक्षा का विस्तार से वर्णन हुआ है। एक तन्त्र ग्रन्थ के अनुसार दीक्षा को इस प्रकार परिभाषित किया गया है- **दीयते विमलं ज्ञानं क्षीयते कर्मवासना। तेन दीक्षेति सा प्रोक्ता मुनिभिस्तन्त्रवेदिभि:** (वाच०पृ० ३६००) अर्थात् जो विमल ज्ञान देकर कर्म वासना का क्षय कर देती है, उसे तन्त्रज्ञ मुनियों द्वारा दीक्षा कहा गया है। प्रख्यात तन्त्र ग्रन्थ रुद्रयामल में दीक्षा की परिभाषा इस प्रकार दी गई है-**ददाति शिवतादात्म्यं क्षिणोति च मलत्रयम्। अतो दीक्षेति संप्रोक्ता दीक्षा तन्त्रार्थवेदिभि:** (वाच०पृ० ३६०२) अर्थात् जिससे शिव (कल्याणकारी) से तादात्म्य प्राप्त होता है तथा मलत्रय (लोभ, मोह, अहंकार) का प्रक्षालन होता है, उसे तन्त्रज्ञों ने दीक्षा कहा है। योगिनी तन्त्र तृतीय भाग के षष्ठ पटल में भी दीक्षा की महत्ता बताते हुए तन्त्रकार ने लिखा है-**दीयते ज्ञानमत्यर्थं क्षीयते पाशबन्धनम्।अतो दीक्षेति देवेशि! कथिता तत्त्वचिन्तकै:** अर्थात् जो ज्ञान-मति प्रदान करती तथा पाशबन्धनों को क्षीण करती है, उसे तत्त्वचिन्तकों ने दीक्षा नाम दिया है। दीक्षा से जीवन जीने की कला में दक्षता प्राप्त हो जाती है, जिससे व्यक्ति स्वयं तो सुख-शान्तिमय जीवनयापन करता ही है, समाज और संस्कृति के उत्कर्ष के लिए भी बहुत कुछ कर गुजरने को समुद्यत होता है। सद्गुरु से दीक्षा लिए बिना व्यक्ति 'निगुरा' कहलाता है, जो एक प्रकार की गाली है। अस्तु, प्रत्येक व्यक्ति को श्रेष्ठ गुरु से दीक्षा अवश्य लेनी चाहिए। दीक्षा के बिना मंत्र का जप करना उसी प्रकार समुचित फलदायक नहीं होता, जिस प्रकार पत्थर की चट्टान में बोया बीज अंकुरित नहीं होता-**अदीक्षितस्य निन्दामाह तन्त्रसारे-अदीक्षिता ये कुर्वन्ति जप पूजादिका: क्रिया:। न भवन्ति श्रियै तेषां शिलायामुप्तबीजवत्** (वाच०पृ० ३६०२)।

यों तो शुभकार्य जितना शीघ्र हो, कर लेना चाहिए; किन्तु दीक्षा के सम्बन्ध में कुछ समय श्रेष्ठ माने गये हैं। हिन्दी विश्वकोश के अनुसार-शुक्ल पक्ष में दीक्षा शुभफल प्रदायक होती है। कृष्ण पक्ष में भी पंचमी तिथि तक ली जा सकती है। श्रीकामी को शुक्ल पक्ष में और मुमुक्षु को कृष्ण पक्ष में मंत्र दीक्षा लेना उचित है। विद्वानों का मत है कि रविवार को दीक्षा लेने से धन संचय,चन्द्रवार को शान्ति, भौमवार को आयु: क्षय, बुधवार को सौन्दर्य प्राप्ति, गुरुवार को ज्ञान प्राप्ति, शुक्रवार को सौभाग्य और शनिवार को यशनाश होता है। ये बातें सामान्य स्थलों पर लागू होती हैं; किन्तु

गङ्गादि पुण्य तीर्थ स्थलों, काशी, प्रयाग, हरिद्वार, कुरुक्षेत्र आदि तीर्थों में दीक्षा लेने के सम्बन्ध में कोई विचार नहीं किया जाता। दीक्षा के अनेक प्रकार हैं—जैसे—मंत्रदीक्षा, अग्निदीक्षा, प्राणदीक्षा। तान्त्रिकों में प्रचलित दीक्षा भी कई प्रकार की होती है, जैसे-समयीदीक्षा, लोकदीक्षा, क्रियादीक्षा और कला दीक्षा आदि। उपनिषद् ग्रन्थों में भी दीक्षा की कई स्थानों पर महिमा गायी गई है। बृहदारण्यक उपनिषद् में बताया गया है कि दीक्षा सत्य में प्रतिष्ठित है-**कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति सत्य इति** (बृह०उ० ३.९.२३)। इसी प्रकार सोम की प्रतिष्ठा दीक्षा में निर्दिष्ट है-**सोमः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति दीक्षायाम्** (बृह० उ० ३.९.२३)। निर्वाणोपनिषद् में अवधूत लक्षण में दीक्षा के सम्बन्ध में कहा गया है कि परब्रह्म से संयोग ही उसकी दीक्षा है। उसके लिए किसी स्थूल कर्मकाण्ड की आवश्यकता नहीं है—**परमहंसः सोऽहम् .....संयोग दीक्षा** (निर्वाणो० २-१४)।

१३९. देव— द्र०-ज्ञानखण्ड।

१४०. देवयजन—वेदों, उपनिषदों आदि आर्ष ग्रन्थों में देवयजन शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। हिन्दी विश्वकोश में 'देवयजन' शब्द की रचना इस प्रकार विवेचित है-**देवा इज्यतेऽत्र यज आधारे ल्युट्**। इसके तीन अर्थ हैं- वेदिस्थान (यज्ञवेदी), यज्ञ करने का स्थल और पृथिवी। सामान्यतया इस शब्द का अर्थ 'देवताओं के लिए यज्ञ क्रिया' जैसा प्रतीत होता है; किन्तु इसका वास्तविक अर्थ यज्ञवेदी, यज्ञकुण्ड, यज्ञस्थल आदि है। शतपथ ब्राह्मण और कात्यायन श्रौत्र सूत्र आदि ग्रन्थों में इसका अर्थ यज्ञवेदी, यज्ञ स्थल होने की पुष्टि की गई है-"**वेदीमार्जन प्रशंसार्थमितिहासमाह। आ समन्तात् मृतं सर्वदा नश्वरमामृतं तद्विपरीतं यद्देवयागाधिकरणभूतं स्थानम्**" (वाच०पृ०३७३९)। जाबालोपनिषद् में देवयजन का दार्शनिक स्वरूप इस प्रकार विवेचित है- "याज्ञवल्क्य के यह पूछने पर कि प्राणों का क्षेत्र तथा इन्द्रियों का देवयजन क्या है? बृहस्पति ने कहा कि अविमुक्त ही प्राणों का स्थल (कुरुक्षेत्र) है और वही इन्द्रियों का देवयजन (यज्ञस्थल) है तथा वही प्राणियों का ब्रह्मसदन भी है-**यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्** (जाबालो० १.१)। कात्यायन यज्ञ पद्धति विमर्श में उल्लेख है कि यागोचित स्थल में ही देवयजन का निर्माण किया जाता है। देवयजन के निमित्त उस स्थल की कुछ विशेषताएँ होनी चाहिए, जैसे—जहाँ कृष्णसार मृग स्वाभाविक रूप से विचरते हों, वह स्थान देवयजन के लिए उपयुक्त होता है- **कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावतः। स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वतः परः** (मनु० २.२३)।

१४१. द्रष्टा— आर्ष ग्रन्थों में 'द्रष्टा' शब्द कई स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है। सामान्यतः 'देखने वाले' के अर्थ में ही द्रष्टा शब्द प्रचलित है; किन्तु विशेषणों सहित इसके कई प्रकार के शब्द व अर्थ बनते हैं; जैसे-मूकद्रष्टा (चुप रहकर देखने वाला), भविष्यद्रष्टा (भविष्य देखने वाला), दूरद्रष्टा (दूर तक देखने वाला), युगद्रष्टा (वर्तमान युग की समस्याओं के समाधान खोजने वाला अथवा भावी युग के दृश्य को पहले से देख लेने वाला) आदि। इसी प्रकार ईश्वर का एक नाम भी सर्वद्रष्टा (सब कुछ देखने वाला) है। इसीलिए मैत्रेयी उपनिषद् में साधक कहता है कि मैं जगत् का सर्वद्रष्टा नहीं हूँ अर्थात् वह ईश्वर ही जगत् का सर्वद्रष्टा है- **न जगत्सर्वद्रष्टास्मि** (मैत्रे० ३.१४)।

निरुक्तकार यास्क मुनि ने मन्त्रों का दर्शन करने वाले ऋषियों को भी 'द्रष्टा' की संज्ञा प्रदान की है। उनके अनुसार मन्त्रों अथवा ऋचाओं का दर्शन या साक्षात्कार करने के कारण ही वे ऋषि कहलाते हैं- **दर्शनात् ऋषिः** (नि०२.३.१२)। इसीलिए ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा कहा गया है-**साक्षात्कृत धर्माण ऋषयो बभूवुः। .....ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो मन्त्रकाले बभूवुः** (नि० १.६.२०)। पातञ्जल योग सूत्र में आत्मा को द्रष्टा तथा अन्तःकरण को दृश्य बताते हुए सूत्रकार ने इन दोनों के संयोग को दुःख का हेतु कहा है-**द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः** (पातं० यो०सू० २.१७)। मैत्रेयी उपनिषद् २.२९ में उल्लेख है कि मुमुक्षु को चाहिए कि वह द्रष्टा, दृश्य और दर्शन को वासना के साथ ही त्यागकर उस आत्मा का ही भजन करे (उसी में रमण करे), जिसमें दर्शन का सर्वप्रथम आभास होता है-**द्रष्टृदर्शन दृश्यानि त्यक्त्वा ..... केवलं भज**। भगवान् कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में देहस्थित पुरुष को साक्षी होने से उपद्रष्टा कहा है-**उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः** (गी० १३.२२)।

१४२. द्वैत—द्र०-ज्ञानखण्ड-अद्वैत।

१४३. धर्म— द्र०-ज्ञानखण्ड-धर्म-अधर्म।

१४४. धारणा— द्र०-ज्ञानखण्ड।

१४५. **धृति**— सामान्यत: धृति का उल्लेख धर्म के दस लक्षणों के अन्तर्गत आता है। मनुस्मृति ६.९२ में धृति (धैर्य या सन्तोष) को धर्म का प्रथम लक्षण माना गया है- **धृति: क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रह:। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥** धृ+क्तिन् से निर्मित धृति शब्द के कोश ग्रन्थों में कई अर्थ हैं जैसे- धारण करना, तुष्टि, सन्तोष, तृप्ति, धैर्य, मन की दृढ़ता और षोडश मातृकाओं में से एक का नाम आदि। श्री मल्लिनाथ ने रघुवंश की अपनी टीका में धृति को धैर्य या प्रीति माना है- **'धृतिर्धैर्यं प्रीतिर्वा'** (वाच०पृ० ३९०६)। मानसिक धारणा को भी धृति कहते हैं। गीता (१८.३३-३५) में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को इसके सात्त्विकी, राजसी और तामसी तीन भेद बताये हैं-**धृत्या यया धारयते मन: प्राणेन्द्रियक्रिया:। योगेनाव्यभिचारिण्या धृति: सा पार्थ सात्त्विकी॥ यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन। प्रसङ्गेन फलाकांक्षी धृति: सा पार्थ राजसी॥ यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च। न विमुञ्चति दुर्मेधा धृति: सा पार्थ तामसी॥**

औपनिषदिक परिप्रेक्ष्य में यमों के भी दस प्रकार हैं। पातञ्जल योग के अनुसार सामान्यत: पाँच यम व पाँच नियम माने जाते हैं; किन्तु जाबाल दर्शनोपनिषद् में इन्हें दस-दस माना गया है। जिनमें एक यम 'धृति' भी है-**अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयाऽऽर्जवम्। क्षमा धृतिर्मिताहार: शौचं चेति यमा दश** (जा०दर्शनो० १.६)। उपनिषद्कार ने धृति को इन शब्दों में परिभाषित किया है- **वेदादेव विनिर्मोक्ष: संसारस्य न चान्यथा। इति विज्ञान निष्पत्तिर्धृति: प्रोक्ता हि वैदिकै:** (जा०दर्शनो० १.१७) अर्थात् वेदादि की अनुकूलता (वैदिक मार्ग पर चलने) से ही सांसारिक प्राणियों को मोक्ष प्राप्त होता है। इससे भिन्न मोक्ष प्राप्ति का अन्य कोई साधन नहीं है। इस प्रकार के दृढ़ निश्चय या दृढ़ धारणा को ही ज्ञानी जनों द्वारा धृति कहा गया है।

१४६. **ध्यान**— द्र०-ज्ञानखण्ड।

१४७. **ध्रुवाग्नि**-द्र०-ज्ञानाग्नि।

१४८. **नवद्वार**— आध्यात्मिक सन्दर्भ में मानव शरीर में स्थित नवद्वारों की चर्चा की जाती है। ये नव (९ की संख्या) द्वार शरीर में स्थित विभिन्न इन्द्रियों के छिद्र ही हैं। प्रख्यात कोशग्रन्थ वाचस्पत्यम् में नवद्वार इन शब्दों में विवेचित है-**नवद्वाराणीव चित्तवृत्त्यादेर्बहिर्गम्न साधनत्वात् यत्र। देहे तत्र नवभिद्वारैश्चित्तादेर्बहिर्गमनात्तस्य तथात्वम्। तथा हि द्वे श्रोत्रे द्वे चक्षुषी द्वे नासिके च मुखमेकमिति शीर्ष स्थानि सप्त द्वे पायूपस्थे अध: स्थे इति नवच्छिद्र रूपाणि द्वाराणि देहे सन्ति** (वाच.पृ. ३९८८) अर्थात् देहस्थित नवद्वारों के माध्यम से चित्त वृत्तियाँ बहिर्गमन करती हैं, इसीलिए दो कान, दो आँखें, दो नासिका छिद्र, एक मुख, एक उपस्थ तथा एक गुदा इन नौ छिद्रों वाली इन्द्रियों को नवद्वार कहते हैं। शास्त्रों की ऐसी मान्यता है कि इस शरीर से जब प्राण बहिर्गमन करता है, तो इन्हीं नौ द्वारों में से किसी एक से होकर निकलता है; किन्तु योगीजन सहस्रार चक्र से प्राण निष्क्रमण करते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् में उल्लेख है-**नवद्वारे पुरे देही हꣳसो लेलायते बहि: .....**(श्वेता०३.१८) तात्पर्य यह है कि वह परम पुरुष-आत्मा प्रकाश स्वरूप है, जो नवद्वार वाले शरीर रूप नगर में अन्तर्यामी होकर विद्यमान है, वही बाह्यजगत् में विविध प्रकार से लीलाएँ कर रहा है-मैत्रेयी उपनिषद् में शरीरगत नौ छिद्रों को मल निष्कासन करने वाला कहकर यह विधान बताया गया है कि इसे (इस शरीर को) छूकर स्नान करना चाहिए अथवा पवित्र रखना चाहिए-**विकाराकारविस्तीर्णं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते। नवद्वारमलस्रावं सदाकाले स्वभावजम्** (मैत्रे० २.५-६)।

१४९. **नाद**— द्र०-अनाहत नाद।

१५०. **नि:स्पृह**-द्र०-ज्ञानखण्ड।

१५१. **निदिध्यासन**— भारतीय दर्शन के अन्तर्गत ब्रह्म साक्षात्कार अथवा आत्मानुसन्धान के विविध आयामों में श्रवण, मनन आदि के क्रम में निदिध्यासन का भी उल्लेख है। वेदान्त दर्शन में यह उल्लेख इन शब्दों में है-**एवंभूतस्वरूप चैतन्य साक्षात्कारपर्यन्तं श्रवणमननिदिध्यासनसमाध्यनुष्ठानस्यापेक्षित तत्त्वात्तेऽपि प्रदर्श्यन्ते** (वे०सा०३०) अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप चैतन्य (ब्रह्म) के साक्षात्कार हो जाने तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि, ये अनुष्ठान आवश्यक हैं। ब्रह्म साक्षात्कार हेतु साधना का प्रथम चरण 'श्रवण' है। श्रुति वाक्यों द्वारा ब्रह्म के सन्दर्भ में सुनना (श्रवण करना) चाहिए; तदुपरान्त ही उस पर मनन, निदिध्यासन व समाधि (ध्यान की उच्चतम स्थति) सम्भव है। इन सबके बाद ही ब्रह्म साक्षात्कार हो सकता है। साधक द्वारा किसी सुयोग्य गुरु की शरण में जाकर 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों

को सुनकर षड्विधलिङ्ग द्वारा ब्रह्म के सन्दर्भ में उनका अभिप्राय निर्धारित करना वेदान्त की भाषा में 'श्रवण' कहलाता है- **श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम्** (वे०सा०३०)। अध्यात्मोपनिषद् में भी 'श्रवण' इसी प्रकार निर्दिष्ट है- **इत्थं वाक्यैस्तथार्थानुसंधानं श्रवणं भवेत्** (अध्यात्मो०३३) अर्थात् 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों द्वारा जीव-ब्रह्म ऐक्य का अर्थानुसन्धान 'श्रवण' है। इसे और सरल शब्दों में कहें, तो इस प्रकार कह सक ते हैं कि आप्त पुरुषों अथवा गुरु आदि के द्वारा जीव-ब्रह्म ऐक्य, आत्मा-परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना 'श्रवण' अथवा 'सिद्धान्त श्रवण' कहलाता है। वेदान्तसार रचयिता श्री सदानन्द ने 'श्रवण' के अगले उपक्रम 'मनन' का अर्थ, श्रवण की गई अद्वितीय वस्तु का वेदान्तानुरूप तर्कों द्वारा चिन्तन करना बताया है-**मननं तु श्रुतस्याद्वितीय वस्तुनो वेदान्तानुगुण युक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनम्** (वे०सा० ३०)। उपनिषद् में भी शब्दान्तर से मनन की यही परिभाषा वर्णित है—**युक्त्या संभावितत्वानुसंधानं मननं तु तत्** (अध्यात्मो० ३३) अर्थात् श्रवण किए गए तथ्य के अर्थ पर तर्क पूर्वक विचार करना 'मनन' कहलाता है। मनन का अगला चरण निदिध्यासन है। इसमें साधक श्रवण और मनन किए गए विषय में सन्देहरहित होकर, उसमें चित्त को एकाग्र कर स्थिर कर लेता है, चित्त का यही एकतानत्व निदिध्यासन कहलाता है। उपनिषद्कार ने निदिध्यासन की स्थिति इस प्रकार बतायी है-**ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य यत्। एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते** (अध्यात्मो० ३४)।

वेदान्तसार में निदिध्यासन की परिभाषा करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है-**विजातीय देहादि प्रत्ययरहिता द्वितीयवस्तुसजातीयप्रत्ययप्रवाहो निदिध्यासनम्** (वे०सा० ३०)। इसका अभिप्राय यह है कि शरीर आदि जड़ होने से (आत्मा के) विजातीय हैं, इन विजातीय विचारों से रहित तथा अद्वितीय वस्तु ब्रह्म विषयक सजातीय विचारों का सतत (तैलधारावत्) अविच्छिन्न प्रवाह ही निदिध्यासन है। दूसरे शब्दों में आत्मा की सजातीय प्रतीतियों में चित्त का अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होना ही निदिध्यासन है। निदिध्यासन के बाद अन्तिम अवस्था समाधि है। चित्त की एकाग्रता का नाम समाधि है। इसकी व्युत्पत्ति से ही इसका अर्थ स्पष्ट है-**सम्यक् आधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनः यत्र स समाधिः** (वे०वि०पृ० २७९) अर्थात् विक्षेपों का परिहार हो जाने पर जब मन एकाग्र हो जाता है, उस स्थिति को 'समाधि' कहते हैं। स्थिति के अनुरूप इसके कई भेद भी होते हैं। इस सन्दर्भ में १०८ उपनिषद् ज्ञानखण्ड के परिभाषा कोश परिशिष्ट में समाधि प्रकरण में विस्तृत उल्लेख किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा को ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य बताते हुए महर्षि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को आत्मदर्शन-आत्म साक्षात्कार को ही जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य बताया है-**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम्** (बृह०उ०२.४.५)।

१५२. **नियम—** योग दर्शन के अनुसार मोक्ष प्राप्ति के लिए नियम पालन आवश्यक है। जिस प्रकार पातञ्जल योग में पाँच यम वर्णित हैं, उसी प्रकार पाँच नियम-शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान भी हैं। योगदर्शन में उल्लेख है-**शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः** (पातं०यो० सू०-३२)। अध्यात्म पथ के पथिक को अपने जीवन क्रम में इन नियमों को समाविष्ट करना आवश्यक है। शब्द कल्पद्रुम में नियम की व्युत्पत्ति इस प्रकार है-**नियमः पुं-** (**नियमनमिति। नि+यम**) अर्थात् आत्म नियमन=नियन्त्रण। यमों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय,ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) को स्वभाव का अंग बनाने के लिए इन नियमों (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान या ईश्वर पूजन) आवश्यक है। वस्तुतः यम और नियम अन्योन्याश्रित हैं। कुछ उपनिषदों व् शास्त्रों में दशविध नियम वर्णित हैं- **तपः संतोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्। सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्॥ एते च नियमाः प्रोक्तास्तान्वक्ष्यामि क्रमाच्छृणु** (जा०दर्शनो० २.१) अर्थात् तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर पूजन, सिद्धान्त-श्रवण, ह्री (लज्जा), मति, जप और व्रत ये नियम हैं; किन्तु ऊपर वर्णित योग दर्शन के पाँच नियम (शौच, सन्तोष, तप आदि) ही अधिक प्रचलित हैं।

प्रथम-नियम **शौच** है। शौच अर्थात् पवित्रता, १. बाह्यशौच २. आभ्यन्तर शौच। मिट्टी और जल से शरीर, वस्त्र, पात्र, स्थान आदि को शुद्ध रखना बाह्य शौच है । मैत्री आदि से ईर्ष्या, अभिमान, घृणा आदि मलों को साफ करना आन्तरिक या आभ्यन्तर शौच है। जाबाल दर्शनोपनिषद् में उल्लेख है- **स्वदेहमलनिर्मोक्षो मृज्जलाभ्यां महामुने। यत्तच्छौचं भवेद् बाह्यं मानसं मननं विदुः। अहं शुद्ध इति ज्ञानं .....रमते नरः** (जा०दर्शनो० १.२०-२२) अर्थात् मिट्टी और जल से शरीर को पवित्र रखना बाह्य शौच है; किन्तु ज्ञानीजन 'मैं विशुद्ध आत्मा हूँ' ऐसा भाव रखने को ही सर्वोत्कृष्ट शौच कहते हैं। शरीर तो बाहर-भीतर उभयविध अशुद्ध है; पर इसमें निवास करने वाला देही अत्यन्त निर्मल है। ऐसा ज्ञान होने

पर उसे पवित्र किया जाए। अत: हे मुने! जो ज्ञान रूप पवित्रता को छोड़कर बाह्य पवित्रता में ही रमा रहता है, वह स्वर्ण के स्थान पर मिट्टी के ढेलों का ही संग्रह करता है।

दूसरा-नियम **सन्तोष** है। अपनी स्थिति के अनुरूप उचित प्रयास करने पर जो भी फल प्राप्त हो, उसी में प्रसन्न रहना सन्तोष है। सन्तोष को सुख का मूल और इसके विपरीत स्थिति को दु:ख का मूल कहा गया है-**सन्तोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्। सन्तोषमूलं हि सुखं दु:खमूलं विपर्यय:** (मनु० ४.१२)। इसी तथ्य की पुष्टि जाबाल दर्शनोपनिषद् में भी मिलती है-**यदृच्छालाभतो नित्यं प्रीतिर्या जायते नृणाम्। तत्सन्तोषं विदु: प्राज्ञा: परिज्ञानैक तत्परा:** (जा०दर्शनो० २.५)। प्रभु इच्छा से जो कुछ प्राप्त हो जाए, उसी में सन्तुष्ट रहना विद्वानों ने सन्तोष कहा है। सर्वत्र अनासक्त भाव से रहकर ब्रह्मलोक तक के सुख से विरक्ति और हर स्थिति में प्रसन्नता यही सर्वश्रेष्ठ सन्तोष है।

तीसरा-नियम **तप** है। अश्व विद्या के कुशल सारथी द्वारा चञ्चल घोड़ों को साधने के समान, साधक द्वारा शरीर, प्राण, इन्द्रियों और मन को समुचित प्रकार से वश में करना तप कहलाता है। जाबालदर्शन उपनिषद्कार ने तप की परिभाषा इस प्रकार की है- **वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभि:। शरीरशोषणं यत्तत्तप इत्युच्यते बुधै:** (जा० दर्शनो० २.३) अर्थात् वेदोक्त कृच्छ्र और चान्द्रायण व्रत करके शरीर को क्षीण करना ही तप है, ऐसा विद्वान् कहते हैं। वस्तुत: उच्च आदर्शों के लिए कष्ट सहन करने का नाम ही तप है। महर्षि पतञ्जलि ने तप तीन प्रकार के माने हैं- शरीर का तप, वाणी का तप और मन का तप। शारीरिक तप के अन्तर्गत युक्त आहार- उचित आहार, सादा-सात्त्विक, सुपाच्य और मिताहार तथा युक्त विहार के अन्तर्गत संतुलित यात्रा, चलना-फिरना आदि है। इसी प्रकार युक्त कर्मचेष्टा अर्थात् नियमित रूप से कर्तव्य पालन, न अधिक श्रम, न आलस्य-प्रमाद बरतना, युक्त स्वप्नावबोध अर्थात् न अधिक सोना, न अधिक जागना। इस सन्दर्भ में गीता का यह श्लोक-'**युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु। युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु:खहा**' (गी०६.१७)। वाणी के तप का अर्थ है-वाणी को संयमित रखना। हितकर, प्रिय, मधुर और मित बोले। मन का तप मन को संयमित रखना है। द्वेष, घृणा, ईर्ष्या आदि के भाव मन में न रखना मन का तप है।

चौथा-नियम **स्वाध्याय** है। जिस प्रकार शरीर के लिए भोजन आदि की सतत आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार विचार संस्थान मन-मस्तिष्क को सुव्यवस्थित-सन्तुलित रखने के लिए स्वाध्याय की आवश्यकता अनिवार्य रूप से है। स्वाध्याय का शाब्दिक अर्थ है- स्व-अपना, अध्याय-अध्ययन। अपना अध्ययन अर्थात् आत्मावलोकन ही स्वाध्याय है। वाचस्पत्यम् में स्वाध्याय की व्युत्पत्ति इन शब्दों में दी है- **स्व: स्वकीयत्वे विहित अध्याय: .....। स्वाध्यायोऽध्येतव्य: इति श्रुति:।** स्वाध्याय के द्वारा वेद, शास्त्र, उपनिषद्, गीता व अन्य आर्षग्रन्थों का अध्ययन करके उससे प्राप्त ज्ञान के दर्पण में साधक अपने को देखकर आत्म समीक्षा करता है, जिससे आत्म सुधार होता है व आध्यात्मिक उन्नति होती चली जाती है। पातञ्जल योग के अनुसार ओंकार सहित गायत्री मंत्र का जप ही स्वाध्याय है।

पाँचवाँ-नियम **ईश्वर प्रणिधान** है। फल सहित समस्त कर्मों को ईश्वर को समर्पित कर देना ईश्वर प्रणिधान है। यह समस्त नियमों में प्रमुख है। पातञ्जल योग प्रदीप में साधन पाद सूत्र- ३२ की व्याख्या में ग्रन्थकार ने महर्षि वेदव्यास कृत भाष्य का उद्धरण देते हुए ईश्वर प्रणिधान का फल इस प्रकार विवेचित किया है-**शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थ: परिक्षीण वितर्कजाल:। संसारबीजक्षयमीक्षमाण: स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी॥** जो योगी पुरुष शय्या और आसन पर विराजमान या पथ पर गमन करता हुआ अथवा एकान्तस्थ हो, हिंसा आदि वितर्कजाल को विनष्ट करके ईश्वर प्रणिधान करता है, वह अविद्या आदि क्लेशों का विनाश करता हुआ नित्य स्वरूप परमात्मा से युक्त हुआ जीवन्मुक्त का सुख प्राप्त करता है। अत: सभी यमों और नियमों को परब्रह्म में अर्पण करके ईश्वर प्रणिधान करे। जाबालदर्शनोपनिषद् ने ईश्वर प्रणिधान को ईश्वर पूजन कहा है, जिसकी परिभाषा इस प्रकार दी है- **रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टाऽनृतादिना। हिंसादिरहितं कर्म यत्तदीश्वर पूजनम्** (जा० दर्शनो० २.८) अर्थात् अनृत भाषण आदि दोषों से रहित तथा हिंसा आदि क्रूरता से मुक्त कर्म ही ईश्वर पूजन है।

१५३. **निरञ्जन**— द्र०- चिद्घन।

१५४. **निरहंकारिता**—द्र०-अमानित्व गुण।

१५५. **निर्गुण**— द्र०-ज्ञानखण्ड -निर्गुण-सगुण।

१५६. **निर्वाण**— निर्+वा+क्त से निर्मित निर्वाण शब्द का प्रयोग प्राय: निवृत्ति, शान्ति, अस्तगमन, वाणशून्य, शून्य, विश्रान्ति और मुक्ति या मोक्ष के अर्थ में होता है। दर्शन में इसका मुक्ति के अर्थ में ही अधिक प्रयोग हुआ है। सामान्य धारणा यह

है कि शरीर छूटने के उपरान्त पूर्व कर्मानुसार पुनर्जन्म होता है, पर किसी-किसी योगी कें समस्त कर्मक्षय हो जाने पर मृत्यु के उपरान्त पुनर्जन्म नहीं होता, यही स्थिति निर्वाण अथवा मोक्ष अथवा मुक्ति कहलाती है; किन्तु दर्शन ग्रन्थों में तृष्णा की सम्यक् निवृत्ति को ही निर्वाण कहा गया है-**तृष्णया विप्रहाणेन निर्वाणमिति कथ्यते** (हि०वि०को० खं० १२) अर्थात् यह जगत् कल्पित और आधाररहित है। अत: इस मिथ्या संसार के साथ अपने को सम्बद्ध रखने की प्रबल आकांक्षा का नाम ही तृष्णा है। इस तृष्णा के विनष्ट हो जाने पर ही संसारोच्छेद, आत्माभिमान का विनाश और निर्वाण प्राप्त होता है। प्रज्ञापारमिता ग्रन्थ के अनुसार अपनेपन और संसार के अभाव का नाम ही निर्वाण है। जिस अवस्था में न संसार है, न मैं हूँ, वह स्थिति दुर्बोध और गम्भीर है, यही स्थिति निर्वाण है। बौद्ध दर्शन में निर्वाण शब्द का बहुत प्रयोग हुआ है। वहाँ सर्वत्र इसका अभिप्राय मुक्ति से ही लिया गया है। उनका मन्तव्य है कि जिस प्रकार ईंधन न होने पर अग्नि निर्वाण को प्राप्त हो जाती है (बुझ जाती है), ठीक उसी तरह काम, क्रोध, लोभ और मोह जनित संस्कार के समूल नष्ट हो जाने से सत्ता या अस्तित्व का विलोप हो जाता है। सत्ता का निरोध ही निर्वाण कहलाता है। अश्वघोष ने बुद्ध चरित में उल्लेख किया है- **करुणायमाना ज्यायस्यो मृत्युभयविमोहिता:। नैर्वाणे स्थापनीयास्तत् पुनर्जन्मनिवर्त्तके** (हि०वि०को०खं० १२ पृ० ७१) अर्थात् निर्वाण द्वारा पुनर्जन्म से निवृत्ति हो जाती है। समस्त (अच्छे या बुरे) संस्कारों का क्षय हो जाने पर पुनर्जन्म से निवृत्ति हो जाती है (हि०वि०को०)। अस्तु, संस्कार समूह के क्षय हो जाने पर ही निर्वाण की प्राप्ति होती है। बोधिचर्यावतार ग्रन्थ में उल्लेख है कि सर्वत्याग (जगत्, सुख-दु:ख और अभिमान आदि सभी का त्याग) का ही दूसरा नाम निर्वाण है-**सर्वत्यागश्च निर्वाणं निर्वाणार्थि च मे मन:** (हि०वि०को०खं० १२ पृ० ७२)।

निरालम्ब उपनिषद् के अनुसार मुक्ति या मोक्ष (निर्वाण) नित्य और अनित्य वस्तुओं के विचार से नश्वर संसार के सुख-दु:ख प्रदाता सम्पूर्ण विषयों से ममत्व रूप बन्धन को नष्ट कर देना है-**मोक्ष इति च नित्यानित्यवस्तु विचारादनित्य संसारसुखदु:खविषयसमस्तक्षेत्रममताबन्धक्षयो मोक्ष:** (निरा० २९)। गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने ज्ञानाग्नि द्वारा समस्त कर्मों के क्षय का उपदेश दिया है-**ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा** (गी० ४.३७)। आत्मज्ञान हो जाने पर समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं। ब्रह्म की अनुभूति हो जाने पर साधक अपने को अजर,अव्यय, सूक्ष्म, अक्षर, अविकल, निर्मल और निर्वाण मूर्ति अनुभव करने लगता है। "**एकोऽहम .....निर्वाणमयसंविदम्**" (मैत्रे० १.१४)।

१५७. निर्विकल्पक— द्र०-ज्ञानखण्ड -समाधि।

१५८. निर्विकार— द्र०-चिद्घन।

१५९. निष्कल— द्र०-चिद्घन।

१६०. निष्काम कर्म— द्र०- ज्ञानखण्ड।

१६१. पञ्चकोश—द्र०- ज्ञानखण्ड।

१६२. पञ्चतत्त्व-पञ्च तन्मात्राएँ— सम्पूर्ण सृष्टि पञ्चतत्त्वों अथवा पञ्चमहाभूतों से निर्मित मानी जाती है। यह शरीर भी पञ्चतत्त्वों का ही बना हुआ है। ये पाँच तत्त्व पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश हैं। ये ही पाँचों तत्त्व समस्त पद के रूप में पंच तत्त्व कहलाते हैं। प्रख्यात कोशग्रन्थ वाचस्पत्यम् में उल्लेख है-**पञ्चानां तत्त्वानां समाहार:। पञ्चसु भूतेषु स्वरोदय:।** तंत्र ग्रन्थों में पञ्च मकार-मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन को पञ्च तत्त्व कहा गया है- "**मद्यं मासं तथा मत्स्यो मुद्रा मैथुनमेव च। पञ्चतत्त्वमिदं प्रोक्तं देवि! निर्वाणहेतवे। मकारपञ्चकं देवि! देवानामपि दुर्लभम्। पञ्चतत्त्वविहीनानां कलौ सिद्धिर्न जायते** (वाच० पृ०-४१८६)" अर्थात् मद्य-मांसादि पञ्च तत्त्व देवों को भी दुर्लभ हैं। इनके बिना कलियुग में निर्वाण सिद्धि नहीं मिल पाती। यहाँ यह ध्यातव्य है कि यह आलङ्कारिक वर्णन है। प्रत्यक्षत: इनका सेवन करके सिद्धि प्राप्त होने की बात नहीं कही गई है। अन्य तन्त्रग्रन्थों में गुरुतत्त्व, मंत्र तत्त्व, मनस्तत्त्व, देवतत्त्व और ध्यान तत्त्व इन्हें पञ्चतत्त्व माना गया है- **गुरुतत्त्वं मन्त्रतत्त्वं मनस्तत्त्वं सुरेश्वरि! देवतत्त्वं ध्यानतत्त्वं पञ्चतत्त्वं प्रकीर्तितम्** (निर्वाण तंत्र)। सृष्टि में विद्यमान जिन पञ्चतत्त्वों का वर्णन है, वे पृथ्वी आदि पञ्चतत्त्व ही हैं। रामचरित मानस के किष्किन्धा काण्ड में एक चौपायी में इन तत्त्वों का उल्लेख इन शब्दों में हुआ है-**छिति, जल, पावक, गगन समीरा। पञ्च रचित अति अधम सरीरा॥** त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद् में इस अखिल जगत् की उत्पत्ति के क्रम में भी पञ्च तत्त्वों का उल्लेख मिलता है-इन तत्त्वों का अनुपात इस प्रकार है-पृथ्वी १/२+जल १/८+अग्नि १/८+आकाश १/८+वायु १/८=पृथिवीतत्त्व, इसी प्रकार अन्य चारों तत्त्वों के १/२ अंश में शेष चारों तत्त्वों का अनुपात १/८, १/८ होने पर ही वे

पूर्ण तत्त्व बनते हैं। जाबाल दर्शनोपनिषद् में शरीर स्थित अङ्ग विशेषों में तत्त्वों की प्रधानता के सन्दर्भ में इस प्रकार उल्लेख है- **देहमध्यगते व्योम्नि बाह्याकाशं तु धारयेत्। प्राणे बाह्यानिलं तद्वज्ज्वलने चाग्निमौदरे। आकाशांशस्तथा प्राज्ञ: मूर्धांश: परिकीर्तित:** (जा०दर्शनो० ८.१-५) अर्थात् तत्त्वाधिक्य की दृष्टि से पाँव से घुटने तक का भाग (पृथिवी तत्त्व के आधिक्य के कारण) पृथिवी तत्त्व का भाग कहलाता है, घुटने से गुदा तक जलीय अंश, गुदा से हृदय तक का अग्न्यंश, हृदय से भौहों तक वाय्वंश तथा मस्तक क्षेत्र आकाशांश कहा गया है। इन तत्त्वों में देवों के ध्यान के सन्दर्भ में वर्णन है कि पृथिवी तत्त्वांश में ब्रह्मा का, जलतत्त्वांश में विष्णु का, अग्नितत्त्वांश में महेश का, वायुतत्त्वांश में ईश्वर का तथा आकाश तत्त्वांश में सदाशिव का ध्यान करना चाहिए-**ब्रह्माणं पृथिवीभागे विष्णुं तोयांशके तथा। अग्न्यंशे च महेशानमीश्वरं चानिलांशके। आकाशांशे महाप्राज्ञ धारयेत्तु सदाशिवम्** (जा०दर्शनो० ८.५-६)।

१६३. पञ्चमहायज्ञ— द्र०-वानप्रस्थ।

१६४. पञ्चमात्रा—द्र०-अवधूत।

१६५. परब्रह्म— द्र०- ज्ञानखण्ड -ब्रह्म।

१६६. परमगति— द्र०-ज्ञानखण्ड।

१६७. परमज्योति—द्र०-चिद्घन।

१६८. परम तत्त्व— द्र०चिद्घन।

१६९. परम पद—द्र०-ज्ञानखण्ड।

१७०. परमपुरुष—द्र०-चिद्घन।

१७१. परम व्योम— वेद, उपनिषद् आदि आर्ष ग्रन्थों में परमव्योम शब्द का उल्लेख हुआ है। व्योम शब्द सामान्यत: अन्तरिक्ष या आकाश के लिए प्रयुक्त होता है; किन्तु इसमें परम विशेषण जोड़ देने से इसका अर्थ पराचेतना हो जाता है, जो सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति का मूल कारण है। ऋग्वेद १.१६४.३९ में वेदों की ऋचाओं के परमव्योम में स्थित होने का वर्णन है- **ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदु:** अर्थात् अविनाशी ऋचाएँ परमव्योम में विद्यमान हैं, जहाँ सम्पूर्ण देव शक्तियों का वास है। कहा जाता है कि प्रलय हो जाने पर भी यह दिव्य ज्ञान तथा सृष्टि के तत्त्व कभी नष्ट नहीं होते; वरन् अपनी परम चेतना, पराचेतना या परमव्योम में समाहित हो जाते हैं और जब पुन: सृष्टि का आविर्भाव होता है, तब प्रकट होते हैं। यों तो यह बात कल्पित जैसी लगती है; किन्तु इसकी यथार्थता को कम्प्यूटर तन्त्र के मास्टर कम्प्यूटर के उदाहरण से स्पष्टतया समझा जा सकता है- जिस प्रकार मास्टर कम्प्यूटर के साथ माइक्रोवेव टावर्स द्वारा विभिन्न कम्प्यूटर जुड़े रहते हैं। देश के किसी भी कम्प्यूट्राइज्ड रेलवे स्टेशन से कहीं के भी रेलवे का टिकट बुक कराने से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय आँकड़ों को जानने तक में कम्प्यूटर की इस प्रणाली का उपयोग किया जाता है, किन्तु यदि किसी कम्प्यूटर में गड़बड़ी हो जाये, तो उसके पर्दे पर आँकड़े न आने पर भी वे पूर्णत: नष्ट नहीं होते, वरन् अपने मास्टर कम्प्यूटर में समा जाते हैं। जब मशीनरी ठीक हो जाती है, तो वे आँकड़े पुन: उस कम्प्यूटर पर भी आने लगते हैं, जो कुछ समय पहले खराब हो गया था। ठीक इसी तरह पराचेतना-परमव्योम में सम्पूर्ण ज्ञान व सृष्टि के सभी तत्त्व अवस्थित रहते हैं। पृथिवी आदि किसी एक केन्द्र (ग्रह) के नष्ट हो जाने पर भी वे नष्ट नहीं होते तथा परम व्योम में समाहित हो जाते हैं और नये सिरे से पुन: प्रकट होते हैं। ऋग्वेद में वाणीरूपी गौ के सहस्राक्षरों से युक्त होकर परम व्योम में संव्याप्त होने की बात इस मंत्र में द्रष्टव्य है- **गौरीर्मिमाय ...सहस्राक्षरा परमे व्योम** (ऋ० १.१६४. ४१)। एकाक्षरोपनिषद् में भी उस अक्षर ब्रह्म को संसार का आदि कारण, समस्त प्राणियों का स्वामी, पुराण पुरुष तथा समस्त भुवनों का रक्षक कहकर उस पराचेतना का ही संकेत दिया गया है—**एकाक्षरंत्वक्षरेऽत्रास्ति ...भुवनस्य गोप्ता** (एकाक्षरो० १)। उस एकाक्षर ब्रह्म को हिरण्यगर्भ स्वरूप कहकर प्राणियों के हृदय व्योम (हृदयाकाश) में प्रकाशित होने वाला विवेचित किया गया है- **वितत्य बाणं तरुणार्कवर्णं व्योमान्तरे भासि हिरण्यगर्भ: .....अरिष्टनेमि:** (एकाक्षरो०४)। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में उस विराट् ब्रह्म को त्रिपादूर्ध्व कहकर यह बताया गया है कि उसके एक चरण में ये समस्त प्राणी हैं तथा तीन चरण अनन्त दिव्य लोक (परम व्योम) में स्थित हैं- **...पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि** (ऋ० १०.९०.३) **त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुष: पादोऽस्येहाभवत्पुन: ....अभि** (ऋ० १०.९०.४)। अध्यात्मोपनिषद् में उल्लेख है कि जिस प्रकार घटाकाश (शरीर स्थित आकाश), महाकाश (परमव्योम) में स्थित है, उसी प्रकार परमात्मा में आत्मा को एकरूप करके योगी को

सतत शान्त रहना चाहिए-**घटाकाश्रं महाकाश इवात्मानं परमात्मनि .....तूष्णीं भव सदा मुने** (अध्यात्मो० ७)।

१७२. **परमसिद्धान्तश्रवण**—द्र०-निदिध्यासन।

१७३. **परमहंस**—द्र०-अवधूत।

१७४. **परमात्मभाव**— द्र०- अद्वयानन्द।

१७५. **परमानन्द** —द्र०-अद्वयानन्द।

१७६. **परलोक**—द्र०-ज्ञानखण्ड -परलोक, सप्तलोक।

१७७. **परात्पर**—द्र०-चिद्घन।

१७८. **परिव्रजक**—द्र०-ज्ञानखण्ड-परिव्रज्या, परिव्राजक।

१७९. **पश्चिमलिङ्ग**—भारतीय संस्कृति में चार आश्रम माने गये हैं, जो जीवन को चार भागों में विभाजित करते हैं। जीवन के प्रथम चरण का आश्रम ब्रह्मचर्य, द्वितीय चरण का गृहस्थ, तृतीय चरण का वानप्रस्थ और चतुर्थ चरण का आश्रम संन्यास कहलाता है। संन्यास आश्रम में रहने वाले व्यक्ति को परिव्राजक भी कहते हैं। इनका प्रमुख कार्य अपने को पूर्णरूपेण परिष्कृत करके सतत लोकोपयोगी कार्यों में अपने को निरत रखकर परिव्रज्या करना होता है। संन्यासियों के कुछ चिह्न भी होते हैं, जैसे- शिक्य, कमण्डलु, दण्ड आदि। इन चिह्नों को धारण करने वाले संन्यासी (परिव्राजक) व्यक्त विष्णुलिङ्ग कहलाते हैं। उल्लेखनीय है कि परिव्राजकों (संन्यासियों) को विष्णुरूप मानने के कारण उन्हें विष्णुलिङ्ग कहते हैं। इनमें कुछ पूर्व लिङ्ग तथा कुछ पश्चिम लिङ्ग परिव्राजक कहलाते हैं-**परिव्राजका: पश्चिमलिङ्गा:** (निर्वाणो० ३)। पूर्वलिङ्ग (व्यक्त विष्णु लिङ्ग) परिव्राजक होते हैं, जो संन्यास के गुणों, दया, क्षमा, करुणा, निरहंकारिता, निर्विकारिता आदि गुणों को धारण करके संन्यासी के बाह्य लिङ्ग (चिह्न) शिक्य, कमण्डलु, दण्ड आदि भी धारण करते हैं। पश्चिम लिङ्ग अथवा (अव्यक्त विष्णुलिङ्ग) परिव्राजक (संन्यासी) उन्हें कहते हैं, जो बाह्य चिह्न धारण न करके भी अन्त:करण में संन्यासियों के समस्त गुण धारण किये रहते हैं। इन्हें ही अव्यक्त विष्णु लिङ्ग परिव्राजक भी कहते हैं। अड्यार से प्रकाशित निर्वाणोपनिषद् की टीका में ब्रह्मयोगी ने लिखा है-**पश्चिममन्त: संन्यासलक्षणमव्यक्तविष्णुलिङ्गिनश्चेति ....स्वबाह्यान्तर्विलसितविक्षेपग्रासव्यक्ताव्यक्तविष्णुलिङ्गधारिण इत्यर्थ:** (निर्वाणो० १.५८ टीका)।

१८०. **पाप-पुण्य**—द्र०-ज्ञानखण्ड -पाप-पुण्य।

१८१. **पिङ्गला**—द्र०-ज्ञानखण्ड -सुषुम्ना नाड़ी।

१८२. **पितर** —द्र०-ज्ञानखण्ड ।

१८३. **पुनर्जन्म**—द्र०-ज्ञानखण्ड ।

१८४. **पुराण-पुरुष**—द्र०-चिद्घन।

१८५. **पुर्यष्टक**— यह शरीर विभिन्न तत्त्वों से निर्मित है। प्रत्यक्षत: यह स्थूल शरीर ही दिखाई देता है। यह भी पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश तत्त्वों के सम्मिलन से निर्मित है। इसके अतिरिक्त इसी के अन्दर दो अदृश्य शरीर और हैं, जिन्हें सूक्ष्म व कारण शरीर कहा जाता है। इन दोनों शरीरों की रचना में पृथिवी आदि स्थूल पञ्चतत्त्व न होकर इनके सूक्ष्म तत्त्व रहते हैं। वेदान्त में सूक्ष्म शरीर को लिङ्ग शरीर भी कहते हैं। इसे देखा या स्पर्श नहीं किया जा सकता; वरन् अनुमान किया जा सकता है। सुख-दु:खादि की अनुभूति सूक्ष्म शरीर द्वारा ही होती है। लिङ्ग शरीर का अर्थ करते हुए स्वामी रामतीर्थ ने लिखा है- **लिङ्ग्यते ज्ञाप्यते प्रत्यगात्मसद्भाव एभिरिति लिङ्गानि, तानि च तानि शरीराणि च .... लिङ्गशरीराणि** (वे०सा० टीका खं० १३) अर्थात् जिसके माध्यम से प्रत्यगात्मा के सद्भाव का ज्ञान होता है, वह लिङ्ग शरीर है। स्थूल शरीर के अन्त हो जाने पर, यह सूक्ष्म शरीर (लिङ्ग शरीर) ही निकलकर अन्य स्थूल शरीर में प्रविष्ट होकर, नूतन जन्म धारण करता है। वेदान्त में सूक्ष्म शरीर के सत्रह तत्त्व (अंग) माने गये हैं। ये तत्त्व पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च वायु (प्राण), मन और बुद्धि हैं। शारीरकोपनिषद् में सूक्ष्म शरीर के अंग इन शब्दों में वर्णित हैं- '**बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया। शरीरं सप्तदशभि: सुसूक्ष्मं लिङ्गमुच्यते** (शारीरको० ५)। ब्राह्मणग्रंथों में सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर के सत्रह अंगों की गणना एक अन्य प्रकार से भी की गई है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पाँच सूक्ष्मभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक अन्त:करण (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) और पंच वृत्तियों (प्राण,

अपान, उदान, व्यान और समान) वाला एक प्राण ये सूक्ष्म शरीर के सत्रह अवयव हैं। सूक्ष्म शरीर या लिङ्ग शरीर के इन सत्रह अवयवों को आठ अंगों में भी समाहित किया जाता है, इसीलिए इसे पुर्यष्टक भी कहते हैं। पुर्यष्टक का शाब्दिक अर्थ आठ पुरियों का समूह है। आठ अंगों को सम्भवत: आलंकारिक रूप से आठ पुरियाँ कहा गया होगा, इसलिए इसे पुर्यष्टक नाम दिया गया। पुर्यष्टक (सूक्ष्म शरीर या लिङ्ग शरीर) के आठ अंग इस प्रकार वर्णित हैं-**ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्चकर्मेन्द्रियाणि च। मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चेति चतुष्टयम्॥ प्राणोऽपानस्तथा .....अविद्याकामकर्माणि लिङ्गं पुर्यष्टकं विदु:** (पंच०) अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक, कर्मेन्द्रिय पञ्चक, प्राण पञ्चक, सूक्ष्म पञ्चभूत, अन्त:करण चतुष्टय इन सभी को एक-एक इकाई मानकर कुल पाँच हुए। इसके अतिरिक्त काम, कर्म और अविद्या ये तीन मिलकर कुल आठ होते हैं। इन्हीं आठ अवयवों से मिलकर बने सूक्ष्म शरीर को पुर्यष्टक कहते हैं। पैङ्गलोपनिषद् में पुर्यष्टक इन शब्दों में विवेचित है-**अथ ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं प्राणादिपञ्चकमन्त:करण चतुष्टयं कामकर्मतमांस्यष्टपुरम्** (पैङ्गलो० २.५)।

१८६. पौर्णमास्य यज्ञ—द्र०-दर्शयज्ञ।

१८७ प्रज्ञा—द्र०-ज्ञानखण्ड-प्रज्ञा-प्रज्ञान।

१८८. प्रज्ञात्मा— उपनिषदों में कई स्थलों पर 'प्रज्ञा' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका सामान्य अर्थ प्रकृष्ट ज्ञान या श्रेष्ठ बुद्धि है। विवेकवान्, विद्वान् या चैतन्य पुरुष को प्रज्ञावान् अथवा प्रज्ञान कहते हैं। इस प्रकार जिसके द्वारा बौद्धिक वृत्तियों, ज्ञातव्य विषयों तथा कामनाओं को ग्रहण किया जाता है, उसी का नाम प्रज्ञा है-**केन धियो विज्ञातव्यं कामानिति। प्रज्ञयेति प्रब्रूयात्** (कौ०ब्रा०उ० १.६)। प्रज्ञा+आत्मा दो शब्दों से मिलकर प्रज्ञात्मा शब्द विनिर्मित हुआ है। सामान्यत: इसका अर्थ प्रकृष्ट ज्ञान सम्पन्न अथवा विवेकवान् व्यक्ति हुआ; किन्तु कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् के तृतीय अध्याय में इसे एक विशेष अर्थ में लिया गया है, वहाँ प्रज्ञा को ही प्राण और प्राण को ही प्रज्ञा कहा गया है; क्योंकि दोनों एक ही साथ रहते व एक साथ ही शरीर से उत्क्रमण करते हैं-**यो वै प्राण: सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राण: स ह होतावस्मिन् शरीरे वसत: सहोत्क्रामत:** (कौ०ब्रा०उ० ३.४)। इन्द्र-प्रतर्दन वार्तालाप में इन्द्र ने अपने को प्राणस्वरूप, आयुस्वरूप और अमृत स्वरूप बताते हुए, इसी रूप में उन्हें जानने के लिए कहते हुए, अपने को प्राण और प्रज्ञारूप आत्मा (प्रज्ञात्मा) कहा है- **स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञाऽऽत्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्वायु: प्राण: प्राणो वा आयु: प्राण एवामृतम् .....ऽमृतत्वमाप्नोति** (कौ०ब्रा०उ० ३.२) अर्थात् प्राण ही आयु है; क्योंकि जब तक प्राण रहता है, तभी तक आयु रहती है। शरीर से प्राण निकल जाने पर आयु भी समाप्त हो जाती है। प्राण ही अमृत है; क्योंकि शरीर के मृत हो जाने पर भी प्राण मृत नहीं होता। इसी प्रकार प्राण को ही प्रज्ञा (प्रकृष्ट ज्ञान) भी कहा गया है; क्योंकि समस्त इन्द्रियाँ अपने विषयों को प्राण अथवा प्रज्ञा के द्वारा ही ग्रहण करती हैं। समस्त इन्द्रियाँ रहते हुए भी यदि शरीर में प्राण नहीं है अथवा मरणासन्न स्थिति में अल्प मात्रा में ही प्राण शेष रह गया है, तो न आँखें देख सकती हैं (अर्थात् अपने प्रियजन को भी पहचानने में समर्थ नहीं हो सकतीं), न कान शब्द सुनते हैं, न मुख (वाणी) से शब्द निकलते हैं, न घ्राणेन्द्रिय गन्ध ले सकती है, न त्वचा को स्पर्शज्ञान होता है, न हाथ-पैर चलते हैं, न उपस्थ और गुदा ही अपना कार्य समुचित रूप से कर पाते हैं तथा मन भी सोच-विचार नहीं कर पाता। दूसरे शब्दों में क्रिया शक्ति का बोधक प्राण (प्रज्ञा) ही है, जो ज्ञान में प्रवृत्त करने वाला प्रज्ञा से युक्त आत्मा अर्थात् प्रज्ञात्मा है। यही शरीर को सभी ओर से आबंद्ध करके विभिन्न क्रियाएँ कराता रहता है। जिस प्रकार रथ की नेमि अरों से तथा अरे उसकी नाभि से जुड़े होते हैं, उसी प्रकार समस्त भूत मात्राएँ (पंचभूत या तन्मात्राएँ) प्रज्ञामात्राओं (इन्द्रियों में विद्यमान प्रज्ञा के अंश) में अर्पित हैं तथा प्रज्ञामात्राएँ मुख्य प्राण (उक्थ) में अर्पित हैं। यह प्राण-प्रज्ञात्मा ही अजर-अमर और आनन्द स्वरूप है-**तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पितो नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्रा: प्रज्ञामात्रास्वर्पिता: प्रज्ञामात्रा: प्राणेऽर्पिता:। स एष प्राण एव प्रज्ञाऽऽत्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृत: .....स म आत्मेति विद्यात्** (कौ० ब्रा०उ० ३.९)।

१८९. प्रज्ञान—द्र०-ज्ञानखण्ड-प्रज्ञा-प्रज्ञान।

१९०. प्रणव — द्र०-प्रणव सन्धान।

१९१ प्रणव सन्धान—योग शास्त्रों में विभिन्न प्रकार की साधनाओं का वर्णन है। ब्रह्म प्राप्ति या ब्रह्म सान्निध्य हेतु अनेक प्रकार की नाद साधनाएँ भी बतायी गई हैं। नादबिन्दूपनिषद् में उल्लेख है कि तत्त्वज्ञान हो जाने पर जब प्रारब्ध कर्म क्षीण

हो जाते हैं, तब ॐ कार स्वरूप परब्रह्म के साथ अपनी आत्मा के एकत्व का चिन्तन (ध्यान) करने से नादरूपी स्व प्रकाशित शिव (कल्याणकारी तत्त्व) का प्रादुर्भाव उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार मेघाच्छादन हट जाने से स्वयं सूर्य भगवान् प्रकाशित हो जाते हैं- **ब्रह्मप्रणवसंधानं नादो ज्योतिर्मयः शिवः। स्वयमाविर्भवेदात्मा मेघापायेंऽशुमानिव** (नादबिन्दु० ३०) अर्थात् प्रणव ही ब्रह्मरूप है और वही नादरूप ब्रह्म है, उसे ही ॐ कार कहते हैं। इस ॐ कार की नाद साधना को ही प्रणव सन्धान कहते हैं। नादबिन्दूपनिषद् में ही प्रणव संन्धान प्रक्रिया का उल्लेख इस प्रकार है कि साधक को सिद्धासन में बैठकर वैष्णवी मुद्रा धारण करके दाहिने कान के अर्न्तगत उठती अनाहत ध्वनि (नाद) का निरन्तर श्रवण करना चाहिए।

१९२. प्रतिष्ठा—द्र०-ज्ञानखण्ड।

१९३. प्रत्यगात्मा—द्र०-ज्ञानखण्ड।

१९४. प्रत्याहार—द्र०-ज्ञानखण्ड।

१९५. प्रपञ्च—आध्यात्मिक सन्दर्भों में 'प्रपञ्च' शब्द का उपयोग बहुत होता है, जिसे भवसागर या संसार के अर्थ में लिया जाता है। कोशग्रन्थों में प्रपञ्च शब्द की रचना इस प्रकार वर्णित है- **प्रपञ्च्यते इति प्र-पचि व्यक्तीकरणे घञ्** (हिन्दी विश्व कोष)। इसके कई अर्थ हैं १. विस्तार, फैलाव। २. उलट-पलट, इधर का उधर। ३. पञ्चतत्त्वों का उत्तरोत्तर अनेक भेदों में विस्तार। ४. संसार, भवजाल। ५. सांसारिक व्यवहारों का विस्तार, दुनिया का जंजाल आदि। इनमें से तृतीय क्रमांक वाले अर्थ में ही इसका सर्वाधिक उपयोग किया जाता है। सम्भवतः जगत् का निर्माण- विस्तार वेदान्तवर्णित पञ्चीकरण (पंचभूतों के पञ्चीकृत विभाजन) प्रक्रिया द्वारा होने से इसे प्रपञ्च कहा जाने लगा होगा। उपनिषद् ग्रन्थों में 'प्रपञ्च' शब्द का उपयोग भवसागर, माया आदि के रूप में हुआ है। आत्मबोधोपनिषद् में आत्मबोध प्राप्त साधक का कथन है कि आत्मबोध हो जाने पर यह प्रपञ्च (जगत् या माया) मुझे सत्य (ब्रह्मरूप) ही लगता है। मिथ्या होने पर ही बन्ध-मोक्षादि व्यवहार सत्य जान पड़ते हैं। जिस प्रकार सर्पादि में रज्जु (रस्सी) का अस्तित्व है, उसी प्रकार प्रपञ्च आदि में केवल ब्रह्म सत्ता ही आधारभूत होकर वर्तती है-**विवेक युक्ति बुद्ध्याऽहं .....प्रतीयते। निवृत्तोऽपि प्रपञ्चो मे .....ब्रह्मसत्तैव केवलम्** (आत्मबोधो० २.११-१२)। महोपनिषद् में इस जगत् रूप प्रपञ्च को अस्थिर और क्षणिक बताते हुए ऋभुपुत्र निदाघ ने अपने पिता से इस संसार से विरक्त होने की अपनी इच्छा प्रकट की है- **जायते मृतये लोको म्रियते जननाय च। अस्थिराः सर्व एवेमे सचराचर चेष्टिताः। ....आयुः पल्लवकोणाग्रलम्बाम्बुकणभङ्गुरम्। उन्मत्त इव संत्यज्य यात्यकाण्डे शरीरकम्** (महो० ३.४,९)।

१९६. प्रमेय-अप्रमेय— प्रमेय शब्द की संरचना से ही स्पष्ट है कि जो वस्तु या पदार्थ प्रमा योग्य अर्थात् अपना वास्तविक ज्ञान कराने के योग्य अथवा प्रमाणों द्वारा सिद्ध किये जाने योग्य है, उसे प्रमेय कहते हैं अथवा दूसरे शब्दों में जगत् का प्रत्येक पदार्थ जो प्रत्यक्ष, शब्द या अनुमान प्रमाण से सिद्ध किया जा सकता है, उसे प्रमेय कहेंगे। जैसे अग्नि में से धूम्र निकलता प्रत्यक्ष दिखाई दे, तो यह प्रत्यक्ष प्रमाणित हो गया कि वह धूम्र अग्नि से ही निकल रहा है। इसी प्रकार यदि कहीं केवल धूम्र निकलता दिखाई दे, तो अनुमान द्वारा यह प्रमाणित हो जाता है कि वहाँ अग्नि सुनिश्चित रूप से होगी ही। अनुमान प्रमाण का '**यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः**' का सिद्धान्त सर्वविदित है। इस जगत् के कारण रूप परब्रह्म को प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता; क्योंकि प्रमाणित करना बुद्धिगम्य है और परब्रह्म बुद्धि से परे है, इसलिए उसका एक विशेषण अप्रमेय है। वेद, शास्त्र, उपनिषदों आदि में ईश्वर अथवा ब्रह्म की जो व्याख्याएँ की गई हैं, वे उसके स्वरूप के बहुत निकट तो हैं, किन्तु पूर्ण नहीं; क्योंकि इन आर्षग्रन्थों में भी अन्ततः नेति-नेति (इतना ही नहीं, इतना ही नहीं) लिखा है। इस प्रकार परब्रह्म का अप्रमेय नाम सार्थक ही है। मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् में परब्रह्म को सर्वेश, अप्रमेय, अज, शिव, परमाकाश, निराश्रय, अद्वैत, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र आदि का लक्षण स्वरूप और सबका कारण कहा गया है— **.....तदनु सर्वेशमप्रमेयमजं शिवं परमाकाशं निरालम्बमद्वयं ब्रह्मविष्णुरुद्रादीनामेकलक्ष्यं सर्वकारणं परं ब्रह्मात्मन्येव .....प्राप्नोति** (मं० ब्रा०उ० ३.१.३)।

१९७. प्रव्रज्या—द्र०-अवधूत।

१९८. प्रजापत्य—द्र०-ब्रह्मचारी।

१९९. प्रजापत्य इष्टि—द्र०-आग्नेयी इष्टि।

२००. प्रजापत्य यज्ञ—द्र०-आग्नेयी इष्टि।

२०१. प्राज्ञ—द्र०-ज्ञानखण्ड ।

२०२. प्राण—द्र०-ज्ञानखण्ड-प्राण-सञ्चय।

२०३. प्राणहंस—प्रणवहंस (मुख्यप्राण)— आर्षग्रन्थों में जीवात्मा के लिए अनेक स्थलों पर 'हंस' शब्द का प्रयोग हुआ है-**प्राणिनां देहमध्ये तु स्थितो हंसः सदाऽच्युतः। हंस एव परं सत्यं हंस एव तु सत्यकम्** (ब्रह्मविद्यो० ६०); पर कुछ स्थलों पर प्रणव हंस अथवा प्राण हंस का उल्लेख मुख्य प्राण के लिए भी मिलता है। मुख्य प्राण के विषय में कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में उल्लेख है कि प्राणी के अन्दर निवास करने वाले मुख्य प्राण से ही उसकी इन्द्रियों में निवास करने वाले अन्य समस्त प्राण सम्बद्ध हैं। इसीलिए व्यक्ति एक ही समय में बोल, देख, सुन और सूँघ नहीं सकता; क्योंकि जिस समय वह बोलता है, उस समय मुख्य प्राण तो वाणी में सक्रिय रहता ही है; साथ ही अन्य इन्द्रियों के प्राण भी उसी के सहयोग में लग जाते हैं। इसीलिए किसी वस्तु को ध्यान से देखते समय वह कुछ बोल, सुन या सूँघ नहीं सकता; क्योंकि समस्त प्राणों की शक्ति देखने में ही लग जाती है-**तद्धैक आहुरेकभूयं वै प्राणा गच्छन्तीति न हि कश्चन शक्नुयात् सकृद्वाचा नाम प्रज्ञापयितुं चक्षुषा रूपं श्रोत्रेण शब्दं मनसा ध्यातमित्येकभूयं वै प्राणा एकैकं सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञापयन्ति** (कौ०ब्रा०उ० ३.२) चूँकि जीवात्मा को हंस कहा जाता है और वह जीवात्मा वस्तुतः मुख्य प्राण ही है, अतः मुख्य प्राण को भी प्राण हंस कहते हैं। इसी प्रकार प्रणव अर्थात् ॐ (अ, उ और म्) का उच्चारण भी मुख्य प्राण की स्वसंचालित प्रक्रिया (श्वास-प्रश्वास) द्वारा होता रहता है। यह अजपा जप सोऽहं अर्थात् हंस (अहं सः) ही कहलाता है। इसीलिए मुख्य प्राण को प्रणव हंस भी कहते हैं। हंस और प्रणव में अभेद है; क्योंकि ॐ और सोऽहं मंत्र का अजपाजप एक साथ चलता रहता है, इसीलिए पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् में इन दोनों का अभेद वर्णित है-**हंस प्रणवयोरभेदः** (पाशुपत० पूर्व १९)। प्रणव हंस को ब्रह्म सूत्र अथवा यज्ञ सूत्र भी कहा गया है; क्योंकि प्रणव ॐ ही ब्रह्मप्राप्ति का उपाय अथवा स्वयं ब्रह्म है- **प्रणवं ब्रह्मसूत्रं ब्रह्म यज्ञमयम्। प्रणवान्तवर्ती हंसो ब्रह्मसूत्रम्** (पाशुपत० पूर्व १७)। परब्रह्मोपनिषद् में परब्रह्म की स्थिति निरूपित करते हुए उपनिषद्कार ने उसे सदैव प्रसन्नता देने वाला, असङ्ग, चिद्रूप, पुरुष और प्रणवहंस (परब्रह्म) बताया गया है। यहाँ प्रणव हंस प्राणहंस (मुख्य प्राण) के रूप में विवक्षित नहीं है; वरन् परब्रह्म के रूप में विवक्षित है। इसका स्पष्टीकरण देते हुए ब्रह्मयोगी ने लिखा है-**संप्रसादः अन्तर्याम्यसङ्गचिद्रूपः पुरुषः स एव प्रणवार्थ तुर्य-तुर्य हंसः परं ब्रह्मेत्युच्यते। अत्र न प्राणहंसो मुख्यः प्राणो विवक्षितः परब्रह्मप्रकरणत्वात्** (परब्रह्मो० २ टीका)।

२०४. प्राणायाम— योग शास्त्रों में प्राणायाम की महिमा सर्वत्र गायी गयी है। कोशग्रन्थों में प्राणायाम शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार विवेचित है- **प्राणस्य वायुविशेषस्य आयामः रोधः यद्वा प्राण आयम्यन्तेऽनेनेति**- अर्थात् प्राण वायु का गति-विच्छेद कारक व्यापार भेद। अष्टाङ्गयोग में यम, नियम, आसन के उपरान्त प्राणायाम का क्रम आता है। चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है-'**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**'। चित्तवृत्तियों अथवा मन की एकाग्रता में प्राणायाम बहुत सहायक सिद्ध होता है। योग सूत्र के अनुसार वायु प्रच्छर्दन करके अर्थात् प्राणवायु आकर्षण सहित त्याग करके विधारण करना (अर्थात् खींची हुई वायु को शास्त्रोक्त विधान के अनुसार धारण करना) प्राणायाम कहलाता है-**प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य** (पातं० योग० सू०स०पा०-३४)। पातञ्जल योग में प्राणायाम की परिभाषा इन शब्दों में उल्लिखित है- **तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः**। अर्थात् आसन के स्थिर होने के पश्चात् श्वास-प्रश्वास की गति रोकने को प्राणायाम कहते हैं। अधिक स्पष्ट शब्दों में इसका अभिप्राय यह है कि श्वास-प्रश्वास की गतियों के प्रवाह को रेचक, पूरक और कुम्भक के माध्यम से बाहर और भीतर दोनों स्थानों में रोकना (विराम देना) ही प्राणायाम है। श्वास के भीतर जाने को श्वास (पूरक), बाहर निकलने को प्रश्वास (रेचक) तथा अन्दर और बाहर रुकने को विराम (कुम्भक) कहते हैं। प्राण के पाँच भेद हैं, इन्हें प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान कहते हैं। प्राणायाम प्रक्रिया में प्राण और अपान का मिलन होता है। इसीलिए योगाचार्यों ने प्राण और अपान का मिलन ही प्राणायाम का लक्षण बताया है। इस सन्दर्भ में योगी याज्ञवल्क्य नामक ग्रन्थ में उल्लेख है- **प्राणापानसमायोगः प्राणायाम इतीरितः। प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचकपूरककुम्भकैः** (योगियाज्ञ० ६.२)।

उपनिषदों में भी प्राणायाम का महत्त्व विवेचित है। अमृतनादोपनिषद् में प्राणायाम को समस्त इन्द्रियों के दोष उसी तरह दूर करने वाला बताया गया है, जिस प्रकार स्वर्ण को तपाने से उसके समस्त दोष दूर हो जाते हैं-**यथा**

पर्वतधातूनां दह्यन्ते धमनान्मला:। तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणधारणात् (अमृतनादो० ७)। इसी उपनिषद् के ग्यारहवें मंत्र में प्राणायाम की परिभाषा इन शब्दों में निर्दिष्ट है- **सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह। त्रि: पठेदायतप्राण: प्राणायाम: स उच्यते** अर्थात् ॐ कार और व्याहृतियों सहित गायत्री मंत्र का तीन बार पाठ करते हुए पूरक-कुम्भक और रेचक प्रक्रिया करने को (एक) प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम को प्रणव ही माना गया है; क्योंकि प्रणव (ॐ या ॐ कार) में तीन अक्षर अ,उ और म् हैं तथा रेचक, पूरक और कुम्भक में भी तीन-तीन वर्ण ही हैं। अत: यह प्रत्यक्ष प्रणव उपासना ही है-**वर्णत्रयात्मका: प्रोक्ता रेचक पूरक कुम्भका:। स एष प्रणव: प्रोक्त: प्राणायामश्च तन्मय:** (जा०दर्शनो० ६.२)।

यों तो पूरक-कुम्भक और रेचक एक ही प्राणायाम की प्रक्रियाएँ हैं; किन्तु कुछ योग शास्त्रों व उपनिषदों में रेचक, पूरक और कुम्भक को प्राणायाम के ही प्रकार माने गये हैं। अमृतनादोपनिषद् (१२) में रेचक प्राणायाम का स्वरूप इस तरह बताया है-**उत्क्षिप्य वायुमाकाशे शून्यं कृत्वा निरात्मकम्। शून्यभावे नियुञ्जीयाद्रेचकस्येति लक्षणम्** अर्थात् जिस प्राणायाम में प्राणवायु को आकाश में निकालकर हृदय को वायु से रहित और मन को चिन्तन शून्य कर दिया जाता है, वह रेचक प्राणायाम है। इसी प्रकार पूरक प्राणायाम का स्वरूप इस तरह बताया है—**वक्त्रेणोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नर:। एवं वायुर्ग्रहीतव्य: पूरकस्येति लक्षणम्** (अमृतनादो० १३)। इसका अभिप्राय है कि जिस प्रकार मुख से कमल नाल द्वारा जल को खींचते हैं, उसी प्रकार धीरे-धीरे वायु को अपने अन्दर खींचना पूरक प्राणायाम है। इसी उपनिषद् में कुम्भक प्राणायाम का लक्षण इस प्रकार उल्लिखित है-**नोच्छ्वसेन्न च निश्वसेनैव गात्राणि चालयेत्। एवं भावं नियुञ्जीयात् कुम्भकस्येति लक्षणम्** अर्थात् कुम्भक प्राणायाम में न तो श्वास खींचते हैं और न ही निकालते हैं; वरन् शरीर को निश्चल करके स्थिर रखकर प्राणवायु को (अन्दर या बाहर) रोके रखते हैं। कुम्भक प्राणायाम आठ प्रकार के होते हैं-**सहित: सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा। भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाष्टकुम्भका:** (गोरक्ष सं० १९५, घेर० सं०) अर्थात् क्रिया भेद से कुम्भक प्राणायाम के आठ प्रकार-सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा और केवली हैं। कुछ विद्वानों ने सहितकुम्भक और केवली कुम्भक के स्थान पर सीत्कारी (शीतकारी) और प्लाविनी कुम्भक नामक प्राणायाम का उल्लेख किया है। वैसे तो ९६ प्रकार के प्राणायाम होते हैं; पर इन सबका सविस्तार वर्णन यहाँ सम्भव नहीं है; वर्तमान समयानुरूप सरल और उपयोगी कुछ प्राणायामों का संक्षिप्त वर्णन करना यहाँ उचित प्रतीत होता है। ये प्राणायाम हैं-

अ. **प्राणाकर्षण प्राणायाम—** जिन्होंने कभी प्राणायाम की किसी विधि का अभ्यास नहीं किया, उनके लिए सर्वप्रथम प्राणाकर्षण प्राणायाम का अभ्यास करना आवश्यक है। यह अन्य साधनाओं से पूर्व उसी प्रकार उपयोगी है, जिस प्रकार बीज बोने से पूर्व भूमि को कई बार जोतकर पौधों की जड़ें सुगमता से भूमि के अन्दर जाने योग्य बनाया जाता है। इससे नस-नाड़ियाँ सशक्त बनतीं और शरीर इस योग्य हो जाता है कि अन्य शक्तिशाली साधना विधियों के प्रभाव को ग्रहण कर सके। इसकी प्रक्रिया यह है- प्रात:काल किसी शांत और एकान्त स्थल पर सुखासन में कमर सीधी करके बैठकर नेत्र बन्द करके दोनों नासिका छिद्रों से श्वास खींचते हुए यह भावना की जाती है कि हमारे चारों ओर प्राण का दिव्य सागर लहरा रहा है और वह (प्राण) श्वास के माध्यम से हमारे शरीर के अंग-प्रत्यंग में पहुँच रहा है। इस पूरक प्रक्रिया के बाद कुछ (एकाध मिनट) देर तक अन्दर ही रोक कर अन्त:कुम्भक करके उस प्राण तत्त्व को अंग-प्रत्यंग में स्थापित होने का भाव किया जाता है; तदुपरान्त रेचक करते हुए, श्वास को धीरे-धीरे बाहर निकालते समय यह भावना भी की जाती है कि अन्दर के दोष-दुर्गुण, कषाय-कल्मष बाहर निकल रहे हैं। इसमें ध्यान रखने की बात यह है कि पूरक से रेचक में अधिक समय लगे। यदि यह न बन पड़े, तो पूरक जितना समय तो रेचक में लगना ही चाहिए। श्वास खींचने व निकालने की प्रक्रिया धीरे-धीरे ही की जाती है, जल्दी से या झटके से नहीं। श्वास बाहर निकल जाने के पश्चात् कुछ सेकेण्ड बाह्य कुम्भक अर्थात् थोड़ी देर श्वास को बाहर ही रोका जाता है। प्रारंभ में यह प्राणायाम ५ बार से अधिक नहीं किया जाता। बाद में बढ़ाते-बढ़ाते २० तक भी किया जा सकता है। इस प्राणायाम से सुस्ती, निरुत्साह, झिझक आदि दूर होकर अन्दर एक प्रचण्ड शक्ति का अनुभव होने लगता है।

ब. **लोम-विलोम (सूर्यभेदन) प्राणायाम—** जब प्राणाकर्षण प्राणायाम द्वारा पूरक, कुम्भक और रेचक का अभ्यास दृढ़ हो जाता है, तब लोम-विलोम अथवा सूर्य भेदन (सूर्यभेदी) प्राणायाम किया जाता है। इसमें भी पूर्वोक्त प्रकार से बैठकर कमर सीधी करके दायें हाथ की अँगुलियों और अँगूठे की सहायता से सर्वप्रथम बायें नथुने को बन्द करके, दायें से धीरे-

धीरे श्वास खींचते हैं तथा अन्त: कुम्भक करते समय नाभिस्थित सूर्यचक्र के जाग्रत् और प्रकाशित होने का भाव करते हुए यह भावना करते हैं कि हमारा अंग-प्रत्यंग नवजीवन प्राप्त कर रहा है। रेचक के उपरान्त बाह्य कुम्भक के समय भी यह भाव किया जाता है कि नाभि स्थित सूर्यचक्र से अग्नि सदृश तेज लपटें उठ रही हैं, वे सुषुम्ना नाड़ी, फेफड़ों, हृदय, कण्ठ आदि अवयवों को तेजस्वी बना रही हैं। इसमें सूर्यचक्र जाग्रत् हो जाता है तथा हर कार्य में उत्साह, उमंग एवं शरीर में स्फूर्ति आती है।

स. **नाड़ी शोधन प्राणायाम**- मनुष्य के अशुद्ध खान-पान व अनुपयुक्त रहन-सहन से शरीर में विभिन्न प्रकार के मल एकत्र हो जाते हैं। ये केवल मलाशय में ही एकत्र नहीं होते; वरन् दूषित गैसें प्रकट कर रक्त को भी दूषित कर समस्त नस-नाड़ियों में भी पहुँच जाते हैं। जिससे अनेक रोग हो जाते हैं, इसके लिए नाड़ी शोधन प्राणायाम सर्वोत्तम है। इसके लिए भी पूर्वोक्त प्रकार से खुली वायु में बैठकर दायीं नासिका का छिद्र बन्द करके बायें से धीरे-धीरे श्वास को इतना खींचते हैं कि वह फेफड़ों के अतिरिक्त पेट में भी भर जाय (इससे नाभिचक्र भी प्रभावित होता है), साथ ही (श्वास खींचते समय) यह भावना की जाती है कि वह नाभिस्थित चन्द्रमा [बायें नथुनें से श्वास खींचते समय श्वास इड़ा नाड़ी (जिसे चन्द्र नाड़ी भी कहते हैं) द्वारा अन्दर जाती है] को स्पर्श कर शीतल और प्रकाशवान् बना रही है। इसमें अन्त: कुम्भक और बाह्य कुम्भक करने की आवश्यकता नहीं है। श्वास बाहर भी बायें नथुने से ही यह भाव करते हुए निकाली जाती है कि इड़ा नाड़ी शैत्य और शुद्धि प्राप्त कर पुष्ट हो रही है। यह क्रम तीन बार दुहराते हैं। तदुपरान्त बायें नथुने को बन्द करके तीन बार वही उपक्रम दायें नथुने से करते हुए नाभि स्थित सूर्य चक्र की ऊष्मा और प्रकाश से पिंगला अथवा सूर्यनाड़ी के शुद्ध और सशक्त होने की भावना करते हैं। इसके बाद दोनों नथुनों से श्वास खींचकर एकबार मुख मार्ग से बाहर निकाल देते हैं। इस प्रकार यह सम्पूर्ण क्रिया करने पर एक नाड़ी शोधन प्राणायाम होता है। इससे नाड़ियाँ मलरहित, शरीर हल्का और शक्तिसम्पन्न बनता है। ये तीनों प्राणायाम सर्वोपयोगी और सरल हैं, इन्हें हर कोई सम्पन्न कर सकता है तथा खतरा कुछ भी नहीं। प्राणायाम के उपरान्त ही योग के अन्य अंग प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि की ओर बढ़ सकना सम्भव होता है।

२०५. **प्रारब्ध**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२०६. **प्लुतमात्रा**—द्र०-भूचर सिद्धि।

२०७. **फेनप**—द्र०-वानप्रस्थ।

२०८. **बन्ध**— हठयोग के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के बन्धों का उल्लेख है। विभिन्न उपनिषदों जैसे योग कुण्डल्युपनिषद्, योग-चूड़ामणि उपनिषद्, योगतत्त्व उपनिषद्, योग शिखोपनिषद् और शाण्डिल्योपनिषद् में भी बन्धों का वर्णन है। इनका मूल उद्देश्य शरीरगत वायु को नियन्त्रित करना है। योग शिखोपनिषद् में इनकी महत्ता इन शब्दों में प्रतिपादित है-**बन्धत्रयमथेदानीं प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम्। नित्यं कृतेन तेनासौ वायोर्जयमवाप्नुयात्** (यो०शि० १०१)। पाँच बन्धों में प्राय: तीन बन्ध प्रमुख हैं। ये हैं मूलबन्ध, उड्डियानबन्ध और जालन्धर बन्ध, इसके अतिरिक्त महाबन्ध और महावेध का भी उल्लेख पाया जाता है। योगतत्त्वोपनिषद् में **मूलबन्ध** का यह स्वरूप प्रतिपादित है-**पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढम्। अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य योनिबन्धोऽयमुच्यते। प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्** (यो.त. १२०-१२१) अर्थात् लिङ्ग स्थान और मूल (गुदा) के रन्ध्र को बन्द करने एवं अपान वायु का ऊर्ध्वगमन करके प्राण वायु के साथ एकत्व ही मूलबन्ध है। इसमें बाएँ पैर को सीवन (एड़ी को गुदा और लिङ्ग के बीच) में दृढ़तापूर्वक लगाकर और उसे सिकोड़कर अधोगामी अपान वायु का ऊर्ध्वगमन किया जाता है। उससे कुण्डलिनी शक्ति ऊपर की ओर चढ़ती है। **उड्डियान बन्ध** का स्वरूप उपनिषदों में इस प्रकार निरूपित है-**बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यत:। उड्याणाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभि: समुदाहृत:** (यो०त० ११९)। इस बन्ध में दोनों जानुओं को मोड़कर पैरों के तलुवों को आपस में मिलाकर नाभि से नीचे और आठ अंगुल ऊपर के पेट के हिस्से को बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड में इस प्रकार लगाया जाता है, जिससे पेट में गड्ढा जैसा दीखने लगता है। इससे प्राण, पक्षी की तरह सुषुम्ना की ओर उड़ने लगता है। जिसके कारण ही इसका नाम उड्डियान बन्ध पड़ गया है। **जालन्धर बन्ध** के सन्दर्भ में योगतत्त्व उपनिषद् कहता है-**कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद्दृढया धिया। बन्धो जालन्धराख्योऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी** (यो०त० ११८) अर्थात् कण्ठ का आकुञ्चन करके ठोड़ी को कण्ठ कूप में दृढ़तापूर्वक इस प्रकार स्थापित करे कि हृदय से ठोड़ी का अन्तर मात्र चार अंगुल का रह जाय और सीना आगे की ओर तना हुआ हो। कण्ठ क्षेत्र के समस्त नाड़ी जाल को बाँध कर उस प्रदेश की सभी विकृतियों

को दूर करने के कारण ही इसे जालन्धर बन्ध कहते हैं। जालन्धर बन्ध के सन्दर्भ में विवेक मार्तण्ड में उल्लेख है- **जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे। न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति** (वि० मार्त० ६७)।

महाबन्ध प्राय: पूर्वोक्त तीनों बन्धों का सम्मिलित स्वरूप होता है। योग तत्त्व उपनिषद् (११२-११४) में उल्लेख है- **पार्ष्णिवामस्य पादस्य.....उभयत्रैवमभ्यसेत्**। महावेध में मूलबन्धपूर्वक पद्मासन से बैठकर प्राण और अपान वायु को नाभि प्रदेश पर एक करके, दोनों हाथ तानकर नितम्बों से मिलाते हुए भूमि पर जमाकर नितम्बों को आसन के साथ ही उठाकर बार-बार भूमि पर ताड़ित किया जाता है। इससे प्राण सुषुम्ना में प्रविष्ट होकर कुण्डलिनी का जागरण होता है।

२०९. बन्धन—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२१०. बहूदक—द्र०-अवधूत।

२११. बिन्दु—सामान्यत: बिन्दु शब्द जल कण, बूंद के अर्थ में प्रयुक्त होता है। हाथी के मस्तक पर शोभा हेतु लगाई जाने वाली बिन्दी के अर्थ में तथा मनुष्यों द्वारा भी दोनों भौहों के बीच लगाये जाने वाले गोल तिलक के अर्थ में भी बिन्दु या विन्दु शब्द प्रयुक्त होता है। रेखा गणित में भी नियत स्थान पर जिसका विभाग न हो सके, उसे बिन्दु कहते हैं। शब्दों के ऊपर अनुस्वार रूप में लगने वाली बिन्दी को भी बिन्दु कहते हैं। ब्रह्मचर्य प्रकरण में वीर्य के अर्थ में भी बिन्दु का प्रयोग किया जाता है- **एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित्। मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दु धारणात्** (ह०प्र० ३.८८) अर्थात् बिन्दु (वीर्य) का संरक्षण करने वाला योग तत्त्व का ज्ञाता मृत्यु को जीत लेता है, क्योंकि बिन्दु धारण ही जीवन तथा बिन्दु पतन ही मरण है। इसकी महत्ता यहाँ तक बतायी गयी है कि बिन्दुधारण से शरीर में सुगन्धि उत्पन्न हो जाती है तथा जिसके शरीर में वीर्य (बिन्दु) है, उसे मृत्यु का भय कहाँ-**सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात्। यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः** (ह०प्र० ३.८९)।

श्रीमद्भागवत और शारदा तिलक में उल्लेख है कि सच्चिदानन्द विभव परमेश्वर से शक्ति, शक्ति से नाद और नाद से बिन्दु का प्रादुर्भाव हुआ है-**सच्चिदानन्दविभवात् सकलात् परमेश्वरात्। आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दुसमुद्भवः॥** हिन्दी विश्वकोश खं० २९ पृष्ठ ४२६ में कुञ्जिका तन्त्र में वर्णित बिन्दु को सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला (अर्थात् ब्रह्म) माना गया है-**आसीद्बिन्दुस्ततो नादो नादाच्छक्तिः समुद्भवा**। क्रियासार नामक ग्रन्थ में बिन्दु को शिवात्मक (कल्याणकारी) और बीज को शक्त्यात्मक माना गया है। इन दोनों के संयोग से ही नाद और नाद से त्रिशक्ति उत्पन्न हुई है- **बिन्दुः शिवात्मकस्तत्र बीजं शक्त्यात्मकं स्मृतम्। तयोः ....जातास्त्रिशक्तयः॥** (हि०वि० को०खं०२१ पृ० ४२६) नाद से बिन्दु का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण ही प्रायः नाद और बिन्दु शब्दों का उल्लेख एक साथ ही मिलता है। मण्डल ब्राह्मण उपनिषद् में उस परब्रह्म को नाद बिन्दु-कलातीत और अखण्डमण्डलाकार कहा गया है- **तन्नादबिन्दुकलाऽतीतमखण्डमण्डलम्** (मं० ब्रा०उ० २.१.४)। योगशिखोपनिषद् में नाद को ही बिन्दु और बिन्दु को ही चित्त कहा गया है, अर्थात् तीनों एक ही तत्त्व हैं-**यो वै नादः स वै बिन्दुस्तद्वै चित्तं प्रकीर्तितम्। नादो बिन्दुश्च चित्तं च त्रिभिरैक्यं प्रसाधयेत्** (यो०शि० ६.७२)। इसी प्रकार (बिन्दु की) उत्पत्ति, स्थिति और कारण वाला मन ही बिन्दु है; क्योंकि मन से बिन्दु उसी प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार दूध से घृत-**मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्तिस्थिति कारणम्। मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम्** (यो०शि० ६.७३)। इस प्रकार बिन्दु शब्द के अनेक अर्थ हैं। योग और ध्यान सन्दर्भों में यह ब्रह्म, चित्त, मन आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है।

२१२. बृहन् (बृहत्)—द्र०-ब्रह्मचारी।

२१३. बोध—द्र०-ज्ञानखण्ड- बोध-प्रतिबोध।

२१४. ब्रह्म—द्र०-ज्ञानखण्ड-ब्रह्म-परब्रह्म।

२१५. ब्रह्मचर्य—द्र०-यम।

२१६. ब्रह्मचारी— भारतीय आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत जीवन को चार भागों में बाँटा गया है। इन चारों भागों की अवधि को ही चार आश्रम कहते हैं, जो इस प्रकार है- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। आर्ष मान्यता के आधार पर प्रत्येक आश्रम की अवधि २५ वर्ष मानी गई है; क्योंकि ऋषियों की परिकल्पना थी कि जीवन १०० वर्ष का होता है। प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य कहलाता है। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले को ब्रह्मचारी कहते हैं। 'ब्रह्मचर्य' शब्द का विस्तृत विवेचन इसी खण्ड के परिभाषा कोश, परिशिष्ट में 'यम' शब्द के अन्तर्गत किया जा चुका है। ब्रह्मचारी की परिभाषा इस

एक ही वाक्य से स्पष्ट हो जाती है - **ब्रह्मणि वेदे चरति इति ब्रह्मचारी** अर्थात् जो वेद-ब्रह्म के चिन्तन-मनन में नित्य तल्लीन रहता है, वह ब्रह्मचारी है।

आश्रमोपनिषद् के प्रथम मंत्र में ब्रह्मचारी के चार भेद वर्णित हैं। गायत्र, ब्राह्म (ब्राह्मण), प्राजापत्य और बृहन् (बृहत्)- **तत्र ब्रह्मचारिणश्चतुर्विधा भवन्ति गायत्रो ब्राह्मः प्राजापत्यो बृहन्निति।** इनमें जो ब्रह्मचारी उपनयनोपरान्त तीन रात्रि तक अलवण (बिना नमक का) भोजन ग्रहण करके गायत्री मंत्र का जप करते हैं, उन्हें गायत्र कहते हैं-**य उपनयनादूर्ध्वं .....गायत्रीमधीते स गायत्रः** (आश्रमो० १)। जो अड़तालीस वर्ष पर्यन्त वेद के पठन-पाठन हेतु ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं अर्थात् प्रत्येक वेद का पाठ १२ वर्ष तक करते हुए ब्रह्मचर्य पालते हैं, वे ब्राह्म या ब्राह्मण कहलाते हैं। जो २४ वर्ष तक गुरुकुल में रहे। (ध्यातव्य है कि प्रचलित ब्राह्मण शब्द की व्याख्या १०८ उपनिषद् के ज्ञानखण्ड के परिभाषाकोश परिशिष्ट में की जा चुकी है। यहाँ ब्राह्म के पर्याय स्वरूप लिखा गया ब्राह्मण शब्द ब्रह्मचारी के एक भेद के सन्दर्भ में आया है।) जो गृहस्थ होते हुए केवल ऋतुकाल में अपनी पत्नी से ही संसर्ग करने वाले तथा परदारा (दूसरे की स्त्री) को त्यागने या निषिद्ध मानने वाले हैं, उन्हें प्राजापत्य कहते हैं-**स्वदारनिरत ऋतुकालाभिगामी सदा परदारवर्जी प्राजापत्यः** (आश्रमो० १)। उन्हें भी प्राजापत्य ही कहा जाता है, जो ४८ वर्ष तक गुरुकुल में निवास करें। जो (ब्रह्मचारी) जीवन पर्यन्त गुरु का परित्याग न करे, ऐसा नैष्ठिक बृहन् या बृहत् कहलाता है- **आ प्रायणाद्गुरोरपरित्यागी नैष्ठिको बृहन्निति** (आश्रमो० १)। इस प्रकार आचरण भेद से ब्रह्मचारी के ये चार प्रकार हैं।

२१७. **ब्रह्मतत्त्व**—द्र०-ज्ञानखण्ड-ब्रह्म-परब्रह्म।

२१८. **ब्रह्मनिष्ठ**—द्र०-ज्ञानखण्ड-ब्रह्म विद्या।

२१९. **ब्रह्मपुर**—द्र०-अष्टदल कमल।

२२०. **ब्रह्मयज्ञ**—द्र०-वानप्रस्थ।

२२१. **ब्रह्मरन्ध्र**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२२२. **ब्रह्मलीन**—द्र०-ज्ञानखण्ड-जीवन्मुक्त।

२२३. **ब्रह्मविद्या**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२२४. **ब्रह्मवेत्ता**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२२५. **ब्रह्माण्ड**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२२६. **ब्रह्मानन्द**—द्र०-अद्वयानन्द।

२२७. **ब्राह्म**—द्र०-ब्रह्मचारी।

२२८. **ब्राह्मण**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२२९. **भद्रासन**—द्र०-आसन।

२३०. **भवसागर**—द्र०-ज्ञानखण्ड- जीवन्मुक्त।

२३१. **भिक्षु**—द्र०-अवधूत।

२३२. **भूचर सिद्धि**—योग साधनाओं से विभिन्न प्रकार की सिद्धियों का वर्णन योग शास्त्रों में मिलता है। अष्टसिद्धियों का कई स्थलों पर उल्लेख है। ये हैं- अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व। योग सम्बन्धी उपनिषदों में शरीर के नीरोग रहने की सिद्धि, दूर-दर्शन, दूर-श्रवण, दूरस्थ व्यक्ति की प्राणशक्ति द्वारा सहायता करना आदि अनेकों सिद्धियों का विवेचन है। कुछ सिद्धियाँ ऐसी भी हैं, जिनका प्रयोग या तो निषिद्ध है अथवा इनका प्रयोग बहुत ही सावधानी पूर्वक करने का निर्देश दिया गया है। प्राणायाम के अनेक प्रकारों द्वारा अनेकप्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इन्हीं में से एक सिद्धि है- भूचर सिद्धि। दत्तात्रेय स्मृति और योगतत्त्वोपनिषद् में इसका उल्लेख है। केवल-कुम्भक प्राणायाम सिद्ध हो जाने पर योगी के लिए त्रिलोक में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। केवल-कुम्भक प्राणायाम सिद्ध हो जाने पर रेचक और पूरक का त्याग कर दिया जाता है। उसके बाद अभ्यास के समय निकले पसीने को शरीर में ही मल लिया जाता है। देह में कम्प और दर्दुर भाव (मेंढक के उछलने जैसी चेष्टा) के बाद योगी का शरीर पद्मासन स्थिति

में ही भूमि से ऊपर उठने लगता है। इसके पश्चात् और भी अतिमानुषी चेष्टाएँ होने लगती हैं; पर इन्हें किसी के समक्ष प्रदर्शन न करने का स्पष्ट निर्देश है- **केवले कुम्भके सिद्धे .....न दर्शयेच्च सामर्थ्यं दर्शनं वीर्यवत्तरम्** (यो० त० ५०-५६)। शरीर वृत्तियों में और भी अनेक परिवर्तन होने पर भूचर सिद्धि हो जाती है। इसके प्राप्त हो जाने पर सभी भूचरों (पृथ्वी पर चलने वाले) जीवों पर विजय प्राप्त हो जाती है। व्याघ्र, शरभ, गवय (नीलगाय), सिंह आदि योगी के हस्त ताडन मात्र से ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। शरीर अनंग (कामदेव) के समान सुन्दर हो जाता है-**येन भूचरसिद्धिः स्याद्भूचराणां जये क्षमः। व्याघ्रो वा शरभो वाऽपि गजो गवय एव वा।। सिंहो वा योगिना तेन म्रियन्ते हस्तताडिताः। कन्दर्पस्य यथारूपं तथा स्यादपि योगिनः** (यो०त० ५९-६०)।

इस सिद्धि में अपेक्षित नैष्ठिक ब्रह्मचर्य धारण करने से शरीर सुगन्धित रहने लगता है, जिससे काम सम्बन्धी अनेक विघ्न आते हैं। अतः स्त्रियों का चिन्तन नहीं करना चाहिए और एकान्त स्थल में प्लुत मात्रा में (ॐ के उच्चारण में जितना समय लगता है, उससे तिगुने समय में) प्रणव (ॐ) का जप करना चाहिए, इससे पूर्वार्जित पापों का शमन होता है-**वर्जयित्वा स्त्रियां संगं..... प्रणवं प्लुतमात्रया। जपेत्पूर्वार्जितानां तु पापानां नाशहेतवे** (यो०त० ६२-६३)।

२३३. **भूमा**—कोशग्रन्थों में भूमा शब्द का अर्थ है- भारी परिमाण, प्राचुर्य, यथेष्टता बड़ी संख्या आदि। दौलत, पृथ्वी, प्रदेश, प्राणी आदि अर्थों में भी भूमा शब्द का प्रयोग मिलता है। उपनिषदों में भूमा शब्द ब्रह्म (ईश्वर) की एक विशेषता के रूप में प्रतिपादित है। छान्दोग्योपनिषद् में ईश्वर को भूमा (निरतिशय) कहते हुए उसे सुख कहा गया है-**यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमा भगवो विजिज्ञास इति** (छान्दो० ७.२३.१) अर्थात् सुनिश्चित रूप से भूमा (आधिक्य, निरतिशयत्व) ही सुख है। अल्प में सुख नहीं है। भूमा ही विशिष्टतः जानने योग्य है। भूमा का लक्षण क्या है ? यह बताते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है-(**किं लक्षणोऽसौ भूमेत्याह**) **यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ ...महिम्नीति** (छान्दो० ७.२४.१) अर्थात् जहाँ कुछ अन्य नहीं देखता, कुछ अन्य श्रवण नहीं करता तथा न ही कुछ जानता है, वही भूमा है; किन्तु जहाँ कुछ और देखता, सुनता व जानता है वह अल्प है; क्योंकि जो अल्प है, वह मरणधर्मा और जो भूमा (निरतिशय) है, वह अमृत है। वह भूमा कहाँ प्रतिष्ठित है, इसके उत्तर में कहा गया है वह भूमा अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है। वस्तुतः वह अपनी महिमा में भी प्रतिष्ठित नहीं है; क्योंकि संसार में गौ, अश्वादि को भी महिमा कहते हैं ; वह भूमा इनमें प्रतिष्ठित नहीं है, वह तो निरालम्ब अर्थात् अवलम्बन रहित है। वह भूमा नीचे-ऊपर, बायें-दायें,आगे-पीछे सभी ओर है। उसी भूमा में (व्यक्तिभाव से) अहंकारवश इस प्रकार कहा जाता कि मैं ही ऊपर-नीचे, दायें-बायें और सब ओर हूँ-**स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स ...ऽहमुत्तरतोऽहमेवेदꣳसर्वमिति** (छान्दो० ७.२५.१)। जिसका विभाजन न हो सके, जिसकी सीमा न हो या जो अन्तर रहित हो ऐसा भूमा है और ऐसे अखण्ड आनन्द को भूमानन्द कहा गया है। तेजोबिन्दूपनिषद् में उपनिषद्कार ने ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाने पर अथवा ब्रह्म से एकीभूत हो जाने पर आत्म स्वरूप का वर्णन करते हुए एक साधक का कथन इन शब्दों में उद्धृत किया है-**नित्यशेषस्वरूपोऽस्मि सर्वातीतोऽस्म्यहं सदा। रूपातीतस्वरूपोऽस्मि परमाकाश विग्रहः। भूमानन्दस्वरूपोऽस्मि भाषाहीनोऽस्म्यहं सदा। सर्वाधिष्ठानरूपोऽस्मि सर्वदा चिद्घनोस्म्यहम्** (ते०बि०३.१२-१३)।

इसी रूप में आत्मबोधोपनिषद् में भी आत्मबोध प्राप्त व्यक्ति अपने को भूमा स्वरूप बताता है .....**परमानन्द घनोऽहं परमानन्दैकभूमरूपोऽहं** (आत्मबोधो० २.८)। शतपथ ब्राह्मण में श्री को ही भूमा कहा गया है-**श्रीर्वै भूमा** (श०ब्रा० ३.१.१.१२)। इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में पुष्टि को भूमा की संज्ञा प्रदान की गई है- **पुष्टिर्वै भूमा** (तैत्ति०ब्रा० ३.९.८.३)। भूमा स्थिति प्राप्त कर लेने वाले साधु-सन्तों को भी कई लोग भूमा कहने लगते हैं।

२३४. **भृकुटि**—द्र०-त्रिदण्ड-त्रिपुण्ड्र।

२३५. **मन**—द्र०-ज्ञानखण्ड-मानस।

२३३. **मनन**—द्र०-निदिध्यासन।

२३७. **मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग**—भारतीय दर्शन में विभिन्न प्रकार के योगों का वर्णन मिलता है। योग का सामान्य अर्थ जोड़ना, मिलाना, संयोग संबंधी, संगति,ध्यान, युक्ति और चित्तवृत्ति निरोध आदि है। व्यावहारिक दृष्टि से योग के कई प्रकार हैं, जैसे- मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग आदि। योगतत्त्वोपनिषद् में इनका उल्लेख इन शब्दों में हुआ है-**योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः। मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः** (यो०त० १९)। ये सभी

मिलकर महायोग कहलाते हैं "**मन्त्रो लयो .....महायोगोऽभिधीयते**" (यो०शि० १२९)। सभी योगों की चार अवस्थाएँ होती हैं। ये हैं- आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था तथा निष्पत्ति अवस्था-**आरम्भश्च घटश्चैव .....परिकीर्तिता** (यो०त० २०)। मन्त्रयोग के लक्षण का उपनिषद्कार ने इन शब्दों में उल्लेख किया है.....**मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत्। क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम्। अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः** (यो०त०२१-२२) अर्थात् जो साधक मातृकायुक्त बारह सौ मन्त्र का जप करता हुआ मन्त्रयोग सिद्ध करता है,वह क्रमशः अणिमा आदि सिद्धियों का ज्ञान प्राप्त करता है। योगशिखोपनिषद् में मंत्रयोग को हंस (सोऽहम्) मंत्र पर आधृत होने का विवेचन है। समस्त प्राणियों द्वारा निरन्तर श्वास-प्रश्वास के द्वारा हंस मंत्र का जप होता रहता है; किन्तु जब गुरु उपदेश से साधक सुषुम्ना नाड़ी में (प्राण प्रविष्ट हो जाने पर) इसी मंत्र का उल्टा (हंस के स्थान पर) सोऽहम् का जप करता है,तब इसे मन्त्र योग कहते हैं- **हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः। हंसहंसेति मन्त्रोऽयं सर्वैर्जीवैश्च जप्यते॥ गुरुवाक्यात् .....मन्त्रयोगः स उच्यते** (यो०शि० १.१३०-१३१)। जो साधक चलते-फिरते,उठते-बैठते,सोते-खाते, चित्त को निष्कल परमात्मा में लगाते हैं अर्थात् परमात्मा में ध्यान को एकाग्र करते हैं,वे लययोग करते हैं-**लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः। गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्भुञ्जन्ध्या-येन्निष्कलमीश्वरम्। स एव लययोगः .....शृणु** (यो०त० २३-२४)। अन्यत्र भी लययोग का यही स्वरूप निर्दिष्ट है कि जब जीव और परमात्मा का ऐक्य होकर साधक का चित्त ब्रह्म में विलीन हो जाता है, तब शरीर स्थित पवन (प्राण) स्थैर्य को प्राप्त हो जाता है और लययोग का उदय होता है। लययोग से सुख और आत्मानन्दपूर्वक परम पद की प्राप्ति होती है- **.....क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं यदा भवेत्। .....पवनः स्थैर्यमायाति लय योगोदये सति॥ लयात् .....परं पदम्** (यो०शि० १.१३४-१३६)।

यमनियमादि योग के आठ अंगों, मुद्रा-बन्ध आदि के साथ जो योग करते हैं, वह हठ योग है। इसमें हठ पूर्वक इन्द्रियों को सहजधारा से अलग हटाकर निश्चित धारा में लगाने के कारण इसे हठ योग कहते हैं। हठयोग का विस्तृत वर्णन इसी परिभाषा कोश परिशिष्ट के 'हठयोग' प्रकरण में किया जा चुका है, विशेष जानकारी हेतु उसे देखना चाहिए। विभिन्न अंग-उपाङ्गों सहित हठयोग द्वारा जब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, तब उनके (योगियों के) लिए हठयोग की क्रियाओं की आवश्यकता नहीं रहती। वे सिद्धियाँ उनके लिए सहज हो जाती हैं। इसी को राजयोग कहते हैं- **हठयोगसिद्धोऽयं राजयोगः योगराजत्वात्** (यो०त० १३० टीका) अर्थात् हठयोग द्वारा जो पुरुष सिद्ध हो जाता है, वही राजयोगी है। एक अन्य उपनिषद् में राजयोग की परिभाषा इस प्रकार की गई है-**योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबन्धूकसंनिभम्। रजो वसति जन्तूनां देवीतत्त्वं समावृतम्। रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः। अणिमादिपदं प्राप्य राजते राजयोगतः** (यो०शि० १.१३६-१३८) अर्थात् प्रत्येक जन्तु (जीव)के योनि मध्य (मूलाधार और स्वाधिष्ठान के बीच स्थित कन्द), जिसे महाक्षेत्र की संज्ञा प्रदान की गई है,में जपा और बन्धूक के पुष्पों के समान लाल रंग वाला रज निवास करता है, जो देवी तत्त्व से समावृत है। जब यौगिक क्रियाओं (कुण्डलिनी साधना) द्वारा साधक शरीर के ऊर्ध्व भाग स्थित शिवस्वरूप रेतस् और अधोभाग स्थित रज का योग करता है, तब प्राण और अपान भी उन्हीं में लीन हो जाते हैं, इससे वह समस्त सिद्धियों का स्वामी बन जाता है। रज और रेतस् योग की इस क्रिया को ही राजयोग कहते हैं- **प्रकृत्यष्टकरूपं च स्थानं गच्छति कुण्डली। .....इत्यधोर्ध्वरजः शुक्ले शिवे तदनु मारुतः। प्राणापानौ समौ याति सह जातौ तथैव च** (यो०कु० १.७४-७५)। भौतिक जगत् में भी नारी के शरीर में स्थित रज और पुरुष के शरीर में स्थित रेतस् (वीर्य) के योग से ही नूतन जीवन (शिशु) का प्रादुर्भाव होता है; किन्तु योगी जनों के एक ही शरीर में यह प्रक्रिया सम्पन्न होती है और वे शनैः-शनैः इस अभ्यास से मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं-**एकेनैव शरीरेण योगाभ्यासाच्छनैः शनैः। चिरात्संप्राप्यते मुक्तिर्मर्कटक्रम एव सः** (यो०शि० १.१४०)।

राजयोग की प्रशंसा कई ग्रन्थों में उल्लिखित है। हठयोग प्रदीपिका में उल्लेख है कि आत्मज्ञान, विदेहमुक्ति,अणिमा आदि सिद्धियाँ, गुरु कृपा से प्राप्त राजयोग द्वारा उपलब्ध होती हैं-**राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः। ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते** (ह०प्र० ४.८)।

२३८. **ममता**—द्र०-**ज्ञानखण्ड -मोह-ममता-आसक्ति**।

२३९. **महापातक**—पातक शब्द पाप का पर्यायवाची है। किसी को किसी भी प्रकार से पीड़ा पहुँचाना ही पाप है। इसी प्रकार किसी को सुख पहुँचाना अथवा परोपकार करना ही पुण्य है। पाप-पुण्य को सामान्यतः इस श्लोक से स्पष्ट समझा जा सकता है- **अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥** पाप कई प्रकार के

होते हैं। उनकी श्रेणी के अनुसार उनके अलग-अलग नामकरण किये गये हैं, जैसे- उपपातक, महापातक आदि। छोटे पापों को उपपातक कहते हैं। कोशग्रन्थों के अनुसार इनकी संख्या प्राय: पचास है; जिनमें गोवध, परदारगमन, मातृत्याग, पितृत्याग, गुरुत्याग, आत्मविक्रय, अपत्यविक्रय, दारविक्रय, स्त्रीवध आदि प्रमुख हैं। महान् या बड़े पापों को महापातक कहते हैं, जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है- **महदतिशयितं पातकं इति महापातकम्**। महापातक पाँच प्रकार के माने गये हैं- ब्रह्महत्या, सुरापान, गुरुपत्नीगमन, चोरी करना तथा इन सभी पापियों के साथ संसर्ग। मनुस्मृति में यह तथ्य इन शब्दों में विवेचित है-**ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वङ्गनागमः। महान्ति पातकान्याहुःसंसर्गश्चापि तैः सह** (मनु० ११.५४)।

जो पापी उपर्युक्त इन पापों को करते हैं, उनको नरक भोग के बाद असाध्य रोगों का भी भोग करना पड़ता है। इस प्रकार सात जन्मों तक यह क्रम चलता रहता है, तब महापातक से निवृत्ति मिलती है। प्राचीन ग्रन्थों में महापातक शमन के अनेक उपाय वर्णित हैं। कार्तिक, वैशाख और माघ मास में नित्य प्रात:काल स्नानादि करके हविष्य भोजन व नैष्ठिक ब्रह्मचर्य पालन से महापातक का विनाश होता है-**तुलामकरमेषेषु प्रातः स्नानं विधीयते। हविष्यं ब्रह्मचर्यञ्च महापातकनाशनम्** (हि०वि०को०खं० १७ पृ० १४७)। इसी प्रकार कृष्ण नाम जप को भी महापातक का शामक कहा गया है- **कृष्णेति मङ्गलं नाम .....महापातककोटयः** (हि०वि०को०पृ० १४७)। जाबाल्युपनिषद् में भी विद्वान्, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी अथवा यति द्वारा भस्म का त्रिपुण्ड्र (ललाट पर तीन आड़ी रेखाएँ) धारण करने और उन तीनों रेखाओं के तत्त्वदर्शन को समझने व जीवन में धारण करने से (जिसका वर्णन जाबाल्युपनिषद् के ही २१ वें मंत्र में है) महापातकों और उपपातकों के शमन का उल्लेख है- **त्रिपुण्ड्रं भस्मना करोति यो विद्वान् ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिर्वा स महापातकोपपातकेभ्यः पूतो भवति** (जाबाल्यु० २२)।

२४०. महाबन्ध—द्र०-बन्ध।

२४१. महामुद्रा—द्र०-मुद्रा।

२४२. महावाक्य—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२४३. महावेध—द्र०-बन्ध।

२४४. महेश्वर—द्र०-त्र्यम्बक।

२४५. माया—द्र०-ज्ञानखण्ड -अविद्या, माया; अज्ञान।

२४६. मुक्तात्मा—द्र०-ज्ञानखण्ड-जीवन्मुक्त।

२४७. मुक्ति—द्र०-ज्ञानखण्ड-मुक्ति-मोक्ष।

२४८. मुद्रा— योग के अन्तर्गत चित्तशोधन व प्राण के ऊर्ध्वगमन के निमित्त विभिन्न मुद्राएँ प्रतिपादित की गयी हैं- जैसे खेचरी मुद्रा, महामुद्रा, अश्विनीमुद्रा, शक्तिचालिनी मुद्रा, योनिमुद्रा, योगमुद्रा, शाम्भवी मुद्रा, तड़ागीमुद्रा, विपरीतकरणी मुद्रा, वज्रोली, अमरोली, सहजोली मुद्रा आदि। इनमें कुछ प्रमुख मुद्राएँ इस प्रकार हैं- **खेचरी मुद्रा** में जीभ को उलट कर कपाल कुहर में प्रविष्ट कराकर दृष्टि को भ्रूमध्य में एकाग्र किया जाता है। ध्यान की स्थिरता में इस मुद्रा से बहुत सहायता मिलती है। इसके अभ्यासी को क्षुधा, निद्रा, तृष्णा, मूर्च्छा आदि से त्राण मिलता है। चित्तशून्य (अन्तरिक्ष-खे) में रमण (चर) करने के कारण इसका नाम खेचरी मुद्रा पड़ा है। उपनिषद्कार ने इस मुद्रा के विषय में लिखा है-**अन्तः कपाल कुहरे जिह्वां व्यावृत्य धारयेत्। भ्रूमध्यदृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी** (यो०त० ११७)। इस मुद्रा की सिद्धि के लिए जिह्वा वृद्धि हेतु छेदन, दोहन व चालन आदि कृत्य किये जाते हैं।

महामुद्रा में मूलबन्धपूर्वक वाम पाद की एड़ी से गुदा और उपस्थ के बीच का स्थान (सीवन) दबाते हैं और दक्षिण पाद को फैलाकर उसकी अँगुलियों को दोनों हाथों से पकड़ते हैं। इसके बाद बायें नथुने से पूरक करके जालन्धर बन्ध लगाते हैं, तत्पश्चात् जालन्धर बन्ध खोलकर दाहिने नथुने से रेचक करते हैं। इसी प्रकार दाहिने ओर से भी यही मुद्रा करनी चाहिए। **अश्विनी मुद्रा** में पद्मासन अथवा सिद्धासन से बैठकर योनि प्रदेश को अश्व (घोड़े) की तरह बारम्बार आकुंचन-प्रकुंचन किया जाता है। इससे प्राण का उत्थान व कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में सहायता मिलती है।

शाम्भवी मुद्रा में मूल और उड्डियानबन्धपूर्वक पद्म अथवा सिद्ध आसन में बैठकर नासाग्र अथवा भ्रूमध्य में दृष्टि को स्थिर करके ध्यान लगाया जाता है। **वज्रोली मुद्रा** में साधक प्रारम्भ में उपस्थेन्द्रिय द्वारा मूत्र को ऊपर खींचने और पुनर्विसर्जित करने का अभ्यास करता है। बाद में जल, दूध, तेल,घृत, शहद और पारे को भी खींचने और छोड़ने का

अभ्यास बन जाता है। इसका अभ्यास दृढ़ हो जाने पर स्त्री योनि में रेतस् विसर्जित करके उसके रज को ग्रहण किया जाता है; पर इस क्रिया में किसी अनुभवी का मार्गदर्शन अपेक्षित है, अन्यथा शारीरिक हानि के साथ ही आध्यात्मिक पतन की सम्भावना भी रहती है। वज्रोली के सन्दर्भ में योगतत्त्व उपनिषद् में उल्लेख है-**किं नाम वज्रोली ? कांस्यपात्रे गोक्षीरं निक्षिप्य वज्रोलीतुल्य लिङ्गनालेन ग्रसित्वा पुनर्विरेच्य पुनर्ग्रसनादिकमभ्यस्याथ स्त्रीयोनिमण्डले रेतो विसृज्य तच्छोणितेन साकं ग्रसेदिति यत्सैव वज्रोलीत्युच्यते** (यो०त० १२६.१२७)।

अमरोली मुद्रा वज्रोली का ही अगला चरण है। इसमें अमरी (मूत्र) की प्रथम और अन्तिम धारा को छोड़कर, मध्य धारा को हाथ या पात्र में लेकर प्रतिदिन पीकर तथा नस्य (नासिका द्वारा लेकर) करते हुए, वज्रोली क्रिया का अभ्यास किया जाता है। यही अमरोली मुद्रा कहलाती है- **अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने-दिने। वज्रोलीमभ्यसेन्नित्यममरोलीति कथ्यते** (यो०त० १२८)। **सहजोली मुद्रा** वह कहलाती है, जिसमें अमरोलीसिद्ध को अमरीपान और नस्य के बिना ही (सहज ही) सिद्धि प्राप्त हो जाती है- **एवममरोलीसिद्धस्यामरीपाननस्यं विना या सिद्धिरुदेति सैव सहजोलीत्युच्यते** (यो०त० १२८ टीका)।

षण्मुखी मुद्रा का प्रयोग योगमार्ग में, मन पर विजय प्राप्त करने, वायु को वश में करने आदि के लिए किया जाता है; जिससे प्राण ऊर्ध्वगामी हो चित्त एकाग्र होता है तथा आनन्दानुभूति होती है। जाबाल दर्शनोपनिषद् में इसका स्वरूप इस प्रकार निरूपित है-**स्वस्तिकासनमास्थाय समाहितमनास्तथा। अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्रणवेन शनैःशनैः। हस्ताभ्यां धारयेत्सम्यक् कर्णादिकरणानि च .....महामुने** (जा०दर्शनो० ६.३२-३५) अर्थात् स्वस्तिक आसन पर बैठकर मन एकाग्र करके अपान वायु को ऊपर चढ़ाकर शनैः-शनैः प्रणव (ओंकार) का जप करते हुए दोनों अँगूठों से कानों को, तर्जनी से नेत्रों को और अन्य अँगुलियों से नासा पुटों को बन्द करके मूर्धा में मन (प्राण) को तब तक धारण करे (ध्यान लगाये), जब तक आनन्द की अनुभूति हो। इस प्रकार प्राण ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर जाता है। यही षण्मुखी मुद्रा है। साधक द्वारा **वैष्णवी मुद्रा** का प्रयोग मूलाधारादि चार चक्रों में मन को एकाग्र करने के लिए किया जाता है। इसमें मूलाधार, अनाहत, आज्ञा तथा सहस्रार चक्रों में विराजमान क्रमशः विराट् सूत्र, बीज, तुरीय अथवा अन्तर्लक्ष्य में बहिर्दृष्टि रखते हुए (खुले नेत्रों से) अपलक होकर मन को एकाग्र किया जाता है। इस सन्दर्भ में शाण्डिल्य उपनिषद् में उल्लेख है- **मूलाधारानाहताज्ञा सहस्त्रारेषु यथाक्रमं विराट् सूत्रं बीजं तुरीयं वा अन्तर्लक्ष्यं तदेकतानं मनः बहिर्दृष्टिस्तु अन्तर्दृष्टिर्भूत्वा यदा निमेषोन्मेषवर्जिता भवति तदा दृष्टिरियं वैष्णवीमुद्रा भवतीत्यर्थः** (शाण्डिल्यो० १.७. १४ टीका)।

२४९. **मुनि**—संस्कृति के विकास में ऋषि-मुनियों का आदिकाल से ही योगदान रहा है। ये ही समय-समय पर विकृत परम्पराओं में संशोधन करके नया चिन्तन व साहित्य समाज को देकर उसे नई दिशा प्रदान करते रहे हैं। '**ऋषयोमन्त्र द्रष्टारः तथा दर्शनाद्ऋषिः**'-यह परिभाषा ऋषि के स्वरूप का स्पष्ट बोध कराती है। ऋषि के संदर्भ में ज्ञानखण्ड के परिभाषा कोश परिशिष्ट में विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। मुनि, ऋषियों से कुछ भिन्न होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में मुनि की परिभाषा इस प्रकार निर्दिष्ट है-**दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते** (गी० २.५६) अर्थात् जो दुःख में उद्विग्न नहीं होता तथा सुख में अनासक्त रहता है, जिसे राग, भय, क्रोध-आदि स्पर्श भी नहीं कर सकते, वही मुनि कहलाता है। गरुड़ पुराण में उल्लेख है कि मुनि समस्त वासनाओं को त्याग कर एकमात्र विष्णु में ही सतत लीन रहकर उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न करते रहते हैं। वे होम, संध्यावन्दन, तर्पण आदि क्रियाएँ करके धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष प्रदाता भगवान् विष्णु को प्राप्त करते हैं। हिन्दी विश्वकोश खं० १८ पृ० ९० में मुनि की व्युत्पत्ति इस प्रकार वर्णित है-**मनुते जानाति यः इति** अर्थात् मौनव्रती, मननशील महात्मा। अभिप्राय यह है कि चित्त को एकाग्र करके (मौन रहकर) तपस्वी जीवन जीते हुए मनन करने वाला मुनि है। नैषध महाकाव्य में मुनि की सादृश्यता इन शब्दों में निर्दिष्ट है-**फलेन मूलेन च वारिभूरुहां मुनेरिवेत्थं मम यस्य वृत्तयः** (नैषधी० १.१३३)।

महोपनिषद् में साधक को गुरु और शास्त्र वचन व स्वानुभूति से स्वयं को ब्रह्मरूप में जानने और शोकादि को त्यागकर मुनि बनने की आज्ञा दी गई है-**गुरु शास्त्रोक्तमार्गेण स्वानुभूत्या च चिद्घने। ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा वीतशोको भवेन्मुनिः** (महो० ४.२५)। मरीचि, नारद, कर्दम, अत्रि, दक्ष और वशिष्ठ आदि मुनियों की श्रेणी में ही आते हैं। साधकों की एक अन्य श्रेणी में मुमुक्षु का नाम भी आता है, जिसका अर्थ कोश ग्रन्थों में इस प्रकार विवेचित है-**मुमुक्षु मोक्तुमिच्छतीति** अर्थात् मुक्ति का अभिलाषी, मोक्ष की इच्छा रखने वाला अथवा वह व्यक्ति जो मुक्ति की कामना करता हो। श्रुति आदेश है कि मुक्तिकामी को चाहिए कि वह वर्जनीय और काम्य कर्म का त्याग करके श्रवण और मनन आदि

के द्वारा ईश्वराराधना में ही निरत रहे। श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म के प्रति स्पृहा न रखने के संदर्भ में भगवान् कृष्ण अर्जुन को उनके पूर्वज मुमुक्षुओं के पदचिह्नों पर चलने का उपदेश देते हैं-**एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः। कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्** (गी० ४.१५)।

२५०. **मुमुक्षु**—द्र०-मुनि।

२५१. **मूलबन्ध**—द्र०-बन्ध।

२५२. **मूलाधार**—द्र०-कुण्डलिनी।

२५३. **मृत्यु**—द्र०-ज्ञानखण्ड-अमृत-मृत्यु।

२५४. **मोक्ष**—द्र०-ज्ञानखण्ड-मुक्ति-मोक्ष।

२५५. **यज्ञ**—द्र०-ज्ञानखण्ड -यज्ञ-अग्निहोत्र।

२५६. **यज्ञसूत्र (जनेऊ-ब्रह्मसूत्र)**—द्र०-ज्ञानखण्ड -यज्ञोपवीत उपनयन।

२५७. **यज्वा** —यज् धातु से निर्मित यज्वा शब्द का प्रयोग याज्ञिक अथवा यज्ञकर्त्ता के अर्थ में किया जाता है। कोश ग्रन्थ में इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार निर्दिष्ट है- यज्वन्-यज्+क्वनिप् अर्थात् सविधि (शास्त्रोक्त ढंग से) यज्ञ करने वाला। ब्रह्मोपनिषद् में उपनिषद्कार ने शिखा और यज्ञोपवीत धारण करने का मर्म समझाते हुए कहा है कि जो ज्ञानरूपी शिखा और यज्ञोपवीत धारण करते हैं, सच्चे अर्थों में वे ही ब्राह्मण हैं-**शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम्। ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः** (ब्रह्मो० १४)। यहाँ ज्ञान को ही यज्ञोपवीत की विशेषता बताया गया है,(वैसे सामान्यतः यज्ञोपवीत को यज्ञ का धागा माना जाता है) इसलिए अगले मंत्र में ज्ञान को यज्ञोपवीत और परम परायण कहा गया है। वस्तुतः ज्ञानी और यज्ञमय-त्याग परायण जीवन जीने वाला ही यज्ञोपवीती (यज्ञोपवीतधारी) है। ऐसे साधक को ही यज्ञरूप और यज्वा (यज्वन्) कहा गया है-**इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत्परायणम्। स विद्वान्यज्ञोपवीती स्यात्स यज्ञस्तं यज्वानं विदुः** (ब्रह्मो० १५)।

२५८. **यति**—द्र०-ज्ञानखण्ड -संन्यासी-यति।

२५९. **यम**—आर्षग्रन्थों में प्रमुखतः योग के आठ अंग प्रतिपादित हैं। ये हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यम और नियमों के अन्तर्गत भी पाँच-पाँच गुण समाविष्ट हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये यम कहलाते हैं- **अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः** (पातं०यो०प्र०सा०पा०सूत्र-३०)। प्रथम-यम **अहिंसा** शब्द का अर्थ है-अद्रोह, अनपकार, किसी प्रकार भी किसी को पीड़ा न पहुँचाना। वाचस्पत्यम् में इसका अर्थ इन शब्दों में परिभाषित किया गया है-**वेदोक्तेन प्रकारेण विना सत्यं तपोधन। कायेन मनसा वाचा हिंसा हिंसा न चान्यथा॥ आत्मा ....वेदान्त वेदिभिः** अर्थात् वेदोक्त रीति के बिना मन,वाणी और शरीर के द्वारा किसी को कष्ट पहुँचाना ही हिंसा है; किन्तु किसी के कल्याण के लिए यदि उसे उक्त तीनों प्रकार से कष्ट पहुँचे, तो वह अहिंसा ही कही जायेगी, जैसे-शिक्षार्थ किसी को ताड़ना देना या रोग निवारण हेतु किसी को कटु औषधि देना,आपरेशन करना अहिंसा ही है, वस्तुतः समस्त यम नियमों का मूल अहिंसा है,क्योंकि अहिंसा को परम धर्म कहा गया है-**अहिंसा परमोधर्मः**।

दूसरा-यम **सत्य** है। किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान सत्य कहलाता है। शरीर द्वारा इसका प्रयोग शरीर का सत्य है। वाणी द्वारा इसका प्रयोग वाणी का सत्य, मन के द्वारा इसका प्रयोग मन का सत्य है। साधारणतः सत्य को वाणी द्वारा व्यक्त करने का ही विषय माना जाता है। इन्द्रियों द्वारा जैसा देखा, सुना और सूँघा है, उसे वाणी द्वारा वैसा कह देना सत्य है- **चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं घ्रातं मुनीश्वर। तस्यैवोक्तिर्भवेत् सत्यं विप्र तन्नान्यथा भवेत्** (जा०दर्शनो० १.९)। वेदान्त में परब्रह्म को ही सत्य माना गया है; क्योंकि वह सर्वकाल में शाश्वत है। उसके अतिरिक्त अन्य कोई सत्य नहीं है—**सर्वं सत्यं परं ब्रह्म .....**(जा०दर्शनो १.१०)। वाणी द्वारा यदि ऐसा सत्य कहा जाता है, जो किसी का अहित करता है, तो इसे ऋषियों ने सत्य नहीं माना है। इसीलिए उसने सत्य की मर्यादा सुनिश्चित कर दी है-**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्** (**मनु०**) अर्थात् वह सत्य बोले जो प्रिय (हितकर) हो। अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिए। महाभारत ने भी इसी प्रकार के सत्य की पुष्टि की है- **सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत् यद्भूतहितमत्यन्तमेतत्सत्यं मतं मम।**

तृतीय- यम **अस्तेय** अर्थात् चोरी न करना है; किन्तु यह स्थूल धन की चोरी न करने तक ही सीमित नहीं है। किसी के अधिकारों का हनन न करना तथा नैतिक मूल्यों की रक्षा करना भी अस्तेय है। इसके विपरीत अधिकारियों द्वारा

रिश्वत लेना, दुकानदारों द्वारा निश्चित या उचित मूल्य से अधिक लेना, कम तौलना, मिलावट करना ये सभी अस्तेय विरोधी हैं। जाबाल दर्शनोपनिषद् में अस्तेय इन शब्दों में निरूपित है- **अन्यदीये तृणे रत्ने काञ्चने मौक्तिकेऽपि च। मनसा विनिवृत्तिर्या तदस्तेयं विदुर्बुधाः। आत्मन्यनात्मभावेन .....मुने** (जा०दर्शनो० १.१०-१२) अर्थात् किसी दूसरे के तृण (तिनके), रत्न, मणि, मुक्ता, सुवर्ण, धन सम्पदा पर मन भी न चलना अस्तेय है। संसार के सभी व्यवहार अनात्म हैं अर्थात् आत्मा से भिन्न हैं, ऐसा मानने वाले ज्ञानीजन अस्तेय का ही पालन करते हैं।

चौथा-यम **ब्रह्मचर्य** है। शास्त्रों में इसकी बहुत महिमा गायी गई है। शब्द कल्पद्रुम के अनुसार ब्रह्म अर्थात् वेदार्थ का आचरण ही ब्रह्मचर्य है- **ब्रह्मचर्यं, क्ली; (ब्राह्मणे वेदार्थं चर्य्यं आचरणीयम्)**। सामान्यतः ब्रह्मचर्य का अर्थ अष्ट प्रकार के मैथुन का प्रतिषेध है- **ब्रह्मचर्य्ये अष्टाङ्गमैथुन प्रतिषेधः** (श०क० खं० ३ पृ० ४४४)। किसी भी प्रकार से वीर्य का क्षय न करना ब्रह्मचर्य माना जाता है। इसकी महिमा बताते हुए हठयोग प्रदीपिकाकार ने कहा है- **मरणं बिन्दूपातेन जीवनं बिन्दुधारणम्** अर्थात् बिन्दु (वीर्य) का पात मरण तथा बिन्दु की रक्षा ही जीवन है। जाबाल दर्शनोपनिषद् में ब्रह्मचर्य इन शब्दों में विवेचित है- **कायेन वाचा मनसा स्त्रीणां परिविवर्जनम्। ऋतौ भार्यां तदा स्वस्य ब्रह्मचर्यं तदुच्यते॥ ब्रह्मभावे मनश्चारं ब्रह्मचर्यं परन्तप** (जा०दर्शनो० १.१३) अर्थात् मन, वाणी और शरीर से नारी प्रसंग का परित्याग तथा धर्म बुद्धि से ऋतु काल में ही स्त्री प्रसंग ब्रह्मचर्य है। अथर्ववेद में उल्लेख है कि ब्रह्मचर्य तप के द्वारा ही देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली है- **ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत** (अथर्व० ११.७.१९)

पाँचवाँ-यम **अपरिग्रह** है। अपनी अनिवार्य आवश्यकता से अधिक वस्तुओं, धनादि का परित्याग अपरिग्रह कहलाता है। विषय वस्तुओं को अस्वीकार करना भी अपरिग्रह है। महर्षि व्यास के अनुसार विषयों में विभिन्न दोष देखकर उन्हें ग्रहण न करना ही अपरिग्रह है-**विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः** (साङ्ख्ययोग दर्शन-व्यास भाष्य)। इस प्रकार प्रमुखतः ये पाँच यम ही प्रचलित हैं। कुछ ग्रन्थों में दशविध यम वर्णित हैं। ये अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव (सभी के प्रति समान भाव), क्षमा, धृति, मिताहार और शौच हैं- **अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयाऽऽर्जवम्। क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश** (जा०दर्शनो० १.६)।

२६०. यायावर— द्र०-गृहस्थ।

२६१. योग —द्र०-ज्ञानखण्ड।

२६२. योगनिद्रा— यौगिक क्रियाओं में योगनिद्रा का भी उल्लेख मिलता है। सामान्यतः निद्रा सुषुप्तावस्था को कहते हैं; किन्तु यौगिक प्रक्रिया से उत्पन्न निद्रा योगनिद्रा कहलाती है,जिसे कोश ग्रन्थों में समाधि का एक अंग कहा गया है। हिन्दी विश्वकोश खं० १८ पृ० ६२२ में उल्लेख है-**योगश्चित्तवृत्ति निरोधलक्षणः समाधिस्तद्रूपा निद्रा** अर्थात् योग, चित्त वृत्ति का निरोध है, उसका चरमोत्कर्ष समाधि है। समाधि में बाह्यज्ञान नहीं रहता। इसलिए यह अवस्था योगनिद्रा कहलाती है। मण्डलब्राह्मण उपनिषद् में भी शुद्ध, अद्वैत, चैतन्य और सहज अमनस्क स्थिति को योगनिद्रा की उपमा दी गई है- **शुद्धाद्वैताजाड्यसहजामनस्कयोगनिद्रा.....जीवन्मुक्तो भवति** (मं०ब्रा०उ० २.५.२)। इस मंत्र की टीका में ब्रह्मयोगी ने उपर्युक्त स्थिति को निर्विकल्प समाधि कहा है-**अजाड्य.....निर्विकल्प समाधिः** (मं०ब्रा०उ० २.५.२ टीका)।

२६३. योगी— द्र०-ज्ञानखण्ड -योग।

२६४. योनि— द्र०-ज्ञानखण्ड।

२६५. राजयोग— द्र०-मन्त्रयोग।

२६६. रुद्र— द्र०-त्र्यम्बक।

२६७. लक्ष्यत्रय— इस शब्द का उल्लेख उपनिषदों में प्राप्त होता है। भ्रूमध्य स्थित सच्चिदानन्द स्वरूप चेतन पुञ्ज ब्रह्म (तारक ब्रह्म) का दर्शन प्राप्त करने के लिए लक्ष्यत्रय का अवलोकन करने का विवेचन मण्डल ब्राह्मणोपनिषद् में इन शब्दों में निर्दिष्ट है-**भ्रूमध्ये सच्चिदानन्दतेजः कूटरूपं .....तदाप्त्युपायं लक्ष्यत्रयावलोकनम्** (मं०ब्रा० उ० १.२.४-५)। ब्रह्मदर्शन में जिन तीन प्रकार की दर्शन प्रक्रियाओं का सहारा लियाँ जाता है और उनमें जिन रंग विशेषों व स्थितियों का दर्शन होता है, वे ही तीन प्रकार के दर्शन लक्ष्यत्रय के नाम से जाने जाते हैं। बाह्य लक्ष्य, मध्य लक्ष्य और अन्तर्लक्ष्य- ये ही त्रिलक्ष्य (लक्ष्यत्रय) हैं। ज्योति (ब्रह्मज्योति) के दर्शन में सर्वप्रथम योगी को नासिका के अग्रभाग से चार, छः, आठ, दस और बारह अंगुल की दूरी पर क्रमशः नीला, काला, रक्त, पीत और दो रंगों के संमिश्रण जैसे रंग का आकाश

दिखाई पड़ता है, यही बाह्य लक्ष्य है-**बहिर्लक्ष्यं तु नासाग्रे चतुःषडष्टदश-द्वादशाङ्गुलीभिः .....व्योमत्वं पश्यति स तु योगी** (मं० ब्रा०उ० १.२.८)। मध्य लक्ष्य का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित है- प्रातः काल में (ध्यान करने पर) सूर्य, चन्द्र और अग्नि की ज्वालाओं के समान और उससे रहित अन्तरिक्ष-सम दिखाई पड़ता है। वह उसी के आकारवत् आकारयुक्त हो जाता है। यही मध्य लक्ष्य है-**मध्यलक्ष्यं तु प्रातश्चित्रादिवर्णसूर्य चन्द्र वह्निज्वालावलीवत्त-द्विहीनान्तरिक्षवत्पश्यति। तदाकाराकारी भवति** (म०ब्रा०उ०१.२.११-१२)। इसी उपनिषद् में अन्तर्लक्ष्य का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित है कि अन्तर्लक्ष्य दीप्तिमान् ज्योति के समतुल्य है, बाह्य और आन्तरिक इन्द्रियों द्वारा अगोचर इसे महर्षिगण ही (पूर्णतः) जान सकते हैं-**अन्तर्लक्ष्यं जलज्योतिः स्वरूपं भवति। महर्षिवेद्यं अन्तर्बाह्येन्द्रियैरदृश्यम्** (मं०ब्रा०उ० १.३.६)। अन्तर्लक्ष्य के विषय में विभिन्न विद्वानों के पृथक्-पृथक् मत हैं। कोई इसे सहस्रार दल में दीप्तिमान् ज्योति के समतुल्य मानते हैं, कोई बुद्धि रूपी गुहा में सर्वाङ्ग सुन्दर पुरुष के रूप को अन्तर्लक्ष्य मानते हैं, कोई शीर्ष के अन्तर्गत स्थित मण्डल के बीच में स्थित पंचमुखी और उमा सहित महेश्वर का प्रशान्त रूप ही अन्तर्लक्ष्य मानते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष ही अन्तर्लक्ष्य है-**सहस्त्रारे जलज्योतिरन्तर्लक्ष्यम्। बुद्धिगुहायां .....अङ्गुष्ठ मात्रः पुरुषोऽन्तर्लक्ष्यमित्येके** (मं०ब्रा०उ० १.४.१)।

उपर्युक्त समस्त विकल्प आत्मा के ही हैं। अस्तु, उस अन्तर्लक्ष्य का जो पुरुष शुद्धात्मा दृष्टि से दर्शन करता है, वह ब्रह्मनिष्ठ कहलाता है-**उक्तविकल्पं सर्वमात्मैव। तल्लक्ष्यं शुद्धात्मदृष्ट्या वा यः पश्यति स एव ब्रह्मनिष्ठो भवति** (मं०ब्रा०उ० १.४.२)। अन्तर्लक्ष्य का दर्शन कर लेने से जीव जीवन्मुक्त स्थिति की ओर अग्रसर होकर, स्वयं अन्तर्लक्ष्य होकर परमाकाश स्वरूप अखण्ड मण्डलाकार हो जाता है।

२६८. लययोग— द्र०-मन्त्रयोग।

२६९. लिङ्ग शरीर— द्र०-पुर्यष्टक।

२७०. लोक— द्र०- ज्ञानखण्ड-लोक-परलोक-सप्तलोक।

२७१. वज्रोली मुद्रा— द्र०-मुद्रा।

२७२. वर्णाश्रम— द्र०-ज्ञानखण्ड-चतुराश्रम एवं चतुर्वर्ग।

२७३. वानप्रस्थ—चारों आश्रमों में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ के पश्चात् तीसरा आश्रम वानप्रस्थ कहलाता है। इसमें गृहस्थ व्यक्ति परिवार की जिम्मेदारियों को निपटाकर पुत्रादि पर परिवार के दायित्व सौंप कर अगले चरण में पत्नी सहित पवित्र जीवन जीकर आत्म कल्याण और लोक सेवा के कार्यों में अपने जीवन के पच्चीस वर्ष लगाता है। हलायुध कोश में वानप्रस्थ की परिभाषा इन शब्दों में विवेचित है-**वानप्रस्थः पुं० (वनप्रस्थे भवः, अण्) वैखानसः,तृतीयाश्रमः पुत्रमुत्पाद्य वनवासं कृत्वा अकृष्टपच्यफलादिभक्षयित्वा ईश्वराराधनं करोति यःसः** (हला० पृ० ६००) अर्थात् वानप्रस्थी पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् वन में निवास करता हुआ स्वयं उत्पन्न तथा स्वयं पके फलादि का सेवन करके ईश्वराराधन करता है। आश्रम उपनिषद् मंत्र ३ में वानप्रस्थी के चार भेद बताये गये हैं- वैखानस, उदुम्बर, वालखिल्य तथा फेनप-**वानप्रस्था अपि चतुर्विधा भवन्ति वैखानसा उदुम्बरा बालखिल्याः फेनपाश्चेति**। इनमें **वैखानस वानप्रस्थी** वे कहलाते हैं, जो स्वयं उत्पन्न तथा पकी हुई औषधियों तथा वनस्पतियों, जो ग्रामीणों द्वारा उपेक्षित हैं, में अग्नि संचार कर उदरपूर्ति करते हुए नियमित पञ्च महायज्ञ [वानप्रस्थी के लिए नियमित पाँच यज्ञ ब्रह्मयज्ञ (वेदाध्ययन व वेदाध्यापन), देवयज्ञ (अग्निहोत्र), पितृयज्ञ (श्राद्ध-तर्पण), अतिथि यज्ञ अथवा मनुष्य यज्ञ (अतिथिसेवा) और भूतयज्ञ (बलिवैश्व आदि-चींटीं, कीड़े, कुत्ते, गौ व मछलियों आदि को भोजन कराना) करने का विधान है] सम्पन्न करते हुए आत्मा की साधना करते हैं-**तत्र वैखानसा अकृष्ट पच्यौषधिवनस्पतिभिर्ग्रामबहिष्कृताभिरग्निपरिचरणं कृत्वा पञ्चमहायज्ञक्रियां निर्वर्तयन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते** (आश्रमो० ३)।

उदुम्बर वानप्रस्थी उन्हें कहते हैं, जो प्रातः उठकर जिस दिशा में भी देखें उधर जाकर उदुगरि (गूलर), बदर (बेर), नीवार और श्यामाक (साँवाँ) आदि का संग्रह करके उनमें अग्नि संचार करके पञ्च महायज्ञों की क्रियाएँ सम्पन्न करते हुए जीवन की साधना करते हैं-**उदुम्बराः प्रातरुत्थाय यां दिशमभिप्रेक्षन्ते .....आत्मानं प्रार्थयन्ते** (आश्रमो० ३)। उल्लेखनीय है कि गूलर आदि का सेवन करने के कारण इन वानप्रस्थियों का नाम उदुम्बर पड़ा है। कुछ उपनिषदों में 'औदुम्बर' पाठ भी मिलता है।

वालखिल्य वानप्रस्थी वे कहलाते हैं, जो जटाधारण करके फटे वस्त्र और वृक्ष की छालों को शरीर का आवरण बनाते हुए, आठ मास (मार्गशीर्ष मास से आषाढ़ मास) तक उपार्जित पुष्प-फल आदि (शाक-कन्दमूलादि फल और अन्नों) को ग्रहण करते हुए (उन आठ मासों के अतिरिक्त अषाढ़ पूर्णिमा से कार्तिकी पूर्णिमा के चार महीने-चातुर्मास्य तक भी वही आठ मास में उपार्जित पदार्थ ग्रहण करते हुए) कार्तिकी पूर्णिमा को सभी संचित भक्ष्य पदार्थ त्याग देते हैं अर्थात् कार्तिकी पूर्णिमा के बाद फिर नया उपार्जन करके ही ग्रहण करते हैं। इस तरह वे इन संचित भोज्य पदार्थों में अग्नि संचरण करते हुए पञ्चमहायज्ञों को सम्पन्न करते हुए आत्मा की प्रार्थना (साधना) करते हैं। आश्रम उपनिषद्कार ने यह तथ्य इन शब्दों में प्रतिपादित किया है-**वालखिल्य जटाधराश्चीरचर्मवल्कल-परिवृता: कार्त्तिक्यां पौर्णमास्यां पुष्पफलमुत्सृजन्त: शेषानष्टौ ...प्रार्थयन्ते** (आश्रमो० ३)। उल्लेखनीय है कि कुछ ग्रन्थों में वालखिल्य के स्थान पर बालखिल्य और बालिखिल्य पाठ भी मिलते हैं।

फेनप वानप्रस्थी के लक्षण यह हैं कि वे विक्षिप्तवत् रहते हुए, शीर्ण पर्ण-फल (अपने आप गिरे हुए पत्ते और फल) ग्रहण कर उनमें अग्नि परिचरण करते हुए, जहाँ कहीं भी स्थान मिल जाये, वहीं निवास करते हुए, नियमित पञ्च महायज्ञादि क्रियाएँ सम्पन्न करते हुए आत्म साधना में निरत रहते हैं- **फेनपा उन्मत्तका: शीर्णपर्णफलभोजिनो यत्र तत्र वसन्तोऽग्निपरिचरणं कृत्वा आत्मानं प्रार्थयन्ते** (आश्रमो०३)। इन वानप्रस्थियों का नाम फेनप पड़ने का कारण अड्यार प्रकाशित माइनर उपनिषद् में आश्रमो०की टिप्पणी में लिखा है- **फेनपा: स्वयं पतित पर्णफलादिकं फेनो नामेति केचित्** अर्थात् कुछ विद्वानों का मानना है कि स्वयं गिरने वाले पत्ते और फलों को फेन कहते हैं। अत: इन्हें ग्रहण करने के कारण इन वानप्रस्थियों का नाम भी फेनप पड़ गया है। श्रीमद्भागवत के ३.१२. ४३ वें श्लोक की व्याख्या में फेनप उन्हें बताया गया है, जो (दूध पीते समय) बछड़े के मुख से गिरने वाले दूध के फेन से जीवनयापन करते हैं-**फेनपा .....वत्समुखगलितपय:फेनपानेन जीवन्त इति।**

२७४. वार्तांक वृत्ति— द्र०-गृहस्थ।

२७५. वालखिल्य— द्र०-वानप्रस्थ।

२७६. वासनात्रय- वासना शब्द का उपयोग सामान्यत: आसक्ति अथवा विषम लिङ्गियों (स्त्री-पुरुषों) में परस्पर काम वासना की प्रगाढ़ता के अर्थ में किया जाता है; किन्तु कोश ग्रन्थों में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार प्रतिपादित है-**वासयति कर्मणा योजयति जीवमनांसीति वस-णिच्-युच्-टाप्** (हि० वि० को० खं० २१ पृ० २३०) जिसके अनेक अर्थ हैं, जैसे-प्रत्याशा, ज्ञान, संस्कार, स्मृति, हेतु, भावना, इच्छा, कामना आदि। किसी वस्तु अथवा व्यक्ति के प्रति अत्यधिक स्नेह या मोह के कारण उससे सम्बन्धित कोई प्रसङ्ग उपस्थित होते ही उसका संस्कार अथवा वासना जाग पड़ती है, जिससे वह तत्सम्बन्धित कार्य करने को समुद्यत हो उठता है। जैसे कोई लेखक या कवि जो नदी, सरोवर, बगीचे आदि के निकट लेख या कविता लिखने का अभ्यासी है। यदि वह कहीं बाहर गया हुआ है और वहाँ भी उसे ऐसा ही वातावरण मिल जाए, तो उसके अन्दर कुछ लिखने के भाव जाग्रत् होने लगते हैं; इसे ही उसका संस्कार या वासना का जागना कहेंगे। वासनाएँ तीन प्रकार की मानी गयी है, जिन्हें उपनिषदों में वासनात्रय के नाम से जाना जाता है। ये हैं-देह सम्बन्धी वासना, मन सम्बन्धी वासना और बुद्धि सम्बन्धी वासना। संन्यासोपनिषद् (२-२०) के वासनात्रय के अन्तर्गत देह वासना, शास्त्र वासना तथा लोक वासना का भी उल्लेख किया गया है। परमहंस परिव्राजकोपनिषद् में-मुमुक्षु को निर्देश दिया गया है कि वह सद्गुरु से समस्त विद्याओं को प्राप्त कर इहलोक और परलोक के सुखों के वास्तविक स्वरूप को समझकर एषणात्रय, वासनात्रय, ममता और अहंकारादि को वमन किए (उल्टी किए) हुए अन्न के समतुल्य समझकर मोक्ष के एक मात्र साधन ब्रह्मचर्याश्रम को पूरा करके गृहस्थ बने, तदुपरान्त वानप्रस्थी और इसके पश्चात् संन्यास आश्रम ग्रहण कर प्रव्रज्या करे-**सद्गुरु समीपे .....ज्ञात्वैषणात्रय वासनात्रय ममत्वाहंकारादिकं वमनान्नमिव .....प्रव्रजेत्** (परम० प० २)। इस मंत्र की टीका में ब्रह्मयोगी ने वासनात्रय को देहादि वासनात्रय कहकर वासना के तीनों रूपों की ओर संकेत किया है- **न कदापि संसारमण्डले .....देहादि वासनात्रय .... ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्**। इस प्रकार क्रमश: ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थ, गृहस्थ से वानप्रस्थ और इसके पश्चात् संन्यास धारण करने के अतिरिक्त एक पथ और है कि जब कभी भी पूर्ण वैराग्य उत्पन्न हो जाये (वासनात्रय, एषणात्रय, आदि दोषों से मुक्त हो जाये), तभी प्रव्रज्या आश्रम अर्थात् संन्यास आश्रम ग्रहण किया जा सकता है। इस स्थिति में संन्यास ग्रहण करने के लिए क्रमश: आश्रम ग्रहण करना, व्रती (व्रतधारण करने वाला), पुनर्व्रती, स्नातक, अस्नातक, अग्निहोत्री अथवा उससे रहित होना आवश्यक नहीं है।

२७७. विक्षेप— द्र०-अज्ञान-आवरण।

२७८. विज्ञान—द्र०-ज्ञानखण्ड -ज्ञान-विज्ञान।

२७९. विज्ञानात्मा— विज्ञानात्मा शब्द वस्तुत: विशेषण सहित जीवात्मा के स्वरूप का बोधक है। इसका उल्लेख उपनिषदों में मिलता है। विज्ञानात्मा शब्द का सामान्य अभिप्राय विज्ञान अर्थात् विशिष्ट ज्ञान-सम्पन्न जीवात्मा से है। वेदान्त के अनुसार स्थिति भेद से इस जीवात्मा की ही प्राज्ञ, विश्व और तैजस संज्ञाएँ होती हैं। १०८ उपनिषद् ज्ञानखण्ड के परिशिष्ट के 'प्राज्ञ' प्रकरण में यह द्रष्टव्य है। इनमें स्थूल शरीर के व्यष्टि उपहित चैतन्य को विश्व कहते हैं। (यही समष्टि उपहित चैतन्य के रूप में वैश्वानर कहलाता है।) इसी विश्वसंज्ञक जीवात्मा को प्रज्ञात्मा की संज्ञा प्रदान की गई है। विराट् पुरुष (समष्टिगत वैश्वानर) ही ईश्वर की आज्ञा से व्यष्टि रूप देह में प्रविष्ट होकर बुद्धि तत्त्व में निवास करके विश्व कहलाता है। इसी विश्व को विज्ञानात्मा, चिदाभास, व्यावहारिक, जाग्रत्, स्थूल देहाभिमानी और कर्म-भू आदि कहते हैं। इस सन्दर्भ में पैङ्गलोपनिषद् में उल्लेख है-**ईशाज्ञया विराजो व्यष्टिदेहं प्रविश्य बुद्धिमधिष्ठाय विश्वत्वमगमत्। विज्ञानात्मा चिदाभासो विश्वो व्यावहारिको ..... नाम भवति** (पैङ्गलो० २.६) अर्थात् व्यष्टि देह में प्रविष्ट होने पर बुद्धि में वास करके विश्व अथवा प्रज्ञात्मा कहलाता है। वेदान्त के मत में यह विराट् ही सूक्ष्म शरीर का परित्याग किये बिना स्थूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है और विश्व के सभी शरीरों में प्रवेश करने की क्षमता के कारण ही इसे विश्व कहते हैं। इस तथ्य की पुष्टि करते हुए स्वामी रामतीर्थ लिखते हैं—**सर्वथा विश्वशरीरवर्तित्वाद् विश्व इत्युक्तं भवति** (वे०सा०विद्व०खं०१७)। विषयों का ज्ञान और उपभोग जाग्रत् स्थिति में यही विश्व या विज्ञानात्मा १९ मुखों (पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों, पाँच प्राणों, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) द्वारा करता है— **जागरित स्थानो बहि: प्रज्ञ: सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुख: स्थूल भुग्वैश्वानर: प्रथम: पाद:** (माण्डू०३)। प्रश्नोपनिषद् में इस विज्ञानात्मा को द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता और घ्राता आदि कहकर इसी तथ्य की पुष्टि की गई है- **एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुष: स परेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते** (प्रश्नो०४.९)।

२८०. विद्या-ज्ञान— द्र०-ज्ञानखण्ड।

२८१. विधाता— द्र०-ज्ञानखण्ड -विधाता-धाता।

२८२. विनियोग— वि-नि-युज् और घञ् से निर्मित विनियोग शब्द के कई अर्थ हैं। जैसे-किसी फल के उद्देश्य से किसी वस्तु का उपयोग, किसी विषय में लगाना, प्रयोग, वैदिक कृत्य में मन्त्र विशेष का प्रयोग, प्रेषण, प्रवेश आदि। इन कई अर्थों में से 'वैदिक कृत्य में किसी मन्त्र के प्रयोग' के सन्दर्भ में पहले से ही गायत्री साधना करते समय विश्वामित्र और वसिष्ठ के शाप विमोचन हेतु एक विशेष मन्त्र द्वारा विनियोग किया जाता रहा है। (वर्तमान में तो युग ऋषि द्वारा गायत्री साधना को शाप मुक्त कर देने के कारण इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती)। कई उपनिषदों में किसी वस्तु या साधना प्रक्रिया के प्रयोग के अर्थ में विनियोग शब्द प्रयुक्त हुआ है। जैसे-जाबालदर्शनोपनिषद् में प्राणायाम के विभिन्न प्रकारों का विनियोग (प्रयोग) विभिन्न रोगों के निरसन हेतु निर्दिष्ट है—**विनियोगान् प्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य सुव्रत।.....सर्वरोग विनिर्मुक्तो जीवेद्वर्षशतं नर:** (जा०दर्शनो० ६.२१,२३)।

२८३. विपर्यास (विपर्यय) — द्र०-अध्यारोप-अपवाद।

२८४. विभु— कोश ग्रन्थों में विभु शब्द के कई अर्थ संप्राप्य हैं, यथा- प्रभु, स्वामी, शंकर, ब्रह्म, भृत्य, विष्णु, आत्मा, जीवात्मा, ईश्वर, सर्वव्यापक, सर्वत्रगमनशील, रात, दिन, बहुत बड़ा, विस्तृत, महान् और ऐश्वर्ययुक्त आदि। वेद, पुराणों और उपनिषदों में इस जगत् में उस विराट् ब्रह्म की सर्वव्यापकता के प्रतिपादन में भी कई स्थलों पर विभु शब्द का प्रयोग मिलता है। पैङ्गलोपनिषद् में ईश्वर के ऐश्वर्य, महानता और स्वामित्व को प्रदर्शित करने के लिए ईश्वर के साथ विभु विशेषण प्रयुक्त हुआ है। पैङ्गल ऋषि ने ऋषि याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया कि समस्त लोकों की सृष्टि, स्थिति और संहार करने वाला विभु ईश्वर किस प्रकार जीवत्व को प्राप्त हुआ-**अथ पैङ्गलो याज्ञवल्क्यमुवाच सर्वलोकानां सृष्टिस्थित्यन्तकृद्विभुरीश: कथं जीवत्वमगमदिति** (पैङ्गलो० २.१)। इसके उत्तर में याज्ञवल्क्य जी ने स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों की उत्पत्ति सहित विभु ईश्वर के स्वरूप का विवेचन किया। इस प्रकार सर्वव्यापकत्व, विराट्, महान् आदि अर्थों में विभु शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है।

२८५. विरज— सामान्यत: रज (धूल) रहित वस्तु को विरज कहते हैं; किन्तु आध्यात्मिक सन्दर्भों में रज अर्थात् रजोगुण

३०९. श्राद्ध -तर्पण—द्र०-ज्ञानखण्ड -श्राद्ध।

३१०. श्रुति—द्र०-ज्ञानखण्ड -श्रोत्रिय।

३११. श्रोत्रिय—द्र०-ज्ञानखण्ड।

३१२. षड्ऊर्मियाँ—षड्भाव विकार — उपनिषदों में कई स्थलों पर षड्ऊर्मियों और षड्भाव विकारों का वर्णन प्राप्त होता है। साधक के विभिन्न स्तरों के अनुरूप उनकी दिनचर्या और नियम भी भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसे यति (संन्यासी) के लिए आचरणीय विभिन्न नियमों का उल्लेख करते हुए प्रजापति ब्रह्मा ने नारद से कहा कि यति को षड्ऊर्मिरहित और षड्भाव विकारों से शून्य रहना चाहिए-**अयत्नेन प्राप्तमाहरन् .....षड्ऊर्मिरहितः, षड्भाव विकार शून्यः, ...स्वरूपानुसंधानेन वसेत्** (ना०परि० ७.१)। कोशग्रन्थों में छः प्रकार की ऊर्मियाँ (तरङ्गें) वर्णित हैं- **बुभुक्षा च पिपासा च प्राणस्य मनसः स्मृतौ। शोक मोहौ शरीरस्य जरामृत्यू षड्ऊर्मयः** (वाच०पृ० १३९३) अर्थात् भूख और प्यास प्राण से सम्बन्धित, शोक और मोह मन से सम्बन्धित तथा जरा (वृद्धावस्था) और मृत्यु, ये शरीर से सम्बन्धित छः ऊर्मियाँ हैं। इसी प्रकार छः प्रकार के भाव विकार भी होते हैं, जिनसे संन्यासी को दूर रहने का परामर्श दिया जाता है। छः भाव विकारों का उल्लेख निरुक्तकार यास्क ने इन शब्दों में किया है- **षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः॥ .....जायतेऽस्ति, विपरिणमते, वर्धते, ऽपक्षीयते, विनश्यतीति** (नि० १.१.३) अर्थात् जन्म (उत्पन्न होना), अस्तित्व (विद्यमान रहना),विपरिणमन (परिवर्तित होना), विकास (बढ़ना या विकसित होना), अपक्षय (क्षीण होना) और विनाश (पूर्णतः विनष्ट हो जाना)— ये ही षड्भाव विकार हैं। संन्यासी (यति) को आत्मज्ञान प्राप्त करके इन भाव विकारों से ऊँचा उठना चाहिए। वैशेषिक दर्शन में पदार्थ के षड्भाव इस प्रकार निर्दिष्ट हैं-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। इसी प्रकार ज्योतिष की दृष्टि से लज्जित, गर्वित, क्षुधित, तृषित, मुदित और क्षोभित ये षड्भाव कहलाते हैं; किन्तु उपनिषदों में जहाँ भी परमहंस, अवधूत, संन्यासी आदि को षड्भाव विकार शून्य होने का निर्देश दिया गया है, वहाँ उपर्युक्त जन्म, अस्तित्व आदि षड्भाव विकारों से ही तात्पर्य है। परमहंस परिव्राजकोपनिषद् में भी अयज्ञोपवीती, अशिखी तथा सर्व कर्म परित्यागी ब्रह्मनिष्ठ परमहंस परिव्राजक के लक्षण बताते हुए उसे निन्दा, अमर्ष (क्रोध), सहिष्णु, षड्ऊर्मिवर्जित और षड्भाव विकार शून्य होकर ज्येष्ठ-अज्येष्ठ के व्यवधान से रहित होने वाला विवेचित किया गया है- **लोके परमहंस परिव्राजको दुर्लभतरः .....स निन्दामर्ष सहिष्णुः स षड्ऊर्मिवर्जितः। षड्भाव विकार शून्यः। स ज्येष्ठाज्येष्ठव्यवधान रहितः ..... परमहंस परिव्राडित्युपनिषत्** (परम० प० ५)। इस प्रकार परमहंस-संन्यासी को उपर्युक्त गुणों को अपनाकर समस्त इन्द्रियों पर संयम (नियंत्रण) रखते हुए सतत ब्रह्मभाव में ही स्थित रहना चाहिए, ऐसा परमहंस ब्रह्मरूप ही हो जाता है।

३१३. षड्भाव विकार—द्र०-षड्ऊर्मियाँ-षड्भाव विकार।

३१४. षड्रिपु—द्र०-ज्ञानखण्ड षड्रिपु-षड्वर्ग।

३१५. षण्मुखी मुद्रा—द्र०-मुद्रा।

३१६. षोडश कला— द्र०-ज्ञानखण्ड।

३१७. संन्यास— द्र०-ज्ञानखण्ड -चतुराश्रम।

३१८. संन्यासी— द्र०-ज्ञानखण्ड -संन्यासी-यति।

३१९. संयम—द्र०-षड्ऊर्मियाँ-षड्भाव विकार।

३२०. संवत्सर— द्र०-ज्ञानखण्ड।

३२१. सत्य— द्र०-यम।

३२२. सदानन्द— द्र०-अद्वयानन्द।

३२३. सद्गति— द्र०- सद्गुरु।

३२४. सद्गुरु— ज्ञानाञ्जन शलाका से अज्ञान रूपी तिमिरान्धता को दूर करने वाले को गुरु शब्द से अभिहित किया गया है। इस सन्दर्भ में यह श्लोक प्रसिद्ध है- **अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया। चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः॥** कोशग्रन्थों में 'गु' शब्द को अन्धकार वाची और 'रु' को प्रकाशवाची माना गया है। इस मान्यता के अनुसार भी

अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला गुरु होता है। गायत्री मंत्र के उपदेष्टा को भी गुरु कहते हैं; क्योंकि प्राचीनकाल में कोई भी गुरु अपने शिष्य को सर्वप्रथम गायत्री मंत्र ही दिया करता था। इसीलिए गायत्री मंत्र को गुरुमंत्र कहा जाने लगा और गुरु को गायत्रीरूप। इसी सन्दर्भ में आचार्य शंकर का यह श्लोक द्रष्टव्य है-**नमोऽस्तु गुरवे तस्मै, गायत्रीरूपिणे सदा। यस्य वागमृतं हन्ति विषं संसार संज्ञकम्॥**

मनुस्मृति में गुरु की परिभाषा इस प्रकार निर्दिष्ट है- **निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि। सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते** (मनु० २.१४२) अर्थात् जो निषेक (गर्भाधान) आदि संस्कारों को विधिवत् कराकर अन्नादि से पालन-पोषण करता है, उसे गुरु कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार माता-पिता प्रथम गुरु हैं, तत्पश्चात् पुरोहित आदि। तप, पुण्य, ज्ञान आदि समस्त गुणों से सम्पन्न तथा शिष्य का हर प्रकार से कल्याण करने वाले को सद्गुरु कहते हैं। दूसरे शब्दों में उत्तम गुण युक्त विशिष्ट गुरु को 'सद्गुरु' कहते हैं। जिसके पास समस्त सद्गुण, विद्वत्ता और क्रियाशीलता (तपश्चर्या) होती है, वे ही सच्चे अर्थों में सद्गुरु कहलाते हैं। तन्त्र सार में सद्गुरु के लक्षण इस प्रकार विवेचित हैं— जो शान्त, दान्त, कुलीन, विनीत, शुद्ध भाव सम्पन्न, पवित्र स्वभाव, कार्यदक्ष, तन्त्र-मन्त्रज्ञ, शिष्य को अनुशासन में रखने तथा उन पर अनुग्रह करने आदि में समर्थ है, वही सद्गुरु कहलाने योग्य है-**सिद्ध तपस्वी कुशलः तन्त्रज्ञः सत्यभाषिता। निग्रहानुग्रहे शक्तो गुरुरित्यभिधीयते॥ शान्तो दान्तः .....कर्मभिः** (तं०सा०सं० १.२६-२७)। बहुत जन्मों के पुण्य फल से सद्गुरु की प्राप्ति होती है। वेदान्त सार में उल्लेख है कि जिन मुमुक्षुओं के शम, दम, उपरति, तितिक्षा आदि साधन सिद्ध हो चुके हों, उन्हें ब्रह्मनिष्ठ-श्रोत्रिय सद्गुरु के पास जाकर 'तत्त्वमस्यादि' का उपदेश प्राप्त करना चाहिए। नारद परिव्राजकोपनिषद् में भी गुरु-सद्गुरु के गुण निर्दिष्ट हैं। संन्यास धारण के क्रम में ब्रह्मा ने नारद से कहा कि जिस श्रेष्ठ कुलोत्पन्न और माता-पिता के आज्ञाकारी बालक का उपनयन न हुआ हो, उसका उपनयन कराकर माता-पिता उस बालक को किसी श्रोत्रिय, शास्त्रों के अनुरागी, श्रद्धावान्, गुणवान् और श्रेष्ठ कुलोत्पन्न सद्गुरु के पास रहने के लिए भेजें-**भो नारद .....श्रद्धावन्तं सत्कुलभवं श्रोत्रियं .....सद्गुरुमासाद्य नत्वा संन्यस्तुमर्हतीत्युपनिषद्** (ना० परि० २.२)।

सद्गुरु पाकर शिष्य का जीवन धन्य हो जाता है और वह इहलोक में सब तरह समुन्नत होकर परलोक में भी सद्गति प्राप्त करता है। हिन्दी विश्वकोश के अनुसार- **सती गतिर्यस्य** अर्थात् जिसकी उत्तम विशिष्ट गति हो वह सद्गति सम्पन्न कहा जाएगा। मुक्ति, निर्वाण आदि को भी सद्गति माना गया है। मृत्यूपरान्त जीवात्मा की उच्च लोकों में जो गति होती है, उसे ही सद्गति कहते हैं। पाप से असद्गति और पुण्य करने से सद्गति प्राप्त होती है, ऐसा शास्त्रों में उल्लेख है।

वटुकोपनिषद् में परब्रह्म का एक नाम 'एक' भी बताया गया है। उस एक में ही समस्त प्राणी विलीन होते तथा एक से ही सृजित होते हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिणादि तीर्थों में भ्रमण करने वाले उस 'एक' ब्रह्म हेतु ही वहाँ जाते हैं और उन सभी की सद्गति होती है-**अथ कस्मादुच्यत ..... तीर्थमेके व्रजन्ति .....तेषां सर्वेषामिह सद्गतिः** (वटुको०)। इस प्रकार जो साधक सद्गुरु की आज्ञा से सत्पथ पर चलते हैं, उनकी सद्गति सुनिश्चित है।

३२५. **सन्तोष**—द्र०-नियम।

३२६. **सन्धि**— सन्धि शब्द का प्रयोग कई प्रयोजनों के निमित्त होता है। हिन्दी विश्वकोश सं० २३ पृ० ५५१ में इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार प्रतिपादित है- **सन्धानमिति-सन्-धा-कि**। इस व्युत्पत्ति के अनुसार सन्धि शब्द के अनेक अर्थ हैं, जैसे राजाओं के बीच कुछ विवादों को निपटाने के लिए परस्पर कुछ समझौता कर लेना सन्धि कहलाती है। इसी प्रकार शरीर में अस्थियों के विभिन्न जोड़ों को भी सन्धि कहते हैं। व्याकरण की दृष्टि से दो वर्णों (स्वर, व्यंजन या विसर्ग) के मिलन को भी सन्धि कहते हैं। व्याकरण में इन्हें क्रमशः स्वर-सन्धि, व्यंजन सन्धि और विसर्ग सन्धि कहा जाता है। दो युगों के मध्य को भी सन्धि अथवा सन्ध्या कहते हैं। दिन और रात्रि के मिलन काल को भी सन्धि या सन्ध्या कहते हैं। सन्ध्याएँ तीन होती हैं— प्रातः काल, मध्याह्न और सायंकाल। इन्हें त्रिसन्ध्या या त्रिसन्धि भी कहते हैं। प्रत्येक सन्धि या सन्ध्या में गायत्री जप अथवा ईश्वर उपासना का विधान है। सन्धिकालों अथवा सन्ध्याओं में की गई उपासनाएँ विशेष रूप से फलित होती हैं। इसमें ध्यान सम्यक् रूप से लगता है, इसीलिए सन्ध्या शब्द की व्युत्पत्ति में यह भाव ध्वनित होता है-**सन्ध्या (सं० स्त्री) सं सम्यक् ध्यायत्यस्यामिति सं+ध्यै चिन्तने+आतश्चोपसर्गे** (श०क० खं० ५ पृ० २४१)। द्विजातियों के लिए नियमित रूप से सन्ध्या करना अनिवार्य माना गया है। श्रुति में उल्लेख है- **अहरहः सन्ध्यामुपासीत** (हि०वि०को०खं० २३ पृ० ५५४)। आरुण्युपनिषद् में संन्यासी के कर्तव्यों के क्रम में निर्दिष्ट है कि उसे तीन सन्ध्याओं में स्नान करके समाधिस्थ होकर आत्मा में रमण करना चाहिए- **त्रिसंध्यां स्नानमाचरेत् संधिं समाधावात्मन्याचरेत्**

(आरुणि०२)। परमहंसोपनिषद् -२ में परमहंस के लक्षणों में उसे स्थूल शिखा, यज्ञोपवीत, दण्ड आदि से रहित होकर षड्ऊर्मियों व अन्य कलुषों से रहित होना बताया गया है। उसी क्रम में आत्मा-परमात्मा में समभाव रखना और इनको एक ही दृष्टि से देखना उसकी संध्या बताया गया है-**परमात्मात्मनोरेकत्वज्ञानेन तयोर्भेद एक एव विभग्नः सा सन्ध्या।**

३२७. **सन्ध्या**—द्र०-सन्धि।

३२८. **समाधि**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

३२९. **सम्प्रसाद**—विशेषत: 'सम्यक् प्रसन्नता' के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले 'सम्प्रसाद' शब्द का उल्लेख कई ग्रन्थों में मिलता है। हि०वि०को० खं० २३ पृ० ६३३ के अनुसार सम्-प्र-घञ् से निर्मित सम्प्रसाद शब्द के कई अर्थ हैं, जैसे-सम्यक् प्रसाद, चित्त की प्रसन्नता, योग शास्त्र के अनुसार चित्त की निर्मलता की एक साधना विशेष, सुषुप्ति, प्रसन्नता और विश्वासादि। परब्रह्मोपनिषद् में परब्रह्म के ध्यान की स्थिति और उसके स्वरूप के विषय में बताते हुए उसे देवों का संप्रसाद दाता, अन्तर्यामी, असङ्ग, चैतन्य स्वरूप पुरुष कहा है-**य एष देवोऽन्यदेवस्य संप्रसादोऽन्तर्याम्य -सङ्गचिद्रूपः पुरुषः** (परब्रह्मो० २)। सुबालोपनिषद् में सूक्ष्म कोश में स्वप्न के अनुभव प्रकरण में (आनन्दानुभूति के क्रम में) आत्मा को भी सम्प्रसाद कहा गया है-**अथेमा.....लोकं परं च लोकं पश्यति सर्वाञ्छब्दान् विजानाति स संप्रसाद इत्याचक्षते प्राणः शरीरं परिरक्षति** (सुबालो० ४.३) अर्थात् जिस द्वितीय कोश में आत्मा जब शयन करता है, लोक और परलोक का दर्शन करता है और समस्त शब्दों को जानता है, तब उसे सम्प्रसाद कहते हैं।

३३०. **सहजोली मुद्रा**—द्र०-मुद्रा।

३३१. **सहस्रार चक्र**—द्र०-ज्ञानखण्ड-सप्तचक्र।

३३२. **सांसारिक विषय**— द्र०-ज्ञानखण्ड -विषय-भोग।

३३३. **सायुज्य पद**—द्र०-ज्ञानखण्ड -पञ्चविधि मुक्ति।

३३४. **सिंहासन**—द्र०-आसन।

३३५. **सिद्धासन**—द्र०-आसन।

३३६. **सुख-दुःख**— सुख-दुःख एक ऐसी अनुभूति है, जो क्रमशः अनुकूलता और प्रतिकूलता के रूप में हर कोई अपने जीवन में परिस्थितियों के अनुसार अनुभव करता है। हि०वि०को० खं० २४ पृ०२६९ में सुख की व्युत्पत्ति इस प्रकार निर्दिष्ट है- **सुखयतीति सुख-अच्**। जिसका अर्थ है आत्मवृत्ति अथवा मनोवृत्ति—गुण विशेष। वह अनुकूल और प्रिय वेदना, जिसकी सभी को अभिलाषा रहती है। आत्मा के २४ गुणों में सुख भी एक गुण है, जो नित्य और जन्य भेद से दो प्रकार का होता है। सांख्य और योग के मत से सुख सत्त्वगुण का धर्म है। गीता के अनुसार सुख सात्त्विक, राजसी और तामसी होता है-**सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ। अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति** (गी० ४.३६)। इस श्लोक में तीन प्रकार के सुखों का संकेत करके गीताकार ने अगले तीन श्लोकों ३७, ३८ और ३९ में क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस सुख की परिभाषाएँ दी हैं। सुख के विपरीत अनुभूति को दुःख कहते हैं। हि०वि०को०खं० १० पृ० ४८७ में दुःख इन शब्दों में निर्दिष्ट है- **दुर् दुष्टं खनतीति खन-उ वा दुःखयतीति दुःख अच्**। इस व्युत्पत्ति से निर्मित दुःख शब्द के अर्थ-संसार, व्याधि, रोग, व्यथा, कष्ट, क्लेश आदि हैं। दुःख या क्लेश उत्पन्न होने के कई कारण हैं, जैसे-परतन्त्रता, दूसरे के अधीन रहकर जीवनयापन करना, आधि (मानसिक कष्ट), व्याधि (शारीरिक कष्ट-रोग आदि), मानहानि, शत्रुता, कुलटा पत्नी आदि।

न्याय और वैशेषिक के अनुसार दुःख को आत्मा का धर्म तथा सांख्य और वेदान्त के मत से दुःख को बुद्धि का धर्म माना गया है, दुःख भी तीन प्रकार का कहा गया है—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। आध्यात्मिक दुःख के भी दो प्रकार हैं- शारीरिक और मानसिक। आधिदैविक दुःख उसे कहते हैं, जो देवता से उत्पन्न दुःख हो, जैसे-सर्दी-गर्मी, हवा, वर्षा, और वज्रपात से उत्पन्न दुःख। आधिभौतिक दुःख समस्त भूतों से उत्पन्न होने के कारण चार प्रकार का है, जैसे- जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज (मनुष्य,पशु-पक्षी, सर्पदंश, वनमक्षिका, स्थावर आदि) से उत्पन्न दुःख। उपनिषदों में योगी और परिव्राजक आदि को सुख-दुःख से दूर रहने या इससे ऊँचे उठने का परामर्श दिया गया है। नारद परिव्राजक उपनिषद् (३.२७) में उल्लेख है कि जिस प्रकार प्राणविहीन देह में सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता, उसी प्रकार कैवल्याश्रम में रहने वाले योगी प्राण रहते हुए भी सुख-दुःख से प्रभावित नहीं होते-**प्राणे गते यथा**

देहः सुखदुःखं न विन्दति। तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत्॥ गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने सुख-दुःख, लाभ -हानि, जय और पराजय में समान रहने का उपदेश दिया है- **सुख दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि** (गी० २.३८)।

३३८. **सूक्ष्मशरीर**—द्र०-पुर्यष्टक।

३३९. **सूत्रात्मा**—द्र०-ज्ञानखण्ड-तैजस।

३४०. **सूर्य**— विभिन्न ग्रहों में सूर्य महत्त्वपूर्ण ग्रह है। चारों वेदों में सूर्य की एक विशिष्ट देवता के रूप में स्तुति (प्रार्थना) की गई है। विराट् पुरुष के नेत्रों से सूर्य का प्रादुर्भाव हुआ है- **चक्षोः सूर्यो अजायत** (यजु० ३१.१२)। परब्रह्म के नेत्र स्वरूप होने के कारण सूर्य को सभी का कर्मद्रष्टा विवेचित किया गया है-**सूराय विश्वचक्षसे** (ऋ० १.५०.२)। समस्त जीव सूर्य से ही जीवित हैं, इसी कारण सूर्य सभी का आत्मा कहलाता है। ऋग्वेद में यह तथ्य इस प्रकार उपन्यस्त है- **सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च** (ऋ० १.११५.१)। स्थिति भेद से सूर्य के अनेक नाम हैं, जैसे- सभी को अपने कर्म और उसके फल में स्थिर रखने के कारण सूर्य को ब्रह्म, जगत् के पालक होने के कारण सूर्य को वाम, देदीप्यमान होने से सूर्य को शुक्र और सबका प्रेरक होने से सूर्य को सविता आदि कहते हैं। आचार्य सायण ने उदित होने से पूर्व के सूर्य को सविता कहा है—**उदयात् पूर्व भावी सविता** (ऋ० ५.८.१४ सा०भा०)। शतपथ ब्राह्मण में सविता को सभी देवों का पिता कहा गया है—**सविता वै देवानां प्रसविता** (शत०ब्रा० १.१.२.१७) निरुक्तकार यास्क ने भी सविता को प्रसविता कहकर इस तथ्य को पुष्टि की है—**सविता सर्वस्य प्रसविता** (नि० १०.३.३१)।

सूर्य वस्तुतः अग्नि का ही आकाशीय रूप है। विश्वविधान का संरक्षक होने के कारण उसका चक्र नियमित चलता रहता है, जिससे गति, प्रखरता और सृजन की सभी को प्रेरणा मिलती है। अथर्वशिर उपनिषद् में देवों ने भगवान् रुद्र की स्तुति करते हुए तेजस्विता के कारण उन्हें सूर्य रूप कहा है- **यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च सूर्यस्तस्मै वै नमो नमः** (अथर्वशिर० २)। इसी प्रकार भगवान् रुद्र के विभिन्न गुणों के कारण अन्य नामों से भी उनकी स्तुति की गई है, जैसे—उन्हें वृद्धि रूप, शान्तिरूप, पुष्टिरूप, हुतरूप (होम किए गये), अहुतरूप (बिना होम किए गये), दत्त (दिए गये), अदत्त (बिना दिए गये), सर्व-असर्वरूप, विश्व-अविश्वरूप, पर-अपर रूप और परायण रूप कहा गया है-**वृद्धिस्त्वं शान्तिस्त्वं पुष्टिस्त्वं हुतमहुतं दत्तमदत्तं विश्वमविश्वं कृतमकृतं परमपरं परायणं च त्वम्** (अथर्वशिर० ३)।

३४१. **सृष्टि**—द्र०-ज्ञानखण्ड-सृष्टि-अतिसृष्टि।

३४२. **सोम**— सोम की स्तुति का उल्लेख चारों वेदों तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों में भी मिलता है। ऋषियों की दृष्टि में सोम एक पोषक तत्त्व है। इसका वर्णन कभी वनस्पति (सोम नामक लता) के रस के रूप में, कभी सूक्ष्म-प्रवाह के रूप में तथा कभी व्यक्तित्व सम्पन्न देव शक्ति के रूप में विभिन्न वेद मंत्रों में हुआ है। सोम की वनस्पति (सोमलता) रूप की अवधारणा के संदर्भ में यह मान्यता है कि सोमलता का उत्पत्ति-स्थल हिमाच्छादित उच्च पर्वतीय उपत्यिकाएँ हैं। सोमलता का मधुर रस दिव्य तथा अतिशय आनन्द प्रदान करने में समर्थ है-**असाव्य ꣳशुर्मदायाप्सु दक्षो गिरिष्ठाः** .....(सा० ४७३)। सोमरस हरितवर्ण का होता है, जो बल-वीर्यवर्धक है। देवगण चाव से इसका पान करते हैं-**पवस्व दक्षसाधनो देवेभ्यः पीतये हरे। मरुद्भ्यो वायवे मदः** (सा० ४७४)। सोमरस के अन्य गुणों-बुद्धि-वृद्धि, जागृतिवृद्धि, शुक्रवृद्धि, दक्षतावृद्धि, मेधावृद्धि, तेजस्विता वृद्धि तथा मनः नियन्त्रण आदि का वर्णन सामवेद के विभिन्न मंत्रों में मिलता है। इसे साक्षात् अमृत मानकर राजा कहा गया है। **सोमोऽराजामलꣳ सुत** (यजु० १९.७२)। सोम की सोमलता के रूप में इस स्थूल अवधारणा के अतिरिक्त दूसरी अवधारणा सूक्ष्म प्रवाह के रूप में है। परमात्म शक्तियों के ऐसे प्रवाह को, जो सर्वत्र संचरित होकर सृष्टि के सन्तुलन, विकास आदि में अपना योगदान देता है, क्रान्तदर्शी ऋषियों ने 'सोम' संज्ञा प्रदान की है- **उच्चा ते जातमन्धसो दिवि सद्भूम्या ददे। उग्रं शर्म महि श्रवः** (सा० ४६७) अर्थात् हे सोमदेव! आपके पोषक रस का उद्भव सर्वोच्च द्युलोक में हुआ। द्युलोक में होने वाले आपके उस महिमामय प्रभाव और पोषण शक्ति को पृथिवी पर रहने वाले प्राणी प्राप्त करते हैं। सोम के सन्दर्भ में तीसरी अवधारणा विश्व ब्रह्माण्ड की संरचना, विकास और विलय की समूची प्रक्रिया के नियामक के रूप में है। एक मंत्र में सोम को सूर्य का प्रकाशक कहा गया है-**यया सूर्यमरोचयः** (सा० ४९३)। स्थूल रूप में सोम (सोमलता) को वनस्पतियों का अधिपति कहा गया है- **सोमं नमस्य राजानं यो यज्ञे वीरुधां पतिः** (अथर्व० ३.२७.४)। दिव्य सोम के विषय में अथर्ववेद के एक मंत्र में एक वर्णन है कि

लोग सोम नामक जिस ओषधि का पान करते हैं, वे वास्तविक सोम को नहीं जानते; परन्तु ब्राह्मण (विद्वान् पुरुष) जिस सोम को जानते हैं, उसे कोई देहधारी मर्त्य ग्रहण नहीं कर सकता। उस सोम का पान देवगण करते हैं; क्योंकि वह (सोम) पुनः प्रबुद्ध हो जाता है। पवित्र और पवित्रकारक होने से सोम को पवमान सोम कहा गया है-**पवमानो अजीजनद्दिवश्चित्रं** .....(सा० ४८४)। सामवेद में एक स्थल पर सोम को महान् जल-प्रवाहों में मिला हुआ विवेचित किया गया है-**परि प्रासिष्यदत्कविः सिन्धोरूर्मावधिश्रितः** .....(सा० ४८६)। अथर्वशिर उपनिषद् में देवों ने रुद्र भगवान् की स्तुति करते हुए उन्हें सोम कहा है- **यो वै रुद्रः स भगवान्यश्च सोमस्तस्मै वै नमो नमः** (अथर्वशिर० २)।

३४३. **सोऽहं**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

३४४. **स्तुति**—द्र०-ज्ञानखण्ड-स्तोम।

३४५. **स्वर्ग-नरक**—द्र०-ज्ञानखण्ड-पाप-पुण्य।

३४६. **स्वाहा**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

३४७. **हंस**—द्र०-अवधूत।

३४८. **हंस-परमहंस**--द्र०-ज्ञानखण्ड।

३४९. **हठयोग**— भारतीय ऋषियों ने योग पर बहुत से अनुसन्धान किये हैं। योग शब्द बहुत विराट् है, जिसमें विभिन्न धाराएँ समाहित हैं। दो अंकों के जोड़ को योग कहते हैं। आत्मा और परमात्मा का मिलन भी योग के द्वारा ही सम्भव है। इसके विभिन्न प्रकार हैं, जैसे- ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, सांख्ययोग, राजयोग, हठयोग आदि। हठयोग के माध्यम से (हठपूर्वक) चित्तवृत्तियों को बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करके ब्रह्म साक्षात्कार या ब्रह्म से एकाकार करते हैं। हठयोग के माध्यम से ही शरीर और नाड़ी संस्थान की शुद्धि करके शारीरिक स्वास्थ्य रक्षा और व्याधिशमन करते हैं। इसके (हठयोग के) अन्तर्गत विभिन्न क्रियाएँ, जिनमें छः प्रमुख क्रियाएँ-नेति, धौति, वस्ति, नौली, त्राटक और कपालभाति आती हैं— **धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिर्नौलिकिस्त्राटकस्तथा। कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्** (गोरक्षसंहिता)। इसके अतिरिक्त हठयोग में विभिन्न प्रकार के प्राणायाम, आसन, बन्ध और मुद्राएँ भी समाविष्ट हैं, जिनसे चित्तवृत्तियों को ऊर्ध्वमुखी करके तीनों शरीरों की शुद्धि करके आत्मानन्द, ब्रह्मानन्द की प्राप्ति की जा सकती है। हठयोग का शाब्दिक अर्थ भी शरीर स्थित सूर्य और चन्द्र नाड़ियों के शोधन और उनके ऐक्य को प्रतिपादित करता है- **हकारेण तु सूर्यः स्यात्सकारेणेन्दुरुच्यते। सूर्याचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते** (यो० शि० १३३)। इस व्युत्पत्ति परक अर्थ में प्रथमतः 'ह' और तत्पश्चात् 'स' का अर्थ बताया गया है। जबकि हठ में 'ह' और 'ठ' वर्ण होते हैं। इस मन्त्र के साथ इसका सम्बन्ध होने से सम्भवतः ऐसा हुआ हो, अतः सर्वत्र 'ठ' के स्थान पर 'स' पाठ ही मिलता है। हठयोग के आसन, बन्ध, मुद्राओं का वर्णन अलग से उन-उन क्रमांकों पर किया गया है।

३५०. **हविष्य**— द्र०-ज्ञानखण्ड-हुत-प्रहुत।

३५१. **हिरण्यगर्भ**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

३५२. **हुत-अहुत**—द्र०-सूर्य।

३५३. **हृदय कमल**—द्र०-अष्टदल कमल।

३५४. **हृदयाकाश**—द्र०-परमव्योम।

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अंगुष्ठाभ्यां	जा०द० ६.३४
अंगुष्ठेन निबध्नीयात्	शाण्डि० १.३.३
अकर्ताऽहमभोक्ता०	अध्या० ७०
अकर्म मन्त्ररहितं	ना०परि० ३.८
अकस्मान्मुद्गर	पैंग० २.१४
अकारादित्रयाणाम्	शाण्डि० १.६.४
अकारोकाररूपोऽस्मि	मैत्रे० ३.११
अक्षयोऽहम्	ब्र०वि० ८३
अक्षरत्वात्	अव० २
अखण्डाकाश रूपोऽस्मि	मैत्रे०३.२०
अखण्डानन्दमात्मानम्	अध्या० २७
अगोचरं	मैत्रे० १.१३
अग्नीषोमाभ्याम्	हंस० १२
अग्नीषोमौ पक्षावोंकार:	हंस० १४
अग्नेरिव शिखा	प०ब्र०१३, ब्रह्म० १२
अग्नेरिव शिखा नान्या	ना०परि० ३.८७
अग्न्यंशे च	जा०द० ८.६
अघोरं सलिलम्	पं०ब्र० ७
अच्युतोऽहम्	ब्र०वि० ८१
अजरोऽस्म्यमरो०	अध्या० ५५
अजिह्व: षण्डक:	ना०परि० ३.६२
अज्ञातमपि चैतन्यम्	कं० रु० ४५
अज्ञानहृदय ग्रन्थे:	अध्या० १७
अज्ञानादेव संसारो	अध्या० ५५
अज्ञानान्मलिनो	जा०द० ५.१४
अणोरणीयानहमेव	कैव० २०
अणोरणीयान्महतो	ना०परि० ९.१५
अण्डं ज्ञानाग्निना	पैंग ३.८
अण्डस्थानि	पैंग० १.११
अत: सर्वं जगत्	मं०ब्रा० ५.१.२
अतिवादांस्तितिक्षेत	ना०परि० ३.४२
अतिसूक्ष्मां च तन्वीं	क्षुरि० ९
अतीतान्न	ना०परि० ३.२५
अत्यन्तमलिनो	जा०द० १.२१
अत्रात्मत्वम्	अध्या० १८
अत्रैतेश्लोका भवन्ति	शाण्डि० ३.२.११
अथ कदाचित्परिव्राजक	ना०परि० १.१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अथ कस्मात् .....आत्मेति	शाण्डिल्य० ३.२.३
अथ कस्मात् ...दत्तात्रेय	शाण्डिल्य० ३.२.७
अथ कस्मात् .....महेश्वर:	शाण्डिल्य० ३.२.५
अथ कस्मादुच्यते	अथर्व० ४
अथ किमेतैर्वान्यानाम्	मैत्रे० १.२
अथ कुम्भक:	शाण्डि० १.७.१३-५
अथ खलु ....कुटीचक्रो	शाट्या० ११
अथ खलु ...नासमाप्य	शाट्या० ३६
अथ खलु ...नैष्ठिकम्	शाट्या० २८
अथ खलु ....परिव्राजका:	शाट्या० १९
अथ खलु ...लब्ध्वा	शाट्या० ३२
अथ गार्ग्यो ह वै	कौ०ब्रा० ४.१
अथ जनको ह वैदेहो	याज्ञ० १
अथ जाग्रत्स्वप्न	पैंग० २.११
अथ ज्ञानेन्द्रिय पञ्चकं	पैंग २.५
अथ तुरीयातीतावधूतानाम्	तुरी० १
अथ धारणा:	शाण्डि० १.९.१
अथ ध्यानम्	शाण्डि० १.१०.१
अथ नारद: पितामहं	ना०परि० ४.३७
अथ नारद पितामहमुवाच	ना०परि० ६.१
अथ निर्वाणोपनिषद्	निर्वा० १-११
अथ परमहंसा नाम	भिक्षु० ५
अथ परमात्मा नाम	आत्मो० १-घ
अथ पितामह:	प०प० १
अथ पैङ्गलो	पैंग० २.१
अथ पैप्पलादो	पं०ब्र० १
अथ पौर्णमास्याम्	कौ०ब्रा० २.९
अथ प्रत्याहार:	शाण्डि० १.८.१
अथ प्रोष्यायन्पुत्रस्य	कौ०ब्रा० २.११
अथ बहूदका नाम	भिक्षु० ३
अथ ब्रह्मविद्या ...	ब्र०वि० १
अथ ब्रह्मस्वरूपं कथमिति	ना०परि०९.१
अथ भगवाञ्छाकायन्य:	मैत्रे० १.४
अथ भगवान्मैत्रेय:	मैत्रे० २.१
अथ भिक्षूणाम्	भिक्षु० १
अथ मासि मास्य	कौ०ब्रा० २.८
अथ यतेर्नियम:	ना०परि० ७.१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अथ यदिदम्	आ०बो० १.२
अथ योगिनां परमहंसानां	प०हं० १
अथ योऽस्य निरुक्तानि	शाण्डि० ३.२.९
अथ यो ह वै विद्यैनम्	शाण्डि० ३.२.१०
अथवा कृतकृत्योऽपि	अव० २६
अथ वा तव	जा०द० ८.७
अथवा परिव्राड्	याज्ञ० ५
अथवा सत्यमीशानं	जा०द० ९.३
अथवैतत्परित्यज्य	जा०द० ५.१३
अथ शैवपदं	कुण्डि० २०
अथ षण्ड: पतितो	संन्या० २.४
अथ संवेश्यन् जायायै	कौ०ब्रा० २.१०
अथ संसृतिबन्ध	म०वा० ३
अथ सनत्कुमार:	जाबालि० २०
अथ समाधि:	शाण्डि० १.११.१
अथ हंसऋषि:	हंस १०
अथ हंस परमहंस	हंस० ४
अथ हंसा नाम	भिक्षु० ४
अथ ह जनको ह	जाबा० ४.१
अथ ह पैङ्गलो	पैङ्ग० १.१
अथ ह यत्परं ब्रह्म	शाट्या० ५
अथ ह याज्ञवल्क्य...	मं०ब्रा० २.१.१
अथ ह याज्ञवल्क्यो	मं०ब्रा० ४.१.१
अथ ह शाण्डिल्यो	शाण्डि० २.१
अथ ह सांकृतिर्भगवन्तम्	अव० १
अथ हैनमत्रि: पप्रच्छ	याज्ञ० ४
अथ हैनमत्रि: पृच्छामि	जाबा० ५.१
अथ हैनमत्रि: .....य एषो	जाबा० २.१
अथ हैनमथर्वाणं केनोपायेन	शाण्डि० १.४.१
अथ हैनमथर्वाणं ....भगवान्	शाण्डि० ३.२.१
अथ हैनं ....क्रामतीति	सुबा० ११.१
अथ हैनं ....गच्छन्तीति	सुबा० ९.१
अथ हैनं .....जाबालि	जाबालि० १
अथ हैनं ....दहतीति	सुबा० १५.१
अथ हैनं नारद:	ना०परि० ३.१
अथ हैनं ....पप्रच्छ	पैङ्ग० ४.१
अथ हैनं परमेष्ठिनं	ना० परि० ८.१
अथ हैनं पितामहं नारद:	ना०परि० ५.१
अथ हैनं पैङ्गल:	पैङ्ग० ३.१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अथ हैनं ब्रह्मचारिण:	जाबा० ३.१
अथ हैनं भगवन्तं	ना०परि० २.१
अथ हैनं महाशाल:	प०ब्र० १
अथ हैनं शाण्डिल्ये	शाण्डि० ३.१.१
अथ हैनं ....संप्रतिष्ठिता	सुबा० १०.१
अथ होवाच.... ब्रह्मा	म०वा० १
अथाङ्गिरास्त्रिविध:	आत्मो १-क
अथात एकधनावरोधनम्	कौ०ब्रा० २.३
अथात: ....ध्यानम्	जा०द० ९.१
अथात:परमहंस	आरु० ४
अथात:पितापुत्रीयं	कौ०ब्रा० २.१५
अथात: पृथिव्यादि	शारी० १
अथातश्चत्वार आश्रमा:	आश्र० १
अथात: श्रीमद्	द्वय० १
अथात: संन्यासोपनिषदम्	संन्या० १.१
अथात: संप्रवक्ष्यामि धारणा:	जा०द० ८.१
अथात: संप्रवक्ष्यामि	जा०द० ७.१
अथात: ...समाधिम्	जा०द० १०.१
अथात: सर्वजित:	कौ०ब्रा० २.७
अथात: सांयमन्त्रम्	कौ०ब्रा० २.५
अथातो दैव: परिसर:	कौ०ब्रा० २.१२
अथातो दैवम्	कौ०ब्रा० २.४
अथातो नि:श्रेयसादानम्	कौ०ब्रा० २.१४
अथात्रैतद्हरं	सुबा० ४.४
अथान्तरात्मा नाम	आत्मो १-ग
अथान्नमय प्राणमय ...	पैङ्ग २.४
अथापञ्चीकृतमहाभूत ..	पैङ्ग० २.३
अथापानात्कटिद्वन्द्वे	जा०द० ७.८
अथाप्यस्यारूपस्य	शाण्डि० ३.१.३
अथाश्रमं चरमम्	शाट्या० ६
अथाश्वलायनो०	कैव० १
अथासनदृढ़ो योगी	शाण्डि० १.७.१
अथास्य पुरुषस्य	ब्रह्म० १
अथास्य या सहजाऽस्ति	शाण्डि० ३.१.५
अथेमा दश दश	सुबा० ४.३
अथैष ज्ञानमयेन	शाण्डि० १.३.६
अथो नाद आधारात्	हंस० ९
अदग्धमहतम्	संन्या० २.१४
अदृश्यं नवमे	हंस० २०

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अदृश्योऽहम्	ब्र०वि०८५
अद्यजातां यथा नारीम्	ना०परि० ३.६४
अद्वयब्रह्मरूपेण	आ०बो० २.१४
अद्वयानन्द विज्ञान	ब्र०वि० ८९
अद्वैत भावना	मैत्रे० २.१०
अद्वैतोऽहम्	ब्र०वि० ८८
अधस्तात्कुञ्चनेनाशु	शाण्डि० १.७.१२
अध्यस्तस्य	अध्या०५८
अध्यात्मरतिरासीनो	ना०परि० ३.४४
अध्यापिता ये गुरुम्	शाट्या० ३८
अनन्तकर्म शौचम्	पैङ्ग० ४.२४
अनन्तानन्द संभोगा	संन्या० २.४०
अनाख्ययेमिदं गुह्यम्	हंस० ३
अनात्मकमसत्तुच्छम्	आत्मो० ९
अनादाविह संसारे	अध्या० ३७
अनास्थायाम्	शाण्डि० १.७.२७
अनाहतस्य शब्दस्य	मं०ब्रा० ५.१४
अनिन्द्यं वै व्रजेत्	ना०परि० ५.३९
अनिर्वाच्यम्	यो०त० ७
अनुज्ञाप्य गुरूंश्चैव	ना०परि० ६.३३
अनुभूतिं विना	मैत्रे० २.२२
अनेन ज्ञानमाप्नोति	कैव० २६
अनेन विधिना	ना०परि० ३.५२
अन्त:करण प्रतिबिम्बित	पैङ्ग० २.१०
अन्त:करणसम्बन्धात्	कं०रु० ४४
अन्त: पूर्णो बहि:	मैत्रे० २.२७
अन्तर्याम्यहम्	ब्र०वि० ८४
अन्तर्लक्ष्यं	शाण्डि० १.७.१४
अन्तर्लक्ष्यं जलज्योति:	मं०ब्रा० १.३.६
अन्तर्लक्ष्य विलीन	शाण्डि० १.७.१५
अन्त: शरीरे निहितो	अध्या० १
अन्त: शरीरे... एको	सुबा० ७.१
अन्त: शरीरे ...शुद्ध:	सुबा० ८.१
अन्त:सङ्ग परित्यागी	ना०परि० ६.४१
अन्त:स्थं मां	जा०द० ४.५८
अन्त: स्थानीन्द्रियाणि	ना०परि० ३.२६
अन्नपानपरो	संन्या० २.११४
अन्यदीये तृणे	जा०द०१.११
अन्यानथाष्टौ	शाट्या० २३

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अन्योन्यस्याविरोधेन	यो०त० ६६
अपकारिणि	याज्ञ० २९
अपाणिपादो	कैव० २१
अप्राणिपादो जवनो	ना०परि०९.१६
अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्रणवेन	जाबा० ६.३३
अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं	शाण्डि० १.७.१३
अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य योनि	यो०त० १२१
अपानाख्यस्य	जा०द० ४.३१
अपानान्निषादा	सुबा० २.१
अपानो वर्तते	जा०द० ४.२७
अपापमशठम्	ना०परि० ३.७४
अपूर्वमपरं	जा०द० ४.६०
अप्रमत्त: कर्म भक्तिज्ञान ..	ना०परि०३.७७
अप्राणममुखम्	सुबा० ३.२
अब्धिवद्धृतमर्यादा	ना०परि० ५.३७
अभयं सर्वभूतेभ्यो	ना०परि० ५.४३
अभिपूजितलाभांश्च	ना०परि० ५.३४
अभिशस्तं च पतितम्	संन्या० २.९२
अभेददर्शनम्	मैत्रे० २.२
अभ्यासकाले	शाण्डि० १.७.५
अभ्यासान्निर्विकारं	मं०ब्रा० १.२.१३
अमानित्व	शारी० ९
अमावास्या	जा०द० ४.४३
अमरीं य: पिबेत्	यो०त० १२८
अमुना वासना जाले	अध्या० ३९
अमुष्य ब्रह्मभूतत्वाद्ब्रह्मण:	आत्म० २६
अमृतत्वं समाप्नोति	क्षुरि० २५
अमृतेन तृप्तस्य	पैङ्ग ४.१३
अयं ते योनिर्ऋत्वियो	ना०परि० ३.७८
अयं हृदि स्थित:	पं०ब्र० ४१
अयने द्वे च	ब्र०वि० ५५
अयमेव महाबन्ध:	यो०त० ११५
अयमेव महावेध:	यो०त० ११७
अयाचितं यथालाभम्	ना०परि० ५.३१
अरजस्कोऽतमस्को	ब्र०वि० ८७
अर्धमात्रा परा	ब्र०वि०४०
अर्धोन्मीलितलोचन:	शाण्डि० १.७.१६
अलभ्यमानस्तनय:	याज्ञ० २४
अलम्बुसा	जा०द० ४.८

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अलाभे न विषादी	ना०परि० ५.३३	अहंकारो ममत्वं च	ना०परि० ४.६
अल्पमूत्रपुरीषश्च	यो०त० ५७	अहं ब्रह्मेति	अध्या० ५०
अल्पमृष्टाशनाभ्यां	जा०द० १.१९	अहं ब्रह्मेति नियतम्	पैङ्ग० ४.२५
अल्पाहारो यदि	यो०त० १२४	अहं मनुष्यः	अव० २०
अवधूतः	संन्या० २.२९	अहं ममेति	मैत्रे० २.८
अवधूतस्त्वनियमः	ना०परि० ५.१७	अहमस्मि परश्चास्मि	मैत्रे० ३.१
अवबोधैकरसोऽहं	आ०बो० २.४	अहमेवाक्षरं ब्रह्म	ना०परि० ३.२०
अवष्टभ्य धराम्	शाण्डि० १.३.१०	अहमेवास्मि	मैत्रे० ३.२
अवस्थात्रितयातीतम्	पं०ब्र० १८	अहिंसा नियमेष्वेका	यो०त० २९
अवायुरप्यनाकाशो	ब्र०वि० ८६	अहिंसा सत्यमस्तेय.....अक्रोधो	शारी० ८
अविचारकृतो बन्धो	पैङ्ग० २.१८	अहिंसा सत्यमस्तेय....अनौद्धत्य	ना०परि० ४.१०
अविद्याकार्यहीनो	ब्र०वि० ९०	अहिंसा सत्यमस्तेय ब्रह्मचर्यं	जा०द० १.६
अव्यक्तलिङ्ग	ना०परि० ५.५०	अहेयमनुपादेयम्	मैत्रे० १.१४
अव्यक्तलेशाज्ञान	पैङ्ग० २.९	अहो ज्ञानमहो	अव० ३५
अशब्दमस्पर्शमरूपम्	पैङ्ग० ३.१२	अहो पुण्यमहो	अव० ३४
अशब्दोऽहम्	ब्र०वि० ८२	आकाशधारणात्तस्य	यो०त० १०२
अशरीरं शरीरेषु	ना०परि०९.१७	आकाशवत्कल्पविदूरगः	कुण्डि० १६
अशरीरं शरीरेषु महान्तं	जा०द० ४.६२	आकाशवत् सूक्ष्मशरीरः	पैङ्ग० ४.१८
अशुभाशुभ संकल्पः	संन्या० २.६५	आकाशवद्वायुसंज्ञस्तु	कं०रु० १८
अष्टाक्षर समायुक्तम्	पं०ब्र० १४	आकाशांशस्तथा	जा०द० ८.५
असङ्गोऽहमनङ्गोऽहम्	अध्या० ६९	आकाशे वायुमारोप्य	यो०त० ९९
असत्कल्पो विकल्पोऽयम्	अध्या० २२	आकुञ्चनेन	शाण्डि० १.७.३६ ख
असत्यत्वेन	आत्म० ५	आगच्छ गच्छ	ना०परि० ४.७
असद्वा इदमग्र	सुबा० ३.१	आचिनोति हि	द्वय० ३
असंशयवताम्	मैत्रे० २.१६	आजानोः पायुपर्यन्तम्	यो०त० ८८
असावादित्यो	म०वा०	आज्यं रुधिरमिव	संन्या० २.९७
अस्तेयं नाम	शाण्डि० १.१.७	आतिथ्य श्राद्धयज्ञेषु	ना०परि० ६.७
अस्ति चर्म नाड़ी...	शारी० ५	आतुरकालः	ना०परि० ३.५
अस्थिस्थूणं	ना०परि० ३.४६	आतुरकुटीचकयोः	ना०परि० ५.२२
अस्थिस्नाय्वादिरूपोऽयम्	कं०रु० २१	आतुरेऽपि क्रमे वापि	ना०परि० ३.७
अस्नेहो गुरुशुश्रूषा	ना०परि० ४.११	आतुरेऽपि च संन्यासे	ना०परि० ३.६
अस्मिन् ब्रह्मपुरे	पं०ब्र० ४०	आतुरो जीवति	ना०परि० ५.१८
अस्यैव जपकोट्यां	हंस० १६	आतुरो जीवति ..शूद्रस्त्री	संन्या० २.७४
अहं कर्त्ताऽस्म्यहं	शारी० १०	आत्मतापरते	संन्या० २.६६
अहङ्कारग्रहान्मुक्तः	अध्या० ११	आत्मतीर्थम्	जा०द० ४.५०
अहंकारमेवाप्येति	सुबा० ९.१३	आत्मनेऽस्तु	संन्या० २.४७
अहंकारसुतम्	मैत्रे० २.१२	आत्मन्यनात्मभावेन	जा०द० १.१२
अहंकारादिदेहान्तम्	आ०बो० २.३०	आत्मन्यात्मानमिडया	शाण्डि० १.७.४८
अहंकारोऽध्यात्मम	सुबा० ५.८	आत्मवत् सर्वभूतानि	ना०परि० ४.२१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
आत्मविद्यातपोमूलं	ना०परि० ९.१३
आत्मसंज्ञ: शिव:	आत्मो० १-ङ
आत्मस्वरूप ...	जा०द० ६.५०
आत्मानमन्विच्छेत्	ना०परि० ३.९२
आत्मानमपि दृष्ट्वा	आ०बो० २.१८
आत्मानमरणिम्	ब्रह्म० १८
आत्मानमरणिं कृत्वा	कैव० ११
आत्मानमात्मना	ब्र०वि० २९
आत्मानं चेद्	शाट्या० २४
आत्मानं रथिनम्	पैङ्ग० ४.३
आत्मानं सच्चिदानन्दम्	जा०द० ९.५
आत्मा सर्वगतोऽच्छेद्यो	जा०द० १.८
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्	पैङ्ग० ४.५
आदावग्निमण्डलं	मं०ब्रा० २.१.५
आदित्यवर्णम्	म०वा० ८
आदित्या रुद्रा	सुबा० ६.३
आदिमध्यान्तहीनो	ब्र०वि० ९१
आदौ विनायकम्	शाण्डि० १.५.२
आनन्दत्वात्र	आ०बो० २.३१
आनन्दबुद्धिपूर्णस्य	आ०बो० २.२१
आनन्दमन्तर्निजम्	मैत्रे० १.१६
आनन्दयति	कं०रु० ३०
आनन्दामृतरूपो	ब्र०वि० ९२
आनन्दाविर्भवो	जा०द० ६.३५
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं	अव० १०
आभ्रूमध्यात्तु	यो०त० ९८
आरब्धकर्मणि	अव० २१
आरभ्य चासनं	जा०द० ५.५
आरम्भश्च घटश्चैव	यो०त० २०
आरुणि: प्रजापते	आरु० १
आरूढपतितापत्यम्	संन्या० २.५
आलम्बनतया भाति	अध्या० ३१
आशाम्बरो	याज्ञ० ९
आशाम्बरो न नमस्कारो	प०हं० ४
आशीर्युक्तानि कर्माणि	ना०परि०५.४७
आश्रयाश्रयहीनोऽस्मि	मैत्रे० ३.९
आसनं पात्रलोपश्च	संन्या० २.९८
आसनं विजितं	जा०द० ३.१३
आसां मख्यतम	जा०द० ४.९

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
आस्यनासिकयो:	जा०द० ४.२६
आस्यनासिका ...	शाण्डि० १.४.१३
आस्येन तु	संन्या० २.९६
आस्येन तु यदाहारं	ना०परि० ५.३८
आहारस्य च भागौ	संन्या० २.७७
आहिताग्निर्विरक्त.....	ना०परि० ३.१०
आहृदयाद्भ्रुवोर्मध्यम्	यो०त० ९५
इच्छाद्वेषसमुत्थेन	संन्या० २.४६
इडया ...निरोधयेत्	जा०द० ६.२७
इडया प्राणमाकृष्य	जा०द० ५.७
इडया वायुमारोप्य	यो०त० ४१
इडया वेदतत्त्वज्ञस्तथा	जा०द० ६.२८
इडया ....स्थितम्	जा०द० ६.३
इडा तु सव्यनासान्तम्	जा०द० ४.१९
इडादिमार्गद्वयं	शाण्डि० १.७.३६-ङ
इडापिङ्गलयोर्मध्ये	शाण्डि० १.७.४१
इडाया: कुण्डली ...	जा०द० ४.४६
इतस्ततश्चाल्यमानो	आत्म० १८
इति य इदमधीते	अव० ३६
इत्थं वाक्यैस्तथाऽर्थ०	अध्या० ३३
इत्यनेन मन्त्रेणाग्निम्	ना०परि० ३.७९
इत्युक्तस्तान्स	ना०परि० १.२
इत्येतद्ब्रह्म	पं०ब्र० २९
इत्येवं चिन्तयन्भिक्षु:	संन्या० २.७३
इत्येषां त्रिविधो	ब्र०वि० ५२
इत्यों सत्यमित्युपनिषद्	शाण्डि० ३.२.१५
इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयम्	पैङ्ग० ४.२२
इदं मृष्टमिदम्	ना०परि० ३.६३
इदं यज्ञोपवीतम्	ब्रह्म० १५
इदं यज्ञोपवीतम् तु	प०ब्र० १७
इन्द्रवज्रमिति	क्षुरि० १३
इन्द्रियाणां निरोधेन	ना०परि० ३.४५
इन्द्रियाणां प्रसंगेन	ना०परि० ३.३६
इन्द्रियाणि	पैङ्ग० ४.४
इह तेनाप्यज्ञानेन	स्व० १ ख
ईश: पञ्चीकृत ...	पैङ्ग० ३.६
ईशाज्ञया मायोपाधिर ...	पैङ्ग०२.८
ईशाज्ञया विराजो	पैङ्ग० २.६
ईशाज्ञया सूत्रात्मा	पैङ्ग० २.७

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ईशाधिष्ठितावरण	पैङ्ग० १.५
ईशानं परमम्	पं०ब्र०१९
ईशानोऽस्मि	ब्र०वि० ९३
ईश्वरत्वमवाप्नोति	ब्र०वि० २५
ईश्वरो जीवकलया	याज्ञ० १३
ईहानीहामयैरन्तर्या	संन्या० २.४५
ईहितानीहितैः	संन्या० २.६७
उक्तविकल्पं	मं०ब्रा० १.४.२
उक्थं ब्रह्मेति ह स्माह	कौ०ब्रा० ६
उच्चैर्जपश्च	जा०द० २.१६
उच्चैर्जपादुपांशुश्च	जा०द० २.१५
उड्यानाख्यो हि	यो०त० १२०
उत्तमा तत्त्वचिन्तैव	मैत्रे० २.२१
उत्तरं त्वमनस्कम्	मं०ब्रा० १.३.४
उत्थानं च	जा०द० ६.४४
उत्पत्तिस्थिति	यो०त० १८
उदान ऊर्ध्वगमनं	जा०द० ४.३२
उदान संज्ञो	जा०द० ४.२९
उद्गारादिगुणः	जा०द० ४.३३
उद्गीथमेतत्परमं तु	ना०परि० ९.७
उद्धृतोऽस्मि	संन्या० २.४८
उन्मीलित	शारी० १५
उपस्थमेवाप्येति	सुबा० ९.२०
उपस्थानेन	संन्या० २.८७
उपस्थोऽध्यात्मम्	सुबा० ५.१४
उपाधिनाशाद्ब्रह्मैव	आत्म० २१
उभयमपि मनोयुक्तम्	मं०ब्रा० १.३.२
उल्काहस्तो यथा	ब्र०वि० ३६
ऊर्णनाभिर्यथा	ब्रह्म० २०
ऊर्ध्वनालमधोबिन्दु	यो०त० १३८
ऊर्ध्वपुण्ड्रं कुटी ...	ना०परि० ७.३
ऊर्ध्वाम्नायः	निर्वा० १२-२४
ऊर्ध्वरेतम्	जा०द० ९.२
ऊर्ध्वे सात्त्विको	शारी० १२
ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र	जा०द० ३.५
ऊर्वोर्मध्ये	क्षुरि० १४
ऋग्वेदो गार्हपत्यम् च पृथिवी	ब्र०वि० ४
ऋग्वेदो गार्हपत्यम् च मन्त्राः	पं०ब्र० ६
ऋजुकायः	यो० त० ३६

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ऋतुक्षौरं कुटी	ना०परि० ७.४
ऋतुरस्म्यार्तवो	कौ०ब्रा० १.६
ऋतुसन्धौ मुण्डयेत्	शाट्या० २२
एक एव चरेन्नित्यम्	ना०परि० ३.५३
एक एव हि	ब्र०बि० १२
एक एवात्मा	ब्र०बि० ११
एक तत्त्वदृढाभ्यासात्	शाण्डि० १.७.२८
एकं पादम्	शाण्डि० १.३.४
एकमेवाद्वितीयम्	मैत्रे० २.१५
एकरात्रं ....नगरे	ना०परि० ४.१४
एकरात्रं ...पत्तने	ना०परि० ४.२०
एकवारं प्रतिदिनम्	यो०त० ६८
एकवासा ... चरेत्	ना०परि० ४.१७
एकवासा-संवसेत्	ना०परि० ३.३१
एकश्चरेन्महीमेतां	ना०परि० ५.५२
एकसंख्याविहीनोऽस्मि	मैत्रे० ३.७
एकाकी चिन्तयेद्ब्रह्म	ना०परि० ३.६०
एकाकी निःस्पृहस्तिष्ठेन्न	ना०परि० ३.५९
एकात्मके परे	अध्या० २५
एकान्त ध्यानयोगाच्च	शाण्डि० १.७.२९
एकान्नं मदमात्सर्यम्	संन्या० २.१०४
एकीभूतः सुषुप्तस्थः	ना०परि० ८.१५
एकेन लोहमणिना	पं०ब्र० ३६
एकेनैवतु पिण्डेन	पं०ब्र० ३५
एको देवः सर्वभूतेषु	ब्रह्म० १६
एकोनविंशति मुखः	ना०परि० ८.१५
एकोभिक्षुर्यथोक्तम्	ना०परि० ३.५६
एको वशी	ब्रह्म० १७
एकोऽहमविकलोऽहम्	आ०बो० २.६
एतच्चतुष्टयम्	ना०परि० ४.४
एतज्ज्ञेयं नित्यमेव	ना०परि० ९.१२
एतत्तु परमम्	ब्र०वि० ४५
एतद्वै ब्रह्म दीप्यते	कौ०ब्रा० २.१३
एतद्वै सत्येन	सुबा० ३.३
एतन्निर्वाणदर्शनं	निर्वा० ६१
एतस्माज्जायते प्राणो	कैव० १५
एतस्मिन्वसते	ब्र०वि १९
एतां विद्याम्	सुबा० ७.२
एतां विद्यामपात्तरतमाय	अध्या० ७१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
एतानि सर्वथा	यो०त० ५८
एते गुणाः प्रवर्तन्ते	ब्र०वि० ५८
एते च नियमाः	जा०द० २.२
एते विघ्नाः	यो०त० ७६
एतेषां ...तत्त्वतः	यो०त० २८
एतेषां....समासतः	यो० त० २१
एभिः क्रमैस्तथाऽन्यैश्च	शाण्डि० १.७.३६-क
एवं कृत्वा हृदये	हंस० १३
एवं च धारणाः	यो०त० १०३
एवं चिरसमाधि ..	मं०ब्रा० ५.१.९
एवं ज्ञानेन्द्रियाणाम्	यो०त० ७२
एवं तत्तल्लक्ष्यदर्शनात्	मं०ब्रा० ४.१.४
एवं त्रिपुट्याम्	मं०ब्रा०२.३.१
एवं द्वारेषु सर्वेषु	यो०त० १४१
एवं नाडीस्थानम्	शाण्डि० १.४.१४
एवं भवेद्घटावस्था	यो०त० ८०
एवं मासत्रयाभ्यासान्नाडी	यो०त० ४४
एवं मुमुक्षुः सर्वदा	ना०परि० ७.११
एवं यः सततम्	शाण्डि० ३.२.१४
एवं विदित्वा	कैव० २४
एवं शुभाशुभैर्भावैः	क्षुरि० २०
एवं षण्मासाभ्यासात्सर्वं	शाण्डि० १.७.४७
एवं स एव	मं०ब्रा० २.४.३
एवं समभ्यसेन्नित्यम्	जा०द० ६.१०
एवं सहजानन्दे	मं०ब्रा० २.१.८
एवं सूक्ष्माङ्गानि	मं०ब्रा० १.१.११
एवं हंसवशान्मनो	हंस० १५
एवमन्तर्लक्ष्यदर्शनेन	मं०ब्रा० १.४.४
एवमभ्यसतस्तस्य	जा०द० ६.४३
एवमभ्यासयुक्तस्य	जा०द० ९.६
एवमभ्यासात्तन्मयो	मं०ब्रा० १.२.१४
एवममनस्काभ्यासेनैव	मं०ब्रा० ५.१.८
एवमुक्त्वा	पं०ब्र० ३३
एवमुक्त्वा स भगवान्	जा०द० १०.१३
एवमेतान् लोकान्	सुबा० १०.२
एष सर्वज्ञ एष	सुबा० ५.१५
एष सर्वेश्वरश्चैष	ना०परि० ८.१७
एषोऽसौ परमहंसो	हंस० ७
एषो ह देवः	अथर्व० ५

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ऐक्यत्वानन्द	ना०परि० ८.१०
ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्धयै	अव० १२
ओं तस्य निश्चिन्तनम्	आ०पू० १
ओं भूः स्वाहेति	संन्या० २.८
ओं सत्यमित्युपनिषत्	पैङ्ग० ४.३२
ओतानुज्ञात्रनुज्ञातृ....	ना०परि० ८.२०
ओमिति ब्रह्म। ओमित्येक..	ना०परि० ८.२
ओमित्येकाक्षरम्	ब्र०वि० २
ओमित्येव	शाण्डि० १.७.३४
कटिसूत्रं च कौपीनम्	ना०परि० ३.९१
कति वर्णाः	पं०ब्र० २
कत्थनं कुत्सनम्	संन्या० २.१०५
कदोपशान्तमनसो	संन्या० २.६८
कनीयसि भवेत्	शाण्डि० १.७.३
कपालं वृक्षमूलानि	ना०परि० ३.५४
करणोपरमे जाग्रत्	पैङ्ग० २.१२
कर्तृत्यमद्य	आ०बो० २.२२
कर्पूरमनले	शाण्डि० १.७.२१
कर्मणा बध्यते	संन्या० २.११७
कर्मण्यधिकृता ....ब्राह्मणादयः	ब्रह्म० १३
कर्मण्यधिकृता ये तु	ना०परि० ३.८८
कर्मण्यधिकृता...लौकिकेऽपि	प०ब्र० १४
कर्मत्यागात्र	मैत्रे० २.१७
कर्मसंन्यासोऽपि	ना०परि० ५.८-९
कर्मेन्द्रियाणि	पैङ्ग० २.१६
कल्पसूत्रे तथा	जा०द० २.१२
कविं पुराणं पुरुषोत्तमोत्तमम्	ना०परि० ९.१९
कांस्यघण्टानिनादस्तु	ब्र०वि०१२
कामं कामयते यावद्	ना०परि० ८.१४
कामक्रोधभयम्	यो०त० १२
कामःक्रोधस्तथा	ना०परि० ३.३३
कामक्रोधौ तथा	ना०परि०५.५९
कामनाम्रा किरातेन	याज्ञ० २०
काम्यानि	जा०द० ७.५
कायिकादिविमुक्तोऽस्मि	मैत्रे० ३.२२
कायेन मनसा वाचा	जा०द० १.१७
कायेन वाचा	जा०द० १.१३
कालत्रयमुपेक्षित्र्या	संन्या० २.४३
कालमेव प्रतीक्षेत	ना०परि० ३.६१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
काल: स्वभावो	ना०परि० ९.२
कालान्तरोपभोगार्थम्	संन्या० २.१०१
काषायवासा: सततं	ना०परि० ५.६१
किं तत्त्वं को जीव:	जाबालि० २
किं वा दु:खमनु:	कुण्डि० ८
किं हेयं किमुपादेयं	अध्या० ६७
कुटीचक ...अधिकार:	ना०परि० ७.८
कुटीचक..देवार्चनम्	ना०परि० ७.७
कुटीचक...प्रणव:	ना०परि० ७.९
कुटीचकबहूदकहंसानाम्	ना०परि० ५.१९
कुटीचक... श्रवणम्	ना०परि० ७.१०
कुटीचकस्यैकान्नम्	ना०परि० ७.५
कुटीचक: शिखा	ना०परि० ५.१३; संन्या० २.२४
कुटीचका नाम	भिक्षु० २
कुटुम्बं पुत्रदारांश्च	ना०परि० ३.३२
कुण्डिकां चमसम्	कं०रु० ५
कुरुक्षेत्रम्	जा०द० ४.४९
कुहो: क्षुद्देवता	जा०द० ४.३८
कूटान्ता हंस एव	ब्र०वि० ६३
कूर्पराग्रे मुनिश्रेष्ठ	जा०द० ३.१०
कूर्मोऽङ्गानीव	क्षुरि० ३
कृतकृत्यतया	अव० २९
कृत्स्नमेतच्चित्रम्	अव० ८
कृशत्वं च शरीरस्य	यो०त० ४६
के पशव इति	जाबालि० १२
केवलोऽहं क्रवि:	ब्र०वि० ९४
केशकज्जलधारिण्यो	याज्ञ० १८
को जीवति नरो जातु	कं०रु० २९
को वा मोक्ष:	जा०द० २.४
कौपीनयुगलम्	ना०परि० ३.२८
क्रमेण लभते ज्ञानम्	यो०त० २२
क्रमेण सर्वमभ्यस्य	ना०परि० ५.५
क्रमेण सर्वमभ्यस्य..देहमात्रा	संन्या० २.२१
क्रियानाशाद्भवेच्चित्तानाशो	अध्या० १२
क्रुध्यन्तं न	ना०परि० ३.४३
क्व गतं केन	अध्या० ६६
क्व शरीरं अशेषाणां	ना०परि० ४.२६
क्षणात्तु किञ्चिदधिकम्	यो०त० १२५
क्षरं प्रधानममृताक्षरम्	ना०परि० ९.१०
क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भि:	ना०परि० ५.५४
क्षीणेन्द्रियमनोवृत्ति:	ना०परि० ३.७५
क्षुरिकां संप्रवक्ष्यामि	क्षुरि० १
खमध्ये कुरु	शाण्डि० १.७.१९
खल्वहं ब्रह्मसूत्रम्	आरु० ३
खेगतिस्तस्य	यो०त० ७५
गच्छंस्तिष्ठन्नुपविशञ्छयानो	कुण्डि० २८
गत्वा योगस्य	यो०त० १२२
गर्जति गायति	सुबा० ६.६
गवामनेकवर्णानाम्	ब्र०बि० १९
गान्धारायाः	जा०द० ४.१७
गुदमवष्टभ्याधारात्	हंस० ६
गुदाद्द्वयङ्गुलादूर्ध्वम्	शाण्डि० १.४.५
गुरुणा चोपदिष्टोऽपि	जा०द० २.११
गुरुभक्तिसमायुक्त:	द्वय० २
गुरुभक्ति: सत्यमार्गा..	मं०ब्रा० १.१.४
गुरुरेव पर: काम:	द्वय० ६
गुरुरेव परं ब्रह्म	द्वय० ५
गुरुरेव परो धर्मो	शाट्या० ३९
गुरुरेव हरि:	ब्र०वि० ३१
गुरुशिष्यादिभेदेन	आत्मो० ३
गुरूणां च हिते	ना०परि० ६.३०
गुल्फौ तु	जा०द० ३.७
गुल्फौ तु वृषणस्याध:	शाण्डि० १.३.८; जा०द० ३.६-१
गुशब्दस्त्वन्धकार:	द्वय० ४
गुह्यं प्रवेष्टुमिच्छामि	कुण्डि० ९
गुह्याद्गुह्य	म०वा० २
गृहस्था अपि	आश्र० २
गृहस्थो ब्रह्मचारी...अलौकिका	आरु० २
गृहस्थो ब्रह्मचारी...भिक्षुक:	ब्र०वि० ४९
गोत्रादिचरणम्	संन्या० २.१०८
गोधूममुद्गशाल्यन्नम्	यो०त० ४९
गोवालसदृशम्	अव० ५
गोप्याद्गोप्यतरम्	पं०ब्र० ५
ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी	ब्र०बि० १८
ग्रस्त इच्युच्यते	आत्म० १६
ग्रामादग्रिमाहृत्य	याज्ञ०३, जाबा० ४.३

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ग्रामान्ते निर्जने	ना०परि० ४.१६
ग्राह्यग्राहकसंबन्धे	संन्या० २.५८
घटमध्ये यथा दीपो	यो०त० १४२
घटवद्विविधाकारम्	ब्र०बि० १४
घटसंवृतमाकाशम्	ब्र०बि० १३
घटाकाशं महाकाश:	अध्या० ७
घटाकाशमिवात्मानम्	पैङ्ग ४.२०
घृतमिव पयसि	ब्र०बि० २०
घृतं श्वमूत्रसदृशम्	संन्या० २.९३
घृतसूपादि	संन्या० २.९५
चक्री लिङ्गी च पाषण्डी	ना०परि० ३.४
चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टिं	जा०द० १.९
चक्षुश्च द्रष्टव्यम्	सुबा० ६.२
चतुरङ्गुलमायामविस्तारम्	जा०द०४.४
चतुर्थश्चतुरात्मापि	ना०परि० ८.१९
चतुर्विंशतिरव्यक्तम्	शारी० २०
चतुष्कला समायुक्तो	ब्र०वि० १८
चत्वारिंशत्संस्कार	संन्या० २.१
चरेन्माधूकरम्	संन्या० २.८९
चर्मखण्डं द्विधा ...	ना०परि० ४.२९
चलनदृष्ट्या	मं०ब्रा० १.२.९
चित्तमध्यात्मम्	सुबा० ५.९
चित्तमन्तर्गतम्	जा०द० ४.५४
चित्तमूलो विकल्पोऽयम्	अध्या० २६
चित्तमेव हि	मैत्रे० १.९
चित्तमेव हि संसार:	शाट्या०३
चित्तमेवाप्येति	सुबा० ९.१४
चित्तशुद्धि:	ना०परि० ५.६२
चित्तशुद्धिकरम्	मैत्रे० २.९
चित्तस्य हि प्रसादेन	मैत्रे० १.१०
चित्तादिसर्वहीनोऽस्मि	मैत्रे० ३.१०
चित्तैककरणा	पैङ्ग० २.१३
चित्रो ह वै	कौ०ब्रा० १.१
चिदात्मनि सदानन्दे	अध्या० ९
चिदानन्दोऽस्म्यहम्	ब्र०वि० ९५
चिदिहास्तीति	याज्ञ० ३२
चिरकालम्	शाण्डि० १.७.३५
चुबुकं हृदि	यो०त० ११३
चेतनं चित्तरिक्तम्	संन्या० २.६१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
चैत्यवर्जित	संन्या० २.३७
छिन्देन्नाडीशतम्	क्षुरि० १९
छिन्द्यते ध्यानयोगेन	क्षुरि० १८
छेदन चालनदोहै:	शाण्डि० १.७.४२ ख
जगज्जीवनम्	संन्या० २.१६
जगत्तावदिदम्	संन्या० २.३०
जगद्रूपतयाप्येतद्ब्रह्मैव	आत्म० २
जडया कर्णशष्कुल्या	संन्या० २.३१
जन्मपल्वलमत्स्यानाम्	याज्ञ० २१
जपस्तु द्विविध:	जा० द० २.१३
जरामरणरोगादि	ब्र०वि० २४
जरायुजाण्डजादीनाम्	ना०परि० ५.५८
जराशोक समाविष्टम्	ना०परि० ३.४७
जलेन श्रमजातेन	शाण्डि० १.७.४
जले वापि	कुण्डि० २४
जाग्रति प्रवृत्तो	मं०ब्रा० २.४.२
जाग्रत्स्वप्न..तुरीया..	शारी० १४
जाग्रत्स्वप्न ...मूर्छा	पैङ्ग० २.१५
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि	कैव० १७
जाग्रन्निन्द्रान्त:	मं०ब्रा० २.३.२
जातं मृतमिदम्	मैत्रे० २.४
जातस्य ग्रहरोगादि	याज्ञ० २५
जानु प्रदक्षिणीकृत्य	यो०त० ४०
जान्वन्तम्	जा०द० ८.४
जायन्ते योगिनो	यो०त० ४५
जायाभ्रातृसुतादीनाम्	ना०परि० ४.९
जिह्वया ...जिह्वामूले	जा०द० ६.२६
जिह्वया.... पिबेत्सततम्	जा०द० ६.२५
जिह्वया यद्रसम्	यो०त० ७१
जिह्वया वायुम्	शाण्डि० १.७.१३-४
जिह्वाऽध्यात्मम्	सुबा० ५.४
जिह्वामेवाप्येति	सुबा० ९.४
जीर्ण कौपीनवासा:	ना०परि० ६.२८
जीवति वागपेतो	कौ०ब्रा० ३.३
जीवतो यस्य	अध्या० १६
जीवदवस्था प्रथमम्	ना०परि० ६.४
जीवन्मुक्त: स विज्ञेय:	पैङ्ग० ३.११
जीव: पञ्चविंशक:	मं०ब्रा० १.४.३
जीवा: पशव:	जाबालि० १३

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशा	ना०परि० ९.९
ज्ञातं येन निजम्	यो०त० १७
ज्ञात्वा देवं मुच्यते	ना०परि० ९.११
ज्ञात्वा स्वम्	अध्या० २
ज्ञात्वैवं मनोदण्डम्	ना०परि० ५.६६
ज्ञानं शरीरं वैराग्यम्	ना०परि० ६.२
ज्ञान दण्डो धृतो	ना०परि० ५.२९
ज्ञाननेत्रं समादाय	ब्र०बि० २१
ज्ञानयज्ञः स विज्ञेयः	शाट्या० १७
ज्ञानयोगनिधिम्	शाण्डि० ३.२.१३
ज्ञानयोगपराणाम्	जा०द० ४.५६
ज्ञानशिखा ज्ञाननिष्ठा	ना०परि० ३.८६
ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा	ब्रह्म० ११
ज्ञानशिखिनो..ज्ञानमीरितम्	प०ब्र० १२
ज्ञानशौचं	जा०द० १.२२
ज्ञानसंहार	पं०ब्र० १२
ज्ञान स्वरूपम्	जा०द० ६.४९
ज्ञानामृतरसो	जा०द० ६.४८
ज्ञानामृतेन तृप्तस्य	जा०द० १.२३
ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य	अध्या० ५९
ज्ञानोदयात्पुरा०	अध्या० ५३
ज्ञेयं सर्वप्रतीतम्	शाण्डि० १.७.१२
ज्ञेयवस्तु	शाण्डि० १.७.२३
ज्वराः सर्वे	शाण्डि० १.७.५१
ज्वलिता अतिदूरेऽपि	याज्ञ० १९
तं दृष्ट्वा शान्तमनसम्	ना०परि० ४.३६
तं पञ्चशतान्यप्सरसाम्	कौ०ब्रा० १.४
तं पश्चाद्दिग्बलिम्	पैङ्ग० ४.८
होवाचाजातशत्रुः	कौ०ब्रा० ४.१९
तच्चानन्दसमुद्रमग्ना	मं०ब्रा० २.५.३
तच्चिह्नानि आदौ	मं०ब्रा० २.१.१०
तज्ज्ञानप्लवाधिरूढेन	मं०ब्रा० २.१.३
तज्ज्ञानम्	जाबा० १६
तत उ ह बालाकि	कौ०ब्रा० ४.१८
ततः कण्ठान्तरे	क्षुरि० १५
ततः कृशवपुः	शाण्डि० १.७.१३-६
ततः पवित्रम्	पैङ्ग० ४.१७
ततः प्राणमयो	कं०रु० २२
ततः शरीरे लघु	शाण्डि० १.५.४

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ततः शुष्कवृक्ष...	मं० ब्रा० ३.१.४
ततः संवत्सरस्यान्ते	ना०परि० ६.३२
ततो जलाद्भयम्	यो०त० ९१
ततोऽधिकतराभ्यासाद्	यो०त० ५३
ततोऽपि धारणाद्वायोः	यो०त० ५२
ततो भवेद्घटावस्था	यो०त० ६५
ततो भवेद्राजयोगो	यो०त० १२९
ततो भेदाभावात्	मं०ब्रा० २.३.५
ततो रक्तोत्पलाभासम्	क्षुरि० १०
ततो रहस्युपाविष्टः	यो०त० ६३
ततो विज्ञान आत्मा	कं०रु० २३
तत्कुर्यादविचारेण	ब्र०वि० २८
तत्त्वज्ञानं गुहायाम्	स्व०१-ग
तत्त्वमसीत्यहम्	पैङ्ग० ३.४
तत्त्वमार्गे यथा	यो०त० १३१
तत्प्रकारः कथमिति	जाबालि० १८
तत्र-तत्र परंब्रह्म	पैङ्ग० ४.२८
तत्र देवास्त्रयः	ब्र०वि० ३
तत्र नाडी सुषुम्ना	क्षुरि० ८
तत्र परमहंसा	याज्ञ० ६
तत्र परमहंसा नाम	जाबा० ६.१
तत्र पारोक्ष्यशबलः	पैङ्ग० ३.३
तत्र प्रथमो जीवो	व०सू० ३
तत्र सुषुम्ना	शाण्डि० १.४.१०
तत्सर्वम्	शाण्डि० ७.४
तत्सूत्रं विदितम्	प०ब्र० ८
तथा चरेत वै योगी	ना०परि० ५.५७
तथाऽज्ञानावृतो	आ०बो० २.२७
तथानन्दमयश्चापि	कं०रु० २६
तथाप्यानन्दभुक्	ना०परि० ८.१६
तथाभ्रान्तैर्द्विधा	जा०द० १०.४
तथा मनोमयो	कं० रु० २५
तथाऽस्थूलमनाकाशम्	जा०द० ९.४
तथेति मण्डलपुरुषः	मं०ब्रा० ३.१.२
तथैव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठः	आत्म० २२
तथैव विद्वान्नमते निर्ममो	आत्म० ११
तथैवोपाधिविलये	आत्मो० २३
तदण्डं समभवत्तत्	सुबा० १.३
तदधिकारी न भवेद्यदि	प०प० ३ ख

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
तदनुनित्यशुद्धः	मं०ब्रा० ३.१.६
तदन्त्यं विषुवं	जा०द० ४.४५
तदपेक्षया इन्द्रादयः	मं०ब्रा० २.५.४
तदभ्यासात्	मं०ब्रा० २.१.९
तदभ्यासेन	कुण्डि० १८
तदलक्षणम्	ना०परि० ८.२३
तदाकाराकारी	मं०ब्रा० १.२.१२
तदाद्यं विषुवम्	जा०द० ४.४४
तदानीमात्मगोचरा वृत्तयः	पैङ्ग० ३.५
तदा पश्चिमाभिमुखप्रकाशः	मं०ब्रा० २.२.१
तदा विवेकवैराग्यम्	यो०त० १३०
तदाहुः किं तदासीत्	सुबा० १.१
तदुत्तरायणम्	जा०द० ४.४१
तदुपायं लक्ष्यत्रय	मं०ब्रा० १.२.५
तदु होवाच	मं०ब्रा० २.१.२
तदेके प्राजापत्यामेवेष्टिम्	याज्ञ० २
तदेतद्विज्ञाय ब्राह्मणः	ना०परि० ३.९०
तदेवं ज्ञात्वा स्वरूप	ना०परि० ५.२४
तदेव कृतकृत्यत्वम्	अव० १३
तदेव निष्कलं ब्रह्म	ब्र०बि० ८
तद्दर्शने तिस्रो	मं०ब्रा० २.१.६
तद्धेके प्राजापत्यामेवेष्टिं	जाबा० ४.२
तद्धित्त्वा कण्ठमायाति	क्षुरि० ११
तद्यथेति। दुष्टमदनाभाव ...	ना०परि० ५.३
तद्यथेति दुष्टानुश्रविक ...	संन्या० २.१९
तद्योगं च द्विधा	मं०ब्रा० १.३.१
तद्रूपवशगा नार्यः	यो०त्र० ६१
तद्रूपेण सदा	पं०ब्रा० ३८
तद्वद् ब्रह्मविदोऽप्यस्य	आत्म० ८
तद्वांश्चक्षुरादि	मं०ब्रा० २.४.६
तद्विद्याविषयम्	कं०रु० १४
तद्विप्रासो विपन्यवो	पैङ्ग० ४.३१
तद्विष्णोः परमम्	पैङ्ग० ४.३०
तन्तुपञ्जरमध्यस्थ	शाण्डि० १.४.७
तन्निरासस्तु	मं०ब्रा० १.२.२
तन्मध्ये	जा०द० ४.५
तन्मध्ये जगल्लीनं	मं०ब्रा० २.१.४
तन्मध्ये नाभिः	शाण्डि० १.४.६
तपः सन्तोष....	शाण्डि० १.२.१
तपः संतोषमास्तिक्यम्	जा०द० २.१
तपसा प्राप्यते	मैत्रे० १.६
तपेद्वर्षसहस्राणि	पैङ्ग० ४.२१
तपो विजितचित्तस्तु	क्षुरि० २१
तमसः साक्ष्यहम्	ब्र०वि० ९६
तमादि मध्यान्त ...	कैव० ७
तमाराध्य जगन्नाथम्	यो०त० ३
तमुवाच हृषीकेशो	यो०त० ४
तमेकस्मिन् त्रिवृतं	ना०परि० ९.४
तमेतमात्मानम्	कौ०ब्रा० ४.२०
तमेव धीरो विज्ञाय	शाट्या० २५
तमेवात्मानम्	ना०परि० ८.७
तमो हि शारीर प्रपञ्चं	म०वा० ४
तयोर्मध्ये वरम्	क्षुरि० १७
तर्जन्यग्रोन्मीलित ...	मं०ब्रा० १.२.७
तर्हि कर्म ब्राह्मणः	व०सू० ७
तर्हि को वा ब्राह्मणो	व०सू०९
तर्हि जातिर्ब्राह्मणः	व०सू० ५
तर्हि ज्ञानं ब्राह्मणः	व०सू० ६
तर्हि देहो ब्राह्मणः	व०सू० ४
तर्हि धार्मिको ब्राह्मणः	व०सू० ८
तल्लक्ष्यं नासाग्रं	मं०ब्रा० २.१.७
तल्लयं परिपूर्णे	मं०ब्रा० ५.१.३
तल्लयाच्छुद्धाद्वैत ...	मं०ब्रा० ५.१.६
तस्मात्खेचरी	शाण्डि०१.७.१७-१
तस्मात्तमः संजायते	सुबा० १.२
तस्मात्फलविशुद्धाङ्गी	कुण्डि० ६
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मुनेऽहिंसा	जा०द० १.२५
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन..मोक्षापेक्षी	प०ब्र० १९
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन ..योगमेव	यो०त० ८१
तस्मादद्वैतमेवास्ति	जा०द० १०.३
तस्मादन्यगता वर्णा	ना०परि० ६.१८
तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञो	ना०परि० ४.३४
तस्मादेतन्मनः	कं०रु० ३७
तस्माद्दोष विनाशार्थं	यो०त० १४
तस्मान्मनो विलीने	हंस० २१
तस्मिन्निरोधिते	शाण्डि० १.७.२५
तस्मिन् मरुशुक्तिकास्थाणुः	पैङ्ग० १.३
तस्मै नमो	पं०ब्र०३

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
तस्मै स होवाच पिता	कैव० २	तेषु प्राणादय:	जा०द० ४.२५
तस्य दास्यं सदा	ब्र०वि २७	त्यक्तसङ्गो जितक्रोधो	ना०परि० ६.५
तस्य न कर्मलेप:	मं०ब्रा० २.२.३	त्यक्त्वा लोकांश्च	ना०परि० ४.१
तस्य निश्चिन्ता	मं०ब्रा० २.२.५	त्यक्त्वा विष्णोर्लिङ्गम्	शाट्या० १९
तस्य प्रियम्	अव० ४	त्यक्त्वा सर्वाश्रमान्धीरो	शाट्या० ३०
तस्य ब्रह्मा बिभेति	सुबा० १.५	त्यज धर्ममधर्मम्	संन्या० २.१७
तस्य शिष्यो मुनिकर:	जा०द० १.१	त्रयोऽग्नय:	यो० त० १३५
तस्याष्टधा	हंस० ८	त्रिकोणं मनुजानाम्	जा०द० ४.२
तस्यै तस्य महतो	सुबा० २.२	त्रिचतुर्वासरम्	जा०द० ५.१०
तानि सर्वाणि सूक्ष्माणि	कं०रु० १९	त्रिचतुस्त्रिचतु:	शाण्डि० १.५.३
ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे	अध्या० ३४	त्रिदण्डं कमण्डलुम्	जाबा० ६.२
तारं ज्योतिषि	शाण्डि० १.७.१७	त्रिदण्डं वैष्णवम्	शाट्या० १०
तार संयमात्	शाण्डि० १.७.५२	त्रिदण्डमुपवीतं च	शाट्या० ७
तालुमूलगताम्	शाण्डि० १.७.३०	त्रिपुण्ड्रं भस्मना	जाबालि० २२
तावदेव निरोद्धव्यम्	ब्र०वि० ५	त्रियक्षं वरदं रुद्रम्	यो०त० ९३
तितिक्षाज्ञान...	ना०परि० ५.२७	त्रिशङ्खवज्रमोंकारम्	ब्र०वि० ७४
तिलमध्ये यथा	यो०त० १३७	त्रिंशत्परांस्त्रिंशत्	शाट्या० ३४
तिलेषु च यथा	ब्र०वि० ३५	त्रिषवणस्नानम्	ना०परि० ७.२
तिलेषु तैलम्	ब्रह्म० १९	त्रिषु धामसु यद्भोग्यम्	कैव० १८
तिष्ठतो व्रजतो वापि	ना०परि० ३.३६	त्रिसन्ध्यं शक्ति:	शाण्डि० १३
तिष्ठन्ति परितस्तस्या:	जा०द० ४.६	त्वक् चर्ममांस ...	आत्मो० १-ख
तीर्थानि तोयपूर्णानि	जा०द० ४.५२	त्वगध्यात्मम्	सुबा० ५.५
तीर्थे दाने	जा०द० ४.५७	त्वङ्मांसरक्तबाष्पाम्बु	याज्ञ० १५
तीर्थे स्वपचगृहे	पैङ्ग० ४.७	त्वङ्मांसरुधिर ...	ना०परि० ४.२५
तुरीयमक्षरमिति ज्ञात्वा	ना०परि० ५.२६	त्वचमेवाप्येति	सुबा० ९.५
तुरीयातीतो गोमुख:	ना०परि० ५.१६	त्वया क्षणविनाशिन्या	संन्या० २.३२
तुरीयातीतो गोमुखवृत्त्या	संन्या० २.२८	त्वमेवाहं न	मं०ब्रा० ३.२.२
तुल्यातुल्यविहीनोऽस्मि	मैत्रे० ३ ६	दक्षिणं सव्यगुल्फेन	शाण्डि० १.३.५
तृष्णाक्रोधोऽनृतम्	ना०परि० ४.५	दक्षिणायनमित्युक्तम्	जा०द० ४.४२
तृष्णारज्जुगणम्	संन्या० २.५४	दक्षिणेतरपादम्	जा०द० ३.६
तृष्णा लज्जा	यो०त० १३	दक्षिणेऽपि	जा०द० ३.४
तेजसीव तमो यत्र	अध्या० २४	दग्धस्य दहनम्	पैङ्ग० ४.१०
तें ध्यान योगानुगता	ना०परि० ९.३	दण्डं तु वैणवम्	संन्या० २.१३
तेन सर्वमिदम्	यो०त० १३६	दण्डभिक्षां च य:	ना०परि० ६.११
तेनेदं निष्कलम्	ब्र०वि०१७	दण्डात्मनोस्तु	संन्या० २.१५
तेनेष्ट्वा स नरो	ब्र०वि० ५४	दत्तात्रेयो महायोगी	जा०द० १.१
तेभिर्धार्यमिदं	प०ब्र० १६	दन्तमूलात्तथा	जा०द० ७.६
ते वर्णात्मका:	शाण्डि० १.६.२	दम्भाहंकारनिर्मुक्तो	ना०परि० ३.३५
तेषां मुक्तिकरम्	यो०त० ५	दशभि: प्रणवै:	शाट्या० १४

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
दशलक्षणकम्	ना०परि० ३.२३
दारमहत्य	कुण्डि० २
दिनद्वादशकेनैव	यो०त० १०६
दिने दिने च	यो०त० ३४
दिवं जाग्रन्नक्तम्	ना०परि० ६.३
दिवा न पूजयेद्विष्णुम्	शाण्डि० १.७.३८
दीपाकारं महादेवम्	ब्र०वि० २३
दीर्घप्रणव संधानम्	यो०त० २७
दूरयात्राम्	ना०परि० ३.७२
दृश्यं तं दिव्यरूपेण	ब्र०वि० ७८
दृश्यदर्शनयोर्लीनम्	संन्या० २.३४
देवार्चनस्नानशौच...	अव० २७
देवा ह वै भगवन्तम्	कं०रु० १
देवा ह वै स्वर्गम्	अथ० १
देशकालविमुक्तोऽस्मि	मैत्रे० ३.१९
देहमध्यम्	जा०द० ४.३
देहमध्ये शिखिस्थानम्	शाण्डि० १.४.४
देहश्चोत्तिष्ठते	जा०द० ६.१८
देहस्थ: सकलो	ब्र०वि० ३३
देहस्य पञ्चदोषा भवन्ति	मं०ब्रा० १.२.१
देहातीतं तु तम्	ब्र०वि० ४३
देहावभासक: साक्षी	आ०बो० २.१९
देहे ज्ञानेन	पैङ्ग० ४.१६
देहेन्द्रियेष्वहंभाव:	अध्या० ४५
देहेस्वात्ममतिम्	जा०द० ७.१३
दैन्यभावात्तु	संन्या० २.११३
दैवेन नीयते देहो	आत्म० १९
द्रव्यार्थमन्त्र वस्त्रार्थं	मैत्रे० २.२०
द्रष्टारश्चेत् कल्पयन्तु	अव० १७
द्रष्टृदर्शन दृश्या०	अध्या० २३
द्रष्टृदर्शनदृश्यानि	मैत्रे० २.२९
द्वादशाङ्गुल पर्यन्ते	शाण्डि० १.७.३२
द्वाविमौ न विराज्येते	ना०परि० ६.३४
द्विरात्रं न वसेद्ग्रामे	ना०परि० ४.१५
द्विसप्तति सहस्राणि	ब्र०वि० ११
द्वे जानुनी तथोरुभ्यां	क्षुरि० ७
द्वे विद्ये वेदितव्ये	ब्र०बि० १७
द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य	शाण्डि० १.७.२४
धनवृद्धा वयोवृद्धा ...	मैत्रे० २.२४
धन्योऽहं...तृप्तेर्मे	अव० ३३
धन्योऽहं ...दु:खम्	अव० ३१
धन्योऽहं नित्यम्	अव० ३०
धन्योऽहं ...सम्पन्नम्	अव० ३२
धर्ममेघमिमं प्राहु:	अध्या० ३८
धाता पुरस्ताद्	म०वा० ९
धातुबद्धं महारोगम्	मैत्रे० २.५
धातुस्त्रीलौल्यकादीनि	यो०त० ३१
धामत्रयनियन्तारम्	पं०ब्र० १३
धारयित्वा यथाशक्ति	यो०त० ३९
धारयेत्पञ्च	यो०त० ८७
धारयेत्पञ्च घटिका वह्निनासौ	यो०त० ९४
धारयेत्पञ्च घटिका वायु	यो०त० ९७
धारयेत्पूरितम्	जा०द० ६.८
धारयेद्बुद्धिमान्नित्यम्	जा०द० ८.८
धारयेन्मनसा	शाण्डि० १.७.४४-क
धृति: क्षमा	ना०परि० ३.२४
धैर्यकन्था	निर्वा० २५-३६
ध्यातृध्याने परित्यज्य	अध्या० ३५
ध्यात्वा मध्यस्थ	पैङ्ग० ३.९
ध्यायेत् इडया	शाण्डि० १.६.५
ध्यान विस्मृति:	मं०ब्रा० १.१.१०
न कर्मणा न प्रजया	अव० ६
न कर्मणा न प्रजया..चान्येनापि	कं०रु० १३
न कर्मणा न प्रजया..धनेन	कैव० ३
न किंचिदत्र पश्यामि	अध्या० ६८
न कुर्यान्न वदेत्	ना०परि० ५.५१
नक्ताद्वरश्चोपवास:	संन्या० २.८०
नगरं नहि कर्तव्यं	ना०परि० ३.५७
न च विद्या न चाविद्या	आत्म० ४
न जगत्सर्वद्रष्टास्मि	मैत्रे० ३.१४
न जातु काम:	ना०परि० ३.३७
नटादि प्रेक्षणं द्यूतम्	ना०परि० ३.६९
न तच्छब्द: न किं शब्द:	स्व० १-घ
न तत्र देवा	ब्रह्म० ३
न तस्य दुर्लभम्	यो०त० ५१
न तस्य विद्यते	ना०परि० ४.३०
न तीर्थसेवी नित्यम्	ना०परि० ३.७३
न त्यजेच्चेद्यतिर्मुक्तो	मैत्रे० २.२३

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
न दण्डं न शिखाम्	प०हं० २
न दण्डधारणेन न	ना०परि० ५.२८
न दर्शयेच्च	यो०त० ५६
नदीपुलिनशायी स्याद्देवाश्चागारेषु	कुण्डि० ११
न देशं नापि कालम्	आत्म० ७
न नभो घटयोगेन	अध्या० ५२
न नाशयेद्बुधो	ना०परि० ६.४०
न निरोधो न चोत्पत्ति:	अव० ११
न निरोधो न ...बद्धो	ब्र०बि० १०
न निरोधो न ..साधक:	आत्म० ३१
न पाणिपादचपलो	याज्ञ० २७
न पुण्यपापे	कैव० २३
न प्रत्यग्ब्रह्मणोर्भेदम्	अध्या० ४६
नभस्थं निष्कलम्	ब्र०वि० २०
नमस्तुभ्यं परेशाय	संन्य० २.४९
न मे देहेन	कुण्डि० १५
न मे भोग स्थितौ	संन्या० २.५१
नमोऽस्तु मम	याज्ञ० ३०
न रात्रौ न च	ना०परि० ४.१९
नवचक्रं षडाधारं	मं०ब्रा० ४.१.५
नवद्वारमलस्त्रावम्	मैत्रे० २.६
नवमं परित्यज्य	हंस० १७
न वाचं विजिज्ञासीत	कौ०ब्रा० ३.८
न वायु स्पर्शदोषेण	संन्या० २.९०
न विधिर्न निषेधश्च	ना०परि० ६.१९
न शिष्याननुबध्नीत	ना०परि० ५.४९
नष्टे पापे	जा०द० ६.४६
न सन्ति मम	आ०बो० २.२५
न सन्नासन्न	प०ब्र०४
न संभाषेत्स्त्रियम्	ना०परि० ४.३
न साक्षिणं	कुण्डि० २३
न सूक्ष्मप्रज्ञमत्यन्तम्	ना०परि० ८.२२
न स्नानं न जप:	ना०परि० ६.३७
न स्पृशामि	आ०बो० २.२८
न हि प्रज्ञाऽपेता	कौ०ब्रा० ३.७
न ह्यन्यतरतो रूपम्	कौ०ब्रा० ३.९
नाग: कूर्मश्च	जा०द० ४.२४
नागादिवायव:	जा०द० ४.३०
नाडीपुञ्जम्	जा०द० ४.६१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
नाडीभ्याम्	शाण्डि० १.७.४९
नाडी शुद्धिमवाप्नोति	जा०द० ५.११
नात्मनो बोधरूपस्य	ना०परि० ६.१५
नात्यर्थं सुखदु:खाभ्याम्	कं० रु० ८
नात्युच्छ्रितम्	यो०त० ३५
नादाभिव्यक्तिरित्येतत्	जा०द० ५.१२
नानात्मभेदहीनोऽस्मि	मैत्रे० ३.८
नाना मार्गैस्तु	यो०त०६
नानोपनिषदभ्यास:	शाट्या० १६
नान्त: प्रज्ञं न बहि: प्रज्ञम्	ना०परि० ९.२२
नापुत्राय प्रदातव्यम्	ब्र०वि० ४७
नापृष्ट: कस्यचिद्	संन्या० २.१२१
नाभिकन्दादध:	जा०द० ४.११
नाभिकन्दे	जा०द० ७.१२
नाभिकन्दे समौ	ब्र०वि० २२
नाभिदेशात्समाकृष्य	जा०द० ७.७
नाभिस्थाने स्थितम्	ब्र०वि० १५
नाभेस्तिर्यगधोर्ध्वम्	शाण्डि० १.४.८
नामगोत्रादि	ना०परि० ४.२
नामादिभ्य: परे	याज्ञ० १२
नारायणाद्वा	सुबा० १२.१
नारायणोऽहम्	कुण्डि० १७
नार्चनं पितृकार्यं	ना०परि० ६.३८
नाविरतो दुश्चरितान्	ना०परि० ९.२१
नावृतिर्ब्रह्मण:	आत्म० २८
नावेदविन्मनुते	शाट्या० ४
नाशौचं नाग्निकार्यम्	पैङ्ग० ४.९
नासच्छास्त्रेषु	ना०परि० ५.४८
नासया गन्धजडया	संन्या० २.३५
नासाग्रे अच्युतम्	ब्र०वि० ४२
नासाग्रे वायुविजयम्	शाण्डि० १.७.४४-ख
नासाग्रे शशिभृद्	जा०द ० ५.६
नासाऽध्यात्मम्	सुबा० ५.३
नासामेवाप्येति	सुबा० ९.३
नित्यतृप्तो ...	आत्म० १३
नित्यमभ्यासयुक्तस्य	यो०त० १२३
नित्य: शुद्धो	मैत्रे० १.१५
नित्य: सर्वगतो	जा०द० १०.२
नित्यानुभवरूपस्य	अव० २४

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
नित्योऽहम्	ब्र०वि० ९७
निद्राभयसरीसृपं	मं०ब्रा० १.२.३
निद्राया लोकवार्तायाः	अध्या० ५
निद्रालस्ये	शारी० ११
निपीड्य सीवनीम्	जा०द० ३.८
निमीलनादि	जा०द० ४.३४
नियमः स्वान्त ...	निर्वा० ४८-६०
निरंशध्यान ...	संन्या० २.६९
निरवधिनिज बोधोऽहम्	आ०बो० २.७
निरस्तविषयासङ्गम्	ब्र०बि० ४
निरुध्य पूरयेत्	यो०त० ३७
निरुध्य वायुना	जा०द० ६.४२
निर्गुणं निष्क्रियम्	अध्या० ६३
निर्द्वन्द्वो नित्य	ना०परि० ४.१३
निर्ममो निरहङ्कारो निरपेक्षो	ना०परि० ३.७६
निर्ममो निरहङ्कारःसर्वसङ्ग	ना०परि० ६.२३
निर्ममोऽमनः	संन्या० २.३६
निर्मानश्चानहंकारो	ना०परि० ५.४४
निर्भावं निरहंकारम्	संन्या० २.५३
निर्भेदं परमाद्वैतम्	कं०रु० ३१
निर्विकल्पमनन्तं च	ब्र०बि० ९
निर्विकल्पा च चिन्मात्रा	अध्या० ४४
निर्विकारो नित्यपूतो	ब्र०वि०९८
निवृत्तोऽपि प्रपञ्चो	आ०बो०२.१२
निष्कलं निर्मलम्	यो०त० ८
निष्कलः सकलो	ब्र०वि० ३८
निष्कले निष्क्रिये	आत्म० ३०
निष्क्रम्य वनमास्थाय	ना०परि० ५.४२
निष्क्रियोऽस्मि	कुण्डि० २५
निः स्तुतिर्निर्नमस्कारो	ना०परि० ६.४२
निस्त्रैगुण्यपदोऽहं	आ०बो० २.५
निहितं ब्रह्म	कं०रु० १५
नीरुजश्च युवा	संन्या० २.११२
नेत्ररोगा	जा०द० ६.३१
नेत्रस्थं जागरितम्	ब्रह्म०२१, ना०परि० ५.२५
नैव चिन्त्यं न	ब्र०बि० ६
नैवमात्मा प्रवचन ...	सुबा० ९.१६
नैव सव्यापसव्येन	संन्या० २.८१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
नैवाददीत पाथेयम्	संन्या० २.१११
नैवाप्रज्ञं	ना०परि० ८.२२
नैवेह किंचनाग्र	सुबा० ६.१
नैषोऽन्धकारोऽयमात्मा	म०वा० ५
न्यायार्जितधनं श्रान्ते	जा०द० २.७
पञ्चकर्मेन्द्रियैर्युक्ताः	ब्र०वि० ६७
पञ्चकृत्य नियन्तारं	पं०ब्र० २१
पञ्चज्ञानेन्द्रियैर्युक्ताः	ब्र०वि० ६८
पञ्चधा वर्तमानम्	पं०ब्र० २७
पञ्चपाद्ब्रह्मणो	प०ब्र० ५
पञ्चब्रह्ममिदम्	पं०ब्र० २६
पञ्चब्रह्मात्म ...	पं०ब्र० २३
पञ्चब्रह्मात्मकम्	पं०ब्र० २८
पञ्चब्रह्मात्मिकीम्	पं०ब्र० ३२
पञ्चब्रह्मोप०	पं०ब्र० २२
पञ्चमे स्रवते	हंस० १९
पञ्चयज्ञा वेदशिरः	शाट्या० १२
पञ्चसप्तगृहाणाम्	संन्या० २.७९
पञ्चस्रोतोऽम्बुं	ना०परि० ९.५
पञ्चाक्षरमयम्	पं०ब्र० ३०
पञ्चावस्थाः जाग्रत्स्वप्न ..	मं०ब्रा० २.४.१
पञ्चाशत् स्वर ..	पं०ब्र० १६
पञ्चाशद्वर्ण ...	पं०ब्र० ८
पञ्चीकृतमहाभूत ...	पैङ्ग० ३.७
पञ्चैतास्तु यतेर्मात्रास्ता	शाट्या० ८
पदं तदनुयातोऽस्मि	संन्या० २.७१
पद्मसूत्र निभा	ब्र०वि० १०
पद्माद्यासनस्थः	शाण्डि० १.६.३
पद्मासनस्थ ...	यो०त० ५५
पद्मासनस्थितो	यो०त० ५४
पयः स्रावानन्तरं	मं०ब्रा० ३.१.५
परतत्त्वं विजानाति	ना०परि० ६.१४
परब्रह्मणि लीयेत	यो०त० १०८
परमहंसः शिखा ..करपात्र्येक	संन्या० २.२७
परमहंसः शिखा ...करात्रा	ना०परि० ५.१५
परमहंसादित्रयाणाम्	ना०परि० ५.२०
परमात्मदृष्ट्या	मं०ब्रा० ३.१.३
परमात्मनि यो रक्तो	ना०परि० ३.१८
परमात्मपदम्	यो०त० ९

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
परमानन्दपूर्णोऽहम्	अव० १४	पुनश्च जन्मान्तर कर्म	कैव० १४
परम्ब्रह्मानुसंदध्यात्	ना०परि० ८.९	पुनः स ....कथम्	जाबालि० ८
परस्त्रीपुरपराङ्मुखः	याज्ञ० ७	पुनः स ....कुतस्त्वया	जाबालि० ४
परहंसाश्रमस्थो	ना०परि० ४.२४	पुनः स .. तदुपासन ...	जाबालि० ९
परामृतोऽस्म्यहम्	ब्र०वि० १००	पुनः स ...तेनाथ	जाबालि० ६
परिपूर्णपराकाशमग्नमनाः	मं०ब्रा० ३.२.१	पुनः स ... तेनेशानादिति	जाबालि० ७
परिपूर्णमनाद्यन्तम्	अध्या० ६१	पुनः स ... भगवन्	जाबालि० १०
परिव्राजका अपि	आश्र० ४	पुनः स ...विभूति	जाबालि० १७
परिव्राज्यं गृहीत्वा	शाट्या० ३१	पुनः स ...षडाननादिति	जाबालि० ५
परेणैवात्मनश्चापि	ना०परि० ३.२	पुनः स ...सद्योजात ...	जाबालि० १९
पर्वताग्रे नदीतीरे	जा०द० ५.४	पुनस्तज्ज्ञान ...	जा०द० ६.३८
पवित्रं स्नानशाटीम्...अतोऽति	कुण्डि० १०	पुनस्त्यजेत्पिङ्गलया	यो०त० ३८
पवित्रं स्नानशाटीं ..वेदांश्च	कं०रु० ६	पुरुष एवेदम्	सुबा० ६.७
पश्यन्ति देहिवन्मूढाः	आत्म० १७	पुरुषः परमात्माऽहम्	ब्र०वि०९९
पांसुना च प्रतिच्छन्न	ना०परि० ५.४०	पुष्पवत्सकलम्	ब्र०वि० ३७
पाणिपात्रश्चरन्योगी	ना०परि० ५.३६	पूजितो वन्दितश्चैव	ना०परि० ३.१९
पात्री दण्डी युग ...	शाट्या० २०	पूरककुम्भक ...	मं०ब्रा० १.१.६
पादमेवाप्येति	सुबा० ९.८	पूरकान्ते	शाण्डि० १.७.११
पादस्योपरि	क्षुरि० १२	पूरयेत्सर्वमात्मानम्	क्षुरि० ४
पादाङ्गुष्ठगुल्फ ...	शाण्डि० १.८.२	पूरयेदनिलम्	जा०द० ७.११
पादादिजानुपर्यन्तम्	यो०त० ८५	पूरितं धारयेत्	जा०द० ६.४
पादावध्यात्मम्	सुबा० ५.१२	पूर्वभागे	जा० द० ४.१८
पायुमेवाप्येति	सुबा० ९.९	पूर्वभागे ह्यधोलिङ्गम्	ब्र०वि० ८०
पायुरध्यात्मम्	सुबा० ५.१३	पूर्वं चोभयमुच्चार्य	ब्र०वि० ५६
पारिव्राज्यं गृहीत्वा	शाट्या० ३१	पूर्वं पूर्वम्	जा०द० ६.१५
पार्थिवें वायुमारोप्य	यो०त० ८६	पूर्वं यः कथितो	यो०त० ६७
पार्ष्णिं वामस्य	यो०त० ११२	पूर्ववद्विद्वत्संन्यासी	ना०परि० ४.३८
पावनी परमोदारा	संन्या० २.६०	पूषाधिदेवता	जा०द० ४.३६
पाशं छित्त्वा	क्षुरि० २२	पूषा यशस्विनी	जा०द० ४.१५
पाषाण लोहमणि	मैत्रे० २.२६	पूषा वामाक्षिपर्यन्ता	जा०द० ४.२०
पिङ्गलायां	जाबा० ४.४०	पृथिवी वा अन्नम्	सुबा० १४.१
पितामहं पुनः पप्रच्छ	ना०परि० ३.८०	पृष्ठमध्यस्थिते नास्था	जा०द० ४.१०
पुण्यायतनचारी	ना०परि० ५.४५	प्रकाशयन्तमन्तः स्थम्	पैङ्ग० ३.१०
पुत्रे मित्रे कलत्रे	जा०द० १.१६	प्रगलितनिजमायोऽहम्	आ०बो० २.१
पुनः पिङ्गलयापूर्यमात्रैः	जा०द० ६.७	प्रज्ञया वाचम्	कौ०ब्रा० ३.६
पुनः पिङ्गलयापूर्य वह्नि	जा०द० ५.९	प्रज्ञातोऽहम्	ब्र०वि० १०१
पुनःपुनः सर्वा ...	मं०ब्रा० २.३.७	प्रणवेन	जा०द० ६.४१
पुनर्जन्म निवृत्त्यर्थम्	प०ब्र० ७	प्रतर्दनो ह वै	कौ०ब्रा० ३.१
पुनर्यतिविशेषः	ना०परि०५.२१	प्रतिगृह्य यतिश्चैतान्	संन्या० २.११५

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
प्रतिग्रहं न	ना०परि० ४.८	प्राणे गते यथा	ना०परि० ३.२७
प्रतिष्ठा सूकरीविष्ठा	ना०परि० ५.३०	प्राणे गलित संवित्तौ	शाण्डि० १.७.३१
प्रत्यगभिन्नपरोऽहम्	आ०बो० २.२	प्राणे बाह्यानिलम्	जा०द० ८.२
प्रत्यगात्मतया	कं०रु० ४१	प्राणो ब्रह्मेति.. कौषीतकि:	कौ०ब्रा० २.१
प्रत्यगात्मानम्	कं०रु०१६	प्राणो ब्रह्मेति...पैङ्ग्य:	कौ०ब्रा० २.२
प्रत्यगानन्दम्	आ०बो० १.१	प्रात: काले च	संन्या० २.८५
प्रत्यगेकरसम्	अध्या० ६२	प्रातर्मध्यन्दिने	शाण्डि० १.७.२
प्रत्याहार:	जा०द० ७.९	प्रातर्मध्यंदिने सायम्	यो०त० ४३
प्रत्याहार: समाख्यात:	जा०द० ७.१४	प्रात: स्नानोपवास ...	यो०त० ४८
प्रत्याहारो	जा०द० ७.३	प्राप्य चान्ते	ना०परि ६.३१
प्रत्याहारो धारणा	यो०त० २५	प्रारब्धं सिद्धयति	अध्या० ५६
प्रथमाभ्यासकाले	यो०त० ३०	प्रारब्धकर्म	पैङ्ग० ४.६
प्रथमे चिञ्चिणीगात्रम्	हंस० १८	प्रारब्धकल्पनाप्यस्य	अध्या० ५७
प्रदातव्यमिदम्	ब्र०वि० ४८	प्रियाप्रिये	आत्म० १५
प्रपञ्चमखिलम्	संन्या० २.११९	प्रियेषु स्वेषु	ना०परि० ३.५१
प्रपञ्चाधाररूपेण	आ०बो० २.१३	प्रोवाच तस्मै	पं०ब्र० ४
प्रमाता च प्रमाणम्	कं०रु० ४२	बन्धमुद्रा कृता येन	ब्र०वि० ६९
प्रमादिनो बहिश्चित्त	याज्ञ० ११	बन्धो जालंधराख्योऽयं	यो०त० ११९
प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायाम्	अध्या० १४	बलादाहरणं	जा०द० ७.२
प्रलपन्विसृजन्	संन्या० २.६३	बहिरन्तश्च सर्वत्र	ना०परि० ५.६३
प्रवृत्तिर्द्विविधा	संन्या० २.१२०	बहिरन्तश्चोपवीती	प०ब्र० १८
प्रवृत्तिलक्षणं कर्म	ना०परि० ३.१६	बहि: प्रपञ्च	प०ब्र० २०
प्रसन्नं सामवेद.....	पं०ब्र० ११	बहिर्लक्ष्यं	मं०ब्रा० १.२.८
प्रस्वेदजनको	जा०द० ६.१४	बहि: सूत्रम् त्यजेद्विद्वा० ब्रह्म०९	ना०परि०३.८४;
प्राणदेवताश्चत्वार:	प०ब्र० २		
प्राणयात्रा निमित्तं च	ना०परि० ५.३५	बहि: सूत्रम् त्यजेद्विप्रो	प०ब्र० १०
प्राणश्चित्तेन	जा०द० ६.१७	बहिस्तीर्थात्परम्	जा०द० ४.५३
प्राणसंयमनेनैव	जा०द० ६.१२	बहूदक: शिखा	संन्या० २.२५
प्राणान्संधारयेत्	क्षुरि० ५	बाल्येन निष्ठासेत्	सुबा० १३.१
प्राणापानयोरैक्यं	मं०ब्रा० २.२.२	बाल्येनैव हि	शाट्या० २६
प्राणापानसमानो	शाण्डि० १.४.१२	बाह्यं चिन्ता	शाण्डि० १.७.२०
प्राणापानसमायोग:	शाण्डि० १.६.१	बाह्यं प्राणं	जा०द० ६.२२
प्राणायामं तत:	यो०त० ३२	बाह्यात् प्राणं	शाण्डि० १.७.४३
प्राणायामक्रमम्	जा०द० ६.१	बिन्दुनादसमानयुक्तम्	जा०द० ५.८
प्राणायामसुतीक्ष्णेन	क्षुरि० २४	बुद्धिकर्मेन्द्रिय ...	शारी० १६
प्राणायामस्तथा	जा०द० १.५	बुद्धिमेवाप्येति	सुबा० ९.१२
प्राणायामेन	जा०द० ६.१६	बुद्धिरध्यात्मम्	सुबा० ५.७
प्राणायामैकनिष्ठस्य	जा०द० ६.२०	बुद्धेरेव गुणावेतौ	आत्म०२९
प्राणिनां देहमध्ये	ब्र०वि० ६०	बुद्धोऽहम्	ब्र०वि० १०२

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
बुद्बुदादिविकारा०	आ०बो० २.१५
बुधो बालकवत्	ना०परि० ५.५३
बृहद्रथो वै नाम	मैत्रे० १.१
बृहस्पतिरुवाच	जाबा० १.१
ब्रह्मक्षत्रिय वैश्यशूद्रा	व०सू० २
ब्रह्मचर्यं समाप्य	संन्या० २.२२
ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही	ना०परि० ५.६
ब्रह्मचर्याश्रमे क्षीणे	कुण्डि० १
ब्रह्मचर्येण	कं०रु० ९
ब्रह्मचर्येण संन्यस्य	ना०परि० ५.७
ब्रह्मचारी वेदमधीत्य	कं०रु० ३
ब्रह्मण: प्रलयेनापि	यो०त० १०४
ब्रह्मणो हृदयस्थानम्	ब्र०वि० ४१
ब्रह्मण्येव विलीनात्मा	अध्या० ४३
ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो	आ०बो० १.३
ब्रह्मभावं प्रपद्यैष	आत्म० २५
ब्रह्मभावे मनश्चारम्	जा०द० १.१४
ब्रह्मभूतात्मन:	कं०रु० १७
ब्रह्मरन्ध्रं गते	जा०द० ६.३६
ब्रह्मविज्ञानलाभाय	ना०परि० ६.२६
ब्रह्मव्यतिरिक्तम्	ना०परि० ५.११
ब्रह्मस्थाने तु नाद:	ब्र०वि० ७६
ब्रह्महत्याश्वमेधाद्यै:	ब्र०वि० ५१
ब्रह्माण्डस्योदरे	कं०रु० २०
ब्रह्मादिलोक-पर्यन्ताद्विरक्त्या	जा०द० २.६
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तम्	अध्या० १९
ब्रह्मानन्दे निमग्नस्य	आ०बो० २.१७
ब्रह्मामृतम्	मैत्रे० २.३
ब्राह्मणोऽस्य मुखम्	सुबा० १.६
भगन्दरं च	जा०द० ६.४५
भगवञ्छरीरमिदम्	मैत्रे० १.३
भगवन् कथमयज्ञोपवीत ..	प०प० ५
भगवन् ब्रह्मप्रणव:	प०प० ४
भगवन्ब्रूहि मे योगम्	जा०द० १.३
भगवन् सर्व धर्मज्ञ	हंस० १
भवन्ति सुखिनो	कं०रु० ३४
भस्मोद्धूलित ...	शाण्डि० ३.२.१२
भावतीर्थं परम्	जा०द० ४.५१
भावयन्मनसा	ना०परि० ५.६५

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
भावाभावविहिनोऽस्मि	मैत्रे० ३.५
भिक्षाटनसमुद्योगाद्येन	संन्या० २.८६
भिक्षादिवैदलम्	कुण्डि० १३
भिक्षार्थमटनम्	ना०परि० ३.६५
भूतं भव्यं भविष्यत्	ना०परि० ८.६
भूतानां त्रयमप्येतत्	ना०परि० ८.१८
भूमिरापोऽनलो	यो०त० ८४
भूस्तेआदिर्मध्यम्	अथ० ३
भेद: सर्वत्र	पं०ब्र०३९
भैक्षाशनं च मौनित्वम्	ना०परि० ५.६०
भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं	संन्या० २.७८
भ्रमन्तो योनि जन्मानि	यो०त० १३४
भ्रष्टबीजोपमा	संन्या० २.५९
भ्रूमध्यदृष्टिरप्येषा	यो०त० ११८
भ्रूमध्ये	शाण्डि० १.७.३३
भ्रूमध्ये सच्चिदानन्द ...	मं०ब्रा० १.२.४
भ्रूयुगमध्यबिले	मं०ब्रा० १.३.३
मकारं तु	जा०द० ६.९
मकारस्त्वग्निसंकाशो	ब्र०वि० ८
मकारे च भ्रुवोर्मध्ये	ब्र०वि० ७०
मकारे लभते	यो०त० १३९
मकारे संस्थितो	ब्र०वि० ७२
मञ्चकं शुक्लवस्त्रं च	ना०परि० ३.७१
मध्यदेशे परम्	ब्र०वि० ६६
मध्यलक्ष्यं तु	मं०ब्रा० १.२.११
मध्यस्थ कुण्डिलिनी	शाण्डि० १.४.९
मन एव मनुष्याणाम्	ब्र०बि०२, शाट्या० १
मन एव आप्येति	सुबा० ९.११
मन: संकल्प रहित ...	संन्या० २.८४
मनसा मनसि	संन्या० २.५२
मनसा वाथ	ना०परि० ३.११
मनुष्यो वापि यक्षो	यो०त० ११०
मनोऽध्यात्मम्	सुबा० ५.६
मनोनिरोधिनी	निर्वा० ३७-४८
मनोऽप्यन्यत्र	ब्र०वि० ४४
मनोबुद्धि:	शारी० ४
मनोबुद्धिरहंकार:	शारी० १७
मनो हि द्विविधम्	ब्र०बि० १
ममेति बध्यते	पैङ्ग० ४.२६

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
मयैव चेतनेनेमे	संन्या० २.३८	मौनं योगासनम्	ना०परि० ४.२३
मयैवैता:	संन्या० २.३९	यं यं वापि	ना०परि० ५.२३
मय्येव सकलं जातम्	कैव० १९	य इदमथर्वशिरो	अथ० ७
मरुदभ्यसनम्	शाण्डि० १.७.३७	य एको देव:	शाण्डि० २.५
मलं संवेद्यमुत्सृज्य	संन्या० २.६४	य एतदथर्वशिरो	म० वा० १२
महामुद्रा महाबन्धो	यो०त० २६	य एतदुपनिषदम्	पैङ्ग० ४.२९
मासपाञ्चालिकायास्तु	याज्ञ० १४	य एवं निर्बीजम्	सुबा० ९.१५
मांसासृक्पूयविण्मूत्र	ना०परि० ४.२७	य एवं विदित्वा	ना०परि० ९.१४
मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायु	ना०परि० ३.४८	यजुर्वेदोऽन्तरिक्षम्	ब्र०वि० ५
माता पिता भ्राता	सुबा० ६.४	यज्ञेन यज्ञमयजन्त	म०वा० १०
मातापित्रोर्मलोद्भूतम्	अध्या० ६	यज्ञोपवीतम्	ब्रह्म० ५
मातृसूतकसंबन्धम्	मैत्रे० २.७	यतीनां तदुपादेयम्	याज्ञ० ३३
माद्यति प्रमदाम्	ना०परि० ६.३५	यते: संव्यवहाराय	संन्या० २.१००
माधूकरम्	संन्या० २.८३	यतो निर्विषयस्यास्य	ब्र०बि० ३
मानावमानहीनोऽस्मि	मैत्रे० ३.४	यतो वाचो निवर्तन्ते....बुध:	ब्रह्म० २२
मा भव ग्राह्य भावात्मा	मैत्रे० २.२८	यतो वाचो निवर्तन्ते...भावत:	कं०रु० ३६
मायया मोहिता:	पं०ब्र० २४	यतो वाचो निवर्तन्ते ..यत्केवलं	शाण्डि० २.४
मायामात्रविकास ...	आ०बो० २.२०	यत्किंचिदपि हीनोऽस्मि	मैत्रे० ३.१७
मायाविद्ये विहायैव	अध्या० ३२	यत्तत् तत्पुरुषम्	पं०ब्र० १५
मायोपाधिर्जगद्योनि:	अध्या० ३०	यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा	कैव० १६
मायोपाधिविनिर्मुक्तम्	कं०रु० ४३	यत्र ज्योतिरजस्रम्	आ०बो० १.८
मारुतं मरुतां स्थाने	यो०त० ९६	यत्र यत्र मृतो ज्ञानी	पैङ्ग० ४.१९
मारुते मध्यसंचारे	शाण्डि० १.७.१०	यत्र लोका न लोका	ब्रह्म० २
मा शोचीरात्मविज्ञानी	शाण्डि० २.६	यत्र सुप्ता जना:	याज्ञ० ३१
माषमात्राम्	कुण्डि० १९	यत्रास्तमितशायी	ना०परि० ५.४१
माषापूपादि	संन्या० २.९४	यत्रैष जगदाभासो	अध्या० १०
मासमात्रम्	जा०द० ६.२९	यत्सत्यं विज्ञानम्	शाण्डि० ३.१.४
मासमेकम्	शाण्डि० १.७.५०	यथा जले जलम्	पैङ्ग० ४.१५
मिताहारो	शाण्डि० १.१.१३	यथा जातरूपधरा	याज्ञ० ८
मित्रादिषु समो	ना०परि० ६.२९	यथा जातरूपधरो	जाबा० ६.३
मुदितामुदिताख्योऽस्मि	मैत्रे० ३.१६	यथानिरिन्धनो	मैत्रे० १.७
मुनि: कौपीनवासा:	ना०परि० ४.३१	यथा निर्वाणकाले	क्षुरि० २३
मुमुक्षु: परहंसाख्या:	ना०परि० ६.२५	यथाऽपकृष्टम्	अध्या० १५
मूलाधारादारभ्य	मं०ब्रा० १.२.६	यथा मूढो यथा	यो०त० ७७
मृता मोहमयी	मैत्रे० २.१३	यथा रज्जौ निष्क्रियायाम्	आत्म० २७
मृद्दार्वलाबूफलपर्णपात्रम्	शाट्या० २१	यथा रवि: सर्वरसान्	अव० ९
मेढ्रादुपरि निक्षिप्य	जा०द० ३.९	यथावद्वायुचेष्टाम्	जा०द० ४.१२
मेरुशृङ्गतटोल्लासिगंगा	याज्ञ० १६	यथा वा चित्त ...	यो०त० ७३
मोक्षदस्तु परम्	ब्र०वि० ५३	यथा सिंहो	शाण्डि० १.७.६

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
यथेष्टधारणात्	शाण्डि० १.७.८
यथेष्टधारणाद्वायो:	यो०त० ५०
यथेष्टमेव	यो०त० १११
यथैनमवमन्यन्ते	ना०परि० ६.८
यदा तु विदितम्	ना०परि० ३.१७
यदा न कुरुते	ना०परि० ३.२२
यदा पश्यति	जा०द० १०.१२
यदा पिङ्गलया	जा०द० ४.४७
यदा मनसि चैतन्यं	जा०द० १०.९
यदा मनसि वैराग्यम्	मैत्रे० २.१९
यदा मनसि संजातं	ना०परि० ३.१२
यदा यात्युन्मनीभाव:	पैङ्ग० ४.२७
यदा सर्वाणि... समाधिस्थो	जा०द० १०.११
यदा सर्वाणि .....स्वात्मन्येव	जा०द० १०.१०
यदिदं ब्रह्मपुच्छाख्यम्	के०रु० २७
यदि वा कुरुते	ना०परि० ३.२९
यदृच्छालाभतो	जा०द० २.५
यद्यच्छृणोति	यो०त० ७०
यद्युत्तरोत्तराभावे	अध्या० २९
यन्न सन्तं न चासन्तम्	ना०परि० ४.३३
यन्मनस्त्रिजगत्	मं०ब्रा० ५.१.५
यन्मायया मोहित०	मैत्रे० २.२५
य: पिता स पुन:	यो०त० १३३
यमनियमयुत:	शाण्डि० १.५.१
यमनियमासनाभ्यास ...	शाण्डि० १.३.१५
यमाद्यष्टाङ्गसंयुक्त:	जा०द० ५.३
यमेवैष विद्याच्छुचिम ..	शाट्या० ३७
य: शतरुद्रियमधीते	कैव० २५
य: शरीरेन्द्रियादिभ्यो	ना०परि० ६.१३
यशस्विन्या	जा०द० ४.३७
यशस्विन्या: कुहोमंध्ये	जा०द० ४.१६
य: शृणोति सकृद्वापि	मैत्रे० ३.२५
यस्तु द्वादशसाहस्रम्	संन्या० २.१२३
यस्माज्जातो	यो०त० १३२
यस्मात्सर्वमाप्नोति	शाण्डि० ३.२.४
यस्मात् सुदुश्चरम्	शाण्डि० ३.२.८
यस्मान्महत ईश:	शाण्डि० ३.२.६
यस्मिन् गृहे विशेषेण	ना०परि० ६.१२
यस्मिन्त्रिदमोतम्	शाण्डि० २.३

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
यस्मिन्विलीयते	ब्र०वि० १३
यस्मिन्शान्ति:	ना०परि० ३.२१
यस्य देवे परा भक्ति:	शाट्या० ४०
यस्य नाहंकृतो	संन्या० २.५५
यस्य वर्णाश्रमाचारो	ना०परि० ६.१६
यस्य वाङ्मनसी शुद्धे	ना०परि० ३.३९
यस्य श्रवण	पं०ब्र० ३४
यस्य संकल्पनाश:	मं०ब्रा० २.३.६
यस्य स्त्री तस्य	याज्ञ० २३
यस्यैतानि सुगुप्तानि	ना०परि० ३.१४
यस्यैवम्	जा०द० १०.८
यस्सकृदुच्चारण:	द्वयो० ७
याज्ञवल्क्यो महामुनि:	मं०ब्रा० ३.१.१
याज्ञवल्क्यो ह वै	मं०ब्रा० १.१.१
याममात्रं तु यो	यो०त० १२६
यावल्लोपाधि	पैङ्ग० ४.११
यावद्दा शक्यते	जा०द० ६.५
याऽस्य प्रथमा रेखा	जाबालि० २१
युक्तं युक्तम्	शाण्डि० १.७.७
युवश्च परदारादि	यज्ञ० २६
ये च संतानजा	संन्या० २.११
येऽत्राधिकारिणो	अव० १६
येन केन प्रकारेण	जा०द० ३.१२
येन केन आसनेन	शाण्डि० १.३.१३
येन प्रकाशते	पं०ब्र० २५
येन भूचरसिद्धि:	यो०त० ५९
येन मार्गेण	शाण्डि० १.७.३६-ग
येन सम्यक्परिज्ञाय	संन्या० २.५७
येन सर्वमिदम्	पं०ब्र०९, ब्रह्म० ८
येन सर्वमिदम्	ना०परि० ३.८३
येन सर्वमिदं प्रोतम्	ब्रह्म० ८
येनार्थवन्ति तं किम्	आत्म० १०
येनावृतं सर्वमिदम्	ना०परि० ९.२०
येनासनं विजितम्	शाण्डि० १.३.१४
योगतत्त्वं प्रवक्ष्यामि	यो०त० १
योगध्यानं सदा	ब्र०वि० ५९
योगयज्ञ: सदैका०	शाट्या० १५
योगो कुम्भकनास्थाय	यो०त० ६९
योगो हि ज्ञानहीनस्तु	यो०त० १५

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
योगो हि बहुधा	यो०त० १९
योऽग्नौ रुद्रो	अथ० ६
योऽतीत्य स्वाश्रमान्	ना०परि० ६.१७
योनिं वामेन	शाण्डि० १.३.७
योऽन्तः शीतलया	संन्या० २.५६
यो भवेत्पूर्वसंन्यासी	याज्ञ० १०
योऽयमन्नमयः	कं०रु० २४
यो विलङ्घ्याश्रमान्वर्णान्	अव० ३
यो वै रुद्रः स भगवान्	अथ० २
रथ्यायां बहुवस्त्राणि	संन्या० २.११८
रसनाद्वायुमाकृष्य	शाण्डि० १.७.४५
रसना पीड्यमानेयम्	ब्र०वि० ७३
रागं द्वेषं मदम्	ना०परि० ३.७०
राग द्वेष वियुक्तात्मा	ना०परि० ३.३४
रागाद्यपेतम्	जा०द० २.८
रागाद्यसंभवे	जा०द० ६.५१
राजवार्तादि	ना०परि० ३.५८
रिपौ बद्धे स्वदेहे	याज्ञ० २८
रुद्रग्रन्थिर्भ्रुवोर्मध्ये	ब्र०वि० ७१
रेचयेत्पिङ्गलानाड्या	यो०त०४२
लक्ष्यालक्ष्य विहीनो	मैत्रे० ३.१३
लक्ष्येऽन्तर्बाह्यायां	मं०ब्रा० १.३.५
लब्धात्मा जिह्वया	संन्या० २.३३
लभते योगयुक्तात्मा	यो०त० १४०
लभ्यते यदि	यो०त० १२७
लययोगश्चित्तलयः	यो०त० २३
लवणं सर्षपम्	यो०त०४७
लिङ्गदेहगता	आ०बो० २.२४
लिङ्गे सत्यपि	ना०परि० ४.३२
लीनवृत्तेरनु०	अध्या० ४२
लोकत्रयेऽपि कर्त्तव्यम्	जा०द० १.२४
लोकवद्भार्ययाऽऽसक्तो	कुण्डि० ७
लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा	अध्या० ३
वक्त्रेण सीत्कार	शाण्डि० १.७.१३-३
वज्र सूचीं प्रवक्ष्यामि	व०सू० १
वत्सराद्ब्रह्मविद्वान्स्यात्त	जा०द० ६.११
वमनाहारवद्यस्य	मैत्रे० २.१८
वर्जयित्वा	यो०त० ६२
वर्णत्रयात्मकाः	जा०द० ६.२
वर्णं रक्तम्	पं०ब्र० १७
वर्णाश्रमं सावयवं	मैत्रे० १.१८
वर्णाश्रमाचारयुता	मैत्रे० १.१७
वर्षाभ्योऽन्यत्र	संन्या० २.९९
वह्निस्त्रिकोणम्	यो०त० ९५
वाक्पाणिपाद...	शारी० ३
वाक्यमप्रतिबद्धं	अध्या० ४०
वाक्सिद्धिः कामरूपत्व	यो०त० ७४
वाग्ध्यात्मम्	सुबा० ५.१०
वागेवास्या	कौ०ब्रा० ३.५
वाग्दण्डः कर्मदण्डश्च	ना०परि० ६.९
वाग्दण्डे मौनम्	संन्या० २.११६
वाचमेवाप्येति	सुबा० ९.६
वाचिकोपांशुरुच्चैश्च	जा०द० २.१४
वातजाः पित्तजा	जा०द० ६.३०
वानप्रस्थगृहस्थाभ्यां	ना०परि० ५.४६
वानप्रस्था अपि	आश्रमो० ३
वामदेवम्	पं०ब्र० १०
वामपादपार्ष्णिं	शाण्डि० १.७.४२-घ
वामपादमूलेन	शाण्डि० १.७.४२-ग
वामाङ्गेन	यो०त० ११४
वामांसदक्षकट्यन्तम्	प०ब्र० १५
वायुना गतिमावृत्य	यो०त० ११६
वायुना सह चित्तम्	यो०त०८३
वायुपरिचितो	यो०त०८२
वायुभक्षोऽम्बुभक्षो	कुण्डि० ४
वारिवत्स्फुरितं	यो०त० १०
वायुस्तेजस्तथा	ब्र०वि० १४
वारुणे वायुमारोप्य	यो०त० ८९
वासनानुदयो भोग्ये	अध्या० ४१
विक्षेपो नास्ति	अव० २३
विचार्य सर्वधर्मेषु	हंस० २
विचित्रा शक्तयः	संन्या० २.४२
विजानाति तदा तस्य	कं०रु० ३३
विज्ञात ब्रह्मतत्त्वस्य	अध्या० ४८
विज्ञानोऽस्मि	मैत्रे० ३.३
विज्ञेयोऽक्षर तन्मात्रो	पैङ्ग० ४.२३
विदित्वा स्वात्मरूपेण	कं०रु० ३९
विद्याभ्यासे प्रमादो	संन्या० २.१०३

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
विद्वान्स्वदेश ..	मैत्रे० २.११
विधिवत्प्राण....	शाण्डि० १.७.९
विधूमे च प्रशान्ताग्नौ	ना०परि० ६.१०
विधूमे सन्नमूसले	संन्या० २.९१
विध्युक्तकर्मसंक्षेपात्संन्यास ...	ना०परि० ३.९
विना प्रमाण सुष्ठुत्वम्	आत्मो० ६
विनायकं	जा०द० ६.४०
विनियोगान्प्रवक्ष्यामि	जा०द० ६.२१
विपरीतं ब्रह्मचर्यम्	कं०रु० ११
विपर्यस्तो निदिध्यासे	अव० १९
विभक्तो ह्ययमादेशो	ना०परि० ८.२१
विभेदजनके	जा०द० ४.६३
विमुक्तोऽहम्	ब्र०वि० १०३
विरक्तः प्रव्रजेद्धीमान्सरक्तस्तु	ना०परि० ३.१३
विरक्तस्य तु	जा०द० ६.४७
विरज्य सर्वभूतेभ्यः	ना०परि० ६.२०
विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टम्	अव० २२
विराट् प्रणवः	ना०परि० ८.३
विविक्तदेशे च	कैव० ५
विविदिषासंन्यासी	ना०परि० ४.३९
विवेकयुक्तिबुद्ध्याऽहम्	आ०बो० २.११
विशीर्णान्यमलान्येव	ना०परि० ३.३०
विश्वजित्प्रथमः पादः	ना०परि० ८.१२
विश्वाधिकोऽहम्	ब्र० वि० १०४
विश्वाय	कुण्डि० १४
विश्वोदराभिधा	जा०द० ४.२३
विश्वोदराभिधायास्तु	जा०द० ४.३९
विषं चैवायुधम्	संन्या० २.१०७
विषयव्यावर्तन ...	मं०ब्रा० १.१.८
विषयानन्दवाञ्छा	आ०बो० १६
विषयी विषयासक्तो	ब्र०वि० ५०
विषयेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यो	मं०ब्रा० १.१.७
विषुवायन कालेषु	जा०द० ४.५५
विष्ठितो मूत्रितो	ना०परि० ५.५५
विष्णुं ध्यायतु	अव० २८
विष्णुर्नाम महायोगी	यो०त० २
विष्णुलिङ्गं द्विधा	शाट्या० ९
वीराध्वाने वानाशके	जाबा० ५.२
वृत्तयस्तु तदानीयंमप्यज्ञाता	अध्या० ३६

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
वेदतत्त्वार्थ विहितम्	क्षुरि० २
वेदलौकिक मार्गेषु	जा०द० २.१०
वेदशास्त्राणि	ब्र०वि० ३०
वेदादेव विनिर्मोक्षः	जा०द० १.१८
वेदान्त विज्ञान ...	कैव० ४
वेदान्ताभ्यास निरतः	ना०परि० ६.२७
वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो	कैव० २२
वेदोक्तेन ...कृच्छ्र	जा०द० २.३
वेदोक्तेन ..विना	जा०द० १.७
वेद्योऽहमागमान्तैरा०	आ०बो० २.८
वैराग्य संन्यासी	संन्या० २.१८
वैराग्यस्य फलम्	अध्या० २८
व्यवहारो लौकिको	अव० २५
व्याघ्र बुद्ध्या	अध्या० ५४
व्यात्तवक्त्रो	शाण्डि० १.३.६
व्यानः श्रोत्राक्षिमध्ये	जा०द० ४.२८
व्यावृत्तानि परम्	कं०रु० ३८
व्रतं नाम	शाण्डि० १.२.११
व्रतयज्ञतप ...	संन्या० २.७
शक्तिमध्ये मनः	शाण्डि० १.७.१८
शङ्खिनी नाम	जा०द० ४.२२
शतं कुलानां प्रथमम्	शाट्या० ३३
शनैः पिङ्गलया	जा०द० ६.६
शब्दकाललयेन	मं०ब्रा० २.२.४
शब्दमायावृतो यावत्	ब्र०बि० १५
शब्दस्पर्शरूप	शारी० ६
शब्दस्पर्शश्च	शारी० १९
शब्दस्पर्शादयो	मैत्रे० १.५
शब्दाक्षरं परम्	ब्र०बि० १६
शरीरं तावदेव	जा०द० ४.१
शरीरस्थं प्राणम्	शाण्डि० १.४.३
शरीरान्तर्गताः	शाण्डि० १.३.१२
शरीर्यप्यशरीर्येष	आत्म० १४
शाटीद्वयम्	ना०परि० ७.६
शाण्डिल्यो ह त्रा	शाण्डि० १.१.१
शास्त्रज्ञानात्पापपुण्य .	संन्या० २.२०
शास्त्रज्ञानात्पापपुण्यलोक	ना०परि० ५.४
शिखाज्ञानमयी	ब्रह्म० १४
शिखा ज्ञानमयी	ना०परि० ३.८९

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
शिखा ज्ञानमयी यस्य	शाट्या० १८
शिखा तु दीप	ब्र०वि० ९
शिरोमध्यगते	जा०द० ६.३७
शिरोरोगा	जा०द० ६.३२
शिव एव स्वयम्	आत्मो० २०
शिवमात्मनि	जा०द० ४.५९
शिष्याणाम्	संन्या० २.१०२
शिष्याश्च	यो०त० ७८
शीतोष्णाहार ...	मं०ब्रा० १.१.३
शीर्षोपरि	मं०ब्रा० १.२.१०
शुचौ देशे सदा	ना०परि० ४.१८
शुद्धज्ञानामृतम्	ब्र०वि० ४६
शुद्धमानसः	पैङ्ग० ४.१२
शुद्ध स्फटिकसंकाश घृत..	यो०त० १००
शुद्धस्फटिक संकाशम्	यो०त० ९०
शुद्धोऽहमद्वयोऽहम्	आ०बो० २.९
शुद्धोऽहमान्तरोऽहम्	आ०बो० २.१०
शून्येष्वेवावकाशेषु	ना०परि० ६.६
शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते	अव० १८
शोकमोह विनिर्मुक्तम्	आ०बो० १.५
श्मशानेषु दिगन्तेषु	याज्ञ० १७
श्रद्धालुर्मुक्तिमार्गेषु	ना०परि० ६.२१
श्री पर्वतं शिरः स्थाने	जा०द० ४.४८
श्रुत्या यदुक्तम्	ब्र०वि० ३२
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च	ना०परि० ३.३८
श्रोत्रमध्यात्मम्	सुबा० ५.२
श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी	शारी० १८
श्रोत्रमेवाप्येति	सुबा० ९.२
श्रोत्रादीनि	शारी० २
श्रोत्रियान्नम्	संन्या० २.८२
षट्संख्यया अहोरात्र	हंस० ११
षड्विकारविहीनोऽस्मि	मैत्रे० ३.१८
षण्ढोऽथ विकलोऽप्यन्धो	ना०परि० ३.३
षष्टिं कुलान्यतीतानि	संन्या० २.१०
संकल्पपादपम्	संन्या० २.७०
संकल्पादिकं	मं०ब्रा० २.४.५
संकल्पोऽध्यवसायश्च	कं०रु० १०
संत्यजेत्सर्वकर्माणि	ना०परि० ६.३९
संदिग्धः सर्वभूतानां	ना०परि० ४.३५

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
संधिश्च विग्रहो	संन्या० २.१०६
संन्यस्तमिति	शाट्या० ३५
संन्यस्याग्निम्	कं०रु० ४
संन्यासभेदैराचारभेदः	ना०परि० ५.२
संन्यासं पातयेद्यस्तु	संन्या० २.३
संन्यासः षड्विधो...कुटीचको	ना०परि० ५.१२
संन्यासिनम्	संन्या० २.९
संन्यासे निश्चयम्	संन्या० २.२
संपीड्य सीविनीम्	शाण्डि० १.३.९
सम्पूर्णकुभवद्वायोर्धारणम्	जा०द० ६.१३
संप्रत्यवसितानाम्	संन्या० २.६
संभाषणं सह	ना०परि० ६.३६
संभूतैर्वायु	कुण्डि० २१
संमाननं परां हानिं	ना०परि० ५.५६
संमानाद्ब्राह्मणो	ना०परि० ३.४०
संयुक्तमेकताम्	आत्म० २४
संयुक्तमेतत्क्षरम्	ना०परि० ९.८
संविभज्य	कुण्डि० ३
संशान्तसर्वसंकल्पा	मैत्रे० २.३०
संसारदोषदृष्ट्यैव	ना०परि० ६.२८
संसारमेव निःसारम्	ना०परि० ३.१५
स आगच्छतील्यम्	कौ०ब्रा० १.५
स एतं देवयानं	कौ०ब्रा० १.३
स एतेन प्रज्ञेनात्मना	आ०बो० १.७
स एव माया	कैव० १२
स एव लययोगः	यो०त० २४
स एव संसारतारणाय	मं०ब्रा० २.४.४
स एव सर्वम्	कैव० ९
स एष जगतः	कं०रु० १२
सकले सकलो	ब्र०वि० ३९
सकारं च हकारम्	ब्र०वि० १६
स खल्वेवं यो	आरु० ५
सखा मा गोपायेति	संन्या० २.१२
सगुणं ध्यानमेतत्	यो०त० १०५
सच्चिदानन्दमात्रोऽहम्	ब्र०वि० १०९
स तं होवाच साधु	जाबालि० ३
स तज्ज्ञो बालोन्मत	मं०ब्रा० ५.१.७
स तमुवाच यथा	जाबालि० १५
स तेन पृष्टः सर्वम्	जाबालि० ११

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
स तेषां सत्त्वांशम्	पैङ्ग० १.९
सत्कर्मपरिपाकतो	पैङ्ग० २.१७
सत्त्वमथास्य	प०ब्र० ३
सत्त्वसमष्टित	पैङ्ग० १.१०
सत्यं ज्ञानमनन्तम्	जा०द० २.९
सत्यज्ञानं सात्त्विकम्	शारी० १३
सत्यमित्युपनिषत्	जाबालि० २३
सत्यासत्यादिहीनोऽस्मि	मैत्रे० ३.२३
सत्समृद्धं स्वतः	अध्या० ६४
सदा समाधिं कुर्वीत	ब्र०वि० ६५
सदा साक्षिस्वरूप ...	जा०द० १०.५
सद्गुरुसमीपे	प०प० २
सद्रूपं परमं ब्रह्म	कं०रु० ३२
सन्ध्ययोर्ब्राह्मणः	शाण्डि० १.७.४६
स पञ्चभूतानाम्	पैङ्ग० १.८
स पुनस्तम्	जाबालि० १४
स बाह्याभ्यन्तरम्	मं०ब्रा० ४.१.३
स ब्रह्मा स शिवः	कैव० ८
समग्रीवशिरः कायः	जा०द० ३.३
समदुःखसुखः	ना०परि० ५.६४
समस्तसाक्षी सर्वात्मा	ब्र०वि० १०७
समाधातुं बाह्यदृष्ट्या	अध्या० ६०
समाधिः समतावस्था	यो०त० १०७
समाधौ मृदित ...	मं०ब्रा० २.३.४
समासक्तं यथा चित्तम्	शाट्या०२;मैत्रे० १.११
समुद्रे लीयते	जा०द० १०.७
समुन्नतशिरः पादो	जा०द० ३.११
समुन्नतशिरः पादो	शाण्डि० १.३.११
सम्यक्कथय मे	जा०द० ५.१
स यदा प्राणेन	सुबा० ४.२
स यदाऽऽस्माच्छरीरात्	कौ०ब्रा० ३.४
सरस्वती	जा०द० ४.२१
सरस्वती कुहूश्चैव	जा०द० ४.१४
सर्वकारणमव्यक्तम्	जा०द० ८.९
सर्वज्ञेशो	पैङ्ग० १.१२
सर्वत्रपूर्वरूपो	मैत्रे० ३.१२
सर्वत्र सर्वतः	अध्या० १३
सर्वदा समरूपोऽस्मि	मैत्रे० ३.२४
सर्वदुष्टप्रशमनम्	पं०ब्र० ९

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
सर्वदेवमयम्	पं०ब्र० २०
सर्वदेवस्य मध्यस्थो	ब्र०वि० ६२
सर्वपरिपूर्ण तुरीयातीत	मं०ब्रा० २.५.१
सर्वपापविनिर्मुक्तः	जा०द० ६.१९
सर्वपापानि	जा०द० ७.१०
सर्वप्रकाशरूपोऽस्मि	मैत्रे० ३.२१
सर्वं भावान्तरस्थाय	संन्या० २.४१
सर्वभूतस्थमात्मानम्	कैव० १०
सर्वभूतस्थमेकम्	आ०बो० १.४
सर्वभूतस्थितं देवम्	ब्र०वि० ७७
सर्वभूतहितः	ना०परि० ३.५५
सर्वभूताधिवासं च	ब्र०बि० २२
सर्वभूतान्तरात्मा	ब्र०वि० १०५
सर्वं काष्ण्यायसम्	पं०ब्र० ३७
सर्वं पञ्चात्मकम्	पं०ब्र० ३१
सर्वं सत्यं परम्	जा०द० १.१०
सर्वरोगनिवृत्तिः	जा०द० ६.२४
सर्वरोगविनिर्मुक्तो	जा०द० ६.२३
सर्वलोकस्तुतिपात्रः	मं०ब्रा० २.५.२
सर्वलोकात्मकः	अव० १५
सर्वलोकेषु	यो०त० १०९
सर्वं विघ्नहरं	यो०त० ६४
सर्ववेदान्त सिद्धान्तसारम्	कं०रु० ४७
सर्वव्यापारमुत्सृज्य	यो०त० ७९
सर्वव्यापिनमात्मानम्	ब्रह्म० २३
सर्वशरीरेषु	मं०ब्रा० १.१.९
सर्वस्य धातारम्	ना०परि० ९.१८
सर्वाक्षरमयः	ना०परि० ८.५
सर्वाजीवे सर्वसंस्थे	ना०परि०९.६
सर्वात्मकोऽहम्	कुण्डि० २६
सर्वाधारः परम्	ना०परि० ८.४
सर्वाधिष्ठानसन्मात्रः	ब्र०वि० ११०
सर्वान्कामान्परित्यज्य	प०हं० ३
सर्वान्तरः स्वयंज्योतिः	ब्र०वि० १०६
सर्वायुधैर्धृताकारम्	यो०त० १०१
सर्वेन्द्रियविहीनोऽस्मि	मैत्रे० ३.१५
सर्वेषां दोषरत्नानाम्	याज्ञ० २२
सर्वेषां प्राणि०	स्व० १-क
सर्वेषामेव गन्धानाम्	सुबा० १३.२

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
सर्वेषामेव पापानाम्	संन्या० २.११२
सर्वेषु कालेषु	प०प० ३-ग
सर्वेषु देहेषु	हंस० ५
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तम्	कं०रु० ४६
सविषयं मनो बन्धाय	मं०ब्रा० ५.१.१
सव्यदक्षिणनाडीस्थो	शाण्डि० १.७.४०
सव्येतरेण	जा०द० ६.३९
सव्ये दक्षिणगुल्कम्	शाण्डि० १.३.२
सशरीरं समारोप्य	ना०परि० ८.८
सशिखं वपनम्	ब्रह्म० ६,प०ब्र० ६, ना०परि० ३.८१
सशिखान्केशान्	कं०रु० २
स संन्यास: षड्विधो	संन्या० २.२३
स साध्वसाधुकर्मभ्याम्	कं०रु० ४०
सह तेनैव	कुण्डि० ५
सहस्रभानुमच्छुरिता	म०वा० ७
सहस्रमेकम्	ब्र०वि० ७९
सहस्रारे जलज्योति	मं०ब्रा० १.४.१
स होवाच..अमानित्वादि	पैङ्ग० ४.२
स होवाच ..आकाशे	कौ०ब्रा० ४.६
स होवाच..आदर्शे	कौ०ब्रा० ४.१०
स होवाच..आदित्ये	कौ०ब्रा० ४.२
स होवाच एवैषोऽग्नौ	कौ०ब्रा० ४.८
स होवाच एवैषोऽप्सु	कौ०ब्रा० ४.९
स होवाच ...चन्द्रमसि	कौ०ब्रा० ४.३
स होवाच...छाया ..	कौ०ब्रा० ४.१३
स होवाच..तत्त्वमसि	पैङ्ग० ३.२
स होवाच..दक्षिणेऽक्षन्	कौ०ब्रा० ४.१६
स होवाच नारायण:	मं०ब्रा० १.१.२
स होवाच प्राणोस्मि	कौ०ब्रा०३.२
स होवाच..प्राज्ञ ..	कौ०ब्रा० ४.१५
स होवाच..प्रति..	कौ०ब्रा० ४.११
स होवाच ये वै	कौ०ब्रा० १.२
स होवाच ..वायौ	कौ०ब्रा० ४.७
स होवाच..विद्युति	कौ०ब्रा० ४.४
स होवाच...शब्द:	कौ०ब्रा० ४.१२
स होवाच ...शारीर:	कौ०ब्रा० ४.१४
स होवाच ...सदेव	पैङ्ग० १.२
स होवाच..सव्येऽक्षन्	कौ०ब्रा० ४.१७
स होवाच..स्तनयिलौ	कौ०ब्रा० ४.५
स होवाच..स्थूल..	पैङ्ग० २.२
स होवाचाकाशं	मं०ब्रा० ४.१.२
स होवाचाथर्वा अथेदं	शाण्डि० १.४.२
स होवाचाथर्वा यस्माच्च	शाण्डि० ३.२.२
स होवाचाथर्वा	शाण्डि० २.२
स होवाचाथर्वा सत्यम्	शाण्डि० ३.१.२
सांकृति..नाडी	जा०द० ५.२
सांकृते..योगम्	जा०द० १.४
सा कालपुत्रपदवी	ना०परि० ३.४९
साक्ष्यनपेक्षोऽहम्	आ०बो० २.३
सात्त्विकराज ...	शारी० ७
सा त्याज्या	ना०परि० ३.५०
साधयन्वज्रकुम्भानि	ब्र०वि० ७५
साधुभि: पूज्यमाने०	अध्या० ४७
सान्निध्ये विषयाणां	ना०परि० ३.६८
सा पुनर्विकृतिम्	पैङ्ग० १.४
सामवेदस्तथा	ब्र०वि० ६
सा शक्तिर्येन	शाण्डि० १.७.३६-घ
सा सत्यता सा शिवता	संन्या० २.६२
सा हि वाचामगम्य	संन्या० २.४४
सिंहासनं भवेत्	जा०द०३.६-३
सिंहो वा योगिना	यो०त० ६०
सिद्धमन्त्रम्	संन्या० २.८८
सुखदु:खै: समायुक्तम्	यो०त० ११
सुखम् ह्यवमत:	ना०परि० ३.४१
सुखाद्यनुभवो	अध्या० ४९
सुखासनवृत्ति ...	मं०ब्रा० १.१.५
सुखासनसमाख्यं	जा०द० ३.२
सुखासनस्थो	शाण्डि० १.७.१३-१
सुखी भवति सर्वत्र	कं०रु० २८
सुजीर्णोऽपि	संन्या० २.१०९
सुलभश्चायमत्यन्तम्	संन्या० २.५०
सुषिरो ज्ञानजनक:	शाण्डि० १.७.३९
सुषुप्तिसमाध्यो:	मं० ब्रा० २.३.३
सुषुम्रा तु परे	क्षुरि० १६
सुषुम्रा पिङ्गला	जा०द० ४.७
सुषुम्राया: शिवो	जा०द० ४.३५
सुषुम्राया: सव्यभागे	शाण्डि० १.४.११

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
सुषुप्तिस्तम्	यो०त० ३३
सूक्ष्मभुक् चतुरात्माथ	ना०परि० ८.१३
सूचनात्सूत्रम्	ना०परि० ३.८२
सूचनात्सूत्रमित्याहुः	ब्रह्म० ७
सूत्रमन्तर्गतम्	ब्रह्म०१०, प०ब्र०११
सूत्रमन्तर्गतं येषाम्	ना०परि० ३.८५
सूर्यमण्डलमध्येऽथ	ब्र०वि० ७
सूर्यस्य ग्रहणम्	ब्र०वि० ५७
सूर्यालोकपरिस्पन्द..	शाण्डि० १.७.२६
सेवाभिः परितोष्यैनम्	ना०परि० ६.२२
सोऽग्रे भूतानाम्	सुबा० १.४
सोऽन्ते वैश्वानरो	सुबा० २.४
सोमसूर्याद्वयोर्मध्ये	शाण्डि० १.७.४२-क
सोऽविमुक्तः कस्मिन्	जाबा० २.२
सोऽहमर्कः परम्	म० वा० ११
सोऽहं ब्रह्म	जा०द० १०.६
सौवलबीज ...	सुबा० १६.१
स्त्रीणामवाच्यदेशस्य	ना०परि० ४.२८
स्थानत्रयव्यतीतोऽहम्	ब्र०वि० १०८
स्थानानि स्थानिभ्यो	सुबा० ५.१
स्थावरं जङ्गमम्	संन्या० २.११०
स्थिरगात्रमदृढम्	क्षुरि० ६
स्थूलदेहगता	आ०बो० २.२३
स्नानं त्रिषवणं प्रोक्तम्	ना०परि० ४.२२
स्नानं पानम् ..नदीपुलिशायी	कं०रु० ७
स्नानं पानम्...स्तूयमानो	कुण्डि० १२
स्रष्टकामो जगद्योनि	पैङ्ग० १.७
स्वच्छतोर्जितता	संन्या० २.७२
स्वदेहमलनिर्मोक्षो	जा०द० १.२०
स्वदेहस्य	कुण्डि० २२
स्वप्नेऽपि यो हि	ना०परि० ५.३२
स्वप्ने स जीवः	कैव० १३
स्वप्रकाशचिदानन्दम्	ब्र०वि० २१
स्वप्रकाशमधिष्ठानम्	अध्या० ८
स्वप्रकाशे परानन्दे	आ०बो० २.२६
स्वमसङ्गमुदासीनम्	अध्या० ५१
स्वमुखेन	जा०द० ४.१३
स्वमेव सर्वतः	कुण्डि० २७
स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः	अध्या० २०
स्वयोनावुपशान्तस्य	मैत्रे० १.८

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
स्वरूपभूत आनन्द.	कं०रु० ३५
स्वरूपानुसंधान ..	संन्या० २.७५
स्वरेण सन्धयेद्योगम्	ब्र०बि० ७
स्वल्पोऽपि बोधो	आ०बो० २.२९
स्वव्यतिरिक्तम्	संन्या० २.७६
स्वस्तिकं गोमुखम्	जा०द० ३.१
स्वस्तिक गोमुख ...	शाण्डि० १.३.१
स्वस्थ क्रमेणैव	प०पं० ३
स्वस्वरूपज्ञः	ना०परि० ९.२३
स्वात्मनैव	आत्म० १२
स्वात्मन्यारोपित ...	अध्या० २१
स्वात्मन्येव सदा	अध्या० ४
स्वात्मवत्सर्वभूतेषु	जा०द० १.१५
स्वानुभूत्या स्वयम्	अध्या० ६५
स्वेनावृतं सर्वमिदं	ना०परि० ९.२०
स्वैरं स्वैरविहरणम्	अव० ७
हंस एव परम्	ब्र०वि० ६१
हंस ज्योतिरनूपम्यम्	ब्र०वि० ६४
हंसविद्यामृते	ब्र०वि० २६
हंसः शुचिषद्वसुः	ना०परि० ५.१०
हंस हंसेति यो	ब्र०वि० ३४
हंसो जटाधारी	ना०परि०५.१४, संन्या० २.२६
हयवरलकाराख्यम्	जा०द० ८.३
हस्तमेवाप्येति	सुबा० ९.७
हस्तावष्टात्मम्	सुबा० ५.११
हस्तौ जानौ	जा०द० ३.६-२
हिताहितं मनोरामम्	ना०परि० ३.६७
हिरण्यगर्भाधिष्ठित ..	पैङ्ग० १.६
हिरण्य ज्योतिः	सुबा० २.३
हृत्पद्ममध्ये	आ०बो० १.६
हृत्पुण्डरीकमध्ये	मैत्रे० १.१२
हृत्पुण्डरीकं विरजं	कैव० ६
हृदयं निर्मलम्	पैङ्ग० ४.१४
हृदयस्य मध्ये	सुबा० ४.१
हृदयादिकण्ठ ..	शाण्डि० १.७.१३-२
हृदाकाशेचिदादित्यः	मैत्रे० २.१४
हृदिस्था देवता	ब्रह्म० ४
ह्रीस्तथा ज्ञानविज्ञाने	ना०परि० ४.१२

॥ इति मन्त्रानुक्रमणिका समाप्ता ॥

१०८ उपनिषद्

[सरल हिन्दी भावार्थ सहित]

ज्ञानखण्ड

*

सम्पादक

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

*

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना

गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ. प्र.)

२००५

मूल्य : [illegible] रुपये

• प्रकाशक

युग निर्माण योजना
गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ. प्र.)

• लेखक
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

• सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

• मुद्रक
युग निर्माण योजना प्रेस,
गायत्री तपोभूमि. मथुरा

ॐ

भूर्भुवः स्वः

तत्सवितुर्वरेण्यं

भर्गो देवस्य धीमहि।

धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

(त्रि० ता० १.१; त्रि० म०; महाना०)

* * *

उस प्राण स्वरूप, दुःख नाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप, परमात्मा को हम अन्तरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करे।

*

मैं उपनिषदों को पढ़ता हूँ, तो मेरे आँसू बहने लगते हैं। यह कितना महान् ज्ञान है ? हमारे लिए यह आवश्यक है कि उपनिषदों में सन्निहित तेजस्विता को अपने जीवन में विशेष रूप से धारण करें।

-स्वामी विवेकानन्द

मेरे जीवन में गीता ने माँ का स्थान लिया है। वह स्थान तो उसी का है; लेकिन मैं जानता हूँ कि उपनिषद् मेरी माँ की माँ है। उसी श्रद्धा से मेरा उपनिषदों का मनन, निदिध्यासन पिछले बत्तीस वर्षों से चल रहा है।

- आचार्य विनोबा भावे

मनुष्य की आत्मिक, मानसिक और सामाजिक गुत्थियाँ किस प्रकार सुलझ सकती हैं, इसका ज्ञान उपनिषदों से ही मिल सकता है। यह शिक्षा इतनी सत्य, शिव और सुन्दर है कि अन्तरात्मा की गहराई तक उसका प्रवेश होता है। जब मनुष्य सांसारिक दुःखों और चिन्ताओं से घिरा हो, तो उसे शान्ति और सहारा देने के अमोघ साधन के रूप में उपनिषद् ही सहायक हो सकती है।

- प्रो० जी० आर्क

सुकरात, अरस्तू, अफलातून आदि कितने दार्शनिकों के ग्रन्थ मैंने ध्यान पूर्वक पढ़े हैं, पर जैसी शान्तिमयी आत्मविद्या मैंने उपनिषदों में पायी, वैसी और कहीं देखने को नहीं मिली।

- प्रो०ह्यूम

मैंने कुरान, तौरेत, इञ्जील, जबुर आदि ग्रन्थ पढ़े, उनमें ईश्वर सम्बन्धी जो वर्णन है, उनसे मन की प्यास न बुझी। तब हिन्दुओं की ईश्वरीय पुस्तकें पढ़ीं। इनमें से उपनिषदों का ज्ञान ऐसा है, जिससे आत्मा को शाश्वत शान्ति तथा सच्चे आनन्द की प्राप्ति होती है। हजरत नवी ने भी एक आयत में इन्हीं प्राचीन रहस्यमय पुस्तकों के सम्बन्ध में संकेत किया है।

-दाराशिकोह

विषयानुक्रमणिका

क्र०	विषय	पृष्ठ संख्या से-तक
क.	**संकेत विवरण**	६
ख.	**भूमिका**	७-२६
१.	अमृतनादोपनिषद्	२७-३३
२.	ईशावास्योपनिषद्	३४-३७
३.	एकाक्षरोपनिषद्	३८-४०
४.	ऐतरेयोपनिषद्	४१-४९
५.	कठोपनिषद्	५०-६९
६.	केनोपनिषद्	७०-७४
७.	गायत्र्युपनिषद्	७५-८२
८.	छान्दोग्योपनिषद्	८३-१९६
९.	तैत्तिरीयोपनिषद्	१९७-२१३
१०.	नादबिन्दूपनिषद्	२१४-२२१
११.	निरालम्बोपनिषद्	२२२-२२६
१२.	प्रणवोपनिषद्	२२७-२२८
१३.	प्रश्नोपनिषद्	२२९-२४०
१४.	बृहदारण्यकोपनिषद्	२४१-३५७
१५.	मन्त्रिकोपनिषद्	३५८-३६०
१६.	माण्डूक्योपनिषद्	३६१-३६३
१७.	मुण्डकोपनिषद्	३६४-३७४
१८.	मुद्गलोपनिषद्	३७५-३८१
१९.	मैत्रायण्युपनिषद्	३८२-३९७
२०.	शिवसंकल्पोपनिषद्	३९८-३९८
२१.	शुकरहस्योपनिषद्	३९९-४०६
२२.	श्वेताश्वतरोपनिषद्	४०७-४२४
२३.	सर्वसारोपनिषद्	४२५-४२८
२४.	स्कन्दोपनिषद्	४२९-४३०
ग.	**परिशिष्ट**	
	१. परिभाषा कोश	४३१-४८८
	२. मन्त्रानुक्रमणिका	४८९-५१२

संकेत विवरण

अक्षि० - अक्ष्युपनिषद्
अथर्व० - अथर्ववेद
अध्या० - अध्यात्मोपनिषद्
अ०पू० - अन्नपूर्णोपनिषद्
अमृ० - अमृतनादोपनिषद्
अव्य० - अव्यक्तोपनिषद्
अ०शिर० - अथर्वशिरोपनिषद्
अष्टा० - अष्टाध्यायी
आत्मो० - आत्मोपनिषद्
आ०बो० - आत्मबोधोपनिषद्
आरु० - आरुणिकोपनिषद्
आश्र० - आश्रमोपनिषद्
आ०श्रौ० - आश्वलायन श्रौतसूत्र
ईश० - ईशावास्योपनिषद्
ऋ० - ऋग्वेद
एका० - एकाक्षरोपनिषद्
ऐत० - ऐतरेयोपनिषद्
ऐ०ब्रा० - ऐतरेय ब्राह्मण
कठ० - कठोपनिषद्
क०रु० - कठरुद्रोपनिषद्
कलिसं० - कलिसंतरणोपनिषद्
काठ०सं० - काठक संहिता
का०श्रौ० - कात्यायन श्रौतसूत्र
कु०सं० - कुमार संभव
कृष्ण० - कृष्णोपनिषद्
केन० - केनोपनिषद्
कौ०ब्रा० - कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्
गाय० - गायत्र्युपनिषद्
गी० - श्रीमद्भगवद्गीता
गो०उ० - गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्
गो० ब्रा० - गोपथ ब्राह्मण
चा०नी० - चाणक्य नीति
छान्दो० - छान्दोग्योपनिषद्
जाबा० - जाबालोपनिषद्
जैमि० - जैमिनीयोपनिषद्
जै० ब्रा० - जैमिनीय ब्राह्मण
ते०बि० - तेजोबिन्दूपनिषद्
तै०आ० - तैत्तिरीय आरण्यक
तैत्ति० - तैत्तिरीयोपनिषद्
तै०ब्रा० - तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० सं० - तैत्तिरीय संहिता
त्रि०म० - त्रिपाद्विभूति-महानारायणोपनिषद्
त्रि०ता० - त्रिपुरा तापिन्युपनिषद्
दे०भा० - देवी भागवत
द्र० - द्रष्टव्य
ध्या० बि० - ध्यानबिन्दूपनिषद्
ना०प० - नारदपरिव्राजकोपनिषद्
ना०पु० - नारदीय पुराण
ना०बि० - नादबिन्दूपनिषद्
नारा० - नारायणोपनिषद्
निरा० - निरालम्बोपनिषद्
निरु० - निरुक्त
नृ०उ० - नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्
न्या०द० - न्याय दर्शन
पंच० - पंचदशी
पं० ब्र० - पंच ब्रह्मोपनिषद्
प०प० - परमहंस-परिव्राजकोपनिषद्
प०पु० - पद्मपुराण
पैंग० - पैंगलोपनिषद्
प्रण० - प्रणवोपनिषद्
प्रश्न० - प्रश्नोपनिषद्
बह्व० - बह्वृचोपनिषद्
बृह० - बृहदारण्यकोपनिषद्
ब्र०बि० - ब्रह्मबिन्दूपनिषद्
ब्र०वै०पु० - ब्रह्मवैवर्तपुराण
ब्र०सू० - ब्रह्मसूत्र
ब्रह्म० - ब्रह्मोपनिषद्
ब्रह्मा०पु० - ब्रह्माण्ड पुराण
भा० पु० - भागवत पुराण
मन्त्रि० - मन्त्रिकोपनिषद्
म०स्मृ० - मनु स्मृति
महा० - महाभारत
महाना० - महानारायणोपनिषद्
महो० - महोपनिषद्
माण्डू० - माण्डूक्योपनिषद्
मी० द० - मीमांसा दर्शन
मुक्ति० - मुक्तिकोपनिषद्
मुण्ड० - मुण्डकोपनिषद्
मुद्ग० - मुद्गलोपनिषद्
मैत्रा० - मैत्रायण्युपनिषद्
मैत्रे० - मैत्रेय्युपनिषद्
मै०ब्रा० - मैत्रायणी ब्राह्मण
यजु० - यजुर्वेद
या० स्मृ० - याज्ञवल्क्य स्मृति
यो०कु० - योगकुण्डल्युपनिषद्
यो० चू० - योगचूडामण्युपनिषद्
यो० त० - योगतत्त्वोपनिषद्
यो०द० - योगदर्शन
यो०शि० - योगशिखोपनिषद्
रा०उ० - रामोत्तरतापिन्युपनिषद
रा०मा० - रामचरित मानस
रा०र० - राम रहस्योपनिषद्
वाच० - वाचस्पत्यम्
वा०रा० - वाल्मीकि रामायण
वि०चू० - विवेक चूडामणि
वे०परि० - वेदान्त परिभाषा
वे०सा० - वेदान्त सार
वै०द० - वैशेषिक दर्शन
शत०ब्रा० - शतपथ ब्राह्मण
शब्द० - शब्दकल्पद्रुम
शां० प० - शांतिपर्व
शि०सं० - शिवसंकल्पोपनिषद्
शु०र० - शुकरहस्योपनिषद्
श्वेता० - श्वेताश्वतरोपनिषद्
षड्०ब्रा० - षड्विंश ब्राह्मण
संन्या० - संन्यासोपनिषद्
संहि० - संहितोपनिषद्
स०सा० - सर्वसारोपनिषद्
सां०द० - सांख्यदर्शन
सुं० कां० - सुंदरकांड
सूर्यो० - सूर्योपनिषद्
स्कं० - स्कंदोपनिषद्
स्कं० पु० - स्कन्दपुराण
ह०को० - हलायुध कोश
ह० प्र० - हठयोग प्रदीपिका

भूमिका

'वेद' का अर्थ 'बोध' या 'ज्ञान' है। विद्वानों ने संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् इन चारों के संयोग को समग्र वेद कहा है। उपनिषद् को वेद का शीर्ष भाग कहा गया है, वेदान्त कहा गया है; क्योंकि यह वेदों का अन्तिम (सर्वश्रेष्ठ) भाग है। भारतीय दर्शन जगत् में प्रसिद्ध 'प्रस्थान-त्रयी' के उपनिषद् आदिम ग्रन्थ हैं तथा अन्य दोनों गीता और ब्रह्मसूत्र के उपजीव्य (आश्रयीभूत)। इसे आध्यात्मिक मानसरोवर कहा जा सकता है, जिससे विनि:सृत ज्ञान की सरिताएँ इस पुण्य भूमि में मानव मात्र केअभ्युदय (भौतिक उन्नति) एवं नि:श्रेयस (आध्यात्मिक कल्याण) के लिए प्रवहमान हैं।

'उपनिषद्' का भाव- इसमें 'उप' और 'नि' उपसर्ग हैं। 'सद्' धातु 'गति' के अर्थ में प्रयुक्त होती है। 'गति' शब्द का उपयोग ज्ञान, गमन और प्राप्ति इन तीन संदर्भों में होता है। यहाँ प्राप्ति अर्थ अधिक उपयुक्त है। **''उप सामीप्येन, नितरां, प्राप्नुवन्ति परं ब्रह्म यया विद्यया सा उपनिषद्।''** अर्थात् जिस विद्या के द्वारा परब्रह्म का सामीप्य एवं तादात्म्य प्राप्त किया जाता है, वह 'उपनिषद्' है।

दूसरे शब्दों में 'उप' + 'नि' इन दो उपसर्गों के साथ 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय के प्रयोग से 'उपनिषद्' शब्द बना है। 'सद्' धातु के तीन अर्थ मान्य हैं- (१) विशरण (विनाश) (२) गति (ज्ञान और प्राप्ति) (३) अवसादन (शिथिल करना), इस आधार पर 'उपनिषद्' का अर्थ हुआ-''जो पाप-ताप का नाश करे, सच्चा ज्ञान प्रदान करे, आत्मा की प्राप्ति कराये और अज्ञान- अविद्या को शिथिल करे, वह उपनिषद् है।''

अष्टाध्यायी (१.४.७९) में **जीविकोपनिषदावौपम्ये** सूत्रानुसार उपनिषद् शब्द परोक्ष या रहस्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में युद्ध काल के गुप्त प्रयोगों की चर्चा में औपनिषद प्रयोग शब्द व्यवहृत हुआ है। इससे यह प्रकट होता है कि उपनिषद् का तात्पर्य रहस्य भी है।

अमरकोष (३. ९९) में भी आता है-**''धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्''** अर्थात् उपनिषद् शब्द गूढ़ धर्म एवं रहस्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस आधार पर उपनिषद् को परोक्ष या रहस्यमय ज्ञान के स्रोत भी कह सकते हैं।

विद्वानों ने 'उपनिषद्' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार भी मानी है-उप (सामीप्य अथवा व्यवधान रहित), नि (विशिष्ट या सम्पूर्ण), सद् (ज्ञान या बोध) अर्थात् 'सामीप्य द्वारा प्राप्त विशिष्ट बोध अथवा व्यवधान रहित सम्पूर्ण ज्ञान।' उपनिषदों में जिस ज्ञान की अभिव्यक्ति हुई है, उसे निश्चित रूप से उक्त विशेषणों से युक्त कहा जा सकता है।

एक मत यह भी है-**'उपनिषद्यते प्राप्यते ब्रह्मात्मभावोऽनया इति उपनिषद्।'** जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सके, वह उपनिषद् है। तात्पर्य यह है कि उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान का ही प्रधानता से विवेचन हुआ है, जिससे उपनिषदों को अध्यात्म विद्या भी कहा जाता हैं। ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान, तत्त्वज्ञान और ब्रह्मविद्या-ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने उपनिषदों की महत्ता मुक्त कंठ से स्वीकार की है।

उपनिषदों की महत्ता

स्वामी विवेकानन्द ने अपने एक प्रवचन में कहा था -''मैं उपनिषदों को पढ़ता हूँ, तो मेरे आँसू बहने लगते हैं। यह कितना महान् ज्ञान है? हमारे लिए यह आवश्यक है कि उपनिषदों में सन्निहित तेजस्विता को अपने जीवन में विशेष रूप से धारण करें। हमें शक्ति चाहिए। शक्ति के बिना काम न चलेगा। यह शक्ति कहाँ से प्राप्त हो? उपनिषदें ही शक्ति की खानें हैं, उनमें ऐसी शक्ति भरी पड़ी है, जो सम्पूर्ण विश्व को बल, शौर्य एवं नवजीवन प्रदान कर सकें। उपनिषदें किसी भी देश, जाति, मत, सम्प्रदाय का भेद किये बिना हर दीन, दुर्बल, दुःखी और दलित प्राणी को पुकार-पुकार कर कहती हैं- उठो, अपने पैरों खड़े हो जाओ और बन्धनों को काट डालो। शारीरिक स्वाधीनता, मानसिक स्वाधीनता, आध्यात्मिक स्वाधीनता, यही उपनिषदों का मूल मन्त्र है।''

स्वामी विवेकानन्द जी ने उपनिषद्-ज्ञान की आवश्यकता को न केवल ब्रह्म प्राप्ति के लिए ही, अपितु दैनिक जीवन के लिए भी उपयोगी बतलाया है। उनका कथन है कि उपनिषदें वह शक्ति प्रदान करती हैं, जिसके द्वारा मनुष्य जीवन-संग्राम का धैर्य तथा साहस से मुकाबला करता है। जीवन का प्रत्येक क्षेत्र चाहे वह आध्यात्मिक हो या भौतिक दोनों में उपनिषदें अत्यन्त आवश्यक हैं।

विश्व कवि रवीन्द्रनाथ जी ने कहा है- 'चक्षु सम्पन्न व्यक्ति देखेंगे कि भारत का ब्रह्मज्ञान समस्त पृथिवी का धर्म बनने लगा है। प्रातः कालीन सूर्य की अरुणिम किरणों से पूर्व-दिशा आलोकित होने लगी है; परन्तु जब वह सूर्य मध्याह्न गगन में प्रकाशित होगा, तब उस समय उसकी दीप्ति से समग्र भूमण्डल दीप्तिमय हो उठेगा।'

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन का कथन है- 'उपनिषदों को जो भी मूल संस्कृत में पढ़ता है, वह मानव-आत्मा और परम सत्य के गुह्य और पवित्र सम्बन्धों को उजागर करने वाले उनके बहुत से उद्गारों के उत्कर्ष काव्य और प्रबल सम्मोहन से मुग्ध हो जाता है और उसमें बहने लगता है'।

अपनी 'उपनिषद् एक अध्ययन' पुस्तक की प्रस्तावना में सन्त विनोबा ने लिखा है- ''उपनिषदों की महिमा अनेकों ने गायी है। कवि ने कहा है कि 'हिमालय जैसा पर्वत नहीं और उपनिषदों जैसी कोई पुस्तक नहीं।' परन्तु मेरी दृष्टि में उपनिषद् पुस्तक है ही नहीं, वह तो एक दर्शन है। उस दर्शन को यद्यपि शब्दों में अंकित करने का प्रयत्न किया गया है, फिर भी शब्दों के कदम लड़खड़ा गये हैं; सिर्फ निष्ठा के चिह्न उभरे हैं। उस निष्ठा को शब्दों की सहायता से हृदय में भरकर शब्दों को दूर हटाकर अनुभव किया जाए, तभी उपनिषदों का बोध हो सकता है। मेरे जीवन में गीता ने माँ का स्थान लिया है। वह स्थान तो उसी का है; लेकिन मैं जानता हूँ कि उपनिषद् मेरी माँ की माँ है। उसी श्रद्धा से मेरा उपनिषदों का मनन, निदिध्यासन पिछले बत्तीस वर्षों से चल रहा है।''

इन मन्त्रों में प्रयुक्त हुए कठिन शब्दों को देखकर ऐसा लगता है कि यह ज्ञान केवल एकान्त सेवी सन्त-महात्माओं के लिए ही व्यवहार में आने योग्य है। साधारण स्थिति के गृहस्थ अपनी विषम परिस्थितियों के कारण इसे जीवन में उतार न सकेंगे, पर वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। जितना यह ज्ञान कठिन है, उतना ही सरल भी है। जिस प्रकार पानी में तैरना कठिन दिखाई पड़ता है, उसमें दुर्घटना की आशंका भी प्रतीत होती है; किन्तु जब सच्ची लगन होती है और प्रयत्न पूर्वक अभ्यास किया जाता है, तो वह कठिन कार्य सरल बन जाता है। इसी प्रकार उपनिषदों में जिस ब्रह्मविद्या का उल्लेख हुआ है, वह भी सरल है, कठिन तो वह उन्हें ही दीखती है,

जो उससे दूर रहते हैं, दूर से देखते हैं। भीतर प्रवेश करने का साहस करने पर वह सरल ही है। जितनी सरल है, उतनी ही कल्याणकारक भी है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय के शब्दों में - 'भारतीय तत्त्वज्ञान तथा धर्म-सिद्धान्तों के मूल स्रोत होने का गौरव इन्हीं उपनिषदों को प्राप्त है। उपनिषद् वस्तुत: वह आध्यात्मिक मानसरोवर है, जिससे ज्ञान की भिन्न-भिन्न सरितायें निकलकर इस पुण्य भूमि में मानव मात्र के ऐहिक कल्याण तथा आमुष्मिक मंगल के लिए प्रवाहित होती हैं। वैदिक धर्म की मूल-तत्त्व-प्रतिपादिका प्रस्थानत्रयी में मुख्य उपनिषद् ही हैं। अन्य प्रस्थान-गीता तथा ब्रह्मसूत्र- उसी के ऊपर आश्रित हैं।' भारतवर्ष में उदय होने वाले समस्त दर्शनों का - सांख्य तथा वेदान्त आदि का ही यह मूल ग्रन्थ नहीं है, अपितु जैन तथा बौद्ध दर्शनों के भी मौलिक तथ्यों की आधारशिला यही है। उपनिषद् का इसीलिए भारतीय संस्कृति से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। इनके अध्ययन से इस संस्कृति के आध्यात्मिक रूप का सच्चा परिचय हमें उपलब्ध होता है। इसीलिए जब से किसी विदेशी विद्वान् को इसके पढ़ने तथा मनन करने का अवसर मिला है, तब से वह इनकी समुन्नत विचारधारा, उदात्त चिंतन, धार्मिक अनुभूति तथा आध्यात्मिक जगत् की रहस्यमयी अभिव्यक्तियों की शतमुख से प्रशंसा करता आया है।'

पाश्चात्य विद्वानों पर प्रभाव

वेदान्त दर्शन की महिमा पर मुग्ध होने वाले विदेशी विद्वानों में सबसे पहले अरबदेशीय विद्वान् अलबरूनी थे। वे ११वीं (ग्यारहवीं) शताब्दी में भारत आये थे। यहाँ आकर उन्होंने संस्कृत भाषा का अध्ययन किया और उपनिषदों की सारस्वरूपा गीता पर वे लट्टू हो गये। यह ज्ञात नहीं है कि इन्होंने उपनिषदों का अध्ययन किया था या नहीं, लेकिन गीता की जो प्रशंसा उन्होंने की है, उसे उपनिषदों की ही प्रशंसा समझनी चाहिए।

वैदिक साहित्य के साथ पाश्चात्य विद्वानों का प्रथम परिचय उपनिषदों के माध्यम से ही हुआ। सम्राट् शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह अपनी धर्म सम्बन्धी उदारता के लिए भारत के इतिहास में प्रसिद्ध हैं। सन् १६४० ईस्वी में जब दारा कश्मीर में थे, तब उन्हें सर्वप्रथम उपनिषदों की महिमा का पता लगा। उन्होंने काशी से पण्डितों को बुलाया और उनकी सहायता से पचास उपनिषदों का फारसी में अनुवाद किया। १६५७ ईस्वी में यह अनुवाद पूरा हुआ। इसके प्राय: तीन वर्ष के बाद सन् १६५९ ईस्वी में औरंगजेब के द्वारा दाराशिकोह मारे गये।

अकबर के समय में भी (१५५६-१५८५) कुछ उपनिषदों का अनुवाद हुआ था; परन्तु अकबर अथवा दारा द्वारा सम्पादित इन अनुवादों के प्रति सन् १७७५ ईस्वी से पहले तक किन्हीं भी पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि आकर्षित नहीं हुई। अयोध्या के नवाब सुजाउद्दौला की राजसभा के फारसी रेजीडेंट श्री एम० गेंटिल ने सन् १७७५ में प्रसिद्ध यात्री एंक्वेटिल डुपेर्रन (Anquetil Duperron) को दाराशिकोह के द्वारा सम्पादित उक्त फारसी अनुवाद की एक पाण्डुलिपि भेजी। एंक्वेटिल डुपेर्रन ने कहीं से एक दूसरी पाण्डुलिपि प्राप्त की और दोनों को मिलाकर फ्रेंच तथा लैटिन भाषा में उस फारसी अनुवाद का पुन: अनुवाद किया। लैटिन अनुवाद सन् १८०१-१८०२ में 'औपनेखत' (OUPNE KHAT) नाम से प्रकाशित हुआ। फ्रेंच अनुवाद नहीं छपा।

उक्त लैटिन अनुवाद के प्रकाशित होने पर पाश्चात्य पण्डितों की दृष्टि इधर कुछ आकर्षित तो हुई, किन्तु अनुवाद का अनुवाद होने के कारण वह इतना अस्पष्ट और दुर्बोध हो गया था कि उसका मर्म समझकर रसास्वादन करना सहज नहीं था। जर्मनी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक श्री अर्थर शोपेन हॉवर ने (सन् १७८८-१८६०) बहुत कठिन परिश्रम करके

उक्त अनुवाद का अध्ययन किया और मुक्त कण्ठ से यह घोषणा की, कि 'मेरा अपना दार्शनिक मत उपनिषद् के मूल तत्त्वों के द्वारा विशेष रूप से प्रभावित है।' इस प्रसंग में मनीषी शोपेन हॉवर ने उपनिषद् के महत्त्व और प्रभाव के सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह विशेष ध्यान देने योग्य है-

'मैं समझता हूँ कि उपनिषद् के द्वारा वैदिक साहित्य के साथ परिचय लाभ होना वर्तमान शताब्दी (१८१८) का सबसे अधिक परम लाभ है, जो इसके पहले किन्हीं भी शताब्दियों को नहीं मिला। मुझे आशा है, १४ वीं शताब्दी में ग्रीक साहित्य के पुनरभ्युदय से यूरोपीय साहित्य की जो उन्नति हुई थी, संस्कृत साहित्य का प्रभाव उसकी अपेक्षा कम फल उत्पन्न करने वाला नहीं होगा। यदि पाठक प्राचीन भारतीय विद्या में दीक्षित हो सके और गम्भीर उदारता के साथ उसे ग्रहण कर सके, तो मैं जो कुछ कहना चाहता हूँ, उसे वे अच्छी तरह समझ सकेंगे। उपनिषद् में सर्वत्र कितनी सुन्दरता के साथ वेदों के भाव प्रकाशित हैं, जो कोई भी उक्त फारसी-लैटिन अनुवाद का, ध्यान देकर अध्ययन करके उपनिषद् की अनुपम भावधारा से परिचित होगा, उसी की आत्मा के गम्भीरतम प्रदेश तक में एक हलचल मच जाएगी। एक-एक पंक्ति कितना दृढ़, सुनिर्दिष्ट और सुसमञ्जस अर्थ प्रकट कर रही है। प्रत्येक वाक्य से कितना गम्भीरता पूर्ण विचार समूह प्रकट हो रहा है, सम्पूर्ण ग्रन्थ कैसे उच्च, पवित्र और ऐकान्तिक भावों से ओतप्रोत है। सारे पृथ्वी मण्डल में मूल उपनिषद् के समान इतना फलोत्पादक और उच्च भावोद्दीपक ग्रन्थ कहीं भी नहीं है। इसने मुझको जीवन में शान्ति प्रदान की है और मरण में भी यह शान्ति देगा।'

शोपेन हॉवर ने अन्यत्र कहा था- "भारत में हमारे धर्म की जड़ें कभी नहीं गड़ेंगी। मानव जाति की 'पुराणी प्रज्ञा' गैलीलियो की घटनाओं से कभी निराकृत नहीं होगी। वरन् भारतीय प्रज्ञा की धारा यूरोप में प्रवाहित होगी एवं हमारे ज्ञान और विचार में आमूल परिवर्तन ला देगी।" उनकी यह भविष्यवाणी सफल हुई। स्वामी विवेकानन्द की अमेरिकन शिष्या "सारावुल" ने अपने एक पत्र में लिखा था कि "जर्मनी का दार्शनिक सम्प्रदाय, इंग्लैण्ड के प्राच्य पण्डित और हमारे अपने देश के एमरसन आदि साक्षी दे रहे हैं कि पाश्चात्य विचार आजकल सचमुच ही वेदान्त के द्वारा अनुप्राणित हैं।" कहते हैं कि शोपेन हॉवर की मेज पर उपनिषदों की एक लैटिन प्रति हमेशा रहती थी और वे सोने से पहले उसमें से ही अपनी प्रार्थनाएँ किया करते थे। शोपेन हॉवर ने उपनिषदों के सम्बन्ध में लिखा है -"उपनिषदों के प्रत्येक वाक्य में से गहन, मौलिक और उदात्त विचार फूटते हैं और सभी कुछ एक उच्च, पवित्र और एकाग्र भावना से व्याप्त हो जाता है। समस्त संसार में उपनिषदों जैसा कल्याणकारी और आत्मा को उन्नत करने वाला कोई और ग्रन्थ नहीं है। ये सर्वोच्च प्रतिभा के प्रसून हैं। देर-सबेर ये लोगों की आस्था का आधार बनकर रहेंगे।"

सन् १८४४ में बर्लिन में श्री शेलिंग महोदय की उपनिषद् सम्बन्धी व्याख्यान माला को सुनकर प्रसिद्ध पाश्चात्य पण्डित मैक्समूलर का ध्यान सबसे पहले संस्कृत साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ। उपनिषदों के सम्बन्ध में विचार आरम्भ करते ही उन्होंने अनुभव किया कि उपनिषदों का यथार्थ मर्म समझने के लिए पहले उनसे पूर्व रचित वेद-मन्त्र और ब्राह्मण भाग पर विचार करना आवश्यक है। इस प्रकार उपनिषदों से उन्होंने वेद चर्चा के लिए प्रेरणा प्राप्त की।

शोपेन हॉवर के बाद अनेकों पाश्चात्य विद्वानों ने उपनिषद् पर विचार करके विभिन्न प्रकार से उसकी महिमा गायी है। किसी- किसी ने तो उपनिषद् को 'मानव चेतना का सर्वोच्च फल' बतलाया है। स्वनामधन्य वेदज्ञ मैक्समूलर ने एक स्थान पर लिखा है कि 'यदि शोपेन हॉवर के इन (उपनिषद् सम्बन्धी)

शब्दों के लिए किसी समर्थन की आवश्यकता हो, तो मैं अपने जीवन भर के अध्ययन के आधार पर प्रसन्नता पूर्वक अपना समर्थन दूँगा। उन्होंने अपनी पुस्तक "India what can it teach us" में लिखा है-

"मृत्यु के भय से बचने, मृत्यु के लिए पूरी शक्ति से तैयारी करने और सत्य को जानने के इच्छुक जिज्ञासु के लिए उपनिषदों के अतिरिक्त और कोई श्रेष्ठ मार्ग मेरी दृष्टि में नहीं है। उपनिषदों के ज्ञान से मुझे अपने जीवन के उत्कर्ष में भारी सहायता मिली है। मैं उनका ऋणी हूँ। ये उपनिषदें आत्मिक उन्नति के लिए विश्व के धार्मिक साहित्य में अत्यन्त सम्मानास्पद रही हैं और आगे सदा रहेंगी। यह ज्ञान, महान् मनीषियों की महान् प्रज्ञा का परिणाम है। एक न एक दिन भारत की यह श्रेष्ठ विद्या यूरोप में प्रकाशित होगी और तब हमारे ज्ञान एवं विचारों में महान् परिवर्तन उपस्थित होगा।"

"Dogmas of Budhism" नामक ग्रन्थ के लेखक श्रीह्यम ने लिखा है- सुकरात, अरस्तू, अफलातून आदि कितने दार्शनिकों के ग्रन्थ मैंने ध्यान पूर्वक पढ़े हैं, पर जैसी शान्तिमयी आत्मविद्या मैंने उपनिषदों में पायी, वैसी और कहीं देखने को नहीं मिली।

"Is God knowoble" नामक ग्रन्थ में उसके रचयिता प्रो० जी० आर्क ने लिखा है- "मनुष्य की आत्मिक, मानसिक और सामाजिक गुत्थियाँ किस प्रकार सुलझ सकती हैं, इसका ज्ञान उपनिषदों से ही मिल सकता है। यह शिक्षा इतनी सत्य, शिव और सुन्दर है कि अन्तरात्मा की गहराई तक उसका प्रवेश होता है। जब मनुष्य सांसारिक दुःखों और चिन्ताओं से घिरा हो, तो उसे शान्ति और सहारा देने के अमोघ साधन के रूप में उपनिषद् ही सहायक हो सकती है।"

दाराशिकोह ने अपने फारसी उपनिषद् अनुवाद की भूमिका में लिखा है-" आत्मविद्या के मैंने बहुत ग्रन्थ पढ़े,पर परमात्मा के खोज की प्यास कहीं न बुझी। हृदय में ऐसी अनेकों शंकाएँ और समस्याएँ उठती थीं, जिनका समाधान ईश्वरीय ज्ञान के अतिरिक्त और किसी प्रकार सम्भव न था। मैंने कुरान, तौरेत, इञ्जील, जबुर आदि ग्रन्थ पढ़े, उनमें ईश्वर सम्बन्धी जो वर्णन है, उनसे मन की प्यास न बुझी। तब हिन्दुओं की ईश्वरीय पुस्तकें पढ़ीं। इनमें से उपनिषदों का ज्ञान ऐसा है, जिससे आत्मा को शाश्वत शान्ति तथा सच्चे आनन्द की प्राप्ति होती है। हजरत नवी ने भी एक आयत में इन्हीं प्राचीन रहस्यमय पुस्तकों के सम्बन्ध में संकेत किया है।"

उपनिषद्-दर्शन अथवा मौलिक वेदान्त के विख्यात व्याख्याता पॉल डायसन के अनुसार 'वेदान्त (अर्थात् उपनिषद्-दर्शन) अपने अविकृत रूप में शुद्ध नैतिकता का सशक्ततम आधार है, जीवन और मृत्यु की पीड़ाओं में सबसे बड़ी सान्त्वना है। भारतीयो! इसमें निष्ठा रखो।'

भारतीय आचार, विचार और साहित्य संस्कृति के प्रति अगाध निष्ठा रखने वाली विदुषी महिला डॉ० एनीबेसेंट ने उपनिषद् विद्या की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि 'भारत का ज्ञान मानव चेतना की सर्वोच्च देन है।'

उपनिषद्-ज्ञान के प्रचार-प्रसार में संस्कृतज्ञ विद्वान् बेवर साहब का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने जर्मन भाषा में एक पुस्तक सत्रह भागों में लिखी है, जिसका नाम है 'इण्डिशे स्टूडियन'। उसका प्रथम भाग १८५० ईस्वी में बर्लिन से प्रकाशित हुआ था। इस भाग में बेवर महोदय ने 'सिर्र-ए-अकबर' (ले० दाराशिकोह) की चौदह उपनिषदों को शुद्धता से सम्पादित कर प्रकाशित किया है। इसका दूसरा भाग बर्लिन से ही १८५३ ई० में प्रकाशित हुआ। उसमें १४ से ३९ संख्या तक के उपनिषद् प्रकाशित किये गये हैं।

उपनिषदों के स्रोत एवं उनकी संख्या

उपनिषदों की प्राप्ति के स्रोत के बारे में कोई एक बात कही जा सकती है, तो वह यही है कि उनका उद्‌भव ऋषियों-द्रष्टाओं के अनुभूति जन्य ज्ञान से हुआ है। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कि उपनिषदों को 'वेद' के ब्राह्मण आरण्यक प्रभाग के अन्तर्गत माना जाता है। कुछ उपनिषदें संहिता (मन्त्र भाग),ब्राह्मण एवं आरण्यक की अंगभूता-अंशभूता हैं, जबकि अधिकांश वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल के ऋषियों के प्रातिभ चक्षु से दृष्ट हैं, जिनका स्वतन्त्र अस्तित्व है। 'ऐतरेयोपनिषद्' ऋग्वेद के ऐतरेय आरण्यक का भाग (२.४.६) है तथा 'तैत्तिरीय उपनिषद्' कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय आरण्यक का भाग (प्रपाठक ७-८) है। इसी आरण्यक का अन्तिम प्रपाठक (क्र. १०) 'नारायणोपनिषद्' कहलाता है, जो अथर्ववेदीय महानारायणोपनिषद् से भिन्न है।

शुक्ल यजुर्वेदीय शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम (१४वें)काण्ड के अन्तिम छः अध्याय को 'बृहदारण्यकोपनिषद्' कहा गया है। ब्राह्मण ग्रन्थ का यह भाग आरण्यक भी है और उपनिषद् भी है। इसी प्रकार 'ईशावास्योपनिषद्' भी यजुर्वेद की माध्यन्दिन और काण्व संहिताओं का ४० वाँ अध्याय है।

सामवेद की कौथुमी शाखा के तलवकार ब्राह्मण ग्रन्थ के अन्तिम भागों (३३ से ४० अध्यायों) को छान्दोग्योपनिषद् कहा गया है। ऋग्वेदीय 'कौषीतकि' या 'शाङ्खायन आरण्यक' के अध्याय ३-६ को 'कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्' कहते हैं।

मुक्तिकोपनिषद् (श्लोक क्र. ३० से ३९) में १०८ उपनिषदों की सूची प्राप्त है। इन १०८ में से ऋग्वेद की १०, शुक्ल यजुर्वेद की १९, कृष्ण यजुर्वेद की ३२,सामवेद की १६ तथा अथर्ववेद की ३१उपनिषदें कही गयी हैं। मुक्तिकोपनिषद् में चारों वेदों की शाखाओं की संख्या देते हुए प्रत्येक शाखा की एक-एक उपनिषद् होने की बात भी कही गयी है-

ऋग्वेदादिविभागेन वेदाश्चत्वार ईरिताः।
तेषां शाखा ह्यनेकाः स्युस्तासूपनिषदस्तथा।।
ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशति संख्यकाः।
नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज॥
सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नःपरन्तप।
अथर्वणस्य शाखाः स्युः पंचाशद्‌भेदतो हरे॥
एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता।

-मुक्तिकोपनिषद् ११-१४

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद भेद से वेद चार कहे गये हैं। उन चारों की अनेक शाखाएँ हैं तथा उनकी उपनिषदें भी अनेक हैं। ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ, यजुर्वेद की एक सौ नौ शाखाएँ, सामवेद की एक हजार शाखाएँ तथा अथर्ववेद की पचास शाखाएँ मानी जाती हैं। एक-एक शाखा की एक-एक उपनिषद् मानी गयी है। इस उक्ति के अनुसार ११८० उपनिषदें होनी चाहिए; किन्तु आगे (श्लोक ३० से ३९ तक) जो नाम गिनाये गये हैं, वे केवल १०८ ही हैं।

मुक्तिकोपनिषद् में जिन एक सौ आठ उपनिषदों के नाम आते हैं, वे सभी 'निर्णय सागर प्रेस' बम्बई से मूल गुटका के रूप में प्रकाशित हैं। इसके अतिरिक्त 'अड्यार लाइब्रेरी' मद्रास से भी उपनिषदों का संग्रह प्रकाशित हुआ है,जिसमें लगभग १७९ उपनिषदों का प्रकाशन है। 'गुजराती प्रिंटिंग प्रेस' बम्बई से मुद्रित उपनिषद् वाक्य महाकोश में २२३ उपनिषदों की नामावली दी गई है। इनमें दो उपनिषद्- (१) उपनिषत्स्तुति तथा (२) देव्युपनिषद् नं० २ की चर्चा शिव रहस्य नामक ग्रन्थ में की गई है। ये दोनों अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी हैं। शेष २२१ उपनिषदों के वाक्यांश इस महाकोश में संकलित हुए हैं। इनमें भी माण्डूक्यकारिका के चार प्रकरण चार जगह गिने गये हैं। इन सबकी

एक संख्या मानें, तो २१८ ही संख्या होती है। कई उपनिषदें एक ही नाम की दो-तीन जगह आयी हैं; पर वे स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। इस प्रकार सब पर दृष्टिपात करने से यह निश्चित होता है कि अब तक लगभग २२० उपनिषदें प्रकाश में आ चुकी हैं। सम्भवत: कहीं और भी कुछ उपनिषदें प्रकाशित हुई हों? कितनी ही अब भी अप्रकाशित रूप में उपलब्ध हो सकती हैं। भारतवर्ष की अथाह ज्ञान सम्पदा के गर्भ में और कितने रत्न छिपे पड़े हैं, यह कहा नहीं जा सकता। यहाँ उपर्युक्त २२० उपनिषदों की नामावली अकारादि क्रम से दी जा रही है-

(१) अक्षमालिकोपनिषद् (अक्षमालोपनिषद्)
(२) अक्षि- उपनिषद्
(३) अथर्वशिखोपनिषद्
(४) अथर्वशिर उपनिषद्
(५) अद्वयतारकोपनिषद्
(६) अद्वैतभावनोपनिषद्
(७) अद्वैतोपनिषद्
(८) अध्यात्मोपनिषद्
(९) अनुभवसारोपनिषद्
(१०) अन्नपूर्णोपनिषद्
(११) अमनस्कोपनिषद्
(१२) अमृतनादोपनिषद्
(१३) अरुणोपनिषद्
(१४) अल्लोपनिषद्
(१५) अवधूतोपनिषद्(वाक्यात्मक और पद्यात्मक)
(१६) अवधूतोपनिषद्(पद्यात्मक)
(१७) अव्यक्तोपनिषद्
(१८) आचमनोपनिषद्
(१९) आत्मपूजोपनिषद्
(२०) आत्म प्रबोधोपनिषद्(आत्मबोधोपनिषद्)
(२१) आत्मोपनिषद्(वाक्यात्मक)
(२२) आत्मोपनिषद् (पद्यात्मक)
(२३) आथर्वण द्वितीयोपनिषद्
(वाक्यात्मक एवं मन्त्रात्मक)
(२४) आयुर्वेदोपनिषद्
(२५) आरुणिकोपनिषद् (आरुणेय्युपनिषद्)
(२६) आर्षेयोपनिषद्
(२७) आश्रमोपनिषद्
(२८) इतिहासोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)
(२९) ईशावास्योपनिषद्
उपनिषत्स्तुति (शिवरहस्यान्तर्गत, अभी तक अनुपलब्ध है)
(३०) ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं पद्यात्मक)
(३१) एकाक्षरोपनिषद्
(३२) ऐतरेयोपनिषद् (अध्यायात्मक)
(३३) ऐतरेयोपनिषद् (खण्डात्मक)
(३४) ऐतरेयोपनिषद् (अध्यायात्मक)
(३५) कठरुद्रोपनिषद् (कण्ठरुद्रोपनिषद्)
(३६) कठोपनिषद्
(३७) कठश्रुत्युपनिषद्
(३८) कलिसंतरणोपनिषद् (हरिनामोपनिषद्)
(३९) कात्यायनोपनिषद्
(४०) कामराजकीलितोद्धारोपनिषद्
(४१) कालाग्निरुद्रोपनिषद्
(४२) कालिकोपनिषद्
(४३) कालीमेधा दीक्षितोपनिषद्
(४४) कुण्डिकोपनिषद्
(४५) कृष्णोपनिषद्
(४६) केनोपनिषद्
(४७) कैवल्योपनिषद्
(४८) कौलोपनिषद्
(४९) कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्
(५०) क्षुरिकोपनिषद्
(५१) गणपत्यथर्वशीर्षोपनिषद्
(५२) गणेशपूर्वतापिन्युपनिषद् (वरदपूर्वतापिन्युप०)
(५३) गणेशोत्तरतापिन्युपनिषद् (वरदोत्तरतापिन्यु०)
(५४) गर्भोपनिषद्
(५५) गान्धर्वोपनिषद्
(५६) गायत्र्युपनिषद् (गोपथ ब्राह्मणान्तर्गत)

(गायत्र्युपनिषद्-शतपथ ब्राह्मणान्तर्गत)
(५७) गायत्री रहस्योपनिषद्
(५८) गरुडोपनिषद् (वाक्यात्मक एवं मन्त्रात्मक)
(५९) गुह्यकाल्युपनिषद्
(६०) गुह्यषोढान्यासोपनिषद्
(६१) गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्
(६२) गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्
(६३) गोपीचन्दनोपनिषद्
(६४) चतुर्वेदोपनिषद्
(६५) चाक्षुषोपनिषद् (चक्षुरुपनिषद्, चक्षूरोगोपनिषद्, नेत्रोपनिषद्)
(६६) चित्त्युपनिषद्
(६७) छागलेयोपनिषद्
(६८) छान्दोग्योपनिषद्
(६९) जाबालदर्शनोपनिषद्
(७०) जाबालोपनिषद्
(७१) जाबाल्युपनिषद्
(७२) तारसारोपनिषद्
(७३) तारोपनिषद्
(७४) तुरीयातीतोपनिषद्(तीतावधूतोपनिषद्)
(७५) तुरीयोपनिषद्
(७६) तुलस्युपनिषद्
(७७) तेजोबिन्दूपनिषद्
(७८) तैत्तिरीयोपनिषद्
(७९) त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्
(८०) त्रिपुरातापिन्युपनिषद्
(८१) त्रिपुरोपनिषद्
(८२) त्रिपुरामहोपनिषद्
(८३) त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्
(८४) त्रिसुपर्णोपनिषद्
(८५) दक्षिणामूर्त्युपनिषद्
(८६) दत्तात्रेयोपनिषद्
(८७) दत्तोपनिषद्
(८८) दुर्वासोपनिषद्
(८९) १. देव्युपनिषद् (पद्यात्मक एवं मंत्रात्मक)
२. देव्युपनिषद् (शिवरहस्यान्तर्गत-अनुपलब्ध)
(९०) द्वयोपनिषद्
(९१) ध्यानबिन्दूपनिषद्
(९२) नादबिन्दूपनिषद्
(९३) नारदपरिव्राजकोपनिषद्
(९४) नारदोपनिषद्
(९५) नारायणपूर्वतापिन्युपनिषद्
(९६) नारायणोत्तरतापिन्युपनिषद्
(९७) नारायणोपनिषद् (नारायणाथर्वशीर्ष)
(९८) निरालम्बोपनिषद्
(९९) निरुक्तोपनिषद्
(१००) निर्वाणोपनिषद्
(१०१) नीलरुद्रोपनिषद्
(१०२) नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्
(१०३) नृसिंहषट्चक्रोपनिषद्
(१०४) नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्
(१०५) पञ्चब्रह्मोपनिषद्
(१०६) परब्रह्मोपनिषद्
(१०७) परमहंस परिव्राजकोपनिषद्
(१०८) परमहंसोपनिषद्
(१०९) परमात्मिकोपनिषद्
(११०) पारायणोपनिषद्
(१११) पाशुपतब्रह्मोपनिषद्
(११२) पिण्डोपनिषद्
(११३) पीताम्बरोपनिषद्
(११४) पुरुषसूक्तोपनिषद्
(११५) पैङ्गलोपनिषद्
(११६) प्रणवोपनिषद् (पद्यात्मक)
(११७) प्रणवोपनिषद् (वाक्यात्मक)
(११८) प्रश्नोपनिषद्
(११९) प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्
(१२०) बटुकोपनिषद् (वटुकोपनिषद्)
(१२१) बह्वृचोपनिषद्
(१२२) बाष्कलमन्त्रोपनिषद्
(१२३) बिल्वोपनिषद् (पद्यात्मक)

(१२४) बिल्वोपनिषद् (वाक्यात्मक)
(१२५) बृहज्जाबालोपनिषद्
(१२६) बृहदारण्यकोपनिषद्
(१२७) ब्रह्मविद्योपनिषद्
(१२८) ब्रह्मबिन्दूपनिषद् (अमृतबिन्दूपनिषद्)
(१२९) ब्रह्मोपनिषद्
(१३०) भगवद्गीतोपनिषद्
(१३१) भवसंतरणोपनिषद्
(१३२) भस्मजाबालोपनिषद्
(१३३) भावनोपनिषद् (कापिलोपनिषद्)
(१३४) भिक्षुकोपनिषद्
(१३५) मठाम्नायोपनिषद्
(१३६) मण्डलब्राह्मणोपनिषद्
(१३७) मन्त्रिकोपनिषद् (चूलिकोपनिषद्)
(१३८) मल्लायुपनिषद्
(१३९) महानारायणोपनिषद् (बृहन्नारायणोपनिषद्, उत्तर नारायणोपनिषद्)
(१४०) महावाक्योपनिषद्
(१४१) महोपनिषद्
(१४२) माण्डूक्योपनिषद्
(१४३) माण्डूक्योपनिषत्कारिका
क. आगम
ख. अलातशान्ति
ग. वैतथ्य
घ. अद्वैत
(१४४) मुक्तिकोपनिषद्
(१४५) मुण्डकोपनिषद्
(१४६) मुद्गलोपनिषद्
(१४७) मृत्युलाङ्गूलोपनिषद्
(१४८) मैत्रायण्युपनिषद्
(१४९) मैत्रेय्युपनिषद्
(१५०) यज्ञोपवीतोपनिषद्
(१५१) याज्ञवल्क्योपनिषद्
(१५२) योगकुण्डल्युपनिषद्
(१५३) योगचूडामण्युपनिषद्
(१५४) १. योगतत्त्वोपनिषद्
(१५५) २. योगतत्त्वोपनिषद्
(१५६) योगराजोपनिषद्
(१५७) योगशिखोपनिषद्
(१५८) योगोपनिषद्
(१५९) राजश्यामलारहस्योपनिषद्
(१६०) राधिकोपनिषद् (वाक्यात्मक)
(१६१) राधोपनिषद् (प्रपाठात्मक)
(१६२) रामपूर्वतापिन्युपनिषद्
(१६३) रामरहस्योपनिषद्
(१६४) रामोत्तरतापिन्युपनिषद्
(१६५) रुद्रहृदयोपनिषद्
(१६६) रुद्राक्षजाबालोपनिषद्
(१६७) रुद्रोपनिषद्
(१६८) लक्ष्म्युपनिषद्
(१६९) लाङ्गूलोपनिषद्
(१७०) लिङ्गोपनिषद्
(१७१) वज्रपञ्जरोपनिषद्
(१७२) वज्रसूचिकोपनिषद्
(१७३) वनदुर्गोपनिषद्
(१७४) वराहोपनिषद्
(१७५) वासुदेवोपनिषद्
(१७६) विश्रामोपनिषद्
(१७७) विष्णुहृदयोपनिषद्
(१७८) शरभोपनिषद्
(१७९) शाट्यायनीयोपनिषद्
(१८०) शाण्डिल्योपनिषद्
(१८१) शारीरकोपनिषद्
(१८२) १. शिवसङ्कल्पोपनिषद्
(१८३) २. शिवसङ्कल्पोपनिषद्
(१८४) शिवोपनिषद्
(१८५) शुकरहस्योपनिषद्
(१८६) शौनकोपनिषद्
(१८७) श्यामोपनिषद्
(१८८) श्रीकृष्णपुरुषोत्तमसिद्धान्तोपनिषद्

(१८९) श्रीचक्रोपनिषद्
(१९०) श्रीविद्यातारकोपनिषद्
(१९१) श्री सूक्तम्
(१९२) श्वेताश्वतरोपनिषद्
(१९३) षोढोपनिषद्
(१९४) सङ्कर्षणोपनिषद्
(१९५) सदानन्दोपनिषद्
(१९६) सन्ध्योपनिषद्
(१९७) संन्यासोपनिषद् (अध्यायात्मक)
(१९८) संन्यासोपनिषद् (वाक्यात्मक)
(१९९) सरस्वतीरहस्योपनिषद्
(२००) सर्वसारोपनिषद् (सर्वोपनिषद्)
(२०१) सहवै उपनिषद्
(२०२) संहितोपनिषद्
(२०३) सामरहस्योपनिषद्
(२०४) सावित्र्युपनिषद्
(२०५) सिद्धान्तविद्युलोपनिषद्
(२०६) सिद्धान्तशिखोपनिषद्
(२०७) सिद्धान्तसारोपनिषद्
(२०८) सीतोपनिषद्
(२०९) सुदर्शनोपनिषद्
(२१०) सुबालोपनिषद्
(२११) सुमुख्युपनिषद्
(२१२) सूर्यतापिन्युपनिषद्
(२१३) सूर्योपनिषद्
(२१४) सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्
(२१५) स्कन्दोपनिषद्
(२१६) स्वसंवेद्योपनिषद्
(२१७) हयग्रीवोपनिषद्
(२१८) हंसषोढोपनिषद्
(२१९) हंसोपनिषद्
(२२०) हेरम्बोपनिषद

भाष्य एवं अनुवाद

आचार्य शंकर ने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक एवं श्वेताश्वतर, इन ११ उपनिषदों के भाष्य किये हैं। इसके पूर्व उपनिषदों के स्वतन्त्र भाष्य गिने-चुने ही किये गये हैं।

शाहजादा दाराशिकोह द्वारा किए गये फारसी अनुवाद संग्रह में लगभग ५० उपनिषदें शामिल थीं। कोलब्रुक के संग्रह में उपनिषदों की संख्या ५२ थी। जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने आचार्य शंकर द्वारा चुनी गयी ११ उपनिषदों के साथ 'मैत्रायणीय' उपनिषद् सहित १२ उपनिषदों का अनुवाद किया था।

उपनिषदों के अँग्रेजी अनुवाद इस क्रम से प्रकाशित हुए हैं- राजाराममोहनराय (१८३२), रोअर (१८५३), मैक्समूलर (१८७९-१८८४-सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट), मीड और चट्टोपाध्याय (१८९६), लंदन थियोसोफिकल सोसाइटी, सीताराम शास्त्री और गंगानाथ झा (१८९८-१९०१), जी० ए० नटसेन, मद्रास, सीतानाथ तत्त्वभूषण (१९००), एस० सी० वसु (१९११), आर० ह्यूम (१९२१), ई० बी० कोवेल, हिरियन्ना, द्विवेदी, महादेव शास्त्री और श्री अरविन्द ने भी कुछ उपनिषदों के अनुवाद प्रकाशित किये हैं।

मुख्य उपनिषदों पर शंकर के भाष्यों के अँग्रेजी अनुवाद भी उपलब्ध हैं। उनकी व्याख्याओं में अद्वैत का दृष्टिकोण है। रंगरामानुज ने उपनिषदों के अपने भाष्यों में रामानुज का दृष्टिकोण अपनाया है। मध्व के भाष्यों में द्वैत दृष्टिकोण है। उनके भाष्यों के उद्धरण पाणिनि आफिस इलाहाबाद से प्रकाशित उपनिषदों के संस्करण में मिलते हैं।

उक्त उपनिषदों के अतिरिक्त अन्य उपनिषदों के भाष्य या भाषार्थ छिट-पुट रूप से कहीं-कहीं मिलते हैं। गीताप्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित 'कल्याण' के विशेषांक 'उपनिषद् अंक' (१९४९) में एक ही स्थान पर ५४ उपनिषदों के भाषार्थ प्राप्त होते हैं।

रचनाकाल

उपनिषदों के रचना काल के सम्बन्ध में कोई एक मत स्वीकार नहीं किया जा सकता है। कुछ उपनिषदें वेद की मूल संहिताओं की अंश है, उन्हें सबसे प्राचीन माना जाता है। कुछ उपनिषदें ब्राह्मण, आरण्यक आदि के अंश हैं, उनका रचनाकाल निश्चित रूप से संहिता काल के बाद का ही सिद्ध होगा। कुछ उपनिषदें स्वतंत्र हैं, वे सब बाद में क्रमशः अस्तित्व में आयीं।

काल निर्णय के सन्दर्भ में मंत्रों-श्लोकों में प्राप्त विभिन्न विवरणों का सहारा लिया जाता है। मंत्रों में जो संदर्भ मिलते हैं, उनमें (१) भौगोलिक परिस्थितियाँ (२) सूर्यवंशी-चन्द्रवंशी राजाओं राजाओं या ऋषियों के नाम (३) खगोलीय योगों के विवरण हैं।

इनमें भौगोलिक परिस्थितियों के आधार पर गंगा, सरस्वती, सिन्धु आदि नदियों के नाम आदि के आधार पर केवल यही संकेत मिलते हैं कि इनका रचनाकाल संदर्भित नदी आदि के उद्भव के बाद का ही है। इसलिए कोई सुनिश्चित काल निर्धारण इस आधार पर नहीं हो पाता। राजाओं-ऋषियों के नामों को आधार बनाने में भी उक्त समस्या बनी रहती है। फिर एक ही नाम के अनेक राजा एवं ऋषि पाये जाते हैं जिनके बीच अनेक पीढ़ियों के अंतर होते हैं। ऐसी स्थिति में रचनाकाल का निर्णय भी ठीक प्रकार नहीं हो पाता।

जहाँ खगोलीय योगों का वर्णन मिल जाता है, वहाँ ज्योतिष गणित के आधार पर बहुत कुछ सुनिश्चित गणना की जा सकती है। संहिताओं, ब्राह्मणों एवं स्वतंत्र उपनिषदों के काल निर्णय के संदर्भ में भी इसी विद्या का उपयोग अधिकांश विद्वानों ने किया है। इस विधि से किये गये काल निर्णयों को समझने में सहायक हो सकने वाली मोटी जानकारी यहाँ दी जा रही है।

अयनभोग सिद्धान्त

मान्य तथ्य है कि पृथ्वी अपनी धुरी पर लगातार घूमते हुए सूर्य की परिक्रमा करती रहती है। पृथ्वीवासियों को सूर्य ही चलायमान प्रतीत होता है। आकाश में सूर्य के भासित पथ (एपरैन्ट पाथ) को क्रान्ति वृत्त कहते हैं। क्रान्ति वृत्त पर चलता हुआ सूर्य कभी पृथ्वी के उत्तरगोल में कभी दक्षिण गोल में पहुँचा हुआ अनुभव होता है। इस क्रम में सूर्य जिस बिन्दु पर विषुवत् रेखा के दक्षिण भाग में प्रवेश करता है, उसे शरत् संपात बिन्दु कहते हैं। तथा इससे ठीक १८० अंश पर दूसरा बिन्दु बनता है, जहाँ से सूर्य उत्तरी गोलार्ध में प्रवेश करता है, उसे वसन्त सम्पात कहते हैं।

ये सम्पात बिन्दु स्थिर नहीं हैं। वे प्रति वर्ष पूर्व से पश्चिम की ओर ५० विकला खिसकते रहते हैं। कोणीय माप में एक अंश (डिग्री) में ६० कला (मिनट) तथा एक कला में ६० विकला (सेकेन्ड) होते हैं। इस प्रकार एक अंश में ६०×६०=३६०० विकला होती है। संपात बिन्दु एक वर्ष में ५० विकला खिसकते हैं, तो एक अंश खिसकने में ३६००/५०=७२ वर्ष लगते हैं। इन बिन्दुओं के खिसकने की गति को अयन गति कहते हैं। इस अयन गति के आधार पर काल निर्णय किया जाता है।

आकाश में २७ नक्षत्रों, १२ राशियों की मान्यता प्रसिद्ध है। किसी काल में यह सम्पात बिन्दु किस नक्षत्र पर थे, यह पता लगने पर वर्तमान समय में उनकी स्थिति के आधार पर यह पता लगाया जा सकता है कि इस बीच वे कितने अंश, कला, विकला खिसके हैं। इतना चलने में उन्हें कितना समय लगा, यह अयनगति के आधार पर आसानी से निकल आता है।

ज्योतिष के उक्त सूत्रों के आधार पर विद्वानों ने विभिन्न आर्ष ग्रन्थों के रचनाकाल निकालने के प्रयास किये हैं। श्री रजनी कान्त शास्त्री ने अपने

शोध ग्रन्थ 'वैदिक साहित्य- परिशीलन' में इसी गणना के आधार पर संहिताओं का रचनाकाल लगभग ४५३३ वर्ष ईसापूर्व निकाला है। अनेक अन्य विद्वानों की गणनाएँ भी इसी के आस-पास हैं। इस आधार पर संहिताओं से निकाले गये उपनिषदों (ईशावास्य, शिवसंकल्प उपनिषद् आदि) तथा शतपथ ब्राह्मण से लिए गये उपनिषद् (बृहदारण्यक, गायत्री आदि) का रचनाकाल भी उक्तानुसार ही माना जा सकता है।

मैत्रेय्युपनिषद् (६.१४) में प्राप्त ऋतु परिवर्तन काल का जो उल्लेख मिलता है,उसके आधार पर लोकमान्य तिलक ने उक्त उपनिषद् का रचनाकाल ई०पू०१८८०-१६८० के बीच माना है। अन्य विद्वानों के गणितीय निष्कर्ष भी इसी के आसपास हैं।

लेकिन यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। सम्पात बिन्दुओं को आकाश में एक चक्र ३६० अंश(डिग्री) पार करने में ३६०×७२=२५९२० वर्ष अर्थात् लगभग २६००० वर्ष का समय लगता है। इस हिसाब से संहिताओं के रचनाकाल में जो अयन स्थिति थी, वह २६००० वर्ष पूर्व भी रही होगी; किन्तु यह सुनिश्चत रूप से नहीं कहा जा सकता कि उस काल से अब तक २६००० वर्ष के कितने चक्र पूरे किये जा चुके हैं?

ईसाई मतावलम्बी लोग सृष्टि की उत्पत्ति का समय ईसा से मात्र ५००० या ७००० वर्ष पूर्व ही मानते रहे हैं। इस मान्यता के आधार पर उपनिषदों का रचनाकाल ४००० वर्ष ईसा पूर्व तक मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने माना है; किन्तु अब तो वैज्ञानिक ऐसे प्रमाण देने लगे हैं, जिनके आधार पर सृष्टि का उद्भव लाखों-करोड़ों वर्ष पूर्व हुआ माना जाने लगा है। भारतीय वैदिक धर्म वाले तो सृष्टि की उत्पत्ति करोड़ों वर्ष पूर्व की मानते हैं। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि संपात बिन्दुओं की किसी भी स्थिति के लिए निर्धारित समय के साथ २६००० वर्ष के कितने चक्र और जोड़े जाएँ?

इसलिए उपनिषदों के रचनाकाल के बारे में तमाम अनुमानों और गणितीय प्रयोगों के बाद भी कोई साधिकार निर्णय दिया जाना संभव नहीं दिखता।

उपनिषदों के वर्ण्य विषय

उपनिषदों का मूल विषय 'ब्रह्मविद्या' को माना गया है। 'ब्रह्मविद्या' का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। विद्वानों ने विभिन्न उपनिषदों में वर्णित विषयों के आधार पर 'ब्रह्मविद्या' के अन्तर्गत ३२ विद्याओं को समाविष्ट माना है। जो इस प्रकार हैं -
(१) सद्विद्या (छान्दो०),(२) आनन्दविद्या (तैत्ति०), (३) अन्तरादित्यविद्या(छान्दो०),(४)आकाश विद्या (छान्दो०),(५)प्राण विद्या (छान्दो०),(६) गायत्री-ज्योतिर्विद्या (छान्दो०), (७) इन्द्रप्राणविद्या (छान्दो०, कौ०ब्रा०),(८)शाण्डिल्यविद्या (छान्दो०),(९) नाचिकेतसविद्या (कठ०),(१०) उपकोसलविद्या (छान्दो०),(११)अन्तर्यामिविद्या(बृह०),(१२) अक्षरविद्या(मुण्ड०),(१३)वैश्वानरविद्या (छान्दो०), (१४)भूमाविद्या(छान्दो०),(१५)गार्ग्यक्षरविद्या (बृह०),(१६)प्रणवोपास्य परमपुरुष विद्या (प्रश्न०), (१७) दहर विद्या (छान्दो०, बृह०, तैत्ति०),(१८) अंगुष्ठ प्रमितविद्या (कठ०,श्वेता०),(१९) देवोपास्यज्योतिर्विद्या(बृह०),(२०)मधुविद्या (छान्दो०),(२१) संवर्गविद्या (छान्दो०), (२२) अजाशरीरकविद्या (श्वेता०, तैत्ति०),(२३) बालाकिविद्या (कौ०ब्रा०, बृह०), (२४) मैत्रेयी विद्या (बृह०),(२५) द्रुहिणरुद्रादिशरीरक विद्या, (२६) पञ्चाग्निविद्या (छान्दो०, बृह०),(२७) आदित्यस्थाहर्नामक विद्या (बृह०), (२८) अक्षिस्थाहन्नामक विद्या (बृह०), (२९) पुरुषविद्या (छान्दो०, तैत्ति०), (३०) ईशावास्यविद्या (ईश०), (३१) उषस्ति कहोल विद्या (बृह०) और (३२) व्याहृति-शरीरक विद्या।

ये विद्याएँ क्रमशः स्पष्ट करती हैं कि- (१) परब्रह्म अपने सङ्कल्पानुसार सबके कारण हैं, (२) वे कल्याणगुणाकर वैभवसम्पन्न आनन्दमय हैं, (३) उनका रूप दिव्य है, (४) उपाधि रहित होकर वे सबके प्रकाशक हैं, (५) वे चराचर के प्राण हैं, (६) वे प्रकाशमान हैं, (७) वे इन्द्र, प्राण आदि चेतनाचेतनों के आत्मा हैं, (८) प्रत्येक पदार्थ की सत्ता, स्थिति एवं यत्न उनके अधीन हैं, (९) समस्त संसार को लीन कर लेने की सामर्थ्य उनमें है, (१०) उनकी नित्य स्थिति नेत्र में है, (११) जगत् उनका शरीर है, (१२) उनके विराट् रूप की कल्पना में अग्नि आदि अङ्ग बनकर रहते हैं, (१३) स्वर्लोक, आदित्य आदि के अङ्गी बने हुए वे वैश्वानर हैं, (१४) वे अनन्त ऐश्वर्य सम्पन्न हैं, (१५) वे नियन्ता हैं, (१६) वे मुक्त पुरुषों के भोग्य हैं, (१७) वे सबके आधार हैं, (१८) वे अन्तर्यामी रूप से सबके हृदय में विराजमान हैं, (१९) वे सभी देवताओं के उपास्य हैं,(२०) वे वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् और साध्यों के आत्मा के रूप में उपास्य हैं,(२१) अधिकारानुसार वे सभी के उपासनीय हैं, (२२) वे प्रकृतितत्त्व के नियन्ता हैं, (२३) समस्त जगत् उनका कार्य है, (२४) उनका साक्षात्कार कर लेना मोक्ष का साधन है, (२५) ब्रह्मा, रुद्र आदि-आदि देवताओं के अन्तर्यामी होने के कारण उन-उन देवताओं की उपासना के द्वारा वे प्राप्त होते हैं, (२६) संसार के बन्धन से मुक्ति उनके अधीन है, (२७) वे आदित्यमण्डलस्थ हैं, (२८) वे पुण्डरीकाक्ष हैं, (२९) वे परम पुरुष (पुरुषोत्तम) हैं, (३०) वे कर्म सहित उपासनात्मक ज्ञान के द्वारा प्राप्त होने वाले हैं, (३१) उनके प्राप्त करने में अनिवार्य होते हैं, अन्य भोजनादि विषयक नियम भी और (३२) व्याहृतियों की आत्मा बनकर वे मंत्रमय हैं।

यह विषय विभाजन का एक क्रम है। विद्वानों ने और भी विभिन्न दृष्टियों से उपनिषदों के विषयों की विवेचनाएँ की हैं। जीवन की अगणित विविधताएँ एवं उनके रहस्यों का वर्णन उपनिषदों में मिलता है। इनमें विशुद्ध ज्ञान भी है तथा उसके अनुरूप साधना विज्ञान- योगविद्या की विभिन्न धाराएँ भी हैं। लौकिक और अलौकिक विभूतियों की प्राप्ति के उपायों के साथ उनके सुनियोजन-सदुपयोग के सूत्र भी हैं। ब्रह्म से प्रकृति एवं जीव की उत्पत्ति, जीव से जीव के विकास का क्रम तथा जीव का काया छोड़कर विभिन्न मार्गों से होकर पुनः ब्राह्मी चेतना में विलीन हो जाना, यह सभी पक्ष उपनिषदों में मिल जाते हैं।

उक्त तथ्यों को विषयानुसार वर्गीकृत करें, तो सूची बहुत लम्बी हो सकती है। फिर भी चूँकि यह सब विश्व वैचित्र्य ब्राह्मी संकल्प से ही उभरा है और उसी में पुनः समाहित हो जाता है, इसलिए उपनिषदों का मूल विषय ब्रह्म विद्या को ही कहा जाये, तो यह उचित ही है।

अनोखी शैली

उपनिषद् की अपनी शैली अद्भुत है। गूढ़ रहस्यो को समझने की तीव्र उत्कण्ठा, अनुभूति की गहन क्षमता तथा अभिव्यक्ति की सहजता का दर्शन जगह-जगह होता ही रहता है।

कठोपनिषद् में नचिकेता अपनी जिज्ञासा को लेकर यम के सामने इतने अविचल भाव से डटे रहते हैं कि यम को द्रवित होना ही पड़ता है। छान्दोग्योपनिषद् में ऋषि आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु सहित जिज्ञासु भाव से क्षत्रिय राजा प्रवाहण से उपदेश प्राप्त करने में कोई संकोच नहीं करते। ऐतरेय उपनिषद् में ऋषि वामदेव प्रजनन चक्र समझने के लिए स्वयं अपनी चेतना को उस चक्र में घुमाकर अनुभव प्राप्त करते हैं। इस प्रकार प्राप्त अनुभूतिजन्य ज्ञान को जनहितार्थ बड़ी सहजता से व्यक्त किया जाता है।

गूढ़ ज्ञान प्रकट करने वालों में जहाँ अपने

अनुभव के प्रति पूर्ण आत्मविश्वास मिलता है, वहीं ज्ञानी की निरहंकारिता भी स्पष्ट परिलक्षित होती है। बालक नचिकेता को यम के द्वार पर तीन दिन प्रतीक्षा करनी पड़ती है, तो यमदेव स्वयं उसके लिए पश्चात्ताप प्रकट करते हैं। जनक की सभा में याज्ञवल्क्य शिष्यों को गौएँ ले जाने की आज्ञा देते हैं, तो अन्य विद्वान् उनसे पूछते हैं कि क्या आप स्वयं को सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता मानते हैं ? तब वे नम्रतापूर्वक कहते हैं -

''ब्रह्मवेत्ताओं को मेरा नमस्कार है, मुझे तो गौओं की आवश्यकता थी, इसलिए उन्हें स्वीकार कर लिया''। अपनी बात समझाने के लिए ऋषि विविध ढंग अपनाते हैं। केनोपनिषद् में पहले ब्रह्म के विषय में विवेचनात्मक शैली अपनायी गयी है। बाद में यक्ष प्रसंग द्वारा कथा शैली से उसे समझाया गया है।

प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को जन सामान्य के लिए सुलभ उपमाओं के माध्यम से व्यक्त करने का बड़ा सुन्दर प्रयास किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के १.४ में विश्व व्यवस्था को एक विशिष्ट पहिये की उपमा से समझाने का प्रयास किया गया है, तो १.५ में विश्व के जीवन प्रवाह को एक नदी के प्रसंग से व्यक्त करने का कौशल दिखाया गया है।

ब्राह्मी चेतना किस प्रकार विभिन्न चरणों को पूरा करती हुई 'जीव' रूप में व्यक्त होती है, यह तथ्य मात्र विवेचनात्मक ढंग से समझना-समझाना बड़ा दुष्कर है; किन्तु छान्दोग्योपनिषद् (५.४-८) में ऋषि उसे क्रमशः पाँच प्रकार की अग्नियों में पाँच आहुतियों के उदाहरण से बहुत सहज रूप से समझाते हैं। प्रत्येक अग्नि में एक हव्य की आहुति होती है, उससे नये चरण में पदार्थ की उत्पत्ति होती है। ऋषि समझाते हैं कि प्रथम चरण में द्युलोकरूपी अग्नि में श्रद्धा की आहुति से सोम, दूसरे में पर्जन्यरूपी अग्नि में सोम की आहुति से वर्षा, तीसरे चरण में पृथ्वीरूपी अग्नि में वर्षा की आहुति से अन्न, चतुर्थ चरण में पुरुष में अन्न की आहुति से शुक्राणु तथा पाँचवें चरण में नारीरूपी अग्नि में शुक्राणु की आहुति से व्यक्ति वाचक 'जीव' का उद्भव होता है। आज का विज्ञान अपने समस्त संसाधनों के साथ भी चेतना और पदार्थ के इस सुसंगत संयोजन का अध्ययन नहीं कर पा रहा है।

उपनिषद् में केवल बौद्धिक जानकारियों को अपर्याप्त माना है, ज्ञान की सभी धाराओं के मूल में स्थित आत्मतत्त्व का अनुभव करना अभीष्ट माना जाता है। छान्दोग्योपनिषद् में श्वेतकेतु स्वीकार करते हैं कि वे वेदादि का अध्ययन तो कर चुके हैं; लेकिन अभी उस अनुभूति को नहीं पा सके हैं, जिसके आधार पर अनसुना-अनजाना भी सुना और समझा जा सकता है। स्वयं देवर्षि नारद भी सनत्कुमार जी से कहते हैं कि उन्हें वेद विद्या से लेकर नागविद्या तक सभी तरह की विद्याएँ तो प्राप्त हैं; किन्तु अभी आत्मतत्त्व का ज्ञान नहीं हुआ है।

उपनिषद् के ऋषि आत्मबोध को तो परमेश्वर के लिए भी आवश्यक मानते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् १.४.१० में कहा गया है कि ब्रह्मा ने अपने को जाना तो वह 'सर्व' हो गया। देवता, ऋषि, मनुष्यों में से जिन्होंने भी उसे जाना, वे तद्रूप हो गये। महर्षि वामदेव उसी अनुभव के आधार पर कहते हैं, 'मैं ही मनु और सूर्य हुआ हूँ....आदि। ईशोपनिषद् में भी ऋषि यही अनुभव करते हुए कहते हैं- **''तेजो यत्ते रूपम् कल्याणतमं तत्ते पश्यामि, योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि।''** सर्वत्र एक ही चेतना को सक्रिय देखने वाले ऋषि किसी जाति भेद, वर्गभेद में बँधना स्वीकार नहीं करते। सत्यकाम जाबाल अपने पिता का परिचय नहीं जानते; किन्तु उनकी प्रखर जिज्ञासा के आधार पर उन्हें अध्यात्म की उच्च कक्षा में प्रवेश दिया जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् १.४.११-१५ में ऋषि स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य के चारों वर्ण ब्रह्म के ही रूप हैं। यह रूप उसके द्वारा विभिन्न विभूतियुक्त कर्म करने के लिए विकसित किये हैं। देवताओं में भी उनके कर्मविभाग के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र संज्ञकदेवों का उल्लेख किया जाता है। वर्णभेद के बहाने जातिभेद के विषयों के लिए उपनिषदों में कोई स्थान नहीं है। वे तो आत्मा की सर्वव्यापकता

के आधार पर मनुष्य मात्र के लिए विकास के समान अवसर उपलब्ध कराना चाहते हैं।

उपनिषदों में कर्मकाण्ड का तथा उनकी फलश्रुतियों का उल्लेख भी जहाँ-तहाँ मिलता है; लेकिन वे वहीं तक सीमित नहीं रह जाते। कर्मकाण्ड के स्थूल स्वरूप को भेदकर उसके मर्म तक पहुँचते हैं, वे सामगान की व्याख्या करते हैं, तो उसे यज्ञीय कर्मकाण्ड में कुछ मन्त्रों के गायन तक ही सीमित नहीं रहने देते। छान्दोग्योपनिषद् प्रथम अध्याय के तेरहवें खण्ड में तथा अध्याय-२ के दूसरे खण्ड में प्रकृति चक्र में अनेक प्रकार के साम प्रवाह (सन्तुलित प्रवाहों) का स्वरूप समझाते हैं। उपनिषद् में पुरुषमेध-सर्वमेध आदि यज्ञ आत्म निग्रह के विधान बन जाते हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् के अश्वमेध प्रकरण में अश्वमेध, व्यक्ति द्वारा सम्पूर्ण विश्व को समर्पित करने की समाधि जैसी प्रक्रिया के रूप में परिलक्षित होने लगता है।

भाव और भाषा

उपनिषद् में भाव और भाषा की सहजता का बड़ा सुन्दर तालमेल मिलता है। अनुभूति से उपजे सहज भावों को सहज भाषा में व्यक्त करने का प्रयास किया गया है। अपने भाषा ज्ञान को व्यक्त करने में आडम्बर पूर्ण, क्लिष्ट भाषा को थोपने का प्रयास नहीं किया गया है। इसके लिए तर्क, समीक्षा,कथोपकथन, उदाहरण, उपाख्यान आदि विभिन्न शैलियों का समयानुकूल उपयोग करते हुए भावों को सहज ग्राह्य बनाने का प्रयास किया गया है।

यह सब होते हुए भी रहस्यात्मकता जगह-जगह परिलक्षित होती है। उसके कई कारण हैं। जैसे गूढ़ ज्ञान- विज्ञान को कितना भी सुगम बनाया जाये, उन्हें समझने के लिए अध्येता का अपना भी कुछ सार होना चाहिए। द्रष्टा ने जो देखा उसे पूरी तरह भाषा में बाँधना तो कभी सम्भव होता नहीं। भाषा में संकेतात्मक अभिव्यक्ति भर होती है। कोई संगीत विशेषज्ञ सुन्दर राग में मुधर भावों को गाकर व्यक्त करे, तो सुनने वाला उसके अन्दर के भाव प्रवाह की एक झलक भर ही पा सकता है। वह भी गायन स्वर संकेतों के साथ लिपिबद्ध किया जाए, तब तो उसके भावों को समझने के लिए और भी अधिक साधना चाहिए।

आज पदार्थ विज्ञान को समझने के लिए केवल भाषा की समीक्षा करके तथ्य जानने की परिपाटी चल पड़ी है। पदार्थ विज्ञान के सन्दर्भ में यह पद्धति चल भी जाती है। लेकिन भाव विज्ञान के क्रम में तो केवल भाषा की समीक्षा से काम चल नहीं सकता। गूढ़ भावों को अनुभव करने के लिए सूक्ष्म संवेदनात्मक क्षमताएँ चाहिए। आज उनका बड़ा अभाव हो गया है। इसीलिए उपनिषदादि द्वारा सहज भाषा में प्रस्तुत भाव भी रहस्यात्मक प्रतीत होते हैं। ऋषि, देवता एवं छन्द को समझे बिना वेदमन्त्रों का भाव स्पष्ट नहीं होता। उसी प्रकार उपनिषदों के अध्ययन में भी द्रष्टा-उपदेष्टा के स्तर, उसके लक्ष्य और अभिव्यक्ति की शैली पर गहराई से ध्यान देने पर ही उनके भावों के कथन का ठीक-ठीक लाभ उठाया जा सकता है।

ऋषि का दृष्टिकोण

उपनिषद्कारों-ऋषियों ने जनकल्याण की दृष्टि से अपनी विशिष्ट अनुभूतियों को बड़े सहज ढंग से व्यक्त करने का कौशल दिखाया है। उनकी मेधा का कमाल कहें या संस्कृत भाषा की विशेषता। आश्चर्य होता है कि कैसे इतने गूढ़ एवं विविधतापूर्ण तथ्यों को थोड़े शब्दों में एवं सहज भाषा में समाहित करके 'गागर में सागर' भरने की उक्ति चरितार्थ की गयी है।

औपनिषदीय सूत्रों का भावार्थ करने में जहाँ भाषा को सहज बोधगम्य बनाना आवश्यक लगता

है, वहीं द्रष्टा के दृष्टिकोण तथा उसके गूढ़ संकेतों को भी उभारना उचित प्रतीत होता है। ऋषि चेतना के समर्थ संरक्षण एवं मार्गदर्शन में हुए इस भाषार्थ में उक्त दोनों पक्षों के निर्वाह का प्रयास किया गया है। इसके लिए सहज भाषार्थ के आगे-पीछे पूर्वापर टिप्पणियों का सहारा लेकर विशिष्ट भावों-संकेतों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। उसके लिए वर्तमान समय में जन-मानस में बैठे हुए ज्ञान-विज्ञान के उदाहरणों के माध्यम से बात समझाने का प्रयास किया गया है। इससे ऋषि मेधा एवं जन-जिज्ञासा का सुसंयोग बन सकेगा, ऐसा विश्वास है। ऋषि की दृष्टि का दिङ्निर्देश हो जाने से विज्ञजन उस दिशा में अपनी चिन्तन शक्ति का उपयोग करके समुचित लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

उदाहरणार्थ-सामान्यरूप से उद्गीथ का अर्थ 'ॐकार' या 'साम' मन्त्रों का गायन ही लिया जाता है; किन्तु छान्दोग्य उपनिषद् १.३.६ में ऋषि ने उसे त्रिविध प्राण-प्रवाहों के संयोग से साध्य बतलाया है। इस ओर ध्यान दिलाए बिना जन मान्यता का परिशोधन कैसे हो सकता है?

इसी प्रकार छान्दोग्य २.२.१ की टिप्पणी में स्थूल सामगान के पाँच विभागों या भक्तियों के माध्यम से प्रकृति के विभिन्न क्रिया-कलापों में चलने वाली प्राण-प्रक्रिया को ऋषि ने आलंकारिक ढंग से व्यक्त किया है। यह क्रम अध्याय २ के द्वितीय से सप्तम खण्ड तक चलता है। अस्तु, द्वितीय खण्ड के प्रारम्भ में ही टिप्पणी देकर पाठक को वह भाव समझने के लिए प्रेरित किया गया है।

इसी उपनिषद् में पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि 'उद्गीथ' ही साम है तथा साम का भाव 'साधु' श्रेष्ठ-सदाशयता पूर्ण होता है। उद्गीथ में प्राणों को उद्देश्य विशेष के लिए तरंगित-प्रेरित किया जाता है। श्रेष्ठ सन्दर्भों में प्राणों को तरंगित करने का क्रम स्थूल-सूक्ष्म प्रकृति में विभिन्न रूपों में चल रहा है। यज्ञीय गान में साम के पाँच विभाग या भक्ति कहे गये हैं। ऋषि ने विराट् प्रकृति यज्ञ में साम के विभिन्न रूपों और उसके विभागों का वर्णन सप्तम खण्ड तक किया है। कहा गया है कि प्रकृति की विभिन्न क्रियाओं में होने वाले प्राणों के साम प्रयोगों से जो साधक तादात्म्य बिठा लेता है, उस साधक में उस चक्र को नियन्त्रित करने की क्षमता आ जाती है।

इसी प्रकार छान्दोग्य ३.५.२ के पूर्व पदार्थ कणों के अनुशासित प्रक्रिया के पीछे चेतन संकल्प की उपस्थिति का भाव समझाने की दृष्टि से टिप्पणी की गयी है-

'पदार्थ विज्ञान आदित्यादि की सक्रियता के पीछे पदार्थ कणों की सक्रियता को कारण मानता है। ऋषि कहते हैं कि आदित्यादि की जो दृश्य प्रक्रिया चल रही है, उसके पीछे चेतन का संकल्प या आदेश कार्य कर रहा है। कम्प्यूटर सारे कार्य करता दिखता है; किन्तु कम्प्यूटर वैज्ञानिक जानता है कि उस सारी प्रक्रिया के मूल में कम्प्यूटर को दिया गया निर्देश (कमाण्ड) ही उसकी सक्रियता का मुख्य कारण है। उसी प्रकार ऋषि इस विश्व ब्रह्माण्ड के पीछे कोई गुप्त निर्देश होना मानते हैं। उसे ही उन्होंने दृश्य रसों का भी रस कहा है।'

ऐतरेय उपनिषद् में ऋषि ने एक उपाख्यान से यह समझाया है कि विराट् पुरुष परब्रह्म से उत्पन्न हुईं देव शक्तियाँ मनुष्य शरीर के विभिन्न अंग- अवयवों में स्थापित हैं। उस क्रम में भूख-प्यास के लिए कोई स्थान विशेष नहीं बतलाया गया है। इस रहस्यात्मक उक्ति को आज के शरीर विज्ञान के क्रम में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है-

'ऋषि स्पष्ट करते हैं कि भूख-प्यास का कोई स्वतंत्र स्थान नहीं है। वह विभिन्न अंग-अवयवों में संव्याप्त देवशक्तियों के साथ संयुक्त है। शरीर विज्ञान के वर्तमान शोध निष्कर्ष भी यही कहते हैं। भूख-प्यास शरीर के प्रत्येक कोश में होती है। जब तक पेट में अन्न-जल का भण्डार होता है; तब तक

भूख-प्यास की अनुभूति नहीं होती। रोगों की स्थिति में 'ड्रिप' द्वारा जल एवं पोषण पहुँचाने से भी भूख-प्यास सताती नहीं है। स्पष्ट है कि भूख-प्यास प्रत्येक जीवित कोष के साथ संयुक्त है।'

इसी प्रकार पुरुष के गर्भ में पुरुष के परिपाक की बात भी जेनेटिक साइन्स के माध्यम से इस प्रकार स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है-

'वर्तमान प्रजनन विज्ञान (जेनेटिक साइन्स) भी वीर्य में गुण सूत्रों (क्रोमोजोमों) तथा जीन्स (जीवाणुओं) में व्यक्तित्व की सभी विशेषताओं का समावेश मानता है। पुरुष के गर्भ में पुरुष का परिपाक यह उपनिषद् की अपनी दृष्टि है। पदार्थ विज्ञान की अपनी सीमाएँ हैं, ऋषि उसमें चेतना का संकल्पयुक्त तंत्र देखते हैं।'

कठोपनिषद् में नाचिकेताग्नि तथा उसकी 'इष्टिकाओं' की अवधारणा जिज्ञासुओं को दी जानी आवश्यक प्रतीत होती है, उसके लिए १.१.१५ एवं १.१.१६ की टिप्पणियाँ ध्यान देने योग्य हैं-

वेद में 'इष्टका' शब्द स्थूल ईंटों के अतिरिक्त 'इष्ट' वस्तु के निर्माण में प्रयुक्त सूक्ष्म इकाइयों के लिए भी प्रयुक्त होता है। यहाँ स्थूल ईंटों के स्थान पर अग्नि की सूक्ष्म इकाइयों का भाव ही ग्राह्य है। लौकिक अग्नि में भी विभिन्न इकाइयाँ शामिल होती हैं। इनमें ताप (कैलोरी), प्रकाश (ल्यूमेन) तथा रंग (कलर स्पेक्ट्रम) आदि सबको पता है। स्थूल अग्नि के अनेक अन्य गुण भी उसके घटक (इकाई) कहे जा सकते हैं। यहाँ स्वर्ग प्रदायिनी दिव्य अग्नि की इकाइयों तथा उनके चयन की बात कही गयी है। गुहा-अन्त:करण में स्थित ऊर्जा की इकाइयाँ बीज रूप में स्थित दिव्य प्रवृत्तियाँ कही जा सकती हैं। उन्हीं के जागरण एवं संयोजन से व्यक्ति विद्वान्, कलाकार, वैज्ञानिक आदि स्तरों तक पहुँच जाता है। यमदेव ने नचिकेता को स्वर्ग तक पहुँचाने वाली दिव्य अग्नि-ऊर्जा के लिए आवश्यक सूक्ष्म इकाइयों तथा उनके संयोजन का रहस्य बतलाया है।'

इसी प्रकार विभिन्न प्रकरणों में जिज्ञासु अध्येताओं के चिन्तन को दिशा देने वाली टिप्पणियाँ स्थान-स्थान पर की गयी हैं।

पूर्वाग्रह रहित शोध दृष्टि

ऋषियों के कथन का सही भाव प्राप्त करने के लिए परम्परा या पूर्वाग्रह से हटकर शोध दृष्टि का उपयोग आवश्यक हो जाता है। ऋषि निर्देशों के अनुरूप चलते हुए प्रस्तुत प्रयास में अनेक विवादास्पद प्रसंगों के युक्ति संगत स्पष्टीकरण सम्भव हो सके हैं।

उदाहरण के लिए ऊपर वर्णित कठ० १.१.१५ की व्याख्या को लें। यज्ञीय कर्मकाण्ड के अन्तर्गत ईंटों से वेदिकाओं के निर्माण की बात ध्यान में आ जाती है। उसी को ध्यान में रखकर पूर्व आचार्यों ने नाचिकेताग्नि के अन्तर्गत इष्टका चयन सम्बन्धी मन्त्रों के अर्थ ईंटों से वेदी का निर्माण प्रसंग के संदर्भ में ही करने का प्रयास किया है; किन्तु इस आधार पर मंत्रों के भावों और उनकी फलश्रुतियों की सिद्धि नहीं होती। वेद में भी जिन मन्त्रों के देवता 'इष्टका' हैं, उन प्रसंगों के अर्थ उन्हें प्रकृति की सूक्ष्म इकाइयों के रूप में स्वीकार करने से ही स्पष्ट होते हैं। इस छोटी-सी अवधारणा के साथ मन्त्रों के सहज स्वाभाविक अर्थ और महत्त्व स्पष्ट होने लगते हैं।

ऐसा ही एक प्रसंग छान्दोग्य उपनिषद् ३.६.४ की टिप्पणी में स्पष्ट किया गया है, वहाँ ऋषि सूर्य के विभिन्न दिशाओं से उदय और अस्त होने के प्रभावों का वर्णन कर रहे हैं। सभी जानते हैं कि सूर्य का उदय सदैव पृथ्वी के पूर्व से तथा अस्त पश्चिम दिशा में होता है। मेरु पर्वत के आस-पास सूर्य के भ्रमण जैसी परिकल्पनाओं के आधार पर उस प्रसंग का विवेक मान्य समाधान नहीं निकलता। उक्त प्रकरण के समाधान हेतु उक्त टिप्पणी का भाव ध्यान देने योग्य है-

छठवें से दसवें खण्ड तक सूर्य के उदय

एवं अस्त की प्रक्रिया में विभिन्न दिशाओं का उल्लेख किया गया है, अधिकांश आचार्यों ने उन दिशाओं को पृथ्वी की दिशाएँ मानकर अर्थ करने के प्रयास किये हैं, जो विवेक को सन्तुष्ट नहीं कर पाते। ये दिशाएँ पृथ्वी की दिशाएँ नहीं हैं। जैसा कि इसी अध्याय के खण्ड २ से ५ में स्पष्ट लिखा है कि विशिष्ट दिव्य प्रवाहों की स्थापना सूर्य के विशिष्ट(पूर्वादि नामक) भागों में हुई है। यहाँ सूर्य के उन्हीं भागों से विशिष्ट अमृत प्रवाहों के प्रकट होने की बात कही गयी है। आदित्य के पूर्व से उदय का भाव यह लिया जाना चाहिए कि जब आदित्य का पूर्ववाला भाग दृश्य होता है उस समय तक वसुगणों का तथा उनसे सम्बद्ध अमृत का प्रवाह वातावरण एवं साधक पर रहता है। आगे के खण्डों में भी इसी प्रकार सूर्य के अन्य दक्षिण, पश्चिम आदि भागों के उदय-अस्त (दृश्यादृश्य) का भाव लिया जाना उचित है।

इसी प्रकार ऐतरेय १.१.२ में पृथ्वी के नीचे पुनः आपः (अधस्तात् ता आपः) का भाव भी अधिकांश भाष्यों में खुल नहीं सका है। यहाँ आपः को सामान्य जल मानने से बात नहीं बनती। इस संदर्भ में ऐत० १.१.२ तथा १.१.४ की टिप्पणियों द्वारा अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि आपः प्रकृति का मूल क्रियाशील प्रवाह है, अवलोकन करें-

यहाँ लोकों के नाम और उनकी स्थितियाँ विचारणीय हैं। पृथ्वी को 'मर' - मृत्युलोक कहा जाता है। अन्तरिक्ष-मरीचि अर्थात् प्रकाश किरणों वाला लोक माना जाता है। मरीचि का अर्थ शब्द कल्पद्रुम के अनुसार पापों, क्षुद्र जीवों या तमस् को मारने वाला कहा गया है। अन्तरिक्ष में ऐसे तेजस्वी मारक प्रवाह होने की पुष्टि वर्तमान विज्ञान भी करता है। अम्भ=अम् (प्राण) तथा भः (भरणकर्त्ता) से बना है। द्युलोक से परे यह अव्यक्त रूप से सूक्ष्म प्राण का भरण करने वाला लोक है, जिसकी प्रत्यक्ष प्रतिष्ठा के रूप में द्युलोक है। पृथ्वी के नीचे आपः
लोक का भाव अनेक आचार्यों ने माना है, जो समीचीन नहीं लगता। वेद के सन्दर्भ से यह भाव स्पष्ट होता है।

ऋग्वेद ने आपः को सृष्टि के मूल क्रियाशील प्रवाह के रूप में व्यक्त किया है। आपः सृष्टि का आधारभूत द्रव्य है; इसलिए ऋषि ने उसे **'या अधस्तात् ता आपः'** जो आधार रूप है, वह आपः है, ऐसा कहा है। वही हिरण्यगर्भ रूप है, जिसे वेद ने **स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां** (पृथ्वी और द्युलोक का आधार वही है) कहा है। आपः जल को भी कहते हैं; किन्तु वह अर्थ लेने से मन्त्र का भाव सिद्ध नहीं होता है। अस्तु, आपः को वेद की अवधारणा के आधार पर ही स्वीकार करना उचित है। इसे 'ताः' स्त्रीलिंग बहुवचन का सम्बोधन दिया गया है। इसी आपः तत्त्व के गर्भ में ब्रह्म का संकल्प बीज रूप में पककर विश्वरूप बनता है। यह गुण मातृसत्ता का होने से आपः को 'देवी आपः' या 'ता आपः' कहना उचित है। इस उपनिषद् में भी अगले मंत्रों में आपः का उत्पादक प्रयोग बार-बार परिलक्षित होता है।

यहाँ वीर्य से पुनः 'आपः' की उत्पत्ति कही गयी है। यह बड़ा वैज्ञानिक-मार्मिक कथन है। आपः सृष्टिकर्त्ता आधारभूत प्रवाह है। वीर्य में ही पुनः सृष्टि करने में समर्थ बीज तैयार होता है, वीर्य उस सूक्ष्म आपः प्रवाह के चक्र को पुनः प्रयुक्त करने में सक्षम है, ऐसा ऋषि का अनुभव है। उसी आपः तत्त्व में चेतना पुनः रूप ग्रहण करने लगती है। ऋषियों ने सृष्टि के विकास के क्रम में प्रयुक्त हर विधा का उल्लेख एक आवश्यक श्रेष्ठ प्रक्रिया के रूप में किया है। अमैथुनी और मैथुनी सृष्टि दोनों के रहस्यों और उनसे सम्बंधित मर्यादाओं का वर्णन है। ऐतरेय ५.८.२ में उन्होंने प्रजनन प्रक्रिया को नारी रूपी अग्नि में सम्पन्न यज्ञ के रूप में किया है।

ऐतरेय २.१३.१ में वे उस प्रक्रिया को 'वामदेव्य साम' के रूप में प्रतिपादित करते हैं। वहाँ ऋषि के अभिमत को टिप्पणी द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया गया है-

'ऋषि ने दाम्पत्य और उनके माध्यम से चलने वाले प्रजनन चक्र को वामदेव्य साम के अन्तर्गत कहा है। कुछ लोग इस प्रसंग पर अश्लीलता का आरोप लगाते हैं; किन्तु ध्यान देने योग्य तथ्य है कि ऋषि प्रकृति प्रवाह के अन्तर्गत चलने वाले प्राण प्रवाह के विभिन्न चक्रों की व्याख्या विभिन्न साम साधनाओं के रूप में कर रहे हैं। पुरुष-नारी द्वारा संचालित प्रजनन विज्ञान (जेनेटिक साइन्स) को छोड़ा कैसे जा सकता था। वे तो इसे एक विशिष्ट साम (प्राणों से प्राणी के विकास की श्रेष्ठ साधना) का स्वरूप देते हैं। अस्तु, इस ज्ञान-विज्ञान के प्रसंग में कहीं अश्लीलता की गंध लेने का प्रयास नहीं करना चाहिए।'

इस प्रकार वेद के शीर्ष कहे जाने वाले उपनिषदों के मन्त्रों के भावों को ऋषियों को मूल अवधारणा पर ध्यान देते हुए समझा एवं समझाया जाना चाहिए। इस प्रस्तुति में अपनी सीमा-मर्यादा के बीच जो प्रयास किये गये हैं, उनके पीछे क्या मन्तव्य रहा है, वह विज्ञजनों के सामने सहज भाव से विनम्रता पूर्वक रख दिया गया है। आशा है कि इससे अध्येताओं को ज्ञानामृत के अवगाहन में समुचित सहयोग प्राप्त हो सकेगा।

प्रकाशकीय

इस प्रस्तुति के सन्दर्भ में जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है,उपनिषदों को आर्ष साहित्य के शीर्ष भाग की मान्यता प्राप्त है। नवयुग सृजन के पुष्ट आध्यात्मिक आधार को विकसित करने के लिए उपनिषदों के ज्ञानामृत को विचारशीलों तक पहुँचाने की आवश्यकता **परम पूज्य, युगऋषि, वेदमूर्ति,तपोनिष्ठ पं०श्रीराम शर्मा आचार्य जी** ने अनुभव की। तदनुसार सन् १९६१ में उन्होंने १०८ उपनिषदों के सुगम अनुवाद एवं जनसुलभ प्रकाशन का अनोखा पुरुषार्थ कर दिखाया। बाद में शान्ति-कुञ्ज में प्रज्ञा पुराण के अवतरण क्रम में ही उन्होंने गीता विश्वकोश तैयार करने तथा उपनिषदों के नये संस्करण से सम्बन्धित योजना प्रदान की। उस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूत्र संकेत भी प्रदान किये। उनके निर्देशानुसार **शक्ति स्वरूपा वन्दनीया माता भगवतीदेवी शर्मा** के मार्गदर्शन में वेदों के साथ ही उपनिषदों पर भी शोध स्तर का कार्य प्रारम्भ किया गया। १०८ उपनिषदों का प्रस्तुत संस्करण उसी योजना के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है।

पूज्य आचार्य श्री द्वारा प्रारम्भ में १०८ उपनिषदें तीन (ज्ञान, ब्रह्मविद्या और साधना) खण्डों में प्रकाशित की गयी थीं। उस परिपाटी को यथावत् बनाये रखकर भी कतिपय परिवर्तन करने पड़े हैं। जैसे-पूर्व प्रकाशित उपनिषदों में बृहदारण्यक उपनिषद् को उसके बड़े कलेवर के कारण अलग से प्रकाशित किया गया था; किन्तु इस संग्रह में उसे साथ में ही रखना उचित समझा गया। पहले उपनिषदों के पौर्वापर्य का कोई विशेष क्रम नहीं था, इसमें उपनिषदों को अकारादि क्रम से रखा गया है। इससे उपनिषदों को ढूँढ़ने में सुविधा रहेगी।

पूर्व प्रकाशन में प्रथम (ज्ञान खण्ड) में ३५ उपनिषदों का समावेश था। इस संग्रह में बृहदारण्यक० शामिल हो जाने के कारण इसमें कुल २४ उपनिषदों को ही लिया गया है। तीनों खण्डों के कलेवर लगभग समान रखने की दृष्टि को ध्यान में रखकर ऐसा करना आवश्यक समझा गया।

अध्येताओं की सुविधा के लिए कुछ और प्रयास इस संग्रह में किये गये हैं-१. मन्त्रों का

प्रामाणिक पाठ प्रस्तुत करने के लिए प्राचीन पाठों को भी ढूँढ़ने का प्रयास किया गया है। इसके लिए अड्यार लाइब्रेरी-मद्रास' से प्रकाशित उपनिषदों के प्रथम संस्करण (१९२०-५०) प्राप्त किये गये हैं। साथ ही 'भाण्डारकर प्राच्य शोध प्रतिष्ठान, पूना'; सिन्धिया प्राच्य विद्या शोध संस्थान, उज्जैन'; एशियाटिक रिसर्च इंस्टीट्यूट, मुम्बई','अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् लखनऊ' तथा 'सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी' से प्राप्त 'हस्त-लिखित' उपनिषदों का भी सहयोग लिया गया है।

२. प्रत्येक खण्ड में 'मन्त्रानुक्रमणिका' देने का भी श्रमसाध्य प्रयास किया गया है। अभी तक गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित कुछ गिनी-चुनी उपनिषदों की ही मन्त्रानुक्रमणिका उपलब्ध थी। अब इस संग्रह की सभी उपनिषदों की क्रमणी दी जा रही है। इससे मन्त्रों की ढूँढ़-खोज में सरलता रहेगी।

३. प्रत्येक खण्ड में एक परिशिष्ट जोड़ने का नूतन प्रयास किया गया है। उपनिषदों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों को व्याख्यायित करके अकारादि क्रम में प्रस्तुत किया गया है। इससे उपनिषद् विद्या में अभिरुचि रखने वाले अध्येताओं को बड़ी सहायता मिलेगी।

४. यथाशक्ति उपनिषदों के मूलस्रोतों का पता लगाकर उनके सन्दर्भ देने का प्रयास भी किया गया है। इससे यह जानना सुगम होगा कि कौन सी उपनिषद् संहिता का भाग है, कौन ब्राह्मण का, कौन आरण्यक का और कौन उनसे भिन्न है।

५. प्रत्येक उपनिषद् के प्रारम्भ में उसका संक्षिप्त सारांश दे दिया गया है, जिससे उपनिषद् की विषय-वस्तु पर एक विहंगम दृष्टि पड़ सके, जो पाठकों के लिए सुविधापूर्ण सिद्ध होगा।

इस प्रकार परम पूज्य गुरुदेव एवं वन्दनीया माताजी की थाती को उन्हीं की प्रेरणा एवं शक्ति से आपके समक्ष प्रस्तुत करने में अतीव सन्तोष का अनुभव हो रहा है। इस ज्ञान यज्ञ में जिस समिधा और हव्य का उपयोग हुआ है, उसे जुटाने एवं प्रयुक्त करने में जिनके भी श्रम-साधन सार्थक हुए हैं, उन्हें निःसन्देह इस ज्ञानयज्ञ की दिव्य सुगन्ध आप्यायित करके धन्य बना देगी। उनके लिए शब्दों से आभार प्रदर्शन का कोई मूल्य नहीं। इस प्रयास को और अधिक उत्कृष्टता प्रदान करने में पाठकों के सुझाव सदैव प्रार्थनीय रहेंगे, क्योंकि वे ही इसके सच्चे पारखी हैं। उन्हीं के हाथों में इसे इस आशा के साथ सौंप रहे हैं कि वे इस ज्ञानामृत का रसास्वादन उसी भाव से करेंगे, जिस भाव से यह प्रस्तुत किया गया है।

— प्रकाशक

॥ अमृतनादोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इस उपनिषद् में प्रणवोपासना के साथ योग के छः अंगों- प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, प्राणायाम, तर्क (समीक्षा) एवं समाधि आदि का वर्णन किया गया है। प्राणायाम की विधि, ॐकार की मात्राओं का ध्यान, पाँचों प्राणों के स्थान एवं रंगों का उल्लेख भी किया गया है। योग साधक को भय, क्रोधादि मानसिक विकारों से मुक्त रहकर आहार-विहार, चेष्टा-कर्म, सोने- जागने आदि क्रमों को संतुलित बनाए रखने का निर्देश है। साधना के फलस्वरूप देवतुल्य जीवन की प्राप्ति से लेकर ब्रह्म निर्वाण तक की उपलब्धि का मार्गदर्शन दिया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परमात्मन्! आप हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें। हम दोनों साथ-साथ शक्ति अर्जित करें। हम दोनों की पढ़ी हुई विद्या तेजस्वी (प्रखर) हो। हम दोनों एक-दूसरे के प्रति कभी ईर्ष्या-द्वेष न करें। हे शक्ति-सम्पन्न! (हमारे) त्रिविध (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) तापों का शमन हो, अक्षय शान्ति की प्राप्ति हो।

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत्॥ १ ॥

परम ज्ञानवान् मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह शास्त्रादि का अध्ययन करके बारम्बार उनका अभ्यास करते हुए ब्रह्म विद्या की प्राप्ति करे। विद्युत् की कान्ति के समान क्षण-भङ्गुर इस जीवन को (आलस्य-प्रमाद में) नष्ट न करे॥ १ ॥

ओंकाररथमारुह्य विष्णुं कृत्वाथ सारथिम्।
ब्रह्मलोकपदान्वेषी रुद्राराधनतत्परः ॥ २ ॥

ॐकार रूपी रथ में आरूढ़ होकर तथा भगवान् विष्णु को अपना सारथि बनाकर ब्रह्मलोक के परमपद का चिन्तन करता हुआ ज्ञानी पुरुष देवाधिदेव भगवान् रुद्र की उपासना में तल्लीन रहे ॥ २ ॥

[प्राण यदि लौकिक सुखोपभोगों पर आरूढ़ हो जाता है, तो क्षीण होता है। जब रेडियो तरंगों पर ध्वनि को आरोपित (सुपर इम्पोज) करते हैं, तो रेडियो तरंगें कैरियर=रथ बनकर उस ध्वनि को विश्व भर में पहुँचा देती हैं। उसी प्रकार ॐकार पर आरोपित प्राण परब्रह्म तक पहुँच जाता है।]

तावद्रथेन गन्तव्यं यावद्रथपथि स्थितः।
स्थात्वा रथपतिस्थानं रथमुत्सृज्य गच्छति ॥ ३ ॥

उस (प्रणवरूपी) रथ के द्वारा तब तक चलना चाहिए, जब तक कि रथ द्वारा चलने योग्य मार्ग पूर्ण न हो जाये। जब वह मार्ग (लक्ष्य) पूर्ण हो जाता है, तब उस रथ को छोड़ कर मनुष्य स्वत: ही प्रस्थान कर जाता है॥ ३॥

[जब ध्वनि तरंगें रेडियो तरंगों के साथ अपने लक्ष्य-ट्रांजिस्टर तक पहुँच जाती हैं, तो वे उन्हें छोड़कर अपने वास्तविक रूप में पुन: प्रकट हो जाती हैं। इसी प्रकार प्राण को चाहिए कि वह अपने इष्ट लक्ष्य तक पहुँच कर वाहक-रथ (कैरियर) को छोड़कर अपने को इष्ट के साथ संयुक्त कर दे, यह परामर्श ऋषि दे रहे हैं।]

मात्रालिङ्गपदं त्यक्त्वा शब्दव्यञ्जनवर्जितम्।
अस्वरेण मकारेण पदं सूक्ष्मं हि गच्छति॥ ४॥

प्रणव की अकारादि जो मात्राएँ हैं तथा उन (मात्राओं) में जो लिङ्गभूत पद हैं, उन सभी के आश्रयभूत संसार का चिन्तन करते हुए उसका त्याग कर, स्वरहीन 'मकार' वाची ईश्वर का ध्यान करने से साधक की क्रमश: उस सूक्ष्म पद में प्रविष्टि हो जाती है। वह परम तत्त्व ('अकार' आदि स्वरों तथा 'ककारादि' व्यंजनों रूपी) सभी प्रपंचों से पूर्णतया दूर है॥ ४॥

शब्दादि विषयान्पञ्च मनश्चैवातिचञ्चलम्।
चिन्तयेदात्मनो रश्मीन्प्रत्याहार: स उच्यते॥ ५॥

शब्द, स्पर्श आदि पाँचों विषय तथा इनको ग्रहण करने वाली समस्त इन्द्रियाँ एवं अति चंचल मन- इनको सूर्य के सदृश अपनी आत्मा की रश्मियों के रूप में देखें अर्थात् आत्मा के प्रकाश से ही मन की सत्ता है और उसी प्रकाश स्वरूप आत्मा की बाह्य सत्ता से शब्द आदि विषय भी सत्तावान् हैं। इस प्रकार से आत्म-चिन्तन को ही प्रत्याहार कहते हैं॥ ५॥

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥ ६॥

प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क तथा समाधि इन छ: अंगों से युक्त साधना को योग कहा गया है॥ ६॥

यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते धमनान्मला:।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणधारणात्॥ ७॥

जिस प्रकार पर्वतों में उत्पन्न स्वर्ण आदि धातुओं का मैल अग्नि में तपाने से भस्म हो जाता है। उसी प्रकार समस्त इन्द्रियों के द्वारा किये गये दोष प्राणों को रोकने अर्थात् प्राणायाम की प्रक्रिया द्वारा भस्म हो जाते हैं॥ ७॥

[प्राण शक्ति का भोगों की ओर भटकना ही पापों को जन्म देता है, उसके नियमन से पाप की संभावना समाप्त होने लगती है।]

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषम्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान्गुणान्॥ ८॥
किल्बिषं हि क्षयं नीत्वा रुचिरं चैव चिन्तयेत्॥ ९॥

प्राणायाम के माध्यम से दोषों (अर्थात् इन्द्रियों में एकत्रित विकारों) को तथा धारणा के माध्यम से पापों को (अर्थात् कुसंस्कारों को) जलाकर भस्म कर डालें। प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रिय के संसर्ग से उत्पन्न

दोष तथा ध्यान के द्वारा अनीश्वरीय गुणों का नाश होता है। इस प्रकार संचित पापों एवं उन इन्द्रियों के कुसंस्कारों का शमन करते हुए अपने इष्ट के मनोहारी रूप का चिन्तन करना चाहिए॥ ८-९॥

[प्राणायाम के साथ इष्ट के मनमोहक रूप के स्मरण से मन सहज ही उस ओर लग जाता है, अतः प्राण-प्रक्रिया तेजस्वी हो जाती है।]

रुचिरं रेचकं चैव वायोराकर्षणं तथा।
प्राणायामास्त्रयः प्रोक्ता रेचपूरककुम्भकाः॥ १०॥

इस प्रकार अपने इष्ट के सुन्दर रूप का ध्यान करते हुए वायु को अन्तःकरण में स्थिर रखना (अर्थात् कुम्भक करना), रेचक (अर्थात् श्वास को निःसृत करना) और पूरक (अर्थात् वायु को अन्दर खींचना)। इस प्रकार रेचक, पूरक एवं अन्तः-बाह्य कुम्भक के रूप में तीन तरह के प्राणायाम कहे गये हैं॥ १०॥

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते॥ ११॥

प्राण शक्ति की वृद्धि करने वाला साधक व्याहृतियों एवं प्रणव सहित सम्पूर्ण गायत्री महामन्त्र का उसके शीर्ष भाग सहित तीन बार मानस-पाठ करते हुए पूरक, कुम्भक तथा रेचक करे। इस प्रकार की प्रक्रिया को एक 'प्राणायाम' कहा गया है॥ ११॥

उत्क्षिप्य वायुमाकाशे शून्यं कृत्वा निरात्मकम्।
शून्यभावे नियुञ्जीयाद्रेचकस्येति लक्षणम्॥ १२॥

(नासिका द्वारा) प्राणवायु को आकाश में निकालकर हृदय को वायु से रहित एवं चिन्तन से रिक्त करते हुए शून्यभाव में मन को स्थिर करने की प्रक्रिया ही 'रेचक' है। यही 'रेचक प्राणायाम' का लक्षण है॥ १२॥

वक्त्रेणोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः।
एवं वायुर्ग्रहीतव्यः पूरकस्येति लक्षणम्॥ १३॥

जिस प्रकार पुरुष मुख के माध्यम से कमल-नाल द्वारा शनैः-शनैः जल को ग्रहण करता है, उसी प्रकार मन्द गति से प्राण वायु को अपने अन्तःकरण में धारण करना चाहिए। यही प्राणायाम के अन्तर्गत 'पूरक' का लक्षण है॥ १३॥

नोच्छ्वसेन्न च निश्वसेन्नैव गात्राणि चालयेत्।
एवं भावं नियुञ्जीयात्कुम्भकस्येति लक्षणम्॥ १४॥

श्वास को न तो अन्तःकरण में आकृष्ट करे और न ही बहिर्गमन करे तथा शरीर में कोई हलचल भी न करे। इस तरह से प्राण वायु को रोकने की प्रक्रिया को 'कुम्भक' प्राणायाम का लक्षण कहा गया है॥ १४॥

अन्धवत्पश्य रूपाणि शब्दं बधिरवच्छृणु।
काष्ठवत्पश्य वै देहं प्रशान्तस्येति लक्षणम्॥ १५॥

जिस भाँति अन्धे को कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता, उसी भाँति साधक नाम रूपात्मक अन्य कुछ भी न देखे। शब्द को बधिर की भाँति श्रवण करे और शरीर को काष्ठ की तरह जाने। यही प्रशान्त का लक्षण है॥ १५॥

[आँख-कान आदि प्राण के संयोग से ही देखते-सुनते हैं। जब प्राण-प्रणव की ओर लग जाते हैं, तो इन्द्रियों से प्रकाश पूर्ण ध्वनि तरंगें टकराती भर हैं। उनका बोध करने वाला (प्राण) वहाँ न होने से अंधे-बहरे जैसी ही स्थिति हो जाती है।]

मन:संकल्पकं ध्यात्वा संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान्।
धारयित्वा तथात्मानं धारणा परिकीर्तिता ॥ १६ ॥

बुद्धिमान् मनुष्य मन को संकल्प के रूप में जानकर, उसे आत्मा (बुद्धि) में लय कर दे। तत्पश्चात् उस आत्मारूपी सद्बुद्धि को भी परमात्म सत्ता के ध्यान में स्थिर कर दे। इस तरह की क्रिया को ही 'धारणा की स्थिति' के रूप में जाना जाता है॥ १६ ॥

आगमस्याविरोधेन ऊहनं तर्क उच्यते।
समं मन्येत यल्लब्ध्वा स समाधि: प्रकीर्तित:॥ १७॥

शास्त्रानुकूल 'ऊहा' अर्थात् विचार करना 'तर्क' कहा जाता है। ऐसे 'तर्क' को प्राप्त करके दूसरे अन्य सभी प्राप्त होने वाले पदार्थों को तुच्छ (निकृष्ट) मान लिया जाता है। इस प्रकार की स्थिति को ही 'समाधि' की अवस्था कहा जाता है॥ १७॥

[भौतिक पदार्थ वरेण्य नहीं-इष्ट ही वरेण्य है, यह तर्क अन्त:करण में बैठते ही प्राणों को इष्ट में समाहित कर देता है।]

भूमौ दर्भासने रम्ये सर्वदोषविवर्जिते।
कृत्वा मनोमयीं रक्षां जप्त्वा वै रथमण्डले॥ १८ ॥

भूमि को स्वच्छ, समतल करके रमणीय तथा (अशुद्ध, विषय एवं कीट आदि) सभी दोषों से रहित क्षेत्र में मानसिक रक्षा (दिग्बन्धादि) करता हुआ रथ मण्डल (ॐकार) का जप करे॥ १८॥

पद्मकं स्वस्तिकं वापि भद्रासनमथापि वा।
बद्ध्वा योगासनं सम्यगुत्तराभिमुख: स्थित: ॥ १९ ॥

पद्मासन, स्वस्तिकासन और भद्रासन में से किसी एक योगासन में आसीन होकर उत्तराभिमुख हो करके बैठना चाहिए॥ १९ ॥

नासिकापुटमङ्गुल्या पिधायैकेन मारुतम्।
आकृष्य धारयेदग्निं शब्दमेव विचिन्तयेत्॥ २०॥

तत्पश्चात् नासिका के एक छिद्र (दायें) को एक अँगुली से बन्द करके, दूसरे खुले छिद्र (बायें) से वायु को खींचे। फिर दोनों नासापुटों को बन्द करके उस प्राण वायु को धारण करे। उस समय तेज:स्वरूप शब्द (ओंकार) का ही चिन्तन करे॥ २०॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ओमित्येतन्न रेचयेत्।
दिव्यमन्त्रेण बहुधा कुर्यादामलमुक्तये॥ २१॥

वह शब्द रूप एकाक्षर प्रणव (ॐ) ही ब्रह्म है। तदनन्तर इसी एकाक्षर ब्रह्म ॐकार का ही ध्यान करता हुआ रेचक क्रिया सम्पन्न करे अर्थात् वायु का शनै:-शनै: निष्कासन करे। इस तरह से कई बार इस 'ओंकार' रूपी दिव्य मन्त्र से (प्राणायाम की क्रिया द्वारा) अपने चित्त के प्रमादादि मल (विकारों) को दर करना चाहिए। २१॥

पश्चाद्ध्यायीत पूर्वोक्तक्रमशो मन्त्रविद्बुधः।
स्थूलादिस्थूलसूक्ष्मं च नाभेरूर्ध्वमुपक्रमः॥ २२॥

इस प्रकार प्राणायाम के द्वारा सभी दोषों का शमन करते हुए पूर्व निर्दिष्ट क्रम (अकार, उकार, मकार) के अनुसार 'ओंकार' का ध्यान करते हुए प्राणायाम करे। इस तरह का 'प्रणव गर्भ' प्राणायाम नाभि के ऊर्ध्व भाग अर्थात् हृदय में (विराट् आदि का) ध्यान करते हुए स्थूलातिस्थूल मात्रा में सम्पन्न करे॥ २२॥

[प्राणायाम की अस्सी आवृत्ति-स्थूल मात्रा तथा एक श्वास में अस्सी प्रणव मन्त्र का जप-अति स्थूल मात्रा कहलाती है।]

तिर्यगूर्ध्वमधोदृष्टिं विहाय च महामतिः।
स्थिरस्थायी विनिष्कम्पः सदा योगं समभ्यसेत्॥ २३॥

अपनी दृष्टि को ऊपर अथवा नीचे की ओर तिरछा घुमाकर केन्द्रित करते हुए बुद्धिमान् साधक स्थिरता पूर्वक निष्कम्प भाव से स्थित होकर योग का अभ्यास करे॥ २३॥

तालमात्राविनिष्कम्पो धारणायोजनं तथा।
द्वादशमात्रो योगस्तु कालतो नियमः स्मृतः॥ २४॥

योगाभ्यास की यह क्रिया तालवृक्ष की भाँति कुछ ही काल में फल प्रदान करने वाली है। इसका अभ्यास पहले से सुनिश्चित योजनानुसार ही करने योग्य है अर्थात् बीच में उसे घटाना, बढ़ाना या रोकना नहीं चाहिए। द्वादश मात्राओं की आवृत्ति भी समान समय में ही पूर्ण करनी चाहिए॥ २४॥

अघोषमव्यञ्जनमस्वरं च अतालुकण्ठोष्ठमनासिकं च यत्।
अरेफजातमुभयोष्मवर्जितं यदक्षरं न क्षरते कथंचित्॥ २५॥

इस प्रणव नाम से प्रसिद्ध घोष का उच्चारण बाह्य प्रयत्नों से नहीं होता है। यह व्यञ्जन एवं स्वर भी नहीं है। इसका उच्चारण कण्ठ, तालु, ओष्ठ एवं नासिका आदि (सानुनासिक) से भी नहीं होता। इसका दोनों ओष्ठों के अन्तः में स्थित दन्त नामक क्षेत्र से भी उच्चारण नहीं होता। 'प्रणव' वह श्रेष्ठ अक्षर है, जो कभी भी च्युत नहीं होता। ओंकार का प्राणायाम के रूप में अभ्यास करना चाहिए तथा मन गुञ्जायमान घोष में सदैव लगाए रहना चाहिए॥ २५॥

[ॐकार को 'उद्गीथ' कहा गया है। इसे उद्=प्राणों के माध्यम से ही झंकृत किया जाता है।]

येनासौ गच्छते मार्गं प्राणस्तेनाभिगच्छति।
अतस्तमभ्यसेन्नित्यं यन्मार्गगमनाय वै॥ २६॥

योगी पुरुष जिस मार्ग का अवलोकन करता है अर्थात् मन के माध्यम से जिस स्थान को प्रवेश करने योग्य मानता है, उसी मार्ग (द्वार) से प्राण और मन के साथ गमन कर जाता है। प्राण श्रेष्ठ मार्ग (द्वार) से गमन करे, इस हेतु साधक को नित्य- नियमित अभ्यास करते रहना चाहिए॥ २६॥

हृद्द्वारं वायुद्वारं च मूर्धद्वारमथापरम्।
मोक्षद्वारं बिलं चैव सुषिरं मण्डलं विदुः॥ २७॥

वायु के प्रवेश का मार्ग हृदय ही है। इससे ही प्राण सुषुम्णा के मार्ग में प्रवेश करता है। इससे ऊपर ऊर्ध्वगमन करने पर सबसे ऊपर मोक्ष का द्वार ब्रह्मरन्ध्र है। योगी लोग इसे सूर्यमण्डल के रूप में जानते हैं। इसी सूर्यमण्डल अथवा ब्रह्मरन्ध्र का बेधन करके प्राण का परित्याग करने से मुक्ति प्राप्त होती है॥ २७॥

भयं क्रोधमथालस्यमतिस्वप्नातिजागरम्।
अत्याहारमनाहारं नित्यं योगी विवर्जयेत्॥ २८॥

भय, क्रोध, आलस्य, अधिक शयन, अत्यधिक जागरण करना, अधिक भोजन करना या फिर बिल्कुल निराहार रहना आदि समस्त दुर्गुणों को योगी सदैव के लिए परित्याग कर दे॥ २८॥

[गीता (६.१७) में यही भाव 'युक्ताहार विहारस्य.....' आदि शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है।]

अनेन विधिना सम्यङ् नित्यमभ्यस्यते क्रमात्।
स्वयमुत्पद्यते ज्ञानं त्रिभिर्मासैर्न संशयः ॥ २९॥

इस प्रकार नियम पूर्वक जो भी साधक क्रमशः उत्तरोत्तर प्रगति करता हुआ नियमित अभ्यास करता है, उसे तीन मास में ही स्वयमेव ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है॥ २९॥

चतुर्भिः पश्यते देवान्पञ्चभिर्वितत:क्रमः।
इच्छयाप्नोति कैवल्यं षष्ठे मासि न संशयः॥ ३०॥

वह योगी-साधक नित्य-नियमित अभ्यास करता हुआ चार मास में ही देव दर्शन की सामर्थ्य,प्राप्त कर लेता है। पाँच माह में देव-गणों के समान शक्ति-सामर्थ्य से युक्त हो जाता है तथा छः मास में अपनी इच्छानुसार निःसन्देह कैवल्य (मोक्ष) को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है॥ ३०॥

पार्थिवः पञ्चमात्रस्तु चतुर्मात्रस्तु वारुणः।
आग्नेयस्तु त्रिमात्रोऽसौ वायव्यस्तु द्विमात्रकः॥ ३१॥

पृथिवी तत्त्व की धारणा के समय में ओंकार रूप प्रणव की पाँच मात्राओं का, वरुण अर्थात् (जल तत्त्व) की धारणा के समय में (प्रणव की) चार मात्राओं का, अग्नि तत्त्व की धारणा के समय में (प्रणव की) तीन मात्राओं का तथा वायु तत्त्व की धारणा के समय में (प्रणव की) दो मात्राओं के स्वरूप का ध्यान करना चाहिए॥ ३१॥

एकमात्रस्तथाकाशो ह्यर्धमात्रं तु चिन्तयेत्।
संधिं कृत्वा तु मनसा चिन्तयेदात्मनात्मनि॥ ३२॥

(इसके पश्चात्) आकाश तत्त्व की धारणा करते समय प्रणव की एक मात्रा का तथा स्वयं ओंकार रूप प्रणव की धारणा करते समय उसकी अर्द्धमात्रा का चिन्तन करे। अपने शरीर में ही मानसिक धारणा के माध्यम से पंचभूतों (पृथिवी आदि तत्त्व) की सिद्धि प्राप्त करे और उनका ध्यान करे। इस तरह के कृत्य से प्रणव की धारणा द्वारा पञ्चभूतों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है॥ ३२॥

त्रिंशत्सार्धाङ्गुलः प्राणो यत्र प्राणैः प्रतिष्ठितः।
एष प्राण इति ख्यातो बाह्यप्राणस्य गोचरः॥ ३३॥

साढ़े तीस अङ्गुल लम्बा प्राण श्वास के रूप में जिसमें प्रतिष्ठित है, वही इस प्राण वायु का वास्तविक आश्रय है। यही कारण है कि इसे प्राण के रूप में जाना जाता है। जो बाह्य प्राण है, उसे इन्द्रियों के द्वारा देखा जाता है॥ ३३॥

अशीतिश्च शतं चैव सहस्राणि त्रयोदश।
लक्षश्चैको विनिश्वास अहोरात्रप्रमाणतः॥ ३४॥

इस बाह्य प्राण में एक लाख तेरह सहस्र छः सौ अस्सी निःश्वासों (श्वास-प्रश्वास) का आवागमन एक दिन एवं रात्रि में होता है॥ ३४॥

[प्रायः दिन-रात्रि में श्वासों की संख्या इक्कीस हजार छः सौ मानी जाती है। जो प्रति मिनट पन्द्रह निःश्वास के हिसाब से ठीक बैठती है, यहाँ इतनी संख्या का उल्लेख शोध का विषय है।]

प्राण आद्यो हृदि स्थाने अपानस्तु पुनर्गुदे।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमाश्रितः॥ ३५॥

आदि प्राण का निवास हृदय क्षेत्र में, अपान का निवास गुदा स्थान में, समान का नाभि प्रदेश में एवं उदान का निवास कण्ठ प्रदेश में है॥ ३५॥

व्यानः सर्वेषु चाङ्गेषु व्याप्य तिष्ठति सर्वदा।
अथ वर्णास्तु पञ्चानां प्राणादीनामनुक्रमात्॥ ३६॥

व्यान समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गों में व्यापक होकर सदैव प्रतिष्ठित रहता है। अब इसके पश्चात् समस्त प्राण आदि पाँचों वायुओं के रंग का क्रमानुसार वर्णन किया जाता है॥ ३६॥

रक्तवर्णो मणिप्रख्यः प्राणवायुः प्रकीर्तितः।
अपानस्तस्य मध्ये तु इन्द्रगोपसमप्रभः॥ ३७॥

इस प्राण वायु को लाल रंग की मणि के सदृश लोहित वर्ण की संज्ञा प्रदान की गई है। अपान वायु को गुदा के बीचो-बीच इन्द्रगोप-बीर बहूटी नामक गहरे लाल (रंग वाले एक बरसाती कीड़े के) रंग का माना गया है॥ ३७॥

समानस्तु द्वयोर्मध्ये गोक्षीरधवलप्रभः।
आपाण्डुर उदानश्च व्यानो ह्यर्चिःसमप्रभः॥ ३८॥

नाभि के मध्य क्षेत्र में समान वायु स्थिर है। यह गो-दुग्ध या स्फटिक मणि की भाँति शुभ्र कान्तियुक्त है। उदान वायु का रंग धूसर अर्थात् मटमैला है और व्यान वायु का रंग अग्निशिखा की भाँति तेजस्वी है॥ ३८॥

यस्येदं मण्डलं भित्त्वा मारुतो याति मूर्धनि।
यत्र कुत्र म्रियेद्वापि न स भूयोऽभिजायते न स भूयोऽभिजायत इत्युपनिषत्॥ ३९॥

जिस श्रेष्ठ योगी अथवा साधक का प्राण इस मण्डल (पञ्चतत्त्वात्मक शरीर-क्षेत्र, वायु स्थान एवं हृदय प्रदेश) का बेधन कर मस्तिष्क के क्षेत्र में प्रविष्ट कर जाता है, वह अपने शरीर का जहाँ कहीं भी परित्याग करे, पुनः जन्म नहीं लेता अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है, यही उपनिषद् (रहस्य) है॥ ३९॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु.....इति शान्तिः॥

॥ इति अमृतनादोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ इशावास्यापानषद् ॥

यजुर्वेद के ४० वें अध्याय को ईशावास्योपनिषद् कहा गया है। इसे उपनिषद् श्रृंखला में प्रथम स्थान प्राप्त है। इसमें इस विराट् सृष्टि के अन्तर्गत दृश्य जगत् और जीवन को 'ईश्वर का आवास' कह कर ईश्वर के सर्वव्यापी सर्वसमर्थ स्वरूप का बोध कराते हुए, जीवन को उसी के अनुशासन में गरिमामय ढंग से सुख-सन्तोषपूर्वक जीते हुए उसी के साथ एकरूप हो जाने का निर्देश दिया गया है। इसके १८ मन्त्र गीता के १८ अध्यायों की तरह महत्त्वपूर्ण कहे गये हैं।

प्रथम मंत्र में जीवन और जगत् को ईश्वर का आवास कहकर जीवन सम्पदा का उपभोग मर्यादापूर्वक करने का निर्देश है।' यह धन किसका है?' प्रश्न करके ऋषि ने मनुष्य को विभूतियों और सम्पदाओं के अभिमान से मुक्त होने का अमोघ सूत्र दे दिया है। दूसरे मन्त्र में लम्बी आयु और बन्धन मुक्त रहकर कर्मरत रहने के सूत्र हैं, तो तीसरे मन्त्र में अनुशासन उल्लंघन के दुष्परिणामों का संकेत है। मन्त्र क्रमांक ४,५ एवं ८ में परब्रह्म के स्वरूप का बोध है, तो ६,७ में उसकी अनुभूति करने वालों के लक्षण दर्शाये गये हैं। क्रमांक ९ से १४ में विद्या-अविद्या तथा सृजन एवं विनाश के बीच सन्तुलन स्थापित करने का रहस्य दिया गया है। क्रमांक १५ एवं १६ में परमात्मा से अपने स्वरूप का बोध कराने की प्रार्थना तथा बोध होने की मनःस्थिति का वर्णन है। क्रमांक १७,१८ में शरीर की नश्वरता का बोध कराते हुए अग्निदेव से श्रेष्ठ मार्ग द्वारा जीवन लक्ष्य तक ले चलने की प्रार्थना की गयी है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

'ॐ' रूप में जिसे अभिव्यक्त किया जाता है, वह परब्रह्म स्वयं में सब प्रकार से पूर्ण है और यह सृष्टि भी स्वयं में पूर्ण है। उस पूर्ण तत्त्व में से इस पूर्ण विश्व की उत्पत्ति हुई है। उस पूर्ण में से यह पूर्ण निकाल लेने पर भी वह शेष भी पूर्ण ही रहता है । आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक ताप-सन्ताप शान्त हों।

[पूर्ण में से पूर्ण निकाल लेने पर पूर्ण ही शेष रहने की ऋषि की अनुभूति अनोखी है । वर्तमान विज्ञान भी इस अवधारणा का साक्षात्कार नहीं कर सका है ।]

ॐ ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ १॥

इस सृष्टि में जो कुछ भी (जड़ अथवा चेतन) है, वह सब ईश द्वारा आवृत-आच्छादित है (उसी के अधिकार में है)। केवल उसके द्वारा (उपयोगार्थ) छोड़े गये (सौंपे गये) का ही उपभोग करो। (अधिक का) लालच मत करो, (क्योंकि यह) धन किसका है ? (अर्थात् किसी व्यक्ति का नहीं-केवल 'ईश' का ही है) ॥ १ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २॥

यहाँ (ईश्वर से अनुशासित इस जगत् में) कर्म करते हुए सौ वर्ष (पूर्णायु) तक जीने की कामना करें। (इस प्रकार अनुशासित रहने से) कर्म मनुष्य को लिप्त (विकारग्रस्त) नहीं करते । (विकार मुक्त जीवन के निमित्त) यह (मार्गदर्शन) तुम्हारे लिए है , इसके अतिरिक्त परम कल्याण का और कोई अन्य मार्ग नहीं है ॥ २॥

[ऋषियों ने जीवन के ऐसे अनुशासन बतलाये हैं, जिनका अनुपालन करके मनुष्य लम्बी आयु भी पा सकता है और कर्मबन्धनों से मुक्त भी हो सकता है।]

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३॥

वे (इस अनुशासन का उल्लंघन करने वाले) लोग 'असुर्य' (केवल शरीर एवं इन्द्रियों की शक्ति पर निर्भर-सद्विवेक की उपेक्षा करने वाले) नाम से जाने जाते हैं। वे (जीवन भर) गहन अन्धकार (अज्ञान) से घिरे रहते हैं। वे आत्मा (आत्म चेतना के निर्देशों) का हनन करने वाले लोग, प्रेत रूप में (शरीर छूटने पर) भी वैसे ही (अन्धकार युक्त) लोकों में जाते हैं॥ ३॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति॥ ४॥

अविचल वह ईश एक ही है, जो मन से भी अधिक वेगवान् है। वह सबसे पुरातन एवं स्फूर्तिवान् है, उसे देवगण (देवता अथवा इन्द्रिय समूह) प्राप्त नहीं कर पाते । वह स्थिर रहते हुए भी दौड़कर अन्य (गतिशीलों) से आगे निकल जाता है । उसके अन्तर्गत (अनुशासन में रहकर) गतिशील वायु- अप् (सृष्टि के मूल घटक) को धारण किये रहता है ॥ ४॥

[वर्तमान विज्ञान अभी प्रकाश से अधिक गतिशील तत्त्वों को खोज ही रहा है, मन की गति का तो मापन ही नहीं किया जा सका है। ऋषियों ने अविचल, किन्तु मन से भी अधिक गतिमान् का साक्षात्कार किया था।]

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५॥

वह (परमात्मतत्त्व) गतिशील भी है और स्थिर (भी) है। वह दूर से दूर भी है और निकट से निकट भी है। वह इन सब (जड़-चेतन जगत्) के अंदर भी है तथा सबके बाहर (उसे आवृत किये हुए) भी है॥ ५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ ६॥

व्यक्ति (जब) सभी भूतों (जड़-चेतन सृष्टि) को (इस) आत्म तत्त्व में ही स्थित अनुभव करता है तथा सभी भूतों के अन्दर इस आत्म तत्त्व को समाहित अनुभव करता है, तब वह किसी प्रकार भ्रमित नहीं होता ॥ ६॥

[केवल पढ़े हुए ज्ञान से भ्रमों का निवारण संभव नहीं है, उसके लिए अनुभूति परक ज्ञान अनिवार्य है।]

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ ७॥

जिस स्थिति में (व्यक्ति) यह (मर्म) जान लेता है कि यह आत्म तत्त्व ही समस्त भूतों के रूप में प्रकट हुआ है, (तो) उस एकत्व की अनुभूति की स्थिति में मोह अथवा शोक कहाँ टिक सकते हैं? अर्थात् ऐसी स्थिति में व्यक्ति मोह एवं शोक से परे हो जाता है ॥ ७॥

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी
परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ ८॥

वह (परमात्मा) सर्वव्यापी है, तेजस्वी है । वह देहरहित, स्नायुरहित एवं छिद्र (वर्ण) रहित है । वह शुद्ध और निष्पाप है । वह कवि (क्रान्तदर्शी), मनीषी (मन पर शासन करने वाला), सर्वजयी और स्वयं ही उत्पन्न होने वाला है । उसने अनादि काल से ही सबके लिए यथायोग्य अर्थों (साधनों) की व्यवस्था बनायी है ॥ ८॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः॥ ९॥

जो केवल अविद्या (पदार्थपरक विद्या) की उपासना करते हैं, वे घोर अन्धकार में घिर जाते हैं और जो केवल विद्या (चेतनापरक विद्या) की ही उपासना करते हैं, वे भी उसी प्रकार के अन्धकार में फँस जाते हैं ॥ ९॥

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥ १०॥

जिन देवपुरुषों ने हमारे लिए (इन विषयों को) विशेष रूप से कहा है, हमने उन धीर पुरुषों से सुना है कि विद्या (आध्यात्मिक ज्ञान) का प्रभाव भिन्न है तथा अविद्या (भौतिक ज्ञान) का प्रभाव उससे भिन्न है ॥ १०॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ ११॥

(अतएव) विद्या और अविद्या- इन दोनों को एक साथ जानो। (इनमें से) अविद्या द्वारा मृत्यु को पार करके विद्या द्वारा अमरत्व की प्राप्ति की जा सकती है ॥ ११॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याꣳरताः॥ १२॥

जो लोग केवल 'असम्भूति' (बिखराव-विनाश) की उपासना करते हैं (उन्हीं प्रवृत्तियों में रमे रहते हैं) ,वे घोर अन्धकार (अज्ञान) में घिर जाते हैं और जो केवल सम्भूति (संगठन-सृजन) की ही उपासना करते हैं, वे भी उसी प्रकार के अंधकार में फँस जाते हैं ॥ १२॥

अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसंभवात्।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥ १३॥

जिन देवपुरुषों ने हमारे लिए (इन विषयों को) विशेष रूप से कहा है, हमने उन धीर पुरुषों से सुना है कि सम्भूति योग का प्रभाव भिन्न है तथा असम्भूति योग का प्रभाव उससे भिन्न है ॥ १३॥

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते॥ १४॥

(इसलिए) सम्भूति (समय के अनुरूप नया सृजन) तथा असम्भूति-विनाश (अवाञ्छनीय को समाप्त करना) - इन दोनों कलाओं को एक साथ जानो । विनाश की कला से मृत्यु को पार करके (अनिष्टकारी को नष्ट करके मृत्यु भय से मुक्ति पाकर) तथा सम्भूति (उपयुक्त निर्माण) की कला से अमृतत्व की प्राप्ति की जाती है ॥ १४॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ १५॥

सोने के (चमकदार-लुभावने) पात्र से सत्य (आदित्यमण्डलस्थ ब्रह्म)का मुख ढँका हुआ है । हे पूषन्! मुझ सत्यान्वेषण करने वाले के लिए (आत्मावलोकन के इच्छुक के लिए) उसे (उस आवरण को) अपावृत करें- हटा दें ॥ १५॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह। तेजो यत्ते रूपं
कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽ सावसौ पुरुषः सोऽ हमस्मि॥ १६॥

हे पूषन् (जगत्पोषक)!, हे एकाकी गमन करने वाले!, हे यम (नियन्त्रण करने वाले)!, हे सूर्य (सर्वप्रेरक)!, हे प्राजापत्य (सृजनशील)! आप अपनी किरणों (चकाचौंध) को हटा लें, आपका जो अतिशय कल्याणकारी स्वरूप है, उसे मैं देख रहा हूँ (उसका ध्यान कर रहा हूँ) । यह जो पुरुष (आदित्य मण्डलस्थ ब्रह्म) है, वही मैं हूँ॥ १६॥

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर॥ १७॥

यह जीवन (अस्तित्व) वायु-अग्नि आदि (पंचभूतों) तथा अमृत (सनातन आत्मचेतना) के संयोग से बना है । शरीर तो अन्ततः भस्म हो जाने वाला है । (इसलिए) हे संकल्प कर्त्ता ! तुम परमात्मा का स्मरण करो, अपनी सामर्थ्य का स्मरण करो और जो कर्म कर चुके हो, उसका पुनः-पुनः स्मरण करो ॥ १७॥

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥ १८॥

हे अग्ने (यज्ञ प्रभु) ! आप हमें श्रेष्ठ मार्ग से ऐश्वर्य की ओर ले चलें । हे विश्व के अधिष्ठातादेव ! आप कर्म मार्गों के श्रेष्ठ ज्ञाता हैं । हमें कुटिल पाप कर्मों से बचाएँ । हम पुनः-पुनः (भूयिष्ठ) नमन करते हुए आप से विनय करते हैं ॥ १८॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं ..... इति शान्तिः

॥ इति ईशावास्योपनिषत्समाप्ता ॥

॥ एकाक्षरोपनिषद् ॥

कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में ऋषि एक ही अक्षर (अविनाशी) परमात्मा को अन्तरिक्ष में प्रवाहित सोम, सुषुम्ना में संचरित प्राण तथा पूरे विश्व में संचरित जीवन तत्त्व के रूप में अनुभव करते हैं। उन्हें ही विघ्ननाशक अरिष्टनेमि से लेकर कुमार कार्तिकेय के रूप में सक्रिय देखते हैं। उसी परमात्म तत्त्व को इन्द्र, रुद्र, सूर्य आदि की विशेषताओं के रूप में तीनों गुणों, चारों वेदों तथा चराचर जगत् में संव्याप्त देखते हुए, साधकों को उसी एक मात्र अविनाशी की उपासना द्वारा अविद्याजन्य भ्रमों का उच्छेदन करके जीवन मुक्त-ज्योति स्वरूप हो जाने का उपदेश दिया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- अमृतनादोपनिषद्)

एकाक्षरं त्वक्षरेऽत्रास्ति सोमे सुषुम्नायां चेह दृढी स एकः।
त्वं विश्वभूर्भूतपतिः पुराणः पर्जन्य एको भुवनस्य गोप्ता॥ १॥

हे भगवन्! आप अक्षर (अर्थात् शाश्वत), सोम, परब्रह्म के रूप में तथा सुषुम्ना (मार्ग से सहस्रार चक्र) में अपनी सत्ता सहित प्रतिष्ठित एक ही अविनाशी तत्त्व एकाक्षर में स्थित रहते हैं। आप ही विश्व के कारणरूप, प्राणिमात्र के स्वामी, पुराण पुरुष एवं सभी रूपों में विद्यमान हैं। (आप ही) पर्जन्य (वर्षा आदि) के द्वारा सभी लोकों की रक्षा करने वाले हैं॥ १॥

विश्वे निमग्नपदवीः कवीनां त्वं जातवेदो भुवनस्य नाथः।
अजातमग्रे स हिरण्यरेता यज्ञस्त्वमेवैकविभुः पुराणः॥ २॥

(हे सर्वशक्तिमान्!) आप ही समस्त विश्व -वसुधा के कण-कण में जीवनी शक्ति के रूप में विद्यमान हैं। आप कवियों (मन्त्रद्रष्टा ऋषियों) के आश्रयभूत हैं, समस्त लोकों की रक्षा करने वाले हैं। आप ही हिरण्यरेता (अग्नि) रूप और यज्ञ रूप भी हैं। आप ही एक मात्र विराट् एवं पूर्ण पुरुष हैं॥ २॥

[सृष्टि के संकल्प का बीज जब ब्रह्म के तेजस् में पकता है, तब उसे हिरण्यगर्भ कहते हैं तथा जब परब्रह्म संकल्प-बीज का आधान करता है, तो उसे हिरण्यरेता कहते हैं।]

प्राणः प्रसूतिर्भुवनस्य योनिर्व्याप्तं त्वया एकपदेन विश्वम्।
त्वं विश्वभूर्योनिपारः स्वगर्भे कुमार एको विशिखः सुधन्वा॥ ३॥

जिस प्रकार माला के प्रत्येक दाने (मनके) में सूत्र (धागा) रहता है, उसी प्रकार आप ही प्रमुख (सूत्र) रूप से समस्त विश्व में प्राण रूप में संव्याप्त एवं उसके उत्पत्ति के कारण स्वरूप हैं। आपने ही समस्त विश्व को एक पग से माप लिया है, अतः आप ही इस विश्व संरचना के उत्पत्ति स्थल भी हैं। आप ही प्राण रूप में सर्वत्र व्याप्त (विष्णु की तरह) संसार के रक्षक रूप तथा श्रेष्ठ धनुष को धारण करने वाले कुमार (कार्तिकेय) स्वरूप हैं॥ ३॥

वितत्य बाणं तरुणार्कवर्णं व्योमान्तरे भासि हिरण्यगर्भः।
भासा त्वया व्योम्नि कृतः सुताक्ष्यस्त्वं वै कुमारस्त्वमरिष्टनेमिः॥ ४॥

हे परमात्मन्! आप ही मध्याह्नकालीन सूर्य के तेज की भाँति बाण को अपनी ओर आकृष्ट करके, माया द्वारा रचित इन समस्त प्राणियों के हृदयरूप आकाश में प्रकाशमान हिरण्यगर्भ रूप हैं। आपके ही दिव्य प्रकाश से भगवान् भास्कर आकाश में प्रकाशित होते हैं। आप ही देवताओं के सेनापति 'कार्तिकेय' के रूप में प्रतिष्ठित हैं और गरुड़ की तरह सभी अरिष्टों (विघ्नों) का भली-भाँति नियमन करने वाले हैं॥ ४॥

त्वं वज्रभृद्भूतपतिस्त्वमेव कामः प्रजानां निहितोऽसि सोमे।
स्वाहा स्वधा यच्च वषट् करोति रुद्रः पशूनां गुहया निमग्नः॥ ५॥

(हे परमात्मन् !) आप ही वज्र को धारण करने वाले इन्द्र के रूप में तथा (भवरोग नाशक) रुद्र रूप में समस्त प्रजाओं के स्वामी हैं। आप ही अभीष्ट फलदायी पितरों के रूप में चन्द्रलोक में स्थित हैं तथा देवों एवं पितरों की तृप्ति हेतु सम्पन्न होने वाले यज्ञ और श्राद्ध अर्थात् स्वाहा, स्वधा एवं वषट्कार रूप हैं। आप ही समस्त प्राणियों के हृदय में स्थित हैं॥ ५॥

धाता विधाता पवनः सुपर्णो विष्णुर्वराहो रजनी रहश्च।
भूतं भविष्यत्प्रभवः क्रियाश्च कालः क्रमस्त्वं परमाक्षरं च॥ ६॥

(हे भगवन्!) आप ही (प्राण रूप में) धाता (धारण करने वाले) तथा (सृष्टि-संरचना के रूप में) विधाता, पवन, गरुड़, विष्णु, वाराह, रात एवं दिन हैं। आप ही भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान भी हैं। सभी क्रियाएँ, कालगति और परमाक्षर (अर्थात् परम अविनाशी तत्त्व ॐकार) रूप में आप ही विद्यमान हैं॥ ६॥

ऋचो यजूंषि प्रसवन्ति वक्त्रात्सामानि सम्राड्वसुरन्तरिक्षम्।
त्वं यज्ञनेता हुतभुग्विभुश्च रुद्रास्तथा दैत्यगणा वसुश्च॥ ७॥

जिसके मुख से ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद आदि उत्पन्न (प्रकट) होते हैं, वे आप ही हैं। आप ही सम्राट् (राजा अथवा सर्वत्र प्रकाशित) वसु, अन्तरिक्ष, यज्ञीय प्रक्रिया सम्पन्न करने वाले, यज्ञीय भाग ग्रहण करने वाले एवं सर्वशक्तिमान् हैं। आप ही एकादश रुद्र, (दिति की सन्तान) दैत्यरूप एवं सर्वत्र व्याप्त होने वाले (वसुरूप) हैं॥ ७॥

स एष देवोऽम्बरगश्च चक्रे अन्येऽभ्यधिष्ठेत तमो निरुन्ध्यः।
हिरण्मयं यस्य विभाति सर्वं व्योमान्तरे रश्मिमिमंसुनाभिः॥ ८॥

(हे परमात्मन्!) विभिन्न रूपों वाले आप ही सूर्य मण्डल में विद्यमान तथा अन्यत्र (अन्य स्थान एवं जीव के हृदय में स्थित) अज्ञानान्धकार को विनष्ट करते हुए प्रतिष्ठित हैं। जिस विराट् स्वरूप के हृदयरूपी आकाश में 'ब्रह्माण्ड गर्भिणी' (ब्रह्माण्ड को अपने गर्भ में धारण करने वाली) 'सुनाभि'(श्रेष्ठ नाभि-केन्द्र या माया) स्थित है, वह भी आप ही हैं। सूर्यादि (ग्रह-नक्षत्रों) में जो प्रकाशमान रश्मियाँ हैं, वे आपकी ही प्रकाश किरणें हैं॥ ८॥

स सर्ववेत्ता भुवनस्य गोप्ता नाभिः प्रजानां निहिता जनानाम्।
प्रोता त्वमोता विचितिः क्रमाणां प्रजापतिश्छन्दमयो विगर्भः॥ ९॥

वही (विराट्-ब्रह्म) सब कुछ जानने वाला, समस्त भुवनों का रक्षक एवं समस्त प्राणि-समुदाय का आधार स्वरूप नाभि (केन्द्र) है। अन्तर्यामी रूप में आप ही सर्वत्र ओत-प्रोत हैं। आप ही विविध प्रकार की गतियों के विश्रान्ति रूप हैं। आप की विष्णु के गर्भ (कमलनाल) में प्रजापति के रूप में स्थित हैं एवं वेद (छन्द) भी आप ही हैं॥ ९॥

सामैश्चिदन्तो विरजश्च बाहुं हिरण्मयं वेदविदां वरिष्ठम्।
यमध्वरे ब्रह्मविदः स्तुवन्ति सामैर्यजुर्भिः क्रतुभिस्त्वमेव ॥ १०॥

वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ ज्ञानीजन रजोगुण से परे, स्वर्ण कान्ति वाले (विराट् पुरुष) के अन्त को साम आदि वेदों से भी नहीं जान पाते। ब्रह्मवेत्ताजन यज्ञों में यजुर्वेद के मन्त्रों से तथा सामवेदी जन साम मन्त्रों से जिसकी स्तुति करते हैं, वे आप ही हैं॥ १०॥

त्वं स्त्री पुमांस्त्वं च कुमार एकस्त्वं वै कुमारी ह्यथ भूस्त्वमेव।
त्वमेव धाता वरुणश्च राजा त्वं वत्सरोऽग्न्यर्यम एव सर्वम्॥ ११॥

(हे परमात्मन्!) आप अकेले ही स्त्री, पुरुष, कुमार एवं कुमारी हैं। आप ही पृथिवी हैं। आप ही धाता, वरुण, सम्राट्, संवत्सर, अग्नि और अर्यमा (सूर्य) हैं। आप ही सब कुछ हैं॥ ११॥

मित्रः सुपर्णश्चन्द्र इन्द्रो वरुणो रुद्रस्त्वष्टा विष्णुः सविता गोपतिस्त्वम्।
त्वं विष्णुर्भूतानि तु त्रासि दैत्यांस्त्वयावृतं जगदुद्भवगर्भः॥ १२॥

(हे परम पुरुष!) सूर्य, गरुड़, चन्द्र, वरुण, रुद्र, प्रजापति, विष्णु, सविता, गोपति (इन्द्रियों या गौओं के स्वामी) जो कि वागादि इन्द्रियों के स्वामी कहे जाते हैं, वे आप ही हैं। आप ही विष्णु बन कर समस्त मानव जाति को दैत्यों के भय से त्राण दिलाने वाले हैं। आप ही जगत् के जनक भूगर्भरूप हैं। आपके द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आवृत है॥ १२॥

त्वं भूर्भुवः स्वस्त्वं हि स्वयंभूरथ विश्वतोमुखः।
य एवं नित्यं वेदयते गुहाशयं प्रभुं पुराणं सर्वभूतं हिरण्मयम्।
हिरण्मयं बुद्धिमतां परां गतिं स बुद्धिमान्बुद्धिमतीत्य तिष्ठतीत्युपनिषत् ॥ १३॥

आप ही स्वयम्भू (स्वयं प्रकट होने वाले) एवं विश्वतोमुख (सर्वत्र मुख वाले) हैं। आप ही भूः, भुवः, स्वः आदि (लोकों) में प्रतिष्ठित हैं। जो भी मनुष्य अपने गुहारूप हृदय क्षेत्र में स्थित पुराण पुरुषोत्तम आदिपुरुष को 'प्राणस्वरूप' एवं 'प्रकाश स्वरूप' जानता है। वह (पुरुष) ब्रह्मज्ञानियों की परमगति को , अज्ञानग्रस्त भ्रम बुद्धि का अतिक्रमण करके प्राप्त कर लेता है। यही उपनिषद् (रहस्यात्मक ज्ञान) है॥ १३॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .....इति शान्तिः॥

॥ इति एकाक्षरोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ ऐतरेयोपनिषद् ॥

ऋग्वेदीय ऐतरेय आरण्यक के दूसरे आरण्यक के चौथे, पाँचवें एवं छठवें अध्याय ब्रह्मविद्या प्रधान हैं, अस्तु, इन्हें ऐतरेयोपनिषद् की मान्यता दी गयी है। प्रथम अध्याय में तीन खण्ड हैं तथा शेष (दूसरे, तीसरे) अध्यायों में एक-एक खण्ड ही हैं।

प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड में परमात्मा द्वारा सृष्टि रचना का संकल्प तथा लोकों- लोकपालों की रचना का प्रसंग है। हिरण्यगर्भ से विराट् पुरुष एवं उसकी इन्द्रियों से देवताओं की उत्पत्ति दर्शायी गयी है। दूसरे खण्ड में देवताओं के लिए आवास रूप मनुष्य शरीर तथा क्षुधा-पिपासा की शान्ति हेतु अन्नादि की रचना का प्रसंग है। तीसरे खण्ड में प्राणों द्वारा अन्न को ग्रहण करने के उपाख्यान के साथ स्वयं परमात्मा द्वारा मूर्धा मार्ग से प्रवेश करने का प्रकरण दिया गया है। व्यक्ति रूप में उत्पन्न पुरुष की जिज्ञासा और परमात्म तत्त्व के साक्षात्कार से उसके कृतकृत्य होने का भी उल्लेख है। दूसरे अध्याय में ऋषि वामदेव द्वारा जीवन चक्र का अनुभव प्राप्त करने का वर्णन है। माता के गर्भ में जीव प्रवेश उसका प्रथम जन्म, बालक रूप में बाहर आना द्वितीय जन्म तथा मरणोत्तर योनियों में जाना तीसरा जन्म कहा गया है। तीसरे अध्याय में उपास्य कौन है, यह प्रश्न खड़ा करके प्रज्ञान रूप परमात्मा को ही उपास्य सिद्ध किया गया है। उसे प्राप्त करके काया त्याग के बाद परमधाम अमरपद प्राप्ति का निरूपण किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्संदधाम्यृतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परमात्मन्! मेरी वाणी मन में स्थित हो, मन वाणी में प्रतिष्ठित हो। (हे परमात्मन्!) आप मेरे समक्ष प्रकट हों। मेरे लिए वेद का ज्ञान लाएँ (प्रकट करें)। मैं पूर्वश्रुत ज्ञान को विस्मृत न करूँ। इस स्वाध्यायशील प्रवृत्ति से मैं दिन और रात्रियों को एक कर दूँ (मेरा स्वाध्याय सतत चलता रहे)। मैं सदैव ऋत और सत्य बोलूँगा। ब्रह्म मेरी रक्षा करे। वह (ब्रह्म) वक्ता (आचार्य) की रक्षा करे। त्रिविध ताप शान्त हों।

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

इस उपनिषद् में ब्रह्म से लोकों, लोकपालों सहित मानवी सृष्टि, उसके विकास तथा मोक्ष सहित विराट् जीवन चक्र का उल्लेख है। ऋषि ने हर चरण को स्पष्ट एवं सरल ढंग से व्यक्त किया है। आवश्यकतानुसार अव्यक्त भावों को पाद टिप्पणियों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है-

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति॥ १॥

सृष्टि के आरम्भ में एक मात्र आत्मा (परमात्म तत्त्व) ही था, उसके अतिरिक्त और कुछ भी सचेष्ट न था। (तब) उस (परमात्मा) ने विचार किया कि 'मैं लोकों का सृजन करूँ' ॥ १॥

✪ अड्यार लाइब्रेरी से प्रकाशित दशोपनिषद् (१९३५) संग्रह के ऐतरेयोपनिषद् में प्रारम्भिक तीन अध्याय और प्रकाशित हैं, जिनका समावेश अन्य किसी उपनिषत्संग्रह में न होने से यहाँ भी नहीं ग्रहण किया गया है।

[मंत्र में 'नान्यत् किंचन मिषत्' वाक्य है, मिषत् शब्द पलक हिलाने के भाव में भी प्रयुक्त होता है, जो सबसे कम प्रयास में होने वाली दृश्य चेष्टा है। इसलिए पद का भाव यही लेना उचित है कि अन्य कुछ भी नहीं था तथा जो था वह किंचित् भी सचेष्ट नहीं था। पहली चेष्टा उस ब्रह्म के संकल्प के रूप में ही हुई।]

स इमाँल्लोकानसृजत अम्भो मरीचीर्मरमापोऽ दोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्षं मरीचयः। पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः॥ २॥

उस (परमात्मा) ने अम्भ, मरीचि, मर और आपः लोकों की रचना की। द्युलोक से परे और स्वर्ग की प्रतिष्ठा वाले लोकों को अम्भ अन्तरिक्ष (प्रकाश लोक) को मरीचि, पृथिवीलोक को मर्त्यलोक और पृथिवी के नीचे (परे) आपः लोक है॥ २॥

[यहाँ लोकों के नाम और उनकी स्थितियाँ विचारणीय हैं। पृथ्वी को 'मर' मृत्युलोक कहा ही जाता है। अन्तरिक्ष मरीचि अर्थात् प्रकाश किरणों से युक्त लोक मान्य है। मरीचि का अर्थ शब्द कल्पद्रुम के अनुसार पापों, क्षुद्र जीवों या तमस् को मारने वाला कहा गया है। अन्तरिक्ष में ऐसे तेजस्वी मारक प्रवाह होने की पुष्टि वर्तमान विज्ञान भी करता है। अम्भ=अम् (प्राण) तथा भः (भरणकर्ता) से बना है। द्युलोक से परे यह अव्यक्त रूप से सूक्ष्म प्राण का भरण करने वाला लोक है, जिसकी प्रत्यक्ष प्रतिष्ठा के रूप में द्युलोक है। पृथ्वी के नीचे आपः लोक का भाव अनेक आचार्यों ने माना है। जो अधिक उचित प्रतीत नहीं होता।

वस्तुतः ऋग्वेद ने आपः को सृष्टि के मूल क्रियाशील प्रवाह के रूप में व्यक्त किया है। आपः सृष्टि का आधारभूत द्रव्य है, इसलिए ऋषि ने उसे 'या अधस्तात् ता आपः' जो आधाररूप है वह आपः है, ऐसा कहा है। वही हिरण्यगर्भ रूप है, जिसे वेद ने 'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां' (पृथ्वी और द्युलोक का आधार वही है) कहा है। आपः जल को भी कहते हैं; किन्तु वह अर्थ लेने से मंत्र का भाव सिद्ध नहीं होता। अस्तु, आपः को वेद की अवधारणा के आधार पर ही स्वीकार करना उचित है। इसे 'ताः' स्त्रीलिंग बहुवचन का संबोधन दिया गया है। इसी आपः तत्त्व के गर्भ में ब्रह्म का संकल्प बीज रूप में पककर विश्वरूप बनता है, यह गुण मातृसत्ता का होने से आपः को 'देवी आपः' या 'ताः आपः' कहना उचित है। इस उपनिषद् में भी अगले मंत्रों में आपः का उत्पादक प्रयोग बार-बार परिलक्षित होता है।]

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति। सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत्॥

(लोकों का निर्माण करने के बाद) उसने विचार किया कि लोकों का निर्माण तो हो गया, अब मुझे लोकपालों की भी रचना करनी चाहिए। ऐसा चिन्तन करके उसने आपः (तरल प्रवाह) में से ही एक पुरुष को समुद्धृत करके (निकालकर) उसे मूर्त्तिमान् बनाया॥ ३॥

[पुरुष संबोधन सृजनात्मक पुरुषार्थ करने में समर्थ के लिए प्रयुक्त होता है। ब्रह्म ने उस मूल प्रवाह में से विराट् पुरुष को मूर्तरूप दिया अर्थात् विराट् संरचना की सामर्थ्य को जाग्रत् किया। ऋषि ने उसे 'अद्भ्य एव समुद्धृत्य' कहा है। अद्भ्यः का सीधा अर्थ जल होता है; किन्तु यहाँ भी उसका प्रयोग (आपः) विश्व सृजनशील प्रवाह ही है।]

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डं मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः। प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ् निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः॥ ४॥

उस विराट् पुरुष को देखकर ईश्वर ने सङ्कल्पपूर्वक तप किया। उस तप के प्रभाव से (उस हिरण्यगर्भ स्वरूप) पुरुष के शरीर से सर्वप्रथम अण्डे की तरह एक मुख छिद्र प्रकट हुआ। मुख से वाक् इन्द्रिय और

वाक् से अग्नि प्रकट हुई। (तदुपरान्त) नाक के छिद्र प्रकट हुए। नाक के छिद्रों से प्राण और प्राण से वायु उत्पन्न हुआ। (फिर) नेत्र उत्पन्न हुए। नेत्रों से चक्षु (अर्थात् देखने की शक्ति) और चक्षु से आदित्य प्रकट हुआ। (तत्पश्चात्) कान प्रकट हुए, कानों से श्रोत्र (श्रवण की शक्ति) और श्रोत्रों से दिशाओं का प्रादुर्भाव हुआ। (फिर) त्वचा प्रकट हुई, त्वचा से रोम और रोमों से वनस्पति रूप ओषधियों का प्राकट्य हुआ। (इसके अनन्तर) हृदय, हृदय से मन, मन से चन्द्रमा उदित हुआ। तदुपरान्त नाभि, नाभि से अपान और अपान से मृत्यु प्रादुर्भूत हुई। (फिर) जननेन्द्रिय, जननेन्द्रिय से वीर्य और वीर्य से आपः (जल या सृजनशीलता) की उत्पत्ति हुई॥ ४॥

[यहाँ वीर्य से पुनः 'आपः' की उत्पत्ति कही गयी है। यह बड़ा वैज्ञानिक-मार्मिक कथन है। आपः सृष्टि कर्त्ता आधारभूत प्रवाह है। वीर्य में ही पुनः सृष्टि करने में समर्थ 'बीज' तैयार होता है। वीर्य उस सूक्ष्म आपः प्रवाह के चक्र को पुनः प्रयुक्त करने में सक्षम है-ऐसा ऋषि का अनुभव है। उसी आपः तत्त्व में चेतना पुनः रूप ग्रहण करने लगती है।]

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतंस्तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत्। ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन्प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति॥ १॥

परमेश्वर द्वारा रचे गये वे (अग्नि आदि) देवता इस (पूर्व वर्णित विश्व नियामक) महासमर में आ गिरे। उन्हें उन परमात्मा ने क्षुधा-पिपासा से युक्त कर दिया, तब उन देवों ने परमेश्वर से याचना की कि हमारे लिए कोई आश्रय स्थल विनिर्मित कीजिए (शरीरों का निर्माण कीजिए), जिससे हम अपना-अपना आहार ग्रहण कर सकें॥ १॥

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति॥ २॥

(देवताओं द्वारा ऐसा कहने पर) ईश्वर ने उनके लिए गो शरीर का निर्माण किया। उन्होंने कहा- यह हमारे लिए पर्याप्त (उपयुक्त) नहीं है, तब ईश्वर ने अश्व शरीर बनाया। उसे देखकर वे बोले- यह भी हमारे लिए पर्याप्त नहीं है॥ २॥

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीद्यथाऽऽयतनं प्रविशतेति॥ ३॥

तब परमेश्वर ने उनके लिए मनुष्य शरीर की रचना करके उन्हें (देवताओं को) दिखाया, तब वे सभी देवगण बोले बस यह बहुत सुन्दर रचना है। सचमुच ही मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है। परमेश्वर ने उन देवताओं से कहा-(इस मानव शरीर में) आप लोग अपने-अपने आयतन अर्थात् आश्रय स्थलों में प्रवेश करें॥ ३॥

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन्॥ ४॥

(परमात्मा की आज्ञा पाकर) अग्निदेव वाणी का रूप धारण कर मुख में प्रविष्ट हुए, वायुदेव प्राण बनकर नासिका के छिद्रों में प्रविष्ट हुए, सूर्यदेव चक्षु बनकर नेत्रों के गोलकों में प्रविष्ट हुए, दिशाएँ श्रोत्रेन्द्रिय बनकर कर्ण छिद्रों में प्रविष्ट हुईं, वनस्पतियाँ रोम बनकर त्वचा में प्रविष्ट हुईं, चन्द्रदेव मन बनकर हृदयक्षेत्र में प्रविष्ट हुए, मृत्युदेव अपान बनकर नाभि प्रदेश में प्रविष्ट हुए और आपः देवता वीर्य बनकर उपस्थ क्षेत्र में प्रविष्ट हुए ॥ ४॥

[यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि देवता विराट् पुरुष के जिन अंगों से जिस माध्यम से प्रकट हुए थे, उसी क्रम से उन्होंने मनुष्य के उन्हीं अंगों में स्थान बनाया।]

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति। ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति। तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः ॥ ५॥

(तब) क्षुधा और पिपासा ने परमेश्वर से कहा- (आपने सब देवताओं को तो स्थान दे दिया) हमारे लिए भी आश्रय स्थल की व्यवस्था करें। परमेश्वर ने कहा- मैं तुम दोनों को इन देवताओं में ही भाग प्रदान करता हूँ। जिस किसी देवता को कोई आहार (हवि) प्रदान किया जायेगा। उसमें तुम दोनों का भी हिस्सा होगा, (तभी से इन्द्रियों द्वारा आहार ग्रहण करने पर भूख और प्यास को भी परितृप्ति मिलती है।) ॥ ५॥

[ऋषि स्पष्ट करते हैं कि भूख-प्यास का कोई स्वतंत्र स्थान नहीं है, वे विभिन्न अंग-अवयवों में संव्याप्त देवशक्तियों के साथ संयुक्त हैं। शरीर विज्ञान के वर्तमान शोध-निष्कर्ष भी यही कहते हैं। भूख-प्यास शरीर के प्रत्येक कोश में होती है। जब तक पेट में अन्न-जल का भण्डार होता है, तब तक भूख-प्यास की अनुभूति नहीं होती। रोग की स्थिति में 'ड्रिप' द्वारा जल एवं पोषण पहुँचाने से भूख-प्यास शान्त हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि भूख- प्यास प्रत्येक जीवित कोश के साथ संयुक्त है।]

॥ तृतीयः खण्डः ॥

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति॥ १॥

इसके अनन्तर परमात्मा ने विचार किया कि समस्त लोकों और लोकपालों की सृष्टि तो सम्पन्न हो चुकी, अब इनके लिए अन्न की भी रचना करनी चाहिए॥ १॥

सोऽपोऽभ्यतपत् ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत। या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत्॥

फिर परमेश्वर ने अप् प्रवाह को अभितप्त किया। उस तपाये हुए (अमूर्त अप्) से जो मूर्त स्वरूप बना, वह मूर्त रूप ही वस्तुतः अन्न है॥ २॥

[ध्यान देने योग्य तथ्य है कि इस नयी सृष्टि में भी 'अप्' प्रवाह को ही तप्त अथवा परिपक्व किया गया।]

तदेतत्सृष्टं पराङत्यजिघांसत् तद्वाचा जिघृक्षत्तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम्। स यद्धैनद्वाचाऽग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत्॥ ३॥

उस सृष्ट (रचे हुए) अन्न ने उन (लोकपालों) की ओर से परे (पराङ्मुख होकर) भागने की चेष्टा की, तब उस पुरुष ने उसे (अन्न को) वाणी के द्वारा ग्रहण करना चाहा; किन्तु वह उसे वाणी द्वारा ग्रहण करने में असमर्थ रहा। यदि वह पूर्ण पुरुष अन्न को वाणी से ग्रहण कर लेता, तो अब (इस समय या इस युग में) भी मनुष्य वाणी से अन्न को बोलकर ही तृप्ति प्राप्त कर लिया करते॥ ३॥

तत्प्राणेनाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुम्।
स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत्॥ ४॥

इसके पश्चात् उसने अन्न को प्राण द्वारा पकड़ने की चेष्टा की, पर वह इसमें भी सफल न हो सका। यदि वह इसे प्राण से ग्रहण कर लेता, तो इस युग में भी पुरुष प्राण-प्रक्रिया से ही सूँघकर अन्न ग्रहण करके परितृप्त हो जाया करते॥ ४॥

तच्चक्षुषाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुम्।
स यद्धैनच्चक्षुषाग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्॥ ५॥

फिर उस पुरुष ने नेत्रों द्वारा अन्न ग्रहण करने अर्थात् देखकर ही अन्न की शक्ति ग्रहण करने की चेष्टा की; किन्तु ऐसा भी सम्भव न हो सका। यदि वह (पूर्ण पुरुष) उसे नेत्रों से ग्रहण कर सकता, तो अब भी मनुष्य अन्न को देखने मात्र से ही तृप्त हो जाया करते॥ ५॥

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम्।
स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्॥ ६॥

तदुपरान्त उस पुरुष ने उस अन्न को श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने का प्रयत्न किया; किन्तु वह उसमें भी सफल न हो सका। यदि वह (पूर्ण पुरुष) उसे कानों द्वारा ग्रहण कर सका होता, तो अब भी लोग इसे कानों द्वारा ग्रहण कर सकते (अर्थात् अन्न के विषय में सुनकर ही तृप्त हो जाते)॥ ६॥

तत्त्वचाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुम्।
स यद्धैनत्त्वचाग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्॥ ७॥

तब उस पुरुष ने इस (अन्न) को त्वचा द्वारा ग्रहण करने की चेष्टा की; किन्तु उसे इसमें भी सफलता न मिली। यदि वह उस समय त्वचा द्वारा अन्न को पकड़ने अर्थात् ग्रहण करने में सफल हो गया होता,तो अब भी लोग इसे छू लेने मात्र से ही परितृप्त हो जाते॥ ७॥

तन्मनसाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुम्।
स यद्धैनन्मनसाग्रहैष्यद्ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत्॥ ८॥

तदनन्तर उस पुरुष ने उसको मन द्वारा प्राप्त करने की चेष्टा की; लेकिन उसे इसमें भी सफलता नहीं मिली। यदि वह इसको मन द्वारा ग्रहण कर पाता, तो अब भी मनुष्य अन्न के चिन्तन मात्र से तृप्ति अनुभव करते॥ ८॥

तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुम्।
स यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत्॥ ९॥

इसके बाद उस पुरुष ने अन्न को शिश्न द्वारा ग्रहण करने का प्रयत्न किया; किन्तु इसके द्वारा भी वह उसे ग्रहण करने में समर्थ न हो सका। यदि वह उस समय उसे शिश्न द्वारा ग्रहण कर पाया होता, तो आज भी मनुष्य अन्न का विसर्जन करके ही तृप्त हो जाया करते॥ ९॥

तदपानेनाजिघृक्षत् तदावयत्। सैषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुरन्नायुर्वा एष यद्वायुः॥ १०॥

उसके बाद उस (पुरुष) ने अपान वायु के द्वारा (मुँह से होकर) इसे (अन्न को) ग्रहण करने की चेष्टा की, अपान वायु के द्वारा उसने अन्न को ग्रहण कर लिया। अपान वायु ही अन्न को ग्रहण करने में समर्थ है। जो अन्न के द्वारा जीवन की रक्षा करने में समर्थ है, वह यही वायु है॥ १०॥

[शंकराचार्य जी ने अपान का अर्थ मुख छिद्र किया है। वाचस्पत्यम् में अपान को प्राण का धारक कहा गया है। आयुर्वेद में पाचन, मल उत्सर्जन आदि कर्म अपान द्वारा ही सम्पन्न होना माना गया है। अतः वही अन्न का धारक है। अन्न के माध्यम से आयुष्य बढ़ाने वाला यही वायु अन्नायु कहा जाता है।]

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षत यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति॥ ११॥

उस परमात्मा ने विचार किया कि यदि इस पुरुष ने वाणी से बोलने का प्रयोजन पूरा कर लिया, यदि प्राण (वायु) से सूँघ लिया, यदि नेत्रों से देख लिया, यदि कानों से सुन लिया, यदि त्वचा से स्पर्श कर लिया, यदि मन से सोच लिया, यदि अपान से आहार ग्रहण कर लिया और उपस्थ से विसर्जन कृत्य पूर्ण कर लिया, तो मैं (उसके लिए) कौन रहा? (मेरे बिना ये कैसे रह पायेगा?) मैं किधर से प्रविष्ट होऊँ?॥ ११॥

[समस्त व्यवस्था बन जाने पर भी आत्मा के रूप में परमात्मा के अंश की स्थापना के बगैर व्यक्ति का अस्तित्व नहीं बनता। 'कोऽहम्' (फिर मैं कौन हूँ?) का उत्तर 'सोऽहम् इति' (मैं वही आत्म तत्त्व हूँ) यह तथ्य इस प्रकरण से सिद्ध होता है।]

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत । सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम्। तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्ना अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति॥ १२॥

वह परमात्मा मानव शरीर की सीमा मूर्धा (ब्रह्मरन्ध्र) को विदीर्ण करके (चीरकर) उसमें प्रविष्ट हो गया। विदीर्ण करके जाने के कारण इस द्वार को 'विदृति' नाम से जाना जाता है। यह विदृति नामक द्वार आनन्दप्रद अर्थात् आनन्दस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति कराने वाला है। उस परमेश्वर के तीन आश्रयस्थल और तीन स्वप्न हैं। उसका यही आवास स्थल है। यही आवासस्थल है, यही आवासस्थल है॥ १२॥

['यही वह स्थल है',यह बात तीन बार कही गयी है। बात पर बल देने के लिए 'त्रिवाचा' कहने की परम्परा है, अर्थात् यह देह निश्चित रूप से उस परमात्मा का आवास है। अन्य भाव यह है कि शरीर में तीन स्वचालित तंत्र, तीन ग्रंथियों में आत्मा का सीधा नियंत्रण कहा जा सकता है, वे हैं-मस्तिष्क में सहस्रार (रैटिकुलर एक्टिवेटिंग सिस्टम), हृदय (पेस मेकर) तथा नाभि ग्रंथि (पाचन-प्रजनन चक्र) अथवा शरीर, ब्रह्माण्ड और परम व्योम इन तीन स्थानों को उसके स्थान तथा स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण स्वरूपों को अथवा सृजन, पालन, परिवर्तन को उसके तीन स्वप्न कहा जा सकता है।]

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति।
स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्शमितीऽ॥ १३॥

मानव शरीर में प्रकट उस पुरुष ने भूतों (सृष्टि) को चारों ओर से देखा और यह कहा कि मेरे अतिरिक्त यहाँ दूसरा कौन है? मैंने इसे भली-भाँति देखकर यह बोध प्राप्त कर लिया है कि यह परम पुरुष परब्रह्म ही है॥ १३॥

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र।
इत्याचक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः॥ १४॥

मानुष-देह में उत्पन्न हुए उस पुरुष ने परब्रह्म परमेश्वर का पूर्व वर्णित रीति से साक्षात्कार कर लिया; इसलिए उसका मैंने दर्शन कर लिया, इस व्युत्पत्ति के आधार पर ही उस का नाम इदन्द्र है। परन्तु लोग उसे 'इन्द्र' कहकर ही सम्बोधित करते हैं, क्योंकि देवगण परोक्ष प्रिय होते हैं, देवगण परोक्ष प्रिय होते हैं॥ १४॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति। यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म॥ १॥

सर्वप्रथम यह जीव पुरुष के शरीर में गर्भरूप से विराजमान रहता है। पुरुष के शरीर में स्थित जो वीर्य है, वह पुरुष के समस्त अङ्गों से समुत्पन्न तेज है। पहले पुरुष आत्मस्थ तेज को अपने ही अन्दर पोषित करता है, तदुपरान्त जब वह इस वीर्यरूप तेज का स्त्री में सिञ्चन करके गर्भरूप में स्थित रहता है, यह इसका (जीव का) प्रथम जन्म है॥ १॥

[वर्तमान प्रजनन विज्ञान (जेनेटिक साइन्स) भी वीर्य में गुण-सूत्रों (क्रोमोजोम्स) तथा जीन्स (जीवाणुओं) में व्यक्तित्व की सभी विशेषताओं का समावेश मानता है। पुरुष के गर्भ में पुरुष का परिपाक यह उपनिषद् की अपनी दृष्टि है। पदार्थ विज्ञान की अपनी सीमाएँ हैं, ऋषि उसमें चेतना का संकल्पयुक्त तंत्र देखते हैं।]

तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति यथा स्वमङ्गं तथा तस्मादेनां न हिनस्ति। सास्यैतमात्मानमत्र गतं भावयति॥ २॥

जिस प्रकार स्त्री के अपने ही शरीर के अङ्ग होते हैं, उसी प्रकार पुरुष द्वारा सिञ्चित वह वीर्य भी स्त्री से तादात्म्य स्थापित कर लेता है। अस्तु, वह स्त्री को किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाता। वह स्त्री अपने उदर में स्थापित पति के (वीर्यरूप) आत्मा का पोषण करती है॥ २॥

[सृष्टि के आदि में विराट् पुरुष और प्रकृति संयोग जैसा ही यह संयोग होता है।]

सा भावयित्री भावयितव्या भवति तं स्त्री गर्भं बिभर्ति सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति। स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां सन्तत्या एवं सन्तता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म॥ ३॥

वह पालनकर्त्री स्त्री पालनीया (अपने पति द्वारा पालन करने योग्य) होती है। गर्भवती स्त्री प्रसव से पूर्व गर्भस्थ जीव का पालन करती है और वह पुरुष (पिता) प्रसवोपरान्त सर्वप्रथम (जातकर्म आदि संस्कार से) उस शिशु को सुसंस्कृत करता है। वह जन्मोपरान्त शिशु को इस प्रकार संस्कारित करके, उसकी उन्नति करके वास्तव में अपनी ही उन्नति करता है; क्योंकि इसी प्रकार लोक (चौदहों भुवन) प्रवृद्ध होते हैं। यही इस (जीव) का द्वितीय जन्म है॥ ३॥

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते। अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म॥ ४॥

इस आत्मा (पिता) का यह पुत्रस्वरूप आत्मा पुण्यों के लिए (पिता के) प्रतिनिधि रूप में प्रतिष्ठित किया जाता है। तदुपरान्त यह जीव (पितारूप) वयोवृद्ध होकर अपने लौकिक कर्त्तव्यों को पूरा करके इस लोक से प्रस्थान कर जाता है। इसके पश्चात् उसका पुनर्जन्म होता है। यह इस जीव का तृतीय जन्म है॥ ४॥

तदुक्तमृषिणा- गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच॥ ५॥

यही बात ऋषि (वामदेव) ने इन शब्दों में कही है- मैंने गर्भ की स्थिति में ही (अन्तःकरण, इन्द्रियादि) देवताओं के जन्मों का रहस्य भली-भाँति जान लिया है। मैं सैकड़ों लौहयुक्त (लोहे की तरह कठोर) पिंजड़ों में आबद्ध था। अब मुझे तत्त्वज्ञान प्राप्त हो गया है, अतः मैं बाज़ पक्षी के समान (उन पिंजड़ों को भेदकर) बाहर आ गया हूँ। इस प्रकार गर्भ में शयन करते हुए ऋषि वामदेव ने यह तथ्य प्रकट किया था॥ ५॥

[पदार्थ विज्ञानी पदार्थों की प्रयोगशाला में प्रवेश करके प्रयोगों द्वारा अनुसंधान करते हैं। चेतना विज्ञान के विज्ञानी ऋषिगण चेतना की प्रयोगशालाओं में संकल्पपूर्वक प्रवेश करके अनुसंधान करते थे। वे परम व्योम तक अपनी चेतना ले जाकर वेद के रहस्य प्रकट कर सकते थे और प्रकृति के सूक्ष्म घटकों में प्रवेश करके उनकी विशेषताओं का साक्षात्कार कर लेते थे। ऋषि वामदेव ने अपनी आत्म चेतना को इसी अनुसंधान के लिए संकल्पपूर्वक गर्भरूप में स्थापित किया तथा पूर्ण जागरूक रहकर चेतना के रहस्यों का अध्ययन किया, यही बात यहाँ स्पष्ट की गयी है।]

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः समभवत् समभवत्॥ ६॥

वे ऋषि वामदेव यह ज्ञान (तत्त्वज्ञान) प्राप्त करके इस शरीर के विनष्ट होने के पश्चात् (इस लोक से) उत्क्रमण कर (ऊर्ध्वगमन कर) स्वर्ग में समस्त सुखों का उपभोग करते हुए अमृतत्व को प्राप्त हो गये (अमर हो गये) ॥ ६॥

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतरः स आत्मा येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति॥ १॥

जिस आत्मा की हम उपासना-अर्चना करते हैं, वह कौन है? जिसके द्वारा प्राणी देखता है, जिसके द्वारा श्रवण करता है, जिसके द्वारा गन्धों को सूँघता है, जिसके माध्यम से वाक् शक्ति का विश्लेषण करता है और जिसके द्वारा स्वादु-अस्वादु का ज्ञान प्राप्त करता है, वह आत्मा कौन सा है?॥ १॥

यदेतत् हृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति॥ २॥

जो यह हृदय है, वही मन भी है। संज्ञान (सम्यक् ज्ञान), आज्ञान (आदेश देने की शक्ति), विज्ञान (विविध रूपों से जानने की शक्ति), प्रज्ञान (तुरन्त जान लेने की शक्ति), मेधा (धारणाशक्ति), दृष्टि, धृति (धैर्य), बुद्धि, मनीषा (मनन करने की शक्ति), जूति (वेग), स्मृति, संकल्पशक्ति, मनोरथ शक्ति, भोगशक्ति, प्राणशक्ति ये सभी शक्तियाँ परमात्म सत्ता की ही बोधक हैं॥ २॥

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव। बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥ ३॥

यह (प्रज्ञान स्वरूप आत्मा ही) ब्रह्म, इन्द्र और प्रजा का अधिपति है। यही समस्त देवगण तथा पृथिवी, वायु, अग्नि, आकाश और जल - पञ्च महाभूत हैं। यही इतर प्राणी तथा उनके कारणरूप बीज और अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, जरायुज प्राणी तथा गौ, अश्व, मनुष्य, पक्षी और हाथी सहित यह समस्त जड़-जङ्गम जगत् प्रज्ञानेत्र और प्रज्ञान में ही समाहित हैं। उस प्रज्ञान में ही समस्त लोक आश्रित हैं, प्रज्ञा ही उनका विलय स्थल है। अस्तु, प्रज्ञान को ही ब्रह्म कहा गया है॥ ३॥

स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वामृतः समभवत् समभवत् ॥ इत्योम्॥ ४॥

जो परमेश्वर को इस प्रकार जान लेता है, वह इहलोक से ऊर्ध्वगमन कर स्वर्ग में जाकर समस्त दिव्य भोगों को प्राप्त करता है और अन्ततः वह ज्ञानी अमरपद को प्राप्त करता है॥ ४॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता.....इति शान्तिः ॥

॥ इति ऐतरेयोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ कठोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखा के अन्तर्गत है। इसमें दो अध्याय तथा प्रत्येक में तीन-तीन वल्लियाँ हैं, जिनमें वाजश्रवा के पुत्र नचिकेता और यम के बीच हुए संवाद का सुप्रसिद्ध उपाख्यान है। वाजश्रवा ने यज्ञ की दक्षिणा में निरर्थक वस्तुओं का दान करके दान की चिह्न-पूजा करनी चाही। उनके पुत्र नचिकेता ने पिता को यथार्थ बोध कराने के लिए बार-बार पूछा कि आप मुझे किसको प्रदान करेंगे ? पिता ने खीजकर उन्हें यम को दान करने की बात कही।

नचिकेता यम से मिलते हैं, उन्हें प्रभावित कर लेते हैं। यम उनसे तीन वरदान माँगने को कहते हैं। वे पहले वरदान में पिता की प्रसन्नता तथा अनुकूलता तथा दूसरे वर में स्वर्ग प्रदायिनी अग्निविद्या माँगते हैं। यम उन्हें दोनों वर प्रदान करते हैं। तीसरे वर में नचिकेता आत्मविद्या जानना चाहते हैं। यम उन्हें प्रलोभन देकर विचलित करना चाहते हैं; किन्तु नचिकेता अविचलित बने रहते हैं। इतना प्रकरण प्रथम अध्याय की प्रथम वल्ली में है। द्वितीय, तृतीय वल्ली में यमदेव आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी विविध पक्ष समझाते हैं। दूसरे अध्याय में परमेश्वर की प्राप्ति में बाधाएँ, उनके निवारण, हृदय प्रदेश में उनकी स्थिति का वर्णन है। परमात्मा की सर्वव्यापकता संसाररूपी अश्वत्थ का विवेचन, योग साधना तथा ईश्वर विश्वास एवं मोक्षादि का वर्णन है। अन्त में ब्रह्मविद्या के प्रभाव से नचिकेता को ब्रह्म प्राप्ति होने का उल्लेख है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- अमृतनादोपनिषद्)

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमा वल्ली ॥

ॐ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ। तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस॥ १ ॥

(यह कथा प्रसिद्ध है कि) यज्ञफल की इच्छा रखने वाले वाजश्रवा ऋषि के पुत्र वाजश्रवस (उद्दालक) ने (विश्वजित् यज्ञ में) अपने सम्पूर्ण धनादि पदार्थों का दान कर दिया । उनका नचिकेता नाम का एक पुत्र था ॥ १ ॥

तꣳह कुमारꣳ सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाविवेश सोऽ मन्यत॥ २ ॥

जिस समय (ऋत्विजों द्वारा) दक्षिणा में प्राप्त (जराजीर्ण) गौएँ ले जायी जा रही थीं, उन्हें देखकर अल्प वयस्क नचिकेता के हृदय में श्रद्धा का संचार हुआ। उसने विचार किया ॥ २ ॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत्॥ ३ ॥

जो गौएँ जल पी चुकीं, घास खा चुकीं, जिनका दूध दुहा जा चुका और जो इन्द्रियों के शिथिल हो जाने पर प्रजनन-सामर्थ्य से रहित हैं (जो वृद्धावस्था से जीर्ण और निरर्थक हो चुकी हैं), उन गौओं का दान करने से मेरे पिता (वाजश्रवस) निश्चित ही सुखों से रहित नरकादि लोकों को प्राप्त करेंगे॥ ३ ॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति।
द्वितीयं तृतीयं तꣳहोवाच मृत्यवे त्वा ददामीति॥ ४॥

ऐसा विचार करके नचिकेता ने अपने पिता से कहा-हे तात! आप मुझे किसको दान स्वरूप देंगे? यही प्रश्न उसने दो-तीन बार पूछा। तब पिता ने क्रोधित होकर कहा-मैं तुझे मृत्यु (यम) को देता हूँ॥ ४॥

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः। किꣳस्विद्यमस्य कर्त्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥ ५॥

(पिता द्वारा ऐसा कहे जाने पर पुत्र नचिकेता ने विचार किया कि) अनेक शिष्यों तथा पुत्रों में मुझे प्रथम अर्थात् उत्तम स्थान प्राप्त है और बहुतों के बीच मैं मध्यम श्रेणी का हूँ। मुझे पिताजी द्वारा यमराज को दिया जा रहा है । यम का ऐसा कौन सा कार्य है, जो मेरे द्वारा सम्पन्न हो सकता है? ॥ ५॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः॥ ६॥

क्रोध में अनर्थमूलक वचन कहे जाने से व्यथित हो रहे अपने पिता से नचिकेता ने कहा - हे तात! आपके पिता - पितामहादि पूर्वजों ने जैसा आचरण किया है, उस पर विचार करें तथा वर्तमान काल के दूसरे श्रेष्ठ सदाचारी जैसा आचरण करते हैं, उस पर भी दृष्टिपात करें। मरणधर्मा मनुष्य फसल की भाँति (समय पर) पकता (जर्जर होकर मृत्यु को प्राप्त होता) है और पुनः (काल क्रमानुसार) उत्पन्न होता है ॥ ६॥

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैताꣳ शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्॥ ७॥

(पुत्र के वचन से सहमत होकर पिता ने नचिकेता को यम के पास भेज दिया । वे बाहर गये थे, नचिकेता प्रतीक्षारत रहे । लौटने पर यम की पत्नी ने उनसे कहा-) वैश्वानर अग्नि ही ब्राह्मण अतिथि रूप में घरों में प्रवेश करते हैं। सम्भ्रान्त जन उनका अर्घ्य-पाद्यादि द्वारा सत्कार करते हैं। अतः (अर्घ्य हेतु) जल प्रदान करें ॥ ७॥

आशाप्रतीक्षे सङ्गतꣳ सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान्।
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे॥ ८॥

जिनके घर में ब्राह्मण-अतिथि भोजन किये बिना निवास करता है, उस मन्दबुद्धि पुरुष की आशा (अज्ञात इष्टार्थ की प्राप्ति अभिलाषा), प्रतीक्षा (निश्चित इष्टार्थ की प्राप्ति प्रतीक्षा) को, उनके संयोग से उपलब्ध होने वाले फल को, कूपादि निर्माणजन्य फल को तथा समस्त पुत्र और पशु आदि को (आतिथ्य सत्कार से रहित) अतिथि नष्ट कर देता है ॥ ८॥

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽ नश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽ स्तु तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व॥ ९॥

(यम का कथन) हे ब्रह्मन्! आप सम्माननीय अतिथि हैं, अतः आपको नमन है। मेरा कल्याण हो । हमारे घर पर (आपने) जो तीन रात तक बिना भोजन किये ही निवास किया है, इसके फलस्वरूप एक-एक रात्रि के लिए आप हमसे तीन वर माँग लें॥ ९॥

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे॥ १०॥

(नचिकेता ने कहा) हे यमराज! मेरे पिता गौतम पुत्र उद्दालक, मेरे प्रति शान्त संकल्प वाले, प्रसन्न मन वाले तथा क्रोध रहित हो जाएँ। आपके द्वारा वापस घर भेजे जाने पर मुझे (मेरे पिता) पहचानकर मेरे साथ पूर्ववत् प्रेमपूर्ण व्यवहार करें, (आपके द्वारा प्रदत्त) तीन वरदानों में से यह प्रथम वर माँगता हूँ॥ १०॥

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः।
सुखꣳरात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्॥ ११॥

(हे नचिकेता!) आपको मृत्यु के मुख से मुक्त देखकर हमारे द्वारा प्रेरित अरुणपुत्र उद्दालक पूर्ववत् ही पहचान लेंगे। (यह हमारा पुत्र नचिकेता है ऐसा मानते हुए) वे दुःख और क्रोध से रहित होकर शेष रात्रियों में सुखपूर्वक शयन करेंगे॥ ११॥

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥ १२॥

नचिकेता बोले- हे मृत्युदेव! स्वर्ग लोक भयकारक नहीं है। वहाँ मृत्युरूप आपका भी भय नहीं रहता, न वहाँ वृद्धावस्था (संसार की भाँति) डराती है। स्वर्गलोक में मनुष्य भूख-प्यास को पारकर, शोक से निवृत्त होकर आनन्द प्राप्त करते हैं॥ १२॥

स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वꣳश्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण॥ १३॥

हे यमराज! आप स्वर्ग के साधनभूत अग्निविद्या को भली-भाँति जानते हैं। अतः मुझ श्रद्धालु को वह अग्निविद्या भली प्रकार समझाएँ, जिसके द्वारा स्वर्गलोक को प्राप्त हुए पुरुष अमरत्व को प्राप्त करते हैं। इस अग्नि विद्या को (मैं) द्वितीय वर के रूप में माँगता हूँ॥ १३॥

[सूत्र है 'श्रद्धया सत्यमाप्यते'-श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है। जैसे आँख से दृश्य तथा कान से शब्द ग्रहण किये जाते हैं, वैसे ही सत्य को श्रद्धा द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है। इसलिए नचिकेता ने अपनी श्रद्धा का हवाला देकर विद्यादान माँगा।]

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम्॥ १४॥

नचिकेता के इस प्रकार कहने पर मृत्युदेव ने कहा - हे नचिकेता! स्वर्ग प्रदायिनी अग्निविद्या को विधिपूर्वक जानने वाला मैं उसे विस्तारपूर्वक कहता हूँ, तुम उस विद्या को मुझसे भली प्रकार(एकाग्र मन से)समझ लो। अनन्त लोक (स्वर्ग लोक) को प्राप्त कराने वाली, संसार की आधार स्वरूपा इस (अग्नि)विद्या को गुहा में स्थित समझो॥ १४॥

[गुहा में रखी वस्तु 'गुह्य' अर्थात् बहुत कठिनाई से प्राप्त होने वाली होती है। अन्तःकरण को भी गुहा कहा गया है। स्वर्ग प्रदायिनी अग्नि विद्या के अन्तःकरण में स्थित होने का संकेत यमाचार्य ने किया है। जिस प्रकार काष्ठ में लौकिक अग्नि समाहित रहती है, उसी प्रकार अन्तःकरण में स्वर्ग प्रदायिनी ऊर्जा सन्निहित रहती है।]

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः॥ १५॥

तदनन्तर यमाचार्य ने लोकों की आदिकारण भूत अग्नि विद्या को नचिकेता के समक्ष कहा। जिस प्रकार की, जितनी इष्टकाओं (ईंटों या इकाइयों) का जिस प्रकार चयन किया जाना है, उसकी सम्पूर्ण

विधि को समझाया। नचिकेता ने भी जैसा उनसे कहा गया था, ठीक उसी प्रकार यमदेव के समक्ष पुनः सुना दिया। तब (नचिकेता की ग्राह्य क्षमता से) संतुष्ट होकर यमदेव ने फिर कहा ॥ १५॥

[वेद में 'इष्टका' शब्द स्थूल ईंटों के अतिरिक्त 'इष्ट' वस्तु के निर्माण में प्रयुक्त सूक्ष्म इकाइयों के लिए भी प्रयुक्त होता है। यहाँ स्थूल ईंटों के स्थान पर अग्नि की सूक्ष्म इकाइयों का भाव ही ग्राह्य है । लौकिक अग्नि में भी विभिन्न इकाइयाँ शामिल होती हैं। इनमें ताप (कैलोरी), प्रकाश (ल्यूमेन) तथा रंग (कलर स्पेक्ट्रम) आदि सबको पता है । स्थूल अग्नि के अनेक अन्य गुण भी उसकी इकाइयाँ कहे जा सकते हैं। यहाँ स्वर्ग प्रदायिनी दिव्य अग्नि की इकाइयों तथा उनके चयन की बात कही गयी है। गुहा अन्तःकरण में स्थित ऊर्जा की इकाइयाँ बीज रूप में स्थित दिव्य प्रवृत्तियाँ कही जा सकती हैं। उन्हीं के जागरण एवं संयोजन से व्यक्ति, विद्वान्, कलाकार, वैज्ञानिक आदि स्तरों तक पहुँच जाता है। यमदेव ने नचिकेता को स्वर्ग तक पहुँचाने वाली दिव्य अग्नि-ऊर्जा के लिए आवश्यक सूक्ष्म इकाइयों तथा उनके संयोजन का रहस्य बतलाया है ।]

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निःसृंकां चेमामनेकरूपां गृहाण॥ १६॥

महात्मा यमाचार्य ने प्रसन्न होकर नचिकेता से कहा- आज (माँगे गये तीन वरों के अतिरिक्त) एक वर और भी देता हूँ। मेरे द्वारा कही गयी यह अग्नि विद्या अब तुम्हारे नाम से ही प्रख्यात होगी। तुम इस अनेक रूपों वाली शब्दरूपिणी (ज्ञान तत्त्वमयी) माला को स्वीकार करो॥ १६॥

[नचिकेता का अर्थ होता है 'न चिकेतते विचेष्टते' अर्थात् जो प्रपंच से अलिप्त है। अलिप्त व्यक्ति ही दिव्य अनुशासन को धारण कर सकता है । विषयों में लिप्त व्यक्ति अपनी प्रतिभा या शक्तियों को सांसारिक कामनाओं के लिए ही लगाता रहता है , दिव्य अनुशासन पालन में लगाने के लिए उन्हें सुरक्षित नहीं रख पाता। नचिकेता ने पिता की लौकिक आकांक्षाओं या चतुराइयों से अलिप्त रहकर स्वयं को उच्च आदर्शों के प्रति समर्पित किया, इसी आधार पर उसे 'यम' के निकट पहुँचने तथा उनके अनुदान पाने का लाभ मिल सका। यम दिव्य अनुशासन के देवता हैं। ऋग्वेद १०.१३५ में उन्होंने प्रश्न किया है कि नचिकेता किस रथ (कैरियर) के माध्यम से यहाँ पहुँचा ? प्रपंच से अलिप्त रहकर दिव्य अनुशासन के लिए समर्पण की वृत्ति ही वह आधार है, जिससे नचिकेता को दिव्य अग्नि विद्या प्राप्त हुई। इसलिए उस विद्या को 'नाचिकेताग्नि' (लिप्त न होने वाले की विद्या) नाम दिया जाना ही उचित है ।]

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाꣳ शान्तिमत्यन्तमेति॥ १७॥

त्रिविध 'नाचिकेत' विद्या का ज्ञाता तीन संधियों को प्राप्त होकर, तीन कर्म सम्पन्न करके जन्म-मृत्यु से पार हो जाता है । वह ब्रह्म यज्ञरूप स्तुत्य देव का साक्षात्कार करके निश्चित रूप से अत्यंत (परम) शान्ति को प्राप्त करता है॥ १७॥

[नाचिकेत विद्या को त्रिविध कहा गया है, आचार्यों ने इसे प्राप्ति, अध्ययन तथा अनुष्ठान तीन विधियों से युक्त कहा है । साधक को इन तीनों के साथ आत्म चेतना की संधि करनी पड़ती है अथवा स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरों को इस विद्या से अनुप्राणित करना पड़ता है। इस प्रक्रिया को त्रिसंधि प्राप्ति कहा जा सकता है । कुछ आचार्यों ने माता-पिता एवं गुरु से युक्त होने को त्रिसंधि कहा है । तीन कर्म सृजन, पालन, समाहरण अथवा यज्ञीय संदर्भ में देव पूजन, संगतिकरण एवं दान कहे जाते हैं। इन सबको दिव्याग्नि विद्या के अनुरूप ढालते हुए साधक जन्म-मरण चक्र से ऊपर उठ जाता है ।]

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वाꣳश्चिनुते नाचिकेतम् ।
स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥ १८॥

जो त्रिणाचिकेत विद्या के ज्ञाता इस अग्नि के इन तीनों स्वरूपों को जानकर नाचिकेत अग्नि का चयन करते हैं, वे शरीर त्याग से पूर्व ही मृत्यु के पाशों को काटकर स्वर्ग लोक का आनन्द प्राप्त करते हैं ॥१८॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व॥ १९॥

हे नचिकेता! यह स्वर्ग प्रदान करने वाली अग्नि विद्या है, तुमने द्वितीय वर के द्वारा जिसका वरण किया है । मनुष्य (आज से) इस अग्नि को तुम्हारे ही नाम से जानेंगे और प्रयोग करेंगे। हे नचिकेता! (अब तुम स्वअभिलषित) तीसरे वर को माँग लो ॥ १९ ॥

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥ २०॥

(नचिकेता ने कहा-) मनुष्य के मृत हो जाने पर आत्मा का अस्तित्व रहता है, ऐसा ज्ञानियों का कथन है और अन्य कुछ की मान्यता यह है कि मृत्यु के पश्चात् अस्तित्व नहीं रहता । आपके उपदेश से मैं इस संदेह से मुक्त होकर आत्म-रहस्य को भली प्रकार जान सकूँ। वरों में यही मेरा तीसरा वर है ॥ २० ॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्॥ २१॥

(यम ने कहा-) हे नचिकेता ! पूर्व काल में देवताओं ने भी इस आत्मा के विषय में संशय किया था । निश्चित ही यह आत्मतत्त्व नामक धर्म (विषय) सरलतापूर्वक जानने योग्य नहीं है । हे नचिकेता! तुम मुझसे कोई अन्य वर माँग लो, इस वर से हमें मुक्त कर दो ॥ २१ ॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्॥ २२॥

(नचिकेता ने कहा-) हे मृत्युदेव ! इस आत्मतत्त्व के विषय में देवताओं को भी संशय हुआ था। आपका भी यही कथन है कि यह विषय सहजता से जानने योग्य नहीं है । विद्वज्जनों के लिए भी अगम्य होने से इसे जाना नहीं जा सकता, अतः इस आत्मज्ञान का उपदेष्टा भी आपके समान दूसरा (मुझे) नहीं मिल सकता तथा न इसके समकक्ष दूसरा कोई वर ही है (जो मैं आप से माँग लूँ) ॥ २२ ॥

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि॥ २३॥

(यमाचार्य उसे प्रलोभित करते हुए बोले-) हे नचिकेता ! तुम सौ वर्ष पर्यन्त जीवन धारण करने वाले पुत्र और पौत्रों को, बहुत से (गौ आदि) पशुओं को तथा हाथी, स्वर्ण और अश्वों को (हमसे) माँग लो । पृथ्वी के बड़े विस्तार वाले साम्राज्य की माँग कर लो । स्वयं भी जितने वर्षों तक जीवनयापन की आकांक्षा हो, जीवित बने रहो ॥ २३ ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि॥ २४॥

इस वर की तरह यदि कोई अन्य वर तुम्हारी दृष्टि में हो, तो उसे माँग लो । धन-सम्पदा तथा अनन्त काल के निमित्त उपयोगी सुख-साधनों (चिरस्थायी आजीविका) को माँग लो । हे नचिकेता ! तुम इस

विस्तृत भूमण्डल पर वृद्धि प्राप्त करो, हम तुमको कामनाओं (भोगों) का इच्छानुकूल उपभोग करने वाला बना देते हैं ॥ २४॥

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामाꣳ श्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः प्ररिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः॥ २५॥

हे नचिकेता ! मर्त्यलोक में जो-जो भोग्य पदार्थ दुर्लभ हैं, उन सभी को तुम स्वेच्छा पूर्वक माँग लो। रथ और (कर्ण प्रिय) वाद्य विशेषों से युक्त इन स्वर्ग की अप्सराओं को प्राप्त कर लो, मनुष्यों द्वारा इस प्रकार की स्त्रियाँ प्राप्त करना सम्भव नहीं है । हमारे द्वारा प्रदत्त इन रमणियों से आप अपनी सेवा-शुश्रूषा कराएँ; किन्तु हे नचिकेता ! मृत्यु के पश्चात् आत्मा का क्या होता है ? यह हमसे न पूछें ॥ २५॥

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥ २६॥

(नचिकेता ने कहा) हे यमराज! जिन साधनों का आपने वर्णन किया है, वे 'कल रहेंगे भी या नहीं', इसमें पूरा संदेह है । साथ ही ये मनुष्य की इन्द्रिय-सामर्थ्य को भी क्षीण कर डालते हैं । जिसे आप दीर्घ जीवन के रूप में हमें देना चाहते हैं, वह सम्पूर्ण जीवन भी (भोगों के लिए) कम ही है। (अतः) रथादि वाहन एवं (अप्सराओं के) नाच-गान आपके ही पास रहें अर्थात् मुझे इनकी कोई कामना नहीं ॥ २६॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७॥

मनुष्य को धन से संतुष्ट नहीं किया जा सकता । जहाँ हमें आपके दुर्लभ दर्शन-लाभ की प्राप्ति हो गई, वहाँ धन तो हम (अपने पुरुषार्थ से) उपलब्ध कर ही लेंगे। जब तक आप यमपुरी का शासन करते रहेंगे, तब तक हम जीवित ही रहेंगे, पर हमारा प्रार्थनीय वर तो वह आत्मज्ञान से सम्बन्धित ही है॥ २७॥

अजीर्यतामृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यःक्वधःस्थःप्रजानन्।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत॥ २८॥

हे यमराज ! वृद्ध होकर मृत्यु को प्राप्त होने वाला ऐसा कौन विवेकशील मनुष्य होगा, जो आप जैसे जरा-मरण रहित देवताओं के दुर्लभ सान्निध्य को प्राप्त करके भी अप्सराओं के सौन्दर्य, प्रेम तथा आमोद-प्रमोदजन्य क्षणभंगुर सुखों की अभिलाषा करेगा ? ॥ २८॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते॥ २९॥

हे मृत्युदेव! जिस आत्मतत्त्व के विषय में देवता भी सन्देह करते हैं कि आत्मा का अस्तित्व है या नहीं है, उसके विषय में आपका जो भी सुनिश्चित मन्तव्य हो, उसे हमें बताएँ । यह जो अत्यन्त गूढ़ तथा मेरे हृदय पटल पर स्थित वर है, इसके अतिरिक्त अन्य किसी वर की नचिकेता को कामना नहीं॥ २९॥

[नचिकेता- अलिप्त व्यक्तित्व सम्पन्न व्यक्ति ही इस प्रकार के प्रलोभनों को नकार सकता है । इसी आत्म-निष्ठा के आधार पर वह आत्मतत्त्व की प्राप्ति का अधिकारी बनता है ।]

॥ द्वितीया वल्ली ॥

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳसिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ १ ॥

यमराज ने नचिकेता से कहा- श्रेय (कल्याण) का मार्ग और प्रेय (सांसारिक भोग्य पदार्थों) का मार्ग दोनों पृथक्-पृथक् हैं । भिन्न-भिन्न परिणाम देने वाले दोनों श्रेय और प्रेय मार्ग मनुष्य को अपनी-अपनी ओर आकर्षित करते हैं । उन दोनों में से श्रेय (कल्याण) मार्ग को स्वीकार करने वाले साधकों को श्रेष्ठ फल प्राप्त होते हैं और जो सांसारिक भोगों से युक्त प्रेय मार्ग के पथिक हैं, वे मानव जीवन के महान् उद्देश्य से भटककर पतन-पराभव को प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥ २ ॥

श्रेय और प्रेय दोनों ही मार्ग मनुष्य के समक्ष उपस्थित होते हैं । बुद्धिमान् मनुष्य उन दोनों को भली प्रकार विचार कर उन्हें पृथक्-पृथक् रूप से जान लेते हैं । विवेकशील साधक निश्चित रूप से प्रिय लगने वाले भोग-साधनों की अपेक्षा कल्याण पथ को श्रेयस्कर मानकर उसे ही वरण करते हैं । मन्दमति अविवेकीजन योग (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त वस्तु के संरक्षण) की अभिलाषा से बाह्याकर्षणों के वशीभूत होकर प्रेय-पथ को ही स्वीकार करते हैं ॥ २ ॥

स त्वं प्रियान्प्रियरूपाꣳश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥ ३ ॥

हे नचिकेता! सांसारिक भोग-विलास के नश्वर साधनों को तुमने विचारपूर्वक त्याग दिया है। भौतिक जगत् के जिन मायावी प्रलोभनों में अज्ञानी पुरुष जकड़े रहते हैं, तुम उन बन्धनों में नहीं पड़े ॥ ३ ॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽ लोलुपन्त ॥ ४ ॥

जो (श्रेय और प्रेय मार्ग) विद्या और अविद्या के रूप में जाने गये हैं, वे दोनों परस्पर बिल्कुल विपरीत और भिन्न-भिन्न फल देने वाले हैं । हे नचिकेता ! तुमको हम श्रेय (आध्यात्मिक) मार्ग का साधक मानते हैं, क्योंकि तुम्हें (चकाचौंध पैदा करने वाले) भोग-विलास के साधनों ने प्रलोभित नहीं किया ॥ ४ ॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ५ ॥

अविद्या-अज्ञानान्धकार के मध्य में स्थित होते हुए भी स्वयं को विद्वानों और विशेषज्ञों की श्रेणी का मानने वाले मूढ़जन, अनेक प्रकार के कुटिल मार्गों का सहारा लेते हुए (ठीक उसी प्रकार) ठोकरें खाते फिरते हैं, जैसे अन्धों के द्वारा ले जाये जाने वाले अन्धे ॥ ५ ॥

न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ ॥

धन के व्यामोह से जकड़े हुए विवेकहीन, प्रमादी मनुष्य के अन्तरंग में पारलौकिक विचारधारा का अभ्युदय नहीं होता; क्योंकि वह जीवन के अस्तित्व को प्रत्यक्षवाद पर ही आधारित मानता है । आध्यात्मिक जीवन के अस्तित्व को नकारने वाले शरीराभिमानी मनुष्य, बार-बार जन्म-मरण के बन्धन में घूमता हुआ हमारे (यमराज के) वशीभूत होकर रहता है ॥ ६ ॥

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽ पि बहवो यं न विद्युः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥

जन साधारण को आत्म-तत्त्वज्ञान के संबंध में जानने का सुअवसर तक नहीं मिलता, अगर संयोग से ऐसा अवसर मिला भी, तो अधिकांश ज्ञान-प्रकाश के अभाव में अपने जीवन को तदनुरूप ढालने में सक्षम नहीं होते । उस तत्त्वज्ञान का भली प्रकार प्रतिपादन करने वाले भी अतिदुर्लभ ही हैं । उस ज्ञान को ग्रहण करने वाला भी कोई कुशल जिज्ञासु ही सुपात्र होता है । विशेषज्ञ आचार्य द्वारा तत्त्वज्ञान से अनुप्राणित तत्त्ववेत्ता भी अति दुर्लभ ही होता है ॥ ७ ॥

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ ॥

अनधिकारी मनुष्य (जिसने इसका भली प्रकार साक्षात्कार नहीं किया) द्वारा कहा गया यह आत्मतत्त्व सहजता से जानने योग्य नहीं। किसी तत्त्ववेत्ता आचार्य द्वारा न समझाये जाने पर भी इस सम्बन्ध में कोई प्रगति नहीं हो पाती। यह विषय बड़ा गूढ़ है, अतएव वह तर्क-वितर्क के दायरे में सीमाबद्ध नहीं है ॥ ८ ॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥

हे प्रिय नचिकेता! श्रेष्ठ आत्मज्ञान के निमित्त शुष्क तर्क-वितर्क की ऊहापोह से भिन्न आपकी बुद्धि प्रखर है, ऐसी मेधा शक्ति को तर्क द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता । हे नचिकेता! आप सचमुच ही यथार्थ सत्य के अन्वेषक हैं, (हमारी अन्तरंग इच्छा यही है कि) आप जैसे जिज्ञासु शिष्य ही हमें प्राप्त हों ॥ ९ ॥

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥ १० ॥

मैं जानता हूँ कि यह कर्मफलजन्य सम्पदा नाशवान् है, नश्वर साधनों के द्वारा उस नित्य (आत्मतत्त्व) को प्राप्त किया जाना शक्य नहीं । मेरे द्वारा नाचिकेत अग्नि का चयन किया गया है । उन्हीं अनित्य पदार्थों अथवा साधनों द्वारा मैंने अभिलषित नित्य आत्मतत्त्व (यम-पद) को प्राप्त किया है ॥ १० ॥

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् ।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥ ११ ॥

हे नचिकेता ! आपने भोग्य साधनों से भरपूर यज्ञ के चिरस्थायी फल से युक्त, असीम निर्भयता से युक्त, स्तुत्य और प्रशंसनीय प्रतिष्ठा से सम्पन्न स्वर्गलोक को धैर्यपूर्वक छोड़ दिया है। यह आपका अति बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय है ॥ ११ ॥

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥

विशिष्ट तपः साधना द्वारा देखे जाने योग्य, सांसारिक विषय-वासनाओं से परे अत्यन्त गुप्त स्थान में स्थित, बुद्धिरूपी गुफा में निहित, गहन स्थल में विद्यमान अर्थात् अन्तःकरण में विराजमान सनातन उस दिव्य गुण सम्पन्न परमात्मा को अध्यात्मयोग के द्वारा जानकर बुद्धिमान् मनुष्य हर्ष और शोक से मुक्त हो जाता है ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।
स मोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा विवृतꣳ सद्म नचिकेतसं मन्ये॥ १३॥

हे नचिकेता! तुम्हारे जैसे साधक इस आत्मिक ज्ञान को सुनकर, इसे भली प्रकार ग्रहण कर तथा विवेकपूर्वक इस पर चिंतन करके धारण करने योग्य इस सूक्ष्म आत्मतत्त्व को समुचित रूप से जान लेते हैं। वे इस आनन्दस्वरूप आत्मा को पाकर चिरन्तन आनन्द में लीन हो जाते हैं । तुम्हारे निमित्त तो ब्रह्म प्राप्ति का द्वार सदैव खुला हुआ है, ऐसा मेरा मन्तव्य है ॥ १३ ॥

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥ १४॥

(नचिकेता का कथन-) हे यमराज! जिस आत्मतत्त्व को आप यज्ञादि धर्मकृत्यों तथा शास्त्र-निषिद्ध कर्मों से पृथक् मानते हैं, जो कार्य-कारणरूप जगत् एवं भूत, भविष्यत् (तथा वर्तमानकाल) से भी भिन्न है, उसी परम आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में हमें बताएँ ॥ १४ ॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५॥

(यम ने कहा-) सभी वेद जिस ब्राह्मी स्थिति (परमपद) का बार-बार उल्लेख करते हैं । सभी तपः साधनाएँ जिस स्थिति का अनुभव कराती हैं, जिसे प्राप्त करने की अभिलाषा से साधकगण ब्रह्मचर्यादि व्रतों का पालन करते हैं । हे नचिकेता! मैं तुमसे उसी स्थिति का संक्षेप में वर्णन करता हूँ ।"ॐ" ही वह परमपद है ॥ १५ ॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥ १६॥

यह ॐ ही अक्षर ब्रह्म है । यही ॐ परब्रह्म अर्थात् सर्वोत्तम है । इसी अक्षर को भली प्रकार जानकर जो साधक जिस अभीष्ट की कामना करते हैं, उन्हें उसकी प्राप्ति होती है ॥ १६ ॥

एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥ १७॥

यह प्रणव (ओङ्कार) ही आत्म साक्षात्कार का श्रेष्ठ अवलम्बन है । यही परमात्मा के ध्यान का आधार होने से सर्वश्रेष्ठ है। इस ब्रह्मप्राप्ति के आश्रय को जानकर साधकगण ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं॥

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यःशाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ १८॥

यह नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा न तो उत्पन्न होता है और न मृत्यु को ही प्राप्त होता है। यह आत्मा न तो किसी अन्य से उत्पन्न हुआ है और न इससे ही कोई उत्पन्न हुआ है । यह आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत

और क्षय तथा वृद्धि से रहित है । शरीर के नष्ट होने पर भी यह आत्मा विनष्ट नहीं होता ॥ १८॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुः हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायः हन्ति न हन्यते॥ १९॥

यदि हनन करने वाला व्यक्ति अपने को मारने में सक्षम मानता है और हनन किया हुआ व्यक्ति स्वयं को मारा हुआ मानता है, तो वे दोनों ही (आत्मतत्व के सम्बन्ध में) अनभिज्ञ हैं; क्योंकि यह आत्मा न तो किसी को विनष्ट ही करता है और न किसी के द्वारा इसे मारा जाना शक्य है ॥ १९॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः॥ २०॥

परमात्म चेतना इस जीवात्मा की हृदयरूपी गुफा में अणु से भी अतिसूक्ष्म और महान् से भी अति महान् रूप में विराजमान है। निष्काम कर्म करने वाले तथा शोकरहित कोई विरले साधक ही, परमात्मा की अनुकम्पा से ही उसे देख पाते हैं॥ २०॥

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥ २१॥

एक स्थान पर विद्यमान होते हुए भी वह परम चेतना दूर चली जाती है और शयन करते हुए भी सभी जगह गमन करती है। हर्षयुक्त और हर्षरहित उस देव को मेरे अतिरिक्त अन्य कौन भली प्रकार जानने में सक्षम हो सकता है॥ २१॥

अशरीरꣳशरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ २२॥

जो शरीरों में शरीररहित तथा स्थिर न रहने वालों (अनित्यों) के मध्य नित्यस्वरूप में स्थित है। उस महान् सर्वव्यापक आत्मतत्त्व को जानकर बुद्धिमान् मनुष्य शोकातुर नहीं होते ॥ २२॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम्॥ २३॥

परमात्म तत्त्व को मात्र धर्मोपदेश सुनकर, स्तुति-वन्दना के रूप में उसकी चर्चा करके तथा शास्त्रों का अध्ययन करके नहीं जाना जा सकता। जिस पर उसकी कृपा होती है, वही उसे जान पाता है । वह परमात्मतत्त्व अधिकारी साधक के समक्ष अपने वास्तविक स्वरूप को स्वयं ही अभिव्यक्त कर देता है॥

[जड़ पदार्थपरक ज्ञान सुनकर या पुस्तक से पढ़कर प्राप्त किया जा सकता है । आत्म तत्त्व परक ज्ञान-चेतन होता है. वह सत्यात्र का स्वयं वरण करता है। वह कैसे साधक का वरण करता है , यह तथ्य अगले मंत्र में स्पष्ट किया गया है ।]

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २४॥

जो मनुष्य दुष्कर्मों के पाप से निवृत्त नहीं है, जिनकी इन्द्रियाँ स्वयं के नियन्त्रण में नहीं हैं तथा जिनके मन पूरी तरह से सांसारिकता से निवृत्त नहीं हैं, ऐसे व्यक्ति प्रकृष्ट ज्ञानवान् होते हुए भी परिष्कृत जीवन के अभाव में इस आत्मतत्त्व को जानने में समर्थ नहीं होते॥ २४॥

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥ २५॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सभी जिस परमात्मा का ओदन (अन्न-आहार) माने जाते हैं, स्वयं मृत्यु (काल) जिसका उपसेचन (शाकादि या जल की तरह आहार का सहयोगी) है, वह जहाँ भी है, जैसा है, उसे भला कौन जान सकता है ॥ २५॥

[इस मन्त्र में 'ब्रह्म एवं क्षत्र' सम्बोधन उपलक्षण रूप में प्रयुक्त प्रतीत होते हैं। ब्रह्म से सहज धर्मानुशासन अथवा विचार शक्ति का तथा क्षत्र से रक्षण या पुरुषार्थ की शक्ति का बोध होता है। इस प्रकार ये सम्बोधन जीव मात्र की विशेषताओं के प्रतीक सिद्ध होते हैं। वह परमात्म तत्त्व समय आने पर जीव मात्र को मृत्यु के संयोग से अपने अन्दर समाहित कर लेता है।]

॥ तृतीया वल्ली ॥

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १॥

(यम ने कहा-) ब्रह्मवेत्ताओं का ऐसा कथन है कि श्रेष्ठ कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त मनुष्य शरीर में सर्वश्रेष्ठ स्थल अन्तःकरण रूपी गुहा में स्थित कर्मफल को भोगने वाले दो परस्पर भिन्न तत्त्व छाया और धूप के सदृश विद्यमान हैं। जो तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करने वाले और पञ्चाग्नि (गार्हपत्य, दक्षिण, आहवनीय, सभ्य और आवसथ्य) विद्या के साधक हैं, उनका भी ऐसा ही कथन है ॥ १॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् । अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतꣳ शकेमहि ॥

जो श्रेष्ठ कर्मों के निष्पादक, साधकों को भवसागर से पार करने में समर्थ सेतु स्वरूप हैं, उस नाचिकेत अग्नि को हम भली प्रकार समझें। संसार रूप समुद्र से पार जाने के इच्छुक साधकों के लिए जो भयरहित सर्वश्रेष्ठ आश्रय (अवलम्बन) है, उस अक्षर ब्रह्म (नाशरहित परमात्मतत्त्व) को जानने में हम सक्षम हों ॥ २॥

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ ३

हे नचिकेता! आप आत्मतत्त्व को रथी (शरीररूपी वाहन का स्वामी), शरीर को रथ (वाहन), बुद्धि को रथ संचालक सारथि तथा मन को (इन्द्रियों रूपी अश्वों को वश में करने वाली) लगाम जानें॥ ३॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाँस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

मनीषियों ने इन्द्रियों को अश्व की संज्ञा दी है तथा (रूप-रस-गन्धादि) विषयों को गोचर (इन्द्रियों रूपी अश्वों के विचरण करने का मार्ग) बतलाया है। इस प्रकार शरीर, इन्द्रिय एवं मन से युक्त आत्मा को (सुख-दुःखादि का अनुभव करने वाला) भोक्ता बताया गया है॥ ४॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५॥

जो सदा विवेकहीन बुद्धि वाला और अनियन्त्रित इन्द्रियों वाला होता है, उसकी इन्द्रियाँ उसी प्रकार उच्छृङ्खल हो जाती हैं, जिस प्रकार अविवेकी सारथि के दुष्ट अश्व॥ ५॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥ ६॥

प्रन्तु जो विवेकशील बुद्धि वाले तथा नियन्त्रित मन वाले हैं, उनकी इन्द्रियाँ उसी प्रकार नियन्त्रित रहती हैं, जिस प्रकार श्रेष्ठ सारथि के वश में अच्छे घोड़े॥ ६॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति सꣳसारं चाधिगच्छति॥ ७॥

जो अविवेकयुक्त बुद्धि वाला, निग्रहरहित मन वाला और सदैव अशुद्ध रहने वाला है,वह कभी परमपद को प्राप्त नहीं कर सकता, वरन् बारम्बार संसार के जन्म-मरण-चक्र में परिभ्रमण करता रहता है॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥ ८॥

किन्तु जो विवेक बुद्धि वाला, नियन्त्रित मन वाला और सदैव पवित्र रहने वाला है, वह उस परमपद को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से पुनरावर्तन नहीं होता॥ ८॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ ९॥

जो मनुष्य विवेकयुक्त बुद्धिरूप सारथि वाला और मन को संयत रखने वाला है, वह संसार सागर से पार होकर विष्णु भगवान् के परमपद को प्राप्त कर लेता है॥ ९॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥

इन्द्रियों की अपेक्षा उनके विषय अधिक श्रेष्ठ हैं, विषय से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि और बुद्धि से भी उत्कृष्ट यह महान् आत्मा है॥ १०॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

जीवात्मा से (ईश्वर की) अव्यक्त शक्ति श्रेष्ठ है, अव्यक्त शक्ति से वह पुरुष (परमपुरुष परमेश्वर) श्रेष्ठ है, उस परम पुरुष से श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है। वह सबकी पराकाष्ठा और परमगति है ॥ ११॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ १२॥

समस्त प्राणियों में छिपा हुआ यह आत्मतत्त्व प्रकाशित नहीं होता, वरन् सूक्ष्म दृष्टि रखने वाले तत्त्वदर्शियों को सूक्ष्म बुद्धि से ही दिखाई देता है॥ १२॥

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥ १३॥

बुद्धिमान् (प्रज्ञावान्) व्यक्ति के लिए उचित है कि वह सर्वप्रथम वाक् आदि इन्द्रियों को मन में लीन करे, मन को ज्ञान स्वरूप बुद्धि में निरुद्ध करे, बुद्धि को महान् तत्त्व (आत्मा) में विलीन करे और उस आत्मा को परमपुरुष परमात्मा में नियोजित करे ॥ १३॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४॥

(हे मनुष्यो!) जागो, उठकर खड़े होओ और श्रेष्ठ व ज्ञानी पुरुषों से ज्ञान प्राप्त करके परमात्म तत्त्व को जानो। विद्वज्जन कहते हैं कि यह मार्ग उतना ही दुरूह है, जितना कि क्षुरे की धार पर चलना ॥ १४॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥ १५॥

वह परब्रह्म शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध से रहित है अर्थात् इन सबसे परे है । वह अविनाशी, अनादि और अनन्त है । वह आत्मा से भी उत्कृष्ट और ध्रुव (सत्यस्वरूप) है। उस परम तत्त्व को जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है ॥ १५॥

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तꣳ सनातनम् ।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते॥ १६॥

नचिकेता के प्रति यमराज द्वारा उपदिष्ट इस सनातन उपाख्यान को जो मेधावी पुरुष कहते और सुनते हैं, वे ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं ॥ १६॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पत इति॥ १७॥

इस परम गूढ़ रहस्य को जो व्यक्ति शुद्ध भावना से ब्राह्मणों की सभा में अथवा श्राद्ध काल में सुनाता है , वह व्यक्ति (इस पुण्य कार्य के प्रभाव से) अनन्त (पुरुषार्थ या फल या परमात्मा) की प्राप्ति में समर्थ हो जाता है, निश्चित रूप से वह अनन्त को प्राप्त करता है ॥ १७॥

[यहाँ ''ब्रह्म संसद '' ब्रह्मोन्मुख होकर साधनारत व्यक्तियों अथवा वृत्तियों के समूह के लिए प्रयुक्त सम्बोधन माना जा सकता है । इसी प्रकार 'श्राद्ध काले' का भाव जब श्रद्धा का उभार होता है, ऐसे अवसर का संकेत करता है। ब्रह्मोन्मुखी तथा श्रद्धासिक्तों के बीच यह तथ्य प्रकट करना निश्चित रूप से अनन्त फलदायक हो सकता है। उक्त परिस्थितियाँ न हों, तो इस विद्या का उल्लेख केवल जानकारी बढ़ाने तक ही सीमित रह जाता है।]

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमा वल्ली ॥

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ १॥

स्वयंभू (परमात्मा) ने समस्त इन्द्रिय द्वार बहिर्मुख करके निर्मित किये हैं। इसलिए जीवात्मा बाह्य विषयों को ही देखता है- अन्तरात्मा को नहीं देखता। अमरत्व की आकांक्षा से जिसने अपनी चक्षु आदि इन्द्रियों पर संयम कर लिया है, ऐसा कोई धीर पुरुष ही अन्तरात्मा (प्रत्यगात्मा) को देख सकता है॥ १॥

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते॥ २॥

बालबुद्धि व्यक्ति ही बाह्य भोगों का अनुगमन करते हैं। ऐसा करने वाले व्यक्ति मृत्यु के भयंकर पाश में फँसते हैं; किन्तु विवेकवान् पुरुष अमरता को अटल जानकर जगत् के अनित्य पदार्थों की कामना नहीं करते ॥ २॥

मंत्र क्र. ३ से १३ तक यमदेव ने 'एतद्वै तत्- यही है वह' कहा है। लगता है कि व्याख्या के साथ नचिकेता को उस तत्त्व की अनुभूति भी कराते जा रहे हैं तथा उस तथ्य को दिखाते हुए कहते हैं-यही है वह - रहस्य, विद्या, आत्मतत्त्व या परमात्म तत्त्व, जिसे तुम समझना चाहते हो-

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते, एतद्वै तत्॥ ३॥

जिस अन्तश्चेतना के अनुग्रह से मनुष्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि इन्द्रिय सुखों का अनुभव करता है, उसी के अनुग्रह से यह भी जानता है कि यहाँ क्या अवशिष्ट रहता है ? यही (जो रह जाता है अथवा जानता है) वह (आत्मतत्त्व अथवा परमात्म तत्त्व) है ॥ ३॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ ४॥

जिस चेतना के द्वारा मनुष्य जाग्रत् और स्वप्न दोनों स्थितियों में दृश्यमान पदार्थों को देखता है, उस सर्वव्यापी और महान् सर्वात्मा को जानकर धीर (बुद्धिमान्) पुरुष किसी भी स्थिति में शोक नहीं करते॥ ४॥

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते, एतद्वै तत्॥ ५॥

जो पुरुष जीवन प्रदान करने वाले, कर्मफल प्रदान करने वाले और भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान काल में शासन करने वाले (आत्मतत्त्व) को अपने अत्यन्त समीप समझता है, वह उनके इस स्वरूप को कभी नहीं भूलता, न किसी की निन्दा करता है और न ही किसी से घृणा करता है। यही वह (परब्रह्म) है॥ ५॥

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यते, एतद्वै तत्॥ ६॥

जो अपने तप से जल आदि पञ्चमहाभूतों से भी पूर्व उत्पन्न हुए तथा सबकी हृदय गुहा में निवास करने वाले ब्रह्म को इसी (उपर्युक्त) रूप में देखता है, वह यथार्थ जानता है। यही वह 'ब्रह्म' है॥ ६॥

या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत, एतद्वै तत्॥ ७॥

देव क्षमता सम्पन्न अदिति (देवमाता अदिति या अखण्ड चेतना) जो सर्वप्रथम प्राणों (जीवनी शक्ति) सहित उत्पन्न होती है, वह सभी की हृदय गुहा में प्रविष्ट होकर वहीं निवास करती है। यही वह ब्रह्म है ॥

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः,एतद्वै तत्॥ ८॥

जिस प्रकार गर्भवती स्त्रियों द्वारा विधिवत् पोषित गर्भ धारण किया जाता है, उसी प्रकार जातवेदा अग्नि दो अरणियों के मध्य स्थित रहता है। वह प्रज्वलित होकर, हवन करने योग्य सामग्रियों से युक्त पुरुषों द्वारा प्रतिदिन स्तुत्य होता है। यही वह ब्रह्म है ॥ ८॥

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति।
तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत्॥ ९॥

जहाँ से सूर्यदेव उदित होते हैं और जहाँ तक जाते हैं अर्थात् अस्त होते हैं, वहाँ समस्त देव शक्तियाँ

विद्यमान हैं, उसे कोई भी लाँघने में समर्थ नहीं है। यही वह (परमेश्वर) है॥ ९॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥ १०॥

जो सर्वप्रथम परमेश्वर को इहलोक और परलोक में अलग-अलग रूपों में देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् उसे बारम्बार जन्म-मरण के चक्र में फँसना पड़ता है॥ १०॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति॥ ११॥

सत्य अथवा शुद्ध मन से ही परमात्मा का तत्त्व जाना जा सकता है। इस जगत् में ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है; किन्तु जो व्यक्ति इसमें भिन्नता देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु का वरण करता है॥ ११॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते, एतद्वै तत्॥ १२॥

जो परम पुरुष अङ्गुष्ठ परिमाण में प्राणी की देह के मध्य भाग में स्थित है, वह भूत, भविष्यत् और वर्तमान का शासक है। उसे इस प्रकार जान लेने के बाद प्राणी न तो किसी की निन्दा करता है और न ही किसी से घृणा करता है। यही वह ब्रह्म है॥ १२॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः, एतद्वै तत्॥ १३॥

वह अङ्गुष्ठ परिमाण वाला परमात्मा धुएँ से रहित प्रखर ज्योति के समान है, जो सब पर शासन करता है। वह (नित्य सनातन) ब्रह्म जैसा कल था, वैसा ही आज भी (अपरिवर्तनीय) है। यही वह परब्रह्म है॥ १३॥

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति।
एवं धर्मान्पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति॥ १४॥

जिस प्रकार वर्षा का जल ऊँचे शिखरों पर बरस कर पहाड़ के नीचे विभिन्न स्थलों में चला जाता है, उसी प्रकार विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय वालों (अथवा विभिन्न स्वभाव वाले मनुष्यों-असुरों और देवों) को जो परमेश्वर से भिन्न देखता है, वह उन्हीं का अनुगमन करता है (अर्थात् उस बिखरे जल की तरह विभिन्न देव-असुर आदि के लोकों व योनियों में भटकता रहता है) ॥ १४॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥ १५॥

हे गौतम (नचिकेता)! जिस प्रकार शुद्ध जल सिंचित होने पर (जहाँ जाता है) उसी रूप में बदल जाता है, इसी प्रकार ज्ञानी (इस तथ्य को समझ लेने वाले) की आत्मा भी उसी प्रकार हो जाती है ॥ १५॥

[यमदेव शुद्ध जल के उदाहरण से आत्म तत्त्व को समझा रहे हैं। शुद्ध जल जिस किसी पात्र में जाता है, उसी रूप में ढल जाता है । पौधों में वह उनका रस, प्राणियों में उनका रक्त बन जाता है , उसे कोई विकार नहीं होता। ज्ञानी अपनी चेतना को पदार्थ आदि भोगों से अलिप्त रखता है, इसलिए वह शुद्ध जल की तरह किसी के भी साथ एकाकार हो सकता है । विभिन्न विषयों से लेकर देवशक्तियों तथा परमात्म तत्त्व के साथ वह एकरूप हो सकता है। नचिकेता उसी अलिप्त रहने की क्षमता से सम्पन्न साधक को कहा जाता है। उसको सत्यात्र समझ कर ही यमदेव यह विद्या उपलब्ध कराते हैं।]

॥ द्वितीया वल्ली ॥

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते, एतद्वै तत्॥ १॥

चैतन्य और अज परब्रह्म का नगर ग्यारह द्वारों वाला है (दो नेत्र, दो कान, दो नाक के छिद्र, एक मुख, नाभि, गुदा, जननेन्द्रिय और ब्रह्मरन्ध्र शरीर के ये ग्यारह छिद्र ही ग्यारह द्वार हैं)। उस परमेश्वर का निष्ठापूर्वक ध्यान-अनुष्ठान करने वाला जीव कभी शोक नहीं करता और शरीर के स्थित रहते हुए ही कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है। यही है वह (परब्रह्म)॥ १॥

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥ २॥

वह हंस (जीवात्मा या परब्रह्म) प्रकाशित है, वही अन्तरिक्ष में स्थित वसु है, घरों में होने वाला अतिथि भी वही है। यज्ञवेदिका पर स्थित अग्नि और आहुति प्रदान करने वाला होता भी वही है। मनुष्यों में श्रेष्ठ देव, पितृ आदि रूपों में भी वही प्रतिष्ठित है। वही सत्य और आकाश में भी निवास करने वाला है। जल, पर्वतों, पृथ्वी, और सत्कर्मों में प्रकट होने वाला वही परम सत्य है॥ २॥

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति। मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते॥ ३॥

जो ब्रह्म प्राण तत्त्व को ऊर्ध्वगामी करता है और अपान वायु को अधोगामी करता है, हृदय के मध्य स्थित उस वामन (भजन करने योग्य) की सभी देवगण उपासना करते हैं॥ ३॥

अस्य विस्रꣳसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते, एतद्वै तत्॥ ४॥

शरीर में स्थित एक देह से दूसरे देह में गमन करने के स्वभाव वाला यह जीवात्मा जब एक शरीर को छोड़कर दूसरे में (मृत्यूपरान्त) चला जाता है, तब क्या शेष रहता है? यही वह ब्रह्म है॥ ४॥

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ॥ ५॥

हे गौतम! कोई भी मरणधर्मा प्राणी न प्राण की शक्ति से और न ही अपान की शक्ति से जीवित रहता है, वरन् उसे जीवन प्रदान करने वाला कोई अलग ही तत्त्व है। जिसके आश्रय में प्राण और अपान ये दोनों ही रहते हैं॥ ५॥

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम॥ ६॥

(यमराज का कथन -) हे (गोतम वंशीय) नचिकेता! अब मैं तुम्हें उस नित्य सनातन परब्रह्म का रहस्य बतलाऊँगा तथा यह भी वर्णन करूँगा कि मृत्यु के बाद आत्मा का क्या होता है अर्थात् वह कहाँ जाता है?॥ ६॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥ ७॥

अपने-अपने कर्म और शास्त्राध्ययन के अनुसार प्राप्त हुए भाव के कारण कुछ जीवात्मा तो शरीर धारण करने के लिए विभिन्न योनियों को प्राप्त करते हैं और अन्य (कितने ही अपने कर्मानुसार) स्थावरत्व को प्राप्त होते हैं (अर्थात् वृक्ष, लता, पर्वत आदि जड़ योनियों में जाते हैं)॥ ७॥

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत्॥ ८॥

समस्त जीवों के कर्मानुसार उनके निमित्त भोगों का निर्माण और व्यवस्था करने वाला परम पुरुष परमात्मा सबके सो जाने पर भी जाग्रत् रहता है। वही विशुद्ध तत्त्व, परब्रह्म अविनाशी कहलाता है, जिसे कोई लाँघ नहीं सकता और समस्त लोक जिसका आश्रय ग्रहण किये रहते हैं। वही यह ब्रह्म है॥ ८॥

अब यम यह समझाते हैं कि परमात्मा की तरह अग्नि आदि तत्त्व भी अलिप्त रहकर ही विश्वरूप बन पाते हैं-

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ ९॥

जिस प्रकार एक ही अग्नि तत्त्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में प्रविष्ट होकर प्रत्येक आधारभूत वस्तु के अनुरूप हो जाता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों में स्थित अन्तरात्मा (ब्रह्म) एक होने पर भी अनेक रूपों में प्रतिभासित होता है। वही उनके बाहर भी है ॥ ९॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥ १०॥

जिस प्रकार इस लोक में प्रविष्ट वायु एक होता हुआ भी प्रत्येक रूप के अनुसार (अर्थात् विभिन्न वस्तुओं के संयोग से) भिन्न-भिन्न शक्तियुक्त प्रतीत होता है, उसी प्रकार समस्त प्राणियों में विद्यमान परमात्मा एक होने पर भी विभिन्न रूप वाला प्रतीत होता है। वही उनके बाहर भी है॥ १०॥

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥ ११॥

जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड का चक्षुरूप सूर्य प्राणियों के चक्षुओं से उत्पन्न होने वाले बाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सब भूतों (प्राणियों) में आत्मारूप से स्थित परमेश्वर-उन जीवों के दुःख - क्लेश आदि से लिप्त नहीं होता। सब भूतों के अन्तर में रहकर भी वह बाहर ही विराजमान है॥ ११॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ १२॥

समस्त शरीरधारियों में (अन्तरात्मा के रूप में) निवास करने वाला तथा सबको वश में रखने वाला परब्रह्म एक होते हुए भी अनेक रूप धारण कर लेता है। जो विद्वान् सदैव अपने अन्तःस्थल में स्थित उस परब्रह्म के दर्शन करते हैं, उन्हें ही शाश्वत सुख प्राप्त होता है, अन्यों को नहीं ॥ १२॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥ १३॥

जो समस्त चैतन्यों में चैतन्य और नित्यों में भी नित्य है, जो एकाकी होते हुए समस्त जीवों के कर्मानुसार उनका फल प्रदाता है, उस आत्मस्थ परमेश्वर का बुद्धिमान् जन निरन्तर दर्शन करते रहते हैं। ऐसे मेधावी पुरुष ही शाश्वत शान्ति प्राप्त करते हैं, दूसरे नहीं ॥ १३॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा॥ १४॥

उस अनिवर्चनीय आनन्द को ही विद्वज्जन ब्रह्म मानते हैं। उस परब्रह्म को किस तरह जाना जाय? क्या वह प्रत्यक्षत: प्रकट होता है अथवा अनुभव से जानने योग्य है?॥ १४॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि: ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ १५॥

वहाँ (ब्रह्म के निकट) न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा, न तारागण और न विद्युत् ही प्रकाशित होती है, फिर यह (लौकिक) अग्नि किस तरह प्रकाशित हो सकती है? उसके (परब्रह्म के) प्रकाश से ही ये सब प्रकाशित होते हैं। सम्पूर्ण जगत् उसके ही प्रकाश से प्रकाशित है॥ १५॥

॥ तृतीया वल्ली ॥

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ: सनातन:। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिँल्लोका: श्रिता: सर्वे तदु नात्येति कश्चन, एतद्वै तत्॥ १॥

जिसकी जड़ें ऊपर और शाखाएँ नीचे की ओर हैं, वह अश्वत्थ वृक्ष सनातन है। वह विशुद्ध तत्त्व अविनाशी है, वही ब्रह्म है। समस्त लोक उसी का आश्रय ग्रहण करते हैं, उसका कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता, यही वह ब्रह्म है॥१ ॥

[वृक्ष की जड़ों से एक जैसा ही रस संचरित होता है। पत्तियों, पुष्पों में वह वृक्ष के गुण के अनुसार रूपान्तरित हो जाता है। सृष्टि रूपी सनातन वृक्ष का मूल ऊपर अनन्ताकाश में है। वहाँ से संचरित रस सृष्टि के घटकों में पहुँच कर अनेक रूपों में प्रकट होता है।]

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति नि:सृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ २॥

यह सम्पूर्ण विश्व उस प्राणरूप ब्रह्म से ही नि:सृत(प्रकट) होकर उसी में गतिशील है। जो उस महान् भयंकर प्रहारोद्यत वज्र की तरह ब्रह्म को जानते हैं, वे अमृतत्व को प्राप्त करते हैं॥ २॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्य:। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चम:॥ ३॥

इन परब्रह्म के भय से अग्निदेव तपते हैं, इन्हीं के भय से सूर्यदेव तपते हैं, इन्हीं के भय से इन्द्र, वायु और पाँचवें मृत्यु देवता दौड़ते हैं। (अर्थात् परब्रह्म की आज्ञानुसार ही सभी देवता अपने-अपने नियत कार्य सम्पन्न करते हैं)॥ ३॥

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रस:। तत: सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते॥

शरीरान्त होने से पूर्व ही यदि (व्यक्ति) ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो (जीव) बन्धन से छूट जाता है। यदि नहीं प्राप्त कर पाया, तो (बारम्बार) विभिन्न योनियों में भ्रमण करता है ॥ ४॥

[यहाँ ज्ञान का अर्थ स्थूल जानकारी मात्र नहीं है, उसे अनुभवगम्य बनाने की आवश्यकता है।]

यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके॥ ५॥

विशुद्ध अन्त:करण दर्पण के समान है अर्थात् जिस प्रकार निर्मल दर्पण में वस्तु का स्वरूप स्पष्ट दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार विशुद्ध अन्त:करण में ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट दिखता है। पितृलोक में ब्रह्म का

रूप स्पष्ट नहीं दिखता है (क्योंकि प्राणियों को पूर्व जन्म की स्मृति रहने के कारण उनका सम्बन्ध पूर्व सम्बन्धियों से बना रहता है)। गन्धर्व लोक में भी ब्रह्म का स्वरूप जल (की लहरों) के समान अस्पष्ट दिखाई पड़ता है (क्योंकि वहाँ भोगों से लिप्त रहने के कारण ब्रह्म दर्शन ठीक से नहीं हो पाता); किन्तु ब्रह्मलोक में छाया और धूप की भाँति आत्मा और परमात्मा का स्वरूप स्पष्ट परिलक्षित होता है॥ ५॥

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत्। पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति॥

उदय और लय होते रहने के स्वभाव से युक्त अलग-अलग स्थानों में स्थित अनेक रूपों वाली इन्द्रियों को जानने वाला ज्ञानी पुरुष कभी शोक नहीं करता॥ ६॥

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्। सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम्।

इन्द्रियों से मन उत्तम है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धि से जीवात्मा उत्कृष्ट है और जीवात्मा की अपेक्षा अव्यक्त शक्ति उत्तम है ॥ ७॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽ लिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥ ८॥

अव्यक्त शक्ति (प्रकृति) से व्यापक और आकार रहित परम पुरुष परमात्मा श्रेष्ठ है, जिसको जानकर जीवात्मा बन्धन से मुक्त हो जाता है और अमरत्व को प्राप्त होता है॥ ८॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषी मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ ९॥

इस ब्रह्म का यथार्थ रूप अपने समक्ष प्रकट नहीं होता। परमेश्वर के दिव्य स्वरूप को कोई इन चर्म-चक्षुओं से नहीं देख सकता। मन को वश में करने वाली विवेक बुद्धि तथा सद्भाव सम्पन्न हृदय द्वारा बारम्बार चिन्तन-मनन करने से ही उसका सम्यक् दर्शन हो सकता है। जो ब्रह्म को इस प्रकार जानते हैं, वे अमृतत्व को प्राप्त करते हैं॥ ९॥

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्॥

जब मन के साथ पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ (आत्मतत्त्व में) स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टारहित हो जाती है, तब इस स्थिति को (जीवात्मा की) परमगति कहते हैं॥ १०॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥ ११॥

इस प्रकार इन्द्रियों की स्थिर धारणा का नाम ही योग माना जाता है। उस समय साधक प्रमाद रहित हो जाता है; किन्तु यह योग उदय और अस्त होने के स्वभाव से युक्त है (अतः परमात्मेच्छु को योग युक्त रहने का दृढ़ अभ्यासी होना चाहिए)॥ ११॥

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते॥१२॥

उस परमात्मा को न वाणी के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और न नेत्रों से । उसे मन के द्वारा भी नहीं प्राप्त किया जा सकता है। 'वह ब्रह्म अवश्य है' ऐसा कहने मात्र से भला उसे कौन प्राप्त कर सकता है?॥ १२॥

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥ १३॥

अस्ति (वह है) और नास्ति (वह नहीं है) इन दो मान्यताओं में तत्त्वभाव (समस्त इन्द्रियादि सहित मन-बुद्धि को एक करके अनुभव करने की क्षमता) द्वारा 'अस्ति' भाव ही प्राप्त करने योग्य है। इस प्रकार की उपलब्धि करने वाले से (अन्तःचेतन) प्रसन्न होता है। (वह आत्मदेव ही प्रसन्न होकर ब्रह्मानुभूति का मार्ग खोल देता है)॥ १३॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।

व्यक्ति के हृदय में अनेक प्रकार की सांसारिक कामनाएँ रहती हैं, जब इनका समूल विनाश हो जाता है, तब मनुष्य यहीं (इसी संसार में) ईश्वर का साक्षात्कार कर लेता है और अमर हो जाता है ॥१४॥

[अन्य कामनाएँ रहते तत्त्वभाव बिखरा रहता है। उसके एक होने पर ही साक्षात्कार की स्थिति बनती है।]

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः। अथ मर्त्योऽ मृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्॥ १५॥

जब हृदय-ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, तब यह मरणधर्मा मनुष्य अमरत्व को प्राप्त करता है, यही वेदान्त का अनुशासन है॥ १५॥

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥ १६॥

हृदय में एक सौ एक नाड़ियों का समूह है, उसमें से एक मूर्धा (कपाल) का भेदन करके बाहर निकलती है। उसके द्वारा ऊर्ध्वगमन करने वाला साधक अमृतत्व को प्राप्त करता है। अन्य अवशिष्ट नाड़ियाँ प्राणोत्सर्ग में सहायक होती हैं। (उनसे निकला प्राण कामनाओं के अनुरूप विभिन्न योनियों में जाता है)॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण। तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति॥ १७॥

सबका अन्तरात्मा अङ्गुष्ठ परिमाण वाला है, जो परम पुरुष (परब्रह्म) के रूप में सदैव सबके हृदय देश में प्रतिष्ठित है। जिस प्रकार मूँज से उसकी सींक अलग की जाती है, उसी प्रकार मनुष्य के लिए उचित है कि वह धैर्यपूर्वक अपनी आत्मा को शरीर से पृथक् करे (पृथक् करके देखे-अनुभव करे), उसे अमृत रूप और शुक्र (शुद्ध) समझे । वह अमृत स्वरूप ही है॥ १७॥

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव॥ १८॥

मृत्यु (अर्थात् यमराज) द्वारा उपदिष्ट इस विद्या को पाकर नचिकेता समस्त विकारों से रहित और सर्वथा शुद्ध होकर जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो गया और ब्रह्मभाव (ब्रह्मत्व) को प्राप्त हो गया । अन्य कोई जो इस अध्यात्म तत्त्व को इस प्रकार समझेगा, वह भी ऐसी ही स्थिति प्राप्त करेगा अर्थात् वह भी ब्रह्मरूप होकर भवबन्धनों से मुक्त हो जायेगा॥ १८॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .....इति शान्तिः॥

॥ इति कठोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ केनोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेदीय 'तलवकार ब्राह्मण' के नवें अध्याय के अन्तर्गत है। इसे तलवकार उपनिषद् तथा 'ब्राह्मणोपनिषद्' भी कहा जाता है। उपनिषद् का प्रारम्भ प्रश्न 'केनेषितं.....' (यह जीवन किसके द्वारा प्रेरित है ?) से हुआ है। इसमें उस 'केन' (किसके द्वारा) का विवेचन होने से इसे 'केनोपनिषद्' कहा गया है। सर्वप्रेरक उस परब्रह्म की महिमा और उसके स्वरूप का बोध कराते हुए ऋषि ने स्पष्ट किया है कि कहने-सुनने में ब्रह्म तत्त्व जितना सुगम है, अनुभूति में वह उतना ही दुरूह है। प्रथम एवं द्वितीय खण्ड में गुरु-शिष्य संवाद के रूप में सुन्दर ढंग से उस प्रेरक सत्ता की विशेषताओं, उसकी अनुभूति तथा उसे जान लेने की अनिवार्य आवश्यकताओं का वर्णन किया गया है। तीसरे और चौथे खण्ड में देवताओं के अभिमान तथा मानमर्दन के लिए यक्ष रूप में ब्राह्मी चेतना के प्रकट होने का उपाख्यान है। बाद में उमादेवी द्वारा प्रकट होकर देवों के लिए ब्रह्म तत्त्व का वर्णन किया गया है। अन्त में परब्रह्म की उपासना के ढंग और फल का उल्लेख करते हुए ब्रह्मविद्या के संसाधनों के साथ उस रहस्य को जानने की महिमा का वर्णन है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परमात्मन् ! हमारे सभी अङ्ग पुष्ट हों, हमारी वाणी, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, बल और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ पुष्ट हों । यह उपनिषद् (प्रतिपादित ज्ञान) ब्रह्म है, हम इसे अस्वीकार न करें । यह हमारा परित्याग न करे। हमारा इसके साथ अथवा इसका हमारे साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध हो । उपनिषदों में जो (धर्म, ज्ञान आदि) वर्णित हैं, वे हममें प्रविष्ट हों, हममें समाविष्ट हों । त्रिविध तापों की शान्ति हो।

॥ प्रथमः खण्डः ॥

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥ १ ॥

किसके द्वारा प्रेरित किया हुआ यह मन अपने विषयों तक पहुँचता है ? किसके द्वारा नियोजित किया हुआ यह श्रेष्ठ प्राण चलता है ? किसके द्वारा प्रेरित की हुई वाणी को मनुष्य बोलते हैं ? कौन सा अव्यक्त देव हमारे नेत्रों और कानों को कार्य में नियुक्त करता है ? ॥ १ ॥

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचꣳ स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ २॥

जो (परमात्मतत्त्व) कर्णेन्द्रिय का श्रोत्र (श्रवण शक्ति) है, मन का मन (मनन क्षमता) है, वागिन्द्रिय की वाणी (वाक् शक्ति), प्राण का प्राण (संचालक) है, चक्षु का चक्षु (दर्शन क्षमता) है, अर्थात् जो इन सबका कारणभूत तत्त्व है, (उसे जानने वाले) धीर पुरुष (जो चक्षु, श्रोत्र, मन आदि के आवेगों से उद्वेलित नहीं होते) इस लोक से जाते हुए (अथवा जीवन मुक्त होकर) अमर हो जाते हैं ॥ २॥

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्या-दन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि। इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे॥ ३॥

वहाँ (परब्रह्म परमात्मा तक) चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों, वाक् आदि कर्मेन्द्रियों तथा मन की भी पहुँच नहीं है । उसे जानने की बुद्धि हममें नहीं है, न ही किसी अन्य की व्याख्या से यह संभव हो सकता है, क्योंकि वह ज्ञात और अज्ञात सभी तत्त्वों से सर्वथा परे है- ऐसा हमने अपने पूर्वाचार्यों के मुख से सुना है, जिन्होंने हमें उस ब्रह्म के विषय में भली-भाँति व्याख्या करके समझाया है ॥ ३॥

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ४॥

जो वाणी के द्वारा वर्णित नहीं किया जा सकता; अपितु वाणी ही जिसकी महिमा से प्रकट होती है, उसे ही तुम ब्रह्म समझो। वाणी द्वारा निरूपित जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ ५॥

मन से जिसका मनन नहीं किया जा सकता; अपितु मन जिसकी महत्ता से मनन करता है, उसी को ब्रह्म समझो। मन द्वारा मनन किए हुए जिसकी लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

जिसे चक्षु के द्वारा नहीं देखा जा सकता; अपितु चक्षु जिसकी महिमा से देखने में सक्षम होता है, उसे ही तुम ब्रह्म जानो । चक्षु के द्वारा द्रष्टव्य जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥ ६॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

श्रोत्र से जिसे नहीं सुना जा सकता; अपितु श्रोत्र जिसकी महत्ता से सुनने में सक्षम होता है, उसे ही तुम ब्रह्म जानो । श्रोत्रेन्द्रियगम्य जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥ ७॥

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

जो प्राण के द्वारा प्रेरित नहीं होता; किन्तु प्राण जिससे प्रेरित होते हैं, उसे ही तुम ब्रह्म जानो । प्राण शक्ति से क्रियाशील जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है ॥ ८॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।
यदस्य त्वं यदस्य च देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्॥ १॥

(आचार्य का कथन) यदि तुम्हारी यह मान्यता है कि मैं ब्रह्म को भली-भाँति जान गया हूँ, तो निश्चय ही तुमने ब्रह्म का अत्यल्प अंश जाना है, क्योंकि उस परब्रह्म का जो अंश तुझमें है और जो अंश देवताओं में है, वह सब मिलकर भी ब्रह्म का पूर्ण स्वरूप नहीं है, अतः तुम्हारा जाना हुआ निश्चय ही विचारणीय है॥ १॥

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च। यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥ २॥

(शिष्य का उत्तर) हमने ब्रह्म को भली-भाँति जान लिया है, ऐसा नहीं मानते और न ऐसा ही मानते हैं कि हम उसे पूर्णतया नहीं जानते; क्योंकि उसे जानते भी हैं । हम जानते हैं अथवा नहीं जानते-दोनों उत्तर अपूर्ण हैं । हमारे इस कथन को वही जानता है, जो उस ब्रह्म को जानता है ॥ २॥

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥

जो यह मानता है कि ब्रह्म जानने में नहीं आता, वह ब्रह्म को जानता है एवं जो यह मानता है कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ, वह उसे नहीं जानता; क्योंकि जानने का अभिमान करने वालों के लिए वह ब्रह्म जाना हुआ नहीं है और जानने के अभिमान से रहित पुरुष के लिए वह जाना हुआ है ॥ ३॥

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते। आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम्॥

वह बोध जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उसी से मनुष्य अमृत स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त करता है। आत्मा (अथवा आत्मज्ञान) के द्वारा मनुष्य बल को प्राप्त करता है, उसी आत्मा के बल को जानने की विद्या से वह अमृतस्वरूप परमात्मा को प्राप्त कर लेता है ॥ ४॥

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ ५॥

जिसने यदि इसी जन्म में उस परब्रह्म को प्राप्त कर लिया, तो उसने यथार्थ (लक्ष्य) पा लिया, जो इस जीवन में उसे नहीं जान पाया, तो उसने (अमूल्य अवसर गँवाकर) अपनी महती हानि की। अतः बुद्धिमान् पुरुष प्रत्येक प्राणी में और प्रत्येक तत्त्व में उस परमात्म सत्ता को व्याप्त जानकर इस लोक से प्रयाण कर अमर हो जाते हैं ॥ ५॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

पिछले दो खण्डों में प्रत्येक दिव्य प्रवाह की शक्ति के मूल कारण रूप जिस परमात्म तत्त्व की विवेचना की गयी है, अगले दो खण्डों में उसी तथ्य को कथानक के माध्यम से स्पष्ट किया गया है-

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त।
त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽ स्माकमेवायं महिमेति॥ १॥

(एक समय) उस ब्रह्म ने देवों को निमित्त बनाकर असुरों पर विजय प्राप्त की; परन्तु देवों को उस विजय का अभिमान हो गया और वे इस विजय को अपनी ही महिमा का प्रभाव समझने लगे॥ १॥

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति॥ २॥

उस ब्रह्म ने देवों के उस अहं भाव को जान लिया और तब उनके सामने वह यक्ष रूप में प्रकट हुआ, परन्तु देवगण उसे नहीं पहचान सके और कहने लगे -'यह दिव्य यक्ष कौन है' ॥ २॥

तेऽ ग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति॥ ३॥

देवों ने अग्नि से कहा-हे देव! आप पता लगाएँ कि यह कौन है? इस पर उन्होंने कहा- बहुत अच्छा।

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽ सीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति॥

अग्निदेव तेजी से दौड़कर यक्षरूप ब्रह्म के पास पहुँचे। यक्ष ने पूछा- आप कौन हैं? इस पर अग्निदेव ने कहा- मैं अग्नि हूँ, मुझे ही लोग जातवेदा कहते हैं ॥ ४॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति॥ ५॥

यक्ष ने अग्निदेव से पूछा- आप में क्या शक्ति है? ऐसा पूछे जाने पर अग्निदेव ने कहा- मैं चाहूँ तो इस पृथ्वी पर जो कुछ भी है, उसे भस्म कर सकता हूँ ॥ ५॥

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति॥ ६॥

तब यक्ष ने अग्निदेव के समक्ष एक तिनका रखकर उसे भस्म करने के लिए कहा; परन्तु अपनी पूरी शक्ति लगाने पर भी वे उसे जलाने में समर्थ नहीं हुए । तब वे वहाँ से लौटकर देवों से कहने लगे- मैं इस दिव्य यक्ष को जानने में असमर्थ रहा ॥ ६॥

अथ वायुमब्रुवन्वायवेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति॥ ७॥

तदनन्तर देवों ने वायुदेव से कहा- हे वायुदेव! इस रहस्य का आप ही पता लगाएँ। उस दिव्य यक्ष के विषय में पता लगाना उन्होंने स्वीकार किया॥ ७॥

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीति वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति॥

वायुदेव द्रुतगति से दौड़कर उस यक्ष के पास पहुँचे। यक्ष द्वारा परिचय पूछा गया- आप कौन हैं? वायुदेव ने कहा- मैं प्रसिद्ध वायुदेव हूँ। मुझे ही मातरिश्वा कहते हैं॥ ८॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्यामिति॥ ९॥

यक्ष ने पूछा- आपमें क्या सामर्थ्य है? वायुदेव बोले- इस पृथ्वी पर जो कुछ भी है, मैं उसे उड़ा ले जा सकता हूँ॥ ९॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति। तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति॥ १०॥

तब उस यक्ष ने उनके सामने तिनका रखकर उसे उड़ाने के लिए कहा; परन्तु अपनी सारी शक्ति लगाकर भी वायुदेव उसे उड़ा सकने में समर्थ नहीं हुए। तब वहाँ से लौटकर उन्होंने देवों के सामने उस यक्ष को समझ पाने में अपनी असमर्थता व्यक्त की॥ १०॥

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति। तथेति तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे॥

तब देवों ने इन्द्रदेव से कहा- हे मघवन्! आप ही इस बात का पता लगाएँ कि यह यक्ष कौन है? इन्द्रदेव ने यक्ष के विषय में पता लगाना स्वीकार किया और यक्ष की ओर दौड़े; परन्तु इन्द्रदेव के वहाँ पहुँचते ही यक्ष अन्तर्धान हो गया॥ ११॥

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमाꣳ हैमवतीं ताꣳ होवाच किमेतद्यक्षमिति॥ १२॥

तब इन्द्रदेव उसी आकाश में स्थित अतिशय शोभामयी भगवती हैमवती (हिमाचल पुत्री) उमादेवी के पास (आ) गये और उनसे पूछने लगे-यह यक्ष कौन था? ॥ १२॥

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

सा ब्रह्मेति होवाच ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति ततो हैव विदांचकार ब्रह्मेति॥

उमादेवी बोलीं- वे ब्रह्म हैं, उनकी विजय को तुम लोगों ने अपने अहंभाव से अपनी विजय मान लिया था। देवी उमा के इस उत्तर से इन्द्रदेव ने स्पष्ट समझ लिया कि वह दिव्य यक्ष निश्चय ही ब्रह्म थे ॥ १॥

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान्यदग्निर्वायुरिन्द्रस्तेन ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति॥ २॥

ये तीनों देव-अग्नि, वायु और इन्द्रदेव अन्य देवों की अपेक्षा श्रेष्ठ माने जाते हैं; क्योंकि ब्रह्म को शक्ति के रूप में इन्हीं देवों ने सर्वप्रथम समझा और ब्रह्म का निकट से साक्षात्कार किया ॥ २॥

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदांचकार ब्रह्मेति॥

निकट से ब्रह्म का स्पर्श करने से, सबसे पहले जान लेने से इन्द्रादि देवगण अन्य देवों की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं॥ ३॥

तस्यैष आदेशो यदेतद्विद्युतो व्यद्युतदा ३ इतीन्न्यमीमिषदा ३ इत्यधिदैवतम्॥ ४॥

(इन्द्रदेव के सम्मुख यक्ष का अन्तर्धान हो जाना)ब्रह्म की उपस्थिति का संकेत बिजली के चमकने और पलक के झपकने जैसा होता है । इसे उसका सूक्ष्म आधिदैविक संकेत समझना चाहिए॥ ४॥

अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णꣳ संकल्पः॥ ५॥

आध्यात्मिक दृष्टि से यह समझना चाहिए कि मन जो ब्रह्म के पास जाता हुआ सा प्रतीत होता है और ब्रह्म का स्मरण करता हुआ सा लगता है तथा ब्रह्म प्राप्ति का संकल्प करता हुआ सा भासित होता है । (यह भी ब्रह्म की उपस्थिति का सूक्ष्म संकेत है)॥ ५॥

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाऽभि हैनꣳ सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति॥ ६॥

समस्त प्राणी उस ब्रह्म से प्रेम करते हैं और उसे पाना चाहते हैं, वह तद्वन नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्म के इसी 'तद्वन' स्वरूप की सभी को उपासना करनी चाहिए। जो साधक ब्रह्म के इस स्वरूप को जान लेता है, उसे सब प्राणी अपना प्रिय मानने लगते हैं ॥ ६॥

[ऋषि ने ब्रह्म को 'तद्वन' कहा है । आचार्य शंकर ने इसका अर्थ तद्-भजनीयम् (वह ध्यान करने योग्य है) किया है ।'वन'- रस के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, इस आधार पर ब्रह्म मूल रूप से 'रस स्वरूप' है - ऐसा बोध होता है। ऋषि का मानना है कि जिस साधक की गति आत्म तत्त्व में हो जाती है, उसकी आत्मीयता का विस्तार इतना हो जाता है कि उसके प्रभाव में सभी प्राणी आ जाते हैं।]

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता य उपनिषद्ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति॥ ७॥

(ब्रह्म विद्या के इस सांकेतिक उपदेश को न समझ पाने के कारण पुनः शिष्य कहता है) हे गुरुदेव! हमें ब्रह्मविद्या स्वरूप उपनिषद् का उपदेश दें। तब उन्होंने कहा कि अभी तक जो कुछ भी कहा गया है, वही ब्रह्मविद्या है, तुम्हें निश्चय ही मैंने ब्रह्मविद्या सिखा दी है ॥ ७॥

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्॥ ८॥

तपस्या, मन एवं इन्द्रियों का नियन्त्रण तथा आसक्ति रहित श्रेष्ठ कर्म-ये ही ब्रह्मविद्या प्राप्ति के आधार हैं। वेद में इस विद्या का सविस्तार वर्णन है। सत्यस्वरूप ब्रह्म ही इस विद्या का प्राप्य-लक्ष्य है ॥ ८॥

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥ ९॥

इस ब्रह्मविद्या के रहस्य को भली-भाँति जानने वाला साधक अपने समस्त पापसमूह को विनष्ट कर अविनाशी, असीम एवं सर्वश्रेष्ठ स्थिति में पहुँच जाता है - परमधाम को प्राप्त कर लेता है ॥ ९॥

॥ इति केनोपनिषत्समाप्ता॥

॥ गायत्र्युपनिषद् ✪ ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद से सम्बद्ध गोपथ ब्राह्मण की ३१ से ३८ तक की आठ कण्डिकाओं के संकलन रूप में है। इसमें मौद्गल्य और मैत्रेय ऋषियों के संवाद के माध्यम से गायत्री महाविद्या का विवेचन किया गया है। पहली दूसरी कण्डिका में भूमिका भाग तथा गायत्री मंत्र के सवितुः, वरेण्यं, भर्गः, देवस्य, धियः, प्रचोदयात् आदि शब्दों को परिभाषित किया गया है। तीसरी कण्डिका में सविता और सावित्री की अभिन्नता तथा उनके विविध रूपों का वर्णन है। चौथी, पाँचवीं एवं छठवीं कण्डिकाओं में क्रमशः गायत्री महामन्त्र के तीनों चरणों की व्याख्या और उनके विस्तार का उल्लेख है। सातवीं -आठवीं कण्डिका में ब्रह्म, यज्ञ और ब्राह्मण की समस्वरता की व्याख्या की गई है।

॥ प्रथमा कण्डिका ॥

एतद्ध स्मैतद्विद्वांसमेकादशाक्षम्मौद्गल्यं ग्लावो मैत्रेयोऽभ्याजगाम स तस्मिन् ब्रह्मचर्ये वसतो विज्ञायोवाच किं स्विन्मर्या अयं तं मौद्गल्योऽध्येति यदस्मिन् ब्रह्मचर्ये वसतीति॥

ग्यारह अक्षों (ज्ञान अथवा ज्ञानेन्द्रियों) वाले विद्वान् मौद्गल्य (मुद्गल वंशीय) के पास ग्लाव मैत्रेय (मित्रयु के शिष्य अथवा गोत्र वाले) आये। वे मौद्गल्य के आश्रम में निवासरत ब्रह्मचारियों को देखकर उनसे (उपहास करते हुए) कहने लगे- यह मौद्गल्य अपने ब्रह्मचारियों को क्या पढ़ाता है ? ॥१॥

['ग्यारह अक्ष' यह सम्बोधन उनके विशेष ज्ञाता होने का प्रमाण है। दस इन्द्रियों या दस प्राणों (५ प्राण+५ उपप्राणों) के अतिरिक्त जिनका आत्म तत्त्व भी जाग्रत् है, उन्हें ११ अक्षों-पहलुओं वाला कहा गया है।]

तद्धि मौद्गल्यस्यान्तेवासी शुश्राव सः आचार्यायाव्रज्याचचष्टे दुरधीयानं वा अयं भवन्तमवोचद्योऽयमद्यातिथिर्भवति किं सौम्य विद्वानिति। त्रीन् वेदान् ब्रूते भो३इति॥ २॥

मौद्गल्य के ब्रह्मचारी ने यह बात सुनकर अपने आचार्य से जाकर कहा- जो आज यह अतिथि हैं, उन्होंने आपको अज्ञानी बताया है। मौद्गल्य ने पूछा- क्या वे विद्वान् हैं ? शिष्य ने उत्तर दिया- हा देव! वे तीनों वेदों के उपदेशक हैं॥ २॥

तस्य सौम्य यो विस्पष्टो विजिगीषोऽन्तेवासी तन्मे ह्वयेति॥ ३॥

हे सोम्य! उनका जो विद्वान्, तत्त्वदर्शी तथा विजयाकांक्षी शिष्य है, उसे तुम मेरे पास ले आओ, मौद्गल्य ने अपने शिष्य से कहा॥ ३॥

तमाजुहाव तमभ्युवाचासाविति भो३इति किं सौम्य त आचार्योऽध्येतीति, त्रीन् वेदान् ब्रूते भो३इति॥ ४॥

✪ इस नाम की २ उपनिषदें उपलब्ध होती हैं। एक शतपथ ब्राह्मण (१४.५.१.१-८) के बृहदारण्यकोपनिषद् (५.१४.१-८) के अन्तर्गत आती है, दूसरी गोपथ ब्राह्मण (१.३१-३८) के अन्तर्गत। इस संग्रह में शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत वर्णित गायत्री उपनिषद् तो बृहदारण्यको० में उपलब्ध है ही। अस्तु, उसकी पुनरावृत्ति समीचीन न मानकर गोपथ ब्राह्मण वाली उपनिषद् को ही चयनित किया गया है।

वह उसे बुला लाया और आचार्य से कहने लगा- गुरुवर! वह यह है। उन्होंने उनसे पूछा- हे सोम्य! तुम्हारे आचार्य तुम्हें क्या पढ़ाते हैं? शिष्य ने कहा- श्रीमन्! वे तीनों वेदों के उपदेशक हैं॥ ४॥

यन्नु खलु सौम्यास्माभिः सर्वे वेदा मुखतो गृहीताः कथन्त एवमाचार्यो भाषते कथं नु शिष्टाः शिष्टेभ्य एवं भाषेरन् यं ह्येनमहं प्रश्नं प्रच्छामि न तं विवक्ष्यति न ह्येनमध्येतीति॥

हे सोम्य! क्योंकि हमने सब वेद मुखाग्र ग्रहण किये हैं, तुम्हारे आचार्य ऐसा क्यों कहते हैं कि मैं अज्ञानी हूँ। क्या उन्हें नहीं ज्ञात है कि शिष्ट लोग शिष्टों से कैसे वार्त्ता करते हैं? अब मैं जिस प्रश्न को पूछता हूँ यदि वे नहीं बताएँगे, तो इसका तात्पर्य होगा कि वे वेद नहीं पढ़ाते हैं॥ ५॥

तां भवान् प्रब्रवीत्विति स चेत्सौम्य दुरधीयानो भविष्यत्याचार्योवाच ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणे सावित्रीं प्राहेति वक्ष्यति तत्त्वं ब्रूयात् दुरधीयानन्तं वै भवान् मौद्गल्यमवोचत् स त्वा यं प्रश्नमप्राक्षीन्न तं व्यवोचः पुरा संवत्सरादार्त्तिमाकृष्यसीति॥ ६॥

हे सोम्य! यदि वे अज्ञानी होंगे, तो कहेंगे कि आचार्य अपने बालब्रह्मचारी और ब्रह्मचारियों को जिसका उद्बोधन देते हैं, वह सावित्री है। तुम कहना आपने उन मौद्गल्य को अज्ञानी कहा था, वे आपसे एक प्रश्न पूछेंगे, यदि उसे आपने नहीं बताया, तो आपको एक वर्ष तक भारी पीड़ा सहनी होगी॥ ६॥

॥ द्वितीया कण्डिका ॥

स ह मौद्गल्यः स्वमन्तेवासिनमुवाच, परेहि सौम्य ग्लावं मैत्रेयमुपसीदाधीहि भोः सावित्रीं गायत्रीञ्चतुर्विंशतियोनिं द्वादशमिथुनां यस्या भृग्वङ्गिरसश्चक्षुर्यस्यां सर्वमिदं श्रितम्॥ १॥

तदनन्तर मौद्गल्य ऋषि ने अपने शिष्य से कहा- हे सोम्य! तुम ग्लाव मैत्रेय के पास जाओ और कहो- हे आचार्य! चौबीस सूक्ष्म केन्द्रों वाली, बारह जोड़ों वाली सावित्री-गायत्री के सम्बन्ध में बताएँ, जिसके भृगु-आङ्गिरस (ज्ञान की विशिष्ट धाराएँ) नेत्र हैं, जिसमें यह सब आश्रित हैं, आप उस गायत्री का हमें उपदेश करें॥ १॥

स तत्राजगाम यत्रेतरो बभूव, तं ह पप्रच्छ स ह न प्रतिपेदे, तं होवाच दुरधीयानं तं वै भवान् मौद्गल्यमवोचत् स त्वा यं प्रश्नमप्राक्षीन्न तं व्यवोचः पुरासंवत्सरादार्त्तिमाकृष्यसीति॥ २॥

वह (मौद्गल्य का शिष्य) वहाँ पहुँचा, जहाँ मैत्रेय का आश्रम था। उसने उनसे (मैत्रेय से) पूछा; किन्तु वे उस प्रश्न का उत्तर न दे सके। तदनन्तर उसने उनसे कहा- भगवन्! आपने मौद्गल्य को अज्ञानी बताया था। उन्होंने आपसे प्रश्न पूछा और आप न बता सके, सो आपको एक वर्ष तक पीड़ा सहनी होगी॥ २॥

स ह मैत्रेयः स्वानन्तेवासिन उवाच यथार्थं भवन्तो यथागृहं यथामनो विप्रसृज्यन्तां दुरधीयानं वा अहं मौद्गल्यमवोचं स मा यं प्रश्नमप्राक्षीन्न तं व्यवोचं तमुपैष्यामि शान्तिं करिष्यामीति॥ ३॥

उन मैत्रेय ऋषि ने अपने शिष्यों से यथार्थपूर्वक कहा- आप लोग अपने घर को इच्छानुसार प्रस्थान करें। मैंने मौद्गल्य को अयोग्य बताया था, उन्होंने मुझसे जो प्रश्न पूछा है, वह मैं नहीं बता सका। अब मैं उनके पास जाऊँगा और उन्हें शान्ति (सन्तुष्टि) प्रदान करूँगा॥ ३॥

स ह मैत्रेयः प्रातः समित्पाणिर्मौद्गल्यमुपससादासावाग्रहं भो मैत्रेयः किमर्थमिति दुरधीयानं वा अहं भवन्तमवोचं त्वं मा यम्प्रश्नमप्राक्षीर्न्न तं व्यवोचं त्वामुपेव्यामि शान्तिं करिष्यामीति॥ ४॥

वे हाथ में समिधा लिये प्रातःकाल ज्ञान के आग्रह के साथ मौद्गल्य के पास पहुँचे और बोले – हे आचार्य! मैं मैत्रेय हूँ। मौद्गल्य ने पूछा- कैसे आगमन हुआ? (मैत्रेय) मैंने आपको अयोग्य बताया था। आपने मुझसे जो प्रश्न पूछा था, वह मैं नहीं बता पाया। अब मैं आपके पास सेवा में उपस्थित होकर आपको सन्तुष्ट करूँगा॥ ४॥

स होवाचात्र वा उपेतञ्च सर्वञ्च कृतं पापकेन त्वा यानेन चरन्तमाहूरथोऽयं मम कल्याणस्तंते ददामि तेन याहीति॥ ५॥

मौद्गल्य ऋषि ने कहा- आप यहाँ आये हैं। लोग कहते हैं कि आप शुद्ध भाव से नहीं आये हैं; तो भी मैं आपको कल्याणकारी भावों का रथ देता हूँ, इसी से चलें॥ ५॥

[रथ का अर्थ होता है संवाहक (कैरियर)- जो लक्ष्य तक पहुँचाये। मनुष्य अपने भावों के अनुरूप ही जीवन की गति प्राप्त करता है। कल्याण चाहने वालों को कल्याणकारी भावों का ही आश्रय लेना होता है।]

स होवाचैतदेवात्रात्विषञ्चानृशंस्यञ्च यथा भवानाहोपायामित्येवं भवन्तमिति तं होपेयाय तं होपेत्य पप्रच्छ किंस्विदाहुर्भोः सवितुर्वरण्यं भर्गो देवस्य कवयः किमाहुर्धियो विचक्ष्व यदि ताः प्रवेक्ष्य प्रचोदयात्सविता याभिरेतीति॥ ६॥

मैत्रेय ऋषि ने कहा- आपका वचन अभयकारी और सत्य है। जैसा आप कहते हैं, वैसा ही करने के लिए मैं आपके पास उपस्थित हूँ। वे मौद्गल्य ऋषि के पास विधिपूर्वक उपस्थित हुए और पास आकर पूछने लगे- हे आचार्य! सविता का वरणीय तत्त्व क्या है? उस देव का भर्ग क्या है? इसका उत्तर क्रान्तदर्शी क्या बताते हैं? धी संज्ञक तत्त्व की व्याख्या क्या करते हैं, जिन्हें प्रेरित करता हुआ वह देव द्युलोक में प्रविष्ट होकर विचरण करता है? ॥ ६॥

तस्मा एतत् प्रोवाच वेदाश्छन्दांसि सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य कवयोऽन्नमाहुः। कर्माणि धियस्तदु ते ब्रवीमि प्रचोदयात्सविता याभिरेतीति॥ ७॥

उन मैत्रेय से मौद्गल्य ऋषि ने कहा- वैदिक छन्द सविता के वरणीय तत्त्व हैं। मेधावी पुरुष अन्न को ही उस देव का भर्ग बताते हैं। कर्म ही वह धी तत्त्व है, जिन्हें प्रेरित करता हुआ वह देव गमन करता है॥ ७॥

[सविता-सर्व प्रेरक है। छन्दों में जो उसके प्रेरक तत्त्व प्रकट हुए हैं, वे ही वरणीय हैं, अन्य अव्यक्त प्रवाह मनुष्य की ग्रहण शक्ति के परे होने से वरणीय नहीं हैं। धी बुद्धि को कहते हैं। सविता देव कर्म प्रेरक बुद्धि युक्त होकर विचरण करते हैं, ऐसा ऋषि का भाव प्रतीत होता है।]

तमुपसंगृह्य पप्रच्छाधीहि भोः कः सविता का सावित्री॥ ८॥

उसे सुनकर मैत्रेय ने मौद्गल्य से आदरपूर्वक पूछा- हे आचार्य! हमें बताएँ, सविता क्या है और सावित्री क्या है?॥ ८॥

॥ तृतीया कण्डिका ॥

मन एव सविता, वाक् सावित्री, यत्र ह्येव मनस्तद् वाक्, यत्र वै वाक् तन्मन इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ १ ॥

मौद्गल्य ऋषि ने कहा- मन ही सविता (प्रेरक तत्त्व) और वाणी सावित्री (प्रेरित तत्त्व) है। जहाँ पर मन है, वहाँ वाणी है, जहाँ वाणी है; वहाँ मन है। ये दो एक युग्म हैं, योनि (उत्पादक केन्द्र) रूप हैं॥

अग्निरेव सविता, पृथिवी सावित्री यत्र ह्येवाग्निस्तत्पृथिवी यत्र वे पृथिवी तदग्निरित्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ २ ॥

अग्नि ही सविता है और पृथ्वी सावित्री है। जहाँ पर अग्नि है, वहाँ पृथ्वी है, जहाँ पृथ्वी है; वहाँ अग्नि है। ये दो (अग्नि और पृथ्वी) एक जोड़ा हैं, योनिरूप हैं॥ २॥

वायुरेव सविताऽन्तरिक्षं सावित्री यत्र ह्येव वायुस्तदन्तरिक्षं, यत्र वा अन्तरिक्षं तद्वायुरित्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ ३ ॥

वायु ही सविता है और अन्तरिक्ष सावित्री है। जहाँ पर वायु है, वहाँ अन्तरिक्ष है; जहाँ अन्तरिक्ष है, वहाँ वायु है। ये दो (वायु और अन्तरिक्ष) एक युग्म और उत्पादक केन्द्र हैं॥ ३॥

आदित्य एव सविता द्यौः सावित्री यत्र ह्येवादित्यस्तद्द्यौर्यत्र वै द्यौस्तदादित्य इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ ४ ॥

आदित्य ही सविता है और द्युलोक सावित्री है। जहाँ पर आदित्य है, वहाँ द्यौ है; जहाँ द्यौ है, वहाँ आदित्य है। ये दोनों (द्यौ और आदित्य) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं॥ ४॥

चन्द्रमा एव सविता, नक्षत्राणि सावित्री, यत्र ह्येव चन्द्रमास्तन्नक्षत्राणि यत्र वै नक्षत्राणि तच्चन्द्रमा, इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ ५ ॥

चन्द्रमा ही सविता है और नक्षत्र सावित्री है। जहाँ चन्द्रमा है, वहाँ नक्षत्र है तथा जहाँ नक्षत्र है, वहाँ चन्द्रमा है। ये दोनों (चन्द्रमा और नक्षत्र) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं॥ ५॥

अहरेव सविता,रात्रिः सावित्री, यत्र ह्येवाहस्तद्रात्रिर्यत्र वै रात्रिस्तदहरित्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ ६ ॥

दिन ही सविता है और रात्रि सावित्री है। जहाँ पर दिन है, वहाँ रात्रि है; जहाँ रात्रि है, वहाँ दिन है। ये दो (दिन और रात्रि) उत्पत्ति केन्द्र हैं, एक जोड़ा हैं॥ ६॥

उष्णमेव सविता, शीतं सावित्री, यत्र ह्येवोष्णं, तच्छीतं, यत्र वै शीतं तदुष्णमित्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ ७ ॥

उष्णता ही सविता है और शीत सावित्री है। जहाँ उष्णता है, वहाँ शीत है; जहाँ शीत है, वहा उष्णता है। ये दोनों (उष्णता और शीत) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं॥ ७॥

अब्भ्रमेव सविता वर्षं सावित्री यत्र ह्येवाब्भ्रन्तद्वर्षं यत्र वै वर्षं तदब्भ्रमित्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ ८ ॥

मेघ ही सविता है और वर्षण सावित्री है। जहाँ पर मेघ है, वहाँ वर्षण है; जहाँ वर्षण है, वहाँ मेघ है। ये दोनों (मेघ और वर्षण) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं॥ ८॥

विद्युदेव सविता स्तनयित्नुः सावित्री यत्र ह्येव विद्युत् तत् स्तनयित्नुः यत्र वै स्तनयित्नुस्तद्विद्युदित्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ ९॥

विद्युत् ही सविता है और उसकी तड़क सावित्री है। जहाँ पर विद्युत् है, वहाँ तड़क है जहाँ पर तड़क है, वहाँ विद्युत् है। ये दोनों (विद्युत् और तड़क) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं॥ ९॥

प्राण एव सविता अन्नं सावित्री, यत्र ह्येव प्राणस्तदन्नं यत्र वा अन्नं तत् प्राण इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ १०॥

प्राण सविता है और अन्न सावित्री है। जहाँ पर प्राण है, वहाँ अन्न है; जहाँ अन्न है, वहाँ प्राण है। ये दोनों (प्राण और अन्न) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं॥ १०॥

वेदा एव सविता छन्दांसि सावित्री, यत्र ह्येव वेदास्तच्छन्दांसि यत्र वै च्छन्दांसि तद् वेदा इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ ११॥

वेद ही सविता है और छन्द सावित्री है। जहाँ वेद हैं, वहाँ छन्द हैं, जहाँ छन्द हैं, वहाँ वेद हैं। दोनों (वेद और छन्द) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं॥ ११॥

यज्ञ एव सविता दक्षिणा सावित्री, यत्र ह्येव यज्ञस्तत् दक्षिणा यत्र वै दक्षिणास्तद्यज्ञ इत्येते द्वे योनी एकं मिथुनम्॥ १२॥

यज्ञ ही सविता है और दक्षिणा सावित्री। जहाँ यज्ञ है, वहाँ दक्षिणा है और जहाँ दक्षिणा है, वहाँ यज्ञ है। ये दोनों (यज्ञ और दक्षिणा) एक जोड़ा और उत्पत्ति केन्द्र हैं॥ १२॥

एतद्ध स्मैतद्विद्वांसमोपाकारिमासस्तुर्ब्रह्मचारी ते संस्थित इत्यथैत आसस्तुराचित इव चितो बभूवाथोत्थाय प्राव्राजीदित्येतद्वाऽहं वेद नैतासु योनिष्वित एतेभ्यो वा मिथुनेभ्यः सम्भूतो ब्रह्मचारी मम पुरायुषः प्रेयादिति॥ १३॥

(तदनन्तर ग्लाव मैत्रेय ने मौद्गल्य से कहा) हे विद्वान् आचार्य! आपके द्वारा मैं उपकृत हुआ हूँ। यह ब्रह्मचारी आपकी सेवा में (दक्षिणा हेतु) उपस्थित है। यह ब्रह्मचारी आपके यहाँ आकर ज्ञान से परिपूर्ण हो गया है। ऐसा कहकर वे (मैत्रेय) वहाँ से उठकर टहलते हुए बोले- अब मैं यह जान गया हूँ, इन जोड़ों तथा उत्पत्ति केन्द्रों से जुड़ा मेरा ब्रह्मचारी अल्पायु नहीं होगा॥ १३॥

॥ चतुर्थी कण्डिका ॥

ब्रह्म हेदं श्रियं प्रतिष्ठामायतनमैक्षत तत्तपस्व यदि तद् व्रते ध्रियेत तत्सत्ये प्रत्यतिष्ठत्॥ १॥

मौद्गल्य ने मैत्रेय से कहा- यह ब्रह्म ही श्रीरूप, प्रतिष्ठा रूप और आश्रयरूप है, इसलिए आप तप करें। यदि तपः-व्रत को धारण किया जाए, तो सत्य में प्रतिष्ठा होती है॥ १॥

स सविता सावित्र्या ब्राह्मणं सृष्ट्वा तत् सावित्रीं पर्य्यदधात् तत् सवितुर्वरेण्यमिति सावित्र्याः प्रथमः पादः ॥ २॥

उन देव सविता ने सावित्री के साथ ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञान सम्पन्न) को उत्पन्न कर उसे सावित्री (मन्त्र) को धारण कराया- तत्सवितुर्वरेण्यं- यह सावित्री का पहला चरण है॥ २॥

पृथिव्यर्च्चं समदधादृचाऽग्निमग्निना श्रियं श्रिया स्त्रियं स्त्रिया मिथुनं मिथुनेन प्रजां प्रजया कर्म कर्मणा तपस्तपसा सत्यं सत्येन ब्रह्म ब्रह्मणा ब्राह्मणं ब्राह्मणेन व्रतं व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितोभवत्यशून्यो भवत्यविच्छिन्नः॥ ३॥

(देव सविता ने) पृथ्वी के साथ ऋक् को संयुक्त किया । ऋक् से अग्नि को, अग्नि से श्री को, श्री से स्त्री को, स्त्री से जोड़े को, जोड़े के साथ प्रजा को, प्रजा से कर्म को, कर्म से तप को, तप से सत्य को सत्य से ब्रह्म (वेदज्ञान) को, ब्रह्म (वेदज्ञान) से ब्राह्मण को, ब्राह्मण से व्रत को संयुक्त किया। व्रत से ही वह ब्राह्मण तेजस्वी होता है, परिपूर्ण होता है और अविच्छिन्न होता है॥ ३॥

भवत्यविच्छिन्नोऽस्य तन्तुरविच्छिन्नं जीवनं भवनं भवति य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेतं सावित्र्याः प्रथमं पादं व्याचष्टे॥ ४॥

जो विद्वान् इस प्रकार सावित्री के प्रथम चरण (वरण करने योग्य) को जानता है और जानकर इस प्रकार व्याख्या करता है, उसका वंश और उसका जीवन अविच्छिन्न होता है॥ ४॥

॥ पञ्चमी कण्डिका ॥

भर्गो देवस्य धीमहीति सावित्र्या द्वितीयः पादोऽन्तरिक्षेण यजुः समदधात् यजुषा वायुं, वायुनाऽब्भ्रमब्भ्रेण वर्ष, वर्षेणौषधिवनस्पतीनोषधि वनस्पतिभिः पशून् पशुभिः कर्म कर्मणा तपस्तपसा सत्यं, सत्येन ब्रह्म, ब्रह्मणा ब्राह्मणं, ब्राह्मणेन व्रतं व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितो भवत्यशून्यो भवत्यविच्छिन्नः॥ १॥

'भर्गो देवस्य धीमहि' – यह सावित्री का द्वितीय चरण है। देव सविता ने अन्तरिक्ष के साथ यजुष् को संयुक्त किया। यजुष् के साथ वायु को , वायु के साथ मेघ को, मेघ के साथ वर्षा को, वर्षा के साथ ओषधियों एवं वनस्पतियों को, ओषधियों एवं वनस्पतियों के साथ पशुओं को, पशुओं के साथ कर्म को, कर्म के साथ तप को, तप के साथ सत्य को, सत्य के साथ ब्रह्म (वेदज्ञान) को, ब्रह्म (वेदज्ञान) से ब्राह्मण को, ब्राह्मण से व्रत को संयुक्त किया। व्रत से ही ब्राह्मण तेजस्वी, परिपूर्ण और अविच्छिन्न होता है॥ १॥

भवत्यविच्छिन्नोऽस्य तन्तुरविच्छिन्नं जीवनं भवति य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेतं सावित्र्या द्वितीयं पादं व्याचष्टे॥ २॥

जो विद्वान् इस प्रकार सावित्री के द्वितीय चरण (धारण किये जाने वाले भर्ग तत्त्व) को जानता है और इस प्रकार व्याख्या करता है, उसका वंश और उसका जीवन अविच्छिन्न होता है॥ २॥

॥ षष्ठ काण्डका ॥

धियो यो नः प्रचोदयादिति सावित्र्यास्तृतीयः पादो दिवा साम समदधात्सा-म्नाऽऽदित्यमादित्येनरश्मीन्रश्मिभिर्वर्षं, वर्षेणौषधिवनस्पती-नोषधिवनस्पतिभिः पशून् पशुभिः कर्म कर्मणा तपस्तपसा सत्यं सत्येन ब्रह्म, ब्रह्मणा ब्राह्मणेन व्रतं व्रतेन वै ब्राह्मणः संशितो भवत्यशून्याभवत्यविच्छिन्नः ॥ १ ॥

'धियो यो नः प्रचोदयात्'– यह सावित्री का तृतीय चरण है। उन देव सविता ने द्युलोक के साथ साम को संयुक्त किया। साम के साथ आदित्य को, आदित्य के साथ रश्मियों को, रश्मियों के साथ वर्षा को, वर्षा के साथ ओषधियों एवं वनस्पतियों को, ओषधियों एवं वनस्पतियों के साथ पशुओं को, पशुओं के साथ कर्म को, कर्म के साथ तप को, तप के साथ सत्य को, सत्य के साथ ब्रह्म को, ब्रह्म के साथ ब्राह्मण को, ब्राह्मण के साथ व्रत को संयुक्त किया। व्रत से ही ब्राह्मण तेजस्वी, परिपूर्ण और अविच्छिन्न होता है॥ १ ॥

भवत्यविच्छिन्नोऽस्य तन्तुरविच्छिन्नं जीवनं भवति य एवं वेद यश्चैवं विद्वानेवमेतं सावित्र्यास्तृतीयं पादं व्याचष्टे॥ २॥

जो विद्वान् इस प्रकार सावित्री के तृतीय चरण (प्रेरणा प्रदायक) को जानता है और उसे जानकर उसकी व्याख्या करता है, उसका वंश और उसका जीवन अविच्छिन्न रहता है॥ २॥

॥ सप्तमी कण्डिका ॥

तेन ह वा एवं विदुषा ब्राह्मणेन ब्रह्माभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टम्॥ १ ॥

उस विद्वान् (सावित्री के तीनों चरणों के जानकार) ब्राह्मण द्वारा वह ब्राह्मी (शक्ति) प्राप्त, ग्रसित (धारित) तथा परामृष्ट (सम्बद्ध-अनुभूति पूर्वक प्रयुक्त) होती है॥ १ ॥

ब्रह्मणाऽऽकाशमभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टमाकाशेन वायुरभिपन्नो ग्रसितः परामृष्टो वायुना ज्योतिरभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टं ज्योतिषाऽपोऽभिपन्ना ग्रसिताः परामृष्टा अद्भिर्भूमिरभिपन्ना ग्रसिता परामृष्टा भूम्याऽन्नमभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टमन्नेन प्राणोऽभिपन्नो ग्रसितः परामृष्टः प्राणेन मनोऽभिपन्नं ग्रसितं परामृष्टं मनसा वागभिपन्ना ग्रसिता परामृष्टा वाचा वेदा अभिपन्ना ग्रसिताः परामृष्टा वेदैर्यज्ञोऽभिपन्नो ग्रसितः परामृष्टस्तानि ह वा एतानि द्वादशमहाभूतान्येवं विधिप्रतिष्ठितानि तेषां यज्ञ एव पराद्धर्यः॥ २॥

ब्रह्म के साथ आकाश प्राप्त, ग्रसित एवं परामृष्ट (सम्बद्ध) है। आकाश के साथ वायु प्राप्त, ग्रसित एवं परामृष्ट (सम्बद्ध) है। वायु के साथ ज्योति प्राप्त, ग्रसित और परामृष्ट (सम्बद्ध) है, ज्योति के साथ जल प्राप्त, ग्रसित और परामृष्ट है। जल के साथ पृथ्वी प्राप्त, ग्रसित और परामृष्ट है। पृथ्वी के साथ अन्न प्राप्त, ग्रसित एवं परामृष्ट है। अन्न के साथ प्राण प्राप्त , ग्रसित एवं परामृष्ट है। प्राण के साथ मन प्राप्त, ग्रसित एवं

परामृष्ट है। मन के साथ वाणी प्राप्त, ग्रसित एवं परामृष्ट है। वाणी के साथ वेद प्राप्त, ग्रसित एवं परामृष्ट है। वेदों के साथ यज्ञ प्राप्त, ग्रसित एवं परामृष्ट है। इस प्रकार जानने वाले विद्वान् में से बारह महाभूत प्रतिष्ठित होते हैं। उनमें यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ है॥ २॥

॥ अष्टमी कण्डिका ॥

तं ह स्मैतमेवं विद्वांसो मन्यन्ते विद्यनमिति याथातथ्यमविद्वांसोऽयं यज्ञो वेदेषु प्रतिष्ठितो वेदा वाचि प्रतिष्ठिता वाङ् मनसि प्रतिष्ठिता मनः प्राणे प्रतिष्ठितं प्राणोऽन्ने प्रतिष्ठितो ऽन्नं भूमौ प्रतिष्ठितं भूमिरप्सु प्रतिष्ठिता आपो ज्योतिषि प्रतिष्ठिता ज्योतिर्वायौ प्रतिष्ठितं वायुराकाशे प्रतिष्ठित आकाशं ब्रह्मणि प्रतिष्ठितं ब्रह्म ब्राह्मणे ब्रह्मविदि प्रतिष्ठितं यो ह वा एवं वित् स ब्रह्मवित् पुण्यां च कीर्तिं लभते सुरभींश्च गन्धान् सोऽपहतपाप्मानन्तांश्रियमश्नुते य एवं वेद, यश्चैवं विद्वानेवमेतां वेदानां मातरं सावित्रीसम्पदमुपनिषदमुपास्त इति ब्राह्मणम्॥ १॥

जो विद्वान् यह मानते हैं कि हम यज्ञ जानते हैं- यथार्थ में वे अज्ञानी हैं। यह यज्ञ वेदों में प्रतिष्ठित है। वेद वाणी में प्रतिष्ठित है। वाणी मन में प्रतिष्ठित है। मन प्राण में प्रतिष्ठित है। प्राण अन्न में प्रतिष्ठित है। अन्न भूमि में प्रतिष्ठित है। भूमि जल में प्रतिष्ठित है। जल तेज (अग्नि) में प्रतिष्ठित है। तेज वायु में प्रतिष्ठित है। वायु आकाश में प्रतिष्ठित है। आकाश ब्रह्म में प्रतिष्ठित है। ब्रह्म ब्राह्मण (ब्रह्मज्ञानी) में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार (बारहों महाभूतों की गति को) जानने वाला ब्रह्मज्ञानी पुरुष पुण्य एवं कीर्ति को प्राप्त करता है, सुरभित गन्धादि युक्त जीवन प्राप्त करता है। वह पापों से मुक्त होकर विराट् ऐश्वर्य को ग्रहण करता है॥ १॥

॥ इति गायत्री उपनिषत्समाप्ता ॥

॥ छान्दाग्यापानषद् ॥

सामवेद की तलवकार शाखा के अन्तर्गत छान्दोग्य ब्राह्मण के अंश को इस उपनिषद् के रूप में मान्यता दी गई है। उक्त ब्राह्मण में १० अध्याय हैं। उसके अन्तिम ८ (आठ) अध्याय उपनिषद् रूप में लिये गये हैं। यह विशाल कलेवर वाले उपनिषदों में से एक है।

नाम के अनुरूप इस उपनिषद् का आधार 'छन्दः' है। 'छन्दः' यहाँ साहित्यिक पद्य रचना के प्रकार तक ही सीमित नहीं है, उसका व्यापक अर्थ है। 'छन्दः' का अर्थ है-आच्छादित करने वाला। कवि जिस सत्य का साक्षात्कार करता है, वह सत्य, वह भाव हृदयंगम करने के लिए वह साहित्यिक छन्द का प्रयोग करता है। वह सत्य या भाव जिन अक्षरों, पदों, स्वरों आदि से आच्छादित होता है, वे सब उस साहित्यिक छन्द के अंगोपांग होते हैं। इसी प्रकार ऋषि इस सृष्टि के मूल सत्य को विभिन्न माध्यमों से व्यक्त होते, प्रकृति के विभिन्न घटकों से आच्छादित हुआ देखता है। अस्तु , उन सबको उन्होंने छन्द या साम या उद्गीथ के रूप में व्यक्त किया है।

प्रथम अध्याय में ऋचा, साम आदि के सार रूप ॐकार की व्याख्या की गयी है। देवासुर संग्राम के उपाख्यान से ॐकार-उद्गीथ को केवल स्वर-श्वास आदि तक ही सीमित न रखकर उसे मुख्य प्राणों के स्पन्दन से जोड़ने का रहस्य समझाया है। फिर ॐकार की आध्यात्मिक, आधिदैविक उपासनाएँ समझाते हुए विभिन्न स्वरूप स्पष्ट किये गये हैं। दूसरे अध्याय में 'साम' को साधुता-श्रेष्ठता से जोड़ते हुए विभिन्न प्रकार की उपासनाओं का वर्णन किया गया है। तीसरे अध्याय में आदित्य को देवों का मधु कहकर उसकी विभिन्न दिशाओं से विभिन्न प्रकार के अमृतों की उपलब्धि का वर्णन है। इस मधुविद्या के अधिकारियों का उल्लेख करते हुए गायत्री की सर्वरूपता सिद्ध करके आदित्य की ब्रह्मरूप में उपासना का निर्देश दिया गया है। चौथे अध्याय में सत्यकाम जाबाल का वृषभ, अग्नि, हंस एवं मुद्ग द्वारा ब्रह्म बोध कराये जाने का तथा उपकौशल को विभिन्न अग्नियों द्वारा शिक्षित किए जाने का उपाख्यान है। पाँचवाँ अध्याय प्राण विद्या परक है। श्वेतकेतु एवं प्रवाहण संवाद में अप्तत्त्व का पाँचवीं आहुति में व्यक्तिवाचक बन जाने तथा अश्वपति एवं ऋषियों के संवाद से प्राण की विभिन्न प्रकृतियों का उल्लेख है। छठवें अध्याय में ईश्वर एवं आत्मा के विभिन्न स्वरूपों को विभिन्न दृष्टान्तों से स्पष्ट किया गया है। सातवें अध्याय में ब्रह्म की विभिन्न रूपों में उपासना समझायी गई है। आठवें अध्याय में इन्द्र एवं विरोचन के कथानक द्वारा आत्मतत्त्व और ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिए तप द्वारा पात्रता अर्जित करने का महत्त्व दर्शाया गया है। अन्त में आत्मज्ञान की परम्परा एवं उसके फल का वर्णन है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु..... इति शान्तिः (द्रष्टव्य- केनोपनिषद्)

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत, ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥ १ ॥

'ॐ' इस अक्षर का यज्ञ में उद्गाता द्वारा सर्वप्रथम उच्चारण किया जाता है। ॐ का उच्चारण करके उद्गाता सामगान करता है। उसी उद्गीथ साधना की यहाँ व्याख्या की जाती है ॥ १ ॥

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः ॥ २ ॥

सम्पूर्ण प्राणियों अथवा पदार्थों का रस (सार) पृथ्वी है। पृथ्वी का रस (सारभाग) जल है, जल का रस ओषधियाँ हैं, ओषधियों का रस पुरुष है। पुरुष का रस वाक् है। वाणी का रस साम है। साम का रस उद्गीथ ॐकार है॥ २॥

स एष रसानाꣳ रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो य उद्गीथः॥ ३॥

यह ॐकार सभी रसों में सर्वोत्तम रस है। यह परमात्मा का प्रतीक होने के कारण उपास्य है। यह पृथिवी आदि रसों में आठवाँ है॥ ३॥

[रसों में आठवाँ होने का अपना महत्त्व है। यह सृष्टि सात-सात के वर्गों में विभक्त है, सप्तलोक, सप्तराग, सातरंग, सप्तव्याहृतियाँ आदि। आठवाँ पिछले सप्तक का समापक तथा नये सप्तक का प्रारंभक होता है। ॐ में सभी रस समाहित भी होते हैं तथा उसी से सब प्रकट भी होते हैं, गूढ़ार्थ में आठवाँ कहने का यही भाव प्रतीत होता है।]

कतमा कतमर्क्कतमत्कतमत्साम कतमः कतम उद्गीथ इति विमृष्टं भवति ॥ ४॥

अब यह विचार किया जाता है कि कौन-कौन सा ऋक् है, कौन सा साम है और कौन सा उद्गीथ है॥

वागेवर्क् प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथस्तद्वा एतन्मिथुनं यद्वाक्च प्राणश्चर्क् च साम च॥

वाक् ही ऋक् है, प्राण ही साम है और ॐकार ही उद्गीथ है। जो ऋक् रूप वाणी और सामरूप प्राण है, ये (मिथुन) जोड़े प्रसिद्ध हैं॥ ५॥

[प्राण ही साम है। सामगान केवल वाणी की कलाकारिता नहीं है, उसमें वाणी के साथ प्राण का स्पन्दन भी जुड़ा होना चाहिए। यदि प्राण में अन्तः स्फूर्त तरंगें नहीं उठतीं, तो साम गान नहीं बन पाता। सामान्य गायन की प्रभावोत्पादकता में भी यही तथ्य कार्य करता है।]

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे सꣳसृज्यते यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम्॥ ६॥

जिस प्रकार मिथुन (स्त्री-पुरुष) का मिलन एक दूसरे की कामनाओं की पूर्ति करता है, उसी प्रकार इस (वाणी और प्राण अथवा ऋचा और साम के) जोड़े के संयोग से ॐकार का संसृजन होता है॥ ६॥

आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते॥ ७॥

जो विद्वान् उद्गीथ रूप ॐकार की उपासना करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओं की प्राप्ति कराने वाला होता है॥

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धि किंचानुजानात्योमित्येव तदाह एषा एव समृद्धिर्यदनुज्ञा समर्धयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते॥ ८॥

यह ॐकार अनुमति सूचक है। जब कोई किसी को अनुमति देता है, तो ॐकार कहकर उसे प्रकट करता है। यह अनुमति ही समृद्धिप्रद है। यह जानने वाला जो विद्वान् ॐकार की उपासना करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति करने वाला होता है॥ ८॥

[यह सृष्टि ब्रह्म के संकल्प से बनी है। सृष्टि उत्पादन के पीछे उसकी अनुमति, सृष्टि सृजन की संमति ही मूल कारण है। जिस ऋद्धि-सिद्धि या साधन के लिए ब्रह्म की अनुमति हो जाती है, वही तत्त्व अस्तित्व में आ जाता है। अस्तु, ब्रह्म की अनुमति ही समृद्धि है, ऋषि का यह कथन बहुत मर्मयुक्त है।]

तेनेयं त्रयी विद्या वर्तत ओमित्याश्रावयत्योमिति शꣳसत्योमित्युद्गायत्ये-तस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन॥ ९॥

ॐअक्षर से ही त्रयी (वेदत्रयी अथवा त्रिगुणात्मिका सृष्टि की) विद्या (यज्ञादि या सृष्टि सृजन)कर्म में प्रवृत्त होती है। ॐ कहकर ही अध्वर्यु आश्रावण (आदेश) कर्म करता है। ॐ कहकर ही होता शंसन

(पाठ या स्तुति) करता है और उद्गाता सामगान आरम्भ करता है। इसी ॐकार अक्षर रूप ब्रह्म की महिमा और रस(हव्य) से सभी यज्ञादि कर्म उसी अक्षर (ब्रह्म) की अर्चना के लिए सम्पन्न किये जाते हैं॥

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति॥ १०॥

जो उस (अक्षर ब्रह्म) को जानता है और जो नहीं जानता, वे दोनों ही उसी के माध्यम से कर्म करते हैं। विद्या और अविद्या (युक्तकर्म) के भिन्न-भिन्न फल हैं। जो कर्म विद्या , श्रद्धा और उपासना से युक्त होकर किया जाता है, वही अधिक शक्तिशाली होता है। यह उस अक्षर ब्रह्म की ही व्याख्या है॥ १०॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

देवासुरा ह वै यत्र संयेतिर उभये प्राजापत्यास्तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैना-नभिभविष्याम इति॥ १॥

प्रजापति की दोनों सन्तानें-देवगण और असुरगण परस्पर युद्ध करने लगे, तो देवों ने विचार किया कि हम उद्गीथ की उपासना करके असुरों का पराभव करेंगे॥ १॥

[परमात्मा को प्रजा-सृष्टि का जनक तथा स्वामी-पति कहा गया है। उसी से देव-असुर, पदार्थ-प्रति पदार्थ (मैटर-एन्टी मैटर) सर्जक और मारक प्रवाह सत्प्रवृत्ति-दुष्प्रवृत्ति आदि की उत्पत्ति हुई, वही उसका स्वामी है। यदि ये एक हो जायें, तो पुनः वह निश्चेष्ट सृष्टि के पूर्व की स्थिति बन जाये। इसीलिए वे दोनों पक्ष अपने - अपने निर्धारित पुरुषार्थ में प्रवृत्त रहते हैं। मनुष्य अपने संकल्प से किसी भी प्रवाह को फलित कर सकता है। आसुरी प्रभाव से बचने के लिए उद्गीथ साधना का विधान बतलाया गया है।]

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तꣳहासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धः॥ २॥

उन्होंने (देवों ने) नासिका स्थित प्राण के रूप में उद्गीथ की उपासना की, किन्तु असुरों ने उस प्राण को अपने पाप से भ्रष्ट कर दिया। पाप से बींधने के कारण ही वह (घ्राण) सुगन्ध एवं दुर्गन्ध दोनों को ग्रहण करता है॥ २॥

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। ताꣳहासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तयोभयं वदति सत्यं चानृतं च पाप्मना ह्येषा विद्धा॥ ३॥

फिर देवों ने वाणी के रूप में उद्गीथ (ॐकार) की उपासना की; किन्तु असुरों ने अपने पाप से वाणी को भ्रष्ट कर दिया। पाप से बींधे जाने के कारण वाणी सत्य और झूठ दोनों बोलने लगी॥ ३॥

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम्॥ ४॥

फिर देवों ने चक्षु रूप ॐकार की उपासना की; किन्तु असुरों ने अपने पाप से उसे भी भ्रष्ट कर दिया। पाप से बींधे जाने के कारण नेत्र देखने योग्य और न देखने योग्य दोनों को देखता है॥ ४॥

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयꣳ शृणोति श्रवणीयं चाश्रवणीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम्॥ ५॥

फिर देवों ने श्रोत्ररूप ॐकार की उपासना की, तब असुरों ने अपने पाप से उसे भ्रष्ट कर दिया, पाप से बींधे जाने के कारण श्रोत्र सुनने योग्य और न सुनने योग्य सभी बातों को सुनता है॥ ५॥

अथ ह मन उद्गीथमुपासांचक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयꣳ संकल्पयते संकल्पनीयं चासंकल्पनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम्॥ ६॥

फिर देवों ने मन के रूप में ॐकार की उपासना की, तब असुरों ने अपने पाप से उसे भी भ्रष्ट कर दिया, पाप से बींधे जाने के कारण मन विचारने योग्य और न विचारने योग्य सभी बातों पर विचार करने लगा॥ ६॥

[यहाँ ऋषि ने यह स्पष्ट किया है कि इन्द्रियों से सम्बद्ध प्राणों से भी उद्गीथ साधना की जा सकती है, किन्तु थोड़ा भी चूकने पर आसुरी प्रवाह उनमें विकार-विक्षेप डाल सकते हैं। आगे समझाया है कि मुख्य प्राण से उद्गीथ साधना करने पर आसुरी प्रपंच असफल हो जाते हैं।]

अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तꣳहासुरा ऋत्वा विदध्वꣳसुर्यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वꣳसेत॥ ७॥

फिर देवों ने मुख्य प्राण के रूप में उद्गीथ (ॐकार) की उपासना की, असुरों ने उसे भी पाप युक्त करना चाहा, पर उसके निकट जाकर वे ऐसे ध्वस्त हुए, जैसे कठोर चट्टान से टकराकर मिट्टी का ढेला चूर-चूर हो जाता है॥ ७॥

एवं यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वꣳसत एवꣳ हैव स विध्वꣳसते य एवंविदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासति स एषोऽश्माखणः॥ ८॥

जिस प्रकार अभेद्य चट्टान से टकराकर मिट्टी का ढेला विदीर्ण हो जाता है, उसी प्रकार वह व्यक्ति विनष्ट हो जाता है, जो उद्गीथ (ॐकार) के इस रहस्य को जानने वाले के प्रति पापयुक्त आचरण अथवा दुर्व्यवहार करता है; क्योंकि वह मुख्य प्राण का उपासक अभेद्य चट्टान की तरह दृढ़ होता है॥ ८॥

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्यपहतपाप्मा ह्येष तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान् प्राणानवति। एतमु एवान्ततोऽवित्त्वोत्क्रामति व्याददात्येवान्तत इति॥ ९॥

इस मुख्य प्राण के द्वारा मनुष्य सुगन्ध या दुर्गन्ध का अनुभव नहीं करता, क्योंकि वह पाप से संयुक्त नहीं है। मनुष्य जो कुछ खाता-पीता है, उसके द्वारा वह समस्त इन्द्रियों के प्राणों को पोषण प्रदान करता है। अन्तकाल में वह प्राण द्वारा अन्न ग्रहण नहीं करता, तो समस्त इन्द्रियों के प्राणों का उत्क्रमण हो जाता है और मुख फटा रह जाता है॥ ९॥

[शरीरस्थ मुख्य प्राण जब उद्गीथ (उच्च श्रेष्ठ भाव ॐकार) साधना में प्रवृत्त होता है, तो वह आहार को पचाते समय उसके भी उच्च संस्कार को जगा देता है। आहार के माध्यम से इन्द्रिय स्थित प्राणों के पोषण के क्रम में वही उच्च संस्कार उन्हें विकारों के आक्रमण से बचा लेता है। आगे मुख्य प्राण की व्याख्या की गई है।]

तꣳहाङ्गिरा उद्गीथमुपासांचक्र एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः॥ १०॥

अङ्गिरा ऋषि ने पहले मुख्य प्राण के रूप में ॐकार की ही उपासना की थी। अतः प्राण को "आङ्गिरस" भी कहा गया है, क्योंकि यह सम्पूर्ण अङ्गों का रस अथवा आधार है॥ १०॥

तेन तꣳह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासांचक्र एतमु एव बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्घि बृहती तस्या एष पतिः॥ ११॥

इसी प्रकार बृहस्पति देव ने भी उस मुख्य प्राण के रूप में ॐकार की उपासना की, अतः प्राण को बृहस्पति भी कहा गया; क्योंकि वाक् को बृहती कहा गया है और उसके पति (स्वामी) होने से प्राण को बृहस्पति माना गया है॥ ११॥

तेन तꣳहायास्य उद्गीथमुपासांचक्र एतमु एवायास्यं मन्यन्त आस्याद्यदयते ॥ १२ ॥

आयास्य ऋषि ने भी प्राण के रूप में ही उद्गीथ की उपासना की थी, अत: मनुष्य इस प्राण को ही आयास्य मानते हैं, क्योंकि यह प्राण आस्य अर्थात् मुख से निष्क्रमण करता है॥ १२॥

तेन तꣳह बको दाल्भ्यो विदांचकार। स ह नैमिशीयानामुद्गाता बभूव स ह स्मैभ्यः कामानागायति ॥ १३॥

दल्भ ऋषि के पुत्र बक नामक ऋषि ने प्राण के रूप में उद्गीथ अर्थात् ॐकार की उपासना की । वे ऋषि नैमिषारण्य में यज्ञ करने वाले ऋषियों के उद्गाता हुए। उन्होंने ऋषियों की कामनाओं की पूर्ति के लिए उद्गान किया॥ १३॥

[जिसने उद्गीथ साधना की है, ऐसे साधक यज्ञादि कार्यों के समक्ष उनके संकल्प के अनुरूप अपने प्राणों को तरंगित करके उसी भाव से पूरे वातावरण को भर देने में समर्थ होते थे।]

आगाता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्त इत्यध्यात्मम्॥ १४॥

इस प्रकार इस तथ्य को जानने वाला जो विद्वान् इस अक्षर ब्रह्म ॐकार की उपासना करता है, वह कामनाओं की पूर्ति करने वाला होता है। यह (शरीर की) आध्यात्मिक उपासना का वर्णन है॥ १४॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

अथाधिदैवतं य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीतोद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्गायति उद्यꣳस्तमो भयमपहन्त्यपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद॥ १॥

अब आधिदैविक उपासना का वर्णन करते हैं- तप:शील आदित्य के रूप में उद्गीथ की उपासना करनी चाहिए। यह उदित होकर मनुष्यों के लिए उद्गान अर्थात् प्राणों का संचार करता है। उदित होकर यह अज्ञानरूपी अन्धकार और उससे उत्पन्न होने वाले भय का नाश करता है। जो इस प्रकार जानता है, वह तमस् और सर्वविध भय का नाश करने वाला होता है॥ १॥

[ईश्वर ने आदित्य को जो प्राण सम्पदा दी है, उसे वह उत्कृष्ट प्रयोजनों के लिए ही प्रकट करता है। उसे आदर्श मानकर अपने प्राणों को गति देने वाला साधक उक्त सिद्धि प्राप्त करता है।]

समान उ एवायं चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं तस्माद्वा एतमिममुं चोद्गीथमुपासीत॥ २॥

यह प्राण और वह सूर्य दोनों ही समान हैं। यह प्राण उष्ण है और वह सूर्य भी उष्ण है। इस प्राण को स्वर कहते हैं और उस सूर्य को भी स्वर एवं (अस्तकाल में) प्रत्यास्वर कहते हैं। अत: इस प्राण और उस सूर्य रूप में उद्गीथ (ओंकार) की उपासना करनी चाहिए॥ २॥

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानोऽथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः सा वाक् तस्मादप्राणन्नपानन्वाचमभिव्याहरति॥ ३॥

व्यान नामक शरीरस्थ प्राण के रूप में उद्गीथ की उपासना करनी चाहिए। मनुष्य श्वास के द्वारा जो भीतर की वायु बाहर निकालता है, वह प्राण है; और बाहर की वायु जो अन्दर खींचता है, वह अपान है। जो प्राण और अपान की सन्धि है, वह व्यान है। व्यान ही वाणी है। इसीलिए जब मनुष्य बोलता है, तब वह प्राण तथा अपान की क्रिया नहीं करता है॥ ३॥

[प्राण तत्त्व की प्राण-अपान क्रियाएँ स्वचालित (आटोमैटिक) हैं। व्यान में संकल्प पूर्वक प्राण नियोजन दिशा विशेष में होता है। साधना क्रम में प्राण को संकल्प पूर्वक उत् -उच्च आदर्शों की दिशा में तरंगित करना उद्गीथ है। यह क्रिया प्राण एवं अपान क्रियाओं का रोध करके की जाती है। अगले मंत्रों में इस विषय को और भी स्पष्ट किया गया है।]

या वाक्सर्क्तस्मादप्राणन्नपानन्नृचमभिव्याहरति यर्क्तत्साम तस्मादप्राणन्नपानन्साम गायति यत्साम स उद्गीथस्तस्मादप्राणन्नपानन्नुद्गायति॥ ४॥

जो वाणी है, वही ऋक् है। इसलिए मनुष्य श्वास-प्रश्वास की क्रिया न करते हुए भी ऋक् का उच्चारण करता है। जो ऋक् है, वही साम है। इसी से मनुष्य श्वास-प्रश्वास की क्रिया न करते हुए भी सामगान करता है। जो साम है, वही उद्गीथ है। इसीलिए मनुष्य श्वास-प्रश्वास न करते हुए भी उद्गीथ का गान करता है॥

अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि यथाग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनमप्राणन्नपानꣳस्तानि करोत्येतस्य हेतोर्व्यानमेवोद्गीथमुपासीत॥ ५॥

इसके अतिरिक्त जो अन्यान्य पराक्रमयुक्त कर्म हैं, जैसे-अग्नि मन्थन, किसी विशिष्ट लक्ष्य तक दौड़ना, दृढ़ धनुष को खींचना इन सब कर्मों को भी मनुष्य श्वास-प्रश्वास को रोककर ही करता है। अतः व्यान के रूप में ही उद्गीथ की उपासना करना चाहिए॥ ५॥

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति प्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षतेऽन्नं थमन्ने हीदꣳसर्वꣳ स्थितम् ॥ ६॥

'उद्गीथ' शब्द के अक्षरों से भी उद्गीथ की उपासना की जाती है। उद्गीथ शब्द में 'उत्' प्राण का पर्याय है, क्योंकि प्राण की शक्ति से प्राणी उठते हैं। वाणी ही 'गी' अक्षर है, क्योंकि वाणी को 'गिरा' कहते हैं। 'थ' अक्षर अन्न है, क्योंकि अन्न के आश्रय से सम्पूर्ण प्राणी स्थित-जीवित हैं॥ ६॥

[उद्गीथ साधना से शरीर में इन्द्रियों में स्थित अन्न रूप प्राण, कर्म में व्यक्त प्राण (व्यान) तथा ऊर्ध्व गति देने वाले मुख्य प्राण तीनों को साधना अनिवार्य है। प्रकृति में भी विभिन्न रूपों में धारक, व्यक्त और उन्नायक प्राण प्रवाहों के संयोग से उद्गीथ साधना का मर्म आगे कहा गया है।]

द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी थमादित्य एवोद्वायुर्गीरग्निस्थꣳसामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीर्ऋग्वेदस्थं दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्त उद्गीथ इति ॥ ७॥

ऊँचा होने से द्यौ ही 'उत्' है, अन्तरिक्ष 'गी' है और पृथिवी 'थ' है। आदित्य ही 'उत्' है, वायु ही 'गी' है और अग्नि ही 'थ' है। सामवेद ही 'उत्' है, यजुर्वेद 'गी' है और सामवेद 'थ' है। जो विद्वान् उद्गीथ के इन अक्षरों के तत्त्व को इस प्रकार जानता है, उसके लिए वाणी वेदों आदि का रहस्य प्रकट कर देती है और वह भोगों को प्राप्त करने वाला तथा भोगने की शक्ति वाला होता है॥ ७॥

आगे यह स्पष्ट किया गया है कि उद्गीथ का साधक सफलता के लिए अपने भावों को एकनिष्ठ रखे। सामगान- स्तुतिगान करने वाले की भाव-साधना, आत्म साधना का स्पष्ट उल्लेख है-

अथ खल्वाशीः समृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत येन साम्ना स्तोष्यन्स्यात्तत्सामोपधावेत्।

अपने अभीष्ट ध्येय की उपासना करनी चाहिए। इससे निश्चयपूर्वक अभीष्ट कामनाओं की समृद्धि प्राप्त होती है। उद्गाता जिस साम के द्वारा उपासना करना चाहता है, वह उसी साम का चिन्तन सर्वदा करे॥ ८॥

यस्यामृचि तामृचं यदार्षेयं तमृषिं यां देवतामभिष्टोष्यन्स्यात्तां देवतामुपधावेत्॥ ९॥

वह साम जिस ऋचा में हो, उस ऋचा का, उसके ऋषि का तथा उसके देवता का चिन्तन भी उद्गाता को करना चाहिए॥ ९॥

येन च्छन्दसा स्तोष्यन्स्यात्तच्छन्द उपधावेद्येन स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात्तꣳस्तोममुपधावेत्॥ १०॥

वह उद्गाता जिस छन्द के द्वारा स्तुति करता हो, उस छन्द का चिन्तन करे। जिन स्तोत्रों से स्तुति करता हो, उन स्तोत्रों का चिन्तन करे॥ १०॥

यां दिशमभिष्टोष्यन्स्यात्तां दिशमुपधावेत्॥ ११॥

वह जिस दिशा की स्तुति करता हो, उस दिशा का चिन्तन करे॥ ११॥

आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत कामं ध्यायन्नप्रमत्तोऽभ्याशो ह यदस्मै स कामः समृद्धयेत यत्कामः स्तुवीतेति यत्कामः स्तुवीतेति॥ १२॥

अन्त में अपने आत्मस्वरूप का और अपनी कामना का चिन्तन करके, वह प्रमादरहित स्तुति करे। जिस कामना की पूर्ति के लिए वह परमात्मा की स्तुति करता है, वह शीघ्र ही अभीष्ट फल प्राप्त करता है॥

॥ चतुर्थः खण्डः॥

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्॥ १॥

ॐ यह अक्षर ही उद्गीथ है- यह जानकर उपासना करनी चाहिए। उद्गाता यज्ञ में ॐ का उच्चारण करके उद्गान करता है। उस उद्गीथ की ही व्याख्या की जाती है॥ १॥

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशꣳस्ते छन्दोभिरच्छादयन्यदेभिरच्छादयꣳस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्॥ २॥

मृत्यु से डरते हुए देवों ने त्रयी विद्या में प्रवेश लिया और अपने को छन्दों से आच्छादित कर लिया। आच्छादित करने वाले होने के कारण वे छन्द कहे गये॥ २॥

[देवता तो अमर कहे गये हैं, फिर उन्हें मृत्यु का भय कैसे ? यहाँ देवों का तात्पर्य शरीरस्थ देव शक्तियों से है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में उल्लेख है कि विराट् पुरुष के अंगों से उत्पन्न देवों ने मनुष्य के अंग-अवयवों में प्रवेश किया। मनुष्य मर्त्य है, उसके अंगों में स्थित देवों को ही मृत्युभय होता है।]

तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि । ते नु वित्त्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन्॥ ३॥

जिस प्रकार मछली पकड़ने वाला धीवर जल के भीतर मछली को देख लेता है, उसी प्रकार ऋक् , साम और यजुष् सम्बन्धी कर्मों में संलग्न देवों को मृत्यु ने देख लिया। देवों को यह बात ज्ञात होने पर वे उन ऋक्, साम और यजुष् सम्बन्धी कर्मों को त्यागकर उस ॐकार अक्षर में ही प्रविष्ट हो गये॥ ३॥

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरत्येवꣳ सामैवं यजुरेष उ स्वरो यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन्॥ ४॥

जब कोई उपासक ऋचा-पाठ करता है, तो वह बड़े आदर के साथ ॐ का उच्चारण करता है । उसी प्रकार साम एवं यजुष् पाठ करने वाले भी ॐ अक्षर का उच्चारण करते हैं। यद्यपि ॐएक स्वर है, तथापि

यह अक्षर, अमृत और अभय रूप ब्रह्म का ही प्रतीक है। देवगण इस अक्षर ब्रह्म ॐकार में प्रविष्ट होकर अमरत्व और अभय को प्राप्त होते हैं॥ ४॥

[देवगण जब तक नश्वर इन्द्रियादि के रसों में अपना अस्तित्व देखते हैं, तब तक वेदोक्त अनुशासन का पालन करने पर भी मृत्यु भय से मुक्त नहीं होते। जब ॐकार रूप ब्रह्म के सर्वोत्तम रस के आनन्द में प्रवेश करते हैं, तो अमर हो जाते हैं।]

स य एतदेवं विद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षरꣳ स्वरममृतमभयं प्रविशति तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति॥ ५॥

जो ज्ञानी इस अक्षर ब्रह्म ॐ को इस प्रकार जानकर उपासना करता है, वह अमृत और अभयरूप स्वर ब्रह्म ॐ में ही प्रविष्ट करता है। जिस प्रकार इसमें प्रविष्ट होकर देवगण अमरत्व भाव को प्राप्त हुए, उसी प्रकार वह भी अमरत्व को प्राप्त होता है॥ ५॥

॥ पञ्चमः खण्डः ॥

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति॥ १॥

यथार्थ में यह जो उद्गीथ है, वही प्रणव ॐ है और जो प्रणव है, वही उद्गीथ है। यह जो सूर्य है, वही उद्गीथ है, वही प्रणव है, क्योंकि यह गमन करते हुए ॐ का ही उच्चारण करता रहता है॥ १॥

[अपने पूरे सौर मण्डल को लिए सूर्य भी गतिशील है, यह तथ्य वर्तमान विज्ञान स्वीकार करता है। सूर्य के द्वारा प्राणों के संचार को उद्गीथ (छान्दो.१.३.१ में) पहले ही कहा जा चुका है।]

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच रश्मीꣳस्त्वं पर्यावर्तयाद्बहवो वै ते भविष्यन्तीत्यधिदैवतम्॥ २॥

कौषीतकि ऋषि ने अपने पुत्र से कहा- मैंने विशेषतः इसी आदित्य को लक्ष्य कर ॐकार का गान किया था, इसी से तू मेरा एक पुत्र है। अब तू यदि सूर्य से विकेन्द्रित होती सूर्य की रश्मियों का ध्यान कर, तो निश्चय ही तुम्हें बहुत से पुत्रों की प्राप्ति होगी। यह आधिदैविक उपासना का वर्णन है॥ २॥

[साधक के संकल्प के अनुरूप प्राण शक्ति का नियोजन होता है। उसी के अनुसार एक या बहुत से पुत्र प्राप्त होने की बात कही गयी है।]

अथाध्यात्मं य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्येष स्वरन्नेति॥ ३॥

अब आध्यात्मिक उपासना का वर्णन है। यह जो मुख्य प्राण है, उसी के रूप में उद्गीथ की उपासना करनी चाहिए, क्योंकि यह गमन करते हुए सर्वदा ॐकार स्वर का ही उच्चारण करता रहता है॥ ३॥

एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच प्राणाꣳस्त्वं भूमानमभिगायताद्बहवो वै मे भविष्यन्तीति॥ ४॥

कौषीतकि ऋषि ने अपने पुत्र से कहा- मैंने विशेषतः इसी मुख्य प्राण को लक्ष्यकर ॐकार का गान किया था; अतः तू मेरा एक पुत्र हुआ। अब तू मुख्य प्राण के गुणभेद से विशिष्ट प्राणों का चिन्तन कर, तो निश्चय ही तुम्हारे बहुत से पुत्र होंगे॥ ४॥

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीतमनुसमाहरतीत्यनु समाहरतीति॥ ५॥

यथार्थ में जो उद्गीथ है, वही प्रणव (ॐ) है। जो प्रणव है, वही उद्गीथ है। इस रहस्य को जानने वाला होता के आसन से उद्गाता से हुए दोष युक्त उद्गान को ॐ उच्चारण करके संशोधन कर लेता है॥ ५॥

[यदि उद्गाता के गान में यज्ञ के उद्देश्य के अनुरूप भावों का स्पंदन न होने पाये, तो होता ॐकार के उद्गान से - मुख्य प्राण को तरंगित करके उस कमी की पूर्ति कर सकता है।]

॥ षष्ठः खण्डः ॥

इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयत इयमेव साग्निरमस्तत्साम॥ १॥

यह पृथ्वी ही ऋक् है और अग्नि साम है। वह अग्नि रूप साम, पृथिवी रूप ऋक् में प्रतिष्ठित है। अतः ऋचा में अधिष्ठित साम का गायन किया जाता है। पृथिवी को 'सा' और अग्नि को 'अम' मानकर दोनों को मिलाने से साम बनता है॥ १॥

[साम अर्थात् उद्गीथ को प्राण का संचरण कहा गया है। पृथ्वी तत्त्व (काष्ठ आदि) जब प्राण संचरित करते हैं, तो अग्नि का स्वरूप बनता है। इसी प्रकार आगे अन्तरिक्ष का प्राण संचरण वायु तथा आकाश द्वारा प्राण संचरण से आदित्य का स्वरूप बनना मान्य है।]

अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम। तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयतेऽन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम॥ २॥

अन्तरिक्ष ही ऋक् है और वायु साम है। वह वायु रूप साम अन्तरिक्ष रूप ऋक् में प्रतिष्ठित है। अतः ऋचा में अधिष्ठित साम का गायन किया जाता है। अन्तरिक्ष को 'सा' और वायु को 'अम' मानकर दोनों को मिलाने से 'साम' बनता है॥ २॥

द्यौरेवर्गादित्यः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम। तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते द्यौरेव सादित्योऽमस्तत्साम॥ ३॥

आकाश ही ऋक् है और आदित्य साम है। वह आदित्य रूप साम द्यौ रूप ऋक् में प्रतिष्ठित है, अतः ऋचा में अधिष्ठित साम का ही गायन किया जाता है। आकाश को 'सा' और आदित्य को 'अम' मानकर दोनों को मिलाने से साम बनता है॥ ३॥

नक्षत्राण्येवर्क् चन्द्रमाः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम। तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते। नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम॥ ४॥

नक्षत्र ही ऋक् है और चन्द्रमा साम है। वह चन्द्रमा रूप साम नक्षत्र रूप ऋक् में प्रतिष्ठित है, अतः ऋचा में अधिष्ठित साम का ही गायन किया जाता है। नक्षत्र को 'सा' और चन्द्रमा को 'अम' मानकर दोनों को मिलाने से साम बनता है॥ ४॥

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्या-मृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते॥ ५॥

यह जो आदित्य का श्वेत प्रकाश है, वही ऋक् है और जो नीलवर्ण मिश्रित कृष्ण प्रकाश है, वह साम है। वह नीलवर्ण रूप साम इस श्वेत ज्योति रूप ऋक् में अधिष्ठित है, अतः ऋचा में अधिष्ठित साम का ही गायन किया जाता है॥ ५॥

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्सामाथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः॥ ६॥

यह आदित्य का श्वेत प्रकाश 'सा' है, नीलवर्ण मिश्रित कृष्ण प्रकाश 'अम' है। इन दोनों को मिलाने से साम बनता है। इस आदित्य के मध्य में एक स्वर्णिम पुरुष दिखाई देते हैं, जो स्वर्ण सदृश दाढ़ी-मूँछ वाले तथा स्वर्णिम केशों वाले हैं, जो नख से लेकर शिखा पर्यन्त सम्पूर्ण रूप से स्वर्णमय हैं॥ ६॥

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद॥ ७॥

उस स्वर्णिम पुरुष के दोनों नेत्र बन्दर के बैठने के स्थान के सदृश अथवा कमल पुष्प के सदृश अरुणिम हैं। उनका नाम 'उत्' है, क्योंकि वह पापों से ऊपर उठे हैं। जो इस प्रकार जानते हैं, वह निश्चय ही पापों से ऊपर उठ जाते हैं॥ ७॥

तस्यर्क् च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गातैतस्य हि गाता स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम्॥ ८॥

ऋग्वेद और सामवेद उसी पुरुष का वर्णन करते हैं। इसीलिए वह परमात्मा उद्गीथ है और उस 'उत्' का गान करने वाला उद्गाता कहलाता है। वह परम पुरुष 'उत्' आदित्य से ऊँचे लोकों और देवों का भी नियामक है और देवों की कामनाओं का पूरक है। यह उद्गीथ की आधिदैविक उपासना का स्वरूप है॥ ८॥

॥ सप्तमः खण्डः ॥

अथाध्यात्मं वागेवर्क् प्राणः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम॥ १॥

अब आध्यात्मिक उपासना का वर्णन किया जाता है। वाणी ही ऋक् है और प्राण साम है। इस प्रकार वाणी रूप ऋक् में प्राण रूप साम अधिष्ठित है। अतः ऋक् में अधिष्ठित साम का ही गायन किया जाता है। वाणी को 'सा' और प्राण को 'अम' मानकर इन्हें मिलाने से साम बनता है॥ १॥

चक्षुरेवर्गात्मा साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते चक्षुरेव सात्माऽमस्तत्साम॥ २॥

चक्षु ही ऋक् है और आत्मा साम है। इस प्रकार चक्षुरूप ऋक् में आत्मारूप साम अधिष्ठित है। अतः ऋक् में अधिष्ठित साम का ही गायन किया जाता है। चक्षु को 'सा' और आत्मा को 'अम' मानकर इन्हें मिलाने से साम बनता है॥ २॥

श्रोत्रमेवर्ङ्मनः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते श्रोत्रमेव सा मनोऽमस्तत्साम॥ ३॥

श्रोत्र ही ऋक् है और मन साम है। इस प्रकार श्रोत्र रूप ऋक् में मनरूप साम अधिष्ठित है। अतः ऋक् में अधिष्ठित साम का ही गायन किया जाता है। श्रोत्र को 'सा' और मन को 'अम' मानकर उन्हें मिलाने से साम बनता है॥ ३॥

अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्या-मृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम गीयते। अथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैव साथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम॥ ४॥

यह जो नेत्रों में श्वेत आभा है, वह ऋक् है और जो नील वर्ण युक्त श्याम आभा है, वह साम है। इस प्रकार (श्वेत आभारूप) ऋक् में (नीलयुक्त श्याम आभारूप) साम अधिष्ठित है, अतः ऋक् में अधिष्ठित साम का ही गायन किया जाता है। नेत्रों की श्वेत आभा को 'सा' और श्याम आभा को 'अम' मानकर इन्हें मिलाने से साम बनता है॥ ४॥

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम॥ ५॥

यह नेत्रों के मध्य जो पुरुष दिखाई देता है, वही ऋक् है, वही साम है, वही उक्थ है, वही यजुष् और वही ब्रह्म है। उस पुरुष का वही रूप है, जो आदित्य के मध्य स्थित पुरुष है। उसके जो गुण हैं, वही इसके गुण हैं। उसका जो नाम 'उत्' है, वही इसका भी नाम है॥ ५॥

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां चेति तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः॥ ६॥

वही परम पुरुष पृथिवी से नीचे सभी लोकों पर आधिपत्य रखता है, वही मनुष्य की कामनाओं को भी अपने अधीन रखता है। जो लोग वीणा पर गायन करते हैं, वे उसी पुरुष का गायन करते हैं। इसी से वे धन-सम्पन्न होते हैं॥ ६॥

अथ य एतदेवं विद्वान्साम गायत्युभौ स गायति सोऽमुनैव स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्ताꣳश्चाप्नोति देवकामास्ताꣳश्च॥ ७॥

जो विद्वान् इस रहस्य को जानकर सामगान करता है, वह चक्षु के अन्तर्गत और आदित्य के अन्तर्गत अवस्थित दोनों पुरुषों का गायन करता है। इसके द्वारा वह आदित्य के ऊपर के लोकों और देवों के भोगों को प्राप्त करता है॥ ७॥

अथानेनैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्ताꣳश्चाप्नोति मनुष्यकामाꣳश्च तस्मादु हैवंविदुद्गाता ब्रूयात्॥ ८॥

इसी के द्वारा वह उद्गाता इस लोक से नीचे के लोकों तथा मनुष्य के समस्त भोगों को प्राप्त करता है। अतः इस प्रकार जानने वाला उद्गाता यजमान से कहता है॥ ८॥

कं ते काममागायानीत्येष ह्येव कामगानस्येष्टे य एवं विद्वान्साम गायति साम गायति॥

'मैं आपके लिए किन अभीष्ट कामनाओं का गान के द्वारा आवाहन करूँ।' जो इस रहस्य को इस प्रकार जानकर सामगान करता है, वह अभीष्ट भोगों का गान के द्वारा आवाहन करने में समर्थ हो जाता है॥ ९॥

॥ अष्टमः खण्डः॥

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुः शिलकः शालावत्यश्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति ते होचुरुद्गीथे वै कुशलाः स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति॥ १॥

तीन ऋषि उद्गीथ सम्बन्धी विद्या में पारङ्गत थे। एक शालावान् के पुत्र शिलक, द्वितीय चिकितायन के पुत्र दाल्भ्य और तृतीय जीवल के पुत्र प्रवाहण। उन्होंने एक दिन परस्पर कहा- हम लोग उद्गीथ विद्या में पारङ्गत हैं, अतः क्यों न इस विषय पर वार्तालाप करें॥ १॥

तथेति ह समुपविविशुः स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच भगवन्तावग्रे वदतां ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचꣳ श्रोष्यामीति॥ २॥

'हाँ, ऐसा ही करें, कहकर तीनों उत्तम स्थान पर बैठ गये। तब प्रवाहण जैवलि ऋषि ने कहा-पहले आप दोनों चर्चा करें, मैं आप ब्राह्मणों की कही बातों का श्रवण करूँगा॥ २॥

स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच हन्त त्वा पृच्छानीति पृच्छेति होवाच ॥ ३॥

तब शिलक शालावत्य ने दाल्भ्य चैकितायन से कहा-यदि आज्ञा हो, तो मैं प्रश्न करूँ। दाल्भ्य ने कहा- करो॥

का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाच स्वरस्य का गतिरिति प्राण इति होवाच प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति होवाचान्नस्य का गतिरित्याप इति होवाच॥ ४॥

'साम की गति (आश्रय) क्या है?' शिलक ने पूछा। दाल्भ्य ने उत्तर दिया 'स्वर'। फिर प्रश्न पूछा- स्वर की गति क्या है? दाल्भ्य ने कहा 'प्राण'। फिर प्रश्न पूछा- प्राण की गति क्या है? उन्होंने उत्तर दिया- 'अन्न'। फिर प्रश्न पूछा- अन्न की गति क्या है? उन्होंने उत्तर दिया -जल॥ ४॥

अपां का गतिरित्यसौ लोक इति होवाचामुष्य लोकस्य का गतिरिति न स्वर्ग लोकमतिनयेदिति होवाच स्वर्ग वयं लोकꣳ सामाभिसंस्थापयामः स्वर्गसꣳस्तावꣳ हि सामेति ॥ ५॥

जल की गति क्या है? ऐसा प्रश्न पूछने पर उत्तर दिया- वह लोक (स्वर्ग)। इस पर शिलक ने पूछा- उस लोक की गति क्या है? इस पर दाल्भ्य ने कहा- स्वर्ग लोक का अतिक्रमण करके साम को दूसरे आश्रय में नहीं रख सकते। हम साम को पूर्णतया स्वर्ग में स्थित मानते हैं और उसकी स्वर्ग रूप में ही स्तुति की गयी है॥ ५॥

तꣳ ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाचाप्रतिष्ठितं वै किल ते दाल्भ्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति॥ ६॥

तब दाल्भ्य चैकितायन से शिलक शालावत्य ने कहा- यह साम निश्चय ही अप्रतिष्ठित है; परन्तु यदि कोई उद्गाता यह कह दे कि तुम्हारा मस्तक पृथ्वी पर गिर जाये, तो निश्चय ही मस्तक पृथ्वी पर गिर जायेगा॥ ६॥

हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाचामुष्य लोकस्य का गतिरित्ययं लोक इति होवाचास्य लोकस्य का गतिरिति न प्रतिष्ठां लोकमतिनयेदिति होवाच प्रतिष्ठां वयं लोकꣳ सामाभिसꣳस्थापयामः प्रतिष्ठासꣳस्तावꣳ हि सामेति ॥ ७॥

दाल्भ्य ने कहा- श्रीमन्! मैं साम की स्थिति आपसे जानना चाहता हूँ। शिलक ने कहा- अच्छा, जानो। दाल्भ्य ने प्रश्न पूछा- स्वर्ग लोक का आश्रय क्या है? उनने कहा-यह लोक। फिर प्रश्न पूछा- इस लोक की गति क्या है? शिलक ने कहा- सबके आश्रयभूत इस लोक का अतिक्रमण करके साम को अन्य आश्रय में नहीं ले जाना चाहिए। हम इस लोक में साम को प्रतिष्ठित करके ही उसकी स्तुति करते हैं॥ ७॥

तꣳ ह प्रवाहणो जैवलिरुवाचान्तवद्वै किल ते शालावत्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाच॥ ८॥

तब प्रवाहण जैवलि ने कहा- हे शालावत्य! आपके द्वारा वर्णित यह साम तर्क द्वारा समाप्त हो जाने वाला है। यदि कोई उद्गाता यह कहे कि आपका मस्तक गिर जाये, तो यह मस्तक गिर जाएगा। फिर शिलक ने कहा- श्रीमन्! मैं साम की स्थिति आपसे जानना चाहता हूँ। इस पर प्रवाहण ने कहा- अच्छा, जानो॥ ८॥

॥ नवमः खण्डः ॥

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्॥ १॥

शिलक ने पूछा- इस लोक का आश्रय क्या है? प्रवाहण ने उत्तर दिया- आकाश, क्योंकि सम्पूर्ण प्राणी तथा तत्त्व इसी आकाश से उत्पन्न होते हैं और इसी में प्रलय को प्राप्त होते हैं, आकाश ही सबसे बड़ा है, अतः आकाश ही इस लोक का भी आश्रय है॥ १॥

स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान्परोवरीयाꣳसमुद्गीथमुपास्ते॥ २॥

वही श्रेष्ठ से अतिश्रेष्ठ उद्गीथ है, वह अनन्त रूप है। जो विद्वान् उसे इस प्रकार जानता है, इससे वह परम उत्कृष्ट उद्गीथ की उपासना करता है। इससे वह परम उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त होता है और क्रमशः उच्चतर लोकों को प्राप्त होता जाता है॥ २॥

तꣳ हैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वोवाच यावत्त एनं प्रजायामुद्गीथं वेदिष्यन्ते परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मिँल्लोके जीवनं भविष्यति॥ ३॥

अतिधन्वा शौनक ने इस उद्गीथ उपासना के तत्त्व को उदरशाण्डिल्य से व्यक्त किया। जब तक आपकी प्रजा इस उद्गीथ (प्राणों को ऊपर श्रेष्ठता की ओर तरंगित करने की विधा) को जानती रहेगी, तब तक उसका जीवन इस लोक में उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर होता जायेगा॥ ३॥

तथामुष्मिँल्लोके लोक इति स य एतमेवं विद्वानुपास्ते परोवरीय एव हास्यास्मिँल्लोके जीवनं भवति तथामुष्मिँल्लोके लोक इति लोके लोक इति ॥ ४॥

परलोक में भी वह श्रेष्ठतर होता जायेगा। इस प्रकार जो विद्वान् उद्गीथ के इस रहस्य को समझकर उपासना करता है, उसका जीवन इस लोक में श्रेष्ठतर होता जाता है तथा परलोक में भी उसे श्रेष्ठतर स्थान प्राप्त होता है॥ ४॥

॥ दशमः खण्डः ॥

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास॥ १॥

एक समय ओलों की वृष्टि के कारण कुरुदेश की खेती विनष्ट हो गयी। उस समय इभ्य ग्राम में चक्र ऋषि के पुत्र उषस्ति अपनी अल्पवयस्का पत्नी के साथ बड़ी दीन अवस्था में रहने लगे थे॥ १॥

स हेभ्यं कुल्माषान्खादन्तं बिभिक्षे तꣳहोवाच। नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिता इति॥ २॥

एक दिन उषस्ति ऋषि ने अत्यन्त घुने उड़द खाने वाले एक महावत से भिक्षा माँगी। तब उसने कहा-

इन जूठे उड़द के सिवाय मेरे पास और कोई अन्न नहीं है, बस इसी पात्र में उड़द रखे हैं॥ २॥

एतेषां मे देहीति होवाच तानस्मै प्रददौ हन्तानुपानमित्युच्छिष्टं वै मे पीतꣳस्यादिति होवाच॥ ३॥

उषस्ति ऋषि ने कहा- इन्हीं में से मुझे दे दो। तब महावत ने उड़द देते हुए कहा- इन्हें खाकर आप जल भी पी लें। उषस्ति ऋषि ने कहा- इस जल को पीने से मुझे जूठा जल पीने का दोष लग जाएगा॥ ३॥

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा अजीविष्यमिमा न खादन्निति होवाच कामो म उदपानमिति॥ ४॥

महावत ने पूछा- क्या ये उड़द जूठे नहीं हैं? उषस्ति ऋषि ने उत्तर दिया-इन्हें खाये बिना मैं जीवित नहीं रह सकता था, परन्तु जल तो मुझे कहीं भी मिल सकता है॥ ४॥

स ह खादित्वातिशेषाञ्जायाया आजहार साग्र एव सुभिक्षा बभूव तान्प्रतिगृह्य निदधौ॥ ५॥

उषस्ति ऋषि ने उनमें से एक भाग खाकर दूसरा भाग ले जाकर अपनी पत्नी को दिया, वह पहले ही बहुत सी भिक्षा प्राप्त कर चुकी थी, सो उसने उस उड़द को लेकर रख दिया॥ ५॥

स ह प्रातः संजिहान उवाच यद् बतान्नस्य लभेमहि लभेमहि धनमात्राꣳ राजासौ यक्ष्यते स मा सर्वैरार्त्विज्यैर्वृणीतेति॥ ६॥

तत्पश्चात् प्रातःकाल शय्या त्यागने के बाद उषस्ति ऋषि ने अपनी पत्नी से कहा-मुझे कहीं से थोड़ा अन्न प्राप्त हो जाता, तो उसे खाकर मैं निर्वाह के लिए धन प्राप्त कर लेता। यहाँ समीपस्थ राजा यज्ञ करने वाले हैं, वे मुझे सम्पूर्ण ऋत्विक् कर्मों के लिए वरण कर लेंगे॥ ६॥

तं जायोवाच हन्त पत इम एव कुल्माषा इति तान्खादित्वामुं यज्ञं विततमेयाय॥ ७॥

उषस्ति ऋषि की पत्नी ने उनसे कहा- हे स्वामिन्! ये आपके दिये हुए उड़द रखे हैं, इन्हें आप खा लें। उषस्ति ऋषि उन्हें खाकर उस विशाल यज्ञ में गये॥ ७॥

तत्रोद्गातॄनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश स ह प्रस्तोतारमुवाच॥ ८॥

वहाँ वे स्तोताओं के स्थान पर जाकर उनके समीप बैठ गये और प्रस्तोता से बोले-॥ ८॥

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति॥ ९॥

हे प्रस्तोतः! जिस देवता के प्रति स्तुति करते हो, यदि उसे बिना जाने आप स्तुति करेंगे, तो आपका मस्तक गिर जाएगा॥ ९॥

एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति॥ १०॥

इसी प्रकार वे उद्गाता के पास जाकर बोले- हे उद्गातः! जिस देवता के प्रति उद्गीथ गान करते हैं, उसे बिना जाने यदि उद्गान करेंगे, तो आपका मस्तक गिर जायेगा॥ १०॥

एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ते ह समारतास्तूष्णीमासांचक्रिरे॥ ११॥

इसी प्रकार उन्होंने प्रतिहर्ता के पास जाकर कहा हे प्रतिहर्तः! जिस देवता के प्रति आप प्रतिहरण करते हैं, उसे बिना जाने यदि प्रतिहरण करेंगे, तो आपका मस्तक गिर जाएगा। यह

सुनकर प्रस्तोता, उद्गाता आदि अपने-अपने कर्मों से विरत होकर बैठ गये॥ ११॥

[यदि कोई व्यक्ति केवल रटे हुए ज्ञान के आधार पर श्रेय पाने का प्रयास करते थे, तो तत्त्वज्ञ ऋषि इस प्रकार की 'आन' (शर्त) रखकर उनकी गहराई की परीक्षा लेते थे। वे भी तत्त्वज्ञ के आगे अपनी सीमा स्वीकार कर लेते थे।]

॥ एकादशः खण्डः ॥

अथ हैनं यजमान उवाच भगवन्तं वा अहं विविदिषाणीत्युषस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच॥ १॥

तब उषस्ति ऋषि से यजमान राजा ने कहा- मैं आप पूज्य को जानना चाहता हूँ। इस पर उषस्ति ऋषि कहने लगे- मैं चक्र का पुत्र उषस्ति हूँ॥ १॥

स होवाच भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वैरार्त्विज्यैः पर्यैषिषं भगवतो वा अहमवित्त्वा-न्यानवृषि॥

तब राजा ने कहा- मैंने इन सब ऋत्विक् कर्मों के लिए आपको खोजा था, परन्तु आपके न मिलने पर ही मैं इन ऋत्विजों का वरण कर चुका हूँ॥ २॥

भगवाꣳस्त्वेव मे सर्वैरार्त्विज्यैरिति तथेत्यथ तर्ह्येत एव समतिसृष्टाः स्तुवतां यावत्त्वेभ्यो धनं दद्यास्तावन्मम दद्या इति तथेति ह यजमान उवाच॥ ३॥

अब आप ही हमारे सम्पूर्ण यज्ञ कर्मों को सम्पन्न कराएँ। उषस्ति ऋषि ने कहा- ऐसा ही हो। अब मैं इन्हीं प्रस्तोता, उद्गाता आदि को प्रसन्नता पूर्वक स्तुति करने की आज्ञा देता हूँ और आप जितना धन इन्हें दें, उतना ही मुझे दे देना। तब राजा ने कहा वैसा ही हो॥ ३॥

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति॥ ४॥

तब प्रस्तोता उषस्ति ऋषि के समीप आकर कहने लगे- हे भगवन्! आपने मुझसे कहा था कि हे प्रस्तोतः! आप जिस देवता की स्तुति करते हैं, उसे बिना जाने यदि स्तुति करेंगे, तो आपका मस्तक गिर जाएगा। अब आप बताएँ कि वह देवता कौन सा है?॥ ४॥

प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रास्तोष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति॥ ५॥

तब उषस्ति ऋषि कहने लगे कि वह देवता प्राण है। प्रलय काल में सभी प्राणी प्राण में ही प्रवेश कर जाते हैं और उत्पत्ति के समय ये प्राण से ही उत्पन्न हो जाते हैं। यह प्राण ही स्तुत्य देव है। यदि आप उसे बिना जाने स्तुति करते, तो मेरे वचन के अनुसार आपका सिर निश्चय ही गिर जाता॥ ५॥

अथ हैनमुद्गातोपससादोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति॥ ६॥

तदनन्तर उनके पास उद्गाता आकर कहने लगे- हे भगवन्! आपने मुझसे कहा था कि हे उद्गातः! आप जिस देवता की स्तुति करते हैं, उसे बिना जाने यदि स्तुति करेंगे, तो आपका मस्तक गिर जाएगा। अब आप बताएँ कि वह देवता कौन सा है?॥ ६॥

आदित्य इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति सैषा देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुदगास्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति॥ ७॥

तब उषस्ति ऋषि ने उत्तर दिया- वह देवता आदित्य है; क्योंकि ये सम्पूर्ण प्राणी उदीयमान सूर्य का ही गान करते हैं। यही देव उद्गीथ से सम्बन्धित है। यदि आप उसे बिना जाने स्तुति करते, तो मेरे वचन के अनुसार आपका सिर निश्चय ही गिर जाता॥ ७॥

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति॥ ८॥

उसके बाद प्रतिहर्ता उनके पास आये और कहने लगे- हे भगवन्! आपने मुझसे कहा था कि हे प्रतिहर्तः! आप जिस देवता का प्रतिहरण करते हैं, उसे बिना जाने यदि प्रतिहरण करेंगे, तो आपका सिर गिर जायेगा। अब आप बताएँ कि वह देवता कौन सा है?॥ ८॥

अन्नमिति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति सैषा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रत्यहरिष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति तथोक्तस्य मयेति॥ ९॥

इस पर उन्होंने कहा- वह देवता अन्न है, क्योंकि सम्पूर्ण प्राणी अन्न को ग्रहण करते हुए ही जीते हैं। अन्न देवता ही इस प्रतिहरण से सम्बंधित हैं। यदि उसे आप बिना जाने ही प्रतिहरण करते, तो मेरे वचन के अनुसार आपका मस्तक गिर जाता॥ ९॥

॥ द्वादशः खण्डः॥

इस खण्ड में शौव उद्गीथ का वर्णन है। कोश ग्रन्थों के अनुसार 'शौव' शब्द 'शौवन' का संक्षिप्त रूप है। शौवन का अर्थ होता है श्वान से सम्बंधित। यह आलंकारिक उपाख्यान है। 'श्वान' शब्द शुन् धातु से बना है; शुन-गतौ के अनुसार श्वान का अर्थ गतिशील होता है। यहाँ 'शौव' का अर्थ प्राण से सम्बन्धित मानने से ही उपाख्यान का भाव स्पष्ट होता है। वर्णित कथानुसार ऋषि पुत्र स्वाध्याय के लिए प्राकृतिक स्थल पर गये हैं। वहाँ श्वेत (निर्मल-निर्दोष) श्वान (प्राण प्रवाह) का उन्हें साक्षात्कार होता है। अन्य श्वान (इन्द्रियादि के विकारों से ग्रस्त प्राण) अपनी भूख का हवाला देकर उनसे अन्न के लिए उद्गीथ का गान करने को कहते हैं। पूर्व खण्डों में कहा जा चुका है; शुद्ध प्राण की ही उद्गीथ साधना फलित होती है। वे प्रकृति में संव्याप्त प्राण समूह शुद्ध प्राण के नेतृत्व में उद्गीथ का गान करते हैं। इस प्रसंग में यहाँ वर्णित उपाख्यान का भाव सिद्ध होता है-

अथातः शौव उद्गीथस्तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्व्राज॥ १॥

अब शौव (प्राणों से सम्बन्धित) उद्गीथ का वर्णन करते हैं। बक दाल्भ्य अथवा ग्लाव मैत्रेय स्वाध्याय के लिए जलाशय के समीप गये॥ १॥

तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्बभूव तमन्ये श्वान उपसमेत्योचुरन्नं नो भगवानागायत्वशनायाम वा इति॥ २॥

उनके समीप श्वेत (निर्मल-निर्विकार) श्वान (प्राण की इकाई) का प्राकट्य हुआ। उसके पास कुछ अन्य श्वान (विकारग्रस्त प्राण समूह) आकर कहने लगे; आप हमारे निमित्त अन्न प्राप्ति के लिए उद्गीथ का गान करें, हम सब भूखे हैं॥ २॥

तान्होवाचेहैव मा प्रातरुपसमीयातेति तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः प्रतिपालयांचकार॥ ३॥

उस श्वेत श्वान ने उन सबसे कहा- 'तुम कल प्रातःकाल मेरे पास आना।' तब कौतूहल पूर्वक बक दाल्भ्य और ग्लाव मैत्रेय भी प्रातःकाल की प्रतीक्षा करते रहे॥ ३॥

ते ह यथैवेदं बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणाः सꣳरब्धाः सर्पन्तीत्येव मासमृपुस्ते ह समुपविश्य हिंचक्रुः॥ ४॥

प्रातःकाल वे सब श्वान (प्राण) मिलकर उसी प्रकार भ्रमण करने लगे, जैसे बहिष्पवमान स्तोत्र से स्तुति करने वाले उद्गाता परस्पर मिलकर भ्रमण करते हैं। तदनन्तर वे वहाँ बैठकर हिंकार करने लगे॥ ४॥

[बहिष्पवमान स्तोत्र का गान प्रातः सवन में वेदिका से हटकर, एक साथ गतिशील रहकर किया जाता है। उसका उद्देश्य श्रेष्ठ हव्यान्न की प्राप्ति होती है। यहाँ भी प्राण से सम्बद्ध प्रवृत्तियों द्वारा (भूख, प्यास आदि) अपने निर्वाह के लिए अन्न प्राप्ति की प्रार्थना की जा रही है। अगले मन्त्र में वह प्रार्थना की गयी है। इस स्तोत्र को त्रित कहा गया है। यह प्रार्थना तीन देवों से की गयी है।]

ओ३मदा३मो३पिबा३मो३देवो वरुणः प्रजापतिः सविता३न्नमिहा२हरदन्नपते२ऽन्नमिहा हरा२हरो३मिति॥ ५॥

वे हिंकार करते हुए कहने लगे- ॐहम भक्षण करें। ॐ हम पान करें। ॐ देव वरुण, प्रजापति, सूर्यदेव यहाँ अन्न लाएँ। हे अन्नपते! यहाँ अन्न लाएँ, यहाँ अन्न लाएँ॥ ५॥

॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

यहाँ साम से सम्बन्धित स्तोभ साधना का वर्णन है। इसमें शास्त्रीय संगीत की तरह स्वरों का गायन तो होता है, किन्तु अर्थवाचक शब्दों का उपयोग नहीं होता। उसी प्रक्रिया में प्रयुक्त स्वरों से सम्बद्ध भावों का विवेचन यहाँ किया गया है-

अयं वाव लोको हाउकारो वायुर्हाइकारश्चन्द्रमा अथकार आत्मेहकारोऽग्निरीकारः ॥ १॥

इसमें 'हाउ' शब्द यह लोक (पृथ्वी) है। 'हाइ' शब्द वायु है। 'अथ' शब्द चन्द्रमा है। 'इह' शब्द आत्मा है और 'ई' अग्नि है । यह मानकर उपासना करनी चाहिए॥ १॥

आदित्य ऊकारो निहव एकारो विश्वेदेवा औहोयिकारः प्रजापतिर्हिंकारः प्राणः स्वरोऽन्नं या वाग्विराट् ॥ २॥

'ऊ' आदित्य है, 'ए' निहव (निमंत्रण) का प्रतीक है 'औ होय' विश्वेदेवा है। 'हिं' प्रजापति है, 'स्वर' प्राण का रूप है। 'या' अन्न है और 'वाक्' विराट् है॥ २॥

अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः संचरो हुंकारः॥ ३॥

जो अनिवर्चनीय है, परन्तु जो कार्य में संचरित होता है, वह तेरहवाँ स्तोभ 'हुं' है॥ ३॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतामेवꣳ साम्नामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेद इति ॥ ४॥

जो इस प्रकार साम सम्बन्धी (स्तोभाक्षर सम्बन्धिनी) उपनिषद् (रहस्य) का महत्त्व जानता है। उसके सम्मुख वाणी अपना रहस्य स्वयं ही उद्घाटित कर देती है। वह प्रचुर अन्न तथा प्रदीप्त पाचक अग्नि वाला होता है॥ ४॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

ॐ समस्तस्य खलु साम्न उपासनꣳ साधु यत्खलु साधु तत्सामेत्याचक्षते यदसाधु तदसामेति॥ १॥

साम की सम्पूर्ण उपासना श्रेष्ठ (साधु) है। संसार में जो कुछ श्रेष्ठ है, वह साम है, ऐसा विद्वज्जन कहते हैं। जो असाधु है, उसे असाम कहते हैं॥ १॥

[यहाँ सामगान का मूलभाव स्पष्ट हो जाता है। सामगान का अर्थ होता है 'सदुद्देश्य के लिए किया गया श्रेष्ठ गान।' केवल स्वर कौशल के आधार पर हीन-संकीर्ण (लोभादि) भावों से किया गया गान 'साम गान' नहीं कहला सकता। उसके लिए तो परमार्थ युक्त यज्ञीय भाव ही अभीष्ट होते हैं, इसी खण्ड के अन्तिम चौथे मंत्र में यह भाव ऋषि ने स्पष्ट किया भी है।]

तदुताप्याहुः साम्नैनमुपागादिति साधुनैनमुपागादित्येव तदाहुरसाम्नैनमुपागादित्य-साधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः॥ २॥

अतः जब कोई यह कहता है कि मैं साम द्वारा राजा के पास गया, तो इसका तात्पर्य साधु भाव से जाने के रूप में है और जब कोई यह कहे कि मैं 'असाम' द्वारा गया, तो उसके कहने का तात्पर्य असाधुभाव से जाने का है॥ २॥

अथोताप्याहुः साम नो बतेति यत्साधु भवति साधु बतेत्येव तदाहुरसाम नो बतेति यदसाधु भवत्यसाधु बतेत्येव तदाहुः॥ ३॥

इस प्रकार यदि 'हमें साम प्राप्त हुआ' ऐसा कहते हैं, तो उसका तात्पर्य अत्यन्त शुभ फल की प्राप्ति कहा जाता है और यदि 'हमें असाम प्राप्त हुआ' ऐसा कहते हैं, तो उसका तात्पर्य अत्यन्त अशुभ की प्राप्ति है॥ ३॥

स य एतदेवं विद्वान्साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनꣳसाधवो धर्मा आ च गच्छेयुरुप च नमेयुः॥ ४॥

इस प्रकार साम को जो श्रेष्ठ जान कर उपासना करता है, उसे श्रेष्ठ धर्म की प्राप्ति शीघ्र ही होती है और धार्मिक सिद्धान्त उसके प्रति अवनत होते हैं अर्थात् उसके लिए वे (धर्म सिद्धान्त) शीघ्र ही धारण योग्य होते हैं॥ ४॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

इसी उपनिषद् में पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि 'उद्गीथ' ही 'साम' है तथा साम का भाव 'साधु'- श्रेष्ठ सदाशयता पूर्ण होता है। उद्गीथ में प्राणों को उद्देश्य विशेष के लिए तरंगित- प्रेरित किया जाता है। श्रेष्ठ संदर्भों में प्राणों को तरंगित करने का क्रम स्थूल-सूक्ष्म प्रकृति में विभिन्न रूपों में चल रहा है। यज्ञीय गान में साम के पाँच विभाग या भक्ति कहे गये हैं। ऋषि ने विराट् प्रकृति यज्ञ में साम के विभिन्न रूपों और उसके विभागों का वर्णन सप्तम खण्ड तक किया है। कहा गया है कि प्रकृति की विभिन्न क्रियाओं में होने वाले प्राणों के साम प्रयोगों से जो साधक तादात्म्य बिठा लेता है, उस साधक में उस चक्र को नियंत्रित करने की क्षमता आ जाती है-

लोकेषु पञ्चविधꣳ सामोपासीत पृथिवी हिंकारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वेषु॥ १॥

ऊर्ध्व लोकों में पाँच प्रकार से साम की उपासना की जाती है। पृथ्वी हिंकार है, अग्नि प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है। आदित्य प्रतिहार है और द्युलोक निधन है॥ १॥

अथावृत्तेषु द्यौर्हिंकार आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् ॥ २ ॥

इसी प्रकार अधोमुख लोकों में भी पाँच प्रकार से साम की उपासना की जाती है। स्वर्ग हिंकार है, आदित्य प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, अग्नि प्रतिहार है और पृथ्वी निधन है॥ २॥

[सामगान में 'हिंकार' प्रारंभ तथा 'निधन' समापन का द्योतक है। जब पृथ्वी से ऊर्ध्व लोकों को लक्ष्य करके प्राण तरंगित किया जाता है, तो मंत्र क्र. १ की स्थिति बनती है तथा जब ऊर्ध्व लोकों से पृथ्वी को लक्ष्य करके साम प्रयोग होता है, तो मंत्र क्र. २ की स्थिति बनती है।]

कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च य एतदेवं विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविधꣳसामो-पास्ते॥

इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष पंचविध साम की उपासना करता है, उसके लिए ऊर्ध्व और अधो लोकों के भोग सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं॥ ३॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

वृष्टौ पञ्चविधꣳ सामोपासीत पुरो वातो हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः॥ १ ॥

अब वृष्टि में पाँच प्रकार के साम की उपासना का वर्णन करते हैं। पूर्वीय वायु हिंकार है, उत्पन्न होने वाला मेघ प्रस्ताव है। बरसने वाला जल उद्गीथ है। जो चमकता और गर्जन करता है, वह प्रतिहार है॥ १॥

उद्गृह्णाति तन्निधनं वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधꣳसामोपास्ते ॥ २॥

जो जल को ग्रहण करता है, वह निधन है। इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष पंचविध साम की उपासना करता है, उसकी इच्छा के अनुरूप ही वर्षा होती है। उसे ही वर्षा कराने का श्रेय प्राप्त होता है॥

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

सर्वास्वप्सु पञ्चविधꣳसामोपासीत मेघो यत्संप्लवते स हिंकारो यद्वर्षति स प्रस्तावो याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथो याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम्॥ १॥

सब प्रकार के जल में पंचविध साम की उपासना करनी चाहिए। घनीभूत होने वाले मेघ हिंकार हैं, बरसने वाले मेघ प्रस्ताव हैं, पूर्व दिशा में प्रवहमान मेघ उद्गीथ हैं, पश्चिम दिशा में प्रवहमान मेघ प्रतिहार हैं, समुद्र निधन हैं॥ १॥

न हाप्सु प्रैत्यप्सुमान्भवति य एतदेवं विद्वान्सर्वास्वप्सु पञ्चविधꣳसामोपास्ते॥ २॥

इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष सब प्रकार के जल में पञ्चविध साम की उपासना करता है, उसकी कभी जल में मृत्यु नहीं होती और वह जल से सर्वदा सम्पन्न रहता है॥ २॥

॥ पञ्चमः खण्डः ॥

ऋतुषु पञ्चविधꣳसामोपासीत वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम्॥ १॥

ऋतुओं में पंचविध साम की उपासना करनी चाहिए। वसन्त ऋतु हिंकार है। ग्रीष्म ऋतु प्रस्ताव है, वर्षा ऋतु उद्गीथ है, शरद् ऋतु प्रतिहार है और हेमन्त ऋतु निधन है॥ १॥

कल्पन्ते हास्मा ऋतव ऋतुमान्भवति य एतदेवं विद्वानृतुषु पञ्चविधꣳसामोपास्ते॥ २॥

इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष पञ्चविध साम की उपासना करता है, उसे ऋतुएँ अभीष्ट भोग प्रदान करती हैं तथा वह ऋतु के अनुसार सर्वदा भोगों से सम्पन्न रहता है॥ २॥

॥ षष्ठः खण्डः ॥

पशुषु पञ्चविधꣳसामोपासीताजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनम्॥ १॥

पशुओं में पंचविध साम की उपासना करनी चाहिए। बकरे हिंकार हैं, भेड़ें प्रस्ताव हैं, गौएँ उद्गीथ हैं, अश्व प्रतिहार हैं और पुरुष निधन हैं॥ १॥

भवन्ति हास्य पशवः पशुमान्भवति य एतदेवं विद्वान्पशुषु पञ्चविधꣳ सामोपास्ते॥ २॥

इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष पशुओं में पञ्चविध साम की उपासना करता है, उसे पशु सम्पदा प्राप्त होती है और वह पशुओं द्वारा प्रदत्त भोगों से सम्पन्न होता है॥ २॥

॥ सप्तमः खण्डः ॥

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत प्राणो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारो मनो निधनं परोवरीयाꣳसि वैतानि॥ १॥

प्राणों (इन्द्रियों) में श्रेष्ठता के क्रम से साम की पंचविध उपासना करनी चाहिए। यह प्राण हिंकार है, वाणी प्रस्ताव है, चक्षु उद्गीथ है, श्रोत्र प्रतिहार है और मन निधन है। ये उपासनाएँ क्रमशः श्रेष्ठतर हैं॥ १॥

परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान्प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपास्त इति तु पञ्चविधस्य ॥ २॥

इस प्रकार जानने वाला जो पुरुष प्राणों में पञ्चविध साम की उपासना करता है, वह श्रेष्ठतर जीवन को प्राप्त होता है तथा श्रेष्ठतर लोकों को प्राप्त करता है। यह पञ्चविध साम उपासना का स्वरूप है॥ २॥

॥ अष्टमः खण्डः ॥

सामान्य क्रम में साम के पाँच विभाग किये जाते हैं। जब साधक की साधना परिपक्व हो जाती है, तो उसके सूक्ष्म विभाग बनाकर संख्या सात कर दी जाती है। अष्टम से दशम खण्ड तक सप्तविध साम की उपासना का मर्म प्रकट किया गया है-

अथ सप्तविधस्य वाचि सप्तविधꣳ सामोपासीत यत्किंच वाचो हुमिति स हिंकारो यत्प्रेति स प्रस्तावो यदेति स आदिः॥ १॥

अब सप्तविध साम की उपासना का वर्णन किया जाता है। वाणी में सप्तविध साम की उपासना करनी चाहिए। शब्द 'हुं' हिंकार रूप है। शब्द 'प्र' प्रस्ताव रूप है और शब्द 'आ' ही आदि रूप है॥ १॥

यदुदिति स उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो यदुपेति स उपद्रवो यन्नीति तन्निधनम् ॥ २॥

शब्द 'उत्' ही उद्गीथ रूप है, 'प्रति' ही प्रतिहार है। शब्द 'उप' उपद्रव रूप है और 'नि' निधन रूप है॥ २॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतदेवं विद्वान्वाचि सप्तविधꣳ सामोपास्ते॥ ३॥

इस प्रकार से जानने वाला जो पुरुष वाणी में सप्तविध साम की उपासना करता है, वह वाणी के सारतत्त्व को प्राप्त कर लेता है तथा प्रचुर अन्न एवं अन्न को पचाने की सामर्थ्य भी प्राप्त कर लेता है॥ ३॥

॥ नवमः खण्डः ॥

अथ खल्वमुमादित्यꣳ सप्तविधꣳ सामोपासीत सर्वदा समस्तेन साम मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम॥ १॥

अब आदित्य के रूप में सप्तविध साम की उपासना का वर्णन किया जाता है। आदित्य सदा ही सम रहता है, अतः वह साम है। सभी को यही अनुभूत होता है कि वह हमारे प्रति सम है, अतः वह सभी के प्रति समान भाव वाला होने से भी साम है॥ १॥

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति विद्यात्तस्य यत्पुरोदयात्स हिंकारस्तदस्य पशवोऽन्वायत्तास्तस्मात्ते हिंकुर्वन्ति हिंकारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥ २॥

इस आदित्य के ये सम्पूर्ण प्राणी अनुगामी हैं। उसके उदय के पूर्व का रूप हिंकार है। सम्पूर्ण पशु आदि उसके हिंकार रूप के ही अनुगामी हैं। वे उस आदित्य रूप साम के हिंकार रूप के उपासक हैं। उसके उदय होने पर सभी हिंकार करने लगते हैं॥ २॥

अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्तावस्तदस्य मनुष्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रस्तुतिकामाः प्रशꣳसाकामाः प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥ ३॥

उदीयमान सूर्य का जो प्रारंभिक रूप है, वह प्रस्ताव है। सभी मनुष्य उसी रूप के अनुगामी हैं। वे इस सामरूप प्रस्ताव के स्तोता हैं और उसी की प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप में स्तुति करने की अभिलाषा रखते हैं॥ ३॥

अथ यत्सङ्गववेलायाꣳ स आदिस्तदस्य वयाꣳस्यन्वायत्तानि तस्मात्तान्यन्तरिक्षेऽनारम्भणान्यादायात्मानं परिपतन्त्यादिभाजीनि ह्येतस्य साम्नः॥ ४॥

जो सङ्गव वेला (सूर्योदय से तीन मुहूर्त अर्थात् लगभग ढाई घण्टे तक का समय) में आदित्य का रूप रहता है, वह आदि रूप है। समस्त पक्षीगण उसी रूप के आश्रय में रहते हैं। वे उसी आदि रूप साम का भजन करने वाले हैं, अतः वे अपने आश्रय को छोड़कर अन्तरिक्ष में स्वच्छन्द विचरण करते हैं॥ ४॥

अथ यत्संप्रति मध्यन्दिने स उद्गीथस्तदस्य देवा अन्वायत्तास्तस्मात्ते सत्तमाःप्राजापत्यानामुद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥ ५॥

तदनन्तर मध्य दिवस में आदित्य का जो रूप होता है, वह उद्गीथ रूप है। समस्त देवगण उसी उद्गीथ रूप के अनुगामी हैं। चूँकि वे उद्गीथ रूप साम के भागी (उपासक) हैं, अतः प्रजापति से उत्पन्न प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ हैं॥ ५॥

अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात्प्रागपराह्णात्स प्रतिहारस्तदस्य गर्भा अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥ ६॥

आदित्य का जो रूप मध्याह्न के बाद और अपराह्न से पूर्व का होता है, वह प्रतिहार है। सभी गर्भ उसी रूप के अनुगामी हैं। चूँकि वे प्रतिहाररूप साम के भागी हैं, अतः वे ऊपर की ओर आकृष्ट होने पर भी नीचे नहीं गिरते॥ ६॥

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात्स उपद्रवस्तदस्यारण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्षꣳ श्वभ्रमित्युपद्रवन्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ७ ॥

अपराह्न के पश्चात् और सूर्यास्त के पहले आदित्य का जो रूप होता है, वह उपद्रव है। सभी वन्य प्राणी उस रूप के अनुगामी हैं, अतः वे पुरुष को देखकर भय से वन अथवा गुफा में चले जाते हैं ॥ ७ ॥

अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनं तदस्य पितरोऽन्वायत्तास्तस्मात्तान्निदधति निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्न एवं खल्वमुमादित्यꣳ सप्तविधꣳ सामोपास्ते ॥ ८ ॥

तत्पश्चात् अस्त होते हुए सूर्य का जो रूप है, वह निधन है। पितृगण उसके उस रूप के अनुगामी हैं। चूँकि वे पितृगण निधन रूप साम के उपासक हैं, अतः उन्हें प्रजा (श्राद्धकाल में दर्भ पर) स्थापित करती है। इस प्रकार इस आदित्य रूप साम की सप्तविध उपासना की जाती है ॥ ८ ॥

॥ दशमः खण्डः ॥

अथ खल्वात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधꣳसामोपासीत हिंकार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्समम् ॥ १ ॥

तदनन्तर आत्मा तुल्य अतिमृत्यु रूप सप्तविध साम की उपासना का वर्णन किया जाता है। शब्द 'हिंकार' तीन अक्षरों वाला है तथा 'प्रस्ताव' भी तीन अक्षरों वाला है, अतः दोनों समान हैं ॥ १ ॥

आदिरिति द्व्यक्षरं प्रतिहार इति चतुरक्षरं तत इहैकं तत्समम् ॥ २ ॥

शब्द 'आदि' दो अक्षरों से बना है और 'प्रतिहार' शब्द चार अक्षरों से बना है। इसमें से एक अक्षर निकालकर 'आदि' शब्द में जोड़ने से वे समान हो जाते हैं ॥ २ ॥

उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं त्रिभिस्त्रिभिः समं भवत्यक्षरमतिशिष्यते त्र्यक्षरं तत्समम् ॥ ३ ॥

'उद्गीथ' शब्द तीन अक्षरों वाला है और उपद्रव चार अक्षरों वाला है। ये तीन-तीन अक्षरों में समान हैं, एक अक्षर शेष रह जाता है। यह शेष रहने वाला 'अक्षर' कहा जाता है, इसमें भी तीन अक्षर हैं, अतः वह भी समान है ॥

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति तानि ह वा एतानि द्वाविꣳशतिरक्षराणि ॥ ४ ॥

'निधन' शब्द तीन अक्षरों वाला है, यह उनके समान ही है। इस प्रकार कुल सात शब्दों में बाईस अक्षर हैं ॥

एकविꣳशत्यादित्यमाप्नोत्येकविꣳशो वा इतोऽसावादित्यो द्वाविꣳशेन परमादित्याज्जयति तन्नाकं तद्विशोकम् ॥ ५ ॥

इक्कीस अक्षरों से साधक आदित्य लोक को प्राप्त करता है। (बारह मास, पाँच ऋतुएँ और तीन लोक मिलकर बीस होते हैं) आदित्य ही इक्कीसवाँ अक्षर है। बाईसवें अक्षर से साधक आदित्य से परे सुख स्वरूप, शोक रहित (स्वर्ग) लोक को प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

आप्नोति हादित्यस्य जयं परो हास्यादित्यजयाज्जयो भवति य एतदेवं विद्वानात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधꣳ सामोपास्ते सामोपास्ते ॥ ६ ॥

इस प्रकार जो साधक परमात्म-तुल्य अति मृत्युरूप सप्तविध साम की उपासना करता है, वह इक्कीसवें अक्षर से आदित्य रूप साम की उपासना करता है और आदित्य लोक को जीत लेता है। बाईसवें अक्षर से वह आदित्य से परे लोक पर विजय प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

॥ एकादशः खण्डः ॥

मनो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारः प्राणो निधनमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम्॥ १॥

अब गायत्र सम्बन्धी विशिष्ट उपासना का वर्णन किया जाता है। मन हिंकार है, वाणी प्रस्ताव है, नेत्र उद्गीथ है, श्रोत्र प्रतिहार है, प्राण निधन है। यह गायत्र-साम प्राणों में प्रतिष्ठित है॥ १॥

स य एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद प्राणी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या महामनाः स्यात्तद्व्रतम्॥ २॥

जो साधक इस प्रकार गायत्र-साम को प्राणों में अधिष्ठित हुआ जानता है (अनुभव करता है); वह प्राणवान् होता है, पूर्ण आयु को भोगता है और तेजस्वी जीवन जीता है। वह प्रजाओं तथा पशुओं से समृद्ध होता है, महान् यशस्वी होता है, वह महामना बने, ऐसा उसका व्रत होता है (अर्थात् गायत्र उपासक को महामना-उदारचित्त होना चाहिए) ॥ २॥

॥ द्वादशः खण्डः ॥

अभिमन्थति स हिंकारो धूमो जायते स प्रस्तावो ज्वलति स उद्गीथोऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार उपशाम्यति तन्निधनꣳ सꣳशाम्यति तन्निधनमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम्॥ १ ॥

अभिमन्थन से उत्पन्न अग्नि हिंकार है। धूम्रयुक्त अग्नि प्रस्ताव है, प्रज्वलित अग्नि उद्गीथ है, अङ्गारयुक्त अग्नि प्रतिहार है, अग्नि का उपशमन (बुझने लगना) निधन है। अग्नि का सर्वथा शमन होना भी निधन है। यह रथन्तर साम अग्नि में प्रतिष्ठित है॥ १॥

स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेत्तद्व्रतम्॥

जो साधक इस प्रकार रथन्तर साम को अग्नि में प्रतिष्ठित जानता है, वह ब्रह्मतेज से सम्पन्न प्रदीप्त जठराग्नि से युक्त होता है। वह पूर्ण जीवन का उपभोग करता है, तेजोमय जीवन व्यतीत करता है। प्रजाओं तथा पशुओं से सम्पन्न होता है। वह महान् कीर्ति से सम्पन्न वृद्धि को प्राप्त होता है। अग्नि की ओर मुख करके साधक भक्षण न करे और न ही थूके-यही उसका व्रत होता है॥ २॥

॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रति स्त्रीं सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम्॥ १॥

अब स्त्री-पुरुष के जोड़े के रूप में वामदेव्य साम की उपासना का वर्णन किया जाता है। पुरुष का संकेत देना हिंकार है। अपनी अभिव्यक्ति प्रस्ताव है। शयन उद्गीथ है। उस समय अनुकूल व्यवहार प्रतिहार है। स्नेह और सौहार्द्र पूर्वक साथ-साथ समय व्यतीत करना निधन है। यह वामदेव्य साम स्त्री-पुरुष के जोड़े में प्रतिष्ठित है॥ १॥

[ऋषि ने दाम्पत्य और उनके माध्यम से चलने वाले प्रजनन चक्र को वामदेव्य साम के अन्तर्गत कहा है। कुछ लोग इस प्रसंग पर अश्लीलता का आरोप लगाते हैं; किन्तु ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि ऋषि प्रकृति-प्रवाह

के अन्तर्गत चलने वाले प्राण-प्रवाह के विभिन्न चक्रों की व्याख्या विभिन्न साम साधनाओं के रूप में कर रहे हैं। पुरुष-नारी द्वारा संचालित प्रजनन विज्ञान (जेनेटिक साइन्स) को छोड़ा कैसे जा सकता था ? वे (ऋषि) तो एक विशिष्ट साम (प्राणों से प्राणी के विकास की श्रेष्ठ साधना) देखते हैं। अस्तु, इस ज्ञान-विज्ञान के प्रसंग में कहीं अश्लीलता की गंध लेने का प्रयास नहीं करना चाहिए।]

स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद मिथुनीभवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न कां च न परिहरेत्तद्व्रतम्॥ २॥

जो साधक दाम्पत्य जीवन को वामदेव्य साम से ओत-प्रोत जानकर तदनुसार व्यवहार करता है, वह सुख से परिपूर्ण रहता है। वह सुसन्तति प्राप्त करता है, वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है, तेजोमय जीवन जीता है तथा प्रजाओं एवं पशुओं से समृद्ध होता है। वह महान् कीर्ति से वृद्धि को प्राप्त करता है। वह किसी का (अपनी पत्नी का) कभी परित्याग न करे। यही साधक का व्रत है॥ २॥

॥ चतुर्दशः खण्डः ॥

उद्यन्हिंकार उदितः प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथोऽपराह्णः प्रतिहारोऽस्तं यन्निधनमेत-द्बृहदादित्ये प्रोतम्॥ १॥

उदीयमान सूर्य हिंकार है, उदित हुआ सूर्य प्रस्ताव है, मध्याह्नकालिक सूर्य उद्गीथ है, अपराह्न कालिक सूर्य प्रतिहार है, अस्त होने वाला सूर्य निधन है। यह बृहत्साम सूर्य में अधिष्ठित है॥ १॥

स य एवमेतद्बृहदादित्ये प्रोतं वेद तेजस्व्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या तपन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २॥

जो साधक इस प्रकार बृहत्साम को सूर्य में स्थित जानता है, वह तेजस्वी और प्रदीप्त जठराग्नि से सम्पन्न होता है। वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है, तेजोमय जीवन व्यतीत करता है। वह सुसन्तति और पशुओं से समृद्ध होता है, वह महान् कीर्ति से वृद्धि को प्राप्त करता है। वह प्रखर सूर्य की कभी निन्दा न करे- यही साधक का व्रत है॥ २॥

॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

अभ्राणि संप्लवन्ते स हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णाति तन्निधनमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम्॥ १॥

मेघों का एकत्र होना हिंकार है। मेघों का बनना प्रस्ताव है। मेघों का जल बरसाना उद्गीथ है। बिजली का चमकना और कड़कना प्रतिहार है, वर्षा का समाप्त होना निधन है। यह वैरूप साम पर्जन्य में प्रतिष्ठित है॥ १॥

स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद विरूपाः श्च सुरूपाः श्च पशूनवरुन्धे सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्रतम्॥ २॥

जो साधक इस प्रकार वैरूप साम को पर्जन्य में अधिष्ठित जानता है, वह विरूप और सुरूप पशुओं का स्वामी होता है, पूर्ण आयु का उपभोग करता है, ज्योतिर्मय जीवन व्यतीत करता है। वह सुसन्तति और पशुओं से समृद्ध होता है। वह महान् कीर्ति से प्रतिष्ठित होता है। वह बरसते मेघों की निन्दा न करे- यह उसका व्रत होता है॥ २॥

॥ षोडशः खण्डः ॥

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतम्॥ १॥

वसन्त ऋतु हिंकार है, ग्रीष्म ऋतु प्रस्ताव है, वर्षा ऋतु उद्गीथ है, शरद् ऋतु प्रतिहार है, हेमंत ऋतु निधन है। यह वैराज साम ऋतुओं में अधिष्ठित है॥ १॥

स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद विराजति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्यर्तून्न निन्देत्तद्व्रतम्॥ २॥

जो साधक इस प्रकार वैराज साम को ऋतुओं में अधिष्ठित जानता है, वह सुसन्तति, पशु आदि सम्पदा एवं ब्रह्मतेज से सम्पन्न होता है। वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है, ज्योतिर्मय जीवन व्यतीत करता है, सुसन्तति और पशुओं से समृद्ध होता है, कीर्ति से सम्पन्न होकर वृद्धि पाता है। साधक ऋतुओं की निन्दा न करे- यही उसका व्रत होता है॥ २॥

॥ सप्तदशः खण्डः ॥

पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिशः प्रतिहारः समुद्रो निधनमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोताः॥ १॥

पृथ्वी हिंकार है, अन्तरिक्ष प्रस्ताव है, द्युलोक उद्गीथ है, दिशाएँ प्रतिहार हैं और समुद्र निधन है। यह शक्वरी साम लोकों में अधिष्ठित है॥ १॥

स य एवमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोता वेद लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या लोकान्न निन्देत्तद्व्रतम्॥ २॥

जो साधक इस प्रकार शक्वरी साम को लोकों में अधिष्ठित जानता है, वह लोकों की विभूतियों से सम्पन्न होता है, वह सम्पूर्ण आयु का उपभोग करता है, तेजस्वी जीवन जीता है। वह सुसन्तति और पशुओं से समृद्ध होता है, कीर्ति से वृद्धि को पाता है। वह साधक लोकों की निन्दा न करे- यही उसका व्रत है॥

॥ अष्टादशः खण्डः ॥

अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनमेता रेवत्यः पशुषु प्रोताः॥ १॥

बकरी हिंकार है, भेड़ें प्रस्ताव हैं, गौएँ उद्गीथ हैं, घोड़े प्रतिहार हैं और पुरुष निधन है- यह रेवती साम पशुओं में अधिष्ठित है॥ १॥

स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद पशुमान्भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या पशून्न निन्देत्तद्व्रतम्॥ २॥

जो साधक इस प्रकार रेवती साम को पशुओं में अधिष्ठित जानता है, वह पशुओं से समृद्ध होता है, वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है, तेजस्वी जीवन जीता है। वह सुसन्तति और पशुओं से समृद्ध होता है। वह कीर्ति के द्वारा महान होता है। वह साधक पशओं की निन्दा - यही उसका है॥ २॥

॥ एकोनविंशः खण्डः ॥

लोम हिंकारस्त्वक्प्रस्तावो मांसमुद्गीथोऽस्थि प्रतिहारो मज्जा निधनमेतद्यज्ञा-यज्ञीयमङ्गेषु प्रोतम्॥ १ ॥

लोम हिंकार है, त्वचा प्रस्ताव है, मांस उद्गीथ है, अस्थि प्रतिहार है और मज्जा निधन है। यह यज्ञा- यज्ञीय साम शारीरिक अङ्गों में सन्निहित है॥ १ ॥

स य एवमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतं वेदाङ्गी भवति नाङ्गेन विहूर्च्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या संवत्सरं मज्ञो नाश्नीयात्तद्व्रतं मज्ञो नाश्नीयादिति वा ॥ २॥

जो साधक इस यज्ञायज्ञीय साम को अङ्गों में सन्निहित जानता है, वह सम्पूर्ण अङ्गों से सम्पन्न होता है, किसी अङ्ग से हीन नहीं होता। वह सम्पूर्ण आयु का उपभोग करता है, तेजस्वी जीवन जीता है। वह सुसन्तति और पशुओं से समृद्ध होता है। वह महान् यशस्वी होता है। वह साधक एक वर्ष तक अथवा सर्वदा ही मांस भक्षण न करे- यही उसका व्रत है॥ २॥

॥ विंशः खण्डः ॥

अग्निर्हिंकारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्राजनं देवतासु प्रोतम् ॥ १ ॥

अग्नि हिंकार है, वायु प्रस्ताव है, आदित्य उद्गीथ है, नक्षत्र प्रतिहार है, चन्द्रमा निधन है। यह राजन साम देवों में अधिष्ठित है॥ १ ॥

स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेदैतासामेव देवतानाꣳ सलोकताꣳ सार्ष्टिताꣳ सायुज्यं गच्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥ २॥

जो साधक इस प्रकार राजन साम को देवताओं में प्रतिष्ठित जानता है, वह उन्हीं देवों के लोकों, ऐश्वर्यों और एकरूपता को प्राप्त हो जाता है। वह पूर्ण आयु का उपभोग करता है, तेजस्वी जीवन जीता है, सुसन्तति और पशुओं द्वारा समृद्ध होता है, यशस्वी होकर महान् बनता है। वह साधक ब्राह्मणों की निन्दा न करे-यही उसका व्रत है॥ २॥

॥ एकविंशः खण्डः ॥

त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोकाः स प्रस्तावोऽग्निर्वायुरादित्यः स उद्गीथो नक्षत्राणि वयाꣳसि मरीचयः स प्रतिहारः सर्पा गन्धर्वाः पितरस्तन्निधनमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतम् ॥ १ ॥

त्रयी वेद विद्या हिंकार है। पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक - ये तीन लोक प्रस्ताव हैं। अग्नि, वायु और आदित्य ये उद्गीथ हैं। नक्षत्र, पक्षी और किरणें ये प्रतिहार हैं। सर्प, गन्धर्व और पितृगण- ये निधन हैं। यह साम सम्पूर्ण जगत् में प्रतिष्ठित है॥ १ ॥

स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतं वेद सर्वꣳ ह भवति ॥ २॥

जो साधक इस साम को सम्पूर्ण जगत् में प्रतिष्ठित जानता है, वह सर्वरूप हो जाता है॥ २॥

तदेष श्लोकः। यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति॥ ३॥

इस सम्बन्ध में यह श्लोक है- उपर्युक्त साम में पाँच प्रकार से तीन-तीन (त्रिक) स्वरूपों का वर्णन है। उनसे श्रेष्ठ उनके अतिरिक्त और कोई साम नहीं है॥ ३॥

यस्तद्वेद स वेद सर्वꣳ सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति। सर्वमस्मीत्युपासीत तद्व्रतं तद्व्रतम्॥ ४॥

जो साधक उसे जानता है, वह सब कुछ जानता है। उसे सभी दिशाएँ (सम्पूर्ण प्रकृति) बलि (भोगों का अनुदान) देती हैं। हम ही सब कुछ हैं, यह मानकर साधक उपासना करे- यही उसका व्रत है॥ ४॥

॥ द्वाविंशः खण्डः॥

विनर्दि साम्नो वृणे पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथोऽनिरुक्तः प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्य मृदु श्लक्ष्णं वायोः श्लक्ष्णं बलवदिन्द्रस्य क्रौञ्चं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुणं त्वेव वर्जयेत्॥ १॥

साम के 'विनर्दि' नामक उद्गान का वर्णन करते हैं, वह पशुओं के लिए हितकारी है। वह अग्नि देवता से सम्बन्धित उद्गान है। प्रजापति का उद्गान स्पष्ट वर्णनीय नहीं है और सोम का उद्गान स्पष्ट वर्णनीय है। वायु देवता का उद्गान मृदु एवं मधुर है। इन्द्र देवता का उद्गान मधुर एवं पराक्रम साध्य है। बृहस्पति देवता का उद्गान क्रौञ्च पक्षी के सदृश है। वरुण देव का उद्गान फूटे काँसे के पात्र सदृश है। ये सभी उद्गान सेवनीय हैं, परन्तु वरुण देवता से सम्बद्ध उद्गान त्याज्य है॥ १॥

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत्स्वधां पितृभ्य आशां मनुष्येभ्यस्तृणोदकं पशुभ्यः स्वर्गं लोकं यजमानायान्नमात्मन आगायानीत्येतानि मनसा ध्यायन्नप्रमत्तः स्तुवीत॥ २॥

हम देवों के लिए अमरत्व का उपाय करें। पितरों के लिए स्वधा का, मनुष्यों के लिए इष्ट वस्तुओं का, पशुओं के लिए तृण एवं जल का, यजमान के लिए स्वर्ग लोक का और अपने लिए अन्न का उपाय करें- इस प्रकार इनका मन से चिन्तन करते हुए प्रमाद रहित होकर स्तुति करें॥ २॥

सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मनः सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानस्तं यदि स्वरेषूपालभेतेन्द्रꣳ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति वक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात्॥ ३॥

समस्त स्वर इन्द्रदेव की आत्मा हैं। सभी ऊष्म वर्ण देव प्रजापति की आत्मा हैं, सभी स्पर्श वर्ण मृत्यु देव की आत्मा हैं। यदि कोई व्यक्ति ऐसे उद्गाता के स्वर उच्चारण में दोष बताए, तो वह उससे कहे कि 'मैं इन्द्रदेव के आश्रय में था, वही आपको इसका उत्तर देंगे'॥ ३॥

अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत प्रजापतिꣳ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रतिपेक्ष्यतीत्येनं ब्रूयादथ यद्येनꣳस्पर्शेषूपालभेत मृत्युꣳ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रतिधक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात्॥ ४॥

यदि कोई पुरुष उद्गाता के ऊष्मवर्णों के उच्चारण में दोष कहे, तो उससे वह कहे कि 'मैं प्रजापति देव के आश्रय में था, वही आपको नष्ट करेंगे, यदि कोई पुरुष स्पर्श वर्णों के उच्चारण में दोष प्रकट करे, तो वह उससे कहे कि - 'मैं मृत्यु देवता के आश्रय में था, वे ही आपको भस्म करेंगे'॥ ४॥

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं ददानीति सर्व ऊष्माणोऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृता वक्तव्याः प्रजापतेरात्मानं परिददानीति सर्वे स्पर्शा लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परिहराणीति॥ ५॥

सभी स्वर घोषपूर्वक और बलपूर्वक उच्चारण किये जाने चाहिए। उनका उच्चारण करते समय कहे- हम इन्द्रदेव में पराक्रम की स्थापना करते हैं। सभी ऊष्मवर्ण बिना ग्रहण किये और बिना निकाले ही प्रयत्नपूर्वक उच्चारण किये जाते हैं। उनके उच्चारण के समय कहे - हम प्रजापति को अपनी आत्मा देते हैं। सभी स्पर्शाक्षर एक दूसरे में मिलाये बिना ही उच्चारण करते हुए कहे-'हम मृत्युदेव से अपने को छुड़ाते हैं'॥

॥ त्रयोविंशः खण्डः ॥

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति॥ १॥

धर्म के तीन स्कन्धों (आधार स्तम्भों) के विषय में वर्णन करते हैं। धर्म के तीन स्कन्ध हैं; यज्ञ, अध्ययन और दान-यह पहला स्कन्ध है। तप दूसरा स्कन्ध है। आचार्य कुल में साधनारत ब्रह्मचारी आचार्य कुल में अपने शरीर को तितिक्षा द्वारा क्षीण कर देता है, यह तीसरा स्कन्ध है। ये सभी पुण्य लोकों के अधिकारी होते हैं और ब्रह्म में स्थित अमृतत्व को प्राप्त करते हैं॥ १॥

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या संप्रास्रवत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति॥ २॥

प्रजापति देव लोकों का सार ग्रहण करने के उद्देश्य से तप करने लगे। तप के प्रभाव से लोकों से त्रयी विद्या-ऋक्, यजु एवं साम की उत्पत्ति हुई। पुनः तप के प्रभाव से उस त्रयी विद्या से भूः, भुवः एवं स्वः- ये अक्षर प्रस्रवित हुए॥ २॥

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ॐकारः संप्रास्रवत्तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृण्णान्येवमोंकारेण सर्वा वाक् संतृण्णोंकार एवेदꣳ सर्वमोंकार एवेदꣳ सर्वम्॥ ३॥

पुनः तप के प्रभाव से उन्होंने तीनों अक्षरों का सार ॐकार प्राप्त किया। जिस प्रकार शङ्कुओं (नसों) द्वारा सभी पत्ते व्याप्त रहते हैं, उसी प्रकार ॐकार द्वारा सम्पूर्ण वाणियाँ व्याप्त हैं। ॐ कार ही यह सम्पूर्ण (जगत्) है। ॐ ही यह सम्पूर्ण (आकाश) है॥ ३॥

॥ चतुर्विंशः खण्डः ॥

इस खण्ड में यज्ञ के तीन (प्रातः, मध्याह्न और सायं) सवनों के माध्यम से जीवन के तीन कालों में किए जाने वाले साधना पुरुषार्थ का उल्लेख ऋषि ने किया है। ब्रह्मचर्य आश्रम में अध्ययन आदि पूर्ण होने पर जीवन का प्रारंभ सद्गृहस्थ से किया जाता है। इसीलिए प्रथम सवन में गार्हपत्याग्नि से साधना प्रारंभ की जाती है-

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातःसवनꣳ रुद्राणां माध्यन्दिनꣳ सवनमादित्यानां च विश्वेषां च देवानां तृतीयसवनम्॥ १॥

(अब यज्ञ के सम्बंध में कहते हैं।) ब्रह्मवादी कहते हैं कि प्रातःकाल का सवन वसुगणों का है, मध्याह्न सवन रुद्रगणों का है और तृतीय सवन आदित्य गणों तथा विश्वेदेवों का है॥ १॥

क्व तर्हि यजमानस्य लोक इति स यस्तं न विद्यात्कथं कुर्यादथ विद्वान्कुर्यात्॥ २॥

फिर यजमान का लोक कहाँ है? जो यजमान अपने पुण्यलोक को नहीं जानता, वह यज्ञ क्यों करेगा? अतः यज्ञ के फलस्वरूप पुण्यलोक को जानकर ही यज्ञ करना चाहिए॥ २॥

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन गार्हपत्यस्योदङ्मुख उपविश्य स वासवꣳ सामाभिगायति॥ ३॥

प्रात:काल अनुवाक (ऋचा) का पाठ करने से पूर्व वह यजमान गार्हपत्याग्नि के पीछे उत्तराभिमुख बैठकर वसुदेवों के साम का भली प्रकार गान करता है॥ ३॥

लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयꣳरा ३ ३ ३ ३ ३ हुं ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥ ४॥

हे अग्निदेव! आप इस लोक (लौकिक सम्पदा) का द्वार खोल दें, जिससे हम राज्य प्राप्ति के निमित्त आपका दर्शन करें॥ ४॥

अथ जुहोति नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ ५॥

यजमान हवन करते हुए पृथ्वी लोक निवासी इस अग्निदेव को नमन करते हुए कहते हैं-हे अग्निदेव! आपको हमारा नमन है। आप हमें इस लोक की प्राप्ति कराएँ, निश्चय ही यही यजमान का लोक है। हम इसे प्राप्त करें॥ ५॥

अत्र यजमान: परस्तादायुष: स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै वसव: प्रात:सवनꣳ संप्रयच्छन्ति॥ ६॥

यजमान हवन करते हुए कहते हैं- हम आयु समाप्त होने पर पुण्य लोक को प्राप्त हों, इस निमित्त आहुति समर्पित है। बाधाओं (सीमाओं) को दूर करें, ऐसा कहकर वे उठते हैं। वसुगण उन्हें प्रात: सवन प्रदान करते हैं॥ ६॥

['वसुगण' आवास देने वाले देवता हैं। इस लोक में दैवी अनुशासन में सुखी-सम्पन्न जीवन की प्राप्ति के लिए उनसे प्रार्थना की जाती है।]

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाग्नीध्रीयस्योदङ्मुख उपविश्य स रौद्रꣳ सामाभिगायति॥ ७॥

मध्याह्न सवन के पूर्व यजमान दक्षिणाग्नि के पीछे उत्तराभिमुख होकर बैठकर रुद्रदेव सम्बन्धी साम का गायन करता है॥ ७॥

लो३कद्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं वैरा ३३३३३ हुं ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥ ८॥

हे वायो! आप अन्तरिक्ष लोक का द्वार खोलें, जिससे हम वैराज्य पद की प्राप्ति हेतु आपका दर्शन करें॥

अथ जुहोति नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥ ९॥

अब यजमान हवन करते हुए कहते हैं- अन्तरिक्ष लोक के निवासी हे वायुदेव! आपको नमस्कार है। हमें अन्तरिक्ष लोक (विभूतियाँ) प्राप्त कराएँ। यह निश्चय ही यजमान का लोक है, इसे हम प्राप्त करें ॥ ९॥

[सद्गृहस्थ के दायित्व पूरे करके जीवन के दूसरे सवन में साधक को वानप्रस्थ जीवन जीना चाहिए। रुद्र विकार नाशक देवता हैं। उनकी साधना करके व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन से विकारों के निवारण का सुधारात्मक पुरुषार्थ करना चाहिए।]

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै रुद्रा माध्यन्दिनꣳ सवनꣳ संप्रयच्छन्ति ॥ १०॥

अब यजमान हवन करते हुए कहते हैं- हम आयु समाप्त होने पर अन्तरिक्ष लोक प्राप्त करें, इस निमित्त यह आहुति समर्पित है। वह यजमान जब इस लोक की प्राप्ति के निमित्त समस्त बाधाएँ दूर करने के लिए तैयार हो जाते हैं, तब उन्हें रुद्रगण मध्याह्न सवन प्रदान करते हैं॥ १०॥

पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघनेनाहवनीयस्योदङ्मुख उपविश्य स आदित्यꣳ स वैश्वदेवꣳ सामाभिगायति॥ ११॥

तृतीय सवन के पूर्व यजमान आहवनीय अग्नि के पीछे उत्तराभिमुख बैठकर विश्वेदेवा सम्बन्धी साम का गायन करते हैं॥ ११॥

लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयꣳस्वारा ३३३३३ हुं ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति॥ १२॥

हे आदित्य देव! आप स्वर्गलोक का द्वार खोल दें, जिससे हम स्वाराज्य प्राप्ति के निमित्त आपका दर्शन कर सकें॥ १२॥

आदित्यमथ वैश्वदेवं लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयꣳ साम्ना ३३३३३ हुं ३ आ ३३ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति॥ १३॥

यह आदित्य सम्बन्धी साम है, अब विश्वेदेवा सम्बन्धी साम का गायन करते हैं-हे देवगणो! आप स्वर्गलोक का द्वार खोल दें, जिससे हम साम्राज्य प्राप्ति के निमित्त आपका दर्शन कर सकें॥ १३॥

अथ जुहोति नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो दिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोकं मे यजमानाय विन्दत॥ १४॥

तदनन्तर यजमान यज्ञ करते हुए कहते हैं- स्वर्ग लोक निवासी आदित्यगण और विश्वेदेवा इस लोक में रहने वाले इस यजमान का नमन स्वीकार करें। इस यजमान को पुण्यलोक की प्राप्ति कराएँ॥ १४॥

एष वै यजमानस्य लोक एतास्म्यत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपहतपरिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति॥ १५ ॥

यह निश्चय ही यजमान का लोक है, इसे हम प्राप्त करें। यहाँ यजमान यज्ञ करते हुए कहते हैं- आयु समाप्त होने पर हम स्वर्गलोक प्राप्त करें, इस निमित्त यह आहुति समर्पित है। 'हम स्वर्ग लोक प्राप्ति हेतु आगे आयी सीमाएँ पार करेंगे' ऐसा कहकर यजमान तैयार हो जाते हैं॥ १५॥

तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवास्तृतीयं सवनꣳ संप्रयच्छन्त्येष ह वै यज्ञस्य मात्रां वेद य एवं वेद य एवं वेद॥ १६॥

उस यजमान को आदित्यगण और विश्वेदेवा तृतीय सवन प्रदान करते हैं। जो इस प्रकार इन तथ्यों को जानते हैं, वे यज्ञ के सार तत्त्व को जानते हैं॥ १६॥

[आदित्य एवं विश्वेदेवा की साधना द्वारा जीवन के अन्तिम चरण में साधक को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के अनुरूप ज्ञान एवं प्रेरणा का संचार करना चाहिए।]

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवꣳशोऽन्तरिक्षमपूपो मरीचयः पुत्राः ॥ १ ॥

(ॐकार रूप) यह आदित्य ही देवों का मधु है। द्युलोक वह तिरछा बाँस है, जिससे छत्ता लटकता है। अन्तरिक्ष छाता है और किरणें मधु-मक्खियों के बच्चों की तरह हैं॥ १॥

तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्यः। ऋच एव मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपस्ता वा एता ऋचः॥ २॥

इस आदित्य की पूर्व दिशा की जो किरणें हैं, वे छत्तों के पूर्वीय छिद्र हैं। ऋचाएँ ही मधुमक्खियाँ हैं, ऋग्वेद ही पुष्प हैं, सोम आदि अमृत रूप जल तत्त्व हैं॥ २॥

एतमृग्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत॥ ३॥

उन ऋचाओं ने ही ऋग्वेद को अभितप्त किया, उस अभितपन से यश, तेजस्, इन्द्रिय-शक्ति, पराक्रम अन्नादि रस उत्पन्न हुआ॥ ३॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितꣳरूपम्॥ ४॥

वह रस विशेष रूप से क्रियाशील हुआ। उसने आदित्य के पूर्व भाग में आश्रय ले लिया। यह जो आदित्य का लाल रंग दिख रहा है, वही वह रस है॥ ४॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो यजूꣳष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः॥ १॥

अब आदित्य की जो दक्षिण दिशा की ओर किरणें हैं, वे इस छत्ते की दक्षिणवर्ती मधु नाड़ियाँ हैं। यजुर्वेद की कण्डिकाएँ ही मधुमक्खियाँ हैं, यजुर्वेद ही पुष्प है और (सोमादि) अमृत ही जल है॥ १॥

तानि वा एतानि यजूꣳष्येतं यजुर्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳरसोऽजायत॥ २॥

यजुर्वेद की कण्डिकाओं ने यजुर्वेद को अभितप्त किया। उस अभितपन से यश, तेजस्विता, इन्द्रिय शक्ति, पराक्रम और अन्नादि रस उत्पन्न हुए॥ २॥

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य शुक्लꣳ रूपम्॥ ३॥

वह रस विशेष रूप से क्रियाशील हुआ। उसने आदित्य के दक्षिण भाग का आश्रय लिया। यह जो आदित्य का श्वेत रूप दृष्टिगोचर हो रहा है, यह वही है॥ ३॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्यः सामान्येव मधुकृतः सामवेद एव पुष्पं ता अमृता आपः॥ १॥

अब जो आदित्य के पश्चिमी छोर की किरणें हैं, वे ही पश्चिम ओर की मधु नाड़ियाँ हैं। साम मन्त्र ही मधुमक्खियों के रूप में हैं, सामवेद ही पुष्प हैं और (सोमादिरूप) अमृत ही जल है॥ १॥

तानि वा एतानि सामान्येतꣳ सामवेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत॥ २॥

उन साम मंत्रों ने सामवेद को अभितप्त किया। उस अभितपन से यश, तेजस्, इन्द्रिय शक्ति, पराक्रम और अन्नादि रूप रस उत्पन्न हुए॥ २॥

तद्वयक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णꣳरूपम्॥ ३॥

वह रस विशेष रूप से क्रियाशील हुआ और आदित्य के पश्चिमी भाग में आश्रित हुआ। यह जो आदित्य का कृष्ण रूप है, यह वही है॥ ३॥

॥ चतुर्थः खण्डः॥

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं ता अमृता आपः॥ १॥

इस आदित्य की जो उत्तरी भाग की किरणें हैं, वे ही इसकी उत्तर दिशा की मधु नाड़ियाँ हैं, अथर्व-मन्त्र ही मधु मक्खियाँ हैं। इतिहास-पुराण ही पुष्प हैं। (सोमादि रूप) अमृत ही जल है॥१॥

ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳरसोऽजायत॥ २॥

उन अथर्व मन्त्रों ने इतिहास-पुराण आदि को अभितप्त किया। उस अभितपन से यश, तेजस्, इन्द्रिय शक्ति, पराक्रम और अन्नादि रूप रस उत्पन्न हुए॥ २॥

तद्वयक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णꣳ रूपम्॥ ३॥

वह रस विशेष रूप से क्रियाशील हुआ और आदित्य के उत्तर भाग में आश्रित हुआ। यह जो आदित्य का अत्यन्त कृष्ण रूप है, यह वही है॥ ३॥

॥ पञ्चमः खण्डः॥

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः॥ १॥

इस आदित्य की जो ऊपर की ओर की रश्मियाँ हैं, यही ऊपर की मधु नाड़ियाँ हैं। गुह्य (अदृश्य) आदेश ही मधुकर हैं, ब्रह्म ही पुष्प है तथा (सोमादि रूप) अमृत ही जल है॥ १॥

ते वा एते गुह्या आदेशा एतद्ब्रह्माभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत॥ २॥

उन गुह्य आदेशों ने ही ब्रह्म को अभितप्त किया। उस अभितपन से यश, तेजस्, इन्द्रिय शक्ति, पराक्रम और अन्नादिरूप रस उत्पन्न हुए॥ २॥

[पदार्थ विज्ञान आदित्यादि की सक्रियता के पीछे पदार्थ कणों की सक्रियता को कारण मानता है। ऋषि कहते हैं कि आदित्यादि की जो दृश्य प्रक्रिया चल रही है, उसके पीछे चेतन का संकल्प या आदेश कार्य कर रहा है। कम्प्यूटर सारे कार्य करता दिखता है, किन्तु कम्प्यूटर वैज्ञानिक जानता है कि उस सारी प्रक्रिया के मूल में कम्प्यूटर को दिया गया निर्देश (कमाण्ड) ही उसकी सक्रियता का कारण है। उसी प्रकार ऋषि इस विश्व ब्रह्माण्ड के पीछे कोई गुप्त निर्देश होना मानते हैं। उसे ही उन्होंने दृश्य रसों का भी रस कहा है।]

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव॥ ३॥

वह रस विशेष रूप से क्रियाशील हुआ और वह आदित्य के ऊर्ध्व भाग में आश्रित हुआ। आदित्य के मध्य भाग में जो उद्वेलित होता हुआ संचरित हो रहा है, यह वही है॥ ३॥

ते वा एते रसानाꣳ रसा वेदा हि रसास्तेषामेते रसास्तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि॥ ४॥

वे श्वेत, कृष्ण, रोहित आदि रूप ही रसों के रस हैं, वेद ही रस हैं और वे उनके भी रस हैं। वे ही अमृतों के अमृत हैं- वेद ही अमृत हैं और वे उनके भी अमृत हैं॥ ४॥

[प्रथम से पाँचवें खण्ड तक आदित्य के पूर्व, दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर भागों तथा ऊर्ध्व भाग में स्थित रसों का वर्णन किया गया है। सूर्य के दृश्य स्थूल रंगों के साथ कुछ सूक्ष्म चेतन प्रवाह भी जुड़े हुए हैं, ऐसा ऋषि ने कहा है। सूर्य के रोहित, श्वेत रंग विभाग तो सहज ही समझ में आ जाते हैं। कृष्ण और अतिकृष्ण क्या है? यह सूर्य के वे विभाग हो सकते हैं, जिन्हें पदार्थ विज्ञानी सौर कलंक कहते हैं। इन पाँच खण्डों में सूर्य के पूर्वादि विभागों में विशेष प्रवाहों की स्थापना का वर्णन किया गया है। आगे के ५ खण्डों में (६ से १० तक) सूर्य के उन्हीं भागों से उसी प्रकार अमृत प्रवाहों के प्रकट होने तथा उसके प्रभाव आदि का वर्णन किया गया है।]

॥ षष्ठः खण्डः ॥

तद्यत्प्रथममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥ १॥

इनमें जो (रोहित वर्ण का) प्रथम अमृत है, वसुगण अग्नि देव के मुख से संयुक्त होकर उसमें जीवन धारण करते हैं। देवगण न तो खाते हैं, न पीते हैं, वे केवल इस अमृत को देखकर ही तृप्ति को प्राप्त कर लेते हैं॥ १॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति॥ २॥

वे वसुगण इस रूप से ही विश्रान्ति पाते हैं और उसी से उत्साहित भी होते हैं॥ २॥

स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स य एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति॥ ३॥

जो इस प्रकार इस अमृत रूप को जानता है, वह वसुगणों में ही कोई एक होता है। वह अग्नि (यज्ञ) के साथ संयुक्त होकर इस अमृत रूप को देखकर ही तृप्त हो जाता है। इसी रूप से वह ध्यानस्थ (अक्रिय) होता है और इसी से उत्साहित भी होता है॥ ३॥

[ऋषि कहते हैं कि वसुओं द्वारा प्रवाहित अमृत तत्त्व को साधकों में स्थित वसु ही जान पाते हैं। आगे के खण्डों में इसी प्रकार रुद्र आदि के बारे में कहा गया है। उपनिषदों का यह मत है ही कि विराट् में स्थित देवों के अंश मनुष्य के अन्दर में स्थित हैं। अस्तु, वे अपने समानधर्मी प्रवाहों से सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। सुदूर अन्तरिक्ष यानों में स्थित विभिन्न उपकरणों को उनके अनुरूप विशेष फ्रीक्वेन्सी सिगनल भेजकर सक्रिय या निष्क्रिय कर दिया जाता है, उसी प्रकार मनुष्य के अन्दर स्थापित विशिष्ट सर्किट (चक्र) देव प्रवाह अन्तरिक्षीय तत्सम प्रवाहों से जाग्रत् या सुप्त अवस्था को प्राप्त होते हैं।]

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता वसूनामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता॥

जब तक सूर्य अपने पूर्व पक्ष से उदित होता है और उसका पश्चिम भाग अस्त होता है, तब तक वसुगणों के अधिकार और स्वाराज्य के भागों का उपभोग करता है॥ ४॥

[छठवें से दसवें खण्ड तक सूर्य के उदय एवं अस्त की प्रक्रिया में विभिन्न दिशाओं का उल्लेख किया गया है। अधिकांश आचार्यों ने उन दिशाओं को पृथ्वी की दिशाएँ मानकर अर्थ करने के प्रयास किए हैं, जो विवेक को संतुष्ट नहीं कर पाते। ये दिशाएँ पृथ्वी की दिशाएँ नहीं हैं। जैसा कि पूर्व खण्डों में स्पष्ट लिखा है कि विशिष्ट दिव्य प्रवाहों की स्थापना सूर्य के विशिष्ट (पूर्वादि नामक) भागों में हुई है। यहाँ सूर्य के उन्हीं भागों से विशिष्ट अमृत प्रवाहों के प्रकट होने की बात कही गयी है। आदित्य के पूर्व से उदय का भाव यह लिया जाना चाहिए कि जब आदित्य का पूर्व वाला भाग दृश्य होता है और पश्चिम वाला अदृश्य (अस्त) होता है, उस समय तक वसुगणों का तथा उनसे सम्बद्ध अमृत प्रवाह का प्रभाव वातावरण एवं साधक पर रहता है। आगे के खण्डों में भी इसी प्रकार सूर्य के अन्य दक्षिण, पश्चिम आदि भागों के उदय-अस्त का भाव लिया जाना उचित है।]

॥ सप्तमः खण्डः ॥

अथ यद्द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

यह जो शुक्लरूप द्वितीय अमृत है, रुद्रगण इन्द्रदेव के नेतृत्व में संयुक्त होकर उसमें जीवन धारण करते हैं। वे देवगण न तो खाते हैं और न पीते हैं, वे इस अमृतरूप को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

वे इस रूप को देखकर ही अक्रिय (ध्यानस्थ) हो जाते हैं और इसी को देखकर उत्साहित भी होते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

जो साधक इस प्रकार इस अमृत को जानता है, वह रुद्रगणों में से कोई एक होकर इन्द्रदेव के नेतृत्व में इस अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूप को देखकर ही अक्रिय हो जाता है और इसी को देखकर उत्साहित होता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता द्विस्तावद्दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता रुद्राणामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

जब तक आदित्य अपने पूर्व भाग से उदित होता और पश्चिम से अस्त होता है, उससे दुगुने समय तक उसका दक्षिण भाग उदित होता है और उत्तर भाग अस्त होता है। उतने समय तक वह (साधक) रुद्रगणों के ही अधिकार एवं स्वाराज्य को प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

॥ अष्टमः खण्डः ॥

अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

अब यह जो कृष्ण रूप तृतीय अमृत है, आदित्यगण वरुणदेव के नेतृत्व में उसमें जीवन धारण करते हैं। वे देवगण न तो खाते हैं, न पीते हैं, वे इस अमृत को देखकर ही तृप्ति का अनुभव करते हैं ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥ २ ॥

वे इसी रूप से विश्रान्ति पाते हैं और इसी से उत्साहित हो जाते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेदादित्यानामेवैको भूत्वा वरुणेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

जो इस प्रकार इस अमृत को जानता है, वह साधक आदित्यगणों में से एक होकर वरुण देव के नेतृत्व में अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूप से ही अक्रिय होता है और इसी से उद्यमशील होता है॥

स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता द्विस्तावत्पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता-ऽऽदित्यानामेव तावदाधिपत्यꣳस्वाराज्यं पर्येता॥ ४॥

वह सूर्य जब तक दक्षिण भाग से उदित होता और उत्तर भाग से अस्त होता है, उससे दुगुने समय तक पश्चिम भाग से उदित होता और पूर्व भाग से अस्त होता है। उतने समय तक वह (साधक) आदित्यगणों के ही अधिकार एवं स्वाराज्य को प्राप्त होता है॥ ४॥

॥ नवमः खण्डः॥

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥ १॥

यह जो अत्यन्त कृष्ण रूप चतुर्थ अमृत है, मरुद्गण सोमदेव के नेतृत्व में उसमें जीवन धारण करते हैं। वे देवगण न तो खाते हैं, न पीते हैं, वे इस अमृत को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं॥१॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति॥ २॥

वे इस रूप को ध्यान में केन्द्रित कर अक्रिय (ध्यानस्थ) होते हैं और इसी से सक्रिय अथवा उद्यमशील भी होते हैं॥ २॥

स य एतदेवममृतं वेद मरुतामेवैको भूत्वा सोमेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति॥ ३॥

जो इस प्रकार इस अमृत रूप को जानता है, वह मरुद्गणों में से कोई एक होकर सोमदेव के नेतृत्व में इस अमृत रूप को देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूप को ध्यान में केन्द्रित कर अक्रिय हो जाता है तथा इसी से सक्रिय भी होता है॥ ३॥

स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता द्विस्तावदुत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता मरुतामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता॥ ४॥

वह आदित्य जब तक अपने पश्चिम भाग से उदित होता और पूर्व से अस्त होता है, उससे दुगुने समय तक वह उत्तरभाग से उदित होता और दक्षिण से अस्त होता है। उतने समय तक वह (साधक) मरुद्गण के ही अधिकार और स्वाराज्य को प्राप्त करता है॥ ४॥

॥ दशमः खण्डः॥

अथ यत्पञ्चममममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति॥ १॥

आदित्य के मध्य संचरित - स्पन्दित होता हुआ जो पंचम अमृत है, साध्यगण देव ब्रह्मा के नेतृत्व में उसमें जीवन धारण करते हैं, वे देवगण न तो खाते हैं, न पीते हैं, वे इस अमृत रूप को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं॥ २॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति॥ २॥

वे इस रूप को ध्यान में केन्द्रित कर ही अक्रिय (ध्यानस्थ) हो जाते हैं और इसीसे सक्रिय भी हो जाते हैं॥

स य एतदेवममृतं वेद साध्यानामेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति॥ ३॥

जो साधक इस प्रकार इस अमृत को जानता है, वह साध्यगणों में से एक होकर देव ब्रह्मा के नेतृत्व में इस अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है। वह इस रूप को ध्यान में केन्द्रित कर अक्रिय हो जाता है और इसी से वह सक्रिय भी हो जाता है॥ ३॥

स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता द्विस्तावदूर्ध्वमुदेतार्वागस्तमेता साध्यानामेव तावदाधिपत्यꣳस्वाराज्यं पर्येता॥ ४॥

वह आदित्य जब तक अपने उत्तर भाग से उदित होकर दक्षिण से अस्त होता है, उससे दुगुने समय तक अपने ऊर्ध्व भाग से उदित होता और नीचे के भाग से अस्त होता है, उतने समय तक वह साधक साध्य गणों के अधिकार और स्वाराज्य को प्राप्त होता है॥ ४॥

॥ एकादशः खण्डः ॥

अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता तदेष श्लोकः॥ १॥

इसके पश्चात् उस उच्च स्थिति में वह (आदित्य या ज्ञान) न तो उदित होता है, न अस्त होता है, बल्कि वह अकेला ही मध्य में स्थित रहता है। उस विषय में यह श्लोक है॥ १॥

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन। देवास्तेनाहꣳ सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति॥ २॥

यह सुनिश्चित है कि उस (ब्राह्मी) स्थिति में (सूर्य या ज्ञान का) न कभी अस्त होता है और न उदित होता है। हे देवगण! हम इस सत्य के द्वारा उस ब्रह्म (सृष्टि व्यवस्था) के विपरीत न हों॥ २॥

[यहाँ जिस आदित्य का वर्णन हो रहा है, वह दृश्यमान सूर्य से भिन्न सर्वत्र संव्याप्त, स्वप्रकाशित तत्त्व है। इसका स्पष्टीकरण छान्दो० के ८.६.१-२ में विशेष रूप से हुआ है।]

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद॥

इस प्रकार जो (साधक) इस ब्रह्मोपनिषद् (ब्रह्म के निकटवर्ती ज्ञान) को जानता है, उसके लिए (सूर्य या ब्रह्म) न तो उदित होता है, न अस्त होता है। वह सर्वदा दिन में (प्रकाश में) ही रहता है॥३॥

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यस्तद्धैतदुद्दालकायारुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच॥ ४॥

यह ब्रह्मज्ञान ब्रह्माजी ने प्रजापति से कहा था, देव प्रजापति ने मनु से कहा और मनु ने प्रजा के लिए अभिव्यक्त किया था। उद्दालक ऋषि को उनके पिता ने अपने ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण इस ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया था॥ ४॥

इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्प्रणाय्याय वान्तेवासिने॥ ५॥

इस ब्रह्मज्ञान का उपदेश पिता अपने ज्येष्ठ पुत्र को अथवा आचार्य अपने सुयोग्य शिष्य को करे॥ ५॥

नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति॥ ६॥

आचार्य अन्य किसी से इसका उपदेश न करे। भले ही उन्हें समुद्र से परिवेष्टित, धन से परिपूर्ण सम्पूर्ण पृथ्वी ही क्यों न प्राप्त हो जाय, क्योंकि यह ब्रह्मज्ञान उस धनैश्वर्य से अधिक बढ़कर है॥ ६॥

॥ द्वादशः खण्डः ॥

गायत्री वा इदꣳ सर्वं भूतं यदिदं किंच वाग्वै गायत्री वाग्वा इदꣳ सर्वं भूतं गायति च त्रायते च॥ १॥

गायत्री ही यह सब भूत (दृश्यमान) है। जो कुछ भी जगत् में प्रत्यक्ष दृश्यमान है, वह गायत्री ही है। वाणी ही गायत्री है और वाणी ही सम्पूर्ण भूत रूप है। गायत्री ही सब भूतों का गान करती है और उनकी रक्षा करती है॥ १॥

या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिव्यस्याꣳ हीदꣳ सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते॥ २॥

जो वह गायत्री है, वह सर्वभूत रूप है, वही पृथ्वी है, क्योंकि इसी में सर्वभूत अवस्थित हैं और इसका वे कभी उल्लंघन नहीं करते हैं॥ २॥

या वै सा पृथिवीयं वाव सा यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीरमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते॥ ३॥

जो भी यह पृथ्वी है, वह प्राण रूप गायत्री ही है, जो पुरुष के शरीर में समाहित है, क्योंकि इसी में वे प्राण अवस्थित हैं और इस शरीर का वे उल्लंघन नहीं करते॥ ३॥

यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे हृदयमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते॥ ४॥

जो भी पुरुष के शरीर में अवस्थित है, वही अन्तःहृदय में स्थित है, क्योंकि इसी में (अन्तः हृदय में) वे प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं और इस हृदय का वे उल्लंघन नहीं करते॥ ४॥

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाभ्यनूक्तम्॥ ५॥

वह गायत्री चार पदों वाली तथा छः प्रकार की है। वह वैदिक ऋचाओं (मन्त्रों) में अभिव्यक्त हुई है॥ ५॥

[अधिकांश आचार्यों ने इस मन्त्र के अर्थ की संगति गायत्री महामंत्र के साथ बिठाने का प्रयास किया है। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि यहाँ उसका स्वरूप एक मन्त्र में नहीं, मंत्रों में प्रकट होने की बात कही गयी है। इसलिए अर्थ की संगति गायत्री मंत्र के स्थान पर गायत्री प्राण विद्या से बिठानी चाहिए। वही वेद मंत्रों में प्रकट हुई है। चार वेद उसके चार चरण हैं। वह छः प्रकार की षट् सम्पत्तियुक्त अथवा छः दिशा (पूर्व , पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊपर तथा नीचे) से प्रवाहित होने वाली है।]

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाꣳश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति॥

गायत्री रूप में व्यक्त परब्रह्म की यह (वेद मंत्रों में वर्णित) महिमा है, परन्तु वह विराट् पुरुष उससे भी बड़ा है। यह समस्त भूतों से विनिर्मित प्रत्यक्ष जगत् उसका ही एक पाद है, उसके शेष तीन पाद अमृत स्वरूप प्रकाशमय आत्मा में अवस्थित हैं॥ ६॥

यद्वै तद्ब्रह्मेतीदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः॥ ७॥ अयं वाव स योऽयमन्तःपुरुष आकाशो यो वै सोऽन्तःपुरुष आकाशः॥ ८॥ अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति पूर्णमप्रवर्तिनीꣳ श्रियं लभते य एवं वेद॥ ९॥

वह जो विराट् ब्रह्म है, वह पुरुष के बहिरंग आकाश रूप में है और जो भी वह पुरुष के बहिरंग आकाश रूप में है, वही पुरुष के अन्तरङ्ग आकाश रूप में है। जो भी पुरुष के अन्तरङ्ग आकाश रूप में है, वही पुरुष के अन्त:हृदय के अन्तरङ्ग आकाश रूप में है । वह अन्तरङ्ग आकाश सर्वदा पूर्ण और अपरिवर्तनीय (नित्य) है। जो साधक इस प्रकार उस ब्रह्म स्वरूप को जानता है, वह सर्वदा पूर्ण और अपरिवर्तनीय (नित्य) सम्पदाएँ (विभूतियाँ) प्राप्त करता है॥ ७-९ ॥

॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः स योऽस्य प्राङ्सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तदेतत्तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद॥ १॥

उस अन्त:हृदय के पाँच देवों से सम्बन्धित पाँच विभाग हैं। जो इसका पूर्ववर्ती विभाग है, वह प्राण है, वह चक्षु है, वह आदित्य है, वह तेजस् है और वह अन्नादि है। इनकी उपासना करने योग्य है। जो साधक इस प्रकार जानकर इनकी उपासना करता है, वह तेजस्वी और अन्न की शक्ति से युक्त होता है॥ १ ॥

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रꣳ स चन्द्रमास्तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत श्रीमान्यशस्वी भवति य एवं वेद॥ २॥

जो इसका दक्षिणवर्ती विभाग है, वह व्यान है, श्रोत्र है, चन्द्रमा है, श्री-सम्पदा है एवं यश है। इनकी उपासना करने योग्य है। जो साधक इस प्रकार जानकर इनकी उपासना करता है, वह विभूतिवान् और यशस्वी होता है॥ २ ॥

अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः सोऽपानः सा वाक् सोऽग्निस्तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद॥ ३॥

जो इसका पश्चिमी विभाग है, वह अपान है। वह वाणी है, वह अग्नि है, वह ब्रह्मतेज है एवं वह अन्नादि है। इनकी उपासना करने योग्य है। जो साधक इस प्रकार जानकर इनकी उपासना करता है, वह ब्रह्मतेज एवं अन्न की शक्ति से युक्त होता है॥ ३ ॥

अथ योऽस्योदङ्सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यस्तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत कीर्तिमान्व्युष्टिमान्भवति य एवं वेद॥ ४॥

जो इसका उत्तरी विभाग है, वह समान है। वह मन है, वह पर्जन्य है, वह कीर्ति और वही व्युष्टि (शारीरिक आकर्षण) है। इनकी उपासना करने योग्य है। जो साधक इस प्रकार जानकर इनकी उपासना करता है, वह कीर्तिमान् और व्युष्टिमान् (कान्तियुक्त काया वाला)होता है॥ ४ ॥

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीतौजस्वी महस्वान्भवति य एवं वेद॥ ५॥

इसका जो ऊर्ध्व विभाग है, वह उदान है। वह वायु है, वह आकाश है, वह ओज है और वही मह: है। इनकी उपासना करने योग्य है। जो साधक इस प्रकार जानकर इनकी उपासना करता है, वह ओजस्वी और महस्वान् (महानतायुक्त) होता है॥ ५ ॥

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः स य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेदास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेद॥ ६॥

वे पाँच ब्रह्मपुरुष स्वर्गलोक के द्वारपाल हैं। जो पुरुष स्वर्गलोक के द्वारपालों इन पञ्च ब्रह्मपुरुषों को जानता है, उसके कुल में वीर बालक उत्पन्न होता है और वह स्वर्गलोक को प्राप्त करने वाला होता है। अत: स्वर्गलोक के द्वारपालों इन पाँच ब्रह्मपुरुषों को जानकर इनकी उपासना करने योग्य है॥ ६॥

अथ यदत: परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वत: पृष्ठेषु सर्वत: पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्त: पुरुषे ज्योतिस्तस्यैषा दृष्टि:॥ ७॥

जो इस स्वर्गलोक से ऊपर यह परम ज्योति प्रकाशित होती है, जो इस सम्पूर्ण विश्व के पृष्ठ पर सबके ऊपर प्रकाशित होती है, वही ज्योति पुरुष की अन्त: ज्योति के सदृश है॥ ७॥

यत्रैतदस्मिञ्छरीरे सꣳस्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति तदेतद्दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत चक्षुष्य: श्रुतो भवति य एवं वेद य एवं वेद॥ ८॥

उस ज्योति के दर्शन का उपाय यह है कि स्पर्श द्वारा शरीर में उष्णता का ज्ञान होता है और उसके श्रवण का उपाय यह है कि कानों के मूँदने से रथ ध्वनि, बैल का डकारना और प्रदीप्त अग्नि के शब्द के सदृश निनाद होता है, वह ज्योति दर्शनीय और श्रवणीय है। उसकी इस प्रकार उपासना करने योग्य है। जो साधक इस प्रकार जानकर उसकी उपासना करता है, वह शोभावान् और कीर्तिवान् होता है॥ ८॥

॥ चतुर्दश: खण्ड: ॥

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमय: पुरुषो यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेत: प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत॥ १॥

यह सम्पूर्ण जगत् निश्चय ब्रह्मस्वरूप है, यह उसी से उत्पन्न होता, उसी में लय होता, उसी से संचालित होता है। राग-द्वेष से दूर शान्त भाव से उसी की उपासना करनी चाहिए। निश्चय ही पुरुष संकल्पमय है। इस लोक में पुरुष जैसे संकल्प धारण करता है, वैसा ही मरने के बाद होता है, अत: पुरुष को सत्संकल्प करने चाहिए ॥ १॥

मनोमय: प्राणशरीरो भारूप: सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकाम: सर्वगन्ध: सर्वरस: सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर:॥ २॥

वह परमात्मा प्राणस्वरूप, मनोमय शरीर वाला, देदीप्यमान, सत्संकल्पवान् , आकाश सदृश विराट् स्वरूप वाला, सम्पूर्ण जगत् का रचयिता, सम्पूर्ण कामनाओं वाला, सम्पूर्ण गन्ध एवं रस सम्पन्न, सर्वत्र संव्याप्त, वाणी रहित तथा भ्रमशून्य है॥ २॥

एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्य:॥ ३॥

हृदय गुहा में अवस्थित यह आत्मा धान से, जौ से, सरसों से, श्यामाक (साँवाँ) से या श्यामाकतण्डुल से भी सूक्ष्म है तथा हृदय गुहा में स्थित यह आत्मा पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक या इन सब लोकों से भी विराट् है॥ ३॥

सर्वकर्मा सर्वकाम: सर्वगन्ध: सर्वरस: सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्मान्तर्हृदय एतद् ब्रह्मैतमित: प्रेत्याभिसंभवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्य: शाण्डिल्य:॥ ४॥

जो सम्पूर्ण जगत् के रचयिता, सम्पूर्ण कामनाओं वाला, सम्पूर्ण गन्ध एवं रस से सम्पन्न, सर्वत्र संव्याप्त, वाणी रहित तथा भ्रमशून्य है, वह आत्मा हृदय गुहा में अवस्थित है, यही ब्रह्म है। शरीर छोड़कर जाने में हम इसी को प्राप्त होंगे, ऐसा जिसका निश्चय है और इसमें वह संशय नहीं करता, तो वह निश्चय ही ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त कर लेता है, ऐसा शाण्डिल्य का कथन है॥ ४॥

॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिर्बुध्नो न जीर्यति दिशो ह्यस्य स्त्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलꣳ स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन्विश्वमिदꣳ श्रितम्॥ १॥

वह कोश जिसका उदर अन्तरिक्ष है, जिसका मूल पृथ्वी है, जो कभी जीर्ण नहीं होता। दिशाएँ इसके कोणों के रूप में हैं, आकाश इसका ऊपर का छिद्र है। वह कोश वसुधान (वसु=प्राणों की स्थापना का स्थल) है। उसी में यह सम्पूर्ण विश्व अवस्थित है॥ १॥

तस्य प्राची दिक् जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची सुभूता नामोदीची तासां वायुर्वत्सः स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदꣳ रोदिति सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मा पुत्ररोदꣳ रुदम्॥ २॥

उस कोश की पूर्व दिशा 'जुहू' नाम की है, दक्षिण दिशा 'राज्ञी' नाम की है तथा उत्तर दिशा 'सुभूता' नाम की है। उन दिशाओं के पुत्र रूप वायु हैं। इस प्रकार जो पुरुष वायु को दिशापुत्र के रूप में जानता है, वह पुत्र प्राप्ति के निमित्त रोदन नहीं करता। चूँकि हम दिशाओं के पुत्ररूप में वायु को जानते हैं, अतः हम पुत्र प्राप्ति के निमित्त न रोएँ॥ २॥

अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना प्राणं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना भूः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना भुवः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना स्वः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना॥ ३॥

मैं पुत्र तथा परिवार के साथ अक्षय (अन्नमय) कोश के आश्रय में जाता हूँ। मैं पुत्र तथा परिवार के साथ प्राणमय कोश के आश्रय में जाता हूँ। मैं पुत्र तथा परिवार के साथ भूः अर्थात् मनोमय कोश के आश्रय में जाता हूँ। मैं पुत्र तथा परिवार के साथ भुवः अर्थात् विज्ञानमय कोश के आश्रय में जाता हूँ। मैं पुत्र तथा परिवार के साथ स्वः अर्थात् आनन्दमय कोश के आश्रय में जाता हूँ॥ ३॥

स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति प्राणो वा इदꣳ सर्वं भूतं यदिदं किंच तमेव तत्प्रापत्सि॥ ४॥

जब हमने कहा कि हम प्राण के आश्रय में हैं, तो इसका आशय यह है कि ये समस्त भूत (तत्त्व) प्राण ही हैं, हम उसी के आश्रय में हैं॥ ४॥

अथ यदवोचं भूः प्रपद्य इति पृथिवीं प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्य इत्येव तदवोचम्॥ ५॥

जब हमने कहा कि हम भूः के आश्रय में हैं, तो इसका आशय यह है कि हम पृथ्वी के आश्रय में हैं, हम अन्तरिक्ष के आश्रय में हैं, हम द्युलोक के आश्रय में हैं॥ ५॥

अथ यदवोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्निं प्रपद्ये वायुं प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येव तदवोचम्॥ ६॥

तदनन्तर जब हमने कहा कि हम भुवः के आश्रय में हैं, तो इसका आशय यह है कि हम अग्नि के आश्रय में हैं, हम वायु के आश्रय में हैं, हम आदित्य के आश्रय में हैं॥ ६॥

अथ यदवोचꣳ स्वः प्रपद्य इत्यृग्वेदं प्रपद्ये यजुर्वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य इत्येव तदवोचं तदवोचम्॥ ७॥

तथा जब हमने कहा कि हम स्वः के आश्रय में हैं, तो इसका आशय यह है कि हम ऋग्वेद के आश्रय में हैं, हम यजुर्वेद के आश्रय में हैं तथा हम सामवेद के आश्रय में हैं। यहाँ यही कहा गया है॥ ७॥

॥ षोडशः खण्डः॥

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विꣳशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनं चतुर्विꣳशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदꣳ सर्वं वासयन्ति॥ १॥

सुनिश्चित रूप से पुरुष ही यज्ञ है। पुरुष के जो प्रथम चौबीस वर्ष हैं, वे प्रातः सवन हैं, क्योंकि गायत्री चौबीस अक्षरों वाली है और प्रातः सवन गायत्री छन्द से सम्बंधित है। वसुगण प्रातः सवन के अनुगामी हैं। प्राण ही वसुगण हैं, क्योंकि ये सबको आवास देने वाले हैं॥ १॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रातःसवनं माध्यन्दिनꣳ सवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति॥ २॥

यदि इस प्रातः सवन की आयु (चौबीस वर्ष की अवधि) में कोई कष्ट उत्पन्न हो, तो इस प्रकार कहे- प्राणरूप वसुगण हमारे प्रातः सवन को माध्यन्दिन सवन के साथ एकीभूत कर दें, जिससे हम प्राणरूप वसुगणों के मध्य में ही यज्ञ करते हुए उनसे विमुख न हों (संयुक्त रहें)। ऐसा कहने पर वह उस कष्ट से छूटकर नीरोग हो जाता है॥ २॥

अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳ सवनं चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳ सर्वꣳ रोदयन्ति॥ ३॥

तदनन्तर जो आगे- चौवालीस वर्ष की अवधि है, वह माध्यन्दिन सवन है। त्रिष्टुप् छन्द चौवालीस अक्षरों का है और माध्यन्दिन सवन त्रिष्टुप् छन्द से सम्बन्धित है। रुद्रगण माध्यन्दिन सवन के अनुगामी हैं। निश्चय ही प्राण रुद्र हैं, क्योंकि ये सम्पूर्ण प्राणियों को रुलाते हैं॥ ३॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳ सवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानाꣳ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति॥ ४॥

इस माध्यन्दिन सवन की आयु में कोई कष्ट उत्पन्न हो, तो इस प्रकार कहे- प्राणरूप रुद्रगण हमारे माध्यन्दिन सवन को तृतीय सवन के साथ एकीभूत कर दें, जिससे हम प्राणरूप रुद्रगणों के मध्य यज्ञ करते हुए उनसे विमुख न हों। ऐसा कहने पर वह उस कष्ट से छूटकर नीरोग हो जाता है॥ ४॥

अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि तृतीयसवनमष्टाचत्वारिꣳशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदꣳ सर्वमाददते॥ ५॥

अब जो अड़तालीस वर्ष की अवधि है, वह तृतीय सवन है। जगती छन्द अड़तालीस अक्षरों का है तथा तृतीय सवन जगती छन्द से सम्बन्धित है। आदित्यगण इस तृतीय सवन के अनुगामी हैं। प्राण ही आदित्यगण हैं, क्योंकि ये ही सम्पूर्ण विषयों को ग्रहण करते हैं॥ ६॥

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवन-मायुरनुसन्तनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति॥ ६॥

इस तृतीय सवन की आयु में यदि कोई कष्ट उत्पन्न हो तो इस प्रकार कहे- प्राणरूप आदित्यगण हमारे तृतीय सवन को सम्पूर्ण आयु के साथ एकीभूत कर दें, हम प्राणरूप आदित्यगणों के मध्य यज्ञ करते हुए उनसे विमुख न हों। ऐसा कहकर वे उस कष्ट से मुक्त होकर नीरोग हो जाते हैं॥ ६॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्प्रह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद॥ ७॥

इस उपासना को जानने वाले ऐतरेय महिदास ने कहा था- हे रोग! तू मुझे क्यों सन्तप्त करता है, मैं निश्चय ही इससे मृत्यु को नहीं प्राप्त कर सकता। ऐसा कहकर वे रोग से मुक्ति पा जाते थे और एक सौ सोलह वर्ष तक जीवित रहे। जो साधक इस प्रकार इस उपासना को जानता है, वह एक सौ सोलह वर्ष तक जीवित रहता है॥ ७॥

॥ सप्तदशः खण्डः ॥

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः॥ १॥

जो साधक खाने एवं पीने की इच्छा तो करता है, पर जो इसमें आसक्त नहीं होता, यही उसकी दीक्षा है॥ १॥

अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति॥ २॥

फिर जो खाता है, जो पीता है और जो उसमें प्रसन्न होता है, वह उपसदों का स्थान प्राप्त करता है॥ २॥

अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति॥ ३॥

तथा जो हँसता है, जो भक्षण करता है एवं जो मैथुन करता है, वह स्तुति के स्तोत्रों को प्राप्त करता है॥ ३॥

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिꣳसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः॥ ४॥

तथा जो तप, दान, सरल स्वभाव, अहिंसा और सत्यवचन से युक्त हैं, वे उस साधक की दक्षिणा हैं॥ ४॥

तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य तन्मरणमेवास्यावभृथः॥ ५॥

प्रसूता माता को लोग कहते हैं- यह प्रसूता होगी अथवा यह प्रसूता हुई, वह काल पुरुष का पुनर्जन्म है तथा मृत्यु अवभृथ स्नान के सदृश है॥ ५॥

तद्धैतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसꣳशितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः॥ ६॥

घोर आङ्गिरस ऋषि ने देवकीपुत्र भगवान् कृष्ण को यह तत्त्वदर्शन समझाया, जिससे कि वे अन्य उपासनाओं के सम्बन्ध में पिपासा मुक्त हो गये थे- साधक को मृत्युकाल में इन तीन मंत्रों का स्मरण कराना चाहिए- १. तुम अक्षय अनश्वर स्वरूप हो, २. तुम अच्युत- अटल पतित न होने वाले हो, ३. तुम अतिसूक्ष्म प्राणस्वरूप हो। इस विषय में दो ऋचाएँ निर्दिष्ट हैं॥ ६॥

आदित्यवर्णस्य रेतसः। उद्वयन्तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरꣳस्वः पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति॥ ७॥

[प्रथम ऋचा पूर्णतः इस प्रकार है- 'आदित्यवर्णस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवि।' (आनन्दगिरिकृत टीका से) इसका अर्थ इस प्रकार है- उस पुरातन पुरुष का तेज ही सर्वत्र संव्याप्त है। उसी का प्रकाश हम सर्वत्र संव्याप्त देखते हैं। वह परम पुरुष दीप्तिमान् होकर समस्त पदार्थों में तेजरूप में प्रकट होता है। दूसरी ऋचा 'उद्वयं तमसस्परि'....., जो यहाँ प्रस्तुत है, का अर्थ इस प्रकार है-]

'तमिस्रा (अज्ञानरूप) को दूर करने वाले परब्रह्म के प्रकाश को देखते हुए और आत्म ज्योति को देखते हुए हम देवों में देदीप्यमान सूर्य रूप सर्वोत्तम ज्योति को प्राप्त हुए॥ ७॥

॥ अष्टादशः खण्डः ॥

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च ॥ १॥

मन ब्रह्मस्वरूप है- इस प्रकार उपासना करे। यह आध्यात्मिक विवेचन है। आकाश ब्रह्मस्वरूप है- इस प्रकार उपासना करे-यह आधिदैविक विवेचन है। इस प्रकार यह आध्यात्मिक और आधिदैविक दोनों का विवेचन हुआ॥ १॥

तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म। वाक् पादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्म-मथाधिदैवतमग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद इत्युभयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च ॥ २॥

वह (मनोमय ब्रह्म) चार पादों वाला है। वाणी, प्राण, चक्षु और श्रोत्र- ये चार पाद हैं। यह आध्यात्मिक विवेचन हुआ। इसी प्रकार आधिदैविक विवेचन में आकाशरूप ब्रह्म चार पादों का है। अग्नि, वायु , आदित्य और दिशाएँ- ये चार पाद हैं। इस प्रकार यह आध्यात्मिक और आधिदैविक दोनों का विवेचन हुआ॥ २॥

वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः। सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद॥ ३॥

वाणी ही मनोमय ब्रह्म का चतुर्थ पाद है। वह अग्निरूप ज्योति से दीप्तिमान् और तेजस्वी होती है। जो साधक इस प्रकार जानता है, वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेज के द्वारा देदीप्यमान और तेजस्वी होता है॥ ३॥

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः। स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद॥ ४॥

प्राण ही मनोमय ब्रह्म का चतुर्थ पाद है। वह वायुरूप ज्योति से दीप्तिमान् और तेजस्वी होता है। जो साधक इस प्रकार जानता है, वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेज के द्वारा देदीप्यमान और तेजस्वी होता है॥ ४॥

चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद॥ ५॥

चक्षु ही मनोमय ब्रह्म का चतुर्थ पाद है। वह आदित्यरूप ज्योति से दीप्तिमान् और तेजस्वी होता है। जो साधक इस प्रकार जानता है, वह कीर्ति, यश और ब्रह्मवर्चस से देदीप्यमान और तेजस्वी होता है॥ ५॥

श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः स दिग्भिर्ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद य एवं वेद॥ ६॥

श्रोत्र ही मनोमय ब्रह्म का चतुर्थ पाद है। वह दिशाओं रूपी ज्योति से दीप्तिमान् और तेजस्वी होता है। जो साधक इस प्रकार जानता है, वह कीर्ति, यश और ब्रह्मवर्चस से देदीप्यमान और तेजस्वी होता है॥ ६॥

॥ एकोनविंशः खण्डः॥

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवेदमग्र आसीत्तत्सदासीत्तत्समभवत्तदाण्डं निरवर्तत तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत तन्निरभिद्यत ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम्॥ १॥

आदित्य ही ब्रह्म है, ऐसा विवेचन मिलता है। उसी की विविध व्याख्याएँ की जाती हैं। आदि में यह असत्रूप (अदृश्य) ही था, तदनन्तर वह सत्रूप (प्रत्यक्ष-प्रकट) हुआ। वह विकसित होकर अण्डे में परिवर्तित हुआ। कालान्तर में वह अण्ड विकसित होकर फूटा। उसके दो खण्ड हुए- एक रजत, दूसरा स्वर्ण॥ १॥

तद्यद्रजतꣳ सेयं पृथिवी यत्सुवर्णꣳ सा द्यौर्यज्जरायु ते पर्वता यदुल्बꣳ समेघो नीहारो या धमनयस्ता नद्यो यद्वास्तेयमुदकꣳ स समुद्रः॥ २॥

उनमें जो खण्ड रजत रूप प्रकट हुआ, वह यह पृथ्वी है और जो स्वर्णरूप खण्ड प्रकट हुआ, वह द्युलोक है। उस अण्डे का जो जरायु भाग था, वे पर्वत हैं, जो उल्ब भाग था, वह मेघयुक्त कुहरा है, जो धमनियाँ थीं, वे नदियाँ हैं तथा जो मूत्राशय का जल था, वह समुद्र है॥ २॥

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यस्तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन्त् सर्वाणि च भूतानि च सर्वे च कामास्तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा उलूलवोऽनूत्तिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे चैव कामाः॥ ३॥

उस अण्डे से जो उत्पन्न हुआ, वह आदित्य ही है। उससे विस्फोट जन्य तीव्र घोष उत्पन्न हुआ, उसी से सम्पूर्ण प्राणी और सम्पूर्ण भोग-साधन उत्पन्न हुए हैं। इसीलिए आदित्य के उदय और अस्त होने पर तीव्र घोष होता है और समस्त प्राणी एवं सम्पूर्ण भोग-साधन विकसित होते हैं॥ ३॥

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनꣳ साधवो घोषा आ च गच्छेयुरुप च निम्रेडेरन्निम्रेडेरन्॥ ४॥

इस प्रकार जो 'आदित्य ही ब्रह्म है', यह जानकर उपासना करता है, इसके समीप सुखप्रद घोष सुनाई देते हैं और उसे सुख प्रदान करते हैं, सन्तोष प्रदान करते हैं॥ ४॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस स ह सर्वत आवसथान्मापयांचक्रे सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति॥ १ ॥

जनश्रुत राजा के प्रपौत्र श्रद्धापूर्वक बहुत धन दान किया करते थे। उनके यहाँ बहुत अन्न पकाया जाता था। उन्होंने अपने राज्य में अनेक विश्रामालय बनवा दिये थे, ताकि लोग वहाँ ठहरकर भोजन ग्रहण कर सकें॥ १ ॥

अथ ह हꣳसा निशायामतिपेतुस्तद्धैवꣳ हꣳसो हꣳसमभ्युवाद हो होऽयि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति॥ २॥

फिर एक बार रात्रि के समय दो हंस उस राज्य के ऊपर से उड़ते हुए जा रहे थे, उनमें से एक हंस ने दूसरे से कहा- हे मन्द दृष्टि! जनश्रुत राजा के प्रपौत्र का तेज द्युलोक के सदृश व्याप्त हो रहा है। तू उसे स्पर्श न कर, वह तुझे भस्म न कर दे॥ २॥

तमु ह परः प्रत्युवाच कम्बर एनमेतत्सन्तꣳ सयुग्वानमिव रैक्कमात्थेति यो नु कथꣳ सयुग्वा रैक्क इति॥ ३॥

दूसरे हंस ने कहा - अरे तुम किस महत्त्वाकांक्षी राजा के लिए सम्मानजनक शब्द कहते हो। क्या यह गाड़ी वाले रैक्क के सदृश है? इस पर पहले वाले हंस ने कहा- यह गाड़ी वाला रैक्क कौन है?॥ ३॥

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनꣳ सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति॥ ४॥

जिस प्रकार द्यूत क्रीड़ा में पुरुष कृतसंज्ञक पासे को जीतकर सम्पूर्ण निम्न पासे अपने अधीन कर लेता है, उसी प्रकार राजा जो कुछ सत्कर्म करता है, वह सब रैक्क को प्राप्त हो जाता है। वह रैक्क जिस (गूढ़ तत्त्व दर्शन) को जानता है, उसे कोई नहीं जानता। उनके विषय में मैं इतना ही जानता हूँ॥ ४॥

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव स ह संजिहान एव क्षत्तारमुवाचाङ्गारे ह सयुग्वानमिव रैक्कमात्थेति यो नु कथꣳ सयुग्वा रैक्क इति॥ ५॥

हंसों की वार्ता को जनश्रुत के प्रपौत्र ने सुना। प्रातःकाल उठते ही उन्होंने स्तुतिकर्ता सेवकों से कहा- क्या तुम मेरी स्तुति गाड़ी वाले रैक्क के समान करते हो? सेवकों ने कहा- यह गाड़ी वाला रैक्क कौन है?॥ ५॥

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनꣳ सर्वं तदभिसमेति यत्किंच प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति॥ ६॥

जिस प्रकार द्यूतक्रीड़ा में पुरुष कृत नामक पासे को जीतकर अन्य सभी निम्न पासे को अपने अधीन कर लेता है, उसी प्रकार राजा जो कुछ सत्कर्म करता है, वह सब रैक्क को प्राप्त हो जाता है। जो कुछ रैक्क जानते हैं, उसे कोई और नहीं जानता, ऐसा उनके विषय में मुझसे कहा गया है॥ ६॥

स ह क्षत्तान्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय तꣳ होवाच यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति॥ ७॥

वे सेवक रैक्व को ढूँढ़ने के पश्चात् वापस लौटकर कहते हैं- 'उसे नहीं पा सके'। तब राजा ने कहा- जहाँ ब्राह्मण की खोज की जाती है, वहाँ उन्हें ढूँढ़ो॥ ७॥

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणमुपोपविवेश तꣳ हाभ्युवाद त्वं नु भगवः सयुग्वा रैक्व इत्यहꣳ ह्यरा ३ इति ह प्रतिजज्ञे स ह क्षत्ताऽविदमिति प्रत्येयाय॥ ८॥

उन्होंने एक शकट के नीचे खाज खुजाते हुए रैक्व को देखकर उनसे पूछा- भगवन्! क्या आप ही गाड़ी वाले रैक्व हैं? उनने कहा हाँ मैं ही हूँ। ऐसा जानकर सेवक राजा के पास चले आये॥ ८॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

तदुह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट् शतानि गवां निष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे तꣳ हाभ्युवाद॥ १॥

तब राजा जनश्रुत के प्रपौत्र छः सौ गौएँ, एक हार और खच्चरों से खींचा जाने वाला एक रथ लेकर रैक्व के पास गये और बोले॥ १॥

रैक्वेमानि षट् शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथो नु म एतां भगवो देवताꣳ शाधि यां देवतामुपास्स इति॥ २॥

हे रैक्व! ये छः सौ गौएँ, एक हार और खच्चरों से जुता एक रथ आपके निमित्त लाया हूँ, इसे ग्रहण करें। हे भगवन्! आप जिस देवता की उपासना करते हैं, उसका मुझे उपदेश करें। ऐसा राजा ने रैक्व से कहा॥ २॥

तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्त्विति तदुह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे॥ ३॥

उस राजा से रैक्व ने कहा- हे क्षुद्र! गौएँ, हार और रथ अपने पास रखो। तब जनश्रुत के प्रपौत्र एक सहस्र गौएँ, एक हार, खच्चरों से जुता रथ और अपनी कन्या लेकर उनके पास आये॥ ३॥

तꣳ हाभ्युवाद रैक्वेदꣳ सहस्रं गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथ इयं जायाऽयं ग्रामो यस्मिन्नास्सेऽन्वेव मा भगवः शाधीति॥ ४॥

राजा ने रैक्व से कहा- हे रैक्व! ये एक हजार गौएँ, यह हार, खच्चरों से जुता रथ, यह पत्नी और यह गाँव (जिसमें आप रहते हैं) आप ले लें। हे भगवन्! मुझे ईश्वरीय अनुशासन बतायें॥ ४॥

तस्या ह मुखमुपोद्गृह्यानुवाचाजहारेमाः शूद्राननेनैव मुखेनालापयिष्यथा इति ते हैते रैक्व पर्णा नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास तस्मै होवाच॥ ५॥

तब रैक्व ने उस राजकन्या को विद्या ग्रहण का द्वार समझकर राजा से कहा- 'हे क्षुद्र! आप ये जो कुछ लाए हैं, ये सब गौण हैं; परन्तु विद्या ग्रहण के इस द्वार से आप (प्रसन्न करके) मुझसे उपदेश कराते हैं'। इस प्रकार जितने क्षेत्र में वे 'रैक्व' रहते थे, वे सभी गाँव महावृष देश में 'रैक्वपर्ण' के नाम से प्रसिद्ध हुए। (इससे प्रसन्न होकर) उन (रैक्व) ने उस राजा से कहा-॥ ५॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति॥ १॥

वायु ही संवर्ग है। जब अग्नि शान्त होती है, तो वायु में ही समाहित होती है। जब सूर्य अस्त होता है, तो वायु में ही समाहित होता है और जब चन्द्रमा अस्त होता है, तो वायु में ही समाहित हो जाता है॥

यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति वायुर्ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इत्यधिदैवतम् ॥ २॥

जब जल सूखता है, तो वायु में ही समाहित हो जाता है। इस प्रकार वायु ही इन सबको अपने में समाहित कर देने वाला है। यह आधिदैविक उपासना है॥ २॥

अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणः श्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इति॥ ३॥

अब आध्यात्मिक तत्त्व का विवेचन किया जाता है। प्राण ही संवर्ग है। जब साधक सोता है, तब प्राण में ही वागिन्द्रिय समाहित हो जाती है। प्राण में ही चक्षु, श्रोत्र और मन समाहित हो जाते हैं। इस प्रकार प्राण ही इन सबको अपने में समाहित कर लेने वाला है॥ ३॥

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ॥ ४॥

इस प्रकार मात्र दो ही संवर्ग हैं। देवताओं में वायु संवर्ग है और इन्द्रियों में प्राण संवर्ग है॥ ४॥

अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे तस्मा उ ह न ददतुः ॥ ५॥

एक समय शौनक कापेय और अभिप्रतारी काक्षसेनि को जब भोजन परोसा जा रहा था, तब एक ब्रह्मचारी ने उनसे भिक्षा माँगी; किन्तु उन्होंने (उसकी पात्रता परखे बिना) भिक्षा नहीं दी॥ ५॥

स होवाच महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन्बहुधा वसन्तं यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति॥ ६॥

तब उस ब्रह्मचारी ने कहा- भुवनों के स्वामी उन देव प्रजापति ने चार महान् स्वरूपों को अपने में समाहित कर लिया है। हे कापेय! हे अभिप्रतारिन्! विभिन्न स्वरूपों में निवास करने वाले उन देव को मनुष्य नहीं देख पाते और जिसके लिए यह अन्न है, उसे (देव प्रजापति को) ही अन्न नहीं दिया गया॥ ६॥

तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयायात्मा देवानां जनिता प्रजानाः हिरण्यदंष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदनन्नमत्तीति वै वयं ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे दत्तास्मै भिक्षामिति॥ ७॥

उनके कथन का शौनक कापेय मुनि ने विचार किया और ब्रह्मचारी से कहा- जो देवताओं की आत्मा, प्रजाओं के जनक, हिरण्यदंष्ट्र, भक्षणवृत्ति वाले, बुद्धिमान् और महिमावान् हैं, जो दूसरों से न खाये जाने वाले और अन्न न खाने वाले हैं। हे ब्रह्मचारिन्! हम उसी देव की उपासना करते हैं- ऐसा कहकर उन्होंने ब्रह्मचारी को भिक्षा देने का आदेश दिया॥ ७॥

तस्मा उ ह ददुस्ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश संतस्तत्कृतं तस्मात्सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दशकृतः सैषा विराडन्नादी तयेदः सर्वं दृष्टः सर्वमस्येदं दृष्टं भवत्यन्नादो भवति य एवं वेद य एवं वेद॥ ८॥

तब उन्होंने उसे भिक्षा दे दी। वह वाणी आदि पञ्च इन्द्रियों से भिन्न है तथा अग्नि, वायु आदि पञ्चभूतों से भी भिन्न सत्ता है। इस प्रकार ये सब संख्या में दस होते हैं। वह विराट् सत्ता ही अन्न का भक्षण करने वाली है। वही सम्पूर्ण जगत् रूप में दृष्ट है। जो ऐसा जानते हैं, उनके द्वारा यह सब दृष्ट होता है और वे अन्न का भक्षण करने वाले होते हैं॥ ८॥

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयांचक्रे ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किं गोत्रोन्वहमस्मीति॥ १॥

सत्यकाम जाबाल ने अपनी माँ जबाला से कहा- हे मातः! मैं ब्रह्मचारी बनकर गुरुकुल में रहना चाहता हूँ, मुझे बताएँ कि मेरा गोत्र क्या है?॥ १॥

सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा इति॥ २॥

जबाला ने कहा- हे तात! तुम जिस गोत्र के हो, उसे मैं भी नहीं जानती। यौवनावस्था में मैं बहुत से अतिथियों की परिचर्या में संलग्न रहती थी। उन्हीं दिनों तुझे प्राप्त किया, तत्पश्चात् तुम्हारे पिता के न रहने पर(उनके दिवंगत हो जाने पर) मैं गोत्र न जान सकी। अतः मैं नहीं जानती कि तुम्हारा गोत्र क्या है? मैं जबाला नाम की हूँ और तुम सत्यकाम नाम के हो, अतः आचार्य से कहो- मैं सत्यकाम जाबाल हूँ॥ २॥

स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति॥ ३॥

उन्होंने ऋषि हारिद्रुमत गौतम के पास जाकर कहा - हे भगवन्! मैं आपके पास ब्रह्मचर्य पूर्वक निवास करना चाहता हूँ, इसलिए मैं आपके पास आया हूँ॥ ३॥

तꣳ होवाच किंगोत्रो नु सोम्यासीति स होवाच नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्म्यपृच्छं मातरꣳ सा मा प्रत्यब्रवीद्बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति सोऽहꣳ सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति॥ ४॥

गौतम ऋषि ने कहा- हे सोम्य! तुम किस गोत्र के हो ? उनने कहा- हे भगवन्! मैं किस गोत्र का हूँ, यह मैं नहीं जानता। मैंने अपनी माता से पूछा तो उन्होंने कहा कि मैं बहुत पहले से अतिथियों की सेवा करती रहती थी, जब तुझे प्राप्त किया, तब तुम्हारे पिता के (शीघ्र) न रहने से मैं गोत्र न जान सकी (पूछ सकी)। अतः मैं नहीं जानती कि तुम किस गोत्र के हो? मेरा नाम जबाला है, तुम्हारा सत्यकाम। अतः मैं सत्यकाम जाबाल हूँ॥ ४॥

तꣳ होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधꣳ सोम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणावर्तयेति स ह वर्षगणं प्रोवास ता यदा सहस्रꣳ संपेदुः ॥ ५॥

गौतम ऋषि ने कहा- ऐसी सत्य अभिव्यक्ति ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता। हे सोम्य! चूँकि तुमने सत्य वचनों का त्याग नहीं किया, अतः तुम समिधा ले आओ, मैं तुम्हारा उपनयन

करूँगा। तब उन्होंने सत्यकाम का उपनयन करके चार सौ कृश एवं अबला गौओं को देकर उनसे कहा- हे सोम्य! तुम इन गौओं को ले जाकर चराना। इन्हें वन में तब तक चराना, जब तक ये सहस्र गौएँ न हो जाएँ। उन गौओं के अनुगामी होकर सत्यकाम ने कहा - हे आचार्य ! जब तक ये सहस्र गौएँ न हो जाएँगी तब तक नहीं लौटूँगा। सहस्र संख्यक गौएँ होने तक वे वर्षों वन में भ्रमण करते रहे॥ ५॥

॥ पञ्चमः खण्डः ॥

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्राप्ताः सोम्य सहस्रꣳ स्मः प्रापय न आचार्यकुलम्॥ १॥

एक दिन वृषभ ने सत्यकाम से कहा- हे सत्यकाम! अब हम एक हजार हो गये हैं, हमें आचार्य के पास ले चलो॥ १॥

ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राची दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ॥ २॥

पुनः वृषभ ने सत्यकाम से कहा- हे सत्यकाम! क्या मैं तुम्हें ब्रह्म का एक पाद बताऊँ ? सत्यकाम ने उनसे कहा- हे भगवन्! मुझे अवश्य बताएँ। तब वृषभ ने कहा- पूर्व, पश्चिम,उत्तर और दक्षिण ये दिक् कलाएँ हैं। वह 'प्रकाशमान' संज्ञक ब्रह्म इन चारों कलाओं में एक पाद व्याप्त करता है॥ २॥

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते प्रकाशवानस्मिँल्लोके भवति प्रकाशवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते॥ ३॥

इस प्रकार जानने वाला जो विद्वान् ब्रह्म के प्रकाशवान् स्वरूप की उपासना करता है, वह इस लोक में प्रकाशवान् होता है और प्रकाशवान् लोकों को विजित करता है। इस प्रकार वह विद्वान् जो चतुष्कल पाद की ब्रह्म के प्रकाशमान रूप की उपासना करता है, वह उसी स्वरूप को प्राप्त होता है॥ ३॥

॥ षष्ठः खण्डः ॥

अग्निष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश॥ १॥

उस वृषभ ने उनसे पुनः कहा- ब्रह्म का दूसरा पाद तुम्हें अग्निदेव बताएँगे। सत्यकाम ने गौओं को आचार्य कुल की ओर हाँक दिया। सायंकाल जहाँ हुई, वहीं वे गौओं को रोककर अग्निदेव को प्रज्वलित कर समिधाधान करके अग्नि के पश्चिम में, पूर्व की ओर मुख करके बैठ गये॥ १॥

तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २॥

अग्निदेव ने सत्यकाम को सम्बोधित किया। प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा- जी भगवन्!॥ २॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच पृथिवी कलान्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम॥ ३॥

अग्निदेव ने उनसे कहा- हे सोम्य! मैं आपको ब्रह्म का दूसरा पाद बताऊँ ? उन्होंने कहा- हे भगवन्! मुझे अवश्य बताएँ। तब अग्निदेव ने कहा-एक कला पृथ्वी, दूसरी कला अन्तरिक्ष, तीसरी कला द्युलोक और चौथी कला समुद्र है। हे सोम्य! ब्रह्म का यह चतुष्कल पाद अनन्तवान् संज्ञक है॥ ३॥

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्तेऽनन्तवानस्मिँल्लोके भवत्यनन्तवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते॥ ४॥

इस प्रकार जानने वाला जो विद्वान् ब्रह्म के अनन्तवान् संज्ञक चतुष्कल पाद की उपासना करता है, वह इस लोक में अनन्तवान् होता है और अनन्तवान् लोकों को विजित करता है। इस प्रकार ब्रह्म के अनन्तवान् संज्ञक चतुष्कल पाद की उपासना करने वाला विद्वान् ब्रह्म के उसी स्वरूप को प्राप्त होता है॥४॥

॥ सप्तमः खण्डः ॥

हꣳसस्ते पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश॥ १॥

अग्निदेव ने उनसे कहा- आपको ब्रह्म का तीसरा पाद हंस बताएगा। दूसरे दिन उन्होंने गौओं को आचार्यकुल की ओर हाँक दिया। जहाँ सायंकाल हुई, वहाँ वे गौओं को रोककर अग्नि प्रज्वलित कर समिधाधान करके अग्नि के पश्चिमी ओर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गये॥ १॥

तꣳ हꣳस उप निपत्याभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ २॥

तब हंस ने अग्नि के समीप उतर कर सत्यकाम को पुकारा, उन्होंने प्रत्युत्तर दिया- जी भगवन्!॥ २॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाचाग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम॥ ३॥

हंस ने उनसे कहा- हे सोम्य! मैं तुम्हें ब्रह्म का तीसरा पाद बताऊँ? सत्यकाम ने कहा- हाँ भगवन्! आप मुझे बताएँ। तब हंस ने उनसे कहा- अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा और विद्युत् - ये चार कलाएँ हैं। हे सोम्य! ब्रह्म का यह चतुष्कल पाद ज्योतिष्मान् नाम का है॥ ३॥

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ज्योतिष्मानस्मिँल्लोके भवति ज्योतिष्मतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते॥ ४॥

इस प्रकार जानने वाला जो विद्वान् ब्रह्म के इस 'ज्योतिष्मान्' संज्ञक चतुष्कल पाद की उपासना करता है, वह इस लोक में ज्योतिष्मान् होता है और ज्योतिष्मान् लोकों को विजित करता है। इस प्रकार ब्रह्म के ज्योतिष्मान् स्वरूप की उपासना करने वाला विद्वान् ब्रह्म के उसी स्वरूप को प्राप्त होता है॥ ४॥

॥ अष्टमः खण्डः ॥

मद्गुष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश॥ १॥

हंस ने सत्यकाम से कहा- मद्गु (जलपक्षी) तुम्हें ब्रह्म का चौथा पाद बताएगा। अगले दिन उन्होंने गौओं को आचार्य कुल की ओर हाँक दिया। जहाँ सायंकाल हुई, वहाँ वे गौओं को रोककर अग्नि प्रज्वलित कर समिधाधान करके अग्नि के पश्चिमी ओर पूर्वाभिमुख होकर बैठ गये॥ १॥

तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव॥ २॥

मद्गु ने उनके पास आकर उन्हें पुकारा, तो सत्यकाम ने उत्तर दिया- जी भगवन्!॥ २॥

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम॥ ३॥

तब मद्गु ने उनसे कहा- हे सोम्य! मैं तुम्हें ब्रह्म का चौथा पाद बताऊँगा? सत्यकाम ने कहा- हे भगवन्! मुझे अवश्य बताएँ। प्राण, चक्षु, श्रोत्र और मन- ये चार कलाएँ हैं। हे सोम्य! यह ब्रह्म का चतुष्कल पाद आयतनवान् (आश्रययुक्त) संज्ञा का है॥ ३॥

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्त आयतनवानस्मिँल्लोके भवत्यायतनवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते ॥ ४॥

इस प्रकार जानने वाला जो विद्वान् ब्रह्म के इस 'आयतनवान्' संज्ञक चतुष्कल पाद की उपासना करता है, वह इस लोक में आयतनवान् होता है और आयतनवान् लोकों को विजित करता है। इस प्रकार ब्रह्म के आयतनवान् स्वरूप की उपासना करने वाला विद्वान् ब्रह्म के उसी स्वरूप को प्राप्त होता है॥ ४॥

॥ नवमः खण्डः॥

प्राप हाचार्यकुलं तमाचार्योऽभ्युवाद सत्यकाम ३ इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ १॥

जब सत्यकाम आचार्यकुल में पहुँचे, तो आचार्य ने उन्हें सम्बोधित किया- सत्यकाम! उन्होंने उत्तर दिया जी भगवन्!॥ १॥

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि को नु त्वानुशशासेत्यन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे भगवाꣳस्त्वेव मे कामे ब्रूयात् ॥ २॥

आचार्य ने उनसे कहा हे सोम्य! तुम ब्रह्मवेत्ता के सदृश दीप्तिमान् हो रहे हो, तुम्हें किसने उपदेश दिया? सत्यकाम ने उन्हें उत्तर दिया- हे आचार्य! मुझे मनुष्य से भिन्न प्राणियों ने उपदेश दिया है। अब मेरी कामना के अनुसार आप ही मुझे उपदेश करें॥ २॥

श्रुतꣳ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किंचन वीयायेति वीयायेति॥ ३॥

तब आचार्य ने उन्हें उपदेश किया- मैंने भगवद् स्वरूप ऋषियों के मुख से सुना है कि आचार्य के मुख से जानी गई विद्या ही उपयुक्तता-सार्थकता को प्राप्त होती है। आगे उन्होंने जब उपदेश किया, तो कुछ भी जानना शेष न रहा अर्थात् वे सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त हुए॥ ३॥

॥ दशमः खण्डः॥

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन्परिचचार स ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्तयꣳस्तꣳ ह स्मैव न समावर्तयति॥ १॥

उपकोसल कामलायन (कमल का वंशज) सत्यकाम जाबाल के आचार्यत्व में ब्रह्मचर्य पूर्वक वास करते थे। उन्होंने बारह वर्ष तक आचार्यकुल में अग्नियों की परिचर्या की । आचार्य सत्यकाम ने अन्य ब्रह्मचारियों का समावर्तन संस्कार कर दिया, परन्तु उनका नहीं किया॥ १॥

तं जायोवाच तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन्परिचचारीन्मा त्वाग्नयः परिप्रवोचन्प्रब्रूह्यस्मा इति तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासांचक्रे ॥ २ ॥

आचार्य सत्यकाम से उनकी धर्मपत्नी ने कहा- यह ब्रह्मचारी बहुत तपश्चर्या कर चुका है, इनके द्वारा भली प्रकार अग्नियों की परिचर्या भी की गई है। अतः आप इसे उपदेश कर दें, जिससे अग्नियाँ आपकी निन्दा न करें, किन्तु वे बिना कुछ कहे प्रवास पर चल दिये॥ २॥

स ह व्याधिनानशितुं दध्रे तमाचार्यजायोवाच ब्रह्मचारिन्नशान किंनु नाश्नासीति स होवाच बहव इमेऽस्मिन्पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिः प्रतिपूर्णोऽस्मि नाशिष्यामीति॥ ३॥

उन उपकोसल ने मानसिक व्यथा से अनशन करने का निश्चय किया। उनसे आचार्य की धर्मपत्नी ने कहा- हे ब्रह्मचारिन्! तू भोजन क्यों नहीं करता? उन्होंने कहा- इस पुरुष में बहुत सी कामनाएँ रहती हैं, जो दुःख देती हैं। मैं उन्हीं विविध मानसिक व्यथाओं से परिपूर्ण हूँ, अतः भोजन नहीं करूँगा॥ ३॥

अथ हाग्नयः समूदिरे तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं नः पर्यचारीद्धन्तास्मै प्रब्रवामेति तस्मै होचुः ॥

तदनन्तर अग्नियों ने एकत्रित होकर आपस में कहा- यह ब्रह्मचारी तपश्चर्या कर चुका है। इसने हमारी भली प्रकार परिचर्या की है। अब हम इसे उपदेश करते हैं। ऐसा उन अग्नियों ने निश्चय कर उनसे कहा- प्राण ब्रह्म है। 'क' (सुख) ब्रह्म है और 'ख '(आकाश) ब्रह्म है॥ ४॥

प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खं च न विजानामीति ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः॥ ५॥

उपकोसल ने कहा- यह मैं जानता हूँ कि प्राण ब्रह्म है, किन्तु 'क' और 'ख' मैं नहीं जानता। उन अग्नियों ने उत्तर दिया- जो 'क' है वही 'ख' है और जो 'ख' है वही 'क' है। इस प्रकार उन्होंने उपकोसल को प्राण और उसके आधारभूत आकाश का उपदेश किया॥ ५॥

॥ एकादशः खण्डः ॥

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥ १॥

आगे उन्हें गार्हपत्याग्नि ने उपदेश किया- पृथिवी , अग्नि, अन्न और आदित्य, इन चारों में मैं ही हूँ। आदित्य के मध्य जो पुरुष दिखाई देता है, वह मैं ही हूँ, वही मेरा (विस्तृत) रूप है॥ १॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २॥

जो पुरुष इस प्रकार जानकर उसकी (आदित्य पुरुष की) उपासना करता है, वह पाप कर्मों को नष्ट कर देता है। वह अग्नि के भोगों (लोक) को प्राप्त होता है, पूर्ण आयु का उपभोग करता है, तेजस्वी जीवन जीता है, उनके वंशज क्षीण नहीं होते। इस प्रकार जानकर जो पुरुष उसकी उपासना करता है, उसका हम (अग्नियाँ) इस लोक तथा परलोक (अदृश्य लोक) में भी पालन करती हैं॥ २॥

॥ द्वादशः खण्डः ॥

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशासापो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति॥ १॥

तदनन्तर अन्वाहार्यपचन (दक्षिणाग्नि) ने उन्हें उपदेश किया-जल, दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा- ये चार रूप मेरे ही हैं। चन्द्रमा के मध्य जो पुरुष दिखाई देता है, वह मैं ही हूँ, वही मेरा रूप है॥ १॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते॥

वह साधक जो इस प्रकार जानकर उसकी (चन्द्र पुरुष) की उपासना करता है, वह पाप कर्मों को विनष्ट करता है, चन्द्रलोक को प्राप्त होता है, पूर्ण आयु का उपभोग करता है और तेजस्वी जीवन जीता है। उसके अनुवर्त्ती वंशज कभी क्षीण नहीं होते। जो इस प्रकार जानकर उसकी उपासना करता है, इस लोक तथा परलोक में भी हम (अग्नियाँ) उसका पालन करती हैं॥ २॥

॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति॥ १॥

उसके बाद आहवनीय अग्नि ने उन्हें उपदेश किया-प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत् - इन चारों में मैं ही हूँ। यह जो विद्युत् के मध्य पुरुष दिखायी देता है, वह मैं ही हूँ। वही मेरा रूप है॥ १॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते॥ २॥

वह साधक जो इस प्रकार जानकर उसकी (विद्युत् पुरुष की) उपासना करता है, वह पापकर्मों को विनष्ट करता है, विद्युत् लोक में भोगों से युक्त होता है, पूर्ण आयु का उपभोग करता है और तेजस्वी जीवन जीता है। उसके अनुवर्त्ती वंशज कभी क्षीण नहीं होते। जो इस प्रकार जानकर उसकी उपासना करता है, हम (अग्नियाँ) उसका इस लोक में और परलोक में भी पालन करती हैं॥ २॥

॥ चतुर्दशः खण्डः ॥

ते होचुरुपकोसलैषा सोम्य तेऽस्मद्विद्यात्मविद्या चाचार्यस्तु ते गतिं वक्तेत्याजगाम हास्याचार्यस्तमाचार्योऽभ्युवादोपकोसल ३ इति॥ १॥

उन अग्नियों ने उपकोसल से कहा- हे उपकोसल! हे सोम्य! तुम्हारे लिए हमने यह विद्या (अग्नि) और आत्म विद्या कही। इससे आगे की विद्या तुझे आचार्य बताएँगे। इसके बाद आचार्य आये और उपकोसल को सम्बोधित किया- उपकोसल!॥ १॥

भगव इति ह प्रतिशुश्राव ब्रह्मविद इव सोम्य ते मुखं भाति को नु त्वानुशशासेति को नु मानुशिष्याद्धो इतीहापेव निह्नुत इमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इतीहाग्नीनभ्यूदे किं नु सोम्य किल तेऽवोचन्निति॥ २॥

उन्होंने प्रत्युत्तर दिया- जी भगवन्! आचार्य सत्यकाम ने उनसे कहा- हे सोम्य! तुम्हारा मुख ब्रह्मवेत्ता के सदृश दिखाई पड़ता है। उपकोसल ने उनसे कहा- भगवन्! मुझे उपदेश देने वाला यहाँ कौन है? तब अग्नियों की ओर संकेत कर कहा- उन्होंने ही मुझे उपदेश दिया है, परन्तु अब ये अन्य स्वरूप में हैं। आचार्य ने उनसे कहा- हे सोम्य! इन्होंने क्या उपदेश किया है?॥ २॥

इदमिति ह प्रतिजज्ञे लोकान्वाव किल सोम्य तेऽवोचन्नहं तु ते तद्वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश? आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच॥ ३॥

उपकोसल ने अग्नियों का उपदेश आचार्य को बताया। तब आचार्य ने उनसे कहा- हे सोम्य! इन्होंने तो तुझे केवल लोकों का ज्ञान दिया है। अब तुझे मैं वह ज्ञान देता हूँ, जिसे जानने पर पाप कर्म उसी प्रकार लिप्त नहीं होते, जिस प्रकार कमल पत्र जल से लिप्त नहीं होते। उन्होंने कहा- भगवन्! मुझे अवश्य बताएँ। तब आचार्य ने उन्हें उपदेश दिया॥ ३॥

॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चन्ति वर्त्मनी एव गच्छति॥ १॥

यह नेत्र में जो पुरुष दिखायी देता है, (जो चक्षुओं का चक्षु अथवा दृष्टि का द्रष्टा है) वह आत्मा है। यह अविनाशी, भयरहित और ब्रह्मस्वरूप है। उसके स्थान पर जल या घृत डालें, तो वह पलकों में ही चला जाता है (अर्थात् वह सम्पूर्ण पदार्थों से अलिप्त रहता है।)॥ १॥

एतꣳ संयद्वाम इत्याचक्षत एतꣳ हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ॥ २॥

इस पुरुष को 'संयद्वाम' कहते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण शोभन वस्तुएँ सब ओर से इसे ही प्राप्त होती हैं। जो साधक इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है, वह सर्वोपयोगी वस्तुएँ सब ओर से धारण करता है॥

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद॥ ३॥

यह पुरुष निश्चय ही सम्पूर्ण पुण्यफलों को धारण करने वाला है। जो साधक इस प्रकार जानता है, वह सम्पूर्ण पुण्यफलों को धारण करता है॥ ३॥

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥ ४॥

यह पुरुष निश्चय ही प्रकाशमान है, क्योंकि यही सम्पूर्ण लोकों में प्रकाशित होता है। जो साधक इस प्रकार जानकर उपासना करता है, वह सम्पूर्ण लोकों में प्रकाशित होता है॥ ४॥

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासाꣳस्तान्मासेभ्यः संवत्सरꣳ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः॥ ५॥

स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते॥ ६॥

इस प्रकार जानने वाला पुरुष मृत्यु के पूर्व या उपरान्त अर्चि देवता को प्राप्त होता है। फिर अर्चि देव से दिवस सम्बन्धी देव को, दिवस से शुक्ल पक्ष को , शुक्ल पक्ष से उत्तरायण के छः मासों को, उत्तरायण के छः मासों से संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रमा को और चन्द्रमा से विद्युत् को प्राप्त होता हैं। वहाँ से अमानवी पुरुष (विशिष्ट देवपुरुष) उन्हें ब्रह्म लोक को प्राप्त कराता है। यह देवमार्ग अथवा ब्रह्म मार्ग है , इससे गमन करने वाला पुरुष पुनः इस मानव जगत् को नहीं प्राप्त होता ॥ ५-६ ॥

॥ षोडशः खण्डः ॥

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह यन्निदꣳ सर्वं पुनाति। यदेष यन्निदꣳसर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक् च वर्तनी॥ १ ॥

वह जो प्रवहमान (वायु) है, वह यज्ञ ही है। यह प्रवहमान तत्त्व इस सम्पूर्ण जगत् को पवित्र करता है। चूँकि यह सम्पूर्ण जगत् को पवित्र करता है, अतः यही यज्ञ है। वाणी और मन ये दो इसके मार्ग हैं॥

तयोरन्यतरां मनसा सꣳस्करोति ब्रह्मा वाचा होताध्वर्युरुद्गातान्यतराꣳ स यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यवदति॥ २ ॥

उनमें से एक मार्ग का संस्कार ब्रह्मा अपने मन से करते हैं तथा होता, अध्वर्यु और उद्गाता वाणी द्वारा दूसरे मार्ग का संस्कार करते हैं। (यदि) प्रातः कालीन अनुवाक के आरम्भ होने के पूर्व ब्रह्मा अपनी वाणी का प्रयोग करते हैं॥ २ ॥

अन्यतरामेव वर्तनीꣳ सꣳस्करोति हीयतेऽन्यतरा स यथैकपाद्व्रजन्नथो वैवैन चक्रेण वर्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो रिष्यति यज्ञꣳ रिष्यन्तं यजमानोऽनुरिष्यति स इष्ट्वा पापीयान्भवति॥ ३ ॥

(तो) वह केवल एक वाणी के मार्ग का ही संस्कार करते हैं, दूसरा मार्ग नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार एक पैर से चलने वाला पुरुष अथवा एक पहिये से चलने वाला रथ नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इस यज्ञ का विनाश हो जाता है। यज्ञ के विनष्ट होने पर यजमान भी नष्ट हो जाता है। ऐसा यज्ञ करने पर यजमान अधिक पापों को प्राप्त होता है॥ ३॥

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यवदत्युभे एव वर्तनी सꣳस्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरा॥ ४॥

यदि प्रातः कालीन अनुवाक आरम्भ करने के पश्चात् परिधानीया ऋचा से पूर्व ब्रह्मा नहीं बोलते हैं, तो (समस्त ऋत्विक् मिलकर) दोनों ही मार्गों का संस्कार करते हैं, तब कोई भी मार्ग नष्ट नहीं होता॥ ४॥

स यथोभयपाद्व्रजन्नथो वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञः प्रतितिष्ठति यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनुप्रतितिष्ठति स इष्ट्वा श्रेयान्भवति ॥ ५॥

जिस प्रकार दोनों पैरों से चलने वाला पुरुष तथा दोनों पहियों से चलने वाला रथ भली प्रकार स्थित रहता है, वैसे ही यह यज्ञ भी भली प्रकार स्थित रहता है। यज्ञ के स्थित रहने से यजमान भी भली प्रकार स्थित रहता है। ऐसा यज्ञ करके यजमान विशिष्ट श्रेय को प्राप्त होता है॥ ५॥

॥ सप्तदशः खण्डः ॥

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमानानाꣳ रसान्प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः ॥ १ ॥

प्रजापति ब्रह्मा ने लोकों का सार ग्रहण करने के निमित्त तप किया। तप के प्रभाव से उन्होंने लोकों से रसों को उत्पन्न किया। पृथ्वी से अग्नि, अन्तरिक्ष से वायु और द्युलोक से आदित्य को ग्रहण किया॥ १ ॥

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानाꣳ रसान्प्रावृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूꣳषि सामान्यादित्यात्॥ २ ॥

फिर उन्होंने तीन देवों से सार ग्रहण करने के निमित्त तप किया। तप के प्रभाव से उन्होंने देवों से रसों को उत्पन्न किया। अग्निदेव से ऋक्, वायुदेव से यजुष् और आदित्यदेव से साम को ग्रहण किया॥ २ ॥

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया रसान्प्रावृहद्भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः ॥ ३ ॥

फिर उन्होंने इस त्रयी विद्या का सार ग्रहण करने के निमित्त तप किया। तप के प्रभाव से उन्होंने त्रयी विद्या से रसों को उत्पन्न किया। ऋचाओं से भूः, यजुः कण्डिकाओं से भुवः तथा साम मंत्रों से स्वः को ग्रहण किया॥ ३ ॥

तद्यद्ध्यृक्तो रिष्येद्भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयादृचामेव तद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्टꣳ संदधाति॥ ४ ॥

यदि ऋचाओं के यज्ञ में कोई त्रुटि हो, तो 'भूः स्वाहा' ऐसा कहकर गार्हपत्याग्नि में यज्ञ करे। इस प्रकार ऋचाओं के रस से ऋचाओं के बीज द्वारा ऋचा सम्बन्धी यज्ञ की त्रुटियों की पूर्ति होती है॥ ४ ॥

अथ यदि यजुष्टो रिष्येद्भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयाद्यजुषामेव तद्रसेन यजुषां वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टꣳ संदधाति॥ ५ ॥

यदि यजुः कण्डिकाओं के यज्ञ में कोई त्रुटि हो, तो 'भुवः स्वाहा' ऐसा कहकर दक्षिणाग्नि में आहुति देनी चाहिए। इस प्रकार यजुओं के रस से यजुओं के बीज द्वारा यजुष् सम्बन्धी यज्ञ की पूर्ति होती है॥ ५ ॥

अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात्साम्नामेव तद्रसेन साम्नां वीर्येण साम्नां यज्ञस्य विरिष्टꣳ संदधाति॥ ६ ॥

यदि साम मंत्रों के यज्ञ में कोई त्रुटि हो, तो 'स्वः स्वाहा' इस उच्चारण के साथ आहवनीयाग्नि में आहुति देनी चाहिए। इस प्रकार साम मंत्रों के रस से साम के बीज द्वारा साम सम्बन्धी यज्ञ की पूर्ति होती है॥ ६ ॥

तद्यथा लवणेन सुवर्णꣳ संदध्यात्सुवर्णेन रजतꣳ रजतेन त्रपु त्रपुणा सीसꣳ सीसेन लोहं लोहेन दारु दारु चर्मणा॥ ७॥

जिस प्रकार लवण से सोने को, सोने से चाँदी को, चाँदी से राँगा को , राँगे से सीसे को , सीसे से लोहे को, लोहे से काष्ठ को और चमड़े से काष्ठ को जोड़ा जाता है॥ ७॥

एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टꣳ संदधाति भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवति॥ ८॥

उसी प्रकार इन लोकों , देवों और तीनों वेदों के सार से यज्ञ के छिद्र (दोष) का सुधार किया जाता है। जिस यज्ञ में इस प्रकार जानने वाला ब्रह्मा होता है, वह यज्ञ निश्चय ही ओषधियों (आहुतियों) से संस्कारित (प्रभावयुक्त) होता है॥ ८॥

एष ह वा उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवत्येवंविदꣳ ह वा एषा ब्रह्माणमनु गाथा यतो यत आवर्तते तत्तद्गच्छति॥ ९॥

जिस यज्ञ में इस प्रकार जानने वाला ब्रह्मा होता है, वह यज्ञ उत्तर मार्ग को प्राप्त कराता है। इस प्रकार ज्ञान-सम्पन्न ब्रह्मा के प्रति यह उक्ति कही गई है- जहाँ भी वह यज्ञ में प्रवृत्त होता है, वह यज्ञ के अभीष्ट को प्राप्त होता है॥ ९॥

मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरूनश्चाभिरक्षत्येवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानꣳ सर्वाश्चर्त्विजोऽभिरक्षति तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम्॥ १०॥

इस प्रकार ब्रह्मा मनन करने वाला एक ऋत्विक् होता है। जिस प्रकार घोड़ी सब योद्धाओं की रक्षा करती है, उसी प्रकार ब्रह्मा यज्ञ की, यजमान की और सब ऋत्विजों की सब ओर से रक्षा करता है। अत: इस प्रकार ज्ञान-सम्पन्न को ही ब्रह्मा बनाएँ, ऐसा न जानने वाले को न बनाएँ, कभी न बनाएँ॥ १०॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

इस अध्याय में प्राण की सर्वश्रेष्ठता एवं पञ्चाग्नि विद्या का वर्णन किया गया है-

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ १ ॥

जो ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ (आयु में प्रथम और गुणों में अधिक) को जानता है, वह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है। निश्चय ही प्राण ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ है॥ १ ॥

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति वाग्वाव वसिष्ठः ॥ २ ॥

जो वसिष्ठ (समग्र श्रेष्ठता) को जानता है, वह स्वजातियों में वसिष्ठ (श्रेष्ठ धन से सम्पन्न) होता है। निश्चय ही वाक् (वाणी) वसिष्ठ है॥ २ ॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ॥ ३ ॥

जो कोई प्रतिष्ठा को जानता है, वह लोक, परलोक (स्थूल शरीर एवं सूक्ष्म शरीर) में प्रतिष्ठित होता है। निश्चय ही चक्षु प्रतिष्ठा है॥ ३ ॥

यो ह वै संपदं वेद सꣳहास्मै कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च श्रोत्रं वाव संपत् ॥ ४ ॥

जो कोई सम्पद् को जानता है, उसे दैव और मानुष दोनों ही काम (भोग) सभी प्रकार से प्राप्त होते हैं। श्रोत्र ही सम्पत्ति है॥ ४ ॥

यो ह वा आयतनं वेदायतनꣳ ह स्वानां भवति मनो ह वा आयतनम् ॥ ५ ॥

जो कोई आयतन को जानता है, वह स्वजनों का आयतन होता है अर्थात् उनका आश्रय बन जाता है। निश्चय ही मन आयतन है॥ ५ ॥

अथ ह प्राणा अहꣳ श्रेयसि व्यूदिरेऽहꣳ श्रेयानस्म्यहꣳ श्रेयानस्मीति ॥ ६ ॥

एक बार प्राण (विभिन्न इन्द्रियों में स्थित प्राण) अपनी श्रेष्ठता के लिए परस्पर विवाद करने लगे कि मैं श्रेष्ठ हूँ - मैं श्रेष्ठ हूँ॥ ६ ॥

ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन्को नः श्रेष्ठ इति तान्होवाच यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ॥ ७ ॥

तब उन प्राणों ने अपने पिता प्रजापति के पास जाकर पूछा 'भगवन्! हममें से श्रेष्ठ कौन है?' तब प्रजापति ने उत्तर दिया कि 'तुममें से जिस तत्त्व के निकल जाने पर शरीर अत्यन्त पापिष्ठ (जीवित रहते हुए भी प्राणहीन एवं उससे भी निकृष्ट जैसा) दिखाई देने लगे, वही तत्त्व श्रेष्ठ है'॥ ७ ॥

सा ह वागुच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा कला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह वाक् ॥ ८ ॥

(तब) वाक् इन्द्रिय ने उत्क्रमण किया, अर्थात् शरीर से बाहर चली गयी। उसने एक वर्ष तक प्रवास में रहने के बाद वापस लौटकर पूछा- 'मेरे बिना तुम जीवित रहने में कैसे समर्थ रह सके?' तब इन्द्रियों ने कहा- जिस प्रकार गूँगा वाणी से बिना बोले हुए भी प्राण से श्वासोच्छ्वास करता है, नेत्रों से देखता है,

कानों से सुनता है और मन से चिन्तन करते हुए जीवनयापन करता है। उसी प्रकार (हम भी जीवित रहे) ऐसा सुनकर वागिन्द्रिय ने शरीर में पुनः प्रवेश किया॥ ८॥

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथान्धा अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह चक्षुः॥ ९॥

(फिर) चक्षु (नेत्र) ने उत्क्रमण किया। एक वर्ष तक प्रवास में रहने के पश्चात् वापस लौटकर पूछा- 'मेरे बिना तुम जीवित कैसे रह सके?, (तब अन्य इन्द्रियों ने कहा) 'जिस प्रकार नेत्रहीन नेत्रों से देख नहीं सकता, तो भी प्राणों से श्वासोच्छ्वास करते, वाणी से बोलते, कानों से श्रवण करते और मन से चिन्तन करते हुए जीवित रहता है, उसी प्रकार [हम भी जीवित रहे], ऐसा सुनकर नेत्र ने पुनः प्रवेश किया॥ ९॥

श्रोत्रꣳ होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा बधिरा अशृण्वन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह श्रोत्रम्॥ १०॥

(इसके पश्चात्) श्रोत्र (कान) ने उत्क्रमण किया। एक वर्ष तक प्रवास में रहने के उपरान्त पुनः लौटकर पूछा- हमारे बिना तुम कैसे जीवित रहे? तब अन्य इन्द्रियों ने कहा- 'जिस प्रकार बधिर बिना सुने, प्राण से प्राणन करते, वाणी से बोलते, चक्षु से देखते और मन से चिन्तन करते हुए जीवित रहते हैं, वैसे ही हम भी जीवित रहे।' यह सुन करके श्रोत्र ने शरीर में पुनः प्रवेश किया॥ १०॥

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति प्रविवेश ह मनः॥ ११॥

(श्रोत्र के बाद) मन ने बाह्य गमन किया। एक वर्ष तक प्रवास में रहने के बाद लौटकर उसने वाक् आदि इन्द्रियों से पूछा कि 'मेरे बिना तुम किस प्रकार जीवित रहे?' (तब उन सभी ने कहा) 'जिस प्रकार छोटे बच्चे, जिनका कि मन विकसित नहीं होता, प्राण द्वारा श्वासोच्छ्वास करते, वाणी से बोलते, चक्षु से देखते, कर्णों से श्रवण करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार (हम भी जीवित रहे)।' यह सुनकर मन ने शरीर में पुनः प्रवेश किया॥ ११॥

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्त्स यथासुहयः पड्वीशशङ्कून्संखिददेवमितरान्प्राणान्त्समखिदत्तꣳ हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति॥ १२॥

फिर प्राण बहिर्गमन करने के लिए तत्पर होता है। जिस तरह शक्तिशाली अश्व पैर बाँधने की कीलों को उखाड़ देता है, उसी प्रकार प्राण ने समस्त इन्द्रियों के बन्धन से अपने आप को मुक्त किया। तब उन सबने प्राण से निवेदन किया कि 'भगवन्! आप अपने ही स्थान पर रहें, आप ही हम सब में श्रेष्ठ हैं, आप बाहर न जाएँ'॥ १२॥

अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठासीति॥ १३॥

तत्पश्चात् उस वागिन्द्रिय ने मुख्य प्राण से कहा- 'मैं जो वसिष्ठ हूँ, वह वसिष्ठ आप ही हैं।' चक्षु ने कहा- ''मैं जो प्रतिष्ठा हूँ, सो (वह)प्रतिष्ठा आप ही हैं।''॥ १३॥

अथ हैनꣳ श्रोत्रमुवाच यदहꣳ संपदस्मि त्वं तत्संपदसीत्यथ हैनं मन उवाच यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति॥ १४॥

फिर उस श्रोत्र ने कहा कि 'मैं जो सम्पद्' (श्रेष्ठ सम्पत्ति) हूँ, सो वह सम्पद् आप ही हैं। (इसके बाद) उस मुख्य प्राण से मन ने कहा- 'मैं जो आयतन (आश्रय) हूँ, वह आश्रय आप ही हैं॥ १४॥

न वै वाचो न चक्षूꣳषि न श्रोत्राणि न मनाꣳसीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति॥ १५॥

इसलिए लोक में वाक् आदि समस्त इन्द्रियों को न वाणी, न नेत्र, न श्रोत्र और न ही मन; बल्कि सबको 'प्राण' नाम से ही सम्बोधित करते हैं, क्योंकि ये सभी प्राण ही हैं॥ १५॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति यत्किंचिदिदमा श्वभ्य आ शकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा एतदनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षं न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवतीति॥ १॥

उस मुख्य प्राण ने प्रश्न किया कि मेरा अन्न क्या होगा? तब वाक् आदि इन्द्रियों ने उत्तर देते हुए कहा- 'कुत्तों और पक्षियों से लेकर सभी प्राणियों का यह जो कुछ भी अन्न है, वह सब तुम्हारा ही है।' अन्' यह प्राण का नाम प्रसिद्ध है। इस प्रकार जानने वाले के लिए कुछ भी अभक्ष्य नहीं होता है॥ १॥

[प्राणियों में जब तक प्राण रहते हैं, तभी तक उन्हें अन्न की आवश्यकता पड़ती है। प्राण जाते ही अन्न की माँग समाप्त हो जाती है, इसीलिए सारे अन्न प्राण के लिए ही हैं।]

स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति॥ २॥

उस मुख्य प्राण ने पुनः प्रश्न किया कि 'मेरा वास (वस्त्र) क्या होगा?' तब वाक् आदि इन्द्रियों ने कहा -'जल'। (प्राण को) भोजन करने से पूर्व और पश्चात् आच्छादित करते हैं। (ऐसा करने से) वह वस्त्र धारण करने वाला और अनग्न होता है॥ २॥

तद्धैतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्यायोक्त्वोवाच यद्यप्येतच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ ३॥

इस प्राणोपासना पद्धति का विवरण सत्यकाम जाबाल ने व्याघ्रपद के पुत्र गोश्रुति नामक वैयाघ्रपद को सुनाया- ''यदि कोई इस प्राणोपासना को शुष्क ठूँठ से भी कहेगा, तो उसमें भी शाखाएँ उत्पन्न हो जाएँगी और पत्ते प्रस्फुटित हो आएँगे।''॥ ३॥

[मन्त्र क्र० १ में प्राण - प्रक्रिया को जानने वाले तथा क्र०३ में सुनने वाले को असाधारण लाभ प्राप्त होने की बात कही गयी है। उस काल में जानने का अर्थ उस प्राण-प्रक्रिया को चलाने की क्षमता होना तथा सुनने का अर्थ उस प्राण-प्रक्रिया को आत्मसात् करना ही रहा होगा। उसी स्थिति में किसी अन्न से पोषण पाने तथा सूखे ठूँठ में भी नये प्राण का संचार होने की बात सिद्ध होती है।]

अथ यदि महज्जिगमिषेदमावास्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्याꣳ रात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्॥ ४॥

इसके बाद अब यदि वह महत्त्व का अभिलाषी हो, तो उसे अमावस्या को दीक्षा प्राप्त करके पूर्णिमा की रात्रि को सभी औषधियों, दही और शहद सम्बन्धी मन्थ (मथकर तैयार किया गया हव्य) का मंथन कर 'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा' के मन्त्र द्वारा अग्नि में घृत की आहुति देकर मन्थ में उसका अवशेष डालना चाहिए॥

वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्रावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्रावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्संपदे स्वाहेत्यग्रावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेदायतनाय स्वाहेत्यग्रावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत्॥ ५॥

(इसी प्रकार) 'वसिष्ठाय स्वाहा' के मन्त्र से अग्नि में घृताहुति समर्पित कर मन्थ में भी घृत के स्राव को डाले, 'प्रतिष्ठायै स्वाहा' इस मन्त्र से अग्नि को घृताहुति समर्पित करके मन्थ में घृत के अवशेष को डाले, 'संपदे स्वाहा' मन्त्र के द्वारा अग्नि में हवन करके अवशिष्ट घृत को मंथ में डाले तथा 'आयतनाय स्वाहा' इस मंत्र से अग्नि में घृत की आहुति देकर शेष घृत को मन्थ में समर्पित करे॥ ५॥

अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपत्यमो नामास्यमा हि ते सर्वमिदꣳ स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ राज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेदꣳ सर्वमसानीति॥ ६॥

(तत्पश्चात्) अग्नि से कुछ दूर हटकर अञ्जलि में मन्थ को लेकर इस मन्त्र का उच्चारण करे- 'अमो नामसि' हे मन्थ! तू 'अम' (प्राण) नाम वाला है, क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् (अपने प्राणभूत) तेरे साथ अवस्थित है। तू ही ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, राजा (प्रकाशमान) और सबका अधिपति है। वह तुम मुझे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ तत्त्व, राज्य और आधिपत्य को प्राप्त कराओ। मैं ही सर्वरूप हो जाऊँ॥ ६॥

अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति तत्सवितुर्वृणीमह इत्याचामति वयं देवस्य भोजनमित्याचामति श्रेष्ठꣳ सर्वधातममित्याचामति तुरं भगस्य धीमहीति सर्वं पिबति॥ ७॥

तदनन्तर वह इस ऋचा से (हम प्रकाशमान सविता के उस सर्वविषयक श्रेष्ठतम भोजन की प्रार्थना करते हैं और शीघ्र ही सविता देवता के स्वरूप का ध्यान करते हैं) पादशः (उस मन्थ का) एक -एक पद को कहकर मध्य के एक-एक ग्रास का भक्षण करता है। 'तत्सवितुर्वृणीमहे' ऐसा कहकर एक ग्रास का भक्षण करता है। 'वयं देवस्य भोजनम्' ऐसा कहकर एक ग्रास का भक्षण करता है। 'श्रेष्ठं सर्वधातमम्' मन्त्र कहकर पुनः एक ग्रास को ग्रहण करता है तथा 'तुरं भगस्य धीमहि' ऐसा कहकर कंस अथवा चमस के आकार वाले पात्र को धोकर सम्पूर्ण मंथ लेप को पी जाता है॥ ७॥

निर्णिज्य कꣳसं चमसं वा पश्चादग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा वाचंयमोऽप्रसाहःस यदि स्त्रियं पश्येत्समृद्धं कर्मेति विद्यात्॥ ८॥

इसके बाद अग्नि के पृष्ठ भाग पर पीछे की ओर पवित्र मृग चर्म आदि बिछाकर अथवा स्थण्डिल (पवित्र यज्ञ भूमि) में ही वाणी का संयम रखते हुए शयन करता है। उस समय यदि वह स्वप्न में स्त्री का दर्शन करे, तो यह समझे कि मेरा यह अनुष्ठान सफलता को प्राप्त हो गया॥ ८॥

तदेष श्लोकः। यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियꣳ स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने तस्मिन्स्वप्ननिदर्शन इति॥ ९॥

इससे सम्बन्धित यह श्लोक है- 'काम्य कर्मों में जब स्त्री को देखे, तो उस स्वप्न के दर्शन होने पर उस कार्य की सफलता समझे॥ ९॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानाꣳसमितिमेयाय तꣳह प्रवाहणो जैवलिरुवाच कुमारानु त्वाशिषत्पितेत्यनु हि भगव इति ॥ १ ॥

पाञ्चाल नरेश की सभा में (एक बार) आरुणि पुत्र श्वेतकेतु आया। वहाँ उससे जीवल पुत्र प्रवाहण ने प्रश्न करते हुए कहा कि 'कुमार! क्या तुम्हारे पिताजी ने तुमको शिक्षा प्रदान की है'। तब उसने कहा- हाँ, भगवन् ! हमने अपने पिताजी से शिक्षा प्राप्त की है ॥ १ ॥

वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति न भगव इति वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त ३ इति न भगव इति वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना ३ इति न भगव इति ॥ २ ॥

प्रवाहण ने पुनः प्रश्न किया कि क्या तुम्हें यह ज्ञात है कि प्रजा इस लोक से जाने के बाद कहाँ जाती है ? श्वेतकेतु ने कहा- 'भगवन्! यह जानकारी मुझे नहीं है। उसने फिर पूछा कि क्या तुम्हें यह ज्ञात है कि वह प्रजा पुनः इस लोक में किस प्रकार आती है ? श्वेतकेतु ने पुनः नकारात्मक उत्तर दिया कि मुझे यह भी नहीं मालूम है। प्रवाहण पुनः अगला प्रश्न पूछता है कि देवयान और पितृयान मार्गों का एक दूसरे से अलग होने का स्थान क्या तुम्हें ज्ञात है ?' श्वेतकेतु ने कहा- नहीं भगवन्! मैं यह भी नहीं जानता ॥ २ ॥

वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यत३ इति न भगव इति वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति नैव भगव इति ॥ ३ ॥

प्रवाहण ने पुनः प्रश्न किया कि क्या तुम्हें ज्ञात है कि यह पितर लोक क्यों नहीं भरता है ? श्वेतकेतु ने कहा- 'नहीं भगवन् ! उसने फिर पूछा कि 'पाँचवीं आहुति के यजन कर दिये जाने पर घृत सहित सोमादि रस 'पुरुष' संज्ञा को कैसे प्राप्त करते हैं' ? श्वेतकेतु ने कहा- नहीं भगवन्! मैं यह भी नहीं जानता ॥ ३ ॥

अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथा यो हीमानि न विद्यात्कथꣳ सोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति स हायस्तः पितुरर्धमेयाय तꣳहोवाचाऽननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनु त्वाशिषमिति ॥ ४ ॥

"तो फिर तुमने स्वयं के सम्बन्ध में ऐसा क्यों कहा कि मुझे शिक्षा प्रदान की गयी है ?" जो इन सभी विद्याओं की जानकारी नहीं रखता है, वह अपने को पूर्ण शिक्षित कैसे कह सकता है ? उपर्युक्त सभी प्रश्नों के उत्तर न दे पाने से त्रस्त होकर वह अपने पिता आरुणि के पास गया और बोला कि आपने मुझे शिक्षा दिये बगैर हीं आश्वस्त कर दिया था कि मैंने तुझे शिक्षा प्रदान कर दी है ॥ ४ ॥

पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीत्तेषां नैकञ्चनाशकं विवक्तुमिति स होवाच यथा मा त्वं तदैतानवदो यथाहमेषां नैकंचन वेद यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं ते नावक्ष्यमिति ॥ ५ ॥

श्वेतकेतु ने अपने पिता से कहा कि 'उस क्षत्रिय कुमार ने मुझसे अग्निविद्या से सम्बन्धित पाँच प्रश्न किये। मैं उनमें से एक का भी सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सका। तब उसके पिता ने कहा कि 'तुमने ये जितने प्रश्न मुझसे कहे, मैं भी उनमें से एक प्रश्न का उत्तर नहीं जानता। यदि मुझे जानकारी होती, तो भला तुम्हें क्यों नहीं इसकी जानकारी देता ॥ ५ ॥

स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय तस्मै ह प्राप्तायार्हाञ्चकार स ह प्रातः सभाग उदेयाय तꣳहोवाच मानुषस्य भगवन्गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति स होवाच तवैव राजन्मानुषं वित्तं यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति स ह कृच्छ्रीबभूव ॥ ६ ॥

तब वह पिता और पुत्र (आरुणि और श्वेतकेतु) पुनः उस पाञ्चाल नरेश के समीप प्रश्नों की जिज्ञासा को लिए हुए आये। राजा ने अपने यहाँ आये उन दोनों (पिता और पुत्र) को सम्मानित किया। दूसरे दिन प्रातःकाल गौतम गोत्रोत्पन्न वे दोनों राजा की सभा में गये। उस राजा ने कहा कि 'हे भगवन् गौतम! आप सांसारिक धन का वरदान हमसे प्राप्त कर लें। तब उन मुनि ने कहा- राजन्! ये मनुष्य सम्बन्धी धन आपके ही पास रहें; आपने मेरे पुत्र के प्रति जो बात (प्रश्नरूप से) कही थी, वही मुझे बताने की कृपा करें। यह सुनकर वह राजा अत्यन्त संकट में पड़ गया॥ ६ ॥

तꣳह चिरं वसेत्याज्ञापयांचकार तꣳ होवाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच॥ ७॥

पाञ्चाल नरेश ने उन दोनों (पिता और पुत्र) को अपने पास चिरकाल तक रहने की आज्ञा प्रदान की। उसने कहा- 'हे गौतम! जिस प्रकार आपने मुझसे कहा है, उसे आप यह समझें कि प्राचीन काल में यह अग्नि विद्या ब्राह्मण के पास नहीं गयी। इसी कारण से सभी लोकों में इस विद्या पर क्षत्रियों का ही अनुशासन रहा है। इस प्रकार कहकर उस राजा ने गौतम को अग्निविद्या का उपदेश दिया॥ ७॥

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

श्वेतकेतु से प्रवाहण ने जो प्रश्न पूछे थे, उनमें से पहले 'पाँचवीं आहुति में आपः पुरुष वाचक कैसे बन जाता है' इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है। इस प्रश्न के समाधान के साथ ही अन्य प्रश्नों के समाधान का मार्ग भी खुलता है। वेद ने इस सृष्टि को यज्ञमय कहा है। ऋषि स्थूल यज्ञ की उपमा देते हुए सृष्टिचक्र के विभिन्न चरणों को समझाते हैं। द्युलोक में पहली आहुति से सोम, अंतरिक्ष में दूसरी आहुति से वर्षा, पृथ्वी पर तीसरी आहुति से अन्न, पुरुष में चौथी आहुति से वीर्य तथा नारी में पाँचवीं आहुति से पुरुषवाची जीव की उत्पत्ति होती है। प्रश्न था 'आपः' पुरुष वाची कैसे बन जाता है। प्रथम आहुति श्रद्धा की कही गयी है। 'श्रद्धा - आपः' अर्थात् श्रद्धा और आपः पर्यायवाची शब्द हैं। वेद ने आपः को ब्रह्म के तप से उत्पन्न सृष्टि का मूल क्रियाशील पदार्थ माना है। प्रकारान्तर से यह चक्र 'ब्राह्मी चेतना' के 'जीव चेतना' के रूप में प्रकट होने तक के रहस्यात्मक चरणों को प्रकट करता है-

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः॥ १॥

हे महर्षि गौतम! यह प्रसिद्ध द्युलोक ही अग्नि है। आदित्य ही उस अग्नि की समिद् (ईंधन) है, किरणें ही धूम्र हैं, दिन ही ज्वाला है, चन्द्रमा ही अङ्गार और नक्षत्र ही विस्फुलिङ्ग (चिनगारियाँ) हैं॥ १॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति॥ २॥

उस द्युलोक रूप अग्नि में देवगण श्रद्धा का यजन करते हैं। उस आहुति से राजा सोम का प्रादुर्भाव होता है॥ २॥

[सृष्टि यज्ञ के प्रथम चरण में श्रद्धा अथवा आपः तत्त्व के यजन से सोम अर्थात् आधारभूत पोषक प्रवाह की उत्पत्ति होती है।]

॥ पञ्चमः खण्डः ॥

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

हे गौतम! (इस अग्नि विद्या के अन्तर्गत) पर्जन्य ही अग्नि है, वायु ही समिधायें हैं, बादल ही धूम्र है, विद्युत् ही उसकी ज्वालाएँ हैं, वज्र (उसका) अङ्गार और गर्जन ही विस्फुलिंग अर्थात् चिनगारियाँ हैं ॥१ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳ राजानं जुह्वति तस्या आहुतेर्वर्षꣳ संभवति ॥ २ ॥

इस दिव्याग्नि में ही देवगण सामूहिक रूप से राजा सोम के निमित्त यजन करते हैं, उस विशेषाहुति से वर्षा का प्राकट्य होता है ॥ २ ॥

[पर्जन्य उस लोक की उत्पादक क्षमता है। यजन के दूसरे चरण में सोम से वर्षा की उत्पत्ति होती है।]

॥ षष्ठः खण्डः ॥

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव समिदाकाशो धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

हे गौतम! (इस क्रम में) पृथिवी ही अग्नि है। संवत्सर ही उसकी समिधाएँ हैं, आकाश ही धूम्र (धुआँ) है, रात्रि ही ज्वालाएँ हैं, दिशाएँ ही अङ्गारे और अवान्तर दिशाएँ अर्थात् कोने ही (विस्फुलिङ्ग) चिनगारियाँ हैं॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति तस्या आहुतेरन्नꣳ संभवति ॥ २ ॥

उस श्रेष्ठ दिव्याग्नि में समस्त देवता वर्षा के निमित्त दिव्य आहुतियाँ समर्पित करते हैं; उस विशेष आहुति से अन्न का प्रादुर्भाव होता है ॥ २ ॥

[यजन के तीसरे चरण में पृथ्वी में दी गयी इस आहुति से जीवन तत्त्व अन्न के रूप में परिवर्तित हो जाता है।]

॥ सप्तमः खण्डः ॥

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

हे गौतम! पुरुष ही दिव्याग्नि है। उस (अग्नि विद्या) की वाक् ही समिधाएँ (ईंधन) हैं। प्राण ही धूम्र (धुआँ) है। जिह्वा ही ज्वाला है, नेत्र अङ्गारे हैं तथा श्रोत्र (कान) ही विस्फुलिङ्ग अर्थात् चिनगारियाँ हैं ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः संभवति ॥ २ ॥

उस दिव्याग्नि में सभी देवता मिलकर अन्न के निमित्त आहुति समर्पित करते हैं, उस विशेष आहुति से वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ की उत्पत्ति होती है ॥ २ ॥

[इस चौथे चरण की आहुति के बाद अन्तःस्थ जीवन तत्त्व वीर्य में पोषक तत्त्व (आपः) शुक्राणु रूप में प्रकट हो जाता है।]

॥ अष्टमः खण्डः ॥

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥ १ ॥

हे गौतम! उस अग्नि विद्या की स्त्री ही दिव्याग्नि है। उसका उपस्थ (जननांग) ही समिधा अर्थात्

ईंधन है, विचार विमर्श ही उसका धूम्र है, योनि ही ज्वाला है। स्त्री-पुरुष का सान्निध्य ही उस दिव्याग्नि के अङ्गारे हैं और आनन्दानुभूति ही (विस्फुलिङ्ग) चिनगारियाँ हैं॥ १॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः संभवति॥ २॥

उस दिव्याग्नि में देवगण वीर्य का यजन करते हैं, उस विशिष्ट यजन कार्य से श्रेष्ठ गर्भ का अवतरण होता है॥

[इस पाँचवीं आहुति के पकने पर प्रथम आहुति में होमा गया 'आपः (मूल जीवन) तत्त्व' काया में स्थित पुरुष वाचक 'जीव या प्राणी' के रूप में विकसित हो जाता है।]

॥ नवमः खण्डः ॥

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति स उल्बावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते॥ १॥

इस तरह से अग्नि विद्या की पाँचवीं आहुति के प्रदान किये जाने पर आपः (प्रथम आहुति में होमा गया श्रद्धारूप सृष्टि का मूल सक्रिय प्रवाह) पुरुष रूप हो जाता है। वह गर्भ जरायु से ढका हुआ नौ या दस महीने अथवा जब तक पूर्ण अङ्ग विकसित नहीं होता, तब तक गर्भ के भीतर ही शयन करने के पश्चात् पुनः प्रादुर्भूत होता है॥ १॥

[यहाँ तक अग्निविद्या का रहस्य प्रकट हो जाने पर पूछे गये पाँचवें प्रश्न का उत्तर स्पष्ट हो जाता है। इसके बाद पुरुष रूप में उत्पन्न प्रजा की गति सम्बन्धी अन्य प्रश्नों के समाधान प्रकट किये जाते हैं।]

स जातो यावदायुषं जीवति तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति यत एवेतो यतः संभूतो भवति॥ २॥

इस प्रकार से जन्म होने पर वह अपनी निश्चित आयु तक जीवित रहता है। इसके बाद शरीर त्याग करने पर कर्मवश परलोक को गमन करते हुए उस प्राणी को अग्नि के समीप ले जाते हैं, जहाँ से वह आया था और जिससे प्रकट हुआ था॥ २॥

॥ दशमः खण्डः ॥

इस खण्ड में अग्निविद्या के पाँचों प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं-

तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्डेति मासाꣳस्तान्॥ १॥

जो इस पञ्चाग्नि विद्या को जानकर वन में रहते हुए श्रद्धा एवं तपपूर्वक उपासना करते हैं, वे सभी प्राण -प्रयाण के उपरान्त अर्चि (तेज या किरण) के अभिमानी देवताओं को प्राप्त करते हैं। अर्चि से दिवसाभिमानी देवताओं को, दिन से शुक्ल पक्षाभिमानी देवताओं को और शुक्ल पक्ष से उत्तरायण (जिनमें सूर्य उत्तर मार्ग में गमन करता है) के छः मासों को प्राप्त करते हैं॥ १॥

मासेभ्यः संवत्सरꣳ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषो - ऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति॥ २॥

उन उत्तरायण के छः मासों के माध्यम से संवत्सर को प्राप्त करते हैं, आदित्य को संवत्सर से, चन्द्रमा को आदित्य से और विद्युत् (द्युतिमान्) को चन्द्रमा से प्राप्त करते हैं। वहाँ पर एक अतीन्द्रिय सामर्थ्य से युक्त पुरुष है। वह उसे परब्रह्म को प्राप्त करा देता है। वही देवयान मार्ग है॥ २॥

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिꣳ रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैति मासाꣳस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति॥ ३॥

इसके बाद जो यह सभी गृहस्थ लोग ग्राम में निवास करते हुए इष्ट, पूर्त और दत्त (अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म- इष्ट; वापी, कूप, तड़ाग एवं बगीचे आदि पूर्त के अन्तर्गत और वेदी आदि से बाहर सत्पात्र व्यक्तियों को यथाशक्ति दान देना ही 'दत्त' कहलाता है।) ऐसी उपासना करते हैं। वे धूम को प्राप्त करते हैं, धूम से रात को, रात से कृष्ण पक्ष को और कृष्ण पक्ष से दक्षिणायन के (जिनमें सूर्य दक्षिण मार्ग से गमन करता है) छः मासों को प्राप्त करते हैं। ये लोग संवत्सर को नहीं प्रात कर पाते हैं॥ ३॥

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति॥ ४॥

दक्षिणायन के महीनों से पितर लोक को प्राप्त होते हैं। पितृलोक से आकाश को और आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त करते हैं। यह चन्द्रमा ही राजा सोम है। वह सभी देवों का अन्न है, समस्त देव गण उसका भक्षण करते हैं॥ ४॥

तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवति॥ ५॥

वहाँ जब तक कर्मों का क्षय होता है, तब तक उस चन्द्र-मण्डल में निवास करने के बाद इस आगे कहे गये मार्ग से ही पुनः वापस लौट आते हैं। वे पहले आकाश को प्राप्त होते हैं। आकाश से वायु को प्राप्त करने के उपरान्त, वायुभूत होकर वे धूम होते हैं और धूम होकर ही अभ्र (मेघरूप) हो जाते हैं॥ ५॥

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति॥ ६॥

वह अभ्ररूप होकर मेघ होता है, मेघ होकर वृष्टि करता है, तब वे सभी प्राणी इस लोक में धान, यव (जौ), ओषधि, वनस्पति, उड़द और तिल आदि होकर प्रादुर्भूत होते हैं। इस भाँति यह निष्क्रमण निश्चित ही अत्यन्त कष्टप्रद है। उस अन्न को जो-जो भक्षण करता है और जो-जो उससे उत्पन्न वीर्य का सेवन करता है, वह जीव तद्रूप ही हो जाता है॥ ६॥

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा॥ ७॥

उन सभी जीवों में जो श्रेष्ठ, सुन्दर आचरण वाले होते हैं, वे शीघ्र ही उत्कृष्ट योनि को प्राप्त होते हैं। वे सभी जीव ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य आदि श्रेष्ठ योनि को प्राप्त करते हैं। जो अशुभ अपवित्र आचरण वाले होते हैं, वे तत्क्षण ही अशुभ योनि को प्राप्त होते हैं। ऐसे जीव कुत्ते की योनि या सूकर योनि अथवा चाण्डाल (क्रूर कर्मी) योनि को प्राप्त करते हैं॥ ७॥

अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयꣳ स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते तस्माज्जुगुप्सेत तदेष श्लोकः॥ ८॥

वे प्राणी जो इनसे पूर्व कहे गये किसी अन्य मार्ग से गमन नहीं करते हैं, वे सभी (निम्न प्राणी मच्छर और कीड़े-मकोड़े आदि) बारम्बार जन्मने-मरने वाले प्राणी ही होते हैं। जीवन धारण करना और शरीर त्याग करना ही उनका मुख्य तृतीय स्थान कहा गया है। इसलिए इस प्रकार की सांसारिक गति में अत्यधिक आसक्ति नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार घोर संसाररूपी महासागर से पतन की रक्षा स्वयं करने के लिए उद्यत होना चाहिए। इसी हेतु पञ्चाग्नि विद्या की प्रार्थना के लिए यह श्लोक प्रयुक्त किया गया है॥

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबꣳश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा च। एते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरꣳस्तैरिति॥ ९॥

सोने (स्वर्ण) का हरण करने वाले, मद्यपान करने वाले, गुरु की स्त्री से गमन करने वाले, ब्रह्म विद्या को जानने वालों की हत्या करने वाले - ये चार प्रकार के कृत्य व्यक्ति के पतन का कारण बनते हैं और पाँचवाँ कारण उन सभी के साथ किया गया संसर्ग (व्यवहार या आचरण) है॥ ९॥

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन्वेद न स ह तैरप्याचरन्पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति य एवं वेद य एवं वेद॥ १०॥

इस प्रकार से उपर्युक्त मन्त्रों में कही गई पञ्चाग्नि विद्या के महत्त्व को जो जानने में समर्थ है, वह उन सभी (लौकिक कर्मों) के साथ व्यवहार (संसर्ग) करता हुआ भी पापकृत कार्यों में लिप्त नहीं होता। इस विद्या को जो जानता है, वह श्रेष्ठ, शुद्ध और पवित्र पुण्यलोक का अधिकारी होता है॥ १०॥

॥ एकादशः खण्डः॥

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमाꣳसां चक्रुः को नु आत्मा किं ब्रह्मेति॥ १॥

प्राचीनशाल के नाम से प्रख्यात उपमन्यु के पुत्र औपमन्यव, पुलुष के पुत्र पौलुषि, जो सत्ययज्ञ के नाम से जाने जाते हैं, भल्लवि के पुत्र भाल्लवि और उसका पुत्र भाल्लवेय जो इन्द्रद्युम्न के नाम से प्रतिष्ठित है, शर्कराक्ष का पुत्र जन शार्कराक्ष्य और अश्वतराश्व का पुत्र बुडिल-ये पाँचों सद्गृहस्थ शास्त्र अध्ययन और सदाचार से युक्त आपस में विचार विमर्श करने लगे कि हमारी आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है?॥ १॥

ते ह संपादयांचक्रुरुद्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तꣳ हन्ताभ्यागच्छामेति तꣳ हाभ्याजग्मुः॥ २॥

विचार विमर्श करने के उपरान्त भी जब किसी ठोस निश्चय पर नहीं पहुँचे, तब उन पूज्य जनों ने अपना उपदेशक नियुक्त किया कि इस समय यह अरुण का पुत्र उद्दालक ही इस वैश्वानर आत्मा को भली-भाँति जानता है, इसलिए हम सभी उसी के पास चलें। ऐसा सोचकर वे सभी आरुणि के पास आये॥ २॥

स ह संपादयांचकार प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये हन्ताहमन्यमभ्यनुशासानीति॥ ३॥

इस प्रकार आरुणि ने उन महागृहस्थ और परम श्रोत्रिय जनों को देखकर यह निश्चय किया कि मैं इनको पूर्णरूपेण आश्वस्त नहीं कर सकता, ऐसा अपने मन में निश्चय करते हुए उसने उन सभी को दूसरा अन्य उपदेष्टा बतला दिया॥ ३॥

[उस समय कोई भी जानकार होने का दम्भ नहीं करता था। स्वयं की कमियाँ अपने प्रशंसकों के बीच भी स्वीकार करके, योग्य पुरुषों के सान्निध्य लाभ का प्रयास किया जाता था।]

तान्होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकेयः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तꣳ हन्ताभ्यागच्छामेति तꣳ हाभ्याजग्मुः॥ ४॥

तत्पश्चात् आरुणि ने उनसे कहा कि हे पूजनीय गण! इस समय केकय के पुत्र कैकेय कुमार अश्वपति इस आत्मरूप वैश्वानर को पूर्णरूपेण जानते हैं। अतः हम सब उन्हीं के पास चलें। इस प्रकार कहते हुए वे सभी श्रेष्ठ महागृहस्थ एवं परम श्रोत्रिय कैकेय कुमार (अश्वपति) के पास चले गये॥ ४॥

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयांचकार स ह प्रातःसंजिहान उवाच न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति॥ ५॥

राजा अश्वपति ने अपने पास उपस्थित हुए उन सभी श्रेष्ठ ऋषियों का अलग-अलग स्वागत-सत्कार किया। दूसरे दिन प्रातःकाल होते ही राजा अश्वपति ने उनसे कहा कि 'मेरे राज्य में न कोई चोर है, न कोई मद्यपान करने वाला है, न कोई अनाहिताग्नि है, न कोई यहाँ अल्पज्ञानी है और न ही कोई पर स्त्री गमन करने वाला है, तो कुलटा स्त्री कैसे हो सकती है। हे पूज्य ऋषियो! मैं (स्वयं) भी यज्ञ करने वाला हूँ। अतः आपसे प्रार्थना है कि हमारे यज्ञानुष्ठान तक यहीं निवास करने की कृपा करें। शास्त्राज्ञानुसार मैंने एक-एक ऋत्विक् को जितना धन प्रदान करने का संकल्प लिया है, उतना ही धन आप सभी को भी प्रदान करूँगा॥

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्तꣳहैव वदेदात्मानमेवेमं वैश्वानरꣳ संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीति॥ ६॥

वे समस्त ऋषिगण राजा अश्वपति से बोले कि 'जिस कार्य विशेष से कोई व्यक्ति कहीं प्रस्थान करता है, तो वहाँ उसे अपने उसी उद्देश्य को पूर्ण करना चाहिए'। अतः इस समय तो आप कृपा करके वैश्वानर आत्मा के सम्बन्ध में ही बताएँ॥ ६॥

तान्होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे तान्हानुपनीयैवैतदुवाच॥ ७॥

तब उन ऋषियों से राजा अश्वपति ने कहा कि 'अच्छा, मैं कल प्रातःकाल आप सभी को इसके सन्दर्भ में बताऊँगा। दूसरे दिन पूर्वाह्णकाल में वे सभी ऋषि हाथ में समिधाएँ ग्रहण किये हुए पहुँचे। उन सभी का बिना उपनयन किये ही (सुपात्र समझकर) राजा ने उन्हें वैश्वानर विज्ञान से युक्त उस विद्या को बताया॥

॥ द्वादशः खण्डः ॥

औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते॥ १॥

राजा अश्वपति ने उपमन्यु कुमार औपमन्यव से प्रश्न किया कि हे औपमन्यव ! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं? उत्तर देते हुए ऋषिकुमार प्राचीनशाल ने राजा से कहा कि हे भगवन्! मैं द्युलोक की ही उपासना करता हूँ। राजा ने कहा कि'' आप जिस आत्मा की उपासना करते हैं, वह निश्चय ही 'सुतेजा'

नाम से प्रसिद्ध श्रेष्ठ तेज युक्त वैश्वानर रूप आत्मा ही है, इसीलिए आपके कुल में सुत (अभिषुत सोम), प्रसुत (विशेषरूप से अभिषुत सोम) और आसुत (सर्वतोभावेन अभिषुत सोम) दृष्टिगोचर होते हैं, अर्थात् आपके परिवारी जन बड़े ही कर्मनिष्ठ (यज्ञनिष्ठ) हैं॥ १॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति॥ २॥

राजा अश्वपति ने इसी क्रम में आगे फिर कहा कि आप अन्न का भक्षण करते हैं और पुत्र- पौत्रादि अपने प्रिय को देखते हैं। जो भी इस वैश्वानर रूप आत्मा की इस प्रकार उपासना करते हैं, वे अन्न का भक्षण और अपने श्रेष्ठ इष्ट का दर्शन करते हुए अपने कुल में ब्रह्मतेज से युक्त होते हैं। राजा ने यह भी कहा कि 'यदि आप हमारे पास न आये होते, तो आपका मस्तक गिर जाता'॥ २॥

॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलूषिं प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते॥ १ ॥

तत्पश्चात् राजा अश्वपति ने सत्ययज्ञ से प्रश्न किया कि हे प्राचीन योग्य! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं? तब उस ऋषिकुमार ने कहा- ' हे पूज्य भगवन्! मैं आदित्य की उपासना करता हूँ। राजा ने आश्वस्त होते हुए कहा कि अवश्य ही वह विश्वरूप वैश्वानर आत्मा है, जिसकी कि आप स्वयं उपासना करते हैं। यही कारण है कि आपके वंश में पर्याप्त मात्रा में विश्वरूप साधन दृष्टिगोचर होते हैं॥ १॥

प्रवृतोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते चक्षुष्ट्वे तदात्मन इति होवाचान्धोऽभविष्यो यन्मां नागमिष्य इति॥ २॥

राजा ने कहा कि आपके पास हार से सुसज्जित दासियाँ एवं खच्चरों से जुता हुआ रथ भी विद्यमान है। आप अन्न का भक्षण और प्रिय-इष्ट का दर्शन करते हैं। ऐसे श्रेष्ठ वंश में ब्रह्मतेज का निवास रहता है, लेकिन यह आत्मा का ही चक्षु है। राजा अश्वपति ने पुनः कहा कि यदि आप मेरे पास न आये होते, तो निश्चित ही अपने दोनों नेत्रों से रहित हो जाते॥ २॥

॥ चतुर्दशः खण्डः ॥

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वां पृथग्बलय आयन्ति पृथग्रथश्रेणयोऽनुयन्ति॥ १॥

इसके बाद राजा अश्वपति ने भाल्लवेय इन्द्रद्युम्न से पूछा कि - हे वैयाघ्रपद्य! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं? उसने कहा- 'हे भगवन्! मैं वायुदेव की उपासना करता हूँ।' राजा ने पुनः कहा कि आप जिस श्रेष्ठ आत्मा की उपासना करते हैं, वह निश्चय ही पृथग्वर्त्मा (अलग-अलग मार्गों वाला आवह, उद्वह आदि भेदों से युक्त) वैश्वानर आत्मा है। इस कारण से आपके पास भिन्न-भिन्न (अन्न, वस्त्र आदि) उपहार आते हैं तथा आपके पीछे अलग-अलग रथ की श्रेणियाँ चलती हैं॥ १॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते प्राणस्त्वेष आत्मन इति होवाच प्राणस्त उदक्रमिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति॥ २॥

राजा ने उस ऋषि कुमार से कहा कि आप अन्न का भक्षण और अपने प्रिय-इष्ट का दर्शन करते हैं। जो भी कोई उचित रीति से इस वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है, वह प्रिय का दर्शन एवं अन्न का भक्षण करता है तथा उसके कुल में ब्रह्मतेज का निवास रहता है । यह आत्मा का प्राण ही है, ऐसा कहते हुए राजा अश्वपति ने कहा कि यदि आप मेरे पास न आते, तो आपका प्राण ही निकल जाता'॥ २॥

॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

अथ होवाच जनः शार्कराक्ष्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्याकाशमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै बहुल आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च॥ १॥

इसके अनन्तर राजा अश्वपति ने शार्कराक्ष के पुत्र जन से कहा- हे शार्कराक्ष्य! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं? तब उस ऋषिकुमार ने कहा- 'हे पूज्य राजन्! मैं आकाश तत्त्व की ही उपासना करता हूँ। राजा ने पुनः कहा कि यह निश्चय ही बहुल संज्ञक (विभिन्न संज्ञाओं से युक्त) वैश्वानर आत्मा है। इसी से आप पुत्र -पौत्रादि के रूप में प्रजा और स्वर्णादि धन से परिपूर्ण हैं॥ १॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते संदेहस्त्वेष आत्मन इति होवाच संदेहस्ते व्यशीर्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥

राजा ने फिर कहा कि आप अन्न का भक्षण और अपने प्रिय अर्थात् इष्ट का दर्शन करते हैं। जो इस वैश्वानर आत्मा की इस भाँति से उपासना करता है, वह अन्न का भक्षण एवं प्रिय का दर्शन करता है और उसके कुल में ब्रह्मतेज का निवास होता है। यह आत्मा का उदर (शरीर का मध्य भाग) ही है। आगे राजा अश्वपति ने यह भी कहा कि 'यदि आप मेरे पास न आते, तो आपका संदेह (शरीर का मध्य भाग अर्थात् उदर) ही नष्ट हो जाता'॥ २॥

॥ षोडशः खण्डः ॥

अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्विं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यप एव भगवो राजन्निति होवाचैष वै रयिरात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वः रयिमान्पुष्टिमानसि॥ १॥

इसके पश्चात् राजा अश्वपति ने बुडिल से प्रश्न किया कि हे वैयाघ्रपद्य! आप किस आत्मा की उपासना करते हैं? तब उन ऋषि कुमार ने कहा- हे पूज्य भगवन्! मैं तो जल तत्त्व की उपासना करता हूँ। राजा ने पुनः कहा कि 'आप जिस जल तत्त्व की उपासना करते हैं, वह निश्चय ही रयिवान् (धनवान्) वैश्वानर आत्मा है। इसी कारण आप (धनवान्) रयिमान् एवं पुष्टिमान् हैं॥ १॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते बस्तिस्त्वेष आत्मन इति होवाच बस्तिस्ते व्यभेत्स्यद्यन्मां नागमिष्य इति॥

आप अन्न का भक्षण एवं प्रिय (इष्ट) का दर्शन करते हैं। जो मनुष्य इस वैश्वानर रूप आत्मा की उपासना इस तरह से करता है, वह अन्न का भक्षण एवं प्रिय का दर्शन करता है। उसके कुटुम्ब में ब्रह्मतेज का सान्निध्य होता है, किन्तु यह आत्मा का बस्ति (मूत्राशय) ही है। राजा अश्वपति ने यह भी कहा कि 'यदि आप हमारे पास न आते, तो आपका बस्ति स्थान (मत्राशय)ही फटकर नष्ट हो जाता'॥२॥

॥ सप्तदशः खण्डः ॥

अथ होवाचोद्दालकमारुणिं गौतम कं त्वमात्मानमुपास्स इति पृथिवीमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥ १ ॥

तदनन्तर राजा अश्वपति ने अरुण के पुत्र उद्दालक से प्रश्न किया कि 'हे गौतम! आपने किस आत्मा की उपासना की है'? तब उन ऋषिकुमार ने उत्तर दिया कि हे राजन्! मैं पृथ्वी तत्त्व की उपासना करता हूँ। राजा ने फिर कहा कि आप जिस तत्त्व की उपासना करते हैं, वह निश्चय ही प्रतिष्ठा संज्ञक (पगरूप) वैश्वानर आत्मा है। इसकी कृपा से आपको प्रजा एवं पशुओं की प्राप्ति हुई ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते पादौ त्वेतावात्मन इति होवाच पादौ ते व्यम्लास्येतां यन्मां नागमिष्य इति ॥

राजा ने कहा कि हे ऋषि कुमार ! आप अन्न का भक्षण करते हैं और प्रिय (इष्ट) का दर्शन करते हैं। आत्मा रूप वैश्वानर की जो इस भाँति उपासना करता है। वह अन्न का भक्षण और प्रिय का दर्शन करता है। उसके कुल में ब्रह्मतेज भी रहता है, किन्तु यह आत्मा के चरण ही हैं, इस प्रकार अश्वपति ने कहते हुए आगे यह भी कहा- यदि आप मेरे समक्ष न आते, तो आपके चरण अत्यन्त निष्क्रिय हो जाते ॥ २ ॥

॥ अष्टादशः खण्डः ॥

तान्होवाचैते वै खलु यूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वाꣳसोऽन्नमत्थ यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ॥ १ ॥

राजा अश्वपति ने उन सभी ऋषि कुमारों को संबोधित करते हुए कहा कि आप सभी इस वैश्वानर स्वरूप आत्मा को पृथक्-पृथक् जानते हुए अन्न खाते हैं। जो भी मनुष्य 'यही मैं हूँ' इस प्रकार अपने अहं का हेतु होने वाले इस प्रादेश मात्र (अर्थात् द्यु मूर्धा से लेकर पृथ्वी पाद पर्यन्त) अर्थात् वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है, वह सभी लोकों में, सभी प्राणियों में और सभी आत्माओं में अन्न का भक्षण करता है॥ १ ॥

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥ २ ॥

आगे राजा ने कहा कि इस वैश्वानर आत्मा का मस्तक ही द्युलोक है, नेत्र ही सूर्य है, प्राण ही वायु है, शरीर के बीच का भाग ही आकाश है, बस्ति ही जल है, पृथ्वी ही दोनों पैर हैं, वक्ष ही वेदी है, रोमकूप ही दर्भ (कुश) हैं, हृदय ही गार्हपत्याग्नि है, मन ही दक्षिणाग्नि है और मुँह ही आहवनीय अग्नि के समान है, क्योंकि इसी में अन्न का हवन होता है॥ २ ॥

[ऋषि पुत्र विराट् वैश्वानर के एक -एक अंग की ही उपासना करते थे। किसी एक अंग में स्थित आत्मा की उपासना से आत्म तत्त्व की अनुभूति तो की जा सकती है, किन्तु उसे वहीं तक सीमित नहीं रखा जा सकता। उस विराट् को यदि किसी अंग में सीमित करने की भूल की जायेगी, तो वह विराट् अपने सतत प्रवाह को बनाए रखने के लिए उस अंग विशेष को क्षति पहुँचा सकता है। इसीलिए राजा अश्वपति द्वारा ऋषि पुत्रों के अंग- विशेषों की हानि की संभावना व्यक्त की गयी थी।]

॥ एकोनविंशः खण्डः ॥

तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयꣳस यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति॥ १॥

इस प्रकार जो पक्वान्न (पकाया हुआ भोजन) भोजनार्थ सर्वप्रथम आये, उससे यज्ञ करना चाहिए। वह प्रथम आहुति जो "प्राणाय स्वाहा" मन्त्र के साथ समर्पित की जाती है, उससे प्राण तृप्त होता है॥ १॥

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि तृप्यन्त्यां यत्किंच द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति॥ २॥

प्राण के तृप्त होते ही चक्षु तृप्त होते हैं, चक्षुओं के तृप्त होने पर सूर्य तृप्त होता है, सूर्य के तृप्त होते ही द्युलोक तृप्त होता है। द्युलोक के तृप्त होते ही जिस किसी पर द्युलोक और आदित्य (स्वामिभाव से) प्रतिष्ठित हैं, वह भी तृप्त होता है। उसके तृप्त होने पर स्वयं भोजन करने वाला प्रजा; पशु, अन्न आदि के साथ तेज (शारीरिक) कान्ति और ब्रह्मतेज (ज्ञानजन्य तेज) द्वारा तृप्त होता है॥ २॥

॥ विंशः खण्डः ॥

अथ यां द्वितीयां जुहुयात्तां जुहुयाद्व्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति॥ १॥

इसके पश्चात् जो दूसरी आहुति समर्पित की जाए, उस समय 'व्यानाय स्वाहा' मंत्र का उच्चारण करना चाहिए। इस प्रकार से व्यान को तृप्ति प्राप्त होती है॥ १॥

व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यन्ति दिक्षु तृप्यन्तीषु यत्किंच दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति॥ २॥

व्यान के तृप्त होते ही कर्णेन्द्रिय तृप्त होती है, श्रोत्र के तृप्त होने पर चन्द्रमा तृप्त होता है, चन्द्रमा के तृप्त होने पर दिशाएँ एवं दिशाओं के तृप्त होने पर जिस किसी पर चन्द्रमा एवं दिशाएँ (स्वामिभाव से) स्थित हैं, वह निश्चय ही तृप्त होता है। उसकी तृप्ति के बाद वह भोक्ता (भोजन करने वाला) प्रजा, पशु, अन्न आदि के साथ तेज एवं ब्रह्मतेज द्वारा तृप्ति को प्राप्त करता है॥ २॥

॥ एकविंशः खण्डः ॥

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयादपानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति॥ १॥

तत्पश्चात् तृतीय आहुति 'अपानाय स्वाहा' मंत्र के साथ देनी चाहिए। इससे अपान तृप्त होता है॥ १॥

अपाने तृप्यति वाक्तृप्यति वाचि तृप्यन्त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथिव्यां तृप्यन्त्यां यत्किंच पृथिवी चाग्निश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति॥ २॥

'अपान' के तृप्त होते ही वागिन्द्रिय तृप्ति को प्राप्त होती है, वाणी के तृप्त होने पर अग्नि को तृप्ति मिलती है, अग्नि के तृप्त होते ही पृथ्वी को तृप्ति प्राप्त होती है एवं पृथ्वी के तृप्त होने पर जिस किसी पर पृथिवी और अग्नि (स्वामिभाव से) स्थित हैं, वह तृप्त होता है, तत्पश्चात् प्रजा, पशु, अन्न, तेज और ब्रह्मतेज के द्वारा तृप्ति को प्राप्त करता है॥ २॥

॥ द्वाविंशः खण्डः ॥

अथ यां चतुर्थीं जुहुयात्तां जुहुयात्समानाय स्वाहेति समानस्तृप्यति॥ १॥

तत्पश्चात् चतुर्थ आहुति 'समानाय स्वाहा' मन्त्र के साथ देनी चाहिए। इससे 'समान' तृप्त होता है॥

समाने तृप्यति मनस्तृप्यति मनसि तृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति विद्युति तृप्यन्त्यां यत्किंच विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति॥ २॥

समान के तृप्त होते ही मन को तृप्ति मिलती है, मन के तृप्त होते ही पर्जन्य तृप्त होता है और पर्जन्य के तृप्त होने पर विद्युत् को तृप्ति प्राप्त होती है। विद्युत् के तृप्त होने पर वह स्वयं भी तृप्त हो जाता है, जिस पर पर्जन्य एवं विद्युत् आश्रित हैं। उसकी तृप्ति के पश्चात् प्रजा, पशु, अन्न के साथ तेज एवं ब्रह्मतेज द्वारा उपभोग करने वाला (भोक्ता) भी तृप्त हो जाता है॥ २॥

॥ त्रयोविंशः खण्डः ॥

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्तां जुहुयादुदानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति॥ १॥

तदनन्तर पाँचवीं आहुति समर्पित की जाए। यह आहुति 'उदानाय स्वाहा' मंत्र से देनी चाहिए। इस प्रकार के यजन कृत्य से उदान तृप्त होता है॥ १॥

उदाने तृप्यति त्वक् तृप्यति त्वचि तृप्यन्त्यां वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यत्याकाश-स्तृप्यत्याकाशे तृप्यति यत्किंच वायुश्चाकाशश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति॥ २॥

तदनन्तर उदान के तृप्त होने से त्वचा की तृप्ति होती है, त्वचा के तृप्त होने से वायु तृप्त होता है, वायु के तृप्त होने पर आकाश को तृप्ति मिलती है और आकाश के तृप्त होने से जिस किसी पर वायु और आकाश (स्वामिभाव से) स्थित होते हैं, वह निश्चय ही तृप्त हो जाता है। उसके तृप्त होने पर वह स्वयं भोक्ता (भोजन करने वाला) प्रजा, पशु, अन्न, तेज और ब्रह्मतेज द्वारा तृप्त हो जाता है॥ २॥

॥ चतुर्विंशः खण्डः ॥

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक्तत्स्यात्॥ १॥

जो कोई इस उपर्युक्त वैश्वानर विद्या को बिना जाने ही यजन कृत्य करता है, उसके द्वारा किया हुआ यजन कृत्य ठीक उसी प्रकार है, जैसे कि आग के अंगारों को हटाकर भस्म में किया गया यज्ञ कार्य॥ १॥

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति॥ २॥

उपर्युक्त बताये हुए क्रम के अनुसार जो इस वैश्वानर विद्या को भली-भाँति जानकर यज्ञ कार्य (अग्निहोत्र) सम्पन्न करता है, उसके द्वारा सभी लोक, समस्त प्राणिसमुदाय एवं सम्पूर्ण आत्माओं के निमित्त यजन कार्य सम्पन्न हो जाता है॥ २॥

तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवꣳहास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति॥ ३॥

इस सन्दर्भ में यह उल्लेख भी है कि जिस तरह सींक का अग्रभाग अग्नि में प्रवेश करा देने से अतिशीघ्र जल जाता है, ठीक उसी तरह से जो यजमान इस भाँति जानने में समर्थ होकर यज्ञ कृत्य सम्पन्न करता है, उसके सभी प्रकार के पाप जलकर नष्ट हो जाते हैं॥ ३॥

तस्मादु हैवंविद्यद्यपि चण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतꣳस्यादिति तदेष श्लोकः ॥ ४॥

इस विद्या का जानकार यदि भोजन से उच्छिष्ट (बचा हुआ) पदार्थ चाण्डाल को दे, तो वह कृत्य आत्मा रूप वैश्वानर में यज्ञ करने के समान है। प्रस्तुत विषय में यह मन्त्र कहा गया है॥ ४॥

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते। एवꣳसर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासत इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ॥ ५॥

जिस भाँति इस संसार में क्षुधित बालक सब प्रकार से माँ की उपासना (प्रतीक्षा) करते हैं। ठीक उसी भाँति संसार के समस्त प्राणि-समुदाय इस ज्ञानी के हव्य रूप यजन कृत्य की उपासना करते हैं॥ ५॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

पाँचवें अध्याय में यह बताया गया है कि अग्निहोत्र के यथार्थ स्वरूप की जानकारी रखने वाले एक विशेषज्ञ के कार्य से सभी प्राणि-समुदाय तृप्त हो जाते हैं; किन्तु ऐसी सम्भावना तभी की जा सकती है, जब समस्त प्राणियों में एक ही आत्मा का आधिपत्य स्थापित हो। प्रस्तुत विषय का विस्तार से इस छठे अध्याय में उल्लेख किया गया है-

श्वेतकेतुर्हारुणेय आस तꣳह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यम्। न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति॥ १॥

अरुण के पौत्र श्वेतकेतु को उसके पिता (उद्दालक) ने ब्रह्मचर्य के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए उसे ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश की अनुमति प्रदान की। उसके पिता ने उसे संबोधित करते हुए कहा कि हमारे वंश में जन्म लेने वाला कोई भी बालक ब्रह्म विद्या के अध्ययन के बिना ब्रह्मबन्धु की भाँति नहीं होता॥

[ब्रह्म बन्धु उसे कहते हैं, जो ब्राह्मणों जैसा आचरण नहीं कर पाता; किन्तु उनसे सम्बद्ध होता है। ऋषि के कथन का भाव है कि उनके कुल में सभी आचरण निष्ठ ब्रह्मज्ञ होते हैं।]

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विꣳशतिवर्षः सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय तꣳह पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः॥

इस प्रकार से उसके पिता द्वारा उपदेश दिये जाने पर श्वेतकेतु ने मात्र १२ वर्ष की उम्र में ही अपने आचार्य के सान्निध्य में उपस्थित रहकर २४ वर्ष की उम्र तक वेदों का अध्ययन-अनुशीलन किया। तत्पश्चात् वह स्वयं को बड़ा अध्ययनरत एवं विद्वान् अनुभव करते हुए स्वाभिमान के साथ पिता के सामने उपस्थित हुआ। पिता ने विपरीत स्वभाव वाले उद्दण्ड श्वेतकेतु से कहा- "क्या तुमने अपने आचार्य से परब्रह्म का उपदेश (ज्ञान) प्राप्त कर लिया है।"॥ २॥

येनाश्रुतꣳश्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति। कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ॥ ३॥

श्वेतकेतु के पिता उद्दालक ने पुनः उससे पूछा कि जिसके द्वारा अश्रुत (न सुना हुआ) श्रुत (सुना हुआ) हो जाता है, तर्क न करने वाला तर्क की विद्या में पारंगत हो जाता है; अविज्ञात (रहस्य से युक्त) विशेष रूप से ज्ञात हो जाता है, क्या यह सभी उपदेश तुम्हारे आचार्य ने तुम्हें प्रदान किए हैं। यह सुनकर श्वेतकेतु ने पूछा- भगवन्! यह उपदेश कैसा है?॥ ३॥

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातꣳस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥ ४॥

उसके पिता ने पुनः कहा - हे सोम्य ! जिस प्रकार एक मृत्तिका पिण्ड से समस्त मिट्टी के बने हुए पदार्थों का बोध हो जाता है। वस्तुतः विभिन्न प्रकार के नाम तो केवल वाणी के ही विकार हैं। सत्य तो केवल एक मृत्तिका ही है॥ ४॥

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣳस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ॥ ५॥

उन्होंने कहा- हे सोम्य! जैसे एक सुवर्ण पिण्ड द्वारा दूसरे अन्य सुवर्ण के पदार्थों (आभूषणों) का विशेष ज्ञान प्राप्त हो जाता है, क्योंकि विकार तो केवल वाणी के आश्रित नाम मात्र ही हैं, सुवर्ण ही एक मात्र सत्य है॥ ५॥

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातꣳ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यमेवꣳ सोम्य स आदेशो भवतीति ॥ ६॥

हे सोम्य! जिस तरह एक नख कर्तन करने वाली लोहे की नहनी के ज्ञान से समस्त लौह पदार्थों को भली-भाँति जान लिया जाता है। विकार (नाम) तो वाणी के निमित्त विषय हैं, सत्य तो केवल एक लोहा ही है॥ ६॥

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवाꣳस्त्वेवमेतद्ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ७॥

अपने पिता के इस प्रकार के वचनों को सुन कर श्वेतकेतु ने कहा- हे भगवन्! वे मेरे पूज्य गुरुदेव इस ज्ञान को निश्चित ही नहीं जानते। यदि वे जानते, तो मुझसे क्यों न कहते। अतः हे भगवन्! आप ही इसका उपदेश करें। तब उद्दालक ने कहा- ' अच्छा सोम्य! मैं तुम्हें बतलाता हूँ'॥ ७॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेक-मेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत॥ १॥

उद्दालक ने श्वेतकेतु को उपदेश करते हुए कहा- हे प्रिय सोम्य! प्रारम्भ में एक मात्र अद्वितीय सत् ही था। उसके संदर्भ में कुछ लोग इस प्रकार कहते हैं कि आरम्भ में मात्र अद्वितीय असत् ही था और उस असत् से ही सत् की उत्पत्ति हुई॥ १॥

कुतस्तु खलु सोम्यैव ꣳ स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥ २॥

उद्दालक ने कहा- हे सोम्य! परन्तु यह कैसे हो सकता है? असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? हे सोम्य! वास्तव में प्रारम्भिक अवस्था में यह एक मात्र अद्वितीय सत् ही था॥ २॥

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत। तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत। तस्माद्यत्र क्वच शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते॥ ३॥

आगे उसके पिता ने कहा- "उस (सत्) ने संकल्प किया कि मैं विभिन्न रूपों में उत्पन्न हो जाऊँ।" इस प्रकार इच्छा करते ही उस (सत्) से तेज की उत्पत्ति हुई। तत्पश्चात् उस तेज ने संकल्प किया कि 'मैं भी बहुत हो जाऊँ।" ऐसा संकल्प लेते ही उस (तेज) ने अप् तत्त्व (जल) की रचना की । अत: जब किसी को सन्ताप होता है, तो पसीना आ जाता है। उस समय उस तेज से ही जल की उत्पत्ति हो जाती है॥ ३॥

ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त। तस्माद्यत्र क्वच वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते ॥ ४ ॥

तदनन्तर उस आप: (जल) ने अपनी इच्छा व्यक्त की "मैं बहुत होकर उत्पन्न हो जाऊँ।" उस (जल) ने पृथ्वी रूपी अन्न की रचना की । इस कारण से जहाँ- कहीं वर्षा होती है, वहीं बहुत से अन्न की उत्पत्ति होती है। अत: विभिन्न प्रकार के अन्न जल से ही उत्पन्न होते हैं॥ ४॥

[ऋषि पहले (अध्याय ५ में) स्पष्ट कर चुके हैं कि सृष्टि सृजनक्रम में पहली आहुति द्युलोक में हुई। सत् तेज बना- द्युलोक तेजस् का ही लोक कहा गया है। इस सृजन संकल्प युक्त तेजस् को ही वेद ने हिरण्यगर्भ कहा है। संकल्प पूर्वक उस तेजस् के विभाजन से अप् तत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ। इसे वेद ने सृष्टि का मूल क्रियाशील प्रवाह माना है। जिसे द्युलोक का जल भी कह सकते हैं। इस अप् प्रवाह के संकल्प से अति सूक्ष्म पदार्थ कण (सब एटामिक पार्टिकल्स) बने, जिन्हें द्युलोक का पृथ्वी तत्त्व कह सकते हैं। दूसरे चरण में तेजस् सूर्यादि के रूप में व्यक्त हुआ। उस तेजस् के अप् तत्त्व में संघात से अन्तरिक्ष में परमाणु कणों और जल की उत्पत्ति हुई। उस जल और सूक्ष्म कणों के संयोग से स्थूल कणों के रूप में पृथ्वी तत्त्व बना। ऋषि दोनों चरणों की प्रक्रिया देखते हैं, इसलिए उनके कथन में, तेज, अप्, पृथ्वी आदि के सूक्ष्म-स्थूल, दृश्य-अदृश्य दोनों भाव मिले हुए हैं। उसी दृष्टि से उनके कथन का अर्थ स्पष्ट हो सकता है।]

॥ तृतीयः खण्डः ॥

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति ॥ १॥

(तदनन्तर उद्दालक ने सृष्टि क्रम समझाते हुए श्वेतकेतु से और स्पष्ट करते हुए कहा-) इन ख्याति प्राप्त प्राणियों के तीन ही बीज अण्डज, जरायुज और उद्भिज्ज होते हैं॥ १॥

सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति॥ २॥

उस (सत्रूपी) देवता ने अपनी प्रचण्ड इच्छाशक्ति के माध्यम से संकल्प किया कि मैं इस "जीवात्मरूप से" इन तीनों (तेज, अप् एवं पृथ्वी) देवताओं में अनुप्रवेश कर नाम एवं उसके रूप को प्रकट करूँ॥ २॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्त्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ॥ ३॥

और उन सभी में से एक-एक देवता को त्रिवृत् अर्थात् तीन-तीन भागों में विभाजित करूँ। इस प्रकार का संकल्प करते हुए इस देवता ने जीवात्मरूप से उन तीनों देवों में प्रवेश करते हुए उनके नाम एवं रूप को स्पष्ट किया॥ ३॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥ ४॥

उस देवता ने उन सभी में से हर एक को अलग-अलग त्रिवृत् अर्थात् तीन भागों में किया। हे पुत्र! जिस प्रकार ये तीनों देवता एक-एक करके (हर एक) त्रिवृत् (कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल रूप) हैं, वह मैं जानता हूँ॥ ४॥

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

यदग्ने रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ १॥

तीन प्रकार से अलग-अलग की हुई अग्नि का जो रोहित (लाल) वर्ण है, वह तेज प्रकाश का ही रूप है। जो श्वेत वर्ण है, वह जल तत्त्व का रूप है और जो कृष्ण वर्ण है, वह अन्न तत्त्व का रूप है। इस भाँति अग्नि से अग्नित्व पृथक् हो गया, क्योंकि 'अग्नि' शब्द तो मात्र विकार वाणी से कहने के लिए नाम मात्र है। सत्य तो मात्र तीन रूप ही हैं॥ १॥

यदादित्यस्य रोहितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादादित्यादादित्यत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ २॥

आदित्य का जो रोहित (लालिमा युक्त) वर्ण है, वह प्रकाश का ही रूप है, जो शुक्ल वर्ण है, वह जल तत्त्व का रूप है और जो कृष्ण वर्ण है,वह अन्न (पृथ्वी) का रूप है। अतः आदित्य से आदित्यत्व अलग हो गया, क्योंकि आदित्य रूप विकार वाणी पर आश्रित नाम मात्र है, मात्र तीन रूप ही सत्य स्वरूप हैं॥ २॥

यच्चन्द्रमसो रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ३॥

चन्द्रमा में जो रोहित वर्ण है, वह प्रकाश का रूप है, जो श्वेत वर्ण है, वह जल का है और जो कृष्ण वर्ण है, वह अन्न (पृथ्वी) का रूप है। इस तरह चन्द्रमा चन्द्रत्व से निवृत्त हो गया। अतः विकार वाणी पर आश्रित नाम मात्र ही है, सत्य तो मात्र केवल तीन रूप ही हैं॥ ३॥

यद्विद्युतो रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाद्विद्युतो विद्युत्त्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥ ४ ॥

विद्युत् का जो लाल वर्ण है, वह एक मात्र तेज (प्रकाश) का ही रूप है। जो शुक्ल वर्ण है, वह जल का स्वरूप है और जो काला वर्ण है वह अन्न (पृथ्वी) का रूप है। इसलिए विद्युत् से विद्युत्त्व अलग हो गया, क्योंकि विद्युत् रूप विकार वाणी पर आश्रित नाम मात्र ही है, तीन रूप ही केवल सत्य हैं॥ ४॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वाꣳस आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति ह्येभ्यो विदांचक्रुः ॥ ५॥

इस प्रकार (त्रिवृत् के वर्गीकरण) का ज्ञान रखने वाले अतीतकालीन महागृहस्थ और महाश्रोत्रियों ने कहा कि वर्तमान काल में हमारे वंश में कोई बात अश्रुत और अविज्ञात है- ऐसा कोई भी नहीं कहेगा। अतः इन अग्नि आदि तत्त्वों के उदाहरण द्वारा वे लोग सभी कुछ जानते थे॥ ५॥

यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुर्यदु शुक्लमिवाभूदित्यपाꣳ रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुर्यदु कृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदांचक्रुः ॥ ६॥

जो कुछ उन्हें रोहित सा (लाल रंग की भाँति) प्रतीत होता है, वह तेज का ही रूप है, जो कुछ शुक्ल सा प्रतीत होता है, वह जल का रूप है तथा जो काला रंग है, वह अन्न (पृथ्वी) का रूप है, ऐसे सभी रूपों की जानकारी उन्होंने प्राप्त की ॥ ६ ॥

यद्विज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानाꣳ समास इति तद्विदांचक्रुर्यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्त्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥ ७॥

इसके अतिरिक्त जो कुछ भी विशेष रूप से स्वीकार नहीं किया गया, वह भी इन तीनों देवों का ही समूह है, ऐसी जानकारी उन्होंने प्राप्त की। उद्दालक ने कहा- हे सोम्य! मेरे द्वारा यह जानो, कि किस प्रकार ये तीनों देवता शरीर एवं इन्द्रियों के संघात रूप पुरुषत्व को प्राप्त करके तीन प्रकार से पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। (यह क्रम अगले खण्ड में स्पष्ट किया गया है।) ॥ ७॥

॥ पञ्चमः खण्डः ॥

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्माꣳसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥ १ ॥

जो अन्न भोजन के रूप में ग्रहण किया जाता है, वह तीन भागों में बँट जाता है। उस अन्न का जो स्थूलतम पदार्थ है, वह मल रूप में परिवर्तित हो जाता है, जो मध्यम अंश है, वह रसादि से युक्त होकर मांस के रूप में परिवर्तित हो जाता है और जो अति सूक्ष्म है, वह मन के रूप में परिणत हो जाता है ॥१ ॥

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः ॥ २ ॥

जो जल ग्रहण किया जाता है, वह तीन प्रकार से विभक्त हो जाता है। उस (जल) का स्थूल भाग मूत्र बनता है, मध्यम अंश रक्त के रूप में परिवर्तित हो जाता है और सूक्ष्म अंश प्राण बन जाता है॥ २ ॥

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक् ॥ ३॥

जो तेज ग्रहण किया जाता है, वह भी तीन रूपों में विभाजित हो जाता है। उस (तेज) का स्थूल भाग हड्डी के रूप में, मध्यम भाग मज्जा के रूप में और अत्यन्त सूक्ष्म अंश वाणी के रूप में परिणत हो जाता है॥

अन्नमयꣳ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ४॥

उद्दालक ने पुनः कहा- 'हे सोम्य! अन्न का कार्य मन, जल का कार्य प्राण और तेज का कार्य वाणी है।' श्वेतकेतु ने कहा- 'हे भगवन्! आप कृपा करके यह बात पुनः स्पष्ट करने की कृपा करें।' तब उद्दालक ने फिर से मार्गदर्शन देने हेतु उसे आश्वस्त किया॥ ४॥

॥ षष्ठः खण्डः ॥

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्भवति ॥ १ ॥

श्वेतकेतु के पिता उद्दालक ने पुनः कहा- हे सोम्य! दही को मथने के पश्चात् उसका जो सूक्ष्म भाग एकत्रित होता है, वही ऊर्ध्व की ओर गमन करते हुए घृत के रूप में परिणत होता है॥ १ ॥

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति॥ २॥

हे सोम्य! ठीक इसी तरह अन्न को पूर्ण रूप से ग्रहण करने के पश्चात् उसका जो सूक्ष्मतम भाग एकत्रित होता है, वही ऊर्ध्व की ओर गमन करते हुए मन रूप में परिणत होता है॥ २॥

अपाꣳ सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति॥ ३॥

हे सोम्य! पान किये हुए जल का जो सूक्ष्मतम भाग है, वही ऊपर आकर एकत्रित होता है। तत्पश्चात् वही ऊपर आया हुआ भाग प्राण तत्त्व के रूप में परिवर्तित हो जाता है॥ ३॥

तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति ॥ ४॥

हे सोम्य ! इसी प्रकार ग्रहण किये हुए तेज का सूक्ष्मतम भाग सार रूप से ऊपर आ जाता है, वही वाणी के रूप में प्रकट होता है॥ ४॥

अन्नमयꣳहि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ५॥

इस प्रकार उद्दालक ने श्वेतकेतु से कहा- हे प्रिय सोम्य! मन अन्न के रूप में, प्राण जल के रूप में और वाणी तेजोमय रूप में है। तदनन्तर ऐसा श्रवण करते हुए श्वेतकेतु ने पुनः निवेदन किया-हे भगवन्! कृपया आप मुझे पुनःसमझाने की कृपा करें। इस पर उसके पिता ने बताने का पुनः आश्वासन दिया॥ ५॥

॥ सप्तमः खण्डः ॥

षोडशकलः सोम्य पुरुषः पञ्चदशाहानि माशीः काममपः पिबापोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति॥ १॥

(उद्दालक ने कहा)- हे सोम्य! यह मनुष्य सोलह कलाओं से युक्त है। इसलिए तुम पन्द्रह दिन तक भोजन न ग्रहण करते हुए इच्छानुसार मात्र जल का ही सेवन करो। चूँकि प्राण, जल रूप है, अतः मात्र जल के सेवन से उस (प्राण) का नाश नहीं होगा॥ १॥

स ह पञ्चदशाहानि नाशाथ हैनमुपससाद किं ब्रवीमि भो इत्यृचः सोम्य यजूꣳषि सामानीति स होवाच न वै मा प्रतिभान्ति भो इति॥ २॥

तदनन्तर श्वेतकेतु ने पंद्रह दिन तक भोजन नहीं ग्रहण किया। इसके बाद वह अपने पिता के समीप आकर बोला- हे भगवन्! मैं क्या करूँ। तब उसके पिता आरुणि ने कहा- हे सोम्य! तुम ऋक्, यजुः और साम के मन्त्रों का उच्चारण करो । उसने कहा-भगवन्! मेरे मन में उन सभी की प्रतीति नहीं हो रही है॥२॥

तꣳ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात्तेन ततोऽपि न बहु दहेदेवꣳसोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टा स्यात्तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्यशानाथ मे विज्ञास्यसीति॥ ३॥

तब उद्दालक ने कहा - हे सोम्य! जैसे पर्याप्त परिमाण में ईंधन के प्रज्वलित होने पर आग का खद्योत के समान एक छोटा सा अंगारा शेष रह जाए, तो वह अधिक गर्मी नहीं प्रदान कर सकता। वैसे ही तुम्हारी षोडश (सोलह) कलाओं में से मात्र एक ही कला शेष है। इसलिए मात्र एक कला से तुम वेद का अध्ययन-अनुशीलन नहीं कर सकते हो। अतः अब तुम भोजन ग्रहण करो, तभी तुम्हारी समझ में आयेगा॥ ३॥

स हाशाथ हैनमुपससाद तꣳह यत्किञ्च पप्रच्छ सर्वꣳह प्रतिपेदे॥ ४॥

तत्पश्चात् श्वेतकेतु ने अपने पिता के कहने पर भोजन ग्रहण किया। भोजन करने के उपरान्त वह अपने पिता के पास उपस्थित हुआ। पिता ने जो भी पूछा, उसे सब कुछ स्मरण हो गया॥ ४॥

तꣳहोवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तृणैरुपसमाधाय प्राज्वलयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेत्॥ ५॥

तदनन्तर आरुणि ने कहा- 'हे सोम्य! जब विशाल अग्नि शान्त हो जाए और उसका एक छोटा सा अंगारा मात्र शेष रह जाए, उस समय बचे हुए अंगारे पर तृण रखकर उसे धीरे-धीरे सुलगाया जाए, तो वह पहले की तरह ही सबको प्रज्वलित कर सकता है'॥ ५॥

एवꣳ सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टाभूत्सान्नेनोपसमाहिता प्राज्वालीत्तयैतर्हि वेदाननुभवस्यन्नमयꣳहि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति॥ ६॥

वैसे ही हे प्रिय सोम्य! तुम्हारी सोलह कलाओं में से एक ही कला शेष रह गयी थी। तत्पश्चात् वह अन्न द्वारा पुनः प्रज्वलित हो गई। उसी के माध्यम से तुम वेदों को जानने में समर्थ हो सके। हे प्रिय सोम्य! इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि मन अन्न रूप है, प्राण जल रूप है और वाणी तेज स्वरूप है । इस प्रकार श्वेतकेतु ने अपने पिता द्वारा कहे हुए उपदेश पूर्णरूपेण आत्मसात् कर लिये॥ ६॥

॥ अष्टमः खण्डः॥

उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनꣳ स्वपितीत्याचक्षते स्वꣳ ह्यपीतो भवति॥ १॥

अरुण के पुत्र आरुणि जो उद्दालक के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन्होंने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा- हे सोम्य! तुम हमारे द्वारा बताये गये स्वप्न के स्वरूप को ठीक प्रकार समझ लो। जिस अवस्था में यह पुरुष शयन करता है, ऐसा कहा जाता है कि उस समय सत् से युक्त हो जाता है, अर्थात् अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। इसलिए इसको 'स्वपित' कहा जाता है, क्योंकि उस समय यह स्व अर्थात् अपने आप को ही प्राप्त कर लेता॥ १॥

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनꣳ हि सोम्य मन इति॥ २॥

हे सोम्य! जैसे कोई शकुनि (बाज पक्षी) सूत्र में बँधने के बाद चतुर्दिक् उड़ते हुए कहीं आश्रय न प्राप्त कर अपने ही बन्धन के स्थान पर आ जाता है। ठीक वैसे ही , यह मन भी हर दिशा का भ्रमण करके कहीं भी अपना विश्रामालय न पाकर प्राण का ही अवलम्बन ग्रहण करता है। इसलिए हे सोम्य! यह मन, प्राण रूप बन्धन वाला है॥ २॥

अशनापिपासे मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नामाप एव तदशितं नयन्ते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितꣳ सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति॥ ३॥

आरुणि ने कहा- 'हे सोम्य! अब तुम क्षुधा और पिपासा के रहस्य को समझो'। जिस समय पुरुष भोजन ग्रहण करने की इच्छा करता है, उस समय खाये हुए भोजन (अन्न) को जल ही ले जाता है। जैसे गौ ले जाने वाले को गोनाय, अश्व ले जाने वाला अश्वनाय और पुरुष को ले जाने वाले राजा को पुरुषनाय कहते हैं। ठीक वैसे ही जल को भोजन (अशन) ले जाने के कारण 'अशनाय' कहकर बुलाते हैं। हे प्रिय सोम्य! उस जल के द्वारा ही तुम इस शरीर रूपी अङ्कुर को प्रकट हुआ समझो॥ ३॥

तस्य क्व मूलꣳ स्यादन्यत्रान्नादेवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः॥ ४॥

अन्न के अतिरिक्त इस शरीर का मूल और क्या है? हे सोम्य! तुम तेज को अन्न रूप कर्म का मूल समझो। तेजरूपी कार्य का मूल सत् तत्त्व को जानो। इस प्रकार से ये समस्त प्राणी सत् रूप मूल वाले ही हैं अर्थात् सत् ही एक मात्र आश्रय तथा प्रतिष्ठा है॥ ४॥

अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम तेज एव तत्पीतं नयते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज आचष्ट उदन्येति तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितꣳ सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति॥ ५॥

जब मनुष्य पिपासित (प्यासा) होकर जल ग्रहण करता है, तब उस (जल) को तेज ही अन्दर ले जाता है। अतः जैसे 'गोनाय', 'अशनाय', 'पुरुषनाय' कहे गये हैं, ठीक वैसे ही तेज को उस समय जल को ले जाने वाला कहते हैं। हे सोम्य! इस कारण से इस शरीर को जलरूपी मूल से प्रकट हुआ समझो, क्योंकि बिना क्रिया के प्रतिक्रिया नहीं हो सकती॥ ५॥

[शरीर की चयापचय प्रक्रिया (मैटाबालिज्म) में शरीर के प्रत्येक कोश तक अन्न को जल तथा जल को काय विद्युत् (बायो इलैक्ट्रीसिटी) द्वारा संचरित किये जाने का तथ्य वर्तमान शरीर विज्ञान स्वीकार कर चुका है। उसी प्रक्रिया को ऋषि अपने ढंग से समझा रहे हैं।]

तस्य क्व मूलꣳ स्यादन्यत्राद्भ्योऽद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्॥ ६॥

हे प्रिय सोम्य! जल द्वारा प्रकट हुए शरीर का मूल स्थान कहाँ हो सकता है? जल का मूल तेज में और तेज का मूल सत् में होता है। ये सभी प्राणी सत् रूपी मूल वाले, सत् रूपी उद्गम स्थल वाले और सत् रूपी अन्न वाले हैं। हे सोम्य! तीनों (अन्न, जल और तेजरूपी) देवता पुरुष के शरीर में प्रविष्ट होकर विभिन्न भागों में बँट जाते हैं। उद्दालक ने कहा- यह मैंने पूर्व में स्पष्ट कर दिया था। इसी कारण से मृत्यु के समीप पहुँचने वाले पुरुष की वाणी मन में लीन हो जाती है, मन प्राण में विलीन हो जाता है। प्राण तेज में और तेज परदेवता में मिल जाता है॥ ६॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ ७॥

हे सोम्य! वह अणिमा (सूक्ष्मविद्या) है , वही सब कुछ है। वही आत्मा है एवं तुम भी वही हो। तत्पश्चात् श्वेतकेतु ने पुनः निवेदन किया- हे भगवन्! फिर से समझाने की कृपा करें। तब उसके पिता ने 'अच्छा' कहते हुए पुनः समझाने का आश्वासन दिया॥ ७॥

॥ नवमः खण्डः ॥

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणाꣳरसान्समवहारमेकताꣳ रसं गमयन्ति॥ १॥

उद्दालक ने पुनः श्वेतकेतु से कहा- हे सोम्य! जिस तरह मधुमक्खियाँ शहद प्राप्त करने के लिए विभिन्न दिशाओं के वृक्षों, पुष्पों से रस लाकर मधु के रूप में एकत्रित कर देती हैं॥ १॥

ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति॥ २॥

मधु के रूप में एकता को प्राप्त हुए, वे सभी रस जिस प्रकार यह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते कि मैं अमुक वृक्ष का रस हूँ। ठीक इसी भाँति यह समस्त प्रजा सत् को प्राप्त करने के उपरान्त यह नहीं कहती, कि हमने सत् तत्त्व प्राप्त कर लिया है ॥ २॥

त इह व्याघ्रो वा सिꣳहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दꣳशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति॥ ३॥

इस समस्त लोक में व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, बराह, कीट- पतङ्गे, दंश अथवा मच्छर आदि जो पहले प्रादुर्भूत होते हैं, वे ही बार-बार उत्पन्न होते हैं॥ ३॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ ४॥

वह जो यह अणिमा (सूक्ष्म प्रक्रिया) आदि है, यह सब तदनुरूप ही है। वह ही सत्य है, वही आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तुम भी हो। ऐसा अपने पिता के द्वारा कहे जाने पर उसने कहा- हे भगवन्! मुझे पुनः बताने की कृपा करें। इस प्रकार से उसके पिता उद्दालक ने उसे फिर से समझाने का आश्वासन दिया॥

॥ दशमः खण्डः ॥

इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति स समुद्र एव भवति ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीति॥ १॥

उद्दालक ने पुनः समझाते हुए कहा - हे सोम्य! ये पूरब एवं पश्चिम दिशा की ओर प्रवाहित होने वाली नदियाँ अपने अनुकूल मार्गों से प्रवाहित होती हैं। उनका समुद्र से ही आगमन होता है और अन्त में उसी समुद्र में ही समाहित हो जाती हैं। जिस तरह वे नदियाँ, सागर में विलीन होकर यह नहीं जानतीं कि मैं अमुक-अमुक नदी हूँ॥ १॥

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सत आगत्य न विदुः सत आगच्छामह इति त इह व्याघ्रो वा सिꣳहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दꣳशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदाभवन्ति॥ २॥

ठीक उसी तरह यह सम्पूर्ण प्रजा भी सत् तत्त्व से प्रकट होकर, यह नहीं समझ पाती कि हम सभी का सत् तत्त्व से ही आगमन हुआ है। वे सभी यहाँ पर व्याघ्र, सिंह, भेड़िया, वराह, कीट-पतङ्गे, डाँस अथवा मच्छर आदि के रूप में प्रकट होते हैं, पुनः अपने पूर्व स्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं॥ २॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ३॥

आरुणि ने कहा- हे श्वेतकेतु! यही अणिमा (अणुरूप) आदि से युक्त आत्मा वाला जगत् है तथा तुम भी वही हो। उसने अपने पिता से पुनः समझाने की प्रार्थना की । पिता उद्दालक ने 'अच्छा' कहते हुए फिर से समझाने के लिए कहा॥ ३॥

॥ एकादशः खण्डः ॥

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याजीवन्स्रवेत्स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति॥ १॥

(उन्होंने वृक्ष के दृष्टान्त द्वारा पुनः समझाते हुए कहा-) हे सोम्य! यदि किसी विशाल वृक्ष की जड़ में प्रहार करें, तो वह शुष्क न होकर जीवन धारण करते हुए मात्र रस ही स्रवित करेगा। ठीक वैसे ही यदि उस (वृक्ष) के मध्य भाग पर आघात किया जाए, तब भी वह जीवित रहते हुए रस टपकाता रहेगा और यदि इसके ऊर्ध्व भाग में प्रहार किया जाए, तब भी वह जीवित रहते हुए रस-स्राव ही करता रहेगा । (इससे यह सिद्ध होता है कि) यह वृक्षरूपी जीव- आत्मा से परिपूर्ण जल का पान करता हुआ आनन्दानुभूति करते हुए स्थिर रहता है॥ १॥

अस्य यदेकाꣳ शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति सर्वं जहाति सर्वः शुष्यत्येवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच॥ २॥

हे सोम्य! किसी वृक्ष की एक शाखा को जीव परित्याग कर देता है, तो वह शुष्क हो जाती है। यदि दूसरी शाखा चेतना शून्य हो जाए, तो वह भी शुष्क हो जाती है। यदि तृतीय शाखा को जीव आघात करने पर छोड़ दे, तो वह भी सूख जाती है और यदि ऐसे ही सम्पूर्ण वृक्ष का ही जीव उत्क्रमण कर जाता है, तो वह वृक्ष पूर्णरूपेण शुष्क हो जाएगा॥ २॥

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ ३॥

हे सोम्य! ठीक ऐसे ही यह वृक्षरूपी शरीर जीवन तत्त्व से रहित होते ही नष्ट हो जाता है, किन्तु जीव का नाश नहीं होता, ऐसे सूक्ष्म भाव से सम्पन्न आत्म-तत्त्व से परिपूर्ण यह जगत् है। यह सत्य है और हे सोम्य! इसी तरह तुम भी सत्य तत्त्व से पूर्ण हो। श्वेतकेतु ने निवेदन किया- भगवन्! पुनः समझाएँ। पिता ने 'अच्छा' कहकर उसे आश्वस्त किया॥ ३॥

॥ द्वादशः खण्डः ॥

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति भिन्द्धीति भिन्नं भगव इति किमत्र पश्यसीत्यण्व्य इवेमा धाना भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्द्धीति भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति न किंचन भगव इति॥ १॥

हे सोम्य! इस सामने विद्यमान महान् वट वृक्ष से एक फल तोड़कर ले आओ। ऐसा सुनते ही वह (श्वेतकेतु) शीघ्रता से फल को ले आया। आरुणि ने पुनः कहा- 'इसे तोड़ दो।' तोड़ते हुए श्वेतकेतु बोला- 'भगवन्! तोड़ दिया'। आरुणि ने कहा इसके अन्दर क्या दिखाई दे रहा है? श्वेतकेतु बोला- इसके भीतर ये अणु के सदृश दाने दिखाई दे रहे हैं। आरुणि ने फिर कहा- इन दानों में से एक को लेकर तोड़ दो। श्वेतकेतु बोला- भगवन्! तोड़ दिया। आरुणि ने कहा कि 'इसके अन्दर क्या देखते हो?' श्वेतकेतु ने उत्तर दिया- हे भगवन्! मुझे इसके अन्दर कुछ भी नहीं दिखाई पड़ रहा है॥ १॥

तꣳ होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्न्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येति ॥ २॥

तब उद्दालक ने कहा- हे सोम्य! इस वट के बीज के अन्दर जिस अति सूक्ष्म अणु रूप को तुम नहीं देख सकते हो, उसमें इतना विशाल वृक्ष स्थिर है। अतः हे सोम्य! मेरे द्वारा बताये हुए इस कथन पर श्रद्धापूर्वक विश्वास करो॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ ३॥

हे सोम्य! इस वट वृक्ष का जो यह अणु रूप है, तदनुरूप ही यह सब सूक्ष्म जगत् है। वही सत्य है और हे श्वेतकेतो! वही तत्त्व तुम स्वयं हो। उद्दालक के ऐसा कहने पर श्वेतकेतु ने पुनः निवेदन किया- भगवन्! कृपया मुझे फिर से बताने का अनुग्रह करें। तब उद्दालक ने उसे 'अच्छा' कहते हुए पुनः आश्वस्त किया॥

॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति स ह तथा चकार तꣳ होवाच यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अङ्ग तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद॥ १॥

उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को फिर से समझाते हुए कहा-'हे सोम्य! इस पिण्ड रूपी नमक के टुकड़े को जल-पात्र में डालकर अगले दिन प्रातःकालीन वेला में पुनः उपस्थित होना।' ऐसा सुनकर अपने पिता के आदेशानुसार वह दूसरे दिन उपस्थित हुआ। तब उद्दालक ने कहा- हे पुत्र! विगत रात्रि में जिस लवण को तुमने जल में मिश्रित किया था, 'उसे ले आओ।' परन्तु ढूँढ़ने पर उस नमक को वह नहीं प्राप्त कर सका॥ १॥

यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति कथमिति लवणमिति मध्यादाचामेति कथमिति लवणमित्यन्तादाचामेति कथमिति लवणमित्यभिप्रास्यैनदथ मोपसीदथा इति तद्ध तथा चकार तच्छश्वत्संवर्तते तꣳहोवाचात्र वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति॥ २॥

हे सोम्य! तुम इस जल में मिले हुए नमक के अंश को नहीं देख सकते हो, फिर भी यदि जिज्ञासा हो तो इस जल को ऊपर से लेकर आचमन के रूप में ग्रहण करो। आचमन के उपरान्त पिता द्वारा पूछने पर उसने कहा 'नमकीन' अर्थात् खारा है। पिता ने कहा कि अब जल पात्र के मध्य में से जल लेकर पीते हुए बताओ कैसा है? उसने फिर कहा

'नमकीन है।' तत्पश्चात् पिता के कहने पर जल पात्र के नीचे से जल लेकर पान किया। पिता के द्वारा 'कैसा है?' पूछने पर उसने बताया कि 'नमकीन है।' उद्दालक ने कहा- 'अच्छा तुम इस जल को बाहर फेंक कर हमारे पास आ जाओ।' उसने पिता के कहने पर वैसा ही किया और कहा उस सम्पूर्ण जल में नमक पूर्ण रूप से मिला हुआ था। तत्पश्चात् आरुणि ने कहा- हे सोम्य! ठीक इसी प्रकार तुम सत् तत्त्व को देखने में असमर्थ हो, फिर भी वह यहाँ पर पूर्ण रूप से विद्यमान है॥ २॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ ३॥

आरुणि ने कहा- हे सोम्य! इसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् अति सूक्ष्म रूप से सत् तत्त्व आत्मा में विद्यमान है, यही सत्य है। हे श्वेतकेतो! ठीक वैसे ही तुम स्वयं भी सत्य स्वरूप हो। तब उसने फिर कहा भगवन्! आप पुनः समझाएँ। पिता ने अच्छा कहकर पुनः उसे आश्वस्त किया॥ ३॥

॥ चतुर्दशः खण्डः ॥

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः॥ १॥

उद्दालक ने पुनः एक पुरुष के दृष्टान्त द्वारा श्वेतकेतु को समझाते हुए कहा- हे सोम्य! जिस प्रकार किसी पुरुष की आँखें बाँधकर गान्धार देश से अन्यत्र किसी निर्जन क्षेत्र में लाकर छोड़ दें, तो वह वहाँ चतुर्दिक् पूर्व, उत्तर, दक्षिण तथा पश्चिम दिशा की ओर मुँह करके करुण क्रन्दन करता है। वह चिल्लाते हुए कहता है कि मुझे आँखें बाँधकर यहाँ लाकर छोड़ दिया गया है॥ १॥

तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसंपद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति॥ २॥

यदि कोई दूसरा पुरुष वहाँ आकर उसकी आँखों के बन्धन खोलकर उसे यह बतलाये कि 'गान्धार' अमुक दिशा में है। अमुक की ओर प्रस्थान कर जाओ। तब वह बुद्धिमान् एवं उपदिष्ट हुआ व्यक्ति एक गाँव से दूसरे गाँव को पूछते हुए क्रमशः अपने मूल स्थान यानी गान्धार देश को प्राप्त कर लेता है। ठीक वैसे ही इस लोक में सदाचारवान् व्यक्ति ही सत् को समझ पाता है। उस व्यक्ति को मोक्ष प्राप्ति में उतनी ही देर लगती है, जितने तक शरीर के बन्धन से मुक्ति नहीं मिल जाती। इसके अनन्तर तो वह पुरुष सत् युक्त ब्रह्म के अनुरूप हो जाता है अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है॥ २॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ ३॥

हे सोम्य! यह समस्त जगत् अणु रूप सूक्ष्म सत् तत्त्व से युक्त है। वह ही सत् स्वरूप है। वह ही आत्म स्वरूप है। हे श्वेतकेतो! तुम भी उसी सत् तत्त्व से युक्त हो। इस प्रकार सुनते ही उस (श्वेतकेतु)ने कहा- भगवन्! पुनः बताने की कृपा करें। तब उद्दालक ने अच्छा कहते हुए उसे पुनः आश्वस्त किया॥३॥

॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

पुरुषꣳ सोम्योतोपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति। तस्य यावन्न वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति॥ १॥

हे सोम्य! ज्वरादि से अत्यधिक संतप्त एवं मरणासन्न स्थिति में पहुँचते हुए पुरुष के चारों ओर उसके बन्धु-बान्धव एवं निकट परिवारीजन बैठकर पूछते हैं- क्या तुम मुझे पहचानते हो? क्या तुम मुझे जानते हो? तो उस व्यक्ति की वाणी जब तक मन में लीन नहीं होती, मन प्राण में, प्राण तेज में तथा तेज परमदेव तत्त्व में विलीन नहीं हो जाता, तब तक वह सबको जानता रहता है॥ १॥

अथ यदास्य वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति।

तदनन्तर जब उस व्यक्ति की वाणी मन में विलीन हो जाती है, मन प्राण में, प्राण तेज में एवं तेज उस परमदेव तत्त्व में मिल जाता है, तब वह व्यक्ति किसी को भी पहचान पाने में असमर्थ रहता है॥ २॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच॥ ३॥

हे सोम्य! वह (अणुरूप) जो अणिमा आदि तत्त्व है, तदनुरूप ही यह सब कुछ है। वही सत्य है और वही आत्मतत्त्व है। हे सोम्य! उसी सत् तत्त्व से युक्त स्वयं तुम भी हो। उद्दालक के इस तरह कहने पर श्वेतकेतु ने कहा- हे भगवन्! पुनः बताने की कृपा करें। तब उसके पिता ने 'अच्छा' कहते हुए उसे आश्वस्त किया॥ ३॥

॥ षोडशः खण्डः॥

पुरुषꣳ सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत्स्तेयमकार्षीत्परशुमस्मै तपतेति स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते॥ १॥

(आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को अपराधी व्यक्ति द्वारा तप्त कुल्हाड़े को ग्रहण करने के उदाहरण द्वारा समझाते हुए कहते हैं)- हे सोम्य! जब किसी दोषी व्यक्ति को हाथ बाँधकर (राज्य कर्मचारी) लाते हुए कहते हैं कि 'इसने चोरी की है', इसके लिए परशु तप्त करो। वह यदि सचमुच उसका (चोरी का) करने वाला होता है तथा असत्य भाषण कर, अपने किये हुए कृत्य को आवरण में रखता है, तो उस तप्त परशु को ग्रहण करते ही, वह जलते हुए मृत्यु को प्राप्त होता है॥ १॥

अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते॥ २॥

यदि वह व्यक्ति चोरी करने वाला नहीं होता, तो उसी परशु से स्वयं को सत्य प्रमाणित करता है। वह अपने आप को सत्य से ढककर उस परशु को पकड़ लेता है और जब उस परशु से नहीं जलता, तो छोड़ दिया जाता है॥

[इस समय अपने भाव से स्वयं को आवृत कर लेने की क्षमता लुप्तप्राय हो गयी है, फिर भी उसके प्रमाण मिलते हैं। किसी पीड़ित व्यक्ति की सहायता करते समय वास्तविक प्रेम सम्पन्न व्यक्ति को कष्ट नहीं होता; किन्तु प्रेम का ढोंग करने वाले को कष्ट अनुभव होता है।]

स यथा तत्र नादाह्येतैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति॥ ३॥

हे सोम्य! जैसे वह व्यक्ति उस परीक्षा के समय तप्त परशु से नहीं जलता है, वैसे ही सत् तत्त्व को प्राप्त करने वाले विद्वान् पुनर्जन्म से मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं। यह समस्त विश्व सत् स्वरूप है। वह ही आत्मा है। हे श्वेतकेतो! उसी सत् तत्त्व से सम्पन्न तुम स्वयं हो। तब श्वेतकेतु ने कहा भगवन्! मैं उस सत् तत्त्व को जान गया हूँ-जान गया हूँ॥

॥ अथ सप्तमोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तꣳ होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति॥ १॥

एक बार ब्रह्मर्षि नारद जी ब्रह्मनिष्ठ योगेश्वर सनत्कुमार जी के समक्ष उपस्थित होकर बोले- हे भगवन्! मुझे उपदेश प्रदान करने की कृपा करें। उनसे सनत्कुमार जी ने कहा- सर्वप्रथम जो तुम जानते हो, उसे बतलाते हुए हमारे पास उपदेश श्रवण करने के लिए आओ, तो उससे आगे का ज्ञान मैं तुम्हें दूँगा॥१॥

स होवाचऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि॥ २॥

(नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद का अध्ययन कर लिया है। इसके अतिरिक्त इतिहास, पुराण के रूप में पञ्चम वेद, वेदों का वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातविद्या, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेद विज्ञान, भूततंत्र, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या (गारुड़मन्त्र), देवजन विद्या (नृत्य-संगीत) आदि इन सभी विद्याओं का अध्ययन कर चुका हूँ॥

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतꣳ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तꣳहोवाच यद्वै किंचैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत्॥ ३॥

हे भगवन्! मैं तो केवल मंत्रों में ही पारंगत हूँ अर्थात् शब्दार्थ मात्र ही जानता हूँ। आत्मा के सम्बन्ध में मेरी जानकारी बिल्कुल नहीं है। मैंने आप जैसे श्रेष्ठ योगियों से सुना है कि आत्मज्ञानी शोक से पार करने में समर्थ होते हैं। हे भगवन्! मैं आत्मज्ञान के अभाव में शोक में डूबा रहता हूँ। आप कृपा करके शोक सागर से पार कीजिए। ऐसा सुनकर सनत्कुमार जी ने नारद जी से कहा- हे महर्षे! तुम जो कुछ जानते हो, वह सभी कुछ नाम ही है॥ ३॥

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशिर्दैवो निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्या नामैवैतन्नामोपास्स्वेति॥ ४॥

ऋग्वेद भी नाम है तथा ऐसे ही यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराणादि, वेदों का वेद (व्याकरण) श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातविद्या, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेदविज्ञान, भूतविद्या, धनुर्विद्या, ज्योतिष्, सर्पविद्या, संगीत आदि कलाएँ शिल्प विद्या आदि ये सब नाम ही हैं। अतः हे नारद! तुम नाम की ही उपासना करो॥ ४॥

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भूय इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥ ५॥

जो व्यक्ति नामरूप ब्रह्म की उपासना करता है, उसकी जहाँ तक नाम की गति होती है, वहाँ तक

इच्छानुसार गति हो जाती है। (नारद ने सनत्कुमार जी से कहा-) हे भगवन्! क्या नाम के अतिरिक्त भी कुछ है? सनत्कुमार ने कहा- हाँ नाम से भी अधिक है? तब महर्षि नारद जी ने कहा - हे भगवन्! तो फिर मुझे वही बताने की कृपा करें॥ ५॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसि च तृणवन - स्पतीञ्श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं च यद्वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति॥ १॥

(सनत्कुमार ने कहा-) वाणी नाम से अधिक श्रेष्ठ है, वाणी ही ऋग्वेद को प्रकाशित करती है। यजुर्वेद, सामवेद, चतुर्थ अथर्ववेद, पाँचवाँ वेद इतिहास-पुराण, वेदों के वेद व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पात विज्ञान, नीतिशास्त्र, निधिज्ञान, तर्कशास्त्र, निरुक्त, वेद विज्ञान, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्योतिष्, सर्पविद्या, संगीत-शिल्प आदि शास्त्र, द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मानव, पशु-पक्षी, तृण-वनस्पति, हिंस्र जन्तु, कीट-पतंगे, चींटी आदि प्राणी, धर्म और अधर्म, सत्य एवं असत्य, साधु तथा असाधु, अच्छा एवं बुरा, प्रिय एवं अप्रिय आदि का ज्ञान वाणी द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। वाणी ही इन सबको ज्ञापित करती है, इसलिए हे नारद! तुम वाणी की ही उपासना करो॥ १॥

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो वाचो भूय इति वाचो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥

हे महर्षि नारद! वह (साधक) जो वाणी को 'यह ब्रह्म है' ऐसा मानकर उस ब्रह्मरूप की उपासना करता है, उसकी जहाँ तक वाणी के विषय हैं, वहाँ तक इच्छानुसार गति होती है। (तब नारद ने कहा) हे योगेश्वर! वाणी से भी अधिक कुछ है क्या? (सनत्कुमार जी ने कहा)- हाँ है, वाणी से भी बढ़कर है। नारद ने कहा- भगवन्! मुझे वही बताने की कृपा करें॥२॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वामलके द्वे वा कोले द्वौ वाक्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते पुत्राꣳश्च पशूꣳश्चेच्छेयेत्यथेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्स्वेति॥ १॥

योगेश्वर सनत्कुमार जी कहते हैं- 'मन' वाणी से अधिक श्रेष्ठ है। जिस तरह से दो आँवले, दो बेर अथवा दो बहेड़े मुट्ठी के अन्दर आ जाते हैं, उसी तरह वाणी और नाम की अनुभूति मन करता है। जिस समय मनुष्य मन से विचार करता है कि 'मंत्रों को पढ़ूँ' उसी समय वह पढ़ता है। वह जब सोचता है कि

'कार्य करूँ', तभी कार्य करता है, जब पुत्र और पशुओं की इच्छा करता है, उसी समय वह उनको प्राप्त करता है तथा जब वह संकल्प करता है कि इस लोक एवं दूसरे लोक के वैभव को प्राप्त करूँ, तभी वह उसको प्राप्त करता है। मन ही आत्मा, मन ही लोक एवं मन ही ब्रह्म है। अतः हे नारद! तुम इस श्रेष्ठ मन की उपासना करो॥ १॥

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो मनो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसो भूय इति मनसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥

जो व्यक्ति मन को 'यह ब्रह्म है' ऐसा मानकर उसकी ब्रह्म के रूप में उपासना करता है, वह व्यक्ति जहाँ तक मन की गति है, वहाँ तक अपनी इच्छा से गतिशील हो जाता है। (नारद ने कहा-) हे भगवन्! क्या मन से भी बढ़कर कोई है? (सनत्कुमार ने कहा-) हाँ मन से भी बढ़कर है। (तब नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! मुझे उसी का उपदेश प्रदान करने की कृपा करें॥ २॥

॥ चतुर्थः खण्डः ॥

संकल्पो वाव मनसो भूयान्यदा वै संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि॥ १॥

सनत्कुमार जी ने कहा- 'संकल्प' मन से अधिक श्रेष्ठ है। जब व्यक्ति संकल्प करता है, तभी वह बोलने की इच्छा करते हुए वाक् शक्ति को प्रेरणा प्रदान करता है। वह उसको नाम के प्रति प्रवृत्त करता है। नाम के अन्तर्गत ही सभी मंत्र एकाकार हो जाते हैं तथा मन्त्रों में ही सभी कर्म एकरूप हो जाते हैं॥ १॥

तानि ह वा एतानि संकल्पैकायनानि संकल्पात्मकानि संकल्पे प्रतिष्ठितानि समक्लृपतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च समकल्पन्तापश्च तेजश्च तेषाꣳ संक्लृप्त्यै वर्षꣳ संकल्पते वर्षस्य संक्लृप्त्या अन्नꣳसंकल्पतेऽन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः संकल्पन्ते प्राणानाꣳ संक्लृप्त्यै मन्त्राः संकल्पन्ते मन्त्राणाꣳ संक्लृप्त्यै कर्माणि संकल्पन्ते कर्मणाꣳ संक्लृप्त्यै लोकः संकल्पते लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्वꣳ संकल्पते स एष संकल्पः संकल्पमुपास्स्वेति॥ २॥

(हे नारद!) सर्वप्रथम जो मन, वाणी आदि का वर्णन किया गया है, वह संकल्परूप, संकल्पमय और अपने संकल्प में प्रतिष्ठित है। स्वर्ग एवं पृथिवी संकल्प करने वाले प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार वायु तथा आकाश, जल और तेज भी संकल्प बल से युक्त हैं। इन सभी के संकल्प बल से वृष्टि को सामर्थ्य प्राप्त होती है। (अथवा उन द्युलोक एवं पृथिवी के संकल्प से वृष्टि होती है।) वृष्टि के संकल्प से अन्न को समर्थता मिलती है। अन्न के संकल्प से प्राण समर्थ होते हैं। प्राणों के संकल्प से मन्त्र समर्थ होते हैं। मन्त्रों के संकल्प से कर्मों को सामर्थ्य मिलती है एवं कर्मों के संकल्प से लोक (फल) समर्थ होता है। हे नारद! तुम ऐसे ही इस श्रेष्ठ संकल्प की उपासना करो॥ २॥

स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते क्लृप्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति यावत्संकल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः संकल्पाद्भूय इति संकल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥ ३॥

(हे नारद!) जो व्यक्ति यह संकल्प 'यही ब्रह्म है', ऐसा जानकर उसकी उपासना करता है, वह विधाता द्वारा रचित ध्रुवलोकों को स्वयं ध्रुवरूप होकर, प्रतिष्ठित लोकों को स्वयं प्रतिष्ठित होकर तथा पीड़ा रहित लोकों को स्वयं पीड़ा रहित होकर पूर्णरूपेण प्राप्त करता है। जिस स्थान तक संकल्प की गति होती है, वहाँ तक उसकी इच्छानुसार गति हो जाती है। तब नारद जी ने पूछा- हे भगवन्! क्या संकल्प से भी कुछ श्रेष्ठ है? सनत्कुमार जी ने कहा- हाँ है, संकल्प से भी श्रेष्ठ है। (नारद ने कहा) हे भगवन्! मुझे उसी (श्रेष्ठ तत्त्व) का उपदेश करें॥ ३॥

॥ पञ्चमः खण्डः ॥

चित्तं वाव संकल्पाद्भूयो यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥ १॥

(हे नारद!) 'चित्त' संकल्प से अधिक श्रेष्ठ है। जब व्यक्ति चिन्तन से युक्त होता है, तभी संकल्प करता है। तदनन्तर इच्छा करते हुए वाणी एवं नाम को प्रेरित करता है। नाम मन्त्रानुरूप एवं मन्त्र कर्मानुरूप होकर तदाकार हो जाते हैं॥ १॥

तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि तस्माद्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति नायमस्तीत्येवैनमाहुर्यदयं वेद यद्वा अयं विद्वान्नेत्थमचित्तः स्यादित्यथ यद्यल्पविच्चित्तवान्भवति तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते चित्तꣳह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं प्रतिष्ठा चित्तमुपास्स्वेति॥ २॥

(हे नारद!) संकल्प, मन, वाणी, मन्त्र, कर्म आदि सभी चित्त में विलीन होने वाले, चित्त द्वारा प्रकट होने वाले एवं चित्त में ही स्थिर होने वाले होते हैं। यदि कोई व्यक्ति विशेष रूप से विद्वान् होते हुए भी अचित्त (अर्थात् चिन्तनशीलता से रहित) हो, तो प्रायः लोग यही कहते हैं कि यह कुछ भी नहीं है। यदि इसने कुछ सुना होता और इसमें विद्वत्ता होती, तो इस तरह से अचित्त नहीं होता। कोई व्यक्ति कम विद्वान् होकर भी यदि चित्तयुक्त होता है, तो लोग उसकी बात सुनना चाहते हैं। इस प्रकार हे नारद! चित्त ही संकल्प का (एक मात्र) उत्पत्ति केन्द्र है। तुम चित्त की ही उपासना करो॥२॥

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिद्ध्यति यावच्चित्तस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवश्चित्ताद्भूय इति चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥ ३॥

हे नारद! इस तरह से जो व्यक्ति चित्त की ब्रह्म रूप में उपासना करता है, वह चित्त (अर्थात् बुद्धि युक्त गुणों) से उपचित हुए ध्रुवलोकों को स्वयं ध्रुव होकर, प्रतिष्ठित लोकों को स्वयं प्रतिष्ठित होकर और कष्ट न पाने वाले लोकों को स्वयं पीड़ा (कष्ट) न प्राप्त करते हुए सहजता से प्राप्त कर लेता है। जहाँ तक चित्त का विषय (गति) है, वहाँ तक उसकी इच्छानुरूप गति हो जाती है। (नारद जी ने पूछा-) हे भगवन्! क्या चित्त से भी कुछ श्रेष्ठ है? (सनत्कुमार जी ने कहा-) हाँ है, चित्त से भी श्रेष्ठ है। तब नारद जी ने कहा- हे भगवन्! मुझे वही बताने का अनुग्रह करें॥३॥

॥ षष्ठः खण्डः ॥

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्यास्तस्माद्य इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादाꣳशा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादाꣳशा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वेति॥ १ ॥

(हे नारद!) चित्त से उत्कृष्टतम स्थिति ध्यान की है। (ऐसा प्रतीत होता है कि) मानो पृथिवी ध्यान करती है, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक भी मानो ध्यान में रत हैं, जल और पर्वत भी मानो ध्यान में तल्लीन हैं, देवता और मानव भी मानो ध्यान करते हैं। इसलिए जो भी यहाँ पुरुषों में महानता को प्राप्त किये हुए हैं, वे भी शायद ध्यान के द्वारा अर्जित किये हुए लाभ का अंश प्राप्त करते हैं; किन्तु जो संकीर्ण विचार के होते हैं, वे कलह करने वाले, चुगलखोर और दूसरों के समक्ष ही उनकी निन्दा करने वाले होते हैं। साथ ही जो सामर्थ्य से युक्त हैं, वे लोग भी ध्यान के ही लाभ का अंश अर्जित करने वाले हैं। अतः (हे नारद!) तुम ध्यान की ही उपासना करो॥ १ ॥

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्ध्यानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो ध्यानाद्भूय इति ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥

(हे नारद!) जो व्यक्ति ध्यान को 'यह ब्रह्म ही है', इस प्रकार से समझकर उसकी उपासना करता है, उसकी स्वेच्छानुसार गति ध्यान की गति के समान ही हो जाती है। (ऐसा सुनकर नारद जी ने पूछा) हे भगवन्! क्या ध्यान से भी श्रेष्ठ कुछ है? (तब सनत्कुमार जी ने कहा-) हाँ, ध्यान से भी श्रेष्ठ है। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! कृपया उसी श्रेष्ठ तत्त्व का उपदेश करने की कृपा करें॥ २ ॥

॥ सप्तमः खण्डः ॥

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदꣳसामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पती-ञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयङ्गं चाहृदयङ्गं चान्नं च रसं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्स्वेति ॥

(हे नारद!) ध्यान से भी अधिक श्रेष्ठ 'विज्ञान' है। विज्ञान द्वारा ही मनुष्य ऋग्वेद को जानता है। यजुर्वेद, सामवेद और चतुर्थ अथर्ववेद, पञ्चम वेद इतिहास-पुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, देवविद्या (निरुक्त), ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्योतिष्, सर्पविद्या, शिल्पविद्या, द्युलोक, पृथिवी, वायु, आकाश, जल, तेज, देव, मनुष्य, पशु-पक्षी, तृण, वनस्पति, श्वापद, कीट- पतंग, पिपीलिका पर्यन्त समस्त जीव, धर्म, अधर्म, सत्य, असत्य, साधु, असाधु, मनोज्ञ, अमनोज्ञ, अन्न, रस तथा इहलोक एवं परलोक आदि को विज्ञान द्वारा ही जाना जाता है। (इसलिए हे नारद!) तुम विज्ञान की ही उपासना करो॥ १ ॥

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकाञ्ज्ञानवतोऽभिसिद्ध्यति यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो विज्ञानाद्भूय इति विज्ञानाद्भाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २॥

(हे नारद!) जो (व्यक्ति) विज्ञान की ब्रह्म के रूप में उपासना करता है, वह व्यक्ति श्रेष्ठ विज्ञान और ज्ञान वाले लोकों को प्राप्त कर लेता है। जहाँ तक विज्ञान का सम्बन्ध है, वहाँ तक उसकी यथेच्छगति होती है। नारद जी ने कहा- हे भगवन्! क्या विज्ञान से भी श्रेष्ठ कुछ है? सनत्कुमार ने कहा- हाँ है। नारद जी ने कहा- भगवन् ! मुझे उसी श्रेष्ठ तत्त्व का उपदेश करने की कृपा करें॥ २॥

॥ अष्टमः खण्डः ॥

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते। स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन्परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन्द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति। बलेन वै पृथिवी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं बलेन लोकस्तिष्ठति बलमुपास्स्वेति ॥ १॥

(हे नारद!) बल विज्ञान से भी अधिक श्रेष्ठ है। सौ विज्ञानवेत्ताओं को एक बलवान् व्यक्ति कँपा देता है। जिस समय यह मनुष्य बल-सम्पन्न होता है, तभी उठने वाला भी होता है और जब उठता है, तो वह सेवा-शुश्रूषा करने वाला होता है, जब सेवा-शुश्रूषा वाला होता है, तो समीप जाने वाला होता है, समीप पहुँचने से दर्शन, श्रवण, मनन, जानने, अनुष्ठान एवं अनुभव करने वाला होता है। बल से ही पृथिवी स्थित है, बल से ही अन्तरिक्ष, बल से ही द्युलोक, बल से ही पर्वत, देवता और मनुष्य, बल से ही पशु-पक्षी, तृण वनस्पति, श्वापद और कीट- पतंग एवं पिपीलिका पर्यन्त समस्त प्राणि-समुदाय स्थित हैं तथा बल से ही लोक स्थित है। इसलिए हे नारद! तुम बल की उपासना करो॥ १॥

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्बलस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो बलं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो बलाद्भूय इति बलाद्भाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥

(हे नारद!) जो (व्यक्ति) बल को ब्रह्म के रूप में जानकर उसकी उपासना करता है, तो जहाँ तक बल की गति है, वहाँ तक उस (व्यक्ति) की स्वेच्छा गति हो जाती है। (तब नारद जी ने पूछा-) क्या बल से अधिक भी कुछ है? (सनत्कुमार ने कहा-) बल से भी श्रेष्ठ है। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! कृपा करके मेरे प्रति उसी श्रेष्ठ तत्त्व का वर्णन करें॥ २॥

॥ नवमः खण्डः ॥

अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नीयाद्यद्युह जीवेदथवाद्रष्टाश्रोता - मन्ताबोद्धाकर्ताविज्ञाता भवत्यथान्नस्यायै द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवत्यन्नमुपास्स्वेति ॥ १॥

(हे नारद!) अन्न बल से अधिक श्रेष्ठ है। यदि कोई व्यक्ति दस दिन तक भोजन न ग्रहण करे और

जीवित रह जाए, तब भी वह दर्शन, श्रवण, मनन, बोध, अनुष्ठान और अनुभव आदि करने में प्राय: असमर्थ ही हो जाता है। पुनश्च यदि उसे अन्न की प्राप्ति होने लगे, तो वह दर्शन, श्रवण, मनन, बोध, अनुष्ठान एवं अनुभूति करने में समर्थ हो जाता है। अत: (हे नारद!) तुम इस श्रेष्ठ अन्न की ही उपासना करो॥ १॥

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान्पानवतोऽभिसिद्ध्यति यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽन्नाद्भूय इत्यन्नाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २॥

(हे नारद!) जो भी (व्यक्ति) अन्न को ही ब्रह्म के रूप में मानकर उपासना करता है, वह अन्न एवं जल से परिपूर्ण लोकों को प्राप्त करता है। जहाँ तक अन्न की गति है, वहाँ तक वह अपनी इच्छा से पहुँच सकता है। (नारद जी ने पूछा-) हे भगवन्! अन्न से भी उत्कृष्ट कुछ है क्या? (सनत्कुमार जी ने कहा) हाँ है। नारद जी ने कहा- हे भगवन्! मुझे तो उसी श्रेष्ठ तत्त्व का उपदेश करने की कृपा करें॥ २॥

॥ दशमः खण्डः ॥

आपो वावान्नाद्भूयस्यस्तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भविष्यतीत्याप एवेमा मूर्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं यद् द्यौर्यत्पर्वता यद्देवमनुष्या यत्पशवश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकमाप एवेमा मूर्ता अप उपास्स्वेति ॥ १॥

(हे नारद!) अन्न की अपेक्षा जल अधिक श्रेष्ठ है। यही कारण है कि जब अधिक वृष्टि नहीं होती, तो प्राण इसलिए व्यथित होते हैं कि अन्न कम होगा तथा जब कभी वर्षा प्रचुर परिमाण में होती है, तो प्राण यह विचार कर प्रसन्न होते हैं कि अन्न बहुत अधिक होगा। यह जो पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, पर्वत, देव-मनुष्य एवं पशु-पक्षी तथा तृण-वनस्पति, श्वापद एवं कीड़े-पतंगे, पिपीलिका (चींटी) आदि स्तर के प्राणी हैं, ये सभी मूर्तिमान् जल रूप ही हैं। इसलिए हे नारद! तुम इस श्रेष्ठ जल की ही उपासना करो॥ १॥

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान्कामाꣳस्तृप्तिमान्भवति यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इत्यद्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २॥

(हे नारद!) जो व्यक्ति जल को ब्रह्म समझकर उसकी उपासना करता है, वह सभी मूर्तियुक्त विषयों को प्राप्त करके तृप्त होता है। जहाँ तक जल की गति है, वहाँ तक वह व्यक्ति अपनी इच्छा से पहुँच सकता है। (नारद जी ने पूछा-) हे भगवन्! क्या जल से भी अधिक श्रेष्ठ कुछ है? (सनत्कुमार जी ने कहा-) हाँ, जल से भी श्रेष्ठ है। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! तब उसी श्रेष्ठ तत्त्व को मुझे बताने की कृपा करें॥ २॥

॥ एकादशः खण्डः ॥

तेजो वावाद्भ्यो भूयस्तद्वा एतद्वायुमागृह्याकाशमभितपति तदाहुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाथापः सृजते तदेतदूर्ध्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युद्भिराह्रादाश्चरन्ति तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाथापः सृजते तेज उपास्स्वेति ॥ १॥

हे नारद! जल की अपेक्षा तेज अधिक श्रेष्ठ है। जिस समय यह वायु तत्त्व को निश्चल करके आकाश को चारों ओर से तप्त करता है, तब सभी कहते हैं कि गर्मी बहुत अधिक हो रही है, ताप बहुत बढ़ रहा है, अब वर्षा होगी। वह तेज ही सर्वप्रथम प्रकट होता है, तत्पश्चात् जल की रचना करता है। तेज ऊर्ध्व एवं तिर्यक् दिशा की ओर गमन करते हुए विद्युत् के साथ गर्जना करता है। इस तेज से ही विद्युत् प्रकट होती है, गर्जना होती है तथा प्राय: लोग कहते हैं कि वृष्टि होगी। चूँकि तेज सर्वप्रथम स्वयं प्रकट होकर जल की रचना करता है, इस कारण हे नारद! तुम तेज की ही उपासना करो॥ १ ॥

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान्भास्वतोऽपहततमस्कान-भिसिद्ध्यति यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवस्तेजसो भूय इति तेजसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २॥

(हे नारद!) जो (व्यक्ति) तेज को ब्रह्म के रूप में समझकर उसकी उपासना करता है। वह तेजवान्, प्रकाश और अन्धकार से रहित लोकों को प्राप्त करता है। जहाँ तक तेज की गति है, वहाँ तक उसकी स्वेच्छानुसार गति होती है। नारद जी ने पूछा- भगवन्! तेज की अपेक्षा कुछ अन्य श्रेष्ठ है क्या? सनत्कुमार ने कहा- हाँ है, इससे भी श्रेष्ठ है। तब हे भगवन्! कृपा करके मुझे उसी श्रेष्ठ तत्त्व का उपदेश करें॥ २॥

॥ द्वादश: खण्ड: ॥

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्नि-राकाशेनाह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशे न रमत आकाशे जायत आकाशमभिजायत आकाशमुपास्स्वेति॥ १ ॥

(हे नारद!) तेज से भी अधिक उत्कृष्ट आकाश है। आकाश में ही सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत्, नक्षत्र एवं अग्नि स्थित हैं। आकाश द्वारा ही हम आपस में एक दूसरे को बुलाते हैं, आकाश द्वारा ही श्रवण करते हैं। आकाश के माध्यम से ही प्रतिश्रवण करते हैं। आकाश में ही सभी क्रीड़ा करते और नहीं भी करते हैं। (सभी पदार्थों) की उत्पत्ति आकाश में ही होती है तथा आकाश में ही (जीव एवं अङ्कुर) अभिवर्द्धित होते हैं। अत: हे नारद! तुम आकाश तत्त्व की ही उपासना करो॥ १ ॥

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वै स लोकान्प्रकाशवतोऽसं-बाधानुरुगायवतोऽभिसिद्ध्यति यावदाकाशस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आकाशाद्भूय इत्याकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति॥ २॥

(हे नारद!) जो व्यक्ति आकाश को 'यही ब्रह्म है' ऐसा मानकर उसकी उपासना करता है। वह प्रकाशवान्, आकाशवान्, कष्टरहित तथा अति विस्तृत लोकों को प्राप्त करता है। जिस क्षेत्र तक आकाश की सीमा है, वहाँ तक उसकी स्वेच्छा से गति (पहुँच) हो जाती है। (ऐसा सुनकर नारद जी ने प्रश्न किया-) हे भगवन्! क्या आकाश से भी श्रेष्ठ है? सनत्कुमार ने कहा- हाँ है, आकाश से भी श्रेष्ठ है। (नारद जी ने कहा-) तो भगवन्! कृपा करके मुझे आप उसी तत्त्व का उपदेश करें॥ २॥

॥ त्रयोदशः खण्डः ॥

स्मरो वावाकाशाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि बहव आसीरन्न स्मरन्तो नैव ते कंचन शृणुयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन् यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथ विजानीरन् स्मरेण वै पुत्रान्विजानाति स्मरेण पशून् स्मरमुपास्स्वेति॥ १॥

हे नारद! स्मरण आकाश से अधिक श्रेष्ठ है। इसी से जहाँ बहुत से व्यक्ति (किसी स्थान विशेष पर) बैठे हुए हों; किन्तु फिर भी स्मरण न करने पर वे सभी न कुछ सुन सकने में, न मनन कर सकने में और न ही कुछ विशेष जान सकने में समर्थ हो सकते हैं, जब वे सभी स्मरण करते हैं, तभी वे सुन सकने में समर्थ हो सकते हैं, तभी मनन और विशेष जानकारी प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं। स्मरण मात्र से ही मनुष्य अपने बच्चों और पशुओं को पहचानता है। (इसलिए हे नारद!) तुम स्मरण की उपासना करो॥१॥

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत्स्मरस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः स्मराद्भूय इति स्मराद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ २॥

(हे नारद!) जो (व्यक्ति) स्मरण (स्मर) की 'यही ब्रह्म है' अर्थात् ब्रह्म रूप में उपासना सम्पन्न करता है। जहाँ तक (स्मर) स्मरण का विषय (सीमा) है, वहाँ तक उस (व्यक्ति) की गति (पहुँच) हो जाती है। (इस प्रकार सुनने के पश्चात् नारद जी ने प्रश्न किया-) हे भगवन्! क्या स्मरण से भी श्रेष्ठ कुछ है ? (तब सनत्कुमार जी ने कहा-) हाँ है, इससे भी श्रेष्ठ है। नारद बोले- हे भगवन्! कृपा करके उसी श्रेष्ठ तत्त्व का उपदेश करने की कृपा करें॥ २॥

॥ चतुर्दशः खण्डः ॥

आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्राꣳश्च पशूꣳश्चेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छत आशामुपास्स्वेति ॥ १॥

हे नारद! स्मरण की अपेक्षा आशा कहीं अधिक श्रेष्ठ है। आशा द्वारा ही वृद्धि को प्राप्त हुआ स्मृतिभूत वह (व्यक्ति) स्मरण करता हुआ ही मन्त्रों के पाठ में संलग्न होता है। अपने कर्मों में रत हुआ पुत्र एवं पशुओं की तथा लोक एवं परलोक की भी इच्छा करता रहता है। (अतः हे नारद!) तुम इस श्रेष्ठतर वस्तु आशा की उपासना करो॥ १॥

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशयास्य सर्वे कामाः समृद्ध्यन्त्यमोघा हास्याशिषो भवन्ति यावदाशाया गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आशां ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आशाया भूय इत्याशाया वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति॥ २॥

(हे नारद!) जो व्यक्ति आशा को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, उसके सभी उद्देश्य आशा के माध्यम से पूर्ण होते हैं। प्रायः उसकी प्रार्थना सफल होती है। जहाँ तक आशा की गति (सीमा) है, वहाँ तक उस व्यक्ति की इच्छानुकूल पहुँच हो जाती है। (नारद जी ने पूछा-) हे भगवन्! आशा से भी क्या अधिक श्रेष्ठ कुछ होता है ? (सनत्कुमार ने कहा-) हाँ है, आशा से भी अधिक श्रेष्ठ है। तब भगवन्! मुझे उसी श्रेष्ठ तत्त्व का उपदेश करें॥ २॥

॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

प्राणो वा आशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वꣳ समर्पितं प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति। प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः॥ १॥

(हे नारद!)प्राण आशा से अधिक श्रेष्ठ है। जिस तरह रथ के पहिये के केन्द्र में 'अरे' प्रतिष्ठित रहते हैं, ठीक उसी तरह प्राण तत्त्व में सम्पूर्ण विश्व समाहित है। प्राण अपनी ही शक्ति द्वारा प्रस्थान करता है, समाहित प्राण ही प्राण को प्रदान करता है तथा प्राण के लिए ही प्रदान करता है। प्राण ही पिता, प्राण ही माता, प्राण ही भाई, प्राण ही बहिन, प्राण ही आचार्य तथा प्राण ही श्रेष्ठ ब्राह्मण है॥ १॥

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाचार्यं वा ब्राह्मणं वा किंचिद् भृशमिव प्रत्याह धिक्त्वाऽस्त्वित्येवैनमाहुः पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसीति ॥ २॥

यदि कोई (व्यक्ति) अपने पिता, माता, भाई, बहिन, आचार्य अथवा ब्राह्मण के प्रति अशिष्टतापूर्ण व्यवहार करता है, तो उसको देखने एवं सुनने वाले उसे अपमानित करते हुए कहते हैं कि तुझे धिक्कार है। सचमुच ही तू अपने माता व पिता को मारने वाला है, भ्रातृघाती है, बहिन की हत्या करने वाला है, आचार्य का हनन करने वाला है और तू निश्चय ही ब्रह्मघाती है॥ २॥

अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणाञ्छूलेन समासं व्यतिषं दहेन्नैवैनं ब्रूयुः पितृहासीति न मातृहासीति न भ्रातृहासीति न स्वसृहासीति नाचार्यहासीति न ब्राह्मणहासीति॥ ३॥

परन्तु जिन लोगों के प्राण निकल गये हैं, उन माता, पिता आदि समस्त परिवारीजनों को यदि वह व्यक्ति शूल से संहत कर एवं छिन्न-भिन्न करके जला देता है (कपाल क्रिया आदि करता है), तो भी उसे कोई यह नहीं कहता है कि तू पिता का हत्यारा, माता का हत्यारा, भाई का हत्यारा, बहिन का हत्यारा एवं आचार्य का घात करने वाला है अथवा ब्रह्म का घाती है॥ ३॥

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति तं चेद्ब्रूयुरतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत॥ ४॥

(हे नारद!) इस प्रकार माता-पिता आदि के रूप में प्राण ही होते हैं। इसलिए जो (व्यक्ति) प्राणों को इस तरह से अनुभव करता है, चिन्तनयुक्त एवं दृढ़ निश्चयी होता है, वही 'अतिवादी' कहा जाता है। यद्यपि कोई भी उसे 'अतिवादी' कहे, तो फिर उसे यह स्वीकार करना चाहिए कि वास्तव में मैं अतिवादी हूँ। इस तथ्य को उसे छुपाना नहीं चाहिए॥ ४॥

॥ षोडशः खण्डः ॥

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १॥

(हे नारद!) जो व्यक्ति सत्य के कारण अतिवाद करता है, वह अवश्य ही अतिवाद करने वाला है। (तब नारद जी ने कहा)- हे भगवन् ! मैं तो सत्य के कारण ही अतिवाद करता हूँ।

(सनत्कुमार जी ने कहा-) सत्य को विशेष रूप से जानना चाहिए। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! मैं विशेष प्रकार से सत्य को ही आत्मसात् करता हूँ॥ १॥

॥ सप्तदशः खण्डः ॥

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति नाविजानन् सत्यं वदति विजानन्नेव सत्यं वदति विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति॥ १॥

(सनत्कुमार जी ने कहा- हे नारद!) जब व्यक्ति सत्य को विशेष रूप से जानने में समर्थ हो जाता है, तब वह सत्य भाषण करता है। बिना जाने वह सत्य नहीं बोलता, वरन् विशेष रूप से जानने वाले सत्य का ही प्रतिपादन करता है। इसलिए हे नारद! विज्ञान की ही विशेष रूप से जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! मैं विशेष प्रकार से सत्य को ही आत्मसात् करता हूँ॥ १॥

॥ अष्टादशः खण्डः ॥

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति। मतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १॥

(सनत्कुमार जी ने नारद जी को समझाते हुए कहा- हे नारद!) जब मनुष्य मनन करता है, तब कुछ विशेष जानकारियाँ प्राप्त करने में सक्षम होता है। बिना मनन किये कोई भी व्यक्ति कुछ भी नहीं जान पाता, वरन् मनन करने के पश्चात् ही जान पाता है। इसलिए हे नारद! विशेष रूप से मति की ही जिज्ञासा करनी चाहिए। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! मैं मति के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करने की इच्छा करता हूँ॥ १॥

॥ एकोनविंशः खण्डः ॥

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते नाश्रद्दधन्मनुते श्रद्दधदेव मनुते श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति ॥ १॥

(सनत्कुमार जी ने कहा- हे नारद!) (जब मनुष्य को किसी व्यक्ति, वस्तु या स्थान विशेष के प्रति) श्रद्धा उत्पन्न होती है, तब वह मनन करता है, श्रद्धा के अभाव में वह मननशील नहीं हो सकता। श्रद्धालु (व्यक्ति) ही मननशील हो सकता है। इसलिए हे नारद ! श्रद्धा को ही विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! मैं श्रद्धा के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान की इच्छा करता हूँ॥ १॥

॥ विंशः खण्डः ॥

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति नानिस्तिष्ठञ्छ्रद्दधाति निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति। निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति ॥ १॥

(सनत्कुमार जी ने देवर्षि नारद जी से कहा-) हे नारद! जब मनुष्य की (किसी व्यक्ति विशेष के प्रति) निष्ठा (जाग्रत्) होती है, तभी वह उसके प्रति श्रद्धावनत होता है, निष्ठा के अभाव में कोई भी (व्यक्ति) श्रद्धायुक्त नहीं होता; बल्कि निष्ठावान् (व्यक्ति) ही श्रद्धा करने वाला होता है, (इसलिए हे नारद!) निष्ठा को ही विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! मैं निष्ठा को विशेष रूप से जानने की इच्छा करता हूँ॥ १॥

॥ एकविंशः खण्डः ॥

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति नाकृत्वा निस्तिष्ठति कृत्वैव निस्तिष्ठति कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति। कृतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

(सनत्कुमार जी ने कहा- हे नारद!) जब मनुष्य कोई कार्य विशेष करता है, तब वह (उसके प्रति) निष्ठावान् हो जाता है। बिना कार्य किये (व्यक्ति) की निष्ठा (उत्पन्न) नहीं होती। मनुष्य कर्म करने पर ही निष्ठावान् होता है। इसलिए (हे नारद!) कृति (अर्थात् इन्द्रियों का संयम और चित्त की एकाग्रता) को विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! मैं कृति को ही विशेष रूप से जानने की इच्छा करता हूँ॥ १ ॥

॥ द्वाविंशः खण्डः ॥

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति। सुखं भगवो विजिज्ञास इति॥ १ ॥

(सनत्कुमार जी ने कहा- हे नारद!) जिस समय व्यक्ति को सुख की प्राप्ति होती है, उस समय वह कर्म करता है, सुख के अभाव में कोई भी व्यक्ति कार्य नहीं करता, वरन् सुख प्राप्त करके ही (कुछ विशेष पाने की आशा) करता है। (इसलिए हे नारद!) सुख को ही प्राप्त करने की तथा उसे विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए। (नारद बोले-) हे भगवन्! मैं सुख प्राप्ति की ही विशेष रूप से जिज्ञासा करता हूँ॥

॥ त्रयोविंशः खण्डः ॥

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

(सनत्कुमार जी ने कहा-) हे नारद! निश्चय ही जो भूमा (महान्, निरतिशय) है, वही सुख है। अल्प में सुख नहीं है। भूमा ही सुख स्वरूप है। (अतः हे नारद!) भूमा की ही विशेष रूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए। (नारद जी ने कहा-) हे भगवन्! मैं भूमा (निरतिशय) को ही विशेष रूप से जानने की इच्छा करता हूँ॥ १ ॥

॥ चतुर्विंशः खण्डः ॥

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति॥ १ ॥

(सनत्कुमार जी नारद जी को सम्बोधित करते हुए कहते हैं- हे नारद!) जहाँ अन्य कुछ न देखता है, न अन्य कुछ सुनता है और न ही अन्य कुछ जानता है, वही भूमा है; परन्तु इसके विपरीत जहाँ अन्य कुछ देखता है, अन्य कुछ सुनता है तथा कुछ अन्य जानकारी रखता है, वह अल्प है। इस प्रकार से जो भूमा है, वही अमृत है तथा जो अल्प है, वह ही मर्त्य है। (नारद जी ने पूछा-) हे भगवन्! भूमा किसमें स्थित है? (सनत्कुमार जी ने कहा-) भूमा अपनी महिमा में स्थित है और वास्तव में तो वह उसमें भी स्थित नहीं है अर्थात् वह अवलम्बन रहित है॥ १ ॥

गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति॥ २॥

(हे नारद!) इस संसार में तो गौ, अश्व आदि को ही महिमा कहा जाता है। साथ ही हाथी, सुवर्ण, दास, भार्या (पत्नी), भूमि (क्षेत्र) और घर आदि को भी महिमा के नाम से जाना जाता है; किन्तु यह मेरा कथन नहीं है, क्योंकि अन्य पदार्थ अन्य में स्थित होता है- मैं तो यही कहता हूँ। इस प्रकार से सनत्कुमार जी ने नारद जी से कहा॥ २॥

[सनत्कुमार जी लौकिक महिमा और भूमा की महिमा में अन्तर भर स्पष्ट करना चाहते हैं, वैसे आगे भूमा के बारे में पुनः बतला रहे हैं।]

॥ पञ्चविंशः खण्डः॥

स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳसर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदꣳ सर्वमिति॥ १॥

(हे नारद!) वही (भूमा) नीचे है, वही ऊपर है, वही पीछे एवं आगे भी है, वही दायीं ओर और वही बायीं ओर भी है। वह (भूमा) ही यह सब कुछ है। उसी (भूमा) में अहंकारवश (व्यक्तिभाव से) इस तरह से कहते हैं- मैं ही ऊपर, मैं ही नीचे एवं मैं ही दायीं और मैं ही बायीं ओर हूँ। मैं ही दक्षिण की ओर तथा ऊपर की ओर हूँ। मैं ही सभी ओर से विद्यमान हूँ॥ १॥

अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदꣳ सर्वमिति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराड् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथातो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति॥ २॥

(हे नारद!) इस तरह से सत्य स्वरूप आत्मा के रूप में ही भूमा का आदेश किया जाता है। आत्मा ही आगे-पीछे, दायीं-बायीं ओर व्याप्त है। यह आत्मा ही सब कुछ है। वह (ज्ञानी पुरुष) इस आत्मा को इस प्रकार से देखने वाला, मनन करने वाला और विशेष रूप से इस भाँति से जिज्ञासा वाला आत्मरति (आत्मा में ही क्रीड़ा करने वाला) और आत्मा में ही मिथुन एवं आत्मा में ही आनन्दानुभूति करने वाला होता है। वह ही स्वराट् (स्वप्रकाशित) है, समस्त भुवनों (लोकों) में उसकी इच्छानुसार गति होती है; किन्तु जो इससे विपरीत देखते हैं, वे ही अन्यराट् और क्षय्यलोक को प्राप्त होते हैं। उन (व्यक्तियों) की स्वेच्छानुसार गति नहीं होती॥ २॥

॥ षड्विंशः खण्डः॥

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशात्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतोबलमात्मतोविज्ञानमात्मतो ध्यानमा-

त्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदꣳ सर्वमिति॥ १॥

सनत्कुमार जी ने कहा– हे नारद! उस भूमा को जो इस तरह से देखने वाले, मनन करने वाले और जानने वाले विद्वान् होते हैं, उनके लिए आत्मा से प्राण, आत्मा से आशा, आत्मा से स्मृति, आत्मा से ही आकाश, आत्मा से ही तेज, आत्मा से जल, आत्मा से ही प्राकट्य और तिरोभाव, आत्मा से अन्न, आत्मा से बल, आत्मा से विज्ञान, आत्मा से ध्यान, आत्मा से ही चित्त, आत्मा से संकल्प , आत्मा से मन, आत्मा से ही वाणी, आत्मा से नाम, आत्मा से मन्त्र, आत्मा से कर्म और आत्मा द्वारा ही यह सब कुछ हो जाता है॥ १॥

तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताꣳ सर्वꣳ ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति। स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विꣳशतिराहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तꣳ स्कन्द इत्याचक्षते तꣳ स्कन्द इत्याचक्षते॥ २॥

हे नारद! इस सन्दर्भ में यह श्लोक कहा गया है– विद्वान् (व्यक्ति) न तो मृत्यु को देखता है, न रोग को और न ही दुःख को देखता है। वह विद्वान् सभी को (आत्मा के रूप में)ही देखता है। इसलिए वह सभी को आत्मा के रूप में ही देखता है। इसलिए वह सभी को प्राप्त हो जाता है। पहले वह एक होता है। पुनश्च वह तीन, पाँच, सात और नौ रूपों में विभाजित हो जाता है। फिर वही ग्यारह कहा गया है तथा वही सौ, दस, एक सहस्र और बीस भी होता है। आहार के शुद्ध होने पर अन्तःकरण की शुद्धि हो जाती है, अन्तःकरण की शुद्धि होने पर स्मृति निश्चल होती है और स्मृति के प्राप्त होने पर समस्त ग्रन्थियों की निवृत्ति हो जाती है। इस तरह से जिनकी वासनाएँ क्षीण हो गयी थीं, उन देवर्षि नारद जी को भगवान् योगेश्वर सनत्कुमार जी ने अज्ञानान्धकार से दूर कर आत्मज्ञान का दर्शन कराया। उन योगेश्वर सनत्कुमार जी को "स्कन्द (ऊर्ध्वगामी)" भी कहा जाता है॥ २॥

॥ अथ अष्टमोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश-स्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति॥ १॥

तदनन्तर ब्रह्मपुर (शरीर) के अन्तःक्षेत्र में जो कमल पुष्प के आकार का क्षेत्र है, उसके अन्तर्गत जो अति सूक्ष्माकाश है, उसके अन्तः क्षेत्र में जो तत्त्व विद्यमान है, उसी की खोज करनी चाहिए और उसी श्रेष्ठतम को जानने की इच्छा करनी चाहिए॥ १॥

तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति स ब्रुयात्॥ २॥

इसको सुनने के उपरान्त यदि शिष्य उन (आचार्य) से कहे कि इस ब्रह्मपुर में जो कमल के आकार का गृह है और उसमें जो अन्तराकाश है, उसके अन्दर कौन सी वस्तु है, जिसकी कि जिज्ञासा करनी चाहिए? इस प्रकार से वे आचार्य इन सभी पूछने वाले शिष्यों से कहें॥ २॥

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति॥ ३॥

जितना विस्तार इस (भौतिक) आकाश का दृष्टिगोचर होता है, उतना ही हृदय के अन्तः का भी है। द्युलोक एवं पृथिवी दोनों पूर्ण रूप से इसके अन्दर समाहित हैं। इसी प्रकार अग्नि एवं वायु, सूर्य और चन्द्रमा, विद्युत् एवं नक्षत्र तथा जो भी कुछ इस लोक में विद्यमान है और जो नहीं है, वह सभी कुछ पूर्ण रूप से इसमें (आत्मा में) प्रतिष्ठित है॥ ३॥

तं चेद्ब्रूयुरस्मिꣳश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वꣳ समाहितꣳ सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैतज्जरामाप्नोति प्रध्वꣳसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति॥ ४॥

और यदि उस (आचार्य) से शिष्यगण यह प्रश्न करें कि इस ब्रह्मपुर रूपी शरीर में यदि यह सभी कुछ पूर्णरूपेण विद्यमान है, समस्त प्राणी एवं सभी विषय इसमें ही स्थित हैं, तो जब इस शरीर में वृद्धावस्था का आगमन होता है अथवा यह विनाश को प्राप्त होता है, तो उस समय फिर क्या शेष रह जाता है?॥ ४॥

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति॥ ५॥

तो फिर उस (आचार्य) को कहना चाहिए कि इस (शरीर) की वृद्धावस्था से यह अन्तराकाश जीर्ण नहीं होता। इसके नष्ट हो जाने से उस (ब्रह्म) का नाश नहीं होता। यह ब्रह्मपुर सत्य है, इसमें समस्त इच्छाएँ पूर्ण रूप से स्थित हैं। यह ही आत्मा है, धर्म-अधर्म से शून्य तथा जरारहित, मृत्यु से हीन, शोकरहित, बिना भोजन की इच्छा वाला, पिपासाशून्य, सत्य की कामना से युक्त, सत्य

संकल्प वाला है। जिस प्रकार से प्रजा इस लोक में राजा की आज्ञानुसार आचरण करती है तथा देश या प्रदेश की इच्छा करती है, उसी प्रकार से राजा की आज्ञा से जीवन निर्वाह करती है॥ ५॥

तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येताꣳश्च सत्यान् कामाꣳस्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येताꣳश्च सत्यान् कामाꣳस्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति॥

जिस प्रकार यहाँ कर्म द्वारा अर्जित लोक नष्ट हो जाता है, उसी तरह परलोक में पुण्य से प्राप्त किये गये लोक भी नष्ट हो जाते हैं। जो लोग इस लोक में आत्मा को तथा इन सभी सत्य कामनाओं को भली-भाँति जाने बिना ही दूसरे लोक को गमन कर जाते हैं, उनकी सभी लोकों में इच्छानुसार गति नहीं होती। जो इस लोक में आत्मा को तथा सत्य युक्त कामनाओं को भली-भाँति जानकर दूसरे लोक को गमन करते हैं, उनकी सभी लोकों में इच्छानुसार गति होती है॥ ६॥

॥ द्वितीयः खण्डः॥

स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन संपन्नो महीयते॥ १॥

वह यदि (शरीर के परित्याग करने पर) पितृलोक की कामना वाला होता है, तो उसके द्वारा किये गये संकल्प से ही पितृगण वहाँ उपस्थित होते हैं। पितृलोक से सम्पन्न होकर वह महिमा का वर्णन करता है॥ १॥

अथ यदि मातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन संपन्नो महीयते॥ २॥

और यदि वह मातृलोक की इच्छा वाला होता है, तो उसकी दृढ़ इच्छा शक्ति से ही माताएँ उपस्थित हो जाती हैं। मातृलोकों के सम्बन्ध से ही वह महिमा का अनुभव करता है॥ २॥

अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन भ्रातृलोकेन संपन्नो महीयते॥ ३॥

और यदि वह भ्रातृलोक की इच्छा वाला होता है, तो उसकी प्रचण्ड संकल्प शक्ति से ही समस्त भ्रातृ-समुदाय वहाँ उपस्थित हो जाता है। उस भ्रातृलोक से सम्पन्न होकर वह महान् महिमा को प्राप्त करता है॥ ३॥

अथ यदि स्वसृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्वसृलोकेन सम्पन्नो महीयते॥ ४॥

और यदि वह भगिनी लोक की कामना करने वाला है, तो उसकी दृढ़ इच्छा शक्ति से ही बहिनें वहाँ आ जाती हैं। उस भगिनी लोक से युक्त होकर वह महान् वृद्धि को प्राप्त होता है॥ ४॥

अथ यदि सखिलोककामो भवति संकल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन सखिलोकेन संपन्नो महीयते॥ ५॥

और यदि वह मित्रों के लोक की कामना करने वाला हो, तो उसके दृढ़ संकल्प बल से ही मित्रगण वहाँ एकत्रित हो जाते हैं। उन मित्रगणों के लोक से सम्पन्न होकर वह महान् वृद्धि को प्राप्त होता है॥ ५॥

अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन संपन्नो महीयते॥ ६॥

और यदि वह गन्धमाल्य लोक की कामना वाला होता है, तो उसके संकल्प बल से ही गन्धमाल्यादि वहाँ एकत्रित हो जाते हैं। उस गन्धमाल्य लोक से सम्पन्न होकर वह महान् वृद्धि को प्राप्त होता है॥ ६॥

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति संकल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतस्तेनान्नपानलोकेन संपन्नो महीयते॥ ७॥

और यदि वह अन्न-जल से सम्बन्धित लोक की इच्छा करने वाला होता है, तो उसके संकल्प से ही अन्न-जल प्राप्त हो जाता है। उस अन्न-जल लोक के सम्बन्ध से ऐश्वर्य का अनुभव करता है॥ ७॥

अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादित्रलोकेन संपन्नो महीयते॥ ८॥

और यदि वह गीत-वाद्य आदि से सम्बन्धित लोक की कामना करने वाला होता है, तो उसके द्वारा किये हुए संकल्प से ही गीत-वाद्य आदि वहाँ उपस्थित हो जाते हैं। गीत-वाद्य आदि लोक से युक्त वह महान् वृद्धि को प्राप्त होता है॥ ८॥

अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन संपन्नो महीयते॥ ९॥

और यदि वह स्त्रीलोक की इच्छा वाला होता है, तो उसकी दृढ़ संकल्प शक्ति से ही समस्त स्त्रियाँ वहाँ उसके पास एकत्रित हो जाती हैं। उस स्त्रियों के लोक से युक्त वह वृद्धि को प्राप्त होता है॥ ९॥

यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन संपन्नो महीयते॥ १०॥

वह जिस-जिस क्षेत्र या प्रदेश की कामना करता है तथा साथ ही जिस भोग-प्राप्ति की इच्छा करता है, वह सभी कुछ उसके संकल्प मात्र से उसे प्राप्त हो जाता है। उन सभी से युक्त वह महान् महिमा अथवा वृद्धि को प्राप्त होता है॥ १०॥

॥ तृतीयः खण्डः॥

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषाꣳ सत्यानाꣳ सतामनृतमपिधानं यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते ॥ १॥

वे ये सत्यकाम होते हुए भी अनृत (मिथ्या आदि) तृष्णा से आवृत रहते हैं। सत्य होने पर भी अनृत से वे आच्छादित हैं, क्योंकि मनुष्य के जो -जो सम्बन्धी यहाँ से शरीर का परित्याग करके जाते हैं, उन्हें वह पुनः देखने के लिए प्राप्त नहीं कर पाता॥ १॥

अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानास्तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः॥ २॥

इसके पश्चात् मनुष्य अपने जीवित या मृत (पुत्रादि) परिजनों को तथा अन्य वांछित पदार्थों को चाहते हुए भी नहीं प्राप्त कर पाता। उन सभी को यह मनुष्य हृदयरूपी आकाश में स्थित ब्रह्म को जानकर प्राप्त कर

लेता है; क्योंकि यहाँ से सत्यकाम मिथ्या से आच्छादित रहते हैं। इस सन्दर्भ में यह उदाहरण है कि जिस प्रकार भूमि में गड़े हुए स्वर्ण के कोष को अनभिज्ञ व्यक्ति उसके ऊपर विचरण करते हुए भी नहीं जानते, ठीक इसी तरह यह समस्त प्रजा नित्य प्रति ब्रह्मलोक को गमन करती हुई, उसे नहीं प्राप्त कर पाती, क्योंकि यह अनृत (मिथ्या) के माध्यम से हरण कर ली गई है॥ २॥

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तꣳ हृद्ययमिति तस्माद्धृदयमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति॥ ३॥

वह आत्मा हृदय में ही स्थित है। 'हृदय' का अर्थ 'हृदि अयम्' अर्थात् यह हृदय में है। यही इसकी निरुक्ति (व्युत्पत्ति) है। इस तरह से जो व्यक्ति आत्मतत्त्व को हृदय में जानता है, वह प्रतिदिन स्वर्गलोक में ही गमन करता है॥ ३॥

अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति॥ ४॥

यह जो सम्प्रसाद अर्थात् निर्मलता को प्राप्त आत्मा है, वह इस शरीर का परित्याग करके उत्कृष्ट अवस्था (परम ज्योति) को प्राप्त करते हुए अपने मूल स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही आत्मा है। यही अमृत और अभय है। यही ब्रह्म है। इस प्रकार आचार्य ने अपने शिष्यों से कहा- उस ब्रह्म का नाम ही सत्य है॥ ४॥

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति तद्यत्सत्तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति यदनेनोभे यच्छति तस्माद्यमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति॥ ५॥

उस ब्रह्म के तीन नामाक्षर 'सकार' 'तकार' और 'यम्' हैं। इनमें 'सकार' अमृत है, 'तकार' मर्त्य है और 'यम्' दोनों का नियामक है। चूँकि इसी से वह दोनों का नियमन करता है। अतः 'यम्' को जो भी व्यक्ति इस तरह से जानता है, वह स्वर्गलोकगामी होता है॥ ५॥

॥ चतुर्थः खण्डः॥

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय नैतꣳ सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतꣳ सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः॥

पृथ्वी आदि लोकों को महाविनाश से बचाये रखने के लिए यह आत्मा सेतु का कार्य करता है। इस आत्मा रूप सेतु का दिन-रात उल्लंघन नहीं कर सकते। इसे जरा, मृत्यु, शोक, सुकृत और दुष्कृत भी प्रभावित नहीं करते। समस्त पाप इससे दूर हट जाते हैं, क्योंकि यह ब्रह्मलोक पापरहित है॥ १॥

तस्माद्वा एतꣳ सेतुं तीर्त्वान्धः सन्ननन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति तस्माद्वा एतꣳ सेतुं तीर्त्वापि नक्तमहरेवाभिनिष्पद्यते सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः॥ २॥

इसी कारण से इस सेतु रूप आत्मा को प्राप्त करके मनुष्य अन्धा होने पर भी सब कुछ देखता (जानता) रहता है। इसी तरह शोकग्रस्त होने पर भी (वह) शोक मुक्त हो जाता है। रोगग्रस्त होते हुए भी वह निरोगी होता है। इसी कारण से आत्मारूपी सेतु को पार करने के उपरान्त अन्धकाररूपी रात्रि भी प्रकाशरूपी दिन में परिणत हो जाती है, क्योंकि यह ब्रह्मलोक सदैव प्रकाश स्वरूप ही है॥ २॥

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति॥ ३॥

इस प्रकार से जो मनुष्य ब्रह्मचर्य के माध्यम से इस ब्रह्मलोक को भली-भाँति समझ लेते हैं। उन लोगों को इस ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। उन्हीं की सम्पूर्ण लोकों में इच्छानुसार गति हो जाती है॥ ३॥

॥ पञ्चमः खण्डः ॥

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते॥ १॥

इस प्रकार जिसको 'यज्ञ' अर्थात् श्रेष्ठ पुरुषार्थ का साधन कहते हैं, वही ब्रह्मचर्य है, क्योंकि जो ज्ञाता है, ब्रह्मचर्य के माध्यम से उस ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मचर्य को 'इष्ट' भी कहा गया है। वह (इष्ट) भी ब्रह्मचर्य है; क्योंकि ब्रह्मचर्य द्वारा ही पूजित हुआ मनुष्य इच्छानुसार आत्मा को प्राप्त होता है॥

अथ यत्सत्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मनस्त्राणं विन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मानमनुविद्य मनुते॥ २॥

जिसे 'सत्रायण' शब्द से जाना जाता है, वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि यज्ञ और इष्ट की भाँति ब्रह्मचर्यरूप साधन द्वारा भी मनुष्य सत्रूप परमात्मा से अपनी रक्षा करता है। इसके अतिरिक्त जिसको मौन कहा जाता है, वह भी ब्रह्मचर्य ही है। ब्रह्मचर्य द्वारा ही आत्मा को जानकर मनुष्य मनन करता है॥ २॥

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदेष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दतेऽथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्तदरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरं मदीयꣳ सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितꣳ हिरण्मयम्॥ ३॥

तत्पश्चात् जिसे 'अनाशकायन' (कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रत या नष्ट न होना) कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य है, क्योंकि जिसे (साधक को) ब्रह्मचर्य द्वारा प्राप्त होता है, ऐसा यह आत्मा विनाश को नहीं प्राप्त होता। जिसको 'अरण्यायन' (वनवास) कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मलोक में 'अर' एवं 'ण्य' नामक दो समुद्र हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ से तृतीय द्युलोक में 'ऐरंमदीय' (हर्षोत्पादक) नाम वाला सरोवर विद्यमान है। वही सोमसवन नामक अश्वत्थ (अमृत स्रावि वृक्ष) है, वहाँ पर ब्रह्मा की अपराजिता नाम की पुरी है तथा वहाँ ही प्रभु के द्वारा विशेष रूप से रचित स्वर्ण के समान मण्डप विद्यमान है॥ ३॥

तद्य एवैतावरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति॥ ४॥

वहाँ उस ब्रह्मलोक में जो भी मनुष्य ब्रह्मचर्य के माध्यम से 'अर' तथा 'ण्य' नामक दोनों समुद्रों को प्राप्त करते हैं, उन्हीं को इस ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। उन मनुष्यों की समस्त लोकों में इच्छानुसार गति हो जाती है॥ ४॥

॥ षष्ठः खण्डः ॥

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः॥ १॥

जो (कमलाकार वाले) हृदय से सम्बन्धित नाड़ियाँ हैं, ये सब पिंगल नामक एक वर्ण विशेष से युक्त सूक्ष्म रस से सम्पन्न हैं। ये (सभी) शुक्ल, नीली, पीली और लोहित रस से युक्त हैं, क्योंकि यह आदित्य पिङ्गल वर्ण का है। यही आदित्य शुक्ल है तथा यही नील वर्ण का है। यही पीला है और यही लोहित वर्ण भी है॥ १॥

[इसी उपनिषद् में अध्याय ३ के खण्ड १ से ५ तक आदित्य के विभिन्न वर्णों, पक्षों तथा उससे सम्बद्ध अमृत प्रवाहों का वर्णन किया गया है। यहाँ उस वर्णन की संगति बैठती है। स्पष्ट है कि यह आदित्य सूर्य से भिन्न कोई सर्वत्र संचरित स्व प्रकाशित आत्मतत्त्व सदृश ही कुछ है।]

तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः॥ २॥

प्रस्तुत विषय में यह उल्लेख है- जिस तरह से कोई विशाल महापथ इस (समीप) एवं उस (दूर) दोनों ग्रामों को पहुँच जाता है, ठीक उसी प्रकार से सूर्य की ये समस्त किरणें इस (मनुष्य) में और उस (आदित्य मण्डल) में (दोनों लोकों में) प्रवेश करती हैं। वे (रश्मियाँ) सदैव इस आदित्य से ही निःसृत होकर समस्त नाड़ियों में व्याप्त हो जाती हैं और जो इन नाड़ियों से निःसृत होती हैं, वे सभी इस आदित्य में व्याप्त हो जाती हैं॥ २॥

तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति तन्न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा संपन्नो भवति॥ ३॥

इस प्रकार जब सुप्तावस्था में अच्छी तरह से तल्लीन हुआ व्यक्ति प्रसन्न होकर स्वप्न नहीं देखता, उस समय यह इन नाड़ियों में गमन कर जाता है, ऐसी स्थिति में इसे अन्य कोई पाप स्पर्श नहीं करता। यह (व्यक्ति) तेज से सम्पन्न हो जाता है॥ ३॥

अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति॥ ४॥

जिस समय यह मनुष्य शरीर से बलरहित होता है, उस समय उसके चारों ओर बैठे हुए समस्त स्वजन सम्बन्धी कहते हैं- क्या तुम मुझे पहचानते हो? क्या तुम मुझे पहचानते हो? वह जब तक शरीर से बाहर उत्क्रमण नहीं करता, तब तक उन (सम्बन्धियों) को पहचानता रहता है॥ ४॥

अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते स ओमिति वा होद्वा मीयते स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम्॥

तत्पश्चात् जब वह जीव शरीर से बाहर निकलता है, तब इन रश्मियों से ही ऊर्ध्व की ओर गमन करता है। वह 'ॐ' इस प्रकार कहकर आत्मा का ध्यान करता हुआ ऊर्ध्व अथवा अधोलोक की ओर गमन करता है। वह (जीवात्मा) आदित्य नामक लोक में उतनी ही देर में पहुँच जाता है, जितनी देर में मन गमन करता है। निश्चित ही यह आदित्य ही समस्त लोकों का द्वार है। यह साधक मनीषियों के लिए ब्रह्मलोक की प्राप्ति का द्वार और अज्ञानियों को रोकने वाला है॥ ५॥

तदेष श्लोकः। शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति॥ ६॥

इस सम्बन्ध में एक मन्त्र उल्लिखित है- हृदय में एक सौ एक नाड़ियों का समावेश है। उन नाडियों

में से एक नाड़ी 'सुषुम्ना' मूर्धा (मस्तिष्क) की ओर निकल गई है। उस (सुषुम्ना) के द्वारा ऊर्ध्व की ओर गमन करने वाला जीव अमृतत्व को प्राप्त होता है। शेष अन्य यत्र-तत्र गमन करने वाली नाड़ियाँ केवल उत्क्रमण अर्थात् बाहर निकलने की हेतुभूता, (सुषुम्ना के अतिरिक्त उन सभी नाड़ियों से ऊर्ध्व लोकों की प्राप्ति नहीं होती है) ॥ ६ ॥

॥ सप्तमः खण्डः ॥

य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच॥ १ ॥

(अब आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए इन्द्र और विरोचन की आख्यायिका का वर्णन करते हैं। प्रजापति ब्रह्माजी ने कहा-) जो आत्मा पापशून्य, जरारहित, मृत्यु से रहित, विशोक (शोक रहित), क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्य संकल्प से युक्त है, उसे खोजना चाहिए, विशेष रूप से जानने का प्रयास करना चाहिए। जो उस आत्मा की अनुभूति प्राप्त करता है, वह सभी लोकों तथा समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है॥ १ ॥

तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामानितीन्द्रो हैव देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणां तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः ॥ २ ॥

(प्रजापति ब्रह्मा जी के इस व्याख्यान को) देव और असुर दोनों ने (कर्ण परम्परा से) जाना। उन्होंने कहा कि उस आत्मा की जिज्ञासा करनी चाहिए। जिसके जानने से सभी लोकों और भोगों को प्राप्त किया जाता है। ऐसा सोचकर देवों के राजा इन्द्र और दैत्यों के राजा विरोचन दोनों आपस में सद्भाव न रखते हुए, (भी)हाथों में समिधाएँ लेकर (समित्पाणि होकर) प्रजापति के पास पहुँचे॥ २॥

तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुस्तौ ह प्रजापतिरुवाच किमिच्छन्ता-ववास्तमिति। तौ होचतुर्य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्ताववास्तमिति॥

वे दोनों ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए प्रजापति के पास ३२ वर्ष तक रहे। तत्पश्चात् प्रजापति ने उनसे कहा- आप सभी ने किस उद्देश्य विशेष की पूर्ति हेतु यहाँ वासस्थल बनाया है। उन दोनों ने कहा- जो आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोक रहित, क्षुधा रहित, तृषारहित, सत्यकाम तथा सत्य संकल्प से युक्त है, वही जानने एवं अनुभव करने योग्य है, जो उस आत्मा को जानता एवं अनुभव करता है, वह समस्त लोकों और भोगों को प्राप्त करता है। आपके इस तरह के उपदेश को सभी श्रेष्ठ लोग कहते हैं। हम सभी (देव एवं असुरगणों) ने उसी श्रेष्ठ आत्मा को जानने के लिए यहाँ वास किया है॥ ३ ॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतम-भयमेतद्ब्रह्मेत्यथ योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शे कतम एष इत्येष उ एवैषु सर्वेष्वन्तेषु परिख्यायत इति होवाच॥ ४॥

प्रजापति ने कहा- आँख के अन्दर पुरुष के रूप में जो दृष्टिगोचर होता है, यही आत्मा है और यही अभय एवं ब्रह्मरूप है। उन्होंने प्रतिच्छाया को ही आत्मा समझकर प्रश्न किया कि - हे भगवन्! यह जो जल एवं दर्पण में सब ओर दृष्टिगोचर होता है, उसके अन्तर्गत आत्मा कौन सा है ? तब प्रजापति ने बताया- हमने चक्षुओं के अन्दर जो द्रष्टा कहा है, वही इन सभी में दिखाई पड़ता है॥ ४॥

॥ अष्टमः खण्डः ॥

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतमिति तौ होदशरावेऽवेक्षांचक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथेति तौ होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आलोमभ्य आनखेभ्यः प्रतिरूपमिति ॥ १॥

प्रजापति ने उन दोनों से कहा कि जल से परिपूर्ण पात्र में स्वयं अपने को देखकर तुम आत्मा के सन्दर्भ में जो भी कुछ न जान सको, वह मुझसे कहो। इस प्रकार उन दोनों ने जल से पूर्ण पात्र में दृष्टिपात किया। उन दोनों से प्रजापति ने कहा- तुम क्या देखते हो ? तब उन्होंने कहा- भगवन्! हम अपने शरीर के रोम (केश) से लेकर नख पर्यन्त प्रतिबिम्ब रूप में इस आत्मा को देखते हैं॥ १॥

तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति तौ ह साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षांचक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति ॥ २॥

प्रजापति ने उन दोनों से कहा- तुम सुन्दर आभूषण एवं वस्त्रों से समलंकृत होकर तथा सम्पूर्ण शरीर को परिष्कृत करने के पश्चात् जल के अन्दर देखो। उन दोनों ने प्रजापति के कथनानुसार ही समस्त अलंकरणों एवं शुभ्र वस्त्रों को धारण कर और परिष्कृत होकर जल पात्र में देखा। तभी प्रजापति ने पुनः प्रश्न किया कि तुम दोनों क्या देख रहे हो ?॥ २॥

तौ होचतुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतावित्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः॥ ३॥

उन दोनों (इन्द्र और विरोचन) ने प्रजापति से कहा- हे भगवन्! जिस तरह हम दोनों उत्तम अलकारों एवं शुभ्र परिधानों से युक्त एवं परिष्कृत हैं, वैसे ही ये दोनों जल के मध्य में दिखाई पड़ने वाले प्रतिबिम्ब भी उत्तम आभूषणों एवं शुभ्र वस्त्रों से युक्त एवं परिष्कृत हैं। तदनन्तर प्रजापति ने कहा- यही आत्मा है, यही अमृत एवं अभय है और यही ब्रह्म है। तत्पश्चात् वे दोनों शान्त चित्त होकर चले गये॥ ३॥

[वे दोनों प्रजापति के कथन के मर्म को समझ न सके तथा विम्ब में दृश्यमान स्थूल काया को ही आत्मा के रूप में समझकर लौट पड़े। प्रजापति उनके अज्ञान को समझ गये।]

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाचानुपलभ्यात्मानमनुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वासुरा वा ते पराभविष्यन्तीति स ह शान्तहृदय एव विरोचनोऽसुराञ्जगाम तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुं चेति ॥ ४॥

प्रजापति ने उन दोनों को (दूर जाता हुआ) देखकर कहा- ये दोनों (इन्द्र एवं विरोचन) आत्मा को

प्राप्त किये बिना अर्थात् उस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार किये बिना ही जा रहे हैं। देव हों अथवा असुर जो भी आत्मा के सम्बन्ध में ऐसा सोचने वाले होंगे, उनका पतन अवश्य होगा। उस विरोचन ने शान्त भाव से असुरों के सम्मुख जाकर प्रजापति के द्वारा बतायी हुई आत्म विद्या को कह सुनाया। उसने कहा- इस लोक में यह (देह ही) आत्मा है तथा आत्मा ही सेवा के योग्य है। आत्मा की सेवा एवं परिचर्या करने वाला पुरुष इहलोक एवं परलोक दोनों को प्राप्त कर लेता है॥ ४॥

तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो बतेत्यसुराणाꣳ ह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालंकारेणेति सꣳस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते ॥ ५॥

यही कारण है कि संसार में जो (व्यक्ति) दान नहीं देता, श्रद्धा नहीं रखता और न ही यजन करता है, उसे श्रेष्ठ जन इस प्रकार कहते हैं- अरे यह तो आसुरी वृत्ति वाला है। यह उपनिषद् (विद्या) असुरों की ही है। वे ही मृत व्यक्ति के शरीर को (गन्ध-पुष्प-अन्न आदि) भिक्षा, वस्त्र एवं आभूषणों से विभूषित करते हैं। इसके द्वारा ही हम स्वर्गलोक को प्राप्त करेंगे-ऐसा मानते हैं॥ ५॥

॥ नवमः खण्डः ॥

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्त्रामे स्त्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ १॥

जब तक इन्द्रदेव देवों के पास पहुँचें, इससे पूर्व उन्हें (यथार्थ बोध से) यह भय प्रकट हुआ कि जिस प्रकार इस शरीर के अलंकृत किये जाने पर इसका प्रतिबिम्ब भी अलंकृत होता है, वस्त्रों से सुसज्जित होने पर वह भी सज्जित होता है और परिष्कृत किये जाने पर वह भी परिष्कृत होता है, उसी प्रकार इस शरीर के अन्धे हो जाने पर प्रतिबिम्ब शरीर भी अन्धा हो जाता है, स्त्राम (विकार स्रवित करने वाला) होने पर स्त्राम हो जाता है, अपङ्ग होने पर अपङ्ग हो जाता है तथा इस शरीर के नष्ट होने पर वह भी विनष्ट हो जाता है, अतः इस प्रतिबिम्ब शरीर में मुझे कुछ भी भोगने योग्य (श्रेष्ठ प्रतिफल) नहीं दिखाई पड़ता॥ १॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तꣳ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्धं विरोचनेन किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्त्रामे स्त्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २॥

तब इन्द्रदेव पुनः समिधा हाथ में लेकर प्रजापति के सम्मुख उपस्थित हुए। उनसे प्रजापति ने पूछा- हे इन्द्र! तुम तो विरोचन के साथ हृदय से सन्तुष्ट हो गये थे, अब फिर किस इच्छा से लौटे हो? उन्होंने कहा- भगवन्! जिस प्रकार इस शरीर के अलंकृत होने पर इसका प्रतिबिम्ब भी अलंकृत होता है। सुन्दर वस्त्रों से सज्जित किये जाने पर वह भी सज्जित होता है। स्वच्छ किये जाने पर वह भी स्वच्छ होता है, उसी प्रकार इसके अंधे होने पर वह भी अन्धा होता है, स्त्राम होने पर स्त्राम हो जाता है, अपङ्ग होने पर अपङ्ग हो जाता है तथा इस शरीर के नष्ट होने पर वह भी विनष्ट हो जाता है, अतएव मुझे इसमें कुछ भी भोगने योग्य (श्रेष्ठ प्रतिफल) नहीं दिखाई पड़ता॥ २॥

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥ ३॥

देव प्रजापति ने इन्द्रदेव से कहा- हे इन्द्र! यह यथार्थ तथ्य ऐसा ही है, मैं तुम्हारे लिए इसकी व्याख्या आगे करूँगा। अब तुम बत्तीस वर्ष यहाँ और वास करो। तब इन्द्रदेव ने वहाँ बत्तीस वर्ष व्यतीत किये। फिर प्रजापति ने उन्हें उपदेश दिया॥ ३॥

॥ दशमः खण्डः ॥

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रववाज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श तद्यद्यपीदꣳ शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति॥ १॥

'जो स्वप्न में भी विचरणशील तत्त्व है, जो अत्यन्त पूज्यमान आत्मा है, वही अविनाशी, अभय और ब्रह्म है।' इन वचनों से संतुष्ट होकर शान्त हृदय से इन्द्रदेव चले गये; परन्तु देवों तक पहुँचने के पूर्व उनमें (यथार्थ बोध से) भय व्याप्त हुआ। यद्यपि यह शरीर अन्धा होता है, परन्तु वह स्वप्न शरीर (अन्तर्मन) अनन्ध होता है और यह स्राम होता है, तो वह अस्राम रहता है। शरीर के दोषों से वह दोष मुक्त रहता है॥

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति॥ २॥

वह इस देह के वध से विनष्ट भी नहीं होता और वह इसकी स्रामता से स्राम भी नहीं होता; किन्तु स्वप्न में भी ऐसा भान होता है कि कोई उसे मार रहा है, तिरस्कृत कर रहा है अथवा वह शोक कर रहा है अथवा वह रो रहा है, अतएव इसमें मुझे भोगने योग्य (श्रेष्ठ प्रतिफल) कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तꣳ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति॥ ३॥

वे (इन्द्रदेव) पुनः देव प्रजापति के पास हाथ में समिधा लेकर आये। देव प्रजापति ने उनसे कहा- हे इन्द्र! तुम तो यहाँ से सन्तुष्ट होकर शान्त हृदय से गये थे, फिर किस इच्छा से लौटे हो? उन्होंने कहा- भगवन्! यद्यपि यह शरीर अंधा होता है, तो भी वह (स्वप्न में विचरणशील अन्तर्मन) अनन्ध रहता है और यह स्राम होता है, तो भी वह अस्राम रहता है। इस प्रकार वह शरीर के दोषों से दोषमुक्त ही रहता है॥३॥

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैन्नं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीत्येवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिꣳशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥ ४॥

इसके वध से उसका वध नहीं होता है और इसकी स्रामता से वह स्राम नहीं होता; परन्तु ऐसा अनुभव होता है कि कोई उसे मारता है, तिरस्कृत करता है, वह शोक करता है अथवा रोदन करता है।

इसमें मुझे कुछ भी भोगने योग्य (श्रेष्ठ प्रतिफल) दिखाई नहीं पड़ता। तब देव प्रजापति ने इन्द्रदेव से कहा- हे इन्द्र! यह तथ्य ऐसा ही है। इस आत्मतत्त्व की व्याख्या मैं आगे करूँगा, अभी तुम बत्तीस वर्ष और यहाँ वास करो। तब इन्द्रदेव ने वहाँ बत्तीस वर्ष व्यतीत किया। फिर देव प्रजापति ने उन्हें उपदेश दिया॥

॥ एकादशः खण्डः ॥

तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रववाज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श नाह खल्वयमेवꣳ संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति॥ १॥

'जब वह प्रसुप्त अवस्था में सम्पूर्ण रूप से आनन्दित और शान्त रहता है और स्वप्न का अनुभव भी नहीं करता, वही आत्मा है। वही अनश्वर, अभय और ब्रह्म है'। इन वचनों को सुनकर इन्द्रदेव सन्तुष्ट होकर शान्त हृदय से चले गये; किन्तु देवों तक पहुँचने के पूर्व उनमें फिर (यथार्थ बोध से) भय प्रकट हुआ। उस अवस्था में तो उसे निश्चय ही यह बोध नहीं रहता कि यह मैं हूँ और न वह अन्य प्राणियों को जानता है, उस अवस्था में तो वह विनाश जैसी स्थिति को प्राप्त हो जाता है। इसमें मुझे कुछ भी भोगने योग्य (श्रेष्ठ प्रतिफल) नहीं दिखाई पड़ता॥ १॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय तꣳ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति स होवाच नाह खल्वयं भगव एवꣳ संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति॥ २॥

(इस प्रकार विचार करते हुए) देवराज इन्द्र पुनः प्रजापति के पास हाथ में समिधा लेकर पहुँचे। उन्हें देखकर प्रजापति ने पूछा- हे इन्द्र! तुम तो स्थिर चित्त होकर चले गये थे, अब पुनः हमारे पास किस इच्छा से आये हो? इन्द्र ने कहा- 'हे भगवन्!' इस स्थिति में तो निश्चय ही इसे यह भी आभास नहीं होता कि स्वयं ही यह मैं हूँ। न यह इन अन्य दूसरे भूतों (प्राणियों) को जानता है। यह निश्चचय ही विनष्ट सा हो जाता है। इसमें मुझे इष्ट दृष्टिगोचर नहीं होता॥ २॥

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्माद्वसापराणि पञ्च वर्षाणीति स हापराणि पञ्च वर्षाण्युवास तान्येकशतꣳ संपेदुरेतत्तद्यदाहुरेकशतꣳ ह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास तस्मै होवाच॥ ३॥

प्रजापति ने पुनः उपदेश देते हुए इन्द्र से कहा- हे इन्द्र! 'यह बात ऐसी ही है'। अब मैं तुम्हें पुनः समझाऊँगा। अभी तुम पाँच साल तक यहाँ पर और ब्रह्मचर्य पूर्वक निवास करो। तदनन्तर देवराज इन्द्र ने पाँच साल तक निवास किया। यह सभी वर्ष मिलाकर एक सौ एक वर्ष हो गये। इसी से कहते हैं कि इन्द्र ने प्रजापति के यहाँ एक सौ एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य पूर्वक निवास किया तत्पश्चात् प्रजापति ने कहा॥ ३॥

॥ द्वादशः खण्डः ॥

मघवन्मर्त्यं वा इदꣳशरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः॥ १॥

हे इन्द्र! यह शरीर मरणधर्मा एवं सदैव मृत्यु से आच्छादित है। अविनाशी एवं अशरीरी आत्मा का यह (शरीर) वास स्थल है। सशरीर आत्मा निश्चय ही प्रिय एवं अप्रिय से घिरा हुआ है, शरीर युक्त होते हुए इसके प्रिय व अप्रिय का विनाश नहीं होता। साथ ही अशरीर (शरीररहित) होने पर प्रिय और अप्रिय इसका स्पर्श रञ्च मात्र भी नहीं कर सकते॥ १॥

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥ २॥

वायु शरीर से रहित है, अभ्र (बादल), विद्युत् और मेघ की गर्जना भी अशरीरी है। जिस तरह ये सभी उस आकाश से ऊपर उठकर सूर्य (सविता) की परम ज्योति को प्राप्त कर अपने स्वरूप में परिणत हो जाते हैं॥ २॥

एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वाज्ञातिभिर्वा नोपजनꣳ स्मरन्निदꣳ शरीरꣳ स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः॥ ३॥

उसी तरह यह सम्प्रसाद (जीव) आकाश से वायु आदि की भाँति इस शरीर से ऊर्ध्व की ओर उठकर परम ज्योति को पाकर अपने आत्मस्वरूप में केन्द्रित हो जाता है। वह ही उत्तम पुरुष है, ऐसी अवस्था में वह (जीव) हँसता, क्रीड़ा करता और स्त्री, यान अथवा ज्ञातिजनों (बन्धुओं) के साथ रमण करता हुआ अपने साथ प्रकट हुए इस शरीर को स्मरण न करता हुआ, सभी ओर संचरित होता है। जैसे अश्व अथवा वृषभ गाड़ी में जुता रहता है , ठीक वैसे ही यह प्राण रथ स्थानीय शरीर में जुता हुआ है॥ ३॥

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माभिव्याहाराय वागथ यो वेदेदꣳ शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम्॥ ४॥

जहाँ जाग्रत् अवस्था में वह चक्षु द्वारा उपलक्षित आकाश रूप में अनुगत है, वह ही चाक्षुष अर्थात् चक्षु में रहने वाला पुरुष है। उसके ज्ञान के साधन नेत्र हैं। जो यह अनुभव करता है कि मैं इसे सूँघूँ यानी ग्रहण करूँ; वही आत्मा है। उसके गन्ध ग्रहण के लिए नासिका है तथा जो जानता है कि मैं यह शब्द उच्चारण करूँ, वह ही आत्मा है। उसके वाक्योच्चारण के लिए वाणी है और जो यह समझता है कि मैं यह श्रवण करूँ, वह भी आत्मा ही है और उसके सुनने के साधन स्वरूप श्रोत्रेन्द्रिय है॥ ४॥

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते॥ ५॥

और जो यह अनुभव करता है कि मैं मनन करूँ, वही आत्मा है। मन ही उसका दिव्य चक्षु है। वह यह आत्मा इस दिव्य नेत्र द्वारा भोगों का दर्शन करता हुआ रमण करता है॥ ५॥

य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषाꣳ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच॥ ६॥

और जो यह सभी प्रकार के भोग इस ब्रह्मलोक में विद्यमान हैं। उन्हें वह देखता हुआ रमण करता है। उस महान् आत्मा की देवगण उपासना करते हैं। इसी कारण से उन्हें समस्त लोक और सभी तरह के भोग प्राप्त हैं। जो भी उस आत्मा को शास्त्र और आचार्य के उपदेशानुसार समझकर प्रत्यक्ष रूप से समझता है, वह सभी लोक और सभी तरह के भोगों को पा जाता है, ऐसा प्रजापति ने कहा॥ ६॥

॥ त्रयोदशः खण्डः॥

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्येऽश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामीत्यभिसंभवामीति॥

मैं शरीर के नष्ट होने के पश्चात् श्याम (हृदय कमल में स्थित) ब्रह्म से शबल (ब्रह्मलोक) को प्राप्त करूँ। साथ ही शबल ब्रह्मलोक से श्याम को प्राप्त करूँ। जिस तरह अश्व अपने रोमों को झाड़कर स्वच्छ एवं मलरहित हो जाता है, उसी प्रकार मैं पापों से निवृत्त होकर राहु के मुख से प्रकट हुए चन्द्रमा की भाँति शरीर का परित्याग कर कृतकृत्य होता हूँ। इस प्रकार मैं अकृत ब्रह्म को प्राप्त करता हूँ, ब्रह्मलोक को प्राप्त करता हूँ॥ १॥

॥ चतुर्दशः खण्डः॥

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतꣳ स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाहं यशसां यशः श्येतमदत्कमदत्कꣳ श्येतं लिन्दु माभिगां लिन्दु माभिगाम्॥ १॥

'आकाश' इस नाम से श्रुतियों में प्रसिद्ध आत्मा नाम और रूप का निर्वाह करने वाला है। वे (नाम एवं रूप) जिस (ब्रह्म) के अन्तर्गत हैं, वही ब्रह्म है, वही आत्मा है और वही अमृत है। मैं प्रजापति के सभागृह को प्राप्त करता हूँ, यश रूप आत्मा हूँ, मैं ही ब्राह्मणों के यश, क्षत्रियों के यश एवं वैश्यों के यश को प्राप्त करना चाहता हूँ। मैं यशों का भी यश हूँ। मैं दन्तरहित होने पर भी 'अदत्क' अर्थात् बिना दाँतों के ही भक्षण करने वाले लालवर्ण युक्त श्वेत बिन्दु (पिच्छिल स्त्री चिह्न) को प्राप्त न करूँ अर्थात् स्त्री गर्भ में गमन न करूँ॥ १॥

॥ पञ्चदशः खण्डः ॥

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्य आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहिꣳ सन्त्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥ १ ॥

इस श्रेष्ठ आत्मज्ञान का वर्णन ब्रह्माजी ने प्रजापति से किया, प्रजापति ने मनु से तथा मनु ने समस्त प्रजा वर्ग को सुनाया। जो गुरु के प्रति अपने कर्त्तव्यों को नियमानुसार पूर्ण करके वेदों के ज्ञान को प्राप्त कर आचार्य के घर (गुरुकुल) से विदा होकर अपने स्वजन सम्बन्धियों के साथ पवित्र स्थल में स्वाध्याय करता है। जो अपने पुत्रों व शिष्यों को धर्म पथ पर आरूढ़ कर समस्त इन्द्रियों को अपने अन्तःकरण में स्थिर कर लेता है तथा जो शास्त्रानुसार भूतों की हिंसा नहीं करता। वह निश्चित ही जीवन पर्यन्त श्रेष्ठ आचरण करता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है, तत्पश्चात् वापस नहीं लौटता, वापस नहीं आता (आवागमन से मुक्त हो जाता है।) ॥ १ ॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि.....इति शान्तिः ॥

॥ इति छान्दोग्योपनिषत्समाप्ता ॥

॥ तैत्तिरीयोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के तैत्तिरीय आरण्यक का एक भाग है। आरण्यक के १० अध्यायों में से क्रमशः सातवें, आठवें एवं नौवें अध्यायों को ही उपनिषदीय मान्यता मिली है। इसमें तीन वल्लियाँ (शीक्षा वल्ली, ब्रह्मानन्दवल्ली तथा भृगुवल्ली) हैं।

शीक्षावल्ली के प्रारम्भ में अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म नामक पाँच महासंहिताओं का वर्णन है तथा उनकी फलश्रुति भी दी गयी है। साधना क्रम में ॐकार तथा भूः भुवः स्वः महः आदि व्याहृतियों के महत्त्व का उल्लेख है। अन्त में अध्ययन एवं अध्यापन करने के लिए सदाचार परक मर्यादा सूत्रों का उल्लेख करके विचार के साथ आचार की महत्ता का बोध कराया गया है।

ब्रह्मानन्दवल्ली में हृदयगुहा में स्थित परमेश्वर को जानने का महत्त्व समझाते हुए उसके अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय कलेवरों का विवेचन है। आनन्द की मीमांसा में लौकिक आनन्द से लेकर उसके उत्तरोत्तर श्रेष्ठ स्वरूपों के वर्णन के साथ ब्रह्मानन्द तक की समीक्षा की गयी है। परमात्मा के आनन्द स्वरूप को समझने वालों की स्थिति का भी वर्णन है।

भृगुवल्ली में भृगु की ब्रह्मपरक जिज्ञासा का समाधान उनके पिता वरुण ने किया है। तत्त्वज्ञान को समझाकर उन्हें तपश्चर्या द्वारा स्वयं अनुभव करने का निर्देश दिया गया है। उन्होंने क्रमशः अन्न, प्राण, मन, विज्ञान एवं आनन्द को ब्रह्म रूप में अनुभव किया। तब वरुण ने उन्हें अन्नादि का दुरुपयोग न करके उसके सुनियोजन का विज्ञान समझाया। अन्त में भगवद्भाव प्राप्त साधक की स्थिति तथा उसके समतायुक्त उद्गारों का उल्लेख है।

॥ शान्ति-पाठः ॥

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

॥ अथ शीक्षावल्ली ॥

॥ प्रथमोऽनुवाकः ॥

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ १ ॥

मित्र देवता हमारे लिए कल्याणकारी हों। वरुणदेव हमारे लिए सुखप्रद हों। अर्यमादेव कल्याणकारी हों। इन्द्र तथा बृहस्पतिदेव सुखदायक हों। जिनके डग बहुत विशाल हैं, वे विष्णुदेव हमारे लिए शान्तिप्रद हों। ब्रह्म को नमस्कार है। हे वायो! आपको नमस्कार हो, क्योंकि आप प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं। आपको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहते हैं। सत्य और ऋत भी आपको कहते हैं। वह (ब्रह्म) हमारी रक्षा करे। हमारे आचार्य की रक्षा करे। हमारी तथा हमारे आचार्य दोनों की रक्षा करे। त्रिविध तापों से सर्वत्र शान्ति ॥ १ ॥

[इस मन्त्र में वायु को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा है, क्योंकि प्राण प्रवाह वायु के साथ संचरित होता है। ब्रह्म में सभी समाये हुए हैं और ब्रह्म सभी प्राणियों के जीवन रूप में संचरित है। इस सत्य के अनुरूप यह प्राणरूप-वायुमय परमात्म तत्त्व प्रत्यक्ष रूप में अनुभव गम्य है। सम्भवतः इसीलिए ऋषि ने वायु को प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा है।]

॥ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

ॐ शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम संतानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः ॥ १ ॥

हम शिक्षा =(शीक्षा)की व्याख्या करते हैं। वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम तथा सन्धि - ये सब शिक्षा की सार वस्तुएँ हैं। इस प्रकार इसे शिक्षा अध्याय कहा गया है॥ १ ॥

[वर्ण = अ, आ, आदि, स्वर = उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि वैदिक स्वर, मात्रा= ह्रस्व, दीर्घ आदि मात्रा, बल = वर्णोच्चारण में लगने वाली प्राणशक्ति, साम=मध्यम वृत्ति से उच्चारण करने की विधि तथा सन्तान=शब्दों की मिलन प्रक्रिया (सन्धि) है। शिक्षा का शीक्षा रूप वैदिक प्रयोग है।]

॥ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथातः सꣳहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥ पञ्चस्वधिकरणेषु। अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम्। ता महासꣳहिता इत्याचक्षते। अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः संधिः ॥ १ ॥ वायुःसंधानम्। इत्यधिलोकम्। अथाधिज्यौतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः संधिः। वैद्युतः संधानम्। इत्यधिज्यौतिषम्। अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्॥२ ॥ अन्तेवास्युत्तररूपम् । विद्या संधिः। प्रवचनꣳ संधानम्। इत्यधिविद्यम्। अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्। प्रजा संधिः। प्रजननꣳ संधानम्। इत्यधिप्रजम्॥ ३ ॥

हम दोनों (शिष्य और आचार्य) का यश साथ-साथ बढ़े, हम दोनों का ब्रह्मतेज भी साथ-साथ बढ़े। अब हम पाँच अधिकरणों में संहिता की-उपनिषद् की व्याख्या करते हैं। ये पाँच अधिकरण - अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म हैं। विद्वज्जन उन्हें महासंहिता कहते हैं। अब लोक सम्बन्धी संहिता का वर्णन करते हैं। इसका पूर्वरूप पृथ्वी है। उत्तररूप द्युलोक है। पृथिवी और द्यु के बीच का अन्तरिक्ष इसका संधि रूप है। वायु संधान (संयोजक) रूप है। यह लोक संबन्धी संहिता है। अब ज्योति सम्बन्धी संहिता का वर्णन करते हैं। (पृथ्वी स्थित) अग्नि पूर्व रूप है। (द्युलोक स्थित) आदित्य - सूर्य उत्तर रूप है, जल इन दोनों का संधि रूप है। (अन्तरिक्ष स्थित) विद्युत् इस संधि स्थान में संयोजक है। यह ज्योति सम्बन्धी संहिता है। अब विद्या सम्बन्धी संहिता का वर्णन करते हैं। गुरु इसका पूर्व रूप है। शिष्य उत्तररूप है और विद्या संधि रूप है। प्रवचन संधि में संयोजक है। यह विद्या सम्बन्धी संहिता है। अब संतति (प्रजा) सम्बन्धी संहिता का वर्णन करते हैं। माता पूर्व रूप है। पिता उत्तर रूप है। सन्तान संधि रूप है। प्रजनन कर्म संयोजक है। यह संतति सम्बन्धी संहिता है॥ १-३ ॥

अथाध्यात्मम्। अधरा हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक् संधिः। जिह्वा संधानम्। इत्यध्यात्मम्। इतीमा महासꣳहिताः। य एवमेता महासꣳहिता व्याख्याता वेद। संधीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्गेण लोकेन॥ ४॥

अब आत्मा (शरीर) सम्बन्धी संहिता का वर्णन करते हैं। नीचे का जबड़ा पूर्व रूप है। ऊपर का जबड़ा उत्तर रूप है। वाणी सन्धि रूप है। जिह्वा इसमें संयोजक है। यह आत्मा सम्बन्धी संहिता है। इस प्रकार ये पाँच संहिताएँ कही गयी हैं। जो पुरुष इन महासंहिताओं के सार तत्त्व को जान लेता है, वह प्रजा, पशु, ब्रह्मवर्चस, अन्नादि भोग्य पदार्थ और स्वर्ग लोक आदि से सम्पन्न हो जाता है॥ ४॥

[सामान्य रूप से संहिता, वर्णों के संयोजित समूह को कहते हैं। आचरण सूत्रों के संयोजित समूह को आचरण संहिता कहते हैं। इसी प्रकार जब विराट् इकाइयों लोक, ज्योति आदि के संयोजित समूहों का उल्लेख होता है, तो उन्हें 'महासंहिता' कहते हैं। वर्णों की संधि के चार भाग होते हैं :- पूर्व (पहले वाला), पर या उत्तर (बाद वाला), संधि (दोनों का संयुक्त रूप) तथा संधान (संयोजक नियम)। महासंधियों के वर्णन में भी ऋषि ने इन चारों भागों का उल्लेख किया है।]

॥ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव धारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय॥ १॥

जो वेदों में सर्वश्रेष्ठ है, सर्वरूप हैं। जिनका वेदों से विशेष रूप से प्राकट्य हुआ है, वे इन्द्रदेव (परमेश्वर) मुझे मेधा सम्पन्न बनाएँ। हे देव! मैं अमृत स्वरूप परमात्मा को धारण करने वाला बनूँ। मेरा शरीर स्फूर्तियुक्त हो। मेरी जिह्वा मधुर-भाषिणी हो। मेरे कान शुभ श्रवण करने वाले हों। आप मेधा से युक्त ब्रह्म की निधि के समान हैं। मेरे द्वारा सुनी गयी वाणियाँ विस्मृत न हों (रक्षित हों)॥ १॥

आवहन्ती वितन्वाना। कुर्वाणाचीरमात्मनः। वासाꣳसि मम गावश्च। अन्नपाने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा। आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा॥ २॥

हे देव! हमारे निमित्त उस श्री-सम्पदा को ले आएँ, जो तत्काल ही विविध वस्त्र, गौएँ, अन्नादि पदार्थ प्रदान करने वाली हो तथा रोमयुक्त पशुओं के साथ वैभव की वृद्धि करती हो। यह आहुति इसी निमित्त समर्पित है। ब्रह्मचारीगण हमारे पास आएँ। वे कपट रहित हों, वे प्रामाणिक ज्ञान को धारण करने वाले हों। वे इन्द्रियों का दमन करने वाले हों। वे मन का निग्रह करने वाले हों, इन सबके निमित्त आहुतियाँ समर्पित की जाती हैं॥ २॥

यशो जनेऽ सानि स्वाहा। श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा। तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा। तस्मिन् सहस्रशाखे। निभगाहं त्वयि मृजे स्वाहा। यथापः प्रवता यन्ति। यथा मासा अहर्जरम्। एवं मां ब्रह्मचारिणः। धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा। प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा पद्यस्व॥ ३॥

हम सब लोगों में यशस्वी हों। धनवानों में अधिक धनसम्पन्न हों। हे भगवन्! हम आपमें प्रविष्ट हों, आप हममें प्रविष्ट हों, हे सहस्र रूप वाले भगवन्! आपकी उपासना से हम पवित्र हों। इन सबके निमित्त आहुतियाँ समर्पित की जाती हैं। जैसे जल निम्न स्थानों की ओर प्रवाहित होते हुए समुद्र में पहुँच जाता है और माह, दिनों का क्षय करते हुए संवत्सर में विलीन हो जाते हैं। हे विधातः! उसी प्रकार ब्रह्मचारीगण सब ओर से हमारे पास आएँ, आप हमारे आश्रयस्थल हैं। आप हमें प्रकाशित करें। आप हमें प्राप्त हों॥ ३॥

॥ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामुह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति । तद्ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः। भूरिति वा अयं लोकः । भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः ॥ १॥ मह इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते। भूरिति वा अग्निः । भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः। मह इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतींषि महीयन्ते। भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूंषि॥ २॥ मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते। भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति॥ ३॥

भूः, भुवः, स्वः - ये तीन व्याहृतियाँ हैं। उनसे भिन्न जो चौथी व्याहृति महः है, जिसे सर्वप्रथम महाचमस के पुत्र ने जाना था। वह महः ही ब्रह्म है। वही ब्रह्म की आत्मा है। अन्य देवता उसके अंग हैं। भूः - यह व्याहृति पृथिवी लोक है। भुवः - यह व्याहृति अन्तरिक्ष लोक है। स्वः - यह व्याहृति स्वर्गलोक है। महः - आदित्य है। उस आदित्य से ही सम्पूर्ण लोक महिमा को प्राप्त होते हैं। भूः - यह व्याहृति ही अग्नि है। भुवः- यह व्याहृति वायु है। स्वः- यह व्याहृति आदित्य है। महः - यह व्याहृति चन्द्रमा है। चन्द्रमा से ही समस्त ज्योतियाँ महिमा को प्राप्त होती हैं। भूः - यह ऋग्वेद है। भुवः - यह सामवेद है। स्वः- यह यजुर्वेद है। महः- यह ब्रह्म है। ब्रह्म से ही समस्त वेद महिमा को प्राप्त होते हैं। भूः - यह प्राण है। भुवः- यह अपान है। स्वः- यह व्यान है। महः- यह अन्न है। अन्न से ही सभी प्राणों में बल संचार होता है। ये चारों व्याहृतियाँ चार प्रकार की हैं। एक-एक के चार-चार भेद होने से कुल सोलह व्याहृतियाँ होती हैं। इस प्रकार जो जानता है, वह ब्रह्म को जान लेता है। उस पुरुष के लिए सम्पूर्ण देवता अपने अनुदान प्रदान करते हैं॥ १-३॥

॥ षष्ठोऽनुवाकः ॥

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले। भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ॥ १॥ सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि। आप्नोति स्वाराज्यम्। आप्नोति मनसस्पतिम्। वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः। श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः। एतत्ततो भवति। आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्म प्राणारामं मन आनन्दम्। शान्तिसमृद्धममृतम्। इति प्राचीनयोग्योपास्स्व॥ २॥

इस हृदयस्थ आकाश भाग में , वह मनोमय अमृत स्वरूप, प्रकाश स्वरूप परम पुरुष प्रतिष्ठित है। दोनों तालुओं के बीच जो यह स्तन के समान लटक रहा है, (उसके ऊपर) जहाँ केशों का मूल भाग है। शीर्ष कपाल को भेदकर सुषुम्ना नाड़ी जाती है, वह (सहस्रार या ब्रह्मरंध्र) इन्द्र योनि है। निर्वाण काल में साधक भूः स्वरूप अग्नि में प्रतिष्ठित होता है। भुवः स्वरूप वायु में प्रतिष्ठित होता है। स्वः स्वरूप आदित्य

में तथा महः स्वरूप ब्रह्म में अधिष्ठित होता है। (ब्रह्मवेत्ता साधक) अपने राज्य में अधिष्ठित होता है, वह सम्पूर्ण मन का स्वामी, वाणी, नेत्रों, कर्णों और विज्ञान का स्वामी हो जाता है। पूर्वोक्त साधन का यह फल मिलता है। वह ब्रह्म आकाश के सदृश विशाल है। वह सत्यरूप आत्म तत्त्व है, वह प्राणों को विश्राम देने वाला, मन को आनन्द देने वाला, शान्त और अमृत स्वरूप है। वही सर्वथा पुरातन पुरुष उपासना के योग्य है॥ १-२ ॥

[इन्द्र शासक-संगठक के प्रतीक हैं। मनुष्य शरीर में स्थित देवता स्वरूप प्राण धाराओं को नियमित करने की सामर्थ्य सहस्त्रार एवं ब्रह्मरन्ध्र में सन्निहित होने से उसे इन्द्र योनि कहा गया है।]

॥ सप्तमोऽनुवाकः ॥

इस अनुवाक में ऋषि ने पाँच-पाँच तत्त्वों की विभिन्न पंक्तियों-शृंखलाओं का उल्लेख किया है और उन्हें एक दूसरे का पूरक कहा है-

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशाः। अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा। इत्यधिभूतम्। अथाध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः। चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक् । चर्म मांसं स्नावास्थिमज्जा। एतदधि-विधाय ऋषिरवोचत्। पाङ्क्तं वा इदं सर्वम्। पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तं स्पृणोतीति॥ १ ॥

पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशाएँ तथा अवान्तर दिशाएँ (दिशाओं के बीच के कोण) यह लोकों की पंक्ति है। अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा तथा समस्त नक्षत्र (यह ज्योति शृंखला में है)। जल, ओषधियाँ, वनस्पतियाँ, आकाश तथा आत्मा (यह काया से सम्बद्ध है), यह आधिभौतिक वर्णन हुआ। अब आध्यात्मिक वर्णन करते हैं- प्राण, व्यान, अपान, उदान और समान (यह प्राण समूह है) । चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी तथा त्वचा (यह करणों-इन्द्रियों की पंक्ति है)। चर्म, मांस, नाड़ी, हड्डी और मज्जा (यह शरीर के धातु समूह में है)। यह परिपूर्ण कल्पना करते हुए ऋषि ने कहा है- यह सब पंक्तियों का समूह है। पंक्तियों से ही पंक्तियों की पूर्ति होती है॥ १ ॥

॥ अष्टमोऽनुवाकः ॥

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदꣳसर्वम्। ओमित्येतदनुकृतिर्हस्म वा अप्यो श्रावयेत्या-श्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओꣳशोमिति शस्त्राणि शꣳसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति॥ १ ॥

ॐ ही ब्रह्म है। ॐ ही यह प्रत्यक्ष जगत् है। ॐ ही इसकी (जगत् की) अनुकृति है। हे आचार्य! ॐ के विषय में और भी सुनाएँ। आचार्य सुनाते हैं। ॐ से प्रारम्भ करके सामगायक सामगान करते हैं। ॐ-ॐ कहते हुए ही शस्त्र रूप मन्त्र पढ़े जाते हैं। ॐ से ही अध्वर्यु प्रतिगर मन्त्रों का उच्चारण करता है। ॐ कहकर अग्निहोत्र आरम्भ किया जाता है। अध्ययन के समय ब्राह्मण ॐ कहकर ब्रह्म को प्राप्त करने की बात कहता है। ॐ के द्वारा वह ब्रह्म को प्राप्त करता है॥ १ ॥

॥ नवमोऽनुवाकः ॥

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने

च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः॥ १॥

सत्य आचरण, सत्यवाणी के साथ-साथ शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन भी करें। तपश्चर्या, इन्द्रियों के दमन, मन के निग्रह के साथ-साथ शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन भी करें। प्रजा उत्पत्ति, प्रजनन, प्रजा-वृद्धि के कर्म के साथ-साथ शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन भी करें। रथीतर के पुत्र सत्यवचा ऋषि कहते हैं- सत्य ही इनमें श्रेष्ठ है। पुरुशिष्ट के पुत्र तपोनित्य नामक ऋषि कहते हैं-तप ही सर्वोत्तम है। मुद्गल के पुत्र नाक मुनि कहते हैं- शास्त्रों का अध्ययन और अध्यापन ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि वही तप है, वही तप है ॥ १॥

[यहाँ ऋषि ने मनुष्य के लिए स्वाध्याय की अनिवार्यता प्रकट की है।]

॥ दशमोऽनुवाकः॥

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीवस्वमृतमस्मि। द्रविणꣳ सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्॥ १॥

मैं विश्व वृक्ष का उच्छेदक हूँ। मेरा यश गिरि शिखर के सदृश ऊँचा है। अन्नोत्पादक सूर्य में व्याप्त अमृत के सदृश मैं भी अतिपवित्र अमृत स्वरूप हूँ । मैं तेजोयुक्त सम्पदावान् , उत्तम मेधावान् और अमृत से अभिषिक्त हूँ - यह त्रिशङ्कु ऋषि की ज्ञान-अनुभव से युक्त वाणी है॥ १॥

॥ एकादशोऽनुवाकः॥

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देव पितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्॥ १॥ मातृदेवो भव। पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि ॥ २॥ नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः तेषां त्वयाऽऽसने न प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽ देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्॥ ३॥ ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्॥ ४॥

वेद अध्यापन के बाद आचार्य आश्रम के विद्यार्थियों को शिक्षण देते हैं - सत्य बोलो। धर्म का आचरण करो। स्वाध्याय में प्रमाद न करो। आचार्य को अभीष्ट धन प्रदान करो। प्रजाओं (सन्तान) की परम्परा विच्छिन्न न होने दो। सत्य से न डिगो, धर्म से न डिगो, शुभ कर्मों में प्रमाद न करो, प्रगति के साधन न छोड़ो, शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन में प्रमाद न करो। देव और पितृ कर्मों का त्याग न करो। माता-पिता को देव रूप मानो, आचार्य को देवता समझो। अतिथि को देवरूप मानो। जो दोष रहित कर्म वर्णित हैं, उन्हीं का आचरण करो। अन्य का नहीं। हमारे (शास्त्रादि में वर्णित) जो श्रेष्ठ चरित्र हैं, उसी की उपासना करो, अन्य की नहीं। हमसे (स्वयं से) श्रेष्ठ जो ब्राह्मण (आचार्य आदि) आएँ, उन्हें उत्तम आसन देकर विश्राम देना चाहिए। दानादि (श्रद्धा पूर्वक) देने योग्य है। बिना श्रद्धा के दान देने योग्य नहीं। आर्थिक स्थिति के अनुरूप दान देने योग्य है। लज्जा (सामाजिकता की शर्म) तथा (सिद्धान्त के) भय से भी दान देना उचित है। संविद्-मैत्री आदि के निर्वाह के लिए देना चाहिए। यदि आपको कर्म और आचरण के विषय में किसी तरह का सन्देह हो। (ऐसी स्थिति में) विचारशील, परामर्शदाता, आचरणनिष्ठ, निर्मल बुद्धि वाले धर्माभिलाषी ब्राह्मण से परामर्श करना चाहिए। वे जिस व्यवहार का आदेश करें, वैसा ही व्यवहार वहाँ करना चाहिए । किसी अपराध से लाञ्छित व्यक्ति के विषय में कोई सन्देह उपस्थित हो, तो विचारशील, परामर्शकुशल, आचरणनिष्ठ, निर्मल मति वाले, धर्माभिलाषी ब्राह्मण से परामर्श करना चाहिए। वे जैसे व्यवहार का आदेश करें, वैसा ही व्यवहार करना चाहिए। यही आपके लिए आदेश और उपदेश है। यही वेद आज्ञा है। यही ईश्वर का अनुशासन है। इन सिद्धान्तों की ही उपासना करनी चाहिए। यही उपास्य है ॥ १-४ ॥

[आचार्य अपनी ओर से अनुशासन समझाते हैं; किन्तु शिष्यों को स्वयं तक सीमित नहीं रखते। शंका होने पर किसी धर्माचरण युक्त ब्राह्मण से परामर्श लेने का परामर्श देते हैं। ब्राह्मण संज्ञा उस व्यक्ति के लिए है, जो ज्ञानयुक्त और निस्पृह हैं। जिसने ज्ञान को धर्माचरण के रूप में अपने जीवन में उतार लिया है, वही व्यक्ति मोह और भय से मुक्त होकर सही परामर्श दे सकता है। आचार्य श्रेष्ठ जीवन-श्रेष्ठ सिद्धान्तों को ही उपास्य मानते हैं।]

॥ द्वादशोऽनुवाकः ॥

शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं नो इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ १ ॥

मित्रदेव हमारे लिए कल्याणप्रद हों। वरुण देव कल्याणकारी हों। अर्यमादेव हमारे लिए कल्याणकारी हों। इन्द्रदेव, बृहस्पतिदेव भी हमारे लिए शान्तिप्रद हों। विशाल डग (पादक्षेप) वाले विष्णु देव हमारे लिए कल्याणप्रद हों। ब्रह्म को नमस्कार है। हे वायुदेव! आपको नमस्कार है। आप ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं। आपको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा गया है। आप ही ऋत और सत्य नाम से कहे गये हैं। उस ब्रह्म ने हमारी और आचार्य की रक्षा की है। त्रिविध तापों से सर्वत्र शान्ति हो॥ १ ॥

॥ अथ ब्रह्मानन्दवल्ली ॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

वह परमात्मा हम दोनों (आचार्य और शिष्य) की साथ-साथ रक्षा करे। हम दोनों का साथ-साथ पोषण करे। हम दोनों साथ-साथ पराक्रम करें। हमारा अध्ययन (ज्ञान) तेजोयुक्त हो। हम परस्पर द्वेष-भाव से दूर हों। त्रिविध तापों की शान्ति हो।

॥ प्रथमोऽनुवाकः ॥

ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाऽभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति। तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥ १॥

श्रुति में यह कहा गया है कि ब्रह्मवेत्ता साधक परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। वह ब्रह्म सत्य, ज्ञान-स्वरूप और अनन्त है। जो साधक परम आकाश में और प्राणियों की हृदय गुहा में सन्निहित उस ब्रह्म को जान लेता है, वह विशिष्ट ज्ञान स्वरूप उस ब्रह्म के साथ समस्त भोगों का उपभोग करता है। निश्चय ही उस परमात्मा से सर्वप्रथम आकाश तत्त्व प्रकट हुआ। तदनन्तर आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी तत्त्व उत्पन्न हुआ। पृथिवी से ओषधियाँ और ओषधियों से अन्न प्राप्त हुआ। अन्न से पुरुष वृद्धि को प्राप्त हुआ। पुरुष निश्चय ही उस अन्न के रस स्वरूप में है। उसका यह (मनुष्य रूपी पक्षी का) सिर है। एक बाहु दक्षिण पंख है। अन्य बाहु वाम पंख है। आत्मा मध्य भाग है। ये पैर ही पूँछ और प्रतिष्ठा हैं। उसी विषय में ये श्लोक उल्लिखित हैं॥ १॥

॥ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

आगे के मन्त्रों में ईश्वर से पंचभूतों की उत्पत्ति तथा मनुष्य की काया में संव्याप्त पंच कोशों का वर्णन किया गया है। मनुष्य की काया में समाहित उन सभी कोशों का आकार मनुष्य की स्थूल काया के अनुरूप ही होता है। मनुष्य को पक्षी मानकर उसके सिर, पंख, मध्यभाग एवं पूँछ की संगति बिठाते हुए पाँचों कोषों का वर्णन किया गया है-

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। यः काश्च पृथिवीꣳश्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः। अन्नꣳहि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति। येऽन्नं ब्रह्मोपासते। अन्नꣳहि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद्भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यत इति। तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥ १॥

वे सभी प्राणी अन्न से ही उत्पन्न होते हैं, जो पृथिवी के आश्रय में स्थित हैं। अन्न से ही वे जीवित रहते और अन्त में अन्न में ही विलीन हो जाते हैं। अन्न ही सभी तत्त्वों में श्रेष्ठ है। इसीलिए यह सर्वौषधिरूप कहा गया है। जो अन्नरूपी ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे पुरुष सम्पूर्ण अन्न को प्राप्त करते हैं। अन्न ही सभी तत्त्वों में श्रेष्ठ है। इसलिए यह सर्वौषधिरूप कहा गया है। अन्न से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। प्राणियों की वृद्धि अन्न से ही होती है। प्राणियों द्वारा अन्न खाया जाता है और अन्न भी प्राणियों को खाता है, इसीलिए वह अन्न **(अद्यते वा अत्ति च वा अन्नं)** कहा जाता है। उस अन्न रस युक्त देह से भिन्न इस देह के अन्दर प्राण रूप आत्मा पूर्ण रूप से व्याप्त है। यह प्राणरूप आत्मा निश्चय ही पुरुष के आकार का है। पुरुष की आकृति में व्याप्त होने से यह पुरुष के ही आकार का है। उस प्राणगत देह का प्राण ही सिर है। व्यान दाहिना पंख है। अपान वाम पंख है। आकाश उस देह का मध्य भाग है और पृथ्वी उसका पुच्छ एवं आधार भाग है। यह श्लोक उस प्राणगत देह के विषय में है॥ १॥

॥ तृतीयोऽनुवाकः ॥

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति। ये प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग् दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति ॥

जो देवगण, मनुष्य और पशु आदि प्राणी हैं, वे प्राण के आश्रय से ही चेष्टा करते हैं, क्योंकि प्राण ही समस्त प्राणियों की आयु है, अतः यह सभी प्राणियों का जीवन है। जो प्राण रूप ब्रह्म की उपासना करते हैं, वे पुरुष दीर्घ आयु को प्राप्त करते हैं। निश्चय ही प्राण सम्पूर्ण प्राणियों का जीवन है, इसी से यह सभी प्राणियों की आयु कहा गया है। यही उस पूर्वोक्त अन्नमय शरीर की अन्तरात्मा है। उस प्राणमय देह के अन्तर्गत उससे भिन्न एक मनोमय आत्मा पूर्णरूप से व्याप्त है। यह निश्चय ही पुरुष के आकार का है। प्राणमय पुरुष की आकृति में व्याप्त होने से यह मनोमय देह भी पुरुष के ही आकार का है। उस मनोमय देह का सिर यजुर्वेद है। ऋग्वेद दाहिना पक्ष है। सामवेद बायाँ पक्ष है। आदेश उस देह का मध्य भाग है। अथर्वा और अङ्गिरा ऋषि द्वारा दृष्ट अथर्व के मन्त्र ही उसका पुच्छ एवं आधार भाग है। यह श्लोक उस मनोमय देह के विषय में है॥ १॥

॥ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति। तस्यैष एवं शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥ १॥

जिस ब्रह्म के आनन्द की अनुभूति में मन के साथ वाणी भी असमर्थ रहती है, उसका बोध (आनुभविक ज्ञान) करने वाला विद्वान् कभी भयग्रस्त नहीं होता। यह मनोमय शरीर अपने पूर्ववर्ती प्राणमय शरीर का आत्मा (आधार) है। उस मनोमय शरीर से भिन्न आत्मा विज्ञानमय है, जो मनोमय शरीर में पूर्ण व्याप्त है। वह विज्ञानमय देह पुरुष के आकार का है। यह मनोमय देह के अन्तर्गत पुरुष की आकृति में समाहित है। उस विज्ञानमय देह का सिर श्रद्धा है। ऋत (सनातन सत्य) उसका दाहिना पक्ष है। सत्य (प्रत्यक्ष सत्य) उसका बायाँ पक्ष है। योग उसका मध्य भाग है। 'महः' को उसका पुच्छ और आधार भाग कहा गया है। उस विज्ञानमय देह के विषय में यह श्लोक है॥ १॥

॥ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान्कामान्समश्नुत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥ १॥

विज्ञान ही यज्ञों और कर्मों की वृद्धि करता है। सम्पूर्ण देवगण विज्ञान की, श्रेष्ठ ब्रह्म रूप में उपासना करते हैं। जो विज्ञान को ब्रह्म स्वरूप में जानते हैं, उसी प्रकार के चिंतन में रत रहते हैं, तो वे इसी शरीर से पापों से मुक्त होकर सम्पूर्ण कामनाओं की सिद्धि प्राप्त करते हैं। उस विज्ञानमय देह के अन्तर्गत वह आत्मा ही ब्रह्मरूप है। उस विज्ञानमय आत्मा से भिन्न उसके अन्तर्गत आनन्दमय आत्मा पूर्णतः व्याप्त है। यह भी पुरुष के आकार का ही है। यह उस विज्ञानमय पुरुष देह में व्याप्त होने से पुरुष आकृति का ही है। प्रेम उस आनन्दमय शरीर का सिर है। मोद दाहिना पक्ष है। प्रमोद बायाँ पक्ष है। आनन्द उस विज्ञानमय देह का मध्यभाग है। ब्रह्म ही उसका पुच्छ एवं आधार है। उसी आनन्दमय देह के विषय में यह श्लोक है॥

॥ षष्ठोऽनुवाकः ॥

असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति। तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य । अथातोऽनुप्रश्नाः । उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चन गच्छती३ । आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चित्समश्नुता ३ उ। सोऽ कामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदꣳ सर्वमसृजत। यदिदं किंच। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च। सत्यमभवत्। यदिदं किंच। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति॥ १॥

जो ब्रह्म के अस्तित्व को सत्य नहीं मानता, वह असत्य ही हो जाता है, परन्तु जो ब्रह्म को सत्य स्वीकार करता है, उसे विद्वज्जन सन्त समझते हैं। जो विज्ञानमय शरीर का आत्मा है, वही आनन्दमय शरीर का भी है। अब अनु प्रश्न प्रारम्भ होते हैं। अज्ञानी पुरुष मरने के बाद परलोक गमन करता है या नहीं,

अथवा ज्ञानी पुरुष मरने के बाद परलोक गमन करता है या नहीं ? उस परमात्मा ने अनेक रूपों में प्रकट होने की कामना की। तब उसने तप किया। तप करके उसने इस सम्पूर्ण जगत् की रचना की। जगत् की उत्पत्ति के बाद वह उसी में प्रविष्ट हो गया। प्रविष्ट होने पर वह साकार और निराकार हो गया। वह वर्ण्य और अवर्ण्य हो गया तथा आश्रयरूप एवं निराश्रयरूप हो गया। वही चैतन्य एवं जड़ रूप हुआ। वही सत्य स्वरूप परमात्मा ही सत्य एवं मिथ्यारूप हो गया। विद्वज्जन कहते हैं, जो कुछ भी अनुभव में आता है, वह सत्य ही है। इसी विषय में यह श्लोक है॥ १॥

॥ सप्तमोऽनुवाकः ॥

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानꣳ स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति। यद्वै तत्सुकृतम्। रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति । को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति ॥ १॥

सृष्टि से पूर्व यह सम्पूर्ण जगत् असत् (अव्यक्त) रूप में ही था, उससे ही यह दृश्यमान जगत् उत्पन्न हुआ है। वह ब्रह्म स्वयं ही जगत् रूप में प्रकट हुआ है; अतः वह सुकृत कहा जाता है। जो सुकृत है, वही रसरूप है। इस रस को पाकर जीव आनन्दित होता है। वही आकाश की भाँति व्यापक और आनन्द स्वरूप है। यदि वह न होता, तो कौन जीवित रहता ? कौन चेष्टाएँ करता ? निश्चय ही वही सबको आनन्द प्रदान करने वाला है। जब कोई जीवात्मा उस अदृश्य, शरीर रहित, अवर्ण्य, निराश्रय परमात्मा में निर्भय होकर स्थित हो जाता है, तो वह अभयपद को प्राप्त होता है। जब तक वह (जीवात्मा) परमात्मा से विमुक्त रहता है, तब तक भय से युक्त होता है। वही भय अहंकारी विद्वान् को भी होता है। उस सन्दर्भ में यह (अगला) मन्त्र है॥ १॥

॥ अष्टमोऽनुवाकः ॥

भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति। सैषाऽऽनन्दस्य मीमाꣳसा भवति। युवा स्यात्साधुयुवाध्यायकः। आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः। स एक आजानजानां देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः। स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः। ये कर्मणा देवानपि यन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः। स एको देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्यानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये

शतमिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः। स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतंमनोमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति। तदप्येष श्लोको भवति॥ १॥

इस (परब्रह्म) के भय से ही वायु बहता है। इसके भय से ही सूर्य उदित होता है। इसके भय से ही अग्नि, इन्द्र और पाँचवें मृत्यु के देवता यम-सभी अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त हैं। अब आनन्द विषयक विवेचन किया जाता है- कोई सदाचारी युवक, जो वेदों के अध्ययन से युक्त हो, सुदृढ़ अंगों वाला, बलिष्ठ, व्यवहार कुशल हो, साथ ही उसे समस्त वैभव से परिपूर्ण पृथिवी प्राप्त हो जाए, तो यह इस लोक (मनुष्य) का एक आनन्द है। जो मनुष्यलोक के सौ आनन्द हैं। वह मानव गन्धर्व के एक आनन्द के तुल्य है। वह शुद्ध अन्तःकरण वाले श्रोत्रिय मनुष्य को स्वाभाविक रूप से प्राप्त है। जो मानव गन्धर्व के सौ आनन्द हैं, वे देवगन्धर्व के एक आनन्द के तुल्य है, वह कामना रहित श्रोत्रिय मनुष्य को स्वाभाविक रूप से प्राप्त है। जो देव गन्धर्व के सौ आनन्द हैं, वह पितृलोक को प्राप्त हुए पितरों के एक आनन्द के तुल्य है, वह कामनाओं से विरक्त श्रोत्रिय मनुष्य को सहज ही प्राप्त है। जो पितृगण स्थायी रूप से पितृलोक को प्राप्त हुए हैं, उनके सौ आनन्द आजानज संज्ञक देवों का एक आनन्द है, वह कामनाओं से विरक्त श्रोत्रिय मनुष्य को सहज ही प्राप्त है। जो आजानज संज्ञक देवों के सौ आनन्द हैं, वह कर्मदेव संज्ञक देवों के एक आनन्द के तुल्य है। जो मनुष्य अपने शुभकर्मों द्वारा देवत्व को प्राप्त हुए हैं, जो कामनाओं से विरत हैं, उन्हें वह आनन्द स्वाभाविक रूप से ही प्राप्त है। जो कर्मदेव संज्ञक देवों के सौ आनन्द हैं, वह देवों के एक आनन्द के तुल्य है, वह आनन्द कामना रहित श्रोत्रिय मनुष्य को सहज ही प्राप्त है। जो देवों के सौ आनन्द हैं, वह इन्द्र का एक आनन्द है, वह कामनारहित श्रोत्रिय मनुष्य को सहज प्राप्त है। जो इन्द्रदेव के सौ आनन्द हैं, वह बृहस्पतिदेव के एक आनन्द के तुल्य है, जो श्रोत्रिय मनुष्य उस आनन्द की कामना से मुक्त है, उसे वह आनन्द सहज ही प्राप्त है। जो देव प्रजापति के सौ आनन्द हैं, वह ब्रह्मा के एक आनन्द के तुल्य है, जो श्रोत्रिय मनुष्य उस आनन्द की कामना भी नहीं रखता, उसे वह आनन्द सहज ही प्राप्त है। जो ब्रह्म इस मनुष्य में है, वही सूर्य में भी है। जो साधक इस रहस्य को जान लेता है, वह इस लोक से जाते हुए अन्नमय आत्मा को प्राप्त कर लेता है। वह इस प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय आत्मा को भी प्राप्त कर लेता है। उसी के विषय में यह श्लोक है॥ १॥

[यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि केवल पृथ्वी एवं सम्पत्ति से आनन्द प्राप्ति सम्भव नहीं है, उसके लिए समग्र व्यक्तित्व ही श्रेष्ठ होना चाहिए। अगले मंत्रों में श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर आनन्द का उल्लेख है। ऋषि बार-बार कहते हैं कि वह आनन्द "श्रोत्रियस्य च अकाम हतस्य" है, अर्थात् जो ज्ञान सम्पन्न है तथा कामनाओं से आहत नहीं है, उसी के लिए यह आनन्द है। अज्ञानी हीनसुखों में ही भटक जाता है, श्रेष्ठ आनन्द तक पहुँचना ही नहीं चाहता। छाले जैसे रोगों से आहत जीभ जिस प्रकार स्वादिष्ट व्यंजनों का रस नहीं ले सकती, उसी प्रकार कामनाओं से आहत मन-अन्तःकरण श्रेष्ठ आनन्द की अनुभूति नहीं कर पाता।]

॥ नवमोऽनुवाकः ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चनेति। एतꣳह वाव न तपति किमहꣳ साधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मानꣳ स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानꣳ स्पृणुते य एवं वेद । इत्युपनिषत्॥ १ ॥

जिस ब्रह्मानन्द की अनुभूति में मन के साथ वाणी असमर्थ रहती है, उसका बोध करने वाला विद्वान् कभी भयग्रस्त नहीं होता। विद्वज्जनों को इस बात की चिन्ता संतप्त नहीं करती कि उन्होंने श्रेष्ठ कर्म क्यों नहीं किया? उन्होंने पाप कर्मों को क्यों किया? जो विद्वान् पाप-पुण्य दोनों ही कर्मों को जानता है, वह पापों से अपनी रक्षा करता है। जो विद्वान् पाप-पुण्य दोनों ही कर्मों के बन्धन को जानता है, वह दोनों ही कर्मों में आसक्त न होकर अपनी रक्षा करता है। यह उपनिषद् वाणी है॥ १ ॥

॥ अथ भृगुवल्ली ॥

॥ प्रथमोऽनुवाकः ॥

भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत्प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। तꣳ होवाच। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥ १ ॥

भृगु वारुणि अपने पिता देव वरुण के पास गये और बोले - हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश करें। देव वरुण ने उनसे कहा - अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाणी ये सब उस ब्रह्म की प्राप्ति के साधन हैं। ये समस्त प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, जिसके आश्रय से जीवन जीते हैं और अन्त में इस लोक से प्रयाण कर जिसमें लय होते हैं, उस ब्रह्म को तत्त्वतः जानने की जिज्ञासा करो। वही ब्रह्म है। इस प्रकार जानकर भृगु ऋषि तप करने लगे। तप करने के अनन्तर॥ १ ॥

॥ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥ १ ॥

(तप के अनन्तर) उन्हें बोध हुआ कि अन्न ही ब्रह्म है। निश्चय ही सभी प्राणी अन्न से ही उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न प्राणी अन्न से ही जीवित रहते हैं और अन्त में मृत्यु आने पर इस लोक से प्रयाण कर अन्न में ही प्रविष्ट होते हैं। ऐसा जानकर वे पुनः अपने पिता वरुणदेव के पास गये। (उनके द्वारा पूर्ण समर्थन न मिलने पर) पुनः भृगु ऋषि बोले- भगवन्! तो ब्रह्म क्या है? ब्रह्म का बोध कराएँ।

उन्होंने कहा- तप से ब्रह्म को तत्त्वत: जानने की जिज्ञासा करो। तप ही ब्रह्म है। अत: भृगु ऋषि पुन: तप करने लगे। तप करने के अनन्तर ॥ १ ॥

॥ तृतीयोऽनुवाक: ॥

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥ १ ॥

(तप के अनन्तर) उन्हें बोध हुआ कि प्राण ही ब्रह्म है। यथार्थ में सभी प्राणी प्राण से ही उत्पन्न होते हैं, उत्पत्ति के बाद प्राण से ही जीवित रहते हैं और अन्त में इस लोक से प्रयाण कर प्राण में ही प्रविष्ट होते हैं। इस प्रकार जानकर वे पुन: अपने पिता वरुणदेव के पास गये। (उनके द्वारा पूर्ण समर्थन न मिलने पर) पुन: भृगु ऋषि बोले- भगवन्! ब्रह्म तत्त्वत: क्या है, उसका बोध कराएँ। उन्होंने कहा-तप से ब्रह्म को तत्त्वत: जानो। तप ही ब्रह्म है, ऐसा जानकर भृगु ऋषि तप करने लगे। तप करने के अनन्तर॥ १ ॥

॥ चतुर्थोऽनुवाक: ॥

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मन:प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥ १ ॥

(तप के अनन्तर) उन्होंने जाना कि वास्तव में मन से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर मन से ही जीवन जीते हैं और अन्त में इस लोक से प्रयाण कर मन में ही प्रविष्ट होते हैं। ऐसा जानकर भृगु ऋषि पुन: अपने पिता वरुणदेव के पास गये। (अपने ज्ञान बोध का पूर्ण समर्थन न मिलने पर पुन: कहा-) भगवन्! यथार्थ में ब्रह्म क्या है, उसका बोध कराएँ। देववरुण ने कहा-तप से उस ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जानो। तप ही ब्रह्म है। भृगु ऋषि पुन: तप करने लगे। तप करने के अनन्तर..... ॥ १ ॥

॥ पञ्चमोऽनुवाक: ॥

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥ १ ॥

(तप के अनन्तर) उन्होंने जाना कि वास्तव में विज्ञान से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। उत्पत्ति के बाद विज्ञान से ही जीवन जीते हैं। अन्त में प्रयाण करते हुए विज्ञान में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार जानकर वे पुन: अपने पिता वरुणदेव के पास गये। (अपने बोध का पूर्ण समर्थन न मिलने पर उन्होंने पुन: कहा)- भगवन्! यथार्थ में ब्रह्म क्या है, उसका बोध कराएँ। देव वरुण ने कहा- तप से उस ब्रह्म को तत्त्वत: जानो। तप ही ब्रह्म है। भृगु ऋषि पुन: तप करने लगे। तप करने के अनन्तर..... ॥ १ ॥

॥ षष्ठोऽनुवाकः ॥

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । सैषा भार्गवी वारुणी विद्या। परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। स य एवं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या॥ १ ॥

(तप के अनन्तर) उन्होंने जाना कि आनन्द ही ब्रह्म है। वास्तव में आनन्द से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। उत्पत्ति के बाद आनन्द से ही जीवन जीते हैं और अन्त में आनन्द में ही प्रविष्ट होते हैं। इस प्रकार भृगु ऋषि ब्रह्मज्ञान से पूर्ण हुए। भृगु ऋषि द्वारा अनुभूत तथा देव वरुण द्वारा वर्णित यह ब्रह्म विद्या परम व्योम (व्यापक आकाश) में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार जो साधक ब्रह्म के आनन्द स्वरूप को जानता है। वह प्रचुर अन्न, पाचन शक्ति, प्रजा-पशु, ब्रह्मवर्चस तथा महान् कीर्ति से सम्पन्न होकर महान् हो जाता है॥

[ऋषि स्पष्ट करते हैं कि श्रेष्ठतम ब्रह्मविद्या किसी व्यक्ति विशेष के आश्रित नहीं है, वह परम व्योम में स्थित है। भृगु की तरह कोई भी साधक अपनी अनुभूति-सामर्थ्य को तप द्वारा प्रखर-परिष्कृत बनाकर उसका बोध प्राप्त कर सकता है।]

॥ सप्तमोऽनुवाकः ॥

अन्नं न निन्द्यात्। तद्व्रतम् । प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम् । प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या॥ १ ॥

अन्न की निन्दा न करे। वह व्रत है। प्राण ही अन्न है। शरीर उस अन्न का भक्षण करने वाला है। शरीर प्राण के आश्रय में स्थित है और प्राण शरीर के आश्रय में अधिष्ठित है। इस प्रकार अन्न में ही अन्न प्रतिष्ठित है। जो साधक इस रहस्य को जानता है, वह उसी में प्रतिष्ठित हो जाता है। वह (साधक) अन्न -पाचन शक्ति, प्रजा, पशु, ब्रह्मवर्चस तथा महान् कीर्ति से सम्पन्न होकर महान् हो जाता है॥ १ ॥

॥ अष्टमोऽनुवाकः ॥

अन्नं न परिचक्षीत। तद्व्रतम्। आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या ॥ १ ॥

अन्न का कभी तिरस्कार न करे। वह व्रत है। जल ही अन्न है। तेजस् अन्न का भोग करने वाला है। जल में तेजस् स्थित है और तेजस् में जल अधिष्ठित है। इस प्रकार अन्न में ही अन्न प्रतिष्ठित है। जो साधक अन्न में अन्न प्रतिष्ठित है, इस रहस्य को जानता है, वह अन्नरूपी ब्रह्म में अधिष्ठित होता है। वह अन्नादि साधन, पाचन शक्ति, सन्तान, पशु, ब्रह्मवर्चस और कीर्ति से समृद्ध होकर महान् हो जाता है॥ १ ॥

[जल में तेजस् की अनुभूति सहज की जा सकती है। मोती या किसी चमकदार वस्तु की चमक (तेजस्विता) घटती है, तो कहा जाता है, उसका पानी उतर गया या 'आब' कम हो गई। 'आब' अरबी में पानी को ही कहते हैं, जो सम्भवतः संस्कृत के 'अप्' का ही परिवर्तित रूप है।]

॥ नवमोऽनुवाकः ॥

अन्नं बहु कुर्वीत। तद्व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या॥ १॥

अन्न को बढ़ाएँ। वह एक व्रत है। पृथ्वी ही अन्न है। आकाश पार्थिव अन्न का आधार रूप होने से उसका भोक्ता है। पृथ्वी में आकाश स्थित है और आकाश में पृथ्वी अधिष्ठित है। इस प्रकार अन्न में अन्न स्थित है। जो विद्वान् इस रहस्य को जानता है, वह उसी अन्नरूप ब्रह्म में प्रतिष्ठित होता है। वह अन्नादि पदार्थ, पाचनशक्ति, संतान, पशु, ब्रह्मवर्चस और कीर्ति से समृद्ध होकर महान् हो जाता है॥ १॥

[आकाश में पृथ्वी तो प्रत्यक्ष दीखती है, पृथ्वी में आकाश समझने के लिए परमाणु संरचना (एटामिक स्ट्रक्चर) समझना होगा। परमाणु का केन्द्र नाभिक (न्यूक्लियस) होता है और आस-पास इलेक्ट्रॉन घूमते हैं। न्यूक्लियस तथा घूमने वाले इलेक्ट्रानों के बीच इतना स्थान खाली होता है, जितना सूर्य और पृथ्वी के बीच। यह स्थान ही आकाश है। इस प्रकार हर ठोस पदार्थ में पर्याप्त आकाश होता है।]

॥ दशमोऽनुवाकः ॥

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद्व्रतम्। तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। आराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एतद्वै मुखतोऽन्नꣳराद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते। एतद्वै मध्यतोऽन्नꣳराद्धम्। मध्यतोऽस्मा अन्नꣳराध्यते। एतद्वा अन्ततोऽन्नꣳराद्धम्। अन्ततोऽस्मा अन्नꣳराध्यते॥ १॥ य एवं वेद। क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञाः। अथ दैवीः। तृप्तिरिति वृष्टौ। बलमिति विद्युति॥ २॥ यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थे। सर्वमित्याकाशे। तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति। तन्मह इत्युपासीत। महान् भवति। तन्मन इत्युपासीत। मानवान् भवति॥ ३॥ तन्नम इत्युपासीत। नम्यन्तेऽस्मै कामाः। तद्ब्रह्मेत्युपासीत। ब्रह्मवान् भवति। तद्ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः। परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः। स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः॥ ४॥ स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानंदमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमाँल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन्। एतत्साम गायन्नास्ते। हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु॥ ५॥

घर में आये हुए अतिथि को तिरस्कृत न करें। यह एक व्रत है। जिस प्रकार बने, बहुत सा अन्न प्राप्त करें, जिससे सर्वदा अतिथि सेवा में तत्पर रहें। यदि उसे अधिक आदर और प्रेम से भोजन कराएँ, तो स्वयं को अधिक आदर सहित अन्न मिलता है। यदि मध्यम श्रेणी के आदर और प्रेम से भोजन कराएँ, तो मध्यम श्रेणी के आदर सहित स्वयं को अन्न प्राप्त होता है। यदि निम्न श्रेणी के आदर और प्रेम से भोजन कराएँ, तो स्वयं को निम्न श्रेणी के आदर सहित अन्न प्राप्त होता है। जो इस तथ्य का ज्ञाता है, वह अतिथि का उत्तम

आदर करता है। वह परमात्मा वाणी में रक्षक शक्ति के रूप में है, प्राण और अपान में प्रदाता और रक्षक दोनों सामर्थ्य वाला है। वह हाथों में कर्म करने की शक्ति, पैरों में गति सामर्थ्य, गुदा में विसर्जन शक्ति के रूप में स्थित है। यह उस ब्रह्म की मानुषी सत्ता का वर्णन है, अब उसकी दैवी सत्ता का वर्णन करते हैं। वह वृष्टि में तृप्ति है, बिजली में शक्ति है। पशुओं में यश, ग्रहों-नक्षत्रों में ज्योति, उपस्थ में प्रजनन-सामर्थ्य, वीर्य और आनन्द रूप में सन्निहित है। वह आकाश में व्यापक विश्व (प्रत्यक्ष जगत्) रूप में स्थित है। वह परमात्मा सबका आधाररूप है, ऐसा मानकर-उपासना करने वाला सबको आधार देने वाला बन जाता है। वह सबसे महान् है, ऐसा मानकर उपासना करने वाला महान् बन जाता है। वह मन है, ऐसा मानकर उपासना करने वाला मननशील होता है। वह नमन योग्य है, ऐसा मानने वाले उपासक के लिए सम्पूर्ण कामनाएँ नत होती हैं। वह ब्रह्म है, ऐसा मानकर उपासना करने वाला ब्रह्ममय हो जाता है। वह परिमर (जिसमें विद्युत्, वृष्टि, चन्द्रमा, आदित्य और अग्नि -ये पाँच देवता मृत्यु (अस्त) को प्राप्त होते हैं।) - आकाश-मृत्युनियामक देव है, ऐसा मानकर उपासना करने वाले के विद्वेषी शत्रु समाप्त हो जाते हैं, उसका अप्रिय चाहने वाले बन्धु भी नष्ट हो जाते हैं, जो इस मनुष्य में है, वह सूर्य में भी है, जो साधक इस प्रकार दोनों में एकत्व को जानता है, वह इस लोक से प्रयाण कर अन्नमय आत्मा को प्राप्त होता है। पुनः प्राणमय आत्मा को प्राप्त होता है। पुनः मनोमय आत्मा, फिर विज्ञानमय आत्मा को प्राप्त होता है। पुनः वह आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होता है। आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होकर वह इच्छित भोग और रूप को प्राप्त करता है। फिर साम गायन करता हुआ सब लोकों में विचरण करता है॥ १-५॥

अहमन्नमह-मन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो ३ ऽहमन्नादो ३ ऽहमन्नादः। अहꣳश्लोककृदहꣳश्लोककृद-हꣳश्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य । पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना ३ भायि। यो मा ददाति स इदेव मा३ वाः । अहमन्नमन्नमदन्तमा ३ द्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म् । सुवर्णज्योतीः। य एवं वे। इत्युपनिषत् ॥ ६॥

आश्चर्य! आश्चर्य!! आश्चर्य!!! मैं (आत्मतत्त्व) ही अन्न हूँ। आश्चर्य है कि मैं (आत्मा) ही अन्न का उपभोग करने वाला हूँ । आश्चर्य है कि मैं (आत्मा) ही इनका संयोजक हूँ। मैं ही श्लोककृत् (मन्त्रद्रष्टा) हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ। मैं इस प्रत्यक्ष सत्यरूप जगत् के प्रथम उत्पत्तिकर्त्ता हिरण्यगर्भ आदि अमर देवों के भी पूर्व स्थित अमरत्व का केन्द्र हूँ। जो मुझे देता है, वह देकर मेरी रक्षा करता है। मैं अन्नरूप होकर अन्न-भक्षक का भी भक्षण कर लेता हूँ। मैं सम्पूर्ण भुवनों को नगण्यरूप अनुभव करता हूँ। मेरा तेज सूर्य के समान है। इस प्रकार का बोध करने वाला विद्वान् वैसी ही सामर्थ्य वाला होता है। (इस प्रकार) यह उपनिषद् पूर्ण हुआ॥ ६॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। .....इति शान्तिः ॥

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः॥ .....इति शान्तिः ॥

॥ इति तैत्तिरीयोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ नादाबन्दूपानषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध है। इस उपनिषद् के प्रारम्भ में 'ॐकार' को हंस मानकर उसके विभिन्न अंगोपांगों का वर्णन किया गया है। फिर ॐ की १२ मात्राओं तथा उनके साथ प्राणों के विनियोग का फल कहा गया है। योगयुक्त साधक की स्थिति तथा ज्ञानी के प्रारब्ध कर्मों के क्षय का वर्णन करते हुए नाद के अनेक प्रकार तथा नादानुसंधान साधना का स्वरूप समझाया गया है। अंत में मन के प्रभावित होने, मन के लय होने तथा मनोलय की स्थिति का वर्णन किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि.....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- ऐतरेयोपनिषद्)

ॐ अकारो दक्षिणः पक्ष उकारस्तूत्तरः स्मृतः।
मकारं पुच्छमित्याहुरर्धमात्रा तु मस्तकम्॥ १ ॥

ॐ कार रूप हंस का 'अकार' दक्षिण पक्ष (दाहिना पंख) तथा 'उकार' उत्तर पक्ष (बायाँ पंख) कहा गया है। उसकी पूँछ ही 'मकार' है और अर्धमात्रा ही उसका शीर्ष भाग है॥ १ ॥

पादादिकं गुणास्तस्य शरीरं तत्त्वमुच्यते।
धर्मोऽस्य दक्षिणं चक्षुरधर्मोऽथो परः स्मृतः॥ २ ॥

उस (ॐ कार रूप हंस) के दोनों पैर रजोगुण एवं तमोगुण हैं और (उसका) शरीर सतोगुण कहा गया है। धर्म (उसका) दक्षिण चक्षु है और अधर्म बायाँ चक्षु (नेत्र) कहा गया है॥ २॥

भूर्लोकः पादयोस्तस्य भुवर्लोकस्तु जानुनि।
सुवर्लोकः कटीदेशे नाभिदेशे महर्जगत्॥ ३ ॥

उस (हंस) के दोनों पैरों में भूः (पृथ्वी) लोक स्थित है। उसकी जंघाओं में भुवः (अन्तरिक्ष) लोक केन्द्रित है। स्वः (स्वर्ग-ऊर्ध्व) लोक उसके कटिप्रदेश तथा महः लोक उसके नाभि प्रदेश में स्थित है॥ ३ ॥

जनोलोकस्तु हृद्देशे कण्ठे लोकस्तपस्ततः।
भ्रुवोर्ललाटमध्ये तु सत्यलोको व्यवस्थितः॥ ४॥

उसके हृदय स्थल में जनः लोक और कण्ठ प्रदेश में तपोलोक विद्यमान है। ललाट और भौहों के मध्य में सत्य लोक स्थित है॥ ४॥

सहस्त्रार्णमतीवात्र मन्त्र एष प्रदर्शितः।
एवमेतां समारूढो हंसयोगविचक्षणः॥ ५॥
न भिद्यते कर्मचारैः पापकोटिशतैरपि।
आग्नेयी प्रथमा मात्रा वायव्येषा तथापरा॥ ६॥

इस प्रकार से वर्णित सहस्त्रावयव युक्त प्रणवरूप हंस पर आसीन होकर कर्मानुष्ठान-ध्यान आदि में रत हंस योगी- विचक्षण पुरुष ओंकार की श्रेष्ठ विधि से मनन व चिन्तन करता हुआ सहस्त्रों-करोड़ों पापों से निवृत्त होकर मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है। (ॐकार के देवता अग्नि हैं। उसका स्वरूप भी अग्नि मण्डल जैसा है। 'अकार' नामक (प्रणव की) प्रथम मात्रा 'आग्नेयी' कही गयी है और('उकार' नामक)

द्वितीया मात्रा 'वायव्या' कही गयी है। (इस वायव्या के देवता वायु हैं और यह वायुमण्डल की भाँति रंग-रूप वाली है) ॥ ५-६ ॥

भानुमण्डलसंकाशा भवेन्मात्रा तथोत्तरा।
परमा चार्धमात्रा या वारुणीं तां विदुर्बुधाः ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् 'मकार' नामक यह तृतीय 'मात्रा' सूर्य मण्डल के समतुल्य है। (इस मात्रा के देवता सूर्य हैं तथा) चतुर्थ मात्रा 'अर्धमात्रा' के रूप में 'वारुणी' कही गयी है। (इस वारुणी के देवता वरुण हैं) ॥ ७ ॥

कालत्रयेऽपि यस्येमा मात्रा नूनं प्रतिष्ठिताः।
एष ओंकार आख्यातो धारणाभिर्निबोधत ॥ ८ ॥

इन उपर्युक्त चारों मात्राओं में से हर एक मात्रा तीन-तीन काल अथवा कला रूप है। इस प्रकार 'ॐकार' को द्वादश कलाओं से युक्त कहा गया है। धारणा, ध्यान एवं समाधि के द्वारा इसे जानने का प्रयास करना चाहिए ॥

[ॐकार साधना मात्र उच्चारण से पूरी नहीं होती, दिव्य प्राण प्रवाह रूप ॐकार की अनुभूति धारणा ध्यानादि द्वारा की जाती है।]

घोषिणी प्रथमा मात्रा विद्युन्मात्रा तथापरा ।
पतङ्गिनी तृतीया स्याच्चतुर्थी वायुवेगिनी ॥ ९ ॥

(इस प्रकार बारह कलाओं की मात्राओं में) प्रथम मात्रा 'घोषिणी' कही गई है। द्वितीय मात्रा का नाम 'विद्युन्मात्रा' है, तृतीय मात्रा 'पातङ्गी' और चतुर्थ मात्रा 'वायुवेगिनी' के नाम से जानी जाती है ॥ ९ ॥

पञ्चमी नामधेया तु षष्ठी चैन्द्र्यभिधीयते।
सप्तमी वैष्णवी नाम अष्टमी शांकरीति च ॥ १० ॥

पाँचवीं मात्रा का नाम 'नामधेया' है और छठवीं मात्रा 'ऐन्द्री' के नाम से जानी जाती है। सातवीं मात्रा का नाम 'वैष्णवी' और आठवीं मात्रा 'शाङ्करी' के नाम से प्रसिद्ध है ॥ १० ॥

नवमी महती नाम धृतिस्तु दशमी मता।
एकादशी भवेन्नारी ब्राह्मी तु द्वादशी परा ॥ ११ ॥

नौवीं मात्रा 'महती' तथा दसवीं मात्रा को 'धृति' (ध्रुवा) कहा गया है। ग्यारहवीं मात्रा 'नारी' (मौनी) और बारहवीं मात्रा 'ब्राह्मी' के नाम से जानी जाती है ॥ ११ ॥

प्रथमायां तु मात्रायां यदि प्राणैर्वियुज्यते।
भरते वर्षराजासौ सार्वभौमः प्रजायते ॥ १२ ॥

(ॐकार की इन द्वादश कलाओं की) प्रथम मात्रा में यदि साधक अपने प्राणों का परित्याग कर देता है, तो वह भारतवर्ष में सार्वभौमिक चक्रवर्ती सम्राट् के रूप में प्रादुर्भूत होता है ॥ १२ ॥

द्वितीयायां समुत्क्रान्तो भवेद्यक्षो महात्मवान्।
विद्याधरस्तृतीयायां गान्धर्वस्तु चतुर्थिका ॥ १३ ॥

(ॐकार की) द्वितीय मात्रा में जब साधक के प्राणों का उत्क्रमण होता है, तब वह महान् महिमाशाली यक्ष के रूप में उत्पन्न होता है। (ॐकार की) तृतीय मात्रा में प्राण त्याग करने पर (वह) विद्याधर के रूप में और चतुर्थ मात्रा में प्राण के परित्याग करने से (वह) गन्धर्व के रूप में जन्म लेता है ॥

[अपने प्राणों के स्पन्दन का ॐकार रूप महाप्राण की जिस कोटि के साथ तादात्म्य होता है, उसी के अनुरूप देहान्तर की प्राप्ति होती है।]

पञ्चम्यामथ मात्रायां यदि प्राणैर्वियुज्यते ।
उषितः सह देवत्वं सोमलोके महीयते॥ १४॥

यदि पाँचवीं मात्रा में उस (साधक) के प्राणों का उत्क्रमण होता है, तो वह 'तुषित' नामक देवों के साथ निवास करता हुआ चन्द्रलोक में सम्मानित होता है॥ १४॥

षष्ठ्यामिन्द्रस्य सायुज्यं सप्तम्यां वैष्णवं पदम् ।
अष्टम्यां व्रजते रुद्रं पशूनां च पतिं तथा ॥ १५॥

छठवीं मात्रा में (शरीर से प्राणों का उत्क्रमण होने पर) साधक देवराज इन्द्र के सायुज्य पद को प्राप्त करता है। सातवीं मात्रा में भगवान् विष्णु के पद-वैकुण्ठ धाम को प्राप्त करता है तथा आठवीं मात्रा में पशुपति भगवान् शिव के रुद्रलोक में जाकर उनकी समीपता का लाभ प्राप्त करता है॥ १५॥

नवम्यां तु महर्लोकं दशम्यां तु जनं व्रजेत्।
एकादश्यां तपोलोकं द्वादश्यां ब्रह्म शाश्वतम्॥ १६॥

नवीं मात्रा में महः लोक को, दसवीं मात्रा में जनः लोक (ध्रुवलोक) को प्राप्त होता है। ग्यारहवीं मात्रा में तपोलोक को और बारहवीं मात्रा में साधक शाश्वत ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है॥ १६॥

ततः परतरं शुद्धं व्यापकं निर्मलं शिवम्।
सदोदितं परं ब्रह्म ज्योतिषामुदयो यतः॥ १७॥

इससे भी परतर (परे), श्रेष्ठ, व्यापक, शुद्ध, निर्मल, कल्याणकारी, सदैव उदीयमान (वह) परमब्रह्म-तत्त्व है। उसी से सभी तरह की ज्योतियाँ (अग्नि, सूर्य एवं चन्द्र आदि) प्रादुर्भूत हुई हैं॥ १७॥

अतीन्द्रियं गुणातीतं मनो लीनं यदा भवेत्।
अनूपमं शिवं शान्तं योगयुक्तं सदाविशेत्॥ १८॥

जब श्रेष्ठ साधक का मन समस्त इन्द्रियों एवं सत् , रज और तम आदि तीनों गुणों से परे होकर परमतत्त्व में विलीन हो जाता है, तब वह उपमारहित, कल्याणकारी, शान्तस्वरूप हो जाता है; ऐसी उच्च स्थिति में पहुँचे हुए साधकों को योग युक्त कहा जाना चाहिए॥ १८॥

तद्युक्तस्तन्मयो जन्तुः शनैर्मुञ्चेत्कलेवरम्।
संस्थितो योगचारेण सर्वसङ्गविवर्जितः॥ १९॥

उस योगयुक्त और तन्मय हुए साधक को अविद्या आदि दोषों से मुक्त और योग पद्धति से स्वस्थ (आत्मा में स्थित) होकर सभी प्रकार के आसक्ति आदि दोषों से रहित हो जाना चाहिए॥ १९॥

ततो विलीनपाशोऽसौ विमलः कमलाप्रभुः।
तेनैव ब्रह्मभावेन परमानन्दमश्नुते ॥ २०॥

इस प्रकार उस (साधक) के समस्त सांसारिक बन्धनों का शमन (क्षय) हो जाता है। वह निर्मल, कैवल्यपद को प्राप्त कर स्वयं ही परमात्म स्वरूप हो जाता है। वह ब्रह्मभाव से परमानन्द को प्राप्त करके असीम आनन्द की अनुभूति करता है॥ २०॥

आत्मानं सततं ज्ञात्वा कालं नय महामते।
प्रारब्धमखिलं भुञ्जन्नोद्वेगं कर्तुमर्हसि॥ २१॥

हे ज्ञानवान् पुरुष! तुम सतत प्रयत्न करते हुए आत्मा के स्वरूप को समझने का प्रयास करो। उसी के सच्चिन्तन में अपने समय को लगाओ। प्रारब्ध कर्मानुसार जो भी कष्ट-कठिनाइयाँ सामने आयें, उनको भोगते हुए तुम्हें उद्विग्न (खिन्न-दु:खी) नहीं होना चाहिए॥ २१॥

उत्पन्ने तत्त्वविज्ञाने प्रारब्धं नैव मुञ्चति।
तत्त्वज्ञानोदयादूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते ॥ २२॥
देहादीनामसत्त्वात्तु यथा स्वप्ने विबोधतः।
कर्म जन्मान्तरीयं यत्प्रारब्धमिति कीर्तितम्॥ २३॥

आत्मज्ञान के प्रादुर्भूत होने पर भी प्रारब्ध (संस्कार) स्वयं त्याग नहीं करता, किन्तु जैसे ही तत्त्वज्ञान का प्राकट्य होता है, वैसे ही प्रारब्ध कर्म का क्षय हो जाता है। जैसा कि स्वप्नलोक के देहादिक असत् होने के कारण जाग्रत् होने पर विलुप्त हो जाते हैं, विगत जन्मों में जो किये हुए कर्म हैं, उन्हीं कर्मों को प्रारब्ध कर्म की संज्ञा प्रदान की गई है॥ २२-२३॥

यत्तु जन्मान्तराभावात्पुंसो नैवास्ति कर्हिचित्।
स्वप्नदेहो यथाध्यस्तस्तथैवायं हि देहकः॥ २४॥

ज्ञानी के लिए तो जन्म-जन्मान्तर भी नहीं है। इसलिए प्रारब्ध कर्म ज्ञानी के लिए कभी भी बाधक नहीं होता। जैसे स्वप्नकालीन देह, देह नहीं होती, केवल अध्यास मात्र (रस्सी में साँप की तरह) ही होती है, वैसे ही यह जाग्रत् अवस्था का शरीर भी अध्यास मात्र ही है॥ २४॥

अध्यस्तस्य कुतो जन्म जन्माभावे कुतः स्थितिः।
उपादानं प्रपञ्चस्य मृद्भाण्डस्येव पश्यति॥ २५॥

अध्यस्त (अयथार्थ) की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? और उत्पत्ति के अभाव में उस वस्तु की स्थिति कैसे होगी? (जिस प्रकार रज्जु-रस्सी में सर्प का अध्यास होने पर रज्जु में सर्प नहीं उत्पन्न होता और न ही उस स्थान में सर्प की स्थिति ही होती है।) इसलिए इस प्रपञ्च का मुख्य उपादान कारण आत्मा ही है। जैसे कि मिट्टी के द्वारा निर्मित पात्रों का उपादान कारण मिट्टी होती है॥ २५॥

अज्ञानं चेति वेदान्तैस्तस्मिन्नष्टे क्व विश्वता।
यथा रज्जुं परित्यज्य सर्पं गृह्णाति वै भ्रमात्॥ २६॥
तद्वत्सत्यमविज्ञाय जगत्पश्यति मूढधीः ।
रज्जुखण्डे परिज्ञाते सर्परूपं न तिष्ठति ॥ २७॥

वेदान्तानुसार ये सभी सांसारिक प्रपञ्च अज्ञानान्धकार के कारण आत्मा में ही प्रतिभासित होते हैं। अज्ञानरूपी अन्धकार के विनष्ट होने पर संसार की स्थिति नहीं रह जाती। जिस तरह भ्रम बुद्धि से ग्रस्त मनुष्य रज्जु बुद्धि का परित्याग कर उसे सर्प बुद्धि से ग्रहण करता है, अर्थात् रस्सी को सर्प समझने लगता है, इसी तरह अज्ञानी (मूढ़) मनुष्य सत्य (आत्मा) का ज्ञान (बोध) न होने के कारण इस भ्रम-बुद्धिवश सांसारिक प्रपञ्च का अवलोकन करता है। जब मनुष्य ठीक तरह से उस रस्सी को पहचान लेता है, तो पूर्व में दृष्टिगोचर होने वाले सर्प की भावना नहीं रह जाती ॥ २६-२७॥

अधिष्ठाने तथा ज्ञाते प्रपञ्चे शून्यतां गते।
देहस्यापि प्रपञ्चत्वात्प्रारब्धावस्थितिः कुतः॥ २८॥

जिस तरह अधिष्ठान (आधार) स्वरूप आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाने पर प्रपञ्च (संसार) शून्यता को प्राप्त हो जाता है, ऐसी स्थिति में देह (शरीर) भी प्रपञ्चरूप (अयथार्थ) होने के कारण प्रारब्ध की स्थिति किस प्रकार रह सकती है?॥ २८॥

अज्ञानजनबोधार्थं प्रारब्धमिति चोच्यते ।
ततः कालवशादेव प्रारब्धे तु क्षयं गते ॥ २९॥

अज्ञान से ग्रसित लोगों को बोध कराने के लिए प्रारब्ध कर्म की बात कही जाती है। तदनन्तर कालवश ही सांसारिक प्रारब्ध कर्मों का विनाश हो जाता है॥ २९॥

ब्रह्मप्रणवसंधानं नादो ज्योतिर्मयः शिवः।
स्वयमाविर्भवेदात्मा मेघापायेंऽशुमानिव॥ ३०॥

तत्पश्चात् (प्रारब्ध कर्मों के समाप्त होने पर) 'ॐकार' स्वरूप ब्रह्म की आत्मा के साथ एकता के चिन्तन से नादरूप में स्वयं प्रकाशमान शिव के कल्याणकारी स्वरूप (परब्रह्म) का प्रादुर्भाव उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार बादलों के हट जाने पर भगवान् भास्कर प्रकाशित हो जाते हैं॥ ३०॥

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय वैष्णवीम्।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा ॥ ३१॥

योगी (साधक) को सिद्धासन से बैठने के पश्चात् वैष्णवी मुद्रा धारण करनी चाहिए। तदनन्तर दाहिने कान के अन्दर उठते हुए नाद (अनाहत ध्वनि) का सतत श्रवण करना चाहिए॥ ३१॥

[बायें पैर की एड़ी से गुदा स्थान को तथा दाहिने पैर से जननेन्द्रिय मूल को दबाकर, शरीर को सीधा रखकर त्रिबन्ध (मूल, जालन्धर, उड्डीयान) लगाने को सिद्धासन कहा जाता है तथा अपलक नेत्रों से बाह्य दृष्टि को अन्तर्लक्ष्य करके (भृकुटि-मध्य में) देखना वैष्णवी मुद्रा कहलाती है।]

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिः ।
पक्षाद्विपक्षमखिलं जित्वा तुर्यपदं व्रजेत्॥ ३२॥

इस प्रकार नाद का किया गया अभ्यास बाह्य ध्वनियों को आवृत कर लेता है, इस तरह (योगी साधक) दोनों पक्षों 'अकार' और 'मकार' को जीतकर क्रमशः सम्पूर्ण 'ओंकार' को शनैः-शनैः आत्मसात् कर तुर्यावस्था को प्राप्त कर लेता है॥ ३२॥

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्।
वर्धमाने तथाभ्यासे श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मतः॥ ३३॥

अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में यह महान् नाद (अनाहत ध्वनि) विभिन्न तरह से सुनायी देता है। इसके अनन्तर जब अभ्यास अधिक बढ़ जाता है, तब उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप (भेद) सुनायी पड़ने लगते हैं॥ ३३॥

आदौ जलधिजीमूतभेरीनिर्झरसंभवः।
मध्ये मर्दलशब्दाभो घण्टाकाहलजस्तथा॥ ३४॥
अन्ते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनः।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते सूक्ष्मसूक्ष्मतः ॥ ३५॥

इस नाद की ध्वनि प्रारम्भिक काल में समुद्र, मेघ, भेरी तथा झरनों से उत्पन्न ध्वनि के समान सुनायी देती है। इसके बाद बीच की अवस्था (मध्यमावस्था) में मृदङ्ग, घंटे और नगाड़े की भाँति यह ध्वनि सुनाई पड़ती है। अन्त में अर्थात् उत्तरावस्था में किङ्किणी, वंशी, वीणा एवं भ्रमर की ध्वनि के समान मधुर नाद-ध्वनि सुनायी पड़ती है। इस प्रकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म होते हुए नाना प्रकार के नाद सुनायी पड़ते हैं॥३४-३५॥

महति श्रूयमाणे तु महाभेर्यादिकध्वनौ।
तत्र सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत्॥ ३६॥

निरन्तर नाद का अभ्यास करते हुए जब भेरी आदि की ध्वनि (आवाज) तेजी से सुनायी पड़ने लगे, तब उसमें भी सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर नाद के सुनने का विचार करना चाहिए॥ ३६॥

घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने।
रममाणमपि क्षिप्रं मनो नान्यत्र चालयेत्॥ ३७॥

(नाद में रुचि रखने वाले साधक को चाहिए कि) वह घन नाद को छोड़कर सूक्ष्मनाद (मन्द ध्वनि) या फिर सूक्ष्म नाद का परित्याग करके घन नाद में मन को केन्द्रित करे। अन्यत्र और कहीं भी इधर-उधर मन को भ्रमित न होने दे॥ ३७॥

यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः।
तत्र तत्र स्थिरीभूत्वा तेन सार्धं विलीयते ॥ ३८॥

साधक का मन सर्वप्रथम जहाँ-कहीं किसी भी सूक्ष्म (अतिमन्द) अथवा घननाद (अभेद्यध्वनि) में लगता है। उसको (मन को) वहीं केन्द्रित करना चाहिए। ऐसा करने से वह (चित्त) स्वयमेव तन्मय (विलीन) होने लगता है॥ ३८॥

विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादे दुग्धाम्बुवन्मनः।
एकीभूयाथ सहसा चिदाकाशे विलीयते॥ ३९॥

साधक का मन सभी सांसारिक बाह्य-प्रपंचों से विस्मृत होकर दूध में मिश्रित जल की भाँति नाद (ध्वनि) में एकीभूत हो जाता है। इस प्रकार वह (मन) नाद के साथ अकस्मात् ही चिदाकाश में स्वयं को विलय कर लेता है॥ ३९॥

उदासीनस्ततो भूत्वा सदाभ्यासेन संयमी ।
उन्मनीकारकं सद्यो नादमेवावधारयेत्॥ ४०॥

संयमी पुरुष को चाहिए कि नाद-श्रवण से भिन्न विषयों-वासनाओं को उपेक्षित करके सतत अभ्यास द्वारा मन को तत्क्षण ही उस नाद में नियोजित करे और सदैव चिन्तन के द्वारा उसी में रमण करता रहे॥ ४०॥

सर्वचिन्तां समुत्सृज्य सर्वचेष्टाविवर्जितः।
नादमेवानुसंदध्यान्नादे चित्तं विलीयते ॥ ४१॥

योगी साधक को चाहिए कि सतत चिन्तन करते हुए समस्त चिन्ताओं का परित्याग कर सभी तरह की चेष्टाओं से मन को हटाकर (उस) नाद का ही अनुसन्धान (श्रवण-मनन-चिन्तन) करे; क्योंकि (चिन्तन द्वारा सहज ही) चित्त का नाद में लय हो जाता है॥ ४१॥

मकरन्दं पिबन्भृङ्गो गन्धान्नापेक्षते यथा।
नादासक्तं सदा चित्तं विषयं न हि काङ्क्षति॥ ४२॥

जिस प्रकार भ्रमर फूलों का रस ग्रहण करता हुआ पुष्पों के गन्ध की अपेक्षा नहीं रखता है, ठीक वैसे ही सतत नाद में तल्लीन रहने वाला चित्त विषय-वासना आदि की आकांक्षा नहीं करता है॥ ४२॥

बद्धः सुनादगन्धेन सद्यः संत्यक्तचापलः ।
नादग्रहणतश्चित्तमन्तरङ्गभुजङ्गमः॥ ४३॥

यह चित्त रूपी अन्तरङ्ग भुजङ्ग (सर्प) नाद को सुनने के पश्चात् उस सुन्दर नाद की गन्ध से आबद्ध हो जाता है और तत्क्षण ही सभी तरह की चपलताओं का परित्याग कर देता है॥ ४३॥

विस्मृत्य विश्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति।
मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः॥ ४४॥
नियामनसमर्थोऽयं निनादो निशिताङ्कुशः।
नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते ॥ ४५॥
अन्तरङ्गसमुद्रस्य रोधे वेलायतेऽपि वा।
ब्रह्मप्रणवसंलग्ननादो ज्योतिर्मयात्मकः॥ ४६॥

तदनन्तर (वह मन) विश्व (सांसारिकता) को विस्मृत करके तथा एकाग्रता को धारण करके (विषयों में) इधर-उधर कहीं भी नहीं दौड़ता है। विषय-वासना रूपी उद्यान में विचरण करने वाले मन रूपी उन्मत्त गजेन्द्र को वश में करने में यह नादरूपी अति तीक्ष्ण अङ्कुश ही समर्थ होता है। यह नाद मनरूपी हिरण को बाँधने में जाल का कार्य करता है और मन रूपी तरङ्ग को रोकने में तट का काम करता है। ब्रह्मरूप प्रणव में संयुक्त हुआ यह नाद स्वयं ही प्रकाश स्वरूप होता है॥ ४४-४६॥

मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्।
तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते॥ ४७॥

मन वहाँ ही (उस प्रकाश तत्त्व में) विलय को प्राप्त हो जाता है। वहीं परम श्रेष्ठ भगवान् विष्णु का परम पद है। मन में आकाश तत्त्व का संकल्प तभी तक रहता है, जब तक कि शब्दों का उच्चारण और श्रवण होता है॥ ४७॥

निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मा समीयते ।
नादो यावन्मनस्तावन्नादान्तेऽपि मनोन्मनी॥ ४८॥

निःशब्द (शब्दरहित) होने पर तो वह (मन) परमब्रह्म के परमात्म-तत्त्व का अनुभव करने लगता है। नाद (ध्वनि) के रहने तक ही मन का अस्तित्व बना रहता है। नाद के समापन होने पर मन भी 'अमन' (शून्यवत्) हो जाता है॥ ४८॥

सशब्दश्चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्।
सदा नादानुसंधानात्संक्षीणा वासना तु या ॥ ४९॥
निरञ्जने विलीयेते मनोवायू न संशयः।
नादकोटिसहस्राणि बिन्दुकोटिशतानि च ॥ ५०॥

सर्वे तत्र लयं यान्ति ब्रह्मप्रणवनादके।
सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः॥ ५१॥
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः।
शङ्खदुन्दुभिनादं च न शृणोति कदाचन॥ ५२॥

सशब्द अर्थात् शब्दयुक्त नाद (ध्वनि) के अक्षर स्वरूप ब्रह्म में क्षीण (लय) हो जाने पर वह निःशब्द परमपद कहलाता है। जब सतत नाद का अनुसन्धान करने पर समस्त विषय-वासनाएँ पूर्णरूपेण नष्ट हो जाती हैं, तदुपरान्त मन एवं प्राण दोनों संशयरहित हो उस निराकार परमब्रह्म में लय हो जाते हैं। करोड़ों-करोड़ नाद एवं बिन्दु उस ब्रह्मरूप प्रणव नाद में विलीन हो जाते हैं। वह योगी जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति आदि सभी अवस्थाओं से मुक्त होकर सभी तरह की चिन्ताओं से रहित हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह योगी मरे हुए व्यक्ति की भाँति (मृतवत्) रहता है। निश्चय ही वह योगी मुक्तावस्था प्राप्त कर लेता है और वह (योगी) शङ्ख-दुन्दुभि आदि (लौकिक) नाद का श्रवण कभी भी नहीं करता॥ ४९-५२॥

काष्ठवज्ज्ञायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम्।
न जानाति स शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा॥ ५३॥

जिस अवस्था में मन 'अमन' हो जाता है, उस अवस्था के प्राप्त होने पर शरीर लकड़ी की भाँति चेष्टारहित सा हो जाता है। वह (मन) न शीत जानता है, न गर्मी जानता है और न ही वह सुख-दुःख का अनुभव करता है॥ ५३॥

न मानं नावमानं च संत्यक्त्वा तु समाधिना।
अवस्थात्रयमन्वेति न चित्तं योगिनः सदा॥ ५४॥

वह (योगी) मान-अपमान से परे हो जाता है। समाधि द्वारा वह इन सभी का पूर्णतया परित्याग कर देता है। योगी का चित्त तीनों अवस्थाओं-जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि का कभी भी अनुगमन नहीं करता है (अर्थात् उससे परे हो जाता है)॥ ५४॥

जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्तः स्वरूपावस्थतामियात्॥ ५५॥
दृष्टिः स्थिरा यस्य विनासदृश्यं वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं स ब्रह्मतारान्तरनादरूप इत्युपनिषत्॥ ५६॥

(वह) योगी जाग्रत् और निद्रा (स्वप्न) की अवस्था से मुक्त होकर अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिर हो जाता है। दृश्य वस्तु के अभाव में भी जिसकी दृष्टि स्थिर हो जाती है, बिना प्रयास के ही जिसका प्राण अपने स्थान पर सुस्थिर हो जाता है तथा बिना किसी आश्रय अथवा अवलम्बन के ही जिसका चित्त स्थिरता को प्राप्त हो जाता है, ऐसा वह (योगी) ब्रह्ममय प्रणव नाद के अन्तर्वर्ती तुरीयावस्था (परमानंद) में सदैव स्थित हो जाता है। यही उपनिषद् (रहस्यात्मक ज्ञान) है॥ ५५-५६॥

ॐ वाङ्मे मनसि.....इति शान्तिः॥

॥ इति नादबिन्दूपनिषत्समाप्ता॥

॥ निरालम्बोपनिषद् ॥

शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में ब्रह्म, ईश्वर, जीव, प्रकृति, जगत्, ज्ञान, कर्म आदि का सुन्दर विवेचन किया गया है। निर्विकार ब्रह्म जब प्रकृति के साथ सृष्टि का सृजन करके उसका ईशन-शासन-संचालन करता है, तो ईश्वर कहलाता है। इसी प्रकार विभिन्न संबोधनों को परिभाषित किया गया है। ऋषि जाति-पाँति सम्बन्धी भ्रमों का निवारण करते हुए कहते हैं कि वह आत्मा, रक्त, चमड़ा, मांस, हड्डियों आदि से सम्बन्धित नहीं है, वह तो व्यवहार के क्रम में कल्पित व्यवस्था मात्र है। इसी प्रकार अहंता, ममता आदि को त्याग कर इष्ट में समर्पित हो जाने को 'संन्यास' कहते हुए उन्हीं को मुक्त, पूज्य, योगी, परमहंस आदि उपाधियों से विभूषित होने की बात समझायी गयी है। ऐसी स्थिति प्राप्त करके ही साधक जन्म-मरण के बन्धनों को काट सकता है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- ईशावास्योपनिषद्)

ॐ नमः शिवाय गुरवे सच्चिदानन्दमूर्तये। निष्प्रपञ्चाय शान्ताय निरालम्बाय तेजसे। निरालम्बं समाश्रित्य सालम्बं विजहाति यः। स संन्यासी च योगी च कैवल्यं पदमश्नुते॥ १ ॥

उस कल्याणकारी (शिव) गुरु, सत्-चित् और आनन्द की मूर्ति को नमस्कार है। उस निष्प्रपञ्च, शान्त, आलम्ब (आश्रय) रहित, तेजःस्वरूप परमात्मा को नमन है। जो निरालम्ब (परमात्म तत्त्व) का आश्रय ग्रहण करके (सांसारिक) आलम्बन का परित्याग कर देता है, वह योगी और संन्यासी है, वही कैवल्य (मोक्ष) पद प्राप्त करता है॥ १ ॥

एषामज्ञानजन्तूनां समस्तारिष्टशान्तये। यद्यद्बोद्धव्यमखिलं तदाशङ्क्य ब्रवीम्यहम्॥ २ ॥

इस संसार के अज्ञानी जीवों के सभी अरिष्टों (कष्टों) की शान्ति के निमित्त जो-जो ज्ञान आवश्यक है, उसकी आशंका करके (उसके उत्तर के रूप में) मैं यहाँ कहता हूँ (पूछता हूँ)॥ २॥

किं ब्रह्म। क ईश्वरः। को जीवः। का प्रकृतिः। कः परमात्मा। को ब्रह्मा। को विष्णुः। को रुद्रः। क इन्द्रः। कः शमनः। कः सूर्यः। कश्चन्द्रः। के सुराः। के असुराः। के पिशाचाः। के मनुष्याः। काः स्त्रियः। के पश्वादयः। किं स्थावरम्। के ब्राह्मणादयः। का जातिः। किं कर्म। किमकर्म। किं ज्ञानम्। किमज्ञानम्। किं सुखम्। किं दुःखम्। कः स्वर्गः। को नरकः। को बन्धः। को मोक्षः। क उपास्यः। कः शिष्यः। को विद्वान्। को मूढः। किमासुरम्। किं तपः। किं परमं पदम्। किं ग्राह्यम्। किमग्राह्यम्। कः संन्यासीत्याशङ्क्याह ब्रह्मेति॥ ३॥

ब्रह्म क्या है ? ईश्वर कौन है ? जीव कौन है ? प्रकृति क्या है ? परमात्मा कौन है ? ब्रह्मा कौन है ? विष्णु कौन है ? रुद्र कौन है ? इन्द्र कौन है ? यम कौन है ? सूर्य कौन है ? चन्द्र कौन है ? देवता कौन हैं ? असुर कौन हैं ? पिशाच कौन हैं ? मनुष्य क्या हैं ? स्त्रियाँ क्या हैं ? पशु आदि क्या हैं ? स्थावर (जड़) क्या है ? ब्राह्मण आदि क्या हैं ? जाति क्या है ? कर्म क्या है ? अकर्म क्या है ? ज्ञान और अज्ञान क्या हैं ? सुख-दुःख क्या हैं ? स्वर्ग-नरक क्या हैं ? बंधन और मुक्ति क्या हैं ? उपासना करने योग्य कौन है ? शिष्य कौन है ? विद्वान् कौन है ? मूर्ख कौन है ? असुरत्व क्या है ? तप क्या है ? परमपद किसे कहते हैं ? ग्रहणीय और अग्रहणीय क्या हैं ? संन्यासी कौन है ? इस प्रकार शंका व्यक्त करके उन्होंने ब्रह्म आदि का स्वरूप विवेचित किया॥ ३ ॥

स होवाच महदहंकारपृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशत्वेन बृहद्रूपेणाण्डकोशेन कर्मज्ञानार्थरूपतया भासमानमद्वितीयमखिलोपाधिविनिर्मुक्तं तत्सकलशक्त्युपबृंहितमनाद्यनन्तं शुद्धं शिवं शान्तं निर्गुणमित्यादिवाच्यमनिर्वाच्यं चैतन्यं ब्रह्म। ईश्वर इति च। ब्रह्मैव स्वशक्तिं प्रकृत्यभिधेयामाश्रित्य लोकान्सृष्ट्वा प्रविश्यान्तर्यामित्वेन ब्रह्मादीनां बुद्धीन्द्रियनियन्तृत्वादीश्वरः॥ ४॥

उन्होंने कहा कि महत् तत्त्व, अहं, पृथिवी, आपः, तेजस्, वायु और आकाश रूप बृहद् ब्रह्माण्ड कोश वाला, कर्म और ज्ञान के अर्थ से प्रतिभासित होने वाला, अद्वितीय, सम्पूर्ण (नाम रूप आदि) उपाधियों से रहित, सर्व शक्तिसम्पन्न, आद्यन्तहीन, शुद्ध, शिव, शान्त, निर्गुण और अनिर्वचनीय चैतन्य स्वरूप परब्रह्म कहलाता है। अब ईश्वर के स्वरूप का कथन करते हैं। यही ब्रह्म जब अपनी प्रकृति (शक्ति) के सहारे लोकों का सृजन करता है और अन्तर्यामी स्वरूप से (उनमें) प्रविष्ट होकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश तथा बुद्धि और इन्द्रियों को नियन्त्रित करता है, तब उसे ईश्वर कहते हैं॥ ४॥

जीव इति च ब्रह्मविष्ण्वीशानेन्द्रादीनां नामरूपद्वारा स्थूलोऽहमिति मिथ्याध्यासवशाज्जीवः। सोऽहमेकोऽपि देहारम्भकभेदवशाद्बहुजीवः॥ ५॥

जब इस चैतन्य स्वरूप ईश्वर को ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र तथा इन्द्रादि नामों और रूपों के द्वारा देह का मिथ्याभिमान हो जाता है कि मैं स्थूल हूँ, तब उसे जीव कहते हैं। यह चैतन्य 'सोऽहं' स्वरूप में एक होने पर भी शरीरों की भिन्नता के कारण 'जीव' अनेकविध बन जाता है॥ ५॥

प्रकृतिरिति च ब्रह्मणः सकाशान्नानाविचित्रजगन्निर्माणसामर्थ्यबुद्धिरूपा ब्रह्मशक्तिरेव प्रकृतिः॥ ६॥

प्रकृति उसे कहते हैं, जो ब्रह्म के सान्निध्य से चित्र-विचित्र संसार को रचने की शक्ति वाली तथा ब्रह्म की बुद्धिरूपा शक्ति वाली है॥ ६॥

परमात्मेति च देहादेः परतरत्वाद् ब्रह्मैव परमात्मा॥ ७॥

देहादि से परे रहने के कारण ब्रह्म को ही परमात्मा कहते हैं॥ ७॥

स ब्रह्मा स विष्णुः स इन्द्रः स शमनः स सूर्यः स चन्द्रस्ते सुरास्ते असुरास्ते पिशाचास्ते मनुष्यास्ताः स्त्रियस्ते पश्वादयस्तत्स्थावरं ते ब्राह्मणादयः॥ ८॥

यही परमात्मा ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, यम, सूर्य और चन्द्र आदि देवता के रूप में; यही असुर, पिशाच, नर-नारी और पशु आदि के रूप में प्रकट होता है; यही जड़-पदार्थ और ब्राह्मण आदि भी है॥ ८॥

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन॥ ९॥

यह समस्त विश्व ही ब्रह्म है, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है॥ ९॥

जातिरिति च। न चर्मणो न रक्तस्य न मांसस्य न चास्थिनः। न जातिरात्मनो जातिर्व्यवहारप्रकल्पिता॥ १०॥

जाति (शरीर के) चर्म, रक्त, मांस, अस्थियों और आत्मा की नहीं होती। उसकी (मानव, पशु-पक्षी या ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जाति की) प्रकल्पना तो केवल व्यवहार के निमित्त की गई है॥ १०॥

[ऋषि यहाँ स्पष्टता से कहते हैं कि जाति शरीर भेद से नहीं, व्यवहार भेद से निर्धारित की गयी है।]

कर्मेति च क्रियमाणेन्द्रियैः कर्माण्यहं करोमीत्यध्यात्मनिष्ठतया कृतं कर्मैव कर्म। अकर्मेति च कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यहंकारतया बन्धरूपं जन्मादिकारणं नित्यनैमित्तिकया-गव्रततपोदानादिषु फलाभिसंधानं यत्तदकर्म॥ ११-१२॥

इन्द्रियों द्वारा की जाने वाली क्रियाओं को कर्म कहते हैं। जिस क्रिया को 'मैं करता हूँ' इस भावपूर्वक (अध्यात्म निष्ठा से) किया जाता है, वही कर्म है। कर्त्तापन और भोक्तापन के अहंकार के द्वारा फल की इच्छा से किये गये बन्धन स्वरूप नित्य-नैमित्तिक यज्ञ, व्रत, तप, दान आदि कर्म 'अकर्म' कहलाते हैं॥ ११-१२॥

ज्ञानमिति देहेन्द्रियनिग्रहसद्गुरूपासनश्रवणमननिदिध्यासनैर्यद्यद्दृग्दृश्यस्वरूपं सर्वान्तरस्थं सर्वसमं घटपटादिपदार्थमिवाविकारं विकारेषु चैतन्यं विना किंचिन्नास्तीति साक्षात्कारानुभवो ज्ञानम्॥ १३॥

सृष्टि की सभी बदलने वाली वस्तुओं में एक ही अपरिवर्तनशील चैतन्य तत्त्व विद्यमान है, अन्य कुछ भी नहीं है, द्रष्टा और दृश्य जो कुछ भी है, सब कुछ चैतन्य तत्त्व ही है। सबके अन्दर यह चैतन्य तत्त्व ही विद्यमान रहने पर भी ऐसा प्रतीत होता है, मानो वह घट-वस्त्रादि रूप में ही परिवर्तित हो गया है। इसी साक्षात्कार की अनुभूति को ज्ञान कहते हैं। यह अनुभूति शरीर और इन्द्रिय आदि पर नियंत्रण रखने से और सद्गुरु की उपासना, उनके उपदेशों के श्रवण, चिन्तन, मनन और निदिध्यासन करने से होती है॥ १३॥

अज्ञानमिति च रज्जौ सर्पभ्रान्तिरिवाद्वितीये सर्वानुस्यूते सर्वमये ब्रह्मणि देवतिर्यङ्-नरस्थावरस्त्रीपुरुषवर्णाश्रमबन्धमोक्षोपाधिनानात्मभेदकल्पितं ज्ञानमज्ञानम्॥ १४॥

जिस प्रकार रस्सी में सर्प की भ्रान्ति होती है, उसी प्रकार सब में विद्यमान ब्रह्म और देव, पशु-पक्षी, मनुष्य, स्थावर, स्त्री-पुरुष, वर्ण-आश्रम, बन्धन-मुक्ति आदि सभी अनात्म वस्तुओं में भेद मानना ही 'अज्ञान' है॥ १४॥

सुखमिति च सच्चिदानन्दस्वरूपं ज्ञात्वानन्दरूपा या स्थितिः सैव सुखम्॥ १५॥

सत्-चित्-आनन्द स्वरूप परमात्मा के ज्ञान से जो आनन्दपूर्ण स्थिति बनती है, वही सुख है॥ १५॥

दुःखमिति अनात्मरूपो विषयसंकल्प एव दुःखम्॥ १६॥

अनात्म रूप (नश्वर) विषयों का सङ्कल्प (विचार) करना दुःख कहलाता है॥ १६॥

स्वर्ग इति च सत्संसर्गः स्वर्गः। नरक इति च असत्संसारविषयजनसंसर्ग एव नरकः॥ १७॥

सत् का (अनश्वर का) समागम (सत्पुरुषों का सत्संग) ही स्वर्ग है। असत् (नश्वर) संसार के विषयों (में रचे-पचे लोगों) का संसर्ग ही नरक है॥ १७॥

बन्ध इति च अनाद्यविद्यावासनया जातोऽहमित्यादिसंकल्पो बन्धः॥ १८॥

अनादि अविद्या की वासना (संस्कार) द्वारा उत्पन्न इस प्रकार का विचार कि 'मैं हूँ,' यही बन्धन है॥

पितृमातृसहोदरदारापत्यगृहारामक्षेत्रममतासंसारावरणसङ्कल्पो बन्धः॥ १९॥

माता-पिता, भ्राता, पुत्र, गृह, उद्यान तथा खेत आदि मेरे अपने हैं, यह सांसारिक विचार भी बन्धन ही हैं॥

कर्तृत्वाद्यहंकारसंकल्पो बन्धः॥ २०॥

कर्त्तापन के अहंकार का संकल्प भी बन्धनरूप है॥ २०॥

अणिमाद्यष्टैश्वर्याशासिद्धसंकल्पो बन्धः॥ २१॥

अणिमा आदि (अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ये अष्ट सिद्धियाँ अथवा ऐश्वर्य हैं) आठ ऐश्वर्यों को प्राप्त करने का संकल्प भी बन्धन है॥ २१॥

देवमनुष्याद्युपासनाकामसंकल्पो बन्धः॥ २२॥

मनोकामना की पूर्ति के संकल्पपूर्वक की गई देवताओं और मनुष्यों की उपासना भी बन्धन रूप है॥ २२॥

यमाद्यष्टाङ्गयोगसंकल्पो बन्धः॥ २३॥

यम आदि (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) आठ अङ्गों वाले योग का संकल्प भी बन्धन ही है॥ २३॥

वर्णाश्रमधर्मकर्मसंकल्पो बन्धः॥ २४॥

वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) और आश्रम (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास) धर्म-कर्म के संकल्प भी बन्धन स्वरूप हैं॥ २४॥

आज्ञाभयसंशयात्मगुणसंकल्पो बन्धः॥ २५॥

आज्ञा, भय, संशय आदि आत्म-गुणों के संकल्प भी बन्धन हैं॥ २५॥

यागव्रततपोदानविधिविधानज्ञानसंकल्पो बन्धः॥ २६॥

यज्ञ, व्रत, तप और दान के विधि-विधान तथा ज्ञान के संकल्प भी बन्धन हैं॥२६॥

केवलमोक्षापेक्षासंकल्पो बन्धः॥ २७॥

मोक्ष प्राप्ति का विचार करना भी बन्धन रूप है॥२७॥

संकल्पमात्रसंभवो बन्धः॥ २८॥

संकल्प मात्र से जो कुछ सम्भव है, वह सभी बन्धन स्वरूप है॥ २८॥

मोक्ष इति च नित्यानित्यवस्तुविचारादनित्यसंसारसुखदुःख विषयसमस्तक्षेत्र ममताबन्धक्षयो मोक्षः॥ २९॥

जब नित्य और अनित्य वस्तुओं के विषय में विचार करने से नश्वर संसार के सुख-दुःखात्मक सभी विषयों से ममतारूपी बन्धन विनष्ट हो जाएँ, उस (स्थिति) को मोक्ष कहते हैं॥ २९॥

उपास्य इति च सर्वशरीरस्थचैतन्यब्रह्मप्रापको गुरुरुपास्यः॥ ३०॥

समस्त शरीरों में स्थित, चैतन्य स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कराने वाला गुरु ही उपास्य (पास बैठने योग्य) है॥

शिष्य इति च विद्याध्वस्तप्रपञ्चावगाहितज्ञानावशिष्टं ब्रह्मैव शिष्यः॥ ३१॥

जिसके हृदय में विद्या द्वारा नष्ट हुए जगत् के अवगाहन से उत्पन्न ब्रह्म रूप ज्ञान शेष रहे, वही शिष्य है॥

विद्वानिति च सर्वान्तरस्थस्वसंविद्रूपविद्विद्वान्॥ ३२॥

सबके अन्तर में स्थित आत्म तत्त्व के विज्ञानमय स्वरूप को जानने वाला ही विद्वान् है॥३२॥

मूढ इति च कर्तृत्वाद्यहंकारभावारूढो मूढः॥ ३३॥

कर्त्तापन आदि के भाव में आरूढ़ व्यक्ति ही मूढ़ (मूर्ख) है ॥ ३३॥

आसुरमिति च ब्रह्मविष्ण्वीशानेन्द्रादीनामैश्वर्यकामनया निरशनजपाग्निहोत्रादिष्वन्तरात्मानं संतापयति चात्युग्ररागद्वेषविहिंसादम्भाद्यपेक्षितं तप आसुरम्॥ ३४॥

जो ब्रह्मा, विष्णु, ईशान और इन्द्र आदि देवों के ऐश्वर्य की कामनापूर्वक व्रत, जप, यज्ञ आदि में अन्तरात्मा को तपाये तथा अत्युग्र राग-द्वेष, हिंसा, दम्भ आदि दुर्गुणों से युक्त होकर जो तप करे, वह आसुरी तप कहलाता है॥ ३४॥

तप इति च ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्यपरोक्षज्ञानाग्निना। ब्रह्माद्यैश्वर्याशासिद्धसङ्कल्प-बीजसन्तापं तपः॥ ३५॥

ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है, इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान से ब्रह्मा आदि देवों के ऐश्वर्य प्राप्त करने के सङ्कल्प-बीज को संतप्त करना (जला डालना) ही (यथार्थ) तप कहा जाता है॥ ३५॥

परमं पदमिति च प्राणेन्द्रियाद्यन्तः करणगुणादेः। परतरं सच्चिदानन्दमयं नित्यमुक्तब्रह्मस्थानं परमं पदम्॥ ३६॥

प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि से भिन्न सच्चिदानन्द स्वरूप और नित्य मुक्त ब्रह्म का स्थान 'परमपद' कहलाता है॥ ३६॥

ग्राह्यमिति च देशकालवस्तुपरिच्छेदराहित्यचिन्मात्रस्वरूपं ग्राह्यम्॥ ३७॥

देश, काल, वस्तु की मर्यादा से परे चिन्मात्र स्वरूप (जो कुछ है, वह) ही ग्रहण करने योग्य (ग्राह्य) है॥

अग्राह्यमिति च स्वस्वरूपव्यतिरिक्तमायामयबुद्धीन्द्रियगोचरजगत्सत्यत्वचिन्तनमग्राह्यम्॥ ३८॥

निजस्वरूप से परे, माया द्वारा कल्पित और बुद्धि तथा इन्द्रियगम्य जगत् की सत्यता का चिन्तन 'अग्राह्य' है॥

संन्यासीति च सर्वधर्मान्परित्यज्य निर्ममो निरहंकारो भूत्वा ब्रह्मेष्टं शरणमुपगम्य तत्त्वमसि अहं ब्रह्मास्मि सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचनेत्यादिमहावाक्यार्थानुभवज्ञानाद् ब्रह्मैवाहमस्मीति निश्चित्य निर्विकल्पसमाधिना स्वतन्त्रो यतिश्चरति स संन्यासी स मुक्तः स पूज्यः स योगी स परमहंसः सोऽवधूतः स ब्राह्मण इति॥ ३९॥

जो समस्त धर्मों (कर्मों) में ममता एवं अहंकार का परित्याग करके इष्ट (ब्रह्म) की शरण में जाकर और 'तू वही है', 'मैं ब्रह्म हूँ', 'जो कुछ भी यह है, सब कुछ निश्चित ही ब्रह्म है', 'ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है', आदि इन महावाक्यों द्वारा 'मैं ब्रह्म हूँ', इस प्रकार का निश्चय करके निर्विकल्प समाधि में लीन रहकर परम स्वतन्त्र और यतिस्वरूप होता है, वह पुरुष 'संन्यासी' कहलाता है, वही मुक्त, पूज्य, योगी, परमहंस, अवधूत और ब्राह्मण होता है॥ ३९॥

इदं निरालम्बोपनिषदं योऽधीते गुर्वनुग्रहतः सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते पुनर्नाभिजायते पुनर्नाभिजायत इत्युपनिषत्॥ ४०॥

इस निरालम्ब उपनिषद् का जो (साधक) गहन अध्ययन करता है, गुरु कृपा से वह अग्निपूत (अग्नि की तरह पवित्र) और वायुपूत (वायु की तरह पावन) हो जाता है, फिर उसका पुनरावर्तन नहीं होता, वह पुनः-पुनः जगत् में जन्म नहीं लेता। निरालम्ब उपनिषद् का यही रहस्य है॥ ४०॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं .....इति शान्तिः॥

॥ इति निरालम्बोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ प्रणवोपनिषद् ॥

नाम के अनुरूप इसमें प्रणव ॐकार का विवेचन किया गया है। ॐकार को परब्रह्म की अक्षराभिव्यक्ति कहा गया है। इसकी तीन मात्राओं (अ, उ, म्) के साथ त्रिदेव, त्रिकाल, त्रिवेद, तीन अग्नियों की संगति बिठाई गयी है। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना सहित ७२ हजार नाड़ियों में ॐकार को संव्याप्त कहा गया है। अन्त में कहा गया है कि जो साधक ॐकार के माध्यम से ब्रह्म तादात्म्य प्राप्त करते हैं, वे अमृतत्व के अधिकारी हो जाते हैं।

पुरस्ताद्ब्रह्मणस्तस्य विष्णोरद्भुतकर्मणः।
रहस्यं ब्रह्मविद्याया धृताग्निं संप्रचक्षते॥ १॥

अब ब्रह्म स्वरूप भगवान् विष्णु के अद्भुत कर्मों से युक्त, (संचित कर्मों को भस्मसात् करने में समर्थ) अग्नि को धारण करने वाली ब्रह्मविद्या का रहस्य वर्णित किया जा रहा है॥ १॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म यदुक्तं ब्रह्मवादिभिः।
शरीरं तस्य वक्ष्यामि स्थानकालत्रयं तथा॥ २॥

ब्रह्मवेत्ताओं ने ॐकार को ही एक अद्वितीय, अविनाशी ब्रह्म कहा है, उसके शरीर, स्थान और कालत्रय (भूत, भविष्यत् और वर्तमान) का विवेचन अब किया जाता है॥ २॥

तत्र देवास्त्रयः प्रोक्ता लोका वेदास्त्रयोऽग्नयः।
तिस्त्रो मात्रार्धमात्रा च प्रत्यक्षस्य शिवस्य तत्॥ ३॥

उस ॐकार रूप ब्रह्म में तीन देवता, (ब्रह्मा, विष्णु, महेश), तीन लोक (भूः, भुवः, स्वः), तीन वेद (ऋक्, यजुष्, साम), तीन अग्नियाँ (गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहवनीय), तीन पूर्ण मात्रा और एक अर्धमात्रा (अ, उ, म् एवं अनुस्वार) सन्निहित है। वही उसका साक्षात् कल्याणकारी शिव स्वरूप है॥३॥

ऋग्वेदो गार्हपत्यं च पृथिवी ब्रह्म एव च।
अकारस्य शरीरं तु व्याख्यातं ब्रह्मवादिभिः॥ ४॥

ऋग्वेद, पृथ्वी, गार्हपत्य अग्नि और देव ब्रह्मा - ये तत्त्व ब्रह्मवेत्ताओं ने ॐकार के तीन अक्षरों में अकार के शरीर रूप में बताये हैं॥ ४॥

यजुर्वेदोऽन्तरिक्षं च दक्षिणाग्निस्तथैव च।
विष्णुश्च भगवान् देव उकारः परिकीर्तितः॥ ५॥

यजुर्वेद, अन्तरिक्ष, दक्षिणाग्नि और भगवान् विष्णु ये सब तत्त्व ॐकार के तीन अक्षरों में 'उकार' के स्वरूप में निरूपित किये गये हैं॥ ५॥

सामवेदस्तथा द्यौश्चाहवनीयस्तथैव च।
ईश्वरः परमो देवो मकारः परिकीर्तितः॥ ६॥

सामवेद, द्युलोक, आहवनीय अग्नि और महादेव शिव- ये सब ॐकार के तीन अक्षरों में से 'मकार' के स्वरूप में निरूपित हुए हैं॥ ६॥

सूर्यमण्डलमाभाति ह्यकारश्चन्द्रमध्यगः।
उकारश्चन्द्रसंकाशस्तस्य मध्ये व्यवस्थितः॥ ७॥

सूर्य मण्डल का जो स्वरूप है, वह ॐकार के अक्षरों में 'अकार' का स्वरूप है। चन्द्रमण्डल का स्वरूप 'उकार' से निरूपित है, जो इस ॐकार के मध्य में अवस्थित है॥ ७॥

मकारश्चाग्निसंकाशो विधूमो विद्युतोपमः।
तिस्त्रो मात्रास्तथा ज्ञेयाः सोमसूर्याग्नितेजसः॥ ८॥

ॐकार का अन्तिम अक्षर मकार, उस अग्नि स्वरूप में है, जो धूम्ररहित है, विद्युत् सदृश है। ॐकार की तीनों मात्राओं को चन्द्र, सूर्य और अग्नि के तेजस् के स्वरूप में समझना चाहिए॥ ८॥

शिखा च दीपसंकाशा यस्मिन्नु परिवर्तते।
अर्धमात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता॥ ९॥

दीपक की ज्योतिशिखा के स्वरूप में, जिसमें शिखा ऊर्ध्वगामी हो, उस प्रणव अक्षर 'ॐकार' के ऊपर स्थित अर्द्धचन्द्र-अर्द्ध मात्रा को समझना चाहिए॥ ९॥

पद्मसूत्रनिभा सूक्ष्मा शिखाभा दृश्यते परा।
नासादिसूर्यसंकाशा सूर्यं हित्वा तथापरम्॥ १०॥

दूसरी कमल सूत्र (कमल नाल) के सदृश सूक्ष्म शिखा की कान्ति (मस्तक प्रदेश में) दृष्टिगोचर होती है, वह नासारन्ध्र से सूर्यवत् तेज को धारण कर सूर्यमण्डल का भेदन कर वहाँ स्थित है॥ १०॥

द्विसप्ततिसहस्त्राणि नाडिभिस्त्वा तु मूर्धनि।
वरदं सर्वभूतानां सर्वं व्याप्यैव तिष्ठति॥ ११॥

अग्नि स्वरूप में वह शिखा (ॐकार की अर्द्धमात्रा) बहत्तर हजार नाड़ियों के द्वारा सम्पूर्ण प्राणियों को वर (जीवन-प्राण) देने वाली और सबको व्याप्त करके अवस्थित है॥ ११॥

कांस्यघण्टानिनादः स्याद्यदा लिप्यति शान्तये।
ओङ्कारस्तु तथा योज्यः श्रुतये सर्वमिच्छति॥ १२॥

जब मुमुक्षु मोक्ष प्राप्ति के निकट शान्त स्थिति को प्राप्त होता है, तो काँसे के घण्टे के समान निनाद सुनाई देता है, यह ॐ कार का ही स्वरूप है। इस स्वरूप को सभी साधक सुनने की इच्छा करते हैं॥ १२॥

यस्मिन् स लीयते शब्दस्तत्परं ब्रह्म गीयते।
सोऽमृतत्वाय कल्पते सोऽमृतत्वाय कल्पते इति॥ १३॥

जो साधक (उक्त) ओङ्कार स्वरूप शब्द नाद में लीन हो जाता है, वह ब्रह्मस्वरूप ही कहा जाता है। वही अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है, यह सुनिश्चित है॥ १३॥

॥ इति प्रणवोपनिषत् समाप्ता॥

॥ प्रश्नोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद के पिप्पलाद शाखा का ब्राह्मण भाग है। प्रश्नोपनिषद् में जिज्ञासुओं द्वारा महर्षि पिप्पलाद से पूछे गये छः प्रश्न और उनके उत्तरों का वर्णन है। प्रथम प्रश्न में कबन्धी ने प्राण और रयि के सम्बन्ध में जानना चाहा। द्वितीय प्रश्न में भार्गव ने प्रजा के आधार विषयक तीन प्रश्न किये हैं। तीसरे प्रश्न के अन्तर्गत आश्वलायन द्वारा प्राण की उत्पत्ति के सन्दर्भ में छः प्रश्न पूछे गये हैं। चौथे प्रश्न में गार्ग्य द्वारा जीवात्मा-परमात्मा के सम्बन्ध में पाँच जिज्ञासाएँ प्रकट की गयी हैं। पाँचवें प्रश्न के अन्तर्गत सत्यकाम ने ॐकार-उपासना जाननी चाही है। छठा प्रश्न सुकेशा ने किया, जिसमें १६ कलायुक्त पुरुष के विषय में जिज्ञासा की गयी है। अन्त में सभी प्रश्नों के समुचित समाधान पाकर जिज्ञासुओं द्वारा महर्षि पिप्पलाद के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए उनकी वन्दना की गयी है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे देवो ! हम कानों द्वारा कल्याणमय वचनों का श्रवण करें। हम नेत्रों से शुभ दृश्य देखें और सुदृढ़ अंगों से युक्त शरीर वाले होकर आयु पर्यन्त देव हित में लगे रहें। इन्द्रदेव हमारे निमित्त कल्याणकारी हों, पूषादेव हमारा कल्याण करें, अरिष्टनाशक गरुड़देव हमारे लिए कल्याणकारी हों तथा बृहस्पति देव हमारे लिए स्वस्ति प्रदाता हों। त्रिविध तापों का शमन हो।

॥ प्रथमः प्रश्नः ॥

ॐ सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः॥ १॥

भरद्वाज पुत्र सुकेशा, शिबि पुत्र सत्यकाम, गर्गसुत सौर्यायणि (सूर्य का पौत्र), अश्वलपुत्र कौसल्य, विदर्भवासी भार्गव और कात्यायन (कत्यवंशी) कबन्धी आदि परब्रह्म के उपासक और उसके अनुरूप अनुष्ठान में तत्पर छः ऋषिगण, परब्रह्म के प्रति जिज्ञासु भाव से हाथ में समिधा लेकर महर्षि पिप्पलाद के निकट गये॥ १॥

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति॥ २॥

उन (महर्षि पिप्पलाद) ने उन आगन्तुक ऋषियों से कहा कि आप ब्रह्मचर्यपूर्वक तपस्यारत रहते हुए एक वर्ष तक श्रद्धापूर्वक यहीं रहें, तत्पश्चात् आप अपनी इच्छानुसार प्रश्न करें, यदि मैं जानता होऊँगा, तो आपको अवश्य ही उनके उत्तर दूँगा॥ २॥

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ। भगवन्कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति॥

(एक वर्ष पिप्पलाद ऋषि के आश्रम में निवास करने के पश्चात्) कात्यायन कबन्धी ने ऋषि पिप्पलाद के निकट जाकर पूछा-भगवन्! यह प्रजा किससे प्रकट (उत्पन्न) होती है? ॥ ३॥

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति॥ ४॥

महर्षि पिप्पलाद ने कहा कि प्रजा वृद्धि की इच्छा वाले प्रजापति ब्रह्मा ने तप किया। तदनन्तर उन्होंने रयि और प्राण नामक एक युगल उत्पन्न किया और सोचा कि यह युगल ही अनेक प्रकार की प्रजा का उत्पादन करेगा॥ ४॥

[प्राण गति प्रदान करने वाला चेतन तत्त्व या शक्ति है तथा रयि उसे धारण करके विविध रूप देने में समर्थ प्रकृति है। वर्तमान विज्ञान की भाषा में इन्हें चेतना युक्त ऊर्जा (लाइव एनर्जी) तथा पदार्थ (मैटर) भी कह सकते हैं। दोनों के संयोग से ही सृष्टि उत्पन्न होती है।]

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः॥

आदित्य ही प्राण स्वरूप और रयि ही चन्द्र स्वरूप है। इस विराट् विश्व में जो कुछ मूर्त्त और अमूर्त्त अर्थात् स्थूल एवं सूक्ष्म है, वह सब रयि ही है, अतएव मूर्ति ही रयि है॥ ५॥

[पृथ्वी पर प्राण संचार का दृश्य स्रोत सूर्य है। सूर्य प्रकाशक-प्रेरक है, अस्तु प्राण रूप है। चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित-प्रेरित है, अस्तु रयि का प्रतीक है। स्थूल, सूक्ष्म प्रकृति के सभी घटक रयि ही कहे जाते हैं।]

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रतिशति तेन प्राच्यान्प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान्प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते॥ ६॥

रात्रि के समापन पर पूर्व में उदित होकर सूर्यदेव पूर्व दिशा के प्राणों को अपनी किरणों में धारण करते हैं, तदनन्तर वे ही सूर्यदेव दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, नीचे, ऊपर और दिशाओं के मध्य भागों को भी देदीप्यमान करते हैं और उन सब दिशाओं के प्राणों को अपनी किरणों में धारण करते हैं॥ ६॥

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाभ्युक्तम्॥ ७॥

वे सूर्यदेव ही वैश्वानर अग्निरूप, विश्वरूप एवं प्राणरूप होकर प्रकट होते हैं। ऋचा (वेद मंत्रों) द्वारा भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है॥ ७॥

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्त्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः॥ ८॥

वे सूर्य सर्वरूप, सर्वाधार, रश्मिवान्, सर्वज्ञाता, तपोनिष्ठ एवं अद्वितीय हैं। वे सहस्त्रों किरणों वाले सूर्यदेव सैकड़ों रूपों से विद्यमान रहते हुए समस्त प्राणधारियों के प्राणस्वरूप होकर उदित होते हैं॥ ८॥

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च। तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेतऽऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः॥ ९॥

(एक दृष्टि से) संवत्सर ही प्रजापति है तथा उसके दक्षिण और उत्तर दो अयन हैं। जो लोग अपने अभीष्ट की पूर्ति हेतु कर्मपथ का आश्रय लेते हैं, वे चन्द्रलोक को प्राप्त कर आवागमन को प्राप्त करते हैं। ये प्रजा की कामना करने वाले ऋषिगण दक्षिण की ओर पितृयान मार्ग से गमन करते हैं। यह पितृयान मार्ग ही रयि है॥ ९॥

[चन्द्र शब्द 'चदि' धातु से बना है। जिसका अर्थ 'सुख' है। लौकिक सुख को लक्ष्य करके अपनी ऊर्जा को नियोजित करने वाले, प्रजा उत्पन्न करने वाले जीवन-मरण का चक्र चलाने में सहायक होते हैं।]

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते। एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः॥

आत्मशोधी पुरुष तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और विद्या द्वारा परमात्मा को प्राप्त करके उत्तरमार्ग (उत्तरायण) द्वारा सूर्य लोक को प्राप्त करते हैं। वे सूर्यदेव ही प्राणों के आश्रय हैं, वे ही अभय हैं, वे ही अविनाशी हैं और वे ही परमगति वाले हैं। अस्तु, इस सूर्यलोक को प्राप्त करके फिर पुनरावर्तन नहीं होता। इस तथ्य को यह अगला मन्त्र स्पष्ट करता है॥ १०॥

[सूर्य (प्रेरक ऊर्जा स्रोत) को लक्ष्य करके अपनी ऊर्जा को नियोजित करने वाले साधक सृजेता (परमात्मा) से एकात्मरूप हो जाते हैं। इस प्रक्रिया में ब्रह्मचर्य, श्रद्धा आदि का प्रयोग करना होता है।]

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्। अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षळर आहुरर्पितमिति॥ ११॥

कुछ विद्वान् (प्रजापति को) पाँच पैरों (पंच प्राणों या पंच तत्त्वों) और बारह आकृतियों (बारह मासों) वाला तथा द्युलोक के बीच (अन्तरिक्ष) में जल धारण करने वाला कहते हैं। अन्य विद्वानों ने उसे सात चक्रों (सात वारों) और छः अरों (छः ऋतुओं) वाला कहा है॥ ११॥

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेतऽ ऋषयः शुक्ल इष्टिं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन्॥ १२॥

(अन्य दृष्टि से) मास प्रजापति है। उसके कृष्ण पक्ष रयि तथा शुक्ल पक्ष प्राण हैं। इसलिए ये ऋषि (द्रष्टागण) शुक्लपक्ष में इष्ट कर्म करते हैं तथा अन्य विद्वान् दूसरे कृष्ण पक्ष में इष्ट कार्य संपादित करते हैं॥

[शुक्ल पक्ष में प्रकाश बढ़ता है। शुक्ल पक्ष में इष्ट कर्म का भाव है-ऊर्जा उत्पादन कर्म। कृष्णपक्ष में कर्म का भाव है-ऊर्जा नियोजन कर्म।]

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति। ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते॥ १३॥

अन्य दृष्टि से अहोरात्र प्रजापति स्वरूप हैं। इनमें दिन, प्राण और रात्रि रयि हैं। इसलिए दिन के समय स्त्री से विहार करने वाले पुरुष अपने प्राण को क्षीण करते हैं, पर रात्रि में रति हेतु संयोग करने वाले पुरुष उसके कर्मफल से लिप्त नहीं होते, अतः वे ब्रह्मचारी ही माने जाते हैं॥ १३॥

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति॥ १४॥

अन्न ही प्रजापति है, उसी से वीर्य उत्पन्न होता है और वीर्य से ही समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होती है॥

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते। तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

इस प्रकार प्रजापति के इस व्रत पालन करने वाले पुरुष (कन्या-पुत्र रूप) मिथुन का उत्पादन करते हैं। तपस्वी और ब्रह्मचर्ययुक्त तथा सत्यावलम्बी पुरुष ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं॥ १५॥

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति॥ १६॥

जिन व्यक्तियों में कुटिलता, झूठ और माया (छल-कपट) नहीं हैं, वे विशुद्ध ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं॥

॥ द्वितीयः प्रश्नः ॥

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ । भगवन्कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते ? कतर एतत्प्रकाशयन्ते ? कः पुनरेषां वरिष्ठः ? इति ॥ १ ॥

इसके पश्चात् विदर्भदेशीय भार्गव ने महर्षि पिप्पलाद से पूछा- हे भगवन्! प्रजाधारण करने वाले देवताओं की संख्या कितनी है ? उनमें से कौन देवता इसे प्रकाशित करते हैं तथा उनमें से वरिष्ठ कौन है ? ॥

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥ २ ॥

महर्षि पिप्पलाद ने उनसे (भार्गव ऋषि से) कहा कि निश्चित रूप से आकाश, अग्नि, जल, पृथिवी (पंचभूत) तथा मन, वाणी, नेत्र और श्रोत्र आदि (इन्द्रियाँ) ये सब भी देव ही हैं। ये समस्त देवगण प्रकट होकर कहते हैं कि हमने ही इस शरीर को धारण किया है। अस्तु, हम ही इसके आश्रयदाता हैं ॥ २ ॥

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथा । अहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्-बाणमवष्टभ्य विधारयामीति ॥ ३ ॥

इन सभी देवताओं में सर्वश्रेष्ठ प्राण ने कहा कि आप मोह का परित्याग करें, मैं ही अपने पाँच विभागों (अवयवों) से इस शरीर को आश्रय प्रदान करके धारण करता हूँ ॥३ ॥

तेऽश्रद्दधाना बभूवुः सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते तद्यथा मक्षिका मधुकरराजान-मुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते एवमस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥ ४ ॥

प्राण की इस बात पर देवताओं को विश्वास नहीं हुआ। तब प्राण के अभिमान पूर्वक ऊपर उठने और बाहर निकलने लगने के साथ ही वाक्, नेत्र, मन और श्रोत्रादि भी शरीर से बाहर निकलने लगे। जब वह रुक गया, तो उपर्युक्त सभी इन्द्रियाँ भी ठहर गयीं। जैसे मधुमक्खियों में रानी मक्खी के छत्ते से ऊपर निकलते ही, सभी मक्खियाँ उसके साथ ही बहिर्गमन करने लगती हैं और उसके बैठे रहने पर बैठी रहती हैं, इस प्रकार प्राण की वरिष्ठता सिद्ध हो जाने पर वाक् आदि सभी देवों ने प्राण की अभ्यर्थना की ॥ ४ ॥

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः ।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥ ५ ॥

यह प्राण ही अग्नि होकर तपता है। यही सूर्य, इन्द्र, मेघ, वायु, पृथिवी एवं रयि है। सत्, असत् और अमृत भी यह प्राण ही है ॥ ५ ॥

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ ६ ॥

जिस प्रकार रथचक्र की नाभि में अरे लगे रहते हैं, उसी प्रकार प्राण में ऋग्वेद की ऋचाएँ, यजुर्वेद और सामवेद के मन्त्र, ब्राह्मण, क्षत्रिय और यज्ञ-सभी सन्निहित हैं ॥ ६ ॥

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे। तुभ्यं प्राण! प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥ ७॥

हे प्राण! आप ही प्रजापति हैं, गर्भ में आप ही निवास करते हैं और आप ही माता-पिता के समान आकृति वाले होकर जन्म लेते हैं। हे प्राण! यह प्रजा आपको ही बलि प्रदान करती है, क्योंकि आप ही सम्पूर्ण इन्द्रियों सहित प्रतिष्ठित हैं॥ ७॥

देवानामसि वह्नितमः पितृणां प्रथमा स्वधा।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि॥ ८॥

(हे प्राण!) आप ही देवताओं के लिए अग्नि हैं। पितरगणों के लिए स्वधा हैं। यह सत्य (तथ्य) अथर्वा और आङ्गिरस ऋषियों द्वारा प्रमाणित किया गया है॥ ८॥

इन्द्रस्त्वं प्राण! तेजसा रुद्रोऽ सि परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः॥ ९॥

हे प्राण! आप ही इन्द्र हैं। अपने तेज के फलस्वरूप रुद्र हैं और सब ओर से हमारी सुरक्षा करने वाले हैं। आप ही ज्योतियों के स्वामी सूर्य हैं। आप ही अन्तरिक्ष में विचरण करते हैं॥ ९॥

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति॥ १०॥

हे प्राण! जब आप मेघरूप होकर वर्षण करते हैं, तब यह समस्त प्रजा प्रभूत अन्न उत्पादन की आशा से आह्लादित हो जाती है॥ १०॥

व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः॥ ११॥

हे प्राण! आप व्रात्य (संस्कार विहीन) होकर भी एकर्षि नामक अग्नि हैं। हम आपके निमित्त जो आहार प्रदान करते हैं, आप उसके भोक्ता हैं। आप इस जगत् के स्वामी हैं। हे प्राण! आप हमारे पिता हैं तथा आप ही वायु रूप होकर आकाश में विचरण करने वाले मातरिश्वा हैं॥ ११॥

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः॥ १२॥

आपका जो स्वरूप वाणी, श्रोत्र, नेत्र और मन में संव्याप्त है, आप उसे शान्त करें (कल्याणमय करें)। आप शरीर से बहिर्गमन करने की चेष्टा न करें॥ १२॥

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति॥ १३॥

इस जगत् अथवा तृतीय द्युलोक (त्रिदिव-स्वर्ग) में जो भी प्रतिष्ठित है, वह सब प्राण के ही वश में है। हे प्राण! आप हमारी उसी प्रकार रक्षा करें, जिस प्रकार माता पुत्र की सुरक्षा करती है। आप हमें श्री (समृद्धि) और प्रज्ञा प्रदान करें॥ १३॥

[भूलोक को 'प्रथम', भुवः (अन्तरिक्ष) लोक को द्वितीय तथा स्वः(स्वर्ग या त्रिदिव) लोक को 'तृतीय' की संज्ञा प्रदान की जाती है।]

॥ तृतीयः प्रश्नः ॥

अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ। भगवन्कुत एष प्राणो जायते? कथमायात्यस्मिञ्छरीरे? आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते? केनोत्क्रमते? कथं बाह्यमभिधत्ते? कथमध्यात्ममिति॥ १॥

तदुपरान्त कौसल्य आश्वलायन ने महर्षि पिप्पलाद से पूछा-भगवन्! इस प्राण की उत्पत्ति कहाँ से होती है? यह इस शरीर में किस प्रकार प्रविष्ट होता है, यह किस प्रकार शरीर से बाहर आता है और किस प्रकार बाहरी और भीतरी शरीर को धारण करता है?॥ १॥

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि॥ २॥

महर्षि पिप्पलाद ने उनसे कहा कि आप बहुत जटिल प्रश्न पूछते हैं; किन्तु आप ब्रह्मनिष्ठ हैं, इसलिए मैं आपके प्रश्नों के उत्तर देता हूँ॥ २॥

[सामान्य रूप से प्राण तत्त्व की अनुभूति कठिन है, उसकी उत्पत्ति एवं नियोजन का क्रम और भी कठिन है; लेकिन ब्रह्मनिष्ठ उसे समझ सकते हैं, इसलिए महर्षि उनके लिए वह विषय स्पष्ट करते हैं।]

आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे॥ ३॥

इस प्राण की उत्पत्ति आत्मा से होती है। जिस प्रकार छाया देहधारी की देह से उत्पन्न होती है अथवा छाया देहधारी के आश्रित है, उसी प्रकार प्राण आत्मा से उत्पन्न होकर, उसी के आश्रित रहता है। यह प्राण मन के संकल्प के अनुसार शरीर में प्रविष्ट होता है॥ ३॥

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते॥ ४॥

जिस प्रकार राजा अपने विभिन्न अधिकारियों को पृथक्-पृथक् ग्रामों में नियुक्त करता है, उसी प्रकार प्राण (प्रमुख प्राण) अन्य प्राणों (इतर प्राणों-इन्द्रियों) की पृथक्-पृथक् नियुक्ति करता है॥ ४॥

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति॥ ५॥

वह प्राण स्वयं मुख और नासिका से निकलता हुआ नेत्र और श्रोत्र में प्रतिष्ठित होता है तथा गुदा (वायु) एवं उपस्थेन्द्रिय में अपान वायु को नियुक्त करता है। मध्य भाग में समान वायु रहता है, जो अन्न को समानतापूर्वक शरीर के विभिन्न भागों को वितरित करता है। उसी प्राण रूपी अग्नि से सात ज्वालाओं का प्रादुर्भाव होता है॥ ५॥

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति॥ ६॥

यह आत्मा प्राणी के हृदय प्रदेश में स्थित है। इस हृदय प्रान्त में एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, उन सभी नाड़ियों में प्रत्येक की सौ-सौ शाखायें हैं और उन सभी नाड़ी शाखाओं में भी प्रत्येक की बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखायें हैं। इन सब नाड़ी शाखाओं में व्यान वायु सञ्चरित होता है॥ ६॥

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्॥

इन नाड़ियों में एक नाड़ी (सुषुम्ना नाड़ी) ऊर्ध्वगामी है, जिसके माध्यम से उदान नामक वायु मनुष्य को पुण्य कृत्यों द्वारा पुण्यलोक को और पाप कृत्यों द्वारा अधम लोक को ले जाता है। यह उदान वायु पाप-पुण्य दोनों प्रकार के कर्मों द्वारा मनुष्य को मर्त्य लोक में प्रतिष्ठित करता है ॥ ७॥

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः॥ ८॥

आदित्य निश्चित रूप से बाहरी प्राण है। यह चाक्षुष (चक्षु सम्बन्धी) प्राण को अनुगृहीत करता हुआ उदित होता है । पृथ्वी का देवता प्राणी के अपान वायु को आकर्षित करता है। इन दोनों (द्यु और पृथ्वी) के बीच का रिक्त स्थान (आकाश) ही समान वायु है तथा बाह्य वायु , व्यापकता में (आन्तरिक व्यान से)समानता होने से व्यान है॥ ८॥

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः। पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः॥ ९॥

विश्वविख्यात (आदित्यरूपी) तेज ही उदान है, जिनका तेजस् शीतल हो जाता है, उनकी इन्द्रियों का मन में विलय हो जाता है, इस स्थिति में वे पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं ॥ ९॥

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः। सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति॥ १०॥

(मरणकाल में) इस (आत्मा) का जिस तरह का मनः संकल्प होता है, वह उसी प्रकार के संकल्प के साथ प्राण को प्राप्त करता है। वह प्राण तेजस् सम्पन्न होकर जीव के संकल्पानुसार उसे विभिन्न लोकों (योनियों) में ले जाता है॥ १०॥

य एवं विद्वान्प्राणं वेद न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः॥ ११॥

जो विज्ञजन प्राण तत्त्व को इस प्रकार जानते हैं, उनकी प्रजा (वंश) कभी विनाश को प्राप्त नहीं होती और वे अमृतत्व को प्राप्त कर लेते हैं। यह श्लोक इसी तथ्य का प्रतिपादन करता है॥ ११॥

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते विज्ञायामृतमश्नुत इति॥ १२॥

जो मनुष्य प्राण तत्त्व की उत्पत्ति, आगमन, स्थान व्यापकत्व तथा बाहरी और आध्यात्मिक (आन्तरिक) स्थिति के पाँचों भेदों को भली प्रकार जान लेता है, वह अमर पद प्राप्त कर लेता है-वह निश्चित ही अमरत्व को प्राप्त कर लेता है॥ १२॥

॥ चतुर्थः प्रश्नः ॥

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ। भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति? कान्यस्मिन् जाग्रति? कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति? कस्यैतत्सुखं भवति? कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति॥ १॥

तदुपरान्त सूर्य-पौत्र गार्ग्य ने महर्षि पिप्पलाद से प्रश्न किया-हे भगवन् ! इस पुरुष देह में कौन (इन्द्रियाँ) शयन करती हैं और कौन जाग्रत् रहती हैं? कौन देवता स्वप्न देखता है और कौन सुख अनुभव करता है? ये सब किसमें सम्प्रतिष्ठित होते हैं? ॥ १॥

तस्मै स होवाच। यथा गार्ग्य। मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति। ताः पुनःपुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते॥ २॥

महर्षि पिप्पलाद ने गार्ग्य ऋषि से कहा- हे गार्ग्य! जिस प्रकार सूर्य की रश्मियाँ उसके अस्त होने पर सिमटकर उसी के तेजोमंडल में एकीभूत हो जाती हैं और सूर्योदय होने पर पुनः सर्वत्र फैल जाती हैं, उसी प्रकार समस्त इन्द्रियाँ परमदेव मन में एकीभूत हो जाती हैं, तब यह पुरुष न देखता है, न सुनता है, न स्वाद लेता है, न सूँघता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न मल का त्याग करता है, न आनंद का अनुभव करता है और न ही किसी प्रकार की चेष्टा करता है, तब उसकी इस स्थिति को शयन करना (सो जाना) कहते हैं॥ २॥

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः॥ ३॥

(सोते समय) इस शरीररूप पुर (नगर) में प्राणरूप अग्नि ही जाग्रत् रहता है। यह अपान ही गार्हपत्य अग्नि है। व्यान ही अन्वाहार्यपचन नामक अग्नि है। गार्हपत्य से ले जाया गया प्राण ही 'प्रणयन प्रक्रिया' के कारण आहवनीय अग्निरूप है॥ ३॥

[ऋषि यहाँ काया में सतत चलने वाली जीवन रूपी यज्ञीय प्रक्रिया का स्वरूप व्यक्त कर रहे हैं।]

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः। मनो ह वाव यजमान इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति॥ ४॥

शरीरधारी में उच्छ्वास और निःश्वास (श्वास लेना और छोड़ना) ही यज्ञाहुतियाँ हैं। उन आहुतियों को समानता पूर्वक विभक्त करने के कारण समान वायु (ही ऋत्विक्) है। मन निश्चित ही यजमान है और अभीष्ट फल उदान है। यही उदान (इच्छित फल) मन को नित्य ही ब्रह्म में स्थित करता है॥ ४॥

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुश्रृणोति देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति॥ ५॥

स्वप्न की स्थिति में यह देव अपनी महिमा का अनुभव करता है। जाग्रत् अवस्था में इसने जो देखा था, उसी को पुनः (स्वप्न में) देखता है, जो सुना था उसे ही सुनता है, विभिन्न दिशाओं में अनुभव किये हुए को पुनः-पुनः अनुभव करता है। (इतना ही नहीं) यह देखे-अनदेखे, सुने-अनसुने, अनुभूत-अननुभूत, सत् और असत् समस्त पदार्थों को देखता है और स्वयं भी सर्वरूप बनकर देखता है॥ ५॥

स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्छरीर एतत्सुखं भवति॥

जब यह जीवात्मा तेजस् से सम्पन्न होता है, तब यह स्वप्न नहीं देखता। उस समय शरीर में यह आनन्द (सुषुप्ति सुख) अनुभव करता है॥ ६॥

स यथा सोम्य! वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते॥

हे सोम्य! जिस प्रकार पक्षी अपने निवास स्थान वृक्ष पर जाकर बैठ जाते हैं, उसी प्रकार ये समस्त तत्त्व परम आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाते हैं॥ ७॥

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च॥ ८॥

(गत मन्त्रों में जिन तत्त्वों का संकेत है, वे ये हैं) पृथ्वी एवं उसकी तन्मात्रा (गन्ध), जल एवं उसकी तन्मात्रा (रस), आकाश एवं उसकी तन्मात्रा (शब्द), वायु और उसकी तन्मात्रा (स्पर्श), तेज (अग्नि) और उसकी तन्मात्रा (रूप), नेत्र और देखने योग्य (दृश्य), कान और सुनने योग्य (शब्द), घ्राण और सूँघने योग्य (गंध), रसना और स्वाद ग्रहण करने योग्य (रस), त्वचा और स्पर्श करने योग्य (पदार्थ), हाथ और ग्रहण करने योग्य पदार्थ, वाक् शक्ति और वक्तव्य-विषय, उपस्थ और उससे सम्बंधित विषय, गुदा और विसर्जन योग्य (मल), पैर और गन्तव्य स्थल, मन और मननीय विषय, बुद्धि और जानने योग्य विषय, अहंकार और उसका विषय, चित्त और चिंतनीय विषय, तेजस् और प्रकाशित करने योग्य पदार्थ, प्राण एवं उसके आश्रित रहने वाले पदार्थ (ये सब) परम आत्मा में विलीन हो जाते हैं॥ ८॥

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धाकर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ९॥

यही द्रष्टा (देखने वाला), स्प्रष्टा (स्पर्श करने वाला), श्रोता (सुनने वाला), घ्राता (सूँघने वाला), रसयिता (रस लेने वाला), मन्ता (मनन करने वाला), कर्त्ता (कर्म करने वाला) और बोद्धा (जानने वाला) विज्ञानात्मा पुरुष है; जो परम अविनाशी ब्रह्म में स्थित हो जाता है॥ ९॥

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य! स सर्वज्ञः सर्वो भवति॥ तदेष श्लोकः॥ १०॥

हे सोम्य! जो पुरुष, इस छायारहित, शरीररहित, अलोहित, शुभ्र अक्षर परमात्मा को भली-भाँति जानता है, वह सर्वज्ञ और सर्वरूप होकर उसी को प्राप्त हो जाता है-ऐसा इस श्लोक में भी वर्णित है ॥ १०॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र । तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य! स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति॥ ११॥

हे सोम्य ! जिस अविनाशी परब्रह्म में समस्त देवगण, समस्त प्राण और समस्त भूत भली प्रकार प्रतिष्ठित होते हैं, उसे जानने वाला सर्वज्ञाता भी उसी में (परमात्मा में) प्रविष्ट हो जाता है॥ ११॥

॥ पञ्चमः प्रश्नः ॥

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ। स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत। कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति॥ १॥

इसके उपरान्त शिबि पुत्र सत्यकाम ने महर्षि पिप्पलाद से पूछा- हे भगवन्! यह बताने का अनुग्रह करें कि जो मनुष्य जीवन भर (मरण पर्यन्त) ॐ का ध्यान करे, वह इस (ओंकारोपासना) द्वारा किस लोक पर विजय प्राप्त कर लेता है?॥ १॥

तस्मै स होवाच। एतद्वै सत्यकाम। परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति॥ २॥

महर्षि पिप्पलाद ने कहा- हे सत्यकाम! यह ॐ कार ही निश्चित रूप से परब्रह्म और अपरब्रह्म है। अतः जो विद्वान् इसे इस प्रकार जानता है, वह इनमें से किसी एक (ब्रह्म) को प्राप्त कर लेता है ॥ २॥

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महिमानमनुभवति॥३॥

वह साधक यदि एक मात्रा वाले ॐकार का ध्यान करता है, तो उसके माध्यम से वह अतिशीघ्र इस जगत् को प्राप्त कर लेता है। वहाँ वह ब्रह्मचर्य, तप और श्रद्धा से सम्पन्न होकर महिमावान् होता है॥ ३॥

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकं स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते॥ ४॥

यदि वह द्विमात्रिक ॐकार का ध्यान करे, तो उसे यजुर्वेद के मन्त्र अन्तरिक्ष में स्थित सोम लोक में ले जाते हैं। वह वहाँ (सोम लोक में) विभूतियों का अनुभव करके पुनः (मर्त्यलोक में) वापस लौट आता है॥ ४॥

यः पुनरेतन्त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते। तदेतौ श्लोकौ भवतः॥ ५॥

जो पुरुष त्रिमात्रिक ॐकार के ध्यान द्वारा साधना करता है, वह तेजोमय सूर्यलोक को प्राप्त करता है। जिस प्रकार सर्प केंचुली से मुक्त होकर बाहर आ जाता है, उसी प्रकार वह पापों से छूट जाता है और साम-मन्त्रों द्वारा ब्रह्मलोक पहुँचा दिया जाता है। वह विद्वान् इस जीवनघन से भी श्रेष्ठ समस्त शरीरों में प्रविष्ट (हृदय में स्थित) परमात्मा का दर्शन करता है। ये दो श्लोक इसी तथ्य के प्रतिपादक हैं॥ ५॥

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः ।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः॥ ६॥

ॐ कार मंत्र की तीनों मात्राएँ (अलग-अलग होने पर भी) परस्पर संबद्ध हैं - मृत्यु से युक्त हैं। ये (ध्यान प्रक्रिया में) प्रयुक्त होती हैं एवं आपस में ऐसी हैं, जिनका प्रतिकूल रूप में प्रयोग नहीं किया गया है । अस्तु, (इन्हें) बाहर-भीतर और बीच की क्रियाओं में भली प्रकार प्रयुक्त करने वाला विद्वान् पुरुष दृढ़ संकल्प वाला हो जाता है, जो कभी विचलित नहीं होता॥ ६॥

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते । तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति॥ ७॥

(एक मात्रिक ॐकार की साधना द्वारा) साधक को ऋग्वेद की ऋचाएँ इस लोक की प्राप्ति कराती हैं, (द्विमात्रिक ओंकार साधना से) यजुर्वेद के मंत्र अंतरिक्ष लोक की और (त्रिमात्रिक ॐकार साधना द्वारा) सामवेद के मंत्र उसे उस (तृतीय ब्रह्म लोक) लोक की प्राप्ति कराते हैं, ऐसा विद्वज्जन जानते हैं। उस ॐकार मंत्र का आश्रय लेकर ही विद्वान् उस परमब्रह्म लोक को प्राप्त करता है, जो शांतिपूर्ण, अजर-अमर भयरहित एवं सर्वोत्कृष्ट है ॥ ७॥

॥ षष्ठः प्रश्नः ॥

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ। भगवन्हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत। षोडशकलं भारद्वाज! पुरुषं वेत्थ ? तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति। समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्। स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुषः ? इति॥ १॥

इसके बाद भरद्वाज ऋषि के पुत्र सुकेशा ने महर्षि पिप्पलाद से पूछा- हे भगवन्! कौसल देश के राजपुत्र हिरण्यनाभ ने मेरे निकट आकर जो प्रश्न किया था, वह मैं आपसे निवेदन कर रहा हूँ- हे भारद्वाज! क्या आप सोलह कला से सम्पन्न पुरुष के विषय में जानते हैं? मैंने उस राजकुमार से कहा- मैं उसे नहीं जानता, यदि मैं जानता होता, तो आपको क्यों नहीं बताता? जो व्यक्ति झूठ बोलता है, वह समूल सूख जाता है, अस्तु, मैं झूठ नहीं बोल सकता। तदनन्तर वह राजकुमार चुपचाप रथारूढ़ होकर चला गया। आप हमारा समाधान करें कि वह 'पुरुष' कहाँ रहता है (जिसके विषय में राजकुमार ने पूछा था)? ॥ १॥

तस्मै स होवाच। इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति॥

आचार्य पिप्पलाद ने उनसे कहा- हे सोम्य! जिस पुरुष में षोडश कलाएँ उत्पन्न होती हैं, वह इस शरीर के ही अन्दर विद्यमान है॥ २॥

स ईक्षांचक्रे। कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ॥ ३॥

उस (देह-स्थित) पुरुष ने चिन्तन किया कि किसके निकल जाने पर मैं निकल जाऊँगा और किसके प्रतिष्ठित रहने पर मैं प्रतिष्ठित रहूँगा॥ ३॥

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मंत्राः कर्मलोका लोकेषु च नाम च ॥ ४॥

उस पुरुष ने सर्वप्रथम प्राण का सृजन किया,तदुपरान्त प्राण से श्रद्धा,आकाश, वायु , ज्योति, जल,पृथ्वी, इन्द्रियाँ , मन और अन्न सृजा गया। अन्न से वीर्य,तप,मन्त्र,कर्म,लोक एवं नाम आदि (सोलह कलाओं)की रचना हुई॥ ४॥

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति। तदेष श्लोकः॥ ५॥

जिस प्रकार नदियाँ बहते-बहते समुद्र में जा मिलती हैं और उसमें ही विलीन होकर अपना नाम-रूप विनष्ट करके 'समुद्र' ही हो जाती हैं। उसी प्रकार सर्वद्रष्टा परम पुरुष की षोडश कलाएँ उस परम पुरुष में ही विलीन हो जाती हैं, उनके नाम-रूप भी विनष्ट हो जाते हैं और वे पुरुष ही कहलाती हैं। इसके बाद भी वह पुरुष कलारहित और अमर है, इस तथ्य के प्रतिपादन स्वरूप यह श्लोक है॥ ५॥

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति॥ ६॥

रथ की नाभि में जिस तरह अरे लगे होते हैं, उसी प्रकार जिस परम पुरुष (परमेश्वर) में समस्त कलाएँ प्रतिष्ठित हैं, उस ज्ञातव्य पुरुष को जानो, ताकि मृत्यु तुम्हें व्यथा न पहुँचा सके॥ ६॥

तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद नातः परमस्तीति॥ ७॥

इसके बाद उन महर्षि पिप्पलाद ने समस्त ऋषियों से कहा इस परब्रह्म के विषय में मैं इतना ही ज्ञान रखता हूँ, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है ॥ ७॥

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति। नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः॥ ८॥

तदुपरान्त ऋषियों ने उन (महर्षि पिप्पलाद) की अर्चना करते हुए कहा–आप हमारे पिता हैं, क्योंकि आपने हमें अविद्या (अज्ञान) के उस पार कर दिया है। आप परम ऋषि हैं, हमारा आपको नमन है–नमन है ॥ ८॥

॥ शान्तिपाठः॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम..... ॥

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः .....इति शान्तिः॥

॥ इति प्रश्नोपनिषत्समाप्ता॥

॥ बृहदारण्यकोपनिषद् ॥

शुक्ल यजुर्वेद की काण्व-शाखा के वाजसनेयि ब्राह्मण-शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत यह उपनिषद् है। बृहत् (बड़ी) और आरण्यक (वन) में विकसित होने के कारण इसे 'बृहदारण्यक' कहा गया है। इसमें छः अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय में अनेक ब्राह्मण हैं।

प्रथम अध्याय में छः ब्राह्मण हैं। प्रथम ब्राह्मण (अश्वमेध परक) में सृष्टि रूप यज्ञ को एक विराट् अश्व की उपमा से व्यक्त किया गया है और दूसरे में प्रलय के बाद सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। तीसरे में देवों - असुरों के प्रसंग से प्राण की महिमा और उसके भेद स्पष्ट किये गये हैं। चौथे में ब्रह्म को सर्वरूप कहकर उसके द्वारा चार वर्णों के विकास का उल्लेख है। छठवें में विभिन्न अन्नों की उत्पत्ति तथा मन, वाणी एवं प्राण के महत्त्व का वर्णन है। साथ ही नाम, रूप एवं कर्म की प्रतिष्ठा भी है। दूसरे अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में डींग हाँकने वाले गार्ग्य बालाकि एवं ज्ञानी राजा अजातशत्रु के संवाद के द्वारा ब्रह्म एवं आत्म तत्त्व को स्पष्ट किया गया है। दूसरे-तीसरे में प्राणोपासना तथा ब्रह्म के दो (मूर्त्त और अमूर्त्त) रूपों का वर्णन है। चौथे में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद है। यह संवाद अध्याय ४ ब्राह्मण ५ में भी लगभग एक ही प्रकार से है। पाँचवें-छठें ब्रा० में मधुविद्या और उसकी परम्परा का वर्णन है। तीसरे अध्याय के नौ ब्राह्मणों के अन्तर्गत राजा जनक के यज्ञ में याज्ञवल्क्य से विभिन्न तत्त्ववेत्ताओं की प्रश्नोत्तरी है। गार्गी ने दो बार प्रश्न किए हैं, पहली बार अतिप्रश्न करने पर याज्ञवल्क्य ने उन्हें मस्तक गिरने की बात कहकर रोक दिया। दुबारा वे सभा की अनुमति से पुनः दो प्रश्न करती हैं तथा समाधान पाकर लोगों से कह देती हैं कि इनसे कोई जीत नहीं सकेगा, किन्तु शाकल्य विदग्ध नहीं माने और अतिप्रश्न करने के कारण उनका मस्तक गिर गया। चौथे अध्याय में याज्ञवल्क्य-जनक संवाद एवं याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद है। अन्त में इस काण्ड की परम्परा है। पाँचवें अध्याय में विविध रूपों में ब्रह्म की उपासना के साथ मनोमय पुरुष एवं वाक् की उपासना भी कही गयी है। मरणोत्तर ऊर्ध्वगति के साथ अन्न एवं प्राण की विविध रूपों में उपासना समझायी गयी है। गायत्री उपासना में जपनीय तीनों चरणों के साथ चौथे 'दर्शत' पद का भी उल्लेख है। छठें अध्याय में प्राण की श्रेष्ठता, पंचाग्नि विद्या, मन्थ विद्या तथा सन्तानोत्पत्ति के विज्ञान का वर्णन है। अन्त में समस्त प्रकरण के आचार्य परम्परा की शृंखला व्यक्त की गयी है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं.....इति शान्तिः ॥ - (द्रष्टव्य-ईशावास्योपनिषद्)

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः। सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्निर्वैश्वानरः संवत्सर आत्माश्वस्य मेध्यस्य। द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यम्। दिशः पार्श्वे अवान्तरदिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्धमासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो माꣳसानि। ऊवध्यꣳ सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमानि उद्यन् पूर्वार्धो निम्लोचञ्जघनार्धो यद्विजृम्भते यद्विद्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक् ॥ १ ॥

प्रथम ब्राह्मण में विराट् 'मेध्य अश्व' का वर्णन किया गया है। जिसके अंग-अवयव तीनों लोकों में कण-कण में संव्याप्त हैं। यह एक आलंकारिक व्याख्या है। 'अश्व' शब्द शक्ति एवं गति का परिचायक है। यह ब्रह्माण्ड

गतिशील है। इसे जो शक्ति गतिशील किये है, उसे 'अश्व' कहा गया है। अशु-व्याप्नोति के अनुसार तीव्रगति से संचरित होने वाले को 'अश्व' कहना उचित है। यह अश्व 'मेध्य' है। 'मेध' शब्द 'यज्ञ' का पर्यायवाची है। अस्तु, यह शक्ति का संचार जो विश्व का संवाहक है, निश्चित रूप से 'मेध्य' (यजनीय) है। इसका उपयोग यज्ञीय दिव्य अनुशासन में ही किया जाना चाहिए। मेध (मेधृ) धातु के तीन अर्थ हैं — मेधा, हनन और संगम- संयोजन। इस विराट् यज्ञीय प्रक्रिया को हननीय-हिंसनीय तो नहीं ही कह सकते; अस्तु, यह अर्थ यहाँ अग्राह्य है। इसे मेध्य-मेधा से प्रभावित करने योग्य या मेधा से ग्रहण करने योग्य अवश्य कह सकते हैं। यह संगम योग्य भी है ही। इसके साथ जुड़ जाना या इस शक्ति प्रवाह को अपने साथ जोड़कर रखना आवश्यक भी है।

इस यज्ञीय अश्व या विश्वव्यापी शक्ति प्रवाह का सिर उषाकाल है। आदित्य ही नेत्र हैं, वायु ही प्राण है, वैश्वानराग्नि व्यात्त (खुला हुआ) मुख है और संवत्सर ही आत्मा है। द्युलोक उस यज्ञाश्व का पृष्ठ (ऊपरी या अव्यक्त) भाग, अन्तरिक्ष उसका उदर, पृथिवी पैर रखने का स्थल, दिशाएँ पार्श्व भाग, अवान्तर दिशाएँ-पसलियाँ, ऋतुएँ अन्य अङ्ग, मास और पक्ष-सन्धिस्थल, दिन और रात्रि दोनों पैर, नक्षत्र समूह-अस्थियाँ और आकाश उसका मांस है। अपरिपक्व (उदर स्थित) अन्न-सिकता (वस्तु या सूक्ष्मकण) है, नदियाँ-नाड़ी समूह, पर्वत समूह-यकृत् और हृदयगत मांस है। वनस्पतियाँ-रोम (लोम समूह), ऊर्ध्वगामी सूर्य - नाभि से ऊपर का स्थल, अधोगामी (अस्ताचल को जाता हुआ) सूर्य-कमर से नीचे का भाग है। विद्युत् चमकना मानों इस यज्ञाश्व का जनुहाई लेना है, मेघों का गरजना उसका अँगड़ाई लेना है, जल वर्षा ही मानों उसका मूत्र त्यागना है और शब्द घोष उसकी (अश्व) वाणी है॥ १॥

[उपमाएँ यथार्थ का बोध कराती हैं, वे स्वयं यथार्थ नहीं होतीं। अस्तु, अश्व के अङ्गों के साथ सिर आदि की जो उपमाएँ दी गयी हैं, वे बहुत अंशों तक सटीक हैं। अश्व का उदर 'अन्तरिक्ष' को कहा गया है, अस्तु (उदर में) अपरिपक्व अन्न 'सिकता' सामान्य बालू के कण नहीं, अन्तरिक्ष में स्थित सूक्ष्म कण (सब पार्टिकल्स) समझे जाने चाहिए, जो अभी अपरिपक्व हैं-पदार्थ रूप में परिवर्तित नहीं हुए हैं।]

अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमान्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमान्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः संबभूवतुः। हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वानर्वाऽसुरानश्वो मनुष्यान् समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनिः॥ २॥

विराट् विश्व अथवा यज्ञाश्व की महिमा स्वरूप सर्वप्रथम दिन का प्राकट्य हुआ, उसकी पूर्व दिशा में समुद्र योनि विद्यमान है। इसकी द्वितीय महिमा के रूप में रात्रि का प्राकट्य हुआ, उसकी पश्चिम दिशा में समुद्र योनि है। ये दोनों समुद्र योनियाँ इस यज्ञाश्व के आगे-पीछे की महिमा संज्ञा वाले ग्रह हैं। इस (विराट् अश्व) ने हय (त्याग) रूप में देवों को वहन किया, वाजी (भोग) बनकर गन्धर्वों को वहन किया, अर्वा (चंचल-आक्रामक) रूप धारण कर असुरों और अश्व (अधिक भोजन करने वाला) रूप से मानवों को वहन किया है। इस यज्ञाश्व अथवा विराट् विश्व का उद्गम स्थल और बन्धु (बाँधकर रखने वाला प्रेमी-सहयोगी) भी समुद्र ही है॥ २॥

[हय, वाजी, अर्वा, अश्व यह सभी शब्द पर्यायवाची हैं, सभी का अर्थ गतिशील होता है; किन्तु भाव-भेद से इनमें कुछ अन्तर है। त्याग कर बढ़ने वाला 'हय' है। वाजीकरण औषधियाँ भोग शक्ति को बढ़ाने वाली होती हैं; अस्तु, वाजी योगपरक है। अर्वा चंचल-आक्रामक है और अश्व को महाशनो, बहुभोजी कहा गया है। अश्व का उद्गम स्थल और बन्धु समुद्र कहा गया है। यह सामान्य समुद्र नहीं 'आपः तत्त्व' कारण प्रकृति जिसमें हिलोरें लेती है, जिसकी लहरों से लोक - लोकान्तर बनते-बिगड़ते रहते हैं, वह विराट् सक्रिय व्योम है। वेद ने इसे ही 'समुद्रो अर्णवः' आदि कहा है।]

॥ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्। अशनाययाशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति। सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मेकमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वम् कꣳ ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद॥ १ ॥

प्रारम्भ में इस विश्व में और कुछ भी न था। सब कुछ मृत्यु से आवृत था। यह अशनाया (क्षुधा) से आवृत था। क्षुधा ही मृत्यु है। (संसार को अपने अन्दर विलीन कर लेने के कारण ईश्वर को भी मृत्यु कहते हैं।) उसने सङ्कल्प किया कि मैं मन (संकल्पशक्ति) से युक्त हो जाऊँ। उसने अर्चन (इसके लिए प्रयत्न) किया, जिससे आपः (कारण रूप सक्रिय तत्त्व या प्रकृति) की उत्पत्ति हुई। यह (आपः) ही अर्क (ब्रह्माण्ड) का अर्कत्व (ऐश्वर्य) है। इस अर्क (मूल तत्त्व) को इस प्रकार जानने वाले को 'क' (सुख) की प्राप्ति होती है॥ १ ॥

[सब कुछ मृत्यु एवं क्षुधा से आवृत था, यह आलंकारिक उक्ति है। मृत्यु निष्क्रियता की स्थिति है- प्रलय की स्थिति है। ब्रह्माण्ड को अपने में लय कर लेने की ईश्वरीय इच्छा को उसकी क्षुधा कह सकते हैं। लय करने की इच्छा या क्षुधा के फलस्वरूप ही प्रलय-मृत्यु की स्थिति आती है। उसी ब्रह्म की इच्छा पुनः उगल देने की-सृष्टि को प्रकट करने की हुई, तो वह चक्र पुनः चल पड़ा। अर्क शब्द 'अर्च' धातु से बना है। इसे अर्च्+क या अर्क्+क (= अर्चक-अर्क्क) कह सकते हैं। इसे देव संज्ञक मानते हैं। इस देव रहस्य को जानने वाले को सुख या देवत्व की प्राप्ति होना उचित है।]

आपो वा अर्कस्तद्यदपाꣳ शर आसीत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्तस्यामश्राम्यत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजोरसो निरवर्ततााग्निः॥ २॥

आपः (मूलतत्त्व) ही अर्क है। उस आपः के ऊपर स्थूल भाग एकत्र हो जाने से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई। तदुपरान्त उस पृथ्वी पर सृजेता के श्रम और तपश्चर्या के परिणाम स्वरूप उसका (ईश्वर का) सारभूत तेज अग्नि के रूप में प्रकट हुआ॥ २॥

स त्रेधात्मानं व्यकुरुतादित्यं तृतीयं वायुं तृतीयꣳ स एष प्राणस्त्रेधा विहितः। तस्य प्राची दिक्शिरोऽसौ चासौ चेर्मौ। अथास्य प्रतीची दिक् पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः स एषोप्सु प्रतिष्ठितो यत्र क्वचैति तदेव प्रतितिष्ठत्येवं विद्वान्॥ ३॥

उस परमेश्वर ने अपने (अग्निरूप अवतरण) के तृतीयांश को सूर्य, तृतीयांश को वायु (तथा शेष तृतीयांश अग्नि) इस प्रकार तीन भागों में विभक्त किया। पूर्व दिशा उस विराट् का शीर्ष भाग (सिर), ईशान दिशाएँ और आग्नेय दिशाएँ उसकी दोनों बाँहें, पश्चिम दिशा उसकी पूँछ तथा वायव्य और नैर्ऋत्य दिशाएँ उस विराट् की जंघाएँ हैं। उत्तर और दक्षिण दिशाओं को उसका पार्श्व भाग तथा द्युलोक को पृष्ठ भाग कहते हैं। अन्तरिक्ष उसका उदर प्रदेश और पृथिवी वक्षस्थल (हृदय) है। यह (अग्नि रूप विराट् तत्त्व) आपः तत्त्व में प्रतिष्ठित है। इस विराट् को जो इस प्रकार जानता है, वह प्रतिष्ठा प्राप्त करता है॥ ३॥

सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुनꣳ समभवदशनाया मृत्युस्तद्यद्रेत आसीत्स संवत्सरोऽभवत्। न ह पुरा ततः संवत्सर आस तमेतावन्तं कालमबिभः। यावान्संवत्सरस्तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत। तं जातमभिव्याददात्स भाणकरोत्सैव वागभवत्॥ ४॥

उस विराट् ने इच्छा की कि मेरा द्वितीय (भिन्न) रूप या प्रयास भी प्रकट हो। अस्तु, उस क्षुधारूप मृत्यु ने मन के साथ वाणी की कामना की। दोनों के सम्बद्ध होने से जो रेतस् प्रकट हुआ, वही संवत्सर हुआ। उससे पूर्व संवत्सर अथवा काल नहीं था। उस संवत्सर को उतने ही समय तक वे मृत्यु स्वरूप प्रजापति गर्भ में धारण किये रहे। निर्धारित समय पूरा हो चुकने के बाद उस (संवत्सर) को प्रकट किया। उस उत्पन्न कुमार को खाने के लिए मृत्यु ने मुँह फैलाया, तब उस (कुमार के) मुख से 'भाण्' (शब्द) निकला, वही वाणी हो गई ॥ ४॥

[यह आलंकारिक वर्णन है। मन के साथ वाणी के संयोग से रेतस् अर्थात् प्रवहमान तेजस्-ज्ञान प्रकट हुआ। वही घनीभूत होकर संवत्सर (संवित्+सर) अर्थात् मन एवं वाणी के संयोग से बना ज्ञान सरोवर बना। वह ज्ञान काल-कवलित न हो जाये, इसलिए उसने भा=शोभायुक्त, ण=प्राण प्रयोग (शोभनीय प्राण प्रयोग अर्थात् ज्ञानयुक्त जीवों का विस्तार) किया। यह बात आगे सिद्ध होती है।]

स ऐक्षत यदि वा इममभिमꣳस्ये कनीयोऽन्नं करिष्य इति स तया वाचा तेनात्मनेदꣳ सर्वमसृजत यदिदं किंचर्चो यजूꣳषि सामानि छन्दाꣳसि यज्ञान् प्रजाः पशून्। स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वꣳ सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदितित्वं वेद॥ ५॥

उस (मृत्यु) ने कुमार को भयभीत देखकर सोचा कि यदि मैं इसका भक्षण कर लूँ, तो यह अत्यल्प अन्न ही ग्रहण करूँगा। अस्तु, मृत्यु ने मन और वाणी के संयोग से ऋक्, यजु, साम, छन्द और यज्ञ, पशु और प्रजा की रचना की। इन सभी सृजित वस्तुओं को उसने भक्षण कर लेने का विचार किया। वह सबका भक्षण करता है। ईश्वर भी सभी को अपने में लीन कर लेता है। अतः यही उस अदिति (अखण्ड रूप ईश्वर) का अदितित्व (एकरस-एकरूप) है। जो इस प्रकार इस अदिति के अदितित्व का ज्ञान रखता है, वह इन सबका अत्ता होता है अर्थात् वह समस्त वस्तुओं और अन्नों का खाने वाला (आत्मसात् करने वाला) होता है॥ ५॥

सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्यमुदक्रामत् प्राणा वै यशो वीर्यं तत्प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरꣳ श्वयितुमध्रियत तस्य शरीर एव मन आसीत् ॥ ६॥

उस (प्रजापति) ने कामना की कि मैं फिर से एक विराट् यज्ञ द्वारा यजन कार्य करूँ, सो उसने श्रम और तप किया। तप और श्रम से यश और बल प्रकट हुए। प्राण तत्त्व ही यश और बल (वीर्य) है। प्राणों के विस्तार के साथ ही शरीर फूलने (विस्तार पाने) लगा। तब भी उसका मन शरीर में (उस विकास प्रक्रिया में) ही लगा रहा॥ ६॥

[वर्तमान वैज्ञानिक-अनुसंधान के आधार पर भी सृष्टि का उद्भव बिगबैंग-महाविस्फोट के साथ प्राण-प्रक्रिया का विस्तार हुआ और दृश्य जगत् फैल गया। पहले पदार्थ अत्यधिक घनीभूत था। उसके फैलने-फूलने से ही यह मेध्य समझा जाने योग्य ब्रह्माण्ड विकसित हुआ।]

सोऽकामयत मेध्यं म इदꣳ स्यादात्मन्व्यनेन स्यामिति ततोऽश्वः समभवद्यदश्व-त्तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वं। एष ह वा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद तमनवरु-द्धयैवामन्यत तꣳ संवत्सरस्य परस्तादात्मन आलभत पशून्देवताभ्यः प्रत्यौहत् तस्मात्सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्यमालभन्ते। एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति तस्य संवत्सर आत्मायम-

ग्निरर्कस्तस्येमे लोका आत्मानस्तावेतावर्काश्वमेधौ सोपुनरेकैव देवता भवति मृत्युरेवाप पुनर्मृत्युं जयति नैनं मृत्युराप्नोति मृत्युरस्यात्मा भवत्येतासां देवतानामेको भवति ॥ ७॥

तदुपरान्त उसने कामना की कि मेरा यह शरीर जानने योग्य अथवा यज्ञीय (मेध्य) हो जाए और मैं इसके माध्यम से शरीरवान् हो जाऊँ। तब यह शरीर अश्वत् (फैलकर बड़ा) हो गया। अस्तु, वह अश्व कहलाया और वह अश्व ही मेध्य (जानने योग्य या संगति बिठाने योग्य अथवा यजनीय) हुआ। यही अश्वमेध का अश्वमेधत्व है। इसे इस प्रकार जानने वाला ही वस्तुतः अश्वमेध को जानता है। उसने (प्रजापति ने) उस अश्वमेध को अवरोध रहित ही विचार किया (दर्शन किया)। उसने (प्रजापति ने) संवत्सर के बाद उसका (अश्व का) अपने निमित्त आलभन किया और अन्य पशुओं को भी देवों के निमित्त प्रस्तुत किया। अस्तु, यजनकर्त्ता मन्त्र से संस्कारित समस्त देवों से सम्बन्धित प्राजापत्य पशु को आलभित करते हैं। यह तप्यमान (आदित्य) ही अश्वमेध है। संवत्सर उसकी देह है। अग्नि अर्क है और समस्त लोक ही इस (अश्व) की आत्मा हैं। ये अग्नि और आदित्य दोनों ही अर्क और अश्वमेध हैं; किन्तु वे मृत्यु स्वरूप देवता एक ही हैं। इस प्रकार से मृत्यु को जानने वाला मृत्युजित् या मृत्युंजय हो जाता है। वह स्वयं भी मृत्यु स्वरूप होकर देवों में भी मुख्य स्थान प्राप्त कर लेता है॥ ७॥

॥ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

उद्गीथ विद्या की यह आख्यायिका कतिपय परिवर्तनों के साथ छान्दोग्य उपनिषद् के अध्याय-१ के द्वितीय खण्ड में भी आई है-

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति ॥ १ ॥

प्रजापति के पुत्रों के दो वर्ग थे- देवता और असुर। उनमें देवता अल्प और असुर बहु संख्यक थे। विभिन्न लोकों में निवास करते हुए वे परस्पर प्रतिस्पर्धा करने लगे। देवताओं ने निश्चय किया कि हम लोग यज्ञ में 'उद्गीथ' के द्वारा असुरों का अतिक्रमण करें॥ १ ॥

ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुदगायत् यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणं वदति तदात्मने ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा॥ २ ॥

तदुपरान्त देवों ने उद्गीथ गान हेतु वाणी के अभिमानी देवता वाक् से निवेदन किया। उनके निवेदन को स्वीकार कर वाक् ने उद्गीथ पाठ किया। उसने अपने भोग को देवताओं के निमित्त गाया और अपने लिए शुभ वचनों का गान किया, जिससे असुर जान गये कि देवगण उद्गाता के माध्यम से हम पर आक्रमण करेंगे। अस्तु, उन्होंने वाक् के निकट जाकर उसे पाप से विद्ध कर दिया। वाक् का निषिद्ध (अनुचित) वचन ही वस्तुतः पाप है॥ २॥

अथ ह प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः प्राण उदगायद्यः प्राणे भोगस्तंदेवेभ्य आगायद्यत् कल्याणं जिघ्रति तदात्मने ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति स एव स पाप्मा॥ ३ ॥

तब देवों ने प्राण से कहा कि आप हमारे लिए उद्गाता बन जाएँ। प्राण ने 'तथास्तु' कहकर इसे स्वीकार कर लिया और उद्गीथ गायन सम्पन्न किया। उसने (प्राण ने) प्राण तत्त्व के भोग को देवताओं के लिए और जिस (श्रेष्ठ) गंध को वह सूँघता है, उसे अपने लिए गाया। असुरों को विदित हो गया कि देवता प्राण रूप उद्गाता द्वारा हमारा अतिक्रमण करेंगे। अस्तु, वे प्राण के पास गये और उसे पाप से बींध दिया। घ्राण (प्राण शक्ति) जिस अनुपयुक्त अथवा निषिद्ध को सूँघता है, वही पाप है॥ ३॥

अथ ह चक्षुरूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यश्चक्षुरुदगायद् यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति स एव स पाप्मा॥ ४॥

तब देवों ने चक्षु से उद्गीथ गान करने के लिए निवेदन किया। उसे स्वीकार कर चक्षु इन्द्रिय ने उद्गीथ गान किया। चक्षु में स्थित भोग सामर्थ्य को उसने देवों के निमित्त गाया और उसमें जो शुभ दर्शन का गुण है, उसे अपने लिए गाया। इस तथ्य को असुरगण जान गये कि देवता चक्षुरूप उद्गाता के द्वारा हमारा अतिक्रमण करेंगे, तब असुरों ने चक्षु के निकट जाकर (आक्रमण करके) उसे पाप से विद्ध कर दिया। नेत्रेन्द्रिय जिस अनुचित को देखती है, वही पाप है॥ ४॥

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः श्रोत्रमुद्गायद्यः श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणꣳशृणोति तदात्मने ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपꣳशृणोति स एव स पाप्मा ॥ ५॥

इसके बाद देवताओं ने श्रोत्र (कर्णेन्द्रिय) से कहा कि आप हमारे लिए उद्गान करें। श्रोत्र ने स्वीकार करके देवों के लिए उद्गान किया। श्रोत्रेन्द्रिय के भोग को उसने देवताओं के लिए और वह जो शुभ सुनता है, उसे अपने लिए गाया। असुर यह जान गये कि श्रोत्र रूप उद्गाता के द्वारा देवता हमारे ऊपर आक्रमण करेंगे, तब उनने श्रोत्र पर आक्रमण किया और उन्हें पाप- रूप अस्त्र से बींध दिया। अनुचित और अनुपयुक्त सुनना ही पाप है॥ ५॥

अथ ह मन ऊचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो मन उद्गायद्यो मनसि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणꣳ संकल्पयति तदात्मने ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्त्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपꣳ संकल्पयति स एव स पाप्मैवमु खल्वेता देवताः पाप्मभिरुपासृजन्नेवमेनाः पाप्मेनाविध्यन्॥ ६॥

तत्पश्चात् देवताओं ने मन से उद्गान करने की प्रार्थना की । मन ने उसे स्वीकार कर लिया और उद्गान सम्पन्न किया। मन के भोगों को उसने देवताओं के लिए और उसके शुभ संकल्पों का अपने लिए गान किया। इससे असुर यह जान गये कि देवगण मनरूप उद्गाता द्वारा हमारा अतिक्रमण करेंगे। तब उन्होंने (असुरों ने) मन पर आक्रमण करके उसे पाप से विद्ध कर दिया। अनुपयुक्त और अशुभ संकल्प करना ही पाप है। अतः देवगण पाप का संसर्ग पाकर (असुरों द्वारा) पाप से विद्ध हुए ॥ ६॥

अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उदगायत्ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविव्यत्स्यन्स यथाश्मानमृत्वा लोष्टो विध्वꣳसेतैवꣳ हैव विध्वꣳसमाना विष्वञ्चो विनेशुस्ततो देवा अभवन् परासुरा भवत्यात्मना परास्य द्विषन्भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद ॥ ७॥

तब देवों ने अपने मुख में निवास करने वाले प्राण से निवेदन किया कि आप हमारे निमित्त उद्गीथ पाठ करें। मुखस्थ प्राण ने इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और उद्गीथ गान किया, जब असुरों ने यह जाना कि देवता (प्राणरूप) उद्गाता के द्वारा हमारे ऊपर आक्रमण करेंगे, तब उन्होंने प्राण के पास जाकर उसे भी पाप से विद्ध करने का प्रयत्न किया, परन्तु मिट्टी के ढेले के पत्थर से टकराकर चूर-चूर हो जाने के समान वे असुरगण (मुखस्थ प्राण से टकराकर) विभिन्न प्रकार से छिन्न-भिन्न होकर ध्वस्त हो गये। इस प्रकार देवगण विजयी और असुर-गण पराजित हुए। जो इस तथ्य को इस प्रकार जानता है वह शत्रु को पराजित करके स्वयं विजयी होता है॥ ७॥

ते होचु क्व नु सोऽभूद्यो न इत्थमसक्तेत्ययमास्येऽन्तरितिसोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानाꣳ हि रसः ॥ ८॥

इसके पश्चात् उन देवताओं ने परस्पर चर्चा की कि जिनने हमें असक्त (स्व स्वरूप से युक्त) किया अर्थात् हमारी रक्षा की और हमें देवत्व भाव को प्राप्त कराया, वे कहाँ स्थित हैं ? किसी ने उत्तर दिया कि वे (मुख्य प्राण) हमारे मुख में स्थित हैं, इसीलिए उनका नाम अयास्य हुआ। अङ्गों का रस होने के कारण उन्हें आङ्गिरस भी कहते हैं॥ ८॥

सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरꣳ ह्यस्या मृत्युर्दूरꣳ ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद॥

यह (प्राण नाम वाले) देवता 'दूर' नाम से युक्त हैं, क्योंकि मृत्यु इससे दूर रहती है। जो इस (मृत्यु के प्राण से दूर रहने के रहस्य) को इस तरह जानता है, वह मृत्यु से बचा रहता है॥ ९॥

स वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्रासां दिशामन्तस्तद्गमयांचकार तदासां पाप्मनो विन्यदधात्तस्मान्न जनमियान्नान्तमियान्नेत्पाप्मानं मृत्युमन्ववायानीति ॥ १०॥

उस, इस प्राण रूप देवता ने इन्द्रियरूपी देवताओं के पाप रूपी मृत्यु को विनष्ट करके दिशाओं के सीमान्त स्थल तक पहुँचा दिया और तिरस्कारपूर्वक उसने (प्राण ने) उन्हें (पापों को) वहाँ प्रतिष्ठित कर दिया। अत: किसी को भी यह सोचकर कि मैं पापरूप मृत्यु के पाश में न फँसूँ, दिशाओं के सीमान्त प्रदेश में नहीं जाना चाहिए (अर्थात् मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करना चाहिए)॥ १०॥

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्याथैनां मृत्युमत्यवहत् ॥ ११॥

उस प्राण देवता ने इन्द्रियादि देवताओं के पाप रूप मृत्यु को विनष्ट कर उन्हें मृत्यु के उस पार पहुँचा दिया अर्थात् मृत्यु रहित कर दिया (पाप का परित्याग कर मानव मोक्ष रूपी अमृतत्व को प्राप्त करता है)॥

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते ॥ १२॥

उस प्राण देवता ने सर्वप्रथम वाग्देवता को मृत्यु के पार किया। वाग्देवता मृत्यु के पार होते ही (अमृतत्व प्राप्त करके) अग्निरूप हो गये। अग्निरूप हुई वह वाणी ही मृत्यु का अतिक्रमण करके देदीप्यमान हो रही है॥ १२॥

अथ ह प्राणमत्यवहत्स यदा मृत्युमत्यमुच्यत स वायुरभवत्सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तः पवते॥ १३॥

तदुपरान्त उस प्राण देवता ने घ्राणशक्ति को मृत्यु के पार किया। तब (पापरूपी) मृत्यु से पार हुई वह घ्राण शक्ति वायुरूप हो गई। अब वही वायु मृत्यु के पाश से मुक्त होकर प्रवाहित हो रही है॥ १३॥

अथ चक्षुरत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्योऽभवत् सोऽसावादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तास्तपति ॥ १४॥

तत्पश्चात् वह प्राण चक्षु को मृत्यु के पार ले गया। मृत्यु बन्धन से विमुक्त हुआ चक्षु आदित्य रूप हो गया। अब वही चक्षु पाप (मृत्यु) बन्धन से मुक्त होकर आदित्य रूप से तपता है-प्रकाशित होता है॥

अथ श्रोत्रमत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत ता दिशोऽभवꣳस्ता इमा दिशः परेण मृत्युमतिक्रान्ताः॥ १५॥

इसके बाद प्राण ने श्रोत्र को मृत्यु से पार किया। मृत्यु से मुक्त होकर श्रोत्र दिशारूप हो गये। इस प्रकार दिशारूप होकर श्रोत्र मृत्यु बन्धन से छूट गये॥ १५॥

अथ मनोऽत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स चन्द्रमा अभवत्सोऽसौ परेण मृत्युमतिक्रान्तो भात्येवꣳ ह वा एनमेषा देवता मृत्युमतिवहति य एवं वेद ॥ १६॥

तब उस प्राण ने मन को मृत्यु से पार किया। मृत्यु से पार होकर मन चन्द्रमा हो गया। पाप अथवा मृत्यु से मुक्त होकर वह मन ही चन्द्रमा होकर प्रकाशित हो रहा है। इस रहस्यात्मक तथ्य को जानने वाले (तत्त्वज्ञानी) के प्राण उसे मृत्यु से मुक्त कर देता है॥ १६॥

अथात्मनेऽन्नाद्यमागायद्यद्धि किंचान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यत इह प्रतितिष्ठति ॥ १७॥

तदुपरान्त प्राण ने अपने निमित्त अन्न का गायन (गुणगान) किया, क्योंकि जो भी अन्न ग्रहण किया जाता है, वह प्राण द्वारा ही भक्षण किया जाता है और अन्न से ही प्राण प्रतिष्ठित होता है॥ १७॥

ते देवा अब्रुवन्नेतावद्वा इदꣳ सर्वं यदन्नं तदात्मन आगासीरनु नोऽस्मिन्नन्न आभजस्वेति ते वै माभिसंविशतेति तथेति तꣳ समन्तं परिण्यविशन्त तस्माद्यदनेनान्नमत्ति तेनैतास्तृप्यन्त्येवꣳ ह वा एनꣳ स्वा अभिसंविशन्ति भर्ता स्वानाꣳ श्रेष्ठः पुर एता भवत्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद य उ हैवंविदꣳ स्वेषु प्रति प्रतिबुभूषति न हैवालं भार्येभ्यो भवत्यथ य एवैतमनुभवति यो वै तमनु भार्यान् बुभूर्षति स हैवालं भार्येभ्यो भवति ॥ १८॥

इसके पश्चात् देवों ने प्राण से कहा कि आपने सम्पूर्ण अन्न का उद्गान अपने निमित्त ही किया है, अतः अपने उपभोग से अवशिष्ट अन्न में हमें भी भागीदार बनाएँ। प्राण ने कहा कि आप लोग अपना भाग ग्रहण करने हेतु चारों ओर से हममें प्रवेश करें। 'ऐसा ही करेंगे'- यह कहकर वे समस्त (इन्द्रियरूप) देवगण प्राण में प्रवेश कर गये। इस प्रकार प्राण द्वारा अन्न (भोज्य-पदार्थ) ग्रहण किये जाने पर इन्द्रियरूप देवता भी तृप्ति अनुभव करते हैं। इस प्रकार से जानने वाले का ज्ञानीजन आश्रय ग्रहण करते हैं। वह स्वजनों का पोषक, उनमें श्रेष्ठ और अग्रगामी होता है। ज्ञानीजनों में से भी; जो इस प्रकार के ज्ञाता के विपरीत होना चाहते हैं, वे अपने आश्रित जनो का भरण-पोषण नहीं कर पाते और जो उनके अनुकूल होते हैं, वे अपने स्वजनों-आश्रितों का भरण-पोषण करने में सक्षम होते हैं॥ १८॥

सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानाꣳ हि रसः प्राणो वा अङ्गानाꣳ रसः प्राणो हि वा अङ्गानाꣳ रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यत्येष हि वा अङ्गानाꣳ रसः॥

उस प्राण तत्त्व को अयास्य तथा आङ्गिरस कहा गया है, क्योंकि वह मुख में स्थित अङ्गों का (रस) सार होता है। निश्चित ही प्राण अङ्गों का रस है, क्योंकि जब शरीर के किसी भी अङ्ग से प्राण निकल जाता है, तो वह अङ्ग सूख जाता है॥ १९॥

एष उ एव बृहस्पतिर्वाग् वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः ॥ २० ॥

प्राण को ही बृहस्पति कहा गया है, क्योंकि वाणी बृहती है और उसके पति बृहस्पति हैं॥ २० ॥

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग् वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः॥ २१ ॥

यह ही ब्रह्मणस्पति है। वाणी ही ब्रह्म है और प्राण वाणी का स्वामी है, इसलिए [illegible] ही ब्रह्मणस्पति है॥

एष उ एव साम वाग् वै सामैष सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वं यदेवा सामा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण तस्मादेव साम्नाश्नुते साम्नः सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवमेतत्साम वेद ॥ २२ ॥

यही (प्राण) साम है। यह वाक् ही 'सा' और यह प्राण ही 'अम' है। 'सा' और 'अम' के संयोग से ही 'साम' बनता है। साम का सामत्व भी यही है, क्योंकि यह (प्राण) मक्खी जैसा है, मच्छर जैसा है, हाथी जैसा है और तीनों लोकों के तुल्य है। इसी कारण वह साम है। जो इस प्रकार साम के विषय में जानता है, वह साम के सायुज्यत्व और सालोक्यत्व को प्राप्त करता है॥ २२ ॥

एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत्प्राणेन हीदꣳ सर्वमुत्तब्धं वागेव गीथोच्चगीथा चेति स उद्गीथः॥ २३ ॥

इसी प्राण को उद्गीथ कहते हैं। प्राण के द्वारा ही सब कुछ धारण किया हुआ होने से इसे 'उत्' कहा गया है। वाक् अर्थात् वाणी ही गीथा (गीत) है, प्राण ही उत् है और गीथा भी, इसीलिए इसे 'उद्गीथ' कहते हैं॥ २३ ॥

तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्षयन्नुवाचायं त्यस्य राजा मूर्धानं विपातयतादितोऽयास्य आङ्गिरसोऽन्येनोदगायदिति वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायदिति ॥ २४॥

(प्राण के विषय में) एक प्रसिद्ध आख्यायिका यह भी है कि चैकितानेय ब्रह्मदत्त ने सोमपान करते समय यह कहा कि यदि मैंने मुख में निवास करने वाले अङ्गों के रस को प्राणों से अलग जानकर उद्गान (उद्गीथगान) किया हो, तो सोमदेव मेरा सिर गिरा दें (अर्थात् मेरा अपमान कर दें अथवा मेरा सोमपान व्यर्थ कर दें)। इससे स्पष्ट होता है कि उसने प्राण और वाक् द्वारा ही उद्गान किया था॥ २४॥

[मुख से - वाणी से जो व्यक्त है, वह यदि प्राणों के स्पन्दन से युक्त नहीं तो व्यर्थ है- ढोंग है। केवल रटकर बोले गये शब्दों में अनुभूतिजन्य प्राणों का संचार न होने से वे निस्तेज-निष्प्रभावी होते हैं। प्राण एवं वाक् का संयोग जीवन साधना में अनिवार्य है।]

तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति हास्य स्वं तस्य वै स्वर एव स्वं तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन्वाचि स्वरमिच्छेत तया वाचा स्वरसंपन्नयार्त्विज्यं कुर्यात्तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एवाथो यस्य स्वं भवति भवति हास्य स्वं य एवमेतत्साम्नः स्वं वेद ॥ २५॥

जो व्यक्ति इस साम के 'स्वर' से यथार्थ रूप से विज्ञ है, वह निश्चित ही धन-ऐश्वर्य से सम्पन्न होता है। स्वर (कण्ठ की मधुरता) ही उसका धन है। अतः ऋत्विक्-कर्म सम्पादित करने वाले को स्वर में माधुर्य का समावेश करना चाहिए। उत्कृष्ट स्वर युक्त वाणी में ऋत्विक्-कर्म सम्पादित करना चाहिए; क्योंकि यज्ञ में मधुर स्वर युक्त उद्गाता का दर्शन करने की सभी इच्छा करते हैं। जो व्यक्ति साम के धन को जानता है, वह उस धन (मधुर स्वर) को अवश्य ही प्राप्त करता है॥ २५ ॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य सुवर्णं तस्य वै स्वर एव सुर्वर्णं भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद ॥ २६ ॥

जो इस साम के सुवर्ण (मधुर-स्वर या धन) को जानता है, उसे सुवर्ण (मधुर स्वररूपी धन) मिलता है; क्योंकि मधुर स्वर ही साम का सुवर्ण है। जो साम के सुवर्ण को इस प्रकार जानता है, वह निश्चित ही सुवर्ण प्राप्त करता है॥ २६ ॥

तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठति तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि खल्वेष एतत्प्राणः प्रतिष्ठितो गीयतेऽन्न इत्यु हैक आहुः ॥ २७ ॥

जो व्यक्ति साम की प्रतिष्ठा के विषय में जानते हैं, वे प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। व्यक्ति की वाणी ही प्रतिष्ठा स्वरूप है (उसी से प्रतिष्ठा मिलती है)। प्राण ही निश्चित रूप से वाणी में प्रतिष्ठित होकर गाया जाता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि वह प्राण अन्न में प्रतिष्ठित होकर (अन्न की शुद्धि के साथ) गाया जाता है॥ २७॥

अथातः पवमानानामेवाभ्यारोहः स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति स यत्र प्रस्तुयात्तदेतानि जपेदसतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमयेति स यदाहासतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा असत्सदमृतं मृत्योर्मामृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह तमसो मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतं मृत्योर्मामृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह मृत्योर्मामृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति। अथ यानीतराणि स्तोत्राणि तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्तस्मादु तेषु वरं वृणीत यं कामं कामयेत तꣳस एष एवंविदुद्गातात्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति तद्धैतल्लोकजिदेव न हैवालोक्यताया आशास्ति य एवमेतत्साम वेद ॥ २८ ॥

अब आगे पवमान-स्तोत्रों का पाठ करने का विधान वर्णित किया जाता है- प्रस्तोता (प्रस्तोता नामक ऋत्विज्) यज्ञकर्म में सामगान प्रारम्भ करने से पहले इन मंत्रों का जप करे- **'असतो मा सद्गमय,' 'तमसो मा ज्योतिर्गमय', 'मृत्योर्माऽमृतं गमय'** अर्थात् हमें असत् से सत् की ओर ले चलो, हमें अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो, हमें मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो। प्रस्तोता जब यह कहता है, मुझे असत् से सत् की ओर ले चलो, तब उसका अभिप्राय होता है- मृत्यु ही असत् और अमृत ही सत् है और मुझे मृत्यु से बचाकर अमर कर दो। जब वह यह कहता है कि मुझे तमस् से प्रकाशोन्मुख करो, तब उसका अभिप्राय होता है कि मृत्यु ही अंधेरा और अमृत ही प्रकाश है और मुझे मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलो। जब वह (प्रस्तोता) यह कहता है कि मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो, तो इस कथन में तो कुछ छुपी बात है ही नहीं अर्थात् कथन स्पष्ट ही है। अन्य स्तोत्रों में उद्गाता को अपने लिए अन्न (पोषक तत्त्वों) का उद्गान करना चाहिए। इन स्तोत्रों के द्वारा यजमान इच्छित भोगों की याचना करे। इस तथ्य को जानने वाला उद्गाता अपने या यजमान के निमित्त जिस वस्तु या भोग की कामना करता है, उसी का उद्गान करता है। यह प्राण दर्शन समस्त लोकों को प्राप्त करने का साधन है। जो ज्ञानी इस साम को इस प्रकार से जानता है, उसे कुछ भी प्राप्त करने के लिए निराश होने की आवश्यकता नहीं है॥ २८ ॥

॥ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहंनामाभवत्तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोऽहमयमित्येवाग्र उक्त्वाथान्यन्नाम प्रब्रूते यदस्य भवति स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वान्पाप्मन औषत्तस्मात्पुरुष ओषति ह वै स तं योऽस्मात्पूर्वो बुभूषति य एवं वेद ॥ १ ॥

पुरुष के रूप में यह आत्मा (पहले एकाकी) ही था। चतुर्दिक् दृष्टिपात करने पर उसने अपने से भिन्न कुछ भी नहीं पाया, तब उसने कहा 'अहमस्मि' अर्थात् मैं हूँ। इसीलिए उसे अहम् संज्ञक कहा जाता है। इसी कारण अभी भी बुलाए जाने पर कोई व्यक्ति पहले 'अयमहम्' अर्थात् 'यह मैं हूँ' कहने के बाद ही अपना अन्य नाम बतलाता है। उस (प्रजापति) ने (समस्त पापों को) दग्ध कर दिया था, इसीलिए वह पुरुष कहलाया। जो इस प्रकार इस पुरुष (आत्मा) को जानता है, वह उस (आत्मा) से स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास करने वाले को भस्मीभूत कर देता है॥ १ ॥

[पुर् =प्रथमे, उष=दाहे, प्रथम-पहले ही विकारों-पापों का दाह कर देने वाला होने से 'पुरुष' कहलाता है। पुरुष कहलाने वाले में विकारों को दग्ध कर देने का पुरुषोचित पौरुष होना चाहिए।]

सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति स हायमीक्षांचक्रे यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति तत एवास्य भयं वीयाय कस्माद्ध्यभेष्यद्द्वितीयाद्वै भयं भवति ॥ २ ॥

तदुपरान्त वह (पुरुष) भयभीत हो गया। इसी कारण अकेला पुरुष भयभीत होता है, तब उस पुरुष ने चिन्तन किया कि जब मेरे अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है , तब मैं किससे और क्यों भय करूँ? यह चिन्तन करते ही उसका भय दूर हो गया; क्योंकि भय तो दूसरों से ही होता है, अकेला होने पर तो उसके भय का कोई कारण नहीं है॥ २ ॥

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव तां समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त॥ ३ ॥

(एकाकी होने के कारण) वह रमा नहीं अर्थात् उसका मन नहीं लगा। इसी कारण एकाकी पुरुष का मन अभी भी रमता नहीं। तब उसने किसी अन्य की आकांक्षा की। तदुपरान्त स्त्री और पुरुष के सम्मिलित होने पर जितना आकार होता है, वह पुरुष उतने ही आकार का बन गया और उसने अपने शरीर को स्त्री और पुरुष इन दो भागों में विभक्त कर दिया। जिससे दोनों भाग परस्पर पति-पत्नी हुए । ऋषि याज्ञवल्क्य का कथन है कि - इसी कारण यह काया अर्द्धबृगल (द्विदल अन्न के एक दल) की भाँति है। अस्तु, यह आकाश (पुरुष का रिक्त भाग) स्त्रीत्व से पूर्ण होता है। पुरुष और स्त्री के सम्मिलन से ही मनुष्यों की उत्पत्ति हुई है॥ ३ ॥

[शिव के अर्धनारी नटेश्वर की धारणा यहाँ स्पष्ट की गई है। प्रथम चरण में पुरुष एवं प्रकृति के प्रकटीकरण की घटना गर्भ से शिशु जन्म की तरह घटित नहीं हुई । दाल या सीप पकने पर उसके दो दल खुल जाने की तरह यह सृष्टि प्रक्रिया सम्पन्न हुई। ब्रह्म से पुरुष और प्रकृति, महादेव से शिव और शक्ति, प्रजापति से ब्रह्मा और सावित्री का प्राकट्य इसी प्रकार हुआ।]

सो हेयमीक्षांचक्रे कथं नु मात्मान एव जनयित्वा संभवति हन्त तिरोऽसानीति सा गौरभवद् वृषभ इतरस्ताꣳ समेवाभवत्ततो गावोऽजायन्त वडवेतराभवदश्ववृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ इतरस्ताꣳ समेवाभवत्तत एकशफमजायताजेतराभवद्बस्त इतरोऽविरितरा मेष इतरस्ताꣳसमेवाभवत्ततोऽजावयोऽजायन्तैवमेव यदिदं किंच मिथुनमापिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत ॥ ४॥

उस स्त्री ने सोचा कि अपने ही शरीर से मुझे प्रकट करके यह पुरुष मुझसे सम्पर्क क्यों करता है ? अच्छा हो मैं इससे बचने के लिए छिप जाऊँ, अस्तु उसने गौ का रूप धारण कर लिया, तब वह पुरुष वृषभ बन गया, जिससे गौओं और बैलों की उत्पत्ति हुई, तदुपरान्त उसने घोड़ी का शरीर धारण कर लिया, तब पुरुष अश्व हो गया , फिर वह गर्दभी बन गई और पुरुष गर्दभ बन गया, इससे एक खुर वाले पशुओं का प्रादुर्भाव हुआ। तत्पश्चात् वह बकरी बन गई और पुरुष बकरा बन गया, जब वह भेड़ी बन गई, तो वह भेड़ा बन गया, इस प्रकार बकरियों और भेड़ों की उत्पत्ति हुई। इसी प्रकार चींटी तक सभी जोड़े सहित मिथुनों की रचना सम्पन्न हुई ॥ ४॥

[ऋषि यहाँ बहुत स्पष्टता से यह तथ्य प्रकट करते हैं कि विकासवाद के अनुसार अमीबा से धीरे-धीरे विभिन्न प्रजाति के प्राणियों के विकास की कल्पना उचित नहीं है। प्रथम- चरण में आवश्यकतानुसार जिस-जिस रूप में प्रकृति अपने संकल्प से ढलती गयी, उसी अनुरूप उसका पूरक पुरुष पक्ष भी संकल्प शक्ति से ही बना, उसके बाद मैथुनी सृष्टि का क्रम प्रारम्भ हुआ।]

सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्म्यहꣳहीदꣳसर्वमसृक्षीति ततः सृष्टिरभवत्सृष्ट्याꣳ हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥ ५॥

यह रचना करने के बाद प्रजापति रूप उस पुरुष को ज्ञान हुआ कि मैंने सबकी रचना की है, इसलिए मैं ही सृष्टि हूँ। इस प्रकार वह 'सृष्टि' नाम से युक्त हुआ। सृष्टि को इस प्रकार जानने वाला व्यक्ति उसकी सृष्टि में प्रसिद्धि प्राप्त करता है॥ ५॥

अथेत्यभ्यमन्थत्स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत तस्मादेतदुभयमलोमकमन्तरतोऽलोमका हि योनिरन्तरतस्तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव सा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवा अथ यत्किंचेदमार्द्रं तद्रेतसोऽसृजत तदु सोम एतावद्वा इदꣳसर्वमन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नमग्निरन्नादः सैषा ब्रह्मणोऽतिसृष्टिर्यच्छ्रेयसो देवानसृजताथ यन्मर्त्यः सन्नमृतानसृजत तस्मादतिसृष्टिरतिसृष्ट्याꣳ हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद॥ ६॥

तदुपरान्त उस पुरुष (प्रजापति) ने मन्थन किया। उसने मुखरूपी योनि (उत्पत्ति स्थल)और दोनों हाथों से मन्थन करके अग्नि को प्रकट किया। हाथ और मुख दोनों में ही अन्दर की ओर लोम नहीं होते और योनि में भी अन्दर लोम नहीं होते। अस्तु, जो (याज्ञिक जन) एक-एक देवता (अग्नि, इन्द्र आदि) के लिए यजन करने को कहते हैं, वे इस तथ्य को नहीं जानते कि सब देवता एक ही परमेश्वर में समाहित हैं और उस एक (परमेश्वर) ने ही सृष्टि की रचना की है। जो भी द्रव पदार्थ है, वह वीर्य से उत्पन्न सोम है। निश्चित ही सोम ही अन्न, अग्नि और अन्नाद का उपभोग करने वाला है। परब्रह्म की यह महान् रचना है। यह ब्रह्मा की महान् सृष्टि (अतिसृष्टि) ही है कि उसने अमरत्व प्राप्त देवताओं का सृजन किया - स्वयं मर्त्य होकर अमृतों का निर्माण किया, इसलिए इसे अतिसृष्टि कहा जाता है। जो इस सृष्टि को इस प्रकार जानता है, वह इस (परब्रह्म) की अतिसृष्टि में (प्रसिद्धि को प्राप्त) हो जाता है॥ ६॥

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामायमिदꣳरूप इति तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामायमिदꣳरूप इति स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाये तं न पश्यन्ति। अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाक्पश्यꣳश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मानेन ह्येतत्सर्वं वेद । यथा ह वै पदेनानुविन्देदेवं कीर्तिꣳ श्लोकं विन्दते य एवं वेद ॥ ७॥

पहले (सृष्टि के आरम्भ में) यह जगत् नाम रहित था। तत्पश्चात् वह नाम और रूप से युक्त होकर प्रकट हुआ। इसीलिए कोई वस्तु अभी भी 'इस नाम और रूप से युक्त है' इस प्रकार जानी जाती है। वह (आत्मा) इस शरीर में नखों के अग्रभाग तक इस प्रकार प्रविष्ट है, जिस प्रकार उस्तरे का फल काष्ठ में प्रविष्ट रहता है और अग्नि अपने आश्रय वेदी अथवा काष्ठ में स्थित रहती है, किन्तु उसे प्रत्यक्ष देख सकना किसी के लिए सम्भव नहीं है। वह आत्मा अपूर्ण है। प्राणन प्रक्रिया (श्वास-प्रश्वास) के कारण उसे प्राण, बोलने के कारण वाणी, देखने के कारण चक्षु, सुनने के कारण श्रोत्र और मनन करने के कारण मन कहते हैं। ये सभी संज्ञाएँ उसे उसके भिन्न-भिन्न कर्मानुसार प्रदान की गई हैं। अस्तु, जो व्यक्ति इनमें से पृथक्-पृथक् की उपासना करता है, वह (इसके वास्तविक स्वरूप को) नहीं जानता, क्योंकि सभी गुण उस एक में ही एकत्र हो जाते हैं। यह आत्मा सबके लिए प्राप्त करने योग्य है; क्योंकि इसे प्राप्त कर लेने अथवा जान लेने से सम्पूर्ण विश्व को जाना जा सकता है। जिस प्रकार पद-चिह्नों द्वारा खोये हुए (पशु आदि) को ढूँढ़ लिया जाता है (उसी प्रकार व्यक्ति आत्मा को जानकर उसके सूत्रों द्वारा सम्पूर्ण संसार को जान लेता है)। इस तथ्य को इस प्रकार जानने वाला कीर्ति लाभ प्राप्त करता है॥ ७॥

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियꣳ रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ॥ ८॥

इस प्रकार यह (आत्मा) पुत्र से भी अधिक प्रिय, सम्पदा से भी अधिक प्रिय और अन्य सभी से भी अधिक प्रिय है । शरीर के अन्दर स्थित आत्मा से भिन्न वस्तु को यदि कोई अधिक प्रिय समझता है, तो वह मानों अपने अन्तरात्मा को ही खो देता है अर्थात् आत्मा को विस्मृत कर देता है। जो साधक आत्म तत्त्व को सर्वाधिक प्रिय मानकर उसकी उपासना करता है, वह कभी मरता नहीं- अमर हो जाता है॥ ८॥

तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्मावेद्यस्मात्तत्सर्वमभवदिति ॥ ९॥

जिज्ञासु ब्राह्मणों द्वारा कहा गया है कि ब्रह्मविद्या के माध्यम से 'हम सब कुछ हो जाएँगे' अर्थात् हमें सब कुछ प्राप्त हो जायेगा। इस तथ्य का क्या आधार है ? क्या अभी तक किसी ने उस ब्रह्मविद्या को भली-भाँति जान लिया है, जिसके द्वारा उसे सब कुछ प्राप्त हो गया है ?॥ ९॥

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेदहं ब्रह्मास्मीति तस्तात्तत् सर्वमभवत् तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवꣳ सूर्यश्चेति तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳसर्वं भवति तस्य ह न देवाश्चनाभूत्या ईशते आत्मा ह्येषाꣳ स भवत्यथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवꣳ स देवानां यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुंज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥ १०॥

सर्वप्रथम केवल ब्रह्म ही था। यह जानकर कि 'मैं ब्रह्म हूँ' वह सर्वरूप हो गया। देवताओं में से जिस-जिस ने उस ब्रह्म को जाना, वे सब ब्रह्मरूप हो गये। इसी तरह मानवों और ऋषियों में से भी जिस-जिस ने उसका ज्ञान प्राप्त किया, वे सब भी ब्रह्मस्वरूप हो गये। ऋषि वामदेव ने कहा- इसे (ब्रह्म को) जानकर मैं मनु और सूर्य हो गया। इस समय भी जो यह मानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' वह सर्वरूप हो जाता है। उसको पराजित करने में देवता भी समर्थ नहीं होते; क्योंकि वह उनका ही आत्मस्वरूप हो जाता है। जो अपने और दूसरे में भेद देखता है, वह पशु के समान हो जाता है। जिस प्रकार विभिन्न पशु मनुष्यों को पोषित करते हैं, उसी प्रकार (देवों के लिए पशु तुल्य) मनुष्य भी अनेक देवताओं को पोषित करते हैं। एक पशु का ही अपहरण हो जाए, तो बुरा लगता है। यदि अनेक पशुओं का अपहरण हो, तब तो और भी बुरा लगेगा। इसी कारण देवगण यह नहीं चाहते कि मनुष्य सम्पूर्ण ब्रह्मज्ञान को प्राप्त कर सकें॥ १०॥

[ऋषि का यह कथन बड़ा रहस्यात्मक है। देवता मनुष्य देह में विभिन्न इन्द्रियों, अंग-अवयवों के अधिष्ठाता बनकर स्थित हैं। आत्म चेतना जब परमात्म तत्त्व की ओर उन्मुख होती है, तो इन्द्रियों की भोगेच्छाओं से उसका लगाव हटने लगता है तथा उनमें स्थित देवता, जीवात्मा (आत्मचेतना) का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं, यही प्रक्रिया उसके ब्रह्मज्ञान में प्रविष्ट होने में बाधक बनती है।]

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकꣳ सन्न व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति तस्मात्

क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद्ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिं य उ एनꣳ हिनस्ति स्वाꣳ स योनिमृच्छति स पापीयान् भवति यथा श्रेयाꣳसꣳ हिꣳ सित्वा॥

सबसे पहले ब्रह्म (ब्राह्मण वर्ण) ही था; किन्तु एकाकी होने के कारण वह अपनी वृद्धि करने में समर्थ न हो सका।अस्तु,उसने क्षत्रिय वर्ण का सृजन किया। देवों में वरुण, इन्द्र, सोम, रुद्र, पर्जन्य, मृत्यु, यम और ईशान ये सभी क्षत्रिय ही हुए, इसीलिए क्षत्रिय सर्वोत्कृष्ट हैं। इसी कारण राजसूय यज्ञों में ब्राह्मण भी क्षत्रिय से नीचे आसीन होकर उसकी (क्षत्रिय की) उपासना (सम्मान) करता है। यह ब्रह्म (ब्राह्मण) क्षत्रिय की ही योनि है। अतः यद्यपि (राजसूय यज्ञ के क्रम में) क्षत्रिय उत्कृष्ट है, तो भी यज्ञ के पश्चात् वह ब्राह्मण का ही आश्रय ग्रहण करता है। जो क्षत्रिय ब्राह्मण को हिंसित करता है, वह अपनी ही योनि को विनष्ट करता है। वह अपने श्रेष्ठ आधार की हिंसा करने वाला व्यक्ति 'पापीयान्' (बड़ा पापी या पाप कर्म का आधार) बन जाता है॥ ११॥

[प्रारम्भ में सभी ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण जैसा जीवन जीते थे। समाज बढ़ा तो रक्षा करने वालों की आवश्यकता पड़ी। रक्षक वर्ग (क्षत्रिय) का विकास उन्हीं ब्रह्मनिष्ठों के बीच से किया गया। रक्षण कार्य के सन्दर्भ में उन्हें ही सर्वश्रेष्ठ माना गया।]

स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति॥ १२॥

वह ब्रह्म (ब्राह्मण) क्षत्रिय का सृजन करने के बाद भी अपनी वृद्धि में सक्षम नहीं हुआ, तब उसने वैश्य वर्ण का सृजन किया। वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेवा और मरुत् ये समस्त देवगण वैश्य कहलाते हैं॥

[समाज का और विकास हुआ, तो पुनः उभरी आवश्यकताओं के अनुरूप उत्पादन, वितरणपरक वैश्य वर्ण को उसी समाज में से विकसित किया गया।]

स नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयꣳ हीदꣳ सर्वं पुष्यति यदिदं किंच॥

इसके अनन्तर (अर्थात् क्षत्रिय और वैश्य की रचना के बाद) भी वह ब्रह्म प्रवृद्ध न हो सका, तब उसने शूद्र वर्ण की रचना की । पूषा देवता शूद्र वर्ण के हैं। यह पृथ्वी माता भी पूषा देवता ही है, क्योंकि यह समस्त प्राणियों का पोषण करती है॥ १३॥

स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान् बलीयाꣳ समाशꣳसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तꣳ सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति॥ १४॥

इतने (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों का सृजन करने) पर भी वह (ब्रह्म) प्रवृद्ध (सृष्टि कर्म का विस्तार) नहीं हुआ, तब उसने श्रेय स्वरूप धर्म की उत्पत्ति की। धर्म ही क्षत्रियों (शासकों) का भी क्षत्र (शासक-रक्षक है); अस्तु धर्म से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। राजा की तरह बलहीन व्यक्ति भी धर्म की शक्ति से अधिक बल सम्पन्नों पर नियन्त्रण करने में सक्षम होता है। धर्म ही सत्य है। इसी कारण सत्य वचन

बोलने वालों को धर्मयुक्त वचन बोलने वाला और धर्म वचन बोलने वालों को सत्यवादी कहते हैं, अस्तु, इन दोनों में कोई भेद नहीं है॥ १४॥

तदेतद्ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद्ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रस्तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्येष्वेताभ्याꣳहि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत्। अथ यो ह वा अस्माल्लोकात्स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति यथा वेदो वाननूक्तोऽ न्यद्वा कर्माकृतं यदिह वा अप्यनेवंविद् महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एवात्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मानमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते॥ १५॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण हैं। इन वर्णों का रचयिता ब्रह्म देवताओं में अग्नि रूप से श्रेष्ठ (ब्राह्मण) हुआ। वह (ब्रह्म) मनुष्यों में ब्राह्मण रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय रूप से क्षत्रिय, वैश्य रूप से वैश्य और शूद्र रूप से शूद्र रूप में प्रकट हुआ। इसी कारण अग्निहोत्रादि धर्मकृत्य करके मनुष्य देवों से कर्मफल की इच्छा करता है, क्योंकि ब्रह्म इन्हीं दो रूपों से अभिव्यक्त हुआ था। स्वलोक अथवा अपने आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, अन्यथा अपने लोक और परलोक का सुधार असम्भव है। ऐसे व्यक्ति का पुण्य भी व्यर्थ ही हो जाता है, जिसने आत्मज्ञान प्राप्त नहीं किया। आत्मा के उपासक के पुण्य कृत्य कभी क्षीण नहीं होते, वरन् उसकी समस्त आकांक्षाएँ पूर्ण होती हैं॥ १५॥

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितॄणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयाꣳस्यापिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोको यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवꣳ हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति तद्वा एतद्विदितं मीमाꣳसितम्॥ १६॥

यह आत्मा समस्त जीवों का आश्रय प्रदाता है, अर्थात् उनका लोक है। यह (आत्मा) हवन-यज्ञ करने से देवताओं का लोक (आश्रयदाता) होता है। स्वाध्याय (वेदों का पठन-पाठन) करने से ऋषियों का, सन्तानोत्पादन (की इच्छा) करने तथा पिण्डदान करने से पितरों का, मनुष्यों को आश्रय स्थल और भोज्य पदार्थ देने से मनुष्यों का, पशुओं को तृण-जल आदि देने से पशुओं का तथा गृह स्थित कुत्ते, बिल्ली, पक्षी एवं चींटी आदि जीवों का आश्रय प्रदाता होता है, उससे यह उनका लोक होता है। जिस प्रकार लोक में (सभी) अपने शरीर की सुरक्षा चाहते हैं, उसी प्रकार ऐसा जानने वाले की सभी जीव सुरक्षा चाहते हैं। इस प्रकार उस कर्म की अनिवार्यता [पंच महायज्ञ प्रकरण में] ज्ञात है और इसकी मीमांसा की गई है॥

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्येतावान् वै कामो नेच्छꣳश्नातो भूयो विन्देत्तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति स यावदप्येतेषामेकैकं

न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते तस्यो कृत्स्नता मन एवास्यात्मा वाग्जाया प्राणः प्रजा चक्षुर्मानुषं वित्तं चक्षुषा हि तद्विन्दते श्रोत्रं दैवꣳ श्रोत्रेण हि तच्छृणोत्यात्मैवास्य कर्मात्मना हि कर्म करोति स एष पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशुः पाङ्क्तः पुरुषःपाङ्क्तमिदꣳ सर्वं यदिदं किंच तदिदꣳ सर्वमाप्नोति य एवं वेद ॥ १७॥

सृष्टि के प्रारम्भ में यह आत्मा बिल्कुल अकेला था, उसने स्त्री (पत्नी) की कामना की, फिर प्रजा (सन्तति) प्राप्ति की कामना की। इसके पश्चात् इच्छा की कि मेरे पास धन हो, जिससे मैं कर्म कर सकूँ। मानवों की प्रायः इसी स्तर की कामनाएँ होती हैं और वे इससे अधिक प्राप्त भी नहीं कर पाते। इन कामनाओं की पूर्ति के अभाव में वे अपने को अपूर्ण ही मानते रहते हैं। यदि वे चाहें, तो इस अपूर्णता की पूर्ति इस दृष्टिकोण द्वारा कर सकते हैं- अपने मन को आत्मा मानें, वाणी को स्त्री, प्राण को सन्तति, चक्षु को मानवी सम्पदा और श्रोत्रेन्द्रिय को दिव्य सम्पदा मानें। इस प्रकार साधन सम्पन्न पुरुष का शरीर ही कर्म है; क्योंकि शरीर से ही कर्म किया जाता है। इसलिए यह यज्ञ पाङ्क्त (पाँच-आत्मा, वाणी, प्राण, चक्षु एवं श्रोत्र से सम्पन्न होने वाला) है। समस्त जीवों में ये पाँचों विद्यमान हैं। अतः पशु पाङ्क्त है, पुरुष पांक्त है तथा अन्य भी जो कुछ है सब पाङ्क्त है, अर्थात् यह सृष्टि ही पञ्च तत्त्वात्मक यज्ञ स्वरूप है। इस ज्ञान को इस प्रकार जानने वाले को इन सबकी प्राप्ति हो जाती है॥ १७॥

॥ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत्पिता । एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत् । त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत्तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा । यो वैतामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन स देवानपि यच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति श्लोकाः ॥ १॥

परमपिता ने ज्ञान और तप के प्रभाव से सात प्रकार के अन्नों का सृजन किया। उन अन्नों में एक प्रकार का अन्न सभी के लिए, दो का देवताओं के निमित्त, तीन का अपने निमित्त और एक का पशुओं के निमित्त वितरण कर दिया। पशुओं को प्रदान किये गये उस अन्न में प्राणन क्रिया करने वाले और न करने वाले (श्वास लेने और न लेने वाले) सभी प्रतिष्ठित हैं। इन अन्नों का सदैव भक्षण किया जाता है, फिर भी ये क्षीण नहीं होते, इसका क्या कारण है? इस प्रकार सभी को सभी का अन्न भाग देने के अक्षय भाव को जो जानता है, वह अन्नोपभोग करते हुए कभी क्षीण नहीं होता अर्थात् अमृतत्व को प्राप्त होता है॥ १॥

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाजनयत्पितेति मेधया हि तपसाऽजनयत्पितैकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रꣳ ह्येतद्वै देवानभाजयदिति हुतं च प्रहुतं च तस्माद्देवेभ्यो जुह्वति च प्र च जुह्वत्यथो आहुर्दर्शपूर्णमासाविति। तस्मान्नेष्टियाजुकः स्यात्पशुभ्य एकं प्रायच्छदिति तत्पयः पयो

ह्येवाग्रे मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति तस्मात् कुमारं जातं घृतं वै वाग्रे प्रतिलेहयन्ति स्तनं वानुधापयन्त्यथ वत्सं जातमाहुरतृणाद इति। तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च नेति पयसि हीदꣳ सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न । तद्यदिदमाहुः संवत्सरं पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्युं जयतीति न तथा विद्याद्यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवंविद्वान्सर्वꣳ हि देवेभ्योऽन्नाद्यं प्रयच्छति । कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं पुनः पुनर्जनयते यो वै -तामक्षितिं वेदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं धिया धिया जनयते । कर्मभिर्यद्धैतन्न कुर्यात्क्षीयेत ह सोऽन्नमत्ति प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत्स देवानपि गच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति प्रशꣳसा ॥ २॥

पिता-प्रजापति ने अपने तप और ज्ञान से जिन सात अन्नों को उत्पन्न किया, उनमें से एक अन्न (धरती से उत्पन्न खाद्य) सामान्य है। उसमें सभी की साझेदारी है, अतः सभी को समान रूप से उसका उपभोग करना चाहिए। सबके लिए निर्धारित इस अन्न का अकेले ही उपभोग करने वाला कभी पाप से विमुक्त नहीं होता। पूर्व वर्णित जिन दो अन्नों को देवताओं के निमित्त बताया गया, उनमें एक हुत अर्थात् (हवन द्वारा दिया जाने वाला) और दूसरा प्रहुत (प्रत्यक्ष में अर्पित किया जाने वाला) है। कुछ विद्वान् इसे दर्श और पूर्णमास भी कहते हैं। (क्योंकि यज्ञ देवों के लिए निर्धारित है, इसलिए) यज्ञों को काम्य (लौकिक कामनाओं की पूर्ति के लिए) न करें। पशुओं के निमित्त दिया गया अन्न, दूध (पय-पान करने योग्य) है। मनुष्य और पशु दोनों ही उस अन्न का सेवन करते हैं। शीघ्र उत्पन्न हुए शिशु को घृत चटाते हैं अथवा स्तनपान कराते हैं। बछड़ा भी जन्म लेने के तुरन्त बाद घास ग्रहण नहीं करता, वरन् दुग्ध पान ही करता है। श्वास लेने और न लेने वाले सभी जीव दूध में ही प्रतिष्ठित हैं। अस्तु, जिनका यह कथन है कि एक वर्ष तक (दूध से) निरन्तर अग्निहोत्र करने वाला मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है (उनका यह कथन समीचीन नहीं); वरन् यह मानना चाहिए कि जिस दिन वह यज्ञ सम्पन्न करता है, उसी दिन मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। ऐसा जानने वाला देवताओं को उनके सेवन योग्य अन्न प्रदान करता है। बारम्बार भक्षित होने पर भी वह अन्न क्षीण क्यों नहीं होता? वह इसलिए क्षीण नहीं होता; क्योंकि वह पुरुष क्षयरहित है और पुनः-पुनः अन्नोत्पादन करने में समर्थ है। वह अविनाशी पुरुष कर्म और बुद्धि के संयोग से अन्नोत्पादन करता है। यदि वह पुरुष कर्म और बुद्धि से हीन हो जाए, तो अन्न और अन्नोत्पादन भी समाप्तप्राय हो जाए। उस अन्न का सेवन मुख के माध्यम से किया जाता है, इसी कारण देवताओं को भी वह प्राप्त हो जाता है और अमृतत्व प्रदायक होता है। यह इसकी (फलश्रुति) प्रशंसा है॥ २॥

['श्वास लेने वाले और न लेने वाले सभी 'पय' पर निर्भर हैं', इस कथन में 'पय' का अर्थ स्थूल दूध नहीं लिया जा सकता, यहाँ तो 'पयः पृथिव्यां पयऽओषधीषु, पयो दिव्यन्तरिक्षे पयोधाः'- आदि कहकर जिस कारण रूप पान करने योग्य पोषक प्रवाह की ओर संकेत किया जाता है, उसे ही 'पय' मानना चाहिए। इसी प्रकार प्रकृति के पाश में बँधे हुए चेतन को ही पशु मानना चाहिए।]

त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुतान्यत्रमना अभूवं

नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति । कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति यः कश्च शब्दो वागेव सैषा ह्यन्तमायत्तैषा हि न प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत्सर्वं प्राण एवैतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः ॥ ३ ॥

उस (पुरुष) ने तीन अन्नों का चयन अपने लिए किया। ये तीन अन्न-मन, वाणी और प्राण हैं। मनोयोग से ही सभी कार्य सम्पन्न होते हैं। यदि मन अन्यत्र है, तो समुचित रूप से देखा-सुना भी नहीं जाता। इसीलिए प्रायः कहा जाता है- 'मेरा मन दूसरी जगह था, इसलिए मैं नहीं देख सका' तथा 'मेरा मन यहाँ नहीं था, इसलिए मैं नहीं सुन सका।' अतः स्पष्ट है कि व्यक्ति मन से ही देखता और सुनता है। काम, सङ्कल्प, श्रद्धा, संशय, अश्रद्धा, धारण शक्ति (धृति), अधृति, ह्री अर्थात् लज्जा, बुद्धि और भय ये सभी मन स्वरूप हैं। इसी कारण शरीर के पृष्ठभाग (पीठ) की ओर से स्पर्श किये जाने पर मनुष्य मन द्वारा इसे जान लेता है। समस्त शब्द ही वाक् शक्ति अर्थात् वाणी हैं, जिसके द्वारा समस्त अभिप्राय अभिव्यक्त किये जा सकते हैं। शरीर स्थित पञ्चप्राण हैं- प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान। आत्मा की निर्भरता (शरीर में रहने की स्थिति) इन्हीं पंच प्राणों पर आधृत है॥ ३ ॥

[जिस प्रकार हुत एवं प्रहुत से शरीर और प्रकृति में स्थित देवों को तृप्त और पुष्ट किया जाता है, उसी प्रकार मन, वाणी और प्राण से ब्रह्म को शरीरस्थ और प्रकृति में व्याप्त ब्राह्मी चेतना को तुष्ट-पुष्ट किया जा सकता है। इन तीनों का प्रयोग ब्रह्म के निमित्त ही करना चाहिए-भोगादि के लिए नहीं। जो ऐसा करता है, वही ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण या ब्रह्मचारी कहा जा सकता है।]

त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः॥ ४॥

पूर्व वर्णित मन, वाणी और प्राण ये ही तीनों लोक हैं। वाक् पृथिवी लोक है (इसीलिए पृथ्वी पर वाणी द्वारा ही समस्त कार्य सम्पादित होते हैं)। मन अन्तरिक्ष लोक है और प्राण द्यु (स्वर्ग) लोक है॥ ४॥

त्रयो वेदा एत एव वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः ॥ ५॥

ये (वाणी, मन और प्राण) ही तीनों वेद हैं। वाक् शक्ति ऋग्वेद, मन यजुर्वेद और प्राण ही सामवेद है॥

देवाः पितरो मनुष्या एत एव वागेव देवा मनः पितरः प्राणो मनुष्याः॥ ६॥

ये तीनों ही देवता, पितरगण और मनुष्य हैं। वाक् शक्ति ही देवता, मन पितरगण और प्राण मनुष्य है॥ ६॥

पिता माता प्रजैत एव मन एव पिता वाङ्माता प्राणः प्रजा॥ ७॥

ये तीनों माता, पिता और प्रजा (सन्तान) हैं। वाक् माता, मन पिता और प्राण प्रजा-सन्तति रूप है॥

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव यत् किंच विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्घि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वावति ॥ ८॥

ये ही विज्ञात (जाने हुए), विजिज्ञास्य (जानने योग्य) और अविज्ञात (न जाने हुए) हैं। जाना हुआ (ज्ञान) ही वाक् है। वाक् शक्ति ही विज्ञात है। यह वाक् ही ज्ञानस्वरूप होकर अपने जीवात्मा (अपने ज्ञाता) की रक्षा करती है॥ ८॥

यत्किञ्च विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एनं तद्भूत्वावति॥

जो कुछ भी जानने योग्य है, वह मन का ही स्वरूप है। वास्तव में मन ही जानने योग्य या विजिज्ञास्य है (क्योंकि सन्देह आदि भाव मन में ही उत्पन्न होते हैं)। वही (मन ही) विजिज्ञास्य होकर उसका संरक्षण करता है॥ ९॥

यत्किञ्चाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एनं तद्भूत्वावति ॥ १०॥

जो कुछ भी अनजाना (अविज्ञात) है, वह प्राणस्वरूप है; क्योंकि वह अविज्ञात (छुपा) रहकर भी शरीर का संरक्षण करता है॥ १०॥

तस्यै वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निस्तद्यावत्येव वाक्तावती पृथिवी तावानयमग्निः॥ ११॥

उस वाक् शक्ति का शरीर, पृथिवी और ज्योतिष्मान् रूप अग्नि है। वाक् शक्ति की मात्रा जितनी ही पृथिवी है और उतना ही अग्नितत्त्व है॥ ११॥

अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्यस्तद्यावदेव मनस्तावती द्यौस्तावानसावादित्यस्तौ मिथुनꣳ समैतां ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स एषोऽसपत्नो द्वितीयो वै सपत्नो नास्य सपत्नो भवति य एवं वेद॥ १२॥

द्युलोक मन की काया और आदित्य उसका (मन का) ज्योतिष्मान् स्वरूप है। जितने परिमाण का मन है, उतना ही द्युलोक और उतना ही आदित्य है। उन (आदित्य और अग्नि) के परस्पर संयोग से ही प्राण तत्त्व का उद्भव हुआ। प्राण को ही इन्द्र और शत्रुहीन कहा गया है। प्रतिपक्षी को ही सपत्न अर्थात् शत्रु कहते हैं। इस तथ्य को इस प्रकार जानने वाले का कोई सपत्न (शत्रु) नहीं होता॥ १२॥

अथैतस्य प्राणस्यापः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रस्तद्यावानेव प्राणस्तावत्य आपस्तावानसौ चन्द्रस्त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः स यो हैतानन्तवत उपास्तेऽन्तवन्तꣳ स लोकं जयत्यथ यो हैताननन्तानुपास्तेऽनन्तꣳ स लोकं जयति॥ १३॥

जल उस प्राण का शरीर, चन्द्रमा ज्योतिष्मान् स्वरूप है। वहाँ प्राण के परिमाण जितना ही जल और चन्द्रमा है। ये सभी बराबर और अन्तरहित हैं। जो कोई इन्हें अन्तयुक्त समझकर उनकी उपासना करता है, उसे अन्तयुक्त लोक पर विजय प्राप्त होती है और जो अनन्त समझकर इनकी उपासना करता है,वह अनन्त लोक पर विजय प्राप्त करता है॥ १३॥

स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलस्तस्य रात्रय एव पञ्चदशकला ध्रुवैवास्य षोडशी कला स रात्रिभिरेवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते सोऽमावास्यांꣳ रात्रिमेतया षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते तस्मादेतांꣳ रात्रिं प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्द्यादपि कृकलासस्यैतस्या एव देवताया अपचित्यै ॥ १४॥

वह (ऊपर वर्णित) संवत्सर ही प्रजापति है। जिसकी सोलह कलाएँ हैं। रात्रियाँ उनकी पन्द्रह कलाएँ हैं। उसकी सोलहवीं कला नित्या (ध्रुवा) है। रात्रियों के माध्यम से ही वह (शुक्ल पक्ष में) प्रवृद्ध

और (कृष्ण पक्ष में) क्षीण होता है। वह प्रजापति अमावस्या की रात्रि में अपनी सोलहवीं कला के माध्यम से सबमें प्रविष्ट होकर प्रातः काल में पुनः प्रकट होता है। अस्तु, अमावस्या की रात्रि में किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिए और देवता को बलि प्रदान करने के निमित्त भी किसी गिरगिट तक का वध नहीं करना चाहिए॥ १४॥

यो वै स संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽयमेव स योऽयमेवंवित्पुरुषस्तस्य वित्तमेव पञ्चदशकला आत्मैवास्य षोडशी कला स वित्तेनैवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते तदेतन्नभ्यं यदयमात्मा प्रधिर्वित्तं तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानिं जीर्यत आत्मना चेज्जीवति प्रधिनागादित्येवाहुः॥ १५॥

षोडश कलायुक्त यह संवत्सर निश्चित ही प्रजापति है। धन उसकी पन्द्रह कलाएँ और आत्मा (शरीर) उसकी सोलहवीं कला है। वह धन से ही प्रवृद्ध और क्षीण होता है। आत्मा इसकी नाभि और धन-सम्पदा प्रधि अर्थात् रथ के पहिए का बाहरी घेरा है। इसीलिए पुरुष का यदि सर्वस्व (सम्पूर्ण धन) हरण हो जाए और आत्मा (आत्मबल) बना रहे, तो यह कहा जाता है कि केवल प्रधि बाहर से ही क्षीण हुआ है (अर्थात् सम्पूर्ण धन के नष्ट होने पर भी व्यक्ति तब तक नष्ट नहीं होता, जब तक उसका जीवन है)॥ १५॥

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकानाꣳ श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशꣳसन्ति॥ १६॥

निश्चित ही ये तीन लोक हैं- मनुष्य लोक, पितृलोक और देवलोक। मनुष्य लोक पुत्र के द्वारा जीता जा सकता है, अन्य किसी के द्वारा नहीं। पितृलोक कर्म से और देवलोक विद्या द्वारा जीता जा सकता है। समस्त लोकों में देवलोक ही उत्कृष्ट है, इसी कारण विद्या को भी सर्वश्रेष्ठ कहकर उसकी प्रशंसा की जाती है॥ १६॥

अथातः संप्रत्तिर्यदा प्रैष्यन्मन्यतेऽथ पुत्रमाह त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति स पुत्रः प्रत्याहाहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक इति यद्वै किंचानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येकता। ये वै के च यज्ञास्तेषाꣳ सर्वेषां यज्ञ इत्येकता ये वै के च लोकास्तेषाꣳ सर्वेषां लोक इत्येकतैतावद्वा इदꣳ सर्वमेतन्मा सर्वꣳ सन्नयमितोऽभुनजदिति तस्मात् पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मादेनमनुशासति स यदैवंविदस्माल्लोकात्प्रैत्यथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति स यद्यनेन किंचिदक्ष्णयाकृतं भवति तस्मादेनꣳ सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति तस्मात्पुत्रो नाम स पुत्रेणैवास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठत्यथैनमेते देवाः प्राणा अमृता आविशन्ति॥ १७॥

अब 'सम्प्रति' (इस नाम से जानी जाने वाली प्रक्रिया) कहते हैं। जब पिता दुनिया से गमन करने की स्थिति में होता है अथवा स्वयं को पुत्र का मार्गदर्शक समझता है, तो वह पुत्र से कहता है-तुम ब्रह्म हो, यज्ञ हो, लोक हो। इसका प्रत्युत्तर देते हुए पुत्र कहता है- मैं ब्रह्म हूँ, यज्ञ हूँ, लोक हूँ। [इस संवाद का भाव यह है कि पिता अपने पुत्र को ब्रह्मज्ञानी, यज्ञ परायण और लोक में कीर्तिवान् बनने का शिक्षण देता है और पुत्र उसे ग्रहण करता है।] इस विश्व में जो कुछ भी अनूक्त (स्वाध्याय या ज्ञान) है, वह सब 'ब्रह्म' से एकीकृत है, जो कुछ भी 'यज्ञ' है (किए हुए अथवा बिना किये हुए) वे सब 'यज्ञ' शब्द से एकीकृत

हैं और जो भी लोक हैं (जीते हुए अथवा बिना जीते हुए) वे 'लोक' शब्द से एकीकृत हैं। यही गृहस्थ का कर्त्तव्य है। पिता की इच्छा होती है कि पुत्र उसकी आज्ञा का पालन अवश्य करेगा। इसीलिए शिक्षित पुत्र अनुशासन का पालन करते हुए लोक में पुण्य कृत्य करता है, अत: उसे 'लोक्य' कहते हैं। इस प्रकार ज्ञान रखने वाला पिता जब इस मर्त्य लोक से गमन करता है, तो प्राणों (अंश) के माध्यम से पुत्र में प्रतिष्ठित होता है (अर्थात् अपनी सम्पूर्ण जिम्मेदारी पुत्र को सौंपता है)। यदि किसी कारण (या प्रमादवश) पिता के द्वारा कोई करणीय कार्य शेष रह जाता है, तो पुत्र उसे पूर्ण कर देता है। इस प्रकार इह लोक में पिता को अपने पुत्र के माध्यम से ही प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। पिता के साथ उसके अमृत प्राण ही गमन करते हैं॥ १७॥

पृथिव्यै चैनमग्नेश्च दैवी वागाविशति सा वै दैवी वाग्यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति॥

मनुष्य की वाक् शक्ति पृथिवी और अग्नि से युक्त होती है। वह दिव्य वाणी कहलाती है; क्योंकि उस वाक् (वाणी) के माध्यम से वह (पिता) जो भी कहता है, वह पूर्ण होता जाता है॥ १८॥

दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति तद्वै दैवं मनो येनानन्द्येव भवत्यथो न शोचति॥

द्युलोक और आदित्य के द्वारा इसमें दिव्य मन आवेशित हो जाता है। दिव्य मन से युक्त होने के कारण यह सदैव आनन्दमग्न रहता है, कभी भी शोकग्रस्त नहीं होता॥ १९॥

अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैव: प्राण आविशति स वै दैव: प्राणो य: संचरꣳश्चासंचरꣳश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति स एवंवित्सर्वेषां भूतानामात्मा भवति यथैषा देवतैवꣳ स यथैतां देवताꣳ सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवꣳ हैवंविदꣳ सर्वाणि भूतान्यवन्ति यदु किंचेमा: प्रजा: शोचन्त्यमैवासां तद्भवति पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान् पापं गच्छति॥ २०॥

जल और चन्द्रमा के माध्यम से यह प्राण तत्त्व इस तत्त्वद्रष्टा में आवेशित होता है। यह दिव्य प्राण ही है, जो सञ्चरित होते हुए और न होते हुए भी कभी व्यथित नहीं होता और न ही कभी विनष्ट होता है। इस तत्त्व को इस प्रकार जानने वाला सब प्राणियों में स्थित आत्मा प्राण देवता के समतुल्य हो जाता है। समस्त प्राणी जैसे प्राण देवता को पोषित करते हैं, ठीक उसी तरह तत्त्वदर्शी को पोषित करते हैं। लौकिक दु:खों में लिप्त रहकर ये सांसारिक प्राणी शोक ग्रस्त हो जाते हैं, किन्तु तत्त्व को जानने वाले पुरुष (दु:खों में भी) कभी शोक नहीं करते और देवत्व प्राप्त कर लेने के कारण पाप भी कभी उनके समीप नहीं आता॥ २०॥

अथातो व्रतमीमाꣳसा प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे तानि सृष्टान्यन्योन्येनास्पर्धन्त वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षु: श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रमेवमन्यानि कर्माणि यथाकर्म तानि मृत्यु: श्रमो भूत्वोपयेमे तान्याप्नोत्तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्ध तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक् श्राम्यति चक्षु: श्राम्यति श्रोत्रमथेममेव नाप्नोद्योऽयं मध्यम: प्राणस्तानि ज्ञातुं दध्रिर अयं वै न: श्रेष्ठो य: संचरꣳश्चासंचरꣳश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवꣳस्तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति तेन ह वाव तत्कुलमाचक्षते यस्मिन्कुले भवति य एवं वेद य उ हैवंविदा स्पर्धतेऽनुशुष्यत्यनुशुष्य हैवान्ततो म्रियत इत्यध्यात्मम्॥ २१॥

अब व्रत (कर्त्तव्य) के विषय में वर्णन किया जाता है। प्रजापति ने कर्मों (कर्म की साधनभूत इन्द्रियों) की रचना की। सृजित होने के बाद वे इन्द्रियाँ परस्पर स्पर्धा करने लगीं। वाक् शक्ति ने कहा (व्रत लिया) कि मैं बोलती ही रहूँगी, चक्षु ने कहा मैं देखता ही रहूँगा और श्रोत्र ने कहा मैं सुनता ही रहूँगा। इसी प्रकार अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार समस्त इन्द्रियों ने व्रत धारण किया, तब मृत्यु देवता ने श्रम करके उनमें व्याप्त होकर समस्त इन्द्रियों की कार्यप्रणाली में अपराध उत्पन्न कर दिया, उनकी कार्य क्षमता समाप्त कर दी। इसीलिए मृत्यु के समय वाणी, नेत्र और श्रोत्र सभी निष्क्रिय हो जाते हैं; परन्तु प्राण मृत्यु को प्राप्त नहीं होता है। सभी इन्द्रियों ने यह जानकर प्राणतत्त्व की श्रेष्ठता को अंगीकार कर लिया, क्योंकि वह संचरित होता और न होता हुआ न कभी व्यथित होता है और न ही कभी समाप्त होता है। अस्तु, समस्त इन्द्रियाँ भी प्राणमय हो गईं। इसी कारण वे प्राण कहकर ही पुकारी जाती हैं। इस तत्त्व को जो जानता है, उसका वंश भी उसी के नाम से चलने लगता है। उस विद्वान् के प्रतिस्पर्धी शुष्कता को प्राप्त करते हुए विनष्ट हो जाते हैं, इसे अध्यात्म प्राण दर्शन कहते हैं॥ २१॥

अथाधिदैवतं ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे तप्स्याम्यहमित्यादित्यो भास्याम्यहमिति चन्द्रमा एवमन्या देवता यथादैवतꣳ स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुर्म्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः सैषानस्तमिता देवता यद्वायुः॥ २२॥

अब अधिदैव दर्शन विवेचित किया जाता है- अग्नि ने व्रत लिया कि मैं निरन्तर जलता ही रहूँगा। सूर्य ने निश्चय किया कि मैं तपता ही रहूँगा और चन्द्रमा ने निश्चय किया कि मैं प्रकाशित ही होऊँगा। इसी प्रकार अन्य समस्त देवों ने भी अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार निश्चय किये। जिस प्रकार इन्द्रियों के बीच में प्राण स्थित है, ठीक उसी प्रकार (अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि) देवताओं में भी वायु तत्त्व प्रतिष्ठित है; क्योंकि अन्य देवता तो अस्त को प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु वायुदेव कभी अस्त नहीं होते ॥ २२॥

अथैष श्लोको भवति यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छतीति प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति तं देवाश्चक्रिरे धर्मꣳ स एवाद्य स उ श्व इति यद्वा एतेऽमुर्ह्याध्रियन्त तदेवाप्यद्य कुर्वन्ति। तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्प्राण्याच्चैवापान्याच्च नेन्मा पाप्मा मृत्युराप्नुवदिति यद्यु चरेत्समापिपयिषेत्तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यꣳ सलोकतां जयति॥ २३॥

इसी विषय को प्रतिपादित करने वाला यह श्लोक है- यह आदित्य जहाँ से उदित होता है, वहीं अस्त हो जाता है अर्थात् यह सूर्य निश्चित ही प्राण से उदित होता है और प्राण में ही अस्त हो जाता है। इस धर्म को देवों ने भी धारण किया। वह व्रत (धर्म) आज विद्यमान है और कल (भविष्य में भी) रहेगा। देवों ने जिस व्रत को उस समय धारण किया था, उसे अब भी करते हैं- अस्तु, सभी को एक ही व्रत का आचरण करना चाहिए। रेचक और पूरक क्रिया करके प्राणायाम करे, ताकि कहीं पापरूपी मृत्यु हमारा स्पर्श न कर ले (हमें जीत न ले)। यदि किसी व्रत को धारण करे, तो उसके समापन की भी इच्छा करे अर्थात् उसका विधिवत् समापन भी करे- पूर्ण भी करे। ऐसा करने से वह इस (प्राण और वायु) देवता के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त करता है॥ २३॥

॥ षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

त्रयं वा इदं नामरूपं कर्म तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्त्येतदेषꣳ सामैतद्धि सर्वैर्नामभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति॥ १ ॥

इस संसार में जो कुछ भी है, वह नाम, रूप और कर्म इन तीनों का ही समुदाय है। इन नामों का उक्थ (उपादान) 'वाणी' है; क्योंकि समस्त नामों की उत्पत्ति इस वाणी से ही होती है। यह वाणी ही इन नामों का साम है, क्योंकि यही समस्त नामों के समतुल्य है। नामों का ब्रह्म भी यह (वाणी) है; क्योंकि समस्त नामों को वाणी ही धारण करती है॥ १ ॥

अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाꣳ सामैतद्धि सर्वैं रूपैः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति॥ २ ॥

समस्त रूपों का उक्थ (उपादान) चक्षु है, क्योंकि समस्त सूर्य इस चक्षु से ही उत्पन्न होते हैं। समस्त रूपों के साथ यह समान भाव रखता है, इसलिए यह चक्षु समस्त रूपों का साम है। समस्त रूपों को धारण करने से यह (चक्षु) ही इन रूपों का ब्रह्म है ॥ २॥

अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाꣳ सामैतद्धि सर्वैः कर्मभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति तदेतत्त्रयꣳ सदेकमयमात्मात्मो एकः सन्नेतत्त्रयं तदेतदमृतꣳ सत्येन छन्नं प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः॥ ३॥

समस्त कर्मों का उक्थ (उपादान कारण) यह आत्मा (शरीरस्थ जीवात्मा) है, क्योंकि समस्त कर्म शरीर से ही उत्पन्न होते हैं, यह समस्त कर्मों का साम है, क्योंकि यह सब कर्मों का धारणकर्ता होने से यह (आत्मा या शरीर) सब कर्मों का ब्रह्म है। आत्मा के द्वारा ही नाम, रूप और कर्म ये तीनों उत्पन्न हुए हैं। अतः ये तीन (पृथक्) होते हुए भी एक आत्मा ही है और यह आत्मा एक होते हुए भी तीन (में विभक्त) है। यह आत्मा सत्य से आच्छादित और अमृत है। प्राण ही अमृत स्वरूप है। नाम और रूप ही सत्य है। इन दोनों (अमृत और सत्य) से ही यह प्राण आच्छन्न है॥ ३॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस स होवाचाजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ॥ १ ॥

(कभी) गर्ग गोत्रीय बालाकि नामक वेद प्रवक्ता ने काशी नरेश अजातशत्रु से अहंकार पूर्ण वाणी में कहा कि मैं आपको ब्रह्मज्ञान का उपदेश करूँगा, तब काशी नरेश अजातशत्रु ने कहा- इसके निमित्त मैं आपको एक सहस्र गौएँ प्रदान करता हूँ; क्योंकि प्रजाजन (ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हेतु) 'जनक' 'जनक' कहकर उन्हीं की ओर दौड़ते रहते हैं (अर्थात् सभी प्रजाजन यही कहते हैं कि जनक बहुत बड़े दाता हैं और बहुत बड़े श्रोता भी। मुझे ब्रह्मज्ञान देने का वचन देते ही आपने मेरे लिए दोनों बातें सुगम कर दीं। इसलिए मैं आपको एक हजार गौएँ प्रदान करता हूँ।) ॥ १ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति ॥ २ ॥

तब गर्गवंशी उन बालाकि ने कहा कि मैं आदित्य स्थित पुरुष की ब्रह्मरूप में उपासना करता हूँ। यह सुनकर अजातशत्रु ने कहा-आप ऐसा न बोलें, जो समस्त प्राणियों के मूर्धा स्वरूप हैं, दीप्तिमान् हैं एवं सबका अतिक्रमण करके स्थित हैं, उन ब्रह्म की मैं उपासना करता हूँ। ऐसा जानते हुए जो उस ब्रह्म की उपासना करता है, वह समस्त भूतों में उनकी मूर्धा (मस्तक) स्वरूप स्थित होता हुआ सबका राजा होता है ॥ २ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा बृहत्पाण्डरवासाः सोमो राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽहरहर्ह सुतः प्रसुतो भवति नास्यान्नं क्षीयते ॥ ३ ॥

इसके पश्चात् उन गार्ग्य बालाकि ने कहा कि चन्द्रमा में स्थित पुरुष की मैं ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ। (यह सुनकर) राजा अजातशत्रु बोले- आप ऐसा न कहें, यह चन्द्रमा शुभ्र वस्त्र धारण करने वाला देदीप्यमान और राजा सोम है, ऐसा मानकर मैं इसकी उपासना करता हूँ। इस प्रकार जान कर इसकी उपासना करने वाले की सम्पन्नता सदैव बनी रहती है और उसका अन्न कभी क्षीण नहीं होता ॥ ३ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ विद्युति पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठास्तेजस्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते तेजस्वी ह भवति तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति ॥ ४ ॥

वेद प्रवक्ता बालाकि ने कहा- मैं तो विद्युत् के अन्तर्गत निहित शक्ति को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता हूँ। अजातशत्रु बोले-नहीं, नहीं-ऐसा न कहो, मैं तो विद्युत् को तेजःस्वरूप मानकर उपासना करता हूँ। ऐसा मानकर जो ब्रह्म की उपासना करता है, वह तेजस्वी होता है और उसकी सन्तति भी तेजस्विनी होती है ॥ ४ ॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः पूर्णमप्रवर्तीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तते॥ ५॥

उन गर्गवंशी बालाकि ने कहा- आकाशस्थ पुरुष को ही ब्रह्म मानकर मैं उसकी उपासना करता हूँ। इस पर अजातशत्रु ने कहा- नहीं व्यर्थ वार्ता न करो, मैं उस आकाश तत्त्व को पूर्ण मानकर उसकी उपासना करता हूँ। इस तथ्य को इस प्रकार जानकर उसकी उपासना करने वाला सदैव प्रजा (सन्तान) और पशुओं से परिपूर्ण रहता है। उसकी प्रजा कभी विनष्ट नहीं होती॥ ५॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं वायौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते जिष्णुर्हापराजिष्णुर्भवत्यन्यतस्त्यजायी॥ ६॥

इसके बाद बालाकि ने कहा- मैं वायु स्थित पुरुष को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता हूँ, तब राजा अजातशत्रु बोले- आप ऐसा न कहें, मैं इस वायु की इन्द्र, बैकुण्ठ और अपराजिता सेना के रूप में उपासना करता हूँ। जो इस वायु की इस प्रकार (उपर्युक्त रूप में) जानकर उपासना करता है, वह प्रसिद्ध विजयशील, अपराजित (जिसे कोई पराजित न कर सके) और शत्रु विजेता होता है॥ ६॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमग्नौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते विषासहिर्ह भवति विषासहिर्हास्य प्रजा भवति॥ ७॥

वे गर्गवंशी बोले-मैं तो अग्नि में स्थित पुरुष (अथवा आग्नेय शक्ति) को ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ। तब काशी नरेश अजातशत्रु ने कहा-ब्रह्म के सम्बन्ध में व्यर्थ प्रलाप मत करो, मैं तो अग्नि की विषासहि (सब कुछ सहन करने की या सब कुछ आत्मसात् कर लेने की सामर्थ्य) को ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ। अग्नि के सम्बन्ध में इस प्रकार जानने वाला विषासहि होता है और उसकी प्रजा भी विषासहि होती है॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमप्सु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते प्रतिरूपꣳ हैवैनमुपगच्छति नाप्रतिरूपमथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते ॥ ८॥

तत्पश्चात् बालाकि गार्ग्य ने कहा-जल में स्थित पुरुष को ब्रह्म मानकर मैं उसकी उपासना करता हूँ, यह सुनकर राजा अजातशत्रु बोले- ऐसा न कहो, मैं तो जल तत्त्व को प्रतिरूप मानकर उसकी उपासना करता हूँ। ऐसा जानकर उपासना करने वाला अपना प्रतिरूप प्राप्त करता है। उसे कभी अपना अप्रतिरूप प्राप्त नहीं होता और उससे प्रतिरूप (पुत्र) उत्पन्न होता है॥ ८॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमादर्शे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा रोचिष्णुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते रोचिष्णुर्ह भवति रोचिष्णुर्हास्य प्रजा भवत्यथो यैः सन्निगच्छति सर्वाꣳस्तानतिरोचते ॥ ९॥

इसके बाद वे गर्गवंशी बालाकि बोले-दर्पण स्थित छाया पुरुष को ही ब्रह्म मानकर मैं उसकी उपासना करता हूँ। इसके बाद अजातशत्रु ने कहा- ऐसा न कहें, मैं तो इसे देदीप्यमान (रोचिष्णु) मानकर इसकी उपासना करता हूँ। जो इसे इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है, वह प्रकाशमान होता है। उसकी प्रजा (संतान) और सहचर भी प्रकाश सम्पन्न अर्थात् तेजस् सम्पन्न होते हैं॥ ९॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं यन्तं पश्चाच्छब्दोऽनूदेत्येतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वꣳ हैवास्मिँल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालात्प्राणो जहाति॥ १०॥

वे गार्ग्य बालाकि बोले- गमन करने वाले के पीछे जो शब्द होता है, मैं उसी को ब्रह्मरूप मानकर उसकी उपासना करता हूँ। अजातशत्रु ने कहा कि ऐसा न कहें, मैं तो उसे प्राण के रूप में उसकी उपासना करता हूँ। जो इसे इस प्रकार जानकर इसकी उपासना करता है, वह पूर्ण आयु प्राप्त करता है। उसकी अकाल मृत्यु नहीं होती॥ १०॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं दिक्षु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते द्वितीयवान् ह भवति नास्मादृणश्छिद्यते ॥ ११॥

वे बालाकि गार्ग्य बोले कि मैं दिशाओं में स्थित पुरुष (शक्ति) को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता हूँ। इस पर अजातशत्रु ने कहा-नहीं-नहीं ऐसा न कहो, मैं इसे द्वितीय और वियुक्त न होने वाला मानकर उसकी उपासना करता हूँ। उस ब्रह्म को इस प्रकार जानने वाले साथी युक्त होते हैं और वे साथी उन्हें कभी नहीं त्यागते॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायं छायामयः पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वꣳ हैवास्मिँल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालान्मृत्युरागच्छति॥ १२॥

गार्ग्य ने कहा मैं छायामय पुरुष को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता हूँ। काशी नरेश अजातशत्रु ने कहा कि व्यर्थ बात न करो, मैं तो छाया पुरुष को मृत्यु समझकर उसकी उपासना करता हूँ। जो इसकी ऐसा जानकर उपासना करता है, वह पूर्ण आयु प्राप्त करता है तथा समय से पूर्व मृत्यु उसे विनष्ट नहीं करती॥ १२॥

स होवाच गार्ग्यो य एवायमात्मनि पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा आत्मन्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्त आत्मन्वीह भवत्यात्मन्विनी हास्य प्रजा भवति स ह तूष्णीमास गार्ग्यः॥ १३॥

बालाकि ने कहा- मैं आत्मस्थ पुरुष को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता हूँ। अजातशत्रु ने कहा- ऐसा न कहो। मैं तो उसे ब्रह्म जिज्ञासु (आत्मन्वी) मानकर उपासना करता हूँ। उसे इस प्रकार जानकर जो उपासना करने वाला होता है, वह ब्रह्म जिज्ञासु होता है एवं उसकी प्रजा (सन्तान) भी ब्रह्म जिज्ञासु होती है। यह सुनकर बालाकि ने मौन धारण कर लिया॥ १३॥

स होवाचाजातशत्रुरेतावन्नू३ इत्येतावद्धीति नैतावता विदितं भवतीति स होवाच गार्ग्य उपत्वायानीति॥ १४॥

यह स्थिति देखकर अजातशत्रु बोले कि क्या इतना ही ज्ञान है? बालाकि गार्ग्य ने कहा कि हाँ केवल इतना ही ज्ञान है। अजातशत्रु ने कहा कि इतने मात्र से तो ब्रह्मज्ञान असम्भव है। तब गार्ग्य बोले कि क्या मैं आपकी सेवा के लिए तैयार होऊँ?॥ १४॥

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चैतद्यद्ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद्ब्रह्म मे वक्ष्यतीति व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति तं पाणावादायोत्तस्थौ तौ ह पुरुषꣳ सुप्तमाजग्मतुस्तमेतैर्नामभिरामन्त्रयांचक्रे बृहन् पाण्डरवासः सोमराजन्निति स नोत्तस्थौ तं पाणिना पेषं बोधयांचकार स होत्तस्थौ ॥ १५॥

(यह सुनकर) अजातशत्रु बोले- यह तो विपरीत तथ्य है कि कोई ब्राह्मण ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए किसी क्षत्रिय के पास जाए। तो भी मैं आपको ब्रह्म का उपदेश करूँगा (अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्रदान करूँगा)। तब अजातशत्रु उठे और बालाकि का हाथ पकड़कर एक सोते हुए पुरुष के पास ले गये। राजा अजातशत्रु ने उस सोते हुए पुरुष को हे ब्रह्मन्! हे श्वेताम्बरधारी, हे सोम!, हे राजन्, ! आदि कहकर जगाने का प्रयत्न किया, किन्तु वह जाग्रत् स्थिति में नहीं आया। इसके बाद अजातशत्रु ने उसे झकझोर कर उठाने का प्रयत्न किया, तब वह जागकर उठ बैठा॥ १५॥

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्कुत एतदागादिति तदु ह न मेने गार्ग्यः॥ १६॥

इसके पश्चात् राजा अजातशत्रु ने बालाकि गार्ग्य से प्रश्न किया कि इस प्रसुप्त व्यक्ति का (जीवात्मा) विज्ञानमय पुरुष उस समय कहाँ था, जब वह सो रहा था और अब कहाँ से (जागने पर) यहाँ आ गया; किन्तु बालाकि गार्ग्य इसे नहीं जान सका अर्थात् इस प्रश्न का उत्तर न दे सका॥ १६॥

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग् गृहीतं चक्षुर्गृहीतꣳ श्रोत्रं गृहीतं मनः॥ १७॥

तब अजातशत्रु ने कहा- जब वह (जीवात्मा) विज्ञानमय पुरुष प्रसुप्तावस्था में था, तब अपनी विज्ञान की शक्ति से समस्त इन्द्रियों की शक्ति को अपने में एकत्र कर लिया था। सुप्त स्थिति में जीवात्मा हृदयाकाश में स्थित रहकर इन्द्रियों को ग्रहण करता है। उस समय इसे 'स्वपिति' कहते हैं। उस समय प्राण, नेत्र, श्रोत्र और मन सभी गृहीत स्थिति में होते हैं॥ १७॥

स यत्रैतत्स्वप्न्ययाचरति ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो भवत्युतेव महाब्राह्मण उतेवोच्चावचं निगच्छति स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेतैवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते ॥ १८॥

जब यह जीवात्मा स्वप्नवृत्ति में होता है अथवा स्वप्नावस्था में होता है, तब उसके लोक अर्थात् कृत कर्मों के प्रतिफल उदित होते हैं। उस समय वह विभिन्न प्रकार की स्थितियों को प्राप्त करता हुआ कभी महाराजा, कभी महाब्राह्मण, कभी उच्चावस्था और कभी निम्नावस्था को प्राप्त होता है। वह प्रजा के साथ भ्रमण करने के समान ही प्राणेन्द्रियों को लेकर शरीर में यथेच्छ स्थलों पर भ्रमण करता रहता है॥ १८॥

अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्त्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वातिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥ १९॥

इसके बाद जब वह जीवात्मा सुषुप्तावस्था में होता है, तब उसे बाह्य जगत् का कुछ भी भान नहीं रहता। उस समय हिता नामक (अथवा हितकारिणी) बहत्तर हजार नाड़ियाँ जो हृदय प्रदेश से सम्पूर्ण शरीर में संव्याप्त हैं, उन्हीं के माध्यम से वह (जीवात्मा) बुद्धि के साथ सम्पूर्ण शरीर में संव्याप्त होकर सो जाता है। जिस प्रकार कोई बालक, महाब्राह्मण या महाराजा अतिशय आनन्द की स्थिति प्राप्त करके सो जाता है, उसी प्रकार यह जीवात्मा भी सो जाता है (अर्थात् सुप्तावस्था में बालक, विद्वान् एवं राजा सभी एक जैसी विश्राम की स्थिति में होते हैं)॥ १९॥

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥ २०॥

जिस प्रकार मकड़ी (अपने द्वारा निर्मित) तन्तुओं पर चलकर ऊर्ध्वगमन करती है और जिस प्रकार अग्नि में अनेक छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं, ठीक उसी तरह इस आत्मा से सभी प्राण, सभी लोक, सभी देवता और समस्त भूत उत्पन्न होते हैं। इसका उपनिषदीय नाम 'सत्य का सत्य' है। निश्चित रूप से प्राण ही सत्य है और यह आत्मा उस (प्राण का) सत्य है॥ २०॥

॥ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

यो ह वै शिशुꣳ साधानꣳ सप्रत्याधानꣳ सस्थूणꣳ सदामं वेद सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धयंयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणस्तस्येदमेवाधानमिदं प्रत्याधानं प्राणः स्थूणान्नं दाम ॥ १॥

जो कोई आधान, प्रत्याधान, स्थूणा (खूँटे) और दाम (बाँधने की रस्सी) के साथ इस प्राण तत्त्व रूप शिशु को जानने वाला है, वह द्वेष करने वाले सात भ्रातृव्यों (सात विरोधियों-पाँच ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धि) को अवरुद्ध करने में समर्थ होता है। मध्य स्थित या मध्यम प्राण ही शिशु रूप है, उसी का यह शरीर (अधिष्ठान) है। उस शिशु का सिर ही प्रत्याधान (आश्रय स्थल), प्राण तत्त्व स्थूणा (खूँटा) एवं अन्न ही इसकी रज्जु है॥ १॥

तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते तद्या इमा अक्षन् लोहिन्यो राजयस्ताभिरेनꣳ रुद्रोऽन्वायत्तोऽथ या अक्षन्नापस्ताभिः पर्जन्यो या कनीनिका तयादित्यो यत्कृष्णं तेनाग्निर्यच्छुक्लं तेनेन्द्रोऽधरयैनं वर्तन्या पृथिव्यन्वायत्ता द्यौरुत्तरया नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद॥ २॥

उस (प्राण) की (सहायिका) ये सात अक्षितियाँ (क्षीण न होने वाली) उपस्थित होती हैं। उन (सप्त अक्षितियों में दोनों नेत्रों की लाल रेखाएँ रुद्र शक्ति (विद्युत्) की प्रतीक हैं। नेत्रों में जल पर्जन्य शक्ति का प्रतीक है, जो कनीनिका (पुतलियाँ) हैं, वह आदित्य शक्ति की, कालिमा अग्नि शक्ति की, श्वेत भाग इन्द्र शक्ति का, नीचे के पलक पृथिवी शक्ति के एवं ऊपर के पलक द्युलोक के प्रतीक हैं। इस प्रकार जो जानता है, उसका अन्न कभी क्षीण नहीं होता ॥ २॥

तदेष श्लोको भवति। अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्। तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेत्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति प्राणा वै यशो विश्वरूपं प्राणनेतदाह तस्यासत ऋषयः सप्त तीर इति प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्ध्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते॥ ३॥

इस श्लोक से उपरि निर्दिष्ट तथ्य की पुष्टि होती है। यह चमस ही नीचे की ओर मुख वाला और ऊपर की ओर जड़ से युक्त है। इसमें विभिन्न प्रकार का यश सन्निहित है। चमस के किनारे पर सात ऋषिगण निवास करते हैं तथा अष्टम वाणी निवास करती है, जो वेदों (ब्राह्मणों) द्वारा संवाद करने में समर्थ होती है। यह चमस जो नीचे की ओर मुख और ऊपर की ओर पैर वाला है और जिसमें सम्पूर्ण विश्व का यश निहित है, वह वस्तुतः प्राण ही है। उसके किनारे पर सप्त ऋषियों का निवास वर्णित है। ये सात ऋषि इन्द्रियाँ हैं। आठवीं वागिन्द्रिय है, जो ब्राह्मणों द्वारा बोली जाने वाली (वेदवाणी) वर्णित है ॥ ३॥

इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद॥

ये दोनों कान ही गोतम और भरद्वाज ऋषि हैं। इसी प्रकार दोनों चक्षु ही विश्वामित्र और जमदग्नि हैं। नासिका के दोनों छिद्र ही वसिष्ठ और कश्यप ऋषि हैं। वाणी ही अत्रि ऋषि है; क्योंकि वाणी अर्थात् रसना ही अन्न ग्रहण करने में सक्षम है और अन्न का भोग ग्रहण करने वालों में अत्रि प्रख्यात हैं, इसलिए वाक् ही अत्रि है। जो इस तथ्य को इस प्रकार जानता है, वह समस्त अन्नों का भोग करने वाला (सबका अत्ता) और उनका स्वामी होता है॥ ४॥

॥ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च॥ १॥

ब्रह्म के दो स्वरूप हैं- एक व्यक्त और दूसरा अव्यक्त। इसमें मरणधर्मा व्यक्त है और अमर्त्य ही अव्यक्त है। जो मर्त्य है, वह जड़- स्थिर है और अमृत (अविनाशी) सतत गतिमान् है॥ १॥

तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्च तन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो य एष तपति सतो ह्येष रसः॥ २॥

वायु और अन्तरिक्ष से भिन्न तत्त्व (अग्नि, जल और पृथिवी) ये सभी मूर्त मरणधर्मा एवं स्थिर हैं। इन तीनों का सारतत्त्व तप्यमान (आदित्य या यज्ञपुरुष) है॥ २॥

अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यदेतत्त्यत्तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य ह्येष रस इत्यधिदैवतम्॥ ३॥

वायु और अन्तरिक्ष अव्यक्त हैं, ये अमर्त्य और गतिशील हैं। इस (आदित्य या ब्रह्माण्ड) मण्डल में जो विशिष्ट तेजस् सम्पन्न पुरुष है, वही इन अमर्त्य एवं अव्यक्त भूतों का साररूप है। यह अधिदैव दर्शन है॥

अथाध्यात्ममिदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतन्मर्त्यमेतत्स्थित-मेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष रसः॥

अब अध्यात्म विषय प्रतिपादित किया जाता है। देहान्तर्गत आकाश और प्राण से भिन्न जो अग्नि, जल एवं पृथिवी का अंश इस शरीर में विद्यमान है,वह मूर्त और मरणधर्मा है। नेत्र इस सत् का सार रूप है॥ ४॥

अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतमेतद्यदेतत्त्यं तस्यैतस्यामूर्त-स्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो योऽयं दक्षिणेक्षन्पुरुषस्त्यस्य ह्येष रसः॥ ५॥

अब अमूर्त का वर्णन किया जाता है। प्राण और इस देह मे स्थित जो आकाश है, ये दोनों ही अमूर्त हैं, अविनाशी हैं और गतिशील हैं। इस अविनाशी अमूर्त प्राण और आकाश तत्त्व का सार ही दक्षिण नेत्र के अन्तर्गत स्थित पुरुष अथवा विशिष्ट शक्ति है॥ ५॥

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा माहारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तꣳ सकृद्विद्युत्तेव ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेदाथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयꣳ सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्॥ ६॥

(दाहिने नेत्र में निवास करने वाले) उस पुरुष (आत्मा) का रूप इस प्रकार का है, जैसे माहारजन (कुसुम्भ पुष्प का रंग या महान् रंगने वाले) से रंगा हुआ वस्त्र हो, जैसे पाण्डु (हल्का पीला) ऊन हो, जैसे इन्द्रगोप (वीर बहूटी) हो, जैसे आग की लपट हो तथा जैसे कोई श्वेत कमल या विद्युत् की चमक हो। जो ऐसा जानने वाला है, उसकी श्री (ऐश्वर्य) विद्युत् कान्ति के समान (सर्वत्र फैलने वाली) होती है। अब (इस कारण) ब्रह्म सम्बन्धी उपदेश किया जाता है। उसके लिए सर्वोत्कृष्ट उपदेश 'नेति-नेति' है। अन्य कोई उपदेश इतना उत्कृष्ट नहीं है। उसे 'सत्य का भी सत्य' इस नाम से ही जाना जाता है। प्राण ही निश्चित रूप से सत्य है और वह (ब्रह्म) उस (प्राण)का भी सत्य है॥ ६॥

॥ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति ॥ १ ॥

महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी धर्मपत्नी मैत्रेयी से कहा- हे मैत्रेयी ! मैं अब वर्तमान स्थान (गृहस्थाश्रम) से ऊपर (वानप्रस्थ आश्रम में) जाना चाहता हूँ। अतः मेरी आकांक्षा है कि दूसरी धर्मपत्नी कात्यायनी और आपके बीच (सम्पत्ति का) विच्छेद (बँटवारा) कर दूँ॥ १ ॥

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितꣳ स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति ॥ २ ॥

(यह सुनकर) मैत्रेयी बोली- हे भगवन् ! धन्य-धान्य से पूरित इस सम्पूर्ण धरती की यदि मैं स्वामिनी बन जाऊँ, तो क्या मैं अमर पद पा सकूँगी ? महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा नहीं, जैसे साधन-सम्पन्नों का जीवन होता है, वैसा ही तुम्हारा जीवन हो जायेगा। धन से अमृतत्व की आशा नहीं करनी चाहिए॥२ ॥

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां ? यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥

मैत्रेयी बोली- हे स्वामी ! जिस धन-ऐश्वर्य से मैं अमृतत्व प्राप्त नहीं कर सकती, उसे ग्रहण करके मैं क्या करूँगी ? हे भगवन् ! यदि आप कोई अमृतत्व प्राप्त करने के उपाय जानते हों, तो वह मुझे बताने का अनुग्रह करें॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥ ४ ॥

याज्ञवल्क्य ने कहा-हे मैत्रेयी ! तुम हमारी प्रिया हो और प्रिय लगने योग्य वचन भी बोल रही हो। तुम आकर बैठो-मैं तुम्हारे लिए अमृतत्व प्राप्त कराने वाला उपदेश प्रदान करता हूँ। तुम मेरे आदेश का निदिध्यासन (अनुपालन) करना ॥ ४ ॥

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोत्रव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम् ॥ ५ ॥

ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा-हे मैत्रेयी! निश्चित ही पति की आकांक्षा पूर्ति के लिए पति प्रिय नहीं होता वरन् अपनी (आत्मीयता) आकांक्षा पूर्ति के लिए (पत्नी को) पति प्रिय होता है। इसी प्रकार पत्नी के प्रयोजन के लिए नहीं बल्कि अपने प्रयोजन के लिए (पति को) पत्नी प्रिय होती है। पुत्रों की आकांक्षा पूर्ति के लिए नहीं, वरन् अपनी आकांक्षा पूर्ति के लिए (पिता को) पुत्र प्रिय होते हैं। धन के प्रयोजन पूर्ति के लिए नहीं, वरन् अपने प्रयोजन की पूर्ति के लिए (व्यक्ति को) धन प्रिय होता है। ज्ञान या ब्राह्मण के प्रयोजन के लिए नहीं, वरन् अपने प्रयोजन के लिए ज्ञान या ब्राह्मण प्रिय होता है। शक्ति अथवा क्षत्रिय की आकांक्षा के लिए नहीं, वरन् अपनी आकांक्षा पूर्ति के लिए शक्ति (क्षत्रिय को) प्रिय होती है। देवों के प्रयोजन के लिए नहीं, वरन् स्व प्रयोजन की पूर्ति के लिए देवता प्रिय होते हैं। लोकों के प्रयोजन के लिए नहीं, वरन् अपनी ही इच्छा पूर्ति के लिए लोक प्रिय होते हैं। प्राणियों के हित के लिए नहीं, वरन् अपने हित के लिए प्राणी प्रिय होते हैं। सभी के हित के निमित्त नहीं, वरन् अपने हित के निमित्त सब प्रिय होते हैं। इसलिए हे मैत्रेयी! यह आत्मा ही दर्शन करने योग्य, श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य और निदिध्यासन (अनुभव) ध्यान करने योग्य है। इस आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और ज्ञान से सभी का ज्ञान हो जाता है॥ ५॥

ब्रह्म तं परादाद्यो ऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा॥ ६॥

जो ब्राह्मण या ज्ञान को आत्मा से भिन्न किसी अन्य वस्तु में जानने वाला होता है, उसे ब्राह्मण या ज्ञान परित्यक्त कर देता है। क्षत्रिय या बल को आत्मा से भिन्न किसी अन्य वस्तु में देखने वाले को बल या क्षत्रिय परित्यक्त कर देता है। लोकों को आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य में जानने वाले को लोक त्याग देते हैं। देवताओं को आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य में जानने वाले को देवता छोड़ देते हैं और समस्त प्राणियों को आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य में देखने वाले को समस्त प्राणी त्याग देते हैं। इस प्रकार ब्राह्मण (ज्ञान), क्षत्रिय (शक्ति),लोक,देवता और समस्त प्राणी ये सभी आत्मा ही हैं,उसके अतिरिक्त कुछ नहीं॥

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः॥ ७॥

जिस प्रकार बजती हुई दुन्दुभि के बाहर निकलते हुए शब्दों को ग्रहण कर सकने में कोई दूसरा समर्थ नहीं है। उन (शब्दों) को केवल स्वयं दुन्दुभि अथवा उसका वादक ही ग्रहण कर सकता है (उसी प्रकार आत्म चेतना से आत्मा को प्राप्त किया जाता है।) ॥ ७॥

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः॥ ८॥

जैसे बजाये जाते हुए शङ्ख के शब्दों को केवल वह शङ्ख या उसका वादक ही ग्रहण कर सकता है, अन्य कोई ग्रहण करने में समर्थ नहीं है (उसी प्रकार आत्मा द्वारा ही आत्मा को ग्रहण किया जा सकता है)॥ ८॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयात् ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः॥ ९॥

जैसे बजायी जाती हुई वीणा के शब्दों को स्वयं वह वीणा अथवा उसका वादक ही ग्रहण कर सकता है,अन्य कोई नहीं (वैसे आत्मा को आत्मा अथवा उसके संचालक द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है)॥

स यथार्द्रेधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि॥ १०॥

जिस तरह चारों ओर से आधान किये हुए गीले ईंधन से उत्पन्न अग्नि से धूम्र निकलता है, उसी प्रकार हे मैत्रेयी! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, उपनिषद्, सूत्र, श्लोक, व्याख्यान और अनुव्याख्यान ये सभी उस महान् सत्ता के निःश्वास ही हैं॥ १०॥

स यथा सर्वासामपाꣳ समुद्र एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ स्पर्शानां त्वगेकायनमेवꣳ सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रसानां जिह्वैकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रूपाणां चक्षुरेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ शब्दानाꣳ श्रोत्रमेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ संकल्पानां मन एकायनमेवꣳ सर्वासां विद्यानाꣳ हृदयमेकायनमेवꣳ सर्वेषां कर्मणाꣳ हस्तावेकायनमेवꣳ सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवꣳ सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवꣳ सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवꣳ सर्वेषां वेदानां वागेकायनम्॥ ११॥

जिस प्रकार समस्त जल का आश्रय स्थल एकमात्र समुद्र है, समस्त स्पर्शों का अयन त्वचा है, समस्त गन्धों का आश्रय नासिका है, समस्त रसों का आश्रय रसना (जिह्वा) है, समस्त रूपों का आश्रय चक्षु है, समस्त शब्दों का आश्रय श्रोत्र, समस्त संकल्पों का आश्रय मन, समस्त विद्याओं का आश्रय हृदय, समस्त कर्मों का आश्रय हस्त, समस्त आनन्दों का आश्रय उपस्थ, समस्त विसर्गों (विसर्जनों) का आश्रय पायु (गुदा), समस्त मार्गों का आश्रय चरण और समस्त वेदों का आश्रय वाक् शक्ति (वाणी) है॥ ११॥

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत न हास्योद्ग्रहणायेव स्याद्यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः॥ १२॥

जिस प्रकार जल के अन्दर नमक की डली डालने पर वह उसी में विलीन हो जाती है, उसे पकड़ सकना किसी के लिए सम्भव नहीं है, ठीक उसी प्रकार यह महद्भूत, अन्तहीन, पाररहित, विज्ञानघन आत्मा समस्त भूतों से ऊँचा उठकर इन्हीं में विलुप्त हो जाता है। मृत्यूपरान्त इस तत्त्व का नाम भी शेष नहीं रहता, क्योंकि वह देहेन्द्रिय भाव से मुक्त हो जाता है- ऐसा ऋषि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा॥ १२॥

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमुहन्न प्रेत्य संज्ञास्तीति स होवाच याज्ञवल्क्यो न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अर इदं विज्ञानाय॥ १३॥

मैत्रेयी ने कहा- हे भगवन्! मृत्यु के उपरान्त नाम भी नहीं बचता, आपके इस वाक्य से तो मुझे

मोहरूपी भ्रम उत्पन्न हो गया है। यह सुनकर महर्षि याज्ञवल्क्य बोले- हे मैत्रेयी! ऐसा नहीं है, मैंने भ्रम में डालने के लिए कुछ नहीं कहा है, वरन् जो कुछ कहा है, वह उस महद्भूत का ज्ञान प्राप्त कराने के लिए कहा है और वह उस ज्ञान के लिए पर्याप्त है ॥ १३॥

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कꣳ शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत् केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयाद्येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति॥ १४॥

जहाँ (अज्ञानावस्था में) द्वैत प्रतीत होता है, वहीं दूसरा दूसरे को सूँघता है, दूसरा दूसरे को देखता है, दूसरा ही दूसरे का श्रवण करता है, दूसरा ही दूसरे के प्रति कहता है, दूसरा ही दूसरे का मनन करता है और दूसरा ही दूसरे को जानता है; किन्तु जब यह सब आत्मरूप ही हो गया, तब वह किसके द्वारा किसको सूँघे, किसके द्वारा किसको देखे, किसके द्वारा किसको सुने, किसके द्वारा किसको कहे और किसके द्वारा किसका मनन करे एवं जाने। जिससे सब कुछ जाना जाता है, उसे किसके माध्यम से जाने। अस्तु, हे मैत्रेयी! विज्ञाता को कैसे जाना जा सकता है?॥ १४॥

॥ पञ्चमं ब्राह्मणम्॥

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥ १॥

यह पृथ्वी समस्त प्राणियों का मधु है और समस्त प्राणी पृथ्वी के लिए मधु स्वरूप हैं। इस पृथ्वी में जितने भी अमर्त्य और तेजरूपी पुरुष हैं एवं इस शरीर में विनाशरहित और तेजस् सम्पन्न जो आत्मा है, वही सर्वव्यापी परमात्मा है। यही कभी नष्ट न होने वाला ब्रह्म है एवं जो कुछ भी है, सब कुछ यही है॥ १॥

[मधु रोचक और पोषक होता है। पृथ्वी के लिए प्राणी तथा प्राणियों के लिए पृथ्वी रोचक एवं पोषक है, इसीलिए वे एक दूसरे के मधु कहे गये हैं। यह संगति स्त्रष्टा का कौशल है- कमाल है। इसी प्रकार प्रकृति के अन्य घटकों के बारे में भी कहा गया है।]

इमा आपः सर्वेषां भूतानां मध्वासामपाꣳ सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ रैतसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥ २॥

यह जल समस्त प्राणियों का मधु है और समस्त प्राणी जल के लिए मधु तुल्य हैं। जल में स्थित जो तेजोमय अमृतस्वरूप पुरुष है और जो इस शरीर में अविनाशी आत्मास्वरूप पुरुष स्थित है, वही सर्वव्यापी परमात्मा है, वही अविनाशी ब्रह्म है। यहाँ जो कुछ भी है, सब कुछ यही है॥ २॥

अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं वाङ्मयस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ३॥

यह अग्नि समस्त प्राणियों का मधु है और समस्त प्राणी इस अग्नि के लिए मधुस्वरूप हैं। इस अग्नि में स्थित तेजोमय और विनाशरहित जो पुरुष है और इस शरीर में स्थित वाङ्मय तेजस्वरूप जो पुरुष आत्मा रूप में स्थित है, वही ब्रह्म, अमर्त्य और सर्व है अर्थात् जो कुछ भी है, सब यही है॥ ३॥

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्वायौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ४॥

यह वायु समस्त जीवों का मधु है और समस्त जीव वायु के लिए मधु तुल्य हैं। वायु में संव्याप्त तेजोमय अमृत पुरुष और देह में संव्याप्त प्राणरूप अमृतमय तेजस्वी आत्मा ही ब्रह्म (परमात्मा) है। यहाँ जो कुछ भी है, सब कुछ यही है॥ ४॥

अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मध्वस्यादित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं चाक्षुषस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ५॥

यह आदित्य समस्त प्राणियों का मधु है। समस्त प्राणी आदित्य के लिए मधु स्वरूप हैं। इस आदित्य में विद्यमान जो तेजःसम्पन्न और अविनाशी पुरुष है और इस शरीर में स्थित चाक्षुष तेजःसम्पन्न और अमृत युक्त जो सर्वव्यापी आत्मा है। यही परब्रह्म, अमर्त्य और सब कुछ है॥ ५॥

इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशाꣳ सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमासु दिक्षु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥ ६॥

ये दिशाएँ समस्त प्राणियों के लिए मधु स्वरूप हैं और समस्त प्राणी दिशाओं के निमित्त मधु स्वरूप हैं। इन दिशाओं में स्थित तेजःसम्पन्न अमर पुरुष तथा शरीर में स्थित श्रोत्रमय तेजःसम्पन्न अविनाशी पुरुष (आत्मा) ही सर्वव्यापी ब्रह्म, विनाश रहित और सर्वस्वरूप अर्थात् सब कुछ है॥ ६॥

अयं चन्द्रः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिꣳश्चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥ ७॥

यह चन्द्रमा समस्त भूतों-प्राणियों के लिए और समस्त भूत (प्राणी) चन्द्रमा के लिए मधुरूप हैं। चन्द्रमा में स्थित तेजोमय-अविनाशी पुरुष तथा शरीर में स्थित, मन में विद्यमान तेजोयुक्त अमर पुरुष ही सर्व-व्यापक परब्रह्म है, यही अविनाशी तथा सभी कुछ है ॥ ७॥

इयं विद्युत्सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्यां विद्युति तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥ ८॥

यह विद्युत् समस्त भूतों का मधु और समस्त भूत इस विद्युत् के लिए मधुरूप हैं। विद्युत् स्थित जो तेजोमय और अमर्त्य पुरुष है एवं शरीर स्थित (तैजस) जो तेजःसम्पन्न और अमर पुरुष है, वही सर्वव्यापक और कभी नष्ट न होने वाला आत्मा है, यही अमृत, यही ब्रह्म और यही सब कुछ है॥ ८॥

अयꣳ स्तनयित्नुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य स्तनयित्नोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्स्तनयित्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ शाब्दः सौवरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳसर्वम्॥ ९॥

गरजते हुए मेघ प्राणियों के मधु हैं और प्राणी मेघों के मधु हैं। इस मेघ में जो तेजस्वी और अविनाशी पुरुष है तथा शरीर में जो तेजोमय-अविनाशी पुरुष है, वही आत्मा है, अनश्वर है और सब कुछ है॥ ९॥

अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याकाशस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ हृद्याकाशस्तेजो मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥ १०॥

यह आकाश समस्त जीवों का मधु है और समस्त जीव आकाश के लिए मधुरूप हैं। इस अन्तरिक्ष में जो तेजोयुक्त अविनाशी पुरुष स्थित है और इस शरीर में जो हृदयाकाश स्थित तेजः सम्पन्न और अनश्वर आत्मा विद्यमान है, वही सर्वव्यापक ब्रह्म और समस्त भूतों से युक्त है, यही सब कुछ है॥ १०॥

अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्धर्मे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धार्मस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥ ११॥

यह धर्म प्राणियों का मधु है और प्राणी धर्म के मधुरूप हैं। धर्म स्थित तेजोमय और अविनाशी पुरुष तथा शरीर स्थित तेजोमय और अमर्त्य पुरुष ही सर्वव्यापी, अविनाशी परमात्मा है। यही सभी कुछ है॥ ११॥

इदꣳ सत्यꣳ सर्वेषां भूतानां मध्वस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्सत्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ सात्यस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥ १२॥

यह सत्य सभी भूतों (प्राणियों) के लिए मधु है तथा समस्त भूत (प्राणी) सत्य के लिए मधु स्वरूप हैं। सत्य स्थित जो तेजः सम्पन्न अविनाशी पुरुष विद्यमान है और शरीर में स्थित जो सत्य स्वरूप तेजः सम्पन्न अनश्वर आत्मा है, वही अविनाशी और सर्वस्वरूप ब्रह्म है, सब कुछ यही है॥ १२॥

इदं मानुषꣳ सर्वेषां भूतानां मध्वस्व मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः यश्चायमध्यात्मं मानुषः तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥ १३॥

यह मनुष्य समुदाय समस्त प्राणियों का मधु है और समस्त प्राणी मानव समुदाय के लिए मधु हैं। मनुष्य समुदाय में स्थित जो अविनाशी और तेजःसम्पन्न पुरुष है तथा इस मानव शरीर में जो भावयुक्त तेजस्वी, अमर्त्य पुरुष है, वही सर्वव्यापक अविनाशी ब्रह्म है और सब कुछ यही है॥ १३॥

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम्॥ १४॥

यह आत्मा जीवों का मधु है और जीव इस आत्मा के मधु हैं। आत्मा में स्थित जो तेजस्वी और अविनाशी पुरुष है तथा आत्मा रूप में तेजस्वी और अविनाशी परब्रह्म है, वही सर्वव्यापक अविनाशी ब्रह्म है, यही सब कुछ है ॥ १४॥

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानाꣳ राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः॥ १५॥

निश्चित रूप से आत्मा ही समस्त प्राणियों का अधिपति और राजा है। जिस प्रकार रथ की नाभि में एवं नेमि में सभी अरे जुड़े रहते हैं, उसी प्रकार समस्त जीव, समस्त देवता, समस्त लोक और समस्त प्राण आत्मा से जुड़े रहते हैं अथवा आत्मा में सन्निहित हैं॥ १५॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । तद्वां नरा सनये दꣳस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम् । दध्यङ् ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्रयदीमुवाचेति॥ १६॥

इस मधु (आत्मविद्या) का वर्णन दध्यङ् आथर्वण ने अश्विनीकुमारों से किया था। ऋषि ने उनसे कहा कि हे अश्विनीकुमारो! जिस प्रकार मेघ वृष्टि को प्रकट करते हैं, उसी प्रकार मैं तुम्हारे उग्र कर्म को प्रकट करता हूँ। अश्व के मस्तक वाले तुम दोनों के लिए यह आथर्वण मधु विद्या प्रदान कर रहा हूँ॥ १६॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचदाथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यꣳशिरः प्रत्यैरयतम्।स वां मधु प्रवोचदृतायन्त्वाष्ट्रंयद्दस्त्रावपि कक्ष्यं वामिति॥ १७॥

इस मधु विद्या को आथर्वण दध्यङ् ने अश्विनीकुमारों को प्रदान किया था। मंत्रद्रष्टा ऋषि बोले- हे अश्विनीकुमारो! आप आथर्वण के निमित्त अश्व का मस्तक लाएँ। उन्होंने सत्य की रक्षा करते हुए आपको त्वाष्टोपदेश (अर्थात् सूर्य सम्बन्धी मधुविद्या का उपदेश) किया, वह ज्ञान गोपनीय था॥ १७॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् । पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः पुरःस पक्षी भूत्वा पुरःपुरुष आविशदिति। स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किंचनानावृतम् ॥ १८॥

इस मधुविद्या का उपदेश आथर्वण दध्यङ् ने अश्विनीकुमारों के प्रति किया था। मन्त्रद्रष्टा ने कहा कि परब्रह्म ने सर्वप्रथम द्विपादों और चतुष्पादों वाले शरीरों का निर्माण किया। इसके पश्चात् वह विराट् पुरुष

उन शरीरों में प्रविष्ट हो गया। इसी कारण पुरुष को "पुरिशय" (पुरों-शरीरों में स्थित) कहते हैं। इस सृष्टि में ऐसा कोई नहीं है, जिसके अन्दर वह प्रविष्ट न हो ॥ १८॥

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचद्रूपꣳरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय। इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेत्ययं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम् ॥ १९॥

इस मधु का उपदेश दध्यङ् आथर्वण ने अश्विनीकुमारों को दिया था। मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने कहा कि शरीरधारी को उसके (वास्तविक) स्वरूप में प्रकट करने के लिए वह पुरुष शरीरधारी का प्रतिरूप (जल, वायु या आकाश की तरह पात्र के आकार का) हो जाता है। वह परमात्मा एक होते हुए भी माया से अनेक रूपों वाला प्रतिभासित होता है। शरीर रूपी रथ में जुते इन्द्रियों रूपी अश्व-दस, सहस्र और अनन्त हैं। वह ब्रह्म कारण विहीन, कार्यविहीन, अन्तर और बाहर से भी विहीन है। समस्त विषयों का अनुभव करने वाला आत्मा ही ब्रह्मरूप है। समस्त वेदान्तों का उपदेश भी यही है॥ १९॥

॥ षष्ठं ब्राह्मणम्॥

अथ वꣳशः पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः॥ १॥ आग्निवेश्यादाग्निवेश्यःशाण्डिल्याच्चानभिम्लाताच्चानभिम्लात आनभिम्ला-तादानभिम्लात-आनभिम्लातादानभिम्लातो गौतमाद्गौतमः सैतवप्राचीनयोग्याभ्याꣳ सैतवप्राचीनयोग्यौ पाराशर्यात्पाराशर्यो भारद्वाजाद्भारद्वाजो भारद्वाजाच्च गौतमाच्च गौतमो भारद्वाजाद्भारद्वाजः पाराशर्यात् पाराशर्यो बैजवापायनाद्बैजवापायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः॥ २॥ घृतकौशिकाद्घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणः पाराशर्यात् पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चासुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद्गौतमो गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणोऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वꣳसनान्मृत्युः प्राध्वꣳसनः प्रध्वꣳसनात्प्रध्वꣳसन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः॥ ३॥

अब इस (मधुकाण्ड) की वंशावली का वर्णन किया जाता है। पौतिमाष्य ने गौपवन से विद्या पायी। गौपवन ने पौतिमाष्य से और पौतिमाष्य ने गौपवन से विद्या पायी। गौपवन ने कौशिक से, कौशिक ने कौण्डिन्य से विद्या अर्जित की। कौण्डिन्य ने शाण्डिल्य से और शाण्डिल्य ने कौशिक से और गौतम से विद्या प्राप्त की। गौतम ने आग्निवेश्य से, आग्निवेश्य ने शाण्डिल्य और आनभिम्लात से ज्ञान प्राप्त किया। आनभिम्लात ने आनभिम्लात से, आनभिम्लात ने आनभिम्लात से विद्या प्राप्त की । आनभिम्लात ने गौतम के माध्यम से, गौतम ने सैतव और प्राचीनयोग्य से ज्ञानार्जन किया। सैतव और प्राचीनयोग्य ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने भारद्वाज से विद्या पायी। भारद्वाज ने भारद्वाज और गौतम ऋषि से, गौतम ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने बैजवापायन से और बैजवापायन ने कौशिकायनि से विद्यार्जन किया। कौशिकायनि ने घृतकौशिक से , घृतकौशिक ने पाराशर्यायण से ज्ञानार्जन किया। पाराशर्यायण ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने जातूकर्ण्य से, जातूकर्ण्य ने आसुरायण और यास्कमुनि से, आसुरायण ने त्रैवणि से, त्रैवणि ने औपजन्धनि से ज्ञानार्जन किया। औपजन्धनि ने आसुरि से, आसुरि ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने आत्रेय से, आत्रेय ने माण्टि से विद्या प्राप्त की । माण्टि ने गौतम से, गौतम ने वात्स्य से, वात्स्य ने शाण्डिल्य से , शाण्डिल्य ने कैशोर्य काप्य से ज्ञान लाभ प्राप्त किया। कैशोर्य काप्य ने कुमार हारित से, कुमार हारित ने गालव से, गालव ने विदर्भी कौण्डिन्य से, विदर्भी कौण्डिन्य ने वत्सनपात् बाभ्रव से, वत्सनपात् बाभ्रव ने पन्थासौभर से, पन्थासौभर ने अयास्य आङ्गिरस से, अयास्य आङ्गिरस ने आभूति त्वाष्ट्र से विद्यार्जन किया। आभूति त्वाष्ट्र ने विश्वरूप त्वाष्ट्र से, विश्वरूप त्वाष्ट्र ने अश्विनीकुमारों के द्वारा, अश्विनीकुमारों ने दध्यङ् आथर्वण से, दध्यङ् आथर्वण ने अथर्वादैव से, अथर्वादैव ने मृत्यु प्राध्वंसन से ज्ञान प्राप्त किया। मृत्यु प्राध्वंसन ने प्रध्वंसन से एवं प्रध्वंसन ने एकर्षि से, एकर्षि ने विप्रचित्ति के द्वारा ज्ञान पाया। विप्रचित्ति ने व्यष्टि से, व्यष्टि ने सनारु से, सनारु ने सनातन से, सनातन ने सनग के माध्यम से, सनग ने परमेष्ठी के द्वारा और परमेष्ठी ने इस दिव्य ज्ञान को ब्रह्मा के द्वारा प्राप्त किया। ब्रह्मा स्वयंभू हैं। उन ब्रह्मा को नमन है॥ १-३॥

[इस ब्राह्मण में ज्ञान-प्राप्त करने वाले ऋषियों की परम्परा का उल्लेख है। किसी-किसी ऋषि का परस्पर एक दूसरे से ज्ञान प्राप्त करने का तथा किसी-किसी को एकाधिक बार परस्पर ज्ञान प्राप्त करने का उल्लेख है। लगता है कि सर्वोच्च शक्तिमान् की जैसी अनुभूति जिसे हुई, उन्होंने एक दूसरे को उससे लाभान्वित किया और यह एकाधिक बार भी हुआ होगा।]

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कःस्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति स ह गवाꣳ सहस्त्रमवरुरोध दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः ॥ १ ॥

विदेहराज जनक ने एक महान् (बड़ी) दक्षिणा वाले यज्ञ (अश्वमेध) के द्वारा यजन किया। उस यज्ञ में पाञ्चाल और कुरु प्रदेशों के बहुत से विद्वान् ब्राह्मण एकत्र हुए। तब राजा को यह ज्ञात करने की इच्छा हुई कि इन विद्वानों में सर्वोत्कृष्ट कौन है? इस निमित्त उनने अपनी गोशाला की एक सहस्त्र गौओं के सींगों में दस-दस पाद (लगभग १०० ग्राम) स्वर्ण बँधवा दिया॥ १ ॥

तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उदजतामिति ते ह ब्राह्मणा न दधृषुरथ ह याज्ञवल्क्यः स्वमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सोम्योदज सामश्रवा ३ इति ता होदाचकार ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः कथं नो ब्रह्मिष्ठो ब्रुवीतेत्यथ ह जनकस्य वैदेहस्य होताश्वलो बभूव स हैनं पप्रच्छ त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसीꣳइति स होवाच नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयꣳ स्म इति तꣳ ह तत एव प्रष्टुं दध्रे होताश्वलः ॥ २ ॥

राजा जनक ने उन ब्राह्मणों से कहा- हे पूज्य विद्वानो! आप लोगों में जो सर्वाधिक ब्रह्मनिष्ठ हो, वह इन गौओं को ले जाए। उन ब्राह्मणों में से किसी का भी अपने को श्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ कहने का साहस न हुआ। तब महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपने एक शिष्य ब्रह्मचारी सामश्रवा से कहा- हे सोम्य सामश्रवा! तुम इन गौओं को (हमारे निमित्त) हाँक ले जाओ। उस ब्रह्मचारी द्वारा गौओं को हाँक ले जाने पर अन्य विद्वान् ब्राह्मण बहुत क्रोधित हुए और बोले कि इसने हममें से अपने को सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ कैसे समझ लिया? इसके पश्चात् राजा के यज्ञ के होता अश्वल ने ऋषि याज्ञवल्क्य से पूछा-हे ऋषे! क्या आप हम सभी में उत्कृष्ट ब्रह्मज्ञानी हैं? ऋषि याज्ञवल्क्य बोले-ब्रह्मज्ञानियों को तो मेरा नमन है। हमें तो केवल गौओं की आकांक्षा है। तब अश्वल ने दृढ़ निश्चय करके ऋषि से प्रश्न किया॥ २ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं मृत्युनाप्तꣳ सर्वं मृत्युनाभिपन्नं केन यजमानो मृत्योरासिमतिमुच्यत इति होत्रर्त्विजाग्निना वाचा वाग्वै यज्ञस्य होता तद्येयं वाक् सोऽयमग्निः स होता स मुक्तिः सातिमुक्तिः ॥ ३ ॥

हे याज्ञवल्क्य! यह समस्त विश्व जब मृत्यु से संव्याप्त और मृत्यु के द्वारा अधीन किया हुआ है, तब केवल यजमान ही किस तरह मृत्यु के बन्धन का अतिक्रमण कर सकता है? ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा कि होता नामक ऋत्विक् वाक् और अग्नि है, वह (होता-वाक् शक्ति और अग्नि के द्वारा) मृत्यु को पार कर सकता है। वही मुक्ति और अतिमुक्ति है॥ ३ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वमहोरात्राभ्यामाप्तꣳ सर्वमहोरात्राभ्यामभिपन्नं केन यजमानोऽहोरात्रयोरातिमतिमुच्यत इत्यध्वर्युणर्त्विजा चक्षुषादित्येन चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युस्तद्यदिदं चक्षुः सोऽसावादित्यः सोऽध्वर्युः स मुक्तिः सातिमुक्तिः॥ ४॥

अश्वल ने कहा- हे याज्ञवल्क्य! सब कुछ दिन और रात्रि से संव्याप्त है और सभी कुछ दिन और रात्रि द्वारा अपने वश में किया हुआ है, फिर यजमान किस प्रकार दिन और रात्रि के बन्धन से मुक्त हो सकता है? ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा कि ऋत्विक् नेत्र और सूर्य के माध्यम से (यजमान दिन और रात्रि के बन्धन से) मुक्त हो सकता है। अध्वर्यु ही यज्ञ का चक्षु है, अस्तु, नेत्र ही आदित्य और वही अध्वर्यु है। मुक्ति और अतिमुक्ति भी वही है॥ ४॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामाप्तꣳ सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामभिपन्नं केन यजमानः पूर्वपक्षापरपक्षयोरातिमतिमुच्यत इत्युद्गात्रर्त्विजा वायुना प्राणेन प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता तद्योऽयं प्राणः स वायुः स उद्गाता स मुक्तिः सातिमुक्तिः॥ ५॥

अश्वल ने प्रश्न किया- हे याज्ञवल्क्य! सब कुछ पूर्वपक्ष (कृष्णपक्ष) और अपर पक्ष (शुक्लपक्ष) के द्वारा आवृत है और उन्हीं के द्वारा ग्रसित है, फिर यजमान किस प्रकार कृष्णपक्ष और शुक्लपक्ष से मुक्त हो सकता है? तब ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- ऋत्विज्, उद्गाता, वायु और प्राण के माध्यम से मुक्त हो सकता है। उद्गाता को यज्ञ का प्राण कहा गया है तथा यह प्राण ही वायु और उद्गाता है। यही मुक्ति और अतिमुक्ति स्वरूप है॥ ५॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदमन्तरिक्षमनारम्बणमिव केनाक्रमेण यजमानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेण मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा स मुक्तिः सातिमुक्तिरित्यतिमोक्षा अथ संपदः॥ ६॥

अश्वल ने कहा- हे याज्ञवल्क्य! यह अन्तरिक्ष निरालम्ब प्रतीत होता है, फिर यजमान किस संसाधन से स्वर्गारोहण करता है? याज्ञवल्क्य बोले कि ऋत्विज्-ब्रह्मा और चन्द्रमा के माध्यम से स्वर्गारोहण करता है। मन ही चन्द्रमा है। मन ही यज्ञ का ब्रह्मा है। मुक्ति और अतिमुक्ति भी वही है। यजमान इसी के द्वारा अतिमुक्ति प्राप्त करता है। अब सम्पद निरूपण किया जाता है॥ ६॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्यर्ग्भिर्होतास्मिन्यज्ञे करिष्यतीति तिसृभिरिति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोऽनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया किं ताभिर्जयतीति यत्किंचेदं प्राणभृदिति॥ ७॥

अश्वल ने पूछा- हे याज्ञवल्क्य! आज होता यज्ञ में कितनी ऋचाओं का शस्त्रशंसन (प्रयोग) करेगा? याज्ञवल्क्य ने कहा- तीन ऋचाओं के द्वारा। अश्वल ने पूछा- उन तीन ऋचाओं के क्या नाम हैं? ऋषि ने कहा- प्रथम- पुरोनुवाक्या (यजन से पहले वाली) है, द्वितीय- याज्या (यज्ञ के समय उच्चारित) है और तृतीय - शस्या (यज्ञ के बाद की स्तुतियाँ) है। प्रश्नः- इनसे किसे जीता जाता है? उत्तरः- यह जो भी प्राणि-समुदाय है, वह सब (जीता जाता है)॥ ७॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन्यज्ञ आहुतीर्होष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति या हुता उज्ज्वलन्ति या हुता अतिनेदन्ते या हुता अधिशेरते किं ताभिर्जयतीति या हुता उज्ज्वलन्ति देवलोकमेव ताभिर्जयति दीप्यत इव हि देवलोको या हुता अतिनेदन्ते पितृलोकमेव ताभिर्जयत्यतीव हि पितृलोको या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयत्यध इव हि मनुष्यलोकः ॥ ८ ॥

अश्वल ने प्रश्न किया-हे याज्ञवल्क्य! इस यज्ञ में आज अध्वर्यु कितनी आहुतियाँ प्रदान करेगा? उन्होंने कहा- 'तीन'। फिर उसने पूछा कि तीन कौन-कौन सी? तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि पहली वह जो होमे जाने पर प्रज्वलित होती है, दूसरी वह जो तीव्र शब्द करती है और तीसरी आहुति वह, जो होमे जाने पर पृथ्वी में विलीन हो जाती है। अश्वल ने पुनः प्रश्न किया कि इन आहुतियों के द्वारा यजमान किस प्रकार विजय प्राप्त करता है? ऋषि ने बताया-प्रथम आहुति से यजमान देवलोक को जीत लेता है,द्वितीय के द्वारा पितृलोक को और तृतीय के द्वारा मनुष्य लोक को जीत लेता है,क्योंकि मनुष्य लोक निम्नवर्ती है॥ ८ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो देवताभिर्गोपायतीत्येकयेति कतमा सैकेति मन एवेत्यनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥ ९ ॥

अश्वल ने पूछा- यज्ञ के ब्रह्मा आज इस यज्ञ में दक्षिण दिशा की ओर से कितने देवताओं के द्वारा यज्ञ का संरक्षण करेंगे? ऋषि ने उत्तर दिया केवल एक देवता के द्वारा। अश्वल ने कहा- किस देवता के द्वारा? ऋषि ने कहा- वह देवता मन है। मन अनन्त है और विश्वेदेवा भी अनन्त हैं। उस मन रूपी देवता के द्वारा यजमान अनन्त लोकों पर विजय प्राप्त कर लेता है॥ ९ ॥

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्योद्गातास्मिन्यज्ञे स्तोत्रियाः स्तोष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया कतमास्ता या अध्यात्ममिति प्राण एव पुरोनुवाक्याऽपानो याज्या व्यानः शस्या किं ताभिर्जयतीति पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया जयत्यन्तरिक्षलोकं याज्यया द्युलोकꣳ शस्यया ततो ह होताश्वल उपरराम॥

अश्वल ने पूछा-हे याज्ञवल्क्य! आज उद्गाता इस यज्ञ में कितने स्तोत्रों का गायन करेगा? याज्ञवल्क्य ने कहा-तीन स्तोत्रों का। तब अश्वल ने पूछा- वे तीन स्तोत्र कौन से हैं? ऋषि ने कहा-पुरोनुवाक्या, याज्या और शस्या नामक वे तीन स्तोत्र हैं। अश्वल ने पूछा-इनमें शरीर में रहने वाले कौन से हैं? ऋषि ने कहा- प्राण ही पुरोनुवाक्या है, अपान ही याज्या है और व्यान ही शस्या है। अश्वल के यह पूछने पर कि इन स्तोत्रों द्वारा किस पर विजय प्राप्त की जा सकती है, ऋषि बोले-पुरोनुवाक्या से पृथिवी लोक पर, याज्या द्वारा अन्तरिक्ष लोक पर और शस्या द्वारा द्युलोक पर विजय प्राप्त की जा सकती है। यह सुन कर अश्वल चुप हो गये॥१०॥

॥ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इत्यष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति ये ते तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः कतमे त इति ॥ १ ॥

इसके बाद जारत्कारव आर्तभाग (जरत्कारु के पुत्र आर्तभाग) ने ऋषि याज्ञवल्क्य से पूछा - हे याज्ञवल्क्य! ग्रह और अतिग्रहों की संख्या कितनी है? ऋषि ने उत्तर दिया कि ये आठ-आठ हैं। इस पर आर्तभाग ने पूछा- वे आठ ग्रह-आठ अतिग्रह कौन-कौन हैं॥ १॥

प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनातिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रति॥ २॥

ऋषि याज्ञवल्क्य बोले - प्राण ही ग्रह है, वह प्राण रूपी ग्रह अपान रूपी अतिग्रह के द्वारा गृहीत है, क्योंकि प्राणग्रह अपान अतिग्रह द्वारा ही सूँघने का कार्य सम्पन्न कर सकता है॥ २॥

वाग्वै ग्रहः स नाम्नातिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति ॥ ३॥

वाक् शक्ति ही ग्रह है, वह नाम रूपी अतिग्रह द्वारा ग्रहण की हुई है, क्योंकि वाक् के द्वारा ही उच्चारण सम्पन्न होता है॥ ३॥

जिह्वा वै ग्रहः स रसेनातिग्राहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान्विजानाति॥ ४॥

रसना ही ग्रह है, वह रसरूपी अतिग्रह द्वारा ग्रहण की हुई है, क्योंकि रसना के द्वारा ही स्वादानुभूति होती है॥

चक्षुर्वै ग्रहः स रूपेणातिग्राहेण गृहीतश्चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति॥ ५॥

नेत्रेन्द्रिय ही ग्रह है, वह रूप के अतिग्रह द्वारा ग्रहण किया गया है; क्योंकि नेत्रेन्द्रिय द्वारा ही रूप का दर्शन किया जा सकता है॥ ५॥

श्रोत्रं वै ग्रहः स शब्देनातिग्राहेण गृहीतः श्रोत्रेण हि शब्दाञ्छृणोति॥ ६॥

श्रोत्रेन्द्रिय ही ग्रह है, वह शब्द रूपी अतिग्रह द्वारा ग्रहण किया हुआ है; क्योंकि जीवात्मा श्रोत्र द्वारा ही शब्द का श्रवण करता है॥ ६॥

मनो वै ग्रहः स कामेनातिग्राहेण गृहीतो मनसा हि कामान्कामयते॥ ७॥

मन ही ग्रह है,वह कामनारूपी अतिग्रह द्वारा ग्रहण किया हुआ है; क्योंकि मन से ही कामनाएँ की जाती हैं॥

हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणातिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्याꣳ हि कर्म करोति॥ ८॥

हाथ ही ग्रह हैं, वे कर्मरूपी अतिग्रह से ग्रस्त हैं; क्योंकि व्यक्ति हाथों द्वारा ही कार्य सम्पादित करता है॥ ८॥

त्वग्वै ग्रहः स स्पर्शेनातिग्राहेण गृहीतस्त्वचा हि स्पर्शान्वेदयत इत्येतेऽष्टौ ग्रहाअष्टावतिग्रहाः॥ ९॥

त्वचा ही ग्रह है, वह स्पर्श रूपी अतिग्रह से गृहीत है; क्योंकि त्वचा द्वारा ही स्पर्श की अनुभूति की जाती है। इस प्रकार ग्रह और अतिग्रह ये आठ-आठ हैं॥ ९॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं मृत्योरन्नं का स्वित्सा देवता यस्या मृत्युरन्नमित्यग्निर्वै मृत्युः सोऽपामन्नमप पुनर्मृत्युं जयति॥ १०॥

आर्तभाग जारत्कारव ने कहा- हे याज्ञवल्क्य! इस सृष्टि में जो कुछ है, सब मृत्यु का ही खाद्य पदार्थ है, अतः वह कौन सा देवता है, जिसका भोजन मृत्यु है? ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- अग्नि ही मृत्यु है और वह अप् (कारण रूप प्रकृति अथवा जल) का भोजन है। इस तथ्य को जानने वाला मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है॥ १०॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो ३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते ॥ ११॥

आर्तभाग ने पुनः प्रश्न किया- हे याज्ञवल्क्य! मरने के समय इस पुरुष के प्राण उत्क्रमण (बहिर्गमन) करते हैं या नहीं? ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- नहीं ऐसा नहीं है। उस पुरुष के प्राण मृत्यु के पश्चात् यहीं विलीन हो जाते हैं। वह फूल जाता है (वायु को अन्दर खींचता है) और मृत होकर वहीं शयन करता है॥

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति नामेत्यनन्तं वै नामानन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति॥ १२॥

आर्तभाग ने फिर पूछा- हे याज्ञवल्क्य! मृत्यु के उपरान्त पुरुष का कौन परित्याग नहीं करता? ऋषि ने उत्तर दिया- मृत्यु के पश्चात् 'नाम' पुरुष का परित्याग नहीं करता। नाम अनन्त है और विश्वेदेवा भी अनन्त हैं, अतः पुरुष अनन्तलोक पर विजय प्राप्त कर लेता है॥ १२॥

यज्ञवल्क्येति होवाच यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीꣳ शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते क्वायं तदा पुरुषो भवतीत्याहर सोम्य हस्तमार्तभागावामेवैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत् सजन इति तौ होत्क्रम्य मन्त्रयांचक्राते तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ यत्प्रशशꣳ सतुः कर्म हैव तत्प्रशशꣳसतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ॥ १३॥

जारत्कारव आर्तभाग ने पुनः पूछा- हे याज्ञवल्क्य! जिस समय इस पुरुष की वाक् अग्नि में विलीन हो जाती है, प्राण वायु में, चक्षु आदित्य में, मन चन्द्रमा में, श्रोत्र दिशाओं में, शरीर पृथ्वी में, आत्मा आकाश में, लोम समूह ओषधियों में, केश वनस्पतियों में लीन हो जाते हैं और रक्त तथा रेतस् का जल में स्थापन हो जाता है, उस समय वह पुरुष कहाँ निवास करता है? याज्ञवल्क्य बोले- हे सोम्य आर्तभाग! तुम मुझे अपना हाथ पकड़ाओ, हम दोनों को ही इस प्रश्न का उत्तर समझना होगा; किन्तु इस जनसभा के बीच यह उचित नहीं है। (हम दोनों बाहर चलें) दोनों ने उठकर बाहर (एकान्त में) जाकर चिन्तन किया और लौटकर दोनों कर्म के विषय में प्रशंसा करने लगे। निश्चित ही पुण्य कृत्यों से पुण्य और पाप कृत्यों से पाप प्राप्त होता है। इसके अनन्तर जारत्कारव आर्तभाग मौन हो गये ॥ १३॥

[यहाँ स्पष्ट हो जाता है कि ऋषियों के वार्तालाप जिज्ञासा समाधान के लिए, सत्य शोध के लिए ही होते थे। जो तथ्य सुनिश्चित रूप से पता था, वे वही कहते थे, जिन तथ्यों को परामर्श द्वारा स्पष्ट किया जाना है, उनके बारे में स्पष्ट रूप से सुपात्र के साथ विचार मंथन किया जाता था।]

॥ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम ते पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहानैम तस्यासीदुहिता गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत्सुधन्वाऽऽङ्गिरस इति तं यदा लोकानामन्तानपृच्छामाथैनमब्रूम क्व पारिक्षिता अभवन्निति क्व पारिक्षिता अभवन् स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभवन्निति॥ १॥

इसके बाद भुज्यु लाह्यायनि (लाह्य के पुत्र) ने ऋषि याज्ञवल्क्य से पूछा- हे याज्ञवल्क्य! हम लोग मद्र प्रदेश में व्रताचरण (भ्रमण) करते हुए विद्यार्थी के रूप में कपि गोत्र में उत्पन्न पतञ्चल काप्य के घर गये। काप्य की पुत्री गन्धर्व (से आवेशित) गृहीत थी। हमारे उससे यह पूछने पर कि तुम कौन हो? वह (गन्धर्व जो काप्यसुता पर आवेशित था) बोला- मैं आङ्गिरस सुधन्वा हूँ। तदुपरान्त लोकों के अन्त के सम्बन्ध में प्रश्न करते हुए हमने उससे यह भी पूछा कि पारिक्षित कहाँ रहे? पारिक्षित कहाँ रहे? अतः हे याज्ञवल्क्य! हम आप से भी पूछते हैं कि पारिक्षित कहाँ रहे?॥ १॥

स होवाचोवाच वै सोगच्छन्वै ते तद्यत्राश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति द्वात्रिꣳशतं वै देवरथाह्यान्ययं लोकस्तꣳ समन्तं पृथिवी द्विस्तावत्पर्येति ताꣳ समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति तद्यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाकाशस्तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्तान्वायुरात्मनि धित्वा तत्रागमयद्यत्राश्वमेधयाजिनोऽभवन्नित्येवमेव वै स वायुमेव प्रशशꣳस तस्माद्वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद ततो ह भुज्युर्लाह्यायनिरुपरराम ॥ २॥

ऋषि याज्ञवल्क्य बोले- उस गन्धर्व ने अवश्य ही यह उत्तर दिया होगा कि पारिक्षित वहीं चले गये, जहाँ अश्वमेध सम्पन्न करने वाले जाते हैं। भुज्यु ने पूछा- अश्वमेध सम्पादक कहाँ जाते हैं? ऋषि बोले- एक दिन और रात्रि में आदित्य का रथ जितने स्थान में चलता है, उतने को 'आह्नय' कहते हैं। ऐसे बत्तीस आह्नय परिमाण वाला वह लोक है। उस लोक को चारों ओर से पृथिवी और उस पृथिवी से दुगुना समुद्र उसे घेरे हुए है। उन अण्ड कपालों के बीच में छुरे की धार अथवा मक्खी के पंख जितना चौड़ा आकाश (अथवा प्रवेश मार्ग) है। इन्द्र ने उन्हें (पारिक्षित को) वायु को प्रदान किया और वायुदेव उन्हें अपने में स्थापित करके वहाँ ले गये, जहाँ अश्वमेध सम्पन्न करने वाले रहते हैं। इस प्रकार उस गन्धर्व ने वायुदेव की सराहना की। अस्तु, वायु ही व्यष्टि और समष्टि है। इस प्रकार ज्ञान रखने वाला पुनर्मृत्यु को जीत लेता है। यह सुनकर भुज्यु लाह्यायनि भी चुप हो गये॥ २॥

॥ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व इत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानीति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानिति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः ॥ १ ॥

इसके पश्चात् चक्रपुत्र उषस्त ने ऋषि याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया- हे याज्ञवल्क्य! जो प्रत्यक्ष और साक्षात् ब्रह्म है तथा सबके अन्तर में स्थित आत्मा है, उसका मेरे लिए वर्णन कीजिए। ऋषि याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- तुम्हारी आत्मा ही सबके अन्तर में विराजमान है। जब उषस्त ने कहा- हे याज्ञवल्क्य! सर्वान्तर कौन है? तब ऋषि ने कहा- जो प्राण के द्वारा प्राणन प्रक्रिया करता है (श्वास लेता है), वही तुम्हारा

आत्मा सर्वान्तर है, जो अपान के द्वारा अपानन क्रिया करता है, वही तुम्हारा आत्मा सर्वान्तर है, जो व्यान से व्यानन क्रिया करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही सर्वान्तर है, जो उदान से उदानन क्रिया सम्पन्न करता है,वही तुम्हारी आत्मा सर्वान्तर होकर विराजित है॥ १॥

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा विब्रूयादसौ गौरसावश्व इत्येवमेवैतद्व्यपदिष्टं भवति यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारꣳ शृणुयान्न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीया एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम॥ २॥

चाक्रायण उषस्त ने कहा- जिस प्रकार कोई यह कहता है कि यह गौ है, यह अश्व है, आपका यह कथन उसी प्रकार का है। अतः आप हमें साक्षात्, प्रत्यक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा के विषय में स्पष्ट रूप से बतलाएँ। याज्ञवल्क्य ने कहा- तुम्हारी आत्मा ही सर्वान्तर में प्रतिष्ठित है। दृष्टि के द्रष्टा को देख सकना, श्रुति के श्रोता को सुन सकना, मति के मन्ता को मनन करना और विज्ञाति के विज्ञाता को जान सकना तुम्हारे लिए असम्भव है। तुम्हारा यह आत्मा ही सर्वान्तर है, इसके अतिरिक्त सब नाशवान् (और दुःख का कारण) है। यह सुनने के पश्चात् उषस्त मौन हो गए॥ २॥

॥ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादरपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति। एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतस्तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याऽथ ब्राह्मणः स ब्राह्मणः केन स्याद्येन स्यात्तेनेदृश एवातोऽन्यदार्तं ततो ह कहोलः कौषीतकेय उपरराम ॥ १॥

तत्पश्चात् कौषीतकेय कहोल ने ऋषि याज्ञवल्क्य से पूछा- हे याज्ञवल्क्य! आप साक्षात्, अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा का हमारे प्रति वर्णन कीजिए। तब याज्ञवल्क्य ने कहा- तुम्हारा आत्मा ही सर्वान्तर में प्रतिष्ठित है। पुनः कहोल ने पूछा कि यह सर्वान्तर आत्मा कौन सा है? तब याज्ञवल्क्य ने कहा- वह भूख, प्यास, जरा, मृत्यु, शोक और मोह से परे है। इस आत्म तत्त्व को जानकर ही ब्रह्मवेत्ता पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा का परित्याग कर भिक्षाटन करते हुए विचरण करते हैं। पुत्रैषणा ही वित्तैषणा है और वित्तैषणा ही लोकैषणा है। अतः ब्रह्मज्ञानी को चाहिए कि इन दोनों (काम्य और कामनाओं) को जानता हुआ आत्मबल सम्पन्न होकर मनन करे। अमौन (बोलने की शक्ति) और मौन साधना युक्त होकर ब्राह्मण (धन्य) होता है। ब्राह्मण होने के यही साधन हैं। इसके अतिरिक्त जो भी हैं, वह नाशवान् और दुःख केहेतु हैं। यह सुनने के बाद कौषीतकेय कहोल मौन हो गए॥ १॥

॥ षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति नक्षत्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु नक्षत्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति देवलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चेतीन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्विन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति स होवाच गार्गि मातिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि गार्गि मातिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम ॥ १ ॥

इसके पश्चात् वचक्नुसुता गार्गी ने याज्ञवल्क्य से पूछा- हे याज्ञवल्क्य ! जब सभी कुछ जल में ओत-प्रोत है, तब जल किसमें ओत-प्रोत है ? ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- हे गार्गी ! जल, वायु में ओत-प्रोत है। गार्गी ने पुनः प्रश्न किया, फिर वायु किसमें ओत-प्रोत है ? ऋषि ने कहा- वायु, अन्तरिक्ष लोकों में ओत-प्रोत है। पुनः पूछा गया- और अन्तरिक्ष किसमें ओत-प्रोत है ? तब उत्तर दिया गया कि अन्तरिक्ष गन्धर्व लोकों में ओत-प्रोत है। गार्गी के पुनः यह पूछे जाने पर कि गन्ध[illegible] किसमें ओत-प्रोत हैं ? ऋषि ने उत्तर दिया- आदित्य लोकों में । गार्गी ने पूछा- आदित्य लोक किसमें ओत-प्रोत है ? याज्ञवल्क्य ने कहा- चन्द्रलोकों में, फिर चन्द्रलोक किसमें ओत-प्रोत है ? उत्तर मिला- नक्षत्र लोकों में। नक्षत्र लोक किसमें ओत-प्रोत है ? देव लोकों में। देवलोक किसमें है ? इन्द्र लोकों में । पुनः गार्गी ने पूछा- इन्द्र लोक किसमें ओत-प्रोत है ? ऋषि ने कहा- प्रजापति लोकों में। प्रजापति लोक किसमें ओत-प्रोत है ? ब्रह्म लोकों में । गार्गी ने पुनः पूछा- हे याज्ञवल्क्य ! फिर ब्रह्म लोक किसमें ओत-प्रोत है ? इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा-हे गार्गी ! आप अधिक न पूछें। अधिक पूछने से कहीं ऐसा न हो कि आपका मस्तक गिर जाए। आप ऐसे देवता के विषय में अति प्रश्न कर रही हैं, जिसके विषय में अति प्रश्न करना वर्जित है। तब वाचक्नवी गार्गी चुप हो गईं ॥ १ ॥

[जो वाणी से व्यक्त नहीं हो सकता, उस विषय को केवल तर्क से सिद्ध करने का प्रयास करना अति प्रश्न है। जो विद्वान् जानबूझकर अपनी मेधा का उपयोग अहंकारवश ऐसे अनर्गल प्रसंगों में करता है, परा प्रकृति उसे दण्डित कर सकती है। अस्तु, ऋषि ने गार्गी को सावधान कर दिया और वह चुप हो गयी]

॥ सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेष्ववसाम पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानास्तस्यासीद्भार्या गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत् कबन्ध आथर्वण इति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तत्सूत्रं

येनायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्तीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तद्भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकꣳ सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयतीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तं भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च यो वै तत्काप्यसूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति स ब्रह्मवित्स लोकवित्स देववित्स वेदवित्स भूतवित्स आत्मवित्स सर्वविदिति तेभ्योऽब्रवीत्तदहं वेद तच्चेत्त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वाꣳस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे मूर्धा ते विपतिष्यतीति वेद वा अहं गौतम तत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति यो वा इदं कश्चिद्ब्रूयाद्वेद वेदेति यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति॥ १॥

इसके पश्चात् आरुणि-उद्दालक ने महर्षि याज्ञवल्क्य से पूछा- हे याज्ञवल्क्य! हम मद्र देश में काप्य पतञ्चल के यहाँ यज्ञ शास्त्र का अध्ययन कर रहे थे। उनकी पत्नी एक गन्धर्व के द्वारा आवेशित थी। हमने उस (पत्नी पर आवेशित गन्धर्व) से पूछा- तुम कौन हो? उसने उत्तर दिया कि मैं अथर्वापुत्र कबन्ध हूँ। तब उसने काप्य पतञ्चल और यज्ञ शास्त्र अध्येताओं से प्रश्न किया कि क्या आप उस सूत्र को जानते हैं, जिससे ये लोक, परलोक और समस्त प्राणी गुँथे हुए हैं। काप्य पतञ्चल ने कहा- मुझे वह सूत्र ज्ञात नहीं है। पुनः उसके यह पूछे जाने पर कि क्या आप उस सूत्र और अन्तर्यामी को जानते हैं, जो इस लोक, परलोक और सभी प्राणियों का नियन्ता है? काप्य पतञ्चल ने कहा कि मुझे यह भी विदित नहीं है। उस आवेशित गन्धर्व ने पुनः कहा कि जो उस सूत्र और अन्तर्यामी का ज्ञाता है, वह ब्रह्म, लोक, वेद, देवभूतों, आत्मा और सभी का ज्ञाता हो जाता है। इसके पश्चात् गन्धर्व ने उन (काप्य आदि) से सूत्र और अन्तर्यामी को बताया। उसे मैं जानता हूँ। हे याज्ञवल्क्य! यदि तुम्हें उस सूत्र और अन्तर्यामी का ज्ञान नहीं है और तुम इन ब्रह्मवेत्ताओं की गौओं को ले जाते हो, तो तुम्हारा मस्तक गिर (झुक) जायेगा। ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- हे गौतम! मैं उस अन्तर्यामी को निश्चित रूप से जानता हूँ। आरुणि बोले- यह बात तो कोई भी कह सकता है कि मैं उस सूत्र और अन्तर्यामी को जानता हूँ। आप जिस प्रकार जानते हैं,उसका वर्णन करें॥ १॥

स होवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि संदृब्धानि भवन्ति तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्त्रꣳ सिषतास्याङ्गानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण संदृब्धानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञ-वल्क्यान्तर्यामिणं ब्रूहीति॥ २॥

याज्ञवल्क्य ने कहा-हे गौतम! वह सूत्र वायु ही है, क्योंकि इहलोक, परलोक और समस्त प्राणी उसी के द्वारा गुँथे हुए हैं। इसीलिए प्रायः यह कहते हैं कि मृतक के अंग गिर गये (विशीर्ण हो गये); क्योंकि हे गौतम! वे (अंग) वायुरूप सूत्र से ही संग्रथित होते हैं। उद्दालक ने कहा- हाँ यह तो ठीक है, अब अन्तर्यामी के विषय में वर्णन करो ॥ २॥

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ ३॥

याज्ञवल्क्य ने कहा- जो पृथिवी में स्थित एवं पृथिवी में संव्याप्त है, पृथिवी ही जिसका शरीर है, पर उसे पृथिवी नहीं जानती, जो पृथिवी के अन्दर विराजमान रहकर उसका नियन्त्रण करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अविनाशी और अन्तर्यामी है॥ ३॥

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ४ ॥

जो जल में निवास करने वाला और उसी में संव्याप्त है, जल जिसका शरीर है, जल के भीतर रहकर वह उसका नियमन भी करता है; किन्तु जल उसे नहीं जानता, वही आत्मा अमर्त्य-अन्तर्यामी है ॥ ४ ॥

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ५ ॥

जो अग्नि में निवास करने वाला, अग्नि में संव्याप्त है और अग्नि ही जिसका शरीर है; किन्तु अग्नि उसे नहीं जानता, जो अग्नि के अन्दर रहकर उसका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अविनाशी है ॥ ५ ॥

योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद यस्यान्तरिक्षꣳ शरीरं योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ६ ॥

जो अन्तरिक्ष में निवास करने वाला और उसी में संव्याप्त है, अन्तरिक्ष ही जिसका शरीर है और अन्तरिक्ष जिसे जानता नहीं है, अन्तरिक्ष के अन्दर रहकर ही जो उसका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अविनाशी है ॥ ६ ॥

यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ७ ॥

जो वायु में निवासित, उसी में व्याप्त है, पर वायु द्वारा ही अज्ञात है, वायु ही जिसका देह है और जो वायु में रहकर ही उसका नियन्त्रण करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अविनाशी है ॥ ७ ॥

यो दिवि तिष्ठन्दिवोऽन्तरो यं द्यौर्न वेद यस्य द्यौः शरीरं यो दिवमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ८ ॥

जो द्युलोक में निवास करता है, उसी में संव्याप्त है; किन्तु द्युलोक जिसे नहीं जानता, द्युलोक ही जिसका शरीर है तथा जो उस द्युलोक में रहकर ही उसका नियामक है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अमर्त्य है ॥ ८ ॥

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ९ ॥

जो आदित्य में निवास करने वाला है, उसी में संव्याप्त है, आदित्य रूप शरीर वाला है; किन्तु आदित्य जिसे नहीं जानता, वह आदित्य के अन्दर रहकर ही उसका नियन्त्रण करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और मृत्यु से परे है ॥ ९ ॥

यो दिक्षु तिष्ठन्दिग्भ्योऽन्तरो यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरं यो दिशोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १० ॥

जो दिशाओं में रहने वाला है, दिशाओं के अन्दर प्रतिष्ठित है, दिशाएँ ही जिसकी देह हैं; किन्तु दिशाओं द्वारा वह अज्ञात है, दिशाओं के अन्दर रहकर ही जो दिशाओं का नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अमर है ॥ १० ॥

यश्चन्द्रतारके तिष्ठꣳश्चन्द्रतारकादन्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद यस्य चन्द्रतारकꣳ शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ ११ ॥

जो चन्द्र और तारों में स्थित है, उन्हीं में संव्याप्त है, चन्द्र और तारा रूपी देह वाला है; किन्तु चन्द्र और तारागण उसे नहीं जानते, वह उनके अन्दर रहकर ही उनका नियन्त्रण करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अमर्त्य है॥ ११ ॥

य आकाशे तिष्ठन्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १२ ॥

जो आकाशस्थ है, आकाश जिसका देह है, जो आकाश के भीतर रहकर ही उसका नियन्त्रण करता है; किन्तु आकाश उसे नहीं जानता, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अमर है॥ १२ ॥

यस्तमसि तिष्ठꣳस्तमसोऽन्तरो यं तमो न वेद यस्य तमः शरीरं यस्तमोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १३ ॥

जो तमस् (अन्धकार) में स्थित है, तमरूप देहवाला है; किन्तु तम जिसे नहीं जानता, जो तम में रहकर ही उसका नियन्त्रण करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अविनाशी है॥ १३ ॥

यस्तेजसि तिष्ठꣳस्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिदैवतमथाधिभूतम् ॥ १४॥

जो तेज में निवास करने वाला है, तेजरूप शरीर वाला है; किन्तु तेज जिसे नहीं जानता, जो तेज में रहकर ही उसका नियन्त्रण करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अमर्त्य है ॥ १४॥

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यꣳ सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ॥ १५॥

जो समस्त भूतों में निवास करता है, समस्त भूत जिसके शरीर हैं; किन्तु समस्त भूत जिसे नहीं जानते, समस्त भूतों के अन्तर में स्थित रहकर, जो सबका नियमन करता है, वही तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी और अनश्वर है, यह अधिभूत दर्शन सम्पन्न हुआ। अब अध्यात्म दर्शन का वर्णन किया जाता है॥ १५॥

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १६॥

जो प्राण के अन्दर स्थित है, प्राण ही जिसका शरीर है; किन्तु प्राण जिसे नहीं जानता, प्राण में रहकर ही वह उसका नियन्त्रण करता है, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अमृत है ॥ १६॥

यो वाचि तिष्ठन्वाचोऽन्तरो यं वाङ्न वेद यस्य वाक् शरीरं यो वाचमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥ १७॥

जो वाणी में निवास करता है, वाणी ही जिसकी काया है, जो वाणी में स्थित रहकर ही उसका नियमन करता है; किन्तु वाणी जिसे नहीं जानती, वह आत्मा ही अन्तर्यामी और अविनाशी है॥ १७॥

यश्चक्षुषि तिष्ठꣳश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ १८॥

जो नेत्रेन्द्रिय में विराजित है, नेत्र ही जिसका शरीर है, नेत्र में रहकर ही जो उसका नियमन करता है; किन्तु नेत्र उसे नहीं जानता, वह तुम्हारा अन्तरात्मा ही अन्तर्यामी और अमर्त्य है॥ १८॥

यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो यꣳ श्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्रꣳ शरीरं यः श्रोत्रमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ १९॥

जो श्रोत्रेन्द्रिय में विद्यमान है, श्रोत्र ही जिसका शरीर है, जो श्रोत्र के अन्दर रहकर ही उसका नियमन करता है; किन्तु श्रोत्र उसे नहीं जानता, वह तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अविनाशी है॥ १९॥

यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ २०॥

जो मन के अन्दर निवास करने वाला है, मन ही जिसका शरीर है, मन में रहकर ही जो मन का नियामक है; किन्तु मन उसे नहीं जानता। वह तुम्हारा आत्मा ही अविनाशी और अन्तर्यामी है॥ २०॥

यस्त्वचि तिष्ठꣳस्त्वचोऽन्तरो यं त्वङ्न वेद यस्य त्वक् शरीरं यस्त्वचमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ २१॥

जो त्वचा में विराजित है, त्वचा ही जिसका शरीर है, त्वचा में रहकर ही जो त्वचा का नियमन करता है और त्वचा जिससे अपरिचित है, वह तुम्हारा आत्मा ही अविनाशी और अन्तर्यामी है॥ २१॥

यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानꣳ शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥ २२॥

जो विज्ञान में निवास करने वाला है, विज्ञान ही जिसका शरीर है, जो विज्ञान में रहकर ही उसका नियन्त्रण करता है; किन्तु विज्ञान उससे अपरिचित है, वह अन्तरात्मा ही अविनाशी और अन्तर्यामी है॥२२॥

यो रेतसि तिष्ठन् रेतसोऽन्तरो यꣳ रेतो न वेद यस्य रेतः शरीरं यो रेतोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टाश्रुतः श्रोतामतो मन्ताविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम॥ २३॥

जो वीर्य में निवास करता है, वीर्य ही जिसका शरीर है, जो वीर्य में रहकर ही वीर्य का नियन्त्रण करता है; किन्तु वीर्य उससे अपरिचित है, वह तुम्हारा आत्मा ही अनश्वर और अविनाशी है। वह दिखाई नहीं देता; किन्तु देखता है, सुनाई नहीं देता; किन्तु सुनता है, वह मनन करने का विषय नहीं है; किन्तु मनन करता है, वह स्वयं अविज्ञात है, पर सबको जानता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई द्रष्टा, श्रोता, मनन करने वाला और जानने वाला नहीं है। तुम्हारा आत्मा ही अन्तर्यामी और अविनाशी है। इससे भिन्न सभी नश्वर हैं। इसके अनन्तर आरुणि उद्दालक मौन हो गये॥ २३॥

॥ अष्टमं ब्राह्मणम् ॥

अथ ह वाचक्नव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति पृच्छ गार्गीति॥ १ ॥

इसके पश्चात् वाचक्नवी गार्गी ने कहा-हे पूज्य ब्राह्मणो! अब मैं इन (याज्ञवल्क्य) से दो प्रश्न करूँगी। यदि ये इन दोनों के उचित उत्तर दे सकेंगे, तो यह सुनिश्चित हो जाएगा कि ये अजेय हैं (ब्रह्म सम्बन्धी चर्चा में इन्हें जीतना किसी के लिए सम्भव नहीं है), तब ब्राह्मणों ने कहा-ठीक है, गार्गी अब प्रश्न पूछो ॥ १ ॥

सा होवाचाहं वै त्वा याज्ञवल्क्य यथा काश्यो वा वैदेहो वोग्रपुत्र उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेदेवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थां तौ मे ब्रूहीति पृच्छ गार्गीति॥ २ ॥

गार्गी ने कहा- हे याज्ञवल्क्य! जैसे काशी अथवा विदेह में रहने वाला कोई वीर वंशी प्रत्यञ्चा हीन धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर शत्रु पीड़ादायक बाणों को हाथ में लेकर सन्नद्ध होता है, वैसे ही मैं आपके समक्ष दो प्रश्नों को लेकर उपस्थित हुई हूँ, आप मुझे उनका उत्तर प्रदान करें। याज्ञवल्क्य बोले- हे गार्गी! आप अवश्य प्रश्न करें॥ २ ॥

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिꣳस्तदोतं च प्रोतं चेति॥ ३ ॥

गार्गी ने पूछा- हे याज्ञवल्क्य! जो द्युलोक से ऊपर और पृथिवी लोक से नीचे है तथा द्यौ और पृथिवी के ठीक बीच में स्थित है, जो स्वत: द्यु और पृथिवी लोक है तथा जो स्वयं भूत, भविष्यत् और वर्तमान है, वह किसमें ओतप्रोत है?॥ ३ ॥

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाशे तदोतं च प्रोतं चेति॥ ४॥

याज्ञवल्क्य ने कहा- हे गार्गी! द्युलोक से ऊपर, पृथिवी से नीचे तथा द्यु और पृथिवी के मध्य भाग में जो स्थित है, स्वयं भी जो द्यु और पृथिवी है और जो भूत, भविष्यत् और वर्तमान कहलाता है, वह आकाश में ओत-प्रोत है॥ ४ ॥

सा होवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य यो म एतं व्यवोचोऽपरस्मै धारयस्वेति पृच्छ गार्गीति॥ ५ ॥

गार्गी ने कहा- हे याज्ञवल्क्य! आपको नमस्कार है, आपने मेरे (एक) प्रश्न का उत्तर दिया है। अब द्वितीय प्रश्न का उत्तर भी दीजिए। याज्ञवल्क्य ने कहा कि ठीक है, उसे भी पूछिये॥ ५ ॥

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिँस्तदोतं च प्रोतं चेति॥ ६ ॥

गार्गी ने कहा- जो द्युलोक के ऊपर, पृथिवी लोक के नीचे, द्यु और पृथिवी के मध्य तथा जो स्वयं भी द्यु और पृथिवी है, जिसे भूत, भविष्यत् और वर्तमान कहा जाता है, वह किसमें ओत-प्रोत है?॥ ६ ॥

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति॥ ७॥

ऋषि याज्ञवल्क्य बोले- हे गार्गी ! जो द्युलोक से ऊपर, पृथिवी लोक से नीचे, द्यु और पृथिवी के मध्य अवस्थित है, जो स्वयं ही द्यु और पृथिवी है, जिन्हें भूत, भविष्यत् और वर्तमान कहा जाता है, वह आकाश में ओत-प्रोत है। (पुनः प्रश्न) तो फिर आकाश किसमें ओत-प्रोत है ?॥ ७॥

स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनणु अह्रस्वमदीर्घम-लोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवायु अनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽते-जस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन ॥ ८॥

याज्ञवल्क्य बोले- हे गार्गी! उस तत्त्व को ब्रह्मवेत्ता 'अक्षर' ऐसा कहते हैं। वह न स्थूल है, न सूक्ष्म है, न छोटा है, न लम्बा है, न लाल है, न स्नेहिल (चिकना) है, न छाया है, न अन्धकार है, न वायु है और न ही आकाश ही है, जो सङ्ग और रस से भी हीन है। जिसके न नेत्र हैं, न कान हैं, न वाक् है, न मन है, न तेज है और प्राण, मुख, माप आदि भी नहीं है। वह न अन्दर है, न बाहर है, न वह कुछ भक्षण करता है और न उसे अन्य कोई भक्षण कर सकता है॥ ८॥

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशꣳसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः॥ ९॥

(याज्ञवल्क्य ने आगे कहा-) हे गार्गी! इस 'अक्षर' ब्रह्म के अनुशासन में सूर्य, चन्द्र, द्युलोक, पृथ्वी लोक, निमेष, मुहूर्त्त, दिवा-रात्रि, अर्धमास, मास, ऋतु, संवत्सर आदि स्थित हैं। इसी अक्षर के अनुशासन में विभिन्न नदियाँ पर्वतों से निकल कर पूर्व तथा पश्चिम आदि दिशाओं में प्रवाहित होती हैं। हे गार्गी! इस 'अक्षर' (ब्रह्म) के अनुशासन में ही मानव दाता की प्रशंसा करते हैं, देवगण यजमान के और पितृगण दर्वी होम के अनुवर्ती होते हैं॥ ९॥

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः॥ १०॥

ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- हे गार्गी ! जो इस 'अक्षर' ब्रह्म को न जानकर इस लोक में यज्ञ आदि पुण्य कृत्य सम्पन्न करते हैं और सहस्त्रों वर्ष तक तप करते हैं, उनके ये सभी कर्म नाशवान् होते हैं। इस 'अक्षर' (अविनाशी ब्रह्म) को बिना जाने ही इस लोक से जो प्रयाण कर जाते हैं, वे कृपण हैं; किन्तु जो इस 'अक्षर' को जानकर इस लोक से प्रयाण करते हैं, वे ब्राह्मण हैं॥ १०॥

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतꣳ श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति॥ ११॥

याज्ञवल्क्य ने कहा- हे गार्गी! यह 'अक्षर' स्वयं दृष्टि का विषय नहीं है; किन्तु सभी को देखने वाला है, स्वयं श्रवण का विषय नहीं है; किन्तु सबकी सुनता है, स्वयं मनन का विषय नहीं है; किन्तु सबका मन्ता है, स्वयं अविज्ञात है; किन्तु सबका ज्ञाता है। हे गार्गी! इस 'अक्षर' ब्रह्म में ही वह आकाश तत्त्व ओत-प्रोत है॥ ११॥

सा होवाच ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वं न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति ततो ह वाचक्नव्युपरराम॥ १२॥

इसके पश्चात् वाचक्नवी गार्गी बोली- हे पूजनीय ब्राह्मणो! इसी (वार्तालाप से प्राप्त हुए ज्ञान) को बहुत समझो। इन (याज्ञवल्क्य) से नमस्कार करके ही पीछा छूट जाये, तो बहुत है; क्योंकि आपमें से किसी भी ब्रह्मज्ञानी के लिए इन्हें जीत सकना सम्भव नहीं है। इसके बाद वाचक्नवी गार्गी मौन हो गईं॥ १२॥

[गार्गी ब्रह्मज्ञ विदुषी थी। उसके निर्णायक कथन को सभी ने स्वीकार किया, किन्तु आने वाले क्रम में शाकल्य विदग्ध अहंकारवश नहीं माने। अगले क्रम में उन्हें उस कुचेष्टा का दण्ड भोगना पड़ा।]

॥ नवमं ब्राह्मणम्॥

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवा याज्ञवल्क्येति स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिꣳशदित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षडित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्यध्यर्ध इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्येक इत्योमिति होवाच कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति॥ १॥

इसके उपरान्त शाकल्य विदग्ध ने ऋषि याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया- हे याज्ञवल्क्य! देवगण कितने हैं? यह सुनकर याज्ञवल्क्य ने वैश्वदेव मन्त्रों की निविद में वर्णित देवताओं की संख्या प्रतिपादित की- तीन और तीन सौ, तीन और तीन सहस्र, इसका अभिप्राय हुआ तीन हजार तीन सौ छः। शाकल्य ने कहा- ठीक है। पुनः शाकल्य ने प्रश्न किया- देवताओं की संख्या कितनी है? याज्ञवल्क्य ने कहा- तैंतीस। इसमें सहमति देकर पुनः शाकल्य ने प्रश्न पूछा- देवता कितने हैं? तब याज्ञवल्क्य बोले- छः। इसे स्वीकार कर विदग्ध (शाकल्य) ने फिर पूछा- देवता कितने हैं? उत्तर दिया गया-तीन। शाकल्य द्वारा 'ठीक है' कहने एवं पुनः यही पूछने पर कि देवता कितने हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा - दो। 'ठीक है' कहकर शाकल्य ने फिर पूछा- देवता कितने हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- अध्यर्ध (डेढ़)। इस पर 'ठीक है' कहते हुए शाकल्य ने पुनः वही प्रश्न दोहराया, तब याज्ञवल्क्य ने कहा- देवता एक है। इसे स्वीकार कर शाकल्य ने कहा- वे तीन हजार तीन और तीन सौ तीन देवगण कौन से हैं? ॥ १॥

स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिꣳशत्त्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिꣳशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिꣳशदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिꣳशाविति ॥

याज्ञवल्क्य बोले-ये तो (तीन सौ तीन और तीन हजार तीन) देवताओं की विभूतियाँ हैं। देवगण तो केवल तैंतीस ही हैं। विदग्ध शाकल्य ने पुनः प्रश्न किया-वे तैंतीस देवगण कौन से हैं? तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया-अष्ट वसु, एकादश रुद्र, बारह आदित्य ये इकतीस देवता हुए। इन्द्र और प्रजापति सहित ये तैंतीस हो जाते हैं॥ २॥

कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदं सर्वꣳहितमिति तस्माद्वसव इति ॥ ३ ॥

शाकल्य ने प्रश्न किया-अष्ट वसु कौन से हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्र और नक्षत्र ये ही अष्टवसु हैं, इन्हीं में सम्पूर्ण जगत् सन्निहित है अथवा जगत् के सम्पूर्ण पदार्थ इन्हीं में समाये हुए हैं, इसीलिए इन्हें वसुगण कहते हैं॥ ३॥

कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥ ४ ॥

शाकल्य ने फिर पूछा-ये रुद्र कौन हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा-पुरुष में स्थित ये दस प्राण (दस इन्द्रियाँ) और ग्यारहवाँ आत्मा (मन) है, यही एकादश रुद्र हैं; क्योंकि जब ये मरणधर्मा शरीर से मृत्युकाल में उत्क्रमण करते अर्थात् निकलते हैं, उस समय से उसके प्रियजनों- परिजनों को रुलाते हैं, इसी कारण इन्हें रुद्र कहा गया है॥ ४॥

कतम आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदꣳ सर्वमाददाना यन्ति ते यदिदꣳ सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥ ५ ॥

इसके पश्चात् शाकल्य ने पूछा-बारह आदित्य कौन से हैं? याज्ञवल्क्य ने बताया-वर्ष में बारह मास होते हैं, वे ही बारह आदित्य हैं; क्योंकि ये ही सभी को लेते हुए (उनकी आयु का आदान करते हुए) चलते रहते हैं॥ ५॥

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥ ६ ॥

शाकल्य ने पुनः प्रश्न किया- इन्द्र और प्रजापति कौन हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- स्तनयित्नु अर्थात् गरजने वाला मेघ ही इन्द्र है और यज्ञ ही प्रजापति है। शाकल्य ने पूछा- गर्जनशील मेघ क्या है? उत्तर मिला विद्युत्। जब शाकल्य ने यह पूछा कि यज्ञ क्या है? तब याज्ञवल्क्य ने कहा- पशु ही यज्ञ है॥ ६॥

कतमे षडित्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्चैते षडेते हीदꣳ सर्वं षडिति ॥ ७ ॥

शाकल्य ने प्रश्न किया- छः देवगण कौन से हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- पृथिवी, अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, द्यौ और आदित्य, ये ही छः देवगण हैं। ये ही सभी कुछ हैं॥ ७॥

कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति कतमौ तौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्ध इति योऽयं पवत इति॥ ८॥

शाकल्य ने फिर पूछा- वे तीन देव कौन से हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- तीन लोक ही तीनों देवता हैं, इन्हीं में समस्त देवगण वास करते हैं। फिर शाकल्य ने पूछा- वे दो देवता कौन हैं- ऋषि ने उत्तर दिया- अन्न और प्राण ही वे दो देवता हैं। शाकल्य ने फिर पूछा- वे डेढ़ देवता कौन हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- जो बहता है, अर्थात् यह वायु ही डेढ़ देवता है॥ ८॥

तदाहुर्यदयमेक इवैव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निदꣳ सर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म तदित्याचक्षते॥ ९॥

शाकल्य ने प्रश्न किया- पवन (वायु) तो एकाकी ही प्रवाहित होता है, फिर इसे 'डेढ़' कैसे कहते हैं? याज्ञवल्क्य ने उत्तर देते हुए कहा-क्योंकि इसी में सभी ऋद्धि (वृद्धि) को प्राप्त होते हैं, इसलिए इसे अध्यर्ध (डेढ़) कहते हैं। शाकल्य ने पूछा-एक देव कौन सा है? ऋषि ने कहा 'प्राण' ही एक देवता है, वही ब्रह्म है और उसी को तत् (वह) कहते हैं॥ ९॥

पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायꣳ शारीरः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यमृतमिति होवाच॥ १०॥

यह पृथिवी ही जिसका शरीर (आयतन) है, अग्नि ही जिसका लोक, मन ही जिसकी ज्योति और जो समस्त जीवों का आत्मा एवं सहारा है। उस सर्वात्मा एवं सभी के आश्रयरूप पुरुष को जो जानता है, हे याज्ञवल्क्य! वही ब्रह्मज्ञ है। यह सुनकर याज्ञवल्क्य ने कहा- मैं निःसन्देह उस ब्रह्म को जानता हूँ। जिस पुरुष को तुम सब जीवों का आत्मा एवं आश्रय बताते हो, वही इस शरीर में संव्याप्त पुरुष है। याज्ञवल्क्य ने आगे कहा- हे शाकल्य! अब तुम और प्रश्न करो। शाकल्य ने कहा- उसका देवता कौन है? ऋषि ने कहा- उसका देवता अमृत है॥ १०॥

काम एव यस्यायतनꣳ हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं काममयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच॥ ११॥

शाकल्य ने कहा- काम ही जिसका शरीर है, हृदय ही जिसका लोक है, मन ही जिसकी ज्योति है एवं जो समस्त प्राणियों की आत्मा है, उस सर्वान्तरात्मा को जानने वाला ब्रह्मज्ञानी हो जाता है। याज्ञवल्क्य बोले- मैं निश्चित ही उस पुरुष का ज्ञान रखता हूँ, जिसे तुम सभी भूतों की आत्मा कहते हो, वह काममय पुरुष है। हे शाकल्य! अब और प्रश्न करो। शाकल्य ने पूछा- उसका देवता कौन है? याज्ञवल्क्य ने कहा-'स्त्रियाँ' ॥ ११॥

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवासावादित्ये पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति सत्यमिति होवाच॥ १२॥

शाकल्य ने कहा- रूप ही जिसका देह है, नेत्र ही लोक, मन ही ज्योति है तथा जो सभी का आश्रय रूप है, उस पुरुष को जानने वाला सर्वज्ञाता होता है। याज्ञवल्क्य ने कहा-तुम जिस सबके आश्रयभूत पुरुष की बात कर रहे हो, उसे मैं जानता हूँ। वह पुरुष आदित्य में स्थित है। याज्ञवल्क्य ने कहा हे शाकल्य! और प्रश्न करो। शाकल्य ने कहा-उसका देवता कौन है? ऋषि ने उत्तर दिया-सत्य ही उसका देवता है॥ १२॥

आकाश एव यस्यायतनꣳ श्रोत्रं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायꣳ श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति दिश इति होवाच॥ १३॥

शाकल्य ने कहा- आकाश जिसका आयतन (देह) है, श्रोत्र जिसका लोक, मन जिसकी ज्योति है और जो समस्त भूतों का आश्रय रूप है, उसे जानने वाला ब्रह्मज्ञानी होता है। याज्ञवल्क्य बोले- मैं निश्चित रूप से उसका ज्ञान रखता हूँ। जिस पुरुष को तुम सब भूतों का आश्रय रूप मानते हो, वही श्रोत्र सम्बन्धी (अर्थात् श्रोत्र में प्रति श्रवण के समय रहने वाला) 'प्रातिश्रुत्क' पुरुष है। हे शाकल्य! अब और कुछ पूछो। शाकल्य ने पूछा- उसका देवता कौन है? याज्ञवल्क्य ने कहा-दिशाएँ ही उसकी देवता हैं॥ १३॥

तम एव यस्यायतनꣳ हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं छायामयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति मृत्युरिति होवाच॥ १४॥

शाकल्य ने कहा- तम ही जिसका आयतन (देह) है, हृदय ही जिसका लोक और मन ही जिसकी ज्योति है, उस सर्वभूतात्मा को जो जानता है, वह ब्रह्मज्ञानी होता है। याज्ञवल्क्य ने कहा-मैं उस सर्वभूतात्मा को निश्चित रूप से जानता हूँ। जिसे तुम 'सर्वभूतात्मा' ऐसा जानते हो, वह छायामय पुरुष ही है। हे शाकल्य! और पूछो। शाकल्य ने पूछा-उसका देवता कौन है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया-उसका देवता 'मृत्यु' है॥

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायमादर्शे पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यसुरिति होवाच॥ १५॥

शाकल्य ने फिर कहा- रूप ही जिसका शरीर, चक्षु ही देखने की शक्ति और मन ही जिसकी ज्योति है, जो सर्वभूतों में स्थित उनकी आत्मा है, उस पुरुष को जानने वाला सर्वज्ञ होता है। याज्ञवल्क्य ने कहा- मैं निश्चित रूप से उस ब्रह्म को जानता हूँ। तुम जिसे सर्वभूतों में स्थित आत्मा कहते हो, वह वही पुरुष है, जो दर्पण में स्थित है (अर्थात् दर्पण में दिखाई देता है)। हे शाकल्य! और प्रश्न करो। शाकल्य ने कहा- उसका देवता कौन है? ऋषि ने उत्तर दिया- उसका देवता असु (अर्थात् प्राण) है॥ १५॥

आप एव यस्यायतनꣳ हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायमप्सु पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति वरुण इति होवाच॥ १६॥

शाकल्य बोले- जल ही उसका आयतन (देह), हृदय ही लोक और मन ही ज्योति है। उस सर्वभूतान्तरात्मा को जो जानता है, वह ब्रह्मज्ञानी होता है। याज्ञवल्क्य ने कहा- मैं निश्चित ही उसका ज्ञान रखता हूँ, जिसे तुम सर्वभूतान्तरात्मा कहते हो, वह जल स्थित पुरुष ही है। हे शाकल्य! और पूछो, शाकल्य ने कहा- उसका देवता कौन है? याज्ञवल्क्य ने कहा- उसके देवता वरुण हैं॥ १६॥

रेत एव यस्यायतनꣳ हृदयं लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति प्रजापतिरिति होवाच॥ १७॥

शाकल्य ने कहा- वीर्य ही जिसका शरीर (आयतन) है, हृदय ही जिसका लोक है, मन ही जिसकी ज्योति है, उस सर्वभूताश्रय पुरुष को जो जानता है, वह सर्वज्ञाता होता है। याज्ञवल्क्य ने कहा- उस पुरुष को मैं भली-भाँति जानता हूँ, जिसे आप सर्वभूतों का आश्रय कहते हो, वह पुत्ररूप पुरुष है। हे शाकल्य! और प्रश्न करो- शाकल्य के पूछने पर कि उसका देवता कौन है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- प्रजापति ॥

शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वाꣳ स्विदिमे ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणमक्रता ३ इति॥ १८॥

याज्ञवल्क्य ने शाकल्य से कहा- हे शाकल्य! इन ब्राह्मणों ने तुम्हें ही निश्चित रूप से अङ्गारे हटाने का चिमटा बनाया है॥ १८॥

याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिदं कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्म विद्वानिति दिशो वेद सदेवाः सप्रतिष्ठा इति यद्दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठाः॥ १९॥

शाकल्य ने कहा- हे याज्ञवल्क्य! जो आप कुरु और पांचाल देश के ब्राह्मणों पर आरोप लगाकर उन्हें तिरस्कृत करते हैं, क्या स्वयं को ब्रह्मवेत्ता मानकर ऐसा करते हैं? याज्ञवल्क्य जी बोले-मुझे देवताओं और प्रतिष्ठा के सहित दिशाओं का ज्ञान है। शाकल्य बोले-यदि आपको देवता और प्रतिष्ठा सहित दिशाओं का ज्ञान है॥ १९॥

किंदेवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीत्यादित्यदेवत इति स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणिः प्रतिष्ठितानीति हृदय इति होवाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥ २०॥

तो यह बताएँ कि पूर्व दिशा में आप किस देवता से युक्त हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- वहाँ मैं आदित्य देवता से युक्त हूँ। शाकल्य ने पुनः पूछा- वह आदित्य किसमें स्थित है? याज्ञवल्क्य ने कहा- चक्षु में। शाकल्य ने पूछा- चक्षु किसमें प्रतिष्ठित हैं? ऋषि ने कहा- रूप में, क्योंकि चक्षुओं के द्वारा ही पुरुष रूपों को देखता है। शाकल्य ने पूछा- रूप किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा- हृदय में, क्योंकि हृदय के द्वारा ही पुरुष को रूपों का ज्ञान होता है। शाकल्य ने कहा यह सत्य है ॥ २०॥

किं देवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति यमदेवत इति स यमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति यज्ञ इति कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति श्रद्धायाꣳ ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति हृदय इति होवाच हृदयेन हि श्रद्धां जानाति हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥ २१॥

शाकल्य ने पूछा- दक्षिण दिशा में आप किस देवता से युक्त हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- यम देवता से। शाकल्य ने पूछा-वह यम देवता किसमें स्थित है? उत्तर मिला श्रद्धा में। श्रद्धा किसमें स्थित है? ऋषि ने कहा-हृदय में, क्योंकि हृदय के द्वारा ही पुरुष श्रद्धा को जानता है। शाकल्य ने कहा-हे याज्ञवल्क्य! यह सत्य है॥ २१॥

किंदेवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति वरुणदेवत इति स वरुणः कस्मिन्प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति कस्मिन्न्वापः प्रतिष्ठिता इति रेतसीति कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितमिति हृदय इति तस्मादपि प्रतिरूपं जातमाहुर्हृदयादिव सृप्तो हृदयादिव निर्मित इति हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥ २२॥

शाकल्य ने आगे कहा-पश्चिम दिशा में आप किस देवता वाले हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा-पश्चिम दिशा में मैं वरुण देवता से युक्त हूँ। शाकल्य ने पूछा- वरुण किसमें प्रतिष्ठित है? ऋषि ने उत्तर दिया-जल में। जल किसमें स्थित है? उत्तर मिला-वीर्य में। तब शाकल्य ने पूछा- वीर्य किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा-हृदय में। इसलिए तो पिता के अनुरूप उत्पन्न पुत्र के लिए लोग कहते हैं कि ये मानो पिता के हृदय से निकला है, पिता के हृदय से ही निर्मित हुआ है। शाकल्य ने कहा-यह भी यथार्थ ही है॥ २२॥

किंदेवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति सोमदेवत इति स सोमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति दीक्षायामिति कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति सत्य इति तस्मादपि दीक्षितमाहुः सत्यं वदेति सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति हृदय इति होवाच हृदयेन हि सत्यं जानाति हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥ २३॥

शाकल्य ने याज्ञवल्क्य से पूछा-आप उत्तर दिशा में किस देवता से सम्पन्न हैं। याज्ञवल्क्य ने कहा- सोम देवता से। शाकल्य ने पूछा- सोम किसमें स्थित है? ऋषि ने कहा-दीक्षा में। दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने कहा- सत्य में। सत्य किसमें विद्यमान है? ऋषि ने कहा-हृदय में। क्योंकि व्यक्ति हृदय से ही सत्य को जान पाता है, अतः सत्य हृदय में ही प्रतिष्ठित है। तब शाकल्य ने कहा-हे याज्ञवल्क्य! यह भी ठीक है॥ २३॥

किंदेवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीत्यग्निदेवत इति सोऽग्निः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वाचीति कस्मिन्नु वाक् प्रतिष्ठितेति हृदय इति कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितमिति॥ २४॥

शाकल्य ने याज्ञवल्क्य से पूछा- आप ध्रुव दिशा में किस देवता से युक्त हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- अग्निदेव से युक्त हूँ। प्रश्न किया गया- अग्निदेव किसमें प्रतिष्ठित है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- वाक् शक्ति में। पुनः प्रश्न हुआ कि वाक् किसमें स्थित है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- वाक् हृदय में प्रतिष्ठित है। इस पर शाकल्य ने पूछा- फिर हृदय किसमें स्थित है?॥ २४॥

अहल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो यत्रैतदन्यत्रास्मन्मन्यासै यद्धयेतदन्यत्रास्म-त्स्याच्छ्वानो वैनदद्युर्वयाꣳसि वैनद्विमथ्नीरन्निति॥ २५॥

याज्ञवल्क्य ने कहा- अरे अहल्लिक (प्रेत)! जब तुम इस (हृदय) को हमसे पृथक् मानते हो, तब तो (हृदय विहीन) इस शरीर को कुत्ते नोच कर खा जाते या पक्षीगण चोंच मार-मार कर इसे मथकर (चीरकर) खा डालते॥ २५॥

कस्मिन्नु त्वं चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति प्राण इति कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित इत्यपान इति कस्मिन्नपानः प्रतिष्ठित इति व्यान इति कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इत्युदान इति कस्मिन्नूदानः प्रतिष्ठित इति समान इति स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोका अष्टौ देवा अष्टौ पुरुषाः स यस्तान्पुरुषान्निरुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामत्तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि तं चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति तꣳ ह न मेने शाकल्यस्तस्य ह मूर्धा विपपातापि हास्य परिमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुरन्यन्मन्यमानाः॥ २६॥

शाकल्य ने फिर पूछा- आप (शरीर) और हृदय (आत्मा) किसमें प्रतिष्ठित हैं? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- प्राण में। शाकल्य ने फिर पूछा- प्राण किसमें स्थित हैं? उत्तर दिया अपान में। पूछा गया- अपान किसमें विद्यमान है? उत्तर दिया गया-व्यान में। फिर प्रश्न किया गया-व्यान किसमें स्थित है? उत्तर दिया गया-उदान में। उदान किसमें प्रतिष्ठित है? समान में। याज्ञवल्क्य ने आगे कहा-यह आत्मा नेति-नेति कहा जाता है। यह ग्रहण नहीं किया जा सकता और न ही विनष्ट किया जा सकता है। यह सङ्ग रहित अव्यवस्थित और अहिंसित है। ये आठ शरीर हैं, आठ देवता हैं और आठ पुरुष हैं। वह व्यष्टि रूप होकर इन पुरुषों को अपने हृदय में एकीकृत करके उपाधिरूप धर्मों का अतिक्रमण किए है। उपनिषद् द्वारा ज्ञातव्य उस पुरुष के विषय में मैं आपसे पूछता हूँ। यदि आप उसका स्पष्ट विवेचन न कर सकेंगे, तो आपका मस्तक गिर जायेगा; परन्तु शाकल्य के उस पुरुष को न जानने के कारण उसका मस्तक गिर गया। इतना ही नहीं उसकी अस्थियों को चोर लोग कुछ और समझकर उठा ले गये॥ २६॥

अथ होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते स मा पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत यो वः कामयते तं वः पृच्छामि सर्वान्वा वः पृच्छामीति ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः॥ २७॥

याज्ञवल्क्य बोले - हे तपोधन पूज्य ब्राह्मणगण! आप विद्वानों में से जो भी चाहे अथवा सभी मिलकर चाहें तो मुझसे प्रश्न कर लें। यदि आप प्रश्न न करना चाहें, तो आप में से जिसकी इच्छा हो, उससे अथवा सभी से मैं प्रश्न पूछूँ; किन्तु किसी का भी याज्ञवल्क्य से प्रश्न करने का साहस न हुआ॥ २७॥

तान् हैतैः लोकैः पप्रच्छ। यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा। तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः॥ १॥ त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः। तस्मात्तदा तृण्णात्प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात्॥२॥ माꣳसान्यस्य शकराणि किनाटꣳस्नाव तत्स्थिरम्। अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता॥ ३॥ यद्वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः। मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति॥४॥ रेतस इति मा वोचतजीवतस्तत्प्रजायते। धानारुह इव वै वृक्षोऽञ्जसा प्रेत्य संभवः॥ ५॥

यत्समूलमावृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत्। मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति॥ ६॥ जात एव न जायते को न्वेनं जनयेत्पुनः। विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमानस्य तद्विद इति॥ ७॥ ॥ २८॥

याज्ञवल्क्य ने उन ब्राह्मणों से इन श्लोकों द्वारा प्रश्न किए- मनुष्य, वनस्पति- वृक्ष के तुल्य है, अर्थात् जो गुण धर्म वनस्पति के हैं, वही मनुष्य के भी हैं। वृक्ष में पत्ते होते हैं और मनुष्य के शरीर में रोम होते हैं, मनुष्य के शरीर में स्थित त्वचा ही वृक्ष पर लिपटी छाल होती है॥ १॥ रक्त रस है। जिस प्रकार पुरुष की त्वचा से रक्त निकलता है, उसी प्रकार वृक्ष की छाल से रस (गोंद) निकलता है। आघात लगने पर वृक्ष से भी रस निकलता है और चोट लगने पर मनुष्य के शरीर से भी रक्त बहता है॥ २॥ पुरुष शरीर का मांस, वृक्ष की भीतरी त्वचा (शकर) के समान है, मनुष्य शरीर के स्नायु तंत्र, वृक्ष के दृढ़ रेशे (किनाट) के समान है। किनाट स्नायु के समान ही स्थिर होता है। मनुष्य में स्नायु तन्त्र के अन्दर स्थित अस्थियों के समान ही वृक्ष में किनाट के अन्दर काष्ठ होता है और मनुष्य शरीर में स्थित मज्जा वृक्ष स्थित गूदे के समान है॥ ३॥ इतने पर भी (अर्थात् दोनों में से समानता होने पर भी) वृक्ष जब ऊपर से काट दिया जाता है, तो वह अपने मूल (जड़) से पुनः नए अंकुर फोड़ कर नवीन हो जाता है और यदि इसी प्रकार मृत्यु द्वारा मनुष्य को काट दिया जाए, तो वह किस मूल द्वारा उत्पन्न होगा॥ ४॥ वह (पुरुष) वीर्य से उद्भूत होता है, ऐसा भी न कहो, क्योंकि वीर्य तो जीवित पुरुष में ही उत्पन्न होता है, मृत पुरुष में नहीं। वृक्ष जब कट जाता है, तो वह बीज से भी नये सिरे से उत्पन्न हो जाता है और कट जाने पर भी पुनः अंकुरित हो जाता है॥ ५॥ वृक्ष यदि मूल से उखड़ जाये, तो पुनः उसका उग सकना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार मृत्यु द्वारा यदि मनुष्य को काट दिया जाए, तो किस मूल (जड़) द्वारा उसका पुनः उगना (उत्पन्न होना) सम्भव है॥ ६॥ पुरुष तो उत्पन्न हुआ ही है, अतः वह दोबारा उत्पन्न नहीं होता। ऐसी स्थिति में मृत्यु के उपरान्त उसे कौन उत्पन्न करेगा? (इस प्रश्न का उन ब्राह्मणों ने कोई उत्तर नहीं दिया, अस्तु , श्रुति इसके विषय में कहती है) ब्रह्म विज्ञानमय व आनन्द रूप है। दानदाता की परमगति भी वही है। ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्म को जानने वाले पुरुष का परम आश्रय भी वह ब्रह्म ही है॥ ७॥ ॥ २८॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

जनको ह वैदेह आसांचक्रेऽथ ह याज्ञवल्क्य आवव्राज तꣳ होवाच याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्नण्वन्तानीत्युभयमेव सम्राडिति होवाच ॥ १ ॥

विदेहराज जनक सिंहासन पर आरूढ़ थे। उसी समय उनके पास महर्षि याज्ञवल्क्य जी आये। राजा जनक ने पूछा-हे याज्ञवल्क्य जी! आपका आगमन किस निमित्त हुआ है? आप पशुओं की इच्छा से पधारे हैं या सूक्ष्म प्रश्नों की इच्छा से? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- राजन्! मैं दोनों प्रयोजनों से यहाँ आया हूँ॥ १ ॥

यत्ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे जित्वा शैलिनिर्वाग्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छैलिनिरब्रवीद्वाग्वै ब्रह्मेत्यवदतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य वागेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येनदुपासीत का प्रज्ञता याज्ञवल्क्य वागेव सम्राडिति होवाच वाचा वै सम्राड् बन्धुः प्रज्ञायत ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं वाग्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥ २॥

याज्ञवल्क्य जी ने कहा- हे राजन्! आप से किसी विद्वान् ने ब्रह्म के विषय में जो कुछ कहा हो, वह सब हम श्रवण करने के लिए आये हैं। विदेहराज जनक ने कहा- शैलिनि (शिलिन के पुत्र) जित्वा ने वाक् को ही ब्रह्म कहा है। याज्ञवल्क्य बोले- जिस प्रकार कोई, माता-पिता और गुरु के द्वारा शिक्षित होकर कहता है, उसी प्रकार उस जित्वा ने वाक् ही ब्रह्म है- ऐसा कहा है; क्योंकि जो वाक् रहित है (गूँगा है), क्या उसे ब्रह्म का कोई लाभ प्राप्त हो सकता है? क्या उस जित्वा ने आपको वाक् का आश्रय स्थल और उसकी प्रतिष्ठा भी बताई है, जनक ने कहा- नहीं, मुझे तो इस विषय में नहीं बताया। याज्ञवल्क्य जी बोले- यह उपदेश एक पादीय अथवा अपूर्ण है। जनक ने कहा- तो उसके विषय में सम्यक् रूप से आप ही हमें बताएँ। याज्ञवल्क्य जी ने कहा- वाक् (वाणी) ही उस ब्रह्म का आयतन अर्थात् शरीर है और आकाश ही उसकी प्रतिष्ठा है। प्रज्ञा समझ कर उसकी ही उपासना करनी चाहिए। जनक जी ने पूछा- प्रज्ञता (प्रज्ञा) क्या है? ऋषि बोले वाक् ही प्रज्ञता (प्रज्ञा) है। हे राजन्! वाक् शक्ति के द्वारा ही बन्धु- बान्धवों का ज्ञान होता है तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का ज्ञान होता है। उसी वाक् के माध्यम से इतिहास, पुराण, उपनिषद्, विद्या, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान, व्याख्यान, यज्ञकर्म, हुत, अशित (भूखे व्यक्ति को भोजन कराने के धर्म), पायित (प्यासे व्यक्ति को पानी पिलाने के धर्म), इहलोक,

परलोक और समस्त भूतों का ज्ञान होता है। हे सम्राट्! वस्तुतः वाक् ही ब्रह्म है, जो ऐसा जानते हैं, उन विद्वानों का यह वाक् परित्याग नहीं करती। ऐसे विद्वान् पुरुष को सभी प्राणी उपहार प्रदान करते हैं। वह स्वयं देवता बनकर देवों के बीच निवास करता है। यह सुनकर विदेहराज जनक ने कहा- इस ज्ञान के निमित्त (दक्षिणा स्वरूप) मैं आपको ऐसी सहस्र गौएँ प्रदान करता हूँ, जिनसे हाथी के समान विशाल बैल उत्पन्न हों। ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- मेरे पिता ऐसा मानते थे कि शिष्य (अथवा जिज्ञासु) को पूर्ण शिक्षण (ज्ञान) दिये बिना दक्षिणा के रूप में उसका धन ग्रहण नहीं करना चाहिए॥ २॥

[शिष्य जब वाञ्छित विद्या प्राप्त करके तुष्ट हो जाता था, तब वह स्वयं गुरु से गुरु-दक्षिणा लेने का आग्रह करता था। गुरु भी अपना दायित्व पूर्ण हुए बिना दान स्वीकार नहीं करते थे।]

यदेव ते कश्चिदब्रतीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्म उदङ्कः शौल्बायनः प्राणो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छौल्बायनोऽब्रवीत्प्राणो वै ब्रह्मेत्यप्राणतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य प्राण एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रियमित्येनदुपासीत का प्रियता याज्ञवल्क्य प्राण एव सम्राडिति होवाच प्राणस्य वै सम्राट् कामायायाज्यं याजयत्यप्रतिगृह्यस्य प्रतिगृह्णात्यपि तत्र वधाशङ्कं भवति यां दिशमेति प्राणस्यैव सम्राट् कामाय प्राणो वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं प्राणो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥ ३॥

याज्ञवल्क्य ने कहा- आपसे किसी भी विद्वान् ने ब्रह्म के विषय में जो भी कुछ कहा हो, वह हमसे कहिए। विदेहराज जनक ने कहा- शुल्बपुत्र उदङ्क ने मुझसे ब्रह्म के विषय में यह कहा है कि प्राण ही ब्रह्म है। (याज्ञवल्क्य ने कहा-) जिस प्रकार कोई माता-पिता और गुरु के द्वारा शिक्षित होकर कहता है, उसी प्रकार उदङ्क ने प्राण ही ब्रह्म है- ऐसा कहा है; क्योंकि प्राण के बिना कुछ भी कर सकना सम्भव नहीं है। याज्ञवल्क्य ने कहा- क्या उन्होंने (शौल्बायन ने) प्राण के आयतन और आश्रय स्थल के विषय में भी बताया है? राजा जनक ने कहा- इस सन्दर्भ में उन्होंने कुछ नहीं बताया, तब याज्ञवल्क्य बोले- यह तो एक पैर वाला अथवा अपूर्ण शिक्षण हुआ। राजा जनक ने कहा- तो फिर आप ही उस ज्ञान को सम्यक् रूप से कहें। याज्ञवल्क्य बोले- प्राण का शरीर प्राण ही है, आकाश उसकी प्रतिष्ठा है। प्राण को प्रिय मानकर ही उसकी उपासना करनी चाहिए। जनक ने पूछा- यह प्रियता किसे कहते हैं? याज्ञवल्क्य ने कहा- प्राण की कामना (प्रियता) से ही यजन न करने योग्य से यज्ञ कराया जाता है। दान न लेने योग्य से भी दान प्राप्त किया जाता है तथा इसी की प्रियता के कारण जिस दिशा में भी गमन करते हैं, उसी में मृत्यु का भय या उसकी आशंका प्रतीत होती है। हे राजन्! ये सब प्राण के निमित्त ही होता है। अतः हे सम्राट्! प्राण ही ब्रह्म है, ऐसा जानकर कार्य करने वाले का प्राण कभी परित्याग नहीं करता। समस्त भूत उसे उपहार प्रदान करते हैं। वह व्यक्ति देवता होकर उन्हीं के मध्य विराजता है। विदेहराज जनक ने कहा- ऋषिवर! हाथी के आकार वाले बैलों को प्रदान करने वाली सहस्र गौएँ मैं आपको दक्षिणा रूप में प्रदान करता हूँ। ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- मेरे पिताश्री की यह धारणा थी कि बिना पूर्ण ज्ञान दिये शिष्य से दक्षिणा ग्रहण नहीं करनी चाहिए॥ ३॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे बर्कुर्वार्ष्णश्चक्षुर्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्वार्ष्णोऽब्रवीच्चक्षुर्वै ब्रह्मेत्यपश्यतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य चक्षुरेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा सत्यमित्येनदुपासीत का सत्यता याज्ञवल्क्य चक्षुरेव सम्राडिति होवाच चक्षुषा वै सम्राट् पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति स आहाद्राक्षमिति तत्सत्यं भवति चक्षुर्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं चक्षुर्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥ ४॥

याज्ञवल्क्य ने पुनः राजा जनक से कहा- आप किसी आचार्य द्वारा प्राप्त किये गये ज्ञान से हमें भी अवगत कराएँ। जनक ने कहा- मुझसे बर्कु वार्ष्णि (कृष्ण पुत्र) ने कहा कि चक्षु ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य बोले- माता-पिता और आचार्य से शिक्षित हुए के समान ही उन वार्ष्णि ने चक्षु को ब्रह्म कहा है, क्योंकि चक्षु के बिना कुछ देख सकना असम्भव है; किन्तु क्या उन्होंने आपको चक्षु के आयतन और आश्रय (प्रतिष्ठा) के विषय में भी कुछ बताया है? जनक ने कहा कि इसके विषय में तो उन्होंने कुछ नहीं बताया। यह तो एक पाद वाला अथवा अपूर्ण शिक्षण हुआ। राजा जनक ने कहा-तो आप ही इस संदर्भ में हमें बताएँ। याज्ञवल्क्य ने कहा- चक्षु का आयतन (शरीर) चक्षु ही है तथा आकाश ही उसकी प्रतिष्ठा है। चक्षु को सत्य मानकर उपासना करनी चाहिए। जनक ने पूछा- सत्यता किसे कहते हैं? ऋषि ने कहा- हे राजन्! चक्षु ही स्वयं सत्यता है; क्योंकि चक्षु से (दर्शन करने वाले से) जब पूछा जाता है कि क्या आपने (अमुक दृश्य) देखा है? तब वह उत्तर देता है- हाँ मैंने देखा है, तो वह सत्य ही होता है। हे सम्राट्! चक्षु ही परब्रह्म है, जो ऐसा जानता है, चक्षु (स्थूल-सूक्ष्म दृष्टि) उसका कभी परित्याग नहीं करते और समस्त प्राणी भी उसके अनुगत रहते हैं। वह देव बनकर देवलोक में निवास करता है। तब विदेहराज जनक ने कहा- मैं आपको हाथी के तुल्य हृष्ट-पुष्ट बैल प्रदान करने वाली एक हजार गौएँ प्रदान करता हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा- मेरे पिताश्री की मान्यता थी कि पूर्ण ज्ञान दिये बिना शिष्य से दक्षिणा ग्रहण नहीं करनी चाहिए॥ ४॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे गर्दभीविपीतो भारद्वाजः श्रोत्रं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्भारद्वाजोऽब्रवीच्छ्रोत्रं वै ब्रह्मेत्यशृण्वतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य श्रोत्रमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठानन्त इत्येनदुपासीत कानन्तता याज्ञवल्क्य दिश एव सम्राडिति होवाच तस्माद्वै सम्राडपि यां कां च दिशं गच्छति नैवास्या अन्तं गच्छत्यनन्ता हि दिशो दिशो वै सम्राट् श्रोत्रꣳ श्रोत्रं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनꣳ श्रोत्रं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥ ५॥

ऋषि याज्ञवल्क्य, महाराज जनक से बोले- किसी भी आचार्य ने (ब्रह्म के विषय में) आपसे जो कुछ भी कहा हो वह आप हमें बताने का कष्ट करें। जनक बोले- भारद्वाज गोत्रीय गर्दभी (विपीत) ने मुझे बताया था कि श्रोत्र ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य ने कहा- जिस प्रकार कोई माता-पिता और गुरु द्वारा प्रशिक्षित होकर कहता है, उसी प्रकार गर्दभी विपीत ने भी श्रोत्र ही ब्रह्म है, ऐसा कह दिया है, क्योंकि श्रोत्र के बिना सुन सकना संभव नहीं है। क्या उन (गर्दभी विपीत) ने उस श्रोत्र के शरीर और प्रतिष्ठा (आश्रय) के विषय में भी कुछ बताया है? जनक ने कहा- नहीं। याज्ञवल्क्य बोले- यह ज्ञान एक पद वाला अर्थात् अधूरा है। राजा ने कहा- तो फिर आप ही उसके विषय में मुझे बताएँ। याज्ञवल्क्य ने कहा- श्रोत्र ही, श्रोत्र की देह है और आकाश ही उसकी प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय है। इस श्रोत्र की उपासना इसे अनन्तरूप मानकर करनी चाहिए। जनक ने पूछा- अनन्तता क्या है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि दिशाएँ ही अनन्त हैं, क्योंकि किसी भी दिशा में गमन करने पर उसका अन्त नहीं मिलता। हे सम्राट्! दिशाओं को ही श्रोत्र मानना चाहिए और श्रोत्र ही ब्रह्म है। जो ज्ञानी इस प्रकार जानता हुआ व्यवहार करता है, श्रोत्र उसका कभी परित्याग नहीं करते। सभी प्राणी उसका अनुसरण करते हैं और वह (ज्ञानी) देवता बनकर देवलोक में वास करता है। जनक बोले- हे ऋषिवर! मैं हाथी जैसे हृष्ट-पुष्ट बैल उत्पन्न करने वाली सहस्र गौएँ आपको प्रदान करता हूँ। याज्ञवल्क्य जी ने कहा- मेरे पिताजी ऐसा मानते थे कि शिष्य को पूर्ण ज्ञान दिये बिना दक्षिणा का धन ग्रहण नहीं करना चाहिए॥ ५॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालो मनो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तज्जाबालोऽब्रवीन्मनो वै ब्रह्मेत्यमनसो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य मन एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽऽनन्द इत्येनदुपासीत का आनन्दता याज्ञवल्क्य मन एव सम्राडिति होवाच मनसा वै सम्राट् स्त्रियमभिहार्यते तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते स आनन्दो मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं मनो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥ ६॥

याज्ञवल्क्य पुनः बोले- हे जनक! आपको किसी आचार्य ने ब्रह्म सम्बन्धी जो भी ज्ञान दिया हो, वह आप मुझसे कहें। विदेहराज जनक बोले- सत्यकाम जाबाल ने मुझसे कहा था कि मन ही ब्रह्म है। याज्ञवल्क्य बोले कि यह तो उन्होंने माता-पिता और गुरु द्वारा प्रशिक्षित की तरह कह दिया, क्योंकि मन के बिना कुछ भी करना असम्भव है। क्या उन्होंने मन के आश्रय और प्रतिष्ठा के विषय में भी वर्णन किया है? जनक बोले- नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा-हे राजन्! उन्होंने यह तो अपूर्ण ज्ञान ही दिया है। जनक ने कहा- तो फिर आप ही उसके विषय में पूर्णरूपेण बताएँ। याज्ञवल्क्य बोले- मन का शरीर मन ही है और आकाश उसका आश्रय है। मन को आनन्द मानकर उसकी उपासना करनी चाहिए। जनक ने पूछा- कि यह आनन्दत्व क्या है? याज्ञवल्क्य ने कहा- राजन्! मन ही आनन्द है। मन से ही स्त्री की कामना की

जाती है और उससे अपने अनुरूप पुत्र की प्राप्ति होती है, वह पुत्र ही आनन्द है। हे सम्राट्! मन ही ब्रह्म है। जो ज्ञानी मन को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, मन उसका कभी परित्याग नहीं करता। समस्त प्राणी उसके अनुकूल हो जाते हैं। वह देवस्वरूप होकर देवताओं के मध्य निवास करता है। विदेहराज जनक ने कहा कि आपके निमित्त मैं हाथी के आकार वाले बैलों को उत्पन्न करने वाली एक हजार गौएँ प्रदान करता हूँ। याज्ञवल्क्य ने कहा- मेरे पिता जी का ऐसा मत था कि बिना पूर्ण शिक्षा दिये दक्षिणा की राशि ग्रहण नहीं करनी चाहिए॥ ६॥

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छाकल्योऽब्रवीद्धृदयं वै ब्रह्मेत्यहृदयस्य हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य हृदयमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा स्थितिरित्येनदुपासीत का स्थितता याज्ञवल्क्य हृदयमेव सम्राडिति होवाच हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानामायतनꣳ हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा हृदये ह्येव सम्राट् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्मं नैनꣳ हृदयं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवा भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति॥ ७॥

याज्ञवल्क्य ने कहा- आपको किसी भी आचार्य ने जो (ब्रह्म विषयक) ज्ञान दिया हो, वह हमें भी बताएँ। विदेहराज जनक ने कहा- विदग्ध शाकल्य ने हृदय को ही ब्रह्म बताया है। याज्ञवल्क्य बोले कि माता- पिता और गुरु द्वारा प्रशिक्षित हुए के समान ही उन्होंने हृदय को ब्रह्म कहा है, क्योंकि हृदय हीन व्यक्ति कुछ भी कर पाने में समर्थ नहीं है। क्या उन्होंने हृदय का शरीर और आश्रय स्थल भी बताया है ? जनक ने कहा- इसके विषय में उन्होंने नहीं बताया। तब याज्ञवल्क्य ने कहा- यह तो अपूर्ण शिक्षा हुई। जनक बोले- तब आप ही पूर्ण ज्ञान प्रदान कीजिए। याज्ञवल्क्य ने कहा- हृदय का शरीर हृदय ही है और आकाश उसकी प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय स्थल है। स्थिति मानकर हृदय की उपासना करनी चाहिए। जनक ने पूछा- स्थितता क्या है ? याज्ञवल्क्य ने कहा- हृदय ही स्थितता है। हृदय ही समस्त प्राणियों की प्रतिष्ठा (आश्रय) है, समस्त प्राणी हृदय में ही प्रतिष्ठित होते हैं। जो ज्ञानी हृदय को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, हृदय कभी उसका परित्याग नहीं करता। समस्त जीव उसके अनुगत रहते हैं और वह देवता बनकर देवताओं के मध्य निवास करता है। महाराज जनक ने कहा- हाथी के समान आकार और बल वाले बैलों को पैदा करने वाली एक सहस्र गौएँ मैं आपको प्रदान करता हूँ। याज्ञवल्क्य बोले- शिष्य को ज्ञान से पूर्णरूपेण कृतार्थ किये बिना ही दक्षिणा का धन स्वीकार नहीं करना चाहिए, ऐसा मेरे पिताजी का विचार था॥ ७॥

॥ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्यानु मा शाधीति स होवाच यथा वै सम्राण्महान्तमध्वानमेष्यन् रथं वा नावं वा समाददीतैवमेवैताभिरुपनिषद्भिः समाहितात्मास्येवं वृन्दारक आढ्यः सन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः क्व गमिष्यसीति नाहं तद्भगवन्वेद यत्र गमिष्यामीत्यथ वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति ब्रवीतु भगवानिति॥ १॥

इसके पश्चात् महाराजा जनक अपने कूर्च (अपने विशिष्ट आसन) से उठकर खड़े हो गये और बोले- हे याज्ञवल्क्य ! आपको नमन है। आप मुझे उपदेश प्रदान करें। याज्ञवल्क्य बोले - हे राजन्! जिस प्रकार दूर की यात्रा करने के लिए नौका अथवा रथ का आश्रय लिया जाता है, उसी प्रकार (उपनिषदों का सहारा लेकर) आप समाहित आत्मा हो गये हैं। आपने पूज्य श्रीमन्त होकर वेदों का अध्ययन किया है, उपनिषदों का भी श्रवण किया है। यहाँ से गमन करके अब आप कहाँ पहुँचेंगे ? जनक ने कहा- यह मुझे ज्ञात नहीं। याज्ञवल्क्य ने कहा- आप जहाँ पहुँचेंगे, वह गन्तव्य मैं निश्चित रूप से आपको बताऊँगा। जनक ने कहा, ठीक है- बताने का अनुग्रह करें॥ १॥

इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तं वा एतमिन्धः सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः॥ २॥

(याज्ञवल्क्य ने कहा- सुनिये) दक्षिण नेत्र में जो पुरुष स्थित है, उसका नाम 'इन्ध' है। इसी 'इन्ध' को परोक्ष रूप से 'इन्द्र' कहते हैं। देवगण परोक्ष प्रिय होते हैं, वे प्रत्यक्ष के प्रति द्वेष भाव रखते हैं॥ २॥

[देव शक्तियाँ सूक्ष्म प्राण-प्रवाह रूप हैं, उन्हें परोक्ष रूप से ही अनुभव किया जा सकता है। आँख या कान प्रत्यक्ष रूप में देखने-सुनने वाले दिखते हैं; किन्तु देखने-सुनने की क्षमता रूप देव शक्तियाँ परोक्ष ही हैं। इसीलिए देवों को परोक्ष प्रिय कहा गया है।]

अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषास्य पत्नी विराट् तयोरेष संस्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽथैनयोरेतदन्नं य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डोऽथैनयोरेतत्प्रावरणं यदेतदन्तर्हृदये जालकमिवाथैनयोरेषा सृतिः संचरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्त्येताभिर्वा एतदास्रवदास्रवति तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः॥ ३॥

बायें नेत्र में स्थित पुरुष वस्तुतः इन्द्र की पत्नी विराट् है। इन दोनों का मिलने का केन्द्र यही हृदयाकाश है। हृदयान्तर्गत स्थित लाल पिण्ड ही इन दोनों का अन्न है। हृदयान्तर्गत स्थित जल ही इन दोनों का आवरण वस्त्र है। हृदय के ऊपर जाने वाली नाड़ी ही इनके संचरण करने का मार्ग है। बाल के हजारवें हिस्से जितनी सूक्ष्म-हिता नाम की नाड़ियाँ हैं, जो हृदय के अन्दर स्थित हैं। इन्हीं नाड़ियों के द्वारा प्रवाहित हुआ अन्न सम्पूर्ण शरीर में पहुँचता है। इसी कारण यह सूक्ष्म देह, सूक्ष्म आहार ग्रहण करने वाला होता है॥ ३॥

[दायें और बायें नेत्रों के पति-पत्नी जैसा ऋषि का यह कथन रहस्यात्मक है। वर्तमान विज्ञान इस सन्दर्भ में अभी सीमित ज्ञान ही प्राप्त कर सका है। दोनों आँखों में सन्निहित शक्तियों को पुरुष ही कहा गया है, लेकिन वे पति-पत्नी की तरह परस्पर पूरक हैं। एक को अर्धाङ्ग ही कहा जा सकता है। नेत्र विज्ञान के डॉक्टर यह बताते हैं कि दोनों आँखों के बीच एक कोमल संवेदनात्मक रिश्ता है। यदि किसी कारण एक आँख की नर्वस् में खराबी आ जाये, तो उसके प्रति संवेदना के नाते दूसरी ओर भी कमजोरी आने लगती है। डॉक्टर इसे आप्थैल्मिक सिम्पैथी कहते हैं।]

तस्य प्राची दिक् प्राञ्चःप्राणा दक्षिणा दिग्दक्षिणे प्राणाः प्रतीची दिक् प्रत्यञ्चः प्राणा उदीची दिगुदञ्चः प्राणा ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वाः प्राणा अवाची दिगवाञ्चः प्राणाः सर्वा दिशः सर्वे प्राणाः स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्यभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः स होवाच जनको वैदेहोऽभयं त्वा गच्छताद्याज्ञवल्क्य यो नो भगवन्नभयं वेदयसे नमस्तेऽस्त्विमे विदेहा अयमहमस्मि॥ ४॥

उस विद्वान् पुरुष के लिए पूर्व दिशा-पूर्व प्राण, दक्षिण दिशा-दक्षिण प्राण, पश्चिम दिशा-पश्चिम प्राण, उत्तर दिशा- उत्तर प्राण, ऊर्ध्व दिशा - ऊपरी प्राण, नीचे की दिशा- निचला प्राण है एवं समस्त दिशाएँ -सम्पूर्ण प्राण हैं। वह आत्मा नेति-नेति रूप से वर्णित है, वह ग्रहण न किए जाने के कारण 'अगृह्य' है, वह नष्ट न होने के कारण अशीर्य है, वह असङ्ग भी है तथा बन्धन रहित भी। वह कभी व्यथित नहीं होता। याज्ञवल्क्य ने कहा- हे जनक! आप निश्चित ही अभय हो गये हैं। जनक ने कहा- हे याज्ञवल्क्य! आपने मुझे अभय ब्रह्म का ज्ञान कराया है, अतः आप भी अभय हों, आपको नमस्कार है, यह विदेहदेश और मैं (जनक) आपके अनुगामी हैं। ॥ ४॥

॥ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

जनकꣳ ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम स मेने न वदिष्य इत्यथ ह यजनकश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ स ह कामप्रश्नमेव वव्रे तꣳ हास्मै ददौ तꣳ सम्राडेव पूर्वं पप्रच्छ॥ १॥

महर्षि याज्ञवल्क्य विदेहराज जनक के पास गये। उन्होंने विचार किया कि वहाँ मैं कुछ न बोलूँगा; परन्तु पूर्व में एक बार जनक और याज्ञवल्क्य का अग्निहोत्र के विषय में वार्तालाप हुआ था, तब याज्ञवल्क्य ने जनक को इच्छानुसार प्रश्न करने का वरदान दिया था। अतः इस बार राजा जनक ने ही उनसे प्रश्न प्रारम्भ किया॥ १॥

याज्ञवल्क्य किंज्योतिरयं पुरुष इति आदित्यज्योतिः सम्राडिति होवाचादित्येनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥ २॥

विदेहराज जनक ने प्रश्न किया हे याज्ञवल्क्य ! यह पुरुष किस ज्योति से युक्त है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- हे राजन्! यह पुरुष आदित्य रूप ज्योति से सम्पन्न है। यह पुरुष आदित्य ज्योति से ही प्रतिष्ठित होता है, उसी से चतुर्दिक् जाता है, कर्म सम्पादित करता है और उसी से वापस लौट आता है। जनक ने कहा- हाँ, यह उचित है॥ २॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किंज्योतिरेवायं पुरुष इति चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवतीति चन्द्रमसैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येव-मेवैतद्याज्ञवल्क्य॥ ३॥

इसके उपरान्त जनक ने प्रश्न किया- हे याज्ञवल्क्य! सूर्यास्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति से युक्त होता है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि उस समय यह पुरुष चन्द्रमा की ज्योति से सम्पन्न होता है। वह चन्द्रमा की ज्योति से स्थित होता, आता-जाता, कर्म करता और उसी से वापस लौट आता है। जनक ने कहा- हाँ, यह भी यथार्थ है॥ ३॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यग्निरेवास्य ज्योतिर्भवतीत्यग्निनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥ ४॥

जनक ने पुनः प्रश्न पूछा- हे याज्ञवल्क्य ! जब सूर्य और चन्द्र दोनों अस्त हो जाते हैं, तब यह पुरुष किस ज्योति से सम्पन्न होता है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- उस समय यह अग्नि की ज्योति से सम्पन्न होता है। यह उसी (अग्नि) की ज्योति से बैठता, गमन करता, कर्म करता और वापस भी लौट आता है। जनक इसे स्वीकारते हुए बोले- हे याज्ञवल्क्य! वस्तुतः यही सत्य है॥ ४॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ किंज्योतिरेवायं पुरुष इति वागेवास्य ज्योतिर्भवतीति वाचैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति तस्माद्वै सम्राडपि यत्र स्वः पाणिर्न विनिर्ज्ञायतेऽथ यत्र वागुच्चरत्युपैव तत्र न्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य॥ ५॥

जनक ने प्रश्न किया- हे याज्ञवल्क्य! जब सूर्य और चन्द्र अस्त हो जाते हैं तथा अग्नि भी शान्त हो जाती है, तब यह पुरुष किस ज्योति से सम्पन्न होता है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया- तब यह वाक् रूपी ज्योति से सम्पन्न होता है। उसी से बैठता, गमन करता, कर्म सम्पादन करता और उसी से वापस लौट आता है। हे राजन् ! जहाँ अँधेरे में हाथ भी दृष्टिगोचर नहीं होता, वहाँ वाणी का उच्चारण सुनते ही यह पहुँच सकता है। जनक ने कहा- हे महात्मन्! यह तथ्य भी उचित है॥ ५॥

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति॥ ६॥

जनक ने पूछा- हे याज्ञवल्क्य! जब सूर्य, चन्द्र अस्त हो जाते हैं, अग्नि और वाक् भी शान्त हो जाती है, तब इस पुरुष की कौन सी ज्योति होती है। याज्ञवल्क्य ने कहा- तब यह पुरुष आत्मज्योति से सम्पन्न होता है। यह उसी के द्वारा बैठता, आता-जाता, कर्म सम्पन्न करता और फिर वापस भी लौट आता है॥ ६॥

कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोक-मतिक्रामति मृत्यो रूपाणि॥ ७॥

जनक ने प्रश्न किया- यह आत्मा कौन है ? उन्होंने उत्तर दिया- प्राणों में चित्तवृत्तियों के भीतर स्थित, विज्ञानमय ज्योति पुरुष है, वही समान रूप से दोनों लोकों (इहलोक और परलोक) में संचरित होता है। वह मानो चिन्तन और चेष्टा करता हो। वह पुरुष (आत्मा) स्वप्न के रूप में इहलोक (देह और इन्द्रियों के समुच्चय) का अतिक्रमण करता है और मृत्यु के रूपों का भी उल्लंघन करता है॥ ७॥

स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः पाप्मभिः सꣳसृज्यते स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति॥ ८॥

यह पुरुष जब जन्म लेता है, तब देह के साथ आत्मभाव को प्राप्त होकर पापों से युक्त हो जाता है; किन्तु जब मृत्यु के उपरान्त ऊर्ध्वगमन करता है, तब पापों को परित्यक्त कर देता है॥ ८॥

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं च सन्ध्यं तृतीयꣳ स्वप्नस्थानं तस्मिन्सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च। अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति तमाक्रममाक्रम्योभयान् पाप्मन आनन्दाꣳश्च पश्यति स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामुपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति॥ ९॥

इस पुरुष के इहलोक और परलोक ये दो ही स्थान हैं। स्वप्न लोक इन दोनों के बीच का लोक है। इस मध्यवर्ती स्थान में रहकर पुरुष इहलोक और परलोक का दर्शन करता रहता है। परलोक में निवास करते समय वह पाप और आनन्द दोनों का दर्शन करता है। जब वह शयन करता है, तब अपनी सांसारिक भावनाओं के बनते-बिगड़ते रहने से अपने ही तेजः स्वरूप और ज्योतिः स्वरूप के कारण स्वप्न देखता है॥

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता॥ १०॥

उस अवस्था (स्वप्नावस्था) में न रथ होता है, न उनमें जोते जानेवाले अश्व होते हैं और न ही पथ होता है, परन्तु वह (पुरुष) स्वयं ही इन सबको निर्मित कर लेता है। इसी प्रकार उस स्थिति में आनन्द, मोद और प्रमोद भी नहीं होते, किन्तु वह उन्हें भी उत्पन्न कर लेता है। वहाँ कुण्ड, सरोवर और नदियाँ भी नहीं होतीं, किन्तु वह उनका भी निर्माण कर लेता है। वस्तुतः वही उन सबका कर्त्ता है॥ १०॥

तदेते श्लोका भवन्ति। स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्याऽसुप्तः सुप्तानभिचाकशीति। शुक्रमादाय पुनरेति स्थानꣳ हिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः॥ ११॥

ये श्लोक इस सन्दर्भ में है- स्वप्न की स्थिति में शरीर को निश्चेष्ट करके यह आत्मा स्वयं शयन नहीं करता, वरन् समस्त प्रसुप्त पदार्थों को जाग्रत् करता है अर्थात् उन्हें देखता है। वह हिरण्मय पुरुष एकाकी ही अपने तेज के साथ पुनः जाग्रत् स्थिति को प्राप्त करता है॥ ११॥

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा। स ईयतेऽमृतो यत्र कामꣳ हिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः॥ २॥

वह अनश्वर और हिरण्मय पुरुष अपने शरीररूपी घोंसले की रक्षा करता हुआ, इस शरीर को परित्यक्त करके बहिर्गमन करता है। वह अमृत पुरुष जहाँ कामना (वासना) होती है, वहीं चला जाता है॥ १२॥

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि। उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन्॥ १३॥

वह दिव्य गुण सम्पन्न पुरुष स्वप्न की अवस्था में उच्च-नीच विभिन्न भावों को प्राप्त होकर अनेक रूपों का निर्माण कर लेता है। वह कभी नारियों के साथ मोद मनाता, कभी मित्रों के साथ आनन्दित होता और कभी भय उत्पन्न करने वाले दृश्य देखता है॥ १३॥

आरामस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चनेति तं नायतं बोधयेदित्याहुः। दुर्भिषज्यंहास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यतेऽथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त इत्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहीति॥ १४॥

सभी इस पुरुष के विश्राम स्थल (शरीर) को ही देखते हैं। उसके (वास्तविक स्वरूप) को कोई नहीं देखता। उस प्रसुप्त पुरुष को अचानक नहीं जगाना चाहिए, ऐसा (वैद्य लोगों का) मत है, क्योंकि एकदम जगाने से विभिन्न इन्द्रियों में उसकी चेतना न पहुँचने से फिर चिकित्सा करना कठिन हो जाता है। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि यह स्वप्नावस्था जाग्रत् स्थिति ही है, क्योंकि जो पुरुष (आत्मा) स्वप्नावस्था में देखता है, वही जाग्रत् अवस्था में भी देखता है, इस स्थिति में यह पुरुष स्वयं प्रकाशपुञ्ज होता है। (यह सुनकर) जनक बोले- मैं आपके निमित्त एक हजार मुद्राएँ प्रदान करता हूँ। हे भगवन्! अब मोक्ष सम्बन्धी उपदेश प्रदान करें॥ १४॥

स वा एष एतस्मिन्संप्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति॥ १५॥

(याज्ञवल्क्य बोले-) यह जीव सुषुप्तावस्था में (प्रगाढ़ निद्रा की स्थिति में) अनेक प्रकार से विचरण करते हुए पाप और पुण्यों का दर्शन करता है। (अर्थात् भले- बुरे दृश्य देखता है)। इसके उपरान्त वह जिस योनि से गया था, उसी योनि अर्थात् स्वप्नावस्था में ही लौट आता है। फिर भी वह पुरुष सबसे अनासक्त ही रहता है क्योंकि वह पुरुष स्वतः असङ्ग है। जनक ने कहा- हे याज्ञवल्क्य ! यह तथ्य यथार्थ है। मैं आपको सहस्र मुद्राएँ प्रदान करता हूँ। आप मेरे लिए मोक्ष विषयक उपदेश करें॥ १५॥

स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति॥ १६॥

यह पुरुष जब स्वप्न की स्थिति में होता है, तब वहाँ विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओं में विचरण करता हुआ, अनेक प्रकार के पाप-पुण्यों के दृश्य देखता हुआ लौट जाता है, जहाँ से वह आया था अर्थात् फिर से जाग्रत् स्थिति में आ जाता है; किन्तु वह उस सबसे अलिप्त ही रहता है, जो कुछ उसने वहाँ देखा था।

फिर भी वह पुरुष अनासक्त ही रहता है, इसका कारण यह है कि पुरुष वस्तुतः असङ्ग ही होता है। (यह सुनकर) जनक बोले- हाँ भगवन्! यह यथार्थ है। मैं आपको सहस्र मुद्राएँ प्रदान करता हूँ। आप (आगे भी) मोक्ष सम्बन्धी उपदेश ही कीजिए॥ १६॥

स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नान्तायैव॥ १७॥

यह आत्मा जाग्रत् स्थिति में विचरण करते हुए, विभिन्न पाप-पुण्यों का दर्शन करते हुए, पुनः वहीं स्वप्नावस्था में पहुँच जाता है॥ १७॥

तद्यथा महामत्स्य उभे कूलेऽनुसंचरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्ता-वनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च ॥ १८॥

जिस प्रकार कोई महामत्स्य (बड़ा मगरमच्छ) नदी के पूर्वापर (इस और उस) किनारों पर आता जाता रहता है, ठीक उसी प्रकार यह पुरुष भी स्वप्न और जाग्रतावस्था में क्रमशः आवागमन करता रहता है॥ १८॥

तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः सꣳहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति॥ १९॥

जिस प्रकार आकाश में श्येन (बाज) अथवा सुपर्ण पक्षी चतुर्दिक् उड़ता हुआ थक जाता है और पंखों को सिकोड़कर अपने घोंसलों की ओर गमन करता है, उसी प्रकार यह पुरुष इस स्थान (सुषुप्ति) की ओर दौड़ता है जहाँ शयन करने पर, न तो उसे किसी भोग की कामना रहती है और न ही स्वप्न दिखाई पड़ता है॥ १९॥

ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तावताऽणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यतेऽथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदꣳ सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः॥ २०॥

उस पुरुष की हिता नामक नाड़ियाँ इतनी सूक्ष्म होती हैं, जितना एक बाल का हजारवाँ भाग। ये (नाड़ियाँ) श्वेत, पीली, नीली, हरी और लाल रंग वाली होती हैं। वह पुरुष स्वप्नावस्था में जब जाग्रतावस्था के समान ही भयानक दृश्य देखता है कि मुझे कोई मार रहा है, अपने वश में कर रहा है, हाथी खदेड़ रहा है अथवा मैं गड्ढे में गिर रहा हूँ, तो वह अज्ञान के कारण इन्हें यथार्थ मान लेता है और दुःखी होता है; किन्तु जब वह यह मानता है कि मैं ही देवता हूँ, राजा हूँ अथवा सब कुछ मैं ही हूँ, तब उस समय वह अपने को आनन्द लोक में अनुभव करता है, (अथवा वही उसका आनन्द होता है)॥ २०॥

तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयꣳ रूपं तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामꣳ रूपꣳ शोकान्तरम् ॥ २१॥

सुषुप्तावस्था में अवस्थित उस पुरुष का रूप कामरहित, पापरहित और भयरहित होता है। जिस प्रकार अपनी निज की पत्नी का आलिङ्गन करने वाला पुरुष (पूर्णतया आत्मविभोर होने के कारण) बाहर और भीतर की सभी प्रकार की जानकारियों से अनभिज्ञ रहता है, उसी प्रकार यह पुरुष प्राज्ञ आत्मा से एकीकृत होकर बाह्य और आभ्यन्तर विषयों से अनभिज्ञ रहता है अर्थात् उसे कोई चिन्ता नहीं सताती। उस पुरुष का यह स्वरूप निश्चित ही आप्तकाम, आत्मकाम, निष्काम तथा शोक रहित होता है॥ २१॥

अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदा अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसः श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य भवति॥ २२॥

सुषुप्तावस्था में पिता अपिता, माता अमाता, लोक अलोक, देव अदेव, वेद अवेद, चोर अचोर, भ्रूणघाती अभ्रूणघाती, चाण्डाल अचाण्डाल, पौल्कस (क्षत्रिय स्त्री और शूद्र पुरुष से उत्पन्न पुरुष) अपौल्कस, संन्यासी (श्रमण) असंन्यासी, तपस्वी अतपस्वी हो जाते हैं। तब वह पुरुष समस्त पुण्यों और पापों से अनासक्त रहता है, क्योंकि उस समय वह हृदय के सम्पूर्ण शोकों को पार कर चुका होता है॥ २२॥

यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्॥ २३॥

उस स्थिति में वह देखते हुए भी नहीं देखता। अमरत्व प्राप्त होने के कारण उसकी दृष्टि कभी विलुप्त नहीं होती। उस अवस्था में उस (पुरुष) के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता, जिसे वह देख सके॥ २३॥

यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन् वै तन्न जिघ्रति न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यज्जिघ्रेत्॥ २४॥

उस समय सूँघने की शक्ति होते हुए भी वह नहीं सूँघता। उसकी घ्राण शक्ति कभी समाप्त नहीं होती, क्योंकि वह अनश्वर होता है। उस अवस्था में वह क्या सूँघे? क्योंकि उससे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है॥

यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै तन्न रसयते नहि रसयितू रसयतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्रसयेत्॥ २५॥

वह रस ग्रहण करने में समर्थ होने पर भी रस ग्रहण नहीं करता। उसकी रस ग्रहण करने की सामर्थ्य का कभी लोप नहीं होता, क्योंकि वह अमर्त्य है। उस स्थिति में उससे भिन्न अन्य कोई पदार्थ भी तो नहीं है, जिसका वह रसपान करे॥ २५॥

यद्वै तन्न वदति वदन्वै तन्न वदति न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्वदेत्॥ २६॥

वाक्शक्ति सम्पन्न होते हुए भी वह बोलता नहीं। उसकी वाक्शक्ति का कभी विनाश नहीं होता, क्योंकि वह शाश्वत है। उससे अन्य कुछ और भी तो नहीं है, जिसके संदर्भ में वह बोले॥ २६॥

यद्वै तन्न शृणोति शृण्वन्वै तन्न शृणोति न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यच्छृणुयात्॥ २७॥

वह श्रवण शक्ति से युक्त होने पर भी नहीं सुनता। अमर्त्य होने के कारण उसकी श्रवण शक्ति का कभी विनाश नहीं होता। उससे भिन्न जब कुछ भी नहीं है, तो वह क्या सुने? ॥ २७॥

यद्वै तन्न मनुते मन्वानो वै तन्न मनुते न हि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यन्मन्वीत॥ २८॥

मनन करने की सामर्थ्य होने पर भी वह मनन नहीं करता। कभी नष्ट न होने वाला होने से उसकी मनन शक्ति कभी समाप्त नहीं होती। उसके अतिरिक्त जब अन्य कुछ है ही नहीं, तो वह मनन भी किसका करे? ॥ २८॥

यद्वै तन्न स्पृशति स्पृशन् वै तन्न स्पृशति न हि स्प्रष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्स्पृशेत्॥ २९॥

स्पर्श की शक्ति से सम्पन्न होने पर भी वह स्पर्श नहीं करता। उसकी स्पर्श शक्ति का कभी लोप नहीं होता, क्योंकि वह अमरणशील है। जब उससे भिन्न कुछ भी नहीं है, तो वह स्पर्श भी किसका करे?॥

यद्वै तन्न विजानाति विजानन्वै तन्न विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात्॥ ३०॥

जानने की सामर्थ्य होने पर भी वह नहीं जानता। उसके ज्ञान का कभी लोप नहीं होता, क्योंकि वह अनश्वर है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है, जिसे वह जाने॥ ३०॥

[उपर्युक्त स्थितियाँ सुषुप्तावस्था की हैं- अब जाग्रत् स्थिति का वर्णन है-]

यत्र वान्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्योऽन्यद्रसयेदन्योऽन्यद्वदेदन्योऽन्यच्छृणुयादन्योऽन्यन्मन्वीतान्योऽन्यत्स्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात्॥ ३१॥

जहाँ (जाग्रत् अवस्था में) अपने से भिन्न कुछ अन्य का भाव होता है, वहाँ (उस स्थिति में) अन्य, अन्य का दर्शन करने; अन्य, अन्य को सूँघने; अन्य, अन्य का रसास्वादन करने; अन्य, अन्य को बोलने; अन्य, अन्य का स्पर्श करने और अन्य, अन्य को जानने में समर्थ होता है (अर्थात् जाग्रतावस्था में समस्त बाहरी विषयों से सम्बद्ध रहने से स्वयं से भिन्न सबकी अनुभूति होती है)॥ ३१॥

सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ॥ ३२॥

याज्ञवल्क्य ने आगे कहा- हे राजन् ! जिस प्रकार अथाह जल में एक अद्वितीय द्रष्टा है, उसी प्रकार सुषुप्तावस्था में एक अद्वैत द्रष्टा है। यही ब्रह्मलोक है। यही इस पुरुष की परम गति, यही इसकी सच्ची सम्पदा है, यही इसका परम लोक और परम आनन्द है। इसी परम आनन्द के एक भाग का आश्रय ग्रहण करके समस्त भूत जीवित रहते हैं॥ ३२॥

स यो मनुष्याणाꣳ राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाःस एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्तेऽथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च

श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीत्यत्र ह याज्ञवल्क्यो बिभयांचकार मेधावी राजा सर्वेभ्यो मान्तेभ्य उदरौत्सीदिति॥ ३३॥

जो मनुष्यों में राद्ध (सम्पूर्ण अंग-अवयवों से युक्त) और समृद्धि से सम्पन्न है, समस्त मानवीय भोग्य पदार्थों से युक्त है, मनुष्यों में उत्तम और उनका अधिपति है, वही मनुष्य का परमानन्द है। मनुष्यों का सौ गुना आनन्द, पितृलोक विजेता पितरों का एक आनन्द होता है। पितृलोक विजेता पितरों के सौ आनन्द गन्धर्व लोक का एक आनन्द है। गन्धर्व लोक के सौ आनन्द देवताओं का कर्मरूपी एक आनन्द है। कर्म के माध्यम से ही देवत्व की प्राप्ति होती है। देवगणों के कर्म स्वरूप शत आनन्द, जन्मसिद्ध (अजन्मा) देवताओं के एक आनन्द के बराबर है। निष्काम वेदपाठी और पापरहित पुरुषों का भी वही एक आनन्द है। अजान देवताओं के सौ आनन्द प्रजापति लोक के एक आनन्द के समतुल्य हैं। कामना रहित श्रोत्रिय और पापरहित व्यक्तियों का भी वही एक आनन्द है। प्रजापति लोक के सौ आनन्द, ब्रह्मलोक के एक आनन्द के बराबर है। वेदपाठी, कामनारहित और पापरहित व्यक्तियों का वही एक आनन्द है। याज्ञवल्क्य ने कहा- हे सम्राट्! इसी को परमानन्द और इसी को ब्रह्मलोक कहते हैं। महाराज जनक बोले- मैं आपको एक सहस्र (गौएँ अथवा मुद्राएँ) प्रदान करता हूँ। अब आप आगे भी हमारे निमित्त मोक्ष का उपदेश करें। यह सुनकर ऋषि याज्ञवल्क्य भयभीत हो गये कि इस मेधावी राजा ने तो मुझे सब प्रश्नों के उत्तर मिल जाने तक प्रतिबन्धित कर लिया है॥ ३३॥

स वा एष एतस्मिन्स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव॥ ३४॥

याज्ञवल्क्य ने आगे कहा- यह पुरुष स्वप्न समाप्त हो जाने पर क्रीड़ा और विहार के पश्चात् पाप-पुण्य का दर्शन करके पुनः उसी मार्ग से जाग्रतावस्था में पहुँच जाता है, जहाँ से वह गया था॥ ३४॥

तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद्यायादेवमेवायꣳ शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ उत्सर्जन्याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति॥ ३५॥

जैसे भारवाहक शकट बोझ के कारण (चर-मर) शब्द करते हुए गतिमान् होता है, वैसे ही देहस्थित यह आत्मा प्राज्ञ आत्मा से अधिष्ठित होकर, शब्दायमान होता हुआ, ऊपर को श्वास खींचता हुआ गमन करता है॥ ३५॥

स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपतावाणिमानं निगच्छति तद्यथाम्रं वौदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात्प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव॥ ३६॥

जिस समय यह शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त होकर कमजोर हो जाता है, उस समय यह पुरुष उसी प्रकार शरीर के अवयवों से छूटता जाता है, जिस प्रकार आम, गूलर अथवा पीपल का फल, वृक्ष से अलग होकर गिरने लगता है। यह पुरुष उसी मार्ग से अन्य योनियों में शरीर धारण करने के निमित्त चला जाता है, जिस मार्ग से आया था॥ ३६॥

तद्यथा राजानमायान्तमुग्राःप्रत्येनसःसूतग्रामण्योऽन्नैःपानैरावसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छतीत्येवꣳ हैवंविदꣳ सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति॥ ३७॥

जैसे क्रूरकर्मी सैनिक, दण्डाधिकारी, सारथि और ग्राम के प्रधान या नेता लोग आते हुए राजा की अन्न, पानी, निवास आदि की व्यवस्था करके स्वागतार्थ प्रतीक्षा करते रहते हैं कि ये आ रहे हैं, ये आ रहे हैं। वैसे ही ज्ञान सम्पन्न (कर्मफल जानने वाले) इस जीव की सभी भूत यह कहकर प्रतीक्षा करते रहते हैं, कि यह आ रहा है, ब्रह्म आ रहा है॥ ३७॥

तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽभिसमायन्त्येवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति॥ ३८॥

जिस प्रकार राजा के जाते समय उग्रकर्मा सैनिक, दण्डाधिकारी, सारथि और गाँव के मुखिया लोग उसके समक्ष उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार यह जीव जाते समय ऊपर को श्वास खींचता है, तब इस गमनशील जीव के समक्ष समस्त प्राण उपस्थित होकर उसका अनुगमन करते हैं॥ ३८॥

॥ चतुर्थं ब्राह्मणम्॥

स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्य संमोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति॥ १॥

जिस प्रकार यह जीवात्मा निर्बल होकर सम्मोहित (मूर्छित जैसा) हो जाता है, तब शरीरगत सभी प्राण उसके समक्ष उपस्थित होते हैं। इसके पश्चात् वह इनके (प्राणों के) तेजांश को भली प्रकार ग्रहण करके हृदय की ओर गमन करता है। जिस समय वह चक्षु में व्याप्त पुरुष नेत्रों से बहिर्गमन कर जाता है, तब उनकी रूप दर्शन की सामर्थ्य समाप्त हो जाती है॥ १॥

एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकीभवति न जिघ्रतीत्याहुरेकीभवति न रसयत इत्याहुरेकीभवति न वदतीत्याहुरेकीभवति न शृणोतीत्याहुरेकीभवति न मनुत इत्याहुरेकीभवति न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विज्ञानातीत्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तꣳ सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च॥ २॥

इस प्रकार शरीरस्थ प्राण जीवात्मा में (समाहित) एकीकृत हो जाने पर यह जीव देखना बन्द कर देता है, ऐसा कहते हैं। (इसी प्रकार घ्राणेन्द्रिय, वाक् इन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय, त्वचा, मन और बुद्धि स्थित चेतना जब उस आत्मा से एकीकृत हो बहिर्गमन करती है, तो) यह जीव न सूँघता है, न बोलता है, न स्वाद चखता है, न सुनता है, न स्पर्श करता है, न मनन करता है और न ही जानता है, ऐसा लोग कहते हैं। उस

समय उसके हृदय का अग्रभाग अत्यन्त देदीप्यमान होता है और प्राण, नेत्र, मस्तिष्क अथवा शरीर के अन्य किसी अवयव से बहिर्गमन कर जाता है। प्राण के बाहर निकलने के साथ ही समस्त इन्द्रियाँ उसका अनुगमन करने लगती हैं। उस समय यह आत्मा विशिष्ट ज्ञान से सम्पन्न होता है और विशिष्ट ज्ञान-सम्पन्न प्रदेश (देह) को ही गमन करता है। उस समय उसके साथ उसकी विद्या, उसके कर्म और पूर्व प्रज्ञा (अनुभव किये गये विषयों की वासना) भी साथ चलते हैं॥ २॥

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसꣳहरत्येवमेवायमात्मेदꣳ शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽ न्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसꣳ हरति ॥

जैसे तृण (घास पर चलने वाली) जोंक नामक कीड़ा एक तृण के अन्तिम भाग पर पहुँच कर दूसरे तृण का आश्रय ग्रहण करने के लिए अपनी देह को सिकोड़ता हुआ अन्य तृण पर रखता है, वैसे ही यह आत्मा इस (वर्तमान) शरीर का आश्रय छोड़कर अविद्या का परित्याग करके अपना उपसंहार करते हुए दूसरे नवीन शरीर का आश्रय ग्रहण कर लेता है॥ ३॥

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरꣳ रूपं तनुत एवमेवायमात्मेदꣳ शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरꣳ रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम् ॥ ४॥

जिस प्रकार स्वर्णकार स्वर्ण लेकर उसे नवीन कल्याणकारी रूप प्रदान करता है, उसी प्रकार यह आत्मा वर्तमान शरीर को चेतनारहित करके, अविद्या से मुक्ति पाकर पितर, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्मा अथवा अन्य प्राणियों के नवीन स्वरूपों को धारण करता है अथवा नूतन रूपों का निर्माण करता है॥ ४॥

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदंमयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन । अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते ॥ ५॥

यह आत्मा ब्रह्म स्वरूप है; जो विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, चक्षुर्मय, श्रोत्रमय, पृथ्वीमय, जलमय, वायुमय और आकाशमय है। यह तेजोयुक्त, अतेजोयुक्त, कामयुक्त, अकामयुक्त, क्रोधयुक्त, अक्रोधयुक्त और धर्म तथा अधर्म से भी युक्त है। यह सर्वमय इदम् युक्त (प्रत्यक्ष) अदोयुक्त (परोक्ष) भी है। वह जिस तरह का कर्म और आचरण करता है, उसी तरह के भाव वाला हो जाता है। शुभ कार्य करने से वह शुभ और पाप कृत्य करने से पापी होता है। वह पुण्य कर्मों द्वारा पुण्यात्मा और पाप कर्मों द्वारा पापात्मा होता है। कुछ लोगों का कथन है कि वह पुरुष कामात्मा है। वह कामना के अनुरूप ही संकल्प करता है और संकल्प के अनुरूप ही कार्य करता है तथा कर्मानुसार ही फल प्राप्त करता है॥ ५॥

तदेष श्लोको भवति। तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य । प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम् । तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मण इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ॥ ६ ॥

यह श्लोक इस सन्दर्भ में है- इस पुरुष का लिङ्ग (कारण शरीर) जिस पर आसक्त होता है, उसी की ओर अपनी इच्छा शक्ति एवं कर्म सहित गमन करता है। इहलोक में किए गये कर्मों द्वारा परलोक को प्राप्त करके उन कर्मों के भोग के निमित्त वह पुनः इहलोक में आता है। कर्मफल भोग की कामना वालों का ही निश्चित रूप से आवागमन चलता रहता है, किन्तु निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम पुरुष के प्राणों (इन्द्रियाँ) का उत्क्रमण (संकल्प पूर्वक गमन) नहीं होता, वह तो ब्रह्म स्वरूप बनकर ब्रह्म को ही प्राप्त हो जाता है॥ ६ ॥

तदेष श्लोको भवति।
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति।
तद्यथाऽहिर्निर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदꣳ शरीरꣳ शेतेऽथा-यमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः ॥७॥

यह श्लोक इस विषय में है- जब इस पुरुष के हृदय में स्थित समस्त कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं, तब यह मर्त्य, अमृत अर्थात् अविनाशी होकर यहीं ब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है। जिस प्रकार सर्प की केंचुली उसके बिल के बाहर मृत स्थिति में पड़ी रहती है और उसी प्रकार यह शरीर भी मृत पड़ा रहता है और ब्रह्मतेज से युक्त यह पुरुष जीवनमुक्त होकर शरीर के बिना ही रहता है। (यह सुनकर) विदेहराज जनक ने कहा- हे भगवन्! मैं आपको एक सहस्र गौएँ (अथवा मुद्राएँ) प्रदान करता हूँ॥ ७ ॥

तदेते श्लोका भवन्ति ।
अणुः पन्था विततः पुराणो माꣳस्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव।
तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः॥ ८ ॥

उस विषय (मोक्ष) के सन्दर्भ में ये श्लोक हैं- यह मार्ग (ज्ञानमार्ग) अति सूक्ष्म, विस्तृत और प्राचीन है, जो मुझे प्राप्त हुआ है और मैंने ही इसकी शोध की है। धैर्यशील ब्रह्मविद् पुरुषों को इहलोक में ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है और शरीर छोड़ने के पश्चात् वे उसी पथ से स्वर्ग लोक को प्राप्त करते हैं। विमुक्त स्थिति वाले तो स्वर्ग से भी आगे ऊर्ध्व लोक को प्राप्त करते हैं॥ ८ ॥

तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलꣳ हरितं लोहितं च ।
एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च ॥ ९ ॥

ब्रह्मवेत्ता द्वारा खोजे गये उस मार्ग को कई लोग अलग-अलग रंग वाला बताते हैं। कुछ लोगों का कहना है कि वह श्वेत वर्ण का है, कुछ कहते हैं कि वह नीलवर्ण वाला है, कुछ उसे पीला, कुछ हरा तथा कुछ लाल वर्ण वाला बताते हैं। वह मार्ग साक्षात् परब्रह्म (परमात्म स्वरूप ब्रह्मज्ञ) द्वारा अनुभव किया हुआ है। उस मार्ग से पुण्यात्मा, तेजस्वी और ब्रह्मवेत्ता ही जाते हैं॥ ९ ॥

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते । ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳरताः ॥

(एकांगी जीवन जीने वाले) जो लोग केवल अविद्या (पदार्थपरक कौशल) की उपासना करते हैं, वे घने अंधेरे में (जहाँ कोई मार्ग नहीं सूझ पड़ता उस स्थिति में) जा गिरते हैं। इसी प्रकार जो लोग केवल विद्या (चेतना परक कौशल) की उपासना करते हैं, वे भी उसी प्रकार अन्धकार में पड़ जाते हैं॥ १०॥

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाꣳसोऽबुधो जनाः॥ ११॥

जो अज्ञानी और मूढ़ जन हैं, वे मृत्यूपरान्त आनन्दहीन और अन्धकार से युक्त लोकों को प्राप्त करते हैं॥

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥

यदि पुरुष (आत्मा को) यह ज्ञान हो जाए कि मैं क्या हूँ, तो फिर किस कामना और इच्छा से शरीर के लिए उसे दुःखी होना पड़े?॥ १२॥

यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्संदेहो गहने प्रविष्टः।
स विश्वकृत्स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव ॥ १३॥

जो मननशील और प्रबुद्ध आत्मा वाला है, वह इस विषम (गहन) शरीर में प्रविष्ट होकर समस्त कर्म सम्पन्न करता है, क्योंकि वह विश्वकृत् (कृत-कृत्य) है, सब कुछ करने वाला है, उसी प्राणी का वह लोक है और वही स्वतः भी लोक है ॥ १३॥

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदीर्महती विनष्टिः।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥ १४॥

हम इस शरीर में ही निवास करते हुए यदि उस आत्मा या ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं (तो कृत-कृत्य हो जाते हैं)। यदि उसे नहीं जानते, तो विनष्ट होते हैं। जो जान लेते हैं, वे अमृतत्व प्राप्त कर लेते हैं, इससे भिन्न तो दुःख ही उठाते हैं॥ १४॥

यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा। ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥ १५॥

जब मनुष्य उस भूतकाल और भविष्यत् काल के स्वामी, प्रकाशमान आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन कर लेता है, तब वह उससे कभी पराङ्मुख नहीं होता॥ १५॥

यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते। तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥

जिसके पीछे दिन-रात्रि सहित संवत्सर अनुगमन करता हुआ, परिभ्रमण करता रहता है; ज्योतियों में परम ज्योति उस 'आयु' (रूप आत्मा) की देवगण उपासना करते हैं॥ १६॥

यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः। तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥

जिसके अन्दर पञ्च महाभूत, पञ्चजन और आकाश आश्रित हैं, उस आत्मा को ही मैं अविनाशी ब्रह्म मानता हूँ अथवा मैं ही वह ब्रह्मवेत्ता और अमृत हूँ॥ १७॥

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम् ॥ १८॥

जो उसे प्राण का भी प्राण, चक्षु का भी चक्षु, श्रोत्र का भी श्रोत्र और मन का भी मन जानते हैं, वे उसे पुरातन और अग्रगण्य ब्रह्म मानते हैं॥ १८॥

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥

उस ब्रह्म को एकात्मभाव से अन्तर्मुखी होकर ही देखा जाना चाहिए। इसमें नानात्व विभेद नहीं है। जो इसे नानात्व के रूप में देखता है, वह मृत्यु के द्वारा मृत्यु को प्राप्त करता है॥ १९॥

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमेयं ध्रुवम्। विरजः पर आकाशादज आत्मा महान्ध्रुवः ॥२०॥

वह ब्रह्म जो एक ही प्रकार से दर्शन करने योग्य है, वह अप्रमेय एवं निश्चल है, निर्मल है, आकाश से भी अधिक सूक्ष्म है, अजन्मा है और वह महान् आत्मा अनश्वर है॥ २०॥

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः । नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनꣳहि तदिति॥ २१॥

प्रज्ञावान् ब्राह्मण को चाहिए कि उसे ही जाने और उसी का चिन्तन-मनन करे। अधिक शब्दों के जंजाल में न उलझे। वह तो वाणी का व्यर्थ श्रम ही है॥ २१॥

[शब्दों से मात्र संकेत मिलते हैं, फिर तो प्रत्यक्ष अनुभव से ही उसका बोध होता है। अस्तु , यहाँ व्यर्थ वाग्-जंजाल से बचने का परामर्श दिया गया है।]

स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति एतद्ध स्म वैतत्पूर्वे विद्वाꣳसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः । स एष नेति नेत्यात्माऽनुगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः॥ २२॥

यह आत्मा महान्, अमृत, अज, विज्ञानमय तथा हृदयाकाशशायी है। यह सबको वश में रखने वाला तथा सबका नियन्त्रक और अधिपति है। यह पुण्य कर्मों से प्रवृद्ध नहीं होता और न ही पापकृत्यों से ह्रास को प्राप्त होता है। यह सभी प्राणियों का स्वामी, उनका ईश्वर और सर्वभूत पालक है। लोकों की मर्यादा बनाये रखने के लिए इनको धारण करने वाला सेतु है। इस आत्मा को ब्राह्मण जन वेदों का अध्ययन करके यज्ञ, दान और कामना रहित तप के द्वारा जानते हैं। इसी को जानकर वे मुनि बनते हैं। इस (आत्मारूपी) लोक की कामना करते हुए ही त्यागी पुरुष सब कुछ त्याग कर संन्यास ग्रहण करते हैं। पहले के विद्वान

सन्तान आदि सकाम कर्मों के फल प्राप्त करने की आकांक्षा नहीं करते थे अर्थात् इससे विरत रहते हुए ये सोचते थे कि हमारा लोक तो आत्म लोक है, सन्तति आदि का हम क्या करेंगे ? इसी कारण वे पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से ऊँचे उठकर भिक्षाटन करते थे। पुत्रैषणा ही वित्तैषणा और वित्तैषणा ही लोकैषणा है। आत्मा का ज्ञान देते समय विद्वज्जन 'नेति-नेति' ही कहते हैं, क्योंकि वह ग्रहण नहीं किया जा सकता अर्थात् अग्राह्य है। वह आत्मा असङ्ग अर्थात् आसक्ति रहित है, अहिंस्य है, बन्धन रहित अर्थात् मुक्त है, व्यथा रहित है और कभी नष्ट न होने वाला है। पाप और पुण्य दोनों को लाँघने में ये समर्थ हैं, क्योंकि ये किए हुए और न किए हुए दोनों ही प्रकार के कर्मों से लिप्त नहीं होता ॥ २२॥

तदेतदृचाभ्युक्तम् । एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् । तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति। तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडेनं प्रापितोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चापि सह दास्यायेति॥ २३॥

इसी तथ्य का उल्लेख ऋचा में भी मिलता है- ब्रह्मवेत्ता (ब्रह्मविद्) की यह महिमा नित्य है, जो कर्म के द्वारा न प्रवृद्ध होती है और न ह्रास को ही प्राप्त होती है। उस महिमा के स्वरूप का ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उसका ज्ञान प्राप्त करके फिर वह पापकर्म से लिप्त नहीं होता। इस प्रकार ज्ञान रखने वाला शान्त चित्त, तपस्वी, उपरत, तितीक्षा करने वाला और समाहित चित्त वाला होकर आत्मा में ही आत्मा का दर्शन करता है, सभी को अपने आत्मा के रूप में ही देखता है। फिर कोई पाप उसे नहीं व्यापता, वह पापों को लाँघ जाता है। वह पाप शून्य, मलरहित, संशयहीन और ब्राह्मण हो जाता है। हे राजन्! यही ब्रह्मलोक है, आप यहाँ तक पहुँच गये हैं। तब जनक बोले- हे भगवन्! मैं आपको नमन करता हूँ और आपकी सेवार्थ (आपके श्री चरणों में) स्वयं को भी समर्पित करता हूँ॥ २३॥

स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद॥ २४॥

यह महान् आत्मा जन्म न लेने वाला, अन्न भक्षक और कर्मफल प्रदाता है। इसे इस प्रकार जानने वाला मनुष्य समस्त कर्मों का फल प्राप्त कर लेता है॥ २४॥

स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयꣳ हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद॥ २५॥

यह महान् आत्मा अज, जरारहित, मृत्युरहित, अमर एवं भयरहित ब्रह्म स्वरूप है। जो अभय है, वही ब्रह्म है, ऐसा जानने वाला अभय ब्रह्म स्वरूप हो जाता है॥ २५॥

॥ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन्॥ १ ॥

यह प्रख्यात है कि ऋषि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं। जिनका नाम मैत्रेयी और कात्यायनी था। इन दोनों में मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी और कात्यायनी सामान्य स्त्रियों की तरह ही थी। याज्ञवल्क्य ने अगले आश्रम (वानप्रस्थ) में प्रवृत्त होने की इच्छा से कहा ॥ १ ॥

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽयमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति॥ २ ॥

पत्नी मैत्रेयी से (उन्होंने कहा)-हे मैत्रेयी! मैं अब वर्तमान स्थान (गृहस्थाश्रम) से अगले स्थान (वानप्रस्थ) में परिव्रज्या हेतु जाना चाहता हूँ। अतः मेरी आकांक्षा है कि दूसरी धर्मपत्नी कात्यायनी और आपके बीच (सम्पत्ति का) बँटवारा कर दूँ॥ २ ॥

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्स्यां न्वहं तेनामृताऽऽहो ३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितꣳ स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति॥ ३ ॥

(यह सुनकर) मैत्रेयी बोली- हे भगवन्! धन-धान्य से पूरित इस सम्पूर्ण धरती की यदि मैं स्वामिनी बन जाऊँ, तो क्या मैं अमर पद पा सकूँगी? महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा- नहीं, जैसे साधन-सम्पन्नों का जीवन होता है, वैसा ही तुम्हारा जीवन हो जाएगा। धन से अमृतत्व की आशा नहीं करनी चाहिए॥ ३ ॥

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे विब्रूहीति॥ ४॥

मैत्रेयी बोली-हे स्वामी! जिस धन-ऐश्वर्य से मैं अमृतत्व प्राप्त नहीं कर सकती, उसे ग्रहण करके मैं क्या करूँगी? हे भगवन्! यदि आप अमृतत्व प्राप्त करने का कोई उपाय जानते हों, तो वह मुझे बताने का अनुग्रह करें॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया वै खलु नो भवती सती प्रियमवृधद्धन्त तर्हि भवत्येतद्व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति॥ ५॥

याज्ञवल्क्य ने कहा- हे मैत्रेयी! तुम हमारी प्रिया रही हो और अब भी हमारे लिए प्रिय (आनन्द) की वृद्धि कर रही हो। तुम आकर बैठो- मैं तुम्हारे लिए अमृतत्व प्राप्त कराने वाला उपदेश प्रदान करता हूँ। तुम मेरे उपदेश का निदिध्यासन (अनुपालन) करना ॥ ५ ॥

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति न वा अरे पशूनां कामाय पशवः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति न वा अरे

ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यामनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदꣳ सर्वं विदितम् ॥ ६ ॥

ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा- हे मैत्रेयी! निश्चित ही पति की आकांक्षा पूर्ति के लिए पति प्रिय नहीं होता वरन् अपनी (आत्मीयता की) आकांक्षा पूर्ति के लिए (पत्नी को) पति प्रिय होता है। इसी प्रकार पत्नी के प्रयोजन के लिए नहीं, बल्कि अपने प्रयोजन के लिए (पति को) पत्नी प्रिय होती है। पुत्रों की आकांक्षा पूर्ति के लिए नहीं, वरन् अपनी आकांक्षा पूर्ति के लिए (पिता को) पुत्र प्रिय होते हैं। धन के प्रयोजन पूर्ति के लिए नहीं, वरन् अपने प्रयोजन की पूर्ति के लिए (व्यक्ति को) धन प्रिय होता है। पशुओं के प्रयोजन के निमित्त नहीं, वरन् अपने प्रयोजन के लिए पशु प्रिय होते हैं। ज्ञान या ब्राह्मण के प्रयोजन के लिए नहीं, वरन् अपने प्रयोजन के लिए ज्ञान या ब्राह्मण प्रिय होता है। शक्ति अथवा क्षत्रिय की आकांक्षा के लिए नहीं, वरन् अपनी आकांक्षा पूर्ति के लिए शक्ति या क्षत्रिय प्रिय होते हैं। लोकों के प्रयोजन के लिए नहीं, वरन् अपनी ही इच्छा पूर्ति के लिए लोक प्रिय होते हैं। देवों के प्रयोजन के लिए देव प्रिय नहीं होते अपने (आत्मीयता) प्रयोजन के लिए देव प्रिय होते हैं। वेदों के प्रयोजन के लिए नहीं, वरन् निज के प्रयोजन के लिए वेद प्रिय होते हैं। प्राणियों के हित के लिए नहीं, वरन् अपने हित के लिए प्राणी प्रिय होते हैं। सभी के हित के निमित्त नहीं, वरन् अपने हित के निमित्त सब प्रिय होते हैं। इसलिए हे मैत्रेयी! यह आत्मा ही दर्शन करने योग्य, श्रवण करने योग्य, मनन करने योग्य और निदिध्यासन (अनुभव) करने योग्य है। इस आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और ज्ञान से सभी का ज्ञान हो जाता है॥ ६ ॥

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यात्रात्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद वेदास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो वेदान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यात्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा॥ ७॥

जो ब्राह्मण या ज्ञान को आत्मा से भिन्न किसी अन्य वस्तु में जानने वाला होता है, उसे ब्राह्मण या ज्ञान परित्यक्त कर देता है। क्षत्रिय या बल को आत्मा से भिन्न किसी वस्तु में देखने वाले को बल या क्षत्रिय परित्यक्त कर देता है। लोकों को आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य में जानने वाले को लोक त्याग देते हैं। देवताओं को आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य में जानने वाले को देवता छोड़ देते हैं। वेदों को आत्मा के

अतिरिक्त किसी अन्य में जानने वाले को वेद परित्यक्त कर देते हैं। समस्त प्राणियों को आत्मा के अतिरिक्त किसी अन्य में देखने वाले को समस्त प्राणी त्याग देते हैं। इस प्रकार ब्राह्मण (ज्ञान), क्षत्रिय (शक्ति), लोक, देवता, वेद और समस्त प्राणी ये सभी आत्मा ही हैं, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं॥ ७॥

[आत्मा से भिन्न देखने पर ज्ञान, बल, लोक, देव, वेद आदि का वास्तविक लाभ मिलना बन्द हो जाता है। उनका कलेवर भर बना रहे, तो कुछ लाभ नहीं होता।]

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेर्ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः॥ ८॥

जिस प्रकार बजती हुई दुन्दुभि के बाहर निकलते हुए शब्दों को ग्रहण कर सकने (रोक सकने) में कोई दूसरा समर्थ नहीं है, उन (शब्दों) को केवल स्वयं दुन्दुभि अथवा उसका वादक ही ग्रहण कर सकता है (उसी प्रकार आत्मा को ग्रहण करने में आत्मा ही समर्थ है अथवा आत्मा के संचालक प्राण द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है)॥ ८॥

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दान्छक्नुयाद्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः॥ ९॥

जिस प्रकार बजाये जाते हुए शङ्ख के शब्दों को केवल वह शङ्ख अथवा उसका वादक ही ग्रहण कर सकता है, अन्य कोई ग्रहण करने में समर्थ नहीं है (उसी प्रकार आत्मा अथवा संचालक द्वारा ही आत्मा को ग्रहण किया जा सकता है।) ॥ ९॥

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः॥ १०॥

जैसे बजायी जाती हुई वीणा के शब्दों को स्वयं वह वीणा अथवा उसका वादक ही ग्रहण कर सकता है,अन्य कोई नहीं (उसी प्रकार आत्मा को आत्मा द्वारा अथवा उसके संचालक द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है)॥

स यथार्द्रेधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टꣳ हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि॥ ११॥

जिस प्रकार चारों ओर से आधान किए हुए गीले ईंधन से उत्पन्न अग्नि से धूम्र निकलता है, उसी प्रकार हे मैत्रेयी! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, उपनिषद्, सूत्र, श्लोक, व्याख्यान, अनुव्याख्यान, इष्ट (यज्ञ), हुत (यज्ञ किया हुआ), आशित (खिलाया हुआ), पायित (पिलाया हुआ), इहलोक, परलोक और समस्त प्राणी उस महान् सत्ता के निःश्वास ही हैं॥ ११॥

स यथा सर्वासामपाꣳ समुद्र एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ स्पर्शानां त्वगेकायनमेवꣳ सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रसानां जिह्वैकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रूपाणां चक्षुरेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ शब्दानाꣳ श्रोत्रमेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ संकल्पानां मन

एकायनमेवꣳ सर्वासां विद्यानाꣳ हृदयमेकायनमेवꣳ सर्वेषां कर्मणाꣳ हस्तावेकायनमेवꣳ सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवꣳ सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवꣳ सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवꣳ सर्वेषां वेदानां वागेकायनम्॥ १२॥

जिस प्रकार समस्त जलों का आश्रय स्थल एक मात्र समुद्र है, समस्त स्पर्शों का अयन त्वचा है, समस्त गन्धों का आश्रय नासिका है, समस्त रसों का आश्रय रसना (जिह्वा) है, समस्त रूपों का आश्रय चक्षु है, समस्त शब्दों का आश्रय श्रोत्र, समस्त संकल्पों का आश्रय मन, समस्त विद्याओं का आश्रय हृदय, समस्त कर्मों का आश्रय हस्त, समस्त आनन्दों का आश्रय उपस्थ, समस्त विसर्गों (विसर्जनों) का आश्रय पायु (गुदा), समस्त मार्गों का आश्रय चरण है, उसी प्रकार समस्त ज्ञान (वेदों) का एक ही आश्रय वाक् शक्ति (वाणी) है॥ १२॥

स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥ १३॥

याज्ञवल्क्य ने आगे कहा-जिस प्रकार लवण (नमक) की डली बाहर और भीतर से रहित सम्पूर्ण रूप से रसघन ही है, उसी प्रकार हे मैत्रेयी! यह आत्मा बाह्याभ्यन्तर भेदों से शून्य प्रज्ञान घन ही है। यह विज्ञानघन आत्मा समस्त भूतों से ऊँचा उठकर उन्हीं में विलीन होकर नष्ट हो जाता है। मृत्यु के उपरान्त इस तत्त्व का नाम शेष नहीं रहता (संज्ञाविहीन हो जाता है, क्योंकि वह देहेन्द्रिय भाव से मुक्त हो जाता है)॥१३

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवान्मोहान्तमापीपिपन्न वा अहमिमं विजानामीति स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा ॥ १४॥

मैत्रेयी ने कहा- हे भगवन्! यहीं आपने मुझे मोह में डाल दिया है। मैं इस (उपर्युक्त) तथ्य को विशेष रूप से नहीं समझ सकती। याज्ञवल्क्य बोले- हे मैत्रेयी? मैं मोह में डालने के लिए यह बात नहीं कह रहा हूँ। यह आत्मा निश्चित रूप से अमर्त्य (अविनाशी) है और उच्छेद (नष्ट होने के) धर्म वाली नहीं है॥

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरꣳ रसयते तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरꣳ स्पृशति तदितर इतरं विजानाति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कꣳ रसयेत्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कꣳ शृणुयात्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कꣳस्पृशेत्तत्केन कं विजानीयाद्येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्तानुशासनासि मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार ॥ १५॥

जहाँ (अज्ञान जनित स्थिति में) द्वैतावस्था में कोई अन्य किसी अन्य को देखता, सूँघता, रसास्वादन करता, सुनता, कहता, मनन करता, स्पर्श करता और जानता है; किन्तु जब इसके लिए सभी कुछ आत्मा ही हो गया है, तब (वहाँ) किसके द्वारा किसे देखे, किसके माध्यम से किसे सुने, किसके द्वारा किसका

रसास्वादन करे, किसके माध्यम से किसे कहे, किसके द्वारा किसका मनन करे, किससे किसका स्पर्श करे, किससे किसे जाने ? हे मैत्रेयी ? जिसके द्वारा सभी को जाना जाता है, उसे किसके द्वारा जाने ? वह आत्मा अग्राह्य है, जिसके विषय में 'नेति-नेति' ऐसा कहा गया है। उसका कभी नाश नहीं होता- वह अशीर्य (नष्ट न होने वाला) है, वह किसी से आसक्त नहीं होता- वह असङ्ग है, वह कभी बन्धन में नहीं बँधता- वह अबद्ध है। हे मैत्रेयी ! सर्वज्ञाता को किसके द्वारा जाना जाए ? अरी मैत्रेयी ! अमृतत्व की प्राप्ति के लिए इतना ज्ञान (शिक्षा) बहुत है, ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य (परिव्रज्या हेतु) चले गये॥ १५॥

॥ षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

अथ वꣳशः (पौतिमाष्यात्) पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः॥ १॥ आग्निवेश्यादाग्निवेश्यो गार्ग्याद्गार्ग्यो गार्ग्याद्गार्ग्यो गौतमाद्गौतमः सैतवात्सैतवः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणो गार्ग्यायणाद्गार्ग्यायण उद्दालकायनादुद्दालकायनो जाबालायनाज्जाबालायनो माध्यन्दिनायनान्माध्यन्दिनायनःसौकरायणात्सौकरायणः काषायणा-त्काषायणः सायकायनात्सायकायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः॥ २॥ घृतकौशिकाद्घृतकौशिकःपाराशर्यायणात्पाराशर्यायणःपाराशर्यात्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चासुरायणस्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजङ्घनेरौपजङ्घनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आत्रेयादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद्गौतमो गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्य शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारितात्कुमारहारितो गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्यादाङ्गिरसादयास्यआङ्गिरसआभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणो दैवादथर्वादैवो मृत्योः प्राध्वꣳसनान्मृत्युःप्राध्वꣳसनःप्रध्वꣳसनात्प्रध्वꣳसन एकऋषेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥ ३॥

अब (याज्ञवल्कीय काण्ड का) वंश वर्णन किया जाता है। पौतिमाष्य ने गौपवन से, गौपवन ने पौतिमाष्य से, पौतिमाष्य ने गौपवन से, गौपवन ने कौशिक से , कौशिक ने कौण्डिन्य से, कौण्डिन्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कौशिक और गौतम से (ज्ञानार्जन किया), गौतम ने आग्निवेश्य से, आग्निवेश्य ने गार्ग्य से , गर्गवंशी ने गर्गवंशी से, गर्गवंशी ने गौतम से, गौतम ने सैतव से, सैतव ने पाराशर्यायण (पराशर पुत्र) से, पाराशर्यायण ने गार्ग्य पुत्र से, गार्ग्य पुत्र ने उद्दालकायन से, उद्दालकायन ने जाबालायन से, जाबालायन ने माध्यन्दिनायन से, माध्यन्दिनायन ने सौकरायण से, सौकरायण ने काषायण से, काषायण ने सायकायन से, सायकायन ने कौशिकायनि से (ज्ञानार्जन किया); कौशिकायनि ने घृतकौशिक से,

घृतकौशिक ने पाराशर्यायण से, पाराशर्यायण ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने जातूकर्ण्य से, जातूकर्ण्य ने आसुरायण और यास्क से, आसुरायण ने त्रैवणि से, त्रैवणि ने औपजन्धनि से, औपजन्धनि ने आसुरि से, आसुरि ने भरद्वाजवंशी से, भरद्वाजवंशी ने आत्रेय से, आत्रेय ने माण्टि से, माण्टि ने गौतम से, गौतम ने गौतम से, गौतम ने वात्स्य से, वात्स्य ने शाण्डिल्य के द्वारा, शाण्डिल्य ने कैशोर्य काप्य के द्वारा, कैशोर्यकाप्य ने कुमार हारित के द्वारा, कुमार हारित ने गालव के माध्यम से, गालव ने विदर्भी कौडिन्य से, विदर्भी कौण्डिन्य ने वत्सनपाद् बाभ्रव के द्वारा, वत्सनपाद् बाभ्रव ने पन्थासौभर के द्वारा, पन्थासौभर ने अयास्य आङ्गिरस से, अयास्य आङ्गिरस ने आभूति त्वाष्ट्र से, आभूति त्वाष्ट्र ने विश्वरूप त्वाष्ट्र से, विश्वरूप त्वाष्ट्र ने अश्विनीकुमारों के द्वारा, अश्विद्वय ने दधीचि आथर्वण के माध्यम से, दध्यङ् आथर्वण ने अथर्वादैव से, अथर्वादैव ने मृत्यु प्राध्वंसन के द्वारा, मृत्यु प्राध्वंसन ने प्रध्वंसन के द्वारा, प्रध्वंसन ने एकर्षि के द्वारा, एकर्षि ने विप्रचित्ति के माध्यम से, विप्रचित्ति ने व्यष्टि के माध्यम से, व्यष्टि ने सनारु से, सनारु ने सनातन से, सनातन ने सनग से, सनग ने परमेष्ठी के द्वारा और परमेष्ठी ने ब्रह्म से (ज्ञान प्राप्त किया); ब्रह्म तो स्वयंभू है, उस ब्रह्म को नमन है॥ १-३॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

ॐ पूर्णमदःपूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ ॐ ३ खं ब्रह्म खं पुराणं वायुरं खमिति ह स्माह कौरव्यायणीपुत्रो वेदो यं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद्वेदितव्यम् ॥ १॥

वह (ब्रह्म) पूर्ण है, यह (जगत् भी) पूर्ण है। (उस) पूर्ण ब्रह्म से ही यह पूर्ण विश्व प्रादुर्भूत हुआ है। उस पूर्ण ब्रह्म में से इस पूर्ण जगत् को निकाल लेने पर पूर्ण ब्रह्म ही शेष रहता है। ॐ(इस अक्षर) से संबोधित खं (अनन्त आकाश या परम व्योम) ब्रह्म है। आकाश सनातन (परमात्म रूप) है। जिस (आकाश) में वायु विचरण करता है, वह आकाश ही 'खं' है- ऐसा कौरव्यायणी पुत्र का कथन है। यह ओंकार स्वरूप ब्रह्म ही वेद है- इस प्रकार (ज्ञानी) ब्राह्मण जानते हैं, क्योंकि जो जानने योग्य है, वह सब इस ओंकार रूप वेद से ही जाना जा सकता है॥ १॥

॥ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

त्रयः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥ १॥

देव, मानव तथा असुर इन तीनों प्रजापति के पुत्रों ने ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए प्रजापति के यहाँ निवास किया। ब्रह्मचर्य वास पूर्ण करने के पश्चात् देवताओं ने (प्रजापति से) कहा- 'आप हमें उपदेश

दीजिए।' तब उन्हें प्रजापति ने 'द' अक्षर का उपदेश दिया और पूछा- क्या तुमने इसका तात्पर्य समझ लिया? तब उन (देवों) ने कहा 'हाँ समझ गये'। आपने हमसे (इन्द्रियों का) दमन करो - इस प्रकार कहा है। तब प्रजापति बोले- 'ठीक है', तुम समझ गये ॥ १ ॥

अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥ २ ॥

इसके बाद मनुष्यों ने प्रजापति से कहा- 'आप हमें उपदेश प्रदान करने की कृपा करें।' तदनन्तर उन मनुष्यों से भी प्रजापति ने 'द' अक्षर का उपदेश देकर पूछा- 'क्या तुम इसका तात्पर्य समझ गये'? तब समस्त मानवों ने कहा-'हाँ' समझ गये। उन्होंने कहा- आपने हमसे 'दान करो' इस प्रकार कहा है। प्रजापति ने कहा- हाँ, तुम सब ठीक ही समझ गये॥ २ ॥

अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रयꣳ शिक्षेद्दमं दानं दयामिति ॥ ३ ॥

अन्त में असुरों ने भी प्रजापति से उपदेश करने की प्रार्थना की। प्रजापति ने उनको भी उसी 'द' अक्षर का उपदेश किया और पूछा-क्या तुम सभी ने इसका अर्थ (भाव) समझ लिया? तब उन असुरों ने कहा- 'हाँ' भगवन्! समझ गये, आपने हमको 'दया करो' ऐसा उपदेश प्रदान किया है। (तत्पश्चात्) प्रजापति बोले- हाँ ठीक, तुम समझ गये। प्रजापति के अनुशासन का द. द. द. ..... मेघ गर्जना के रूप में दैवी वाक् आज भी अनुमोदन करता है अर्थात् दमन करो, दान करो, दया करो। इस कारण से इन तीनों दमन, दान और दया की ही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए॥ ३ ॥

[प्रजापति के तीनों पुत्रों ने एक ही अक्षर 'द' से अपने लिए अनुकूल भाव ग्रहण कर लिया- प्रजापति सन्तुष्ट हुए। यह कैसे संभव हुआ? उत्तर है- ब्रह्मचर्य तप से शुद्ध अन्तःकरण के आधार पर यह संभव हुआ; अन्यथा पूरे वाक्य बोलने पर भी श्रोता अपने विकारों के आवरण में सत्य के स्पन्दन ग्रहण नहीं कर पाते। ऋषि आग्रह करते हैं कि आज भी हमें प्रजापति के इन तीनों निर्देशों का अनुपालन करना चाहिए। प्रश्न उठता है- हम मनुष्य हैं, तो तीनों निर्देशों का अनुपालन क्यों करें? समाधान यह है कि यदि हम ब्रह्मचर्य (ब्रह्म के अनुकूल आचरण) की साधना करें, तो स्पष्ट हो जाता है कि जब अपने 'स्व' में देवत्व का उदय हो, तो उससे उत्पन्न श्रेष्ठता के अहं से बचने के लिए दमन का सहारा लें, जब मनुष्योचित भाव जागे, तो संकीर्ण स्वार्थों से बचने के लिए दान करें और जब आसुरी भाव जागे, तो क्रूरता से बचने के लिए दया का आश्रय लें।]

॥ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

एष प्रजापतिर्यद्धृदयमेतद्ब्रह्मैतत्सर्वं तदेतत्त्र्यक्षरꣳहृदयमिति ह इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद॥ १ ॥

यह जो हृदय है, वह प्रजापति है- ब्रह्म है, वह सब कुछ है। यह 'हृदय' तीन अक्षर (वर्णों या क्षरित न होने वाले गुणों) से युक्त है। 'ह्' यह एक अक्षर है (यह हृञ् धातु से बना है, जिसका भाव हरणशील होता है), जो यह जानता है, उसके निमित्त अपने और अन्य (प्राण प्रवाह या प्राणी) अभिहरण करते (अभीष्ट पदार्थ कहीं से प्राप्त करके देते) हैं। एक अक्षर 'द' है ('द' दानार्थ धातु से बना है) जो यह जानता है, उसके निमित्त अपने और अन्य सभी दान करते (स्नेहपूर्वक अपने पास के पदार्थ देते) हैं। एक अक्षर 'यम्' है (यह 'इण' गत्यर्थक धातु से बना है) यह जानने वाला स्वर्ग की प्राप्ति करता है॥ १॥

[हृदय के तीन भाव हैं, जो आवश्यक है और अपने पास नहीं है, उसे प्राप्त करना, जो है उसे श्रेष्ठतर प्रयोगों के लिए देना तथा अपने श्रेष्ठ लक्ष्य की ओर गतिशील रहना। तीनों भाव मिलकर मनुष्य को इस लोक एवं अन्य लोकों के अनुदानों के साथ सद्गति की प्राप्ति कराने में समर्थ होते हैं।]

॥ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

तद्वैतदेव तदास सत्यमेव स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमाँल्लोकान् जित इन्नवसावसद्य एवमेतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति सत्यꣳ ह्येव ब्रह्म ॥ १॥

यह हृदय ही सत्यरूप है, यही महान् यक्ष है तथा यही ब्रह्म के रूप में प्रसिद्ध है। जो व्यक्ति इस प्रकार जानता है, वह इन समस्त लोकों को जीत लेता है। जो असत् मानता है, वह उससे पराजय को प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है। जो इस तरह इस महान् यक्ष, आदिपुरुष (पूज्य), प्रथम उत्पन्न हुए 'सत्य ब्रह्म' को जानता है, (उसको ही उपर्युक्त फल प्राप्त होता है); क्योंकि सत्य ही ब्रह्म रूप है॥ १॥

॥ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवाꣳस्ते देवाः सत्यमेवोपासते तदेतत्त्र्यक्षरꣳ सत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेतदमृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतꣳ सत्यभूयमेव भवति नैवं विद्वाꣳसमनृतꣳ हिनस्ति॥ १॥

यह व्यक्त जगत् प्रारम्भिक काल से आपः (मूल क्रियाशील तत्त्व) के रूप में ही था। तत्पश्चात् उस आपः ने सत्य (यथार्थ भासित होने वाले जगत्) की सर्जना की। इसलिए सत्य ही ब्रह्म का स्वरूप है। ब्रह्म ने प्रजापति को तथा प्रजापति ने समस्त देवगणों को उत्पन्न किया। वे सभी देवगण ब्रह्मरूप सत्य की उपासना करते हैं। यह 'सत्य' नाम तीन अक्षरों से युक्त है। 'स' यह प्रथम अक्षर है, 'ती' (उच्चारण सौकर्य हेतु 'त्' को 'ती') यह द्वितीय अक्षर तथा 'यम्' यह तृतीय अक्षर है। इन तीनों में प्रथम और तृतीय अक्षर ही सत्य रूप है, मध्य का दूसरा अक्षर अनृत है। यह अनृत (तकार) दोनों तरफ से (सकार-यकार रूप) सत्य से व्याप्त है। अतः 'सत्य'- यह नाम सत्य प्राय ही है। इस तरह से जानने वाले की अनृत कभी भी हिंसा नहीं करता॥ १॥

[यह नश्वर पदार्थ या जगत् सत्य के सम्पुट में है, अर्थात् सत्य से उत्पन्न है और उसी में लीन होता है। यह जानने वाला नश्वर पदार्थ का सामयिक उपयोग करते हुए भी उसमें लिप्त होकर नष्ट नहीं होता, यह ऋषि का भाव है।]

तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुष-स्तावेतावन्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन् स यदोत्क्रमिष्यन्भवति शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति नैनमेते रश्मयः प्रत्यायन्ति ॥ २॥

वह सत्य ही आदित्य रूप है। इस सूर्य मण्डल में विद्यमान पुरुष और दक्षिण नेत्र में स्थित पुरुष दोनों आपस में संयुक्त हैं। वे ये दोनों पुरुष एक दूसरे में स्थित हैं। आदित्य-रश्मियों के माध्यम से चाक्षुष पुरुष में स्थित है और चाक्षुष पुरुष आदित्य में प्राण के रूप में स्थित है। जब चाक्षुष पुरुष निकलने लगता है, उस समय यह आदित्य मण्डल को ही देखता है। पुनश्च, ये किरणें लौटकर समीप नहीं आती हैं॥ २॥

य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकꣳ शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहरिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद॥ ३॥

इस आदित्य मण्डल में जो यह (सत्य नाम से युक्त) पुरुष विद्यमान है, 'भूः' उसका शिर है। (उस पुरुष का) शिर एक है तथा वह अक्षर भी एक ही है। 'भुवः' यह भुजा है, इसकी भुजाएँ दो हैं तथा ये अक्षर भी दोनों भुजाओं के रूप में (दो) हैं। 'स्वः' यह प्रतिष्ठा अर्थात् चरणों के रूप में हैं; चरण दो हैं और ये (स्वः=सुवः) अक्षर भी दो हैं। 'अहर्' (हन् धातु से बना है, अर्थ है- हननकर्ता) यह इस (पुरुष) का उपनिषद् (गूढ़ नाम) है, जो इस तरह से जानता हुआ, उस ब्रह्म की उपासना करता है, वह पापों का हनन करके उनका परित्याग कर देता है॥ ३॥

योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकꣳ शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहमिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥ ४॥

यह दक्षिण नेत्र में जो पुरुष (विद्यमान) है। भूः उसका शिर है। (उस पुरुष का) शिर एक है तथा वह अक्षर भी एक ही है। 'भुवः' यह भुजा है, इसकी भुजाएँ दो हैं तथा ये अक्षर भी दोनों भुजाओं के रूप में (दो) हैं। 'स्वः' यह प्रतिष्ठा अर्थात् चरणों के रूप में हैं और ('स्वः = सुवः') अक्षर भी दो हैं। 'अहम्' (इसका भी अर्थ हननकर्ता है) उस (पुरुष) का उपनिषद् (गूढ़ नाम) है; जो इस तरह से जानता हुआ ब्रह्म की उपासना करता है, वह पापों का हनन करके उनका परित्याग कर देता है॥ ४॥

॥ षष्ठं ब्राह्मणम्॥

मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच ॥ १॥

यह पुरुष मनोमय एवं सत्य स्वरूप प्रकाश से युक्त है। यह हृदय के अन्तः भाग में व्रीहि (धान) अथवा यव (जौ) के रूप (जैसे सूक्ष्म आकार) में प्रतिष्ठित है। (यह अनन्त हृदय में योगियों द्वारा दृष्टिगोचर होता है।) वह इन सभी का स्वामी एवं अधिष्ठाता है और जो भी कुछ (दृश्य जगत्) है, सभी को अपने शासन में रखता है॥ १॥

॥ सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

विद्युद्ब्रह्मेत्याहुर्विदानाद्विद्युद्विद्यत्येनं पाप्मनो य एवं वेद विद्युद्ब्रह्मेति विद्युद्ध्येव ब्रह्म ॥

विद्युत् ही (प्रकाश स्वरूप) ब्रह्म है, इस प्रकार (प्रायः लोग) कहते हैं। पापों का खण्डन अथवा विनाश करने में सक्षम होने से ब्रह्म ही विद्युत् (प्रकाश) स्वरूप है। जो (व्यक्ति) 'विद्युत् ब्रह्म है' इस प्रकार जानता है, उसके पापों का (यह विद्युत् ब्रह्म) शमन कर देता है; क्योंकि प्रकाश के रूप में विद्युत् ही ब्रह्म है॥ १ ॥

॥ अष्टमं ब्राह्मणम् ॥

वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्या द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च हन्तकारं मनुष्याः स्वधाकारं पितरस्तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः ॥ १ ॥

वाणी की, कामधेनु गौ के समान उपासना करे। उस गौ के स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार तथा स्वधाकार ये चार स्तन हैं। उसके दो स्तन स्वाहाकार और वषट्कार से देवताओं की जीविका चलती है, हन्तकार से मनुष्य जीवन पाते हैं तथा स्वधाकार से पितृगण जीवित रहते हैं। उस वाणी रूपी धेनु के लिए प्राण ही वृषभ है और मन ही वत्स (बछड़ा) रूप है॥ १ ॥

॥ नवमं ब्राह्मणम् ॥

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषꣳ शृणोति ॥ १ ॥

यह वैश्वानर अग्नि ही है, जो सभी पुरुषों के शरीर में स्थित है। जो अन्न भक्षण किया जाता है, उसका पाचन शरीर में स्थित यह वैश्वानर अग्नि ही करता है। उसी का ही यह घोष (नाद) होता है, जिसे व्यक्ति कानों को बन्द करके अनहद नाद की भाँति श्रवण करता है। जिस समय यह प्राण (पुरुष) शरीर से बाहर निकलने वाला होता है, उस समय इस नाद को नहीं श्रवण कर पाता॥ १ ॥

॥ दशमं ब्राह्मणम् ॥

यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा लम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स लोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन्वसति शाश्वतीः समाः ॥ १ ॥

जब यह पुरुष इस (मनुष्य) लोक से उन्मुक्त होकर गमन करता है, तब वह सर्वप्रथम वायु लोक को प्राप्त करता है। (तदनन्तर) वहाँ पर वह वायु उसके लिए छिद्र युक्त होकर मार्ग प्रदान कर देता है, वह छिद्र रथ के पहिये की भाँति होता है। उस (छिद्र) के द्वारा वह ऊर्ध्व की ओर आरोहण करता है। इसके पश्चात् वह सूर्यलोक में प्रतिष्ठित होता है। वहाँ पर सूर्य भी उसके लिए लम्बर नामक वाद्ययन्त्र के छिद्र की भाँति रास्ता प्रदान करता है। वहाँ से वह ऊर्ध्व की ओर आरोहण करते हुए चन्द्रलोक में पहुँचता है। वहाँ चन्द्रमा भी उसके लिए दुन्दुभि के छिद्र की तरह का मार्ग देता है। उस मार्ग के द्वारा ही वह ऊपर की ओर बढ़ता है। इसके बाद वह अशोक (अर्थात् मानसिक पीड़ा से रहित) और अहिम (अर्थात् शारीरिक दुःख से रहित) नामक लोक में पहुँचकर वहाँ सदा अनन्त वर्षों तक (अनन्तकाल तक) निवास करता है॥ १ ॥

॥ एकादशं ब्राह्मणम् ॥

एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यꣳ हरन्ति परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेद॥ १॥

रोगग्रस्त व्यक्ति को जो ताप-क्लेश होता है- यह निश्चित रूप से परम तप है, जो इस प्रकार श्रेष्ठ चिन्तन करता है, वह परम सत्य लोक को अपने वश में कर लेता है। मृत अवस्था को प्राप्त व्यक्ति को जो लोग जंगल (श्मशान) की ओर ले जाते हैं, यह भी श्रेष्ठ तप है, जो इस प्रकार से जानता है- वह भी परम सत्य लोक को जीत लेता है। मृत व्यक्ति को जो भी अग्नि में प्रतिष्ठित करते हैं, निश्चित ही यह परम तप है, जो इस तरह से जान लेता है, वह श्रेष्ठ लोक को अपने वश में कर लेता है॥ १॥

॥ द्वादशं ब्राह्मणम् ॥

अन्नं ब्रह्मेत्येकआहुस्तन्न तथा पूयति वा अन्नमृते प्राणात्प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नादेते ह त्वेव देवते एकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतस्तद्ध स्माह प्रातृदः पितरंकिꣳस्विदेवैवं विदुषे साधु कुर्या किमेवास्मा असाधु कुर्यामिति स ह स्माह पाणिना मा प्रातृद कस्त्वेनयोरेकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतीति तस्मा उ हैतदुवाच वीत्यन्नं वै वि अन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्ठानि रमिति प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते सर्वाणि ह वा अस्मिन्भूतानि विशन्ति सर्वाणि भूतानि रमन्ते य एवं वेद॥ १॥

प्रातृद ऋषि अपने पिता से विचार विमर्श करते हुए कहते हैं- कुछ लोगों का कथन है कि अन्न ब्रह्म है, किन्तु यह बात मिथ्या लगती है; क्योंकि प्राण के अभाव में अन्न सड़ (नष्ट हो) जाता है। कुछ लोग प्राण को ही ब्रह्म कहते हैं, किन्तु यह बात भी मिथ्या प्रतीत होती है, क्योंकि अन्न के अभाव में प्राण शुष्क पड़ जाता है। यह दोनों देव तत्त्व एक साथ मिलकर परमात्म भाव को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार की विशेष अनुभूति प्राप्त करने वाले का मैं क्या शुभ अथवा क्या अशुभ करूँ? (क्योंकि कृतार्थ होने के उपरान्त उसका न तो शुभ किया जा सकता है और न तो अशुभ।) तत्पश्चात् उसके पिता ने रोकते हुए इस प्रकार कहा-'हे प्रातृद'! ऐसा मत कहो, इन दोनों तत्त्वों की समरूपता को प्राप्त करके कौन परमभाव को प्राप्त होता है? अतः उस (प्रातृद के पिता) ने 'वी' इस प्रकार कहा। 'वी' यही अन्न रूप है। 'वी' रूप अन्न में ही ये समस्त भूत (प्राणी) समाहित हैं। 'रम्' यह प्राण है, क्योंकि रं अर्थात् प्राण में ही ये समस्त भूत (प्राणी समुदाय) रमण करते हैं। जो इस प्रकार से जानता है (वह वीर है), उसमें ये सभी प्राणी समाहित होते हैं तथा सभी प्राणी रमण करते हैं॥ १॥

॥ त्रयोदशं ब्राह्मणम् ॥

उक्थं प्राणो वा उक्थं प्राणो हीदꣳ सर्वमुत्थापयत्युद्धास्मादुक्थविद्वीरस्तिष्ठत्युक्थस्य सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद॥ १॥

प्राण ही 'उक्थ' अर्थात् स्तोत्र है, इस कारण 'उक्थ' की प्राण के रूप में उपासना करें; क्योंकि प्राण

ही इन सभी (प्राणियों) को (ऊपर) उठाता है। इस उक्थ के द्वारा ही उक्थवेत्ता पुत्र का प्राकट्य होता है। इस तरह से जानने वाला ज्ञानी ही 'उक्थ' (प्राण) के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त होता है॥ १॥

यजुः प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय यजुषः सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद॥ २॥

प्राण की उपासना 'यजुः' (योग) के रूप में सम्पन्न करें। प्राण ही यजुः है, इस कारण प्राण में इन समस्त भूतों (प्राणियों) का योग होता है। समस्त भूत (प्राणी) इस (प्राण) की श्रेष्ठता के कारण ही इस यजुः रूप प्राण से संयुक्त होते हैं। अतः जो भी इस प्रकार से उपासना करता है, वह यजुः के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त कर लेता है॥ ३॥

साम प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि सम्यञ्चि हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय कल्पन्ते साम्नः सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥ ३॥

प्राण ही साम है; क्योंकि समस्त प्राणी साम में ही समाहित होते हैं; इस कारण 'साम' की इसी रूप में उपासना करे। सभी प्राणी उस साम के साथ ही एक रूप होते हैं एवं उसकी श्रेष्ठता को धारण करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार से उपासना करने वाला व्यक्ति साम के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त करता है॥

क्षत्रं प्राणो वै क्षत्रं हि वै क्षत्रं त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः प्र क्षत्त्रमन्नमाप्नोति क्षत्त्रस्य सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद॥ ४॥

प्राण ही क्षत्र (बल) है, इसलिए प्राण की उपासना करें। प्राण ही क्षत्र है अर्थात् इस शरीर की शस्त्रादि जनित क्षति से रक्षा करता है। अतः क्षत से रक्षा करने के कारण प्राण का क्षत्रत्व प्रसिद्ध है। अन्य किसी से त्राण (रक्षा) न पाने वाले क्षत्र (प्राण) को प्राप्त करता है। जो भी व्यक्ति इस तरह जानता है, वह क्षत्र के सायुज्य और सालोक्य को प्राप्त कर लेता है॥ ४॥

॥ चतुर्दशं ब्राह्मणम्॥

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद॥ १॥

इस ब्राह्मण में गायत्री के तत्त्वज्ञान एवं महात्म्य का वर्णन किया गया है-

गायत्री के प्रथम पद (चरण) का महत्त्व समझाते हुए ऋषि कहते हैं- भूमि (भू+मि=दो, इसी प्रकार), अन्तरिक्ष (चार) तथा द्यौ (दि+वौ =दो) ये कुल मिलाकर आठ अक्षर होते हैं। आठ अक्षरों से युक्त गायत्री का एक (प्रथम)पाद (तत्सवितुर्वरेण्यं) है। यह (भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ) ही इस गायत्री का प्रथम पाद है। जो भी व्यक्ति इस तरह जानता है, वह तीनों लोकों के सम्पूर्ण ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेता है॥

ऋचो यजूꣳषि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावतीयं त्रयी विद्या तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद॥ २॥

ऋचः (ऋ+चः =दो, इसी प्रकार), यजूँषि (तीन) और सामानि (तीन) ये भी कुल मिलाकर आठ अक्षर हैं। गायत्री महामन्त्र का द्वितीय पाद भी आठ अक्षरों से युक्त है। यह वेदत्रयी ऋक् ,यजुः और साम ही गायत्री का द्वितीय पाद (भर्गो देवस्य धीमहि) है। इस प्रकार से जानने वाला ज्ञानी त्रयी विद्या की उपासना का फल प्राप्त कर लेता है॥ २॥

प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदिदं प्राणि तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेदाथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति यद्वै चतुर्थं तत्तुरीयं दर्शतं पदमिति ददृश इव ह्येष परोरजा इति सर्वमु ह्येवैष रज उपर्युपरि तपत्येवꣳ हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥ ३॥

प्राण (प्रा+ण =दो, इसी प्रकार), अपान (तीन) और व्यान (वि+आ+न=तीन), यह भी आठ अक्षर हैं। आठ अक्षरों से युक्त (धियो यो नः प्रचोदयात्) गायत्री का तृतीय पाद है। गायत्री के इस तीसरे पाद को जानने वाला (इसकी उपासना करने वाला) व्यक्ति समस्त प्राणि-समुदाय को जीत लेता है। इसके अतिरिक्त चतुर्थ दर्शत (दिखने वाला) पाद होता है। यह चतुर्थ पाद (परो रजसे सावदोम्) तुरीय कहलाता है। यह दृष्ट (दर्शनीय) जैसा है, अतः दर्शत पद है, यही 'परो रजा' है। यह सभी रज (लोकों) से परे (ऊपर) रहकर तपता-चमकता है। गायत्री के चतुर्थ पाद को इस प्रकार से जो जानता है, वह यशस्वी होता हुआ सुशोभित होता है॥ ३॥

[गायत्री का चतुर्थ पद 'परो रजसे सावदोम्' भी आठ अक्षरों वाला कहा गया है। विश्वामित्र कल्प तथा प्राचीन संध्या प्रयोगों में इसका उल्लेख मिलता है। उपनिषद् का कथन है कि गायत्री के तीन पाद ही जपनीय हैं,यह चौथा पाद 'दर्शत' पद- देखा जाने वाला- अनुभूतिगम्य कहा गया है। इसका पदच्छेद होता है- परो रजसे- असौ- अदः ॐ अर्थात् रजस् पदार्थ या प्रकाश से परे यह और वह सब ॐ अक्षररूप ब्रह्म ही है। जब साधक के प्राणों के स्पन्दन गायत्री के तीन पदों से एकात्मता स्थापित कर लेते हैं, तो चौथे पद का आभास-अनुभव होने लगता है। इसलिए इसे दर्शत पद कहा है।]

सैषा गायत्र्येतस्मिꣳस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता तद्वैतत्सत्ये प्रतिष्ठितं चक्षुर्वै सत्यं चक्षुर्हि वै सत्यं तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्शमहमश्रौषमिति य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम तद्वै तत्सत्यं बले प्रतिष्ठितं प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलꣳ सत्यादोजीय इत्येवं वैषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता सा हैषा गयाꣳस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणाꣳस्तत्रे तद्यद्गयाꣳस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम स यामेवामूꣳ सावित्रीमन्वाहैषैव स यस्मा अन्वाह तस्य प्राणाꣳस्त्रायते॥ ४॥

यह गायत्री इस दर्शत पद (दर्शनीय चतुर्थ पद) में स्थित है। वह पद सत्य में स्थित है। नेत्र ही सत्य है, सुनिश्चित रूप से नेत्र ही सत्य है। इस कारण यदि दो व्यक्ति आपस में 'मैंने देखा है,' 'मैंने सुना है' इस प्रकार का विवाद करते हुए आएँ और उनमें से जो यह कहे कि 'मैंने देखा है', उसी का हमें विश्वास होगा। इस प्रकार वह सत्य बल में प्रतिष्ठित है। प्राण ही बल है, अतः यह सत्य प्राण में स्थित है। इसी कारण सत्य की अपेक्षा प्राण अधिक बलवान् है। इस प्रकार यह गायत्री प्राण में स्थित है। इस गायत्री ने गयों (प्राणों) का त्राण किया। प्राण ही गय है, उन प्राणों का इस (गायत्री) ने त्राण किया। इसीलिए इसे 'गायत्री' कहते हैं। आचार्य जिन ब्रह्मचारियों को इसका उपदेश देते हैं, यह (गायत्री) उन सभी के प्राणों का त्राण करती है॥ ४॥

ताꣳहैतामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वागनुष्टुबेतद्वाचमनुब्रूम इति न तथा कुर्याद्गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयाद्यदिह वा अप्येवंविद्ब्रह्मैव प्रतिगृह्णाति न हैव तद्गायत्र्या एकंचन पदं प्रति॥ ५॥

कोई-कोई आचार्य अनुष्टुप् छन्द वाली सावित्री का उपदेश करते हैं । वे कहते हैं कि वाणी ही अनुष्टुप् है, अत: हम वाक् का ही उपदेश करते हैं। अन्य आचार्यों के मत से ऐसा उचित नहीं है। अत: गायत्री छन्दवाली सावित्री का ही उपदेश करना चाहिए। इस प्रकार से जानने वाला जो व्यक्ति साधनों का अधिकाधिक संग्रह करे, तब भी वह गायत्री महामन्त्र के एक पाद के फल के समान भी नहीं है॥ ५॥

[गायत्री छन्द वाला- आठ-आठ अक्षरों से युक्त तीन पदों वाला गायत्री मंत्र ही गुरु मंत्र के रूप में उपनिषद् द्वारा स्वीकार्य है। इससे स्पष्ट होता है कि चतुर्थ चरण युक्त गायत्री मंत्र अथवा अन्य छन्दों वाले गायत्री मंत्र 'गुरु मंत्र' के रूप में दिया जाना और प्रयुक्त किया जाना उचित नहीं है। किसी विशेष प्रयोजन की पूर्ति के लिए ही इसका प्रयोग किया जाना चाहिए।]

स य इमाꣳस्त्रींल्लोकान्पूर्णान्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्प्रथमं पदमाप्नुयादथ यावतीयं त्रयी विद्या यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतद्द्वितीयं पदमाप्नुयादथ यावदिदं प्राणि यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्तृतीयं पदमाप्नुयादथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति नैव केनचनाप्यं कुत उ एतावत्प्रतिगृह्णीयात् ॥ ६॥

जो व्यक्ति इन तीनों लोकों के सम्पूर्ण वैभव को दान रूप में ग्रहण करता है, उसका वह (दान) इस गायत्री के प्रथम पाद की उपासना के तुल्य है। यह जो त्रयी (वेद) विद्या है, इसको जो प्रतिग्रह (दान) रूप में ग्रहण करता है, वह दान गायत्री के द्वितीय पाद की उपासना के फल की समानता करता है तथा जो समस्त प्राणि -समुदाय को ग्रहण करता है, वह गायत्री के तृतीय पाद का फल प्राप्त करता है। 'दर्शत परो रजा' यह चतुर्थ पद है, जो कि सभी से ऊपर चमकता है। यह किसी के द्वारा सुलभ (सेवनीय) नहीं है। इस चतुर्थ पाद की समानता किसी भी प्रतिग्रह (दान) से नहीं हो सकती है॥ ६॥

[यहाँ गायत्री का उपस्थान दिया गया है। उपस्थान का अर्थ है- उप- समीप पहुँचकर की गयी स्तुति। सामान्य स्थिति में गायत्री महाशक्ति का आवाहन करके उनकी निकटता की अनुभूति के साथ यह भाव स्तुति की जाती है। उच्च स्थिति में जब साधक के प्राण परिष्कृत होकर गायत्री महाशक्ति का स्पर्श करते हैं, तब उपस्थान की स्थिति बनती है।]

तस्या उपस्थनं गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि नहि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसावदो मा प्रापदिति यं द्विष्यादसावस्मै कामो मा समृद्धीति वा न हैवास्मै स कामः समृद्ध्यते यस्मा एवमुपतिष्ठतेऽहमदः प्रापमिति वा ॥ ७॥

उस गायत्री का उपस्थान इस प्रकार है- हे गायत्री! तीन लोकरूप प्रथम पाद से आप एक पदी हैं। त्रयी विद्या (तीनों वेद) रूपी द्वितीय पाद से आप द्विपदा हैं। प्राण, अपान और व्यान रूपी तृतीय पाद से आप त्रिपदा हैं तथा तुरीय पाद से आप चतुष्पदी हैं। इन सभी से ऊपर निरुपाधिरूप से आप पदरहित अर्थात्

निर्गुण हैं; क्योंकि आपको किन्हीं साधनों से नहीं जाना जा सकता है। सभी लोकों के ऊपर स्थित आपके दर्शनीय तुरीय पद को नमन है। यह (संसारगत) पापरूपी शत्रु अपने कार्य में सफलता न प्राप्त करे। इस तरह से विद्वान् व्यक्ति जिससे द्वेष करता हो, 'उसकी कामना पूरी न हो' इस प्रकार उपस्थान करे अथवा 'मैं' इस वस्तु विशेष को प्राप्त करूँ, इस कामना से उपस्थान करे॥ ७॥

एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो बुडिलमाश्वतराश्विमुवाच यन्नु हो तद्गायत्रीविदब्रूथा अथ कथꣳ हस्तीभूतो वहसीति मुखꣳ ह्यस्याः सम्राण्न विदांचकारेति होवाच तस्या अग्निरेव मुखं यदिह वा अपि बह्विवाग्नावभ्यादधति सर्वमेव तत्संदहत्येवꣳ हैवैवंविद्यद्यपि बह्विव पापं कुरुते सर्वमेव तत्संप्साय शुद्धःपूतोऽजरोऽमृतः संभवति ॥ ८॥

विदेहराज जनक ने (अश्वतराश्व के पुत्र) बुडिल आश्वतराश्वि से यह कहा था कि तुमने अपने आपको गायत्री महाविद्या का ज्ञाता कहा था, फिर हाथी बनकर भार क्यों वहन करते हो? ऐसा सुनकर उसने कहा- हे सम्राट्! मैं इस (गायत्री महाशक्ति) का मुख नहीं जानता था। (तदनन्तर जनक ने कहा-) इस (गायत्री महाशक्ति) का मुख 'अग्नि' है। जिस प्रकार अग्नि में जो भी (ईंधन) डाला जाता है, वह सब भस्म हो जाता है, ठीक उसी प्रकार गायत्री विद्या के निष्णात व्यक्ति को विविध कर्म करने पड़े हों, तब भी सभी पापों को जलाकर (शुद्ध कर्म भावना से) शुद्ध, पवित्र, जरा रहित-अजर और अमर हो जाता है॥

॥ पञ्चदशं ब्राह्मणम् ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये। पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि । वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् । ॐ ३ क्रतो स्मर कृतꣳस्मर क्रतो स्मर कृत ꣳ स्मर। अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥ १॥

सत्यरूपी ब्रह्म का मुख ज्योतिर्मय स्वर्णपात्र से आच्छादित है। हे विश्व के पोषक सूर्यदेव! सत्य धर्म के दर्शन के लिए मैं उसे देख सकूँ, इसलिए आप उस (पर से) आवरण को हटा दें। हे पूषन् (पोषणकर्ता)! हे एकर्षे (सर्वद्रष्टा)! हे यम! हे सूर्य! हे प्राजापत्य! आप अपनी रश्मियों को समेटकर तेज को कम कर लें, जिससे आपका जो अतिकल्याणकारी रूप है, उस रूप को मैं देख सकूँ। यह जो आदित्यमण्डल में स्थित पुरुष है, वह अमृतस्वरूप मैं ही हूँ। प्राणवायु इस बाहर की वायु को तथा यह शरीर भस्मावशेष होकर पृथ्वी को प्राप्त करे। यह अमृत (आत्मा) आपको समर्पित है। हे प्रणवरूप विश्वकर्ता ! स्मरण करें (मेरा ध्यान रखें)। मैंने जो भी कर्म किया है, उसका स्मरण करें। हे क्रतुरूप (जीवात्मा)! जो भी स्मरण करने योग्य है, उसी का स्मरण करें। किये हुए कृत्य का स्मरण करें। हे अग्निदेव! आप हमें कर्मफल की प्राप्ति हेतु सुन्दर पथ (देवयान मार्ग) से ले चलें। हे देव! आप हमारे सभी कर्मों को जानने वाले हैं। हमारे कुटिल पापों को दूर करें (नष्ट करें)। हम आपको बार-बार नमन करते हैं॥ १॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥ १ ॥

जो ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ को जानने में सक्षम है, वह अपनी जाति में ज्येष्ठ(बड़ा) एवं श्रेष्ठ है। जो भी व्यक्तिइस तरह से (ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ की) उपासना करता है, वह व्यक्ति अपनों के बीच में तथा जिन लोगों के बीच चाहता है, उन सभी में श्रेष्ठता और महानता को प्राप्त करता है॥ १ ॥

यो ह वै वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानां भवति वाग्वै वसिष्ठा वसिष्ठः स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद॥ २॥

जो वसिष्ठ (श्रेष्ठता) को जानता है, वह स्वजनों के बीच में वसिष्ठ (श्रेष्ठ) होता है। वाणी ही श्रेष्ठ है। जो (व्यक्ति) इस तरह से वाणी की उपासना करता है, वह अपने आत्मीय जनों में और जिनके प्रति उसकी विशेष चाह (स्नेह) है, उन सभी में वसिष्ठ (श्रेष्ठ) होता है॥ २॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे चक्षुर्वै प्रतिष्ठा चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे य एवं वेद ॥ ३॥

जो प्रतिष्ठा को जानने में समर्थ है, वह देश-काल की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता दोनों स्थितियों में प्रतिष्ठित होता है। नेत्र ही प्रतिष्ठा है, क्योंकि नेत्र ही समान अथवा असमान देश-काल में प्रतिष्ठित होते हैं। इस प्रकार से जानने वाला (व्यक्ति) अपनी इच्छा के द्वारा समान अथवा असमान परिस्थितियों में प्रतिष्ठित होता है॥ ३ ॥

यो ह वै सम्पदं वेद सꣳ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते श्रोत्रं वै सम्पच्छ्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसम्पन्नाः सꣳहास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥ ४॥

जो सम्पद् (दैवी सम्पदा) को जानने में समर्थ है, वह अपनी इच्छित कामनाओं को पूर्ण करता है। श्रोत्र ही सम्पद् है, क्योंकि श्रोत्र में ही समस्त वेद भली-भाँति समाये हुए हैं। जो इस प्रकार से जानता हुआ, जिस भोग की इच्छा करता है, वह उसे पूर्णरूप से प्राप्त करता है॥ ४॥

यो ह वा आयतनं वेदायतनꣳस्वानां भवत्यायतनं जनानां मनो वा आयतनमायतनꣳ स्वानां भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद ॥ ५॥

जो आयतन (आश्रय) को जानने वाला है, वह स्वयं अपने लोगों के लिए और दूसरों के लिए भी आयतन (आश्रय) रूप होता है। मन ही आयतन है, जो भी (व्यक्ति) इस प्रकार जानता है, वह स्वजनों और अन्य दूसरे लोगों को भी आश्रय प्रदान करता है॥ ५॥

यो ह वै प्रजापतिं वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभी रेतो वै प्रजापतिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥ ६॥

जो व्यक्ति प्रजापति (प्रजनन सामर्थ्य) को जानता है, वह प्रजा और पशुओं के रूप में प्रजात अर्थात् वृद्धि को प्राप्त करता है। रेतस् ही प्रजापति है, जो इस प्रकार से जानता है, वह प्रजा एवं पशुओं से युक्त होता है॥ ६ ॥

ते हेमे प्राणा अहꣳश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुस्तद्धोचुः को नो वसिष्ठ इति तद्धोवाच यस्मिन्व उत्क्रान्त इदꣳ शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति॥ ७॥

वागादि समस्त प्राण 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ', इस प्रकार प्रजापति ब्रह्मा जी के पास पहुँच कर पूछने लगे कि हममें से कौन वरिष्ठ (श्रेष्ठ) है ? प्रजापति ने कहा- तुममें से जिसके बाहर निकल जाने पर यह शरीर अधिक पापी अर्थात् अपवित्र माना जाता है, वही तुममें से श्रेष्ठ है॥ ७॥

वाग्घोच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथाकला अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह वाक् ॥ ८॥

सर्वप्रथम वाणी ने शरीर को छोड़ दिया। उस (वागिन्द्रिय) ने एक वर्ष तक बाहर रहने के पश्चात् वापस आकर पूछा- मेरे अभाव में तुम सब कैसे जीवित रहे ? यह सुनकर उन्होंने कहा- जिस प्रकार मूक व्यक्ति वाणी से न बोलते हुए भी प्राण से श्वसन क्रिया सम्पन्न करते, चक्षु से देखते, कान से श्रवण करते हैं, मन से जानते हैं और रेतस् (वीर्य) से प्रजा की वृद्धि करते हैं (जीवित रहते हैं), उसी प्रकार हम भी जीवित रहे। ऐसा श्रवण कर वागिन्द्रिय ने शरीर में पुनः प्रवेश किया ॥ ८॥

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा अन्धा अपश्यन्तश्चक्षुषा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ९॥

(वाणी के पश्चात्) चक्षु एक वर्ष के लिए शरीर से बाहर चले गये। एक वर्ष के अनन्तर लौटे और बोले -'तुम मेरे बिना किस प्रकार जीवित रह सके' ? उन्होंने कहा- जैसे अन्धे व्यक्ति नेत्र से न देखते हुए भी प्राण से प्राणन क्रिया सम्पन्न करते, वागिन्द्रिय से बोलते, श्रोत्र से श्रवण करते, मन से मनन करते और रेतस् से प्रजा (सन्तान) की उत्पत्ति करते हुए जीवित रहते हैं, उसी तरह हम भी जीवित रहे। नेत्रों ने इस प्रकार सुनते हुए शरीर में पुनः प्रवेश किया॥ ९॥

श्रोत्रꣳ होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा बधिरा अशृण्वन्तः श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ १०॥

चक्षु के उपरान्त श्रोत्र ने उत्क्रमण किया। उसने भी एक वर्ष तक शरीर से बाहर रहते हुए, वापस आकर वागादि अन्य इन्द्रियों से पूछा- तुम सब मेरे बिना कैसे जीवन धारण किये रहे ? तब उन समस्त इन्द्रियों ने कहा- 'जिस प्रकार बधिर व्यक्ति कानों से श्रवण न करते हुए भी प्राण से श्वास लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, नेत्र से देखते हुए , मन से जानते हुए और रेतस् से सन्तान की उत्पत्ति करते हुए जीवन धारण किए रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जीवित रहे'। यह सुनकर श्रोत्र ने पुनः शरीर में प्रवेश किया॥ १०॥

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा मुग्धा अविद्वाꣳसो मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह मनः ॥ ११ ॥

इसके बाद मन ने शरीर को छोड़ दिया। एक वर्ष तक शरीर से बाहर रहने के पश्चात् वापस लौटकर पूछा कि तुम मेरे बिना कैसे जीवन धारण करने में समर्थ रहे? तब उन (इन्द्रियों) ने कहा- जैसे पागल (मुग्ध) पुरुष मन से न जानने के कारण अज्ञानी की भाँति रहते हुए भी प्राणों से श्वास-प्रश्वास की क्रिया सम्पन्न करते हैं, कानों से श्रवण करते हैं, चक्षु से देखते हैं, वाणी से बोलते हैं और रेतस् (वीर्य) से प्रजा (सन्तति) उत्पन्न करते हुए जीवित रहते हैं, उसी प्रकार हम भी जीवित रहे। ऐसा सुनकर मन ने शरीर में पुनः प्रवेश किया॥ ११ ॥

रेतो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा क्लीबा अप्रजायमाना रेतसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह रेतः ॥ १२ ॥

मन के बाद रेतस् ने शरीर से उत्क्रमण किया। उस (रेतस्) ने भी एक वर्ष तक शरीर से बाहर रहने के पश्चात् वापस लौटकर पूछा- मेरे बिना तुम कैसे, किस प्रकार जीवित रहे? तब उन इन्द्रियों ने कहा- जैसे नपुंसक व्यक्ति रेतस् के अभाव में सन्तान न उत्पन्न करते हुए भी प्राण से श्वास लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, नेत्र से देखते हुए, कानों से श्रवण करते हुए और मन से मनन करते हुए (जीवन धारण किए रहता है), उसी प्रकार हम भी जीवित रहे। इस प्रकार सुनकर रेतस् (वीर्य) ने शरीर में पुनः प्रवेश किया॥ १२ ॥

अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशशंकून्संवृहेदेवꣳ हैवेमान्प्राणान्त्संववर्ह ते होचुर्मा भगव उत्क्रमीर्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति तस्यो मे बलिं कुरुतेति तथेति ॥ १३ ॥

तत्पश्चात् प्राण शरीर से उत्क्रमण करने को तत्पर हुए। जैसे सिंधु देश का श्रेष्ठ अश्व पैर बाँधने के खूँटे को उखाड़ डालता है, वैसे ही प्राण ने सभी वागादि इन्द्रियों को अपने स्थान से विचलित कर दिया। उन समस्त वाक् आदि इन्द्रियों ने कहा- भगवन्! आप शरीर से बाहर न निकलें, आपके अभाव में हम जीवित नहीं रह सकते। तदनन्तर (उस) प्राण ने कहा- अच्छा, तुम सभी मुझे बलि (भेंट) प्रदान किया करो। इन्द्रियों ने तथास्तु कहते हुए उसे आश्वस्त किया॥ १३ ॥

सा ह वागुवाच यद्वा अहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति यद्वा अहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति चक्षुर्यद्वा अहꣳ संपदस्मि त्वं तत्संपदसीति श्रोत्रं यद्वा अहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति मनो यद्वा अहं प्रजातिरस्मि त्वं तत्प्रजातिरसीति रेतस्तस्यो मे किमन्नं किं वास इति यदिदं किंचाश्वभ्य आकृमिभ्य आ कीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वास इति न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं परिगृहीतं य एवमेतदनस्यान्नं वेद तद्विद्वाꣳसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते ॥ १४॥

उस वागिन्द्रिय ने कहा- मुझमें जो श्रेष्ठता है, अब तुम ही उस वसिष्ठ गुण से सम्पन्न हो। ऐसे ही नेत्र ने भी कहा- मैं जो प्रतिष्ठा रूप हूँ, अब तुम ही उस प्रतिष्ठा के गुण से सम्पन्न हो। श्रोत्र ने भी कहा- मैं जो सम्पदा रूप हूँ, अब तुम ही उस सम्पदा के गुण से युक्त हो। (तत्पश्चात्) मन ने कहा- मैं जो आश्रय रूप हूँ, अब तुम ही उस आश्रय के गुणों से सम्पन्न हो। (तदनन्तर) रेतस् ने कहा- मैं जो सन्तानोत्पत्ति कर्त्ता हूँ, अब तुम ही उस प्रजा की उत्पत्ति के गुणों से सम्पन्न हो। (इसके बाद) प्राण ने प्रश्न किया कि मेरा अन्न और वस्त्र क्या होगा? तब उन वाक् आदि इन्द्रियों ने कहा- कीट-पतंगादि से लेकर जितने देहधारी हैं, वे सब तुम्हारे अन्न होंगे और जल ही तुम्हारा उपवीत होगा। प्राण के इस अन्न को इस तरह से जानने वाले का भक्षित अन्न अभक्ष्य नहीं होता। जल को वस्त्र रूप में जानने वाले मनीषीगण जल का आचमन करके ही भोजन ग्रहण करते हैं। प्राण को वस्त्र से रहित नहीं होने देते॥ १४॥

॥ द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालानां परिषदमाजगाम स आजगाम जैवलिं प्रवाहणं परिचारयमाणं तमुदीक्ष्याभ्युवाद कुमार३ इति स भो३ इति प्रतिशुश्रावानुशिष्टोऽन्वसि पित्रेत्योमिति होवाच ॥ १॥

आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु पांचालों की सभा में पहुँचकर सेवकों द्वारा परिचर्या कराते हुए जीवल के पुत्र प्रवाहण के समीप आया। श्वेतकेतु को देखकर प्रवाहण ने 'ओ कुमार!' कहते हुए बुलाया। वह बोला- 'भो!'(क्या है?)। प्रवाहण ने प्रश्न किया-क्या तुम्हारे पिता ने तुम्हें शिक्षा दी है? श्वेतकेतु ने कहा- 'हाँ'॥

वेत्थ यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता ३ इति नेति होवाच वेत्थो यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो यथासौ लोक एवं बहुभिः पुनः पुनः प्रयद्भिर्न संपूर्यता३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो यतिथ्यामाहुत्याꣳ हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती३ इति नेति हैवोवाच वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वा यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वापि हि ऋषेर्वचः श्रुतम् द्वे सृती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम् । ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेति नाहमत एकंचन वेदेति होवाच ॥ २॥

(प्रवाहण ने पूछा-) प्रजा (जीवात्मा) शरीर को त्यागने के पश्चात् भिन्न-भिन्न मार्गों से गमन करती है, क्या तुम यह जानते हो? श्वेतकेतु ने उत्तर दिया- 'नहीं'। (राजा ने पुनः प्रश्न किया-) वह पुनः इस लोक में आती है, तो क्या यह तुम्हें ज्ञात है? श्वेतकेतु ने फिर कहा 'नहीं'। (राजा ने फिर प्रश्न किया-) इस तरह असंख्यों मरकर गये हुए प्राणियों के गमन करने से वह लोक भरता क्यों नहीं? उसने उत्तर दिया 'नहीं जानता।' (राजा ने फिर पूछा-) कौन सी आहुति प्रदान करने से आपः तत्त्व ही प्राणी रूप में होकर उठने एवं बोलने में समर्थ हो जाता है? उसने उत्तर दिया- नहीं जानता। (प्रश्न पूछा गया-)देवयान मार्ग का कर्मरूपी साधन अथवा पितृयान का कर्मरूपी साधन कैसे प्राप्त होता है? क्या तुमने ऋषियों की यह वाणी सुनी है कि पितरों एवं देवताओं के इस प्रकार के दो मार्ग हैं। ये दोनों मार्ग मनुष्य से सम्बन्ध रखने

वाले हैं। इन दोनों मार्गों से गमन करने वाला जगत् ठीक प्रकार से गमन करता है, साथ ही ये मार्ग पिता और माता अर्थात् (द्युलोक और पृथ्वी लोक) के मध्य में हैं। ऐसा सुनने के पश्चात् श्वेतकेतु ने कहा- मैं इनमें से एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं जानता हूँ॥ २॥

अथैनं वसत्योपमन्त्रयांचक्रेऽनादृत्य वसतिं कुमारः प्रदुद्राव स आजगाम पितरं तꣳहोवाचेति वाव किल नो भवान्पुरानुशिष्टानवोचदिति कथꣳ सुमेध इति पञ्च मा प्रश्नान् राजन्यबन्धुरप्राक्षीत्ततो नैकंचन वेदेति कतमे त इतीम इति ह प्रतिकान्युदाजहार ॥ ३॥

इसके पश्चात् राजा ने श्वेतकेतु से रुकने के लिए निवेदन किया, लेकिन वह कुमार राजा के द्वारा की गई प्रार्थना की उपेक्षा करके चला गया। वह कुमार अपने पिता के समक्ष आकर बोला- आपने यह कहा था कि तुझे सभी विषयों की शिक्षा दे दी गयी है? (ऐसा सुनकर श्वेतकेतु के पिता ने कहा-) हे श्रेष्ठ बुद्धि वाले! क्या हुआ? कुमार ने कहा- उस (राजा) ने मुझसे पाँच प्रकार के प्रश्न पूछे थे; किन्तु मैं उनमें से एक का भी उत्तर नहीं दे सका। पिता ने पूछा- वे कौन से प्रश्न थे? पुत्र ने 'ये थे' इस प्रकार कहते हुए उन सभी प्रश्नों के प्रारूप बता दिये॥ ३॥

स होवाच तथा नस्त्वं तात जानीथा यथा यदहं किंचन वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोचं प्रेहि तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं वत्स्याव इति भवानेव गच्छत्विति स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जैवलेरास तस्मा आसनमाहृत्योदकमाहारयांचकाराथ हास्मा अर्घ्यं चकार तꣳ होवाच वरं भगवते गौतमाय दद्म इति ॥ ४॥

श्वेतकेतु से उसके पिता ने कहा कि हे तात! हम जो कुछ भी जानते थे, वह सभी तुमको बता दिया था। अब हम दोनों ही उस क्षत्रिय बन्धु के पास चलकर ब्रह्मचर्य के व्रत को धारण करते हुए उसके समक्ष निवास करेंगे। पुत्र ने कहा- 'आप ही उनके पास जाएँ।' ऐसा सुनकर वह गौतम (श्वेतकेतु के पिता) जहाँ जैवलि प्रवाहण का कक्ष था, वहाँ पहुँचे। उसके लिए आसन प्रदान करते हुए राजा ने (सेवकों से) जल मँगाकर अर्घ्य समर्पित किया। तत्पश्चात् बोले मैं पूज्य गौतम को वर प्रदान करता हूँ अर्थात् आपका प्रयोजन पूर्ण करने के लिए तत्पर हूँ॥ ४॥

स होवाच प्रतिज्ञातो म एष वरो यां तु कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तां मे ब्रूहीति॥

उस (श्वेतकेतु के पिता) ने कहा- हे राजन्! आपने वर प्रदान करने के लिए प्रतिज्ञा की है। उसके अनुसार मैं कहता हूँ कि कुमार (श्वेतकेतु) से जो प्रश्न किये थे, वही प्रश्न आप मुझसे पूछने की कृपा करें॥ ५॥

स होवाच दैवेषु वै गौतम तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति॥ ६॥

राजा प्रवाहण ने कहा- हे गौतम! वह वर तो देवताओं के श्रेष्ठ वरों में से है। इसलिए आप मनुष्यों से सम्बन्धित वरों में से कोई भी वर माँग लो॥ ६॥

स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गोअश्वानां दासीनां प्रवाराणां परिधानस्य मा नो भवान्बहोरनन्तस्यापर्यन्तस्याभ्यवदान्योऽभूदिति स वै गौतम तीर्थेनेच्छासा इत्युपैम्यहं भवन्तमिति वाचा ह स्मैव पूर्व उपयन्ति स होपायनकीर्त्योवास॥ ७॥

गौतम ने कहा- आप को मालूम है कि मेरे पास तो वह सभी कुछ है; जैसे- स्वर्ण, गौ, अश्व,

परिचारिकाएँ, परिवार एवं वस्त्राभूषण आदि। इसलिए आप श्रेष्ठ एवं अनन्त फलों से युक्त तथा कभी भी नष्ट न होने वाला वर प्रदान करें। (राजा ने कहा-) हे गौतम! तुम शास्त्र द्वारा कही हुई रीति से उसे प्राप्त करने की इच्छा करो। (गौतम ने कहा-) 'अच्छा' ठीक है। मैं आपके समीप में शिष्य भाव से शिक्षा प्राप्ति के लिए उपस्थित हुआ हूँ। पूर्वकाल में ब्राह्मण वाणी से ही क्षत्रिय आदि के पास उपस्थित होते थे। इस प्रकार गौतम भी कथन मात्र करके उस गुरु के समीप शिष्यभाव से रहने लगे॥ ७॥

स होवाच यथा नस्त्वं गौतम मापराधास्तव च पितामहा यथेयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिꣳश्चन ब्राह्मण उवास तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि को हि त्वैवं ब्रुवन्तमर्हति प्रत्याख्यातुमिति॥ ८॥

राजा ने कहा- हे गौतम! जैसे तुम्हारे पूर्वजों ने (पितामह आदि ने) हमारे महान् पूर्वजों के अपराध को स्वीकार नहीं किया था, उसी प्रकार तुम भी मेरी अवज्ञा न करना। यह विद्या इससे पहले और किसी भी ब्राह्मण के पास नहीं रही। इस श्रेष्ठ विद्या को मैं तुम्हारे लिए कहता हूँ; क्योंकि तुम्हारी नम्रता युक्त इस प्रकार की प्रार्थना का निषेध करने में कोई भी समर्थ नहीं हो सकता॥ ८॥

असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवति॥ ९॥

हे गौतम! यह द्युलोक ही अग्नि है। आदित्य ही उस (अग्नि) की समिधा (ईंधन) है। रश्मियाँ ही धूम्र (धुआँ) हैं, दिन ही ज्वालाएँ हैं, दिशाएँ ही अङ्गार हैं तथा अवान्तर दिशाएँ ही चिनगारियाँ हैं, ऐसे महान् गुणों से युक्त द्युलोक रूपी इस अग्नि में देवताओं के समूह श्रद्धारूप आहुतियाँ प्रदान करते हैं, उन आहुतियों से ही राजा सोम का प्रादुर्भाव होता है॥ ९॥

पर्जन्यो वाग्निर्गौतम तस्य संवत्सर एव समिदभ्राणि धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳ राजानं जुह्वति तस्या आहुत्यै वृष्टिः संभवति॥ १०॥

हे गौतम! पर्जन्य (अर्थात् मेघ) ही अग्नि है। संवत्सर ही उसकी समिधा है, अभ्र (बादल) ही धुआँ है, विद्युत् ही ज्वाला के रूप में है, अशनि (अर्थात् इन्द्र का वज्र) ही अङ्गारे हैं और मेघ की गर्जना ही विस्फुलिङ्ग (चिनगारी) हैं। इस प्रकार इस अग्नि में समस्त देवता, सोम राजा (वाष्प) की आहुति देते हैं, इस आहुति से ही वर्षा होती है॥ १०॥

अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्य पृथिव्येव समिदग्निर्धूमो रात्रिरर्चिश्चन्द्रमाङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नꣳ संभवति॥ ११॥

हे गौतम! यह लोक ही अग्नि है। इस (अग्नि) की समिधा पृथ्वी है, अग्नि धूम्र है, रात्रि ज्वाला है, चन्द्रमा अङ्गार एवं नक्षत्र ही चिनगारियाँ हैं। इस दिव्य अग्नि में देवगण वर्षा की आहुतियाँ प्रदान करते हैं। उन आहुतियों से ही श्रेष्ठ अन्न का प्रादुर्भाव होता है॥ ११॥

पुरुषो वाऽग्निर्गौतम तस्य व्यात्तमेव समित्प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुत्यै रेतः संभवति॥ १२॥

हे गौतम! पुरुष ही अग्नि है। उसका खुला हुआ मुँह ही समिधाएँ हैं। प्राण ही धुआँ है, वाणी ही ज्वाला है, चक्षु ही अङ्गारे हैं और श्रोत्र ही विस्फुलिङ्ग (चिनगारी) हैं। इस (श्रेष्ठ दिव्य) अग्नि में ही समस्त देवता अन्न का होम करते हैं। उस (अन्न) की आहुति से ही रेतस् (वीर्य) प्रकट होता है॥ १२॥

योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः संभवति स जीवति यावज्जीवत्यथ यदा म्रियते॥ १३॥

हे गौतम! स्त्री ही अग्नि है। उसका उपस्थ (उत्पादक अंग) ही समिधा है, लोम समूह ही धुआँ है, योनि ही ज्वाला है, सहवास ही अङ्गारे और आनन्द ही चिनगारी है। इस अग्नि में सभी देव समूह रेतस् (वीर्य) की आहुति करते हैं। उस यजन कृत्य से पुरुष की उत्पत्ति होती है। वह जीवन धारण किये रहता है, जब तक कर्म शेष रहते हैं, तब तक ही जीवित रहता है और जब मृत्यु को प्राप्त होता है॥ १३॥

अथैनमग्नये हरन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समिद्धूमो धूमोऽर्चिरर्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः पुरुषं जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषो भास्वरवर्णः संभवति॥ १४॥

तब इसे अग्नि के समक्ष ले जाते हैं। उस (आहुतिभूत पुरुष) का अग्नि ही अग्निरूप होता है, समिधाएँ ही समिधा रूप होती हैं। धूम्र ही धुआँ रूप होता है, ज्वाला ही ज्वाला होती है, अङ्गार ही अङ्गारे होते हैं और चिनगारियाँ ही विस्फुलिङ्ग होते हैं। इस अग्नि में देवता लोग पुरुष की ही आहुति देते हैं। उस आहुति द्वारा ही मनुष्य तेजोमय रूप वाला होता है॥ १४॥

ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धाꣳ सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान्वैद्युतान्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु परा: परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः॥ १५॥

इस प्रकार जो (गृहस्थ और वानप्रस्थी) इस (पञ्चाग्नि विज्ञान) को जानते हैं और अरण्य (वन) में श्रद्धासिक्त हृदय से सत्य (ब्रह्म) की उपासना करते हैं, वे आर्चिषी अवस्था अथवा ज्योति के अभिमानी देव को प्राप्त करते हैं, इससे (आर्चिषी से) वे आह्निक को अर्थात् दिन के अभिमानी देवता को प्राप्त करते हैं, आह्निक से शुक्लपक्ष को, शुक्लपक्ष से उत्तरायण वाले छः महीनों को, षण्मासों से देवलोक को, देवलोक से आदित्य को, आदित्य से वैद्युत (विद्युत् सम्बन्धी देवता) को, वैद्युत से एक मानस पुरुष इन्हें ब्रह्मलोक में ले जाता है। वे उस ब्रह्मलोक में दीर्घकाल तक निवास करते हैं। उनका पुनरावर्त्तन (अर्थात् पुनर्जन्म) नहीं होता॥ १५॥

अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिꣳ रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान्षण्मासान्दक्षिणादित्य एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति ताꣳस्तत्र देवा यथा सोमꣳ राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनाꣳस्तत्र भक्षयन्ति तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्त आकाशाद्वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति ते पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते लोकान्प्रत्युत्थायिनस्त एवमेवानुपरिवर्तन्तेऽथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार जो यज्ञ, दान और तपश्चर्या द्वारा लोकों पर विजय प्राप्त करते हैं, वे धूम (धूम के अधिष्ठाता देवता) को प्राप्त होते हैं। धूम से रात्रि देवता को, रात्रि से कृष्ण पक्ष (कृष्णपक्ष के अधिष्ठाता देवता)को, कृष्णपक्ष से दक्षिणायन सूर्य वाले छः महीनों को, छः मासों से पितृलोक को एवं पितृलोक से चन्द्र लोक को प्राप्त होते हैं। वहाँ (चन्द्रलोक में) उस अन्न को देवतागण उसी प्रकार ग्रहण (भक्षण) करते हैं, जिस प्रकार ऋत्विक्गण सोम का पान करते हैं, जब उनके (जीवों के) पुण्यफल (कर्मफल) क्षीण हो जाते हैं, तब वे आकाश को प्राप्त करते हैं। आकाश से वायु को, वायु से वृष्टि को, वृष्टि से पृथ्वी को अन्नरूप में प्राप्त होते हैं। तत्पश्चात् पुरुष रूपी अग्नि में (उन अन्नों की) आहुति दी जाती है, जिसके द्वारा वे लोकों के उत्थानकर्त्ता होकर स्त्री रूपी अग्नि में प्रकट होते हैं। इस प्रकार (विभिन्न लोकों को बार-बार प्राप्त करते हुए) ये जीव घूमते ही रहते हैं; किन्तु जो इन दोनों (उत्तर-दक्षिण) मार्गों को नहीं जानते, वे कीट, पतङ्ग और दन्दशूक (मच्छर) आदि होते हैं॥ १६॥

॥ तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

स यः कामयेत महत्प्राप्नुयामित्युदगयन आपूर्यमाणपक्षस्य पुण्याहे द्वादशाहमुपसद्व्रती भूत्वौदुम्बरे कꣳसे चमसे वा सर्वौषधं फलानीति संभृत्य परिसमुह्य परिलिप्याग्निमुपसमाधाय परिस्तीर्यावृताज्यꣳ सꣳस्कृत्य पुꣳसा नक्षत्रेण मन्थꣳ संनीय जुहोति-यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो घ्नन्ति पुरुषस्य कामान्। तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा तृप्ताः सर्वैः कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा। या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति। तां त्वा घृतस्य धारया यजे सꣳराधनीमहꣳ स्वाहा॥ १॥

जो महत्ता प्राप्त करना चाहता हो, वह आदित्य के उत्तरायण होने पर शुक्ल पक्ष के प्रारम्भ में बारह दिन के अन्दर किसी शुभ तिथि में उपसद्व्रती (पयोव्रती) होकर गूलर काष्ठ से निर्मित कटोरे या चमस में सर्वौषधि और फल आदि को एकत्र करके, यज्ञ वेदी का परिसमूहन (सफाई) और उपलेपन (लिपाई) सम्पन्न करे। तदुपरान्त अग्नि स्थापन करे और वेदी के चारों ओर कुश-आसन बिछाकर गृह्यसूत्र में वर्णित पद्धति से घृत को संस्कारित करके, जिसका नाम पुरुष वाची हो, उस नक्षत्र (हस्त, पुष्य आदि नक्षत्र) में मन्थ (औषधियों का मिश्रित रूप) को (स्रुवा) के बीच में रखकर आहुति प्रदान करे। आहुति के साथ इस मन्त्र के माध्यम से प्रार्थना करे- हे जातवेदा (अग्ने)! मनुष्यों की कामनाओं में बाधा डालने वाले

तुममें प्रतिष्ठित जितने तिर्यग् (कुटिल) देवगण हैं, उन सभी देवों को मैं आहुति प्रदान करता हूँ। वे सभी तृप्त होकर मेरी कामनाओं को पूर्ण करें। इन देवताओं के अतिरिक्त जो तिरश्ची (कुटिल) देवियाँ हैं, उनको भी मैं घृताहुति प्रदान करता हूँ। वे भी मेरी कामनाओं को पूर्ण करें॥ १॥

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति चक्षुषे स्वाहा संपदे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति श्रोत्राय स्वाहाऽयतनाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति रेतसे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति॥ २॥

(साधक या याजक) 'ज्येष्ठाय स्वाहा', 'श्रेष्ठाय स्वाहा' इन मन्त्रों से यज्ञ में आहुति प्रदान करता हुआ स्रुवा के अवशिष्ट घृत को मन्थ में डाल देता है, 'प्राणाय स्वाहा', 'वसिष्ठायै स्वाहा' इन मन्त्रों से आहुति प्रदान करता हुआ संस्रव (स्रुवा में बचे घृत) को मन्थ में डाल देता है, 'वाचे स्वाहा', 'प्रतिष्ठायै स्वाहा' इन मन्त्रों से अग्नि में हवन करते हुए संस्रव को मन्थ में डाल देता है, 'चक्षुषे स्वाहा', 'सम्पदे स्वाहा' मन्त्र बोलते हुए आहुति करके अवशिष्ट घृत को मन्थ में डाल देता है, 'श्रोत्राय स्वाहा', 'आयतनाय स्वाहा' उच्चारण करते हुए आहुति प्रदान करके बचे हुए घृत को मन्थ में डाल देता है, 'मनसे स्वाहा', 'प्रजात्यै स्वाहा' मन्त्रों से आहुति करके संस्रव को मन्थ में डाल देता है, 'रेतसे स्वाहा' मन्त्र के साथ आहुति देकर अवशिष्ट घृत को मन्थ में डाल देता है॥ २॥

अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति सोमाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भूः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भुवः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति ब्रह्मणे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति क्षत्राय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भूताय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति भविष्यते स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति विश्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति सर्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति प्रजापतये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति॥ ३॥

'अग्नये स्वाहा' मन्त्र से अग्नि में आहुति प्रदान करता हुआ अवशिष्ट घृत को मन्थ में डाल देता है। सोमाय स्वाहा, भूः स्वाहा, भुवः स्वाहा, स्वः स्वाहा, भूर्भुवः स्वः स्वाहा, ब्रह्मणे स्वाहा, क्षत्राय स्वाहा, भूताय स्वाहा, भविष्यते स्वाहा, विश्वाय स्वाहा, सर्वाय स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण करते हुए संस्रव (अवशिष्ट घृत) को मन्थ में डाल देता है॥ ३॥

अथैनमभिमृशति भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येकसभमसि हिंकृतमसि हिंक्रियमाणमस्युद्गीथमस्युद्गीयमानमसि श्रावितमसि प्रत्याश्रावितमस्यार्द्रे संदीप्तमसि विभूरसि प्रभूरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति॥ ४॥

इसके पश्चात् जो मन्थ (मिश्रित द्रव्य) और संस्रव (टपकाया हुआ घृत) पात्र में रखा है, उसे स्पर्श करते हुए 'भ्रमदसि' 'ज्वलदसि' इत्यादि मन्त्र बोलता हुआ कहता है कि आप (प्राणस्वरूप होने के कारण सर्वत्र) भ्रमणशील हैं, (अग्निरूप होने से) जाज्वल्यमान हैं, (ब्रह्मरूप होने से) पूर्ण हैं, (आकाश रूप होने से) स्तब्ध हैं,(सबके मित्र होने के कारण) जगद्रूप एक सभा तुल्य हैं। आप ही हिङ्कृत और हिङ्क्रियमाण हैं। आप ही उद्गीथ और उद्गीयमान हैं। आप ही श्रावित और प्रत्याश्रावित हैं अर्थात् आपको ही अध्वर्यु और आग्नीध्र अभिषुत करते हैं, आप ही मेघ में सम्यक् प्रकार से (विद्युत् रूप में) प्रदीप्त हैं। आप ही विभु (विभिन्न रूपों वाले) और प्रभु (समर्थ) हैं। आप ही अन्न, ज्योति और मृत्यु हैं। आप ही सबके संहारक होने से स्वयं प्रलय स्वरूप हैं॥ ४॥

अथैनमुद्यच्छत्यामꣳ स्यामꣳ हि ते महि स हि राजेशानोऽधिपतिः स माꣳ राजेशानोऽधिपतिं करोत्विति॥ ५॥

इसके पश्चात् मन्थ को पात्र सहित हाथ से उठाता हुआ- 'आमंसि आमंहि' आदि मन्त्रों का उच्चारण करे। कहे- आप सर्वज्ञ हैं, हम आपकी महिमा को भली-भाँति जानते हैं, आप (प्राण) ही राजा, ईशान और अधिपति हैं, हमें भी आप राजा, ईशान और अधिपति बनाएँ॥ ५॥

अथैनमाचामति तत्सवितुर्वरेण्यं मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वोषधीर्भूः स्वाहा भर्गो देवस्य धीमहि मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳरजः मधु द्यौरस्तु नः पिता भुवः स्वाहा धियो यो नः प्रयोदयान्मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ ३ अस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो भवन्तु नः स्वः स्वाहेति सर्वां च सावित्रीमन्वाह सर्वाश्च मधुमतीरहमेवेदꣳ सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यन्तत आचम्य पाणी प्रक्षाल्य जघनेनाग्निं प्राक्शिराः संविशति प्रातरादित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासमिति यथेतमेत्य जघनेनाग्निमासीनो वꣳशं जपति॥ ६॥

इसके बाद उस मन्थ को चार ग्रासों में मन्त्रों के साथ भक्षण करे। पहले 'तत्सवितुर्वरेण्यं' आदि प्रथम मन्त्र का उच्चारण करे, जिसका अर्थ है-सविता के उस वरेण्य (वरण करने योग्य) पद का मैं ध्यान करता हूँ। 'मधुवाता ऋतायते'- वायु मधुर होकर बह रही है। 'मधुक्षरन्ति सिन्धवः' - नदियाँ मधु रस प्रवाहित कर रही हैं। 'माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः'- ओषधियाँ हमारे लिए मधुर हों। इसके पश्चात् 'भूःस्वाहा' कहकर मन्थ का प्रथम ग्रास ग्रहण करे। इसके उपरान्त- 'भर्गो देवस्य धीमहि'- हम सविता के पापनाशक दिव्य तेज को धारण करते हैं। 'मधुनक्तमुतोषसो'-रात्रि और दिवस मधुर हों। 'मधुमत्पार्थिवꣳरजः'-पृथिवी के रजकण मधुर हों। 'मधु द्यौरस्तु नः पिता,'-पिता द्युलोक हमारे लिए मधुर हों। इतना बोलकर 'भुवः स्वाहा' मन्त्र के साथ मन्थ का द्वितीय ग्रास ग्रहण करे। तब- 'धियो यो नः प्रचोदयात्'- वे सविता देवता हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करें। 'मधु मान्नो वनस्पतिः' वनस्पति हमारे निमित्त (सोम मय) हो। 'मधुमाँ३ अस्तु सूर्यः'- सूर्य हमारे लिए मधुर हो। 'माध्वीर्गावो भवन्तु नः'- गौएँ मधुर दुग्ध प्रदात्री हों। 'स्वः स्वाहा'- उच्चारण करके मन्थ का तृतीय ग्रास भक्षण करे। इसके पश्चात् सम्पूर्ण सावित्री मन्त्र का

उच्चारण करके फिर - 'अहमेवेदꣳ सर्वं भूयासम्'- 'मैं ही सब कुछ हो जाऊँ' कह कर 'भूर्भुवः स्वः स्वाहा' मन्त्र के साथ (समस्त मन्थ का अवशिष्ट) चौथा ग्रास ग्रहण करे। इसके पश्चात् हस्तप्रक्षालन करके वेदी के पृष्ठ (पश्चिम) भाग में पूर्वाभिमुख होकर शयन करे। फिर प्रातःकाल सूर्योपस्थान करते हुए कहे- आप समस्त दिशाओं रूपी पंखुड़ियों के आश्रय रूप कमल हैं, मैं भी मनुष्यों में कमल तुल्य होऊँ। इसके पश्चात् उसी मार्ग से वापिस लौटकर अग्नि (वेदी) के पश्चिम ओर बैठकर (अगले मन्त्र) वंश को जपे॥ ६॥

तꣳ हैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥ ७॥

इस मन्थ प्रक्रिया (विशिष्ट हवन पद्धति) का उपदेश अरुण पुत्र उद्दालक ने वाजसनेय याज्ञवल्क्य को करते समय कहा था कि इस मन्थ को यदि कोई सिंचन के लिए (पूरी तरह) सूखे वृक्ष पर डाल देगा, तो उसमें से कोपलें फूटकर शाखाएँ निकल आएँगी॥ ७॥

एतमु हैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पैङ्ग्यायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ ८॥

इस मन्थ का उपदेश वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य मधुक पैङ्ग्य को करते हुए कहा था- यदि कोई सिंचन के निमित्त सूखे वृक्ष पर भी इस मन्थ को डालेगा, तो उसमें नये पत्ते व शाखाएँ प्रस्फुटित हो जाएँगी॥ ८॥

एतमु हैव मधुकः पैङ्ग्यश्चूलाय भागवित्तयेऽन्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ ९॥

मधुक पैङ्ग्य ने अपने शिष्य भागवित्ति चूल के प्रति इस मन्थ का उपदेश करते हुए कहा था कि यदि कोई सींचने के लिए ठूँठ वृक्ष पर भी इस मन्थ को डालेगा, तो उसमें से पत्ते फूट पड़ेंगे और शाखाएँ प्रस्फुटित हो जाएँगी॥ ९॥

एतमु हैव चूलो भागवित्तिर्जानकय आयस्थूणायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ १०॥

भागवित्ति चूल ने अपने शिष्य जानकि आयस्थूण के प्रति उपदेश करते हुए, इस मन्थ के विषय में कहा था- यदि कोई सिंचन के लिए बिल्कुल शुष्क वृक्ष पर इसे (मन्थ को)डालेगा, तो उसमें से पत्ते व शाखाएँ प्रस्फुटित हो जाएँगे॥ १०॥

एतमु हैव जानकिरायस्थूणः सत्यकामाय जाबालायान्तेवासिन उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति॥ ११॥

जानकि आयस्थूण ने सत्यकाम जाबाल के प्रति इस मन्थ का उपदेश करते समय कहा था- यदि कोई सींचने हेतु सूखे वृक्ष पर इस मन्थ को डालेगा, तो उसमें कोपलें और शाखाएँ निकल आएँगी॥ ११॥

एतमु हैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति तमेतन्नापुत्राय वानन्तेवासिने वा ब्रूयात्॥ १२॥

इस मन्थ का उपदेश सत्यकाम जाबाल ने अपने अन्तेवासी (आश्रमवासी) शिष्यों के प्रति किया था

और कहा था कि यदि कोई सींचने के लिए शुष्क वृक्ष पर भी इसको डाल देगा, तो वह कोपल और शाखाओं से युक्त हो जायेगा। यह मन्थविधि अपुत्र और अशिष्य को नहीं बतलानी चाहिए॥ १२॥

चतुरौदुम्बरो भवत्यौदुम्बरः स्रुव औदुम्बरश्चमस औदुम्बर इध्म औदुम्बर्या उपमन्थन्यौ दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियङ्गवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च तान् पिष्टान्दधनि मधुनि घृत उपसिञ्चत्याज्यस्य जुहोति॥ १३॥

यह मन्थकर्म चार औदुम्बर काष्ठ के बने पात्रों द्वारा सम्पन्न होता है। ये चार पात्र-स्रुवा, चमस, समिधा उपमन्थनी और इध्म अर्थात् समिधा हैं। इसमें दस प्रकार के ग्रामीण धान्य प्रयुक्त होते हैं। ये धान्य-व्रीहि (धान), यव (जौ), तिल, माष (उड़द), अणु (साँवा), प्रियङ्गु (काँगनी), गोधूम (गेहूँ), मसूर, खल्व (एक प्रकार का धान) और खलकुल (कुलथी) हैं। इन सभी को पीसकर मधु और घृत डालकर आहुति दी जाती है॥ १३॥

॥ चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

इस ब्राह्मण में प्राणि-जगत् की आधारभूता प्रजनन प्रक्रिया पर प्रकाश डाला गया है। यह सृष्टि यज्ञमय है, इसलिए सृष्टिचक्र को गतिशील रखने वाली प्रजनन-प्रक्रिया भी ऋषि की दृष्टि से यज्ञीय कर्मानुशासन का अंग है। इसे इसी भाव से समझा और अपनाया जाना चाहिए-

एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोषधय ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः॥ १॥

इन पंचभूतों का रस पृथिवी है, पृथिवी का रस आपः (जल) है, जल का रस ओषधियाँ हैं, ओषधियों का रस पुष्प हैं, पुष्पों का रस (सार) फल हैं, फलों का रस पुरुष है और पुरुष का सार तत्त्व रेतस् (वीर्य) है॥ १॥

स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति स स्त्रियꣳ ससृजे ताꣳसृष्ट्वाऽध उपास्त तस्मात्स्त्रियमध उपासीत स एतं प्राञ्चं ग्रावाणमात्मन एव समुदपारयत्तेनैनामभ्यसृजत्॥ २॥

प्रजापति ने इच्छा की कि इस (पुरुष अथवा) रेतस् के लिए आश्रय तैयार करूँ। उसने स्त्री (नारीत्व) का सृजन किया तथा आधार रूप में उसकी उपासना की। इसीलिए आज भी स्त्री आधार रूप में उपासित है। उस (प्रजापति) ने अपनी ग्रावा (शिलाखण्ड) जैसी सुदृढ़ सामर्थ्य से उस (स्त्री जाति) को परिपूर्ण किया। उस स्थापना से स्त्री के स्त्रीत्व की संसार में प्रतिष्ठा हुई ॥ २॥

तस्या वेदिरुपस्थो लोमानि बर्हिश्चर्माधिषवणे समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ स यावान् ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति य एवं विद्वानधोपहासं चरत्यासाꣳ स्त्रीणाꣳसुकृतं वृङ्क्तेऽथ य इदमविद्वानधोपहासं चरत्यस्य स्त्रियः सुकृतं वृञ्जते॥ ३॥

ऋषि देवमानव उत्पन्न करने वाले प्रजनन यज्ञ के उपादानों का वर्णन करते हुए कहते हैं-

नारी की जननेन्द्रिय ही यज्ञवेदी है, वहाँ स्थित लोम ही बर्हि (कुश का आसन) है, मध्यभाग का चर्म अधिषवण फलक है, मध्यभाग प्रज्वलित अग्नि है और मुष्क (पार्श्व में स्थित दो मांस पिण्ड) समिधा है। इस प्रकार इस (प्रजनन) यज्ञ का फल वाजपेय यज्ञ के समान होता है। इस प्रकार का ज्ञान रखकर प्रजनन यज्ञ सम्पन्न करने वाला यजमान (पुरुष) स्त्री के पुण्यों को प्राप्त कर लेता है; किन्तु इस प्रकार का ज्ञान न रखकर (भोग बुद्धि से)प्रजनन करने वाले के पुण्यों को स्त्रियाँ प्राप्त कर लेती हैं॥ ३॥

[जो व्यक्ति प्रजनन यज्ञ का महत्त्व समझकर प्रजनन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए निर्धारित मर्यादाओं के अनुसार रतिकर्म में प्रवृत्त होता है, उसे उस यज्ञीय प्रक्रिया की पूर्ति का पुण्य प्राप्त होना स्वाभाविक है; किन्तु यदि कोई व्यक्ति अपने असंयत कामावेग के कारण रतिक्रिया में प्रवृत्त होता है, तो उसके द्वारा मर्यादा भंग होने के कारण उसका पुण्य क्षीण होता है।]

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्नाको मौद्गल्य आहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्कुमारहारित आह बहवो मर्या ब्राह्मणायना निरिन्द्रिया विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रयन्ति य इदमविद्वाꣳसोऽधोपहासं चरन्तीति बहु वा इदꣳ सुप्तस्य वा जाग्रतो वा रेतः स्कन्दति॥ ४॥

इस (यज्ञ) विषय के ज्ञाता आरुणि उद्दालक तथा मौद्गल्य और कुमार हारित कहते हैं कि बहुत से ऐसे मरणधर्मा और बुद्धिहीन ब्राह्मण हैं, जो इस प्रजनन यज्ञ को इस (पवित्र) रूप में नहीं जानते। वे निरिन्द्रिय और सुकृतहीन होकर, इस रतिकर्म में आसक्त होकर परलोक (श्रेष्ठलोक) से पतित हो जाते हैं। पत्नी का ऋतुकाल प्राप्त होने से पूर्व ही यदि कोई प्राणतत्त्वोपासक दिन अथवा रात्रि में न्यूनाधिक रूप में स्वतः स्खलित हो जाते हैं, तो उन्हें (अगले मंत्र में उल्लिखित) प्रायश्चित्त करना चाहिए॥ ४॥

तदभिमृशेदनु वा मन्त्रयेत यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदप इदमहं तद्रेत आददे पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजःपुनर्भगः पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थानं कल्पन्तामित्यनामिकाङ्गुष्ठाभ्यामादायान्तरेण स्तनौ वा भ्रुवौ वा निमृज्यात्॥ ५॥

उस गिरे हुए (अपने रेतस्) को अभिमन्त्रित करते हुए उसे हाथ से स्पर्श करे और कहे कि आज यह मेरा वीर्य जो पृथिवी पर गिरा है और पूर्व में भी कभी ओषधि तथा जल में गिरा है (अर्थात् पृथिवी, ओषधि और जल को दूषित किया है), उस वीर्य को मैं फिर से धारण करना चाहता हूँ। इस प्रकार कहने के बाद अनामिका और अङ्गुष्ठ से उसे उठाकर वक्षस्थल अथवा दोनों भौहों के बीच में लेप करे और कहे- जो यह मेरी (वीर्यरूप) इन्द्रिय शक्ति बाहर चली गई थी, वह पुनः मेरे पास आ जाए। मुझे पुनः अपना तेजस् और सौभाग्य प्राप्त हो। अग्नि देव एवं अन्य देवगण पुनः मेरे शरीर में उचित स्थान पर इसे प्रतिष्ठित कर दें॥ ५॥

अथ यद्युदक आत्मानं पश्येत्तदभिमन्त्रयेत मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणꣳ सुकृतमिति श्रीर्ह वा एषां स्त्रीणां यन्मलोद्वासास्तस्मान्मलोद्वाससं यशस्विनीमभिक्रम्योपमन्त्रयेत॥

इसके बाद वह प्रायश्चित्त कर्त्ता जल में अपने प्रतिबिम्ब को देखता हुआ उस (जल) को अभिमन्त्रित

करता हुआ कहे कि देवगण मुझे तेजस्, इन्द्रिय, यश, सम्पदा और सत्कर्म प्रदान करें। इसके पश्चात् स्त्री की प्रशंसा करते हुए कहे कि मेरी यह धर्मपत्नी स्त्रियों में लक्ष्मी स्वरूपा है। तब उस मलरहित वसन अथवा धुले वस्त्र के समान पाप रहिता यशस्विनी स्त्री के पास पुरुष स्वयं भी विकार रहित आच्छादन युक्त होकर जाये, अन्यत्र (काम-वासना से किसी अन्य के पास) न जाए॥ ६॥

सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रीणीयात् सा चेदस्मै नैव दद्यात्काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदद इत्ययशा एव भवति ॥ ७॥

वह स्त्री (पत्नी) यदि स्वेच्छापूर्वक स्वयं को समर्पित न करे, तो उसकी आकांक्षाएँ पूरी करके (वस्त्र, आभूषण आदि प्रदान करके) प्रेम प्रदर्शित करे। यदि इसके बाद भी वह सहमत न हो, तो दण्ड का भय दिखाकर सहमत करे। (अपना भाव व्यक्त करते हुए) पुरुष यह समझाये कि सहमत न होने से मैं अपने यश और इन्द्रियों से तुम्हारे यश का हरण कर (स्त्री की ओर से अपने ध्यान एवं इन्द्रियों का लगाव हटा) सकता हूँ। इससे स्त्री अयश हुए की तरह (समर्पित) हो जाती है॥ ७॥

सा चेदस्मै दद्यादिन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामीति यशस्विनावेव भवतः ॥ ८॥

पत्नी द्वारा पति के प्रति आत्म समर्पण कर दिये जाने पर पति को चाहिए कि उसे आशीर्वाद प्रदान करे और कहे कि मैं अपनी यश स्वरूप इन्द्रिय द्वारा तेरे अन्दर यश को स्थापित करता हूँ। इस प्रकार वे दोनों यशस्वी ही होते हैं॥

स यामिच्छेत्कामयेत मेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेदङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधि जायसे । स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धा-मिव मादयेमाममूं मयीति ॥ ९॥

जब पत्नी सहमत हो जाये, तो उसे अंक में लेकर संयोग के समय यह (अंगात् अंगात् संभवसि आदि) मंत्र जपे अथवा संकल्प करे- हे कामदेव या कामभाव! आप अंग-अंग में संयोग और हृदय (के भावों के साम्य) से प्रकट होते हैं। अतः आप मेरे अङ्गों के साररूप हैं। आप विष बुझे तीर से घायल हरिणी की तरह स्त्री को मदोन्मत्त करके मेरे अधीन बना दें॥ ९॥

अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायाभिप्राण्यापा-न्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद इत्यरेता एव भवति ॥ १०॥

यदि पुरुष की यह इच्छा हो कि समागम के समय पत्नी गर्भ धारण न करे, तो वह (पुरुष) पूर्व वर्णित क्रिया करते हुए अभिप्राणन के द्वारा रति क्रिया के समय पहले प्राणन, फिर अपानन क्रिया करे और संकल्प करे, हे स्त्री! मैं अपने रेतस् (ओज या वीर्य) और इन्द्रिय के द्वारा तेरे रेतस् (रज) को ग्रहण करता हूँ। ऐसा करने से स्त्री रज हीन हो जाती है और गर्भ नहीं ठहरता॥ १०॥

[यहाँ प्राणन और अपानन प्रक्रिया क्या है और कैसे की जाती है, यह प्रकरण शोध का विषय है। कुछ आचार्य इसे रतिक्रिया के साथ ऊर्ध्व रेतस् होने के लिए किया गया प्राणायाम कहते हैं।]

अथ यामिच्छेद्दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायापान्याभिप्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति ॥ ११॥

यदि पुरुष यह आकांक्षा करे कि उसकी पत्नी गर्भ धारण करे, तो पूर्ववत् क्रिया करके पहले अपानन, फिर अभिप्राणन प्रक्रिया सम्पन्न करे। संकल्प करे- 'मैं' अपनी इन्द्रिय के रेतस् (वीर्य या ओज) को तेरे रेतस् में स्थापित करता हूँ। ऐसा करने से गर्भ स्थिर हो ही जाता है॥ ११॥

[गर्भ न ठहरने के क्रम में पहले प्राणन और फिर अपानन तथा गर्भ ठहराने के लिए पहले अपानन, फिर प्राणन क्रिया के निर्देश हैं। इसका अभ्यास संभवतः गुरु करा देते रहे होंगे।]

अथ यस्य जायायै जारः स्यात्तं चेद् द्विष्यादामपात्रेऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमꣳ शरबर्हिस्तीर्त्वा तस्मिन्नेताः शरभृष्टीः प्रतिलोमाः सर्पिषाक्ता जुहुयान्मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीः पुत्रपशूꣳस्त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीरिष्टासुकृते त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीराशापराकाशौ त आददेऽसाविति । स वा एष निरिन्द्रियो विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रैति यमेवंविद्ब्राह्मणः शपति तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येवंवित्परो भवति ॥ १२॥

यदि किसी को अपनी नारी के प्रति किसी अन्य पुरुष के अवैध सम्बन्ध होने की शंका हो और वह उस पुरुष को दण्ड देना चाहे, तो कच्चे मिट्टी के पात्र में अग्नि रखे और उसमें उल्टी तरफ तिर्यक् (तिरछे) सरकंडों का बर्हिष् बिछाये, इसके पश्चात् बाणों के आकार की सींकें घृत में भिगोकर चार आहुतियाँ प्रदान करे। प्रत्येक आहुति देते समय उसका नाम लेकर कहे-हे दुष्ट पुरुष! तुमने मेरी जलती हुई अग्नि में आहुति दी है, अतः मैं तेरे प्राण और अपान को खींचता हूँ। मैं तेरे पुत्र, पशु, पुण्य, आशा और पराकाशा (प्रत्याशा) को भी ग्रहण करता हूँ। इस अभिचार कृत्य को जानने वाला विद्वान् ब्राह्मण जिस (परस्त्रीगामी) को शाप देता है, उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है और वह पुण्य हीन होकर परलोकवासी हो जाता है। अतः किसी ब्रह्मनिष्ठ (की पत्नी) के प्रति इस प्रकार का निकृष्ट (परस्त्री गमन का) भाव कभी मन में भी नहीं लाना चाहिए॥१२॥

अथ यस्य जायामार्तवं विन्देत्त्र्यहं कꣳसेन पिबेदहतवासा नैनां वृषलो न वृषल्युपहन्यात्त्रिरात्रान्त आप्लुत्य व्रीहीनवघातयेत् ॥ १३॥

जब स्त्री रजस्वला हो अर्थात् जब ऋतुकाल प्राप्त हो, तब उसे तीन दिन तक काँसे के पात्र में नहीं खाना चाहिए। चतुर्थ दिन स्नान के पश्चात् साफ-सुथरा और ऐसा वस्त्र धारण करना चाहिए, जो फटा न हो। उस स्त्री को कोई धर्महीन पुरुष (अथवा स्त्री) स्पर्श न करे। तीन रात्रियाँ बीत जाने पर उस स्त्री को धान कूटने (जैसे श्रम वाले काम) में लगाया जाना उचित है॥ १३॥

[रजस्वला काल में स्त्री को अधिक शीत-उष्ण तथा श्रम से बचना चाहिए, ताकि मासिक परिशोधन क्रम में काय-ऊर्जा भली प्रकार लग सके। आहार - विहार का संयम भी बरता जाता है। तीन दिन बाद पुनः सामान्य जीवन क्रम प्रारंभ किया जाना उचित है।]

स य इच्छेत्पुत्रो मे शुक्लो जायेत वेदमनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १४॥

जो दम्पती यह चाहते हों कि उन्हें गौरवर्ण, एक वेद के ज्ञाता और शतायु पुत्र की प्राप्ति हो, वे दूध और चावल की खीर पकाकर उसमें घृत मिला कर सेवन करें। इससे वे वैसे पुत्र को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं॥ १४॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे कपिलः पिङ्गलो जायेत द्वौ वेदावनुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १५ ॥

जिनकी यह आकांक्षा हो कि वे पिङ्गल वर्ण, दो वेदों के ज्ञाता और शतायु पुत्र की प्राप्ति करें, वे (दम्पती) दही में चावल का मिश्रण करके पकाएँ और उसमें घी मिश्रित करके खायें, इससे वे उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न पुत्र प्राप्ति में समर्थ होते हैं॥ १५॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत त्रीन्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादित्युदौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १६ ॥

जिन्हें श्याम वर्ण, अरुण नेत्र और तीन वेदों के ज्ञाता पुत्र की अपेक्षा हो, वे दम्पती जल में चावल मिलाकर भात (ओदन) पकाएँ और उसमें घृत मिलाकर सेवन करें। इससे वे उपर्युक्त गुणों वाले पुत्र प्राप्त करने में सक्षम होते हैं॥ १६॥

अथ य इच्छेद्दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥ १७ ॥

जिन्हें विदुषी और पूर्णायुष्य वाली पुत्री की कामना हो, वे दम्पती तिल और चावल की खिचड़ी बनाकर उसमें घृत मिलाकर सेवन करें। इससे वे उपर्युक्त गुणसम्पन्न पुत्री की प्राप्ति में समर्थ हो जाते हैं॥

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विगीतः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति माꣳ सौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वार्षभेण वा ॥ १८ ॥

जिनकी यह इच्छा हो कि मेरा पुत्र प्रख्यात विद्वान्, विद्वानों की सभा में सम्मान पाने वाला कुशल वक्ता , प्रियभाषी और सभी वेदों का ज्ञाता और शतायु हो, वे दम्पती उक्षा या ऋषभ नामक ओषधि के गूदे और चावल का भात (खिचड़ी) पकाकर उसमें घृत मिलाकर सेवन करें। इस क्रिया से वे उपर्युक्त गुण सम्पन्न पुत्र प्राप्ति में सक्षम होते हैं॥ १८॥

अथाभिप्रातरेव स्थालीपाकावृताज्यं चेष्टित्वा स्थालीपाकस्योपघातं जुहोत्यग्नये स्वाहानुमतये स्वाहा देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नाति प्राश्येतरस्याः प्रयच्छति प्रक्षाल्य पाणी उदपात्रं पूरयित्वा तेनैनां त्रिरभ्युक्षत्युत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सहेति॥ १९ ॥

इसके पश्चात् चौथे दिन प्रातः (पत्नी द्वारा कूटे हुए चावल से) स्थाली पाक पद्धति से घृत को संस्कारित करके, इन मन्त्रों के साथ आहुतियाँ प्रदान करे- अग्नये स्वाहा, अनुमतये स्वाहा, देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा। तत्पश्चात् 'स्विष्टकृत् होमः' के अनन्तर अवशिष्ट चरु को पहले स्वयं ग्रहण करे और बाद में (बचा हुआ) पत्नी को खिला दे। फिर जल से पूरित पात्र को लेकर उस जल से तीन बार पत्नी का अभिषेक करे। अभिषेक करते हुए कहे- हे विश्वपोषक! सुयोग्य पुत्र की कामना करने वाली यह स्त्री, हर्ष युक्त होकर पति के साथ संयोजित हो॥ १९॥

अथैनामभिपद्यतेऽमोऽहमस्मि सा त्वꣳ सा त्वमस्यमोऽहं सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि सꣳरभावहै सह रेतो दधावहै पुꣳसे पुत्राय वित्तय इति॥ २०॥

इसके बाद इच्छित सन्तान के अनुरूप (विधान-वाली) खीर पत्नी को खिलाने के बाद शयनकाल आ जाने पर पत्नी का आलिङ्गन करता हुआ कहे- हे देवी! मैं प्राण हूँ और तुम वाक् हो, मैं साम हूँ, तुम ऋक् हो; मैं द्यौ हूँ और तुम पृथिवी हो; अत: आओ हम दोनों पुत्र रूपी धन प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करें॥

अथास्या ऊरू विहापयति विजिहीथां द्यावापृथिवी इति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधाय त्रिरेनामनुलोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिꣳशतु । आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते । गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके। गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्त्रजौ॥ २१॥

तत्पश्चात् स्त्री के ऊरुद्वय को पृथक् करके गर्भाधान कृत्य में दोनों (पति-पत्नी) के नियोजित हो जाने पर पुरुष कहे-हे प्रिये! सर्वव्यापी भगवान् विष्णु तुम्हारे गर्भाशय को समर्थ बनाएँ, जिससे तुम श्रेष्ठ पुत्र को जन्म दे सको। भगवान् त्वष्टा (भावी सन्तति के) अङ्गों को पुष्ट और सुन्दर बनाएँ। भगवान् प्रजापति मुझमें स्थित होकर तुम्हारे अन्दर वीर्याधान करें। भगवान् धाता तुम्हारे अन्दर गर्भ धारण करें और उसे पोषित करें। हे देवि! तुम स्वयं सिनीवाली हो, अत: गर्भधारण करो, गर्भ धारण करो। अश्विद्वय स्वयं मेरे अन्दर स्थित होकर अपने रश्मि रूपी कमलों की माला को धारण कर तुम्हारे अन्दर गर्भाधान करें॥ २१॥

हिरण्मयी अरणी याभ्यां निर्मन्थतामश्विनौ। तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतये । यथाऽग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी। वायुर्दिशां यथा गर्भ एवं गर्भं दधामि तेऽसाविति॥ २२॥

दो ज्योतिर्मयी अरणियों से अश्विनीकुमारों ने मन्थन किया था। उस मन्थन से अमृतस्वरूप गर्भ (अग्नि) का प्राकट्य हुआ था। उसी प्रकार हे देवि! उस अमृत स्वरूप गर्भ को हम तेरे अन्दर स्थापित करते हैं, जिससे तुम दशम मास में इसे उत्पन्न कर सको। जिस प्रकार पृथ्वी अग्नि को गर्भरूप में धारण किए हैं, द्यौ इन्द्र को धारण किये हैं, दिशाएँ वायु को धारण किये हैं, उसी प्रकार हे देवि! तुझमें पुत्र रूप गर्भ प्रतिष्ठित करता हूँ॥ २२॥

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति यथा वायुः पुष्करिणीꣳसमिङ्गयति सर्वतः। एवा ते गर्भ एजतु सहावैतु जरायुणा। इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गलः सपरिश्रयः। तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सावराꣳसहेति॥ २३॥

प्रसवकाल में गर्भिणी स्त्री का अभिमन्त्रित जल से सिंचन करे और कहे-जिस प्रकार वायु पोखरी (सरोवर) के जल को चञ्चल कर देता है, उसी प्रकार हे देवि! तेरा भी यह गर्भ चञ्चल हो जाए और जरायु सहित बहिर्गमन करे। जीव का यह पथ जरायुयुक्त और अवरोध रहित है। हे जीवात्मन्! तुम गर्भ आवरण सहित बाहर निकलो॥ २३॥

जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय कꣳसे पृषदाज्यꣳ संनीय पृषदाज्यस्योपघातं जुहोत्यस्मिन्सहस्त्रं पुष्यासमेधमानः स्वे गृहे। अस्योपसद्यां मा च्छैत्सीत् प्रजया च पशुभिश्च स्वाहा। मयि प्राणꣳस्त्वयि मनसा जुहोमि स्वाहा । यत्कर्मणात्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वान्स्विष्टꣳ सुहुतं करोतु नः स्वाहेति॥ २४॥

यहाँ जात कर्म संस्कार का वर्णन प्रस्तुत हुआ है-

उत्पन्न होने के पश्चात् शिशु को गोद में लेकर अग्नि स्थापन करके दही मिला घी काँसे के कटोरे में रखे और उस पदार्थ के कई भाग करके '**अस्मिन्-सहस्त्रम् .....स्वाहा**' आदि मंत्रों से आहुतियाँ प्रदान करे। मन्त्र का भाव यह है- मैं इस घर में पुत्र रूप समृद्धि को प्राप्त हुआ हूँ। मैं सहस्त्रों मनुष्यों का पोषक होऊँ। इसी प्रकार इस पुत्र के घर में भी कभी सन्तति, सम्पत्ति और पशुओं की कमी न हो। मैं अपने प्राणों को तुझमें मानसिक रूप से होम करता हूँ। इस (यज्ञादि-कर्म) में मैंने जो कुछ अधिक अथवा कम किया है, विद्वान् अग्निदेव स्विष्टकृत् होकर हमारे उस कर्म को न्यून और अधिक के दोष से मुक्त करके स्विष्ट और सुहुत करें॥ २४॥

अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय वाग्वागिति त्रिरथ दधिमधुघृतꣳ संनीयानन्तर्हितेन जातरूपेण प्राशयति। भूस्ते दधामि भुवस्ते दधामि स्वस्ते दधामि भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामीति॥ २५॥

स्विष्टकृत् होम के पश्चात् पिता शिशु के दाहिने कान को अपनी ओर करके उसमें तीन बार 'वाक्, वाक्, वाक्' कहे। इसके बाद घी, दही और मधु मिला कर उसे स्वर्ण निर्मित चम्मच में लेकर शिशु को चटाए। चटाते समय कहे कि मैं तुझे भूः, भुवः और स्वः में प्रतिष्ठित करता हूँ॥ २५॥

अथास्य नाम करोति वेदोऽसीति तदस्य तद्गुह्यमेव नाम भवति ॥ २६॥

इसके बाद उस शिशु का नामकरण करे। तुम 'वेद' हो- यह कहे, वेद ही उस बालक का गुह्य नाम होता है॥ २६॥

अथैनं मात्रे प्रदाय स्तनं प्रयच्छति यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः। येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे करिति ॥ २७॥

तत्पश्चात् शिशु को माता की गोद में दे और उसे स्तन पिलाने के लिए कहे। स्तन पिलाते समय ये मन्त्र (यस्ते स्तनः) पढ़े-(भाव यह है) हे देवि सरस्वती! आपका स्तन इस शिशु के लिए अक्षय दुग्ध का भण्डार है, जो पोषण प्रदान करने वाला है। यह रत्नों की खान, सम्पत्ति प्रदाता और कल्याणकारी है। जिससे आप समस्त वरण करने योग्य पदार्थों को पोषण प्रदान करती हैं। ऐसे स्तन को आप इस बालक को पिलाएँ॥

अथास्य मातरमभिमन्त्रयते इलासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनत्। सा त्वं वीरवती भव यास्मान् वीरवतोऽकरदिति। तं वा एतमाहुरतिपिता बताभूरतिपितामहो बताभूः परमां बत काष्ठां प्रापच्छ्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवंविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायत इति॥ २८॥

इसके पश्चात् शिशु की माता को 'इलासि' आदि मन्त्र के द्वारा अभिमन्त्रित करे। कहे- हे देवि! तुम स्तुत्य मैत्रावरुणी हो। तुमने वीर पुत्र को उत्पन्न किया है और हमें वीर बालक का पिता बनाया है, इसलिए तुम वीरवती होओ। इस शिशु को देखकर जन सामान्य कहे कि यह अपने पिता और पितामह से भी श्रेष्ठ हुआ है, यह लक्ष्मी, यश और ब्रह्मवर्चस को प्राप्त कर प्रगति की पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। जिस ब्राह्मण के यहाँ इस प्रकार का विद्वान् पुत्र जन्म लेता है (वह भी इसी प्रकार स्तुति करने योग्य होता है।) ॥ २८ ॥

॥ पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अथ वꣳशः पौतिमाषीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात् कात्यायनीपुत्रो गौतमीपुत्राद्गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्र औपस्वस्तीपुत्रादौपस्वस्तीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात्कात्यायनीपुत्रः कौशिकीपुत्रात्कौशिकीपुत्र आलम्बीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्रः काण्वीपुत्राच्च कापीपुत्राच्च कापीपुत्रः ॥ १ ॥ आत्रेयीपुत्रादात्रेयीपुत्रो गौतमीपुत्राद्गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रो वात्सीपुत्राद्वात्सीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद्वार्कारुणीपुत्रो वार्कारुणीपुत्राद्वार्कारुणीपुत्र आर्तभागीपुत्रादार्तभागीपुत्रः शौङ्गीपुत्राच्छौङ्गीपुत्रः सांकृतीपुत्रात्सांकृतीपुत्र आलम्बायनीपुत्रादालम्बायनीपुत्र आलम्बीपुत्रादालम्बीपुत्रो जायन्तीपुत्राज्जायन्तीपुत्रो माण्डूकायनीपुत्रान्माण्डूकायनीपुत्रो माण्डूकीपुत्रान्माण्डूकीपुत्रः शाण्डिलीपुत्राच्छाण्डिलीपुत्रो राथीतरीपुत्राद्राथीतरीपुत्रो भालुकीपुत्राद्भालुकीपुत्रः क्रौञ्चिकीपुत्राभ्यां क्रौञ्चिकीपुत्रौ वैदभृतीपुत्राद्वैदभृतीपुत्रः कार्शकेयीपुत्रात्कार्शकेयीपुत्रः प्राचीनयोगीपुत्रात्प्राचीनयोगीपुत्रः सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रः प्राश्रीपुत्रादासुरिवासिनः प्राश्रीपुत्र आसुरायणादासुरायण आसुरेरासुरिः ॥२ ॥ याज्ञवल्क्याद्याज्ञवल्क्य उद्दालकादुद्दालकोऽरुणादरुण उपवेशेरुपवेशिः कुश्रेःकुश्रिर्वाजश्रवसो वाजश्रवा जिह्वावतो बाध्योगाज्जिह्वावान्बाध्योगोऽसिताद्वार्षगणादसितो वार्षगणो हरितात्कश्यपाद्धरितः कश्यपः शिल्पात्कश्यपाच्छिल्पः कश्यपः कश्यपान्नैध्रुवेः कश्यपो नैध्रुविर्वाचो वागम्भिण्या अम्भिण्यादित्यादादित्यानीमानि शुल्कानि यजुꣳषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते ॥ ३ ॥

अब (ब्रह्मवेत्ता ऋषियों की) वंशावली का वर्णन किया जाता है। पौतिमाषी पुत्र ने कात्यायनी सुत से, कात्यायनी सुत ने गौतमी पुत्र से, गौतमी पुत्र ने भारद्वाजी पुत्र से, भारद्वाजी पुत्र ने पाराशरी के पुत्र से, पाराशरी सुत ने औपस्वस्ती सुत से, औपस्वस्ती सुत ने पाराशरी पुत्र से , पाराशरी पुत्र ने कात्यायनी पुत्र से, कात्यायनी पुत्र ने कौशिकी के पुत्र से, कौशिकी के पुत्र ने आलम्बी तनय और वैयाघ्रपदी तनय से , वैयाघ्रपदी तनय ने काण्वी पुत्र तथा कापी पुत्र से शिक्षा प्राप्त की। कापी पुत्र ने आत्रेयी सुत से, आत्रेयी पुत्र ने गौतमी सुत से, गौतमी सुत ने भारद्वाजी पुत्र से, भारद्वाजी पुत्र ने पाराशरी पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने वात्सी

के पुत्र से, वात्सी सुत ने पाराशरी सुत से, पाराशरी सुत ने वार्कारुणी पुत्र से, वार्कारुणी पुत्र ने आर्तभागी पुत्र से, आर्तभागी तनय ने शौङ्गी सुत से, शौङ्गी सुत ने सांकृती पुत्र से, सांकृती पुत्र ने आलम्बायनी के पुत्र से, आलम्बायनी पुत्र ने आलम्बी के पुत्र से, आलम्बी पुत्र ने जायन्ती के पुत्र से, जायन्ती पुत्र ने माण्डूकायनी पुत्र से, माण्डूकायनी तनय ने माण्डूकी तनय से, माण्डूकी तनय ने शाण्डिली पुत्र से, शाण्डिली पुत्र ने राथीतरी के पुत्र से, राथीतरी पुत्र ने भालुकी सुत से, भालुकी सुत ने दो क्रौञ्चिकी सुतों से, दोनों क्रौञ्चिकी सुतों ने वैदभृती पुत्र से, वैदभृती पुत्र ने कार्शकेयी पुत्र से, कार्शकेयी पुत्र ने प्राचीन योगी पुत्र से, प्राचीन योगी पुत्र ने साञ्जीवी पुत्र से, साञ्जीवी पुत्र ने आसुरिवासी प्राश्नी पुत्र से, प्राश्नीपुत्र ने आसुरायण से, आसुरायण ने आसुरि से ज्ञान प्राप्त किया। आसुरि ने याज्ञवल्क्य से, याज्ञवल्क्य ने उद्दालक से, उद्दालक ने अरुण से, अरुण ने उपवेशि से, उपवेशि ने कुश्रि से , कुश्रि ने वाजश्रवा से, वाजश्रवा ने जिह्वावान् बाध्योग से, जिह्वावान् बाध्योग ने असित वार्षगण से, असित वार्षगण ने हरित कश्यप से, हरित कश्यप ने शिल्प कश्यप से, शिल्प कश्यप ने नैध्रुवि कश्यप से, नैध्रुविकश्यप ने वाक् से, वाक् ने अम्भिणी से, अम्भिणी ने आदित्य से शिक्षा प्राप्त की। आदित्य द्वारा प्रदत्त शुक्ल यजुर्वेद की श्रुतियाँ ही वाजसनेय याज्ञवल्क्य द्वारा प्रसारित की गई हैं॥ १-३॥

समानमा सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रो माण्डूकायनेर्माण्डूकायनिर्माण्डव्यान्माण्डव्यः कौत्सात्कौत्सो माहित्थेर्माहित्थिर्वामकक्षायणाद्वामकक्षायणः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यो वात्स्याद्वात्स्यः कुश्रेः कुश्रिर्यज्ञवचसो राजस्तम्बायनाद्यज्ञवचा राजस्तम्बायनस्तुरात्कावषेयात्तुरः कावषेयः प्रजापतेः प्रजापतिर्ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥ ४॥

साञ्जीवी पुत्र तक एक ही वंश है। (इसके पश्चात्) साञ्जीवी पुत्र ने माण्डूकायनि से, माण्डूकायनि ने माण्डव्य से, माण्डव्य ने कौत्स से, कौत्स ने माहित्थि से, माहित्थि ने वामकक्षायण से, वामकक्षायण ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने वात्स्य से, वात्स्य ने कुश्रि से, कुश्रि ने यज्ञवचा राजस्तम्बायन से, यज्ञवचा राजस्तम्बायन ने तुर कावषेय से, तुर कावषेय ने प्रजापति से, प्रजापति ने ब्रह्म से ज्ञान प्राप्त किया। ब्रह्म तो स्वयंभू है। उस स्वयंभू ब्रह्म को नमन है॥ ४॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदःपूर्णमिदं .....इति शान्तिः ॥

॥ इति बृहदारण्यकोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ मान्त्रकापानषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध है। उपनिषद्कार कहते हैं कि यह जीवात्मा स्वयं को परमात्मा का अंश अनुभव करता हुआ भी उसे सहज रूप में देख नहीं पाता। जब देहासक्ति तथा देहाभिमान रूपी अंधकार छँटता है, तभी उसे देख पाना सम्भव होता है। सामान्य रूप से लोग अविनाशी और अविचल माया का ही ध्यान करते हैं, उसमें संव्याप्त हंस रूप उस परमात्मा का अनुभव करना आवश्यक है। उसी को व्यक्त-अव्यक्त, द्वैत-अद्वैत, सूक्ष्म एवं विराट् रूपों में गाया गया है। सभी मंत्रों का रहस्य वही ब्रह्म है। ऋषि ने उसे ब्रह्मचारी, स्तंभ की तरह अडिग, संसार रूप में फलित होने वाला तथा विश्व शकट को खींचने वाला कहा है।

॥ शान्ति पाठः ॥

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य - ईशावास्योपनिषद्)

ॐ अष्टपादं शुचिं हंसं त्रिसूत्रमणुमव्ययम्।
त्रिवर्त्मानं तेजसोऽहं सर्वतःपश्यन्न पश्यति॥ १ ॥

आठ चरणों वाले, पवित्र स्वरूप, हंस (परमात्मा) रूप, त्रिसूत्र (व्यष्टि, समष्टि, तदुभय) रूप, अतिसूक्ष्म, अव्यय और देदीप्यमान उस परमात्म चेतना को हम (भक्ति, ज्ञान, कर्म) तीन मार्गों से सर्वत्र अनुभव करते हैं; परन्तु देख नहीं पाते॥ १ ॥

भूतसंमोहने काले भिन्ने तमसि वैखरे। अन्तः पश्यन्ति सत्त्वस्था निर्गुणं गुणगह्वरे॥

यद्यपि वह परमात्म चेतना निर्गुण है, तो भी वह गुण रूपी गुहा में समाया हुआ है। सामान्य पुरुष मोहादि से सम्मोहित अवस्थाजन्य अन्धकार में निमग्न रहते हैं; परन्तु सात्त्विक गुणों में अवस्थित रहने वाले पुरुष उसे अपने अन्तःकरण में देखते हैं॥ २ ॥

अशक्यः सोऽन्यथा द्रष्टुं ध्यायमानः कुमारकैः ।
विकारजननीमज्ञामष्टरूपामजां ध्रुवाम्॥ ३ ॥

अन्य किसी प्रकार से भी ध्यान किया जाए, तो भी उस परमात्म चेतना को अज्ञानी पुरुष नहीं देख सकते, क्योंकि जगत् में विकारों को जन्म देने वाली, अज्ञान रूप वाली, आठरूप वाली (पंचभूत, मन, बुद्धि, अहंकार), अजन्मा (प्रकृति रूप) माया का प्रभाव अविचल रहता है॥ ३ ॥

ध्यायतेऽध्यासिता तेन तन्यते प्रेर्यते पुनः। सूयते पुरुषार्थं च तेनैवाधिष्ठितं जगत्॥

ध्यान (चिन्तन) के द्वारा ही उस माया के ज्ञान की प्राप्ति होती है। उसी (माया) के द्वारा यह (आध्यात्मिक-जीव) विस्तार को प्राप्त होता है और (बन्धन से मुक्त होने के लिए) प्रेरित होता है। वस्तुतः पुरुष जो (आध्यात्मिक) पुरुषार्थ करता है, उसी पुरुषार्थ के द्वारा यह जगत् अधिष्ठित है॥ ४ ॥

गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी।
सितासिता च रक्ता च सर्वकामदुघा विभोः॥ ५ ॥

यह गौरूपी माया उत्पत्ति और प्रलय से युक्त है, सबकी सहायिका है, प्राणि-मात्र की पोषिका है। यह श्वेत, कृष्ण और रक्तवर्णा (सत्, रज, तम) है तथा सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाली है॥ ५ ॥

पिबन्त्येनामविषयामविज्ञातां कुमारकाः ।
एकस्तु पिबते देवः स्वच्छन्दोऽत्र वशानुगः॥ ६ ॥

सभी जीव (कुमार) इस माया रूपी गौ के पय का दोहन करते हैं; परन्तु वह परम पुरुष इस माया के विषयों से भिन्न और अविज्ञात है, वह स्वयं स्वच्छन्द रहकर, सभी प्राणियों को वश में रखकर अकेला ही (सम्पूर्ण प्राणियों में-आत्म रूप में) माया का पयःपान (निर्लिप्त रहकर) करता है॥ ६॥

ध्यानक्रियाभ्यां भगवान्भुङ्क्तेऽसौ प्रसहद्विभुः ।
सर्वसाधारणीं दोग्ध्रीं पीयमानां तु यज्वभिः॥ ७॥

सर्व साधारण द्वारा दुही जाती और याज्ञिकों द्वारा यजन की जाती हुई इस माया रूपी गौ का वह भगवान् (ऐश्वर्यशाली) ध्यान (चिन्तन) और क्रिया (यौगिक क्रिया) द्वारा उपभोग करता है और उसे अत्यन्त व्यापक बनाता जाता है॥ ७॥

पश्यन्त्यस्यां महात्मानः सुवर्णं पिप्पलाशनम्।
उदासीनं ध्रुवं हंसं स्नातकाध्वर्यवो जगुः ॥ ८॥

महात्मा पुरुष सु-रूप (वर्ण) वाले इस जगत् रूप पीपल का फल खाते हैं और इस जगत् की माया में उस उदासीन परम पुरुष और परमहंस को ही देखते हैं। सभी स्नातक और अध्वर्युगण उसी का गान करते हैं॥ ८॥

शंसन्तमनुशंसन्ति बह्वृचाः शास्त्रकोविदाः । रथन्तरं बृहत्साम सप्तवैधैस्तु गीयते॥

शास्त्रज्ञ जन ऋचाओं के माध्यम से तथा स्तोता जन (स्तुतियों के द्वारा) उसी परम पुरुष की स्तुति करते हैं और उसी के लिए रथन्तर संज्ञक तथा बृहत्साम का सप्तविध गान करते हैं॥ ९॥

मन्त्रोपनिषदं ब्रह्म पदक्रमसमन्वितम्। पठन्ति भार्गवा ह्येते ह्यथर्वाणो भृगूत्तमाः ॥

मन्त्रों का रहस्य ही ब्रह्म है, उसी को भृगुवंशी श्रेष्ठ 'भार्गव' लोग अथर्ववेदीय पद और क्रम के अनुसार पढ़ते हैं॥ १०॥

सब्रह्मचारिवृत्तिश्च स्तम्भोऽथ फलितस्तथा।
अनड्वान्नोहितोच्छिष्टः पश्यन्तो बहुविस्तरम्॥ ११॥

यह परम-पुरुष ब्रह्मचारी वृत्ति वाला, स्तम्भ के सदृश अटल, जगत् रूप में फलयुक्त, जगत् रूप शकट का वाहक, रजोगुण से रहित, सत्त्वगुण सम्पन्न तथा अत्यन्त व्यापक रूप में दिखाई देने वाला है॥ ११॥

कालः प्राणश्च भगवान्मृत्युः शर्वो महेश्वरः ।
उग्रो भवश्च रुद्रश्च ससुरः सासुरस्तथा ॥ १२॥

(षडैश्वर्य सम्पन्न) यह परमपुरुष भगवान् कालरूप, प्राणरूप, मृत्युरूप, शर्वरूप, महेश्वररूप, भवरूप, रुद्ररूप, उग्ररूप, ससुर (देवयुक्त) तथा सासुर (असुरयुक्त) भी हैं॥ १२॥

प्रजापतिर्विराट् चैव पुरुषः सलिलमेव च । स्तूयते मन्त्रसंस्तुस्यैरथर्वविदितैर्विभुः॥

वह परमदेव, प्रजापति, विराट् पुरुष और जलादि देवताओं के रूप में सबके लिए स्तुति करने योग्य है। अथर्ववेद द्वारा उसके व्यापक रूप का परिज्ञान होता है॥ १३॥

तं षड्विंशक इत्येते सप्तविंशं तथापरे । पुरुषं निर्गुणं सांख्यमथर्वशिरसो विदुः॥

कोई उसे छब्बीसवाँ तत्त्व कहते हैं, कोई सत्ताईसवाँ तत्त्व कहते हैं। अथर्वशिर (उपनिषद्)के ज्ञाता उसे निर्गुण सांख्यपुरुष कहते हैं॥ १४॥

चतुर्विंशतिसंख्यातं व्यक्तमव्यक्तमेव च। अद्वैतं द्वैतमित्याहुस्त्रिधा तं पञ्चधा तथा ॥

कोई उसे चौबीस संख्यक तत्त्वों वाला (सांख्य दर्शन), कोई उसे व्यक्त (जगत्) और कोई अव्यक्त (प्रकृति) मानते हैं। कोई उसे द्वैत (जीव-ब्रह्म) और कोई अद्वैत (ब्रह्म) मानते हैं। इसी प्रकार कोई उसे तीन रूपों (ब्रह्मा, विष्णु , महेश) वाला और कोई पाँच रूपों वाला (ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गौरी और गणेश) मानते हैं॥ १५॥

ब्रह्माद्यं स्थावरान्तं च पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।
तमेकमेव पश्यन्ति परिशुभ्रं विभुं द्विजाः ॥ १६॥

अनेक ज्ञान-दृष्टि सम्पन्न विद्वान् ब्रह्म (सबसे बड़ा तथा चैतन्य रूप) से लेकर जड़-पदार्थों तक में एक ही अतिशुभ्र (शुद्ध) व्यापक सर्वोच्च सत्ता को व्याप्त हुआ अनुभव करते हैं॥ १६॥

यस्मिन्सर्वमिदं प्रोतं ब्रह्म स्थावरजंगमम्।
तस्मिन्नेव लयं यान्ति स्त्रवन्त्यः सागरे यथा ॥ १७॥

यह सम्पूर्ण जड़-चेतन जगत् उस ब्रह्म में ही समाया हुआ है। जिस प्रकार नदियाँ बहती हुई समुद्र में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् भी उस ब्रह्म में ही लय को प्राप्त होता है॥ १७॥

यस्मिन्भावाः प्रलीयन्ते लीनाश्चाव्यक्ततां ययुः ।
पश्यन्ति व्यक्ततां भूयो जायन्ते बुद्बुदा इव ॥ १८॥

जिस प्रकार पानी का बुल-बुला पानी से उत्पन्न होता है और पानी में ही लय हो जाता है; उसी प्रकार जिसमें सम्पूर्ण जीव-पदार्थ जन्म लेते हैं तथा जिसमें लय होकर अदृश्य हो जाते हैं, उसी को ज्ञानीजन ब्रह्म कहते हैं॥ १८॥

क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं चैव कारणैर्विद्यते पुनः ।
एवं स भगवान्देवं पश्यन्त्यन्ये पुनःपुनः॥ १९॥

वह 'क्षेत्रज्ञ' रूप में सम्पूर्ण प्राणियों में अधिष्ठित होता है और वह कार्य के पीछे (समस्त) कारणों को जानने वाला होता है। ऐसे उस परम पुरुष को विद्वान् साधक बार-बार देखते हैं॥ १९॥

ब्रह्म ब्रह्मेत्यथायान्ति ये विदुर्ब्राह्मणास्तथा।
अत्रैव ते लयं यान्ति लीनाश्चाव्यक्तशालिनः॥
लीनाश्चाव्यक्तशालिन इत्युपनिषत् ॥ २०॥

जो विद्वान् (ब्रह्मवेत्ता) उस ब्रह्म को जानते हैं, वे उसी ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, उसी में लय होकर वे अव्यक्त रूप से सुशोभित होते हैं, यह सुनिश्चित है। यही उपनिषद् (रहस्य) है॥ २०॥

॥ शान्तिपाठः ॥

॥ ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं..... इति शान्तिः ॥

॥ इति मन्त्रिकोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ माण्डूक्योपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेद के अन्तर्गत है। इसमें 'ॐकार' को अक्षर ब्रह्म परमात्मा का श्रेष्ठ सम्बोधन सिद्ध करते हुए उसके विभिन्न चरणों एवं मात्राओं का विवेचन किया गया है। अ, उ, म् तीन मात्राओं तथा वैश्वानर, तैजस एवं प्राज्ञ इन तीन चरणों के साथ मात्रा रहित चौथे चरण निर्विशेष का उल्लेख किया गया है। अव्यक्त परमात्मा के व्यक्त विराट् जगत् स्वरूप का भी वर्णन है। विश्व उसका स्थान है, सात लोक उसके सात अंग तथा इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण आदि उसके मुख कहे गये हैं। परमात्मा के निराकार-साकार दोनों स्वरूपों की उपासना का मार्ग इससे प्रशस्त होता है।

॥ शान्ति पाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा.....। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ..... इति शान्तिः ॥

(द्रष्टव्य- प्रश्नोपनिषद्)

ओमित्येतदक्षरमिदꣳसर्वं तस्योपव्याख्यानभूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव॥ १ ॥

ॐ यह अक्षर-अविनाशी (ब्रह्म का प्रतीक) है, उसकी महिमा को प्रकट करने वाला यह विश्व - ब्रह्माण्ड है । भूत, भविष्यत् और वर्तमान-तीन कालों वाला यह संसार भी ॐकार ही है और तीन कालों से अन्य जो भी तत्त्व है, वह भी ॐकार ही है ॥ १ ॥

सर्वꣳह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्॥ २ ॥

यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म रूप ही है, यह आत्मा भी ब्रह्मरूप ही है। वह (ब्रह्म) और यह (आत्मा) चार चरण वाला स्थूल या प्रत्यक्ष, सूक्ष्म, कारण एवं अव्यक्त रूपों में प्रभावी है॥ २ ॥

अगले मंत्रों में चारों चरणों के स्थान और गुण-धर्मों को व्यक्त किया गया है-

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः॥ ३ ॥

प्रथम चरण स्थूल-वैश्वानर (प्रकट विश्व का संचालक)है, जो जाग्रत् स्थान में रहने वाला, बहिष्प्रज्ञ (बाहर बोध कराने वाला), तथा सात अंगों (सप्तलोकों या सप्त किरणों से युक्त), उन्नीस मुखों (दस इन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा अन्तःकरण चतुष्टय) वाला तथा स्थूल का भोक्ता है॥ ३ ॥

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः॥ ४॥

स्वप्न के सदृश अव्यक्त विश्व जिसका अधिष्ठान (स्थान) है, जिसके द्वारा अदृश्य लोक का ज्ञान अन्तःचक्षुओं से होता है, जो सूक्ष्म विषयों (वासनादि) का भोक्ता है और ज्योतिर्मय है, वही तेजस् (ब्रह्म या आत्मा का) द्वितीय चरण है॥ ४॥

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

जिस अवस्था में प्रसुप्त मनुष्य किसी भोग की कामना नहीं करता और न ही स्वप्न देखता है, ऐसी सुषुप्तावस्था में जो एकाग्र वृत्ति वाला, प्रकृष्ट ज्ञान स्वरूप और आनन्द रूप ही है एवं जो एकमात्र आनन्द का ही भोक्ता है, जिसका मुख तेजोमय चैतन्य रूप है, वह 'प्राज्ञ' ही ब्रह्म का तृतीय चरण है ॥ ५ ॥

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥ ६ ॥

वह ब्रह्म ही सबका ईश्वर है, वह सर्वज्ञ अन्तर्यामी और सम्पूर्ण जगत् का कारण भूत है। वही सब भूतों की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश का कारण है ॥ ६ ॥

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

जो अन्तः अथवा बाह्य प्रज्ञा वाला नहीं है, जो दोनों ओर की प्रज्ञा वाला नहीं है, जो प्रकृष्ट ज्ञानपुञ्ज नहीं है, न ज्ञान रूप है, न अज्ञान ही है, जो ज्ञानेन्द्रियगम्य नहीं है, जो कर्मेन्द्रियगम्य भी नहीं है, जो क्रिया रहित है, जो प्रतीकों से भिन्न है, जो चिन्तन की सीमा से परे तथा कथन की सीमा से भी परे है, जो एकमात्र अनुभवगम्य है, जो सम्पूर्ण प्रपञ्चों का लय स्थान है, जो शान्तस्वरूप, कल्याणरूप और अद्वैतरूप है, वही ब्रह्म का चतुर्थ चरण है, वही आत्मा (या परमात्मा) है, वही जानने योग्य है ॥ ७ ॥

सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

वह (ब्रह्म) और यह (आत्मा) अक्षर ॐकार रूप ही है । यह ॐकार मात्राओं में सन्निहित है। इसकी मात्राएँ ही इसके चरण हैं और इसके चरण ही इसकी मात्राएँ हैं। ये मात्राएँ अकार, उकार और मकार हैं ॥ ८ ॥

[इस मंत्र में वर्णित ब्रह्म या आत्मा की मात्राएँ अनेक अर्थों में प्रकट होती हैं, ॐ में तीन मात्राएँ - अ,उ,म् हैं। विश्व त्रि आयामी (थ्री डाइमेंशनल) है। सापेक्षवाद (थ्योरी आफ रिलेटिविटी) के अनुसार समय (टाइम), आयतन (स्पेस) तथा भार (मॉस) यह तीन आयाम हैं। समय में भी भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् तीन मात्राएँ हैं। आयतन में लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई यह तीन आयाम हैं। गुण रूप में भी सत्, रज, तम हैं। इस प्रकार यह ब्रह्म तीन मात्राओं में व्यक्त है, यह कथन प्रमाणित होता है।]

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्त्वाद्वा आप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

जाग्रत् स्थान वाला वैश्वानर व्याप्त होने और आदि तत्त्व होने के कारण ॐकार का प्रथम चरण है। इस प्रकार का ज्ञान रखने वाला ज्ञानी सम्पूर्ण कामनाओं को प्राप्त करता हुआ सबमें वरिष्ठता पाता है ॥९ ॥

[सारे कौशल तथा स्थूल पुरुषार्थ वैश्वानर के अन्तर्गत आते हैं। उसे पाकर सब प्रकार की कामनाएँ पूर्ण होती हैं।]

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति नास्याऽब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥ १० ॥

स्वप्न स्थान वाला तेजस् श्रेष्ठ होने और द्विभाव में रहने से ॐकार का द्वितीय चरण है। इस प्रकार का ज्ञान रखने वाला पुंरुष ज्ञान का उत्कर्ष करता हुआ समान भाव में निमग्न रहता है। उसके कुल में ब्रह्म को न जानने वाला कोई नहीं रहता॥ १०॥

[तेजस् के अन्तर्गत सभी प्रकार के ज्ञान की धाराएँ आती हैं। उसे पाकर व्यक्ति ज्ञान की उच्चतम अवस्था तक पहुँच जाता है।]

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ ११॥

सुषुप्ति स्थान वाला प्राज्ञ विश्व का मापक (विश्व की परिसीमा) और प्रलय करने वाला होने से ॐ कार का तृतीय चरण है। इस प्रकार का ज्ञान रखने वाला ज्ञानी सम्पूर्ण विश्व का यथार्थ स्वरूप जानता हुआ इन सबको स्वयं में लय करने वाला होता है॥ ११॥

[प्राज्ञ कारणसत्ता चेतना का ज्ञाता होता है। उस स्थिति में एक ही चेतन सर्वत्र सक्रिय दिखाई देता है। सभी को बीजरूप में स्वयं में अनुभव किया जा सकता है।]

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद॥ १२॥

मात्रा रहित ॐकार क्रिया से रहित है। जगत् के प्रपंचों का शमन करने वाला,कल्याणकारी एवं अद्वैत रूप है, यही ब्रह्म का चतुर्थ चरण है। जो इस प्रकार का ज्ञान रखता है, वह आत्मज्ञानी ज्ञान के द्वारा आत्मा को परब्रह्म में प्रविष्ट कराता है॥ १२॥

[इस चरण में साधक निर्विकल्पक-अद्वैत बोध में पहुँच जाता है।]

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा....। स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति माण्डूक्योपनिषत्समाप्ता ॥

॥ मुण्डकोपानषद् ॥

यह अथर्ववेद की शौनकीय शाखा की उपनिषद् है, जिसमें तीन मुण्डक हैं तथा प्रत्येक मुण्डक में दो-दो खण्ड हैं। 'मुण्डक' शब्द का तात्पर्यार्थ 'मन का मुण्डन कर अविद्या से मुक्त करने वाला ज्ञान' है। इसमें महर्षि अङ्गिरा ने शौनक जी को परा-अपरा विद्या समझायी है। प्रथम मुण्डक के प्रथम खण्ड में ब्रह्मविद्या की परम्परा के बाद ऋषि संवाद के रूप में परा-अपरा विद्या का विवेचन है एवं परा विद्या से ब्रह्मबोध तथा परमेश्वर से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन है। दूसरे खण्ड में अपरा विद्या, यज्ञ और उसके फल, भोगों से विरक्ति तथा ब्रह्मबोध के लिए ब्रह्मनिष्ठ गुरु तथा अधिकारी शिष्य के सम्मिलन की आवश्यकता बतायी गयी है। द्वितीय मुण्डक में अग्नि की चिनगारियों की तरह ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति एवं लय का वर्णन करते हुए ॐ कार रूपी धनुष एवं आत्मा रूपी बाण से परमात्मा का लक्ष्यवेध, ब्रह्म का स्वरूप एवं ब्रह्म प्राप्ति का महत्त्व है। तृतीय मुण्डक में शरीर रूपी एक ही वृक्ष पर जीवात्मा और परमात्मा रूपी दो पक्षियों के उदाहरण सहित अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा ब्रह्म प्राप्ति तथा ब्रह्मवेत्ता की गति तथा महत्ता का वर्णन है।

॥ शान्ति पाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- प्रश्नोपनिषद्)

॥ अथ प्रथमं मुण्डकम् ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ १ ॥

देव ब्रह्मा सभी देवों में प्रथम उत्पन्न हुए। वे विश्व का निर्माण करने वाले हैं और चौदह भुवनों के रक्षक हैं। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को समस्त विद्याओं की आधारभूता 'ब्रह्मविद्या' का उपदेश दिया॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥ २ ॥

अथर्वा को देव ब्रह्मा ने जिस ब्रह्म विद्या का उपदेश दिया था, अथर्वा ने वह विद्या अङ्गिर् (अंगी मुनि) को प्रदान की । अङ्गिर् ने उसका उपदेश भरद्वाज पुत्र सत्यवाह को दिया। सत्यवाह ने वही विद्या अङ्गिरस् को प्रदान की॥ २॥

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ।
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥ ३ ॥

प्रसिद्ध सद्गृहस्थ शौनक ने अङ्गिरस् के पास शिक्षार्थी के रूप में विधिपूर्वक जाकर पूछा-हे भगवन्! किसके जान लेने पर यह सब कुछ जान लिया जाता है॥ ३॥

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च॥

अङ्गिरस् ऋषि ने शौनक को उत्तर दिया-ब्रह्मवेत्ताओं ने ब्रह्मविद्या के अन्तर्गत दो विद्याएँ जानने योग्य बतायी हैं- एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या॥ ४॥

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ ५॥

जिसमें ऋग्, यजुष्, साम, अथर्व, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष् का ज्ञान होता है-वह अपरा विद्या है तथा जिसमें उस अक्षर 'ब्रह्म' (ॐकार) का ज्ञान होता है, वह परा विद्या है ॥ ५॥

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥ ६॥

वह जो देखा न जा सके, न पकड़ा जा सके, जिसका कोई गोत्र नहीं, कोई वर्ण नहीं, जिसे चक्षु और श्रोत्र की आवश्यकता नहीं, जिसे हाथ और पैरों की आवश्यकता नहीं, जो सदैव नित्य, व्यापक, सर्वत्र व्याप्त और अत्यन्त सूक्ष्म है, जो क्षयरहित अथवा अनश्वर है, जो सम्पूर्ण भूतों का कारणभूत है, उस परब्रह्म को विवेकीजन सर्वत्र देखते हैं॥ ६॥

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम्॥ ७॥

मकड़ी जैसे अपने पेट से जाले को उत्पन्न करती और अपने भीतर ही निगल लेती है,पृथ्वी जैसे विभिन्न प्रकार की ओषधियाँ उत्पन्न करती है, मनुष्य शरीर से जैसे केश और लोम (रोयें) उत्पन्न होते हैं, वैसे ही उस अनश्वर ब्रह्म से ही यह विश्व उत्पन्न होता है॥ ७॥

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते। अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्॥ ८॥

तप के द्वारा ब्रह्म बढ़ता है (बीज रूप को प्राप्त होता है)। उससे अन्न उत्पन्न होता है, अन्न से प्राण, उससे मन, उससे सत्य (पञ्चभूत), उससे लोक और मनुष्यादि, उनसे कर्म और कर्म से अमृतरूप फल प्राप्त होता है॥ ८॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥ ९॥

जो सर्वज्ञ और सर्वविद् है, उसका तप भी ज्ञान युक्त होता है। उसी परब्रह्म से इस ब्रह्माण्ड में नाम,रूप और अन्न उत्पन्न होता है॥ ९॥

[परब्रह्म कायारहित है, इसलिए उसके द्वारा किया हुआ तप लौकिक प्रचलन के आधार पर नहीं समझा जा सकता। वह अविरल-शान्त, अगम स्थिति में संकल्प पूर्वक जो हलचल उत्पन्न करता है, वही उसका तप है।]

॥ द्वितीयः खण्डः॥

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके॥ १॥

सूक्ष्मदर्शी ज्ञानियों ने वेदमन्त्रों में जिन कर्मों का दर्शन किया, त्रेतायुग में उन्हीं का विविध प्रकार से विस्तार हुआ। हे सत्य की कामना से युक्त पुरुषो! अपने कर्मों का श्रेष्ठ फल प्राप्त करने के लिए इस जगत् में यही मार्ग है कि आप सब नित्य ही श्रेष्ठ आचरण करें ॥ १ ॥

यदा लेलायते ह्यर्चिःसमिद्धे हव्यवाहने
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीःप्रतिपादयेच्छ्रद्धया हुतम्॥ २॥

देवताओं तक हव्य पहुँचाने वाले अग्नि के प्रदीप्त होने पर समिधाओं के बीच से जब ज्वालाएँ धधक उठें, उस समय आज्य भाग आहुतियों के बीच में श्रद्धापूर्वक क्रमशः आहुतियाँ प्रदान करें॥ २॥

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च ।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान्हिनस्ति ॥ ३॥

जिसका अग्निहोत्र दर्श (अमावस्या)-पौर्णमास (पूर्णमासी) से रहित, चातुर्मास्य सम्बन्धी यज्ञ तथा आग्रयण (शरद् ऋतु में निर्दिष्ट यज्ञ) से रहित,अतिथि पूजन से रहित, यथा समय किये जाने वाले यज्ञ तथा बलिवैश्व से रहित एवं विधि रहित है, ऐसा अग्निहोत्री अपने सात जन्मों के पुण्य का विनाश करता है॥ ३॥

काली करासी च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः॥ ४॥

काली, करासी (अत्यन्त तीक्ष्ण), मनोजवा (मन के समान चञ्चल), लाल वर्ण वाली, धूम्र वर्ण वाली, चिनगारी वाली तथा देदीप्यमान विश्वरुची ये अग्नि की सप्त जिह्वाएँ हैं॥ ४॥

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः॥ ५॥

जो पुरुष इन देदीप्यमान अग्नि ज्वालाओं में यथासमय आहुतियाँ देता हुआ अग्निहोत्र कृत्य सम्पन्न करता है, उसे वे आहुतियाँ ही सूर्य रश्मियों के साथ देवाधिपति इन्द्रदेव के पास(स्वर्ग में) ले जाती हैं ॥

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः॥ ६॥

वे आहुतियाँ यजमान का सत्कार करती हुई उसे सूर्यरश्मियों के साथ ले जाती हुई कहती हैं कि आओ-आओ, यह आपके शुभ कर्मों के पुण्य(फल) से प्राप्त हुआ ब्रह्मलोक है॥ ६॥

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥ ७॥

ये यज्ञरूप अग्निहोत्रादि कर्म जिनमें अट्ठारह ऋत्विज् (१६ ऋत्विज्,यजमान और यजमान पत्नी) कहे जाते हैं। सकाम कर्म के आदेश में आने से अस्थिर एवं नाशवान् बताये गये हैं। जो मूढ़ लोग 'यही श्रेय है' कहकर इनकी प्रशंसा करते हैं, वे बार-बार जरा-मरण को प्राप्त होते रहते हैं॥ ७॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ ८॥

अविद्याग्रस्त रहते हुए भी अपने को बड़ा बुद्धिमान् तथा बड़ा पण्डित समझने वाले वे मूढ़ लोग अन्धे के नेतृत्व में चलने वाले अन्धों के समान भटकते और अनेक कष्ट सहन करते हैं॥ ८॥

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते॥ ९॥

अज्ञानी पुरुष अविद्या में अनेक प्रकार से फँसकर 'हम कृतार्थ हो गये हैं', ऐसा मानते हुए अभिमान करते हैं; क्योंकि सकाम कर्म करने वाले कर्मफल में आसक्त होने से तत्त्वज्ञान नहीं समझते, अतः वे दुःखों से व्याकुल होते और कर्मफल क्षीण होने पर स्वर्ग से च्युत हो जाते हैं॥ ९॥

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥ १०॥

इष्ट और पूर्त कर्मों को ही श्रेष्ठ मानते हुए वे महामूढ़ किसी अन्य को श्रेयस्कर नहीं जानते हैं। सकाम कर्म के फल को वे स्वर्ग से भी उच्च अनुभव करते हैं; परन्तु वे इस लोक या उससे भी निम्न लोक में प्रवेश करते हैं॥ १०॥

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥ ११॥

जो वन में निवास करते हुए, तपः साधना करते हुए, श्रद्धायुक्त जीवन जीते हुए और भिक्षाटन करते हुए संतोषी जीवन जीते हैं, वे मल-विक्षेपों से रहित होकर सूर्यद्वार (उत्तरायण मार्ग) से वहाँ जाते हैं, जहाँ अमर और अविनाशी ब्रह्म का परम धाम है॥ ११॥

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥ १२॥

कर्मों द्वारा प्राप्त होने वाले लोकों (की असारता) को जानकर ब्राह्मण (ब्रह्मविद्या के अधिकारी) वैराग्य को प्राप्त हो; क्योंकि केवल किये हुए (सकाम) कर्म से ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः उस ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु को हाथ में समिधा लेकर वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिए॥

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥ १३॥

वह ज्ञानवान् गुरु पास में आये हुए उस पूर्णतया शान्तचित्त एवं जितेन्द्रिय शिष्यरूप जिज्ञासु को तत्त्वतः ब्रह्मविद्या का उपदेश करे, जिससे शिष्य को सत्यस्वरूप अविनाशी ब्रह्म का सम्यक् ज्ञान हो सके॥१३॥

॥ द्वितीयं मुण्डकम् ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति॥ १॥

वह(ब्रह्म और)यह(जगत्)सत्य है,जैसे प्रदीप्त अग्नि के समान सहस्त्रों चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं,वैसे ही हे प्रिय! उस ब्रह्म से अनेक प्रकार के भाव प्रकट होते हैं और उसमें ही विलीन भी हो जाते हैं॥१॥

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥ २॥

वह प्रकाशमान , अमूर्तरूप ब्रह्म अन्दर-बाहर सर्वत्र विद्यमान है। वह अजन्मा, प्राणरहित, मनरहित एवं उज्ज्वल है और अविनाशी आत्मा से भी उत्कृष्ट है ॥ २॥

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ ३॥

इसी अविनाशी ब्रह्म से प्राण, मन एवं समस्त इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। इसी से आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी उत्पन्न होती है॥ ३॥

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥ ४॥

अग्नि जिस (ब्रह्म) का मस्तक है, सूर्य और चन्द्र जिसके नेत्र हैं, दिशाएँ अथवा सुविस्तृत वेदवाणियाँ जिसके कर्ण हैं, वायु जिसका प्राण है, सम्पूर्ण विश्व जिसका हृदय है, पृथ्वी जिसके पैरों की उत्पत्ति है, निश्चय ही वह ब्रह्म सम्पूर्ण प्राणियों में अन्तरात्मा रूप में प्रतिष्ठित है॥ ४॥

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम्।
पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्संप्रसूताः॥ ५॥

उस विराट् पुरुष से ही वह अग्नि उत्पन्न हुआ है, सूर्य जिसकी समिधा रूप है। (उस आकाशस्थ अग्नि से निष्पन्न) सोम से पर्जन्य और पर्जन्य से पृथ्वी में ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। ओषधियों से पुरुष में वीर्य उत्पन्न होता है, पुरुष द्वारा उस वीर्य के सिंचन से पुरुष से ही समस्त प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं॥ ५॥

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः॥ ६॥

उसी विराट् पुरुष से ऋचाएँ, साममन्त्र, यजुः, दीक्षा, सम्पूर्ण यज्ञ, समस्त कर्म तथा दक्षिणाएँ प्रकट हुईं। संवत्सर, यजमान, सब लोक (मनुष्यादि) उसी से उत्पन्न हुए। उसी के द्वारा वे लोक भी उत्पन्न हुए, जहाँ चन्द्रमा पवित्रकारक रश्मियाँ बिखेरता तथा सूर्य ऊर्जा पहुँचाता है॥ ६॥

तस्माच्च देवा बहुधा संप्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ ७॥

उस विराट् पुरुष से ही विविध देवता, साध्यगण (देव विशेष), मनुष्यगण, पशु, पक्षी, प्राण-अपान, धान, जौ, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य और विधि (यम-नियमादि) सब उत्पन्न हुए हैं॥ ७॥

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥ ८॥

उस पुरुष से ही सात प्राण (दो नेत्र,दो श्रवण, दो घ्राण, एक जिह्वा) उत्पन्न हुए। उसी से अग्नि की सात ज्वालाएँ, सात समिधाएँ (सात विषय), सात यज्ञ उत्पन्न हुए। उसी से ये सात लोक प्रकट हुए, जिनमें सात प्राण विचरते हैं। प्रत्येक प्राणीरूप गुहा में आश्रित-सन्निहित ये सात-सात पदार्थ उसी से प्रकट होते हैं॥ ८॥

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽ स्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा॥ ९॥

उस पुरुष से ही समस्त समुद्र और सभी पर्वत एवं विभिन्न रूपों वाली नदियाँ उत्पन्न हुई हैं । उसी से सम्पूर्ण ओषधियाँ और रस की उत्पत्ति हुई। वही पुरुष सभी प्राणियों में अन्तरात्मा रूप में प्रतिष्ठित है ॥ ९॥

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽ विद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य॥ १०॥

हे सोम्य! यह सम्पूर्ण जगत् , कर्म और तप सभी परब्रह्म रूप है। वह परम तत्त्व अमृतरूप है। जो पुरुष उस ब्रह्म को सभी प्राणियों की हृदय गुहा में अधिष्ठित जानता है , वह इस जगत् में अविद्या ग्रन्थि को खोल देता है॥ १०॥

॥ द्वितीयः खण्डः॥

आविःसंनिहितं गुहाचरन्नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम् । एजत्प्राणन्निमिषच्च
यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्॥ १॥

यह (ब्रह्म)प्रकाशमान, सबमें व्याप्त, हृदय गुहा में विचरणशील तथा महान् पद वाला है। इस ब्रह्म में चलने वाले, श्वास लेने वाले, पलक झपकने वाले सब प्राणी समाविष्ट होते हैं। जो सत्- असत् रूप, वरणीय, वरिष्ठ और जीवात्माओं की बुद्धि से परे है, उस ब्रह्म को जानो॥ १॥

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽ णु च यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च।
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि॥ २॥

जो देदीप्यमान है, जो अणु से भी अतिसूक्ष्म अणु है तथा जिसमें सम्पूर्ण लोक और उनके निवासी स्थित हैं, वही यह अविनाशी ब्रह्म है, वही प्राण है, वही वाणी और वही मन भी है। वही सत्यरूप और अमृतरूप है। हे सोम्य! मनन द्वारा उसका वेधन करना चाहिए, अतः उसका वेधन करें॥ २॥

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संधयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥ ३॥

उपनिषद् रूप महाअस्त्र धनुष लेकर उस पर उपासना द्वारा तीक्ष्ण किया हुआ बाण चढ़ाएँ और उसे खींचकर भावों से भरे चित्त से उस अविनाशी ब्रह्म का लक्ष्यवेधन करें॥ ३॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ ४॥

प्रणव ॐकार धनुष है, अन्तरात्मा बाण है, ब्रह्म उसका लक्ष्यवेध माना गया है। उसे आलस्य-प्रमाद रहित मनुष्य ही वेध सकता है। बाण से लक्ष्य वेधकर एकाग्रतापूर्वक उसमें तन्मय हो जाना चाहिए ॥ ४॥

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥ ५॥

जिस विराट् पुरुष में पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक तथा सम्पूर्ण प्राणों के साथ मन अधिष्ठित है, उस

एक आत्मा को ही जानें, उससे भिन्न अन्य विषयों को सर्वथा छोड़ दें, यही अमृतरूप ब्रह्म प्राप्ति का सेतु (साधन) है॥ ५॥

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः ।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्॥ ६॥

रथ चक्र की नाभि में जिस प्रकार अरे लगे होते हैं और जिस प्रकार शरीर की सम्पूर्ण नाड़ियाँ हृदय में एकत्र होती हैं, उसी प्रकार विभिन्न रूपों में सञ्चरित होने वाला वह परब्रह्म हृदय के मध्य स्थित होता है। उस परमेश्वर का ॐ के उच्चारण द्वारा ध्यान करना चाहिए। अज्ञान-अन्धकार से पार जाने के लिए यह आवश्यक है, इस प्रकार आपका कल्याण हो॥ ६॥

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः। मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय। तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति॥ ७॥

जो सर्वज्ञ और सर्वविद् है, जिसकी महिमा इस भूलोक में व्याप्त है, वही ब्रह्म (दिव्य ब्रह्मपुर) आकाश (हृदय गुहा) में प्रतिष्ठित है। जो मनोमय कोश से युक्त है, जो शरीर एवं प्राणों का संचालक है, जो अन्नमय कोश (अथवा स्थूल शरीर) में हृदय कमल के आश्रय से अधिष्ठित है, वह आनन्दस्वरूप, अमृतरूप परमेश्वर सर्वत्र देदीप्यमान है, उसे विवेकी पुरुष विशिष्ट अनुभवों (या ज्ञान) के आधार पर चारों ओर देखते हैं॥ ७॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ ८॥

उस परब्रह्म को तत्त्वतः जान लेने पर मनुष्य की हृदय ग्रन्थि खुल जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और उसके सम्पूर्ण (प्रारब्ध) कर्म भी क्षीण हो जाते हैं॥ ८॥

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥ ९॥

प्रकाशमय सूक्ष्म कोश में निर्मल और कलारहित ब्रह्म विद्यमान है। वह शुभ्र और ज्योतिर्मय सम्पूर्ण पदार्थों का ज्योतिस्वरूप है, आत्मज्ञानी पुरुष उस ब्रह्म को जानते हैं॥ ९॥

न तत्र सूर्यो भाति न चंद्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ १०॥

वहाँ (उस ब्रह्मलोक में) न सूर्य प्रकाशित होता है और न चन्द्रमा अथवा तारे। वहाँ ये बिजलियाँ भी प्रकाशित नहीं होतीं, फिर यह अग्नि कहाँ से प्रकाशित हो सकता है? उस एक (ब्रह्म) के ही प्रकाशित होने पर सब कुछ प्रकाशित होता है, उसका ही प्रकाश इन सबमें चमकता है॥ १०॥

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्माद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥ ११॥

वह ब्रह्म अमृतरूप ज्ञान ही है, ब्रह्म ही आगे और वही पीछे है, ब्रह्म ही बायीं और दायीं ओर है तथा ब्रह्म ही नीचे और ऊपर विस्तृत है। यह सम्पूर्ण जगत् सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है॥ ११॥

॥ तृतीयं मुण्डकम् ॥

॥ प्रथमः खण्डः ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ १ ॥

साथ-साथ रहने तथा सख्यभाव वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष पर रहते हैं। उनमें से एक उस वृक्ष के पिप्पल (कर्मफल) का स्वाद लेता है और दूसरा अनशन (निराहार) पूर्वक केवल देखता रहता है॥ १ ॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥ २ ॥

समान वृक्ष (देह) पर निवास करने वाला जीवात्मा मोह में डूबा हुआ असमर्थ होकर शोक-संतप्त रहता है। जब वह योगियों से सेवित परमात्मा की महिमा का बोध प्राप्त करता है,तब मुक्त हो जाता है॥ २ ॥

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥ ३ ॥

जब वह जीव द्रष्टारूप, प्रकाशमान, परमपुरुष, विश्व के उत्पत्तिकर्त्ता, ब्रह्मा के रचयिता को देखता है, तब वह विद्वान् पाप-पुण्य को त्याग कर निर्मल और श्रेष्ठ साम्यरूप को प्राप्त हो जाता है॥ ३ ॥

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः॥ ४॥

यह ब्रह्म ही सब प्राणियों के अन्दर प्राण रूप में प्रकाशित हो रहा है, जो विद्वान् इसे जानता है, वह अहंकारोक्ति नहीं करता। वह आत्मा में क्रीड़ा करने वाला और आत्मा में रमण करने वाला पुरुष जगत् में कर्म करते हुए ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठता को प्राप्त होता है॥ ४ ॥

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥ ५ ॥

आत्मारूप उस ब्रह्म की प्राप्ति सत्यभाषण, तपश्चर्या, सम्यग्ज्ञान, ब्रह्मचर्य आदि निश्चित व्रतों से होती है। वह शुभ्र (उज्ज्वल) ज्योतिष्मान् ब्रह्म शरीर के अन्दर अधिष्ठित रहता है, उसे वही योगी देख पाते हैं जो स्वयं को दोषों से मुक्त कर लेते हैं॥ ५ ॥

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥ ६ ॥

सत्य की ही विजय होती है, झूठ की नहीं। सत्य से ही देवयान मार्ग परिपूर्ण है। इसके द्वारा कामनारहित ऋषिगण उस पद को प्राप्त होते हैं, जहाँ सत्य के श्रेष्ठ भण्डाररूप परमात्मा का निवास है॥ ६ ॥

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥ ७॥

वह ब्रह्म (परमात्मा) अत्यन्त महान् और दिव्य है। वह सहज चिंतन की सीमा से भी परे है। वह

सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में प्रकाशित होता है। वह अत्यन्त दूर से भी अतिदूर है तथा निकट से निकटस्थ भी है। वह सूक्ष्म द्रष्टाओं की दृष्टि में प्रत्येक प्राणी के अन्दर हृदयगुहा में प्रतिष्ठित है॥ ७॥

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥ ८॥

वह ब्रह्म (अथवा आत्मा) न नेत्रों से ग्रहण किया जाता है, न वाणी से, न अन्य इन्द्रियों से ग्रहणीय है, वह तप से अथवा कर्मों से भी ग्रहणीय नहीं है। ज्ञान प्रसाद से ज्ञानी शुद्ध अन्तःकरण वाला होता है, तब वह ध्यान के द्वारा कलारहित परमात्मा को देखता है॥ ८॥

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥ ९॥

वह सूक्ष्म आत्मा मन के द्वारा जानने योग्य है, जिसमें देह से सम्बद्ध पाँच रूपों वाला प्राण स्थित है। इन्हीं प्राणों से सम्पूर्ण प्रजाओं का मन भी व्याप्त है, जिसके शुद्ध हो जाने पर यह आत्मा प्रकाशित होने लगता है॥ ९॥

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः॥ १०॥

निर्मल अन्तःकरण वाला आत्मज्ञानी जिस-जिस लोक का मन से चिन्तन करता है, जिन कामनाओं को चाहता है, वह उस-उस लोक को और उन कामनाओं को प्राप्त कर लेता है, अतः ऐश्वर्यादि की इच्छा करने वाला मनुष्य आत्मज्ञानी का अर्चन करे॥ १०॥

[यहाँ एक महत्त्वपूर्ण मर्म प्रकट किया गया है। लौकिक कामनाग्रस्त मनुष्य तमाम पुरुषार्थ करके इच्छित वस्तुओं का संग्रह करने के बाद जो सुख अनुभव करता है, निर्मल अन्तःकरण वाले को वह सुखानुभूति संकल्प मात्र से हो जाती है। इसलिए ऐश्वर्य संग्रह पूर्वक सन्तोष खोजने वालों के लिए भी यही उचित है कि वे आत्मज्ञानी को श्रेष्ठ मानकर उनका अनुगमन करें।]

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः॥ १॥

आत्मज्ञानी साधक उस निर्मल और ज्योतिर्मय ब्रह्म के परमधाम को जान लेता है, जिसमें यह सम्पूर्ण विश्व समाहित है। जो साधक निष्काम भाव से परमेश्वर की उपासना करते हैं, वे विवेकी पुरुष इस शरीर के जन्म-चक्र (देह के बन्धन) को लाँघ जाते हैं॥ १॥

कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥ २॥

जो कामनाओं को मन में रखते हुए उनकी पूर्ति चाहता है, वह उनकी पूर्ति के कारण वहाँ-वहाँ उत्पन्न होता रहता है। परन्तु जो कामनाओं से पूर्णतया तुष्ट हो चुके हैं, उस कृतार्थ हुए पुरुष की सभी कामनाएँ इस शरीर में (शरीर के साथ ही) विलीन हो जाती हैं॥ २॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥ ३॥

यह आत्मा न तो प्रवचन से प्राप्त होता है, न मेधा (विशिष्ट बुद्धि) से अथवा बहुत श्रवण करने से ही प्राप्त होता है। जो पुरुष केवल उस आत्मा की प्राप्ति की इच्छा करता है, उसी (इच्छा) से वह प्राप्त होता है। उसी साधक के लिए यह आत्मा अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है॥ ३॥

[लौकिक ज्ञान प्राप्त करने की विधियों से आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता । लौकिक ज्ञान पदार्थ की तरह हैं , जिन्हें पुरुषार्थ पूर्वक हस्तगत किया जा सकता है। आत्मज्ञान चेतना युक्त है, वह साधक की पात्रता देखकर स्वयं ही अपने स्वरूप को उद्घाटित करता है।]

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम॥ ४॥

यह आत्मा न तो बलहीन पुरुष को प्राप्त होता है,न प्रमादयुक्त व्यक्ति को और न ही तत्त्वरहित (ज्ञान रहित) तपश्चर्या से वह प्राप्त होता है। जो ज्ञानी पुरुष इन उपायों से (ज्ञानयुक्त तप से) यत्न करता है, उसे यह आत्मा ब्रह्मधाम में प्रविष्ट करा देता है॥ ४॥

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति॥ ५॥

कामना से रहित विशुद्ध अन्तःकरण वाले ऋषिगण ज्ञान से तृप्त होकर परम शान्त रहते हुए उस परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं। वे विवेकी पुरुष उस सर्वव्यापी, सर्वरूप परमेश्वर को सर्वत्र प्राप्त कर उसमें समाहित होकर उसी में ही प्रवेश कर जाते हैं॥ ५॥

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥ ६॥

जिन्होंने वेदान्तविषयक विशिष्ट ज्ञान के द्वारा परमात्मा को निश्चयपूर्वक जान लिया है और जो वैराग्य तथा योग के द्वारा शुद्ध अन्तःकरण को प्राप्त हो चुके हैं, ऐसे साधक शरीर छोड़कर ब्रह्मलोक में प्रविष्ट होते हैं। वे सब ओर से मुक्त होकर श्रेष्ठ अमरत्व को प्राप्त करते हैं॥ ६॥

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति॥ ७॥

पन्द्रह कलाएँ और इन्द्रियाँ अपने-अपने अभिमानी देवताओं में प्रतिष्ठित हो जाती हैं। सम्पूर्ण कर्म और ज्ञान से परिपूर्ण जीवात्मा श्रेष्ठ, अविनाशी परब्रह्म में एकीभूत हो जाता है॥ ७॥

[प्रश्नोपनिषद् ६.४ में पन्द्रह कलाएँ-आकाश आदि पञ्चभूत, अन्न,वीर्य,इन्द्रिय,मन, श्रद्धा,तप,मन्त्र,कर्म लोक एवं नाम वर्णित हैं। यदि स्वयं उस ब्रह्म में समर्पित होना हो,तो पहले अपनी कलाओं-विभूतियों का अभिमान त्याग करे, उन्हें प्रभु को समर्पित कर दे; तभी स्वयं जीवात्मा को परमात्मा में समर्पित करना सम्भव होता है।]

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ ८॥

जिस प्रकार प्रवहमान नदियाँ अपने नाम-रूप को छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं,वैसे ही ज्ञानी पुरुष नाम रूप से विमुक्त होकर उत्तमोत्तम दिव्य पुरुष को समर्पित हो जाते हैं॥ ८॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥ ९॥

जो विद्वान् पुरुष उस परब्रह्म को जान लेता है, वह ब्रह्मरूप ही हो जाता है। उसके कुल में कोई ज्ञान से रहित नहीं होता। वह पापों से पार होकर शोक-संतापों से भी पार हो जाता है। हृदय ग्रन्थियों (आन्तरिक विकारों) से विमुक्त होकर अमरत्व को प्राप्त होता है॥ ९॥

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्-क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः। तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्॥ १०॥

यही बात (ब्रह्मविद्या के विषय में) ऋचा में कही गयी है-

जो निष्काम भाव से कर्म करने वाले, वेद-शास्त्रों के ज्ञाता, ब्रह्म के उपासक और एकर्षि नामक अग्नि में स्वयं श्रद्धापूर्वक हवन करने वाले हैं तथा जिन्होंने विधिपूर्वक सर्वश्रेष्ठ व्रत का पालन किया है, उन्हीं से यह ब्रह्मविद्या कहनी चाहिए॥ १०॥

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते। नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः॥ ११॥

उस ब्रह्म के इस सत्य को प्रथम अङ्गिरा ऋषि ने प्रकट किया था। जिसने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं किया, वह इसे नहीं जान सकता। उन ब्रह्मज्ञानी पुरुषों को बारम्बार नमस्कार है॥ ११॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम.....। स्वस्ति नऽइन्द्रो वृद्धश्रवाः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति मुण्डकोपनिषत्समाप्ता॥

॥ मुद्गलोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध है। इस उपनिषद् में ४ खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में यजुर्वेदोक्त पुरुष सूक्त के १६ मन्त्रों के भावों-रहस्यों को खोलने के लिए संकेत किए गये हैं। दूसरे खण्ड में भगवान् द्वारा शरणागत इन्द्र को दिए गये उपदेशान्तर्गत पुरुष सूक्त के दो (अव्यक्त पुरुष और व्यक्त पुरुष) से सम्बन्धित खण्डों का वर्णन है। इसी में उसके अनिरुद्ध (प्रकट) पुरुष द्वारा ब्रह्माजी को अपनी काया को हव्य मानकर व्यक्त पुरुष रूप अग्नि में हवन करने का निर्देश एवं फल कहा गया है। तीसरे खण्ड में विभिन्न योनियों के साधकों द्वारा विभिन्न रूपों में उस पुरुष की उपासना किए जाने तथा उस पुरुष को जानने का फल वर्णित है। चौथे खण्ड में उक्त पुरुष की विलक्षणता तथा उसके प्रकट होने के विभिन्न घटकों का वर्णन करते हुए साधना द्वारा पुरुष रूप ही हो जाने का कथन है। अंत में इस गुह्य ज्ञान को प्रकट करने के अनुशासन को स्पष्ट किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

वाङ्मे मनसि.....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य -ऐतरेयोपनिषद्)

ॐ पुरुषसूक्तार्थनिर्णयं व्याख्यास्यामः। पुरुषसंहितायां पुरुषसूक्तार्थः संग्रहेण प्रोच्यते।

'पुरुष सूक्त' द्वारा मान्य अर्थ-निर्णय की व्याख्या करता हूँ- (इसका विवेचन करते हुए भगवान् वासुदेव ने देवराज इन्द्र से कहा था।) पुरुष संहिता में इस सूक्त का अर्थ संक्षिप्त रूप से कहा जा रहा है-

सहस्त्रशीर्षेत्यत्र सशब्दोऽनन्तवाचकः । अनन्तयोजनं प्राह दशाङ्गुलवचस्तथा ॥ १ ॥

'पुरुष सूक्त' में प्रयुक्त 'सहस्त्र' शब्द अनन्त का बोध कराता है। इसी प्रकार यह 'दशाङ्गुलम्' पद भी अनन्त योजनों (दूरी) की सूचना प्रदान करता है॥ १ ॥

[यहाँ प्रयुक्त 'सशब्दो' के स्थान पर 'सहस्त्रो' पाठ भी उपलब्ध होता है, जो अधिक समीचीन है।]

तस्य प्रथमया विष्णोर्देशतो व्याप्तिरीरिता।
द्वितीयया चास्य विष्णोः कालतो व्याप्तिरुच्यते ॥ २ ॥

'पुरुष सूक्त' के इस प्रथम मन्त्र 'सहस्त्रशीर्षा०' में भगवान् विष्णु की सर्वव्यापी विभुता का विशद वर्णन किया गया है। पुरुष सूक्त का द्वितीय मन्त्र (पुरुषऽएवेदं०) इन्हीं लोकनायक विष्णु की शाश्वत व्याप्ति का संकेत करता है। वे सर्व-कालव्यापी हैं। हर समय विद्यमान रहते हैं॥ २ ॥

विष्णोर्मोक्षप्रदत्वं च कथितं तु तृतीयया ।
एतावानिति मन्त्रेण वैभवं कथितं हरेः॥ ३ ॥

'पुरुषसूक्त' का तृतीय मन्त्र उन विराट् पुरुष भगवान् विष्णु को मोक्ष प्रदान करने वाला बतलाता है। 'एतावानस्य०' इस तृतीय मन्त्र में भगवान् श्री हरि के वैभव का -उनकी सामर्थ्य का विस्तार से वर्णन किया गया है॥ ३ ॥

एतेनैव च मन्त्रेण चतुर्व्यूहो विभाषितः ।
त्रिपादित्यनया प्रोक्तमनिरुद्धस्य वैभवम् ॥ ४॥

तीन मन्त्रों के इस समूह में भगवान् के चतुर्व्यूह से सम्बन्धित स्वरूप का उल्लेख है। 'त्रिपाद्०' इस चतुर्थ मंत्र में चतुर्व्यूह के अनिरुद्ध स्वरूप का विस्तृत वैभव वर्णित किया गया है॥ ४॥

तस्माद्विराडित्यनया पादनारायणाद्धरेः ।
प्रकृतेः पुरुषस्यापि समुत्पत्तिः प्रदर्शिता ॥ ५॥

'पुरुष सूक्त' के इस पञ्चम मंत्र 'तस्माद्विराड्०' में पाद विभूति रूप भगवान् नारायण द्वारा श्री हरि की आश्रयभूता प्रकृति (माया) और पुरुष (जीव) का प्राकट्य दर्शाया गया है॥ ५॥

यत्पुरुषेणेत्यनया सृष्टियज्ञः समीरितः।
सप्तास्यासन्परिधयः समिधश्च समीरिताः॥ ६॥

इसी सूक्त के 'यत्पुरुषेण०' मन्त्र के द्वारा सृष्टि स्वरूप यज्ञ का प्रतिपादन किया गया है एवं 'सप्तास्यासन् परिधयः०' द्वारा उस सृष्टि रूप यज्ञ कार्य में प्रयुक्त समिधा का विवेचन किया गया है॥ ६॥

तं यज्ञमिति मन्त्रेण सृष्टियज्ञः समीरितः।
अनेनैव च मन्त्रेण मोक्षश्च समुदीरितः॥ ७॥

यही सृष्टियज्ञ इसी सूक्त के अगले मन्त्र 'तं यज्ञम्०' के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। साथ ही मोक्ष का वर्णन भी इसी मन्त्र के द्वारा किया गया है॥ ७॥

तस्मादिति च मन्त्रेण जगत्सृष्टिः समीरिता ।
वेदाहमिति मन्त्राभ्यां वैभवं कथितं हरेः॥ ८॥

'पुरुष सूक्त' के 'तस्माद्०' आदि सात मन्त्रों द्वारा इस सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है। 'वेदाहम्०' इत्यादि दो मन्त्रों के द्वारा भगवान् श्री हरि के वैभव (कीर्ति) का विशेष वर्णन प्राप्त होता है॥ ८॥

यज्ञेनेत्युपसंहारः सृष्टेर्मोक्षस्य चेरितः ।
य एवमेतज्जानाति स हि मुक्तो भवेदिति ॥ ९॥

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त०' मन्त्र के द्वारा सृष्टि एवं मोक्ष का उपसंहारात्मक वर्णन किया गया है। इस भाँति जो भी 'पुरुष सूक्त' को ज्ञान के द्वारा आत्मसात् करता है, वह अवश्य ही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है॥ ९॥

॥ द्वितीयः खण्डः॥

अथ तथा मुद्गलोपनिषदि पुरुषसूक्तस्य वैभवं विस्तरेण प्रतिपादितम् । वासुदेव इन्द्राय भगवज्ज्ञानमुपदिश्य पुनरपि सूक्ष्मश्रवणाय प्रणतायेन्द्राय परमरहस्यभूतं पुरुषसूक्ताभ्यां खण्डद्वयाभ्यामुपादिशत्॥ १॥

इस प्रकार मुद्गलोपनिषद् (के प्रथम खण्ड के) द्वारा 'पुरुषसूक्त' के जिस विशिष्ट वैभव का प्रतिपादन हुआ है, उस विशेष भगवद्ज्ञान का उपदेश भगवान् श्री वासुदेव ने इन्द्र को प्रदान किया था। उस सूक्ष्म तत्त्वज्ञान को पुनः श्रवण करने के लिए इन्द्रदेव नतमस्तक होकर भगवान् वासुदेव की शरण में

उपस्थित हुए। भगवान् ने उस परम कल्याणकारी रहस्य का ज्ञान पुरुषसूक्त के दो खण्डों में इन्द्रदेव को प्रदान किया॥ १॥

द्वौ खण्डावुच्येते । योऽयमुक्तः स पुरुषो नामरूपज्ञानागोचरं संसारिणामतिदुर्ज्ञेयं विषयं विहाय क्लेशादिभिः संक्लिष्टदेवादिजिहीर्षया सहस्रकलावयवकल्याणं दृष्टमात्रेण मोक्षदं वेषमाददे । तेन वेषेण भूम्यादिलोकं व्याप्यानन्तयोजनमत्यतिष्ठत्॥ २॥

'पुरुष सूक्त' के दो खण्ड निर्धारित किये गये हैं। इस सूक्त में जिस विराट् पुरुष का उल्लेख किया गया है, वह नाम-रूप एवं ज्ञान से परे होने के कारण विश्व के समस्त जीवों (प्राणियों) के लिए अगम्य है। अतः अपने इस अगम्य रूप को त्याग कर क्लेशादि में पड़े हुए देवादि विशिष्ट प्राणियों के उद्धार एवं समस्त जीवों के कल्याण की इच्छा से उन्होंने अनन्त कलाओं वाले रूप को धारण किया। यह रूप दर्शन मात्र से ही मोक्ष प्रदान करने वाला है। उसी रूप (वेष) से पृथिवी आदि लोकों में व्याप्त होकर उन्होंने अपना विस्तार अनन्त योजनों तक कर लिया॥ २॥

पुरुषो नारायणो भूतं भव्यं भविष्यच्चासीत्। स एष सर्वेषां मोक्षदश्चासीत्। स च सर्वस्मान्महिम्नो ज्यायान्। तस्मान्न कोऽपि ज्यायान्॥ ३॥

सृष्टि रचना के पहले पूर्ण पुरुष भगवान् श्रीनारायण ही भूत, वर्तमान और भविष्यत् तीन कालों के रूप में विद्यमान थे। वे (नारायण) ही इन समस्त प्राणियों को मोक्ष प्रदान करने वाले हैं। वे ही महान् शक्तिशाली जनों में विशिष्ट हैं। उन (विराट् पुरुष) से अधिक विशिष्ट अन्य कोई भी नहीं है। वही सर्व शक्तिमान् हैं॥ ३॥

महापुरुष आत्मानं चतुर्धा कृत्वा त्रिपादेन परमे व्योम्नि चासीत्। इतरेण चतुर्थेनानिरुद्धनारायणेन विश्वान्यासन्॥ ४॥

उन परम पुरुष (परमात्मा) ने स्वयं को चार भागों में विभक्त करके चतुर्व्यूहों के रूप में उत्पन्न किया । उनमें से तीन अंशों (वासुदेव, प्रद्युम्न और सङ्कर्षण रूप) का निवास परमधाम वैकुण्ठ में है। चतुर्थ अंश व्यूह स्वरूप अनिरुद्ध नाम से प्रसिद्ध भगवान् श्रीनारायण के द्वारा ही सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि हुई॥ ४॥

[उस विराट् पुरुष के तीन चरण उच्च लोकों में ही निरुद्ध (नियंत्रित-रोके हुए) रहते हैं। एक चरण अनिरुद्ध (जिसे व्यक्त होने से रोका नहीं गया) होता है; उसी व्यक्त चरण से यह सृष्टि उपजी है। शेष तीन नाम मन्त्र में व्यक्त नहीं हैं, फिर भी अनिरुद्ध के आधार पर भगवान् के इन नामों को विद्वानों ने मान्य किया है। ये चरण वासुदेव-सबको वास देने वाले, प्रद्युम्न- विशेष रूप से प्रकाशमान तथा संकर्षण-आकर्षण करने वाले हैं, फिर भी अव्यक्त हैं।]

स च पादनारायणो जगत्स्रष्टुं प्रकृतिमजनयत्। स समृद्धकायः सन्सृष्टिकर्म न जज्ञिवान्। सोऽनिरुद्धनारायणस्तस्मै सृष्टिमुपादिशत्। ब्रह्मंस्तवेन्द्रियाणि याजकानि ध्यात्वा कोशभूतं दृढं ग्रन्थिकलेवरं हविर्ध्यात्वा मां हविर्भुजं ध्यात्वा वसन्तकालमाज्यं ध्यात्वा ग्रीष्ममिध्मं ध्यात्वा शरदृतुं रसं ध्यात्वैवमग्नौ हुत्वाङ्गस्पर्शात्कलेवरो वज्रं हीष्यते। ततः स्वकार्यान्सर्वप्राणिजीवान्सृष्ट्वा पश्चाद्याः प्रादुर्भविष्यन्ति। ततः स्थावरजङ्गमात्मकं जगद्भविष्यति॥ ५॥

उन चतुर्थपादात्मक नारायण ने विश्व की रचना के निमित्त प्रकृति को प्रादुर्भूत किया। (प्रकृतिरूप) ब्रह्मा जी शरीर प्राप्त करने के उपरान्त भी सृष्टि रचना के रहस्य को नहीं समझ सके। तदनन्तर उन अनिरुद्ध स्वरूप नारायण ने ब्रह्माजी को सृष्टि संरचना का उपदेश दिया। उन्होंने कहा- हे ब्रह्मन्! आप अपनी वागादि सभी इन्द्रियों को यज्ञकर्त्ताओं के रूप में मानें। कमलकोश से प्रकट, सुदृढ़ शक्ति सम्पन्न अपने शरीर को हवि रूप में जानें। वसन्त ऋतु को घृत, ग्रीष्म ऋतु को समिधा तथा शरद् ऋतु को रसरूप में अनुभव करें। इस तरह से अग्नि में यज्ञ करने के उपरान्त आपका शरीर अत्यन्त शक्ति-सम्पन्न हो जाएगा। और इस शरीर के स्पर्श से वज्र भी कुण्ठित हो जायेगा। तत्पश्चात् इस यज्ञकर्म के प्रतिफल स्वरूप समस्त प्राणि - समुदाय प्रकट होंगे। इस प्रकार सभी स्थावर-जङ्गम से परिपूर्ण यह समस्त विश्व दृष्टिगोचर होने लगेगा॥ ५॥

एतेन जीवात्मनोर्योगेन मोक्षप्रकारश्च कथित इत्यनुसंधेयम्॥ ६॥

इस प्रकार जीव और आत्मा के मिलन द्वारा मोक्ष की प्राप्ति का वर्णन किया गया है॥ ६॥

य इमं सृष्टियज्ञं जानाति मोक्षप्रकारं च सर्वमायुरेति॥ ७॥

जो भी साधक इस सृष्टि-यज्ञ और मोक्ष की विधि को समझता है, वह व्यक्ति पूर्ण आयुष्य प्राप्त करने में समर्थ होता है॥ ७॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

एको देवो बहुधा निविष्ट अजायमानो बहुधा विजायते॥ १॥

(इस सृष्टि में) अनेक रूपों में समाविष्ट हुआ वह एक ही देव है, जो स्वयं अजन्मा रहते हुए भी विभिन्न प्रकार से उत्पन्न होता रहता है॥ १॥

तमेतमग्निरित्यध्वर्यव उपासते। यजुरित्येष हीदं सर्वं युनक्ति। सामेति छन्दोगाः। एतस्मिन्हीदं सर्वं प्रतिष्ठितम्। विषमिति सर्पाः। सर्प इति सर्पविदः। ऊर्गिति देवाः। रयिरिति मनुष्याः। मायेत्यसुराः। स्वधेति पितरः। देवजन इति देवजनविदः। रूपमिति गन्धर्वाः। गन्धर्व इत्यप्सरसः॥ २॥

उसी (विराट् पुरुष) की उपासना समस्त अध्वर्युओं ने अग्निदेव के रूप में की है। यजुर्वेदीय याज्ञिक उस (देव) को 'यह यजुः है' ऐसा मानते हुए सर्व यज्ञीय कर्मों में नियोजित करते हैं। सामगान वाले उस (देव) को साम के रूप में जानते हैं। इसी (विराट् पुरुष) रूप में निश्चित ही वह सर्वत्र विद्यमान है। सर्प (गतिशील प्राण) उसे (विराट् पुरुष को) विष रूप में स्वीकार करते हैं तथा सर्पवेत्ता (योगी) सर्प-प्राण-रूप से उसे प्राप्त करते हैं। देवगण उसे अमृत रूप में ग्रहण करते हैं तथा सामान्य जन इसे (जीवन) धन समझकर जीवनयापन करते हैं। असुर (इन्हें) माया के रूप में जानते हैं, पितर स्वधा (अर्थात् पितृ भोजन के रूप में) मानते हैं, देवोपासक इसे देव रूप में स्वीकार करते हैं। गन्धर्वगण रूप-सौन्दर्य के रूप में जानते हैं तथा अप्सराएँ गन्धर्व के रूप में उस (विराट् देवपुरुष) को जानती हैं॥ २॥

तं यथायथोपासते तथैव भवति। तस्माद् ब्राह्मणः पुरुषरूपं परंब्रह्मैवाहमिति भावयेत्। तद्रूपो भवति। य एवं वेद॥ ३॥

उस (श्रेष्ठ परमात्मतत्त्व) की (जो साधक) जिस-जिस भाव से उपासना करता है, वह परमात्मतत्त्व उसके लिए उसी ही भाव (रूप) का हो जाता है। अत: ब्रह्मज्ञानी जनों को 'पूर्ण पुरुष रूप' परम ब्रह्म 'मैं स्वयं ही हूँ' इस प्रकार का भाव अपने अन्त:करण में रखना चाहिए। इस प्रकार के भाव से वह (साधक) उसी देव स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। जो भी मनुष्य (साधक) इस रहस्य को इस भाँति समझता है, वह स्वयमेव उसी के अनुरूप हो जाता है॥ ३॥

॥ चतुर्थ: खण्ड: ॥

तद्ब्रह्म तापत्रयातीतं षट्कोशविनिर्मुक्तं षड्ऊर्मिवर्जितं पञ्चकोशातीतं षड्भाव - विकारशून्यमेवमादिसर्वविलक्षणं भवति॥ १॥

वह ब्रह्म (पूर्ण पुरुष) त्रिताप शून्य, छ: कोषों से परे, षड् ऊर्मियों से रहित, पंच कोषों से रहित और षड्भाव विकारों से अतीत है। इस प्रकार (वह ब्रह्म) सभी से विलक्षण है॥ १॥

तापत्रयं त्वाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकं कर्तृकर्मकार्यज्ञातृज्ञानज्ञेयभोक्तृ-भोगभोग्यमिति त्रिविधम्॥ २॥

ये 'त्रिताप' आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक हैं, जो कर्त्ता, कर्म, कार्य; ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तथा भोक्ता, भोग, भोग्य इस प्रकार ये तीनों एक-एक होते हुए भी त्रिविध अर्थात् तीन-तीन प्रकार के हैं॥ २॥

त्वङ्मांसशोणितास्थिस्नायुमज्जा: षट्कोशा: ॥ ३॥

छ: कोश (धातु) क्रमश: चर्म, मांस, अस्थि, स्नायु (नसें), रक्त एवं मज्जा कहे गये हैं॥ ३॥

कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यमित्यरिषड्वर्ग: ॥ ४॥

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य- ये छ: षड्रिपु कहे गये हैं॥ ४॥

अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया इति पञ्चकोशा: ॥ ५॥

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय ये शरीर के पाँच कोश हैं॥ ५॥

प्रियात्मजननवर्धनपरिणामक्षयनाशा: षड्भावा: ॥ ६॥

छ:भावविकार क्रमश: प्रिय होना, प्रादुर्भूत होना, वर्द्धित होना, परिवर्तित होना, क्षय अर्थात् न्यूनातिन्यून होते जाना तथा विनाश होना बताये गये हैं॥ ६॥

अशनायापिपासाशोकमोहजरामरणानीति षड्ऊर्मय: ॥ ७॥

छ: ऊर्मियाँ क्रमश: क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, वृद्धावस्था और मृत्यु कही गयी हैं॥ ७॥

कुलगोत्रजातिवर्णाश्रमरूपाणि षड्भ्रमा: ॥ ८॥

कुल (वंश), गोत्र, जाति, वर्ण, आश्रम एवं रूप (सौन्दर्य) ये षड्भ्रम कहे गये हैं॥ ८॥

एतद्योगेन परमपुरुषो जीवो भवति नान्य: ॥ ९॥

इन सभी के योग से (वह) परम पुरुष ही जीव (प्राणिरूप में परिणत) होता है, अन्य और कोई दूसरा समर्थ नहीं हो सकता ॥ ९॥

य एतदुपनिषदं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स आदित्यपूतो भवति। अरोगी भवति। श्रीमांश्च भवति। पुत्रपौत्रादिभिः समृद्धो भवति। विद्वांश्च भवति। महापातकात्पूतो भवति। सुरापानात्पूतो भवति। अगम्यागमनात्पूतो भवति। मातृगमनात्पूतो भवति। दुहितृस्नुषाभिगमनात्पूतो भवति। स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति। वेदिजन्महानात्पूतो भवति। गुरोरशुश्रूषणात्पूतो भवति। अयाज्ययाजनात् पूतो भवति। अभक्ष्यभक्षणात् पूतो भवति। उग्रप्रतिग्रहात्पूतो भवति। परदारगमनात्पूतो भवति। कामक्रोधलोभमोहेर्ष्यादिभिरबाधितो भवति। सर्वेभ्यः पापेभ्यो मुक्तो भवति। इह जन्मनि पुरुषो भवति ॥ १० ॥

जो (भी व्यक्ति) इस उपनिषद् का प्रतिदिन अध्ययन करता है, वह अग्नि की भाँति पवित्र होता है। वह वायु की तरह शुद्ध होता है। वह आदित्य के समान प्रखर (गतिशील) होता है। वह सभी रोगों से रहित हो जाता है। वह श्री-सम्पन्न एवं पुत्र-पौत्रादि से समृद्ध हो जाता है। वह विद्वान् हो जाता है। महान् पातक (पाप) से पवित्र हो जाता है। अनाचरण जन्य दोष से मुक्त हो जाता है। वह माता के प्रति कदाचरण से मुक्त हो जाता है। (वह) पुत्री एवं बहिन के प्रति विकारों से मुक्त हो जाता है। सुवर्ण आदि धन की चोरी के पाप भावों से मुक्त हो जाता है। वेदाध्ययन करके उसे भूल जाने से उत्पन्न पाप से मुक्त हो जाता है। गुरु की सेवा- शुश्रूषा में उत्पन्न (आलस्य-प्रमादादि) पाप भावों से रहित हो जाता है। यज्ञीय कार्यों में अयाज्य (अपवित्र पदार्थों) के यजन आदि पापों से रहित हो जाता है। अभक्ष्य आहार आदि पाप प्रवृत्तियों से मुक्त हो जाता है। उग्र प्रतिग्रह (निकृष्ट-दान) से भी पवित्र हो जाता है। परस्त्री के प्रति पाप दृष्टि से मुक्त हो जाता है। वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, क्रोधादि पापों से नहीं बँधता। (वह व्यक्ति) सभी पापों से रहित हो जाता है और इसी जन्म में ही पूर्ण पुरुष अर्थात् परमात्मा के ज्ञान से युक्त होकर पुरुष (श्रेष्ठ पुरुष या पवित्र) हो जाता है॥ १० ॥

[उपनिषद् के इस वाक्य का अर्थ विवेकपूर्वक किया जाना चाहिए। बहुधा लोग इसका यह अर्थ लगाते हैं कि पाप वृत्तियों के वशीभूत होकर जो पापकर्म करता है, उसके दण्ड से मुक्त हो जाता है; लेकिन ऋषि कहते हैं कि वह ज्ञानी विभिन्न पाप वृत्तियों-अन्तरंग दोषों से मुक्त हो जाता है, न कि पाप कर्मों के दण्ड से। ज्ञानी अपनी ज्ञान दृष्टि से वास्तविकता को पहचान लेता है, इसलिए पाप वृत्तियों के प्रलोभन में फँसता ही नहीं है।]

तस्मादेतत्पुरुषसूक्तार्थमतिरहस्यं राजगुह्यं देवगुह्यं गुह्यादपि गुह्यतरं नादीक्षिता-योपदिशेत्। नानूचानाय। नायज्ञशीलाय। नावैष्णवाय। नायोगिने। न बहुभाषिणे। नाप्रियवादिने। नासंवत्सरवेदिने। नातुष्टाय। नानधीतवेदायोपदिशेत्॥ ११ ॥

इस प्रकार इस 'पुरुषसूक्त' का अर्थ अति रहस्यमय है। यह सूक्त राजगुह्य, देवगुह्य तथा गूढ़ से भी अतिगूढ़ (छिपा हुआ) है। जो (गुरु द्वारा) दीक्षित न किया गया हो, उसे इस (सूक्त) का उपदेश न करे। जो प्रबुद्ध होने पर भी जिज्ञासा के भाव से प्रश्न न पूछता हो, जो अयज्ञीय हो, अवैष्णव, अयोगी, बहुभाषी एवं अप्रियभाषी हो, जो प्रति संवत्सर (वर्ष) में एक बार वेदों का स्वाध्याय न कर ले, जो तुष्ट न हो अर्थात् असंतोषी हो तथा जिस व्यक्ति ने वेदों का अध्ययन (पठन-पाठन) न किया हो, उसको इस (पुरुष सूक्त) का उपदेश नहीं करना चाहिए॥ ११ ॥

गुरुरप्येवंविच्छुचौ देशे पुण्यनक्षत्रे प्राणानायम्य पुरुषं ध्यायन्नुपसन्नाय शिष्याय दक्षिणकर्णे पुरुषसूक्तार्थमुपदिशेद्विद्वान्। न बहुशो वदेत्। यातयामो भवति। असकृत्कर्णमुपदिशेत्। एतत्कुर्वाणोऽध्येताध्यापकश्च इह जन्मनि पुरुषो भवतीत्युपनिषत्॥ १२॥

इस पुरुष सूक्त के अर्थ के इस प्रकार भली-भाँति से जानने वाला वेदविद् गुरु भी शुद्ध पवित्र देश में, पुण्य (शुभ) नक्षत्र में, प्राणायाम करके, परम पुरुष का चिन्तन करता हुआ अति विनम्रता से समीप में आये हुए शिष्य को ही उसके दाहिने श्रोत्र में उपदेश दे। अधिक वार्ता न करे, नहीं तो वह श्रेष्ठ ज्ञान (उपदेश) यातयामत्व (नि:सारता) रूप दोष से दूषित हो जाता है। इस प्रकार इस सूक्त के अर्थ का बहुश: उपदेश करे। ऐसे शिष्य (अध्येता) और गुरु (ज्ञानदाता) दोनों इसी जन्म में पूर्ण पुरुष (ब्रह्ममय) हो जाते हैं॥ १२॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि..... इति शान्तिः।

॥ इति मुद्गलोपनिषत्समाप्ता ॥

॥ मैत्रायण्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेद से सम्बद्ध है। इसमें राजा बृहद्रथ को उपदेश देते हुए मुनि शाकायन्य ने बतलाया कि यह ज्ञान भगवान् मैत्रेय से प्राप्त हुआ था। इसमें उन्होंने प्राणों के भेद बतलाते हुए आत्मा और भूतात्मा का अन्तर स्पष्ट किया है। जीवन रूपी रथ में ज्ञानेन्द्रियाँ लगाम, कर्मेन्द्रियाँ घोड़े, अन्तःप्रकृति चाबुक तथा आत्मा को संचालक कहा गया है। ईंधन समाप्त हो जाने पर जैसे अग्नि शान्त हो जाती है, वैसे ही वृत्तियाँ समाप्त होने पर चित्त शान्त हो जाता है। परमात्मा की सर्वरूपता ॐ कार एवं उद्गीथ की एकरूपता समझाते हुए अन्त में गायत्री महामंत्र के विभिन्न पदों की व्याख्या तथा उपासना का महत्त्व समझाया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- केनोपनिषद्)

॥ प्रथमः प्रपाठकः ॥

ॐ बृहद्रथो ह वै नाम राजा राज्ये ज्येष्ठं पुत्रं निधापयित्वेदमशाश्वतं मन्यमानः शारीरं वैराग्यमुपेतोऽरण्यं निर्जगाम। स तत्र परमं तप आस्थायादित्यमीक्षमाण ऊर्ध्वबाहुस्तिष्ठत्यन्ते सहस्रस्य मुनिरन्तिकमाजगामाग्निरिवाधूमकस्तेजसा निर्दहन्निवात्मविद् भगवाञ्छाकायन्य उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं वृणीष्वेति राजानमब्रवीत्स तस्मै नमस्कृत्योवाच भगवन्नाहमात्मवित्त्वं तत्त्वविच्छृणुमो वयं स त्वं नो ब्रूहीत्येतद्वृत्तं पुरस्तादशक्यं मा पृच्छ प्रश्नमैक्ष्वाकान्यान्का-मान्वृणीष्वेति शाकायन्यस्य चरणावभिमृश्यमानो राजेमां गाथां जगाद ॥ १ ॥

बृहद्रथ नामक राजा को अपने शरीर की नश्वरता का विवेक जाग्रत् होने पर अतितीव्र वैराग्य उत्पन्न हो गया। इस कारण वह अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देकर वन में चला गया। वहाँ जाकर उस (राजा) ने लम्बे समय तक कठोर तप किया। वह प्रतिदिन सूर्य की ओर देखते हुए अपने दोनों हाथ ऊपर करके खड़ा रहता। एक सहस्र वर्ष के उपरान्त उसकी उग्र तपस्या के परिणाम स्वरूप शाकायन्य नामक आत्मवेत्ता महामुनि उस (राजा) के समक्ष आये। उन (मुनि) का तेज धूम्ररहित अग्नि की भाँति था। उन श्रेष्ठ मुनि ने राजा से कहा- हे राजन्! उठो-उठो, वरदान माँगो। उस राजा ने उन (मुनि) को नमस्कार करते हुए कहा- हे भगवन्! मैं आत्मवेत्ता नहीं हूँ, हमने सुना है कि आप ब्रह्मतत्त्ववेत्ता हैं। अतः आप हमें सत्यज्ञान रूप वरदान प्रदान करें। ऐसा सुनकर उन श्रेष्ठ मुनि ने कहा- हे इक्ष्वाकुवंशीय राजन्! तुम अन्य कोई दूसरा वर माँग लो। इस तरह के प्रश्नों को मत पूछो, जिन्हें प्राचीनकाल से ही अत्यन्त कठिन एवं दुरूह माना जाता रहा है। ऐसा सुनकर राजा बृहद्रथ ने उन मुनि श्रेष्ठ शाकायन्य के चरणों में प्रणाम करते हुए इस प्रकार कहा- ॥ १ ॥

✪ यह उपनिषद् 'निर्णय सागर प्रेस' (पंचम संस्करण १९४८) तथा मोतीलाल बनारसीदास (प्रथम संस्करण १९७०) द्वारा प्रकाशित संग्रहों में सात प्रपाठकात्मक है, किन्तु 'सर्व हितैशी कम्पनी, रामघाट काशी' (१९३८) एवं अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास से प्रकाशित (१९२१) संग्रह में चार प्रपाठक ही हैं, जबकि पू० गुरुदेव द्वारा प्रकाशित (१९६१) संग्रह में पाँच प्रपाठक हैं, इसी (पू० गुरुदेव के) आधार पर यहाँ भी पाँच प्रपाठक प्रस्तुत किए गये हैं।

भगवन्नस्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्रशोणितश्लेष्माश्रुदूषिते विण्मूत्रवातपित्तकफसंघाते दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिञ्छरीरे किं कामोपभोगैः ॥ २ ॥

हे भगवन्! यह शरीर हड्डी, त्वचा, स्नायु, मज्जा, मांस, वीर्य, रक्त, अश्रु, विष्ठा, मल, मूत्र, वायु, पित्त, कफ आदि से परिपूर्ण है। यह शरीर दुर्गन्ध से युक्त एवं तत्त्वरहित है, तब कामनाजन्य भोगों की फिर क्या आवश्यकता है? ॥ २ ॥

कामक्रोधलोभमोहभयविषादेर्ष्येष्टवियोगानिष्टसंप्रयोगक्षुत्पिपासाजरामृत्युरोगशोकाद्यैरभिहतेऽस्मिञ्छरीरे किं कामोपभोगैः ॥ ३ ॥

(हे भगवन्!) काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, विषाद, ईर्ष्या, प्रियवस्तु (पदार्थ) के वियोग तथा अप्रिय के मिलनजन्य दुःख, क्षुधा-पिपासा, जरा-मरण, शोक आदि से यह शरीर अत्यन्त परेशान रहता है, ऐसी स्थिति में कामनाओं, उपभोगों की क्या आवश्यकता? ॥३ ॥

सर्वं चेदं क्षयिष्णु पश्यामो यथेमे दंशमशकादयस्तृणवनस्पतयोद्भूतप्रध्वंसिनः ॥ ४ ॥

(हे भगवन्!) यह सम्पूर्ण संसार क्षण-भङ्गुर है। मनुष्यादि समस्त भूत-प्राणियों को (मैं) निरन्तर विनष्ट होते हुए देखता रहता हूँ। ऐसे ही अनेकानेक वे सभी क्षुद्र जीव दंश, मच्छर-कीटादि उत्पन्न होकर कुछ ही समय में काल-कवलित हो जाते हैं ॥ ४ ॥

अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये महाधनुर्धराश्चक्रवर्तिनः केचित्सुद्युम्नभूरिद्युम्नेन्द्रद्युम्नकुवलयाश्वयौवनाश्वबध्रियाश्वाश्वपतिः शशबिन्दुर्हरिश्चन्द्रोऽम्बरीषोऽननूक्तः स्वयातिर्ययातिरनरण्योक्षसेनोत्थमरुत्तभरतप्रभृतयो राजानो मिषतो बन्धुवर्गस्य महतीं श्रियं त्यक्त्वास्माल्लोकादमुं लोकं प्रयान्ति ॥ ५ ॥

इन (समस्त क्षुद्र जीवों) की क्या गणना, इनसे भिन्न महान् धनुर्धारी, शूरवीर व अन्य और कितने ही सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, कुवलयाश्व, यौवनाश्व, वध्रियाश्व, अश्वपति, शशबिन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, अननूक्त स्वयाति, ययाति, अनरण्य, उक्षसेन, उत्थ, मरुत् और भरत आदि ये सभी चक्रवर्ती नरेश अपने बान्धवों सहित देखते-देखते ही इस लोक के महान् ऐश्वर्य को त्यागकर अकस्मात् ही शरीर त्यागकर परलोक के लिए प्रयाण कर गये ॥ ५ ॥

अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये गन्धर्वासुरयक्षराक्षसभूतगणपिशाचोरगग्रहादीनां निरोधनं पश्यामः ॥ ६ ॥

(हे श्रेष्ठ मुने!) मात्र मनुष्य ही नहीं, बल्कि असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत-समुदाय, पिशाच, सर्प, ग्रह और उपग्रह आदि को भी हम विनष्ट होते हुए देखते हैं ॥६ ॥

अथ किमेतैर्वान्यानां शोषणं महार्णवानां शिखरिणां प्रपतनं ध्रुवस्य प्रचलनं स्थानं वा तरूणां निमज्जनं पृथिव्याः स्थानादपसरणं सुराणां सोऽहमित्येतद्विधेऽस्मिन्संसारे किं कामोपभोगैर्यैरेवाश्रितस्यासमृदिहावर्तनं दृश्यत इत्युद्धर्तुमर्हसीत्यन्धोदपानस्थो भेक इवाहमस्मिन्संसारे भगवंस्त्वं नो गतिस्त्वं नो गतिः ॥ ७ ॥

इसके पश्चात् (राजा बृहद्रथ ने उन श्रेष्ठ मुनि शाकायन्य से कहा-) हे भगवन् ! यदि इन (चेतन प्राणियों) को भी छोड़ दें, तब भी अचेतन वस्तुओं में भी जैसे, बड़े-बड़े सागर शुष्क हो जाते हैं, पर्वत - शृङ्खलाएँ विशृङ्खलित हो जाती हैं, ध्रुव प्रदेश भी अपने स्थान पर केन्द्रित नहीं रह पाते, वृक्ष भी धराशायी हो जाते हैं, पृथ्वी भी अपने एक स्थान पर स्थिर नहीं रह सकती, समस्त देवगण भी अपने पद से च्युत होते देखे जाते हैं; तब फिर ऐसी स्थिति में इस अहंकार से युक्त नश्वर संसार में विषय-वासनाओं के भोगों में आसक्त रहने वाले तो बारम्बार इस नश्वर जगत् में जन्म-मरण के चक्र में आबद्ध हुए - से दृष्टिगोचर होते हैं। इस कारण हे श्रेष्ठ मुने! इस अज्ञानान्धकार रूपी कूप में स्थित मण्डूक (मेंढक) की भाँति इस नश्वर जगत् में मैं भी पतितावस्था में स्थित हूँ। कृपया आप मुझे अपनी गति प्रदान करें अर्थात् मेरा उद्धार करें। मैं आपकी ही शरण में हूँ। आप ही एक मात्र हमारे आधार हैं॥ ७॥

॥ द्वितीयः प्रपाठकः ॥

अथ भगवाञ्छाकायन्यः सुप्रीतोऽब्रवीद्राजानं महाराज बृहद्रथेक्ष्वाकुवंशध्वजशीर्षात्मजः कृतकृत्यस्त्वं मरुन्नाम्नो विश्रुतोऽसीत्ययं वाव खल्वात्मा ते कतमो भगवान्वर्ण्य इति तं होवाचेति ॥ १॥

तत्पश्चात् यह (राजा बृहद्रथ की गाथा को) सुनकर श्रेष्ठ मुनि शाकायन्य ने अति प्रसन्न होकर कहा- हे महाराज बृहद्रथ! तुम इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न नरेश ध्वजशीर्ष के पुत्र हो। तुम सभी तरह से कृतकृत्य होते हुए 'मरुत्' के नाम से प्रख्यात हो। यह आत्मा क्या एवं कैसा है? मैं अब तुम्हें इसके सारतत्त्व को बताने का प्रयास करता हूँ। राजा बृहद्रथ ने कहा- हे श्रेष्ठ मुने! आप मुझे तत्सम्बन्धित विषय के सन्दर्भ में अवश्य ही बताने की कृपा करें॥ १॥

अथ य एषो बाह्यावष्टम्भनेनोर्ध्वमुत्क्रान्तो व्यथमानोऽव्यथमानस्तमः प्रणुदत्येष आत्मेत्याह भगवानथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति॥ २॥

तदनन्तर महर्षि कहने लगे- हे राजन्! बाह्य इन्द्रियों का निरोध करने से (उन्हें अन्तर्मुखी बनाने से) प्राणतत्त्व रूपी यह आत्मा योग के माध्यम से ऊर्ध्व की ओर गमन करता है। वह दुःख रूप प्रतिभासित होते हुए भी वास्तव में दुःखरहित है तथा अज्ञानरूप अन्धकार को विनष्ट करने में समर्थ है। यही आत्मा इस नश्वर शरीर से बहिर्गमन करने पर परम ज्योतिस्वरूप परमात्मतत्त्व को वरण करके स्वयमेव अपने स्वरूप में विलीन हो जाता है। यह आत्मतत्त्व अमृतयुक्त, भयरहित तथा स्वयं ही ब्रह्मरूप है॥ २॥

अथ खल्वियं ब्रह्मविद्या सर्वोपनिषद्विद्या वा राजन्नस्माकं भगवता मैत्रेयेण व्याख्याताहं ते कथयिष्यामीत्यथापहतपाप्मानस्तिग्मतेजस ऊर्ध्वरेतसो वालखिल्या इति श्रूयन्तेऽथैते प्रजापतिमब्रुवन्भगवञ्शकटमिवाचेतनमिदं शरीरं कस्यैष खल्वीदृशो महिमातीन्द्रियभूतस्य येनैतद्विधमिदं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयितास्य को भगवन्नेतदस्माकं ब्रूहीति तान्होवाच ॥ ३॥

हे राजन्! जिस (अविनाशी ब्रह्मविद्या) का सभी उपनिषदें एक स्वर से उपदेश करती हैं, उस ब्रह्मविद्या के ज्ञान को भगवान् मैत्रेय ने मुझे बताया है, वही श्रेष्ठ ज्ञान मैं तुम्हें बतलाता हूँ। साधना द्वारा जिसके समस्त पाप नष्ट हो गये हैं, ऐसे तेजस्वी एवं ब्रह्मचर्य व्रत को धारण करने वाले मुनि वालखिल्य के नाम से जाने जाते हैं। ऐसा ही एक बार उन श्रेष्ठ मुनि ने ब्रह्मा जी से प्रश्न किया- हे ब्रह्मन्! यह शरीर गाड़ी की भाँति अचेतन है, तो फिर ऐसा कौन सा अतीन्द्रिय तत्त्व है, किस श्रेष्ठ तत्त्व की ऐसी महिमा है? जिससे कि यह शरीर चैतन्य की भाँति प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। इस शरीर को जो प्रेरित करता है, उसे वाणी से भी परे (श्रेष्ठ) बताया गया है। हे भगवन्! उसी (श्रेष्ठ तत्त्व) को हमारे समक्ष बताने की कृपा करें॥ ३॥

यो ह खलु वाचोपरिस्थः श्रूयते स वा एष शुद्धः पूतः शून्यः शान्तः प्राणोऽनीशात्माऽनन्तोऽक्षय्यः स्थिरः शाश्वतोऽजः स्वतन्त्रः स्वे महिम्नि तिष्ठत्यनेनेदं शरीरं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता चैषोऽस्येति ते होचुर्भगवन्कथमनेनेदृशेनानिच्छेनैतद्विधमिदं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता चैषोऽस्येति कथमिति तान्होवाच॥ ४॥

(ब्रह्मा जी ने मुनि से कहा) उस श्रेष्ठ तत्त्व को शुद्ध, पवित्र, शून्य, शान्त, जीवन प्रदान करने वाला, अनन्त, अविनाशी, शाश्वत, सनातन, स्थिर, अजन्मा एवं स्वतन्त्र रूप से निवास करने वाला आत्मा कहा जाता है। उसी की ही यह महान् महिमा है। उस आत्मा से ही इस अचेतन शरीर को चेतन की भाँति प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। वही चेतन आत्म तत्त्व प्रेरणा प्रदान करने वाला है। यह सुनने के बाद महामुनि वालखिल्य जी ने पुनः प्रश्न किया- हे भगवन्! यह आत्मा अनिच्छित होते हुए भी चैतन्यरूप से इस शरीर में कैसे स्थिर है? इस शरीर को यह प्रेरित क्यों करता है? तथा इस आत्मा की यह महिमा किस प्रकार की है?॥ ४॥

स वा एष सूक्ष्मोऽग्राह्योऽदृश्यः पुरुषसंज्ञको बुद्धिपूर्वमिहैवावर्ततेंऽशेन सुषुप्तस्यैव बुद्धिपूर्वं निबोधयत्यथ यो ह खलु वावैतस्यांशोऽयं यश्चेतनमात्रः प्रतिपूरुषं क्षेत्रज्ञः संकल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः प्रजापतिर्विश्वाक्षस्तेन चेतनेनेदं शरीरं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता चैषोऽस्येति ते होचुर्भगवन्नीदृशस्य कथमंशेन वर्तनमिति तान्होवाच ॥ ५॥

ब्रह्मा जी ने कहा - (हे मुने!) यह आत्मा सूक्ष्म, अग्राह्य और अदृश्य रूप है, इस कारण इसे 'पुरुष' नाम की संज्ञा द्वारा जाना जाता है। यह आत्मा अपने एक अंश से इस शरीर में अपने प्रयोजन के अभाव में भी बुद्धिपूर्वक सतत आता रहता है। सोते हुए को वह युक्तिपूर्वक बोध कराते हुए चैतन्य रूप से सभी प्राणियों में प्रतिष्ठित करता है। वही प्रत्येक शरीर में क्षेत्रज्ञ के रूप में प्रतिष्ठित है; वही प्रकाश, संकल्प, प्रयास, अहंकार, लिंग (पुरुष-स्त्री आदि) और प्रजापति के रूप में समस्त विश्व को देखने वाला है। उसी की चेतना से शरीर चैतन्ययुक्त है। वही इस शरीर को क्रियान्वयन हेतु प्रेरित करता है। वालखिल्य ने पुनः प्रश्न किया - हे भगवन्! यह आत्मा अखण्ड होने पर भी किस तरह अंश रूप में यहाँ स्थिर है? ॥ ५॥

प्रजापतिर्वा एषोऽग्रेऽतिष्ठत्स नारमतैकः स आत्मानमभिध्यायद्बह्वीः प्रजा असृजत्ता अस्यैवात्मप्रबुद्धा अप्राणा स्थाणुरिव तिष्ठमाना अपश्यत्स नारमत सोऽमन्यतैतासां प्रतिबोधनायाभ्यन्तरं प्राविशानीत्यथ स वायुमिवात्मानं कृत्वाभ्यन्तरं प्राविशत्स एको नाविशत्स पञ्चधात्मानं प्रविभज्योच्यते यः प्राणोऽपानः समान उदानो व्यान इति॥ ६॥

ब्रह्माजी ने कहा- हे महर्षे! सर्वप्रथम एकमात्र प्रजापति ही एकाकी रूप में थे। वे अकेले रमण (अपने को सन्तुष्ट) नहीं कर सके, तब उन्होंने अपनी आत्मा का ध्यान किया। इसके फलस्वरूप उन्होंने विभिन्न रूपों में प्रजा का सृजन किया। अपने द्वारा उत्पन्न किये वे प्राणी उन्हें (स्वयं को) निष्प्राण एवं खम्भे की भाँति (निश्चेष्ट) मालूम पड़े। तदनन्तर (ऐसी उस क्रिया, ज्ञान एवं शक्ति से रहित प्रजा को देखकर) उन्होंने विचार किया कि इस प्रजा को (क्रिया, ज्ञान और शक्ति से युक्त) सचेतन करने के लिए मैं (प्रजापति) इनके अन्तःकरण में प्रविष्ट करूँ। ऐसा सोचकर उन्होंने स्वयं को वायु रूप में परिणत करके, उन सभी (अपने द्वारा उत्पन्न किए हुए प्राणियों) में प्रविष्ट हो गये । वे एक होते हुए भी पाँच रूपों में विभक्त हो गये। जो प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान के रूप में जाने गये ॥ ६ ॥

अथ योऽयमूर्ध्वमुत्क्रामतीत्येष वाव स प्राणोऽथ योयमवाङ्मं संक्रामत्येष वाव सोऽपानोऽथ योऽयं स्थविष्ठमन्नधातुमपाने स्थापयत्यणिष्ठं चाङ्गेऽङ्गे समं नयत्येष वाव स समानोऽथ योऽयं पीताशितमुद्गिरति निगिरतीति चैष वाव स उदानोऽथ येनैताः शिरा अनुव्याप्ता एष वाव स व्यानः ॥ ७ ॥

जो ऊर्ध्व की ओर गमन करता है, वह प्राण कहलाता है। जो नीचे की ओर जाता है, वह अपान के नाम से जाना जाता है। जो अत्यन्त स्थूल अन्न एवं धातु को पाचन तन्त्र (ऊर्जा को) के माध्यम से अपान में प्रतिष्ठित करता है तथा सूक्ष्म रूप से अंग-प्रत्यंग में समान रूप से पहुँच जाए, उसे समान कहते हैं। जो खाये-पिये पदार्थ को उगलता और निगलता है, उसे उदान कहते हैं और जिस वायु से समस्त नाड़ियाँ परिपूर्ण हैं, वही व्यान कहलाता है॥ ७ ॥

अथोपांशुरन्तर्याम्यभिभवत्यन्तर्याममुपांशुमेतयोरन्तराले चौष्ण्यं प्रास्त्रवद्यदौष्ण्यं स पुरुषोऽथ यः पुरुषः सोऽग्निर्वैश्वानरोऽप्यन्यत्राप्युक्तमयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषो येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यदेतत्कर्णावपिधाय शृणोति सयदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषं शृणोति ॥ ८ ॥

जो समीप रहते हुए भी अन्तर्यामी (अन्तरिक्ष को जानने वाला) है तथा जो एक प्रहर के अन्तराल में पराभव कर देता है, ऐसे उन दोनों के मध्य में जो उष्णता बरसती है, वह उष्णता ही पुरुष है। जो पुरुष है, वही वैश्वानर नामक अग्नि है। अन्यत्र भी यह कहा गया है कि अन्तःकरण में विद्यमान 'पुरुष' ही वैश्वानर रूप 'अग्निपुरुष' के नाम से जाना जाता है। इस (वैश्वानर रूप अग्नि) से खाया हुआ भोजन पचता है। जो ग्रहण किया गया है, उसी का शब्द अन्तःकरण में सुनाई पड़ता है। कानों को बन्द करने पर यही ध्वनि अन्दर से आती हुई सुनाई पड़ती है। जब शरीर से प्राणों के निकलने का समय होता है, तब यह ध्वनि स्पष्ट रूप से सुनायी नहीं पड़ती ॥ ८ ॥

स वा एष पञ्चधात्मानं प्रविभज्य निहितो गुहायां मनोमयः प्राणशरीरो बहुरूपः सत्यसंकल्प आत्मेति स वा एषोऽस्य हृदन्तरे तिष्ठन्नकृतार्थोऽमन्यतार्थानसानि तत्स्वानीमानि भित्त्वोदितः पञ्चभी रश्मिभिर्विषयानत्तीति बुद्धीन्द्रियाणि यानीमान्येतान्यस्य रश्मयः कर्मेन्द्रियाण्यस्य हया रथः शरीरं मनो नियन्ता प्रकृतिमयोऽस्य प्रतोदनेन खल्वीरितं परिभ्रमतीदं शरीरं चक्रमिव मृते च नेदं शरीरं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता चैषोऽस्येति॥ ९ ॥

वह यह प्रजापति रूपी आत्मा स्वयं ही अपने को पाँच भागों में विभक्त करके हृदयरूपी गुहा (गुफा) क्षेत्र में प्रतिष्ठित है। यही आत्मा मनोमय रूप में, प्राणमय रूप में एवं तेजोमय रूप में, संकल्प रूप में तथा आकाशात्म रूप में अवस्थित है। इस प्रकार यह आत्मा हृदय प्रदेश में स्थित रहते हुए इन्द्रियों का अनुभव न करता हुआ स्वयं को अकृतार्थ अनुभव करने लगा। तदनन्तर अपने आप को कृतकृत्य करने हेतु पाँच द्वारों (इन्द्रियों) का बेधन करके प्रादुर्भूत हुआ। ये पाँच द्वार ही (श्रोत्रादि) पाँच इन्द्रियों के रूप में परिणत हो गये, जिनसे वह विषयों का उपभोग करता है। ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ लगाम हैं तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ घोड़े हैं। शरीर को रथ एवं मन को सारथि की संज्ञा प्रदान की गई है और स्वभाव (प्रकृति) को चाबुक कहा गया है। इस चाबुक से प्रेरणा प्राप्त करके यह शरीर चक्र की भाँति गमन करता है। इस प्रकार यह आत्मा ही इस शरीर को सचेतन बनाए हुए है तथा इसे प्रेरित करता रहता है॥ ९॥

स वा एष आत्मेत्यदो वशं नीत एव सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमान इव प्रतिशरीरेषु चरत्यव्यक्तत्वात्सूक्ष्मत्वाददृश्यत्वादग्राह्यत्वान्निर्ममत्वाच्चानवस्थोऽकर्ता कर्तेवावस्थितः॥ १०॥

ऐसा प्रतीत होता है कि यह आत्मा ही शरीर के वशीभूत होकर शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप बन्धन में फँस गया है। इसी कारण वह (आत्मा) विविध शरीरों में संचरित होता रहता है, परन्तु चिन्तन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तव में वह अव्यक्त,सूक्ष्म, अदृश्य, अग्राह्य, ममता से रहित एवं अवस्था (जाग्रत्, स्वप्न,सुषुप्ति)रहित है। अतः वह (आत्मा) अकर्त्ता होते हुए भी कर्त्तारूप में प्रतीत होता है॥ १०॥

स वा एष शुद्धः स्थिरोऽचलश्चालेपोऽव्यग्रो निःस्पृहः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्य चरितभुग्गुणमयेन पटेनात्मानमन्तर्धायावस्थित इत्यवस्थित इति॥ ११॥

यह (आत्मा) शुद्ध, स्थिर, अचल, निर्लिप्त, उद्विग्नता रहित, निःस्पृह द्रष्टा की भाँति रहते हुए अपने द्वारा किये गये कर्मों के फल का उपभोग करता हुआ-सा प्रतीत होता है। साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि उस आत्मा ने अपने रूप को तीन गुणों (सत्,रज, तम,) रूपी वस्त्र द्वारा आच्छादित कर रखा है॥ ११॥

॥ तृतीयः प्रपाठकः॥

ते होचुर्भगवन्यद्येवमस्यात्मनो महिमानं सूचयसीत्यन्यो वा परः कोऽयमात्मा सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमानः सदसद्योनिमापद्यत इत्यवाचीं वोर्ध्वां वा गतिं द्वन्द्वैरभिभूयमानः परिभ्रमतीति कतम एष इति तान्होवाच॥ १॥

महर्षि ने पुनः प्रश्न किया - हे भगवन्! इस आत्मा की महिमा का वर्णन यदि इस प्रकार है, तो पुनः वह (आत्मा) श्रेष्ठ एवं निकृष्ट कर्मों के बन्धन में बँधा हुआ तथा अच्छी-बुरी योनियों में घूमता हुआ क्या कोई अन्य आत्मा है? सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से अभिभूत ऊर्ध्वगामी अथवा अधोगामी गतियों में विचरण करने वाला कौन है?॥ १॥

अस्ति खल्वन्योऽपरो भूतात्मा योऽयं सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमानः सदसद्योनिमापद्यत इत्यवाचीं वोर्ध्वां गतिं द्वन्द्वैरभिभूयमानः परिभ्रमतीत्यस्योपव्याख्यानं पञ्च तन्मात्राणि भूतशब्देनोच्यन्ते पञ्च महाभूतानि भूतशब्देनोच्यन्तेऽथ तेषां यः समुदायः

शरीरमित्युक्तमथ यो ह खलु वाव शरीरमित्युक्तं स भूतात्मेत्युक्तमथास्ति तस्यात्मा बिन्दुरिव पुष्कर इति स वा एषोऽभिभूतः प्राकृतैर्गुणैरित्यतोऽभिभूतत्वात्संमूढत्वं प्रयात्यसंमूढत्वादात्मस्थं प्रभुं भगवन्तं कारयितारं नापश्यद्गुणौघैस्तृप्यमानः कलुषीकृतश्चास्थिरश्चञ्चलो लोलुप्यमानः सस्पृहो व्यग्रश्चाभिमानत्वं प्रयात इत्यहं सो ममेदमित्येवं मन्यमानो निबध्नात्यात्मनात्मानं जालेनेव खचरः कृतस्यानुफलैरभिभूयमानः परिभ्रमतीति॥ २॥

(हे श्रेष्ठ महर्षे!) जो शुभ - अशुभ कर्मों के कारण अधोगामी हुआ है, वह तो दूसरा भूतात्मा (जीवात्मा) के नाम से जाना जाता है तथा वह कर्मानुसार अच्छी-बुरी योनियों में गमन करता है, ऊँची-नीची गतियों को प्राप्त करता है, साथ ही सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से प्रभावित होता है। पंचभूतों और तन्मात्राओं को 'भूत' कहा जाता है। इनका समुच्चय ही शरीर है। इस कारण से इस शरीर को भूतात्मा (भूतात्मक) कहा जाता है। शरीर में निवास करने वाली यह आत्मा तो कमल के पत्तों में रहने वाली बूँदों की भाँति है; किन्तु वह अपने प्राकृतिक गुणों से प्रभावित-पराजित होकर मूढ़ बन गया है। इस कारण वह अपने अन्दर उपस्थित प्रेरक परमात्मतत्त्व को नहीं देख सकता। इस तरह वह सद्गुणों से तृप्त होता हुआ पापयुक्त, अस्थिर, चञ्चल, लोलुप, विषयासक्त, व्यग्र एवं अभिमानी होकर अहंकार युक्त हो जाता है। उसके अन्दर यह भाव आने लगते हैं कि 'यह मैं हूँ' 'यह मेरा है', इस प्रकार वह पक्षी की भाँति जालरूपी विकारों में फँस जाता है। वह अपने द्वारा कृत-कर्मों के फलस्वरूप खुद ही आबद्ध होकर विचरण करता है॥ २॥

अथान्यत्राप्युक्तं यः कर्ता सोऽयं वै भूतात्मा करणैः कारयितान्तःपुरुषोऽथ यथाग्निनायःपिण्डो वाभिभूतः कर्तृभिर्हन्यमानो नानात्वमुपैत्येवं वाव खल्वसौ भूतात्मान्तःपुरुषेणाभिभूतो गुणैर्हन्यमानो नानात्वमुपैत्यथ यत्त्रिगुणं चतुरशीतिलक्षयोनिपरिणतं भूतत्रिगुणमेतद्वै नानात्वस्य रूपं तानि ह वा इमानि गुणानि पुरुषेणेरितानि चक्रमिव चक्रिणेत्यथ यथायःपिण्डे हन्यमाने नाग्निरभिभूयत्येवं नाभिभूयत्यसौ पुरुषोऽभिभूयत्ययं भूतात्मोपसंश्लिष्टत्वादिति॥ ३॥

अन्य स्थलों पर भी कहा गया है कि कर्त्तापन तो इस भूतात्मा का ही है। अन्तःकरण में विद्यमान रहने वाली पवित्रात्मा तो मात्र प्रेरणा प्रदान करने वाली है। जिस प्रकार लोहे को अग्नि में तप्त करके लुहार उसे विभिन्न रूपों में परिणत कर देता है, उसी प्रकार यह भूतात्मा शुद्ध आत्मा के द्वारा तप्त तथा सद्गुणों के द्वारा सतत प्रहार करने पर वह अन्य अनेक रूपों में परिणत हो जाता है। अर्थात् वह गुणों से युक्त हो चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता रहता है, यही अनेकत्व का स्वरूप है। जिस प्रकार चक्र (चाक) को संचालित करने वाला कुम्हार चाक से अलग रहता है, उसी तरह आत्मा (सत्, रज और तम) इन तीनों गुणों से पृथक् है। जिस प्रकार लौह खण्ड को पीटने से उसमें स्थित अग्नि नहीं पीटी जाती, वैसे ही शुद्ध आत्मा विकाररहित होता है, परन्तु उस (शुद्ध आत्मा) को भूतात्मा के संसर्ग का दोष लग जाता है॥ ३॥

[लाल गर्म लोहा अग्नि जैसा दिखने लगता है, उसी स्थिति में उसे हथौड़े से पीटकर इच्छित आकार दिया जा सकता है। इसी प्रकार आत्म तत्त्व के संसर्ग से पंचभूत जब चेतनायुक्त दिखते हैं, तभी उन्हें गुणों के प्रहार या दबाव से इच्छित आकार दिया जाता है।]

अथान्यत्राप्युक्तं शरीरमिदं मैथुनादेवोद्भूतं संविद्ध्युपेतं निरय एव मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तमस्थिभिश्चितं मांसेनानुलिप्तं चर्मणावबद्धं विण्मूत्रै पित्तकफमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्च मलैर्बहुभिः परिपूर्णं कोश इवावसन्नेति॥ ४॥

इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थल पर यह भी संकेत मिलता है कि स्त्री-पुरुष के संयोग से जिस शरीर का प्रादुर्भाव होता है, वह चेतना शून्य है तथा नरक जैसा प्रतीत होता है। मूत्र द्वार से बहिर्गमन होने वाला यह शरीर हड्डियों के द्वारा गठित किया गया है। मांस से अनुलिप्त है तथा चर्म के द्वारा आबद्ध किया गया है। मल, मूत्र, पित्त, कफ, मज्जा, मेद, वसा आदि से युक्त है। इसके अतिरिक्त अन्य कई तरह के मलों से भी परिपूर्ण है। यह शरीर ऐसा लगता है कि सभी विकार युक्त पदार्थों का कोषागार ही है॥ ४॥

अथान्यत्राप्युक्तं संमोहो भयं विषादो निद्रा तन्द्री व्रणो जरा शोकः क्षुत्पिपासा कार्पण्यं क्रोधो नास्तिक्यमज्ञानं मात्सर्यं वैकारुण्यं मूढत्वं निर्व्रीडत्वं निकृतत्वमुद्धतत्वमसमत्वमिति तामसान्वितस्तृष्णा स्नेहो रागो लोभो हिंसा रतिर्दृष्टिर्व्यापृतत्वमीर्ष्या काममस्थिरत्वं चञ्चलत्वं जिहीर्षार्थोपार्जनं मित्रानुग्रहणं परिग्रहावलम्बोऽनिष्टेष्विन्द्रियार्थेषु द्विष्टिरिष्टेष्वभिषङ्ग इति राजसान्वितैः परिपूर्ण एतैरभिभूत इत्ययं भूतात्मा तस्मान्नानारूपाण्याप्नोतीत्याप्नोतीति॥ ५॥

एक अन्य स्थान में यह भी कहा गया है कि मोह, भय, विषाद, निद्रा, तन्द्रा, वृद्धावस्था, शोक, दुःख, भूख, प्यास, कार्पण्य (दीनता), क्रोध, नास्तिकता, अज्ञान, मात्सर्य, विकार, मूढ़ता, निर्लज्जता, उद्धतता, विषमता, कृतघ्नता आदि तमोगुण के विकारों से यह शरीर परिपूर्ण है। इसके अतिरिक्त तृष्णा, स्नेह, रोग, लोभ, हिंसा, काम-दृष्टि, व्यापार, ईर्ष्या, स्वेच्छाचारिता, चंचलता, किसी की वस्तु को ग्रहण करने की इच्छा, धनोपार्जन की इच्छा, मित्रों का अनुग्रह, परिग्रह का आश्रय, इन्द्रियों का अप्रिय विषयों से द्वेष और प्रिय विषयों से आसक्ति आदि रजोगुण से युक्त विकार भी उस भूतात्मा में विद्यमान रहते हैं। इन सभी विकारों के द्वारा यह भूतात्मा पराभव को प्राप्त होता है तथा पुनः अनेक रूपों को प्राप्त करता है॥ ५॥

॥ चतुर्थः प्रपाठकः॥

ते ह खल्वथोर्ध्वरेतसोऽतिविस्मिता अतिसमेत्योचुर्भगवन्नमस्ते त्वं नः शाधि त्वमस्माकं गतिरन्या न विद्यत इत्यस्य कोऽतिथिर्भूतात्मनो येनेदं हित्वात्मन्येव सायुज्यमुपैति तान्होवाच॥ १॥

ब्रह्मा जी के द्वारा दिये हुए उपदेश को सुनकर ऊर्ध्वरेता (अखण्ड ब्रह्मचारी) श्रेष्ठ मुनि वालखिल्य जी अत्यधिक विस्मित हुए एवं निकट में जाकर कहा-हे भगवन्! आपको नमस्कार है। आप ही हमें शरण देने वाले हैं। आपके अतिरिक्त अन्य कोई हमारा शरण स्थल नहीं। अतः आप हमें यह समझाएँ कि इस भूतात्मा का अतिथि कौन है, जिसके लिए यह सर्वस्व त्यागकर आत्मा में ही सायुज्य प्राप्त करता है?॥ १॥

अथान्यत्राप्युक्तं महानदीषूर्मय इव निवर्तकमस्य यत्पुराकृतं समुद्रवेलेव दुर्निवार्यमस्य मृत्योरागमनं सदसत्फलमयैर्हि पाशैः पशुरिव बद्धं बन्धनस्थस्येवास्वातन्त्र्यं यमविषयस्थस्येव बहुभयावस्थं मदिरोन्मत्त इवामोदमदिरोन्मत्तं पाप्मना गृहीत इव भ्राम्यमाणं महोरगदष्ट इव विपद्दष्टं महान्धकार इव रागान्धमिन्द्रजालमिव मायामयं स्वप्न इव मिथ्यादर्शनं कदलीगर्भ इवासारं नट इव क्षणवेषं चित्रभित्तिरिव मिथ्यामनोरममित्यथोक्तम्। शब्दस्पर्शादयो येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः। येष्वासक्तस्तु भूतात्मा न स्मरेच्च परं पदम्॥ २॥

ब्रह्माजी ने उत्तर दिया कि हे श्रेष्ठ मुने! एक अन्य स्थान में कहा गया है कि जैसे बड़ी-बड़ी नदियों में तरंगें उठती रहती हैं, वैसे ही भूतात्मा में पूर्वकाल में किये हुए कर्म पाये जाते हैं। उन किये हुए कर्मों का फल इसे भोगना ही पड़ता है। पुनः जिस तरह समुद्र का किनारा लहरों के अन्त होने के लिए आवश्यक है, उसी तरह भूतात्मा के लिए मृत्यु भी अति आवश्यक है, वह शुभ व अशुभ कर्मों के परिणाम स्वरूप बन्धनों में पशुओं की तरह आबद्ध हुआ परतन्त्र- सा बन गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह (भूतात्मा) यम के राज्य में ही निवास करता है। इस तरह वह भूतात्मा हमेशा डरा हुआ सा ही बना रहता है। विषय-वासना की सुखरूपी मदिरा का पान करके वह मतवाला हो जाता है। पापरूपी भूत के द्वारा आवेशित हुआ वह यत्र-तत्र भटकता रहता है। इस प्रकार वह विपत्ति में विषधर सर्प-दंश की भाँति दुःख भोगता है। विषय-वासनाओं की इच्छा के अनुरूप घने अन्धकार में रहता हुआ वह अन्धा ही हो जाता है। जादूगर के जादू की भाँति वह माया से परिपूर्ण है, स्वप्नवत् वह मिथ्या ही परिलक्षित होता है। केले के वृक्ष के अन्तः भाग की भाँति वह सार रहित है और नट (तमाशा दिखाने वाले) की भाँति वह प्रतिक्षण नवीन से नवीनतम वेशों को धारण करता रहता है तथा चित्रों से सुसज्जित दीवार की तरह उसका बाह्य आवरण ही सुन्दर रहता है। इसके पश्चात् यह भी कहा गया है कि शब्द, स्पर्श आदि विषय साररहित हैं। उन सार रहित विषयों में आसक्त हुआ भूतात्मा स्वयं को ही यथार्थतया स्मरण नहीं रख पाता है ॥ २ ॥

अयं वाव खल्वस्य प्रतिविधिर्भूतात्मनो यदेव विद्याधिगमस्य धर्मस्यानुचरणं स्वाश्रमेष्वेवानुक्रमणं स्वधर्म एव सर्वं धत्ते स्तम्बशाखेवेतराण्यनेनोर्ध्वभाग्भवत्यन्यथाधः पतत्येष स्वधर्माभिभूतो यो वेदेषु न स्वधर्मातिक्रमेणाश्रमी भवत्याश्रमेष्वेवावस्थितस्तपस्वी चेत्युच्यत एतदप्युक्तं नातपस्कस्यात्मध्यानेऽधिगमः कर्मशुद्धिर्वेत्येवं ह्याह। तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्संप्राप्यते मनः । मनसा प्राप्यते त्वात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तत इति ॥ ३ ॥

इस भूतात्मा की मुक्ति का उपाय ब्रह्मा जी इस प्रकार बताते हैं- ज्ञान की प्राप्ति जिस धर्म से हो सके, ऐसे श्रेष्ठ धर्म का आचरण करना चाहिए तथा अपने आश्रम धर्म का सदा पालन करना चाहिए । अन्य धर्म तो गुल्म (तृण) की शाखा की भाँति असत्य हैं। अतः वह (भूतात्मा) अपने धर्म के द्वारा ही प्रगति को प्राप्त करता है, अन्य तरह के धर्मों से तो उसे अवनति की ओर ही जाना पड़ता है। वेद में वर्णित स्वधर्म का परित्याग करने वाला आश्रमी नहीं कहा जा सकता। जो (व्यक्ति) आश्रम धर्म का निर्वाह करता है, वही तपस्वी है। यह भी कहा गया है कि जो तपस्वी नहीं है, उसका ध्यान आत्मा में नहीं एकाग्र होता। इस कारण से उसकी कर्म शुद्धि नहीं हो पाती। तप के माध्यम से ज्ञान की उपलब्धि होती है और ज्ञान की प्राप्ति होने पर मन अपने वश में हो जाता है। मन के वशीभूत होने पर आत्मतत्त्व की प्राप्ति होती है और आत्मा की उपलब्धि से इस संसार सागर से मुक्ति मिल जाती है॥ ३ ॥

[आश्रम का अर्थ होता है, जहाँ आश्रित-स्थित है। जो चेतना अग्नि में स्थित है, वह अग्नि के अनुरूप धर्म का पालन करती है, जो जल में अथवा वायु में है; वह उसी के अनुरूप धर्म का पालन करती है। इसी तरह मनुष्य शरीरस्थ चेतना-आत्मा को मानव धर्म का तथा उसके अन्तर्गत देश, काल, पात्र के अनुरूप धर्म का पालन करना चाहिए। इसी धर्म पालन रूप तप से कर्मशुद्धि द्वारा मोक्ष का अधिकार बनता है।]

अत्रैते श्लोका भवन्ति-

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति ।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति॥ क ॥

यहाँ ब्रह्मा जी ने कुछ श्लोकों के द्वारा भी श्रेष्ठ मुनि वालखिल्य जी को समझाने का प्रयास किया है-

जैसे अग्नि में लकड़ी के जलकर समाप्त होने पर अग्नि स्वयं ही अपने स्थान में शान्त हो जाती है, वैसे ही वृत्तियों का क्षय होने पर चित्त स्वयं ही अपने उत्पत्ति स्थल में शान्त हो जाता है॥ क॥

स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यगामिनः ।
इन्द्रियार्था विमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥ ख॥

अपने उद्गम स्थल में शान्त मन जब सत्य की ओर गमन करता है, तब कर्म के वशीभूत इन्द्रियों के प्रति आसक्ति आदि भोग विषय उसे असत्य प्रतीत होते हैं॥ ख॥

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम्॥ ग॥

चित्त ही संसार है, इस कारण प्रयत्नपूर्वक चित्त का शोधन करना चाहिए। जिस प्रकार (व्यक्ति) का चित्त होता है, उसी प्रकार ही उसे गति (दशा) प्राप्त होती है। यही सनातन नियम है॥ ग॥

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते॥ घ॥

चित्त के शान्त होने पर शुभ और अशुभ कर्म विनष्ट हो जाते हैं। चित्त के द्वारा शान्त हुआ व्यक्ति जब (चिन्तन के माध्यम से) आत्मा में स्थित होता है, तभी उसे अक्षय आनन्द की अनुभूति होती है॥ घ॥

समासक्तं यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे ।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात्॥ ङ॥

मनुष्य का चित्त जितना अधिक विषय-वासनाओं (भोगों) में आसक्त होता है, यदि उतना ही कहीं (उसका चित्त) 'ब्रह्म' के प्रति आसक्त हो जाए , तो फिर उसे वासनादि विषयों के बन्धन से मुक्ति क्यों न मिल जाए? ॥ ङ॥

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम्॥ च॥

शुद्ध और अशुद्ध यह दो स्थितियाँ मन की कही गयी हैं। कामनाओं के संकल्प से युक्त (मन) अशुद्ध है तथा कामनाओं का परित्याग कर देने वाला मन ही शुद्ध है॥ च॥

लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम्।
यदा यात्यमनीभावं तदा तत्परमं पदम्॥ छ॥

लय और विक्षेपरहित 'मन' पूर्णरूपेण निश्चल (स्थिर) हो जाता है और जब मनोभावों (काममाओं) का समापन हो जाता है, तभी वह परम-पद रूप को प्राप्त होता है॥ छ॥

तावदेव निरोद्धव्यं हृदि यावत्क्षयं गतम्।
एतज्ज्ञानं च मोक्षं च शेषास्तु ग्रन्थविस्तराः॥ ज॥

जब तक मन का क्षय (विनाश) न हो, तब तक ही उसका हृदय में निरोध करना चाहिए। मात्र यही ज्ञान एवं मोक्ष का सार है, अन्य शेष का तो ग्रन्थों में विस्तार किया गया है॥ ज॥

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं लभेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥ झ॥

समाधि के द्वारा जिसके मल का परिशोधन हो गया है तथा जो आत्मा में विलीन हो गया है, ऐसा 'चित्त' ही आनन्दानुभूति की प्राप्ति कर सकता है। तब उसका वर्णन वाणी के द्वारा करने में कोई भी समर्थ नहीं है, उसको तो मात्र अन्त:करण के द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है॥ झ॥

अपामपोऽग्निरग्नौ वा व्योम्नि व्योम न लक्षयेत्।
एवमन्तर्गतं चित्तं पुरुषः प्रतिमुच्यते॥ ञ॥

जैसे जल में जल, अग्नि में अग्नि और आकाश में आकाश का विलय हो जाने पर उसके सभी भिन्न-भिन्न रूप परिलक्षित नहीं होते, वैसे ही चित्त का (आत्मा में) विलय हो जाने पर 'पुरुष' मुक्ति को प्राप्त कर लेता है॥ ञ॥

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतमिति॥ ट॥

'मन' ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। विषयों में आसक्त हुआ मन ही बन्धन का कारण है तथा विषयों से रहित अर्थात् विषयों में आसक्त न रहने वाला 'मन' ही मुक्ति का कारण है॥ ट॥

अथ यथेयं कौत्सायनिस्तुतिः-त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं
रुद्रस्त्वं प्रजापतिः। त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्वं निशाकरः ॥ ठ॥

इसी प्रकार कौत्सायनि ऋषि की भी प्रशंसोक्ति है-'तुम ब्रह्मा हो, विष्णु हो, रुद्र हो। तुम प्रजापति हो, तुम अग्नि हो, तुम वरुण हो, तुम वायु हो, तुम इन्द्र हो और तुम्हीं निशाकर (चन्द्रमा) हो'॥ ठ॥

त्वं मनुस्त्वं यमश्च त्वं पृथिवी त्वमथाच्युतः।
स्वार्थे स्वाभाविकेऽर्थे च बहुधा तिष्ठसे दिवि ॥ ड॥

तुम मनु हो, तुम यम हो, तुम पृथ्वी हो, तुम अच्युत हो, तुम्हीं अपने विषय रूप में स्वाभाविक अर्थ हो तथा तुम्हीं स्वयं अपने-आप में भी विभिन्न रूपों में प्रतिष्ठित रहते हो॥ ड॥

विश्वेश्वर नमस्तुभ्यं विश्वात्मा विश्वकर्मकृत्।
विश्वभुग्विश्वमायस्त्वं विश्वक्रीडारतिः प्रभुः॥ ढ॥

हे सर्वेश्वर! आपको नमस्कार है। आप ही सम्पूर्ण विश्व की आत्मा हैं, विश्व के समस्त कार्यों को करने वाले हैं। सभी के भरण-पोषण करने वाले हैं। सब प्रकार की माया को धारण करने वाले, सर्वत्र विश्व-क्रीड़ा में प्रेम रखने वाले आप सभी के प्रभु हैं॥ ढ॥

नमः शान्तात्मने तुभ्यं नमो गुह्यतमाय च।
अचिन्त्यायाप्रमेयाय अनादिनिधनाय चेति॥ ण ॥ ४॥

हे शान्त आत्मा वाले! आपको नमस्कार है। अतिशय गूढ़, अचिन्त्य, प्रमाणों से न जान सकने योग्य एवं आदि-अन्त रहित आपके लिए नमन-वंदन है॥ ण॥ ४॥

तमो वा इदमेकमास तत्पश्चात्तत्परेणेरितं विषयत्वं प्रयात्येतद्वै रजसो रूपं तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रयात्येतद्वै तमसो रूपं तत्तमः खल्वीरितं तमसःसंप्रास्रवत्येतद्वै सत्त्वस्य रूपं तत्सत्त्वमेवेरितं तत्सत्त्वात्संप्रास्रवत्सोऽशोऽयं यश्चेतनमात्रः प्रतिपुरुषं क्षेत्रज्ञः संकल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः प्रजापतिस्तस्य प्रोक्ता अग्र्यास्तनवो ब्रह्मा रुद्रो

विष्णुरित्यथ यो ह खलु वावास्य राजसोंऽशोऽसौ स योऽयं ब्रह्माथ यो ह खलु वावास्य तामसोंऽशोऽसौ स योऽयं रुद्रोऽथ यो ह खलु वावास्य सात्त्विकोंऽशोऽसौ स एव विष्णुः स वा एष एकस्त्रिधाभूतोऽष्टधैकादशधा द्वादशधाऽपरिमितधा चोद्भूत उद्भूतत्वाद्भूतेषु चरति प्रतिष्ठा सर्वभूतानामधिपतिर्बभूवेत्यसावात्मान्तर्बहिश्चान्तर्बहिश्च॥ ५॥

सृष्टि-रचना के पूर्व यह(भूतात्मा) केवल अन्धकार (अज्ञान) रूप ही था। तत्पश्चात् परमात्मा द्वारा प्रेरणा प्राप्त करके इन्द्रियों के विषय रूप में परिणत हो गया । इन (रूपों) में से यह वस्तु रजोगुण के रूप में है। यह तमोगुण का भी स्वरूप है अर्थात् प्रेरणा प्राप्त तमोगुण ही तमोगुण में से प्रकट होता है। यह सत्त्व गुण का भी रूप है अर्थात् प्रेरणा प्राप्त हुआ सत्त्वगुण ही सत्त्वगुणों में से स्रवित हुआ है। जो यह चेतन सत्ता हर भूत-प्राणियों में क्षेत्रज्ञ जीव रूप से स्थिर है और परमात्मा का अंश है। वह संकल्प युक्त और अध्यवसायी, दृढ़निश्चयी है, अहंकार रूप (मैं पन) से पहचाना जाने वाला तथा समस्त प्रजा का पति है। ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र को ही परमात्मा का सबसे बड़ा और श्रेष्ठ शरीर कहा गया है। उस परमात्मा के रजोगुण अंश को 'ब्रह्मा' कहा गया है, तमोगुण अंश को 'रुद्र' और जो सतोगुण अंश है, उसे 'विष्णु' कहा गया है। इस कारण से वह एक ही परमात्मा तीन (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र) रूपों में, आठ (अष्टवसु) रूपों में, ग्यारह(रुद्र)रूपों में, बारह (आदित्य) रूपों में तथा अन्य (असंख्य संसारी जन रूप) अगणित रूपों में उत्पन्न हुआ है। वह इस तरह 'उद्भूत' होते हुए भी प्रत्येक भूतों-प्राणियों में स्थित है। वही समस्त प्राणियों का अधिष्ठाता है और वही अन्दर-बाहर आत्मा के रूप में विद्यमान है। वही अन्दर और बाहर है॥ ५॥

॥ पंचमः प्रपाठकः ॥

द्विधा वा एष आत्मानं बिभर्त्ययं यः प्राणो यश्चासावादित्योऽथ द्वौ वा एतावास्तां पञ्चधा नामान्तर्बहिश्चाहोरात्रे तौ व्यावर्तेते असौ वा आदित्यो बहिरात्मान्तरात्मा प्राणो बहिरात्मागत्यान्तरात्मनानुमीयते। गतिरित्येवं ह्याह यः कश्चिद्विद्वानपहतपाप्मा-ध्यक्षोऽवदातमनास्तन्निष्ठ आवृत्तचक्षुः सोऽन्तरात्मागत्या बहिरात्मनोनुमीयते गतिरित्येवं ह्याहाथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो यः पश्यति मां हिरण्यवत्स एषोऽन्तरे हृत्पुष्कर एवाश्रितोऽन्नमत्ति॥ १॥

वह परमात्मा दो प्रकार की आत्माओं (स्वरूपों) को ग्रहण करता है। यह जो प्राण है तथा जो सूर्य है, यही दोनों सर्वप्रथम उत्पन्न हुए हैं। यह सूर्य बाह्य आत्मा है और प्राण अन्तः की आत्मा है। इसकी गति को देखकर यह अनुमान लगाया जाता है कि यह अन्तरात्मा ही है। वेदों में कहा गया है कि यह आत्मा गतिरूप ही है। जिस विद्वान् के पापों का शमन हो चुका है, वह सभी का अध्यक्ष होता है। उसका मन पवित्र होता है तथा उसकी स्थिति परमात्मा में ही रहती है। उस (विद्वान्) का ज्ञान-चक्षु जाग्रत् हो जाता है तथा वह अन्तरात्मा में ही स्थिर रहता है। वह गतिशील होता हुआ बहिर्गमन कर जाता है। आत्मा की गति का अनुमान लगाया जा सकता है, ऐसा वेदों ने भी प्रतिपादित किया है। सूर्य के मध्य भाग में जो 'पुरुष' स्वर्ण के रूप में दृष्टिगोचर होता है, जो हमें हिरण्यमय अर्थात् प्रकाश स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, वही (पुरुष) हृदयरूपी कमल में स्थित रहते हुए अन्न को ग्रहण करता है॥ १॥

[आत्मा को गति रूप कहा गया है। सुचालक (कन्डक्टर) में इलैक्ट्रॉन तो हर समय उपस्थित रहते हैं, जब वे गतिशील होते हैं, तो विद्युत् प्रवाह का आभास होता है। इसी प्रकार आत्म-तत्त्व, परमात्म-तत्त्व सभी जगह कण-कण में विद्यमान है, जब वह संकल्पपूर्वक गतिशील होता है, तभी चेतना का आभास होता है। यह ऋषियों की अनुभूति से प्रकट हुआ तथ्य है।]

अथ य एषोऽन्तरे हृत्पुष्कर एवाश्रितोऽन्नमत्ति स एषोऽग्निर्दिवि श्रितः सौरः काला-ख्योऽदृश्यःसर्वभूतान्नमत्ति कः पुष्करः किमयं वेद वा व तत्पुष्करं योऽयमाकाशो-ऽस्येमाश्चतस्रो दिशश्चतस्र उपदिशः संस्था अयमर्वागग्निः परत एतौ प्राणादित्यावेता-वुपासीतोमित्यक्षरेण व्याहृतिभिः सावित्र्या चेति॥ २॥

जो (पुरुष) हृदय-कमल में विद्यमान एवं अन्न ग्रहण करता है, वही (पुरुष) इस सूर्य की अग्नि के रूप में आकाश में प्रतिष्ठित है। यही काल-नाम से युक्त (पुरुष) है। वह अदृश्य होते हुए भी सर्वभूत रूपी अन्न का भक्षण करता है। यह कमल क्या है ? यह क्या जानकारी रखता है ? इसका उत्तर यह है कि जो यह आकाश है, यही कमल है और इसमें निवास करने वाला वह समस्त प्रकार की जानकारी रखता है, वह इन चारों दिशाओं एवं उपदिशाओं में प्रतिष्ठित है। वह सभी से परे अर्थात् श्रेष्ठ है। इस प्राण और आदित्य की ॐकार से युक्त एवं व्याहृतियों सहित गायत्री-सावित्री महामन्त्र से उपासना करनी चाहिए॥

[ब्रह्मा की उत्पत्ति कमल से कही गयी है, उस आलंकारिक उक्ति को ऋषि स्पष्ट करते हुए आकाश को ही कमल कहते हैं। परम व्योम में सुप्त स्थिति में परमात्मतत्त्व के नाभिक से स्फुरणा उभरी, वह कमल नाल कहलायी। जिस क्षेत्र में स्फुरणा हुई, वह कमल कहलाया। उसी में विकसित सृजन चेतना-ब्रह्मा ने सृष्टि की।]

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं चाथ यन्मूर्तं तदसत्यं यदमूर्तं तत्सत्यं तद्ब्रह्म यद्ब्रह्म तज्ज्योतिर्यज्ज्योतिः स आदित्यः स वा एष ओमित्येतदात्मा स त्रेधात्मानं व्यकुरुत ओमिति तिस्रो मात्रा एताभिः सर्वमिदमोतं प्रोतं चैवास्मिन्नित्येवं ह्याहैतद्वा आदित्य ओमित्येवं ध्यायंस्तथात्मानं युञ्जीतेति ॥ ३॥

ब्रह्म के दो रूप हैं- मूर्त और अमूर्त। जो मूर्तरूप है, वह असत्य है और जो अमूर्त रूप है, वह सत्य है, वही (यथार्थ) ब्रह्म है। जो ब्रह्म है, वही ज्योति है और जो ज्योति है, वही आदित्य है। वही ॐकार (प्रणव) है, वही आत्मा है। उसने अपने स्वरूप को तीन प्रकार से प्रकट किया है। ॐकार तीन मात्राओं से युक्त है। इसी ॐकार में सभी तत्त्व विद्यमान हैं, इस तरह श्रुति में वर्णन मिलता है। आदित्य ही ॐकार स्वरूप ब्रह्म है, ऐसा ध्यान करते हुए पुरुष को चाहिए कि वह आत्मा का उसके साथ संयोजन करे॥ ३॥

अथान्यत्राप्युक्तमथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसावादित्य उद्गीथ एव प्रणव इत्येवं ह्याहोद्गीथः प्रणवाख्यं प्रणेतारं नामरूपं विगतनिद्रं विजरमविमृत्युं पुनः पञ्चधा ज्ञेयं निहितं गुहायामित्येवं ह्याहोर्ध्वमूलं वा आब्रह्मशाखा आकाश-वाय्वग्न्युदकभूम्यादय एकेनात्तमेतद्ब्रह्म तत्तस्यैतत्ते यदसावादित्य ओमित्येतदक्षरस्य चैतत्तस्मादोमित्यनेनैतदुपासीताजस्रमित्येकोऽस्य रसं बोधयीत इत्येवं ह्याहैतदेवाक्षरं पुण्यमेतदेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ ४॥

तत्पश्चात् एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि जो उद्गीथ (उद्=प्राण, गीथ= अभिव्यक्ति) है। वही ॐकार है। जो ॐकार (प्रणव) है, वही उद्गीथ है। जो प्रारम्भिक नाम से युक्त तत्त्व है, वही

सभी को प्रादुर्भूत करने वाला है। वह नाम तथा रूप से युक्त है, निद्रारहित और वृद्धावस्था से रहित है, मृत्यु रहित है। इस प्रकार से उसे पाँच भागों (रूपों) में जानना चाहिए। वह हृदय रूप गुफा में ही निवास करता है, ऐसा श्रुति का मत है। इस ॐकार रूप परमात्मा का मूल ऊर्ध्व की ओर और जहाँ तक ब्रह्म है, वहाँ तक इसकी शाखाएँ फैली हुई हैं। वे समस्त शाखाएँ आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी आदि के रूप में हैं। इस एक ही तत्त्व के माध्यम से यह सभी कुछ प्राप्त किया जा सकता है। वही ब्रह्म है। यह समस्त विश्व उस (ॐकार) का ही स्वरूप है। यह सूर्य भी ॐकार का ही रूप है। अतः ॐकार के द्वारा उस (सूर्य) की सदा प्रार्थना करनी चाहिए। इसी एकमात्र ॐकार से ही उसके रस का बोध किया जा सकता है, ऐसा श्रुतियों का मत है। यही पवित्र 'अक्षर रूप ब्रह्म है', इसी ॐकाररूप अक्षर का बोध करके मनुष्य जो भी चाहे, इच्छानुसार प्राप्त कर सकता है॥ ४॥

अथान्यत्राप्युक्तं स्तनयत्येषास्य तनूर्यां ओमिति स्त्रीपुंनपुंसकमिति लिङ्गवत्-येषाथाग्निर्वायुरादित्य इति भास्वत्येषाथ रुद्रो विष्णुरित्यधिपतिरित्येषाथ गार्हपत्यो दक्षिणाग्निराहवनीय इति मुखवत्येषाथ ऋग्यजुःसामेति विजानात्येषाथ भूर्भुवः स्वरिति लोकवत्येषाथ भूतं भव्यं भविष्यदिति कालवत्येषाथ प्राणोऽग्निः सूर्य इति प्रतापवत्येषा-थान्नमापश्चन्द्रमा इत्याप्यायनवत्येषाथ बुद्धिर्मनोऽहंकार इति चेतनवत्येषाथ प्राणोऽपानो व्यान इति प्राणवत्येके त्यजामीत्युक्तैताह प्रस्तोतार्पिता भवतीत्येवं ह्याहैतद्वै सत्यकाम परं चापरं च यदोमित्येतदक्षरमिति॥ ५॥

पुनः इसके पश्चात् अन्यत्र कहा गया है कि इस (ब्रह्म) का शरीर जो शब्द उच्चारित करता है, उसे ॐ कहते हैं। यह (ॐकार) स्त्री-पुरुष एवं नपुंसक इन तीनों लिङ्गों से युक्त है। अग्नि, वायु एवं सूर्य के रूप में यह प्रकाश देने वाला है तथा ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु के रूप में अधिपति स्वरूप है। गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय ये ही तीनों अग्नियाँ उसके तीन मुख हैं तथा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को भी वह जानने में समर्थ है। भूः, भुवः और स्वः ये तीन लोक भी इसी के रूप हैं। उस ॐकार रूप ब्रह्म के भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीन काल हैं। प्राण, अग्नि और आदित्य उसके प्रताप हैं। अन्न, जल और चन्द्रमा उसके पोषक तत्त्व हैं। बुद्धि, मन और अहंकार ये तीनों उसकी चेतना हैं तथा प्राण, अपान एवं व्यान उसके प्राण हैं। ऐसा ही अनेकों ने कहा है। यह स्तुति करने वाला तथा स्वयं अर्पित करनेवाला कहा गया है, ऐसा श्रुति का वचन है। हे सत्य कामना वाले! यही (ॐकार) पर एवं अपर रूप ब्रह्म है। यह ॐकार ही अक्षर है॥ ५॥

अथ व्यात्तं वा इदमासीत्सत्यं प्रजापतिस्तपस्तप्त्वा अनुव्याहरद्भूर्भुवः स्वरित्येषा हाथ प्रजापतेः स्थविष्ठा तनूर्वा लोकवतीति स्वरित्यस्याः शिरो नाभिर्भुवो भूः पादा आदित्यश्चक्षुरायत्तः पुरुषस्य महतो मात्राश्चक्षुषा ह्ययं मात्राश्चरति सत्यं वै चक्षुरक्षिण्युपस्थितो हि पुरुषः सर्वार्थेषु वदत्येतस्माद्भूर्भुवः स्वरित्युपासीतान्नं हि प्रजापति-र्विश्वात्मा विश्वचक्षुरिवोपासितो भवतीत्येवं ह्याहैषा वै प्रजापतिर्विश्वभृत्तनूरेतस्यामिदं सर्वमन्तर्हितमस्मिंश्च सर्वस्मिन्नेषान्तर्हितेति तस्मादेषोपासीतेति॥ ६॥

इसके अनन्तर इस (ॐकाररूप ब्रह्म) ने जो विस्तार किया, वही सत्य है। प्रजापति ने कठोर तप

करके उन तीन व्याहृतियों भूः, भुवः और स्वः का उच्चारण किया। यही (व्याहृतियाँ) प्रजापति का स्थूल शरीर है। इसका निर्माण लोकों के द्वारा हुआ है। स्वः उसका मस्तक है, भुवः नाभि है, भूः पैर हैं और आदित्य उसके नेत्र हैं। यह सब उसके अधीन है। महापुरुषों की ये मात्राएँ (अंश) हैं। यह (पुरुष) नेत्रों के द्वारा इन मात्राओं में गमन करता है। सत्य ही नेत्र हैं। नेत्र में स्थित पुरुष ही सभी पदार्थों के विषय में बतलाता है। अतः भूः, भुवः और स्वः इस विधि के अनुसार ही उपासना करनी चाहिए। अन्न ही प्रजापति है। वह सभी का आत्मा तथा सभी का चक्षु है, वह उपास्य है, ऐसा वेद भी कहते हैं। यह प्रजापति ही समस्त विश्व को धारण करने वाला शरीर है, इसमें वह सभी कुछ स्थित है तथा वह इन सभी में विद्यमान है। अतः इसी श्रेष्ठ तत्त्व की उपासना करनी चाहिए॥ ६॥

तत्सवितुर्वरेण्यमित्यसौ वा आदित्यः सविता स वा एवं प्रवरणाय आत्मकामेनेत्याहुर्ब्रह्मवादिनोऽथ भर्गो देवस्य धीमहीति सविता वै तेऽवस्थिता योऽस्य भर्गः कं संचिन्तयामीत्याहुर्ब्रह्मवादिनोऽथ धियो यो नः प्रचोदयादिति बुद्धयो वै धियस्ता योऽस्माकं प्रचोदयादित्याहुर्ब्रह्मवादिनोऽथ भर्ग इति यो ह वा अस्मिन्नादित्ये निहितस्तारकेऽक्षिणि वैष भर्गाख्यो भाभिर्गीतिरस्य हीति भर्गो भर्जति वैष भर्ग इति रुद्रो ब्रह्मवादिनोऽथ भ इति भासयतीमाँल्लोकान् र इति रञ्जयतीमानि भूतानि ग इति गच्छन्त्यस्मिन्नागच्छन्त्यस्मादिमाः प्रजास्तस्माद्भरगत्वाद्भर्गः। शश्वत्सूयमानत्वात्सूर्यः सवनात्सविताऽऽदानादादित्यः पवनात्पावमानोऽथायनादादित्य इत्येवं ह्याह खल्वात्मनात्मामृताख्यश्चेता मन्ता गन्ता स्रष्टाऽऽनन्दयिता कर्ता वक्ता रसयिता घ्राता स्पर्शयिता च विभुर्विग्रहे सन्निविष्ट इत्येवं ह्याहाथ यत्र द्वैतीभूतं विज्ञानं तत्र हि शृणोति पश्यति जिघ्रति रसयते चैव स्पर्शयति सर्वमात्मा जानीतेति यत्राद्वैतीभूतं विज्ञानं कार्यकारणनिर्मुक्तं निर्वचनमनौपम्यं निरुपाख्यं किं तदङ्ग वाच्यम् ॥ ७॥

'तत्सवितुर्वरेण्यं' यही उस सविता का प्रकाश है अथवा स्वयं ही यह आदित्य है और यही समस्त प्राणि-समुदाय को उत्पन्न करने वाला 'सविता' है। ऐसा जानकर आत्मतत्त्व की इच्छा रखने वाले को, उसी को ग्रहण करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। ऐसा ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले कहते हैं। अब 'भर्गो देवस्य धीमहि' इस पद का विवेचन करते हैं; इसके अनुसार क्योंकि वह 'भर्ग' सम्मुख ही उपस्थित रहता है। उनका जो 'भर्ग' है, वह बुद्धि (ज्ञान) को प्राप्त करता रहता है। ब्रह्मवादी प्रायः प्रश्न करते रहते हैं कि हम किसका चिंतन करें? तो इसका उत्तर यह है कि हम उस 'भर्ग शक्ति' का ही ध्यान करें। अब 'धियो यो नः प्रचोदयात्' की विवेचना करते हैं। इसके अनुसार बुद्धि को ही 'धी' कहते हैं। 'जो हमारी बुद्धि को प्रेरणा प्रदान करता है - सन्मार्ग की ओर उन्मुख करता है' ऐसा ब्रह्मवादी कहते हैं। 'भर्ग' वही है, जो सूर्य में निहित है। आँख की पुतली में भी 'भर्ग' स्थित है। इसकी कान्ति से मनुष्य गति करता है, अतः यह 'भर्ग' है अथवा यह सभी को तप्त करता है, इस कारण से यह 'भर्ग' कहलाता है। यह रुद्र को ब्रह्म मानने वालों के विचार हैं। 'भ' अर्थात् लोकों को प्रकाशित करने वाला, 'र' अर्थात् समस्त प्राणियों का रञ्जन करने वाला एवं 'ग' अर्थात् प्राणियों-प्रजाओं के गमनागमन का आधार स्वरूप, इस प्रकार भ, र, ग होने से भर्ग है। निरन्तर प्रसव (जन्म देने) के कारण सूर्य कहलाता है, सबको प्रादुर्भूत करने के कारण

'सविता' कहलाता है। सबको प्रकाश देने के कारण आदित्य और सबको पवित्र करता है, इससे पवमान कहलाता है अथवा सभी की ओर गमन करने से तथा सभी का अयन (आश्रय स्थल) होने से उसे 'आदित्य' कहते हैं। वह स्वयं ही आत्मा है। इसका नाम अमृत है, सर्वज्ञ है, चिन्तन करता है, गति करता है, सृजन करता है, आनन्द प्रदान करता है, स्वयं कहता है, स्वाद लेता है, सूँघता है, स्पर्श करता है, समस्त शरीर में व्याप्त रहता है और उत्तम स्वाद से युक्त है, ऐसा (वेद) कहते हैं। जहाँ पर विज्ञान द्वैत (दो) रूप में होता है, वहाँ जो सुनता है, देखता है, सूँघता है, स्वाद लेता है और स्पर्श करता है, वह सब आत्मा ही है, इस तरह से तुम ऐसा निश्चय रखो। जहाँ विज्ञान अद्वैत हो जाता है, वहाँ कार्य और कारण से रहित, वर्णनातीत, उपमारहित तथा व्याख्या विहीन हो जाता है। ऐसे उस 'भर्ग-शक्ति' के संदर्भ में क्या कहा जाए? ॥ ७ ॥

एष हि खल्वात्मेशानः शंभुर्भवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृड्हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शास्ता विष्णुर्नारायणोऽर्कः सविता धाता सम्राडिन्द्र इन्दुरिति य एष तपत्यग्निना पिहितः सहस्राक्षेण हिरण्मयेनानन्देनैष वाव विजिज्ञासितव्योऽन्वेष्टव्यः सर्वभूतेभ्योऽभयं दत्त्वारण्यं गत्वाथ बहिःकृतेन्द्रियार्थान्स्वशरीरादुपलभतेऽथैनमिति विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् । सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥

(हे श्रेष्ठ मुने!) यही आत्मा है, यही सबका नियन्ता, ईश्वर, शंकर, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्वस्रष्टा, हिरण्यगर्भ, सत्य, प्राण, हंस, शास्ता (उपदेशक), विष्णु, नारायण, अर्क, सविता, धाता, सम्राट्, इन्द्र और चन्द्र भी वही है। जो इस अग्नि के रूप में तप है और सहस्रों के चक्षु रूप में प्रकाशमय आनन्द से परिपूर्ण है, वही जानने योग्य है। सभी प्राणियों को अभय-दान प्रदान करके तपोवन में जाकर उस 'ॐकार' का अनुसंधान करना चाहिए। (जो मनुष्य) इन्द्रियों के विषय-भोगों का बहिष्कार करते हैं, उनको अपने शरीर में से ही वह (प्रकाश तत्त्व) प्राप्त हो जाता है। यही विश्वरूप, मनोहर, जन्म ग्रहण करने वालों का पूर्ण ज्ञाता है, सभी का परम आश्रय स्थल और ज्योतिरूप से तप्त (प्रकाशित) होता है। यह सूर्य-सविता (परमात्मा) सहस्रों रश्मियों से युक्त, सैकड़ों तरह से वर्तमान तथा समस्त प्रजाजनों का प्राणरूप होकर प्रकट होता है ॥ ८ ॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु.....इति। शान्तिः ॥

॥ इति मैत्रायण्युपनिषत्समाप्ता ॥

॥ शिवसङ्कल्पोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् 'ईशोपनिषद्' की तरह ही शुक्ल यजुर्वेद का अंश (अध्याय ३४ मन्त्र १-६) है। इसमें केवल छः मंत्र हैं, जिनमें मन की अद्भुत सामर्थ्यों का वर्णन करते हुए उस मन को 'शिव संकल्प' युक्त बनाने की प्रार्थना की गयी है। मनुष्य का मन बड़ा सामर्थ्यवान् है, उसमें जो संकल्प जाग जाएँ, उससे उसे विरत करना बड़ा कठिन है। इसलिए ऋषि उसे शुभ-कल्याणकारी संकल्पयुक्त बनाने के लिए ही प्रार्थना करते हैं। मंत्रों का गठन इतना सारगर्भित एवं भावपूर्ण बन पड़ा है कि उन्हें स्वतंत्र रूप से एक उपनिषद् की मान्यता दी गयी है।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ १॥

हे परमात्मन्! जो मन जाग्रत् अवस्था में दूर-दूर तक गमन करता है और उसी प्रकार सुप्तावस्था में भी दूर-दूर तक जाता है; वही (मन) निश्चित रूप से इन्द्रियों का प्रकाशक है, जीवात्मा का एकमात्र माध्यम है, ऐसा हमारा वह मन श्रेष्ठ-कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो॥ १॥

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ २॥

हे परमेश्वर! जिस मन के द्वारा मनीषीगण यज्ञ आदि सत्कर्मों का सम्पादन करते हैं। जो सबके शरीर में विद्यमान है तथा यज्ञादिकों में अपूर्व एवं आदरणीय भाव से सुशोभित रहता है, वह हमारा मन श्रेष्ठ-कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो॥ २॥

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ३॥

हे प्रभो! जो मन प्रखर ज्ञान से सम्पन्न, चेतनशील, धैर्य सम्पन्न है, जो समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में अमर प्रकाश-ज्योतिःरूप में स्थित है, जिसके बिना कोई भी कार्य किया जाना सम्भव नहीं हो पाता; वह हमारा मन श्रेष्ठ- कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो ॥ ३॥

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ४॥

जिस अविनाशी मन की सामर्थ्य से सभी कालों का ज्ञान (प्रत्यक्षीकरण) किया जाता है तथा जिसके द्वारा सप्त होतागण यज्ञ का विस्तार करते हैं, ऐसा हमारा मन श्रेष्ठ-कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो॥ ४॥

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ५॥

जिस (मन) में वैदिक ऋचाएँ प्रतिष्ठित हैं, जिसमें साम और यजुर्वेद के मन्त्र उसी प्रकार प्रतिष्ठित हैं, जिस प्रकार रथ के पहिये में 'अरे' स्थित होते हैं तथा जिस मन में प्रजाजनों के समस्त ज्ञान समाहित हैं, ऐसा हमारा मन श्रेष्ठ-कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो॥ ५॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥ ६॥

जिस प्रकार कुशल 'सारथि' लगाम के नियन्त्रण से गतिमान् अश्वों को गन्तव्य पथ पर अभीष्ट दिशा में ले जाता है, उसी प्रकार जो मन मनुष्यों को लक्ष्य तक पहुँचाता है, जो जरारहित, अतिवेगशील(मन) इस हृदय स्थान में स्थित है; ऐसा हमारा मन श्रेष्ठ-कल्याणकारी संकल्पों से युक्त हो॥ ६॥

॥ शुकरहस्योपनिषद् ॥

यह कृष्ण यजुर्वेदीय उपनिषद् है। इस उपनिषद् में महर्षि व्यास जी के आग्रह पर भगवान् शिव ने शुकदेव जी को उपदेश दिया है। शुकदेवजी ने उनसे चार महावाक्यों १. ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म, २. ॐ अहं ब्रह्मास्मि, ३. ॐ तत्त्वमसि एवं ४. ॐ अयमात्मा ब्रह्म के सम्बन्ध में षडङ्गन्यास पूर्वक जानना चाहा। उपनिषद् के पहले -दूसरे खण्डों में उक्त घटना, प्रश्न तथा न्यासादि का वर्णन है। तीसरे खण्ड में चारों महावाक्यों की व्याख्या पदविन्यास पूर्वक की गई है। अंत में इस ज्ञान को हृदयंगम करने से शुकदेव जी की चेतना का चराचर के साथ संयुक्त हो जाने का वर्णन है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु .....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अमृतनादोपनिषद्)

अथातो रहस्योपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अब रहस्योपनिषद् का वर्णन किया जाता है॥ १ ॥

देवर्षयो ब्रह्माणं संपूज्य प्रणिपत्य पप्रच्छुर्भगवन्नस्माकं रहस्योपनिषदं ब्रूहीति॥ २ ॥

एक बार देवर्षियों ने देव ब्रह्माजी की पूजा की और हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुए उनसे निवेदन किया - भगवन्! आप हमारे लिए रहस्योपनिषद् का उपदेश करें॥ २ ॥

सोऽब्रवीत्-पुरा व्यासो महातेजाः सर्ववेदः तपोनिधिः। प्रणिपत्य शिवं साम्बं कृताञ्जलिरुवाच ह॥ ३ ॥

इस पर ब्रह्मा जी ने कहा-प्राचीनकाल में महातेजस्वी, तपोनिष्ठ, सम्पूर्ण वेदों के विग्रह स्वरूप श्री वेदव्यास जी ने पार्वती सहित भगवान् शिव को हाथ जोड़कर प्रणाम किया और उनसे प्रार्थना की॥ ३ ॥

श्रीवेदव्यास उवाच-

देवदेव महाप्राज्ञ पाशच्छेददृढव्रत। शुकस्य मम पुत्रस्य वेदसंस्कारकर्मणि॥ ४ ॥

ब्रह्मोपदेशकालोऽयमिदानीं समुपस्थितः। ब्रह्मोपदेशः कर्त्तव्यो भवताद्य जगद्गुरो॥

श्री वेदव्यास बोले-हे देवों के देव-महादेव! महाप्राज्ञ! हे जगत् पाशों के उच्छेदक! हे सुदृढ़ व्रतधारी! मेरे पुत्र शुकदेव के वेदाध्ययन संस्कार कर्म में प्रणव और गायत्री मन्त्रोपदेश का समय आ गया है। हे जगद्गुरो! आप उसके लिए मन्त्रोपदेश कर्त्तव्य को स्वीकार करें॥ ४-५ ॥

ईश्वर उवाच -

मयोपदिष्टे कैवल्ये साक्षाद्ब्रह्मणि शाश्वते ।

विहाय पुत्रो निर्वेदात्प्रकाशं यास्यति स्वयम्॥ ६ ॥

भगवान् शिव ने कहा- हे महामुने ! यदि मैं तुम्हारे पुत्र को शुद्धस्वरूप साक्षात् सनातन परब्रह्म का उपदेश करूँगा, तो वह सब कुछ त्यागकर, वैराग्यवान् होकर स्वयं ही प्रकाशस्वरूप को प्राप्त हो जाएगा॥६ ॥

श्री वेदव्यास उवाच -

यथा तथा वा भवतु ह्युपनायनकर्मणि। उपदिष्टे मम सुते ब्रह्मणि त्वत्प्रसादतः॥

श्री वेदव्यास जी ने निवेदन किया- चाहे जैसा भी हो, मेरे पुत्र के उपनयन संस्कार कर्म में आप अनुग्रहपूर्वक उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश करें॥ ७ ॥

सर्वज्ञो भवतु क्षिप्रं मम पुत्रो महेश्वर। तव प्रसादसंपन्नो लभेन्मुक्तिं चतुर्विधाम्॥

हे महेश्वर! मेरा पुत्र शीघ्र ही सर्वज्ञानी हो और आपके अनुग्रह का पात्र बनकर वह चतुर्विध मुक्ति (सायुज्य, सामीप्य, सारूप्य एवं सालोक्य) को प्राप्त हो जाए ॥ ८॥

तच्छ्रुत्वा व्यासवचनं सर्वदेवर्षिसंसदि।
उपदेष्टुं स्थितः शम्भुः साम्बो दिव्यासने मुदा॥ ९॥

श्री वेदव्यास जी की प्रार्थना स्वीकार कर भगवान् शिव भगवती उमा सहित देवर्षियों की सभा में उपदेश देने के लिए गये और प्रसन्नतापूर्वक एक दिव्य आसन पर अधिष्ठित हुए॥ ९॥

कृतकृत्यः शुकस्तत्र समागत्य सुभक्तिमान्।
तस्मात् स प्रणवं लब्ध्वा पुनरित्यब्रवीच्छिवम्॥ १०॥

वहाँ शुकदेव मुनि भगवान् शिव से भक्तिपूर्ण अवस्था में सत्संग का लाभ लेकर कृतकृत्य हुए। प्रणव दीक्षा लेकर पुनः वे भगवान् से प्रार्थना करने लगे॥ १०॥

श्रीशुक उवाच-

देवादिदेव सर्वज्ञ सच्चिदानन्दलक्षण। उमारमण भूतेश प्रसीद करुणानिधे॥ ११॥

मुनि शुकदेव जी ने निवेदन किया- हे देवों के आदि देव! हे सर्वज्ञ! हे सच्चिदानन्द स्वरूप! हे उमापते! आप सम्पूर्ण प्राणियों पर कृपा करने वाले करुणा के भण्डार हैं, आप मुझ पर प्रसन्न हों॥ ११॥

उपदिष्टं परंब्रह्म प्रणवान्तर्गतं परम्। तत्त्वमस्यादिवाक्यानां प्रज्ञादीनां विशेषतः॥
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन षडङ्गानि यथाक्रमम्। वक्तव्यानि रहस्यानि कृपयाद्य सदाशिव।

आपने मेरे लिए प्रणव स्वरूप और उससे परे परब्रह्म का उपदेश किया है, परन्तु मैं विशेषरूप से 'तत्त्वमसि', 'प्रज्ञानं ब्रह्म' प्रभृति महावाक्यों का तत्त्व षडङ्गन्यास क्रमपूर्वक सुनने की इच्छा रखता हूँ। हे सदाशिव! कृपापूर्वक मेरे लिए उन रहस्यों को प्रकट करें॥ १२-१३॥

श्रीसदाशिव उवाच-

साधु साधु महाप्राज्ञ शुक ज्ञाननिधे मुने। प्रष्टव्यं तु त्वया पृष्टं रहस्यं वेदगर्भितम्॥

भगवान् शिव ने कहा- हे ज्ञाननिधि मुनि शुकदेव ! तुम निश्चय ही महान् प्रज्ञावान् हो। तुमने वेदों के गूढ़ रहस्यों के व्यावहारिक स्वरूप का प्रश्न किया है॥ १४॥

रहस्योपनिषन्नाम्ना सषडङ्गमिहोच्यते। यस्य विज्ञानमात्रेण मोक्षः साक्षान्न संशयः॥

सो मैं तुम्हारे लिए इस रहस्योपनिषद् नामक गूढ़ विषय का षडङ्गन्यास पूर्वक वर्णन करता हूँ। इसका (अनुभूतिजन्य) विशेष ज्ञान हो जाने से साक्षात् मोक्ष प्राप्ति में कोई संशय नहीं है॥ १५॥

अङ्गहीनानि वाक्यानि गुरुर्नोपदिशेत्पुनः।
सषडङ्गान्युपदिशेन्महावाक्यानि कृत्स्नशः॥ १६॥

उपयुक्त यही है कि गुरु के द्वारा अङ्गहीन वाक्यों का उपदेश नहीं किया जाना चाहिए, सब महावाक्यों का षडंग सहित उपदेश करना चाहिए॥ १६॥

चतुर्णामपि वेदानां यथोपनिषदः शिरः। इयं रहस्योपनिषत्तथोपनिषदां शिरः॥

जैसे चारों वेदों में उपनिषदें सर्वश्रेष्ठ हैं, वैसे सम्पूर्ण उपनिषदों में रहस्योपनिषद् सर्वश्रेष्ठ है॥ १७॥

रहस्योपनिषद्ब्रह्म ध्यातं येन विपश्चिता। तीर्थैर्मन्त्रैः श्रुतैर्जप्यैस्तस्य किं पुण्यहेतुभिः॥

जिस तत्त्वदर्शी विचारक ने इस रहस्योपनिषद् में वर्णित ब्रह्म का चिन्तन-मनन किया है, उसे पुण्यदायक कारणों तीर्थ-सेवन, मन्त्र-पाठ, वेद-पाठ तथा जप आदि करने से क्या प्रयोजन है?॥ १८॥

वाक्यार्थस्य विचारेण यदाप्नोति शरच्छतम्। एकवारजपेनैव ऋष्यादिध्यानतश्च यत्॥

सौ शरद्-ऋतुओं (वर्षों) तक महावाक्यों के अर्थों पर विचार करने से जिस फल की प्राप्ति होती है, वह फल इन वाक्यों के ऋष्यादि के स्मरण सहित एक बार जप करने से ही प्राप्त होता है॥ १९॥

ॐ अस्य श्रीमहावाक्यमहामन्त्रस्य हंस ऋषिः। अव्यक्तगायत्री छन्दः। परमहंसो देवता। हं बीजम्। सः शक्तिः। सोऽहं कीलकम्। मम परमहंसप्रीत्यर्थे महावाक्यजपे विनियोगः। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। नित्यानन्दो ब्रह्म तर्जनीभ्यां स्वाहा। नित्यानन्दमयं ब्रह्म मध्यमाभ्यां वषट्। यो वै भूमा अनामिकाभ्यां हुम्। यो वै भूमाधिपतिः कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म हृदयाय नमः। नित्यानन्दो ब्रह्म शिरसे स्वाहा। नित्यानन्दमयं ब्रह्म शिखायै वषट्। यो वै भूमा कवचाय हुम्। यो वै भूमाधिपतिः नेत्रत्रयाय वौषट्। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म अस्त्राय फट्। भूर्भुवःसुवरोमिति दिग्बन्धः॥ २०॥

ॐ इस महावाक्य महामंत्र के हंस ऋषि हैं, अव्यक्त गायत्री छन्द है, परमहंस देवता हैं, हं बीज मंत्र है, सः शक्ति है, सोऽहं कीलक है। परमहंस देवता की प्रीति के लिए महावाक्य जपने हेतु मेरे द्वारा विनियोग है। करन्यास के लिए ब्रह्म सत्य, ज्ञानमय और अनन्त है, उसे नमस्कार है- अँगूठे का स्पर्श ब्रह्म नित्य (शाश्वत) आनन्द स्वरूप है, उसे नमन है- तर्जनी अँगुली का स्पर्श। ब्रह्म नित्यआनन्दमय है, उसे नमन है- मध्यमा अँगुली का स्पर्श। जो अति- विस्तृत है (वह ब्रह्म है), उसे नमन है- अनामिका अँगुली का स्पर्श। जो अतिविस्तृत का (भी) अधिपति है (वह ब्रह्म है), उसे नमन है- कनिष्ठिका अँगुली का स्पर्श। ब्रह्म एक एवं अद्वितीय है, उसे नमन है- करतल एवं कर पृष्ठ का स्पर्श। ब्रह्म सत्य, ज्ञानमय एवं अनन्त है उसे नमन है- हृदय (स्थान) का स्पर्श। ब्रह्म नित्य आनन्द स्वरूप है, उसे नमस्कार है, सिर का स्पर्श। ब्रह्म नित्य आनन्दमय है, उसे नमन है- शिखा का स्पर्श। जो विस्तृत है (वह ब्रह्म है), उसे नमन है- दायें -बाँयें कन्धे का स्पर्श। जो विस्तृत का अधिपति है, (वह ब्रह्म है), उसे नमन है- दोनों नेत्रों का स्पर्श। ब्रह्म एक और अद्वितीय है, उसे नमन है- दायें हाथ को सिर के ऊपर से घुमाकर बायें हाथ पर ताली बजाएँ। ॐ (परब्रह्म) भूः (भू), भुवः (अन्तरिक्ष) और स्वः (द्युलोक) में संव्याप्त है, उसे नमस्कार है- सभी दिशाओं से रक्षा का विधान॥ २०॥

ध्यानम्-

नित्यानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्। एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि॥ २१॥

ध्यान-जो सदा ही आनन्दरूप, श्रेष्ठ सुखदायी स्वरूप वाले, ज्ञान के साक्षात् विग्रह रूप हैं। जो संसार के द्वन्द्वों (सुख-दुःखादि) से रहित, व्यापक आकाश के सदृश (निर्लिप्त) है तथा जो एक ही परमात्म तत्त्व को सदैव लक्ष्य किये रहते हैं। जो एक हैं, नित्य हैं, सदैव शुद्ध स्वरूप है, (झंझावातों में)

अचल रहने वाले, सबकी बुद्धि में अधिष्ठित, सब प्राणियों के साक्षिरूप, राग-आसक्ति आदि भावों से दूर, लोभ, मोह, अहंकार जैसे सामान्य त्रिगुणों से रहित हैं, उन सद्गुरु को हम नमस्कार करते हैं॥ २१॥

अथ महावाक्यानि चत्वारि। यथा ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म॥ १॥ ॐ अहं ब्रह्मास्मि॥ २॥ ॐ तत्त्वमसि ॥ ३॥ ॐ अयमात्मा ब्रह्म॥ ४॥ तत्त्वमसीत्यभेदवाचकमिदं ये जपन्ति ते शिवसायुज्यमुक्तिभाजो भवन्ति॥ २२॥

अब चार महावाक्य दिये जाते हैं। ॐ प्रज्ञानम् ब्रह्म (प्रकृष्ट ज्ञान ब्रह्म है)॥ १॥ ॐ अहं ब्रह्मास्मि(मैं ब्रह्म हूँ)॥ २॥ ॐ तत्त्वमसि(वह ब्रह्म तुम्हीं हो)॥ ३॥ ॐ अयमात्मा ब्रह्म(यह आत्मा ब्रह्म है)॥ ४॥ इनमें से यह 'तत्त्वमसि' महावाक्य ब्रह्म से अभेद का प्रतिपादन करता है। जो साधक इसका जप (चिन्तन-मनन) करते हैं, वे भगवान् शिव की सायुज्य मुक्ति का फल प्राप्त करते हैं॥

आगे 'ॐ तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' पद के षडंग विनियोग एवं दिग्बन्ध सहित ध्यान का विवरण प्रस्तुत किया गया है-

तत्पदमहामन्त्रस्य । हंस ऋषिः। अव्यक्तगायत्री छन्दः। परमहंसो देवता। हं बीजम्। सः शक्तिः। सोऽहं कीलकम् । मम सायुज्यमुक्त्यर्थे जपे विनियोगः । तत्पुरुषाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। ईशानाय तर्जनीभ्यां स्वाहा। अघोराय मध्यमाभ्यां वषट्। सद्योजाताय अनामिकाभ्यां हुम्। वामदेवाय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। तत्पुरुषेशानाघोरसद्योजातवामदेवेभ्यो नमः करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। एवं हृदयादिन्यासः। भूर्भुवः सुवरोमिति दिग्बन्धः ॥ २३॥

तत्पुरुष को नमस्कार है- अँगूठे का स्पर्श। ईशान को नमन - तर्जनी का स्पर्श। अघोर को नमन- मध्यमा अँगुली का स्पर्श। सद्योजात को नमन- अनामिका का स्पर्श। वामदेव को नमन- कनिष्ठिका का स्पर्श तत्पुरुष, ईशान, अघोर, सद्योजात और वामदेव को नमन है- करतल-करपृष्ठ का स्पर्श। इसी प्रकार हृदयादि न्यास का क्रम है। ॐ (परमात्मा) भूः (भूलोक), भुवः (अन्तरिक्ष लोक) एवं स्वः (द्युलोक) में संव्याप्त है- उसे नमस्कार है- सभी दिशाओं से रक्षा का विधान ॥ २३॥

ध्यानम् -

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यादतीतं शुद्धं बुद्धं मुक्तमप्यव्ययं च ।
सत्यं ज्ञानं सच्चिदानन्दसत्यं ध्यायेदेवं तन्महो भ्राजमानम्॥ २४॥

वह ज्ञानरूप, जानने योग्य है एवं ज्ञानगम्यता से परे भी है। वह विशुद्ध रूप, बुद्धिरूप, मुक्तरूप, अविनाशी रूप है। वही सत्य, ज्ञान, सच्चिदानंदरूप ध्यान करने योग्य है। हमें उस महातेजस्वी देव का ध्यान करना चाहिए॥ २४॥

आगे 'ॐ तत्त्वमसि' महावाक्य के 'त्वम्' पद के षडङ्ग विनियोग एवं दिग्बन्ध सहित ध्यान का विवरण प्रस्तुत किया गया है-

त्वंपदमहामन्त्रस्य विष्णुर्ऋषिः। गायत्रीछन्दः। परमात्मा देवता। ऐं बीजम् । क्लीं शक्तिः। सौः कीलकम् । मम मुक्त्यर्थे जपे विनियोगः। वासुदेवाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। संकर्षणाय तर्जनीभ्यां स्वाहा। प्रद्युम्नाय मध्यमाभ्यां वषट्। अनिरुद्धाय अनामिकाभ्यां हुम्। वासुदेवाय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धेभ्यः करतलकरपृष्ठाभ्यां फट् । एवं हृदयादिन्यासः। भूर्भुवः सुवरोमिति दिग्बन्धः॥ २५॥

यहाँ महामन्त्र के त्वम् पद के ऋषि- विष्णु हैं। छन्द-गायत्री है। देवता- परमात्मा है। बीज- 'ऐं' है। शक्ति- क्लीं है। कीलक-सौः है। मेरी मुक्ति के लिए जप का विनियोग है। करन्यास- वासुदेव को नमस्कार है- अँगूठे का स्पर्श। संकर्षण को नमन- तर्जनी का स्पर्श। प्रद्युम्न को नमन- मध्यमा का स्पर्श। अनिरुद्ध को नमन- अनामिका का स्पर्श। वासुदेव को नमन- कनिष्ठिका का स्पर्श। वासुदेव, संकर्षण प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध को नमन- करतल- कर पृष्ठ का स्पर्श। इसी प्रकार हृदयादिन्यास (अंगन्यास) का क्रम है। 'भूर्भुवः स्वः ॐ' यह दिग्बन्ध है॥ २५॥

ध्यानम्-

जीवत्वं सर्वभूतानां सर्वत्राखण्डविग्रहम्।
चित्ताहंकारयन्तारं जीवाख्यं त्वं पदं भजे॥ २६॥

आप सभी प्राणियों में जीवस्वरूप हैं, सर्वत्र अखण्ड विग्रह रूप हैं तथा हमारे चित्त और अहंकार पर नियंत्रण करने वाले हैं। जीवों के रूप में त्वं (तत्त्वमसि के अन्तर्गत) पद की हम स्तुति करते हैं॥ २६॥

आगे 'ॐ' तत्त्वमसि महामन्त्र के 'असि' पद के षडंग विनियोग एवं दिग्बन्ध सहित ध्यान का विवरण प्रस्तुत किया गया है-

असिपदमहामन्त्रस्य मन ऋषिः। गायत्री छन्दः। अर्धनारीश्वरो देवता। अव्यक्तादिर्बीजम्। नृसिंहः शक्तिः। परमात्मा कीलकम्। जीवब्रह्मैक्यार्थे जपे विनियोगः। पृथ्वीद्व्यणुकाय अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। अब्द्व्यणुकाय तर्जनीभ्यां स्वाहा। तेजोद्व्यणुकाय मध्यमाभ्यां वषट्। वायुद्व्यणुकाय अनामिकाभ्यां हुम्। आकाशद्व्यणुकाय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशद्व्यणुकेभ्यः करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। एवं हृदयादि न्यासः। भूर्भुवः सुवरोमिति दिग्बन्धः॥ २७॥

महामन्त्र के 'असि' पद के ऋषि- मन हैं। छन्द-गायत्री है। देवता-अर्धनारीश्वर हैं। बीज-अव्यक्तादि है। शक्ति-नृसिंह है। कीलक- परमात्मा है। जीव-ब्रह्म के ऐक्य के लिए जप में निम्न विनियोग है। करन्यास- पृथ्वी द्वयणुक को नमन- अँगूठे का स्पर्श। अप् (जल) द्वयणुक को नमन- तर्जनी का स्पर्श। तेज (अग्नि) द्वयणुक को नमन-मध्यमा का स्पर्श। वायु द्वयणुक को नमन- अनामिका का स्पर्श। आकाश द्वयणुक को नमन- कनिष्ठिका का स्पर्श। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु तथा आकाश के द्वयणुक को नमन करतल-कर पृष्ठ का स्पर्श। इसी प्रकार हृदयादि न्यास का क्रम है। 'भूर्भुवः स्वः ॐ' यह दिग्बन्ध है॥२७॥

ध्यानम्-

जीवो ब्रह्मेति वाक्यार्थं यावदस्ति मनःस्थितिः।
ऐक्यं तत्त्वं लये कुर्वन्ध्यायेदसिपदं सदा॥ २८॥

जीव ही ब्रह्म है इस महावाक्य के अर्थ पर जो विचार करता -मन को स्थिर करता है, तथा 'असि' पद का सदैव चिन्तन-मनन करता है, वह तत्त्व को ऐक्य प्रदान करने में समर्थ होता है (पंचतत्त्व अन्त में एक- ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं।)॥ २८॥

एवं महावाक्यषडङ्गान्युक्तानि॥ २९॥

इस प्रकार महावाक्यों के षडङ्गों का विवेचन किया गया॥ २९॥

अथ रहस्योपनिषद्विभागशो वाक्यार्थश्लोकाः प्रोच्यन्ते॥ ३०॥

अब रहस्योपनिषद् के वाक्यों के अर्थ वाचक श्लोकों का उपदेश किया जाता है॥ ३०॥

येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च। स्वाद्वस्वादु विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम्॥

प्राणी जिसके द्वारा देखता, सुनता, सूँघता, बोलता और स्वाद-अस्वाद का अनुभव करता है, वह प्रज्ञान कहा जाता है॥ ३१॥

चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु। चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्म मय्यपि॥ ३२॥

चतुर्मुख ब्रह्मा, इन्द्रदेव, सम्पूर्ण देवता, मनुष्य, अश्व, गौ आदि पशु और अन्य सभी प्राणियों में एक ही चैतन्य सत्ता- 'ब्रह्म' अवस्थित है, वही प्रज्ञान ब्रह्म मुझमें भी समाया हुआ है॥ ३२॥

परिपूर्णः परात्मास्मिन्देहे विद्याधिकारिणि।
बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्यते॥ ३३॥

यह हमारा शरीर ही परिपूर्ण ब्रह्मविद्या प्राप्ति का अधिकारी है। इसमें साक्षिरूप में अवस्थित परमात्म-बुद्धि के स्फुरित होने पर उसे 'अहं' कहा जाता है॥ ३३॥

स्वतः पूर्णः परात्मात्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः।
अस्मीत्यैक्यपरामर्शस्तेन ब्रह्म भवाम्यहम्॥ ३४॥

स्वतः स्थापित परिपूर्ण परमात्मा को यहाँ 'ब्रह्म' शब्द से वर्णित किया गया है। 'अस्मि' शब्द से ब्रह्म और जीव की एकता का बोध होता है। इस प्रकार 'मैं ही ब्रह्म हूँ' (यह अर्थ निकलता है।)॥ ३४॥

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम्। सृष्टेः पुराधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते॥

सृष्टि के पूर्व द्वैत के अस्तित्व से रहित, नाम एवं रूप से रहित, एकमात्र, सत्यस्वरूप, अद्वितीय 'ब्रह्म' था तथा वह ब्रह्म अब भी विद्यमान है। वही ब्रह्म 'तत्' पद (तत्त्वमसि) में वर्णित है॥ ३५॥

श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वंपदेरितम्। एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम्॥

उपदेशों का श्रवण करने वाले शिष्य के आत्मतत्त्व को, जो शरीर-इन्द्रियों से परे है, 'त्वम्' पद से वर्णित किया गया है। 'असि' पद के द्वारा 'तत्' और 'त्वम्' पदों के वाच्यार्थ ब्रह्म और आत्म तत्त्व के ऐक्य को अनुभव करना चाहिए॥ ३६॥

स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम्। अहंकारादिदेहान्तं प्रत्यगात्मेति गीयत॥

उस ('अयमात्मा ब्रह्म' के अन्तर्गत) स्वप्रकाशित परोक्ष (प्रत्यक्ष शरीर से परे) तत्त्व को 'अयं' पद के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। अहंकार से लेकर शरीर तक को प्रत्यक् आत्मा कहा गया है॥ ३७॥

दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते। ब्रह्मशब्देन तद्ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम्॥

इस सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् में जो तत्त्व संव्याप्त है, वह ब्रह्म शब्द से वर्णित किया जाता है। वही ब्रह्म स्वयं प्रकाशित आत्मतत्त्व के रूप में (प्राणियों में) संव्याप्त है॥ ३८॥

अनात्मदृष्टेरविवेकनिद्रामहं मम स्वप्नगतिं गतोऽहम्।
स्वरूपसूर्येऽभ्युदिते स्फुटोक्तेर्गुरोर्महावाक्यपदैः प्रबुद्धः॥ ३९॥

मैं अनात्म पदार्थों में आत्म तुष्टि के कारण अविवेक की निद्रा में, 'मैं,' 'मेरे' की सम्मोहित स्थिति

में स्वप्न सदृश विचरण कर रहा था। गुरु द्वारा प्रदत्त महावाक्य पदों के उपदेश से, आत्मस्वरूप सूर्य के अभ्युदय से मैं प्रबुद्ध हुआ हूँ। (ऐसा मुनि शुकदेव अनुभव करते हैं।) ॥ ३९ ॥

वाच्यं लक्ष्यमिति द्विधार्थसरणीवाच्यस्य हि त्वंपदे वाच्यं भौतिकमिन्द्रियादिरपि यल्लक्ष्यं त्वमर्थश्च सः। वाच्यं तत्पदमीशताकृतमतिर्लक्ष्यं तु सच्चित्सुखानन्दब्रह्म तदर्थ एष च तयोरैक्यं त्वसीदं पदम्॥ ४०॥

महावाक्यों के अर्थों के निमित्त वाच्य और लक्ष्य दोनों अर्थों का अनुसरण करना चाहिए। वाच्यानुसार भौतिक इन्द्रियादि भी 'त्वम्' पद के वाच्य होते हैं, परन्तु इन्द्रियों से परे चैतन्य परमात्मा ही लक्ष्यार्थ है। इसी प्रकार 'तत्' पद का वाच्य प्रभुता सम्पन्न सर्वकर्त्ता परमात्मा और लक्ष्यार्थ सच्चिदानंद स्वरूप ब्रह्म है। यहाँ 'असि' पद से उक्त दोनों पदों के लक्ष्यार्थ द्वारा जीवात्मा और ब्रह्म के एकत्व का प्रतिपादन हुआ है॥

[वाच्य और लक्ष्य को समझना हर मंत्र एवं महावाक्य के उपयोग के क्रम में आवश्यक है।]

त्वमिति तदिति कार्ये कारणे सत्युपाधौ द्वितयमितरथैकं सच्चिदानन्दरूपम्। उभयवचनहेतू देशकालौ च हित्वा जगति भवति सोऽयं देवदत्तो यथैकः ॥ ४१॥

कार्य और कारण रूप दो उपाधियों के द्वारा 'त्वं' और 'तत्' पदों में भेद प्रतिपादित है। उपाधिरहित होने पर दोनों ही एक सच्चिदानंद रूप हैं। जगत् में भी दोनों वचन (यह और वह) प्रत्येक देश और काल में कहा गया है। इनमें यह और वह निकाल देने पर एक ही ब्रह्म शेष रहता है, जैसे - वह देवदत्त है और यह देवदत्त है- इन दोनों वाक्यों में 'देवदत्त' एक ही है।॥ ४१ ॥

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः ।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते॥ ४२॥

यह जीव कार्यरूप उपाधि वाला और ईश्वर कारण रूप उपाधि वाला है। इन कार्य और कारण रूप उपाधियों को छोड़ देने पर विशुद्ध ज्ञान रूप ब्रह्म ही शेष रहता है॥ ४२॥

श्रवणं तु गुरोः पूर्वं मननं तदनन्तरम्। निदिध्यासनमित्येतत् पूर्णबोधस्य कारणम्॥

शिष्य (साधक) को पूर्ण बोध तभी हो सकता है, जब वह प्रथम गुरु के द्वारा उपदेश सुने, फिर मनन करे, तदनन्तर निदिध्यासन (अनुभूति की साधना) करे॥ ४३॥

अन्यविद्यापरिज्ञानमवश्यं नश्वरं भवेत्। ब्रह्मविद्यापरिज्ञानं ब्रह्मप्राप्तिकरं स्थितम्॥

अन्य विद्याओं का भली-भाँति प्राप्त हुआ ज्ञान अवश्य ही नश्वर है, परन्तु ब्रह्म विद्या का भली प्रकार प्राप्त हुआ ज्ञान ब्रह्म प्राप्ति में समर्थ है॥ ४४॥

महावाक्यान्युपदिशेत्सषडङ्गानि देशिकः।
केवलं नहि वाक्यानि ब्रह्मणो वचनं यथा॥ ४५॥

देव ब्रह्मा जी का वचन है कि गुरु अपने शिष्य को षडंगों से युक्त महावाक्यों का उपदेश करे, महावाक्य मात्र का उपदेश ही न करे॥ ४५॥

ईश्वर उवाच-

एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठ रहस्योपनिषच्छुक। मया पित्रानुनीतेन व्यासेन ब्रह्मवादिना॥

भगवान् शिव ने मुनि शुकदेव से कहा- हे शुकदेव! तुम्हारे पिता वेदव्यास जी ब्रह्मज्ञानी हैं, उन पर प्रसन्न होकर ही मैंने तुम्हारे प्रति इस रहस्योपनिषद् को कहा है ॥ ४६॥

ततो ब्रह्मोपदिष्टं वै सच्चिदानन्दलक्षणम्।
जीवन्मुक्तः सदा ध्यायन्नित्यस्त्वं विहरिष्यसि॥ ४७॥

इसमें सच्चिदानंद स्वरूप ब्रह्म का उपदेश है, जो तप से प्राप्त किया जाता है। तुम उस ब्रह्म का चिन्तन करते हुए जीवन मुक्त (जन्म मरण के बन्धन चक्र से मुक्त) हो जाओगे ॥४७॥

यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः।
तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः॥ ४८॥

जो वेद के आरम्भ में स्वररूप ॐकार उच्चरित होता है तथा जो वेदान्त में प्रतिष्ठित है, जो प्रकृति में समग्र रूप से लीन होकर भी उससे परे है, वही महेश्वर है ॥ ४८॥

उपदिष्टः शिवेनेति जगत्तन्मयतां गतः। उत्थाय प्रणिपत्येशं त्यक्ताशेषपरिग्रहः॥

भगवान् शिव के इस प्रकार के उपदेश को सुनकर मुनि शुकदेव सम्पूर्ण जगद्रूप परमेश्वर में तन्मय हो गये। तदनन्तर उठकर भगवान् को हाथ जोड़कर प्रणाम कर सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके (तपोवन) चल दिये ॥ ४९॥

परब्रह्मपयोराशौ प्लवन्निव ययौ तदा। प्रव्रजन्तं तमालोक्य कृष्णद्वैपायनो मुनिः॥

उन्हें प्रव्रज्या में जाते देखकर श्री वेदव्यास जी (कृष्ण द्वैपायन मुनि) को वियोग दुःख हुआ, परन्तु मुनि शुकदेव परब्रह्म रूप सागर में निर्द्वन्द्व तैरने के समान आनन्दमग्न थे ॥ ५०॥

अनुव्रजन्नाजुहाव पुत्रविश्लेषकातरः। प्रतिनेदुस्तदा सर्वे जगत्स्थावरजङ्गमाः॥५१॥

पुत्र के वियोग में कातर हुए श्री वेदव्यास जी उनके पीछे चलते हुए उन्हें पुकारने लगे। उस समय उनकी पुकार का प्रत्युत्तर सम्पूर्ण जगत् के जड़-चेतन पदार्थों ने दिया ॥ ५१॥

तच्छ्रुत्वा सकलाकारं व्यासः सत्यवतीसुतः।
पुत्रेण सहितः प्रीत्या परानन्दमुपेयिवान्।। ५२॥

उस उत्तर को सुनकर अपने पुत्र को सम्पूर्ण जगत् में संव्याप्त जानकर सत्यवती पुत्र मुनि वेदव्यास जी ने पुत्र के सहित व्यापक अनन्तरूप परब्रह्म की प्राप्ति की ॥ ५२॥

यो रहस्योपनिषदमधीते गुर्वनुग्रहात्।
सर्वपापविनिर्मुक्तः साक्षात्कैवल्यमश्नुते साक्षात्कैवल्यमश्नुत इत्युपनिषत्॥ ५३॥

जो साधक गुरु के अनुग्रह से इस रहस्योपनिषद् के तत्त्व दर्शन को जान लेता है, वह समस्त पापों से मुक्त होकर साक्षात् कैवल्य पद को प्राप्त होता है, यही उपनिषद् (रहस्यात्मक ज्ञान) है॥ ५३॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐसहनाववतु.....इति। शान्तिः॥

॥ इति शुकरहस्योपनिषत्समाप्ता ॥

॥ अथ श्वेताश्वतरोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा के अन्तर्गत है। इसमें कुल छः अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में जगत् का मूल कारण जानने की जिज्ञासा की गई है। चर्चा से निर्णय न हो पाने पर ध्यान द्वारा अनुभूति के आधार पर सृष्टि की क्रमशः एक चक्र, विशिष्ट प्रवाह के रूप में वर्णित किया गया है। मूल तत्त्व, परमात्मतत्त्व की जानने की आवश्यकता तथा उसका फल समझाते हुए जीव, प्रकृति एवं ईश तथा परमात्मा, भोक्ता, भोग्य आदि प्रभागों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। अंत में ॐ कार साधना द्वारा तिल में तैल की तरह हृदय प्रदेश में स्थित परमात्म तत्त्व के साक्षात्कार का निर्देश है। दूसरा अध्याय ध्यान योग साधना परक है। ध्यान का महत्त्व समझाते हुए उसके विधि-विधान, प्राणायाम, स्थान आदि की मर्यादाएँ समझाते हुए उन्नति के लक्षण भी दर्शाए गये हैं। योग साधना से पंचभूत सिद्धि एवं आत्म तत्त्व से ब्रह्म तत्त्व के साक्षात्कार की फलश्रुतियाँ बतलाते हुए परमतत्त्व की नमस्कार किया गया है।

तीसरे और चौथे अध्याय में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति संचालन और विलय में समर्थ परमात्म सत्ता की सर्वव्यापकता तथा उसे जानने की महत्ता का वर्णन है। उसे नौ द्वार वाली पुरी में, इन्द्रियरहित-सर्वसमर्थ लघु से लघु और महान् से महान् कहा गया है। जीवात्मा एवं परमात्मा की स्थिति की एक ही डाल पर बैठे दो पक्षियों की उपमा से समझाया गया है। उस मायापति एवं उसकी माया की जानने की प्रेरणा के साथ उसे जानने के महान् फल का वर्णन तथा मुक्ति के लिए प्रार्थना है।

अध्याय पाँच और छः में विद्या-अविद्या तथा उनके शासक परमात्मा की विलक्षणता बतलाकर परमात्मा की ही उपास्य मानने वाले औपनिषदीय ज्ञान का अनुगमन करने की बात कही गई है। जीव के कर्मानुसार उसकी विभिन्न गतियों, नाना योनियों तथा उनसे मुक्ति के उपाय कहे गये हैं। पुनः जगत् का कारण जड़ प्रकृति के स्थान पर परमात्म तत्त्व की निरूपित किया गया है। उसके लिए ध्यान, उपासना एवं ज्ञानयोग का आश्रय लेने की बात कहकर परमात्मा की सर्वव्यापकता तथा सर्वसमर्थता सिद्ध की गई है। अन्त में यह विद्या सुपात्र की ही दी जाय, यह निर्देश दिया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु.....इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- अमृतनादोपनिषद्)

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति ।

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥ १ ॥

ब्रह्मवेत्ता ऋषि कहते हैं- इस जगत् का मूल कारण ब्रह्म किस रूप में है ? हम किससे उत्पन्न हुए हैं ? हम किससे जीवित रहते हैं ? हम कहाँ प्रतिष्ठित हैं ? हे ब्रह्मज्ञ महर्षियो ! हम किसकी प्रेरणा से सुख-दुःख का अनुभव करते हुए संसार-चक्र व्यवस्था में भ्रमण करते हैं ? ॥ १ ॥

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥ २ ॥

काल, स्वभाव, सुनिश्चित कर्मफल व्यवस्था, आकस्मिक घटना, पंचमहाभूत और जीवात्मा-ये इस जगत् के कारणभूत तत्त्व हैं या नहीं, इन पर सदैव विचार करना चाहिए। इन सब का समुदाय भी इस जगत् का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि ये आत्मा के अधीन हैं। आत्मा भी कारण नहीं; क्योंकि यह सुख-दुःख के कारणभूत कर्मफल व्यवस्था के अधीन है ॥ २ ॥

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥३॥

तब उन्होंने ध्यान योग का अवलम्बन लिया, जिससे उन्हें अपने गुणों से आच्छादित ब्रह्मस्वरूप आत्मशक्ति का साक्षात्कार हुआ, जो काल, स्वभाव आदि से लेकर आत्मा तक सभी कारणों का एकमात्र अधिष्ठाता है ॥३॥

[केवल बौद्धिक विवेचन द्वारा ब्रह्म का बोध सम्भव नहीं है, ध्यान के अन्तर्गत आत्म चेतना द्वारा ही गुणों के आवरण को भेदकर उस परम तत्त्व का अनुभव किया जा सकता है।]

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम्॥ ४॥

उन्होंने एक ऐसे चक्र को देखा, जो एक नेमि, तीन वृतों, सोलह अन्त (सिरों), पचास अरों, बीस प्रत्यरों (सहायक अरों), छः अष्टकों, एक ही पाश से युक्त, एक मार्ग के तीन विभेदों, दो निमित्त तथा मोह रूपी एक नाभि वाला था॥ ४॥

[यहाँ विश्व व्यवस्था को एक चक्र (पहिए) के रूप में वर्णित किया गया है। नेमि चक्र को बाँधे रखने वाली एक परिधि (प्रकृति) तथा तीन वृत-तीन (सत्त्व, रज, तम) गुण हैं। परिधि के अन्त- सिरे का जोड़ सोलह कलायें हैं। प्रश्नोपनिषद् के छठे प्रश्न के अन्तर्गत चौथे एवं पाँचवे मन्त्र में इनका वर्णन है। ५० अरे (विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि आदि पचास प्रत्यय) अन्तःकरण की वृत्तियों के ५० भेद तथा बीस सहायक अरे (दस इन्द्रियाँ, ५ विषय एवं ५ प्राण) कहे गये हैं। चक्र में अष्टक किसे कहा गया है, यह स्पष्ट नहीं है। इन छः के आठ-आठ भेद कहे गये हैं- प्रकृति, शरीरगत धातु, सिद्धियाँ, भाव, देवयोनियाँ तथा विशिष्टगुण। तीन मार्ग धर्म, अधर्म एवं ज्ञानमार्ग तथा दो निमित्त- पाप और पुण्य कर्म हैं। यह सब मोहरूपी नाभिक को केन्द्र मानकर घूम रहे हैं।]

पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्त्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः॥ ५॥

हम एक ऐसी नदी को जानते हैं, जो पाँच स्रोतों वाली जल-धाराओं से युक्त है, जिसके पाँच उद्गम होने के कारण बड़ी उग्र और टेढ़ी-मेढ़ी होकर बहती है, जिसमें पाँच प्राणरूप तरंगें हैं, पाँच प्रकार के मानसिक स्तर जिनके आदि मूल (कारण) हैं। जो पाँच भँवरों वाली, पाँच दुःखरूप प्रवाहों के वेग वाली, पाँच पर्वों वाली और पचास भेदों वाली है॥ ५॥

[ऋषि ने यहाँ विश्व प्रवाह को नदी के रूप में वर्णित किया है। पाँच धाराएँ-पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च उद्गम-पञ्च तत्त्व, पाँच प्राण की तरंगें, पाँच भँवरें-पाँच तन्मात्राएँ, पाँच दुःख-गर्भ, जन्म, रोग, जरा और मृत्यु हैं। पाँच विभाग-अज्ञान, अहंकार, राग, द्वेष और भय हैं। अन्तःकरण की ५० वृत्तियाँ उसके भेद हैं। उक्त दोनों उपमाओं की विस्तृत व्याख्या आचार्य शंकर के भाष्य में देखी जा सकती है।]

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति॥ ६॥

सबके पोषण के आधार रूप, सबके आश्रयरूप इस विस्तृत ब्रह्मचक्र (व्यवस्था) में जीव भ्रमण करता रहता है। इस चक्र से पृथक् होकर जब वह आत्मा को और प्रेरक परमात्मा को सेवा द्वारा संतुष्ट करता है, तो वह अमृतत्व को प्राप्त होता है॥ ६॥

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च ।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥ ७ ॥

वेदों में वर्णित यह परब्रह्म ही पावन प्रतिष्ठा से युक्त और अविनाशी है। इसमें ही तीनों लोक स्थित हैं। ब्रह्मवेत्ता महापुरुष अपने ही अन्तस् में अधिष्ठित उस ब्रह्म को जानकर उसी में निष्ठापूर्वक लीन होकर विभिन्न योनियों के जन्म-बंधन से मुक्त हो जाते हैं॥ ७॥

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।
अनीशश्चात्मा बुध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ८ ॥

नश्वर जगत् और अनश्वर चेतना के संयोग से निर्मित यह सम्पूर्ण व्यक्त और अव्यक्त विश्व का पोषण वह परमात्मा करता है। जीवात्मा संसार के विषयों का भोक्ता होने के कारण उसमें फँसता है, परन्तु परब्रह्म का ज्ञान होने पर सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है॥ ८॥

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥ ९ ॥

ज्ञानी- अज्ञानी, सर्वसमर्थ- असमर्थ यह दोनों (ईश और जीव) अजन्मा ही हैं। भोक्ता (जीव) के लिए एक भोग्या (प्रकृति) भी अजन्मा है। विश्वरूपों में संव्याप्त अनन्त आत्मा-अकर्त्ता (कर्त्तापन के भाव से मुक्त) है। इन तीनों (ईश्वर, जीव और प्रकृति) को जब ब्रह्मयुक्त अनुभव करे, वही यथार्थ ज्ञान है॥ ९॥

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः॥ १० ॥

प्रकृति नाशवान् है, इसका भोक्ता जीवात्मा अविनाशी है, एक ही परमात्मा इसे अपने नियन्त्रण में रखता है। उस एक परमात्मा का ध्यान करने से - चिन्तन करने से, उसके तत्त्व की भावना करने से अन्त में विश्वरूप माया से निवृत्ति होती है और आगे उसी परमात्म-तत्त्व की प्राप्ति होती है॥ १०॥

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैःक्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥ ११ ।।

उस परमात्मा को जान लेने पर सम्पूर्ण बन्धनों (विकारों) से मुक्ति मिलती है तथा सम्पूर्ण क्लेश क्षीण होकर जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति मिल जाती है। उस परमात्म-तत्त्व का निरन्तर ध्यान करने से शरीर त्यागने के बाद तृतीय लोक के सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के भोग से पूर्ण कामना की प्राप्ति हो जाती है और फिर अन्त में कैवल्य पद की प्राप्ति हो जाती है॥ ११॥

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किंचित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्॥१२॥

अपने भीतर अधिष्ठित इस परमात्म तत्त्व को जानना ही चाहिए, क्योंकि इससे श्रेष्ठ जानने योग्य तत्त्व दूसरा कुछ भी नहीं है। भोक्ता (जीवात्मा), भोग्य (जड़ प्रकृति) और परमात्मा, इन तीनों को जो मनुष्य जान लेता है, वह सब कुछ जान लेता है। इन तीनों भेदों में वर्णित ये तत्त्व वस्तुतः एक ही ब्रह्म के रूप हैं॥

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे॥१३॥

जिस प्रकार अग्नि का उसके आश्रय स्थान काष्ठ में कोई रूप नहीं दिखता और उसके मूल तत्त्व का भी नाश नहीं होता, क्योंकि आगे प्रयत्न करने पर ईंधन रूप अपने आश्रय में उसे (अग्नि को) ग्रहण किया जा सकता है। उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा दोनों ॐकार साधना के द्वारा ग्रहण किये जा सकते हैं॥

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥

साधक को अपनी देह को नीचे की अरणि और ॐकार को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यान के द्वारा निरन्तर मन्थन के अभ्यास से (काष्ठ में) गुह्य अग्नि की भाँति परमात्म तत्त्व को देखना चाहिए॥ १४॥

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्त्रोतस्स्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥ १५॥

जिस प्रकार तिलों में तैल, दही में घी, स्त्रोतों में जल और काष्ठों में अग्नि आदि तत्त्व छिपे रहते हैं, उसी प्रकार परमात्मा अपने अन्तःकरण में ही छिपा हुआ है। जो साधक परमात्मा को सत्य तथा तप के द्वारा मनन पूर्वक देखता है, परमात्मा उसी साधक के द्वारा ग्रहण किया जाता है॥ १५॥

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परं तद्ब्रह्मोपनिषत्परमिति॥ १६॥

साधक दूध में निहित घृत की भाँति आत्मा में स्थित जिस परमात्म तत्त्व को आत्म विद्या और तप के आधार से प्राप्त करता है, वह उपनिषदों में वर्णित परम तत्त्व ब्रह्म ही है॥ १६॥

॥ अथ द्वितीयोऽध्यायः॥

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत्॥ १॥

वह सविता (सबका उत्पादक) देवता हमारे मन तथा बुद्धि को परमात्मा में लगाते हुए हमारी इन्द्रियों को पार्थिव पदार्थों से ऊपर उठा कर उसमें दिव्य अग्नि का प्रकाश स्थापित करे, ताकि हम जगत् के सार तत्त्व का ही अवलोकन करें॥ १॥

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। सुवर्गेयाय शक्त्या॥ २॥

हम सविता देवता की उपासना के निमित्त यज्ञादि कर्म मनोयोग पूर्वक सम्पन्न करें। इस प्रकार स्वर्गीय आनन्द की प्राप्ति के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करें॥ २॥

युक्त्वाय मनसा देवान्सुवर्यतो धिया दिवम्।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान्॥ ३॥

स्वर्ग तथा आकाश में गमन करने वाले, बृहद् प्रकाश संचरित करने वाले वे सविता देव हमारे मन तथा बुद्धि से (मन तथा इन्द्रियों के अधिष्ठाता) देवों को संयुक्त करके उन्हें प्रकाश की ओर प्रेरित करें॥३॥

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
विहोत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुःपरिष्टुतिः॥ ४॥

जिसमें सभी ब्राह्मण आदि अपने मन तथा चित्त को लगाते हैं, जिनके निमित्त अग्निहोत्र आदि का विधान किया गया है, जो सभी प्राणियों के विचारों को जानते हैं, उन सवितादेव की हम महती स्तुति करें॥

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूराः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५॥

हे मन और बुद्धि! तुम्हारे स्वामी और सबके आदिकारण परब्रह्म परमात्मा से मैं नमस्कार के द्वारा संयुक्त होता हूँ। मेरा श्लोक (स्तुतिकर्म) विद्वान् के यश के समान सर्वत्र फैल जाये। दिव्य लोकों में वास करने वाले सभी अमृतरूप परमात्मा के अंशधर पुत्रगण मेरी बात सुनें॥ ५॥

[मन-बुद्धि विकारों के वशीभूत होकर अकड़े रहते हैं, नमन की प्रक्रिया इष्ट के प्रति समर्थन का अभ्यास है। शुद्ध होकर साधक के मन -बुद्धि जब इष्ट से संयुक्त होते हैं, तो उनकी गति और सामर्थ्य व्यापक हो जाती है। मनः शुद्धि की प्रक्रिया आगे स्पष्ट की गई है।]

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राभियुज्यते। सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः ॥६॥

जहाँ अग्नि का मंथन किया जाता है, जहाँ प्राण वायु का विधिवत् निरोध किया जाता है एवं जहाँ सोमरस का प्रखर आनंद प्रकट होता है, वहाँ मन सर्वथा शुद्ध हो जाता है॥ ६॥

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम्। तत्र योनिं कृणवसे नहि ते पूर्वमक्षिपत्॥ ७॥

सविता देवता के द्वारा प्रेरित होकर हमें सबके आदि कारण परमात्मा की आराधना करनी चाहिए, (हे साधक!) तुम उसी परमात्मा का आश्रय ग्रहण करो। इससे तुम्हारे पूर्त कर्म (पुण्य कार्य-स्मार्त कर्म) भी बन्धन प्रदायक नहीं होंगे॥ ७॥

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिरुध्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥ ८॥

विद्वान् पुरुष को चाहिए कि वह सिर, ग्रीवा और वक्षःस्थल इन तीनों को सीधा और स्थिर रखे। वह उसी दृढ़ता के साथ सम्पूर्ण इन्द्रियों को मानसिक पुरुषार्थ कर अन्तःकरण में सन्निविष्ट करे और ॐकार रूप नौका द्वारा सम्पूर्ण भयावह प्रवाहों से पार हो जाए॥ ८॥

[इन्द्रियों की सारी सुखाकांक्षाएँ अन्तःकरण से ही उपजती हैं। अन्तःकरण में वे समाविष्ट हो जायें, तो सारे इन्द्रिय-सुखों का अनुभव अन्दर ही किया जा सकता है।]

प्राणान्प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः॥ ९॥

विद्वान् पुरुष को चाहिए कि आहार-विहार की सभी क्रियाओं को विधिवत् सम्पन्न करते हुए प्राणायाम की क्रिया करके जब प्राण क्षीण हो, तो उसे नासिका से बाहर निकाल दे। जिस प्रकार सारथि दुष्ट अश्वों से युक्त रथ को अत्यन्त सावधानी से लक्ष्य की ओर ले जाता है, उसी प्रकार विद्वान् पुरुष इस मन को अत्यन्त जागरूक होकर वश में किये रहे॥ ९॥

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥ १०॥

साधक को चाहिए कि वह समतल और पवित्र भूमि, कंकड़, अग्नि तथा बालू से रहित, जल के आश्रय और शब्द आदि की दृष्टि से मन के अनुकूल, नेत्रों को पीड़ा न देने वाले (तीक्ष्ण आतप से रहित), गुहा आदि आश्रय स्थल में मन को ध्यान के निमित्त अभ्यास में लगाए॥ १०॥

नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥ ११॥

योग साधना प्रारम्भ करने पर ब्रह्म की अभिव्यक्ति स्वरूप सर्वप्रथम कुहरा, धुआँ, सूर्य, वायु, जुगनू, विद्युत्, स्फटिकमणि, चन्द्रमा आदि बहुत से रूप साधक के समक्ष प्रकट होते हैं॥ ११॥

पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्॥ १२॥

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश- इन पाँचों महाभूतों का सम्यक् उत्थान होने पर इनसे सम्बंधित पाँच योग विषयक गुणों की सिद्धि होने पर जिस साधक को योगाग्निमय शरीर प्राप्त हो जाता है, उसे न तो रोग होता है, न वृद्धावस्था प्राप्त होती है और न ही असामयिक मृत्यु प्राप्त होती है॥ १२॥

[इस मन्त्र में प्रयुक्त 'पृथ्व्याप्यतेजो' शब्द आर्षप्रयोग प्रतीत होता है, अन्यथा इसके स्थान पर 'पृथ्व्यप्तेजो' अधिक उपयुक्त रहता।]

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च ।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥ १३॥

शरीर की स्थूलता कम होना, नीरोग होना, विषयों में आसक्ति न होना, शरीर में कान्ति-तेजस्विता होना, स्वर की मधुरता, शुभ गन्ध का होना, मल-मूत्र अल्प होना, ये सब योग की पहली सिद्धि है॥१३॥

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः॥ १४॥

जिस प्रकार मिट्टी से मलिन हुआ रत्न या आभूषण शोधित होकर प्रकाशमय होकर चमकने लगता है, उसी प्रकार देहधारी जीव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करके शोकादि से मुक्त होता और अद्वितीय तथा कृतकृत्य हो जाता है॥ १४॥

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत्।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १५॥

जब योग साधना से युक्त साधक दीपक के सदृश आत्मतत्त्व के द्वारा ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है, तब वह अजन्मा, निश्चल, सम्पूर्ण तत्त्वों से पवित्र उस परमात्मा को जानकर सम्पूर्ण विकार रूप बन्धनों से मुक्ति पा लेता है॥ १५॥

एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥ १६॥

वही एक परमात्मा सम्पूर्ण दिशाओं-अवान्तर दिशाओं में संव्याप्त है, वही सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ रूप में प्रकट हुआ था, वही सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड में अन्तःस्थित है, वही इस जगत् रूप में उत्पन्न हुआ है और भविष्य में भी उत्पन्न होने वाला है, वही सम्पूर्ण जीवों में स्थित है और सम्पूर्ण पक्षों वाला है॥ १६॥

यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः॥ १७॥

जो परमात्मा अग्नि में है, जो जल में है, जो समस्त लोकों में संव्याप्त है, जो ओषधियों तथा वनस्पतियों में है, उस परमात्मा के लिए नमस्कार है॥ १७॥

॥ अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
य एवैक उद्भवे संभवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ १॥

जो एक मायापति अपनी प्रभुतासम्पन्न शक्तियों द्वारा सम्पूर्ण लोकों पर शासन करता है,जो अकेला ही सृष्टि की उत्पत्ति-विकास में समर्थ है, उस परम पुरुष को जो विद्वान् जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं॥

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति संचुकोपान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः॥ २॥

वह एक परमात्मा ही रुद्र है। वही अपनी प्रभुता-सम्पन्न शक्तियों द्वारा सम्पूर्ण लोकों पर शासन करता है, सभी प्राणी एक उन्हीं का आश्रय लेते हैं, अन्य किसी का नहीं। वही समस्त प्राणियों के अन्दर स्थित है, वह सम्पूर्ण लोकों की रचना करके उनका रक्षक होकर प्रलयकाल में उन्हें समेट लेता है॥ २॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
संबाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः॥ ३॥

वह एक परमात्मा सब ओर नेत्रों वाला, बाहुओं और पैरों वाला है। वही एक मनुष्य आदि जीवों को बाहुओं से तथा पक्षी-कीट आदि को पंखों से संयुक्त करता है,वही इस द्यावा-पृथिवी का रचयिता है॥ ३॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥ ४॥

जो रुद्ररूप परमात्मा सम्पूर्ण देवों की भी उत्पत्ति और उनके विकास का कारण है, जो सबका अधिपति और सर्वज्ञाता है, जिसने सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया, वह परमात्मा हम सबको कल्याणकारी बुद्धि से संयुक्त करे॥ ४॥

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।
तया नस्तनुवा शंतमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि॥ ५॥

पर्वत पर वास करने वाले सुखप्रदाता हे रुद्रदेव! आपका कल्याणकारी, सौम्य, पुण्य से कान्तिमान् जो रूप है, आप हमें अपने उसी सुखदायी स्वरूप से देखें॥ ५॥

यामिषुं गिरिशंत हस्ते बिभर्ष्यस्तवे। शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिꣳसीः पुरुषं जगत्॥

हे हिमालय वासी सुखदाता! जिस बाण को आप प्राणियों की ओर फेंकने के लिए हाथ में धारण किये रहते हैं, हे हिमालय रक्षक देव! आप उसे कल्याणकारी बनाएँ, इस जगत् को, जीव समूह को हिंसित न करें॥ ६॥

ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथा निकायं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति॥ ७॥

जो उस जीव-जगत् से परे हिरण्यगर्भ रूप ब्रह्मा से भी अत्यन्त श्रेष्ठ है, जो अत्यन्त व्यापक है, किन्तु प्राणियों के शरीरों के अनुरूप उन सब प्राणियों में समाया हुआ है, सम्पूर्ण जगत् को अपनी सत्ता से घेरे हुए उस महान् परमात्मा को जानकर विद्वान् पुरुष अमर हो जाते हैं॥ ७॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ ८॥

मैं इस अविद्यारूप तमस् से दूर उस प्रकाशमय आदित्य स्वरूप परमात्मा को जानता हूँ, उसे जानकर ही विद्वान् मृत्यु के चक्र को पार कर सकता है,अमरत्व प्राप्ति के लिए इसके अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नहीं॥ ८॥

यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥ ९॥

जिससे श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं, जिससे कोई भी न तो सूक्ष्म है और न ही बड़ा। जो अकेला ही वृक्ष की भाँति निश्चल आकाश में स्थित है, उस परम पुरुष से ही यह सम्पूर्ण विश्व संव्याप्त है॥ ९॥

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥ १०॥

जो उस (हिरण्यगर्भ रूप ब्रह्म) से श्रेष्ठ है, वह परब्रह्म परमात्मा रूप है और दुःखों से परे है, जो विद्वान् उसे जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं, इस ज्ञान से रहित अन्यान्य लोग दुःख को प्राप्त होते हैं॥ १०॥

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः। सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात्सर्वगतः शिवः॥

वह कल्याणकारी भगवान् सब ओर मुख, सिर और ग्रीवा वाला है, वह सम्पूर्ण प्राणियों की हृदय गुहा में निवास करता है। वह सर्वव्यापी और सब जगह पहुँचा हुआ है॥ ११॥

महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः। सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः॥

यह परम पुरुष परमात्मा महान्, सर्व समर्थ, सबका नियन्ता, प्रकाश स्वरूप और अविनाशी है, अपनी अत्यन्त निर्मल कांति की प्राप्ति के निमित्त अन्तःकरण को प्रेरित करने वाला है॥ १२॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मनीषी मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ १३॥

अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला अन्तरात्मा सर्वदा मनुष्यों के हृदय में सन्निविष्ट रहता है। जो विद्वान् इस हृदयगुहा में स्थित मन के स्वामी को विशुद्ध मन से साक्षात्कार करके जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं॥

[गीता ने भी हृदय में स्थित अंगुष्ठ मात्र जीवात्मा का उल्लेख किया है। शरीर विज्ञान के अनुसार हृदय में पेसमेकर से उसकी संगति बैठती है। हृदय की धड़कन के मूल स्पंदन वहीं से उपजते हैं।]

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥

वह परमात्मा सहस्र सिर वाला, सहस्र नेत्रों वाला और सहस्र पैरों वाला है। वह सम्पूर्ण जगत् को सब ओर से घेर कर भी दस अंगुल बाहर(सम्पूर्ण रूप से) स्थित है अथवा नाभि से दस अंगुल ऊपर हृदयाकाश में स्थित है॥ १४॥

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥ १५॥

जो भूतकाल में हो चुका है, जो भविष्यत्काल में होने वाला है और जो अन्नादि पदार्थों से पोषित हो रहा है, यह सम्पूर्ण परम पुरुष ही है और वही अमृतत्व का स्वामी है॥ १५॥

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

वह परम पुरुष सब जगह हाथ-पैर वाला, सब जगह आँख, सिर और मुख वाला और सब जगह कानों वाला है, वही लोक में सबको व्याप्त करके स्थित है॥ १६॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्॥

वह परम पुरुष समस्त इन्द्रियों से रहित होने पर भी उनके (इन्द्रियों के) विषयों-गुणों को जानने वाला है। सबका स्वामी-नियन्ता और सबका बृहद् आश्रय है॥ १७॥

नवद्वारे पुरे देही ह॑सो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च॥ १८॥

वह परम पुरुष प्रकाश के रूप में नवद्वार वाले देहरूपी नगर में अन्तर्यामी होकर स्थित है। वही इस बाह्य-स्थूल जगत् में लीला कर रहा है॥ १८॥

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥ १९॥

वह परम पुरुष हाथ-पैरों से रहित होकर भी वेगपूर्वक गमन करने वाला है। आँखों से रहित होकर भी देखता और कानों से रहित होकर भी सब सुनता है। वह जानने वाली चीजों को जानता है। उसे जानने वाला अन्य कोई नहीं है, उसे ज्ञानी जन महान्, श्रेष्ठ आदि कहते हैं॥ १९॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्॥ २०॥

वह परम पुरुष अतिसूक्ष्म अणु से भी सूक्ष्म है और अतिशय महान् से भी महान् है। आत्मारूप वह पुरुष इस जीव की हृदय गुहा में छिपा हुआ है। उस विषय भोग के संकल्पों से रहित, परमात्मा को जो विधाता की कृपा से देख लेता है, वह सभी संतापों से मुक्त हो जाता है॥ २०॥

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम्॥ २१॥

उसे हम जानते हैं, जो जरा आदि से मुक्त सदा नित्य है। वह सबसे पुरातन पुरुष सबमें आत्मा रूप में समाहित है। वह सर्वत्र विद्यमान और अत्यन्त व्यापक है, उसे ब्रह्मवेत्ता जन जन्म-बन्धन से मुक्त तथा सदा नित्य रहने वाला बताते हैं॥ २१॥

॥ अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ १॥

जो सृष्टि के आरम्भ में अकेले ही वर्ण (रूप-रंग) से रहित होकर और बिना किसी प्रयोजन के अपनी विविध शक्तियों के प्रयोग द्वारा अनेक रूप धारण कर लेता है और अन्त में सम्पूर्ण विश्व अपने में ही विलीन कर लेता है, वह परमात्मा हम सबको शुभ बुद्धि से संयुक्त करे॥ १॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः॥

वही (परमात्मा)अग्नि है, वही सूर्य, वायु तथा चन्द्रमा है। वही शुक्र (तेजस्वी नक्षत्र आदि) है, वही ब्रह्म, वही आपः और वही प्रजापति है॥ २॥

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥ ३ ॥

(हे परमेश्वर!) आप ही स्त्री और आप ही पुरुष हैं। आप ही पुत्र अथवा पुत्री हैं, आप ही वृद्ध होकर लाठी के सहारे चलते हैं तथा (प्रपंच रूप में) जन्म लेकर सर्वत्र विविध रूपों में विद्यमान हैं॥ ३॥

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः ।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥ ४॥

आप ही नीलवर्ण (आकाश), पतंग (सूर्य), हरितवर्ण (वनस्पति आदि), लाल आँखों वाले (नक्षत्र या अग्नि), मेघ, ऋतुएँ तथा सप्त समुद्र हैं। आप ही अनादि सत्ता वाले और सर्वत्र विद्यमान हैं, आपसे ही ये सम्पूर्ण लोक उत्पन्न हुए हैं॥ ४॥

['नीलः पतंगः' और 'हरितः लोहिताक्षः' के अर्थ कुछ आचार्यों ने नीला भ्रमर तथा हरे रंग का लाल आँखों वाला पक्षी (शुक) किया है; किन्तु इस मन्त्र में और अगले मन्त्र में भी प्रकृति के व्यापक घटकों का ही वर्णन है, उनके साथ यह कीट, पक्षी आदि की संगति नहीं बैठती। पतंग का अर्थ सूर्य भी होता है, अतः इनका अर्थ नीलवर्ण-आकाश सूर्य, हरित (वनस्पति आदि) तथा रक्त नेत्र वाले नक्षत्र या अग्नि मानना अधिक युक्तिसंगत है।]

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ ५ ॥

अपने अनुरूप बहुत सी प्रजाओं को उत्पन्न करने वाली लोहित (लाल-रजस्), शुक्ल(श्वेत-सत्) एवं कृष्ण (काला-तमस्) वर्ण वाली अनादि प्रकृति (अजा) को एक अज (जीव)स्वीकार करता हुआ भोगता है और दूसरा अज (आत्मा) उपभुक्त प्रकृति का परित्याग कर देता है॥ ५॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥ ६ ॥

सदा संयुक्त रहकर मैत्री भाव से एक साथ रहने वाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर)का आश्रय लिए हुए रहते हैं। उनमें से एक (जीवात्मा) तो उस वृक्ष के फलों (कर्मफलों) को स्वाद लेकर खाता है; किन्तु दूसरा (परमात्मा) उनका उपभोग न करता हुआ केवल देखता रहता है॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ ७॥

उस एक ही वृक्ष पर रहने वाला जीव राग-द्वेष, आसक्ति आदि में डूबकर मोहित हुआ दीनतापूर्वक शोक करता है। जब वह अनेकों साधकों द्वारा सेवित और अपने से भिन्न ईश्वर और उसकी महिमामयी सत्ता का साक्षात्कार करता है, तब वह शोक-संताप से मुक्त हो जाता है॥ ७॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ ८॥

जिसमें सम्पूर्ण देवगण अधिष्ठित हैं, उस अनश्वर परम व्योम (धाम) में समस्त वेद (ज्ञान समुच्चय) स्थित हैं। जो विद्वान् उसे नहीं जानते, वे केवल ऋचाओं (वेदों) के द्वारा क्या कर लेंगे और जो उसे जानते हैं, वे सम्यक् रूप से उसी (परमात्मा) में कृतार्थ होकर स्थित हैं॥ ८॥

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः॥ ९॥

समस्त वेद, यज्ञ, ज्योतिष्टोम आदि विशिष्ट यज्ञ, व्रत, भूत, भविष्यत् तथा जो भी कुछ वेदों द्वारा वर्णित है, वह सब मायापति ईश्वर इस अक्षर (अविनाशी प्रकृति तत्त्व) से उत्पन्न करता है और स्वयं जीवात्मा रूप में उस माया से भिन्न होकर भी उसके साथ भली-भाँति जुड़ा हुआ है॥ ९॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तं महेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥

प्रकृति को तो माया समझना चाहिए और परब्रह्म परमेश्वर को मायापति। उसी के अङ्गभूत (कार्य-कारण समूह) से यह सारा जगत् व्याप्त है॥ १०॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम्।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति॥ ११॥

जो स्वयं अकेले ही प्रत्येक शरीर (चौरासी लाख योनि) का अधिष्ठाता है, जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् प्रलयकाल में विलीन हो जाता है और सृजन काल में विविध रूपों में पुनः प्रकट भी हो जाता है। साधक उस नियामक सत्ता, वर प्रदाता, स्तुत्य परमदेव को जानकर शाश्वत शान्ति को प्राप्त होता है॥ ११॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥ १२॥

जो रुद्रदेव, अन्यान्य देवों की उत्पत्ति के हेतु और ऐश्वर्यादि से उनका परिपोषण करने वाले हैं, जो सबके अधिपति और सर्वज्ञाता हैं। जिनने हिरण्यगर्भ को उत्पन्न होते देखा था, वे देव हमें निर्मल बुद्धि से संयुक्त करें॥ १२॥

यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः।
य ईशेऽस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ १३॥

जो समस्त देवों के अधिपति हैं, जिसमें सम्पूर्ण लोक अधिष्ठित हैं, जो इस जगत् के दो पैर वाले (मनुष्य) और चार पैर वाले समस्त जीवसमूह के नियन्ता हैं, उन 'क' संज्ञक प्रजापति का हम हविष्यान्न आदि द्वारा पूजन करें (या उन देवाधिपति परमात्मा को छोड़कर अन्य किस देवता का यजन करें?)॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥ १४॥

सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म, हृदयगुहा के गुह्य स्थान में स्थित, सम्पूर्ण जगत् के रचयिता, अनेक रूप धारण करने वाले, सम्पूर्ण जगत् को अकेले ही परिव्याप्त करने वाले कल्याणकारी देव को जानकर (साक्षात्कार करके) साधक शाश्वत शान्ति को प्राप्त करता है॥ १४॥

स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः।
यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति॥ १५॥

वही प्रत्येक काल में समस्त लोकों (ब्रह्माण्ड) का रक्षक, सम्पूर्ण जगत् का स्वामी और सभी प्राणियों में स्थित है। जिसमें ब्रह्मर्षिगण और देवगण भी ध्यान द्वारा तल्लीन रहते हैं, उस परम पुरुष को जानकर साधक अपने मृत्यु के बन्धनों को (चक्र को)काट डालता है॥ १५॥

घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १६॥

साधक घृत (मक्खन) के समान ऊपर रहने वाले उसके सार भाग के समान अतिसूक्ष्म और समस्त प्राणियों में अधिष्ठित कल्याणकारी देव को जानकर तथा उस सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड को अपनी सत्ता से घेरकर रखने वाले विराट् देव को जानकर, सम्पूर्ण विकाररूपी बन्धनों से मुक्त हो जाता है॥ १६॥

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ १७॥

यह जगत् कर्त्ता, देदीप्यमान परमात्मा सर्वदा मनुष्यों के हृदय में सम्यक् प्रकार से अवस्थित है। जो साधक अपने हृदय, बुद्धि और मन से ध्यान द्वारा योग युक्त होकर इसे जान लेते हैं,वे अमरत्व पाते हैं॥१७॥

यदाऽतमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी॥ १८॥

जब अज्ञान का तमस् नहीं रहता (अर्थात् ज्ञान का प्रकाश उद्भूत हो जाता है), तब न दिन रहता है, न रात्रि और न सत् रहता है न असत्, केवल एक कल्याणकारी देव (शिव) रहता है। वह सर्वदा अनश्वर है, वह सविता देव का भी उपास्य है तथा उसी से पुरातन प्रकृष्ट ज्ञान (प्रज्ञा) निःसृत हुआ है॥

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत्। न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः॥

इसे न तो ऊपर से, न इधर-उधर से और न मध्य से ही कोई भली-भाँति पकड़ सकता है। जिसका नाम 'महद्यशः' (सर्वत्र कीर्तिमान्) है, उसकी कोई उपमा (समानता करने वाला) भी नहीं है॥ १९॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ २०॥

इस परमात्मा का कोई रूप दृष्टि के सामने नहीं ठहर पाता, उसे कोई इन आँखों से नहीं देख सकता। जो साधक अपने हृदय में अवस्थित परमात्मा को भावपूर्ण हृदय और निर्मल मन से जान लेते हैं, वे अमरत्व प्राप्त कर लेते हैं॥२०॥

अजात इत्येवं कश्चिद्भीरुः प्रतिपद्यते।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम्॥ २१॥

हे रुद्रदेव (संहारक देव)! आप जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हैं, ऐसा जानकर कोई भीरु (मृत्यु के भय से डरने वाला मेरे जैसा) आपके आश्रय में आता है, (और कहता है कि) आप अपने कल्याणकारी रूप (दक्षिणमुख) से मेरी सर्वदा रक्षा करें (तो निश्चय ही आपको वैसा ही करना चाहिए)॥ २१॥

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र भामितोऽवधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे॥ २२॥

हे रुद्रदेव! हम विविध हविष्यान्न लेकर सदैव आपका आवाहन (यजन) करते हैं। आप कुपित होकर हमारे वीर पुरुषों का नाश न करें। न हमारे पुत्रों में, न पौत्रों में, न हमारी आयु में, न हमारी गौओं में और न हमारे अश्वों में कोई कमी करें॥ २२॥

॥ अथ पञ्चमोऽध्यायः ॥

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥ १॥

(कार्य) ब्रह्म से भी उत्कृष्ट, वह अनन्त सत्ता अविनाशी है, जिसमें विद्या और अविद्या दोनों निहित हैं और जो प्राणियों की हृदय गुहा में निहित है। क्षरणशील (नश्वर तो) 'अविद्या' है और अविनाशी (जीवात्मा) 'विद्या' है। जो विद्या और अविद्या दोनों पर शासन करता है,वह इन दोनों से भिन्न सत्ता है॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्॥ २॥

जो अद्वितीय परमात्मा प्रत्येक योनि का अधिष्ठाता है, जो सम्पूर्ण (चौरासी लाख) योनियों को विभिन्न रूप प्रदान करता है। जिसने सबसे पहले उत्पन्न हुए कपिल मुनि को विशिष्ट ज्ञान-सम्पदा से सम्पन्न किया तथा उन्हें उत्पन्न होते हुए देखा था (वही विद्या-अविद्या से परे परमतत्त्व है)॥ २॥

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे संहरत्येष देवः।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा॥ ३॥

यह प्रकाश स्वरूप परमात्मा सृष्टि काल में इस जगत् क्षेत्र में एक-एक जाल (कर्मफल बन्धन) को अनेक प्रकार से विभक्त कर स्थापित करता हुआ प्रलयकाल में उसका संहार कर देता है। वह परमेश्वर (कल्पान्तर के आरम्भ में) प्रजापतियों की सृष्टि करके उन सब पर अपना आधिपत्य रखता है॥ ३॥

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्प्रकाशयन्भ्राजते यद्वनड्वान्।
एवं स देवो भगवान्वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः॥ ४॥

जिस प्रकार सूर्यदेव अकेले ही ऊपर-नीचे और इधर-उधर की सभी दिशाओं को प्रकाशित करते हुए देदीप्यमान होते हैं, उसी प्रकार वह परम पुरुष भगवान् प्रकाशस्वरूप और वरणीय होकर अकेले ही समस्त उत्पत्तिकारक शक्तियों पर अपना आधिपत्य रखता है॥ ४॥

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान्परिणामयेद्यः।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः॥ ५॥

जो परमात्मा सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति का कारणभूत है, जो समस्त तत्त्वों के स्वभाव को परिपक्व करता है, जो समस्त पकाये गये (अथवा परिवर्तनशील) पदार्थों को विविध रूपों में परिणत करता है, जो सम्पूर्ण गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) को उनके अनुरूप कार्यों में नियुक्त करता है, जो सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठाता है (वह परब्रह्म है)॥ ५॥

तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद्ब्रह्मा वेदयते ब्रह्मयोनिम्।
ये पूर्वं देवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः॥ ६॥

वह परमात्मा वेदों के गुह्य सारभूत उपनिषदों में निहित है, वेद के उत्पन्नकर्ता उस परमात्मा को ब्रह्मा जानते थे। जो पुरातन देवगण और ऋषिगण उसे (परमात्मतत्त्व को) जानते थे, वे निश्चित ही उसमें तन्मय होकर अमृतस्वरूप हो गये थे॥ ६॥

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव न चोपभोक्ता।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः॥ ७॥

जो गुणों से युक्त, फलप्राप्ति के उद्देश्य से कर्म करने वाला और अपने किये गये कर्म के फल का उपभोग करने वाला जीवात्मा है, वह विभिन्न रूपों को धारण करता हुआ तीन गुणों (सत्, रज, तम) से युक्त होकर तीन मार्गों (देवयान, पितृयान तथा लौकिक योनियों या धर्म, अधर्म तथा ज्ञान मार्ग) से गमन करता है। वह प्राणों का अधिपति जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार विविध योनियों में गमन करता है॥ ७॥

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रोऽप्यपरोऽपि दृष्टः॥ ८॥

जो अंगुष्ठ मात्र परिमाणवाला, सूर्य सदृश प्रकाशस्वरूप और सङ्कल्प तथा अहङ्कार से युक्त है, जो बुद्धि और आत्मा के विशिष्ट गुणों से युक्त है, यह आरे (लकड़ी चीरने का यन्त्र) की नोंक सदृश सूक्ष्म, परमात्मा से भिन्न अस्तित्व वाला (जीवात्मा) योगियों द्वारा देखा गया है॥ ८॥

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥ ९॥

एक बाल की नोंक के सौवें भाग के पुनः सौ भागों में विभक्त करने पर, जो कल्पित भाग होता है, जीव का स्वरूप उसी के बराबर (अतिसूक्ष्म) समझना चाहिए, परन्तु वही अनन्त रूपों में विस्तृत भी हो जाता है॥ ९॥

[चेतना की सूक्ष्म इकाई की सूक्ष्मता का अनुमान कराने के लिए ऋषि ने यह उदाहरण दिया है।]

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः। यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥ १०॥

यह जीवात्मा न तो स्त्री है, न पुरुष है और न ही नपुंसक है। यह जिस - जिस शरीर को ग्रहण करता है, उसी-उसी से सम्बद्ध हो जाता है॥ १०॥

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासांबुवृष्ट्यात्मविवृद्धिजन्म।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसंप्रपद्यते॥ ११॥

अन्न और जल के सेवन से जिस प्रकार शरीर परिपुष्ट होता है (उसकी वृद्धि होती है), उसी प्रकार सङ्कल्प, स्पर्श, दृष्टि और मोह से जीवात्मा का जन्म और विस्तार (अनेक योनियों में) होता है। जीवात्मा अपने किये हुए कर्मों के फल के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न शारीरिक रूपों को बार-बार धारण करता है॥ ११॥

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः॥ १२॥

जीवात्मा अपने आन्तरिक गुणों (ममता, अहंता, आकांक्षा आदि) के अनुसार स्थूल और सूक्ष्म बहुत से रूप धारण करता है। अपने क्रियात्मक गुणों (संस्कारों) तथा चेतनात्मक गुणों (चिन्तन, मनन, सङ्कल्प आदि) के अनुरूप शरीर धारण कराने वाला हेतु कोई दूसरा (परमपिता परमात्मा) भी देखा (जाना) गया है॥ १२॥

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १३॥

इस घोर संसार (भवसागर) में उस अनादि, अनन्त, विश्व सृजेता, अनेक रूपों वाले, सम्पूर्ण विश्व को अकेले ही अपनी सत्ता से आवृत करने वाले (परमात्म) देव को जानकर साधक समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है॥ १३॥

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्। कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम्॥

श्रद्धा भाव से प्राप्त होने वाले अशरीरी सृष्टि (भाव) एवं प्रलय (अभाव) करने वाले, कल्याणकारी स्वरूप वाले, कलाओं की रचना करने वाले, उस देव (परमात्मा) को जो साधक जान लेता है, वह शरीर बन्धन (आवागमन चक्र) को त्यागकर मुक्त हो जाता है॥ १४॥

॥ अथ षष्ठोऽध्यायः ॥

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा नु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥ १॥

कुछ विद्वान् मनुष्य के स्वभाव को जन्म चक्र का कारण बताते हैं, दूसरे कुछ लोग काल को इसका कारण बताते हैं, परन्तु ये लोग यथार्थता से बहुत दूर मोहग्रस्त स्थिति में हैं। वास्तव में यह परमात्म देव की ही महिमा है, जिसके द्वारा इस लोक में यह ब्रह्मरूप (सृष्टि)चक्र घुमाया जाता है॥ १॥

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्याप्यतेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥ २॥

जिसके द्वारा यह समस्त जगत् सदैव व्याप्त रहता है, जो ज्ञानस्वरूप, काल का भी काल, सर्वगुणसम्पन्न और सर्वज्ञ है, उसके ही अनुशासन में यह सम्पूर्ण कर्म चक्र घूम रहा है। पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश- इन पञ्च तत्त्वों का चक्र भी उसी के हाथ में है- ऐसा चिन्तन करते रहना चाहिए॥ २॥

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयस्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः॥ ३॥

उस परमात्मा ने कर्म चक्र चला कर, उसका अवलोकन कर आगे चेतन तत्त्व से जड़ तत्त्व का संयोग कराके जगत् की रचना की, अथवा एक (अविद्या), दो (धर्म और अधर्म), तीन (सत्, रज, तम गुण), आठ (मन, बुद्धि, अहंकार सहित पञ्चतत्त्वों) प्राकृतिक भेदों से तथा काल एवं सूक्ष्म आन्तरिक गुणों (ममता, अहन्ता, इच्छा, आसक्ति आदि) के संयोग से इस जगत् की रचना की॥ ३॥

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः॥ ४॥

जो साधक तीनों गुणों से व्याप्त कर्मों को आरम्भ करके उन्हें तथा उनके भावों को परमात्मा को अर्पित कर देता है, (ऐसा करने से) उन कर्मों का अभाव हो जाता है तथा पूर्वकृत कर्मों का भी नाश हो जाता है। ऐसा होने पर जीवात्मा जड़-जगत् से भिन्न सत्ता (परमात्मा) को प्राप्त हो जाता है॥ ४॥

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परिस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम्॥ ५॥

वह आदि पुरुष परमात्मा, (प्रकृति का जीव से)संयोग कराने वाले निमित्त के रूप में जाना (देखा) गया है। यह तीनों कालों तथा सोलह कलाओं से परे है। अपने अन्त:करण में अधिष्ठित उस सर्वरूप और संसार रूप में प्रकट तथा स्तुत्य पुरातन परमात्म देव की उपासना करनी चाहिए॥ ५॥

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम॥ ६॥

जिससे यह जगत् प्रपञ्च में प्रवृत्त होता है, वह (परमात्मा)जगत् वृक्ष (चक्र), काल तथा आकार से परे तथा उससे भिन्न है। धर्म के विस्तारक, पाप का नाश करने वाले, उस ऐश्वर्य के स्वामी को जानकर साधक आत्मा में स्थित उस विश्वाधार विराट् परमात्मा तथा उसके अमृतस्वरूप को प्राप्त हो जाता है॥ ६॥

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्॥ ७॥

ईश्वरों (प्रभुता-सम्पन्नों) के भी परम महेश्वर, देवताओं के परम देव, पतियों (पालकों) के भी परमपति, अव्यक्त (प्रकृति आदि) से भी परे, सम्पूर्ण लोक-ब्रह्माण्ड के अधिपति, स्तुति करने योग्य वह परमात्म देव सबसे परे हैं, (ऐसे) परमात्म देव को हम जानते हैं॥ ७॥

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च॥ ८॥

उस (निराकार परमेश्वर) के शरीर और इन्द्रियाँ नहीं हैं, उसके समान और उससे बड़ा भी कोई नहीं है, उसकी पराशक्ति (अदृश्य-दिव्य शक्ति) विविध प्रकार की सुनी जाती है और वह स्वभाव जन्य ज्ञान क्रिया (सम्पूर्ण विषयों के ज्ञान की प्रवृत्ति) और बल क्रिया (अपने प्रभाव से सबको अभिभूत करने की शक्ति) वाला है॥ ८॥

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः॥ ९॥

इस जगत् में कोई उसका स्वामी नहीं है, उसका कोई शासक नहीं है एवं उसका कोई लिंग (स्त्री, पुरुष और नपुंसक) भी नहीं है। वह सबका कारण है और इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीवों का अधिपति है। उसका न कोई उत्पत्तिकर्ता है और न ही कोई अधिपति है॥ ९॥

यस्तूर्णपनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतः।
देव एकः स्वमावृणोति स नो दधातु ब्रह्माव्ययम्॥ १०॥

तन्तुओं द्वारा मकड़ी के समान उस एक परमदेव (परमात्मा) ने स्वयं ही अपनी प्रधान शक्ति (प्रकृति) से (उत्पन्न अनन्त कार्यों से) अपने को आवृत कर लिया है। वह परमात्मा हमें अपने ब्रह्मस्वरूप से एकत्व प्रदान करे॥ १०॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥ ११॥

सम्पूर्ण प्राणियों में वह एक देव (परमात्मा) स्थित है। वह सर्वव्यापक, सम्पूर्ण प्राणियों की अन्तरात्मा, सबके कर्मों का अधीश्वर, सब प्राणियों में बसा हुआ (सबके अन्दर विद्यमान), सबका साक्षी, पूर्ण चैतन्य, विशुद्धरूप और निर्गुणरूप है॥ ११॥

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ १२॥

जो अद्वितीय परमात्मा सबका अधीश्वर है, जो बहुत से निष्क्रिय जीवों के एक बीज को अनेक रूपों में परिणत कर देता है, उस हृदय गुहा में अवस्थित परमेश्वर को जो धीर पुरुष (अनुभूतिजन्य दृष्टि से) देखते हैं, उन्हीं को शाश्वत सुख प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं॥ १२॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥ १३॥

जो परमेश्वर नित्यों में नित्य, चेतनों में चेतन है और एक अकेला ही सम्पूर्ण प्राणियों को उनके कर्मों का भोग प्रदान करता है, उस सांख्य एवं योग (ज्ञानयोग एवं कर्मयोग) द्वारा अनुभूतिगम्य, सबके कारणरूप देव- परमात्मा को जो साधक जान लेता है, वह सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त हो जाता है॥ १३॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ १४॥

वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा अथवा तारों का समूह, न ये बिजलियाँ ही प्रकाशित होती हैं, तो यह अग्नि कैसे प्रकाशित हो सकती है। उस (परमात्मा) के प्रकाशित (विद्यमान) होने से ही (सूर्यादि) सभी प्रकाशित होते हैं। उसके प्रकाश से ही यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकाशित है॥ १४॥

एको हꣳसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ १५॥

इस लोक के मध्य में एक ही हंस (परमात्मा) है, वह जल में सन्निहित अग्नि के समान अगोचर है। उसे जानकर साधक मृत्युरूप बन्धनों को पार कर जाता है। इससे भिन्न मोक्ष-प्राप्ति का दूसरा मार्ग नहीं है॥

[जल की उत्पत्ति अग्नि से होती है (अग्रेरापः) और अग्नि जल में समाविष्ट है 'बड़वानल' के रूप में, यह सिद्धान्त विज्ञान सम्मत है (हाइड्रोजन+ऑक्सीजन+ताप=पानी।)]

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥ १६॥

जो ज्ञानस्वरूप परमात्मा सम्पूर्ण विश्व का रचयिता, सर्वज्ञ, स्वयं ही जगत् की उत्पत्ति का केन्द्र, काल का भी काल, गुणों का समुच्चय और सर्वविद्यावान् है। वह पुरुष और प्रकृति का प्रमुख अधिपति, सम्पूर्ण गुणों का नियन्ता, संसार चक्र के बन्धन, स्थिति और मुक्ति का कारण है॥ १६॥

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।
य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय॥ १७॥

वह तन्मय (विश्वरूप अथवा सर्वप्रकाशक परमात्मा), अमृतस्वरूप ईश्वर (नियामक) रूप में स्थित, ज्ञानसम्पन्न, सर्वगत (सबमें चैतन्य रूप से स्थित) और इस लोक का रक्षक है, (वही) इस सम्पूर्ण जगत् का सर्वदा नियामक है; क्योंकि इस जगत् का नियन्त्रण करने में अन्य कोई समर्थ नहीं है॥ १७॥

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥ १८॥

जो परमात्मा सर्वप्रथम ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और उन्हें वेदों का ज्ञान प्रदान करता है। मैं मोक्ष प्राप्ति की अभिलाषा से बुद्धि को प्रकाशित करने वाले उन देव की शरण ग्रहण करता हूँ॥ १८॥

निष्कलं निष्क्रियꣳ शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परꣳ सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्॥ १९॥

जो कलाओं तथा क्रियाओं से रहित, सदा शान्त, निर्दोष, निर्मल, अमृतत्व का श्रेष्ठ सेतुरूप, (धूम्ररहित) प्रदीप्त अग्नि के समान देदीप्यमान है (हम उसकी शरण ग्रहण करते हैं)॥ १९॥

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥ २०॥

जब मनुष्यगण आकाश को चमड़े की भाँति लपेट सकेंगे (जब कि यह असम्भव है); तब उस देव (परमात्मा) को जाने बिना भी दुःखों का अन्त हो सकेगा (यह भी असम्भव है)॥ २०॥

[वस्तुतः दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति परमतत्त्व को जानकर ही हो सकती है।]

तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम्॥ २१॥

श्वेताश्वतर ऋषि ने तप के प्रभाव से और परमात्मा की कृपा से ब्रह्म को जाना तथा ऋषियों द्वारा सेवित उस परम पवित्र ब्रह्मतत्त्व का उन्होंने आश्रम के सुपात्रों को उपदेश दिया॥ २१॥

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः॥ २२॥

उपनिषदों (वेदान्त) में इस परम गुह्य ब्रह्मविद्या का पूर्वकल्प में उपदेश किया गया था। जिसका अन्तःकरण रागादि से शान्त न हुआ हो, उस साधक को तथा जो अपना पुत्र या शिष्य न हो (अर्थात् आचार्य के प्रति श्रद्धाभाव न रखता हो), उसे यह गुह्य ज्ञान नहीं देना चाहिए॥ २२॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता
ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः प्रकाशन्ते महात्मन इति॥ २३॥

जिस साधक की परमात्मा में अत्यन्त भक्ति है तथा जैसी परमात्मा में है, वैसी ही गुरु में भी है, उस महान् आत्मा के हृदय में ही ये बतायें गये गूढ़ ज्ञान प्रकाशित होते हैं, ऐसे महात्मा में ही (यह उपनिषद्) ज्ञान प्रकाशित होते हैं॥ २३॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु.....इति। शान्तिः॥

॥ इति श्वेताश्वतरोपनिषत्समाप्ता ॥

पाराशष्ट-१

परिभाषा कोश-१०८ उपनिषद् (ज्ञानखण्ड)

१. **अक्षर ब्रह्म**— वेदान्त दर्शन में 'ब्रह्म' की अवधारणा उस परमसत्ता के रूप में है, जो सर्वातिशायी, सर्वसमर्थ, सर्वत्र विद्यमान रहने वाली सर्वोच्च शक्ति है। उस 'परब्रह्म' को अनेक नामों से अभिहित किया गया है- परमात्मा, परमेश्वर, ब्रह्म, भूमा, परमचैतन्य, अक्षरब्रह्म (ओंकार) इत्यादि। परब्रह्म का अक्षरात्मक स्वरूप 'ओंकार' 'प्रणव' के रूप में उपनिषदादिक आर्ष ग्रन्थों में सर्वत्र प्राप्त होता है। तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय, तो 'ब्रह्म' अक्षर ही है, **'न क्षरति इति अक्षरः'** जिसका क्षरण-विनाश नहीं होता है, वह 'अक्षर' है। इस दृष्टि से 'अक्षर' शब्द ब्रह्म की विशिष्टता का बोधक हुआ। वैसे अक्षरात्मक-वर्णात्मक ब्रह्म के रूप में 'ॐ' प्रणव को स्वीकार किया जाता है, जैसे- **अक्षरं परमं पदम्** (महाना० ११.१), **अक्षरं परमं ब्रह्म निर्विशेषं निरंजनम्** (१ यो०शि० ३.१६), **अक्षरं ब्रह्मपरमं** (गी० ८.३), **अक्षरोऽहमोङ्कारोऽमरोऽभयोऽअमृतो ब्रह्माभयं हि वै** (गो० उ० ४०)। इन उद्धरणों को देखने से प्रतीत होता है कि अक्षर ब्रह्म-ओंकार-प्रणव-आत्मा आदि सभी एक ही तत्त्व के प्रतिपादक हैं। अक्षर ब्रह्म का विशद विवेचन माण्डूक्य उपनिषद् तथा गौड़पादकृत माण्डूक्य कारिका में उपलब्ध है।

२. **अग्नि**— वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों में देवतारूप में अग्नि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह तीनों लोकों में प्रमुखतः तीन रूपों में है- आकाश में सूर्य, अन्तरिक्ष में विद्युत् और पृथ्वी पर साधारण अग्नि। ऋग्वेद में सबसे अधिक सूक्त अग्नि देवता की स्तुति में ही संगृहीत हैं। अग्नि को गृहपति कहा गया है और परिवार के सभी सदस्यों से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है (ऋ० २.१.९)। अग्नि को दिव्य पुरोहित भी कहा गया है- **अग्निमीळे पुरोहितम्** (ऋ० १.१.१)। अग्नि सर्वदर्शी है, वह मनुष्य के सब कर्मों को देखता है- (ऋ० १०.७९.५)। अग्नि को प्रमुख रूप से तीन रूपों में अभिहित किया गया है- १. गार्हपत्य २. दक्षिणाग्नि ३. आहवनीय। मीमांसा सूत्र में जैमिनि ने अग्नि के छः रूप वर्णित किये हैं- गार्हपत्य २. आहवनीय, ३. दक्षिणाग्नि ४. सभ्य ५. आवसथ्य और ६. औपासन। अग्नि और आदित्य दोनों को भर्ग भी कहा गया है-**अग्निर्वै भर्गः। आदित्यो वै भर्गः** (जैमि० ४.२८.२)।

३. **अङ्गिरस्** —द्र० - अथर्वा ।

४. **अङ्गुष्ठमात्र**— मनुष्य की हृदय गुहा में वह परमात्मा आत्मा रूप में अंगुष्ठमात्र परिमाण वाला या अँगूठे जैसा समाविष्ट है। यही तथ्य उपनिषद् से भी प्रमाणित होता है- **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः** (कठ० २.३.१७), **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति** (कठ० २.१.१२)। यह परमात्मा हृदय में अङ्गुष्ठमात्र परिमाण वाली धूमरहित ज्योति के रूप में है- **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः** (कठ० २.१.१३)। यह ज्योति सूर्य के समान प्रकाशमय और सङ्कल्प तथा अहंकार से युक्त है-**अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहंकारसमन्वितो यः** (श्वेता० ५.८)।

५. **अज**— अज का शब्दार्थ है - जिसका जन्म न हो, जन्म के बन्धन से रहित। अजन्मा, स्वयंभू , ब्रह्मा, विष्णु, महेश, ईश्वर और कामदेव को भी अज कहकर निरूपित किया जाता है। मानस में ब्रह्म को अज कहा गया है- ब्रह्म जो व्यापक विरज, अज, अकल, अनीह, अभेद (रा०मा० १.५०)। जीव तथा माया को भी 'अज' रूप में माना गया है। महाभारत में अज के विषय में कहा गया है-**नहि जातो न जायेयं न जनिष्ये कदाचन। क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानां तस्मादहमजः स्मृतः॥** (महा० शान्ति० ३४२. ७४) अर्थात् मैं न उत्पन्न हुआ हूँ, न होता हूँ और न होऊँगा। सब प्राणियों का मैं क्षेत्रज्ञ हूँ, इसीलिए लोग मुझे अज कहते हैं। अनादि प्रकृति को भी अज कहा गया है। उपनिषद् के अनुसार बहुत से प्राणियों को त्रिगुणात्मक रचने वाली लाल, कृष्ण, सफेद रंग की एक अजन्मा प्रकृति को एक अज (अज्ञानी जीव) आसक्त होकर भोगता है और दूसरा अज (ज्ञानी पुरुष)भुक्त प्रकृति को त्याग देता है-

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥ (श्वेता० ४.५)।

६. **अज्ञान** — द्र० - अविद्या ।

७. **अणु**— पदार्थ के अतिसूक्ष्म कण को अणु कहा गया है, यह पदार्थ का इन्द्रिय-अग्राह्य सूक्ष्मकण होता है, जो पदार्थ के मौलिक गुण को अपने में धारण किये रहता है। एक अणु, दो या अनेक परमाणुओं के संयोग से बनता है। अणु को विश्व प्रपंच का कारण मानने वाला सिद्धान्त अणुवाद कहलाया। वैशेषिक दर्शन का यह प्रमुख अङ्ग है। जैन मतानुसार अणु स्थूल या सूक्ष्म रूप में रह सकता है। जब यह सूक्ष्म रूप में रहता है, तो अगणित अणु एक स्थूल अणु को घेरे रहते हैं। अणु अपने अन्दर इतनी गति का विकास कर सकता है कि एक क्षण में वह विश्व के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच सके। उपनिषद् में यह प्रतिपादन है कि आत्म तत्त्व के विषय में अन्य ज्ञानी पुरुष के उपदेश न करने पर मनुष्य का प्रवेश नहीं होता, क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म अणु से भी अधिक सूक्ष्म है; अत: तर्क से परे है- **अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्** (कठ० १.२.८)। वह आत्मतत्त्व सूक्ष्म से अतिसूक्ष्म और महान् से अति महान् है- **अणोरणीयान्महतो महीयान्** (कठ० १.२.२०)।

८. **अथर्वा-अङ्गिरा**— अथर्वा अथर्ववेद के द्रष्टा ऋषि हुए हैं। सम्भवत: इन्हीं के नाम से अथर्ववेद नाम एक वेद का पड़ा। ब्रह्माजी के प्रमुखत: दो पुत्र हुए हैं- एक अथर्वा, दूसरे अङ्गिरा। मुण्डकोपनिषद् के प्रथम श्लोक में देव ब्रह्मा के ज्येष्ठ पुत्र के रूप में ये अभिप्रेत हैं। ब्रह्माजी ने सब विद्याओं में आधारभूत ब्रह्मविद्या का उपदेश सर्वप्रथम अथर्वा को किया। अथर्वा ने इस विद्या का उपदेश अङ्गिर् ऋषि को किया- **अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्** (मुण्ड० १.१.२)। अथर्वा के गोत्रज अथर्वाण: या 'आथर्वण:' कहलाये और अङ्गिरा के गोत्रज 'आङ्गिरस' कहलाये। महाभारत में अथर्वा का उल्लेख अथर्वन् के रूप में मिलता है, जिन्होंने समुद्र में छिपे हुए अग्नि का पता लगाया था (महा०वनपर्व २२२)। अङ्गिरा का उल्लेख अङ्गिरस् नाम से ब्रह्मादेव के छ: मानस पुत्रों में से एक पुत्र के रूप में मिलता है (महा० आदिपर्व ६५.१०)। अथर्वा और अङ्गिरा का संयुक्तरूप से उल्लेख कई स्थानों पर मिलता है। अथर्ववेद के मन्त्र अथर्वा और अङ्गिरा द्वारा दृष्ट होने के कारण उन्हें 'अथर्वाङ्गिरस:' कहकर निरूपित किया गया है- **तस्य यजुरेव शिर:। अथर्वाङ्गिरस: पुच्छं प्रतिष्ठा** (तैत्ति०२.३.१)।

९. **अद्वैत**— वेदान्त दर्शन का प्रमुख सिद्धांत 'अद्वैत' है। आद्य शकराचार्य ने इसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया था। इसलिए यह उनके सिद्धांत का पर्याय बन गया है। शंकराचार्य ने एकमात्र सत्ता 'परब्रह्म' की स्वीकार की है। उनके अनुसार पारमार्थिकी (भूत-वर्तमान-भविष्यत्) सत्ता 'परब्रह्म' की है। वही नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला निर्गुण, अविकारी, कूटस्थ है, उसके अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं है। **एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म** (त्रि०म०३.३, पैंग० १.१), **एकमेव परं ब्रह्म विभाति** (ब्रह्म० २), **एकमेवाद्वितीयम्** (छान्दो० ६.२.१) जैसे श्रुति वचन इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। सांख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष दो तत्त्व स्वीकार करता है, इसलिए उसे 'द्वैत' दर्शन कहते हैं। कोई-कोई ईश्वर, जीव, प्रकृति तीन तत्त्व स्वीकार करते हैं, वे त्रैत दर्शन कहलाते हैं। शंकराचार्य ने एक तत्त्व को ही स्वीकार किया-**न द्वैत: इति अद्वैत:**, जहाँ दो तत्त्व नहीं हैं, वह अद्वैत है। शंकराचार्य जी का कहना है कि वही शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला एक परमतत्त्व-परब्रह्म, माया विशिष्ट होकर सगुण ब्रह्म-अपरब्रह्म बन जाता है और जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण बनता है। दूसरे शब्दों में 'ब्रह्म' तो एक ही है, परन्तु माया की उपाधि से कारण ब्रह्म और कार्य ब्रह्म -दो हो जाता है। कार्य ब्रह्म की केवल प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक सत्ता है, पारमार्थिक सत्ता केवल कारण ब्रह्म की है। इसी एक तत्त्व की प्रधानता के आधार पर यह सिद्धांत 'अद्वैत' कहलाता है।

१०. **अधिष्ठान**— अधिष्ठान शब्द के पर्यायवाची शब्द हैं- वासस्थान, रहने का स्थान, स्थिति, मुकाम, आधार, अधिकार आदि। अधिष्ठान से सम्बद्ध अधिष्ठाता शब्द बना है, जिसका अर्थ है- अधिकारी, अध्यक्ष, मुखिया, नियन्ता, देखभाल करने वाला। अधिष्ठान शब्द की व्युत्पत्ति अधि+स्था-अधिकरणे ल्युट् की गयी है। इसके पर्याय हलायुधकोश में नगर, चक्र, प्रभाव, अध्यासन, अवस्थान आदि दिये गये हैं। उपनिषद् के अनुसार पाँच रूपों के त्यागने और अपने स्वरूप में स्थित होने से जो सत्ता (अधिष्ठान) शेष रहती है, उसे परम तत्त्व कहते हैं- **पञ्चरूपपरित्यागादस्वरूपप्रहाणत:। अधिष्ठानं परं तत्त्वमेकं सच्छिष्यते महत्** (बह्व० ६)।

११. **अनन्त**— उस व्यापक-विराट् सृष्टि की रचना करने वाले परमात्मा को अनन्त कहा गया है। यह समूची सृष्टि अन्तहीन, अपरिमित, अप्रमेय या अनन्त है, इसकी रचना करने वाला परमात्मा भी अनन्त ही है। उपनिषद् में यह

तथ्य प्रतिपादित है कि उसे अनन्त इसलिए कहा जाता है कि उसका उच्चारण करते समय नीचे, ऊपर और तिर्यक् कहीं भी अन्त देखने में नहीं आता-**यस्मादुच्चार्यमाण एवाद्यन्तं नोपलभ्यते तिर्यगूर्ध्वमधस्तात् तस्मादुच्यते अनन्तः** (अ०शिर० ४८)। दिशा को तथा साम को अनन्त कहकर निरूपित किया गया है-**अनन्ता हि दिशः** (बृह० ४.१.५)। **अनन्तं साम** (जैमि० १.३५.८)। वह अनन्त परमात्मा व्यक्त-अव्यक्त सृष्टि प्रपञ्च में पूर्ण व्यापक और चैतन्यरूप है-**अव्यक्तादि सृष्टिप्रपञ्चेषु पूर्णं व्यापकं चैतन्यमनन्तमित्युच्यते** (स०सा० १२)।

१२. **अन्तःकरण चतुष्टय—** शरीर के अंग-अवयव जिस शक्ति से अपना कार्य-व्यापार सम्पन्न करते हैं, उसे 'इन्द्रियशक्ति' कहते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि शरीरस्थ चैतन्य अंश (जीवात्मा) जिनके माध्यम से कर्त्ता-भोक्ता की भूमिका सम्पन्न करता है, वे इन्द्रियाँ (करण)-साधन कहलाते हैं। ये मुख्यतः दो प्रकार की होती हैं-१. अन्तरिन्द्रिय, २. बाह्येन्द्रिय। अन्तरिन्द्रिय, जो शरीर के अन्दर सक्रिय होती है, बाहर से उसका कुछ भी स्वरूप प्रकट नहीं हो पाता। इनकी संख्या ४ मानी गयी है। दूसरे शब्दों में इन्हें अन्तःकरण (अन्तरिन्द्रिय) चतुष्टय कहा जाता है। वे हैं- मन, बुद्धि,चित्त और अहंकार। आचार्य शंकर ने अपने विवेक चूड़ामणि में लिखा है-**निगद्यतेऽन्तःकरणं मनो धीरहंकृतिश्चित्तमिति स्ववृत्तिभिः** (वि० चू० ९५)। अर्थात् अपनी वृत्तियों के कारण अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार-इन चार नामों से कहा जाता है। वस्तुतः अन्तःकरण-अन्तरिन्द्रिय एक ही है-मन, वह अपनी वृत्तियों-कार्यों के आधार पर चार रूपों वाला हो जाता है। संकल्प-विकल्प के कारण मन, पदार्थ का विवेकपूर्वक निश्चय करने के कारण बुद्धि, अपना इष्ट चिन्तन करने के कारण चित्त तथा अहं-अहं (मैं-मैं) ऐसा स्वानुभूतिजन्य अभिमान करने के कारण अहंकार कहलाता है-**मनस्तु संकल्पविकल्पनादिभिर्बुद्धिः पदार्थाध्यवसायधर्मतः॥ अत्राभिमानादहमित्यहंकृतिः स्वार्थानुसन्धानगुणेन चित्तम्॥** (वि० चू० ९६)।

बाह्येन्द्रिय वह होती है, जिसका स्वरूप बाहर से भी प्रकट होता है। यह पुनः दो प्रकार की होती है-१. ज्ञान प्राप्ति की हेतुभूता, २. कर्म सम्पादन की हेतुभूता। ज्ञान प्राप्ति की कारणभूता इन्द्रिय-ज्ञानेन्द्रिय कहलाती है। इसकी संख्या पाँच है-श्रवण, त्वचा, नेत्र, घ्राण और जिह्वा। कर्म सम्पादन समर्था इन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय कहलाती है, इसकी संख्या भी पाँच है-वाक्, पाणि, पाद, गुदा और उपस्थ। इन दसों इन्द्रियों का आचार्य शंकर ने इस प्रकार उल्लेख किया है-**बुद्धीन्द्रियाणि श्रवणं त्वगक्षि, घ्राणं च जिह्वा विषयावबोधनात्। वाक्पाणिपादं गुदमप्युपस्थः कर्मेन्द्रियाणि प्रवणेन कर्मसु॥** (वि० चू० ९४)अर्थात् श्रवण (सुनने की शक्ति), त्वचा (स्पर्शज्ञान की शक्ति), नेत्र (देखने की शक्ति), घ्राण (सूँघने की शक्ति) और जिह्वा (स्वादानुभूति की शक्ति)-ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, क्योंकि इनसे विषय का ज्ञान होता है तथा वाक् (वाणी),पाणि(हाथ),पाद (पैर),गुदा (मल विसर्जन अंग) और उपस्थ (मूत्रेन्द्रिय)-ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, क्योंकि इनका कर्मों की ओर झुकाव होता है। इस प्रकार कुल इन्द्रियाँ (मन, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय मिलकर) ग्यारह हो जाती हैं।

१३. **अन्तर्मुख-बहिर्मुख—** जिस साधक की वृत्ति आन्तरिक हो, अर्थात् अन्तःकरण की ओर प्रवृत्त होती हो, जो अपने ही विचारों और भावनाओं में तल्लीन रहता हो, वह अन्तर्मुख या आत्मरत कहा जाता है। अन्तर्मुख पुरुष अपनी इन्द्रियों और मन को हठात् आन्तरिक उत्थान में नियोजित कर आत्मशक्ति संचय करता और आत्म उत्कर्ष में लगा रहता है। अन्त में आत्मा में ही विराट् परमात्म चेतना से सम्बद्ध हो जाता है। बहिर्मुख व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को रस, रूप, गन्ध, स्पर्श और शब्द के सुखों में लगाता हुआ आन्तरिक शक्ति और मानसिक शक्ति को खोता चला जाता है। आत्मज्ञानी साधक बाह्य व्यवहार करता हुआ भी अन्तर्मुख रहता है और सदा थके हुए के समान सोता सा दिखाई देता है-**अन्तर्मुखतया तिष्ठन्बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन्। परिश्रान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते** (अक्षि० २.३६)। वह सुषुप्त अथवा बुद्ध अवस्था में भी अन्तर्मुख रहता है-**अन्तर्मुखतया नित्यं सुप्तो बुद्धो व्रजन्पठन्॥** (अ०पू० १.३४)

१४. **अन्तर्यामी-साक्षी—** उस व्यापक परमात्मा के विभिन्न विशेषणों का निरूपण किया जाता है। वह व्यापक देव घट-घट व्यापी होने से अन्तर्यामी कहा गया है। वह सब कुछ देखने और जानने वाला होने से साक्षी भी कहा गया है। अन्तः-स्थित चैतन्य पुरुष को ही कूटस्थ, क्षेत्रज्ञ, अन्तर्यामी और साक्षी कहते हैं। यह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में उत्पत्ति और लय को जानने वाला और स्वयं उत्पत्ति और लय से परे रहने वाला जो नित्य

साक्षी-चैतन्य है, वही तुरीय चैतन्य है-**अवस्थात्रयभावाभाव साक्षी स्वयंभावरहितं नैरन्तर्यं चैतन्यं यदा तदा तत्तुरीयं चैतन्यमित्युच्यते** (स०सा० ४)। ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की उत्पत्ति तथा लय को जानने वाला, फिर भी स्वयं उत्पत्ति और लय से रहित आत्मा साक्षी कहलाता है- **ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामाविर्भावतिरोभावज्ञाता स्वयमाविर्भावतिरोभावरहितः स्वयंज्योतिः साक्षीत्युच्यते** (स०सा० ९)। इन कूटस्थ आदि उपाधि के भेदों में से स्वरूप लाभ के लिए जो आत्मा समस्त शरीर से माला के धागे की तरह पिरोया हुआ है, वह अन्तर्यामी कहलाता है-**कूटस्थोपहितभेदानां स्वरूपलाभहेतुर्भूत्वा मणिगणे सूत्रमिव सर्वक्षेत्रेष्वनुस्यूतत्वेन यदा काश्यते आत्मा तदान्तर्यामीत्युच्यते** (स०सा० ११)। जो साधक मोहरहित होकर साक्षी के समान जीवन व्यतीत करता है और बिना किसी फल की इच्छा से कर्म करता है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है (महो० १.५१)।

१५. **अपराविद्या**— द्र०- पराविद्या।

१६. **अपरिग्रह**— अनिवार्य आवश्यकता से अधिक का त्याग अपरिग्रह कहलाता है। योगदर्शन में यम के पाँच भेद वर्णित हैं- १. सत्य, २. अहिंसा, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य, ५. अपरिग्रह। जैन शास्त्र के अनुसार मोह का त्याग अपरिग्रह है। विषय वस्तुओं को अस्वीकार करना भी अपरिग्रह माना जाता है। महर्षि व्यास ने कहा है कि विषयों के उपभोग में विविध दोष देखकर उन्हें ग्रहण न करने का नाम अपरिग्रह है- **विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसादोष दर्शनादस्वीकरणमपरिग्रहः** (साङ्ख्योगदर्शन-व्यास भाष्य)। स्वामी रामतीर्थ यति ने लिखा है कि समाधि के अनुष्ठान में अनुपयुक्त वस्तु का संग्रह न करना अपरिग्रह है। महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है कि अपरिग्रह के स्थिर हो जाने पर साधक को जन्म-जन्मान्तरों के विषय में सम्यक् बोध हो जाता है- **अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता सम्बोधः**। (यो० द० २.३९)

१७. **अप्सरा**— अप्सराओं की उत्पत्ति जल (अप्) से मानी जाती है। '**अप्सु जायन्ते इति अप्सराः**' - इस व्युत्पत्ति के आधार पर अप्सरा शब्द से जल में या जल से उत्पन्न वनस्पतियों का बोध होता है। वनस्पतियाँ ही प्रारम्भिक तौर पर प्राणदायिनी, सुख-सुविधा (वस्त्र, आवास, भोजन आदि) प्रदान करने वाली थीं। आगे चलकर इन्हीं विशेषताओं से युक्त देवलोक की सुन्दरियों को अप्सरा कहा जाने लगा। अत्यधिक आनन्ददायी होने के कारण कठोपनिषद् में यमराज ने नचिकेता को आत्मज्ञान के बदले अप्सराएँ प्रदान करने की पेशकश की थी, परन्तु नचिकेता ने किसी भी प्रकार इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। उनका कहना था कि जिस प्रकार दुनिया के हर सुख-आनन्द नश्वर हैं, उसी प्रकार देवलोक की इन अप्सराओं से प्राप्त होने वाला सुख और आनन्द भी नश्वर होगा। अतः मुझे अप्सरा नहीं आत्मज्ञान चाहिए। कठोपनिषद् में यह कथा बड़े विस्तार से व्याख्यायित है।

कहा जाता है कि देवराज इन्द्र इन अप्सराओं के माध्यम से उन लोगों को पथभ्रष्ट कर देते हैं, जो जप-तप द्वारा इन्द्रपद का अधिकार प्राप्त कर लेना चाहते हैं। देवलोक की प्रमुख अप्सराओं के नाम हैं- मेनका, रम्भा, उर्वशी, घृताची, तिलोत्तमा आदि।

१८. **अभ्युदय-निःश्रेयस**— अध्यात्म मार्ग लोगों द्वारा प्रायः पलायनवादी मार्ग माना जाता है। अधिकांश लोगों का मानना है कि 'धर्म-अध्यात्म' घर-द्वार छोड़कर अपनाया जा सकता है अथवा धर्म-अध्यात्म मार्ग पर चलने वालों के घर-द्वार छूट जाते हैं, व्यक्ति एकाकी-अकिंचन स्थिति में रह जाता है, जबकि यथार्थता इससे भिन्न है। इसमें भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के विकास की समस्त सम्भावनाएँ सन्निहित हैं। वैशेषिक दर्शनकार महर्षि कणाद ने धर्म की परिभाषा बताई है- **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः** (वै०द०१.१.२) अर्थात् धर्म वह है, जो अभ्युदय (सांसारिक उन्नति) तथा निःश्रेयस (परम कल्याण-आध्यात्मिक उन्नति) को सिद्ध करने वाला है। ऋषियों की थाती वेदज्ञान के रूप में विद्यमान है। वेदों में ज्ञान (आध्यात्मिक) और विज्ञान (भौतिक) दोनों विद्यमान हैं। उसमें ज्ञान के अन्तर्गत दर्शन, मनोविज्ञान, रहस्यवाद आदि गूढ़ विषय तो हैं ही, उसके साथ ही विज्ञान भी है। विज्ञान के अन्तर्गत तन्त्र प्रयोग, खगोल विज्ञान, ज्योतिष् विज्ञान, औषधि एवं चिकित्सा विज्ञान जैसे विषय समाहित हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय धर्म-अध्यात्म में अभ्युदय-भौतिक उन्नति एवं निःश्रेयस-आध्यात्मिक उन्नति दोनों तत्त्व पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। जीवन की सार्थकता एवं सर्वतोमुखी विकास के लिए दोनों की उपयोगिता सुनिश्चित रूप से है।

१९. **अमृत-मृत्यु**— ईशावास्योपनिषद् में विद्या और अविद्या दोनों की महत्ता इस तरह प्रतिपादित है कि अविद्या द्वारा मृत्यु को पार करके (रहस्य जानकर) विद्या द्वारा अमरत्व की प्राप्ति की जा सकती है-**अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते** (ईश०११)। उपनिषद् में मृत्यु से अमृत (अमरत्व) की ओर ले चलने का भाव अभिव्यक्त हुआ है-**मृत्योर्माऽमृतं गमय** (बृह०१.३.२८)। इसी मन्त्र में असत् और तमस् को मृत्यु का प्रतीक और सत् और ज्योति को अमृत का प्रतीक निरूपित किया गया है। ब्रह्म को ही अमृत स्वरूप माना गया है-**यद्ब्रह्म तदमृतम्** (जैमि० १.२५.१०)। कठोपनिषद् के अनुसार जब मनुष्य के हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं और समस्त कामनाएँ दूर हो जाती हैं, तो मनुष्य अमरत्व को प्राप्त होता है (कठ०२.३.१४-१५)। गीता में भगवान् कहते हैं कि सुख-दुःख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को ये ऐन्द्रिय विषय व्याकुल नहीं करते, वह अमृतत्व का अधिकारी होता है-**यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ। समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते** (गी०२.१५)। उपनिषद् के अनुसार बालबुद्धि ही बाह्य भोगों का अनुगमन कर मृत्यु के भयंकर पाशों में फँसते हैं, किन्तु विवेकवान् पुरुष अमरता को अटल जानकर जगत् के अनित्य पदार्थों की कामना नहीं करते-**पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्। अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते** (कठ०२.१.२)। मृत्यु इस जगत् का अटल नियम है। गीता में कहा गया है-जन्मने वाले की मृत्यु सुनिश्चित है और मरने वाले का जन्म भी निश्चित है-**जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च** (गी०२.२७)।

२०. **अर्वा** —द्र० - अश्व ।

२१. **अवधूत**— द्र० - संन्यासी।

२२. **अविद्या, माया, अज्ञान**—'अविद्या' को समझने के लिए विद्या को समझना आवश्यक है। 'विद्या' वह शक्तिधारा है, जिसके द्वारा यथार्थ (जो जैसा है, उसको वैसा ही जानना) का बोध (स्वानुभूति) हो। 'अविद्या' विद्या का विरोधी भाव है-**अविद्या तत्त्वविद्या विरोधिनी** (वाच०)। 'अविद्या' द्वारा यथार्थ का बोध नहीं हो पाता। झाड़ी को भूत, रस्सी को साँप और सीपी को चाँदी की प्रतीति कराने वाली अविद्या ही है। वेदान्त दर्शन में इसके अनेक पर्याय मिलते हैं, यथा-अज्ञान, माया, अव्यक्त, आकाश, अक्षर, अव्याकृत प्रधान, प्रकृति, अध्यास, शक्ति, उपाधि आदि। आचार्य शंकर ने इसे माया कहते हुए, इसके गुणों को प्रकट करते हुए लिखा है-**अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा। कार्यानुमेया सुधियैव माया, यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते** (वि०चू० ११०)।

वस्तुतः माया और अविद्या में थोड़ा सा अन्तर है, वह यह कि 'अविद्या' चैतन्य तत्त्व को अपने वशवर्ती बना कर रखती है। इस प्रकार अविद्योपहित चैतन्य 'जीव' कहलाता है, किन्तु जब यही चैतन्य के वशवर्ती होकर उसकी आज्ञानुवर्ती बन जाती है, तो 'माया' कहलाती है और माया को वशवर्ती बनाने वाला चैतन्य 'ईश्वर' कहा जाता है। अविद्या ही चैतन्य-आत्मतत्त्व को अपने प्रभाव से आवृत कर लेती है (**देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्**-श्वेता० १.३) और उसे कर्म-बन्धनों में आबद्ध संसारी जीव की स्थिति प्रदान कर देती है, जबकि वह शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, चैतन्य (परमात्मा) रूप है। इसके इसी विशेष प्रभाव के कारण इसे 'अनिर्वचनीय' संज्ञा प्रदान की गई है। यह सत् भी है, असत् भी है। इसके द्वारा रस्सी में सर्प का भान होता है, ब्रह्म में जगत् की प्रतीति होती है। ज्ञान होने पर सर्प के स्थान पर रस्सी तथा जगत् के स्थान पर ब्रह्म का बोध होने से यह अस्तित्वहीन (असत्) हो जाती है। इसकी इसी विचित्रता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य शंकर लिखते हैं-**सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो। सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा** (वि० चू० १११)। इसी माया के प्रभाव से सभी प्राणी संसार सागर में डूबते-उतराते रहते हैं, इस सागर से पार नहीं जा पाते, तभी तो महात्मा कबीर ने कहा था- **माया महाठगिनी मैं जानी**। शास्त्र कहते हैं कि समर्पण भाव से परमात्मा के प्रति भक्ति भाव रखने वाले पर इस माया का प्रभाव नहीं हो पाता। वे परमात्मा को सब कुछ समर्पित करके कर्त्ता-भोक्ता भाव से मुक्त होकर इस माया पर विजय पा लेते हैं, अर्थात् भवसागर-भवबन्धन से मुक्त हो जाते हैं-**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते** (गी० ७.१४)।

२३. **अश्व**— पशुओं में पराक्रमवान्, बलिष्ठ और गतिमान् पशु अश्व है। इसके पर्यायवाची शब्दों में अर्वन्, अर्वा, हय, वाजी इत्यादि शब्द हैं। अश्व शक्ति, बलिष्ठता, चंचलता और गतिशीलता का भी प्रतीक माना गया है। बलिष्ठता के

लिए यह विशेष प्रसिद्ध है- **अश्वः पशूनामोजिष्ठो बलिष्ठः** (तै० ब्रा० ३.८.७.१), **तस्मादश्वः पशूनां वीर्यवत्तमः** (ऐत० ब्रा० ५.१)। चंचल तथा अग्रगामी ज्वालाओं से अग्नि को भी अश्व कहकर निरूपित किया गया है- **अग्निर्वा अश्वः श्वेतः** (शत० ब्रा० ३.६.२.५)। **सोऽग्निरश्वो भूत्वा प्रथमः प्रजिगाय** (गो० ब्रा० २.४.११)। यज्ञ की चञ्चल अग्नि को यज्ञाश्व संज्ञा से निरूपित किया जाता है। विराट् यज्ञ की कल्पना भी अश्वरूप में बृहदारण्यक उपनिषद् में की गयी है- **उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः** (बृह० १.१.१)। यह अश्व हय होकर असुरों को और अश्व होकर मनुष्यों को वहन करता है-**हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वानर्वाऽसुरानश्वो मनुष्यान्** (बृह० १.१.२)। इन्द्रियों का वश में न रह पाना दुष्ट अश्वों की भाँति माना गया है-**तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः** (कठ०१.३.५)।

२४. **अश्वमेध** — अश्वमेध यज्ञ एक विशिष्ट वैदिक यज्ञ है। इसका प्रमुख उद्देश्य राष्ट्र में सांस्कृतिक एकता स्थापित करना था। इसका अन्य उद्देश्य था- राष्ट्र के पराक्रम को मेधा बुद्धि से संयुक्त करना, जिससे कि अश्व रूपी पाशविक या चञ्चल प्रवृत्तियों का मेध (मर्दन) हो सके। मध्य युग में राजनैतिक एकता स्थापित करने के उद्देश्य से अश्व छोड़कर यह विशिष्ट यज्ञानुष्ठान प्रारंभ किया जाता था। अश्वमेध को सभी यज्ञों का राजा कहा गया है- **राजा वाऽएष यज्ञानां यदश्वमेधः** (शत० ब्रा० १३.२.२.१)। अश्वमेध सम्पूर्ण राष्ट्र के हित के लिए राष्ट्र के पराक्रम, मेधा, सम्पदा और राष्ट्रीयता के विस्तार के उद्देश्य से ही सम्पन्न किया जाता था, अतः ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा गया है- **राष्ट्रं वा अश्वमेधः** (तै० ब्रा० ३.८.९.४)। सूर्य तपता है और उसी से पराक्रम, सामर्थ्य और मेधा क्षरित होती है, अतः सूर्य को भी अश्वमेध संज्ञा से निरूपित किया गया है-**एष ह वा अश्वमेधो य एष (सूर्यः) तपति** (बृह० १.२.७)।

२५. **असम्भूति-सम्भूति** — ईशावास्योपनिषद् में सम्भूति और असम्भूति शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसका भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है-**सम्भवनं सम्भूतिः सा यस्य कार्यस्य सा सम्भूतिः, तस्या अन्या असम्भूतिः प्रकृतिः कारणमविद्या अव्याकृताख्या**। सम्भवन (उत्पन्न होने) का नाम सम्भूति है, वह जिसके कार्य का धर्म है, उसे 'सम्भूति' कहते हैं। उससे अन्य असम्भूति-प्रकृति-कारण अथवा अव्याकृत नाम की अविद्या है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि मूल प्रकृति जो दृश्यमान जगत् की आदि कारण है, 'असम्भूति' है और यह दृश्यमान जगत् 'सम्भूति' है। यह दिखायी देने वाला विश्व ब्रह्माण्ड जिसे दर्शन की भाषा में कार्य ब्रह्म भी कहा जाता है- सम्भूति है और इस ब्रह्माण्ड का आदि कारण अव्याकृत - अप्रकट रूप में विद्यमान जिसे दर्शन की भाषा में 'प्रकृति' कहा जाता है- असम्भूति है।

ब्रह्माण्ड की तरह पिण्ड में 'सम्भूति-असम्भूति' की स्थिति है। पिण्ड (शरीर) में भी दो स्वरूप का अनुभव होता है -एक तो हाथ-पैर आदि अंग-अवयवों से शारीरिक कार्य करता हुआ-मन मस्तिष्क से सोच-विचार करता हुआ, दूसरा उसका कारण स्वरूप जो दृश्यमान नहीं होता, किन्तु दृश्यमान का कारण अवश्य है। दर्शन की भाषा में दृश्यमान को स्थूल-सूक्ष्म शरीर तथा अदृश्य को कारण शरीर कहा जाता है। यही कारण शरीर 'असम्भूति' तथा स्थूल-सूक्ष्म शरीर 'सम्भूति' की श्रेणी में आता है। उपनिषद् का मानना है कि 'मूल प्रकृति' को-कारण शरीर को / असम्भूति को सब कुछ मानकर उपासना करने वाला तथा दृश्यमान जगत् को स्थूल-सूक्ष्म शरीर को-सम्भूति को सब कुछ मानकर उपासना करने वाला घोर अन्धकार में पड़ने की तरह कल्याण की प्राप्ति नहीं कर पाता, क्योंकि ये दोनों अतिवादी दृष्टिकोण हैं। वस्तुतः मनुष्य को करना क्या चाहिए- इसका स्पष्ट निर्देश उपनिषद्कार ने ईशावास्योपनिषद् के चौदहवें मन्त्र में दिया है-**सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳसह। विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥**'जो व्यक्ति सम्भूति (दृश्यमान जगत्) और विनाश (नाशरहित मूलकारण-प्रकृति)को साथ-साथ जानता है (उपासना करता है),वह विनाश-अव्याकृत प्रकृति से मृत्यु को पार करके, सम्भूति-दृश्यमान जगत्-कार्यब्रह्म-से अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। समन्वयवादी दृष्टिकोण यही है।

२६. **असुर-राक्षस**—शास्त्रों में मनुष्य मात्र को पाँच वर्गों में रखा गया है। चार वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और पंचम निषाद। उसी प्रकार सूक्ष्म लोक या अन्तरिक्ष लोक में पाँच वर्ग या श्रेणियों का वर्णन मिलता है- गन्धर्व, पितर, देवगण, असुर और राक्षस। यज्ञ की सामग्री भी यही ग्रहण करते हैं। इसकी पुष्टि निरुक्त शास्त्र में होती है-**पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम् । गन्धर्वाःपितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके । चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः** (निरु० ३.८)। असुरों को दैत्यों, दानवों या राक्षसों की श्रेणी में गिना जाता है। इन्हें पवित्र यज्ञादि

कार्यों में विघ्नकारी तथा कुमार्गगामी माना गया है। राक्षसों को कुबेर के धनकोश का रक्षक भी माना गया है। असु का अर्थ प्राण होने से असुर शब्द प्राणवान् या शक्तिमान् का भी बोधक है। असुरों के गुरु भृगुपुत्र शुक्राचार्य माने गये हैं। देवों, मनुष्यों एवं असुरों तीनों को प्रजापति की संतान कहकर स्वीकार किया गया है- **त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुराः** (बृह० ५.२.१)।

२७. **आकाश** — पृथ्वी से ऊपर-नीचे विस्तृत अनंत आकाश (रिक्त स्थान) है, जिसमें सम्पूर्ण विश्व के सब पदार्थ ग्रह-उपग्रह, नक्षत्र, तारे, चन्द्र, सूर्य आदि स्थित हैं, आकाश कहलाता है। पृथ्वी के निकटवर्त्ती आकाश का वह भाग, जिसमें वायु और मेघ होते हैं, अन्तरिक्ष लोक कहा जाने लगा। पञ्चतत्त्वों में से एक तत्त्व आकाश है, जिसका गुण 'शब्द' है और उससे श्रोत्रेन्द्रिय की उत्पत्ति मानी गयी है। द्यौः, द्यु, अभ्र, व्योम, पुष्कर, अम्बर, गगन, नभ, अनन्त, स्वर्ग, खं आदि आकाश के पर्यायवाची शब्द हैं। पृथ्वी के ऊपर के आकाश (स्वर्ग) में तथा नीचे के आकाश (पाताल) में सात-सात लोकों के अस्तित्व का उल्लेख भी मिलता है। याज्ञवल्क्य ने गार्गी से आकाश के विस्तार का वर्णन किया है- जो द्युलोक से ऊपर, पृथ्वी से नीचे और जो द्युलोक एवं पृथ्वी के मध्य में है और द्युलोक एवं पृथ्वी तथा भूत,वर्तमान, भविष्यत्- ये सब आकाश में ओत-प्रोत हैं- **यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाशे तदोतञ्च प्रोतञ्चेति** (बृह० ३.८.४)। यह सम्पूर्ण विश्व आकाश में ही है- **सर्वमित्याकाशे** (तैत्ति० ३.१०.३)।

२८. **आत्मा-जीवात्मा**— वेदान्त का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय 'आत्मा' ही है। वेदान्त ग्रन्थों में 'आत्मा' के दो स्वरूप परिलक्षित होते हैं- एक शुद्ध-बुद्ध-निर्विकार स्वरूप, जिस पर अविद्या-अज्ञान का, कषाय-कल्मष का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, इसीलिए इसे 'परमात्मा' के समकक्ष माना जाता है- **अयमात्मा ब्रह्म** (नृ०उ० १.२, रा० उ० २.९), **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्** (ऐत० १.१.१), **आत्मैवेदं सर्वम्** (नृ०उ० ७.४) इत्यादि औपनिषदिक वचन इसके प्रमाण हैं। आत्मा का दूसरा रूप वह है, जो अविद्या-अज्ञान आदि से आवृत होता है, इसे जीव की - जीवात्मा की संज्ञा प्रदान की जाती है। इसी का संसार में बारम्बार आवागमन होता है-**अतति सन्ततभावेन जाग्रदादिसर्वावस्थासु अनुवर्त्तते। अत् सातत्यगमने+मनिन्=जीवः** (हला०को०)। हलायुध कोश के इस निर्वचन से स्पष्ट है कि जो निरन्तर गतिमान् रहता है, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में शरीर का अनुवर्तन करता है, वह जीव है-**एक एव हि भूतात्मा भूते-भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥** (ब्र०बि० १२) **एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु** (ब्र०बि० ११), **वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥** (कठो० २.२.१०) इत्यादि उपनिषद् वाक्य इसी तथ्य का प्रतिपादन करते हैं। वेदान्त का मानना है कि इस 'आत्मतत्त्व' का आनुभूतिक ज्ञान हो जाने पर व्यक्ति (जीव) आवागमन से मुक्त हो जाता है- दुःखों से-शोक से मुक्त होकर परमशान्ति का अधिकारी बन जाता है- **एकोवशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति। तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥** (कठ० २.२.१२)

वेदान्त के महान् तत्त्वज्ञ महर्षि याज्ञवल्क्य ने इसी उद्देश्य से अपनी धर्मपत्नी मैत्रेयी को आत्मानुसन्धान का निर्देश दिया था- **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि। आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम्** (बृह० २.४.५) अर्थात् हे मैत्रेयि! आत्मा ही दर्शन करने, श्रवण करने, मनन करने एवं निदिध्यासन (अनुभव) करने योग्य है। आत्मतत्त्व के दर्शन (साक्षात्कार) से, श्रवण से तथा बुद्धि द्वारा विशेष रूप से जानने (अनुभव करने) से सब कुछ ज्ञान हो जाता है। आत्मज्ञान के अभाव में मुक्ति प्राप्ति सम्भव नहीं- **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'**। अतएव समय रहते जीवन के चरम लक्ष्य-आत्मज्ञान की प्राप्ति का परम पुरुषार्थ करके मोक्ष की प्राप्ति कर लेना मानव जीवन का उद्देश्य कहा गया है।

२९. **आदेश**— आदेश शब्द के पर्याय आज्ञा, उपदेश, संकेत, विवरण, भविष्य कथन, विधिवाक्य आदि बताये गये हैं। उस मनोमय पुरुष का सिर यजुर्वेद है। ऋक् तथा साम क्रमशः दक्षिण और उत्तर भाग है। आदेश (विधि वचन) आत्मा (शरीर का मुख्य केन्द्र) है-**तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा** (तैत्ति० २.३.१)। यह उस परम पुरुष का आदेश (संकेत) है, जो बिजली का चमकना है, वह उसके नेत्रों के झपकने के समान है- **तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो व्यद्युतदाꣳ इतीन्द्यमीमिषदाꣳइत्यधिदैवतम्** (केन०४.४)।

३०. **आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक** — सम्पूर्ण विषयों या ज्ञान को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है- १. आधिभौतिक २. आधिदैविक ३. आध्यात्मिक। अन्यान्य प्राणियों के शरीरों अथवा स्थूल भौतिक तत्त्वों से सम्बन्धित विषय आधिभौतिक कहलाते हैं। दैवीय गुणों या देव सम्बन्धी विषयों को आधिदैविक कहा गया है। मन अथवा आत्म तत्त्व से सम्बन्धित विषय आध्यात्मिक कहलाते हैं। केनोपनिषद् में आध्यात्मिक तथ्य (उदाहरण) इस प्रकार है कि हमारा मन ब्रह्म के समीप जाता हुआ प्रतीत होता है, उस ब्रह्म का निरन्तर तीव्रता से स्मरण करता है, इसी मन के द्वारा ब्रह्म प्राप्ति का संकल्प लेता है- **अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णꣳ सङ्कल्पः** (केन० ४.५)।

३१. **आनन्द-परमानन्द** —आनन्द का शाब्दिक अर्थ है- सम्यक् रूप से प्रसन्नता (आ+नन्द)। यह आत्मा अथवा परमात्मा के तीन अनिवार्य गुणों (सत्+चित्+आनन्द) में से एक है। अतः यह आत्मतत्त्व से सम्बन्धित है। आत्मा पञ्चकोशों के आवरण में आबद्ध है- जिनमें अन्तिम पंचमकोश आनन्दमय कोश है। यह विशिष्ट आध्यात्मिक सुख है। उपनिषद् के अनुसार आनन्द से ही सभी भूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं, आनन्द से ही जीवित रहते हैं और आनन्द में ही विलीन हो जाते हैं- **आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभि संविशन्तीति** (तैत्ति० ३.६)। उपनिषदों में अनेक स्थानों पर आत्मा के आनन्दस्वरूप होने का उल्लेख मिलता है- **आनन्दरूपममृतं यद्विभाति** (मुण्ड०२.२.७), **आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्** (तैत्ति० ३.६.१), **आनन्द आत्मा** (तैत्ति०२.५.१)। आत्मा को परमानन्द स्वरूप भी कहा गया है। इसका तात्पर्य निरतिशय सुखस्वरूप अथवा सर्वोच्च आनन्द स्वरूप से है। ब्रह्म की आनन्दरूपता को '**रसो वै सः**' (तैत्ति० २. ७) के द्वारा भी प्रतिपादित किया गया है। ब्रह्म अपार अथवा अनन्त आनंद का सागर है।

३२. **आपः**— आपः शब्द विशेषतया 'जल' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसीलिए बादल के लिए आपधर और समुद्र के लिए आपनिधि शब्द प्रयुक्त हुआ है। जल के प्रवाह या आकाश के लिए भी आपः शब्द का उपयोग किया जाता है। आकाश में सतत संचरणशील प्रवाह या आकाशीय ईथर तत्त्व से भी इसकी संगति बिठाई गयी है। संभवतः प्राणरूप होने के कारण आपः की तुलना अन्न से की गयी है- **आपो वा अन्नम्** (तैत्ति० ३.८.१)। आपः (जल) में तेज प्रतिष्ठित है और तेज में आपः-**अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः** (तैति०३.८.१)। वैदिक संहिताओं में आपः देवता की कई सूक्तों में स्तुति की गयी है, यहाँ इसका भावार्थ प्रायः सूक्ष्म आकाशीय तत्त्वों (सृष्टि संरचना की मूलभूत इकाई) के रूप में लिया गया है। आपः को प्राणरूप में भी निरूपित किया गया है- **प्राणो ह्यापः** (जैमि० ३.१०. ९)। वरुणदेव जल में प्रतिष्ठित हैं- **स वरुणः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति। अप्स्विति** (बृह०३.९.२२)। सम्पूर्ण देवगणों को भी आपः से सम्बद्ध बताया गया है-**आपो वै सर्वा देवताः** (ना०प०३.७९)।

३३. **आयतन**— आयतन शब्द के पर्यायवाची शब्द हैं- स्थान, मंदिर, विश्रामालय आदि। पुराणों में पवित्र स्थान, मंदिर आदि अर्थ में आयतन शब्द प्रयुक्त हुआ है, जैसे- देवायतन, शिवायतन आदि। विष्णु भगवान् को मङ्गल का आयतन कहकर निरूपित किया गया है- **मङ्गलं भगवान् विष्णुः मङ्गलं गरुडध्वजः। मङ्गलं पुण्डरीकाक्षो मङ्गलायतनो हरिः॥** छान्दोग्योपनिषद् में वर्णन मिलता है कि जो आयतन को जानता है, वह अपने बन्धु-बान्धवों का आयतन (आश्रय) होता है। निश्चय ही मन (सम्पूर्ण इन्द्रियों का) आयतन है- **यो ह वा आयतनं वेदायतनꣳ ह स्वानां भवति मनो ह वा आयतनम्** (छान्दो० ५.१.५)। प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन- यह चतुष्कल पाद ब्रह्म का आयतनवान् नाम वाला है-**प्राणः कला। चक्षुः कला। श्रोत्रं कला। मनः कला। एष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम** (छान्दो० ४.८.३)।

३४. **आवागमन-चक्र** — बार-बार जन्म लेना और मरना, भूतल पर आना और जाना, जीवात्मा का विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करना आवागमन-चक्र कहलाता है। सभी हिन्दू दार्शनिक और धार्मिक सम्प्रदायों की यह मान्यता है कि जब तक जीव को मोक्ष प्राप्त नहीं होता, वह आवागमन-चक्र में परिभ्रमण करता रहता है। अच्छे-बुरे कर्मों के आधार पर उसे ८४ लाख योनियों में से किस योनि में पुनर्जन्म होगा, इसका निर्धारण होता है। आवागमन-चक्र को भव-बन्धन, संसार चक्र या जन्म-मरण चक्र भी कहते हैं। गीता में कहा गया है कि प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने वाला और पापों को धो डालने वाला अनेक जन्मों के बाद सिद्ध होकर फिर परमगति (मुक्ति) को प्राप्त करता है-

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः। अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ (गी० ६.४५) जो आकाश में स्थित निष्कल तत्त्व का ध्यान करता है, वह भवबन्धन से मुक्त हो जाता है-**नभस्थं निष्कलं ध्यात्वा मुच्यते भवबन्धनात्** (ब्र०बि०२०)।

३५. **आशा**— किसी अप्राप्त के पाने की इच्छा को आशा कहते हैं। अभिलषित वस्तुओं के लिए भी आशा शब्द प्रयुक्त हुआ है। ऋषि कहते हैं, पितृगण के लिए स्वधा, मनुष्यों के लिए आशा (इष्ट वस्तुएँ), पशुओं के लिए तृण और जल का आगान करूँ-**आशां मनुष्येभ्यः (आगायानि)** (छान्दो० २.२२.२)। देवगण निश्चय ही सम्पूर्ण विश्व की आशाओं का प्रतिरक्षण करते हैं- **एता ह वै देवता विश्वा आशाः प्रतिरक्षन्ति** (जैमि० १.३४.११)। जगत् में सर्वप्रथम आशा ही थी, भविष्य में भी वही है, तब सर्वप्रथम अप् तत्त्व संव्याप्त हुआ-**आशा वा इदमग्र आसीद् भविष्यदेव। तदभवत्। ता आपोऽभवन्** (जैमि० ४. २२. १)। उपनिषद् में आशा को पिशाचिनी कहा गया है, जो अन्तःकरण में पाये जाने वाले आनन्द के आश्रय में रहती है-**आनन्दमंतर्निजमाश्रयन्तमाशापिशाचीमवमानयन्तम्** (मैत्रे० १.१२)। मनुष्य अपनी पत्नी की तरह सम्पूर्ण जीवन भर 'आशा' की पूर्ति के लिए अपनी शक्तियों का व्यय करता रहता है, अतः उपनिषद् में निर्देश है कि आशारूप पत्नी को त्यागने वाला तत्काल ही मुक्ति को प्राप्त होता है- **आशापत्नीं त्यजेद्यावत्तावन्मुक्तो न संशयः** (मैत्रे० २.१२)।

३६. **आसक्ति** —द्र०- **मोह**।

३७. **आस्तिकता** — वेद, परमेश्वर और परलोक इत्यादि में विश्वास करने वाला अथवा ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकारने वाला अथवा ईश्वर की सर्वव्यापकता और न्यायकारिता का अनुभव करने वाला आस्तिक और उनका यह गुण आस्तिकता कहलाता है। दर्शन ग्रन्थों में ईश्वर या वेद के प्रति विश्वास दृष्टिगोचर होता है। ईश्वर सर्वव्यापी और न्यायकारी है, ईश्वर की इस सत्ता पर विश्वास ही आस्तिकता है। शंकराचार्य के अनुसार मोक्ष और वेद में श्रद्धा रखना ही आस्तिकता है। मनुस्मृति में भगवान् मनु ने कहा है-**नास्तिको वेद निन्दकः** अर्थात् वेद का निन्दक ही नास्तिक है। विद्वानों ने नास्तिक की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या इस प्रकार की है-**नास्ति (परलोक) इति मतिर्यस्य स नास्तिकः** (अष्टा० ४.४.६० की वृत्ति) 'जिसकी मति परलोक की सत्ता में विश्वास नहीं रखती, वह नास्तिक है'।

३८. **इन्द्रिय दमन** — शरीर के वे अंग जिनकी शक्ति हमें विषयों का ज्ञान या बोध कराती है 'इन्द्रियाँ ' कहे जाते हैं। संस्कारों के प्रभाववश मनुष्य प्रायः इन्द्रियों के माध्यम से अपनी जीवनीशक्ति विषयभोग और कायिक लिप्साओं में गँवाता जाता है। इन्द्रियों की तुष्टि के लिए वह प्रायः फुलझड़ी की तरह अपना बहुमूल्य जीवन रस जलाता रहता है। साधक को योग पथ पर सर्वप्रथम इन्द्रियों को दबाना या बलपूर्वक शान्त करना पड़ता है। इन्द्रियों के नियंत्रण या निरोध की इस प्रक्रिया को इन्द्रिय दमन या इन्द्रिय निग्रह कहते हैं। इसी के द्वारा साधक शक्ति संचय करता हुआ ईश्वर या ब्रह्म से योग प्राप्त करने की स्थिति में हो पाता है। गीता के अनुसार जिसकी इन्दियाँ वश में होती हैं, उसकी प्रज्ञा स्थिर होती है-**वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता** (गी०२.६१)। उपनिषद् में इन्द्रिय निग्रह को ही शौच (शुचिता) कहकर निरूपित किया गया है-**शौचम् इन्द्रियनिग्रहः** (मैत्रे०२.३)। प्रजापति ने देवों को उपदेश किया था-हे भोग प्रधान देवो! इन्द्रियों का दमन करो (बृह०५.२.३)।

३९. **इन्द्रियाँ** —द्र० - **अन्तःकरण चतुष्टय**।

४०. **इष्टापूर्त** — वेद का पठन-पाठन, अग्निहोत्र और अतिथि सत्कार इष्ट कहलाते हैं और कुआँ, तालाब खुदवाना, देवमंदिर बनवाना, बगीचा लगाना आदि कर्म पूर्त कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में यज्ञ-यागादि अदृश्य फल वाले कर्मों को इष्ट कहते हैं और लोकहितकारी दृश्य फल वाले कर्मों को पूर्त कहते हैं अर्थात् लोक-परलोक के हितकारी सभी कर्मों को इष्टापूर्त कहते हैं। आत्मज्ञान को प्रधान मानने वाली उपनिषद् में वर्णन मिलता है कि इष्टापूर्त कर्मों को ही श्रेष्ठ मानने वाले विमूढ़ लोग उससे भिन्न यथार्थ श्रेय को नहीं जानते-**इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः** (मुण्ड० १.२.१०)। कठोपनिषद् में वर्णन है कि ब्राह्मण का सत्कार न करने वाले के उत्तमवाणी के फल और इष्टापूर्त कर्मों के फल का नाश हो जाता है (कठ०१.१.८)। मनुष्यों में जो लोग इष्टापूर्त कर्मों को ही करने योग्य कर्म मानकर उनकी उपासना करते हैं, वे चन्द्रमा के लोक को ही जीतते हैं- **तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते** (प्रश्न०१.९)।

४१. ईश्वर-जीव — अद्वैत वेदान्त में '**एकमेवाद्वितीयम्**' जैसे श्रुति वचनों द्वारा जिस नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, कूटस्थ, निष्क्रिय, अविकारी आदि विशेषणों से विभूषित परम चैतन्य का प्रतिपादन है, उसी को 'ब्रह्म' कहा गया है। 'ब्रह्म' के दो रूपों की परिकल्पना वेदान्त ग्रन्थों में प्राप्त होती है-प्रथम-परब्रह्म, द्वितीय-अपरब्रह्म। 'परब्रह्म' वह है, जो **अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्**.....अर्थात् शब्दस्पर्शादिरहित, शुद्ध-बुद्ध, मुक्त स्वभाव वाला है। यह अविकारी और कूटस्थ है। यही 'ब्रह्म' जब सृष्टि-सृजन हेतु संकल्पवान् होता है, तो माया की शक्ति से समन्वित हो जाता है, इसे 'अपरब्रह्म' या 'सगुणब्रह्म' कहते हैं। इसी अपरब्रह्म को 'ईश्वर' भी कहा जाता है। 'माया' से परिच्छिन्न होने पर ही ब्रह्म का ईश्वरत्व, सर्वज्ञत्व तथा जगत् कारणत्व आदि सिद्ध होता है। जैसा कि विद्यारण्य स्वामी ने लिखा है- **तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत्** (पंच०३.४०)। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि माया की उपाधि से अवच्छिन्न (संयुक्त) ब्रह्म ही ईश्वर है। माया ईश्वर के अधीन होती है और जब माया (अविद्या) चैतन्य को अपने वशीभूत कर लेती है, तो वह अविद्याग्रस्त चैतन्य 'जीव' कहा जाता है। माया से संयुक्त, किन्तु माया को अपना वशवर्ती बनाने वाला चैतन्य ईश्वर और माया का वशवर्ती बना चैतन्य 'जीव' कहा जाता है, वस्तुतः ये दोनों उस परब्रह्म के ही रूप हैं।

'ईश्वर' को जगत् का निमित्त कारण माना जाता है। जैसे कुम्भकार घड़ा बनाता है, तो घड़े का निमित्त कारण कुम्भकार हुआ, किन्तु घड़ा बनता है मिट्टी से, इसलिए मिट्टी 'उपादान' कारण है, परन्तु जगत् के निर्माण में ईश्वर निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी, क्योंकि वही विविध नाम रूपात्मक जगत् के रूप में परिणत हो जाता है, जैसे मकड़ी जाला बनाती है, तो जाला बनाने की योग्यता के कारण वह निमित्त कारण होती है और जाला बनाने का पदार्थ भी अपने भीतर शरीर से ही निःसृत करती है, इसलिए वही उपादान कारण भी होती है। आवरण और विक्षेप शक्ति के आधार पर ईश्वर की उपादान कारणता सिद्ध होती है। जैसे रस्सी में सर्प की प्रतीति। आवरण शक्ति से 'रस्सी' का स्वरूप ढँक जाता है और विक्षेप शक्ति से 'रस्सी' के स्थान पर सर्प की प्रतीति होने लगती है। इसी तरह से आवरण शक्ति से ईश्वर का स्वरूप ढँक जाता है और विक्षेप द्वारा ईश्वर जगत् के रूप में दिखने लगता है। इस प्रकार 'ईश्वर' जगत् का निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों है। जैसा कि डॉ० राधाकृष्णन् जी ने लिखा है-'ईश्वर' बिना साधनों से सृष्टि रचना करता है। अपनी महान् शक्तियों के द्वारा वह अपने को अनेक कार्यरूपों में परिणत कर लेने में समर्थ है।

४२. उद्गीथ— उद्गीथ शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है- उद्+गै+थक्। अमरकोश के अनुसार इसका अर्थ है- **प्रणवः सामवेद ध्वनिः इत्यरुणः** (५.१९ वृत्ति)। उद्गीथ एक प्रकार का सामगान है। प्रणव अथवा ओंकार को भी उद्गीथ कहा गया है। ॐ यह अक्षर उद्गीथ का प्रतीक है- **ओमित्येतदक्षरमुद्गीथः** (छान्दो०१.१.५)। साम के भेद या विभाग इस प्रकार किये गये हैं- हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन। यहाँ प्राण को उद्गीथ रूप वर्णित किया गया है- **मन एव हिंकारो वाक् प्रस्तावः प्राण उद्गीथः** (जैमि०१.३३.३)। उद्गीथ को देवों के लिए अमृत कहा गया है-**उद्गीथं देवेभ्योऽमृतम्** (जैमि० १.११.८)। जो उद्गीथ है, वही प्रणव अक्षर है और जो प्रणव है, वही उद्गीथ है। विचरणशील सूर्य भी उद्गीथ ही है- **अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथः** (छान्दो०१.५.१)। वाणी का रस ऋचा है, ऋचा का रस साम है और साम का रस उद्गीथ है- **वाचः ऋग्रसः ऋचः सामरसः साम्नः उद्गीथो रसः** (छान्दो०१.१.२)।

४३. उपनिषद् — 'उपनिषद्' शब्द की व्युत्पत्ति में सद् '**षदॢ विशरणगत्यवसादनेषु**' धातु के पहले 'उप' और 'नि' ये दो उपसर्ग और अन्त में 'क्विप्' प्रत्यय लगता है। जिसका भावार्थ है-गुरु के निकट गूढ़ धर्म एवं रहस्यमय ज्ञान प्राप्ति के लिए बैठना। अमरकोश में उपनिषद् शब्द का अर्थ (**धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्**) गूढ़ धर्म एवं रहस्य लिया गया है। उपनिषद् में जीवन और जगत् के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन, निरूपण तथा विवेचन है।

वैदिक साहित्य के चार भाग किये गये हैं-१. संहिता, २. ब्राह्मण, ३. आरण्यक तथा ४. उपनिषद्। वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग होने से उपनिषद् वेदान्त भी कहा जाता है। उपनिषद् का प्रमुख विषय ब्रह्म का निरूपण होने से इन्हें ब्रह्मविद्या भी कहा गया है। उपनिषदों में दो प्रकार की विद्याओं का उल्लेख है- १. परा और २. अपरा। पराविद्या ब्रह्मविद्या है, जिसका प्रमुख प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है। अपरा विद्या के अन्तर्गत संहिताओं, ब्राह्मणों तथा

वेदाङ्गों का विवेचन दृष्टिगोचर होता है। उपनिषदों को कालक्रम के आधार पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-१. प्राचीन उपनिषद्, २. परवर्ती उपनिषद्। प्राचीन उपनिषद् वैदिक शाखाओं पर आधारित हैं। परवर्ती उपनिषद् मध्ययुग के धार्मिक सम्प्रदायों की देन हैं। उस ब्रह्म विषयक (ब्राह्मी) उपनिषद् (रहस्यमयी विद्या) का विवरण केनोपनिषद् में मिलता है। उस ब्रह्मविद्या के तीन आधार हैं- तप, दमन (इन्द्रिय-निग्रह) और निष्काम कर्म। सम्पूर्ण वेद उसी के अङ्ग हैं और सत्यरूप परमात्मा ही उसका अधिष्ठाता है-**ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति। तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा। वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्** (केन०४.७-८)। साधक यथार्थ तत्त्व को प्रकट करने वाली (उपनिषद्) विद्या के द्वारा जो कुछ भी श्रद्धापूर्वक करता है, वही अधिकाधिक सामर्थ्ययुक्त होता है-**यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति** (छान्दो०१.१.१०)।

४४. **उपप्राण**— द्र० - प्राण।

४५. **उपाधि**—जो वस्तु जिस विशेष रूप में दिखाई देती है, उस विशेष रूप को उस वस्तु की उपाधि कहते हैं अथवा जिसके संयोग से कोई वस्तु किसी विशेष रूप में दिखाई देती है, उसे उस वस्तु की उपाधि कहते हैं। जैसे साधारण वस्त्र जब किसी रंग विशेष में रँग दिया जाता है, तो वह उसी रंग का-लाल, नीला हो जाता है। यह लाल, नीला रंग उस वस्त्र की उपाधि कहलाता है। वेदान्त दर्शन में माया के संयोग या असंयोग से ब्रह्म के दो भेद निरूपित किये गये हैं- सोपाधि ब्रह्म (जीव) और निरुपाधि ब्रह्म। सोपाधि ब्रह्म को ब्रह्म का सगुणरूप तथा निरुपाधि ब्रह्म को ब्रह्म का निर्गुण रूप स्वीकार किया गया है। वह परब्रह्म त्वं और तत् आदि उपाधियों से भी परे है। मन आदि सूक्ष्म तत्त्वों की उपाधि जो आत्मा के साथ संयुक्त रहती है, उसे लिङ्ग शरीर कहते हैं।

४६. **उपासना**— जीव अपने इष्ट से एकाकार होने का अभ्यास जिस प्रक्रिया से करता है, उसे उपासना कहते हैं। इसमें भक्त भगवान् के प्रति समर्पण का अभ्यास करता है और शनैः-शनैः तद्रूप होने लगता है। उपासना का अर्थ पास बैठना (उप=समीप+आसन=बैठना) अथवा सेवा के रूप में विशेष रूप से लिया जाता है। कहीं-कहीं इसका अर्थ उपवास करना भी लिया गया है। उपनिषद् में कहा गया है जो केवल अविद्या (पदार्थपरक विद्या) की उपासना करते हैं, वे घोर अंधकार में फँस जाते हैं और जो केवल विद्या (चेतनापरक) की उपासना करते हैं, वे भी घोर अंधकार में फँस जाते हैं (ईश०९)। उपासना को ब्रह्म साक्षात्कार का साधन स्वीकार किया गया है। उपासना से साधक का चित्त एकाग्र हो जाता है। यह चित्त की एकाग्रता निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार कराने में समर्थ है-**सगुणोपासनमपि चित्तैकाग्र्य द्वारा निर्विशेषब्रह्मसाक्षात्कारे हेतुः** (वे०परि०)।

४७. **ऋत-सत्य**— प्रिय भाषण या सत्य वचन के अर्थ में सामान्यतः ऋत शब्द का प्रयोग होता है। इसके अन्य पर्यायवाची शब्द हैं- मोक्ष, जल, कर्मफल, यज्ञ, सूर्य, ब्रह्म, प्राकृतिक नियम, ईश्वरीय नियम, अनुकूल वचन। ऋत शब्द का प्रयोग अनुकूल वचन के अर्थ में इस प्रकार हुआ है- **ऋतं वदिष्यामि** (तै०आ०७.१.१)। **ऋतं च सत्यं च वदत** (तै०सं०३.२.७.१)। यज्ञ को भी ऋत कहा गया है- **एष वा ऋतस्य पन्था यद्यज्ञः** (मै०ब्रा०४.८.२), **यज्ञो वाऽ ऋतस्य योनिः** (शत०ब्रा०१.३.४.१६)। ॐ तथा ब्रह्म को भी ऋत से सम्बद्ध किया गया है-**ओमित्येतदेवाक्षरममृतम्** (जैमि०३.३६.५), **ब्रह्म वा ऋतम्** (शत०ब्रा०४.१.४.१०)। मन को भी ऋत कहकर निरूपित किया गया है-**मनो वा ऋतम्** (जैमि०३.३६.५)।

वस्तुतः शाश्वत अटल नियम को ऋत कहते हैं और देश, काल के अनुसार बदल जाने वाले नियम को 'सत्य' कहते हैं। जल का नीचे की ओर प्रवाहित होना, अग्नि की लपटों का ऊपर की ओर उठना, सूर्य का उदय पूर्व दिशा में होना इत्यादि शाश्वत नियमों को 'ऋत' कहेंगे और ठण्डक के दिनों में भारत में दिन का छोटा होना, रात्रि का बड़ा होना, गर्मी में दिन का बड़ा होना, रात्रि का छोटा होना जैसे नियम देश, काल के अनुसार बदलते हैं, सर्दी-गर्मी का मौसम बदलता रहता है। यह सत्य है, किन्तु ऋत नहीं।

४८. **ऋत्विज्**— यज्ञ कराने वाले-याज्ञिक को ऋत्विज् कहा गया है। ऋत्विजों में चार प्रमुख होते हैं-ब्रह्मा, अध्वर्यु, होता और उद्गाता। कहीं-कहीं प्रमुख ऋत्विजों की संख्या सात मानी गई है- होता, पोता, नेष्टा, आग्नीध्र, प्रशास्ता, अध्वर्यु और ब्रह्मा। ब्रह्मा यज्ञ की देखरेख मौन रहकर करता था। अध्वर्यु यज्ञ में व्यावहारिक कार्य-निर्देश एवं व्याख्या करता था। होता ऋचाओं का-यज्ञमंत्रों का उच्चारण तथा देवस्तुति करता था। उद्गाता का सम्बन्ध यज्ञ में

गायन (सामगान आदि) से होता था। बड़े यज्ञों में इन चारों ऋत्विजों के तीन-तीन अन्य सहयोगी भी होते थे। इस प्रकार यज्ञ में सोलह ऋत्विज् वरण किये जाते थे-**षोडशर्त्विजो ब्रह्मोद्गातृ होत्रध्वर्यु**..... (का०श्रौ० ७.१.७)। **चत्वारस्त्रिपुरुषाः। तस्य तस्योत्तरे त्रयः** (आ०श्रौ०४.१.४-५)। ब्रह्मा के सहयोगी ऋत्विज्-ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र एवं पोता, अध्वर्यु के सहयोगी ऋत्विज्-प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता, होता के सहयोगी ऋत्विज्-मैत्रावरुण, अच्छावाक् और ग्रावस्तुत् एवं उद्गाता के सहयोगी ऋत्विज्-प्रस्तोता, प्रतिहर्ता एवं सुब्रह्मण्य होते थे।

४९. ऋद्धि-सिद्धि —ऋद्धि भौतिक समृद्धि का द्योतक है और सिद्धि आध्यात्मिक विभूति या सफलता आदि का द्योतक है। दूसरे शब्दों में ऋद्धि-सिद्धि समृद्धि और सफलता का बोधक है। ऋद्धि को लौकिक सुख-सम्पदा से तथा सिद्धि को अलौकिक शक्ति या विभूति से सम्बद्ध किया जाता है। योग की अष्टसिद्धियाँ प्रसिद्ध हैं- अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व। भगवान् ने गीता में कहा है कि मेरे निमित्त कर्मों को करता हुआ तू सिद्धि को प्राप्त होगा-**मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि** (गी० १२.१०)।

५०. ऋषि— वेद मन्त्रों का द्रष्टा या उनका साक्षात्कार करने वाला या आध्यात्मिक तत्त्वों का द्रष्टा और प्रयोक्ता ऋषि कहलाता है। वेद मन्त्रों का अनुभूतिजन्य तत्त्वदर्शन समझने वाले, त्रिकालज्ञ, दिव्यदृष्टि सम्पन्न परोक्ष द्रष्टा को भी ऋषि कहते हैं। रत्नकोष के अनुसार ऋषि सात प्रकार के हैं-ब्रह्मर्षि, देवर्षि, महर्षि, परमर्षि, काण्डर्षि, श्रुतर्षि, राजर्षि। भिन्न-भिन्न मन्वन्तरों में भिन्न-भिन्न ऋषि हुए हैं। इस वैवस्वत मन्वन्तर के सप्तर्षि ये हैं-कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज। अपाला, विश्ववारा, घोषा, सूर्या आदि महिलाओं ने भी वैदिक काल में ऋषित्व को प्राप्त किया था। उपनिषद् में वर्णन है कि ऋषिगण जो आसक्ति से परे विशुद्ध अन्तःकरण वाले होते हैं, वे परमात्मा को प्राप्त होकर ज्ञान से तृप्त और परम शान्त हो जाते हैं- **संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः** (मुंड० ३.२.५)। गीता में भी वर्णन मिलता है कि निष्पाप, छल, कपटरहित संयत आत्मा वाले सब प्राणियों के हित में रत रहने वाले, ऋषिगण ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं-**लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः। छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः** (गी० ५.२५)।

५१. एकत्व-ऐक्य— उपनिषदों में जीव और ब्रह्म में-आत्मा और परमात्मा में एकत्व-ऐक्य (एक होने का भाव) प्रतिपादित किया गया है। **जीवो ब्रह्मैव नापरः; एकमेवाऽद्वितीयम्** (छान्दो० ६.२.१)। ब्रह्म ही अज्ञान की उपाधि से संयुक्त होकर जीव कहलाता है। एक ही ईश्वर (इन्द्र) माया से संयुक्त होकर विविध रूपों को प्राप्त होता है-**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते** (ऋ० ६.४७.१८)। एक ही परमात्मा प्रत्येक प्राणी में अवस्थित होकर उसी प्रकार विविध रूपों में दिखाई दे रहा है, जैसे चन्द्रमा एक होते हुए विभिन्न जलों में विविध रूपों में दिखाई देता है- **एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥** (ब्र० बि० ११) गीता में श्रीकृष्ण का कथन है कि कुछ ज्ञानयज्ञ द्वारा एकत्व (अद्वैत) भाव से और पृथकत्व (द्वैत) भाव से विराट् पुरुष की उपासना करते हैं-**ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते। एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्** (गी० ९.१५)।

५२. एकर्षि अग्नि— मुण्डकोपनिषद् में वर्णित है कि जो निष्काम कर्मनिष्ठ, श्रुतिज्ञान के ज्ञाता और ब्रह्म के उपासक एकर्षि नामक अग्नि में श्रद्धापूर्वक हविष्यान्न अर्पित करते हैं, उन्हीं को विधिपूर्वक ब्रह्मविद्या का उपदेश करना चाहिए-**क्रियावन्त श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः। तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्** (मुण्ड० ३.२.१०)। एकर्षि अग्नि का उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है। कुछ विद्वज्जन एकर्षि अग्नि की संगति आत्मज्योति रूप अग्नि से बिठाते हैं। कहीं इसे प्राणाग्नि अथवा आत्माग्नि के रूप में स्वीकार किया गया है। कुछ विद्वानों ने एकर्षि शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है-**एक एव ऋषति गच्छति** अर्थात् जो एक (अकेला) गतिमान् रहता है। कुछ विद्वानों के अनुसार सभी देवताओं में जो अग्नि विद्यमान रहती है, उसी अग्नि में ही वे सभी आहुतियों को ग्रहण या धारण करते हैं, उसे ही एकर्षि अग्नि कहा जाता है।

५३. एकादशद्वार-एकादश अक्ष— मनुष्य शरीर को एकादश द्वारों वाला अथवा एकादश अक्ष कहा गया है। यह शरीर दो आँख, दो कान, दो नासिका छिद्र, एक मुख, ब्रह्मरन्ध्र, नाभि, गुदा और उपस्थ इन ग्यारह द्वारों वाला है। वह विशुद्ध अजन्मा परमेश्वर एकादश द्वारों वाले मनुष्य शरीर में रहता है, उसका ध्यान-अनुष्ठान करके मनुष्य कभी शोक नहीं करता और जीवनमुक्त होकर बन्धनों से मुक्त हो जाता है- **पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः।**

अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते (कठ० २.२.१)। उपनिषद् में ही मनुष्य शरीर को नवद्वार (दो आँख, दो कान, दो नासिका, एक मुख, एक गुदा, एक उपस्थ) वाला भी स्वीकार किया गया है-**नवद्वारे पुरे देही हꣳसो लेलायते बहिः** (श्वेता० ३.१८)।

५४. **एषणा त्रय**— एषणा का शाब्दिक अर्थ इच्छा, चाह, प्रार्थना, याचना आदि है। सामान्य मनुष्य त्रय एषणा के बन्धन में फँसा होता है। ये एषणाएँ हैं-पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा। उपनिषद् में वर्णन है कि त्यागी पुरुष पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से ऊँचे उठकर भिक्षाचर्या करते थे- **ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति** (बृह० ४.४.२२)। ब्राह्मण पुरुष भी आत्मा को जानकर त्रय एषणाओं से ऊँचे उठ जाते हैं (बृह०३.५.१)। परिव्राजक के लिए तीनों एषणाओं, तीनों वासनाओं, ममता एवं अहंकार का परित्याग करने का निर्देश है-**एषणात्रयवासनात्रयममत्वाहंकारादिकं वमनान्** (प०प० २)।

५५. **ओङ्कार**— ओङ्कार अथवा प्रणव परमात्मा का ही नाम अथवा प्रतीक है। ॐकार-यह अकार, उकार तथा मकार तीन वर्णों से बना हुआ है। ये तीनों अक्षर तीन शक्तियों-त्रिदेवों का बोध कराते हैं-**अकारो विष्णुरुद्दिष्ट उकारस्तु महेश्वरः। मकारेणोच्यते ब्रह्मा प्रणवेन त्रयो मताः॥** इस प्रकार ॐ को ही ब्रह्म और सब कुछ स्वीकार किया गया है-**ओमिति ब्रह्म। ओमितीदꣳसर्वम्** (तैत्ति० १.८.१)। ओम् ही सभी मुमुक्षुओं का ध्येय है- **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ध्येयं सर्वं मुमुक्षुभिः** (ध्या०बि० ९)। ओम् ही उपास्य है, यही अपरिमित तेजरूप अग्नि आदित्य और प्राण है-**तस्मादोमित्यनेनैतदुपासीताऽपरिमितं तेजः। तत् त्रेधाऽभिहितमग्नावादित्ये प्राणे** (मैत्रा० ६.३७)। तीन अक्षरों के प्रणव के उच्चारण से योगी संसार के जन्म बन्धन से मुक्त हो जाते हैं-.....**त्र्यक्षरं प्रणवं तदेतदोमिति। यमुक्त्वा मुच्यते योगी जन्मसंसारबन्धनात्** (आ०बो०१)। ॐ अक्षर को जानकर जो जैसा चाहता है, वह वैसा पाता है-**एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्। एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्** (कठ०१.२.१६)।

५६. **कर्म**— कर्म का सामान्य अर्थ क्रिया अथवा गति से है। दर्शन में इसे आध्यात्मिक तत्त्व कहा गया है, जिसे आत्मा संसार में वहन करता है। संसार में कर्मचक्र सुनिश्चित तथ्य है। निखिल ब्रह्माण्ड में देव, ग्रह, नक्षत्र तथा सभी चराचर अपने-अपने कर्म के कारण स्थित और गतिमान् हैं। उपनिषद् में इन्द्रियों द्वारा की जाने वाली क्रियाओं को कर्म कहा गया है, जो 'मैं करता हूँ', इस प्रकार की अध्यात्म निष्ठा से किया गया हो-**कर्मेति च क्रियमाणेन्द्रियैः कर्माण्यहं करोमीत्यध्यात्मनिष्ठतया कृतं कर्मैव कर्म** (निरा० ११)। गीता के अनुसार कर्म तीन प्रकार के कहे गये हैं-सात्त्विक, राजसी, तामसी। वेदों में तीन प्रकार के कर्मों का विधान है-नित्य, नैमित्तिक और काम्य। गीता के अनुसार सभी प्रकृति से उत्पन्न गुणों के अनुसार वशीभूत हुए कर्म करते हैं- **कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः** (गी० ३.५)। गीता में नियत कर्म करने का आदेश है, क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है- **नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः** (गी० ३.८)। यज्ञ के लिए किये जाने वाले कर्मों के अतिरिक्त अन्य कर्मों से यह लोक कर्म बन्धन में फँसता है, अतः आसक्ति रहित होकर यज्ञ के लिए कर्म करने का निर्देश आगे है- **यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः। तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर** (गी० ३.९)। कर्म की गति अत्यन्त गूढ़ है-**गहना कर्मणो गतिः** (गी०४.१७)। उपनिषद् कर्म करते हुए सौ वर्ष जीवित रहने की बात कहते हैं और यह भी कहते हैं कि इसके अतिरिक्त मनुष्य के कल्याण का और कोई मार्ग भी नहीं है- **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे** (ईशा०२)।

५७. **कर्मफल**— मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, परन्तु कर्मफल भोगने में पराधीन है। उसे किये हुए कर्मों का फल अवश्य मिलता है। **अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्मशुभाशुभम्** (ना०पु० ३१.७०)। पिछले जन्मों का कर्मफल ही हमारा भाग्य या प्रारब्ध कहलाता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं- कर्म करने में आपका अधिकार है, फल प्राप्ति में कभी नहीं। कर्मों के फल की इच्छा मत करो, कर्म न करने में भी आसक्ति न रखो-**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि** (गी० २.४७)। कर्मफल को त्यागकर युक्त पुरुष निष्ठा से भरी शान्ति को प्राप्त होता है- **युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्** (गी० ५.१२)। ध्यान से भी कर्मफल का त्याग श्रेष्ठ है, त्याग से शीघ्र शान्ति प्राप्त होती है, जैसा कि भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है- **ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्** (गी० १२.१२)।

५८. **कवि-मनीषी**— कवि शब्द के अर्थ कोश ग्रन्थों में सर्वज्ञ, विचारवान् , प्रतिभाशाली, प्रशंसनीय, दूरदर्शी विद्वान्, त्रिकालज्ञ पुरुष, मनीषी आदि दिये गये हैं। मनीषी शब्द के अर्थ पंडित, विद्वान्, बुद्धिमान्, मेधावी, स्तोता आदि दिये गये हैं। उपनिषदों में उस परब्रह्म परमात्मा को ही कवि-मनीषी कहकर प्रतिपादित किया गया है- **कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतो** (ईश० ८)। गीता में कहा गया है कि क्या कर्म है और क्या अकर्म, इसमें कविगण (बुद्धिमान्) भी मोहित हो जाते हैं- **किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः** (गी० ४.१६)। गीता ८.९ में परमेश्वर को कवि कहा गया है। कवि त्रिकालदर्शी एवं सर्वज्ञ होता है। परमेश्वर कवि है, तो सृष्टि उसकी कविता, निर्माता होने के कारण भी उसे कवि कहते हैं। उस पुराण पुरुष, सर्वेश्वर, सब देवों के उपास्य देव को कवि कहकर उपन्यस्त किया गया है-**कविं पुराणं पुरुषं सनातनं सर्वेश्वरं सर्वदेवैरुपास्यम्** (महो० ४.७१)।

५९. **कामधेनु**— यह मान्यता है कि समुद्र मंथन के चौदह रत्नों में एक रत्न कामधेनु भी थी, जिससें जो माँगा जाय, उसकी पूर्ति हो जाती थी। सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति करने वाली इस धेनु (गाय) को कामधेनु कहा गया। वसिष्ठ ऋषि के पास भी ऐसी ही एक कामधेनु थी, जिसे शबला या नंदिनी नाम से जाना जाता था। जमदग्नि ऋषि के पास भी एक कामधेनु थी, जिसके बल पर उन्होंने हैहयराज का भव्य स्वागत किया था।

६०. **कूटस्थ**— 'कूटस्थ' शब्द के अर्थ हैं- सर्वोच्च स्थित, गूढ़ स्थित अथवा गुप्त रूप में स्थित, अन्तर्व्याप्त, अन्तर्यामी, परमेश्वर, जीवात्मा, सर्वोपरि स्थित, अचल, अविनाशी। न्याय दर्शन में परमेश्वर को कूटस्थ कहा गया है, जो जन्म-गुण से रहित है। सांख्य दर्शन की मान्यता के अनुसार कूटस्थ आत्मा-पुरुष है, जो परिमाणरहित है तथा जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में एक समान है, निर्लिप्त और द्रष्टा मात्र है। शाक्त परम्परा के अनुसार सर्वोच्च अन्तिम अवस्था में विष्णु या शिव एक ही परमात्मा है। केवल सृष्टिकाल में ये भिन्न होते हैं। कूटस्थ पुरुष जीवात्माओं का समष्टिगत रूप है। अव्यक्त पुरुष को भी कूटस्थ कहा गया है। जड़ प्रकृति के संसर्ग से परे अपने स्वरूप में स्थित मुक्त आत्मा कूटस्थ है। गीता के अनुसार इस लोक में क्षर और अक्षर दो प्रकार के पुरुष हैं। सब प्राणियों के शरीर तो क्षर हैं और कूटस्थ (आत्मा-पुरुष) अक्षर कहा जाता है-**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते** (गी० १५.१६)। उपनिषद् ज्ञान के अनुसार ब्रह्मा से लेकर चींटी तक सब प्राणियों की बुद्धि में रहने वाला और उनके स्थूल-सूक्ष्म आदि देहों का नाश होने पर जो शेष रहा दिखाई देता है, वह कूटस्थ कहा जाता है-**ब्रह्मादिपिपीलिकापर्यन्तं सर्वप्राणिबुद्धिष्वविशिष्टतयोपलभ्यमानः सर्वप्राणिबुद्धिस्थो यदा तदा कूटस्थ इत्युच्यते** (स०सा० १०)।

६१. **क्रतु**— क्रतु शब्द के पर्याय कोश ग्रन्थों में यज्ञ, अश्वमेध, विवेक, प्रज्ञा, संकल्प, इच्छा आदि मिलते हैं। वह परम पुरुष क्रतुमय (संकल्पमय) ही है- **अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः** (छान्दो० ३.१४.१)। उपनिषद् में लिखा है- छन्द, यज्ञ, क्रतु, (अग्निष्टोम आदि विशिष्ट यज्ञ कर्म), व्रत जो भी वेद वर्णित हैं, उनका अधिष्ठाता वह मायावी पुरुष है- **छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति। अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः** (श्वेता० ४.९)। वह परम पुरुष सम्पूर्ण क्रतुओं द्वारा यजन किया जाता है-
स सर्वैः क्रतुभिर्यजते (अव्यक्तो० ७.१)।

६२. **क्षेत्रज्ञ**— शरीर रूपी क्षेत्र का ज्ञाता, सर्वसाक्षी अथवा जीवात्मा के अर्थ में क्षेत्रज्ञ शब्द प्रयुक्त हुआ है। शरीर के अधिष्ठाता, आत्मा अथवा परमात्मा के पर्याय रूप में भी क्षेत्रज्ञ प्रयुक्त हुआ है। उपनिषद् के अनुसार शरीर में जो प्रकाशमान चैतन्य स्वरूप है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है- **तत्र यत् प्रकाशते चैतन्यं स क्षेत्रज्ञ इत्युच्यते** (स०सा० ८) उस परमात्मा का अंश ही सब चेतन, प्राणियों में जीवात्मा बना है। वही प्रत्येक शरीर में क्षेत्रज्ञ रूप में विद्यमान है- **अस्यांशोऽयं यश्चेतनमात्रः प्रतिपूरुषं क्षेत्रज्ञः** (मैत्रा० २.५)। यही क्षेत्रज्ञ लिङ्ग शरीर में संकल्प, अभिमान तथा अध्यवसाय के रूप में प्रतिष्ठित है। यह विशुद्ध, नित्य, मुक्त, असंग तथा प्रजापति रूप है। गीता में भगवान् कहते हैं- यह शरीर क्षेत्र कहा जाता है, इसे जानने वाले को तत्त्वज्ञाता, विद्वान्, क्षेत्रज्ञ कहते हैं। सब क्षेत्रों का मुझे ही क्षेत्रज्ञ जान। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के भेद का जो ज्ञान है, वही यथार्थ ज्ञान है-**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम** (गी० १३.१-२)। शरीर रूपी क्षेत्र का पूरा-पूरा ज्ञान रखने वाला तथा इसका अधिकारी ही क्षेत्रज्ञ है।

६३. **गन्धर्व**— देवों के एक भेद अथवा अर्धदेवों के रूप में गन्धर्वों को स्वीकार किया गया है। निरुक्त के अनुसार 'गा' या 'गो' को धारण करने वाला होने से इन्हें गन्धर्व कहा गया है। यहाँ 'गा' या 'गो' का भावार्थ पृथ्वी, किरण, वाणी इत्यादि ग्रहण किया जाता है। ऐसी मान्यता है कि ये देवों के पास गाने वाले हैं, अतः वाणी या कण्ठ को धारण करने वाले हैं। वेदों में दो प्रकार के गन्धर्वों का उल्लेख हुआ है- एक द्युस्थानीय, दूसरे अन्तरिक्ष स्थानीय। द्युस्थानीय गन्धर्वों को दिव्य गन्धर्व कहा गया है। ये सोम के रक्षक, रोगों के चिकित्सक, सूर्य अश्वों के वाहक तथा स्वर्गीय ज्ञान प्रकाशक माने गये हैं। अन्तरिक्ष स्थानीय गन्धर्व नक्षत्रों के प्रवर्त्तक और सोम के रक्षक माने गये हैं। उपनिषद् तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में गन्धर्वों के दो भेद उल्लिखित हैं- देव गन्धर्व और मनुष्य गन्धर्व। शब्दार्थ चिन्तामणि में गन्धर्वों के दो भेद-दिव्य तथा मर्त्य वर्णित हुए हैं। अग्निपुराण में गन्धर्वों के बारह गण माने गये हैं- अभ्राज्य, अंघारि, रंभारि, सूर्यवर्चा, कृधु, हस्त, सुहस्त, स्वन्, मूर्धवान्, महामना, विश्वावसु और कृशानु। गंधर्वों का लोक गुह्यक लोक के ऊपर और विद्याधर लोक के नीचे वर्णित हुआ है।

६४. **गायत्री**— उपनिषद् के अनुसार **तत्प्राणाःस्तत्रे तद्यद्गयाःस्तत्रे तस्माद्गायत्री** (बृह० ५.१४.४); अर्थात् इसने प्राणों का त्राण किया, इसी से यह गायत्री है। **'गयान् (प्राणान्) त्रायते इति गायत्री'** व्युत्पत्ति के अनुसार प्राणों का त्राण करने वाली शक्ति को गायत्री कहा गया है। इसीलिए गायत्री को प्राणोपासना भी कहा गया है। गायत्री को प्राणरूप में स्वीकार किया गया है- **गायत्री वै प्राणः** (शत०ब्रा० १.३.५.१५)। गायत्री को अग्नि,तेज और ब्रह्मवर्चस भी कहकर उपन्यस्त किया गया है- **गायत्री वाऽग्निः** (शत०ब्रा० १.८.२.१३), **तेजो वै गायत्री** (तै०सं० ३.२.९.३), **गायत्री ब्रह्मवर्चसम्** (मै०ब्रा० ४.३.१)। आठ-आठ अक्षरों के तीन पदों वाले छन्द को गायत्री छन्द कहा गया है। गायत्री को छन्दों में सर्वोत्तम माना गया है- **गायत्री वै छन्दसामग्रं ज्यैष्ठ्यम्** (जै०ब्रा० २.२२७)। त्रिकाल संध्या में इसी मंत्र के जप का विधान रहा है। गायत्री को ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों शक्तियों का रूप कहकर प्रतिपादित किया गया है- **गायत्र्येव परो विष्णुर्गायत्र्येव परः शिवः। गायत्र्येव परो ब्रह्मा गायत्र्येव त्रयी ततः** (स्कं० पु०काशी खं०पू०४.९.५८)। उपनिषद् का वर्णन है कि यह जो भी कुछ है, वस्तुतः वह गायत्री ही है- **गायत्री वा इदꣳ सर्वं भूतं यदिदं किंच** (छान्दो० ३.१२.१) यह सम्पूर्ण पृथ्वी भी गायत्री ही है, जिसमें समस्त प्राणी प्रतिष्ठित हैं- **या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिवी। अस्याꣳ हीदꣳ सर्वं भूतं प्रतिष्ठितम्** (छान्दो० ३.१२.२)। गायत्री को वेदमाता, देवमाता तथा विश्वमाता कहा गया है। इनकी उपासना से व्यक्ति आयु, प्राण, प्रजा (सन्तान), पशु, कीर्ति, धन एवं ब्रह्मवर्चस की प्राप्ति का अधिकारी बन जाता है-
स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् (अथर्व० १९.७१.१)।

६५. **गुरु-शिष्य**— गायत्री मंत्र का उपदेष्टा गुरु कहलाता है। अध्यात्म विद्या या ब्रह्म विद्या प्रदान करने वाले आचार्य भी गुरु कहलाते हैं। गुरु जिस पुरुष को गायत्री या अन्य मन्त्र की दीक्षा देता है, वह शिष्य कहा जाता है। गुरु शिष्य परम्परा भारतवर्ष में अनादि काल से रही है। जिसका कोई गुरु नहीं होता था, उसे 'निगुरा' कहकर तिरस्कृत किया जाता था। गुरु सामान्य मनुष्यों के गृहस्थान से बहुत दूर एकान्त स्थान में जहाँ विद्यार्थियों को पढ़ाते थे- वह स्थान गुरुकुल कहा जाता था। गुरु तप-तितिक्षा द्वारा अपने व्यक्तित्व में प्रखरता-भारीपन या गुरुता के कारण यह प्रतिष्ठा पाता था। मनुस्मृति के अनुसार जो विप्र निषेक (गर्भाधान) आदि संस्कारों को यथाविधि कराता है और अन्न से पोषण करता है, वह गुरु कहलाता है- **निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि। सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते।** (म०स्मृ०२.१४२) इस परिभाषा से माता-पिता पहले गुरु हैं, फिर पुरोहित आदि। युक्तिकल्पतरु में अच्छे गुरु के अनेक लक्षण वर्णित हैं। चाणक्यनीति के अनुसार द्विजातियों के गुरु अग्नि, वर्णों के गुरु ब्राह्मण, स्त्रियों के गुरु पति और अतिथि सबके गुरु हैं- **गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः।**
पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वेषामतिथिर्गुरुः (चा०नी०)। एक शिष्य के अन्दर सच्चे गुरु की प्राप्ति की जितनी उत्कंठा होती है, उससे कहीं अधिक एक गुरु के अन्दर सच्चे शिष्य की तलाश की व्याकुलता रहती है। अतः शिष्य को निरन्तर अपनी पात्रता के विकास का उद्यम करते रहना चाहिए। गुरु ग्रन्थ साहिब के अनुसार चाहे सौ चाँद चढ़ आयें, चाहे सहस्र सूर्यों का उदय हो जाये, तो भी गुरु के बिना अँधेरा ही रहता है। उपनिषद् ज्ञान के अनुसार समस्त

शरीरों में स्थित चैतन्य ब्रह्म की प्राप्ति कराने वाला गुरु ही उपास्य है और विद्या प्राप्त कर संसार के प्रपञ्चों का नाश होकर गम्भीर ज्ञानरूप जो ब्रह्म (अन्तर) में शेष रहे, वह शिष्य है- **सर्व शरीरस्थ चैतन्यब्रह्म प्रापको गुरुरुपास्यः। शिष्य इति च विद्याध्वस्तप्रपञ्चावगाहित ज्ञानावशिष्टं ब्रह्मैव शिष्यः** (निरा० ३०-३१)

६६. **गृह्यसूत्र**— गृह्य का शाब्दिक अर्थ है- गृह संबंधी या गृहस्थी से संबंधित। अत्यन्त थोड़े अक्षर वाले, सारगर्भित, व्यापक, अस्तोभ तथा अनवद्य (वाक्य या वाक्यांश) सूत्र कहे जाते हैं- **स्वल्पाक्षरमसंदिग्ध सारवद् विश्वतो मुखम्। अस्तोभनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥** गृह्यसूत्र वैदिक पद्धति के वे शास्त्र हैं, जिनमें गृहस्थों के लिए मुंडन, यज्ञोपवीत, विवाह आदि षोडश संस्कारों के नियम-निर्देश और यज्ञादि कार्यों का वर्णन है-**गृह्यन्ते संगृह्यन्ते वेदविहितानि कर्मकाण्डानि यत्र।** गृह्यसूत्रों में प्रसिद्ध गृह्यसूत्र निम्न हैं-१. आश्वलायन, २. पारस्कर, ३. शांखायन, ४. मानव और ५. गोभिल। इनमें प्रतिपाद्य विषयों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है-प्रथम भाग में छोटे पारिवारिक यज्ञों का वर्णन है। दूसरे में षोडश संस्कारों की विधि-व्यवस्था तथा तीसरे में श्राद्ध, पितृयज्ञ तथा गृहनिर्माण आदि का वर्णन है। वैदिक शाखाओं के उपलब्ध गृह्यसूत्रों का वर्णन इस प्रकार है-ऋक् सम्बन्धी- १. शाङ्खायन, २. शाम्बव्य, ३. आश्वलायन, साम सम्बन्धी- ४. गोभिल, ५. खादिर, ६. जैमिनि; शुक्ल यजुर्वेद सम्बन्धी- ७. पारस्कर; कृष्णयजुर्वेद सम्बन्धी- ८. आपस्तम्ब, ९. हिरण्यकेशी, १०. बौधायन, ११. भारद्वाज, १२. मानव, १३ वैखानस, १४. काठक, १५. वाराह; अथर्ववेद सम्बन्धी-१६. कौशिक।

६७. **ग्रह-नक्षत्र**— आकाशमण्डल के तारे जो अपने सौरमण्डल में सूर्य की परिक्रमा करते हैं, ग्रह कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में किसी निर्धारित कक्षा में किसी सूर्य की परिक्रमा लगाने वाले तारे ग्रह कहे जाते हैं। फलित ज्योतिष् के अनुसार अपने सौरमण्डल में नौ ग्रह हैं- सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु। किसी-किसी बड़े ग्रह के साथ उपग्रह भी हैं, जो अपनी कक्षा में अपने ग्रह की परिक्रमा करते हैं।

नक्षत्र तारों के वे समूह या गुच्छक हैं, जो चन्द्रमा के पथ में (चन्द्रमा के सापेक्ष) किन्तु अपने सौरमण्डल से बहुत दूर दिखाई देते हैं। चन्द्रमा पृथ्वी की परिक्रमा २७-२८ दिनों में करता है, इस रीति से चन्द्रमा का पथ २७ नक्षत्रों में विभाजित किया गया है। चन्द्रमा के पथ की तरह सूर्य पथ को १२ राशियों में विभक्त किया गया है। नक्षत्र या तारे ग्रहों की तरह छोटे-छोटे पिण्ड नहीं हैं, वे बड़े-बड़े सूर्य हैं, जो हमारे सूर्य से बहुत दूरी पर हैं।

६८. **चतुराश्रम**— ऋषियों ने मनुष्य जीवन के लिए चार आश्रम निर्धारित किये थे- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। मनुष्य के जीवनकाल को लगभग १०० वर्ष मानकर प्रत्येक आश्रम की अवधि २५ वर्ष रखी गयी थी। उपनयन के अनंतर २५ वर्ष आयु तक की अवधि बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में गुरुकुल में वास करता था। यह अवधि वेद, वेदाङ्ग आदि सम्पूर्ण ज्ञान संचय और शक्ति संचय के लिए थी। गुरुकुल में ब्रह्मचर्य आश्रम पूरा करने पर घर में उसे गृहस्थ आश्रम में प्रवेश दिया जाता था। यह अवधि प्राप्त हुए ज्ञान का समाज में व्यावहारिक प्रयोग हेतु और सेवा-सत्कार द्वारा पुण्य संचय के लिए थी। तदनन्तर वानप्रस्थ आश्रम में, वनों में रहकर इन्द्रिय निग्रह तथा मानसिक पुरुषार्थ किया जाता था। यह अवधि कठोर आत्म साधना के लिए थी। वानप्रस्थ के २५ वर्ष पूरा करने के बाद व्यक्ति घर और स्वजनों को छोड़कर परिव्रज्या के लिए निकल पड़ता था। यह अवधि आत्म उत्कर्ष और मोक्ष प्राप्ति के प्रयासों के लिए थी और जीवन के व्यावहारिक अनुभवजन्य ज्ञान के द्वारा गृहस्थों के मार्गदर्शन के लिए थी। ये चारों आश्रम जीवन की चारों अवस्थाओं-बाल्यावस्था, यौवनावस्था, प्रौढ़ावस्था और वृद्धावस्था से सम्बद्ध थे। आश्रमों का सम्बन्ध जीवन के चार उद्देश्यों-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से भी था। ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध धर्म से था। गृहस्थ का अर्थ और काम से, वानप्रस्थ का उपराम और मोक्ष की तैयारी से और संन्यास का सम्बन्ध मोक्ष से था। आश्रमोपनिषद् में ब्रह्मचारियों, गृहस्थों, वानप्रस्थों तथा संन्यासियों के चार-चार निम्न भेद वर्णित हैं- ब्रह्मचारी-गायत्री, ब्राह्मण, प्राजापत्य तथा बृहन्। गृहस्थ-वार्ताकवृत्ति, शालीनवृत्ति, यायावर और घोर संन्यासिक। वानप्रस्थ-वैखानस, उदुम्बर, बालखिल्य और फेनप तथा संन्यासी-कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस।

६९. **चतुर्युग**—सृष्टि के कालचक्र को चार युगों में विभक्त किया गया है- कृतयुग या सतयुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग एवं कलियुग। इसमें कलियुग ४,३२०००, द्वापरयुग ८,६४,०००, त्रेतायुग १२,९६,००० एवं सतयुग १७,२८,००० वर्षों का माना जाता है। चारों युगों को मिलाकर ४३,२०,००० वर्षों की एक चतुर्युगी होती है। एक हजार चतुर्युगी का

ब्रह्मा का एक दिन और इतनी ही बड़ी एक रात होती है। एक मान्यता यह भी है कि कलियुग १२०० वर्ष, द्वापरयुग २४०० वर्ष, त्रेतायुग ३६०० वर्ष और सतयुग ४८०० वर्षों का होता है। एक चतुर्युगी १२००० वर्षों की होती है। ७१ चतुर्युगी का एक मन्वन्तर तथा १४ मन्वन्तरों का एक कल्प होता है। सतयुग में धर्म का प्रायः पूर्णांश, त्रेतायुग में त्रिगुण चतुर्थांश, द्वापर युग में अर्धांश तथा कलियुग में चतुर्थांश ही रह जाता है। सतयुग में सत्त्वगुण की प्रधानता तथा कलियुग में तमोगुण की प्रधानता होती है। महाभारत के अनुसार कृतयुग में नारायण का वर्ण श्वेत होता है, त्रेता में पीत वर्ण, द्वापर में रक्तवर्ण तथा कलियुग में कृष्णवर्ण होता है।

७०. **चतुर्वर्ण**— मनुष्य मात्र को कर्म के अनुसार चार विभागों में बाँटा गया- १. समाज में ज्ञान बाँटने वाले- ब्राह्मण, २. समाज की रक्षा करने वाले-क्षत्रिय, ३. समाज में द्रव्य साधन की पूर्ति करने वाले-वैश्य, ४. समाज में अपनी शारीरिक सेवा देने वाले-शूद्र। इस विभाजन को वर्ण व्यवस्था कहा गया। शतपथ ब्राह्मण में भी इस तथ्य की पुष्टि होती है- **चत्वारो वै वर्णाः। ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रः** (शत०ब्रा० ५.५.४.९)। महाभारत के शान्तिपर्व में वर्णन है कि वर्णों में कोई ऊँच-नीच का भेद नहीं है, क्योंकि यह सारा संसार ब्रह्ममय है। ब्रह्मा ने सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की और फिर कर्मों के अनुसार वर्ण बनते गये- **न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्। ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्** (१८८.१०)। गीता में भगवान् ने कहा है कि गुण-कर्म के विभाग के अनुसार मैंने चार वर्ण बनाये हैं- **चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः** (गी०४.१३)।

७१. **चतुर्व्यूह**—चार पदार्थों या मनुष्यों का समूह चतुर्व्यूह कहलाता है। जैसे- १. राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न एवं २. कृष्ण, बलदेव, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। पुराणों में वर्णन है कि ब्रह्मा ने सृष्टि कार्य हेतु वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध, इन चार रूपों में अवतार लिया था; अतः उन्हें चतुर्व्यूह कहते हैं। मुद्गलोपनिषद् में तीन मन्त्रों द्वारा चतुर्व्यूह भगवान् के स्वरूप का वर्णन है- **एतेनैव च मन्त्रेण चतुर्व्यूहो विभाषितः** (मुद्०१.४)।

७२. **चमस**—चमस सोमपान करने या सोम वितरण करने का एक यज्ञपात्र होता था, जो चम्मच के आकार का तथा पलाश, उदुम्बर, खदिर आदि लकड़ी का बनता था। यह घृताहुति देने में भी प्रयुक्त होता था। वाचस्पत्यम् में चमस को सोमपान पात्र के रूप में स्वीकार किया गया है- **पलाशादिकाष्ठ जाते यज्ञीयपात्रभेदे तल्लक्षणभेदादिकं यज्ञपार्श्वे। सोमपानपात्रभेदे च** (वाच०)। अच्छावाक्, उद्गाता तथा अध्वर्यु द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले चमस क्रमशः अच्छावाक् चमस, उद्गातृ चमस तथा चमसाध्वर्यु कहलाते हैं।

७३. **चातुर्मास्य-आग्रयण**— चार मासों में पूरा किया जाने वाला एक विशेष श्रौत याग चातुर्मास्य कहलाता था। वसन्त और शरद् ऋतुओं में नवीन अन्न की इष्टि की जाती है, यह आग्रयण यज्ञ कहलाता है। वैदिक कल्प के अनुसार चार मास के प्रमुख तीन मौसमों के आरम्भ में चातुर्मास्य यज्ञ किया जाता था। प्रथम वैश्वदेव फाल्गुनी पूर्णिमा को, द्वितीय वरुण प्रघास आषाढ़ी पूर्णिमा को तथा तृतीय साकमेध कार्त्तिकी पूर्णिमा को होता था। वर्ष भर सभी संधियों में यज्ञ द्वारा संधिकाल को ठीक किया जाता था। रात-दिन की संधियों में अग्निहोत्र, पूर्णमासी तथा अमावस्या की संधियों में दर्श-पूर्णमास और ऋतु के आरंभ की संधियों में चातुर्मास्य यज्ञ किया जाता था (शत०ब्रा०१.६.३.३६)। जो चातुर्मास्य यज्ञ करता है, उसका पुण्य कभी नाश नहीं होता- **अक्षयः ह वै सुकृतं चातुर्मास्ययाजिनो भवति** (शत० ब्रा०२.६.३.१)। जो चातुर्मास्य यज्ञ करता है, वह परमधाम और परमगति को प्राप्त होता है- **स परममेव स्थानं परमां गतिं गच्छति चातुर्मास्ययाजी** (शत०ब्रा०२.६.४.९)।

७४. **चित्त**— अन्तःकरण की चार वृत्तियों- मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार में से एक वृत्ति, जो अनुसंधानात्मक कही गयी है, चित्त कहलाती है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार मन, बुद्धि और अहंकार तीनों से मिलकर चित्त बनता है। योग दर्शन के अनुसार चित्त की पाँच वृत्तियाँ होती हैं- प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। चित्त की पाँच प्रकार की भूमियाँ मानी गयी हैं- क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, निरुद्ध एवं एकाग्र। योग के लिए निरुद्ध एवं एकाग्रचित्त होना चाहिए। चित्त वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। मैत्रेय्युपनिषद् में चित्त की महत्ता वर्णित है कि चित्त ही संसार है, अतः उसे प्रयत्नपूर्वक शुद्ध करना चाहिए। जिसका जैसा चित्त होता है, वह वैसा ही बन जाता है, यह सनातन रहस्य है। चित्त के शांत होने पर शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। चित्त जितना इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होता है, उतना यदि परमेश्वर में हो जाय, तो बन्धन से कौन मुक्त न हो जाय (मैत्रा०४.३-५)। चित्त वृत्तियों के विनष्ट होने

पर चित्त अपने उत्पत्ति स्थान में स्वयमेव ही शान्त हो जाता है (मैत्रा०४.१)। बुद्धि विषय ग्रहण करने से, चित्त चेतना से, अहन्ता अहंकार से अद्‌भुत (विशिष्ट) है- **बुद्ध्या बुद्ध्यति। चित्तेन चेतयति। अहंकारेणाहंकरोति** (ना०प०६.३)। उपनिषद् में चित्तशुद्धि के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि राग-द्वेष आदि से युक्त चित्त ही संसाररूप है, उसके दोषों से मुक्त हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति होना कहा जाता है- **चित्तमेव ही संसारो रागादिक्लेशदूषितम्। तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते** (महो० ४. ६६)।

७५. **छन्द**— अक्षरों की गणना के अनुसार वैदिक वाक्यों का जो भेद किया गया है, वह छन्द कहलाता है। ऋषियों के अन्त:करण में प्रस्फुटित मन्त्रों को मूर्त रूप देने का कार्य जिन वर्ण समूहों द्वारा सम्पन्न हुआ, वह छन्द कहलाया। वर्ण समूहों का यह निश्चित परिमाण ही छन्द है। इसके मुख्य सात भेद हैं- गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती। इनमें प्रत्येक के आठ-आठ भेद नियत किये गये हैं-आर्षी, दैवी, आसुरी, प्राजापत्या, याजुषी, साम्नी, आर्ची और ब्राह्मी। यजुर्वेद की कण्डिकाओं में सात मुख्य छन्द के अतिरिक्त भी कुछ छन्दों की परिगणना की गयी है- अतिजगती, शक्करी, अतिशक्करी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति, अतिधृति, कृति, प्रकृति, आकृति, विकृति, संकृति, अभिकृति और उत्कृति। इन वैदिक छन्दों का निर्धारण वर्ण गणना के आधार पर ही हुआ है, इसमें मात्रा अर्थात् लघु-गुरु का विचार नहीं किया गया है। आगे चलकर काव्य में प्रत्येक पाद में मात्राओं के आधार पर छन्दों की व्युत्पत्ति भी हुई है। इन भेदों के आधार पर संस्कृत और हिन्दी भाषा के अनेक छन्दों के अनेक भेदों का वर्णन मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार एक समय देवताओं ने मृत्यु के भय से तीनों वेदों में प्रवेश किया और भिन्न-भिन्न छन्दों से अपने को आच्छादित किया। अत: जो आच्छादन करे, वही छन्द है, यही **'छन्दस्'** शब्द की व्युत्पत्ति है- **देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्रविशꣳस्ते छन्दोभिरच्छादयन्यदेभिराच्छादयꣳस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्** (छान्दो० १.४.२)।

७६. **जगत्**—परमात्मा की बनायी यह दुनिया अथवा यह संसार जगत् कहलाता है। यह दृश्य जगत् है, इससे परे अदृश्य जगत् उससे अनन्त गुना व्यापक है। परमात्मा को जगत् ईश, जगत् पति या जगत् पिता भी कहते हैं। जगत् का कारण भी वह ब्रह्म ही है। सूर्य को इस जगत् की आत्मा कहकर निरूपित किया गया है- **सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च** (साम०६२९)। यह सब (जड़-चेतन) की आत्मा (शरीर) जगत् है- **सर्वं वा इदमात्मा जगत्** (शत०ब्रा०४.५.९.८)। आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। यह जगत् मिथ्या और मायावी है- **ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या**। जब तक मनुष्य संसार में लिप्त है, तब तक संसार की सत्ता है। जब मोह नष्ट हो जाता है, तब संसार भी नष्ट हो जाता है। आचार्य रामानुज के अनुसार ब्रह्म का शरीर यह जगत् ही है। ब्रह्म ही जगत् रूप में परिणत हुआ है। जगत् सत्य है, मिथ्या नहीं है। दर्शन ग्रन्थ के अनुसार यह जगत् तीन गुणों (सत्, रज, तम) के संयोग का परिणाम है। इस जगत् को अग्निषोमात्मक (अग्नि तथा सोम के संयोग से उत्पन्न) माना गया है- **अग्नीषोमात्मकं जगत्** (बृ०जा०२.७)। यह सम्पूर्ण जगत् ही ब्रह्म है, इनसे भिन्न कुछ भी नहीं है- **सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन** (निरा० ९)।

७७. **जड़-चेतन**— जगत् में हलचल और वृद्धि करने वाले प्राणियों, जीवों आदि को चेतन कहा गया है। निर्जीव तथा निश्चेष्ट पड़े रहने वाले पदार्थों को अचेतन या जड़ कहा गया है। पञ्च भौतिक तत्त्वों से बनी इस सृष्टि को जड़ जगत् कहते हैं। जड़ पदार्थ चेतना विहीन होते हैं। वह परम पुरुष-परमात्मा चेतन है, उसके अंश आत्मा या जीवात्मा भी चेतन हैं। चैतन्यता इसका गुण है। भोजनादि की चेष्टा करने वाले चेतन प्राणियों को 'साशन' और जड़ को 'अनशन' कहा गया है। इन्हें ही जङ्गम और स्थावर कहा जाता है। अचल तथा अपने स्थान पर स्थित रहने वाले पदार्थ स्थावर कहे जाते हैं। इसका विपरीतार्थक जङ्गम है। जड़-चेतन को ही अचर और चर कहा जाता है। जड़ या अचर पदार्थों का एक गुण जड़त्व है, जिसके कारण वे जहाँ के तहाँ पड़े रहते हैं, हिल-डुल नहीं पाते।

७८. **जरा**— मनुष्य के जन्म के बाद शैशव अवस्था और यौवन अवस्था प्राप्त होती है। यौवन बीतने पर जरा (जीर्णता-शिथिलता) आने लगती है। तत्पश्चात् अन्त में मृत्यु के रूप में शरीर समाप्त होता है- **देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा** (गी०२.१३)। गीता में भगवान् कहते हैं कि जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि ये जीव के चार दु:ख हैं, इनका तथा अपने दोषों का अनुदर्शन मनुष्य को करना चाहिए- **जन्ममृत्युजराव्याधिदु:खदोषानुदर्शनम्** (गी०१३.८)।

जब मनुष्य के बाल सफेद होने लगते हैं, तो उसे जराबोध होने लगता है, परन्तु पुण्य कर्मों (यज्ञादिकों) के परिणाम स्वरूप प्राप्त स्वर्गलोक में किञ्चित् मात्र भी भय नहीं है, वहाँ मृत्यु या जरा का भय नहीं रहता - **स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति** (कठ०१.१.१२)।

७९. **जाग्रत्,स्वप्न,सुषुप्ति**— व्यक्ति का जीवन जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति- इन तीन अवस्थाओं में होता हुआ व्यतीत होता है। व्यक्ति का अधिकांश समय जाग्रत् अवस्था में विविधविध कार्यों को सम्पन्न करते हुए व्यतीत होता है। वह जब जागरूक स्थिति में ज्ञानेन्द्रियों (आँख, कान आदि), कर्मेन्द्रियों (हाथ, पैर आदि) से कार्य करता हुआ, सुख-दु:ख, कर्त्ता-भोक्ता की अनुभूति करता है, तो यही जाग्रत् अवस्था कहलाती है।

जाग्रत् अवस्था में कार्य करते हुए जब व्यक्ति थककर सो जाता है, उस स्थिति में बाह्य जगत् से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता; किन्तु अचेतन मन की सक्रियता से वह 'स्वप्न' लोक में विचरण करता है, तरह-तरह के स्वप्न देखता है- यह 'स्वप्नावस्था' है। स्वप्नावस्था में देखे गये दृश्य आदि की स्थिति जगने के बाद समाप्त हो जाती है। इस स्थिति में स्थूल शरीर सक्रिय नहीं होता; किन्तु सूक्ष्म शरीर सक्रिय रहता है, वही स्वप्नावस्था के भय-शोक-आनन्द आदि की अनुभूति करता है।

तीसरी अवस्था दोनों से भिन्न होती है। स्थूल शरीर की सक्रियता तो होती ही नहीं, सूक्ष्म शरीर भी सक्रिय नहीं होता-स्वप्न का अभाव होता है, उस स्थिति में प्रगाढ़ निद्रा रहती है, जिसमें स्वप्न आदि भी नहीं आते, परन्तु उठने के बाद तृप्ति की अनुभूति होती है, व्यक्ति की सहज अभिव्यक्ति होती है-आज खूब सोया, खूब आनन्द आया, कुछ भी ज्ञात न हुआ। कुछ न ज्ञात होने के बावजूद जो तृप्ति-आनन्द की अनुभूति होती है, यही 'सुषुप्ति' अवस्था है। इस समय कारण शरीर को आनन्द की अनुभूति होती है। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों की सक्रियता की स्थिति ही जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की अवस्था है।

८०. **जातवेदा**—यह अग्नि का ही पर्याय है। कहीं-कहीं सूर्य के पर्याय में भी जातवेदा शब्द का प्रयोग हुआ है। अरणियों में जातवेदा अग्नि सन्निहित है- **अरण्योर्निहितो जातवेदाः** (कठो०२.१.८)। केनोपनिषद् में अग्निदेव को ही जातवेदा सम्बोधन प्रदान किया गया है-

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति (केन०३.३)।

८१. **जीवन्मुक्त**—भारतीय दर्शन जगत् में 'मोक्ष' को मानव-जीवन का चरम पुरुषार्थ (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) माना गया है। वेदान्त दर्शन 'मोक्ष' को ज्ञान साध्य मानता है। ज्ञान (आत्मज्ञान-ब्रह्मज्ञान) के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती- **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः** । जीव द्वारा यथार्थरूप से अपने स्वरूप को जान लेना ही मोक्ष है। जब तक जीव माया-अविद्या की (आवरण-विक्षेप) शक्तियों से बँधकर अपने को संसारी समझता रहता है, तब तक इस भवसागर-संसार में इधर-उधर भटकता रहता है। जब श्रवण-मनन-निदिध्यासन द्वारा अपने आत्म स्वरूप-ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है, तब वह मुक्त हो जाता है। ज्ञान के उदय और अज्ञान के विनाश का ही दूसरा नाम मोक्ष है।

वस्तुत: जीव (आत्मा) स्वभाव से ही शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप वाला होता है। मुक्ति की न उत्पत्ति होती है, न प्राप्ति। जब कोई सद्गुरु मिल जाता है और ज्ञान का उपदेश करता है, तो साधक का भ्रमात्मक अज्ञान दूर हो जाता है और विवेक-ज्ञान का उदय हो जाता है, यही मुक्ति की अवस्था है। वेदान्त ग्रन्थ में इसे '**ग्रेवेयकन्याय**' द्वारा समझाया गया है। गले में पड़ी सुवर्ण-जंजीर को भ्रमवश बाहर ढूँढ़-ढूँढ़कर परेशान हुए व्यक्ति को जब कोई बुद्धिमान् गले में होने का संकेत करता है, तो उसे ध्यान आता है और सुवर्ण-जंजीर पाकर बड़ा प्रसन्न होता है।

इस प्रकार 'मुक्ति' के आनन्द में डूबा हुआ साधक सांसारिक हर्ष-विषाद से ऊपर उठकर प्रसन्नतापूर्वक जीवन -यापन करता है, यही 'जीवन्मुक्त' की स्थिति है। दूसरों के देखने में वह सामान्य व्यक्तियों जैसा आचरण करता दिखता है; परन्तु वस्तुस्थिति उससे भिन्न होती है। वह कर्त्ता-भोक्ता के भाव से ऊपर उठ जाता है, उसके कर्म का पाप-पुण्य के रूप में कोई प्रतिफल नहीं होता, जो प्रारब्ध कर्म हैं, उन्हीं के अनुसार जीवनक्रम चलता रहता है। दग्ध बीज की तरह उनसे नये कर्म का अंकुरण नहीं होता। कुलाल चक्र (कुम्हार के चक्र) की तरह जीवन क्रम, पहले की गतिशीलता के क्रम में गतिशील रहता है। प्रारब्ध कर्मों के क्षीण हो जाने पर उसका हाड़-

मांस का शरीर अपने पंचतत्त्वों में विलीन हो जाता है और फिर उसका पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि पुनर्जन्म में जिस कर्म बीज की अनिवार्यता होती है, वह ज्ञानाग्नि से दग्ध हो गया होता है।

इस प्रकार वह पूर्ण मुक्त होकर परब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है-यह अवस्था 'विदेह-मुक्त' कहलाती है। इस प्रकार मोक्ष (मुक्ति) के दो रूप होते हैं-१. जीवन-मुक्त तथा २. विदेह मुक्त।

८२. **ज्ञान, भक्ति और कर्मयोग**—गीता में प्रमुखत: योग को तीन भागों में विभक्त किया है- १. ज्ञानयोग, २. भक्तियोग और ३. कर्मयोग। इस व्यापक, प्रकाशक, प्रेरक परमात्मा को पा लेना ही योग है। ज्ञान, भक्ति और कर्म ये योग के विविध साधन हैं। परमात्मा को न्यायकारी और सर्वव्यापी अनुभव करना ज्ञानयोग है। परमात्मा के प्रति श्रद्धा-विश्वास तथा प्रेम-आत्मीयता के सूत्रों से जुड़ना भक्तियोग है। फलाकांक्षा को त्यागकर परमात्मा की प्रसन्नता के निमित्त प्रत्येक कर्म को करते रहना कर्मयोग है। कर्मयोग की महत्ता गीता में इस प्रकार दी गई है कि संन्यास और कर्मयोग दोनों नि:श्रेयस प्रदान करने वाले हैं, परन्तु उन दोनों में कर्म-संन्यास से कर्मयोग श्रेष्ठ है- **संन्यास: कर्मयोगश्च नि:श्रेयसकरावुभौ। तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥** (गी०५.२)

कुछ विद्वान् कर्म को बन्धन का कारण मानते हैं, परन्तु जो कर्म ज्ञानपूर्वक, भक्तिभाव पूर्वक तथा आसक्ति से रहित होकर किया जाता है, उसे बन्धन रूप नहीं माना गया है, वह तो मुक्ति का आधार स्वरूप है। श्रुति कहती है- **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ꣳ समा:। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।** (यजु०४०.२)

८३. **ज्ञान-विज्ञान**— मनुष्य में अनेक अपूर्णताएँ होती हैं, इन्द्रिय लिप्सा-लालसा, विषय-विकार आदि होते हैं, ज्ञान से विकारों, लालसाओं से निवृत्ति और पूर्णता की प्राप्ति होती है। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती। (**ऋते ज्ञानान्नमुक्ति:**)। गुरु के प्रति श्रद्धा भाव और सेवा से तथा स्वयं के अध्यवसाय से ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान के सदृश पवित्र वस्तु कोई नहीं है, यह गीता का निर्देश है- **न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते** (गी० ४.३८)। सांसारिक वस्तुओं से सम्पन्न होने वाले यज्ञ से ज्ञानरूप यज्ञ सब प्रकार से श्रेष्ठ है- **श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञ: परंतप** (गी०४.३३)। ज्ञान की नौका द्वारा सारे पापों को पार किया जा सकता है- **सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि** (गी०४.३६)। ज्ञानरूप अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है- **ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा** (गी०४.३७)। तत्पर और जितेन्द्रिय पुरुष श्रद्धावान् होकर ज्ञान को प्राप्त करता है-**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्पर: संयतेन्द्रिय:। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति** (गी० ४.३९)।

विज्ञान से तात्पर्य विशिष्ट ज्ञान से है। किसी विशिष्ट विषय के तत्त्वों या सिद्धान्तों का क्रमबद्ध संगृहीत ज्ञान, विज्ञान कहलाता है। विषय ग्रहण के कारण को विज्ञान कहा गया है-**गृह्णन्ति विषयान् येन विज्ञानं हि तदुच्यते।** आज जिसे हम 'विज्ञान' के नाम से जानते हैं, वह हमें विविधि विषयों का क्रमबद्ध कार्य- कारणता से युक्त ज्ञान कराता है, इसलिए 'विज्ञान' कहा जाता है। तर्क, तथ्य, प्रमाण की कसौटी पर खरा उतरने वाला ज्ञान 'विज्ञान' है।

८४. **तद्वन**—वेदान्त दर्शन का यह शब्द 'ब्रह्म और उसके प्रति कर्त्तव्य भाव' को प्रकट करता है। केनोपनिषद् खण्ड चार के छठें मन्त्र में यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। आचार्य शंकर ने इस शब्द का भाष्य करते हुए लिखा है- **तद् ब्रह्म ह किल तद्वनं नाम तस्य वनं तद्वनं तस्य प्राणिजातस्य प्रत्यगात्मभूतत्वाद्वनं वननीयं संभजनीयम्।** अर्थात् वह 'ब्रह्म' निश्चय ही 'तद्वन' नाम वाला है। उसका वन-तद्वन, यह उस प्राणि-समूह का प्रत्यगात्मस्वरूप होने के कारण वन- वननीय- है, भजनीय है। वस्तुत: जहाँ यह शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसके पूर्व यह बतलाया गया है कि साधारण लोग जिस ब्रह्म की उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है, इससे लोग यह न समझें कि ब्रह्म की उपासना हो ही नहीं सकती; इस कारण ऋषि इस स्थल पर यह दिखलाते हैं कि उस परमब्रह्म परमात्मा को 'वन' रूप में समझा जाए अर्थात् वह ब्रह्म ऐसा है कि जिसका सम्यक् रूप से अच्छी तरह से भजन (अनुभव) किया जा सकता है। परमशान्ति देने वाला अर्थात् वननीय वही है।

'वन' का एक अर्थ जल भी है। जो गर्मी को - ताप को शान्त करता है, हृदय को शान्ति देता है- वह जल है, रस है- **'रसोऽहमप्सु कौन्तेय'** (गी०७.८) अर्थात् जल में जो रस है, वह मैं हूँ। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी ब्रह्म को रस रूप कहा गया है- **रसौ वै स:। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति** (तैत्ति० २.७)। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि उसी (दिव्य) रस को -आनन्द को-'वन' अर्थात् प्राप्त होने योग्य वस्तु रूप में कहा गया है।

८५. **तप**—विषयों से, राग से शरीर और मन को दृढ़ता पूर्वक मुक्तकर योग की स्थिति के लिए तैयार करना ही तप है। शरीर तथा मन की विविध विषयों में प्रयुक्त होने वाली शक्ति को संयमित करना और उनकी शक्ति को उद्दीप्त करना भी तप कहलाता है। तप के द्वारा मनुष्य असाधारण तेज सम्पन्न होता है। साधन की दृष्टि से तप को तीन प्रकार का माना गया है–१. शारीरिक, २. वाचिक, ३. मानसिक। महापुरुषों, देवगणों आदि की पूजा आराधना, ब्रह्मचर्य, अहिंसा को शारीरिक तप माना गया है। वेद पठन, सत्य, प्रिय और हितकर वचन बोलना वाचिक तप है। मनो-निग्रह, वासनाओं का निरोध, मौन और भावशुद्धि को मानसिक तप कहा गया है।

फलाकांक्षा से रहित होकर श्रद्धापूर्वक किये गये ये तीनों तप सात्त्विक तप कहे गये हैं। भावों की दृष्टि से इस प्रकार भी तप के तीन भेद किये गये हैं– १. सात्त्विक, २. राजस और ३. तामस। तप से विद्या, योग, मन्त्र आदि की इष्ट सिद्धि मिलती है। उपनिषद् में तप और स्वाध्याय तथा उपदेश को मनुष्य के कर्त्तव्यों में अभिहित किया गया है– **तपश्च स्वाध्याय प्रवचने च** (तैत्ति० १.९)। तप से ही ब्रह्म वृद्धि-विस्तार को प्राप्त होता है– **तपसा चीयते ब्रह्म** (मुण्ड० १.१.८)। तप से ही ब्रह्म को जानने की तीव्र इच्छा करें, तप ही ब्रह्म है– **तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति** (तैत्ति०३.२)। तप के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान होने से 'मन' वश में आता है। मन वश में आने से आत्मा की प्राप्ति होती है और आत्मा की प्राप्ति होने पर संसार से मुक्ति मिल जाती है–**तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्संप्राप्यते मनः। मनसा प्राप्यते त्वात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तत इति** (मैत्रा० ४.३)। तप के प्रति एकनिष्ठ रहने वाले को तपोनिष्ठ तथा तप की विपुल पूँजी संचय करने वाले को तपोनिधि कहा गया है।

८६. **तुरीय-तुरीयातीत**— वेदान्त में प्राणियों की चार अवस्थाएँ वर्णित हैं– जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय। तुरीय (चतुर्थ अवस्था) को मोक्ष की अवस्था भी कहा गया है। उक्त तीनों अवस्थाओं की उत्पत्ति और लय को जानने वाला और स्वयं उत्पत्ति- लय से परे रहने वाला जो नित्य साक्षी चैतन्य है– वह तुरीय चैतन्य है और यह अवस्था तुरीय है– **अवस्थात्रयभावाभावसाक्षी स्वयंभावरहितं नैरन्तर्यं चैतन्यं यदा-तदा तुरीयं चैतन्यमित्युच्यते** (स० सा०४)। जाग्रत् अवस्था में वैश्वानर संज्ञक आत्मा नेत्र में रहता है, स्वप्नावस्था में तैजस आत्मा कण्ठ में रहता है, सुषुप्ति अवस्था में प्राज्ञ संज्ञक आत्मा हृदय में रहता है और तुरीय (चतुर्थ- तीन अवस्थाओं से परे की) अवस्था का आत्मा ब्रह्मरन्ध्र में रहता है–**नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशत्। सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम्** (ना०प० ५.१)। तुरीय अवस्था को विजित करने वाले संन्यासियों की एक श्रेणी तुरीयातीत कहलाती है। उस जन्म-मरण, धर्म और मोक्ष की तुरीय अवस्था से परे उस विशुद्ध परमात्मा या परब्रह्म को भी तुरीयातीत कहा गया है।

उपनिषद् में सूर्य को भी तुरीय या दर्शत पद कहा गया है। जो (आदित्य) तपता है, जो चतुर्थ होता है, वही तुरीय या दर्शत पद है– **य (आदित्य) एष तपति यद्वै चतुर्थं तत्तुरीयं दर्शतं पदमिति** (बृह० ५.१४.३)। यह तुरीय दर्शत पद या परोरजा (सभी लोकों से परे) किसी के द्वारा प्राप्य नहीं है, क्योंकि इतना प्रतिग्रह कोई कैसे कर सकता है– **एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति नैव केनचनाप्यं कुत उ एतावत् प्रतिगृह्णीयात्** (बृह० ५.१४.६) यह निर्गुण ब्रह्म ही तुरीयातीत तत्त्व है, इसमें अवस्था-भेद नहीं है– **अवस्थाः न त्वेवं तुरीयातीतस्य निर्गुणस्य** (ना०प० ६.१)।

८७. **तैंतीस देवता**—निरुक्तकार यास्कमुनि के अनुसार देव शब्द की व्युत्पत्ति दान, दीपन, द्योतन आदि अर्थों में की गयी है। वास्तव में देव शब्द विश्व की प्रकाशक और कल्याणकारी शक्तियों का प्रतीक है। इन्हें तैंतीस कोटि (करोड़) या श्रेणियों का माना गया है। तैंतीस संख्यक देवों में अष्टवसु, एकादशरुद्र, द्वादश आदित्य, पृथ्वी और द्यौ को परिगणित किया गया है। इसकी पुष्टि शतपथ ब्राह्मण में होती है– **अष्टौ वसवः। एकादश रुद्रा द्वादशादित्या इमेऽएव द्यावापृथिवी त्रयस्त्रिꣳशौ त्रयस्त्रिꣳशद्वै देवाः** (शत० ब्रा० ४.५.७.२)। निरुक्त (३.७.४) के अनुसार ये सब देवता एक ही अद्वय आत्मा के प्रत्यंगरूप हैं– **एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।**

८८. **तैजस**— यह वेदान्तदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। सृष्टि विकास क्रम में कारण रूप ईश्वर से उनकी इच्छानुसार सृष्टि सृजन के संकल्प के साथ ही सृष्टि-प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इसी क्रम में सूक्ष्म तन्मात्राएँ, पंचभूत, पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चप्राणादिकों के प्रादुर्भाव का क्रम सम्पन्न होता है। पंचीकरण एवं त्रिवृत्करण सिद्धान्तों के आधार

पर सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है। सूक्ष्म शरीर सत्रह अवयवों वाला है-पंचज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच प्राण तथा मन और बुद्धि। दूसरे शब्दों में इसे विज्ञानमय कोश (पंचज्ञानेन्द्रियाँ तथा बुद्धि),मनोमय कोश (पंच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन) तथा प्राणमय कोश (पंचकर्मेन्द्रियाँ तथा पंच प्राण) का समुच्चय कहा जा सकता है।

सूक्ष्म शरीर की दो स्थितियाँ होती हैं- एक समष्टिगत, दूसरी व्यष्टिगत। सूक्ष्म शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य को 'हिरण्यगर्भ' तथा व्यष्टि से उपहित चैतन्य को 'तैजस' कहा गया है। समष्टिभूत 'चैतन्य' हिरण्यगर्भ के अतिरिक्त सूत्रात्मा प्राण, प्रजापति तथा ब्रह्मा आदि संज्ञाओं से भी अभिहित किया गया है। व्यष्टिभूत चैतन्य 'तैजस' है। दोनों में प्रमुख अन्तर यह है कि समष्टिभूत चैतन्य अपरिच्छिन्न (अनावृत-असीम) होता है और व्यष्टिभूत चैतन्य 'परिच्छिन्न' (आवृत-ससीम) होता है। यह सूक्ष्म देहाभिमानी 'तैजस' सूक्ष्मतर विषयों का ही आहार ग्रहण करने वाला होता है। यह स्थिति 'स्वप्नावस्था' में आती है। वेदान्त की मान्यतानुसार वन और वृक्ष की तरह हिरण्यगर्भ (वन) और तैजस (वृक्ष) में अभेद है।

८९. त्रयताप-त्रिविध दुःख—'दर्शन' जगत् में यह शब्द अति प्रसिद्ध है। दर्शन का एक प्रयोजन तीनों तापों-तीनों दुःखों से मुक्ति दिलाना माना गया है। सांख्य दर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल ने मानव जीवन का परम पुरुषार्थ त्रिविध दुःखों का अत्यन्ताभाव माना है-**अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः** (सां० १.१)। सभी प्राणी जिन अनेकानेक दुःखों-कष्टों से विनिवृत्ति चाहते हैं, उन्हें तीन वर्गों में बाँटा गया है- १. आध्यात्मिक २. आधिभौतिक ३. आधिदैविक। जो दुःख शरीर-मन से जुड़े होते हैं, उन्हें आध्यात्मिक दुःख कहा जाता है, जैसे- रोग, शोक, लोभ- मोह, ईर्ष्या-द्वेष, आदि। जो दुःख अन्यान्य प्राणियों के संसर्ग से उत्पन्न होते हैं, उन्हें आधिभौतिक-दुःख कहा जाता है, जैसे-सर्प-बिच्छू, सिंह आदि हिंस्र जन्तुओं तथा मनुष्यों के लड़ाई-झगड़े से उत्पन्न दुःख। जो दुःख दैवी आपदाओं के रूप में प्राप्त होते हैं, उन्हें आधिदैविक दुःख कहा जाता है। जैसे- अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, विद्युत्पात आदि। दर्शन का प्रयोजन मुख्यतः इन्हीं त्रय तापों से मुक्ति प्रदान करने का है। इसी उद्देश्य से इनके अध्ययन, चिन्तन, मनन, की आवश्यकता होती है। त्रयतापों की निवृत्ति के बाद ही परमानन्द प्राप्ति का पथ-प्रशस्त होता है।

९०. त्रय-शरीर —शास्त्रों में मनुष्य शरीर के तीन भेद किये गये हैं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण। दृश्यमान अंग-अवयवों या पञ्चभूतों से निर्मित शरीर स्थूल शरीर कहलाता है। स्थूल का शब्दार्थ भौतिक, मूर्त, अन्न तथा भोग्य से लिया जाता है। सूक्ष्म से तात्पर्य अभौतिक, अमूर्त, अग्नि, भोक्ता तथा अदृश्य से लिया जाता है। पञ्च तन्मात्राओं, पञ्च ज्ञानेन्द्रियों, पञ्चकर्मेन्द्रियों, मन, बुद्धि-इन सत्रह के समूह को सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर कहते हैं। भावनाओं, इच्छाओं, आकांक्षाओं से सम्बद्ध आन्तरिक शरीर को कारण शरीर कहा जाता है। ऐसा भी वर्णन आता है कि स्थूल शरीर स्वयं से विराट् सूक्ष्म शरीर में तथा सूक्ष्म शरीर स्वयं से विराट् कारण शरीर में समाया हुआ है। इन तीनों शरीरों को प्रेरित करने वाला वह परम पुरुष अर्थात् आत्मा इनसे भिन्न है। स्थूल शरीर को अन्नमय कोश, सूक्ष्म शरीर को प्राणमय, मनोमय एवं विज्ञानमय कोश तथा कारण शरीर को आनन्दमय कोश से सम्बद्ध माना जाता है। स्थूल, सूक्ष्म एवं कारणरूप जो विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ ईश्वर है, उनके साथ सब अवस्थाओं में एक ही साक्षी (ब्रह्म) स्थित है-**स्थूल सूक्ष्मकारणरूपैर्विश्वतैजसप्राज्ञेश्वरैः सर्वावस्थासु साक्षी त्वेक एवावतिष्ठते** (ना०प० ६.१)।

९१. दक्षिणा —यज्ञ करने वाले पुरोहितों को दिये गये दान को दक्षिणा कहते हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति पर शिष्य अपने आचार्य को गुरु दक्षिणा देता था। गृह्यसूत्रों में इसका विधान वर्णित है। प्रत्येक धार्मिक या माङ्गलिक कार्य की समाप्ति पर पुरोहितों, ऋत्विजों को दक्षिणा देना आवश्यक समझा जाता था। इसके बिना शुभ कार्य का सुफल नहीं मिल पाता। श्रुति के अनुसार दक्षिणादाता स्वर्ग में उच्चस्थ पदों पर प्रतिष्ठित होते हैं- **उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये** (ऋ० १०.१०७.२)। छान्दोग्य० के अनुसार जो तप,दान,आर्जव (सरलता), अहिंसा और सत्यवचन हैं-ये आत्मयज्ञ की दक्षिणारूप हैं -**यत्तपो दानमार्जवमहिꣳ सा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः** (छान्दो०३.१७.४)। याज्ञवल्क्य और शाकल्य संवाद में वर्णित है कि यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है ? दक्षिणा में। दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित् है ? श्रद्धा में; क्योंकि पुरुष में जब श्रद्धा होती है, तभी दक्षिणा देता है- **कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठत इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठित इति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति** (बृह०३.९.२१)।

९२. **दमन** — इन्द्रियों को वश में रखना और चित्त को दुष्प्रवृत्तियों से बचाना-यह दमन कहलाता है। दबाने अथवा रोकने की क्रिया को भी दमन कहा गया है। उपनिषद् के अनुसार प्रजापति के अनुशासन की दैवी वाणी मेघगर्जना के सदृश गूँजती रहती है- द,द,द। देवों के लिए दमन करो, मनुष्यों के लिए दान करो, असुरों के लिए दया करो। अतः दम, दान और दया इन तीनों को सीखें-**तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति। तदेतत्त्रयः शिक्षेद् दमं दानं दयामिति** (बृह० ५.२.३)। उपनिषद् में शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन के साथ दमन को भी कर्त्तव्य निरूपित किया गया है- **दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च** (तैत्ति० १.९.१)।

९३. **दर्श-पूर्णमास** — अमावस्या-पूर्णिमा के दिन यज्ञ आदि द्वारा देवों का विशिष्ट पूजन किया जाता है। शास्त्रों में इसका माहात्म्य मिलता है कि जो विद्वान् दर्शपूर्णमास (अमावस्या-पूर्णिमा) में यजन करता है, वह परम गति को प्राप्त होता है- **य एवं विद्वान् दर्शपूर्णमासौ यजते परामेव काष्ठां गच्छति** (तैत्ति०सं० १.६.९.३)। इसकी तुलना देवयान मार्ग से की गई है। जो विद्वान् इसका पूजन करता है, वह देवयान मार्ग पर आरोहण करता है- **एष वै देवयानः पन्था यद् दर्शपूर्णमासौ य एवं विद्वान् दर्शपूर्णमासौ यजते य एव देवयानः पन्थास्तः समारोहति** (तैत्ति०सं०२.५.६.२)।

९४. **दुःख-सुख** — अप्रिय अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों में जो मन में वेदना होती है, उसे दुःख कहा जाता है। इसके विपरीत अनुकूल परिस्थितियों में मन में उत्पन्न आह्लाद की अवस्था को सुख कहते हैं। इसके दो भेद माने गये हैं। स्वकीय और परकीय। सांख्य दर्शन में तीन प्रकार के दुःखों का वर्णन किया गया है-आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक। इन्हें ही त्रयताप कहा गया है। इन्द्रियभोग ही दुःख-सुख के हेतु कहे गये हैं- **सुखदुःखबुद्ध्या श्रेयोऽन्तः कर्त्ता यदा तदा इष्टविषये बुद्धिः सुख बुद्धिरनिष्ट विषये बुद्धिर्दुःखबुद्धिः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः सुखदुःखहेतवः** (स०सा०६)। इन्द्रियों के संयम में सुख तथा असंयम में दुःख भरा है। उपनिषदों में कहा गया है, जो अनित्य और नश्वर है, वह सब दुःख ही है, केवल नित्य और शाश्वत ही सुख स्वरूप है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान भाव से ग्रहण करना चाहिए- **सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ** (गी० २.३८)। सच्चिदानन्द परमात्मा के स्वरूप बोध से जो आनन्द युक्त स्थिति होती है, उसे उपनिषद् में सुख कहा गया है और अनात्म रूप विषयों के सङ्कल्प की स्थिति को दुःख कहा गया है- **सुखमिति च सच्चिदानन्दस्वरूपं ज्ञात्वानन्दरूपा या स्थितिः सैव सुखम्। दुःखमिति अनात्मरूप विषय सङ्कल्प एव दुःखम्** (निरा० १५)।

९५. **देवता**—'देवता' शब्द देव का ही वाचक स्त्रीलिङ्ग है, हिन्दी में पुंलिंग में प्रयुक्त होता है। तीन देवता प्रधान माने गये हैं- ब्रह्मा, विष्णु और महेश। ये क्रमशः सृष्टि, स्थिति और संहार के नियामक देव हैं। मूलतः ३३ देवता माने गये हैं-१२ आदित्य, ८ वसु, ११ रुद्र, द्यावा और पृथिवी। इन देवों को परिवार क्रम से तीन भागों में विभाजित किया गया- १. द्वादश आदित्य, २. एकादश रुद्र, ३. अष्टवसु। आगे देवमण्डल का विस्तार ३३ करोड़ भी माना गया है। इन्हें स्थानक्रम से तीन भागों में विभाजित किया गया है- द्युस्थानीय, अन्तरिक्ष स्थानीय और पृथ्वी स्थानीय। यास्क प्रणीत निरुक्त में देव शब्द की व्युत्पत्ति दान, दीपन अथवा द्योतन आदि अर्थों में की गयी है। देव शब्द जगत् की प्रकाशमान और कल्याणकारी शक्तियों का प्रतीक है। निरुक्त (७.१.४) के अनुसार सभी देवताओं की उत्पत्ति आत्मा से ही मानी गयी है- **एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति** अर्थात् एक आत्मा के ही सब देवता प्रत्यङ्ग रूप हैं। एक ही परम देव सभी प्राणियों में व्याप्त हैं, सभी प्राणियों के अन्तरात्मा रूप हैं-**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा** (श्वेता०६.११)।

९६. **देवयान-पितृयान मार्ग**— जीवात्मा के शरीर से उत्क्रमण के बाद परलोक गमन के दो मार्गों में से एक मार्ग, जिससे वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, वह देवयान मार्ग और जिससे वह चन्द्रमा को प्राप्त होता है, वह पितृयान मार्ग कहलाता है। अन्य मतानुसार वह मार्ग जिससे जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त होता है, देवयान मार्ग और वह मार्ग जिससे जाकर जीवात्मा स्वर्गादि सुख भोगकर पुनः संसार में लौटता है, पितृयान मार्ग कहलाता है। देवयान का सम्बन्ध उत्तरायण से और पितृयान का सम्बन्ध दक्षिणायन से है, इसीलिए उत्तरायण में मरना मोक्षदायक समझा जाता है। देवयान मार्ग में जाने वाले सर्वप्रथम अर्चि को पाते हैं। अर्चि से अह्न, अह्न से शुक्ल पक्ष, शुक्ल पक्ष से उत्तरायण

के षण्मास, उत्तरायण से संवत्सर, संवत्सर से आदित्य, आदित्य से विद्युत् को प्राप्त होते हैं। पितृयान मार्ग से जाने वाले मनुष्य इसी प्रकार धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन के षण्मास, फिर पितृलोक और वहाँ से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। स्वर्ग सुख भोगने के अनन्तर किसी योनि में पुनः जन्म ग्रहण करते हैं। उपनिषद् के अनुसार जो पितृयान मार्ग है, वही यह रयि है- **एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः** (प्र०१.९)। देवयान मार्ग सत्य से परिपूर्ण है, जिससे आप्तकाम ऋषिगण गमन करते हैं, जहाँ उस सत्यस्वरूप परमेश्वर का परमधाम है- **सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्थाविततो देवयानः। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्** (मुण्ड०३.१.६)।

९७. **धर्म-अधर्म**— धर्म शब्द 'धृ' धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है- धारण करना। दर्शन शास्त्र के अनुसार जिससे जीवन में अभ्युदय और निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, वह धर्म है-**यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः** (वै०द०१.१.२)। मीमांसा दर्शन के रचयिता महर्षि जैमिनि के अनुसार 'वेदों द्वारा निर्दिष्ट कर्म ही व्यक्ति का धर्म है'- (मी०द०१.१.२)। न्यायदर्शन में २४ गुणों मे से एक गुण धर्म भी वर्णित है। गीता में चारों वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न धर्म निर्धारित हैं। धर्म के चार वर्गीकरण इस प्रकार भी प्रतिपादित हैं- नित्य, नैमित्तिक, काम्य और आपद् धर्म। स्मृति ग्रन्थ में धर्म के दस अङ्गों का वर्णन मिलता है- धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध। उपनिषद् में धर्म का आचरण करने और उसमें प्रमाद न करने का निर्देश दिया गया है- **धर्मं चर। धर्मान्न प्रमदितव्यम्** (तैत्ति०१.११.१)। गीता में कहा गया है कि धर्म का थोड़ा आचरण भी महान् भय से मुक्त कर देता है- **स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्** (गी०२.४०)। धर्म ही प्रजा को धारण करता है-**'धारणाद् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः'** (महा०कर्ण० ६९.५८)। इस प्रकार धर्म का जो प्रतिपादन हुआ, उससे विपरीत अधर्म है। व्यास जी ने संक्षेप में धर्म (पुण्य) और अधर्म (पाप) की परिभाषा बताते हुए लिखा है- **अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्**। परोपकार ही धर्म है, परपीड़ा (दूसरों को कष्ट देना) अधर्म है। गोस्वामी तुलसीदास ने भी लिखा है-

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥

९८. **धर्मसूत्र**— वेदाङ्ग में 'कल्प' के अन्तर्गत सूत्र ग्रन्थ चार प्रकार के हैं- श्रौत, गृह्य, धर्म और ऐन्द्रजालिक (रचना सम्बन्धी)। ये मनुष्य के व्यावहारिक तथा धार्मिक जीवन के लिए अत्यन्त महत्त्व के हैं। धर्मसूत्र वे ग्रन्थ हैं, जिनमें चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के कर्त्तव्यों, मर्यादाओं तथा आचरण, व्यवहार आदि का निर्देश है। ये धर्मसूत्र प्रमुख रूप से पाँच हैं- १.आपस्तम्ब, २. हिरण्यकेशी, ३.बौधायन, ४. गौतम और ५. वसिष्ठ। इनमें अपराध आदि के दण्डों के विधान तथा प्रायश्चित्त भी वर्णित हैं।

९९. **धाता**— द्र० - **विधाता**।

१००. **धारणा**— चित्तवृत्तियों को चारों ओर से हटाकर किसी एक स्थान या विषय में लगाना धारणा है। मन के विचारों-संकल्पों को आत्मा में लय करते रहना और आत्मा या परमात्मा के चिन्तन में स्थित रहना धारणा कहलाता है। मन की वह स्थिति जिसमें ब्रह्म चिन्तन के अतिरिक्त अन्य कोई भाव या विचार नहीं ठहरता, धारणा कहलाती है। इसमें मन में वासना नहीं रह जाती। उपनिषद् के अनुसार मन को संकल्पात्मक मानकर उसे आत्मा में लय करते हुए उसे परमात्म चिन्तन में धारण करना 'धारणा' की स्थिति है- **मनः संकल्पकं ध्यात्वा संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान्। धारयित्वा तथात्मानं धारणा परिकीर्तिता** (अमृ०१६)। योगसूत्र के अनुसार चित्त को एक स्थान पर दृढ़ करना धारणा है- **देशबन्धः चित्तस्य धारणा** (यो०द०३.१)। प्राणायाम के द्वारा इन्द्रियों के दोषों को तथा धारणा के द्वारा पापों को जलाते हैं-**प्राणायामैर्दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम्। किल्बिषं हि क्षयं नीत्वा रुचिरं चैव चिन्तयेत्** (अमृ०८)।

१०१. **ध्यान**— चित्त को चारों ओर से हटाकर किसी एक विषय पर सतत स्थिर करना ध्यान कहलाता है। बाह्य इन्द्रियों के बिना केवल मन में किसी विषय या व्यक्ति को लाना या बिठाना भी ध्यान है। ध्यान में ध्याता अपने चित्त को ध्येय में स्थिर या एकाग्र करता रहता है। यही ध्यान जब चरमावस्था को पहुँचता है, तब समाधि कहलाता है। सांख्य दर्शन के अनुसार चित्त का राग से विमुक्त होना ही ध्यान है- **रागोपहितिर्ध्यानम्** (सां०द०३.३०)। इसी तथ्य को उपनिषद् कहता है कि मन का विषयों से मुक्त होना ही ध्यान है- **ध्यानं निर्विषयं मनः** (मैत्रे०२.३)। गीता में कहा

गया है कि कितने ही पुरुष ध्यान के द्वारा शुद्ध अन्तःकरण से अपने में ही परमात्मा को देखते हैं- **ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना** (गी०१३.२४)। ज्ञान से ध्यान की महत्ता अधिक मानी जाती है- **श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते** (गी० १२.१२)।

१०२. **ध्रुव**— ध्रुव शब्द के पर्याय इस प्रकार हैं- स्थिर, अचल, निश्चित, अटल, नित्य, शाश्वत। अनश्वर पदार्थों के लिए ध्रुव शब्द प्रयुक्त होता है। कहीं-कहीं परमात्मा के पर्याय रूप में भी दृष्टिगोचर होता है। स्थिरता का प्रतीक होने के कारण हिन्दू विवाह के अवसर पर दाम्पत्य जीवन की स्थिरता के लिए वधू को ध्रुव (तारे) का दर्शन कराया जाता है। कठोपनिषद् का प्रतिपादन है कि कर्मफल रूपनिधि अनित्य है, क्योंकि अनित्य पदार्थों से ध्रुव (नित्य-परमात्मा) तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती- **जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्** (कठ०१.२.१०)। ब्राह्मण ग्रन्थ के अनुसार जो स्थिर है, जो प्रतिष्ठित (आकाश में) है, वही ध्रुव है- **यद्वै स्थिरं यत्प्रतिष्ठितं तद् ध्रुवम्** (शत०ब्रा०८.२.१.४)।

१०३. **नाचिकेताग्नि**— कठोपनिषद् की यम-नचिकेता की कथा विख्यात है। उस कथा में 'नचिकेता' ने यमराज से द्वितीय वर के रूप में उस अग्निविद्या को माँगा है, जो समस्त दुःखों को दूर करके स्वर्ग (परमसुख) प्रदान करने वाली है- **स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वं श्रद्दधानाय मह्यम्**- हे मृत्यो! आप स्वर्ग के साधनभूत अग्नि को जानते हैं, सो मुझ श्रद्धालु के प्रति उसका वर्णन कीजिए (कठ०१.१.१३)।

यमराज ने विस्तारपूर्वक अग्निविद्या का रहस्य नचिकेता को बताया, तदुपरान्त नचिकेता ने यमराज द्वारा बताई गई अग्निविद्या को-उसकी इष्टिकाओं, उसके चयन की प्रक्रिया आदि को- यथावत् सुना दिया। उससे प्रसन्न होकर यमराज ने उस अग्निविद्या का नामकरण नचिकेता के नाम पर ही कर दिया-**तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः। तवैव नाम्ना भवतायमग्निः** ....(कठ० १.१.१६)। इस प्रकार वह अग्निविद्या 'नाचिकेताग्नि' के नाम से प्रसिद्ध हो गई। यमराज ने इस नाचिकेताग्नि के चयन की फलश्रुति बताते हुए आगे कहा- **त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू। ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति** (कठ० १.१.१७)। अर्थात्- त्रिणाचिकेत अग्नि (तीन बार नाचिकेत अग्नि का चयन करने वाला अथवा ज्ञान, अध्ययन और अनुष्ठान करने वाला) का तीन बार चयन करने वाला मनुष्य (माता-पिता और आचार्य-इन) तीनों से सम्बन्ध को प्राप्त करके जन्म और मृत्यु को पार कर लेता है तथा ब्रह्म से उत्पन्न हुए ज्ञानवान् और स्तुति योग्य देवों को जानकर-साक्षात्कार करके परमशान्ति प्राप्त करता है।

१०४. **नाद**— नाद का सामान्य अर्थ है- शब्द या ध्वनि। संगीत शास्त्र के अनुसार आकाशस्थ अग्नि और मरुत् (वायु) के संयोग से नाद उत्पन्न होता है। सम्पूर्ण जगत् नाद से भरा हुआ है। इसे 'नाद ब्रह्म' कहा गया है। नाद दो प्रकार का माना गया है- आहत और अनाहत। योगी योग साधना से ब्रह्म में अनवरत गुञ्जायमान अनाहत नाद का श्रवण करते और उसकी मस्ती में लीन रहते हैं। प्राणाग्नि के आघात से शरीर के अन्दर ध्यान स्थिर करने पर एक नाद सुनाई देता है। इसमें विविध ध्वनियाँ सुनाई देती हैं। अभ्यास के प्रारम्भ में नाद बहुत जोर से और नानाविध सुनाई पड़ता है। अभ्यास के बढ़ जाने पर वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रूप में सुनायी पड़ता है- **श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्। वर्धमाने तथाभ्यासे श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मतः** (ना०बि० ३३)। जिस प्रकार पुष्परस का पान करता हुआ भ्रमर पुष्पगन्ध की अपेक्षा नहीं करता, उसी प्रकार नाद में सदा आसक्त रहने वाला चित्त विषयों की आकांक्षा नहीं करता **मकरन्दं पिबन्भृङ्गो गन्धान्नापेक्षते यथा। नादासक्तं सदा चित्तं विषयं न हि कांक्षति** (ना०बि० ४२)। नाद मनरूपी मृग के बाँधने में जाल का कार्य करता है तथा मनरूपी तरङ्ग को रोकने में तट का काम करता है-**नियामन समर्थोऽयं निनादो निशिताङ्कुशः। नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते** (ना० बि०४५)।

१०५. **नारायण**— अनंत सृष्टि की स्थिति, स्थापक तथा पोषण कर्त्ता के रूप में नारायण भगवान् का स्मरण किया जाता है। पुरुष सूक्त में उसी विराट् नारायण पुरुष की महिमा का प्रतिपादन है। मुद्गलोपनिषद् में भी उनकी महिमा अभिव्यक्त हुई है। नारायण पुरुष तीनों कालों में अवस्थित रहते हैं। वे सभी महिमावानों से श्रेष्ठ हैं, उनसे बढ़कर कोई नहीं है। वे इन सब प्राणियों के लिए मोक्ष प्रदान करने वाले हैं- **पुरुषो नारायणो भूतं भव्यं भविष्यच्चासीत्। स एष सर्वेषां मोक्षदश्चासीत्। स च सर्वस्मान् महिम्नो ज्यायान्। तस्मान्न कोऽपि ज्यायान्** (मुद्ग० २.३)।

नारायण से ही समष्टिगत प्राण उत्पन्न हुआ है, मन और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ भी उन्हीं से प्रकट हुईं । आकाश, वायु, तेज, जल तथा सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी की उत्पत्ति भी उन्हीं से हुई । ब्रह्मा और रुद्र भी नारायण से ही उत्पन्न होते हैं- **नारायणात्प्राणो जायते। मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी। नारायणाद्ब्रह्मा जायते। नारायणाद्रुद्रो जायते** (नारा० १)। नारायण देव ही एकमात्र निष्कलङ्क, निरञ्जन, निर्विकल्प, अनिर्वचनीय एवं विशुद्ध हैं, उनके सिवा दूसरा कोई नहीं है- **निष्कलङ्को निरञ्जनो निर्विकल्पो निराख्यातः शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्** (नारा०२)। महोपनिषद् में भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि आदि में एकमात्र नारायण ही थे, न ब्रह्मा, न रुद्र-**एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो** (महो०१.१)। आदि पुरुष भगवान् नारायण के नामोच्चारण मात्र से मनुष्य कलि के सब दोषों का नाश करता है- **भगवत आदिपुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारणमात्रेण निर्धूतकलिर्भवतीति** (कलिसं० १)।

१०६. **निःश्रेयस** —द्र०- अभ्युदय।

१०७. **निःस्पृह**—स्पृहा का तात्पर्य है - इच्छा, कामना, लालसा, अभिलाषा। जो कोई भी लौकिक इच्छा, कामना न रखता हो, उसे निःस्पृह कहते हैं। निःस्पृह व्यक्ति ही एकमात्र आध्यात्मिक उत्कर्ष की महत्त्वाकांक्षा को रखते और महिमावान् बनते हैं। ऐसे महामना अपने कर्त्तव्य पथ पर अविचल खड़े रहते हैं और प्रतिष्ठा एवं देव कृपा के सुयोग को पाते हैं। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि रजोगुण के बढ़ने पर लोभ प्रवृत्ति, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति और स्पृहा (विषय भोगों की इच्छा)- ये सब बढ़ते हैं- **लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा। रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ** (गी० १४.१२)। बन्धु-बान्धवों आदि को बढ़ाने की स्पृहा से दीनता के दोष की वृद्धि होती है- **दैन्यदोषमयी दीर्घा वर्धते वार्धके स्पृहा** (महो० ३.३६)। सब कामनाओं से निःस्पृह चित्त ही युक्त (नियंत्रित) कहा जाता है- **निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा** (गी० ६.१८)।

१०८ **ध्रुवा**— कोश ग्रन्थों में ध्रुवा-नित्या का पर्याय पार्वती, मनसा देवी, एक शक्ति बताया गया है। नित्या का एक अर्थ ध्रुवा अर्थात् स्थिर है। ब्राह्मणग्रन्थों में पृथ्वी, आत्मा आदि को ध्रुवा कहकर उपन्यस्त किया गया है- **पृथिवी ध्रुवा** (तै० ब्रा० ३.३.१.२), **आत्मा ध्रुवा** (तै०ब्रा० ३.३.१.५)। ब्रह्माण्ड पुराण (४.१९.५९) में अविनाशी देवियों के एक समूह को नित्या कहा गया है। उपनिषद् में वर्णित है कि आहारशुद्धि होने पर अन्तःकरण की शुद्धि होती है और अन्तःकरण की शुद्धि होने पर निश्चल (स्थिर) स्मृति प्राप्त होती है- **आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः** (छान्दो० ७.२६.२)।

१०९. **निर्गुण-सगुण**— परब्रह्म के दो रूप माने गये हैं। निर्गुण और सगुण। उसके सगुण रूप से दृश्य जगत् की उत्पत्ति हुई है। अनन्त सृष्टि की रचना करने वाला वह परमेश्वर वास्तव में अनन्त और निर्गुण ही है। निर्गुण का तात्पर्य है- गुण रहित। परमात्मा की बनायी सृष्टि सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों से युक्त है, लेकिन परमात्मा स्वयं इन तीनों गुणों से परे होने से निर्गुण कहा जाता है। निर्गुण ब्रह्म अव्यक्त और केवल ज्ञान गम्य है। सगुण व्यक्त तथा गुणों से संयुक्त है। गीता के कथनानुसार निर्गुण की उपासना क्लिष्ट है और सगुणोपासना सरल है। आदि शंकराचार्य ने ब्रह्म को निराकार, निर्गुण, समस्त भेदों से रहित, सर्वोपाधि विनिर्मुक्त और नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला स्वीकार किया है। उपनिषद् में भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। उस ब्रह्म को शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध से रहित नित्य तथा अविनाशी स्वरूप वाला वर्णित किया गया है-**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्** (कठ० १.३.१५)। ब्रह्म के निराकार, निर्गुण स्वरूप को मुण्डकोपनिषद् में उपन्यस्त किया गया है। वह ब्रह्म अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण तथा चक्षुः, श्रोत्र और हाथ-पैरों से रहित है-**यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्** (मुण्ड०१.१.६)। ब्रह्म का निर्गुण स्वरूप अनिर्वचनीय है, अतः उपनिषदों में उसका निरूपण करते हुए '**नेति-नेति**' (बृह० २.३.६) कहा गया है। सगुण ब्रह्म को माया की उपाधि से युक्त माना गया है। सगुण उपासना में अवतारों की प्रधानता है। ईश्वर ही जब मायोपहित देह के द्वारा आविर्भूत होते हैं, तो उसे अवतार कहते हैं। यह दृश्यमान जगत् भी सगुण ब्रह्म का रूप माना जाता है।

११०. **निर्विकल्पक** — द्र०-समाधि।

१११. **निष्काम कर्म** — शास्त्रों में निष्काम कर्म की महत्ता विशेष रूप से प्रतिपादित हुई है। निष्काम कर्म का तात्पर्य

है- कामना रहित कर्म। श्रीमद्भगवद्गीता में निष्काम कर्म का आदेश है। इसमें फल की इच्छा के बिना कर्म किया जाता है। अपने कर्म को अपने उपास्य के चरणों में अर्पित कर दिया जाता है। निष्काम कर्म करने वाले के हृदय में परमात्मा प्रवेश करता है तथा उसे भक्ति एवं मोक्ष प्रदान करता है। सांख्य दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के द्वारा होता है, पुरुष के ऊपर कर्म का आरोप मिथ्या है। जब यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब मनुष्य बन्धन में नहीं पड़ता। मनुस्मृति के अनुसार संसार में कहीं भी कामना के बिना कोई क्रिया नहीं दिखाई देती। मनुष्य कामनाओं की प्रेरणा से ही कर्म करता है (मनु०स्मृ०२.४); परन्तु कामनाओं के पथ पर भटकते मनुष्य भगवत्प्राप्ति जैसे दिव्य उद्देश्य की प्राप्ति नहीं कर पाते, उसके लिए तो निष्काम कर्म ही प्रतिपादित किया गया है।

११२. पञ्चकोश— वेदान्त में मनुष्य शरीर के पाँच कोशों का वर्णन किया गया है- अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश। स्थूल शरीर में अन्नमय कोश, सूक्ष्म शरीर में प्राणमय कोश, मनोमय एवं विज्ञानमय तथा कारण शरीर में आनन्दमयकोश अवस्थित है। मन के साथ पंच ज्ञानेन्द्रियों के संयोग से मनोमय कोश तथा बुद्धि के साथ पंच ज्ञानेन्द्रियों के संयोग से विज्ञानमय कोश बनता है। पाँच प्राणों तथा कर्मेन्द्रियों के मेल से प्राणमयकोश बनता है। प्राणमय कोश क्रियाशक्ति से सम्पन्न तथा कर्मरूप है। मनोमय कोश इच्छाशक्ति से सम्पन्न और कारण रूप है। विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्ति से सम्पन्न और कर्त्तृरूप है। आनन्दमयकोश में मनुष्य समाधि का अभ्यास करके अपने मूल स्वरूप में आ जाता है। सर्वसारोपनिषद् के अनुसार अन्न से बनने वाले कोशों के समूहरूपी शरीर को अन्नमय कोश कहते हैं। प्राण आदि चौदह प्रकार की वायु इस अन्नमय कोश में संचार करते हैं, तब उसे प्राणमय कोश कहते हैं। इन दो कोशों के भीतर मन आदि चौदह इन्द्रियों द्वारा जब आत्मा शब्दादि विषयों का विचार करता है, तब उसे मनोमय कोश कहते हैं। आत्मा इन तीनों कोशों के साथ संयुक्त होकर बुद्धि द्वारा जो कुछ जानता है, उसका बुद्धियुक्त स्वरूप विज्ञानमय कोश है। इन चारों कोशों के साथ आत्मा बरगद के बीज के वृक्ष की भाँति अपने कारण स्वरूप अज्ञान में रहता है, उसे आनन्दमय कोश कहते हैं। अन्नमय कोश को विकसित करने के उपाय १. उपवास, २. आसन, ३. तत्त्व शुद्धि और ४. तपश्चर्या मुख्य हैं। प्राणमय कोश के लिए १. बन्ध, २.मुद्रा तथा ३. प्राणायाम किया जाता है। मनोमय कोश की साधना हेतु १. ध्यान, २. त्राटक, ३. जप और ४. तन्मात्रा की साधना करते हैं। विज्ञानमय कोश की पुष्टि के लिए १. सोऽहम् साधना २. आत्मानुभूति, ३. स्वर-संयम और ४. ग्रन्थि भेदन करते हैं। आनन्दमय कोश के विकास के लिए १. सहज समाधि, २. नाद साधना, ३. बिन्दु साधना तथा ४. किरण या कला साधना का प्रयोग करते हैं।

११३. पञ्चप्राण— द्र० - प्राण।

११४. पञ्चविध मुक्ति— जीवात्मा जब इष्ट देव या ब्रह्म के लोक, रूप, योग, निकटता या एकत्व को प्राप्त करता है, तो यह मुक्ति की अवस्था कही जाती है। यह मुक्ति पञ्चविध मान्य है- सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सायुज्य और कैवल्य। मुक्त जीव जब इष्टदेव के साथ एक लोक में वास करता है, इसे सालोक्य मुक्ति कहा गया है। उपासक जब अपने उपास्य के रूप में रहते हुए उसी के रूप को प्राप्त कर लेता है, इस समान रूप होने के भाव या सरूपता को सारूप्य मुक्ति कहते हैं। मुक्त जीव जब भगवान् के पास वास करता है, तो उस मुक्ति को सामीप्य कहा गया है और जिसमें जीव परमात्मा में लीन हो जाता है या योग को प्राप्त करता है, तो यह मुक्ति सायुज्य कही जाती है। अविद्या, त्रिविध दुःखों तथा अहंकार आदि से निवृत्ति की विशुद्ध स्थिति को कैवल्य मुक्ति कहा गया है। मुक्तिकोपनिषद् में भगवान् श्रीराम का कथन है कि दुराचार में लगा हुआ व्यक्ति भी मेरा नाम स्मरण करने से सालोक्य मुक्ति को प्राप्त होता है, वहाँ से वह अन्य लोकों में नहीं जाता- **दुराचाररतो वापि मन्नामभजनात्कपे। सालोक्य मुक्तिमाप्नोति न तु लोकान्तरादिकम्** (मुक्ति० १.१८-१९)। पाप समूह के नष्ट होने पर वह मेरे सारूप्य-समान रूप को प्राप्त होता है-**निर्धूताशेषपापौघो मत्सारूप्यं भजत्ययम्** (मुक्ति० १.२१)। जो द्विज सदाचार में रत रहकर नित्य अनन्य भाव से मेरा ध्यान करता है और सर्वात्म भाव से मेरा भजन करता है, वह मेरे सामीप्य को प्राप्त होता है- **सदाचाररतो भूत्वा द्विजो नित्यमनन्य धीः। मयि सर्वात्मके भावो मत्सामीप्यं भजत्ययम्** (मुक्ति०१.२२-२३)। वह द्विज जब भ्रमरकीट के समान सम्यक् रूप से मेरे सायुज्य को प्राप्त होता है, तब वह कल्याणकारी और ब्रह्मानंद को प्रदान करने वाली सायुज्य मुक्ति को प्राप्त होता है- **मत्सायुज्यं द्विजः सम्यग्भजेद्भ्रमरकीटवत्। सैव सायुज्यमुक्तिः**

स्याद् ब्रह्मानन्दकरी शिवा। (मुक्ति० १.२४-२५)। कैवल्य मुक्ति पारमार्थिक रूप वाली है- **कैवल्य मुक्तिरेकैव पारमार्थिकरूपिणी** (मुक्ति० १.१८)।

११५. पञ्चाग्नि— अन्वाहार्यपचन, गार्हपत्य, आहवनीय, आवसथ्य और सभ्य संज्ञक ये अग्नियाँ पञ्चाग्नि कहलाती हैं। इनसे सम्बन्धित तत्त्वज्ञान को पञ्चाग्नि विद्या कहते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार सूर्य, बादल, पृथ्वी, पुरुष और स्त्री संबन्धी तात्त्विक ज्ञान पञ्चाग्नि विद्या है। वायु पुराण (१०६.४१-४२) के अनुसार दक्षिणाग्नि, गार्हपत्य, आहवनीय, सभ्य और आवसथ्य-ये पाँच अग्नियाँ हैं। मत्स्य पुराण (३५.१६) के अनुसार महाराजा ययाति ने पंच अग्नियों के बीच एक वर्ष तक तपस्या की थी। कठोपनिषद् (१.३.१) में पञ्चाग्नि सम्पन्न पुरुषों को 'पञ्चाग्नयः' कहकर सम्बोधित किया गया है। वह प्रसिद्ध तत्पुरुष वायुमंडल से संवृत, पञ्च अग्नियों से वेष्टित तथा मन्त्रशक्ति का नियामक है- **पञ्चाग्निना समायुक्तं मन्त्रशक्तिनियामकम्** (पं० ब्र० १०)।

११६. परब्रह्म —द्र०-ब्रह्म।

११७. परमगति— जब साधक आत्म तत्त्व या आत्मा में अवस्थित परमात्म तत्त्व की अनुभूति कर उसी में स्थिर हो जाता है, तो साधक की वह अवस्था परम गति कहलाती है। इसे मोक्ष या मुक्ति की अवस्था भी कहते हैं। कठोपनिषद् के अनुसार जब मन के साथ पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती, उस अवस्था को परमगति कहते हैं- **यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्** (कठ० २.३.१०)।

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं- जो पुरुष ॐ इस एक अक्षररूप ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और मेरा चिन्तन करता हुआ शरीर को त्यागकर जाता है, वह परमगति को प्राप्त होता है- **ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्** (गी० ८.१३)।

११८. परमपद— परम पद का शाब्दिक अर्थ है- सबसे श्रेष्ठ पद या सर्वोत्कृष्ट स्थान। इसे मोक्ष या मुक्ति के अर्थ में भी लिया जाता है। महाभारत के शान्तिपर्व (४७.३७) में श्री कृष्ण भगवान् को ही 'परमपद' कहकर निरूपित किया गया है। परब्रह्म का निवास जहाँ माना गया, उसे 'परमपद' कहा गया है। मनुष्यों के अन्दर हृदयाकाश में परमात्मा का निवास है, अतः वह भी परमपद है- **लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे** (कठ० १.३.१)। परम पद वह पद है, जहाँ से जीवात्मा पुनः लौटकर जन्म नहीं लेता। विवेकशील संयत मन वाला पवित्र साधक ही उस पद को प्राप्त करता है- **यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते** (कठ० १.३.८)। गीता में भगवान् उपदेश करते हैं कि जिसे वेदविद् अक्षर कहते हैं, जिसमें रागमुक्त यति प्रवेश करते हैं, जिसको चाहने वाले ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं, मैं उस परमपद का वर्णन करूँगा-**यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये** (गी० ८.११)।

निरालम्ब उपनिषद् के अनुसार प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि से भिन्न सच्चिदानन्दस्वरूप और नित्य मुक्त ब्रह्म का स्थान 'परमपद' कहलाता है- **प्राणेन्द्रियाद्यन्तः करणगुणादेः परतरं सच्चिदानन्दमयं नित्यमुक्तब्रह्मस्थानं परमं पदम्** (निरा० ३६)।

११९. परमात्मा— वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमात्मा जीवात्मा से भिन्न है। वह नित्य ज्ञान, नित्य इच्छा और नित्य संकल्प वाला है। वह सम्पूर्ण सृष्टि को चलाने वाला परमात्मा एक है, जबकि जीवात्मा अगणित हैं। सर्वोपरि या विशुद्ध आत्माओं के समूह को परमात्मा स्वीकार किया गया है। न्याय दर्शन के अनुसार जो सबका द्रष्टा, भोक्ता, सबको जानने वाला और सबके सुख-दुःख विषयादि का अनुभव करने वाला है, वह परमात्मा है- **सर्वस्य द्रष्टा सर्वस्य भोक्ता सर्वज्ञः सर्वानुभावी परमात्मा।**

महाभारत में वर्णन मिलता है कि जब आत्मा प्रकृति (शरीर) में बद्ध रहता है, तब उसे जीवात्मा कहते हैं और वही प्राकृत गुणों या शारीरिक गुणों से मुक्त होने पर परमात्मा कहलाता है- **आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः। तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः** (महा०)। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, उत्तम पुरुष तो अन्य है, जो परमात्मा कहलाता है, वह अविनाशी ईश्वर तीनों लोकों में संव्याप्त होकर (लोकों का) भरण-पोषण करता है- **उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः** (गी०१५.१७)।

वह श्रेष्ठ पुरुष इस शरीर में उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा भी है- **उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः** (गी०१३.२२)।

१२०. परा-अपरा विद्या— परा का सामान्य अर्थ है- जो सबसे परे हो या श्रेष्ठ, उत्तम। परा विद्या- वह विद्या है जो अव्यक्त अगोचर का ज्ञान कराती है। उपनिषद् विद्या को भी परा विद्या कहा गया है। ब्रह्मवेत्ता कहते आये हैं कि दो विद्याएँ जानने योग्य हैं- परा विद्या और अपरा विद्या-**द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च** (मुण्ड० १.१.४)। ऋक्, यजु, साम, अथर्व, शिक्षा, कल्प आदि अपरा विद्या है और अविनाशी ब्रह्म से सम्बन्धित विद्या परा विद्या है- **तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः ... परा यया तदक्षरमधिगम्यते** (मुण्ड० १.१.५)।

१२१. परिभू —द्र०- स्वयम्भू।

१२२. परिव्रज्या-परिव्राजक— धर्म प्रचार, विद्या विस्तार तथा जन-जागरण के विराट् उद्देश्य से परिभ्रमण करना परिव्रज्या कहलाता है। परिव्रज्या करने वाला वानप्रस्थी या संन्यासी या त्यागी पुरुष परिव्राजक या परिव्राट् कहलाता है। यह अपना समय ध्यान, चिन्तन, तप-तितिक्षा एवं लोक कल्याण में ही लगाता है। सादा जीवन और उच्च विचार इनका प्रमुख सिद्धांत रहा है। नारद को सब परिव्राजकों में श्रेष्ठ माना गया है, जो सब लोकों में भ्रमण करते थे- **अथ कदाचित्परिव्राजकाभरणो नारदः सर्वलोकसंचारं कुर्वन्** (ना०प० १.१)। परिव्रज्या का एक अर्थ संन्यास भी लिया जाता है। उपनिषद् में निर्देश है कि ब्रह्मचर्य समाप्त कर गृहस्थी होना चाहिए; गृहस्थी होकर वानप्रस्थी होना चाहिए। वानप्रस्थी होकर परिव्राजक (संन्यासी) होना चाहिए; परन्तु अन्य प्रकार से (वैराग्य होने पर) ब्रह्मचर्य, गृहस्थ या वानप्रस्थ किसी से भी परिव्राजक होना चाहिए- **ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा** (जाबा०४.१)। परिव्राजक चार प्रकार के होते हैं-कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस-**परिव्राजका अपि चतुर्विधा भवन्ति-कुटीचका बहूदका हंसाः परमहंसाश्चेति** (आश्र०४)।

१२३. पर्जन्य— सामान्यतया पर्जन्य का अर्थ मेघ, बादल या वर्षा से लिया जाता है। कहीं-कहीं इन्द्रदेव, सूर्यदेव या विष्णुदेव के लिए भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। पर्जन्य देव को वैदिक देवताओं में परिगणित किया गया है। ये एक अन्तरिक्ष स्थानीय देवता हैं। पर्जन्य वर्षण की सभी लोग कामना करते हैं- **निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु** (तै०सं०७.५.१८.१)। पर्जन्य को अग्नि भी कहा गया है- **पर्जन्यो वा अग्निः** (शत०ब्रा०१४.९.१.१३)। प्रजापति ही पर्जन्य होकर प्रजाओं के पिता (पोषक) बने- **पर्जन्यो भूत्वा (प्रजापतिः) प्रजानां जनित्रमभवत्** (जै०ब्रा०१.३१४)।

१२४. पवमान— पवमान शब्द 'पवित्रकारक' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। सोम 'पवित्रकारक' होने से 'पवमान' विशेषण से प्रायः निरूपित किया गया है। स्तोत्रादि का भी विशिष्ट अंश 'पवमान स्तोत्र' कहलाता है। प्रवाहित होने या प्रवहमान अर्थ में भी यह प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि प्रवहमान वायु को भी पवमान कहा गया है- **अयं वाव यः (वायुः) पवते स पवमानः** (काठ० सं०२२.१०), **अयं वायुः पवमानः** (शत०ब्रा०२.५.१.५)। अग्नि, वायु, आदित्य, सोम, प्राण और यज्ञ ये सब पवित्रकारक होने से पवमान कहे गये हैं- **त्रयो ह वा एते समुद्रायत् पवमानाः अग्निर्वायुरसावादित्यः** (जैमि०ब्रा०१.२७४), **सोमो वै पवमानः** (शत०ब्रा०२.२.३.२२), **प्राणो वै पवमानः** (शत०ब्रा०२.२.१.६), **पवमानो वाव यज्ञः** (जै०ब्रा०१.११९)।

१२५. पाप-पुण्य— किसी कर्म में अनिष्ट साधनों या भावनाओं का प्रयोग करना पाप कहलाता है। दूसरे शब्दों में बुरा या अशुभ कृत्य, जिससे मनुष्य बुरी गति को प्राप्त होता है, पाप कहलाता है। इसका विपर्याय पुण्य है। झूठ, पाप, तमस् और उन्माद- ये जीव को अमृत से दूर मृत्यु की ओर ले जाते हैं- पुण्य से स्वर्ग की प्राप्ति और पाप से नरक की प्राप्ति की मान्यता है। उपनिषद् के अनुसार सत्पुरुषों का संसर्ग स्वर्ग (पुण्यदायी) और असत् सांसारिक विषयों एवं संसारी जनों का संसर्ग ही नरक (पापदायी) है- **स्वर्ग इति च सत्संसर्गः स्वर्गः। नरक इति च असत्संसारविषयजनसंसर्ग एव नरकः** (निरा०१६-१७)। सतोगुणी कर्मों से पुण्य तथा तमोगुणी कर्मों से पाप की प्राप्ति होती है अथवा धर्म से पुण्य तथा अधर्म से पाप की प्राप्ति होती है। पाप-पुण्य की सरल परिभाषा निम्नांकित श्लोक में है, जिसमें कहा गया है कि परोपकार करना, दूसरों की भलाई करना, पुण्य है और दूसरों को पीड़ा पहुँचाना-दुःखी करना पाप है- **अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥**

१२६. पितर— द्र०-पूर्वज।

१२७. पुत्रैषणा—द्र०- एषणा त्रय।

१२८. पुनर्जन्म— मृत्यु के बाद पुनः शरीर धारण करने को पुनर्जन्म कहा जाता है। गीता में कहा गया है कि जन्मने वाले की मृत्यु सुनिश्चित है और मरने वाले का जन्म भी निश्चित है- **जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च** (गी०२.२७)। जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर दूसरे नये वस्त्रों को धारण करता है, वैसे ही देहधारी (आत्मा) पुराने शरीर को छोड़कर दूसरे नये शरीरों को पाता है- **वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही** (गी०२.२२)। कर्मफल एवं आसक्ति के अनुसार जीवात्मा को विविध योनियों में बार-बार जन्म-मरण चक्र में फँसना पड़ता है। विविध लोकों में कर्मफल को भोगकर फिर उसे इसी लोक में पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ता है। गीता में भगवान् ने कहा है-हे अर्जुन! ब्रह्मलोक तक सारे लोक पुनरावृत्ति वाले हैं, परंतु मुझको पाकर पुनर्जन्म नहीं होता- **आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते** (गी०८.१६)।

१२९. पुराण— पुराण शब्द का सामान्य अर्थ है- पुरातन या प्राचीन। पुराणकालीन महात्माओं, राजाओं, देवों, पुरुषों के वृत्तान्त जो परम्परागत रूप में चले आते हों; उन्हें भी पुराण कहते हैं। पुराण अट्ठारह हैं। पुराणों के नामों का संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार है- **मद्वयं भद्वयं चैव ब्रत्रयं वचतुष्टयम्। अनापलिंगकूस्कानि पुराणानि पृथक्-पृथक्** (दे०भा०१.३.२)। अर्थात् मद्वय (मत्स्य, मार्कण्डेय), भद्वय (भागवत, भविष्य), ब्रत्रय (ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्माण्ड), वचतुष्टय (वाराह, विष्णु, वामन, वायु), अनापलिंगकूस्क (अग्नि, नारद, पद्म, लिङ्ग, गरुड़, कूर्म और स्कन्द) अट्ठारह पुराण कहे गये हैं। अट्ठारह उपपुराण भी प्रसिद्ध हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं - सनत्कुमार, नृसिंह, बृहन्नारदीय, शिव, दुर्वासा, कापिल, मानव, औशनस, वारुण, कालिका, साम्ब, नन्दिकेश्वर, सौर, पाराशर, आदित्य, ब्रह्माण्ड, माहेश्वर, देवीभागवत। पुराणों के पाँच लक्षण माने गये हैं- **सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वंतराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्** (ब्र० वै० पु० श्री कृष्ण जन्म० ४.१.३.७)। शिवपुराण के रेवा माहात्म्य में वर्णन है कि अट्ठारह पुराणों के वक्ता सत्यवती व्यासदेव हैं । पुराण और स्मृति ग्रन्थ दोनों ही अठारह प्रसिद्ध हैं- **वायुपुत्र महाबाहो किं तत्त्वं ब्रह्मवादिनाम्। पुराणेष्वष्टादशसु स्मृतिष्वष्टादशस्वपि** (रा०र० १.२)। परमात्मा को सबसे प्राचीन होने के कारण पुराण पुरुष कहा गया है, वह सबकी हृदय गुहा में संव्याप्त होकर छिपा हुआ है- **तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्** (कठ० १.२.१२)।

१३०. पुरुष-परम पुरुष— 'पुरुष' शब्द की व्युत्पत्ति '**पुरि शेते इति**' (पुर अर्थात् शरीर में शयन करता है) की गयी है। इस अर्थ में प्रत्येक व्यक्ति पुरुष है, वह चाहे स्त्री हो अथवा पुरुष। वह दिव्य पुरुष-परम पुरुष प्राणियों की देह के मध्य भाग में अवस्थित रहता है। वह अङ्गुष्ठमात्र परिमाण का पुरुष धूम्ररहित ज्योतिरूप में स्थित रहता है- **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः** (कठ०२.१.१२-१३)। अव्यक्त शक्ति (प्रकृति) से श्रेष्ठ वह परम पुरुष अत्यन्त व्यापक और आकाररहित है, जिसे जानकर जीव बन्धनमुक्त होकर अमरत्व को प्राप्त करता है- **अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च। यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति** (कठ०२.३.८)। वही परम पुरुष तीन रूपों में प्रकट हुआ-आत्मा, अन्तरात्मा (जीवात्मा) और परमात्मा कहलाता है- **त्रिविधः पुरुषोऽजायता ऽऽत्माऽन्तरात्मा परमात्मा चेति** (आत्मो०१)। वह विराट् स्वरूप आदित्य के सदृश प्रकाशस्वरूप है- **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्** (श्वेता०३.८)। वह पुरुष सोलह कलाओं से युक्त है- **षोडशकलः सोम्य पुरुषः** (छान्दो०६.७.१)। वह दिव्य पुरुष यज्ञरूप है, संकल्परूप है- **पुरुषो वाव यज्ञः** (छान्दो०३.१६.१), **अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः** (छान्दो०३.१४.१)। वह पुरुष अविनाशी और अमृतस्वरूप आत्मारूप है- **यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा** (मुण्ड०१.२.११)। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त (१०.९०) में आदि पुरुष की कल्पना विराट् पुरुष अथवा विश्वपुरुष के रूप में की गयी है।

१३१. पुरुषसूक्त— ऋग्वेद के दसवें मण्डल के नब्बेवें सूक्त को अथवा यजुर्वेद के ३१ वें अध्याय के १६ मन्त्रों के समूह को जिसका प्रारम्भ '**सहस्रशीर्षा**' से होता है, पुरुष सूक्त कहते हैं। इसमें विराट् नारायण पुरुष की स्तुति की

गयी है। मुद्गलोपनिषद् के प्रथम खण्ड में पुरुषसूक्त द्वारा प्रतिपादित अर्थ निर्णय का विवेचन किया गया है- **पुरुषसूक्तार्थ निर्णयं व्याख्यास्यामः** (मुद्ग०१.१)। व्याख्या के अन्त में निरूपण है कि पुरुषसूक्त का ज्ञाता मुक्ति अवश्य प्राप्त करता है- **य एवमेतज्जानाति स हि मुक्तो भवेदिति।** (मुद्ग० १.९)

१३२. पुरोनुवाक्या— यज्ञों में तीन प्रकार की आहुतियों में से एक पुरोनुवाक्या आहुति दी जाती है। यह आहुति जिस ऋचा को पढ़कर दी जाती है, उस ऋचा को भी पुरोनुवाक्या कहकर स्वीकार किया गया है। इन ऋचाओं को पृथ्वी, प्राण और भ्रातृव्य देवता से सम्बद्ध किया गया है- **पृथिवीलोकमेव पुरोऽनुवाक्यया** (शत० ब्रा० १४.६.१.९), **प्राण एव पुरोऽनुवाक्या** (बृह० ३.१.१०), **भ्रातृव्यदेवत्या वै पुरोनुवाक्या** (तै०सं० १.६.१०.४)।

१३३. पूर्वज-गोत्रज— पूर्वकाल में उत्पन्न पुरुषों को पूर्वज कहा जाता है। बाप, दादा, परदादा आदि ऊपर की पीढ़ियों में उत्पन्न पुरुषों को पूर्वज या पितर कहते हैं। अपने ही गोत्र या वंश में उत्पन्न पुरुषों को गोत्रज या वंशज कहा गया है। सभी मनुष्य मान्य ऋषियों की संतान-परम्परा के हैं। अपने कुल या वंश के आदिपुरुष-ऋषि के नाम से वंशसंज्ञा को गोत्र कहा गया है। सभी के गोत्र प्रवर्तक कोई न कोई ऋषि ही हैं। कभी-कभी शिष्य अपने गुरु के गोत्र को ही अपना गोत्र स्वीकार करता है। पूर्वजों या पितरों के नाम पर श्राद्ध (स्वधा) या जलदान तर्पण किया जाता है- **स्वधां पितृभ्यः** (छान्दो० २.२२.२)। उपनिषद् का कथन है कि जो मनुष्यों के सौ आनन्द हैं, वे पितृलोक को जीतने वाले पितृगणों का एक आनन्द है- **अथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः। स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दः** (बृह० ४.३.३३)।

१३४. प्रकृति-पुरुष— सांख्य दर्शन में प्रमुख रूप से पुरुष और प्रकृति ये दो तत्त्व माने गये हैं। प्रकृति अव्यक्त है, वही व्यक्त होने पर जगत् का रूप ले लेती है। प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति का क्रम निम्न प्रकार प्रतिपादित है- प्रकृति से महत्तत्त्व (बुद्धि), महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्रा, पञ्चतन्मात्रा से एकादश इन्द्रिय और उनसे फिर पञ्चमहाभूत। इन चौबीसों तत्त्वों से जगत् की उत्पत्ति हुई। इसी क्रम से सारा जगत् फिर नष्ट होकर अपने मूल प्रकृति रूप में आ जाता है। प्रकृति की उत्पत्ति उस अविनाशी पुरुष से ही होती है। उपनिषद् के अनुसार जैसे मकड़ी तन्तु-जाल को उत्पन्न करती है और अपने में ही समेट लेती है, जैसे पुरुष से केश और लोम उत्पन्न होते हैं, वैसे ही अक्षर पुरुष से यह विश्व उत्पन्न होता है- **यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्** (मुण्ड० १.१.७)।

प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन। प्रकृति और पुरुष पृथक्-पृथक् होकर कर्म नहीं कर सकते। पुरुष प्रकृति में स्थित होकर ही प्रकृतिजन्य गुणों का उपभोग करता है-**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्** (गी० १३.२१)। गीता में भगवान् ने कहा है कि पुरुष और प्रकृति दोनों ही अनादि हैं और प्रकृति से ही समस्त गुण और विकार उत्पन्न हुए हैं- **प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥** (गी० १३.१९) प्रकृति सत्, रज और तम तीनों गुणों की साम्यावस्था है- **साम्यावस्था प्रकृतिः** (सां०द० १.६१)। प्रकृति को पुरुष की ही महाशक्ति माना गया है। मूल सूक्ष्म प्रकृति ही घनीभूत होकर स्थूल हो जाती है और सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थों की रचना करती है। गीता के अनुसार भगवान् की प्रकृति आठ भेदों में विभाजित है- **भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा** (गी० ७.४)। प्रकृति क्रियाशील और पुरुष निष्क्रिय द्रष्टा है। इस सम्पर्क से पुरुष में जो भ्रम उत्पन्न होता है, उसके कारण पुरुष प्रकृति के कार्यों का अपने ऊपर आरोपण कर लेता है और इससे उनके परिणामों से उत्पन्न सुख-दुःख भोगता है।

१३५. प्रज्ञा-प्रज्ञान— प्रज्ञा का सामान्य अर्थ है- प्रकृष्ट ज्ञान या श्रेष्ठ बुद्धि। विवेकवान्, विद्वान् या चैतन्य पुरुष को प्रज्ञान कहा गया है। अन्तर्दृष्टि या अनुभूति के द्वारा आत्मा या परमात्मा के सम्बन्ध में जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे भी प्रज्ञा या प्रज्ञान कहते हैं। बुद्धि का परिष्कृत रूप जिसमें दूरदर्शिता तथा विवेकशीलता भी समाविष्ट है, 'प्रज्ञा' रूप में मान्य है। उपनिषद् के अनुसार जिससे बौद्धिक वृत्तियों को, ज्ञातव्य विषयों को, कामनाओं को ग्रहण करते हैं, उसे प्रज्ञा कहते हैं- **केन धियो विज्ञातव्यं कामानिति। प्रज्ञयेति ब्रूयात्** (कौ० ब्रा० १.७)। प्रज्ञा को निर्विकल्प और चिन्मात्रा वृत्ति से सम्बद्ध किया गया है-**निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते** (अध्या० ४४)। प्राण को भी प्रज्ञा से सम्बद्ध किया गया है। **यो वै प्राणः सा प्रज्ञा** (कौ० ब्रा० ३.३)। कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् में

'प्रज्ञा' के कार्य व्यवहार को विस्तारपूर्वक समझाया गया है। प्रज्ञा से मनुष्य सत्य और संकल्प शक्ति को धारण करता है- **प्रज्ञया सत्यं संकल्पम्** (कौ० ब्रा० ३.२)। प्रकृष्ट ज्ञान को प्रज्ञान कहते हैं। प्रकृष्ट ज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है, क्योंकि ब्रह्म की ही त्रैकालिकी सत्ता है और वही ज्ञान का परमलक्ष्य है। उपनिषद् ग्रन्थों में इसीलिए प्रज्ञान को ब्रह्म का पर्याय माना गया है- **प्रज्ञानं ब्रह्म** (शु०र० २.१, आ०बो० १.१)।

१३६. प्रतिष्ठा—प्रतिष्ठा शब्द के पर्यायवाची शब्द हैं- स्थापना, स्थान, गौरव, कीर्ति, आदर, निवास, आधार आदि। उपनिषद् में वर्णित है कि जो कोई प्रतिष्ठा को जानता है, वह इस लोक और परलोक में प्रतिष्ठित होता है। चक्षु ही प्रतिष्ठा है- **यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च। चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा** (छान्दो० ५.१.३)। जब साधक उस परमात्मा की अदृश्य, अशरीर, अवर्णनीय, अनाश्रित, अभय, प्रतिष्ठा (स्थिति) को प्राप्त करता है, तब वह सर्वदा निर्भय पद को प्राप्त होता है- **यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति** (तैत्ति० २.७.१)। चारों दिशाओं के सदृश प्रतिष्ठा भी चार प्रकार की मानी गयी है- **अथ याश्चतस्रः प्रतिष्ठा इमा एव ताश्चतस्रो दिशः** (जै० उ० १.२१.२)।

१३७. प्रत्यगात्मा— प्रत्यगात्मा शब्द दो शब्दों के मेल से बना है- प्रत्यक् +आत्मा। वह पुरुष जिसकी चित्तवृत्ति निर्मल हो चुकी हो, जो अपना स्वरूप समझने लगा हो, जिसे आत्मज्ञान की प्राप्ति हो गयी हो, उसे प्रत्यगात्मा कहा गया है। यह शब्द विशुद्ध अन्तरात्मा या परमेश्वर के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। उपनिषद् का कथन है कि कोई विरला धीर पुरुष ही अमरत्व प्राप्ति की इच्छा करके चक्षु आदि इन्द्रियों को बाह्य विषयों से लौटाकर अन्तरात्मा (प्रत्यगात्मा) को देख पाया है- **कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्** (कठ० २.१.१)। सर्वसारोपनिषद् में प्रश्न है- प्रत्यगात्मा, परमात्मा और माया ये तत्त्व क्या हैं ? प्रत्यगात्मा को जीवात्मा के आशय से **त्वं** पद से निरूपित किया गया है। प्रत्यगात्मा अज्ञान, माया और शक्ति का साक्षीरूप है। मैं ही एक ब्रह्मरूप हूँ, इस प्रकार का भाव चिन्तन करते हुए वह स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है- **प्रत्यगात्मानमज्ञानमायाशक्तेश्च साक्षिणम्। एकं ब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मैव भवति स्वयम्** (कठ०रु० १६)।

१३८. प्रत्याहार— योग के अन्तर्गत योग के आठ अङ्गों का निरूपण शास्त्रों में दृष्टिगोचर होता है- **यमनियमासन-प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि** (यो०द० २.२९)। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। प्रत्याहार में चित्तवृत्तियों को या इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर चित्त को हर स्थिति में शान्त रखा जाता है। अपने चिन्तन को अनात्म पदार्थों से हटाकर आत्मा में लगाये रहना प्रत्याहार है। इसी तथ्य की पुष्टि अमृतनादोपनिषद् में होती है- **शब्दादि विषयान् पञ्च मनश्चैवातिचञ्चलम्। चिन्तयेदात्मनो रश्मीन् प्रत्याहारः स उच्यते** (अमृ० ५)। योगी कुम्भक में स्थित होकर (प्राणायाम द्वारा प्राण को भीतर धारण किये रहना) इन्द्रियों को उनके विषयों से खींचकर लाए, यह प्रत्याहार कहा जाता है। उस समय नेत्रों से जो कुछ देखे, उसे आत्मभावना से ग्रहण करे- **इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरणं स्फुटम्। योगी कुम्भकमास्थाय प्रत्याहारः स उच्यते। यद्यत्पश्यति चक्षुर्भ्यां तत्तदात्मेति भावयेत्** (यो०त० ६८-६९)। इस प्रकार के अभ्यास से योगी की चित्त शक्ति बढ़ती जाएगी। प्रत्याहार से इन्द्रियों के सांसर्गिक दोषों को तथा ध्यान से अनीश्वरीय गुणों को नष्ट किया जाता है- **प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान्** (अमृ० ८)।

१३९. प्रमाद— प्रमाद का सामान्य अर्थ मानसिक आलस्य, शिथिलता या अक्रियता के रूप में लिया जाता है। कहीं इसे उन्माद, लापरवाही या आन्तरिक दुर्बलता कहकर निरूपित किया गया है। ब्रह्मनिष्ठों के लिए प्रमाद करना अनुचित है और ब्रह्मवादिन् के लिए विद्या में प्रमाद मृत्यु के सदृश कहा जाता है- **प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्त्तव्यः कदाचन। प्रमादो मृत्युरित्याहुर्विद्यायां ब्रह्मवादिनः** (अध्या० १४)। गीता में भगवान् ने प्रमाद को तमस् का रूप बताया है, जो जीवात्मा को बाँधता है- **तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत** (गी०१४.८)। मनुष्य का तमोगुण ही उसके ज्ञान को ढककर उसे प्रमाद में लगाता है- **ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत** (गी० १४.९)। रामानुजाचार्य ने कहा है- "कर्त्तव्य कर्म से भिन्न कर्म में प्रवृत्त करने वाली असावधानी का नाम प्रमाद है।" अर्थात् प्रमाद से कर्त्तव्यशीलता नष्ट हो जाती है, जो व्यक्ति को कल्याण मार्ग से च्युत कर देती है।

१४०. प्राज्ञ— वेदान्त दर्शन की मान्यतानुसार 'प्राज्ञ' जीव की एक संज्ञा है। शंकराचार्य के अनुसार 'परब्रह्म' ही देहेन्द्रिय, मन एवं बुद्धि आदि की उपाधियों से परिच्छिन्न होकर शरीरधारी जीव कहा जाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि परब्रह्म (शुद्ध चैतन्य) ही अविद्या की उपाधि से युक्त होकर शरीरेन्द्रिय से परिच्छिन्न होकर 'जीव' कहलाता है। कुछ विद्वान् घटावच्छिन्न आकाश की तरह शरीरचित्तावच्छिन्न चैतन्य को जीव कहते हैं। 'जीव' का सम्बन्ध तीनों शरीरों १. स्थूल २. सूक्ष्म ३. कारण से होता है। अन्नादि से परिपोषित चर्मचक्षुओं से दृष्टिगोचर होने वाला शरीर 'स्थूल-शरीर' कहलाता है। इस स्थूल के अन्दर ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रियों-प्राण, मन एवं बुद्धि का एक तन्त्र कार्य करता हुआ अनुभव में आता है-यह सूक्ष्म-शरीर है। सूक्ष्म शरीर को भी सक्रिय-गतिमान् करने वाला अज्ञानोपहित चैतन्य जो अहंकार आदि का कारण है, 'कारण शरीर' कहलाता है।

उक्त तीनों शरीरों से सम्बद्ध चैतन्य को तीन संज्ञाएँ प्रदान की गई हैं। स्थूल शरीर की व्यष्टि उपहित चैतन्य की 'विश्व', सूक्ष्म शरीर की व्यष्टि उपहित चैतन्य की 'तैजस' तथा कारण शरीर की व्यष्टि उपहित चैतन्य की 'प्राज्ञ' संज्ञा है। 'प्राज्ञ' संज्ञक अज्ञानोपहित चैतन्य मलिन सत्त्व प्रधान होने से अधिक प्रकाशक नहीं होता। यह आनन्दमय कोश से समन्वित है। सभी प्रपञ्चों (सक्रियता) का इसमें उपराम होने से इसकी सुषुप्ति अवस्था होती है। आनन्द की अनुभूति करने वाला चैतन्य यही 'प्राज्ञ' है।

१४१. प्राण-पञ्चप्राण— सूक्ष्म जीवनवायु के पाँच प्रकारों- प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान में से एक प्राण है। व्यापक रूप में प्राण शब्द ज्ञानेन्द्रिय या चेतना को प्रकट करता है। कभी-कभी यह शब्द केवल श्वास का साधारण अर्थ बोध कराता है। जिस आन्तरिक सूक्ष्म शक्ति द्वारा जीवात्मा का दृश्य जगत् में देह से सम्बन्ध होता है, उसे प्राणशक्ति कहते हैं। यह प्राणशक्ति ही स्थूल प्राण (ऊर्ध्वगमनशील), अपान (अधोगमनशील), व्यान (सम्पूर्ण शरीर में गमनशील), उदान (उद्गिरणशील-उगलने की प्रवृत्ति) एवं समान (समान वितरणशील-रस, रक्त आदि का समान वितरण) की सञ्चालिका है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और स्थिति के मूल में उस प्राणशक्ति का ही साम्राज्य है। प्राण को साक्षात् ब्रह्म के रूप में स्वीकार किया गया है- **प्राणो वै ब्रह्म** (जै०उ०३.३८.२)। प्राण ही प्राणियों की आयु है-**प्राणो हि भूतानामायुः** (तैत्ति०२.३.१)। **प्राणा वै यशो वीर्यम्** (बृह०१.२.६), **यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः** (कौ०ब्रा०३.३)। आदित्य प्राणरूप ही है, क्योंकि वे ही प्राण बरसाते हैं- **आदित्यो ह वै प्राणः** (प्रश्न०१.५)। रथ के पहिए की नाभि में लगे अरों की भाँति प्राण में ही सब प्रतिष्ठित हैं- **अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्** (प्रश्न०२.६)। प्राण को ही इन्द्र तथा रुद्र रूप में परिरक्षक कहा गया है- **इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता** (प्रश्न०२.९)। नाग (डकार आना), कूर्म (पलक झपकना), कृकल (भूख लगना), धनञ्जय (समस्त शरीर का पोषण करना), देवदत्त (जँभाई आना)-ये पाँच उपप्राण कहलाते हैं।

१४२. प्रारब्ध— मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, परन्तु फल भोगने में नहीं। मनुष्य के सभी कर्म सञ्चित होते रहते हैं, जिसका फल उसे भविष्य में अवश्य भोगना पड़ता है। दूसरे कर्म वे हैं, जिसका फल वह वर्तमान में भोग रहा है, उसे प्रारब्ध कर्म कहते हैं। जन्मभेद से कर्म के चार विभाग किये जाते हैं- सञ्चित, प्रारब्ध, क्रियमाण और भावी। प्रारब्ध कर्मों के फलभोग प्रारम्भ हो चुके होते हैं। इसे भाग्य या किस्मत भी कहते हैं। नादबिन्दूपनिषद् में वर्णन मिलता है कि जन्म-जन्मान्तरों के जो कर्म हैं, वे ही प्रारब्ध कहे गये हैं- **कर्म जन्मान्तरीयं यत्प्रारब्धमिति कीर्तितम्** (ना०बि०२३)। उपनिषद् का कथन है कि समस्त प्रारब्ध कर्मों को भोगते हुए तुम्हें उद्विग्न नहीं होना चाहिए- **प्रारब्धमखिलं भुञ्जन्नोद्वेगं कर्तुमर्हसि** (ना०बि०२१)। तत्त्वज्ञान हो जाने पर भी प्रारब्ध नहीं छोड़ता, किन्तु तत्त्वज्ञान हो जाने से प्रारब्ध (ज्ञानी की दृष्टि में) नहीं रहता- **उत्पन्ने तत्त्वविज्ञाने प्रारब्धं नैव मुञ्चति। तत्त्वज्ञानोदयादूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते** (ना०बि०२२)।

१४३. बन्धन— मोक्ष की प्राप्ति मनुष्य का परम लक्ष्य है। इसके विपरीत मोक्ष प्राप्ति में बाधक सभी घटकों को बन्धन कहा गया है। सांसारिक विषयों, पदार्थों अथवा व्यक्तियों से अत्यधिक ममता या आसक्ति का होना बन्धन है। कामना से युक्त कर्मों को भी बन्धन रूप कहा गया है। विषय-विकारों तथा अहंभाव को बंधन माना गया है। निरालम्ब उपनिषद् में बन्धन रूप सभी तथ्यों को विस्तारपूर्वक उपन्यस्त किया गया है। अनादि अविद्या की वासना (संस्कार) द्वारा उत्पन्न इस प्रकार का विचार कि मैं हूँ (मैं ही जन्मता-मरता हूँ), यही बन्धन है। माता-पिता, भ्राता,

पुत्र, गृह, उद्यान तथा खेत आदि मेरे अपने हैं, इस प्रकार के सांसारिक आवरण स्वरूप विचार भी बन्धन रूप है। कर्त्तापन के अहंकार का संकल्प भी बन्धनरूप है। अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों को प्राप्त करने का सङ्कल्प भी बन्धन है। कामनापूर्ति के लिए सङ्कल्पपूर्वक की गयी उपासना भी बन्धन रूप है। यमादि अष्टाङ्ग योग का सङ्कल्प भी बन्धन ही है। वर्ण और आश्रम धर्म-कर्म के सङ्कल्प भी बन्धन स्वरूप हैं। आशा, भय, संशय आदि के सङ्कल्प भी बन्धन हैं। यज्ञ, व्रत, तप और दान के विधि-विधान तथा ज्ञान के सङ्कल्प भी बन्धन हैं। मोक्ष प्राप्ति का विचार करना भी बन्धन है। सङ्कल्प मात्र से जो कुछ सम्भव है, वह सभी बन्धनस्वरूप है (निरा०१८-२८)। गीता ३.९ में यज्ञार्थाय कर्म के अतिरिक्त अन्य सभी कर्मों को बन्धनस्वरूप माना गया है। उपनिषद् के अनुसार मन ही मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण है। विषयों में आसक्त मन ही बन्धन का कारण है और विषय रहित मन मोक्ष का कारण है- **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतमिति** (मैत्रा०४.११)।

१४४. **बलि**— भूमि की उपज का वह अंश जो भूपति (कृषक) प्रतिवर्ष राजा को देता है, उसे बलि कहते हैं। उपहार या भेंट या देवता को दिया गया भोज्य पदार्थ भी बलि कहलाता है। पञ्च महायज्ञों में चौथा भूतयज्ञ भी बलि कहा जाता है। भूतबलि के अन्तर्गत पिपीलिका बलि, श्वानबलि, गो-बलि, काकबलि, देवबलि आदि हैं। श्राद्ध या पितरों को बलि देना पितृयज्ञ होता है। सम्पूर्ण प्रजा और सम्पूर्ण देवगण प्राणरूप ब्रह्म को बलि (भेंट) समर्पित करते हैं- **तुभ्यं प्राणः प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि** (प्र०२.७), **तथो एवास्मै (प्राणाय ब्रह्मणे) सर्वाणि भूतान्ययाचमानायैव बलिं हरन्ति** (कौ०ब्रा०२.१), **तस्मै वा एतस्मै प्राणाय ब्रह्मण एताः सर्वा देवता अयाचमानाय बलिं हरन्ति** (कौ०ब्रा०२.१)। पके हुए अन्न में से एक अंश अग्नि आदि देवों को अर्पित करना बलिवैश्व कहलाता है। भूतयज्ञ को बलिवैश्व देव भी कहते हैं।

१४५. **बुद्धि-धी**— मनुष्य की वह शक्ति, जिसके द्वारा वह उपस्थित विषय के सम्बन्ध में ठीक-ठीक निर्णय या निश्चय करता है। इसी को धीष्णा, धी,मति आदि भी कहते हैं। इसी के परिष्कृत स्वरूप को मनीषा कहते हैं। इसी के उत्तरोत्तर विकास क्रम में प्रज्ञा, मेधा, भूमा और ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है। बुद्धि को चैतन्य आत्मा का गुण माना जाता है। मनस्, इन्द्रियाँ और अहंकार बुद्धि के लिए कार्य करते हैं। प्रसिद्ध गायत्री मंत्र में सवितादेव से यह प्रार्थना की गयी है कि हम उस सविता के वरणीय भर्ग (पापनाशक तेजस्) को धारण करते हैं, वह देव हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करे (ऋ० ३.६२.१०)। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने बुद्धि के सात्त्विकी, राजसी और तामसी- ये तीन भेद बताये हैं । अन्तःकरण चतुष्टय के अन्तर्गत मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार हैं। बुद्धि से मनुष्य समझता है। चित्त से चैतन्य होता है। अहंकार से अहंता का अनुभव करता है- **बुद्ध्या बुध्यति। चित्तेन चेतयति। अहंकारेणाहंकरोति** (ना०प०६.३)।

१४६. **बोध-प्रतिबोध**— ज्ञान, समझ या जानकारी के अर्थ में बोध शब्द प्रयुक्त होता है। सामान्यतया विशिष्ट अनुभूतिजन्य ज्ञान के अर्थ में भी बोध शब्द का प्रयोग होता है। आत्मबोध मनुष्य का परम लक्ष्य है। उपनिषद् ज्ञान के अनुसार अहंभाव (सत्त्वभाव) और दयाभाव-यह ज्ञान की पराकाष्ठा है- **अहंभावो दयाभावो बोधस्य परमावधिः** (अध्या०४१)। वैराग्य का फल बोध होता है और बोध का फल चित्तशान्ति है-**वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम्** (अध्या०२८)।

प्रतिबोध शब्द के पर्याय जागरण, ज्ञान, स्मरण आदि हैं। अन्तःप्रेरणा से प्राप्त बोध या अन्तःस्फुरणा से उत्पन्न ज्ञान के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग कहीं-कहीं हुआ है। केनोपनिषद् में वर्णित है कि प्रतिबोध से उत्पन्न ज्ञान ही यथार्थ है,इसी से अमृतस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है- **प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते** (केन०२.४)।

१४७. **ब्रह्म-परब्रह्म**— वेदान्त दर्शन का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय 'ब्रह्म' है। 'ब्रह्म' शब्द की व्युत्पत्ति ही अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है- **बृंहति वर्द्धते निरतिशयमहत्त्वलक्षणवृद्धिमान् भवतीत्यर्थः** (शब्द०)। बृंह् धातु वर्धमान-वृद्धिमान् अर्थ में प्रयुक्त होती है, जो निरतिशय महत्त्व की दृष्टि से वृद्धिमान् है, वह ब्रह्म है, अर्थात् जो सत्ता सर्वत्र विद्यमान है-शाश्वत है-नित्य है-अपरिवर्तनशील है, वह 'ब्रह्म' है, इससे अतिरिक्त अन्य सभी नश्वर हैं- **ब्रह्मैव नित्यं वस्तु तदन्यदखिलमनित्यम्।**

ब्रह्म का स्वरूप प्रकट करने के क्रम में आचार्यों ने दो प्रकार के लक्षणों का उल्लेख किया है-१. स्वरूप लक्षण, २. तटस्थ लक्षण। जो लक्षण वस्तु के स्वरूप के अन्तर्गत आ जाता हो और अन्यों से भेद करने वाला हो, वह स्वरूप लक्षण कहलाता है, जैसे- **'सच्चिदानन्दं ब्रह्म, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** इत्यादि श्रुति वचनों में 'ब्रह्म' को सत्, चित्, आनन्द, सत्य, ज्ञानवान्, अनन्त तथा विज्ञानवान् (विशिष्ट ज्ञान सम्पन्न) और आनन्दमय कहा गया है। ये विशेषताएँ ब्रह्म के अन्तर्गत हैं, अन्यत्र नहीं। अत: यह 'ब्रह्म' का स्वरूप लक्षण हुआ। जो लक्षण स्वरूप के अन्तर्गत न होने पर भी अन्य से भेद करने वाला हो, वह 'तटस्थ-लक्षण' कहलाता है, जैसे- **'जन्माद्यस्य यत:।** (ब्र० सू० १.१.२), **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म'** (तैत्ति० ३.१) इत्यादि श्रुति वचनों में 'ब्रह्म' को जन्म, स्थिति, प्रलय का निमित्त कारण कहा गया है, किन्तु वह स्वयं जन्म आदि से परे है और उसकी उक्त विशेषताएँ अन्यत्र कहीं हैं भी नहीं, अतएव यह (जन्मादि का निमित्त कारण होना) ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है।

इस प्रकार लक्षण के दोनों भेदों के आधार पर 'ब्रह्म' सत्य, ज्ञानस्वरूप, अनन्त, सत्, चित्, आनन्द, जन्म, स्थिति, प्रलय का निमित्त कारण आदि विशिष्टताओं से मण्डित सिद्ध होता है। इस तथ्य का प्रतिपादन श्रुतिवचनों में प्राय: मिलता है, जैसे- कठोपनिषद् में कहा गया है कि वह (ब्रह्म) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध रहित है, अनादि है, अनन्त है, उसका साक्षात्कार करने वाला मृत्यु के मुख से मुक्त हो जाता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेता है- **अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्। अनाद्यनन्तं महत: परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते** (कठो०१.३.१५)। उस नित्य, शुद्ध, मुक्त, अजन्मा परमतत्त्व, ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने से हृदय की ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, सभी संशय नष्ट हो जाते हैं और उसके समस्त प्रारब्ध कर्म क्षीण हो जाते हैं, परिणामत: वह मुक्त हो जाता है-**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया:। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे** (मुण्ड०२.२.८, महो०४.८२)। छान्दोग्य उपनिषद् में उस ब्रह्म तत्त्व की उपासना करने का निर्देश इस तथ्य के साथ दिया गया है कि वही सब जगह है, उसी से सभी जन्म पाते हैं, उसी में स्थित रहते हैं और अन्त में उसी में विलीन हो जाते हैं - **सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत** (छान्दो०३.१४.१)।

शास्त्रीय मान्यता के अनुसार ब्रह्म के दो रूप हैं- १. कार्य ब्रह्म, २. कारण ब्रह्म। कारण ब्रह्म को ही परब्रह्म कहा गया है। पुरुष सूक्त के अनुसार-**''त्रिपादूर्ध्वऽउदैत्पुरुष: पादोस्येहाभवत्पुन:''**। ब्रह्म का तीन चौथाई अंश जो अनन्त अन्तरिक्ष में व्याप्त रहता है, जिसका इस सृष्टि से- विश्व ब्रह्माण्ड से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं, वह परब्रह्म कहलाता है। उसी का एक चौथाई अंश जो प्रत्यक्ष विश्व ब्रह्माण्ड में सक्रिय है, उसे ब्रह्म के रूप में जाना जाता है।

१४८. ब्रह्मचर्य— चारों आश्रमों में से प्रथम ब्रह्मचर्य आश्रम कहलाता है। उपनयन के अनन्तर बालक के वेदाध्ययन तक के समय को ब्रह्मचर्य कहते हैं। ब्रह्मचारी की यह व्युत्पत्ति-**ब्रह्मणि चरति इति ब्रह्मचारी** -दोनों भावों को प्रकट कर देती है, जो ब्रह्म (वेद-परब्रह्म) के चिन्तन-मनन में तल्लीन होता है, वह ब्रह्मचारी होता है। वीर्यरक्षा या अष्टविध मैथुन से बचने का व्रत भी ब्रह्मचर्य है। अथर्ववेद के एक सूक्त ११.५ में ब्रह्मचारी के लिए प्रशंसापरक प्रतिपादन है। इसके प्रथम मन्त्र में वर्णन है कि ब्रह्मचारी भूमि तथा आकाश दोनों को हिलाता हुआ चलता है। देवता उसके अनुकूल होते हैं। वह पृथ्वी तथा द्युलोक को थामे हुए है। वह अपने तप से आचार्य को पुष्ट करता है। उपनिषद् का कथन है कि उस ब्रह्म को चाहने वाले साधक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं- **यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति** (कठ० १.२.१५)। छान्दोग्य उपनिषद् (८.५.१) में ब्रह्मचर्य के विषय में प्रतिपादन है कि जिसे यज्ञ कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि जो ज्ञाता है, वह ब्रह्मचर्य के द्वारा ही उसे (आत्मतत्त्व को) प्राप्त होता है। जिसे इष्ट कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा पूजन करके पुरुष आत्मा को प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्य और तप के द्वारा ही देवों ने मृत्यु को जीत लिया है-**ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत** (अथर्व० ११.७.१९)।

१४९. ब्रह्मजज्ञ— ब्रह्मजज्ञ का भावार्थ ब्रह्म से उत्पन्न सृष्टि या रचना को जानने वाला है। अग्निदेव सम्पूर्ण जगत् में संव्याप्त हैं और वही इस सृष्टि के ज्ञाता हैं। कठोपनिषद् का कथन है कि साधक सृष्टि को जानने वाले स्तुत्य अग्निदेव को जानकर उसका निष्काम भाव से चयन करके अनन्त शान्ति को प्राप्त होते हैं-
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाꣳशान्तिमत्यन्तमेति (कठ०१.१.१७)।

१५०. ब्रह्मनिष्ठ— द्र०-ब्रह्मविद्या।

१५१. ब्रह्मरन्ध्र— मस्तक या मूर्धा भाग के मध्य एक गुप्त छिद्र जिससे होकर प्राण निकलने से ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। योगियों के प्राण इसी छिद्र (रन्ध्र) से निकलते हैं। इसे मोक्ष द्वार कहा गया है, क्योंकि इसे बेधकर प्राण त्यागने से मुक्ति प्राप्त होती है। इसे सुषिर (छिद्रयुक्त, पोला) मण्डल भी कहा जाता है- **मोक्षद्वारं बिलं चैव सुषिरं मण्डलं विदुः** (अमृ० २६)। जिस साधक का प्राण इस मण्डल को भेदकर मूर्धा में पहुँच जाता है, वह जहाँ कहीं भी मृत्यु को प्राप्त होता है, पुनः जन्म नहीं लेता, अर्थात् पुनर्जन्म के चक्र में नहीं फँसता- **यस्येदं मण्डलं भित्त्वा मारुतो याति मूर्धनि। यत्र-यत्र म्रियेद्वापि न स भूयोऽभिजायते** (अमृ० ३९)।

१५२. ब्रह्मलोक— द्र०-देवयान।

१५३. ब्रह्मविद्या— उपनिषदों में मुख्यतः जिस विद्या का उल्लेख है, उसे ब्रह्मविद्या कहा जाता है। जिसका तात्पर्य है- ब्रह्म का ज्ञान कराने वाली विद्या। ब्रह्म के जानने वाले को ब्रह्मविद् या ब्रह्मवेत्ता कहा जाता है। ब्रह्मविद्या के द्वारा 'हम सर्व हो जायेंगे', ऐसा मनुष्य मानते हैं- **तदाहुर्यद् ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते** (बृह०१.४.९)। ब्रह्मविद्या को सब विद्याओं की आधारभूता कहा गया है, जिसका उपदेश ब्रह्माजी ने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को दिया- **स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह** (मुण्ड० १.१.१)। ब्रह्मविद्या के प्रति एकनिष्ठ पुरुष को ब्रह्मनिष्ठ कहा जाता है अथवा ब्राह्मणवृत्ति या ब्रह्मज्ञान से सुसम्पन्न पुरुष को ब्रह्मनिष्ठ कहते हैं। अन्य विद्याओं का भली प्रकार प्राप्त हुआ ज्ञान भी नाशवान् है, किन्तु ब्रह्मविद्या का भली-भाँति ज्ञान स्थिर ब्रह्म को प्राप्त कराने में समर्थ है- **अन्यविद्यापरिज्ञानमवश्यं नश्वरं भवेत्। ब्रह्मविद्यापरिज्ञानं ब्रह्मप्राप्तिकरं स्थितम्** (शु०र०)।

१५४. ब्रह्मवेत्ता— ब्रह्मवेत्ता का सामान्य अर्थ है- ब्रह्म को जानने या समझने वाला। ब्रह्म की सर्वत्र अनुभूति करने वाला। दूसरे अर्थ में वेदों के अर्थ के ज्ञाता को भी ब्रह्मवेत्ता कहा गया है। इन्हें ब्रह्मज्ञानी अथवा तत्त्वज्ञानी कहकर भी निरूपित किया जाता है, क्योंकि ये ब्रह्मतत्त्व के ज्ञाता होते हैं। गीता में भगवान् ने कहा है कि स्थिर बुद्धि और मोह रहित ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म में स्थित होते हैं- **स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः** (गी०५.२०)। जो कर्मयोगी आत्मा में ही क्रीड़ा करता है, उसी में रमण करता है, वह ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ कहा गया है- **आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः** (मुण्ड० ३.१.४)।

१५५. ब्रह्मा— ब्रह्म के तीन सगुण रूप माने गये हैं- ब्रह्मा, विष्णु और महेश। ब्रह्म के सगुण रूपों में से एक रूप जो सृष्टि की रचना के लिए नियत है, उन्हें ब्रह्मा कहा गया है। पुराणों में वेदों के भी प्रकटकर्त्ता इन्हें ही माना गया है। यज्ञ के एक ऋत्विज् जिन्हें यज्ञ के प्रत्यक्ष संरक्षणकर्त्ता के रूप में नियत किया जाता है, उन्हें भी ब्रह्मा कहा जाता है। ब्रह्मा को ही विधाता, पितामह, प्रजापति तथा हिरण्यगर्भ आदि विशेषणों से भी निरूपित किया गया है। पुराणों के अनुसार विष्णुदेव की नाभि से ब्रह्मा स्वयं उत्पन्न हुए, इसलिए ये स्वयंभू कहलाये। सम्पूर्ण कलाएँ, विद्याएँ और ब्रह्माण्ड इन्हीं से प्रकट माना गया है। ब्रह्मा की पत्नी 'ब्रह्माणी' के रूप में मान्य हैं। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार देव ब्रह्मा सम्पूर्ण जगत् की रचना करने वाले और लोकों के रक्षक हैं, वे देवों में सबसे पहले प्रकट हुए। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया- **ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह** (मुण्ड० १.१.१)।

१५६. ब्रह्माण्ड— धार्मिक-दार्शनिक ग्रन्थों में प्रायः चौदह भुवनों का उल्लेख मिलता है। हम लोग जहाँ विद्यमान हैं, वह 'भू' लोक है। यह तथा इसके ऊपर सात लोक हैं तथा इसके नीचे सात लोक हैं। ये चौदह लोक मिलकर ब्रह्माण्ड कहलाते हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक रामतीर्थ ने लिखा है कि ब्रह्माण्ड में जो चौदह लोक हैं, उन्हें लोकालोक नामक पर्वत आवृत किये हुए हैं। इस पर्वत के बाहर की ओर पृथिवी है और पृथिवी के चारों ओर उसे समुद्र घेरे हुए हैं। इस प्रकार लोकालोक पर्वत से घिरे चौदह भुवन जिनके अन्तर्गत पृथिवी और समुद्र हैं- ये सब मिलकर एक ब्रह्माण्ड बनता है- **एत एव स्वावरण भूतलोकालोक पर्वतात्तद्बाह्य पृथिवी तद्बाह्य समुद्रैः सहिता ब्रह्माण्डमित्युच्यते** (वे० १६ विद्वन्मनोरंजिनी)।

'ब्रह्माण्ड' का परिमाण अतिबृहद् है। बृहदारण्यक उपनिषद् में इसका वर्णन इस प्रकार है- यह लोक ३२ देवरथाह्य है। इस लोक को पृथिवी और पृथिवी को समुद्र घेरे हुए है। देवरथाह्य का तात्पर्य है एक दिन में सूर्य

रथ की गति। सूर्यरथ एक मुहूर्त (४८ मिनट) में चौंतीस लाख आठ सौ योजन (१ योजन=४ कोस, १ कोस=२ मील या तीन किलोमीटर) पार करता है। इस प्रकार ब्रह्माण्ड अत्यधिक बृहदाकार सिद्ध होता है।

१५७. **ब्राह्मण**— ब्रह्म को जानने वाला ब्राह्मण कहा गया है। ब्रह्म का एक अर्थ वेद भी है, अत: वेदाध्यायी को भी ब्राह्मण कहा जाता है। सामान्यत: चतुर्वर्णों में प्रथम वर्ण ब्राह्मण कहलाता है। ब्राह्मण को पृथ्वी का देवता (भूसुर) भी कहा गया है। मनुस्मृति में ब्राह्मण के छ: कर्त्तव्य बताए गये हैं- **अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा। दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्** (मनु० १.८८)। याज्ञवल्क्य गार्गी से कहते हैं कि जो इस अक्षर (अविनाशी स्वरूप आत्मा) को जानकर इस लोक से प्रयाण करता है, वह ब्राह्मण है- **अथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात्प्रैति, स ब्राह्मण:** (बृह०३.८.१०)। ब्राह्मण आत्मा को जानकर तीनों ऐषणाओं को त्यागकर भिक्षाचर्या से विचरते हैं- **एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणा: पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाऽथ भिक्षाचर्यं चरन्ति** (बृह०३.५.१)। चारों वर्णों को उत्पन्न करने वाले ब्रह्म (परमात्मा) देवों में अग्निरूप से ब्रह्मा हुए, मनुष्यों में ब्राह्मण हुए- **तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माऽभवद् ब्राह्मणो मनुष्येषु** (बृह०१.४.१५)।

१५८. **भर्ग**— सूर्य के तेज, ज्योति, दीप्ति को भर्ग कहा गया है। यह भूनने के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। अत: पापों या विकारों को भूनने के उद्देश्य से साधक सूर्य के भर्गस्वरूप की उपासना करते हैं। भगवान् शिव, त्र्यंबक के लिए अमरकोश में 'भर्ग' शब्द प्रयुक्त हुआ है। मैत्रायण्युपनिषद् में 'भर्ग' शब्द की व्याख्या इस प्रकार वर्णित है-भर्ग वही है, जो सूर्य में स्थापित है। आँख की पुतली में भी भर्ग नाम से यही रहता है। इसकी कान्ति से मनुष्य गति कर सकता है, अत: यह भर्ग है अथवा यह सबको तपाता है, इसी से यह भर्ग है। यह रुलाने वाला रुद्र है अथवा प्राणियों का रञ्जन करता है, इसलिए भर्ग है अथवा यह प्राणियों में जाता है, अत: यह भर्ग है अथवा इस जगत् में यह आता और जाता है अथवा प्रजा का धारण-पोषण करने से यह भर्ग है (मैत्रा० ५.७)।

१५९. **भवबन्धन**— द्र०- आवागमन -चक्र।

१६०. **भूत**— उपनिषद् आदि में भूत शब्द प्राणी अथवा जीव के लिए प्राय: प्रयुक्त हुआ है। अतीत, विगत या बीते समय के लिए भी 'भूत' का प्रयोग होता है। स्थूल जगत् के निर्माण में अव्यक्त प्रकृति से घनीभूत हुए पञ्चतत्त्वों को भी पञ्चमहाभूत कहा जाता है। जो प्राणी मृत्यूपरान्त सूक्ष्म शरीरधारण कर प्रेतयोनि में जाते हैं, उन्हें भी भूत कहते हैं। गीता में भगवान् कहते हैं- हे भारत! सभी प्राणी जन्म से पूर्व अव्यक्त हैं, बीच में व्यक्त होते हैं और मृत्यूपरान्त अव्यक्त हो जाते हैं- **अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना** (गी०२.२८) ईशोपनिषद् में कहा गया है- जिस साधक को सभी प्राणी आत्मरूप अनुभूत होते हैं, उस एकत्व की अनुभूति करने वाले साधक को मोह-शोक नहीं रहता- **यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानत:। तत्र को मोह: क: शोक एकत्वमनुपश्यत:** (ईश० ७)।

१६१. **भोक्ता**—भोक्ता का सामान्य अर्थ है- भोग करने वाला, भोगने वाला, भोजन करने वाला, शासन करने वाला, अनुभूत या सहन करने वाला। कहीं अनादि प्रकृति को भोग्या और जीव को भोक्ता कहकर निरूपित किया गया है। इन्द्रियों को घोड़ा और विषयों को घोड़े चरने के मार्ग एवं शरीर, इन्द्रिय और मन के साथ रहने वाले जीवात्मा को मनीषीगण भोक्ता कहते हैं-**इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम् भोक्तेत्याहुर्मनीषिण:** (कठ० १.३.४)। गीता में भगवान् कहते हैं, सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी मैं ही हूँ- **अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च** (गीता० ९.२४)। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में जो भोग, भोक्ता और भोग्य है, वह सदाशिव, चैतन्यस्वरूप और विलक्षण साक्षीरूप मैं ही हूँ-**त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्। तेभ्यो विलक्षण: साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिव:** (कै० १८)।

भोक्ता, भोग्य और प्रेरक परमात्मा-इन तीनों का ज्ञान होने पर सब कुछ जान लिया जाता है। यह ब्रह्म इन तीन भेदों में वर्णित है- **भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्** (श्वेता० १.१२)।

१६२. **मनस्** — पंच ज्ञानेन्द्रियों, पंच कर्मेन्द्रियों के साथ मन को ग्यारहवीं इन्द्रिय माना गया है; परन्तु यह शरीर के भीतर रहने वाली इन्द्रिय अन्तरिन्द्रिय है। मन अन्त:करण की वह वृत्ति है, जिसके द्वारा सङ्कल्प और विकल्प किया जाता

है। **मनस्यति अनेन इति मनः** अर्थात् जिससे मनन किया जाय, वह मन है। कुछ विद्वानों ने मन को एक ज्ञानेन्द्रिय माना है, जिसके द्वारा सुख-दुःख आदि का बोध होता है- **सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियम् मनः** (तर्क भाषा)। गीता में मन को छठी इन्द्रिय के रूप में स्वीकार किया गया है- **मनः षष्ठानीन्द्रियाणि** (गीता)। जो मन मनन करता है, वह वाणी व्यक्त करती है- **तद्यद्वै मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति** (जैमि० १.४०.५)। मन ही देखता है, मन ही सुनता है। काम, सङ्कल्प, श्रद्धा आदि सब में मन ही कारणभूत है- **मनसा ह्येव पश्यति, मनसा शृणोति। कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव** (बृह० १.५.३)। मन ही बन्धन और मोक्ष का भी कारण है- **मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः** (मैत्रा० ४.४-८)। शिवसङ्कल्पोपनिषद् के प्रत्येक मन्त्र में '**तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु**' पद आया है, जिसका भाव है वह हमारा मन शिव-कल्याणकारी संकल्प से युक्त हो'। हमारा मन अनन्त सामर्थ्य से परिपूर्ण है- **अनन्तं वै मनः** (बृह०३.१.९)। सांख्य दर्शन के सिद्धान्तानुसार प्रकृति से महत् अथवा बुद्धि की उत्पत्ति होती है। इससे पुनः अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। फिर अहङ्कार से मनस् की उत्पत्ति होती है। यह मनस् तत्त्व बुद्धि को बाह्यज्ञान की सूचना देता है, ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान को बुद्धि तक पहुँचाता है।

१६३. मनीषी —द्र०- **कवि**।

१६४. मन्थ— 'मन्थ' धातु मथने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वैदिक साहित्य में एक पेय पदार्थ जिसमें कई पदार्थ मथ दिये जाते थे, मन्थ कहते थे। शाङ्खायन आरण्यक (१२.८) में सभी प्रकार के मन्थों का उल्लेख मिलता है। कोश ग्रन्थों में मन्थ शब्द 'मथना या बिलोना' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हिलाना, मलना, ध्वस्त करना, कम्पन आदि इसके पर्याय हैं। दूध मिला हुआ सत्तू का पेय प्रायःमन्थ के रूप में प्रयुक्त होता था। घर्षण द्वारा अग्नि उत्पन्न करने के यन्त्र मन्था को भी मन्थ कहा गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् में अग्नि में आहुति डालकर संस्रव (स्रुवा से लगे हुए घृत) को मन्थ में डालने का निर्देश कई बार हुआ है- **अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्रवमवनयति** (बृह०६.३.३)।

१६५. मन्यु-क्रोध— मन्यु शब्द के पर्याय हैं- स्तोत्र, कर्म, शोक, याग, क्रोध (अनीति के प्रति क्रोध), साहस, अहंकार आदि। शिव और अग्नि को भी मन्यु कहा गया है। इन्द्रदेवता ने मन्यु के द्वारा वृत्र का हनन किया- **मन्युना वृत्रहा** (तै०.सं० ४.४.८.१)। मन्यु के द्वारा संयुक्त होकर इन्द्र ने असुरों को मिटाया- **मन्युना वै युजेन्द्रोऽसुरानवाबाधत** (मै०ब्रा० ४.६.३)। मन्यु के द्वारा ही पराक्रम प्रेरित होता है, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है- **मन्युना वै वीर्यं क्रियते, इन्द्रियेण जयति** (मै०ब्रा०२.२.१२)। वराह के क्रोध को मन्यु कहकर निरूपित किया गया है- **पशूनां वा एष मन्युर्यद्वराहः** (तै० ब्रा० १.७.९.४)। क्रोध के विषय में महर्षि वाल्मीकि कहते हैं- वे श्रेष्ठ और महात्मा लोग धन्य हैं जो उठते हुए क्रोध को विवेक से वैसे ही दबा देते हैं, जैसे जलती आग को जल से (वा० सु०का० ५५.४)। क्रोध लोभ से उत्पन्न होता है तथा पराये दोष देखने से भड़कता है। हे राजन्! क्षमा द्वारा वह रुकता है तथा क्षमा से ही शान्त हो जाता है (महा० शा०प० १६३.७)।

१६६. मर्त्य— मर्त्य का सामान्य अर्थ मरणधर्मा या मरणशील है। मरने वाला या नश्वर जगत् मर्त्य है। अनेक स्थानों पर मनुष्य के लिए मर्त्य शब्द प्रयुक्त हुआ है, अतः मनुष्य लोक या भूलोक को मर्त्यलोक भी कहा गया है। मनुष्य लोक का निवासी यह मनुष्य जीर्ण होने वाला और मरणशील (मर्त्य) है, इस तथ्य को जानने वाला अमर-अजर देवात्माओं (अथवा आत्मा) का सङ्ग पाकर वैसा ही होता है-**अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधस्थः प्रजानन्** (कठ० १. १.२८)। यह मरणधर्मा मनुष्य धान्य की तरह पकता है और धान्य की तरह फिर उत्पन्न होता है- **सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाऽऽजायते पुनः** (कठ० १. १.६)। जिस समय मनुष्य के हृदय में स्थित कामनाओं का नाश हो जाता है, उस समय मरणधर्मा मनुष्य अमरत्व को प्राप्त होता है और यहीं उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है-**यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति** (बृह०४.४.७)।

१६७. महात्मा— जिसकी आत्मा बहुत उच्च हो, जिसका स्वभाव, आचरण और विचार आदि बहुत उच्च हो, ऐसे महानुभाव को महात्मा कहा गया है। महादेव शिव के पर्याय के रूप में महात्मा शब्द प्रयुक्त हुआ है। दर्शनशास्त्र में यह शब्द उच्च आत्मा, परमात्मा या विश्वात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। किसी सन्त या महापुरुष के लिए आदरवाचक अर्थ में भी यह शब्द प्रयुक्त होता है। महात्मा यमराज ने नचिकेता की बुद्धि से प्रसन्न होकर वर दिया-

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः (कठ० १.१.१६)। महात्माजन दैवी प्रकृति के आश्रित होकर उस परमात्मा को भजते हैं- **महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः** (गी० ९.१३)।

१६८. महावाक्य— वेदान्त शास्त्र में जीव और ब्रह्म में ऐक्य प्रतिपादित करने वाले वाक्य महावाक्य कहलाते हैं। प्रमुख रूप से चार महावाक्य शुकरहस्योपनिषद् में वर्णित हुए हैं- **ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म॥ १॥ ॐ अहं ब्रह्मास्मि॥ २॥ ॐ तत्त्वमसि॥ ३॥ ॐ अयमात्मा ब्रह्म ॥४॥** इसमें भगवान् शिव ने शुकदेव मुनि को षडङ्गन्यास पूर्वक महावाक्यों का उपदेश किया है। इसमें नमः, स्वाहा, वषट्, हुम्, वौषट्, फट्- इन छः बीजाक्षरों के साथ षट् करन्यास तथा षट् अङ्गन्यास सहित महावाक्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन दृष्टिगोचर होता है। तत्त्वमसि- यह महावाक्य अभेदवाचक है, जो इसका जप करते हैं, वे भगवान् शिव की सायुज्य मुक्ति के भाजक होते हैं- **तत्त्वमसीत्यभेदवाचकमिदं ये जपन्ति ते शिवसायुज्यमुक्तिभाजो भवन्ति** (शु०र०)। महावाक्य पदों का उपदेश- आत्मस्वरूप सूर्य प्रकाश के सदृश निरूपित हुआ है। उपनिषद् का कथन है कि अनात्म पदार्थों में आत्मबुद्धि के कारण मैं अज्ञान के अन्धेरे में पड़कर 'मैं' 'मेरे' की मोहात्मक स्थिति में पहुँच गया हूँ। गुरुदेव द्वारा महावाक्य पदों का उपदेश प्राप्त कर आत्मस्वरूप सूर्य के प्राकट्य से मेरी निद्रा भंग हो गई है-**अनात्मदृष्टेरविवेकनिद्रामहं मम स्वप्नगतिं गतोऽहम्। स्वरूपसूर्येऽभ्युदिते स्फुटोक्तेर्गुरोर्महावाक्यपदैः प्रबुद्धः** (शु०र०)।

१६९. मातरिश्वा— अन्तरिक्ष में प्रवहमान वायु का एक नाम मातरिश्वा है। कहीं-कहीं अग्नि को भी मातरिश्वा संज्ञा प्रदान की गई है। इसे प्राणदाता पितारूप में स्वीकार किया गया है- **व्रात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः। वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः** (प्रश्न० २.११)। मातरिश्वा अप् (सृष्टि का मूल घटक) को धारण किये रहता है- **तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति** (ईश०४)। केनोपनिषद् में यक्ष को वायुदेव कहते हैं- मैं ही वायु हूँ और मैं ही मातरिश्वा के नाम से प्रसिद्ध हूँ-**वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति** (केन० ३.८)।

१७०. माया— द्र०-अविद्या।

१७१. मीमांसा— षड्दर्शनों में अन्तिम युग्म "मीमांसा" के दो भाग हैं- पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा। मीमांसा का शाब्दिक अर्थ है- किसी तत्त्व का विचार, निर्णय या विवेचन। पूर्व मीमांसा में यज्ञपरक वेद वचनों की व्याख्या है, इससे इसे 'यज्ञविद्या' भी कहते हैं। उत्तर मीमांसा उपनिषद् भाग से सम्बन्धित है, अतः इसे वेदान्त कहते हैं। पूर्व मीमांसा सूत्र के प्रणेता जैमिनि ऋषि हैं। इसकी व्याख्या के रूप में कुमारिल भट्ट ने तन्त्र वार्तिक और श्लोकवार्तिक की रचना की है। माधवाचार्य ने जैमिनीय न्यायमाला विस्तार नामक एक भाष्य की रचना की है। प्रभाकर भी इसी मत के प्रमुख प्रतिपादक थे। बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया रूप में इन वेदज्ञों ने अपने धर्म को सुव्यवस्थित किया। पूर्व मीमांसा को कर्म प्रधान और उत्तर मीमांसा को ज्ञान प्रधान माना गया है।

१७२. मुक्ति-मोक्ष— मुक्ति शब्द की निष्पत्ति मुच् (मोचनार्थक) धातु से क्तिन् प्रत्यय लगाने से होती है, जिसका अर्थ है-छुटकारा पाना। संसार के जन्म-मरण-बन्धन से छुटकारा मिलने की अवस्था मुक्ति कहलाती है। वासना, तृष्णा और अहंता या लोभ, मोह, अहंकार के बन्धनों से छुटकारा पाने की अवस्था भी मुक्ति कहलाती है। इसका दूसरा अर्थ ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति या मोक्ष है। ज्ञान और विद्या से ही साधक को मुक्ति मिलती है। मीमांसक कर्म को और भक्तिमार्गीय उपासना को मुक्ति का कारण मानते हैं। श्रवण,मनन, निदिध्यासन और समाधि-ये चार मुक्ति के साधन के रूप में प्रतिपादित हुए हैं। उपनिषद् में वर्णन है कि ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है- **ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्** (तै०उ०२.१)। साधक उस ब्रह्म को जानकर ही मृत्यु का अतिक्रमण कर सकता है, दूसरा कोई मार्ग नहीं है- **तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नाऽन्यः पन्था विद्यतेऽयनाय** (श्वेता०३.८)। कर्म को बन्धन का कारण और ज्ञान को मोक्ष का संसाधक माना गया है। गीता में कहा गया है कि ज्ञानरूपी अग्नि समस्त कर्मों को भस्मसात् कर देती है- **ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा** (गी०४.३७)। वस्तुतः मनुष्य के बन्धन और दुःख का कारण अविद्या है, उसी की निवृत्ति को मुक्ति कहा गया है। जीव ब्रह्म है-**अयमात्मा ब्रह्म**; परन्तु अविद्या के कारण जीव ब्रह्म के साथ अपने तादात्म्य को भुला देता है। उपनिषद् के अनुसार नित्य और अनित्य वस्तुओं के विचार द्वारा अनित्य संसार के दुःख-सुख देने वाले सम्पूर्ण विषयों पर से ममता रूप बन्धन को नष्ट कर देना मोक्ष है- **मोक्ष इति च नित्यानित्यवस्तु विचारादनित्यसंसारसुखदुःखविषयसमस्त क्षेत्रममताबन्धक्षयो मोक्षः** (निरा०२८-२९)।

१७३. मुहूर्त— दिन-रात का तीसवाँ भाग या १२ क्षण या १२० पल या दो दण्ड या दो घड़ी या ४८ मिनट के काल को मुहूर्त कहते हैं। फलित ज्योतिष के अनुसार गणना करके निकाला हुआ कोई समय, जिस पर शुभ कार्य प्रारम्भ किया जाता है, मुहूर्त कहलाता है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने दिन और रात्रि के १५-१५ भागों या मुहूर्तों को लोकम्पृणों के रूप में देखा। ये (देवों द्वारा) निरन्तर रक्षित होते हैं, इसलिए इनका नाम मुहूर्त (मुहुः+त्रायन्ते) है- **स (प्रजापतिः) पञ्चदशाह्नो रूपाण्यपश्यदात्मनस्तन्वो मुहूर्तांल्लोकम्पृणाः पञ्चदशैव रात्रेस्तद्यन्मुहुस्त्रायन्ते तस्मान्मुहूर्ताः** (शत०ब्रा०१०.४.२.१८)। एक दिन में ३० मुहूर्त होते हैं और एक संवत्सर या १२ मास में १०८०० मुहूर्त होते हैं।

१७४. मूढ़— नासमझ, जड़बुद्धि, अज्ञानी, मूर्ख व्यक्ति को मूढ़ कहा गया है। ऐसे व्यक्ति अपने हित या अनहित को नहीं समझ सकते। लोक प्रचलन जिस दिशा में हो, उसी दिशा में बह जाते हैं। कठोपनिषद् में वर्णित है कि अविद्या के भीतर रहकर भी अपने आपको बुद्धिमान् और विद्वान् मानने वाले मूढ़ लोग वैसे ही चारों ओर भटकते और ठोकर खाते रहते हैं, जैसे अन्धे के द्वारा ले जाये जाने वाला अन्धा व्यक्ति-**अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः। दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः** (कठ०१.२.५)। कर्त्तापन आदि के अहंकार भाव पर आरूढ़ व्यक्ति मूढ़ है- **कर्त्तृत्वाद्यहंकारभावारूढो मूढः** (निरा०३३)।

१७५. मृत्यु — द्र०-**अमृत**।

१७६. मेधा— '**धीर्धारणावती मेधा**' इस कोश वाक्य के अनुसार धारणा शक्ति से सम्पन्न बुद्धि का नाम मेधा है। स्मरण रखने की मानसिक शक्ति, प्रज्ञा या धारणा या उत्कृष्ट बुद्धि को भी मेधा कहा गया है। वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर मेधा प्राप्ति की प्रार्थनाएँ की गयी हैं। उपनिषद् में कहा गया है कि यह आत्मा न प्रवचन से, न मेधा से, न बहुत सुनने (शास्त्रादि) से प्राप्त होती है- **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन** (कठ०१.२.२३)। इन्द्रदेव से मेधा बुद्धि से सम्पन्न करने की प्रार्थना उपनिषद् में है- **स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु** (तैत्ति०१.४.१)। ओङ्कार को मेधा से ढकी हुई ब्रह्मा की निधि कहा गया है- **ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः** (तैत्ति० १.४.१)। उस प्रजापति पिता ने मेधा और तप के द्वारा सात प्रकार के अन्नों को उत्पन्न किया- **यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता** (बृह०१.५.२)।

१७७. मोक्ष— द्र०-**मुक्ति**।

१७८. मोह-ममता-आसक्ति— मोह-ममता और आसक्ति ये प्रवृत्तियाँ प्रायः एक ही भाव में ली जाती हैं। गीता में मोह को तामसिक प्रवृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है- **अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च। तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन** (गी०१४.१३)। भगवान् ने गीता में (गी०२.५२) मोह को कीचड़ रूप कहा है, इसमें बुद्धि फँस जाती है तो और अधिक फँसती जाती है। व्यक्तिपरक अथवा प्राणिपरक लगाव को ममता कहते हैं और पदार्थपरक आकर्षण या लगाव को आसक्ति कहते हैं। मोह प्राणी अथवा पदार्थपरक दोनों हो सकता है। गीता ३.१९ में भगवान् ने अर्जुन को अनासक्त होकर कर्म करने का निर्देश दिया है। जब साधक अपने आत्मतत्त्व को सब भूतों में प्रकट हुआ जान लेते हैं, तब मोह और शोक से मुक्ति पाते हैं- **यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः** (ईश०७)। ममता होने में जीव रहता है। ममता के छूट जाने पर वह कैवल्यस्वरूप हो जाता है- **ममत्वेन भवेज्जीवो निर्ममत्वेन केवलः** (यो०चू०८४)। यह कहा गया है कि शब्द, स्पर्श आदि विषय असार हैं, इनमें आसक्त हुआ भूतात्मा अपने यथार्थ स्वरूप को नहीं याद रखता- **शब्दस्पर्शादयो येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः। येष्वासक्तस्तु भूतात्मा न स्मरेच्च परं पदम्** (मैत्रा०४.२)।

१७९. यक्ष— यक्ष एक प्रकार की अर्ध देवयोनि है। ये एक प्रकार के देवता हैं, जो कुबेर के सेवक और उनकी निधियों के रक्षक हैं। यक्षों के राजा कुबेर हैं। पुराणों के अनुसार ये प्रचेता की संतान हैं। बड़ के वृक्ष को यक्षतरु कहते हैं, क्योंकि यक्षों को वटवृक्ष बहुत प्रिय होता है। केनोपनिषद् में वर्णन मिलता है कि वह ब्रह्म देवताओं के अभिमान को नष्ट करने के लिए यक्ष रूप में उनके सामने प्रकट हुआ-**तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानन्त किमेतद्यक्षमिति** (केन०३.२)। यक्ष लोक अन्तरिक्ष में है, क्योंकि अन्तरिक्ष को यक्षों, गन्धर्वों और अप्सराओं द्वारा सेवित माना गया है-**यक्षगन्धर्वाप्सरोगणसेवितमन्तरिक्षम्** (नृ०पू०१.२)। गीता में भगवान् का कथन है कि

सात्त्विक पुरुष देवों को पूजते हैं, राजसी पुरुष यक्ष और राक्षसों को पूजते हैं- **यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः** (गी०१७.४)।

१८०. **यज्ञ-अग्निहोत्र**— भारतीय संस्कृति का प्रमुख वैदिक कृत्य जिसमें अग्नि प्रज्वलित कर हव्य पदार्थों की आहुति देते और इष्ट देवों की प्रार्थनाएँ किया करते हैं। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त संस्कारों की परम्परा के साथ हवन-यज्ञ किया करते हैं। इसके पर्यायवाची शब्दों में अध्वर, क्रतु, इष्टि, सवन, हवन, होम, अग्निहोत्र आदि हैं। यज्ञ की व्यवस्था करने वाले यजमान तथा यज्ञ कराने वाले ऋत्विज् कहलाते हैं। यजुर्वेद, ब्राह्मण ग्रन्थों और श्रौत सूत्रों में विभिन्न प्रकार के यज्ञों का उल्लेख हुआ है- सोमयाग, अश्वमेध यज्ञ, राजसूय यज्ञ, ऋतुयाज, अग्निष्टोम, अतिरात्र, दशरात्र, दर्शपूर्णमास, पवित्रेष्टि, पुत्रकामेष्टि, चातुर्मास्य, सौत्रामणि, पुरुषमेध आदि। ये यज्ञ तीन प्रकार के माने जाते हैं- **१. पाक यज्ञ**- औपासन होम, वैश्वदेव, अष्टका आदि, **२. हर्वियज्ञ**- अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रायणेष्टि, चातुर्मास्य आदि, **३. सोमयज्ञ**- अग्निष्टोम, वाजपेय, अतिरात्र आदि। निरुक्त के अनुसार यजन कर्म यज्ञ है- **यज्ञः कस्मात् ? प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ताः। याञ्च्यो भवतीति वा** (निरु०३.१९)। निरुक्त के अनुसार यज्ञ के १५ नाम हैं- यज्ञ, वेन, अध्वर, मेध इत्यादि। सम्पूर्ण यज्ञ कर्म अग्निहोत्र में सम्पन्न होते हैं- **अग्निहोत्रे वै सर्वे यज्ञक्रतवः** (मै०ब्रा०१.८.६)। सम्पूर्ण लोक यज्ञ की धुरी या यज्ञ के आधार पर अवलम्बित है। अतः यज्ञ को इस लोक का केन्द्र कहा गया है- **अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः** (यजु०२३.६२)। यज्ञ को देवों की आत्मा कहकर स्वीकार किया गया है- **यज्ञो वै देवानामात्मा** (शत०ब्रा०९.३.२.७)। श्रेष्ठतम कर्म को यज्ञ की संज्ञा से निरूपित किया गया है- **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म** (शत०ब्रा०१.७.१.५)। अग्निहोत्र की महत्ता छान्दोग्य में वर्णित है, जिस प्रकार क्षुधित बालक माता की यथायोग्य उपासना करते हैं, उसी प्रकार सभी प्राणी अग्निहोत्र की उपासना करते हैं- **यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्य्युपासते। एवꣳसर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते** (छान्दो० ५.२४.५)। गीता में कहा गया है कि वह सर्वव्यापी ब्रह्म यज्ञ में ही प्रतिष्ठित है- **तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्** (गी०३.१५)।

१८१. **यज्ञोपवीत-उपनयन**— यज्ञोपवीत का सामान्य शब्दार्थ-यज्ञ का उपवीत (वस्त्र) है। यह यज्ञार्थक जीवन का एक प्रतीक है। यह एक संस्कार परम्परा द्वारा पहनाया जाता है। बालक को गुरुकुल में ले जाने के समय यज्ञोपवीत संस्कार कराया जाता था। ऐसी मान्यता है कि इससे बालक का दूसरा जन्म होता है, इसके बाद वह सूक्ष्म ज्ञान और संस्कार को ग्रहण करने में समर्थ हो जाता है। याज्ञ० स्मृति के अनुसार बालक के ज्ञान, शौच और आचार का विकास कराना-यह उपनयन का उद्देश्य है- **उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्। वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्** (या०स्मृ०१.१५)। आचार्य महाव्याहृतिपूर्वक गायत्री मंत्र के उच्चारण के द्वारा शिष्य का उपनयन करता है। गायत्री मंत्र में नौ शब्द हैं। यज्ञोपवीत की तीन लड़ों में तीन-तीन धागे होते हैं, इस प्रकार नौ सूत्रों से यज्ञोपवीत बनता है। इसे व्रतबन्ध भी कहते हैं। उपवीतधारी को नौ गुणों या व्रतों के बन्धन से बाँधते हैं। उपनयन न होने से व्यक्ति व्रात्य अर्थात् पतित और समाज से बहिष्कृत माना जाता था। यह सूत्र योगी, योग-वेत्ता और तत्त्वदर्शियों को धारण करना चाहिए-**तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदर्शिवान्** (ब्रह्म० ८)। जो इस सूत्र को ब्रह्म भाव से धारण करता है, वही चैतन्य है- **ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः** (ब्रह्म० ८)। ज्ञानरूप यज्ञोपवीत धारण करने वाले पुरुषों के हृदय में ब्रह्मरूप सूत्र रहता है- **सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्** (ब्रह्म० १०)।

१८२. **यति** — द्र० **संन्यासी**।

१८३. **याज्या-शस्या-शस्त्र**— यज्ञ संबंधी सूक्त ऋचा अथवा मंत्र को याज्या कहते हैं और वेद की ऋचा को शस्या कहते हैं। परवर्ती संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका उल्लेख मिलता है- **इयं (पृथिवी) हि याज्या** (शत० ब्रा० १.४.२.१९)। **अन्नं वै याज्या** (गो०ब्रा० २.३.२२)। होता जिन मंत्रों से स्तुति करता है, उसे शस्त्र कहते हैं। उद्गाता द्वारा उच्चारित मन्त्र स्तोत्र कहे गये हैं। साम को देवरूप और शस्त्र को प्रजारूप मानकर निरूपण किया गया है-**साम वै देवाः प्रजाः शस्त्राणि** (जै०ब्रा० १.२७७)। कहीं वाणी को ही शस्त्र स्वीकार किया गया है-**वाग्घि शस्त्रम्** (ऐ० ब्रा० ३.४४)

१८४. **योग**— योग के पर्यायवाची शब्द हैं- जोड़ना, मिलाना, संयोग, संबंध, संगति, ध्यान, युक्ति, चित्तवृत्ति का निरोध आदि। योग के व्यवहारतः विविध भेद हैं; जैसे- मंत्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग आदि- **योगो हि बहुधा**

ब्रह्मन्भिद्यते व्यवहारतः। मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगतः (यो०त० १९)। योग के आठ अंग माने गये हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन्हें अष्टांग योग कहते हैं। महर्षि पतंजलि ने योग दर्शन की रचना की। इन्होंने योग दर्शन को चार भागों या पादों- समाधि, साधन, विभूति और कैवल्य में विभाजित किया। जो साधक योग का अभ्यास करते हैं, उन्हें अनेकों विलक्षण शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, जिन्हें विभूति या सिद्धि कहते हैं। विज्ञान भिक्षु का **'योगसार संग्रह'** योग का एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। गीता में भगवान् ने योग को कर्म का कौशल कहकर निरूपित किया है- **तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्** (गी० २.५०)। योग को शरीर, मन और अन्तःकरण इन तीन साधनों के द्वारा क्रमशः कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग- इन तीन प्रकारों में विभक्त किया गया है। कठोपनिषद् का कथन है कि इन्द्रियों की स्थिर धारणा ही योग है- **तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रयधारणाम्** (कठ० २.३.११)। गीता के अनुसार असंयत आत्मा (मन) वाले को योग प्राप्त करना कठिन है- **असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः** (गी० ६.३६)। जिस प्रकार वायु रहित स्थान में दीपक चलायमान नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा के योग में लगे हुए संयतचित्त योगी की स्थिति कही गयी है-**यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमास्मृता। योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः** (गी० ६.१९)। योग युक्त आत्मा सबको समभाव से देखने वाला अपने को सब प्राणियों में और सब प्राणियों को अपने में देखता है- **सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः** (गी० ६.२९)।

१८५. **योग-क्षेम**— 'योग-क्षेम' शब्द दर्शन जगत् का बड़ा ही प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय शब्द है। सामान्य आध्यात्मिक जीवन की प्रवृत्ति वाला मनुष्य अपने जीवन में योग-क्षेम की ही आकांक्षा रखता है। योग-क्षेम का तात्पर्य है 'प्राप्त भोग पदार्थ सुरक्षित बने रहें तथा जो अप्राप्त हैं, वे प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हों। योग-क्षेम की शास्त्रीय परिभाषा है- **'अप्राप्तस्य प्रापणं योगः,' 'प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः'** अर्थात् अप्राप्त की प्राप्ति 'योग' है और प्राप्त की रक्षा क्षेम है। सामान्य जीवनचर्या के लिए यह आवश्यक है, परन्तु जो सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक जीवन के पथिक हैं, वे इस योग-क्षेम की तुलना में ब्रह्मज्ञान- आत्मज्ञान की प्राप्ति अभीष्ट मानते हैं; क्योंकि यही मुक्ति का आधार है। **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** - यह उक्ति इसी तथ्य की ओर संकेत करती है। ज्ञान (ब्रह्मज्ञान-आत्मज्ञान) के बिना मुक्ति सम्भव नहीं। कठोपनिषद् में यह तथ्य बड़े स्पष्ट शब्दों में व्याख्यायित हुआ है कि सामान्यजन (मन्द व्यक्ति) योग-क्षेम का आधार होने से 'प्रेय' मार्ग का वरण कर लेते हैं, जबकि यह नश्वर है। भौतिक सुख-सुविधा के साधन अनित्य ही हैं। इसलिए परमकल्याण (मोक्ष) पथ के पथिक इसकी चाह नहीं करते, वे श्रेय मार्ग- आत्मसाक्षात्कार-ब्रह्मसाक्षात्कार का मार्ग अपनाते हैं, भले ही कष्ट साध्य जीवन क्यों न जीना पड़े। इस प्रकार योग-क्षेम सामान्य जनों का आकांक्षणीय है। गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा है कि जो अनन्य भाव से मेरा भजन करता है, उसका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ। उसे अपने योगक्षेम की चिन्ता नहीं करनी चाहिए-**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्** (गी० ९.२२)।

१८६. **योनि**— योनि शब्द सामान्यतय उद्गम या उत्पत्ति स्थान अथवा उत्पादक कारण के रूप में प्रयुक्त होता है। जीवात्मा के ८४ लाख योनियों में परिभ्रमण की मान्यता भी प्रसिद्ध है। प्राणियों के ये विभाग या वर्ग प्रधानतः चार हैं- अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज और जरायुज। कुछ विद्वानों के मत से ये चारों इक्कीस-इक्कीस लाख हैं। इन सबमें मनुष्य योनि को श्रेष्ठ-सर्वोत्तम और दुर्लभ कहा गया है। योनि और रेतस् की संगति गायत्री और रथन्तर से की गयी है- **रेतो वै गायत्र्यै रथन्तरं, योनिर्वै रथन्तरस्य गायत्री** (जै०ब्रा० ३.२९२)। पृथिवी को भी योनि कहकर निरूपित किया गया है-**योनिर् वा इयं (पृथिवी)** (शत०ब्रा० १२.४.१.७)। सभी प्राणी संवत्सर (काल) से उत्पन्न होते हैं, अतः संवत्सर को सम्पूर्ण प्राणियों की योनि कहा गया है- **संवत्सरो हि सर्वेषां भूतानां योनिः** (शत०ब्रा०८.४.१.१८)। उपनिषद् में वर्णन है कि प्रजापति ने मुख रूप योनि (केन्द्र) से दोनों हाथों द्वारा अग्नि को उत्पन्न किया- **स (प्रजापतिः) मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत** (बृह०१.४.६)।

१८७. **राग-द्वेष**— किसी इष्ट वस्तु या सुख आदि को प्राप्त करने की अभिलाषा या उसके प्रति आकर्षण या अनुराग आसक्ति का भाव राग कहलाता है। पतंजलि ने पाँच प्रकार के क्लेशों में से एक क्लेश राग को माना है। उनके अनुसार जब कोई व्यक्ति सुख भोगता है, तो उसकी प्रवृत्ति और अधिक सुख पाने की होती है, इसी प्रवृत्ति को

उन्होंने राग कहा है। महर्षि पतंजलि ने राग का मूल अविद्या और परिणाम क्लेश बताया है। द्वेष इसका विपरीतार्थक शब्द है। चित्त को अप्रिय लगने वाली वस्तु, व्यक्ति या प्रवृत्ति को द्वेष कहते हैं। योग दर्शन के अनुसार सुख-भोग के अन्दर अन्तःकरण में रहने वाली जो अभिलाषा विशेष है, वह राग है-**सुखानुशयीरागः** (यो० द० २.७)। न्याय दर्शन में काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा, लोभ इन सबको रागपक्ष या राग कहकर निरूपित किया गया है- **रागपक्षः कामो मत्सरः, स्पृहा, तृष्णा, लोभ इति**। प्रशस्तपाद भाष्य में द्वेष के पाँच भेद किये गये हैं- द्रोह, क्रोध, मन्यु, अक्षम, अमर्ष। योग दर्शन के अनुसार दुःख में बसने वाली अन्तःकरण की प्रवृत्ति द्वेष है- **दुःखानुशयी द्वेषः** (यो०द० २.८)। राग-द्वेष रजोगुण का विकार है। गीता में निर्देश है कि रजोगुण को रागात्मक तृष्णा तथा आसक्ति से उत्पन्न हुआ जान-**रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्** (गी० १४.७)। उपनिषद् में इन विकारों की तुलना राक्षसों से की गयी है। द्वेष चाणूर मल्ल है। मत्सर दुर्जय मुष्टिक है-**द्वेषश्चाणूरमल्लोऽयं मत्सरो मुष्टिको जयः**। (कृष्णो० १४)। गीता में भी इन दोनों विकारों को जीव का शत्रु कहा गया है- **इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ** (गी० ३.३४)।

१८८. **रयि**— रयि शब्द कोश ग्रन्थ में जल, सोम रूप अन्न भोजन या सम्पत्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आदित्य को प्राण स्वरूप और रयि को चन्द्रस्वरूप प्रतिपादित किया गया है। स्थूल और सूक्ष्म (मूर्त और अमूर्त) प्रकृति के सभी घटकों को रयि माना गया है- **रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च** (प्रश्न० १.५)। पितृयान मार्ग जो चन्द्रलोक होकर जाता है, उसे रयि कहा है- **एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः** (प्रश्न. १.९)। मनुष्यगण रयिरूपी लौकिक सम्पदा की अभिलाषा सदैव करते रहते हैं। उपनिषद् में वर्णित है कि उस विराट् पुरुष को सभी अपनी अभिलाषा के अनुरूप समझते हैं। देवता उसे अमृतरूप में अपनाते हैं। मनुष्यगण उसे रयि (लौकिक सम्पदा) के रूप में मानते हैं- **उर्गिति देवाः** । **रयिरिति मनुष्याः** (मुद्० ३.२)। पितृयान मार्ग का सम्बन्ध दक्षिणायन तथा कृष्णपक्ष से है, अतः दक्षिणायन या कृष्णपक्ष को भी रयि कहा गया है।

१८९. **लिङ्ग**— लिङ्ग का सामान्य अर्थ है- लक्षण , प्रतीक, चिह्न, निशान, जिससे किसी का बोध हो। जैसे पुल्लिंग से पुरुष का बोध होता है और शिवलिंग से शिव का बोध होता है; अतः लिङ्ग 'बोधक' अर्थ में प्रयुक्त होता है। धूम्र अग्नि का लिङ्ग है। उस परम पुरुष का बोध अन्य किसी भी तत्त्व से नहीं हो सकता, अतः उसे अलिङ्ग भी कहा गया है। लिङ्ग पुराण में शिव के दो रूप वर्णित हैं- १. निर्गुण शिव, उन्हें अलिङ्ग कहा गया है, २. जगत्कारण रूप शिव, जिनका बोधक शिवलिङ्ग है। कहीं लिङ्ग को अव्यक्त अथवा अमूर्त सत्ता का स्थूल प्रतीक कहा गया है। कहीं इसे प्रकृति बोधक भी माना गया है। उपनिषद् में उस विराट् परम पुरुष को निराकार रूप होने के कारण अलिङ्ग कहा गया है-**अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च** (कठ० २.३.८)।

१९०. **लोक, परलोक, सप्तलोक**— हमारे पुराशास्त्रों में सात लोकों का प्रायः उल्लेख मिलता है। वस्तुतः धरती और इसके ऊपर सात लोक हैं तथा धरती से नीचे भी सात लोक हैं। इस प्रकार कुल चौदह लोक हो जाते हैं। चूँकि ऊपर-नीचे सात-सात लोक हैं, इसलिए उपलक्षण में सात लोक ही कहे जाते हैं। ऊर्ध्व सप्तलोक हैं- **भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः,** और **सत्यम्** तथा अधः लोक हैं- **अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल और पाताल** (पद्मपु०)।

यहाँ उपनिषदों के परिप्रेक्ष्य में इनका दार्शनिक स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। दार्शनिक मान्यता के अनुसार शीर्षस्थ इन्द्रियों के जो स्थान हैं (२ आँख , २ कान, २ नाक एवं १ जिह्वा), वे ही सप्त लोक हैं, क्योंकि प्राण इन्हीं स्थानों में विशेष रूप से संचरित होते हैं। इस प्रकार ये इन्द्रिय गोलक 'लोक' कहे जा सकते हैं, चूँकि इनकी संख्या सात है, इसलिए ये सप्तलोक कहे जाते हैं। उपनिषदों में प्रायः दो लोकों का उल्लेख मिलता है- इह लोक और परलोक। दूसरे शब्दों में इसे ही 'अयं लोक' और 'असौ लोक' कहा गया है। निरुक्त में तीन लोकों का उल्लेख मिलता है- पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक। सुश्रुत में दो लोक हैं- स्थावर और जङ्गम।

१९१. **वरदान** — किसी देवी-देवता या महापुरुषों से माँगा हुआ मनोरथ वरदान कहलाता है। वह कथन जिसके लिए देवों से प्रार्थना की जाय या उनसे प्राप्त हुआ फल भी वरदान कहलाता है। वर का एक अर्थ-श्रेष्ठ या सर्वोत्तम भी है। कठोपनिषद् का कथन है कि उठो! जागो! और श्रेष्ठ महापुरुषों के पास जाकर उस आत्म तत्त्व को जान लो-

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत (कठ० १.३.१४)। आत्मा को वर कहा गया है- **आत्मा हि वरः** (काठ० सं० २८.५)। परमात्मा की सम्पूर्ण रचना श्रेष्ठतम है- **सर्वं वै वरः** (शत०ब्रा०२.२.१.४)। नचिकेता ने महात्मा यमराज से तीन वरदान प्राप्त किये थे- **तस्मात्प्रति त्रीन् वरान् वृणीस्व** (कठ० १.१.९)।

वस्तुतः देवशक्तियाँ 'वरदान' (वर=श्रेष्ठ, दान) देती हैं, जबकि मनुष्य अपनी इच्छानुसार माँगता है। इसलिए दोनों का क्रम ठीक न बैठने से बात बनती नहीं।

१९२. वषट्कार-हन्तकार— देवों के निमित्त किया हुआ यज्ञ विशेष वषट्कार कहलाता है। कहीं-कहीं यह स्वाहाकार के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसे यज्ञ की प्रतिष्ठा कहकर निरूपित किया गया है-**वषट्कारो वै यज्ञस्य प्रतिष्ठा** (तैत्ति० सं० ७.५.५.३)। इसे वैश्वानर (अग्नि) और सूर्य से भी सम्बद्ध किया गया है- **वैश्वानरो वषट्कारः** (मै०ब्रा०४.६.७)। **एष एव वषट्कारो य एष** (सूर्यः) **तपति** (शत०ब्रा०१.७.२.११)। अतिथि या संन्यासी आदि के लिए गृहस्थ भोजन का अल्प अंश निकाला करते थे, यह अंश पुष्कल का चौगुना या मोर के सोलह अण्डों के बराबर होता था, इसे हन्तकार कहा जाता था। मनुष्यों (अतिथियों) के लिए जो भेंट निकाली जाती है, वह हन्तकार है- **निवीती हन्तकारेण मनुष्यांस्तर्पयेदथ।**

१९३. वाजी— द्र०-अश्व ।

१९४. वानप्रस्थ— द्र०-चतुराश्रम।

१९५. विकार— किसी वस्तु , व्यक्ति या क्षेत्र की मूल वृत्तियों में बदलाव आ जाना विकार कहलाता है। विकृति, खराबी, अवगुण या दोष को भी विकार कहते हैं। व्यक्ति में प्रायः काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, निराशा, चिन्ता, ईर्ष्या, द्वेष आदि मानसिक विकार पाये जाते हैं। गीता में कहा गया है कि विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) का ध्यान-चिन्तन करने वाले मनुष्य की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है, कामना से क्रोध उत्पन्न होता है- **ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते** (गी०२.६२)। काम, क्रोध, लोभ इन तीन विकारों को नरक का द्वार कहा गया है, ये आत्मा का नाश करने वाले हैं, इन तीनों का त्याग करना चाहिए- **त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्** (गी०१६.२१)। धीर प्रकृति वाले पुरुषों का स्वभाव बताते हुए कहा गया है कि विकार (काम, क्रोध आदि) की स्थिति आने पर भी जिनके चित्त में विकार नहीं उत्पन्न होता, वे वास्तव में धीर (धैर्यवान्) हैं- **विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः** (कु०सं० १.५९)।

१९६. विद्या,ज्ञान— विद्यते अनया सा विद्या अर्थात् जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है, वह विद्या है। नित्यानित्य वस्तु का विवेक प्रदान करने वाली शक्तिधारा 'विद्या' कही जाती है। परमात्मसत्ता नित्य है। सदैव विद्यमान रहती है, जबकि उससे भिन्न जो कुछ भी है, वह अनित्य है, नश्वर है, परिवर्तनशील है- इस तथ्य का बोध (स्वानुभूति) होते ही व्यक्ति भवबन्धनों से मुक्त हो जाता है। जैसा कि आचार्य शंकर ने लिखा है- **सा विद्या या विमुक्तये** (जो सांसारिक बन्धनों से जीवात्मा को मुक्त कर दे, वही विद्या है।) इसी को अमृतत्व की प्राप्ति कहा जाता है- **विद्ययाऽमृतमश्नुते** (ईश०११; मैत्रा०७.९), **विद्यया विन्दतेऽमृतम्** (केन० २.४)।'अविद्या' अन्धकार की स्थिति है, चैतन्यस्वरूप आत्मा पर आवरण डाल देती है, जबकि विद्या प्रकाश की स्थिति है, चैतन्य स्वरूप पर पड़े आवरण को दूर करके उसका बोध-साक्षात्कार करा देती है- **विद्या दिवा प्रकाशत्वादविद्या रात्रिरुच्यते** (१ संन्या०२.८३)। संन्यासोपनिषद् में इसीलिए कहा गया है कि जो विद्या के अभ्यास (साधना) में प्रमाद (आलस्य) करता है, वह दिन में सोये रहने के समान है, अर्थात् दिन के बहुमूल्य समय को सोने में व्यर्थ गँवा देने के समान है- **विद्याभ्यासे प्रमादो यः स दिवा स्वाप उच्यते** (१ संन्या० २.८४)। अतएव समय रहते **'विद्या'** की प्राप्ति का परमपुरुषार्थ करके आत्मकल्याण का पथ प्रशस्त कर लेना चाहिए- **विद्यया साधयेत** (संहि० ३.४)।

१९७. विद्वान् — विद्वान् का शाब्दिक अर्थ है- ज्ञाता, जानकार, बुद्धिमान्, विद्यायुक्त। यह शब्द वेद-उपनिषद् में अनेक स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है। अग्निदेव हमारे सम्पूर्ण कर्मों को जानने वाले हैं, अतः उन्हें विद्वान् कहा गया है- **विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्** (ईश० १८)। उपनिषद् के अनुसार विद्वान् नाम-रूप से मुक्त होकर उत्तमोत्तम दिव्य पुरुष को

प्राप्त होता है-**तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्** (मुण्ड०३.२.८)। सबके भीतर रहने वाले आत्मा के स्वरूप का बोध करने वाला विद्वान् है-**सर्वान्तरस्थ स्व संविद्रूपविद्विद्वान्** (निरा०३२)।

१९८. विधाता-धाता— विधान करने वाला, रचने वाला, बनाने वाला, उत्पन्न करने वाला, सृष्टिकर्त्ता, ब्रह्मा या ईश्वर को विधाता कहा गया है। इसे धाता भी कहा गया है; जिसका अर्थ है, पालन करने वाला, धारण करने वाला या रक्षा करने वाला। ऋग्वेद में आदित्य देव को विश्वकर्मा, धाता और विधाता कहा गया है- **विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक्** (ऋ० ८.३.१७)। निरुक्त की दुर्गवृत्ति में सब भूतों को उत्पन्न करने वाले को धाता तथा आजीविका आदि कर्मों में प्रवृत्त करने वाले को विधाता कहा गया है- **धाता उत्पादयिता सर्वभूतानाम्.....विधाता जीवनस्य जीवतां च साध्वसाधुषु कर्मसु प्रवर्तमानानां** (निरु० दुर्गवृत्ति १०.२६)। आगे निरुक्त में वर्णित है कि धाता ही सबका विधाता है-**धाता सर्वस्य विधाता** (निरु० ११.१०)। वह परमेश्वर ही विष्णु,नारायण,अर्क, सविता,धाता,विधाता और इन्द्र है- **विष्णुर्नारायणोऽर्कः सविता धाता विधाता सम्राडिन्द्र इति** (मैत्रा० ५.८)।

१९९. विराट् पुरुष— सार्वभौम शक्ति सम्पन्न परम पुरुष को विराट् पुरुष कहा गया है। दृश्य-अदृश्य अनन्त सृष्टि की रचना करने वाले उस विराट् पुरुष को सहस्रों नामों से पुकारा जाता है-**सहस्राक्षरा वै परमा विराट्** (तां० म० २५. ९.४)। यह स्थूल जगत् उसी विराट् पुरुष का शरीर है। वह सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त होने पर भी उससे दस अंगुल ऊपर अवस्थित है। सम्पूर्ण विश्व जो व्यक्त हुआ है, वह तो उसका एक पाद ही है, शेष तीन पाद तो अभी अव्यक्त हैं (पुरुषसूक्त)। भगवद्गीता के अनुसार भगवान् ने जो अपना विराट् रूप दिखाया था, उसमें सभी लोक, पर्वत, समुद्र,नदी, देवता आदि दिखाई पड़े थे।

२००. विवस्वान्-वैवस्वत— बारह आदित्यों में से एक विवस्वान् है। भागवत पुराण के अनुसार ये आदित्य विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शुक्र तथा उरुक्रम हैं। इनकी पत्नी का नाम संज्ञा है। विवस्वान् के पुत्र का नाम श्राद्धदेव मनु था। संज्ञा पत्नी से इन्हें यम, यमी आदि संतति हुई (भा०पु० ६.६-४१)। वर्तमान काल के मनु वैवस्वत इन्हीं के पुत्र हैं। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार मनु वैवस्वत के दस पुत्र थे- इक्ष्वाकु, तृग, शर्यांति, दिष्ट, धृष्ट, करूषक, नरिष्यन्त, पृषध्र, नाभाग और कवि (ब्रह्मा० पु० २.३८)। इनकी विदुषी पुत्री इला मैत्रावरुण याग से उत्पन्न हुई थी। (भा०पु०९.१.१५)।

२०१. विषय-भोग— इन्द्रियजन्य सुख को विषय कहा गया है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं (रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द), इन्द्रियों के विषय कहलाते हैं। विषयों से जिस सुख-दुःख की अनुभूति होती है, उसे भोग कहते हैं। गीता में कहा गया है कि विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की आसक्ति विषयों में हो जाती है। आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है। कामना की पूर्ति न होने से क्रोध उत्पन्न होता है-**ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते** (गी० २.६२)। मनुष्य के चारों ओर विषयों की अनन्त लहरें उठती रहती हैं, उनमें घिरा हुआ मनुष्य अपना लक्ष्य नहीं देख पाता। जो इन्द्रिय निग्रह नहीं कर पाते, उनकी इन्द्रियाँ , आत्मा, परमात्मा और परमार्थ तत्त्व को छोड़कर विषयों की ओर दौड़ती हैं, उन्हें विषयों में रमण का अभ्यास पड़ जाता है। गीता में भगवान् कृष्ण कुन्तीपुत्र अर्जुन से कहते हैं- जो इन्द्रियों तथा विषयों के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले भोग हैं, वे निःसन्देह दुःख की योनियाँ हैं, वे आदि और अन्त वाले (नश्वर) हैं, उनमें बुद्धिमान् नहीं रमते - **ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः** (गी० ५.२२) विषयों में अनासक्त रहने वाला पुरुष अन्तःकरण का सुख पाता है- **बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्** (गी० ५.२१)।

२०२. वीर्यम्— वीर्य के पर्याय शुक्र, तेज, रेतस्, बीज, पराक्रम, पुंसत्व, कांति, साहस आदि हैं। शरीर के सप्तधातुओं में से एक धातु वीर्य है, जिसका निर्माण अन्त में होता है। जिसके कारण शरीर में बल और कांति आती है। आत्मन् (प्रकृति या सूर्य या अग्नि) से वीर्य की प्राप्ति होती है- **आत्मना विन्दते वीर्यं** (केन० २.४)। बृहस्पति रूप के द्वारा उद्गीथ रूप, पितर स्वधा के द्वारा प्रतिहाररूप और इन्द्र वीर्य (पराक्रम) के द्वारा निधनरूप है-- **रूपेण बृहस्पतिरुद्गीथं स्वधया पितरः प्रतिहारं वीर्येणेन्द्र निधनम्** (जैमि० १.२१.७)। वीर्य का एक अर्थ पराक्रम है। यक्ष ने अग्नि से पूछा- तुझमें क्या सामर्थ्य है- **तस्मिꣳ स्त्वयि किं वीर्यमिति** (केन० ३.५)।

२०३. **वेद-वेदान्त**— वेद का अर्थ- 'वास्तविक ज्ञान' से लगाया जाता है; किसी तथ्य को जानने के अर्थ में भी वेद शब्द प्रयुक्त होता है। भारतीय आर्य संस्कृति के चार धार्मिक ग्रन्थ जो सर्वप्रधान और सर्वमान्य हैं, 'वेद' कहलाते हैं। ये ब्रह्मा के चारों मुखों से निःसृत माने गये हैं। वेदों के भी चार भाग माने गये हैं- संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। प्रत्येक वेद की कई- कई शाखाएँ भी प्रचलित हुई हैं। प्रत्येक वेद के स्वतंत्र उपवेद भी व्यवहार में विकसित हुए। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छंद ये छः वेदों के अंग या वेदाङ्ग कहलाते हैं। ऐसी मान्यता है कि वेदों का वर्तमान रूप में संग्रह और संकलन महर्षि व्यास ने किया है, इसलिए वे वेदव्यास कहे जाते हैं। विष्णु और वायु पुराण में वर्णित है कि स्वयं विष्णु भगवान् ने वेदव्यास का रूप धारण करके वेद के चार भाग किये और ऋक्, यजुः, साम और अथर्व को क्रमशः पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमंत इन चार शिष्यों- ऋषियों को दिया। वेद का अन्तिम ध्येय ब्रह्म और आत्म तत्त्व का प्रतिपादन करना है- **वेदाः ब्रह्मात्मविषयाः** (भा०पु० ११.२१.३५)। वेदों का अन्तिम भाग वेदान्त के रूप में प्रसिद्ध हुआ- **वेदानामन्तः इति वेदान्तः**। वेदान्त सार के अनुसार प्रामाणिक उपनिषदें ही वेदान्त हैं- **वेदान्तो नामोपनिषत् प्रमाणम्** (वे०सा०खण्ड ३)। उपनिषद् के अनुसार पूर्वकल्प में परम गुह्यज्ञान वेदान्त (उपनिषद्) में वर्णित हुआ है- **वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्** (श्वेता० ६.२२)। गीता में भगवान् ने कहा है- वेदान्तकर्त्ता और वेदविद् मैं ही हूँ और वेदों में मैं ही जानने योग्य हूँ- **वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्** (गी० १५.१५)।

२०४. **वेदाङ्ग** —द्र.-वेद-वेदान्त ।

२०५. **वेदान्त** —द्र.- वेद-वेदान्त ।

२०६. **वैकुण्ठ**— भगवान् विष्णु का धाम या स्थान वैकुण्ठ कहलाता है। पुराणानुसार यह धाम सत्यलोक के ऊपर सर्वश्रेष्ठ लोक है। भगवान् विष्णु जिन्हें मोक्ष देते हैं, वे इसी धाम में निवास करते हैं। यहाँ के निवासी अजर-अमर रहते हैं। भगवान् अवतार रूप में स्वर्गवासियों को और सारे वैकुण्ठधाम को भूतल पर उतार लेते हैं- **भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनाम्** (कृष्णो० २५)। उपनिषद् के अनुसार जो साधक **'ॐ नमो नारायणाय'** मन्त्र की उपासना करता है, वह वैकुण्ठ धाम को प्राप्त करता है। यह वैकुण्ठधाम विज्ञानघन पुण्डरीक (कमल) है। इसका स्वरूप विद्युत् के समान परम प्रकाशमय है- **ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रोपासको वैकुण्ठभुवनं गमिष्यति। तदिदं पुण्डरीकं विज्ञानघनं तस्मात्तडिदाभमात्रम्** (नारा० ४)।

२०७. **वैराग्य**— वह मानसिक वृत्ति जिसमें सम्पूर्ण सांसारिक विषय-भोग तुच्छ प्रतीत होते हैं और मनुष्य सांसारिक प्रपञ्चों से निकलकर एकान्त में आत्म उत्थान तथा प्रभु भक्ति में लगता है, वैराग्य कहलाता है। प्राचीन काल में लोग किसी भी आश्रम अवस्था में वैराग्य होने पर संसार से विरक्त होकर वन में विचरण करते हुए आत्म साधना में संलग्न हो जाते थे। वैराग्य (संसार से विराग)की स्थिति में ही संन्यास ग्रहण किया जाता था। ईश्वर या गुरु या इष्ट देव के प्रति अति विशिष्ट राग (स्नेह संबंध) हो जाने की स्थिति को भी वैराग्य कहा जाता है। उपनिषद् के अनुसार जब भोगने लायक पदार्थों के ऊपर कोई वासना न जाग्रत् हो, तब वह वैराग्य की अवधि (स्थिति) जाननी चाहिए- **वासनाऽनुदयो भोग्ये वैराग्यस्य तदावधिः** (अध्या० ४१)। वैराग्य का फल बोध है, बोध का फल उपरति-चित्तवृत्तियों की विश्रांति या विषय भोग से विरक्ति है। उपरति का फल आत्मानन्द के अनुभव से उत्पन्न होने वाली शान्ति है- **वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम्। स्वानन्दानुभवाच्छान्तिरेषैवोपरतेः फलम्** (अध्या० २८)। गीता में भगवान् का कथन है कि मन अत्यन्त चञ्चल और कठिनाई से वश में आने वाला है; किन्तु अभ्यास और वैराग्य से यह वश में आ जाता है-**असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते** (गी० ६.३५)।

२०८. **वैश्वानर**— वैश्वानर शब्द का सामान्य अर्थ 'अग्नि' है। यजन कार्यों में प्रयुक्त अग्नि को **'वैश्वानर'** कहते हैं- **वैश्वानरो विसर्गे तु .....** (गोभिलपुत्रकृत संग्रह)। आध्यात्मिक दृष्टि से शरीर के अन्दर परमात्म चेतना का वह अंश वैश्वानर कहलाता है,जो भोजन आदि के पाचन में योगदान देता है-**अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्** (गी० १५.१४)। वेदान्तदर्शन की मान्यतानुसार 'वैश्वानर' वह चैतन्यांश

है, जो चतुर्विध शरीरधारी (जरायुज, स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज) प्राणियों का समष्टिगत अधिष्ठाता है। वहाँ इसके लिए सुन्दर उदाहरण दिया गया है-जलाशय तथा वन का। जलाशय 'जलबिन्दुओं' का तथा 'वन' वृक्षों का समष्टिगत रूप है। इस तरह चतुर्विध स्थूल शरीरों का समष्टि उपहित चैतन्य- **सर्वनराभिमानित्वात्**-वैश्वानर कहलाता है। विविध रूपों में विराजमान होने के कारण-**विविधं राजमानत्वात्**- यह 'विराट्' भी कहलाता है। 'वैश्वानर' के रूप में स्थूल शरीर की इस समष्टि को 'अन्नमयकोश' तथा जाग्रत् भी कहा जाता है। स्थूल शरीरों के इस समष्टि रूप के विपरीत जो व्यष्टि उपहित चैतन्य है, उसे 'वेदान्त' के अनुसार 'विश्व' संज्ञा प्रदान की गई है। जैसे जलाशय का व्यष्टि रूप जल विन्दु और वन का व्यष्टि रूप वृक्ष होता है, उसी तरह वैश्वानर का व्यष्टि रूप विश्व है। रामतीर्थ ने इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किया है-**सर्वथा विश्वशरीरवर्तित्वाद् विश्व इत्युक्तं भवति** (वे०सा० टीका खण्ड १७) 'यह समस्त शरीरों में प्रवेश करने में समर्थ है'। यह सूक्ष्म शरीर(५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ प्राण, मन और बुद्धि) का परित्याग किए बिना ही अर्थात् सूक्ष्म शरीर के साथ स्थूल शरीर में प्रवेश करता है। यही अन्नमय कोश कहलाता है और कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि उपाधि से युक्त होने के कारण इसे जाग्रत् भी कहा जाता है।

२०९.व्यष्टि-समष्टि— समूह या समाज में से अलग किया हुआ प्रत्येक पदार्थ या मनुष्य व्यष्टि कहा जाता है। समूह से छिन्न व्यक्ति या जिसमें सामूहिकता का अभाव हो, वह व्यष्टि रूप में मान्य है। वह सिद्धान्त जिसमें व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता तथा उसके अधिकार को प्रमुखतया मान्यता मिलती है, व्यष्टिवाद कहलाता है। इसका विपरीतार्थक शब्द समष्टि है। सबके समूह को समष्टि कहते हैं। इसका अन्य पर्याय 'संयुक्त अधिकार' भी है। उपनिषद् में कहीं-कहीं व्यष्टि का अर्थ सर्वव्यापकता भी लिया गया है- **तां (ब्रह्मणः) व्यष्टिं व्यश्नुते य एवं वेद** (कौ० ब्रा० १.७) अर्थात् वह उस ब्रह्म की सर्वव्यापकता को प्राप्त कर लेता है, जो इस प्रकार जानता है। वायु को व्यष्टि और समष्टि रूप दोनों माना गया है, चूँकि वायु शब्द एक का बोधक भी है और कई गैसों का समूह भी है- **तस्माद् वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिः** (बृह०३.३.२)। वृक्ष-व्यष्टि है, वन-समष्टि है। जल बिन्दु-व्यष्टि है, जलाशय-समष्टि है।

२१०. व्याहृति—व्याहृति का अर्थ है- कथन, उक्ति, वचन या उच्चारण। इनकी संख्या सात मानी गई है- भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्। इनमें प्रारंभिक तीन महाव्याहृति कही गयी हैं। पौराणिक स्तर पर ये सविता और पृश्नि की कन्या मानी जाती हैं। उपनिषद् ग्रन्थों में व्याहृतियों का उल्लेख इस प्रकार हुआ है- **भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः** (तैत्ति० १.५.१), **ता एता व्याहृतयः। प्रेत्येति वाग् इति भूर्भुवःस्वरिति (उदिति)** (जैमि० २.९.३)। त्रयी विद्या (तीनों वेदों) के निचोड़ से सारभूत रस अभिस्रवित हुआ। यही सार तीन व्याहृतियाँ भूः, भुवः, स्वः हुईं- **स त्रयीं विद्यामभ्यपीळयत्। तस्या अभिपीळितायै रसः प्राणेदत्। ता एवैता व्याहृतयोऽभवन् भूर्भुवः स्वरिति** (जैमि० १.२३.६)। तीनों व्याहृतियों के निचोड़ से ॐ अक्षर अभिस्रवित हुआ।

२११. व्योम—व्योम आकाश, अन्तरिक्ष या आसमान का सूचक है। मेघ या जल के पर्याय में भी व्योम शब्द प्रयुक्त हुआ है। भगवान् विष्णु को भी व्योम कहा गया है। भगवान् शिव का एक नाम व्योमकेश है। व्योम को लोक भी कहा गया है- **इमे वै लोकाः परमं व्योम** (शत० ब्रा० ७.५.२.१८)। ब्राह्मण ग्रन्थ में अन्न को भी व्योम कहा गया है-**अन्नं वै व्योम** (तैत्ति०सं० ५.३.३.२)। ब्रह्मविद् की तुलना ब्रह्म से उसी प्रकार की गयी है, जैसे घट के नष्ट होने पर घटाकाश ही महाकाश बन जाता है-**घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम्। तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित् स्वयम्** (आत्मो० २२-२३)।

२१२. व्रात्य— व्रात्य का साधारण अर्थ 'व्रत सम्बन्धी' है। व्रात्य शब्द परमेश्वर का भी बोधक है। अथर्ववेद में व्रात्य की महिमा बहुत अधिक गायी गयी है। परवर्ती काल में यह शब्द व्रतों से च्युत, संस्कारभ्रष्ट, पतित और निकृष्ट व्यक्ति का बोधक हो गया है। जिसके दस संस्कार या उपनयन संस्कार न हुआ हो, उसे भी व्रात्य माना जाने लगा। जैमिनीय ब्राह्मण में व्रात्य शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो सम्भवतः व्रात्य के पर्याय तथा व्रतों के नियम, उपनियम अर्थ में प्रयुक्त हुआ है- **मुह्यन्तीव वा एते ये व्रात्यां धावयन्ति** (जै०ब्रा० २.२२१)। **ब्रह्मणो वा एते व्युद्धयन्ते ये व्रात्यां धावयन्ति** (जै०ब्रा० २.२२३)। प्रश्नोपनिषद् में 'व्रात्य' शब्द प्राण के लिए प्रयुक्त हुआ है। यहाँ व्रात्य शब्द 'शुद्ध या पवित्र' भाव से प्रयुक्त हुआ है। प्राण ही व्रात्य है, का तात्पर्य प्राण में संस्कार का प्रयोग नहीं है, वह स्वभावगत शुद्ध और पवित्र है। सबसे पहले शुद्ध रूप में उत्पन्न हुआ है।

२१३. शस्त्र—द्र०- **याज्या**।

२१४. शान्ति— वह स्थिति जिसमें किसी प्रकार की क्रिया, वेग, क्षोभ, उद्विग्नता आदि न हो। चित्त की चंचलता, वासना, तृष्णा आदि का क्षय हो। इसके अन्य पर्याय हैं- स्तब्धता, चैन, आराम, रागादि से निवृत्ति, मृत्यु, अमंगल या अनिष्ट का निवारण। गीता में भगवान् ने कहा है कि जितेन्द्रिय तत्पर श्रद्धावान् पुरुष ज्ञान को प्राप्त करता है। ज्ञान को पाकर वह परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है-**श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति** (गी० ४.३९)। आत्मिक (आन्तरिक) आनन्द की अनुभूति से जो शान्ति मिलती है, यह उपरति (विषयभोग से निवृत्ति) का फल है- **स्वानन्दानुभवाच्छान्तिरेषैवोपरतेः फलम्** (अध्या०२८)। भावना रहित को शान्ति नहीं मिलती और शान्ति के बिना सुख कहाँ- **न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्** (गी० २.६६)।

२१५. शास्त्र — प्राचीन ऋषियों और मुनियों द्वारा विरचित वे ग्रन्थ, जिसमें उन्होंने जन सामान्य के लिए कर्त्तव्य अकर्त्तव्य, मर्यादा, व्रत, अनुशासन एवं हितकारी शिक्षण दिया है, शास्त्र कहलाते हैं। इनकी संख्या १८ मानी गयी है- शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छंद, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद, और अर्थशास्त्र। आगे सभी धार्मिक ग्रन्थों को शास्त्र की श्रेणी में रखा जाने लगा। गीता में भगवान् का निर्देश है कि जो शास्त्र विधि को त्यागकर अपनी इच्छा से व्यवहार करता है, वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न सुख और परमगति को-**यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्** (गी० १६.२३)। आगे उन्होंने अर्जुन को आदेश दिया है कि कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य की व्यवस्था में तुम्हारे लिए शास्त्र प्रमाण है। अतः शास्त्र विधान को समझकर ही कर्म करना उचित है-**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि** (गी० १६.२४)।

शास्त्रों की निधि जिस ताले में है, उसकी कुञ्जियाँ दो हैं- स्वाध्याय और सत्संग। मनुष्य तथा समाज के नीति, सदाचार, व्यवहार सम्बन्धी प्रामाणिक नियम धर्मशास्त्रों में उल्लिखित हैं। स्मृति ग्रन्थों को भी धर्मशास्त्र माना गया है। उपनिषद् में इस महत्त्वपूर्ण तथ्य से सचेत भी किया गया है कि निकृष्ट शास्त्रों के जाल में फँसकर ज्ञानियों की बुद्धि मोहित हो जाती है-**पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः** (यो०त० ६)।

२१६. शुद्धि-शुचि-पवित्रता— उपनिषद् में शारीरिक पवित्रता को नहीं, चित्त वृत्तियों की पवित्रता को तथा वासनादि के क्षय को विशेष महत्त्व दिया गया है- **चित्तशुद्धिकरं शौचं वासनात्रयनाशकम्। ज्ञानवैराग्यमृत्तोयैः क्षालनात् शौचमुच्यते** (मैत्रे० २.१०)। अर्थात् ज्ञानरूपी मिट्टी और वैराग्य रूपी जल से धोने के द्वारा जो पवित्रता होती है, वही वास्तविक पवित्रता है। मल, मूत्रादि, दुर्गन्ध युक्त शरीर की शुद्धि तो मिट्टी एवं जल से होती है, लेकिन वह सब तो लौकिक शुद्धि है। वास्तविक शुद्धि तो मैं और मेरा के अहंभाव का परित्याग करना ही है- **अहंममेति विण्मूत्रलेपगन्धादिमोचनम्। शुद्ध शौचमिति प्रोक्तं मृज्जलाभ्यां तु लौकिकम्** (मैत्रे० २.९)। इन्द्रियनिग्रह ही शुचिता है- **शौचम् इन्द्रियनिग्रहः** (मैत्रे०२.३)।

२१७. शोक —द्र०-**हर्षशोक**।

२१८. श्रद्धा— श्रद्धा का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है-श्रत्+धा-सत्य की धारणा। सामान्यतया श्रद्धा का अर्थ - प्रेम और भक्तिपूर्ण पूज्य भाव अथवा भावनात्मक (भावना से परिपूर्ण) विश्वास लिया जाता है। पितरों के प्रति श्रद्धा-भाव पूर्वक अर्पित जल अथवा भोज्य पदार्थ को श्राद्ध कहा जाता है। उपनिषद् में श्रद्धा को हृदय की वृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है-**कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति हृदय इति** (बृह०३.९.२१)। गीता में श्रद्धा को तीन प्रकार की कहा गया है-सात्त्विकी, राजसी और तामसी-**त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा। सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु** (गी० १७.२)। बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और किया हुआ कर्म असत् है-**अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह** (गी०१७.२८)। मनुस्मृति के अनुसार धर्म तभी निश्चय फल देता है, जब वह श्रद्धापूर्वक किया गया हो-**श्रद्धाकृते ह्यक्षये ते भवतः स्वागतैर्धनैः** (म०स्मृ०४.२२६)। तुलसीदास ने पार्वती और शंकर को श्रद्धा और विश्वास का स्वरूप माना है, जिसके बिना सिद्धजन भी अपने अन्तःकरण में स्थित ईश्वर को नहीं देख सकते -**भवानी शंकरौ**

वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम् (रा०मा० बालकाण्ड श्लोक २)। गीता में भगवान् ने कहा है कि सबकी श्रद्धा अपने अन्तःकरण के अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय ही है। जो जैसी श्रद्धा वाला होता है, वह वैसा ही होता है- **सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः** (गी०१७.३)। जो-जो भक्त जिस-जिस स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, भगवान् उस-उस भक्त की उस रूप के प्रति श्रद्धा को स्थिर करता है- **यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्** (गी०७.२१)। देवगण भी श्रद्धा की उपासना करते हैं, श्रद्धा से परम ऐश्वर्य मिलता है-**श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते। श्रद्धां.... श्रद्धया विन्दते वसु** (ऋ०१०.१५१.४)।

२१९.**श्राद्ध**— पितरों की तुष्टि तथा शान्ति के लिए श्रद्धापूर्वक अन्न,जल,भोग पदार्थों आदि का दान करना श्राद्ध कहलाता है। शास्त्र विहित पितृ कर्म या लोकविधि के अनुसार पितरों के क्रिया कर्म को भी श्राद्ध कहते हैं। दूसरे शब्दों में- पितरों की तृप्ति के लिए शास्त्रविधि से श्रद्धापूर्वक किया गया धार्मिक कृत्य श्राद्ध कहलाता है। मनु के अनुसार श्राद्ध पाँच प्रकार का है-**नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिश्राद्धं तथैव च। पार्वणञ्चेति मनुना श्राद्धं पञ्चविधं स्मृतम्**॥ भविष्य पुराण में बारह प्रकार के श्राद्ध वर्णित हैं। श्राद्ध प्रक्रिया प्रारम्भ करने का श्रेय इक्ष्वाकुपुत्र निमि को दिया जाता है। इन्होंने अपने पुत्र श्रीमत की असामयिक मृत्यु के एक वर्ष बाद श्राद्ध किया था। आश्विन कृष्णपक्ष में पितरों के निमित्त विशेष रूप से तर्पण, पिण्डदान आदि किया जाता है, यह श्राद्धकाल या श्राद्धपक्ष कहलाता है।

२२०. **श्रेय-प्रेय मार्ग**— श्रेय और प्रेय मार्ग की चर्चा अध्यात्म शास्त्र में प्रायः होती रहती है, परन्तु कठोपनिषद् में इसका विशेष रूप से वर्णन पाया जाता है। यम-नचिकेता के प्रसिद्ध संवाद में जब यमराज से 'आत्मविद्या' के तृतीयवर की याचना नचिकेता ने की, तो यमराज ने उसे दीर्घ आयु, स्वर्गिक आनन्द, हाथी, घोड़ा, रथ तथा अन्यान्य वैभव व एक छत्र राज्य माँग लेने को कहा तथा 'आत्मविद्या' का वर माँगने का हठ न करने को कहा, परन्तु नचिकेता की दृढ़ प्रतिज्ञ स्थिति और उसके अधिकारी स्वरूप की परीक्षा कर लेने के बाद यमराज स्वयमेव उन दोनों मार्गों को स्पष्ट करते हैं। प्रथम **श्रेय मार्ग,** जो आनन्द स्वरूप परब्रह्म की प्राप्ति का साधन है तथा दूसरा **प्रेय मार्ग,** जो इस लोक एवं स्वर्गलोक के सुख-भोग की सामग्रियों की प्राप्ति का साधन है। यमराज इसी प्रकरण में यह भी कहते हैं कि धीर पुरुष प्रेय की अपेक्षा श्रेय मार्ग का ही वरण करते हैं, जबकि मन्दबुद्धि व्यक्ति सांसारिक सुखों वाले प्रेय मार्ग का वरण करते हैं-**श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते** (कठ०१.२.२)। इसी तथ्य को गीता (१८.३७-३८) में सात्त्विक एवं राजस सुख के रूप में प्रतिपादित किया गया है। प्रारम्भ में दुःखद एवं बाद में अमृतोपम लगने वाले सुख को सात्त्विक तथा प्रारम्भ में सुखद एवं परिणाम में दुःखद लगने वाले सुख को राजस कहा गया है। यही स्थिति श्रेय और प्रेय की है। श्रेय मार्ग प्रारम्भ में सुखद नहीं लगता, परन्तु परिणाम में कल्याणकारी होता है, जबकि प्रेय मार्ग प्रारम्भ में बड़ा ही आकर्षक-आनन्ददायी लगता है, परिणाम में भले ही दुःखदायी हो।

२२१. **श्रोत्रिय**— जो वेद-वेदाङ्गों में पारंगत हो, वह वेदज्ञ-वेदविद् श्रोत्रिय कहलाता है। इसका अन्य पर्याय सभ्य, सुसंस्कृत, ब्राह्मण विशेष है। वेद का एक पर्याय श्रुति है, अतः श्रुति (ज्ञान) से सुसम्पन्न पुरुष को श्रोत्रिय कहा जाता था। उपनिषद् में वर्णन है कि अन्न के प्राण को जानने वाले श्रोत्रिय भोजन करने से पूर्व आचमन करते हैं तथा भोजनोपरान्त आचमन करते हैं- **तद्विद्वाꣳसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाचामन्ति** (बृह०६.१.१४)। काल सम्पूर्ण प्राणियों और महात्माओं को भी समाहित कर लेता है और जो काल को भी नियंत्रण में करना जानता है, वह वेदविद् (श्रोत्रिय) है- **कालः पचति भूतानि सर्वाण्येव महात्मनि। यस्मिंस्तु पच्यते कालो यस्तं वेद स वेदवित्** (मैत्रा०६.१५)। जो देवों के सौ आनन्द हैं, वह इन्द्रदेव का एक आनन्द है और ऐसा श्रोत्रिय जो इन्द्र के (वैभव के) भोगों की कामना से रहित है, उसे वह सहज प्राप्त है-**ते ये शतं देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्यानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य** (तैत्ति०२.८)।

२२२. **षड्रिपु-षड्वर्ग**— काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर इन्हें षड्रिपु कहा गया है। इन्हें मुद्गलोपनिषद् में षड्वर्ग भी कहा गया है-**कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यमित्यरिषड्वर्गः** (मुद्ग०४.४)। इस उपनिषद् का नित्य अध्ययन करने वाला काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारों से अबाधित रहता है। गीता में भगवान् ने भी इन्हें वैरी

और अधिक खाने वाला महापापी कहा है, ये रजोगुण से उत्पन्न होने वाले हैं-**काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्** (गी०३.३७)। काम का आशय कामना या इच्छा है। रजोगुण से उत्पन्न विषय-वासना और तृष्णा ही काम है। गीता के अनुसार विषयों का चिन्तन करने वाले मनुष्यों की उसमें आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से काम, काम से क्रोध और क्रोध से मोह उत्पन्न होता है। काम, क्रोध, लोभ ये तीनों आत्मा का नाश करने वाले हैं, अतः इन तीनों का त्याग कर देना चाहिए-**त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्** (गी०१६.२१)। जो पुरुष सब कामनाओं को त्यागकर निःस्पृह, निर्मम और निरहंकार (लोभ, मोह, मद रहित) होकर विचरता है, वह शान्ति को प्राप्त होता है-**विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः। निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति** (गी०२.७१)। अहंकार, अज्ञान, उन्माद आदि के पर्याय रूप में 'मद' शब्द प्रयुक्त होता है। मत्सर का आशय किसी के वैभव-विलास को देखकर जलन या डाह करना है। कृष्णोपनिषद् में द्वेष और मत्सर की संगति राक्षसों से बिठायी गयी है- **द्वेषश्चाणूरमल्लोऽयं मत्सरो मुष्टिको जयः** (कृष्णो०१४)।

२२३. **षोडशकला**— चन्द्रमा के सोलह भाग जो एक-एक क्रम से शुक्ल पक्ष में बढ़ते और कृष्ण पक्ष में क्षीण होते हैं। मनुष्य के सोलह विशिष्ट गुणों या शक्तियों को भी षोडशकला कहते हैं। इस तथ्य की पुष्टि ब्राह्मण ग्रन्थों से होती है- **षोडशकलो वै चन्द्रमाः** (ष०ब्रा० ४.६), **षोडशकलो वै पुरुषः** (शत०ब्रा० ११.१.६.३६)। उस पूर्ण ब्रह्म को भी षोडशकला कहकर वर्णित किया गया है- **षोडशकलं वै ब्रह्म** (जै०उ०३.३८.८)। इस सम्पूर्ण जगत् को भी षोडशकलाओं से युक्त माना गया है- **षोडशकलं वा इदं सर्वम्** (शत०ब्रा० १३.२.२.१३)। यहाँ षोडश संख्या पूर्णता का बोधक है और षोडश कला पूर्ण शक्तियों से भरी रचना। कला शब्द का अर्थ शास्त्रों में इस प्रकार भी दिया गया है- **कं ब्रह्म लीयते आच्छाद्यते यया, सा कला।** अर्थात् जिसके द्वारा क (ब्रह्म) लीन-आच्छादित होता है, उसे कला कहते हैं। ब्रह्म की सोलह कलाएँ निम्न हैं- प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और नाम। वस्तुतः परात्पर ब्रह्म की ६४ कलाएँ मानी जाती हैं। चूँकि ब्रह्म के ३ चरण ऊर्ध्व में विद्यमान हैं और एक चरण ही इस विश्व ब्रह्माण्ड के रूप में है। इसका संकेत पुरुष सूक्त में प्राप्त है- **त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाऽभवत्पुनः** (यजु० ३१.५), इसलिए ६४ का चतुर्थांश १६ ही हुआ।

२२४. **संवत्सर**— संवत्सर शब्द प्रायः वर्ष या साल के लिए प्रयुक्त होता है। प्रत्येक साठ वर्षों को ५-५ वर्ष के १२ युगों में विभक्त किया गया है। प्रत्येक युग का प्रथम वर्ष संवत्सर कहलाता है। ये संवत्सर साठ माने गये हैं। संवत्सर का आरंभ चैत्र शुक्ल प्रतिपदा से होता है। जिस दिन मत्स्यावतार हुआ और सृष्टि का पुनः आरम्भ हुआ, उसी दिन से संवत्सर का आरंभ माना जाता है। आदित्य को संवत् और चन्द्रमा को सर कहकर निरूपित किया गया है- **आदित्य एव संवच्चन्द्रमाः सरः** (जै० ब्रा० २.६०)। एक संवत्सर में बारह मास या चौबीस अर्धमास होते हैं- **द्वादश मासाः संवत्सरः** (मैत्रा०ब्रा० १.१०.५) **चतुर्विंशत्यर्धमासो वै संवत्सरः** (ऐत० ब्रा० ८.४)। अग्नि तथा प्रजापति को भी संवत्सर से सम्बद्ध किया गया है- **अग्निः संवत्सरः** (तां०म० १७.१३.१७)। **स वै संवत्सर एव प्रजापतिः** (शत०ब्रा० १.६.३.३५)।

२२५. **संस्कार**— संस्कार का आशय है-सुधार, परिष्कार अथवा मनोवृत्ति या स्वभाव का परिशोधन। शिक्षा, उपदेश या संगति से मनुष्य के अचेतन मन पर एक गहरा प्रभाव पड़ता है, जिसके प्रभाव में उसके क्रियाकलाप सहज ही प्रेरित होते हैं, संस्कार कहलाता है। ऋषियों ने जन्म से पूर्व तथा मृत्युपर्यन्त तक के जीवन क्रम में यज्ञीय कर्मकाण्ड परक षोडश संस्कारों की परम्परा प्रचलित की, जिससे मनुष्य का विचारात्मक तथा भावनात्मक परिशोधन होते रहने का क्रम जीवन भर सम्पादित होता रहे। संस्कार योग्यता वृद्धि की विशिष्ट प्रक्रिया है, जिसके सम्पन्न होने से व्यक्ति या पदार्थ किसी विशेष प्रयोजन के योग्य बन जाते हैं-**संस्कारो नाम स भवति यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य** (जैमि०सूत्र० ३.१.३ शबर भाष्य), **योग्यतां चादधानाः क्रियाः संस्कारा इत्युच्यन्ते** (तंत्रवार्तिक)।

२२६. **सङ्कल्प** — सङ्कल्प शब्द सामान्यतः दृढ़ निश्चय, पक्का इरादा या विचार, तीव्र इच्छा अथवा उद्देश्य के अर्थ में लिया जाता है। हमारा मन ही सभी संकल्पों का अयन (आश्रय) है-**सर्वेषां संकल्पानां मन एकायनम्**

(बृह०२.४.११)। शिवसङ्कल्पोपनिषद् के प्रत्येक श्लोक में मन के शिव अथवा कल्याणकारी संकल्प से युक्त होने की कामना की गई है। जो हमारा मन प्रकृष्ट ज्ञान का साधनभूत है, जो स्मरण और धारण शक्ति से युक्त है, जो ज्योति की भाँति अन्तः को प्रकाशित करता है, जो सभी कर्मों का सम्पादक है, वह हमारा मन शिव संकल्प से युक्त हो- **यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु। यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु** (१ शि०सं० ३)। कामनाएँ संकल्प से उत्पन्न होती हैं। गीता (६.२४) में संकल्प से उत्पन्न सब कामनाओं को छोड़ने की बात कही गयी है। उपनिषद् में कहा गया है कि संकल्प ही मन का स्वरूप है, अतः सङ्कल्प को ही मन समझना चाहिए। आज तक कोई भी संकल्प और मन को पृथक् न कर सका। सभी संकल्पों के विनष्ट होने पर आत्मस्वरूप ही शेष रहता है-**सङ्कल्पमनसी भिन्ने न कदाचन केनचित्। सङ्कल्पजाते गलिते स्वरूपमवशिष्यते** (महो० ४.५३)।

२२७. संन्यास— द्र०- चतुराश्रम।

२२८. संन्यासी-यति— जो अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर चुका हो और संसार के सभी आकर्षणों से वैराग्य लेकर मोक्ष प्राप्ति का प्रयास कर रहा हो। इन्हें परिव्राजक,यति, अवधूत, हंस, योगी आदि कहते हैं। संन्यासी को सभी प्रकार की आसक्ति का त्याग करना चाहिए। एक जगह पर अधिक समय नहीं रहना चाहिए। उसके अन्दर आत्मज्ञान का प्रकाश होना चाहिए। सर्वत्र समबुद्धि रखने वाला, हिंसा तथा माया से रहित, क्रोध एवं अहंभाव से विमुक्त संन्यासी कहलाता है। उपनिषद् के अनुसार सब कर्मों को छोड़कर अहन्ता और ममता को त्यागकर ब्रह्म की शरण में जाना और तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, सर्वं खल्विदं ब्रह्म आदि महावाक्यों द्वारा 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा निश्चय करके निर्विकल्प समाधि में रहना और स्वतंत्र यति के रूप में व्यवहार करना, ऐसा पुरुष संन्यासी है, मुक्त है, वही पूज्य योगी, परमहंस, अवधूत और वही ब्राह्मण है (निरा०३९)। संसार से विरक्त होकर केवल ब्रह्म प्राप्ति का यत्न करते हुए स्वतंत्र विचरण करने वाले यति कहलाते हैं। संन्यासियों के छः भेद प्रमुख रूप से वर्णित हैं- कुटीचक,बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत। कर्मों को छोड़ देना या मैं संन्यासी हूँ, ऐसा कह देने से कोई संन्यासी नहीं हो जाता। समाधि अवस्था में जीव और ब्रह्म की एकता का अनुभव होना ही संन्यास है। (मैत्रा० २.१७)।

२२९. सकाम-निष्काम कर्म— फल प्राप्ति की कामना से किया गया कर्म सकाम कर्म कहलाता है। इसके विपरीत कर्म में फल की इच्छा न करना निष्काम कर्म कहलाता है। निष्काम कर्म करने से पुरुष कर्म के बन्धन में बँधता नहीं है। गीता में कर्मफल की इच्छा न करने का निर्देश है, क्योंकि मनुष्य का अधिकार कर्म करने तक है, फल में नहीं-**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि** (गी०२.४७)। जो कर्मफल की आसक्ति (सकाम कर्म) को छोड़कर नित्य तृप्त और आश्रय रहित है, वह कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता अर्थात् कर्म बन्धन में नहीं पड़ता- **त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः** (गी०४.२०)। योगी पुरुष कर्मफल को त्यागकर (निष्काम कर्म द्वारा) निष्ठा से भरी शान्ति को प्राप्त होता है-**युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्** (गी०५.१२)। ध्यान से कर्मफल का त्याग (निष्कामकर्म) श्रेष्ठ है,त्याग से शीघ्र शान्ति प्राप्त होती है-**ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्** (गी०१२.१२)।

२३०. सच्चिदानन्द— आत्मा अथवा परमात्मा को सच्चिदानन्द कहा गया है, क्योंकि यह सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है। शंकराचार्यजी ने तत्त्वबोध में लिखा है, जो तीनों कालों में विद्यमान रहता है, वह सत् है-**कालत्रयेऽपि तिष्ठतीति सत्।** आत्मा का सद्रूप होने का तात्पर्य उसका अमर, नित्य, शाश्वत, अजन्मा आदि होना है- **अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे** (कठ०१.२.१८)। जिसकी सत्ता सदैव स्थापित रही है, वही सत् है। वह आत्मा चिद्रूप है। चित् का तात्पर्य है-चैतन्यता (ज्ञानयुक्त होना)। वह ज्ञानस्वरूप होने से प्रकाशस्वरूप भी है। उसी का प्रकाश सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है- **तस्य भासा सर्वमिदं विभाति** (कठ०२.२.१५)। यह आनन्द रूप है-निरतिशय अथवा सम्यक् सुखस्वरूप है। शंकराचार्य ने लिखा है- आनन्दमय आत्मा ही ब्रह्म है-**आनन्दमय आत्मा ब्रह्मेति गम्यते** (ब्र०सू०-शाङ्कर भा०१.१.१२)।

२३१. सत्-असत्— सत् शब्द के पर्याय कोश ग्रन्थों में इस प्रकार हैं- ब्रह्म, अस्तित्व, सत्ता, सत्य, शाश्वत, सद्गुणी व्यक्ति, सज्जन, नित्य, स्थायी, श्रेष्ठ, पवित्र, अच्छा, सत्य धर्म। इसके विपरीत मिथ्या, अस्तित्वविहीन, सत्तारहित,

बुरा, असाधु, असत्य आदि असत् के पर्यायवाची शब्द हैं। सत्य की ही सदैव जय होती है- **सत्येनैव जयति** (मै०ब्रा०४.३.८)। सत्य में प्रमाद नहीं करना चाहिए-**सत्यान्न प्रमदितव्यम्** (तैत्ति०१.११.१)। इस लोक में सत् ही परमेश्वर है। सत् के आधार पर ही सृष्टि और धर्म का अस्तित्व है। गीता में कहा है कि असत् का कोई अस्तित्व नहीं है और सत् का अभाव नहीं है- **नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः** (गी०२.१६)। यज्ञ, तप और दान की स्थिति सत् है- **यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते** (गी०१७.२७)। सद्भाव और सज्जनता में 'सत्' शब्द प्रयुक्त होता है-**सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते** (गी०१७.२६)। मुण्डकोपनिषद् का प्रसिद्ध वाक्य, जो सत्य के विजयी होने और असत्य के पराभूत होने का संकेत करता है, को भारत सरकार ने अपने राजचिह्न में स्वीकार किया है- **सत्यमेव जयते नानृतम्। सत्येन पन्था विततो देवयानः** (मुण्ड०३.१.६)।

२३२. सत्त्व-रज-तम— सांख्य दर्शन के अनुसार समूची सृष्टि त्रिगुणात्मक है। ये तीन गुण हैं- सत्त्व, रज और तम। सत्त्व सबसे उत्तम है, इसके लक्षण हैं-ज्ञान, शान्ति, विवेक, सत्प्रवृत्ति आदि। यह आत्म तत्त्व, मूल तत्त्व तथा चेतन तत्त्व का भी बोधक है। वह परम पुरुष परमात्मा इन तीनों गुणों से परे है, अतः उसे त्रिगुणातीत भी कहा गया है। सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं, ये अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं-**सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः। निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्** (गी०१४.५)। जब तक तीनों गुण समान रूप से विद्यमान रहते हैं, तब तक प्रकृति में हलचल-परिवर्तन नहीं होता। प्रकृति मूलरूप में विद्यमान रहती है-**साम्यावस्था प्रकृतिः** (सां०सू० १.६१)। गीता में ही आगे भगवान् ने वर्णन किया है कि सत्त्वगुण सुख में, रजोगुण कर्म में और तमोगुण ज्ञान को ढँककर प्रमाद में लगाता है-**सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत। ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत** (गी०१४.९)। सत्त्व से ज्ञान, रज से लोभ तथा तम से प्रमाद,मोह,अज्ञान उत्पन्न होता है-**सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च। प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च** (गी०१४.१७)।

२३३. सप्तचक्र— योग साधना ग्रन्थों में 'षट्चक्र वेधन' प्रक्रिया का प्रायः उल्लेख पाया जाता है। मान्यता है कि षट्चक्र वेधन प्रक्रिया द्वारा कुण्डलिनी जागरण की क्रिया सम्पन्न होती है और वह जाग्रत् कुण्डलिनी ऊर्ध्वगमन करती हुई सहस्रार स्थित शिवतत्त्व से जब मिल जाती है, तो योग (शिव-शक्तियोग) सिद्ध हो जाता है। साधक में अनेकानेक चमत्कारिक शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं और अन्त में वह मुक्ति का अधिकारी भी हो जाता है- **षट्चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत् सुखमण्डलम्** (यो०शि०६.७४,यो०कु०३.९,१२), **षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योम पञ्चकम्। स्व देहे यो न जानाति तस्य सिद्धिः कथं भवेत्** (यो०चू०३)। योग साधना ग्रन्थों में जिन षट्चक्रों की प्रसिद्धि है, वे इस प्रकार हैं-१.मूलाधार,२.स्वाधिष्ठान,३.मणिपूर, ४.अनाहत,५.विशुद्धाख्य, ६.आज्ञाचक्र। इन षट्चक्रों के वेधन की प्रक्रिया सम्पन्न होने के बाद इससे परे सातवें चक्र तक कुण्डलिनी शक्ति का ऊर्ध्वगमन होता है, तो साधक पूर्णता की स्थिति में पहुँच जाता है। वह सातवाँ चक्र 'सहस्रार चक्र' है, जिसमें सहस्र दल कमल होने की बात कही जाती है। इन सप्तचक्रों का विशद वर्णन तन्त्रसार, हठयोग प्रदीपिका जैसे योग साधना के ग्रन्थों में मिलता है।

२३४. सप्त जिह्वाएँ— यज्ञीय विधि-विधान के अन्तर्गत जहाँ अग्नि, समिधा, आज्य आदि का वर्णन पाया जाता है, वहीं 'अग्नि' का मानवीकरण (आधिदैविक) रूप भी प्राप्त होता है। 'अग्नि' जो उष्णता, ऊर्जा एवं प्रकाश आदि गुण विशिष्ट पदार्थ के रूप में देखा जाता है, वहीं 'अग्निदेव' के रूप में भी प्रतिष्ठित है। सामान्य प्राणी जिस प्रकार मुख-जिह्वा आदि अंगावयवों से युक्त हो भोजन आदि क्रियाएँ सम्पन्न करता है, उसी प्रकार अग्निदेव अपनी जिह्वाओं से आज्य आदि हव्य सामग्रियों को ग्रहण करते हैं- ऐसी प्रसिद्धि है। यह अग्नि का आधिदैविक-आलंकारिक स्वरूप है। 'अग्नि' की लपटें ही उसकी जिह्वाएँ हैं। पौराणिक ग्रन्थों के साथ ही उपनिषदों में भी अग्नि की सात जिह्वाओं (ज्वालाओं) का वर्णन मिलता है। मुण्डकोपनिषद् (१.२.४) में कहा गया है- **काली कराली च मनोजवा च, सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा। स्फुलिंगिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः॥** अर्थात् काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिंगिनी और विश्वरुची-ये उस (अग्नि) की लपलपाती हुई सात जिह्वाएँ हैं। वस्तुतः ये जिह्वाएँ ही अग्नि की लपटें-ज्वालाएँ हैं। इनके नामों से लगता है कि ये लाल, धुएँ युक्त, चिनगारी युक्त आदि गुण विशिष्ट अग्नि की लपटें हैं। इन्हें अग्निदेव की सात जिह्वाएँ कहा गया है। इसी को आगे सात दीप्तियाँ भी कहा गया है- **सप्तार्चिषः** (मुण्ड०२.१.८)।

२३५. सप्तयज्ञ— भारतीय संस्कृति में यज्ञ का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। वेदों-स्मृतियों में इसका विशद वर्णन प्राप्त होता है। इसी आधार पर यज्ञ के प्रमुखतः दो विभाग हैं-१. श्रौत यज्ञ, २. स्मार्त यज्ञ। इन दोनों विभागों के अन्तर्गत अनेकानेक प्रकार के यज्ञ आते हैं। यहाँ जिन सात यज्ञों का उल्लेख है, वे प्रायः दार्शनिक स्तर के हैं। मुण्डकोपनिषद् (२.१.८) में यह प्रकरण व्याख्यायित है- **सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः**। सप्तहोम (यज्ञ) का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए शंकराचार्यजी लिखते हैं- **सप्त होमास्तदविषयविज्ञानानि 'यदस्य विज्ञानं तज्जुहोति** (महानारायण० २५.१) **इति श्रुत्यन्तरात्'** अर्थात् सात होम यानी अपने विषयों के विज्ञान, जैसा कि 'इसका जो विज्ञान है, उसी को हवन करता है', इस अन्य श्रुति से सिद्ध होता है। यहाँ 'विषयों के विज्ञान' का तात्पर्य 'सप्तप्राण' (शीर्षस्थ इन्द्रियवर्ग) के विषयों का विशिष्ट ज्ञान है। इस विशिष्ट ज्ञान को जब आत्मलाभ-आत्मदर्शन के उद्देश्य से साधक होमता है- समर्पण करता है-त्यागता है, तो इसे ही सप्तयज्ञ या सप्तहोम कहा जाता है। यह दार्शनिक पहलू हुआ। इसका व्यावहारिक पहलू सात स्थूल यज्ञ वाला है- २ प्रातः-सायं का यज्ञ, १ दर्श (अमावस्या), १ पौर्णमास, १ चातुर्मास्य, १ आग्रयण, १ सांवत्सरिक- इस प्रकार कुल सात यज्ञ हुए।

२३६. सप्तलोक— द्र०-लोक।

२३७. सप्त समिधाएँ— यज्ञ में अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए समिधाओं की आवश्यकता पड़ती है। यज्ञीय प्रयोग शास्त्रों में विशिष्ट समिधाओं का उल्लेख मिलता है, यथा- आम्र, पलाश, खदिर, उदुम्बर (गूलर) आदि। उपनिषदों में ऐसे उल्लेख प्रायः दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में ही पाये जाते हैं। मुण्डकोपनिषद् (२.१.८) में 'इन्द्रियों के विषय' के लिए 'समिधा' शब्द का प्रयोग है और इस प्रयोग का कारण बताया गया है कि 'इन्द्रिय वर्ग' अपने विषयों से ही समिद्ध-प्रदीप्त हुआ करते हैं। वस्तुतः यह प्रकरण सृष्टि प्रक्रिया के अन्तर्गत आया है, जिसमें कहा गया है कि उस (विराट्) पुरुष (ब्रह्म) से ही सात प्राण (शीर्षस्थ सात इन्द्रियाँ- २ नेत्र, २ श्रवण, २ घ्राण और १ रसना) उत्पन्न हुए हैं। उसी से सात किरणें (दीप्तियाँ), सात समिधा, सात होम और जिनमें वे संचार करते हैं, वे सात स्थान प्रकट हुए हैं- **सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः। सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त॥** आचार्य शंकर ने 'सप्त समिधः' का भाष्य करते हुए लिखा है-**सप्त समिधः सप्त विषयाः, विषयैर्हि समिध्यन्ते प्राणाः** अर्थात् सप्त समिधा-सात शीर्षस्थ इन्द्रियों-प्राणों के विषय हैं, क्योंकि इन विषयों से ही प्राण-इन्द्रिय वर्ग समिद्ध-प्रदीप्त-सक्रिय होते हैं। इस प्रकार 'सप्त समिधा' यहाँ दार्शनिक परिप्रेक्ष्य (नेत्र, श्रोत्र, घ्राण एवं रसना के विषय रूप, शब्द, गन्ध एवं रस के अर्थ) में प्रयुक्त है।

२३८. समाधि— सामान्यतः चित्त की एकाग्रता को समाधि कहते हैं। चित्तवृत्तियाँ जब विकारों से रहित विशुद्ध अवस्था को प्राप्त होती हैं, यह समाधि योग तभी लगता है। ऐसी अवस्था में चित्त विक्षेपरहित हो जाता है और लक्ष्य विशेष में समाहित और स्थिर हो जाता है। ध्यान की पराकाष्ठा को भी समाधि कहा गया है। योग के आठ अंगों में अन्तिम अंग समाधि है। इसे योग का चरम फल भी कहते हैं। इसमें साधक अपने चित्त को बाह्य जगत् से मोड़कर आत्मा में स्थित कर लेता है, ऐसी अवस्था में वह विविध शक्तियों को धारण करता है और अन्त में कैवल्य पद को प्राप्त होता है। योग दर्शन में समाधि के चार भेद बताये गये हैं- १. सम्प्रज्ञात, २. सवितर्क, ३. सविचार और ४. सानंद समाधि। हठयोग प्रदीपिका के अनुसार जैसे नमक जल में मिलने पर जल के समान हो जाता है, उसी प्रकार चित्त आत्मा के साथ मिलकर आत्मरूप हो जाता है। यह समाधि की पराकाष्ठा है- **सलिले सैन्धवं यद्वत् साम्यं भजति योगतः। तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते** (ह०प्र०४.५)। समाधि के प्रायः दो भेदों का निरूपण किया जाता है- १. सविकल्पक और २.निर्विकल्पक। जब साधक की चित्तवृत्ति अद्वितीय ब्रह्म में स्थिर हो जाती है, तब उसे कुछ काल के लिए अपने विषय में, ब्रह्म के विषय में तथा ज्ञान के विषय में बोध बना रहता है। जब तक ध्याता, ध्यान और ध्येय के विषय में पृथक् प्रतीति होती रहती है, उसे सविकल्पक समाधि कहते हैं और जब साधक समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध कर एकीभाव (अद्वैत भाव) से ध्येय में अवस्थित हो जाता है, उसे निर्विकल्पक समाधि कहते हैं। उपनिषद् के अनुसार जो 'अहं ब्रह्मास्मि' का निश्चय करके निर्विकल्प समाधि में लीन रहकर परम स्वतंत्र और यति स्वरूप होता है, वह पुरुष संन्यासी, वही मुक्त कहलाता है- **ब्रह्मैवाहमस्मीति निश्चित्य निर्विकल्पसमाधिना स्वतन्त्रो यतिश्चरति स संन्यासी स मुक्तः** (निरा०३९)।

२३९. सम्भूति —द्र०-असम्भूति।

२४०. सर्ग-प्रतिसर्ग— सर्ग का सामान्य अर्थ सृष्टि या संसार से लिया जाता है। जगत् की उत्पत्ति या मूल-उद्गम को भी सर्ग कहा गया है। इसके विपरीतार्थक रूप में जगत् के प्रलय को प्रतिसर्ग कहते हैं। पुराणों में सृष्टि और प्रलय अर्थात् सर्ग-प्रतिसर्ग का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है। महाभारत में विष्णु और शिव भगवान् के सहस्रनाम में सर्ग नाम उल्लिखित है। श्रीमद्भागवत पुराण (३.१०.१४-२६) में सर्ग का विस्तृत विवरण मिलता है। सृष्टि या कल्प के अर्थ में मनुस्मृति में भी सर्ग शब्द उपन्यस्त है-**हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते। यद्यस्य सोऽदधात् सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत्** (मनु०स्मृ०१.२९)। पुराणों के पाँच लक्षण, विषय या प्रकरण माने गये हैं- १. सर्ग (सृष्टि), २. प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का विस्तार, प्रलय और पुनः सृष्टि, ३. सृष्टि की आदि वंशावली, ४. मन्वन्तर और ५. वंशानुचरित। जगत् रचना के अन्तर्गत सृष्टि और प्रलय की सतत चलते रहने वाली परम्परा सर्ग-प्रतिसर्ग के रूप में वर्णित हुई है। उस ब्रह्म के संकोच से प्रलय तथा विकास से सृष्टि की रचना होती है- **यत्संकोच विकासाभ्यां जगत्प्रलय सृष्टयः** (महो०२.१०)।

२४१. सविता— सूर्य, आदित्य, दिवाकर को ही सविता कहा गया है। इन्हें जगत् के रचयिता, उत्पादक या स्रष्टा भी कहा गया है। वैदिक साहित्य में ये देवता रूप में प्रख्यात हैं। सूर्य के उदय होने वाले रूप को सविता कहते हैं। सविता सबके उत्पत्ति कर्त्ता होने के रूप में प्रख्यात हैं-**सवितारमाह सर्वस्य प्रसवितारम्** (निरु०८.३१)। अमरकोश में सविता के पर्याय इस प्रकार हैं-**भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तपनः सविता रविः** (अ०को०१.३.३१)। सविता द्युलोक में स्थित हैं। आदित्य ही सविता और द्युलोक सावित्री है-**आदित्य एव सविता द्यौः सावित्री** (सावि०६)। सविता को देवों के भी उत्पत्तिकर्त्ता के रूप में स्वीकार किया गया है-**सविता वै देवानां प्रसविता** (जैमि०३.१८.३)। यही प्रजा का भरण-पोषण करने से 'भर्ग' कहलाता है। शत्रुओं का नाश करने से 'सूर्य', सबको उत्पन्न करने से सविता, सबको प्रकाश देने से 'आदित्य' सबको पवित्र करने से 'पवमान' और सबका अयन (आश्रय स्थान) होने से आदित्य कहलाता है-**इमाः प्रजास्तस्माद्भरगत्वाद्भर्गः। शश्वत्सूयमानत्वात्सूर्यःसवनात्सविताऽऽदानादादित्यः पवनात्पावमानोऽथायनादादित्यः** (मैत्रा० ५.७)।

२४२. साक्षात्कार— साक्षात्कार शब्द के पर्याय ज्ञान, अनुभूति, मिलन, प्रत्यक्ष दर्शन आदि उल्लिखित हैं। आत्म साक्षात्कार अथवा ब्रह्म साक्षात्कार के दिव्य लक्ष्य को पाने के अभीप्सु साधक उपासना, यज्ञ, दान आदि कर्म में निरत रहते हैं। 'अयमात्मा ब्रह्म' 'तत्त्वमसि' आदि वेदान्त महावाक्यों का चिन्तन करते हुए अनुभूति की अवस्था से होकर साधक ब्रह्म तत्त्व का साक्षात्कार करता है। वह अनुभव करने लगता है कि मैं ही नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव अद्वयरूप ब्रह्म हूँ।

२४३. साक्षी— द्र- अन्तर्यामी।

२४४. सांख्य — छः दर्शनों में एक दर्शन सांख्य दर्शन है, जिसके रचयिता महर्षि कपिल हैं। इसमें सृष्टि की उत्पत्ति का सिद्धान्त निरूपित है। यह सृष्टि त्रिगुणात्मक (सत्त्व, रज, तम के योग से) विनिर्मित है। जगत् की उत्पत्ति का मूल यह प्रकृति ही है। पाँचों तत्त्व और ग्यारह इन्द्रियाँ- ये प्रकृति हैं। सृष्टि के चार प्रमुख विधान हैं- प्रकृति-विकृति, विकृति-प्रकृति और अनुभव। आत्मा को पुरुष कहा गया है। इसमें ईश्वर की सत्ता न मानकर पुरुष और प्रकृति दो तत्त्वों को ही प्रधान माना गया है। पुरुष जगत् से अनासक्त होते हुए भी प्रकृति के कार्यों में बँधा हुआ प्रतीत होता है, जब वह ज्ञान से इस बन्धन को दूर करके यथार्थ अनुभव प्राप्त कर लेता है, तो यही मोक्ष कहलाता है। गीता में विवेचित है कि कितने ही पुरुष ध्यान योग के द्वारा परमात्मा को अपने अन्तःकरण में देखते हैं, दूसरे सांख्य योग द्वारा और कितने ही कर्मयोग के द्वारा देखते हैं- **ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना। अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे** (गी० १३.२४)।

२४५. साम— चारों वेदों में से एक वेद जिसका सम्बन्ध गायन से है, सामवेद कहलाया। मान्यता यह है कि वेद के पद्यबद्ध मन्त्रों को जब गायन विद्या से अनुप्राणित किया गया तो "सामवेद" बन गया। इसमें पद्य मन्त्रों को गान विद्या से जोड़ने से ज्ञान और भावना का सर्वोत्कृष्ट संयोग हुआ है। सामवेद के मन्त्रों को भी साम कहा गया है। साम की महत्ता गीता में भी प्रतिपादित हुई है, जिसमें भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है- **वेदानां सामवेदोऽस्मि**। वेद है ज्ञान,

साम है गान। इसलिए ब्राह्मण ग्रन्थों में कहा गया है- **गायन्ति हि साम** (शत०ब्रा०४.४.५.६)। वाणी को साम की प्रतिष्ठा कहकर निरूपित किया गया है-**वाग्वाव साम्नः प्रतिष्ठा** (जैमि० १.३९.३)। छान्दोग्योपनिषद् में साम की पञ्चविध उपासना का निर्देश है। ये पाँच प्रकार हैं- १. हिंकार, २. प्रस्ताव, ३.उद्गीथ, ४. प्रतिहार और ५. निधन- **लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत। पृथिवी हिंकारः। अग्निः प्रस्तावः। अन्तरिक्षमुद्गीथः। आदित्यः प्रतिहारः। द्यौर्निधनम्** (छान्दो०२.२.१)।

२४६. **सालोक्य**— द्र०-पञ्चविध मुक्ति।

२४७. **सावित्री**— गायत्री की लौकिक शक्ति 'सावित्री' कहलाती है, जिसका सम्बन्ध स्थूल जगत् की शक्तियों से है। पारलौकिक शक्ति या ब्रह्मविद्या को गायत्री और वर्चस् या तेजस् को सावित्री माना गया है। आदित्य सविता है, तो प्रकाशमान द्यौ सावित्री है- **आदित्य एव सविता द्यौः सावित्री** (सावि० ६)। अग्नि सविता है, तो पृथिवी सावित्री है-**अग्निरेव सविता पृथिवी सावित्री** (सावि० १)। वरुण सविता है, तो आपः सावित्री है-**वरुण एव सविता ऽऽपः सावित्री** (सावि० २)। सावित्री को जानने वाला मृत्यु बन्धन से तर जाता है और उसी लोक को प्राप्त होता है-**यो वा एतां सावित्रीमेवं वेदाऽप पुनर्मृत्युं तरति सावित्र्या एव सलोकतां जयति** (जैमि०४.२८.६)। ब्रह्म से वायु, वायु से ओंकार, ओंकार से सावित्री, सावित्री से गायत्री और गायत्री से लोकों की उत्पत्ति होती है-**ब्रह्मणो वायुः वायोरोंकारः ॐकारात्सावित्री सावित्र्या गायत्री गायत्र्या लोका भवन्ति** (अ०शि०६)।

२४८. **सिद्धि** —द्र०-ऋद्धि।

२४९. **सुषुप्ति** —द्र०-जाग्रत्।

२५०. **सुषुम्ना नाड़ी**— उपनिषद् ज्ञान के अनुसार हृदयरूपी केन्द्र से सम्पूर्ण शरीर में नाड़ियों का जाल बिखरा हुआ है। हृदय देश में १०१ नाड़ियाँ हैं। हर नाड़ी की सौ-सौ शाखाएँ हैं और उनमें प्रत्येक की बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखाएँ हैं। इन सब नाड़ियों में व्यान वायु संचार करता है। इसे ही विज्ञानी नाड़ी संस्थान कहते हैं। हठयोग के अनुसार शरीर की तीन प्रधान नाड़ियों (इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना) में से एक सुषुम्ना नाड़ी है। नासिका के वाम भाग में इड़ा, दक्षिण भाग में पिंगला और मध्य में सुषुम्ना नाड़ी स्थित है। इसे त्रिगुणमयी अर्थात् सूर्य, चन्द्र और अग्निस्वरूपिणी माना गया है। वैद्यक के अनुसार चौदह प्रधान नाड़ियों में से एक सुषुम्ना नाड़ी है, जो नाभि के मध्य स्थित है, जिससे अन्य सब नाड़ियाँ सम्बन्धित हैं। क्षुरिकोपनिषद् में सुषुम्ना नाड़ी का वर्णन दृष्टिगोचर होता है। सुषुम्ना परम तत्त्व में लीन है और विरजा (विशुद्ध) ब्रह्मरूपिणी है। वाम नाड़ी इड़ा और दक्षिण नाड़ी पिंगला के बीच जो उत्तम स्थान है, उसे (सुषुम्ना को) जो जानता है, वह वेदविद् कहा जाता है-**सुषुम्ना तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी। इडा तिष्ठति वामेन पिङ्गला दक्षिणेन तु। तयोर्मध्ये परं स्थानं यस्तं वेद स वेदवित्** (क्षुरि०१६-१७)। ध्यानयोग से सब नाड़ियाँ छेदी जाती हैं, परन्तु एक सुषुम्ना नहीं छेदी जाती-**छिद्यन्ते ध्यानयोगेन सुषुम्नैका न छिद्यते** (क्षुरि०१८)। योग दर्शन में इस ऊर्ध्वगामिनी नाड़ी को कुण्डलिनी नाड़ी भी कहते हैं।

२५१. **सूक्ष्मद्रष्टा**— अत्यन्त छोटी-छोटी बातें समझ लेने वाला, विशिष्ट बुद्धिमान्, ऋषि, परमेश्वर, शिव आदि को सूक्ष्मद्रष्टा कहा गया है। तीव्र या बेधक दृष्टि रखने वाले, सूक्ष्म विषय को समझने वाले, कुशाग्र बुद्धि वाले सूक्ष्मद्रष्टा रूप में मान्य हैं। वह आत्मा समस्त प्राणियों में छिपा होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता, केवल सूक्ष्मदर्शियों के द्वारा अतिसूक्ष्म बेधक दृष्टि से देखा जाता है-**एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः** (कठ०१.३.१२)। वह परमात्मा सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म, हृदयगुहा के गुह्यस्थान में स्थित है और वही सम्पूर्ण विश्व की रचना करने वाला तथा अनेक रूप धारण करने वाला है-**सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्** (श्वेता०४.१४)।

२५२. **सृष्टि-अतिसृष्टि**— जगत् का आविर्भाव या संसार की उत्पत्ति को सृष्टि कहा जाता है। इस शब्द के अन्य पर्यायवाची शब्द हैं-उत्पत्ति, निर्माण, प्रकृति, उदारता, त्याग आदि। सृष्टि के आरम्भ में एक ही चेतन तत्त्व था, उसने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ और प्रजा उत्पन्न करूँ-**तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय** (छान्दो०६.२.३)। वह ब्रह्म (परमेश्वर) ही जगत् का कारण है। वह सर्वज्ञ और सर्वविद् ईश्वर जिसका तप ज्ञानमय है, उसी से हिरण्यगर्भ ब्रह्मा, नाम, रूप और अन्न आदि उत्पन्न होते हैं- **यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं**

च जायते (मुण्ड०१.१.९)। उपनिषद् का कथन है कि जिससे ये सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसके सहारे जीवित रहते हैं और अन्त में जिसमें विलीन हो जाते हैं, वह ब्रह्म है-**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति** (तैत्ति०३.१.१)। वह ब्रह्म जगत् की रचना कर उसमें अनुप्रविष्ट हो गया-**तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्** (तैत्ति०२.६.१)। कुछ विद्वानों का मत है कि भगवान् ने अपनी योगमाया से सृष्टि की रचना की। कुछ इसे जड़-चेतन के संयोग या पुरुष-प्रकृति के संयोग से उद्भूत मानते हैं। उत्कृष्ट सृष्टि या उत्कृष्ट रचना को अतिसृष्टि कहा गया है।

२५३. **सोऽहं**— जीव और ब्रह्म की एकता या अभेदता को प्रदर्शित करने वाले अनेक वाक्य वेदान्त शास्त्र में दृष्टिगोचर होते हैं। जीव अज्ञान भाव से ग्रसित होकर अपने को ब्रह्म से पृथक् समझने लगता है। **सोऽहं, शिवोऽहं, तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि** प्रभृति वाक्यों के उपदेश वेदान्त शिक्षा में मिलते हैं। ये भाव अनुभूति के स्तर पर आने से ही इनसे अज्ञान तिमिर का नाश होता है। सोऽहं साधना से साधक को '**जीवो ब्रह्मैव नापरः**' तथ्य का बोध हो जाता है। वह चैतन्य ईश्वर 'सोऽहं' स्वरूप में एक होने पर भी शरीरों की भिन्नता के कारण वह 'जीव' बहुविध बन जाता है- **सोऽहमेकोऽपि देहारम्भक भेदवशाद्बहुजीवः** (निरा०५)। यह देह ही देवालय है, उसमें जीव केवल शिव ही है। जब मनुष्य का अज्ञानरूप निर्माल्य दूर हो जाता है, तब 'सोऽहं' भाव से उसको पूजना चाहिए- **देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः। त्यजेदज्ञान निर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत्** (स्क०१०)।

२५४. **स्तोम**— स्तोम शब्द के पर्यायवाची शब्द हैं-स्तुति, गुणगान, यज्ञ, समूह, राशि। वैदिक संहिताओं में प्रायः देवों के प्रति स्तोम ही संगृहीत हैं। साम गान के अन्तर्गत स्तुतिपरक छन्दों को स्तोम कहा गया है। इस तथ्य की पुष्टि निम्न प्रतिपादन से होती है-**यद्ऋचि तद्वेत्थाऽ इति स्तोमो वा एष तस्य साम्नो यद्वयं सामोपास्महे इति** (जैमि०१.४३.६)। स्तोम को प्रतिहार और छन्द को निधनरूप माना गया है-**ऋचः प्रस्तावं सामान्युद्गीथं स्तोमं प्रतिहारं छन्दो निधनम्** (जैमि०१.१३.३)।

२५५. **स्थितता**— अपने ही हृदय की दिव्य भावनाओं में सन्तुष्ट एवं शान्त बने रहने वाले साधक की स्थिति को 'स्थितता' कहा जा सकता है। ऐसा साधक किसी भी भौतिक लिप्सा-लालसा से दूर रहता है और किसी भी बाह्य सुख की अपेक्षा नहीं करता। उपनिषद् में जनक-याज्ञवल्क्य संवाद में राजा जनक पूछते हैं-हे याज्ञवल्क्य! स्थितता क्या है? हे सम्राट्! हृदय ही स्थितता है-ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा (बृह०४.१.७)। स्थिर प्रज्ञा या बुद्धि वाले साधकों को गीता में स्थितप्रज्ञ या स्थितधी कहकर निरूपित किया गया है। गीता के अनुसार जब साधक मन में स्थित कामनाओं को त्याग देता है, तब आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट हुआ वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है-**प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञः तदोच्यते** (गी०२.५५)।

२५६. **स्वधा**— द्र०-स्वाहा।

२५७. **स्वप्न**— निद्रावस्था में कुछ मूर्तियों, चित्रों, व्यक्तियों और विचारों आदि का सम्बद्ध या असम्बद्ध शृंखला का मन में आना या कोई घटना आदि दिखाई देना स्वप्न कहलाता है। ऋग्वेद तथा अन्य संहिताओं में स्वप्न का उल्लेख हुआ है। ऋ०२.५८.१० में दुःस्वप्न का वर्णन है। ब्रह्मवैवर्त पुराण (अ० ७७) में शुभाशुभ स्वप्नफल का विस्तृत वर्णन है। रात्रि में स्वप्नावस्था में पितृराज मनुष्यों में प्रविष्ट होते हैं-**अश्मसु सोमो राजा निशायां पितृराजः स्वप्ने मनुष्यान् प्रविशसि पयसा पशून्** (जैमि०४.५.२)। जाग्रत् अवस्था और उसके अधिष्ठाता की स्थिति नेत्र के भीतर है। स्वप्न और उसके अधिष्ठाता तैजस का कण्ठ में समावेश है। सुषुप्ति और उसके अधिष्ठाता प्राज्ञ हृदय में स्थित हैं और तुरीय परमात्मा मूर्धा (मस्तिष्क) में स्थित हैं- **नेत्रस्थं जागरितं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं समाविशेत्। सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्धि संस्थितम्** (ना०प०५.२५)। जैसे स्वच्छ दर्पण में वस्तु स्पष्ट दीखती है, वैसे शुद्ध अन्तःकरण में परमात्मा के दर्शन होते हैं। जैसे स्वप्न में वस्तु अस्पष्ट दीखती है, वैसे ही पितृलोक में परमात्मा - **यथाऽऽदर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके** (कठ०२.३.५)।

२५८. **स्वयम्भू-परिभू**— स्वयम्भू का शाब्दिक अर्थ है, जो स्वयं उत्पन्न हुआ हो-ब्रह्मा,विष्णु,शिव,बुद्ध,कामदेव आदि देवों को स्वयम्भू कहा गया है। यह शब्द ईश्वर के विशेषण रूप में प्रयुक्त होता है। इसी रूप में 'परिभू' शब्द भी है, जिसका अर्थ है-जो चारों ओर से आच्छादित किये हो। प्रथम मनु को भी स्वयम्भू या स्वयम्भुव कहा गया है।

२५९. **स्वर्ग्य अग्नि**— स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाली अग्निविद्या को कठोपनिषद् में स्वर्ग्य अग्नि कहा गया है। यह अग्नि-विद्या यमराज ने नचिकेता को प्रदान की। नचिकेता ने दूसरे वर के रूप में यही माँगा था-**स त्वमग्निः स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वः श्रद्दधानाय मह्यम्** (१.१.१३)। यमराज ने इस स्वर्ग्य अग्नि को नाचिकेताग्नि नाम प्रदान किया। इसका तीन बार अनुष्ठान करने वाला ऋक्, यजु, साम तीनों से सम्बन्ध जोड़कर यज्ञ, दान, तप रूप त्रिकर्म करने वाला मनुष्य जन्म-मृत्यु से तर जाता है-**त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य संधिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू** (कठ०१.१.१७)।

२६०. **स्वस्ति**— स्वस्ति शब्द के पर्याय कुशल-क्षेम, शुभकामना, कल्याण, आशीर्वाद आदि हैं। वैदिक संहिताओं में कई सूक्त माङ्गलिक पाठ या स्वस्ति पाठ के हैं, इन्हें स्वस्तिवाचन कहते हैं। सोम देवता से कल्याण करने की प्रार्थना की गई है-**सोमः स्वस्त्या** (तै०ब्रा०१.४.८.६)। ब्राह्मण से भी कल्याण की कामना की जाती है-**नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मे** (कठ०१.१.९)। उपनिषद् का निर्देश है कि परमात्मा का ओम् अक्षर के द्वारा स्मरण करो। अज्ञानमय अन्धकार से परे भवसागर के पार होने के लिए तुम्हारा कल्याण हो-**ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्** (मुण्ड०२.२.६)। संन्यासी सब जीवों का कल्याण हो, इस भाव से परमात्मा का अनन्य स्मरण करते हुए विचरण करे-**स्वस्ति सर्वजीवेभ्य इत्युक्त्वाऽऽत्मानमनन्यं ध्यायन्** (क०रु०४)।

२६१. **स्वाहा-स्वधा**— स्वाहा का शाब्दिक अर्थ 'स्व+आ+हा' अपना सम्यक् रूप से त्याग या विसर्जन है। यज्ञ में याजक स्वाहा शब्द के उच्चारण के साथ आहुतियाँ देते हैं, हव्य पदार्थ विसर्जित करते हैं, इसे स्वाहाकार कहते हैं। पितरों को श्रद्धापूर्वक भोज्य पदार्थ पिंड या जल अर्पित करते समय स्वधा शब्द का उच्चारण करते हैं, इसे स्वधाकार कहते हैं। निरुक्तकार यास्क ने स्वाहा शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ इस प्रकार दिये हैं-**स्वाहेत्येतत्सु आहेति वा, स्वाहुतं हविर्जुहोति** ('स्वाहा' इस शब्द का सु=सुन्दर, आह=कथन तथा स्व=स्वत्व=आ=भली प्रकार, हा= समर्पण अर्थात् आहुति के रूप में सम्यक् समर्पण) (नि०८.२०)। पितर स्वधारूपी अन्न से ही आयु (जीवन) पाते हैं-**स्वधो वै पितृणामन्नम्** (शत०ब्रा० १३.८.१.४), **पितर आयुष्मन्तस्ते स्वधयायुष्मन्तः** (तै०सं०२.३.१०.४), **स्वधां पितृभ्यः (आगायानि)** (छान्दो० २.२२.२)। उपनिषद् में वाणी को धेनुरूप मानकर उसके चार स्तन स्वाहाकार, वषट्कार, हन्तकार और स्वधाकार उपन्यस्त हैं- **वाचं धेनुमुपासीत। तस्याश्चत्वारः स्तनाः-स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारः। तस्या द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति, स्वाहाकारं च वषट्कारञ्च। हन्तकारं मनुष्याः। स्वधाकारं पितरः** (बृह० ५.८.१)। पुराणों में स्वाहा और स्वधा को अग्निदेव की दो पत्नियाँ माना गया है। देवों तक आहुति पहुँचाने का कार्य 'स्वाहा' तथा पितरों तक 'स्वधा' करती हैं- ऐसी प्रसिद्धि है।

२६२. **हंस-परमहंस**— हंस झीलों में रहने वाला एक जल पक्षी है। मान्यता है कि यह दूध में से पानी अलग कर देता है। ब्रह्म, आत्मा तथा प्रकाश स्वरूप जीवात्मा को भी हंस कहकर निरूपित किया गया है। अपने परम आराध्य या इष्ट,महात्मा,गुरु को भी आदर भाव से परमहंस कहा जाता है। इसे अध्यात्म तथा साहित्य क्षेत्र में नीर-क्षीर विवेक का प्रतीक माना गया है। सबके जीवन आधार और सबके आश्रयरूप विस्तृत ब्रह्मचक्र (व्यवस्था) में हंस रूप जीवात्मा भ्रमण करता रहता है-**सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे** (श्वेता० १.६)। वह हंस रूप परमात्मा ज्योतिर्मय परमधाम में रहने वाला है-**हंसः शुचिषद्** (कठ० २.२.२)। उपनिषद् में परमात्मतत्त्व ही हंस के रूप में वर्णित है-जो इस हृदय में स्थित अनाहत ध्वनियुक्त प्रकाशयुक्त चिदानन्द हंस को जानता है, वह हंस ही कहा जाता है-**अनाहतध्वनियुतं हंसं यो वेद हृद्गतम्। स्वप्रकाशचिदानन्दं स हंस इति गीयते** (ब्र०बि० २०-२१)। आदित्य को भी हंस कहा गया है-**एष (आदित्यः) वै हंसः शुचिषद्** (ऐत० ब्रा०४.२०)। संन्यासियों की चार श्रेणियाँ मानी गई हैं-कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। हंस शब्द का आशय है-सद् और असद् के विवेक की शक्ति से परिपूर्ण आत्मा। जिस आत्मा का परम विकास हो गया हो, उसे परमहंस कहा गया है।

२६३. **हन्तकार**— द्र० **वषट्कार**।

२६४. **हय**— द्र०-**अश्व**।

२६५. **हर्ष-शोक**— प्रिय या इष्ट वस्तु या व्यक्ति से उत्पन्न होने वाला सुखात्मक भाव हर्ष कहलाता है। इसका पर्याय आनंद, प्रसन्नता, रोमांच, कामोत्तेजना आदि है। इसके विपरीत अर्थ में 'शोक' शब्द का प्रयोग होता है। साधक साधना पथ से परमात्मा के निकट बढ़ने पर हर्ष को और उससे दूर होने पर शोक को प्राप्त होता है। उस परमात्मा को विवेकवान् पुरुष अध्यात्म योग के द्वारा समझकर हर्षशोक को त्याग देता है- **अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं**

मत्वाधीरो हर्षशोकौ जहाति (कठ० १.२.१२)। किसी इष्ट वस्तु अथवा प्रिय व्यक्ति के वियोग अथवा मृत्यु से उत्पन्न भारी मानसिक व्यथा अथवा विषादजन्य स्थिति को शोक कहा जाता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं, जीवात्मा बार-बार जन्मने और मरने वाला है, सो उसका शोक करना उचित नहीं-**अथ चैनं नित्यजातं, नित्यं वा मन्यसे मृतम्। तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि** (गी० २.२६)।

२६६. **हिरण्यगर्भ**— ऐसी मान्यता है कि इस सृष्टि में सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ (स्वर्णिम या ज्योतिर्मय अण्ड या गर्भ) रूप प्रजापति ब्रह्मा उत्पन्न हुए, उन्हीं से समस्त सृष्टि का विस्तार हुआ। कहीं-कहीं हिरण्यगर्भ शब्द भगवान् विष्णु और आत्मा के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। सृष्टि संरचना की परिकल्पना करते हुए परमात्मा की एक शक्ति की कल्पना की गयी। सृजन करने वाली इस शक्ति को पुरुष, विश्वकर्मा, हिरण्यगर्भ, प्रजापति और ब्रह्मा आदि की संज्ञाएँ दी गयीं। भागवत पुराण में वर्णन मिलता है कि सृष्टि के आदि में भगवान् नारायण की प्रेरणा से ब्रह्माण्ड स्वर्ण जैसा प्रकाशमान गोलाकार अण्ड रूप में प्रकट हुआ था। उसके ऊर्ध्व और अधः दो भाग हो गये । उसी के बीच से ब्रह्मा जी प्रकट हुए। सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि करने वाले, प्राणियों के ईश्वर रूप में यह मान्यता है-**एष हि खल्वात्मेशानः शम्भुर्भुवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृग्धिरण्यगर्भः** (मैत्रा० ५.८)। उस विराट् परमेश्वर ने सबसे पहले हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया था-**हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु** (श्वेता० ३.४)।

२६७. **हुत-प्रहुत**— हवनीय द्रव्य को हवि, हविष्य या हुत कहते हैं। हवनादि कृत्य के लिए प्रयुक्त खाद्यान्न तिल, चावल, जौ आदि तथा घृत ये हुत के पर्याय हैं। यह यज्ञीय पदार्थ देवों का अन्न या देवान्न कहलाता है। देवों के लिए ही भोज्य पदार्थ या बलि अर्पित करना प्रहुत कहलाता है। उपनिषद् का कथन है कि परमात्मा ने दो अन्न देवों को बाँटे-वे हुत और प्रहुत हैं, इसलिए लोग देवों के लिए आहुति और बलि अर्पित करते हैं- **द्वे (अन्ने) देवानभाजयदिति। हुतं च प्रहुतं च। तस्माद् देवेभ्यो जुह्वति च प्र च जुह्वति** (बृह० १.५.२)।

२६८. **हृदय गुहा**— प्रत्येक जीव या मनुष्य की हृदय गुहा में परम पुरुष परमात्मा का निवास है, ऐसी प्रसिद्धि है। प्रजापति आदि सम्पूर्ण देवताओं का निवास हृदय में माना गया है- **एष प्रजापतिर्यद्धृदयम्। एतद्ब्रह्म** (बृह० ५.३.१), **हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः** (अ०शि०४३)। देवी अदिति प्राणों के सहित हृदय गुहा में प्रवेश करके वहीं रहती है- **या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी। गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत** (कठ० २.१.७)। वह परमात्मा अन्नमय स्थूल शरीर में हृदयगुहा के आश्रय में प्रतिष्ठित है- **प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय** (मुण्ड०२.२.७), **एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा** (श्वेता० ६.११)। वास्तविक धर्म का-ज्ञान का तत्त्व हृदय गुहा में स्थित माना जाता है- **धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्** (महा०वनपर्व ३१३.११७)।

२६९. **हृदय ग्रन्थि**— हृदय ग्रन्थि का सामान्य अर्थ है- हृदय की गाँठ। द्वेष, कपट, कुटिलता के अर्थ में यह लिया जाता है। सम्मोह या अविद्या से उत्पन्न होने वाले आन्तरिक विकार जो गाँठों की तरह न सुलझने वाले होते हैं और अन्तर् में पीड़ा देते रहते हैं, ये हृदय ग्रन्थियाँ कहे जाते हैं। विषय-विकारों, वासनाओं, इच्छाओं, तृष्णाओं को बन्धनरूप माना गया है, सो इन्हें भी हृदय ग्रन्थियों के रूप में माना जाता है। कठोपनिषद् का कथन है कि जब हृदय की सब ग्रन्थियाँ भली-भाँति खुल जाती हैं, तब मनुष्य अमरत्व को प्राप्त करता है-**यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम्** (कठ० २.३.१५)। मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि जब परम तत्त्व (परब्रह्म) का साक्षात्कार हो जाता है, तो हृदयग्रन्थि खुल जाती है और सारे भ्रम-सन्देह दूर हो जाते हैं। समस्त प्रारब्ध कर्म क्षीण हो जाते हैं और अन्ततः वह (जीवात्मा) मुक्त हो जाता है-**भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे** (मुण्ड० २.२.८)।

२७०. **होता**— यज्ञ कर्त्ता या यज्ञ कराने वाले पुरोहित को होता कहा गया है। यज्ञ में मन्त्रोच्चारण करने वाला ऋत्विक् 'होता' रूप में मान्य है। यज्ञ में प्रमुख चार ऋत्विकों में एक 'होता' है- ब्रह्मा, अध्वर्यु, होता और उद्गाता-इन चारों ऋत्विकों के तीन-तीन सहयोगी मिलाने से कुल सोलह ऋत्विक् बड़े यज्ञों में होते थे। होता के तीन सहयोगी मैत्रावरुण, अच्छावाक् और ग्रावस्तुत् कहलाते हैं। अग्निदेव यज्ञ सम्पन्न करते हैं, सो उन्हें भी होता कहकर निरूपित किया गया है- **अग्निरेव होताऽऽसीत्** (जै०ब्रा० ३.३७४)। अमरकोश (२.७.१७) के अनुसार ऋग्वेदवेत्ता 'होता' कहा जाता है। यज्ञ में यह ऋग्वेद के मंत्रों का पाठ करता है तथा देवों की स्तुति और आवाहन करता है।

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ॐअस्य श्री महावाक्य०	शु०र० २०	अत्र यजमान: ..... वसव:	छान्दो० २.२४.६
ॐ अकारो दक्षिण:	ना०बि० १	अत्रैते श्लोका	मैत्रा० ४ (क)
अकर्मेति च .....यत्तदकर्म	निरा० १२	अत्रैष देव:स्वप्ने	प्रश्न० ४.५
अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा	बृह० ६.३.३	अत्स्यन्नं ..... पादौ	छान्दो० ५.१७.२
अग्निरेव सविता	गाय० ३.२	अत्स्यन्नं ..... प्राणस्त्वेष	छान्दो० ५.१४.२
अग्निर्मूर्धा चक्षुषी	मुण्ड० २.१.४	अत्स्यन्नं .... बस्तिस्त्वेष	छान्दो० ५.१६.२
अग्निर्यत्राभिमथ्यते	श्वेता० २.६	अत्स्यन्नं ..... मूर्धा त्वेष	छान्दो० ५.१२.२
अग्निर्यथैको	कठ० २.२.९	अत्स्यन्नं .... संदेहस्त्वेष	छान्दो० ५.१५.२
अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं	ऐत० १.२.४	अथ कबन्धी कात्यायन	प्रश्न० १.३
अग्निर्हिङ्कारो वायु:	छान्दो० २.२०.१	अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषा...	बृह० १.६.३
अग्रिष्टे पादं वक्तेति	छान्दो० ४.६.१	अथ किमेतैर्वा .... गन्धर्वा...	मैत्रा० १.६
अग्ने नय सुपथा	ईश० १८	अथ किमेतैर्वा .... महाधनुर्धरा..	मैत्रा० १.५
अग्राह्यमिति.... ग्राह्यत्	निरा० ३८	अथ किमेतैर्वा शोषणम्	मैत्रा० १.७
अघोषमव्यञ्जनमस्वरम्	अमृ० २५	अथ खलु..... असौ	छान्दो० १.५.१
अङ्गहीनानि वाक्यानि	शु०र० १६	अथ खलु व्यानमेवोद्गीथम्	छान्दो० १.३.३
अङ्गुष्ठमात्र:	श्वेता० ३.१३	अथ खलु.... होतृ....	छान्दो० १.५.५
अङ्गुष्ठमात्र:.... ज्योति:	कठ० २.१.१३	अथ खलूद्गीथाक्षराणि	छान्दो० १.३.६
अङ्गुष्ठमात्र: पुरुषो	कठ० २.३.१७	अथ खल्वमुमादित्यः	छान्दो० २.९.१
अङ्गुष्ठमात्र:..... मध्य	कठ० २.१.१२	अथ खल्वात्मसंमितम्	छान्दो० २.१०.१
अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूप:	श्वेता० ५.८	अथ खल्वाशी:	छान्दो० १.३.८
अच्युतोऽस्मि महादेव	स्कन्द० १	अथ खल्वियम्	मैत्रा० २.३
अजात इत्येवम्	श्वेता० ४.२१	अथ खल्वेतयर्चा पच्छ	छान्दो० ५.२.७
अजामेकां लोहित.....	श्वेता० ४.५	अथ चक्षुरत्यवहत्तद्यदा	बृह० १.३.१४
अजा हिङ्कारोऽवय:	छान्दो० २.१८.१	अथ जुहोति नम:	छान्दो० २.२४.१४
अजीर्यतामृतानामुपेत्य	कठ० १.१.२८	अथ जुहोति नमोऽग्नये	छान्दो० २.२४.५
अज्ञानजन बोधार्थं	ना०बि० २९	अथ जुहोति नमो वायवे	छान्दो० २.२४.९
अज्ञानं चेति	ना०बि० २६	अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य	छान्दो० ३.११.१
अज्ञानमिति .... ज्ञानमज्ञानम्	निरा० १४	अथ तथा मुद्गलोपनिषदि	मुद्ग० २.१
अणिमाद्यष्टैश्च .... बन्ध:	निरा० २१	अथ त्रयो वाव लोका:	बृह० १.५.१६
अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा	श्वेता०३.२०	अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ	छान्दो० ५.२.६
अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य	कठ०१.२.२०	अथ भगवान्शाकायन्य:	मैत्रा० २.१
अत: समुद्रा गिरयश्च	मुण्ड० २.१.९	अथ मनोऽत्यवहत्तद्यदा	बृह० १.३.१६
अतीन्द्रियं गुणातीतं	ना०बि० १८	अथ महावाक्यानि	शु०र० २२
अतो यान्यन्यानि	छान्दो० १.३.५	अथ य आत्मा स सेतु	छान्दो० ८.४.१
अत्र पिताऽपिता भवति	बृह० ४.३.२२	अथ य इच्छेत्पुत्रो मे कपिल:	बृह० ६.४.१५
अत्र यजमान: .... रुद्रा	छान्दो० २.२४.१०	अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो	बृह० ६.४.१८

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अथ य इच्छेत्पुत्रो मे श्यामो	बृह० ६.४.१६
अथ य इच्छेद्दुहिता मे	बृह० ६.४.१७
अथ य इमे ग्रामे	छान्दो० ५.१०.३
अथ य एतदेवम्	छान्दो० ५.२४.२
अथ य एतदेवं विद्वान्	छान्दो० १.७. ७
अथ य एष सम्प्रसादो०	छान्दो० ८.३.४
अथ य एषोऽन्तरक्षिणि	छान्दो० १.७.५
अथ य एषो बाह्या	मैत्रा० २.२
अथ य एषोऽन्तरे	मैत्रा० ५.२
अथ यच्चतुर्थममृतम्	छान्दो० ३.९.१
अथ यत्तदजायत	छान्दो० ३.१९.३
अथ यत्तपो दानम्	छान्दो० ३.१७.४
अथ यत्तृतीयममृतम्	छान्दो० ३.८.१
अथ यत्पञ्चममृतम्	छान्दो० ३.१०.१
अथ यत्प्रथमास्तमिते	छान्दो० २.९.८
अथ यत्प्रथमोदिते	छान्दो० २.९.३
अथ यत्रैतत्पुरुष:	छान्दो० ६.८.५
अथ यत्रैतदबलिमानम्	छान्दो० ८.६.४
अथ यत्रैदस्माच्छरीराद्	छान्दो० ८.६.५
अथ यत्रैतदाकाशम्	छान्दो० ८.१२.४
अथ यत्रोपाकृते	छान्दो० ४.१६.४
अथ यत्सङ्गववेलाया	छान्दो० २.९.४
अथ यत्सत्रायणमित्याचक्षते	छान्दो० ८.५.२
अथ यत्सम्प्रति मध्यन्दिने	छान्दो० २.९.५
अथ यथेयं कौत्सायनी	मैत्रा० ४.४ (ठ)
अथ यदत: परो	छान्दो० ३.१३.७
अथ यदनाशकायनमित्या	छान्दो० ८.५.३
अथ यदवोच ९	छान्दो० ३.१५.७
अथ यदवोचं भुव:	छान्दो० ३.१५.६
अथ यदवोचं भू:	छान्दो० ३.१५.५
अथ यदश्राति	छान्दो० ३.१७.२
अथ यदा सुषुप्तो भवति	बृह०२.१.१९
अथ यदास्य वाङ्	छान्दो० ६.१५.२
अथ यदि गन्धमाल्य	छान्दो० ८.२.६
अथ यदि गीतवादित्र	छान्दो० ८.२.८
अथ यदि तस्या:कर्ता	छान्दो० ६.१६.२
अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे	छान्दो० ८.१.१
अथ यदि द्विमात्रेण	प्रश्न० ५.४
अथ यदि महज्जिगमिषेद्	छान्दो० ५.२.४
अथ यदि भ्रातृलोक कामो	छान्दो० ८.२.३
अथ यदि मातृलोक	छान्दो० ८.२.२
अथ यदि यजुष्टो	छान्दो० ४.१७.५

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अथ यदि सखिलोक	छान्दो० ८.२.५
अथ यदि सामतो	छान्दो० ४.१७.६
अथ यदि स्त्रीलोक कामो	छान्दो० ८.२.९
अथ यदि स्वसृलोक कामो	छान्दो० ८.२.४
अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं	छान्दो० ४.१५.५
अथ यदूर्ध्वं मध्यम्	छान्दो० २.९.६
अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्	छान्दो०२.९.७
अथ यदेतदक्ष्ण: शुक्लम्	छान्दो० १.७.४
अथ यदेतदादित्यस्य	छान्दो० १.६.५
अथ यदेवैतदादित्यस्य	छान्दो० १.६.६
अथ यद्द्वितीयममृतं	छान्दो० ३.७.१
अथ यद्धसति	छान्दो० ३.१७.३
अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते	छान्दो० ८.५.१
अथ यद्यन्नपानलोक कामो	छान्दो० ८.२.७
अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्त०	छान्दो० ७.१५.३
अथ यद्युदक आत्मानम्	बृह० ६.४.६
अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत	छान्दो० २.२२.४
अथ यस्य जायामार्तवम्	बृह० ६.४.१३
अथ यस्य जायायै	बृह० ६.४.१२
अथ य..... हृत्पुष्कर	मैत्रा० ५.२
अथ या एता हृदयस्य	छान्दो० ८.६.१
अथ यां चतुर्थीम्	छान्दो० ५.२२.१
अथ यां तृतीयाम्	छान्दो० ५.२१.१
अथ यां द्वितीयाम्	छान्दो० ५.२०.१
अथ यानि चतुश्चत्वारि	छान्दो० ३.१६.३
अथ यान्यष्टाचत्वारि	छान्दो० ३.१६.५
अथ यां पञ्चमीम्	छान्दो० ५.२३.१
अथ यामिच्छेद्दधीतेति	बृह० ६.४.११
अथ यामिच्छेन्न गर्भंदधीत	बृह० ६.४.१०
अथ ये चास्येह	छान्दो० ८.३.२
अथ ये यज्ञेन दानेन	बृह० ६.२.१६
अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मय	छान्दो० ३.२.१
अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो	छान्दो० ३.३.१
अथ येऽस्योदञ्चो	छान्दो० ३.४.१
अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता	छान्दो० ३.५.१
अथ योऽयमूर्ध्वा	मैत्रा० २.७
यो वेदेदं मन्वानीति	छान्दो० ८.१२.५
अथ योऽस्य दक्षिण:	छान्दो० ३.१३.२
अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषि:	छान्दो० ३.१३.३
अथ योऽस्योदङ् सुषि:	छान्दो० ३.१३.४
अथ योऽस्योर्ध्व:	छान्दो० ३.१३.५
अथ रहस्योपनिषद्....	शु०र० ३०

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अथ रूपाणां चक्षुः	बृह० १.६.२
अथर्वणे यां प्रवदेत	मुण्ड० १.१.२
अथ वꣳशः । पौतिभाषी	बृह० ६.५.१
अथ वꣳशः पौतिमाष्यात्	बृह० ४.६.१
अथ वꣳशः पौतिमाष्यो	बृह०२.६.१
अथ वायुमब्रुवन्	केन०३.७
अथ श्रोत्रमत्यवहत्तद्यदा	बृह० १.३.१५
अथ सप्तविधस्य वाचि	छान्दो० २.८.१
अथ ह चक्षुरुद्गीथम्	छान्दो० १.२.४
अथ ह चक्षुरूचुस्त्वम्	बृह० १.३.४
अथ ह प्राण उच्चिक्रमिष	छान्दो० ५.१.१२
अथ ह प्राणं उत्क्रमि-	बृह० ६.१.१३
अथ ह प्राणमत्यवहत्	बृह० १.३.१३
अथ ह प्राणमूचुस्त्वं न	बृह० १.३.३
अथ ह प्राणा अहꣳ श्रेयसि	छान्दो० ५.१.६
अथ ह मन उद्गीथम्	छान्दो० १.२.६
अथ ह मन ऊचुस्त्वम्	बृह० १.३.६
अथ ह य एतानेवम्	छान्दो० ५.१०.१०
अथ ह य एवायं मुख्यः	छान्दो० १.२.६
अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे	बृह० ४.५.१
अथ ह वाचक्नव्युवाच	बृह० ३.८.१
अथ ह वाचमुद्गीथम्	छान्दो० १.२.३
अथ ह शौनकं च	छान्दो० ४.३.५
अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वम्	बृह० १.३.५
अथ ह श्रोत्रमुद्गीथम्	छान्दो० १.२.५
अथ ह हꣳसा निशायाम्	छान्दो० ४.१.२
अथ हाग्नयः समूदिरे	छान्दो० ४.१०.४
अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव	छान्दो० ८.९.१
अथ हेममासन्यम्	बृह० १.३.७
अथ हैनं कहोलः	बृह० ३.५.१
अथ हैनं कौसल्यः	प्रश्न० ३.१
अथ हैनं गार्गी वाच०	बृह० ३.६.१
अथ हैनं गार्हपत्यो०	छान्दो० ४.११.१
अथ हैनं जारत्कारव	बृह० ३.२.१
अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद	छान्दो० १.११.८
अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद	छान्दो० १.११.४
अथ हैनं भार्गवो	प्रश्न० २.१
अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः	बृह० ३.३.१
अथ हैनं मनुष्या ऊचुः	बृह० ५.२.२
अथ हैनमन्वाहार्यपचनो	छान्दो० ४.१२.१
अथ हैनमसुरा ऊचुः	बृह० ५.२.३
अथ हैनमाहवनीयः	छान्दो० ४.१३.१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अथ हैनमुद्गातोपससाद	छान्दो० १.११.६
अथ हैनमुद्दालक आरुणिः	बृह० ३.७.१
अथ हैनमुषस्तश्चाक्रा०	बृह० ३.४.१
अथ हैनमूषभोऽभ्युवाद	छान्दो० ४.५.१
अथ हैनं यजमान उवाच	छान्दो० १.११.१
अथ हैनं वागुवाच	छान्दो० ५.१.१३
अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः	बृह० ३.९.१
अथ हैनं शैब्यः	प्रश्न० ५.१
अथ हैनं श्रोत्रमुवाच	छान्दो० ५.१.१४
अथ हैनं सुकेशा	प्रश्न० ६.१
अथ हैनं सौर्यायणी	प्रश्न० ४.१
अथ होवाच जनꣳ शार्क	छान्दो० ५.१५.१
अथ होवाच बुडिलमाश्व	छान्दो० ५.१६.१
अथ होवाच ब्राह्मणाः	बृह० ३.९.२७
अथ होवाच सत्ययज्ञम्	छान्दो० ५.१३.१
अथ होवाचेन्द्र द्युम्नम्	छान्दो० ५.१४.१
अथ होवाचोद्दालकम्	छान्दो० ५.१७.१
अथात आत्मादेश एवा	छान्दो० ७.२५.२
अथातः पवमानानामे०	बृह० १.३.२८
अथातः शौव उद्गीथः	छान्दो० १.१२.१
अथातः सम्प्रत्तिर्यदा	बृह० १.५.१७
अथातो रहस्योपनिषदम्	शु०र० १
अथातो व्रतमीमा ꣳ सा	बृह० १.५.२१
अथात्मनेऽन्नाद्यमागा०	बृह० १.३.१७
अथादित्य उदयन्	प्रश्न० १.६
अथाधिदैवतं ज्वालिष्यामि	बृह० १.५.२२
अथाधिदैवतं य एवासौ	छान्दो० १.३.१
अथाध्यात्मं अधरा	तैत्ति० १.३.४
अथाध्यात्मं प्राणो वाव	छान्दो० ४.३.३
अथाध्यात्ममिदमेव मूर्तम्	बृह० २.३.४
अथाध्यात्मं य एवायम्	छान्दो० १.५.३
अथाध्यात्मं यदेतद्	केन० ४.५
अथाध्यात्मं वागेवर्क्प्राणः	छान्दो० १.७.१
अथानु किमनुशिष्टः	छान्दो० ५.३.४
अथानेनैव ये चैतस्मात्	छान्दो० १.७.८
अथान्यत्राप्युक्तं-अथखलु	मैत्रा० ५.४
अथान्यत्राप्युक्तं - महानदी-	मैत्रा० ४.२
अथान्यत्राप्युक्तं - यः कर्ता	मैत्रा० ३.३
अथान्यत्राप्युक्तं - शरीरमिदं	मैत्रा० ३.४
अथान्यत्राप्युक्तं - संमोहो	मैत्रा० ३.५
अथान्यत्राप्युक्तं - स्वनवत्येषा०	मैत्रा० ५.५
अथाभिप्रातरेव स्थाली	बृह० ६.४.१९

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अथामूर्तं प्राणश्च यश्च	बृह० २.३.५
अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षम्	बृह० २.३.३
अथावृत्तेषु द्यौर्हिङ्कारः	छान्दो० २.२.२
अथाव्यात्तम् वा	मैत्रा० ५.६
अथास्य दक्षिणं कर्णम०	बृह० ६.४.२५
अथास्य नाम करोति	बृह० ६.४.२६
अथास्य मातरमभिम.	बृह० ६.४.२८
अथास्या ऊरू विहापयति	बृह० ६.४.२१
अथेत्यभ्यमन्थत्स मुखाच्च	बृह० १.४.६
अथेन्द्रमब्रुवन्	केन० ३.११
अथैकयोर्ध्व उदानः	प्रश्न० ३.७
अथैतद्वामेऽक्षणि	बृह० ४.२.३
अथैतयोः पथोर्न कतरेण	छान्दो० ५.१०.८
अथैतस्य प्राणस्यापः	बृह० १.५.१३
अथैतस्य मनसो द्यौः	बृह० १.५.१२
अथैनमग्रये	बृह० ६.२.१४
अथैनमभिमृशति	बृह० ६.३.४
अथैनमाचामति	बृह० ६.३.६
अथैनं मात्रे प्रदाय	बृह० ६.४.२७
अथैनमुद्यच्छत्याम	बृह० ६.३.५
अथैनामभिपद्यते	बृह० ६.४.२०
अथैनं वसत्योपमन्त्रया.	बृह० ६.२.३
अथैष श्लोको भवति	बृह० १.५.२३
अथो अयं वा आत्मा	बृह० १.४.१६
अथोताप्याहुः	छान्दो० २.१.३
अथोपांशुरन्तर्यामि	मैत्रा० २.८
अथोत्तरेण	प्रश्न० १.१०
अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च	बृह० १.५.२०
अधिष्ठाने तथा	ना०बि० २८
अधीहि भगव इति	छान्दो० ७.१.१
अध्यस्तस्य कुतो	ना०बि० २५
अनन्दानाम ते लोका	बृह० ४.४.११
अनात्मदृष्टेरविवेक-	शु०र० ३९
अनाद्यनन्तम्	श्वेता० ५.१३
अनिरुक्तस्त्रयोदशः	छान्दो० १.१३.३
अनुपश्य यथा	कठ० १.१.६
अनुवजन्नाजुहाव	शु०र० ५१
अनेजदेकं मनसो	ईश० ४
अनेन विधिना	अमृ० २९
अन्तरङ्ग समुद्रस्य	ना०बि० ४६
अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः	छान्दो० १.६.२
अन्तरिक्षोदरः कोशो	छान्दो० ३.१५.१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अन्ते तु किंकिणी वंश	ना०बि० ३५
अन्तेवास्युत्तररूपम्	तैत्ति० १.३.३
अन्धं तमः प्रविशन्ति	बृह० ४.४.१०
अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्याम्	ईश० ९
अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये सम्भूतिम्	ईश० १२
अन्धवत्पश्य रूपाणि	अमृ० १५
अन्नकार्याणां कोशानां	सर्व० ५
अन्नं न निन्द्यात्	तैत्ति० ३.७.१
अन्नं न परिचक्षीत	तैत्ति० ३.८.१
अन्नं ब्रह्मेति	तैत्ति० ३.२.१
अन्नं ब्रह्मेत्येक आहु.	बृह० ५.१२.१
अन्नं बहु कुर्वीत	तैत्ति० ३.९.१
अन्नमय प्राणमय०	मुद्ग० ४.५
अन्नमयꣳ हि सोम्य	छान्दो० ६.५.४
अन्नमयꣳ हि सोम्य मनः	छान्दो० ६.६.५
अन्नमशितं त्रेधा विधीयते	छान्दो० ६.५.१
अन्नमिति होवाच	छान्दो० १.११.९
अन्नं वाव बलाद् भूयस्त-	छान्दो० ७.९.१
अन्नं वै प्रजापतिः	प्रश्न० १.१४
अन्नाद्वै प्रजाः	तैत्ति० २.२.१
अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव	कठ० १.२.१
अन्यतरामेव वर्तनी	छान्दो० ४.१६.३
अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्माद्	कठ० १.२.१४
अन्यदेवाहुः	ईश० १३
अन्यदेवाहुर्विद्यया	ईश० १०
अन्यविद्यापरिज्ञानमवश्यं	शु०र० ४४
अपां का गतिरित्यसौ	छान्दो० १.८.५
अपाणिपादो जवनो	श्वेता० ३.१९
अपाने तृप्यति वाक्तृप्यति	छान्दो० ५.२१.२
अपामपोऽग्निः	मैत्रा० ४.४(ञ)
अपाꣳ सोम्य पीयमानानाम्	छान्दो० ६.६.३
अप्राणो ह्यमनाः	सर्व० १७
अब्भ्रमेव सविता	गाय० ३.८
अभिमन्थति स हिङ्कारा	छान्दो० २.१२.१
अभेददर्शनं ज्ञानम्	स्कन्द० ११
अभ्यस्यमानो नादोऽयम्	ना०बि० ३२
अभ्रं भूत्वा मेधो भवति	छान्दो० ५.१०.६
अभ्राणि संप्लवन्ते	छान्दो० २.१५.१
अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः	माण्डू० १२
अमृतत्वं देवेभ्यः	छान्दो० २.२२.२
अयं चन्द्रः सर्वेषाम्	बृह० २.५.७
अयं धर्मः सर्वेषां भूतानाम्	बृह० २.५.११

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अयमग्निर्वैश्वानरो	बृह० ५.९.१	अस्तीत्येवोपलब्ध-	कठ० २.३.१३
अयमग्निः सर्वेषां भूतानाम्	बृह० २.५.३	अस्य यदेकाः शाखाम्	छान्दो० ६.११.२
अयमाकाशः सर्वेषाम्	बृह० २.५.१०	अस्य लोकस्य का	छान्दो० १.९.१
अयमात्मा सर्वेषां भूतानाम्	बृह० २.५.१४	अस्य विस्रंसमानस्य	कठ० २.२.४
अयमादित्यः सर्वेषाम्	बृह० २.५.५	अस्य सोम्य महतो	छान्दो० ६.११.१
अयं वाव खल्वस्य	मैत्रा० ४.३	अहमन्नमहमन्नम-	तैत्ति०३.१०.६
अयं वाव लोको	छान्दो० १.१३.१	अहरेव सविता	गाय० ३.६
अयं वाव स .....पुरुष	छान्दो० ३.१२.८	अहर्वा अश्वं पुरस्तात्	बृह० १.१.२
अयं वाव स .....हृदय	छान्दो० ३.१२.९	अहल्लिकेति होवाच	बृह० ३.९.२५
अयं वायुः सर्वेषाम्	बृह० २.५.४	अहं वृक्षस्य रेरिवा	तैत्ति०१.१०.१
अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम	बृह० ६.२.११	अहोरात्रो वै प्रजापतिः	प्रश्न० १.१३
अयः स्तनयित्नुः सर्वेषाम्	बृह० २.५.९	आकाश एव यस्याय	बृह०३.९.१३
अरण्योर्निहितो	कठ० २.१.८	आकाशो वाव तेजसो	छान्दो० ७.१२.१
अरा इव रथनाभौ कला	प्रश्न० ६.६	आकाशो वै नाम	छान्दो० ८.१४.१
अरा इव रथनाभौ प्राणे	प्रश्न० २.६	आगमस्याविरोधेन	अमृ० १७
अरा इव स्थनाभौ संहता	मुण्ड० २.२.६	आगाता ह वै कामानां	छान्दो०१.२.१४
अरिष्टं कोशम्	छान्दो० ३.१५.३	आग्नि वेश्यादाग्निवेश्यो	बृह०४.६.२
अविद्यायां बहुधा	मुण्ड० १.२.९	आग्निवेश्यादाग्निवेश्यः	बृह० २.६.२
अविद्यायामन्तरे	मुण्ड० १.२.८	आज्ञाभय....बन्धः	निरा० २५
अविद्यायामन्तरे	कठ० १.२.५	आत्मन एष प्राणो	प्रश्न० ३.३
अव्यक्तात्	कठ० २.३.८	आत्मानं चेद्विजानीयाद०	बृह०४.४.१२
अविः संनिहितम्	मुण्ड० २.२.१	आत्मानमन्तत उपसृत्य	छान्दो० १.३.१२
अशक्यः सोऽन्यथा	मन्त्रि० ३	आत्मानं रथिनं	कठ० १.३.३
अशनापिपासे मे सोम्य	छान्दो० ६.८.३	आत्मानं सततं	ना० बि० २१
अशनायापिपासा.	मुद्ग० ४.७	आत्मा वा इदमेक	ऐत० १.१.१
अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं	कठ० १.३.१५	आत्मेश्वर जीवः	सर्व० २
अशरीर ःशरीरेषु	कठ० १.२.२२	आत्मैवेदमग्र आसीत्	बृह० १.४.१
अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्	छान्दो० ८.१२.२	आत्मैवेदमग्र आसीदेक	बृह० १.४.१७
अशीतिश्च शतम्	अमृ० ३४	आत्रेयी पुत्रादात्रेयीपुत्रो	बृह० ६.५.२
अष्टपादं शुचिम्	मंत्रि० १	आदित्यस्य रेतसः	छान्दो० ३.१७.७
असद्वा इदमग्र	तैत्ति० २.७.१	आदित्य इति होवाच	छान्दो० १.११.७
असन्नेव स भवति	तैत्ति० २.६.१	आदित्य ऊकारो	छान्दो० १.१३.२
असिपद महामन्त्रस्य	शु०र० २७	आदित्य एव सविता	गाय० ३.४
असूर्या नाम ते	ईश० ३	आदित्यमथ वैश्वदेवम्	छान्दो० २.२४.१३
असौ वा आदित्यो	छान्दो० ३.१.१	आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः	छान्दो० ३.१९.१
असौ वाव लोको	छान्दो० ५.४.१	आदित्यो ह वै प्राणः	प्रश्न० १.५
असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम	बृह० ६.२.९	आदित्यो ह वै बाह्यः	प्रश्न० ३.८
अस्तमित आदित्ये....चन्द्रः	बृह० ४.३.४	आदिरिति द्व्यक्षरम्	छान्दो० २.१०.२
अस्तमित आदित्ये याज्ञ-	बृह० ४.३.३	आदिः स संयोग-	श्वेता० ६.५
अस्तमित आदित्ये....शान्ते-	बृह० ४.३.६	आदौ जलधिजीमूतभेरी	ना० बि० ३४
अस्तमित आदित्ये....शान्ते	बृह० ४.३.५	आनन्दो ब्रह्मेति	तैत्ति० ३.६.१
अस्ति खल्वन्योऽपरो	मैत्रा०३.२	आप एव ... हृदयम	बृह० ३.९.१६

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
आप एवेदमग्र आसुस्ता	बृह० ५.५.१
आप: पीतास्त्रेधा विधीयन्ते	छान्दो० ६.५.२
आपयिता ह वै कामानाम्	छान्दो० १.१.७
आपो वा अर्कस्तद्यदपाꣳ	बृह० १.२.२
आपो वावान्नाद्भूयस्य:	छान्दो० ७.१०.१
आप्नोतिहादित्यस्य	छान्दो० २.१०.६
आ मा यन्तु ब्रह्मचारिण:	तैत्ति० १.४.२
आरभ्य कर्माणि	श्वेता० ६.४
आराममस्य पश्यन्ति	बृह० ४.३.१४
आवि: संनिहितं	मुण्ड० २.२.१
आशा प्रतीक्षे	कठ० १.१.८
आशा वाव स्मरादभूयस्या०	छान्दो० ७.१४.१
आसीनो दूरं	कठ० १.२.२१
आसुरमिति.... आसुरम्	निरा० ३४
इति तु पञ्चम्यामाहुतावाप:	छान्दो० ५.९.१
इदं निरालम्बोप. ....इत्युपनिषत्	निरा० ४०
इदं मानुषꣳ सर्वेषाम्	बृह० २.५.१३
इदमिति ह प्रतिजज्ञे	छान्दो० ४.१४.३
इदं वाव तज्ज्येष्ठाय	छान्दो० ३.११.५
इदं वै तन्मधु... तद्वाम	बृह० २.५.१६
इदं वै तन्मधु- दधीचे.	बृह० २.५.१७
इदं वै तन्मधु... द्रूप	बृह० २.५.१९
इदं वै तन्मधु.. पुरश्चक्रे	बृह० २.५.१८
इदं सत्यꣳ सर्वेषाम	बृह० २.५.१२
इन्द्रस्त्वं प्राण	प्रश्न० २.९
इन्द्रियाणां पृथग्भाव०	कठ० २.३.६
इन्द्रियाणि हयानाहु:	कठ० १.३.४
इन्द्रियेभ्य: परं	कठ० २.३.७
इन्द्रियेभ्य: परा:	कठ० १.३.१०
इन्धो ह वै नामैष	बृह० ४.२.२
इमा आप: सर्वेषाम्	बृह० २.५.२
इमा दिश: सर्वेषाम्	बृह० २.५.६
इमामेव गोतमभरद्वाजा.	बृह० २.२.४
इमा: सोम्य नद्य:	छान्दो० ६.१०.१
इयं पृथिवी सर्वेषाम्	बृह० २.५.१
इयमेवर्गग्नि:	छान्दो० १.६.१
इयं विद्युत्सर्वेषां भूतानाम्	बृह० २.५.८
इष्टापूर्तं मन्यमाना	मुण्ड०१.२.१०
इह चेदवेदीदथ	केन० २.५
इह चेदशकद्बोद्धुं	कठ० २.३.४
इहैव सन्तोऽथ विद्म.	बृह० ४.४.१४
ईशावास्यमिदम्	ईश० १

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ईश्वर उवाच एवमुक्त्वा	शु०र० ४६
ईश्वर उवाच- मयोपदिष्टे	शुक० ६
उक्थं प्राणो वा उक्थम्	बृह० ५.१३.१
उत्क्षिप्य वायुमाकाशम्	अमृत० १२
उत्तिष्ठत जाग्रत	कठ० १.३.१४
उत्पत्तिमायतिं स्थानं	प्रश्न० ३.१२
उत्पन्ने तत्त्वविज्ञाने	ना० विन्दु० २२
उदशराव आत्मानमेवेक्ष्य	छान्दो० ८.८.१
उदाने तृप्यति त्वक्तृप्यति	छान्दो० ५.२३.२
उदासीनस्ततो	ना० बिन्दु० ४०
उद्गीतमेतत्परमम्	श्वेता० १.७
उद्गीथ इति त्र्यक्षरम्	छान्दो० २.१०.३
उद्गृह्णाति तन्निधनं	छान्दो० २.३.२
उद्दालको हाऽऽरुणि:	छान्दो० ६.८.१
उद्यन्हिङ्कार उदित:	छान्दो० २.१४.१
उपकोसलो ह वै	छान्दो० ४.१०.१
उपदिष्टं परम्ब्रह्म	शु० र० १२
उपदिष्ट: शिवेनेति	शु० र० ४९
उपनिषदं भो	केन० ४.७
उपमन्त्रयते स हिङ्कारो	छान्दो० २.१३.१
उपास्य इति... गुरुरुपास्य:	निरा० ३०
उशन् ह वै	कठ० १.१.१
उषा वा अश्वस्यमेध्यस्य	बृह० १.१.१
उष्णमेव सविता	गाय० ३.७
ऊर्ध्वं प्राणमुन्न०	कठ० २.२.३
ऊर्ध्वमूलोऽ वाक् शाख	कठ० २.३.१
ऋग्भिरेतं यजुर्भि:	प्रश्न० ५.७
ऋग्वेदो गार्हपत्यम्	प्रणव० ४
ऋचो अक्षरे परमे	श्वेता० ४.८
ऋचो यजूंषि प्रसवन्ति	एका० ७
ऋचो यजूꣳषि सामा.	बृह० ५.१४.२
ऋतं च स्वाध्याय प्रवचने	तैत्ति० १.९.१
ऋतं पिबन्तौ	कठ० १.३.१
ऋतुषु पञ्चविध	छान्दो०२.५.१
एक धैवानुद्रष्टव्यमेतदप्र०	बृह० ४.४.२०
एकमात्रस्तथाकाशो	अमृ० ३२
एकमेवाद्वितीयम्	शुक०र० ३५
एकविꣳशत्यादित्यम्	छान्दो० १.१०.५
एकाक्षरं त्वक्षरे	एका० १
एकीभवति न पश्यती०	बृह० ४.४.२
एकैकं जालं बहुधा	श्वेता० ५.३
एको देव: सर्वभूतेषु	श्वेता० ६.११

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
एको देवो बहुधा	मुद्ग० ३.१	एवमेषां लोकानामासाम्	छान्दो० ४.१७.८
एको वशी	कठ० २.२.१२	एवं यथाश्मानमाखणकमृत्वा	छान्दो० १.२.८
एको वशी निष्क्रियाणाम्	श्वेता० ६.१२	एवं महावाक्या	शु० र० ३०
एको ह ः सो भुवन.	श्वेता० ६.१५	एवः सोम्य ते षोडशानाम्	छान्दो० ६.७.६
एको हि रुद्रो	श्वेता० ३.२	एष उ एव बृहस्पति.	बृह० १.३.२०
एतच्छ्रुत्वा	कठ० १.२.१३	एष उ एव ब्रह्मणस्पति.	बृह० १.३.२१
एतज्ज्ञेयम्	श्वेता० १.१२	एष उ एव भामनीरेष हि	छान्दो० ४.१५.४
एतत्तुल्यं	कठ० १.१.२४	एष उ एव वामनीरेष हि	छान्दो० ४.१५.३
एतदालम्बन ः	कठ० १.२.१७	एष उ एव साम वाग्वै	बृह० १.३.२२
एतद्ध वै तज्जनको	बृह० ५.१४.८	एष उ वा उद्गीथः	बृह० १.३.२३
एतद्धस्म वै तद्विद्वानु.	बृह० ६.४.४	एष तु वा अतिवदति	छान्दो० ७.१६.१
एतद्धस्म वै तद्विद्वानाह	छान्दो० ३.१६.७	एष तेऽग्निर्नचिकेत	कठ० १.१.१९
एतद्धस्म वैतद्विद्वाꣳसः	छान्दो० ६.४.५	एष देवो विश्वकर्मा	श्वेता० ४.१७
एतद्ध स्मैत.	गाय० ३.१३	एष प्रजापतिर्यद्ध.	बृह० ५.३.१
एतद्ध स्मैतद्	गाय०१.१	एष ब्रह्मैष इन्द्र	ऐत० ३.१.३
एतद्धयेवाक्षरं	कठ० १.२.१६	एष म आत्मान्तर्हृदये	छान्दो० ३.१४.३
एतद्योगेन परम पुरुषो	मुद्ग० ४.९	एष वै यजमानस्य	छान्दो० २.२४.१५
एतद्वस्तुचतुष्टयं	सर्व० १३	एष सर्वेश्वर एष	माण्डू० ६
एतद्वै परमं तपो	बृह० ५.११.१	एष सर्वेषु भूतेषु	कठ० १.३.१२
एतमु एवाहमभ्य... प्राणा	छान्दो० १.५.४	एष ह वा उदक्प्रवणो	छान्दो० ४.१७.९
एतमु एवाहमभ्य...रश्मी	छान्दो० १.५.२	एष ह वै यज्ञो योऽयम्	छान्दो० ४.१६.१
एतमु हैव चूलो	बृह० ६.३.१०	एष हि खल्वात्मेशानः	मैत्रा० ५.८
एतमु हैव जानकिराय	बृह० ६.३.११	एष हि द्रष्टा	प्रश्न० ४.९
एतमु हैव मधुकः	बृह० ६.३.९	एषां भूतानां पृथिवी रसः	छान्दो० १.१.२
एतमु हैव वाजसनेयो	बृह० ६.३.८	एषां वै भूतानां	बृह० ६.४.१
एतमु हैव सत्यकामो	बृह० ६.३.१२	एषामज्ञानजन्तूनां	निरा० २
एतमृग्वेदमभ्यतपः स्तस्याभि०	छान्दो० ३.१.३	एषोऽग्निस्तपत्येष	प्रश्न० २.५
एतः संयद्वाम इत्याचक्षत	छान्दो० ४.१५.२	एषोऽणुरात्मा चेतसा	मुण्ड० ३.१.९
एतस्माज्जायते	मुण्ड० २.१.३	एषो ह देवः प्रदिशो	श्वेता० २.१६
एतस्य वा अक्षरस्य	बृह० ३.८.९	एह्येहीति तमाहुतय	मुण्ड० १.२.६
एतेन जीवात्मनोर्योगेन	मुद्ग० २.६	ओङ्कारथमारुह्य	अमृ० २
एतेनैव च मन्त्रेण	मुद्ग० १.४	ओ३मदा३मो	छान्दो० १.१२.५
एतेषां मे देहीति	छान्दो० १.१०.३	ओमिति ब्रह्म	तैत्तिरीय० १.८.१
एतेषु यश्चरते	मुण्ड० १.२.५	ओमित्येकाक्षरम्	प्रण० २
एवं बद्धस्तथा जीवः	स्कन्द० ७	ओमित्येकाक्षरम् ब्रह्म	अमृ० २१
एवमेव खलु सोम्य.	छान्दो० ६.६.२	ओमित्येतदक्षरमिदं	माण्डू० १
एवमेव खलु सोम्येमाः	छान्दो० ६.१०.२	ओमित्येतदक्षरमुद्गीथम्	छान्दो० १.१.१
एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच	छान्दो० १.१०.११	ओममित्येतदक्षर.....ह्युद्गायति	छान्दो० १.४.१
एवमेवैष मघवन्निति	छान्दो० ८.९.३	औपमन्यव कं त्वमात्म.	छान्दो० ५.१२.१
एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं	छान्दो० ८.११.३	कं ते काममागायानी नीत्येष	छान्दो० १.७.९
एवमेवैष सम्प्रसादो.	छान्दो० ८.१२.३	कतम आत्मेति योऽयम्	बृह० ४.३.७
एवमेवोद्गातारमुवाच.	छान्दो० १.१०.१०	कतम आदित्या इति	बृह० ३.९.५

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
कतम इन्द्रः कतमः	बृह० ३.९.६
कतमा कतमर्क्कतमत्	छान्दो० १.१.४
कतमे ते त्रयो देवा	बृह० ३.९.८
कतमे रुद्रा इति	बृह० ३.९.४
कतमे वसव इत्यग्निश्च	बृह० ३.९.३
कतमे षडित्यग्निश्च	बृह० ३.९.७
कथं बन्धः कथं मोक्षः	सर्व० १
कर्तृत्वाद्य... बन्धः	निरा० २०
कर्मेति च.... कर्म	निरा० ११
कल्पन्ते हास्मा ऋतव	छान्दो० २.५.२
कल्पन्ते हास्मै	छान्दो० २.२.३
कस्मिन्नु त्वं चात्मा	बृह० ३.९.२६
कांस्य घण्टानिनादः	प्रण० १२
काम एव यस्यायतन	बृह० ३.९.११
काम क्रोध लोभमय	मैत्रा० १.३
काम क्रोध लोभमोह	मुद्ग० ४.४
कामस्यातिं	कठ० १.२.११
कामान् यः कामयते	मुण्ड० ३.२.२
कार्योपोधिरयम्	शु०र० ४२
कालत्रयेऽपि	ना०बि० ८
कालः प्राणश्च	मन्त्रि० १२
कालः स्वभावो	श्वेता० १.२
काली कराली च	मुण्ड० १.२.४
काष्ठवज्ज्ञायते देह	ना०बि० ५३
का साम्रो गतिरिति	छान्दो० १.८.४
किं देवतोऽस्यां दक्षिणायाम्	बृह० ३.९.२१
किं देवतोऽस्यां ध्रुवायाम्	बृह० ३.९.२४
किं देवतोऽस्यां प्रतीच्याम्.	बृह० ३.९.२२
किं देवतोऽस्यां प्राच्याम्	बृह० ३.९.२०
किं ब्रह्म... ब्रह्मेति	निरा० ३
किं देवतोऽस्यामुदीच्यां	बृह० ३.९.२३
किल्विषं हि क्षयम्	अमृ० ९
कुतस्तु खलु	छान्दो० ६.२.२
कुर्वन्नेवेह कर्माणि	ईश० २
कुलगोत्र जातिवर्णाश्रम०	मुद्ग० ४.८
कूटस्थोपहित भेदानां	सर्व० ११
कृतकृत्यः	शु०र० १०
केनेषितं पतति	केन० १.१
केवलमोक्ष... बन्धः	निरा० २७
कोऽयमात्मेति	ऐत० ३.१.१
क्व तर्हि यजमानस्य	छान्दो० २.२४.२
क्षत्रं प्राणो वै क्षत्रम्	बृह० ५.१३.४

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
क्षरं प्रधानममृताक्षरम्	श्वेता० १.१०
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं	मन्त्रि० १९
गताः कलाः पञ्चदश	मुंड० ३.२.७
गायत्री वा इदꣳसर्वम्	छान्दो० ३.१२.१
गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता	श्वेता० ५.७
गुरुरप्येवंविच्छुचौ	मुद्ग० ४.१२
गो अश्वमिह महिमेत्याकचक्षते	छान्दो० ७.२४.२
गौरनाद्यन्तवती सा	मन्त्रि० ५
ग्राह्यमिति.... ग्राह्यम्	निरा० ३७
घनमुत्सृज्य वा	ना०बि० ३७
घृतकौशिकाद् घृतकौशिकः	बृह० २.६.३, ४.६.३
घृतात्परं मण्डमिवा.	श्वेता० ४.१६
घोषिणी प्रथमा मात्रा	ना०बि० ९
चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः	छान्दो० ३.१८.५
चक्षुरेवर्गात्मा	छान्दो० १.७.२
चक्षुर्वै ग्रहः	बृह० ३.२.५
चक्षुर्होच्चक्राम	बृह० ६.१.९
चक्षुर्होच्चक्राम	छान्दो० ५.१.९
चतुरौदुम्बरो भवत्यौदु.	बृह० ६.३.१३
चतुर्णामपि वेदानाम्	शु०र० १७
चतुर्भिः पश्यते	अमृ० ३०
चतुर्मुखेन्द्र देवेषु	शु०र० ३२
चतुर्विंशति संख्यातं	मन्त्रि० १५
चन्द्रमा एव सविता	गाय० ३.५
चिज्जडानां तु यो	स्क० ४
चित्तमेव हि संसारः	मैत्रा० ४.४ (ग)
चित्तं वाव सङ्कल्पाद्भूयो	छान्दो० ७.५.१
चित्तस्य हि प्रसादेन	मैत्रा० ४.४ (घ)
छन्दांसि यज्ञाः	श्वेता० ४.९
जनकꣳह वैदेहं याज्ञ.	बृह० ४.३.१
जनको ह वैदेह आसां च	बृह० ४.१.१
जनको ह वैदेहः कूर्चा.	बृह० ४.२.१
जनको ह वैदेहो बहु.	बृह० ३.१.१
जनोलोकस्तु	ना०बि० ४
जागरित स्थानो बहिः	माण्डू० ३
जागरित स्थानो वैश्वा.	माण्डू० ९
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्तः	ना०बि० ५५
जातिरिति... प्रकल्पिता	निरा० १०
जातेऽग्निमुपसमाद्यायाङ्ग	बृह० ६.४.२४
जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः	छान्दो० ४.१.१
जानाम्यहꣳ	कठ० १.२.१०
जिह्वा वै ग्रहः	बृह० ३.२.४

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
जीव इति च ब्रह्म०	निरा० ५	तत्रापरा ऋग्वेदो.	मुण्ड० १.१.५
जीवः शिवः शिवो	स्क० ६	तत्रोद्गातृनास्तावे.	छान्दो० १.१०.८
जीवापेतं वाव किलेदम्	छान्दो० ६.११.३	तत्सवितुर्वरेण्यमित्यसौ	मैत्रा० ५.७
ज्ञाज्ञौ द्वाव जावीशनीशावजा	श्वेता० १.९	तत् स्त्रिया आत्मभूयं	ऐत० २.१.२
ज्ञातृज्ञानज्ञेय	सर्व० ९	तथामुष्मिँल्लोके	छान्दो० १.९.४
ज्ञात्वा देवम्	श्वेता० १.११	तथेति ह समुपविविशुः	छान्दो० १.८.२
ज्ञानमिति ... ज्ञानम्	निरा० १३	तदपानेनाजिघृक्षत्	ऐत० १.३.१०
ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय	बृह० ६.३.२	तदभिमृशेदनु वा	बृह० ६.४.५
तं चेदेतस्मिन्वयसि..आदित्या	छान्दो० ३.१६.६	तदभ्यद्रवत्... अग्निर्वा	केन० ३.४
तं चेदेतस्मिन्वयसि... रुद्रा	छान्दो० ३.१६.४	तदभ्यद्रवत्... वायुर्वा	केन० ३.८
तं चेदेतस्मिन्वयसि... वसव	छान्दो० ३.१६.२	तदाहुर्यदयमेक इवैव	बृह० ३.९.९
तं चेद्ब्रूयुरस्मिँश्चेदिदम्	छान्दो० ८.१.४	तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया	बृह० १.४.९
तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्	छान्दो० ८.१.२	तदुक्तमृषिणा	ऐत० २.१.५
तं जायोवाच तस्मो	छान्दो० ४.१०.२	तदुताप्याहुः साम्नैनमुपा.	छान्दो० २.१.२
तं जायोवाच हन्त	छान्दो० १.१०.७	तदु ह जानश्रुतिः	छान्दो० ४.१.५
तं दुर्दर्शं	कठ० १.२.१२	तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः	छान्दो० ४.२.१
तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद	छान्दो० ४.८.२	तदुह शौनकः कापेयः	छान्दो० ४.३.७
तं यज्ञमिति	मुद्ग० १.७	तदेजति तन्नैजति	ईश० ५
तं यज्ञायथोपासते	मुद्ग० ३.३	तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म	छान्दो० ३.१८.२
तं षड्विंशक इत्येते	मन्त्रि० १४	तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो	बृह० १.४.८
तं ह स्मैतमेवम्	गा० ८.१	तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु	मुण्ड० १.२.१
त इमे सत्याः कामा	छान्दो० ८.३.१	तदेतत् सत्यमृषिरङ्गिराः	मुण्ड० ३.२.११
त इह व्याघ्रो वा सिꣳ हो	छान्दो० ६.९.३	तदेतत्सत्यं यथा	मुण्ड० २.१.१
त एतदेव रूपमभि-	छान्दो० ३.६.२,७.२, ८.२,९.२,१०.२	तदेतत्सृष्टं	ऐत० १.३.३
		तदेतदिति मन्यन्ते	कठ० २.२.१४
तच्चक्षुषाजिघृक्षत्	ऐत० १.३.५	तदेतदृचाऽभ्युक्तम्	मुण्ड० ३.२.१०
तच्छ्रोत्रेनाजिघृक्षत्	ऐत० १.३.९	तदेतदृचाभ्युक्तं.....एष	बृह० ४.४.२३
तच्छ्रुत्वा व्यासवचनं	शु०र० ९	तदेतद्ब्रह्म क्षत्रं विट्	बृह० १.४.१५
तच्छ्रुत्वा सकलाकारं	शु०र० ५२	तदेतन्मिथुनमोमित्	छान्दो० १.१.६
तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्	ऐत० १.३.६	तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वा.	बृह० २.३.२
ततः परतरं शुद्धं	ना०बि० १७	तदेते श्लोका... अणुः पन्था	बृह० ४.४.८
ततः परं ब्रह्मापरम्	श्वेता० ३.७	तदेते... स्वप्नेन	बृह० ४.३.११
ततो ब्रह्मोपदिष्टम्	शु०र० ४७	तदेवाग्निस्तदादित्य.	श्वेता० ४.२
ततो यदुत्तरतरम्	श्वेता० ३.१०	तदेष... तदेव सक्तः सह	बृह० ४.४.६
ततो विलीनपाशोऽसौ	ना०बि० २०	तदेष... यदा सर्वे	बृह० ४.४.७
तत्कर्म कृत्वा	श्वेता० ६.३	तदेष श्लोकः यदा	छान्दो० ५.२.९
तत्तु जन्मान्तर	ना०बि० २४	तदेष श्लोकः । यानि	छान्दो० २.२१.३
तत्पदमहामन्त्रस्य	शु०र० २३	तदेष श्लोकः शतम्	छान्दो० ८.६.६
तत्त्वचाजिघृक्षत्	ऐत० १.३.७	तदेष श्लोको न पश्यो	छान्दो० ७.२६.२
तत्प्राणेनाजिघृक्षत्	ऐत० १.३.४	तदेष श्लोको भवति	बृह० २.२.३
तत्र देवास्त्रयः	प्रण० ३	तदैक्षत बहु स्याम्	छान्दो० ६.२.३
तत्र यत्प्रकाशते	सर्व० ८	तद्ध तद्वनं नाम	केन० ४.६

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकिता.	बृह० १.३.२४
तद्धि मौद्गल्य	गाय० १.२
तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्	बृह० १.४.७
तद्धैतत्सत्यकामो	छान्दो० ५.२.३
तद्धैतद्घोर आङ्गिरसः	छान्दो० ३.१७.६
तद्धैतद्ब्रह्मा... आचार्य	छान्दो० ८.१५.१
तद्धैतद्ब्रह्मा... ज्येष्ठाय	छान्दो० ३.११.४
तद्धैषां विजज्ञो	केन० ३.२
तद्धोभये देवासुरा	छान्दो० ८.७.२
तद्ब्रह्म तापत्रयातीतम्	मुद्ग० ४.१
तद्य इत्थं विदुः ये चेमे.	छान्दो० ५.१०.१
तद्य इह रमणीयचरणा	छान्दो० ५.१०.७
तद्य एवैतं ब्रह्मलोकम्	छान्दो० ८.४.३
तद्य एवैतावरं च	छान्दो० ८.५.४
तद्यत्तत्सत्यमसौ	बृह० ५.५.२
तद्यत्प्रथममृतम्	छान्दो० ३.६.१
तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः	छान्दो० ८.११.१
तद्यत्रैतत्सुप्तः	छान्दो० ८.६.३
तद्यथा तृणजलायुका	बृह० ४.४.३
तद्यथाऽनः सुसमाहित	बृह० ४.३.३५
तद्यथा पेशस्कारी पेशसो	बृह० ४.४.४
तद्यथा महापथ आतत	छान्दो० ८.६.२
तद्यथा महामत्स्य उभे	बृह० ४.३.१८
तद्यथा राजानं प्रयि०	बृह० ४.३.३८
तद्यथा राजानमायन्त०	बृह० ४.३.३७
तद्यथा लवणेन	छान्दो० ४.१७.७
तद्यथास्मिन्नाकाशे	बृह० ४.३.१९
तद्यथेषीकातूलमग्नौ	छान्दो० ५.२४.३
तद्यथेह कर्मजितो लोकः	छान्दो० ८.१.६
तद्यद्भक्तं प्रथमम०	छान्दो० ५.१९.१
तद्यद्ध्वक्तो रिष्येद् भूः	छान्दो० ४.१७.४
तद्यद्रजतꣳसेयं पृथिवी	छान्दो० ३.१९.२
तद्युक्तस्तन्मयो	ना० बि० १९
तद्ये ह वै	प्रश्न० १.१५
तद्वत्सत्यमविज्ञाय	ना०बि० २७
तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा	बृह० ४.३.२१
तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं	बृह० ३.८.११
तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं	छान्दो० १.१.८
तद्विप्रासो विपन्यवो	स्क० १५
तद्विष्णोः परमं पदम्	स्क० १४
तद्वेदगुह्योपनिषत्सु	श्वेता० ५.६
तद्वै तदेतदेव तदास	बृह० ५.४.१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
तद्व्यक्षरत्तदादित्यम्	छान्दो० ३.१.४
तद्व्यक्षरत्तदादित्य..कृष्णꣳ	छान्दो० ३.३.३
तद्व्यक्षरत्तदादित्यम्.. परं	छान्दो० ३.४.३
तद्व्यक्षरत्तदादित्य.. मध्ये	छान्दो० ३.५.३
तद्व्यक्षरत्तदादित्य..शुक्लꣳ	छान्दो० ३.२.३
तन्नम इत्युपासीत	तैत्ति० ३.१०.४
तन्मनसाजिघृक्षत्	ऐत० १.३.८
तप इति च... तपः	निरा० ३५
तपः प्रभावाद्देवप्रसादाच्च	श्वेता० ६.२१
तपः श्रद्धे ये	मुण्ड० १.२.११
तपसा चीयते ब्रह्म	मुण्ड० १.१.८
तम एव यस्यायतन	बृह० ३.९.१४
तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम	छान्दो० ४.६.२
तमब्रवीत्प्रीयमाणो	कठ० १.१.१६
तमभ्यतपत्तस्य	ऐत० १.१.४
तमशना पिपासे	ऐत० १.२.५
तमाजुहाव तमभ्युवाचा	गाय० १.४
तमीश्वराणां परमम्	श्वेता० ६.७
तमुपसङ्हृ	गाय० २.८
तमु ह परः प्रत्युवाच	छान्दो० ४.१.३
तमु ह परः प्रत्युवाचाह	छान्दो० ४.२.३
तमेकनेमिं त्रिवृत्तं	श्वेता० १.४
तमेतमग्निरित्यध्वर्यव	मुद्ग० ३.२
तमेताः सप्ताक्षितय	बृह० २.२.२
तमेव धीरो विज्ञाय	बृह० ४.४.२१
तमो वा इदमेकमास	मैत्रा० ४.५
तयोरन्यतरां मनसा	छान्दो० ४.१६.२
तस्मा आदित्याश्च	छान्दो० २.२४.१६
तस्मा उ ह ददुस्ते	छान्दो० ४.३.८
तस्मा एतत् प्रोवाच	गा० २.७
तस्माच्च देवा	मुण्ड० २.१.७
तस्मादग्निः समिधो	मुण्ड० २.१.५
तस्मादप्यद्येहाददान.	छान्दो० ८.८.५
तस्मादाहुः सोष्य.	छान्दो० ३.१७.५
तस्मादिति च मन्त्रेण	मुद्ग० १.८
तस्मादिदन्द्रो	ऐत० १.३.१४
तस्मादु हैवं विद्यद्यपि	छान्दो० ५.२४.४
तस्मादृचः साम	मुण्ड० २.१.६
तस्मादेतत्पुरुषम्.	मुद्ग० ४.११
तस्माद्वा इन्द्रो	केन० ४.३
तस्माद्वा एतꣳ सेतुम्	छान्दो० ८.४.२
तस्माद्वा एते	केन० ४.२

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
तस्माद्विराडित्यनया	मुद्ग० १.५	तस्यै तपोदमः	केन० ४.८
तस्मिञ्छुक्लमुतनीलमाहुः	बृह० ४.४.९	तस्यै वाचः पृथिवी	बृह० १.५.११
तस्मिन्निमानि सर्वाणि	छान्दो० २.९.२	तस्यैष आदेशो	केन० ४.४
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ... अन्नं	छान्दो० ५.७.२	तꣳह कुमार	कठ० १.१.२
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ... रेतो	छान्दो० ५.८.२	तꣳह चिरं वसेत्याज्ञा-	छान्दो० ५.३.७
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ.. वर्षम्	छान्दो० ५.६.२	तꣳह प्रवाहणो	छान्दो० १.८.८
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ...श्रद्धाम्	छान्दो० ५.४.२	तꣳह शिलकः	छान्दो० १.८.६
तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ...सोम	छान्दो० ५.५.२	तꣳहꣳस उपनिपत्याभ्युवाद	छान्दो० ४.७.२
तस्मिन्यावत्संपातम्	छान्दो० ५.१०.५	तꣳहाङ्गिरा उद्गीथम्	छान्दो० १.२.१०
तस्मिꣳस्त्वयि किं	केन० ३.९	तꣳ हाभ्युवाद रैक्केद	छान्दो० ४.२.४
तस्मै तृणं	केन० ३.६	तꣳ हैतमतिधन्वा	छान्दो० १.९.३
तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति	केन० ३.१०	तꣳ हैतमुद्दालक	बृह० ६.३.७
तस्मै श्वा श्वेतः	छान्दो० १.१२.२	तꣳ होवाच किंगोत्रः	छान्दो० ४.४.४
तस्मै स विद्वान्	मुण्ड० १.२.१३	तꣳ होवाच नैतदब्राह्मणो	छान्दो० ४.४.५
तस्मै स होवाच इहैवान्तः	प्रश्न० ६.२	तꣳ होवाच...महतोऽभ्याहित-	छान्दो० ६.७.३
तस्मै स होवाच एतद्वै	प्रश्न० ५.२	तꣳ होवाच यथा सोम्य	छान्दो० ६.७.५
तस्मै स होवाच द्वेविद्ये	मुण्ड० १.१.४	तꣳ होवाच यं वै सोम्यै-	छान्दो० ६.१२.२
तस्मै स होवाच प्रजाकामो	प्रश्न० १.४	तां योगमिति	कठ० २.३.११
तस्मै स होवाच यथा	प्रश्न० ४.२	तां भवान् प्रब्रवीत्विति	गा० १.६
तस्मै स होवाचाकाशो	प्रश्न० २.२	ताꣳहैत्तामेके	बृह० ५.१४.५
तस्मै स होवाचाति	प्रश्न० ३.२	ता आप ऐक्षन्त	छान्दो० ६.२.४
तस्य क्व मूलँ ... खलु	छान्दो० ६.८.४	ता एता देवताः	ऐत० १.२.१
तस्य क्व मूल.... सोम्य	छान्दो० ६.८.६	तानि वा एतानि यजूꣳ	छान्दो० ३.२.२
तस्य प्रथमया विष्णो-	मुद्ग० १.२	तानि वा एतानि सामान्येत	छान्दो० ३.३.२
तस्य प्राची दिक्प्राञ्चः	बृह० ४.२.४	तानि ह वा एतानि	छान्दो० ७.४.२
तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम	छान्दो० ३.१५.२	तानि ह वा एतानि चित्तै०	छान्दो० ७.५.२
तस्य यथा कप्यासम्	छान्दो० १.६.७	तानि ह वा एतानि त्रीणि	छान्दो० ८.३.५
तस्य यथाभिनहनम्	छान्दो० ६.१४.२	तानु तत्र मृत्युर्यथा	छान्दो० १.४.३
तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता	छान्दो० ३.१.२	तान्यभ्यतपत्तेभ्यः	छान्दो० २.२३.३
तस्यर्क् च साम	छान्दो० १.६.८	तान्वरिष्ठः प्राण	प्रश्न० २.३
तस्य वा एतस्य पुरुषस्य	बृह० ४.३.९	तान्ह स ऋषिरुवाच	प्रश्न० १.२
तस्य .... सुवर्ण वेद	बृह० १.३.२६	तान् हैतैः श्लोकैः	बृह० ३.९.२८
तस्य सौम्य यो	गाय० १.३	तान्होवाच प्रातर्वः	छान्दो० ५.११.७
तस्य .... स्वं वेद	बृह० १.३.२५	तान् होवाच ब्राह्मणा	बृह० ३.१.२
तस्य ह वा एतस्य	छान्दो० ३.१३.१	तान्होवाचाश्वपतिर्वै	छान्दो० ५.११.४
तस्य ह वा एतस्यात्मनो	छान्दो० ५.१८.२	तान्होवाचेहैव	छान्दो० १.१२.३
तस्य ह वा एतस्यैवम्	छान्दो० ७.२६.१	तान्होवाचैतावत्	प्रश्न० ६.७
तस्य हैतस्य पुरुषस्य	बृह० २.३.६	तान्होवाचैते वै खलु	छान्दो० ५.१८.१
तस्य हैतस्य साम्नो यः	बृह० १.३.२७	तापत्रयं त्वाध्यात्मिक.	मुद्ग० ४.२
तस्या उपस्थानं गायत्र्य	बृह० ५.१४.७	ताभ्यः पुरुषमानयत्ता	ऐत० १.२.३
तस्या वेदिरुपस्थो	बृह० ६.४.३	ताभ्यो गामानयत्ता	ऐतरेय० १.२.२
तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्	छान्दो० ४.२.५	तावदेव निरोद्धव्यं	मैत्रा० ४.४ (ज)

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
तालमात्राविनिष्क्रम्यो	अमृ० २४
तावद्रथेन गन्तव्यम्	अमृ० ३
ता वा अस्यैता हितो	बृह० ४.३.२०
तावानस्य महिमा	छान्दो० ३.१२.६
तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकाम् ..	छान्दो० ६.३.३
तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकाम नु	छान्दो० ६.३.४
तिर्यगूर्ध्वमधोदृष्टिं	अमृ० २३
तिलेषु तैलम्	श्वेता० १.१५
तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः	प्रश्न० ५.६
तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे	कठ० १.१.९
तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद	केन० ३.३
तेजसः सोम्याश्यमानस्य	छान्दो० ६.६.४
तेजो वावाद्भ्यो भूयः	छान्दो० ७.११.१
तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते	छान्दो० ६.५.३
तेजो ह वाव उदानः	प्रश्न० ३.९
ते तमर्चयन्तस्त्वं	प्रश्न० ६.८
ते देवा अब्रुवन्नेतावद्वा	बृह० १.३.१८
ते ध्यानयोगानुगता	श्वेता० १.३
तेन तꣳह बको	छान्दो० १.२.१३
तेन तꣳ ह बृहस्पति	छान्दो० १.२.११
तेन तꣳहायास्य	छान्दो० १.२.१२
तेन हवा एवं विदुषा	गाय० ७.१
तेनेयं त्रयी विद्या	छान्दो० १.१.९
तेनोभौ कुरुतो यश्चैत	छान्दो० १.१.१०
तेभ्यो ह प्रातेभ्यः	छान्दो० ५.११.५
ते य एवमेतद्विदुर्ये	बृह० ६.२.१५
ते यथा तत्र न विवेकम्	छान्दो० ६.९.२
ते वा एते गुह्या	छान्दो० ३.५.२
ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस	छान्दो० ३.४.२
ते वा एते पञ्च	छान्दो० ३.१३.६
ते वा एते रसानाꣳरसा	छान्दो० ३.५.४
तेषां खल्वेषां भूतानाम्	छान्दो० ६.३.१
तेषामसौ विरजो	प्रश्न० १.१६
ते ह खल्वथोर्ध्वरेतसो	मैत्रा० ४.१
ते ह नासिक्यं	छान्दो० १.२.२
ते ह प्राणाः प्रजापतिम्	छान्दो० ५.१.७
ते ह यथैवेदं	छान्दो० १.१२.४
ते ह वाचमूचुस्त्वं न	बृह० १.३.२
ते ह सम्पादयाञ्चक्रुः	छान्दो० ५.११.२
ते हेमे प्राणा अहꣳश्रेयसे	बृह० ६.१.७
ते होचुः क्रनु सोऽभूद्यो	बृह० १.३.८
ते होचुरुपकोसलैषा	छान्दो० ४.१४.१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ते होचुर्भगवन्यद्येवम्	मैत्रा० ३.१
ते होचुर्येन हैवार्थेन	छान्दो० ५.११.६
तौ वा एतौ द्वौ	छान्दो० ४.३.४
तौहद्वात्रिꣳशतं वर्षाणि	छान्दो० ८.७.३
तौ ह प्रजापतिरुवाच	छान्दो० ८.७.४
तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलङ्कृतौ	छान्दो० ८.८.२
तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिः	छान्दो० ८.८.४
तौ होचतुर्यथैवेद०	छान्दो० ८.८.३
त्रयं वा इदं नाम रूपम्	बृह० १.६.१
त्रयः प्राजापत्याः	बृह० ५.२.१
त्रयी विद्या हिङ्कारस्त्रयः	छान्दो० २.२१.१
त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञः	छान्दो० २.२३.१
त्रयो लोका एत एव	बृह० १.५.४
त्रयो वेदा एत एव	बृह० १.५.५
त्रयो होद्गीथे	छान्दो० १.८.१
त्रिणाचिकेत	कठ० १.१.१७
त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्वि	कठ० १.१.१८
त्रिरुन्नतं स्थाप्य	श्वेता० २.८
त्रिंशत्सार्धाङ्गुलः	अमृ० ३३
त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति	बृह० १.५.३
त्वग्वै ग्रहः	बृह० ३.२.९
त्वङ्मांसशोणिता.	मुद्ग० ४.३
त्वं पद महामन्त्रस्य	शु०र० २५
त्वं पदार्थादौपाधि०	सर्व० १४
त्वं भूर्भुवः स्वस्त्वम्	एका० १३
त्वमिति तदिति	शु०र० ४१
त्वं मनुष्त्वं	मैत्रा० ४.४ (ड)
त्वं वज्रभृद्भूत.	एका० ५
त्वं स्त्री त्वं पुमानसि	श्वेता० ४.३
त्वं स्त्री पुमांस्त्वं	एका० ११
दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य	छान्दो० ६.६.१
दिवश्चैनमादित्याच्च	बृह० १.५.१९
दिव्यो ह्यमूर्तः	मुण्ड० २.१.२
दुःखमिति.....स्वर्गः	निरा० १६
दुग्धेऽस्मै.....एतदेवम्	छान्दो० २.८.३
दुग्धेऽस्मै.... एतामेव	छान्दो० १.१३.४
दूरमेते विपरीते	कठ० १.२.४
दृप्त बालाकिर्हानूचानो	बृह० २.१.१
दृश्यमानस्य सर्वस्य	शु०र० ३८
दृष्टिः स्थिरा यस्य	ना०बि० ५६
देवपितृकार्याभ्यां	तैत्ति० १.११.२
देवमनुष्य.....बन्धः	निरा० २२

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
देवनामसि	प्रश्न० २.८
देवर्षयो ब्रह्माणं	शु०र० २
देवा: पितरो मनुष्या	बृह० १.५.६
देवा वै मृत्योर्बिभ्...	छान्दो० १.४.२
देवासुरा ह वै	छान्दो० १.२.१
देवैरत्रापि...किल	कठ० १.१.२२
देवैरत्रापि... पुरा	कठ० १.१.२१
देहादीनामसत्त्वात्तु	ना० बि० २३
देहो देवालय:	स्क० १०
द्यौरेवर्गादित्य:	छान्दो० १.६.३
द्यौरेवोदन्तरिक्षं	छान्दो० १.३.७
द्वया ह प्राजापत्या	बृह० १.३.१
द्वा सुपर्णा सयुजा	श्वेता० ४.६
द्वा सुपर्णा सयुजा	मुण्ड० ३.१.१
द्वितीयायां समुत्क्रान्तो	ना०बि० १३
द्विधा वा एष आत्मानम्	मैत्रा० ५.१
द्विसप्ततिसहस्राणि	प्रण० ११
द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे	श्वेता० ५.१
द्वे वाव ब्रह्मणे रूपे	मैत्रा० ५.३
द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे	बृह० २.३.१
द्वौ खण्डावुच्येते योऽयमुक्त:	मुद्ग० २.२
धनुर्गृहीत्वौपनिषदं	मुण्ड० २.२.३
धाता विधाता पवन:	एका० ६
धियो योन:	गाय० ६.१
ध्यानक्रियाभ्याम्	मन्त्रि० ७
ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो	छान्दो० ७.६.१
ध्यानं-जीवत्वं सर्वभूतानां	शु०र० २६
ध्यानं- जीवो ब्रह्मेति	शु०र० २८
ध्यानं- ज्ञानं ज्ञेयं	शु०र० २४
ध्यानं- नित्यानन्दं	शु०र० २१
ध्यायतेध्यासिता	मन्त्रि० ४
न कंचन वसतौ	तैत्ति० ३.१०.१
नक्षत्राण्येवर्क्चन्द्रमा:	छान्दो० १.६.४
न चक्षुषा गृह्यते	मुण्ड० ३.१.८
न जायते म्रियते	कठ० १.२.१८
न तत्र चक्षुर्गच्छति	केन० १.३
न तत्र रथा न रथयोगा	बृह० ४.३.१०
न तत्र सूर्यो	कठ० २.२.१५
न तत्र सूर्यो भाति	मुण्ड० २.२.१०
न तत्र सूर्यो भाति	श्वेता० ६.१४
न तस्य कश्चित्पतिरस्ति	श्वेता० ६.९
न तस्य कार्यं करणम्	श्वेता० ६.८
न नरेणावरेण	कठ० १.२.८
न निजं निजवत्	स्क० २
न प्राणेन	कठ० २.२.५
न भिद्यते कर्मचारै:	ना० बि० ६
नम: शिवाय गुरवे	निरा० १
नम: शान्तात्मने	मैत्रा० ४.४ (ण)
न मान नावमानं	ना०बि० ५४
नरक इति .....एव नरक:	निरा० १७
नवद्वारे पुरे देही	श्वेता० ३.१८
न वधेनास्य... मघ.	छान्दो० ८.१०.४
न वधेनास्य हन्यते	छान्दो० ८.१०.२
नवमी महती	ना०बि० ११
नवम्यां तु महर्लोकम्	ना०बि० १६
न वित्तेन तर्पणीयो	कठ० १.१.२७
न वै तत्र न निम्लोच	छान्दो० ३.११.२
न वै नूनं भगवन्तस्त	छान्दो० ६.१.७
न वै वाचो न चक्षू	छान्दो० ५.१.१५
न संदृशे	कठ० २.३.९
न संदृशे तिष्ठति	श्वेता० ४.२०
न सांपराय: प्रतिभाति	कठ० १.२.६
न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा	छान्दो० १.१०.४
न हवा अस्मा	छान्दो० ३.११.३
न हाप्सु प्रैत्यप्सुमान्	छान्दो० २.४.२
नाचिकेतमुपाख्यानं	कठ० १.३.१६
नान्त: प्रज्ञं न	माण्डू० ७
नान्यस्मै कस्मैचन	छान्दो० ३.११.६
नाम वा ऋग्वेदो	छान्दो० ७.१.४
नायमात्मा प्रवचनेन	मुण्ड० ३.२.३
नायमात्मा प्रवचनेन	कठ० १.२.२३
नायमात्मा बलहीनेन	मुण्ड० ३.२.४
नाविरतो दुश्चरितवान्	कठ० १.२.२४
नासिकापुटमङ्गुल्या	अमृ० २०
नाहं कर्ता नैव भोक्ता	सर्व० १८
नाहं देहो जन्ममृत्यू	सर्व० २१
नाहं भवाम्यहं	सर्व० १६
नाहं मन्ये सुवेदेति	केन० २.२
नित्योऽनित्यानां	कठ० २.२.१३
नित्यो नित्यानाम्	श्वेता० ६.१३
निधनमिति त्र्यक्षरम्	छान्दो० २.१०.४
नियामनसमर्थोऽयम्	ना०बि ४५
निरञ्जने विलीयेते	ना०बि० ५०
निर्णिज्य कः सं चमसं	छान्दो० ५.२.८

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
नि:शब्दं तत्परम्	नाबि० ४८
निष्कलं निष्क्रिय	श्वेता० ६.१९
नील: पतङ्गो हरितो	श्वेता० ४.४
नीहार धूमार्कानिलानलानाम्	श्वेता० २.११
नैनमूर्ध्वम्	श्वेता० ४.१९
नैव वाचा न	कठ० २.३.१२
नैव स्त्री न पुमानेष	श्वेता० ५.१०
नैवेह किंचनाग्र आसीत्	बृह० १.२.१
नैवैतेन सुरभि	छान्दो० १.२.९
नैषा तर्केण	कठ० १.२.९
नो इतराणि ये के	तैत्ति० १.११.३
नोच्छवसेन्न	अमृ० १४
न्यग्रोधफलमत आहरेतीदम्	छान्दो० ६.१२.१
पञ्च पादं पितरं	प्रश्न० १.११
पञ्च मा राजन्य बन्धु:	छान्दो० ५.३.५
पञ्चमी नामधेया	ना०बि० १०
पञ्चम्यामथ मात्रायां	ना०बि० १४
पञ्चस्रोतोऽम्बुम्	श्वेता० १.५
पद्मकं स्वस्तिकम्	अपृ० १९
पद्मसूत्रनिभा	प्रण० १०
परब्रह्मपयोराशौ	शु०र० ५०
परमं पदमिति... पदम्	निरा० ३६
परमात्मेति च ...स सूर्य:	निरा० ७
परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते	प्रश्न० ४.१०
पराच: कामाननुयन्ति	कठ० २.१.२
पराञ्चि खानि	कठ० २.१.१
परिपूर्ण: परात्मास्मिन्देहे	शु०र० ३३
परीक्ष्य लोकान्	मुण्ड० १.२.१२
परोवरीयो हास्य भवति	छान्दो० २.७.२
पर्जन्यो वा अग्निर्गौतम	बृह० ६.२.१०
पर्जन्यो वाव गौतमाग्नि०	छान्दो० ५.५.१
पशुषु पञ्चविधꣳ	छान्दो० २.६.१
पश्चाद्ध्यायीत	अमृ० २२
पश्यन्त्यस्यां	मन्त्रि० ८
पादादिकं गुणास्तस्य	ना०बि० २
पायूपस्थेऽपानं चक्षु:	प्रश्न० ३.५
पार्थिव: पञ्चमात्रस्तु	अमृ० ३१
पिता माता प्रजैत	बृह० १.५.७
पितृमातृसहोदर...बन्ध	निरा० १९
पिबन्त्येनाम	मन्त्रि० ६
पीतोदका जग्धतृणा	कठ० १.१.३
पुरमेकादशद्वारम्	कठ० २.२.१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
पुरस्ताद् ब्रह्मणस्तस्य	प्रण० १
पुरा तृतीय सवनस्य	छान्दो० २.२४.११
पुरा प्रातरनुवाकस्योपा.	छान्दो० २.२४.३
पुरा माध्यन्दिनस्य	छान्दो० २.२४.७
पुरुष एवेदं विश्वं	मुण्ड० २.१.१०
पुरुष एवेदꣳ सर्वम्	श्वेता० ३.१५
पुरुषसूक्तार्थनिर्णयम्	मुद्ग० १.१
पुरुषꣳ सोम्योत	छान्दो० ६.१६.१
पुरुषꣳसोम्योतोपतापिनम्	छान्दो० ६.१५.१
पुरुषे ह वा अयमादितो	ऐत० २.१.१
पुरुषो नारायणो भूतम्	मुद्ग० २.३
पुरुषो वा अग्निर्गौतम-	बृह० ६.२.१२
पुरुषो वाव गौतमाग्नि:	छान्दो० ५.७.१
पुरुषो वाव यज्ञ:	छान्दो० ३.१६.१
पूर्णमद: पूर्णमिदम्	बृह० ५.१.१
पूषन्नेकर्षे यम	ईश० १६
पृथिवी च पृथिवीमात्रा	प्रश्न० ४.८
पृथिवी वाव गौतमाग्नि:	छान्दो० ५.६.१
पृथिवी हिङ्कारोऽन्तरिक्षम्	छान्दो० २.१७.१
पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौ:	तैत्ति० १.७.१
पृथिव्यर्चं समदधात्	गाय० ४.३
पृथिव्येव यस्यायतन	बृह० ३.९.१०
पृथिव्यै चैनमग्नेश्च	बृह० १.५.१८
पृथ्व्याप्यतेजोऽ निलखे	श्वेता० २.१२
प्रकृतिरिति च.....प्रकृति:	निरा० ६
प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्	छान्दो० २.२३.२
प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषाम्	छान्दो० ४.१७.१
प्रजापतिर्वा एषोऽग्रे	मैत्रा० २.६
प्रजापतिर्विराट्	मन्त्रि० १३
प्रजापतिश्चरसि	प्रश्न० २.७
प्रणवो धनु: शरो	मुण्ड० २.२.४
प्रतिबोधविदितं	केन० २.४
प्रते ब्रवीमि	कठ० १.१.१४
प्रत्याहारस्तथा ध्यानम्	अमृ० ६
प्रथमायां तु मात्रायाम्	ना०बि० १२
प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो	छान्दो० ५.१३.२
प्रस्तोतर्या देवता	छान्दो० १.१०.९
प्लवा ह्येते अदृढा	मुण्ड० १.२.७
प्राचीनशाल औपमन्यव:	छान्दो० ५.११.१
प्राण आद्यो हृदि	अमृ० ३५
प्राण इति होवाच	छान्दो० १.११.५
प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थ:	छान्दो० ३.१८.४

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
प्राण एव सविता	गाय० ३.१०
प्राणं देवा अनु	तैत्ति० २.३.१
प्राण: प्रसूतिर्भुवनस्य	एका० ३
प्राणस्य प्राणमुत चक्षुष	बृह० ४.४.१८
प्राणस्येदं वशे सर्वं	प्रश्न० २.१३
प्राणाग्नय एव	प्रश्न० ४.३
प्राणान् प्रपीड्येह	श्वेता० २.९
प्राणायामैर्दहेद्दोष	अमृ० ८
प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति	छान्दो० ५.१९.२
प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायम्	बृह० ४.३.१२
प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीय:	छान्दो० २.७.१
प्राणोऽपानो व्यान	बृह० ५.१४.३
प्राणो ब्रह्म कं	छान्दो० ४.१०.५
प्राणो ब्रह्मेति	तैत्ति० ३.३.१
प्राणो वा आशाया	छान्दो० ७.१५.१
प्राणो वै ग्रह:	बृह० ३.२.२
प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि	छान्दो० ७.१५.४
प्राणो ह्येष य:	मुण्ड० ३.१.४
प्राप हायार्चकुलं	छान्दो० ४.९.१
प्रियात्म जननवर्धन०	मुद्ग० ४.६
बद्ध: सुनादगन्धेन	ना०बि०४३
बन्ध इति च.....बन्ध:	निरा० १८
बलं वाव विज्ञानाद्भूयोपि	छान्दो० ७.८.१
बहूनामेमि प्रथमो	कठ० १.१.५
बृहच्च तद्	मुण्ड० ३.१.७
बृहद्रथो ह वै नाम	मैत्रा० १.१
ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति	छान्दो० ४.५.२
ब्रह्मण: सोम्य ते पादम्	छान्दो० ४.६.३
ब्राह्मण: सोम्य...चाग्नि:	छान्दो० ४.७.३
ब्राह्मण: सोम्य...प्राण:	छान्दो० ४.८.३
ब्रह्मणाऽकाशमभिपत्रम्	गाय० ७.२
ब्रह्म तं परादाद्यो0	बृह० ४.५.७
ब्रह्म तं ....भूतानि	बृह० २.४.६
ब्रह्म प्रणव संधानं नादो	ना०बि० ३०
ब्रह्म ब्रह्मेत्यथायन्ति	मन्त्रि० २०
ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्	बृह० १.४.१०
ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव	बृह० १.४.११
ब्रह्मवादिनो वदन्ति	छान्दो० २.२४.१
ब्रह्मवादिनो वदन्ति	श्वेता० १.१
ब्रह्मविदाप्नोति	तैत्ति० २.१.१
ब्रह्मविदिव वै सोम्य	छान्दो० ४.९.२
ब्रह्म ह देवेभ्यो	केन० ३.१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ब्रह्म हेदं श्रियम्	गाय० ४.१
ब्रह्मादिपिपीलिका पर्यन्तं	सर्व० १०
ब्रह्मा देवानां	मुण्ड० १.१.१
ब्रह्माद्यं स्थावरान्तं	मन्त्रि० १६
ब्रह्मामृतम्	स्क० १२
ब्रह्मैव स्वशक्तिं ...बहुजीव:	निरा० ५
ब्रह्मैवाहं सर्ववेदान्त	सर्व० २०
ब्रह्मैवेदममृतं	मुण्ड० २.२.११
ब्रह्मोपदेश कालोऽयमिदानीं	शु०र० ५
भगव इति ह प्रतिशश्राव	छान्दो० ४.१४.२
भगवन्नस्थिचर्मस्नायु०	मैत्रा० १.२
भगवांस्त्वेव मे	छान्दो० १.११.३
भयं क्रोधमथालस्य०	अमृत० २८
भयादस्याग्निस्तपति	कठ० २.३.३
भर्गो देवस्य धीमहीति	गाय० ५.१
भवन्ति हास्य पशव:	छान्दो० २.६.२
भवत्याविच्छिनो... तृतीयं	गा० ६.२
भवत्याविच्छिनो.... द्वितीय	गा० ५.२
भवत्याविच्छिन्नोऽस्य	गा० ४.४
भानुमण्डलसंकाशा	ना० बि० ७
भावग्राह्यमनी०	श्वेता० ५.१४
भिद्यते हृदयग्रन्थि.....	मुण्ड० २.२.८
भीषाऽस्माद्वात:	तैत्ति० २.८.१
भूतसंमोहने काले	मन्त्रि० २
भूमिरन्तरिक्षम्	बृह० ५.१४.१
भूमौ दर्भासने रम्ये	अमृ० १८
भूर्भुव: सुवरिति वा	तैत्ति० १.५.१
भूर्लोक: पादयोस्तस्य	ना०बि० ३
भृगुर्वै वारुणि: । वरुणं	तैत्ति० ३.१.१
भृगुस्तस्मै यतो	तैत्ति० ३.११.१
मकरन्दं पिबन्भृङ्गो	ना०बि० ४२
मकारश्चाग्निसंकाशो	प्रण० ८
मघवन्मर्त्यं वा इदꣳ	छान्दो० ८.१२.१
मटचीहतेषु करुष्वाटिक्या	छान्दो० १.१०.१
मद्गुष्टे पादं वक्तेति	छान्दो० ४.८.१
मन आदि चतुर्दश करणै:	सर्व० ४
मन आदिश्च	सर्व० ७
मन एव मनुष्याणां	मैत्रा० ४.४ (ट)
मन एव सविता	गाय० ३.१
मन: सङ्कल्पकं	अमृ० १६
मनसैवानुद्रष्टव्यम्	बृह० ४.४.१९
मनसैवेदमाप्तव्यं	कठ० २. . १

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
मनस्तत्र लयं	ना०बि० ४७
मनो ब्रह्मेति	तैत्ति० ३.४.१
मनो ब्रह्मेत्युपासीत	छान्दो० ३.१८.१
मनोमयः प्राणशरीरो	छान्दो० ३.१४.२
मनोमयोऽयं पुरुषो	बृह० ५.६.१
मनोवाव वाचो भूयो	छान्दो० ७.३.१
मनो वै ग्रहः	बृह० ३.२.७
मनो हिङ्कारो वाक्	छान्दो० २.११.१
मनो हि द्विविधं	मैत्रा० ४.४ (च)
मनो होच्चक्राम	बृह० ६.१.११
मनो होच्चक्राम	छान्दो० ५.१.११
मन्त्रोपनिषदं ब्रह्म	मन्त्रि० १०
मह इति ब्रह्म	तैत्ति० १.५.३
मह इत्यादित्यः। आदित्येन	तैत्ति० १.५.२
महतः परमव्यक्तम्	कठ० १.३.११
महति श्रूयमाणे	ना०बि० ३६
महान्प्रभुर्वै पुरुषः	श्वेता० ३.१२
महापुरुष आत्मानम्	मुद्ग० २.४
महावाक्यान्य०	शु०र० ४५
मात्रालिङ्गपदम्	अमृ० ४
मानवो ब्रह्मैवैक	छान्दो० ४.१७.१०
मा नस्तोके तनये	श्वेता० ४.२२
मायां तु प्रकृतिम्	श्वेता० ४.१०
माया नाम अनादिरन्तवती	सर्व० १५
मासेभ्यः पितृलोकम्	छान्दो० ५.१०.४
मासेभ्यः संवत्सर	छान्दो० ५.१०.२
मासो वै प्रजापतिः	प्रश्न० १.१२
मित्रः सुपर्णश्चन्द्र	एका० १२
मूढ इति च .....मूढः	निरा० ३३
मृतवत्तिष्ठते योगी	ना०बि० ५२
मृत्युप्रोक्तां	कठ० २.३.१८
मैत्रेयीति होवाच....उद्या०	बृह० २.४.१
मैत्रेयीति हे ।च....प्रव्रजिष्यन्वा	बृह० ४.५.२
मोक्ष इति च.....मोक्षः	निरा० २९
यं यं लोकं	मुण्ड० ३.१.१०
यं यमन्तमभिकामो	छान्दो० ८.२.१०
य आकाशे तिष्ठन्	बृह० ३.७.१२
य आत्माऽपहतपाप्मा	छान्दो० ८.७.१
य आदित्ये तिष्ठन्	बृह० ३.७.९
य इमं परमं	कठ० १.३.१७
य इमं मध्वदं	कठ० २.१.५
य इमं सृष्टियज्ञम्	मुद्ग० २.७

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
य एको जालवानीशत	श्वेता० ३.१
य एकोऽवर्णो बहुधा	श्वेता० ४.१
य एतदुपनिषदम्	मुद्ग० ४.१०
य एते ब्रह्मलोके	छान्दो० ८.१२.६
य एवं विद्वान्	प्रश्न० ३.११
य एवं वेद क्षेम	तैत्ति० ३.१०.२
य एष एतस्मिन्मण्डले	बृह० ५.५.३
य एष सुप्तेषु	कठ० २.२.८
य एष स्वप्ने	छान्दो० ८.१०.१
य एषोऽक्षिणि पुरुषो	छान्दो० ४.१५.१
यच्चक्षुषा न पश्यति	केन० १.६
यच्चन्द्रमसो रोहित	छान्दो० ६.४.३
यच्च स्वभावं पचति	श्वेता० ५.५
यच्चित्तस्तेनैष	प्रश्न० ३.१०
यच्छेद्वाङ्मनसी	कठ० १.३.१३
यच्छ्रोत्रेण	केन० १.७
यजुः प्राणो वै यजुः प्राणे	बृह० ५.१३.२
यजुर्वेदोऽन्तरिक्षम्	प्रण० ५
यज्जाग्रतो दूरमुदैति	शिव० १
यज्ञ एव सविता	गाय० ३.१२
यज्ञेनेत्युपसंहारः	मुद्ग० १.९
यतश्चोदेति	कठ० २.१.९
यतो वाचो...कदाचनेति	तैत्ति० २.४.१
यतो वाचो...कुतश्चनेति	तैत्ति० २.९.१
यत्किञ्च विजिज्ञास्यम्	बृह० १.५.९
यत्किञ्चाविज्ञातं प्राणस्य	बृह० १.५.१०
यत्तदद्रेश्यमग्राहम..	मुण्ड० १.१.६
यत्तु जन्मान्तराभावात्	ना०बि० २४
यत्ते कश्चिदब्रवीत्	बृह० ४.१.२
यत्पुरुषेणेत्यनया	मुद्ग० १.६
यत्प्रज्ञानमुत चेतो	शिव० ३
यत्प्राणेन	केन० १.८
यत्र कुत्रापि वा	ना०बि० ३८
यत्र नान्यत्पश्यति	छान्दो० ७.२४.१
यत्र वान्यदिव	बृह० ४.३.३१
यत्र सुप्तो न कंचन	माण्डू० ५
यत्र हि द्वैतमिव..जिघ्रति	बृह० २.४.१४
यत्र हि द्वैतमिव..पश्यति	बृह० ४.५.१५
यत्रैतदस्मिञ्छरीरे	छान्दो० ३.१३.८
यत्सप्तान्नानि..पितेति	बृह० १.५.२
यत्सप्तान्नानि मेधया	बृह० १.५.१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
यथा कृतायविजिता०	छान्दो० ४.१.४	यदि मन्यसे	केन० २.१
यथा कृताय.... सयन्ति	छान्दो० ४.१.६	यदुच्छवा सनि:	प्रश्न० ४.४
यथादर्शे तथात्मनि	कठ० २.३.५	यदुदिति स उद्गीथो	छान्दो० २.८.२
यथा नद्य: स्यन्दमाना:	मुण्ड० ३.२.८	यदु रोहितमिवाभूदिति	छान्दो० ६.४.६
यथान्तरं न भेदा:	स्क० १०	यदेतद्धृदयं	ऐत०३.१.२
यथा पर्वतधातूनाम्	अमृ० ७	यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृण	बृह० ४.१.३
यथा पुरस्ताद्भविता	कठ० १.१.११	यदेव ते.....गर्दभीविपीतो	बृह० ४.१.५
यथा विलीनमेवाङ्गास्या	छान्दो० ६.१३.२	यदेव ते..... बर्कुर्वार्ष्ण०	बृह० ४.१.४
यथा शिवमयो	स्क० ९	यदेव ते..... विदग्ध:	बृह० ४.१.७
यथा सम्राडेवाधि...	प्रश्न० ३.४	यदेव ते.....सत्यकामो	बृह० ४.१.६
यथा सोम्य पुरुषं गन्धा	छान्दो० ६.१४.१	यदेवेह तदमुत्र	कठ० २.१.१०
यथा सोम्य मधु	छान्दो० ६.९.१	यदैतमनुपश्यत्यात्मानम्	बृह० ४.४.१५
यथासोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन	छान्दो० ६.१.६	यद्वाचानभ्युदितं	केन० १.४
यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन	छान्दो० ६.१.४	यद्विज्ञातमिवाभूदित्०	छान्दो० ६.४.७
यथा सोम्यैकेन लोहमणिना	छान्दो० ६.१.५	यद्विद्युतो रोहित	छान्दो० ६.४.४
यथेह क्षुधिता	छान्दो० ५.२४.५	यद्वै तत्पुरुषे	छान्दो० ३.१२.४
यथैव बिम्बं सृदयो०	श्वेता० २.१४	यद्वै तद्ब्रह्मेतीदम्	छान्दो० ३.१२.७
यथोदकं दुर्गे	कठ० २.१.१४	यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन्वै	बृह० ४.३.२४
यथोदकं शुद्धे	कठ० २.१.१५	यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै	बृह० ४.३.२३
यथोर्णनाभि: सृजते	मुण्ड० १.१.७	यद्वै तन्न मनुते	बृह० ४.३.२८
यदग्ने रोहितꣳ	छान्दो० ६.४.१	यद्वै तन्न रसयते	बृह० ४.३.२५
यदर्चिमद्यणुभ्योऽणु	मुण्ड० २.२.२	यद्वै तन्न वदति	बृह० ४.३.२६
यदा चर्मवदाकाशम्	श्वेता० ६.२०	यद्वै तन्न विजानाति	बृह० ४.३.३०
यदाऽतमस्तन्न दिवा	श्वेता० ४.१८	यद्वै तन्न शृणोति	बृह० ४.३.२७
यदात्मतत्त्वेन	श्वेता० २.१५	यद्वै तन्न स्पृशति	बृह० ४.३.२९
यदा त्वमभिवर्षस्यथेमा	प्रश्न० २.१०	यन्नु खलु सौम्यास्माभि:	गाय० १.५
यदादित्यस्य रोहितꣳ	छान्दो० ६.४.२	यन्मनसा न मनुते	केन० १.५
यदाप उच्छुष्यन्ति	छान्दो० ४.३.२	य: पुनरेतं त्रिमात्रे	प्रश्न० ५.५
यदा पञ्चावतिष्ठन्ते	कठ० २.३.१०	य: पूर्वं तपसो	कठ० २.१.६
यदा पश्य: पश्यन्ते	मुण्ड० ३.१.३	य: पृथिव्यां तिष्ठन्	बृह० ३.७.३
यदा लेलायते	मुण्ड० १.२.२	य: प्राणे तिष्ठन्	बृह० ३.७.१६
यदा वा ऋचमाप्नोत्	छान्दो० १.४.४	यमाद्याष्टाङ्गयोग...बन्ध:	निरा० २३
यदा वै करोत्यथ	छान्दो० ७.२१.१	यश इति पशुषु	तैत्ति० ३.१०.३
यदा वै निस्तिष्ठत्यथ	छान्दो० ७.२०.१	यशो जनेऽसानि	तैत्ति० १.४.३
यदा वै पुरुषो०	बृह० ५.१०.१	यश्चक्षुषि तिष्ठꣳ	बृह० ३.७.१८
यदा वै मनुतेऽथ	छान्दो० ७.१८.१	यश्चन्द्रतारके	बृह० ३.७.११
यदा वै विजानात्यथ	छान्दो० ७.१७.१	यश्छन्दसामृषभो	तैत्ति० १.४.१
यदा वै श्रद्दधात्यथ	छान्दो० ७.१९.१	य: श्रोत्रे तिष्ठ०	बृह० ३.७.१९
यदा वै सुखम्	छान्दो० ७.२२.१	य: सर्वज्ञ: सर्वविद्यस्य	मुण्ड० १.१.९
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते	कठ० २.३.१५	य: सर्वज्ञ: सर्वविद्यस्यैष	मुण्ड० २.२.७
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते	कठ० २.३.१४	य: सर्वेषु भूतेषु	बृह० ३.७.१५
यदिदं किञ्च	कठ० २.३.२	य: सेतरीजानानामक्षरं	० १.३.२

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
यस्तद्वेद स वेद	छान्दो० २.२१.४
यस्तमसि तिष्ठ॑ः	बृह० ३.७.१३
यस्तु विज्ञानयुक्तेन	कठ० १.३.६
यस्तु विज्ञानवान् भवति	कठ० १.३.८
यस्तु सर्वाणि	ईश० ६
यस्तूर्णनाभ इव	श्वेता० ६.१०
यस्तेजसि तिष्ठ॑ः	बृह० ३.७.१४
यस्त्वचि तिष्ठ॑ः	बृह० ३.७.२१
यस्त्वविज्ञान...म	कठ० १.३.७
यस्त्वविज्ञान...युक्तेन	कठ० १.३.५
यस्मात्परम्	श्वेता० ३.९
यस्मादर्वाक्संवत्सरो	बृह० ४.४.१६
यस्मिंस्त्वयि किं	केन० ३.५
यस्मिन्द्यौः पृथिवी	मुण्ड० २.२.५
यस्मिन्निदं	कठ० १.१.२९
यस्मिन्नृच : साम	शिव० ५
यस्मिन्पञ्च पञ्चजना	बृह० ४.४.१७
यस्मिन्भावाः	मन्त्रि० १८
यस्मिन्सर्वमिदम्	मन्त्रि० १७
यस्मिन्सर्वाणि	ईश० ७
यस्मिन् स लीयते	प्रण० १३
यस्य देवे परा	श्वेता० ६.२३
यस्य ब्रह्म	कठ० १.२.२५
यस्याग्निहोत्रम.....	मुण्ड० १.२.३
यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध	बृह० ४.४.१३
यस्यामतं	केन० २.३
यस्यामृचि तामृचं	छान्दो० १.३.९
यस्येदं मण्डलम्	अमृ० ३९
यागव्रत तपोदान.....बन्धः	निरा० २६
याज्ञवल्क्य किं ज्योतिरयम्	बृह० ४.३.२
याज्ञवल्क्याद्याज्ञवल्क्य	बृह० ६.५.३
याज्ञवल्क्येति....कत्ययमद्याध्वर्युः	बृह० ३.१.८
याज्ञवल्क्येति....द्यर्भिः	बृह० ३.१.७
याज्ञवल्क्येति.....द्योद्गाता०	बृह० ३.१.१०
याज्ञवल्क्येति... पूर्वपक्षा०	बृह० ३.१.५
याज्ञवल्क्येति ....मृत्युना	बृह० ३.१.३
याज्ञवल्क्येति...मृत्योरन्नम्	बृह० ३.२.१०
याज्ञवल्क्येति..म्रियते	बृह० ३.२.१२
याज्ञवल्क्येति...यत्रायं पुरुषो	बृह० ३.२.११
याज्ञवल्क्येति... यत्रास्य	बृह० ३.२.१३
याज्ञवल्क्येति... यदिदम्	बृह० ३.१.६

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
याज्ञवल्क्येति...सर्वमहोरात्राभ्यां	बृह० ३.१.४
याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिः	बृह० ३.१.९
याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो	बृह० ३.९.१९
या तदभिमानम्	सर्व० ३
या ते तनूर्वाचि	प्रश्न० २.१२
या ते रुद्र शिवा तनूर०	श्वेता० ३.५
यां दिशमभिष्टोष्य..	छान्दो० १.३.११
या प्राणेन	कठ० २.१.७
यामिषुं गिरिशंत	श्वेता० ३.६
या वाक्सर्क्तस्माद....	छान्दो० १.३.४
यावान्वा अयमाकाशस्ता	छान्दो० ८.१.३
या वै सा गायत्रीयम्	छान्दो० ३.१२.२
या वै सा पृथिवीयम्	छान्दो० ३.१२.३
युक्तेन मनसा वयम्	श्वेता० २.२
युक्त्वाय मनसा	श्वेता० २.३
युञ्जानः प्रथमम्	श्वेता० २.१
युञ्जते मन उत	श्वेता० २.४
युजे वां ब्रह्मपूर्ण्यम्	श्वेता० २.५
ये तत्र ब्राह्मणाः	तैत्ति० १.११.४
येन कर्माण्यपसो	शिव० २
येन च्छन्दसा	छान्दो० १.३.१०
येन रूपं रसं	कठ० २.१.३
येनावृतं नित्यमिदम्	श्वेता० ६.२
येनाश्रुत॑ः श्रुतं	छान्दो० ६.१.३
येनासौ गच्छते	अमृ० २६
येनेक्षते शृणोतीदम्	शु०र० ३१
येनेदं भूतं भुवनं	शिव० ४
येयं प्रेते	कठ० १.१.२०
ये ये कामा	कठ० १.१.२५
योऽग्नौ तिष्ठन्	बृह० ३.७.५
यो दिक्षु तिष्ठन्	बृह० ३.७.१०
यो दिवि तिष्ठन्	बृह० ३.७.८
यो देवानां...जनयामास	श्वेता० ३.४
यो देवानां...पश्यत	श्वेता० ४.१२
यो देवानामधिपो	श्वेता० ४.१३
यो देवोऽग्नौ योऽप्सु	श्वेता० २.१७
योनिमन्ये	कठ० २.२.७
योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्	बृह० ३.७.६
योऽप्सु तिष्ठन्	बृह० ३.७.४
यो ब्राह्मणं विदधाति	श्वेता० ६.१८
यो मनसि तिष्ठन्	बृह० ३.७.२०
योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुष०	बृह० ५.५.४

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
यो योनिं योनिमधिति०	श्वेता०४.११
यो योनिं...विश्वानि	श्वेता० ५.२
यो रहस्योपनिषद्०	शु० र० ५३
यो रेतसि तिष्ठन्	बृह० ३.७.२३
यो वा एतदक्षरं	बृह० ३.८.१०
यो वा एतामेवं	केन० ४.९°
यो वाचि तिष्ठन्	बृह० ३.७.१७
यो वायौ तिष्ठन्	बृह० ३.७.७
यो विज्ञाने तिष्ठन्	बृह० ३.७.२२
यो वेदादौ स्वरः	शु०र० ४८
यो वै भूमा तत्सुखम्	छान्दो० ७.२३.१
यो वै स संवत्सरः	बृह० १.५.१५
योषा वा अग्निर्गौतम	बृह० ६.२.१३
योषा वाव गौतमाग्नि०	छान्दो० ५.८.१
यो ह खलु वाचोपरिस्थः	मैत्रा० २.४
यो ह वा आयतनम्	छान्दो० ५.१.५
यो ह वा आयतनं वेदा०	बृह० ६.१.५
यो ह वै ज्येष्ठम्	छान्दो० ५.१.१
यो ह वै ज्येष्ठं च	बृह० ६.१.१
यो ह वै प्रजापतिं वेद	बृह० ६.१.६
यो ह वै प्रतिष्ठाम्	छान्दो० ५.१.३
यो ह वै प्रतिष्ठां वेद	बृह० ६.१.३
यो ह वै वसिष्ठम्	छान्दो० ५.१.२
यो ह वै वसिष्ठां वेद	बृह० ६.१.२
यो ह वै शिशुः साधनः	बृह० २.२.१
यो ह वै संपदम्	छान्दो० ५.१.४
यो ह वै संपदं वेद	बृह० ६.१.४
रक्तवर्णो मणिप्रख्यः	अमृ० ३६
रहस्योपनिषद् ब्रह्म ध्यातम्	शु०र० १८
रहस्योपनिषन्नाम्ना	शु०र० १५
रुचिरं रेचकं चैव	अमृ० १०
रूपाण्येव.....एवासावादित्ये	बृह० ३.९.१२
रूपाण्येव यस्यायतनं	बृह०. ३.९.१५
रेत एव यस्यायतनः	बृह० ३.९.१७
रेतो होच्चक्राम	बृह० ६.१.१२
रैक्वेमानि षट्	छान्दो० ४.२.२
लय विक्षेप रहितं	मैत्रा० ४.४ (छ)
लघुत्वमारोग्यमलो	श्वेता० २.१३
लवणमेतदुदकेवधायाथ	छान्दो० ६.१३.१
लो३कद्वारमपावा..वय	छान्दो० २.२४.४
लो३कद्वारमपावा..वैरा	छान्दो० २.२४.८
लो३कद्वारमपावा.. स्वारा	छान्दो० २.२४.१२

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
लोकादिमग्निं	कठ० १.१.१५
लोकेषु पञ्चविधः	छान्दो० २.२.१
लोम हिंकारस्त्वक्	छान्दो० २.१९.१
वक्त्रेणोत्पलनालेन	अमृ० १३
वर्णाश्रम..बन्धः	निरा० २४
वशान्तो हिंकारो	छान्दो० २.१६.१
वसिष्ठाय स्वाहेत.	छान्दो० ५.२.५
वह्नेर्यथा योनिगतस्य	श्वेता० १.१३
वाक्यार्थस्य विचारेण	शु० र० १९
वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः	छान्दो० ३.१८.३
वागेवर्क् प्राणः	छान्दो० १.१.५
वाग्घोच्चक्राम	बृह० ६.१.८
वाग्वाव नाम्नो भूयसि	छान्दो० ७.२.१
वाग्वै ग्रहः	बृह० ३.२.३
वाचं धेनुमुपासीत	बृह० ५.८.१
वाच्यं लक्ष्यमिति	शु०र० ४०
वायुरनिलममृतमथेदं	ईश० १७
वायुरेव सविता	गाय० ३.३
वायुर्यथैको	कठ० २.२.१०
वायुर्वाव संवर्गो	छान्दो० ४.३.१
वायुः संधानम्	तैत्ति० १.३.२
वालाग्रशतभागस्य	श्वेता० ५.९
विज्ञातं विजिज्ञास्यमवि०	बृह० १.५.८
विज्ञानं ब्रह्मेति	तैत्ति० ३.५.१
विज्ञानं यज्ञं तनुते	तैत्ति० २.५.१
विज्ञानं वावध्यानाद्भूयो	छान्दो० ७.७.१
विज्ञान सारथिर्यस्तु	कठ० १.३.९
विज्ञानात्मा सह	प्रश्न० ४.११
वितत्य बाणम्	एका० ४
विद्यां चाविद्याम्	ईश० ११
विद्युदेव सविता	गाय० ३.९
विद्युद्ब्रह्मेत्याहु०	बृह० ५.७.१
विद्वानिति च...विद्वान्	निरा० ३२
विनर्दि साम्नो वृणे	छान्दो० २.२२.१
विश्वतश्चक्षुरुत	श्वेता० ३.३
विश्वरूपं हरिणम्	प्रश्न० १.८
विश्वे निमग्न पदवीः	एका० २
विश्वेश्वर नमः	मैत्रा० ४.४ (ढ)
विष्णोर्मोक्ष प्रदत्वम्	मुद्ग० १.३
विस्मृत्य विश्वमेकाग्रः	ना०बि० ४४
विस्मृत्य सकलम्	ना०बि० ३९
वृष्टौ पञ्चविध	छान्दो० २.३.१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
वेत्थ यथासौ	छान्दो० ५.३.३
वेत्थ यथेमा: प्रजा:	बृह० ६.२.२
वेत्थ यदितोऽधि	छान्दो० ५.३.२
वेदमनूच्याचार्यो	तैत्ति० १.११.१
वेदा एव सविता	गाय० ३.११
वेदान्तविज्ञान	मुण्ड० ३.२.६
वेदान्ते परमं गुह्यम्	श्वेता० ६.२२
वेदाहमेतमजरम्	श्वेता० ३.२१
वेदाहमेतं पुरुषम्	श्वेता० ३.८
वैश्वानर: प्रविशति	कठ० १.१.७
व्यान: सर्वेषु चाङ्गेषु	अमृ० ३६
व्याने तृप्यति श्रोत्रम्	छान्दो० ५.२०.२
व्रात्यस्त्वं	प्रश्न० २.११
शं नो मित्र:....ब्रह्म	तैत्ति० १.१२.१
शं नो मित्र:...ब्रह्मा	तैत्ति० १.१.१
शंसन्तमनुशंसन्ति	मन्त्रि० ९
शतं चैका च	कठ० २.३.१६
शतायुष: पुत्र	कठ० १.१.२३
शब्दादिविषयान् पञ्च	अमृ० ५
शाकल्येति होवाच	बृह० ३.९.१८
शान्तसंकल्प:	कठ० १.१.१०
शास्त्राण्यधीत्य मेधावी	अमृ० १
शिक्षां व्याख्यास्याम:	तैत्ति० १.२.१
शिखा च दीपसंकाशा	प्रण० ९
शिवाय विष्णुरूपाय	स्क० ८
शिष्य इति च...शिष्य:	निरा० ३१
शौनको ह वै	मुण्ड० १.१.३
श्यामाच्छबलम्	छान्दो० ८.१३.१
श्रवणं तु गुरो: पूर्वम्	शु०र० ४३
श्रवणायापि	कठ० १.२.७
श्रीपरम धाम्ने स्वस्ति	स्क० १३
श्रीवेदव्यास उवाच-देवदेव	शु०र० ४
श्रीवेदव्यास उवाच-यथा	शु०र० ७
श्रीशुक उवाच-देवादिदिव	शु०र० ११
श्री सदाशिव उवाच-साधु	शु०र० १४
श्रुतꣳ ह्येव मे	छान्दो० ४.९.३
श्रूयते प्रथमाभ्यासे	ना०बि ३३
श्रेयश्च प्रेयश्च	कठ० १.२.२
श्रोतुमिच्छामि	शु०र० १३
श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतम्	शु०र० ३६
श्रोत्रं वै ग्रह:	बृह० ३.२.६
श्रोत्रमेवऽर्ष्मन:	छान्दो० १.७.३

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थ:	छान्दो० ३.१८.६
श्रोत्रस्य श्रोत्रं	केन० १.२
श्रोत्रꣳहोच्चक्राम	छान्दो० ५.१.१०
श्रोत्र ꣳ होच्चक्राम	बृह० ६.१.१०
श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेय:	बृह० ६.२.१
श्वेतकेतुर्हाऽऽरुणेय आस	छान्दो० ६.१.१
श्वेतकेतुर्हारुणेय:पञ्चालाना	छान्दो० ५.३.१
श्वोभावा मर्त्यस्य	कठ० १.१.२६
षष्ठ्यायामिन्द्रस्य	ना०बि० १५
षोडशकल: सोम्य	छान्दो० ६.७.१
संकल्पनस्पर्श०	श्वेता० ५.११
संकल्पमात्र....बन्ध:	निरा० २८
संकल्पो वाव मनसो	छान्दो० ७.४.१
संन्यासीति च.... इति	निरा० ३९
संप्राप्यैनमृषयो	मुण्ड० ३.२.५
संभूतिं च विनाशं	ईश० १४
संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरम्	श्वेता० १.८
संवत्सरो वै	प्रश्न० १.९
संविन्मात्रस्थितश्च	स्क० ३
स इमांल्लोकानसृजत	ऐत० १.१.२
स ईक्षत कथं	ऐत० १.३.११
स ईक्षतेमे नु लोका	ऐत० १.१.३
स ईक्षतेमे नु लोकाश्च	ऐत० १.३.१
स ईक्षांचक्रे कस्मिन्न	प्रश्न० ६.३
स एतमेव सीमानं	ऐत० १.३.१२
स एतां त्रयीं विद्याम्	छान्दो० ४.१७.३
स एतास्तिस्रो देवता	छान्दो० ४.१७.२
स एतेन प्रज्ञे	ऐत० ३.१.४
स एनान्ब्रह्म	छान्दो० ४.१५.६
स एव काले भुवनस्य	श्वेता० ४.१५
स एव ज्योतिषाम्	स्क० ५
स एवं विद्वान्	ऐत० २.१.६
स एवाधस्तात्स	छान्दो० ७.२५.१
स एष देवोऽम्बरगश्च	एका० ८
स एष परोवरीयानुद्गीथ:	छान्दो० १.९.२
स एष ये चैतस्माद्	छान्दो० १.७.६
स एष रसाना ꣳ	छान्दो० १.१.३
स एष वैश्वानरो	प्रश्न० १.७
स एष संवत्सर: प्रजा०	बृह० १.५.१४
स ऐक्षत यदि वा	बृह० १.२.५
स च पादनारायणो	मुद्ग० २.५
स जातो भूतान्	ऐत० १.३.१३

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
स जातो यावदायुषं जीवति	छान्दो० ५.९.२	स य एतदेवममृतं...साध्या	छान्दो० ३.१०.३
स तत्राजगाम	गाय० २.२	स य एतमेवं....आयतन०	छान्दो० ४.८.४
स तन्मयो ह्यमृत	श्वेता० ६.१७	स य एतमेवं...ज्योति०	छान्दो० ४.७.४
स तस्मिन्नेवाकाशे	केन० ३.१२	स य एतमेवं विद्वाः	छान्दो० ४.५.३
सत्यकामो ह जाबालो	छान्दो० ४.४.१	स य एतमेवं विद्वान	छान्दो० ३.१९.४
सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्द	सर्व० १२	स य एतमेवं विद्वानु०	छान्दो० ४.१२.२
सत्यमेव जयति	मुण्ड० ३.१.६	स य एतमेवं विद्वानु०	छान्दो० ४.११.२
सत्येन लभ्यस्तपसा	मुण्ड ० ३.१.५	स य एतमेवं...विद्वानु०	छान्दो० ४.१३.२
स त्रेधात्मानं व्यकु०	बृह० १.२.३	स य एतमेवं...श्रतु०	छान्दो० ४.६.४
स त्वमग्निः	कठ० १.१.१३	स य एवमेतत्	छान्दो० २.२१.२
स त्वं प्रियान्प्रियरूपा	कठ० १.२.३	स य एवमेतद्गायत्रं	छान्दो० २.११.२
सदेव सोम्येदमग्र	छान्दो० ६.२१	स य एवमेतद्बृहदादित्ये	छान्दो० २.१४.२
स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयो	बृह० १.४.१४	स य एवमेतद्यज्ञाय	छान्दो० २.१९.२
स नैव व्यभवत्स विश.	बृह० १.४.१२	स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ	छान्दो० २.१२.२
स नैव व्यभवत्स शौद्रम्	बृह० १.४.१३	स य एवमेतद्राजनम्	छान्दो० २.२०.२
स पर्यगाच्छुक्रम्	ईश० ८	स य एवमेतद्वामदेव्यम्	छान्दो० २.१३.२
सप्त प्राणाः प्रभवन्ति	मुण्ड० २.१.८	स य एवमेतद्वैराजमृतुषु	छान्दो० २.१६.२
स प्राणमसृजत	प्रश्न० ६.४	स य एवमेतद्वैरूपम्	छान्दो० २.१५.२
स ब्रह्मचारिवृत्तिश्च	मंत्रि० ११	स य एवमेताः	छान्दो० २.१७.२
स ब्रह्मा स विष्णुः	निरा० ८	स य एवमेता रेवत्यः	छान्दो० २.१८.२
स ब्रूयान्नास्य	छान्दो० ८.१.५	स य एवंवित्	तैत्ति० ३.१०.५
समस्तस्य खलु	छान्दो० २.१.१	स य एषोऽणिमैतदा०	छान्दो० ६.८.७,
समाधिनिर्धूतमूलस्य	मैत्रा० ४.४ (झ)	९,४,१०.३, १२.३, १३.३, १४.३, १५.३	
समान उ एवायं	छान्दो० १.३.२	स य एषोऽन्तर्हृदय	तैत्ति० १.६.१
समानमा सांजीवीपुत्रात्	बृह० ६.५.४	स यः कामयेत	बृह० ६.३.१
समानस्तु द्वयोर्मध्ये	अमृ० ३८	स यत्रायमणिमानं न्येति	बृह०४.३.३६
समाने तृप्यति मनस्	छान्दो० ५.२२.२	स यत्रायमात्माऽबल्यं	बृह० ४.४.१
समाने वृक्षे	मुण्ड० ३.२.२	स यत्रैतत्स्वप्न्यया	बृह० २.१.१८
समाने वृक्षे पुरुषो	श्वेता० ४.७	स यथा तत्र नादाहृयेत्	छान्दो० ६.१६.३
समासक्तं यदा चित्तं	मैत्रा० ४.४ (ङ)	स यथा दुन्दुभेर्हन्यमा०	बृह० २.४.७
समे शुचौ शर्करावह्नि०	श्वेता० २.१०	स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य	बृह० ४.५.८
स य आकाशं	छान्दो० ७.१२.२	स यथार्द्रेधाग्नेरभ्याहितस्य	बृह० ४.५.११
स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त	छन्दो० ७.१४.२	स यथार्द्रेधाग्नेरभ्याहितात्	बृह० २.४.१०
स य इच्छेत्पुत्रो मे	बृह० ६.४.१४	स यथावीणायै वाद्य०	बृह० ४.५.१०
स य इदमविद्वान्	छान्दो० ५.२४.१	स यथा वीणायै वाद्यमानायै	बृह० २.४.९
स य इमाः स्त्रींल्लोकान्	बृह० ५.१४.६	स यथा शकुनिः	छान्दो० ६.८.२
स य एतदेवं	छान्दो० २.१.४	स यथा शङ्खस्य	बृह० ४.५.९
स य एतदेवममृतं..मरुता.	छान्दो० ३.९.३	स यथा शङ्खस्यध्माय०	बृह० २.४.८
स य एतदेवममृतं...रुद्रा.	छान्दो० ३.७.३	स यथा सर्वासामपा ः	बृह० २.४.११
स य एतदेवममृतं..वसूना.	छान्दो० ३.६.३	स यथा सर्वासामपा	बृह० ४.५.१२
स य एतदेवं विद्वान्	छान्दो० १.४.५	स यथा सैन्धवखिल्य	बृह० २.४.१२
स य एतदेवममृतं वेदादि.	छान्दो० ३.८.३	स यथा सैन्धवघनो०	बृह० ४.५.१३

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
स यथा सोम्य	प्रश्न० ४.७
स यथेमा नद्यः	प्रश्न० ६.५
स यथोभयपाद०	छान्दो० ४.१६.५
स यथोर्णनाभि०	बृह० २.१.२०
स यदवोचं प्राणम्	छान्दो० ३.१५.४
स यदशिशिषति	छान्दो० ३.१७.१
स यदा तेजसाभिभूतो	प्रश्न० ४.६
स यदि पितरं	छान्दो० ७.१५.२
स यदि पितृलोककामो	छान्दो० ८.२.१
स यद्येकमात्रमभिध्यायीत	प्रश्न० ५.३
स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० ७.४.३
स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० ७.११.२
स यः स्मरः ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० ७.१३.२
स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० ७.५.३
स यावदादित्यः	छान्दो० ३.६.४
स यामिच्छेत्कामयेत	बृह० ६.४.९
स यावदादित्य उत्तरत	छान्दो० ३.१०.४
स यावदादित्य..द्विस्ता	छान्दो० ३.७.४
स यावदादित्यः पश्चादु०	छान्दो० ३.९.४
स यावदादित्यो दक्षिणत	छान्दो० ३.८.४
स योध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० ७.६.२
स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० ७.१.५
स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० ७.९.२
स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त	छान्दो० ७.१०.२
स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० ७.८.२
स यो मनुष्याणाः	बृह० ४.३.३३
स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० ७.३.२
स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० ७.२.२
स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० ७.७.२
स यो ह वै तत्परमं	मुण्ड० ३.२.९
सर्वकर्मा सर्वकामः	छान्दो० ३.१४.४
सर्वचिन्तां समुत्सृज्य	ना०बि० ४१
सर्वज्ञो भवतु क्षिप्रम्	शु०र० ८
सर्वतः पाणिपादम्	श्वेता० ३.१६
सर्वः ह्येतद्ब्रह्मा	माण्डू० २
सर्वं खल्विदं..किंचन	निरा० ९
सर्वं खल्विदं ब्रह्म	छान्दो० ३.१४.१
सर्वं चेदं क्षयिष्णु	मैत्रा० १.४
सर्वव्यापिनमात्मानं	श्वेता० १.१६
सर्वा जीवे सर्व संस्थे	श्वेता० १.६
सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च	श्वेता० ५.४
सर्वाननशिरोग्रीवः	श्वेता० ३.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
सर्वास्वप्सु पञ्चविध	छान्दो० २.४.१
सर्वे तत्र लयम्	ना०बि० ५१
सर्वेन्द्रियगुणाभासम्	श्वेता० ३.१७
सर्वे वेदा यत्पदं	कठ० १.२.१५
सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मनः	छान्दो० २.२२.३
सर्वे स्वरा घोषवन्तो	छान्दो० २.२२.५
सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो	बृह० ४.३.३२
स वा अयं पुरुषो जायमानः	बृह० ४.३.८
स वा अयमात्मा ब्रह्म	बृह० ४.४.५
स वा अयमात्मा सर्वेषाम्	बृह० २.५.१५
स वा ..आत्माऽन्नादो	बृह० ४.४.२४
स वा ..आत्मा योऽयं	बृह० ४.४.२२
स वा एष आत्मा	छान्दो० ८.३.३
स वा एष आत्मेत्यदो	मैत्रा० २.१०
स वा एष एतस्मिन्बुद्ध	बृह० ४.३.१७
स वा एष एतस्मिन् स्वप्नान्ते	बृह० ४.३.३४
स वा एष एतस्मिन् स्वप्ने	बृह० ४.३.१६
स वा एष महानज	बृह० ४.४.२५
स वा एष शुद्धः	मैत्रा० २.११
स वा एष.. संप्रसादे	बृह० ४.३.१५
स वा एषं सूक्ष्मो	मैत्रा० २.५
सवित्रा प्रसवेन जुवेत	श्वेता० २.७
स विश्वकृद्विश्वविदात्म.	श्वेता० ६.१६
स वृक्षकालाकृतिभिः	श्वेता० ६.६
स वेदैतत्परमं	मुण्ड० ३.२.१
स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी	बृह० १.४.३
स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा	बृह० १.३.१२
सव्याहृतिं सप्रणवाम्	अमृ० ११
सशब्दश्चाक्षरे	ना०बि० ४९
स समित्पाणि..तद्य	छान्दो० ८.१०.३
स समित्पाणिः ....पुनरेयाय	छान्दो० ८.९.२
स समित्पाणिः... नाह	छान्दो० ८.११.२
स सर्ववेत्ता भुवनस्य	एका० ९
स सविता सावित्र्या	गाय० ४.२
स ह क्षत्ताऽन्विष्य	छान्दो० ४.१.७
स ह खादित्वा	छान्दो० १.१०.५
स ह गौतमो राज्ञो०	छान्दो० ५.३.६
स ह द्वादशवर्ष	छान्दो० ६.१.२
सह नौ यशः	तैत्ति० १.३.१
स ह पञ्चदशाहानि	छान्दो० ६.७.२
स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे	बृह० ६.४.२
स ह प्रातः संजिहान	छान्दो० १.१०.६

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
स ह मैत्रेय: प्रात:	गाय० २.४
स ह मैत्रेय: स्वानन्तेवासीन	गाय० २.३
स ह मौद्गल्य:	गाय० २.१
स ह व्याधिना	छान्दो० ४.१०.३
स ह शिलक:	छान्दो० १.८.३
स ह संपादयां चकार	छान्दो० ५.११.३
सहस्रशीर्षा पुरुष:	श्वेता० ३.१४
सहस्राणमती	ना०बि० ५
सह हारिद्रुमतम्	छान्दो० ४.४.३
स हाशाथ हैनमुपससाद	छान्दो० ६.७.४
स हेभ्यं कुल्माषान्	छान्दो० १.१०.२
स होवाच ... आकाश एव	बृह० ३.८.७
स होवाच...आकाशे तदोतं	बृह० ३.८.४
स होवाच ... ईश्वर इति च	निरा० ४
स होवाच ... एवायमग्नौ	बृह० २.१.७
स होवाच...एवायं छायामय:	बृह० २.१.१२
स होवाच ... एवायमप्सु	बृह० २.१.८
स होवाच ...एवायमाकाशे	बृह० २.१.५
स होवाच...एवायमात्मनि	बृह० २.१.१३
स होवाच... एवायमादर्शे	बृह० २.१.९
स होवाच...एवासावादित्ये	बृह० २.१.२
स होवाच किं मेऽन्नम्	छान्दो० ५.२.१
स होवाच किं मे वासो	छान्दो० ५.२.२
स होवाच ... चन्द्रे	बृह० २.१.३
स होवाच... तात जानीथा	बृह० ६.२.४
स होवाच ...दिक्षु	बृह० २.१.११
स होवाच दैवेषु वै	बृह० ६.२.६
स होवाच न वा अरे पत्यु:	बृह० २.४.५
स होवाच ... पत्यु:	बृह० ४.५.६
स होवाच पितरं	कठ० १.१.४
स होवाच प्रतिज्ञातो	बृह० ६.२.५
स होवाच भगवन्तं	छान्दो० १.११.२
स होवाच महात्मन	छान्दो० ४.३.६
स होवाच महिमान	बृह० ३.९.२
स होवाच यथा नस्त्वं	बृह० ६.२.८
स होवाच ... यन्तम्	बृह० २.१.१०
स होवाच याज्ञवल्क्य:	बृह० २.४.४
स होवाचर्ग्वेदं	छान्दो० ७.१.२
स होवाच वायुर्वै गौतम	बृह० ३.७.२
स होवाच ... वायौ	बृह० २.१.६
स होवाच विज्ञायते	बृह० ६.२.७
स होवाच ... विद्युति	बृह० २.१.४

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
स होवाच ... वै खलु	बृह० ४.५.५
स होवाचात्र वा	गाय० २.५
स होवाचा... पुरुष	बृह० २.१.१६
स होवाचा...पुरुषस्तदेषां	बृह० २.१.१७
स होवाचाजातशत्रु: प्रति	बृह० २.१.१५
स होवाचाजातशत्रुरेतावत्नू	बृह० २.१.१४
स होवाचैतदेवात्रात्विषम्	गाय० २.६
स होवाचैतद्वै तदक्षरम्	बृह० ३.८.८
स होवाचोवाच वै सो	बृह० ३.३.२
स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो	बृह० ३.४.२
सा चेदस्मै दद्यात्	बृह० ६.४.८
सा चेदस्मै न	बृह० ६.४.७
सा ब्रह्मेति	केन० ४.१
सा भावयित्री	ऐत० २.१.३
साम प्राणो वै साम	बृह० ५.१३.३
सामवेदस्तथा	प्रण० ६
सामैश्चिदन्तो	एका० १०
सा वा एषा देवता	बृह० १.३.९
सा वा ... पाप्मानं मृत्युमपहत्य	बृह० १.३.१०
सा वा...मृत्युमपहत्या-	बृह० १.३.११
सा ह वागुच्चक्राम	छान्दो० ५.१.८
सा ह वागुवाच	बृह० ६.१.१४
सा हैनमुवाच नाहम्	छान्दो० ४.४.२
सा होवाच नमस्तेऽस्तु	बृह० ३.८.५
सा होवाच....नामृता	बृह० ४.५.४
सा होवाच ब्राह्मणा	बृह० ३.८.१२
सा होवाच मैत्रेयी यन्नु	बृह० २.४.२
सा होवाच मैत्रेयी येनाहम्	बृह० २.४.३
सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव	बृह० २.४.१३
सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा	बृह० ४.५.१४
सा होवाच यदूर्ध्वं	बृह० ३.८.३
सा होवाच...याज्ञवल्क्य	बृह० ३.८.६
सा होवाच...वित्तेन पूर्णा:	बृह० ४.५.३
सा होवाचाहं वै त्वा	बृह० ३.८.२
सिद्धासने स्थितो	ना०बि० ३१
सुकेशा च भारद्वाज:	प्रश्न० १.१
सुखदु:खबुद्ध्या	सर्व० ६
सुखमिति ... सुखम्	निरा० १५
सुवरित्यादित्ये मह	तैत्ति० १.६.२
सुषारथिरश्वानिव	शि०सं० ६
सुषुप्तस्थान:	माण्डू० ११
सूक्ष्मातिसूक्ष्मम्	श्वेता० ४.१४

१०८ उपानषद्

[सरल हिन्दी भावार्थ सहित]

साधनाखण्ड

*

सम्पादक

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

*

*

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना

गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ. प्र.)

२००५ मूल्य : 125 पये

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

- प्रकाशक

  युग निर्माण योजना

  गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ. प्र.)

- लेखक

  वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

- चतुर्थ आवृत्ति :

  २००५

- सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

- मुद्रक

  युग निर्माण योजना प्रेस

  गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ. प्र.)

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

ॐ

भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यं
भर्गो देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥

(त्रिपुरातापिन्युपनिषद् १.१)

*****

उस प्राणस्वरूप, दुःखनाशक, सुखस्वरूप, श्रेष्ठ,
तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा को
हम अन्तरात्मा में धारण करें। वह परमात्मा
हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर
प्रेरित करे।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

उपनिषदों का महत्त्व, अध्येताओं की दृष्टि में

'मैं उपनिषदों को पढ़ता हूँ, तो मेरे आँसू बहने लगते हैं। यह कितना महान ज्ञान है ? हमारे लिए यह आवश्यक है कि उपनिषदों में सन्निहित तेजस्विता को अपने जीवन में विशेष रूप से धारण करें।'

– स्वामी विवेकानंद

'उपनिषदों को जो भी मूल संस्कृत में पढ़ता है, वह मानव आत्मा और परम सत्य के गुह्य और पवित्र सम्बन्धों को उजागर करने वाले उनके बहुत से उद्‌गारों के उत्कर्ष काव्य और प्रबल सम्मोहन से मुग्ध हो जाता है और उसमें बहने लगता है।'

– डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्

'चक्षु सम्पन्न व्यक्ति देखेंगे कि भारत का ब्रह्मज्ञान समस्त पृथिवी का धर्म बनने लगा है। प्रातः कालीन सूर्य की अरुणिम किरणों से पूर्व-दिशा आलोकित होने लगी है; परन्तु जब वह सूर्य मध्याह्न गगन में प्रकाशित होगा, तब उस समय उसकी दीप्ति से समग्र भूमण्डल दीप्तिमय हो उठेगा।'

– विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर

'सारे पृथ्वी मण्डल में मूल उपनिषद् के समान इतना फलोत्पादक और उच्च भावोद्‌दीपक ग्रन्थ कहीं भी नहीं है। इसने मुझको जीवन में शान्ति प्रदान की है और मरण में भी यह शान्ति देगा।'

–शोपेन हॉवर

'उपनिषदों के ज्ञान से मुझे अपने जीवन के उत्कर्ष में भारी सहायता मिली है। मैं उनका ऋणी हूँ। ये उपनिषदें आत्मिक उन्नति के लिए विश्व के धार्मिक साहित्य में अत्यन्त सम्मानास्पद रही हैं और आगे भी रहेंगी।'

– प्रो० मैक्समूलर

'मैंने कुरान, तौरेत, इञ्जील, जबुर आदि ग्रन्थ पढ़े, उनमें ईश्वर सम्बन्धी जो वर्णन है, उनसे मन की प्यास न बुझी। तब हिन्दुओं की ईश्वरीय पुस्तकें पढ़ीं। इनमें से उपनिषदों का ज्ञान ऐसा है, जिससे आत्मा को शाश्वत शांति तथा सच्चे आनंद की प्राप्ति होती है। हजरतनवी ने भी एक आयत में इन्ही प्राचीन रहस्यमय पुस्तकों के सम्बन्ध में संकेत किया है।'

– दाराशिकोह

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

विषयानुक्रमणिका

क्र०	विषय	पृ० से तक
क.	प्रकाशकीय	
ख.	संकेत विवरण	
१.	अक्षमालिकोपनिषद्	९-१४
२.	अक्ष्युपनिषद्	१५-२०
३.	अद्वयतारकोपनिषद्	२१-२५
४.	कलिसंतरणोपनिषद्	२६-२७
५.	कालाग्निरुद्रोपनिषद्	२८-२९
६.	कृष्णोपनिषद्	३०-३३
७.	गणपत्युपनिषद्	३४-३६
८.	गरुडोपनिषद्	३७-४३
९.	गायत्री रहस्योपनिषद्	४४-४८
१०.	गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्	४९-५६
११.	चतुर्वेदोपनिषद्	५७-५८
१२.	चाक्षुषोपनिषद्	५९-६०
१३.	तुलस्युपनिषद्	६१-६३
१४.	त्रिपुरोपनिषद्	६४-६६
१५.	त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्	६७-८२
१६.	दक्षिणामूर्त्युपनिषद्	८३-८६
१७.	देव्युपनिषद्	८७-९०
१८.	ध्यानबिन्दूपनिषद्	९१-१०२
१९.	नारायणोपनिषद्	१०३-१०४
२०.	नीलरुद्रोपनिषद्	१०५-१०७
२१.	नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्	१०८-१२६
२२.	नृसिंहषट्चक्रोपनिषद्	१२७-१२९
२३.	पाशुपत ब्राह्मणोपनिषद्	१३०-१३८
२४.	प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्	१३९-१४२

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

क्र०	विषय	पृ० से तक
२५.	बह्वृचोपनिषद्	१४३-१४४
२६.	भावनोपनिषद्	१४५-१४७
२७.	महोपनिषद्	१४८-१९४
२८.	योगकुण्डल्युपनिषद्	१९५-२०९
२९.	योगचूडामण्युपनिषद्	२१०-२२२
३०.	योगराजोपनिषद्	२२३-२२४
३१.	राधोपनिषद्	२२५-२२६
३२.	रामपूर्वतापिन्युपनिषद्	२२७-२३६
३३.	रुद्रहृदयोपनिषद्	२३७-२४१
३४.	रुद्राक्षजाबालोपनिषद्	२४२-२४८
३५.	रुद्रोपनिषद्	२४९-२५०
३६.	लाङ्गूलोपनिषद्	२५१-२५४
३७.	शरभोपनिषद्	२५५-२५९
३८.	सरस्वती रहस्योपनिषद्	२६०-२६७
३९.	सावित्र्युपनिषद्	२६८-२७०
४०.	सीतोपनिषद्	२७१-२७५
४१.	सूर्योपनिषद्	२७६-२७८
४२.	सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्	२७९-२८६
ग.	परिशिष्ट	
	१. परिभाषाकोश	२८७-३३०
	२. मन्त्रानुक्रमणिका	३३१-३५६
	३. रेखाचित्र	३५७-३६०

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

प्रकाशकीय

उपनिषदों को आर्ष साहित्य के शीर्ष भाग की मान्यता प्राप्त है। नवयुग सृजन के पुष्ट आध्यात्मिक आधार को विकसित करने के लिए उपनिषदों के ज्ञानामृत को विचारशीलों तक पहुँचाने की आवश्यकता **परम पूज्य, युगऋषि, वेदमूर्ति,तपोनिष्ठ पं०श्रीराम शर्मा आचार्य जी** ने अनुभव की। तदनुसार सन् १९६१ में उन्होंने १०८ उपनिषदों के सुगम अनुवाद एवं जनसुलभ प्रकाशन का अनोखा पुरुषार्थ कर दिखाया। बाद में शान्ति-कुञ्ज में प्रज्ञा पुराण के अवतरण क्रम में ही उन्होंने गीता विश्वकोश तैयार करने तथा उपनिषदों के नये संस्करण से सम्बन्धित योजना प्रदान की। उस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूत्र संकेत भी प्रदान किये। उनके निर्देशानुसार **शक्ति स्वरूपा वन्दनीया माता भगवतीदेवी शर्मा** के मार्गदर्शन में वेदों के साथ ही उपनिषदों पर भी शोध स्तर का कार्य प्रारम्भ किया गया। १०८ उपनिषदों का प्रस्तुत संस्करण उसी योजना के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है।

पूज्य आचार्य श्री द्वारा प्रारम्भ में १०८ उपनिषदें तीन (ज्ञान, ब्रह्मविद्या और साधना) खण्डों में प्रकाशित की गयी थीं। उस परिपाटी को यथावत् बनाये रखकर भी कतिपय परिवर्तन करने पड़े हैं। पूर्व प्रकाशित ज्ञानखण्ड में बृहदारण्यकोपनिषद् सहित २४ उपनिषदें हैं, जबकि सर्व प्रथम प्रकाशन (१९६१) में बृहदारण्यक० को छोड़कर भी ३५ उपनिषदें थीं।

इस तीसरे 'साधनाखण्ड' में भी ब्रह्मविद्या खण्ड की तरह ४२ उपनिषदें हैं। इसमें भी उपनिषदों का क्रम अकारादि ही रखा गया है, इससे उपनिषदों को ढूँढ़ने में सुविधा रहेगी। तीनों खण्डों के कलेवर लगभग समान रखने की दृष्टि को ध्यान में रखकर ऐसा करना आवश्यक समझा गया। अध्येताओं की सुविधा के लिए कुछ और प्रयास इस संग्रह में किये गये हैं-१. मन्त्रों का प्रामाणिक पाठ प्रस्तुत करने के लिए प्राचीन पाठों को भी ढूँढ़ने का प्रयास किया गया है। इसके लिए अड्यार लाइब्रेरी-मद्रास' से प्रकाशित उपनिषदों के प्रथम संस्करण (१९२०-५०) प्राप्त किये गये हैं। साथ ही 'भाण्डारकर प्राच्य शोध प्रतिष्ठान, पूना'; सिन्धिया प्राच्य विद्या शोध संस्थान,उज्जैन'; एशियाटिक रिसर्च इंस्टीट्यूट, मुम्बई', 'अखिल भारतीय संस्कृत परिषद् लखनऊ' तथा 'सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी' से प्राप्त 'हस्त-लिखित' उपनिषदों का भी सहयोग लिया गया है।

२. प्रत्येक खण्ड में 'मन्त्रानुक्रमणिका' देने का भी श्रमसाध्य प्रयास किया गया है। अभी तक गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित कुछ गिनी-चुनी उपनिषदों की ही मन्त्रानुक्रमणिका उपलब्ध थी। अब इस संग्रह की सभी उपनिषदों की क्रमणी दी जा रही है। इससे मन्त्रों की ढूँढ़-खोज में सरलता रहेगी।

३. प्रत्येक खण्ड में एक परिशिष्ट जोड़ने का नूतन प्रयास किया गया है। उपनिषदों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों को व्याख्यायित करके अकारादि क्रम में प्रस्तुत किया गया है। इससे उपनिषद् विद्या में अभिरुचि रखने वाले अध्येताओं को बड़ी सहायता मिलेगी।

४. यथाशक्ति उपनिषदों के मूलस्रोतों का पता लगाकर उनके सन्दर्भ देने का प्रयास भी किया गया है। इससे यह जानना सुगम होगा कि कौन सी उपनिषद् संहिता का भाग है, कौन ब्राह्मण का, कौन आरण्यक का और कौन उनसे भिन्न है।

५. प्रत्येक उपनिषद् के प्रारम्भ में उसका संक्षिप्त सारांश दे दिया गया है, जिससे उपनिषद् की विषय-वस्तु पर एक विहंगम दृष्टि पड़ सके, जो पाठकों के लिए सुविधापूर्ण सिद्ध होगा।

इस प्रकार परम पूज्य गुरुदेव एवं वन्दनीया माताजी की थाती को उन्हीं की प्रेरणा एवं शक्ति से आपके समक्ष प्रस्तुत करने में अतीव सन्तोष का अनुभव हो रहा है। इस ज्ञान यज्ञ में जिस समिधा और हव्य का उपयोग हुआ है,उसे जुटाने एवं प्रयुक्त करने में जिनके भी श्रम-साधन सार्थक हुए हैं, उन्हें निःसन्देह इस ज्ञानयज्ञ की दिव्य सुगन्ध आप्यायित करके धन्य बना देगी। उनके लिए शब्दों से आभार प्रदर्शन का कोई मूल्य नहीं। इस प्रयास को और अधिक उत्कृष्टता प्रदान करने में पाठकों के सुझाव सदैव प्रार्थनीय रहेंगे,क्योंकि वे ही इसके सच्चे पारखी हैं। उन्हीं के हाथों में इसे इस आशा के साथ सौंप रहे हैं कि वे इस ज्ञानामृत का रसास्वादन उसी भाव से करेंगे, जिस भाव से यह प्रस्तुत किया गया है।

- प्रकाशक

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

संकेत विवरण

अक्ष०	–	अक्षमालिकोपनिषद	तै०ब्रा०	–	तैत्तिरीय ब्राह्मण	यो०चू०	– योगचूडामण्युपनिषद्
अक्षि०	–	अक्ष्युपनिषद्	त्रिपुरा०	–	त्रिपुरोपनिषद्	यो०रा०	– योगराजोपनिषद्
अथर्व०	–	अथर्ववेद	त्रिपुरातापि०	–	त्रिपुरातापिन्युपनिषद्	यो०ह०	– योगिनी हृदय
अद्वयता०	–	अद्वयतारकोपनिषद्	त्रि०ब्रा०	–	त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्	यू०प०	– यूपलक्षण परिशिष्ट
आरुणि०	–	आरुण्युपनिषद्	द०मू०	–	दक्षिणामूर्त्युपनिषद्	राधा०	– राधोपनिषद्
आ०श्रौ०	–	आश्वलायन श्रौतसूत्र	दु०वृ०	–	दुर्गावृत्ति	रामपूर्व०	– रामपूर्वतापिन्युपनिषद्
उ०का०	–	उत्तरकाण्ड	दे०प०	–	देवयाज्ञिक पद्धति	रुद्र०	– रुद्रोपनिषद्
ऋ०	–	ऋग्वेद	देवी०	–	देव्युपनिषद्	रुद्र०जा०	– रुद्राक्षजाबालोपनिषद्
ऋ०सर्वा०	–	ऋग्वेद सर्वानुक्रमणिका	द्र०	–	द्रष्टव्य	रुद्रह०	– रुद्रहृदयोपनिषद्
ऐ०आ०	–	ऐतरेय आरण्यक	द्वयो०	–	द्वयोपनिषद्	लाङ्गूल०	– लाङ्गूलोपनिषद्
कपि०सं०	–	कपिष्ठलकठ संहिता	ध्या०बि०	–	ध्यानबिन्दूपनिषद्	वाच०	– वाचस्पत्यम्
कलि०	–	कलिसंतरणोपनिषद्	नारा०	–	नारायणोपनिषद्	वि०चू०	– विवेकचूडामणि
का०श्रौ०	–	कात्यायन श्रौतसूत्र	नि०	–	निरुक्त	वे०वि०	– वेदान्त विमर्श
काला०रु०	–	कालाग्निरुद्रोपनिषद्	नी०रुद्र०	–	नीलरुद्रोपनिषद्	श०क०	– शब्दकल्पद्रुम
कृष्ण०	–	कृष्णोपनिषद्	नृ०पूर्व०	–	नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद्	श०ब्रा०	– शतपथ ब्राह्मण
कौ०ब्रा०	–	कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्	नृ०षट्	–	नृसिंहषट्चक्रोपनिषद्	शरभ०	– शरभोपनिषद्
क्र०	–	क्रमांक	पा०यो०प्र०	–	पातञ्जल योग प्रदीप	शां०श्रौ०	– शांखायन श्रौतसूत्र
क्षुरिको०	–	क्षुरिकोपनिषद्	पा०ब्र०	–	पाशुपतब्रह्मोपनिषद्	शि०क०	– शिवाङ्क-कल्याण
खं०	–	खण्ड	पू०का०	–	पूर्वकाण्ड	श्रा०त०	– श्राद्धतत्त्व
गण०	–	गणपत्युपनिषद्	पृ०	–	पृष्ठ	श्वेता०	– श्वेताश्वतरोपनिषद्
गरुड०	–	गरुडोपनिषद्	प्र०	–	प्रथम	संस्क०	– संस्करण
गा०रह०	–	गायत्री रहस्योपनिषद्	प्रा०हो०	–	प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्	स०पा०	– समाधि पाद
गी०	–	गीता	बह्वृ०	–	बह्वृचोपनिषद्	स०श्रौ०	– सत्याषाढ श्रौतसूत्र
गो०पू०	–	गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्	ब्र०भा०	–	ब्रह्मयोगी भाष्य	सर०रह०	– सरस्वती रहस्योपनिषद्
गो०सं०	–	गोरक्ष संहिता	ब्र०खं०	–	ब्रह्मविद्याखण्ड	सा०भा०	– सायण भाष्य
घेर०सं०	–	घेरण्ड संहिता	ब्र०पु०	–	ब्रह्माण्ड पुराण	सावि०	– सावित्र्युपनिषद्
च०वे०	–	चतुर्वेदोपनिषद्	भाग०	–	भागवत	सीता०	– सीतोपनिषद्
चा०	–	चाक्षुषोपनिषद्	भाव०	–	भावनोपनिषद्	सूर्य०	– सूर्योपनिषद्
जा०दर्शन०	–	जाबालदर्शनोपनिषद्	मं०ब्रा०	–	मण्डलब्राह्मणोपनिषद्	सौ०ल०	– सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्
जैमि०ब्रा०	–	जैमिनीय ब्राह्मण	मनु०	–	मनुस्मृति	हठ०प्र०	– हठयोगप्रदीपिका
टि०	–	टिप्पणी	म०पु०	–	मत्स्यपुराण	हि०वि०को०	– हिन्दी विश्वकोश
तां०ब्रा०	–	ताण्ड्य ब्राह्मण	महो०	–	महोपनिषद्	हि०श०सा०	– हिन्दी शब्द सागर
तुलसी०	–	तुलस्युपनिषद्	मुण्डक०	–	मुण्डकोपनिषद्	हौ०प०	– हौत्र परिशिष्ट
ते०बि०	–	तेजबिन्दूपनिषद्	यो०कुं०	–	योगकुण्डल्युपनिषद्		

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

ॐ

॥ अक्षमालिकोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध है, इसमें प्रजापति ब्रह्मा एवं कुमार कार्तिकेय (गुह) द्वारा प्रश्नोत्तर शैली में अक्षमाला में अकार, उकार आदि के प्रतिष्ठित होने का वर्णन किया गया है।

सर्वप्रथम 'अक्षमाला' के विषय में जिज्ञासा की गई है कि यह किन लक्षणों वाली है ? इसके कितने भेद हैं ? इसमें कितने सूत्र हैं ? इसको गूँथा कैसे जाता है ? इसमें कितने वर्ण प्रतिष्ठित हैं और उनके अधिष्ठाता देवता कौन-कौन हैं ? तदुपरान्त अक्षमाला का लक्षण, अक्षमाला में ब्रह्मा आदि की भावना, अक्षमाला के शोधन की प्रक्रिया, एक-एक अक्ष का एक-एक मन्त्र से संयोजन; देवता, मन्त्र, विद्या एवं तत्त्व की सन्निधि पाने के लिए जप करना, अक्षमाला में ही सब कुछ समाया है-ऐसी (सर्वात्मकत्व) भावना करना, अक्षमाला की स्तुति तथा अन्त में इस उपनिषद् की फलश्रुति का विवेचन किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्संदधाम्यृतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परमात्मन्! मेरी वाणी मन में स्थित हो, मन वाणी में प्रतिष्ठित हो। (हे परमात्मन्!) आप मेरे समक्ष प्रकट हों। मेरे लिए वेद का ज्ञान लाएँ (प्रकट करें)। मैं पूर्वश्रुत ज्ञान को विस्मृत न करूँ। इस स्वाध्यायशील प्रवृत्ति से मैं दिन और रात्रियों को एक कर दूँ (मेरा स्वाध्याय सतत चलता रहे)। मैं सदैव ऋत और सत्य बोलूँगा। ब्रह्मा मेरी रक्षा करे। वह (ब्रह्म) वक्ता (आचार्य) की रक्षा करे। त्रिविध ताप शान्त हों।

अथ प्रजापतिर्गुहं पप्रच्छ भो ब्रह्मन्नक्षमालाभेदविधिं ब्रूहीति। सा किं लक्षणा कति भेदा अस्याः कति सूत्राणि कथं घटनाप्रकारः के वर्णाः का प्रतिष्ठा कैवास्याधिदेवता किं फलं चेति॥ १ ॥

किसी समय प्रजापति ने भगवान् गुह (कार्तिकेय) से प्रश्न किया- 'हे भगवन्! आप कृपा करके अक्षमाला की भेद-विधि बताने का अनुग्रह करें। उसका लक्षण क्या है ? कितने भेद हैं ? इसके सूत्र कितने हैं ? घटना प्रकार (पिरोने के प्रकार) कैसे हैं ? कौन से अक्षर हैं ? क्या प्रतिष्ठा है ? इसका कौन अधिदेवता है ? और इसका क्या फल है ?' ॥ १ ॥

तं गुहः प्रत्युवाच प्रवालमौक्तिकस्फटिकशङ्खरजताष्टापदचन्दनपुत्रजीविकाब्जे रुद्राक्षा इति। आदिक्षान्तमूर्तिः सावधानभावा। सौवर्णं राजतं ताम्रं चेति सूत्रत्रयम्। तद्विवरे सौवर्णं तद्दक्षपार्श्वे राजतं तद्वामे ताम्रं तन्मुखे मुखं तत्पुच्छे पुच्छं तदन्तरावर्तनक्रमेण योजयेत्॥ २ ॥

भगवान् गुह ने उत्तर देते हुए कहा- 'हे ब्रह्मन्! यह (अक्षमाला) प्रवाल, मोती, स्फटिक, शंख, चाँदी, स्वर्ण, चन्दन, पुत्रजीविका, कमल एवं रुद्राक्ष ये दस प्रकार की होती हैं'। ये 'अ' से लेकर 'क्ष' तक के अक्षरों

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

से युक्त विधिपूर्वक धारण की जाती हैं। सुवर्ण, चाँदी और ताँबा निर्मित तीन सूत्र होते हैं। इसमें स्वर्ण सामने (मनकों के) मुख विवर (छिद्र) में, दाहिने भाग में चाँदी तथा बायें हिस्से में ताँबा, उसके मुख में मुख एवं पूँछ के साथ पूँछ क्रम से नियोजित करना चाहिए॥ २॥

यदस्यान्तरं सूत्रं तद्ब्रह्म। यद्दक्षपार्श्वं तच्छैवम्। यद्वामे तद्वैष्णवम्। यन्मुखं सा सरस्वती। यत्पुच्छं सा गायत्री। यत्सुषिरं सा विद्या। या ग्रन्थिः सा प्रकृतिः। ये स्वरास्ते धवलाः। ये स्पर्शास्ते पीताः। ये परास्ते रक्ताः॥ ३॥

जो उसके अन्दर का सूत्र है, वही ब्रह्म है। जो दाहिने भाग में है, वही शैव है। जो बायें हिस्से में है, वही वैष्णव है। जो मुख है, वही सरस्वती है। जो पूँछ है, वही गायत्री है। जो छिद्र है, वही विद्या है। जो गाँठ है, वही प्रकृति है। जो स्वर हैं, वही सात्त्विक होने के कारण धवल अर्थात् शुभ्र-श्वेत हैं और जो स्पर्श (व्यञ्जन) हैं, वही (सत्त्व एवं तम मिश्रित होने के कारण) पीत हैं तथा जो परा (अर्थात् तम एवं सत के अतिरिक्त) हैं, वे (राजस के कारण) रक्त वर्ण युक्त हैं॥ ३॥

अथ तां पञ्चभिर्गव्यैरमृतैः पञ्चभिर्गव्यैस्तनुभिः शोधयित्वा पञ्चभिर्गव्यैर्गन्धोदकेन संस्नाप्य तस्मात्सोङ्कारेण पत्रकूर्चेन स्नपयित्वाष्टभिर्गन्धैरालिप्य सुमनःस्थले निवेश्याक्षतपुष्पैराराध्य प्रत्यक्षमादिक्षान्तैर्वर्णैर्भावयेत्॥ ४॥

इसके अनन्तर उसे (नन्दा आदि) पाँच गौओं के दूध से तथा पंचगव्य (गोमूत्र, गोमय, गोदुग्ध, गोदधि, गोघृत) से शोधित करके पुनः पञ्चगव्य (नन्दादि पाँच गौओं के दही-मात्र से) एवं गंध मिश्रित जल से भली प्रकार स्नान करवाकर ॐ कार का उच्चारण करते हुए पत्र कूर्च (पत्तों की कूची) द्वारा जल छिड़क करके (मन्त्र शास्त्र में प्रख्यात तक्कोल, उशीर, कर्पूर आदि) अष्टगंधों से लेपन करके 'मणशिला' नामक धातु पर प्रतिष्ठित कर अक्षत-पुष्पों से पूजन करे। प्रत्येक अक्ष (मनके) को 'अ' से लेकर 'क्ष' तक के अक्षरों द्वारा क्रमशः भावित करे॥ ४॥

ओमंकार मृत्युंजय सर्वव्यापक प्रथमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमाङ्काराकर्षणात्मक सर्वगत द्वितीयेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमिङ्कार पुष्टिदा क्षोभकर तृतीयेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमीङ्कार वाक्प्रसादकर निर्मल चतुर्थेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमुङ्कार सर्वबलप्रद सारतर पञ्चमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमूङ्कारोच्चाटनकर दुःसह षष्ठेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमृङ्कार संक्षोभकर चञ्चल सप्तमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमॄङ्कार संमोहनकरोज्ज्वलाष्टमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओम्लृङ्कार विद्वेषणकर मोहक नवमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओम्लॄंकार मोहकर दशमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमेङ्कार सर्ववश्यकर शुद्धसत्त्वैकादशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमैङ्कार शुद्धसात्त्विक पुरुषवश्यकर द्वादशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमोङ्काराखिलवाङ्मय नित्यशुद्ध त्रयोदशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमौङ्कार सर्ववाङ्मय वश्यकर शान्त चतुर्दशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमङ्कार गजादिवश्यकर मोहन पञ्चदशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमःकार मृत्यनाशनकर रौद्र षोडशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ कंकार सर्वविषहर कल्याणप्रद सप्तदशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ खंकार सर्वक्षोभकर व्यापकाष्टादशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ गंकार सर्वविघ्नशमन महत्तरैकोनविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ ॐ घंकार सौभाग्यप्रद स्तम्भनकर विंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ ङंकार सर्वविषनाशकरोग्रैकविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ चङ्काराभिचारघ्न क्रूर द्वाविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ छंकार भूतनाशकर भीषण त्रयोविंशेऽक्षे

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

प्रतितिष्ठ। ॐ जङ्कार कृत्यादिनाशकर दुर्धर्ष चतुर्विंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ झंकार भूतनाशकर पञ्चविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ ञंकार मृत्युप्रमथन षड्विंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ टंकार सर्वव्याधिहर सुभग सप्तविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ ठंकार चन्द्ररूपाष्टाविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ डङ्कार गरुडात्मक विषघ्न शोभनैकोनत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ ढंकार सर्वसंपत्प्रद सुभग त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ णंकार सर्वसिद्धिप्रद मोहकरैकत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ तंकार धनधान्यादिसंपत्प्रद प्रसन्न द्वात्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ थङ्कार धर्मप्राप्तिकर निर्मल त्रयस्त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ दङ्कार पुष्टिवृद्धिकर प्रियदर्शन चतुस्त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ धङ्कार विषज्वरनिघ्न विपुल पञ्चत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ नङ्कार भुक्तिमुक्तिप्रद शान्त षट्त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ।ॐ पङ्कार विषविघ्ननाशन भव्य सप्तत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ फङ्काराणिमादिसिद्धिप्रद ज्योतीरूपाष्टत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ बंकार सर्वदोषहर शोभनैकोनचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ भंकार भूतप्रशान्तिकर भयानक चत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ मंकार विद्वेषिमोहनकरैकचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ यङ्कार सर्वव्यापक पावन द्विचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ रंकार दाहकर विकृत त्रिचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ लंकार विश्वंभर भासुर चतुश्चत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ वंकार सर्वाप्यायनकर निर्मल पञ्चचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ शंकार सर्वफलप्रद पवित्र षट्चत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ षंकार धर्मार्थकामद धवल सप्तचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ संकार सर्वकारण सार्ववर्णिकाष्टचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ हंकार सर्ववाङ्मय निर्मलैकोनपञ्चाशदक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ ळङ्कार सर्वशक्तिप्रद प्रधान पञ्चाशदक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ क्षंकार परापरतत्त्वज्ञापक परंज्योतीरूप शिखामणौ प्रतितिष्ठ॥ ५॥

हे अकार! तुम मृत्यु को जीतने वाले हो, सर्वव्यापी इस प्रथम अक्ष (मनके) में स्थित हो जाओ। हे आकार! तुम आकर्षण शक्ति से ओत-प्रोत सर्वत्र संव्याप्त हो, इस द्वितीय अक्ष में प्रविष्ट हो जाओ। हे इकार! तुम पुष्टि-प्रदाता हो तथा क्षोभरहित हो, तीसरे अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे ईकार! तुम वाणी को प्राञ्जलता प्रदान करने वाले हो तथा निर्मल हो, इस चौथे अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे उकार! तुम सभी को सभी तरह से बल-प्रदाता हो एवं सारयुक्तों में सर्वश्रेष्ठ हो, पाँचवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे ऊकार! तुम उच्चारण करने वाले तथा दुस्सह अर्थात् न सहे जा सकने वाले हो, इस छठे अक्ष में स्थित हो जाओ। हे ऋकार! तुम संक्षोभ अर्थात् चल-चित्तता को करने वाले एवं चंचल हो, इस सातवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे ॠकार! तुम सम्मोहित करने वाले एवं उज्ज्वल हो, इस आठवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे ऌकार! तुम विद्वेष को प्रकट कर देने वाले एवं सभी कुछ जानने वाले अत्यन्त गोपनीय हो, इस नौवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे ॡकार! तुम मोहकारी हो, इस दसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे एकार! तुम सभी को वश में करने वाले तथा शुद्ध सत्य हो, इस ग्यारहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे ऐकार! तुम शुद्ध एवं सात्त्विक हो तथा पुरुषों को अपने वश में करने वाले हो, इस बारहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे ओकार! तुम अखिल वाङ्मय (समस्त शब्द समूह) हो एवं नित्य पवित्र हो, इस तेरहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे औकार! तुम भी अक्षर समूह रूप सभी को वश में करने वाले तथा शान्त स्वरूप हो, इस चौदहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे अंकार! तुम हाथी आदि को अपने वश में करने वाले एवं मोहित करने वाले हो, इस पन्द्रहवें अक्ष में स्थित हो जाओ! हे अ:कार! तुम मृत्यु विनाशक एवं रौद्र

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

(अति भयानक) हो, इस सोलहवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे ककार! तुम सम्पूर्ण विषों को विनष्ट करने वाले एवं कल्याण-प्रदाता हो, इस सत्रहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे खकार! तुम सभी को क्षुभित करने वाले एवं सर्वत्र व्याप्त रहते हो, इस अट्ठारहवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे गकार! तुम सभी विघ्नों को शांत करने वाले एवं बड़ों में भी अति विशाल हो, इस उन्नीसवें अक्ष में प्रतिष्ठा प्राप्त करो। हे घकार! तुम सौभाग्य-प्रदाता और स्तम्भन गति को अवरुद्ध करने वाले कर्त्ता हो, इस बीसवें अक्ष में प्रतिष्ठा प्राप्त करो। हे ङकार! तुम सभी विषयों के विनाशक एवं उग्र भयानक हो, इस इक्कीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे चकार! तुम अभिचार नाशक तथा अत्यन्त क्रूर हो, इस बाइसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे छकार! तुम भूत विनाशक एवं भयानक हो, इस तेईसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे जकार! तुम कृत्या आदि (डाकिनी आदि) के नाशक एवं दुर्धर्ष हो, इस चौबीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे झकार! तुम भूत नाशक हो, इस पच्चीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे ञकार! तुम मृत्यु को मथित कर देने वाले हो, इस छब्बीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे टकार! तुम समस्त रोगों के विनाशक एवं सुन्दर हो, इस सत्ताइसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे ठकार! तुम चन्द्र स्वरूप हो, इस अट्ठाइसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे डकार! तुम गरुड़ के सदृश विष नाशक तथा सुन्दर हो, इस उन्तीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे ढकार! तुम समस्त प्रकार के सम्पत्ति प्रदाता एवं सौम्य-शालीन हो, इस तीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे णकार! तुम सभी सिद्धियों के प्रदाता एवं मोहित (मोहयुक्त) करने वाले हो, इस इकतीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे तकार! तुम धन एवं धान्य आदि सम्पत्तियों के देने वाले एवं सदैव प्रसन्नमय हो, इस बत्तीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे थकार! तुम धर्म की प्राप्ति कराने वाले एवं निर्मल हो, इस तैंतीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे दकार! तुम पुष्टिकर्त्ता एवं वृद्धिकर्त्ता हो, सुन्दर दृष्टिगोचर होने वाले हो, इस चौंतीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे धकार! तुम विष एवं ज्वर विनाशक हो तथा बहुत विशाल भी हो, इस पैंतीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे नकार! तुम भोग, मोक्ष-प्रदाता एवं शान्तरूप हो, इस छत्तीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे पकार! तुम विष और विघ्नों के नाशक एवं कल्याणकारी हो, इस सैंतीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे फकार! तुम अणिमा, महिमा एवं गरिमा आदि अष्ट सिद्धियों से सम्पन्न एवं प्रकाशमय हो, इस अड़तीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे बकार! तुम समस्त दोषों के हरणकर्त्ता एवं सौंदर्यमय हो, इस उन्तालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे भकार! तुम भूत-बाधा का शमन करने वाले एवं भयानक हो, इस चालीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे मकार! तुम विद्वेष करने वाले को संमोहित कर लेने वाले अथवा विद्वेषी और मोह करने वाले हो, इस इकतालीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे यकार! तुम सर्वत्र संव्याप्त एवं परम पवित्र हो, इस बयालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे रकार! तुम दाह (जलन, तपन) उत्पन्न करने वाले एवं विकृत हो, इस तैंतालीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे लकार ! तुम विश्व का पोषण करने वाले एवं तेजस्वी हो, इस चौवालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे वकार! तुम सबको तृप्त (पुष्ट) करने वाले एवं निर्मल हो, पैंतालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे शकार! तुम सभी तरह के फलों को देने वाले एवं पवित्र हो, इस छियालीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे षकार! तुम धर्म, अर्थ एवं काम को देने वाले तथा श्वेत-शुभ्र हो, इस सैंतालीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे सकार! तुम समस्त वस्तुओं के कारण तथा सभी वर्णों से सम्बन्धित हो, इस अड़तालीसवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे हकार! तुम समस्त वाङ्मय (समस्त अक्षरों या साहित्य) के स्वरूप वाले एवं निर्मल हो, इस उनचासवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे ळकार! तुम सम्पूर्ण शक्तियों के प्रदाता एवं प्रधान हो, इस पचासवें अक्ष में स्थित हो जाओ। हे क्षकार! तुम परात्पर तत्त्व को बतलाने वाले एवं परम ज्योति स्वरूप हो, इस शिखामणि में मेरुमाला या प्रधान मनका के प्रतिनिधि के रूप में स्थित हो जाओ॥ ५॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अथोवाच ये देवाः पृथिवीषदस्तेभ्यो नमो भगवन्तोऽनुमदन्तु शोभायै पितरोऽनुमदन्तु शोभायै ज्ञानमयीमक्षमालिकाम्॥ ६॥

इसके पश्चात् बोले-'जो देवता पृथिवी में विचरण करने वाले हैं, उन्हें हम प्रणाम करते हैं'। हे भगवन्! मेरे द्वारा इस माला को स्वीकार करने का समर्थन करें। इसकी शोभा (प्रतिष्ठा) हेतु पितृगण अनुमोदन करें। इस ज्ञानरूपा अक्षमालिका को प्राप्त कर (अग्निष्वात्त आदि) पितर अनुमोदन करें॥ ६॥

अथोवाच ये देवा अन्तरिक्षसदस्तेभ्य ॐ नमो भगवन्तोऽनुमदन्तु शोभायै पितरोऽनुमदन्तु शोभायै ज्ञानमयीमक्षमालिकाम्॥ ७॥

इसके उपरान्त वे पुनः बोले-जो देवता अन्तरिक्ष में निवास करने वाले हैं, उन्हें नमन-वंदन है। वे भगवान् पितरों के साथ इस ज्ञानमयी माला में प्रतिष्ठित हों, इसकी शोभा के लिए अनुमोदन करें॥ ७॥

अथोवाच ये देवा दिविषदस्तेभ्यो नमो भगवन्तोऽनुमदन्तु शोभायै पितरोऽनुमदन्तु शोभायै ज्ञानमयीमक्षमालिकाम्॥ ८॥

तत्पश्चात् पुनः बोले—जो देवता स्वर्ग में निवास करने वाले हैं, वे ज्ञानस्वरूपिणी अक्षमालिका में स्थित हों, वरप्रदाता बनकर पितरों के सहित इसकी शोभा हेतु अनुमोदन करें॥ ८॥

अथोवाच ये मन्त्रा या विद्यास्तेभ्यो नमस्ताभ्यश्चोन्नमस्तच्छक्तिरस्याः प्रतिष्ठापयति॥९॥

तत्पश्चात् पुनः बोले— इस लोक में (सात करोड़ के लगभग) जो मंत्र हैं और जो (चौंसठ कला स्वरूप) विद्याएँ हैं, उन्हें नमस्कार है। उनकी शक्तियाँ इसमें प्रतिष्ठित हों॥ ९॥

अथोवाच ये ब्रह्मविष्णुरुद्रास्तेभ्यः सगुणेभ्य ॐ नमस्तद्वीर्यमस्याः प्रतिष्ठापयति॥१०॥

इसके बाद पुनः बोले—जो ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र हैं, उन्हें बारम्बार नमन-वंदन है, उनके पराक्रम को नमस्कार है, उनका वीर्य (पराक्रम-पुरुषार्थ) इसमें स्थित हो ॥ १०॥

अथोवाच ये सांख्यादितत्त्वभेदास्तेभ्यो नमो वर्तध्वं विरोधेनिवर्तध्वम्॥ ११॥

पुनः बोले—जो सांख्यादिक (दर्शनों में छियानवे) तत्त्व हैं, उन्हें नमस्कार है, (आप लोग) वृद्धि प्रदान करें, विरोध (की स्थिति) दूर करें॥ ११॥

अथोवाच ये शैवा वैष्णवाः शाक्ताः शतसहस्त्रशस्तेभ्यो नमो नमो भगवन्तोऽनुमदन्त्वनुगृह्णन्तु॥ १२॥

इसके पश्चात् पुनः बोले—जो शैव, वैष्णव एवं शाक्त सैकड़ों एवं सहस्रों की संख्या में निवास करते हैं, उन्हें नमस्कार है, वे सभी भगवान् (शक्तिशाली) हम सभी पर कृपा करें, अनुमोदन करें॥ १२

अथोवाच याश्च मृत्योः प्राणवत्यस्ताभ्यो नमो नमस्तेनैतां मृडयत मृडयत॥ १३॥

अन्त में इस प्रकार बोले—मृत्यु की जो उपजीव्य (आश्रित) शक्तियाँ हैं, उन्हें नमस्कार है, आप सभी लोग इस नमन-वन्दन से, स्तुति से प्रसन्न हों। इस अक्षमालिका द्वारा अपने उपासकों को सुख-प्रदान करें॥ १३॥

पुनरेतस्यां सर्वात्मकत्वं भावयित्वा भावेन पूर्वमालिकामुत्पाद्यारभ्य तन्मयीं महोपहारैरुपहृत्य आदिक्षान्तैरक्षैरक्षमालामष्टोत्तरशतं स्पृशेत्॥ १४॥

पुनः इस मालिका में सर्वात्मिकता (सर्वविध पूर्णता) की भावना करते हुए इसी भावना में पूर्व मालिका (आधी माला) को पिरोकर पुनः आधी पचास मनकों में उसी प्रकार आवृत्ति करके १०० की संख्या पूर्ण करे। पुनः शेष आठ मनकों में 'अ, क, च, ट,त,प,य,श'- इस अष्टवर्ग को पूर्वोक्त क्रम से नियोजित करे। तब मनकों

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

की संख्या एक सौ आठ हो जाती है। (मेरु में तो वही पूर्वोक्त 'क्ष' ही रहेगा। इस तरह से मालिका की योजना एक-एक पिरोकर पूर्ण करे) ॥ १४॥

अथ पुनरुत्थाप्य प्रदक्षिणीकृत्यों नमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमाले सर्ववशंकर्यों नमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमालिके शेषस्तम्भिन्यों नमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमाले उच्चाटन्यों नमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमाले विश्वामृत्यों मृत्युंजयस्वरूपिणि सकलोद्दीपिनि सकललोकरक्षाधिके सकललोकोज्जीविके सकललोकोत्पादिके दिवाप्रवर्तिके रात्रिप्रवर्तिके नद्यन्तरं यासि देशान्तरं यासि द्वीपान्तरं यासि लोकान्तरं यासि सर्वदा स्फुरसि सर्वहृदि वासयसि। नमस्ते परारूपे नमस्ते पश्यन्तीरूपे नमस्ते मध्यमारूपे नमस्ते वैखरीरूपे सर्वतत्त्वात्मिके सर्वविद्यात्मिके सर्वशक्त्यात्मिके सर्वदेवात्मिके वसिष्ठेन मुनिनाराधिते विश्वामित्रेण मुनिनोपजीव्यमाने नमस्ते नमस्ते॥ १५॥

अक्षमालिका की स्तुति करने के पश्चात् (उसे) उठाकर प्रदक्षिणा (परिक्रमा) करके (पुनः हाथ जोड़कर प्रार्थना करे), हे भगवती मन्त्रमातृके! हे अक्षमाले! तुम सभी को अपने वश में करने वाली हो, तुमको नमन-वन्दन है। हे मन्त्र मातृके! हे अक्षमाले! तुम सभी की गति स्तम्भित करने वाली, उच्चाटन अर्थात् विक्षिप्तता, करने वाली हो, तुम्हें प्रणाम है। हे मन्त्रमातृके! हे अक्षमाले! तुम सभी की मृत्यु स्वरूप एवं मृत्युञ्जय स्वरूपिणी हो तथा तुम सबको उद्दीप्त करने वाली हो। इसके साथ ही तुम समस्त लोकों की रक्षा करने वाली, सम्पूर्ण विश्व की प्राणदात्री, सभी कुछ उत्पन्न करने वाली, दिन तथा रात्रि की प्रवर्तक एवं नदियों से दूसरी नदियों, समस्त देश, द्वीपों, लोक में संचरण करने की शक्ति रखने वाली हो, समस्त स्थलों में तुम विराजमान हो एवं हृदय में स्फुरणा के रूप में सतत प्रकाशित होने वाली, सभी प्राणियों के हृदयों में निवास करती हो। परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी आदि जो वाणियाँ हैं, तुम उन्हीं का स्वरूप हो। समस्त तत्त्व-रूपों को धारण करने वाली, सर्वविद्या, सभी शक्तियों की अधिष्ठात्री, समस्त देवगणों की आराध्या हो। तुम वसिष्ठ मुनि के द्वारा वन्दित एवं विश्वामित्र मुनि के द्वारा उपसेव्यमान अर्थात् सेवा-शुश्रूषा किए जाने वाली हो, तुमको बारम्बार नमस्कार-प्रणाम है॥ १५॥

प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। तत्सायंप्रातः प्रयुञ्जानः पापोऽपापो भवति। एवमक्षमालिकया जप्तो मन्त्रः सद्यः सिद्धिकरो भवतीत्याह भगवान्गुहः प्रजापतिमित्युपनिषत्॥ १६॥

इस उपनिषद् का प्रातःकाल के समय में पाठ करने वाला मनुष्य रात्रि में किये गये पाप-कृत्यों से मुक्त हो जाता है और सायंकाल के समय में इसका पाठ करने वाला मनुष्य दिन में किये गये पापों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। जो मनुष्य सायं-प्रातः दोनों संध्याओं में निरन्तर इस उपनिषद् को पढ़ता है, वह बहुत बड़ा पाप-कृत्य करने वाला हो, तो भी पाप-मुक्त हो जाता है। भगवान् गुह ने प्रजापति से अन्त में यही कहा कि इस प्रकार से अभिमन्त्रित-पूजित अक्षमाला के द्वारा जप किया हुआ मन्त्र शीघ्रातिशीघ्र सिद्धि प्रदान करने वाला होता है॥ १६

ॐ वाङ्मे मनसि ..... इति शान्तिः॥

॥ इति अक्षमालिकोपनिषत्समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ अक्ष्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें महर्षि सांकृति एवं आदित्य के बीच प्रश्नोत्तर के माध्यम से चाक्षुष्मती विद्या एवं योगविद्या पर प्रकाश डाला गया है। यह उपनिषद् दो खण्डों में प्रविभक्त है।

प्रथम खण्ड में चाक्षुष्मती विद्या का विवेचन है। द्वितीय खण्ड में सर्वप्रथम ब्रह्मविद्या का स्वरूप वर्णित है, तदुपरान्त ब्रह्मविद्या प्राप्ति के लिए योग की विविध भूमिकाओं का क्रमशः विवेचन किया गया है। योग की कुल सात भूमिकाएँ हैं, जिनके माध्यम से साधक योग विद्या के क्षेत्र में क्रमिक उन्नति करता हुआ आगे बढ़ता है। सातवीं भूमिका में पहुँचने पर वह ब्रह्म साक्षात्कार की स्थिति में पहुँच जाता है। अन्त में ओंकार ब्रह्म के विषय में वह विवेचन प्रस्तुत किया गया है, जिसको जानकर और उस विधि से साधना करके व्यक्ति ब्रह्मपद प्राप्त कर लेता है। अपने को परम आनन्दमय-प्रज्ञानघन आनन्द की स्थिति में पाता हुआ- मैं ब्रह्म हूँ- ऐसी अनुभूति करने लगता है। यही उपनिषद् का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे परमात्मन्! आप हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें। हम दोनों साथ-साथ शक्ति अर्जित करें। हम दोनों की पढ़ी हुई विद्या तेजस्वी (प्रखर) हो। हम दोनों एक दूसरे के प्रति कभी ईर्ष्या-द्वेष न करें। हे शक्ति सम्पन्न! (हमारे) त्रिविध (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) तापों का शमन हो, अक्षय शान्ति की प्राप्ति हो।

॥ प्रथमः खण्डः ॥

अथ ह सांकृतिर्भगवानादित्यलोकं जगाम। तमादित्यं नत्वा चाक्षुष्मती विद्यया तमस्तुवत्॥
ॐ नमो भगवते श्रीसूर्यायाक्षितेजसे नमः। ॐ खेचराय नमः। ॐ महासेनाय नमः। ॐ तमसे नमः। ॐ रजसे नमः। ॐ सत्त्वाय नमः। ॐ असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृतं गमय। हंसो भगवाञ्छुचिरूपः प्रतिरूपः। विश्वरूपं घृणिनं जातवेदसं हिरण्मयं ज्योतीरूपं तपन्तम्। सहस्त्ररश्मिः शतधा वर्तमानः पुरुषः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः। ॐ नमो भगवते श्रीसूर्यायादित्यायाक्षितेजसेऽहोऽवाहिनि वाहिनि स्वाहेति। एवं चाक्षुष्मतीविद्यया स्तुतः श्रीसूर्यनारायणः सुप्रीतोऽब्रवीच्चाक्षुष्मतीविद्यां ब्राह्मणो यो नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो भवति। न तस्य कुलेऽन्धो भवति। अष्टौ ब्राह्मणान्ग्राहयित्वाथ विद्यासिद्धिर्भवति। य एवं वेद स महान्भवति॥ १॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

एक समय की कथा है कि भगवान् सांकृति आदित्य लोक गये। वहाँ पहुँच कर उन्होंने भगवान् सूर्य को नमस्कार कर चाक्षुष्मती विद्या द्वारा उनकी अर्चना की—नेत्रेन्द्रिय के प्रकाशक भगवान् श्रीसूर्य को नमस्कार है। आकाश में विचरणशील सूर्यदेव को नमस्कार है। हजारों किरणों की विशाल सेना रखने वाले महासेन को नमस्कार है। तमोगुण रूप भगवान् सूर्य को प्रणाम है। रजोगुण रूप भगवान् सूर्य को प्रणाम है। सत्त्वगुणरूप सूर्यनारायण को प्रणाम है। हे सूर्यदेव! हमें असत् से सत्पथ की ओर ले चलें। हमें अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलें। हमें मृत्यु से अमरत्व की ओर ले चलें। भगवान् भास्कर पवित्ररूप और प्रतिरूप (प्रतिबिम्ब प्रकटकर्त्ता) हैं। अखिल विश्व के रूपों के धारणकर्त्ता, किरण समूहों से सुशोभित, जातवेदा (सर्वज्ञाता), सोने के समान प्रकाशमान, ज्योतिःस्वरूप तथा तापसम्पन्न भगवान् भास्कर को हम स्मरण करते हैं। ये हजारों रश्मिसमूह वाले, सैकड़ों रूपों में विद्यमान सूर्यदेव सभी प्राणियों के समक्ष प्रकट हो रहे हैं। हमारे चक्षुओं के प्रकाशरूप अदितिपुत्र भगवान् सूर्य को प्रणाम है। दिन के वाहक, विश्व के वहनकर्त्ता सूर्यदेव के लिए हमारा सर्वस्व समर्पित है। इस चाक्षुष्मती विद्या से अर्चना किये जाने पर भगवान् सूर्यदेव अति हर्षित हुए और कहने लगे-जिस ब्राह्मण द्वारा इस चाक्षुष्मती विद्या का पाठ प्रतिदिन किया जाता है, उसे नेत्ररोग नहीं होते और न उसके वंश में कोई अंधत्व को प्राप्त करता है। आठ ब्राह्मणों को इस विद्या का ज्ञान करा देने पर इस विद्या की सिद्धि होती है। इस प्रकार कृत ज्ञाता महानता को प्राप्त करता है॥ १॥

[सूर्यदेव को प्रतिरूप और विश्वरूप कहा गया है। विज्ञान के अनुसार हम जो कुछ भी देखते हैं, उसका रूप उसके द्वारा किए जा रहे प्रकाश के परावर्तन (रिफलैक्शन) के कारण ही है। इसलिए उन्हें प्रतिरूप कहा जाता है। दिन में सूर्य के प्रकाश में हम जो भी रूप देखते हैं, वे सब प्रकारान्तर से सूर्य के प्रकाश के ही विविध रूप हैं। इसलिए सूर्य को विश्वरूप कहा गया है।]

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

अथ ह सांकृति रादित्यं पप्रच्छ भगवन्ब्रह्मविद्यां मे ब्रूहीति। तमादित्यो होवाच। सांकृते शृणु वक्ष्यामि तत्त्वज्ञानं सुदुर्लभम्। येन विज्ञातमात्रेण जीवन्मुक्तो भविष्यसि॥ १॥

उसके बाद सांकृति ऋषि ने भगवान् सूर्य से कहा-भगवन्! मुझे ब्रह्मविद्या का उपदेश करें। आदित्य देव ने उनसे कहा-सांकृते! आपसे अतिदुर्लभ तत्त्वज्ञान का विवेचन मैं करने जा रहा हूँ, उसे ध्यान से सुनें, जिसका ज्ञान प्राप्त कर लेने पर आप जीवन्मुक्त हो जाएँगे॥ १॥

सर्वमेकमजं शान्तमनन्तं ध्रुवमव्ययम्। पश्यन्भूतार्थचिद्रूपं शान्त आस्व यथासुखम्॥ २॥
अवेदनं विदुर्योगं चित्तक्षयमकृत्रिमम्। योगस्थः कुरु कर्माणि नीरसो वाथ मा कुरु॥ ३॥

आप समस्त प्राणिमात्र को एक, अजन्मा, शान्त, अनन्त, ध्रुव, अव्यय तथा तत्त्वज्ञान से चैतन्यरूप देखते हुए शान्ति और सुख पूर्वक रहें। अवेदन अर्थात् आत्मा-परमात्मा के अतिरिक्त अन्य किसी का आभास न हो-इसी का नाम योग है, यही यथार्थ चित्तक्षय है। इसलिए योग में स्थित होकर कर्त्तव्य कर्मों का निर्वाह करें, कर्म करते हुए नीरसता-विरक्तता न आने पाए॥ २-३॥

विरागमुपयात्यन्तर्वासनास्वनुवासरम्। क्रियासूदाररूपासु क्रमते मोदतेऽन्वहम्॥ ४॥
ग्राम्यासु जडचेष्टासु सततं विचिकित्सते। नोदाहरति मर्माणि पुण्यकर्माणि सेवते॥ ५॥

(अवेदन-) योग की पहली भूमिका इस प्रकार है—) योग की ओर प्रवृत्त होने पर अन्तःकरण दिन-प्रतिदिन वासनात्मक चिन्तन से दूर होता जाता है। साधक नित्य ही परमार्थ कर्मों को करता हुआ हर्ष का अनुभव करता है। जड़ मनुष्यों की अश्लील भोग प्रवृत्तियों (ग्राम्य चेष्टाओं) से वह हमेशा जुगुप्सा (घृणा)

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

करता है। किसी के गुप्त रहस्य प्रसंग को अन्यों के समक्ष नहीं कहता, अपितु वह पुण्य कृत्यों में ही हमेशा संलग्न रहता है॥ ४-५॥

अनन्योद्वेगकारीणि मृदुकर्माणि सेवते । पापाद्बिभेति सततं न च भोगमपेक्षते ॥ ६॥
स्नेहप्रणयगर्भाणि पेशलान्युचितानि च । देशकालोपपन्नानि वचनान्यभिभाषते ॥ ७॥

जिन कृत्यों से किसी प्राणी को उत्तेजित न होना पड़े, ऐसे दया और उदारतापूर्ण सौम्य कर्मों को वह करता है। वह पाप से भयभीत रहता और भोग साधनों की अभिलाषा नहीं करता। वह ऐसी वाणी का प्रयोग करता है, जिसमें सहज स्नेह और प्रेम का प्राकट्य हो तथा जो मृदुल और औचित्यपूर्ण होने के साथ-साथ देश, काल, पात्र के अनुकूल हो॥ ६-७॥

मनसा कर्मणा वाचा सज्जनानुपसेवते । यतःकुतश्चिदानीय नित्यं शास्त्राण्यवेक्षते॥ ८॥

मन से, वचन से और कर्म से श्रेष्ठ पुरुषों का सत्संग करते हुए जहाँ कहीं से भी प्राप्त हो सके, प्रतिदिन सद्ग्रन्थों का अध्ययन करता है॥ ८॥

तदासौ प्रथमामेकां प्राप्तो भवति भूमिकाम्। एवं विचारवान्यः स्यात्संसारोत्तारणं प्रति॥ ९॥
स भूमिकावानित्युक्तः शेषस्त्वार्य इति स्मृतः।विचारनाम्नीमितरामागतो योगभूमिकाम्॥ १०॥

इस स्थिति में ही वह प्रथम भूमिका वाला कहलाता है। भवसागर से उस पार जाने की जो अभिलाषा करता है, वही इस प्रकार के विचार को प्राथमिकता देता है। वह भूमिकावान् कहा जाता है और शेष 'आर्य'(दूसरों की तुलना में श्रेष्ठ) कहे जाते हैं। जो योग की दूसरी विचार भूमिका से युक्त हैं, (उनके लक्षण इस प्रकार से हैं-)॥ ९-१०॥

श्रुतिस्मृतिसदाचारधारणाध्यानकर्मणः।मुख्यया व्याख्यया ख्याताञ्छ्रयति श्रेष्ठपण्डितान्॥११॥

वह ऐसे ख्यातिलब्ध श्रेष्ठ विद्वानों का आश्रय ग्रहण करता है, जो श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा और ध्यान की उत्तम व्याख्या के लिए अधिक चर्चित हों ॥ ११॥

पदार्थप्रविभागज्ञः कार्याकार्यविनिर्णयम्। जानात्यधिगतश्चान्यो गृहं गृहपतिर्यथा ॥ १२॥
मदाभिमानमात्सर्यलोभमोहातिशायिताम्। बहिरप्यास्थितामीषत्त्यजत्यहिरिव त्वचम्॥ १३॥
इत्थंभूतमतिः शास्त्रगुरुसज्जनसेवया । सरहस्यमशेषेण यथावदधिगच्छति ॥ १४॥

वह पदार्थों के विभाग और पद को उचित रीति से जानता है तथा श्रवण करने योग्य सत्शास्त्रों में पारंगत हो जाने पर कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के निर्णय में कुशल हो जाता है। मद, अहंकार, मात्सर्य, लोभ और मोहादि की अधिकता उसके चित्त को डाँवाडोल नहीं करती, बाह्य आचरण में यत्किंचित् यदि उसकी स्थिति रहती है, तो उसका भी उसी प्रकार परित्याग कर देता है, जैसे साँप अपनी केंचुल को छोड़ देता है। इस प्रकार का सद्ज्ञान सम्पन्न साधक शास्त्र, गुरु और सत्पुरुषों के सेवा-सहयोग द्वारा रहस्यपूर्ण गूढ़ज्ञान को भी प्रयत्नपूर्वक स्वाभाविक रूप में हस्तगत कर लेता है॥१२-१४॥

असंसर्गाभिधामन्यां तृतीयां योगभूमिकाम्। ततः पतत्यसौ कान्तः पुष्पशय्यामिवामलाम्॥१५
यथावच्छास्त्रवाक्यार्थे मतिमाधाय निश्चलाम्। तापसाश्रमविश्रान्तैरध्यात्मकथनक्रमैः॥१६॥
शिलाशय्याऽऽसनासीनो जरयत्यायुरातताम्। वनावनिविहारेण चित्तोपशमशोभिना॥१७॥
असङ्गसुखसौख्येन कालं नयति नीतिमान्। अभ्यासात्साधुशास्त्राणां करणात्पुण्यकर्मणाम्॥
जन्तोर्यथावदेवेयं वस्तुदृष्टिः प्रसीदति। तृतीयां भूमिकां प्राप्य बुद्धोऽनुभवति स्वयम्॥ १९॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

इसके पश्चात् वह योग की असंसर्गनाम्नी तीसरी भूमिका में प्रवेश करता है-ठीक उसी प्रकार, जैसे कोई सुन्दर मनुष्य साफ-सुथरे फूलों के बिछौने पर अवस्थित होता है। शास्त्र जैसा अभिमत व्यक्त करते हैं, उसमें अपनी स्थिर मति को संयुक्त करके, तपस्वियों के आश्रम में वास करता हुआ अध्यात्म शास्त्र की चर्चा करते हुए (कष्टकर) पाषाण-शय्या पर आरूढ़ होते हुए ही वह सम्पूर्ण आयु बिता देता है। वह नीति पुरुष चित्त को शान्ति पहुँचाने वाले अधिक शोभाप्रद वन भूमि के विहार द्वारा विषयोपभोग से विरत होकर स्वाभाविक रूप में उपलब्ध सुख-साधनों को भोगता हुआ अपना जीवनयापन करता है। सद्ग्रन्थों के अभ्यास और पुण्य कर्मों के किये जाने से प्राणी की वास्तविक पर्यवेक्षण दृष्टि पवित्र होती है। इस तृतीय भूमिका को प्राप्त करके साधक स्वयमेव ज्ञानवान् होकर इस स्थिति का अनुभव करता है॥ १५-१९॥

द्विप्रकारमसंसर्गं तस्य भेदमिमं शृणु । द्विविधोऽयमसंसर्गः सामान्यः श्रेष्ठ एव च॥ २०॥
नाहं कर्त्ता न भोक्ता च न बाध्यो न च बाधकः। इत्यसंजनमर्थेषु सामान्यासङ्गनामकम्॥२१॥
प्राक्कर्मनिर्मितं सर्वमीश्वराधीनमेव वा । सुखं वा यदि वा दुःखं कैवात्र मम कर्तृता॥ २२॥
भोगाभोगा महारोगाः संपदः परमापदः। वियोगायैव संयोगा आधयो व्याधयोऽधियाम्॥ २३॥
कालश्च कलनोद्युक्तः सर्वभावाननारतम्। अनास्थयेति भावानां यदभावनमान्तरम्। वाक्यार्थल-ब्धमनसः सामान्योऽसावसङ्गमः॥ २४॥

असंसर्ग—सामान्य और श्रेष्ठ भेद से दो तरह का है। (उनके इस प्रकार के भेदों पर अब प्रकाश डालते हैं—) मैं न तो कर्त्ता, न भोक्ता, न बाध्य और न बाधक ही हूँ- इस प्रकार से विषयोपभोग में आसक्ति से रहित होने की भावना ही सामान्य असंसर्ग कहलाती है। सब कुछ पूर्वजन्म कृत कर्मों का प्रतिफल है या सब कुछ परमात्मा के अधीन है—ऐसी मान्यता रखना, सुख हो या दुःख इसमें मेरे किये गये कार्यों का अस्तित्व ही क्या है ? भोगसाधनों का अतिसंग्रह महारोगरूप है और समस्त वैभव परम आपत्तियों के स्वरूप हैं। सभी संयोगों की अन्तिम परिणति वियोग के रूप में है। मानसिक चिन्ताएँ अज्ञानग्रस्तों के लिए व्याधिरूप हैं। सभी क्षणभंगुर पदार्थ अनित्य हैं, सभी को काल-कराल अपना ग्रास बनाने में संलग्न है। (शास्त्रवचनों को जान लेने से उत्पन्न) अनास्था से मन में उनके अभाव की भावना को पैदा करता है, यह सामान्य असंसर्ग कहलाता है॥ २०-२४॥

अनेन क्रमयोगेन संयोगेन महात्मनाम् । नाहं कर्तेश्वरः कर्ता कर्म वा प्राक्तनं मम॥ २५॥
कृत्वा दूरतरे नूनमिति शब्दार्थभावनम्। यन्मौनमासनं शान्तं तच्छ्रेष्ठासङ्ग उच्यते॥ २६॥

इस प्रकार महान् पुरुषों के निरन्तर सत्संग से जो यह कहे कि मैं कर्त्ता नहीं, ईश्वर ही कर्त्ता है या मेरे पूर्व जन्म में किए गये कर्म ही कर्त्ता हैं। इस प्रकार से समस्त चिन्ताओं और शब्द-अर्थ के भाव को विसर्जित कर देने के पश्चात् जो मौन (मन-इन्द्रियों का संयम), आसन (आन्तरिक अवस्था) और शान्त भाव (बाहरी भावों के विस्मरण) की प्राप्ति होती है, वह श्रेष्ठ असंसर्ग कहा जाता है॥ २५-२६॥

संतोषामोदमधुरा प्रथमोदेति भूमिका । भूमिप्रोदितमात्रोऽन्तरमृताङ्कुरिकेव सा ॥ २७॥
एषा हि परिमृष्टान्तरन्यासां प्रसवैकभूः। द्वितीयां च तृतीयां च भूमिकां प्राप्नुयात्ततः॥ २८॥
श्रेष्ठा सर्वगता ह्येषा तृतीया भूमिकात्र हि। भवति प्रोज्झिताशेषसंकल्पकलनः पुमान्॥ २९॥
भूमिकात्रितयाभ्यासादज्ञाने क्षयमागते । समं सर्वत्र पश्यन्ति चतुर्थीं भूमिकां गताः॥ ३०॥
अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते च प्रशमं गते। पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं चतुर्थीं भूमिकां गताः॥ ३१॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अन्त:करण की भूमि में अमृत के छोटे अंकुर के प्रस्फुटन की तरह ही सन्तोष और आह्लादप्रद होने से मधुर प्रतीत होने वाली प्रथम भूमिका का अभ्युदय होता है। इसके उत्पन्न होते ही अन्तरंग में शेष भूमिकाओं के लिए भूमि तैयार हो जाती है। इसके बाद होने वाली दूसरी एवं तीसरी भूमिका में भी साधक कुशलता प्राप्त कर लेता है। इस तीसरी भूमिका को इसलिए सर्वोत्कृष्टता की श्रेणी में गिना गया है; क्योंकि इसमें साधक सभी संकल्पजन्य वृत्तियों को पूर्णत: त्याग देता है। अद्वैतभाव की दृढ़भावना से द्वैतभाव स्वत: समाप्त हो जाता है। चौथी भूमिका को प्राप्त साधक इस लोक को स्वप्न की तरह स्वीकार करता है ॥ २७-३१ ॥

भूमिकात्रितयं जाग्रच्चतुर्थी स्वप्न उच्यते । चित्तं तु शरदभ्रांशविलयं प्रविलीयते॥ ३२ ॥
सत्त्वावशेष एवास्ते पञ्चमीं भूमिकां गत: । जगद्विकल्पो नोदेति चित्तस्यात्र विलापनात्॥३३ ॥
पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तपदनामिकाम् । शान्ताशेषविशेषांशस्तिष्ठत्यद्वैतमात्रक: ॥ ३४॥
गलितद्वैतनिर्भासो मुदितोऽन्त:प्रबोधवान् । सुषुप्तघन एवास्ते पञ्चमीं भूमिकां गता: ॥ ३५ ॥
अन्तर्मुखतया तिष्ठन्बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन् । परिश्रान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते॥ ३६ ॥
कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूमिकायां विवासन: । षष्ठीं तुर्याभिधामन्यां क्रमात्पतति भूमिकाम्॥ ३७ ॥
यत्र नासन्नसद्रूपो नाहं नाप्यनहंकृति: । केवलं क्षीणमननमास्तेऽद्वैतेऽतिनिर्भय: ॥ ३८ ॥
निर्ग्रन्थि: शान्तसंदेहो जीवन्मुक्तो विभावन: । अनिर्वाणोऽपि निर्वाणश्चिन्नदीप इव स्थित: ॥३९ ॥
षष्ठ्यां भूमावसौ स्थित्वा सप्तमीं भूमिमाप्नुयात् । विदेहमुक्ताऽत्रोक्ता सप्तमी योगभूमिका ॥४० ॥

प्रारम्भिक तीन भूमिकायें जाग्रत् स्वरूपा हैं तथा चौथी भूमिका स्वप्न कही जाती है। पंचम भूमिका में आरूढ़ होने पर साधक का चित्त शरद्ऋतु के बादलों की तरह विलीन हो जाता है, मात्र सत्त्व ही शेष बचता है। चित्त के विलीन हो जाने से जागतिक विकल्पों का अभ्युदय नहीं होता। सुषुप्तपद नाम की इस पंचम भूमिका में सम्पूर्ण विभेद शान्त हो जाने पर साधक मात्र अद्वैत अवस्था में ही अवस्थित रहता है। द्वैत के समाप्त हो जाने से आत्मबोध से युक्त हर्षित हुआ साधक पंचम भूमिका में जाकर सुषुप्तघन (आनन्दप्रद अवस्था) को प्राप्त कर लेता है। वह बहिर्मुखी व्यवहार करते हुए भी हमेशा अन्तर्मुखी ही रहता है तथा सदा थके हुए की तरह निद्रातुर सा दिखता है। इस भूमिका में कुशलता हासिल करते हुए वासनाविहीन होकर वह साधक क्रमश: तुर्या नाम वाली छठी भूमिका में प्रविष्ट होता है। जहाँ सत्-असत् का अभाव है, अहंकार-अनहंकार भी नहीं है तथा विशुद्ध अद्वैत स्थिति में मननात्मक वृत्ति से रहित होने पर वह अत्यन्त निर्भयता को प्राप्त करता है। हृदय ग्रन्थियों के उद्घाटित होने पर संशय मिट जाते हैं। जीवन्मुक्त होकर उसकी भावशून्यता की सी स्थिति रहती है। निर्वाण को उपलब्ध न किये जाने पर भी उसकी स्थिति निर्वाण पद को प्राप्त साधक जैसी हो जाती है। उस समय वह निश्चेष्ट दीपक की तरह निश्चल रहता है। छठी भूमिका के पश्चात् वह सातवीं भूमिका की स्थिति प्राप्त करता है : विदेह-मुक्त की स्थिति ही सातवीं भूमिका कही गयी है॥ ३२-४० ॥

अगम्या वचसां शान्ता सा सीमा सर्वभूमिषु । लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम्॥४१ ॥
शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु । ओंकारमात्रमखिलं विश्वप्राज्ञादिलक्षणम्॥ ४२ ॥
वाच्यवाचकताभेदात् भेदेनानुपलब्धित: । अकारमात्रं विश्व: स्यादुकारस्तैजस: स्मृत: ॥ ४३ ॥
प्राज्ञो मकार इत्येवं परिपश्येत्क्रमेण तु । समाधिकालात्प्रागेव विचिन्त्यातिप्रयत्नत: ॥ ४४ ॥
स्थूलसूक्ष्मक्रमात्सर्वं चिदात्मनि विलापयेत् । चिदात्मानं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसदद्वय: ॥ ४५ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

परमानन्दसंदोहो वासुदेवोऽहमोमिति । आदिमध्यावसानेषु दुःखं सर्वमिदं यतः ॥ ४६ ॥
तस्मात्सर्वं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवानघ। अविद्यातिमिरातीतं सर्वाभासविवर्जितम्॥ ४७ ॥
आनन्दममलं शुद्धं मनोवाचामगोचरम्। प्रज्ञानघनमानन्दं ब्रह्मास्मीति विभावयेत्।
इत्युपनिषत्॥४८ ॥

यह भूमिका परम शान्त की है तथा वाणी की सामर्थ्य से अवर्णनीय है। यह सब भूमिकाओं की सीमारूप है तथा यहाँ सम्पूर्ण योग भूमिकाओं की समाप्ति है। लोकाचार, देहाचार और शास्त्रानुगमन को छोड़कर अपने अध्यास को नष्ट करे। विश्व, प्राज्ञ और तैजस के रूप में यह समस्त विश्व 'ॐ कार' स्वरूप ही है। वाच्य और वाचक में अभेदता रहती है और भेद होने पर इसकी उपलब्धि सम्भव नहीं। इन्हें क्रमशः इस प्रकार जाने-प्रणव की प्रथम मात्रा 'अकार विश्व, उकार तैजस और मकार प्राज्ञ रूप है। समाधिकाल से पहले विशेष प्रयासपूर्वक इस सम्बन्ध में चिन्तन-मनन करके स्थूल और सूक्ष्म से क्रमशः सब कुछ चिदात्मा में विलीन करे। चिदात्मा का स्व-स्वरूप स्वीकार करते हुए ऐसा दृढ़ विश्वास करे-मैं ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्तारूप, अद्वितीय, परमआनन्द सन्दोह रूप एवं वासुदेव प्रणव ॐ कार हूँ। चूँकि आदि, मध्य और अन्त में यह सम्पूर्ण प्रपञ्च दुःख देने वाला ही है, इसलिए हे निष्पाप! सबका परित्याग करके तत्त्वनिष्ठ बने। मैं अज्ञानरूपी अन्धकार से अतीत, सभी प्रकार के आभास से रहित, आनन्दरूप, मलरहित, शुद्ध, मन और वाणी से अगोचर, प्रज्ञानघन, आनन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ,ऐसी भावना करे। यही उपनिषद् (रहस्यमयी विद्या) है॥ ४१-४८॥

॥ ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति अक्ष्युपनिषत्समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अथ मध्यलक्ष्यलक्षणं प्रातश्चित्रादिवर्णाखण्डसूर्यचक्रवद्वह्निज्वालावलीवत्तद्विहीनान्तरिक्षवत्पश्यति। तदाकाराकारितयावतिष्ठति। तद्भूयोदर्शनेन गुणरहिताकाशं भवति। विस्फुरत्तारकाकारसंदीप्यमानागाढतमोपमं परमाकाशं भवति। कालानलसमद्योतमानं महाकाशं भवति। सर्वोत्कृष्टपरमद्युतिप्रद्योतमानं तत्त्वाकाशं भवति। कोटिसूर्यप्रकाशवैभवसंकाशं सूर्याकाशं भवति। एवं बाह्याभ्यन्तरस्थव्योमपञ्चकं तारकलक्ष्यम्। तद्दर्शी विमुक्तफलस्ताट्टग्व्योमसमानो भवति। तस्मात्तारक एव लक्ष्यममनस्कफलप्रदं भवति॥ ७॥

इसके अनन्तर अब 'मध्यलक्ष्य' के लक्षण का वर्णन करते हैं। जो प्रातः काल के समय में चित्रादि वर्ण से युक्त अखण्ड सूर्य का चक्रवत्, अग्नि की ज्वाला की भाँति तथा उनसे विहीन अन्तरिक्ष के समान देखता है। उस आकार के सदृश होकर प्रतिष्ठित रहता है। पुनः उसके दर्शन मात्र से वह गुणरहित 'आकाश' रूप हो जाता है। विस्फुरित (प्रकाशित) होने वाले तारागणों से प्रकाशमान एवं प्रातःकाल के अंधेरे की भाँति 'परमाकाश' होता है। 'महाकाश' कालाग्नि के समान प्रकाशमान होता है। 'तत्त्वाकाश' सर्वोत्कृष्ट प्रकाश एवं प्रखर ज्योतिसम्पन्न होता है। 'सूर्याकाश' करोड़ों सूर्यों के सदृश होता है। इस तरह बाह्य एवं अन्तः में प्रतिष्ठित ये 'पाँच आकाश' तारक-ब्रह्म के ही लक्ष्य हैं। इस क्रिया विधि द्वारा आकाश का दर्शन करने वाला उसी की भाँति समस्त बन्धनों को काटकर मुक्ति-प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है। तारक का लक्ष्य ही अमनस्क फल-प्रदाता कहा गया है॥ ७॥

तत्तारकं द्विविधं पूर्वार्धतारकमुत्तरार्धममनस्कं चेति। तदेष श्लोको भवति। तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरविधानतः। पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरमिति॥ ८॥

इस तारक योग की दो विधियाँ बतलाई गई हैं। जिसमें प्रथम पूर्वार्द्ध है और द्वितीय उत्तरार्द्ध। इस सन्दर्भ में यह श्लोक द्रष्टव्य है-'यह योग पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो प्रकार का होता है। पूर्व को 'तारक' एवं उत्तर को 'अमनस्क' (मनः शून्य होना) कहा गया है॥ ८॥

अक्ष्यन्तस्तारयोश्चन्द्रसूर्यप्रतिफलनं भवति। तारकाभ्यां सूर्यचन्द्रमण्डलदर्शनं ब्रह्माण्डमिव पिण्डाण्डशिरोमध्यस्थाकाशे रवीन्दुमण्डलद्वितयमस्तीति निश्चित्य तारकाभ्यां तद्दर्शनमात्राण्युभयैक्यदृष्ट्या मनोयुक्तं ध्यायेत्। तद्योगाभावे इन्द्रियप्रवृत्तेरनवकाशात्। तस्मादन्तर्दृष्ट्या तारक एवानुसंधेयः॥ ९॥

हम आँखों के तारक (पुतलियों) से सूर्य एवं चन्द्र का दर्शन (प्रतिफलन) करते हैं। जिस तरह से हम आँखों के तारकों से ब्रह्म-ब्रह्माण्ड के सूर्य एवं चन्द्र को देखते हैं, वैसे ही अपने सिर रूपी ब्रह्माण्ड के मध्य में विद्यमान सूर्य एवं चन्द्र का निर्धारण करके उनका हमेशा दर्शन करना चाहिए तथा दोनों को एक ही रूप जान करके मन को एकाग्र कर उनका चिन्तन करना चाहिए, क्योंकि यदि मन को इस भाव से ओत-प्रोत न किया जायेगा, तो समस्त इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त होने लगेंगी। इस कारण योगी-साधक को अपनी अन्तः की दृष्टि से 'तारक' का निरन्तर अनुसंधान करते रहना चाहिए॥ ९॥

तत्तारकं द्विविधं मूर्तितारकममूर्तितारकं चेति। यदिन्द्रियान्तं तन्मूर्तिमत्। यद्भ्रूयुगातीतं तदमूर्तिमत्। सर्वत्रान्तःपदार्थविवेचने मनोयुक्ताभ्यास इष्यते तारकाभ्यां सदूर्ध्वस्थ सत्त्वदर्शनान्मनोयुक्तेनान्तरीक्षणेन सच्चिदानन्दस्वरूपं ब्रह्मैव। तस्माच्छुक्लतेजोमयं ब्रह्मेति सिद्धम्।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

तद्ब्रह्म मनःसहकारिचक्षुषान्तर्दृष्ट्या वेद्यं भवति। एवममूर्तितारकमपि मनोयुक्तेन चक्षुषैव दहरादिकं वेद्यं भवति रूपग्रहणप्रयोजनस्य मनश्चक्षुरधीनत्वाद्बाह्यवदान्तरेऽप्यात्ममन-श्चक्षुःसंयोगेनैव रूपग्रहणकार्योदयात्। तस्मान्मनोयुक्तान्तर्दृष्टिस्तारकप्रकाशा भवति॥ १०॥

इस 'तारक' की दो विधियाँ कही गई हैं, जिसमें प्रथम मूर्त (मूर्ति)एवं द्वितीय अमूर्त (अमूर्ति) है। जो इन्द्रियों के अन्त (अर्थात् मनश्चक्षु) में है, वह मूर्त तारक है तथा जो दोनों भृकुटियों से बाहर है, वह अमूर्त है। आन्तरिक पदार्थों के विवेचन में सर्वत्र मन को एकाग्र करके अभ्यास करते रहना चाहिए। सात्त्विक-दर्शन से युक्त मन द्वारा अपने अन्तःकरण में सतत निरीक्षण करने से दोनों तारकों के ऊर्ध्व भाग में सच्चिदानन्दमय ज्योतिरूप परब्रह्म का दर्शन होता है। इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्म शुक्ल-शुभ्र तेज स्वरूप है। उस ब्रह्म को मनसहित नेत्रों की अन्तःदृष्टि से देखकर जानना चाहिए। अमूर्त तारक भी इसी विधि से मनः संयुक्त नेत्रों से ज्ञात हो जाता है। रूप दर्शन के सम्बन्ध में मन नेत्रों के आश्रित रहता है और बाहर के सदृश अन्तः में भी रूप ग्रहण का कार्य इन दोनों के द्वारा ही सम्पन्न होता है। इस कारण मन के सहित नेत्रों के द्वारा ही 'तारक' का प्रकाश होता है॥ १०॥

भ्रूयुगमध्यबिले दृष्टिं तद्द्वारोर्ध्वस्थिततेज आविर्भूतं तारकयोगो भवति। तेन सह मनोयुक्तं तारकं सुसंयोज्य प्रयत्नेन भ्रूयुग्मं सावधानतया किंचिदूर्ध्वमुत्क्षेपयेत्। इति पूर्वभागी तारकयोगः। उत्तरं त्वमूर्तिमदमनस्कमित्युच्यते। तालुमूलोर्ध्वभागे महान् ज्योतिर्मयूखो वर्तते। तद्योगिभिर्ध्येयम्। तस्मादणिमादिसिद्धिर्भवति॥ ११॥

जो मनुष्य अपनी आन्तरिक दृष्टि के द्वारा दोनों भृकुटियों के स्थल से थोड़ा सा ऊपरी भाग में स्थित तेजोमय प्रकाश का दर्शन करता है, वही तारक योगी होता है। उसके साथ मन के द्वारा तारक की सुसंयोजना करते हुए प्रयत्नपूर्वक दोनों भौंहों को कुछ थोड़ा सा ऊँचाई पर स्थिर करे। यही तारक का पूर्वार्द्ध योग कहलाता है। द्वितीय उत्तरार्द्ध भाग को अमूर्त कहा गया है। तालु-मूल के ऊर्ध्व भाग में महान् ज्योति किरण मण्डल स्थित है। उसी का ध्यान योगियों का ध्येय (लक्ष्य) होता है। उसी से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं॥११॥

अन्तर्बाह्यलक्ष्ये दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां सत्यां शांभवी मुद्रा भवति। तन्मुद्रारूढज्ञा-निनिवासाद्भूमिः पवित्रा भवति। तद्दृष्ट्वा सर्वे लोकाः पवित्रा भवन्ति। तादृशपरमयोगिपूजा यस्य लभ्यते सोऽपि मुक्तो भवति॥ १२॥

योगी-साधक की अन्तः एवं बाह्य लक्ष्य को देखने की सामर्थ्य वाली दृष्टि जब स्थिर हो जाती है, तब वह स्थिति ही शांभवी मुद्रा कहलाती है। इस मुद्रा से ओत-प्रोत ज्ञानी पुरुष का निवास स्थल अत्यन्त पवित्र माना जाता है तथा सभी लोक उसकी दृष्टि-मात्र से पवित्र हो जाते हैं। जो भी इस परम योगी की पूजा करता है, वह उसको प्राप्त करते हुए मुक्ति का अधिकारी हो जाता है॥ १२॥

अन्तर्लक्ष्यजलज्योतिःस्वरूपं भवति। परमगुरूपदेशेन सहस्त्रारे जलज्योतिर्वा बुद्धिगुहा-निहितज्योतिर्वा षोडशान्तस्थतुरीयचैतन्यं वान्तर्लक्ष्यं भवति। तद्दर्शनं सदाचार्यमूलम्॥ १३॥

अन्तर्लक्ष्य उज्ज्वल शुभ्र ज्योति के रूप में हो जाता है। परम सद्गुरु का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर सहस्त्र दल कमल में स्थित उज्ज्वल-ज्योति अथवा बुद्धि-गुहा में स्थित रहने वाली ज्योति अथवा फिर वह सोलह कला के अन्तः में विद्यमान तुरीय चैतन्य स्वरूप अन्तर्लक्ष्य होता है। यही दर्शन सदाचार का मूल है॥ १३॥

आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः। योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा योगात्मकः शुचिः॥१४॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

गुरुभक्तिसमायुक्तः पुरुषज्ञो विशेषतः । एवं लक्षणसंपन्नो गुरुरित्यभिधीयते ॥ १५ ॥

वेदज्ञान से सम्पन्न, आचार्य (श्रेष्ठ आचरण वाला), विष्णुभक्त, मत्सर आदि विकारों से रहित, योग का ज्ञाता, योग के प्रति निष्ठा रखने वाला, योगात्मा, पवित्रता युक्त, गुरुभक्त, परमात्मा की प्राप्ति में विशेष रूप से संलग्न रहने वाला— इन उपर्युक्त लक्षणों से सम्पन्न पुरुष ही गुरु रूप में अभिहित किया जाता है॥ १४-१५॥

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधकः । अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥ १६ ॥

'गु' अक्षर का अर्थ है—अन्धकार एवं 'रु' अक्षर का अर्थ है—अन्धकार को रोकने में समर्थ। अन्धकार (अज्ञान) को दूर करने वाला ही गुरु कहलाता है॥ १६॥

गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः । गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परायणम् ॥ १७ ॥

गुरु ही परम ब्रह्म परमात्मा है, गुरु ही परम (श्रेष्ठ) गति है, गुरु ही पराविद्या है और गुरु ही परायण (उत्तम आश्रय) है॥ १७॥

गुरुरेव परा काष्ठा गुरुरेव परं धनम्। यस्मात्तदुपदेष्टासौ तस्माद्गुरुतरो गुरुरिति ॥ १८ ॥

गुरु ही पराकाष्ठा है, गुरु ही परम (श्रेष्ठ) धन है। जो श्रेष्ठ उपदेश करता है, वही गुरु से गुरुतर अर्थात् श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम गुरु है, ऐसा जानना चाहिए ॥ १८॥

यः सकृदुच्चारयति तस्य संसारमोचनं भवति। सर्वजन्मकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति। सर्वान्कामानवाप्नोति। सर्वपुरुषार्थसिद्धिर्भवति। य एवं वेदेत्युपनिषत्॥ १९ ॥

जो मनुष्य एक बार (गुरु या इस उपनिषद् का) उच्चारण (पाठ) करता है, उसकी संसार-सागर से निवृत्ति हो जाती है। समस्त जन्मों के पाप तत्क्षण ही विनष्ट हो जाते हैं। समस्त इच्छाओं-आकांक्षाओं की पूर्ति हो जाती है। सभी पुरुषार्थ सफल-सिद्ध हो जाते हैं। जो ऐसा जानता है, वही उपनिषद् का यथार्थ ज्ञानी है, यही उपनिषद् है॥ १९॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति अद्वयतारकोपनिषत्समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ कलिसंतरणोपनिषद् ॥

कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में 'यथा नामे तथा गुणे' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए 'कलियुग' के दुष्प्रभाव से 'तर' (पार हो) जाने का अति सुगम उपाय वर्णित है। 'हरि' नाम की महिमा वर्णित होने से इसे हरिनामोपनिषद् भी कहा जाता है।

इस लघुकाय उपनिषद् में कुल ३ मन्त्र हैं। नारद और ब्रह्मा जी के प्रश्नोत्तर रूप में यह उपनिषद् प्रकट हुई है। जिसमें 'कलिसंतरण' (कलियुग के दुष्प्रभाव से बचने) का सुगम उपाय भगवन्नाम स्मरण बताया गया है। उपनिषद् का मानना है कि आत्मा (ब्रह्म) पर जो आवरण रहता है, जिसके रहते ब्रह्म साक्षात्कार सम्भव नहीं हो पाता; यह षोडशनामात्मक मन्त्र उस आवरण को नष्ट करने में समर्थ है। जिसके नष्ट होते ही 'ब्रह्म' का स्वरूप साधक के लिए उसी प्रकार प्रकट हो जाता है, जिस प्रकार मेघाच्छन्न 'सूर्य' वायु द्वारा मेघ के छिन्न-भिन्न कर देने पर स्वत: प्रकट हो जाता है। उपनिषद् के अन्त में नाम-जप की महिमा का सुन्दर विवेचन किया गया है, इसी के साथ यह उपनिषद् पूर्ण हो जाती है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्ष्युपनिषद्)

द्वापरान्ते नारदो ब्रह्माणं जगाम कथं भगवन् गां पर्यटन्कलिं संतरेयमिति। स होवाच ब्रह्मा साधु पृष्टोऽस्मि सर्वश्रुतिरहस्यं गोप्यं तच्छृणु येन कलिसंसारं तरिष्यसि। भगवत आदिपुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारणमात्रेण निर्धूतकलिर्भवति॥ १ ॥

द्वापर युग के अन्तिम काल में एक बार देवर्षि नारद पितामह ब्रह्माजी के समक्ष उपस्थित हुए और बोले-'हे भगवन्'! मैं पृथ्वीलोक में भ्रमण करता हुआ किस प्रकार से कलिकाल से मुक्ति पाने में समर्थ हो सकता हूँ? ब्रह्माजी प्रसन्नमुख हो इस प्रकार बोले-'हे वत्स! तुमने आज मुझसे अत्यन्त प्रिय बात पूछी है। आज मैं समस्त श्रुतियों का जो अत्यन्त गुप्त रहस्य है, उसे बतलाता हूँ, सुनो। इसके श्रवण मात्र से ही कलियुग में संसार-सागर को पार कर लोगे। भगवान् आदि पुरुष श्रीनारायण के पवित्र नाम के उच्चारण मात्र से मनुष्य कलिकाल के समस्त दोषों को विनष्ट कर डालता है॥ १ ॥

नारदः पुनः पप्रच्छ तन्नाम किमिति। स होवाच हिरण्यगर्भः। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। इति षोडशकं नाम्नां कलिकल्मषनाशनम्। नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु दृश्यते। इति षोडशकलावृतस्य जीवस्यावरणविनाशनम्। ततः प्रकाशते परं ब्रह्म मेघापाये रविरश्मिमण्डलीवेति॥ २ ॥

देवर्षि नारद ने पुनः प्रश्न किया-'पितामह! वह कौन सा नाम है?' तदुपरान्त हिरण्यगर्भ ब्रह्मा जी ने कहा-वह सोलह अक्षरों से युक्त नाम इस प्रकार है-हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे। इस प्रकार ये सोलह नाम कलिकाल के महान् पापों का विनाश करने में सक्षम हैं। इससे श्रेष्ठ अन्य कोई दूसरा उपाय चारों वेदों में भी दृष्टिगोचर नहीं होता। इन सोलह नामों के द्वारा षोडश कलाओं से आवृत

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

जीव के आवरण समाप्त हो जाते हैं। तदनन्तर जिस प्रकार मेघ के विलीन होने पर सूरज की किरणें ज्योतित होने लगती हैं, वैसे ही परब्रह्म का स्वरूप भी दीप्तिमान् होने लगता है॥ २॥

पुनर्नारदः पप्रच्छ भगवन्कोऽस्य विधिरिति। तं होवाच नास्य विधिरिति। सर्वदा शुचिरशुचिर्वा पठन्ब्राह्मणः सलोकतां समीपतां सरूपतां सायुज्यतामेति। यदास्य षोडशीकस्य सार्धत्रिकोटीर्जपति तदा ब्रह्महत्यां तरति। तरति वीरहत्याम्। स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति। पितृदेवमनुष्याणामपकारात्पूतो भवति। सर्वधर्मपरित्यागपापात्सद्यः शुचितामाप्नुयात् सद्यो मुच्यते सद्यो मुच्यत इत्युपनिषत्॥ ३॥

देवर्षि नारद जी ने पुनः प्रश्न किया-हे प्रभु! इस मन्त्र नाम के जप की क्या विधि है? ब्रह्माजी ने कहा-इस मन्त्र की कोई विधि नहीं है। शुद्ध हो अथवा अशुद्ध, हर स्थिति में इस मन्त्र-नाम का सतत जप-करने वाला मनुष्य सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य आदि सभी तरह की मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। जब साधक इस षोडश नाम वाले मन्त्र का साढ़े तीन करोड़ जप कर लेता है, तब वह ब्रह्म-हत्या के दोष से मुक्त हो जाता है। वह वीरहत्या (या भाई की हत्या) के पाप से भी मुक्त हो जाता है। स्वर्ण की चोरी के पाप से भी मुक्त हो जाता है। पितर, देव और मनुष्यों के अपकार के पापों (दोषों) से भी मुक्त हो जाता है। समस्त धर्मों के त्याग के पाप से वह तुरन्त ही परिशुद्ध हो जाता है। वह शीघ्रातिशीघ्र मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। ऐसी ही यह उपनिषद् है॥ ३॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः॥

॥ इति कलिसंतरणोपनिषत्समाप्ता॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ कालाग्निरुद्रोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय परम्परा के अन्तर्गत आती है। इसमें ब्रह्मज्ञान के साधनभूत 'भस्मधारण' की विशेष विधि का उल्लेख है।

इस लघुकाय उपनिषद् में सनत्कुमार और कालाग्निरुद्र के मध्य हुए प्रश्नोत्तर का वर्णन है, जिसमें सर्वप्रथम कालाग्निरुद्र उपनिषद् मन्त्र के ऋषि आदि का विवेचन है। तदुपरान्त 'त्रिपुण्ड्र' धारण की विधि की जिज्ञासा की गई है, तत्पश्चात् शाम्भवव्रत नामक त्रिपुण्ड्र विधि, त्रिपुण्ड्र की रेखा का परिमाण (लम्बाई आदि) तथा तीनों रेखाओं के शक्ति-देवता आदि का प्रतिपादन है। अन्त में इस उपनिषद् विद्या तथा ग्रन्थ के अध्ययन की फलश्रुति का महिमामण्डित स्वरूप प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि जो मनुष्य इस उपनिषद् का अध्ययन (पूर्ण मनोयोग से) करता है, वह तद्रूप (शिवरूप) हो जाता है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्ष्युपनिषद्)

अथ कालाग्निरुद्रोपनिषदः संवर्तकोऽग्निर्ऋषिरनुष्टुप्छन्दः श्रीकालाग्निरुद्रो देवता श्री कालाग्निरुद्रप्रीत्यर्थे विनियोगः ॥ १ ॥

इस कालाग्निरुद्रोपनिषद् के ऋषि संवर्तक अग्नि, अनुष्टुप्-छन्द और देवता श्रीकालाग्नि रुद्र हैं। श्री कालाग्निरुद्र देव की प्रसन्नता के लिए इसका विनियोग किया जाता है॥ १ ॥

अथ कालाग्निरुद्रं भगवन्तं सनत्कुमारः पप्रच्छ अधीहि भगवंस्त्रिपुण्ड्रविधिं सतत्त्वं किं द्रव्यं कियत्स्थानं कति प्रमाणं का रेखाः के मंत्राः का शक्तिः किं दैवतं कः कर्ता किं फलमिति च ॥ २ ॥

किसी समय एक बार सनत्कुमारजी ने भगवान् कालाग्निरुद्रदेव से प्रश्न किया— ' हे भगवन्! त्रिपुण्ड्र की विधि तत्त्वसहित मुझे समझाने की कृपा करें। वह क्या है? उसका स्थान कौन सा है, उसका प्रमाण (अर्थात्-आकार) कितना है, उसकी रेखाएँ कितनी हैं, उसका कौन सा मंत्र है, उसकी शक्ति क्या है, उसका कौन सा देवता है, कौन उसका कर्ता है तथा उसका फल क्या होता है? ॥ २ ॥

तं होवाच भगवान्कालाग्निरुद्रः यद्द्रव्यं तदाग्नेयं भस्म सद्योजातादिपञ्चब्रह्ममन्त्रैः परिगृह्याग्निरिति भस्म वायुरिति भस्म जलमिति भस्म स्थलमिति भस्म व्योमेति भस्मेत्यनेनाभिमन्त्र्य मानस्तोक इति समुद्धृत्य मा नो महान्तमिति जलेन संसृज्य त्रियायुषमिति शिरोललाटवक्षःस्कन्धेषु त्रियायुषैस्त्र्यम्बकैस्त्रिशक्तिभिस्तिर्यक्त्रिस्रो रेखाः प्रकुर्वीत व्रतमेतच्छाम्भवं सर्वेषु वेदेषु वेदवादिभिरुक्तं भवति तस्मात्तत्समाचरेन्मुमुक्षुर्न पुनर्भवाय ॥ ३ ॥

यह सुनकर उन भगवान् कालाग्निरुद्र ने सनत्कुमार जी को समझाते हुए कहा कि त्रिपुण्ड्र का द्रव्य अग्निहोत्र की भस्म ही है। इस भस्म को 'सद्योजातादि' पञ्चब्रह्म मंत्रों को पढ़कर धारण करना चाहिए। अग्निरिति भस्म, वायुरिति भस्म, खमिति भस्म, जलमिति भस्म, स्थलमिति भस्म, (पञ्चभूतादि) मन्त्रों से अभिमन्त्रित करे। 'मानस्तोक' मंत्र से अँगुली पर ले तथा 'मा नो महान्' मन्त्र से जल से गीला करके 'त्रियायुषं' इस मंत्र से सिर, ललाट, वक्ष एवं कन्धे पर तथा 'त्रियायुष' एवं 'त्र्यम्बक' मन्त्र के द्वारा तीन रेखाएँ बनाए। इसी का नाम शाम्भव व्रत कहा गया है। इस व्रत का वर्णन वेदज्ञों ने समस्त वेदों में किया है। जो मुमुक्षु जन यह आकांक्षा रखते हैं कि उन्हें पुनर्जन्म न लेना पड़े, तो उन्हें इसे धारण करना चाहिए॥ ३ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अथ सनत्कुमारः पप्रच्छ प्रमाणमस्य त्रिपुण्ड्रधारणस्य ॥ ४ ॥

ऐसा सुनने के पश्चात् सनत्कुमार जी ने पूछा कि त्रिपुण्ड्र की तीन रेखाओं को धारण करने का प्रमाण (लम्बाई आदि) क्या है ? ॥ ४ ॥

त्रिधा रेखा भवत्याललाटादाचक्षुषोरामूर्ध्नोराभ्रुवोर्मध्यतश्च ॥ ५ ॥

भगवान् श्री कालाग्निरुद्र ने उत्तर दिया कि तीन रेखाएँ दोनों नेत्रों के भ्रूमध्य से आरम्भ कर स्पर्श करते हुए ललाट- मस्तक पर्यन्त धारण करे ॥ ५ ॥

यास्य प्रथमा रेखा सा गार्हपत्यश्चाकारो रजो भूर्लोकः स्वात्मा क्रियाशक्तिर्ऋग्वेदः प्रातःसवनं महेश्वरो देवतेति ॥ ६ ॥

प्रथम रेखा गार्हपत्य अग्निरूप, 'अ' कार रूप, रजोगुणरूप, भूलोकरूप, स्वात्मकरूप, क्रियाशक्तिरूप, ऋग्वेदस्वरूप, प्रातः सवनरूप तथा महेश्वरदेव के रूप की है ॥ ६ ॥

यास्य द्वितीया रेखा सा दक्षिणाग्निरुकारः सत्त्वमन्तरिक्षमन्तरात्मा चेच्छाशक्तिर्यजुर्वेदो माध्यंदिनं सवनं सदाशिवो देवतेति ॥ ७ ॥

द्वितीय रेखा दक्षिणाग्निरूप, 'उ' कार रूप, सत्त्वरूप, अन्तरिक्षरूप, अन्तरात्मारूप, इच्छाशक्तिरूप, यजुर्वेदरूप, माध्यन्दिन सवनरूप एवं सदाशिव के रूप की है ॥ ७ ॥

यास्य तृतीया रेखा साहवनीयो मकारस्तमो द्यौर्लोकः परमात्मा ज्ञानशक्तिः सामवेद-स्तृतीयसवनं महादेवो देवतेति ॥ ८ ॥

तीसरी रेखा आहवनीयाग्नि रूप, 'म' कार रूप, तमरूप, द्यु-लोकरूप, परमात्मारूप, ज्ञानशक्तिरूप, सामवेदरूप, तृतीय सवनरूप तथा महादेवरूप की है ॥ ८ ॥

एवं त्रिपुण्ड्रविधिं भस्मना करोति यो विद्वान्ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिर्वा स महापातकोपपातकेभ्यः पूतो भवति स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति स सर्वान्वेदानधीतो भवति स सर्वान्देवाञ्ज्ञातो भवति स सततं सकलरुद्रमन्त्रजापी भवति स सकलभोगान्भुङ्क्ते देहं त्यक्त्वा शिवसायुज्यमेति न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तत इत्याह भगवान्कालाग्निरुद्रः ॥ ९ ॥

इस तरह से त्रिपुण्ड्र की विधि से जो भी कोई ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी अथवा संन्यासी भस्म को धारण करता है। वह महापातकों एवं उपपातकों से मुक्त हो जाता है। वह समस्त तीर्थों में स्नान करने के सदृश पवित्र हो जाता है, उसे समस्त वेदों के पारायण का फल प्राप्त हो जाता है। वह सम्पूर्ण देवों को जानने में समर्थ हो जाता है। वह समस्त प्रकार के भोगों को भोगकर भगवान् शिव के लोक को प्राप्त करता है। वह पुनः जन्म नहीं लेता। इस प्रकार से भगवान् कालाग्निरुद्रदेव ने सनत्कुमार जी से त्रिपुण्ड्र के धारण करने की विधि का वर्णन किया है ॥ ९ ॥

यस्त्वेतद्वाधीते सोऽप्येवमेव भवतीत्यों सत्यमित्युपनिषत् ॥ १० ॥

जो मनुष्य इस उपनिषद् का अध्ययन करता है, वह भी उसी रूप में (शिवरूप में) हो जाता है। ॐ ही सत्य है। ऐसी ही यह उपनिषद् है ॥ १० ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति कालाग्निरुद्रोपनिषत्समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ कृष्णापानषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसका शुभारम्भ मुनिगणों एवं भगवान् के बीच प्रश्नोत्तर के रूप में हुआ है। जिसमें भगवान् राम के द्वारा कृष्णावतार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा की गई है। तदनुसार भगवान् के विविध लीला-विग्रह ही कृष्णावतार के समय के विभिन्न पात्रों के रूप में अवतरित हुए हैं। निष्कर्षत: कहा गया है कि उन भगवान् श्री कृष्ण ने स्वर्गवासियों को एवं समस्त वैकुण्ठधाम को पृथिवीतल पर अवतरित कर लिया है, जो भी मनुष्य इस तरह उन भगवान् को जानता है, वह समस्त तीर्थों के फल को प्राप्त कर लेता है और शारीरिक-बन्धनों से सदा के लिए मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इसी फलश्रुति के साथ यह उपनिषद् पूर्ण होती है।

॥ शान्तिपाठ: ॥

ॐ भद्रं कर्णेभि: शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्रा:।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳ सस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायु:॥
स्वस्ति न ऽ इन्द्रो वृद्धश्रवा: स्वस्ति न: पूषा विश्ववेदा:।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि: स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ॐ शान्ति: शान्ति: शान्ति: ॥

हे देव! हम कानों से कल्याणकारी बातें सुनें, आँखों से कल्याणकारी (दृश्य) देखें, हम हृष्ट-पुष्ट अंगों और शरीर से ईश्वर द्वारा प्रदत्त पूरी आयु देवहित कार्यों में बितायें। महान् कीर्ति सम्पन्न देवराज इन्द्र हमारा कल्याण करें। सर्वज्ञाता पूषा देवता हमारा कल्याण करें। अरिष्टनेमि (जिसकी गति अवरुद्ध न की जा सके), तार्क्ष्य (गरुड़) तथा बृहस्पतिदेव हमारा कल्याण करें। त्रिविध तापों की शान्ति हो।

श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दरं मुनयो वनवासिनो विस्मिता बभूवु:। तं होचुर्नोऽवद्यमवतारान्वै गण्यन्ते आलिङ्गामो भवन्तमिति। भवान्तरे कृष्णावतारे यूयं गोपिका भूत्वा मामालिङ्गथ अन्ये येऽवतारास्ते हि गोपा न: स्त्रीश्च नो कुरु।
अन्योन्यविग्रहं धार्यं तवाङ्गस्पर्शनादिह। शश्वत्स्पर्शयितास्माकं गृह्णीमोऽवतारान्वयम्॥ १॥
रुद्रादीनां वच: श्रुत्वा प्रोवाच भगवान्स्वयम्। अङ्गसङ्गं करिष्यामि भवद्वाक्यं करोम्यहम्॥ २

सर्वांग सुन्दर, सच्चिदानन्द स्वरूप, महाविष्णु (के अवतारी) श्री रामचन्द्र जी को देखकर वनवासी मुनिगण बड़े आश्चर्यचकित हुए। (उन्हें धरती पर अवतरित होने के लिए ब्रह्मा जी का आदेश होने पर) ऋषियों ने उनसे (राम से) कहा- हम सब (धरती पर) अवतरित होने को अच्छा नहीं मानते हैं। हम आपका आलिंगन (अत्यधिक निकटता) चाहते हैं। (भगवान् ने कहा-हमारे) अन्य अवतार-कृष्णावतार में तुम सभी गोपिका बनकर मेरा आलिंगन (अतिसंन्निकटता) प्राप्त करो। (ऋषियों ने पुन: कहा- हमारे) जो अन्य अवतार हों, (उनमें) हमें गोप-गोपिका बना दें। आपका सान्निध्य प्राप्त करने की स्थिति में हमें ऐसा शरीर (गोपिका आदि) धारण करना स्वीकार्य है, जो आपका स्पर्श सुख प्रदान कर सके। रुद्र आदि सभी देवों की यह स्नेहयुक्त प्रार्थना

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सुनकर स्वयं आदि पुरुष भगवान् ने कहा-हे देवो! मैं अपने अंग-अवयवों के स्पर्श का अवसर तुम्हें निश्चित रूप से प्रदान करता रहूँगा। मैं तुम्हारी इच्छा को अवश्य पूर्ण करूँगा॥ १-२॥

मोदितास्ते सुराः सर्वे कृतकृत्याधुना वयम्। यो नन्दः परमानन्दो यशोदा मुक्तिगेहिनी॥ ३॥
माया सा त्रिविधा प्रोक्ता सत्त्वराजसतामसी। प्रोक्ता च सात्त्विकी रुद्रे भक्ते ब्रह्मणि राजसी॥४॥
तामसी दैत्यपक्षेषु माया त्रेधा ह्युदाहृता। अजेया वैष्णवी माया जप्येन च सुता पुरा॥ ५॥
देवकी ब्रह्मपुत्रा सा या वेदैरुपगीयते। निगमो वसुदेवो यो वेदार्थः कृष्णरामयोः॥ ६॥
स्तुवते सततं यस्तु सोऽवतीर्णो महीतले। वने वृन्दावने क्रीडन्गोपगोपीसुरैः सह॥ ७॥
गोप्यो गाव ऋचस्तस्य यष्टिका कमलासनः। वंशस्तु भगवान् रुद्रः शृङ्गमिन्द्रः सगोसुरः॥ ८॥
गोकुलं वनवैकुण्ठं तापसास्तत्र ते द्रुमाः। लोभक्रोधादयो दैत्याः कलिकालस्तिरस्कृतः॥ ९॥

परम पुरुष भगवान् का यह आश्वासन प्राप्त करके वे सभी देवगण अत्यधिक आनन्दित होते हुए बोले कि 'अब हम कृतार्थ हो गये।' तदनन्तर वे समस्त देवगण भगवान् की सेवा हेतु प्रकट हुए। भगवान् का परम आनन्दमय स्वरूप ही अंशरूप में नन्दराय जी के रूप में उत्पन्न हुआ। स्वयं साक्षात् मुक्तिदेवी नन्दरानी यशोदा जी के रूप में अवतरित हुईं। सुप्रसिद्ध माया तीन प्रकार की कही गयी है, जिनमें से प्रथम सात्त्विकी, द्वितीय राजसी और तृतीय तामसी। भगवान् के भक्त श्रीरुद्र देव में सात्त्विकी माया विद्यमान है, ब्रह्मा जी में राजसी माया है और असुरों में तामसी माया का प्राकट्य हुआ है। इस कारण से यह तीन प्रकार की बतलायी गयी है। इसके अतिरिक्त जो वैष्णवी-माया है, उसको जीतना हर किसी के लिए असंभव है। इस माया को प्राचीन काल में ब्रह्मा जी भी पराजित नहीं कर सके। देवता भी सदा जिस वैष्णवी माया की स्तुति करते हैं,वही ब्रह्म विद्यामयी वैष्णवी माया ही देवकी के रूप में प्रादुर्भूत हुई। निगम अर्थात् वेद ही वसुदेव हैं,जो निरन्तर मुझ पूर्ण पुरुष नारायण के विराट् स्वरूप की स्तुति करते हैं। वेदों का तात्पर्यभूत ब्रह्म ही श्री बलराम एवं श्रीकृष्ण के रूप में इस पृथ्वी पर अवतरित हुआ। वह मूर्तिमय वेदार्थ ही वृन्दावन में विद्यमान गोप एवं गोपियों के साथ क्रीड़ा करता है। वेदों की ऋचाएँ उन भगवान् श्रीकृष्ण की गौएँ एवं गोपियाँ हैं। ब्रह्माजी ने लकुटी का रूप धारण किया है तथा भगवान् रुद्र वंश(वंशी)बने हुए हैं। सगोसुर इन्द्र (अर्थात् वज्रधारी देव इन्द्र-यहाँ गो का अर्थ वज्र तथा सुर का अर्थ देव लिया गया है।) शृंग (सींग का बना वाद्ययंत्र) का रूप धारण किए हुए हैं। गोकुल के नाम से प्रसिद्ध वन के रूप में जहाँ स्वयं साक्षात् वैकुण्ठ प्रतिष्ठित है, वहाँ पर द्रुमों (वृक्षों) के रूप में तप में रत महात्मा स्थित हैं। लोभ-क्रोधादि षड् विकारों ने महान् दैत्य-असुरों का रूप धारण कर लिया है, जो कलियुग में (केवल भगवान् श्रीकृष्ण के नाम जप मात्र से ही) विनष्ट हो जाते हैं॥ ३-९॥

गोपरूपो हरिः साक्षान्मायाविग्रहधारणः। दुर्बोधं कुहकं तस्य मायया मोहितं जगत्॥ १०॥
दुर्जया सा सुरैः सर्वैर्धृष्टिरूपो भवेद्द्विजः। रुद्रो येन कृतो वंशस्तस्य माया जगत्कथम्॥ ११॥
बलं ज्ञानं सुराणां वै तेषां ज्ञानं हृतं क्षणात्। शेषनागोभवेद्रामः कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम्॥१२॥
अष्टावष्टसहस्रे द्वे शताधिक्यः स्त्रियस्तथा। ऋचोपनिषदस्ता वै ब्रह्मरूपा ऋचः स्त्रियः॥ १३॥
द्वेषश्चाणूरमल्लोऽयं मत्सरो मुष्टिको जयः। दर्पः कुवलयापीडो गर्वो रक्षः खगो बकः॥ १४॥
दया सा रोहिणी माता सत्यभामा धरेति वै। अघासुरो महाव्याधिः कलिः कंसः स भूपतिः॥१५॥
शमो मित्रः सुदामा च सत्याक्रूरोद्धवो दमः। यः शङ्खः स स्वयं विष्णुर्लक्ष्मीरूपो व्यवस्थितः॥१६

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

दुग्धसिन्धौ समुत्पन्नो मेघघोषस्तु संस्मृतः। दुग्धोदधिः कृतस्तेन भग्नभाण्डो दधिग्रहे॥ १७॥
क्रीडते बालको भूत्वा पूर्ववत्सुमहोदधौ। संहारार्थं च शत्रूणां रक्षणाय च संस्थितः॥ १८॥
कृपार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्। यत्त्वष्टुमीश्वरेणासीत्तच्चक्रं ब्रह्मरूपधृक्॥ १९॥

स्वयं साक्षात् भगवान् श्रीहरि ही गोपरूप में लीला-विग्रह का रूप धारण किये हुए हैं। यह नश्वर जगत् माया से ग्रसित है, इस कारण उसके लिए भगवान् श्रीकृष्ण की माया का रहस्य जानना बहुत ही दुष्कर है। वह प्रभु की माया सभी देवताओं के लिए भी दुर्जय है। जिन भगवान् की माया के वश में होकर ब्रह्मा जी लकुटी का रूप धारण किए हुए हैं तथा जिन्होंने भगवान् शिव को वंशी बनने के लिए विवश कर रखा है, उन प्रभु की माया को सामान्य जगत् किस प्रकार जान सकता है ? निश्चित रूप से देवों का जो ज्ञान युक्त बल है, उसे भगवान् की माया ने क्षण भर में हरण कर लिया है। श्रीशेषनाग जी श्री बलराम के रूप में जन्मे और सनातन ब्रह्म ही भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में अवतीर्ण हुए। भगवान् श्रीकृष्ण की रुक्मिणी आदि सोलह हजार एक सौ आठ रानियाँ ही वेदों की ऋचाएँ एवं उपनिषद् हैं, इनके अतिरिक्त वेदों की जो ब्रह्म स्वरूपा ऋचाएँ हैं, वे सभी ब्रजभूमि में गोपिकाओं के रूप में अवतरित हुईं। द्वेष ही चाणूर मल्ल के रूप में है, मत्सर ही दुर्जय मुष्टिक रूप में तथा दर्प ही कुवलयापीड हाथी के रूप में प्रकट हुआ है। गर्व ही आकाश में गमन करने वाले बकासुर राक्षस के रूप में अवतरित हुआ। माता रोहिणी के रूप में दया का प्राकट्य हुआ है और माँ पृथ्वी ही सत्यभामा के रूप में अवतरित हुई हैं। अघासुर के रूप में महाव्याधि और स्वयं साक्षात् कलि ही राजा कंस के रूप में प्रकट हुआ। श्रीकृष्ण के मित्र सुदामा जी ही 'शम' हैं, सत्य के रूप में अक्रूर जी और दम के रूप में उद्धवजी उत्पन्न हुए। शंख स्वयं विष्णुरूप है और लक्ष्मी का भ्राता होने के कारण वह लक्ष्मी रूप भी है, उसका प्राकट्य क्षीरसागर से हुआ है। मेघ के सदृश उसका गम्भीर घोष नाद है। भगवान् ने दूध-दही के भण्डार से युक्त जो मटके फोड़े तथा उन मटकों से जो दूध-दही प्रवाहित हुआ, उसके रूप में भगवान् ने स्वयं साक्षात् क्षीरसागर को ही प्रादुर्भूत किया है और वे (भगवान् श्रीकृष्ण) उस महासागर में बालक रूप में अवस्थित हो पूर्ववत् क्रीड़ा कर रहे हैं। शत्रुओं के शमन एवं साधुजनों के संरक्षण में वे पूर्णरूपेण तत्पर रहते हैं। समस्त भूत-प्राणियों पर अहैतुकी कृपा करने के लिए एवं अपने आत्मज स्वरूप धर्म के अभ्युदय हेतु ही भगवान् श्रीकृष्ण का प्रादुर्भाव हुआ है, ऐसा ही जानना चाहिए। भगवान् महाकाल (शिव) ने श्रीहरि को समर्पित करने के लिए जिस चक्र को उत्पन्न किया था, भगवान् (श्री कृष्ण) के हाथ में शोभायमान वह चक्र भी ब्रह्ममय ही है॥ १०-१९॥

जयन्तीसंभवो वायुश्चमरो धर्मसंज्ञितः। यस्यासौ ज्वलनाभासः खड्गरूपो महेश्वरः॥ २०॥
कश्यपोलूखलः ख्यातो रज्जुर्माताऽदितिस्तथा। चक्रं शङ्खं च संसिद्धिं बिन्दुं च सर्वमूर्धनि॥२१॥
यावन्ति देवरूपाणि वदन्ति विबुधा जनाः। नमन्ति देवरूपेभ्य एवमादि न संशयः॥ २२॥
गदा च कालिका साक्षात्सर्वशत्रुनिबर्हिणी। धनुः शार्ङ्गं स्वमाया च शरत्कालः सुभोजनः॥२३॥
अब्जकाण्डं जगद्बीजं धृतं पाणौ स्वलीलया। गरुडो वटभाण्डीरः सुदामा नारदो मुनिः॥२४॥
वृन्दा भक्तिः क्रिया बुद्धिः सर्वजन्तुप्रकाशिनी। तस्मान्न भिन्नं नाभिन्नमाभिर्भिन्नो न वै विभुः॥२५
भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनाम्॥ २६॥ सर्वतीर्थफलं लभते य एवं वेद। देहबन्धाद्विमुच्यते इत्युपनिषत्॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

धर्म ने चँवर का रूप धारण किया है, वायुदेव वैजयन्ती माला के रूप में उत्पन्न हुए हैं और महेश्वर ने अग्नि की भाँति चमकते हुए खड्ग का रूप स्वीकार किया है। नन्द जी के घर में कश्यप ऋषि ऊखल के रूप में प्रतिष्ठित हैं तथा माता अदिति रस्सी के रूप में प्रकट हुई हैं। जिस प्रकार समस्त अक्षरों के ऊपर अनुस्वार सुशोभित होता है, वैसे ही सभी के ऊपर जो शोभायमान आकाश है, उसको ही भगवान् श्रीकृष्ण का छत्र समझना चाहिए। व्यास, वाल्मीकि आदि ज्ञानी महात्माजन देवों के जितने रूपों का वर्णन करते हैं और जिन-जिन को लोग देवरूप में समझ कर नमन-वंदन करते हैं, वे समस्त देवगण भगवान् श्रीकृष्ण का ही एक मात्र अवलम्बन प्राप्त करते हैं। भगवान् के हाथ की गदा सम्पूर्ण शत्रुओं को विनष्ट करने वाली साक्षात् कालिका है। शार्ङ्गधनुष के रूप में स्वयं वैष्णवी माया ही उपस्थित है तथा प्राणों का संहार करने वाला काल ही भगवान् का बाण है। इस विश्व-वसुधा के बीज स्वरूप कमल को भगवान् ने लीलापूर्वक हाथ में ग्रहण किया है। भाण्डीर वट का रूप गरुड़ ने धारण कर रखा है और देवर्षि नारद उनके सुदामा नामक सखा के रूप में अवतरित हुए हैं। भक्ति ने वृन्दा का रूप धारण किया है। समस्त भूत-प्राणियों को प्रकाश प्रदान करने वाली जो बुद्धि है, वही भगवान् की क्रियाशक्ति है। इस कारण ये गोप एवं गोपिकाएँ आदि सभी भगवान् श्रीकृष्ण से अलग नहीं हैं तथा विभु-परमात्मा श्रीकृष्ण भी इन सभी से अलग नहीं हैं। उन भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वर्गवासियों को एवं समस्त वैकुण्ठ धाम को पृथिवीतल पर अवतरित कर लिया है, जो भी मनुष्य इस तरह से उन भगवान् को जानता है, वह समस्त तीर्थों के फल को प्राप्त कर लेता है और शारीरिक-बन्धनों से मुक्त हो जाता है, ऐसी ही यह उपनिषद् है॥ २०-२६॥

॥ ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति कृष्णोपनिषत्समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ गणपत्युपानषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा के अन्तर्गत है। इसमें सर्वप्रथम गणपति की स्तुति- प्रार्थना की गई है, तदुपरान्त सबकी आत्मा के रूप में विद्यमान गणपति की स्तुति की गई है, तत्पश्चात् गणपतिमनु अर्थात् गणपति शब्द का अनुक्रम, गणपति गायत्री, गणपति ध्यान, गणपति माला मन्त्र, इस विद्या के पठन का फल, विद्या प्रदान करने के नियम, कुछ काम्य प्रयोग अर्थात् कामनाओं की पूर्ति के लिए मन्त्र प्रयोग तथा अन्त में इस उपनिषद् की फलश्रुति का वर्णन किया गया है। वस्तुतः परवर्ती कालीन उपनिषदों में सगुणोपासना की ओर झुकाव दिखाई देता है। इस उपनिषद् में भी कुछ वैसा ही प्रतिपादन है। 'गणपति' को ब्रह्मरूप में भी प्रतिष्ठित किया गया है, परन्तु उनका मानवीकरणरूप अधिक मुखर हुआ है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृष्णोपनिषद्)

नमस्ते गणपतये ॥ १ ॥ त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि। त्वमेव केवलं कर्तासि। त्वमेव केवलं धर्तासि। त्वमेव केवलं हर्तासि। त्वमेव सर्वं खल्विदं ब्रह्मासि। त्वं साक्षादात्मासि ॥ २ ॥ नित्यं ऋतं वच्मि। सत्यं वच्मि ॥ ३ ॥

गणपति भगवान् को प्रणाम है। तुम्हीं साक्षात् प्रत्यक्ष तत्त्व हो। तुम्हीं एकमात्र कर्त्ता हो, तुम्हीं एकमात्र धर्त्ता हो और तुम्हीं एकमात्र हर्त्ता हो। एकमात्र तुम्हीं इन समस्त रूपों में विद्यमान ब्रह्म हो। तुम्हीं साक्षात् आत्मस्वरूप हो। मैं सदा ऋत (सत्य से परे) बात कहता हूँ, सत्य का ही प्रतिपादन करता हूँ॥ १-३ ॥

अव त्वं माम्। अव वक्तारम्। अव श्रोतारम्। अव दातारम्। अव धातारम्। अवानूचानमव शिष्यम्। अव पश्चात्तात्। अव पुरस्तात्। अव चोत्तरात्तात्। अव दक्षिणात्तात्। अव चोर्ध्वात्तात्। अवाधरात्तात्। सर्वतो मां पाहि पाहि समन्तात् ॥ ४ ॥

तुम मेरी रक्षा करो वक्ता (आचार्य) की रक्षा करो। (हम जैसे) श्रोताओं की रक्षा करो। (ज्ञान) दाता की रक्षा करो। धाता (ज्ञानधारक) की रक्षा करो। अनूचान (ज्ञान को क्रिया रूप देने वाले) की रक्षा करो तथा (मुझ) शिष्य की रक्षा करो। आगे से, पीछे से, उत्तर से, दक्षिण से, ऊपर से तथा नीचे की ओर से मेरी रक्षा करो। सभी तरफ से मेरी रक्षा करो, चारों तरफ से मुझे संरक्षण प्रदान करो॥ ४ ॥

त्वं वाङ्मयस्त्वं चिन्मयः। त्वमानन्दमयस्त्वं ब्रह्ममयः। त्वं सच्चिदानन्दाद्वितीयोऽसि। त्वं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वं ज्ञानमयो विज्ञानमयोऽसि ॥ ५ ॥

तुम वाङ्मय (अक्षर स्वरूप) हो, तुम्हीं चिन्मय, आनन्दस्वरूप एवं ब्रह्मरूप हो। तुम्हीं सत्, चित्, आनन्दमय एवं अद्वितीय हो। तुम प्रत्यक्षतया ब्रह्म हो, तुम ज्ञानस्वरूप एवं विज्ञानमय हो॥ ५ ॥

सर्वं जगदिदं त्वत्तो जायते। सर्वं जगदिदं त्वत्तस्तिष्ठति। सर्वं जगदिदं त्वयि लयमेष्यति। सर्वं जगदिदं त्वयि प्रत्येति। त्वं भूमिरापोऽनलोऽनिलो नभः। त्वं चत्वारि वाक्पदानि। त्वं गुणत्रयातीतः। त्वं कालत्रयातीतः। त्वं देहत्रयातीतः। त्वं मूलाधारस्थितोऽसि नित्यम्। त्वं शक्तित्रयात्मकः। त्वां योगिनो ध्यायन्ति नित्यम्। त्वं ब्रह्मा त्वं विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वमिन्द्रस्त्वमग्निस्त्वं वायुस्त्वं सूर्यस्त्वं चन्द्रमास्त्वं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरोम् ॥ ६ ॥

यह सम्पूर्ण जगत् तुम्हीं से उत्पन्न हुआ है। यह सम्पूर्ण विश्व तुम्हीं में प्रतिष्ठित है। यह सम्पूर्ण विश्व तुम्हीं में विलीन हो रहा है। इस समस्त जगत् की तुम्हीं में प्रतीति हो रही है। तुम भूमि, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

रूप हो। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी आदि वाणी के यह चार विभाग तुम ही हो। तुम तीनों गुणों से भी परे हो। तुम भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् तीनों कालों से भी परे कालातीत हो। तुम्हीं तीनों शरीरों स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण से भी परे हो। तुम्हीं नित्य मूलाधार चक्र में प्रतिष्ठित रहते हो। इच्छा, क्रिया एवं ज्ञान आदि तीनों शक्तियाँ एकमात्र तुम्हीं हो। योगी तुम्हारा ही निरन्तर चिन्तन करते हैं। तुम्हीं ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, अग्नि, वायु ,सूर्य,चन्द्रमा,ब्रह्म भी हो। ये भूः,भुवः,स्वः तीनों लोक और स्वयं ॐ कार वाची परब्रह्म भी तुम्हीं हो॥ ६॥

गणादिं पूर्वमुच्चार्य वर्णादिं तदनन्तरम्। अनुस्वारः परतरः। अर्धेन्दुलसितम्। तारेण रुद्धम्। एतत्तव मनुस्वरूपम्॥ ७॥

सर्वप्रथम गण के आदि अक्षर (ग्) का उच्चारण करें। तदनन्तर वर्णों के आदि अक्षर (अ) का उच्चारण करें। इसके पश्चात् फिर अनुस्वार का उच्चारण होता है। इस तरह अर्द्धचन्द्र से शोभायमान 'गं' ॐ कार के द्वारा अवरुद्ध हो जाने पर तुम्हारे बीज मंत्र का रूप (ॐ गं) ही है॥ ७॥

गकारः पूर्वरूपम्। अकारो मध्यमरूपम्। अनुस्वारश्चान्त्यरूपम्। बिन्दुरुत्तररूपम्। नादः संधानम्। संहिता संधिः। सैषा गणेशविद्या॥ ८॥

इसका प्रथम रूप 'ग' कार (ग्) है, मध्यम रूप 'अ' कार है, अनुस्वार अन्त्यरूप है तथा बिन्दु ही इसका उत्तर रूप है। नाद ही इसका सन्धान है और संहिता इसकी सन्धि कही गई है। ऐसी ही यह गणेश विद्या है॥८॥

गणक ऋषिः। निचृद्गायत्री छन्दः। श्रीमहागणपतिर्देवता। ॐ गम्। (गणपतये नमः)॥ ९॥

इस मन्त्र के ऋषि-गणक हैं। छन्द निचृद्गायत्री है और देवता-श्री महागणपति हैं। 'ॐ गं (गणपतये नमः' यह ही महामन्त्र के नाम से जाना जाता है)॥ ९॥

एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥ १०॥

हम एक दन्त (गणेश जी) को (गुरु-शास्त्रानुसार) जानते हैं, (उन) वक्रतुण्ड का ध्यान करते हैं। वह दन्ती हम सभी को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें (इस मन्त्र को गणेश-गायत्री मन्त्र कहते हैं)॥ १०॥

एकदन्तं चतुर्हस्तं पाशमङ्कुशधारिणम्। अभयं वरदं हस्तैर्बिभ्राणं मूषकध्वजम्॥ ११॥ रक्तं लम्बोदरं शूर्पकर्णकं रक्तवाससम्। रक्तगन्धानुलिप्ताङ्गं रक्तपुष्पैः सुपूजितम्॥ १२॥ भक्तानुकम्पिनं देवं जगत्कारणमच्युतम्। आविर्भूतं च सृष्ट्यादौ प्रकृतेः पुरुषात्परम्॥ १३॥ एवं ध्यायति यो नित्यं स योगी योगिनां वरः॥ १४॥

जो योगी (साधक) एकदन्त, चतुर्भुज स्वरूप, चारों हाथों में पाश, अंकुश, अभय एवं वरदान की मुद्रा धारण करने वाले तथा मूषक (चूहे) के चिह्न वाली ध्वजा को लिए हुए, रक्तवर्ण, विशाल उदर वाले, सूप के सदृश बड़े-बड़े कानों से युक्त, लाल रंग के वस्त्रों से आच्छादित, शरीर पर लाल चन्दन का लेप लगाये हुए, रक्त-पुष्पों से विधिवत् पूजित, भक्त जनों के ऊपर अनुकम्पा करने वाले देवता, जगत् के हेतुभूत, अच्युत, सृष्टि-रचना के पूर्व में प्रादुर्भूत तथा प्रकृति एवं पुरुष से परे विघ्नविनाशक गणेश जी का नित्य प्रति चिन्तन करता है, वह योगी (साधक) समस्त योगीजनों में श्रेष्ठतम एवं अनुपम है॥ ११-१४॥

नमो व्रातपतये नमो गणपतये नमः प्रमथपतये नमस्तेऽस्तु लम्बोदरायैकदन्ताय विघ्नविनाशिने शिवसुताय श्रीवरदमूर्तये नमो नमः॥ १५॥

व्रातपति अर्थात् समस्त देव समुदाय के नायक को प्रणाम है, गणपति को नमस्कार है, प्रमथपति अर्थात् भगवान् शिव के नायक के लिए नमन-वन्दन है। लम्बोदर के लिए, एकदन्त के लिए, विघ्नविनाशक के लिए भगवान् शिव के पुत्र के लिए एवं श्री वरदमूर्ति (वर-प्रदाता) के लिए नमन-वन्दन है,बारम्बार प्रणाम है॥ १५॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

एतदथर्वशिरो योऽधीते स ब्रह्मभूयाय कल्पते। स सर्वविघ्नैर्न बाध्यते। स सर्वतः सुखमेधते। स पञ्चमहापातकोपपातकात्प्रमुच्यते। सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायंप्रातः प्रयुंजानोऽपापो भवति। धर्मार्थकाममोक्षं च विन्दति॥१६॥

यह अथर्ववेद की उपनिषद् है। जो मनुष्य इस उपनिषद् का अध्ययन करता है, वह ब्रह्मत्व पद की प्राप्ति का अधिकारी बन जाता है। सभी तरह के विघ्न उसके लिए बाधक नहीं होते। वह सर्वत्र सुख-शान्ति में वृद्धि प्राप्त करता है। वह मनुष्य पाँच प्रकार के महान् पातकों एवं उपपातकों से मुक्त हो जाता है। शाम के समय में किए हुए पाठ से दिन के पापों का विनाश होता है और प्रातः काल के समय में पाठ करने से रात्रि में किये गये पापों का शमन हो जाता है। जो मनुष्य प्रातः एवं सायं दोनों कालों में इस उपनिषद् का पाठ करता है,वह पाप-रहित हो जाता है। वह चारों पुरुषार्थ-धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष को भी प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है॥१६॥

इदमथर्वशीर्षमशिष्याय न देयम्। यो यदि मोहाद्दास्यति स पापीयान्भवति॥ १७॥

इस अथर्वशीर्ष उपनिषद् का उपदेश शिष्य को ही देना चाहिए, अशिष्य को नहीं। मोहवश जो ज्ञानीपुरुष ऐसा करता है (अशिष्य को देता है), वह पातकी (पापी) हो जाता है॥ १७॥

सहस्रावर्तनाद्यं यं काममधीते तं तमनेन साधयेत्। अनेन गणपतिमभिषिञ्चति स वाग्मी भवति। चतुर्थ्यामनश्नञ्जपति स विद्यावान्भवति। इत्यथर्वणवाक्यम्। ब्रह्माद्याचरणं विद्यात्। न बिभेति कदाचनेति। यो दूर्वाङ्कुरैर्यजति स वैश्रवणोपमो भवति। यो लाजैर्यजति स यशोवान्भवति। स मेधावान्भवति। यो मोदकसहस्रेण यजति स वाञ्छितफलमवाप्नोति। यः साज्यसमिद्भिर्यजति स सर्वं लभते स सर्वं लभते। अष्टौ ब्राह्मणान्सम्यग्ग्राहयित्वा सूर्यवर्चस्वी भवति। सूर्यग्रहणे महानद्यां प्रतिमासंनिधौ वा जप्त्वा सिद्धमन्त्रो भवति। महाविघ्नात्प्रमुच्यते। महापापात्प्रमुच्यते। महादोषात्प्रमुच्यते॥ १८॥

जो मनुष्य इस उपनिषद् का एक सहस्र बार पाठ करता है, वह जो-जो आकांक्षाएँ करता है, उन सभी की सिद्धि इसके द्वारा हो जाती है। इस उपनिषद् के द्वारा जो मनुष्य गणेश जी को स्नान कराता है, वह प्रखर वक्ता बन जाता है। जो मनुष्य चतुर्थी तिथि का व्रत-उपवास करके इसका जप (पाठ) करता है, वह महान् ज्ञानी हो जाता है। यह अथर्वण वाक्य है, जो भी इस उपनिषद् मन्त्र के माध्यम से तपश्चर्या करने का विधान जानता है, वह कभी भयभीत नहीं होता। दूर्वांकुरों के द्वारा जो (गणपति का) यजन करता है, वह कुबेर के सदृश हो जाता है। जो लाजा (धान की खील) से यज्ञ करता है, वह यशस्वी एवं मेधावान् हो जाता है। जो एक सहस्र मोदकों (लड्डुओं) से यजन क्रिया सम्पन्न करता है, वह मनोवाञ्छित फल प्राप्त करता है। जो घृत-युक्त समिधाओं से यज्ञ करता है, वह सभी कुछ प्राप्त कर लेता है। उसकी सभी इच्छाएँ आकांक्षाएँ पूरी हो जाती हैं। जो मनुष्य इस उपनिषद्-विद्या से आठ ब्राह्मणों को अच्छी तरह से पारंगत बना देता है, वह सूर्य-सदृश तेजस्वी हो जाता है। सूर्य-ग्रहण के समय महानदी अथवा प्रतिमा के समक्ष इस उपनिषद्-विद्या का पाठ-जप करने से अभीष्ट मन्त्र सिद्ध होता है। वह महान् विघ्नों, महापातकों (पापों) से मुक्त हो जाता है। वह बड़े से बड़े दोषों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ १८॥

स सर्वविद्भवति स सर्वविद्भवति। य एवं वेदेत्युपनिषत्॥ १९॥

जो पुरुष इस उपनिषद् को इस प्रकार से जान लेता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है, सभी कुछ जानने में समर्थ हो जाता है, ऐसी ही यह अथर्ववेदीय उपनिषद् है॥ १९॥

॥ इति गणपत्युपनिषत्समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ गरुडापानषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा के अन्तर्गत है। इस उपनिषद् में ब्रह्मा से लेकर महर्षि भरद्वाज तक की गुरु-शिष्य परम्परा का उल्लेख करते हुए 'गारुड़ विद्या' का विवेचन किया गया है। 'गारुड़ विद्या' का तात्पर्य विष निवारण-विद्या से है। सर्प से लेकर जितने भी जन्तु दंशित करके विष वमन द्वारा व्यक्ति को कष्ट पहुँचाते हैं, उन सबके विष निवारण की प्रक्रिया इस उपनिषद् में उपनिबद्ध है।

इस उपनिषद् में सर्वप्रथम गारुड़विद्या के सम्प्रदाय अर्थात् इस विद्या की गुरु-शिष्य परम्परा का उल्लेख है। तत्पश्चात् इस गारुड़ विद्या के ऋषि-देवता-छन्द-विनियोग आदि का उल्लेख है। अन्त में गरुड़ माला-मन्त्र आदि विवरण प्रस्तुत करते हुए उपनिषद् का समापन किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृष्णोपनिषद्)

गारुडब्रह्मविद्यां प्रवक्ष्यामि यां ब्रह्मविद्यां नारदाय प्रोवाच नारदो बृहत्सेनाय बृहत्सेन इन्द्राय इन्द्रो भरद्वाजाय भरद्वाजो जीवत्कामेभ्यः शिष्येभ्यः प्रायच्छत्॥ १ ॥

अब गारुड़ ब्रह्मविद्या का वर्णन करते हैं; जिस ब्रह्मविद्या को भगवान् ब्रह्मा ने नारद से कहा, नारद ने बृहत्सेन से कहा, बृहत्सेन ने इन्द्र से कहा, इन्द्र ने भरद्वाज से कहा और भरद्वाज ने इस विद्या का शिक्षण जीवत्काम (ब्रह्म प्राप्ति द्वारा जीवन धन्य बनाने की इच्छा वाले) शिष्यों को प्रदान किया॥ १ ॥

अस्याः श्रीमहागरुडब्रह्मविद्याया ब्रह्मा ऋषिः। गायत्री छन्दः। श्रीभगवान्महागरुडो देवता। श्रीमहागरुडप्रीत्यर्थे मम सकलविषविनाशनार्थे जपे विनियोगः॥ २॥

इस श्रीगरुड़ब्रह्मविद्या के ऋषि ब्रह्मा, छन्द-गायत्री, श्रीभगवान् महागरुड़-देवता हैं। श्री महागरुड़ की प्रसन्नता के लिए तथा मेरे समस्त विषों के विनाशार्थ जप में इसका विनियोग किया जाता है॥ २॥

अब नीचे लिखे मन्त्रों से अङ्गन्यास की क्रिया सम्पन्न करें —

ॐ नमो भगवते अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। श्रीमहागरुडाय तर्जनीभ्यां स्वाहा। पक्षीन्द्राय मध्यमाभ्यां वषट्। श्रीविष्णुवल्लभाय अनामिकाभ्यां हुम्। त्रैलोक्यपरिपूजिताय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। उग्रभयंकरकालानलरूपाय करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। एवं हृदयादिन्यासः ॥ ३॥

ॐ नमो .....अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। (दोनों हाथों की तर्जनी अँगुलियों से दोनों अँगूठों का स्पर्श)
श्री महागरुडाय .....तर्जनीभ्यां स्वाहा। (दोनों हाथों के अँगूठों से दोनों तर्जनी अङ्गुलियों का स्पर्श)
पक्षीन्द्राय .....मध्यमाभ्यां वषट्। (अँगूठों से मध्यमा अँगुलियों का स्पर्श)
श्री विष्णुवल्लभाय ..... अनामिकाभ्यां हुम्। (अँगूठों से अनामिका अँगुलियों का स्पर्श)
त्रैलोक्यपरिपूजिताय .....कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। (अँगूठों से कनिष्ठिका अँगुलियों का स्पर्श)
उग्रभयंकर .....करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। (हथेलियों और उनके पृष्ठ भागों का परस्पर स्पर्श)

इसी तरह से दाहिने हाथ की पाँचों अँगुलियों से हृदयादि (शिर, शिखा, कवच, नेत्रादि) का भी न्यास (स्पर्श) करना चाहिए॥ ३॥

भूर्भुवः सुवरोमिति दिग्बन्धः॥ ४॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

'भूः भुवः स्वः' तथा 'ॐ' व्याहृतियों एवं प्रणव से दिग्बन्धन की क्रिया सम्पन्न करनी चाहिए॥ ४॥

(अब ध्यान का वर्णन करते हैं, नीचे लिखे श्लोकों को श्रद्धा पूर्वक पढ़ते हुए गरुड़ के ध्यान की क्रिया सम्पन्न करें-

ध्यानम्। स्वस्तिको दक्षिणं पादं वामपादं तु कुञ्चितम्। प्राञ्जलीकृतदोर्युग्मं गरुडं हरिवल्लभम्। अनन्तो वामकटको यज्ञसूत्रं तु वासुकिः। तक्षकः कटिसूत्रं तु हारः कर्कोट उच्यते। पद्मो दक्षिणकर्णे तु महापद्मस्तु वामके। शङ्खः शिरःप्रदेशे तु गुलिकस्तु भुजान्तरे। पौण्ड्रकालिकनागाभ्यां चामराभ्यां सुवीजितम्। एलापुत्रकनागाद्यैः सेव्यमानं मुदान्वितम्। कपिलाक्षं गरुत्मन्तं सुवर्णसदृशप्रभम्। दीर्घबाहुं बृहत्स्कन्धं नागाभरणभूषितम्। आजानुतः सुवर्णाभमाकट्योस्तुहिनप्रभम्। कुङ्कुमारुणमाकण्ठं शतचन्द्रनिभाननम्। नीलाग्रनासिकावक्त्रं सुमहच्चारुकुण्डलम्। दंष्ट्राकरालवदनं किरीटमुकुटोज्ज्वलम्। कुङ्कुमारुणसर्वाङ्गं कुन्देन्दु-धवलाननम्। विष्णुवाह नमस्तुभ्यं क्षेमं कुरु सदा मम। एवं ध्यायेत्त्रिसंध्यासु गरुडं नागभूषणम्। विषं नाशयते शीघ्रं तूलराशिमिवानलः॥ ५॥

ध्यान— जिनका दाहिना पैर स्वस्तिक के आकार के सदृश है, बायाँ पैर घुटने तक सिकोड़ कर रखा है। जिन्होंने दोनों हाथों को प्रणाम की मुद्रा में जोड़ रखा है, जो विष्णुवल्लभ हैं। जिन्होंने अनन्त नामक नाग को बायें हाथ में कड़े के रूप में धारण कर रखा है। यज्ञोपवीत के रूप में वासुकि को धारण किया है। तक्षक को करधनी के रूप में और कर्कोट को गले में हार के सदृश धारण किया है। पद्म नामक नाग को दाहिने कान में और महापद्म को बायें कान में आभूषण की भाँति धारण कर रखा है। शंख नामक नाग को सिर पर एवं गुलिक (नाग) को भुजाओं के मध्य में धारण कर रखा है। पौण्ड्र एवं कालिक नागों को चँवरों के रूप में प्रयुक्त किया गया है। एला तथा पुत्रक आदि नागों के द्वारा प्रसन्नतापूर्वक जिनकी सेवा की जाती है। कपिल वर्ण सदृश नेत्र सुवर्ण के समान कान्ति वाले, लम्बी भुजाओं वाले, चौड़े (विशाल) कन्धे वाले, नागों के अलंकारों से विभूषित, जानु पर्यन्त सुवर्ण के समान कान्ति वाले तथा कटि पर्यन्त हिम के समान श्वेत प्रभा वाले, कुंकुम के समान लाल शरीर वाले, सैकड़ों चन्द्रमाओं के समान मुख-कान्ति वाले, जिनकी नासिका का अग्रभाग तथा मुख मण्डल नील वर्ण का है। विशाल कुण्डलों से युक्त जिनके कान हैं। भयंकर दाढ़ों से युक्त विकराल मुख वाले, अत्यन्त देदीप्यमान मुकुट धारण करने वाले, कुंकुम लगाने से लाल अंग वाले, कुन्द पुष्प एवं चन्द्र के सदृश धवल मुख वाले, हे विष्णु के वाहन गरुड़देव! आपको नमस्कार है। आप सदैव हमारा कल्याण करें। इस प्रकार तीनों संध्याओं में नागों से अलंकृत गरुड़ का ध्यान करना चाहिए। (इससे प्रसन्न होकर वे गरुड़देव) रुई के ढेर को, अग्नि के द्वारा दग्ध करने के सदृश विष को शीघ्र ही विनष्ट कर देते हैं॥ ५॥

ओमीमों नमो भगवते श्रीमहागरुडाय पक्षीन्द्राय विष्णुवल्लभाय त्रैलोक्यपरिपूजिताय उग्रभयंकरकालानलरूपाय वज्रनखाय वज्रतुण्डाय वज्रदन्ताय वज्रदंष्ट्राय वज्रपुच्छाय वज्र - पक्षालक्षितशरीराय ओमीमेह्येहि श्री महागरुडाप्रतिशासनास्मिन्नाविशाविश दुष्टानां विषं दूषय दूषय स्पृष्टानां विषं नाशय नाशय दन्दशूकानां विषं दारय दारय प्रलीनं विषं प्रणाशय प्रणाशय सर्वविषं नाशय नाशय हन हन दह दह पच पच भस्मीकुरु भस्मीकुरु हुं फट् स्वाहा॥ ६॥

पक्षिराज गरुड़, विष्णुवल्लभ (विष्णुप्रिय), तीनों लोकों के द्वारा पूजित किये जाने वाले, उग्र-भयंकर कालाग्नि के सदृश, कठोर नखों से युक्त, कठोर चञ्चु (चोंच) से युक्त, कठोर दाँत वाले, कठोर दाढ़ों वाले,

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

कठोर पूँछ वाले, कठोर पंखों से लक्षित शरीर वाले भगवान् श्रीमहागरुड़ को नमस्कार है। आप आएँ, हे महागरुड़! अपने अनुशासित इस आसन पर आएँ, प्रवेश करें। दुष्टों के विष को दूर करें, दूर करें। जो विष स्पर्श-मात्र से आ जाता है,उसे नष्ट करें, नष्ट करें। रेंगने वाले विषैले सर्पों के विष को दूर करें, दूर करें। प्रलीन (छिपे हुए) विष को दूर हटाएँ, दूर हटाएँ। सभी तरह के विषों को विनष्ट करें, विनष्ट करें। मारें-मारें, जलाएँ-जलाएँ, पचाएँ-पचाएँ। समस्त विषों को भस्मीभूत करें, भस्मीभूत करें। हुं फट् (बीज मन्त्र के सहित गरुड़देव की प्रसन्नता के लिए इस मन्त्र से आहुति समर्पित करें अथवा) आहुति समर्पित है।॥ ६ ॥

चन्द्रमण्डलसंकाश सूर्यमण्डलमुष्टिक। पृथ्वीमण्डलमुद्राङ्ग श्रीमहागरुड विषं हर हर हुं फट् स्वाहा॥ ७॥

आप चन्द्रमण्डल के सदृश हैं। आपकी मुष्टिका में सूर्यमण्डल स्थित है, ऐसे आप पृथ्वी मण्डल के सदृश मुद्राङ्गों वाले हे श्रीमहागरुड़! (आप) समस्त विषों का हरण करें-हरण करें, नष्ट करें। हुं फट् (बीज मन्त्र के सहित श्रीगरुड़ की प्रसन्नता के लिए) आहुति समर्पित है॥ ७॥

ॐ क्षिप स्वाहा॥ ८॥

ॐ (हे महागरुड़ ! आप विषधरों अथवा विषों को) क्षिप अर्थात् दूर फेंक दें। (इस निमित्त) आहुति समर्पित है॥ ८॥

ओमीं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषाणां च विषरूपिणी विषदूषिणी विषशोषणी विषनाशिनी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषमन्तःप्रलीनं विषं प्रनष्टं विषं हतं ते ब्रह्मणा विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ ९॥

तत्कारि-मत्कारि(उनकी या हमारी)हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है,उसे(ब्रह्मविद्या)जो कि विषों के विष(अर्थात् विषनाशक)विषरूपिणी, विष को दूषित, शोषित, नष्ट एवं हरण करने वाली, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसके द्वारा घातक विष को, अन्तर्लीन विष को प्रणाशक (नष्ट करने वाले) विष को नष्ट कर दिया गया। विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने सहयोग प्रदान किया। (इस निमित्त) आहुति समर्पित है॥ ९॥

ॐ नमो भगवते महागरुडाय विष्णुवाहनाय त्रैलोक्यपरिपूजिताय वज्रनखवज्रतुण्डाय वज्रपक्षालंकृतशरीराय एह्येहि महागरुड विषं छिन्धि छिन्धि आवेशयावेशय हुं फट् स्वाहा॥१०॥

(उन) भगवान् महागरुड़ को नमस्कार है। भगवान् विष्णु के वाहन तीनों लोकों में पूजित, वज्रवत् कठोर नाखून एवं कठोर चोंच वाले तथा अपने शरीर को कठोर पंखों से अलंकृत करने वाले हे गरुड़देव! आप आएँ-आप पधारें। हे महागरुड़! आप आविष्ट (प्रविष्ट) हो करके विष को छिन्न-भिन्न कर दें। 'हुं फट्' (बीज मन्त्र के सहित गरुड़देव के प्रसन्नतार्थ) आहुति समर्पित है॥ १०॥

सुपर्णोऽसि गरुत्मान्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुः स्तोम आत्मा साम ते तनूर्वामदेव्यं बृहद्रथन्तरे पक्षौ यज्ञायज्ञियं पुच्छं छन्दांस्यङ्गानि धिष्णिया शफा यजूंषि नाम। सुपर्णोऽसि गरुत्मान्दिवं गच्छ सुवः पत॥ ११॥

हे ऊर्ध्वगामी महागरुड़देव! आप सुन्दर पंखों से युक्त, अग्निदेव के सदृश गतिशील हैं। त्रिवृत् स्तोम आपका शिर और गायत्र (साम) आपके नेत्र हैं। दोनों पंख के रूप में बृहत् एवं रथन्तर साम हैं, यज्ञ आपकी अन्तरात्मा, सभी छन्द आपके शरीर के अंग तथा यजुः आपका नाम है। वामदेव नामक साम आपकी देह, यज्ञायज्ञिय नामक साम आपकी पूँछ एवं धिष्ण्य स्थित अग्नि आपके खुर-नख हैं। हे गरुड़देव! आप अग्निवत् दिव्य लोक की ओर गमन करें तथा स्वर्गलोक को प्राप्त करें॥ ११॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

ओमीं ब्रह्मविद्याममावास्यायां पौर्णमास्यायां पुरोवाच सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं प्रनष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ १२॥

प्राचीन काल में यह ब्रह्मविद्या अमावस्या-पूर्णिमा के दिन बताई थी। तत्कारि-मत्कारि (उनकी अथवा हमारी) हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है (संचरण कर रहा है), उसे (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष अर्थात् विषनाशक है। विष को दूषित एवं हरण करने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने उस घातक विष को, अन्तर्लीन विष को, प्रणाशक विष को इन्द्र के वज्र द्वारा नष्ट कर दिया। विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने सहयोग प्रदान किया। (इस निमित्त) आहुति समर्पित है॥ १२॥

तत्स्त्र्यम्। यद्यनन्तकदूतोऽसि यदि वानन्तकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ १३॥

'तत्स्त्र्यम्' (अर्थात् यह बीज मन्त्र सभी प्रकार के विषों को हरण करने में समर्थ है) तुम चाहे अनन्तक के दूत हो अथवा स्वयं अनन्तक हो। तत्कारि-मत्कारि (उनकी अथवा हमारी) हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित (संचरित) हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों के लिए विष है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्ममय है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस विष को मारकर (उस) प्रणाशक विष को नष्ट कर दिया है। इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है। (इस निमित्त) आहुति समर्पित है॥ १३॥

यदि वासुकिदूतोऽसि यदि वा वासुकिः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ १४॥

तुम चाहे वासुकि के दूत हो अथवा स्वयं वासुकि हो। तत्कारि-मत्कारि (उनकी अथवा हमारी) हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित (संचरित) हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष को दूषित, मारने, नष्ट एवं हरण करने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है। इस विष को विनष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है। (इस निमित्त) आहुति समर्पित है॥ १४॥

यदि तक्षकदूतोऽसि यदि वा तक्षकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥१५

तुम चाहे तक्षक के दूत हो अथवा तक्षक हो । उनकी अथवा हमारी हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है, विष को दूषित, नष्ट एवं मारने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ही ब्रह्म स्वरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है। इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है। (इस निमित्त) आहुति समर्पित है॥ १५॥

यदि कर्कोटकदूतोऽसि यदि वा कर्कोटकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ १६॥

तुम चाहे कर्कोटक के दूत हो अथवा स्वयं कर्कोटक हो। 'तत्कारि-मत्कारि' (उनकी या हमारी) हिंसा

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

करने वाला जो विष वर्द्धित (संचरित) हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष अर्थात् विष नाशक है। विष को दूषित करने, मारने एवं नष्ट करने वाली है,ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्म स्वरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है। इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा' ॥ १६ ॥

यदि पद्मकदूतोऽसि यदि वा पद्मकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ १७॥

तुम चाहे पद्मक के दूत हो अथवा स्वयं पद्मक हो। उनकी अथवा हमारी हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है। ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है। इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा' ॥ १७ ॥

यदि महापद्मकदूतोऽसि यदि वा महापद्मकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ १८॥

तुम चाहे महापद्मक के दूत हो अथवा स्वयं महापद्मक हो। 'तत्कारि-मत्कारि' (उनकी अथवा हमारी) हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है। विष को दूषित करने, मारने-नष्ट एवं हरण करने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है। इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है 'स्वाहा'॥ १८ ॥

यदि शङ्खकदूतोऽसि यदि वा शङ्खकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ १९॥

तुम चाहे शङ्खक के दूत हो या स्वयं शङ्खक हो। उनकी अथवा हमारी हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है,ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है। विष को दूषित करने, मारने, नष्ट एवं हरण करने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है, इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा' ॥ १९ ॥

यदि गुलिकदूतोऽसि यदि वा गुलिकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ २०॥

तुम चाहे गुलिक के दूत हो अथवा स्वयं गुलिक हो। उनकी अथवा हमारी हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है। विष को दूषित करने, मारने, नष्ट एवं हरण करने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है। उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है। इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा'॥ २० ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

यदि पौण्ड्रकालिकदूतोऽसि यदि वा पौण्ड्रकालिकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ २१॥

तुम चाहे पौण्ड्रकालिक के दूत हो अथवा स्वयं पौण्ड्रकालिक हो। उनकी अथवा हमारी हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है, ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है। विष को दूषित करने, मारने, नष्ट एवं हरण करने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर विनष्ट कर दिया है। इस विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा'॥ २१॥

यदि नागकदूतोऽसि यदि वा नागकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ २२॥

तुम चाहे नागक के दूत हो अथवा स्वयं नागक हो। उनकी अथवा हमारी हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित हो रहा है। ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है। विष को दूषित करने, मारने, नष्ट एवं हरण करने वाली है। ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर नष्ट कर दिया है। इस विष को विनष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा'॥ २२॥

यदि लूतानां प्रलूतानां यदि वृश्चिकानां यदि घोटकानां यदि स्थावरजङ्गमानां सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ २३॥

तुम चाहे मकड़ी, बड़ी (श्रेष्ठ) मकड़ी हो चाहे वृश्चिक (बिच्छू) हो, चाहे घुड़दौड़ सर्प हो और चाहे स्थावर-जंगम हो। उनकी अथवा हमारी हिंसा करने वाला जो विष वर्द्धित एवं संचरित हो रहा है। ऐसे उस विष को (ब्रह्मविद्या) जो कि विषों की विष है। विष को दूषित करने, मारने, नष्ट एवं हरण करने वाली है, ऐसी वह जो स्वयं ब्रह्मरूपा है, उसने इन्द्र के वज्र द्वारा उस घातक विष को मारकर नष्ट कर दिया। इस विष को विनष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा'॥ २३॥

अनन्तवासुकितक्षककर्कोटकपद्मकमहापद्मकशङ्खकगुलिकपौण्ड्रकालिकनागक इत्येषां दिव्यानां महानागानां महानागादिरूपाणां विषतुण्डानां विषदन्तानां विषदंष्ट्राणां विषाङ्गानां विषपुच्छानां विश्वचाराणां वृश्चिकानां लूतानां प्रलूतानां मूषिकाणां गृहगौलिकानां गृहगोधिकानां घ्रणासानां गृहगिरिगह्वरकालानलवल्मीकोद्भूतानां तार्णानां पार्णानां काष्ठदारुवृक्षकोटरस्थानां मूलत्वग्दारुनिर्यासपत्रपुष्पफलोद्भूतानां दुष्टकीटकपिश्वानमार्जारजम्बुकव्याघ्रवराहाणां जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजानां शस्त्रबाणक्षतस्फोटव्रणमहाव्रणकृतानां कृत्रिमाणामन्येषां भूतवेतालकूष्माण्डपिशाचप्रेतराक्षसयक्षभयप्रदानां विषतुण्डदंष्ट्राणां विषाङ्गानां विषपुच्छानां विषाणां विषरूपिणी विषदूषिणी विषशोषिणी विषनाशिनी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषमन्तःप्रलीनं विषं प्रनष्टं विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा॥ २४॥

(ये) अनन्तक, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, पद्मक, महापद्मक, शङ्खक, गुलिक, पौण्ड्रकालिक आदि

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सभी नाग तथा अन्य सभी दिव्य महानाग एवं महानागों के आदि रूपों वाले, विषैले चञ्चु (चोंच) वाले, विषैले दाँत वाले, विषैले दाढ़ वाले, विषैले अंगों वाले, विषैली पूँछ वाले, सभी जगह विचरण करने वाले, विषैले वृश्चिक (बिच्छू), मकड़ी, प्रकृष्ट (बड़ी) मकड़ी, मूषिका (चुहिया), गृहगौलिक (छछूँदर), गृह गोधिका (छिपकली), घोटक (घृणा उत्पन्न करने वाले विषैले कीटाणु), घरों में स्थित फर्श, दीवारों के छोटे-छोटे छिद्रों आदि में रहने वाले कालानल (विषैले कीड़े), चींटी-चींटे, दीमक आदि उत्पन्न होने वाले, तृण, पत्तों, काष्ठ, पेड़, वृक्षों के कोटर (पोले स्थान) आदि में स्थित रहने वाले, जड़, तना, वृक्ष आदि के छाल, पत्ते, पुष्प एवं फलों आदि से उद्‌भूत होने वाले, विषैले दुष्ट कीट, बन्दर, कुत्ते, बिल्ली, सियार, व्याघ्र (बघर्रा), वराह आदि विचरण करने वाले विषैले जानवर, जरायुज (पशु-मनुष्य आदि), अण्डज (अण्डों से उत्पन्न), उद्‌भिज्ज (पेड़-पौधे) एवं स्वेदज (पसीने से प्रादुर्भूत प्राणी), शस्त्र (हाथ से लेकर प्रहार करने वाले), बाण (फेंककर मारने वाले) आदि से क्षत-विक्षत अंग, फोड़े, घाव एवं बड़े घावों से प्रकट होने वाले बड़े कीटक, कृत्रिम एवं अन्य विष, भूत, बेताल, कूष्माण्ड, प्रेत, पिशाच, राक्षस, यक्ष आदि भय प्रदान करने वाले, विषैली चंचु (चोंच) वाले, विषैले दाढ़ वाले, विषैले अंगों वाले, विषैली पूँछ वाले हों, (परन्तु) विषों की विष अर्थात् विष नाशक (वह ब्रह्मविद्या) समस्त विषों को दूषित करने वाली, विषों को शोषित करने वाली, विषों को विनष्ट करने वाली, विषों को हरण करने वाली है। (वह ब्रह्मविद्या) इन सभी विषों को मारे, नष्ट करे। उस (ब्रह्मविद्या) ने इन घातक विषों को, अन्तर्लीन छिपे हुए विष को, प्रणाशक विषों को नष्ट कर दिया है। इन सभी विषों को विनष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने भी सहयोग प्रदान किया है, 'स्वाहा'॥ २४॥

य इमां ब्रह्मविद्याममावास्यायां पठेच्छृणुयाद्वा यावज्जीवं न हिंसन्ति सर्पाः। अष्टौ ब्राह्मणान्ग्राहयित्वा तृणेन मोचयेत्। शतं ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा चक्षुषा मोचयेत्। सहस्रं ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा मनसा मोचयेत्। सर्पाञ्जलेन मुञ्चन्ति। तृणेन मुञ्चन्ति। काष्ठेन मुञ्चन्तीत्याह भगवान्ब्रह्मेत्युपनिषत्॥ २५॥

जो साधक (मनुष्य) इस ब्रह्मविद्या का अमावस्या के दिन पाठ करता या श्रवण करता है, उसका जब तक जीवन रहता है, तब तक उसे सर्प (आदि विषैले जन्तु) नहीं काटते। (इस ब्रह्मविद्या को) आठ ब्राह्मणों को ग्रहण (स्वीकार) करवाकर तृण (जड़ी-बूटी) के द्वारा विष को मुक्त करना चाहिए। सौ ब्राह्मणों को (इसे) ग्रहण करवा करके नेत्रों से (विष को) मुक्त करना चाहिए। हजार ब्राह्मणों को (इसे) ग्रहण करवाकर मन से (अर्थात् संकल्प शक्ति से) ही (विष को) मुक्त करना चाहिए। सर्प-विष, जल, तृण एवं काष्ठ के उपचार से भी छोड़ता नहीं है। (इस प्रयोग से मुक्त कर देता है।) ऐसा ही भगवान् ब्रह्मा जी ने इस गरुडोपनिषद् को ऋषियों के समक्ष उपदिष्ट किया है। यही उपनिषद् है। ॥ २५॥

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति गरुडोपनिषत्समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ गायत्रारहस्यापानषद् ॥

गायत्री महाशक्ति-गायत्री महाविद्या की महनीय महिमा का बखान चारों वेदों, ब्राह्मणों,उपनिषदों, पुराणों, स्मृतियों आदि में सर्वत्र पाया जाता है। इस उपनिषद् में भी उसी महामन्त्र-महाशक्ति का रहस्योद्घाटन किया गया है। इस उपनिषद् का शुभारम्भ ऋषि याज्ञवल्क्य और स्वयम्भुव ब्रह्मा जी के प्रश्नोत्तर रूप में हुआ है। सर्वप्रथम 'गायत्री' के प्राकट्य का क्रम दिया हुआ है। तदुपरान्त प्रश्नोत्तर शैली में गायत्री और व्याहृतियों का स्वरूप व्यक्त किया गया है। यह स्वरूप बड़ा विस्तृत है—यथा-गायत्री का गोत्र, अक्षर, पाद, कुक्षि, शिर, ऋषि, छन्द, शक्ति, अवयव, २४ अक्षरों की २४ शक्तियाँ, २४ अक्षरों के २४ ऋषि, २४ अक्षरों के २४ पुष्प, २४ पातकों का घातक स्वरूप, गायत्री के अंग-अवयवों में देव शक्तियों का निवास इत्यादि। अन्त में पापों को नष्ट करने की विशेष सामर्थ्य का उल्लेख करते हुए उपनिषद् का समापन किया गया है।

ॐ स्वस्ति सिद्धम्। ॐ नमो ब्रह्मणे। ॐ नमस्कृत्य याज्ञवल्क्य ऋषिः स्वयंभुवं परिपृच्छति। हे ब्रह्मन् गायत्र्या उत्पत्तिं श्रोतुमिच्छामि। अथातो वसिष्ठः स्वयंभुवं परिपृच्छति। यो ब्रह्मा स ब्रह्मोवाच। ब्रह्मज्ञानोत्पत्तेः प्रकृतिं व्याख्यास्यामः। को नाम स्वयंभूः पुरुष इति। तेनाङ्गुलीमथ्यमानात् सलिलमभवत्। सलिलात् फेनमभवत्। फेनाद्बुद्बुदमभवत्। बुद्बुदादण्डमभवत्। अण्डाद्ब्रह्माभवत्। ब्रह्मणो वायुरभवत्। वायोरग्निरभवत्। अग्नेरोङ्कारोऽभवत्। ओंकाराद्व्याहृतिरभवत्। व्याहृत्याः गायत्र्यभवत्। गायत्र्याः सावित्र्यभवत्। सावित्र्याः सरस्वत्यभवत्। सरस्वत्याः सर्वे वेदा अभवन्। सर्वेभ्यो वेदेभ्यः सर्वे लोका अभवन्। सर्वेभ्यो लोकेभ्यः सर्वे प्राणिनोऽभवन्॥ १ ॥

सबका कल्याण हो। ब्रह्म को नमन-वन्दन है। इस प्रकार नमन-वन्दन के पश्चात् याज्ञवल्क्य ऋषि ने स्वयम्भुव ब्रह्माजी से प्रश्न पूछा- 'हे ब्रह्मन्! गायत्री की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, यह सुनने की हम सभी की इच्छा है। वसिष्ठ जी ने भी स्वयम्भुव से यही पूछा था। (प्रश्न सुनकर) जो ब्रह्म से उत्पन्न हैं, ऐसे ब्रह्मा जी ने कहा- ब्रह्मज्ञान के उत्पत्ति की कारणभूता प्रकृति की व्याख्या की जाती है। स्वयंभुव नाम का कौन पुरुष है? (यह) वही पुराण पुरुष है। उसी ने अपनी अँगुली से मन्थन करते हुए जल को प्रकट किया । जल से फेन हुआ, फेन से बुद्बुद, बुद्बुद से अण्डा, अण्डे से ब्रह्मा, ब्रह्मा से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से ॐकार, ॐकार से व्याहृति, व्याहृति से गायत्री हुई, गायत्री से सावित्री, सावित्री से सरस्वती, सरस्वती से चारों वेद, चारों वेद से समस्त लोक और इसके पश्चात् अन्त में सभी लोकों से सभी प्राणी प्रादुर्भूत हुए॥ १ ॥

अथातो गायत्री व्याहृतयश्च प्रवर्तन्ते। का च गायत्री काश्च व्याहृतयः। किं भूः किं भुवः किं सुवः किं महः किं जनः किं तपः किं सत्यं किं तत् किं सवितुः किं वरेण्यं किं भर्गः किं देवस्य किं धीमहि किं धियः किं यः किं नः किं प्रचोदयात्। ॐ भूरिति भुवो लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षलोकः। स्वरिति स्वर्गलोकः। मह इति महर्लोकः। जन इति जनोलोकः। तप इति तपोलोकः। सत्यमिति सत्यलोकः। तदिति तदसौ तेजोमयं तेजोऽग्निर्देवता। सवितुरिति सविता सावित्रमादित्यो वै। वरेण्यमित्यत्र प्रजापतिः। भर्ग इत्यापो वै भर्गः। देवस्य इतीन्द्रो देवो द्योतत इति स इन्द्रस्तस्मात् सर्वपुरुषो नाम रुद्रः। धीमहीत्यन्तरात्मा। धिय इत्यन्तरात्मा परः। य इति सदाशिवपुरुषः। नो इत्यस्माकं स्वधर्मे। प्रचोदयादिति प्रचोदितकाम इमान् लोकान् प्रत्याश्रयते यः परो धर्म इत्येषा गायत्री॥ २ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अब यहाँ गायत्री और व्याहृतियों का वर्णन प्रारम्भ होता है। प्रश्न-गायत्री कौन है और व्याहृतियाँ कौन हैं ? भूः क्या है ? भुवः क्या है ? स्वः क्या है ? महः क्या है ? जनः क्या है ? तपः क्या है ? सत्यं क्या है ? तत् क्या है ? सवितुः क्या है ? वरेण्यं क्या है ? भर्गः क्या है ? देवस्य क्या है ? धीमहि क्या है ? धियः क्या है ? यः क्या है ? नः क्या है ? तथा प्रचोदयात् क्या है ? उत्तर— ॐ भूः-यह भूलोक का वाचक है, भुवः - अन्तरिक्ष वाची है, स्वः-स्वर्ग लोक का वाची है, महः-महर्लोक का वाचक है, जनः-जनोलोक का, तपः-तपोलोक का, सत्यम्-सत्यलोक का, तत्-तेजस्रूप अग्निदेव का, सवितुः-यह सूर्य का वाचक है, वरेण्यं-यह प्रजापति (ब्रह्मा) का, भर्गः-आपः (जल) का, देवस्य-यह तेजस्वी इन्द्र का, जो परम ऐश्वर्य का द्योतक सर्वपुरुष नामक रुद्र द्वारा प्रख्यात है। धीमहि- यह अन्तरात्मा का, धियः-यह दूसरी अन्तरात्मा का-ब्रह्म का, यः-यह उस भगवान् सदाशिव पुरुष का, नः-यह अपने स्वरूप का (अर्थात् हमारे इस अर्थ का वाचक है), इस तरह से सभी यथोक्त क्रम से सतत स्वरूप का बोध (साक्षात्कार) कराने वाले हैं। प्रचोदयात्-यह प्रेरणा की इच्छा का द्योतक है। जो धर्म इन सभी लोकों का आश्रय करा दे, वही गायत्री है॥ २॥

सा च किं गोत्रा कत्यक्षरा कति पादा। कति कुक्षयः। कानि शीर्षाणि। सांख्यायनगोत्रा सा चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री त्रिपादा चतुष्पादा। पुनस्तस्याश्चत्वारः पादाः षट् कुक्षिकाः पञ्च शीर्षाणि भवन्ति। के च पादाः काश्च कुक्षयः कानि शीर्षाणि। ऋग्वेदोऽस्याः प्रथमः पादो भवति। यजुर्वेदो द्वितीयः पादः। सामवेदस्तृतीयः पादः। अथर्ववेदश्चतुर्थः पादः। पूर्वा दिक् प्रथमा कुक्षिर्भवति। दक्षिणा द्वितीया कुक्षिर्भवति। पश्चिमा तृतीया कुक्षिर्भवति। उत्तरा चतुर्थी कुक्षिर्भवति। ऊर्ध्वा वै पञ्चमी कुक्षिर्भवति। अधः षष्ठी कुक्षिर्भवति। व्याकरणोऽस्याः प्रथमः शीर्षो भवति। शिक्षा द्वितीयः। कल्पस्तृतीयः। निरुक्तश्चतुर्थः। ज्योतिषामयनमिति पञ्चमः। का दिक् को वर्णः किमायतनं कः स्वरः किं लक्षणं कान्यक्षरदैवतानि क ऋषयः कानि छन्दांसि काः शक्तयः कानि तत्त्वानि के चावयवाः। पूर्वायां भवतु गायत्री। मध्यमायां भवतु सावित्री। पश्चिमायां भवतु सरस्वती। रक्ता गायत्री। श्वेता सावित्री। कृष्णा सरस्वती। पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौरायतनानि॥ ३॥

प्रश्न- वह गायत्री किस गोत्र वाली है, कितने अक्षर वाली है, कितने पाद वाली, कितनी कुक्षि वाली है और उसके शीर्ष मूर्धादि स्थल क्या हैं ? उत्तर-वह सांख्यायन गोत्र वाली, चौबीस अक्षर वाली, गायत्री तीन एवं चार पाद वाली है। तदनन्तर उसके चार पाद, छः कुक्षियाँ एवं पाँच शिर हैं। प्रश्न-इसके पाद कौन हैं ? कुक्षियाँ कौन हैं ? तथा शिर कौन हैं ? उत्तर- ऋग्वेद इसका प्रथम पाद है, यजुर्वेद द्वितीय पाद है, सामवेद तृतीय पाद है और चतुर्थ पाद अथर्ववेद है। इसकी पूर्व दिशा प्रथम कुक्षि है, दक्षिण दिशा द्वितीय कुक्षि है, पश्चिम दिशा तृतीय कुक्षि है,उत्तर दिशा चौथी कुक्षि है। ऊर्ध्वभाग पाँचवीं कुक्षि है एवं अधः भाग छठी कुक्षि है। व्याकरण इसका प्रथम शिर, शिक्षा द्वितीय शिर, कल्प तृतीय शिर, निरुक्त चतुर्थ एवं ज्योतिष पञ्चम शिर है। प्रश्न-कौन सी दिशा में किस रंग की अधिष्ठात्री देवियाँ प्रतिष्ठित हैं ? उनका विस्तार क्या है ? स्वर-लक्षण क्या हैं ? किन अक्षरों की वह अधिष्ठात्री देवियाँ हैं ? उनके ऋषि कौन हैं ? छन्द कौन हैं ? शक्तियाँ कौन हैं ? तत्त्व कौन हैं एवं उनके अवयव कौन हैं ? उत्तर-पूर्व दिशा में गायत्री स्थित हैं (इनका वर्ण लाल है)। मध्यमा अर्थात् दक्षिण दिशा में (श्वेत वर्ण वाली) सावित्री स्थित हैं। पश्चिम दिशा में (कृष्ण वर्ण युक्त) सरस्वती विद्यमान हैं, यही ध्यान करना उचित है। पृथिवी, आकाश तथा स्वर्ग इन(त्रिशक्तियों) के विस्तार स्थल एवं निवास स्थान हैं॥ ३॥

अकारोकारमकाररूपोदात्तादिस्वरात्मिका। पूर्वा सन्ध्या हंसवाहिनी ब्राह्मी। मध्यमा

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

वृषभवाहिनी माहेश्वरी। पश्चिमा गरुडवाहिनी वैष्णवी। पूर्वाह्णकालिका सन्ध्या गायत्री कुमारी रक्ता रक्ताङ्गी रक्तवासिनी रक्तगन्धमाल्यानुलेपनी पाशाङ्कुशाक्षमालाकमण्डलुवरहस्ता हंसारूढा ब्रह्मदैवत्या ऋग्वेदसहिता आदित्यपथगामिनी भूमण्डलवासिनी। मध्याह्नकालिका सन्ध्या सावित्री युवती श्वेताङ्गी श्वेतवासिनी श्वेतगन्धमाल्यानुलेपनी त्रिशूलडमरुहस्ता वृषभारूढा रुद्रदैवत्या यजुर्वेदसहिता आदित्यपथगामिनी भुवोलोके व्यवस्थिता। सायं सन्ध्या सरस्वती वृद्धा कृष्णाङ्गी कृष्णवासिनी कृष्णगन्धमाल्यानुलेपना शङ्खचक्रगदाभयहस्ता गरुडारूढा विष्णुदैवत्या सामवेदसहिता आदित्यपथगामिनी स्वर्गलोकव्यवस्थिता॥ ४॥

(वह गायत्री) अकार, उकार, मकाररूप तथा उदात्तादि (उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित) स्वरात्मक है। (वह त्रिकाल) संध्या के अन्तर्गत प्रातःकाल के समय में हंसारूढ़-ब्राह्मीरूपा, मध्याह्न काल की संध्या में वृषभारूढ़-माहेश्वरीरूपा और अन्तिम सायंकालीन गरुड़ारूढ़- वैष्णवीरूपा रहती हैं। प्रातःकालीन संध्या के समय गायत्री रक्तवर्णा, कुमारी रूपा, रक्त अंगों वाली, रक्त वस्त्रों वाली, रक्त चन्दन एवं मालाओं वाली, पाश-अंकुश-अक्षमाला कमण्डलु वरमुद्रा युक्त हाथों वाली, हंसारूढ़ा, ब्रह्मा-देव शक्तिवाली, ऋग्वेद युक्ता, आदित्यपथगामिनी (आकाशगामिनी) तथा भूमण्डल पर रहने वाली हैं। मध्याह्न काल की संध्या में (वह) सावित्री युवा, श्वेत अंगों वाली, शुभ्रवर्णा, श्वेत वस्त्रों को धारण करने वाली, श्वेतचन्दन एवं मालाएँ धारण करने वाली, त्रिशूल एवं डमरू धारण किए हुए वृषभ पर आरूढ़, रुद्राधिदेवता, यजुर्वेदयुक्ता हैं। (वह) आदित्यपथ पर गमन करने वाली और भुवःलोक में विशेष रूप से स्थित रहने वाली हैं। सायंकालीन संध्या सरस्वतीरूपा हैं। वह वृद्धा, कृष्णवर्ण वाली, कृष्ण वस्त्रों को धारण करने वाली, काले गन्धमाला का अनुलेपन करने वाली, शंख, चक्र तथा गदा धारण किये हुए, गरुड़ पर आरूढ़, विष्णु दैवत्या (विष्णु जिसका अधिदेवता है), सामवेद युक्ता, भगवान् आदित्य के पथ पर गमन करने वाली तथा स्वः अर्थात् स्वर्गलोक में निवास करने वाली हैं॥ ४॥

अग्निवायुसूर्यरूपाऽऽहवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्निरूपा ऋग्यजुःसामरूपा भूर्भुवः स्वरिति व्याहृतिरूपा प्रातर्मध्याह्नतृतीयसवनात्मिका सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तरूपा वसुरुद्रादित्यरूपा गायत्रीत्रिष्टुजगतीरूपा ब्रह्मशङ्करविष्णुरूपेच्छाज्ञानक्रियाशक्तिरूपा स्वराड्विराड्वषड्ब्रह्मरूपेति। प्रथममाग्नेयं द्वितीयं प्राजापत्यं तृतीयं सौम्यं चतुर्थमीशानं पञ्चममादित्यं षष्ठं गार्हपत्यं सप्तमं मैत्रमष्टमं भगदैवतं नवममार्यमणं दशमं सावित्रमेकादशं त्वाष्ट्रं द्वादशं पौष्णं त्रयोदशमैन्द्राग्नं चतुर्दशं वायव्यं पञ्चदशं वामदेवं षोडशं मैत्रावरुणं सप्तदशं भ्रातृव्यमष्टादशं वैष्णवमेकोनविंशं वामनं विंशं वैश्वदेवमेकविंशं रौद्रं द्वाविंशं कौबेरं त्रयोविंशमाश्विनं चतुर्विंशं ब्राह्ममिति प्रत्यक्षरदैवतानि। प्रथमं वासिष्ठं द्वितीयं भारद्वाजं तृतीयं गार्ग्यं चतुर्थमौपमन्यवं पञ्चमं भार्गवं षष्ठं शाण्डिल्यं सप्तमं लौहितमष्टमं वैष्णवं नवमं शातातपं दशमं सनत्कुमार-मेकादशं वेदव्यासं द्वादशं शुकं त्रयोदशं पाराशर्यं चतुर्दशं पौण्ड्रकं पञ्चदशं क्रतुं षोडशं दाक्षं सप्तदशं काश्यपमष्टादशमात्रेयमेकोनविंशमगस्त्यं विंशमौद्दालकमेकविंशमाङ्गिरसं द्वाविंशं नामिकेतुं त्रयोविंशं मौद्गल्यं चतुर्विंशमाङ्गिरसं वैश्वामित्रमिति प्रत्यक्षराणामृषयो भवन्ति॥५॥

(ये गायत्री) अग्नि, वायु एवं सूर्य रूपा हैं। आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि वह्निरूपा हैं, ऋक्,यजुः तथा सामवेद स्वरूपा हैं; भूः, भुवः तथा स्वः व्याहृतिरूप वाली हैं; प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकालीन आत्मस्वरूपा; सत्त्व, रज एवं तम गुणात्मिका; जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिरूपा; वसु, रुद्र एवं आदित्यात्मक; गायत्री, त्रिष्टुप् एवं जगती आदि छन्दरूप वाली; ब्रह्मा, शंकर एवं विष्णु के स्वरूप वाली; इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्तिरूपा तथा

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

स्वराट्, विराट् एवं वषट् ब्रह्मरूपा हैं। (इस गायत्री महामन्त्र के) प्रथम अक्षर के अग्नि, दूसरे के प्रजापति, तीसरे के सोम (चन्द्रमा), चौथे के ईशान, पाँचवें के आदित्य, छठे के गार्हपत्य (अग्निविशेष), सातवें के मैत्र, आठवें के भग देवता, नौवें के अर्यमा, दसवें के सविता, ग्यारहवें के त्वष्ट्रा, बारहवें के पूषा, तेरहवें के इन्द्राग्नि, चौदहवें के वायु, पन्द्रहवें के वामदेव, सोलहवें के मैत्रावरुण, सत्रहवें के भ्रातृव्य, अठारहवें के विष्णु, उन्नीसवें के वामन, बीसवें के वैश्वदेव, इक्कीसवें के रुद्रदेव, बाइसवें के कुबेर, तेईसवें के अश्विनीकुमार और चौबीसवें अक्षर के ब्रह्मदेव शक्तिरूप हैं-यही प्रत्येक अक्षर के देवता कहे गये हैं। (अब गायत्री के २४ अक्षरों के २४ ऋषियों का वर्णन करते हैं-) इसके प्रथम अक्षर के ऋषि वसिष्ठ, दूसरे के भरद्वाज, तीसरे के गर्ग, चौथे के उपमन्यु, पाँचवें के भृगु (भार्गव), छठे के शाण्डिल्य, सातवें के लोहित, आठवें के विष्णु, नौवें के शातातप, दसवें के सनत्कुमार, ग्यारहवें के वेदव्यास, बारहवें के शुकदेव, तेरहवें के पाराशर, चौदहवें के पौण्ड्रक,पन्द्रहवें के क्रतु, सोलहवें के दक्ष, सत्रहवें के कश्यप, अठारहवें के अत्रि, उन्नीसवें के अगस्त्य, बीसवें के उद्दालक, इक्कीसवें के आङ्गिरस, बाइसवें के नामिकेतु, तेईसवें के मुद्गल और चौबीसवें के अङ्गिरा गोत्रज विश्वामित्र हैं, यही प्रत्येक अक्षरों के अलग-अलग चौबीस ऋषि होते हैं॥ ५॥

गायत्रीत्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप्पङ्क्तिबृहत्युष्णिगदितिरिति त्रिरावृत्तेन छन्दांसि प्रतिपाद्यन्ते। प्रह्लादिनी प्रज्ञा विश्वभद्रा विलासिनी प्रभा शान्ता मा कान्तिः स्पर्शा दुर्गा सरस्वती विरूपा विशालाक्षी शालिनी व्यापिनी विमला तमोऽपहारिणी सूक्ष्मावयवा पद्मालया विरजा विश्वरूपा भद्रा कृपा सर्वतोमुखीति चतुर्विंशतिशक्तयो निगद्यन्ते। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशगन्धर-सरूपस्पर्शशब्दवाक्यानि पादपायूपस्थत्वक्चक्षुःश्रोत्रजिह्वाघ्राणमनोबुद्ध्यहङ्कारचित्तज्ञानानीति प्रत्यक्षराणां तत्त्वानि प्रतीयन्ते। चम्पकातसीकुङ्कुमपिङ्गलेन्द्रनीलाग्निप्रभोद्यत्सूर्यविद्युत्तारक-सरोजगौरमरकतशुक्लकुन्देन्दुशङ्खपाण्डुनेत्रनीलोत्पलचन्दनागुरुकस्तूरीगोरोचन (मल्लिका केतकी) घनसारसन्निभं प्रत्यक्षरमनुस्मृत्य समस्तपातकोपपातकमहापातकागम्यागमनगोहत्या-ब्रह्महत्याभ्रूणहत्यावीरहत्यापुरुषहत्याऽऽजन्मकृतहत्या स्त्रीहत्यागुरुहत्यापितृहत्याप्राण हत्याचराचरहत्याऽभक्ष्यभक्षणप्रतिग्रहस्वकर्मविच्छेदनस्वाम्यार्तिहीनकर्मकरणपरधनापहरण-शूद्रान्नभोजनशत्रुमारणचण्डालीगमनादिसमस्तपापहरणार्थं संस्मरेत्॥ ६॥

गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप्, पंक्ति, बृहती, उष्णिक्-ये तीन आवृत्तियों से युक्त छन्द प्रतिपादित किये गये हैं। (गायत्री की चौबीस शक्तियों का वर्णन-) प्रह्लादिनी, प्रज्ञा, विश्वभद्रा, विलासिनी, प्रभा, शान्ता, मा, कान्ति, स्पर्शा, दुर्गा, सरस्वती, विरूपा, विशालाक्षी, शालिनी, व्यापिनी, विमला, तमोपहारिणी, सूक्ष्मावयवा, पद्मालया, विरजा, विश्वरूपा, भद्रा, कृपा और सर्वतोमुखी। अब गायत्री के प्रत्येक अक्षर के अलग-अलग चौबीस तत्त्वों का वर्णन करते हैं-पृथ्वी, जल, तेज,वायु, आकाश, गन्ध, रस,रूप, स्पर्श, शब्द, वाक्, पैर, पायु-उपस्थ (मल-मूत्रेन्द्रियाँ), त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं ज्ञान यही गायत्री के प्रत्येक अक्षर के चौबीस तत्त्व हैं। (अब गायत्री के चौबीस अक्षर के अलग-अलग पुष्पों का वर्णन-) चम्पा, अतसी (एक नीला फूल), कुंकुम, पिङ्गल, इन्द्रनील, अग्निप्रभा, उद्यत्सूर्य, विद्युत्तारक, सरोज, गौर, मरकत, शुक्ल, कुन्द, इन्दु, शंख, पाण्डु-नेत्र, नीलकमल, चन्दन, अगुरु, कस्तूरी, गोरोचन, मल्लिका, केतकी, कर्पूर के समान इन प्रत्येक अक्षरों के प्रत्येक पुष्पों को याद करना चाहिए। (अब चौबीस पातकों का वर्णन करते हैं-) सभी पातक, उपपातक, महापातक, अगम्यागमन (जिनसे योनि सम्बन्ध नहीं होना चाहिए, उनसे योनि सम्बन्ध रखना आदि), गोहत्या, ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या (गर्भपात), वीरहत्या, पुरुष हत्या, कई जन्मों से की हुई हत्यायें, स्त्रीहत्या, गुरुहत्या, पितृहत्या, आत्मघात, चर तथा अचर आदि जीवों की हत्या, जो खाने के लायक नहीं, उन्हें

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

खाने में होने वाली हत्या, दान ग्रहण का पाप, अपने कर्म का त्याग, स्वामी की सेवा से पराङ्मुख कर्म जन्य पाप, दूसरों के धन को चुराने से होने वाला पाप, शूद्र के अन्न को ग्रहण करने से होने वाला पाप, शत्रुघात तथा चाण्डाल से योनि सम्बन्ध रखना आदि इन समस्त पापों के विनाश के लिए हमेशा इन्हें याद रखे॥ ६ ॥

मूर्धा ब्रह्मा शिखान्तो विष्णुर्ललाटं रुद्रश्चक्षुषी चन्द्रादित्यौ कर्णौ शुक्रबृहस्पती नासापुटे अश्विनौ दन्तोष्ठावुभे सन्ध्ये मुखं मरुतः स्तनौ वस्वादयो हृदयं पर्जन्य उरमाकाशो नाभिरग्निः कटिरिन्द्राग्नी जघनं प्राजापत्यमूरू कैलासमूलं जानुनी विश्वेदेवौ जङ्घे शिशिरः गुल्फानि पृथिवीवनस्पत्यादीनि नखानि महती अस्थीनि नवग्रहा असृक्केतुर्मांसमृतुसन्धयः कालद्वयास्फालनं संवत्सरो निमेषोऽहोरात्रमिति वाग्देवीं गायत्रीं शरणमहं प्रपद्ये॥ ७॥

मैं ऐसी उस वाक् शक्ति की अधिष्ठात्री देवी गायत्री की शरण (आश्रय) को प्राप्त करता हूँ, जिसकी मूर्धा (शिर) ब्रह्मा, शिखान्त (शिखा का अन्त भाग) विष्णु, ललाट (मस्तक) रुद्र, (दोनों) नेत्र-सूर्य और चन्द्रमा, (दोनों) कान- शुक्राचार्य एवं बृहस्पति, नासिका के दोनों रन्ध्र (छिद्र) अश्विनीकुमार, दोनों दन्तोष्ठ-दोनों सन्ध्यायें, मुख-मरुत् (वायु), स्तन-वसु आदि, हृदय-बादल, पेट-आकाश, नाभि-अग्नि, कमर-इन्द्राग्नि,जाँघ-प्राजापत्य, उरुद्वय-कैलाश के मूल स्थल, दोनों घुटने-विश्वदेव, जंघाएँ (पिंडली)-शिशिर, गुल्फ (टखने)-पृथ्वी की वनस्पति आदि, नख-महत् तत्त्व, हड्डियाँ-नवग्रह, अँतड़ियाँ-केतु, मांस-ऋतु-संधियाँ, दोनों कालों का गमन बोधक वर्ष-संवत्सर और निमेष-दिन एवं रात्रि हैं॥ ७॥

य इदं गायत्रीरहस्यमधीते तेन क्रतुसहस्त्रमिष्टं भवति। य इदं गायत्री रहस्यमधीते दिवसकृतं पापं नाशयति। प्रातर्मध्याह्नयोः षण्मासकृतानि पापानि नाशयति। सायं प्रातरधीयानो जन्मकृतं पापं नाशयति। य इदं गायत्रीरहस्यं ब्राह्मणः पठेत् तेन गायत्र्याः षष्टिसहस्त्रलक्षाणि जप्तानि भवन्ति। सर्वान् वेदानधीतो भवति। सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। अपेयपानात् पूतो भवति। अभक्ष्यभक्षणात् पूतो भवति। वृषलीगमनात् पूतो भवति। अब्रह्मचारी ब्रह्मचारी भवति। पंक्तिषु सहस्त्रपानात् पूतो भवति। अष्टौ ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा ब्रह्मलोकं स गच्छति। इत्याह भगवान् ब्रह्मा॥ ८॥

जो मनुष्य इस गायत्री रहस्य का अध्ययन (पाठ) करता है,ऐसा मानना चाहिए कि उसने तो सहस्त्रों यज्ञ सम्पन्न कर लिये हैं। जो इस गायत्री रहस्य का पाठ करता है, उसके द्वारा (भूल से) दिन में किये हुए समस्त पापों का उसके पाठ से क्षय (विनाश) हो जाता है। जो प्रातः एवं मध्याह्न काल में इसका पाठ (अध्ययन) करता है, वह अपने छः मास के किये हुए पापों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है अर्थात् पापरहित हो जाता है। जो प्रतिदिन प्रातः एवं सायंकाल इसका पाठ करे, तो उसके समस्त जन्मों के पाप विनष्ट हो जाते हैं। जो भी ब्राह्मण इस गायत्री रहस्य का पाठ करे, तो यह मानना चाहिए कि उसने गायत्री महामन्त्र का साठ हजार लाख बार जप कर लिया है, उसने सभी (चारों) वेदों का पाठ कर लिया, समस्त तीर्थों में उसने स्नान कर लिया है। अपेय पदार्थ (शराब आदि) को पीने से जो पाप होता है, उससे भी वह मुक्त हो जाता है। अखाद्य पदार्थों को ग्रहण करने (खाने) से हुए पाप से भी वह पापरहित हो जाता है। शूद्रगमन (शूद्रस्त्री से यौन सम्बन्ध बनाने) के पाप से मुक्त हो जाता है। यदि वह ब्रह्मचारी न भी हो, तो (पाठ करने से) वह ब्रह्मचारी (के सदृश तेजोमय) हो जाता है। पंक्तियों में यदि उसने सहस्त्रों बार भी अपेय पदार्थों का पान किया है, तो भी (वह) पाठ करने से पवित्र हो जाता है। आठ ब्राह्मणों को इस गायत्री रहस्य को ग्रहण करवा कर अर्थात् बता-समझाकर (वह) ब्रह्मलोक को गमन कर जाता है, ऐसा भगवान् ब्रह्माजी ने याज्ञवल्क्य ऋषि से कहा॥ ८॥

॥ इति गायत्रीरहस्योपनिषत् समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ गोपालपूर्वतापन्युपानषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा के अन्तर्गत है। इसमें सविशेष ब्रह्म (श्रीकृष्ण) का प्रतिपादन करते हुए, उसका पर्यवसान निर्विशेष ब्रह्म (निराकार ब्रह्म) के रूप में किया गया है। इस उपनिषद् का शुभारम्भ मुनिगणों एवं ब्रह्मा जी के मध्य हुए प्रश्नोत्तर से हुआ है।

सर्वप्रथम मंगलाचरण में भगवान् कृष्ण का स्तवन है, तदुपरान्त गोपालकृष्ण के परमदेवत्व का विवेचन है। इसके बाद गोपालकृष्ण के स्वरूप का निरूपण, गोपाल कृष्ण के रूप का विशिष्ट ध्यान, गोपाल कृष्ण के मन्त्र का जप, गोपालकृष्ण का भजन, गोविन्द की पूजा का विधान, सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ साधन के रूप में अष्टादशार्ण मन्त्र, अष्टादशार्ण मन्त्र ही आत्मज्ञान-प्राप्ति का साधन, मन्त्र में प्रयुक्त पंचपदों से जगत् की सृष्टि का वर्णन, पंचपदात्मक गोविन्द की स्तुति, गोपालकृष्ण के ध्यान, जप और भजन का विशद वर्णन क्रमशः किया गया है। अन्त में इस उपनिषद् की फलश्रुति बताते हुए इसे पूर्णता प्रदान की गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृष्णोपनिषद्)

कृषिर्भूवाचकः शब्दो नश्च निर्वृतिवाचकः।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥
सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे॥ १ ॥

'कृष्' शब्द सत्तावाचक है और 'न' शब्द आनन्दबोधक। इन दोनों की समीपता ही सच्चिदानन्दमय परमेश्वर 'श्रीकृष्ण' के नाम का प्रतिपादन करती है। अनायास ही सभी कुछ कर सकने में समर्थ सच्चिदानन्दमय भगवान् श्रीकृष्ण को, जो वेदान्त के द्वारा जानने योग्य हैं, वे (हम) सभी की बुद्धि के साक्षी एवं सम्पूर्ण विश्व के गुरु हैं। ऐसे श्रीकृष्ण को सादर नमन-वंदन है॥ १ ॥

मुनयो ह वै ब्राह्मणमूचुः। कः परमो देवः । कुतो मृत्युर्बिभेति। कस्य विज्ञानेनाखिलं विज्ञातं भवति। केनेदं विश्वं संसरतीति॥ २ ॥

एक बार मुनियों ने पितामह ब्रह्मा जी से प्रश्न किया-हे भगवन् ! कौन देवता सर्वश्रेष्ठ है ? किससे मृत्यु भयभीत होती है ? किसके तत्त्व को सम्यक् रूप से जान लेने के पश्चात् सभी कुछ पूर्णतया ज्ञात हो जाता है ? यह जगत् किसके द्वारा प्रेरित होकर आवागमन के चक्र में भ्रमण करता रहता है॥ २ ॥

तदु होवाच ब्राह्मणः। कृष्णो वै परमं दैवतम्। गोविन्दान्मृत्युर्बिभेति। गोपीजनवल्लभ-ज्ञानेनैतद्विज्ञातं भवति। स्वाहेदं विश्वं संसरतीति॥ ३ ॥

इन समस्त प्रश्नों का समाधान करते हुए भगवान् ब्रह्मा जी ने मुनियों से कहा-हे मुनियो! 'श्रीकृष्ण' ही सर्वश्रेष्ठ देवता हैं। 'गोविन्द' से मृत्यु भी भयभीत रहती है। 'गोपीजन वल्लभ' के तत्त्व को पूर्णतः जान लेने से सभी कुछ सम्यक् रूप से ज्ञात हो जाता है। 'स्वाहा' रूपी मायाशक्ति से प्रेरित हुआ वह समस्त जगत् गमनागमन के चक्र में भ्रमणरत रहता है॥ ३ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

तदु होचुः। कः कृष्णः। गोविन्दश्च कोऽसाविति। गोपीजनवल्लभश्च कः। का स्वाहेति॥ ४॥

तदनन्तर उन मुनिजनों ने पुनः प्रश्न किया-हे भगवन्! वे 'श्रीकृष्ण' एवं गोविन्द कौन हैं? गोपीजन-वल्लभ कौन हैं? तथा वह 'स्वाहा' कौन है? कृपा करके बताने का अनुग्रह करें॥ ४॥

तानुवाच ब्राह्मणः। पापकर्षणो गोभूमिवेदविदितो गोपीजनविद्याकलापीप्रेरकः। तन्माया चेति सकलं परं ब्रह्मैव तत्। यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवतीति॥ ५॥ ते होचुः किं तद्रूपं किं रसनं किमाहो तद्भजनं तत्सर्वं विविदिषतामाख्याहीति॥ ६॥

ऐसा सुनकर ब्रह्मा जी ने उन मुनिजनों को आश्वस्त करते हुए कहा- हे मुनियो! 'श्रीकृष्ण' ही पापों का अपकर्षण (अपहरण) करने वाले हैं। वही गौ, भूमि एवं वेदवाणी के ज्ञातारूप से प्रख्यात सर्वज्ञ हरिरूप में गोविन्द हैं। वे गोपीजनवल्लभ -गोपीजनों के विद्या कला आदि के प्रेरक हैं और इन्हीं की मायाशक्ति 'स्वाहा' है। यह सभी ब्रह्ममयी है। इस प्रकार से जो मनुष्य उन 'श्रीकृष्ण' नाम से प्रख्यात परब्रह्म का ध्यान एवं जपादि के द्वारा नामामृत का पान करता है एवं उनके भजन-कीर्तन आदि में निरन्तर संलग्न रहता है, निश्चय ही वह अमृतत्व को प्राप्त होता है। तदनन्तर उन मुनियों ने पुनः पूछा- हे पितामह! ध्यान करने के अनुकूल श्रीकृष्ण का कैसा रूप होना चाहिए? उनके नाम-रूप अमृत का रसास्वादन कैसा होता है? तथा उनका भजन-कीर्तन किस तरह से किया जाता है? कृपापूर्वक स्पष्टतया बताने का अनुग्रह करें॥ ५-६॥

तदु होवाच हैरण्यो गोपवेषमभ्राभं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितम्॥ ७॥

तदनन्तर वे हिरण्यगर्भ भगवान् ब्रह्माजी बोले—हे मुनियो ! उन अविनाशी भगवान् 'श्रीकृष्ण' का ध्यान करने योग्य रूप का वर्णन इस प्रकार है-उनका वेश ग्वाल-बालों के अनुरूप है,उनका वर्ण(रंग)नवीन जलधर की भाँति श्याम है, किशोरावस्था है और वे भगवान् श्रीकृष्ण दिव्य कल्पवृक्ष के नीचे विराजमान हैं॥७॥

तदिह श्लोका भवन्ति—सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्। द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम्॥ ८॥ गोपगोपाङ्गनावीतं सुरद्रुमतलाश्रितम्। दिव्यालंकरणोपेतं रत्नपङ्कजमध्यगम्॥ ९॥ कालिन्दीजलकल्लोलसङ्गिमारुतसेवितम्। चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः॥ १०॥

इसी सन्दर्भ में ये श्लोक हैं- भगवान् 'श्रीकृष्ण' के नेत्र खिले हुए श्वेत (शुभ्र) कमल के समान हैं, उनके श्री अङ्गों की आभा मेघ के सदृश श्याम है, वे विद्युत् के समान तेजोमय पीताम्बर को धारण किये हुए हैं, दोनों भुजाओं से युक्त हो ज्ञान-मुद्रा में अवस्थित हैं। उनके गले में लम्बी वनमाला सुशोभित हो रही है, वे महान् ईश्वर हैं। गोप एवं गोप-सुन्दरियों के द्वारा वे चारों ओर से आवृत हैं। वे कल्पवृक्ष के नीचे अवस्थित हैं। उनका श्रीविग्रह (शरीर) दिव्य वस्त्राभूषणों से सुशोभित है। रत्नजटित सिंहासन पर रत्नमय कमल के मध्य भाग में वे विद्यमान हैं। कालिन्दी (यमुना) के जल से उठती हुई चञ्चल लहरों को चूमकर प्रवाहित होने वाली शीतल सुवासित वायु उन भगवान् 'श्रीकृष्ण' की सेवा में रत है। इस मनमोहक रूप में श्रीकृष्ण का मन से ध्यान करने वाला भक्त सांसारिक बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ ८-१०॥

तस्य पुना रसनमिति जलभूमीन्दुसंपातः कामादिकृष्णायेत्येकं पदम्। गोविन्दायेति द्वितीयम्। गोपीजनेति तृतीयम्। वल्लभायेति तुरीयम्। स्वाहेति पञ्चममिति॥ ११॥ पञ्चपदं जपन्पञ्चाङ्गं द्यावाभूमिसूर्याचन्द्रमसौ साग्नी तद्रूपतया ब्रह्म संपद्यते ब्रह्म संपद्यत इति॥ १२॥

इसके पश्चात् उन भगवान् श्रीकृष्ण के नाम रूपी अमृत के रसास्वादन एवं मन्त्र-जप का उल्लेख करते हैं-

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

जल (क), भूमि (ल), ईकार, इन्दु: (अनुस्वार ÷) का समूह ('क्लीं') शब्द ही कामबीज है। इस बीजमन्त्र को प्रारम्भ में रखते हुए 'कृष्णाय' पद का उच्चारण करना चाहिए। अत: 'क्लीं कृष्णाय' पूरे मन्त्र का प्रथम पद हुआ। 'गोविन्दाय' यह द्वितीय पद है। 'गोपीजन' यह तृतीय पद है। 'वल्लभाय' चतुर्थ पद है और 'स्वाहा' यह पञ्चम पद है। पाँच पदों से युक्त यह मन्त्र 'क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा' हुआ। यह पञ्चपदी के नाम से जाना जाता है। पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा एवं अग्नि आदि का प्रकाशक होने के कारण यह चिन्मय मन्त्र पाँच अङ्गों का सम्मिलित रूप है। जो साधक इस मन्त्र के द्वारा जप एवं भजन-कीर्तन आदि करता है, वह परब्रह्ममय भगवान् 'श्रीकृष्ण' को प्राप्त करता है॥ ११-१२॥

तदेष श्लोक:— क्लीमित्येतदादावादाय कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभायेति बृहन्भानव्या सकृदुच्चरेद्योऽसौ गतिस्तस्यास्ति मङ्क्षु नान्या गति: स्यादिति॥ १३॥

इस सन्दर्भ में यह श्लोक है—इस 'क्लीं' कामबीज को प्रारम्भ में रखकर जो साधक 'कृष्णाय,' 'गोविन्दाय', 'गोपीजन वल्लभाय' पदों का बृहन् भानव्य अर्थात् स्वाहा के साथ उच्चारण करेगा, उसे शीघ्रातिशीघ्र (श्रीकृष्ण-मिलनरूपा) श्रेष्ठ सद्गति मिलेगी। उस साधक के लिए दूसरी अन्य कोई गति नहीं है॥ १३॥

भक्तिरस्य भजनम्। तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनामुष्मिन्मन: कल्पनम्। एतदेव च नैष्कर्म्यम्॥१४॥

इन भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति अटूट भक्ति ही भजन है। इस लोक एवं परलोक के सम्पूर्ण भोगों की आकांक्षा का हमेशा के लिए परित्याग कर देना और 'श्रीकृष्ण' में इन्द्रियों के सहित मन को लगा देना ही वास्तविक भजन का स्वरूप है। यही नैष्कर्म्य अर्थात् वास्तविक संन्यास है॥ १४॥

कृष्णं तं विप्रा बहुधा यजन्ति गोविन्दं सन्तं बहुधाऽऽराधयन्ति।
गोपीजनवल्लभो भुवनानि दधे स्वाहाश्रितो जगदैजत्सुरेता:॥ १५॥

वेदज्ञ विद्वज्जन उन सच्चिदानन्द स्वरूप 'श्रीकृष्ण' का भिन्न-भिन्न प्रकार से यजन-पूजन सम्पन्न करते हैं। 'गोविन्द' नाम से प्रख्यात उन 'श्रीकृष्ण' की विभिन्न तरह से स्तुति-प्रार्थना करते हैं, वे 'गोपीजन-वल्लभ' (श्याम सुन्दर ही) समस्त लोकों का पालन-पोषण करते हैं तथा संकल्परूप श्रेष्ठ शक्तिसम्पन्न उन परमेश्वर ने ही 'स्वाहा' नामक माया-शक्ति का आश्रय प्राप्त करके इस जगत् को प्रकट किया है॥ १५॥

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो जन्येजन्ये पञ्चरूपो बभूव।
कृष्णस्तथैकोऽपि जगद्धितार्थं शब्देनासौ पञ्चपदो विभातीति॥ १६॥

जिस प्रकार सम्पूर्ण जगत् में संव्याप्त एक ही वायुतत्त्व प्रत्येक शरीर के अन्त: में प्राण आदि पञ्च रूपों से जाना जाता है, वैसे ही 'श्रीकृष्ण' एक होते हुए भी जगत् के कल्याण के लिए इस ऊपर कहे हुए मन्त्र में अलग-अलग नाम से पाँच पदों वाले जाने जाते हैं॥ १६॥

ते होचुरुपासनमेतस्य परमात्मनो गोविन्दस्याखिलाधारिणो ब्रूहीति॥ १७॥

इसके पश्चात् उन समस्त मुनियों ने कहा—'हे पितामह! सम्पूर्ण विश्व के आश्रयभूत परमब्रह्म गोविन्द की उपासना किस प्रकार की जाती है?' कृपापूर्वक उपदेश देने का अनुग्रह करें॥ १७॥

तानुवाच यत्तस्य पीठं हैरण्याष्टपलाशमम्बुजं तदन्तरालिकानलास्त्रयुगं तदन्तरालाद्यर्णा-खिलबीजं कृष्णाय नम इति बीजाढ्यं स ब्रह्माणमादायानङ्गगायत्रीं यथावद्व्यालिख्य भूमण्डलं शूलवेष्टितं कृत्वाङ्गवासुदेवादिरुक्मिण्यादिस्वशक्तीन्द्रादिवसुदेवादिपार्थादिनिध्यावीतं यजेत्संध्यासु प्रतिपत्तिभिरुपचारै: । तेनास्याखिलं भवत्यखिलं भवतीति ॥१८॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

तदनन्तर ब्रह्माजी उन मुनियों से भगवान् 'श्रीकृष्ण' के पीठ (गोपाल-यंत्र) का वर्णन करते हुए बोले- हे मुनियो! सर्वप्रथम पीठ पर सुवर्ण से युक्त अष्टदल कमल का निर्माण करे। उसके बीच में एक-दूसरे से उल्टे दो त्रिकोण बनावे, इससे छः कोण विनिर्मित होंगे। इन कोणों के बीच में स्थित कर्णिका में आदि अक्षर स्वरूप कामबीज (क्लीं) का उल्लेख करे। यह बीजमन्त्र सभी कार्यों की सिद्धि का अमोघ माध्यम है। इसके बाद हर एक कोण में 'क्लीं' बीज से युक्त 'कृष्णाय नमः' मंत्र के एक-एक अक्षर को लिखे। तदनन्तर ब्रह्म-मन्त्र (अष्टादशाक्षर गोपाल-विद्या) तथा काम-गायत्री (कामदेवाय विद्महे, पुष्पबाणाय धीमहि, तन्नोऽनङ्गः प्रचोदयात्) का उल्लेख करके आठ वज्रों से आवृत भूमण्डल का निर्माण करे। फिर उपर्युक्त मन्त्र को अङ्ग वासुदेवादि, रुक्मिणी सहित स्वशक्ति तथा इन्द्र, वसुदेव, पार्थ एवं निधि सहित आठ आवरणों से संरक्षित उस पीठ यन्त्र की पूजा सम्पन्न करे। उक्त आवरणों से परिवेष्टित श्रीकृष्णचन्द्र का तीनों सन्ध्याओं के समय ध्यान करने के बाद षोडशोपचार विधि से पूजन करे। इस विधि से पूजन-प्रक्रिया सम्पन्न करने से साधक को (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) सभी कुछ सुलभता से प्राप्त हो जाता है॥ १८॥

तदिह श्लोका भवन्ति—एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन्बहुधा यो विभाति।
तं पीठगं येऽनुभजन्ति धीरास्तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषाम्॥ १९॥

इस सन्दर्भ में ये श्लोक हैं—सभी को अपने वश में रखने वाले, सर्वत्र व्याप्त रहने वाले एकमात्र भगवान् 'श्रीकृष्ण' ही सदैव स्तुति करने के योग्य हैं। वे एक रहते हुए भी अनेक रूपों में परिलक्षित होते हैं। जो ज्ञानी मनुष्य उपर्युक्त पीठ पर विद्यमान उन भगवान् 'श्रीकृष्ण' का प्रत्येक दिन पूजन करते हैं, उन्हीं को शाश्वत आनन्दानुभूति होती है, अन्यों को नहीं॥ १९॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तं पीठगं येऽनुभजन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥ २०॥

जो (श्रीकृष्ण) नित्यों में नित्य, चेतनों के भी परम चेतन हैं और जो सभी की मनोकामनाओं को पूर्ण करते हैं, उन श्रीकृष्ण को पूर्वोक्त पीठ में प्रतिष्ठित करके जो ज्ञानी-भक्त निरन्तर पूजन करता है, उन्हें सनातन सुख मिलता है, अन्यों को नहीं॥ २०॥

एतद्विष्णोः परमं पदं ये नित्योद्युक्तास्तं यजन्ति न कामात्।
तेषामसौ गोपरूपः प्रयत्नात्प्रकाशयेदात्मपदं तदेव॥ २१॥

जो मनुष्य उत्साहपूर्वक श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण) के इस (अविनाशी पदस्वरूप) मंत्र की विधि-विधान से पूजा-प्रक्रिया सम्पन्न करते हैं और जो उन भगवान् के अतिरिक्त दूसरी किसी भी वस्तु की आकांक्षा नहीं करते, उन (साधकों) के लिए वे गोपालरूपधारी श्यामसुन्दर अपना स्वरूप और अपना परम शाश्वत धाम शीघ्र ही प्रयासपूर्वक दिखा देते हैं॥ २१॥

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो विद्यां तस्मै गोपायति स्म कृष्णः।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुः शरणं व्रजेत्॥ २२॥

जो भगवान् 'श्रीकृष्ण' सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था में ब्रह्माजी को प्रकट करते हैं एवं जो उन (ब्रह्माजी) को वेदविद्या का ज्ञान प्रदान करके उन्हीं के द्वारा उस (विद्या) का गायन करवाते हैं। सम्पूर्ण जीवों को बुद्धि का प्रकाश प्रदान करने वाले उन भगवान् 'श्रीकृष्ण' की शरण में मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा से मनुष्य को अवश्य ही जाना चाहिए॥ २२॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

ओङ्कारेणान्तरितं ये जपन्ति गोविन्दस्य पञ्चपदं मनुम्।
तेषामसौ दर्शयेदात्मरूपं तस्मान्मु-मुक्षुरभ्यसेन्नित्यशान्त्यै॥ २३॥

जो श्रेष्ठ साधक 'श्रीगोविन्द' के उस पाँच पद से युक्त प्रख्यात अष्टादशाक्षर मन्त्र को प्रणव से सम्पुटित करके जप करते हैं, उन्हीं को वे अपने स्वरूप का दर्शन कराते हैं। अतः सांसारिक बन्धनों से मुक्त होने की इच्छा रखने वाले मनुष्य को नित्य-शान्ति की प्राप्ति के लिए ऊपर वर्णित मन्त्र जप करना चाहिए॥२३॥

एतस्मा एव पञ्चपदादभूवन्गोविन्दस्य मनवो मानवानाम्।
दशार्णाद्यास्तेऽपि संक्रन्दनाद्यैरभ्यस्यन्ते भूतिकामैर्यथावत्॥ २४॥

इन पाँच पदों से युक्त मन्त्र द्वारा ही अन्य और भी दशाक्षर आदि मन्त्र प्रादुर्भूत हुए हैं, वे सभी मन्त्र मानव के लिए कल्याणकारी हैं। उन दशाक्षर आदि मन्त्रों का ऐश्वर्य की कामना से युक्त इन्द्रादि देवता न्यास-ध्यान के सहित विधिवत् जप करते हैं॥ २४॥

ते पप्रच्छुस्तदु होवाच ब्रह्मसदनं चरतो मे ध्यातः स्तुतः परमेश्वरः परार्धान्ते सोऽबुध्यत। गोपवेषो मे पुरुषः पुरस्तादाविर्बभूव। ततः प्रणतो मयानुकूलेन हृदा मह्यमष्टादशार्णस्वरूपं सृष्टये दत्त्वान्तर्हितः। पुनस्ते सिसृक्षतो मे प्रादुरभूत्तेष्वक्षरेषु विभज्य भविष्यज्जगद्रूपं प्रकाशयन्। तदिह कादापो लात्पृथिवीतोऽग्निर्बिन्दोरिन्दुस्तत्संपातात्तदर्क इति क्लींकारादसृजं कृष्णादाकाशं खाद्वायुरुत्तरात्सुरभिविद्याः प्रादुरकार्षमकार्षमिति। तदुत्तरात्स्त्रीपुंसादिभेदं सकलमिदं सकलमिदमिति॥ २५॥

उन ऋषियों के पूछने पर समाधान करते हुए पितामह बोले-हे मुनिवरो ! मेरी (ब्रह्मा की) दो परार्ध की आयु होती है, उसमें से एक परार्ध आयु भगवान् का निरन्तर ध्यान एवं स्तुति करते हुए बीत गयी, तब उन भगवान् का ध्यान मेरी तरफ आकृष्ट हुआ। वे गोपवेश धारण किये हुए श्यामसुन्दर पूर्ण पुरुषोत्तम रूप में मेरे समक्ष प्रकट हुए। उनके चरण कमलों में भक्तिपूर्वक मैंने नमन-वन्दन किया। उन परमेश्वर ने दयार्द्र-भाव से कृपापूर्वक सृष्टि-संरचना हेतु अपने स्वरूपभूत अष्टादशाक्षर मन्त्र का उपदेश प्रदान किया और अन्तर्धान हो गये। जब मेरे हृदय में सृष्टि-संरचना की इच्छा जाग्रत् हुई, तब अष्टादशाक्षर मन्त्र के उन समस्त अक्षरों में भावी जगत् के रूप का साक्षात्कार कराते हुए वे पुनः मेरे समक्ष उपस्थित हो गये। तत्पश्चात् मैंने इस मन्त्र के 'क' अक्षर से जल की, 'ल' अक्षर से पृथ्वी की, 'ई' अक्षर से अग्नि की, अनुस्वार से चन्द्रमा की और इन सबके समुदाय रूप 'क्लीं' से सूर्य की संरचना की। मन्त्र के द्वितीय पद 'कृष्णाय' से आकाश तत्त्व की एवं आकाश से वायु की सृष्टि की। तृतीय 'गोविन्दाय' पद से कामधेनु गौ और वेदादि विद्याओं को प्रकट किया। उसके पश्चात् चतुर्थ पद 'गोपीजनवल्लभाय' से स्त्री-पुरुषादि की संरचना की और सबसे बाद में पञ्चम पद 'स्वाहा' से सम्पूर्ण जड़-चेतनमय चर-अचर विश्व को प्रादुर्भूत किया॥ २५॥

[यहाँ जिस अष्टादशार्ण (अष्टदशाक्षर) मंत्र की विवेचना की है, वह मन्त्र इस प्रकार है- क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।]

एतस्यैव यजनेन चन्द्रध्वजो गतमोहमात्मानं वेदयति। ओंकारालिकं मनुमावर्तयेत्। सङ्गरहितोऽभ्यानत्॥ २६॥

प्राचीनकाल में राजर्षि चन्द्रध्वज मोहरहित होकर भगवान् 'श्रीकृष्ण' के पूजन एवं ॐकार द्वारा सम्पुटित अष्टादशाक्षर मंत्र के जप एवं ध्यान के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करके सङ्गरहित हो गये॥ २६॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥ २७॥

भगवान् विष्णु (श्रीकृष्ण) के उस अविनाशी परमधाम गोलोक का ज्ञानी और प्रेमी भक्तजन निरन्तर दर्शन करते रहते हैं। आकाश में सूर्य के सदृश वे (भगवान्) परम व्योम में चतुर्दिक् संव्याप्त एवं प्रकाशस्वरूप विद्यमान हैं॥ २७॥

तस्मादेनं नित्यमावर्तयेन्नित्यमावर्तयेदिति॥ २८॥

(उस शाश्वत परम अविनाशी गोलोक धाम की प्राप्ति, पूर्व में कहे हुए अष्टादशाक्षर मन्त्र के जप एवं ध्यान से ही सम्भव होती है,) अतः इस दिव्य मन्त्र का प्रतिदिन ही जप करना चाहिए॥ २८॥

तदाहुरेके यस्य प्रथमपदाद्भूमिर्द्वितीयपदाज्जलं तृतीयपदात्तेजश्चतुर्थपदाद्वायुश्चरमपदाद्व्योमेति। वैष्णवं पञ्चव्याहृतिमयं मन्त्रं कृष्णावभासकं कैवल्यस्य सृत्यै सततमावर्तयेत्सततमावर्तयेदिति॥ २९॥

(उपर्युक्त अष्टादशाक्षर मंत्र के सन्दर्भ में) कुछ मुनिगण ऐसा कहते हैं कि जिसके प्रथम पद (क्लीं) से पृथ्वीतत्त्व, द्वितीय पद (कृष्णाय) से जल तत्त्व, तृतीय पद (गोविन्दाय) से तेजस् (अग्नितत्त्व), चतुर्थ पद (गोपीजनवल्लभाय) से वायुतत्त्व और अन्तिम पञ्चम पद (स्वाहा) से आकाश तत्त्व का प्राकट्य हुआ; वह पञ्चमहाव्याहृतियों से युक्त अष्टादशाक्षर वैष्णव मन्त्र 'श्रीकृष्ण' के स्वरूप को तेजोमय बनाने वाला है। उस मन्त्र का मोक्ष प्राप्ति के लिए सतत जप एवं ध्यान करते रहना चाहिए॥ २९॥

तदत्र गाथाः— यस्य चाद्यपदाद्भूमिर्द्वितीयात्सलिलोद्भवः। तृतीयात्तेज उद्भूतं चतुर्थाद्गन्धवाहनः॥ ३०॥ पञ्चमादम्बरोत्पत्तिस्तमेवैकं समभ्यसेत्। चन्द्रध्वजोऽगमद्विष्णोः परमं पदमव्ययम्॥ ३१॥

इस सन्दर्भ में यहाँ पर यह गाथा प्रसिद्ध है- जिस (अष्टादशाक्षर) मंत्र के प्रथम पद से पृथ्वी उत्पन्न हुई, द्वितीय पद से जलतत्त्व का आविर्भाव हुआ, तृतीय पद से तेजस् (अग्नि) का प्राकट्य हुआ, चतुर्थ पद से वायु तत्त्व प्रकट हुआ और पंचम पद से आकाश तत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ, उस एकमात्र अष्टादशाक्षर मन्त्र का ही सर्वदा जप एवं ध्यान करना चाहिए। उस मन्त्र के जप द्वारा ही राजर्षि चन्द्रध्वज ने 'श्रीकृष्ण' के अविनाशी शाश्वत गोलोक धाम को प्राप्त किया॥ ३०-३१॥

ततो विशुद्धं विमलं विशोकमशेषलोभादिनिरस्तसङ्गम्।
यत्तत्पदं पञ्चपदं तदेव स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति॥ ३२॥

वह गोलोक धाम परम पवित्र, विमल, शोक-विहीन, लोभ आदि से रहित, समस्त प्रकार की आसक्ति से रहित है। वह ऊपर कहे पाँच पदों वाले मन्त्र से भिन्न नहीं है। वह मन्त्र स्वयं साक्षात् वासुदेवमय ही है, उन वासुदेव से भिन्न दूसरा और कुछ भी नहीं है॥ ३२॥

तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं पञ्चपदं वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनं सततं समरुद्गणोऽहं परमया स्तुत्या तोषयामि॥ ३३॥

वे भगवान् गोविन्द पञ्चपद मन्त्र स्वरूप हैं। उनका श्रीविग्रह सत्-चित्-आनन्द स्वरूप है। वे वृन्दावन में स्थित कल्पवृक्ष के नीचे (रत्नजटित सिंहासन पर) सदैव विराजमान रहते हैं। मैं (ब्रह्मा) मरुद्गणों के साथ रहते हुए उन भगवान् (श्रीकृष्ण) को श्रेष्ठ स्तुतियों के द्वारा प्रसन्न करता हूँ॥ ३३॥

ॐ नमो विश्वस्वरूपाय विश्वस्थित्यन्तहेतवे। विश्वेश्वराय विश्वाय गोविन्दाय नमो नमः॥ ३४॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सम्पूर्ण जगत् ही जिनका स्वरूप है, जो जगत् के पालनकर्त्ता एवं संहार के एकमात्र कारण हैं और स्वयं ही विश्वमय एवं एकमात्र इस जगत् के अधिष्ठाता हैं, ऐसे उन भगवान् गोविन्द को बारम्बार प्रणाम है॥३४॥

नमो विज्ञानरूपाय परमानन्दरूपिणे। कृष्णाय गोपीनाथाय गोविन्दाय नमो नमः॥ ३५॥

जो विज्ञानमय तथा परम आनन्दमय हैं और जो प्राणिमात्र को अपनी तरफ आकृष्ट कर लेने में पूर्ण सक्षम हैं, ऐसे उन गोपसुन्दरियों के प्राणाधार भगवान् श्री गोविन्द के लिए बारम्बार नमन-वन्दन है॥ ३५॥

नमः कमलनेत्राय नमः कमलमालिने। नमः कमलनाभाय कमलापतये नमः॥ ३६॥

जो अपने दोनों चक्षुओं में कमल की सुन्दर आभा को धारण किये हुए हैं, गले में कमल पुष्पों की माला धारण किये हुए हैं, जिनकी नाभि से कमल उत्पन्न हुआ है, ऐसे उन भगवान् कमलापति (श्रीकृष्ण) को नमस्कार है॥ ३६॥

बर्हापीडाभिरामाय रामायाकुण्ठमेधसे। रमामानसहंसाय गोविन्दाय नमो नमः॥ ३७॥

जिनके मस्तक पर मोरपंख सुशोभित हो रहा है, जिन (श्रीकृष्ण) में सभी का मन रमण करता रहता है, जिनकी बुद्धि और स्मरणशक्ति कभी कुण्ठित नहीं होती और जो रमा, गोपसुन्दरीगण एवं श्रीराधा जी के मानस के राजहंस हैं, ऐसे उन भगवान् गोविन्द को बारम्बार प्रणाम है॥ ३७॥

कंसवंशविनाशाय केशिचाणूरघातिने। वृषभध्वजवन्द्याय पार्थसारथये नमः॥ ३८॥

जो कंस के वंश का विनाश करने वाले तथा केशी एवं चाणूर के घातक हैं। जो भगवान् वृषभध्वज (शिवजी) के भी वन्दनीय हैं, उन पार्थसारथि भगवान् 'श्रीकृष्ण' के लिए बारम्बार नमन-वन्दन है॥ ३८॥

वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने। कालिन्दीकूललोलाय लोलकुण्डलधारिणे॥ ३९॥
वल्लवीवदनाम्भोजमालिने नृत्तशालिने। नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः॥ ४०॥

वंशी (वेणु) वादन ही जिनकी सहज वृत्ति है, जो समस्त गौओं के पालक हैं तथा जो कालियानाग का मान-मर्दन करने में समर्थ हैं। कालिन्दी के सुन्दर तट पर कालियाह्रद में नाग के फणों पर जो चञ्चल गति से अविराम लास्य-लीला में संलग्न हैं। जिनके कानों में स्थित कुण्डल गतिशीलता के कारण हिलते हुए झिलमिला रहे हैं, जिनके श्री-अंग खिले हुए कमल की माला से सुशोभित हो रहे हैं और जो नर्तन में संलग्न होने के कारण अत्यधिक शोभायमान हो रहे हैं, उन शरणागत वत्सल भगवान् 'श्रीकृष्ण' को बारम्बार नमस्कार है॥ ३९-४०॥

नमः पापप्रणाशाय गोवर्धनधराय च। पूतनाजीवितान्ताय तृणावर्तासुहारिणे॥ ४१॥

जो (भगवान् श्रीकृष्ण) पाप एवं पापी-असुरों के विध्वंशक हैं, (व्रजवासियों की रक्षा हेतु अपने हाथ की एक अँगुली पर) गोवर्धन पर्वत को धारण करने वाले हैं, पूतना के प्राणों का अन्त करने वाले और तृणावर्त असुर का संहार करने वाले हैं (उन भगवान् श्रीकृष्ण को नमस्कार है)॥ ४१॥

निष्कलाय विमोहाय शुद्धायाशुद्धवैरिणे। अद्वितीयाय महते श्रीकृष्णाय नमो नमः॥ ४२॥

जो कलाओं से परे हैं, जिनमें मोह का सर्वथा अभाव है, जो स्वरूप से ही परम पवित्र एवं श्रेष्ठ हैं, अशुद्ध स्वभाव एवं आचरण से युक्त रहने वाले असुरों के शत्रु हैं और जिनसे पृथक् और कोई नहीं है, ऐसे महान् भगवान् 'श्रीकृष्ण' को बारम्बार प्रणाम है॥ ४२॥

प्रसीद परमानन्द प्रसीद परमेश्वर। आधिव्याधिभुजङ्गेन दष्टं मामुद्धर प्रभो॥ ४३॥

हे परम आनन्दस्वरूप परमेश्वर! (आप) मुझ पर प्रसन्न हों, प्रसन्न हों। हे प्रभो! मुझे आधि-व्याधि (मानसिक एवं शारीरिक व्यथा) रूपी सर्पों ने डस लिया है, कृपा करके मेरा उन व्यथाओं से उद्धार करें॥ ४३॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

श्रीकृष्ण रुक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर। संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो॥ ४४॥

हे श्रीकृष्ण! हे रुक्मिणीवल्लभ! हे गोप-सुन्दरियों के चित्त का हरण करने वाले श्याम सुन्दर! मैं इस संसार सागर में डूब रहा हूँ। हे जगद्गुरो! आप मेरा उद्धार करें॥ ४४॥

केशव क्लेशहरण नारायण जनार्दन। गोविन्द परमानन्द मां समुद्धर माधव॥ ४५॥

हे केशव! हे क्लेशहरण करने में समर्थ नारायण! हे जनार्दन! हे परमानन्दमय गोविन्द! हे माधव! आप कृपा करें, मेरा उद्धार करें॥ ४५॥

अथैवं स्तुतिभिराराधयामि तथा यूयं पञ्चपदं जपन्तः श्रीकृष्णं ध्यायन्तः संसृतिं तरिष्यथेति होवाच हैरण्यगर्भः॥ ४६॥

हे श्रेष्ठ मुनियो! जिस प्रकार मैं (ब्रह्मा) इन स्तुतियों के द्वारा परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना करता हूँ, वैसे ही तुम सभी लोग भी पाँच पदों से युक्त ऊपर कहे हुए अष्टादशाक्षर मन्त्र का जप एवं भगवान् श्रीकृष्ण का ध्यान करते हुए उनकी उपासना-आराधना में निरन्तर संलग्न रहो। इसके द्वारा संसार-सागर से पार हो जाओगे। इस प्रकार से पितामह ब्रह्मा जी ने उन ऋषि-मुनियों को उपदेश प्रदान किया॥ ४६॥

अमुं पञ्चपदं मन्त्रमावर्तयेद्यः स यात्यनायासतः केवलं तत्पदं तत्॥ ४७॥ अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षदिति॥ ४८॥ तस्मात्कृष्ण एव परमो देवस्तं ध्यायेत् तं रसयेत् तं भजेत् तं भजेदित्यों तत्सदित्युपनिषत्॥ ४९॥

जो श्रेष्ठ मनुष्य इस पूर्वोक्त पञ्चपद युक्त अष्टादशाक्षर मन्त्र का निरन्तर जप एवं भगवान् श्रीकृष्ण का चिन्तन करता है, निश्चय ही वह भगवान् के उस अनुपम परम अविनाशी पद को प्राप्त कर लेता है। वह परमपद गतिशील नहीं, वरन् नित्य एवं स्थिर है; किन्तु फिर भी वह मन से भी अधिक तीव्र गति वाला है। भगवन्मय होने से ही वह अद्वितीय है। वहाँ तक देवता या वाणी आदि इन्द्रियाँ कभी नहीं पहुँच सकती हैं। इन्द्रियों की जहाँ तक गति है, वहाँ तक वह पूर्व से ही पहुँचा हुआ रहता है। अतः भगवान् श्रीकृष्ण ही परम शाश्वत देव हैं। उन भगवान् का सतत चिन्तन करते रहना चाहिए। मन्त्र जप द्वारा उनके नाम-रूप-अमृत का सतत रसास्वादन करना चाहिए और उन्हीं भगवान् का नित्य नियमित भजन करते रहना चाहिए। उन्हीं के भजन में सदैव संलग्न रहे। ॐ (परमात्मा) ही सत्य है। इस प्रकार यह उपनिषद् (विद्या) पूर्ण हुई॥ ४७-४९॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति गोपालपूर्वतापिन्युपनिषत्समाप्ता॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ चतुर्वेदापानषद् ॥

यह एक लघुकाय उपनिषद् है। इसमें चारों वेदों के प्राकट्य का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। सर्वप्रथम सृष्टि के शुभारम्भ का उल्लेख है। उसी क्रम में ध्यानावस्थित ब्रह्माजी के चारों मुखों से जो कि चारों दिशाओं में अवस्थित थे, क्रमशः व्याहृतियाँ, छन्द एवं वेद प्रकट होने का उल्लेख है। तत्पश्चात् विराट् पुरुष के व्यापक स्वरूप का चित्रण किया गया है। अन्त में इस उपनिषद् के पारायण की फलश्रुति बताई गई है।

ॐ अथातो महोपनिषदमेव तदाहुः। एको ह वै नारायण आसीत्। न ब्रह्मा न ईशानो नापो नाग्निः न वायुः नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यः। स एकाकी नर एव। तस्य ध्यानान्तस्थस्य ललाटात् स्वेदोऽपतत्। ता इमा आपः। ता एते नो हिरण्यमयमन्नम्। तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत। स ध्यातपूर्वामुखो भूत्वा भूरिति व्याहृतिः गायत्रं छन्द ऋग्वेदः। पश्चिमामुखो भूत्वा भूरिति व्याहृतिस्त्रैष्टुभं छन्दः यजुर्वेदः। उत्तरामुखो भूत्वा भुवरिति व्याहृतिर्जागतं छन्दः सामवेदः। दक्षिणामुखो भूत्वा जनदिति व्याहृतिरानुष्टुभं छन्दोऽथर्ववेदः॥ १॥

अब इस महान् उपनिषद् (चतुर्वेदोपनिषद्) के सम्बन्ध में प्रकाश डाला जाता है। सृष्टि से पूर्व सर्व प्रथम एक मात्र नारायण ही थे। न ब्रह्मा और न ही ईशान (शिव) थे। इनके अतिरिक्त पृथ्वी, वायु, आकाश, नक्षत्र एवं सूर्य आदि में से कोई नहीं था। वह एक मात्र अकेला 'नर' (विराट् पुरुष) ही था। ध्यान में स्थित तपस्यारत उस नर (विराट् पुरुष) के ललाट (मस्तक) से स्वेद (पसीना) गिरा। वही यह आपः (जल) हुआ। वही यह (आपः) हमारे लिए हिरण्यमय अन्न रूप है और उससे ही चार मुख वाले ब्रह्मा का प्राकट्य हुआ। उस (ब्रह्मा) ने ध्यानावस्था में पूर्वाभिमुख होकर 'भूः' व्याहृति, गायत्री छन्द, ऋग्वेद; पश्चिमाभिमुख होकर 'भूः' व्याहृति, त्रिष्टुप् छन्द एवं यजुर्वेद; उत्तराभिमुख होकर 'भुवः' व्याहृति, जगती छन्द एवं सामवेद तथा अन्त में दक्षिणाभिमुख होकर 'जनत्' (सम्भवतः जनः) व्याहृति, अनुष्टुप् छन्द एवं अथर्ववेद को प्रकट किया॥ १॥

[यहाँ चतुर्मुख ब्रह्मा द्वारा चार व्याहृतियों को प्रकट करने का वर्णन है, लगता है पाठभेद के कारण 'भूः' व्याहृति का दो बार उल्लेख हुआ; किन्तु 'स्वः' का उल्लेख ही नहीं हुआ।]

सहस्त्रशीर्षं देवं सहस्त्राक्षं विश्वसंभवम्। विश्वतः परमं नित्यं विश्वं नारायणं हरिम्॥ २॥ विश्वमेवेदं पुरुषं तं विश्वमुपजीवति। ऋषिं विश्वेश्वरं देवं समुद्रे तं विश्वरूपिणम्॥ ३॥ पद्मकोशप्रतीकाशं लम्बत्याकोशसन्निभम्। हृदये चाप्यधोमुखं सतस्यत्यैशीत्कराभिश्च॥ ४॥ तस्य मध्ये महानग्निर्विश्वार्चिर्विश्वतोमुखः। तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता॥ ५ तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः। स ब्रह्मा स ईशानः सोऽक्षरः परमः स्वराट्॥ ६॥

वे अविनाशी देव (विराट् पुरुष) जिनके कि सहस्त्रों सिर एवं सहस्त्रों नेत्र हैं। सम्पूर्ण विश्व को प्रादुर्भूत करने वाले वे परमदेव हमेशा सर्वत्र विद्यमान रहते हैं। (वे देव) नारायण एवं हरि आदि शब्द से भी प्रख्यात हैं। उन ऋषि स्वरूप सम्पूर्ण जगत् के स्वामी समुद्रशायी विश्व-रूप परम विराट् पुरुष का आश्रय प्राप्त करके ही यह संसार जीवित-जाग्रत् है। (यह विराट् पुरुष) कमल कोश के समान हृदय में अधोमुख होकर एक कोश के रूप में लटका है, जो अपनी शक्तियों से ही सभी कुछ करता रहता है। उसके मध्य में श्रेष्ठ अग्नि स्थित है, जिसकी ज्वाला चारों ओर मुखवाली अर्थात् लपकने वाली है। उसके मध्य में ही वह्निशिखा है, जो 'अणीय' के ऊपर प्रतिष्ठित है। उस श्रेष्ठ शिखा के मध्य में ही वह विराट् पुरुष परब्रह्म स्थित है। वह ही ब्रह्मा, शिव, अक्षर (ब्रह्म) तथा परम प्रभु स्वयं प्रकाश रूप है॥ २-६॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

य इमां महोपनिषदं ब्राह्मणोऽधीते अश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति। अनुपनीतः उपनीतो भवति। सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स सूर्यपूतो भवति। स सोमपूतो भवति। स सत्यपूतो भवति। स सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। तेन सर्वैः क्रतुभिरिष्टं भवति। गायत्र्याः षष्टिसहस्राणि जप्तानि भवन्ति। इतिहासपुराणानां सहस्राणि जप्तानि भवन्ति। प्रणवानामयुतं जप्तं भवति। आचक्षुषः पङ्क्तिं पुनाति। आसप्तमात् पुरुषं पुनाति। जाप्येन अमृतत्वं च गच्छति अमृतत्वं च गच्छति इत्याह भगवान् हिरण्यगर्भः॥ ७॥

जो ब्राह्मण (साधक) इस महोपनिषद् का अध्ययन (पाठ) करता है, वह यदि अश्रोत्रिय है, तो श्रोत्रिय हो जाता है। अनुपनीत है, तो उपनीत अर्थात् यज्ञोपवीत धारण करने वाला हो जाता है। वह अग्नि की तरह पवित्र होता है। वायु की तरह पवित्र होता है। सूर्य की तरह पवित्र होता है। सोम की तरह पवित्र होता है और सत्य की तरह पवित्र होता है। उसे समस्त देवगण जानने लगते हैं। उसने मानो सभी तीर्थों में स्नान कर लिया तथा सभी प्रकार के यज्ञ कर चुका (ऐसा समझना चाहिए)। उसने गायत्री मन्त्र का साठ हजार जप कर लिया तथा इतिहास-पुराणों का भी मानो सहस्रों बार जप (पारायण) कर चुका (जानना चाहिए), वह दस हजार ॐकार (प्रणव) का जप भी कर चुका। वह पुरुष दृष्टिपात मात्र से मनुष्यों की पंक्ति को अर्थात् समूहों को पवित्र कर देता है। सातवीं पीढ़ी तक मनुष्यों को पवित्र कर देता है एवं जो इस उपनिषद् का पाठ (अध्ययन) करता है, वह अमृतत्व को निश्चयपूर्वक प्राप्त कर लेता है, ऐसा ही भगवान् हिरण्यगर्भ ने कहा है॥ ७॥

देवा ह वै स्वर्गं लोकमायंस्ते देवा रुद्रमपृच्छंस्ते देवा ऊर्ध्वबाहवो रुद्रं स्तुवन्ति। भूस्त्वादिर्मध्यं भुवस्ते स्वस्ते शीर्षं विश्वरूपोऽसि ब्रह्मैकस्त्वं द्विधा त्रिधा शान्तिस्त्वं हुतमहुतं दत्तमदत्तं सर्वमसर्वं विश्वमविश्वं कृतमकृतं परमपरं परायणं च त्वम्। अपाम सोममम्रता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवा नमस्याम धूर्तेरमृतं मृतं मर्त्यं च सोमसूर्यपूर्वजगदधीतं वा यदक्षरं प्राजापत्यं सौम्यं सूक्ष्मं ग्राहं ग्राहेण भावं भावेन सौम्यं सौम्येन सूक्ष्मं सूक्ष्मेण ग्रसति तस्मै महाग्रासाय नमः॥ ८॥

समस्त देवगण स्वर्गलोक में उपस्थित हुए और दोनों हाथ उठाकर भगवान् रुद्र की स्तुति करते हुए उन्होंने पूछा-हे भगवन्! तुम्हारा आदि-भूः, मध्य भुवः, शीर्ष (अन्तिम) स्वः है, तुम विश्वरूप हो। तुम्हीं ब्रह्मरूप में एक हो। (जीव-ब्रह्म रूप) द्विविध, (जीव-ब्रह्म-माया रूप) त्रिविध एवं (परम) शान्ति हो। हुत (हवन किया गया), अहुत (हवन न किया गया), दिया गया, न दिया गया, सर्व (सब कुछ), असर्व (कुछ भी नहीं), विश्व-अविश्व, किया-न किया, पर-अपर-परायण सभी कुछ तुम ही हो। हम सोमरूपी अमृत का पान करने वाले हों। हमें दिव्य ज्योति की प्राप्ति हो। हे देव! हम आपको नमन-वन्दन करते हैं। अमृत, मृत, मर्त्य, सोम, सूर्य, पूर्व संसार, अधीत या जो अक्षर अर्थात् अविनाशी, प्राजापत्य, सौम्य और सूक्ष्म है, उसे ग्राह को ग्राह से, भाव को भाव से, सौम्य को सौम्य से, सूक्ष्म को सूक्ष्म से ग्रसित (प्राप्त) करते हैं। उस महाग्रास को (भगवान् रुद्र को) प्रणाम है॥ ८॥

॥ इति चतुर्वेदोपनिषत्समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ चाक्षुषोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेदीय परम्परा के अन्तर्गत है। इस उपनिषद् में अपने नाम के अनुरूप चक्षुरोग-नेत्ररोग दूर करने की सामर्थ्य है। इसमें सर्वप्रथम इस उपनिषद् की महत्ता बतलाई गई है। तदुपरान्त इस उपनिषद् के ऋषि, देवता, छन्द और विनियोग का उल्लेख है। तत्पश्चात् चक्षु के अभिमानी देवता 'सूर्यदेव' से नेत्ररोग दूर करने की प्रार्थना है, जिसमें उनसे एक ही प्रार्थना की गई है कि हे भगवन्! इस अज्ञान रूपी अन्धकार को हम सभी से दूर कर दें और तमोमय बन्धन में आबद्ध हुए हम सभी प्राणिजगत् को अपना दिव्य तेज प्रदान करके मुक्त करने की कृपा करें। इस प्रार्थना के साथ उपनिषद् का समापन किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्ष्युपनिषद्)

ॐ अथातश्चाक्षुषीं पठितसिद्धविद्यां चक्षूरोगहरां व्याख्यास्यामः। यच्चक्षूरोगाः सर्वतो नश्यंति। चाक्षुषी दीप्तिर्भविष्यतीति। तस्याश्चाक्षुषीविद्याया अहिर्बुध्न्य ऋषिः। गायत्री छन्दः। सूर्यो देवता। चक्षूरोगनिवृत्तये जपे विनियोगः। ॐ चक्षुः चक्षुः चक्षुः तेजः स्थिरो भव। मां पाहि पाहि। त्वरितं चक्षूरोगान् शमय शमय । मम जातरूपं तेजो दर्शय दर्शय। यथाऽहं अन्धो न स्यां तथा कल्पय कल्पय। कल्याणं कुरु कुरु। यानि मम पूर्वजन्मोपार्जितानि चक्षुः प्रतिरोधकदुष्कृतानि सर्वाणि निर्मूलय निर्मूलय। ॐ नमः चक्षुस्तेजोदात्रे दिव्याय भास्कराय। ॐ नमः करुणाकरायामृताय। ॐ नमः सूर्याय। ॐ नमो भगवते सूर्यायाक्षितेजसे नमः। खेचराय नमः। महते नमः। रजसे नमः। तमसे नमः। असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा अमृतं गमय। उष्णो भगवाञ्छुचिरूपः। हंसो भगवान् शुचिरप्रतिरूपः। य इमां चक्षुष्मतीविद्यां ब्राह्मणो नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो भवति। न तस्य कुले अन्धो भवति। अष्टौ ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा विद्यासिद्धिर्भवति॥ १ ॥

अब पाठ मात्र से सिद्ध हो जाने वाली चाक्षुषी विद्या की व्याख्या करते हैं। यह विद्या नेत्र के रोगों को पूर्णतया विनष्ट करने में समर्थ है। इससे नेत्र तेजोमय हो जाते हैं। इस चाक्षुषी विद्या के मन्त्र-द्रष्टा ऋषि अहिर्बुध्न्य हैं। छन्द-गायत्री है और देवता-सूर्य (सविता) भगवान् हैं। नेत्र रोग के निवारणार्थ इसका विनियोग किया जाता है। हे चक्षु के अभिमानी सूर्य देवता! आप चक्षु में चक्षु के तेजोमय स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जायें। आप मेरी रक्षा करें, रक्षा करें। मेरे नेत्र-रोगों का शीघ्र शमन करें, शमन करें। मुझे अपना स्वर्ण-सदृश दिव्य तेज (प्रकाश) दृष्टिगोचर करा दें, दृष्टिगोचर करा दें। जिससे कि मैं अन्धा न होऊँ, कृपा करके वैसा ही कोई उपाय करें,उपाय करें। (हम सभी का) कल्याण करें, कल्याण करें। मेरे द्वारा पूर्वजन्म में अर्जित पापों का,जो दर्शनशक्ति के अवरोधक हैं, उन सभी को समूल नष्ट कर दें। मूल-सहित उखाड़ दें। नेत्रों को दिव्य तेजोमय बनाने वाले दिव्य प्रकाश स्वरूप भगवान् भास्कर के लिए नमन-वन्दन है। ॐ कार रूप भगवान् करुणामय अमृतस्वरूप को नमस्कार है। भगवान् सूर्य (सविता) देवता को नमस्कार है। नेत्र के तेजःस्वरूप भगवान् सूर्य देवता को नमन है। आकाश में विचरण (विहार) करने वाले भगवान् सूर्य को नमन-वन्दन है। महान् श्रेष्ठतम स्वरूप को नमस्कार है। (सभी में सक्रियता प्रादुर्भूत करने वाले) रजोगुण स्वरूप भगवान् सूर्य (सविता) देव

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

को प्रणाम है। (सदैव अंधकार को अपने अन्त: में समाहित कर लेने वाले) तमोगुण के आश्रय प्रदाता भगवान् सूर्य को नमस्कार है। हे भगवन् ! आप हम सभी को असत् से सत् की ओर ले चलें। अज्ञानरूपी अन्धकार से ज्ञानरूपी प्रकाश की ओर गमन करायें। मृत्यु से अमृतत्व की ओर ले चलें। ऊष्मा स्वरूप भगवान् सूर्य (सविता) देव शुद्ध-स्वरूप हैं। हंसमय भगवान् सूर्य शुचि एवं अप्रतिमरूप हैं। उन (सविता देव) के तेजोमय रूप की तुलना करने वाला अन्य कोई भी नहीं है। जो विद्वान् मनीषी ब्राह्मण इस चाक्षुषीविद्या का नित्य प्रति पाठ करता है, उसे चक्षु से सम्बन्धित किसी भी तरह के रोग नहीं होते। उसके कुल में कोई अन्धा नहीं होता। इस विद्या को आठ ब्राह्मणों (ब्रह्मनिष्ठों) को ग्रहण (याद) करा देने पर यह विद्या सिद्ध हो जाती है॥ १॥

ॐ विश्वरूपं घृणिनं जातवेदसं। हिरण्मयं पुरुषं ज्योतिरूपं तपन्तम्।
विश्वस्य योनिं प्रतपन्तमुग्रं पुरः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः॥ २॥

भगवान् भास्कर सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, सम्पूर्ण जगत् जिनका स्वरूप है, जो तीनों कालों को जानने वाले तथा अपनी किरणों से शोभायमान हैं, जो प्रकाशस्वरूप, हिरण्यमय पुरुषरूप में तप्त हो रहे हैं, इस सम्पूर्ण विश्व को प्रकट करने वाले हैं, उन प्रचण्ड प्रकाश से युक्त भगवान् सविता देवता को हम सभी नमस्कार करते हैं। ये भगवान् सूर्य नारायण सम्पूर्ण प्रजाओं (प्राणियों) के सामने प्रत्यक्ष रूप में उदित हो रहे हैं॥ २॥

ॐ नमो भगवते आदित्याय अहोवाहिन्यहोवाहिनी स्वाहा। ॐ वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः। अपध्वान्तमूर्णुहि पूर्द्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यस्मान्निधयेव बद्धान्। पुण्डरीकाक्षाय नमः। पुष्करेक्षणाय नमः। अमलेक्षणाय नमः। कमलेक्षणाय नमः। विश्वरूपाय नमः। महाविष्णवे नमः॥ ३॥

भगवान् आदित्य को नमन-वन्दन है। उन (भगवान् भास्कर) की प्रभा दिन का वहन करने वाली है। हम उन सूर्यदेव के लिए श्रेष्ठ आहुति प्रदान करते हैं। प्रियमेधा आदि समस्त ऋषिगण श्रेष्ठ पंखों से युक्त पक्षी-रूप में भगवान् सूर्यदेव के समक्ष उपस्थित होकर इस प्रकार निवेदन करने लगे-हे भगवन्! इस अज्ञान रूपी अन्धकार को हम सभी से दूर कर दें, हमारे नेत्रों को प्रकाश से परिपूर्ण बना दें और तमोमय बन्धन में आबद्ध हुए हम सभी प्राणिजगत् को अपना दिव्य तेज प्रदान कर मुक्त करने की कृपा करें। पुण्डरीकाक्ष भगवान् को नमस्कार है। पुष्करेक्षण को नमस्कार है। अमलेक्षण को नमस्कार है। कमलेक्षण को नमस्कार है। विश्वरूप को प्रणाम है। भगवान् महाविष्णु को नमन-वन्दन है॥ ३॥

ॐ सह नाववतु .....इति शान्तिः॥

॥ इति चाक्षुषोपनिषत् समाप्ता॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

।। तुलस्युपानषद् ।।

परवर्ती कालीन उपनिषदों में एक 'तुलसी' उपनिषद् भी है। 'तुलसी' चिरपरिचित एक पौधा है, जो आस्तिक-नास्तिक दोनों के लिए ग्राह्य है। आस्तिक जन बड़ी श्रद्धा से 'तुलसी का पौधा' आरोपित करते हैं, उसमें देवी भाव रखते हुए नित्य प्रति स्नान, गन्ध, पुष्प, धूप-दीप आदि से पूजन करते हैं- आशीर्वाद प्राप्त करते हैं। नास्तिक जन पूजा-पाठ भले ही न करें, परन्तु तुलसी की औषधीय गुणों के कारण इसकी उपयोगिता अवश्य स्वीकार करते हैं।

इस उपनिषद् में तुलसी के आध्यात्मिक गुणों को उजागर किया गया है। सर्वप्रथम इस उपनिषद् के ऋषि, देवता, छन्द आदि का वर्णन है, तदुपरान्त उसकी महिमा का प्रतिपादन है। तुलसी का पंचांग (मूल, तना, पत्र, पुष्प, बीज) सेवन रोगोपचार एवं आध्यात्मिक गुणों के विकास में नितान्त उपयोगी है। रात्रि में, पर्वकाल में इसके पत्ते नहीं तोड़ने चाहिए। इसे अमृतरूपा एवं पापनाशिनी कहा गया है। यह भगवान् विष्णु को अतीव प्रिय है। अन्त में इस उपनिषद् की फलश्रुति बताते हुए, इसे पूर्णता प्रदान की गई है।

अथ तुलस्युपनिषदं व्याख्यास्यामः। नारद ऋषिः। अथर्वाङ्गिरश्छन्दः। अमृता तुलसी देवता। सुधा बीजम्। वसुधा शक्तिः। नारायणः कीलकम्। श्यामां श्यामवपुर्धरां ऋक्स्वरूपां यजुर्मनां ब्रह्माथर्वप्राणां कल्पहस्तां पुराणपठितां अमृतोद्भवां अमृतरसमञ्जरीं अनन्तां अनन्तरसभोगदां वैष्णवीं विष्णुवल्लभां मृत्युजन्मनिबर्हणीं दर्शनात्पापनाशिनीं स्पर्शनात्पावनीं अभिवन्दनाद्रोगनाशिनीं सेवनान्मृत्युनाशिनीं वैकुण्ठार्चनाद्विपद्धन्त्रीं भक्षणात् वयुनप्रदां प्रादक्षिण्याद्दारिद्र्यनाशिनीं मूलमृल्लेपनान्महापापभञ्जिनीं घ्राणतर्पणादन्तर्मलनाशिनीं य एवं वेद स वैष्णवो भवति। वृथा न छिन्द्यात्। दृष्ट्वा प्रदक्षिणं कुर्यात्। रात्र्यां न स्पृशेत्। पर्वणि न विचिन्वेत्। यदि विचिन्वति स विष्णुहा भवति। श्रीतुलस्यै स्वाहा। विष्णुप्रियायै स्वाहा। अमृतायै स्वाहा। श्रीतुलस्यै विद्महे विष्णुप्रियायै धीमहि। तन्नो अमृता प्रचोदयात्॥ १॥

अब तुलसी उपनिषद् का वर्णन किया जाता है। जिसके नारद ऋषि, अथर्वाङ्गिरस छन्द, अमृतरूपा तुलसी देवता, अमृत बीज, वसुधा (धरती) शक्ति एवं नारायण कीलक हैं। यह कृष्ण रंग (वर्ण) एवं कृष्ण शरीर वाली है। यह ऋग्वेद स्वरूपा,यजुर्वेद मन वाली, ब्रह्माथर्ववेद प्राण वाली, वेदांग एवं पुराणों में सुविख्यात (कल्प आदि वेदांग तथा पुराणों के द्वारा जिनकी महिमा का ज्ञान होता है), अमृत के द्वारा उद्भूत, अमृत रस मंजरी तुल्य, अन्त रहित, अनेक प्रकार के रस तथा भोग प्रदान करने वाली, दर्शन से पाप विनष्ट करने वाली, परम वैष्णव रूप, भगवान् विष्णु को प्रिय, आवागमन समाप्त करने वाली, स्पर्श करने से पावन बनाने वाली, अभिनन्दन करने से रोगों को समाप्त करने वाली, सेवन करने से मृत्यु नाशक, पूजन में भगवान् विष्णु को समर्पित करने से संकट निवारण करने वाली, भक्षण करने से प्राण शक्ति प्रदान करने वाली, प्रदक्षिणा (परिक्रमा) करने से दरिद्रता का नाश करने वाली तथा मूल (जड़) की मिट्टी लगाने से महान् पापों का भंजन (विनाश) कर देने वाली है। (तुलसी की) गंध लेने से शरीरस्थ अन्तः के मल का विनाश करने वाली है। जो इस प्रकार से जानता है, वही सच्चा वैष्णव है। तुलसी को अनावश्यक नहीं तोड़ना चाहिए। जहाँ भी दिखाई

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

पड़े, तुरन्त परिक्रमा करनी चाहिए। रात्रि में इसका (तुलसी का) स्पर्श न करे। पर्वों के दिन (तुलसी को) नहीं तोड़ना चाहिए। (पर्वों पर) यदि कोई तोड़ता है, तो वह विष्णुद्रोही हो जाता है। विष्णु भगवान् को प्रिय अमृतरूपा श्रीतुलसी को नमस्कार है। श्रीतुलसी को हम (गुरु-शास्त्रानुसार) जानते हैं, विष्णु भगवान् को प्रिय श्रीतुलसी का ध्यान करते हैं। (इसके प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हैं।) अमृतस्वरूपा (वह) हमें (अमृत प्राप्ति के लिए) प्रेरित करे॥ १ ॥

अमृतेऽमृतरूपासि अमृतत्वप्रदायिनि । त्वं मामुद्धर संसारात् क्षीरसागरकन्यके ॥ २॥
श्रीसखि त्वं सदानन्दे मुकुन्दस्य सदा प्रिये। वरदाभयहस्ताभ्यां मां विलोकय दुर्लभे॥ ३॥

हे क्षीरसागर की कन्या ! तुम अमृत हो और अमृतरूपा होकर अमृतत्व प्रदान करने वाली हो, इसलिए संसार-सागर से मेरा उद्धार करो। हे लक्ष्मी जी की सखी! तुम आनन्दमय हो एवं सदैव विष्णु को प्रिय हो। इसलिए हे दुष्प्राप्य! तुम अपने हाथों में वर एवं अभय मुद्रा धारण करके (मेरी ओर कृपा की दृष्टि से) देखो॥२-३ ॥

अवृक्षवृक्षरूपासि वृक्षत्वं मे विनाशय । तुलस्यतुलरूपासि तुलाकोटिनिभेऽजरे ॥ ४॥
अतुले त्वतुलायां हि हरिरेकोऽस्ति नान्यथा। त्वमेव जगतां धात्री त्वमेव विष्णुवल्लभा॥ ५॥

हे तुलसी! अवृक्ष (चैतन्य रूप) होते हुए भी तुम वृक्ष रूप में दिखाई देती हो, (इसलिए) मेरी जड़ता (वृक्षत्व) का विनाश करो। हे अतुल रूप वाली! तुम्हारी कोई तुलना नहीं है, तुम जराविहीन हो, करोड़ों तुलनाओं से तुम्हारी तुलना नहीं की जा सकती। हे अतुले! तुम्हारे समान केवल भगवान् विष्णु ही हैं, दूसरा कोई नहीं। तुम भगवान् विष्णु को प्रिय हो तथा संसार का पालन करने वाली हो॥ ४-५ ॥

त्वमेव सुरसंसेव्या त्वमेव मोक्षदायिनी। त्वच्छायायां वसेल्लक्ष्मीस्त्वन्मूले विष्णुरव्ययः॥ ६॥

तुम देवताओं द्वारा सेवित हो तथा मुक्ति प्रदान करने वाली हो। तुम्हारी जड़ में भगवान् विष्णु तथा छाया में लक्ष्मी का निवास होता है॥ ६ ॥

समन्ताद्देवताः सर्वाः सिद्धचारणपन्नगाः। यन्मूले सर्वतीर्थानि यन्मध्ये ब्रह्मदेवताः॥ ७॥
यदग्रे वेदशास्त्राणि तुलसीं तां नमाम्यहम्। तुलसि श्रीसखि शुभे पापहारिणि पुण्यदे॥ ८॥
नमस्ते नारदनुते नारायणमनः प्रिये । ब्रह्मानन्दाश्रुसंजाते वृन्दावननिवासिनि ॥ ९॥

जिसके मूल में सभी देवता, सिद्ध, चारण, नाग एवं तीर्थ चारों तरफ से स्थित हैं तथा जिसके मध्य में ब्रह्म देवता निवास करते हैं। जिनके अग्रभाग में वेद शास्त्रों का निवास है। उन तुलसी को मैं नमस्कार करता हूँ। हे तुलसी! तुम लक्ष्मी की सहेली, कल्याणप्रद, पापों का हरण करने वाली तथा पुण्यदात्री हो। ब्रह्म के आनन्द रूपी आँसुओं से उत्पन्न होने वाली तुलसी तुम वृन्दावन में निवास करने वाली हो। नारद के द्वारा स्तुत्य आपको नमस्कार है, नारायण भगवान् के मन को प्रिय लगने वाली आपको नमस्कार है॥ ७-९ ॥

सर्वावयवसंपूर्णे अमृतोपनिषद्रसे । त्वं मामुद्धर कल्याणि महापापाब्धिदुस्तरात् ॥ १०॥
सर्वेषामपि पापानां प्रायश्चित्तं त्वमेव हि। देवानां च ऋषीणां च पितॄणां त्वं सदा प्रिये॥ ११॥
विना श्रीतुलसीं विप्रा येऽपि श्राद्धं प्रकुर्वते। वृथा भवति तच्छ्राद्धं पितॄणां नोपगच्छति॥ १२
तुलसीपत्रमुत्सृज्य यदि पूजां करोति वै। आसुरी सा भवेत् पूजा विष्णुप्रीतिकरी न च॥१३॥
यज्ञं दानं जपं तीर्थं श्राद्धं वै देवतार्चनम्। तर्पणं मार्जनं चान्यन्न कुर्यात्तुलसीं विना॥ १४॥
तुलसीदारुमणिभिः जपः सर्वार्थसाधकः। एवं न वेद यः कश्चित् स विप्रः श्वपचाधमः॥ १५

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

हे सर्वांगपूर्णे! तुम अमृतरूपी उपनिषद् रस रूप हो, इसलिए हे कल्याण करने वाली! महापाप रूपी दुस्तर समुद्र से हमारा उद्धार करो। हे तुलसी! तुम समस्त पापों की प्रायश्चित्त रूप हो, (इसलिए) देवताओं, ऋषियों और पितरों को सदैव प्रिय हो। जो ब्राह्मण श्राद्ध में तुलसी प्रयोग नहीं करते, वह श्राद्ध पितरों तक नहीं पहुँचता है, व्यर्थ हो जाता है। यदि कोई तुलसी पत्र के बिना भगवान् की पूजा करता है, तो वह पूजा आसुरी हो जाती है, वह (पूजा) विष्णु भगवान् को प्रिय नहीं होती। बिना तुलसी के यज्ञ, दान, जप, तीर्थ, श्राद्ध, तर्पण, मार्जन तथा देवार्चन आदि नहीं करना चाहिए। तुलसी के मनकों की माला समस्त मनोकामनाओं को पूरा करने वाली है। इस प्रकार जो ब्राह्मण नहीं जानता, वह चाण्डाल से भी अधम है॥ १०-१५॥

इत्याह भगवान् ब्रह्माणं नारायणः, ब्रह्मा नारदसनकादिभ्यः सनकादयो वेदव्यासाय, वेदव्यासः शुकाय, शुको वामदेवाय, वामदेवो मुनिभ्यः, मुनयो मनुभ्यः प्रोचुः। य एवं वेद स स्त्रीहत्यायाः प्रमुच्यते। स वीरहत्यायाः प्रमुच्यते। स ब्रह्महत्यायाः प्रमुच्यते। स महाभयात् प्रमुच्यते। स महादुःखात् प्रमुच्यते। देहान्ते वैकुण्ठमवाप्नोति वैकुण्ठमवाप्नोति। इत्युपनिषत्॥१६॥

इस प्रकार यह तथ्य भगवान् नारायण ने ब्रह्माजी को बताया, ब्रह्माजी ने नारद और सनकादि ऋषियों को, सनकादि ने वेदव्यास को, वेदव्यास ने शुकदेव को बताया, शुकदेव ने वामदेव से कहा, वामदेव ने मुनियों को बताया तथा मुनियों ने मनुष्यों को बताया। जो इस प्रकार जानता है, वह स्त्री-हत्या के पाप से मुक्त हो जाता है। वह वीर (भाई) हत्या के पाप से मुक्त हो जाता है। वह ब्रह्म हत्या से मुक्ति पा लेता है। वह महाभय से छूट जाता है। वह महादुःख से मुक्त हो जाता है। शरीरान्त होने पर वैकुण्ठ लोक को प्राप्त करता है, (निश्चित रूप से) वैकुण्ठ लोक को प्राप्त करता है। ऐसी यह उपनिषद् है॥ १६॥

॥ इति तुलस्युपनिषत् समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ त्रिपुरापानषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेदीय परम्परा के अन्तर्गत आती है। इसमें सर्वप्रथम 'चित्' शक्ति का स्वरूप व्यक्त हुआ है। तत्पश्चात् उस चित् शक्ति की वन्दना की गई है। पुनः 'कामेश्वर' का स्वरूप, आवरण देवता, शिव काम सुन्दरी विद्या का प्रतिफल, आदिमूल विद्या का स्वरूप, विरक्तों (संन्यासियों) की आदिविद्या के ज्ञान का फल,देवी के ज्ञान का फल, मन्द जनों के लिए ध्यान, अधम साधकों के अनुष्ठान और उसके फल तथा निष्काम साधक द्वारा ब्रह्मत्व प्राप्ति का वर्णन किया गया है। यह आगम (तन्त्र) विद्या परक उपनिषद् है। इसलिए इसमें सांकेतिक शब्दों की अधिकता है। 'ब्रह्म' साक्षात्कार का उपाय इस उपनिषद् में बीज मन्त्रों से साधना द्वारा बताया गया है। ऐसी कुछ उपनिषदें हैं, जो जन सामान्य के लिए कुछ कठिनाई से समझ में आने वाली हैं।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्षमालिकोपनिषद्)

तिस्रः पुरस्त्रिपथा विश्वचर्षणा अत्राकथा अक्षराः संनिविष्टाः।
अधिष्ठायैना अजरा पुराणी महत्तरा महिमा देवतानाम्॥ १॥

तीन पुर, तीन पथ एवं इस (श्री चक्र) में सन्निविष्ट अकथादि अक्षर-इन सभी से अधिष्ठित यह (शक्ति) सबको समान दृष्टि से देखने वाली जो अजर, प्राचीन चैतन्य शक्ति है, वह अपनी महिमा से अत्यधिक श्रेष्ठ है॥१

[यहाँ तीन पुर का तात्पर्य स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर से है। तीन पथ का तात्पर्य-ज्ञान, कर्म, उपासना-ज्ञान, विज्ञान एवं सम्यक् ज्ञान से है। अकथादि अक्षर से तात्पर्य 'अ' से लेकर 'क्ष' तक अक्षर समूह से है।]

नवयोनीर्नवचक्राणि दधिरे नवैव योगा नव योगिन्यश्च।
नवानां चक्रा अधिनाथा स्योना नव भद्रा नव मुद्रा महीनाम्॥ २॥

(वह चैतन्य शक्ति) नव योनि, नवचक्र, नवयोग, नवयोगिनी, नवचक्रों की आधार शक्तियों, सुखकारी नवभद्राओं तथा महिमाशालिनी नव मुद्राओं के रूप में प्रकाशित हो रही है॥ २॥

[इस मन्त्र के विशिष्ट शब्दों का परिचय इस प्रकार है—नवयोनि - श्री चक्र यन्त्र में बनाई जाने वाली नौ योनियाँ (महात्रिपुर सुन्दरी आदि महाशक्तियाँ)। नवचक्र - सर्वानन्दमय सर्वसिद्धिप्रद, सर्वरक्षाकर, सर्वरोगहर, सर्वार्थसाधक, सर्वसौभाग्यदायक, सर्वसंक्षोभण, सर्वाशापरिपूरक एवं त्रैलोक्य मोहन। नवचक्रों की आधार शक्तियाँ - महात्रिपुरसुन्दरी, त्रिपुराम्बा, त्रिपुरसिद्ध, त्रिपुरमालिनी, त्रिपुराश्री, त्रिपुरवासिनी, त्रिपुरसुन्दरी, त्रिपुरेशी एवं त्रिपुरा। नवयोग- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि और सहज योग। नवयोगिनियाँ - नवचक्रों में निवास करने वाली नौ शक्तियाँ। नवमुद्रा - योनि, बीज, खेचरी, महांकुश, महोन्मादिनी, सर्ववशंकरी, सर्वाकर्षिणी, सर्वविद्राविणी एवं सर्वसंक्षोभिणी मुद्राएँ। नवभद्रा-कामेश्वरी आदि नवशक्तियाँ ही नव भद्राएँ हैं।]

एका स आसीत्प्रथमा सा नवासीदा सोनविंशादा सोनत्रिंशात्।
चत्वारिंशादथ तिस्रः समिधा उशतीरिव मातरो माऽऽविशन्तु॥ ३॥

नवभद्रा आदिरूप में, उन्नीस तत्त्व समूह रूप में, चालीस शक्तियों के रूप में तथा तीन समिधा के रूप में अपनी सन्तानों के लिए कल्याण कामना करने वाली माता के समान (ब्रह्मपद प्राप्ति की कामना वाले) मुझमें प्रवेश करें अर्थात् मेरे अन्तःकरण में प्रविष्ट हों॥ ३॥

[१९ तत्त्व = ५ ज्ञानेन्द्रियाँ + ५ कर्मेन्द्रियाँ + ५ प्राण+ ४ अन्तःकरण। २९ तत्त्व = १९ तत्त्व+ ५ विषय (शब्द, स्पर्श, रूप,रस, गन्ध,) +५ उपप्राण। ४० शक्तियाँ=१४ अन्तः-बाह्य इन्द्रियाँ एवं इन्द्रियों के अधिपति+३ कर्म (तूल, मूल, अविद्याजन्य) +४ गुण (विक्षेप, आवरण, मुदिता, करुणा) + विश्व, विश्वादि, तुर्य, प्राज्ञ आदि भेद से युक्त; तीन समिधा=क्रिया, ज्ञान, इच्छात्मक तथा ज्ञान, विज्ञान तथा सम्यक् ज्ञान।]

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

ऊर्ध्वज्वलज्ज्वलनं ज्योतिरग्रे तमो वै तिरश्चीनमजरं तद्रजोऽभूत्।
आनन्दनं मोदनं ज्योतिरिन्दोरेता उ वै मण्डला मण्डयन्ति॥ ४॥

ऊर्ध्व (ऊपर) की ओर प्रज्वलित होने वाली और प्रकाशित होने वाली ज्योति सर्वप्रथम अनुभव में आती है। इसके विपरीत तमोगुण तिरश्चीन (तिरछी गति वाला) और अजर है, उससे रजोगुण उत्पन्न हुआ। यह ज्योति आनन्द और प्रसन्नता देने वाली है तथा इन्दु के (चन्द्रवत् शीतल) गुणों से विभूषित करती है॥ ४॥

यास्तिस्त्रो रेखाः सदनानि भूस्त्रीस्त्रिविष्टपास्त्रिगुणास्त्रिप्रकाराः।
एतत्त्रयं पूरकं पूरकाणां मन्त्री प्रथते मदनो मदन्या॥ ५॥

जो तीन रेखाएँ हैं, चार सदन हैं, तीन भू (स्थल) हैं, तीन विष्टप, तीन गुण और तीन-तीन प्रकार (भेद) हैं। ये सभी त्रिक पूर्णता प्रदान करने के साधन स्वरूप हैं। मन्त्र में (श्री चक्र में) कामना (पूर्ण करने वाली) शक्ति से मदन (कामना के अधिष्ठाता देवता) जय शील हो ॥ ५॥

[तीन रेखा= क्रिया, ज्ञान और इच्छाशक्ति, चार सदन = जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय अथवा नेत्र, कण्ठ, हृदय और सहस्त्रार चक्र; तीन भूः = भूः, भुवः एवं स्वः ; तीन विष्टप एवं तीन गुण= तम, रज एवं सतोगुण; तीन-तीन प्रकार-तम-सत+ तम, रज+तम, तम+तम; रज-सत+रज, रज+रज, तम+रज; सत-सत+सत, सत+रज, सत+तम।]

मदन्तिका मानिनी मंगला च सुभगा च सा सुन्दरी सिद्धिमत्ता।
लज्जा मतिस्तुष्टिरिष्टा च पुष्टा लक्ष्मीरुमा ललिता लालपन्ती॥ ६॥

(उनके परिवार के आवरण देवता की संख्या पन्द्रह है, जो क्रमशः) मदन्तिका, मानिनी, मंगला, सुभगा, सुन्दरी, सिद्धिमत्ता, लज्जा, मति, तुष्टि, इष्टा, पुष्टा, लक्ष्मी, उमा, ललिता एवं लालपन्ती हैं॥ ६॥

इमां विज्ञाय सुधया मदन्ती परिसृता तर्पयन्तः स्वपीठम्।
नाकस्य पृष्ठे महतो वसन्ति परं धाम त्रैपुरं चाविशन्ति॥ ७॥

(साधक) इनको जानकर (इनके) अमृत गुणों से प्रसन्नता का अनुभव करते हुए,स्वपीठ (श्री चक्रपीठ) को (दुग्ध आदि से) तृप्त करते हुए महान् स्वर्गलोक में निवास करते हैं और त्रैपुर परमधाम में पहुँच कर (अपने को) कृतकृत्य अनुभव करते हैं॥ ७॥

कामो योनिः कामकला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः।
पुनर्गुहा सकला मायया च पुरूच्येषा विश्वमातऽऽदिविद्या॥ ८॥

(आदिमूल विद्या का स्वरूप इस प्रकार है-यह) काम, योनि, काम-कला, वज्रपाणि, गुहा, हसा, मातरिश्वा, अभ्र, इन्द्र, पुनः गुहा, सकला और माया आदि से यह विशिष्टरूपा यह विद्या (प्रवर्धमान हुई)है॥ ८॥

[यहाँ आदि विद्या के संकेताक्षर प्रयुक्त हुए हैं। जो इस प्रकार हैं- काम = क, योनि = ए, कामकला = ई, वज्रपाणि = ल, गुहा = ह्रीं, हसा = ह, स, मातरिश्वा = क, अभ्र = ह, इन्द्र = ल, सकला = स, क, ल, माया = ह्रीं। ये सभी वर्ण प्रणवात्मिका आदि विद्या के प्रतीक हैं।]

षष्ठं सप्तममथ वह्निसारथिमस्या मूलत्रिकमादेशयन्तः।
कथ्यं कविं कल्पकं काममीशं तुष्टुवांसो अमृतत्वं भजन्ते॥ ९॥

(आदि विद्या के) छठे वर्ण (ह-शिवबीज), सातवें वर्ण (स-शक्तिबीज) और वह्नि सारथि (क-कामेश-बीज) इसके मूलत्रिक (ह,स,क) का जप करते हुए कथ्य रूप, कवि (क्रान्तदर्शी-भूत, भविष्यत् और वर्तमान को जानने वाला-त्रिकालज्ञ) सदृश कामेश्वर की स्तुति करते हुए अमृतत्व को प्राप्त करते हैं॥ ९॥

पुरं हन्त्रीमुखं विश्वमातू रवे रेखा स्वरमध्यं तदेषा।
बृहत्तिथिर्दश पञ्चा च नित्या सषोडशिकं पुरमध्यं बिभर्ति॥ १०॥

(वह देवी) पुर, हन्त्रीमुख (ह-स-क), विश्वमातारूप, रवि-रेखा (आदित्य मंडल रूप), स्वर मध्य

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

('ई' 'ओ' रूप) आदि रूपों में विद्यमान बृहत्तिथि (निमेष से लेकर कल्पान्त तक) तथा पंचदशादि (पन्द्रह तिथियाँ, वार नक्षत्रादि) नित्य (देवता भाव को प्राप्त) सषोडशिक (सोलहवीं तिथि पूर्णिमा सहित) पुर मध्य (स्व अविद्या पर आधारित) रूपों को धारण करती है॥ १०॥

यद्वा मण्डलाद्वा स्तनबिम्बमेकं मुखं चाधस्त्रीणि गुहासदनानि।
कामीकलां कामरूपां चिकित्वा नरो जायते कामरूपश्च कामः॥ ११॥

(रवि, चन्द्र आदि के) मण्डल से आविर्भूत सर्वांग सुन्दरी जिसका एक स्तनबिम्ब एवं मुख नीचे की ओर है, के देहत्रय (स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर) रूपी गुहा में अवस्थित परमेश्वर की कला-'कामकला' का ध्यान करके योगी अपनी समस्त कामनाओं को पूर्ण करके स्वेच्छानुसार-'काममय' हो जाता है, (पर काम्यफल) जन्म आदि का कारण होता है, इसलिए (उच्च वर्ण वाले मुमुक्षु को) सकाम उपासना नहीं करनी चाहिए॥ ११॥

परिसृतं झषमाजं पलं च भक्तानि योनीः सुपरिष्कृताश्च।
निवेदयन्देवतायै महत्यै स्वात्मीकृते सुकृते सिद्धिमेति॥ १२॥

(इसी प्रकार हीन वर्ण वाले) विधिवत् तैयार किये गये अपने भोज्य पदार्थ (मांस-मदिरा आदि) को (आत्मीय भोग बुद्धि का परित्याग करके) सर्वप्रथम महादेवी को समर्पित करके प्रसाद रूप में ग्रहण कर पुण्य कर्मों के द्वारा (श्रेष्ठ कर्मों की) सिद्धि प्राप्त करते हैं॥ १२॥

सृण्येव सितया विश्वचर्षणिः पाशेनैव प्रतिबध्नात्यभीकान्।
इषुभिः पञ्चभिर्धनुषा च विध्यत्यादिशक्तिररुणा विश्वजन्या॥ १३॥

(जो मनुष्य इस) काम्य मार्ग में निरत रहते हैं, उन कामीजनों को सरस्वती, लक्ष्मी, आदिशक्ति गौरी-ब्रह्म (विद्या) रूप धारण करके भलीप्रकार बाँधकर संसार के महावर्त (भँवर) में डाल देती हैं तथा पंच बाण (पंचेन्द्रियों) और धनुष से विद्ध कर देती हैं (उनका उद्धार कभी नहीं करतीं) ॥ १३॥

भगः शक्तिर्भगवान्काम ईश उभा दातारविह सौभगानाम्।
समप्रधानौ समसत्त्वौ समोजौ तयोः शक्तिरजरा विश्वयोनिः॥ १४॥

छः ऐश्वर्यों (समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य) से सम्पन्न चित् शक्ति, भगवान् काम और ईश (कामेश्वर)-दोनों (चित् शक्ति सामान्यात्मा की दृष्टि से) सम प्रधान, समान सत्त्व से युक्त, समान ओज से युक्त(दयार्द्र होकर, निष्काम) उपासक को ब्रह्मपद प्रदान कर देते हैं। उन दोनों ('शिव-शक्ति' या 'काम-ईश') के मध्य (तीनों शरीरों से विलक्षण) अजरा (जरारहित) यह विश्वमाता ('श्री शक्ति') स्थित रहती है॥

परिसृता हविषा भावितेन प्रसंकोचे गलिते वैमनस्कः।
शर्वः सर्वस्य जगतो विधाता धर्ता हर्ता विश्वरूपत्वमेति॥ १५॥

(उपासक की निष्काम) भावना से भावित (ज्ञान, विज्ञान और सम्यक् ज्ञान रूपी) हवि द्वारा भली प्रकार संतृप्त हुई (आवरण और विक्षेप को),गलाकर नष्ट कर देती है। (इस प्रकार उपासक संसार से) अमनस्क होकर सम्पूर्ण जगत् के विधाता, पालक एवं संहारक (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) बनकर विश्वरूपता को प्राप्त कर लेता है॥

इयं महोपनिषत्त्रैपुर्या यामक्षरं परमो गीर्भिरीट्टे। एषर्ग्यजुः परमेतच्च सामायमथर्वेयमन्या चविद्या॥

यह ऋग्,यजु,साम,अथर्व तथा अन्य विद्याएँ (पुराण,न्याय,मीमांसा आदि १४ विद्याएँ),जिसकी अक्षय (ज्ञानस्वरूप)परम(सर्वोत्कृष्ट)वाणीरूप स्तोत्रों से स्तुतियाँ करती हैं। यही त्रिपुरा नाम की महोपनिषद् है॥ १६

ॐ ह्रीं ॐ ह्रीमित्युपनिषत्॥ १७॥

'ॐ ह्रीं' - यही चित् और शक्ति तत्त्व है। यही चैतन्य शक्ति तत्त्व है॥ १७॥

॥ इति त्रिपुरोपनिषत्समाप्ता॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ त्रिशाखब्राह्मणोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें ब्रह्मप्राप्ति के उपायभूत अष्टांगयोग का प्रमुखतया प्रतिपादन है। इस उपनिषद् का शुभारम्भ त्रिशिखी ब्राह्मण और भगवान् आदित्य के बीच आत्मा और ब्रह्म विषयक प्रश्नोत्तर से हुआ है। तदुपरान्त सर्वत्र शिवतत्त्व की विद्यमानता, ब्रह्म से अखिल जगत् की उत्पत्ति, एक ही पिण्ड का बहुधा विभाजन, आकाश आदि का अंश भेद, सूक्ष्मभूत मात्रा, आध्यात्मिक आदि विभाग, ब्रह्मा से लेकर पंचीकरण तक सृष्टि का विकास, जड़-चेतन विश्व की सृष्टि, चार अवस्थाएँ, दक्षिण और उत्तरायण गति, सद्यः मुक्ति प्रदायक ज्ञान, ज्ञानप्राप्ति के उपायभूत योग, कर्मयोग-ज्ञानयोग, निर्विशेष ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के उपायभूत अष्टांगयोग, दस प्रकार के यम-नियम, हठयोग के आसन, नाड़ीशोधन तथा प्राणायाम की विविध विधियाँ, अग्नि मंडल का स्वरूप, नाड़ीचक्र में जीव का भ्रमण, कुण्डलिनी का स्थान और उसका क्रिया व्यापार, नाभि स्थान के पास 'नाड़ी कन्द' की स्थिति, नाड़ियों में विचरण करने वाली प्राण-वायुएँ, योगाभ्यास करने का स्थान और योगाभ्यास की विधि, प्राणायाम के विविध प्रयोग, षण्मुखी मुद्रा, मनोजय, मर्मस्थानों में प्राण का प्रत्याहार, धारणा के भेदोपभेद, शरीर के अंग-अवयवों में पंचभूतों की धारणा करना, ध्यान और उसका फल तथा अन्त में सविशेष ज्ञान की प्राप्ति और उसके द्वारा मुक्ति प्राप्ति का विशद वर्णन है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अद्वयतारकोपनिषद्)

॥ ब्राह्मणम् -१ ॥

त्रिशिखी ब्राह्मण आदित्यलोकं जगाम तं गत्वोवाच। भगवन् किं देहः किं प्राणः किं कारणं किमात्मा ॥ १ ॥

एक बार त्रिशिखी नामक ब्राह्मण आदित्य लोक में जाकर भगवान् आदित्य से बोले-हे भगवन्! यह शरीर (देह) क्या है? प्राण क्या है? कारण क्या है? और (यह) आत्मा क्या है? ॥ १ ॥

स होवाच सर्वमिदं शिव एव विजानीहि। किंतु नित्यः शुद्धो निरञ्जनो विभुरद्वयानन्दः शिव एकः स्वेन भासेदं सर्वं दृष्ट्वा तप्तायः पिण्डवदेकं भिन्नवदवभासते। तद्भासकं किमिति चेदुच्यते। सच्छब्दवाच्यमविद्याशबलं ब्रह्म ॥ २ ॥

वे (भगवान् आदित्य) बोले- हे ब्रह्मन्! यह सभी कुछ शिवस्वरूप ही है, ऐसा जानो। वही नित्य, शुद्ध, निरंजन, विभु, अद्वय एवं आनन्दस्वरूप शिव अपने एक ही दिव्यालोक से सभी को देखने के पश्चात् तप्त (लाल) लौहपिण्ड के समान एक को अनेक रूपों में प्रकाशित करता है। यदि यह पूछा जाए कि वह आलोक-प्रदाता कौन है? तो यह कहा जायेगा कि 'सत्' शब्द का वाच्य अविद्या शबल-ब्रह्म अर्थात् विश्वब्रह्माण्ड में संव्याप्त मायोपाधिक अपर ब्रह्म ॥ २ ॥

ब्रह्मणोऽव्यक्तम्। अव्यक्तान्महत्। महतोऽहंकारः। अहंकारात्पञ्चतन्मात्राणि। पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि। पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत् ॥ ३ ॥

ब्रह्म से अव्यक्त, अव्यक्त से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से पाँचों तन्मात्राएँ, पंच तन्मात्राओं से पंचमहाभूत और पंच महाभूतों के द्वारा ही यह सम्पूर्ण विश्व प्रादुर्भूत हुआ है ॥ ३ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

तदखिलं किमिति। भूतविकारविभागादिरिति। एकस्मिन्पिण्डे कथं भूतविकारविभाग इति। तत्तत्कार्यकारणभेदरूपेणांशतत्त्ववाचकवाच्यस्थानभेदविषयदेवताकोशभेदविभागा भवन्ति॥

वह अखिल (विश्व) क्या है? यह (पंच) भूतों के विकार द्वारा प्रादुर्भूत विभाग स्वरूप है। भूतों के विकार द्वारा एक ही पिण्ड के विभाग किस तरह से होते हैं? उन भिन्न-भिन्न भूतों के कार्य एवं कारण भेद के द्वारा अंश तत्त्व, वाचक-वाच्य स्थान भेद, विषय, देवता, कोश भेद आदि के आधार पर विभाग कहे गये हैं॥४॥

अगले मंत्रों में पंचभूतों के भेद क्रम स्पष्ट किये गये हैं-

अथाकाशोऽन्तःकरणमनोबुद्धिचित्ताहंकाराः। वायुः समानोदानव्यानापानप्राणाः। वह्निः श्रोत्र-त्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि। आपः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। पृथिवी वाक्पाणिपादपायूपस्थाः॥ ५॥

आकाश के पाँच भेद हैं- अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त एवं अहंकार। समान, उदान, व्यान, अपान, प्राण आदि ये पाँच वायु हैं। श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा एवं घ्राणेन्द्रिय ये (ज्ञानेन्द्रियाँ) अग्नि से प्रकट होते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध-ये पाँच (तन्मात्राएँ) जल तत्त्व से प्रादुर्भूत होती हैं। वाणी, हाथ, पैर, गुदा एवं उपस्थ-ये (कर्मेन्द्रियाँ) पृथ्वी के द्वारा प्रादुर्भूत हैं॥ ५॥

ज्ञानसंकल्पनिश्चयानुसंधानाभिमाना आकाशकार्यान्तःकरणविषयाः। समीकरणोन्नयन-ग्रहणश्रवणोच्छ्वासा वायुकार्यप्राणादिविषयाः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा अग्निकार्यज्ञानेन्द्रि-यविषया अबाश्रिताः। वचनादानगमनविसर्गानन्दाः पृथिवीकार्यकर्मेन्द्रियविषयाः। कर्मज्ञानेन्द्रियविषयेषु प्राणतन्मात्रविषया अन्तर्भूताः। मनोबुद्ध्योश्चित्ताहंकारौ चान्तर्भूतौ॥ ६॥

ज्ञान, संकल्प, दृढ़-निश्चय, अनुसंधान एवं अभिमान-ये आकाश तत्त्व के कार्य और अन्तःकरण के विषय हैं। समीकरण (सन्तुलन), उन्नयन (ऊर्ध्वगति देना), ग्रहण करना, श्रवण (श्रवण-प्रवाहित या निष्कासित करना), उच्छ्वास (श्वास ग्रहण करना एवं छोड़ना)-ये सभी वायु तत्त्व के कार्य तथा प्राण आदि के विषय कहे गये हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध आदि ये सब अग्नि तत्त्व के कार्य और ज्ञानेन्द्रियों के विषय बतलाये गये हैं। ये सब (तन्मात्रा रूप में) जल तत्त्व के आश्रित हैं। वचन(बोलना), दान, गमनागमन, विसर्जन तथा आनन्द पृथ्वी तत्त्व के कार्य एवं कर्मेन्द्रियों के विषय हैं। कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय के विषयों में प्राण एवं तन्मात्राओं के विषय अन्तर्भूत हैं। मन एवं बुद्धि में ही चित्त और अहंकार अन्तर्भूत हैं॥६॥

अवकाशविधूतदर्शनपिण्डीकरणधारणाः सूक्ष्मतमा जैवतन्मात्रविषयाः॥ ७॥

अवकाश (रिक्त स्थान), हटाना (गमनागमन गतिशीलता), दर्शन (देखना), पिण्डीकरण (मिलाना - पिण्ड बना देना), धारणा (धारण करना) आदि-ये सभी (क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी तत्त्वों से सम्बन्धित) सूक्ष्मातिसूक्ष्म तन्मात्राओं के विषय हैं॥ ७॥

एवं द्वादशाङ्गानि आध्यात्मिकान्याधिभौतिकान्याधिदैविकानि। अत्र निशाकरचतुर्मुखदि-ग्वातार्कवरुणाश्व्यग्नीन्द्रोपेन्द्रप्रजापतियमा इत्यक्षाधिदेवतारूपैर्द्वादशनाड्यन्तःप्रवृत्ताः प्राणा एवाङ्गानि अंगज्ञानं तदेव ज्ञातेति॥ ८॥

इस प्रकार बारह अंगों का उल्लेख मिलता है, जो आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक-तीनों भागों में वर्णित किये गये हैं। इनमें चन्द्रमा, ब्रह्मा, दिशाएँ, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, प्रजापति एवं यम-ये सभी बारह इन्द्रियों के अधिदेवता रूप से बारह नाड़ियों में अवस्थित रहते हैं, ये ही प्राण के अंग कहे गये हैं। इन अङ्गों को जानने वाला ही ज्ञाता कहा गया है॥ ८॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

ततः कालवशादेव ह्यात्मज्ञानविवेकतः। उत्तराभिमुखो भूत्वा स्थानात्स्थानान्तरं क्रमात्॥१८॥

तदनन्तर वह काल-प्रभाव के वशीभूत हो विवेक एवं आत्मज्ञान को प्राप्त करके उत्तर दिशा की ओर अभिमुख होकर क्रमशः एक स्थान (कक्षा) से दूसरे स्थान (कक्षा) को प्राप्त कर लेता है॥ १८॥

मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणान्योगाभ्यासं स्थितश्चरन्। योगात्संजायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्तते॥१९॥

तत्पश्चात् वह अपने प्राण-तत्त्व को मूर्द्धा-स्थान में स्थित करके योग के अभ्यास में निरत (तत्पर) हो जाता है। योग द्वारा ज्ञान की और ज्ञान द्वारा योग की प्रवृत्ति प्रादुर्भूत होती है॥ १९॥

योगज्ञानपरो नित्यं स योगी न प्रणश्यति। विकारस्थं शिवं पश्येद्विकारश्च शिवे न तु॥ २०॥

जो श्रेष्ठ साधक-योगी निरन्तर अपनी ज्ञानयोग की साधना में मनोयोगपूर्वक संलग्न रहता है, वह कभी विनाश को प्राप्त नहीं होता है। वह विकारों में स्थित शिव (परब्रह्म) का निरन्तर दर्शन करता रहता है; किन्तु शिव में विकार का नहीं॥ २०॥

योगप्रकाशकं योगैर्ध्यायेच्चानन्यभावनः। योगज्ञाने न विद्येते तस्य भावो न सिध्यति॥ २१॥

ऐसा श्रेष्ठ योगी सर्व विकारों से रहित ब्रह्म का अनन्य भाव से चिन्तन करे। जिसे इस प्रकार का ज्ञानयोग प्राप्त नहीं होता, उसे सिद्धि नहीं मिलती॥ २१॥

तस्मादभ्यासयोगेन मनः प्राणान्निरोधयेत्। योगी निशितधारेण क्षुरेणैव निकृन्तयेत्॥ २२॥

इस प्रकार योग के निरन्तर अभ्यास से प्राणों के द्वारा मन का निरोध करना चाहिए। योगी को चाहिए कि वह छुरी की पैनी धार के सदृश दृढ़ निश्चयी होकर (मोहबन्धन) काट दे॥ २२॥

शिखा ज्ञानमयी वृत्तिर्यमाद्यष्टाङ्गसाधनैः। ज्ञानयोगः कर्मयोग इति योगो द्विधा मतः॥ २३॥

यम-नियमादि अष्टाङ्गयोग की साधना के द्वारा ज्ञानमयी शिखा प्रादुर्भूत होती है। योग के दो मार्ग बतलाये गये हैं, जिनमें प्रथम ज्ञानयोग एवं द्वितीय कर्मयोग है॥ २३॥

क्रियायोगमथेदानीं शृणु ब्राह्मणसत्तम। अव्याकुलस्य चित्तस्य बन्धनं विषये क्वचित्॥ २४॥

हे श्रेष्ठ ब्रह्मन्! अब क्रिया-योग (कर्मयोग) के सन्दर्भ में वर्णन करते हैं। जिस योगी का चित्त व्याकुलता (व्यग्रता) से विहीन है, वह विषय-भोगों के बन्धन में कभी नहीं पड़ता॥ २४॥

यत्संयोगो द्विजश्रेष्ठ स च द्वैविध्यमश्नुते। कर्म कर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु॥ २५॥
बन्धनं मनसो नित्यं कर्मयोगः स उच्यते। यत्तु चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि बन्धनम्॥ २६॥
ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः। यस्योक्तलक्षणे योगे द्विविधेऽप्यव्ययं मनः॥ २७
स याति परमं श्रेयो मोक्षलक्षणमञ्जसा। देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः॥ २८॥

हे द्विजश्रेष्ठ! संयोग भी दो प्रकार के होते हैं। कर्म और कर्त्तव्य द्वारा शास्त्रानुकूल कर्मों में निरन्तर मन को नियुक्त किये रहना ही कर्मयोग कहलाता है। चित्त का सर्वथा आत्मिक उत्थान में नियोजित किये रहना ज्ञानयोग कहलाता है। इससे सभी तरह की आत्मकल्याण सम्बन्धी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इस प्रकार से जो मनुष्य दोनों प्रकार के योगों का विकाररहित भाव से सेवन करता है,वह शीघ्र मोक्ष रूपी परम श्रेय को प्राप्त कर लेता है। शरीर एवं इन्द्रियों के प्रति सभी तरह से वैराग्य भावना हीं यम 'कहलाती है,ऐसा विद्वज्जन कहते हैं॥

अनुरक्तिः परे तत्त्वे सततं नियमः स्मृतः। सर्ववस्तुन्युदासीनभावमासनमुत्तमम्॥ २९॥
जगत्सर्वमिदं मिथ्याप्रतीतिः प्राणसंयमः। चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारस्तु सत्तम॥ ३०॥

परमात्म तत्त्व से निरन्तर अनुराग (प्रेम-आसक्ति) रखना ही नियम कहलाता है। समस्त वस्तुओं में

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

उदासीन भाव ही सर्वश्रेष्ठ आसन है। इस जगत् के अनृत (मिथ्या) स्वरूप को भली-भाँति समझ लेना ही प्राणायाम कहा गया है। चित्त का अन्तर्मुखी भाव ही प्रत्याहार कहलाता है॥ २९-३०॥

चित्तस्य निश्चलीभावो धारणा धारणं विदुः। सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते ॥३१॥

चित्त का निश्चल (अचल) भाव धारण कर लेना ही धारणा है। मैं चिन्मात्र स्वरूप हूँ, यही चिन्तन (भाव) ध्यान कहा गया है॥ ३१॥

ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक्समाधिरभिधीयते। अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्॥३२॥
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश। तपः सन्तुष्टिरास्तिक्यं दानमाराधनं हरेः ॥३३॥
वेदान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्॥ इति॥ आसनानि तदङ्गानि स्वस्तिकादीनि वै द्विज॥३४
वर्ण्यन्ते स्वस्तिकं पादतलयोरुभयोरपि। पूर्वोत्तरे जानुनी द्वे कृत्वासनमुदीरितम् ॥३५॥

ध्यान का पूर्णरूपेण विस्मरण कर देना ही समाधि कहलाता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव (सरलता), क्षमा, धैर्य, स्वल्पाहार तथा शुद्धता-ये दस यम बतलाये गये हैं। तप, सन्तोष, आस्तिक भाव, दान, भगवत् ध्यान, वेदान्त श्रवण, ह्री (लज्जा), मति, जप तथा व्रत-ये दस नियम कहे गये हैं। अब आसनों के अन्तर्गत स्वस्तिक आदि आसन एवं उनकी विधि का वर्णन करते हैं। दोनों पैरों के तलुओं को दोनों जानुओं (घुटनों) के मध्य में करके बैठना ही स्वस्तिक आसन कहलाता है॥ ३२-३५॥

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत्। दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखं यथा॥३६॥

पीठ के बायें भाग की ओर दाहिने गुल्फ को तथा दायें भाग की ओर बायें गुल्फ को नियोजित करने से जो गौ (गाय) के मुख की भाँति होता है, वही गोमुख आसन कहलाता है॥ ३६॥

एकं चरणमन्यस्मिन्नूरावारोप्य निश्चलः। आस्ते यदिदमेनोघ्नं वीरासनमुदीरितम् ॥३७॥
गुदं नियम्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः। योगासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः॥ ३८॥

एक चरण को बायीं जाँघ पर तथा दूसरे (चरण) को दाहिनी जाँघ पर निश्चल भाव से आरोपित करके बैठना ही वीरासन कहलाता है। दाहिनी एड़ी को गुदा भाग के बायीं ओर तथा बायीं एड़ी को गुदा भाग के दाहिनी ओर लगाकर बैठना ही योगासन कहलाता है, ऐसा योगी जन कहते हैं॥ ३७-३८॥

ऊर्वोरुपरि वै धत्ते यदा पादतले उभे। पद्मासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविषापहम् ॥ ३९॥

दोनों जाँघों पर दोनों पैरों के पंजों को प्रतिष्ठित करके बैठना ही पद्मासन कहलाता है। यह आसन समस्त व्याधियों एवं विषों का विनाशक कहा गया है॥ ३९॥

पद्मासनं सुसंस्थाप्य तदङ्गुष्ठद्वयं पुनः। व्युत्क्रमेणैव हस्ताभ्यां बद्धपद्मासनं भवेत् ॥ ४०॥

पद्मासन में अच्छी तरह से आसीन होने के पश्चात् दाहिने हाथ से बायें पैर के अँगूठे को तथा बायें हाथ से दाहिने पैर के अँगूठे को पकड़ना ही बद्धपद्मासन कहलाता है॥ ४०॥

पद्मासनं सुसंस्थाप्य जानूर्वोरन्तरे करौ। निवेश्य भूमावातिष्ठेद्व्योमस्थः कुक्कुटासनः॥ ४१॥

पद्मासन पर ठीक तरह से स्थित होकर दोनों हाथों को जानुओं एवं जंघाओं के मध्य से निकाल कर भूमि पर लगा कर शरीर को आकाश में-अधर पर प्रतिष्ठित रखना कुक्कुट आसन कहलाता है॥ ४१॥

कुक्कुटासनबन्धस्थो दोर्भ्यां संबध्य कन्धरम्। शेते कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम् ॥ ४२॥

कुक्कुट आसन लगाने के बाद दोनों भुजाओं से दोनों कन्धों को आबद्ध कर कच्छप के सदृश एक सीध में हो जाना ही उत्तान कूर्मासन कहलाता है॥ ४२॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

पादाङ्गुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि । धनुराकर्णकाकृष्टं धनुरासनमीरितम् ॥ ४३ ॥

दोनों पैरों के अँगूठों को हाथ से पकड़कर श्रवण रन्ध्रों (कानों) तक धनुष के आकार में कर्ण तक आकृष्ट करना ही धनुरासन कहलाता है॥ ४३ ॥

सीवनीं गुल्फदेशाभ्यां निपीड्य व्युत्क्रमेण तु । प्रसार्य जानुनोर्हस्तावासनं सिंहरूपकम्॥४४ ॥

दोनों एड़ियों से सीवन-प्रदेश को विपरीत विधि से दबाकर दोनों घुटनों एवं हाथों को विस्तीर्ण कर स्थिर होना सिंहासन कहलाता है॥ ४४ ॥

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीविन्युभयपार्श्वयोः । निवेश्य पादौ हस्ताभ्यां बध्वा भद्रासनं भवेत्॥४५

वृषण (अंडकोश) के नीचे सीवन के दोनों ओर दोनों गुल्फों (टखनों) को स्थिर करके पादों को हाथों से बाँधकर (अर्थात थामकर) बैठना ही भद्रासन कहलाता है॥ ४५ ॥

सीवनीपार्श्वमुभयं गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण तु । निपीड्यासनमेतच्च मुक्तासनमुदीरितम्॥ ४६ ॥

सीवनी के दोनों पार्श्वों को दोनों एड़ियों के द्वारा विपरीत विधि से दबाकर प्रतिष्ठित होना ही मुक्तासन कहलाता है॥ ४६ ॥

अवष्टभ्य धरां सम्यक्तलाभ्यां हस्तयोर्द्वयोः । कूर्परौ नाभिपार्श्वे तु स्थापयित्वा मयूरवत्॥ ४७॥
समुन्नतशिरः पादं मयूरासनमिष्यते । वामोरुमूले दक्षाङ्घ्रिं जान्वोर्वेष्टितपाणिना ॥ ४८ ॥
वामेन वामाङ्गुष्ठं तु गृहीतं मत्स्यपीठकम् । योनिं वामेन संपीड्य मेढ्रादुपरि दक्षिणम्॥ ४९ ॥
ऋजुकायः समासीनः सिद्धासनमुदीरितम् । प्रसार्य भुवि पादौ तु दोर्भ्यामङ्गुष्ठमादरात्॥ ५० ॥
जानूपरि ललाटं तु पश्चिमं तानमुच्यते । येन केन प्रकारेण सुखं धार्यं च जायते॥ ५१ ॥
तत्सुखासनमित्युक्तमशक्तस्तत्समाचरेत् । आसनं विजितं येन जितं तेन जगत्त्रयम्॥ ५२ ॥

दोनों हथेलियों को पृथ्वी पर स्थित करके दोनों कोहनियों को नाभि के पार्श्व में दोनों तरफ लगाए, तदनन्तर मयूर की भाँति सम्पूर्ण शरीर को अधर करके सिर और पैरों को ऊपर की ओर उठाये रहना ही मयूर आसन कहलाता है। बायीं जाँघ के मूल में दाहिने पैर के अँगूठे को पकड़ने से वह मत्स्येन्द्र आसन कहलाता है। बायें पैर की एड़ी को सीवन पर स्थिर करे और दाहिने पैर को उपस्थ के ऊर्ध्व भाग में रखे। इस तरह शरीर को सीधा करके बैठना सिद्धासन कहलाता है। दोनों पैरों को जमीन में फैलाकर दोनों हाथों के द्वारा पैर के अँगूठों को पकड़ ले और पुनः सिर को घुटनों पर स्थित करना पश्चिमोत्तान आसन कहलाता है। जिस-किसी प्रकार से बैठने पर सुख एवं स्थिरता मिले, वैसे ही बैठना सुखासन कहलाता है। जो असमर्थता के कारण अन्य आसनों को न लगा सके, वह इस आसन को लगाये। जिस मनुष्य ने आसनों को अपने वश में कर लिया, उसने तीनों लोकों को मानो अपने वश में कर लिया अर्थात् जीत लिया समझना चाहिए॥ ४७-५२ ॥

यमैश्च नियमैश्चैव आसनैश्च सुसंयतः । नाडीशुद्धिं च कृत्वादौ प्राणायामं समाचरेत्॥ ५३ ॥

यम-नियम और आसन आदि के द्वारा सुसंयत होकर सम्यक् रूप से सर्वप्रथम नाड़ी-शोधन करके तदुपरान्त प्राणायाम करना चाहिए॥ ५३ ॥

देहमानं स्वाङ्गुलिभिः षण्णवत्यङ्गुलायतम् । प्राणः शरीरादधिको द्वादशाङ्गुलमानतः ॥ ५४॥

मानव देह (शरीर) का माप (प्रमाण) अपनी अँगुलियों के द्वारा छियानवे अंगुल का है। शरीर से प्राण बारह अंगुल अधिक प्रमाण वाला कहा गया है॥ ५४ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

देहस्थमनिलं देहसमुद्भूतेन वह्निना । न्यूनं समं वा योगेन कुर्वन्ब्रह्मविदिष्यते ॥ ५५ ॥

शरीर में स्थित वायु को (प्राणायाम द्वारा) शरीर में समुद्भूत अग्नि से योग (प्रक्रिया) द्वारा न्यून एवं सम करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है॥ ५५ ॥

देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् । त्रिकोणं द्विपदामन्यच्चतुरस्त्रं चतुष्पदम् ॥ ५६ ॥
वृत्तं विहङ्गमानां तु षडस्त्रं सर्पजन्मनाम्। अष्टास्त्रं स्वेदजानां तु तस्मिन्दीपवदुज्ज्वलम् ॥ ५७ ॥
कन्दस्थानं मनुष्याणां देहमध्यं नवाङ्गुलम् । चतुरङ्गुलमुत्सेधं चतुरङ्गुलमायतम्॥ ५८ ॥

मानव शरीर के बीच में तप्त स्वर्ण की कान्ति से युक्त त्रिकोण (तीन कोणों से युक्त) अग्नि का स्थान कहा गया है। चार पैरों वाले पशुओं में यह अग्नि--स्थल चार कोनों से युक्त (चौकोर) होता है। पक्षियों का गोल-वृत्ताकार, सर्पजाति वालों का छः कोने का एवं स्वेदजों का आठ कोण (कोने) का होता है। मानव-शरीर में उस स्थान पर नौ अंगुल प्रमाण से युक्त कन्द का निवास कहा गया है, जो दीपक की तरह से प्रकाशित होता रहता है। वह चार अंगुल ऊँचा और चार अंगुल चौड़ा होता है॥ ५६-५८ ॥

अण्डाकृति तिरश्चां च द्विजानां च चतुष्पदाम्। तुन्दमध्यं तदिष्टं वै तन्मध्यं नाभिरिष्यते॥ ५९ ॥
तत्र चक्रं द्वादशारं तेषु विष्ण्वादिमूर्तयः। अहं तत्र स्थितश्चक्रं भ्रामयामि स्वमायया ॥ ६० ॥
अरेषु भ्रमते जीवः क्रमेण द्विजसत्तम। तन्तुपञ्जरमध्यस्था यथा भ्रमति लूतिका ॥ ६१ ॥

तिर्यक्, पक्षी एवं चौपायों में यह कन्द अण्डाकार होता है तथा उसका मध्य स्थान नाभि कहा जाता है। इसमें बारह अरों वाला चक्र है, जिसमें विष्णु आदि देवों की मूर्तियाँ स्थित हैं। इस चक्र को मैं (ब्रह्म) अपनी माया से भ्रमाता रहता हूँ। इन बारह अरों में जीव इस तरह से भ्रमण करता रहता है, जैसे मकड़ी अपने जाल में घूमती रहती है॥ ५९-६१ ॥

प्राणाविरूढश्चरति जीवस्तेन विना न हि। तस्योर्ध्वे कुण्डलीस्थानं नाभेस्तिर्यगथोर्ध्वतः ॥६२ ॥

जीव प्राणतत्त्व में आरूढ़ होकर ही विचरण करता है, उसके बिना (वह विचरण) नहीं कर सकता है। उसके ऊर्ध्व में कुण्डलिनी महाशक्ति का तिर्यक् एवं ऊँचा स्थान है॥ ६२ ॥

अष्टप्रकृतिरूपा सा चाष्टधा कुण्डलीकृता। यथावद्वायुसारं च ज्वलनादि च नित्यशः ॥ ६३ ॥
परितः कन्दपार्श्वे तु निरुध्यैव सदा स्थिता। मुखेनैव समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रमुखं तथा॥ ६४ ॥

वह अष्ट प्रकृति स्वरूपा आठ तरह से कुण्डली करके वायु एवं अन्न-जल के संचार को रोकती रहती है। वह कन्द को चारों तरफ से आवृत करके उसके पार्श्व में प्रतिष्ठित है। वह अपने मुख के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र के मुख को समवेष्टित किये हुए (घेरे हुए) है॥ ६३-६४ ॥

योगकालेन मरुता साग्निना बोधिता सती। स्फुरिता हृदयाकाशे नागरूपा महोज्ज्वला ॥ ६५ ॥

योग के अभ्यास द्वारा यह कुण्डलिनी महाशक्ति वायु के द्वारा जाग्रत् अग्नि की भाँति हृदयरूपी आकाश में नागरूपा, अत्यधिक शुभ्र प्रकाशमय कान्ति से स्फुरित होती रहती है॥ ६५ ॥

अपानाद्द्व्यङ्गुलादूर्ध्वमधो मेढ्रस्य तावता । देहमध्यं मनुष्याणां हृन्मध्यं तु चतुष्पदाम् ॥ ६६ ॥

अपान से दो अंगुल ऊर्ध्व की ओर एवं मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) से नीचे मनुष्य के शरीर का मध्य भाग माना गया है तथा चौपायों (पशुओं) का मध्य भाग उनके हृदय-प्रदेश में बतलाया गया है॥ ६६ ॥

इतरेषां तुन्दमध्ये नानानाडीसमावृतम् । चतुष्प्रकारद्व्ययुते देहमध्ये सुषुम्नया ॥ ६७ ॥

अन्य प्राणियों का मध्य भाग नाभि का मध्य क्षेत्र है, जिसमें विभिन्न नाड़ियाँ समावृत हैं। प्राण एवं अपान से युक्त सुषुम्ना नाड़ी शरीर में चार प्रकार से प्रकाशित होती है॥ ६७ ॥

कन्दमध्ये स्थिता नाडी सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता। पद्मसूत्रप्रतीकाशा ऋजुरूर्ध्वप्रवर्तिनी ॥ ६८ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

कन्द के बीच में जो सुषुम्ना नाड़ी प्रतिष्ठित है, वह पद्म सूत्र के सदृश अति सूक्ष्म है तथा सीधी ऊर्ध्व की तरफ प्रवर्तित (गतिशील) हो गई है॥ ६८॥

ब्रह्मणो विवरं यावद्विद्युदाभासनालकम् । वैष्णवी ब्रह्मनाडी च निर्वाणप्राप्तिपद्धतिः ॥ ६९॥

ब्रह्मरन्ध्र तक गमन करने वाली यह 'वैष्णवी ब्रह्मनाड़ी' विद्युत् के समान प्रकाश युक्त एवं निर्वाण-प्राप्ति की पद्धति वाली है (अर्थात् मोक्ष प्रदान करने वाली है।)॥ ६९॥

इडा च पिङ्गला चैव तस्याः सव्येतरे स्थिते । इडा समुत्थिता कन्दाद्वामनासापुटावधिः॥ ७०॥
पिङ्गला चोत्थिता तस्माद्दक्षनासापुटावधिः। गान्धारी हस्तिजिह्वा च द्वे चान्ये नाडिके स्थिते॥७१

उस (सुषुम्ना) के अगल-बगल में इड़ा एवं पिंगला दो नाड़ियाँ प्रतिष्ठित हैं। इड़ा नाड़ी कन्द से निकलकर बायें नासापुट तक गई है और पिंगला उससे निकलकर दाहिने नासापुट तक गई है। गान्धारी तथा हस्तिजिह्वा ये दो नाड़ियाँ भी वहीं पर स्थित हैं॥ ७०-७१॥

पुरतः पृष्ठतस्तस्य वामेतरदृशौ प्रति । पूषायशस्विनीनाड्यौ तस्मादेव समुत्थिते॥ ७२॥
सव्येतरश्रुत्यवधि पायुमूलादलम्बुसा। अधोगता शुभा नाडी मेढ्रान्तावधिरायता ॥ ७३॥

(ये दोनों नाड़ियाँ) उनके आगे-पीछे बायीं तथा दायीं आँख तक गई हुई हैं। पूषा तथा यशस्विनी ये दोनों नाड़ियाँ गुदा मूल से निकलकर गमन करते हुए दायें एवं बायें कान तक गई हैं। अलम्बुसा नामक नाड़ी मेढ्र स्थान के अन्त तक नीचे की तरफ गई हुई है॥ ७२-७३॥

पादाङ्गुष्ठावधिः कन्दादधोयाता च कौशिकी। दशप्रकारभूतास्ताः कथिताः कन्दसंभवाः ॥७४॥

कन्द से नीचे की ओर पैर के अँगूठे तक 'कौशिकी' नामक नाड़ी गयी हुई है। ये दस नाड़ियाँ कन्द से निःसृत हुई कही गयी हैं॥ ७४॥

तन्मूला बहवो नाड्यः स्थूलसूक्ष्माश्च नाडिकाः। द्वासप्ततिसहस्राणि स्थूलाः सूक्ष्माश्च नाडयः॥७५

उनके मूल से निकलने वाली अन्य बहुत-सी स्थूल एवं सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं, जिनकी संख्या कुल मिलाकर 'बहत्तर हजार' बतलायी गयी है॥ ७५॥

संख्यातुं नैव शक्यन्ते स्थूलमूलाः पृथग्विधाः। यथाश्वत्थदले सूक्ष्माः स्थूलाश्च विततास्तथा॥७६

इन स्थूल एवं सूक्ष्म नाड़ियों की अलग-अलग गिनती कर सकना बहुत ही कठिन है। वे सब उसी प्रकार फैली हुई हैं, जिस प्रकार पीपल के पत्ते में स्थूल-सूक्ष्म नसें फैली होती हैं॥ ७६॥

प्राणापानौ समानश्च उदानो व्यान एव च। नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः॥ ७७॥
चरन्ति दशनाडीषु दश प्राणादिवायवः। प्राणादिपञ्चकं तेषु प्रधानं तत्र च द्वयम् ॥ ७८॥

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय-ये दस प्राण भी नाड़ियों में विचरण करते रहते हैं। इनमें प्राणादि प्रथम पाँच मुख्य हैं, जिनमें से दो (प्राण-अपान) प्रधान हैं॥ ७७-७८॥

प्राण एवाथवा ज्येष्ठो जीवात्मानं बिभर्ति यः। आस्यनासिकयोर्मध्यं हृदयं नाभिमण्डलम्॥७९
पादाङ्गुष्ठमिति प्राणस्थानानि द्विजसत्तम । अपानश्चरति ब्रह्मन्गुदमेढ्रोरुजानुषु ॥ ८०॥

अथवा प्राणवायु ही सबसे प्रमुख है, जो जीव को धारण किये रहता है। हे द्विज श्रेष्ठ! मुख्य प्राण के प्रधान निवास स्थान पाँच बतलाये गये हैं— जिनमें मुख एवं नासिका का मध्य भाग, हृदय, नाभि मण्डल एवं पैर का अँगूठा है। हे ब्रह्मन्! अपान वायु-गुदा, मेढ्र, जंघा एवं घुटने में विचरण करता है॥ ७९-८०॥

समानः सर्वगात्रेषु सर्वव्यापी व्यवस्थितः । उदानः सर्वसन्धिस्थः पादयोर्हस्तयोरपि॥ ८१॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

समान वायु शरीर के समस्त अंगों में संव्याप्त रहता है तथा उदान चारों हाथ-पैरों एवं समस्त संधि-जोड़ के स्थानों में प्रतिष्ठित है॥ ८१॥

व्यानः श्रोत्रोरुकट्यां च गुल्फस्कन्धगलेषु च। नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिषु संस्थिताः॥८२

व्यान नामक वायु-श्रोत्र, जंघा, कमर, एड़ी, कन्धे एवं गले में निवास करता है और नाग आदि पाँच उपवायु त्वचा, अस्थि (हड्डी) आदि में प्रतिष्ठित रहते हैं॥ ८२॥

तुन्दस्थजलमन्नं च रसादीनि समीकृतम्। तुन्दमध्यगतः प्राणस्तानि कुर्यात्पृथक्पृथक्॥ ८३॥

प्राणवायु आमाशय में स्थित जल, अन्न एवं रस आदि को सर्वप्रथम एकत्र करता है। तत्पश्चात् उसी के बीच में पृथक्-पृथक् स्थापित करता है॥ ८३॥

इत्यादिचेष्टनं प्राणः करोति च पृथक् स्थितम्। अपानवायुर्मूत्रादेः करोति च विसर्जनम्॥८४॥

इन समस्त कार्यों को प्राणवायु अलग स्थित होकर करता है। मल एवं मूत्रादि के विसर्जन का कार्य अपान-वायु द्वारा सम्पन्न होता है॥ ८४॥

प्राणापानादिचेष्टादि क्रियते व्यानवायुना। उज्जीर्यते शरीरस्थमुदानेन नभस्वता॥८५॥

प्राण, अपान आदि वायु की चेष्टाएँ व्यान वायु के योग से सम्पन्न की जाती हैं तथा शरीर में विद्यमान उदान वायु के द्वारा नभोगामी (ऊर्ध्वगामी) हुआ जाता है॥ ८५॥

पोषणादिशरीरस्य समानः कुरुते सदा। उद्गारादिक्रियो नागः कूर्मोऽक्षादिनिमीलनः॥ ८६॥

शरीर का पालन-पोषण सर्वदा समान-वायु के द्वारा सम्पन्न होता है। डकार आदि की क्रिया नाग-वायु के द्वारा होती है और नेत्रों का खोलना एवं बन्द करना कूर्म-वायु का कार्य होता है॥ ८६॥

कृकरः क्षुतयोः कर्ता दत्तो निद्रादिकर्मकृत्। मृतगात्रस्य शोभादेर्धनंजय उदाहृतः॥ ८७॥

कृकल-वायु का कार्य भूख लगना है। देवदत्त-वायु के द्वारा निद्रा आदि तथा मृत शरीर की शोभा (मृत्यूपरान्त कुछ समय तक अविकृत रहना) आदि धनञ्जय वायु का कार्य कहा गया है॥ ८७॥

नाडीभेदं मरुद्भेदं मरुतां स्थानमेव च। चेष्टाश्च विविधास्तेषां ज्ञात्वैव द्विजसत्तम॥ ८८॥

हे द्विज श्रेष्ठ! नाड़ी, वायु, प्राणों के स्थान तथा चेष्टाएँ नाना प्रकार की हैं। उन सभी को जानने का प्रयास करना चाहिए॥ ८८॥

शुद्धौ यतेत नाडीनां पूर्वोक्तज्ञानसंयुतः। विविक्तदेशमासाद्य सर्वसंबन्धवर्जितः॥ ८९॥
योगाङ्गद्रव्यसंपूर्ण तत्र दारुमये शुभे। आसने कल्पिते दर्भकुशकृष्णाजिनादिभिः॥ ९०॥
तावदासनमुत्सेधे तावद्द्वयसमायते। उपविश्यासनं सम्यक्स्वस्तिकादि यथारुचि॥ ९१॥

पूर्व में कहे हुए ज्ञान(विधि) से नाड़ियों का शोधन कर लेना चाहिए। तदनन्तर सभी तरह के सम्बन्धों का परित्याग करके, एकान्त स्थल में स्थित होकर योगाङ्ग के साधन में सम्पूर्ण सामग्री एकत्र करके दर्भ कुश अथवा काले हिरण आदि का आसन बना करके, जब तक दोनों ओर के अंग समान न हो जाएँ, तब तक आसन साधन करते रहना चाहिए। इसके लिए आसन स्थल में बैठकर यथारुचि स्वस्तिक आदि किसी भी आसन का अभ्यास करते रहना चाहिए॥ ८९-९१॥

बद्ध्वा प्रागासनं विप्र ऋजुकायः समाहितः। नासाग्रन्यस्तनयनो दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन्॥ ९२॥
रसनां तालुनि न्यस्य स्वस्थचित्तो निरामयः। आकुञ्चितशिरः किंचिन्निबध्नन्योगमुद्रया॥ ९३॥
हस्तौ यथोक्तविधिना प्राणायामं समाचरेत्। रेचनं पूरणं वायोः शोधनं रेचनं तथा॥ ९४॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सर्वप्रथम आसन लगाकर शरीर को सीधा करके बैठे। नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखे रहे, दाँतों को दाँतों द्वारा स्पर्श न करते हुए, जिह्वा को तालु में लगाकर स्वस्थ चित्त एवं निरामय भाव से सिर को आकुंचित (थोड़ा झुकाकर) करते हुए योग मुद्रा में हाथों को आबद्ध करके प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। रेचक, पूरक और कुंभक)के द्वारा वायु का शोधन करते हुए (पुनः) रेचन की क्रिया सम्पन्न करनी चाहिए॥ ९२-९४॥

चतुर्भिः क्लेशनं वायोः प्राणायाम उदीर्यते। हस्तेन दक्षिणेनैव पीडयेन्नासिकापुटम्॥ ९५॥
शनैः शनैरथ बहिः प्रक्षिपेत्पिङ्गलानिलम्। इडया वायुमापूर्य ब्रह्मन्षोडशमात्रया॥ ९६॥
पूरितं कुम्भयेत्पश्चाच्चतुःषष्ट्या तु मात्रया। द्वात्रिंशन्मात्रया सम्यग्रेचयेत्पिङ्गलानिलम्॥ ९७॥

इस प्रकार इन चार विधियों के द्वारा वायु को गतिशील करने की क्रिया को प्राणायाम कहते हैं। दाहिने हाथ के द्वारा नासिका पुट को दबाकर पिंगला (दायीं नासिका) से वायु का बहिर्गमन करे। तदनन्तर सोलह मात्रा से इड़ा (बायीं नासिका) द्वारा वायु को अन्दर की ओर खींचे तथा चौंसठ मात्रा से कुम्भक करे और बत्तीस मात्रा से उस वायु को पिंगला (दायीं नासिका) के द्वारा बहिर्गमन कर देना चाहिए॥ ९५-९७॥

एवं पुनः पुनः कार्यं व्युत्क्रमानुक्रमेण तु। संपूर्णकुम्भवद्देहं कुम्भयेन्मातरिश्वना॥ ९८॥

इस प्रकार बार-बार क्रम एवं विपरीत क्रम से सर्वदा अभ्यास करता रहे और शरीर के अन्दर भरी हुई वायु को कुम्भ (घड़े) की भाँति स्थिर करके रोके रहे॥ ९८॥

पूरणान्नाडयः सर्वाः पूर्यन्ते मातरिश्वना। एवं कृते सति ब्रह्मंश्चरन्ति दश वायवः॥ ९९॥

हे ब्रह्मन्! इस क्रिया से समस्त नाड़ियाँ वायु से परिपूर्ण हो जाती हैं। उन नाड़ियों में दसों वायुएँ (प्राणधारायें) सम्यक्रूप से चलने लगती हैं॥ ९९॥

हृदयाम्भोरुहं चापि व्याकोचं भवति स्फुटम्। तत्र पश्येत्परात्मानं वासुदेवमकल्मषम्॥ १००॥

तदनन्तर हृदय रूपी कमल विकसित होकर स्वच्छ-स्पष्ट हो जाता है तथा उस स्थान पर परमात्म स्वरूप, निष्पाप वासुदेव के दर्शन स्पष्ट रूप से होने लगते हैं॥ १००॥

प्रातर्माध्यन्दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान्। शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत्॥ १०१॥

इस अभ्यास से प्रातःकाल, मध्याह्न काल, सायंकाल तथा अर्द्धरात्रि को चार बार कुम्भक करना चाहिए और क्रमशः उसे अस्सी (८०) मात्रा तक धीरे-धीरे बढ़ा देना चाहिए॥ १०१॥

एकाहमात्रं कुर्वाणः सर्वपापैः प्रमुच्यते। संवत्सरत्रयादूर्ध्वं प्राणायामपरो नरः॥ १०२॥
योगसिद्धो भवेद्योगी वायुजिद्विजितेन्द्रियः। अल्पाशी स्वल्पनिद्रश्च तेजस्वी बलवान्भवेत्॥१०३

इस उपर्युक्त विधि से एक दिन के अभ्यास क्रने मात्र से ही सभी तरह के पापों का शमन हो जाता है। जो मनुष्य इस तरह लगातार तीन वर्ष तक नियमित अभ्यासपूर्वक प्राणायाम करता है, वह योगसिद्ध हो जाता है। वह योगी (साधक) वायु को जीतने वाला, इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाला, अल्पाहारी, स्वल्प नींदवाला, तेजोमय एवं बलवान् होता है॥ १०२-१०३॥

अपमृत्युमतिक्रम्य दीर्घमायुरवाप्नुयात्। प्रस्वेदजननं यस्य प्राणायामस्तु सोऽधमः॥ १०४॥
कम्पनं वपुषो यस्य प्राणायामेषु मध्यमः। उत्थानं वपुषो यस्य स उत्तम उदाहृतः॥ १०५॥

वह अकाल मृत्यु के भय को विनष्ट करके दीर्घायु को प्राप्त होता है। जिस प्राणायाम में पसीना आता है, वह अधम कहलाता है। जिस (प्राणायाम) में शरीर में कँपकँपी होती है, वह मध्यम है तथा जिस (प्राणायाम) में शरीर ऊर्ध्व की ओर उठता है, वह उत्तम कहा गया है॥ १०४-१०५॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अधमे व्याधिपापानां नाशः स्यान्मध्यमे पुनः। पापरोगमहाव्याधिनाशः स्यादुत्तमे पुनः॥ १०६॥

अल्पमूत्रोऽल्पविष्ठश्च लघुदेहो मिताशनः। पट्विन्द्रियः पटुमतिः कालत्रयविदात्मवान्॥१०७॥

अधम कोटि के प्राणायाम से आधि-व्याधि एवं सम्पूर्ण पापों का विनाश हो जाता है। मध्यम कोटि के प्राणायाम से महाव्याधियाँ, पाप एवं समस्त रोग समाप्त हो जाते हैं और उत्तम प्राणायाम से (साधक) अल्पनिद्रा वाला, अल्प मल-मूत्र वाला, लघु शरीर वाला एवं अल्पाहार वाला होता है। इन्द्रियाँ एवं बुद्धि तीव्र हो जाती हैं तथा वह योगी तीनों कालों को जानने में समर्थ हो जाता है॥ १०६-१०७॥

रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भीकरणमेव यः। करोति त्रिषु कालेषु नैव तस्यास्ति दुर्लभम्॥ १०८॥

जो योगी रेचक एवं पूरक से मुक्त होकर एकमात्र कुम्भक ही करने में तत्पर हो जाता है, उसके लिए तीनों कालों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता॥ १०८॥

नाभिकन्दे च नासाग्रे पादाङ्गुष्ठे च यत्नवान्। धारयेन्मनसा प्राणान्सन्ध्याकालेषु वा सदा॥१०९॥

अपने योग में निरन्तर प्रयत्नशील रहने वाले साधक को नाभिकन्द (मूल) में, नासिका के अग्रभाग में तथा दोनों पैरों के अँगूठे में, सन्ध्या-वन्दन के समय मन द्वारा प्राणतत्त्व की धारणा करनी चाहिए॥ १०९॥

सर्वरोगैर्विनिर्मुक्तो जीवेद्योगी गतक्लमः। कुक्षिरोगविनाशः स्यान्नाभिकन्देषु धारणात्॥ ११०॥

इस प्रकार की प्रक्रिया से योगी साधक समस्त रोगों से मुक्त होकर आनन्दपूर्वक जीवन पूर्ण करता है। नाभिकन्द (मूल) में प्राणों को धारण करने पर कुक्षि (कोख-पेट) के समस्त रोग विनष्ट हो जाते हैं॥ ११०॥

नासाग्रे धारणाद्दीर्घमायुः स्याद्देहलाघवम्। ब्राह्मे मुहूर्ते संप्राप्ते वायुमाकृष्य जिह्वया॥ १११॥

पिबतस्त्रिषु मासेषु वाक्सिद्धिर्भवती भवेत्। अभ्यासतश्च षण्मासान्महारोगविनाशनम्॥ ११२॥

नासिका के अग्रभाग में प्राण को धारण करने से दीर्घायुष्य एवं शरीर की लघुता (हल्कापन) प्राप्त होती है। ब्राह्ममुहूर्त में जिह्वा द्वारा वायु को खींचकर पीने से मात्र तीन मास में ही वाक्-सिद्धि प्राप्त हो जाती है तथा छः मास में (उस योगी को) महारोग से मुक्ति मिल जाती है॥ १११-११२॥

यत्र यत्र धृतो वायुरङ्गे रोगादिदूषिते। धारणादेव मरुतस्तत्तदारोग्यमश्नुते॥ ११३॥

शरीर के पीड़ित अंगों में जहाँ-तहाँ वायु के जकड़न आदि से उत्पन्न दूषित रोगों का विनाश करने के लिए उन अंगों में वायु (प्राण) को धारण करने से योगी रोग-रहित हो जाता है॥ ११३॥

मनसो धारणादेव पवनो धारितो भवेत्। मनसः स्थापने हेतुरुच्यते द्विजपुङ्गव॥ ११४॥

मन की धारणा से ही वायु (प्राण) की भी धारणा उत्पन्न होने लगती है। हे द्विज! मन को स्थिर-एकाग्र करने के लिए प्राण की साधना (प्राणायाम) को अनिवार्य कहा गया है॥ ११४॥

करणानि समाहृत्य विषयेभ्यः समाहितः। अपानमूर्ध्वमाकृष्येदुदरोपरि धारयेत्॥ ११५॥

बध्नन्कराभ्यां श्रोत्रादिकरणानि यथातथम्। युञ्जानस्य यथोक्तेन वर्त्मना स्ववशं मनः॥ ११६॥

अपान-वायु को इन्द्रिय आदि विषयों से अलग करके ऊर्ध्व में ही धारण किए रहना चाहिए तथा दोनों हाथों (की अँगुलियों) से दोनों कानों को बन्द कर लेना चाहिए। इस क्रिया (षण्मुखी मुद्रा-दोनों हाथों की अँगुलियों से आँख, कान, मुख, नाक आदि बन्द करने) से मन को वशीभूत कर लिया जाता है॥ ११५-११६॥

मनोवशात्प्राणवायुः स्ववशे स्थाप्यते सदा। नासिकापुटयोः प्राणः पर्यायेण प्रवर्तते॥ ११७॥

इस प्रकार से मन पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् प्राणवायु नियमित हो जाता है एवं नासिका द्वारा क्रमानुसार उसका आवागमन प्रारम्भ हो जाता है॥ ११७॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

तिस्त्रश्च नाडिकास्तासु स यावन्तं चरत्ययम्। शङ्खिनीविवरे याम्ये प्राणः प्राणभृतां सताम्॥११८॥
तावन्तं च पुनः कालं सौम्ये चरति संततम्। इत्थं क्रमेण चरता वायुना वायुजिन्नरः॥ ११९॥
अहश्च रात्रिं पक्षं च मासमृत्वयनादिकम्। अन्तर्मुखो विजानीयात्कालभेदं समाहितः॥१२०॥

मुख्य तीन नाड़ियाँ हैं। उनमें प्राणायाम करने वाले-साधकों का श्वास दायें एवं बायें नासापुटों के द्वारा समान समय तक क्रियाशील होकर चलता रहता है। इस तरह से जिसका प्राण क्रमपूर्वक सक्रिय रहता है, वह प्राणों पर विजय प्राप्त कर लेता है। तत्पश्चात् वह योगी दिन, रात्रि, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि के काल भेद को अन्तर्मुखी होकर जानने में समर्थ हो जाता है, उसे अपने में समाहित कर लेता है॥ ११८-१२०॥

अङ्गुष्ठादिस्वावयवस्फुरणादर्शनैरपि । अरिष्टैर्जीवितस्यापि जानीयात्क्षयमात्मनः॥ १२१॥

अंगुष्ठादि अपने अंगों का स्फुरण (अर्थात् नाड़ी- संस्थानों में रक्त गति से फड़कना) बन्द हो जाने पर शीघ्रातिशीघ्र अपने जीवन का समापन समझ लेना चाहिए॥ १२१॥

ज्ञात्वा यतेत कैवल्यप्राप्तये योगवित्तमः। पादाङ्गुष्ठे कराङ्गुष्ठे स्फुरणं यस्य न श्रुतिः॥ १२२॥
तस्य संवत्सरादूर्ध्वं जीवितस्य क्षयो भवेत्। मणिबन्धे तथा गुल्फे स्फुरणं यस्य नश्यति॥१२३॥
षण्मासावधिरेतस्य जीवितस्य स्थितिर्भवेत्। कूर्परे स्फुरणं यस्य तस्य त्रैमासिकी स्थितिः॥१२४

ऐसे अनिष्ट-सूचक संकेतों को जानने के पश्चात् श्रेष्ठ योगी-साधक को अपना पूरा ध्यान मोक्ष-प्राप्ति की साधना में लगाना चाहिए। जिसके दोनों पैरों एवं दोनों हाथ के अँगूठों में स्फुरण न होते जान पड़े, तो यह जानना चाहिए कि उसका जीवन मात्र एक वर्ष में समाप्त होने वाला है। मणिबन्ध (कलाई) एवं गुल्फ (टखना) का स्फुरण जब बन्द हो जाये, तो मनुष्य मात्र छः मास तक ही जीवित रहता है और जब हाथ की 'कोहनी' में स्फुरण न हो, तो जीवन की अवधि मात्र तीन मास ही शेष बचती है॥ १२२-१२४॥

कुक्षिमेहनपार्श्वे च स्फुरणानुपलम्भने। मासावधिर्जीवितस्य तदर्धस्य तु दर्शने॥ १२५॥

कुक्षि(पेट के अगल-बगल का हिस्सा)और उपस्थेन्द्रिय(लिंग)में स्फुरण न हो, तो मात्र एक मास में जीवन समाप्त हो जाता है और चक्षुओं में स्फुरण न हो, तो मात्र पन्द्रह दिन में ही जीवन समाप्त हो जाता है॥१२५

आश्रिते जठरद्वारे दिनानि दश जीवितम्। ज्योतिः खद्योतवद्यस्य तदर्धं तस्य जीवितम्॥ १२६॥

जठर द्वार पर जब स्फुरण न हो, तब जीवन की अवधि मात्र दस दिन शेष बचती है और (सूर्य-चन्द्र की) ज्योति जब जुगनू के समान हो जाये, तो फिर पाँच दिन ही शेष रह जाते हैं॥ १२६॥

जिह्वाग्रादर्शने त्रीणि दिनानि स्थितिरात्मनः। ज्वालाया दर्शने मृत्युर्द्विदिने भवति ध्रुवम्॥ १२७॥

जिह्वा के अग्रभाग का दर्शन जब बन्द हो जाये, तो फिर तीन दिन का ही समय शेष समझना चाहिए और जब ज्वाला का दिखाई पड़ना बन्द हो जाये, तो दो ही दिन शेष जानना चाहिए॥ १२७॥

एवमादीन्यरिष्टानि दृष्टायुः क्षयकारणम्। निःश्रेयसाय युञ्जीत जपध्यानपरायणः॥ १२८॥

ये सभी अनिष्टकारक तत्त्व आयु को क्षीण करने वाले कारण रूप हैं। इन सभी तत्त्वों को जानकर अपने कल्याण-हेतु जप एवं ध्यान में संलग्न हो जाना चाहिए॥ १२८॥

मनसा परमात्मानं ध्यात्वा तद्रूपतामियात्। यद्यष्टादशभेदेषु मर्मस्थानेषु धारणम्॥ १२९॥

मन के द्वारा परम पिता परमात्मा का चिन्तन करते हुए तदनुरूप बनने का प्रयत्न करते रहना चाहिए। उसकी चेतना को शरीर के अट्ठारह मर्मस्थलों में धारण किया जाना चाहिए॥ १२९॥

स्थानात्स्थानं समाकृष्य प्रत्याहारः स उच्यते। पादाङ्गुष्ठं तथा गुल्फं जङ्घामध्यं तथैव च॥१३०॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मध्यमूर्वोश्च मूलं च पायुर्हृदयमेव च। मेहनं देहमध्यं च नाभिं च गलकूर्परम्॥ १३१॥
तालुमूलं च मूलं च घ्राणस्याक्ष्णोश्च मण्डलम्। भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च मूलमूर्ध्वं च जानुनी॥१३२॥
मूलं च करयोर्मूलं महान्त्येतानि वै द्विज। पञ्चभूतमये देहे भूतेष्वेतेषु पञ्चसु॥ १३३॥

एक स्थल से दूसरे स्थल को खींचना ही प्रत्याहार कहलाता है। पैर का अँगूठा, एड़ी, जाँघ का मध्य भाग, ऊरु का मध्य भाग, गुदा का मूलभाग, हृदय, उपस्थ, देह का मध्य भाग नाभि, कण्ठ, कोहनी, तालु-मूल, नासिका का मूल, आँखों का मण्डल, भौंहों का मध्य, ललाट, मस्तक का मूल भाग, घुटने का मूल भाग, हाथों का मूल भाग हे द्विज! ये सभी स्थल इस पञ्च भौतिक शरीर के मर्म स्थान कहे गये हैं॥ १३०-१३३॥

मनसो धारणं यत्तद्युक्तस्य च यमादिभिः। धारणा सा च संसारसागरोत्तारकारणम्॥ १३४॥

यमादि के द्वारा मन का धारण (एकाग्र) करना ही धारणा कहलाता है। इसके द्वारा मनुष्य संसाररूपी समुद्र को पार करने में सक्षम हो जाता है॥ १३४॥

आजानुपादपर्यन्तं पृथिवीस्थानमिष्यते। पित्तला चतुरस्त्रा च वसुधा वज्रलाञ्छिता॥ १३५॥

पैरों से लेकर घुटनों तक पृथ्वी-तत्त्व का अंश कहा गया है। पीले रंग की चार कोण से युक्त पृथ्वी वज्र-लाञ्छिता (जटित) कही गई है॥ १३५॥

स्मर्तव्या पञ्चघटिकास्तत्रारोप्य प्रभञ्जनम्। आजानुकटिपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम्॥ १३६॥

पाँच घटी (दो घण्टे) तक वायु को ग्रहण करके पृथ्वी तत्त्व का चिन्तन करते रहना चाहिए। घुटनों से कमर तक का भाग जल का क्षेत्र कहा गया है॥ १३६॥

अर्धचन्द्रसमाकारं श्वेतमर्जुनलाञ्छितम्। स्मर्तव्यमम्भःश्वसनमारोप्य दश नाडिकाः॥ १३७॥

इस जल का आकार अर्द्धचन्द्रमा की भाँति है। उसका रंग श्वेत शुभ्र है एवं चाँदी से लांछित (जटित) है। इसमें दस-घटी अर्थात् (४ घंटे) तक श्वास रोककर जल तत्त्व का चिन्तन करना चाहिए॥ १३७॥

आदेहमध्यकट्यन्तमग्निस्थानमुदाहृतम्। तत्र सिन्दूरवर्णोऽग्निर्ज्वलनं दश पञ्च च॥ १३८॥
स्मर्तव्या नाडिकाः प्राणं कृत्वा कुम्भे तथेरितम्। नाभेरुपरि नासान्तं वायुस्थानं तु तत्र वै॥१३९॥
वेदिकाकारवद्धूम्रो बलवान्भूतमारुतः। स्मर्तव्यः कुम्भकेनैव प्राणमारोप्य मारुतम्॥ १४०॥
घटिकाविंशतिस्तस्माद् घ्राणाद्ब्रह्मबिलावधि। व्योमस्थानं नभस्तत्र भिन्नाञ्जनसमप्रभम्॥ १४१॥

शरीर के कटि-प्रदेश के मध्य में अग्नि का स्थान कहा गया है। उसका आकार अग्नि की लपटों की तरह तथा रंग सिंदूर के सदृश है। उसमें पन्द्रह घटी (छः घण्टे) तक कुम्भक द्वारा प्राण तत्त्व को रोककर अग्नि तत्त्व का चिन्तन करना चाहिए। नाभि से नासिका तक का भाग वायु का स्थल कहा गया है, जिसका आकार वेदी के सदृश है। धूम्र की भाँति शक्तिशाली मरुत् का ध्यान बीस घड़ी अर्थात् (८ घंटे) तक कुम्भक द्वारा वायु को आरोपित करके करना चाहिए। नासिका से ब्रह्मरन्ध्र तक आकाश तत्त्व का स्थान कहा गया है, जिसकी आभा नीले रंग की कही गई है॥ १३८-१४१॥

व्योम्नि मारुतमारोप्य कुम्भकेनैव यत्नवान्। पृथिव्यंशे तु देहस्य चतुर्बाहुं किरीटिनम्॥ १४२॥
अनिरुद्धं हरिं योगी यतेत भवमुक्तये। अबंशे पूरयेद्योगी नारायणमुदग्रधीः॥ १४३॥
प्रद्युम्नमग्नौ वाय्वंशे संकर्षणमतः परम्। व्योमांशे परमात्मानं वासुदेवं सदा स्मरेत्॥ १४४॥

प्रयत्नशील योगी साधक कुम्भक द्वारा प्राणवायु को आकाश क्षेत्र में आरोपित करे। तदनन्तर पृथ्वी क्षेत्र वाले भाग में चतुर्भुज किरीट युक्त अनिरुद्ध हरि का चिन्तन करे। इस विधि से योगी मुक्ति को प्राप्त कर लेने में

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

समर्थ हो जाता है। जल वाले भाग में श्रीनारायण का ध्यान करे, अग्नि वाले स्थान में प्रद्युम्न का चिन्तन करे, वायु क्षेत्र में संकर्षण का एवं आकाश वाले अंश में परमात्मा वासुदेव का चिन्तन सतत करता रहे॥ १४२-१४४॥

अचिरादेव तत्प्राप्तिर्युञ्जानस्य न संशयः। बद्ध्वा योगासनं पूर्वं हृद्देशे हृदयाञ्जलिः ॥१४५॥
नासाग्रन्यस्तनयनो जिह्वां कृत्वा च तालुनि । दन्तैर्दन्तानसंस्पृश्य ऊर्ध्वकायः समाहितः ॥१४६॥
संयमेच्चेन्द्रियग्राममात्मबुद्ध्या विशुद्धया। चिन्तनं वासुदेवस्य परस्य परमात्मनः॥ १४७॥

जो योगी साधक इस अभ्यास को नियम सहित निरन्तर करता रहता है, वह परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त कर लेता है। सर्वप्रथम योगासन पर आरूढ़ होकर हृदय प्रदेश में हृदय की विशेष आकृति का चिन्तन करते हुए स्थित होकर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करे। जिह्वा को तालु से स्पर्श करे, दाँतों का दाँतों से संस्पर्श करते हुए शरीर को ऊँचा करके समाहित होकर बैठे। विशुद्ध आत्मबुद्धि द्वारा इन्द्रियों का संयम करता हुआ परब्रह्म परमात्मा वासुदेव का ध्यान करे॥ १४५-१४७॥

स्वरूपव्याप्तरूपस्य ध्यानं कैवल्यसिद्धिदम् । याममात्रं वासुदेवं चिन्तयेत्कुम्भकेन यः॥ १४८॥
सप्तजन्मार्जितं पापं तस्य नश्यति योगिनः । नाभिकन्दात्समारभ्य यावद्धृदयगोचरम् ॥ १४९॥
जाग्रद्वृत्तिं विजानीयात्कण्ठस्थं स्वप्नवर्तनम्। सुषुप्तं तालुमध्यस्थं तुर्यं भ्रूमध्यसंस्थितम् ॥ १५०॥

योगी को कैवल्य की प्राप्ति अपने अन्तःकरण में संव्याप्त परमात्मतत्त्व के स्वरूप का निरन्तर चिन्तन करने से होती है। इस प्रकार एक प्रहर तक कुम्भक करते हुए जो योगी परब्रह्ममय वासुदेव का ध्यान करता है, उसके सात जन्मों के पाप नष्ट हो जाते हैं। नाभिकेन्द्र से लेकर के हृदयप्रदेश तक जाग्रत् अवस्था का क्षेत्र है, स्वप्नावस्था कण्ठ में, सुषुप्तावस्था तालु के मध्य में एवं तुर्यावस्था भृकुटियों के मध्य में प्रतिष्ठित है॥ १४८-१५०

तुर्यातीतं परं ब्रह्म ब्रह्मरन्ध्रे तु लक्षयेत् । जाग्रद्वृत्तिं समारभ्य यावद्ब्रह्मबिलान्तरम् ॥ १५१॥
तत्रात्मायं तुरीयस्य तुर्यान्ते विष्णुरुच्यते । ध्याननैव समायुक्तो व्योम्नि चात्यन्तनिर्मले ॥ १५२॥
सूर्यकोटिद्युतिधरं नित्योदितमधोक्षजम् । हृदयाम्बुरुहासीनं ध्यायेद्वा विश्वरूपिणम् ॥ १५३॥

तुरीयावस्था का क्षेत्र ब्रह्मरन्ध्र में परब्रह्म की ओर लक्ष्य करके स्थित रहता है। जाग्रत् अवस्था से शुरू होकर ब्रह्मरन्ध्र तक तुरीयावस्था का आत्मतत्त्व प्रतिष्ठित रहता है, उसके अन्त में वह विष्णु के नाम से कहा गया है। तत्पश्चात् योगी-साधक को अत्यन्त निर्मल स्वच्छ आकाश में कमल रूपी हृदय में आसीन कोटि-कोटि सूर्य के सदृश प्रकाश से युक्त नित्य विश्वरूप विष्णु का निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिए॥ १५१-१५३॥

अनेकाकाररखचितमनेकवदनान्वितम् । अनेकभुजसंयुक्तमनेकायुधमण्डितम् ॥ १५४॥
नानावर्णधरं देवं शान्तमुग्रमुदायुधम् । अनेकनयनाकीर्णं सूर्यकोटिसमप्रभम् ॥ १५५॥
ध्यायतो योगिनः सर्वमनोवृत्तिर्विनश्यति । हृत्पुण्डरीकमध्यस्थं चैतन्यज्योतिरव्ययम् ॥ १५६॥
कदम्बगोलकाकारं तुर्यातीतं परात्परम् । अनन्तमानन्दमयं चिन्मयं भास्करं विभुम् ॥ १५७॥
निवातदीपसदृशमकृत्रिममणिप्रभम् । ध्यायतो योगिनस्तस्य मुक्तिः करतले स्थिता ॥ १५८॥

उन अनेक आकार-प्रकार वाले, अनेक मुखों से युक्त, अनेक भुजाओं से संयुक्त, अनेकों आयुधों से मण्डित, विभिन्न वर्णों को धारण किये हुए, देवस्वरूप, शान्त, उग्र, अनेक आयुधों को धारण किये हुए, अनेक नेत्रों से सम्पन्न, कोटि-कोटि सूर्यों की प्रभा से सम्पन्न विश्वस्वरूप भगवान् श्रीविष्णु का चिन्तन-मनन करने से योगी की समस्त मनोवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। हृदय-कमल के मध्य स्थल में प्रतिष्ठित चैतन्यमय, ज्योतिस्वरूप, अव्यय, कदम्ब के सदृश गोलाकार, तुर्यातीत, परात्पर, अन्तरहित, आनन्दमय, चिन्मय, प्रकाशमान, विभु, निर्वात स्थल में स्थित दीपक की भाँति अकृत्रिम मणि की कान्ति से युक्त परब्रह्म का ध्यान करने से 'मुक्ति' योगी के करतलगत स्थित रहती है॥ १५४-१५८॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

विश्वरूपस्य देवस्य रूपं यत्किंचिदेव हि। स्थवीयः सूक्ष्ममन्यद्वा पश्यन्हृदयपङ्कजे॥ १५९॥
ध्यायतो योगिनो यस्तु साक्षादेव प्रकाशते । अणिमादिफलं चैव सुखेनैवोपजायते ॥ १६०॥

विश्वस्वरूप देव का जो कुछ भी स्थूल, सूक्ष्म या फिर अन्य दूसरे प्रकार का स्वरूप है, जो योगी-साधक उसका अपने कमल रूपी हृदय में ध्यान करता है, वह स्वयं साक्षात् उन्हीं परब्रह्म के स्वरूप का ही हो जाता है। अणिमा-लघिमा आदि समस्त सिद्धियों के फल को वह अनायास ही प्राप्त कर लेता है॥ १५९-१६०॥

जीवात्मनः परस्यापि यद्येवमुभयोरपि । अहमेव परंब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः ॥ १६१॥
समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः। ब्रह्म संपद्यते योगी न भूयः संसृतिं व्रजेत्॥ १६२॥

जीवात्मा एवं परमात्मा दोनों का ज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् 'मैं ब्रह्म हूँ' इस स्थिति तक पहुँच जाना ही समाधि कही गई है। उसके अन्तर्गत सभी प्रकार की वृत्तियों-इच्छाओं का समापन हो जाता है। जो भी योगी मनुष्य इस तरह से परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, वह पुनः इस नश्वर जगत् में नहीं आता॥ १६१-१६२॥

एवं विशोध्य तत्त्वानि योगी निःस्पृहचेतसा। यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति ॥१६३॥

इस प्रकार से योगी-साधक योग तत्त्वों का शोधन करता हुआ स्पृहारहित चित्त द्वारा ईंधनरहित अग्नि की भाँति स्वयमेव शान्त हो जाता है॥ १६३॥

ग्राह्याभावे मनःप्राणो निश्चयज्ञानसंयुतः । शुद्धसत्त्वे परे लीनो जीवः सैन्धवपिण्डवत् ॥१६४॥

तदनन्तर उस योगी के लिए और कुछ स्वीकार करने योग्य शेष नहीं रहता । उसका मन एवं प्राण सच्चे आत्मज्ञान से सम्पन्न हो जाता है तथा उसकी जीवात्मा शुद्ध-पवित्र-परमात्म तत्त्व में, जल में नमक की तरह से विलीन हो जाती है॥ १६४॥

मोहजालकसंघातं विश्वं पश्यति स्वप्नवत् । सुषुप्तिवद्यश्चरति स्वभावपरिनिश्चलः॥ १६५॥
निर्वाणपदमाश्रित्य योगी कैवल्यमश्नुत इत्युपनिषत् ॥

उस योगी को माया-मोह के जाल में आबद्ध हुआ यह संसार स्वप्न की भाँति दृष्टिगोचर होने लगता है तथा वह पूर्ण निश्चल होकर स्वभाव वश ही सुषुप्ति जैसी अवस्था में रहने लगता है॥ १६५॥
ऐसा श्रेष्ठ योगी-साधक निर्वाण के पद पर आसीन होकर कैवल्यावस्था की स्थिति में पहुँच जाता है, ऐसी ही यह उपनिषद् विद्या है॥

ॐ पूर्णमदः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ दाक्षणामूत्युपानषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें 'शिवतत्त्व' पर प्रकाश डाला गया है। यह उपनिषद् शौनकादि महर्षियों एवं मार्कण्डेय ऋषि के बीच प्रश्नोत्तर के रूप में प्रस्तुत है। इस उपनिषद् में सर्वप्रथम शिवतत्त्व के ज्ञान से चिरजीविता की प्राप्ति का विवेचन है, तदुपरान्त शिव तत्त्व के ज्ञान के लिए कुछ प्रश्न किए गये हैं, जिसके उत्तर में मार्कण्डेय ऋषि ने परम रहस्यमय शिव तत्त्व का बोध कराया है। इसके बाद २४ अक्षरात्मक मन्त्र, नवाक्षर मन्त्र, १८ अक्षरात्मक मन्त्र तथा १२ अक्षरात्मक मन्त्र का वर्णन है। इसके आगे आनुष्टुभ मन्त्रराज का तथा निष्ठा आदि का निरूपण है, जिसके परिणाम स्वरूप शिवतत्त्व का ज्ञानोदय होता है। अन्त में उपनिषद् के अध्ययन एवं अनुभूति के प्रतिफल का प्रतिपादन किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्ष्युपनिषद्)

ब्रह्मावर्ते महाभाण्डीरवटमूले महासत्राय समेता महर्षयः शौनकादयस्ते ह समित्पाणयस्तत्त्वजिज्ञासवो मार्कण्डेयं चिरंजीविनमुपसमेत्य पप्रच्छुः केन त्वं चिरं जीवसि केन वानन्दमनुभवसीति ॥ १ ॥

एक बार ब्रह्मावर्त देश में महाभाण्डीर नाम के वट वृक्ष के नीचे शौनकादि महर्षियों ने दीर्घकाल तक चलने वाला यज्ञ प्रारम्भ किया। (उस समय) शौनकादि ऋषियों ने तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने के लिए समित्पाणि होकर चिरंजीवी मार्कण्डेय ऋषि के सम्मुख आकर प्रश्न किया। हे महर्षे! आप चिरंजीवी कैसे हुए एवं (दीर्घायु के साथ) कैसे अपार आनन्द की अनुभूति करते हैं?॥ १ ॥

परमरहस्यशिवतत्त्वज्ञानेनेति स होवाच ॥ २ ॥ किं तत्परमरहस्यशिवतत्त्वज्ञानम् । तत्र को देवः । के मन्त्राः । को जपः । का मुद्रा । का निष्ठा । किं तज्ज्ञानसाधनम् । कः परिकरः । को बलिः । कः कालः । किं तत्स्थानमिति ॥ ३ ॥

उन्होंने कहा कि मेरे चिरंजीवी होने का कारण परमगुप्त शिव तत्त्व का ज्ञान है। ऋषियों ने पूछा-वह परम रहस्यमय शिव तत्त्व का ज्ञान क्या है? उसका देवता कौन है? उसके मन्त्र कौन से हैं? (उसका) जप (मन्त्र) क्या है? (उसके लिए) मुद्रा कौन सी है? उसकी निष्ठा क्या है? क्या-क्या उस ज्ञान के साधन हैं? उसका परिकर क्या है? उसमें बलि क्या है? उसका समय क्या है? उसका स्थान क्या है?॥ २-३ ॥

स होवाच । येन दक्षिणामुखः शिवोऽपरोक्षीकृतो भवति तत्परमरहस्यशिवतत्त्वज्ञानम् ॥ ४ ॥ यः सर्वोपरमे काले सर्वानात्मन्युपसंहृत्य स्वात्मानन्दसुखे मोदते प्रकाशते वा स देवः ॥ ५ ॥

उन मार्कण्डेय ऋषि ने कहा-जिसके द्वारा दक्षिणामुख शिव का प्राकट्य होता है, वही परम रहस्यमय शिव तत्त्व का ज्ञान है। जो सृष्टि के अन्त में सम्पूर्ण विश्व को अपने भीतर समेट करके अपनी आत्मा में ही आनन्दित रहते एवं स्वप्रकाशित रहते हैं, वे ही इस ज्ञान तत्त्व के देवता हैं॥ ४-५ ॥

अब प्रज्ञा, मेधा का विज्ञान प्रदान करने वाले मन्त्रों का उदाहरण दिया जा रहा है—

अत्रैते मन्त्ररहस्यश्लोका भवन्ति। मेधा दक्षिणामूर्तिमन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः। गायत्री छन्दः। देवता दक्षिणास्यः। मन्त्रेणाङ्गन्यासः॥ ६ ॥

अब मन्त्र के रहस्य को प्रकट करने वाले श्लोक कहे जा रहे हैं। इस मेधा दक्षिणामूर्ति मन्त्र के ब्रह्मा ऋषि हैं, गायत्री छन्द है और दक्षिणामुख देवता हैं। मन्त्र के द्वारा अंग न्यास करना चाहिए॥ ६ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

ॐ आदौ नम उच्चार्य ततो भगवते पदम्। दक्षिणेति पदं पश्चान्मूर्तये पदमुद्धरेत्। अस्मच्छब्दं चतुर्थ्यन्तं मेधां प्रज्ञां पदं वदेत् । प्रमुच्चार्य ततो वायुबीजं च्छं च ततः पठेत् । अग्निजायां ततस्त्वेष चतुर्विंशाक्षरो मनुः ॥ ७॥

सबसे पहले 'ॐ नमः' शब्द का उच्चारण करके फिर 'भगवते' पद का उच्चारण करे, पुनः 'दक्षिणा' यह पद कहे, फिर 'मूर्तये' पद को कहे, बाद में अस्मद् शब्द के चतुर्थी का एकवचन अर्थात् 'मह्यं' पद कहे तथा बाद में 'मेधां प्रज्ञां' पदों का उच्चारण करे। पुनः 'प्र' का उच्चारण करके तब वायु बीज 'य' का उच्चारण कर आगे 'च्छ' पद बोले, सबसे बाद में अग्नि की स्त्री अर्थात् 'स्वाहा' पद कहे। इस प्रकार चौबीस अक्षर का यह मनु मन्त्र है॥ ७॥

[इस प्रकार यह मन्त्र 'ॐ नमो भगवते दक्षिणामूर्तये मह्यं मेधां प्रज्ञां प्रयच्छ स्वाहा' बनता है।]

ध्यानम्। स्फटिकरजतवर्णं मौक्तिकीमक्षमालाममृतकलशविद्यां ज्ञानमुद्रां करागे्र । दधतमुरगकक्ष्यं चन्द्रचूडं त्रिनेत्रं विधृतविविधभूषं दक्षिणामूर्तिमीडे ॥ ८॥

ध्यान-- मैं स्फटिक मणि एवं रजत सदृश शुभ्र वर्ण वाले दक्षिणामूर्ति (भगवान् शिव) की स्तुति करता हूँ, जिनके हाथ में क्रमशः ज्ञान मुद्रा, अमृततत्त्वदायिनीविद्या तथा मोतियों की अक्षमाला है, जो त्रिनेत्र धारी हैं, जिनके उन्नत भाल पर चन्द्रमा का निवास है तथा जिनके कटिभाग पर सर्प लिपटे हुए हैं एवं जो विविध प्रकार के वेष धारण करने वाले हैं। (इस प्रकार की दक्षिणामूर्ति का मैं ध्यान करता हूँ।) ॥ ८॥

मन्त्रेण न्यासः । आदौ वेदादिमुच्चार्य स्वराद्यं सविसर्गकम् । पञ्चार्णं तत उद्धृत्य अतरं सविसर्गकम् । अन्ते समुद्धरेत्तारं मनुरेष नवाक्षरः ॥ ९॥

मन्त्र के द्वारा न्यास करें—

प्रारम्भ में वेद का आदि अक्षर ॐ का उच्चारण करके स्वर के आदि अक्षर को विसर्ग के साथ बोले, पुनः पंचार्ण अर्थात् 'दक्षिणामूर्तिः' पद का उच्चारण करे। इसके बाद विसर्ग के साथ 'अतर' इस पद का उच्चारण करे तथा अन्त में 'तार' अर्थात् ॐ शब्द का उच्चारण करे। यह नवाक्षरी मनु मंत्र है, (मन्त्र इस प्रकार है- ॐ दक्षिणामूर्तिरतरों) ॥ ९॥

मुद्रां भद्रार्थदात्रीं सपरशुहरिणं बाहुभिर्बाहुमेकं जान्वासक्तं दधानो भुजगवरसमाबद्ध-कक्ष्यो वटाधः। आसीनश्चन्द्रखण्डप्रतिघटित जटाक्षीरगौरस्त्रिनेत्रो दद्यादाद्यः शुकाद्यैर्मुनिभिर-भिवृतो भावशुद्धिं भवो नः ॥ १०॥

(ध्यान) जो एक हाथ में अभय मुद्रा तथा दो हाथों में परशु एवं हरिण (मृगीमुद्रा), एक हाथ को अपनी जंघा पर रखे हुए जो वट वृक्ष के नीचे विराजे हुए हैं एवं जिन्होंने कटिभाग पर नागराज लिपटा रखा है तथा द्वितीया का चन्द्रमा जिनकी जटाओं में सुशोभित है। दुग्ध के समान गौर वर्ण, त्रिनेत्रधारी तथा शुकादि मुनियों से आवृत भगवान् शंकर का हम ध्यान करते हैं। वे हमारी भावनाओं को शुद्ध करके सद्बुद्धि प्रदान करें॥ १०॥

मन्त्रेण न्यासः ब्रह्मर्षिन्यासः—तारं ब्लूं नम उच्चार्य मायां वाग्भवमेव च । दक्षिणापदमुच्चार्य ततः स्यान्मूर्तये पदम् ॥ ११॥ ज्ञानं देहि पदं पश्चाद्वह्निजायां ततो न्यसेत्। मनुरष्टादशार्णोऽयं सर्वमन्त्रेषु गोपितः ॥ १२॥

सर्वप्रथम तारं अर्थात् ॐ का उच्चारण करे, पुनः 'ब्लूं नमः' कहकर माया बीज अर्थात् 'ह्रीं' बोले, फिर वाग्बीज 'ऐं' तथा 'दक्षिणा' इस पद का उच्चारण करके, बाद में 'मूर्तये' एवं 'ज्ञानं देहि' पद कहे। उसके बाद अग्नि की स्त्री अर्थात् 'स्वाहा' पद बोले (इस प्रकार 'ॐ ब्लूं नमो ह्रीं ऐं दक्षिणामूर्तये ज्ञानं देहि स्वाहा') यह अट्ठारह अक्षर का मनु मन्त्र है, इसका जप करे। सभी मन्त्रों में यह अति गोपनीय मन्त्र है॥ ११-१२॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

भस्मव्यापाण्डराङ्गः शशिशकलधरो ज्ञानमुद्राक्षमालावीणापुस्तैर्विराजत्करकमलधरो योगपट्टाभिरामः। व्याख्यापीठे निषण्णो मुनिवरनिकरैः सेव्यमानः प्रसन्नः सव्यालः कृत्तिवासाः सततमवतु नो दक्षिणामूर्तिरीशः ॥ १३॥

(ध्यान) भस्म के लेपन से जिसका पूरा शरीर श्वेत हो रहा है, जिन्होंने चन्द्रकला को (मस्तक पर) धारण कर रखा है, जो अपने कर कमलों में रुद्राक्ष माला, वीणा, पुस्तक तथा ज्ञानमुद्रा धारण किये हुए हैं, जो योगियों के पास रहने वाले पट्ट से सुशोभित हैं, जो व्यास पीठ पर विराजित श्रेष्ठ मुनियों द्वारा सेवित प्रसन्न मुद्राधारी, सर्पों से सुशोभित, व्याघ्रचर्मधारी भगवान् दक्षिणामूर्ति हैं, वे भगवान् सदैव हमारी रक्षा करें॥ १३॥

मन्त्रेण न्यासः। (ब्रह्मर्षिन्यासः)। तारं परां रमाबीजं वदेत्साम्बशिवाय च। तुभ्यं चानलजायां च मनुर्द्वादशवर्णकः ॥ १४॥ वीणां करैः पुस्तकमक्षमालां बिभ्राणमभ्राभगलं वराढ्यम्। फणीन्द्रकक्ष्यं मुनिभिः शुकाद्यैः सेव्यं वटाधः कृतनीडमीडे ॥ १५॥

मन्त्र के द्वारा न्यास करें — सर्वप्रथम तारं अर्थात् 'ॐ' फिर परा बीज 'ह्रीं' पुनः रमाबीज 'श्रीं' कहे, इसके बाद 'साम्बशिवाय' पुनः 'तुभ्यं' और अन्त में 'स्वाहा' का उच्चारण करे। इस प्रकार यह द्वादश अक्षर वाला मनु मंत्र है। (मन्त्र इस प्रकार बनता है- 'ॐ ह्रीं श्रीं साम्बशिवाय तुभ्यं स्वाहा')। (ध्यान) जिन भगवान् शंकर ने अपने हाथों में वीणा, पुस्तक एवं अक्षमाला धारण कर रखी है, एक हाथ जिनका अभय मुद्रा में है तथा श्यामवर्ण के घनघोर बादल की तरह जिनका कण्ठ प्रदेश सुशोभित है, जो श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ हैं, जिनके कटिभाग पर नागराज शोभित हैं, जो वट वृक्ष के नीचे विराजमान हैं तथा शुकादि मुनियों से सेवित हैं, उन भगवान् (शंकर) की मैं प्रार्थना करता हूँ॥१४-१५॥

विष्णु ऋषिरनुष्टुप् छन्दः। देवता दक्षिणास्यः। मन्त्रेण न्यासः। तारं नमो भगवते तुभ्यं वटपदं ततः। मूलेति पदमुच्चार्य वासिने पदमुद्धरेत् ॥ १६॥ वागीशाय ततः पश्चान्महाज्ञानपदं ततः। दायिने पदमुच्चार्य मायिने नम उद्धरेत्॥ १७॥

इस मन्त्र के विष्णु ऋषि, अनुष्टुप् छन्द, दक्षिणा मुख (मूर्ति) देवता हैं, इससे न्यास करे। सर्वप्रथम तार अर्थात् 'ॐ' पुनः 'नमो भगवते तुभ्यं' फिर 'वटमूल' पद उच्चारण करे, इसके बाद 'वासिने' पद कहकर 'वागीशाय' कहे, फिर 'महाज्ञान' एवं 'दायिने मायिने' पद को कहते हुए 'नमः' शब्द का उच्चारण करे। (मन्त्र इस प्रकार हुआ-ॐ नमो भगवते तुभ्यं वटमूलवासिने वागीशाय महाज्ञानदायिने मायिने नमः)॥ १६- १७॥

आनुष्टुभो मन्त्रराजः सर्वमन्त्रोत्तमोत्तमः ॥ १८॥ ध्यानम्। मुद्रापुस्तकवह्निनागविलसद्बाहुं प्रसन्नाननं मुक्ताहारविभूषणं शशिकलाभास्वत्किरीटोज्ज्वलम्। अज्ञानापहमादिमादिमगिरामर्थं भवानीपतिं न्यग्रोधान्तनिवासिनं परगुरुं ध्यायाम्यभीष्टाप्तये ॥ १९॥ मौनमुद्रा। सोऽहमिति यावदास्थितिः सा निष्ठा भवति॥ २०॥

सभी श्रेष्ठ मन्त्रों में उत्तम यह आनुष्टुभमन्त्रराज है। ध्यान-जिनके हाथ अभय मुद्रा, पुस्तक एवं अग्नि तुल्य महाभयंकर सर्पों से सुशोभित हैं,प्रसन्न मुख वाले हैं,मोतियों के हार से सुशोभित हैं,चन्द्रमा की कला से मुकुट अधिक शोभा पा रहा है,जो अज्ञानान्धकार को समाप्त करने वाले हैं,जिन्हें वाणी से नहीं जाना जा सकता,जो आदि पुरुष हैं,सबके हैं,वटवृक्ष के नीचे निवास करने वाले भगवान् शिव का अभीष्टप्राप्ति के लिए हम ध्यान करते हैं। मौन मुद्रा-वह परमात्मा मैं ही हूँ,इस भाव की पूर्ण स्थिरता मृत्युपर्यन्त बनी रहे,वही निष्ठा है॥१८-२०

तदभेदेन मन्त्राम्रेडनं ज्ञानसाधनम्॥ २१॥ चित्ते तदेकतानता परिकरः॥ २२॥ अङ्गचेष्टार्पणं बलिः॥ २३॥ त्रीणि धामानि कालः॥ २४॥ द्वादशान्तपदं स्थानमिति॥ २५॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मनु मन्त्रों को परब्रह्म से अभिन्न मान कर बार-बार उच्चारण अर्थात् निरन्तर जप करना ही ज्ञान का साधन है। उस परमात्मा में एकाग्रचित्त होकर ध्यान लगाना ही 'उपकरण' सामग्री है। शरीर के अंगों अर्थात् इन्द्रियों की चेष्टाओं को बार-बार रोकना एवं उन्हें भगवत्कार्य में नियोजित करना ही 'बलि' है। (स्व अविद्या पद, स्थूल तथा सूक्ष्म बीज के रूप में ये) तीनों धाम ही काल हैं। (परमात्मा को प्राप्त करने का स्थान हृदय या सहस्रार है, इसलिए यह) द्वादशान्त पद ही स्थान है॥ २१-२५॥

ते ह पुनः श्रद्दधानास्तं प्रत्यूचुः। कथं वाऽस्योदयः। किं स्वरूपम्। को वाऽस्योपासक इति॥२६॥
स होवाच। वैराग्यतैलसंपूर्णे भक्तिवर्तिसमन्विते। प्रबोधपूर्णपात्रे तु ज्ञप्तिदीपं विलोकयेत्॥२७॥

उन श्रद्धावान् ऋषियों ने मार्कण्डेय ऋषि से पुनः प्रश्न किया- किस प्रकार इसका उदय होता है? क्या स्वरूप है? इसका उपासक कौन है? उन्होंने कहा-वैराग्य रूपी तेल से परिपूर्ण, भक्ति रूपी वर्तिका से युक्त ज्ञानरूपी पात्र में ज्ञप्ति(ज्ञान का विषय)रूपी दीपिका अर्थात् सर्वत्र समान रूप से व्याप्त ईश सत्ता का अपनी आत्मा के रूप में दर्शन होता है॥२६-२७॥

मोहान्धकारे निःसारे उदेति स्वयमेव हि । वैराग्यमरणिं कृत्वा ज्ञानं कृत्वा तु चित्रगुम्॥ २८॥
गाढतामिस्रसंशान्त्यै गूढमर्थं निवेदयेत्। मोहभानुजसंक्रान्तं विवेकाख्यं मृकण्डुजम्॥ २९॥
तत्त्वाविचारपाशेन बद्धं द्वैतभयातुरम् । उज्जीवयन्निजानन्दे स्वस्वरूपेण संस्थितः॥ ३०॥

भगवद् दर्शन के लिए ज्ञान-भक्ति एवं वैराग्य की आवश्यकता है। इसके आते ही अज्ञानान्धकार समाप्त होकर आत्मारूपी दीपक स्वयं प्रज्वलित हो उठता है। अपने ज्ञानरूपी दण्ड से वैराग्य रूपी अरणी में मन्थन (चिन्तन) करके अज्ञानान्धकार के समापन के लिए गूढ़ अर्थ अर्थात् परमतत्त्व को जानने का प्रयास करना चाहिए। उस परमतत्त्व का दर्शन, निरन्तर ज्ञान और वैराग्य के परिपालन एवं चिन्तन से ही सम्भव है। परमतत्त्व के बारे में चिन्तन न करना ही पाश है, उक्त पाश से बँधे हुए द्वैतवाद से भयभीत-व्याकुल, मोहरूपी शनि अर्थात् मृत्यु के मुँह में गये हुए विवेक रूप मार्कण्डेय को परमतत्त्व का चिन्तन फिर से जीवन दान करते हुए अर्थात् आत्म-तत्त्व का बोध कराते हुए परमात्मा के परम आनन्द (अपने स्वरूप) में स्थित कर देता है॥ २८-३०॥

शेमुषी दक्षिणा प्रोक्ता सा यस्याभीक्षणे मुखम्। दक्षिणाभिमुखः प्रोक्तः शिवोऽसौ ब्रह्मवादिभिः॥ ३१॥ सर्गादिकाले भगवान्विरिञ्चिरुपास्यैनं सर्गसामर्थ्यमाप्य। तुतोष चित्ते वाञ्छितार्थांश्च लब्ध्वा धन्यः सोऽस्योपासको भवति धाता॥ ३२॥

ब्रह्म को प्रकाशित करने वाली तत्त्वज्ञान रूपिणी बुद्धि को ही दक्षिणा कहा है, वही ब्रह्म साक्षात्कार के लिए द्वार अर्थात् मुँह है। इसलिए ब्रह्म-ज्ञानियों ने उसी को 'दक्षिणामुख' नामक शिव कहा है। सृष्टि के आदि में प्रजापति ब्रह्माजी ने इनकी ही उपासना की। उसी से शक्ति प्राप्त करके सृष्टि की रचना रूपी अपने मनोरथ को पूर्ण किया और प्रसन्न हुए, इसलिए प्रजापति ब्रह्मा ही इनके उपासक हैं॥ ३१-३२॥

य इमां परमरहस्यशिवतत्त्वविद्यामधीते स सर्वपापेभ्यो मुक्तो भवति।
य एवं वेद स कैवल्यमनुभवतीत्युपनिषत्॥ ३३॥

इस शिवतत्त्वरूपी गुप्त विद्या का जो पाठ करता है, वह समस्त कल्मषों से छूट जाता है एवं इसको अच्छी तरह से जानने तथा मनन, चिन्तन करने वाला मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। ऐसी यह उपनिषद् है॥ ३३॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः॥

॥ इति दक्षिणामूर्त्युपनिषत्समाप्ता॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ दव्युपानषद्॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा के अन्तर्गत आती है। देवगणों और महादेवी के बीच प्रश्नोत्तर के रूप में यह उपनिषद् विवेचित है। इसमें सर्वप्रथम 'चित्' शक्ति के सर्वात्म रूप और सर्वधारक रूप का वर्णन किया गया है। तदुपरान्त देवों द्वारा देवी की स्तुति है। इसके बाद क्रमशः आदिविद्या का उद्धार, आदिविद्या की महिमा, भुवनेशी एकाक्षर मन्त्र, महाचण्डी नवाक्षर विद्या तथा अन्त में इस विद्या की फलश्रुति वर्णित हुई है। यह उपनिषद् वैसे तो छोटी है; परन्तु देवी साधना के तन्त्र मार्ग की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- कृष्णोपनिषद्)

सर्वे वै देवा देवीमुपतस्थुः। कासि त्वं महादेवि॥ १ ॥ साब्रवीदहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगच्छून्यं चाशून्यं च अहमानन्दानानन्दाः विज्ञानाविज्ञानेऽहम्। ब्रह्मा ब्रह्मणी वेदितव्ये। इत्याहाथर्वणी श्रुतिः॥ २ ॥

समस्त देवगण देवी के समक्ष उपस्थित होकर प्रार्थना करते हुए बोले- 'हे महादेवि! आप कौन हैं? कृपा करके बताने का अनुग्रह करें'। तदनन्तर उन (देवी) ने उत्तर दिया-हे देवो! मैं ब्रह्म स्वरूपा हूँ। मेरे द्वारा ही यह प्रकृति-पुरुषात्मक विश्व प्रादुर्भूत हुआ है। (अज्ञानियों के लिए) यह मुझसे शून्य (रहित) तथा (ज्ञानियों के लिए) अशून्य (सहित) है। मैं ही आनन्दस्वरूपा एवं आनन्दरहिता हूँ। मैं विज्ञानमयी एवं विज्ञान-विहीना हूँ। निश्चय ही मैं जानने योग्य ब्रह्म एवं ब्रह्म से भी परे हूँ। ऐसा ही अथर्ववेद का यह मंत्र है ॥१-२॥

अहं पञ्च भूतान्यपञ्चभूतानि। अहमखिलं जगत् वेदोऽहमवेदोऽहम्। विद्याहमविद्याहम्। अजाहमनजाहम्। अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक्चाहम्॥ ३ ॥ अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः। अहं मित्रावरुणावुभौ बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनावुभौ॥ ४ ॥अहं सोमं त्वष्टारं पूषणं भगं दधाम्यहम्। विष्णुमुरुक्रमं ब्रह्माणमुत प्रजापतिं दधामि॥५ ॥ अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये३यजमानाय सुन्वते। अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनामहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्॥६ ॥

मैं ही पञ्चीकृत (पाँच तत्त्वों का सम्मिलित रूप) और अपञ्चीकृत (पाँच तत्त्वों का स्वतंत्र रूप) महाभूत भी हूँ। दृष्टिगोचर होने वाला सम्पूर्ण विश्व भी मैं ही हूँ। वेद (ज्ञान) एवं अवेद (अज्ञान) भी मैं हूँ। विद्या और अविद्या भी मैं ही हूँ। अजा (प्रकृति) और अनजा (प्रकृति से भिन्न) भी मैं ही हूँ। ऊर्ध्व एवं अधः और अगल-बगल भी मैं ही हूँ। मैं रुद्रों एवं वसुओं के रूप में सर्वत्र सञ्चरणशील हूँ। मैं आदित्यों एवं विश्वेदेवों के रूप में सर्वत्र विचरण किया करती हूँ। मैं ही मित्र तथा वरुण का, इन्द्र एवं अग्नि का तथा दोनों अश्विनीकुमारों का सदैव पालन-पोषण किया करती हूँ। मैं ही सोम, पूषा, त्वष्टा एवं भग को भी धारण करती हूँ। मैं ही त्रिलोकी को आक्रान्त करने के लक्ष्य-प्राप्ति हेतु विस्तीर्ण पादक्षेप करने वाले भगवान् विष्णु, ब्रह्मदेव एवं प्रजापति को भी धारण करती हूँ। मैं ही देवताओं को हवि पहुँचाने तथा सावधानी पूर्वक सोमाभिषव करने वाले यजमान के निमित्त हविर्द्रव्यों से सम्पन्न धन को धारण करती हूँ। मैं ही सम्पूर्ण विश्व की अधीश्वरी, उपासकों के लिए धन-प्रदान करने वाली, ज्ञानवती और यजन करने योग्य देवों में प्रमुख हूँ। मैं ही इस विश्व के पितास्वरूप सर्वाधिष्ठानरूप परमात्मा को प्रकट करती हूँ॥ ३-६ ॥

मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे। य एवं वेद स देवीपदमाप्नोति॥ ७॥ ते देवा अब्रुवन्। नमो देव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः। नमः प्रकृत्यै भद्रायै नियताः प्रणताः स्म ताम्॥ ८ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सभी प्राणियों के हृदय कमल (अन्तः समुद्र) और अप्तत्त्व (सृष्टि के मूल घटक पंचभूतादि) में मेरा निवास स्थान निहित है। जो मनुष्य ऐसा जानता है, वह देवी पद (देवी की विभूतियों) को प्राप्त करता है। इसके पश्चात् देवों ने पुनः निवेदन किया-हे महादेवि! आपको नमस्कार है। महान् प्रख्यात पुरुषों को भी स्वकर्त्तव्य पथ पर आरूढ़ करने वाली कल्याणमयी महादेवी को सादर नमन-वन्दन है। प्रकृति-स्वरूपा एवं भद्रा अर्थात् कल्याणमयी देवी को प्रणाम है। हम उन महान् देवी को नियमपूर्वक प्रणाम करते हैं॥ ७-८॥

तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं वैरोचनीं कर्मफलेषु जुष्टाम्। दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये सुतरां नाशयते तमः॥ ९॥ देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु॥ १०॥

उन अग्नि के सदृश वर्ण वाली, तप से प्रकाशित, दीप्तिमती एवं कर्मफल के प्राप्ति हेतु हम माँ भगवती दुर्गा देवी की शरण प्राप्त करते हैं। (हे देवि!) आप मेरे अज्ञानान्धकार को पूर्णतया नष्ट करें। प्राण रूपी देवताओं ने जिस प्रकाशमती 'वैखरी' वाणी को प्रकट किया, उस विविध रूपों वाली 'वैखरी' वाणी को सभी प्राणी बोलते हैं। कामधेनु के समान आनन्दमयी एवं अन्न और बल प्रदान करने वाली वाणी स्वरूपिणी माँ भगवती श्रेष्ठ एवं महान् स्तुतियों से प्रसन्न होकर हमारे समक्ष पधारें॥ ९-१०॥

कालरात्रिं ब्रह्मस्तुतां वैष्णवीं स्कन्दमातरम्। सरस्वतीमदितिं दक्षदुहितरं नमामः पावनां शिवाम्॥ ११॥ महालक्ष्मीश्च विद्महे सर्वसिद्धिश्च धीमहि। तन्नो देवी प्रचोदयात्॥ १२॥

कालरात्रि (सदृश), वेदों द्वारा स्तुत, वैष्णवी शक्ति, स्कन्दमाता, सरस्वती, देवों की माता अदिति और दक्ष कन्या आदि रूपों में पापों को विनष्ट करने वाली एवं कल्याणमयी भगवती को हम नमस्कार करते हैं। हम माता महालक्ष्मी को जानते हुए सतत उन सर्वसिद्धिदात्री देवी को हृदय में धारण करते हैं, वे देवी हमें (सद्ज्ञान एवं सच्चिन्तन की ओर) प्रेरित करें॥ ११-१२॥

अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव। तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः॥ १३॥ कामो योनिः कामकला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः। पुनर्गुहा सकला मायया च पुरूच्येषा विश्वमाताऽऽदिविद्योम्॥ १४॥

हे दक्ष! जो आपकी कन्या अदिति हैं, वे प्रसूता होने के पश्चात् स्तुत्य हैं एवं उन्होंने कल्याणकारी अमृतत्व गुणों से युक्त देवों को प्रादुर्भूत किया है। (आदिमूल विद्या इस प्रकार है-) यह काम, योनि, वज्रपाणि, कामकला-गुहा, वर्ण (ह और स), वायु, अभ्र, इन्द्र, पुनः गुहा, वर्ण (स, क, ल) और माया आदि से विशिष्ट-रूपा (बहुसुखदात्री या सर्वत्र गमनशीला या ऐश्वर्यरूपा) ब्रह्मस्वरूपिणी एवं 'आदि' मूल विद्या (प्रवर्धमान हुई) है॥ १३-१४॥

[यहाँ आदिविद्या के बीज मन्त्रों का संकेत किया गया है। काम से 'क', योनि से 'ए', कामकला से 'ई', वज्रपाणि से 'ल', गुहा से 'ह्रीं', हस से 'ह' - 'स', मातरिश्वा से 'क', अभ्र से 'ह', इन्द्र से 'ल', पुनर्गुहा से 'ह्रीं', सकल से 'स'-'क'-'ल', माया से 'ह्रीं' का संकेत तन्त्र ग्रन्थों में प्राप्त होता है।]

एषात्मशक्तिः। एषा विश्वमोहिनी पाशाङ्कुशधनुर्बाणधरा। एषा श्रीमहाविद्या॥ १५॥ य एवं वेद स शोकं तरति॥ १६॥ नमस्ते अस्तु भगवति भवती मातरस्मान्पातु सर्वतः॥ १७॥

ये जगन्माता विश्व को सम्मोहित करने वाली परमात्मशक्ति हैं। ये पाश, अंकुश, बाण एवं धनुष को धारण करती हैं तथा यही श्रीमहाविद्या के नाम से जानी जाती हैं। जो मनुष्य इस प्रकार से इन्हें जानता है, वह शोक से मुक्त हो जाता है। हे भगवती! आपको प्रणाम है। हे माता! आप हमारी पूरी तरह से रक्षा करें॥१५-१७॥

सैषाऽष्टौ वसवः। सैषैकादश रुद्राः। सैषा द्वादशादित्याः। सैषा विश्वेदेवाः सोमपा असोमपाश्च। सैषा यातुधाना असुरा रक्षांसि पिशाचा यक्षाः सिद्धाः। सैषा सत्त्वरजस्तमांसि। सैषाब्रह्म-

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

विष्णुरुद्ररूपिणी। सैषा प्रजापतीन्द्रमनवः। सैषा ग्रहा नक्षत्रज्योतींषि कलाकाष्ठादिकालरूपिणी। तामहं प्रणौमि नित्यम्॥ १८॥ तापापहारिणीं देवीं भुक्तिमुक्तिप्रदायिनीम्। अनन्तां विजयां शुद्धां शरण्यां शिवदां शिवाम्॥ १९॥

(इसके पश्चात् आगे ऋषि जगन्माता भगवती के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि) वही जगदम्बा आठ वसुओं के रूप में हैं, एकादश रुद्र एवं द्वादश आदित्य भी वही हैं। सोम को ग्रहण करने वाले और ग्रहण न करने वाले जितने भी विश्वेदेव हैं, वे सभी जगन्माता के रूप में स्थित हैं। वे ही (जगन्माता) यातुधान (एक तरह के असुर), राक्षस, असुर, पिशाच, यक्ष एवं सिद्ध आदि भी हैं। वे ही ये सत, रज, तम आदि तीनों गुण हैं। वे ही ये ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्रस्वरूपा हैं। वे ही ये प्रजापति, इन्द्र और मनु भी हैं। वे ही ग्रह, नक्षत्र एवं समस्त तारागण हैं तथा वे ही कला-काष्ठादि से युक्त कालस्वरूपिणी हैं। ताप (मनस्ताप) का शमन करने वाली, भोग एवं मोक्ष को प्रदान करने वाली, अनन्त गुणों वाली विजय की अधिष्ठात्री, दोष-विहीन, शरण प्राप्ति के योग्य, कल्याणदायिनी एवं मंगलमयी उन भगवती देवी को हम सर्वदा नमस्कार करते हैं॥ १८-१९॥

वियदीकारसंयुक्तं वीतिहोत्रसमन्वितम्। अर्धेन्दुलसितं देव्या बीजं सर्वार्थसाधकम्॥ २०॥ एवमेकाक्षरं मंत्रं यतयः शुद्धचेतसः। ध्यायन्ति परमानन्दमया ज्ञानाम्बुराशयः॥ २१॥

वियत् अर्थात् आकाश एवं 'ई' कार से संयुक्त, वीतिहोत्र अर्थात् अग्नि के सहित, अर्द्धचन्द्र (ँ) से सुशोभित जो देवी का बीज (मन्त्र ह्रीं) शब्द है, वह समस्त इच्छा-आकांक्षाओं को पूर्ण करने में सक्षम है। इस एकाक्षर स्वरूप ब्रह्म का (संयमशील) साधुजन, जो शुद्धचित्त वाले हैं, परमानन्द से युक्त हैं तथा अगाध ज्ञान के सागर हैं, निरन्तर ध्यान करते हैं॥ २०-२१॥

वाङ्माया ब्रह्मभूस्तस्मात्षष्ठं वक्त्रसमन्वितम्। सूर्योऽ वामश्रोत्रबिन्दुःसंयुक्ताष्टात्तृतीयकः॥२२॥ नारायणेन संयुक्तो वायुश्चाधरसंयुतः। विच्चे नवार्णकोऽर्णः स्यान्महदानन्ददायकः॥ २३॥

वाक्शक्ति (ऐं), माया (ह्रीं), ब्रह्मभू-काम (क्लीं), वक्त्र अर्थात् आकार युक्त छठा व्यञ्जन (चा), सूर्य (म), अवामश्रोत्र-दक्षिण कर्ण (उ) एवं बिन्दु अर्थात् अनुस्वार सहित (मुं), नारायण अर्थात् 'आ' से युक्त 'ट' कार से तृतीय वर्ण (डा), वायु (य) वही अधर अर्थात् 'ऐ' से युक्त (यै) और 'विच्चे'- यह नवार्ण मन्त्र साधकों को आनन्द एवं ब्रह्मसायुज्य पद प्रदान करने वाला है॥ २२-२३॥

[उपर्युक्त मन्त्रों में जिस नवार्ण मन्त्र का संकेत है, उसका स्पष्ट स्वरूप है-'ॐ ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे।' इसका अर्थ इस प्रकार है- हे चिद्रूपिणी महासरस्वती! हे सत् स्वरूपिणी महालक्ष्मी! हे आनन्द स्वरूपिणी महाकाली! ब्रह्मविद्या की प्राप्ति हेतु हम सदैव आपका ध्यान करते हैं, आपको प्रणाम करते हैं। अज्ञानरूपी रज्जु की सुदृढ़ गाँठ को खोलकर आप हमें मुक्ति प्रदान करें।]

हृत्पुण्डरीकमध्यस्थां प्रातःसूर्यसमप्रभाम्। पाशाङ्कुशधरां सौम्यां वरदाभयहस्तकाम्। त्रिनेत्रां रक्तवसनां भक्तकामदुघां भजे॥ २४॥ नमामि त्वामहं देवीं महाभयविनाशिनीम्। महादुर्गप्रशमनीं महाकारुण्यरूपिणीम्॥ २५॥

जो(देवी)हृदय-कमल के मध्य में विराजमान रहती हैं, जो प्रातःकाल के सूर्य की भाँति प्रभावाली,पाश एवं अंकुश धारण करने वाली,सौम्यरूपा,वर एवं अभय मुद्राओं से युक्त हाथ वाली,तीन नेत्रों से युक्त,लाल परिधान वाली तथा भक्तों की मनोकामना पूर्ण करने वाली हैं। हे देवि! आप महान् भय का विनाश करने वाली,महासंकट को शान्त करने में समर्थ एवं महान् करुणामयी हैं, मैं आपकी वन्दना करता हूँ॥ २४-२५॥

यस्याः स्वरूपं ब्रह्मादयो न जानन्ति तस्मादुच्यतेऽज्ञेया। यस्या अन्तो न विद्यते तस्मादुच्यतेऽनन्ता। यस्या ग्रहणं नोपलभ्यते तस्मादुच्यतेऽलक्ष्या। यस्या जननं नोपलभ्यते

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

तस्मादुच्यतेऽजा। एकैव सर्वत्र वर्तते तस्मादुच्यत एका। एकैव विश्वरूपिणी तस्मादुच्यते नैका। अत एवोच्यतेऽज्ञेयाऽनन्ताऽलक्ष्याऽजैका नैकेति॥ २६॥

जिन (देवी) के स्वरूप को ब्रह्मा आदि भी नहीं जानते, इस कारण उन्हें 'अज्ञेया' कहा गया है। जिनका अन्त नहीं होता, अतः वे अनन्ता(अन्तरहित) हैं। जिनका स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता, इस कारण उन्हें अलक्ष्या कहते हैं। जिनके जन्म का अता-पता नहीं, इसलिए उन्हें 'अजा' कहा जाता है। जो एकाकी ही सर्वत्र विद्यमान रहती हैं, इस कारण उन्हें 'एका' कहते हैं। जो अकेले ही विश्वरूप में विद्यमान हैं, इसलिए उन्हें 'नैका' कहा गया है। अतः वे इन्हीं कारणों से अज्ञेया, अनन्ता, अजा, एका और नैका के नाम से जानी जाती हैं॥ २६॥

मन्त्राणां मातृका देवी शब्दानां ज्ञानरूपिणी। ज्ञानानां चिन्मयातीता शून्यानां शून्यसाक्षिणी॥ २७॥ यस्याः परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता। तां दुर्गां दुर्गमां देवीं दुराचारविघातिनीम्। नमामि भवभीतोऽहं संसारार्णवतारिणीम्॥ २८॥

वे (देवी) समस्त मंत्रों में 'मातृका' अर्थात् मूलाक्षर में प्रतिष्ठित हैं और शब्दों में ज्ञान रूप से स्थित हैं। ज्ञान में 'चिन्मयातीता' रूप में और शून्यों में 'शून्यसाक्षिणी' के रूप में रहती हैं। जिनके अतिरिक्त और कुछ भी श्रेष्ठतम नहीं है, ऐसी वे दुर्गादेवी के नाम से प्रख्यात हैं। उन दुराचार का शमन करने वाली, दुर्विज्ञेया एवं भव-सागर से पार उतारने वाली दुर्गादेवी को जगत् से भयभीत हुआ मैं प्रणाम करता हूँ॥२७-२८॥

इदमथर्वशीर्षं योऽधीते स पञ्चाथर्वशीर्षजपफलमवाप्नोति। इदमथर्वशीर्षं ज्ञात्वा योऽर्चां स्थापयति॥ २९॥ शतलक्षं प्रजप्त्वापि नार्चासिद्धिं च विन्दति। शतमष्टोत्तरं चास्याः पुरश्चर्याविधिः स्मृतः॥ ३०॥ दशवारं पठेद्यस्तु सद्यः पापैः प्रमुच्यते। महादुर्गाणि तरति महादेव्याः प्रसादतः॥

इस अथर्वशीर्ष के मन्त्रों का जो मनुष्य पाठ करता है, वह पाँचों अथर्वशीर्षों के जप करने का फल-प्राप्त कर लेता है। इस अथर्वशीर्ष को न जानकर जो मनुष्य अर्चा (प्रतिमा को) स्थापित करता है, वह सैकड़ों-लाखों जप करके भी सिद्धि प्राप्त नहीं कर पाता है। (वैसे) १०८ बार जप करना ही इस पुरश्चरण की विधि कही गई है। जो पुरुष इस उपनिषद् का दस बार भी पाठ कर लेता है, वह उसी क्षण अपने दुष्कृतों (पापों) से मुक्त होकर महादेवी की कृपा से महान् से महान् दुष्कर कठिनाइयों-मुसीबतों से पार हो जाता है॥ २९-३१॥

प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। तत्सायंप्रातः प्रयुञ्जानः पापोऽपापो भवति। निशीथे तुरीयसंध्यायां जप्त्वा वाक्सिद्धिर्भवति। नूतनप्रतिमायां जप्त्वा देवतासान्निध्यं भवति। प्राणप्रतिष्ठायां जप्त्वा प्राणानां प्रतिष्ठा भवति। भौमाश्विन्यां महादेवीसंनिधौ जप्त्वा महामृत्युं तरति। य एवं वेदेत्युपनिषत्॥ ३२॥

इस (उपनिषद्) का प्रातःकालीन वेला में पाठ करने से रात्रि में किये हुए पापों का और सायंकाल में पाठ करने से दिन में किये गये दुष्कृत्यों का शमन हो जाता है। दोनों संध्याओं में अध्ययन करने से पाप करने वाला भी पापरहित हो जाता है। मध्यकालीन रात्रि में तुरीय संध्या के समय में जप करने से वाणी की सिद्धि मिल जाती है। नवीन प्रतिमा के समक्ष जप करने से देवता का सान्निध्य प्राप्त होता है। अमृतसिद्धि योग (मंगलवार को अश्विनी नक्षत्र) में महादेवी के समीप में जप करने से मनुष्य महामृत्यु से पार हो जाता है। जो इस तरह से इस उपनिषद् को जानता है (वह महामृत्यु से पार हो जाता है), ऐसी ही यह देव्युपनिषद् है॥ ३२॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति देव्युपनिषत्समाप्ता॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ ध्यानबिन्दूपनिषद्॥

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इस उपनिषद् के नाम से ही स्पष्ट है कि इसका केन्द्रीय भाव 'ध्यान' है। इस उपनिषद् का शुभारम्भ ही 'ब्रह्म ध्यानयोग' से किया गया है। तत्पश्चात् क्रमशः ब्रह्म की सूक्ष्मता एवं सर्वव्यापकता, प्रणव (ओंकार) का स्वरूप, प्रणव के ध्यान की विधि, प्राणायाम के साथ प्रणव का ध्यान, सविशेष ब्रह्म का ध्यान, हृदय में ध्यान एवं उसका प्रतिफल, षडंगयोग, आसन चतुष्टय (सिद्ध, भद्र, सिंह और पद्म), मूलाधार आदि चार चक्र, नाड़ी चक्र, दस प्राण, जीव का प्राण-अपान का वशवर्ती होना, योग के समय प्राण और अपान की एकता, अजपा हंस विद्या, कुण्डलिनी से मोक्ष प्राप्ति, ब्रह्मचर्यादि से कुण्डलिनी जागरण, तीनों बन्ध, खेचरी मुद्रा, खेचरी से वज्रोली सिद्धि, महामुद्रा, हृदय में आत्मानुभव तथा नादानुसन्धान द्वारा आत्मदर्शन आदि विषय वर्णित हैं। साधना द्वारा सिद्धि प्राप्त करने के इच्छुक साधकों के लिए इस उपनिषद् में बड़ा ही व्यावहारिक मार्गदर्शन उपलब्ध है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्ष्युपनिषद्)

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्। भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन॥ १ ॥

यदि पर्वत की तरह (अनेक जन्मों के सञ्चित) अनेक योजन व्यापकत्व लिए पाप समूह हों, तो भी ध्यान योग साधना द्वारा उनको नष्ट किया जाना सम्भव है, अन्य किसी साधन से उनका नाश सम्भव नहीं॥ १ ॥

बीजाक्षरं परं बिन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम्। सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्॥ २ ॥

बीजाक्षर (ॐकार) से परे बिन्दु स्थित है और उसके ऊपर नाद विद्यमान है, जिसमें मनोहर शब्द-ध्वनि सुनाई पड़ती है। उस नादध्वनि के अक्षर में विलय हो जाने पर जो शब्द विहीन स्थिति होती है, वही 'परमपद' के नाम से जानी गयी है॥ २॥

अनाहतं तु यच्छब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम्। तत्परं विन्दते यस्तु स योगी छिन्नसंशयः॥ ३ ॥

उस अनाहत शब्द (मेघ गर्जना की तरह प्रकृति का आदि शब्द) का जो परम कारण तत्त्व है, उससे भी परे परम कारण (निर्विशेष ब्रह्म) स्वरूप को जो योगी प्राप्त कर लेता है, उसके सब संशय नष्ट हो जाते हैं॥ ३ ॥

वालाग्रशतसाहस्रं तस्य भागस्य भागिनः। तस्य भागस्य भागार्धं तत्क्षये तु निरञ्जनम्॥ ४ ॥

यदि बाल (गेहूँ आदि की बाल) के अग्रभाग अर्थात् नोक के एक लाख हिस्से किये जाएँ, (तो उसका एक सूक्ष्म भाग जीव कहलाएगा), उसके पुनः उतने भाग अर्थात् एक लाख भाग किये जाएँ (इन सूक्ष्मतर भागों को ईश्वर कहा जायेगा)। तत्पश्चात् उस (एक लाखवें) हिस्से के भी पचास हजार हिस्से किये जाने पर जो शेष रहे, उसके भी (साक्ष्य-साक्षी आदि विशेषण के भी) क्षय हो जाने पर जो सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म शेष रहे, वह उस निरञ्जन (विशुद्ध) ब्रह्म की सत्ता है॥ ४॥

पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये यथा घृतम्। तिलमध्ये यथा तैलं पाषाणेष्विव काञ्चनम्॥ ५ ॥

एवं सर्वाणि भूतानि मणौ सूत्र इवात्मनि। स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥ ६ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

जिस प्रकार पुष्प में गन्ध, दूध में घृत, तिल में तेल तथा सोने की खान के पाषाणों में सोना प्रत्यक्ष रूप से न दिखने पर भी अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है, उसी प्रकार आत्मा का अस्तित्व सभी प्राणियों में निहित है। स्थिर बुद्धि से सम्पन्न मोहरहित ब्रह्मवेत्ता मणियों में पिरोये गये सूत्र की तरह आत्मा के व्यापकत्व को जानकर उसी ब्रह्म में स्थित रहते हैं ॥ ५-६ ॥

तिलानां तु यथा तैलं पुष्पे गन्ध इवाश्रितः। पुरुषस्य शरीरे तु स बाह्याभ्यन्तरे स्थितः ॥ ७ ॥

जिस प्रकार तिलों में तेल और पुष्पों में गन्ध आश्रित है, उसी प्रकार पुरुष के शरीर के भीतर और बाहर आत्मतत्त्व विद्यमान है ॥ ७ ॥

वृक्षं तु सकलं विद्याच्छाया तस्यैव निष्कला। सकले निष्कले भावे सर्वत्रात्मा व्यवस्थितः ॥८ ॥

जिस प्रकार वृक्ष अपनी सम्पूर्ण कला के साथ स्थित रहता है और उसकी छाया कलाहीन (निष्कल) होकर रहती है। उसी प्रकार आत्मा कलात्मक स्वरूप और निष्कल (छाया स्थानीय मायारूप) भाव से सभी जगह विद्यमान है ॥ ८ ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ध्येयं सर्वमुमुक्षुभिः। पृथिव्यग्निश्च ऋग्वेदो भूरित्येव पितामहः ॥ ९ ॥
अकारे तु लयं प्राप्ते प्रथमे प्रणवांशके। अन्तरिक्षं यजुर्वायुर्भुवो विष्णुर्जनार्दनः ॥ १० ॥
उकारे तु लयं प्राप्ते द्वितीये प्रणवांशके। द्यौः सूर्यः सामवेदश्च स्वरित्येव महेश्वरः ॥ ११ ॥
मकारे तु लयं प्राप्ते तृतीये प्रणवांशके। अकारः पीतवर्णः स्याद्रजोगुण उदीरितः ॥ १२ ॥
उकारः सात्त्विकः शुक्लो मकारः कृष्णतामसः। अष्टाङ्गं च चतुष्पादं त्रिस्थानं पञ्चदैवतम् ॥१३ ॥

ॐ कार रूपी एकाक्षर ब्रह्म ही सभी मुमुक्षुओं का लक्ष्य रहा है। प्रणव के पहले अंश 'अकार' में पृथ्वी, अग्नि, ऋग्वेद, भूः तथा पितामह ब्रह्मा का लय होता है। दूसरे अंश 'उकार' में अन्तरिक्ष, यजुर्वेद, वायु, भुवः तथा जनार्दन विष्णु का लय होता है। तृतीय अंश 'मकार' में द्यौ, सूर्य, सामवेद, स्वः तथा महेश्वर का लय होता है। 'अकार' पीतवर्ण और रजोगुण से युक्त है, 'उकार' श्वेत वर्ण और सात्त्विक गुण वाला तथा 'मकार' कृष्णवर्ण एवं तमोगुण से युक्त है। इस प्रकार ॐकार आठ अङ्ग, चार पैर, तीन नेत्र और पाँच दैवत से युक्त है ॥ ९-१३ ॥

[यहाँ ॐ कार के 'आठ अंग' का अभिप्राय- अकार, उकार, मकार, नाद, बिन्दु, कला, कलातीत तथा उससे भी परे से है। 'चतुष्पाद' का अभिप्राय- व्यष्टिपरक-विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय तथा समष्टिपरक- विराट्, सूत्र, बीज और तुर्य से है। 'त्रिस्थान' का तात्पर्य-जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति; स्थूल, सूक्ष्म, कारणशरीर; सत, रज, तम गुण; ज्ञान, इच्छा, क्रिया शक्ति अथवा भूत, वर्तमान, भविष्यत् काल से है। पंचदेवता का अभिप्राय-ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव से है।]

ओंकारं यो न जानाति ब्राह्मणो न भवेत्तु सः। प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते ॥१४ ॥
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्। निवर्तन्ते क्रियाः सर्वास्तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ १५ ॥

जो व्यक्ति ॐकार (प्रणव) से अनभिज्ञ है, उसे ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। प्रणव को धनुष, आत्मा को बाण और ब्रह्म को ही लक्ष्य कहा जाता है। बिना प्रमाद किये तन्मयतापूर्वक बाण से लक्ष्य का वेधन करना चाहिए। (इसके परिणाम स्वरूप) परावर अर्थात् ब्रह्म के सायुज्यत्व को प्राप्त कर लेने पर सभी क्रियाओं से निवृत्ति (मोक्ष की प्राप्ति) होती है ॥१४-१५ ॥

ओंकारप्रभवा देवा ओंकारप्रभवाः स्वराः। ओंकारप्रभवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥ १६ ॥

ॐ कार से देवों की उत्पत्ति, ॐकार से स्वर की उत्पत्ति और ॐ कार से ही त्रिलोक के सभी स्थावर-जंगम की उत्पत्ति हुई है ॥ १६ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घः संपत्प्रदोऽव्ययः। अर्धमात्रासमायुक्तः प्रणवो मोक्षदायकः॥ १७॥

ॐ का ह्रस्व अंश पापों का दहन करता है, दीर्घ अंश अमृतत्वरूप अक्षय सम्पदा को प्रदान करता है तथा अर्द्धमात्रा से युक्त प्रणव मोक्षदायक है॥ १७॥

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्। अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित्॥ १८॥

तेल की अजस्र धारा की तरह, घण्टा के लम्बे निनाद के समान प्रणव के आगे ध्वनिरहित शब्द होता है, उसका ज्ञाता ही वेदवेत्ता है॥ १८॥

हृत्पद्मकर्णिकामध्ये स्थिरदीपनिभाकृतिम्। अङ्गुष्ठमात्रमचलं ध्यायेदोंकारमीश्वरम्॥ १९॥

हृदयकमल की कर्णिका के मध्य स्थिर ज्योतिशिखा के समान अंगुष्ठमात्र आकार के नित्य ॐकार रूप परमात्मा का ध्यान करे॥ १९॥

इडया वायुमापूर्य पूरयित्वोदरस्थितम्। ओंकारं देहमध्यस्थं ध्यायेज्ज्वालावलीवृतम्॥ २०॥
ब्रह्मा पूरक इत्युक्तो विष्णुः कुम्भक उच्यते। रेचो रुद्र इति प्रोक्तः प्राणायामस्य देवताः॥२१॥

इड़ा (बायीं नासिका) से वायु को भरकर उदर में स्थापित करे और देह के बीच में ज्योतिर्मय ॐ कार का ध्यान करे। पूरक, कुम्भक और रेचक को क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र कहा गया है, ये प्राणायाम के देवता कहलाते हैं॥ २०-२१॥

[यहाँ यह ध्यातव्य है कि आगे चलकर २९ से ३१ मन्त्र में पूरक के समय 'विष्णु', कुम्भक के समय 'ब्रह्मा' एवं रेचक के समय 'शिव' का ध्यान करना लिखा है। यही पुरातन परम्परा भी है, परन्तु इस मन्त्र में पूरक को 'ब्रह्मा' और कुम्भक को 'विष्णु' कहा जाना परम्परा से हटकर है, जो विचारणीय है।]

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥ २२॥

अन्तःकरण और प्रणवाक्षर को नीचे और ऊपर की अरणिरूप बनाकर मंथनरूप ध्यान के अभ्यास से अग्नि की भाँति व्याप्त गूढ़तत्त्व (परमात्मा) का साक्षात्कार करे॥ २२॥

ओंकारध्वनिनादेन वायोः संहरणान्तिकम्। यावद्बलं समादध्यात्सम्यङ्नादलयावधि॥ २३॥

प्रणव ध्वनि का, नाद सहित रेचक वायु के विलय हो जाने तक अपनी सामर्थ्यानुसार (तब तक) ध्यान करे, जब तक नाद का भली प्रकार लय नहीं हो जाता॥ २३॥

गमागमस्थं गमनादिशून्यमोंकारमेकं रविकोटिदीप्तम्।
पश्यन्ति ये सर्वजनान्तरस्थं हंसात्मकं ते विरजा भवन्ति॥ २४॥

गमन और आगमन में विद्यमान तथा गमनादि से रहित, करोड़ों सूर्यों की प्रभा के समान सभी मनुष्यों के अन्तःकरण में विराजमान हंसात्मक प्रणव का जो दर्शन करते हैं, वे कृतकृत्य हो जाते हैं॥ २४॥

यन्मनस्त्रिजगत्सृष्टिस्थितिव्यसनकर्मकृत्। तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ २५॥
अष्टपत्रं तु हृत्पद्मं द्वात्रिंशत्केसरान्वितम्। तस्य मध्ये स्थितो भानुर्भानुमध्यगतः शशी॥ २६॥

जो मन त्रिगुणमय संसार के सृजन, पालन और संहार का कारण है, उसके विलय हो जाने पर विष्णु के परमपद की प्राप्ति होती है। अष्टदल और बत्तीस पंखुड़ियों से युक्त जो हृदयकमल है, उसके बीच सूर्य और सूर्य के बीच चन्द्रमा विद्यमान है॥ २५-२६॥

शशिमध्यगतो वह्निर्वह्निमध्यगता प्रभा। प्रभामध्यगतं पीठं नानारत्नप्रवेष्टितम्॥ २७॥
तस्य मध्यगतं देवं वासुदेवं निरञ्जनम्। श्रीवत्सकौस्तुभोरस्कं मुक्तामणिविभूषितम्॥ २८॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

चन्द्रमा के बीच अग्नि और अग्नि के बीच दीप्ति स्थित है। उसके बीच नानाविध रत्नों से सुसज्जित पीठस्थान है। उस पीठ के बीच निरञ्जन प्रभु वासुदेव विराजमान हैं, जो श्रीवत्स, कौस्तुभमणि एवं मणि-मुक्ताओं से विशेष रूप से सुशोभित हैं॥ २७-२८॥

शुद्धस्फटिकसंकाशं चन्द्रकोटिसमप्रभम्। एवं ध्यायेन्महाविष्णुमेवं वा विनयान्वितः॥ २९॥

शुद्ध स्फटिक के सदृश करोड़ों चन्द्रमा की कान्ति वाले महाविष्णु का विनयान्वित होकर ध्यान करे॥२९

अतसीपुष्पसंकाशं नाभिस्थाने प्रतिष्ठितम्। चतुर्भुजं महाविष्णुं पूरकेण विचिन्तयेत्॥ ३०॥

पूरक द्वारा साँस अन्दर खींचते समय नाभिस्थान में प्रतिष्ठित अतसी पुष्प के समान चतुर्भुज महाविष्णु भगवान् का ध्यान करना चाहिए॥ ३०॥

कुम्भकेन हृदि स्थाने चिन्तयेत्कमलासनम्। ब्रह्माणं रक्तगौराभं चतुर्वक्त्रं पितामहम्॥ ३१॥

कुम्भक द्वारा साँस भीतर रोकने के समय हृदय स्थल में कमल के आसन पर सुशोभित लालिमामय गौर वर्ण वाले चतुर्मुख पितामह ब्रह्मा का ध्यान करना चाहिए॥ ३१॥

रेचकेन तु विद्यात्मा ललाटस्थं त्रिलोचनम्। शुद्धस्फटिकसंकाशं निष्कलं पापनाशनम्॥३२॥

रेचक से साँस छोड़ते हुए ललाट में शुद्ध स्फटिक के सदृश श्वेत रंग के त्रिनेत्रयुक्त, निष्कल(कलारहित), पाप संहारक भगवान् शिव का ध्यान करना चाहिए॥ ३२॥

अब्जपत्रमधः पुष्पमूर्ध्वनालमधोमुखम्। कदलीपुष्पसंकाशं सर्ववेदमयं शिवम्॥ ३३॥

नीचे की ओर पुष्पित हुआ, ऊपर की ओर नाल वाला तथा अधोभाग की ओर मुख किये हुए कदली पुष्प की तरह हृदयकमल में सभी वेदों के आधारभूत भगवान् शिव अवस्थित हैं॥ ३३॥

शतारं शतपत्राढ्यं विकीर्णाम्बुजकर्णिकम्। तत्रार्कचन्द्रवह्नीनामुपर्युपरि चिन्तयेत्॥ ३४॥

सौ अरे वाले, सौ पत्ते वाले और विकसित पंखुड़ियों से युक्त हृदय पद्म में सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि का एक के बाद दूसरे का क्रमशः ध्यान करना चाहिए॥ ३४॥

पद्मस्योद्घाटनं कृत्वा बोधचन्द्राग्निसूर्यकम्। तस्य हृद्बीजमाहृत्य आत्मानं चरते ध्रुवम्॥३५॥

सूर्य, चन्द्र और अग्नि के बोध हेतु सर्वप्रथम हृदयकमल के विकसित होने का ध्यान करे। तत्पश्चात् हृदय कमल में स्थित बीजाक्षरों को ग्रहण करके ही अचल चेतनावस्था की प्राप्ति होती है॥ ३५॥

त्रिस्थानं च त्रिमार्गं च त्रिब्रह्म च त्रयाक्षरम्। त्रिमात्रमर्धमात्रं वा यस्तं वेद स वेदवित्॥ ३६॥

तीन स्थान, तीन मार्ग, त्रिविध ब्रह्म, त्रयाक्षर, त्रिमात्रा तथा अर्द्धमात्रा में जो परमात्मा स्थित है, उसके ज्ञाता ही वेद के तात्पर्य के ज्ञाता हैं॥ ३६॥

[यहाँ कुछ सांकेतिक शब्द प्रयुक्त हैं, जिनका तात्पर्य इस प्रकार है- त्रिस्थान=अवस्थात्रय-जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति; त्रिमार्ग=धूम, अर्चि, अगति; ब्रह्मत्रय=विश्व, विराट्, ओतृब्रह्म; त्रयाक्षर=अ, उ, म्; त्रिमात्रा=ह्रस्व,दीर्घ, प्लुत।]

तैलधारामिवाच्छिन्नदीर्घघण्टानिनादवत्। बिन्दुनादकलातीतं यस्तं वेद स वेदवित्॥ ३७॥

दीर्घ घण्टा निनाद के सदृश, तेल की अविच्छिन्न धारा की तरह तथा बिन्दु-नाद और कला से अतीत उस परम तत्त्व (ॐकार) को जो जानता है, वही वेदज्ञ है॥ ३७॥

यथैवोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः। तथैवोत्कर्षयेद्वायुं योगी योगपथे स्थितः॥ ३८॥

जिस प्रकार मनुष्य कमलनाल से जल को धीरे-धीरे खींचते हैं, उसी प्रकार योगी योगस्थ होकर प्राणायाम द्वारा वायु को धीरे-धीरे ऊर्ध्व भूमिका में ले जाए॥ ३८॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अर्धमात्रात्मकं कृत्वा कोशभूतं तु पङ्कजम्। कर्षयेन्नालमात्रेण भ्रुवोर्मध्ये लयं नयेत्॥ ३९ ॥

प्रणव की अर्द्धमात्रा (अव्यक्त नाद उच्चारण) को रस्सी बनाकर हृदयकमल रूपी कूप नाल (सुषुम्ना) मार्ग द्वारा जलरूपा कुण्डलिनी को भौंहों के मध्य में लय करे॥ ३९ ॥

भ्रुवोर्मध्ये ललाटे तु नासिकायास्तु मूलतः। जानीयादमृतं स्थानं तद्ब्रह्मायतनं महत्॥ ४० ॥

नासिका के मूल से लेकर भौंहों के बीच में जो ललाट स्थान है, वहाँ तक अमृत स्थान जानना चाहिए, वही ब्रह्म का महान् निवास स्थान है ॥ ४० ॥

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा। ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट्॥ ४१ ॥

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि-ये छः योग के अङ्ग कहे गये हैं ॥ ४१ ॥

आसनानि च तावन्ति यावन्त्यो जीवजातयः। एतेषामतुलान्भेदान्विजानाति महेश्वरः॥ ४२ ॥

विश्व में जितनी जीव प्रजातियाँ हैं, उतनी ही आसनों की विधियाँ भी बतायी गई हैं, इस प्रकार के असंख्य भेदों के ज्ञाता भगवान् शंकर हैं ॥ ४२ ॥

सिद्धं भद्रं तथा सिंहं पद्मं चेति चतुष्टयम्। आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्॥ ४३ ॥

सिद्ध, भद्र, सिंह और पद्म ये चार प्रमुख आसन हैं, पहला चक्र आधार (मूलाधार) और दूसरा स्वाधिष्ठान है ॥ ४३ ॥

योनिस्थानं तयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते। आधाराख्ये गुदस्थाने पङ्कजं यच्चतुर्दलम्॥४४ ॥
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिःकामाख्या सिद्धवन्दिता। योनिमध्ये स्थितं लिङ्गं पश्चिमाभिमुखं तथा॥४५

इन दोनों के बीच में कामरूप प्रजनन स्थान है। गुदा स्थान के आधारचक्र में चतुर्दल कमल विद्यमान है। उसके बीच काम नाम से प्रख्यात प्रजनन-योनि (कुण्डलिनी शक्ति) है, जिसकी अभ्यर्थना सिद्धजन करते हैं। प्रजनन योनि के बीच पश्चिम की ओर पुरुष जननेन्द्रिय लिङ्ग है ॥ ४४-४५ ॥

मस्तके मणिवद्भिन्नं यो जानाति स योगवित्। तप्तचामीकराकारं तडिल्लेखेव विस्फुरत्॥४६ ॥
चतुरस्त्रमुपर्यग्नेरधो मेढ्रात्प्रतिष्ठितम्। स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयम्॥ ४७ ॥

मस्तक में मणि की तरह जो प्रकाश है,उसे जो जानता है वह योगवेत्ता है। तपे हुए सोने के समान वर्णवाला और तडित् की धारा की तरह विशेष प्रकाशित, अग्निमण्डल से चार अंगुल ऊपर और मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) से नीचे स्वसंज्ञक प्राण विद्यमान है, उसके आश्रय में स्वाधिष्ठान है ॥ ४६-४७ ॥

स्वाधिष्ठानं ततश्चक्रं मेढ्रमेव निगद्यते। मणिवत्तन्तुना यत्र वायुना पूरितं वपुः॥ ४८ ॥
तन्नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम्। द्वादशारमहाचक्रे पुण्यपापनियन्त्रितः ॥ ४९ ॥

उसके बाद स्थित स्वाधिष्ठान चक्र को मेढ्र ही कहा जाता है। जहाँ मणि के प्रकाश की तरह वायु से पूर्ण शरीर है। नाभिमण्डल में स्थित चक्र को मणिपूरक कहा गया है। वहाँ बारह दल से युक्त महाचक्र में पुण्य और पाप का नियन्त्रण रहता है ॥४८-४९ ॥

तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्त्वं न विन्दति। ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दो योऽस्ति खगाण्डवत्॥५०
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्ततिः। तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः॥ ५१ ॥

इस तत्त्वज्ञान को न समझ पाने तक जीवात्मा को भ्रमजाल में ही फँसे रहना पड़ता है। मेढ्र स्थान से ऊपर और नाभि से नीचे पक्षी के अण्डे की तरह कन्द का स्थान है। उसी स्थान से बहत्तर हजार नाड़ियाँ उत्पन्न होती हैं,उन हजारों नाड़ियों में बहत्तर नाड़ियाँ प्रमुख हैं ॥ ५०-५१ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तत्र दश स्मृताः। इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयका॥ ५२॥
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी। अलम्बुसा कुहूरत्र शङ्खिनी दशमी स्मृता॥ ५३॥

इनमें से दस प्रमुख नाड़ियाँ प्राण का संचार करने वाली हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं- इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुसा, कुहू तथा शंखिनी॥ ५२-५३॥

एवं नाडीमयं चक्रं विज्ञेयं योगिना सदा। सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः॥ ५४॥
इडापिङ्गलासुषुम्नास्तिस्रो नाड्यः प्रकीर्तिताः। इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे स्थिता॥५५
सुषुम्ना मध्यदेशे तु प्राणमार्गास्त्रयः स्मृताः। प्राणोऽपानः समानश्चोदानो व्यानस्तथैव च॥ ५६
नागः कूर्मः कृकरको देवदत्तो धनंजयः। प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः॥५७॥

इस नाड़ी चक्र की जानकारी योग-साधकों को होना आवश्यक है। सतत प्राण का संचार करने वाली इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना ये तीन नाड़ियाँ सूर्य, चन्द्र और अग्नि देवों से युक्त हैं। इड़ा नाड़ी बायीं ओर, पिङ्गला दाहिनी ओर तथा सुषुम्ना इन दोनों के बीच विद्यमान है, ये तीनों नाड़ियाँ प्राण के संचरण-मार्ग-रूपा हैं। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर,देवदत्त और धनञ्जय ये दस प्राण हैं, प्राणादि पाँच प्राण प्रख्यात हैं तथा नागादि पाँच उपप्राण कहे गये हैं॥ ५४-५७॥

एते नाडीसहस्त्रेषु वर्तन्ते जीवरूपिणः। प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं प्रधावति॥ ५८॥

इन हजारों नाड़ियों में प्राण जीवरूप से वास करते हैं। प्राण और अपान के वशीभूत होकर जीव ऊपर-नीचे आवागमन करता रहता है॥ ५८॥

वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते। आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्चलति कन्दुकः॥ ५९॥
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तद्वज्जीवो न विश्रमेत्। अपानात्कर्षति प्राणोऽपानः प्राणाच्च कर्षति॥६०॥
खगरज्जुवदित्येतद्यो जानाति स योगवित्। हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः॥ ६१॥
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा। शतानि षड् दिवारात्रं सहस्त्राण्येकविंशतिः॥ ६२॥
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा। अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा॥६३॥

प्राण कभी दायें तो कभी बायें मार्ग से गमन करता है, परन्तु चञ्चल प्रकृति का होने से देखने में नहीं आता। हाथों से फेंकी हुई गेंद जैसे इधर-उधर दौड़ती है, उसी प्रकार प्राण और अपान द्वारा भली प्रकार फेंकने से जीव को कभी आराम नहीं मिल पाता। अपान और प्राण की एक दूसरे को खींचने की प्रक्रिया उसी प्रकार की है, जैसे रस्सी में आबद्ध पक्षी अपनी ओर खींच लिया जाता है। इस तत्त्व के ज्ञाता को ही योगी कहा जा सकता है। 'ह' कार ध्वनि से प्राण बाहर जाता है और 'स' कार से पुनः अन्दर प्रवेश करता है। 'हंस' 'हंस' इस प्रकार का 'मन्त्र जप' जीव हमेशा जपता रहता है। इस अजपा-जप की संख्या दिन-रात में इक्कीस हजार छः सौ होती है। इतनी संख्या में मन्त्र जीव हमेशा जपता है। जो योगियों के लिए मोक्ष प्रदान करने वाली है, यही अजपा गायत्री कहलाती है॥ ५९-६३॥

अस्याः संकल्पमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः॥६४॥
अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति।
येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्॥ ६५॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

इस (अजपा गायत्री) के संकल्प मात्र से व्यक्ति पापकर्मों से मुक्त हो जाता है। जिस मार्ग से योग साधक सुगमता से ब्रह्मपद को प्राप्त करता है। जिसके सदृश न कोई विद्या है, न जप है और न ही कोई पुण्य, जो पहले न कभी हुआ है और न आगे कभी हो सकेगा॥ ६४-६५॥

मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी। प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह॥ ६६॥
सूचिवद्गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया। उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्॥ ६७॥
कुण्डलिन्या तया योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्॥ ६८॥

वह्नियोग द्वारा जाग्रत् होने वाली परमेश्वरी (कुण्डलिनी) उस द्वार-पथ को अपने मुँह से आच्छादित करके प्रसुप्त स्थिति में है। वह जाग्रत् किये जाने पर सुषुम्ना मार्ग से मन और प्राण वायु के साथ ऊर्ध्वगमन करती है, जैसे सुई धागे को साथ ले जाती है। योगी मुक्ति द्वार को कुण्डलिनी शक्ति द्वारा उसी प्रकार उद्घाटित करते हैं, जैसे ताली से प्रयासपूर्वक दरवाजे को खोल लिया जाता है॥ ६६-६८॥

कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बध्वाथ पद्मासनं गाढं वक्षसि सन्निधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेतसि।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयन्पूरितं मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः॥ ६९॥

सुदृढ़ रूप में पद्मासन लगाकर, दोनों हाथों को सम्पुटित करके ठोड़ी से वक्षभाग (कण्ठकूप) को दृढ़तापूर्वक दबाकर, चित्त में स्वरूप का ध्यान करते हुए बार-बार अपान वायु को ऊपर की ओर चलायमान करता हुआ और अन्दर खींची हुई प्राण वायु को नीचे छोड़ता हुआ योग साधक अतुलित कुण्डलिनी शक्ति के सामर्थ्य बोध को प्राप्त करता है॥ ६९॥

पद्मासनस्थितो योगी नाडीद्वारेषु पूरयन्। मारुतं कुम्भयन्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः॥ ७०॥

जो योगसाधक पद्मासन में बैठकर नाड़ीद्वार से प्राणवायु को खींचकर, कुम्भक द्वारा उसे रोकता है। वह सुनिश्चित रूप से मोक्ष को प्राप्त करता है, इसमें संदेह की गुंजायश नहीं॥ ७०॥

अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमजातेन वारिणा। कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरपानरतः सुखी॥ ७१॥
ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः। अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा॥ ७२॥

(प्राणायाम के) परिश्रम द्वारा जो स्वेदकण निकले, उन्हें अङ्गों में ही मल ले। कटु, अम्ल और नमक का परित्याग करके दुग्ध का सेवन करने वाला सुखी रहता है। इस प्रकार योगस्थ होकर अल्प आहार करने वाला ब्रह्मचारी योगी एक साल के अन्तराल में ही सिद्धि को प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं॥ ७१-७२॥

कन्दोर्ध्वकुण्डली शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम्।
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः॥७३॥
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।
पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्॥७४॥
अपानमूर्ध्वमुत्कृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते।
उड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तमहाखगः॥ ७५॥
उड्डियाणं तदेव स्यात्तत्र बन्धो विधीयते।
उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत्॥ ७६॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

कन्द के ऊपरी भाग में स्थित कुण्डलिनी शक्ति से योग साधक सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। सतत मूलबन्ध का अभ्यास करने से अपान और प्राण में एकीकरण होता है, मल-मूत्र के क्षीण हो जाने पर बूढ़ा व्यक्ति भी जवान हो जाता है। एड़ी भाग से योनिस्थान को दबाकर मलद्वार को संकुचित करे और अपान वायु को ऊर्ध्व की ओर खींचे, इस क्रिया को मूलबन्ध कहा गया है। उड्डियानबन्ध की विधि में कहा गया है कि जिस प्रकार बिना थका महापक्षी उड़ने की क्रिया करता है, उसी प्रकार पेट की पश्चिम 'ताण' क्रिया (पेट को पीछे की ओर सिकोड़ने) के साथ नाभि को ऊपर की ओर खींचना चाहिए॥ ७३-७६॥

उड्डियाणोऽप्ययं बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी। बध्नाति हि शिरोजातमधोगामिनभोजलम्॥ ७७॥
ततो जालन्धरो बन्धः कर्मदुःखौघनाशनः। जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे॥ ७८॥
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति। कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा॥ ७९॥
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी। न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा॥ ८०॥

यह उड्डियान बन्ध मृत्यु के निमित्त उसी तरह है, जैसे गजराज के लिए सिंह निमित्त बनता है। जिसमें शिरोनभ (आकाश) से उत्पादित जल को नीचे आने की अपेक्षा ऊपर ही अवरुद्ध कर लिया जाता है, उसे जालन्धर बन्ध कहा गया है। इससे कर्मबन्धन और पापजन्य दुःखों का नाश होता है। जालन्धर बन्ध करते समय कण्ठ को सिकोड़ा जाता है, जिससे वायु की गति रुक जाती है और अमृत के अग्नि में गिरने की सम्भावना नहीं रहती। खेचरी मुद्रा उसे कहते हैं, जिसमें जिह्वा को उल्टाकर कपाल कुहर में प्रविष्ट किया जाए और अपनी दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच स्थिर रखा जाए। इसके सिद्ध हो जाने से निद्रा, क्षुधा, पिपासा नहीं सताती और न व्याधि एवं मृत्यु का भय ही रहता है॥ ७७-८०॥

न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्। पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न च कर्मणा॥८१॥
बध्यते न च कालेन यस्य मुद्रास्ति खेचरी। चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा भवति खे गता॥ ८२
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धनमस्कृता। खेचर्या मुद्रया यस्य विवरं लम्बिकोर्ध्वतः॥ ८३॥
बिन्दुः क्षरति नो यस्य कामिन्यालिङ्गितस्य च। यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः॥८४

जो खेचरी मुद्रा का ज्ञाता है, उसे न तो मूर्च्छा होती है, न रोग उसे कष्ट देते हैं और न ही वह कर्मों से ही लिप्त हो पाता है। खेचरी मुद्रा से जिसका चित्त आकाश में विचरण करने लगता है और जिसकी जिह्वा भी अन्तरिक्षगामिनी हो जाती है, ऐसा साधक काल के बन्धन से बँधता नहीं है। इसलिए यह 'खेचरी मुद्रा' योगियों द्वारा प्रशंसनीय है। इस मुद्रा द्वारा जिसने तालु के छिद्र को अवरुद्ध कर दिया है, उसके द्वारा स्त्री समागम से भी वीर्य का क्षरण नहीं होता और जब तक वीर्य शरीर में विद्यमान रहता है, तब तक मौत के भय की सम्भावना ही कैसी?॥ ८१-८४॥

यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति। गलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डले॥ ८५॥
व्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया। स एव द्विविधो बिन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा॥८६॥
पाण्डरं शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः। विद्रुमद्रुमसंकाशं योनिस्थाने स्थितं रजः॥ ८७॥
शशिस्थाने वसेद्बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम्। बिन्दुः शिवो रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः॥८८॥

खेचरी मुद्रा में रहते हुए वीर्य का क्षरण सम्भव नहीं, फिर भी किसी तरह यदि वीर्य स्खलित होकर योनि में चला जाए, तो उसे हठशक्तिपूर्वक योनिमण्डल से पुनः ऊपर की ओर खींच लेते हैं। वह वीर्य भी सफेद और रक्त वर्ण दोनों तरह का होता है। सफेद वर्ण वाले को शुक्र और रक्त वार्ण वाले को महारज कहा गया है। मूँगे की तरह वर्ण वाला रज (योगी के) योनिस्थान में विद्यमान है और शुक्ल वीर्य चन्द्रस्थान में है, पर इन दोनों के

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

एक होने की सम्भावना बड़ी दुर्लभ है। वीर्य को शिवरूप और रज को शक्तिरूप कहा गया है, वीर्य ही चन्द्रमा और रज ही सूर्य है॥ ८५-८८॥

उभयोः संगमादेव प्राप्यते परमं वपुः। वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं खे यथा रजः॥ ८९॥ रविणैकत्वमायाति भवेद्दिव्यं वपुस्तदा। शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्यसमन्वितम्॥ ९०॥ द्वयोः समरसीभावं यो जानाति स योगवित्। शोधनं मलजालानां घटनं चन्द्रसूर्ययोः॥ ९१॥ रसानां शोषणं सम्यङ्महामुद्राभिधीयते॥ ९२॥ वक्षोन्यस्तहनुर्निपीड्य सुषिरं योनेश्च वामाङ्घ्रिणा हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रविततं पादं तथा दक्षिणम्। आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनै रेचयेदेषा पातकनाशिनी ननु महामुद्रा नृणां प्रोच्यते॥ ९३॥

इन दोनों के संयुक्त होने पर परम देह की प्राप्ति होती है। वायु को शक्ति से संचालित किये जाने से रज अन्तरिक्ष की ओर प्रेरित होता है और सूर्य से संयुक्त होकर दिव्य शरीर को प्राप्त करता है। शुक्लवर्ण वीर्य चन्द्रमा से और रज सूर्य से युक्त है। इन दोनों की समरसता का जो ज्ञाता है, वही योगवेत्ता है। नाड़ियों में स्थित मल के शोधन के लिए सूर्य और चन्द्र के संयोगत्व और वात, पित्त, कफ आदि रसों के भली प्रकार शोषण किये जाने को महामुद्रा कहा गया है। वक्षस्थल को ठोड़ी से और बायीं एड़ी से योनिस्थल को दबाकर, प्रसारित दाहिने पैर को हाथों से पकड़कर कुक्षियुगल को श्वास से भरकर, कुम्भक करने के बाद धीरे-धीरे श्वास को बाहर निकाले। इसे योगियों द्वारा सर्वपापनाशिनी महामुद्रा कहा गया है॥ ८९-९३॥

अथात्मनिर्णयं व्याख्यास्ये— हृदि स्थाने अष्टदलपद्मं वर्तते। तन्मध्ये रेखावलयं कृत्वा जीवात्मरूपं ज्योतीरूपमणुमात्रं वर्तते। तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं भवति सर्वं जानाति सर्वं करोति सर्वमेतच्चरितमहं कर्ताऽहं भोक्ता सुखी दुःखी काणः खञ्जो बधिरो मूकः कृशः स्थूलोऽनेन प्रकारेण स्वतन्त्रवादेन वर्तते॥ ९३-१॥

अब आत्मा के सम्बन्ध में विवेचन करते हैं-हृदय स्थल में आठ दल का कमल है,उसके बीच रेखा वलय बनाकर जीवात्मा ज्योतिरूप होकर अणुमात्र स्वरूप में निवास करता है। वह सर्वज्ञाता,सब कुछ करने वाला है और सब कुछ उसी में प्रतिष्ठित है। उसका ऐसा विचार है कि सभी चरित्रों का मैं ही कर्त्ता,भोक्ता, सुखी, दुःखी,काना, लँगड़ा, बहरा,गूँगा, दुबला और मोटा हूँ; इस प्रकार का उसका स्वतन्त्र व्यवहार रहता है॥ ९३-१॥

पूर्वदले विश्रमते पूर्वं दलं श्वेतवर्णं तदा भक्तिपुरःसरं धर्मे मतिर्भवति॥ ९३-२॥

उस अष्टदल कमल का पूर्वदिशा वाला दल सफेद रंग का है, उस दल में रहते हुए धर्म और भक्तिभाव में मति (श्रद्धा) रहती है॥ ९३-२॥

यदाऽऽग्नेयदले विश्रमते तदाग्नेयदलं रक्तवर्णं तदा निद्रालस्यमतिर्भवति॥ ९३-३॥

जब आग्नेय दिशा के लाल रंग के दल में निवास होता है, तब मति निद्रा और आलस्य से युक्त हो जाती है॥९३-३॥

यदा दक्षिणदले विश्रमते तद्दक्षिणदलं कृष्णवर्णं तदा द्वेषकोपमतिर्भवति॥ ९३-४॥

जब दक्षिण दिशा के काले रंग के दल में निवास होता है, तब द्वेषभाव और क्रोधी स्वभाव की मति रहती है॥ ९३-४॥

यदा नैर्ऋतदले विश्रमते तन्नैर्ऋतदलं नीलवर्णं तदा पापकर्महिंसामतिर्भवति॥ ९३-५॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

नैर्ऋत्य दिशा के नीले रंग वाले दल में निवास करने पर पाप कर्मों और हिंसक वृत्ति वाली मति रहती है॥ ९३-५॥

यदा पश्चिमदले विश्रमते तत्पश्चिमदलं स्फटिकवर्णं तदा क्रीडाविनोदे मतिर्भवति॥ ९३-६॥

यदा वायव्यदले विश्रमते वायव्यदलं माणिक्यवर्णं तदा गमनचलनवैराग्यमतिर्भवति॥९३-७

जब स्फटिक वर्ण वाले पश्चिम दल में निवास रहता है, तब क्रीड़ा और विनोद में अभिरुचि उत्पन्न हो जाती है। वायव्यकोण के माणिक्य वर्ण वाले दल में निवास होने पर घूमने-फिरने और वैराग्य भाव की ओर झुकाव होता है॥ ९३-६,९३-७॥

यदोत्तरदले विश्रमते तदुत्तरदलं पीतवर्णं तदा सुखशृंगारमतिर्भवति॥ ९३-८॥

जब उत्तर के पीले रंग के दल में निवास करता है, तो सुख-साधन और सजने-सँवरने में अभिरुचि रहती है॥ ९३-८॥

यदेशानदले विश्रमते तदीशानदलं वैडूर्यवर्णं तदा दानादिकृपामतिर्भवति॥ ९३-९॥

ईशान कोण के वैडूर्यमणि-रंग के दल में रहने पर दान-पुण्य और अनुग्रह करने में अभिरुचि जागती है॥ ९३-९॥

यदा संधिसंधिषु मतिर्भवति तदा वातपित्तश्लेष्ममहाव्याधिप्रकोपो भवति॥ ९३-१०॥

जब जोड़ों के सन्धिभाग में मति वास करती है, तब वात, पित्त, कफ से सम्बन्धित बड़ी बीमारियों का प्रकोप होता है॥ ९३-१०॥

यदा मध्ये तिष्ठति तदा सर्वं जानाति गायति नृत्यति पठत्यानन्दं करोति॥ ९३- ११॥

जब मति मध्य में रहती है, ऐसे में सब कुछ जानने, गाने, नाचने, पढ़ने और आनन्द मनाने में ध्यान रहता है॥ ९३-११॥

यदा नेत्रश्रमो भवति श्रमनिर्भरणार्थं प्रथमरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते प्रथमरेखा बन्धूकपुष्पवर्णं तदा निद्रावस्था भवति। निद्रावस्थामध्ये स्वप्नावस्था भवति। स्वप्नावस्थामध्ये दृष्टं श्रुतमनुमानसंभववार्ता इत्यादिकल्पनां करोति तदादिश्रमो भवति॥ ९३-१२॥

जब आँख श्रमशील रहती है, तो उसे विश्राम देने के उद्देश्य से पहली रेखा का आश्रय लेकर बीच में निमज्जन करती है। वह प्रथम रेखा बन्धूक पुष्प के वर्ण वाली होती है, जिससे निद्रावस्था की प्राप्ति होती है। निद्रावस्था के बीच में ही स्वप्नावस्था रहती है। स्वप्नावस्था के बीच में देखी गई, सुनी हुई और अनुमान की हुई सम्भावित बातों की कल्पना करने से जो श्रम करना पड़ता है॥ ९३-१२॥

श्रमनिर्हरणार्थं द्वितीयरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते द्वितीयरेखा इन्द्रकोपवर्णं तदा सुषुप्त्यवस्था भवति सुषुप्तौ केवलपरमेश्वरसंबन्धिनी बुद्धिर्भवति नित्यबोधस्वरूपा भवति पश्चात्परमेश्वरस्वरूपेण प्राप्तिर्भवति॥ ९३-१३॥

उस श्रम के निवारणार्थ द्वितीय रेखा वलय में डुबकी लगाती है। वह दूसरी रेखा वीर-बहूटी के वर्ण की है, जिससे सुषुप्ति अवस्था होती है। इस सुषुप्तावस्था में बुद्धि मात्र परमेश्वर से सम्बन्ध रखने वाली और नित्य बोधस्वरूपा होती है। इसके पश्चात् ही परमेश्वर की प्राप्ति सम्भव है॥ ९३-१३॥

तृतीयरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते तृतीयरेखा पद्मरागवर्णं तदा तुरीयावस्था भवति

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

तुरीये केवलपरमात्मसंबन्धिनी मतिर्भवति नित्यबोधस्वरूपा भवति तदा शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतयात्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥ ९३-१४॥

तृतीय रेखा वलय बनाकर जब पद्मराग वर्ण वाली रेखा में निमज्जन किया जाता है, तब तुरीयावस्था प्राप्त होती है। इसमें बुद्धि मात्र परमात्मा से सम्बन्ध जोड़ने वाली और नित्य बोधस्वरूपा होती है। इस अवस्था में बुद्धि को धीरे-धीरे सबसे पृथक् करते हुए धैर्यपूर्वक मन को आत्म-केन्द्रित करके अन्य कुछ भी विचार न करे॥ ९३-१४॥

तदा प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा सर्वं विश्वमात्मस्वरूपेण लक्ष्यं धारयति। यदा तुरीयातीतावस्था तदा सर्वेषामानन्दस्वरूपो भवति द्वन्द्वातीतो भवति यावद्देहधारणा वर्तते-तावत्तिष्ठति पश्चात्परमात्मस्वरूपेण प्राप्तिर्भवति इत्यनेन प्रकारेण मोक्षो भवतीदमेवा-त्मदर्शनोपाया भवन्ति॥ ९३-१५॥

तब प्राण और अपान में एकीकरण करके सम्पूर्ण जगत् को आत्मस्वरूप मानते हुए लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित करे। तुरीयातीतावस्था प्राप्त होने पर द्वन्द्वभाव मिटते ही सभी कुछ आनन्दस्वरूप लगने लगता है। जब तक जीव में देहधारणा रहती है, तभी तक वह उसमें निवास करता है, बाद में परमात्मतत्त्व की प्राप्ति होती है, इसी मार्ग से मोक्ष और आत्मदर्शन दोनों की प्राप्ति सम्भव है॥ ९३-१५॥

चतुष्पथसमायुक्तमहाद्वारगवायुना । सहस्थितत्रिकोणार्धगमने दृश्यतेऽच्युतः॥ ९४॥

चारों मार्ग से संयुक्त महाद्वार की ओर गमन करने वाले वायु के साथ स्थिर होने पर अर्द्ध त्रिकोण में जाकर परमात्मा का साक्षात्कार होता है॥ ९४॥

पूर्वोक्तत्रिकोणस्थानादुपरि पृथिव्यादिपञ्चवर्णकं ध्येयम्। प्राणादिपञ्चवायुश्च बीजं वर्णं च स्थानकम्। यकारं प्राणबीजं च नीलजीमूतसन्निभम्। रकारमग्निबीजं च अपानादित्यसंनि-भम्॥ ९५॥

पूर्व में कथित त्रिकोण स्थान से ऊपर पृथ्वी आदि पाँच रंग वाले तत्त्व ध्यान के योग्य हैं। इसके साथ बीज, वर्ण और स्थानयुक्त प्राणादि पाँच वायु ध्यान के योग्य हैं। 'य' कार जो नीले बादलों के समान है, वह प्राण का बीज है। 'र' कार आदित्यरूप वर्ण अग्निरूप अपान का बीज है॥ ९५॥

लकारं पृथिवीरूपं व्यानं बन्धूकसंनिभम्। वकारं जीवबीजं च उदानं शङ्खवर्णकम्॥ ९६॥

'ल' कार बन्धूक पुष्प के रंग वाला पृथ्वीरूप व्यान का बीज है। शंख के रंग वाला 'व' कार जीवरूप उदान का बीज है॥ ९६॥

हकारं वियत्स्वरूपं च समानं स्फटिकप्रभम्। हृन्नाभिनासाकर्णं च पादाङ्गुष्ठादिसंस्थितम्॥९७॥

'ह' कार स्फटिक प्रभायुक्त आकाश रूप 'समान' का बीज है। हृदय, नाभि, नासिका, कान तथा पैर का अंगुष्ठ-ये समान प्राण के स्थान हैं॥ ९७॥

द्विसप्ततिसहस्राणि नाडीमार्गेषु वर्तते । अष्टाविंशतिकोटीषु रोमकूपेषु संस्थिताः॥ ९८॥

यह समान बहत्तर हजार नाड़ियों तथा शरीर के अट्ठाईस करोड़ रोम कूपों में रहता है॥ ९८॥

समानप्राण एकस्तु जीवः स एक एव हि। रेचकादित्रयं कुर्याद्दृढचित्तः समाहितः॥ ९९॥
शनैः समस्तमाकृष्य हृत्सरोरुहकोटरे। प्राणापानौ च बध्वा तु प्रणवेन समुच्चरेत्॥ १००॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

समान और प्राण भिन्न-भिन्न नहीं, अपितु एक हैं, दोनों एक ही जीव हैं। चित्त को दृढ़ता से समाहित कर पूरक, कुम्भक, रेचक तीनों क्रियायें सम्पन्न करे। हृदयकमल के कोटर में धीरे-धीरे सबको आकर्षित करके, प्राणवायु और अपान को अवरुद्ध करते हुए प्रणव (ॐकार) का उच्चारण करे॥ ९९-१००॥

कण्ठसंकोचनं कृत्वा लिङ्गसंकोचनं तथा। मूलाधारात्सुषुम्ना च पद्मतन्तुनिभा शुभा॥ १०१॥

कण्ठ का संकोचन करके लिङ्ग का संकोचन करे, तत्पश्चात् मूलाधार से पद्मतन्तु की तरह प्रकट होने वाली सुषुम्ना नाड़ी का संकोचन करे॥ १०१॥

अमूर्तो वर्तते नादो वीणादण्डसमुत्थितः। शङ्खनादादिभिश्चैव मध्यमेव ध्वनिर्यथा॥ १०२॥

सुषुम्ना के आश्रित वीणा-दण्ड से उठने वाला अमूर्त नाद सुनाई पड़ता है, जैसे शंखनाद आदि के मध्य (अमूर्त ध्वनि) सुनाई पड़ता है॥ १०२॥

व्योमरन्ध्रगतो नादो मायूरं नादमेव च। कपालकुहरे मध्ये चतुर्द्वारस्य मध्यमे॥ १०३॥
तदात्मा राजते तत्र यथा व्योम्नि दिवाकरः। कोदण्डद्वयमध्ये तु ब्रह्मरन्ध्रेषु शक्ति च॥ १०४॥
स्वात्मानं पुरुषं पश्येन्मनस्तत्र लयं गतम्। रत्नानि ज्योत्स्निनादं तु बिन्दुमाहेश्वरं पदम्॥ १०५॥
य एवं वेद पुरुषः स कैवल्यं समश्नुत इत्युपनिषत्॥ १०६॥

व्योमरन्ध्र (आकाशरन्ध्र) से गमन करने वाला नाद मोर (पक्षी की) ध्वनि के समान रहता है, कपाल कुहर के मध्य चार द्वारों वाला बीच का स्थान है। व्योम में सूर्य के सुशोभित होने के समान ही आत्मा यहाँ प्रतिष्ठित है और ब्रह्म प्राप्ति के स्थान पर ब्रह्मरन्ध्र में कोदण्ड (धनुष) द्वय के बीच शक्ति स्थित है। जहाँ मन को तल्लीन करके अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करते हैं, वहीं रत्नों से ज्योतिष्मान् नादबिन्दु महेश का स्थान है। जो पुरुष इसका ज्ञाता है, वह कैवल्य पद को प्राप्त कर लेता है, इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हुई॥ १०३-१०६॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः॥

॥ इति ध्यानबिन्दूपनिषत्समाप्ता॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ नारायणोपानषद् ॥

यह लघुकाय उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसे 'नारायणाथर्वशिर उपनिषद्' भी कहा जाता है। इस उपनिषद् में चारों वेदों का उपदेश-सार 'शिर' (मस्तक) के रूप में वर्णित है। सर्वप्रथम 'नारायण' से ही समस्त चेतन-अचेतन के प्राकट्य का वर्णन किया गया है। तत्पश्चात् नारायण की सर्वात्मकता (सभी की आत्मा के रूप में) का विवेचन है। तदुपरान्त नारायण के अष्टाक्षर मंत्र (ॐ नमो नारायणाय) की विवेचना है। इसके पश्चात् नारायण और प्रणव (ॐ कार) की ऐक्यता तथा अन्त में इस उपनिषद् के अध्ययन करने का प्रतिफल बताया गया है। जिसमें कहा गया है कि इस लघुकाय (संक्षिप्त) उपनिषद् के अध्ययन करने से चारों वेदों के पाठ का पुण्यलाभ प्राप्त हो जाता है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्ष्युपनिषद्)

अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेयेति। नारायणात्प्राणो जायते। मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी। नारायणाद्ब्रह्मा जायते। नारायणाद्रुद्रो जायते। नारायणादिन्द्रो जायते। नारायणात्प्रजापतिः प्रजायते। नारायणाद्द्वादशादित्या रुद्रा वसवः सर्वाणि छन्दांसि नारायणादेव समुत्पद्यन्ते। नारायणात्प्रवर्तन्ते। नारायणे प्रलीयन्ते। एतदृग्वेदशिरोऽधीते ॥ १ ॥

उन पुरुषरूप भगवान् नारायण ने संकल्प किया कि 'मैं' प्रजा (जीवों) की सृष्टि करूँ। अतः उन्हीं के द्वारा समस्त जीवों की उत्पत्ति हुई। नारायण से समष्टिगत प्राण का प्रादुर्भाव हुआ। उन्हीं के द्वारा मन और समस्त इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। भगवान् नारायण द्वारा ही आकाश, वायु, तेज, जल एवं सम्पूर्ण जगत् को धारण करने वाली पृथ्वी आदि सभी का प्राकट्य हुआ। भगवान् नारायण से ही ब्रह्मा जी प्रादुर्भूत हुए। नारायण से भगवान् रुद्र उत्पन्न होते हैं। नारायण द्वारा ही देवराज इन्द्र प्रकट हुए। नारायण द्वारा प्रजापति का भी प्रादुर्भाव हुआ। नारायण से ही द्वादश आदित्य उत्पन्न हुए। ग्यारह रुद्र, अष्टवसु एवं सम्पूर्ण छन्द भगवान् नारायण से प्रकट हुए। नारायण द्वारा ही प्रेरणा प्राप्त करके सभी अपने-अपने कार्यों में लग जाते हैं तथा भगवान् नारायण में ही अन्त में विलीन हो जाते हैं। ऐसा ही यह ऋग्वेदीय उपनिषद् का कथन है ॥ १ ॥

अथ नित्यो नारायणः। ब्रह्मा नारायणः। शिवश्च नारायणः। शक्रश्च नारायणः। कालश्च नारायणः। दिशश्च नारायणः। विदिशश्च नारायणः। ऊर्ध्वं च नारायणः। अधश्च नारायणः। अन्तर्बहिश्च नारायणः। नारायण एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। निष्कलंको निरञ्जनो निर्विकल्पो निराख्यातः शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्। य एवं वेद स विष्णुरेव भवति स विष्णुरेव भवति। एतद्यजुर्वेदशिरोऽधीते ॥ २ ॥

भगवान् नारायण ही नित्य (शाश्वत) हैं। ब्रह्माजी भी नारायण हैं। भगवान् शिव एवं देवराज इन्द्र भी नारायण हैं। काल और दिशाएँ भी नारायण हैं। विदिशायें (दिशाओं के मध्य के कोण) भी नारायण हैं। ऊर्ध्व भी नारायण और अधः भी नारायण है। अन्तः एवं बाह्य भी नारायण हैं। जो कुछ हो गया और जो कुछ हो रहा है तथा जो होने वाला है, वह सभी कुछ भगवान् नारायण ही हैं। नारायण ही एकमात्र निष्कलंक, निरञ्जन, निर्विकल्प, अनिर्वचनीय और विशुद्ध देव हैं। उनके अतिरिक्त अन्य दूसरा कोई नहीं। जो मनुष्य ऐसा जानता है, वह स्वयं विष्णुमय हो जाता है, वह विष्णु ही हो जाता है, ऐसा ही यजुर्वेदीय उपनिषद् का कथन है ॥ २ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

ॐ इत्यग्रे व्याहरेत्। नम इति पश्चात्। नारायणायेत्युपरिष्टात्। ॐ इत्येकाक्षरम्। नम इति द्वे अक्षरे। नारायणायेति पञ्चाक्षराणि। एतद्वै नारायणस्याष्टाक्षरं पदम्। यो ह वै नारायणस्याष्टाक्षरं पदमध्येति। अनपब्रुवः सर्वमायुरेति। विन्दते प्राजापत्यं रायस्पोषं गौपत्यं ततोऽमृतत्वमश्नुते ततोऽमृतत्वमश्नुत इति। एतत्सामवेदशिरोऽधीते॥ ३॥

सर्वप्रथम आरम्भ में 'ॐ' कार का उच्चारण करे, तदुपरान्त बाद में 'नमः' शब्द का और फिर अन्त में 'नारायण' पद का उच्चारण करे। 'ॐ' यह एक अक्षर है। 'नमः' ये दो अक्षर हैं और 'नारायणाय' ये पाँच अक्षर हैं। इस प्रकार यह 'ॐ नमो नारायणाय' पद भगवान् नारायण के आठ अक्षरों से युक्त मन्त्र है। भगवान् नारायण के इस अष्टाक्षरी मन्त्र का जो भी मनुष्य जप और ध्यान करता है, वह श्रेष्ठतम कीर्ति से युक्त होकर पूर्णायुष्य प्राप्त करता है। उसे जीवों का आधिपत्य, स्त्री-पुत्र एवं धन-धान्यादि की वृद्धि तथा गौ-आदि पशुओं का स्वामित्व भी प्राप्त होता है। तदुपरान्त वह अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है, यही सामवेदीय उपनिषद् का प्रतिपादन है॥ ३॥

प्रत्यगानन्दं ब्रह्मपुरुषं प्रणवस्वरूपम्। अकार उकारो मकार इति। ता अनेकधा समभवत्तदेतदोमिति। यमुक्त्वा मुच्यते योगी जन्मसंसारबन्धनात्। ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रोपासको वैकुण्ठभुवनं गमिष्यति। तदिदं पुण्डरीकं विज्ञानघनं तस्मात्तडिदाभमात्रम्। ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः। ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरच्युत इति। सर्वभूतस्थमेकं वै नारायणं कारणपुरुषमकारणं परं ब्रह्मोम्। एतदथर्वशिरोऽधीते॥ ४॥

'अ' कार, 'उ' कार और 'म' कार मात्राओं से युक्त यह प्रत्यक् (ॐ कार) आनन्दमय, ब्रह्मपुरुष प्रणवस्वरूप है। ये भिन्न-भिन्न हैं, इन मात्राओं के सम्मिलित स्वरूप को 'ॐ' कहते हैं। इस प्रणवरूप 'ॐ' कार का जप करके योगी-साधक जन्म-मृत्यु रूपी सांसारिक-बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। 'ॐ नमो नारायणाय' इस मन्त्र की साधना करने वाला साधक वैकुण्ठ धाम को जाता है। वह यह वैकुण्ठ धाम पुण्डरीक (हृदय कमल) विज्ञानमय है। इस कारण इसका स्वरूप विद्युत् के सदृश परम प्रकाशस्वरूप है। ब्रह्ममय देवकी नन्दन भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मण्य अर्थात् ब्राह्मण प्रिय हैं। वे ही मधुसूदन पुण्डरीकाक्ष और वे ही विष्णु एवं अच्युत हैं। प्राणि-मात्र में वे भगवान् नारायण ही निवास करते हैं। वे ही कारण पुरुष होते हुए भी कारण रहित हैं। वे ही परब्रह्म हैं। विद्वज्जन अथर्ववेदीय ॐकार रूपी इस शिरोभाग (सारभाग) का अध्ययन करते हैं॥ ४॥

प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। तत्सायं-प्रातरधीयानः पापोऽपापो भवति। माध्यंदिनमादित्याभिमुखोऽधीयानः पञ्चमहापातकोपपात-कात्प्रमुच्यते। सर्ववेदपारायणपुण्यं लभते। नारायणसायुज्यमवाप्नोति श्रीमन्नारायणसायुज्यम-वाप्नोति य एवं वेद॥ ५॥

इस उपनिषद् का प्रातःकाल पाठ करने से रात्रि में किये हुए पाप नष्ट हो जाते हैं। दोनों संध्याओं-प्रातः एवं सायंकाल के समय में इस उपनिषद् का पाठ करने से साधक पूर्व समय (पूर्वजन्म) का भी यदि पापी हो, तो वह पापरहित हो जाता.है। मध्याह्न के समय भगवान् भास्कर की ओर अभिमुख होकर पाठ करने से मनुष्य पाँच महापातकों एवं उपपातकों से सदैव के लिए मुक्त हो जाता है। वह चारों वेदों के पाठ का पुण्यलाभ प्राप्त करता है तथा शरीर का परित्याग कर देने पर अन्तकाल में श्री नारायण के सायुज्य पद को प्राप्त कर लेता है। जो ऐसा जानता है, वह भी श्रीमन्नारायण के सायुज्य पद को पा जाता है॥ ५॥

॥ इति नारायणोपनिषत्समाप्ता॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ नालरुद्रापानषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें कुल तीन खण्ड हैं। जिसमें 'नीलकण्ठ रुद्र' के 'रौद्र' स्वरूप का विवेचन किया गया है।

प्रथम खण्ड में भगवान् रुद्र के रौद्र रूप का वर्णन है। उनसे अपने रौद्ररूप को शान्त रखकर कल्याणकारी स्वरूप को प्रकट करने की प्रार्थना की गई है। द्वितीय खण्ड में भगवान् रुद्र के गोपाल (कृष्ण) स्वरूप का चित्रण करते हुए उन्हें मोरमुकुटधारी कहा गया है। अन्यत्र उन्हें 'इन्द्र' भी कहा गया है। इस खण्ड में भगवान् रुद्र के अति सामर्थ्यशाली आयुधों की भी प्रशस्ति है। तृतीय खण्ड में रुद्र के नीलकण्ठ रूप की प्रतिष्ठा है। लोक कल्याण हेतु हलाहल विष पान करने वाले भगवान् रुद्र की स्तुति करते हुए उन्हें केदारेश्वर, विरूपाक्ष (त्रिनेत्र) आदि विशेषणों से विभूषित किया गया है। इसी के साथ इस उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृष्णोपनिषद्)

॥ प्रथमःखण्डः ॥

अपश्यं त्वावरोहन्तं दिवितः पृथिवीमवः। अपश्यं रुद्रमस्यन्तं नीलग्रीवं शिखण्डिनम्॥ १ ॥
दिव उग्रोऽवारुक्षत् प्रत्यस्थाद्भूम्यामधि। जनासः पश्यतेमं नीलग्रीवं विलोहितम्॥ २ ॥
एष एत्यवीरहा रुद्रो जलासभेषजीः । वित्तेऽक्षेममनीनशद्वातीकारोऽप्येतु ते ॥ ३ ॥

हे नीलकण्ठ! अपने दिव्य लोक से धरित्री पर अवतरित होते हुए हम आपको देखते हैं। अपने उग्र रौद्ररूप से मोर के पंख की तरह अन्तरिक्ष को मुकुट बनाये हुए धरती पर अवतीर्ण होते हुए हम आपका दर्शन करते हैं;क्योंकि आप धरती के अधिपति हैं। हे मनुष्यो! लाल वर्ण से युक्त इन नीलकण्ठ के दर्शन करो। भगवान् रुद्र जल में स्थित ओषधियों में प्रवेश करके रोगरूप पापों का संहार करते हैं। ये प्राण-धारियों के जीवन-आधार हैं। अनिष्टों की समाप्ति और अनुपलब्ध साधन की पूर्ति हेतु वे आपके समीप पदार्पण करें॥१-३॥

नमस्ते भवभामाय नमस्ते भवमन्यवे। नमस्ते अस्तु बाहुभ्यामुतो त इषवे नमः॥ ४॥
यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे। शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिꣳसीः पुरुषं जगत् ॥ ५ ॥

हे क्रोधरूप रुद्रदेव! आपके प्रति हमारा प्रणाम है। हे नीलकण्ठ रुद्र! आपकी दोनों भुजाओं और उनमें धारण किये हुए बाणों को प्रणाम। हे कैलासपति! आप पर्वत पर रहते हुए भी सबका मंगल करते हैं। हे गिरित्र (पर्वतों के रक्षक) रुद्रदेव! दुष्टों का संहार करने के लिए जिस बाण को आप धारण किये हुए हैं, उस बाण को हम मनुष्यों के लिए कल्याणप्रद बनाएँ। उससे हमारे स्वजनों का संहार न करें॥ ४-५॥

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि। यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत् ॥ ६ ॥
या त इषुः शिवतमा शिवं बभूव ते धनुः। शिवा शरव्या या तव तया नो मृड जीवसे॥ ७॥

हे कैलासपति शिव! अपनी कल्याणकारी वाणी द्वारा हम आपके निर्मल गुणों का गान करते हैं। ऐसा गान करने से यह सारा संसार हमारे निमित्त दुःखों से रहित होकर अनुकूलता युक्त हो जाएगा। आपके धनुष, उसकी प्रत्यञ्चा और बाण ये सभी मंगल करने वाले हैं। हे मंगलरूप मृड़देव! इन सभी अस्त्र-शस्त्रों से आप हमारे जीवन को संरक्षण प्रदान करते हैं॥ ६-७॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी। तया नस्तन्वा शंतमया गिरिशन्ताभिचाकशत्॥ ८॥
असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुर्विलोहितः। ये चेमे रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्त्रशोऽवैषां हेड ईमहे॥ ९॥

हे रुद्रदेव! पर्वत पर विराजमान रहते हुए भी आप हम सबका मंगल करने वाले हैं। आप अपने पाप-नाशक सौम्य स्वरूप तथा मंगलमय स्वरूप द्वारा हमें सभी ओर से प्रकाशमान करें। आपकी जो ताम्रवर्ण, लाल, भूरी, अत्यन्त लाल तथा हजारों सूर्यकिरणरूपी मूर्तियाँ चारों दिशाओं में संव्याप्त हैं, हम स्तुतिगान हेतु उनकी हृदय से कामना करते हैं॥ ८-९॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

अपश्यं त्वावरोहन्तं नीलग्रीवं विलोहितम्। उत त्वा गोपा अदृशन्नुत त्वोदहार्यः॥ १॥
उत त्वा विश्वा भूतानि तस्मै दृष्टाय ते नमः। नमो अस्तु नीलशिखण्डाय सहस्त्राक्षाय वाजिने॥२॥

हे रक्त वर्ण वाले नीलकण्ठ रुद्रदेव! हमने धरती पर अवतरित होते हुए आपके स्वरूप का दर्शन किया है। आपके उस स्वरूप को या तो गोपों ने देखा या फिर जल भरने वाली गोपिकाओं ने देखा है या विश्व के समस्त प्राणियों ने देखा है। आपके उस देखे हुए श्रीकृष्ण स्वरूप को हम प्रणाम करते हैं। हे मोरमुकुटधारी भगवन्! आपके प्रति हमारा नमस्कार है। महान् शक्तिशाली इन्द्ररूप भी आप ही हैं। आप अपने प्रिय भक्तजनों के सामने असंख्य नेत्रों से युक्त होकर अपने विराट् रूप में प्रकट होते हैं ॥ १-२॥

अथो ये अस्य सत्वानस्तेभ्योऽहमकरं नमः। नमांसि त आयुधायानाततायधृष्णवे॥ ३॥
उभाभ्यामकरं नमो बाहुभ्यां तव धन्वने। प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरार्त्नियोर्ज्याम्॥ ४॥

आपके इस स्वरूप को जिसमें सात्त्विक भाव वाले गोपाल, गोपिकाएँ भी सहचर रूप में आपके साथ हैं, उनके प्रति हम नमस्कार करते हैं। हे भगवान् रुद्र! आपके अति सामर्थ्ययुक्त उन आयुधों को हमारा अनेक बार नमन है, जो इस समय उपयोग में नहीं लाये जा रहे। आपके धनुष के प्रति दोनों हाथ जोड़कर हमारा नमन है। आप अपने और शत्रु पक्ष के राजाओं के प्रति अपने धनुष की प्रत्यञ्चा को उतार दें अर्थात् शान्त स्वरूप धारण करके युद्ध की सम्भावना को ही मिटा दें॥ ३-४॥

याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप। अवतत्य धनुस्त्वꣳ सहस्राक्ष शतेषुधे॥ ५॥
निशीर्य शल्यानां मुखा शिवो नः शंभुराभर। विज्यं धनुः शिखण्डिनो विशल्यो बाणवाꣳउत॥६॥

आप अपने हाथ में धारण किये बाण को पुनः तूणीर में लौटा लें। हे मोरपंखधारी सहस्राक्ष! आप सौ-सौ बाणों के एक साथ संधानकर्त्ता हैं। हमें मंगल एवं सुख प्रदान करने हेतु आप अपने बाणों के अग्रभाग को तीक्ष्ण करके धनुष पर चढ़ायें। (शत्रुओं के विनष्ट होने पर) आपका धनुष प्रत्यञ्चा रहित हो। संताप देने की प्रक्रिया त्यागकर बाण पुनः तरकस में लौट आयें ॥ ५-६॥

अनेशन्नस्येषव आभुरस्य निषङ्गथिः। परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वतः॥ ७॥
अथो य इषुधिस्तवारे अस्मिन्निधेहि तम्। या ते हेतिर्मीदुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः॥ ८॥
तया त्वं विश्वतो अस्मानयक्ष्मया परिब्भुज। नमो अस्तु सर्पेभ्यो ये के च पृथिवीमनु॥ ९॥
ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः। ये वाभिरोचने दिवि ये च सूर्यस्य रश्मिषु॥ १०॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः। या इषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीनाम्। ये वाऽवटेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥ ११॥

आपके तीखे बाण जो पर्वत को भी विदीर्ण करने वाले हैं, आपके तरकस में लौटकर कल्याणप्रद हों। आपके धनुष पर संधान किया हुआ बाण हमारा सभी ओर से संरक्षण करे। संरक्षण के पश्चात् आप अपने बाण को तरकस में स्थापित कर लें। हे भक्तवत्सल कृपावर्षक प्रभो! आप अपने अक्षय बाण और धनुष द्वारा चारों ओर से हमारा संरक्षण करें। उन सर्पों को हमारा प्रणाम है, जो पृथिवी पर वास करते हैं।

आकाश और स्वर्ग में वास करने वाले सर्पों (पीड़ा पहुँचाने वाली शक्तियों) को हमारा प्रणाम। प्रकाश युक्त लोकों, सूर्य की किरणों और जल में रहने वाले उन सभी सर्पों (कष्टदायिनी शक्तियों) को प्रणाम। राक्षसों के बाण रूप सर्पों को प्रणाम है, जो गड्ढों और वनस्पतियों में वास करते हैं॥ ७-११॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

यः स्वजनान्नीलग्रीवो यः स्वजनान्हरिः। कल्माषपुच्छमोषधे जम्भयोताश्वरुन्धति॥ १॥

जो भगवान् शंकर विश्वकल्याणार्थ हलाहल पान करके नीलकण्ठ कहे जाते हैं तथा स्वभक्तों का कल्याण करने के लिए श्रीहरि (विष्णु) रूप को धारण करते हैं। हे ओषधियो! उन काली पूँछ वाले (महिष रूपधारी केदारेश्वर) के निमित्त शीघ्र ही अमोघ सामर्थ्ययुक्त होकर आप उन्हें तुष्टि प्रदान करें॥ १॥

बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च नीलग्रीवश्च यः शिवः। शर्वेण नीलकण्ठेन भवेन मरुतां पिता॥ २॥ विरूपाक्षेण बभ्रुणा वाचं वदिष्यतो हतः। शर्व नीलशिखण्ड वीर कर्मणि कर्मणि॥ ३॥

पिङ्गल (भूरे) वर्ण देह और पिङ्गल कानों वाले नीलकण्ठधारी भगवान् शंकर सर्वस्वरूप तथा सर्वव्यापी हैं। उन्हीं विरूपाक्ष भव (शंकर) द्वारा वाणी बोलने वाले (गर्जन करने वाले) का संहार हुआ। हे वीर! प्रत्येक कर्म में उन्हें ही सर्वव्यापक रूप में देखना चाहिए॥ २-३॥

इमामस्य प्राशं जहि येनेदं विभजामहे। नमो भवाय। नमश्शर्वाय। नमः कुमाराय शत्रवे। नमः सभाप्रपादिने। यस्याश्वतरौ द्विसरौ गर्दभावभितस्सरौ। तस्मै नीलशिखण्डाय नमः। नीलशिखण्डाय नमः॥ ४॥

उनके बारे में पूछताछ करने की इच्छा (शंकाभाव) का परित्याग कर देना चाहिए। इस संशय दृष्टि से हम विश्व को उनसे भिन्न मान बैठते हैं, यह शंका सर्वथा परित्याज्य है। जगत् के कारण रूप भगवान् भव को नमन, संहार करने वाले रुद्रदेव को नमन, नीलशिखण्डधारी अथवा महिषरूप केदारेश्वर को नमन तथा दक्ष प्रजापति के यहाँ विवाह मण्डप को शोभायमान करने वाले कुमाररूप शंकर को नमन। जिन महिषरूप केदारेश्वर नीलरूप से अश्व, खच्चर तथा चारों ओर दौड़ने वाले गर्दभों का सृजन हुआ, उन्हें हमारा नमन। नीलशिखण्डरूप भगवान् को बारम्बार नमन॥ ४॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति नीलरुद्रोपनिषद् समाप्ता॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

।। नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् ।।

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें देवगणों एवं प्रजापति के बीच प्रश्नोत्तर के माध्यम से सविशेष (साकार) और निर्विशेष (निराकार) ब्रह्म का निरूपण किया गया है। पाँच प्रखण्डों में यह उपनिषद् उपनिबद्ध है। ये पाँचों प्रखण्ड भी 'उपनिषद्' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस उपनिषद् में परमात्मा को परम पुरुषार्थी (नृसिंह) रूप में व्यक्त किया गया है। कहा गया है कि परम पुरुष के तप से सृष्टि विकसित हुई। सृष्टि विकास उसका पहला-पूर्व तप कहा जाने योग्य है। सृष्टि विकास का क्रम स्पष्ट करने वाले उपनिषद् को 'पूर्वतापिनी' कहा गया है। प्रथम उपनिषद् का वर्ण्य विषय है-सृष्टि के मूल में प्रजापति की कामना, प्रजापति द्वारा आनुष्टुभ मन्त्र का दर्शन, सम्पूर्ण जगत् आनुष्टुभमय, मन्त्रराज के चार पाद, ऋषि-देवता-छन्द विषयक प्रश्न, पाद और अंगसहित मन्त्र का फल, लोक, वेद, ब्रह्मा आदि के रूप में साम का ध्यान, मन्त्रराज साम का माहात्म्य तथा इस विद्या की महिमा। द्वितीय उपनिषद् का वर्ण्य विषय है-नारसिंह मन्त्रराज द्वारा संसार से पार होना, प्रणव के पादों का साम के पादों के साथ तादात्म्य, साम की अनुष्टुपता, साम की पंचांगता, ओंकार की न्यास प्रक्रिया, मन्त्रराज के प्रत्येक पद द्वारा न्यास, मन्त्रराज के उग्र, वीर आदि पदों की सार्थकता। तृतीय उपनिषद् में मन्त्रराज के शक्ति-बीज आदि की जिज्ञासा तथा शक्ति और बीज का स्वरूप निरूपण है। चतुर्थ उपनिषद् का वर्ण्य विषय है- अंग मन्त्र का उपदेश, प्रणव की ब्रह्मात्मकता, प्रणव के चारों पदों का निरूपण, सावित्री-गायत्री मन्त्र का स्वरूप, यजुर्लक्ष्मी मन्त्र, नृसिंह गायत्री मन्त्र आदि का स्वरूप निरूपण। पंचम उपनिषद् का वर्ण्य विषय है- देवों द्वारा 'महाचक्र' की जिज्ञासा, षड्, अष्ट, द्वादश, द्वात्रिंशत् (३२) अरों वाले चक्रों का निरूपण, अवयव दर्शन, महाचक्रदर्शन, महाचक्र वेधन महिमा, मन्त्रराज के अध्ययन का फल, मन्त्रराज के जापक की सर्वोत्कृष्टता तथा मन्त्रराज के जापक की ब्रह्मत्व प्राप्ति का निरूपण। इस प्रकार निर्विशेष ब्रह्म का सविशेष ब्रह्म (नृसिंह भगवान्) के साथ तादात्म्य निरूपित हुआ है।

।। शान्तिपाठः ।।

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ।। (द्रष्टव्य-अद्वयतारकोपनिषद्)

।। प्रथमोपनिषद् ।।

आपो वा इदमासन् सलिलमेव। स प्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत्। तस्यान्तर्मनसि कामः समवर्तत इदं सृजेयमिति। तस्माद्यत्पुरुषो मनसाभिगच्छति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति। तदेषाभ्यनूक्ता— कामस्तदग्रे समवर्ततााधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषेति उपैनं तदुपनमति यत्कामो भवति य एवं वेद ।। १ ।।

कहा जाता है कि जब सारा संसार जल के रूप में ही था। सर्वत्र सलिल राशि ही दृष्टिगोचर हो रही थी। उसी जल राशि के मध्य कमल पत्र पर प्रजापति ब्रह्मा जी प्रकट हुए। प्रजापति ब्रह्माजी के मन में यह कामना उत्पन्न हुई कि मैं सृष्टि रचना करूँ। यह लोक प्रसिद्ध उक्ति है कि मनुष्य मन में जैसी भावना करता है, भीतर से वैसी ही वाणी निकलती है और वैसी ही क्रिया होने लगती है। इसी सम्बन्ध में ऋषियों ने कहा है— प्राचीन काल में सृष्टि रचना के समय पहले मन से काम की उत्पत्ति हुई। निरन्तर आत्म निरीक्षण करने वाले ज्ञानी जन काम को अंतःस्थित आत्मा का बन्धन मानते हैं। प्रकृति के कार्यभूत मन में ही काम प्रकट होता है, ऐसा ज्ञानी जनों का मानना है। सृष्टि के आदि में यह आपः (मूल क्रियाशील तत्त्व) ही विश्व का कारणभूत बना। जिससे सृष्टि रचना हुई। जो लोग इस रहस्य को जानते हैं, वे जिस वस्तु की इच्छा करते हैं,उसे प्राप्त भी कर लेते हैं ॥१ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभमपश्यत्। तेन वै सर्वमिदमसृजत यदिदं किंच । तस्मात्सर्वमानुष्टुभमित्याचक्षते यदिदं किंच । अनुष्टुभो वा इमानि भूतानि जायन्ते। अनुष्टुभा जातानि जीवन्ति। अनुष्टुभं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तस्यैषा भवत्यनुष्टुप्प्रथमा भवत्यनुष्टुबुत्तमा भवति वाग्वा अनुष्टुब्वाचैव प्रयन्ति वाचोद्यन्ति परमा वा एषा छन्दसां यदनुष्टुबिति॥ २ ॥

सृष्टि रचना के उद्देश्य से ब्रह्माजी ने तप प्रारम्भ किया। उस तप के परिणाम स्वरूप अनुष्टुप् छन्द में आबद्ध इस नारसिंह मन्त्रराज का साक्षात्कार हुआ। उन्होंने मंत्र राज के प्रभाव से इस दृश्य जगत् की रचना की। इस प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले जगत् को इसीलिए मंत्रराज आनुष्टुभमय कहते हैं। सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति इस अनुष्टुप् मन्त्र से ही हुई है। इस अनुष्टुप् के ही द्वारा उन्हें जीवन धारण की शक्ति मिलती है और इस लोक से प्रयाण करते समय अनुष्टुप् में ही प्रवेश कर जाते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि की रचना करने वाली यह अनुष्टुप् वृत्ति ही है। अनुष्टुप् ही वाणी है। इसलिए इसी वाणी सें मनुष्य जन्म और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। सभी छन्दों में अनुष्टुप् छन्द निश्चित ही श्रेष्ठ है॥ २ ॥

[यहाँ अनुष्टुप् को ही उद्भव, विकास एवं विलय का कारण कहा गया है। अनुष्टुप् छन्द में चार चरण होते हैं। छन्द का एक अर्थ 'काव्यात्मक' गठन विशेष होता है तथा दूसरा व्यापक अर्थ होता है- जो आच्छादित किये हुए है। जिस प्रकार अनुष्टुप् चार चरणों में व्यक्त होता है, उसी प्रकार इस सृष्टि की विभिन्न धाराएँ चार-चार चरणों में व्यक्त हैं, यथा- चार वेद, चार प्रकार के प्राणी- (स्वेदज, अण्डज, जरायुज और उद्भिज्ज), अन्तःकरण चतुष्टय, चार वर्ण, चार आश्रम आदि। अगले ही मन्त्र में सृष्टि को चार चरणों (भूमि, अन्तरिक्ष, द्युलोक एवं परमव्योम) में व्यक्त कहा गया है। अगले मन्त्रों में भी सृष्टि के विभिन्न चतुष्टय कहे गये हैं। इसीलिए सृष्टि को अनुष्टुप् मय कहा गया है।]

ससागरां सपर्वतां सप्तद्वीपां वसुन्धरां तत्साम्नः प्रथमं पादं जानीयात्। यक्षगन्धर्वाप्सरोगण-सेवितमन्तरिक्षं तत्साम्नो द्वितीयं पादं जानीयाद्वसुरुद्रादित्यैः सर्वैर्देवैः सेवितं दिवं तत्साम्नस्तृतीयं पादं जानीयात्। ब्रह्मस्वरूपं निरञ्जनं परमं व्योमकं तत्साम्नश्चतुर्थं पादं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति॥ ३ ॥

सप्तद्वीपा वसुन्धरा, पर्वत और समुद्र इस सामरूपी मन्त्रराज के प्रथम चरण से उत्पन्न हुए, ऐसा जानना चाहिए। उस साम के द्वितीय चरण से यक्ष, गन्धर्व और अप्सराओं से सेवित यह अंतरिक्ष बना, ऐसा समझना चाहिए। उसी साम के तीसरे चरण से वसु, रुद्र और आदित्य आदि देवताओं से सेवित द्युलोक है, ऐसा जानना चाहिए तथा जो मायारूपी मल से मुक्त निरंजन, पवित्र, परम व्योममय ब्रह्मरूप है, उसे साम के चतुर्थ चरण से उत्पन्न हुआ जानें। इस प्रकार से जानकर प्राणी अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है॥ ३ ॥

ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सशाखाश्चत्वारः पादा भवन्ति॥ ४ ॥

समस्त अंगों और शाखाओं सहित ऋक्,यजुः,साम और अथर्व, चारों वेद(इस मंत्रराज के)चार पाद हैं॥

किं ध्यानं किं दैवतं कान्यङ्गानि कानि दैवतानि किं छन्दः क ऋषिरिति॥ ५ ॥

मन्त्रराज का ध्यान कैसे किया जाए? उनका देवता कौन है? अंग कौन-कौन से हैं? देवताओं का गण एवं छन्द कौन सा है और इस मन्त्रराज के ऋषि कौन हैं?॥ ५ ॥

स होवाच प्रजापतिः स यो ह वै सावित्रस्याष्टाक्षरं पदं श्रियाऽभिषिक्तं तत्साम्नोऽङ्गं वेद श्रिया हैवाभिषिच्यते। सर्वे वेदाः प्रणवादिकास्तं प्रणवं तत्साम्नोऽङ्गं वेद स त्रींल्लोकाञ्जयति

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

चतुर्विंशत्यक्षरा महालक्ष्मीर्यजुस्तत्साम्नोऽङ्गं वेद स आयुर्यशःकीर्तिज्ञानैश्वर्यवान्भवति। तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति॥ ६ ॥

उन प्रसिद्ध प्रजापति ब्रह्माजी ने कहा, श्री बीज (श्रीं) से अभिषिक्त अष्टाक्षरी गायत्री मन्त्र के रूप में जो पुरुष इस मन्त्रराज का स्वरूप जानता है, वह श्री सम्पन्न होता है। वेदमंत्रों के आदि में प्रणव का उच्चारण किया जाता है। प्रणव को इस साम का अंग समझने वाला त्रैलोक्य विजयी होता है। जो ज्ञानी पुरुष चौबीस अक्षर वाले महालक्ष्मी मंत्र को यजुः स्वरूप जानता है, वह यश, ज्ञान, आयु और ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है। अंगों सहित साम को जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है, अतः अंगों सहित इस साम को जानना चाहिए॥ ६ ॥

सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय नेच्छन्ति। द्वात्रिंशदक्षरं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति। सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणवं यदि जानीयात् स्त्रीशूद्रः स मृतोऽधो गच्छति तस्मात्सर्वदा नाचष्टे यद्याचष्टे स आचार्यस्तेनैव स मृतोऽधो गच्छति॥ ७॥

ज्ञानी लोग अनधिकारियों स्त्री-शूद्रों को प्रणव गायत्री एवं यजुः स्वरूप महालक्ष्मी मंत्र का उपदेश नहीं करना चाहते। (वे) बत्तीस अक्षरों वाले साम को जानें, इसे जो जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है। गायत्री, प्रणव और यजुर्वेद स्वरूप महालक्ष्मी मन्त्र को यदि अनधिकारी स्त्री-शूद्र जान लें, तो भी वे मरने के बाद अधोगति को प्राप्त होते हैं। ऐसे में मंत्र देने वाले आचार्य को सावधान रहना चाहिए; क्योंकि वे भी उन्हीं के साथ अधोगति को प्राप्त करते हैं॥ ७॥

[यहाँ स्त्री-शूद्र को अनधिकारी कहने का विशेष प्रयोजन है। जो निरन्तर बात-चीत करने में दत्तचित्त रहती है अथवा गर्भधारण करने-उसके संरक्षण में संलग्न रहती है, वह स्त्री है। (स्त्यायति गर्भो यस्यामिति,स्त्यायेते शुक्रशोणिते यस्याम्; स्त्यै शब्द संघातयोः+उट्), ऐसी स्त्री के लिए मन्त्रानुष्ठान की प्रक्रिया कैसे सुकर हो सकती है। 'शूद्र' उसे कहते हैं, जो शोकाभिभूत रहता है-शोचतीति शूद्रः। निरन्तर शोकाकुल रहने वाले के लिए मन्त्र आदि का क्या प्रयोजन; क्योंकि मन्त्र आदि का जप-मनन-चिन्तन शान्त मनःस्थिति में ही सम्भव है। इन्हीं कारणों से स्त्री-शूद्र को अनधिकारी कहा गया है, जो इन स्थितियों से परे हों, उनकी बात यहाँ नहीं कही गई है।]

स होवाच प्रजापतिः—अग्निर्वै देवा इदं सर्वं विश्वा भूतानि प्राणा वा इन्द्रियाणि पशवोऽन्नममृतं सम्राट् स्वराड्विराट् तत्साम्नः प्रथमं पादं जानीयात्। ऋग्यजुःसामाथर्वरूपः सूर्योऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषस्तत्साम्नो द्वितीयं पादं जानीयात्। य ओषधीनां प्रभुर्भवति ताराधिपतिः सोमस्तत्साम्नस्तृतीयं पादं जानीयात्। स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् तत्साम्नश्चतुर्थं पादं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति॥ ८ ॥

प्रजापति ब्रह्मा जी पुनः कहने लगे- मंत्रराज साम के प्रथम पाद के रूप में सभी देवों, सभी अग्नियों, सभी प्राणियों, सभी प्राणों, सभी इन्द्रियों, सभी पशुओं, अन्न, अमृत, सम्राट्, स्वराट् और विराट् को जानना चाहिए। द्वितीय पाद के रूप में ऋक्, यजुः, साम एवं अथर्ववेद, सूर्य तथा सूर्य मण्डल में स्थित हिरण्यमय पुरुष को जानना चाहिए। तृतीय पाद के रूप में सभी ओषधियों और तारापति चन्द्रमा को जानना चाहिए और उस साम के चतुर्थ चरण के रूप में उन भगवान् विष्णु, ब्रह्मा, शिव, अग्नि, इन्द्र और अविनाशी परमात्मा को जानना चाहिए। जो इस प्रकार (चारों पादों को) जान लेता है, वह अमरता को प्राप्त कर लेता है॥ ८ ॥

उग्रं प्रथमस्याद्यं ज्वलं द्वितीयस्याद्यं नृसिं तृतीयस्याद्यं मृत्युं चतुर्थस्याद्यं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति। तस्मादिदं साम यत्र कुत्रचिन्नाचष्टे यदि दातुमपेक्षते पुत्राय शुश्रूषवे दास्यत्यन्यस्मै शिष्याय वा चेति॥ ९ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मंत्रराज आनुष्टुभ में 'उग्रम्' यह पद प्रथम चरण का आदि अंश है। 'ज्वलम्' पद दूसरे चरण का आदि अंश है। तीसरे चरण का आदि अंश 'नृसिं' यह पद है एवं चौथे चरण का आदि भाग 'मृत्यु' यह पद है। ये चारों पद साम के ही स्वरूप हैं। जो इस प्रकार समझता है, वह अमरता प्राप्त कर लेता है। इसलिए इस साम को यदि किसी को देना हो, तो सेवाभावी पुत्र को एवं सदाचारी शिष्य को दिया जा सकता है। अनधिकारी को इसका उपदेश न करे॥ ९ ॥

क्षीरोदार्णवशायिनं नृकेसरिं योगिध्येयं परमं पदं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति॥

प्रजापति ने आगे कहा-क्षीरसागर में शयन करने वाला भगवान् का जो नृसिंह रूप है,वह परम पद रूप योगियों द्वारा ध्यान करने योग्य है। जो इस साम को इस तरह जानता है,वह अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है॥ १० ॥

[यहाँ क्षीरसागर में शयन करने वाले नृसिंह भगवान् के ध्यान से अमृतत्व की प्राप्ति का तथ्य वर्णित है, जो युक्तियुक्त है। क्षीरसागर का अर्थ है- क्षीर (अद्यते इति)= खाने योग्य पदार्थ तथा सागर (न गरः मृत्युः येन स अगरः अमृतं तेन सह वर्तमानः)=मृत्यु रहित अमृतत्व से युक्त अर्थात् क्षीरसागर ऐसा खाद्य (ग्राह्य) पदार्थ है, जो अमृतत्व से युक्त है। इसे पदार्थ रचना के पूर्व का सृष्टि तत्त्व का प्रवाह भी कहा जा सकता है, जिसमें नृसिंह (मनुष्यों की जीवात्मा में तेज सिंचित करने वाले) सोये हुए हैं अर्थात् अति सामर्थ्यशाली ईश्वरीय सामर्थ्य उसमें प्रसुप्तावस्था में है, ऐसे ईश तत्त्व का ध्यान करने, उसे आत्मसात् करने से अमृतत्व की प्राप्ति होना निश्चित ही है।]

वीरं प्रथमस्याद्यार्धान्त्यं तं स द्वितीयस्याद्यार्धान्त्यं हंभी तृतीयस्याद्यार्धान्त्यं मृत्युं चतुर्थस्याद्यार्धान्त्यं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति। तस्मादिदं साम येन केनचिदाचार्यमुखेन यो जानीते स तेनैव शरीरेण संसारान्मुच्यते मोचयति मुमुक्षुर्भवति। जपात्तेनैव शरीरेण देवतादर्शनं करोति तस्मादिदमेव मुख्यद्वारं कलौ नान्येषां भवति तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति॥ ११ ॥

'वीर' यह पद मंत्रराज आनुष्टुभ के प्रथम पाद के पूर्वार्ध का अन्तिम भाग समझना चाहिए। 'तं स' यह पद इस साम के द्वितीय पाद के पूर्वार्ध का अन्तिम भाग समझना चाहिए। 'हंभी' यह पद इस साम के चतुर्थ पाद के पूर्वार्ध का अन्तिम भाग जानना चाहिए। यह सब साम ही है; जो ऐसा जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। इसलिए इस साम को किसी आचार्य के द्वारा जो इस प्रकार जानता है, वह उसी शरीर में मुक्ति प्राप्त कर लेता है तथा दूसरों को भी मुक्त कराने वाला होता है। इसको जानने वाला यदि माया मोह में आसक्त भी हो, तो वह मुक्ति की इच्छा करने लगता है। इस सामरूपी मंत्र का जप करने वाला भगवान् नृसिंह का उसी शरीर से प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त कर लेता है। मुक्ति का इससे सरल मार्ग कलियुग में दूसरा नहीं है। समस्त अंगों सहित इस साम को जो जान लेता है, वह अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है॥ ११ ॥

ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं नरकेसरिविग्रहं कृष्णपिङ्गलम्। ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं शंकरं नीललोहितम्। उमापतिः पशुपतिः पिनाकी ह्यमितद्युतिः। ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्यो वै यजुर्वेदवाच्यस्तं हि साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति॥ १२ ॥

साक्षात् ऋत और सत्य स्वरूप भगवान् नृसिंह सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापी परमात्मा हैं। वे काले और भूरे वर्ण के, मनुष्य और सिंह की संयुक्त आकृति वाले हैं। ऊर्ध्वरेता भगवान् नृसिंह के नेत्र अत्यन्त विकराल एवं भयंकर हैं। वे सबके लिए कल्याणकारी हैं। उनके कण्ठ में नील एवं उनके ऊर्ध्व भाग में लोहित वर्ण होने के कारण भक्त जन उनकी आराधना नीललोहित नाम से करते हैं। सर्वदेवस्वरूप भगवान् नृसिंह ही उमापति, पशुपति, पिनाकधारी (पिनाक नामक धनुष धारण करने वाले) एवं अमित द्युतिमान् (प्रकाशधारी) महेश्वर हैं।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

भगवान् नृसिंह ही सभी विद्याओं एवं भूतों के अधिपति हैं। भगवान् नृसिंह ही ब्रह्माजी के स्वामी, ब्रह्म के अधीश्वर एवं यजुर्वेद के वाच्यार्थ हैं, उन्हें साम ही जानें। ऐसा जानने वाला अमरता को प्राप्त कर लेता है॥ १२॥

[यहाँ नृसिंह के स्वरूप और उनकी सामर्थ्य की अभिव्यक्ति हुई है, जो बड़ी रहस्यात्मकता से पूर्ण है। नृसिंह भगवान् को ऋत और सत्य कहा गया है, जो सृष्टि के आदिम घटक हैं-ऋतं च सत्यं .....सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् ..... इत्यादि (ऋ० १०.१९०.१-३) मन्त्रों में इन्हीं घटकों से सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया बताई गई है। यहाँ 'नृसिंह' के तीन नाम आए हैं-कृष्णपिंगल, नीललोहित और द्युतिमान्। ये पदार्थ की अभिव्यक्ति के क्रमिक स्वरूप को प्रकट करते हैं। पहला स्वरूप कृष्णपिंगल-कालाभूरा, जो अस्पष्टता को द्योतित करता है, दूसरा नीललोहित-नीला लाल, जो अल्प स्पष्टता का द्योतक है और तीसरा द्युतिमान्-प्रकाशमय, जो पूर्ण स्पष्टता का द्योतक है। सृष्टि में पदार्थ रचना इसी क्रम से होने का यहाँ संकेत प्रतीत होता है।]

महा प्रथमान्तार्धस्याद्यं र्वतो द्वितीयान्तार्धस्याद्यं षणं तृतीयान्तार्धस्याद्यं नमा चतुर्थान्तार्धस्याद्यं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति। तस्मादिदं साम सच्चिदानन्दमयं परं ब्रह्म तमेवं विद्वानमृत इह भवति। तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति॥ १३॥

'महा' यह पद मंत्रराज आनुष्टुभ के प्रथम पाद के उत्तरार्ध का आदि भाग है। 'र्वतो' यह पद मंत्रराज आनुष्टुभ के द्वितीय पाद के उत्तरार्ध का आदि भाग है। 'षणं' यह पद तृतीय पाद के उत्तरार्ध का आदि भाग है और 'नमा' यह पद चतुर्थ पाद के उत्तरार्ध का आदि भाग है। यह सब साम ही है, इस प्रकार जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। साम ही सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म है। इस तरह जान लेने से इसी जीवन में अमृतत्व प्राप्त कर लेता है। इस साम को अंगों सहित जो जानता है, वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है॥ १३॥

विश्वसृज एतेन वै विश्वमिदमसृजन्त यद्विश्वमसृजन्त तस्माद्विश्वसृजो विश्वमेनाननु प्रजायते ब्रह्मणः सलोकतां सार्ष्टितां सायुज्यं यन्ति तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ १४॥

विश्व सृजेता प्रजापतियों ने साममय मंत्र के द्वारा ही संपूर्ण विश्व की रचना की है। इस कारण वे विश्व स्रष्टा कहे गये हैं। उन्हीं से उत्पन्न होने वाला यह विश्व है, इस रहस्य को जानने वाले ब्रह्म लोक को प्राप्त होकर उसी में लीन हो जाते हैं। इसलिए अंगसहित इस साम को जानना चाहिए। इस प्रकार जानने वाला अमृतत्व प्राप्त कर लेता है॥ १४॥

विष्णुं प्रथमान्त्यं मुखं द्वितीयान्त्यं भद्रं तृतीयान्त्यं म्यहं चतुर्थान्त्यं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति। योऽसौ वेद यदिदं किंचात्मनि ब्रह्मण्येवानुष्टुभं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति स्त्रीपुंसयोर्वा। य इहैव स्थातुमपेक्षते तस्मै सर्वैश्वर्यं ददाति। यत्र कुत्रापि म्रियते देहान्ते देवः परमं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे येनासावमृतीभूत्वा सोऽमृतत्वं च गच्छति॥१५॥

मंत्रराज आनुष्टुभ के प्रथम चरण का अन्तिम पद 'विष्णुम्' है। द्वितीय चरण का अन्तिम पद 'मुखम्' है तृतीय चरण का अन्तिम पद 'भद्रं' है और चतुर्थ चरण का अन्तिम पद 'म्यहं' है। इस प्रकार इस साम को जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। उपर्युक्त उपासनादि तत्त्वों को प्रजापति ब्रह्माजी ने ही जाना है। मंत्रराज आनुष्टुभ सबकी आत्मा रूप में है एवं ब्रह्म में ही उसकी स्थिति है। इस प्रकार जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। इस लोक में सुख समृद्धि चाहने वाले श्रेष्ठाचारी साधक को भगवान् नृसिंह समस्त प्रकार के ऐश्वर्य

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

प्रदान करते हैं। वह साधक चाहे जहाँ देह त्याग करे, भगवान् नृसिंह वहीं पर उसे परब्रह्ममय तारक मंत्र का बोध कराते हैं। मंत्र बोध के बाद वह अमृतस्वरूप को प्राप्त कर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है॥ १५॥

तस्मादिदं साममध्यगं जपति तस्मादिदं सामाङ्गं प्रजापतिस्तस्मादिदं सामाङ्गं प्रजापतिर्य एवं वेदेति महोपनिषत्। य एतां महोपनिषदं वेद स कृतपुरश्चरणो महाविष्णुर्भवति महाविष्णुर्भवति॥ १६॥

अतः तारक मंत्र रूपी साम का जप सदैव करना चाहिए; क्योंकि साम मंत्र के भीतर प्रजापति ब्रह्मा की ही शक्ति है। इस प्रकार जानने वाला ही वास्तविक साधक है। महान् परमेश्वर के तत्त्व का यथार्थ ज्ञान होने के कारण इसे महोपनिषद् कहते हैं। इसके अन्तर्गत बताये मार्ग के द्वारा जो पुरश्चरण साधना करता है, उसे पूर्ण पुरश्चरण का लाभ प्राप्त होता है और वह महाविष्णु रूप हो जाता है॥ १६॥

॥ द्वितीयोपनिषद्॥

देवा ह वै मृत्योः पाप्मभ्यः संसाराच्च बिभीयुस्ते प्रजापतिमुपाधावंस्तेभ्य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं प्रायच्छत्तेन वै ते मृत्युमजयन् पाप्मानं चातरन्संसारं चातरंस्तस्माद्यो मृत्योः पाप्मभ्यः संसाराच्च बिभीयात्स एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं प्रतिगृह्णीयात्स मृत्युं जयति स पाप्मानं तरति स संसारं तरति॥ १॥

प्राचीन काल में एक बार सभी देवता संसार, पाप और मृत्यु से भयभीत होकर, भागकर प्रजापति ब्रह्माजी के पास गये। प्रजापति ब्रह्माजी ने देवों को भगवान् नृसिंह के मंत्रराज आनुष्टुभ मंत्र का उपदेश किया। इसकी साधना करके उन्होंने मृत्यु को जीता तथा समस्त पापों से छूटकर संसार सागर को पार कर लिया। इसलिए मृत्यु, पाप एवं भवसागर से डरने वाले को मंत्रराज आनुष्टुभ की शरण में जाना चाहिए। जो व्यक्ति मंत्रराज की शरण में जाता है, वह मृत्यु को जीतकर, पापों का शमन कर संसार सागर से पार हो जाता है॥ १॥

तस्य ह वै प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा पृथिव्यकारः स ऋग्भिर्ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्यः स साम्नः प्रथमः पादो भवति। द्वितीयाऽन्तरिक्षं स उकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णुरुद्रास्त्रिष्टुब्दक्षिणाग्निः स साम्नो द्वितीयः पादो भवति। तृतीया द्यौः स मकारः स सामभिः सामवेदो रुद्रा आदित्या जगत्याहवनीयः स साम्नस्तृतीयः पादो भवति। याऽवसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सोमलोक ओंकारः सोऽथर्वणैर्मन्त्रैरथर्ववेदः संवर्तकोऽग्निर्मरुतो विराडेकर्षिर्भास्वती स्मृता सा साम्नश्चतुर्थः पादो भवति॥ २॥

यह जो प्रणव मंत्रराज का अंगभूत है, उसकी प्रथम मात्रा 'अ' कार है, उसका लोक पृथ्वी एवं ऋचाओं से सुशोभित ऋग्वेद ही वेद, ब्रह्मा देवता, अष्टवसु ही गण, छन्द गायत्री तथा गार्हपत्य अग्नि है। प्रणव की पहली मात्रा में ही यह सब निहित है। यह प्रथम मात्रा ही साम का प्रथम चरण है। 'उ' प्रणव की द्वितीय मात्रा है। इस द्वितीय मात्रा का लोक अंतरिक्ष, विष्णुदेवता और एकादश रुद्र ही गण, यजुर्मन्त्रों सहित यजुर्वेद इसका वेद, त्रिष्टुप् छन्द और अग्नि दक्षिणाग्नि है। मन्त्रराज साम का यह द्वितीय पाद है। मंत्रराज साम के अंगभूत प्रणव की तीसरी मात्रा 'म' कार है। इसका लोक 'द्यु' लोक है, वेद-सामवेद, रुद्र देवता और द्वादश आदित्य ही गण, छन्द जगती तथा अग्नि आहवनीय है। तृतीय मात्रा के अंतर्गत यह सब है। साम का तृतीय पाद यह तृतीय मात्रा ही है। नादात्मक अर्धमात्रा जो प्रणव के उच्चारण के अंत में ध्वनि के रूप में सुनाई देती है, उसका लोक

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सोमलोक, ओंकार वाचक परब्रह्म ही देवता, वेद-अथर्ववेद, संवर्तक नाम की अग्नि, उनचास मरुत् ही गण विराट् छन्द है। (इस चतुर्थ मात्रा विशिष्ट ॐ कार के) एक ही ऋषि हैं (ब्रह्माजी)। अत्यन्त प्रकाशमयी यह मात्रा ब्रह्म स्वरूपा है। प्रणव की यह चतुर्थ मात्रा ही साम का चतुर्थ पाद है॥ २॥

अष्टाक्षरः प्रथमः पादो भवत्यष्टाक्षरास्त्रयः पादा भवन्त्येवं द्वात्रिंशदक्षराणि संपद्यन्ते द्वात्रिंशदक्षरा वा अनुष्टुब्भवत्यनुष्टुभा सर्वमिदं सृष्टमनुष्टुभा सर्वमुपसंहृतम्॥ ३॥

यह अनुष्टुप् मंत्र कुल बत्तीस अक्षरों का है। जिसमें प्रथम चरण आठ अक्षरों का एवं शेष तीनों चरण भी आठ-आठ अक्षरों के ही होते हैं। सम्पूर्ण विश्व की सृष्टि का केन्द्र यह अनुष्टुप् मंत्र ही है। उसी से उत्पत्ति एवं उसी से संहार भी होता है॥ ३॥

तस्य हैतस्य पञ्चाङ्गानि भवन्ति चत्वारः पादाश्चत्वार्यङ्गानि भवन्ति सप्रणवं सर्वं पञ्चमं भवति हृदयाय नमः शिरसे स्वाहा शिखायै वषट् कवचाय हुं अस्त्राय फडिति प्रथमं प्रथमेन संयुज्यते द्वितीयं द्वितीयेन तृतीयं तृतीयेन चतुर्थं चतुर्थेन पञ्चमं पञ्चमेन व्यतिषजति व्यतिषिक्ता वा इमे लोकास्तस्माद्व्यतिषिक्तान्यङ्गानि भवन्ति॥ ४॥

पाँच अंगों वाला यह अनुष्टुप् मंत्र है। चारों चरणों के साथ पाँचवाँ प्रणव भी उसका एक अंग है। प्रणव के साथ ही यह मंत्र पूरा होता है। मानव शरीर के भी पाँच अंग बताये गये हैं—हृदय, सिर, शिखा, बाहुमूल और मस्तक। इस प्रकार हृदयाय नमः, शिरसे स्वाहा, शिखायै वषट्, कवचाय हुम्, अस्त्राय फट् के साथ अनुष्टुप् के प्रत्येक अंगों का संयोग करना चाहिए। मंत्र के प्रथम भाग के साथ शरीर का प्रथम अंग का संयोग, द्वितीय के साथ द्वितीय, तृतीय के साथ तृतीय, चतुर्थ के साथ चतुर्थ एवं पंचम भाग के साथ पंचम अंग का संयोग करे। सम्पूर्ण लोक जिस प्रकार आपस में सम्बद्ध हैं, उसी प्रकार से उक्त अंग भी परस्पर सम्बद्ध हैं॥ ४॥

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्मात्प्रत्यक्षरमुभयत ओंकारो भवति। अक्षराणां न्यासमुपदिशन्ति ब्रह्मवादिनः॥ ५॥

यह ओंकार सम्पूर्ण विश्व है। इसलिए इस अनुष्टुप् मंत्र के हर एक अक्षर के पहले और पीछे 'ॐकार' का सम्पुट लगाकर न्यास करना चाहिए। ब्रह्मवादी लोग इस प्रकार प्रत्येक अक्षर के साथ अंगन्यास करने के लिए कहते हैं॥ ५॥

तस्य ह वा उग्रं प्रथमं स्थानं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति वीरं द्वितीयं स्थानं महाविष्णुं तृतीयं स्थानं ज्वलन्तं चतुर्थं स्थानं सर्वतोमुखं पञ्चमं स्थानं नृसिंहं षष्ठं स्थानं भीषणं सप्तमं स्थानं भद्रमष्टमं स्थानं मृत्युमृत्युं नवमं स्थानं नमामि दशमं स्थानमहमेकादशं स्थानं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति॥ ६॥

इस अनुष्टुप् का प्रथम पद 'उग्रम्' मंत्र का प्रथम स्थान है, यह जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। मंत्र में 'वीरम्' का द्वितीय स्थान है। 'महाविष्णुम्' पद का तृतीय स्थान है। 'ज्वलंतम्' का चतुर्थ स्थान है। 'सर्वतोमुखम्' का पंचम स्थान है। 'नृसिंहम्' का षष्ठ स्थान है। 'भीषणम्' का सप्तम स्थान है। 'भद्रम्' का अष्टम स्थान है। 'मृत्युमृत्युम्' का नवम स्थान है। 'नमामि' का दशम स्थान है। 'अहम्' का एकादश स्थान है, ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है॥ ६॥

[यहाँ दिये गये संकेतानुसार आनुष्टुभ मन्त्र इस प्रकार बनेगा- ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्॥]

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

एकादशपदा वा अनुष्टुब्भवत्यनुष्टुभा सर्वमिदं सृष्टमनुष्टुभा सर्वमिदमुपसंहृतं तस्मात्सर्वानुष्टुभं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ ७ ॥

ग्यारह पदों वाली यह अनुष्टुप् वृत्ति है। सारे विश्व की रचना इसके द्वारा ही हुई है तथा उपसंहार भी इसी के द्वारा होता है। यह अनुष्टुप् की ही महिमा है, ऐसा जानना चाहिए। इस प्रकार जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है ॥ ७ ॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नथ कस्मादुच्यत उग्रमिति। स होवाच प्रजापतिर्यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वाँल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतान्युद्गृह्णात्यजस्रं सृजति विसृजति वासयत्युद्ग्राह्यत उद्गृह्यते। स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम्। मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यं ते अस्मन्निवपन्तु सेनाः तस्मादुच्यत उग्रमिति ॥ ८ ॥

प्रजापति भगवान् ब्रह्माजी से देवताओं ने प्रश्न किया-'उग्रम्' विशेषण नृसिंह भगवान् के लिए क्यों कहा गया है। प्रजापति ने कहा-नृसिंह भगवान् अपनी महिमा से सभी लोकों,देवताओं, सब भूतों और सभी आत्माओं का निरन्तर उत्थान करते रहते हैं। सबकी सृष्टि करते, सबका विस्तार करते तथा संहार भी वे ही करते हैं। पूरी सृष्टि को अपने में लीन कर लेते हैं। वे ही संसार पर अनुग्रह करते तथा दूसरों से भी कराते हैं,उनको इसीलिए उग्र कहा जाता है। ऋग्वेद में इस विषय में कहा गया है कि जिनकी प्रार्थना श्रुतियाँ करती हैं,उन्हीं परमात्मा की स्तुति करो। परमात्मा हृदय रूपी गुफा में नव तारुण्य रूप में शोभायमान हैं। वे भगवान् सिंहरूप धारण करने के बाद भी भक्तों के लिए विकराल नहीं हैं। वे सर्वत्र सबके पास पहुँचकर सब पर अनुग्रह करने वाले हैं। साधकों का कल्याण और दुष्टों का संहार करने के कारण उन्हें उग्र कहा जाता है। हे नृसिंह भगवन्! हम आपकी प्रार्थना करते हैं, आप हमारा कल्याण करें। हमारे ऊपर आपकी भयंकर सेना आक्रमण न करे, कहीं अन्यत्र चली जाये। इन्हीं कारणों से उन्हें 'उग्रम्' कहा गया है ॥ ८ ॥

अथ कस्मादुच्यते वीरमिति। यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वाँल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि विरमति विरामयत्यजस्रं सृजति विसृजति वासयति। यतो वीरः कर्मण्यः सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकामस्तस्मादुच्यते वीरमिति ॥ ९ ॥

देवताओं ने पुनः प्रश्न किया- प्रभो! 'वीरम्' विशेषण भगवान् नृसिंह को क्यों दिया गया है? ब्रह्माजी बोले- वे अपनी महिमा से सभी लोकों, सभी आत्माओं, सभी देवताओं और सभी भूतों के साथ अनेक प्रकार से क्रीड़ा करते हैं, क्रीड़ा (का आनन्द प्राप्त) कराते हैं, सतत सबको उत्पन्न करते, सभी का उपसंहार करते एवं सभी को स्थिरता प्रदान करते हैं। (ऋग्वेद की ऋचाओं में भी कहा गया है कि) भगवान् नृसिंह भक्तों पर अविलम्ब कृपा करने वाले हैं। वे वीर हैं, कर्मठ रूप होकर सोमयाग में पाषाण युक्त होकर अध्वर्यु आदि के रूप में सोम अभिषुत करने वाले हैं। देवताओं को उत्पन्न करने की कामना भी वही करते हैं। इस कारण उन्हें 'वीरम्' कहा जाता है।॥ ९ ॥

अथ कस्मादुच्यते महाविष्णुमिति। यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वाँल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि व्याप्नोति व्यापयति स्नेहो यथा पललपिण्डं शान्तमूलमोतं प्रोतमनुव्याप्तं व्यतिषिक्तो व्याप्यते व्यापयते। यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया संविदानः त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशीं तस्मादुच्यते महाविष्णुमिति ॥१० ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

(देवताओं ने प्रश्न किया- भगवन्! यह बताने की कृपा करें कि भगवान् नृसिंह को) 'महाविष्णुम्' नाम से क्यों सम्बोधित करते हैं। (प्रजापति बोले) सभी भूतों, सभी देवों, सभी लोकों में भगवान् नृसिंह अपनी महिमा से समान रूप से व्याप्त हैं। जिस प्रकार से मांस-पिण्ड में चिकनाई व्याप्त है, वैसे ही वे सभी अवयवों समेत पूरे शरीर में व्याप्त हैं। यह संसार उन्हीं से ओत-प्रोत होने के कारण प्रलयकाल में उन्हीं में लीन हो जाता है। (इनकी महिमा का वर्णन ऋग्वेद में किया गया है-) जो प्रजापालक, प्रजा द्वारा उपासना किये जाने वाले, सर्वत्र समान रूप से व्याप्त प्रजापालक हैं और जिनके समान कोई हुआ ही नहीं, वे भगवान् नृसिंह विविध ज्योतियों में सोलह कलाओं से युक्त होकर व्याप्त रहते हैं, इसी कारण उन्हें 'महाविष्णुम्' कहा गया है॥ १०॥

अथ कस्मादुच्यते ज्वलन्तमिति यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वाँल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि स्वतेजसा ज्वलति ज्वालयति ज्वाल्यते ज्वालयते। सविता प्रसविता दीप्तो दीपयन्दीप्यमानः ज्वलञ्ज्वलिता तपन्वितपन्त्संतपन्नोचनो रोचमानः शोभनः शोभमानः कल्याणस्तस्मादुच्यते ज्वलन्तमिति॥ ११॥

(देवताओं ने पुनः प्रश्न किया) कि भगवान् नृसिंह के लिए 'ज्वलंतम्' का प्रयोग क्यों होता है? (ब्रह्माजी बोले-) सभी भूतों, सभी देवों और सभी आत्माओं को भगवान् नृसिंह अपनी महिमा से प्रकाशित करते एवं स्वयं प्रकाशित रहते हैं। समस्त ज्योतियाँ एवं सम्पूर्ण लोक उनके ही प्रकाश से प्रकाशित होकर सबको प्रकाशित करते हैं (भगवान् नृसिंह की महिमा का वर्णन करते हुए ऋग्वेद में लिखा है कि) वे ही सविता के रूप में प्रकाश फैलाने वाले एवं प्रसविता के रूप में उत्पादन करने वाले सदैव प्रकाशमान रहते हैं। स्वयं प्रकाशित होते हुए दूसरों को प्रकाश पहुँचाते हैं। स्वयं तपते हुए दूसरों को भी तपाते हैं। स्वयं कान्तियुक्त होकर दूसरों को भी कान्तिमान् बनाते हैं। स्वयं परम कल्याण स्वरूप होकर सुशोभित होते एवं सबको सुशोभित करते हैं। इसी कारण उन्हें 'ज्वलंतम्' कहा गया है॥ ११॥

अथ कस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति। यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वाँल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि स्वयमनिन्द्रियोऽपि सर्वतः पश्यति सर्वतः शृणोति सर्वतो गच्छति सर्वत आदत्ते सर्वगः सर्वगतस्तिष्ठति। एकः पुरस्ताद्य इदं बभूव यतो बभूव भुवनस्य गोपाः। यमप्येति भुवनं सांपराये नमामि तमहं सर्वतोमुखमिति तस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति॥ १२॥

(देवताओं ने पुनः प्रश्न किया-हे प्रजापति!) भगवान् नृसिंह के लिए 'सर्वतोमुखम्' का प्रयोग क्यों हुआ है? (ब्रह्माजी ने कहा-) वे अपनी महिमा से सभी भूतों, सभी आत्माओं, सभी देवताओं और सभी लोकों को, स्वयं इन्द्रियों से परे होने पर भी सबको सब ओर से देखते, सुनते, ग्रहण करते और सभी तरफ गमन करते हुए सभी स्थानों में समान रूप से विद्यमान रहते हैं। (ऋग्वेद में भी कहा गया है कि) सृष्टि के आदि में जो भगवान् स्वयं एक ही थे, वे ही इस विश्व के रूप में प्रकट हो गये। वे भगवान् ही विश्व के उत्पादक, पालक एवं संहारक हैं, ऐसे 'सर्वतोमुख' भगवान् को नमस्कार है। इसी कारण उन्हें 'सर्वतोमुखम्' कहा गया है॥ १२॥

अथ कस्मादुच्यते नृसिंहमिति। यस्मात्सर्वेषां भूतानां ना वीर्यतमः श्रेष्ठतमश्च सिंहो वीर्यतमः श्रेष्ठतमश्च। तस्मान्नृसिंह आसीत्परमेश्वरो जगद्धितं वा एतद्रूपं यदक्षरं भवति। प्रतद्विष्णुःस्तवते वीर्याय मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा। तस्मादुच्यते नृसिंहमिति॥ १३॥

(देवताओं ने पुनः प्रश्न किया-) 'नृसिंहम्' यह विशेषण क्यों दिया गया है? (ब्रह्माजी ने कहा-) सभी

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

जीवों में मनुष्य सबसे अधिक पराक्रमी और श्रेष्ठ है। सिंह को भी सबसे अधिक पराक्रमी कहा जाता है। इस कारण भगवान् को नर और सिंह दोनों विशेषताओं से युक्त कहा गया। भगवान् का यह स्वरूप विश्व के लिए कल्याणकारी, सनातन एवं अविनाशी है। (वेद भगवान् ने कहा है-) वे भगवान् विष्णु सिंह का रूप धारण कर अपने भक्तों द्वारा स्तुत्य होते हैं। अनेक प्रकार की शक्ति प्राप्त करने के लिए भक्तजन प्रार्थना करते हैं। अपने भक्तों के लिए सिंह रूप में होने पर भी वे भयंकर नहीं होते। भगवान् नृसिंह पृथ्वी और पर्वत पर सब जगह विचरण करते हैं। वे सभी रूपों में स्थित होते हैं। स्तोताओं की वाणी में भी वे ही निहित हैं। उनके तीन डगों में तीनों लोक समाहित हो जाते हैं। इन कारणों से उनको 'नृसिंहम्' कहते हैं॥ १३॥

अथ कस्मादुच्यते भीषणमिति। यस्माद्भीषणं यस्य रूपं दृष्ट्वा सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि भीत्या पलायन्ते स्वयं यतः कुतश्च न बिभेति। भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम इति तस्मादुच्यते भीषणमिति॥ १४॥

(देवताओं ने प्रश्न किया-) हे देव! यह बतायें कि इस मंत्र में भगवान् के लिए 'भीषणम्' शब्द का प्रयोग क्यों हुआ है? (प्रजापति बोले कि) भगवान् के भीषण रूप से सभी लोक, सभी देवता एवं सभी भूत प्राणी भयभीत हो जाते हैं, भय से काँपते हुए इधर-उधर भागने लगते हैं; परन्तु स्वयं भगवान् किसी से नहीं डरते। (वेद में कहा गया है-) इन भगवान् के भय से वायु देवता प्रवहमान रहते हैं। समय पर भगवान् सूर्य प्रकाशित होते हैं। अग्निदेव और इन्द्र भी इनके ही भय से अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं तथा पाँचवें मृत्यु देवता इनके ही भय से सक्रिय रहते हैं। इस कारण भगवान् को 'भीषणम्' कहा गया है॥ १४॥

अथ कस्मादुच्यते भद्रमिति। यस्मात्स्वयं भद्रो भूत्वा सर्वदा भद्रं ददाति। रोचनो रोचमानः शोभनः शोभमानः कल्याणः। भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः। तस्मादुच्यते भद्रमिति॥ १५॥

(देवताओं ने पूछा कि हे देव! यह बतायें कि) भगवान् नृसिंह को 'भद्रम्' क्यों कहा गया है? (प्रजापति ने कहा) कि भगवान् भद्र अर्थात् कल्याणस्वरूप हैं। स्वयं कान्तिमान् होकर दूसरों को भी कान्तिमान् बनाते एवं स्वयं सुशोभित होकर दूसरों को भी शोभायमान करते हैं। (वेद में कहा गया है-) याजकों के पोषक हे देवताओ! हम सदैव कल्याणकारी वचनों को ही अपने कानों से सुनें, नेत्रों से सदैव कल्याणकारी दृश्य ही देखें। हे देव! परिपुष्ट अंगों से युक्त सुदृढ़ शरीर वाले हम आपकी वन्दना करते हुए पूर्ण आयु तक जीवित रहें। जिससे हम भगवान् का काम कर सकें। इसीलिए भगवान् को 'भद्रम्' कहा गया है॥१५॥

अथ कस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति। यस्मात्त्वमहिम्ना स्वभक्तानां स्मृत एव मृत्युमपमृत्युं च मारयति। य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्य छायामृतं यो मृत्युमृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम। तस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति॥ १६॥

(उन देवताओं ने प्रश्न किया कि हे देव!) इस मंत्रराज में 'मृत्युमृत्युम्' पद क्यों आया है? (प्रजापति ने कहा-) भगवान् अपनी महिमा से अपने उपासकों द्वारा स्मरण किये जाने पर उपासकों की मृत्यु एवं अपमृत्यु (अकाल मृत्यु)को भी समाप्त कर देते हैं।(वेद में कहा गया है-)जो भौतिक एवं आध्यात्मिक सामर्थ्य को प्रदान करने वाला है, जिसकी छत्र-छाया(आश्रय)में रहकर अमरत्व का सुख तथा जिससे विमुख होकर मृत्यु-जन्य दुःख प्राप्त होता है, सन्मार्गगामी सभी देवगण जिसकी उत्तम शिक्षाओं का पालन करते हैं। उस सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा के लिए हम आहुतियाँ समर्पित करते हैं। इसी आधार पर उन्हें 'मृत्यु-मृत्युम्' कहते हैं॥ १६॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अथ कस्मादुच्यते नमामीति। यस्माद्यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च। प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्। यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे। तस्मादुच्यते नमामीति॥ १७॥

(देवताओं ने पूछा कि) इस आनुष्टुभ में 'नमामि' पद क्यों आया है? (प्रजापति ने कहा) भगवान् नृसिंह की स्तुति सभी देवता, ब्रह्मज्ञानी पुरुष एवं मुमुक्षु जन करते हैं, इससे वे सबके स्तुत्य हैं। (वेद भगवान् कहते हैं-) ब्रह्माजी जिन भगवान् के लिए स्तुति करते हैं,जो ब्रह्मा और वेदों के आश्रयभूत हैं,इन्द्र,वरुण,मित्र एवं अर्यमा आदि देवों ने जिनको अपना इष्ट बनाया है,उन भगवान् के प्रति नमस्कार है। इसी कारण 'नमामि' शब्द आया है॥ १७॥

अथ कस्मादुच्यतेऽहमिति। अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः। यो मा ददाति स इ देवमावाः अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवां सुवर्णज्योतीः। य एवं वेदेति महोपनिषत्॥ १८॥

(देवता पुनः पूछने लगे-हे देव!) इस मंत्र में 'अहम्' पद क्यों आया है? (ब्रह्माजी ने कहा-) श्रुति का वचन है 'मैं इस सृष्टिरूपी सनातन यज्ञ से पहले उत्पन्न हुआ हूँ। अमृत की उत्पत्ति का स्थान मैं ही हूँ। अन्न मैं ही हूँ। मैं समस्त ज्योतियों एवं शक्तियों का प्रदाता हूँ। जो मुझे सत्पात्रों को प्रदान करते हैं,उससे सभी का कल्याण होता है। जो स्वयं ही अन्न का उपभोग करते हैं, मैं उन्हें खा जाता हूँ।' सच्चे साधक वे हैं, जो इस प्रकार से जानते हैं। यही महान् उपनिषद् (सान्निध्य या अनुभूति से प्राप्त महान् ज्ञान) है॥ १८॥

॥ तृतीयोपनिषद्॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य शक्तिं बीजं नो ब्रूहि भगव इति॥१

एक समय देवगणों ने प्रजापति ब्रह्माजी से पूछा, हे देव! भगवान् नृसिंह के आनुष्टुभ मंत्र की 'शक्ति' और उसके 'बीज' के बारे में बताने की कृपा करें॥ १॥

स होवाच प्रजापतिर्माया वा एषा नारसिंही सर्वमिदं सृजति सर्वमिदं रक्षति सर्वमिदं संहरति। तस्मान्मायामेतां शक्तिं विद्याद्य एतां मायां शक्तिं वेद स पाप्मानं तरति स मृत्युं तरति स संसारं तरति सोऽमृतत्वं च गच्छति महतीं श्रियमश्नुते॥ २॥

तब प्रजापति ने कहा-नृसिंह भगवान् की सनातनी शक्ति माया के द्वारा ही यह संसार रचा गया है, वे ही इसकी रक्षा करती हैं एवं उन्हीं के द्वारा सृष्टि का विनाश होता है। इस कारण भगवान् की यह माया ही मंत्रराज की शक्ति है। इस माया को जान लेने पर व्यक्ति पापों से मुक्त हो जाता है, मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है,अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। भवसागर से पार हो जाता है तथा इस लोक में समस्त प्रकार की समृद्धि प्राप्त करता है॥ २॥

मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनो ह्रस्वा दीर्घा प्लुता चेति। यदि ह्रस्वा भवति सर्वं पाप्मानं दहत्यमृतत्वं च गच्छति यदि दीर्घा भवति महतीं श्रियमाप्नोत्यमृतत्वं च गच्छति यदि प्लुता भवति ज्ञानवान्भवत्यमृतत्वं च गच्छति॥ ३॥

ब्रह्मज्ञानी चिन्तन करते हैं कि नृसिंह भगवान् की मायारूपी शक्ति ह्रस्व,दीर्घ या प्लुत है? यदि यह माया शक्ति ह्रस्व है, तो उस साधक के माया रूप में जानने से उसके समस्त पापों का विनाश हो जाता है और अमृतत्व

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

प्राप्त कर लेता है। यदि साधक दीर्घ रूप में जानता है,तो वह महान् ऐश्वर्य को प्राप्त करके अमृतत्व प्राप्त कर लेता है। यदि प्लुत रूप में जानता है, तो इस रूप में जानने से साधक ज्ञानवान् होकर अमृतत्व प्राप्त कर लेता है ॥ ३ ॥

तदेतदृषिणोक्तं निदर्शनं—स ईं पाहि य ऋजीषी तरुत्रः श्रियं लक्ष्मीमौपलामम्बिकां गां षष्ठीं च यामिन्द्रसेनेत्युदाहुः तां विद्यां ब्रह्मयोनिं सरूपामिहायुषे शरणं प्रपद्ये ॥ ४ ॥

इस विषय में ऋषि कहते हैं-हे माया शक्ति रूप बिन्दुमय स्वर! मैं संसार सिंधु से पार होने के लिए सरल भावयुक्त, प्रयत्नशील होकर उपयोगी साधनों के साथ दीर्घायुष्य प्राप्त करने के लिए भगवान् की श्रीशक्ति (भगवती लक्ष्मी),शिवशक्ति(अम्बिका),ब्राह्मीशक्ति(सरस्वती), षष्ठीशक्ति(स्कन्दशक्ति)तथा इन्द्रसेना एवं ब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाली विद्याशक्ति की शरण में हूँ। आप सभी शक्तियों के साथ मेरी रक्षा करें ॥ ४ ॥

सर्वेषां वा एतद्भूतानामाकाशः परायणं सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव जायन्त आकाशादेव जातानि जीवन्त्याकाशं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तस्मादाकाशं बीजं विद्यात् ॥ ५ ॥

आकाश ही समस्त प्राणियों का आश्रयभूत है। समस्त प्राणि-समुदाय की उत्पत्ति आकाश से ही होती है। आकाश से उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और आकाश में ही विलीन हो जाते हैं, इसलिए प्राणियों का सृष्टि बीज आकाश ही है ॥ ५ ॥

तदेतदृषिणोक्तं निदर्शनं-हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्। य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥६ ॥

इस विषय में ऋषियों ने कहा है कि स्वयं प्रकाश पुरुषोत्तम भगवान् परमधाम में स्थित हैं। अन्तरिक्ष में निवास करने वाले वसु वे ही हैं। अतिथि के रूप में वे ही घरों में उपस्थित होते हैं। यज्ञवेदी पर प्रतिष्ठित अग्नि एवं आहुति देने वाले होता भी वे ही हैं। भूलोक में, इससे श्रेष्ठ स्वर्ग लोक में तथा सबसे श्रेष्ठ सत्यलोक में भी उन्हीं का निवास है। आकाश में उन्हीं का निवास है। सबसे महान् परम सत्य के रूप में पृथ्वी, जल, पर्वत तथा सत्कर्मों में वे ही प्रकट होते हैं। इस प्रकार जानने से पूर्वोक्त फल प्राप्त होता है। यही महोपनिषद् है ॥ ६ ॥

॥ चतुर्थोपनिषद् ॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्याङ्गमन्त्रान्नो ब्रूहि भगव इति ॥१

देवताओं ने प्रजापति ब्रह्माजी से पुनः प्रश्न किया-हे देव! मंत्रराज आनुष्टुभ के अंगभूत मंत्रों को बताने की कृपा करें ॥ १ ॥

स होवाच प्रजापतिः प्रणवं सावित्रीं यजुर्लक्ष्मीं नृसिंहगायत्रीमित्यङ्गानि जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥ २ ॥

तब ब्रह्माजी ने कहा- ॐ कार(प्रणव),सावित्री(गायत्री),यजुर्लक्ष्मी तथा नृसिंह गायत्री को मंत्रराज का अंगभूत जानना चाहिए। जो इनको जानता है, वह भौतिक ऐश्वर्य के साथ अमृतत्व को भी प्राप्त कर लेता है ॥२ ॥

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव। सर्वं ह्येतद्ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥ ३ ॥

ॐ अविनाशी है। सम्पूर्ण दृश्य जगत् ओंकार की महिमा से ही चल रहा है। इस ओंकार से भूत,भविष्यत् एवं वर्तमान सभी सम्बन्धित हैं। तीनों कालों से परे जो कुछ है,वह भी ओंकार ही है। यह सब ब्रह्ममय जगत् ओंकार रूप है। परमात्मा रूप भगवान् नृसिंह ब्रह्म ही हैं। सर्वात्मस्वरूप भगवान् नृसिंह के चार पाद हैं ॥ ३ ॥

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ४ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

जिसका निवास स्थान जाग्रत् अवस्था और उससे व्याप्त यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् है और बाह्य जगत् में जो अपने ज्ञान का विषय बनाते हैं; भूः, भुवः आदि सातों लोक जिनके अंग के रूप में हैं; पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय, पंच प्राण तथा अन्तःकरण चतुष्टय ये उन्नीस जिनके मुख हैं; जो इस भौतिक जगत् के भोक्ता हैं; यह समस्त विश्व जिनका शरीर है तथा इसमें स्थित अंतर्यामी पुरुष होने के कारण जिनका नाम वैश्वानर है; वे वैश्वानर भगवान् पूर्णतम परमात्मा भगवान् नृसिंह के प्रथम पाद हैं ॥ ४ ॥

[यहाँ सप्तांग का तात्पर्य-सप्त संख्यक द्यु, सूर्य, वायु, आकाश, जल, पृथ्वी और आहवनीय अग्नि से है। उन्नीस मुख का तात्पर्य- ५ ज्ञानेन्द्रिय + ५ कर्मेन्द्रिय + ५ प्राण तथा ४ अन्तःकरण से है।]

स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयःपादः ॥ ५ ॥

जिनका निवास स्थान स्वप्नावस्था और उससे व्याप्त यह सूक्ष्म जगत् है, जिनका ज्ञान आंतरिक अर्थात् सूक्ष्म जगत् में पूर्णतया व्याप्त है, जिनके सातों अंग हैं, जिनके उन्नीस मुख हैं, जो सूक्ष्म जगत् में व्याप्त उसके भोक्ता एवं पालक हैं, वे प्रकाश पुरुष हिरण्यगर्भ भगवान् नृसिंह के द्वितीय पाद हैं ॥ ५ ॥

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः। एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥ ६ ॥

जिस स्थिति में सोया व्यक्ति न कोई कामना करता है,न कोई स्वप्न देखता है,वह सुषुप्तावस्था है। उस सुषुप्ति अवस्था और उससे उपलक्षित समस्त विश्व की प्रलयावस्था जिनका स्थान है, एक रूप में ही जिनकी स्थिति है, सर्वांगपूर्ण विज्ञान ही जिनका रूप है, जो स्वयं आनन्दमय हैं और चिन्मय प्रकाश रूप मुख वाले हैं, जो अपने स्वरूपभूत आनन्द के भोगने वाले हैं; वे प्राज्ञ पुरुष(नृसिंह के)तीसरे पाद हैं। वे परमात्मा सब कुछ जानने वाले, सर्वांतर्यामी,समस्त जगत् के कारण, सबकी उत्पत्ति,स्थिति और प्रलय के कारण वे प्रभु ही हैं ॥ ६ ॥

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं न प्रज्ञानघनमदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमैकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥

जिसको स्थूल का ज्ञान नहीं है, न सूक्ष्म का ही ज्ञान है तथा जो स्थूल और सूक्ष्म दोनों का ज्ञाता नहीं है; जिसे ज्ञाता या अज्ञानी कुछ भी नहीं कहा जा सकता, जो प्रज्ञान का भी घनीभूत रूप नहीं है; जो दिखाई नहीं देता, जिसे न पकड़ा जा सकता, न व्यवहार में ही लाया जा सकता है तथा जो निराकार, अचिन्त्य अर्थात् अनुभूति रहित एवं अवर्णनीय है; जिसकी अनुभूति आत्मसत्ता के रूप में ही की जा सकती है, जो कल्याणकारी, प्रपञ्चरहित, सर्वथा शान्त, अद्वितीय तत्त्व है; वही भगवान् नृसिंह का चतुर्थ पाद है, ऐसा ज्ञानी पुरुष मानते हैं। वह आत्मा (परमात्मा) है, वह जानने योग्य है ॥ ७ ॥

अथ सावित्री गायत्र्या यजुषा प्रोक्ता तया सर्वमिदं व्याप्तं घृणिरिति द्वे अक्षरे सूर्य इति त्रीणि आदित्य इति त्रीणि। एतद्वै सावित्रस्याष्टाक्षरं पदं श्रियाभिषिक्तं य एवं वेद श्रिया हैवाभिषिच्यते ॥ ८ ॥

अब सावित्री मंत्र के बारे में बताते हैं-यह सावित्री-मंत्र यजुर्मंत्र के रूप में गायत्री छंद से संयुक्त होकर कहा गया है। यह सारा विश्व उसी से ओत-प्रोत है। (घृणिः सूर्यः आदित्यः मंत्र में) घृणिः में दो अक्षर,सूर्यः (व्यूहन क्रिया से सूरयः)में तीन अक्षर और आदित्यः में तीन अक्षर हैं,इस प्रकार आठ अक्षरों वाला यह सावित्री मंत्र श्री(विभूति)से विभूषित है। इस मंत्र को इस तरह से जानने वाला लक्ष्मी के द्वारा विभूषित होता है ॥ ८ ॥

तदेतदृचाभ्युक्तं—ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत इति ॥ ९ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

ऐसा ऋचा के द्वारा कहा गया है-ऋग्वेद की ऋचाएँ स्वयं प्रकाशित परमाकाश रूप अविनाशी ब्रह्म में प्रतिष्ठित हैं। जहाँ पर सभी देवता निवास करते हैं। उन स्वप्रकाश परमात्मा को जो साधक नहीं जानते, वे वेद पाठ से क्या लाभ प्राप्त कर लेंगे ? जो उपासक उस ब्रह्म को इस प्रकार जानते हैं, वे आनन्द पूर्वक परम धाम में निवास करते हैं॥ ९॥

न ह वा एतस्यर्चा न यजुषा न साम्नाऽर्थोऽस्ति यः सावित्रं वेदेति॥ १०॥

सावित्री मंत्र को जो इस तरह से जान लेता है, ऋग्, यजुः और सामवेद के मंत्रों की उसे आवश्यकता नहीं रहती ॥ १०॥

ॐ भूर्लक्ष्मीर्भुवर्लक्ष्मीः स्वर्लक्ष्मीः कालकर्णी तन्नो महालक्ष्मीः प्रचोदयात् इत्येषा वै महालक्ष्मीर्यजुर्गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा भवति॥ ११॥

जो सर्व ऐश्वर्यमयी देवी भूःलोक की लक्ष्मी, भुवः लोक की लक्ष्मी तथा स्वः लोक की लक्ष्मी हैं। जिनका नाम कालकर्णी है, वे महालक्ष्मी हमें श्रेष्ठ कर्मों की ओर प्रेरित करें। यह यजुर्वेदोक्त गायत्री महालक्ष्मी की गायत्री है, जो चौबीस अक्षरों वाली है॥ ११॥

गायत्री वा इदं सर्वं यदिदं किंच तस्माद्य एतां महालक्ष्मीं याजुषीं वेद महतीं श्रियमश्नुते॥१२

यह जो कुछ भी दृश्य जगत् है, निश्चय ही गायत्रीस्वरूप है। इन महालक्ष्मी यजुर्वेदमयी महारूपिणी गायत्री को जो जान लेता है, वह महान् ऐश्वर्य प्राप्त कर लेता है॥ १२॥

ॐ नृसिंहाय विद्महे वज्रनखाय धीमहि। तन्नः सिंहः प्रचोदयात् इत्येषा वै नृसिंहगायत्री देवानां वेदानां निदानं भवति य एवं वेद निदानवान्भवति॥ १३॥

हम नृसिंह भगवान् को (गुरु या शास्त्र से) जानते हैं, उन वज्र सदृश नख वाले (परमात्मा) को हम हृदय में धारण करते हैं, वे भगवान् नृसिंह हमें सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्रदान करें। देवताओं और वेदों की कारणभूता यही नृसिंह गायत्री है। जो इस तरह जान लेता है, वह भगवान् को प्राप्त कर लेता है॥ १३॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नथ कैर्मन्त्रैः स्तुतो देवः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति तन्नो ब्रूहि भगवन्निति॥ १४॥

प्रजापति ब्रह्माजी से देवताओं ने पूछा-हे प्रजापति! आप हमें यह बतायें कि भगवान् नृसिंह किन मंत्रों से प्रार्थना करने पर प्रसन्न होते हैं॥ १४॥

स होवाच प्रजापतिः ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च ब्रह्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥ १॥ (यथा प्रथममन्त्रोक्तावाद्यन्तौ तथा सर्वमन्त्रेषु द्रष्टव्यौ) ...यश्च विष्णुः ...॥ २॥ ..... यश्च महेश्वरः ...॥ ३॥ ..... यश्च पुरुषः .....॥ ४॥ ..... यश्चेश्वरः॥ ५॥ .....या सरस्वती .....॥ ६॥ ..... या श्रीः .....॥ ७॥ ..... या गौरी.....॥ ८॥ ..... या प्रकृतिः.....॥ ९॥ ..... या विद्या.... ॥ १०॥ .....यश्चोंकारः .....॥ ११॥ .... याश्चतस्रोऽर्धमात्राः .....॥ १२॥ ..... ये वेदाः साङ्गाः सशाखाः सेतिहासाः .....॥ १३॥ ..... ये पञ्चाग्नयः .....॥ १४॥ ..... याः सप्त महाव्याहृतयः .....॥ १५॥ ..... ये चाष्टौ लोकपालाः .....॥ १६॥ ..... ये चाष्टौ वसवः .....॥ १७॥ ..... ये चैकादश रुद्राः .....॥ १८॥ ..... ये च द्वादशादित्याः .....॥ १९॥ ..... ये चाष्टौ ग्रहाः .....॥ २०॥ .....यानि च पञ्च महाभूतानि .....॥ २१॥ .....

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

यश्च कालः ..... ॥ २२ ॥ .....यश्च मनुः ..... ॥ २३ ॥ ..... यश्च मृत्युः ..... ॥ २४ ॥ .....यश्च यमः ..... ॥ २५ ॥ ..... यश्चान्तकः ..... ॥ २६ ॥ ..... यश्च प्राणः ..... ॥ २७ ॥ ..... यश्च सूर्यः ..... ॥ २८ ॥ .....यश्च सोमः ..... ॥ २९ ॥ ..... यश्च विराट् पुरुषः ..... ॥ ३० ॥ ..... यश्च जीवः ..... ॥ ३१ ॥ ....यश्च सर्वम् ..... ॥ ३२ ॥ इति द्वात्रिंशत् इति तान्प्रजापतिरब्रवीदेतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तुवध्वम्॥ १५ ॥

यह सुनकर प्रजापति ने कहा-मंत्रराज आनुष्टुभ मंत्र के प्रत्येक अक्षर-३२ अक्षर से एक स्तुति मंत्र प्रकट हुआ है, इन्हीं मंत्रों से स्तुति करनी चाहिए॥ १५॥

[यहाँ प्रजापति ने नृसिंह भगवान् की स्तुति के रूप में बत्तीस मन्त्र प्रकट किये हैं। नृसिंह भगवान् को अनुष्टुप्मय कहा गया है (देखें-इसी उपनिषद् के १.२ की पाद टिप्पणी)। सृष्टि के उद्भव-विकास का उन्हें आधारभूत तत्त्व स्वीकारा गया है। यहाँ उन्हीं बत्तीस घटकों को आधार मानकर नृसिंह भगवान् की स्तुति की गई है। 'बत्तीस' मन्त्रों का विशेष प्रयोजन अनुष्टुप् छन्द के बत्तीस वर्ण होने से है। बत्तीस वर्णों वाले अनुष्टुप् छन्द के बत्तीस मन्त्रों द्वारा अनुष्टुप्मय नृसिंह भगवान् की स्तुति किया जाना और उनकी बत्तीस शक्ति धाराओं से तादात्म्य स्थापित करके लाभान्वित होना-समीचीन ही है।]

ततो देवः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति तस्माद्य एतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तौति स देवं पश्यति सोऽमृतत्वं च गच्छति य एवं वेदेति महोपनिषत्॥ १६ ॥

इसी से भगवान् प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न होकर प्रत्यक्ष दर्शन देते हैं। इसलिए जो नित्य प्रति इन मंत्रों से स्तुति करता है, वह प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त कर उनके विराट् रूप को देख लेता है और अमृतत्व को भी प्राप्त कर लेता है। इस तरह जानने वाले को वही (उक्त) फल प्राप्त होता है। यही महोपनिषद् है॥ १६॥

॥ पञ्चमोपनिषद् ॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य महाचक्रं नाम चक्रं नो ब्रूहि भगव इति सार्वकामिकं मोक्षद्वारं यद्योगिन उपदिशन्ति॥ १ ॥

एक बार देवताओं ने श्रद्धापूर्वक प्रजापति ब्रह्माजी से प्रश्न किया कि हे भगवन्! मंत्रराज आनुष्टुभ का जो 'महाचक्र' नामक चक्र है, उसके बारे में बताने की कृपा करें। यह महाचक्र सभी मनोकामनाओं को पूर्ण करता है तथा मुक्ति दाता है, ऐसा योगी लोग कहते हैं॥ १॥

[व्यक्त-अव्यक्त सृष्टि को अनुशासित ढंग से संचालित करने के लिए जो व्यवस्था चक्र बनाया गया है, उसे परमपुरुष का महाचक्र कहना उचित है। नृसिंह षट्चक्रोपनिषद् में चक्रों के विभिन्न रूप वर्णित हैं।]

स होवाच प्रजापतिः षडक्षरं वा एतत्सुदर्शनं महाचक्रं तस्मात्षडरं भवति षट्पत्रं चक्रं भवति षड्वा ऋतव ऋतुभिः संमितं भवति मध्ये नाभिर्भवति नाभ्यां वा एतेऽराः प्रतिष्ठिता मायया एतत्सर्वं वेष्टितं भवति नात्मानं माया स्पृशति तस्मान्मायया बहिर्वेष्टितं भवति॥ २ ॥

प्रश्न सुनकर ब्रह्माजी ने कहा- छः अक्षरों से युक्त यह सुदर्शन नामक महाचक्र है। छः ऋतुएँ इसमें छः अरों के समान हैं। यह अरे इसकी नाभि में प्रतिष्ठित होते हैं। मायारूप नेमि से यह सम्पूर्ण चक्र आवेष्टित है। आत्मा का स्पर्श माया नहीं करती है, इसलिए बाहर से ही वह षड्दल चक्र माया द्वारा घिरा हुआ है॥ २॥

अथाष्टारमष्टपत्रं चक्रं भवत्यष्टाक्षरा वै गायत्री गायत्र्या संमितं भवति बहिर्मायया वेष्टितं भवति क्षेत्रं क्षेत्रं वै मायैषा संपद्यते॥ ३ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

इसके पश्चात् अष्टाक्षर युक्त अष्टदल चक्र आठ अरों वाला चक्र बनता है। गायत्री के एक पद में आठ अक्षर होते हैं, इसलिए इस चक्र के अरों की समता गायत्री के आठ अक्षरों से होती है। इसे भी माया ने बाहर से आवृत कर रखा है। यह माया हर क्षेत्र में व्याप्त रहती है॥ ३॥

अथ द्वादशारं द्वादशपत्रं चक्रं भवति द्वादशाक्षरा वै जगती जगत्या संमितं भवति बहिर्मायया वेष्टितं भवति॥ ४॥

फिर द्वादशाक्षरी चक्र बनाते हैं, इस द्वादशाक्षरी चक्र की तुलना जगती छन्द से करते हैं, जिसका एक चरण द्वादश अक्षर का होता है। यह चक्र भी बाहर से ही माया द्वारा आवृत होता है॥ ४॥

अथ षोडशारं षोडशपत्रं चक्रं भवति षोडशकलो वै पुरुषः पुरुष एवेदं सर्वं पुरुषेण संमितं भवति मायया बहिर्वेष्टितं भवति॥ ५॥

तत्पश्चात् षोडशार चक्र बनाते हैं, जिसमें सोलह दल होते हैं, ये षोडश कलायें भगवान् नृसिंह की सोलह कलाओं के रूप में होती हैं। भगवान् सोलह कलायुक्त हैं, इस कारण इस चक्र को साक्षात् भगवान् ही समझना चाहिए। यह चक्र भी माया द्वारा बाहर से ही आवेष्टित है॥ ५॥

अथ द्वात्रिंशदरं द्वात्रिंशत्पत्रं चक्रं भवति द्वात्रिंशदक्षरा वा अनुष्टुब्भवत्यनुष्टुभा सर्वमिदं भवति बहिर्मायया वेष्टितं भवति॥ ६॥

तत्पश्चात् बत्तीस दलों वाला चक्र बत्तीस अरों के रूप में होता है। बत्तीस अक्षरों वाला अनुष्टुप् छन्द होता है। प्रत्येक अक्षर में एक अरे की भावना करनी चाहिए। माया के द्वारा यह भी बाहर से ही आवेष्टित होता है॥

अरैर्वा एतत्सुबद्धं भवति वेदा वा एतेऽराः पत्रैर्वा एतत्सर्वतः परिक्रामति छन्दांसि वै पत्राणि॥ ७॥

अरों के द्वारा यह भलीप्रकार आबद्ध होता है। इस चक्र के अरे वेद हैं, इसके पत्ते छन्द हैं, यह चक्र छंदरूपी पत्तों से ही सब तरफ घूमता है॥ ७॥

एतत्सुदर्शनं महाचक्रं तस्य मध्ये नाभ्यां तारकं यदक्षरं नारसिंहमेकाक्षरं तद्भवति षट्सु पत्रेषु षडक्षरं सुदर्शनं भवत्यष्टसु पत्रेष्वष्टाक्षरं नारायणं भवति द्वादशसु पत्रेषु द्वादशाक्षरं वासुदेवं भवति। षोडशसु पत्रेषु मातृकाद्याः सबिन्दुकाः षोडश स्वरा भवन्ति। द्वात्रिंशत्सु पत्रेषु द्वात्रिंशदक्षरं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं भवति। तद्वा एतत्सुदर्शनं नाम चक्रं महाचक्रं सार्वकामिकं मोक्षद्वारमृङ्मयं यजुर्मयं साममयं ब्रह्ममयममृतमयं भवति। तस्य पुरस्ताद्वसव आसते रुद्रा दक्षिणत आदित्याः पश्चाद्विश्वेदेवा उत्तरतो ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा नाभ्यां सूर्याचन्द्रमसौ पार्श्वयोः॥८॥

यह सुदर्शन नामक 'महाचक्र' बत्तीस दलों के कारण ही विख्यात है। उसके मध्य में स्थित नाभि स्थान में भगवान् नृसिंह से सम्बन्धित एकाक्षरी तारक मंत्र 'ॐ' का न्यास करना चाहिए। यह तारक मंत्र एकाक्षर का ही है। चक्र के छः पत्रों में 'सहस्रार हुं फट्' इस छः अक्षरों वाले सुदर्शन मंत्र का न्यास करना चाहिए। चक्र के अष्टदलों में अष्टाक्षरी नारायण मंत्र (ॐ नमो नारायणाय) का स्थान है(न्यास करे)। द्वादशाक्षर वासुदेव मंत्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) की चक्र के द्वादश दलों में स्थापना करनी चाहिए। षोडश दलों में वर्णमाला के प्रारम्भ के स्वर और बिन्दु सहित सोलह अक्षरों का न्यास करना चाहिए। चक्र के बत्तीस दलों में बत्तीस अक्षर वाले मंत्रराज आनुष्टुभ का न्यास करे। यह सुदर्शन नामक महाचक्र समस्त मनोभिलषित कार्य पूरे करने वाला,

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मुक्ति का द्वार, ऋक्, यजुः, साम वेदरूप, साक्षात् परब्रह्म और अमृतमय है। अष्टवसु इसके पूर्व भाग में, एकादश रुद्र दक्षिण भाग में, द्वादश आदित्य पश्चिम में, विश्वेदेवा उत्तर में, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर नाभि में तथा सूर्य और चन्द्रमा पार्श्व भाग में स्थित होते हैं॥ ८॥

[यहाँ जिस सुदर्शन महाचक्र के निर्माण की प्रक्रिया वर्णित है, उसका रेखा चित्र-यन्त्र भी बनता है। साधना-अनुष्ठान के अन्तर्गत मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र का उल्लेख मिलता है। इन यन्त्रों को धारण करने का विशेष लाभ बताया गया है।]

तदेतदृचाभ्युक्तं— ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत इति॥ ९॥

वेद की ऋचा कहती है- परमाकाश रूप अविनाशी (भगवान् नृसिंह) में सभी वेद स्थित हैं। सभी देवता भी उन्हीं में स्थित हैं। उन परमेश्वर(भगवान् नृसिंह एवं उनके महाचक्र सुदर्शन) को जो नहीं जानता, उसे ऋग्वेदादि वेदाध्ययन से कोई लाभ नहीं। (भगवान् नृसिंह एवं उनके चक्र को) जानने वाला साधक श्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है।॥ ९॥

तदेतत्सुदर्शनं महाचक्रं बालो वा युवा वा वेद स महान्भवति स गुरुःसर्वेषां मन्त्राणामुपदेष्टा भवत्यनुष्टुभा होमं कुर्यादनुष्टुभार्चनं कुर्यात्तदेतद्रक्षोघ्नं मृत्युतारकं गुरुणा लब्धं कण्ठे बाहौ शिखायां वा बध्नीत सप्तद्वीपवती भूमिर्दक्षिणार्थं नावकल्पते तस्माच्छ्रद्धया यां कांचिद्गां दद्यात्सा दक्षिणा भवति ॥ १०॥

यदि कोई बालक अथवा युवा इस सुदर्शन नामक महाचक्र की जानकारी प्राप्त कर लेता है, वह महानता प्राप्त कर सबका गुरु हो जाता है। वह सभी मन्त्रों का उपदेष्टा बन जाता है। इस यंत्र का पूजन और हवन, मंत्रराज आनुष्टुभ के द्वारा होता है। इस सुदर्शन नामक यन्त्र को राक्षसों के भय से मुक्त करने वाला तथा मृत्यु से तार देने वाला कहा गया है। गुरु द्वारा प्राप्त इस यंत्र को कण्ठ, बाँह या शिखा में धारण करे। सप्तद्वीपा पृथ्वी भी यदि दक्षिणा में इसके उपदेशक गुरु को दी जाये, तो कम है। इसलिए जितना बन पड़े, उतना श्रद्धायुक्त भूदान करना चाहिए॥ १०॥

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य फलं नो ब्रूहि भगव इति॥ ११॥

देवताओं ने प्रजापति से पूछा-भगवन्! मंत्रराज आनुष्टुभ का क्या फल है ? हमें यह बताने की कृपा करें॥

स होवाच प्रजापतिर्य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स आदित्यपूतो भवति स सोमपूतो भवति स सत्यपूतो भवति स ब्रह्मपूतो भवति स विष्णुपूतो भवति स रुद्रपूतो भवति स देवपूतो भवति स सर्वपूतो भवति स सर्वपूतो भवति॥ १२॥

प्रजापति ने कहा-नियमित रूप से इस मंत्रराज का अध्ययन जप करने वाला अग्नितप्त स्वर्ण की तरह हो जाता है। सूर्य, चन्द्र एवं वायु के द्वारा भी वह पवित्र कर दिया जाता है। सत्य के द्वारा पवित्र होकर लोक एवं ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र सहित सभी देवों द्वारा वह पवित्र हो जाता है। वह सभी के द्वारा पवित्र हो जाता है॥ १२॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स मृत्युं तरति स पाप्मानं तरति स ब्रह्महत्यां तरति स भ्रूणहत्यां तरति स वीरहत्यां तरति स सर्वहत्यां तरति स संसारं तरति स सर्वं तरति स सर्वं तरति॥ १३॥

जो इस मंत्रराज आनुष्टुभ नारसिंह मंत्र का नियमित जप करता है, वह मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

वह पाप से मुक्त हो जाता है। वह ब्रह्महत्या, भ्रूणहत्या तथा वीर (भ्रातृ) हत्या से मुक्त हो जाता है। वह समस्त प्रकार की हत्याओं से मुक्त हो जाता है। वह संसार-सागर से पार हो जाता है। वह सबको पार कर देता है ॥१३॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निं स्तम्भयति स वायुं स्तम्भयति स आदित्यं स्तम्भयति स सोमं स्तम्भयति स उदकं स्तम्भयति स सर्वान्देवांस्तम्भयति स सर्वान्ग्रहांस्तम्भयति स विषं स्तम्भयति स विषं स्तम्भयति॥ १४॥

जो इस मंत्रराज आनुष्टुभ नारसिंह मंत्र का नियमित जप करता है, वह अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा और जल के प्रवाह की गति को अवरुद्ध कर देता है। वह देवताओं को स्तम्भित कर सकता है। वह सभी ग्रहों की गति को अवरुद्ध कर सकता है तथा विष भी स्तम्भित कर सकता है॥ १४॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स देवानाकर्षयति स यक्षानाकर्षयति स नागानाकर्षयति स ग्रहानाकर्षयति स मनुष्यानाकर्षयति स सर्वानाकर्षयति स सर्वानाकर्षयति॥१५॥

जो इस मंत्रराज आनुष्टुभ नारसिंह मंत्र का नियमित जप करता है, वह देवताओं, यक्षों, नागों, ग्रहों तथा सभी मनुष्यों को अपने समीप आकर्षित कर लेता है, वह सबको आकर्षित कर सकता है॥ १५॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स भूर्लोकं जयति स भुवर्लोकं जयति स स्वर्लोकं जयति स महर्लोकं जयति स जनोलोकं जयति स तपोलोकं जयति स सत्यलोकं जयति स सर्वांल्लोकाञ्जयति स सर्वांल्लोकाञ्जयति॥ १६॥

जो इस मंत्रराज आनुष्टुभ नारसिंह मंत्र का नियमित जप करता है,वह भूलोक,भुवः लोक,स्वःलोक, महः लोक,जनःलोक,तपःलोक और सत्यलोक को जीत लेता है। वह समस्त लोकों पर विजय प्राप्त कर लेता है॥१६

य एतं मन्त्रराजमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निष्टोमेन यजते स उक्थ्येन यजते स षोडशिना यजते स वाजपेयेन यजते सोऽतिरात्रेण यजते सोऽप्तोर्यामेण यजते सोऽश्वमेधेन यजते स सर्वैः क्रतुभिर्यजते स सर्वैः क्रतुभिर्यजते॥ १७॥

जो इस मंत्रराज आनुष्टुभ नारसिंह मंत्र का नियमित जप करता है, वह अग्निष्टोम यज्ञ, उक्थ्य याग, षोडशी याग, वाजपेय यज्ञ, अतिरात्र यज्ञ, अप्तोर्याम याग और अश्वमेध यज्ञों का यजन कर लेता है अर्थात् सभी यज्ञों का फल प्राप्त कर लेता है। वह सभी क्रतुओं से यजन कर लेता है॥ १७॥

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स ऋचोऽधीते स यजूंष्यधीते स सामान्यधीते सोऽथर्वणमधीते सोऽङ्गिरसमधीते स शाखा अधीते स पुराणान्यधीते स कल्पानधीते स गाथामधीते स नाराशंसीरधीते स प्रणवमधीते यः प्रणवमधीते स सर्वमधीते स सर्वमधीते॥१८॥

जो इस आनुष्टुभ नारसिंह मंत्र का नियमित जप करता है,उसे ऋग्,यजुः,साम और अथर्ववेद के स्वाध्याय का फल प्राप्त होता है। उसे वेद के आंगिरस भाग के स्वाध्याय का फल मिलता है। उसे पुराण,कल्प गाथाओं, नाराशंसी और प्रणव के अध्ययन का फल प्राप्त होता है। जप करने वाला मानो सबका अध्ययन कर लेता है॥१८

अनुपनीतशतमेकमेकेनोपनीतेन तत्सममुपनीतशतमेकमेकेन गृहस्थेन तत्समं गृहस्थशतमेकमेकेन वानप्रस्थेन तत्समं वानप्रस्थशतमेकमेकेन यतिना तत्समं यतीनां तु शतं पूर्णमेकमेकेन रुद्रजापकेन तत्समं रुद्रजापकशतमेकमेकेनाथर्वशिरः शिखाध्यापकेन तत्सममथर्वशिरः शिखाध्यापकशतमेकमेकेन तापनीयोपनिषदध्यापकेन तत्समं तापनीयोपनिषदध्यापकशतमेकमेकेन मन्त्रराजाध्यापकेन तत्सममम्॥ १९॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

एक यज्ञोपवीतधारी सौ बिना यज्ञोपवीतधारी बालकों के समान होता है। एक वेदपाठी सद्गृहस्थ ऐसे सौ ब्रह्मचारियों के समान होता है। एक वानप्रस्थ ऐसे सौ गृहस्थों के समान होता है। एक संन्यासी ऐसे सौ वानप्रस्थियों के समान होता है। एक रुद्रजापक ऐसे सौ संन्यासियों के समान होता है। एक अथर्वशिरस् एवं अथर्वशिख उपनिषद् का स्वाध्याय करने वाला ऐसे सौ रुद्रजापकों के तुल्य है। ऐसे सौ अथर्वशिरस् के पाठ करने वाले एक नारसिंह मंत्र का जप करने वाले के बराबर होते हैं॥ १९॥

तद्वा एतत्परमं धाम मन्त्रराजाध्यापकस्य यत्र न सूर्यस्तपति यत्र न वायुर्वाति यत्र न चन्द्रमा भाति यत्र न नक्षत्राणि भान्ति यत्र नाग्निर्दहति यत्र न मृत्युः प्रविशति यत्र न दुःखं सदानन्दं परमानन्दं शान्तं शाश्वतं सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं योगिध्येयं परमं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः॥ २०॥

भगवान् नारसिंह के मंत्रराज का साधक उस परमधाम को प्राप्त करता है, जहाँ पर वायु गमन नहीं करती, जहाँ पर सूर्य का ताप नहीं होता, जहाँ न चन्द्रमा का प्रकाश होता है, न तारे चमकते हैं; जिस स्थान पर अग्नि प्रज्वलित नहीं होती तथा जहाँ मृत्यु का प्रवेश नहीं होता, जो दुःख रहित स्थान है, जो सदैव आनन्ददायी, परम आनन्ददायक, शान्त, शाश्वत, परम कल्याणकारी, ब्रह्मादि देवों द्वारा वन्दित, योगियों का परमलक्ष्य, परमपद है; जहाँ जाकर साधक इस संसार से मुक्त हो जाते हैं॥ २०॥

तदेतदृचाभ्युक्तम्— तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम्। तदेतन्निष्कामस्य भवति तदेतन्निष्कामस्य भवति य एवं वेदेति महोपनिषत्॥ २१॥

ऋग्वेद की ऋचा में भी कहा गया है- जिस प्रकार सामान्य नेत्रों से आकाश में स्थित सूर्यदेव को सहजता से देखा जाता है, उसी प्रकार विद्वज्जन अपने ज्ञान चक्षुओं से विष्णुदेव के (देवत्व के परमपद को) श्रेष्ठ स्थान को देखते (प्राप्त करते) हैं। जागरूक विद्वान् स्तोतागण विष्णुदेव के उस परम पद को प्रकाशित करते हैं (अर्थात् जन सामान्य के लिए प्रकट करते हैं); जो ऐसा जानता है, ऐसे कामना रहित साधक को वह दिव्य पद प्राप्त होता है; यही महोपनिषद् है॥ २१॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत्समाप्ता॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ नृसिंहषट्चक्रोपनिषद् ॥

यह एक लघुकाय उपनिषद् है। यह उपनिषद् देवताओं और प्रजापति के मध्य हुए प्रश्नोत्तर से प्रकट हुई है। एक बार देवों ने प्रजापति से 'नारसिंह चक्र' के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, जिसका समाधान प्रजापति ने प्रदान किया। प्रजापति ने नारसिंह चक्र की संख्या 'छह' बताई। इसी आधार पर इस उपनिषद् की 'नृसिंहषट्चक्रोपनिषद्' संज्ञा हुई। छहों चक्रों का नाम बताते हुए प्रजापति ने कहा-प्रथम आचक्र, द्वितीय सुचक्र, तृतीय महाचक्र, चतुर्थ सकललोक रक्षणचक्र, पंचम द्यूत चक्र और षष्ठ असुरान्तक चक्र है। तत्पश्चात् देवों ने तीन वलय और उनके भेदों-प्रभेदों की बात पूछी है, जिसे प्रजापति ने बड़ी स्पष्टता से उत्तर दिया है। पुनः देवों ने इन चक्रों को धारण करने के स्थान के विषय में प्रश्न पूछा, तब प्रजापति ने इनके धारण करने के स्थान तथा धारण करने के लाभ भी बताए हैं। अन्त में इस उपनिषद् के अध्ययन की फलश्रुति बताते हुए उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

ॐ देवा ह वै सत्यं लोकमायंस्तं प्रजापतिमपृच्छन्नारसिंहचक्रन्नो ब्रूहीति। तान्प्रजापति-र्नारसिंहचक्रमवोचत्। षड्वै नारसिंहानि चक्राणि भवन्ति। यत्प्रथमं तच्चतुरं यद्द्वितीयं तच्चतुरं यत्तृतीयं तदष्टारं यच्चतुर्थं तत्पञ्चारं यत्पञ्चमं तत्पञ्चारं यत्षष्ठं तदष्टारं तदेतति षडेव नारसिंहानि चक्राणि भवन्ति॥ १ ॥

एक बार देवताओं ने सत्यलोक में पहुँचकर प्रजापति (ब्रह्माजी) से कहा-आप हमें नारसिंह चक्र का उपदेश प्रदान करने की कृपा करें। तदुपरान्त प्रजापति ने उन समस्त देवों को नारसिंह चक्र का उपदेश प्रदान किया, जो इस प्रकार है-नारसिंह चक्र की संख्या छः होती है। प्रथम चक्र चार 'अर' वाला, द्वितीय भी चार 'अर' वाला, तृतीय आठ 'अर' वाला, चतुर्थ पाँच 'अर' वाला, पंचम भी पाँच 'अर' वाला तथा छठवाँ आठ 'अर' वाला है। इस तरह से ये छः नारसिंह चक्र कहलाते हैं॥ १ ॥

अथ कानि नामानि भवन्ति। यत्प्रथमं तदाचक्रं यद्द्वितीयं तत्सुचक्रं यत्तृतीयं तन्महाचक्रं यच्चतुर्थं तत्सकललोकरक्षणचक्रं यत्पञ्चमं तद्द्यूतचक्रं यद्वै षष्ठं तदसुरान्तकचक्रं तदेतानि षडेव नारसिंहचक्रनामानि भवन्ति॥ २ ॥

देवों के द्वारा यह पूछने पर कि उनके क्या-क्या नाम हैं? यह सुनकर प्रजापति ने कहा कि प्रथम आचक्र, दूसरा सुचक्र, तीसरा महाचक्र, चौथा सकललोक रक्षणचक्र, पाँचवाँ द्यूतचक्र एवं छठवाँ असुरान्तक चक्र के नाम से प्रख्यात है। ये ही छः नारसिंह चक्रों के नाम हैं॥ २ ॥

अथ कानि त्रीणि वलयानि भवन्ति। यत्प्रथमं तदान्तरवलयं भवति। यद्द्वितीयं तन्मध्यमं वलयं भवति। यत्तृतीयं तद्बाह्यं वलयं भवति। तदेतानि त्रीण्येव वलयानि भवन्ति। यदा तद्वैतद्बीजं यन्मध्यमं तां नारसिंहगायत्रीं यद्बाह्यं तन्मन्त्रः॥ ३ ॥

तदनन्तर देवों द्वारा यह पूछे जाने पर कि उसके तीन वलय कौन-कौन से होते हैं? प्रजापति ने बताया कि प्रथम आन्तर, द्वितीय मध्यम और तृतीय बाह्य है। ये ही तीन वलय कहलाते हैं। इनमें से जो मध्यम बीज है, वह नारसिंह गायत्री और जो बाह्य है, वही मन्त्र है॥ ३ ॥

अथ किमान्तरं वलयम्। षड्वान्तराणि वलयानि भवन्ति। यन्नारसिंहं तत्प्रथमस्य यन्माहालक्ष्म्यं तद्द्वितीयस्य यत्सारस्वतं तत्तृतीयस्य यस्य यत्कामं देवं तच्चतुर्थस्य यत्प्रणवं

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

तत्पञ्चमस्य यत्क्रोधदैवतं तत्षष्ठस्य। तदेतानि षण्णां नारसिंहचक्राणां षडान्तराणि वलयानि भवन्ति॥ ४॥

आन्तर वलय कितने हैं? देवों द्वारा यह पूछे जाने पर प्रजापति ब्रह्मा जी ने कहा कि आन्तर वलयों की संख्या छः है। नारसिंहम् पहले का है, महालक्ष्म्यं दूसरे का सारस्वत तीसरे का है, जिन लोगों का जो इष्टदेव हो, वह चौथे का है, ओंकार पाँचवें का और क्रोध दैवत छठे का नाम है। अतः ये छः नारसिंह चक्रों के छः आन्तर वलय हैं॥ ४॥

अथ किं मध्यमं वलयम्। षड्वै मध्यमानि वलयानि भवन्ति। यन्नारसिंहाय तत्प्रथमस्य यद्विद्महे तद्द्वितीयस्य यद्वज्रनखाय तत्तृतीयस्य यद्धीमहि तच्चतुर्थस्य यत्तन्नस्तत्पञ्चमस्य यत्सिंहः प्रचोदयादिति तत्षष्ठस्य। तदेतानि षण्णां नारसिंहचक्राणां षण्मध्यमानि वलयानि भवन्ति॥ ५॥

देवों ने जब यह पूछा कि मध्यम वलयों की संख्या कितनी है? तो प्रजापति जी ने उत्तर दिया कि मध्यम वलयों की संख्या भी छः ही है। 'नारसिंहाय' प्रथम का है, 'विद्महे' दूसरे का, 'वज्रनखाय' तीसरे का है, 'धीमहि' चौथे का, 'तन्नः' पाँचवें का, 'सिंहः प्रचोदयात्' छठे का नाम है। अतः ये छः नारसिंह चक्रों के छः मध्यम वलय होते हैं॥ ५॥

अथ किं बाह्यं वलयम्। षड्वै बाह्यानि वलयानि भवन्ति। यदाचक्रं यदात्मा तत्प्रथमस्य यत्सुचक्रं यत्प्रियात्मा तद्द्वितीयस्य यन्महाचक्रं यज्ज्योतिरात्मा तत्तृयीयस्य यत्सकललोकरक्षणचक्रं यन्मायात्मा तच्चतुर्थस्य यदाचक्रं यद्योगात्मा तत्पञ्चमस्य यदसुरान्तकचक्रं यत्सत्यात्मा तत्षष्ठस्य। तदेतानि षण्णां नारसिंहचक्राणां षट् बाह्यानि वलयानि भवन्ति॥६॥

देवों ने पुनः पूछा कि बाह्य वलय कितने और कौन हैं? इसका उत्तर देते हुए प्रजापति ने कहा कि बाह्य वलय भी छः होते हैं। जो आचक्र एवं आत्मा है, वह पहले का है; जो सुचक्र तथा प्रियात्मा है, वह दूसरे का है; जो महाचक्र एवं ज्योतिरात्मा है, वह तीसरे का है; जो सम्पूर्ण लोकों का रक्षण चक्र एवं मायात्मा है, वह चौथे का है; जो आचक्र एवं योगात्मा है, वह पाँचवें का है; जो असुरान्तक चक्र एवं सत्यात्मा है, वह छठे का नाम है। अतः ये ही छः नारसिंह चक्रों के छः बाह्य वलय हैं॥ ६॥

[यहाँ प्रथम बाह्य वलय में 'आचक्र' का उल्लेख है; किन्तु पाँचवें वलय के रूप में पुनः इसी 'आचक्र' को उद्धृत किया गया है, जबकि इसके पूर्व पाँचवें वलय के रूप में 'द्यूतचक्र' को स्वीकारा गया है, यह परिवर्तन विचारणीय है।]

कैतानि न्यस्यानि। यत्प्रथमं तद्धृदये यद्द्वितीयं तच्छिरसि यत्तृतीयं तच्छिखायां यच्चतुर्थं तत्सर्वेष्वङ्गेषु यत्पञ्चमं तत्सर्वेषु (?) यत्षष्ठं तत्सर्वेषु देशेषु। य एतानि नारसिंहानि चक्राण्येतेष्वङ्गेषु बिभृयात् तस्यानुष्टुप् सिध्यति। तं भगवान् नृसिंहः प्रसीदति। तस्य कैवल्यं सिद्ध्यति। तस्य सर्वे लोकाः सिध्यन्ति। तस्य सर्वे जनाः सिद्ध्यन्ति। तस्मादेतानि षण्णां नारसिंहचक्राण्यङ्गेषु न्यस्यानि भवन्ति। पवित्रं च एतत्तस्य न्यसनम्। न्यसनान्नृसिंहानन्दी भवति। कर्मण्यो भवति। ब्रह्मण्यो भवति। अन्यसनान्न नृसिंहानन्दी भवति। न कर्मण्यो भवति। तस्मादेतत्पवित्रं तस्य न्यसनम्॥ ७॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

इनका न्यास कहाँ करना चाहिए? अर्थात् कहाँ धारण करना चाहिए? देवताओं के द्वारा यह पूछे जाने पर प्रजापति ने कहा कि जो प्रथम है उसे हृदय में, जो द्वितीय है उसे सिर में, जो तृतीय है उसे शिखा में, जो चतुर्थ है उसे समस्त अंगों में, जो पञ्चम है उसे सभी में तथा जो षष्ठ है उसे सम्पूर्ण देशों (पूरे शरीर) में धारण करना चाहिए। जो मनुष्य इन नारसिंह चक्रों को अपने समस्त अङ्गों में धारण करता है, उसे अनुष्टुप् की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। उस पर भगवान् नृसिंह प्रसन्न होते हैं। उसे कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। उसके समस्त लोक सिद्ध हो जाते हैं। वह समस्त लोकों को प्राप्त कर लेता है। उसे सभी लोग (समस्त परिजन) सिद्ध हो जाते हैं अर्थात् उसके अनुयायी वशानुवर्ती हो जाते हैं। ये ही छः नारसिंह चक्रों के अङ्गों में न्यास के स्थान हैं। इनका न्यास अत्यधिक शुद्ध है। इनके न्यास द्वारा मनुष्य नृसिंह को आनन्द प्रदान करने वाला हो जाता है। वह कर्मण्य (श्रेष्ठ कर्म) का ज्ञाता हो जाता है, वह ब्रह्मज्ञाता हो जाता है। इस न्यास के बिना नृसिंह प्रसन्न नहीं होते और न ही मनुष्य कर्मण्य हो सकता है। अतः यही अत्यन्त पवित्र है, इसका न्यास ही अत्यन्त शुद्ध-पवित्र है॥ ७॥

[यहाँ न्यास के प्रकरण में चतुर्थ न्यास में सभी अंगों तथा छठे न्यास में सभी स्थानों का उल्लेख है; किन्तु पाँचवें न्यास में सभी शब्द के साथ किसी स्थान का उल्लेख क्यों नहीं हुआ, यह विचारणीय है।]

यो वा एतं नारसिंहं चक्रमधीते स सर्वेषु वेदेष्वधीतो भवति। स सर्वेषु यज्ञेषु याजको भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सर्वेषु मन्त्रेषु सिद्धो भवति। स सर्वत्र शुद्धो भवति। स सर्वरक्षो भवति। भूतपिशाचशाकिनीप्रेतवंताकनाशको भवति। स निर्भयो भवति। तदेतन्नाश्रद्दधानाय प्रब्रूयात्तदेतन्नाश्रद्दधानाय प्रब्रूयादिति॥ ८॥

जो मनुष्य इस नारसिंह चक्र उपनिषद् का अध्ययन करता है, वह सम्पूर्ण वेदों का भी अध्ययन करने वाला हो जाता है। वह समस्त यज्ञों का कर्ता समझा जाता है अर्थात् वह सभी यज्ञ कर लेने वाला माना जाता है। उसने समस्त तीर्थों में स्नान भी कर लिया है, ऐसा जानना चाहिए। उसे सभी मन्त्रों की सिद्धियाँ भी मिल जाती हैं। वह पूर्णतया शुद्ध हो जाता है। वह सबकी रक्षा करने में समर्थ होता है। वह भूत, पिशाच, शाकिनी, प्रेत एवं वंताक आदि भय प्रदान करने वाली योनियों का नाश करने वाला भी होता है अर्थात् उसके पास ये सभी अनिष्टकारक तत्त्व फटक नहीं सकते। वह निर्भय हो जाता है। इस नारसिंह चक्र का उपदेश श्रद्धाहीन के समक्ष किसी भी स्थिति में नहीं करना चाहिए॥ ८॥

॥ इति नृसिंहषट्चक्रोपनिषत् समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ पाशुपतब्रह्मोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें वालखिल्य ऋषि एवं स्वयंभू ब्रह्माजी के बीच हुए 'हंस सूत्र' विषयक प्रश्नोत्तर का वर्णन है। यह उपनिषद् दो काण्डों (पूर्वकाण्ड और उत्तरकाण्ड) में प्रविभक्त है।

पूर्वकाण्ड में सर्वप्रथम जगत्-नियन्ता के विषय में सात प्रश्न किए गये हैं, जिनका क्रमशः उत्तर दिया गया है। तत्पश्चात् सृष्टियज्ञ में कर्त्ता का निरूपण, नादानुसन्धान यज्ञ, परमात्मा का 'हंस' रूप, यज्ञसूत्र एवं ब्रह्मसूत्र में साम्य, प्रणव हंस का यज्ञत्व, ब्रह्मसन्ध्या का क्रियारूप मानसिक यज्ञ, हंस और प्रणव का अभेदानुसंधान, ९६ हंस सूत्र हंसात्मविद्या से मुक्ति, बाह्य यज्ञ की अपेक्षा आन्तरिक यज्ञ की श्रेष्ठता, ज्ञान यज्ञरूप अश्वमेध तथा तारकहंस ज्योति का वर्णन है।

उत्तरकाण्ड में सर्वप्रथम ब्रह्मसम्पत्ति का तत्पश्चात् परमात्मा में जगत् का आविर्भाव मायाजन्य, हंसार्कप्रणव ध्यान की विधि, शिव द्वारा मन तथा इन्द्रियों की प्रेरकता, आत्मा में अन्य की अनुभूति माया जन्य, आत्मज्ञानी की ब्रह्मात्मता, सत्यादि श्रेष्ठविद्या का साधनत्व, आत्मज्ञानी की आवागमन से मुक्ति, ब्रह्मज्ञानी के लिए भक्ष्याभक्ष्य विवेक की अनुपयोगिता और अन्त में ज्ञानी द्वारा अपने में सभी के दर्शन करने की स्थिति का वर्णन है। इस प्रकार ब्रह्मविषयक गूढ़ सिद्धान्तों का बहुत विशद वर्णन इस उपनिषद् में किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृष्णोपनिषद्)

॥ पूर्वकाण्डः ॥

अथ ह वै स्वयंभूर्ब्रह्मा प्रजाः सृजानीति कामकामो जायते कामेश्वरो वैश्रवणः ॥ १ ॥

एक बार स्वयंभू भगवान् ब्रह्माजी के मन में यह आकांक्षा प्रादुर्भूत हुई कि "मैं प्रजा का सृजन करूँ"। उसी सृष्टि क्रम में कामेश्वर (रुद्र) एवं वैश्रवण की उत्पत्ति हुई॥ १ ॥

वैश्रवणो ब्रह्मपुत्रो वालखिल्यः स्वयंभुवं परिपृच्छति जगतां का विद्या का देवता जाग्रत्तुरीययोरस्य को देवो यानि कस्य वशानि कालाः कियत्प्रमाणाः कस्याज्ञया रविचन्द्रग्रहादयो भासन्ते कस्य महिमा गगनस्वरूप एतदहं श्रोतुमिच्छामि नान्यो जानाति त्वं ब्रूहि ब्रह्मन् ॥ २ ॥

तदुपरान्त ब्रह्मपुत्र वैश्रवण वालखिल्य ऋषि ने स्वयंभू ब्रह्माजी से प्रश्न किया- हे भगवन्! यह जगत् विद्या क्या है? जाग्रत् और तुरीयावस्था के देवता कौन हैं? यह जगत् किसके वश में है? काल का क्या प्रमाण है? सूर्य एवं चन्द्रादि ग्रह किसकी आज्ञा से प्रतिभासित (प्रकाशित) होते हैं? किसकी महिमा गगन के सदृश विशाल है? हम इन सभी प्रश्नों के उत्तर आपसे सुनना चाहते हैं। आपके अतिरिक्त अन्य और कोई इन प्रश्नों का ज्ञाता नहीं है, अतः हे ब्रह्मन्! आप कृपा करके इन प्रश्नों को बताने का अनुग्रह करें॥ ३ ॥

स्वयंभूरुवाच कृत्स्नजगतां मातृका विद्या॥ ३ ॥

स्वयंभू (ब्रह्माजी) ने कहा-सम्पूर्ण जगत् (उत्पन्न) करने वाली मातृका विद्या (अक्षर विद्या) है॥ ३ ॥

द्वित्रिवर्णसहिता द्विवर्णमाता त्रिवर्णसहिता। चतुर्मात्रात्मकोङ्कारो मम प्राणात्मिका देवता ॥४ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

वह दो वर्ण (हंस) से युक्त तथा तीन वर्ण (प्रणव) वाली है। दो वर्ण वाली भी तीन वर्ण के सहित (प्रणव) ही है। चार मात्राओं से युक्त ओंकार मेरा प्राण रूप देवता है॥ ४॥

अहमेव जगत्त्रयस्यैकः पतिः॥ ५॥

मैं ही एकमात्र तीनों लोकों का पति (भरण-पोषण करने वाला) हूँ॥। ५॥

मम वशानि सर्वाणि युगान्यपि॥ ६॥

समस्त युग मेरे ही वश (नियंत्रण) में रहते हैं॥ ६॥

अहोरात्रादयो मत्संवर्धिताः कालाः॥ ७॥

मेरे द्वारा ही अहोरात्र अर्थात् दिन-रात्रि आदि काल संवर्द्धित (प्रादुर्भूत) हुए हैं॥ ७॥

मम रूपा रवेस्तेजश्चन्द्रनक्षत्रग्रहतेजांसि च॥ ८॥

रवि, चन्द्रमा , समस्त नक्षत्रों एवं ग्रह आदि में जो तेज विद्यमान है, वह मेरा ही स्वरूप है॥८॥

गगनो मम त्रिशक्तिमायास्वरूपो नान्यो मदस्ति॥ ९॥

यह आकाश त्रिशक्ति युक्त (सत, रज, तम) मायारूप में मेरा ही स्वरूप है। मेरे सिवाय अन्य और कुछ भी नहीं है॥ ९॥

तमोमायात्मको रुद्रः सात्त्विकमायात्मको विष्णू राजसमायात्मको ब्रह्मा। इन्द्रादयस्तामसराजसात्मिका न सात्त्विकः कोऽपि। अघोरः सर्वसाधारणस्वरूपः॥ १०॥

तमोगुणी मायारूप- रुद्र हैं, विष्णु सतोगुणी मायारूप हैं और ब्रह्मा रजोगुणी माया रूप हैं। इन्द्रादि देवता रजोगुण एवं तमोगुण से ओत-प्रोत हैं। इनमें से कोई भी देव सात्त्विक नहीं हैं। एक मात्र केवल अघोर (शिव) ही सर्वसाधारण सामान्य रूप वाले हैं॥ १०॥

समस्तयागानां रुद्रः पशुपतिः कर्ता। रुद्रो यागदेवो विष्णुरध्वर्युर्होतेन्द्रो देवता यज्ञभुग् मानसं ब्रह्म महेश्वरं ब्रह्म॥ ११॥

समस्त यज्ञों के कर्त्ता-पशुपति रुद्र भगवान् हैं, भगवान् विष्णु यज्ञ के अध्वर्यु हैं तथा इन्द्रदेव होता (मंत्र बोलने वाले) हैं। महेश्वर-ब्रह्म के मानस रूप ब्रह्म ही इस यज्ञ के भोक्ता हैं॥ ११॥

मानसो हंसः सोऽहं हंस इति। तन्मययज्ञो नादानुसंधानम्। तन्मयविकारो जीवः॥ १२॥

उस मानस ब्रह्म का रूप ही ''हंसः-सोऽहं'' है। इस तन्मयता की प्राप्ति हेतु जो यज्ञ सम्पन्न किया जाता है, वही नाद-अनुसंधान है। तन्मय (उस चैतन्यमयता) का विकार ही जीव है॥ १२॥

[हंस साधना और सोऽहं साधना एक ही कही गई है। एक ओर से हंसः यही नाद दूसरी ओर से सोऽहं भाषित होता है। भाव रूप में मैं वह ही हूँ (हं-सः) तथा वह मैं ही हूँ (सोऽहं) यह दोनों भाव तत्त्वतः जीव और ब्रह्म के एकत्व के ही बोधक हैं।]

परमात्मस्वरूपो हंसः। अन्तर्बहिश्चरति हंसः। अन्तर्गतोऽनवकाशान्तर्गतसुपर्णस्वरूपो हंसः॥१३॥

(वह) 'हंस' परमात्मा का स्वरूप है। (वह) हंस बाह्य एवं अन्तः में विचरण करता रहता है। अन्तः के अनवकाश वाले स्थल में यह हंस सुपर्णमय (ईश्वर-परब्रह्म) रूप में विद्यमान रहता है॥ १३॥

षण्णवतितत्त्वतन्तुवद्व्यक्तं चित्सूत्रत्रयचिन्मयलक्षणं नवतत्त्वत्रिरावृतं ब्रह्मविष्णुमहेश्वरात्मकमग्नित्रयकलोपेतं चिद्ग्रन्थिबन्धनम् अद्वैतग्रन्थिः॥ १४॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

यज्ञसाधारणाङ्गं बहिरन्तर्ज्वलनं यज्ञाङ्गलक्षणब्रह्मस्वरूपो हंसः ॥ १५ ॥

छियानवे तत्त्व तन्तुओं के रूप में व्यक्त होने वाला, चित् के तीन सूत्रों (सत्, चित्, आनन्द) से चिन्मय लक्षणों वाला त्रिगुणित होने से नौ तत्त्वों वाला, ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप तीन अग्नियों से संयुक्त, चिद् ग्रन्थियों से बँधा हुआ, अद्वैत ग्रन्थि (ब्रह्मग्रन्थि) से युक्त यज्ञ के सामान्य अंग-रूप में बाह्य एवं अन्तःकरण को प्रकाशित करने वाला यज्ञोपवीत, ब्रह्म के लक्षणों से युक्त हंस रूप है॥ १४-१५ ॥

[यहाँ यज्ञोपवीत की व्याख्या ब्रह्मसूत्र के रूप में की गई है। स्थूल यज्ञोपवीत का निर्माण जिन चेतन तत्त्वों के आधार पर किया जाता है, यहाँ उनका उल्लेख ऋषि कर रहे हैं। यज्ञोपवीत बनाने में चार अंगुलों अथवा उस माप को किसी वस्तु पर कच्चे सूत्र के तीन तारों को ९६ बार लपेटा जाता है। उसे बटकर तिहरन करके पुनः बटते हैं। इस प्रकार एक लड़ में ९ तार हो जाते हैं। इसे तीन लड़ों वाले यज्ञोपवीत रूप में ग्रथित किया जाता है। प्रारंभिक ग्रंथियों के बाद अंत में ब्रह्मग्रन्थि लगाई जाती है। इन्हीं का विश्लेषण-ऋषि ने किया है। अन्य बातें तो मन्त्रार्थ में स्पष्ट हैं, केवल ९६ तत्त्वों का उल्लेख नहीं है। इसका स्पष्टीकरण सामवेदीय छान्दोग्य परिशिष्ट में इस प्रकार दिया गया है-'तिथिवारञ्च नक्षत्रं तत्त्ववेदगुणान्वितम्। कालत्रयं च मासाश्च ब्रह्मसूत्रं हि षण्णवम्' अर्थात् तत्त्व २५, गुण ३, तिथि १५, वार ७, नक्षत्र २७, वेद ४, काल ३ तथा मास १२ इस प्रकार कुल ९६ तत्त्व वाला ब्रह्मसूत्र है।]

उपवीतलक्षणसूत्रब्रह्मगा यज्ञाः। ब्रह्माङ्गलक्षणयुक्तो यज्ञसूत्रम्। तद्ब्रह्मसूत्रम्। यज्ञसूत्र-संबन्धी ब्रह्मयज्ञः तत्स्वरूपः ॥ १६ ॥

इस प्रकार यह उपवीत के लक्षणों से युक्त सूत्र (ब्रह्मसूत्र) यज्ञ-रूप है अर्थात् यह ब्रह्म का प्रतीक रूप है। ब्रह्म के लक्षणों से युक्त यह यज्ञसूत्र (यज्ञोपवीत) है, वही ब्रह्मसूत्र है। अतः यज्ञोपवीत एवं ब्रह्मयज्ञ दोनों एक दूसरे के स्वरूप ही हैं॥ १६ ॥

अङ्गानि मात्राणि। मनोयज्ञस्य हंसो यज्ञसूत्रम्। प्रणवं ब्रह्मसूत्रं ब्रह्मयज्ञमयम्। प्रणवान्तर्वर्ती हंसो ब्रह्मसूत्रम्। तदेव ब्रह्मयज्ञमयं मोक्षक्रमम्॥ १७ ॥

इसके अंग मात्राएँ हैं। यह ब्रह्मसूत्र ही इस मनोयज्ञ का हंस है। ब्रह्मयज्ञ से युक्त यह प्रणव भी ब्रह्मसूत्र ही है। प्रणव का अन्तःवर्ती हंस भी ब्रह्मसूत्र है। यह ब्रह्मयज्ञ मोक्ष का साधन रूप ही है॥ १७ ॥

[बाहर ब्रह्मसूत्र धारण करने का वास्तविक उद्देश्य अन्तःवर्ती ब्रह्मसूत्र को जाग्रत्-जीवन्त बनाना होता है। जब अन्तःवर्ती ब्रह्मसूत्र परिपक्व अवस्था में पहुँच जाता है, तो बाह्यसूत्र को त्यागकर 'संन्यास' में प्रवेश किया जाता है।]

ब्रह्मसंध्याक्रिया मनोयागः। संध्याक्रिया मनोयागस्य लक्षणम्॥ १८ ॥

ब्रह्मसंध्या मानसिक यज्ञ की क्रिया है, संध्या-क्रिया मानसिक यज्ञ का लक्षण है॥ १८ ॥

[जो लोग ब्रह्मसंध्या को स्थूल कर्मकाण्ड के रूप में ही दुहरा कर अपना दायित्व पूरा मान लेते हैं, मानसिक यज्ञ के रूप में उसे जाग्रत्-विकसित नहीं करते, उन्हें सन्ध्यावन्दन का शास्त्रोक्त लाभ प्राप्त नहीं होता।]

यज्ञसूत्रप्रणवब्रह्मयज्ञक्रियायुक्तो ब्राह्मणः। ब्रह्मचर्येण चरन्ति देवाः। हंससूत्रचर्या यज्ञाः। हंसप्रणवयोरभेदः॥ १९ ॥

जो मनुष्य यज्ञोपवीत, प्रणव एवं ब्रह्मयज्ञ की क्रिया से सम्पन्न हैं, वही ब्राह्मण हैं। ब्रह्मचर्य में ही देवता विचरण करते हैं। सूत्ररूप हंस एवं प्रणव दोनों एक ही हैं। इन दोनों में कोई भेद नहीं है॥ १९ ॥

हंसस्य प्रार्थनास्त्रिकालाः। त्रिकालास्त्रिवर्णाः। त्रेताग्न्यनुसंधानो यागः। त्रेताग्न्यात्मा-कृतिवर्णोङ्कारहंसानुसंधानोऽन्तर्यागः॥ २० ॥

हंस की प्रार्थना त्रिकाल अर्थात् तीन समय में सम्पन्न की जाती है। तीन काल, तीन वर्ण (अकार, उकार,

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मकार) होते हैं। यह यज्ञ तीन अग्नियों के अनुसंधान द्वारा सम्पन्न करने का है। तीन अग्नि रूप आत्मा की आकृति एवं वर्ण वाले ॐकार रूप हंस का अनुसंधान ही अन्तः का यज्ञ है॥ २०॥

चित्स्वरूपवत्तन्मयं तुरीयस्वरूपम्। अन्तरादित्ये ज्योतिःस्वरूपो हंसः॥ २१॥

चित् स्वरूप में तन्मय (तल्लीन) होना ही तुरीयावस्था का स्वरूप है। अन्तः के आदित्य में हंस ही ज्योति रूप में अवस्थित है॥ २१॥

यज्ञाङ्गं ब्रह्मसंपत्तिः। ब्रह्मप्रवृत्तौ तत्प्रणवहंससूत्रेणैव ध्यानमाचरन्ति॥ २२॥

यज्ञाङ्ग ही ब्रह्म-सम्पत्ति है। अतः ब्रह्म-प्राप्ति के निमित्त प्रणवरूप हंस की साधना में ही ध्यान द्वारा विचरण करना चाहिए॥ २२॥

प्रोवाच पुनः स्वयंभुवं प्रतिजानीते ब्रह्मपुत्रो ऋषिर्वालखिल्यः। हंससूत्राणि कतिसंख्यानि कियद्वा प्रमाणम्॥ २३॥

ब्रह्मपुत्र वालखिल्य ने पुनः स्वयंभू ब्रह्माजी से पूछा-हे भगवन्! 'हंससूत्रों की संख्या कितनी है तथा उनके प्रमाण कितने हैं? आप तो सभी कुछ जानने में समर्थ हैं, कृपा करके बताने का अनुग्रह करें'॥ २३॥

हृद्यादित्यमरीचीनां पदं षण्णवतिः। चित्सूत्रघ्राणयोः स्वर्निर्गता प्रणवाधारा षडङ्गुलदशाशीतिः॥ २४॥

तदनन्तर स्वयंभू ब्रह्माजी ने उत्तर दिया- 'हृदय- आदित्य की छियानवे रश्मियाँ हैं। चित्-सूत्र घ्राण से स्वरसहित निकलने वाली धारा भी छियानवे अंगुल होती है'॥ २४॥

वामबाहुदक्षिणकट्योरन्तश्चरति हंसः परमात्मा ब्रह्मगुह्यप्रकारो नान्यत्र विदितः॥ २५॥

बायीं भुजा (कंधा) और दक्षिण कट्यन्त (दाहिनी ओर कटि के छोर पर) के मध्य (हृदय क्षेत्र) में परमात्मा हंस का निवास है; किन्तु इस गुह्य विषय की जानकारी किसी को नहीं हो पाती है॥ २५॥

जानन्ति तेऽमृतफलकाः। सर्वकालं हंसं प्रकाशकम्। प्रणवहंसान्तर्ध्यानप्रकृतिं विना न मुक्तिः॥

जिन्हें अमृतत्व की प्राप्ति हो गई है, वे ही उस सर्वकाल प्रकाशमान हंस को जानते हैं। प्रणवरूपी हंस का अन्तर्ध्यान किये बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो पाती॥ २६॥

नवसूत्रान्परिचर्चितान्। तेऽपि यद्ब्रह्म चरन्ति। अन्तरादित्यं न ज्ञातं मनुष्याणाम्॥ २७॥

जो मनुष्य रँगे हुए इस नौ सूत्र वाले यज्ञोपवीत को धारण करते हैं। वे भी इसकी उपासना ब्रह्ममय मान कर ही करते हैं; किन्तु इन मनुष्यों को अन्तः में स्थित आदित्यरूप ब्रह्म का ज्ञान(आत्मबोध)नहीं होता॥२७॥

जगदादित्यो रोचत इति ज्ञात्वा ते मर्त्या विबुधास्तपनप्रार्थनायुक्ता आचरन्ति॥ २८॥

आदित्य जगत् को प्रकाशित करता है, यह जानकर वे बुद्धिमान् मनुष्य पवित्रता एवं ज्ञान के लिए उसकी प्रार्थना करते हैं॥ २८॥

वाजपेयः पशुहर्ता अध्वर्युरिन्द्रो देवता अहिंसा धर्मयागः परमहंसोऽध्वर्युः परमात्मा देवता पशुपतिः॥ २९॥

वाजपेय यज्ञ (विशिष्ट ज्ञानयज्ञ) पशुहर्ता (पशुत्वभाव-अज्ञान भाव का हरण करने वाला) है। इस यज्ञ के अध्वर्यु एवं देवता इन्द्र (परमेश्वर) हैं। यह अहिंसात्मक धर्मयज्ञ (मोक्षयज्ञ) है, इसके अध्वर्यु परमहंस तथा देवता पशुपति परमात्मा हैं॥ २९॥

ब्रह्मोपनिषदो ब्रह्म। स्वाध्याययुक्ता ब्राह्मणाश्चरन्ति॥ ३०॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

वेद एवं उपनिषद् में जिस ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है, उसी (परमात्मतत्त्व) की ये स्वाध्याययुक्त ब्रह्मज्ञानी उपासना करते हैं॥ ३०॥

अश्वमेधो महायज्ञकथा। तद्राज्ञा ब्रह्मचर्यमाचरन्ति। सर्वेषां पूर्वोक्तब्रह्मयज्ञक्रमं मुक्तिक्रममिति॥ ३१॥

इस महायज्ञ का ज्ञान ही अश्वमेध यज्ञ है। इसके आश्रय से ही वे (ज्ञानीजन) ब्रह्मज्ञान का आचरण करते हैं। पूर्व में वर्णित समस्त ब्रह्मयज्ञ-कर्म ही मुक्ति प्रदान करने में समर्थ हैं॥ ३१॥

ब्रह्मपुत्रः प्रोवाच। उदितो हंस ऋषिः। स्वयंभूस्तिरोदधे। रुद्रो ब्रह्मोपनिषदो हंसज्योतिः पशुपतिः प्रणवस्तारकः स एवं वेद॥ ३२॥

ब्रह्मपुत्र ने पुनः कहा-'हंस से सम्बन्धित ज्ञान का प्राकट्य हो गया है।' ऐसा श्रवण कर स्वयंभू तिरोहित हो गये। इस उपनिषद् में जिस हंस ज्योति का वर्णन किया गया है, वही रुद्र है और संसार से उद्धार करने वाला प्रणव (ओंकार) ही पशुपति (ब्रह्म) है, उसे ऐसा जानो॥ ३२॥

॥ उत्तरकाण्डः ॥

हंसात्ममालिकावर्णब्रह्मकालप्रचोदिता। परमात्मा पुमानिति ब्रह्मसंपत्तिकारिणी॥ १॥

'हंस' का जप ही वर्ण ब्रह्म है, इसी से ब्रह्म-प्राप्ति की प्रेरणा प्राप्त होती है। यह ब्रह्म ही परमात्मा एवं पुरुष है। यह ब्रह्म सम्पत्ति से युक्त होता है॥ १॥

अध्यात्मब्रह्मकल्पस्याकृतिः कीदृशी कथा। ब्रह्मज्ञानप्रभासन्ध्या कालो गच्छति धीमताम्। हंसाख्यो देवमात्माख्यमात्मतत्त्वप्रजः कथम्॥ २॥

जो मनुष्य अपने आत्मिक ज्ञान से ब्रह्म के समान हो गया हो, फिर उसके संदर्भ में कहने के लिए क्या शेष रह जाता है? ज्ञानी मनुष्य अपना सम्पूर्ण समय ब्रह्मचर्चा एवं उपासना में ही व्यतीत करते हैं। जब हंस एवं आत्मा में एकात्मता स्थापित हो जाती है, तो फिर प्रजा कहाँ हो सकती है?॥ २॥

अन्तः प्रणवनादाख्यो हंसः प्रत्ययबोधकः। अन्तर्गतप्रमागूढं ज्ञाननालं विराजितम्॥ ३॥

अन्तःकरण से निःसृत होने वाले प्रणव रूपी नाद से जो हंस ज्ञात होता है, वही सम्पूर्ण ज्ञान का बोध कराने वाला है। अन्तः में अनुभवगम्य गूढ़ ज्ञान के द्वारा बाह्य जगत् के ज्ञान की प्राप्ति होती है॥ ३॥

शिवशक्त्यात्मकं रूपं चिन्मयानन्दवेदितम्। नादबिन्दुकला त्रीणि नेत्रविश्वविचेष्टितम्॥ ४॥

शिव-शक्तिमयात्मकरूप चिन्मय आनन्द से ज्ञात होने वाला है। नाद, बिन्दु एवं कला इन तीनों नेत्रों (जागृति) से ही यह जगत् चेष्टायुक्त है॥ ४॥

त्रियंगानि शिखा त्रीणि द्वित्रीणि संख्यमाकृतिः। अन्तर्गूढप्रमा हंसः प्रमाणान्निर्गतं बहिः॥ ५॥

तीन अंग, तीन शिखा एवं दो या तीन मात्राओं में उसकी संख्या (आकृति) ज्ञात होती है। जब इस प्रकार से वह अन्तर्धान हो जाता है, तब इस गूढ़ आत्मा का ज्ञान बाह्य जगत् में भी प्रमाण के रूप में प्रकट होता है॥५॥

ब्रह्मसूत्रपदं ज्ञेयं ब्राह्मयं विध्युक्तलक्षणम्। हंसार्कप्रणवध्यानमित्युक्तो ज्ञानसागरे॥ ६॥

जगत् के सूत्ररूप ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके स्वयमेव ब्रह्म के लक्षणों से युक्त होना चाहिए तथा निरन्तर हंस रूपी सूर्य का प्रणव सहित ध्यान करते रहना चाहिए, यही ज्ञानीजनों का उपदेश है॥ ६॥

एतद्विज्ञानमात्रेण ज्ञानसागरपारगः। स्वतः शिवः पशुपतिः साक्षी सर्वस्य सर्वदा॥ ७॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

इस प्रकार से विशेष ज्ञान-प्राप्ति होने के पश्चात् ही ज्ञान-सागर के पार पहुँचा जा सकता है। स्वयं भगवान् शिवरूप पशुपति-ब्रह्म ही सर्वदा (इसके) साक्ष्य रूप हैं ॥ ७ ॥

[अध्यात्म क्षेत्र में जड़-चेतन दोनों प्रकार के ज्ञान के अतिवाद को उचित नहीं माना गया है, जैसा कि ईशोपनिषद् (९) में 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' ..... इत्यादि मन्त्र में 'केवल विद्या की उपासना करने वालों' को भी अन्धकार में फँस जाने की बात कही गई है। यहाँ 'ज्ञान' को डुबाने वाला सागर तथा उससे पार जाने की बात उक्त तथ्य को ध्यान में रखकर ही कही गयी प्रतीत होती है।]

सर्वेषां तु मनस्तेन प्रेरितं नियमेन तु। विषये गच्छति प्राणश्चेष्टते वाग्वदत्यपि ॥ ८ ॥

यही भगवान् शिव सभी लोगों के मन को प्रेरित एवं संतुलित-नियमित करने वाले हैं, जिसके प्रभाव से मन विषयों में गतिशील होता है। प्राण चेष्टा-रत रहते हैं तथा वाणी उच्चारण का कार्य करती है ॥ ८ ॥

चक्षुः पश्यति रूपाणि श्रोत्रं सर्वं शृणोत्यपि। अन्यानि खानि सर्वाणि तेनैव प्रेरितानि तु ॥ ९ ॥
स्वं स्वं विषयमुद्दिश्य प्रवर्तन्ते निरन्तरम्। प्रवर्तकत्वं चाप्यस्य मायया न स्वभावतः ॥ १० ॥

उन्हीं भगवान् की प्रेरणा से चक्षु रूपों-दृश्यों को देखते हैं, कान श्रवण करते हैं तथा अन्य समस्त इन्द्रियाँ भी उन्हीं से प्रेरित हो रही हैं। वे निरन्तर अपने-अपने विषयों के उद्देश्य में प्रवृत्त होती रहती हैं। यह विषयों में प्रवृत्त होना ही मायारूप है, यह स्वभाववश नहीं होता, माया द्वारा ही होता है ॥ ९-१० ॥

श्रोत्रमात्मनि चाध्यस्तं स्वयं पशुपतिः पुमान्। अनुप्रविश्य श्रोत्रस्य ददाति श्रोत्रतां शिवः ॥११ ॥

श्रोत्र आत्मा के आश्रित हैं तथा स्वयं पशुपति ब्रह्म श्रोत्र में प्रविष्ट होकर उन शिव को श्रवण शक्ति देते हैं ॥ ११ ॥

मनः स्वात्मनि चाध्यस्तं प्रविश्य परमेश्वरः। मनस्त्वं तस्य सत्त्वस्थो ददाति नियमेन तु ॥ १२ ॥

मन भी अपनी अन्तरात्मा में अभ्यस्त है एवं परब्रह्म परमेश्वर उसमें प्रविष्ट होकर, उस सत्त्व में स्थित होते हुए उसे नियम में रखते हैं और मनस्विता प्रदान करते हैं ॥ १२ ॥

स एव विदितादन्यस्तथैवाविदितादपि। अन्येषामिन्द्रियाणां तु कल्पितानामपीश्वरः ॥ १३ ॥
तत्तद्रूपमनुप्राप्य ददाति नियमेन तु । ततश्चक्षुश्च वाक्चैव मनश्चान्यानि खानि च ॥ १४ ॥
न गच्छन्ति स्वयंज्योतिः स्वभावे परमात्मनि। अकर्तृविषयप्रत्यक्प्रकाशं स्वात्मनैव तु ॥ १५ ॥
विना तर्कप्रमाणाभ्यां ब्रह्म यो वेद वेद सः। प्रत्यगात्मा परंज्योतिर्माया सा तु महत्तमः ॥ १६ ॥

ऐसे ही वे परम ईश्वर समस्त इन्द्रियों को सचेष्ट करते हैं, परन्तु लोग उन ब्रह्म को जैसा बताते हैं अथवा कल्पना करते हैं, उससे वे महेश्वर सर्वथा भिन्न हैं। परब्रह्म परमेश्वर ही इन समस्त इन्द्रियों को अपने अनुकूल रूप प्रदान करते हैं एवं उनका नियमन भी करते हैं। इस कारण ये चक्षु, मन,वाणी आदि समस्त इन्द्रियाँ परमपिता परमात्मा के स्वयं प्रकाशतत्त्व (रूप) को प्राप्त नहीं हो सकतीं अर्थात् उनके ज्ञानरूपी प्रकाश को जानने में समर्थ नहीं हो सकतीं। जो मनुष्य ऐसा जानता है कि परमात्मा अन्तः के विषयों से भिन्न(अलग)है,वह तर्क एवं प्रमाण के बिना ही उसे अपनी अन्तरात्मा द्वारा जानने का निरन्तर प्रयास करे, उसे यथार्थ रूप में परमात्म तत्त्व का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। यह आत्मा ही परम प्रकाश स्वरूप है,जबकि वह माया महा अन्धकाररूप है ॥१३-१६ ॥

तथा सति कथं मायासंभवः प्रत्यगात्मनि। तस्मात्तर्कप्रमाणाभ्यां स्वानुभूत्या च चिद्घने ॥१७ ॥
स्वप्रकाशैकसंसिद्धे नास्ति माया परात्मनि। व्यावहारिकदृष्ट्येयं विद्याविद्या न चान्यथा ॥ १८ ॥

इसलिए प्रत्यगात्मा एवं माया की एकता किसी भी तरह से सम्भव नहीं है। उसके तर्कों, प्रमाणों एवं

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अनुभव से ज्ञात होता है कि चैतन्यमय स्वयं प्रकाशस्वरूप परमात्मा में माया नहीं है। विद्या एवं अविद्या के विषय व्यावहारिक हैं, परमात्मा से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है॥ १७-१८॥

तत्त्वदृष्ट्या तु नास्त्येव तत्त्वमेवास्ति केवलम्। व्यावहारिकदृष्टिस्तु प्रकाशाव्यभिचारतः॥ १९॥
प्रकाश एव सततं तस्मादद्वैत एव हि। अद्वैतमिति चोक्तिश्च प्रकाशाव्यभिचारतः॥ २०॥

तात्त्विक दृष्टि से यह सभी कुछ मिथ्या ही है। केवल एक तत्त्व ही वास्तविक सत्य है। व्यावहारिक-दृष्टि से जो भी कुछ जान पड़ता है, वह भी वैसे ही आभासित होता है। प्रकाश ही निरन्तर विद्यमान है। इस प्रकार यह अद्वैत ही है, अद्वैत ही इस प्रकार के प्रकाश के अभेद से कहा जाता है॥ १९-२०॥

प्रकाश एव सततं तस्मान्मौनं हि युज्यते। अयमर्थो महान्यस्य स्वयमेव प्रकाशितः॥२१॥
न स जीवो न च ब्रह्म न चान्यदपि किंचन। न तस्य वर्णा विद्यन्ते नाश्रमाश्च तथैव च॥ २२॥
न तस्य धर्मोऽधर्मश्च न निषेधो विधिर्न च। यदा ब्रह्मात्मकं सर्वं विभाति तत एव तु॥ २३॥
तदा दुःखादिभेदोऽयमाभासोऽपि न भासते। जगज्जीवादिरूपेण पश्यन्नपि परात्मवित्॥ २४॥
न तत्पश्यति चिद्रूपं ब्रह्मवस्त्वेव पश्यति। धर्मधर्मित्ववार्ता च भेदे सति हि भिद्यते॥ २५॥

इस प्रकार से सर्वत्र सतत एक प्रकाश स्थित है। इसके सन्दर्भ में और अधिक कुछ कहने की अपेक्षा मौन ही उत्तम है। जिस मनुष्य को यह महान् ज्ञान स्वयमेव ज्ञात हो गया है, वह न जीव रूप है, न ब्रह्म है और न ही कुछ और है। उसका न कोई 'वर्ण' है तथा वह आश्रम भी नहीं है। वह धर्म भी नहीं है और अधर्म भी नहीं है, निषेध एवं विधि भी वह नहीं है। जब उसको सब कुछ ब्रह्ममय ही दृष्टिगोचर होता है, तब उसे इस दुःखादि भेद का आभास बिल्कुल नहीं जान पड़ता। परब्रह्म परमात्मा का इस प्रकार से ज्ञान रखने वाला इस जीवादि स्वरूप वाले विश्व को देखते हुए भी नहीं देखता। वह एकमात्र चिद्रूप ब्रह्म का ही निरन्तर दर्शन करता है। धर्म एवं धर्मों के विषय-भेद के रहते हुए भिन्न ही प्रतीत होते हैं॥ २१-२५॥

भेदाभेदस्तथा भेदाभेदः साक्षात्परात्मनः। नास्ति स्वात्मातिरेकेण स्वयमेवास्ति सर्वदा॥ २६॥

एक मात्र वह परमात्म चेतना ही है, जो हमेशा से अपने वर्तमान स्वरूप में है और दूसरे अन्य सभी भेद आदि एवं समस्त भेद-अभेद उस (परमात्मा) में ही संव्याप्त हैं॥ २६॥

ब्रह्मैव विद्यते साक्षाद्वस्तुतोऽवस्तुतोऽपि च। तथैव ब्रह्मविज्ञानी किं गृह्णाति जहाति किम्॥२७

वस्तु अथवा अवस्तु जो कुछ भी विद्यमान है, वह सभी कुछ साक्षात् परब्रह्ममय ही है। ऐसी दशा में ब्रह्मज्ञान रखने वाला किसी को स्वीकार अथवा परित्याग कैसे कर सकता है?॥ २७॥

अधिष्ठानमनौपम्यमवाङ्मनसगोचरम्। यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रं रूपवर्जितम्॥ २८॥
अचक्षुःश्रोत्रमत्यर्थं तदपाणिपदं तथा। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम्॥ २९॥
ब्रह्मैवेदममृतं तत्पुरस्ताद्ब्रह्मानन्दं परमं चैव पश्चात्। ब्रह्मानन्दं परमं दक्षिणे च ब्रह्मानन्दं परमं चोत्तरे च॥ ३०॥

जो परब्रह्म उपमा-विहीन, वाणी एवं मन से अगोचर, दृष्टि से परिलक्षित न होने वाला, ग्रहण न कर सकने योग्य, गोत्र-रहित, रूप-विहीन है; जो (ब्रह्म) आँख, कान, हाथ-पैर आदि से रहित, नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अव्यय एवं मृत्यु से रहित है, सबका अधिष्ठाता अथवा आधार रूप है; वह (ब्रह्म उस साधक के) आगे-पीछे,उत्तर एवं दक्षिण सर्वत्र सर्वश्रेष्ठ वेदामृत (वेदज्ञानामृत) स्वरूप ब्रह्मानन्द रूप में विद्यमान है और वह परब्रह्म आनन्दमय रूप में दायें-बायें भी प्रतिष्ठित है॥ २८-३०॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

स्वात्मन्येव स्वयं सर्वं सदा पश्यति निर्भयः। तदा मुक्तो न मुक्तश्च बद्धस्यैव विमुक्तता॥३१॥

इस प्रकार वह श्रेष्ठ साधक सभी को निरन्तर अपनी अन्तरात्मा में निर्भय होकर देखता रहता है। ऐसा भाव रखने वाला साधक ज्ञानी ही नहीं, वरन् अज्ञानी होने पर भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ ३१॥

एवंरूपा परा विद्या सत्येन तपसापि च। ब्रह्मचर्यादिभिर्धर्मैर्लभ्या वेदान्तवर्त्मना॥ ३२॥

इस प्रकार परा विद्या,सत्य,तप और ब्रह्मचर्यादि धर्म की प्राप्ति भी वेदान्त मार्ग के द्वारा ही होती है॥३२॥

स्वशरीरे स्वयंज्योतिःस्वरूपं पारमार्थिकम्। क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे मायया ऽऽवृताः॥३३॥

जिनका अन्तःकरण पूर्णरूपेण पवित्र है, समस्त दोषादि विकार क्षीण हो गये हैं, वे ही श्रेष्ठ योगी साधक स्वयं प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा का दर्शन कर सकते हैं, माया द्वारा आवृत लोग उन परमप्रभु का दर्शन प्राप्त नहीं कर सकते॥ ३३॥

एवं स्वरूपविज्ञानं यस्य कस्यास्ति योगिनः। कुत्रचिद्गमनं नास्ति तस्य संपूर्णरूपिणः॥ ३४॥

जो योगी साधक अपने स्वरूप को इस तरह से समझ लेता है, वह उस पूर्णता को प्राप्त करके पुनः आवागमन के चक्कर में नहीं पड़ता॥ ३४॥

आकाशमेकं संपूर्णं कुत्रचिन्न हि गच्छति। तद्वद्ब्रह्मात्मविच्छ्रेष्ठः कुत्रचिन्नैव गच्छति॥ ३५॥

जिस प्रकार एकमात्र आकाश सर्वत्र उपस्थित रहता है। वह इधर-उधर कहीं गमनागमन नहीं करता, उसी प्रकार जिस योगी साधक ने अपने को ब्रह्ममय जान लिया है, वह कहीं आ-जा नहीं सकता॥ ३५॥

अभक्ष्यस्य निवृत्त्या तु विशुद्धं हृदयं भवेत्। आहारशुद्धौ चित्तस्य विशुद्धिर्भवति स्वतः॥३६॥

आहार के अन्तर्गत अभक्ष्य-भक्षण का परित्याग कर देने पर चित्त पूर्णतया पवित्र हो जाता है। जब आहार की शुद्धि हो जाती है, तब चित्त की शुद्धि स्वयं ही हो जाती है॥ ३६॥

चित्तशुद्धौ क्रमाज्ज्ञानं त्रुट्यन्ति ग्रन्थयः स्फुटम्। अभक्ष्यं ब्रह्मविज्ञानविहीनस्यैव देहिनः॥३७॥

जब चित्त पूरी तरह से शुद्ध हो जाता है, तब क्रमशः ज्ञान प्रवर्द्धित होता चला जाता है तथा अज्ञान की समस्त ग्रन्थियाँ विनष्ट हो जाती हैं, लेकिन भक्ष्याभक्ष्य का विचार मात्र उसके लिए आवश्यक है, जिसे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति अभी नहीं हुई है॥ ३७॥

न सम्यग्ज्ञानिनस्तद्वत्स्वरूपं सकलं खलु। अहमन्नं सदान्नाद इति हि ब्रह्मवेदनम्॥ ३८॥

इसका कारण यह है कि सम्यक् रूप से ज्ञानी का स्वरूप अज्ञानी के सदृश भेद-ज्ञानयुक्त नहीं होता। ज्ञानी यह समझता है कि भक्षण करने वाला मैं 'ब्रह्म' हूँ तथा अन्न भी मैं ही हूँ॥ ३८॥

ब्रह्मविद्ग्रसति ज्ञानात्सर्वं ब्रह्मात्मनैव तु। ब्रह्मक्षत्रादिकं सर्वं यस्य स्यादोदनं सदा॥ ३९॥

जो साधक योगी-ब्रह्मज्ञानी होता है, वह प्राणि-मात्र को ब्रह्म के रूप में देखता है। इस कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि की भावना भी उसके लिए भोज्य (ग्राह्य-पाच्य) है॥ ३९॥

यस्योपसेचनं मृत्युस्तं ज्ञानी तादृशः खलु। ब्रह्मस्वरूपविज्ञानाज्जगद्भोज्यं भवेत्खलु॥ ४०॥

मृत्यु ही जिस ब्रह्म का अन्न (भोज्य पदार्थ) है, ऐसे ब्रह्म को जानने वाला साधक भी तदनुरूप ही हो जाता है तथा यह सम्पूर्ण जगत् ही उसके लिए भोज्य (ग्राह्य) हो जाता है॥ ४०॥

जगदात्मतया भाति यदा भोज्यं भवेत्तदा। ब्रह्मस्वात्मतया नित्यं भक्षितं सकलं तदा॥ ४१॥

जब इस विश्व की, आत्मा के रूप में अनुभूति की जाती है, तो वह भोज्य रूप हो जाता है तथा आत्मा रूप से अविनाशी ब्रह्म सतत उसका भक्षण करता रहता है॥ ४१॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

यदाभानेन रूपेण जगद्भोज्यं भवेत्तु तत्। मानतः स्वात्मना भातं भक्षितं भवति ध्रुवम्॥४२॥

जिसका आभास हो जाने से यह विश्व भोज्य पदार्थरूप हो जाता है तथा वह जब आत्मस्वरूप ज्ञात हो जाता है, तो निश्चय ही वह ब्रह्म के द्वारा भक्षित होता है॥ ४२॥

स्वस्वरूपं स्वयं भुङ्क्ते नास्ति भोज्यं पृथक् स्वतः। अस्ति चेदस्तितारूपं ब्रह्मैवास्तित्वलक्षणम्॥ ४३॥

इस तरह से ब्रह्म स्वयं ही अपने स्वरूप का भक्षण करता है, इसका कारण यह है कि उससे (ब्रह्म से) भोज्य पदार्थ अलग ही नहीं है। जो अस्तिता का रूप है, वही ब्रह्म के अस्तित्व का लक्षण-रूप है॥ ४३॥

अस्तितालक्षणा सत्ता सत्ता ब्रह्म न चापरा। नास्ति सत्तातिरेकेण नास्ति माया च वस्तुतः॥४४

सत्ता का लक्षण ही अस्तित्व माना जाता है तथा ब्रह्म से सत्ता पृथक् नहीं होती। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता है ही नहीं और न माया कोई वास्तविक वस्तु ही होती है॥ ४४॥

योगिनामात्मनिष्ठानां माया स्वात्मनि कल्पिता। साक्षिरूपतया भाति ब्रह्मज्ञानेन बाधिता॥४५॥

योगी साधकगण माया की कल्पना अपनी अन्तरात्मा से ही करते हैं। वह ब्रह्मज्ञान से बाधित होती हुई उन (साधक गणों) को साक्षीरूप में प्रतिभासित होती है॥ ४५॥

ब्रह्मविज्ञानसंपन्नः प्रतीतमखिलं जगत्। पश्यन्नपि सदा नैव पश्यति स्वात्मनः पृथक्॥ ४६॥ इत्युपनिषत्॥

इस प्रकार से जिस ज्ञानी साधक को ब्रह्म के ज्ञान-विज्ञान की सम्पन्नता की अनुभूति हो गई है, वह चाहे इस सम्पूर्ण विश्व का अपने समक्ष दर्शन करता रहे; किन्तु वह उसे अपने से अलग कभी नहीं मानता। ऐसी ही यह उपनिषद् (रहस्यात्मक ज्ञान) है॥ ४६॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति पाशुपतब्रह्मोपनिषत्समाप्ता॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इस उपनिषद् का मूल प्रयोजन 'चित्त शुद्धि' है, जिसके द्वारा 'ब्रह्मज्ञान' सहज प्राप्य है। इस उपनिषद् में सर्वप्रथम 'शारीर यज्ञ' के विषय में स्पष्टीकरण देने की घोषणा तथा उसका प्रतिफल (सांख्य आदि दर्शनों के ज्ञान के बिना निवृत्ति-मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है) वर्णित है। तत्पश्चात् बाह्य प्राणाग्निहोत्र का प्रयोग स्पष्ट किया गया है। तदुपरान्त शारीराग्नि दर्शन नामक अपर-ब्रह्मविद्या का स्वरूप विवेचित हुआ है। शारीराग्नि विद्या द्वारा 'शारीर यज्ञ' का निरूपण अगले क्रम में है। अन्त में इस 'प्राणाग्निहोत्र' विद्या के पठन-पाठन की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि इस उपनिषद् का अध्येता एक ही जन्म में चित्त शुद्धि तथा (परिणाम स्वरूप) मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। इसी के साथ उपनिषद् पूर्ण हो गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- अक्ष्युपनिषद्)

अथातः सर्वोपनिषत्सारं संसारज्ञानातीतमन्नसूक्तं शारीरयज्ञं व्याख्यास्यामः। यस्मिन्नेव पुरुषः शरीरे विनाप्यग्निहोत्रेण विनापि सांख्ययोगेन संसारविमुक्तिर्भवति॥ १ ॥

अब समस्त उपनिषदों का सारभूत सांसारिक ज्ञान से परे (प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् के अन्तर्गत) अन्नसूक्त एवं शारीर यज्ञ की व्याख्या प्रारम्भ की जाती है। जिस पुरुष-शरीर की जानकारी प्राप्त कर लेने के पश्चात् अग्निहोत्र के बिना और सांख्य आदि दर्शनों के ज्ञान के बिना ही संसार से निवृत्ति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है॥ १ ॥

स्वेन विधिनान्नं भूमौ निक्षिप्य या ओषधीः सोमराज्ञीरिति तिसृभिरन्नपत इति द्वाभ्यामनुमन्त्रयते॥

अपनी विधि के अनुसार पृथ्वी पर (निर्मित की गई वेदिका पर) अन्न को रखकर तत्पश्चात् नीचे लिखे (या ओषधयः .....। या फलिनीर्याः .....। जीवला नघारिषां .....।) इन तीन मंत्रों तथा ('अन्नपतेऽन्नस्य ....। यदन्नमग्निर्बहुधा .....।') इन दो ऋचाओं से अभिमंत्रित करना चाहिए॥ २ ॥

अब उपर्युक्त वर्णित तीन व दो ऋचाओं का क्रमानुसार अर्थ लिखते हैं-

या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः। बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ ३॥

जो ओषधियों के अधिष्ठाता देव सोम हैं। वे प्रधान शतवीर्य, बहुशाखा वाले सैकड़ों रोगों को विभिन्न तरह से विनष्ट करने में सक्षम हैं। ये विशिष्ट गुणों से युक्त ओषधियाँ बृहस्पति (देवों के आचार्य) द्वारा तैयार (उत्पन्न) की गई हैं। ये ओषधियाँ हमें पापों-रोगों से मुक्ति प्रदान करें॥ ३ ॥

याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः। बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ ४॥

जो फलों से युक्त, फलों से रहित, पुष्प युक्त एवं पुष्प रहित ऐसी ये समस्त ओषधियाँ बृहस्पति-प्रसूत (विशेषज्ञ वैद्य द्वारा प्रादुर्भूत) हैं, ये ओषधियाँ हमें रोगों-पापों से मुक्ति प्रदान करें॥ ४ ॥

जीवला नघारिषां मा ते बध्नाम्योषधिम्। यातयायुरुपाहरादप रक्षांसि चातयात्॥ ५॥

सतत हरी-भरी बनी रहने वाली ओषधि मेरे द्वारा बाँधी जा रही है अर्थात् ग्रहण की जा रही है। आयु क्षीण करने वाले तत्त्वों से वह हमें संरक्षण प्रदान करे॥ ५ ॥

अन्नपतेऽन्नस्य नो धेह्यनमीवस्य शुष्मिणः। प्रप्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥ ६

हे अन्न के पति अग्निदेव! आप हम सभी के लिए आरोग्य-प्रद एवं पोषण युक्त अन्न की व्यवस्था करें। दानी मनुष्यों को भली-भाँति पोषित करें। हमारे पुत्र-पौत्रादि एवं पशुओं के लिए भी अन्न प्रदान करें॥ ६ ॥

यदन्नमग्निर्बहुधा विराद्धि रुद्रैः प्रजग्धं यदि वा पिशाचैः। सर्वं तदीशानो अभयं कृणोतु शिवमीशानाय स्वाहा॥ ७॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

जो अन्न अग्नि के द्वारा प्रजा के निमित्त रुद्रों अथवा पिशाचों से प्रायः बचाकर रखा जाता है, उस कल्याणकारी अन्न को ईशानदेव दोषमुक्त बनाएँ, उन ईशानदेव भगवान् शिव को यह आहुति समर्पित है॥ ७॥

मंत्र सं० २ से ७ तक के मन्त्रों द्वारा अन्न का स्पर्श करके उसे अभिमन्त्रित करें। तदनन्तर हाथ में जल लेकर मंत्र क्र० ८ व ९ क्रमशः 'अन्तश्चरसि .... एवं 'आपः पुनन्तु' ..... इन दो मन्त्रों से अभिमन्त्रित कर अन्न का प्रोक्षण करें –

अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः। त्वं यज्ञस्त्वं ब्रह्मा त्वं रुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं वषट्कार आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरों नमः॥ ८॥

प्राणियों के हृदय में सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित रहते हुए निरन्तर भ्रमण करने वाले तुम ही यज्ञ, ब्रह्मा, विष्णु, वषट्कार, आपः, ज्योति, रस, अमृत, ब्रह्म, भूः, भुवः एवं स्वः स्वरूप हो, तुम्हें नमन है॥ ८॥

आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूता पुनातु माम्। पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मपूता पुनातु माम्। यदुच्छिष्टमभोज्यं यद्वा दुश्चरितं मम। सर्वं पुनन्तु मामापोऽसतां च प्रतिग्रहं स्वाहा॥ ९॥

हे आपः (जल) ! आप पृथ्वी को पवित्र करें तथा शुद्ध हुई जो पृथ्वी है, वह मुझे पवित्रता प्रदान करे। ब्रह्मपूत पृथ्वी मुझे पवित्रता प्रदान करे। जो उच्छिष्ट, अभक्ष्य अथवा दुश्चरित्रता मेरे में सन्निहित हो, उन सबको हटाकर जल देवता हमें पवित्र बना दें, इस निमित्त यह आहुति समर्पित है॥ ९॥

अमृतमस्यमृतोपस्तरणमस्यमृतं प्राणे जुहोम्यमाशिष्यान्तोऽसि। ॐ प्राणाय स्वाहा। ॐ अपानाय स्वाहा। ॐ व्यानाय स्वाहा। ॐ उदानाय स्वाहा। ॐ समानाय स्वाहा। ॐ ब्रह्मणे स्वाहा। ॐ ब्रह्मणि म आत्माऽमृतत्वायेति ॥ १०॥

(इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों से प्रोक्षण करके दो बार जलाभिषेक करने के बाद बायें हाथ से वेदिका का स्पर्श करते हुए दाहिने हाथ में ग्रहण कर) 'अमृतमस्यमृतोपस्तरणमसि'(हे जल! तुम अमृत स्वरूप हो,तुम अमृत स्वरूप आच्छादन हो) यह कहते हुए उसे पीकर 'अमृतं प्राणे जुहोम्यमाशिष्यान्तोऽसि'(अमृतोपम होम करने के योग्य पदार्थ का आस्वादन प्राप्त कर लिया गया है।) यह कहकर अपनी आत्मा का अनुसंधान करते हुए प्राण में आहुतियाँ समर्पित करे। प्राण के लिए आहुति समर्पित है। अपान,व्यान,उदान,समान के लिए आहुति समर्पित है। ब्रह्मा के लिए आहुति समर्पित है। ब्रह्म में मेरी आत्मा अमृतत्व का रसास्वादन प्राप्त करे॥ १०॥

कनिष्ठिकाङ्गुल्याङ्गुष्ठेन च प्राणे जुहोति अनामिकयापाने मध्यमया व्याने सर्वाभिरुदाने प्रदेशिन्या समाने॥ ११॥

कनिष्ठिका अँगुली और अँगूठे के द्वारा प्राण में, अनामिका से अपान में, मध्यमा से व्यान में तथा सभी अँगुलियों के द्वारा समान में आहुति डालनी चाहिए॥ ११॥

[काया में सक्रिय पाँचों प्राणों का हाथ की विभिन्न अँगुलियों से सम्बन्ध होने का संकेत है। विभिन्न अँगुलियों के माध्यम से पाँचों प्राणों का संवर्धन कैसे संभव है, यह शोध का विषय है।]

तूष्णीमेकामेकऋचा जुहोति द्वे आहवनीये एकां दक्षिणाग्नौ एकां गार्हपत्ये एकां सर्वप्रायश्चित्तीये॥ १२॥

मौन रहते हुए एक आहुति (प्राणाय स्वाहा से) करे। (अपानाय स्वाहा से) दो आहुतियाँ आहवनीय में,एक (आहुति) दक्षिणाग्नि में, एक गार्हपत्य में एवं एक सर्वप्रायश्चित्तीय अग्नि में समर्पित करे॥ १२॥

अथापिधानमस्यमृतत्वायोपस्पृश्य पुनरादाय पुनरुपस्पृशेत्॥ १३॥

(इस प्रकार पाँच आहुतियाँ समर्पित करके यथा-नियम ग्रहण कर अर्थात् अन्न सेवन कर 'अथ पुरस्तात् चोपरिष्टाच्च अद्भिः परिदधाति', इस श्रुति के अनुरोध से) अपिधान (अनावृत) स्वरूप को अमृतत्व के लिए स्पर्श करके फिर ग्रहण कर पुनः स्पर्श करे॥ १३॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सव्ये प्राणावाऽऽपो गृहीत्वा हृदयमन्वालभ्य जपेत्। प्राणोऽग्निः परमात्मा पञ्चवायुभिरावृतः। अभयं सर्वभूतेभ्यो न मे भीतिः कदाचन॥ १४॥

बायें हाथ में जल लेकर हृदयालम्भन कर अर्थात् हृदय के समीप में हाथ रखकर जप करे। मुख्य प्राण पाँच प्रकार के वायु (प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान) से घिरा हुआ परमात्मा स्वरूप है। वह मुझे समस्त प्राणियों से भय-रहित करे, मैं उनसे कभी भयभीत न होऊँ॥ १४॥

विश्वोऽसि वैश्वानरो विश्वरूपं त्वया धार्यते जायमानम्। विश्वं त्वाहुतयः सर्वा यत्र ब्रह्माऽमृतोऽसि॥

हे मुक्तप्राण! आप विश्वस्वरूप हैं। आप ही विश्व में वैश्वानर रूप में विराट् होकर समस्त विश्व को अपने स्वरूप में धारण करते हैं। वह वैश्वानर सम्पूर्ण भूत-प्राणियों की देह में स्थित है। आप ब्रह्मामृत स्वरूप हैं, आपसे प्रादुर्भूत होने वाला यह विश्व तुरीयाग्नि में सभी आहुतियों के रूप में विलीन हो जाता है॥ १५॥

महानवोऽयं पुरुषो योऽङ्गुष्ठाग्रे प्रतिष्ठितः। तमद्भिः परिषिञ्चामि सोऽस्यान्ते अमृताय च॥ १६॥

जो प्राणरूप से पैर के दोनों अँगूठों के अग्रभाग में प्रतिष्ठित है, वहाँ पर तुम प्रतिक्षण अभिनव पुरुष के रूप में स्थित रहते हो। इस भोजन के अन्त में अमृतत्व की प्राप्ति हेतु तुम्हें सब ओर से सिंचित(तुष्ट)करता हूँ॥

अनावित्येष बाह्यात्मा ध्यायेताग्निहोत्रं जुहोमीति। सर्वेषामेव सूनुर्भवति। अस्य यज्ञपरिवृता आहुतीर्होमयति॥ १७॥

वे (प्राणरूप पुरुष) विशिष्ट चेष्टासम्पन्न हैं, अतः बाह्यात्मा इनका चिन्तन करे। यह पुरुष (प्रत्येक दिन प्राण-रूपी) अग्निहोत्र करता है। [क्योंकि तुम्हारा परमात्मा (अग्नि रूप का) पुत्रवत् पोषण करते हैं।] अतः तुम सभी के पुत्र भी होते हो, इस यज्ञीय भाव से परिवृत होकर तुम आहुतियों का होम करते हो॥ १७॥

स्वशरीरे यज्ञं परिवर्तयामीति। चत्वारोऽग्नयस्ते किं नारमर्धयाः॥ १८॥

अपने शरीर में यज्ञ को परिवर्तित करता हूँ। इस शरीर में अग्नियों की संख्या चार मानी गई है, जो अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। ये सभी अर्धमात्रिक मात्र हैं॥ १८॥

तत्र सूर्योऽग्निर्नाम सूर्यमण्डलाकृतिः सहस्त्ररश्मिपरिवृत एकऋषिर्भूत्वा मूर्धनि तिष्ठति। यस्मादुक्तो दर्शनाग्निर्नाम चतुराकृतिराहवनीयो भूत्वा मुखे तिष्ठति। शारीरोऽग्निर्नाम जराप्रणुदा हविरवस्कन्दति। अर्धचन्द्राकृतिर्दक्षिणाग्निर्भूत्वा हृदये तिष्ठति। तत्र कोष्ठाग्निरिति-कोष्ठाग्निर्नामाशितपीतलीढस्वादितं सम्यग् व्यष्ट्यं विषयित्वा गार्हपत्यो भूत्वा नाभ्यां तिष्ठति॥ १९॥

इन चार अग्नियों में से 'सूर्याग्नि' नामक अग्नि, सूर्य मण्डलाकृति के अनुरूप है। यह अत्यधिक तेजोमयी सहस्त्र (असंख्य) रश्मियों से सम्पन्न व्यापकरूप में होकर मूर्धा भाग में प्रतिष्ठित रहती है। (जैसा कि प्रसिद्ध है- 'तुरीयं' मूर्ध्नि संस्थितम्)। चूँकि यह जीवात्मा सर्वत्र ईश्वररूप में दृष्टिगोचर होता है, इसी कारण यह दर्शनाग्नि कहा गया है। यह विराड् आदि चार आकृतियों से युक्त आहवनीय बनकर मुख में स्थित रहता है। स्थूल शरीर को जलाने वाली शारीर अग्नि (हिरण्यगर्भ) स्थूल शरीर के आश्रित जरादि अवस्था के द्वारा कमजोर किया जाता है, स्थूल प्रपंच रूप हवि को ग्रसित करता है, जो कि अर्द्धचन्द्र के स्वरूप वाला दक्षिणाग्नि होकर समस्त भूत-प्राणियों के हृदय में विद्यमान रहता है। (चौथी) 'कोष्ठाग्नि' नामक अग्नि है। जो खायी, पी-हुई, चाटी हुई एवं आस्वादित वस्तु को अच्छी तरह से पकाकर गार्हपत्याग्नि के रूप में नाभिस्थल में प्रतिष्ठित रहती है॥ १९॥

प्रायश्चित्तयस्त्वधस्तात्तिर्यक् तिस्त्रो हिमांशुप्रभाभिः प्रजननकर्मा॥ २०॥

इस प्रकार प्रायश्चित्त वृत्तियाँ (चित्त की वृत्तियाँ) अधः (नीचे) प्रतिष्ठित हैं, तिर्यक् (वक्र वृत्तियाँ) तथा तीन (जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति) अवस्थाओं के प्रकाशक हिमांशु (अर्थात् चिद्रूप चन्द्र) सभी तरह से समर्थ प्रभु हैं। सभी कुछ प्रकाशमय कर देने वाले हैं॥ २०॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अस्य शारीरयज्ञस्य यूपरशनाशोभितस्य को यजमानः का पत्नी के ऋत्विजः के सदस्याः कानि यज्ञपात्राणि कानि हवींषि का वेदिः काऽन्तर्वेदिः को द्रोणकलशः को रथः कः पशुः कोऽध्वर्युः को होता को ब्राह्मणाच्छंसी कः प्रतिप्रस्थाता कः प्रस्तोता को मैत्रावरुणः क उद्गाता का धारा कः पोता के दर्भाः कः स्रुवः काज्यस्थाली कावाघारौ कावाज्यभागौ केऽत्र याजाः के अनुयाजाः केडा कः सूक्तवाकः कः शंयोर्वाकः काऽहिंसा के पत्नीसंयाजाः को यूपः का रशना का इष्टयः का दक्षिणा किमवभृथमिति॥२१॥

इस शारीर यज्ञ का, जो कि यूप (खम्भे) एवं रसना (रस्सी) से अशोभित (यूप और रसना से रहित) है, उसका यजमान कौन है ? पत्नी, ऋत्विज् एवं सदस्य कौन हैं ? यज्ञ-पात्र, हवि, वेदि, अन्तर्वेदिका, द्रोणकलश, रथ,पशु(बलिपशु),अध्वर्यु, होता, ब्राह्मणाच्छंसी, प्रतिप्रस्थाता, प्रस्तोता, मैत्रावरुण, उद्गाता, धारा (हवा करने वाला), पोता, दर्भ(कुश),स्रुवा, आज्यस्थाली (घृतपात्र), आघार, आज्यभाग, याज, अनुयाज, इड़ा , सूक्तवाक्, शंयोर्वाक्, अहिंसा, पत्नी संयाज, यूप (खम्भा), रशना, इष्ट, दक्षिणा एवं यज्ञ के समापन पर किया जाने वाला अवभृथ (एक स्नान विशेष) कौन-कौन हैं ? (अर्थात् जैसे यज्ञ में उपर्युक्त सभी वस्तुएँ-पदार्थ अपेक्षित हैं, वैसे ही इस शारीर यज्ञ के लिए भी ये सभी वस्तुएँ आवश्यक हैं, किन्तु ये सब कहाँ और कौन हैं ?) ॥ २१ ॥

अस्य शारीरयज्ञस्य यूपरशनाशोभितस्यात्मा यजमानः बुद्धिः पत्नी वेदा महर्त्विजः अहंकारोऽध्वर्युः चित्तं होता प्राणो ब्राह्मणाच्छंसी अपानः प्रतिप्रस्थाता व्यानः प्रस्तोता उदान उद्गाता समानो मैत्रावरुणः शरीरं वेदिः नासिकाऽन्तर्वेदिः मूर्धा द्रोणकलशः पादो रथः दक्षिणहस्तः स्रुवः सव्यहस्त आज्यस्थाली श्रोत्रे आघारौ चक्षुषी आज्यभागौ ग्रीवा धारा पोता तन्मात्राणि सदस्याः महाभूतानि प्रयाजाः भूतानि गुणा अनुयाजाः जिह्वेडा दन्तोष्ठौ सूक्तवाकः तालुः शंयोर्वाकः स्मृतिर्दया क्षान्तिरहिंसा पत्नीसंयाजाः ओंकारो यूपः आशा रशना मनो रथः कामः पशुः केशा दर्भाः बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि कर्मेन्द्रयाणि हवींषि अहिंसा इष्टयः त्यागो दक्षिणा अवभृथं मरणात् सर्वा ह्यस्मिन्देवताः शरीरेऽधिसमाहिताः॥ २२॥

इस शारीर यज्ञ का जो कि यूप(खम्भे)एवं रसना से अशोभित(रहित)है, इस शारीर यज्ञ की आत्मा यजमान है, बुद्धि पत्नी है, वेद ही महा ऋत्विज् हैं, अहंकार ही अध्वर्यु है, चित्त होता है, प्राण ब्राह्मणाच्छंसी है, अपान प्रतिप्रस्थाता है,व्यान प्रस्तोता है,उदान उद्गाता,समान मैत्रावरुण, शरीर वेदिका,नासिका अन्तःवेदि,मूर्धा (सिर)द्रोणकलश,पैर ही रथ है,दाहिना हाथ स्रुवा है,बायाँ हाथ घृतपात्र है,कान ही आघार हैं,नेत्र ही आज्य भाग हैं, ग्रीवा(गर्दन)ही धारा—पोता हैं, तन्मात्राएँ सदस्य हैं, पञ्च महाभूत प्रयाज,अन्यभूत(प्राणी)गुण और अनुयाज हैं,जिह्वा इड़ा है,दाँत-ओष्ठ सूक्तवाक् हैं, तालु शंयोर्वाक्, स्मृति, दया, शान्ति ही अहिंसा और पत्नीसंयाज हैं, ॐ कार खम्भा है,आशा रशना है,मन रथ है,काम ही पशु है,केश ही कुशाएँ हैं,ज्ञानेन्द्रियाँ यज्ञपात्र हैं, कर्मेन्द्रियाँ हवि हैं,अहिंसा इष्टकायें,त्याग ही दक्षिणा है, मृत्यु ही अवभृथ स्नान है। ऐसा समझकर जब यज्ञ किया जाता है, तभी यह यज्ञ पूर्ण फलदायक होता है और तभी समस्त देवगण इस शरीर में समाहित होते हैं॥ २२॥

वाराणस्यां मृतो वापि इदं वा ब्राह्मणः पठेत्। एकेन जन्मना जन्तुर्मोक्षं च प्राप्नुयादिति मोक्षं च प्राप्नुयादित्युपनिषत्॥ २३॥

यदि किसी व्यक्ति की मृत्यु काशी में हो अथवा फिर कोई ब्राह्मण इसे (उपनिषद् को) पढ़े, तो एक ही जन्म में चित्त शुद्धि करने वाला ज्ञान एवं मोक्ष को निश्चित रूप से प्राप्त कर लेता है, यही उपनिषद् है॥ २३॥

॥ इति प्राणाग्निहोत्रोपनिषत् समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ बह्वृचापानषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध है। इसमें जगत् की कारण स्वरूपा 'आदिशक्ति' का स्वरूप विवेचित करती है। इसमें सर्वप्रथम 'चित्शक्ति' का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। उसी 'चित् शक्ति' से 'ब्रह्मा' से लेकर स्थावर (जड़) तक सभी प्रकट हुए हैं। चित् शक्ति से ही शब्द, अर्थ और रूप आदि का प्राकट्य हुआ। 'चित् शक्ति' अद्वितीय है। अन्तः और बाह्य में विद्यमान चैतन्य शक्ति एक ही है। वही शक्ति 'अम्बा' आदि के रूप में विद्यमान है। वही परब्रह्मस्वरूपा है। जो इस ब्रह्मस्वरूपा 'चित् शक्ति' को भली प्रकार जान लेते हैं, वे उस परमाकाश में सदा-सर्वदा के लिए प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इन्हीं सब तथ्यों के साथ यह उपनिषद् पूर्ण होती है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्षमालिकोपनिषद्)

देवी ह्येकाग्र आसीत्। सैव जगदण्डमसृजत्। कामकलेति विज्ञायते। शृङ्गारकलेति विज्ञायते ॥१

सृष्टि रचना के पहले एक मात्र देवी ही विद्यमान थीं। उन्हीं के द्वारा ब्रह्माण्ड की सृष्टि-संरचना सम्पन्न हुई। वे देवी कामकला और शृंगारकला के नाम से प्रख्यात हैं॥ १ ॥

तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्। विष्णुरजीजनत्। रुद्रोऽजीजनत्। सर्वे मरुद्गणा अजीजनन्। गन्धर्वाप्सरसः किंनरा वादित्रवादिनः समन्तादजीजनन्। भोग्यमजीजनत्। सर्वमजीजनत्। सर्वं शाक्तमजीजनत्। अण्डजं स्वेदजमुद्भिज्जं जरायुजं यत्किंचैतत्प्राणिस्थावरजङ्गमं मनुष्यमजीजनत् ॥२

उन देवी के द्वारा ही ब्रह्मा, भगवान् विष्णु एवं रुद्र प्रकट हुए। उन्हीं से सभी मरुद्गण तथा गायन करने वाले गन्धर्व, नर्तन करने वाली अप्सराएँ एवं वाद्ययन्त्रों को झंकृत करने वाले किन्नर प्रकट हुए। उन्हीं से उपभोग की सामग्री भी उत्पन्न हुई, सभी कुछ उन्हीं के द्वारा प्रादुर्भूत हुआ है। अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज एवं जरायुज आदि जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी हैं, उनकी एवं मनुष्य की सृष्टि भी उन्हीं जगन्मयी देवी से हुई है॥ २॥

सैषाऽपरा शक्तिः। सैषा शांभवी विद्या कादिविद्येति वा हादिविद्येति वा सादिविद्येति वा रहस्यम्। ओमों वाचि प्रतिष्ठा ॥ ३ ॥

वे (देवी) ही अपरा शक्ति कहलाती हैं। वे ही शाम्भवीविद्या, कादिविद्या, हादिविद्या एवं सादिविद्या कहलाती हैं। वे (देवी) रहस्यमयी हैं। वे ही प्रणववाची अक्षर तत्त्वरूपा हैं। ॐ अर्थात् सत्-चित् आनन्दमयी वे देवी समस्त प्राणियों की वागिन्द्रिय में अवस्थित हैं॥ ३ ॥

[शाक्त तन्त्र के विविध प्रयोगों द्वारा भी आत्म-परमात्मतत्त्व की एकरूपता का बोध होता है, उसे ही यहाँ विद्या की संज्ञा प्रदान की गई है, जैसे- शाम्भवी विद्या-जिसके द्वारा परम कल्याणकारी (ईश्वर) का साक्षात्कार हो। कादिविद्या- 'क' आदि (क,ए, ई,ल, ह्रीं) बीज मन्त्रों से युक्त विद्या। हादिविद्या- 'ह' आदि (ह,स, क, ह, ल, ह्रीं) बीज मन्त्रों से युक्त विद्या तथा सादिविद्या-'स' आदि (स,क,ल, ह्रीं) बीज मन्त्रों से युक्त विद्या।]

सैव पुरत्रयं शरीरत्रयं व्याप्य बहिरन्तरवभासयन्ती देशकालवस्त्वन्तरसङ्गान्महात्रिपुरसुन्दरी वै प्रत्यक् चितिः ॥ ४ ॥

वे (देवी) ही इन तीनों (जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति) पुरों और इन तीनों प्रकार के (स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण) शरीरों को विस्तीर्ण करके बाह्य एवं अन्तः में आलोक फैला रही हैं। वे महात्रिपुर सुन्दरी प्रत्यक् चेतना के रूप में देश, काल एवं पात्र के अन्दर संगरहित होकर निवास करती हैं॥ ४॥

सैवात्मा ततोऽन्यदसत्यमनात्मा। अत एषा ब्रह्मसंवित्तिर्भावाभावकलाविनिर्मुक्ता चिद्विद्याद्वितीयब्रह्मसंवित्तिः सच्चिदानन्दलहरी महात्रिपुरसुन्दरी बहिरन्तरनुप्रविश्य स्वयमेकैव

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

विभाति। यदस्ति सन्मात्रम्। यद्विभाति चिन्मात्रम्। यत्प्रियमानन्दं तदेतत्सर्वाकारा महात्रिपुरसुन्दरी। त्वं चाहं च सर्वं विश्वं सर्वदेवता। इतरत्सर्वं महात्रिपुरसुन्दरी। सत्यमेकं ललिताख्यं वस्तु तदद्वितीयमखण्डार्थं परं ब्रह्म॥ ५॥

वे (देवी) ही आत्मस्वरूपा हैं, उनके अतिरिक्त और सभी कुछ सत्यरहित, आत्मविहीन है। ये ब्रह्मविद्या रूपा हैं, भाव एवं अभाव आदि कला से विनिर्मुक्त चिन्मयीरूपा विद्या शक्ति हैं तथा वे ही अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाली हैं। वे सच्चिदानन्दरूपी लहरों (तरंग) वाली श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी बाह्य एवं अन्तः में प्रविष्ट होकर स्वयमेव अकेली ही सुशोभित हो रही हैं। (उन देवी के अस्ति, भाति एवं प्रिय इन तीनों रूपों में) जो अस्ति है-वह सन्मात्र का बोध कराने वाला है, जो भाति है-वह चिन्मात्र का बोध कराने वाला है तथा जो प्रिय (आत्मीय) है- वही आनन्दमय है। इस तरह से समस्त आकारों में श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी ही विद्यमान हैं। तुम और मैं, यह सारा जगत् एवं समस्त देवगण और अन्य सभी कुछ श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी ही हैं। 'ललिता' नामक एक मात्र वस्तु (शक्ति) ही शाश्वत सत्य है। वही अद्वितीय, अखण्ड, अविनाशी परमात्म तत्त्व है॥ ५॥

पञ्चरूपपरित्यागादस्वरूपप्रहाणतः। अधिष्ठानं परं तत्त्वमेकं सच्छिष्यते महत् इति॥६॥

(उन देवी के) पाँचों रूप अर्थात् अस्ति, भाति, प्रिय, नाम तथा रूप के परित्याग कर देने से एवं अपने स्वरूप के त्याग न करने से अधिष्ठान स्वरूप जो एक सत्ता शेष रह जाती है, वही परम अविनाशी तत्त्व है॥ ६॥

प्रज्ञानं ब्रह्मेति वा अहं ब्रह्मास्मीति वा भाष्यते। तत्त्वमसीत्येव संभाष्यते। अयमात्मा ब्रह्मेति वा अहं ब्रह्मास्मीति वा ब्रह्मैवाहमस्मीति वा ॥ ७॥

उसी परमात्म तत्त्व को 'प्रज्ञान ब्रह्म' है या 'मैं ब्रह्म हूँ', 'वह तू है','यह आत्मा ब्रह्म है' या 'मैं ही ब्रह्म हूँ' या 'ब्रह्म ही मैं हूँ' आदि वाक्यों से अभिव्यक्त किया जाता है॥ ७॥

योऽहमस्मीति वा सोऽहमस्मीति वा योऽसौ सोऽहमस्मीति वा या भाष्यते सैषा षोडशी श्रीविद्या पञ्चदशाक्षरी श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी बालाम्बिकेति बगलेति वा मातङ्गीति स्वयंवरकल्याणीति भुवनेश्वरीति चामुण्डेति चण्डेति वाराहीति तिरस्करिणीति राजमातङ्गीति वा शुकश्यामलेति वा लघुश्यामलेति वा अश्वारूढेति वा प्रत्यङ्गिरा धूमावती सावित्री सरस्वती गायत्री ब्रह्मानन्दकलेति॥ ८॥

'जो मैं हूँ,' 'वह मैं हूँ,' 'जो वह है,' 'सो भी मैं हूँ' इत्यादि श्रुति वचनों के द्वारा जिनका निरूपण होता है, वे ही यही षोडशी श्रीविद्या हैं। वही पञ्चदशाक्षर मंत्र से युक्त श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी,बाला,अम्बिका, बगला,मातङ्गी, स्वयंवर-कल्याणी,भुवनेश्वरी,चामुण्डा,चण्डा,वाराही,तिरस्करिणी,राजमातङ्गी,शुकश्यामला, लघुश्यामला, अश्वारूढ़ा, प्रत्यङ्गिरा, धूमावती, सावित्री, सरस्वती,गायत्री, ब्रह्मानन्दकला आदि नामों के द्वारा जानी जाती हैं॥ ८॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्। यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति। य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ इत्युपनिषत्॥ ९॥

ऋचाएँ,अक्षर-अविनाशी परमाकाश में स्थित रहती हैं,उसी में समस्त देवगण सम्यक् रूप से निवास करते हैं। उस(श्रेष्ठ-शाश्वत ज्ञान)को जानने का प्रयास जिसने नहीं किया, ऐसा वह(मनुष्य) ऋचाओं के पठन-मात्र से क्या प्राप्त कर सकता है ? जो पुरुष उस परम आकाश को पूर्ण दृढ़निश्चयी होकर जान लेते हैं, वे ही पुरुष उस परमाकाश में हमेशा के लिए प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हुई॥ ९॥

॥ इति बह्वृचोपनिषत्समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ भावनोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें पराम्बा त्रिपुरसुन्दरी के श्रीचक्र पर आसीन होकर सर्वशक्तिमयी रूप को प्रकट करने का वर्णन है। सर्वप्रथम 'शिव' के ईश्वरत्व का विवेचन करते हुए कहा गया है कि 'शक्ति' के सहयोग से ही वह 'शिव' कहे जाते हैं। तत्पश्चात् तीनों शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण) में श्रीचक्र की भावना का विशद वर्णन है। इसके बाद देवशक्तियों के आवाहन, आसन, पाद्य आदि उपचार की भावना वर्णित है। अन्त में भावना का फल बताते हुए कहा गया है कि जो भी साधक इस प्रकार तीन मुहूर्त तक भावना-परायण रहता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। वह एकमात्र ब्रह्म का ही रूप हो जाता है। वही साधक 'शिवयोगी' कहलाता है। इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हो जाती है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृष्णोपनिषद्)

श्रीगुरुः सर्वकारणभूता शक्तिः ॥ १ ॥

परम पूज्य 'श्री सद्गुरु' ही सर्वप्रधान परम कारणभूत शक्ति हैं ॥ १ ॥

[गुरु का शाब्दिक अर्थ है-गु=अज्ञानान्धकार, रु=नष्ट करने वाला। यह विशेषता परम शिव में ही है, वे ही सर्ग-स्थिति-संहार करने में समर्थ हैं, इसीलिए उन्हें परमकारण शक्ति कहा है।]

केन नवरन्ध्ररूपो देहः। नवशक्तिरूपं श्रीचक्रम्। वाराही पितृरूपा। कुरुकुल्ला बलिदेवता माता। पुरुषार्थाः सागराः। देहो नवरत्नद्वीपः। आधारनवकमुद्राः शक्तयः। त्वगादिसप्तधातुभिरनेकैः संयुक्ताः संकल्पाः कल्पतरवः। तेजः कल्पकोद्यानम्। रसनया भाव्यमाना मधुराम्लतिक्तकटुकषायलवणभेदाः षड्रसाः षड्ऋतवः। क्रियाशक्तिः पीठम्। कुण्डलिनी ज्ञानशक्तिर्गृहम्। इच्छाशक्तिर्महात्रिपुरसुन्दरी। ज्ञाता होता ज्ञानमग्निः ज्ञेयं हविः। ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामभेदभावनं श्रीचक्रपूजनम्। नियतिसहिताः शृङ्गारादयो नव रसा अणिमादयः। कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यपुण्यपापमया ब्राह्म्याद्यष्टशक्तयः। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशश्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थमनोविकाराः षोडश शक्तयः। वचनादानगमनविसर्गानन्दहानोपेक्षाबुद्धयोऽनङ्गकुसुमादिशक्तयोऽष्टौ। अलम्बुसा कुहूर्विश्वोदरी वरुणा हस्तिजिह्वा यशस्वत्यश्विनी गान्धारी पूषा शङ्खिनी सरस्वतीडा पिङ्गला सुषुम्ना चेति चतुर्दश नाड्यः। सर्वसंक्षोभिण्यादिचतुर्दशारगा देवताः। प्राणापानव्यानोदानसमाननागकूर्मकृकरदेवदत्तधनंजया इति दश वायवः। सर्वसिद्धिप्रदा देव्यो बहिर्दशारगा देवताः। एतद्वायुदशकसंसर्गोपाधिभेदेन रेचकपूरकशोषकदाहकप्लावका अमृतमिति प्राणमुख्यत्वेन पञ्चविधोऽस्ति। क्षारको दारकः क्षोभको मोहको जृम्भक इत्यपालनमुख्यत्वेन पञ्चविधोऽस्ति। तेन मनुष्याणां मोहको दाहको भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यपेयात्मकं चतुर्विधमन्नं पाचयति। एता दश वह्निकलाः सर्वात्वाद्यन्तर्दशारगा देवताः। शीतोष्णसुखदुःखेच्छासत्त्वरजस्तमोगुणा वशिन्यादिशक्तयोऽष्टौ। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चतन्मात्राः पञ्च पुष्पबाणा मन इक्षुधनुः। वश्यो बाणो रागः पाशः। द्वेषोऽङ्कुशः। अव्यक्तमहत्तत्त्वमहदहंकार इति कामेश्वरीवज्रेश्वरीभगमालिन्योऽन्तस्त्रिकोणाग्रगा देवताः। पञ्चदशतिथिरूपेण कालस्य परिणामावलोकनस्थितिः पञ्चदश नित्या श्रद्धानुरूपाधिदेवता। तयोः कामेश्वरी सदानन्दघना परिपूर्णस्वात्मैक्यरूपा देवता ॥ २ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

किस हेतु से शरीर में श्रीचक्रत्व सिद्ध होता है? नौ छिद्रों से युक्त यह देह है तथा (विमल से लेकर ईशान तक) नौ शक्तियों से सम्पन्न यह श्रीचक्र है। इस देह की माता कुरुकुल्ला बलि देवी एवं पिता के रूप में वाराही हैं। देह के आश्रय रूप में धर्मादि चारों पुरुषार्थ ही इसके चार समुद्र के रूप में हैं। यह शरीर ही नवरत्न द्वीप है। इस द्वीप की आधारभूता शक्तियाँ (योनिमुद्रा आदि सर्वसंक्षोभिणी पर्यन्त) महात्रिपुरसुन्दरी आदि नौ हैं। त्वचा आदि सप्त धातुओं एवं अनेक अन्तः-बाह्य विकारों से युक्त नानाविध संकल्प-विकल्प ही कल्पवृक्ष है। (उस परमात्मा से भिन्न रमणीय नानाविध) तेजस् स्वरूप-सा जीव ही उद्यान है। जिह्वा द्वारा आस्वादित किये जाने वाला मधुर,अम्ल,तिक्त (तीखा),कड़ुवा, कषैला एवं नमकीन रस आदि छः ऋतुएँ हैं। क्रिया नामक जो शक्ति है,वही पीठ है। कुण्डलिनीरूपी ज्ञानशक्ति ही गृह है। इच्छाशक्ति ही महात्रिपुरसुन्दरी नामक आराध्या भगवती है। ज्ञाता ही होता (हवन करने वाला),ज्ञान ही अर्घ्य एवं ज्ञेय(ज्ञातव्य तत्त्व)ही हविरूप है। ज्ञाता,ज्ञान एवं ज्ञेय को भेदरहित मानना ही श्रीचक्र का पूजन है। अणिमादि सिद्धियों (अणिमा,लघिमा,महिमा,ईशित्व, वशित्व,प्राकाम्य,भुक्ति,इच्छा,प्राप्ति और सर्वकाम मुक्ति) का सम्बन्ध नियति(प्रकृति निर्धारण) सहित श्रृंगार,वीर,करुण आदि नौ-रसों से है। काम,क्रोध,लोभ,मोह,मद,मात्सर्य,पुण्य एवं पाप से युक्त ब्राह्मी आदि आठ शक्तियाँ हैं। पृथ्वी,जल,तेज,वायु,आकाश,कर्ण,त्वचा,नेत्र,जिह्वा,नासिका,वाणी,हाथ,पैर,मल-मूत्रेन्द्रियाँ तथा मन आदि विकार ही (मूल प्रकृति से उत्पन्न) षोडश शक्तियाँ हैं। वचन (बोलना),आदान(ग्रहण करना),गमन(गतिशील होना), विसर्ग(त्याग करना),आनन्द, हान(त्याज्य),उपेक्षा-बुद्धि एवं अनङ्ग-कुसुम आदि आठ शक्तियाँ हैं। अलम्बुसा, कुहू, विश्वोदरी, वरुणा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, अश्विनी, गान्धारी, पूषा, शंखिनी,सरस्वती, इड़ा,पिङ्गला,सुषुम्ना आदि चौदह नाड़ियाँ सर्वसंक्षोभिणी आदि चतुर्दशार देवता हैं। प्राण,अपान,उदान,समान,व्यान,नाग,कूर्म,कृकर,देवदत्त,धनञ्जय-ये दस प्राण सर्वसिद्धिप्रदा आदि देवियाँ बाह्य दशार देवता हैं। इन दस वायुओं के सम्पर्क एवं उपाधि भेद से रेचक, पूरक,शोषक,दाहक,प्लावक-ये अमृतस्वरूप प्राण मुख्यतः पाँच प्रकार के हैं। मानवों के मोहक एवं दाहक होते हुए चबाये जाने वाले,चाटे जाने वाले,चूसे जाने वाले तथा पिये जाने वाले इन चारों प्रकार के अन्नों को पचाते हैं। ये दस अग्नि की कलास्वरूप वायु ही सर्वज्ञत्व आदि अन्तः दशार देवता हैं। जाड़ा,गर्मी,सुख, दुःख, इच्छा,सत्त्व,रज,तम ही 'वशिनी' आदि आठ शक्तियाँ हैं। शब्द,स्पर्श,रूप,रस एवं गन्ध आदि पञ्च तन्मात्राएँ ही पाँच पुष्पबाण हैं तथा मन ही ईख का बना हुआ धनुष है अर्थात् मन के द्वारा ये रूपादि पञ्चबाण बाहर फेंके जाते हैं। वश में होना ही बाण है,राग (प्रेम) ही पाश (बन्धन) है और द्वेष ही अंकुश है। अव्यक्त,महत्तत्त्व, अहंकार, कामेश्वरी, वज्रेश्वरी तथा भगमालिनी आदि आन्तरिक त्रिकोण के अग्रभाग में स्थित देवता हैं। पन्द्रह तिथियों के रूप से काल के परिणाम का अवलोकन करने वाले पन्द्रह नित्य श्रद्धानुरूप अधिदेवता हैं। उन (वज्रेश्वरी तथा भगमालिनी) में आद्याप्रधान कामेश्वरी जो कि सत्,चित्,आनन्दघन स्वरूपा हैं एवं परिपूर्ण (ब्रह्म) और आत्मा की ऐक्य रूपा देवता हैं॥२॥

[यहाँ श्री यन्त्र लेखन की प्रक्रिया का उल्लेख है। बिन्दु, त्रिकोण, अष्टार, अन्तर्दशार, बहिर्दशार, चतुर्दशार, अष्टदल पद्म, षोडशदलपद्म और चतुरस्र आदि इसके पारिभाषिक शब्द हैं, जिनके द्वारा 'श्रीयन्त्र' लिखा जाता है।]

सलिलमिति सौहित्यकारणं सत्त्वं। कर्तव्यमकर्तव्यमिति भावनायुक्त उपचारः। अस्ति नास्तीति कर्तव्यता उपचारः। बाह्याभ्यन्तःकरणानां रूपग्रहणयोग्यताऽस्त्वित्यावाहनम्। तस्य बाह्याभ्यन्तःकरणानामेकरूपविषयग्रहणमासनम्। रक्तशुक्लपदैकीकरणं पाद्यम्। उज्ज्वलदा-मोदानन्दासनदानमर्घ्यम्। स्वच्छं स्वतःसिद्धमित्याचमनीयम्। चिच्चन्द्रमयीति सर्वाङ्गस्नवणं स्नानम्। चिदग्निस्वरूपपरमानन्दशक्तिस्फुरणं वस्त्रम्। प्रत्येकं सप्तविंशतिधा भिन्नत्वेनेच्छाज्ञान-क्रियात्मकब्रह्मग्रन्थिमद्रसतन्तुब्रह्मनाडी ब्रह्मसूत्रम्। स्वव्यतिरिक्तवस्तुसङ्गरहितस्मरणं विभूषणम्। स्वच्छस्वपरिपूर्णतास्मरणं गन्धः। समस्तविषयाणां मनसः स्थैर्येणानुसंधानं कुसुमम्। तेषामेव

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सर्वदा स्वीकरणं धूपः। पवनावच्छिन्नोर्ध्वज्वलनसच्चिदुल्काकाशदेहो दीपः। समस्तयाताया-तवर्ज्यं नैवेद्यम्। अवस्थात्रयाणामेकीकरणं ताम्बूलम्। मूलाधारादाब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं ब्रह्मरन्ध्रादा-मूलाधारपर्यन्तं गतागतरूपेण प्रादक्षिण्यम्। तुर्यावस्था नमस्कारः। देहशून्यप्रमातृतानिमज्जनं बलिहरणम्। सत्यमस्ति कर्तव्यमकर्तव्यमौदासीन्यनित्यात्मविलापनं होमः। स्वयं तत्पादुका-निमज्जनं परिपूर्णध्यानम्॥ ३॥

सलिल अर्थात् गुरु-मन्त्रात्मक देवों का एकीकरण रूप सत् तत्त्व ही कर्त्तव्य है और एकीकरण रूप न करना ही अकर्त्तव्य है। भावना योग ही इसका उपचार(पूजा)है। अस्ति (ब्रह्म है)-नास्ति(ब्रह्म नहीं है)की कर्त्तव्यता(निरन्तर अनुसन्धान करना)उपचार है। बाह्य एवं आभ्यन्तर कारणों के रूप ग्रहण की योग्यता ही आवाहन है। उसका बाह्य एवं आभ्यन्तर करणों(इन्द्रियों)का एक रूप होकर विषयों का ग्रहण करना ही आसन है। रक्त एवं शुक्ल पद(सत एवं तम गुणों)का एकीकरण पाद्य है। उज्ज्वल(निर्मल)दामोदानन्द(आनन्दमयब्रह्म) में सदैव अवस्थित रहने तथा इसी का दान(योग्य शिष्य को यह ज्ञान प्रदान करना)-अर्घ्य है। स्वयं स्वच्छ एवं स्वतः सिद्ध होना ही आचमन है। चिद्रूप चन्द्रमयी शक्ति से सम्पूर्ण अंगों का स्रवण (स्वेदयुक्त होना) ही स्नान है। चिद् अग्निस्वरूप परमात्मा की शक्ति का स्फुरण(प्रकाशित होना)ही वस्त्र है।(इच्छा-ज्ञान-क्रिया आदि तीन शक्तियों के त्रिगुणात्मक होने से)हर एक के जो सत्ताईस भेद एवं इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्ति स्वरूप ब्रह्म, (विष्णु एवं रुद्र)ग्रन्थि के मध्य स्थित सुषुम्ना नाड़ी ही ब्रह्मसूत्र है,(क्योंकि यही नाड़ी ब्रह्म की द्योतिका है।) अपने से पृथक् वस्तु का स्मरण न करना ही आभूषण है। शुभ्र स्वरूप, जो ब्रह्म है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं, यही स्मरण करना 'गन्ध' है। समस्त विषयों का मन की स्थिरता द्वारा अनुसन्धान करना ही पुष्प(फूल)है तथा उसे स्वीकार करना ही धूप है। पवनयुक्त योग के समय प्राण, अपान की एकता से सुषुम्ना में सत्-चित्, उल्कारूप जो(प्रकाशरूप) आकाश देह है, वही 'दीप' है। अपने से अलग समस्त विषयों में मन की गति का गमनागमन स्थिर हो जाना ही नैवेद्य है। तीनों अवस्थाओं(जाग्रत्,स्वप्न,सुषुप्ति)का एकीकरण ही ताम्बूल (पान)है। मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त एवं ब्रह्मरन्ध्र से मूलाधार तक बार-बार आना-जाना ही प्रदक्षिणा है। चतुर्थ अवस्था अर्थात् तुरीयावस्था में रहना ही 'नमस्कार' है। देह की जड़ता में डूबना अर्थात् आत्मा को चैतन्य युक्त मानकर एवं शरीर को जड़ मानकर स्थिर रहना ही 'बलि' है। अपना आत्मतत्त्व ही स्वयं सत्य रूप है, ऐसा निश्चय करके कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य, उदासीनता, नित्यात्मक आत्मा में विलास करना अर्थात् निरन्तर आत्मचिन्तन करना ही यज्ञ(हवन)है तथा स्वयमेव उस परब्रह्म-विराट् पुरुष(परमात्मा)की पादुकाओं में अनासक्त भाव से डूबे रहना ही परिपूर्ण ध्यान है।(सारांश यह हुआ कि जिस प्रकार पूजन के लिए धूप, दीप, नैवेद्य, प्रदक्षिणा एवं नमन-वन्दन आदि अपेक्षित होता है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति हेतु उपर्युक्त कहे गये पदार्थों का साधन कर लेना ही तद्-तद् धूप-दीप एवं नैवेद्य आदि हैं। इन्हीं मांगलिक पदार्थों को भावनापूर्वक समर्पित करने से ही उस ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है) ॥३॥

एवं मुहूर्तत्रयं भावनापरो जीवन्मुक्तो भवति। तस्य देवतात्मैक्यसिद्धिः। चिन्तितकार्याण्य-यत्नेन सिद्ध्यन्ति। स एव शिवयोगीति कथ्यते ॥ ४॥

इस तरह से जो भी मनुष्य (योगी-साधक) तीन मुहूर्त तक भावनापरायण रहता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। वह एक मात्र ब्रह्म का ही रूप हो जाता है तथा उसके द्वारा चाहे हुए कार्य बिना यत्न के ही पूर्ण हो जाते हैं और वही (साधक) शिवयोगी कहलाता है॥ ४॥

॥ इति भावनोपनिषत्समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ महापानषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। महत् स्वरूप वाली यह महोपनिषद् श्री शुकदेव जी एवं महाराज जनक तथा ऋभु एवं निदाघ के प्रश्नोत्तर रूप में प्रकट हुई है। इसमें कुल छः अध्याय हैं।

प्रथम अध्याय में सर्वप्रथम नारायण की अद्वितीयता एवं ईशत्व का विवेचन है। तदुपरान्त यज्ञीय स्तोम की उत्पत्ति, चौदह पुरुष एवं एक कन्या की उत्पत्ति, पच्चीस तत्त्वात्मक पुरुष की उत्पत्ति, रुद्र की उत्पत्ति, चतुर्मुख ब्रह्मा की उत्पत्ति, व्याहृति, छन्द, वेद और देवताओं की उत्पत्ति, नारायण की विराट् रूपता तथा नारायण की उपलब्धि का स्थान हृदय बताया गया है। द्वितीय अध्याय में शुकदेव के स्वयं उद्भूत पारमार्थिक ज्ञान-तत्त्वज्ञान के होते हुए भी शुकदेव की अविश्रान्ति, व्यास जी के उपदेश के प्रति शुकदेव का अनादर, शुकदेव का जनक के पास जाना, जनक द्वारा शुक की परीक्षा, शुक-जनक संवाद, बन्धन-मोक्ष का विवेक, जीवन्मुक्त स्थिति, विदेहमुक्त स्थिति, शुकदेव के भ्रम का निवारण तथा शुकदेव को विश्रान्ति की प्राप्ति आदि विषयों का विवेचन है। तृतीय अध्याय का शुभारम्भ 'निदाघ' के विचार के साथ हुआ है। तदुपरान्त प्रपञ्च (जगत्) का अनित्यत्व, अहंकार, तृष्णा आदि की अनर्थकता, देह तथा उसकी अवस्था की निन्दा, संसार की दुःखमयता, स्त्री निन्दा, दिशाओं आदि की क्षणभंगुरता तथा वैराग्य से तत्त्व जिज्ञासा आदि विषय व्याख्यायित हैं। चतुर्थ अध्याय में मोक्ष के चार उपाय, शास्त्रादि द्वारा आत्मावलोकन विधि, समाधि का स्वरूप, जीवन्मुक्त स्थिति, शम, सन्तोष, आत्मविश्रान्ति से कृतकृत्यता, दृश्य जगत् का मिथ्यात्व, आसक्ति तथा अनासक्ति से बन्धन और मोक्ष की स्थिति, संसार की मनोमयता, चैतन्य की अनुभूति ही समाधि, जगत् का मिथ्यात्व,शान्त मनःस्थिति से ब्रह्म प्राप्ति, निर्विशेष ब्रह्मज्ञान की महिमा, वासना के परिहार से मोक्ष की प्राप्ति, बन्ध-मोक्ष का मूल संकल्प तथा अनात्माभिमान के त्याग की विधि इत्यादि विषयों का विशद विवेचन किया गया है। पाँचवें अध्याय में अज्ञान एवं ज्ञान की भूमिका, 'स्वरूप' में स्थिति मोक्ष और 'स्वरूप' से नष्ट होना बन्धन, ज्ञान एवं अज्ञान की सात भूमिकाएँ, जीवन्मुक्त का आचरण, ज्ञान भूमिका का अधिकारी, ब्रह्म की अनुभूति ही ब्रह्म प्राप्ति का उपाय, मनोलय होने पर चैतन्य की अनुभूति, जगत् के भ्रामक ज्ञान को शान्त करने का उपाय, विषयों से उपरामता, तृष्णा को नष्ट करने का उपाय अहंभाव का त्याग, मन के अभ्युदय एवं नाश से बन्धन-मुक्ति, चित् (चैतन्य) विद्या का अधिकारी, माया से बचकर ही ब्रह्म प्राप्ति सम्भव, ब्रह्म की सृष्टि माया के अधीन तथा संकल्प (आकांक्षा) के नष्ट होने से संसार का मूलोच्छेदन सम्भव जैसे विषयों का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। छठे अध्याय में समाधि के अभ्यास से परमेश्वरत्व की प्राप्ति, ज्ञानियों की उपासना पद्धति, अज्ञानियों की दुःखद स्थिति, मनोनाश का उपाय, वासना त्याग का उपाय, जीवन्मुक्त की महिमा, तृष्णा की त्याग विधि, चार प्रकार के निश्चय, अद्वैतनिष्ठ व्यक्ति के लिए संसार का अभाव, मुमुक्षु की ब्रह्मनिष्ठता और अन्त में इस उपनिषद् शास्त्र के पठन-पाठन का प्रतिफल वर्णित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह महोपनिषद् अपने नाम के अनुसार अनेकानेक महत्त्वपूर्ण विषयों का बड़ी कुशलता के साथ विशद विवेचन प्रस्तुत करके अध्यात्मपथ के पथिकों का समुचित मार्गदर्शन करती है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

हे परमेश्वर! मेरे समस्त अंग-अवयव वृद्धि को प्राप्त करें। वाणी, चक्षु, कर्णेन्द्रिय आदि समस्त कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ, समस्त प्राण, शारीरिक एवं मानसिक शक्ति ओजस्-तेजस् से परिपुष्ट एवं विकसित हों। मैं उपनिषद् में प्रतिपादित अविनाशी ब्रह्म के स्वरूप को कभी भी अस्वीकार न करूँ तथा वह ब्रह्म भी हमारा कभी परित्याग न करे। (वह) मुझे सदैव अपने सामीप्य का बोध कराता रहे। (उस ब्रह्म के साथ मेरा तथा मेरे साथ उस ब्रह्म का) प्रगाढ़ सम्बन्ध सतत बना रहे। उपनिषदों में वर्णित जो समस्त धर्म हैं, वे सभी उस परमात्म तत्त्व में निरत मुझमें सदैव प्रकाशित होते हुए स्थिर रहें। हे परमात्मन्! त्रिविध ताप शान्त हों।

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

अथातो महोपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥ तदाहुरेको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो नापो नाग्नीषोमौ नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यो न चन्द्रमाः ॥२ ॥ स एकाकी न रमते ॥३ ॥

अब (ईश प्रार्थना के बाद) महोपनिषद् के व्याख्यान का शुभारम्भ किया जा रहा है। सृष्टि के आदि में एकमात्र भगवान् नारायण ही थे। इनके अतिरिक्त ब्रह्मा, रुद्र, आपः (जल), अग्नि एवं सोम आदि देवगण नहीं थे। ये द्युलोक तथा पृथ्वीलोक भी नहीं थे और न ही नक्षत्र, चन्द्रमा एवं सूर्य आदि ही थे। ऐसी स्थिति में उन (विराट् पुरुष) को एकाकी रहना बिल्कुल अच्छा नहीं लगा॥ १-३ ॥

तस्य ध्यानान्तःस्थस्य यज्ञस्तोममुच्यते ॥ ४ ॥ तस्मिन् पुरुषाश्चतुर्दश जायन्ते एका कन्या दशेन्द्रियाणि मन एकादशं तेजो द्वादशोऽहंकारस्त्रयोदशकः प्राणश्चतुर्दश आत्मा पञ्चदशी बुद्धिः भूतानि पञ्च तन्मात्राणि पञ्च महाभूतानि स एकः पञ्चविंशतिः पुरुषः ॥ ५ ॥ तत्पुरुषं पुरुषो निवेश्य नास्य प्रधानसंवत्सरा जायन्ते। संवत्सरादधिजायन्ते॥ ६ ॥

उन (विराट् पुरुष) का अन्तःकरण में स्थित ध्यान 'यज्ञस्तोम' अर्थात् श्रेष्ठ यज्ञ कहलाया। उनके द्वारा एक कन्या एवं चौदह पुरुष प्रादुर्भूत हुए। जिनमें से चौदह पुरुष ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय सहित दस इन्द्रियाँ, एकादश-तेजस्वी मन, द्वादश अहंकार, तेरह और चौदह क्रमशः प्राण और आत्मा हैं तथा पन्द्रहवीं बुद्धि कन्या के नाम से कही गयी है। इनके अलावा पाँच सूक्ष्मभूत रूपी तन्मात्राएँ एवं पाँच महाभूत आदि इन पच्चीस तत्त्वों के संयोग से एक विराट् पुरुष के शरीर का निर्माण हुआ। उस (विराट् शरीर) में ही परमात्मरूप आदिपुरुष ने प्रवेश किया। (इन पच्चीस तत्त्वों से संयुक्त पुरुष से) प्रधान संवत्सर आदि प्रकट नहीं होते। (अपितु) आदि पुरुष के कालरूप संवत्सर से ही (संवत्सर) प्रादुर्भूत हुए हैं॥ ४-६ ॥

अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसा ध्यायत। तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषो जायते। बिभ्रच्छ्रियं यशः सत्यं ब्रह्मचर्यं तपो वैराग्यं मन ऐश्वर्यं सप्रणवा व्याहृतय ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसः सर्वाणि छन्दांसि तान्यङ्गे समाश्रितानि। तस्मादीशानो महादेवो महादेवः ॥ ७ ॥

तदनन्तर उन (विराट् पुरुष) भगवान् नारायण ने एक अन्य कामना से संकल्प युक्त हो अन्तःस्थ मन से ध्यान किया। अन्तःस्थ होकर ध्यान करने से उनके ललाट से त्रिनेत्रयुक्त, हाथ में त्रिशूल धारण किये हुए पुरुष की उत्पत्ति हुई। उस ऐश्वर्यशाली पुरुष के शरीर में यश, सत्य, ब्रह्मचर्य, तप, वैराग्य, नियन्त्रित मन, श्री-सम्पन्नता एवं ओंकार सहित व्याहृतियाँ, ऋग्, यजुः, साम, अथर्व आदि चारों वेद तथा समस्त छन्द प्रतिष्ठित थे। इसी कारण वह ईशान एवं महादेव के नाम से प्रख्यात हुए॥ ७ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसा ध्यायत। तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात्स्वेदोऽपतत्। ता इमाः प्रतता आपः। ततस्तेजो हिरण्मयमण्डम्। तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत॥ ८॥

इसके पश्चात् पुनः उन भगवान् नारायण ने अन्य कामना से अन्तः में स्थित होकर ध्यान किया। उस अन्तःस्थ ध्यान में लीन नारायण के ललाट से पसीने की बूँदें निःसृत होने लगीं। वह पसीना ही चारों ओर फैलकर आपः (प्रकृति का मूल क्रियाशील द्रव्य) रूप में परिणत हो गया। उस आपः से ही तेजोमय हिरण्यगर्भरूप अण्ड की उत्पत्ति हुई और उसी तेज से चतुर्मुख ब्रह्माजी प्रकट हुए॥ ८॥

सोऽध्यायत्। पूर्वाभिमुखो भूत्वा भूरिति व्याहृतिर्गायत्रं छन्द ऋग्वेदोऽग्निर्देवता। पश्चिमाभिमुखो भूत्वा भुवरिति व्याहृतिस्त्रैष्टुभं छन्दो यजुर्वेदो वायुर्देवता। उत्तराभिमुखो भूत्वा स्वरिति व्याहृतिर्जागतं छन्दः सामवेदः सूर्यो देवता। दक्षिणाभिमुखो भूत्वा मह इति व्याहृतिरानुष्टुभं छन्दोऽथर्ववेदः सोमो देवता॥ ९॥

उन पितामह भगवान् ब्रह्माजी ने (चारों दिशाओं में भिन्न-भिन्न देवों का) ध्यान किया। पूर्व दिशा की तरफ मुख करके उन्होंने भूः व्याहृति, गायत्री छन्द, ऋग्वेद तथा अग्निदेव का ध्यान किया। पश्चिमाभिमुख होकर भुवःव्याहृति, त्रिष्टुप् छन्द, यजुर्वेद सहित वायुदेव का ध्यान किया। उत्तर दिशा की ओर अभिमुख होकर स्वः व्याहृति, जगती छन्द तथा सामवेद सहित सूर्य (सविता) देव का ध्यान किया और दक्षिण की तरफ अभिमुख होकर महः व्याहृति, अनुष्टुप् छन्द तथा अथर्ववेद सहित सोम देवता का ध्यान किया॥ ९॥

[यहाँ पितामह के द्वारा जिन-जिनके ध्यान करने का उल्लेख है, वे सभी उसी ध्यान प्रक्रिया से प्रादुर्भूत होते चले गये।]

सहस्रशीर्षं देवं सहस्राक्षं विश्वशंभुवम्। विश्वतः परमं नित्यं विश्वं नारायणं हरिम्॥१०॥

जिन (विराट् पुरुष) के सहस्रों सिर, सहस्रों नेत्र हैं, जो सभी तरह से कल्याणकारी हैं, सर्वत्र संव्याप्त हैं, परात्पर हैं, नित्य हैं, सभी रूपों में प्रतिष्ठित हैं, ऐसे उन भगवान् नारायण का ब्रह्माजी ने ध्यान किया॥१०॥

विश्वमेवेदं पुरुषस्तद्विश्वमुपजीवति। पतिं विश्वेश्वरं देवं समुद्रे विश्वरूपिणम्॥ ११॥

ये भगवान् नारायण ही सम्पूर्ण विश्व के स्वरूप हैं, इन्हीं विराट् पुरुष पर समस्त जगत् का जीवन आश्रित है। ब्रह्माजी ने सम्पूर्ण जगत् के पालक, विश्वरूप, विश्वेश्वर को तथा क्षीर सागर में योगनिद्रा का आश्रय लेने वाले भगवान् श्रीनारायण का ध्यानावस्था में दर्शन प्राप्त किया॥ ११॥

पद्मकोशप्रतीकाशं लम्बत्याकोशसंनिभम्। हृदयं चाप्यधोमुखं संतत्यै सीत्कराभिश्च॥ १२॥
तस्य मध्ये महानर्चिर्विश्वार्चिर्विश्वतोमुखम्। तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता॥१३
तस्याः शिखाया मध्ये पुरुषः परमात्मा व्यवस्थितः। स ब्रह्मा स ईशानः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्॥ इति महोपनिषत्॥ १४॥

जो पद्मकोश के सदृश, आकोश (सम्यक् रूप से विकसित कोश) के आकार में लम्बायमान एवं अधोमुख हृदय है, जिससे सतत सीत्कार शब्द निःसृत होता रहता है। उस हृदय के मध्य में एक महान् ज्वाला प्रदीप्त हो रही है। वही ज्वाला दीपशिखा की भाँति दसों दिशाओं में अविनाशी प्रकाश तत्त्व को वितरित करती हुई सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित कर रही है। उसी ज्वाला के बीच में थोड़ी दूर ऊर्ध्व की ओर उठी हुई एक पतली सी वह्निशिखा स्थित है। उसी शिखा के मध्य में उस विराट् पुरुष परमात्मतत्त्व का वास-स्थल है। वे ही ब्रह्मा हैं, वही विष्णु एवं ईशान हैं और वही देवराज इन्द्र हैं। वे ही अविनाशी अक्षर एवं परम स्वराट् भी हैं। यही महोपनिषद् है॥ १२-१४॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

[शरीर विज्ञान के अनुसार हृदय के मध्य में एक स्थल होता है— 'पेसमेकर', जहाँ से हृदय को गति देने वाले लयबद्ध स्पंदन उभरते रहते हैं। हृदय की धड़कन पैदा करने वाले मूल कारण को वैज्ञानिक अभी तक स्पष्ट नहीं कर सके हैं। ऋषि ने संभवतः उसी स्थल को चैतन्य ज्वाला के रूप में अनुभव किया है।]

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

शुको नाम महातेजाः स्वरूपानन्दतत्परः। जातमात्रेण मुनिराड् यत्सत्यं तदवाप्तवान्॥ १ ॥
तेनासौ स्वविवेकेन स्वयमेव महामनाः। प्रविचार्य चिरं साधु स्वात्मनिश्चयमाप्तवान्॥ २ ॥

शुक नामक महातेजस् सम्पन्न एक मुनीश्वर सतत आत्मा के आस्वादन में संलग्न रहते थे। जन्म के तुरन्त बाद ही उन्हें सत्य एवं तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो गई थी। इस कारण से उन्होंने अपने विवेक से स्वयं ही चिरकाल तक चिन्तन-मनन करने के पश्चात् आत्मा के स्वरूप को जानने की निश्चित धारणा बनाई॥ १-२ ॥

अनाख्यत्वादगम्यत्वान्मनः षष्ठेन्द्रियस्थितेः। चिन्मात्रमेवमात्माणुराकाशादपि सूक्ष्मकः॥ ३ ॥
चिदणोः परमस्यान्तःकोटिब्रह्माण्डरेणवः। उत्पत्तिस्थितिमभ्येत्य लीयन्ते शक्तिपर्ययात्॥ ४ ॥
आकाशं बाह्यशून्यत्वादनाकाशं तु चित्त्वतः। न किंचिद्यदनिर्देश्यं वस्तु सत्तेति किंचन॥ ५ ॥
चेतनोऽसौ प्रकाशत्वाद्वेद्याभावाच्छिलोपमः। स्वात्मनि व्योमनि स्वस्थे जगदुन्मेषचित्रकृत्॥६ ॥

वचनों से परे होने के कारण, अगम्य होने के कारण तथा मन रूपी छठी इन्द्रिय में प्रतिष्ठित होने के कारण यह आत्मा अणु के आकार वाला, चिन्मात्र एवं आकाश से भी अतिसूक्ष्म है। इस परम चिद्रूप अणु के अन्दर कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड रूपी रेणुकाएँ शक्ति क्रमानुसार प्रकट एवं प्रतिष्ठित होकर विलीन होती रहती हैं। आत्मा बाह्य शून्यता के कारण आकाशरूप है और चिद्रूपता के कारण अनाकाशरूप है। इसके रूप का वर्णन न हो सकने के कारण यह वस्तुरूप नहीं है; किन्तु सत्ता होने से वस्तुरूप है। प्रकाशरूप होने के कारण वह चेतन है तथा वेदना का विषय न होने से वह शिला के सदृश (जड़) है। अपने अन्तः में स्थित आत्माकाश में वह चित्र-विचित्र विभिन्न प्रकार के जगत् का उन्मेष (सृजन) करता है॥ ३-६ ॥

तद्भामात्रमिदं विश्वमिति न स्यात्ततः पृथक्। जगद्भेदोऽपि तद्भानमिति भेदोऽपि तन्मयः॥७ ॥
सर्वगः सर्वसंबन्धो गत्यभावान्न गच्छति। नास्त्यसावाश्रयाभावात्सद्रूपत्वादथास्ति च ॥ ८ ॥
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम्। सर्वसंकल्पसंन्यासश्चेतसा यत्परिग्रहः ॥ ९ ॥
जाग्रतः प्रत्ययाभावं यस्याहुः प्रत्ययं बुधाः। यत्संकोचविकासाभ्यां जगत्प्रलयसृष्टयः॥ १० ॥
निष्ठा वेदान्तवाक्यानामथ वाचामगोचरः। अहं सच्चित्परानन्दब्रह्मैवास्मि न चेतरः॥ ११ ॥

यह विश्व उसी आत्मा का प्रकाशमात्र होने के कारण उस आत्मतत्त्व से पृथक् नहीं है। जो विश्वभेद आत्मा में दृष्टिगोचर होता है, वह भी उस आत्मा से अलग नहीं है। सभी से सम्बद्ध होने से उस आत्मा की गति यत्र-तत्र-सर्वत्र है; किन्तु उसमें गति न होने के कारण वह चलायमान नहीं है। वह आत्मा आश्रयरहित होने से नास्ति रूप है; किन्तु सत्स्वरूप होने के कारण वह अस्तिरूप है। वही धन-प्रदाता (दानी) की परमगति है। जो ब्रह्मानन्दमय और विज्ञानमय है तथा चित्त द्वारा सारे संकल्पों का परित्याग ही जिसका ग्रहण है। जाग्रत् अवस्था की प्रतीति के अभाव को ही ज्ञानीजन जिसकी प्रतीति बताते हैं, जिसके संकोच एवं विकास से जगत् का विनाश एवं सृजन होता है। जो वेदान्त-वाक्यों की निष्ठास्वरूप तथा वाणी के लिए अकथनीय है, मैं वही सत्-चित्-आनन्द स्वरूप परमात्मा ब्रह्म हूँ और अन्य दूसरा कुछ भी नहीं हूँ॥ ७-११ ॥

स्वयैव सूक्ष्मया बुद्ध्या सर्वं विज्ञातवाञ्छुकः। स्वयं प्राप्ते परे वस्तुन्यविश्रान्तमनाः स्थितः॥१२ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

इदं वस्त्विति विश्वासं नासावात्मन्युपाययौ। केवलं विररामास्य चेतो विषयचापलम्। भोगेभ्यो भूरिभङ्गेभ्यो धाराभ्य इव चातकः॥ १३॥

इस प्रकार अपनी सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा श्री शुकदेव मुनि ने सभी कुछ जान लिया तथा स्वयं प्राप्त हुए परमात्मतत्त्व में वे अविश्रान्त सतत लगे रहने वाले मन से प्रतिष्ठित हुए। इस प्रकार का विश्वास उनकी आत्मा में प्राप्त हो गया कि 'यही वस्तु है', इससे भिन्न और कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार जलद के धारा प्रपात से सन्तुष्ट हुए चातक की चंचलता दूर हो जाती है, उसी प्रकार शुकदेव जी का चित्त विभिन्न तरह के भोगों से प्रादुर्भूत विषय-चापल्य से विरत होकर कैवल्यावस्था को प्राप्त हो गया ॥ १२-१३॥

एकदा सोऽमलप्रज्ञो मेरावेकान्तसंस्थितः। पप्रच्छ पितरं भक्त्या कृष्णद्वैपायनं मुनिम्॥ १४॥
संसाराडम्बरमिदं कथमभ्युत्थितं मुने। कथं च प्रशमं याति किं यत्कस्य कदा वद॥ १५॥

एक बार उन प्रज्ञावान् मनीषी श्री शुकदेव जी ने मेरु-पर्वत पर एकान्त में प्रतिष्ठित अपने पिता श्रीकृष्ण द्वैपायन मुनि के आश्रम में जाकर भक्तिपूर्वक अर्चना करके पूछा-हे श्रेष्ठ मुने! इस जगत् रूप प्रपञ्च का प्राकट्य किस प्रकार हुआ और इसका विनाश कैसे होता है? यह क्या है? किसका है और इसकी उत्पत्ति कब हुई? यह सभी कुछ कृपापूर्वक हमें बताने का अनुग्रह करें॥ १४-१५॥

एवं पृष्टेन मुनिना व्यासेनाखिलमात्मजे। यथावदखिलं प्रोक्तं वक्तव्यं विदितात्मना॥ १६॥
अज्ञासिषं पूर्वमेवमहमित्यथ तत्पितुः। स शुकः स्वकया बुद्ध्या न वाक्यं बहु मन्यते॥ १७॥
व्यासोऽपि भगवान्बुद्ध्वा पुत्राभिप्रायमीदृशम्। प्रत्युवाच पुनः पुत्रं नाहं जानामि तत्त्वतः॥१८॥
जनको नाम भूपालो विद्यते मिथिलापुरे। यथावद्वेत्त्यसौ वेद्यं तस्मात्सर्वमवाप्स्यसि॥ १९॥
पित्रेत्युक्तः शुकः प्रायात्सुमेरोर्वसुधातलम्। विदेहनगरीं प्राप जनकेनाभिपालिताम्॥ २०॥

शुकदेव जी के इस प्रकार पूछे जाने पर आत्मज्ञानी व्यासजी ने उन्हें सभी बातें यथावत् बतला दीं, लेकिन ये सभी बातें तो दीर्घकाल से ही मालूम हैं, ऐसा जानकर शुकदेव जी ने अपने पिता श्रीव्यास जी की बातों को अपनी बुद्धि से वैसा विशेष सम्मान नहीं दिया। शुकदेव जी के इस भाव को व्यास जी समझकर बोले-हे पुत्र! मैं तुम्हारी इन सभी बातों को तत्त्वतः नहीं जानता हूँ। अतः यदि इस विषय की विशेष जानकारी चाहते हो, तो मिथिलापुरी में 'जनक' नाम के एक राजा राज्य करते हैं, वे तुम्हारी इन सभी बातों को अच्छी तरह से जानते हैं। 'हे पुत्र! तुम उनसे सभी कुछ प्राप्त कर सकते हो।' पिता के द्वारा ऐसा कहे जाने पर शुकदेव जी सुमेरु-पर्वत से उतर कर समतल भूखण्ड पर आये और महाराज जनक के द्वारा संरक्षित मिथिलापुरी में प्रविष्ट हुए॥१६-२०

आवेदितोऽसौ याष्टीकैर्जनकाय महात्मने। द्वारि व्याससुतो राजञ्छुकोऽत्र स्थितवानिति॥ २१॥
जिज्ञासार्थं शुकस्यासावास्तामेवेत्यवज्ञया। उक्त्वा बभूव जनकस्तूष्णीं सप्त दिनान्यथ॥ २२॥
ततः प्रवेशयामास जनकः शुकमङ्गणे। तत्राहानि स सप्तैव तथैवावसदुन्मनाः॥ २३॥
ततः प्रवेशयामास जनकोऽन्तःपुराजिरे। राजा न दृश्यते तावदिति सप्त दिनानि तम्॥ २४॥
तत्रोन्मदाभिः कान्ताभिर्भोजनैर्भोगसंचयैः। जनको लालयामास शुकं शशिनिभाननम्॥ २५॥
ते भोगास्तानि भोज्यानि व्यासपुत्रस्य तन्मनः। नाजह्रुर्मन्दपवनो बद्धपीठमिवाचलम्॥ २६॥
केवलं सुसमः स्वच्छो मौनी मुदितमानसः। संपूर्ण इव शीतांशुरतिष्ठदमलः शुकः॥ २७॥

तदनन्तर शुकदेव मुनि को आया हुआ देखकर द्वारपालों ने राजा जनक को यह संदेश दिया कि हे राजन्! राजद्वार पर व्यास जी के पुत्र श्रीशुकदेव जी आपसे मिलने के लिए आये हैं, उन (शुकदेव) मुनि की परीक्षा के

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

लिए महाराज जनक ने अवज्ञापूर्वक मात्र इतना ही कहा कि उनसे कहो कि 'वे वहीं पर रुकें', इतना कहने के उपरान्त राजा सात दिनों तक पूरी तरह से शान्त रहे। इसके पश्चात् उन्होंने शुकदेव मुनि को अपने राज-प्राङ्गण में आमन्त्रित किया और वहाँ भी वे सात दिनों तक उसी तरह शान्त रहे। इसके अनन्तर राजा ने उन्हें अपने अन्त:पुर के आँगन में ससम्मान बुलवाया तथा वहाँ पर भी सात दिनों तक वे उनके समक्ष नहीं आये। विदेहराज जनक ने अन्त:पुर में युवती स्त्रियों, विभिन्न तरह के सुस्वादु पकवान एवं भोज्य पदार्थों सहित उन श्रेष्ठ मुनि शुकदेव जी का स्वागत-सत्कार किया। वे समस्त भोग एवं भोज्य सामग्री उन व्यास-पुत्र शुकदेव जी के मन को ठीक वैसे ही नहीं डिगा सके, जैसे कि मन्द-मन्द प्रवाहित पवन दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित हुए पर्वत को गतिशील नहीं कर सकता। वहाँ उस अन्त:पुर में ज्ञानी शुकदेव जी असङ्ग, समभाव वाले, निर्मल एवं पूर्णचन्द्र के सदृश प्रतिष्ठित बने रहे॥ २१-२७॥

परिज्ञातस्वभावं तं शुकं स जनको नृपः। आनीय मुदितात्मानमवलोक्य ननाम ह॥ २८॥
निःशेषितजगत्कार्यः प्राप्ताखिलमनोरथः। किमीप्सितं तवेत्याह कृतस्वागतमाह तम्॥ २९॥
संसाराडम्बरमिदं कथमभ्युत्थितं गुरो। कथं प्रशममायाति यथावत्कथयाशु मे॥ ३०॥
यथावदखिलं प्रोक्तं जनकेन महात्मना। तदेव यत्पुरा प्रोक्तं तस्य पित्रा महाधिया॥ ३१॥
स्वयमेव मया पूर्वमभिज्ञातं विशेषतः। एतदेव हि पृष्टेन पित्रा मे समुदाहृतम्॥ ३२॥
भवताप्येष एवार्थः कथितो वाग्विदां वर। एष एव हि वाक्यार्थः शास्त्रेषु परिदृश्यते॥ ३३॥
मनोविकल्पसंजातं तद्विकल्पपरिक्षयात्। क्षीयते दग्धसंसारो निःसार इति निश्चितः॥ ३४॥
तत्किमेतन्महाभाग सत्यं ब्रूहि ममाचलम्। त्वत्तो विश्रममाप्नोति चेतसा भ्रमता जगत्॥ ३५॥

इस प्रकार जब राजा जनक ने श्रीशुकदेवजी के चरित्र की भली-भाँति परीक्षा ले ली, तब उन्हें अपने समीप बुलाया। उन्हें प्रसन्नचित्त देखकर राजा ने प्रणाम किया और उनका सत्कार करते हुए बोले- हे शुकदेव जी! आपने अपने सांसारिक कृत्यों को समाप्त कर दिया है तथा आपको सभी मनोरथ प्राप्त हैं, कृपया बताने का अनुग्रह करें कि अब आपकी क्या अभिलाषा है? श्रीशुकदेव जी ने जिज्ञासा भाव से कहा-हे गुरुवर! कृपया मुझे यह बताने की कृपा करें कि यह सांसारिक प्रपञ्च कैसे प्रादुर्भूत हुआ है तथा किस तरह से विलय को प्राप्त होता है? तब महान् ज्ञानी राजा जनक ने श्रीशुकदेव जी को सभी बातें तत्त्वत: बतला दी, इन्हीं बातों को उनके परम ज्ञानवान् पिता श्रीव्यास जी पहले ही बता चुके थे। इस पर श्रीशुकदेव जी ने कहा-हे गुरुश्रेष्ठ! हमने स्वयं ही इसकी विशेष रूप से जानकारी प्राप्त की थी, पूछने पर हमारे पिता श्रीव्यास जी ने भी यही बातें बतलायी थी। आपने भी यही बातें हमें बतायी हैं तथा ठीक ऐसा ही शास्त्रों का भी मत है। मन के विकल्प से ही प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है और उस विकल्प के विनष्ट हो जाने पर इस (प्रपञ्च) का भी विनाश हो जाता है। यह जगत् निन्दनीय एवं सार-रहित है, ऐसा निश्चित है, तब हे महान् ज्ञानी राजन्! यह सब (जीवन आदि) क्या है? कृपा करके मुझे यथार्थ रूप से समझाने की कृपा करें। मेरा यह चित्त जगत् के विषय में दिग्भ्रान्त हो रहा है, अत: आपके सदुपदेश से ही शान्ति मिल सकती है॥ २८-३५॥

शृणु तावदिदानीं त्वं कथ्यमानमिदं मया। श्रीशुक ज्ञानविस्तारं बुद्धिसारान्तरान्तरम्॥ ३६॥
यद्विज्ञानात्पुमान्सद्यो जीवन्मुक्तत्वमाप्नुयात्॥ ३७॥ दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम्।
संपन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः॥ ३८॥ अशेषेण परित्यागो वासनाया य उत्तमः। मोक्ष
इत्युच्यते सद्भिः स एव विमलक्रमः॥ ३९॥ ये शुद्धवासना भूयो न जन्मानर्थभागिनः।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

ज्ञातज्ञेयास्त उच्यन्ते जीवन्मुक्ता महाधियः ॥ ४० ॥ पदार्थभावनादार्ढ्यं बन्ध इत्यभिधीयते। वासनातानवं ब्रह्मन्मोक्ष इत्यभिधीयते ॥ ४१ ॥

इसके पश्चात् राजा जनक ने कहा-हे शुकदेव जी! अब मैं आपके प्रति सम्पूर्ण ज्ञान को विस्तारपूर्वक कहता हूँ- सुनो, यह ज्ञान समस्त ज्ञानों का सार एवं सभी रहस्यों का रहस्य है, अतः इसके जान लेने से वह पुरुष अतिशीघ्र मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। विदेहराज ने कहा कि यह दृश्य जगत् है ही नहीं, ऐसा पूर्ण बोध जब हो जाता है, तब दृश्य विषय से मन की शुद्धि हो जाती है। तब यह ज्ञान पूर्ण हो जाता है और तभी उसे निर्वाण रूपी परम शान्ति मिल जाती है। जो वासनाओं का निःशेष परित्याग कर देता है, वही वास्तविक श्रेष्ठ त्याग है, उसी विशुद्धावस्था को ज्ञानीजनों ने मोक्ष कहा है। पुनः जो शुद्ध वासनाओं से युक्त हैं, जो अनर्थ शून्य जीवन वाले हैं और जो ज्ञेय तत्त्व के ज्ञाता हैं, हे महान् ज्ञानी शुकदेव जी! वे ही मनुष्य पूर्ण जीवन्मुक्त कहे जाते हैं। पदार्थों की भावनात्मक दृढ़ता को ही बन्धन और वासनाओं की क्षीणता को ही मोक्ष कहा गया है ॥३६-४१

तपःप्रभृतिना यस्मै हेतुनैव विना पुनः। भोगा इह न रोचन्ते स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४२ ॥ आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतः। न हृष्यति ग्लायति यः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४३ ॥ हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः। न परामृश्यते योऽन्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४४ ॥ अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः। तिष्ठति ध्येयसंत्यागी स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४५ ॥

जिसे तप आदि साधनों के अभाव में स्वभाववश ही सांसारिक भोग अच्छे नहीं लगते,वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जो प्रतिपल प्राप्त होने वाले सुखों या दुःखों में आसक्त नहीं होता तथा जो न हर्षित होता है और न ही दुःखी होता है,वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जो हर्ष,अमर्ष,भय,काम,क्रोध एवं शोक आदि विकारों से मुक्त रहता है,वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जो अहंकार युक्त वासना को अति सहजता से त्याग देता है तथा चित्त के अवलम्बन में जो सम्यक् रूप से त्याग भाव रखता है,वही वास्तव में जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ ४२-४५

ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्यान्तर्वर्तिदृष्टिषु। सुषुप्तिवद्यश्चरति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४६ ॥ अध्यात्मरतिरासीनः पूर्णः पावनमानसः। प्राप्तानुत्तमविश्रान्तिर्न किंचिदिह वाञ्छति। यो जीवति गतस्नेहः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४७ ॥ संवेद्येन हृदाकाशे मनागपि न लिप्यते। यस्यासावजडा संवित्स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४८ ॥ रागद्वेषौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ फलाफले। यः करोत्यनपेक्ष्यैव स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४९ ॥ मौनवान्निरहंभावो निर्मानो मुक्तमत्सरः। यः करोति गतोद्वेगः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ५० ॥

जो सदैव अन्तर्मुखी दृष्टिवाला, पदार्थ की आकांक्षा से रहित और किसी भी वस्तु की अपेक्षा अथवा कामना से रहित सुषुप्ति के समान अवस्था में विचरण करता रहता है, वही मनुष्य जीवन्मुक्त कहलाता है। जो सदैव आत्मा में लीन रहता है, जिसका मन पूर्ण एवं पवित्र है, अत्यन्त श्रेष्ठ एवं शान्त स्वभाव को प्राप्त कर जो इस नश्वर संसार में किसी वस्तु की इच्छा नहीं रखता, जो किसी के प्रति आसक्ति न रखता हुआ उदासीन भाव से भ्रमण करता रहता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसका हृदय किसी भी पदार्थ में लिप्त नहीं होता तथा जो चेतन संवित्(सद्ज्ञानयुक्त)स्वरूप वाला है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जो पुरुष राग-द्वेष, सुख-दुःख, मान-अपमान, धर्म-अधर्म एवं फलाफल की इच्छा-आकांक्षा न रखता हुआ सदैव अपने कार्यों में व्यस्त रहता है, वही मनुष्य जीवन्मुक्त कहलाता है। जो अहंभाव को त्याग करके, मान एवं मत्सर से रहित, उद्वेगरहित तथा संकल्पविहीन रहकर कर्म करता रहता है,उसी पुरुष को ज्ञानीजन जीवन्मुक्त कहते हैं ॥४६-५०

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सर्वत्र विगतस्नेहो यः साक्षिवदवस्थितः। निरिच्छो वर्तते कार्ये स जीवन्मुक्त उच्यते॥५१॥
येन धर्ममधर्मं च मनोमननमीहितम्। सर्वमन्तः परित्यक्तं स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ५२॥
यावती दृश्यकलना सकलेयं विलोक्यते। सा येन सुष्ठु संत्यक्ता स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ५३॥
कट्वम्ललवणं तिक्तममृष्टं मृष्टमेव च। सममेव च यो भुङ्क्ते स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ५४॥
जरामरणमापच्च राज्यं दारिद्र्यमेव च। रम्यमित्येव यो भुङ्क्ते स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ५५॥
धर्माधर्मौ सुखं दुःखं तथा मरणजन्मनी। धिया येन सुसंत्यक्तं स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ५६॥

जो सर्वत्र मोहरहित होकर साक्षी भाव से जीवनयापन करता है तथा बिना किसी फल की कामना किये ही अपने कर्त्तव्य कर्म में रत रहता है, वही जीवन्मुक्त है। जिसने धर्म-अधर्म का, सांसारिक विषय के चिन्तन का तथा सभी तरह की कामनाओं का परित्याग कर दिया है, उसे ही जीवन्मुक्त कहा गया है। यह समस्त दृश्य प्रपञ्च जो दृष्टिगोचर हो रहा है, उसका जिसने पूरी तरह से परित्याग कर दिया है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जो ज्ञानी पुरुष खट्टे, चरपरे, कड़वे, नमकीन, स्वादयुक्त एवं अस्वाद को एक जैसा मानकर भोजन ग्रहण करता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जरा, मृत्यु, विपत्ति, राज्य एवं दारिद्र्य आदि में से जो समान भाव रखते हुए हर स्थिति में सन्तुष्ट रहता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसने धर्म-अधर्म, सुख-दुःख एवं जन्म-मृत्यु आदि का अपने हृदय से पूर्णरूपेण परित्याग कर दिया है, वही वास्तव में जीवन्मुक्त कहलाता है॥ ५१-५६॥

उद्वेगानन्दरहितः समया स्वच्छया धिया। न शोचते न चोदेति स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ५७॥
सर्वेच्छाः सकलाः शङ्काः सर्वेहाः सर्वनिश्चयाः। धिया येन परित्यक्ताः स जीवन्मुक्त उच्यते॥५८॥
जन्मस्थितिविनाशेषु सोदयास्तमयेषु च। सममेव मनो यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ५९॥
न किंचन द्वेष्टि तथा न किंचिदपि काङ्क्षति। भुङ्क्ते यः प्रकृतान्भोगान्स जीवन्मुक्त उच्यते॥६०
शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः। यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥६१॥
यः समस्तार्थजालेषु व्यवहार्यपि निःस्पृहः। परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ६२॥

जो मनुष्य उद्वेग एवं आनन्द से रहित है तथा शोक और हर्षोल्लास में समान भाव एवं परिष्कृत बुद्धि से सम्पन्न है। सभी तरह की इच्छाओं एवं आकांक्षाओं, कामनाओं तथा सारे निश्चयों को जिसने मन से पूर्णतः त्याग दिया है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। उत्पत्ति, पालन एवं प्रलय की अवस्था में तथा प्रगति और अवनति में जिस पुरुष का मन समान रहता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जो किसी के प्रति ईर्ष्या-द्वेष आदि के भाव नहीं रखता है, जो न किसी की इच्छा-आकांक्षा करता है। जो केवल प्रारब्धवश प्राप्त भोगों का उपभोग करने वाला है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसने सांसारिक विषयों की प्राप्ति की कामना को त्याग दिया है, जो चित्त में रहते हुए भी चित्तरहित हो गया है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जो पुरुष जगत् के सम्पूर्ण अर्थ जाल के बीच में प्रतिष्ठित होकर भी उससे पराये धन से अलग रहने वाले धर्मात्मा के सदृश अनासक्त रहता है, निश्चय ही वह आत्मा में ही परमात्मतत्त्व की अनुभूति करने वाला महान् पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है॥ ५७-६२॥

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते। विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव॥ ६३॥
विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति। न सन्नासन्न दूरस्थो न चाहं न च नेतरः॥ ६४॥

वह पुरुष अपने शरीर के काल-कवलित हो जाने के पश्चात् जीवन्मुक्त स्थिति का परित्याग करके गतिहीन पवन के सदृश विदेहमुक्त स्थिति को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में जीव की न तो उन्नति होती है और न ही अवनति तथा उसका विनाश भी नहीं होता। उसकी वह अवस्था सत्-असत् से परे होती है और वह किसी के दूरस्थ-समीपस्थ भी नहीं होता॥ ६३-६४॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्। अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते॥ ६५॥
न शून्यं नापि चाकारि न दृश्यं नापि दर्शनम्। न च भूतपदार्थौघसदनन्ततया स्थितम्॥ ६६॥
किमप्यव्यपदेशात्मा पूर्णात्पूर्णतराकृतिः। न सन्नासन्न सदसन्न भावो भावनं न च॥ ६७॥
चिन्मात्रं चैत्यरहितमनन्तमजरं शिवम्। अनादिमध्यपर्यन्तं यदनादि निरामयम्॥ ६८॥

विदेहमुक्ति गम्भीर एवं स्तब्ध अवस्था को कहते हैं। उस अवस्था में न सर्वत्र प्रकाश व्याप्त होता है और न ही अन्धकार। उसमें नामविहीन एवं अभिव्यक्त न होने वाला एक तरह का सत् तत्त्व अवशिष्ट रहता है। वह शून्य एवं साकार भी नहीं होता है। दृश्य एवं दर्शन रूप भी नहीं होता है। उसमें ये भूत एवं पदार्थ- समूह भी नहीं होते हैं। केवल वह सत् अन्तरहित स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। वह ऐसा आश्चर्ययुक्त तत्त्व होता है कि जिसके रूप का निर्देशन नहीं किया जा सकता है। उसकी आकृति एवं प्रकृति पूर्ण से भी पूर्णतर होती है। वह न सत् होता है और न असत् तथा सत्-असत् दोनों भी नहीं होता। वह भाव एवं भावना से परे होता है। वह मात्र चैतन्य ही होता है; किन्तु चित्तविहीन एवं अनन्त भी होता है। वह जरारहित, शिवस्वरूप एवं आत्मकल्याण - प्रद होता है। उसका आदि, मध्य एवं अन्त भी नहीं होता। वह अनादि एवं दोषरहित होता है॥ ६५-६८॥

द्रष्टृदर्शनदृश्यानां मध्ये यद्दर्शनं स्मृतम्। नातः परतरं किंचिन्निश्चयोऽस्त्यपरो मुने॥ ६९॥
स्वयमेव त्वया ज्ञातं गुरुतश्च पुनः श्रुतम्। स्वसंकल्पवशाद्बद्धो निःसंकल्पाद्विमुच्यते॥ ७०॥
तेन स्वयं त्वया ज्ञातं ज्ञेयं यस्य महात्मनः। भोगेभ्यो ह्यरतिर्जाता दृश्याद्वा सकलादिह॥ ७१॥
प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं भवता पूर्णचेतसा। स्वरूपे तपसि ब्रह्मन्मुक्तस्त्वं भ्रान्तिमुत्सृज॥ ७२॥
अतिबाह्यं तथा बाह्यमन्तराभ्यन्तरं धियः। शुक पश्यन्न पश्येस्त्वं साक्षी संपूर्णकेवलः॥ ७३॥

द्रष्टा, दृश्य एवं दर्शन की त्रिपुटी के मध्य में मात्र वह दर्शन स्वरूप ही कहा गया है। हे श्रीशुकदेव जी! इस सन्दर्भ में इसके अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा निश्चय नहीं किया जा सकता। आपने इस तत्त्वज्ञान को स्वयमेव समझ लिया है और अपने पिता श्रीव्यास जी से भी श्रवण कर लिया है कि जीव अपनी संकल्प शक्ति से ही बन्धन में पड़ता है और संकल्प से ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अतः आपने स्वयं ही उस तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लिया है, जिसे जानने के पश्चात् इस नश्वर जगत् में साधुजनों को सभी दृश्यों से अथवा भोगों से विरक्ति पैदा हो जाती है। आपने पूर्ण चैतन्यावस्था में पहुँच कर सभी प्राप्त होने वाले पदार्थों को भी प्राप्त कर लिया है। आप तपःस्वरूप में स्थित हैं। हे ब्रह्मन्! आप मुक्तावस्था को प्राप्त हो चुके हैं, अतः भ्रान्ति का परित्याग कर दें। हे शुकदेव जी! बाह्य एवं अति बाह्य, अन्तः में एवं उसके भी अन्तरंग को देखते हुए भी आप नहीं देखते हैं। आप सर्वदा पूर्ण कैवल्यावस्था में साक्षी भाव से विद्यमान हैं॥ ६९-७३॥

विशश्राम शुकस्तूष्णीं स्वस्थे परमवस्तुनि। वीतशोकभयायासो निरीहश्छिन्नसंशयः॥ ७४॥
जगाम शिखरं मेरोः समाध्यर्थमखण्डितम्॥ ७५॥ तत्र वर्षसहस्राणि निर्विकल्पसमाधिना।
देशे स्थित्वा शशामासावात्मन्यस्नेहदीपवत्॥ ७६॥ व्यपगतकलनाकलङ्कशुद्धः स्वयममलात्मनि
पावने पदेऽसौ। सलिलकण इवाम्बुधौ महात्मा विगलितवासनमेकतां जगाम॥ ७७॥

विदेहराज जनक के इस तत्त्वदर्शन को सुनने के पश्चात् श्रीशुकदेव शोक,भय एवं श्रमविहीन होकर, संशयरहित और कामनारहित होकर परमतत्त्वरूप आत्मा में स्थित होकर शान्त भाव से विश्राम को प्राप्त हुए। अखण्ड समाधि हेतु वे सुमेरु पर्वत की चोटी की ओर वापस चले गये। वहाँ सहस्रों वर्षों तक स्नेहरहित दीपक के सदृश उन शुकदेव मुनि ने अन्तर्मुखी होकर निर्विकल्प समाधि द्वारा परमशान्ति लाभ प्राप्त किया। संकल्प रूपी दोषों से मुक्त,शुद्ध स्वरूप,पवित्र,निर्मल एवं वासना रहित होकर वे महान् ज्ञानी शुकदेव जी अपने आत्मपद में वैसे ही एकाकार हुए,जैसे कि जलकण महासागर में विलीन होकर समुद्र रूप हो जाते हैं॥७४-७७॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

निदाघो नाम मुनिराट् प्राप्तविद्यश्च बालकः । विहृतस्तीर्थयात्रार्थं पित्रानुज्ञातवान्स्वयम् ॥ १ ॥
सार्धत्रिकोटितीर्थेषु स्नात्वा गृहमुपागतः । स्वोदन्तं कथयामास ऋभुं नत्वा महायशाः ॥ २ ॥
सार्धत्रिकोटितीर्थेषु स्नानपुण्यप्रभावतः । प्रादुर्भूतो मनसि मे विचारः सोऽयमीदृशः ॥ ३ ॥

अपने पिता (ऋभु) से अनुमति लेकर निदाघ नामक श्रेष्ठ मुनिपुत्र एकाकी ही तीर्थयात्रा के लिए चल पड़े। साढ़े तीन करोड़ तीर्थ-स्थलों में स्नान आदि सम्पन्न कर लेने के पश्चात् वे श्रेष्ठ मुनि अपने घर वापस लौट आए। उन महान् यशस्वी मुनि ने घर आकर अपने पिता ऋभुमुनि से अपनी समस्त यात्रा का वृत्तान्त कह सुनाया। उन्होंने कहा- हे पिताजी! साढ़े तीन करोड़ तीर्थस्थलों में स्नान करने के पश्चात् जो पुण्य-फल प्राप्त हुआ है, उसके प्रतिफल स्वरूप हमारे अन्तःकरण में इस तरह के श्रेष्ठ विचार प्रादुर्भूत हो रहे हैं॥ १-३॥

जायते मृतये लोको म्रियते जननाय च । अस्थिराः सर्व एवेमे सचराचरचेष्टिताः ॥ ४ ॥ सर्वापदां पदं पापा भावा विभवभूमयः । अयःशलाकासदृशाः परस्परमसङ्गिनः । श्लिष्यन्ते केवला भावा मनःकल्पनयानया ॥ ५ ॥ भावेष्वरतिरायाता पथिकस्य मरुष्विव । शाम्यतीदं कथं दुःख-मिति तप्तोऽस्मि चेतसा ॥ ६ ॥ चिन्तानिचयचक्राणि नानन्दाय धनानि मे । संप्रसूतकलत्राणि गृहाण्युग्रापदामिव ॥ ७ ॥ इयमस्मिन् स्थितोदारा संसारे परिपेलवा । श्रीर्मुने परिमोहाय सापि नूनं न शर्मदा ॥ ८ ॥ आयुः पल्लवकोणाग्रलम्बाम्बुकणभङ्गुरम् । उन्मत्त इव संत्यज्य याम्यकाण्डे शरीरकम् ॥ ९ ॥ विषयाशीविषासङ्गपरिजर्जरचेतसाम् । अप्रौढात्मविवेकानामायुरायास-कारणम् ॥ १० ॥

यह जगत् उत्पन्न होता है मरने (विनष्ट होने) के लिए, पुनः मरता है जन्मने के लिए। समस्त चराचर प्राणियों की चेष्टा के साथ यह सारा प्रपञ्च (जगत्) अस्थिर एवं क्षणिक है। ऐश्वर्य की भूमि में प्रकट होने वाले ये समस्त पदार्थ आपत्तियों के मूलभूत कारण हैं। ये सभी पदार्थ लौह शलाका के सदृश परस्पर पृथक् रहते हुए मानसिक कल्पना रूपी चुम्बक द्वारा एकत्रित होते रहते हैं। जिस तरह मार्ग में गमन करने वाला व्यक्ति मरुस्थल में चलते-चलते (कष्ट के कारण) विरक्त हो जाता है, उसी तरह मैं भी इन सांसारिक पदार्थों से विरक्त हो रहा हूँ; क्योंकि ये सांसारिक भोग-पदार्थ मुझे दुःखदायी प्रतीत होने लगे हैं। अब इन समस्त दुःखों का शमन किस प्रकार होगा, ऐसा सोचकर मेरा हृदय अत्यधिक संतप्त हो रहा है। ये ऐश्वर्य रूपी धन-जिनके पीछे चिन्ताओं के समूह चक्र की भाँति घूमते रहते हैं, मुझे आनन्दप्रद नहीं लग रहे हैं। स्त्री-पुत्रादि समस्त स्वजन सम्बन्धी मानो उग्र आपदाओं के घर हैं। हे मुनीश्वर! इस जगत् में उदारता की प्रतिमूर्ति, अत्यन्त कोमलांगी ये श्रीलक्ष्मी जी भी परम मोह को उत्पन्न करने वाली हैं। निश्चय ही इनके द्वारा जीव को आनन्द नहीं मिल सकता। जिस प्रकार पल्लव के अग्रभाग में जल कणिका बूँदरूप में लटकती हैं, वह क्षणिक है। उसी प्रकार मनुष्य की आयु भी जल की बूँद के सदृश क्षणभंगुर है। इस नाशवान् शरीर को असमय ही छोड़कर उन्मत्त की भाँति मुझे प्रस्थान करना ही पड़ेगा। जिनका चित्त विषय-वासना रूपी सर्प के सङ्ग से जर्जर हो गया है तथा जिन्हें प्रौढ़ आत्मिक ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ है, उनका जीवन कष्ट का ही हेतु बना है॥ ४-१०॥

युज्यते वेष्टनं वायोराकाशस्य च खण्डनम् । ग्रन्थनं च तरङ्गाणामास्था नायुषियुज्यते ॥ ११ ॥
प्राप्यं संप्राप्यते येन भूयो येन न शोच्यते । पराया निर्वृतेः स्थानं यत्तज्जीवितमुच्यते ॥ १२ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः । स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥ १३ ॥
जातास्त एव जगति जन्तवः साधुजीविताः । ये पुनर्नेह जायन्ते शेषा जरठगर्दभाः ॥ १४ ॥
भारो विवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणः । अशान्तस्य मनो भारो भारोऽनात्मविदो वपुः ॥१५

वायु का लपेटना, आकाश को खण्ड-खण्ड करना एवं जल की लहरों का गुन्थन भले ही सम्भव हो जाए, किन्तु जीवन में आस्था एवं विश्वास रखना सम्भव नहीं हो पाता। जिसके द्वारा प्राप्त करने योग्य वस्तु को (सम्यक् रूप से) प्राप्त कर लिया जाता है, जिसके कारण शोक न करना पड़े और जिसमें परम शान्ति की उपलब्धि हो जाए, वही तो वास्तविक जीवन कहलाता है। यों तो वृक्ष, मृग एवं पक्षी भी जीवन धारण किये रहते हैं; किन्तु यथार्थ में वही जीवित है, जिसका मन निरन्तर आत्मचिन्तन में लीन रहता है। इस नश्वर जगत् में उत्पन्न हुए उन्हीं प्राणियों का जीवन उत्कृष्ट है, जिन्हें पुनः आवागमन के चक्र में नहीं पड़ना पड़ता है। इससे भिन्न तो जरावस्था को प्राप्त गधे के सदृश हैं, जो कि अशक्त होते हुए भी भार ढोने के लिए विवश हैं। ज्ञानवान् मनुष्य के लिए शास्त्र, भार ढोने के सदृश है। राग-द्वेष में लिप्त मनुष्य के लिए ज्ञान भारस्वरूप है, अशान्त मनुष्य का मन तो स्वयं में ही भारस्वरूप होता है तथा जो आत्मज्ञानी नहीं हैं, उनके लिए यह शरीर भी बोझा ढोने के सदृश ही है ॥ ११-१५ ॥

अहंकारवशादापदहंकाराद्दुराधयः । अहंकारवशादीहा नाहंकारात्परो रिपुः ॥ १६ ॥
अहंकारवशाद्यद्यन्मया भुक्तं चराचरम् । तत्तत्सर्वमवस्त्वेव वस्त्वहंकाररिक्तता ॥ १७ ॥
इतश्चेतश्च सुव्यग्रं व्यर्थमेवाभिधावति । मनो दूरतरं याति ग्रामे कौलेयको यथा ॥ १८ ॥
क्रूरेण जडतां याता तृष्णाभार्यानुगामिना । वशः कौलेयकेनैव ब्रह्मन्मुक्तोऽस्मि चेतसा ॥ १९ ॥
अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि । अपि वह्न्यशनाद्ब्रह्मन्विषमश्चित्तनिग्रहः ॥ २० ॥
चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन्सति जगत्त्रयम् । तस्मिन्क्षीणे जगत्क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः ॥२१ ॥

अहंकार ही समस्त विपत्तियों के आगमन का हेतु है। इसी से मनोविकार उत्पन्न होते हैं और तरह-तरह की इच्छा-आकांक्षाओं का प्रादुर्भाव होता है। इस कारण मनुष्य का अहंकार से बढ़कर और कोई भी शत्रु नहीं है। अहंकार के वशीभूत होकर मैंने चराचर रूप जिन-जिन भोगों का उपभोग किया है, वे सभी मिथ्या, भ्रमरूप थे। अहंकार का शून्य होना ही जीवन की यथार्थता है। वस्तु तो मात्र अहंकार शून्यता ही है। यह मन व्यर्थ ही परेशान होकर यत्र-तत्र दौड़ता रहता है। व्यर्थ ही दूर-दूर तक भ्रमण करता रहता है। इसका स्वभाव गाँव में इधर-उधर घूमने वाले कुत्ते की तरह है। मैं भी तृष्णारूपी कुतिया के पीछे-पीछे कुत्ते की भाँति भटकता हुआ इस प्रकार क्रूर मन के वशीभूत होकर जड़वत् हो गया था। हे ब्रह्मन्! अब मैं उसके प्रभाव से पूर्णरूपेण मुक्त हो गया हूँ। हे ब्रह्मन्! चित्त को नियंत्रित करना, समुद्र को पूरी तरह पीने से भी कठिन है, सुमेरु पर्वत को उखाड़ फेंकने से भी कठिन है और अग्नि के भक्षण से भी कठिन है। यह चित्त बाह्य एवं अन्तःकरण में विषय भोगों को ग्रहण करने वाला है, उसके आधार पर ही जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति रूप तीनों अवस्थाओं से युक्त संसार की स्थिति निर्भर है। चित्त के नष्ट होने पर यह जगत् नष्ट हो जाता है। अतः प्रयासपूर्वक चित्त की ही चिकित्सा करनी चाहिए॥ १६-२१ ॥

यां यामहं मुनिश्रेष्ठ संश्रयामि गुणश्रियम् । तां तां कृन्तति मे तृष्णा तन्त्रीमिव कुमूषिका ॥२२ ॥
पदं करोत्यलङ्घ्येऽपि तृष्णा विफलमीहते । चिरं तिष्ठति नैकत्र तृष्णा चपलमर्कटी ॥ २३ ॥
क्षणमायाति पातालं क्षणं याति नभःस्थलम् । क्षणं भ्रमति दिक्कुञ्जे तृष्णा हृत्पद्मषट्पदी ॥२४ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सर्वसंसारदुःखानां तृष्णैका दीर्घदुःखदा। अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे॥ २५॥
तृष्णाविषूचिकामन्त्रश्चिन्तात्यागो हि स द्विज। स्तोकेनानन्दमायाति स्तोकेनायाति खेदताम्॥२६

हे श्रेष्ठ मुने! मैं जिन श्रेष्ठ सद्गुणों का आश्रय प्राप्त करता हूँ, मेरी तृष्णा उन श्रेष्ठ गुणों को ठीक वैसे ही काट देती है, जैसे कि दुष्ट मूषिका (चुहिया) वीणा के तारों को काट देती है। यह तृष्णा चञ्चल बँदरिया के समान है, जो न लाँघने योग्य स्थान पर भी अपना पैर टिकाना चाहती है। वह तृप्त होने पर भी भिन्न-भिन्न फलों की इच्छा करती रहती है। एक जगह पर लम्बे समय तक नहीं रुकती। क्षणमात्र में ही वह आकाश एवं पाताल की सैर कर डालती है, क्षण मात्र में ही दिशारूपी कुञ्जों में भ्रमण करने लगती है। यह तृष्णा हृदय कमल में विचरण करने वाली भ्रमरी के समान है। यह तृष्णा ही इस नश्वर जगत् के समस्त दुःखों में दीर्घ काल तक दुःख देने वाली है, जो अन्तःपुर में निवास करने वालों को भी महान् संकट में डाल देती है। यह तृष्णा एक महामारी-हैजा है। इसे वही श्रेष्ठ ब्राह्मण नष्ट कर सकता है, जिसने चिन्ता का पूरी तरह से परित्याग कर दिया है। यदि चिन्ता का थोड़ा भी परित्याग कर दिया जाए, तो अत्यधिक आनन्द की प्राप्ति होती है। यदि थोड़ी-सी भी चिन्ता मन में शेष रही, तो उससे असीम दुःख की प्राप्ति होती है॥ २२-२६॥

नास्ति देहसमः शोच्यो नीचो गुणविवर्जितः॥ २७॥ कलेवरमहंकारगृहस्थस्य महागृहम्।
लुठत्वभ्येतु वा स्थैर्यं किमनेन गुरो मम॥ २८॥ पङ्क्तिबद्धेन्द्रियपशुं वल्गत्तृष्णागृहाङ्गणम्।
चित्तभृत्यजनाकीर्णं नेष्टं देहगृहं मम॥ २९॥ जिह्वामर्कटिकाक्रान्तवदनद्वारभीषणम्।
दृष्टदन्तास्थिशकलं नेष्टं देहगृहं मम॥ ३०॥

देह के सदृश तुच्छ, गुणरहित तथा शोक करने योग्य अन्य दूसरा कोई नहीं। इस शरीर रूपी विशाल गृह में अहंकाररूपी गृहस्थ निवास करता है। यह शरीर चाहे दीर्घकाल तक रहे अथवा शीघ्र ही नष्ट हो जाए, उसकी मुझे किञ्चित् मात्र भी चिन्ता नहीं है। जिस शरीर रूपी घर में इन्द्रियरूपी पशु पंक्तिवत् खड़े हैं तथा जिसके प्रांगण में तृष्णा रूपी बँदरी विचरण करती रहती है, जिसमें चित्त-वृत्तिरूप भृत्यों का समावेश है। ऐसा शरीर रूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है। जिह्वा रूपी बँदरी से पीड़ित हुआ यह मुख रूपी द्वार इतना भयभीत हो गया है कि आरम्भ में ही दन्तरूपी हड्डियाँ दिखाई पड़ रही हैं। ऐसा यह शरीररूपी घर मुझे प्रिय नहीं लगता है॥२७-३०

रक्तमांसमयस्यास्य सबाह्याभ्यन्तरे मुने। नाशैकधर्मिणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता॥ ३१॥
तडित्सु शरदभ्रेषु गन्धर्वनगरेषु च। स्थैर्यं येन विनिर्णीतं स विश्वसितु विग्रहे॥ ३२॥
शैशवे गुरुतो भीतिर्मातृतः पितृतस्तथा। जनतो ज्येष्ठबालाच्च शैशवं भयमन्दिरम्॥ ३३॥
स्वचित्तबिलसंस्थेन नानाविभ्रमकारिणा। बलात्कामपिशाचेन विवशः परिभूयते॥ ३४॥
दासाः पुत्राः स्त्रियश्चैव बान्धवाः सुहृदस्तथा। हसन्त्युन्मत्तकमिव नरं वार्धककम्पितम्॥ ३५॥
दैन्यदोषमयी दीर्घा वर्धते वार्धके स्पृहा। सर्वापदामेकसखी हृदि दाहप्रदायिनी॥ ३६॥

हे मुनीश्वर! यह शरीर बाहर एवं अन्दर रक्त एवं मांसादि से संव्याप्त है, तो इस नश्वर शरीर में रमणीयता कहाँ से आई? यदि किसी ने शरत्कालीन बादलों की विद्युत् में एवं गन्धर्व की नगरी में स्थिरता निश्चित की है, तो वह इस नश्वर देह की स्थिरता में विश्वास कर सकता है। बाल्यकाल में गुरु से, माता-पिता से, लोगों से, आयु में बड़े लड़कों से एवं अन्य दूसरे लोगों से भी भय लगता है, अतः यह बाल्यावस्था भय का ही घर है। युवावस्था के आने पर अपने ही चित्त रूपी गुफा में निवास करने वाले, भिन्न-भिन्न तरह के भ्रमों में फँसाने वाले इस काम रूपी पिशाच से बलपूर्वक विवश होकर व्यक्ति पराजय को प्राप्त हो जाता है। वृद्धावस्था के प्राप्त होने

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

पर उन्मत्त की भाँति काँपते हुए व्यक्ति को देखकर दास, पुत्र-पुत्रियाँ, स्त्रियाँ एवं बन्धु-बान्धव भी हँसी करते हैं। वृद्धावस्था में शरीर असमर्थ हो जाने पर इच्छा-आकांक्षाएँ अत्यधिक बढ़ जाती हैं। यह वृद्धावस्था हृदय में दाह प्रदान करने वाली सारी आपत्तियों की प्रिय सहेली है॥ ३१-३६॥

क्वचिद्वा विद्यते यैषा संसारे सुखभावना। आयुः स्तम्बमिवासाद्य कालस्तामपि कृन्तति॥३७॥
तृणं पांसुं महेन्द्रं च सुवर्णं मेरुसर्षपम्। आत्मंभरितया सर्वमात्मसात्कर्तुमुद्यतः। कालोऽयं सर्वसंहारी तेनाक्रान्तं जगत्त्रयम्॥ ३८॥

इस नश्वर जगत् में रहने वाले सांसारिक प्राणी जिस सुख की भावना करते हैं, आखिर वह कहाँ है? काल आयु को तृण के सदृश काटता ही जा रहा है। वह काल छोटे से तृण एवं रजःकण को महेन्द्र एवं स्वर्णमय सुमेरु जैसे विशाल पर्वतों को भी सरसों के समान बना देने में समर्थ है। यह सभी का संहार करने में सक्षम तथा अपनी उदरपूर्ति के लिए सभी को आत्मसात् करने को उद्यत है। इस काल के द्वारा तीनों लोक आक्रान्त हैं॥

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे। स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियः किमिव शोभनम्॥
त्वङ्मांसरक्तबाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचने। समालोकय रम्यं चेत्किं मुधा परिमुह्यसि॥ ४०॥
मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाचलरयोपमा। दृष्टा यस्मिन्मुने मुक्ताहारस्योल्लासशालिता॥ ४१॥
श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः। श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः॥ ४२॥
केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः। दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम्॥ ४३॥

यंत्रवत् चञ्चल अङ्गरूपी पिंजड़े में मांस की पुतली की भाँति, स्नायु एवं हड्डियों की ग्रन्थि से बनी हुई इस स्त्रीदेह में ऐसी कौन सी-वस्तु है, जो शोभनीय कही जा सकती है? आँखों में स्थित त्वचा, मांस, रक्त एवं अश्रु आदि इन सबको अलग-अलग करके अवलोकन करो; इनमें कौन सी वस्तु आकर्षक प्रतीत होती है? यदि कोई भी वस्तु आकर्षक नहीं, तो फिर व्यर्थ में मोह करने से क्या लाभ है? हे मुने! जो नारी सुमेरु पर्वत की चोटियों से उल्लसित होने वाली भगवती माँ गंगा की चञ्चल गति की भाँति है; जो मुक्ताहार से पूर्णरूपेण सुशोभित देखी गई है; कालचक्र के समीप आने पर उसी नारी के मांस पिण्डरूप स्तन को श्मशान में कुत्ते भक्षण करते हैं। जो नारियाँ केश एवं काजल धारण करने वाली तथा देखने में प्रिय लगने वाली होने पर भी न जिनका स्पर्श दुःख देने वाला होता है, वे ही विधाता की दुष्कृति रूप अग्नि की ज्वाला के समान दग्ध कर देने वाली नारियाँ पुरुष को तिनके की भाँति जला डालती हैं॥ ३९-४३॥

ज्वलतामतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः। स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम्॥ ४४॥
कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसः। नार्यो नरविहङ्गानामङ्गबन्धनवागुराः॥ ४५॥
जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम्। पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी बडिशपिण्डिका॥ ४६॥
सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्रिकयानया। दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया॥ ४७॥
यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्व भोगभूः। स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥ ४८॥

ये दूरस्थ प्रज्वलित नरकाग्नियों की तरह अशोभनीय एवं दुःखदायी ईंधनस्वरूपा हैं। ये रसयुक्त प्रतीत होने पर भी वस्तुतः रसहीन हैं। काम नामक किरात ने पुरुष रूपी मृगों को आबद्ध कर लेने के लिए स्त्री रूपी पाश को विस्तृत कर रखा है। ये पुरुष जीवनरूपी तलैया के मत्स्य हैं, जो चित्तरूपी कीचड़ में सतत विचरते

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

रहते हैं। इन मत्स्यरूपी पुरुषों को अपने बाहुपाश में फँसाने के लिए नारी दुर्वासना रूपी रस्सी में बँधी पिण्डिका अर्थात् चारे की भाँति है। यह नारी समस्त दोषरूपी रत्नों को प्रकट करने वाले सागर की भाँति है। यह दुःखों की जंजीर सदैव हमसे दूर रहे। जिस पुरुष के पास नारी है, उसे भोग की इच्छा प्रादुर्भूत होती है और जिसके पास नारी नहीं है, उसके लिए भोग का कोई कारण ही नहीं है। जिसने स्त्री का परित्याग कर दिया, उसका संसार छूट गया और वास्तव में इस नश्वर जगत् का परित्याग करके ही मनुष्य सुख को प्राप्त कर सकता है, वही सचमुच सुखी हो सकता है॥ ४४-४८॥

दिशोऽपि न हि दृश्यन्ते देशोऽप्यन्योपदेशकृत्। शैला अपि विशीर्यन्ते शीर्यन्ते तारका अपि॥४९॥
शुष्यन्त्यपि समुद्राश्च ध्रुवोप्यध्रुवजीवनः। सिद्धा अपि विनश्यन्ति जीर्यन्तो दानवादयः॥ ५०॥
परमेष्ठ्यपि निष्ठावान्हीयते हरिरप्यजः। भावोऽप्यभावमायाति जीर्यन्ते वै दिगीश्वराः॥ ५१॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सर्वा वा भूतजातयः। नाशमेवानुधावन्ति सलिलानीव वाडवम्॥ ५२॥
आपदः क्षणमायान्ति क्षणमायान्ति संपदः। क्षणं जन्माथ मरणं सर्वं नश्वरमेव तत्॥ ५३॥
अशूरेण हताः शूरा एकेनापि शतं हतम्। विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते॥ ५४॥
जन्मान्तरघ्ना विषया एकजन्महरं विषम्। इति मे दोषदावाग्निदग्धे संप्रति चेतसि॥ ५५॥

(यह जगत् नश्वर है, जब यह अव्यक्त स्थिति में चला जाता है, तब) दिशाएँ भी अदृश्य हो जाती हैं, देश भी दूसरों के लिए उपदेश-प्रद बन जाते हैं अर्थात् काल के गाल में विलीन हो जाते हैं, पर्वत भी खण्ड-खण्ड हो जाते हैं तथा तारागण भी टूक-टूक होकर गिर जाते हैं, ध्रुव-नक्षत्रादि का जीवन भी अस्थिर हो जाता है। सिद्धयोगी जन भी विनष्ट हो जाते हैं, दानवादि भी जराग्रस्त शक्तिरहित होकर नष्ट हो जाते हैं। दीर्घकाल तक स्थायीरूप से निवास करने वाले पितामह ब्रह्मा जी एवं जन्मरहित भगवान् विष्णु भी अन्तर्धान हो जाते हैं, समस्त भाव अभाव में परिणत हो जाते हैं, दिशाओं के अधिपति भी जरा-जीर्ण हो जाते हैं। बड़े-बड़े देवगण एवं समस्त प्राणिसमूह वैसे ही विनाश की ओर दौड़ते चले जाते हैं, जिस प्रकार सागरों का जल बड़वानल की ओर दौड़ता चला जा रहा है। आपत्तियाँ क्षणभर में विपत्तिग्रस्त बना देती हैं, तो क्षणभर में समस्त वैभव-सम्पदाएँ समीप में एकत्रित हो जाती हैं। क्षणभर में मृत्यु एवं क्षणभर में जन्म हो जाता है। ये सभी प्रपञ्च नश्वर हैं। इस जगत् में कायर पुरुषों के द्वारा शूरवीरों का संहार होता है, कभी-कभी एक के द्वारा सैकड़ों-हजारों का विनाश हो जाता है। विषय-भोगों के द्वारा चित्त में जो विषमता आ जाती है, वही विषरूप है। प्रत्यक्ष विष इतना भीषण विष नहीं कहा जाता; क्योंकि वह विष तो मात्र एक ही जन्म को नष्ट करता है और विषय-भोग तो जन्म-जन्मान्तर को ही विनष्ट कर देते हैं। अतः इस समय दोषरूपी दावानल से जला मेरा चित्त ऐसा ही प्रतीत हो रहा है॥४९-५५॥

स्फुरन्ति हि न भोगाशा मृगतृष्णासरःस्वपि। अतो मां बोधयाशु त्वं तत्त्वज्ञानेन वै गुरो॥ ५६॥
नो चेन्मौनं समास्थाय निर्मानो गतमत्सरः। भावयन्मनसा विष्णुं लिपिकर्मार्पितोपमः॥ ५७॥
इति महोपनिषद्॥

मृगमरीचिका (तृष्णा) के सरोवर में खड़े होने के बाद भी मुझमें भोग-लिप्सा की स्फुरणा नहीं हो रही है। अतः हे पिता, हे गुरु! आप मुझे तत्त्वज्ञानात्मक बोध शीघ्रातिशीघ्र प्रदान करने की कृपा करें। अन्यथा मैं मान एवं मत्सर का परित्याग कर अपने चित्त में भगवान् विष्णु का ध्यान करते हुए चित्रलिखित की तरह से मौनव्रत स्वीकार कर लूँगा॥ ५६-५७॥ यही महोपनिषद् है।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥

निदाघ तव नास्त्यन्यज्ज्ञेयं ज्ञानवतां वर। प्रज्ञया त्वं विजानासि ईश्वरानुगृहीतया। चित्तमालिन्यसंजातं मार्जयामि भ्रमं मुने ॥ १ ॥ मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः। शमो विचारः संतोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः ॥ २ ॥ एकं वा सर्वयत्नेन सर्वमुत्सृज्य संश्रयेत्। एकस्मिन्वशगे यान्ति चत्वारोऽपि वशं गताः ॥ ३ ॥

अपने पुत्र निदाघ मुनि की सभी बातें सुनकर ऋषिवर ऋभु ने कहा-हे प्रभु! तुम ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ हो। अब तुम्हारे लिए कुछ भी जानकारी के योग्य शेष नहीं रह गया है। तुम ईश्वर की महती कृपा से अपनी ही प्रज्ञा-बुद्धि के द्वारा सभी कुछ समझ गये हो। फिर भी हे मुने! तुम्हारे चित्त में मलिनता के द्वारा जो भी भ्रम प्रादुर्भूत हुआ है, उसका मैं निवारण करूँगा। शम (मनोनिग्रह), विचार, संतोष एवं सत्संग ही मोक्षद्वार के चार द्वारपाल के रूप में कहे गये हैं। यदि इनमें से किसी एक का भी आश्रय प्राप्त कर लिया जाये, तो शेष तीनों द्वारपाल सहजतापूर्वक स्वयमेव ही अपने वश में हो जाते हैं॥ १-३ ॥

शास्त्रैः सज्जनसंपर्कपूर्वकैश्च तपोदमैः। आदौ संसारमुक्त्यर्थं प्रज्ञामेवाभिवर्धयेत्॥ ४॥ स्वानुभूतेश्च शास्त्रस्य गुरोश्चैवैकवाक्यता। यस्याभ्यासेन तेनात्मा सततं चावलोक्यते॥ ५ ॥

सर्वप्रथम इस नश्वर जगत् से मोक्ष प्राप्त करने के लिए तप, दम (इन्द्रिय निग्रह), शास्त्र एवं सत्संग के द्वारा अपने सद्ज्ञान को बढ़ाया जाना चाहिए। अपनी आत्मा के अनुभव, शास्त्रों एवं गुरु के वचनों के उपदेश से सतत अभ्यास द्वारा आत्मचिन्तन करना चाहिए॥ ४-५ ॥

संकल्पाशानुसंधानवर्जनं चेत्प्रतिक्षणम्। करोषि तदचित्तत्वं प्राप्त एवासि पावनम्॥ ६ ॥ चेतसो यदकर्तृत्वं तत्समाधानमीरितम् । तदेव केवलीभावं सा शुभा निर्वृतिः परा॥ ७॥ चेतसा संपरित्यज्य सर्वभावात्मभावनाम्। यथा तिष्ठसि तिष्ठ त्वं मूकान्धबधिरोपमः॥ ८ ॥ सर्वं प्रशान्तमजमेकमनादिमध्यमाभास्वरं स्वदनमात्रमचैत्यचिह्नम्। सर्वं प्रशान्तमिति शब्दमयी च दृष्टिर्बाधार्थमेव हि मुधैव तदोमितीदम्॥ ९ ॥ सर्वं किंचिदिदं दृश्यं दृश्यते चिज्जगद्गतम्। चिन्निष्पन्दांशमात्रं तन्नान्यदस्तीति भावय॥ १० ॥ नित्यप्रबुद्धचित्तस्त्वं कुर्वन्वापि जगत्क्रियाम्। आत्मैकत्वं विदित्वा त्वं तिष्ठाक्षुब्धमहाब्धिवत्॥ ११ ॥

यदि तुमने सदैव के लिए संकल्प एवं आशा के अनुसन्धान का परित्याग कर दिया है, तो तुम्हें वह कैवल्य की प्राप्ति हो ही गयी होगी। जो चित्त का अकर्तृत्व है, वही चित्त-वृत्तियों का निरोध अर्थात् समाधि कही गयी है। यही कैवल्यावस्था एवं परम कल्याणस्वरूपा परम शान्ति कहलाती है। इस जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों में आत्म भावना का सम्यक् रूप से त्याग करके संसार में गूँगे, अंधे एवं बधिरों के समान तुम्हारे रहने से ही यह संभव है। सभी कुछ प्रशान्त है, एक है, जन्मरहित है, केवल अनुभवगम्य है, चित्तरहित है आदि जो शब्दरूप दृष्टि है, वह व्यर्थ ही है। आत्मबोध में बाधास्वरूप है। जो कुछ भी प्रपञ्च में दृष्टिगोचर होता है- तत्त्वतः वही प्रणवरूप है। यहाँ पर जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है- वही दृश्य चिद्-जगत् में भी दृष्टिगोचर होते हैं, वह चित् के निष्पन्द का एक अंशरूप ही है। अतः चित् से (चैतन्य से) अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, तुम ऐसी ही भावना करो। सांसारिक कार्यों को सतत करते हुए भी नित्य प्रबुद्धचित्त होकर आत्मा के एकत्व को जानकर प्रशान्त रहने वाले महासागर के सदृश निश्चल एवं स्थिरचित्त बने रहो। ऐसे ही कार्य करने में कल्याण की सम्भावनायें हैं॥ ६-११ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

तत्त्वावबोध एवासौ वासनातृणपावकः। प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः॥ १२॥
निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोकः प्रवर्तते। सत्तामात्रे परे तत्त्वे तथैवायं जगद्गणः॥ १३॥
अतश्चात्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने। निरिच्छत्वादकर्तासौ कर्ता संनिधिमात्रतः॥ १४॥
ते द्वे ब्रह्मणि विन्देत कर्तृताकर्तृते मुने। यत्रैवैष चमत्कारस्तमाश्रित्य स्थिरो भव॥ १५॥
तस्मान्नित्यमकर्ताहमिति भावनयेद्धया । परमामृतनाम्नी सा समतैवावशिष्यते॥ १६॥

यह आत्मज्ञान वासनारूपी तृण को दग्ध कर देने वाले अग्नि के सदृश है। इसे ही समाधि कहते हैं। केवल मौन रहकर बैठे रहना ही समाधि नहीं है। जैसे रत्न के इच्छारहित होकर पड़े रहने पर भी मनुष्य उसकी तरफ आकृष्ट होते ही हैं, वैसे ही मात्र सत्तारूप में विद्यमान परमात्म तत्त्व की ओर भी सम्पूर्ण विश्व आकृष्ट होता है। अतः हे पुत्र! इस आत्मा में ही कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व दोनों ही स्थित हैं। कामनाविहीन रहने पर ही आत्मा अकर्ता है और सन्निधि मात्र से वह कर्त्ता बन जाता है। हे मुने! कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व इन दोनों का ही निवास अविनाशी परमात्मा में है। तुम्हें यह चमत्कार जिसमें भी परिलक्षित हो, उसी में प्रतिष्ठित हो जाओ। 'मैं नित्य ही अकर्ता हूँ',ऐसी भावना करने पर केवल परमअमृत नामक सत्ता ही शेष रह जाती है॥ १२-१६॥

निदाघ शृणु सत्त्वस्था जाता भुवि महागुणाः। ते नित्यमेवाभ्युदिता मुदिताः ख इवेन्दवः॥१७॥
नापदि ग्लानिमायान्ति निशि हेमाम्बुजं यथा। नेहन्ते प्रकृतादन्यद्रमन्ते शिष्टवर्त्मनि॥ १८॥
आकृत्यैव विराजन्ते मैत्र्यादिगुणवृत्तिभिः। समाः समरसाः सौम्य सततं साधुवृत्तयः॥ १९॥
अब्धिवद्धृतमर्यादा भवन्ति विशदाशयाः। नियतिं न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव॥ २०॥

अतः हे निदाघ! जो प्राणी सत्त्व में स्थित होकर इस लोक में प्रकट हुए हैं, वे ही महान् गुणवान् हैं। वे ही सदा उन्नतिशील होते हुए आकाश में स्थित चन्द्रमा के समान हर्षित होते रहते हैं। सत्त्वगुण में स्थित मनुष्य स्वर्णिम कमल की भाँति रात्रिकालरूप आपत्तियों में कुम्हलाते नहीं हैं। वे प्राप्त भोगों के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की इच्छा नहीं करते, वरन् शास्त्रोक्त मार्ग में ही भ्रमण करते रहते हैं। वे स्वतः अपने मन के अनुकूल रहकर ही मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा आदि गुणों से विभूषित होते रहते हैं। हे सौम्य! वे समान भाव में रहते हुए सतत साधु वृत्ति में एकरस बने रहते हैं। मर्यादा से परे होकर भी वे समुद्र के समान विशाल हृदय वाले हो जाते हैं। वे भगवान् भास्कर की भाँति अपने नियत-पथ पर हमेशा गमन करते रहते हैं॥ १७-२०॥

कोऽहं कथमिदं चेति संसारमलमाततम्। प्रविचार्यं प्रयत्नेन प्राज्ञेन सह साधुना॥ २१॥
नाकर्मसु नियोक्तव्यं नानार्येण सहावसेत्। द्रष्टव्यः सर्वसंहर्ता न मृत्युरवहेलया॥ २२॥
शरीरमस्थि मांसं च त्यक्त्वा रक्ताद्यशोभनम्। भूतमुक्तावलीतन्तुं चिन्मात्रमवलोकयेत्॥ २३॥
उपादेयानुपतनं हेयैकान्तविसर्जनम्। यदेतन्मनसो रूपं तद्बाह्यं विद्धि नेतरत्॥ २४॥
गुरुशास्त्रोक्तमार्गेण स्वानुभूत्या च चिद्घने। ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा वीतशोको भवेन्मुनिः॥२५॥

प्राज्ञों, संतजनों के साथ प्रयत्नपूर्वक यह चिन्तन करना चाहिए कि 'मैं कौन हूँ?' यह विराट् विश्व-प्रपञ्च किस प्रकार प्रादुर्भूत हुआ? कभी निरर्थक कार्यों में न लगा रहे तथा अनार्य पुरुष के संग से सदैव अपने को बचाता रहे। सभी की संघारक, मृत्यु के प्रति उपेक्षा भाव से न देखे। यदि उपेक्षा करनी ही है, तो शरीर, अस्थि, मांस एवं रक्त आदि को घृणास्पद जानकर उनकी उपेक्षा करनी चाहिए। जिस प्रकार मोती की लड़ियों में सूत्र पिरोया जाता है, उसी प्रकार प्राणियों में पिरोये हुए परमपिता परमात्मा पर ही दृष्टि रखे। उपयोगी वस्तु की ओर भागना एवं अनुपयोगी वस्तु का सदैव के लिए त्याग कर देना ही मन का स्वभाव है। वह बाह्य है, आन्तरिक

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

नहीं, इसे जानना चाहिए। परमात्मतत्त्व के विषय में गुरु एवं शास्त्र के अनुसार बताये हुए मार्ग से तथा स्वानुभूति से 'मैं ही ब्रह्म हूँ', ऐसा जानकर शोक-रहित हो जाए॥ २१-२५॥

यत्र निशितासिशतपातनमुत्पलताडनवत्सोढव्यमग्निदाहो हिमसेचनमिवाङ्गारावर्तनं चन्दनचर्चेव निरवधिनाराचविकिरपातो निदाघविनोदनधारागृहशीकरवर्षणमिव स्वशिरश्छेदः सुखनिद्रेव मूकीकरणमाननमुद्रेव बाधिर्यं महानुपचय इवेदं नावहेलनया भवितव्यमेवं दृढवैराग्याद्बोधो भवति। गुरुवाक्यसमुद्भूतस्वानुभूत्यादिशुद्धया। यस्याभ्यासेन तेनात्मा सततं चावलोक्यते॥२६

ऐसी अवस्था में खड्ग जैसा कठोर आघात, कमल के कोमल आघात के सदृश तथा अग्नि द्वारा दग्ध किये जाने का प्रभाव,शीतल जल में स्नान करने की भाँति सहन करने योग्य हो जाता है। आग के दहकते अंगारों पर लेटना,चन्दन के लेप के समान शीतल प्रतीत होता है। शरीर पर सतत बाणों के समूह का आघात, गर्मी को शान्त करने वाले फव्वारे के जलकणों की वर्षा के सदृश बन जाता है। सिर का काटा जाना, सुखप्रदायिनी निद्रा के समान; (जिह्वा आदि काटकर)गूँगा हो जाना, मौनावलम्बन के समान;बधिर हो जाना, उन्नति के समान सुख प्रदायी होता है; लेकिन यह अवस्था उपेक्षा करने से नहीं मिलती। इसकी प्राप्ति दृढ़निश्चयी होकर वैराग्यजनित आत्मज्ञान से ही सम्भव है। गुरु एवं शास्त्र वचनों के अनुसार तथा अन्तः अनुभूति के माध्यम आदि से जो अन्तः की शुद्धि होती है, उसी के सतत अभ्यास से आत्म-साक्षात्कार किया जा सकता है॥ २६॥

विनष्टदिग्भ्रमस्यापि यथापूर्वं विभाति दिक्। तथा विज्ञानविध्वस्तं जगन्नास्तीति भावय॥ २७॥ न धनान्युपकुर्वन्ति न मित्राणि न बान्धवाः। न कायक्लेशवैधुर्यं न तीर्थायतनाश्रयः। केवलं तन्मनोमात्रमयेनासाद्यते पदम्॥ २८॥

जैसे दिशा-भ्रम नष्ट हो जाने से पूर्व की भाँति ही दिशाबोध होने लगता है, वैसे ही विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान)के द्वारा अज्ञान नष्ट हो जाने पर जगत् की स्थिति नहीं रहती,ऐसी भावना करनी चाहिए। मनुष्य का उपकार न धन से,न मित्रों से, न बान्धवों से; न शारीरिक क्लेश के नष्ट होने से और न ही तीर्थ-स्थल में निवास करने से ही मनुष्य लाभान्वित होता है; वह तो चिन्मात्र में विलीन होकर ही परमपद प्राप्त कर सकता है॥ २७-२८॥

यानि दुःखानि या तृष्णा दुःसहा ये दुराधयः। शान्तचेतःसु तत्सर्वं तमोऽर्केष्विव नश्यति॥२९॥ मातरीव परं यान्ति विषमाणि मृदूनि च। विश्वासमिह भूतानि सर्वाणि शमशालिनि॥ ३०॥ न रसायनपानेन न लक्ष्म्यालिङ्गितेन च। न तथा सुखमाप्नोति शमेनान्तर्यथा जनः॥ ३१॥ श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा च दृष्ट्वा ज्ञात्वा शुभाशुभम्। न हृष्यति ग्लायति यः स शान्त इति कथ्यते॥ ३२॥ तुषारकरबिम्बाच्छं मनो यस्य निराकुलम्। मरणोत्सवयुद्धेषु स शान्त इति कथ्यते॥ ३३॥तपस्विषु बहुज्ञेषु याजकेषु नृपेषु च। वनवत्सु गुणाढ्येषु शमवानेव राजते॥३४॥

स्थिर शान्तचित्त वाले व्यक्तियों के जितने भी दुःख, तृष्णायें एवं दुःसह दुश्चिन्तायें हैं, वे और समस्त विकार ठीक वैसे ही विनष्ट हो जाते हैं, जैसे कि सूर्य की किरणों से अन्धकार विनष्ट हो जाता है। इस नश्वर जगत् में शम (मनोनिग्रह) से युक्त मनुष्य का कठोर एवं मृदु स्वभाव के समस्त प्राणी-जन वैसे ही विश्वास करते हैं, जैसा माता पर उसके पुत्र विश्वास करते हैं। अमृत-पान एवं लक्ष्मी के आलिङ्गन से वैसा सुख नहीं प्राप्त होता, जैसा सुख व्यक्ति अपने मन की शान्ति से प्राप्त करता है। शुभ एवं अशुभ के श्रवण से, भोजन से, स्पर्श से, दर्शन से एवं जानने से, जिस मनुष्य को न तो प्रसन्नता होती है और न ही दुःख होता है, वही मनुष्य शान्त कहलाता है। चन्द्रमा के मण्डल की भाँति जिसका मन सदा स्वच्छ रहता है एवं मरण-काल, मांगलिक उत्सव तथा युद्ध

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

में जिसका मन व्यग्र नहीं होता, वही मनुष्य शान्त कहलाता है। वह (शम प्रधान) पुरुष तपस्वी जनों में, बहुश्रुतों में,याज्ञिकों में,राजाओं में, वन में वास करने वालों में एवं गुणज्ञों में भी शोभायमान होता है॥ २९-३४॥

संतोषामृतपानेन ये शान्तास्तृप्तिमागताः। आत्मारामा महात्मानस्ते महापदमागताः॥ ३५॥
अप्राप्तं हि परित्यज्य संप्राप्ते समतां गतः। अदृष्टखेदाखेदो यः संतुष्ट इति कथ्यते॥ ३६॥
नाभिनन्दत्यसंप्राप्तं प्राप्तं भुङ्क्ते यथेप्सितम्। यः स सौम्यसमाचारः संतुष्ट इति कथ्यते॥ ३७॥
रमते धीर्यथाप्राप्ते साध्वीवाऽन्तःपुराजिरे। सा जीवन्मुक्ततोदेति स्वरूपानन्ददायिनी॥ ३८॥

जो सन्तोषरूपी अमृत को पीकर शान्त एवं सन्तुष्ट हो जाते हैं, वे ही ज्ञानीजन आत्मा में रमण करते हुए महापद (परमात्मपद) को प्राप्त करते हैं। जो प्राप्त न होने वाली वस्तु के प्रति चिन्तित नहीं होता और प्राप्त होने वाली वस्तु के प्रति समान (हर्ष रहित) रहता है, जिसने सुख एवं दुःख का अवलोकन नहीं किया, वास्तव में वही सन्तुष्ट कहा जाता है। जो अप्राप्त वस्तु की कभी आकांक्षा नहीं करता तथा उपलब्ध वस्तु का आवश्यकतानुसार ही उपभोग करता है, वही सौम्य एवं समभाव से श्रेष्ठ आचरण करने वाला व्यक्ति सन्तुष्ट कहा जाता है। अन्तःपुर के प्राङ्गण में जिस तरह साध्वी पत्नी प्रसन्न रहती है, वैसे ही सहज क्रम में प्राप्त वस्तु में जब बुद्धि रमण करने लगती है, तभी वह स्वरूपानंद प्रदायी जीवन्मुक्त स्थिति कहलाती है॥ ३५-३८॥

यथाक्षणं यथाशास्त्रं यथादेशं यथासुखम्। यथासंभवसत्सङ्गमिमं मोक्षपथक्रमम्।
तावद्विचारयेत्प्राज्ञो यावद्विश्रान्तिमात्मनि॥ ३९॥ तुर्यविश्रान्तियुक्तस्य निवृत्तस्य भवार्णवात्।
जीवतोऽजीवतश्चैव गृहस्थस्याथवा यतेः॥ ४०॥ नाकृतेन कृतेनार्थो न श्रुतिस्मृतिविभ्रमैः।
निर्मन्दर इवाम्भोधिः स तिष्ठति यथास्थितः॥ ४१॥

समय एवं देश के अनुसार शास्त्रानुकूल आनन्दपूर्वक यथाशक्ति सत्संग में ही विचरण करते हुए इस मोक्षपथ के क्रम का तब तक ज्ञानीजन चिन्तन करते रहें, जब तक कि उन्हें आत्मिक विश्रान्ति न मिल जाये। सद्गृहस्थ हो अथवा संन्यासी, जो भी व्यक्ति तुरीयावस्था की विश्रान्ति से सम्पन्न है एवं इस संसार सागर से निवृत्त हो गया है, वह चाहे सांसारिक जीवन में व्यस्त रहे अथवा न रहे, उसे कोई भी कार्य करने या न करने से कोई मतलब नहीं है। उसे श्रुति-स्मृति के भ्रमजाल में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। वह तो मन्दराचल से विहीन (शान्त) सागर की भाँति आत्म-स्थित रहते हुए सभी कुछ प्राप्त कर लेता है॥ ३९-४१॥

सर्वात्मवेदनं शुद्धं यदोदेति तदात्मकम्। भाति प्रसृतिदिक्कालबाह्यं चिद्रूपदेहकम्॥ ४२॥
एवमात्मा यथा यत्र समुल्लासमुपागतः। तिष्ठत्याशु तथा तत्र तद्रूपश्च विराजते॥ ४३॥

जब सभी के प्रति शुद्ध आत्मतत्त्व की अनुभूति की तदात्मक (एकत्व) वृत्ति का उदय हो जाता है,तब दिशा एवं काल में विस्तीर्ण हुआ सम्पूर्ण बाह्य जगत्, चिद्रूपात्मक ही प्रतीत होता है। इस तरह आत्मा जहाँ जिस रूप में उल्लास को प्राप्त होता है, वहाँ शीघ्र ही उसी रूप में वह अवस्थित हो जाता है एवं तदनुरूप ही विराजमान हो जाता है॥ ४२-४३॥

यदिदं दृश्यते सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम्। तत्सुषुप्ताविव स्वप्नः कल्पान्ते प्रविनश्यति॥४४॥
ऋतमात्मा परं ब्रह्म सत्यमित्यादिका बुधैः। कल्पिता व्यवहारार्थं यस्य संज्ञा महात्मनः॥ ४५॥
यथा कटकशब्दार्थः पृथग्भावो न काञ्चनात्। न हेम कटकात्तद्वज्जगच्छब्दार्थता परा॥ ४६॥

जो भी कुछ स्थावर एवं जंगम दृश्यरूप यह सम्पूर्ण जगत् परिलक्षित होता है, वह प्रलय के समय में ठीक वैसे ही विनष्ट हो जाता है, जैसे सुषुप्तावस्था में स्वप्न अदृश्य हो जाता है। यह आत्मा ऋत (आदिकारण)

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

रूप है, परब्रह्म परमेश्वर है। वह सत्यरूप है। ये समस्त संज्ञायें विद्वज्जन एवं महान् आत्माओं ने व्यवहार के लिए कल्पित की हैं। जैसे कङ्कण (हाथ का आभूषण) शब्द एवं उसका अर्थ स्वर्ण से अलग अस्तित्व नहीं रखता और कङ्कण से प्रतिष्ठित स्वर्ण कङ्कण से अलग अपना अस्तित्व नहीं रखता, ठीक वैसे ही 'जगत्' शब्द का तात्पर्य भी परब्रह्म ही होता है, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं॥ ४४-४६॥

तेनेयमिन्द्रजालश्रीर्जगति प्रवितन्यते। द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्तान्तर्बन्ध इत्यभिधीयते॥ ४७॥
द्रष्टा दृश्यवशाद्बद्धो दृश्याभावे विमुच्यते। जगत्त्वमहमित्यादिसर्गात्मा दृश्यमुच्यते॥ ४८॥
मनसैवेन्द्रजालश्रीर्जगति प्रवितन्यते। यावदेतत्संभवति तावन्मोक्षो न विद्यते॥ ४९॥

उस अविनाशी परब्रह्म परमेश्वर ने जगत् के रूप में यह इन्द्रजाल विस्तीर्ण किया है। द्रष्टा का दृश्य श्री सत्ता से अन्तः सम्बद्ध होना 'बन्ध' कहा जाता है। दृश्य के वशीभूत होकर ही द्रष्टा बन्धन में पड़ता है और दृश्य के अभाव में ही वह मोक्ष प्राप्त करता है। यह जगत्, 'मेरा-तेरा' रूप भाव वाली सृष्टि, दृश्य कहलाती है। इस संसार में प्रपञ्चरूपी इन्द्रजाल मन के द्वारा ही प्रबुद्ध होता है। जब तक मन की यह कल्पना समाप्त नहीं होती, तब तक मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता नहीं दिखलाई पड़ता॥ ४७-४९॥

ब्रह्मणा तन्यते विश्वं मनसैव स्वयंभुवा। मनोमयमतो विश्वं यन्नाम परिदृश्यते॥ ५०॥
न बाह्ये नापि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः। यदर्थं प्रतिभानं तन्मन इत्यभिधीयते॥ ५१॥
संकल्पनं मनो विद्धि संकल्पस्तत्र विद्यते। यत्र संकल्पनं तत्र मनोऽस्तीत्यवगम्यताम्॥ ५२॥
संकल्पमनसी भिन्ने न कदाचन केनचित्। संकल्पजाते गलिते स्वरूपमवशिष्यते॥ ५३॥

यह संसार स्वयंभू ब्रह्मा जी की मानसिक सृष्टि है, अतः दृष्टिगोचर होने वाले इस विश्व को मनोमय ही समझना चाहिए। बाह्य अथवा अन्तःकरण में कहीं पर भी यह मन सद्रूप में अवस्थित नहीं है। विषय वस्तुओं का बोध ही मन कहलाता है। संकल्प-विकल्प होना ही मन का स्वभाव है; क्योंकि वह संकल्प में ही रमण कर रहा है। अतः जो संकल्प है, वही मन है, ऐसा जानना चाहिए। आज तक कोई भी संकल्प और मन को पृथक् नहीं कर सका। समस्त संकल्पों के विनष्ट हो जाने पर आत्मस्वरूप ही शेष रहता है॥ ५०-५३॥

अहं त्वं जगदित्यादौ प्रशान्ते दृश्यसंभ्रमे। स्यात्तादृशी केवलता दृश्ये सत्तामुपागते॥ ५४॥
महाप्रलयसंपत्तौ ह्यसत्तां समुपागते। अशेषदृश्ये सर्गादौ शान्तमेवावशिष्यते॥ ५५॥
अस्त्यनस्तमितो भास्वानजो देवो निरामयः। सर्वदा सर्वकृत्सर्वः परमात्मेत्युदाहृतः॥ ५६॥
यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते। यस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावतः॥५७

'मेरा-तेरा' एवं इस जगत् आदि दृश्य प्रपञ्च (इन्द्रजाल) के शान्त हो जाने पर दृश्य जब सत्ता को अर्थात् परमतत्त्व को प्राप्त कर लेता है, तब तदनुरूप ही वह कैवल्यावस्था को प्राप्त कर लेता है। महाप्रलय की स्थिति आने पर जब सम्पूर्ण दृश्य जगत् अस्तित्व रहित हो जाता है, तब उस समय सृष्टि के पूर्वकाल में केवल प्रशान्त आत्मा मात्र ही शेष रहता है। जो आत्मारूपी सूर्य (सविता) कभी अस्ताचल की ओर गमन नहीं करता, जो अजन्मा एवं सर्वदोषरहित देव है, सदैव सर्वकर्त्ता तथा सर्वरूप है; जहाँ वाक्शक्ति जाकर वापस आ जाती है; जिसे मुक्त पुरुष ही जानते हैं और जिसकी आत्मा आदि संज्ञाएँ कल्पना मात्र हैं, स्वाभाविक नहीं हैं; (वे ही अविनाशी परब्रह्म परमेश्वर कहे जाते हैं)॥ ५४-५७॥

चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम्। द्वाभ्यां शून्यतरं विद्धि चिदाकाशं महामुने॥५८॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ संविदो मध्यमेव यत्। निमेषेण चिदाकाशं तद्विद्धि मुनिपुङ्गव॥ ५९॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

तस्मिन्निरस्तनिःशेषसंकल्पस्थितिमेषि चेत्। सर्वात्मकं पदं शान्तं तदा प्राप्नोष्यसंशयः ॥ ६० ॥
उदितौदार्यसौन्दर्यवैराग्यरसगर्भिणी। आनन्दस्यन्दिनी यैषा समाधिरभिधीयते ॥ ६१ ॥
दृश्यासंभवबोधेन रागद्वेषादितानवे। रतिर्बलोदिता यासौ समाधिरभिधीयते ॥ ६२ ॥
दृश्यासंभवबोधो हि ज्ञानं ज्ञेयं चिदात्मकम्। तदेव केवलीभावं ततोऽन्यत्सकलं मृषा ॥ ६३ ॥

'चित्ताकाश, चिदाकाश एवं (भौतिक) आकाश—ये ही तीन आकाश कहे गये हैं। हे मुने! इन तीनों में से चिदाकाश अति सूक्ष्म बतलाया गया है। हे मुनिश्रेष्ठ! एक देश (विषय) से दूसरे देश (विषय) में गमन करते समय निमेष भर का (वृत्तिशून्य) मध्यकाल आता है, वही चिदाकाश है— ऐसा जानना चाहिए। यदि तुम उस अतिश्रेष्ठ चिदाकाश में सभी संकल्पों को छोड़कर प्रतिष्ठित होते हो, तो निश्चय ही सर्वात्मक शान्त पद को प्राप्त करोगे। चिदाकाश की स्थिति तक पहुँच जाने के बाद जिस सुन्दर, उदार एवं वैराग्यरस से ओत-प्रोत आनन्दमय अवस्था की प्राप्ति होती है, उसे ही सहज समाधि कहा जाता है। जब यह बोध हो जाता है कि दृश्य पदार्थों की सत्ता है ही नहीं और राग-द्वेष आदि समस्त दोषों की समाप्ति हो जाती है; तब उस समय अभ्यास बल के द्वारा जो एकाग्र-रति (आनन्द) प्रादुर्भूत होती है, उसे ही समाधि कहा जाता है। दृश्य जगत् की सत्ता का अभाव जब अन्तःकरण में बोधरूप में आता है, तभी वह संशयरहित ज्ञान का स्वरूप कहलाता है। वह ही चिदात्मक ज्ञेयतत्त्व है, वही आत्म कैवल्य रूप है, इसके सिवाय अन्य सभी कुछ असत्य है॥ ५८-६३ ॥

मत्त ऐरावतो बद्धः सर्षपीकोणकोटरे । मशकेन कृतं युद्धं सिंहौघैरेणुकोटरे ॥ ६४ ॥
पद्माक्षे स्थापितो मेरुर्निगीर्णो भृङ्गसूनुना। निदाघ विद्धि तादृक्त्वं जगदेतद्भ्रमात्मकम्॥ ६५ ॥

जिस प्रकार मदोन्मत्त ऐरावत हाथी का सरसों के एक किनारे के छिद्र में बाँधा जाना असंभव है, एक धूलिकण के बिल में मच्छरों का सिंहों के साथ युद्ध करना शक्य नहीं है और कमल की पंखुड़ी में प्रतिष्ठित सुमेरुपर्वत को भ्रमर के बच्चे द्वारा निगले जाने की कथा मिथ्या है। उसी प्रकार यह विश्व भी अस्तित्व में नहीं आ सकता। अतः हे निदाघ! तुम्हें इसकी सत्ता को भ्रमात्मक ही जानना चाहिए॥६४-६५ ॥

चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशदूषितम्। तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते॥ ६६ ॥
मनसा भाव्यमानो हि देहतां याति देहकः। देहवासनया मुक्तो देहधर्मैर्न लिप्यते॥ ६७ ॥
कल्पं क्षणीकरोत्यन्तः क्षणं नयति कल्पताम्। मनोविलाससंसार इति मे निश्चिता मतिः ॥ ६८
नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ ६९ ॥

राग-द्वेष आदि के विकारों से दूषित चित्त ही जगत् है। वही चित्त समस्त दोषों से मुक्त हो जाता है, तभी इसे जगत् का अन्त यानी मोक्ष की प्राप्ति होना कहा जाता है। मन के द्वारा शरीर की भावना किये जाने पर ही आत्मा देहात्मक बनती है। जब वह शारीरिक वासनाओं से मुक्त होती है, तभी वह (मन) शरीर के धर्मों में लिप्त नहीं होती। यह मन ही कल्प को क्षण बना देता है और क्षण में कल्पत्व भर देता है। अतः मेरी समझ में यह जगत् केवल मनोविलास अर्थात् मन का खेल मात्र ही है। जो मनुष्य दुश्चरित्रता से विलग नहीं हुआ है, एकाग्रचित्त नहीं है और जिसका चित्त अभी शान्त नहीं हुआ है, ऐसे पुरुष को आत्मसाक्षात्कार नहीं होता॥

तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्घनम्। विदित्वा स्वात्मनो रूपं न बिभेति कदाचन॥७० ॥
परात्परं यन्महतो महान्तं स्वरूपतेजोमयशाश्वतं शिवम्। कविं पुराणं पुरुषं सनातनं सर्वेश्वरं सर्वदेवैरुपास्यम्॥ ७१ ॥ अहं ब्रह्मेति नियतं मोक्षहेतुर्महात्मनाम्। द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च। ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते॥ ७२ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

उस आनन्द स्वरूप, द्वन्द्वों से परे, गुणरहित (गुणों से परे), सत् स्वरूप, चिद्घन परब्रह्म को अपना-निज स्वरूप जान लेने के पश्चात् मनुष्य को किञ्चित् भी भय नहीं होता। जो महान् से महानतम एवं श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम, तेजःस्वरूप, शाश्वत, कल्याण-प्रद, सर्वज्ञ, पुराणपुरुष, सनातन, सर्वेश्वर तथा सभी देवगणों के द्वारा सम्पूजित एवं उपास्य है, वह अविनाशी ब्रह्म मैं हूँ- ऐसा निश्चय महात्माओं के लिए मुक्ति का माध्यम होता है। बन्धन एवं मोक्ष के दो ही कारण बनते हैं, जिनमें प्रथम है—ममता एवं द्वितीय ममतारहित होना। ममता के द्वारा जीव बन्धन में पड़ता है और ममता से रहित हो जाने के पश्चात् वह (जीव) मोक्ष को प्राप्त कर लेता है॥ ७०-७२॥

जीवेश्वरादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम्। ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता। जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः॥ ७३॥ त्रिणाचिकादियोगान्ता ईश्वरभ्रान्तिमाश्रिताः। लोकायतादिसांख्यान्ता जीवविभ्रान्तिमाश्रिताः॥ ७४॥ तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः। कार्या किंतु ब्रह्मतत्त्वं निश्चलेन विचार्यताम्॥ ७५॥

जीव रूप एवं ईश्वररूप से ईक्षण अर्थात् ब्रह्म के संकल्प से प्रारम्भ होकर तथा ब्रह्म में प्रवेश के अन्त वाले इस सम्पूर्ण जड़-चेतनात्मक सृष्टि की कल्पना ईश्वर के द्वारा ही की गई है। जाग्रत् अवस्था से लेकर मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् जीव के द्वारा ही कल्पित है। कठोपनिषद् के अन्तर्गत त्रिणाचिकेताग्नि से लेकर श्वेताश्वतर का योगपर्यन्त ज्ञान ईश्वरीय भ्रान्ति के आश्रित है। चार्वाक मत से लेकर कपिल के सांख्यसिद्धान्त तक का दार्शनिक ज्ञान (सांख्य आदि दर्शनों में प्रतिपादित ज्ञान) जीव भ्रान्ति का आधार है। अतः जो पुरुष मुक्ति की आकांक्षा करता है, वह जीव तथा ईश्वर के वाद-विवाद में बुद्धि को भ्रमित न करे, वरन् उसे दृढ़तापूर्वक ब्रह्मतत्त्व का ही निरन्तर चिन्तन करना चाहिए॥ ७३-७५॥

अविशेषेण सर्वं तु यः पश्यति चिदन्वयात्। स एव साक्षाद्विज्ञानी स शिवः स हरिर्विधिः॥७६॥ दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्। दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना॥ ७७॥ उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः। योगिनः सहजावस्था स्वयमेवोपजायते॥ ७८॥ यदा ह्येवैष एतस्मिन्नल्पमप्यन्तरं नरः। विजानाति तदा तस्य भयं स्यान्नात्र संशयः॥ ७९॥ सर्वगं सच्चिदानन्दं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते। अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत्॥ ८०॥ प्रज्ञानमेव तद्ब्रह्म सत्यं प्रज्ञानलक्षणम्। एवं ब्रह्मपरिज्ञानादेव मर्त्योऽमृतो भवेत्॥ ८१॥ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ ८२॥

ज्ञानवान् पुरुष वही है, जो सम्पूर्ण दृश्य-जगत् को निर्विशेष चित् रूप मानता हो। वही (कल्याणकारी) शिव है, वही ब्रह्मा एवं विष्णु भी वही है। विषय वासनाओं का त्याग अत्यन्त दुर्लभ है, तत्त्वज्ञान को प्राप्त करना भी अत्यन्त कठिन है और सद्गुरु की अनुकम्पा के बिना सहजावस्था को प्राप्त करना भी अत्यधिक दुःसाध्य है। जिसने अपनी बोधात्मिका शक्ति को जाग्रत् कर लिया है और अपने समस्त कर्मों का परित्याग कर दिया है, ऐसा योगी स्वयमेव सहजावस्था को प्राप्त कर लेता है; जब तक व्यक्ति को इसमें थोड़ा भी अन्तर मालूम पड़ता है, तब तक उसके लिए भय है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। सर्वरूप-परब्रह्म परमेश्वर को ज्ञान के नेत्रों से देखा जा सकता है, जिसके पास ज्ञान के नेत्रों का अभाव है, वह अविनाशी ब्रह्म को ठीक वैसे ही नहीं देख सकता, जिस प्रकार अंधे व्यक्ति को प्रकाशमान सूर्य (सवितादेवता) के दर्शन नहीं होते। वह ब्रह्म प्रज्ञान स्वरूप है। सत्य ही प्रज्ञान का लक्षण है। अतः ब्रह्म के परिज्ञान से ही मर्त्य जीव अमरत्व को प्राप्त करता है। उस कार्य-कारण स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही मनुष्य के हृदय की गाँठें खुल जाती हैं, सभी संशय समाप्त हो जाते हैं और समस्त कर्म (प्रारब्धादि) क्षीणता को प्राप्त हो जाते हैं॥ ७६-८२॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अनात्मतां परित्यज्य निर्विकारो जगत्स्थितौ। एकनिष्ठतयान्तःस्थः संविन्मात्रपरो भव॥ ८३॥
मरुभूमौ जलं सर्वं मरुभूमात्रमेव तत्। जगत्त्रयमिदं सर्वं चिन्मात्रं स्वविचारतः॥ ८४॥
लक्ष्यालक्ष्यमतिं त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत्केवलात्मना। शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्मविदुत्तमः॥ ८५॥
अधिष्ठानमनौपम्यामवाङ्मनसगोचरम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम्॥ ८६॥
सर्वशक्तेर्महेशस्य विलासो हि मनो जगत्। संयमासंयमाभ्यां च संसारः शान्तिमन्वगात्॥८७॥

हे पुत्र निदाघ! अनात्म भाव को त्यागकर, सांसारिक स्थिति में विकाररहित होकर अनन्य निष्ठापूर्वक अन्तः में प्रतिष्ठित होकर आत्म-चैतन्य में ही रमण करते रहो। जिस प्रकार मरुभूमि में भ्रम से दिखाई देने वाला जल मरुस्थल मात्र ही रहता है, उसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्तावस्था से युक्त यह सम्पूर्ण जगत् आत्मविचार से ही चिन्मय जानना चाहिए। जो लक्ष्य एवं अलक्ष्य बुद्धि का परित्याग करके केवल आत्मनिष्ठ हो जाता है, वही श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी एवं स्वयं साक्षात् शिवरूप है। इस जगत् का अधिष्ठान अद्वितीय है, वाणी एवं मन की पहुँच से परे है। नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं अव्यय स्वरूप से युक्त है। यह विश्व सर्वशक्तिमान् भगवान् महाशिव का मनोविलास मात्र ही है। संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) एवं असंयम (सहज ज्ञान) के द्वारा ये सभी सांसारिक प्रपञ्च शान्ति को प्राप्त होते हैं॥ ८३-८७॥

मनोव्याधेश्चिकित्सार्थमुपायं कथयामि ते। यद्यत्स्वाभिमतं वस्तु तत्त्यजन्मोक्षमश्नुते॥ ८८॥
स्वायत्तमेकान्तहितं स्वेप्सितत्यागवेदनम्। यस्य दुष्करतां यातं धिक्तं पुरुषकीटकम्॥ ८९॥
स्वपौरुषैकसाध्येन स्वेप्सितत्यागरूपिणा। मनः प्रशममात्रेण विना नास्ति शुभा गतिः॥ ९०॥
असंकल्पनशस्त्रेण छिन्नं चित्तमिदं यदा। सर्वं सर्वगतं शान्तं ब्रह्म संपद्यते तदा॥ ९१॥
भव भावनया मुक्तो मुक्तः परमया धिया। धारयात्मानमव्यग्रो ग्रस्तचित्तं चितः पदम्॥ ९२॥

हे निदाघ मुने! मैं तुम्हारे मन में प्रादुर्भूत होते हुए विकारों की चिकित्सा के लिए उपाय बतलाता हूँ। जिन-जिन इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति के लिए मन चंचल हो, उन पदार्थों का त्याग ही मानव के मोक्ष-प्राप्ति का साधन है। जिसके लिए अभिलषित सांसारिक पदार्थों के त्याग की भावना, एकान्त प्रिय होना एवं आत्मा की अधीनता दुष्कर हो जाती है, ऐसे उस मनुष्य रूपी कीट (कीड़े) को धिक्कार है। अपनी इच्छित वस्तुओं एवं पदार्थों का प्रयत्नपूर्वक परित्याग करना ही वास्तविक मन की शान्ति का श्रेष्ठ मार्ग है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य दूसरी गति नहीं है। सङ्कल्पशून्यता रूपी शस्त्रास्त्रों से जब इस चित्त का कर्तन कर दिया जाता है, तब सर्वस्वरूप सर्वान्तर्यामी, शान्तरूप ब्रह्म की उपलब्धि होती है। इसलिए प्रपञ्च की भावना से रहित होकर प्रज्ञासम्पन्न होकर तथा चित्त को नियन्त्रित करके चिन्मात्र में प्रतिष्ठित हो जाओ॥ ८८-९२॥

परं पौरुषमाश्रित्य नीत्वा चित्तमचित्तताम्। ध्यानतो हृदयाकाशे चिति चिच्चक्रधारया। मनो मारय निःशङ्कं त्वां प्रबध्नन्ति नारयः॥ ९३॥ अयं सोऽहमिदं तन्म एतावन्मात्रकं मनः। तदभावनमात्रेण दात्रेणेव विलीयते॥ ९४॥ छिन्नाभ्रमण्डलं व्योम्नि यथा शरदि धूयते। वातेन कल्पकेनैव तथान्तर्धूयते मनः॥ ९५॥ कल्पान्तपवना वान्तु यान्तु चैकत्वमर्णवाः। तपन्तु द्वादशादित्या नास्ति निर्मनसः क्षतिः॥। ९६॥ असंकल्पनमात्रैकसाध्ये सकलसिद्धिदे। असंकल्पातिसाम्राज्ये तिष्ठावष्टब्धतत्पदः॥ ९७॥

श्रेष्ठ पौरुष रूप अभ्यास एवं वैराग्य का आश्रय प्राप्त करके तथा चित्त को अचित्तावस्था में ले जाकर आकाश रूपी हृदय में चिन्तन करते हुए बराबर चैतन्य तत्त्व में लगे हुए चित्त रूपी चक्र की तीक्ष्ण धार से मन

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

का दमन कर देना चाहिए; ऐसा करते ही तुम्हारी सभी शंकायें निर्मूल हो जायेंगी तथा कामादि रूप शत्रु, बन्धन में न बाँध सकेंगे। यह वह है, मैं यह हूँ, वे समस्त पदार्थ मेरे हैं, यह भावना ही मन है। इन्हीं भावनाओं के त्याग से मन को (काटने के उपकरण द्वारा काटने की तरह) विनष्ट किया जा सकता है। जैसे शरत्-काल के आकाश में छिन्न-भिन्न हुए बादलों के समूह वायु की ठोकरों से विलीन हो जाते हैं, वैसे ही सद्विचारों के द्वारा ही मन अन्तर्हित हो जाता है। चाहे प्रलयंकारी उनचासों पवन एक साथ प्रवाहित हों अथवा सभी सागर एक साथ सम्मिलित होकर एकार्णवरूप हो जायें। चाहे द्वादश आदित्य भी एक साथ मिलकर क्यों न तपने लगें; किन्तु फिर भी मन से विहीन मनुष्य को किसी प्रकार की क्षति नहीं हो सकती। केवल संकल्पहीनता रूपी एक साध्य ही सम्पूर्ण सिद्धियों की प्राप्ति का साधन है। अतः तत्पद का आश्रय ग्रहण करके संकल्पहीनता के विस्तृत साम्राज्य में प्रतिष्ठित हो जाओ॥ ९३-९७॥

न हि चञ्चलताहीनं मनः क्वचन दृश्यते। चञ्चलत्वं मनोधर्मो वह्नेर्धर्मो यथोष्णता॥ ९८॥
एषा हि चञ्चला स्पन्दशक्तिश्चित्तत्वसंस्थिता। तां विद्धि मानसीं शक्तिं जगदाडम्बरात्मिकाम्॥
यत्तु चञ्चलताहीनं तन्मनोऽमृतमुच्यते। तदेव च तपः शास्त्रसिद्धान्ते मोक्ष उच्यते॥ १००॥
तस्य चञ्चलता यैषा त्वविद्या वासनात्मिका। वासनाऽपरनाम्नीं तां विचारेण विनाशय॥ १०१॥

अचञ्चल मन कहीं पर नहीं दीखता, चञ्चलता मन का सहज धर्म है, जैसे अग्नि का सहज धर्म गर्मी प्रदान करना है। यही चञ्चल स्वभाव वाली स्पन्दन शक्ति चित्त का स्वाभाविक धर्म है। इसी मानसिक शक्ति को सांसारिक प्रपञ्च का सहजस्वरूप जानना चाहिए। जो मन अचञ्चल हो जाता है, वही अमृतस्वरूप कहा जाता है, वही तप है। उसे ही शास्त्रीय-सिद्धान्त की दृष्टि से मोक्ष कहते हैं। मन की चञ्चलता ही अविद्या है और वासना उसका स्वरूप है। शत्रुरूपी वासना को सद्विचारों के द्वारा काट देना चाहिए॥ ९८-१०१॥

पौरुषेण प्रयत्नेन यस्मिन्नेव पदे मनः। योज्यते तत्पदं प्राप्य निर्विकल्पो भवानघ॥ १०२॥
अतः पौरुषमाश्रित्य चित्तमाक्रम्य चेतसा। विशोकं पदमालम्ब्य निरातङ्कः स्थिरो भव॥ १०३॥
मन एव समर्थं हि मनसो दृढनिग्रहे। अराज्ञा कः समर्थः स्याद्राज्ञो निग्रहकर्मणि॥ १०४॥
तृष्णाग्राहगृहीतानां संसारार्णवपातिनाम्। आवर्तैरूह्यमानानां दूरं स्वमन एव नौः १०५॥
मनसैव मनश्छित्त्वा पाशं परमबन्धनम्। भवादुत्तारयात्मानं नासावन्येन तार्यते॥ १०६॥

हे निष्पाप मुने! मन को पुरुषार्थ के द्वारा जिस उद्देश्य में स्थिर करो, उसे प्राप्त करके निर्विकल्प समाधि को अर्जित करो। अतएव प्रयासपूर्वक चित्त को चित्त से वशीभूत करके शोकरहित अवस्था के आश्रय से, आतंक से दूर रहकर शान्ति प्राप्त करो। विषय विकारों से रहित मन ही मन का पूर्णरूपेण निरोध करने में समर्थ हो सकता है। किसी राजा को पराजित करने में कोई राजा ही समर्थ होता है। जो तृष्णारूपी ग्राह के द्वारा ग्रसित किये जा चुके हैं, जो संसार-सागर में गिरकर भँवरों के जाल में फँसकर अपने लक्ष्य से दूर भटक गये हैं, उन्हें बचाने के लिए विषय-विकारों से रहित मन ही समर्थ है, वही नौका का रूप धारण करके पार लगा सकता है। हे मुने! इस प्रकार के विकार-रहित मन के द्वारा इस विशाल बन्धनरूपी जाल को विनष्ट कर दो। स्वयमेव संसार-सागर से पार हो जाओ। अन्य और किसी के द्वारा यह संसार रूप सागर नहीं पार किया जा सकता॥

या योदेति मनोनाम्नी वासना वासितान्तरा। तां तां परिहरेत्प्राज्ञस्ततोऽविद्याक्षयो भवेत्॥ १०७॥
भोगैकवासनां त्यक्त्वा त्यज त्वं भेदवासनाम्।भावाभावौ ततस्त्यक्त्वा निर्विकल्पः सुखी भव॥ १०८॥ एष एव मनोनाशस्त्वविद्यानाश एव च। यत्तत्संवेद्यते किंचित्तत्रास्थापरिवर्जनम्।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अनास्थैव हि निर्वाणं दुःखमास्थापरिग्रहः ॥ १०९ ॥ अविद्या विद्यमानैव नष्टप्रज्ञेषु दृश्यते। नाप्नैवाङ्गीकृताकारा सम्यक्प्रज्ञस्य सा कुतः ॥ ११० ॥

जब-जब अन्तःकरण को आच्छादित करने वाली मनरूपी वासना का प्राकट्य हो, तब-तब उसका परित्याग करना ज्ञानी मनुष्य का परम कर्तव्य हो जाता है,क्योंकि ऐसा करने से अविद्या का विनाश हो जाता है। सर्वप्रथम भोगरूपी वासना का त्याग करो, फिर भेदरूपी वासना का त्याग करो,उसके पश्चात् भाव-अभाव दोनों का ही त्याग करके निर्विकल्प होकर पूर्ण सुखी हो जाओ। मन का विनाश ही अविद्या का विनाश कहा गया है। मन द्वारा जो कुछ भी अनुभूति में आता हो, उस-उसमें आस्था कदापि न होने दो। आस्था का परित्याग करना ही निर्वाण है और आस्था के आश्रित रहना ही दुःख है। जो प्रज्ञा से रहित है,उन्हीं में अविद्या प्रतिष्ठित रहती है। सम्यक् प्रज्ञासम्पन्न मनुष्य नाम मात्र के लिए भी कहीं अविद्या को स्वीकार नहीं करते॥ १०७-११०॥

तावत्संसारभृगुषु स्वात्मना सह देहिनम्। आन्दोलयति नीरन्ध्रं दुःखकण्टकशालिषु॥ १११ ॥ अविद्या यावदस्यास्तु नोत्पन्ना क्षयकारिणी। स्वयमात्मावलोकेच्छा मोहसंक्षयकारिणी॥ ११२ ॥ अस्याः परं प्रपश्यन्त्याः स्वात्मनाशः प्रजायते। दृष्टे सर्वगते बोधे स्वयं ह्येषा विलीयते॥ ११३ ॥ इच्छा मात्रमविद्येयं तन्नाशो मोक्ष उच्यते। स चासंकल्पमात्रेण सिद्धो भवति वै मुने॥ ११४॥ मनागपि मनोव्योम्नि वासनारजनीक्षये। कलिका तनुतामेति चिदादित्यप्रकाशनात्॥ ११५ ॥

इस दुःखरूपी कंटक से ओत-प्रोत संसार रूपी भ्रमजाल में तभी तक अविद्या अपने साथ देहधारी को निरन्तर भ्रमाती है, जब तक इसको विनष्ट करने वाली मोहनाशिनी आत्मसाक्षात्कार की आकांक्षा स्वयं ही उत्पन्न नहीं होती। यह अविद्या जब परमात्मतत्त्व की ओर देखती है, तब इसका स्वयं ही नाश हो जाता है। सर्वात्मबोध के दर्शन होते ही अविद्या स्वयं ही लुप्त हो जाती है। केवल इच्छा मात्र ही अविद्या का स्वरूप है और इच्छा का पूरी तरह से नष्ट होना ही मोक्ष कहा गया है। हे मुने! किन्तु इच्छा तभी समाप्त होती है,जब संकल्प का पूर्णरूपेण विनाश हो जाये, अन्यथा इच्छा का नाश असम्भव है। चित् रूपी सूर्य के प्रकाश से कलिरूपी अन्धकार क्षीण हो जाता है॥ १११-११५॥

चैत्यानुपातरहितं सामान्येन च सर्वगम्। यच्चित्तत्वमनाख्येयं स आत्मा परमेश्वरः॥ ११६ ॥ सर्वं च खल्विदं ब्रह्म नित्यचिद्घनमक्षतम्। कल्पनान्या मनोनाम्नी विद्यते नहि काचन॥ ११७॥ न जायते न म्रियते किंचिदत्र जगत्त्रये। न च भावविकाराणां सत्ता क्वचन विद्यते॥ ११८॥ केवलं केवलाभासं सर्वसामान्यमक्षतम्। चैत्यानुपातरहितं चिन्मात्रमिह विद्यते॥ ११९॥ तस्मिन्नित्ये तते शुद्धे चिन्मात्रे निरुपद्रवे। शान्ते शमसमाभोगे निर्विकारे चिदात्मनि॥ १२०॥ यैषा स्वभावाभिमतं स्वयं संकल्प्य धावति। चिच्चैत्यं स्वयमम्लानं मननान्मन उच्यते॥ १२१॥

जब चित्त विषय वासनाओं का त्याग कर देता है तथा सर्वत्र गमन करने वाला बन जाता है, तब उसकी ऐसी अनिर्वचनीय अवस्था ही आत्मा एवं परमात्मा के नाम से अभिहित होती है। अवश्य ही यह सभी कुछ ब्रह्म है। वह नित्य एवं चिद्घनस्वरूप है। वही अव्यय है। इसके अतिरिक्त जो अन्य मन नाम की कल्पना की जाती है, उसका कहीं पर भी अस्तित्व नहीं है। वह तो मात्र भ्रम ही है। इन तीनों लोकों में न तो किसी का जन्म होता है और न ही मृत्यु। ये जो भी भाव-विकार दृष्टिगोचर होते हैं, ये सभी अस्तित्वहीन हैं। एकमात्र केवलाभासरूप, सर्वव्यापी, अव्यय तथा चित्त के विषयों का अनुगमन न करने वाले केवल चिन्मात्र की ही सत्ता यहाँ विद्यमान है। उस नित्य, सर्वत्रव्यापी, शुद्ध, चिन्मात्र, उपद्रव-रहित, शान्तस्वरूप एवं शमरूप में स्थित विकाररहित चिदात्मा में स्वयंचित्त ही स्वभावानुसार संकल्पपूर्वक गमन करता है, चित्त की वही संकल्परूप अवस्था स्वयं निर्दोष होते हुए भी मनन करने के कारण मन कही जाती है॥ ११६-१२१॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अतः संकल्पसिद्धेयं संकल्पेनैव नश्यति। नाहं ब्रह्मेति संकल्पात्सुदृढाद्बध्यते मनः। सर्वं ब्रह्मेति संकल्पात्सुदृढान्मुच्यते मनः॥ १२२॥ कृशोऽहं दुःखबद्धोऽहं हस्तपादादिमानहम्। इति भावानुरूपेण व्यवहारेण बध्यते॥ १२३॥ नाहं दुःखी न मे देहो बन्धः कोऽस्यात्मनि स्थितः। इति भावानुरूपेण व्यवहारेण मुच्यते॥ १२४॥ नाहं मांसं न चास्थीनि देहादन्यः परोऽस्म्यहम्। इति निश्चितवानन्तः क्षीणाविद्यो विमुच्यते॥ १२५॥

इस कारण संकल्प के द्वारा सिद्ध मन संकल्प द्वारा ही विनष्ट हो जाता है 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' ऐसा सुदृढ़ संकल्प हो जाने से मन बन्धन-ग्रस्त नहीं होता और 'यह सभी कुछ ब्रह्म ही है', ऐसा दृढ़ निश्चयी संकल्प हो जाने पर मन मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। 'मैं क्षीणकाय हूँ, दुःखों से ग्रस्त हूँ, मैं हाथ पैर से युक्त हूँ, इस प्रकार के भावानुकूल व्यवहार से प्राणी बन्धनग्रस्त हो जाता है। मैं दुःखी नहीं हूँ, मेरा शरीर नहीं, आत्मतत्त्व में प्रतिष्ठित मुझमें बन्धन कहाँ?' इस प्रकार के व्यावहारिक जीवन से ओत-प्रोत मन मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। 'मैं मांस नहीं हूँ', अस्थि नहीं हूँ, ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेने पर जिसके अन्तस् से अविद्या नष्ट हो गयी है, वही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है॥ १२२-१२५॥

कल्पितेयमविद्येयमनात्मन्यात्मभावनात्। परं पौरुषमाश्रित्य यत्नात्परमया धिया। भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा निर्विकल्पः सुखी भव॥ १२६॥ मम पुत्रो मम धनमहं सोऽयमिदं मम। इतीयमिन्द्रजालेन वासनैव विवल्गति॥ १२७॥ मा भवाज्ञो भव ज्ञस्त्वं जहि संसारभावनाम्। अनात्मन्यात्मभावेन किमज्ञ इव रोदिषि॥ १२८॥ कस्तवायं जडो मूको देहो मांसमयोऽशुचिः। यदर्थं सुखदुःखाभ्यामवशः परिभूयसे॥ १२९॥ अहो नु चित्रं यत्सत्यं ब्रह्म तद्विस्मृतं नृणाम्। तिष्ठतस्तव कार्येषु मास्तु रागानुरञ्जना॥ १३०॥ अहो नु चित्रं पद्मोत्थैर्बद्धास्तन्तुभिरद्रयः। अविद्यमाना या विद्या तया विश्वं खिलीकृतम्। इदं तद्वज्रतां यातं तृणमात्रं जगत्त्रयम्॥ १३१॥

आत्म-रहित पदार्थों में आत्मभावना होना ही अविद्या जनित कल्पना है। अभ्यास एवं वैराग्य का आश्रय प्राप्त करके बुद्धिमत्तापूर्वक यत्न से भोग की आकांक्षा को दूर से ही छोड़कर, निर्विकल्प होकर पूर्ण सुखमय जीवन व्यतीत करो। यह 'मेरा पुत्र' 'मेरा धन' 'मैं यह हूँ' 'मैं वह हूँ', 'यह मेरा है' आदि समस्त वासनायें ही प्रपञ्च फैलाकर भिन्न-भिन्न क्रीड़ा कर रही हैं। तुम अज्ञानी मत बनो, ज्ञानवान् बनो, समस्त सांसारिक भावनाओं को विनष्ट कर दो। अनात्म विषयों में आत्मभावना से युक्त होकर मूर्खों की तरह क्यों रो रहे हो? यह मांस का पिण्ड, अशुद्ध, मूक, जड़ शरीर तुम्हारा कौन है, जिसके लिए बलपूर्वक दुःख-सुख से अभिभूत हो रहे हो? अरे! कितना महान् आश्चर्य है कि जो अविनाशी ब्रह्म सत्य है, उसे मनुष्य ने विस्मृत कर दिया है। तुम अपने कर्त्तव्य-कर्मों में सदा लगे रहो। मन को अविद्यादि कर्मों में लिप्त न होने दो। अरे! कितने आश्चर्य की बात है कि कमलनाल के तन्तुओं को रस्सी मानकर उनसे पर्वत आबद्ध कर दिये गये हैं। जो अविद्या अस्तित्व रहित है, उसी के द्वारा यह विविध रूपात्मक जगत् अभिभूत हो रहा है। उस अविद्या के प्रभाव से तृणवत् तुच्छ, जाग्रत्, सुषुप्तावस्था आदि तीनों जगत् वज्र के समान दृढ़ परिलक्षित हो रहे हैं॥ १२६-१३१॥

॥ पञ्चमोऽध्यायः ॥

अथापरं प्रवक्ष्यामि शृणु तात यथायथम्। अज्ञानभूः सप्तपदा ज्ञभूः सप्तपदैव हि॥ १॥ पदान्तराण्यसंख्यानि प्रभवन्त्यन्यथैतयोः। स्वरूपावस्थितिर्मुक्तिस्तद्भ्रंशोऽहंत्ववेदनम्॥ २॥ शुद्धसन्मात्रसंवित्तेः स्वरूपान्न चलन्ति ये। रागद्वेषादयो भावास्तेषां नाज्ञत्वसंभवः॥ ३॥ यः स्वरूपपरिभ्रंशश्चैत्यार्थे चितिमज्जनम्। एतस्मादपरो मोहो न भूतो न भविष्यति॥ ४॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अर्थादर्थान्तरं चित्ते याति मध्ये तु या स्थितिः । सा ध्वस्तमननाकारा स्वरूपस्थितिरुच्यते ॥५ ॥
संशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः । जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥६ ॥
अहन्तांशे क्षते शान्ते भेदनिष्पन्दचित्तता । अजडा या प्रचलति तत्स्वरूपमितीरितम् ॥ ७ ॥

पुनः महर्षि ऋभु ने कहा-हे पुत्र! मेरे द्वारा कहे वचनों को भली प्रकार सुनो। अज्ञान और ज्ञान इन दोनों की सात-सात भूमिकायें हैं। इनके बीच में अनेक दूसरी भूमिकायें उत्पन्न होती हैं। अहंभाव ही मूल स्वरूप से पृथक् करने वाला है। स्वरूप में अवस्थित होना ही मुक्ति है। शुद्ध सत्तारूप बोध ही आत्मा का रूप है, जो उस बोध की अवस्था से हटते नहीं, ऐसे साधकों को अज्ञान से पैदा हुए राग-द्वेषादि दूषित विकार प्रभावित नहीं कर पाते। आत्मस्वरूप से हटकर वासनात्मक स्वरूप में जो चित् का डूबना है, इससे अधिक मोहग्रस्त होना दूसरा नहीं कहा जाएगा और न हो सकता है। एक विषय से दूसरे विषय में प्रवेश करते हुए जो मध्य में मन की अवस्था होती है, उसे 'ध्वस्तमनन' के स्वरूप वाली स्थिति समझा जाता है, लेकिन सभी संकल्पों के पत्थर की शिला के समान भली प्रकार शान्त हो जाने पर निश्चेष्ट अवस्था जिसमें जाग्रत् और स्वप्नावस्था भी प्रायः चेष्टारहित होती है, वही परास्वरूप स्थिति कहलाती है। अहंभाव के क्षीण हो जाने पर शान्त, चेतन तथा भेदभाव से रहित चित्त की स्थिति ही स्वरूप अवस्था कहलाती है ॥ १-७ ॥

बीजजाग्रत्तथा जाग्रन्महाजाग्रत्तथैव च। जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः स्वप्नजाग्रत्सुषुप्तिकम् ॥ ८ ॥
इति सप्तविधो मोहः पुनरेष परस्परम् । श्लिष्टो भवत्यनेकाग्र्यं शृणु लक्षणमस्य तु ॥ ९ ॥

मोह के सात प्रकार कहे गये हैं, जो इस प्रकार हैं-१. बीज जाग्रत् अवस्था, २. जाग्रत् अवस्था, ३. महाजाग्रत् अवस्था ४. जाग्रत्स्वप्नावस्था ५. स्वप्नावस्था ६. स्वप्न जाग्रत् अवस्था, ७. सुषुप्तावस्था। तत्पश्चात् यही परस्पर मिलकर असंख्य रूप धारण कर लेते हैं। अब इन सबके अलग-अलग लक्षण सुनें ॥ ८-९ ॥

प्रथमं चेतनं यत्स्यादनाख्यं निर्मलं चितः । भविष्यच्चित्तजीवादिनामशब्दार्थभाजनम् ॥ १० ॥
बीजरूपस्थितं जाग्रद्बीजजाग्रत्तदुच्यते । एषा ज्ञस्येनवावस्था त्वं जाग्रत्संस्थितिं शृणु ॥ ११ ॥

प्रथम 'बीज जाग्रत् अवस्था' वह है,जो नामरहित शुद्धचेतन की भविष्यत् में घटित होने वाली,चित्त-जीव आदि नाम के शब्दार्थरूप सम्बोधन से युक्त अवस्था है। वह बीजरूप में स्थित जाग्रत्-अवस्था बीज जाग्रत् नाम से प्रसिद्ध है। यह ज्ञाता की नूतन अवस्था है। अब आप जाग्रत् अवस्था की यथार्थ स्थिति सुनें ॥१०-११ ॥

नवप्रसूतस्य परादयं चाहमिदं मम । इति यः प्रत्ययः स्वस्थस्तज्जाग्रत्प्रागभावनात् ॥ १२ ॥
अयं सोऽहमिदं तन्म इति जन्मान्तरोदितः । पीवरः प्रत्ययः प्रोक्तो महाजाग्रदिति स्फुटम् ॥१३ ॥
अरूढमथवा रूढं सर्वथा तन्मयात्मकम्। यज्जाग्रतो मनोराज्यं यज्जाग्रत्स्वप्न उच्यते ॥ १४ ॥
द्विचन्द्रशुक्तिकारूप्यमृगतृष्णादिभेदतः । अभ्यासं प्राप्य जाग्रत्तत्स्वप्नो नानाविधो भवेत् ॥ १५ ॥

नवजात जीव के अन्तरंग में 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' अर्थात् मैं और मेरेपन के भावों की स्थिति ही मोह की दूसरी 'जाग्रत् अवस्था' कही जाती है; क्योंकि उससे पूर्व यह भावना नहीं थी। 'महाजाग्रत्' अवस्था वह है, जिसमें 'यह वह व्यक्ति है, यह मैं हूँ, वह मेरी चीज है' आदि भावनाएँ पूर्वजन्मों के संस्कार सहित विदित होती हैं। अप्रचलित (अरूढ़) अथवा प्रचलित (रूढ़) एवं तन्मय होकर जो मन की काल्पनिक रचना जाग्रत् अवस्था में होती है, वह 'जाग्रत्-स्वप्न' कही गयी है। एक चन्द्रमा की जगह दो चन्द्रमाओं का, सीप में चाँदी का तथा मृग-मरीचिका में (बालू में) जल का आभास होना इत्यादि (जाग्रत् अवस्था में) अभ्यास को प्राप्त हुए जाग्रत्-स्वप्न के विभिन्न प्रकार हैं ॥ १२-१५ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अल्पकालं मया दृष्टमेतन्नोदेति यत्र हि। परामर्शः प्रबुद्धस्य स स्वप्न इति कथ्यते॥ १६॥
चिरं संदर्शनाभावादप्रफुल्लं बृहद्वचः। चिरकालानुवृत्तिस्तु स्वप्नो जाग्रदिवोदितः॥ १७॥
स्वप्नजाग्रदिति प्रोक्तं जाग्रत्यपि परिस्फुरत्। षडवस्थापरित्यागे जडा जीवस्य या स्थितिः॥१८॥
भविष्यद्दुःखबोधाढ्य सौषुप्तिः सोच्यते गतिः। जगत्तस्यामवस्थायामन्तस्तमसि लीयते॥ १९॥

'स्वप्नावस्था' वह कहलाती है, जिसमें कुछ समय पूर्व देखा गया दृश्य पुनः दृष्टिगोचर न हो और जागने पर उस दृश्य की मनुष्य को स्मृति मात्र शेष रहे। इसके पश्चात् 'स्वप्न जाग्रत्' अवस्था वह है, जिसमें पूरे विकास को न प्राप्त हुआ स्वप्न जो अनेक क्रिया-कलापों द्वारा देर तक टिके तथा जो जाग्रत् की तरह ही उत्पन्न हो अथवा जागते हुए भी स्वप्न दिखाई दे। इन छः अवस्थाओं को पारकर जब जीव की जड़ात्मक स्थिति में प्रतिष्ठापना होती है, उस बीते हुए दुःखबोध से युक्त अवस्था को ही 'सुषुप्ति' कहा गया है। उस स्थिति में यह संसार आन्तरिक अंधकार में विलीन हो जाता है॥ १६-१९॥

सप्तावस्था इमाः प्रोक्ता मया ज्ञानस्य वै द्विज। एकैका शतसंख्यात्र नानाविभवरूपिणी॥२०॥
इमां सप्तपदां ज्ञानभूमिमाकर्णयानघ। नानया ज्ञातया भूयो मोहपङ्के निमज्जति॥ २१॥

हे ब्रह्मन्! मैंने तुम्हारे प्रति अज्ञानजनित मोह की सात भूमिकाओं को बतलाया। इसमें से प्रत्येक भूमिका विभिन्न ऐश्वर्ययुक्त, विभिन्न अवस्थाओं के रूप में विविध रूप धारण करने वाली है। हे निष्पाप पुत्र! अब मैं तुम्हें ज्ञान की जो सात भूमिकायें हैं, उन्हें सुनाता हूँ, जिन्हें जान लेने पर मनुष्य मोहपङ्क में नहीं फँसता॥ २०-२१॥

वदन्ति बहुभेदेन वादिनो योगभूमिकाः। मम त्वभिमता नूनमिमा एव शुभप्रदाः॥ २२॥
अवबोधं विदुर्ज्ञानं तदिदं साप्तभूमिकम्। मुक्तिस्तु ज्ञेयमित्युक्ता भूमिकासप्तकात्परम्॥ २३॥

ज्ञानीजनों ने योग भूमिकाओं के बहुविध भेद बतलाये हैं, परन्तु मैं तो इन सात भूमिकाओं को ही विशेष लाभप्रद मानता हूँ। इस प्रकार इन सात भूमिकाओं द्वारा उत्पन्न होने वाला अवबोध ही 'ज्ञान' कहलाता है। इन सात भूमिकाओं के अन्तर्गत होने वाली मुक्ति 'ज्ञेय' कही जाती है॥ २२-२३॥

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता। विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसी॥ २४॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका। पदार्थभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥ २५॥
आसामन्तःस्थिता मुक्तिर्यस्यां भूयो न शोचति। एतासां भूमिकानां त्वमिदं निर्वचनं शृणु॥२६॥

पहली ज्ञान भूमिका को 'शुभेच्छा' नाम दिया गया है। दूसरी 'विचारणा', तीसरी 'तनुमानसी', चौथी 'सत्त्वापत्ति', पाँचवीं 'असंसक्ति', छठवीं 'पदार्थभावना' तथा सातवीं 'तुर्यगा' है। इन भूमिकाओं में पुनः शोकाकुल न होने देने वाली मुक्ति निहित है। अब तुम इन भूमिकाओं का विस्तार सुनो॥ २४-२६॥

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्षेऽहं शास्त्रसज्जनैः। वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः॥२७॥
शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्। सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥ २८॥

मैं भ्रमितमति क्यों हूँ? शास्त्र तथा श्रेष्ठ जनों से मैं इस सम्बन्ध में चर्चा करूँगा-इस प्रकार से वैराग्य धारण करने से पूर्व जो अभिलाषा जागती है, उसे ज्ञानियों ने 'शुभेच्छा' नाम दिया है। इसके बाद शास्त्र तथा श्रेष्ठ जनों के सान्निध्य लाभ से अध्ययन आदि के द्वारा अभ्यास एवं वैराग्य भावना से सदाचार की प्रवृत्तियों का प्राकट्य होता है, उसे ही 'विचारणा' नाम दिया है॥ २७-२८॥

विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेषु रक्तता। यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसी॥ २९॥
भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्ते तु विरतेर्वशात्। सत्त्वात्मनि स्थिते शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता॥ ३०॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

शुभेच्छा और विचारणा द्वारा इन्द्रिय-विषयों के प्रति आसक्ति जब क्षीण हो जाती है, ऐसी अवस्था को 'तनुमानसी' कहा गया है। इन तीन भूमिकाओं के अभ्यास द्वारा वैराग्य भाव के प्राबल्य से जब चित्त निर्मल सत्त्वरूप में स्थित होता है, इसी अवस्था को 'सत्त्वापत्ति' कहते हैं॥ २९-३०॥

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गकला तु या। रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका॥ ३१॥
भूमिकापञ्चकाभ्यासात्स्वात्मारामतया दृढम्। आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात्॥३२॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनावबोधनम्। पदार्थभावना नाम षष्ठी भवति भूमिका॥ ३३॥

इन सभी भूमिकाओं का अभ्यास हो जाने पर चमकने वाली संसर्गहीन कला सत्त्वारूढ़ होती है,वही 'असंसक्ति'कहलाती है। इन पाँचों भूमिकाओं के अभ्यास के फलस्वरूप अपनी चेतना में ही रमते रहने तथा बाह्याभ्यन्तर पदार्थों की भावना के नष्ट होने पर' पदार्थ भावना 'नामक छठी भूमिका में पदार्पण होता है॥३१-३३

भूमिषट्कचिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलम्भनात्। यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः॥ ३४॥
एषा हि जीवन्मुक्तेषु तुर्यावस्थेति विद्यते। विदेहमुक्तिविषयं तुर्यातीतमतः परम्॥ ३५॥

इन छः भूमियों के परिपक्व हो जाने पर भेद-बुद्धि का क्षय हो जाता है और आत्म-भाव में ही साधक की दृढ़निष्ठा हो जाती है, यही 'तुर्यगा' अवस्था कही गयी है। इस तुर्यावस्था को जीवन्मुक्त पुरुष ही उपलब्ध कर पाते हैं। इसके बाद तुर्यातीत अवस्था है, जो विदेह मुक्ति का विषय है॥ ३४-३५॥

ये निदाघ महाभागाः सप्तमीं भूमिमाश्रिताः। आत्मारामा महात्मानस्ते महत्पदमागताः॥ ३६॥
जीवन्मुक्ता न मज्जन्ति सुखदुःखरसस्थिते। प्रकृतेनाथ कार्येण किंचित्कुर्वन्ति वा न वा॥३७॥

हे निष्पाप! जो अति भाग्यवान् पुरुष सप्तमी तुर्यगावस्था को प्राप्त कर लेते हैं, वे आत्मा में रमणशील महात्मा महत्पद (परमपद) को ग्रहण कर चुके हैं। ऐसी जीवन्मुक्त आत्मायें सुख-दुःख के अनुभवों से सर्वथा निर्लिप्त रहती हैं। वे कर्तव्य कर्मों में संलग्न रहकर भी उनसे लिप्त नहीं होतीं॥ ३६-३७॥

पार्श्वस्थबोधिताः सन्तः पूर्वाचारक्रमागतम्। आचारमाचरन्त्येव सुप्तबुद्धवदुत्थिताः॥ ३८॥
भूमिकासप्तकं चैतद्धीमतामेव गोचरम्। प्राप्य ज्ञानदशामेतां पशुम्लेच्छादयोऽपि ये॥ ३९॥
सदेहा वाप्यदेहा वा ते मुक्ता नात्र संशयः। ज्ञप्तिर्हि ग्रन्थिविच्छेदस्तस्मिन्सति विमुक्तता॥ ४०॥

अपने निकटस्थ परिजनों के सचेत किये जाने पर जैसे मनुष्य सोते से जाग पड़ता है,वैसे ही वे ज्ञानीजन सत्कर्मों में संलग्न रहकर सनातन आचरण की परम्परा निभाते हैं। इन सात भूमिकाओं को यदि पशु और म्लेच्छ आदि भी जान लें,तो वे भी देह रहते या देहत्याग के पश्चात् मुक्ति के अधिकारी हो जाते हैं,इसमें सन्देह की गुंजायश नहीं। हृदय-ग्रन्थियों का खुल जाना ही ज्ञान है और ज्ञान प्राप्ति हो जाने पर मुक्ति सुनिश्चित है॥३८-४०

मृगतृष्णाम्बुबुद्ध्यादिशान्तिमात्रात्मकस्त्वसौ। ये तु मोहार्णवात्तीर्णास्तैः प्राप्तं परमं पदम्॥४१॥
ते स्थिता भूमिकास्वासु स्वात्मलाभपरायणाः। मनः प्रशमनोपायो योग इत्यभिधीयते॥४२॥

जैसे मृग-तृष्णा में जल की भ्रान्ति होती है, इसे ही अविद्या कहा गया है, अविद्या का नाश ही मुक्ति है। परमपद के अधिकारी वही हैं, जो मोहरूपी सागर से पार हो चुके हैं। आत्मसाक्षात्कार के प्रयत्नों में संलग्न पुरुष ही इन भूमिकाओं में प्रतिष्ठित होते हैं। मन की पूर्णतया शान्ति के साधन को योग कहा गया है॥ ४१-४२॥

सप्तभूमिः स विज्ञेयः कथितास्ताश्च भूमिकाः। एतासां भूमिकानां तु गम्यं ब्रह्माभिधं पदम्॥४३॥
त्वत्ताऽहन्तात्मता यत्र परता नास्ति काचन। न क्वचिद्भावकलना न भावाभावगोचरा॥ ४४॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सर्वं शान्तं निरालम्बं व्योमस्थं शाश्वतं शिवम्। अनामयमनाभासमनामकमकारणम्॥ ४५॥
न सन्नासन्न मध्यं तं न सर्वं सर्वमेव च। मनोवचोभिरग्राह्यं पूर्णात्पूर्णं सुखात्सुखम्॥ ४६॥
असंवेदनमाशान्तमात्मवेदनमाततम् । सत्ता सर्वपदार्थानां नान्या संवेदनादृते॥ ४७॥

योग की इन सात भूमिकाओं को ज्ञानभूमि के अन्तर्गत ऊपर बतलाया जा चुका है। इन भूमिकाओं का लक्ष्य है—ब्रह्मपद की प्राप्ति। जहाँ तेरा-मेरा और अपने-परायेपन का संकीर्ण भाव मिट जाता है, उस समय न तो भावात्मक बुद्धि अवशेष रहती है और न ही भाव-अभाव का चिन्तन हो पाता है; क्योंकि जागतिक वस्तुओं की सत्ता आत्मसंवेदन मात्र है, इससे अतिरिक्त कुछ नहीं। सर्वथा शान्त, आलम्बन रहित, आकाशस्वरूप, शाश्वत, शिव, दोषरहित, भासमान रहित, अनिर्वचनीय, कारणरहित, न सत्, न असत्, न मध्य, सम्पूर्णतारहित और सम्पूर्ण भी, मन-वाणी से अग्राह्य, पूर्ण से पूर्ण, सुख से सुखतरस्वरूप, संवेदन की पहुँच से परे, पूर्ण शान्त, आत्मानुभूतिरूप तथा व्यापकता यह ब्रह्म का स्वरूप है। सभी पदार्थों की सत्ता के अतिरिक्त यह चैतन्य भिन्न नहीं है और इसकी प्राप्ति का आधार एक मात्र सम्यक् अनुभूति है॥ ४३-४७॥

संबन्धे द्रष्टृदृश्यानां मध्ये दृष्टिर्हि यद्वपुः । द्रष्टृदर्शनदृश्यादिवर्जितं तदिदं पदम्॥ ४८॥
देशाद्देशं गते चित्ते मध्ये यच्चेतसो वपुः। अजाड्यसंविन्मननं तन्मयो भव सर्वदा॥ ४९॥
अजाग्रत्स्वप्ननिद्रस्य यत्ते रूपं सनातनम्। अचेतनं चाजडं च तन्मयो भव सर्वदा ॥ ५०॥
जडतां वर्जयित्वैकां शिलाया हृदयं हि तत्। अमनस्कस्वरूपं यत्तन्मयो भव सर्वदा। चित्तं दूरे परित्यज्य योऽसि सोऽसि स्थिरो भव॥ ५१॥ पूर्वं मनः समुदितं परमात्मतत्त्वात्तेनाततं जगदिदं सविकल्पजालम्। शून्येन शून्यमपि विप्र यथाम्बरेण नीलत्वमुल्लसति चारुतराभिधानम्॥ ५२॥

द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध हो जाने पर मध्य में दृष्टि का जो स्वरूप परिलक्षित होता है, वह द्रष्टा, दृश्य और दर्शन से भिन्न साक्षात्काररूप स्थिति ही है। चित्त के एक देश से दूसरे में प्रवेश करने के मध्य जो अवस्था होती है, उस जड़तारहित चेतनरूप चिन्तन में निरन्तर तन्मय रहना चाहिए। जाग्रत्-स्वप्न और सुषुप्ति से परे जड़-चेतन विहीन जो सनातनरूप है, उसी में हमेशा स्थित रहो। जड़ता ही हृदय की पाषाणवत् स्थिति है, उसका परित्याग करने पर जो अमनस्क अवस्था है, उसी में सदैव लीन रहो। चित्त को दूर से ही त्यागकर जिस अवस्था में हो, उसी में स्थिर रहो। परमात्म तत्त्व से सर्वप्रथम मन की उत्पत्ति हुई, पश्चात् उसी मन से विकल्पजालरूप यह संसार उत्पन्न हुआ। हे विप्र! शून्य से भी शून्य की उत्पत्ति होती है, जैसे- आकाश शून्य है, परन्तु इसी से मनोहर दिखलाई पड़ने वाली नीलिमा प्रकट होती है॥ ४८-५२॥

संकल्पसंक्षयवशाद्गलिते तु चित्ते संसारमोहमिहिका गलिता भवन्ति।
स्वच्छं विभाति शरदीव खमागतायां चिन्मात्रमेकमजमाद्यमनन्तमन्तः॥ ५३॥

संकल्प के विनष्ट हो जाने पर चित्तवृत्तियाँ गल जाती हैं और इसी के साथ संसार का मोहरूपी कुहरा भी छँट जाता है। ऐसे में शरद्ऋतु के आगमन पर स्वच्छ आसमान की तरह वह अजन्मा, आद्य, अनन्त, एक, चिन्मात्ररूप ब्रह्म ही अन्तिम रूप से सुशोभित होता है॥ ५३॥

अकर्तृकमरङ्गं च गगने चित्रमुत्थितम् । अद्रष्टृकं स्वानुभवमनिद्रस्वप्नदर्शनम् ॥ ५४॥
साक्षिभूते समे स्वच्छे निर्विकल्पे चिदात्मनि। निरिच्छं प्रतिबिम्बन्ति जगन्ति मुकुरे यथा॥५५॥

बिना कर्त्ता और रङ्ग के आकाश चित्रित सा प्रतीत होता है। बिना द्रष्टा के स्वयं अनुभूत निद्राहीन स्वप्न दिखलाई देता है। यह चिदात्मा साक्षिरूप, सम (सबके प्रति समान रहने वाला), स्वच्छ, निर्विकल्प तथा दर्पणवत् है, उसमें बिना किसी आकांक्षा के तीनों लोक प्रतिबिम्बित हो रहे हैं॥ ५४-५५॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

एकं ब्रह्म चिदाकाशं सर्वात्मकमखण्डितम्। इति भावय यत्नेन चेतश्चाञ्चल्यशान्तये॥ ५६॥
रेखोपरेखावलिता यथैका पीवरी शिला। तथा त्रैलोक्यवलितं ब्रह्मैकमिह दृश्यताम्॥ ५७॥

सर्वस्वरूप, चिदाकाशरूप और अखण्डित ब्रह्म एक है, चित्त की चपलता शान्त करने के लिए प्रयत्नपूर्वक ऐसी भावना करनी चाहिए। तीनों लोकों से युक्त ब्रह्म के दर्शन उसी प्रकार करने चाहिए, जैसे एक मोटी पत्थरशिला पर रेखायें-उपरेखाएँ खिंची होती हैं॥ ५६-५७॥

द्वितीयकारणाभावादनुत्पन्नमिदं जगत्। ज्ञातं ज्ञातव्यमधुना दृष्टं द्रष्टव्यमद्भुतम्॥ ५८॥
विश्रान्तोऽस्मि चिरं श्रान्तश्चिन्मात्रान्नास्ति किंचन। पश्य विश्रान्तसंदेहं विगताशेषकौतुकम्॥५९

ब्रह्म से भिन्न किसी अन्य कारण के न होने पर इस जगत् की उत्पत्ति नहीं हुई (खरगोश के सींग की तरह यह त्रिकालबाधित है)। इस प्रकार मैंने (ऋभु का आत्मकथन) जो ज्ञातव्य था, उसे जान लिया, जो विलक्षणता देखनी थी, उसे देख लिया और चिरकाल से थका मैं अब विश्रान्ति को प्राप्त हो चुका हूँ। (हे निदाघ!) इस सम्पूर्ण जागतिक माया से विमुक्त होकर तथा संशयविहीन होकर तुम चिन्मात्र के दर्शन करो। चिन्मात्र के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, ऐसा समझो॥ ५८-५९॥

निरस्तकल्पनाजालमचित्तत्वं परं पदम्। त एव भूमतां प्राप्ताः संशान्ताशेषकिल्बिषाः॥ ६०॥
महाधियः शान्तधियो ये याता विमनस्कताम्। जन्तोः कृतविचारस्य विगलद्वृत्तिचेतसः॥ ६१॥
मननं त्यजतो नित्यं किंचित्परिणतं मनः। दृश्यं संत्यजतो हेयमुपादेयमुपेयुषः॥ ६२॥
द्रष्टारं पश्यतो नित्यमद्रष्टारमपश्यतः। विज्ञातव्ये परे तत्त्वे जागरूकस्य जीवतः॥ ६३॥
सुप्तस्य घनसंमोहमये संसारवर्त्मनि। अत्यन्तपक्कवैराग्यादरसेषु रसेष्वपि॥ ६४॥
संसारवासनाजाले खगजाल इवाधुना। त्रोटिते हृदयग्रन्थौ शूथे वैराग्यरंहसा॥ ६५॥
कातकं फलमासाद्य यथा वारि प्रसीदति। तथा विज्ञानवशतः स्वभावः संप्रसीदति॥ ६६॥

जिन्होंने संकल्प-बन्धन को काट दिया है, जो चित्तत्वरहित महान् पद पा चुके हैं, ऐसे ही साधक निष्पाप होकर ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। मन को वश में करके जो विमनस्क हो गये हैं, शान्तचित्तता उनकी प्रखर मेधा की परिचायिका है। वेदान्त के विषय में चिन्तनशील मनुष्य, जिनकी चित्तवृत्तियों का क्षय हो चुका है और मानसिक संकल्पों के त्याग में अभ्यस्त होने से जिनका मन सुस्थिर हो चुका है। जो मुमुक्षु पुरुष हेय और उपादेय दोनों तरह के दृश्यों का परित्याग कर रहे हैं, जो नित्य द्रष्टा अर्थात् आत्मज्ञान के साक्षात्कार में संलग्न तथा अद्रष्टा अर्थात् प्रपञ्च को न देखने वाले हैं, जो ज्ञातव्य परमतत्त्व में विशेषरूप से जागरूक रहकर जीवन-यापन करते हैं, जो रसयुक्त तथा रसहीन इन सभी पदार्थों के प्रति अति सुस्थिर वैराग्य भाव से सघन मोहात्मक संसार पथ में सोये हुए हैं। वैराग्य की प्रबल भावना से चूहे द्वारा काटे गये पक्षी के पाश की तरह जिनकी सांसारिक वासना-तृष्णा का पाश कट चुका है और हृदय की ग्रन्थियाँ ढीली पड़ गई हैं, ऐसे साधकों का स्वभाव विशिष्ट ज्ञान से उसी प्रकार परिष्कृत-निर्मल हो जाता है, जिस प्रकार कातक (निर्मली) फल से जल निर्मल हो जाता है॥ ६०-६६॥

नीरागं निरुपासङ्गं निर्द्वन्द्वं निरुपाश्रयम्। विनिर्याति मनो मोहाद्विहङ्गः पञ्जरादिव॥ ६७॥
शान्तसंदेहदौरात्म्यं गतकौतुकविभ्रमम्। परिपूर्णान्तरं चेतः पूर्णेन्दुरिव राजते॥ ६८॥

मन के रागरहित, अनासक्त, द्वन्द्व से रहित तथा निरालम्ब हो जाने पर पिंजड़े से मुक्त हुए पक्षी की तरह ही मोह-बन्धन से मन की मुक्ति हो जाती है। संशयरूप दुरात्मभावना जिनकी शान्त हो चुकी है, जो प्रपञ्च कौतुक से विमुक्त हैं, उनका चित्त पूर्णमासी के चन्द्र के समान विशेष शोभा पाता है॥ ६७-६८॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

नाहं न चान्यदस्तीह ब्रह्मैवास्मि निरामयम्। इत्थं सदसतोर्मध्याद्यः पश्यति स पश्यति॥ ६९॥
अयत्नोपनतेष्वक्षिदृग्दृश्येषु यथा मनः। नीरागमेव पतति तद्वत्कार्येषु धीरधीः॥ ७०॥
परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये। विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम्॥ ७१॥

न मैं स्वयं और न अन्य कुछ ही यहाँ है, मैं तो सभी दोषों से रहित मात्र ब्रह्म हूँ, जिसकी दृष्टि सत्-असत् के मध्य इस प्रकार की है, वही वास्तव में ब्रह्म साक्षात्कार करने वाला है। जिस प्रकार दर्शनीय दृश्यों की तरफ मन स्वाभाविक रूप से बिना आसक्ति के ही खिंच जाता है, उसी प्रकार धीरमति पुरुष कर्त्तव्य कर्मों के निर्वाह में संलग्न रहते हैं। भली प्रकार सोच-समझकर भोगा गया भोग उसी तरह संतुष्टि का निमित्त बनता है, जिस तरह जान-बूझकर सेवा में संलग्न चोर चौर्यकार्य को छोड़कर मित्रता ही निभाता है॥ ६९-७१॥

अशङ्कितापि संप्राप्ता ग्रामयात्रा यथाऽध्वगैः। प्रेक्ष्यते तद्वदेव ज्ञैर्भोगश्रीरवलोक्यते॥ ७२॥
मनसो निगृहीतस्य लीलाभोगोऽल्पकोऽपि यः। तमेवालब्धविस्तारं क्लिष्टत्वाद्बहु मन्यते॥७३॥
बद्धमुक्तो महीपालो ग्रासमात्रेण तुष्यति। परैरबद्धो नाक्रान्तो न राष्ट्रं बहु मन्यते॥ ७४॥

जिस ग्राम में जाने का मन में कभी विचार भी नहीं था,ऐसे ग्राम में अचानक आ जाने पर यात्री जिस आश्चर्य भरी दृष्टि से उसे देखता है,उसी दृष्टि से ज्ञानीपुरुष भोग-ऐश्वर्यों पर दृष्टिपात करता है। बिना श्रम से उपलब्ध हुई स्वल्पमात्र भोग सामग्री को नियन्त्रित मन वाला साधक बहुत अधिक समझते हुए कष्टदायी मानकर त्याग देता है। शत्रु के बन्धन से मुक्त होने पर जो राजा-भोजन के एक ग्रास से सन्तुष्ट हो जाता है,वही राजा शत्रु द्वारा आक्रान्त और आबद्ध न किये जाने पर राज्य के विशाल वैभव को भी तुच्छ ही मानता है॥ ७२-७४॥

हस्तं हस्तेन संपीड्य दन्तैर्दन्तान्विचूर्ण्य च। अङ्गान्यङ्गैरिवाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः॥ ७५॥
मनसो विजयान्नान्या गतिरस्ति भवार्णवे। महानरकसाम्राज्ये मत्तदुष्कृतवारणाः। आशाशरशला-काढ्या दुर्जया हीन्द्रियारयः॥ ७६॥

हाथ से हाथ को मलकर, दाँत से दाँत को पीसकर तथा अङ्गों से अङ्गों को दबाकर अर्थात् स्वकीय सम्पूर्ण पराक्रम और साहस द्वारा मन को जीतने का प्रयास करे। इस संसार सागर में मन पर विजय पाने से बढ़कर अन्य उपाय नहीं है। इस भयंकर नरक रूपी साम्राज्य में दुष्कृत रूपी मतवाले हाथी भ्रमण करते हैं। आशारूपी बाणों और कटारों से सुसज्जित इन्द्रियरूपी वैरियों को जीतना अत्यन्त मुश्किल है॥ ७५-७६॥

प्रक्षीणचित्तदर्पस्य निगृहीतेन्द्रियद्विषः। पद्मिन्य इव हेमन्ते क्षीयन्ते भोगवासनाः॥ ७७॥
तावन्निशीव वेताला वसन्ति हृदि वासनाः। एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः॥ ७८॥
भृत्योऽभिमतकर्तृत्वान्मन्त्री सर्वार्थकारणात्। सामन्तश्चेन्द्रियाक्रान्तेर्मनो मन्ये विवेकिनः॥ ७९॥

जो इन्द्रियरूपी वैरियों को अपने वशीभूत कर चुके हैं तथा जिन्होंने चित्त के अहंभाव को विनष्ट कर दिया है, उनकी भोग लिप्साएँ उसी प्रकार समाप्त हो जाती हैं, जैसे हेमन्त ऋतु में कमल का पौधा सूख जाता है। एकत्व के दृढ़ अभ्यास द्वारा जब तक मन को नियन्त्रित नहीं कर लिया जाता, तब तक ही रात्रि में बेताल की तरह हृदय में वासना टिकी हुई रहती है। विवेकशील व्यक्ति अपने मन को अभीष्ट सिद्धि के लिए सेवक के समान सभी प्रयोजनों की पूर्ति के लिए मन्त्रीरूप तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों को स्वनियन्त्रित करने के लिए सामन्तरूप बना लेते हैं, ऐसा मेरा विचार है॥ ७७-७९॥

लालनात्स्निग्धलालना पालनात्पालकः पिता। सुहृदुत्तमविन्यासान्मनो मन्ये मनीषिणः॥ ८०॥
स्वालोकतः शास्त्रदृशा स्वबुद्ध्या स्वानुभावतः। प्रयच्छति परां सिद्धिं त्यक्त्वात्मानं मनःपिता॥
सुहृष्टः सुदृढः स्वच्छः सुक्रान्तः सुप्रबोधितः। स्वगुणेनोर्जितो भाति हृदि हृद्यो मनोमणिः॥८२॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

एनं मनोमणिं ब्रह्मन्बहुपङ्ककलङ्कितम्। विवेकवारिणा सिद्ध्यै प्रक्षाल्यालोकवान्भव॥ ८३॥

मेरे विचार से मनीषी का मन लालन करने के फलस्वरूप स्नेहमयी ललना-स्वरूप और पालन करने से पितृतुल्य है। शास्त्रानुकूल आचरण से, स्वयं के एकत्रित अनुभवजन्य ज्ञान प्रकाश से तथा विवेक बुद्धि से मनरूपी पिता परमसिद्धि का मार्ग प्रशस्त करता है। अति हृष्ट-पुष्ट, सुदृढ़, निर्मल, स्ववशीभूत, भली प्रकार चैतन्य तथा आत्मिक सद्गुणों से प्रखर-तेजस्विता युक्त सुन्दर मनरूपी मणि हृदय में विराजमान है। हे ब्रह्मन्! बहुविध वासना-तृष्णा के कीचड़ से सने इस मनरूपी मणि को विवेक रूपी जल से निर्मल करके साधन-सिद्धि के लिए चमकदार (परिष्कृत) बनायें॥ ८०-८३॥

विवेकं परमाश्रित्य बुद्ध्या सत्यमवेक्ष्य च। इन्द्रियारीनलं छित्त्वा तीर्णो भव भवार्णवात्॥८४॥

सद्विवेक का अवलम्बन लेकर, बुद्धि से यथार्थ सत्य का अनुसन्धान करके इन्द्रियरूपी वैरियों को तुम छिन्न-भिन्न कर पाओगे, इसी से संसार रूपी भवसागर से तुम पार उतरने में सक्षम हो सकोगे॥ ८४॥

आस्थामात्रमनन्तानां दुःखानामाकरं विदुः। अनास्थामात्रमभितः सुखानामालयं विदुः॥ ८५॥
वासनातन्तुबद्धोऽयं लोको विपरिवर्तते। सा प्रसिद्धातिदुःखाय सुखायोच्छेदमागता॥ ८६॥
धीरोऽप्यतिबहुज्ञोऽपि कुलजोऽपि महानपि। तृष्णया बध्यते जन्तुः सिंहः शृङ्खलया यथा॥८७॥
परमं पौरुषं यत्नमास्थायादाय सूद्यमम्। यथाशास्त्रमनुद्वेगमाचरन्को न सिद्धिभाक्॥ ८८॥

संसार में मात्र आस्था (आशा) ही अनेक कष्टों की उत्पत्ति का कारण है और अनास्था (आशा-अपेक्षारहित जीवन) ही सुख का घर समझना चाहिए। वासनाओं के सूत्र से बँधा हुआ यह संसार पुनः-पुनः उत्पन्न होता है। वह प्रख्यात वासना अति कष्टदायिनी बनकर समस्त सुखों का पूरी तरह से उच्छेदन करने के लिए आती है। जंजीर से सिंह के बाँधने के समान वासना के मोहपाश में धीर, कुलीन, अति बहुश्रुत तथा महान् व्यक्ति भी बँध जाते हैं। शास्त्रानुकूल आचरण करता हुआ, परम पुरुषार्थ का अवलम्बन लेकर और श्रेष्ठ उद्यम करते हुए कौन सिद्धि को प्राप्त नहीं करता?॥ ८५-८८॥

अहं सर्वमिदं विश्वं परमात्माहमच्युतः। नान्यदस्तीति संवित्त्या परमा सा ह्यहंकृतिः॥ ८९॥
सर्वस्माद्व्यतिरिक्तोऽहं वालाग्रादप्यहं तनुः। इति या संविदो ब्रह्मन्द्वितीयाहंकृतिः शुभा॥ ९०॥
मोक्षायैषा न बन्धाय जीवन्मुक्तस्य विद्यते॥ ९१॥

मैं समस्त विश्वरूप हूँ, मैं अच्युत परमात्मस्वरूप हूँ, मेरे अतिरिक्त शेष कुछ भी नहीं-इस तरह के बोधात्मक अहंभाव को उत्तम माना गया है। 'मैं सभी प्रपञ्च से भिन्न हूँ,' मैं बाल के अग्रभाग से कहीं अधिक सूक्ष्म हूँ-इस प्रकार का दूसरा अहं भाव मोक्ष को देने वाला है, बन्धन में फँसाने वाला नहीं। जीवन्मुक्त आत्मायें ही ऐसे अहंभाव से युक्त होती हैं॥ ८९-९१॥

पाणिपादादिमात्रोऽयमहमित्येष निश्चयः। अहंकारस्तृतीयोऽसौ लौकिकस्तुच्छ एव सः॥ ९२॥
जीव एव दुरात्मासौ कन्दः संसारदुस्तरोः। अनेनाभिहतो जन्तुरधोऽधः परिधावति॥ ९३॥
अनया दुरहंकृत्या भावात्संत्यक्तयाचिरम्। शिष्टाहंकारवाञ्जन्तुः शमवान्याति मुक्तताम्॥ ९४॥

मैं हाथ-पैर वाला मात्र स्थूल शरीरधारी हूँ- इस प्रकार की मान्यता जो तीसरे लौकिक अहंकार में होती है, उसे अत्यन्त निकृष्ट कहा गया है। अहंकार से युक्त दुरात्मा प्राणी ही कष्टमय संसार रूपी वृक्ष का मूल कारण है। इससे प्रताड़ित प्राणी निरन्तर पतन की ओर बढ़ता है। इस तृतीय दुःखमय अहंभाव का परित्याग करके लम्बे समय से शुभ अहंभाव में संलग्न प्राणी शान्तचित्त होकर मुक्ति प्राप्त करते हैं॥ ९२-९४॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

प्रथमौ द्वावहंकारावङ्गीकृत्य त्वलौकिकौ। तृतीयाहंकृतिस्त्याज्या लौकिकी दुःखदायिनी ॥९५॥
अथ ते अपि संत्यज्य सर्वाहंकृतिवर्जितः। स तिष्ठति तथात्युच्चैः परमेवाधिरोहति॥ ९६॥

प्रारम्भिक दो अलौकिक अहंकारों को स्वीकार करके तीसरे दुःखप्रद लौकिक अहंकार को त्याग दे। साधन शक्ति की वृद्धि पर इन सब प्रकार के अहंकारों को त्यागकर निरहंकारिता ग्रहण करे, उसी से उत्तमपद की प्राप्ति सम्भव है॥ ९५-९६॥

भोगेच्छामात्रको बन्धस्तत्त्यागो मोक्ष उच्यते। मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः। ज्ञमनो नाशमभ्येति मनोऽज्ञस्य हि शृङ्खला॥ ९७॥ नानन्दं न निरानन्दं न चलं नाचलं स्थिरम्। न सन्नासन्न चैतेषां मध्यं ज्ञानिमनो विदुः॥ ९८॥ यथा सौक्ष्म्याच्चिदाभास्य आकाशो नोपलक्ष्यते। तथा निरंशश्चिद्भावः सर्वगोऽपि न लक्ष्यते॥ ९९॥

भोगेच्छा ही बन्धन कही गयी है और उसका परित्याग ही मोक्ष कहलाता है। मन की प्रगति का कारण उसका नष्ट होना है। मन का नाश सौभाग्यवान् पुरुषों की पहचान है। ज्ञानी पुरुषों के मन का नाश हो जाता है। अज्ञानी के लिए मन बन्धन का कारण है। ज्ञानी पुरुषों के लिए मन न तो आनन्द रूप है और न ही आनन्दरहित है। उनके लिए वह चल, अचल, स्थिर, सत्, असत् भी नहीं है अथवा इसके मध्य की स्थिति वाला भी नहीं है। अखण्ड चेतनसत्ता सर्वव्यापक होते हुए भी उसी प्रकार दृष्टिगोचर नहीं होती, जिस प्रकार चित्त में आलोकित होने वाला आकाश सूक्ष्मता के कारण दिखाई नहीं देता॥ ९७-९९॥

सर्वसंकल्परहिता सर्वसंज्ञाविवर्जिता। सैषा चिदविनाशात्मा स्वात्मेत्यादिकृताभिधा॥ १००॥
आकाशशतभागाच्छा ज्ञेषु निष्कलरूपिणी। सकलामलसंसारस्वरूपैकात्मदर्शिनी॥ १०१॥
नास्तमेति न चोदेति नोत्तिष्ठति न तिष्ठति। न च याति न चायाति न च नेह न चेह चित्॥ १०२

सभी संज्ञाओं से रहित और संकल्पों से रहित यह चिदात्मा अविनाशी तथा स्वात्मा आदि नामों से जाना जाता है। वह समस्त निर्मल संसार के रूप में एकमात्र स्वयं को ही दर्शाता है। ज्ञानियों की दृष्टि में वह आकाश से भी सौ गुना स्वच्छ, निर्मल तथा निष्कलरूप है। वह चेतनसत्ता न तो कभी उदय होती है और न ही अस्त होती है, वह गमन-आगमन से रहित, न उठती और न स्थिर बैठी ही रहती है। वह न तो यहाँ और न ही वहाँ ही है॥ १००-१०२॥

सैषा चिदमलाकारा निर्विकल्पा निरास्पदा॥ १०३॥ आदौ शमदमप्रायैर्गुणैः शिष्यं विशोधयेत्। पश्चात्सर्वमिदं ब्रह्म शुद्धस्त्वमिति बोधयेत्॥ १०४॥ अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्। महानरकजालेषु स तेन विनियोजितः॥ १०५॥

वह चिदात्मा आश्रयहीन, विकल्परहित और शुद्धस्वरूप है। प्रारम्भ में शम-दम आदि गुणों द्वारा शिष्य के अन्तः का परिष्कार करना गुरु के लिए आवश्यक है, तत्पश्चात् उसे बोधस्वरूप यह ब्रह्मज्ञान प्रदान करे-यह सभी कुछ ब्रह्मरूप है और तुम निर्मल ब्रह्मरूप हो। अपरिपक्व बुद्धिवाले और अज्ञानी के समक्ष सब कुछ ब्रह्ममय है, ऐसा कहना उसे मानो घोर नरक में धकेलने की तरह है॥ १०३-१०५॥

[ऋषि कहते हैं कि प्रारम्भ में शिष्य-साधक को अभेद का उपदेश नहीं करना चाहिए। इसे पहले वाञ्छित-अवांञ्छित का भेद बताकर शम-दम आदि द्वारा चित्त शुद्धि करानी चाहिए। जब तक चित्त शुद्ध नहीं हो जाता, तब तक अभेद समझाने के प्रयास में वह अवाञ्छित का त्याग नहीं कर पाता। आज के उपदेशक ऐसी भूल करके साधक को कुपथ्य दे बैठते हैं।]

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

प्रबुद्धबुद्धेः प्रक्षीणभोगेच्छस्य निराशिषः। नास्त्यविद्यामलमिति प्राज्ञस्तूपदिशेद्गुरुः॥ १०६॥
सति दीप इवालोकः सत्यर्क इव वासरः। सति पुष्प इवामोदश्चिति सत्यं जगत्तथा॥ १०७॥

जिसकी भोग कामनाएँ क्षीण हो चुकी हैं, आकांक्षाएँ समाप्तप्राय हैं तथा बुद्धि जागरूक है, उसी को वेदान्त का उपदेश प्राज्ञ गुरु प्रदान करे। अविद्यारूपी विकार का कोई अस्तित्व नहीं। जैसे सूर्योदय होने पर दिवस, दीपक से प्रकाश तथा पुष्प से सुगन्धि की स्थिति का होना निश्चित है, वैसे ही चैतन्य पर संसार विद्यमान है॥ १०६-१०७॥

प्रतिभासत एवेदं न जगत्परमार्थतः। ज्ञानदृष्टौ प्रसन्नायां प्रबोधविततोदये॥ १०८॥
यथावज्ज्ञास्यसि स्वस्थो मद्वाग्वृष्टिबलाबलम्। अविद्ययैवोत्तमया स्वार्थनाशोद्यमार्थया॥ १०९॥
विद्या संप्राप्यते ब्रह्मन्सर्वदोषापहारिणी। शाम्यति ह्यस्त्रमस्त्रेण मलेन क्षाल्यते मलम्॥ ११०॥
शमं विषं विषेणैति रिपुणा हन्यते रिपुः। ईदृशी भूतमायेयं या स्वनाशेन हर्षदा॥ १११॥

वास्तव में यह संसार अस्तित्व रहित है, यह तो मात्र आभासित होता है। जब तुम्हारी ज्ञान-दृष्टि आवरण शून्य हो जायेगी और ज्ञान के प्रकाश से ओत-प्रोत होगी, ऐसे में तुम स्वयमेव अपने स्वरूप में स्थित हो जाओगे। तभी तुम्हें मेरे उपदेश की सत्यता का भली प्रकार बोध होगा। हे ब्रह्मन्! सब दोषों को दूर करने वाली विद्या की प्राप्ति स्वार्थभावना को विनष्ट करने के लिए प्रयत्नशील अविद्या द्वारा ही सम्भव होती है। अस्त्र द्वारा अस्त्र को निस्तेज किया जाता है और मल द्वारा मल धुलता है। विष द्वारा विष का शमन तथा शत्रु द्वारा शत्रु का हनन होता है। यह भूतमाया भी इसी प्रकार की है, जो अपने क्षय पर स्वयं हर्षित होती है॥ १०८-१११॥

न लक्ष्यते स्वभावोऽस्या वीक्ष्यमाणैव नश्यति। नास्त्येषा परमार्थेनेत्येवं भावनयेद्धया॥ ११२॥
सर्वं ब्रह्मेति यस्यान्तर्भावना सा हि मुक्तिदा। भेददृष्टिरविद्येयं सर्वथा तां विसर्जयेत्॥ ११३॥

आसानी से इसका स्वरूप देखने में नहीं आता, परन्तु दिखाई देते ही यह नाश को प्राप्त होती है। भेद दृष्टि का होना ही अविद्या है, इसका सर्वथा त्याग करना ही कल्याणप्रद है। वस्तुतः माया का अस्तित्व है ही नहीं- सब कुछ ब्रह्ममय है, ऐसी दृढ़ निश्चय से की गई आन्तरिक भावना ही मोक्षप्राप्ति का उपाय है॥ ११२-११३॥

मुने नासाद्यते तद्धि पदमक्षयमुच्यते। कुतो जातेयमिति ते द्विज मास्तु विचारणा॥ ११४॥
इमां कथमहं हन्मीत्येषा तेऽस्तु विचारणा। अस्तं गतायां क्षीणायामस्यां ज्ञास्यसि तत्पदम्॥११५॥
यत एषा यथा चैषा यथा नष्टेत्यखण्डितम्। तदस्या रोगशालाया यत्नं कुरु चिकित्सने॥११६॥

हे मुनिश्रेष्ठ! माया द्वारा जो नहीं पाया जाता, वह अक्षय पद के नाम से जाना जाता है। हे द्विज! इस माया की उत्पत्ति किससे हुई, इसके बारे में तुम्हें विचार नहीं करना चाहिए; अपितु विचार यही रहे कि किस प्रकार इसे नष्ट करूँ? इसके क्षीण होकर विनष्ट हो जाने पर तुम क्षयरहित पद को पा सकोगे। इसके प्रकट होने का लक्षण इसका स्वरूप और इसके नष्ट करने के उपाय पर विचार करते हुए इस रोग के मूलकारण के निदान का प्रयास करना चाहिए॥ ११४-११६॥

यथैषा जन्मदुःखेषु न भूयस्त्वां नियोक्ष्यति। स्वात्मनि स्वपरिस्पन्दैः स्फुरत्यच्छैश्चिदर्णवः॥११७॥
एकात्मकमखण्डं तदित्यन्तर्भाव्यतां दृढम्। किंचित्क्षुभितरूपा सा चिच्छक्तिश्चिन्मयार्णवे॥११८
तन्मयैव स्फुरत्यच्छा तत्रैवोर्मिरिवार्णवे। आत्मन्येवात्मना व्योम्नि यथा सरसि मारुतः॥ ११९॥
तथैवात्मात्मशक्त्यैव स्वात्मन्येवैति लोलताम्। क्षणं स्फुरति सा दैवी सर्वशक्तितया तथा॥१२०॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

जिससे यह तुम्हें आवागमन के जन्मचक्र में बारम्बार न डाले और चित् रूपी समुद्र निर्मल आत्म - स्पन्दन से विभासित हो सके। यह चिदात्मा अविभाजित रूप वाली है, अपने भीतर इस प्रकार का दृढ़निश्चय करना चाहिए। यह चिदात्मा चिन्मय सागर में कुछ क्षोभयुक्त हो रही है। सागर में लहरों की तरह निर्मल चिन्मय लहरें उठ रही हैं। आकाश सरोवर में जिस प्रकार वायु स्वयमेव लहराती है, उसी प्रकार अपनी आत्मा में आत्मबल से आत्मा तरंगित होती है। सर्वशक्तिमान् सत्ता द्वारा इस प्रकार की दैवी स्फुरणा क्षण मात्र के लिए होती है॥ ११७-१२०॥

देशकालक्रियाशक्तिर्न यस्याः संप्रकर्षणे। स्वस्वभावं विदित्वोच्चैरप्यनन्तपदे स्थिता॥ १२१॥

जिस चेतनशक्ति को देश, काल और क्रियाशक्ति चलायमान करने में अक्षम है, वही चेतनशक्ति अपनी स्वाभाविक स्थिति को जानकर उच्च अनन्त पद पर प्रतिष्ठित है॥ १२१॥

रूपं परिमितेनासौ भावयत्यविभाविता। यदैवं भावितं रूपं तया परमकान्तया॥ १२२॥
तदैवैनामनुगता नामसंख्यादिका दृशः। विकल्पकलिताकारं देशकालक्रियास्पदम्॥ १२३॥

यह चेतन शक्ति अज्ञान स्थिति में सीमित सी होकर रूप भावना वाली होती है। उस विलक्षण परमसत्ता में जब रूप की भावना समाविष्ट होती है। उस समय उसके साथ नाम और संख्या आदि उपाधियाँ जुड़ जाती हैं॥ १२२-१२३॥

चितो रूपमिदं ब्रह्मन्क्षेत्रज्ञ इति कथ्यते। वासनाः कल्पयन्सोऽपि यात्यहंकारतां पुनः॥ १२४॥
अहंकारो विनिर्णेता कलङ्की बुद्धिरुच्यते। बुद्धिः संकल्पिताकारा प्रयाति मननास्पदम्॥ १२५॥

हे ब्रह्मन्! चेतनशक्ति का वह रूप जो देश, काल और क्रिया का आश्रयरूप है तथा विकल्परूप को ग्रहण करने वाला है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है। पुनः वही वासनात्मक चिन्तन से अहंकाररूप कहा जाता है। जब अहंकार भी निश्चयात्मक और दोषपूर्ण हो जाता है, तो बुद्धि कहलाता है। बुद्धि भी जब संकल्परूप में परिणत हो जाती है, तो मननशील मन का रूप धारण करती है॥ १२४-१२५॥

मनो घनविकल्पं तु गच्छतीन्द्रियतां शनैः। पाणिपादमयं देहमिन्द्रियाणि विदुर्बुधाः॥ १२६॥

मन के गहरे विकल्प में डूबने पर धीरे-धीरे इन्द्रियस्वरूप की झलक मिलती है। मेधावी पुरुष हस्तपाद युक्त स्थूल शरीर को ही इन्द्रिय मानते हैं॥ १२६॥

एवं जीवो हि संकल्पवासनारज्जुवेष्टितः। दुःखजालपरीतात्मा क्रमादायाति नीचताम्॥ १२७॥
इति शक्तिमयं चेतो घनाहंकारतां गतम्। कोशकारक्रिमिरिव स्वेच्छया याति बन्धनम्॥ १२८॥

संकल्प और वासना की रस्सी से बँधा हुआ जीव दुःख-जाल में फँसकर निरन्तर दुर्गति की ओर बढ़ता है। रेशम बनाने वाले कीड़े की तरह शक्तिमय चित् घनीभूत अहंभाव को प्राप्त करके स्वेच्छा से बन्धन में बँधता है॥ १२७-१२८॥

स्वयं कल्पिततन्मात्राजालाभ्यन्तरवर्ति च। परां विवशतामेति शृङ्खलाबद्धसिंहवत्॥ १२९॥

चित्शक्ति अपने ही द्वारा संकल्पित तन्मात्रा रूपी पाश में जकड़कर जंजीर से बँधे हुए सिंह के समान अत्यन्त लाचार हो जाती है॥ १२९॥

क्वचिन्मनः क्वचिद्बुद्धिः क्वचिज्ज्ञानं क्वचित्क्रिया। क्वचिदेतदहंकारः क्वचिच्चित्तमिति स्मृतम्॥
क्वचित्प्रकृतिरित्युक्तं क्वचिन्मायेति कल्पितम्। क्वचिन्मलमिति प्रोक्तं क्वचित्कर्मेति संस्मृतम्॥
क्वचिद्बन्ध इति ख्यातं क्वचित्पुर्यष्टकं स्मृतम्। प्रोक्तं क्वचिदविद्येति क्वचिदिच्छेति संमतम्॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

इसी आत्मा को कहीं मन, कहीं बुद्धि, कहीं ज्ञान, कहीं क्रिया, कहीं अहंकार और कहीं चित्तरूप में जाना जाता है। यही कहीं प्रकृति और कहीं माया कहलाती है। कहीं बन्धन तो कहीं पुर्यष्टक (सूक्ष्मशरीर) कहा जाता है। इसे कहीं अविद्या और कहीं इच्छा नाम से जाना जाता है॥ १३०-१३२॥

इमं संसारमखिलमाशापाशविधायकम्। दधदन्तःफलैर्हीनं वटधाना वटं यथा॥ १३३॥

यह आशा रूपी जाल का रचयिता सम्पूर्ण विश्व को वैसे ही धारण करता है, जैसे फलरहित वट का बीज वटवृक्ष को धारण करता है॥ १३३॥

चिन्तानलशिखादग्धं कोपाजगरचर्वितम्। कामाब्धिकल्लोलरतं विस्मृतात्मपितामहम्॥ १३४॥

यह मन चिन्तारूपी अग्निज्वाला से दग्ध हुआ, क्रोधरूपी अजगर द्वारा काटा गया और कामरूपी सागर के भँवर में फँसा हुआ है, यह अपने पितामह आत्मा को विस्मृत कर चुका है॥ १३४॥

समुद्धर मनो ब्रह्मन्मातङ्गमिव कर्दमात्। एवं जीवाश्रिता भावा भवभावनयाहिताः॥ १३५॥
ब्रह्मणा कल्पिताकारा लक्षशोऽप्यथ कोटिशः। संख्यातीताः पुरा जाता जायन्तेऽद्यापि चाभितः॥
उत्पत्स्यन्तेऽपि चैवान्ये कणौघा इव निर्झरात्। केचित्प्रथमजन्मानः केचिज्जन्मशताधिकाः॥१३७
केचिच्चासंख्यजन्मानः केचिद्द्वित्रिभवान्तराः। केचित्किन्नरगन्धर्वविद्याधरमहोरगाः॥ १३८॥

हे ब्रह्मन्! कीचड़ (दल-दल) में फँसे हाथी के समान ही इस मन का उद्धार करो। जीव के आश्रित भाव ब्रह्म द्वारा लाखों; करोड़ों तथा असंख्य रूपों में कल्पित होकर पहले भी पैदा हो चुके हैं और आज भी पैदा हो रहे हैं तथा निर्झर से जलबिन्दुओं की उत्पत्ति के समान और भी उत्पन्न होते रहेंगे। कुछ प्रथम बार, कुछ सौ से अधिक बार, कुछ असंख्य बार जन्म धारण कर चुके हैं और किन्हीं के तो दो-तीन ही जन्म हुए हैं। कोई किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर एवं नागरूप में उत्पन्न हैं॥ १३५-१३८॥

केचिदर्केन्दुवरुणास्त्र्यक्षाधोक्षजपद्मजाः। केचिद्ब्राह्मणभूपालवैश्यशूद्रगणाः स्थिताः॥१३९॥
केचित्तृणौषधीवृक्षफलमूलपतङ्गकाः। केचित्कदम्बजम्बीरसालतालतमालकाः॥ १४०॥
केचिन्महेन्द्रमलयसह्यमन्दरमेरवः। केचित्क्षारोदधिक्षीरघृतेक्षुजलराशयः॥ १४१॥

कोई सूर्य, चन्द्र, वरुण, हरि, शिव एवं ब्रह्मरूप धारण किये हुए हैं। कुछ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि रूप में स्थित हैं। कोई औषधि, तृण, वृक्ष, फल, मूल एवं पत्ते के रूप में हैं। तो कोई जम्बीर (नींबू), कदम्ब, आम, ताड़ तथा तमाल पेड़ के रूप में हैं। कुछ महेन्द्र, मलय, सह्य, मन्दर, मेरु आदि पर्वतों के रूप में विद्यमान हैं। कोई खारे सागर, कोई दूध, घृत, गन्ने के रस तथा जलराशि के रूप में स्थित हैं॥ १३९-१४१॥

केचिद्विशालाः ककुभः केचिन्नद्यो महारयाः। विहरन्त्युच्चकैः केचिन्निपतन्त्युत्पतन्ति च॥१४२॥
कन्दुका इव हस्तेन मृत्युनाऽविरतं हताः। भुक्त्वा जन्मसहस्राणि भूयः संसारसंकटे॥ १४३॥
पतन्ति केचिदबुधाः संप्राप्यापि विवेकताम्। दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमात्मतत्त्वं स्वशक्तितः॥१४४॥
लीलयैव यदादत्ते दिक्कालकलितं वपुः। तदेव जीवपर्यायवासनावेशतः परम्॥ १४५॥
मनः संपद्यते लोलं कलनाकलनोन्मुखम्। कलयन्ती मनःशक्तिरादौ भावयति क्षणात्॥ १४६॥
आकाशभावनामच्छां शब्दबीजरसोन्मुखीम्। ततस्तद्घनतां यातं घनस्पन्दक्रमान्मनः॥ १४७॥
भावयत्यनिलस्पन्दं स्पर्शबीजरसोन्मुखम्। ताभ्यामाकाशवाताभ्यां दृढाभ्यासवशात्ततः॥ १४८॥

कोई द्रुतवेग वाली नदियों के रूप में प्रवाहित हैं, तो कोई विस्तृत दिशाओं का रूप धारण किये हुए हैं।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

कुछ ऊपर उठते हैं,कुछ नीचे गिरते हैं तथा कुछ पुनः ऊर्ध्वगमन करते हैं। हाथ से गेंद को बार-बार गिराने-उछालने के समान कुछ मृत्यु द्वारा ताड़ित होकर आसमान में उठते और गिरते रहते हैं। अनेक ऐसे हैं जो विवेकवान् होकर भी शुभकर्म करते और हजारों जन्म ग्रहण कर लेने पर भी उनका संसार सागर से आवागमन नहीं मिटता। दिशा और काल से अनवच्छिन्न आत्मतत्त्व जब अपनी सामर्थ्य से शरीर धारण करता है,तब यही जीव वासना के वशीभूत होकर संकल्पों की ओर जाने वाले चञ्चल मन का रूप ग्रहण कर लेता है। वह संकल्प से युक्त मनःशक्ति क्षणमात्र में ही स्वच्छ आकाश की भावना करती है, उसमें शब्दबीज अंकुरित होने लगते हैं। तत्पश्चात् वही मन अधिक सघन होकर घने स्पन्दन के क्रम से वायुस्पन्दन की भावना में लीन होता है॥ १४२-१४८॥

शब्दस्पर्शस्वरूपाभ्यां संघर्षाज्जन्यतेऽनलः। रूपतन्मात्रसहितं त्रिभिस्तैः सह संमितम्॥ १४९॥
मनस्तादृग्गुणगतं रसतन्मात्रवेदनम्। क्षणाच्चेतत्यपां शैत्यं जलसंवित्ततो भवेत्॥ १५०॥

उसमें स्पर्शरूप बीज के अंकुर फूटते हैं। उसके बाद दृढ़ अभ्यास द्वारा शब्द-स्पर्श रूप आकाश एवं वायु के टकराने से अग्नि उत्पन्न होती है। तीनों गुणों से ओत-प्रोत मन रस तन्मात्रा की अनुभूति करता हुआ क्षण भर में जल की ठण्डक का विचार करता है, इससे उसे जल का अनुभव होता है॥ १४९-१५०॥

[आकाश में वायु की गतिशीलता से जो घर्षण क्रिया होती है। उससे विद्युत् विभव (इलैक्ट्रिकल चार्ज) के रूप में अग्नि का उद्भव होता है। वायु के घटकों (हाइड्रोजन+आक्सीजन) को अग्नि संयुक्त करके जल रूप देता है। विज्ञान यह क्रिया स्थूल पदार्थ रूप में ही समझ पाता है, ऋषि इसे सूक्ष्म तन्मात्राओं के रूप में भी अनुभव करते हैं।]

ततस्तादृग्गुणगतं मनो भावयति क्षणात्। गन्धतन्मात्रमेतस्माद्भूमिसंवित्ततो भवेत्॥ १५१॥
अथेत्थंभूततन्मात्रवेष्टितं तनुतां जहत्। वपुर्वह्निकणाकारं स्फुरितं व्योम्नि पश्यति॥ १५२॥

फिर चार गुणों से संयुक्त होकर मन अगले ही क्षण गन्ध तन्मात्रा का भाव कर लेता है, इससे उसे पृथ्वी का अनुभव होने लगता है। इस प्रकार पाँच तन्मात्राओं से युक्त होकर वह मन अपनी सूक्ष्मता त्यागकर आसमान में अग्निकणों की शक्ल में स्फुरित होते हुए शरीर का दर्शन करता है॥ १५१-१५२॥

[ऋषि सूक्ष्म से क्रमशः स्थूल के विकास का चित्रण कर रहे हैं। यहाँ सूक्ष्म मनोमय से अपेक्षाकृत स्थूल अग्निकणों के रूप में प्राणमय कोश के विकास का क्रम बतलाया गया है। यह प्राणमय ही परिपक्व होकर स्थूल काया का रूप लेता है। ऋषि इस क्रिया की उपमा स्वर्णकणों को गलाकर वाञ्छित आकार में ढालने की क्रिया से दे रहे हैं।]

अहंकारकलायुक्तं बुद्धिबीजसमन्वितम्। तत्पुर्यष्टकमित्युक्तं भूतहृत्पद्मषट्पदम्॥ १५३॥
तस्मिंस्तु तीव्रसंवेगाद्भावयद्भासुरं वपुः। स्थूलतामेति पाकेन मनो बिल्वफलं यथा॥ १५४॥

वह शरीर ही अहंकार कलाओं से युक्त और बुद्धि बीज से संयुक्त 'पुर्यष्टक' नाम से जाना जाता है, जो प्राणियों के हृदय कमल में मँडराने वाले भौंरे के सदृश है। पाक (परिपूर्णावस्था) की स्थिति में बिल्वफल की तरह ही तीव्र संवेगात्मक तेजस्वी शरीर की भावना किये जाने पर, मन स्थूल हो जाता है॥१५३-१५४॥

मूषास्थद्रुतहेमाभं स्फुरितं विमलाम्बरे। संनिवेशमथादत्ते तत्तेजः स्वस्वभावतः॥ १५५॥
ऊर्ध्वं शिरः पिण्डमयमधः पादमयं तथा। पार्श्वयोर्हस्तसंस्थानं मध्ये चोदरधर्मिणम्॥ १५६॥
कालेन स्फुटतामेत्य भवत्यमलविग्रहम्। बुद्धिसत्त्वबलोत्साहविज्ञानैश्वर्यसंस्थितः॥ १५७॥

निर्मल आकाश में वह तेज, मूषा (सोना गलाने के पात्र) में पिघले हुए स्वर्ण के समान स्फुरित होकर अपनी प्रकृति के अनुसार गठित होने लगता है। ऊपर से वह सिर की तरह, नीचे से पैरों की तरह, पार्श्वों में

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

भुजाओं की तरह तथा मध्य में उदर की तरह समय आने पर अभिव्यक्ति को प्राप्त होकर पूर्ण शरीर के आकार को प्राप्त हो जाता है। बुद्धि, वीर्य, बल, उत्साह, विज्ञान और वैभव से सम्पन्न हो जाता है ॥१५५-१५७॥

स एव भगवान्ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः। अवलोक्य वपुर्ब्रह्मा कान्तमात्मीयमुत्तमम्॥ १५८॥
चिन्तामभ्येत्य भगवांस्त्रिकालामलदर्शनः। एतस्मिन्परमाकाशे चिन्मात्रैकात्मरूपिणि॥ १५९॥
अदृष्टपारपर्यन्ते प्रथमं किं भवेदिति। इति चिन्तितवान्ब्रह्मा सद्योजातामलात्मदृक्॥ १६०॥

वही शरीर सब लोकों का पितामह भगवान् ब्रह्मा बन जाता है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान के प्रत्यक्ष द्रष्टा भगवान् ब्रह्माजी ने अपनी उत्तम और मनोहर छबि को निहारकर विचार किया कि इस चिन्मात्र आत्मरूपी परमाकाश का कोई आदि-अन्त दृष्टिगोचर नहीं होता। सर्वप्रथम क्या होना चाहिए? इस प्रकार का विचार करते ही तत्काल उन्हें पवित्र आत्मदृष्टि प्राप्त हुई॥ १५८-१६०॥

अपश्यत्सर्गवृन्दानि समतीतान्यनेकशः। स्मरत्यथो स सकलान्सर्वधर्मगुणक्रमात्॥ १६१॥
लीलया कल्पयामास चित्राः संकल्पतः प्रजाः। नानाचारसमारम्भा गन्धर्वनगरं यथा॥ १६२॥
तासां स्वर्गापवर्गार्थं धर्मकामार्थसिद्धये। अनन्तानि विचित्राणि शास्त्राणि समकल्पयत्॥ १६३॥

उन्हें अतीतकाल में हुई सृष्टि के असंख्य सर्ग दिखाई दिये, इससे समस्त धर्मों एवं गुणों के क्रम उनके स्मृति पटल पर उभर आये। उन्होंने माया से ही विभिन्न प्रकार के आचारों से समन्वित अनेक रूप-रंग की प्रजा को अन्तरिक्ष में गन्धर्वलोक के समान ही संकल्प-शक्ति से प्रादुर्भूत कर दिया। उनके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए उन्होंने अनेक चित्र-विचित्र शास्त्रों और स्वर्ग-नरकादि की कल्पना (रचना) कर दी ॥ १६१-१६३॥

विरञ्चिरूपान्मनसः कल्पितत्वाज्जगत्स्थितेः। तावत्स्थितिरियं प्रोक्ता तन्नाशे नाशमाप्नुयात्॥१६४
न जायते न म्रियते क्वचित्किंचित्कदाचन। परमार्थेन विप्रेन्द्र मिथ्या सर्वं तु दृश्यते॥ १६५॥
कोशमाशाभुजङ्गानां संसाराडम्बरं त्यज। असदेतदिति ज्ञात्वा मातृभावं निवेशय॥ १६६॥

ब्रह्मारूपी मन की कल्पना द्वारा संसार की स्थिति होने से ब्रह्मा के जीवन के साथ इसका (मन का) जीवन है। ब्रह्माजी के आयुष्य समाप्ति के साथ इस मन की भी समाप्ति है। हे द्विजश्रेष्ठ! वास्तव में न तो कोई कहीं जन्म ही ग्रहण करता है और न अवसान को ही प्राप्त होता है। यह सब मिथ्या है, जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है। यह प्रपंचात्मक संसार आशारूपी सर्पिणियों की पिटारी है, इसे त्यागना ही उचित है। इसे 'असत्' मानकर मातृभाव में स्थिर होना श्रेयस्कर है॥ १६४-१६६॥

गन्धर्वनगरस्यार्थे भूषितेऽभूषिते तथा। अविद्यांशे सुतादौ वा कः क्रमः सुखदुःखयोः॥ १६७॥
धनदारेषु वृद्धेषु दुःखयुक्तं न तुष्टता। वृद्धायां मोहमायायां कः समाश्वासवानिह॥ १६८॥
यैरेव जायते रागो मूर्खस्याधिकतां गतैः। तैरेव भागैः प्राज्ञस्य विराग उपजायते॥ १६९॥

गन्धर्व नगर चाहे सुसज्जित हो या असुसज्जित, वह कैसा भी क्यों न दिखाई दे, वह तुच्छ ही है। उसी तरह अविद्या के अंशरूप ये पुत्र आदि भी प्रपंचरूप हैं, इनके प्रति आसक्ति होना दुःख का कारण है। धन-स्त्री आदि की वृद्धि के प्रति सुख-दुःख का भाव रखना निरर्थक है। इसमें सन्तोष मानने की कहीं गुंजायश नहीं। मोह-माया की वृद्धि होने पर इस लोक में कौन सुख-शान्ति का अधिकारी बना है। जिन पदार्थों की बहुतायत से अज्ञानी जन सुख अनुभव करते हैं, उन्हीं से ज्ञानी पुरुष विरक्त रहते हैं॥ १६७-१६९॥

अतो निदाघ तत्त्वज्ञ व्यवहारेषु संसृतेः। नष्टं नष्टमुपेक्षस्व प्राप्तं प्राप्तमुपाहर॥ १७०॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अनागतानां भोगानामवाञ्छनमकृत्रिमम्। आगतानां च संभोग इति पण्डितलक्षणम्॥ १७१॥
शुद्धं सदसतोर्मध्यं पदं बुद्ध्वावलम्ब्य च। सबाह्याभ्यन्तरं दृश्यं मा गृहाण विमुञ्च मा॥ १७२॥

हे तत्त्वज्ञानी निदाघ! सांसारिक व्यवहार में जिस-जिसका अभाव होता जाए, उसकी इच्छा न करे और जो-जो सहजता से उपलब्ध हो, उसे स्वीकार करे। अप्राप्त की इच्छा न करना और प्राप्त उपभोग्य सामग्री का उपयोग करना यही पाण्डित्य है। सत् और असत् के बीच शुद्ध पद को जानकर, उसका अवलम्बन ग्रहण कर के बाह्याभ्यन्तरिक दृश्यों को न तो ग्रहण करे और न ही त्यागे॥ १७०-१७२॥

यस्य चेच्छा तथाऽनिच्छा ज्ञस्य कर्मणि तिष्ठतः। न तस्य लिप्यते प्रज्ञा पद्मपत्रमिवाम्बुभिः॥१७३
यदि ते नेन्द्रियार्थश्रीः स्पन्दते हृदि वै द्विज। तदा विज्ञातविज्ञेयः समुत्तीर्णो भवार्णवात्॥१७४॥
उच्चैःपदाय परया प्रज्ञया वासनागणात्। पुष्पाद्गन्धमपोह्यारं चेतोवृत्तिं पृथक्कुरु॥ १७५॥

इच्छा और अनिच्छा को समान मानने वाले ज्ञानी पुरुष कर्म करते हुए भी उसमें उसी प्रकार लिप्त नहीं होते, जैसे कीचड़ में कमलपत्र पड़ा रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता। हे द्विज! यदि आपके हृदय में इन्द्रियजन्य विषय हलचल पैदा नहीं करते, तो आप ज्ञातव्य पदार्थ का ज्ञान प्राप्त कर संसार रूपी समुद्र से पार हो गये। विशिष्ट ज्ञानयुक्त होकर वासनारूपी फूलों की सुगन्ध से अपनी चित्तवृत्ति को जल्दी ही दूर कर लिया जाए, तो महान् पद की प्राप्ति हो सकती है॥ १७३-१७५॥

संसाराम्बुनिधावस्मिन्वासनाम्बुपरिप्लुते। ये प्रज्ञानावमारूढास्ते तीर्णाः पण्डिताः परे॥ १७६॥
न त्यजन्ति न वाञ्छन्ति व्यवहारं जगद्गतम्। सर्वमेवानुवर्तन्ते पारावारविदो जनाः॥ १७७॥
अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य सत्तासामान्यरूपिणः। चितश्चेत्योन्मुखत्वं यत्तत्संकल्पाङ्कुरं विदुः॥ १७८॥
लेशतः प्राप्तसत्ताकः स एव घनतां शनैः। याति चित्तत्वमापूर्य दृढं जाड्याय मेघवत्॥ १७९॥

वासनारूपी जल से युक्त इस संसार-सागर में जो सद्ज्ञान रूपी नौका पर आरूढ़ हैं, वे ज्ञानीजन इससे पार हो गये। सांसारिक प्रपञ्च के जानकार पुरुष सांसारिक व्यवहार का न तो परित्याग करते हैं और न ही उसकी कामना करते हैं; अपितु वे उनके प्रति अनासक्ति का ही व्यवहार करते हैं, ज्ञानियों ने संकल्प का अंकुरित होना ही अनन्त आत्मतत्त्वरूप चेतन का विषयासक्त होना माना है। वही संकल्प अल्पमात्र स्थान प्राप्त करके धीरे-धीरे सघन होते हैं; तत्पश्चात् वे मेघ की तरह सुदृढ़ होकर चित्ताकाश को ढककर जड़त्व भाव का संचार करते हैं॥ १७६-१७९॥

भावयन्ति चितिश्चैत्यं व्यतिरिक्तमिवात्मनः। संकल्पतामिवायाति बीजमङ्कुरतामिव॥ १८०॥
संकल्पनं हि संकल्पः स्वयमेव प्रजायते। वर्धते स्वयमेवाशु दुःखाय न सुखाय यत्॥ १८१॥
मा संकल्पय संकल्पं मा भावं भावय स्थितौ। संकल्पनाशने यत्तो न भूयोऽननुगच्छति॥१८२॥

बीज के अंकुरावस्था को प्राप्त करने के समान ही चेतन विषयों को स्वयं से अलग-सा मानते हुए वह संकल्पावस्था को प्राप्त होता है। संकल्प से उसकी क्रिया अपने आप ही प्रकट होती है और स्वयं ही शीघ्रातिशीघ्र वृद्धि को प्राप्त होती है। लेकिन वह दुःख का ही कारण बनती है, सुख देने वाली नहीं होती। चित्त में उत्पन्न होने वाली संकल्प क्रिया को रोके। उसमें पदार्थ भावना न करे, जिसने संकल्प को विनष्ट करने का निश्चय किया है,उसे पुनः उसका अनुगमन करना उचित नहीं॥ १८०-१८२॥

भावनाऽभावमात्रेण संकल्पः क्षीयते स्वयम्। संकल्पेनैव संकल्पं मनसैव मनो मुने॥ १८३॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

छित्त्वा स्वात्मनि तिष्ठ त्वं किमेतावति दुष्करम्। यथैवेदं नभः शून्यं जगच्छून्यं तथैव हि ॥१८४॥
तण्डुलस्य यथा चर्म यथा ताम्रस्य कालिमा। नश्यति क्रियया विप्र पुरुषस्य तथा मलम्॥१८५॥
जीवस्य तण्डुलस्येव मलं सहजमप्यलम्। नश्यत्येव न संदेहस्तस्मादुद्योगवान्भवेत्॥ १८६॥
इति महोपनिषत्॥

भावना का अभाव होते ही संकल्प स्वयमेव समाप्त हो जाता है। हे मुनिश्रेष्ठ! संकल्प द्वारा संकल्प को और मन द्वारा मन को नष्ट कर डाले। आकाश की तरह ही यह जगत् भी शून्य है। हे विप्र! जिस तरह ताँबे की कालिमा और धान का छिलका प्रयत्नपूर्वक क्रिया विशेष से नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार पुरुष का विकार रूपी दोष प्रयत्न से दूर हो जाता है, धान के छिलके के समान जीव पर मल-विकाररूपी दोष प्रकृतिगत हैं, तो भी उनका नष्ट होना निश्चित है-इसमें रत्तीभर सन्देह नहीं। अतएव आत्मस्वरूप में स्थित होकर उद्योगी पुरुष बनने का प्रयत्न करो, इसमें असम्भव जैसी स्थिति है ही नहीं॥ १८३-१८६॥

[चेतन के ऊपर चढ़े विकार की तुलना धान के छिलके से की गई है। विकार हटाये बिना चावल सेवन करने योग्य नहीं होता और पुनः फलित होने के लिए छिलका-विकार आवश्यक है। छिलका-विकार हटते ही वह ज्ञानी के लिए सेव्य है तथा पुनर्जन्म के चक्र की संभावना भी समाप्त हो जाती है।]

॥ षष्ठोऽध्यायः ॥

अन्तरास्थां परित्यज्य भावश्रीं भावनामयीम्। योऽसि सोऽसि जगत्यस्मिल्लीलया विहरानघ ॥१॥
सर्वत्राहमकर्तेति दृढभावनयानया । परमामृतनाम्नी सा समतैवावशिष्यते ॥ २॥

हे निष्पाप! अन्तरंग की आस्था एवं भावनायुक्त भावों की सम्पदा का परित्याग करके आप अपने वास्तविक रूप में संसार में सुखपूर्वक विचरण करें। सभी जगह स्वयं को अकर्त्ता मानें, इस सुदृढ़ भावना से परम अमृत नाम की समता (एकरसता) ही अवशिष्ट रहती है॥ १-२॥

खेदोल्लासविलासेषु स्वात्मकर्तृतयैकया । स्वसंकल्पे क्षयं याते समतैवावशिष्यते ॥ ३॥
समता सर्वभावेषु यासौ सत्यपरा स्थितिः। तस्यामवस्थितं चित्तं न भूयो जन्मभाग्भवेत्॥४॥

दुःख और उल्लास-विलास-ये मनुष्य द्वारा स्वतः उत्पादित हैं। अपने संकल्प के क्षय होने पर समता भाव ही अवशेष रहता है। सभी पदार्थों में समता की वास्तविक स्थिति को चित्त में निष्ठापूर्वक धारण कर लेने पर आवागमन का चक्र समाप्त हो जाता है॥ ३-४॥

अथवा सर्वकर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने। सर्वं त्यक्त्वा मनः पीत्वा योऽसि सोऽसि स्थिरो भव॥५॥
शेषस्थिरसमाधानो येन त्यजसि तत्त्यज। चिन्मनःकलनाकारं प्रकाशतिमिरादिकम्॥ ६॥
वासनां वासितारं च प्राणस्पन्दनपूर्वकम्। समूलमखिलं त्यक्त्वा व्योमसाम्यः प्रशान्तधीः ॥७॥

हे मुने! सभी कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य का त्यागकर,मन का पान कर आप अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिर हों। बाद में समाधिस्थ होकर जिससे आप त्याग किया करते हैं,उसे भी छोड़ दें। चेतन ने ही मानसिक संकल्प का आकार धारण कर रखा है,वही प्रकाश और अंधकार का रूप धारण किये हुए है। अतः प्राणस्पन्दन के साथ-साथ वासना का सम्पूर्ण परित्याग करके आकाश की तरह निर्मल और शान्त मन वाले बनें॥ ५-७॥

हृदयात्संपरित्यज्य सर्ववासनपङ्क्तयः । यस्तिष्ठति गतव्यग्रः स मुक्तः परमेश्वरः ॥ ८॥
दृष्टं द्रष्टव्यमखिलं भ्रान्तं भ्रान्त्या दिशो दश। युक्त्या वै चरतो ज्ञस्य संसारो गोष्पदाकृतिः ॥९॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सबाह्याभ्यन्तरे देहे ह्यध ऊर्ध्वं च दिक्षु च। इत आत्मा ततोऽप्यात्मा नास्त्यनात्ममयं जगत्॥१०॥

मुक्त और शान्त वही है,जो हृदय से सभी वासनाओं को छोड़ देता है,वही परमेश्वर है। वह दसों दिशाओं में घूमते हुए भ्रान्तिवश द्रष्टव्य पदार्थों को देखने में सक्षम है। प्रयत्नपूर्वक आचरणशील ज्ञानीपुरुषों के लिए यह संसार गोष्पद (गाय का खुर) की तरह सहज ही पार उतरने योग्य बन जाता है। शरीर के बाहर-भीतर,ऊपर-नीचे तथा सभी दिशाओं में सर्वत्र आत्मा ही विद्यमान है,उसके निमित्त यह संसार अनात्ममय नहीं होता॥८-१०

न तदस्ति न यत्राहं न तदस्ति न तन्मयम्। किमन्यदभिवाञ्छामि सर्वं सच्चिन्मयं ततम्॥ ११॥
समस्तं खल्विदं ब्रह्म सर्वमात्मेदमाततम्। अहमन्य इदं चान्यदिति भ्रान्तिं त्यजानघ॥ १२॥
ततेे ब्रह्मघने नित्ये संभवन्ति न कल्पिताः। न शोकोऽस्ति न मोहोऽस्ति न जरास्ति न जन्म वा॥

हे निष्पाप! 'यह और है' 'मैं अन्य हूँ', इस प्रकार की भ्रान्त-धारणा का परित्याग कर दे। ऐसा कोई स्थल नहीं, जहाँ मेरा अस्तित्व नहीं, उस वस्तु का अभाव है, जो आत्मरूप न हो। मैं ऐसी कौन सी वस्तु की कामना करूँ? सब में सत् और चिन्मय तत्त्व संव्याप्त है। यह सब कुछ ब्रह्ममय ही है, सबमें आत्मा का ही विस्तार है। सर्वव्यापी और नित्य सच्चिदानन्द घन ब्रह्म में काल्पनिक भावों की सम्भावना नहीं है। यह तत्त्व शोक, मोह, जरा और जन्म से रहित है॥ ११-१३॥

यदस्तीह तदेवास्ति विज्वरो भव सर्वदा। यथाप्राप्तानुभवतः सर्वत्रानभिवाञ्छनात्॥ १४॥
त्यागादानपरित्यागी विज्वरो भव सर्वदा। यस्येदं जन्म पाश्चात्त्यं तमाश्वेव महामते॥ १५॥
विशन्ति विद्या विमला मुक्ता वेणुमिवोत्तमम्। विरक्तमनसां सम्यक्स्वप्रसङ्गादुदाहृतम्॥ १६॥
द्रष्टुर्दृश्यसमायोगात्प्रत्ययानन्दनिश्चयः। यस्तं स्वमात्मतत्त्वोत्थं निष्पन्दं समुपास्महे॥ १७॥
द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह। दर्शनप्रत्ययाभासमात्मानं समुपास्महे॥ १८॥

आत्मतत्त्व में जो विद्यमान है, वही सब कुछ है। अतएव हमेशा सभी जगह किसी पदार्थ की अभिलाषा न करते हुए सहज में जो उपलब्ध हो, उसी का आसक्तिरहित होकर उपभोग करते हुए शोकरहित होकर रहना चाहिए। किसी वस्तु का न तो परित्याग और न ग्रहण- इस प्रकार सन्तापहीन होकर रहना चाहिए। हे महामते! जिस व्यक्ति का यह जन्म आखिरी है (अर्थात् आगे जिसका जन्म नहीं होना है), उसमें शीघ्र ही श्रेष्ठ प्रजाति की मुक्ता के समान निर्मल विद्या प्रविष्ट होती है। जिनके मन में वैराग्य भाव है, ऐसे ज्ञानियों द्वारा अपने अनुभवजन्य ज्ञान से यह अभिव्यक्त किया गया है कि द्रष्टा को दृश्य के माध्यम से जो निश्चयात्मिका सुखानुभूति होती है, वह आत्मतत्त्व से प्रकट हुआ स्पन्दन है, जिसकी हम उत्तम रीति से उपासना करते हैं॥ १४-१८॥

द्वयोर्मध्यगतं नित्यमस्तिनास्तीति पक्षयोः। प्रकाशनं प्रकाशानामात्मानं समुपास्महे॥ १९॥

वासनात्मक चिन्तन के साथ द्रष्टा, दृश्य और दर्शन इन तीनों का परित्याग करके प्रकाशमान आत्मा के हम उपासक हैं। अस्ति-नास्ति के बीच विद्यमान प्रकाशों के भी प्रकाशक सनातन आत्मा के हम उपासक हैं॥

संत्यज्य हृद्गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये। ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्तहस्तस्थकौस्तुभाः॥ २०॥
उत्थितानुत्थितानेतानिन्द्रियारीन्पुनः पुनः। हन्याद्विवेकदण्डेन वज्रेणेव हरिर्गिरीन्॥ २१॥

हमारे हृदय में वह आत्मतत्त्व महेश्वर के रूप में विद्यमान है। जो पुरुष इस आत्मा को त्यागकर अन्य वस्तु की प्राप्ति हेतु यत्नशील हैं, वे अपने हाथ में स्थित कौस्तुभमणि को छोड़कर अन्य रत्न की अभिलाषा करते हैं। इन्द्र द्वारा वज्र से पर्वतों को तहस-नहस करने की तरह इन्द्रियरूपी शत्रु-चाहे बलवान् हों या कमजोर, उन्हें विवेकरूपी दण्डप्रहार से बारम्बार प्रताड़ित करना चाहिए॥ २०-२१॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

संसाररात्रिदुःस्वप्ने शून्ये देहमये भ्रमे । सर्वमेवापवित्रं तद्दृष्टं संसृतिविभ्रमम् ॥ २२ ॥
अज्ञानोपहतो बाल्ये यौवने वनिताहतः । शेषे कलत्रचिन्तार्तः किं करोति नराधमः ॥ २३ ॥
सतोऽसत्ता स्थिता मूर्ध्नि रम्याणां मूर्ध्न्यरम्यता । सुखानां मूर्ध्नि दुःखानि किमेकं संश्रयाम्यहम् ॥२४

संसाररूपी रात्रि के दुःस्वप्नरूप और सर्वथा शून्यवत् इस शरीररूपी भ्रम में जो भी कुछ मायाजाल का प्रसार देखा है, वह सभी पवित्रता से परे है। बाल्यकाल में अज्ञानता से ग्रसित रहा , युवाकाल में वनिता (स्त्री) के द्वारा आहत किया गया और अब अन्तिम अवस्था में यह अधम मनुष्य स्त्री-पुत्रादि की चिन्ता में आर्त्त (दुःखी) होकर आखिर अपना क्या उपकार कर सकता है ? सत् के मूर्द्धा (सिर) पर असत् का बोलबाला है। रमणीकता के ऊपर कुरूपता चढ़ी हुई है। सुखों के ऊपर दुःख प्रतिष्ठित हैं। ऐसी स्थिति में मैं किस एक का अवलम्बन प्राप्त करूँ ?॥ २२-२४ ॥

येषां निमेषणोन्मेषौ जगतः प्रलयोदयौ । तादृशाः पुरुषा यान्ति मादृशां गणनैव का ॥ २५ ॥
संसार एव दुःखानां सीमान्त इति कथ्यते । तन्मध्ये पतिते देहे सुखमासाद्यते कथम् ॥ २६ ॥

जिनके निमेष एवं उन्मेष से इस संसार का विनाश एवं उत्पत्ति निश्चित है। इस प्रकार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष भी जब काल-कवलित हो जाते हैं, तब मुझ जैसे सामान्य पुरुषों की तो गणना ही क्या है। इस नश्वर जगत् को ही दुःखों की अन्तिम परिधि माना गया है, उसमें शरीर के पड़े रहने पर सुखास्वादन किस प्रकार हो सकता है ?॥ २५-२६ ॥

प्रबुद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि दुष्टश्चोरोऽयमात्मनः । मनो नाम निहन्म्येनं मनसास्मि चिरं हृतः ॥२७ ॥
मा खेदं भज हेयेषु नोपादेयपरो भव । हेयादेयदृशौ त्यक्त्वा शेषस्थः सुस्थिरो भव ॥ २८ ॥

मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ, मैं जाग गया हूँ। मेरी आत्मा को चुराने वाला दुष्ट चोर मेरा यह दूषित मन ही है। इसने न जाने मुझे कब अति दीर्घकाल से चुराकर अपने वश में कर लिया है। अब मैं इसे जान गया हूँ। अतः इसको विनष्ट कर डालूँगा। हेय पदार्थों के लिए दुःखित मत हो और उपादेय पदार्थों के प्रति आसक्त मत हो। हेय एवं उपादेय से सम्बन्धित दृष्टि का परित्याग करके शेष में प्रतिष्ठित होकर अवस्थित हो जाओ ॥ २७-२८ ॥

निराशता निर्भयता नित्यता समता ज्ञता । निरीहता निष्क्रियता सौम्यता निर्विकल्पता ॥ २९ ॥
धृतिर्मैत्री मनस्तुष्टिर्मृदुता मृदुभाषिता । हेयोपादेयनिर्मुक्ते ज्ञे तिष्ठन्त्यपवासनम् ॥ ३० ॥
गृहीततृष्णाशबरीवासनाजालमाततम् । संसारवारिप्रसृतं चिन्तातन्तुभिराततम् ॥ ३१ ॥
अनया तीक्ष्णया तात छिन्धि बुद्धिशलाकया । वात्ययेवाम्बुदं जालं छित्त्वा तिष्ठ तते पदे ॥३२ ॥

इस नश्वर जगत् की ओर से निराशा, निर्भयता, नित्यता, अभिज्ञता, समता, निष्कामता, निष्क्रियता, सौम्यता, धृति, निर्विकल्पता, मैत्री, सन्तोष, मृदुता एवं मृदुभाषण आदि गुण वासनारहित तथा हेय (हीन) और उपादेय (उपयोगी) के प्रभाव से रहित प्रज्ञावान् पुरुष में निवास करते हैं। तृष्णारूपिणी भीलनी के द्वारा विस्तीर्ण किये हुए वासना रूपी जाल से तुम आबद्ध किये गये हो, चिन्ता रूपी रश्मियों के द्वारा संसार रूपी मृग-मरीचिकात्मक जल चतुर्दिक् फैला दिया गया है। हे पुत्र निदाघ! जिस तरह बवण्डर से मेघ रूपी जाल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, वैसे ही इस ज्ञानरूपी तीव्र बर्छी से उसे नष्ट करके अपने व्यापक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाओ॥ २९-३२ ॥

मनसैव मनश्छित्त्वा कुठारेणेव पादपम् । पदं पावनमासाद्य सद्य एव स्थिरो भव ॥ ३३ ॥
तिष्ठन्नाच्छन्त्स्वपञ्जाग्रन्निवसन्नुत्पतन्पतन् । असदेवेदमित्यन्तं निश्चित्यास्थां परित्यज ॥ ३४ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

दृश्यमाश्रयसीदं चेत्तत्सच्चित्तोऽसि बन्धवान्। दृश्यं संत्यजसीदं चेत्तदाऽचित्तोऽसि मोक्षवान्॥

जिस प्रकार वृक्ष द्वारा प्रदत्त बेंट का सान्निध्य पाकर कुल्हाड़ी वृक्ष को ही काट डालती है, उसी प्रकार मन के द्वारा ही मन को काटकर परम पावन अविनाशी पद को अतिशीघ्र प्राप्त करके स्थिर हो जाओ। खड़े रहते, चलते, जागते, सोते, निवास करते, बैठते, उठते तथा गिरते समय भी ये सभी कुछ असत् ही है; इस प्रकार का दृढ़ निश्चय रखो। दृश्य पदार्थों से आस्था का परित्याग कर दो; क्योंकि यदि दृश्य पदार्थ का आश्रय प्राप्त करते हो, तो चित्तमय होकर बन्धन में पड़ते हो तथा यदि दृश्य पदार्थ का पूरी तरह से त्याग करते हो, तो चित्त शून्यता के कारण मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी बनते हो॥ ३३-३५॥

नाहं नेदमिति ध्यायंस्तिष्ठ त्वमचलाचलः। आत्मनो जगतश्चान्तर्द्रष्टृदृश्यदशान्तरे॥ ३६॥
दर्शनाख्यं स्वमात्मानं सर्वदा भावयन्भव। स्वाद्यस्वादकसंत्यक्तं स्वाद्यस्वादकमध्यगम्॥ ३७॥
स्वदनं केवलं ध्यायन्परमात्ममयो भव। अवलम्ब्य निरालम्बं मध्येमध्ये स्थिरो भव॥ ३८॥

न मैं स्वयं हूँ और न ही यह संसार है, ऐसा चिन्तन करते हुए तुम पर्वत की भाँति अडिग होकर निवास करो। आत्मा एवं जगत् के मध्य द्रष्टा एवं दृश्य आदि इन दोनों स्थितियों के मध्य अपने आपको सदैव दर्शन स्वरूप आत्मा को ही मानते रहो। स्वादयुक्त पदार्थ एवं उस स्वाद युक्त पदार्थ के चखने वाले 'कर्त्ता' से भिन्न और इन दोनों के बीच में केवल स्वाद का चिन्तन करते हुए परमात्मस्वरूप होकर प्रतिष्ठित हो जाओ। बीच-बीच में अवलम्बन रहित स्थिति का आश्रय प्राप्त करके एक स्थान पर स्थित हो जाओ॥ ३६-३८॥

रज्जुबद्धा विमुच्यन्ते तृष्णाबद्धा न केनचित्। तस्मान्निदाघ तृष्णां त्वं त्यज संकल्पवर्जनात्॥३९॥
एतामहंभावमयीमपुण्यां छित्त्वाऽनहंभावशलाकयैव। स्वभावजां भव्यभवान्तभूमौ भव प्रशान्ताखिलभूतभीतिः॥ ४०॥ अहमेषां पदार्थानामेते च मम जीवितम्। नाहमेभिर्विना किंचिन्न मयैते विना किल॥ ४१॥ इत्यन्तर्निश्चयं त्यक्त्वा विचार्य मनसा सह। नाहं पदार्थस्य न मे पदार्थ इति भाविते॥ ४२॥ अन्तःशीतलया बुद्ध्या कुर्वतो लीलया क्रियाम्। यो नूनं वासनात्यागो ध्येयो ब्रह्मन्प्रकीर्तितः॥ ४३॥

रज्जु (रस्सी) से बँधे हुए लोग तो मुक्त हो जाते हैं, लेकिन तृष्णा से आबद्ध प्राणि-समूह किसी के द्वारा भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कराये जा सकते। इसलिए हे पुत्र निदाघ! तुम संकल्प का त्याग करते हुए तृष्णा को छोड़ने का प्रयास करो। अहंभाव से रहित इस बर्छी के द्वारा अहंभाव से युक्त, स्वभावतः प्रादुर्भूत हुई पापमयी इस तृष्णा को काटकर समस्त प्राणिवर्ग को उत्पन्न होने वाले भय से निर्भय होकर सौन्दर्ययुक्त परमार्थ लोक में भ्रमण करो। मैं इन समस्त पदार्थों का हूँ और ये सभी मेरे जीवन हैं, इनके अभाव में मैं कुछ भी नहीं हूँ और न ही ये मेरे बिना कुछ हैं; अपने अन्तर्मन के द्वारा इस संकल्प को छोड़ दो। मन से विचार करो कि मैं इन पदार्थों का नहीं हूँ और ये पदार्थ मेरे नहीं हैं, इस प्रकार की दृढ़ भावना करो। स्थिर शान्त चित्त से चिन्तन करते हुए विचारपूर्वक अपने कार्यों को सामान्य ढंग से सम्पन्न करते हुए जो वासना का त्याग किया जाता है, हे ब्रह्मन्! वही वास्तविक ध्येय कहा गया है॥ ३९-४३॥

सर्वं समतया बुद्ध्या यः कृत्वा वासनाक्षयम्। जहाति निर्ममो देहं नेयोऽसौ वासनाक्षयः॥४४॥
अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः। तिष्ठति ध्येयसंत्यागी स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ४५॥

जो पुरुष समत्व बुद्धि के द्वारा सदैव के लिए वासना का परित्याग करके ममतारहित हो जाता है, उसी से शरीर के बन्धनों का भी त्याग किया जा सकता है। इस कारण वासना का त्याग ही परम कर्त्तव्य है। जो मनुष्य

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अहंकार से युक्त वासना को सहजतापूर्वक त्याग करके, ध्येय वस्तु का सम्यक् रूपेण परित्याग करके प्रतिष्ठित होता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है॥ ४४-४५॥

निर्मूलं कलनां त्यक्त्वा वासनां यः शमं गतः। ज्ञेयं त्यागमिमं विद्धि मुक्तं तं ब्राह्मणोत्तमम्॥४६॥

जो मनुष्य संकल्परूप वासना को मूलसहित छोड़कर परमशक्ति को प्राप्त होता है, उसी का वह श्रेष्ठ त्याग समझने योग्य है। उसी को मुक्त हुआ तथा ब्रह्मवेत्ताओं में अनुपम जानो॥ ४६॥

द्वावेतौ ब्रह्मतां यातौ द्वावेतौ विगतज्वरौ। आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतौ॥ ४७॥
संन्यासियोगिनौ दान्तौ विद्धि शान्तौ मुनीश्वर। ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्यान्तर्वर्तिदृष्टिषु॥४८॥
सुषुप्तवद्यश्चरति स जीवन्मुक्त उच्यते। हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः॥ ४९॥
न हृष्यति ग्लायति यः परामर्शविवर्जितः। बाह्यार्थवासनोद्भूता तृष्णा बद्धेति कथ्यते॥ ५०॥

ये दोनों ही ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करते हैं, ये ही दोनों-सांसारिक ताप से मुक्त हैं। हे मुने! शम-दम से युक्त संन्यासी एवं योगी किसी भी काल में आ पड़ने वाले सुखों व दुःखों से युक्त नहीं होते। जिसके अन्तःकरण में इच्छा एवं अनिच्छा दोनों ही समाप्त हो गई है और जो सुषुप्तावस्था का आचरण करता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है; जो वासनाओं से रहित है, वह हर्ष, अमर्ष, भय, क्रोध, काम एवं कार्पण्य की दृष्टि से न तो आनन्दित होता है और न ही दुःखी होता है। जो तृष्णा बाहर के विषयों की वासना से प्रकट होती है, वह बन्धन डालने वाली कही गयी है॥ ४७-५०॥

सर्वार्थवासनोन्मुक्ता तृष्णा मुक्तेति भण्यते। इदमस्तु ममेत्यन्तमिच्छां प्रार्थनयान्विताम्॥ ५१॥
तां तीक्ष्णशृङ्खलां विद्धि दुःखजन्मभयप्रदाम्। तामेतां सर्वभावेषु सत्स्वसत्सु च सर्वदा॥ ५२॥
संत्यज्य परमोदारं पदमेति महामनाः। बन्धास्थामथ मोक्षास्थां सुखदुःखदशामपि॥ ५३॥
त्यक्त्वा सदसदास्थां त्वं तिष्ठाक्षुब्धमहाब्धिवत्। जायते निश्चयः साधो पुरुषस्य चतुर्विधः॥५४॥
आपादमस्तकमहं मातापितृविनिर्मितः। इत्येको निश्चयो ब्रह्मन्बन्धायासविलोकनात्॥ ५५॥
अतीतः सर्वभावेभ्यो वालाग्रादप्यहं तनुः। इति द्वितीयो मोक्षाय निश्चयो जायते सताम्॥५६॥
जगज्जालपदार्थात्मा सर्व एवाहमक्षयः। तृतीयो निश्चयश्चोक्तो मोक्षायैव द्विजोत्तम॥ ५७॥

जो तृष्णा सभी तरह के विषयों की वासना से रहित होती है, वह मोक्ष प्रदाता होती है। प्रार्थना के द्वारा किसी भी वस्तु के प्राप्ति की कामना ही दुःख, भय एवं जन्म प्रदात्री होती है। उसे घोर बन्धनस्वरूपा जानो। महात्माजन सत्-असत्रूप समस्त पदार्थों की इच्छा-आकांक्षा का हमेशा के लिए पूर्णरूपेण परित्याग करके परमउदार पद को प्राप्त करते हैं। बन्धन की सत्ता में आस्था एवं मोक्ष की आस्था तथा सुख-दुःख स्वरूपा सत् एवं असत् की आस्था-विश्वास का सदैव के लिए त्याग करके प्रशान्त महासागर के सदृश प्रतिष्ठित हो जाओ। हे महात्मन्! पुरुष के चार तरह के निश्चय होते हैं, जिनमें से प्रथम निश्चय यह है कि 'पैर से सिर तक मेरी संरचना मेरे माता-पिता के संयोग से हुई है। हे ब्रह्मन्! अब द्वितीय निश्चय सुनें। बन्धन में दुःखों का अवलोकन कर 'मैं सभी तरह के जागतिक-प्रपञ्चों-विकारों से परे बाल के अग्रभाग से भी अतिसूक्ष्म आत्मा हूँ।' यह निश्चय ज्ञानीजनों को मोक्ष दिलाने वाला कहा गया है। हे विप्रवर! तृतीय निश्चय यह है कि 'मैं सम्पूर्ण चराचर जगत् के पदार्थों की आत्मा हूँ, सर्वरूप एवं क्षयरहित हूँ' इस प्रकार से यह तीसरा निश्चय मनुष्य की मुक्ति का विशेष कारण होता है॥ ५१-५७॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अहं जगद्वा सकलं शून्यं व्योम समं सदा। एवमेष चतुर्थोऽपि निश्चयो मोक्षसिद्धिदः ॥ ५८ ॥
एतेषां प्रथमः प्रोक्तस्तृष्णया बन्धयोग्यया। शुद्धतृष्णास्त्रयः स्वच्छा जीवन्मुक्ता विलासिनः ॥५९
सर्वं चाप्यहमेवेति निश्चयो यो महामते । तमादाय विषादाय न भूयो जायते मतिः ॥६० ॥

अब चौथा निश्चय सुनें, 'मैं या जगत् सभी कुछ आकाश की भाँति शून्य है।' यह चतुर्थ निश्चय पुरुष के लिए मोक्ष प्रदान करने वाला कहा गया है। इनमें से प्रथम निश्चय बन्धन में बाँधने वाला तथा तृष्णा (बन्धनभूता) से युक्त है। शेष तीनों निश्चय स्वच्छ, शुद्ध तृष्णा (बन्धनरहित) से समन्वित होते हैं तथा इन तीनों निश्चयों से युक्त मनुष्य जीवन्मुक्त एवं आत्मतत्त्व में विलास करने वाले होते हैं। हे परमश्रेष्ठ ज्ञानवान् मुने! 'मैं ही सभी कुछ हूँ।' ऐसा जो दृढ़ निश्चय (संकल्प) है, उसे धारण करके बुद्धि पुनः विषाद को प्राप्त नहीं करती॥ ५८-६०॥

शून्यं तत्प्रकृतिर्माया ब्रह्मविज्ञानमित्यपि। शिवः पुरुष ईशानो नित्यमात्मेति कथ्यते॥ ६१ ॥
द्वैताद्वैतसमुद्भूतैर्जगन्निर्माणलीलया। परमात्ममयी शक्तिरद्वैतैव विजृम्भते॥ ६२ ॥
सर्वातीतपदालम्बी परिपूर्णैकचिन्मयः। नोद्वेगी न च तुष्टात्मा संसारे नावसीदति॥ ६३ ॥

आत्मा के नाम से कहा जाने वाला शून्य ही प्रकृति, माया, ब्रह्मज्ञान, पुरुष, ईशान, शिव, नित्य एवं ब्रह्मज्ञान आदि के नाम से जाना जाता है। परमात्मस्वरूपा अद्वैत शक्ति ही द्वैत एवं अद्वैत से प्रादुर्भूत हुए पदार्थों से संसार के निर्माण की लीला करके विकसित हो रही है। जो सभी तरह के मायाजाल से परे आत्मरूपी पद का आश्रय प्राप्त करके एक पूर्णरूपेण चिन्मयस्थिति में रहकर न कोई उद्योग करते हैं और न ही संतुष्ट होते हैं। इस जागतिक शोक में वे कभी नहीं पड़ते॥ ६१-६३॥

प्राप्तकर्मकरो नित्यं शत्रुमित्रसमानदृक्। ईहितानीहितैर्मुक्तो न शोचति न काङ्क्षति॥ ६४॥
सर्वस्याभिमतं वक्ता चोदितः पेशलोक्तिमान्। आशयज्ञश्च भूतानां संसारे नावसीदति॥ ६५॥

हे पुत्र! जो मनुष्य नित्य प्राप्त कर्मों को करता है, शत्रु एवं मित्र को सम्यक् दृष्टि से देखता है और इच्छा-अनिच्छा से मुक्ति प्राप्त कर चुका है, न विषाद करता है, न किसी भी तरह की वस्तुएँ पाने की आकांक्षा करता है, मृदुभाषी है, प्रश्नों के पूछने पर नम्रतापूर्वक उत्तर देता है तथा समस्त प्राणियों के भावों को जानने में सक्षम है; वही मनुष्य इस विश्व में विषाद को प्राप्त नहीं होता॥ ६४-६५॥

पूर्वां दृष्टिमवष्टभ्य ध्येयत्यागविलासिनीम्। जीवन्मुक्ततया स्वस्थो लोके विहर विज्वरः॥ ६६॥
अन्तःसंत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः। बहिःसर्वसमाचारो लोके विहर विज्वरः॥ ६७॥

प्रथम दृष्टि (आत्मदृष्टि) को लक्ष्य करके विलास की कामना का त्याग करके सांसारिक ताप से रहित होकर तथा अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित होकर इस संसार में जीवन्मुक्त की तरह से भ्रमण करो। सभी प्रकार की आशाओं को हृदय से निकाल कर, वीतराग तथा वासना-रहित होकर बाह्य-मन से सभी सांसारिक रीति-रिवाजों का सम्यक् रूप से पालन करते हुए जगत् में तापविहीन होकर निरन्तर प्रवहमान रहो॥ ६६-६७॥

बहिःकृत्रिमसंरम्भो हृदि संरम्भवर्जितः।
कर्ता बहिरकर्तान्तर्लोके विहर शुद्धधीः॥ ६८॥
त्यक्ताहंकृतिराश्वस्तमतिराकाशशोभनः।
अगृहीतकलङ्काङ्को लोके विहर शुद्धधीः॥ ६९॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

बाह्य वृत्ति से बनावटी क्रोध का अभिनय करते हुए एवं हृदय से क्रोधरहित, बाहर से कर्त्ता एवं अन्दर से अकर्त्ता बने रहकर शुद्धभाव से जगत् में सर्वत्र रमण करो। अहं को त्यागकर शान्त चित्त हो, कलङ्क रूपी कालिमा से सदैव के लिए मुक्त हो जाओ। आकाश के सदृश शुद्ध-परिष्कृत जीवन प्राप्त करके पवित्र सद्बुद्धि को धारण करके लोक में विचरण करो॥ ६८-६९॥

उदारः पेशलाचारः सर्वाचारानुवृत्तिमान्। अन्तःसङ्गपरित्यागी बहिःसंभारवानिव॥ ७०॥
अन्तर्वैराग्यमादाय बहिराशोन्मुखेहितः। अयं बन्धुरयं नेति गणना लघुचेतसाम्॥ ७१॥
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्। भावाभावविनिर्मुक्तं जरामरणवर्जितम्॥ ७२॥
प्रशान्तकलनारम्यं नीरागं पदमाश्रय। एषा ब्राह्मी स्थितिः स्वच्छा निष्कामा विगतामया॥७३॥

उदार एवं उत्तम आचरण से सम्पन्न, सभी श्रेष्ठ आचार-विचारों का अनुगमन करते हुए अन्दर से आसक्ति-रहित होते हुए भी बाहर से सतत प्रयत्न करता रहे। अन्तःकरण में पूरी तरह से वैराग्य को धारण करते हुए बाहर से आशावादी बनकर श्रेष्ठ व्यवहार करे। यह मेरा अपना (मित्र) है और वह नहीं है, ऐसे निकृष्ट विचार क्षुद्र मनुष्यों के होते हैं। उदार चरित वालों के लिए तो समस्त वसुधा ही अपना परिवार है। जो व्यक्ति भाव-अभाव से मुक्ति प्राप्त कर सका है, जन्म-मृत्यु से परे है, जहाँ पर सभी संकल्प सम्यक् रूप से शान्ति को प्राप्त हो जाते हैं, ऐसे रागविहीन तथा रमणीक पद का अवलम्बन ग्रहण करो। यह पवित्र, निष्काम, दोषरहित ब्राह्मी स्थिति है॥ ७०-७३॥

आदाय विहरन्नेवं संकटेषु न मुह्यति। वैराग्येणाथ शास्त्रेण महत्त्वादिगुणैरपि॥ ७४॥
यत्संकल्पहरार्थं तत्स्वयमेवोन्नयन्मनः। वैराग्यात्पूर्णतामेति मनो नाशवशानुगम्॥ ७५॥
आशया रक्ततामेति शरदीव सरोऽमलम्। तमेव भुक्तिविरसं व्यापारौघं पुनःपुनः॥ ७६॥
दिवसे-दिवसे कुर्वन्प्राज्ञः कस्मान्न लज्जते। चिच्चैत्यकलितो बन्धस्तन्मुक्तौ मुक्तिरुच्यते॥७७॥

इसको स्वीकार करके विहार करता हुआ मनुष्य विपत्तिकाल में भी मोहग्रस्त नहीं होता। शास्त्रों के ज्ञान से या फिर वैराग्य से और महान् सद्गुणों के द्वारा जिस संकल्प को विनष्ट किया जाता है, उससे मन स्वतः ही उन्नतावस्था को प्राप्त होने लगता है। निराशा के वश में हुआ जो मन वैराग्य के द्वारा पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, वही आशान्वित होने पर शरत्कालीन ऋतु में स्वच्छ सरोवर की भाँति राग युक्त हो जाता है; किन्तु भोगों से विरक्त हुए मन को बार-बार प्रत्येक दिन रागादि व्यापारों में डालते हुए ज्ञानी पुरुष लज्जित क्यों नहीं होते? चित् एवं विषय का योग ही बन्धन कहलाता है। उस योग से छुटकारा प्राप्त करना ही मोक्ष कहलाता है॥ ७४-७७॥

चिदचैत्या किलात्मेति सर्वसिद्धान्तसंग्रहः। एतन्निश्चयमादाय विलोकय धियेद्धया॥ ७८॥
स्वयमेवात्मनात्मानमानन्दं पदमाप्स्यसि। चिदहं चिदिमे लोकाश्चिदाशाश्चिदिमाः प्रजाः॥ ७९॥
दृश्यदर्शननिर्मुक्तः केवलामलरूपवान्। नित्योदितो निराभासो द्रष्टा साक्षी चिदात्मकः॥ ८०॥

निश्चय पूर्वक विषयरहित चित् को ही आत्मा कहा गया है, यही समस्त वेदान्त-सिद्धान्त का सार है। इस विचार को सत्य मानकर प्रदीप्त अन्तःकरण के द्वारा स्वयमेव अपने आप को देखो। इसमें असीम आनन्द पद की प्राप्ति होगी। मैं चित् स्वरूप हूँ। ये समस्त लोक चित् हैं, दिशाएँ एवं ये सभी प्राणि-समुदाय भी चित् स्वरूप हैं। दृश्य एवं दर्शन से छुटकारा प्राप्त करके, मात्र परिष्कृत स्वरूप वाला साक्ष्यरूप चिदात्मा आभासरहित एवं नित्य प्रादुर्भूत होकर द्रष्टा बन रहा है॥ ७८-८०॥

चैत्यनिर्मुक्तचिद्रूपं पूर्णज्योतिःस्वरूपकम्। संशान्तसर्वसंवेद्यं संविन्मात्रमहं महत्॥ ८१॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

संशान्तसर्वसंकल्पः प्रशान्तसकलैषणः। निर्विकल्पपदं गत्वा स्वस्थो भव मुनीश्वर॥ ८२॥

मैं विषय वासनाओं से मुक्त होकर पूर्णरूपेण ज्योतिरूप होकर समस्त संवेदना से पूरी तरह से मुक्त होकर चित्स्वरूप और महान् संवित् (ज्ञानमय) हूँ। हे मुने! सभी संकल्पों को पूर्णरूपेण शान्त करके, सभी कामनाओं को त्यागकर निर्विकल्प पद में प्रविष्ट होकर आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाओ॥ ८१-८२॥

य इमां महोपनिषदं ब्राह्मणो नित्यमधीते। अश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति। अनुपनीत उपनीतो भवति। सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स सूर्यपूतो भवति। स सोमपूतो भवति। स सत्यपूतो भवति। स सर्वपूतो भवति। स सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सर्वैर्देवैरनुध्यातो भवति। स सर्वक्रतुभिरिष्टवान्भवति। गायत्र्याः षष्टिसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति। इतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति। प्रणवानामयुतं जप्तं भवति। आचक्षुषः पङ्क्तिं पुनाति। आसप्तमान्पुरुषयुगान्पुनाति। इत्याह भगवान्हिरण्यगर्भः। जप्येनामृतत्वं च गच्छतीत्युपनिषत्॥८३॥

जो श्रेष्ठ ब्राह्मण इस महोपनिषद् का प्रतिदिन पाठ करता है, वह यदि अश्रोत्रिय होता है, तो श्रोत्रिय हो जाता है। यदि वह उपनीत नहीं है, तो उपनीत (सदृश) हो जाता है। वह अग्नि के समान पवित्र होता है, वायु की भाँति परिष्कृत तथा वह सोमपूत और सत्यपूत हो जाता है। वह सर्वथा पूर्णशुद्ध हो जाता है। वह समस्त देवों में सुपरिचित हो जाता है। उसे सभी तीर्थ-स्थलों के स्नान का फल प्राप्त हो जाता है। वह सभी यज्ञों का अनुष्ठान संकल्प कर लेने में समर्थ हो जाता है। सहस्रों गायत्री महामन्त्र के जप का फल उसे इस उपनिषद् के अध्ययन.से मिल जाता है। सहस्रों इतिहास-पुराण एवं रुद्र पाठ का फल उसे प्राप्त हो जाता है। दस सहस्र प्रणव (ओंकार) के जप का फल उसे प्राप्त हो जाता है। जहाँ तक उसकी दृष्टि जाती है, वहाँ तक उस पंक्ति को वह पवित्र कर देता है। भगवान् हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी ने कहा है कि इस (उपनिषद्) का जप करने मात्र से अमृतत्व की प्राप्ति हो जाती है। यही इस उपनिषद् का रहस्य है॥ ८३॥

ॐ आप्यायन्तु .....इति शान्तिः ॥

॥ इति महोपनिषत्समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ यागकुण्डल्युपानषद्॥

यह योगपरक उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें कुल तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में सर्वप्रथम वायुजय (प्राणायाम सिद्धि) के तीन उपाय- १. मिताहार २. आसन एवं ३. शक्तिचालिनी मुद्रा- बताये गये हैं। तदुपरान्त सरस्वती चालन, प्राणायाम के भेद-सूर्यभेदी,उज्जायी,शीतली,भस्त्रिका आदि, तीन बन्ध-मूलबन्ध,उड्डियान बन्ध तथा जालन्धर बन्ध,योगाभ्यास के विघ्न और उनसे बचाव,योगाभ्यास से कुण्डलिनी जागरण,तीन ग्रन्थियों(ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि तथा रुद्रग्रन्थि)का भेदन करके कुण्डलिनी का सहस्रार चक्र में प्रवेश, प्राणादि का शिवतत्त्व में विलीन होना,समाधि अवस्था में सर्वत्र चैतन्य तत्त्व की अनुभूति और समाधियोग जैसे विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। द्वितीय अध्याय का शुभारम्भ खेचरी मुद्रा के विशद विवेचन से हुआ है। जिसमें खेचरी का स्वरूप, उसकी फलश्रुति,मन्त्र जप से खेचरी की सिद्धि,खेचरी का अभ्यास क्रम आदि का विस्तृत वर्णन है। तृतीय अध्याय में खेचरी मेलन (खेचरी सिद्धि) का मन्त्र उल्लिखित हुआ है,तदुपरान्त अमावस्या, प्रतिपदा और पूर्णिमा के दृष्टान्त से साधक की दृष्टि का उल्लेख है। इसके बाद प्राणायाम के अभ्यास से विराट् के रूप की उत्पत्ति (सिद्धि),अभ्यास के बिना आत्मा का प्रकाश असम्भव, सद्गुरु के उपदेश से ब्रह्म का ज्ञान, ब्रह्म के विविध अधिष्ठान(वाक् वृत्ति,विश्वादि प्रपंच),परात्परब्रह्म का स्वरूप,ब्रह्म प्राप्ति का उपाय- ध्यान तथा अन्त में जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार योग के सभी प्रमुख विषयों को प्रस्तुत करते हुए उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्ष्युपनिषद्)

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः। तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तद्द्वावपि विनश्यतः॥ १ ॥

चित्त (की चंचलता) के दो कारण हैं, वासना अर्थात् पूर्वार्जित संस्कार एवं वायु अर्थात् प्राण; इन दोनों में से एक का भी निरोध हो जाने पर दोनों समाप्त (निरुद्ध) हो जाते हैं॥ १॥

तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा। मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः॥ २॥

दोनों में सबसे पहले वायु अर्थात् प्राण पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। प्राणों पर विजय प्राप्त करने के तीन साधन हैं— १. मिताहार २. आसन एवं ३. शक्तिचालिनी मुद्रा का अभ्यास॥ २॥

एतेषां लक्षणं वक्ष्ये शृणु गौतम सादरम्। सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः॥ ३॥
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते। आसनं द्विविधं प्रोक्तं पद्मं वज्रासनं तथा॥ ४॥

हे गौतम! अब तुम्हें इनका (मिताहार का) लक्षण कहता हूँ, सादर (ध्यानपूर्वक) सुनो। सबसे पहले साधक को चाहिए कि वह स्निग्ध एवं मधुर भोजन (आधा पेट) करे, (उसका आधा भाग पानी) एवं चौथाई भाग (हवा के लिए) खाली रखे। इस तरह से शिव (कल्याण) के निमित्त भोजन करने को मिताहार कहते हैं। (प्राणजय के लिए प्रमुख) आसन दो कहे गये हैं—पहला है पद्मासन, दूसरा है वज्रासन॥ ३-४॥

ऊर्वोरुपरि चेद्धत्ते उभे पादतले यथा। पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम्॥ ५॥

दोनों पैरों की जंघाओं पर एक दूसरे के ऊपर तलवों को सीधा (ऊपर की ओर) करके रखने से सभी पापों का विनाश करने वाला पद्मासन होता है॥ ५॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

वामाङ्घ्रिमूलकन्दाधो ह्यन्यं तदुपरि क्षिपेत्। समग्रीवशिरःकायो वज्रासनमितीरितम्॥ ६ ॥

गर्दन, सिर एवं शरीर को एक सीध में रखकर बायें पैर की एड़ी को सीवन (योनि) स्थान में तथा दायें पैर की एड़ी उसके ऊपर लगाकर बैठने को वज्रासन कहा जाता है॥ ६ ॥

[वैसे तो यह लक्षण सिद्धासन का है, परन्तु हठयोग प्रदीपिका जैसे ग्रन्थों में भी इसे वज्रासन कहा गया है; जबकि वर्तमान में दोनों घुटने मोड़कर दोनों एड़ियों पर बैठने की स्थिति 'वज्रासन' कही जाती है।]

कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु संचालयेद्बुधः। स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते॥ ७

प्रमुख शक्ति कुण्डलिनी कही गई है, बुद्धिमान् साधक उसे चालन क्रिया के द्वारा नीचे से ऊपर दोनों भृकुटियों के मध्य ले जाता है, इसी क्रिया को शक्तिचालिनी कहते हैं॥ ७॥

तत्साधने द्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम्। प्राणरोधमथाभ्यासादृज्वी कुण्डलिनी भवेत्॥८ ॥

मुख्य रूप से कुण्डलिनी चलाने (जगाने) के दो साधन कहे गये हैं, सरस्वती चालन एवं प्राणरोध (प्राणायाम)। प्राणों के निरोध के अभ्यास से लिपटी हुई कुण्डलिनी सीधी हो जाती है॥ ८ ॥

तयोरादौ सरस्वत्याश्चालनं कथयामि ते। अरुन्धत्येव कथिता पुराविद्भिः सरस्वती॥ ९ ॥

इस प्रकार पहले तुमको 'सरस्वती चालन' के बारे में बताता हूँ। प्राचीन काल के विद्वान् इस सरस्वती को अरुंधती भी कहते थे॥ ९ ॥

यस्याः संचालनेनैव स्वयं चलति कुण्डली। इडायां वहति प्राणे बद्ध्वा पद्मासनं दृढम्॥१० ॥

जिस समय इड़ा नाड़ी चल रही हो, उस समय दृढ़तापूर्वक पद्मासन लगाकर इसके (सरस्वती के) भली प्रकार संचालन करने से कुण्डलिनी स्वयं चलने (जाग्रत् होने) लगती है॥ १० ॥

द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यं च अम्बरं चतुरङ्गुलम्। विस्तीर्य तेन तन्नाडीं वेष्टयित्वा ततः सुधीः॥ ११ ॥

फिर उस नाड़ी को द्वादश अंगुल लम्बे और चार अंगुल चौड़े अम्बर (वस्त्र) के टुकड़े से लपेटे॥ ११ ॥

[यहाँ कुण्डलिनी नाड़ी (कन्दस्थान) को १२ अंगुल लम्बे और ४ अंगुल चौड़े वस्त्र से लपेटने का उल्लेख योग-साधना पद्धतियों के अनुकूल किया गया है। घेरंड संहिता तथा हठयोग प्रदीपिका (३.११३) में इसी तरह की बात कही गई है। घेरंड संहिता में इतने स्थान पर श्वेत-कोमल वस्त्र लपेटकर पूरे शरीर में भस्म मलने की बात है और हठयोग प्रदीपिका में उस स्थान को उतने परिमाण से लिपटे वस्त्र जैसा कहा गया है।]

अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां तु हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम्। स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणेन पुनःपुनः॥ १२ ॥

तब दृढ़तापूर्वक दोनों नासा छिद्रों को अङ्गुष्ठ एवं तर्जनी से पकड़कर अपनी (इच्छा) शक्ति से पहले बायें, फिर दायें नासिका के छिद्र से बार-बार रेचक और पूरक करे॥ १२ ॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयाच्चालयेत्सुधीः। ऊर्ध्वमाकर्षयेत्किंचित्सुषुम्नां कुण्डलीगताम्॥ १३ ॥

इस तरह निर्भय होकर दो मुहूर्त (= ४ घटी= ९६ मिनट) तक इसको चलाना चाहिए, साथ ही कुण्डलिनी में स्थित सुषुम्ना नाड़ी को किंचित् मात्र ऊपर खींचे॥ १३ ॥

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं व्रजेत्। जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः॥१४ ॥

इस तरह से (सरस्वती चालन क्रिया से) कुण्डलिनी सुषुम्ना नाड़ी के मुख में प्रवेश करके ऊर्ध्वगामी हो जाती है। इसके साथ ही प्राण अपना स्थान छोड़कर सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगता है॥ १४ ॥

तुन्दे तु ताणं कुर्याच्च कण्ठसंकोचने कृते। सरस्वत्याश्चालनेन वक्षसश्चोर्ध्वगो मरुत्॥१५ ॥

कण्ठ संकोचन के सहित पेट को ऊपर की ओर खींचकर इस सरस्वती चालन से वायु ऊर्ध्वगामी होकर वक्षस्थल से भी ऊपर चला जाता है॥ १५ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सूर्येण रेचयेद्वायुं सरस्वत्यास्तु चालने। कण्ठसंकोचनं कृत्वा वक्षसश्चोर्ध्वगो मरुत्॥ १६॥

सरस्वती चालन करते समय सूर्य नाड़ी (दाहिने स्वर) के द्वारा रेचक करते हुए कण्ठ संकोचन करने से (अधोगत) वायु वक्षस्थल से ऊपर की ओर गमन कर जाता है॥ १६॥

तस्मात्संचालयेन्नित्यं शब्दगर्भां सरस्वतीम्। यस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते॥ १७॥

इसलिए नियमित रूप से शब्दगर्भा (शब्दमयी) सरस्वती संचालन करना चाहिए अर्थात् उक्त 'सरस्वती चालन' क्रिया करनी चाहिए। इसका संचालन करने वाला योगी सभी प्रकार के रोगों से मुक्त हो जाता है॥ १७॥

गुल्मं जलोदरः प्लीहा ये चान्ये तुन्दमध्यगाः। सर्वे तु शक्तिचालेन रोगा नश्यन्ति निश्चयम्॥१८॥

इस शक्तिचालन क्रिया से जलोदर, गुल्म, प्लीहा एवं पेट के समस्त रोग निश्चित ही समाप्त हो जाते हैं॥

प्राणरोधमथेदानीं प्रवक्ष्यामि समासतः। प्राणश्च देहगो वायुरायामः कुम्भकः स्मृतः॥ १९॥

अब प्राणों का निरोध अर्थात् प्राणायाम करने की विधि बतलाते हैं। शरीर में संचरण करने वाली वायु को प्राण कहा जाता है, उसे जब (प्राणायाम के द्वारा) स्थिर किया जाता है, तब उसे कुम्भक कहते हैं॥ १९॥

स एव द्विविधः प्रोक्तः सहितः केवलस्तथा। यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत्॥२०॥

यह कुम्भक दो प्रकार का बताया गया है- १. सहित तथा २. केवल। सहित कुम्भक का अभ्यास तब तक करते रहना चाहिए, जब तक केवल कुम्भक की सिद्धि न हो जाये॥ २०॥

सूर्योज्जायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका। भेदैरेव समं कुम्भो यः स्यात्सहितकुम्भकः॥२१॥

सूर्यभेदन,उज्जायी,शीतली और भस्त्रिका-ये चार कुम्भक के भेद 'सहित कुम्भक' कहलाते हैं॥ २१॥

पवित्रे निर्जने देशे शर्करादिविवर्जिते। धनुः प्रमाणपर्यन्ते शीताग्निजलवर्जिते॥ २२॥
पवित्रे नात्युच्चनीचे ह्यासने सुखदे सुखे। बद्धपद्मासनं कृत्वा सरस्वत्यास्तु चालनम्॥ २३॥

जहाँ पर कंकड़-पत्थर आदि न हो, आस-पास घास, अग्नि, जल और शीत आदि न हो, पवित्र एवं एकान्त स्थान हो, वहाँ पर न अति नीचा, न अति ऊँचा, सुख देने वाला आसन बिछाकर बद्ध पद्मासन लगाकर सरस्वती चालन क्रिया करनी चाहिए॥ २२-२३॥

दक्षनाड्या समाकृष्य बहिष्ठं पवनं शनैः। यथेष्टं पूरयेद्वायुं रेचयेदिडया ततः॥ २४॥

श्वास द्वारा धीरे-धीरे दाहिनी नासिका से बाहरी वायु को खींचकर पर्याप्त मात्रा में उदर में भरे, तत्पश्चात् बायीं नासिका-इड़ा से रेचन करना चाहिए॥ २४॥

कपालशोधने वापि रेचयेत्पवनं शनैः। चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च॥ २५॥

कपालशोधन क्रिया में भी धीरे-धीरे वायु का रेचन करना चाहिए। इस प्रकार करने से चारों तरह के वातदोष तथा कृमिदोष नष्ट हो जाते हैं॥ २५॥

पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम्। मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः॥ २६॥
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम्। पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः॥ २७॥
शीर्षोदितानलहरं गलश्लेष्महरं परम्। सर्वरोगहरं पुण्यं देहानलविवर्धनम्॥ २८॥
नाडीजलोदरं धातुगतदोषविनाशनम्। गच्छतस्तिष्ठतः कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम्॥ २९॥

इस क्रिया का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए, सूर्यभेदन इसी क्रिया का नाम है। (उज्जायी प्राणायाम का का वर्णन) मुँह बंद रखते हुए दोनों नासा छिद्रों से वायु को धीरे-धीरे इस प्रकार खींचना चाहिए कि प्रवेश के साथ श्वास से ध्वनि होती रहे। इस प्रकार हृदय एवं कण्ठ तक वायु को भरे। पुनः पहले की तरह कुम्भक करके

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

बायें नासा छिद्र से रेचन करना चाहिए, इसके करने से सिर की गर्मी, गले का कफ दूर हो जाता है, जठराग्नि बढ़ती है, नाड़ी जलोदर तथा धातुरोग भी समाप्त हो जाते हैं। उज्जायी नामक इस कुम्भक को स्थिर रहते अथवा चलते-फिरते कभी भी करते रहना चाहिए॥ २६-२९ ॥

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भकादनु। शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः॥ ३०॥
गुल्मप्लीहादिकान्दोषान्क्षयं पित्तं ज्वरं तृषाम्। विषाणि शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च॥

शीतली प्राणायाम में जिह्वा के द्वारा वायु को खींचकर पहले की तरह कुम्भक करके नासिका से वायु को धीरे-धीरे निकाले। इसके करने से प्लीहा, गुल्म,पित्त, ज्वर,तृषा आदि रोगों का शमन होता है॥ ३०-३१ ॥

ततः पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरः सुधीः। मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत्॥ ३२॥
यथा लगति कण्ठात्तु कपाले सस्वनं ततः। वेगेन पूरयेत् किंचिद्धृत्पद्मावधि मारुतम्॥ ३३॥
पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः। यथैव लोहकाराणां भस्त्रा वेगेन चाल्यते॥ ३४॥
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं शनैः। यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण पूरयेत्॥ ३५॥
यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु। धारयन्नासिकामध्यं तर्जनीभ्यां विना दृढम्॥ ३६॥
कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिडयानिलम्। कण्ठोत्थितानलहरं शरीराग्निविवर्धनम्॥ ३७॥
कुण्डलीबोधकं पुण्यं पापघ्नं शुभदं सुखम्। ब्रह्मनाडीमुखान्तस्थकफाद्यर्गलनाशनम्॥ ३८॥
गुणत्रयसमुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम्। विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम्॥ ३९॥

भस्त्रिका प्राणायाम के लिए पद्मासन में बैठकर शरीर को गर्दन सहित सीधा करके सर्वप्रथम मुख को बन्द करके नासिका के द्वारा वायु को बाहर निकाले। पुनः इस तरह तीव्रता के साथ वायु को खींचे कि वायु का स्पर्श कण्ठ, तालु, सिर एवं हृदय को मालूम पड़े। फिर उसका रेचन करके पुनः पूरक करे, इस तरह बार-बार वेगपूर्वक लुहार की धौंकनी की तरह वायु को खींचे एवं निकाले। इस प्रकार शरीरस्थ वायु को सावधानी के साथ चलाना चाहिए। जब थकान मालूम पड़े, तब दाहिने (सूर्य) स्वर से वायु को खींचकर तर्जनी को छोड़कर नासिका को कसकर पकड़कर वायु का कुम्भक करे, फिर बायें नासा(इड़ा)छिद्र से निकाल देना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से कण्ठ की जलन मिटती है एवं जठराग्नि की वृद्धि होती है। यह प्राणायाम सुख देने वाला, पुण्यकारी, पापनाशक तथा कुण्डलिनी को जगाने वाला है। सुषुम्ना नाड़ी के मुख पर जो (बाधक) कफ आदि रहता है, इसके अभ्यास से वह सब नष्ट हो जाता है तथा सत, रज, तम इन तीनों गुणों से उत्पन्न तीनों ग्रंथियों का भेदन करता है। इसलिए विशेष रूप से इस भस्त्रिका प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए॥३२-३९ ॥

चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते। बन्धत्रयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः॥ ४०॥

निष्पाप योगी को इन चारों प्रकार के प्राणायामों के कुम्भक के समय तीन प्रकार के बन्ध (मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध एवं जालन्धर बन्ध) भी लगाने चाहिए॥ ४० ॥

प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयणाभिधः। जालन्धरस्तृतीयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते॥ ४१॥

प्रथम को मूलबन्ध, द्वितीय को उड्डियान बन्ध और तीसरे को जालन्धर बन्ध कहते हैं। अब उनके लक्षण अर्थात् साधना की विधि कहते हैं॥ ४१ ॥

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्। आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते॥ ४२॥

शरीर के अधोभाग में विचरण करने वाले अपान वायु को, गुदा को संकुचित करके बलपूर्वक ऊपर उठाने की प्रक्रिया को मूलबन्ध कहते हैं॥ ४२ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अपाने चोर्ध्वगे याते संप्राप्ते वह्निमण्डले। ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता॥ ४३॥
ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्। तेनात्यन्तप्रदीप्तेन ज्वलनो देहजस्तथा॥ ४४॥
तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते। दण्डाहतभुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्॥ ४५॥

अपान वायु ऊर्ध्वगमन करके जब वह्निमण्डल से योग करता है, उस समय वायु से आहत होकर अग्नि बहुत तेज हो जाती है। तत्पश्चात् उष्ण स्वरूप वाले प्राण में अग्नि और अपान के मिल जाने पर, उसके प्रभाव से देहजन्य विकार जल जाते हैं। (इसके बाद) उस अग्नि से तप्त होकर सुप्त कुण्डलिनी जाग्रत् होकर प्रताड़ित की हुई सर्पिणी के समान फुंकारती हुई सीधी हो जाती है॥ ४३-४५॥

बिलप्रवेशतो यत्र ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्। तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा॥४६॥

उस समय यह अग्नि (कुण्डलिनी) विवर में प्रवेश करने की तरह सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्रवेश कर जाती है, इसलिए इस मूलबन्ध का अभ्यास योगियों को सदैव करते रहना चाहिए॥ ४६॥

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः। बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः॥ ४७॥
तस्मादुड्डीयणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः। सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम्॥४८॥
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत्। पश्चिमं ताणमुदरे धारयेद्धृदये गले॥ ४९॥
शनैः शनैर्यदा प्राणस्तुन्दसन्धिं निगच्छति। तुन्ददोषं विनिर्धूय कर्तव्यं सततं शनैः॥ ५०॥

कुम्भक करके जब रेचक करते हैं, उससे पहले उड्डियान बन्ध किया जाता है, जिसके करने से यह प्राण सुषुम्ना नाड़ी के भीतर ऊर्ध्वगमन करता है, इसीलिए योगीजनों द्वारा यह 'उड्डीयाण' कहलाता है। इसके लिए वज्रासन में बैठकर पैरों पर दोनों हाथों को दृढ़ता पूर्वक रखे। जहाँ गुल्फ (टखना) रखा जाता है, उसके समीपस्थ कन्द को दबाते हुए, पेट को ऊपर की ओर खींचते हुए, गला एवं हृदय को भी तनाव देते हुए खींचना चाहिए, इस प्रकार प्राण धीरे-धीरे पेट की सन्धियों में प्रवेश कर जाता है, इससे पेट के समस्त विकार दूर हो जाते हैं। इसलिए इस क्रिया को निरन्तर करते रहना चाहिए॥ ४७-५०॥

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः। कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः॥ ५१॥

पूरक के अन्त में वायु को रोकने के लिए कण्ठ संकोचन क्रिया करते हैं, जिसे जालन्धर बन्ध कहते हैं॥

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते। मध्ये पश्चिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥ ५२॥

मूलबन्ध के द्वारा अधोभाग में गुदा का संकोचन करके कण्ठ संकोचन अर्थात् जालन्धर बन्ध करे, बीच में (पेट में) उड्डियान बन्ध के द्वारा प्राण वायु को खींचना चाहिए। इस तरह प्राण को सब ओर से रोकने से वह सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करके ऊर्ध्वगामी होता है॥ ५२॥

पूर्वोक्तेन क्रमेणैव सम्यगासनमास्थितः। चालनं तु सरस्वत्याः कृत्वा प्राणं निरोधयेत्॥ ५३॥

पूर्व में बतायी गयी विधि से ठीक तरह से आसन पर बैठकर 'सरस्वती चालन' के द्वारा प्राणों का निरोध करना चाहिए॥ ५३॥

प्रथमे दिवसे कार्यं कुम्भकानां चतुष्टयम्। प्रत्येकं दशसंख्याकं द्वितीये पञ्चभिस्तथा॥ ५४॥
विंशत्यलं तृतीयेऽह्नि पञ्चवृद्ध्या दिनेदिने। कर्तव्यः कुम्भको नित्यं बन्धत्रयसमन्वितः॥५५॥

चारों प्रकार के कुम्भक को पहले दिन दस-दस बार किया जाता है, दूसरे दिन पन्द्रह-पन्द्रह बार कुम्भक करे। प्राणायाम के क्रम में तीसरे दिन बीस-बीस बार अभ्यास करे। इस प्रकार प्रतिदिन पाँच-पाँच संख्या में बढ़ाता चले। कुम्भक का अभ्यास तीनों बन्धों के साथ प्रतिदिन करना चाहिए॥ ५४-५५॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

दिवा सुप्तिर्निशायां तु जागरादतिमैथुनात्। बहुसंक्रमणं नित्यं रोधान्मूत्रपुरीषयोः॥ ५६॥
विषमासनदोषाच्च प्रयासप्राणचिन्तनात्। शीघ्रमुत्पद्यते रोगः स्तम्भयेद्यदि संयमी॥ ५७॥

दिन में सोना, रात्रि का जागरण, अतिमैथुन, मल एवं मूत्र के वेग को रोकना, ज्यादा चलना, आसनों का उचित ढंग से अभ्यास न करना, प्राणायाम की क्रिया में बहुत शक्ति लगाना तथा चिन्तित रहना-इन दोषों के कारण साधक शीघ्र रोगी हो जाता है॥ ५६-५७॥

योगाभ्यासेन मे रोग उत्पन्न इति कथ्यते। ततोऽभ्यासं त्यजेदेवं प्रथमं विघ्नमुच्यते॥ ५८॥
द्वितीयं संशयाख्यं च तृतीयं च प्रमत्तता। आलस्याख्यं चतुर्थं च निद्रारूपं तु पञ्चमम्॥ ५९॥
षष्ठं तु विरतिर्भ्रान्तिः सप्तमं परिकीर्तितम्। विषयं चाष्टमं चैव अनाख्यं नवमं स्मृतम्॥ ६०॥
अलब्धिर्योगतत्त्वस्य दशमं प्रोच्यते बुधैः। इत्येतद्विघ्नदशकं विचारेण त्यजेद्बुधः॥ ६१॥

मुझे योगाभ्यास के द्वारा रोग हो गया है, यदि कोई साधक यह कहकर अभ्यास बन्द कर दे, तो समझना चाहिए कि योगाभ्यास का यह पहला विघ्न है। दूसरा विघ्न साधना पर शंका करना अर्थात् विश्वास न होना, तीसरा विघ्न प्रमत्तता है, चौथा विघ्न आलस्य करना, पाँचवाँ विघ्न ज्यादा नींद लेना, छठवाँ विघ्न साधना से प्रेम न होना, सातवाँ विघ्न भ्रान्ति, आठवाँ विघ्न विषय-वासना में अनुरक्ति, नवाँ अनाख्य (अप्रसिद्धि या अनाम) और योग तत्त्व का प्राप्त न होना दसवाँ विघ्न है, इस प्रकार ये दस विघ्न हैं, इन पर विचार करके बुद्धिमान् साधक को इनका त्याग कर देना चाहिए॥ ५८-६१॥

प्राणाभ्यासस्ततः कार्यो नित्यं सत्त्वस्थया धिया। सुषुम्ना लीयते चित्तं तथा वायुः प्रधावति॥६२॥

इसलिए नियमित रूप से सत्त्वमयी बुद्धि से विचार कर प्राणायाम करना चाहिए। इस प्रकार के चिन्तन से चित्त सुषुम्ना नाड़ी में लीन रहता है, जिसके कारण उसमें प्राणों का प्रवाह चलने लगता है॥ ६२॥

शुष्के मले तु योगी च स्यादूतिश्चलिता ततः। अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्॥ ६३॥

मल शोधन होने के बाद जब प्राण प्रवाहित (गतिशील) होने लगे, तभी बलपूर्वक अपान को ऊर्ध्वगामी बनाना चाहिए, उससे पहले नहीं॥ ६३॥

आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते। अपानश्चोर्ध्वगो भूत्वा वह्निना सह गच्छति॥ ६४॥

प्राण को ऊर्ध्वगामी बनाने की प्रक्रिया के लिए गुदा के आकुंचन की क्रिया को मूलबन्ध कहते हैं। इस क्रिया से अपान ऊर्ध्वगामी होकर अग्नि के साथ संयुक्त होकर ऊपर की ओर चल देता है॥ ६४॥

प्राणस्थानं ततो वह्निः प्राणापानौ च सत्वरम्। मिलित्वा कुण्डलीं याति प्रसुप्ता कुण्डलाकृतिः॥
तेनाग्निना च संतप्ता पवनेनैव चालिता। प्रसार्य स्वशरीरं तु सुषुम्ना वदनान्तरे॥ ६६॥

प्राण के स्थान में जब वह अग्नि पहुँचती है और प्राण तथा अपान दोनों मिलकर कुण्डलिनी में मिलते हैं, उस समय उसकी गर्मी से तप्त होकर एवं वायु के बारम्बार दबाव से कुण्डलिनी सीधी होकर सुषुम्ना के मुँह में प्रवेश कर जाती है॥ ६५-६६॥

ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा रजोगुणसमुद्भवम्। सुषुम्नावदने शीघ्रं विद्युल्लेखेव संस्फुरेत्॥ ६७॥
विष्णुग्रन्थिं प्रयात्युच्चैः सत्वरं हृदि संस्थिता। ऊर्ध्वं गच्छति यच्चान्ते रुद्रग्रन्थिं तदुद्भवम्॥६८॥

तब यह कुण्डलिनी शक्ति रजोगुण से उत्पादित ब्रह्मग्रन्थि का भेदन करके विद्युत् शिखा की भाँति सुषुम्ना के मुख में ऊर्ध्वगमन करती है-प्रवेश करती है। (वहाँ से) शीघ्र ही हृदयचक्र में स्थित विष्णुग्रन्थि का भेदन कर उसके भी ऊपर रुद्रग्रन्थि (आज्ञा चक्र) में पहुँच जाती है॥६७- ६८॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

भ्रुवोर्मध्यं तु संभिद्य याति शीतांशुमण्डलम्। अनाहताख्यं यच्चक्रं दलैः षोडशभिर्युतम्॥६९॥

भृकुटियों के मध्य (आज्ञाचक्र) का भेदन करके यह चन्द्र स्थान में पहुँच जाती है, जहाँ पर षोडश दल वाला अनाहतचक्र स्थित है॥ ६९॥

तत्र शीतांशुसंजातं द्रवं शोषयति स्वयम्। चलिते प्राणवेगेन रक्तं पित्तं रवेर्ग्रहात्॥ ७०॥

यह (कुण्डलिनी शक्ति) वहाँ पर चन्द्रमा के द्वारा निःसृत द्रव को सुखाकर प्राणवायु के वेग से गतिशील होकर, सूर्य से मिलकर, रक्त और पित्त को ग्रहण कर लेती है॥ ७०॥

यातेन्दुचक्रं यत्रास्ते शुद्धश्लेष्मद्रवात्मकम्। तत्र सिक्तं ग्रसत्युष्णं कथं शीतस्वभावकम्॥ ७१॥

वहाँ चन्द्र स्थान में जाकर जहाँ शुद्ध श्लेष्मा द्रवस्वरूप रहता है,उस रस पदार्थ को सोखकर उसे गर्म कर देती है, इस तरह वहाँ शीतलता नहीं रह जाती॥ ७१॥

तथैव रभसा शुक्लं चन्द्ररूपं हि तप्यते। ऊर्ध्वं प्रवहति क्षुब्धा तदैवं भ्रमतेतराम्॥ ७२॥

तब यह शुक्ल रूप चन्द्रमा को शीघ्रता से तपा देती है तथा क्षुब्ध होकर ऊर्ध्वगामी हो जाती है॥ ७२॥

तस्यास्वादवशाच्चित्तं बहिष्ठं विषयेषु यत्। तदेव परमं भुक्त्वा स्वस्थः स्वात्मरतो युवा॥७३॥

उस स्थिति में उसे अमृतरस का स्वाद मिल जाता है, इसलिए जो मन पहले बाहरी विषयों में भोगरत रहता था, वह अब अन्तर्मुखी होकर स्वयं में स्थित स्वकीय आत्मा में आनन्द की अनुभूति करने लगता है॥७३॥

प्रकृत्यष्टकरूपं च स्थानं गच्छति कुण्डली। क्रोडीकृत्य शिवं याति क्रोडीकृत्य विलीयते॥७४॥

इस तरह से यह कुण्डलिनी शक्ति अष्टधा प्रकृति (पंच तत्त्व, मन, बुद्धि, अहंकार) से गमन करते हुए शिव से एकाकार होती है और उन्हीं में विलीन हो जाती है॥ ७४॥

इत्यधोर्ध्वरजः शुक्लं शिवे तदनु मारुतः। प्राणापानौ समौ याति सदा जातौ तथैव च॥ ७५॥

इस प्रकार अधोभाग स्थित रज व ऊर्ध्व स्थित शुक्ल(शुक्र),वायु के वेग से शिव में मिल जाते हैं तथा प्राण व अपान भी शिव में विलीन हो जाते हैं; क्योंकि उन्हें समान रूप से उत्पन्न होने वाला कहा गया है॥ ७५॥

भूतेऽल्पे चाप्यनल्पे वा वाचके त्वतिवर्धते। धावयत्यखिला वाता अग्निमूषाहिरण्यवत्॥ ७६॥

जिस प्रकार अग्नि की गर्मी से स्वर्ण गलकर फैल जाता है, ठीक उसी प्रकार यह भौतिक शरीर चाहे छोटा हो या बड़ा (कुण्डलिनी की) उष्णता पाकर वह दिव्यशक्ति पूरे शरीर में फैल जाती है॥ ७६॥

आधिभौतिकदेहं तु आधिदैविकविग्रहे। देहोऽतिविमलं याति चातिवाहिकतामियात्॥ ७७॥

जाड्यभावविनिर्मुक्तममलं चिन्मयात्मकम्। तस्यातिवाहिकं मुख्यं सर्वेषां तु मदात्मकम्॥७८॥

इस दिव्यशक्ति (कुण्डलिनी) के प्रभाव से यह आधिभौतिक शरीर आधिदैविक शरीर के रूप में परिवर्तित हो जाता है तथा शरीर अत्यन्त पवित्र होकर सूक्ष्म शरीर की तरह हो जाता है। वह जड़ता भाव को छोड़कर विशुद्ध चिन्मय स्वरूप हो जाता है, जबकि शेष मनुष्य अज्ञानग्रस्त ही बने रहते हैं॥ ७८॥

जायाभवविनिर्मुक्तिः कालरूपस्य विभ्रमः। इति तं स्वरूपा हि मती रज्जुभुजङ्गवत्॥ ७९॥

मृषैवोदेति सकलं मृषैव प्रविलीयते। रौप्यबुद्धिः शुक्तिकायां स्त्रीपुंसोर्भ्रमतो यथा॥ ८०॥

उस साधक को अपने 'स्व' रूप की जानकारी हो जाती है, तब वह भव-बन्धन अर्थात् आवागमन से मुक्त हो जाता है, वह काल के पाश से मुक्त हो जाता है, रस्सी में सर्प, सीपी में चाँदी एवं स्त्री में पुरुष के भ्रम की तरह अपने स्वरूप का ज्ञान होने पर साधक को अपने शरीर की नश्वरता का बोध हो जाता है॥ ७९-८०॥

पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं लिङ्गसूत्रात्मनोरपि। स्वापाव्याकृतयोरैक्यं स्वप्रकाशचिदात्मनोः॥ ८१॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

इस प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्ड तथा सूक्ष्म शरीर एवं सूत्रात्मा के एकाकार होने पर अपनी आत्मा और परम चैतन्य स्वप्रकाशित परमात्मा की एकता का ज्ञान हो जाता है ॥ ८१ ॥

शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभा शुभा। मूलकन्दं फणाग्रेण दृष्ट्वा कमलकन्दवत् ॥८२ ॥
मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रसमन्विता। पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्च्य साधकः ॥ ८३ ॥
वायुमूर्ध्वगतं कुर्वन्कुम्भकाविष्टमानसः। वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन् ॥ ८४ ॥

कमल के नाल की तरह कुण्डलिनी शक्ति होती है तथा कमलकन्द की तरह ही मूलकन्द को फणाग्र से देखकर,मुँह में अपने पुच्छ भाग को डालकर ब्रह्मरंध्र(सुषुम्ना नाड़ी)के द्वार को ढककर वह सुप्त पड़ी रहती है। इसके जागरण के लिए पद्मासन में बैठकर गुदा को ऊपर की ओर खींचकर कुम्भक करते हुए वायु को ऊपर की ओर ले जाकर वायु के आघात से स्वाधिष्ठानचक्र में स्थित अग्नि को प्रज्वलित करना चाहिए ॥८२-८४ ॥

ज्वलनाघातपवनाघातैरुन्निद्रितोऽहिराट्। ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यतः ॥ ८५ ॥
रुद्रग्रन्थिं च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट्। सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते ॥ ८६ ॥
सैवावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारिणी ॥ ८७ ॥ इति ॥

ऐसा करने से अग्नि और वायु के प्रहार से सुप्त कुण्डलिनी जाग्रत् होकर ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ग्रन्थियों का भेदन करके षट्चक्र का भेदन करती हुई सहस्रार कमल में पहुँच जाती है तथा यहाँ वह शक्ति के रूप में शिव में मिलकर आनन्द प्राप्त करती है। यह अवस्था परमानन्ददायी मुक्तिरूप होती है ॥ ८५-८७ ॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथाहं संप्रवक्ष्यामि विद्यां खेचरिसंज्ञिकाम्। यथा विज्ञानवानस्या लोकेऽस्मिन्नजरोऽमरः ॥१ ॥

अब खेचरी विद्या का वर्णन करते हैं, जिसे जान लेने के बाद व्यक्ति अजर-अमर हो जाता है ॥ १ ॥

मृत्युव्याधिजराग्रस्तो दृष्ट्वा विद्यामिमां मुने। बुद्धिं दृढतरां कृत्वा खेचरीं तु समभ्यसेत् ॥ २ ॥

जो मनुष्य जरा, मृत्यु और रोगों से ग्रसित है, वह दृढ़ निश्चय करके खेचरी विद्या का अभ्यास करे ॥ २ ॥

जरामृत्युगदघ्नो यः खेचरीं वेत्ति भूतले। ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव तदभ्यासप्रयोगतः ॥ ३ ॥
तं मुने सर्वभावेन गुरुं मत्वा समाश्रयेत्। दुर्लभा खेचरी विद्या तदभ्यासोऽपि दुर्लभः ॥ ४ ॥

बुढ़ापा, मृत्यु और रोगों का विनाश करने वाली इस खेचरी को इस पृथ्वी पर जो व्यक्ति ग्रन्थों के द्वारा, उनके भावों के द्वारा जानकर अभ्यास करते हों, इसका ज्ञान रखते हों, उन्हें समर्पित होकर, गुरु मानकर इसकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यह खेचरी विद्या तथा उसका अभ्यास दोनों दुर्लभ हैं ॥ ३-४ ॥

अभ्यासं मेलनं चैव युगपन्नैव सिध्यति। अभ्यासमात्रनिरता न विन्दन्ते ह मेलनम् ॥ ५ ॥

इस खेचरी विद्या का अभ्यास एवं मेलन (साधना) साथ-साथ सिद्ध होता है, केवल अभ्यास करने से 'मेलन' (सिद्धि) की प्राप्ति नहीं हो पाती ॥ ५ ॥

[खेचरी सिद्धि के लिए क्रिया के अभ्यास के साथ-साथ मेलन प्रयोग करने का विधान है। मेलन के अन्तर्गत मंत्र अथवा गुरु के माध्यम से प्राण शक्ति को शिवशक्ति के साथ संयुक्त करने का विधान कहा गया है। आगे (३.१ में) मेलन मंत्र भी दिया गया है।]

अभ्यासं लभते ब्रह्मञ्जन्मजन्मान्तरे क्वचित्। मेलनं तत्तु जन्मनां शतान्तेऽपि न लभ्यते ॥ ६ ॥

हे ब्रह्मन्! किसी जन्म में अभ्यास तो मिल भी जाता है, पर मेलन सैकड़ों जन्मों में भी नहीं मिलता ॥ ६ ॥

अभ्यासं बहुजन्मान्ते कृत्वा तद्भावसाधितम्। मेलनं लभते कश्चिद्योगी जन्मान्तरे क्वचित् ॥७ ॥

भाव के सहित बहुत जन्मों में साधना करने पर किसी जन्म में योगी को मेलन प्राप्त हो जाता है ॥ ७ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

यदा तु मेलनं योगी लभते गुरुवक्त्रतः। तदा तत्सिद्धिमाप्नोति यदुक्ता शास्त्रसंततौ॥ ८॥

साधक जब गुरु के श्रीमुख से 'मेलन' मंत्र ग्रहण करता है एवं शास्त्रीय परम्परानुसार साधना करता है, तब (कहीं) सिद्धि मिलती है॥ ८॥

ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव मेलनं लभते यदा। तदा शिवत्वमाप्नोति निर्मुक्तः सर्वसंसृतेः॥ ९॥

ग्रंथ के निर्देशानुसार अथवा उसके भावानुसार जब विधिवत् जान कर मेलन को प्राप्त कर लेता है , तब साधक संसार-सागर से मुक्त होकर शिवस्वरूप हो जाता है॥ ९॥

शास्त्रं विनापि संबोद्धुं गुरवोऽपि न शक्नुयुः। तस्मात्सुदुर्लभतरं लभ्यं शास्त्रमिदं मुने॥ १०॥

शास्त्र के बिना गुरु भी ज्ञान प्राप्त नहीं करा सकते, इसलिए हे मुने! शास्त्र का प्राप्त होना जरूरी है; क्योंकि यह शास्त्र बहुत महत्त्वपूर्ण है॥ १०॥

यावन्न लभ्यते शास्त्रं तावद्गां पर्यटेद्यतिः। यदा संलभ्यते शास्त्रं तदा सिद्धिः करे स्थिता॥११॥

यति (साधक) को चाहिए कि जब तक 'शास्त्र' की प्राप्ति न हो जाए, तब तक धरती पर घूम-घूम कर उसे ढूँढ़ना चाहिए। सच्चा शास्त्र-ज्ञान प्राप्त हो जाने पर हाथों-हाथ सिद्धि प्राप्त हो जाती है॥ ११॥

न शास्त्रेण विना सिद्धिर्दृष्टा चैव जगत्त्रये। तस्मान्मेलनदातारं शास्त्रदातारमच्युतम्॥ १२॥
तदभ्यासप्रदातारं शिवं मत्वा समाश्रयेत्। लब्ध्वा शास्त्रमिदं मह्यमन्येषां न प्रकाशयेत्॥ १३॥

तीनों लोकों में बिना शास्त्र ज्ञान के सिद्धि नहीं मिल सकती। इसलिए शास्त्र का ज्ञान देने वाला और मेलन(योग)का अभ्यास कराने वाला गुरु भगवान् की प्रतिमूर्ति होता है,उसका अभ्यास कराने वाले को 'शिव' मानकर उसका आश्रय लेना चाहिए। यह ज्ञान प्राप्त करके अन्य(अनधिकारी)के समक्ष न प्रकट करे॥ १२-१३

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गोपनीयं विजानता। यत्रास्ते च गुरुर्ब्रह्मन्दिव्ययोगप्रदायकः॥ १४॥
तत्र गत्वा च तेनोक्तविद्यां संगृह्य खेचरीम्। तेनोक्तः सम्यगभ्यासं कुर्यादादावतन्द्रितः॥ १५॥

इसे हर प्रकार से गोपनीय रखते हुए, जहाँ भी इस दिव्य ज्ञान 'योग' में पारंगत गुरु मिलें, उन्हीं के पास जाकर खेचरी विद्या को ग्रहण कर उनके निर्देशानुसार जागरूक होकर अभ्यास करना चाहिए॥ १४-१५॥

अनया विद्यया योगी खेचरीसिद्धिभाग्भवेत्। खेचर्या खेचरीं युञ्जन्खेचरीबीजपूरया॥ १६॥

इस विद्या से योगी को खेचरी अर्थात् आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त होती है, इसलिए खेचरी का अभ्यास खेचरी बीज (मन्त्र) के योग के साथ करना चाहिए॥ १६॥

खेचराधिपतिर्भूत्वा खेचरेषु सदा वसेत्। खेचरावसथं वह्निमम्बुमण्डलभूषितम्॥ १७॥

इस प्रकार का साधक आकाशगामी देवताओं का अधिपति होकर आकाश में विचरण करता रहता है। खेचरी के बीज मंत्र में खेचर का रूप 'ह' कार, आवसथ अर्थात् धारणा का रूप 'ई' कार, अग्नि का रूप 'र' कार और जल का रूप 'अनुस्वार' अर्थात् बिन्दु है। (इस प्रकार इन सबका योग 'ह्रीं' होता है)॥ १७॥

आख्यातं खेचरीबीजं तेन योगः प्रसिध्यति। सोमांशनवकं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत्॥ १८॥
तस्मात् त्र्यंशकमाख्यातमक्षरं चन्द्ररूपकम्। तस्मादप्यष्टमं वर्णं विलोमेन परं मुने॥ १९॥
तथा तत्परमं विद्धि तदादिरपि पञ्चमी। इन्दोश्च बहुभिन्ने च कूटोऽयं परिकीर्तितः॥ २०॥

खेचरी योग इसी (बीजमन्त्र) से सिद्ध होता है। (इसके आगे) सोमांश चन्द्रबीज 'स' कार होता है, इसके उल्टे गिनने पर नवें अक्षर पर 'भ' है, पुनः चन्द्रबीज 'स' कार है, इसके उल्टे गिनने पर अष्टम अक्षर पर 'म' है, इससे पाँच अक्षर उल्टा गिनने पर 'प' है, पुनः चन्द्रबीज 'स' कार एवं संयुक्त वर्ण युक्त 'क्ष' सबसे अन्तिम अक्षर है। (इस तरह ह्रीं, भं, सं, मं, पं, सं, क्षं खेचरी का मंत्र होता है।) ॥ १८-२०॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

गुरूपदेशलभ्यं च सर्वयोगप्रसिद्धिदम्। यत्तस्य देहजा माया निरुद्धकरणाश्रया॥ २१॥
स्वप्नेऽपि न लभेत्तस्य नित्यं द्वादशजप्यतः। य इमां पञ्च लक्षाणि जपेदपि सुयन्त्रितः॥ २२॥
तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते। नश्यन्ति सर्वविघ्नानि प्रसीदन्ति च देवताः॥ २३॥

गुरु के द्वारा विधिवत् उपदेश लेकर इस मंत्र का जप करने से यह सभी प्रकार की सिद्धियों को देने वाला है। इस मंत्र का प्रतिदिन द्वादश बार जप करने से देह में स्थित माया का स्वप्न में भी प्रभाव नहीं पड़ता। इस मंत्र का जो नियमपूर्वक पाँच लाख जप करता है, उस व्यक्ति की खेचरी स्वयमेव सिद्ध हो जाती है तथा उसके जीवन के सभी विघ्न समाप्त हो जाते हैं एवं उसे देवताओं की प्रसन्नता प्राप्त होती है॥ २१-२३॥

वलीपलितनाशश्च भविष्यति न संशयः। एवं लब्ध्वा महाविद्यामभ्यासं कारयेत्ततः॥ २४॥

शरीर में पड़ी झुर्रियों एवं पके केश जैसे लक्षण समाप्त हो जाते हैं अर्थात् वृद्ध भी युवा हो जाता है, इसमें शंका नहीं करनी चाहिए, इसलिए इस महाविद्या का भली-भाँति अभ्यास करना चाहिए॥ २४॥

अन्यथा क्लिश्यते ब्रह्मन्न सिद्धिः खेचरीपथे। यदभ्यासविधौ विद्यां न लभेद्यः सुधामयीम्॥२५॥
ततः संमेलकादौ च लब्ध्वा विद्यां सदा जपेत्। नान्यथा रहितो ब्रह्मन्न किंचित्सिद्धिभाग्भवेत्॥

हे ब्रह्मन्! ऐसा न करने से इस खेचरी की सिद्धि नहीं होती, उल्टे कष्ट ही उठाना पड़ता है। सम्यक् प्रकार से अभ्यास के बाद भी यदि सिद्धि न मिले, तो भी मार्गदर्शक के द्वारा निर्देशित मार्ग का त्याग न करे। निरंतर इसका जप करना चाहिए, बिना उपयुक्त मार्गदर्शक के सिद्धि सम्भव नहीं॥ २५-२६॥

यदिदं लभ्यते शास्त्रं यदा विद्यां समाश्रयेत्। ततस्तदोदितां सिद्धिमाशु तां लभते मुनिः॥२७॥

यदि यह शास्त्र प्राप्त हो जाये, तो इस विद्या का अभ्यास करे। इस प्रकार भली प्रकार से साधना करने पर साधक को सिद्धि शीघ्र प्राप्त हो जाती है॥ २७॥

तालुमूलं समुत्कृष्य सप्तवासरमात्मवित्। स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोधयेत्॥ २८॥

सबसे पहले साधक गुरु के निर्देशानुसार तालु के मूल स्थान को सात दिनों तक घिसे, जिससे उसका मैल दूर हो जाये॥ २८॥

स्नुहिपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्। समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत्॥ २९॥

इसके बाद थूहर के पत्ते की तरह तीक्ष्णधारयुक्त किसी पवित्र औजार से जिह्वा मूल (नीचे के जबड़े से जीभ को जोड़ने वाले तन्तु) को बाल के बराबर गुरु से कटाये या स्वयं काटे॥ २९॥

हित्वा सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत्। पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत्॥ ३०॥

हरड़ और सेंधा नमक का चूर्ण कटे हुए स्थान पर सात दिन तक बुरकता रहे, इसके बाद पुनः उसी प्रकार बाल मात्र (तनिक सा) काटे॥ ३०॥

एवं क्रमेण षाण्मासं नित्योद्युक्तः समाचरेत्। षाण्मासाद्रसनामूलं सिराबन्धं प्रणश्यति॥ ३१॥

इस तरह लगातार छः महीने प्रयास करने से जीभ का (निचले जबड़े से) सम्बन्ध कट जाता है॥ ३१॥

अथ वागीश्वरीधाम शिरो वस्त्रेण वेष्टयेत्। शनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेलाविधानवित्॥ ३२॥
पुनः षाण्मासमात्रेण नित्यं संघर्षणान्मुने। भ्रूमध्यावधि चाप्येति तिर्यक्कर्णबिलावधि॥ ३३॥
अधश्च चुबुकं मूलं प्रयाति क्रमचारिता। पुनः संवत्सराणां तु तृतीयादेव लीलया॥ ३४॥
केशान्तमूर्ध्वं क्रमति तिर्यक्शाखावधिर्मुने। अधस्तात्कण्ठकूपान्तं पुनर्वर्षत्रयेण तु॥ ३५॥
ब्रह्मरन्ध्रं समावृत्य तिष्ठेदेव न संशयः। तिर्यक् चूलितलं याति अधः कण्ठबिलावधिः॥ ३६॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

तब जिह्वा के आगे वाले हिस्से में वस्त्र लपेटकर धीरे-धीरे बाहर की ओर को दोहन करना चाहिए। इस तरह नियमित रूप से अभ्यास करने पर जिह्वा बढ़कर बाहर भृकुटियों के बीच तक पहुँच जायेगी तथा और ज्यादा अभ्यास होने पर दोनों बगल,कान तक पहुँचने लगेगी। बाहर निकलने पर ठोड़ी तक पहुँच जायेगी। इस अभ्यास को यदि बराबर तीन वर्ष तक बनाये रखा जाये,तो जिह्वा सिर के बालों तक पहुँचने लगेगी। इस प्रकार अभ्यास करते रहा जाए, तो जीभ बगल में कन्धे तक एवं नीचे कण्ठकूप तक पहुँच जाती है। आगे और तीन वर्षों तक यदि अभ्यास किया जाये,तो वह गर्दन के पीछे और नीचे कण्ठ के अन्तिम भाग तक पहुँच जाती है। इस प्रकार जिह्वा सिर के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच कर उसे ढक लेगी, इसमें कोई संशय नहीं है॥ ३२-३६॥

[इस उपनिषद् में खेचरी मुद्रा की हठयोग सम्मत दुस्साध्य विधि का वर्णन किया गया है। युग निर्माण अभियान के अन्तर्गत भावरससिद्धि हेतु खेचरी मुद्रा की जो सर्वसुलभ विधि बताई गई है, वह इससे भिन्न है। उस सर्वसुलभ विधि से खेचरी द्वारा अमृतपान साधना करने वाले साधकों को इससे किसी भ्रम या शंका में नहीं पड़ना चाहिए।]

शनैः शनैर्मस्तकाच्च महावज्रकपाटभित्। पूर्वं बीजयुता विद्या ह्याख्याता याऽतिदुर्लभा॥३७॥
तस्याः षडङ्गं कुर्वीत तया षट्स्वरभिन्नया। कुर्यादेवं करन्यासं सर्वसिद्ध्यादिहेतवे॥ ३८॥

इस तरह क्रमशः अभ्यास करने पर जिह्वा ब्रह्मरन्ध्र का भेदन कर जाती है। सभी बीजाक्षरों की विधि सहित यह विद्या बहुत कठिन है। पूर्व में कहे हुए इन छः बीजाक्षरों से करन्यास एवं षडंगन्यास करने से ही पूरी सिद्धि मिल सकती है॥ ३७-३८॥

शनैरेवं प्रकर्तव्यमभ्यासं युगपन्न हि। युगपद्वर्तते यस्य शरीरं विलयं व्रजेत्॥ ३९॥
तस्माच्छनैः शनैः कार्यमभ्यासं मुनिपुङ्गव। यदा च बाह्यमार्गेण जिह्वा ब्रह्मबिलं व्रजेत्॥४०॥
तदा ब्रह्मार्गलं ब्रह्मन्दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि। अङ्गुल्यग्रेण संघृष्य जिह्वामात्रंनिवेशयेत्॥४१॥

यह अभ्यास बड़ी सावधानी रखते हुए धीरे-धीरे क्रमशः करना चाहिए। जल्दी-जल्दी किया गया अभ्यास शरीर को हानि पहुँचा सकता है। इसलिए इसके अभ्यास में जल्दी नहीं करनी चाहिए। यदि बाह्य (स्थूल) विधि से जिह्वा ब्रह्म विवर में प्रवेश कर जाये, तब अँगुली के अग्रभाग से उठाकर उसे विवर के भीतर कर देना चाहिए॥ ३९-४१॥

[तालु के पीछे नासिका से जुड़ी वायु नली का मार्ग गले में खुलता है। उसे तालुमूल कहा गया है। इस तालुमूल से लगा हुआ लोलचक्र या तालुचक्र कहा गया है। इसका सीधा संबंध मस्तिष्कमध्य में सहस्रारचक्र और ब्रह्मरन्ध्र से है। तालुमूल में खुलने वाले उक्त मार्ग के प्रवेश स्थल को ब्रह्म विवर कहा गया है।]

एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारं प्रविश्यति। ब्रह्मद्वारे प्रविष्टे तु सम्यङ्मथनमाचरेत्॥ ४२॥

तीन वर्ष तक इस तरह अभ्यास करने पर जिह्वा का प्रवेश ब्रह्म द्वार में हो जाता है। जिह्वा के वहाँ प्रवेश कर जाने पर विधिवत् उसके द्वारा मंथन करना चाहिए॥ ४२॥

मथनेन विना केचित्साधयन्ति विपश्चितः। खेचरीमन्त्रसिद्धस्य सिध्यते मथनं विना॥ ४३॥

ऐसे कई योग्य साधक होते हैं, जो मंथन के बिना ही खेचरी सिद्ध कर लेते हैं, परन्तु जिन्होंने खेचरी मंत्र सिद्ध कर लिया है, वे ही मन्थन के बिना सिद्ध कर पाते हैं (अन्य नहीं)॥ ४३॥

जपं च मथनं चैव कृत्वा शीघ्रं फलं लभेत्। स्वर्णजां रौप्यजां वापि लोहजां वा शलाकिकाम्॥४४
नियोज्य नासिकारन्ध्रं दुग्धसिक्तेन तन्तुना। प्राणान्निरुध्य हृदये सुखमासनमात्मनः॥ ४५॥
शनैः सुमथनं कुर्याद्भ्रूमध्ये न्यस्तचक्षुषी। षाण्मासं मथनावस्था भावेनैव प्रजायते॥ ४६॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

जप और मंथन दोनों करने से जल्दी लाभ मिलता है। मंथन हेतु लोहा, चाँदी या स्वर्ण की शलाका के एक सिरे पर दुग्ध लगा हुआ तन्तु लगाए, पुनः उसे नाक में डाल कर सुखासन में बैठ कर प्राण को हृदय में निरोध करके नेत्रों से भौंहों के मध्य देखते हुए उसी शलाका से मंथन करे। इस प्रकार छः मास तक मंथन करने पर इसका प्रभाव दिखलाई देने लगता है॥ ४४-४६॥

यथा सुषुप्तिर्बालानां यथा भावस्तथा भवेत्। न सदा मथनं शस्तं मासे मासे समाचरेत्॥ ४७॥
सदा रसनया योगी मार्गं न परिसंक्रमेत्। एवं द्वादशवर्षान्ते संसिद्धिर्भवति ध्रुवा॥ ४८॥

उस समय साधक की अवस्था सोते हुए बालक की तरह होती है। इस मन्थन को मास में एक बार करे, नित्य न करे। जिह्वा को भी ब्रह्मरन्ध्र में बार-बार प्रविष्ट करे। द्वादश वर्ष तक इसी तरह अभ्यास करने से सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है॥ ४७-४८॥

शरीरे सकलं विश्वं पश्यत्यात्मविभेदतः। ब्रह्माण्डोऽयं महामार्गो राजदन्तोर्ध्वकुण्डली॥ ४९॥

अभ्यास की इस अवस्था में योगी अपने अन्तर में पूरे विश्व का दर्शन कर लेता है; क्योंकि जिह्वा के ब्रह्म विवर में जाने वाले मार्ग में ही ब्रह्माण्ड की स्थिति है॥ ४९॥

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

मेलनमन्त्रः ह्रीं भं सं मं पं सं क्षम्। पद्मज उवाच। अमावास्या च प्रतिपत्पौर्णमासी च शंकर। अस्याः का वर्ण्यते संज्ञा एतदाख्याहि तत्त्वतः॥ १॥

ब्रह्माजी ने कहा! खेचरी का— मेलन मंत्र 'ह्रीं भं सं मं पं सं क्षं' है। हे शंकर जी! कृपा करके आप हमें यह बतायें कि साधक के लिए अमावस्या, प्रतिपदा एवं पूर्णमासी का क्या अभिप्राय है?॥ १॥

प्रतिपद्दिनतोऽकाले अमावास्या तथैव च। पौर्णमास्यां स्थिरीकुर्यात्स च पन्था हि नान्यथा॥२॥

(आत्मदर्शन के समय साधक की दृष्टि का वर्णन—) आत्मानुसंधान की साधना के प्रथम चरण में साधक की दृष्टि एवं स्थिति प्रकाशरहित अमावस्या की, द्वितीय चरण में प्रतिपदा (अल्प प्रकाश की) तथा तृतीय चरण में पूर्णिमा (पूर्ण प्रकाश) की होती है। वही कल्याण की स्थिति है॥ २॥

कामेन विषयाकाङ्क्षी विषयात्काममोहितः। द्वावेव संत्यजेन्नित्यं निरञ्जनमुपाश्रयेत्॥ ३॥

जब मनुष्य कामनाबद्ध होकर विषयों की ओर दौड़ता है, उस समय विषयों को प्राप्त करते हुए कामनाएँ बढ़ती जाती हैं। इसलिए विषय और कामना दोनों से अलग होकर (आत्मा में ध्यान लगाते हुए) ही विशुद्ध परमात्मभाव की प्राप्ति की जा सकती है॥ ३॥

अपरं संत्यजेत्सर्वं यदीच्छेदात्मनो हितम्। शक्तिमध्ये मनः कृत्वा मनः शक्तेश्च मध्यगम्॥ ४॥

अपना हित चाहने वाले को समस्त मिथ्या विषयों को छोड़कर शक्ति (कुण्डलिनी) के मध्य में मन को स्थिर करके उसी में स्थिर रहना चाहिए॥ ४॥

[मन को चेतन सत्ता-शक्ति के मध्य स्थिर करना 'स्व' का चेतन में वास कहा जाता है। जब चेतन में वास होता है, तो शरीर को किन्हीं लौकिक संसाधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती। जब तक शक्ति में 'वास' (पूरी तरह स्थिर होना) न सधे, तब तक यत्नपूर्वक 'उपवास' चेतना में आंशिकरूप से रहने का अभ्यास करना चाहिए। उपवास की स्थिति में शरीर के लिए न्यूनतम आहार देकर भी उसे सक्रिय और संतुष्ट रखा जा सकता है। उपवास साधना को शक्ति में वास की साधना का पूर्वाभ्यास कहा जा सकता है।]

मनसा मन आलोक्य तत्त्यजेत्परमं पदम्। मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्तिस्थितिकारणम्॥ ५॥

मन से मन को देखते हुए उसकी गतिविधियों का निरीक्षण करके उनसे मुक्त होने को ही परम पद कहा गया है। मन ही बिन्दु (ईश्वर) है और वही (जगत्प्रपंच) की उत्पत्ति एवं स्थिति का मुख्य कारण है॥ ५॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम् । न च बन्धनमध्यस्थं तद्वै कारणमानसम्॥ ६ ॥

जिस प्रकार दूध से घी निकलता है, उसी प्रकार मन से बिन्दु प्रकट होता है। जो भी बन्धन हैं, मन में हैं, बिन्दु में नहीं॥ ६ ॥

चन्द्रार्कमध्यमा शक्तिर्यत्रस्था तत्र बन्धनम्। ज्ञात्वा सुषुम्नां तद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम्॥ ७ ॥

जो शक्ति सूर्य और चन्द्र अर्थात् इड़ा-पिंगला नाड़ियों में स्थित है, वही बन्धन कारक है, यह जानकर उन (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ग्रन्थियों) का भेदन करके प्राणवायु को सुषुम्ना में गतिमान् करना चाहिए, जो इन दोनों के मध्य में स्थित है॥ ७ ॥

स्थित्वासौ बैन्दवस्थाने घ्राणरन्ध्रे निरोधयेत्। वायुं बिन्दुं समाख्यातं सत्त्वं प्रकृतिमेव च॥ ८ ॥

बिन्दु स्थान में प्राण को रोककर वायु का निरोध नासिका के द्वारा करना चाहिए। बिन्दु, सत्त्व एवं प्रकृति का विस्तार यह प्राणवायु ही है॥ ८ ॥

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमण्डलम्। मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरं तृतीयकम्॥ ९ ॥
अनाहतं विशुद्धिं च आज्ञाचक्रं च षष्ठकम्। आधारं गुदमित्युक्तं स्वाधिष्ठानं तु लैङ्गिकम्॥१० ॥
मणिपूरं नाभिदेशं हृदयस्थमनाहतम्। विशुद्धिः कण्ठमूले च आज्ञाचक्रं च मस्तकम्॥ ११ ॥

षट्चक्रों को जानकर (उसे भेदकर) सुखमण्डल (सहस्रार चक्र) में प्रवेश करे। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा ये छः चक्र कहे गये हैं। गुदास्थान के समीप मूलाधार, लिंग के समीप स्वाधिष्ठान, नाभिमण्डल में मणिपूर, हृदय में अनाहत, कण्ठमूल में विशुद्धचक्र एवं मस्तक में आज्ञाचक्र स्थित होता है॥ ९-११ ॥

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमण्डले। प्रविशेद्वायुमाकृष्य तथैवोर्ध्वं नियोजयेत्॥ १२ ॥

षट्चक्रों की जानकारी प्राप्त करके प्राण को आकर्षित करके सुखमण्डल अर्थात् परमानन्ददायी सहस्रार चक्र में प्रवेश करे और उसे ऊर्ध्वगामी दिशा में नियोजित करे॥ १२ ॥

एवं समभ्यसेद्वायुं स ब्रह्माण्डमयो भवेत्। वायुं बिन्दुं तथा चक्रं चित्तं चैव समभ्यसेत्॥ १३ ॥
समाधिमेकेन सममृतं यान्ति योगिनः। यथाग्निर्दारुमध्यस्थो नोत्तिष्ठेन्मथनं विना॥ १४ ॥
विना चाभ्यासयोगेन ज्ञानदीपस्तथा न हि। घटमध्यगतो दीपो बाह्ये नैव प्रकाशते॥ १५ ॥
भित्ते तस्मिन्घटे चैव दीपज्वाला च भासते। स्वकायं घटमित्युक्तं यथा दीपो हि तत्पदम्॥१६ ॥
गुरुवाक्यसमाभित्ते ब्रह्मज्ञानं स्फुटीभवेत्। कर्णधारं गुरुं प्राप्य कृत्वा सूक्ष्मं तरन्ति च॥ १७ ॥

इस तरह अभ्यसित होकर प्राण ब्रह्माण्ड में स्थित हो जाता है अर्थात् ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है। समुचित रूप से चित्त, प्राण-वायु, बिन्दु एवं चक्र का अभ्यास हो जाने पर योगियों को परमात्मा से एकाकार होकर समाधि अवस्था में पहुँच कर अमृत-तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है। जिस तरह लकड़ी में अग्नि है, परन्तु बिना रगड़े हुए वह प्रज्वलित नहीं होती, उसी प्रकार बिना निरन्तर अभ्यास किये हुए योगविद्या का प्रकाश बाहर नहीं आ सकता । जिस प्रकार घड़े के भीतर रखा हुआ दीपक बिना उसका भेदन किये बाहर प्रकाश नहीं दे सकता, ठीक उसी तरह शरीररूपी घट के भीतर स्थित ब्रह्मरूपी प्रकाश तब तक बाहर नहीं दिखता, जब तक गुरुमुख होकर इस शरीररूपी घट का भेदन नहीं किया जाता। कर्णधार (नाविक) रूप गुरु ही इस संसार-सागर से पार होने का उपाय है॥ १३-१७ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अभ्यासवासनाशक्त्या तरन्ति भवसागरम्। परायामङ्कुरीभूय पश्यन्त्यां द्विदलीकृता॥ १८॥
मध्यमायां मुकुलिता वैखर्यां विकसीकृता। पूर्वं यथोदिता या वाग्विलोमेनास्तगा भवेत्॥१९॥

अपनी श्रेष्ठ वासना अर्थात् उच्च आदर्शवादी महत्त्वाकांक्षा एवं निरन्तर अभ्यास के द्वारा अर्जित शक्ति के माध्यम से ही भवसागर को पार किया जा सकता है। शरीर में स्थित वाणी परारूप में अङ्कुरित होती, पश्यंती रूप में द्विदल (दो पत्ते) होती, मध्यमा में मुकुलित(खिलती-अग्रगामी) होती और वैखरी रूप में आकर पूर्ण विकसित (प्रकट) हो जाती है। इस वाणी का जिस तरह से प्राकट्य होता है, उसी क्रम में वह विलीन भी हो जाती है॥ १८-१९॥

तस्या वाचः परो देवः कूटस्थो वाक्प्रबोधकः। सोऽहमस्मीति निश्चित्य यः सदा वर्तते पुमान्॥२०
शब्दैरुच्चावचैर्नीचैर्भाषितोऽपि न लिप्यते। विश्वश्च तैजसश्चैव प्राज्ञश्चेति च ते त्रयः॥ २१॥
विराड्हिरण्यगर्भश्च ईश्वरश्चेति ते त्रयः। ब्रह्माण्डं चैव पिण्डाण्डं लोका भूरादयः क्रमात्॥२२॥
स्वस्वोपाधिलयादेव लीयन्ते प्रत्यगात्मनि। अण्डं ज्ञानाग्निना तप्तं लीयते कारणैः सह॥ २३॥

उस वाणी का ज्ञान देने वाला 'मैं ही अन्तःस्थित परम देव हूँ' इस तरह निश्चित रूप से समझ कर जो उसके अनुरूप आचरण करता है, उसे अच्छा या बुरा कोई भी शब्द कह दिया जाए, तो वह व्यक्ति उससे प्रभावित नहीं होता। विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ ये तीन तरह के पिण्ड कहे गये हैं। विराट्, हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर तीन ब्रह्माण्ड एवं भूः, भुवः, स्वः क्रमशः ये तीन लोक कहे गये हैं। ये सभी अपनी उपाधियों के समाप्त होने पर पुनः अपनी पूर्व स्थिति में वापस आ जाते हैं। ज्ञानरूपी अग्नि में तप्त होकर अपने कारणों के मूलस्वरूप में विलीन हो जाते हैं॥ २०-२३॥

परमात्मनि लीनं तत्परं ब्रह्मैव जायते। ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्॥ २४॥

यह (जीव) परमात्मा से एकाकार होकर परम अगाध गम्भीर ब्रह्म स्वरूप हो जाता है, उस समय इसका ऐसा रूप होता है, जिसको न तो प्रकाश कहा जा सकता है, न अंधकार ही कहा जा सकता है॥ २४॥

अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते। ध्यात्वा मध्यस्थमात्मानं कलशान्तरदीपवत्॥ २५॥
अङ्गुष्ठमात्रमात्मानमधूमज्योतिरूपकम्। प्रकाशयन्तमन्तःस्थं ध्यायेत्कूटस्थमव्ययम्॥ २६॥

उस समय एकमात्र नामरहित सत् स्वरूप, अव्यक्ततत्त्व ही शेष रह जाता है। (उस) मध्यस्थ (अन्तःकरण में स्थित) 'आत्मा' का कलश में स्थित दीपक की तरह ध्यान करके (आगे भी निरन्तर) अङ्गुष्ठमात्र, धूमरहित ज्योतिस्वरूप, प्रकाशमान, कूटस्थ (शाश्वत) और अव्यय (अविनाशी) आत्मतत्त्व का अन्तःकरण में ध्यान करते रहना चाहिए॥ २५-२६॥

विज्ञानात्मा तथा देहे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिः। मायया मोहितः पश्चाद्बहुजन्मान्तरे पुनः॥ २७॥
सत्कर्मपरिपाकात्तु स्वविकारं चिकीर्षति। कोऽहं कथमयं दोषः संसाराख्य उपागतः॥ २८॥

मूलतः आत्मा विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) रूप होता है, परन्तु शरीर प्राप्त होने पर वह माया के वशीभूत होकर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं को प्राप्त हो जाता है और उसी माया में मोहित हो जाता है। जब जन्म-जन्मान्तरों के पुण्यकर्म उदित होते हैं, तब मानव अपने दोषों को जानने की इच्छा करता है, तब वह सोचता है कि वास्तव में मैं कौन हूँ एवं दोषरूप यह संसार कैसे प्राप्त हुआ है?॥ २७-२८॥

जाग्रत्स्वप्ने व्यवहरन्त्सुषुप्तौ क्व गतिर्मम। इति चिन्तापरो भूत्वा स्वभासा च विशेषतः॥ २९॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

जाग्रत् एवं स्वप्न अवस्था में तो मैं ही कर्त्ता के रूप में व्यवहार करता हूँ, परन्तु सुषुप्ति अवस्था में मेरी क्या गति होती है ? इस तरह चिन्तन करते हुए अपने रूप पर विचार करता रहता है ॥ २९ ॥

अज्ञानात्तु चिदाभासो बहिस्तापेन तापितः । दग्धं भवत्येव तदा तूलपिण्डमिवाग्निना ॥ ३० ॥

जिस प्रकार रुई का ढेर आग पाते ही जल जाता है, उसी प्रकार चिदाभास के प्रभाव से सांसारिक ताप से तापित अज्ञान समाप्त हो जाता है ॥ ३० ॥

दहरस्थः प्रत्यगात्मा नष्टे ज्ञाने ततः परम् । विततो व्याप्य विज्ञानं दहत्येव क्षणेन तु ॥ ३१ ॥
मनोमयज्ञानमयान्त्सम्यग्दग्ध्वा क्रमेण तु । घटस्थदीपवच्छश्वदन्तरेव प्रकाशते ॥ ३२ ॥

इस तरह सांसारिक बोध के समाप्त होने पर प्रत्यगात्मा (शुद्ध आत्मा) प्रकाशित हो जाता है तथा उससे विज्ञान (संसार का विशेष ज्ञान) भी नष्ट हो जाता है। इस तरह क्रमशः मनोमय तथा विज्ञानमय के पूर्णतः नष्ट हो जाने पर घट के भीतर रखे हुए दीपक की तरह अंतःस्थ प्रकाश रूप आत्मा ही अंतःकरण में प्रकाशित होता रहता है ॥ ३१-३२ ॥

ध्यायन्नास्ते मुनिश्चैवमासुप्तेरामृतेस्तु यः । जीवन्मुक्तः स विज्ञेयः स धन्यः कृतकृत्यवान् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार से नित्य प्रति जो आत्मज्ञानी आत्मा का ध्यान करता है तथा मृत्यु के आने पर भी स्थिर चित्त होकर उस पर ध्यान लगाये रहता है,उसे जीवन (सांसारिकता) से मुक्ति मिल जाती है, वही विज्ञानी है, धन्य है और वह कृत-कृत्य हो जाता है ॥ ३३ ॥

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते । विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥ ३४ ॥

जीवन्मुक्त साधक का अन्तिम समय (मृत्यु) आने पर वह (शरीर रहते हुए जीवन्मुक्त एवं शरीर समाप्त होने पर) उसी प्रकार विदेह मुक्त हो जाता है, जिस प्रकार वायु (उन्मुक्त) आकाश में स्पन्दनरहित होकर प्रवेश कर जाती है ॥ ३४ ॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं तदेव शिष्यत्यमलं निरामयम् ॥ इत्युपनिषत् ॥ ३५ ॥

जो आदि-अंत रहित, नित्य, अव्यय और महान् है तथा जो अटल है एवं शब्द,स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि पंचमहाभूतों से रहित है, वही विकाररहित परमपवित्र ब्रह्म ही अन्त में शेष बचता है, यही उपनिषद् है ॥ ३५ ॥

॥ ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति योगकुण्डल्युपनिषत्समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ योगचूडामण्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। योग साधना द्वारा आत्मशक्ति जागरण की प्रक्रिया का इसमें समग्र मार्गदर्शन है।

सर्वप्रथम योग के छः अंगों (आसन,प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) का उल्लेख हुआ है। तदुपरान्त योग की सिद्धि के लिए आवश्यक देहतत्त्व का ज्ञान, मूलाधार आदि चक्रों का ज्ञान, योनिस्थान (कुण्डलिनी) में परम ज्योति के दर्शन, नाड़ीचक्र,नाड़ी स्थान,नाड़ियों में संचरित प्राणवायु और उनकी क्रियाएँ, प्राणों के साथ जीव की गतिमयता, अजपा गायत्री का अनुसन्धान, कुण्डलिनी द्वारा मोक्ष द्वार का भेदन, तीन बन्ध (मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध तथा उड्डियानबन्ध), खेचरी मुद्रा, वज्रोली आदि (विशेष योगसाधना) के लक्षण, महामुद्रा का स्वरूप, प्रणव (ॐकार) जप की विशेष प्रक्रिया, प्रणव एवं ब्रह्म की एकरूपता, प्रणव (ॐ) के अवयव (अ, उ, म्) का अर्थ, तुरीयोङ्कार द्वारा अग्रब्रह्म की साधना, प्रणव एवं हंस साधना, कैवल्यबोध-आत्मज्ञान का प्रकाशक प्रणव जप, प्रणव मन्त्रानुष्ठान के साधक के लिए प्राणजय आवश्यक, नाड़ीशुद्धि से प्राणायामसिद्धि, मात्रा नियमपूर्वक प्राणायाम, योगांगों में से प्रत्येक के अलग-अलग फल और उनकी तारतम्यता, षण्मुखी मुद्रा के अभ्यास से नादाभिव्यक्ति, प्राणायाम का अभ्यास, सर्वरोग निवारक, 'प्राण' के निरोधाभ्यास में इन्द्रियों का प्रत्याहार आवश्यक इत्यादि अनेकविध विषयों का बड़ा विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। निःसन्देह इस उपनिषद् के अनुसार साधना करने वाला व्यक्ति योग के क्षेत्र में चूड़ामणि (मुकुट) स्तर का बन सकता है। योगपरक उपनिषदों में इस चूड़ामणि उपनिषद् का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-महोपनिषद्)

योगचूडामणिं वक्ष्ये योगिनां हितकाम्यया। कैवल्यसिद्धिदं गूढं सेवितं योगवित्तमैः ॥ १ ॥

योग चूड़ामणि उपनिषद् को योगियों के हित की कामना से वर्णन करता हूँ, जो योगवेत्ताओं के द्वारा सेवन किया जाने वाला परम गूढ़ तथा कैवल्य (मोक्ष) सिद्धि देने वाला है॥ १ ॥

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा। ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट्॥ २ ॥
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम्। षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्॥ ३ ॥
स्वदेहे यो न जानाति तस्य सिद्धिः कथं भवेत्। चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षड्दलम्॥४ ॥
नाभौ दशदलं पद्मं हृदये द्वादशारकम्। षोडशारं विशुद्धाख्यं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ॥ ५ ॥

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इस प्रकार योग को छः अंगों वाला कहा गया है। दो प्रकार के आसनों का यहाँ वर्णन है, एक सिद्धासन दूसरा पद्मासन। अपने शरीर के भीतर जो साधक षट्चक्र, षोडश-आधार, त्रिलक्ष्य और पाँच आकाशों को नहीं देख पाता, उसे सिद्धि कहाँ मिल सकती है? शरीर में स्थित षट्चक्रों में आधारचक्र (मूलाधार चक्र) चार दल वाला है, स्वाधिष्ठान चक्र में छः दल हैं। दस दल वाला चक्र नाभि में स्थित है, द्वादशदल का पद्मचक्र हृदय में है, विशुद्धचक्र षोडश दल वाला तथा दो दल का चक्र भ्रूमध्य में (आज्ञाचक्र के रूप में) स्थित है॥ २-५ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सहस्त्रदलसंख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथि । आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्॥ ६ ॥
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते। कामाख्यं तु गुदस्थाने पङ्कजं तु चतुर्दलम्॥ ७ ॥
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता। तस्य मध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखं स्थितम्॥८

सहस्त्र दल-कमल ब्रह्मरन्ध्र के महापथ में स्थित है। मूलाधार प्रथम चक्र है तथा स्वाधिष्ठान दूसरा चक्र है। दोनों के बीच में योनि स्थान (कुण्डलिनी) स्थित है। जगत् की उत्पत्ति का कारण होने से उसे कामरूप कहा जाता है। गुदास्थान में चार दल वाला कमल स्थित है, जिसे 'काम' कहा गया है। उसी के बीच सिद्ध पुरुषों के द्वारा वन्दित पश्चिमाभिमुख महालिंग स्थित है॥ ६-८॥

नाभौ तु मणिवद्बिम्बं यो जानाति स योगवित्। तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत्॥ ९ ॥
त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेरधोमेढ्रात्प्रतिष्ठितम्। समाधौ परमं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम्॥ १० ॥

नाभि स्थान में मणि की आकृति वाले मणिपूर चक्र को जानने वाला ही योगी है। तपाये हुए सोने के समान आभा वाला, विद्युत् की तरह प्रकाशमान त्रिकोण युक्त अग्नि मेढ्र में प्रतिष्ठित है। समाधि अवस्था में उस स्थान पर अनन्त विश्वतोमुख (सब ओर प्रकाशित) परमज्योति के दर्शन होते हैं॥ ९-१०॥

तस्मिन्दृष्टे महायोगे यातायातो न विद्यते। स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः॥ ११ ॥
स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मान्मेढ्रमेवाभिधीयते। तन्तुना मणिवत्प्रोतो योऽत्र कन्दः सुषुम्नया॥ १२ ॥

योगाभ्यास के समय उस अग्निमयी ज्वाला के दर्शन क़र लेने पर संसार के आवागमन से मुक्ति मिल जाती है। प्राण का निवास स्वाधिष्ठान चक्र में कहा गया है। प्राण को ही 'स्व' कहते हैं। स्वाधिष्ठान में स्थित होने के कारण उसे 'मेढ्र' भी कहते हैं। जिस प्रकार मणि में तागा पिरोया होता है, उसी प्रकार कन्द (नाड़ी समूह) सुषुम्ना से युक्त है॥ ११-१२॥

तन्नाभिमण्डले चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम्। द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते॥ १३ ॥
तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्त्वं न विन्दति। ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दे योनिः खगाण्डवत्॥१४॥
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्त्राणां द्विसप्ततिः। तेषु नाडीसहस्त्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता॥ १५ ॥
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः। इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयगा॥ १६ ॥
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी। अलम्बुसा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता॥१७॥

नाभि मण्डल में स्थित द्वादशदल युक्त मणिपूर चक्र पाप-पुण्य रहित है, जब तक इसका तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक जीव को संसार चक्र में ही भ्रमण करना पड़ता है। पक्षी के अण्डे के आकार वाली योनि अर्थात् कुण्डलिनी, मेढ्र और नाभि के मध्य स्थित है। बहत्तर हजार नाड़ियों का जाल पूरे शरीर में वहीं से फैला है, उनमें से बहत्तर नाड़ियाँ मुख्य हैं। इनमें भी प्रमुख नाड़ियाँ दस कही गई हैं। १. इड़ा, २. पिंगला, ३. सुषुम्ना, ४. गांधारी, ५. हस्तिजिह्वा, ६. पूषा, ७. यशस्विनी, ८. अलम्बुसा, ९. कुहू और १०. शंखिनी॥ १३-१७॥

एतन्नाडीमहाचक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा। इडा वामे स्थिता भागे दक्षिणे पिङ्गला स्थिता॥१८॥
सुषुम्ना मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि। दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे॥ १९ ॥
यशस्विनी वामकर्णे चानने चाप्यलम्बुसा। कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने तु शङ्खिनी॥ २० ॥

नाड़ियों के इस महाचक्र का ज्ञान योगियों को होना चाहिए। शरीर में इड़ा नाड़ी (नासिका के) बायीं ओर और पिंगला नाड़ी दाहिनी ओर स्थित रहती है। इड़ा-पिंगला के बीच में सुषुम्ना नाड़ी है। दायें नेत्र में हस्तिजिह्वा और बायें नेत्र में गांधारी का निवास है। पूषा तथा यशस्विनी क्रमशः दायें-बायें कान में स्थित हैं। मुँह में अलम्बुसा का निवास है। जननेन्द्रिय में कुहू एवं मूलस्थान में शंखिनी नाड़ी का निवास है॥ १८-२०॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ते नाडयः क्रमात्। इडापिङ्गलासौषुम्नाः प्राणमार्गे च संस्थिताः ॥२१॥

सम्पूर्ण शरीर के भीतर एक-एक द्वार पर एक-एक नाड़ी स्थित है और प्राणमार्ग में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियाँ स्थित हैं॥ २१॥

सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः। प्राणापानसमानाख्या व्यानोदानौ च वायवः॥ २२॥

नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनंजयः। हृदि प्राणः स्थितो नित्यमपानो गुदमण्डले॥ २३॥

समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः। व्यानः सर्वशरीरे तु प्रधानाः पञ्च वायवः॥ २४॥

सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि देवता प्राणों के वाहक हैं। प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान—ये पाँच प्राणवायु कहे गये हैं। नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त एवं धनञ्जय—ये पाँच उपप्राणवायु कहे गये हैं। शरीर के अन्दर हृदय में (मुख्य) प्राणवायु, गुदा स्थान में अपान, नाभि स्थान में समान, गले में उदान एवं पूरे शरीर में व्यानवायु स्थित रहता है। ये प्रधान प्राणवायु शरीर के पाँच स्थानों में स्थित हैं॥ २२-२४॥

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने तथा। कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे॥ २५॥

ऊर्ध्ववायु (डकार) में नाग नामक उपप्राण, आँखों की पलक झपकने में कूर्मवायु, कृकल छींकने में एवं देवदत्त की स्थिति जँभाई लेने में होती है॥ २५॥

न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनंजयः। एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवजन्तवः॥ २६॥

सम्पूर्ण शरीर में धनञ्जय वायु इस प्रकार से व्याप्त है कि मृत्यु के बाद भी शरीर को नहीं छोड़ता है। इन्हीं नाड़ियों में जीव (प्राण) भ्रमण करते रहते हैं॥ २६॥

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथा चलति कन्दुकः। प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति॥ २७॥

खिलाड़ियों के द्वारा इधर से उधर फेंकी हुई गेंद की तरह जीव भी प्राण, अपान आदि वायुओं से स्थिर नहीं रह पाता अर्थात् सदैव गतिशील रहता है॥ २७॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति। वामदक्षिणमार्गाभ्यां चञ्चलत्वान्न दृश्यते॥२८॥

यह जीव प्राणादि वायुओं के वशीभूत होकर नीचे-ऊपर गमन करता हुआ बायें एवं दायें मार्ग में भी आता-जाता है। गमनचक्र तीव्रता से चलने के कारण वह दिखाई नहीं पड़ता॥ २८॥

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः। गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कर्षति॥ २९॥

रस्सी से बँधा हुआ श्येन पक्षी ऊपर उड़ता हुआ भी जिस प्रकार खींच लिया जाता है, ठीक उसी प्रकार गुणों से आबद्ध यह जीव भी प्राण और अपान वायुओं के द्वारा खींचा जाता है॥ २९॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति। अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति। ऊर्ध्वाधःसंस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित्॥ ३०॥

प्राण अपान को खींचता है एवं अपान प्राण को खींचता है, इसलिए यह जीव प्राण और अपान की इस क्रिया के द्वारा निरंतर ऊपर-नीचे आता जाता रहता है। प्राण एवं जीव की इस अधः एवं ऊर्ध्वगमन प्रक्रिया को जानने वाला ही योगवेत्ता है॥ ३०॥

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः। हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥ ३१॥

श्वास 'स' कार ध्वनि (वायु) के माध्यम से भीतर और 'ह' कार के साथ बाहर आती है। इस तरह यह जीव हंस-हंस (हंसमंत्र) का जप सदैव करता रहता है॥ ३१॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः । एतत्संख्यान्वितं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ ३२ ॥

दिन-रात निरन्तर जप करते रहने से यह जीव इक्कीस हजार छः सौ मंत्र नित्य जपता है ॥ ३२ ॥

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा । अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३३ ॥

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः । अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥ ३४ ॥

योगियों के लिए मुक्ति प्रदात्री यही अजपा गायत्री है । इसके संकल्प मात्र से सभी पापों से मुक्ति मिल जाती है । इसके समान न कोई विद्या, न कोई जप, न कोई ज्ञान पहले हुआ है और न भविष्य में होगा ॥३३-३४ ॥

कुण्डलिन्या समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी । प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥३५

यह गायत्री प्राण को धारण करने वाली प्राणविद्या है-महाविद्या है, जो कुण्डलिनी से उद्भूत है । इस प्रकार जो जान लेता है, वही वेदवेत्ता है ॥ ३५ ॥

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः । ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥ ३६ ॥

कुण्डलिनी शक्ति कन्द के ऊर्ध्वभाग में आठ कुण्डलों की आकृति में व्याप्त होकर ब्रह्म द्वार के मुँह को अपने मुख से ढककर सदैव स्थित रहती है ॥ ३६ ॥

येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारं मनोमयम् । मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ ३७ ॥

जिस मनोमय ब्रह्म द्वार (सुषुम्ना) में प्रवेश किया जाता है, उसी द्वार (मुख) को अपने मुख से ढककर यह परमेश्वरी शक्ति (कुण्डलिनी) सोई रहती है ॥ ३७ ॥

प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह । सूचीवद्गात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ॥ ३८ ॥

वह्नियोग (अग्नियोग) के द्वारा जाग्रत् होकर यह प्रकाश के रूप में मन और प्राणवायु के साथ सुषुम्ना नाड़ी के भीतर होकर सुई की तरह ऊपर की ओर चलती है ॥ ३८ ॥

उद्घाटयेत्कवाटं तु यथा कुञ्चिकया गृहम् । कुण्डलिन्यां तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥ ३९ ॥

कुंजी के द्वारा जिस तरह से घर का किवाड़ (ताला) खोलते हैं, उसी प्रकार कुण्डलिनी के द्वारा योगी लोग मुक्ति का द्वार खोल लेते हैं ॥ ३९ ॥

कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं गाढं वक्षसि संनिधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेष्टितम् ।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥ ४० ॥

दृढ़तापूर्वक पद्मासन लगाकर हाथों को ऊपर-नीचे गोदी में रखकर सम्पुटित करे, पुनः सिर नीचा करके ठोड़ी को छाती से लगाये, इसके बाद ब्रह्म में ध्यान को एकाग्र करके, बार-बार श्वास को भीतर खींचे और बाहर निकाले । प्राणवायु अन्दर ले जाए और अपान वायु ऊपर ले जाए । इस तरह प्राणायाम करने से मनुष्य को अतुल शक्ति की अनुभूति होती है ॥ ४० ॥

अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमसंजातवारिणा । कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ॥ ४१ ॥

इस प्रकार प्राणायाम के अभ्यास के श्रम से जो पसीना निकलता है, उसे शरीर में ही मसल लेना चाहिए तथा नमकीन, खट्टे, कड़ुवे पदार्थों का परित्याग करना चाहिए और दूध एवं दूध से बने भोजन का विशेष रूप से प्रयोग करना चाहिए ॥ ४१ ॥

ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः । अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ ४२ ॥

ब्रह्मचारी और मिताहार वाला योगी यदि योग के अभ्यास में लग जाए, तो एक वर्ष में ही योग की सिद्धि प्राप्त कर लेगा, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए ॥ ४२ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः । भुञ्जते शिवसंप्रीत्या मिताहारी स उच्यते॥ ४३ ॥

योग के साधक को मधुर और स्निग्ध भोजन ही लेना चाहिए,(आधा पेट भोजन,चौथाई पानी तथा) चौथाई भाग खाली रखे। इस प्रकार भगवान् को समर्पित करके जो भोजन करता है,उसे मिताहारी कहते हैं ॥४३

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः । बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा सदा ॥४४ ॥

आठ कुण्डलों वाली कन्द के ऊर्ध्वभाग में जो कुण्डलिनी शक्ति है, वह योगियों के लिए मोक्ष देने वाली तथा अज्ञानियों के लिए बन्धनकारक कही गई है ॥ ४४ ॥

महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्याणं च जलन्धरम्। मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम्॥४५ ॥

महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियान बन्ध, जालन्धर बन्ध और मूलबन्ध को जो जानता है, वह योगी मुक्ति को प्राप्त करता है ॥ ४५ ॥

पार्ष्णिघातेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढम्। अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते ॥ ४६ ॥

एड़ी से दबाव डालकर योनि (सीवन) स्थान को पीड़ित करते हुए दृढ़तापूर्वक संकुचित करे, अपान वायु को ऊपर की ओर खींचने की इस प्रक्रिया को मूलबन्ध कहा जाता है ॥ ४६ ॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः। युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ४७ ॥

इस प्रकार प्राण और अपान को एक में मिलाया जाता है, इससे मल-मूत्र कम हो जाता है। इस प्रकार मूलबन्ध का अभ्यास करने से वृद्ध भी युवा हो जाता है ॥ ४७ ॥

ओड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः। ओड्डियाणं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ४८ ॥

महापक्षी (गिद्ध आदि) जिस प्रकार विश्राम के लिए (आकाश में अत्यधिक ऊँचे) उड़ते हैं, उसी तरह उड्डियान बन्ध का अभ्यास मृत्यु रूपी हाथी को पछाड़ने के लिए सिंह के समान है। (बड़े पक्षियों को एक विशेष प्रकार से उड़ने में विश्राम प्राप्त होता है, जिससे उन्हें शक्ति प्राप्त हो जाती है।) ॥ ४८ ॥

उदरात्पश्चिमं ताणमधोनाभेर्निगद्यते । ओड्याणमुदरे बन्धस्तत्र बन्धो विधीयते ॥ ४९ ॥

पेट को नाभि के नीचे तानना अर्थात् खींचना पश्चिमोत्तान कहलाता है। वहीं पेट में यह उड्डियान बंध भी किया जाता है ॥ ४९ ॥

बध्नाति हि शिरोजातमधोगामि नभोजलम्। ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ ५० ॥

जो शरीर में नीचे की ओर प्रवहमान आकाश-जल (खेचरी मुद्रा द्वारा क्षरित होने वाला) को शिरोभाग में रोककर रखता है, उसे जालंधर बंध कहते हैं, यह दु:खों और कष्टों का नाश कर देता है ॥ ५० ॥

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे । न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥ ५१ ॥

जालन्धर बंध में सामने की ओर सिर झुकाकर गले से नीचे ठोढ़ी को हृदय से स्पर्श करना होता है। इस से अमृत न तो अग्नि की ओर गिरता है और न वायु की ओर गमन करता है, स्थिर हो जाता है ॥ ५१ ॥

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा । भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ५२ ॥

दृष्टि को दोनों भौंहों के मध्य स्थित करे एवं जीभ को गले की ओर पीछे लौटाकर कपाल कुहर (गले के मध्य तालु) में प्रवेश कराये, इस प्रकार की क्रिया को खेचरी मुद्रा कहते हैं ॥ ५२ ॥

न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा। न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ५३ ॥

जो खेचरी मुद्रा को जानता और साधना करता है उसे रोग, मरण, भूख-प्यास और मूर्छा आदि से छुटकारा प्राप्त हो जाता है ॥ ५३ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न स कर्मभिः । बाध्यते न च केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥५४ ॥

खेचरी मुद्रा जानने वाला न तो रोग से कष्ट पाता है और न कर्मों में ही उसकी आसक्ति होती है तथा उसके पास तक कोई विघ्न भी नहीं पहुँच पाते ॥ ५४ ॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे यतः । तेनेयं खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धनमस्कृता ॥ ५५ ॥

जिसकी साधना करने से चित्त और जिह्वा आकाश में विचरण करते हैं, उस खेचरी मुद्रा को सभी सिद्ध लोग प्रणाम करते हैं ॥ ५५ ॥

बिन्दुमूलशरीराणि शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः । भावयन्ती शरीराणि आपादतलमस्तकम् ॥ ५६ ॥

सिर से लेकर पैर तक शरीर के सभी अंगों का जिनके द्वारा पोषण होता है, उन सभी शिराओं का मूल बिन्दु खेचरी मुद्रा ही है ॥ ५६ ॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः । न तस्य क्षीयते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च ॥५७ ॥

खेचरी मुद्रा के द्वारा जिस साधक ने जीभ के ऊपर कपाल कुहर को ढक लिया है, उस साधक का रमणी के आलिंगन से भी बिन्दुपात नहीं हो सकता ॥ ५७ ॥

यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः । यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥ ५८ ॥

जब तक साधक ने खेचरी मुद्रा को बाँध रखा है, तब तक बिन्दु नहीं जाता है और जब तक शरीर में बिन्दु स्थित है, तब तक मृत्यु का क्या भय है ? ॥ ५८ ॥

ज्वलितोऽपि यथा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम् । व्रजत्यूर्ध्वं गतः शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ॥५९ ॥

यदि जाज्वल्यमान अग्नितत्त्व में बिन्दुपात भी हो जाये, तो उसको योनिमुद्रा के द्वारा बलपूर्वक रोका और ऊर्ध्वगामी बनाया जा सकता है ॥ ५९ ॥

स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा । पाण्डरं शुक्लमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः ॥६० ॥

सफेद और लाल दो वर्ण (रंग) का बिन्दु होता है। श्वेत को शुक्ल (शुक्र) नाम दिया गया तथा लाल को महारज कहा गया है ॥ ६० ॥

सिन्दूरव्रातसंकाशं रविस्थानस्थितं रजः । शशिस्थानस्थितं शुक्लं तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ॥ ६१ ॥

सिन्दूर के समान ज्योतित रविस्थान में रज का निवास स्थान है तथा चन्द्रस्थान में शुक्ल का निवास स्थान है। शुक्ल और रज का संयोग बड़ा कठिन होता है ॥ ६१ ॥

बिन्दुर्ब्रह्मा रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः । उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥ ६२ ॥

बिन्दु ब्रह्मारूप है तथा रज शक्तिस्वरूप है, बिन्दु चन्द्ररूप और रज सूर्यरूप है। इन दोनों का योग (मिलन) होने से ही परमपद की प्राप्ति होती है ॥ ६२ ॥

वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं च यथा रजः । याति बिन्दुः सदैकत्वं भवेद्दिव्यवपुस्तदा ॥ ६३ ॥

जब वायु (प्राणायाम) से शक्तिचालिनी मुद्रा के द्वारा गमनशील रज बिन्दु से एकाकार हो जाता है, तब शरीर दिव्य हो जाता है ॥ ६३ ॥

शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संगतम् । तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ॥६४ ॥

रज का संयोग सूर्य में और शुक्ल (शुक्र) का संयोग चन्द्र में जिस प्रकार होता है, उस विषय को और दोनों के एकाकार होने को जानने वाला साधक योगवेत्ता कहा जाता है ॥ ६४ ॥

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः । रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते ॥ ६५ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

जिस साधना के द्वारा नाड़ी-समूह का शोधन किया जाता है तथा सूर्य-चन्द्र को चलाया जाता है एवं रस का शोषण किया जाता है,उसे 'महामुद्रा' कहते हैं ॥ ६५ ॥

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामाङ्घ्रिणा हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम्। आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनै रेचयेत्सेयं व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते ॥ ६६ ॥

बायें पैर से योनि स्थान पर दबाव डालते हुए, ठोढ़ी को छाती से लगाये और दायाँ पैर सीधा फैलाकर दोनों हाथों से पैर की अँगुलियों सहित पैर पकड़कर दोनों कुक्षियों अर्थात् पेट में पूरा श्वास भरकर धीरे-धीरे बाहर निकाले। यह महामुद्रा की क्रिया समस्त प्रकार की व्याधियों को नष्ट करती है ॥ ६६ ॥

चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेनाभ्यसेत्पुनः या तुल्या तु भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥६७॥

अभ्यास क्रम में सर्वप्रथम बायीं नासिका 'चन्द्रअंश' से श्वास खींचकर रेचन करते हुए अभ्यास करे, फिर दायीं नासिका 'सूर्यअंश' से श्वास खींचकर रेचन का अभ्यास करना चाहिए। जब दोनों स्वर (चन्द्र-सूर्य) समान हो जाएँ, तब अभ्यास बन्द करना चाहिए ॥ ६७ ॥

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः। अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥ ६८ ॥

इस 'महामुद्रा' के करने से पथ्य-अपथ्य अथवा सभी तरह का नीरस भोजन सरस हो जाता है। भोजन अधिक कर लेने पर तथा विष भी खा लेने पर वह अमृत के समान पच जाता है ॥ ६८ ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः। तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ ६९ ॥

इस महामुद्रा के अभ्यास करने वाले साधक को इसके प्रभाव से क्षय, कुष्ठ, गुदावर्त (भगन्दर), गुल्म (तिल्ली बढ़ना), अजीर्ण आदि एवं भविष्य में होने वाले सभी रोगों से छुटकारा मिल जाता है ॥ ६९ ॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्। गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ ७० ॥

यह महामुद्रा साधकों को महासिद्धि देने वाली है, इसको हर किसी को (अनधिकारी को) नहीं बताना चाहिए, प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखना चाहिए ॥ ७० ॥

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः। नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोंकारमव्ययम् ॥ ७१ ॥

एकान्त स्थान में पद्मासन लगाकर कमर से सिर तक शरीर को सीधा करके नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि को जमाकर अव्यय प्रणव (ॐ) का जप करना चाहिए ॥ ७१ ॥

ॐ नित्यं शुद्धं बुद्धं निर्विकल्पं निरञ्जनं निराख्यातमनादिनिधनमेकं तुरीयं यद्भूतं भवद्भविष्यत् परिवर्तमानं सर्वदाऽनवच्छिन्नं परं ब्रह्म तस्माज्जाता परा शक्तिः स्वयंज्योतिरात्मिका। आत्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। एतेषां पञ्चभूतानां पतयः पञ्च सदाशिवेश्वररुद्रविष्णुब्रह्माणश्चेति। तेषां ब्रह्मविष्णुरुद्राश्चोत्पत्तिस्थितिलयकर्तारः। राजसो ब्रह्मा सात्त्विको विष्णुस्तामसो रुद्र इति एते त्रयो गुणयुक्ताः। ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव। धाता च सृष्टौ विष्णुश्च स्थितौ रुद्रश्च नाशे भोगाय चेन्द्रः प्रथमजा बभूवुः। एतेषां ब्रह्मणो लोका देवतिर्यङ्नरस्थावराश्च जायन्ते। तेषां मनुष्यादीनां पञ्चभूतसमवायः शरीरम्। ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिचित्ताहंकारैः स्थूलकल्पितैः सोऽपि स्थूलप्रकृतिरित्युच्यते। ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिभिश्च

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सूक्ष्मस्थोऽपि लिङ्गमेवेत्युच्यते। गुणत्रययुक्तं कारणम्। सर्वेषामेवं त्रीणि शरीराणि वर्तन्ते। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयाश्चेत्यवस्थाश्चतस्त्रः तासामवस्थानामधिपतयश्चत्वारः पुरुषा विश्वतैजस-प्राज्ञात्मानश्चेति। विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्। आनन्दभुक्तथा प्राज्ञः सर्वसा-क्षीत्यतः परः ॥ ७२ ॥

ॐ निरंजन, निर्विकल्प, नामरहित, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, अनादिनिधन (शाश्वत), एक, तुरीय, भूत, भविष्यत्, वर्तमान में एक रस रहने वाले परब्रह्म से स्वयं प्रकाशरूपी पराशक्ति प्रकट हुई। आत्मा (परमात्मा) से आकाश प्रकट हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी प्रकट हुई। सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा ये पाँच देवता इन पाँच महाभूतों के पाँच स्वामी हैं। इसमें ब्रह्माजी उत्पत्ति करने वाले, विष्णु पालन करने वाले तथा रुद्र संहार करने वाले हैं। सतोगुणरूप विष्णु, रजोगुणरूप ब्रह्मा, तमोगुणरूप रुद्र हैं। देवताओं में पहले ब्रह्माजी की उत्पत्ति हुई। सृष्टि की उत्पत्ति के लिए ब्रह्मा, सृष्टि के पालन अर्थात् विकास करने के लिए विष्णु, सृष्टि के विनाश के लिए रुद्र, भोगों के लिए इन्द्र की उत्पत्ति सर्वप्रथम हुई। लोक, देव, तिर्यक्, नर और स्थावर इन सबकी उत्पत्ति ब्रह्माजी के द्वारा हुई। उनमें मनुष्य आदि का शरीर पंचभूतों के संयोग से बनता है। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, ज्ञान के विषय, प्राण आदि पंच वायु, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार (अपेक्षाकृत) स्थूल रचना होने से (इनके मूल कारण को) स्थूल प्रकृति कहा जाता है। कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, ज्ञान के विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध), पंचवायु, मन और बुद्धि को सूक्ष्म (लिंग) शरीर कहा जाता है। कारण शरीर तीन गुणों से युक्त है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर सबके होते हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय चार अवस्थाएँ होती हैं, तैजस, प्राज्ञ, विश्व और आत्मा ये चार पुरुष इन सब (अवस्थाओं) के अधिपति हैं। विश्व स्थूल का नित्य भोग करने वाला है, तैजस एकान्त का भोग करने वाला है, प्राज्ञ आनन्द का भोगने वाला है और सबका साक्षी (आत्मा) इससे परे कहा जाता है ॥ ७२ ॥

प्रणवः सर्वदा तिष्ठेत्सर्वजीवेषु भोगतः। अभिरामस्तु सर्वासु ह्यवस्थासु ह्यधोमुखः ॥ ७३ ॥

सर्वव्यापी प्रणव (परमात्मा) जीवों की सभी आनन्दमय अवस्थाओं के भोग के समय अधोमुख अर्थात् उदासीन होकर रहता है ॥ ७३ ॥

अकार उकारो मकारश्चेति त्रयो वर्णास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयो गुणास्त्रीण्यक्षराणि त्रयः स्वरा एवं प्रणवः प्रकाशते। अकारो जाग्रति नेत्रे वर्तते सर्वजन्तुषु। उकारः कण्ठतः स्वप्ने मकारो हृदि सुप्तितः ॥ ७४ ॥

(प्रणव ॐ कार में निहित) तीन अक्षर 'अ' कार, 'उ' कार एवं 'म' कार तीन वेद, तीन लोक, तीन गुण, तीन अक्षर और तीन स्वर के रूप में प्रणव (ओंकार ही) प्रकाशमान है। 'अ' कार समस्त जीवधारियों के जाग्रत् अवस्था में नेत्रों में निवास करता है, सोते समय 'उ' कार कण्ठ में निवास करता है और 'म' कार सुषुप्ति अवस्था में हृदय प्रदेश में निवास करता है ॥ ७४ ॥

विराड्विश्वः स्थूलश्चाकारः। हिरण्यगर्भस्तैजसः सूक्ष्मश्च उकारः। कारणाव्याकृतप्राज्ञश्च मकारः। अकारो राजसो रक्तो ब्रह्मा चेतन उच्यते। उकारः सात्त्विकः शुक्लो विष्णुरित्यभिधीयते ॥७५ ॥
मकारस्तामसः कृष्णो रुद्रश्चेति तथोच्यते। प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात्प्रभवो हरिः ॥ ७६ ॥
प्रणवात्प्रभवो रुद्रः प्रणवो हि परो भवेत्। अकारे लीयते ब्रह्मा ह्युकारे लीयते हरिः ॥ ७७ ॥
मकारे लीयते रुद्रः प्रणवो हि प्रकाशते। ज्ञानिनामूर्ध्वगो भूयादज्ञाने स्यादधोमुखः ॥ ७८ ॥
एवं वै प्रणवस्तिष्ठेद्यस्तं वेद स वेदवित्। अनाहतस्वरूपेण ज्ञानिनामूर्ध्वगो भवेत् ॥ ७९ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

यह स्थूल विराट् विश्व 'अ' कार ही है, सूक्ष्म तेजस्वी हिरण्यगर्भ के रूप में 'उ' कार कहा जाता है और 'म' कार अव्याकृत (अप्रकट) कारण प्राज्ञ कहा जाता है। 'अ' कार की प्रकृति राजसी, वर्ण लाल है, उसे सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्मा कहा गया है। 'उ' कार की प्रकृति सात्त्विक, वर्ण श्वेत है, उसे पालनकर्त्ता विष्णु कहा गया है। 'म' कार की प्रकृति तामस, वर्ण कृष्ण है, उसे संहारकर्त्ता रुद्र कहा गया है, इस तरह ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र की उत्पत्ति का कारण प्रणव (ॐ) ही कहा गया है। प्रणव ही सबका अनादि कारण परतत्त्व है। 'अ' कार में सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा समाहित हैं, उकार में विष्णु समाहित हैं तथा मकार में रुद्र समाहित हैं। एकमात्र प्रणव ही (सर्वत्र) प्रकाशमान रहता है। यह प्रणव ज्ञानी मनुष्यों में ऊर्ध्वमुख एवं अज्ञानी मनुष्यों में अधोमुख वाला कहा गया है। इस प्रकार सर्वत्र समरूप से प्रणव (ॐ कार) ही प्रतिष्ठित है, इसको इस प्रकार से जो जानता है, वही वेदविद् है। ज्ञानी साधकों में यह प्रणव अनाहत रूप से ऊर्ध्वगति वाला होता है॥ ७५-७९ ॥

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत् । प्रणवस्य ध्वनिस्तद्वत्तदग्रं ब्रह्म चोच्यते॥ ८० ॥

तैलधारवत् अविच्छिन्न, घण्टा के गम्भीर स्वर की तरह प्रणव (ओंकार) की ध्वनि वाला अनाहत नाद होता है, जिसका मूल 'ब्रह्म' कहा जाता है॥ ८० ॥

ज्योतिर्मयं तदग्रं स्यादवाच्यं बुद्धिसूक्ष्मतः। ददृशुर्ये महात्मानो यस्तं वेद स वेदवित्॥ ८१ ॥

महापुरुषों के द्वारा सूक्ष्म बुद्धि से जानने योग्य प्रणव का वह अग्रभाग (मूल) प्रकाशमय और वाणी से परे है, इस प्रकार से जानने वाला महात्मा ही वेदविद् है॥ ८१ ॥

जाग्रन्नेत्रद्वयोर्मध्ये हंस एव प्रकाशते। सकारः खेचरी प्रोक्तस्त्वंपदं चेति निश्चितम्॥ ८२ ॥
हकारः परमेशः स्यात्तत्पदं चेति निश्चितम्। सकारो ध्यायते जन्तुर्हकारो हि भवेद्ध्रुवम्॥८३ ॥

दोनों नेत्रों के बीच जाग्रत् अवस्था में हंस ज्योतित रहता है। 'स' कार खेचरी के रूप में कहा गया है, जो निश्चित रूप से 'त्वं' का स्वरूप है। 'ह' कार पद परमात्मा का द्योतक है, जो निश्चित रूप से 'तत्' पद के रूप में है। जो भी प्राणी 'स' कार का ध्यान करता है, वह निश्चित रूप से 'ह' कार रूप हो जाता है। यही सोऽहम् और तत्त्वमसि की साधना है॥ ८२-८३ ॥

[ऋषि यहाँ 'सोऽहम्' और 'तत् त्वम्' बोध वाक्यों की समानता-एकरूपता प्रदर्शित कर रहे हैं। साधक जब तात्त्विक दृष्टि से 'स्व' की ओर देखता है, तो 'सोऽहमस्मि' का बोध करता है तथा जब बाहर की ओर उसी दृष्टि से देखता है, तो तत्त्वमसि का अनुभव करता है।]

इन्द्रियैर्बध्यते जीव आत्मा चैव न बध्यते। ममत्वेन भवेज्जीवो निर्ममत्वेन केवलः॥ ८४॥

जीव को इन्द्रियाँ बन्धन में बाँधती हैं, आत्मा को इन्द्रियाँ नहीं बाँध सकती हैं। जब तक ममता होती है, वह जीव रहता है, ममता के बन्धन समाप्त हो जाने पर कैवल्य रूप हो जाता है॥ ८४॥

भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः। यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति॥ ८५॥

सूर्य, चन्द्र और अग्नि देवता एवं भूः, भुवः, स्वः लोक जिसकी मात्राओं में स्थित रहते हैं, वह परम प्रकाशरूप ओंकार है ॥ ८५॥

क्रिया इच्छा तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी। त्रिधा मात्रास्थितिर्यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति॥८६ ॥

परम प्रकाशमान ओंकार की तीन मात्राओं में क्रिया, इच्छा और ज्ञान तथा ब्राह्मी, रौद्री एवं वैष्णवी शक्तियाँ विराजमान हैं॥ ८६ ॥

वचसा तज्जपेन्नित्यं वपुषा तत्समभ्यसेत्। मनसा तज्जपेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति॥ ८७॥

सदैव वाणी से उसका जप करे तथा शरीर से उसी के प्रति आचरण करना चाहिए। मन से उसी का जप करते हुए उसी परमप्रकाशरूप ओंकार में स्थिर हो जाए॥ ८७॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत्प्रणवं सदा। न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ ८८॥

पवित्र या अपवित्र किसी भी अवस्था में ओंकार का जप करने वाला पाप-पंक में नहीं फँसता, संसार में वह जल से अलिप्त पद्मपत्र की तरह निर्लिप्त बना रहता है॥ ८८॥

चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत्। योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत्॥८९

जब तक वायु चलती रहेगी, तब तक बिन्दु भी चलायमान होगा, वायु के स्थिर हो जाने पर योगी स्थिरता (निश्चलता) को प्राप्त हो जाता है। इसलिए वायु की स्थिरता (प्राणायाम) का अभ्यास करना चाहिए॥ ८९॥

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवो न मुञ्चति। मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरुन्धयेत्॥९०॥

शरीर में जब तक वायु विद्यमान है, तब तक शरीर में जीव स्थिर रहेगा। शरीर से वायु निकल जाना ही मृत्यु है, इस कारण वायु का निरोध (प्राणायाम) करना चाहिए॥ ९०॥

यावद्बद्धो मरुत् देहे तावज्जीवो न मुञ्चति। यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः॥९१॥

जीव शरीर से तब तक नहीं निकल सकता, जब तक शरीर में वायु आबद्ध (स्थित) है, जो व्यक्ति दोनों भृकुटियों के बीच में दृष्टि को स्थिर रखता है, वह काल को जीत लेता है, उसे काल का भय कैसा?॥ ९१॥

अल्पकालभयाद्ब्रह्मा प्राणायामपरो भवेत्। योगिनो मुनयश्चैव ततः प्राणान्निरोधयेत्॥ ९२॥

ब्रह्मा भी अल्प काल के भय से (अल्पायु से) मुक्ति पाने के लिए प्राणायाम करते हैं। इसलिए प्राण का निरोध करने के लिए योगियों और मुनियों को प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए॥ ९२॥

षड्विंशदङ्गुलिर्हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः। वामदक्षिणमार्गेण प्राणायामो विधीयते॥ ९३॥

यह प्राण हंस रूप है, जो श्वास के माध्यम से छब्बीस अंगुल बाहर आता है। प्राणायाम नासिका के दोनों छिद्रों अर्थात् बायें-दायें मार्ग से करना चाहिए॥ ९३॥

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम्। तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणक्षमः॥ ९४॥

सभी प्रकार के मलों से नाड़ी चक्र के शुद्ध हो जाने पर योगी प्राणों का निरोध करने (प्राणायाम-सिद्ध होने) में समर्थ हो जाता है॥ ९४॥

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत्। धारयेद्वा यथाशक्त्या भूयः सूर्येण रेचयेत्॥ ९५॥

योग का अभ्यास करने के लिए बद्ध पद्मासन लगाकर चन्द्र नाड़ी (बायें स्वर) के द्वारा वायु को भीतर खींचे-पूरक करे, पुनः कुछ समय भीतर रोके-कुम्भक करे, फिर सूर्य नाड़ी (दायें स्वर) के द्वारा रेचन करे अर्थात् बाहर निकाले॥ ९५॥

अमृतोदधिसंकाशं गोक्षीरधवलोपमम्। ध्यात्वा चन्द्रमसं बिम्बं प्राणायामे सुखी भवेत्॥ ९६॥

प्राणायाम के समय अमृत समुद्र से निकले हुए गो-दुग्ध के समान श्वेत वर्ण के चन्द्रबिम्ब का ध्यान करने से साधक सुखी होता है॥ ९६॥

स्फुरत्प्रज्वलसंज्वालापूज्यमादित्यमण्डलम्। ध्यात्वा हृदि स्थितं योगी प्राणायामे सुखी भवेत्॥

पुनः हृदयकमल में स्थित प्रज्वलित ज्वालासदृश भगवान् सूर्य के ध्यान के साथ प्राणायाम करना योगी के लिए सुखदायी होता है॥ ९७॥

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यथा रेचयेत्पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया। सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिन्दुद्वयं ध्यायतः शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनो मासद्वयादूर्ध्वतः॥ ९८॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

प्राणायाम में सर्वप्रथम इड़ा नाड़ी अर्थात् बायें स्वर से श्वास खींचे (पूरक करे)। पुनः पिंगला नाड़ी अर्थात् दायें स्वर से श्वास का रेचन करे (पुनः इसके विपरीत करे)। इस प्रकार प्राणायाम करते समय चन्द्र और सूर्य दोनों का पूर्व वर्णित तरीके से ध्यान का अभ्यास करने पर मात्र दो महीने में नाड़ीशोधन हो जाता है॥ ९८॥

यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्। नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात्॥ ९९॥

'नाड़ीशोधन प्राणायाम' करने से नाड़ी शुद्ध होने पर वायु को यथेष्ट धारण करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है तथा आरोग्य के लाभ के साथ जठराग्नि प्रबल हो जाती है और दिव्यनाद सुनाई पड़ने लगता है॥ ९९॥

प्राणो देहस्थितो यावदपानं तु निरुन्धयेत्। एकश्वासमयी मात्रा ऊर्ध्वाधो गगने गतिः॥ १००॥

प्राणायाम में कुंभक की स्थिति में जब तक वायु भीतर रुकी रहे, तब तक अपान वायु को भी रोके रखे। इस प्रकार हृदयाकाश में एक श्वास की मात्रा ऊपर और नीचे गमनशील होती है॥ १००॥

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः। प्राणायामो भवेदेवं मात्राद्वादशसंयुतः॥ १०१॥

प्राणायाम की पूरक, कुम्भक और रेचक ये तीनों क्रियाएँ साक्षात् प्रणव का ही रूप हैं (इस चिन्तन के साथ) द्वादश मात्रायुक्त प्राणायाम करना चाहिए॥ १०१॥

मात्राद्वादशसंयुक्तौ दिवाकरनिशाकरौ। दोषजालमबध्नन्तौ ज्ञातव्यौ योगिभिः सदा॥ १०२॥

सूर्य और चन्द्र का यह द्वादश मात्रा वाला प्राणायाम साधक के सभी दोषों को समाप्त कर देता है॥ १०२॥

पूरकं द्वादशं कुर्यात्कुम्भकं षोडशं भवेत्। रेचकं दश चोंकारः प्राणायामः स उच्यते॥ १०३॥

पूरक में द्वादश मात्रा, कुम्भक में षोडश मात्रा और रेचक में दस मात्रा के प्राणायाम को ओंकार प्राणायाम कहा जाता है॥ १०३॥

अधमे द्वादश मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता। उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः॥ १०४॥

यह प्राणायाम द्वादश मात्रा का सामान्य कोटि का, इससे दुगुनी मात्रा का मध्यम स्तर का और उसकी तिगुनी अर्थात् छत्तीस मात्रा का प्राणायाम उत्तम कोटि का होता है॥ १०४॥

अधमे स्वेदजननं कम्पो भवति मध्यमे। उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत्॥ १०५॥

अधम अर्थात् सामान्य प्राणायाम पसीना लाने वाला होता है, मध्यम प्राणायाम में शरीर काँपने लगता है तथा उत्तम कोटि के प्राणायाम में शरीर आसन से ऊपर उठने लगता है, इसलिए इसी तरह का प्राणायाम करना चाहिए॥ १०५॥

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम्। नासाग्रदृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत्॥ १०६॥

योग का अभ्यास करने के लिए एकान्त में बद्धपद्मासन लगाकर बैठे और शिवस्वरूप गुरु को नमस्कार करके नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए॥ १०६॥

द्वाराणां नव संनिरुध्य मरुतं बध्वा दृढां धारणां नीत्वा कालमपानवह्निसहितं शक्त्या समं चालितम्। आत्मध्यानयुतस्त्वनेन विधिना विन्यस्य मूर्ध्नि स्थिरं यावत्तिष्ठति तावदेव महतां सङ्गो न संस्तूयते॥ १०७॥

जिन नव द्वारों से वायु का गमनागमन होता है, उनका निरोध करके वायु को रोके और अपान को अग्नि से मिलाकर ऊर्ध्वगामी बनाकर शक्तिचालिनी मुद्रा द्वारा कुण्डलिनी मार्ग से दृढ़तापूर्वक ऊपर मस्तिष्क में आत्मा के ध्यान के साथ स्थापित करे। जब तक यह स्थिर रहे, तब तक वह (अन्य) महापुरुष की संगति नहीं चाहता अर्थात् वह स्वयं सर्वश्रेष्ठ हो जाता है॥ १०७॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

प्राणायामो भवेदेवं पातकेन्धनपावकः। भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा॥ १०८॥

संसार-सागर से मुक्ति के लिए यह प्राणायाम महासेतु के सदृश है और पाप रूपी ईंधन को जलाने वाले अग्नि की तरह है, ऐसा योगियों द्वारा प्रायः कहा जाता है॥ १०८॥

आसनेन रुजं हन्ति प्राणायामेन पातकम्। विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति॥ १०९॥

योग के आसनों से (शारीरिक) रोग समाप्त होते हैं, प्राणायाम करने से पापों का विनाश होता है तथा प्रत्याहार करने से मानसरोग (विकार) समाप्त होते हैं॥ १०९॥

धारणाभिर्मनोधैर्यं याति चैतन्यमद्भुतम्। समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम्॥११०॥

योग की धारणाशक्ति द्वारा योगी का मन धैर्यवान् बनता है, समाधि से जीव के शुभाशुभ कर्म समाप्त हो जाते हैं तथा मुक्ति मिल जाती है॥ ११०॥

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः। प्रत्याहारद्विषट्केन जायते धारणा शुभा॥ १११॥

धारणा द्वादश प्रोक्तं ध्यानं योगविशारदैः। ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते॥ ११२॥

बारह बार प्राणायाम करने से प्रत्याहार की स्थिति बनती है तथा बारह बार इसी तरह प्रत्याहार करने से शुभफलदात्री धारणा की सिद्धि होती है। इसी प्रकार धारणा की द्वादश आवृत्ति पर ध्यान बनता है तथा द्वादश बार ध्यान होने पर समाधि अवस्था प्राप्त होती है, ऐसा योग के विशारदों का मत है॥१११-११२॥

यत्समाधौ परंज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम्। तस्मिन्दृष्टे क्रियाकर्म यातायातो न विद्यते॥ ११३॥

समाधि की स्थिति में साधक परमप्रकाशरूप अनन्त विश्वतोमुख अर्थात् सर्वत्र समभाव प्राप्त कर लेता है, इस स्थिति को प्राप्त होने पर न तो कुछ करना शेष रहता है, न किये हुए कर्म मनुष्य को बन्धन में डालते हैं, इससे आवागमन से छुटकारा मिल जाता है॥ ११३॥

संबद्धासनमेढ्रमङ्घ्रियुगलं कर्णाक्षिनासापुटद्वाराद्यङ्गुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण वा पूरितम्।
बध्वा वक्षसि बह्वपानसहितं मूर्ध्नि स्थिरं धारयेदेवं याति विशेषतत्त्वसमतां योगीश्वरास्तन्मनाः॥

दोनों पैर की एड़ियों को मेढ्र अर्थात् सीवन स्थान में लगाकर आसन में दृढ़तापूर्वक बैठे, तत्पश्चात् आँख, कान एवं नाक को अँगुलियों से बन्द करे और मुँह से वायु खींचे। पुनः नीचे से अपान वायु को ऊर्ध्वगामी बनाए, फिर दोनों वायुओं को हृदय प्रदेश में रोके। पुनः ऊर्ध्वगामी बनाकर मस्तिष्क में स्थिर करके मन को उसी में लगाए, इस क्रिया से योगियों को विशेष समत्वभाव प्राप्त होता है॥ ११४॥

गगनं पवने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान्। घण्टादीनां प्रवाद्यानां नादसिद्धिरुदीरिता॥ ११५॥

ऊपर और नीचे दोनों ओर से गतिशील वायु जब आकाशमण्डल (हृदय प्रदेश) में स्थिर होती है, तब साधक को महान् ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है, घण्टा आदि वाद्यों की तरह ध्वनि सुनाई पड़ती है तथा नादयोग की सिद्धि होती है॥ ११५॥

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्। प्राणायामवियुक्तेभ्यः सर्वरोगसमुद्भवः॥ ११६॥

विधिवत् प्राणायाम के अभ्यास से सभी प्रकार के रोगों से मुक्ति मिलती है। प्राणायाम के न करने से यह शरीर रोगों का उत्पत्तिस्थान बना रहता है॥ ११६॥

हिक्का कासस्तथा श्वासः शिरःकर्णाक्षिवेदनाः। भवन्ति विविधा रोगाः पवनव्यत्ययक्रमात्॥

वायु के विकृत होने के कारण ही खाँसी, श्वास, हिचकी, सिर, कान, आँख की पीड़ा होती है और नाना प्रकार के रोग पैदा होते हैं॥ ११७॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः। तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम्॥११८॥

हाथी, सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्र पशु जिस प्रकार से धीरे-धीरे अभ्यास के द्वारा वश में होते हैं, उसी तरह प्राणवायु को शनैः-शनैः अभ्यास के द्वारा वश में करे। यदि साधक ऐसा नहीं कर पाता है, तो उसका विनाश हो जाता है॥ ११८॥

युक्तंयुक्तं त्यजेद्वायुं युक्तंयुक्तं प्रपूरयेत्। युक्तंयुक्तं प्रबध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात्॥ ११९॥

समुचित तरीके से प्राणवायु को खींचे, समुचित तरीके से प्राणवायु को बाहर निकाले तथा समुचित तरीके से ही प्राणवायु को रोकने से सिद्धि प्राप्त होती है॥ ११९॥

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्। तत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते॥ १२०॥

आँख आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर भागती हैं, उनको वहाँ से रोकना (और इष्ट साधना में लगाना) प्रत्याहार कहा जाता है॥ १२०॥

यथा तृतीयकाले तु रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम्। तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं हरेत्॥ इत्युपनिषत्॥ १२१॥

जैसे-जैसे तृतीय प्रहर (सायंकाल) होता जाता है, वैसे ही सूर्य अपने प्रकाश को समेटता जाता है और सायंकाल को पूरी तरह समेट लेता है, ठीक उसी प्रकार योगी अपनी साधना का स्तर बढ़ाते हुए (तीन अवस्था, तीन गुण, तीन शरीर से आगे बढ़ते हुए) जब अपने तृतीयांग (उच्च योग के तृतीयांग-समाधि) में स्थित हो जाता है, तो वह अपने मन के समस्त विकारों का शमन कर लेता है। यही उपनिषद् (रहस्य विद्या) है॥ १२१॥

ॐ आप्यायन्तु ..... इति शान्तिः॥

॥ इति योगचूडामण्युपनिषत्समाप्ता॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ यागराजापानषद्॥

यह योगपरक उपनिषद् है। इसके नाम से ही स्पष्ट है कि यह योगपरक उपनिषदों में श्रेष्ठ है, तभी इसे 'योगराज' संज्ञा प्रदान की गई है। इसमें कुल २१ मन्त्र हैं, जिसमें योग विषयक सिद्धान्तों को बड़े सरल शब्दों में व्याख्यायित किया गया है। सर्वप्रथम चार योगों-मन्त्रयोग,लययोग, हठयोग एवं राजयोग का उल्लेख है। इसके बाद योग के प्रमुख चार अंगों-आसन, प्राणसंरोध (प्राणायाम), ध्यान तथा समाधि का विवेचन है। पुनः ९ चक्रों (ब्रह्मचक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, नाभिचक्र, हृदयचक्र,कण्ठचक्र, तालुकाचक्र, भ्रूचक्र, ब्रह्मरन्ध्रचक्र, व्योमचक्र) का वर्णन तथा उनमें ध्यान करने की प्रक्रिया का उल्लेख है। अन्त में चक्रों के ध्यान की फलश्रुति बताते हुए उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

योगराजं प्रवक्ष्यामि योगिनां योगसिद्धये। मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा॥ १ ॥

अब योगियों के योग-सिद्धि के लिए मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग इन चार प्रकार वाले योग से युक्त योगराज उपनिषद् का वर्णन करते हैं॥ १ ॥

योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः। आसनं प्राणसंरोधो ध्यानं चैव समाधिकः ॥२ ॥

योग के तत्त्वदर्शियों ने योग को आसन, प्राणसंरोध, ध्यान तथा समाधिरूप चार प्रकार का कहा है॥

एतच्चतुष्टयं विद्धि सर्वयोगेषु सम्मतम्। ब्रह्मविष्णुशिवादीनां मन्त्रं जाप्यं विशारदैः॥ ३ ॥

ये चारों सर्वयोग-सम्मत कहे गये हैं। विद्वज्जन ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव के मन्त्रों का जप करें॥ ३ ॥

साध्यते मन्त्रयोगस्तु वत्सराजादिभिर्यथा। कृष्णद्वैपायनाद्यैस्तु साधितो लयसंज्ञितः॥ ४ ॥

मन्त्रयोग को सिद्ध करने वाले वत्सराज आदि हैं एवं लययोग को व्यासादि ने सिद्ध किया॥ ४ ॥

नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः। प्रथमं ब्रह्मचक्रं स्यात् त्रिरावृत्तं भगाकृति॥ ५ ॥

नौ प्रकार के चक्रों में लय करके महात्मा लोग योग की सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। तीन बार आवृत्त (घिरा हुआ) 'भग' (त्रिकोण)की आकृति का प्रथम चक्र है, जिसको ब्रह्मचक्र कहा गया है॥ ५ ॥

अपाने मूलकन्दाख्यं कामरूपं च तज्जगुः। तदेव वह्निकुण्डं स्यात् तत्त्वकुण्डलिनी तथा ॥६ ॥

अपान के स्थान में कामरूपी मूलकन्द स्थित है, उसको ही अग्नि कुण्ड एवं तत्त्व कुण्डलिनी कहा है॥६

तां जीवरूपिणीं ध्यायेज्ज्योतिष्ठं मुक्तिहेतवे। स्वाधिष्ठानं द्वितीयं स्याच्चक्रं तन्मध्यगं विदुः ॥७॥

उस ज्योतिस्वरूप जीवरूपिणी का मुक्ति की कामना से ध्यान करना चाहिए। उसी के मध्य में स्वाधिष्ठान नाम का दूसरा चक्र विद्वानों ने कहा है॥ ७॥

पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं प्रवालाङ्कुरसन्निभम्। तत्रोड्रीयाणपीठेषु तं ध्यात्वाकर्षयेज्जगत्॥ ८ ॥

प्रवालाङ्कुर(रक्त वर्ण के अंकुर)के समान प्रकाशमान पश्चिमाभिमुख एक लिङ्ग स्थित है। वहाँ उड्रीयाणपीठ (स्वाधिष्ठान चक्र) के अन्तर्गत उस (प्रकाशमान अंकुर) का ध्यान करते हुए संसार का आकर्षण करे॥ ८ ॥

तृतीयं नाभिचक्रं स्यात्तन्मध्ये तु जगत् स्थितम्। पञ्चावर्तां मध्यशक्तिं चिन्तयेद्विद्युदाकृति ॥९ ॥

तृतीय चक्र नाभि चक्र है, उसके अन्दर संसार की स्थिति कही गयी है। उसके मध्य में पाँच आवृत्ति वाली विद्युत् के समान शक्ति का चिन्तन (ध्यान) करना चाहिए॥ ९ ॥

तां ध्यात्वा सर्वसिद्धीनां भाजनं जायते बुधः। चतुर्थे हृदये चक्रं विज्ञेयं तदधोमुखम्॥ १० ॥

उसका ध्यान करके विद्वान् पुरुष समस्त सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है। चतुर्थ चक्र नीचे की ओर मुँह किये हृदय में स्थित है, ऐसा जानना चाहिए॥ १० ॥

ज्योतीरूपं च तन्मध्ये हंसं ध्यायेत् प्रयत्नतः। तं ध्यायतो जगत् सर्वं वश्यं स्यान्नात्र संशयः ॥११ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

उसके मध्य में प्रकाश के रूप में हंस का ध्यान प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए। उसका ध्यान करने से सारा संसार वशीभूत हो जाता है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं करना चाहिए॥ ११॥

पञ्चमं कण्ठचक्रं स्यात् तत्र वामे इडा भवेत्। दक्षिणे पिङ्गला ज्ञेया सुषुम्ना मध्यतः स्थिता॥१२॥

पञ्चम चक्र कण्ठचक्र कहा गया है, उसके वाम भाग में इड़ा, दक्षिण भाग में पिङ्गला एवं मध्य में सुषुम्ना की स्थिति कही गई है॥ १२॥

तत्र ध्यात्वा शुचि ज्योतिः सिद्धीनां भाजनं भवेत्। षष्ठं च तालुकाचक्रं घण्टिकास्थान मुच्यते॥

वहाँ पर (कण्ठचक्र में) पवित्र प्रकाश का ध्यान करने से समस्त सिद्धियाँ मिल जाती हैं। छठा 'तालुका' चक्र कहा गया है, जिसे घण्टिका स्थान भी कहते हैं॥ १३॥

दशमद्वारमार्गं तद्राजदन्तं च तज्जगुः। तत्र शून्ये लयं कृत्वा मुक्तो भवति निश्चितम्॥ १४॥

उसे दसवें द्वार का मार्ग एवं राजदन्त भी कहा जाता है। वहाँ पर शून्य में (मन को) लय करने से मनुष्य निश्चित रूप से मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ १४॥

भ्रूचक्रं सप्तमं विद्याद्बिन्दुस्थानं च तद्विदुः। भ्रुवोर्मध्ये वर्तुलं च ध्यात्वा ज्योतिः प्रमुच्यते॥ १५

सप्तम 'भ्रू' चक्र है, उसे विद्या एवं बिन्दुस्थान भी कहते हैं। योगीजन भृकुटि-मध्य में गोलाकार ज्योति का ध्यान करके मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं॥ १५॥

अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं स्यात् परं निर्वाणसूचकम्। तं ध्यात्वा सूतिकाग्रामं धूमाकारं विमुच्यते॥ १६॥

परम निर्वाण का सूचक आठवाँ चक्र 'ब्रह्मरन्ध्र' कहा जाता है। धूम्रवर्ण वाले उस सूतिका ग्राम अर्थात् उद्गमस्थान का ध्यान करके योगी मुक्ति को प्राप्त कर लेता है॥ १६॥

तच्च जालन्धरं ज्ञेयं मोक्षदं नीलचेतसम्। नवमं व्योमचक्रं स्यादश्रैः षोडशभिर्युतम्॥ १७॥

उस नीलवर्ण वाले मोक्षदाता को जालन्धर (जालन्धरपीठ) समझना चाहिए। नौवाँ चक्र सोलह दल वाला व्योमचक्र कहा गया है॥ १७॥

संविद्ब्रूयाच्च तन्मध्ये शक्तिरुद्धा स्थिता परा। तत्र पूर्णा गिरौ पीठे शक्तिं ध्यात्वा विमुच्यते॥१८

उस षोडशदलचक्र के मध्य में जो पराशक्ति अवरुद्ध (स्थित) है, उसे संविद् कहना चाहिए। वहाँ (उस चक्र के मध्य में) पूर्णागिरिपीठ में पूर्णशक्ति का ध्यान करके साधक मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ १८॥

एतेषां नवचक्राणामेकैकं ध्यायतो मुनेः। सिद्धयो मुक्तिसहिताः करस्थाः स्युर्दिने दिने॥ १९॥

जो साधक ऊपर वर्णित इन नौ चक्रों में से क्रमशः एक-एक का ध्यान करता है, उसे मुक्ति के सहित समस्त सिद्धियाँ प्रतिदिन प्राप्त होती जाती हैं॥ १९॥

एको दण्डद्वयं मध्ये पश्यति ज्ञानचक्षुषा। कदम्बगोलकाकारं ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते॥ २०॥

अपने ज्ञाननेत्र से जो साधक कदम्ब के गुच्छक के समान गोलाकार चक्र के मध्य में दो दण्डों का दर्शन करते हैं, वे ब्रह्मलोक प्राप्त कर लेते हैं॥ २०॥

ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन अधःशक्तेर्निकुञ्चनात्। मध्यशक्तिप्रबोधेन जायते परमं सुखं जायते परमं सुखम्। इति॥ २१॥

ऊर्ध्वशक्ति के निपात से एवं अधःशक्ति को संकुचित करने से तथा मध्य की शक्ति को जाग्रत् कर देने से परमसुख प्राप्त हो जाता है। यह निश्चित है॥ २१॥

॥ इति योगराजोपनिषत् समाप्ता॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ नृसिंहषट्चक्रोपनिषद् ॥

यह एक लघुकाय उपनिषद् है। यह उपनिषद् देवताओं और प्रजापति के मध्य हुए प्रश्नोत्तर से प्रकट हुई है। एक बार देवों ने प्रजापति से 'नारसिंह चक्र' के सम्बन्ध में जिज्ञासा की, जिसका समाधान प्रजापति ने प्रदान किया। प्रजापति ने नारसिंह चक्र की संख्या 'छह' बताई। इसी आधार पर इस उपनिषद् की 'नृसिंहषट्चक्रोपनिषद्' संज्ञा हुई। छहों चक्रों का नाम बताते हुए प्रजापति ने कहा-प्रथम आचक्र, द्वितीय सुचक्र, तृतीय महाचक्र, चतुर्थ सकललोक रक्षणचक्र, पंचम द्यूत चक्र और षष्ठ असुरान्तक चक्र है। तत्पश्चात् देवों ने तीन वलय और उनके भेदों-प्रभेदों की बात पूछी है, जिसे प्रजापति ने बड़ी स्पष्टता से उत्तर दिया है। पुनः देवों ने इन चक्रों को धारण करने के स्थान के विषय में प्रश्न पूछा, तब प्रजापति ने इनके धारण करने के स्थान तथा धारण करने के लाभ भी बताए हैं। अन्त में इस उपनिषद् के अध्ययन की फलश्रुति बताते हुए उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

ॐ देवा ह वै सत्यं लोकमायंस्तं प्रजापतिमपृच्छन्नारसिंहचक्रन्नो ब्रूहीति। तान्प्रजापति-र्नारसिंहचक्रमवोचत्। षड्वै नारसिंहानि चक्राणि भवन्ति। यत्प्रथमं तच्चतुरं यद्द्वितीयं तच्चतुरं यत्तृतीयं तदष्टारं यच्चतुर्थं तत्पञ्चारं यत्पञ्चमं तत्पञ्चारं यत्षष्ठं तदष्टारं तदेतति षडेव नारसिंहानि चक्राणि भवन्ति॥ १ ॥

एक बार देवताओं ने सत्यलोक में पहुँचकर प्रजापति (ब्रह्माजी) से कहा-आप हमें नारसिंह चक्र का उपदेश प्रदान करने की कृपा करें। तदुपरान्त प्रजापति ने उन समस्त देवों को नारसिंह चक्र का उपदेश प्रदान किया, जो इस प्रकार है-नारसिंह चक्र की संख्या छः होती है। प्रथम चक्र चार 'अर' वाला, द्वितीय भी चार 'अर' वाला, तृतीय आठ 'अर' वाला, चतुर्थ पाँच 'अर' वाला, पंचम भी पाँच 'अर' वाला तथा छठवाँ आठ 'अर' वाला है। इस तरह से ये छः नारसिंह चक्र कहलाते हैं॥ १ ॥

अथ कानि नामानि भवन्ति। यत्प्रथमं तदाचक्रं यद्द्वितीयं तत्सुचक्रं यत्तृतीयं तन्महाचक्रं यच्चतुर्थं तत्सकललोकरक्षणचक्रं यत्पञ्चमं तद्द्यूतचक्रं यद्वै षष्ठं तदसुरान्तकचक्रं तदेतानि षडेव नारसिंहचक्रनामानि भवन्ति॥ २ ॥

देवों के द्वारा यह पूछने पर कि उनके क्या-क्या नाम हैं? यह सुनकर प्रजापति ने कहा कि प्रथम आचक्र, दूसरा सुचक्र, तीसरा महाचक्र, चौथा सकललोक रक्षणचक्र, पाँचवाँ द्यूतचक्र एवं छठवाँ असुरान्तक चक्र के नाम से प्रख्यात है। ये ही छः नारसिंह चक्रों के नाम हैं॥ २ ॥

अथ कानि त्रीणि वलयानि भवन्ति। यत्प्रथमं तदान्तरवलयं भवति। यद्द्वितीयं तन्मध्यमं वलयं भवति। यत्तृतीयं तद्बाह्यं वलयं भवति। तदेतानि त्रीण्येव वलयानि भवन्ति। यदा तद्वैतद्बीजं यन्मध्यमं तां नारसिंहगायत्रीं यद्बाह्यं तन्मन्त्रः॥ ३ ॥

तदनन्तर देवों द्वारा यह पूछे जाने पर कि उसके तीन वलय कौन-कौन से होते हैं? प्रजापति ने बताया कि प्रथम आन्तर, द्वितीय मध्यम और तृतीय बाह्य है। ये ही तीन वलय कहलाते हैं। इनमें से जो मध्यम बीज है, वह नारसिंह गायत्री और जो बाह्य है, वही मन्त्र है॥ ३ ॥

अथ किमान्तरं वलयम्। षड्वान्तराणि वलयानि भवन्ति। यन्नारसिंहं तत्प्रथमस्य यन्माहालक्ष्म्यं तद्द्वितीयस्य यत्सारस्वतं तत्तृतीयस्य यस्य यत्कामं देवं तच्चतुर्थस्य यत्प्रणवं

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

तत्पञ्चमस्य यत्क्रोधदैवतं तत्षष्ठस्य। तदेतानि षण्णां नारसिंहचक्राणां षडान्तराणि वलयानि भवन्ति॥ ४॥

आन्तर वलय कितने हैं? देवों द्वारा यह पूछे जाने पर प्रजापति ब्रह्मा जी ने कहा कि आन्तर वलयों की संख्या छः है। नारसिंहम् पहले का है, महालक्ष्म्यं दूसरे का सारस्वत तीसरे का है, जिन लोगों का जो इष्टदेव हो, वह चौथे का है, ओंकार पाँचवें का और क्रोध दैवत छठे का नाम है। अतः ये छः नारसिंह चक्रों के छः आन्तर वलय हैं॥ ४॥

अथ किं मध्यमं वलयम्। षड्वै मध्यमानि वलयानि भवन्ति। यन्नारसिंहाय तत्प्रथमस्य यद्विद्महे तद्द्वितीयस्य यद्वज्रनखाय तत्तृतीयस्य यद्धीमहि तच्चतुर्थस्य यत्तन्नस्तत्पञ्चमस्य यत्सिंहः प्रचोदयादिति तत्षष्ठस्य। तदेतानि षण्णां नारसिंहचक्राणां षण्मध्यमानि वलयानि भवन्ति॥ ५॥

देवों ने जब यह पूछा कि मध्यम वलयों की संख्या कितनी है? तो प्रजापति जी ने उत्तर दिया कि मध्यम वलयों की संख्या भी छः ही है। 'नारसिंहाय' प्रथम का है, 'विद्महे' दूसरे का, 'वज्रनखाय' तीसरे का है, 'धीमहि' चौथे का, 'तन्नः' पाँचवें का, 'सिंहः प्रचोदयात्' छठे का नाम है। अतः ये छः नारसिंह चक्रों के छः मध्यम वलय होते हैं॥ ५॥

अथ किं बाह्यं वलयम्। षड्वै बाह्यानि वलयानि भवन्ति। यदाचक्रं यदात्मा तत्प्रथमस्य यत्सुचक्रं यत्प्रियात्मा तद्द्वितीयस्य यन्महाचक्रं यज्ज्योतिरात्मा तत्तृयीयस्य यत्सकललोकरक्षणचक्रं यन्मायात्मा तच्चतुर्थस्य यदाचक्रं यद्योगात्मा तत्पञ्चमस्य यदसुरान्तकचक्रं यत्सत्यात्मा तत्षष्ठस्य। तदेतानि षण्णां नारसिंहचक्राणां षट् बाह्यानि वलयानि भवन्ति॥६॥

देवों ने पुनः पूछा कि बाह्य वलय कितने और कौन हैं? इसका उत्तर देते हुए प्रजापति ने कहा कि बाह्य वलय भी छः होते हैं। जो आचक्र एवं आत्मा है, वह पहले का है; जो सुचक्र तथा प्रियात्मा है, वह दूसरे का है; जो महाचक्र एवं ज्योतिरात्मा है, वह तीसरे का है; जो सम्पूर्ण लोकों का रक्षण चक्र एवं मायात्मा है, वह चौथे का है; जो आचक्र एवं योगात्मा है, वह पाँचवें का है; जो असुरान्तक चक्र एवं सत्यात्मा है, वह छठे का नाम है। अतः ये ही छः नारसिंह चक्रों के छः बाह्य वलय हैं॥ ६॥

[यहाँ प्रथम बाह्य वलय में 'आचक्र' का उल्लेख है; किन्तु पाँचवें वलय के रूप में पुनः इसी 'आचक्र' को उद्धृत किया गया है, जबकि इसके पूर्व पाँचवें वलय के रूप में 'द्यूतचक्र' को स्वीकारा गया है, यह परिवर्तन विचारणीय है।]

कैतानि न्यस्यानि। यत्प्रथमं तद्धृदये यद्द्वितीयं तच्छिरसि यत्तृतीयं तच्छिखायां यच्चतुर्थं तत्सर्वेष्वङ्गेषु यत्पञ्चमं तत्सर्वेषु (?) यत्षष्ठं तत्सर्वेषु देशेषु। य एतानि नारसिंहानि चक्राण्येतेष्वङ्गेषु बिभृयात् तस्यानुष्टुप् सिध्यति। तं भगवान् नृसिंहः प्रसीदति। तस्य कैवल्यं सिद्ध्यति। तस्य सर्वे लोकाः सिध्यन्ति। तस्य सर्वे जनाः सिद्ध्यन्ति। तस्मादेतानि षण्णां नारसिंहचक्राण्यङ्गेषु न्यस्यानि भवन्ति। पवित्रं च एतत्तस्य न्यसनम्। न्यसनान्नृसिंहानन्दी भवति। कर्मण्यो भवति। ब्रह्मण्यो भवति। अन्यसनान्न नृसिंहानन्दी भवति। न कर्मण्यो भवति। तस्मादेतत्पवित्रं तस्य न्यसनम्॥ ७॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

इनका न्यास कहाँ करना चाहिए? अर्थात् कहाँ धारण करना चाहिए? देवताओं के द्वारा यह पूछे जाने पर प्रजापति ने कहा कि जो प्रथम है उसे हृदय में, जो द्वितीय है उसे सिर में, जो तृतीय है उसे शिखा में, जो चतुर्थ है उसे समस्त अंगों में, जो पञ्चम है उसे सभी में तथा जो षष्ठ है उसे सम्पूर्ण देशों (पूरे शरीर) में धारण करना चाहिए। जो मनुष्य इन नारसिंह चक्रों को अपने समस्त अङ्गों में धारण करता है, उसे अनुष्टुप् की सिद्धि प्राप्त हो जाती है। उस पर भगवान् नृसिंह प्रसन्न होते हैं। उसे कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। उसके समस्त लोक सिद्ध हो जाते हैं। वह समस्त लोकों को प्राप्त कर लेता है। उसे सभी लोग (समस्त परिजन) सिद्ध हो जाते हैं अर्थात् उसके अनुयायी वशानुवर्ती हो जाते हैं। ये ही छः नारसिंह चक्रों के अङ्गों में न्यास के स्थान हैं। इनका न्यास अत्यधिक शुद्ध है। इनके न्यास द्वारा मनुष्य नृसिंह को आनन्द प्रदान करने वाला हो जाता है। वह कर्मण्य (श्रेष्ठ कर्म) का ज्ञाता हो जाता है, वह ब्रह्मज्ञाता हो जाता है। इस न्यास के बिना नृसिंह प्रसन्न नहीं होते और न ही मनुष्य कर्मण्य हो सकता है। अतः यही अत्यन्त पवित्र है, इसका न्यास ही अत्यन्त शुद्ध-पवित्र है॥ ७॥

[यहाँ न्यास के प्रकरण में चतुर्थ न्यास में सभी अंगों तथा छठे न्यास में सभी स्थानों का उल्लेख है; किन्तु पाँचवें न्यास में सभी शब्द के साथ किसी स्थान का उल्लेख क्यों नहीं हुआ, यह विचारणीय है।]

यो वा एतं नारसिंहं चक्रमधीते स सर्वेषु वेदेष्वधीतो भवति। स सर्वेषु यज्ञेषु याजको भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सर्वेषु मन्त्रेषु सिद्धो भवति। स सर्वत्र शुद्धो भवति। स सर्वरक्षो भवति। भूतपिशाचशाकिनीप्रेतवंताकनाशको भवति। स निर्भयो भवति। तदेतन्नाश्रद्दधानाय प्रब्रूयात्तदेतन्नाश्रद्दधानाय प्रब्रूयादिति॥ ८॥

जो मनुष्य इस नारसिंह चक्र उपनिषद् का अध्ययन करता है, वह सम्पूर्ण वेदों का भी अध्ययन करने वाला हो जाता है। वह समस्त यज्ञों का कर्ता समझा जाता है अर्थात् वह सभी यज्ञ कर लेने वाला माना जाता है। उसने समस्त तीर्थों में स्नान भी कर लिया है, ऐसा जानना चाहिए। उसे सभी मन्त्रों की सिद्धियाँ भी मिल जाती हैं। वह पूर्णतया शुद्ध हो जाता है। वह सबकी रक्षा करने में समर्थ होता है। वह भूत, पिशाच, शाकिनी, प्रेत एवं वंताक आदि भय प्रदान करने वाली योनियों का नाश करने वाला भी होता है अर्थात् उसके पास ये सभी अनिष्टकारक तत्त्व फटक नहीं सकते। वह निर्भय हो जाता है। इस नारसिंह चक्र का उपदेश श्रद्धाहीन के समक्ष किसी भी स्थिति में नहीं करना चाहिए॥ ८॥

॥ इति नृसिंहषट्चक्रोपनिषत् समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ पाशुपतब्रह्मोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें वालखिल्य ऋषि एवं स्वयंभू ब्रह्माजी के बीच हुए 'हंस सूत्र' विषयक प्रश्नोत्तर का वर्णन है। यह उपनिषद् दो काण्डों (पूर्वकाण्ड और उत्तरकाण्ड) में प्रविभक्त है।

पूर्वकाण्ड में सर्वप्रथम जगत्-नियन्ता के विषय में सात प्रश्न किए गये हैं, जिनका क्रमशः उत्तर दिया गया है। तत्पश्चात् सृष्टियज्ञ में कर्त्ता का निरूपण, नादानुसन्धान यज्ञ, परमात्मा का 'हंस' रूप, यज्ञसूत्र एवं ब्रह्मसूत्र में साम्य, प्रणव हंस का यज्ञत्व, ब्रह्मसन्ध्या का क्रियारूप मानसिक यज्ञ, हंस और प्रणव का अभेदानुसंधान, ९६ हंस सूत्र हंसात्मविद्या से मुक्ति, बाह्य यज्ञ की अपेक्षा आन्तरिक यज्ञ की श्रेष्ठता, ज्ञान यज्ञरूप अश्वमेध तथा तारकहंस ज्योति का वर्णन है।

उत्तरकाण्ड में सर्वप्रथम ब्रह्मसम्पत्ति का तत्पश्चात् परमात्मा में जगत् का आविर्भाव मायाजन्य, हंसार्कप्रणव ध्यान की विधि, शिव द्वारा मन तथा इन्द्रियों की प्रेरकता, आत्मा में अन्य की अनुभूति माया जन्य, आत्मज्ञानी की ब्रह्मात्मता, सत्यादि श्रेष्ठविद्या का साधनत्व, आत्मज्ञानी की आवागमन से मुक्ति, ब्रह्मज्ञानी के लिए भक्ष्याभक्ष्य विवेक की अनुपयोगिता और अन्त में ज्ञानी द्वारा अपने में सभी के दर्शन करने की स्थिति का वर्णन है। इस प्रकार ब्रह्मविषयक गूढ़ सिद्धान्तों का बहुत विशद वर्णन इस उपनिषद् में किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृष्णोपनिषद्)

॥ पूर्वकाण्डः ॥

अथ ह वै स्वयंभूर्ब्रह्मा प्रजाः सृजानीति कामकामो जायते कामेश्वरो वैश्रवणः ॥ १ ॥

एक बार स्वयंभू भगवान् ब्रह्माजी के मन में यह आकांक्षा प्रादुर्भूत हुई कि "मैं प्रजा का सृजन करूँ"। उसी सृष्टि क्रम में कामेश्वर (रुद्र) एवं वैश्रवण की उत्पत्ति हुई॥ १ ॥

वैश्रवणो ब्रह्मपुत्रो वालखिल्यः स्वयंभुवं परिपृच्छति जगतां का विद्या का देवता जाग्रत्तुरीययोरस्य को देवो यानि कस्य वशानि कालाः कियत्प्रमाणाः कस्याज्ञया रविचन्द्रग्रहादयो भासन्ते कस्य महिमा गगनस्वरूप एतदहं श्रोतुमिच्छामि नान्यो जानाति त्वं ब्रूहि ब्रह्मन् ॥ २ ॥

तदुपरान्त ब्रह्मपुत्र वैश्रवण वालखिल्य ऋषि ने स्वयंभू ब्रह्माजी से प्रश्न किया- हे भगवन्! यह जगत् विद्या क्या है? जाग्रत् और तुरीयावस्था के देवता कौन हैं? यह जगत् किसके वश में है? काल का क्या प्रमाण है? सूर्य एवं चन्द्रादि ग्रह किसकी आज्ञा से प्रतिभासित (प्रकाशित) होते हैं? किसकी महिमा गगन के सदृश विशाल है? हम इन सभी प्रश्नों के उत्तर आपसे सुनना चाहते हैं। आपके अतिरिक्त अन्य और कोई इन प्रश्नों का ज्ञाता नहीं है, अतः हे ब्रह्मन्! आप कृपा करके इन प्रश्नों को बताने का अनुग्रह करें॥ ३ ॥

स्वयंभूरुवाच कृत्स्नजगतां मातृका विद्या॥ ३ ॥

स्वयंभू (ब्रह्माजी) ने कहा-सम्पूर्ण जगत् (उत्पन्न) करने वाली मातृका विद्या (अक्षर विद्या) है॥ ३ ॥

द्वित्रिवर्णसहिता द्विवर्णमाता त्रिवर्णसहिता। चतुर्मात्रात्मकोङ्कारो मम प्राणात्मिका देवता ॥४ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

वह दो वर्ण (हंस) से युक्त तथा तीन वर्ण (प्रणव) वाली है। दो वर्ण वाली भी तीन वर्ण के सहित (प्रणव) ही है। चार मात्राओं से युक्त ओंकार मेरा प्राण रूप देवता है॥ ४॥

अहमेव जगत्त्रयस्यैकः पतिः॥ ५॥

मैं ही एकमात्र तीनों लोकों का पति (भरण-पोषण करने वाला) हूँ॥। ५॥

मम वशानि सर्वाणि युगान्यपि॥ ६॥

समस्त युग मेरे ही वश (नियंत्रण) में रहते हैं॥ ६॥

अहोरात्रादयो मत्संवर्धिताः कालाः॥ ७॥

मेरे द्वारा ही अहोरात्र अर्थात् दिन-रात्रि आदि काल संवर्द्धित (प्रादुर्भूत) हुए हैं॥ ७॥

मम रूपा रवेस्तेजश्चन्द्रनक्षत्रग्रहतेजांसि च॥ ८॥

रवि, चन्द्रमा , समस्त नक्षत्रों एवं ग्रह आदि में जो तेज विद्यमान है, वह मेरा ही स्वरूप है॥८॥

गगनो मम त्रिशक्तिमायास्वरूपो नान्यो मदस्ति॥ ९॥

यह आकाश त्रिशक्ति युक्त (सत, रज, तम) मायारूप में मेरा ही स्वरूप है। मेरे सिवाय अन्य और कुछ भी नहीं है॥ ९॥

तमोमायात्मको रुद्रः सात्त्विकमायात्मको विष्णू राजसमायात्मको ब्रह्मा। इन्द्रादयस्तामसराजसात्मिका न सात्त्विकः कोऽपि। अघोरः सर्वसाधारणस्वरूपः॥ १०॥

तमोगुणी मायारूप- रुद्र हैं, विष्णु सतोगुणी मायारूप हैं और ब्रह्मा रजोगुणी माया रूप हैं। इन्द्रादि देवता रजोगुण एवं तमोगुण से ओत-प्रोत हैं। इनमें से कोई भी देव सात्त्विक नहीं हैं। एक मात्र केवल अघोर (शिव) ही सर्वसाधारण सामान्य रूप वाले हैं॥ १०॥

समस्तयागानां रुद्रः पशुपतिः कर्ता। रुद्रो यागदेवो विष्णुरध्वर्युर्होतेन्द्रो देवता यज्ञभुग् मानसं ब्रह्म महेश्वरं ब्रह्म॥ ११॥

समस्त यज्ञों के कर्त्ता-पशुपति रुद्र भगवान् हैं, भगवान् विष्णु यज्ञ के अध्वर्यु हैं तथा इन्द्रदेव होता (मंत्र बोलने वाले) हैं। महेश्वर-ब्रह्म के मानस रूप ब्रह्म ही इस यज्ञ के भोक्ता हैं॥ ११॥

मानसो हंसः सोऽहं हंस इति। तन्मययज्ञो नादानुसंधानम्। तन्मयविकारो जीवः॥ १२॥

उस मानस ब्रह्म का रूप ही ''हंसः-सोऽहं'' है। इस तन्मयता की प्राप्ति हेतु जो यज्ञ सम्पन्न किया जाता है, वही नाद-अनुसंधान है। तन्मय (उस चैतन्यमयता) का विकार ही जीव है॥ १२॥

[हंस साधना और सोऽहं साधना एक ही कही गई है। एक ओर से हंसः यही नाद दूसरी ओर से सोऽहं भाषित होता है। भाव रूप में मैं वह ही हूँ (हं-सः) तथा वह मैं ही हूँ (सोऽहं) यह दोनों भाव तत्त्वतः जीव और ब्रह्म के एकत्व के ही बोधक हैं।]

परमात्मस्वरूपो हंसः। अन्तर्बहिश्चरति हंसः। अन्तर्गतोऽनवकाशान्तर्गतसुपर्णस्वरूपो हंसः॥१३॥

(वह) 'हंस' परमात्मा का स्वरूप है। (वह) हंस बाह्य एवं अन्तः में विचरण करता रहता है। अन्तः के अनवकाश वाले स्थल में यह हंस सुपर्णमय (ईश्वर-परब्रह्म) रूप में विद्यमान रहता है॥ १३॥

षण्णवतितत्त्वतन्तुवद्व्यक्तं चित्सूत्रत्रयचिन्मयलक्षणं नवतत्त्वत्रिरावृतं ब्रह्मविष्णुमहेश्वरात्मकमग्नित्रयकलोपेतं चिद्ग्रन्थिबन्धनम् अद्वैतग्रन्थिः॥ १४॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

यज्ञसाधारणाङ्गं बहिरन्तर्ज्वलनं यज्ञाङ्गलक्षणब्रह्मस्वरूपो हंसः ॥ १५ ॥

छियानवे तत्त्व तन्तुओं के रूप में व्यक्त होने वाला, चित् के तीन सूत्रों (सत्, चित्, आनन्द) से चिन्मय लक्षणों वाला त्रिगुणित होने से नौ तत्त्वों वाला, ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप तीन अग्नियों से संयुक्त, चिद् ग्रन्थियों से बँधा हुआ, अद्वैत ग्रन्थि (ब्रह्मग्रन्थि) से युक्त यज्ञ के सामान्य अंग-रूप में बाह्य एवं अन्तःकरण को प्रकाशित करने वाला यज्ञोपवीत, ब्रह्म के लक्षणों से युक्त हंस रूप है॥ १४-१५ ॥

[यहाँ यज्ञोपवीत की व्याख्या ब्रह्मसूत्र के रूप में की गई है। स्थूल यज्ञोपवीत का निर्माण जिन चेतन तत्त्वों के आधार पर किया जाता है, यहाँ उनका उल्लेख ऋषि कर रहे हैं। यज्ञोपवीत बनाने में चार अंगुलों अथवा उस माप को किसी वस्तु पर कच्चे सूत्र के तीन तारों को ९६ बार लपेटा जाता है। उसे बटकर तिहरन करके पुनः बटते हैं। इस प्रकार एक लड़ में ९ तार हो जाते हैं। इसे तीन लड़ों वाले यज्ञोपवीत रूप में ग्रथित किया जाता है। प्रारंभिक ग्रंथियों के बाद अंत में ब्रह्मग्रन्थि लगाई जाती है। इन्हीं का विश्लेषण-ऋषि ने किया है। अन्य बातें तो मन्त्रार्थ में स्पष्ट हैं, केवल ९६ तत्त्वों का उल्लेख नहीं है। इसका स्पष्टीकरण सामवेदीय छान्दोग्य परिशिष्ट में इस प्रकार दिया गया है-'तिथिवारञ्च नक्षत्रं तत्त्ववेदगुणान्वितम्। कालत्रयं च मासाश्च ब्रह्मसूत्रं हि षण्णवम्' अर्थात् तत्त्व २५, गुण ३, तिथि १५, वार ७, नक्षत्र २७, वेद ४, काल ३ तथा मास १२ इस प्रकार कुल ९६ तत्त्व वाला ब्रह्मसूत्र है।]

उपवीतलक्षणसूत्रब्रह्मगा यज्ञाः। ब्रह्माङ्गलक्षणयुक्तो यज्ञसूत्रम्। तद्ब्रह्मसूत्रम्। यज्ञसूत्र-संबन्धी ब्रह्मयज्ञः तत्स्वरूपः ॥ १६ ॥

इस प्रकार यह उपवीत के लक्षणों से युक्त सूत्र (ब्रह्मसूत्र) यज्ञ-रूप है अर्थात् यह ब्रह्म का प्रतीक रूप है। ब्रह्म के लक्षणों से युक्त यह यज्ञसूत्र (यज्ञोपवीत) है, वही ब्रह्मसूत्र है। अतः यज्ञोपवीत एवं ब्रह्मयज्ञ दोनों एक दूसरे के स्वरूप ही हैं॥ १६ ॥

अङ्गानि मात्राणि। मनोयज्ञस्य हंसो यज्ञसूत्रम्। प्रणवं ब्रह्मसूत्रं ब्रह्मयज्ञमयम्। प्रणवान्तर्वर्ती हंसो ब्रह्मसूत्रम्। तदेव ब्रह्मयज्ञमयं मोक्षक्रमम्॥ १७ ॥

इसके अंग मात्राएँ हैं। यह ब्रह्मसूत्र ही इस मनोयज्ञ का हंस है। ब्रह्मयज्ञ से युक्त यह प्रणव भी ब्रह्मसूत्र ही है। प्रणव का अन्तःवर्ती हंस भी ब्रह्मसूत्र है। यह ब्रह्मयज्ञ मोक्ष का साधन रूप ही है॥ १७ ॥

[बाहर ब्रह्मसूत्र धारण करने का वास्तविक उद्देश्य अन्तःवर्ती ब्रह्मसूत्र को जाग्रत्-जीवन्त बनाना होता है। जब अन्तःवर्ती ब्रह्मसूत्र परिपक्व अवस्था में पहुँच जाता है, तो बाह्यसूत्र को त्यागकर 'संन्यास' में प्रवेश किया जाता है।]

ब्रह्मसंध्याक्रिया मनोयागः। संध्याक्रिया मनोयागस्य लक्षणम्॥ १८ ॥

ब्रह्मसंध्या मानसिक यज्ञ की क्रिया है, संध्या-क्रिया मानसिक यज्ञ का लक्षण है॥ १८ ॥

[जो लोग ब्रह्मसंध्या को स्थूल कर्मकाण्ड के रूप में ही दुहरा कर अपना दायित्व पूरा मान लेते हैं, मानसिक यज्ञ के रूप में उसे जाग्रत्-विकसित नहीं करते, उन्हें सन्ध्यावन्दन का शास्त्रोक्त लाभ प्राप्त नहीं होता।]

यज्ञसूत्रप्रणवब्रह्मयज्ञक्रियायुक्तो ब्राह्मणः। ब्रह्मचर्येण चरन्ति देवाः। हंससूत्रचर्या यज्ञाः। हंसप्रणवयोरभेदः॥ १९ ॥

जो मनुष्य यज्ञोपवीत, प्रणव एवं ब्रह्मयज्ञ की क्रिया से सम्पन्न हैं, वही ब्राह्मण हैं। ब्रह्मचर्य में ही देवता विचरण करते हैं। सूत्ररूप हंस एवं प्रणव दोनों एक ही हैं। इन दोनों में कोई भेद नहीं है॥ १९ ॥

हंसस्य प्रार्थनास्त्रिकालाः। त्रिकालास्त्रिवर्णाः। त्रेताग्न्यनुसंधानो यागः। त्रेताग्न्यात्मा-कृतिवर्णोङ्कारहंसानुसंधानोऽन्तर्यागः॥ २० ॥

हंस की प्रार्थना त्रिकाल अर्थात् तीन समय में सम्पन्न की जाती है। तीन काल, तीन वर्ण (अकार, उकार,

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मकार) होते हैं। यह यज्ञ तीन अग्नियों के अनुसंधान द्वारा सम्पन्न करने का है। तीन अग्नि रूप आत्मा की आकृति एवं वर्ण वाले ॐकार रूप हंस का अनुसंधान ही अन्तः का यज्ञ है॥ २०॥

चित्स्वरूपवत्तन्मयं तुरीयस्वरूपम्। अन्तरादित्ये ज्योतिःस्वरूपो हंसः॥ २१॥

चित् स्वरूप में तन्मय (तल्लीन) होना ही तुरीयावस्था का स्वरूप है। अन्तः के आदित्य में हंस ही ज्योति रूप में अवस्थित है॥ २१॥

यज्ञाङ्गं ब्रह्मसंपत्तिः। ब्रह्मप्रवृत्तौ तत्प्रणवहंससूत्रेणैव ध्यानमाचरन्ति॥ २२॥

यज्ञाङ्ग ही ब्रह्म-सम्पत्ति है। अतः ब्रह्म-प्राप्ति के निमित्त प्रणवरूप हंस की साधना में ही ध्यान द्वारा विचरण करना चाहिए॥ २२॥

प्रोवाच पुनः स्वयंभुवं प्रतिजानीते ब्रह्मपुत्रो ऋषिर्वालखिल्यः। हंससूत्राणि कतिसंख्यानि कियद्वा प्रमाणम्॥ २३॥

ब्रह्मपुत्र वालखिल्य ने पुनः स्वयंभू ब्रह्माजी से पूछा-हे भगवन्! 'हंससूत्रों की संख्या कितनी है तथा उनके प्रमाण कितने हैं? आप तो सभी कुछ जानने में समर्थ हैं, कृपा करके बताने का अनुग्रह करें'॥ २३॥

हृद्यादित्यमरीचीनां पदं षण्णवतिः। चित्सूत्रघ्राणयोः स्वर्निर्गता प्रणवाधारा षडङ्गुलदशाशीतिः॥ २४॥

तदनन्तर स्वयंभू ब्रह्माजी ने उत्तर दिया- 'हृदय- आदित्य की छियानवे रश्मियाँ हैं। चित्-सूत्र घ्राण से स्वरसहित निकलने वाली धारा भी छियानवे अंगुल होती है'॥ २४॥

वामबाहुदक्षिणकट्योरन्तश्चरति हंसः परमात्मा ब्रह्मगुह्यप्रकारो नान्यत्र विदितः॥ २५॥

बायीं भुजा (कंधा) और दक्षिण कट्यन्त (दाहिनी ओर कटि के छोर पर) के मध्य (हृदय क्षेत्र) में परमात्मा हंस का निवास है; किन्तु इस गुह्य विषय की जानकारी किसी को नहीं हो पाती है॥ २५॥

जानन्ति तेऽमृतफलकाः। सर्वकालं हंसं प्रकाशकम्। प्रणवहंसान्तर्ध्यानप्रकृतिं विना न मुक्तिः॥

जिन्हें अमृतत्व की प्राप्ति हो गई है, वे ही उस सर्वकाल प्रकाशमान हंस को जानते हैं। प्रणवरूपी हंस का अन्तर्ध्यान किये बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो पाती॥ २६॥

नवसूत्रान्परिचर्चितान्। तेऽपि यद्ब्रह्म चरन्ति। अन्तरादित्यं न ज्ञातं मनुष्याणाम्॥ २७॥

जो मनुष्य रँगे हुए इस नौ सूत्र वाले यज्ञोपवीत को धारण करते हैं। वे भी इसकी उपासना ब्रह्ममय मान कर ही करते हैं; किन्तु इन मनुष्यों को अन्तः में स्थित आदित्यरूप ब्रह्म का ज्ञान(आत्मबोध)नहीं होता॥२७॥

जगदादित्यो रोचत इति ज्ञात्वा ते मर्त्या विबुधास्तपनप्रार्थनायुक्ता आचरन्ति॥ २८॥

आदित्य जगत् को प्रकाशित करता है, यह जानकर वे बुद्धिमान् मनुष्य पवित्रता एवं ज्ञान के लिए उसकी प्रार्थना करते हैं॥ २८॥

वाजपेयः पशुहर्ता अध्वर्युरिन्द्रो देवता अहिंसा धर्मयागः परमहंसोऽध्वर्युः परमात्मा देवता पशुपतिः॥ २९॥

वाजपेय यज्ञ (विशिष्ट ज्ञानयज्ञ) पशुहर्ता (पशुत्वभाव-अज्ञान भाव का हरण करने वाला) है। इस यज्ञ के अध्वर्यु एवं देवता इन्द्र (परमेश्वर) हैं। यह अहिंसात्मक धर्मयज्ञ (मोक्षयज्ञ) है, इसके अध्वर्यु परमहंस तथा देवता पशुपति परमात्मा हैं॥ २९॥

ब्रह्मोपनिषदो ब्रह्म। स्वाध्याययुक्ता ब्राह्मणाश्चरन्ति॥ ३०॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

वेद एवं उपनिषद् में जिस ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है, उसी (परमात्मतत्त्व) की ये स्वाध्याययुक्त ब्रह्मज्ञानी उपासना करते हैं॥ ३०॥

अश्वमेधो महायज्ञकथा। तद्राज्ञा ब्रह्मचर्यमाचरन्ति। सर्वेषां पूर्वोक्तब्रह्मयज्ञक्रमं मुक्तिक्रममिति॥ ३१॥

इस महायज्ञ का ज्ञान ही अश्वमेध यज्ञ है। इसके आश्रय से ही वे (ज्ञानीजन) ब्रह्मज्ञान का आचरण करते हैं। पूर्व में वर्णित समस्त ब्रह्मयज्ञ-कर्म ही मुक्ति प्रदान करने में समर्थ हैं॥ ३१॥

ब्रह्मपुत्रः प्रोवाच। उदितो हंस ऋषिः। स्वयंभूस्तिरोदधे। रुद्रो ब्रह्मोपनिषदो हंसज्योतिः पशुपतिः प्रणवस्तारकः स एवं वेद॥ ३२॥

ब्रह्मपुत्र ने पुनः कहा-'हंस से सम्बन्धित ज्ञान का प्राकट्य हो गया है।' ऐसा श्रवण कर स्वयंभू तिरोहित हो गये। इस उपनिषद् में जिस हंस ज्योति का वर्णन किया गया है, वही रुद्र है और संसार से उद्धार करने वाला प्रणव (ओंकार) ही पशुपति (ब्रह्म) है, उसे ऐसा जानो॥ ३२॥

॥ उत्तरकाण्डः ॥

हंसात्ममालिकावर्णब्रह्मकालप्रचोदिता। परमात्मा पुमानिति ब्रह्मसंपत्तिकारिणी॥ १॥

'हंस' का जप ही वर्ण ब्रह्म है, इसी से ब्रह्म-प्राप्ति की प्रेरणा प्राप्त होती है। यह ब्रह्म ही परमात्मा एवं पुरुष है। यह ब्रह्म सम्पत्ति से युक्त होता है॥ १॥

अध्यात्मब्रह्मकल्पस्याकृतिः कीदृशी कथा। ब्रह्मज्ञानप्रभासन्ध्या कालो गच्छति धीमताम्। हंसाख्यो देवमात्माख्यमात्मतत्त्वप्रजः कथम्॥ २॥

जो मनुष्य अपने आत्मिक ज्ञान से ब्रह्म के समान हो गया हो, फिर उसके संदर्भ में कहने के लिए क्या शेष रह जाता है? ज्ञानी मनुष्य अपना सम्पूर्ण समय ब्रह्मचर्चा एवं उपासना में ही व्यतीत करते हैं। जब हंस एवं आत्मा में एकात्मता स्थापित हो जाती है, तो फिर प्रजा कहाँ हो सकती है?॥ २॥

अन्तः प्रणवनादाख्यो हंसः प्रत्ययबोधकः। अन्तर्गतप्रमागूढं ज्ञाननालं विराजितम्॥ ३॥

अन्तःकरण से निःसृत होने वाले प्रणव रूपी नाद से जो हंस ज्ञात होता है, वही सम्पूर्ण ज्ञान का बोध कराने वाला है। अन्तः में अनुभवगम्य गूढ़ ज्ञान के द्वारा बाह्य जगत् के ज्ञान की प्राप्ति होती है॥ ३॥

शिवशक्त्यात्मकं रूपं चिन्मयानन्दवेदितम्। नादबिन्दुकला त्रीणि नेत्रविश्वविचेष्टितम्॥ ४॥

शिव-शक्तिमयात्मकरूप चिन्मय आनन्द से ज्ञात होने वाला है। नाद, बिन्दु एवं कला इन तीनों नेत्रों (जागृति) से ही यह जगत् चेष्टायुक्त है॥ ४॥

त्रियंगानि शिखा त्रीणि द्वित्रीणि संख्यमाकृतिः। अन्तर्गूढप्रमा हंसः प्रमाणान्निर्गतं बहिः॥ ५॥

तीन अंग, तीन शिखा एवं दो या तीन मात्राओं में उसकी संख्या (आकृति) ज्ञात होती है। जब इस प्रकार से वह अन्तर्धान हो जाता है, तब इस गूढ़ आत्मा का ज्ञान बाह्य जगत् में भी प्रमाण के रूप में प्रकट होता है॥५॥

ब्रह्मसूत्रपदं ज्ञेयं ब्राह्मयं विध्युक्तलक्षणम्। हंसार्कप्रणवध्यानमित्युक्तो ज्ञानसागरे॥ ६॥

जगत् के सूत्ररूप ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके स्वयमेव ब्रह्म के लक्षणों से युक्त होना चाहिए तथा निरन्तर हंस रूपी सूर्य का प्रणव सहित ध्यान करते रहना चाहिए, यही ज्ञानीजनों का उपदेश है॥ ६॥

एतद्विज्ञानमात्रेण ज्ञानसागरपारगः। स्वतः शिवः पशुपतिः साक्षी सर्वस्य सर्वदा॥ ७॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

इस प्रकार से विशेष ज्ञान-प्राप्ति होने के पश्चात् ही ज्ञान-सागर के पार पहुँचा जा सकता है। स्वयं भगवान् शिवरूप पशुपति-ब्रह्म ही सर्वदा (इसके) साक्ष्य रूप हैं ॥ ७ ॥

[अध्यात्म क्षेत्र में जड़-चेतन दोनों प्रकार के ज्ञान के अतिवाद को उचित नहीं माना गया है, जैसा कि ईशोपनिषद् (९) में 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' ..... इत्यादि मन्त्र में 'केवल विद्या की उपासना करने वालों' को भी अन्धकार में फँस जाने की बात कही गई है। यहाँ 'ज्ञान' को डुबाने वाला सागर तथा उससे पार जाने की बात उक्त तथ्य को ध्यान में रखकर ही कही गयी प्रतीत होती है।]

सर्वेषां तु मनस्तेन प्रेरितं नियमेन तु। विषये गच्छति प्राणश्चेष्टते वाग्वदत्यपि ॥ ८ ॥

यही भगवान् शिव सभी लोगों के मन को प्रेरित एवं संतुलित-नियमित करने वाले हैं, जिसके प्रभाव से मन विषयों में गतिशील होता है। प्राण चेष्टा-रत रहते हैं तथा वाणी उच्चारण का कार्य करती है ॥ ८ ॥

चक्षुः पश्यति रूपाणि श्रोत्रं सर्वं शृणोत्यपि। अन्यानि खानि सर्वाणि तेनैव प्रेरितानि तु ॥ ९ ॥
स्वं स्वं विषयमुद्दिश्य प्रवर्तन्ते निरन्तरम्। प्रवर्तकत्वं चाप्यस्य मायया न स्वभावतः ॥ १० ॥

उन्हीं भगवान् की प्रेरणा से चक्षु रूपों-दृश्यों को देखते हैं, कान श्रवण करते हैं तथा अन्य समस्त इन्द्रियाँ भी उन्हीं से प्रेरित हो रही हैं। वे निरन्तर अपने-अपने विषयों के उद्देश्य में प्रवृत्त होती रहती हैं। यह विषयों में प्रवृत्त होना ही मायारूप है, यह स्वभाववश नहीं होता, माया द्वारा ही होता है ॥ ९-१० ॥

श्रोत्रमात्मनि चाध्यस्तं स्वयं पशुपतिः पुमान्। अनुप्रविश्य श्रोत्रस्य ददाति श्रोत्रतां शिवः ॥११ ॥

श्रोत्र आत्मा के आश्रित हैं तथा स्वयं पशुपति ब्रह्म श्रोत्र में प्रविष्ट होकर उन शिव को श्रवण शक्ति देते हैं ॥ ११ ॥

मनः स्वात्मनि चाध्यस्तं प्रविश्य परमेश्वरः। मनस्त्वं तस्य सत्त्वस्थो ददाति नियमेन तु ॥ १२ ॥

मन भी अपनी अन्तरात्मा में अभ्यस्त है एवं परब्रह्म परमेश्वर उसमें प्रविष्ट होकर, उस सत्त्व में स्थित होते हुए उसे नियम में रखते हैं और मनस्विता प्रदान करते हैं ॥ १२ ॥

स एव विदितादन्यस्तथैवाविदितादपि। अन्येषामिन्द्रियाणां तु कल्पितानामपीश्वरः ॥ १३ ॥
तत्तद्रूपमनुप्राप्य ददाति नियमेन तु । ततश्चक्षुश्च वाक्चैव मनश्चान्यानि खानि च ॥ १४ ॥
न गच्छन्ति स्वयंज्योतिः स्वभावे परमात्मनि। अकर्तृविषयप्रत्यक्प्रकाशं स्वात्मनैव तु ॥ १५ ॥
विना तर्कप्रमाणाभ्यां ब्रह्म यो वेद वेद सः। प्रत्यगात्मा परंज्योतिर्माया सा तु महत्तमः ॥ १६ ॥

ऐसे ही वे परम ईश्वर समस्त इन्द्रियों को सचेष्ट करते हैं, परन्तु लोग उन ब्रह्म को जैसा बताते हैं अथवा कल्पना करते हैं, उससे वे महेश्वर सर्वथा भिन्न हैं। परब्रह्म परमेश्वर ही इन समस्त इन्द्रियों को अपने अनुकूल रूप प्रदान करते हैं एवं उनका नियमन भी करते हैं। इस कारण ये चक्षु, मन,वाणी आदि समस्त इन्द्रियाँ परमपिता परमात्मा के स्वयं प्रकाशतत्त्व (रूप) को प्राप्त नहीं हो सकतीं अर्थात् उनके ज्ञानरूपी प्रकाश को जानने में समर्थ नहीं हो सकतीं। जो मनुष्य ऐसा जानता है कि परमात्मा अन्तः के विषयों से भिन्न(अलग)है,वह तर्क एवं प्रमाण के बिना ही उसे अपनी अन्तरात्मा द्वारा जानने का निरन्तर प्रयास करे, उसे यथार्थ रूप में परमात्म तत्त्व का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। यह आत्मा ही परम प्रकाश स्वरूप है,जबकि वह माया महा अन्धकाररूप है ॥१३-१६ ॥

तथा सति कथं मायासंभवः प्रत्यगात्मनि। तस्मात्तर्कप्रमाणाभ्यां स्वानुभूत्या च चिद्घने ॥१७ ॥
स्वप्रकाशैकसंसिद्धे नास्ति माया परात्मनि। व्यावहारिकदृष्ट्येयं विद्याविद्या न चान्यथा ॥ १८ ॥

इसलिए प्रत्यगात्मा एवं माया की एकता किसी भी तरह से सम्भव नहीं है। उसके तर्कों, प्रमाणों एवं

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अनुभव से ज्ञात होता है कि चैतन्यमय स्वयं प्रकाशस्वरूप परमात्मा में माया नहीं है। विद्या एवं अविद्या के विषय व्यावहारिक हैं, परमात्मा से उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है॥ १७-१८॥

तत्त्वदृष्ट्या तु नास्त्येव तत्त्वमेवास्ति केवलम्। व्यावहारिकदृष्टिस्तु प्रकाशाव्यभिचारतः॥ १९॥
प्रकाश एव सततं तस्मादद्वैत एव हि। अद्वैतमिति चोक्तिश्च प्रकाशाव्यभिचारतः॥ २०॥

तात्त्विक दृष्टि से यह सभी कुछ मिथ्या ही है। केवल एक तत्त्व ही वास्तविक सत्य है। व्यावहारिक-दृष्टि से जो भी कुछ जान पड़ता है, वह भी वैसे ही आभासित होता है। प्रकाश ही निरन्तर विद्यमान है। इस प्रकार यह अद्वैत ही है, अद्वैत ही इस प्रकार के प्रकाश के अभेद से कहा जाता है॥ १९-२०॥

प्रकाश एव सततं तस्मान्मौनं हि युज्यते। अयमर्थो महान्यस्य स्वयमेव प्रकाशितः॥२१॥
न स जीवो न च ब्रह्म न चान्यदपि किंचन। न तस्य वर्णा विद्यन्ते नाश्रमाश्च तथैव च॥ २२॥
न तस्य धर्मोऽधर्मश्च न निषेधो विधिर्न च। यदा ब्रह्मात्मकं सर्वं विभाति तत एव तु॥ २३॥
तदा दुःखादिभेदोऽयमाभासोऽपि न भासते। जगज्जीवादिरूपेण पश्यन्नपि परात्मवित्॥ २४॥
न तत्पश्यति चिद्रूपं ब्रह्मवस्त्वेव पश्यति। धर्मधर्मित्ववार्ता च भेदे सति हि भिद्यते॥ २५॥

इस प्रकार से सर्वत्र सतत एक प्रकाश स्थित है। इसके सन्दर्भ में और अधिक कुछ कहने की अपेक्षा मौन ही उत्तम है। जिस मनुष्य को यह महान् ज्ञान स्वयमेव ज्ञात हो गया है, वह न जीव रूप है, न ब्रह्म है और न ही कुछ और है। उसका न कोई 'वर्ण' है तथा वह आश्रम भी नहीं है। वह धर्म भी नहीं है और अधर्म भी नहीं है, निषेध एवं विधि भी वह नहीं है। जब उसको सब कुछ ब्रह्ममय ही दृष्टिगोचर होता है, तब उसे इस दुःखादि भेद का आभास बिल्कुल नहीं जान पड़ता। परब्रह्म परमात्मा का इस प्रकार से ज्ञान रखने वाला इस जीवादि स्वरूप वाले विश्व को देखते हुए भी नहीं देखता। वह एकमात्र चिद्रूप ब्रह्म का ही निरन्तर दर्शन करता है। धर्म एवं धर्मों के विषय-भेद के रहते हुए भिन्न ही प्रतीत होते हैं॥ २१-२५॥

भेदाभेदस्तथा भेदाभेदः साक्षात्परात्मनः। नास्ति स्वात्मातिरेकेण स्वयमेवास्ति सर्वदा॥ २६॥

एक मात्र वह परमात्म चेतना ही है, जो हमेशा से अपने वर्तमान स्वरूप में है और दूसरे अन्य सभी भेद आदि एवं समस्त भेद-अभेद उस (परमात्मा) में ही संव्याप्त हैं॥ २६॥

ब्रह्मैव विद्यते साक्षाद्वस्तुतोऽवस्तुतोऽपि च। तथैव ब्रह्मविज्ञानी किं गृह्णाति जहाति किम्॥२७

वस्तु अथवा अवस्तु जो कुछ भी विद्यमान है, वह सभी कुछ साक्षात् परब्रह्ममय ही है। ऐसी दशा में ब्रह्मज्ञान रखने वाला किसी को स्वीकार अथवा परित्याग कैसे कर सकता है?॥ २७॥

अधिष्ठानमनौपम्यमवाङ्मनसगोचरम्। यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रं रूपवर्जितम्॥ २८॥
अचक्षुःश्रोत्रमत्यर्थं तदपाणिपदं तथा। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम्॥ २९॥
ब्रह्मैवेदममृतं तत्पुरस्ताद्ब्रह्मानन्दं परमं चैव पश्चात्। ब्रह्मानन्दं परमं दक्षिणे च ब्रह्मानन्दं परमं चोत्तरे च॥ ३०॥

जो परब्रह्म उपमा-विहीन, वाणी एवं मन से अगोचर, दृष्टि से परिलक्षित न होने वाला, ग्रहण न कर सकने योग्य, गोत्र-रहित, रूप-विहीन है; जो (ब्रह्म) आँख, कान, हाथ-पैर आदि से रहित, नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, अव्यय एवं मृत्यु से रहित है, सबका अधिष्ठाता अथवा आधार रूप है; वह (ब्रह्म उस साधक के) आगे-पीछे,उत्तर एवं दक्षिण सर्वत्र सर्वश्रेष्ठ वेदामृत (वेदज्ञानामृत) स्वरूप ब्रह्मानन्द रूप में विद्यमान है और वह परब्रह्म आनन्दमय रूप में दायें-बायें भी प्रतिष्ठित है॥ २८-३०॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

स्वात्मन्येव स्वयं सर्वं सदा पश्यति निर्भयः। तदा मुक्तो न मुक्तश्च बद्धस्यैव विमुक्तता॥३१॥

इस प्रकार वह श्रेष्ठ साधक सभी को निरन्तर अपनी अन्तरात्मा में निर्भय होकर देखता रहता है। ऐसा भाव रखने वाला साधक ज्ञानी ही नहीं, वरन् अज्ञानी होने पर भी मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ ३१॥

एवंरूपा परा विद्या सत्येन तपसापि च। ब्रह्मचर्यादिभिर्धर्मैर्लभ्या वेदान्तवर्त्मना॥ ३२॥

इस प्रकार परा विद्या,सत्य,तप और ब्रह्मचर्यादि धर्म की प्राप्ति भी वेदान्त मार्ग के द्वारा ही होती है॥३२॥

स्वशरीरे स्वयंज्योतिःस्वरूपं पारमार्थिकम्। क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे मायया ऽऽवृताः॥३३॥

जिनका अन्तःकरण पूर्णरूपेण पवित्र है, समस्त दोषादि विकार क्षीण हो गये हैं, वे ही श्रेष्ठ योगी साधक स्वयं प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मा का दर्शन कर सकते हैं, माया द्वारा आवृत लोग उन परमप्रभु का दर्शन प्राप्त नहीं कर सकते॥ ३३॥

एवं स्वरूपविज्ञानं यस्य कस्यास्ति योगिनः। कुत्रचिद्गमनं नास्ति तस्य संपूर्णरूपिणः॥ ३४॥

जो योगी साधक अपने स्वरूप को इस तरह से समझ लेता है, वह उस पूर्णता को प्राप्त करके पुनः आवागमन के चक्कर में नहीं पड़ता॥ ३४॥

आकाशमेकं संपूर्णं कुत्रचिन्न हि गच्छति। तद्वद्ब्रह्मात्मविच्छ्रेष्ठः कुत्रचिन्नैव गच्छति॥ ३५॥

जिस प्रकार एकमात्र आकाश सर्वत्र उपस्थित रहता है। वह इधर-उधर कहीं गमनागमन नहीं करता, उसी प्रकार जिस योगी साधक ने अपने को ब्रह्ममय जान लिया है, वह कहीं आ-जा नहीं सकता॥ ३५॥

अभक्ष्यस्य निवृत्त्या तु विशुद्धं हृदयं भवेत्। आहारशुद्धौ चित्तस्य विशुद्धिर्भवति स्वतः॥३६॥

आहार के अन्तर्गत अभक्ष्य-भक्षण का परित्याग कर देने पर चित्त पूर्णतया पवित्र हो जाता है। जब आहार की शुद्धि हो जाती है, तब चित्त की शुद्धि स्वयं ही हो जाती है॥ ३६॥

चित्तशुद्धौ क्रमाज्ज्ञानं त्रुट्यन्ति ग्रन्थयः स्फुटम्। अभक्ष्यं ब्रह्मविज्ञानविहीनस्यैव देहिनः॥३७॥

जब चित्त पूरी तरह से शुद्ध हो जाता है, तब क्रमशः ज्ञान प्रवर्द्धित होता चला जाता है तथा अज्ञान की समस्त ग्रन्थियाँ विनष्ट हो जाती हैं, लेकिन भक्ष्याभक्ष्य का विचार मात्र उसके लिए आवश्यक है, जिसे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति अभी नहीं हुई है॥ ३७॥

न सम्यग्ज्ञानिनस्तद्वत्स्वरूपं सकलं खलु। अहमन्नं सदान्नाद इति हि ब्रह्मवेदनम्॥ ३८॥

इसका कारण यह है कि सम्यक् रूप से ज्ञानी का स्वरूप अज्ञानी के सदृश भेद-ज्ञानयुक्त नहीं होता। ज्ञानी यह समझता है कि भक्षण करने वाला मैं 'ब्रह्म' हूँ तथा अन्न भी मैं ही हूँ॥ ३८॥

ब्रह्मविद्ग्रसति ज्ञानात्सर्वं ब्रह्मात्मनैव तु। ब्रह्मक्षत्रादिकं सर्वं यस्य स्यादोदनं सदा॥ ३९॥

जो साधक योगी-ब्रह्मज्ञानी होता है, वह प्राणि-मात्र को ब्रह्म के रूप में देखता है। इस कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि की भावना भी उसके लिए भोज्य (ग्राह्य-पाच्य) है॥ ३९॥

यस्योपसेचनं मृत्युस्तं ज्ञानी तादृशः खलु। ब्रह्मस्वरूपविज्ञानाज्जगद्भोज्यं भवेत्खलु॥ ४०॥

मृत्यु ही जिस ब्रह्म का अन्न (भोज्य पदार्थ) है, ऐसे ब्रह्म को जानने वाला साधक भी तदनुरूप ही हो जाता है तथा यह सम्पूर्ण जगत् ही उसके लिए भोज्य (ग्राह्य) हो जाता है॥ ४०॥

जगदात्मतया भाति यदा भोज्यं भवेत्तदा। ब्रह्मस्वात्मतया नित्यं भक्षितं सकलं तदा॥ ४१॥

जब इस विश्व की, आत्मा के रूप में अनुभूति की जाती है, तो वह भोज्य रूप हो जाता है तथा आत्मा रूप से अविनाशी ब्रह्म सतत उसका भक्षण करता रहता है॥ ४१॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

यदाभानेन रूपेण जगद्भोज्यं भवेत्तु तत्। मानतः स्वात्मना भातं भक्षितं भवति ध्रुवम्॥४२॥

जिसका आभास हो जाने से यह विश्व भोज्य पदार्थरूप हो जाता है तथा वह जब आत्मस्वरूप ज्ञात हो जाता है, तो निश्चय ही वह ब्रह्म के द्वारा भक्षित होता है॥ ४२॥

स्वस्वरूपं स्वयं भुङ्क्ते नास्ति भोज्यं पृथक् स्वतः। अस्ति चेदस्तितारूपं ब्रह्मैवास्तित्वलक्षणम्॥ ४३॥

इस तरह से ब्रह्म स्वयं ही अपने स्वरूप का भक्षण करता है, इसका कारण यह है कि उससे (ब्रह्म से) भोज्य पदार्थ अलग ही नहीं है। जो अस्तिता का रूप है, वही ब्रह्म के अस्तित्व का लक्षण-रूप है॥ ४३॥

अस्तितालक्षणा सत्ता सत्ता ब्रह्म न चापरा। नास्ति सत्तातिरेकेण नास्ति माया च वस्तुतः॥४४

सत्ता का लक्षण ही अस्तित्व माना जाता है तथा ब्रह्म से सत्ता पृथक् नहीं होती। ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता है ही नहीं और न माया कोई वास्तविक वस्तु ही होती है॥ ४४॥

योगिनामात्मनिष्ठानां माया स्वात्मनि कल्पिता। साक्षिरूपतया भाति ब्रह्मज्ञानेन बाधिता॥४५॥

योगी साधकगण माया की कल्पना अपनी अन्तरात्मा से ही करते हैं। वह ब्रह्मज्ञान से बाधित होती हुई उन (साधक गणों) को साक्षीरूप में प्रतिभासित होती है॥ ४५॥

ब्रह्मविज्ञानसंपन्नः प्रतीतमखिलं जगत्। पश्यन्नपि सदा नैव पश्यति स्वात्मनः पृथक्॥ ४६॥ इत्युपनिषत्॥

इस प्रकार से जिस ज्ञानी साधक को ब्रह्म के ज्ञान-विज्ञान की सम्पन्नता की अनुभूति हो गई है, वह चाहे इस सम्पूर्ण विश्व का अपने समक्ष दर्शन करता रहे; किन्तु वह उसे अपने से अलग कभी नहीं मानता। ऐसी ही यह उपनिषद् (रहस्यात्मक ज्ञान) है॥ ४६॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः॥

॥ इति पाशुपतब्रह्मोपनिषत्समाप्ता॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इस उपनिषद् का मूल प्रयोजन 'चित्त शुद्धि' है, जिसके द्वारा 'ब्रह्मज्ञान' सहज प्राप्य है। इस उपनिषद् में सर्वप्रथम 'शारीर यज्ञ' के विषय में स्पष्टीकरण देने की घोषणा तथा उसका प्रतिफल (सांख्य आदि दर्शनों के ज्ञान के बिना निवृत्ति-मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है) वर्णित है। तत्पश्चात् बाह्य प्राणाग्निहोत्र का प्रयोग स्पष्ट किया गया है। तदुपरान्त शारीराग्नि दर्शन नामक अपर-ब्रह्मविद्या का स्वरूप विवेचित हुआ है। शारीराग्नि विद्या द्वारा 'शारीर यज्ञ' का निरूपण अगले क्रम में है। अन्त में इस 'प्राणाग्निहोत्र' विद्या के पठन-पाठन की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि इस उपनिषद् का अध्येता एक ही जन्म में चित्त शुद्धि तथा (परिणाम स्वरूप) मोक्ष की प्राप्ति कर लेता है। इसी के साथ उपनिषद् पूर्ण हो गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य- अक्ष्युपनिषद्)

अथातः सर्वोपनिषत्सारं संसारज्ञानातीतमन्नसूक्तं शारीरयज्ञं व्याख्यास्यामः। यस्मिन्नेव पुरुषः शरीरे विनाप्यग्निहोत्रेण विनापि सांख्ययोगेन संसारविमुक्तिर्भवति॥ १ ॥

अब समस्त उपनिषदों का सारभूत सांसारिक ज्ञान से परे (प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् के अन्तर्गत) अन्नसूक्त एवं शारीर यज्ञ की व्याख्या प्रारम्भ की जाती है। जिस पुरुष-शरीर की जानकारी प्राप्त कर लेने के पश्चात् अग्निहोत्र के बिना और सांख्य आदि दर्शनों के ज्ञान के बिना ही संसार से निवृत्ति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है॥ १ ॥

स्वेन विधिनान्नं भूमौ निक्षिप्य या ओषधीः सोमराज्ञीरिति तिसृभिरन्नपत इति द्वाभ्यामनुमन्त्रयते॥

अपनी विधि के अनुसार पृथ्वी पर (निर्मित की गई वेदिका पर) अन्न को रखकर तत्पश्चात् नीचे लिखे (या ओषधयः .....। या फलिनीर्याः .....। जीवला नघारिषां .....।) इन तीन मंत्रों तथा ('अन्नपतेऽन्नस्य ....। यदन्नमग्निर्बहुधा .....।') इन दो ऋचाओं से अभिमंत्रित करना चाहिए॥ २ ॥

अब उपर्युक्त वर्णित तीन व दो ऋचाओं का क्रमानुसार अर्थ लिखते हैं-

या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः। बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ ३॥

जो ओषधियों के अधिष्ठाता देव सोम हैं। वे प्रधान शतवीर्य, बहुशाखा वाले सैकड़ों रोगों को विभिन्न तरह से विनष्ट करने में सक्षम हैं। ये विशिष्ट गुणों से युक्त ओषधियाँ बृहस्पति (देवों के आचार्य) द्वारा तैयार (उत्पन्न) की गई हैं। ये ओषधियाँ हमें पापों-रोगों से मुक्ति प्रदान करें॥ ३ ॥

याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः। बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ ४॥

जो फलों से युक्त, फलों से रहित, पुष्प युक्त एवं पुष्प रहित ऐसी ये समस्त ओषधियाँ बृहस्पति-प्रसूत (विशेषज्ञ वैद्य द्वारा प्रादुर्भूत) हैं, ये ओषधियाँ हमें रोगों-पापों से मुक्ति प्रदान करें॥ ४ ॥

जीवला नघारिषां मा ते बध्नाम्योषधिम्। यातयायुरुपाहरादप रक्षांसि चातयात्॥ ५॥

सतत हरी-भरी बनी रहने वाली ओषधि मेरे द्वारा बाँधी जा रही है अर्थात् ग्रहण की जा रही है। आयु क्षीण करने वाले तत्त्वों से वह हमें संरक्षण प्रदान करे॥ ५ ॥

अन्नपतेऽन्नस्य नो धेह्यनमीवस्य शुष्मिणः। प्रप्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥ ६

हे अन्न के पति अग्निदेव! आप हम सभी के लिए आरोग्य-प्रद एवं पोषण युक्त अन्न की व्यवस्था करें। दानी मनुष्यों को भली-भाँति पोषित करें। हमारे पुत्र-पौत्रादि एवं पशुओं के लिए भी अन्न प्रदान करें॥ ६ ॥

यदन्नमग्निर्बहुधा विराद्धि रुद्रैः प्रजग्धं यदि वा पिशाचैः। सर्वं तदीशानो अभयं कृणोतु शिवमीशानाय स्वाहा॥ ७॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

जो अन्न अग्नि के द्वारा प्रजा के निमित्त रुद्रों अथवा पिशाचों से प्रायः बचाकर रखा जाता है, उस कल्याणकारी अन्न को ईशानदेव दोषमुक्त बनाएँ, उन ईशानदेव भगवान् शिव को यह आहुति समर्पित है॥ ७॥

मंत्र सं० २ से ७ तक के मन्त्रों द्वारा अन्न का स्पर्श करके उसे अभिमन्त्रित करें। तदनन्तर हाथ में जल लेकर मंत्र क्र० ८ व ९ क्रमशः 'अन्तश्चरसि .... एवं 'आपः पुनन्तु' ..... इन दो मन्त्रों से अभिमन्त्रित कर अन्न का प्रोक्षण करें –

अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः। त्वं यज्ञस्त्वं ब्रह्मा त्वं रुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं वषट्कार आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरों नमः॥ ८॥

प्राणियों के हृदय में सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित रहते हुए निरन्तर भ्रमण करने वाले तुम ही यज्ञ, ब्रह्मा, विष्णु, वषट्कार, आपः, ज्योति, रस, अमृत, ब्रह्म, भूः, भुवः एवं स्वः स्वरूप हो, तुम्हें नमन है॥ ८॥

आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूता पुनातु माम्। पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मपूता पुनातु माम्। यदुच्छिष्टमभोज्यं यद्वा दुश्चरितं मम। सर्वं पुनन्तु मामापोऽसतां च प्रतिग्रहं स्वाहा॥ ९॥

हे आपः (जल) ! आप पृथ्वी को पवित्र करें तथा शुद्ध हुई जो पृथ्वी है, वह मुझे पवित्रता प्रदान करे। ब्रह्मपूत पृथ्वी मुझे पवित्रता प्रदान करे। जो उच्छिष्ट, अभक्ष्य अथवा दुश्चरित्रता मेरे में सन्निहित हो, उन सबको हटाकर जल देवता हमें पवित्र बना दें, इस निमित्त यह आहुति समर्पित है॥ ९॥

अमृतमस्यमृतोपस्तरणमस्यमृतं प्राणे जुहोम्यमाशिष्यान्तोऽसि। ॐ प्राणाय स्वाहा। ॐ अपानाय स्वाहा। ॐ व्यानाय स्वाहा। ॐ उदानाय स्वाहा। ॐ समानाय स्वाहा। ॐ ब्रह्मणे स्वाहा। ॐ ब्रह्मणि म आत्माऽमृतत्वायेति ॥ १०॥

(इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्रों से प्रोक्षण करके दो बार जलाभिषेक करने के बाद बायें हाथ से वेदिका का स्पर्श करते हुए दाहिने हाथ में ग्रहण कर) 'अमृतमस्यमृतोपस्तरणमसि'(हे जल! तुम अमृत स्वरूप हो,तुम अमृत स्वरूप आच्छादन हो) यह कहते हुए उसे पीकर 'अमृतं प्राणे जुहोम्यमाशिष्यान्तोऽसि'(अमृतोपम होम करने के योग्य पदार्थ का आस्वादन प्राप्त कर लिया गया है।) यह कहकर अपनी आत्मा का अनुसंधान करते हुए प्राण में आहुतियाँ समर्पित करे। प्राण के लिए आहुति समर्पित है। अपान,व्यान,उदान,समान के लिए आहुति समर्पित है। ब्रह्मा के लिए आहुति समर्पित है। ब्रह्म में मेरी आत्मा अमृतत्व का रसास्वादन प्राप्त करे॥ १०॥

कनिष्ठिकाङ्गुल्याङ्गुष्ठेन च प्राणे जुहोति अनामिकयापाने मध्यमया व्याने सर्वाभिरुदाने प्रदेशिन्या समाने॥ ११॥

कनिष्ठिका अँगुली और अँगूठे के द्वारा प्राण में, अनामिका से अपान में, मध्यमा से व्यान में तथा सभी अँगुलियों के द्वारा समान में आहुति डालनी चाहिए॥ ११॥

[काया में सक्रिय पाँचों प्राणों का हाथ की विभिन्न अँगुलियों से सम्बन्ध होने का संकेत है। विभिन्न अँगुलियों के माध्यम से पाँचों प्राणों का संवर्धन कैसे संभव है, यह शोध का विषय है।]

तूष्णीमेकामेकऋचा जुहोति द्वे आहवनीये एकां दक्षिणाग्नौ एकां गार्हपत्ये एकां सर्वप्रायश्चित्तीये॥ १२॥

मौन रहते हुए एक आहुति (प्राणाय स्वाहा से) करे। (अपानाय स्वाहा से) दो आहुतियाँ आहवनीय में,एक (आहुति) दक्षिणाग्नि में, एक गार्हपत्य में एवं एक सर्वप्रायश्चित्तीय अग्नि में समर्पित करे॥ १२॥

अथापिधानमस्यमृतत्वायोपस्पृश्य पुनरादाय पुनरुपस्पृशेत्॥ १३॥

(इस प्रकार पाँच आहुतियाँ समर्पित करके यथा-नियम ग्रहण कर अर्थात् अन्न सेवन कर 'अथ पुरस्तात् चोपरिष्टाच्च अद्भिः परिदधाति', इस श्रुति के अनुरोध से) अपिधान (अनावृत) स्वरूप को अमृतत्व के लिए स्पर्श करके फिर ग्रहण कर पुनः स्पर्श करे॥ १३॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सव्ये प्राणावाऽऽपो गृहीत्वा हृदयमन्वालभ्य जपेत्। प्राणोऽग्निः परमात्मा पञ्चवायुभिरावृतः। अभयं सर्वभूतेभ्यो न मे भीतिः कदाचन॥ १४॥

बायें हाथ में जल लेकर हृदयालम्भन कर अर्थात् हृदय के समीप में हाथ रखकर जप करे। मुख्य प्राण पाँच प्रकार के वायु (प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान) से घिरा हुआ परमात्मा स्वरूप है। वह मुझे समस्त प्राणियों से भय-रहित करे, मैं उनसे कभी भयभीत न होऊँ॥ १४॥

विश्वोऽसि वैश्वानरो विश्वरूपं त्वया धार्यते जायमानम्। विश्वं त्वाहुतयः सर्वा यत्र ब्रह्माऽमृतोऽसि॥

हे मुक्तप्राण! आप विश्वस्वरूप हैं। आप ही विश्व में वैश्वानर रूप में विराट् होकर समस्त विश्व को अपने स्वरूप में धारण करते हैं। वह वैश्वानर सम्पूर्ण भूत-प्राणियों की देह में स्थित है। आप ब्रह्मामृत स्वरूप हैं, आपसे प्रादुर्भूत होने वाला यह विश्व तुरीयाग्नि में सभी आहुतियों के रूप में विलीन हो जाता है॥ १५॥

महानवोऽयं पुरुषो योऽङ्गुष्ठाग्रे प्रतिष्ठितः। तमद्भिः परिषिञ्चामि सोऽस्यान्ते अमृताय च॥ १६॥

जो प्राणरूप से पैर के दोनों अँगूठों के अग्रभाग में प्रतिष्ठित है, वहाँ पर तुम प्रतिक्षण अभिनव पुरुष के रूप में स्थित रहते हो। इस भोजन के अन्त में अमृतत्व की प्राप्ति हेतु तुम्हें सब ओर से सिंचित(तुष्ट)करता हूँ॥

अनावित्येष बाह्यात्मा ध्यायेताग्निहोत्रं जुहोमीति। सर्वेषामेव सूनुर्भवति। अस्य यज्ञपरिवृता आहुतीर्होमयति॥ १७॥

वे (प्राणरूप पुरुष) विशिष्ट चेष्टासम्पन्न हैं, अतः बाह्यात्मा इनका चिन्तन करे। यह पुरुष (प्रत्येक दिन प्राण-रूपी) अग्निहोत्र करता है। [क्योंकि तुम्हारा परमात्मा (अग्नि रूप का) पुत्रवत् पोषण करते हैं।] अतः तुम सभी के पुत्र भी होते हो, इस यज्ञीय भाव से परिवृत होकर तुम आहुतियों का होम करते हो॥ १७॥

स्वशरीरे यज्ञं परिवर्तयामीति। चत्वारोऽग्नयस्ते किं नारमर्धयाः॥ १८॥

अपने शरीर में यज्ञ को परिवर्तित करता हूँ। इस शरीर में अग्नियों की संख्या चार मानी गई है, जो अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। ये सभी अर्धमात्रिक मात्र हैं॥ १८॥

तत्र सूर्योऽग्निर्नाम सूर्यमण्डलाकृतिः सहस्त्ररश्मिपरिवृत एकऋषिर्भूत्वा मूर्धनि तिष्ठति। यस्मादुक्तो दर्शनाग्निर्नाम चतुराकृतिराहवनीयो भूत्वा मुखे तिष्ठति। शारीरोऽग्निर्नाम जराप्रणुदा हविरवस्कन्दति। अर्धचन्द्राकृतिर्दक्षिणाग्निर्भूत्वा हृदये तिष्ठति। तत्र कोष्ठाग्निरिति-कोष्ठाग्निर्नामाशितपीतलीढस्वादितं सम्यग् व्यष्ट्यं विषयित्वा गार्हपत्यो भूत्वा नाभ्यां तिष्ठति॥ १९॥

इन चार अग्नियों में से 'सूर्याग्नि' नामक अग्नि, सूर्य मण्डलाकृति के अनुरूप है। यह अत्यधिक तेजोमयी सहस्त्र (असंख्य) रश्मियों से सम्पन्न व्यापकरूप में होकर मूर्धा भाग में प्रतिष्ठित रहती है। (जैसा कि प्रसिद्ध है- 'तुरीयं' मूर्ध्नि संस्थितम्)। चूँकि यह जीवात्मा सर्वत्र ईश्वररूप में दृष्टिगोचर होता है, इसी कारण यह दर्शनाग्नि कहा गया है। यह विराड् आदि चार आकृतियों से युक्त आहवनीय बनकर मुख में स्थित रहता है। स्थूल शरीर को जलाने वाली शारीर अग्नि (हिरण्यगर्भ) स्थूल शरीर के आश्रित जरादि अवस्था के द्वारा कमजोर किया जाता है, स्थूल प्रपंच रूप हवि को ग्रसित करता है, जो कि अर्द्धचन्द्र के स्वरूप वाला दक्षिणाग्नि होकर समस्त भूत-प्राणियों के हृदय में विद्यमान रहता है। (चौथी) 'कोष्ठाग्नि' नामक अग्नि है। जो खायी, पी-हुई, चाटी हुई एवं आस्वादित वस्तु को अच्छी तरह से पकाकर गार्हपत्याग्नि के रूप में नाभिस्थल में प्रतिष्ठित रहती है॥ १९॥

प्रायश्चित्तयस्त्वधस्तात्तिर्यक् तिस्त्रो हिमांशुप्रभाभिः प्रजननकर्मा॥ २०॥

इस प्रकार प्रायश्चित्त वृत्तियाँ (चित्त की वृत्तियाँ) अधः (नीचे) प्रतिष्ठित हैं, तिर्यक् (वक्र वृत्तियाँ) तथा तीन (जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति) अवस्थाओं के प्रकाशक हिमांशु (अर्थात् चिद्रूप चन्द्र) सभी तरह से समर्थ प्रभु हैं। सभी कुछ प्रकाशमय कर देने वाले हैं॥ २०॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अस्य शारीरयज्ञस्य यूपरशनाशोभितस्य को यजमानः का पत्नी के ऋत्विजः के सदस्याः कानि यज्ञपात्राणि कानि हवींषि का वेदिः काऽन्तर्वेदिः को द्रोणकलशः को रथः कः पशुः कोऽध्वर्युः को होता को ब्राह्मणाच्छंसी कः प्रतिप्रस्थाता कः प्रस्तोता को मैत्रावरुणः क उद्गाता का धारा कः पोता के दर्भाः कः स्रुवः काज्यस्थाली कावाघारौ कावाज्यभागौ केऽत्र याजाः के अनुयाजाः केडा कः सूक्तवाकः कः शंयोर्वाकः काऽहिंसा के पत्नीसंयाजाः को यूपः का रशना का इष्टयः का दक्षिणा किमवभृथमिति॥२१॥

इस शारीर यज्ञ का, जो कि यूप (खम्भे) एवं रसना (रस्सी) से अशोभित (यूप और रसना से रहित) है, उसका यजमान कौन है ? पत्नी, ऋत्विज् एवं सदस्य कौन हैं ? यज्ञ-पात्र, हवि, वेदि, अन्तर्वेदिका, द्रोणकलश, रथ,पशु(बलिपशु),अध्वर्यु, होता, ब्राह्मणाच्छंसी, प्रतिप्रस्थाता, प्रस्तोता, मैत्रावरुण, उद्गाता, धारा (हवा करने वाला), पोता, दर्भ(कुश),स्रुवा, आज्यस्थाली (घृतपात्र), आघार, आज्यभाग, याज, अनुयाज, इड़ा , सूक्तवाक्, शंयोर्वाक्, अहिंसा, पत्नी संयाज, यूप (खम्भा), रशना, इष्ट, दक्षिणा एवं यज्ञ के समापन पर किया जाने वाला अवभृथ (एक स्नान विशेष) कौन-कौन हैं ? (अर्थात् जैसे यज्ञ में उपर्युक्त सभी वस्तुएँ-पदार्थ अपेक्षित हैं, वैसे ही इस शारीर यज्ञ के लिए भी ये सभी वस्तुएँ आवश्यक हैं, किन्तु ये सब कहाँ और कौन हैं ?) ॥ २१ ॥

अस्य शारीरयज्ञस्य यूपरशनाशोभितस्यात्मा यजमानः बुद्धिः पत्नी वेदा महर्त्विजः अहंकारोऽध्वर्युः चित्तं होता प्राणो ब्राह्मणाच्छंसी अपानः प्रतिप्रस्थाता व्यानः प्रस्तोता उदान उद्गाता समानो मैत्रावरुणः शरीरं वेदिः नासिकाऽन्तर्वेदिः मूर्धा द्रोणकलशः पादो रथः दक्षिणहस्तः स्रुवः सव्यहस्त आज्यस्थाली श्रोत्रे आघारौ चक्षुषी आज्यभागौ ग्रीवा धारा पोता तन्मात्राणि सदस्याः महाभूतानि प्रयाजाः भूतानि गुणा अनुयाजाः जिह्वेडा दन्तोष्ठौ सूक्तवाकः तालुः शंयोर्वाकः स्मृतिर्दया क्षान्तिरहिंसा पत्नीसंयाजाः ओंकारो यूपः आशा रशना मनो रथः कामः पशुः केशा दर्भाः बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि कर्मेन्द्रयाणि हवींषि अहिंसा इष्टयः त्यागो दक्षिणा अवभृथं मरणात् सर्वा ह्यस्मिन्देवताः शरीरेऽधिसमाहिताः॥ २२॥

इस शारीर यज्ञ का जो कि यूप(खम्भे)एवं रसना से अशोभित(रहित)है, इस शारीर यज्ञ की आत्मा यजमान है, बुद्धि पत्नी है, वेद ही महा ऋत्विज् हैं, अहंकार ही अध्वर्यु है, चित्त होता है, प्राण ब्राह्मणाच्छंसी है, अपान प्रतिप्रस्थाता है,व्यान प्रस्तोता है,उदान उद्गाता,समान मैत्रावरुण, शरीर वेदिका,नासिका अन्तःवेदि,मूर्धा (सिर)द्रोणकलश,पैर ही रथ है,दाहिना हाथ स्रुवा है,बायाँ हाथ घृतपात्र है,कान ही आघार हैं,नेत्र ही आज्य भाग हैं, ग्रीवा(गर्दन)ही धारा—पोता हैं, तन्मात्राएँ सदस्य हैं, पञ्च महाभूत प्रयाज,अन्यभूत(प्राणी)गुण और अनुयाज हैं,जिह्वा इड़ा है,दाँत-ओष्ठ सूक्तवाक् हैं, तालु शंयोर्वाक्, स्मृति, दया, शान्ति ही अहिंसा और पत्नीसंयाज हैं, ॐ कार खम्भा है,आशा रशना है,मन रथ है,काम ही पशु है,केश ही कुशाएँ हैं,ज्ञानेन्द्रियाँ यज्ञपात्र हैं, कर्मेन्द्रियाँ हवि हैं,अहिंसा इष्टकायें,त्याग ही दक्षिणा है, मृत्यु ही अवभृथ स्नान है। ऐसा समझकर जब यज्ञ किया जाता है, तभी यह यज्ञ पूर्ण फलदायक होता है और तभी समस्त देवगण इस शरीर में समाहित होते हैं॥ २२॥

वाराणस्यां मृतो वापि इदं वा ब्राह्मणः पठेत्। एकेन जन्मना जन्तुर्मोक्षं च प्राप्नुयादिति मोक्षं च प्राप्नुयादित्युपनिषत्॥ २३॥

यदि किसी व्यक्ति की मृत्यु काशी में हो अथवा फिर कोई ब्राह्मण इसे (उपनिषद् को) पढ़े, तो एक ही जन्म में चित्त शुद्धि करने वाला ज्ञान एवं मोक्ष को निश्चित रूप से प्राप्त कर लेता है, यही उपनिषद् है॥ २३॥

॥ इति प्राणाग्निहोत्रोपनिषत् समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ बह्वृचापानषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेद से सम्बद्ध है। इसमें जगत् की कारण स्वरूपा 'आदिशक्ति' का स्वरूप विवेचित करती है। इसमें सर्वप्रथम 'चित्शक्ति' का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। उसी 'चित् शक्ति' से 'ब्रह्मा' से लेकर स्थावर (जड़) तक सभी प्रकट हुए हैं। चित् शक्ति से ही शब्द, अर्थ और रूप आदि का प्राकट्य हुआ। 'चित् शक्ति' अद्वितीय है। अन्तः और बाह्य में विद्यमान चैतन्य शक्ति एक ही है। वही शक्ति 'अम्बा' आदि के रूप में विद्यमान है। वही परब्रह्मस्वरूपा है। जो इस ब्रह्मस्वरूपा 'चित् शक्ति' को भली प्रकार जान लेते हैं, वे उस परमाकाश में सदा-सर्वदा के लिए प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इन्हीं सब तथ्यों के साथ यह उपनिषद् पूर्ण होती है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाङ्मे मनसि ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्षमालिकोपनिषद्)

देवी ह्येकाग्र आसीत्। सैव जगदण्डमसृजत्। कामकलेति विज्ञायते। शृङ्गारकलेति विज्ञायते ॥१

सृष्टि रचना के पहले एक मात्र देवी ही विद्यमान थीं। उन्हीं के द्वारा ब्रह्माण्ड की सृष्टि-संरचना सम्पन्न हुई। वे देवी कामकला और शृंगारकला के नाम से प्रख्यात हैं॥ १ ॥

तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्। विष्णुरजीजनत्। रुद्रोऽजीजनत्। सर्वे मरुद्गणा अजीजनन्। गन्धर्वाप्सरसः किंनरा वादित्रवादिनः समन्तादजीजनन्। भोग्यमजीजनत्। सर्वमजीजनत्। सर्वं शाक्तमजीजनत्। अण्डजं स्वेदजमुद्भिज्जं जरायुजं यत्किंचैतत्प्राणिस्थावरजङ्गमं मनुष्यमजीजनत् ॥२

उन देवी के द्वारा ही ब्रह्मा, भगवान् विष्णु एवं रुद्र प्रकट हुए। उन्हीं से सभी मरुद्गण तथा गायन करने वाले गन्धर्व, नर्तन करने वाली अप्सराएँ एवं वाद्ययन्त्रों को झंकृत करने वाले किन्नर प्रकट हुए। उन्हीं से उपभोग की सामग्री भी उत्पन्न हुई, सभी कुछ उन्हीं के द्वारा प्रादुर्भूत हुआ है। अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज एवं जरायुज आदि जितने भी स्थावर-जंगम प्राणी हैं, उनकी एवं मनुष्य की सृष्टि भी उन्हीं जगन्मयी देवी से हुई है॥ २॥

सैषाऽपरा शक्तिः। सैषा शांभवी विद्या कादिविद्येति वा हादिविद्येति वा सादिविद्येति वा रहस्यम्। ओमों वाचि प्रतिष्ठा ॥ ३ ॥

वे (देवी) ही अपरा शक्ति कहलाती हैं। वे ही शाम्भवीविद्या, कादिविद्या, हादिविद्या एवं सादिविद्या कहलाती हैं। वे (देवी) रहस्यमयी हैं। वे ही प्रणववाची अक्षर तत्त्वरूपा हैं। ॐ अर्थात् सत्-चित् आनन्दमयी वे देवी समस्त प्राणियों की वागिन्द्रिय में अवस्थित हैं॥ ३ ॥

[शाक्त तन्त्र के विविध प्रयोगों द्वारा भी आत्म-परमात्मतत्त्व की एकरूपता का बोध होता है, उसे ही यहाँ विद्या की संज्ञा प्रदान की गई है, जैसे- शाम्भवी विद्या-जिसके द्वारा परम कल्याणकारी (ईश्वर) का साक्षात्कार हो। कादिविद्या- 'क' आदि (क,ए, ई,ल, ह्रीं) बीज मन्त्रों से युक्त विद्या। हादिविद्या- 'ह' आदि (ह,स, क, ह, ल, ह्रीं) बीज मन्त्रों से युक्त विद्या तथा सादिविद्या-'स' आदि (स,क,ल, ह्रीं) बीज मन्त्रों से युक्त विद्या।]

सैव पुरत्रयं शरीरत्रयं व्याप्य बहिरन्तरवभासयन्ती देशकालवस्त्वन्तरसङ्गान्महात्रिपुरसुन्दरी वै प्रत्यक् चितिः ॥ ४ ॥

वे (देवी) ही इन तीनों (जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति) पुरों और इन तीनों प्रकार के (स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण) शरीरों को विस्तीर्ण करके बाह्य एवं अन्तः में आलोक फैला रही हैं। वे महात्रिपुर सुन्दरी प्रत्यक् चेतना के रूप में देश, काल एवं पात्र के अन्दर संगरहित होकर निवास करती हैं॥ ४॥

सैवात्मा ततोऽन्यदसत्यमनात्मा। अत एषा ब्रह्मसंवित्तिर्भावाभावकलाविनिर्मुक्ता चिद्विद्याद्वितीयब्रह्मसंवित्तिः सच्चिदानन्दलहरी महात्रिपुरसुन्दरी बहिरन्तरनुप्रविश्य स्वयमेकैव

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

विभाति। यदस्ति सन्मात्रम्। यद्विभाति चिन्मात्रम्। यत्प्रियमानन्दं तदेतत्सर्वाकारा महात्रिपुरसुन्दरी। त्वं चाहं च सर्वं विश्वं सर्वदेवता। इतरत्सर्वं महात्रिपुरसुन्दरी। सत्यमेकं ललिताख्यं वस्तु तदद्वितीयमखण्डार्थं परं ब्रह्म॥ ५॥

वे (देवी) ही आत्मस्वरूपा हैं, उनके अतिरिक्त और सभी कुछ सत्यरहित, आत्मविहीन है। ये ब्रह्मविद्या रूपा हैं, भाव एवं अभाव आदि कला से विनिर्मुक्त चिन्मयीरूपा विद्या शक्ति हैं तथा वे ही अद्वितीय ब्रह्म का साक्षात्कार कराने वाली हैं। वे सच्चिदानन्दरूपी लहरों (तरंग) वाली श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी बाह्य एवं अन्तः में प्रविष्ट होकर स्वयमेव अकेली ही सुशोभित हो रही हैं। (उन देवी के अस्ति, भाति एवं प्रिय इन तीनों रूपों में) जो अस्ति है-वह सन्मात्र का बोध कराने वाला है, जो भाति है-वह चिन्मात्र का बोध कराने वाला है तथा जो प्रिय (आत्मीय) है- वही आनन्दमय है। इस तरह से समस्त आकारों में श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी ही विद्यमान हैं। तुम और मैं, यह सारा जगत् एवं समस्त देवगण और अन्य सभी कुछ श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी ही हैं। 'ललिता' नामक एक मात्र वस्तु (शक्ति) ही शाश्वत सत्य है। वही अद्वितीय, अखण्ड, अविनाशी परमात्म तत्त्व है॥ ५॥

पञ्चरूपपरित्यागादस्वरूपप्रहाणतः। अधिष्ठानं परं तत्त्वमेकं सच्छिष्यते महत् इति॥६॥

(उन देवी के) पाँचों रूप अर्थात् अस्ति, भाति, प्रिय, नाम तथा रूप के परित्याग कर देने से एवं अपने स्वरूप के त्याग न करने से अधिष्ठान स्वरूप जो एक सत्ता शेष रह जाती है, वही परम अविनाशी तत्त्व है॥ ६॥

प्रज्ञानं ब्रह्मेति वा अहं ब्रह्मास्मीति वा भाष्यते। तत्त्वमसीत्येव संभाष्यते। अयमात्मा ब्रह्मेति वा अहं ब्रह्मास्मीति वा ब्रह्मैवाहमस्मीति वा ॥ ७॥

उसी परमात्म तत्त्व को 'प्रज्ञान ब्रह्म' है या 'मैं ब्रह्म हूँ', 'वह तू है','यह आत्मा ब्रह्म है' या 'मैं ही ब्रह्म हूँ' या 'ब्रह्म ही मैं हूँ' आदि वाक्यों से अभिव्यक्त किया जाता है॥ ७॥

योऽहमस्मीति वा सोऽहमस्मीति वा योऽसौ सोऽहमस्मीति वा या भाष्यते सैषा षोडशी श्रीविद्या पञ्चदशाक्षरी श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी बालाम्बिकेति बगलेति वा मातङ्गीति स्वयंवरकल्याणीति भुवनेश्वरीति चामुण्डेति चण्डेति वाराहीति तिरस्करिणीति राजमातङ्गीति वा शुकश्यामलेति वा लघुश्यामलेति वा अश्वारूढेति वा प्रत्यङ्गिरा धूमावती सावित्री सरस्वती गायत्री ब्रह्मानन्दकलेति॥ ८॥

'जो मैं हूँ,' 'वह मैं हूँ,' 'जो वह है,' 'सो भी मैं हूँ' इत्यादि श्रुति वचनों के द्वारा जिनका निरूपण होता है, वे ही यही षोडशी श्रीविद्या हैं। वही पञ्चदशाक्षर मंत्र से युक्त श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी,बाला,अम्बिका, बगला,मातङ्गी, स्वयंवर-कल्याणी,भुवनेश्वरी,चामुण्डा,चण्डा,वाराही,तिरस्करिणी,राजमातङ्गी,शुकश्यामला, लघुश्यामला, अश्वारूढ़ा, प्रत्यङ्गिरा, धूमावती, सावित्री, सरस्वती,गायत्री, ब्रह्मानन्दकला आदि नामों के द्वारा जानी जाती हैं॥ ८॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्। यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति। य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ इत्युपनिषत्॥ ९॥

ऋचाएँ,अक्षर-अविनाशी परमाकाश में स्थित रहती हैं,उसी में समस्त देवगण सम्यक् रूप से निवास करते हैं। उस(श्रेष्ठ-शाश्वत ज्ञान)को जानने का प्रयास जिसने नहीं किया, ऐसा वह(मनुष्य) ऋचाओं के पठन-मात्र से क्या प्राप्त कर सकता है ? जो पुरुष उस परम आकाश को पूर्ण दृढ़निश्चयी होकर जान लेते हैं, वे ही पुरुष उस परमाकाश में हमेशा के लिए प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हुई॥ ९॥

॥ इति बह्वृचोपनिषत्समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ भावनोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें पराम्बा त्रिपुरसुन्दरी के श्रीचक्र पर आसीन होकर सर्वशक्तिमयी रूप को प्रकट करने का वर्णन है। सर्वप्रथम 'शिव' के ईश्वरत्व का विवेचन करते हुए कहा गया है कि 'शक्ति' के सहयोग से ही वह 'शिव' कहे जाते हैं। तत्पश्चात् तीनों शरीरों (स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण) में श्रीचक्र की भावना का विशद वर्णन है। इसके बाद देवशक्तियों के आवाहन, आसन, पाद्य आदि उपचार की भावना वर्णित है। अन्त में भावना का फल बताते हुए कहा गया है कि जो भी साधक इस प्रकार तीन मुहूर्त तक भावना-परायण रहता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। वह एकमात्र ब्रह्म का ही रूप हो जाता है। वही साधक 'शिवयोगी' कहलाता है। इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हो जाती है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृष्णोपनिषद्)

श्रीगुरुः सर्वकारणभूता शक्तिः ॥ १ ॥

परम पूज्य 'श्री सद्गुरु' ही सर्वप्रधान परम कारणभूत शक्ति हैं ॥ १ ॥

[गुरु का शाब्दिक अर्थ है-गु=अज्ञानान्धकार, रु=नष्ट करने वाला। यह विशेषता परम शिव में ही है, वे ही सर्ग-स्थिति-संहार करने में समर्थ हैं, इसीलिए उन्हें परमकारण शक्ति कहा है।]

केन नवरन्ध्ररूपो देहः। नवशक्तिरूपं श्रीचक्रम्। वाराही पितृरूपा। कुरुकुल्ला बलिदेवता माता। पुरुषार्थाः सागराः। देहो नवरत्नद्वीपः। आधारनवकमुद्राः शक्तयः। त्वगादिसप्तधातुभिरनेकैः संयुक्ताः संकल्पाः कल्पतरवः। तेजः कल्पकोद्यानम्। रसनया भाव्यमाना मधुराम्लतिक्तकटुकषायलवणभेदाः षड्रसाः षड्ऋतवः। क्रियाशक्तिः पीठम्। कुण्डलिनी ज्ञानशक्तिर्गृहम्। इच्छाशक्तिर्महात्रिपुरसुन्दरी। ज्ञाता होता ज्ञानमग्निः ज्ञेयं हविः। ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामभेदभावनं श्रीचक्रपूजनम्। नियतिसहिताः शृङ्गारादयो नव रसा अणिमादयः। कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यपुण्यपापमया ब्राह्म्याद्यष्टशक्तयः। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशश्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थमनोविकाराः षोडश शक्तयः। वचनादानगमनविसर्गानन्दहानोपेक्षाबुद्धयोऽनङ्गकुसुमादिशक्तयोऽष्टौ। अलम्बुसा कुहूर्विश्वोदरी वरुणा हस्तिजिह्वा यशस्वत्यश्विनी गान्धारी पूषा शङ्खिनी सरस्वतीडा पिङ्गला सुषुम्ना चेति चतुर्दश नाड्यः। सर्वसंक्षोभिण्यादिचतुर्दशारगा देवताः। प्राणापानव्यानोदानसमाननागकूर्मकृकरदेवदत्तधनंजया इति दश वायवः। सर्वसिद्धिप्रदा देव्यो बहिर्दशारगा देवताः। एतद्वायुदशकसंसर्गोपाधिभेदेन रेचकपूरकशोषकदाहकप्लावका अमृतमिति प्राणमुख्यत्वेन पञ्चविधोऽस्ति। क्षारको दारकः क्षोभको मोहको जृम्भक इत्यपालनमुख्यत्वेन पञ्चविधोऽस्ति। तेन मनुष्याणां मोहको दाहको भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यपेयात्मकं चतुर्विधमन्नं पाचयति। एता दश वह्निकलाः सर्वात्वाद्यन्तर्दशारगा देवताः। शीतोष्णसुखदुःखेच्छासत्त्वरजस्तमोगुणा वशिन्यादिशक्तयोऽष्टौ। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चतन्मात्राः पञ्च पुष्पबाणा मन इक्षुधनुः। वश्यो बाणो रागः पाशः। द्वेषोऽङ्कुशः। अव्यक्तमहत्तत्त्वमहदहंकार इति कामेश्वरीवज्रेश्वरीभगमालिन्योऽन्तस्त्रिकोणाग्रगा देवताः। पञ्चदशतिथिरूपेण कालस्य परिणामावलोकनस्थितिः पञ्चदश नित्या श्रद्धानुरूपाधिदेवता। तयोः कामेश्वरी सदानन्दघना परिपूर्णस्वात्मैक्यरूपा देवता ॥ २ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

किस हेतु से शरीर में श्रीचक्रत्व सिद्ध होता है? नौ छिद्रों से युक्त यह देह है तथा (विमल से लेकर ईशान तक) नौ शक्तियों से सम्पन्न यह श्रीचक्र है। इस देह की माता कुरुकुल्ला बलि देवी एवं पिता के रूप में वाराही हैं। देह के आश्रय रूप में धर्मादि चारों पुरुषार्थ ही इसके चार समुद्र के रूप में हैं। यह शरीर ही नवरत्न द्वीप है। इस द्वीप की आधारभूता शक्तियाँ (योनिमुद्रा आदि सर्वसंक्षोभिणी पर्यन्त) महात्रिपुरसुन्दरी आदि नौ हैं। त्वचा आदि सप्त धातुओं एवं अनेक अन्तः-बाह्य विकारों से युक्त नानाविध संकल्प-विकल्प ही कल्पवृक्ष है। (उस परमात्मा से भिन्न रमणीय नानाविध) तेजस् स्वरूप-सा जीव ही उद्यान है। जिह्वा द्वारा आस्वादित किये जाने वाला मधुर,अम्ल,तिक्त (तीखा),कड़ुवा, कषैला एवं नमकीन रस आदि छः ऋतुएँ हैं। क्रिया नामक जो शक्ति है,वही पीठ है। कुण्डलिनीरूपी ज्ञानशक्ति ही गृह है। इच्छाशक्ति ही महात्रिपुरसुन्दरी नामक आराध्या भगवती है। ज्ञाता ही होता (हवन करने वाला),ज्ञान ही अर्घ्य एवं ज्ञेय(ज्ञातव्य तत्त्व)ही हविरूप है। ज्ञाता,ज्ञान एवं ज्ञेय को भेदरहित मानना ही श्रीचक्र का पूजन है। अणिमादि सिद्धियों (अणिमा,लघिमा,महिमा,ईशित्व, वशित्व,प्राकाम्य,भुक्ति,इच्छा,प्राप्ति और सर्वकाम मुक्ति) का सम्बन्ध नियति(प्रकृति निर्धारण) सहित श्रृंगार,वीर,करुण आदि नौ-रसों से है। काम,क्रोध,लोभ,मोह,मद,मात्सर्य,पुण्य एवं पाप से युक्त ब्राह्मी आदि आठ शक्तियाँ हैं। पृथ्वी,जल,तेज,वायु,आकाश,कर्ण,त्वचा,नेत्र,जिह्वा,नासिका,वाणी,हाथ,पैर,मल-मूत्रेन्द्रियाँ तथा मन आदि विकार ही (मूल प्रकृति से उत्पन्न) षोडश शक्तियाँ हैं। वचन (बोलना),आदान(ग्रहण करना),गमन(गतिशील होना), विसर्ग(त्याग करना),आनन्द, हान(त्याज्य),उपेक्षा-बुद्धि एवं अनङ्ग-कुसुम आदि आठ शक्तियाँ हैं। अलम्बुसा, कुहू, विश्वोदरी, वरुणा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, अश्विनी, गान्धारी, पूषा, शंखिनी,सरस्वती, इड़ा,पिङ्गला,सुषुम्ना आदि चौदह नाड़ियाँ सर्वसंक्षोभिणी आदि चतुर्दशार देवता हैं। प्राण,अपान,उदान,समान,व्यान,नाग,कूर्म,कृकर,देवदत्त,धनञ्जय-ये दस प्राण सर्वसिद्धिप्रदा आदि देवियाँ बाह्य दशार देवता हैं। इन दस वायुओं के सम्पर्क एवं उपाधि भेद से रेचक, पूरक,शोषक,दाहक,प्लावक-ये अमृतस्वरूप प्राण मुख्यतः पाँच प्रकार के हैं। मानवों के मोहक एवं दाहक होते हुए चबाये जाने वाले,चाटे जाने वाले,चूसे जाने वाले तथा पिये जाने वाले इन चारों प्रकार के अन्नों को पचाते हैं। ये दस अग्नि की कलास्वरूप वायु ही सर्वज्ञत्व आदि अन्तः दशार देवता हैं। जाड़ा,गर्मी,सुख, दुःख, इच्छा,सत्त्व,रज,तम ही 'वशिनी' आदि आठ शक्तियाँ हैं। शब्द,स्पर्श,रूप,रस एवं गन्ध आदि पञ्च तन्मात्राएँ ही पाँच पुष्पबाण हैं तथा मन ही ईख का बना हुआ धनुष है अर्थात् मन के द्वारा ये रूपादि पञ्चबाण बाहर फेंके जाते हैं। वश में होना ही बाण है,राग (प्रेम) ही पाश (बन्धन) है और द्वेष ही अंकुश है। अव्यक्त,महत्तत्त्व, अहंकार, कामेश्वरी, वज्रेश्वरी तथा भगमालिनी आदि आन्तरिक त्रिकोण के अग्रभाग में स्थित देवता हैं। पन्द्रह तिथियों के रूप से काल के परिणाम का अवलोकन करने वाले पन्द्रह नित्य श्रद्धानुरूप अधिदेवता हैं। उन (वज्रेश्वरी तथा भगमालिनी) में आद्याप्रधान कामेश्वरी जो कि सत्,चित्,आनन्दघन स्वरूपा हैं एवं परिपूर्ण (ब्रह्म) और आत्मा की ऐक्य रूपा देवता हैं॥२॥

[यहाँ श्री यन्त्र लेखन की प्रक्रिया का उल्लेख है। बिन्दु, त्रिकोण, अष्टार, अन्तर्दशार, बहिर्दशार, चतुर्दशार, अष्टदल पद्म, षोडशदलपद्म और चतुरस्र आदि इसके पारिभाषिक शब्द हैं, जिनके द्वारा 'श्रीयन्त्र' लिखा जाता है।]

सलिलमिति सौहित्यकारणं सत्त्वं। कर्तव्यमकर्तव्यमिति भावनायुक्त उपचारः। अस्ति नास्तीति कर्तव्यता उपचारः। बाह्याभ्यन्तःकरणानां रूपग्रहणयोग्यताऽस्त्वित्यावाहनम्। तस्य बाह्याभ्यन्तःकरणानामेकरूपविषयग्रहणमासनम्। रक्तशुक्लपदैकीकरणं पाद्यम्। उज्ज्वलदा-मोदानन्दासनदानमर्घ्यम्। स्वच्छं स्वतःसिद्धमित्याचमनीयम्। चिच्चन्द्रमयीति सर्वाङ्गस्नवणं स्नानम्। चिदग्निस्वरूपपरमानन्दशक्तिस्फुरणं वस्त्रम्। प्रत्येकं सप्तविंशतिधा भिन्नत्वेनेच्छाज्ञान-क्रियात्मकब्रह्मग्रन्थिमद्रसतन्तुब्रह्मनाडी ब्रह्मसूत्रम्। स्वव्यतिरिक्तवस्तुसङ्गरहितस्मरणं विभूषणम्। स्वच्छस्वपरिपूर्णतास्मरणं गन्धः। समस्तविषयाणां मनसः स्थैर्येणानुसंधानं कुसुमम्। तेषामेव

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सर्वदा स्वीकरणं धूपः। पवनावच्छिन्नोर्ध्वज्वलनसच्चिदुल्काकाशदेहो दीपः। समस्तयाताया-तवर्ज्यं नैवेद्यम्। अवस्थात्रयाणामेकीकरणं ताम्बूलम्। मूलाधारादाब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं ब्रह्मरन्ध्रादा-मूलाधारपर्यन्तं गतागतरूपेण प्रादक्षिण्यम्। तुर्यावस्था नमस्कारः। देहशून्यप्रमातृतानिमज्जनं बलिहरणम्। सत्यमस्ति कर्तव्यमकर्तव्यमौदासीन्यनित्यात्मविलापनं होमः। स्वयं तत्पादुका-निमज्जनं परिपूर्णध्यानम्॥ ३॥

सलिल अर्थात् गुरु-मन्त्रात्मक देवों का एकीकरण रूप सत् तत्त्व ही कर्त्तव्य है और एकीकरण रूप न करना ही अकर्त्तव्य है। भावना योग ही इसका उपचार(पूजा)है। अस्ति (ब्रह्म है)-नास्ति(ब्रह्म नहीं है)की कर्त्तव्यता(निरन्तर अनुसन्धान करना)उपचार है। बाह्य एवं आभ्यन्तर कारणों के रूप ग्रहण की योग्यता ही आवाहन है। उसका बाह्य एवं आभ्यन्तर करणों(इन्द्रियों)का एक रूप होकर विषयों का ग्रहण करना ही आसन है। रक्त एवं शुक्ल पद(सत एवं तम गुणों)का एकीकरण पाद्य है। उज्ज्वल(निर्मल)दामोदानन्द(आनन्दमयब्रह्म) में सदैव अवस्थित रहने तथा इसी का दान(योग्य शिष्य को यह ज्ञान प्रदान करना)-अर्घ्य है। स्वयं स्वच्छ एवं स्वतः सिद्ध होना ही आचमन है। चिद्रूप चन्द्रमयी शक्ति से सम्पूर्ण अंगों का स्रवण (स्वेदयुक्त होना) ही स्नान है। चिद् अग्निस्वरूप परमात्मा की शक्ति का स्फुरण(प्रकाशित होना)ही वस्त्र है।(इच्छा-ज्ञान-क्रिया आदि तीन शक्तियों के त्रिगुणात्मक होने से)हर एक के जो सत्ताईस भेद एवं इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्ति स्वरूप ब्रह्म, (विष्णु एवं रुद्र)ग्रन्थि के मध्य स्थित सुषुम्ना नाड़ी ही ब्रह्मसूत्र है,(क्योंकि यही नाड़ी ब्रह्म की द्योतिका है।) अपने से पृथक् वस्तु का स्मरण न करना ही आभूषण है। शुभ्र स्वरूप, जो ब्रह्म है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं, यही स्मरण करना 'गन्ध' है। समस्त विषयों का मन की स्थिरता द्वारा अनुसन्धान करना ही पुष्प(फूल)है तथा उसे स्वीकार करना ही धूप है। पवनयुक्त योग के समय प्राण, अपान की एकता से सुषुम्ना में सत्-चित्, उल्कारूप जो(प्रकाशरूप) आकाश देह है, वही 'दीप' है। अपने से अलग समस्त विषयों में मन की गति का गमनागमन स्थिर हो जाना ही नैवेद्य है। तीनों अवस्थाओं(जाग्रत्,स्वप्न,सुषुप्ति)का एकीकरण ही ताम्बूल (पान)है। मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त एवं ब्रह्मरन्ध्र से मूलाधार तक बार-बार आना-जाना ही प्रदक्षिणा है। चतुर्थ अवस्था अर्थात् तुरीयावस्था में रहना ही 'नमस्कार' है। देह की जड़ता में डूबना अर्थात् आत्मा को चैतन्य युक्त मानकर एवं शरीर को जड़ मानकर स्थिर रहना ही 'बलि' है। अपना आत्मतत्त्व ही स्वयं सत्य रूप है, ऐसा निश्चय करके कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य, उदासीनता, नित्यात्मक आत्मा में विलास करना अर्थात् निरन्तर आत्मचिन्तन करना ही यज्ञ(हवन)है तथा स्वयमेव उस परब्रह्म-विराट् पुरुष(परमात्मा)की पादुकाओं में अनासक्त भाव से डूबे रहना ही परिपूर्ण ध्यान है।(सारांश यह हुआ कि जिस प्रकार पूजन के लिए धूप, दीप, नैवेद्य, प्रदक्षिणा एवं नमन-वन्दन आदि अपेक्षित होता है, वैसे ही परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति हेतु उपर्युक्त कहे गये पदार्थों का साधन कर लेना ही तद्-तद् धूप-दीप एवं नैवेद्य आदि हैं। इन्हीं मांगलिक पदार्थों को भावनापूर्वक समर्पित करने से ही उस ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है) ॥३॥

एवं मुहूर्तत्रयं भावनापरो जीवन्मुक्तो भवति। तस्य देवतात्मैक्यसिद्धिः। चिन्तितकार्याण्य-यत्नेन सिद्ध्यन्ति। स एव शिवयोगीति कथ्यते ॥ ४॥

इस तरह से जो भी मनुष्य (योगी-साधक) तीन मुहूर्त तक भावनापरायण रहता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। वह एक मात्र ब्रह्म का ही रूप हो जाता है तथा उसके द्वारा चाहे हुए कार्य बिना यत्न के ही पूर्ण हो जाते हैं और वही (साधक) शिवयोगी कहलाता है॥ ४॥

॥ इति भावनोपनिषत्समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ महापानषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। महत् स्वरूप वाली यह महोपनिषद् श्री शुकदेव जी एवं महाराज जनक तथा ऋभु एवं निदाघ के प्रश्नोत्तर रूप में प्रकट हुई है। इसमें कुल छः अध्याय हैं।

प्रथम अध्याय में सर्वप्रथम नारायण की अद्वितीयता एवं ईशत्व का विवेचन है। तदुपरान्त यज्ञीय स्तोम की उत्पत्ति, चौदह पुरुष एवं एक कन्या की उत्पत्ति, पच्चीस तत्त्वात्मक पुरुष की उत्पत्ति, रुद्र की उत्पत्ति, चतुर्मुख ब्रह्मा की उत्पत्ति, व्याहृति, छन्द, वेद और देवताओं की उत्पत्ति, नारायण की विराट् रूपता तथा नारायण की उपलब्धि का स्थान हृदय बताया गया है। द्वितीय अध्याय में शुकदेव के स्वयं उद्भूत पारमार्थिक ज्ञान-तत्त्वज्ञान के होते हुए भी शुकदेव की अविश्रान्ति, व्यास जी के उपदेश के प्रति शुकदेव का अनादर, शुकदेव का जनक के पास जाना, जनक द्वारा शुक की परीक्षा, शुक-जनक संवाद, बन्धन-मोक्ष का विवेक, जीवन्मुक्त स्थिति, विदेहमुक्त स्थिति, शुकदेव के भ्रम का निवारण तथा शुकदेव को विश्रान्ति की प्राप्ति आदि विषयों का विवेचन है। तृतीय अध्याय का शुभारम्भ 'निदाघ' के विचार के साथ हुआ है। तदुपरान्त प्रपञ्च (जगत्) का अनित्यत्व, अहंकार, तृष्णा आदि की अनर्थकता, देह तथा उसकी अवस्था की निन्दा, संसार की दुःखमयता, स्त्री निन्दा, दिशाओं आदि की क्षणभंगुरता तथा वैराग्य से तत्त्व जिज्ञासा आदि विषय व्याख्यायित हैं। चतुर्थ अध्याय में मोक्ष के चार उपाय, शास्त्रादि द्वारा आत्मावलोकन विधि, समाधि का स्वरूप, जीवन्मुक्त स्थिति, शम, सन्तोष, आत्मविश्रान्ति से कृतकृत्यता, दृश्य जगत् का मिथ्यात्व, आसक्ति तथा अनासक्ति से बन्धन और मोक्ष की स्थिति, संसार की मनोमयता, चैतन्य की अनुभूति ही समाधि, जगत् का मिथ्यात्व,शान्त मनःस्थिति से ब्रह्म प्राप्ति, निर्विशेष ब्रह्मज्ञान की महिमा, वासना के परिहार से मोक्ष की प्राप्ति, बन्ध-मोक्ष का मूल संकल्प तथा अनात्माभिमान के त्याग की विधि इत्यादि विषयों का विशद विवेचन किया गया है। पाँचवें अध्याय में अज्ञान एवं ज्ञान की भूमिका, 'स्वरूप' में स्थिति मोक्ष और 'स्वरूप' से नष्ट होना बन्धन, ज्ञान एवं अज्ञान की सात भूमिकाएँ, जीवन्मुक्त का आचरण, ज्ञान भूमिका का अधिकारी, ब्रह्म की अनुभूति ही ब्रह्म प्राप्ति का उपाय, मनोलय होने पर चैतन्य की अनुभूति, जगत् के भ्रामक ज्ञान को शान्त करने का उपाय, विषयों से उपरामता, तृष्णा को नष्ट करने का उपाय अहंभाव का त्याग, मन के अभ्युदय एवं नाश से बन्धन-मुक्ति, चित् (चैतन्य) विद्या का अधिकारी, माया से बचकर ही ब्रह्म प्राप्ति सम्भव, ब्रह्म की सृष्टि माया के अधीन तथा संकल्प (आकांक्षा) के नष्ट होने से संसार का मूलोच्छेदन सम्भव जैसे विषयों का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। छठे अध्याय में समाधि के अभ्यास से परमेश्वरत्व की प्राप्ति, ज्ञानियों की उपासना पद्धति, अज्ञानियों की दुःखद स्थिति, मनोनाश का उपाय, वासना त्याग का उपाय, जीवन्मुक्त की महिमा, तृष्णा की त्याग विधि, चार प्रकार के निश्चय, अद्वैतनिष्ठ व्यक्ति के लिए संसार का अभाव, मुमुक्षु की ब्रह्मनिष्ठता और अन्त में इस उपनिषद् शास्त्र के पठन-पाठन का प्रतिफल वर्णित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यह महोपनिषद् अपने नाम के अनुसार अनेकानेक महत्त्वपूर्ण विषयों का बड़ी कुशलता के साथ विशद विवेचन प्रस्तुत करके अध्यात्मपथ के पथिकों का समुचित मार्गदर्शन करती है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

हे परमेश्वर! मेरे समस्त अंग-अवयव वृद्धि को प्राप्त करें। वाणी, चक्षु, कर्णेन्द्रिय आदि समस्त कर्मेन्द्रियाँ एवं ज्ञानेन्द्रियाँ, समस्त प्राण, शारीरिक एवं मानसिक शक्ति ओजस्-तेजस् से परिपुष्ट एवं विकसित हों। मैं उपनिषद् में प्रतिपादित अविनाशी ब्रह्म के स्वरूप को कभी भी अस्वीकार न करूँ तथा वह ब्रह्म भी हमारा कभी परित्याग न करे। (वह) मुझे सदैव अपने सामीप्य का बोध कराता रहे। (उस ब्रह्म के साथ मेरा तथा मेरे साथ उस ब्रह्म का) प्रगाढ़ सम्बन्ध सतत बना रहे। उपनिषदों में वर्णित जो समस्त धर्म हैं, वे सभी उस परमात्म तत्त्व में निरत मुझमें सदैव प्रकाशित होते हुए स्थिर रहें। हे परमात्मन्! त्रिविध ताप शान्त हों।

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

अथातो महोपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥ तदाहुरेको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो नापो नाग्नीषोमौ नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यो न चन्द्रमाः ॥२ ॥ स एकाकी न रमते ॥३ ॥

अब (ईश प्रार्थना के बाद) महोपनिषद् के व्याख्यान का शुभारम्भ किया जा रहा है। सृष्टि के आदि में एकमात्र भगवान् नारायण ही थे। इनके अतिरिक्त ब्रह्मा, रुद्र, आपः (जल), अग्नि एवं सोम आदि देवगण नहीं थे। ये द्युलोक तथा पृथ्वीलोक भी नहीं थे और न ही नक्षत्र, चन्द्रमा एवं सूर्य आदि ही थे। ऐसी स्थिति में उन (विराट् पुरुष) को एकाकी रहना बिल्कुल अच्छा नहीं लगा॥ १-३ ॥

तस्य ध्यानान्तःस्थस्य यज्ञस्तोममुच्यते ॥ ४ ॥ तस्मिन् पुरुषाश्चतुर्दश जायन्ते एका कन्या दशेन्द्रियाणि मन एकादशं तेजो द्वादशोऽहंकारस्त्रयोदशकः प्राणश्चतुर्दश आत्मा पञ्चदशी बुद्धिः भूतानि पञ्च तन्मात्राणि पञ्च महाभूतानि स एकः पञ्चविंशतिः पुरुषः ॥ ५ ॥ तत्पुरुषं पुरुषो निवेश्य नास्य प्रधानसंवत्सरा जायन्ते। संवत्सरादधिजायन्ते॥ ६ ॥

उन (विराट् पुरुष) का अन्तःकरण में स्थित ध्यान 'यज्ञस्तोम' अर्थात् श्रेष्ठ यज्ञ कहलाया। उनके द्वारा एक कन्या एवं चौदह पुरुष प्रादुर्भूत हुए। जिनमें से चौदह पुरुष ज्ञानेन्द्रिय एवं कर्मेन्द्रिय सहित दस इन्द्रियाँ, एकादश-तेजस्वी मन, द्वादश अहंकार, तेरह और चौदह क्रमशः प्राण और आत्मा हैं तथा पन्द्रहवीं बुद्धि कन्या के नाम से कही गयी है। इनके अलावा पाँच सूक्ष्मभूत रूपी तन्मात्राएँ एवं पाँच महाभूत आदि इन पच्चीस तत्त्वों के संयोग से एक विराट् पुरुष के शरीर का निर्माण हुआ। उस (विराट् शरीर) में ही परमात्मरूप आदिपुरुष ने प्रवेश किया। (इन पच्चीस तत्त्वों से संयुक्त पुरुष से) प्रधान संवत्सर आदि प्रकट नहीं होते। (अपितु) आदि पुरुष के कालरूप संवत्सर से ही (संवत्सर) प्रादुर्भूत हुए हैं॥ ४-६ ॥

अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसा ध्यायत। तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषो जायते। बिभ्रच्छ्रियं यशः सत्यं ब्रह्मचर्यं तपो वैराग्यं मन ऐश्वर्यं सप्रणवा व्याहृतय ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसः सर्वाणि छन्दांसि तान्यङ्गे समाश्रितानि। तस्मादीशानो महादेवो महादेवः ॥ ७ ॥

तदनन्तर उन (विराट् पुरुष) भगवान् नारायण ने एक अन्य कामना से संकल्प युक्त हो अन्तःस्थ मन से ध्यान किया। अन्तःस्थ होकर ध्यान करने से उनके ललाट से त्रिनेत्रयुक्त, हाथ में त्रिशूल धारण किये हुए पुरुष की उत्पत्ति हुई। उस ऐश्वर्यशाली पुरुष के शरीर में यश, सत्य, ब्रह्मचर्य, तप, वैराग्य, नियन्त्रित मन, श्री-सम्पन्नता एवं ओंकार सहित व्याहृतियाँ, ऋग्, यजुः, साम, अथर्व आदि चारों वेद तथा समस्त छन्द प्रतिष्ठित थे। इसी कारण वह ईशान एवं महादेव के नाम से प्रख्यात हुए॥ ७ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसा ध्यायत। तस्य ध्यानान्तःस्थस्य ललाटात्स्वेदोऽपतत्। ता इमाः प्रतता आपः। ततस्तेजो हिरण्मयमण्डम्। तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत॥ ८॥

इसके पश्चात् पुनः उन भगवान् नारायण ने अन्य कामना से अन्तः में स्थित होकर ध्यान किया। उस अन्तःस्थ ध्यान में लीन नारायण के ललाट से पसीने की बूँदें निःसृत होने लगीं। वह पसीना ही चारों ओर फैलकर आपः (प्रकृति का मूल क्रियाशील द्रव्य) रूप में परिणत हो गया। उस आपः से ही तेजोमय हिरण्यगर्भरूप अण्ड की उत्पत्ति हुई और उसी तेज से चतुर्मुख ब्रह्माजी प्रकट हुए॥ ८॥

सोऽध्यायत्। पूर्वाभिमुखो भूत्वा भूरिति व्याहृतिर्गायत्रं छन्द ऋग्वेदोऽग्निर्देवता। पश्चिमाभिमुखो भूत्वा भुवरिति व्याहृतिस्त्रैष्टुभं छन्दो यजुर्वेदो वायुर्देवता। उत्तराभिमुखो भूत्वा स्वरिति व्याहृतिर्जागतं छन्दः सामवेदः सूर्यो देवता। दक्षिणाभिमुखो भूत्वा मह इति व्याहृतिरानुष्टुभं छन्दोऽथर्ववेदः सोमो देवता॥ ९॥

उन पितामह भगवान् ब्रह्माजी ने (चारों दिशाओं में भिन्न-भिन्न देवों का) ध्यान किया। पूर्व दिशा की तरफ मुख करके उन्होंने भूः व्याहृति, गायत्री छन्द, ऋग्वेद तथा अग्निदेव का ध्यान किया। पश्चिमाभिमुख होकर भुवःव्याहृति, त्रिष्टुप् छन्द, यजुर्वेद सहित वायुदेव का ध्यान किया। उत्तर दिशा की ओर अभिमुख होकर स्वः व्याहृति, जगती छन्द तथा सामवेद सहित सूर्य (सविता) देव का ध्यान किया और दक्षिण की तरफ अभिमुख होकर महः व्याहृति, अनुष्टुप् छन्द तथा अथर्ववेद सहित सोम देवता का ध्यान किया॥ ९॥

[यहाँ पितामह के द्वारा जिन-जिनके ध्यान करने का उल्लेख है, वे सभी उसी ध्यान प्रक्रिया से प्रादुर्भूत होते चले गये।]

सहस्रशीर्षं देवं सहस्राक्षं विश्वशंभुवम्। विश्वतः परमं नित्यं विश्वं नारायणं हरिम्॥१०॥

जिन (विराट् पुरुष) के सहस्रों सिर, सहस्रों नेत्र हैं, जो सभी तरह से कल्याणकारी हैं, सर्वत्र संव्याप्त हैं, परात्पर हैं, नित्य हैं, सभी रूपों में प्रतिष्ठित हैं, ऐसे उन भगवान् नारायण का ब्रह्माजी ने ध्यान किया॥१०॥

विश्वमेवेदं पुरुषस्तद्विश्वमुपजीवति। पतिं विश्वेश्वरं देवं समुद्रे विश्वरूपिणम्॥ ११॥

ये भगवान् नारायण ही सम्पूर्ण विश्व के स्वरूप हैं, इन्हीं विराट् पुरुष पर समस्त जगत् का जीवन आश्रित है। ब्रह्माजी ने सम्पूर्ण जगत् के पालक, विश्वरूप, विश्वेश्वर को तथा क्षीर सागर में योगनिद्रा का आश्रय लेने वाले भगवान् श्रीनारायण का ध्यानावस्था में दर्शन प्राप्त किया॥ ११॥

पद्मकोशप्रतीकाशं लम्बत्याकोशसंनिभम्। हृदयं चाप्यधोमुखं संतत्यै सीत्कराभिश्च॥ १२॥
तस्य मध्ये महानर्चिर्विश्वार्चिर्विश्वतोमुखम्। तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता॥१३
तस्याः शिखाया मध्ये पुरुषः परमात्मा व्यवस्थितः। स ब्रह्मा स ईशानः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्॥ इति महोपनिषत्॥ १४॥

जो पद्मकोश के सदृश, आकोश (सम्यक् रूप से विकसित कोश) के आकार में लम्बायमान एवं अधोमुख हृदय है, जिससे सतत सीत्कार शब्द निःसृत होता रहता है। उस हृदय के मध्य में एक महान् ज्वाला प्रदीप्त हो रही है। वही ज्वाला दीपशिखा की भाँति दसों दिशाओं में अविनाशी प्रकाश तत्त्व को वितरित करती हुई सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित कर रही है। उसी ज्वाला के बीच में थोड़ी दूर ऊर्ध्व की ओर उठी हुई एक पतली सी वह्निशिखा स्थित है। उसी शिखा के मध्य में उस विराट् पुरुष परमात्मतत्त्व का वास-स्थल है। वे ही ब्रह्मा हैं, वही विष्णु एवं ईशान हैं और वही देवराज इन्द्र हैं। वे ही अविनाशी अक्षर एवं परम स्वराट् भी हैं। यही महोपनिषद् है॥ १२-१४॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

[शरीर विज्ञान के अनुसार हृदय के मध्य में एक स्थल होता है— 'पेसमेकर', जहाँ से हृदय को गति देने वाले लयबद्ध स्पंदन उभरते रहते हैं। हृदय की धड़कन पैदा करने वाले मूल कारण को वैज्ञानिक अभी तक स्पष्ट नहीं कर सके हैं। ऋषि ने संभवतः उसी स्थल को चैतन्य ज्वाला के रूप में अनुभव किया है।]

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

शुको नाम महातेजाः स्वरूपानन्दतत्परः। जातमात्रेण मुनिराड् यत्सत्यं तदवाप्तवान्॥ १ ॥
तेनासौ स्वविवेकेन स्वयमेव महामनाः। प्रविचार्य चिरं साधु स्वात्मनिश्चयमाप्तवान्॥ २ ॥

शुक नामक महातेजस् सम्पन्न एक मुनीश्वर सतत आत्मा के आस्वादन में संलग्न रहते थे। जन्म के तुरन्त बाद ही उन्हें सत्य एवं तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो गई थी। इस कारण से उन्होंने अपने विवेक से स्वयं ही चिरकाल तक चिन्तन-मनन करने के पश्चात् आत्मा के स्वरूप को जानने की निश्चित धारणा बनाई॥ १-२ ॥

अनाख्यत्वादगम्यत्वान्मनः षष्ठेन्द्रियस्थितेः। चिन्मात्रमेवमात्माणुराकाशादपि सूक्ष्मकः॥ ३ ॥
चिदणोः परमस्यान्तःकोटिब्रह्माण्डरेणवः। उत्पत्तिस्थितिमभ्येत्य लीयन्ते शक्तिपर्ययात्॥ ४ ॥
आकाशं बाह्यशून्यत्वादनाकाशं तु चित्त्वतः। न किंचिद्यदनिर्देश्यं वस्तु सत्तेति किंचन॥ ५ ॥
चेतनोऽसौ प्रकाशत्वाद्वेद्याभावाच्छिलोपमः। स्वात्मनि व्योमनि स्वस्थे जगदुन्मेषचित्रकृत्॥६ ॥

वचनों से परे होने के कारण, अगम्य होने के कारण तथा मन रूपी छठी इन्द्रिय में प्रतिष्ठित होने के कारण यह आत्मा अणु के आकार वाला, चिन्मात्र एवं आकाश से भी अतिसूक्ष्म है। इस परम चिद्रूप अणु के अन्दर कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड रूपी रेणुकाएँ शक्ति क्रमानुसार प्रकट एवं प्रतिष्ठित होकर विलीन होती रहती हैं। आत्मा बाह्य शून्यता के कारण आकाशरूप है और चिद्रूपता के कारण अनाकाशरूप है। इसके रूप का वर्णन न हो सकने के कारण यह वस्तुरूप नहीं है; किन्तु सत्ता होने से वस्तुरूप है। प्रकाशरूप होने के कारण वह चेतन है तथा वेदना का विषय न होने से वह शिला के सदृश (जड़) है। अपने अन्तः में स्थित आत्माकाश में वह चित्र-विचित्र विभिन्न प्रकार के जगत् का उन्मेष (सृजन) करता है॥ ३-६ ॥

तद्भामात्रमिदं विश्वमिति न स्यात्ततः पृथक्। जगद्भेदोऽपि तद्भानमिति भेदोऽपि तन्मयः॥७ ॥
सर्वगः सर्वसंबन्धो गत्यभावान्न गच्छति। नास्त्यसावाश्रयाभावात्सद्रूपत्वादथास्ति च ॥ ८ ॥
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम्। सर्वसंकल्पसंन्यासश्चेतसा यत्परिग्रहः ॥ ९ ॥
जाग्रतः प्रत्ययाभावं यस्याहुः प्रत्ययं बुधाः। यत्संकोचविकासाभ्यां जगत्प्रलयसृष्टयः॥ १० ॥
निष्ठा वेदान्तवाक्यानामथ वाचामगोचरः। अहं सच्चित्परानन्दब्रह्मैवास्मि न चेतरः॥ ११ ॥

यह विश्व उसी आत्मा का प्रकाशमात्र होने के कारण उस आत्मतत्त्व से पृथक् नहीं है। जो विश्वभेद आत्मा में दृष्टिगोचर होता है, वह भी उस आत्मा से अलग नहीं है। सभी से सम्बद्ध होने से उस आत्मा की गति यत्र-तत्र-सर्वत्र है; किन्तु उसमें गति न होने के कारण वह चलायमान नहीं है। वह आत्मा आश्रयरहित होने से नास्ति रूप है; किन्तु सत्स्वरूप होने के कारण वह अस्तिरूप है। वही धन-प्रदाता (दानी) की परमगति है। जो ब्रह्मानन्दमय और विज्ञानमय है तथा चित्त द्वारा सारे संकल्पों का परित्याग ही जिसका ग्रहण है। जाग्रत् अवस्था की प्रतीति के अभाव को ही ज्ञानीजन जिसकी प्रतीति बताते हैं, जिसके संकोच एवं विकास से जगत् का विनाश एवं सृजन होता है। जो वेदान्त-वाक्यों की निष्ठास्वरूप तथा वाणी के लिए अकथनीय है, मैं वही सत्-चित्-आनन्द स्वरूप परमात्मा ब्रह्म हूँ और अन्य दूसरा कुछ भी नहीं हूँ॥ ७-११ ॥

स्वयैव सूक्ष्मया बुद्ध्या सर्वं विज्ञातवाञ्छुकः। स्वयं प्राप्ते परे वस्तुन्यविश्रान्तमनाः स्थितः॥१२ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

इदं वस्त्विति विश्वासं नासावात्मन्युपाययौ। केवलं विररामास्य चेतो विषयचापलम्। भोगेभ्यो भूरिभङ्गेभ्यो धाराभ्य इव चातकः॥ १३॥

इस प्रकार अपनी सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा श्री शुकदेव मुनि ने सभी कुछ जान लिया तथा स्वयं प्राप्त हुए परमात्मतत्त्व में वे अविश्रान्त सतत लगे रहने वाले मन से प्रतिष्ठित हुए। इस प्रकार का विश्वास उनकी आत्मा में प्राप्त हो गया कि 'यही वस्तु है', इससे भिन्न और कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार जलद के धारा प्रपात से सन्तुष्ट हुए चातक की चंचलता दूर हो जाती है, उसी प्रकार शुकदेव जी का चित्त विभिन्न तरह के भोगों से प्रादुर्भूत विषय-चापल्य से विरत होकर कैवल्यावस्था को प्राप्त हो गया ॥ १२-१३॥

एकदा सोऽमलप्रज्ञो मेरावेकान्तसंस्थितः। पप्रच्छ पितरं भक्त्या कृष्णद्वैपायनं मुनिम्॥ १४॥
संसाराडम्बरमिदं कथमभ्युत्थितं मुने। कथं च प्रशमं याति किं यत्कस्य कदा वद॥ १५॥

एक बार उन प्रज्ञावान् मनीषी श्री शुकदेव जी ने मेरु-पर्वत पर एकान्त में प्रतिष्ठित अपने पिता श्रीकृष्ण द्वैपायन मुनि के आश्रम में जाकर भक्तिपूर्वक अर्चना करके पूछा-हे श्रेष्ठ मुने! इस जगत् रूप प्रपञ्च का प्राकट्य किस प्रकार हुआ और इसका विनाश कैसे होता है? यह क्या है? किसका है और इसकी उत्पत्ति कब हुई? यह सभी कुछ कृपापूर्वक हमें बताने का अनुग्रह करें॥ १४-१५॥

एवं पृष्टेन मुनिना व्यासेनाखिलमात्मजे। यथावदखिलं प्रोक्तं वक्तव्यं विदितात्मना॥ १६॥
अज्ञासिषं पूर्वमेवमहमित्यथ तत्पितुः। स शुकः स्वकया बुद्ध्या न वाक्यं बहु मन्यते॥ १७॥
व्यासोऽपि भगवान्बुद्ध्वा पुत्राभिप्रायमीदृशम्। प्रत्युवाच पुनः पुत्रं नाहं जानामि तत्त्वतः॥१८॥
जनको नाम भूपालो विद्यते मिथिलापुरे। यथावद्वेत्त्यसौ वेद्यं तस्मात्सर्वमवाप्स्यसि॥ १९॥
पित्रेत्युक्तः शुकः प्रायात्सुमेरोर्वसुधातलम्। विदेहनगरीं प्राप जनकेनाभिपालिताम्॥ २०॥

शुकदेव जी के इस प्रकार पूछे जाने पर आत्मज्ञानी व्यासजी ने उन्हें सभी बातें यथावत् बतला दीं, लेकिन ये सभी बातें तो दीर्घकाल से ही मालूम हैं, ऐसा जानकर शुकदेव जी ने अपने पिता श्रीव्यास जी की बातों को अपनी बुद्धि से वैसा विशेष सम्मान नहीं दिया। शुकदेव जी के इस भाव को व्यास जी समझकर बोले-हे पुत्र! मैं तुम्हारी इन सभी बातों को तत्त्वतः नहीं जानता हूँ। अतः यदि इस विषय की विशेष जानकारी चाहते हो, तो मिथिलापुरी में 'जनक' नाम के एक राजा राज्य करते हैं, वे तुम्हारी इन सभी बातों को अच्छी तरह से जानते हैं। 'हे पुत्र! तुम उनसे सभी कुछ प्राप्त कर सकते हो।' पिता के द्वारा ऐसा कहे जाने पर शुकदेव जी सुमेरु-पर्वत से उतर कर समतल भूखण्ड पर आये और महाराज जनक के द्वारा संरक्षित मिथिलापुरी में प्रविष्ट हुए॥१६-२०

आवेदितोऽसौ याष्टीकैर्जनकाय महात्मने। द्वारि व्याससुतो राजञ्छुकोऽत्र स्थितवानिति॥ २१॥
जिज्ञासार्थं शुकस्यासावास्तामेवेत्यवज्ञया। उक्त्वा बभूव जनकस्तूष्णीं सप्त दिनान्यथ॥ २२॥
ततः प्रवेशयामास जनकः शुकमङ्गणे। तत्राहानि स सप्तैव तथैवावसदुन्मनाः॥ २३॥
ततः प्रवेशयामास जनकोऽन्तःपुराजिरे। राजा न दृश्यते तावदिति सप्त दिनानि तम्॥ २४॥
तत्रोन्मदाभिः कान्ताभिर्भोजनैर्भोगसंचयैः। जनको लालयामास शुकं शशिनिभाननम्॥ २५॥
ते भोगास्तानि भोज्यानि व्यासपुत्रस्य तन्मनः। नाजह्रुर्मन्दपवनो बद्धपीठमिवाचलम्॥ २६॥
केवलं सुसमः स्वच्छो मौनी मुदितमानसः। संपूर्ण इव शीतांशुरतिष्ठदमलः शुकः॥ २७॥

तदनन्तर शुकदेव मुनि को आया हुआ देखकर द्वारपालों ने राजा जनक को यह संदेश दिया कि हे राजन्! राजद्वार पर व्यास जी के पुत्र श्रीशुकदेव जी आपसे मिलने के लिए आये हैं, उन (शुकदेव) मुनि की परीक्षा के

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

लिए महाराज जनक ने अवज्ञापूर्वक मात्र इतना ही कहा कि उनसे कहो कि 'वे वहीं पर रुकें', इतना कहने के उपरान्त राजा सात दिनों तक पूरी तरह से शान्त रहे। इसके पश्चात् उन्होंने शुकदेव मुनि को अपने राज-प्राङ्गण में आमन्त्रित किया और वहाँ भी वे सात दिनों तक उसी तरह शान्त रहे। इसके अनन्तर राजा ने उन्हें अपने अन्त:पुर के आँगन में ससम्मान बुलवाया तथा वहाँ पर भी सात दिनों तक वे उनके समक्ष नहीं आये। विदेहराज जनक ने अन्त:पुर में युवती स्त्रियों, विभिन्न तरह के सुस्वादु पकवान एवं भोज्य पदार्थों सहित उन श्रेष्ठ मुनि शुकदेव जी का स्वागत-सत्कार किया। वे समस्त भोग एवं भोज्य सामग्री उन व्यास-पुत्र शुकदेव जी के मन को ठीक वैसे ही नहीं डिगा सके, जैसे कि मन्द-मन्द प्रवाहित पवन दृढ़तापूर्वक प्रतिष्ठित हुए पर्वत को गतिशील नहीं कर सकता। वहाँ उस अन्त:पुर में ज्ञानी शुकदेव जी असङ्ग, समभाव वाले, निर्मल एवं पूर्णचन्द्र के सदृश प्रतिष्ठित बने रहे॥ २१-२७॥

परिज्ञातस्वभावं तं शुकं स जनको नृपः। आनीय मुदितात्मानमवलोक्य ननाम ह॥ २८॥
निःशेषितजगत्कार्यः प्राप्ताखिलमनोरथः। किमीप्सितं तवेत्याह कृतस्वागतमाह तम्॥ २९॥
संसाराडम्बरमिदं कथमभ्युत्थितं गुरो। कथं प्रशममायाति यथावत्कथयाशु मे॥ ३०॥
यथावदखिलं प्रोक्तं जनकेन महात्मना। तदेव यत्पुरा प्रोक्तं तस्य पित्रा महाधिया॥ ३१॥
स्वयमेव मया पूर्वमभिज्ञातं विशेषतः। एतदेव हि पृष्टेन पित्रा मे समुदाहृतम्॥ ३२॥
भवताप्येष एवार्थः कथितो वाग्विदां वर। एष एव हि वाक्यार्थः शास्त्रेषु परिदृश्यते॥ ३३॥
मनोविकल्पसंजातं तद्विकल्पपरिक्षयात्। क्षीयते दग्धसंसारो निःसार इति निश्चितः॥ ३४॥
तत्किमेतन्महाभाग सत्यं ब्रूहि ममाचलम्। त्वत्तो विश्रममाप्नोति चेतसा भ्रमता जगत्॥ ३५॥

इस प्रकार जब राजा जनक ने श्रीशुकदेवजी के चरित्र की भली-भाँति परीक्षा ले ली, तब उन्हें अपने समीप बुलाया। उन्हें प्रसन्नचित्त देखकर राजा ने प्रणाम किया और उनका सत्कार करते हुए बोले- हे शुकदेव जी! आपने अपने सांसारिक कृत्यों को समाप्त कर दिया है तथा आपको सभी मनोरथ प्राप्त हैं, कृपया बताने का अनुग्रह करें कि अब आपकी क्या अभिलाषा है? श्रीशुकदेव जी ने जिज्ञासा भाव से कहा-हे गुरुवर! कृपया मुझे यह बताने की कृपा करें कि यह सांसारिक प्रपञ्च कैसे प्रादुर्भूत हुआ है तथा किस तरह से विलय को प्राप्त होता है? तब महान् ज्ञानी राजा जनक ने श्रीशुकदेव जी को सभी बातें तत्त्वत: बतला दी, इन्हीं बातों को उनके परम ज्ञानवान् पिता श्रीव्यास जी पहले ही बता चुके थे। इस पर श्रीशुकदेव जी ने कहा-हे गुरुश्रेष्ठ! हमने स्वयं ही इसकी विशेष रूप से जानकारी प्राप्त की थी, पूछने पर हमारे पिता श्रीव्यास जी ने भी यही बातें बतलायी थी। आपने भी यही बातें हमें बतायी हैं तथा ठीक ऐसा ही शास्त्रों का भी मत है। मन के विकल्प से ही प्रपञ्च की उत्पत्ति होती है और उस विकल्प के विनष्ट हो जाने पर इस (प्रपञ्च) का भी विनाश हो जाता है। यह जगत् निन्दनीय एवं सार-रहित है, ऐसा निश्चित है, तब हे महान् ज्ञानी राजन्! यह सब (जीवन आदि) क्या है? कृपा करके मुझे यथार्थ रूप से समझाने की कृपा करें। मेरा यह चित्त जगत् के विषय में दिग्भ्रान्त हो रहा है, अत: आपके सदुपदेश से ही शान्ति मिल सकती है॥ २८-३५॥

शृणु तावदिदानीं त्वं कथ्यमानमिदं मया। श्रीशुक ज्ञानविस्तारं बुद्धिसारान्तरान्तरम्॥ ३६॥
यद्विज्ञानात्पुमान्सद्यो जीवन्मुक्तत्वमाप्नुयात्॥ ३७॥ दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम्।
संपन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः॥ ३८॥ अशेषेण परित्यागो वासनाया य उत्तमः। मोक्ष
इत्युच्यते सद्भिः स एव विमलक्रमः॥ ३९॥ ये शुद्धवासना भूयो न जन्मानर्थभागिनः।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

ज्ञातज्ञेयास्त उच्यन्ते जीवन्मुक्ता महाधियः ॥ ४० ॥ पदार्थभावनादार्ढ्यं बन्ध इत्यभिधीयते। वासनातानवं ब्रह्मन्मोक्ष इत्यभिधीयते ॥ ४१ ॥

इसके पश्चात् राजा जनक ने कहा-हे शुकदेव जी! अब मैं आपके प्रति सम्पूर्ण ज्ञान को विस्तारपूर्वक कहता हूँ- सुनो, यह ज्ञान समस्त ज्ञानों का सार एवं सभी रहस्यों का रहस्य है, अतः इसके जान लेने से वह पुरुष अतिशीघ्र मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। विदेहराज ने कहा कि यह दृश्य जगत् है ही नहीं, ऐसा पूर्ण बोध जब हो जाता है, तब दृश्य विषय से मन की शुद्धि हो जाती है। तब यह ज्ञान पूर्ण हो जाता है और तभी उसे निर्वाण रूपी परम शान्ति मिल जाती है। जो वासनाओं का निःशेष परित्याग कर देता है, वही वास्तविक श्रेष्ठ त्याग है, उसी विशुद्धावस्था को ज्ञानीजनों ने मोक्ष कहा है। पुनः जो शुद्ध वासनाओं से युक्त हैं, जो अनर्थ शून्य जीवन वाले हैं और जो ज्ञेय तत्त्व के ज्ञाता हैं, हे महान् ज्ञानी शुकदेव जी! वे ही मनुष्य पूर्ण जीवन्मुक्त कहे जाते हैं। पदार्थों की भावनात्मक दृढ़ता को ही बन्धन और वासनाओं की क्षीणता को ही मोक्ष कहा गया है ॥३६-४१

तपःप्रभृतिना यस्मै हेतुनैव विना पुनः। भोगा इह न रोचन्ते स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४२ ॥ आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतः। न हृष्यति ग्लायति यः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४३ ॥ हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः। न परामृश्यते योऽन्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४४ ॥ अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः। तिष्ठति ध्येयसंत्यागी स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४५ ॥

जिसे तप आदि साधनों के अभाव में स्वभाववश ही सांसारिक भोग अच्छे नहीं लगते,वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जो प्रतिपल प्राप्त होने वाले सुखों या दुःखों में आसक्त नहीं होता तथा जो न हर्षित होता है और न ही दुःखी होता है,वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जो हर्ष,अमर्ष,भय,काम,क्रोध एवं शोक आदि विकारों से मुक्त रहता है,वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जो अहंकार युक्त वासना को अति सहजता से त्याग देता है तथा चित्त के अवलम्बन में जो सम्यक् रूप से त्याग भाव रखता है,वही वास्तव में जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ ४२-४५

ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्यान्तर्वर्तिदृष्टिषु। सुषुप्तिवद्यश्चरति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४६ ॥ अध्यात्मरतिरासीनः पूर्णः पावनमानसः। प्राप्तानुत्तमविश्रान्तिर्न किंचिदिह वाञ्छति। यो जीवति गतस्नेहः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४७ ॥ संवेद्येन हृदाकाशे मनागपि न लिप्यते। यस्यासावजडा संवित्स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४८ ॥ रागद्वेषौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ फलाफले। यः करोत्यनपेक्ष्यैव स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४९ ॥ मौनवान्निरहंभावो निर्मानो मुक्तमत्सरः। यः करोति गतोद्वेगः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ५० ॥

जो सदैव अन्तर्मुखी दृष्टिवाला, पदार्थ की आकांक्षा से रहित और किसी भी वस्तु की अपेक्षा अथवा कामना से रहित सुषुप्ति के समान अवस्था में विचरण करता रहता है, वही मनुष्य जीवन्मुक्त कहलाता है। जो सदैव आत्मा में लीन रहता है, जिसका मन पूर्ण एवं पवित्र है, अत्यन्त श्रेष्ठ एवं शान्त स्वभाव को प्राप्त कर जो इस नश्वर संसार में किसी वस्तु की इच्छा नहीं रखता, जो किसी के प्रति आसक्ति न रखता हुआ उदासीन भाव से भ्रमण करता रहता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसका हृदय किसी भी पदार्थ में लिप्त नहीं होता तथा जो चेतन संवित्(सद्ज्ञानयुक्त)स्वरूप वाला है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जो पुरुष राग-द्वेष, सुख-दुःख, मान-अपमान, धर्म-अधर्म एवं फलाफल की इच्छा-आकांक्षा न रखता हुआ सदैव अपने कार्यों में व्यस्त रहता है, वही मनुष्य जीवन्मुक्त कहलाता है। जो अहंभाव को त्याग करके, मान एवं मत्सर से रहित, उद्वेगरहित तथा संकल्पविहीन रहकर कर्म करता रहता है,उसी पुरुष को ज्ञानीजन जीवन्मुक्त कहते हैं ॥४६-५०

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सर्वत्र विगतस्नेहो यः साक्षिवदवस्थितः। निरिच्छो वर्तते कार्ये स जीवन्मुक्त उच्यते॥५१॥
येन धर्ममधर्मं च मनोमननमीहितम्। सर्वमन्तः परित्यक्तं स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ५२॥
यावती दृश्यकलना सकलेयं विलोक्यते। सा येन सुष्ठु संत्यक्ता स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ५३॥
कट्वम्ललवणं तिक्तममृष्टं मृष्टमेव च। सममेव च यो भुङ्क्ते स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ५४॥
जरामरणमापच्च राज्यं दारिद्र्यमेव च। रम्यमित्येव यो भुङ्क्ते स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ५५॥
धर्माधर्मौ सुखं दुःखं तथा मरणजन्मनी। धिया येन सुसंत्यक्तं स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ५६॥

जो सर्वत्र मोहरहित होकर साक्षी भाव से जीवनयापन करता है तथा बिना किसी फल की कामना किये ही अपने कर्त्तव्य कर्म में रत रहता है, वही जीवन्मुक्त है। जिसने धर्म-अधर्म का, सांसारिक विषय के चिन्तन का तथा सभी तरह की कामनाओं का परित्याग कर दिया है, उसे ही जीवन्मुक्त कहा गया है। यह समस्त दृश्य प्रपञ्च जो दृष्टिगोचर हो रहा है, उसका जिसने पूरी तरह से परित्याग कर दिया है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जो ज्ञानी पुरुष खट्टे, चरपरे, कड़वे, नमकीन, स्वादयुक्त एवं अस्वाद को एक जैसा मानकर भोजन ग्रहण करता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जरा, मृत्यु, विपत्ति, राज्य एवं दारिद्र्य आदि में से जो समान भाव रखते हुए हर स्थिति में सन्तुष्ट रहता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसने धर्म-अधर्म, सुख-दुःख एवं जन्म-मृत्यु आदि का अपने हृदय से पूर्णरूपेण परित्याग कर दिया है, वही वास्तव में जीवन्मुक्त कहलाता है॥ ५१-५६॥

उद्वेगानन्दरहितः समया स्वच्छया धिया। न शोचते न चोदेति स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ५७॥
सर्वेच्छाः सकलाः शङ्काः सर्वेहाः सर्वनिश्चयाः। धिया येन परित्यक्ताः स जीवन्मुक्त उच्यते॥५८॥
जन्मस्थितिविनाशेषु सोदयास्तमयेषु च। सममेव मनो यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ५९॥
न किंचन द्वेष्टि तथा न किंचिदपि काङ्क्षति। भुङ्क्ते यः प्रकृतान्भोगान्स जीवन्मुक्त उच्यते॥६०
शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः। यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥६१॥
यः समस्तार्थजालेषु व्यवहार्यपि निःस्पृहः। परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ६२॥

जो मनुष्य उद्वेग एवं आनन्द से रहित है तथा शोक और हर्षोल्लास में समान भाव एवं परिष्कृत बुद्धि से सम्पन्न है। सभी तरह की इच्छाओं एवं आकांक्षाओं, कामनाओं तथा सारे निश्चयों को जिसने मन से पूर्णतः त्याग दिया है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। उत्पत्ति, पालन एवं प्रलय की अवस्था में तथा प्रगति और अवनति में जिस पुरुष का मन समान रहता है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जो किसी के प्रति ईर्ष्या-द्वेष आदि के भाव नहीं रखता है, जो न किसी की इच्छा-आकांक्षा करता है। जो केवल प्रारब्धवश प्राप्त भोगों का उपभोग करने वाला है, वही जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसने सांसारिक विषयों की प्राप्ति की कामना को त्याग दिया है, जो चित्त में रहते हुए भी चित्तरहित हो गया है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है। जो पुरुष जगत् के सम्पूर्ण अर्थ जाल के बीच में प्रतिष्ठित होकर भी उससे पराये धन से अलग रहने वाले धर्मात्मा के सदृश अनासक्त रहता है, निश्चय ही वह आत्मा में ही परमात्मतत्त्व की अनुभूति करने वाला महान् पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है॥ ५७-६२॥

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते। विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव॥ ६३॥
विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति। न सन्नासन्न दूरस्थो न चाहं न च नेतरः॥ ६४॥

वह पुरुष अपने शरीर के काल-कवलित हो जाने के पश्चात् जीवन्मुक्त स्थिति का परित्याग करके गतिहीन पवन के सदृश विदेहमुक्त स्थिति को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में जीव की न तो उन्नति होती है और न ही अवनति तथा उसका विनाश भी नहीं होता। उसकी वह अवस्था सत्-असत् से परे होती है और वह किसी के दूरस्थ-समीपस्थ भी नहीं होता॥ ६३-६४॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्। अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते॥ ६५॥
न शून्यं नापि चाकारि न दृश्यं नापि दर्शनम्। न च भूतपदार्थौघसदनन्ततया स्थितम्॥ ६६॥
किमप्यव्यपदेशात्मा पूर्णात्पूर्णतराकृतिः। न सन्नासन्न सदसन्न भावो भावनं न च॥ ६७॥
चिन्मात्रं चैत्यरहितमनन्तमजरं शिवम्। अनादिमध्यपर्यन्तं यदनादि निरामयम्॥ ६८॥

विदेहमुक्ति गम्भीर एवं स्तब्ध अवस्था को कहते हैं। उस अवस्था में न सर्वत्र प्रकाश व्याप्त होता है और न ही अन्धकार। उसमें नामविहीन एवं अभिव्यक्त न होने वाला एक तरह का सत् तत्त्व अवशिष्ट रहता है। वह शून्य एवं साकार भी नहीं होता है। दृश्य एवं दर्शन रूप भी नहीं होता है। उसमें ये भूत एवं पदार्थ- समूह भी नहीं होते हैं। केवल वह सत् अन्तरहित स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। वह ऐसा आश्चर्ययुक्त तत्त्व होता है कि जिसके रूप का निर्देशन नहीं किया जा सकता है। उसकी आकृति एवं प्रकृति पूर्ण से भी पूर्णतर होती है। वह न सत् होता है और न असत् तथा सत्-असत् दोनों भी नहीं होता। वह भाव एवं भावना से परे होता है। वह मात्र चैतन्य ही होता है; किन्तु चित्तविहीन एवं अनन्त भी होता है। वह जरारहित, शिवस्वरूप एवं आत्मकल्याण - प्रद होता है। उसका आदि, मध्य एवं अन्त भी नहीं होता। वह अनादि एवं दोषरहित होता है॥ ६५-६८॥

द्रष्टृदर्शनदृश्यानां मध्ये यद्दर्शनं स्मृतम्। नातः परतरं किंचिन्निश्चयोऽस्त्यपरो मुने॥ ६९॥
स्वयमेव त्वया ज्ञातं गुरुतश्च पुनः श्रुतम्। स्वसंकल्पवशाद्बद्धो निःसंकल्पाद्विमुच्यते॥ ७०॥
तेन स्वयं त्वया ज्ञातं ज्ञेयं यस्य महात्मनः। भोगेभ्यो ह्यरतिर्जाता दृश्याद्वा सकलादिह॥ ७१॥
प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं भवता पूर्णचेतसा। स्वरूपे तपसि ब्रह्मन्मुक्तस्त्वं भ्रान्तिमुत्सृज॥ ७२॥
अतिबाह्यं तथा बाह्यमन्तराभ्यन्तरं धियः। शुक पश्यन्न पश्येस्त्वं साक्षी संपूर्णकेवलः॥ ७३॥

द्रष्टा, दृश्य एवं दर्शन की त्रिपुटी के मध्य में मात्र वह दर्शन स्वरूप ही कहा गया है। हे श्रीशुकदेव जी! इस सन्दर्भ में इसके अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा निश्चय नहीं किया जा सकता। आपने इस तत्त्वज्ञान को स्वयमेव समझ लिया है और अपने पिता श्रीव्यास जी से भी श्रवण कर लिया है कि जीव अपनी संकल्प शक्ति से ही बन्धन में पड़ता है और संकल्प से ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। अतः आपने स्वयं ही उस तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लिया है, जिसे जानने के पश्चात् इस नश्वर जगत् में साधुजनों को सभी दृश्यों से अथवा भोगों से विरक्ति पैदा हो जाती है। आपने पूर्ण चैतन्यावस्था में पहुँच कर सभी प्राप्त होने वाले पदार्थों को भी प्राप्त कर लिया है। आप तपःस्वरूप में स्थित हैं। हे ब्रह्मन्! आप मुक्तावस्था को प्राप्त हो चुके हैं, अतः भ्रान्ति का परित्याग कर दें। हे शुकदेव जी! बाह्य एवं अति बाह्य, अन्तः में एवं उसके भी अन्तरंग को देखते हुए भी आप नहीं देखते हैं। आप सर्वदा पूर्ण कैवल्यावस्था में साक्षी भाव से विद्यमान हैं॥ ६९-७३॥

विशश्राम शुकस्तूष्णीं स्वस्थे परमवस्तुनि। वीतशोकभयायासो निरीहश्छिन्नसंशयः॥ ७४॥
जगाम शिखरं मेरोः समाध्यर्थमखण्डितम्॥ ७५॥ तत्र वर्षसहस्राणि निर्विकल्पसमाधिना।
देशे स्थित्वा शशामासावात्मन्यस्नेहदीपवत्॥ ७६॥ व्यपगतकलनाकलङ्कशुद्धः स्वयममलात्मनि
पावने पदेऽसौ। सलिलकण इवाम्बुधौ महात्मा विगलितवासनमेकतां जगाम॥ ७७॥

विदेहराज जनक के इस तत्त्वदर्शन को सुनने के पश्चात् श्रीशुकदेव शोक,भय एवं श्रमविहीन होकर, संशयरहित और कामनारहित होकर परमतत्त्वरूप आत्मा में स्थित होकर शान्त भाव से विश्राम को प्राप्त हुए। अखण्ड समाधि हेतु वे सुमेरु पर्वत की चोटी की ओर वापस चले गये। वहाँ सहस्रों वर्षों तक स्नेहरहित दीपक के सदृश उन शुकदेव मुनि ने अन्तर्मुखी होकर निर्विकल्प समाधि द्वारा परमशान्ति लाभ प्राप्त किया। संकल्प रूपी दोषों से मुक्त,शुद्ध स्वरूप,पवित्र,निर्मल एवं वासना रहित होकर वे महान् ज्ञानी शुकदेव जी अपने आत्मपद में वैसे ही एकाकार हुए,जैसे कि जलकण महासागर में विलीन होकर समुद्र रूप हो जाते हैं॥७४-७७॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

निदाघो नाम मुनिराट् प्राप्तविद्यश्च बालकः । विहृतस्तीर्थयात्रार्थं पित्रानुज्ञातवान्स्वयम् ॥ १ ॥
सार्धत्रिकोटितीर्थेषु स्नात्वा गृहमुपागतः । स्वोदन्तं कथयामास ऋभुं नत्वा महायशाः ॥ २ ॥
सार्धत्रिकोटितीर्थेषु स्नानपुण्यप्रभावतः । प्रादुर्भूतो मनसि मे विचारः सोऽयमीदृशः ॥ ३ ॥

अपने पिता (ऋभु) से अनुमति लेकर निदाघ नामक श्रेष्ठ मुनिपुत्र एकाकी ही तीर्थयात्रा के लिए चल पड़े। साढ़े तीन करोड़ तीर्थ-स्थलों में स्नान आदि सम्पन्न कर लेने के पश्चात् वे श्रेष्ठ मुनि अपने घर वापस लौट आए। उन महान् यशस्वी मुनि ने घर आकर अपने पिता ऋभुमुनि से अपनी समस्त यात्रा का वृत्तान्त कह सुनाया। उन्होंने कहा- हे पिताजी! साढ़े तीन करोड़ तीर्थस्थलों में स्नान करने के पश्चात् जो पुण्य-फल प्राप्त हुआ है, उसके प्रतिफल स्वरूप हमारे अन्तःकरण में इस तरह के श्रेष्ठ विचार प्रादुर्भूत हो रहे हैं॥ १-३॥

जायते मृतये लोको म्रियते जननाय च । अस्थिराः सर्व एवेमे सचराचरचेष्टिताः ॥ ४ ॥ सर्वापदां पदं पापा भावा विभवभूमयः । अयःशलाकासदृशाः परस्परमसङ्गिनः । श्लिष्यन्ते केवला भावा मनःकल्पनयानया ॥ ५ ॥ भावेष्वरतिरायाता पथिकस्य मरुष्विव । शाम्यतीदं कथं दुःख-मिति तप्तोऽस्मि चेतसा ॥ ६ ॥ चिन्तानिचयचक्राणि नानन्दाय धनानि मे । संप्रसूतकलत्राणि गृहाण्युग्रापदामिव ॥ ७ ॥ इयमस्मिन् स्थितोदारा संसारे परिपेलवा । श्रीर्मुने परिमोहाय सापि नूनं न शर्मदा ॥ ८ ॥ आयुः पल्लवकोणाग्रलम्बाम्बुकणभङ्गुरम् । उन्मत्त इव संत्यज्य याम्यकाण्डे शरीरकम् ॥ ९ ॥ विषयाशीविषासङ्गपरिजर्जरचेतसाम् । अप्रौढात्मविवेकानामायुरायास-कारणम् ॥ १० ॥

यह जगत् उत्पन्न होता है मरने (विनष्ट होने) के लिए, पुनः मरता है जन्मने के लिए। समस्त चराचर प्राणियों की चेष्टा के साथ यह सारा प्रपञ्च (जगत्) अस्थिर एवं क्षणिक है। ऐश्वर्य की भूमि में प्रकट होने वाले ये समस्त पदार्थ आपत्तियों के मूलभूत कारण हैं। ये सभी पदार्थ लौह शलाका के सदृश परस्पर पृथक् रहते हुए मानसिक कल्पना रूपी चुम्बक द्वारा एकत्रित होते रहते हैं। जिस तरह मार्ग में गमन करने वाला व्यक्ति मरुस्थल में चलते-चलते (कष्ट के कारण) विरक्त हो जाता है, उसी तरह मैं भी इन सांसारिक पदार्थों से विरक्त हो रहा हूँ; क्योंकि ये सांसारिक भोग-पदार्थ मुझे दुःखदायी प्रतीत होने लगे हैं। अब इन समस्त दुःखों का शमन किस प्रकार होगा, ऐसा सोचकर मेरा हृदय अत्यधिक संतप्त हो रहा है। ये ऐश्वर्य रूपी धन-जिनके पीछे चिन्ताओं के समूह चक्र की भाँति घूमते रहते हैं, मुझे आनन्दप्रद नहीं लग रहे हैं। स्त्री-पुत्रादि समस्त स्वजन सम्बन्धी मानो उग्र आपदाओं के घर हैं। हे मुनीश्वर! इस जगत् में उदारता की प्रतिमूर्ति, अत्यन्त कोमलांगी ये श्रीलक्ष्मी जी भी परम मोह को उत्पन्न करने वाली हैं। निश्चय ही इनके द्वारा जीव को आनन्द नहीं मिल सकता। जिस प्रकार पल्लव के अग्रभाग में जल कणिका बूँदरूप में लटकती हैं, वह क्षणिक है। उसी प्रकार मनुष्य की आयु भी जल की बूँद के सदृश क्षणभंगुर है। इस नाशवान् शरीर को असमय ही छोड़कर उन्मत्त की भाँति मुझे प्रस्थान करना ही पड़ेगा। जिनका चित्त विषय-वासना रूपी सर्प के सङ्ग से जर्जर हो गया है तथा जिन्हें प्रौढ़ आत्मिक ज्ञान नहीं प्राप्त हुआ है, उनका जीवन कष्ट का ही हेतु बना है॥ ४-१०॥

युज्यते वेष्टनं वायोराकाशस्य च खण्डनम् । ग्रन्थनं च तरङ्गाणामास्था नायुषियुज्यते ॥ ११ ॥
प्राप्यं संप्राप्यते येन भूयो येन न शोच्यते । पराया निर्वृतेः स्थानं यत्तज्जीवितमुच्यते ॥ १२ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः । स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥ १३ ॥
जातास्त एव जगति जन्तवः साधुजीविताः । ये पुनर्नेह जायन्ते शेषा जरठगर्दभाः ॥ १४ ॥
भारो विवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणः । अशान्तस्य मनो भारो भारोऽनात्मविदो वपुः ॥१५

वायु का लपेटना, आकाश को खण्ड-खण्ड करना एवं जल की लहरों का गुन्थन भले ही सम्भव हो जाए, किन्तु जीवन में आस्था एवं विश्वास रखना सम्भव नहीं हो पाता। जिसके द्वारा प्राप्त करने योग्य वस्तु को (सम्यक् रूप से) प्राप्त कर लिया जाता है, जिसके कारण शोक न करना पड़े और जिसमें परम शान्ति की उपलब्धि हो जाए, वही तो वास्तविक जीवन कहलाता है। यों तो वृक्ष, मृग एवं पक्षी भी जीवन धारण किये रहते हैं; किन्तु यथार्थ में वही जीवित है, जिसका मन निरन्तर आत्मचिन्तन में लीन रहता है। इस नश्वर जगत् में उत्पन्न हुए उन्हीं प्राणियों का जीवन उत्कृष्ट है, जिन्हें पुनः आवागमन के चक्र में नहीं पड़ना पड़ता है। इससे भिन्न तो जरावस्था को प्राप्त गधे के सदृश हैं, जो कि अशक्त होते हुए भी भार ढोने के लिए विवश हैं। ज्ञानवान् मनुष्य के लिए शास्त्र, भार ढोने के सदृश है। राग-द्वेष में लिप्त मनुष्य के लिए ज्ञान भारस्वरूप है, अशान्त मनुष्य का मन तो स्वयं में ही भारस्वरूप होता है तथा जो आत्मज्ञानी नहीं हैं, उनके लिए यह शरीर भी बोझा ढोने के सदृश ही है ॥ ११-१५ ॥

अहंकारवशादापदहंकाराद्दुराधयः । अहंकारवशादीहा नाहंकारात्परो रिपुः ॥ १६ ॥
अहंकारवशाद्यद्यन्मया भुक्तं चराचरम् । तत्तत्सर्वमवस्त्वेव वस्त्वहंकाररिक्तता ॥ १७ ॥
इतश्चेतश्च सुव्यग्रं व्यर्थमेवाभिधावति । मनो दूरतरं याति ग्रामे कौलेयको यथा ॥ १८ ॥
क्रूरेण जडतां याता तृष्णाभार्यानुगामिना । वशः कौलेयकेनैव ब्रह्मन्मुक्तोऽस्मि चेतसा ॥ १९ ॥
अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि । अपि वह्न्यशनाद्ब्रह्मन्विषमश्चित्तनिग्रहः ॥ २० ॥
चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन्सति जगत्त्रयम् । तस्मिन्क्षीणे जगत्क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः ॥२१ ॥

अहंकार ही समस्त विपत्तियों के आगमन का हेतु है। इसी से मनोविकार उत्पन्न होते हैं और तरह-तरह की इच्छा-आकांक्षाओं का प्रादुर्भाव होता है। इस कारण मनुष्य का अहंकार से बढ़कर और कोई भी शत्रु नहीं है। अहंकार के वशीभूत होकर मैंने चराचर रूप जिन-जिन भोगों का उपभोग किया है, वे सभी मिथ्या, भ्रमरूप थे। अहंकार का शून्य होना ही जीवन की यथार्थता है। वस्तु तो मात्र अहंकार शून्यता ही है। यह मन व्यर्थ ही परेशान होकर यत्र-तत्र दौड़ता रहता है। व्यर्थ ही दूर-दूर तक भ्रमण करता रहता है। इसका स्वभाव गाँव में इधर-उधर घूमने वाले कुत्ते की तरह है। मैं भी तृष्णारूपी कुतिया के पीछे-पीछे कुत्ते की भाँति भटकता हुआ इस प्रकार क्रूर मन के वशीभूत होकर जड़वत् हो गया था। हे ब्रह्मन्! अब मैं उसके प्रभाव से पूर्णरूपेण मुक्त हो गया हूँ। हे ब्रह्मन्! चित्त को नियंत्रित करना, समुद्र को पूरी तरह पीने से भी कठिन है, सुमेरु पर्वत को उखाड़ फेंकने से भी कठिन है और अग्नि के भक्षण से भी कठिन है। यह चित्त बाह्य एवं अन्तःकरण में विषय भोगों को ग्रहण करने वाला है, उसके आधार पर ही जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति रूप तीनों अवस्थाओं से युक्त संसार की स्थिति निर्भर है। चित्त के नष्ट होने पर यह जगत् नष्ट हो जाता है। अतः प्रयासपूर्वक चित्त की ही चिकित्सा करनी चाहिए॥ १६-२१ ॥

यां यामहं मुनिश्रेष्ठ संश्रयामि गुणश्रियम् । तां तां कृन्तति मे तृष्णा तन्त्रीमिव कुमूषिका ॥२२ ॥
पदं करोत्यलङ्घ्येऽपि तृष्णा विफलमीहते । चिरं तिष्ठति नैकत्र तृष्णा चपलमर्कटी ॥ २३ ॥
क्षणमायाति पातालं क्षणं याति नभःस्थलम् । क्षणं भ्रमति दिक्कुञ्जे तृष्णा हृत्पद्मषट्पदी ॥२४ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सर्वसंसारदुःखानां तृष्णैका दीर्घदुःखदा। अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे॥ २५॥
तृष्णाविषूचिकामन्त्रश्चिन्तात्यागो हि स द्विज। स्तोकेनानन्दमायाति स्तोकेनायाति खेदताम्॥२६

हे श्रेष्ठ मुने! मैं जिन श्रेष्ठ सद्गुणों का आश्रय प्राप्त करता हूँ, मेरी तृष्णा उन श्रेष्ठ गुणों को ठीक वैसे ही काट देती है, जैसे कि दुष्ट मूषिका (चुहिया) वीणा के तारों को काट देती है। यह तृष्णा चञ्चल बँदरिया के समान है, जो न लाँघने योग्य स्थान पर भी अपना पैर टिकाना चाहती है। वह तृप्त होने पर भी भिन्न-भिन्न फलों की इच्छा करती रहती है। एक जगह पर लम्बे समय तक नहीं रुकती। क्षणमात्र में ही वह आकाश एवं पाताल की सैर कर डालती है, क्षण मात्र में ही दिशारूपी कुञ्जों में भ्रमण करने लगती है। यह तृष्णा हृदय कमल में विचरण करने वाली भ्रमरी के समान है। यह तृष्णा ही इस नश्वर जगत् के समस्त दुःखों में दीर्घ काल तक दुःख देने वाली है, जो अन्तःपुर में निवास करने वालों को भी महान् संकट में डाल देती है। यह तृष्णा एक महामारी-हैजा है। इसे वही श्रेष्ठ ब्राह्मण नष्ट कर सकता है, जिसने चिन्ता का पूरी तरह से परित्याग कर दिया है। यदि चिन्ता का थोड़ा भी परित्याग कर दिया जाए, तो अत्यधिक आनन्द की प्राप्ति होती है। यदि थोड़ी-सी भी चिन्ता मन में शेष रही, तो उससे असीम दुःख की प्राप्ति होती है॥ २२-२६॥

नास्ति देहसमः शोच्यो नीचो गुणविवर्जितः॥ २७॥ कलेवरमहंकारगृहस्थस्य महागृहम्।
लुठत्वभ्येतु वा स्थैर्यं किमनेन गुरो मम॥ २८॥ पङ्क्तिबद्धेन्द्रियपशुं वल्गत्तृष्णागृहाङ्गणम्।
चित्तभृत्यजनाकीर्णं नेष्टं देहगृहं मम॥ २९॥ जिह्वामर्कटिकाक्रान्तवदनद्वारभीषणम्।
दृष्टदन्तास्थिशकलं नेष्टं देहगृहं मम॥ ३०॥

देह के सदृश तुच्छ, गुणरहित तथा शोक करने योग्य अन्य दूसरा कोई नहीं। इस शरीर रूपी विशाल गृह में अहंकाररूपी गृहस्थ निवास करता है। यह शरीर चाहे दीर्घकाल तक रहे अथवा शीघ्र ही नष्ट हो जाए, उसकी मुझे किञ्चित् मात्र भी चिन्ता नहीं है। जिस शरीर रूपी घर में इन्द्रियरूपी पशु पंक्तिवत् खड़े हैं तथा जिसके प्रांगण में तृष्णा रूपी बँदरी विचरण करती रहती है, जिसमें चित्त-वृत्तिरूप भृत्यों का समावेश है। ऐसा शरीर रूपी घर मुझे अभीष्ट नहीं है। जिह्वा रूपी बँदरी से पीड़ित हुआ यह मुख रूपी द्वार इतना भयभीत हो गया है कि आरम्भ में ही दन्तरूपी हड्डियाँ दिखाई पड़ रही हैं। ऐसा यह शरीररूपी घर मुझे प्रिय नहीं लगता है॥२७-३०

रक्तमांसमयस्यास्य सबाह्याभ्यन्तरे मुने। नाशैकधर्मिणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता॥ ३१॥
तडित्सु शरदभ्रेषु गन्धर्वनगरेषु च। स्थैर्यं येन विनिर्णीतं स विश्वसितु विग्रहे॥ ३२॥
शैशवे गुरुतो भीतिर्मातृतः पितृतस्तथा। जनतो ज्येष्ठबालाच्च शैशवं भयमन्दिरम्॥ ३३॥
स्वचित्तबिलसंस्थेन नानाविभ्रमकारिणा। बलात्कामपिशाचेन विवशः परिभूयते॥ ३४॥
दासाः पुत्राः स्त्रियश्चैव बान्धवाः सुहृदस्तथा। हसन्त्युन्मत्तकमिव नरं वार्धककम्पितम्॥ ३५॥
दैन्यदोषमयी दीर्घा वर्धते वार्धके स्पृहा। सर्वापदामेकसखी हृदि दाहप्रदायिनी॥ ३६॥

हे मुनीश्वर! यह शरीर बाहर एवं अन्दर रक्त एवं मांसादि से संव्याप्त है, तो इस नश्वर शरीर में रमणीयता कहाँ से आई? यदि किसी ने शरत्कालीन बादलों की विद्युत् में एवं गन्धर्व की नगरी में स्थिरता निश्चित की है, तो वह इस नश्वर देह की स्थिरता में विश्वास कर सकता है। बाल्यकाल में गुरु से, माता-पिता से, लोगों से, आयु में बड़े लड़कों से एवं अन्य दूसरे लोगों से भी भय लगता है, अतः यह बाल्यावस्था भय का ही घर है। युवावस्था के आने पर अपने ही चित्त रूपी गुफा में निवास करने वाले, भिन्न-भिन्न तरह के भ्रमों में फँसाने वाले इस काम रूपी पिशाच से बलपूर्वक विवश होकर व्यक्ति पराजय को प्राप्त हो जाता है। वृद्धावस्था के प्राप्त होने

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

पर उन्मत्त की भाँति काँपते हुए व्यक्ति को देखकर दास, पुत्र-पुत्रियाँ, स्त्रियाँ एवं बन्धु-बान्धव भी हँसी करते हैं। वृद्धावस्था में शरीर असमर्थ हो जाने पर इच्छा-आकांक्षाएँ अत्यधिक बढ़ जाती हैं। यह वृद्धावस्था हृदय में दाह प्रदान करने वाली सारी आपत्तियों की प्रिय सहेली है॥ ३१-३६॥

क्वचिद्वा विद्यते यैषा संसारे सुखभावना। आयुः स्तम्बमिवासाद्य कालस्तामपि कृन्तति॥३७॥
तृणं पांसुं महेन्द्रं च सुवर्णं मेरुसर्षपम्। आत्मंभरितया सर्वमात्मसात्कर्तुमुद्यतः। कालोऽयं सर्वसंहारी तेनाक्रान्तं जगत्त्रयम्॥ ३८॥

इस नश्वर जगत् में रहने वाले सांसारिक प्राणी जिस सुख की भावना करते हैं, आखिर वह कहाँ है? काल आयु को तृण के सदृश काटता ही जा रहा है। वह काल छोटे से तृण एवं रजःकण को महेन्द्र एवं स्वर्णमय सुमेरु जैसे विशाल पर्वतों को भी सरसों के समान बना देने में समर्थ है। यह सभी का संहार करने में सक्षम तथा अपनी उदरपूर्ति के लिए सभी को आत्मसात् करने को उद्यत है। इस काल के द्वारा तीनों लोक आक्रान्त हैं॥

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे। स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियः किमिव शोभनम्॥
त्वङ्मांसरक्तबाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचने। समालोकय रम्यं चेत्किं मुधा परिमुह्यसि॥ ४०॥
मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाचलरयोपमा। दृष्टा यस्मिन्मुने मुक्ताहारस्योल्लासशालिता॥ ४१॥
श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः। श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः॥ ४२॥
केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः। दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम्॥ ४३॥

यंत्रवत् चञ्चल अङ्गरूपी पिंजड़े में मांस की पुतली की भाँति, स्नायु एवं हड्डियों की ग्रन्थि से बनी हुई इस स्त्रीदेह में ऐसी कौन सी-वस्तु है, जो शोभनीय कही जा सकती है? आँखों में स्थित त्वचा, मांस, रक्त एवं अश्रु आदि इन सबको अलग-अलग करके अवलोकन करो; इनमें कौन सी वस्तु आकर्षक प्रतीत होती है? यदि कोई भी वस्तु आकर्षक नहीं, तो फिर व्यर्थ में मोह करने से क्या लाभ है? हे मुने! जो नारी सुमेरु पर्वत की चोटियों से उल्लसित होने वाली भगवती माँ गंगा की चञ्चल गति की भाँति है; जो मुक्ताहार से पूर्णरूपेण सुशोभित देखी गई है; कालचक्र के समीप आने पर उसी नारी के मांस पिण्डरूप स्तन को श्मशान में कुत्ते भक्षण करते हैं। जो नारियाँ केश एवं काजल धारण करने वाली तथा देखने में प्रिय लगने वाली होने पर भी न जिनका स्पर्श दुःख देने वाला होता है, वे ही विधाता की दुष्कृति रूप अग्नि की ज्वाला के समान दग्ध कर देने वाली नारियाँ पुरुष को तिनके की भाँति जला डालती हैं॥ ३९-४३॥

ज्वलतामतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः। स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम्॥ ४४॥
कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसः। नार्यो नरविहङ्गानामङ्गबन्धनवागुराः॥ ४५॥
जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम्। पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी बडिशपिण्डिका॥ ४६॥
सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्रिकयानया। दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया॥ ४७॥
यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्व भोगभूः। स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥ ४८॥

ये दूरस्थ प्रज्वलित नरकाग्नियों की तरह अशोभनीय एवं दुःखदायी ईंधनस्वरूपा हैं। ये रसयुक्त प्रतीत होने पर भी वस्तुतः रसहीन हैं। काम नामक किरात ने पुरुष रूपी मृगों को आबद्ध कर लेने के लिए स्त्री रूपी पाश को विस्तृत कर रखा है। ये पुरुष जीवनरूपी तलैया के मत्स्य हैं, जो चित्तरूपी कीचड़ में सतत विचरते

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

रहते हैं। इन मत्स्यरूपी पुरुषों को अपने बाहुपाश में फँसाने के लिए नारी दुर्वासना रूपी रस्सी में बँधी पिण्डिका अर्थात् चारे की भाँति है। यह नारी समस्त दोषरूपी रत्नों को प्रकट करने वाले सागर की भाँति है। यह दुःखों की जंजीर सदैव हमसे दूर रहे। जिस पुरुष के पास नारी है, उसे भोग की इच्छा प्रादुर्भूत होती है और जिसके पास नारी नहीं है, उसके लिए भोग का कोई कारण ही नहीं है। जिसने स्त्री का परित्याग कर दिया, उसका संसार छूट गया और वास्तव में इस नश्वर जगत् का परित्याग करके ही मनुष्य सुख को प्राप्त कर सकता है, वही सचमुच सुखी हो सकता है॥ ४४-४८॥

दिशोऽपि न हि दृश्यन्ते देशोऽप्यन्योपदेशकृत्। शैला अपि विशीर्यन्ते शीर्यन्ते तारका अपि॥४९॥
शुष्यन्त्यपि समुद्राश्च ध्रुवोप्यध्रुवजीवनः। सिद्धा अपि विनश्यन्ति जीर्यन्तो दानवादयः॥ ५०॥
परमेष्ठ्यपि निष्ठावान्हीयते हरिरप्यजः। भावोऽप्यभावमायाति जीर्यन्ते वै दिगीश्वराः॥ ५१॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सर्वा वा भूतजातयः। नाशमेवानुधावन्ति सलिलानीव वाडवम्॥ ५२॥
आपदः क्षणमायान्ति क्षणमायान्ति संपदः। क्षणं जन्माथ मरणं सर्वं नश्वरमेव तत्॥ ५३॥
अशूरेण हताः शूरा एकेनापि शतं हतम्। विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते॥ ५४॥
जन्मान्तरघ्ना विषया एकजन्महरं विषम्। इति मे दोषदावाग्निदग्धे संप्रति चेतसि॥ ५५॥

(यह जगत् नश्वर है, जब यह अव्यक्त स्थिति में चला जाता है, तब) दिशाएँ भी अदृश्य हो जाती हैं, देश भी दूसरों के लिए उपदेश-प्रद बन जाते हैं अर्थात् काल के गाल में विलीन हो जाते हैं, पर्वत भी खण्ड-खण्ड हो जाते हैं तथा तारागण भी टूक-टूक होकर गिर जाते हैं, ध्रुव-नक्षत्रादि का जीवन भी अस्थिर हो जाता है। सिद्धयोगी जन भी विनष्ट हो जाते हैं, दानवादि भी जराग्रस्त शक्तिरहित होकर नष्ट हो जाते हैं। दीर्घकाल तक स्थायीरूप से निवास करने वाले पितामह ब्रह्मा जी एवं जन्मरहित भगवान् विष्णु भी अन्तर्धान हो जाते हैं, समस्त भाव अभाव में परिणत हो जाते हैं, दिशाओं के अधिपति भी जरा-जीर्ण हो जाते हैं। बड़े-बड़े देवगण एवं समस्त प्राणिसमूह वैसे ही विनाश की ओर दौड़ते चले जाते हैं, जिस प्रकार सागरों का जल बड़वानल की ओर दौड़ता चला जा रहा है। आपत्तियाँ क्षणभर में विपत्तिग्रस्त बना देती हैं, तो क्षणभर में समस्त वैभव-सम्पदाएँ समीप में एकत्रित हो जाती हैं। क्षणभर में मृत्यु एवं क्षणभर में जन्म हो जाता है। ये सभी प्रपञ्च नश्वर हैं। इस जगत् में कायर पुरुषों के द्वारा शूरवीरों का संहार होता है, कभी-कभी एक के द्वारा सैकड़ों-हजारों का विनाश हो जाता है। विषय-भोगों के द्वारा चित्त में जो विषमता आ जाती है, वही विषरूप है। प्रत्यक्ष विष इतना भीषण विष नहीं कहा जाता; क्योंकि वह विष तो मात्र एक ही जन्म को नष्ट करता है और विषय-भोग तो जन्म-जन्मान्तर को ही विनष्ट कर देते हैं। अतः इस समय दोषरूपी दावानल से जला मेरा चित्त ऐसा ही प्रतीत हो रहा है॥४९-५५॥

स्फुरन्ति हि न भोगाशा मृगतृष्णासरःस्वपि। अतो मां बोधयाशु त्वं तत्त्वज्ञानेन वै गुरो॥ ५६॥
नो चेन्मौनं समास्थाय निर्मानो गतमत्सरः। भावयन्मनसा विष्णुं लिपिकर्मार्पितोपमः॥ ५७॥
इति महोपनिषद्॥

मृगमरीचिका (तृष्णा) के सरोवर में खड़े होने के बाद भी मुझमें भोग-लिप्सा की स्फुरणा नहीं हो रही है। अतः हे पिता, हे गुरु! आप मुझे तत्त्वज्ञानात्मक बोध शीघ्रातिशीघ्र प्रदान करने की कृपा करें। अन्यथा मैं मान एवं मत्सर का परित्याग कर अपने चित्त में भगवान् विष्णु का ध्यान करते हुए चित्रलिखित की तरह से मौनव्रत स्वीकार कर लूँगा॥ ५६-५७॥ यही महोपनिषद् है।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ चतुर्थोऽध्यायः ॥

निदाघ तव नास्त्यन्यज्ज्ञेयं ज्ञानवतां वर। प्रज्ञया त्वं विजानासि ईश्वरानुगृहीतया। चित्तमालिन्यसंजातं मार्जयामि भ्रमं मुने ॥ १ ॥ मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः। शमो विचारः संतोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः ॥ २ ॥ एकं वा सर्वयत्नेन सर्वमुत्सृज्य संश्रयेत्। एकस्मिन्वशगे यान्ति चत्वारोऽपि वशं गताः ॥ ३ ॥

अपने पुत्र निदाघ मुनि की सभी बातें सुनकर ऋषिवर ऋभु ने कहा-हे प्रभु! तुम ज्ञानियों में सर्वश्रेष्ठ हो। अब तुम्हारे लिए कुछ भी जानकारी के योग्य शेष नहीं रह गया है। तुम ईश्वर की महती कृपा से अपनी ही प्रज्ञा-बुद्धि के द्वारा सभी कुछ समझ गये हो। फिर भी हे मुने! तुम्हारे चित्त में मलिनता के द्वारा जो भी भ्रम प्रादुर्भूत हुआ है, उसका मैं निवारण करूँगा। शम (मनोनिग्रह), विचार, संतोष एवं सत्संग ही मोक्षद्वार के चार द्वारपाल के रूप में कहे गये हैं। यदि इनमें से किसी एक का भी आश्रय प्राप्त कर लिया जाये, तो शेष तीनों द्वारपाल सहजतापूर्वक स्वयमेव ही अपने वश में हो जाते हैं॥ १-३ ॥

शास्त्रैः सज्जनसंपर्कपूर्वकैश्च तपोदमैः। आदौ संसारमुक्त्यर्थं प्रज्ञामेवाभिवर्धयेत्॥ ४॥ स्वानुभूतेश्च शास्त्रस्य गुरोश्चैवैकवाक्यता। यस्याभ्यासेन तेनात्मा सततं चावलोक्यते॥ ५ ॥

सर्वप्रथम इस नश्वर जगत् से मोक्ष प्राप्त करने के लिए तप, दम (इन्द्रिय निग्रह), शास्त्र एवं सत्संग के द्वारा अपने सद्ज्ञान को बढ़ाया जाना चाहिए। अपनी आत्मा के अनुभव, शास्त्रों एवं गुरु के वचनों के उपदेश से सतत अभ्यास द्वारा आत्मचिन्तन करना चाहिए॥ ४-५ ॥

संकल्पाशानुसंधानवर्जनं चेत्प्रतिक्षणम्। करोषि तदचित्तत्वं प्राप्त एवासि पावनम्॥ ६ ॥ चेतसो यदकर्तृत्वं तत्समाधानमीरितम् । तदेव केवलीभावं सा शुभा निर्वृतिः परा॥ ७॥ चेतसा संपरित्यज्य सर्वभावात्मभावनाम्। यथा तिष्ठसि तिष्ठ त्वं मूकान्धबधिरोपमः॥ ८ ॥ सर्वं प्रशान्तमजमेकमनादिमध्यमाभास्वरं स्वदनमात्रमचैत्यचिह्नम्। सर्वं प्रशान्तमिति शब्दमयी च दृष्टिर्बाधार्थमेव हि मुधैव तदोमितीदम्॥ ९ ॥ सर्वं किंचिदिदं दृश्यं दृश्यते चिज्जगद्गतम्। चिन्निष्पन्दांशमात्रं तन्नान्यदस्तीति भावय॥ १० ॥ नित्यप्रबुद्धचित्तस्त्वं कुर्वन्वापि जगत्क्रियाम्। आत्मैकत्वं विदित्वा त्वं तिष्ठाक्षुब्धमहाब्धिवत्॥ ११ ॥

यदि तुमने सदैव के लिए संकल्प एवं आशा के अनुसन्धान का परित्याग कर दिया है, तो तुम्हें वह कैवल्य की प्राप्ति हो ही गयी होगी। जो चित्त का अकर्तृत्व है, वही चित्त-वृत्तियों का निरोध अर्थात् समाधि कही गयी है। यही कैवल्यावस्था एवं परम कल्याणस्वरूपा परम शान्ति कहलाती है। इस जगत् के सम्पूर्ण पदार्थों में आत्म भावना का सम्यक् रूप से त्याग करके संसार में गूँगे, अंधे एवं बधिरों के समान तुम्हारे रहने से ही यह संभव है। सभी कुछ प्रशान्त है, एक है, जन्मरहित है, केवल अनुभवगम्य है, चित्तरहित है आदि जो शब्दरूप दृष्टि है, वह व्यर्थ ही है। आत्मबोध में बाधास्वरूप है। जो कुछ भी प्रपञ्च में दृष्टिगोचर होता है- तत्त्वतः वही प्रणवरूप है। यहाँ पर जो कुछ भी दृष्टिगोचर होता है- वही दृश्य चिद्-जगत् में भी दृष्टिगोचर होते हैं, वह चित् के निष्पन्द का एक अंशरूप ही है। अतः चित् से (चैतन्य से) अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, तुम ऐसी ही भावना करो। सांसारिक कार्यों को सतत करते हुए भी नित्य प्रबुद्धचित्त होकर आत्मा के एकत्व को जानकर प्रशान्त रहने वाले महासागर के सदृश निश्चल एवं स्थिरचित्त बने रहो। ऐसे ही कार्य करने में कल्याण की सम्भावनायें हैं॥ ६-११ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

तत्त्वावबोध एवासौ वासनातृणपावकः। प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः॥ १२॥
निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोकः प्रवर्तते। सत्तामात्रे परे तत्त्वे तथैवायं जगद्गणः॥ १३॥
अतश्चात्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने। निरिच्छत्वादकर्तासौ कर्ता संनिधिमात्रतः॥ १४॥
ते द्वे ब्रह्मणि विन्देत कर्तृताकर्तृते मुने। यत्रैवैष चमत्कारस्तमाश्रित्य स्थिरो भव॥ १५॥
तस्मान्नित्यमकर्ताहमिति भावनयेद्धया । परमामृतनाम्नी सा समतैवावशिष्यते॥ १६॥

यह आत्मज्ञान वासनारूपी तृण को दग्ध कर देने वाले अग्नि के सदृश है। इसे ही समाधि कहते हैं। केवल मौन रहकर बैठे रहना ही समाधि नहीं है। जैसे रत्न के इच्छारहित होकर पड़े रहने पर भी मनुष्य उसकी तरफ आकृष्ट होते ही हैं, वैसे ही मात्र सत्तारूप में विद्यमान परमात्म तत्त्व की ओर भी सम्पूर्ण विश्व आकृष्ट होता है। अतः हे पुत्र! इस आत्मा में ही कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व दोनों ही स्थित हैं। कामनाविहीन रहने पर ही आत्मा अकर्ता है और सन्निधि मात्र से वह कर्त्ता बन जाता है। हे मुने! कर्तृत्व एवं अकर्तृत्व इन दोनों का ही निवास अविनाशी परमात्मा में है। तुम्हें यह चमत्कार जिसमें भी परिलक्षित हो, उसी में प्रतिष्ठित हो जाओ। 'मैं नित्य ही अकर्ता हूँ',ऐसी भावना करने पर केवल परमअमृत नामक सत्ता ही शेष रह जाती है॥ १२-१६॥

निदाघ शृणु सत्त्वस्था जाता भुवि महागुणाः। ते नित्यमेवाभ्युदिता मुदिताः ख इवेन्दवः॥१७॥
नापदि ग्लानिमायान्ति निशि हेमाम्बुजं यथा। नेहन्ते प्रकृतादन्यद्रमन्ते शिष्टवर्त्मनि॥ १८॥
आकृत्यैव विराजन्ते मैत्र्यादिगुणवृत्तिभिः। समाः समरसाः सौम्य सततं साधुवृत्तयः॥ १९॥
अब्धिवद्धृतमर्यादा भवन्ति विशदाशयाः। नियतिं न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव॥ २०॥

अतः हे निदाघ! जो प्राणी सत्त्व में स्थित होकर इस लोक में प्रकट हुए हैं, वे ही महान् गुणवान् हैं। वे ही सदा उन्नतिशील होते हुए आकाश में स्थित चन्द्रमा के समान हर्षित होते रहते हैं। सत्त्वगुण में स्थित मनुष्य स्वर्णिम कमल की भाँति रात्रिकालरूप आपत्तियों में कुम्हलाते नहीं हैं। वे प्राप्त भोगों के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की इच्छा नहीं करते, वरन् शास्त्रोक्त मार्ग में ही भ्रमण करते रहते हैं। वे स्वतः अपने मन के अनुकूल रहकर ही मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा आदि गुणों से विभूषित होते रहते हैं। हे सौम्य! वे समान भाव में रहते हुए सतत साधु वृत्ति में एकरस बने रहते हैं। मर्यादा से परे होकर भी वे समुद्र के समान विशाल हृदय वाले हो जाते हैं। वे भगवान् भास्कर की भाँति अपने नियत-पथ पर हमेशा गमन करते रहते हैं॥ १७-२०॥

कोऽहं कथमिदं चेति संसारमलमाततम्। प्रविचार्यं प्रयत्नेन प्राज्ञेन सह साधुना॥ २१॥
नाकर्मसु नियोक्तव्यं नानार्येण सहावसेत्। द्रष्टव्यः सर्वसंहर्ता न मृत्युरवहेलया॥ २२॥
शरीरमस्थि मांसं च त्यक्त्वा रक्ताद्यशोभनम्। भूतमुक्तावलीतन्तुं चिन्मात्रमवलोकयेत्॥ २३॥
उपादेयानुपतनं हेयैकान्तविसर्जनम्। यदेतन्मनसो रूपं तद्बाह्यं विद्धि नेतरत्॥ २४॥
गुरुशास्त्रोक्तमार्गेण स्वानुभूत्या च चिद्घने। ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा वीतशोको भवेन्मुनिः॥२५॥

प्राज्ञों, संतजनों के साथ प्रयत्नपूर्वक यह चिन्तन करना चाहिए कि 'मैं कौन हूँ?' यह विराट् विश्व-प्रपञ्च किस प्रकार प्रादुर्भूत हुआ? कभी निरर्थक कार्यों में न लगा रहे तथा अनार्य पुरुष के संग से सदैव अपने को बचाता रहे। सभी की संघारक, मृत्यु के प्रति उपेक्षा भाव से न देखे। यदि उपेक्षा करनी ही है, तो शरीर, अस्थि, मांस एवं रक्त आदि को घृणास्पद जानकर उनकी उपेक्षा करनी चाहिए। जिस प्रकार मोती की लड़ियों में सूत्र पिरोया जाता है, उसी प्रकार प्राणियों में पिरोये हुए परमपिता परमात्मा पर ही दृष्टि रखे। उपयोगी वस्तु की ओर भागना एवं अनुपयोगी वस्तु का सदैव के लिए त्याग कर देना ही मन का स्वभाव है। वह बाह्य है, आन्तरिक

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

नहीं, इसे जानना चाहिए। परमात्मतत्त्व के विषय में गुरु एवं शास्त्र के अनुसार बताये हुए मार्ग से तथा स्वानुभूति से 'मैं ही ब्रह्म हूँ', ऐसा जानकर शोक-रहित हो जाए॥ २१-२५॥

यत्र निशितासिशतपातनमुत्पलताडनवत्सोढव्यमग्निदाहो हिमसेचनमिवाङ्गारावर्तनं चन्दनचर्चेव निरवधिनाराचविकिरपातो निदाघविनोदनधारागृहशीकरवर्षणमिव स्वशिरश्छेदः सुखनिद्रेव मूकीकरणमाननमुद्रेव बाधिर्यं महानुपचय इवेदं नावहेलनया भवितव्यमेवं दृढवैराग्याद्बोधो भवति। गुरुवाक्यसमुद्भूतस्वानुभूत्यादिशुद्धया। यस्याभ्यासेन तेनात्मा सततं चावलोक्यते॥२६

ऐसी अवस्था में खड्ग जैसा कठोर आघात, कमल के कोमल आघात के सदृश तथा अग्नि द्वारा दग्ध किये जाने का प्रभाव,शीतल जल में स्नान करने की भाँति सहन करने योग्य हो जाता है। आग के दहकते अंगारों पर लेटना,चन्दन के लेप के समान शीतल प्रतीत होता है। शरीर पर सतत बाणों के समूह का आघात, गर्मी को शान्त करने वाले फव्वारे के जलकणों की वर्षा के सदृश बन जाता है। सिर का काटा जाना, सुखप्रदायिनी निद्रा के समान; (जिह्वा आदि काटकर)गूँगा हो जाना, मौनावलम्बन के समान;बधिर हो जाना, उन्नति के समान सुख प्रदायी होता है; लेकिन यह अवस्था उपेक्षा करने से नहीं मिलती। इसकी प्राप्ति दृढ़निश्चयी होकर वैराग्यजनित आत्मज्ञान से ही सम्भव है। गुरु एवं शास्त्र वचनों के अनुसार तथा अन्तः अनुभूति के माध्यम आदि से जो अन्तः की शुद्धि होती है, उसी के सतत अभ्यास से आत्म-साक्षात्कार किया जा सकता है॥ २६॥

विनष्टदिग्भ्रमस्यापि यथापूर्वं विभाति दिक्। तथा विज्ञानविध्वस्तं जगन्नास्तीति भावय॥ २७॥ न धनान्युपकुर्वन्ति न मित्राणि न बान्धवाः। न कायक्लेशवैधुर्यं न तीर्थायतनाश्रयः। केवलं तन्मनोमात्रमयेनासाद्यते पदम्॥ २८॥

जैसे दिशा-भ्रम नष्ट हो जाने से पूर्व की भाँति ही दिशाबोध होने लगता है, वैसे ही विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान)के द्वारा अज्ञान नष्ट हो जाने पर जगत् की स्थिति नहीं रहती,ऐसी भावना करनी चाहिए। मनुष्य का उपकार न धन से,न मित्रों से, न बान्धवों से; न शारीरिक क्लेश के नष्ट होने से और न ही तीर्थ-स्थल में निवास करने से ही मनुष्य लाभान्वित होता है; वह तो चिन्मात्र में विलीन होकर ही परमपद प्राप्त कर सकता है॥ २७-२८॥

यानि दुःखानि या तृष्णा दुःसहा ये दुराधयः। शान्तचेतःसु तत्सर्वं तमोऽर्केष्विव नश्यति॥२९॥ मातरीव परं यान्ति विषमाणि मृदूनि च। विश्वासमिह भूतानि सर्वाणि शमशालिनि॥ ३०॥ न रसायनपानेन न लक्ष्म्यालिङ्गितेन च। न तथा सुखमाप्नोति शमेनान्तर्यथा जनः॥ ३१॥ श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा च दृष्ट्वा ज्ञात्वा शुभाशुभम्। न हृष्यति ग्लायति यः स शान्त इति कथ्यते॥ ३२॥ तुषारकरबिम्बाच्छं मनो यस्य निराकुलम्। मरणोत्सवयुद्धेषु स शान्त इति कथ्यते॥ ३३॥तपस्विषु बहुज्ञेषु याजकेषु नृपेषु च। वनवत्सु गुणाढ्येषु शमवानेव राजते॥३४॥

स्थिर शान्तचित्त वाले व्यक्तियों के जितने भी दुःख, तृष्णायें एवं दुःसह दुश्चिन्तायें हैं, वे और समस्त विकार ठीक वैसे ही विनष्ट हो जाते हैं, जैसे कि सूर्य की किरणों से अन्धकार विनष्ट हो जाता है। इस नश्वर जगत् में शम (मनोनिग्रह) से युक्त मनुष्य का कठोर एवं मृदु स्वभाव के समस्त प्राणी-जन वैसे ही विश्वास करते हैं, जैसा माता पर उसके पुत्र विश्वास करते हैं। अमृत-पान एवं लक्ष्मी के आलिङ्गन से वैसा सुख नहीं प्राप्त होता, जैसा सुख व्यक्ति अपने मन की शान्ति से प्राप्त करता है। शुभ एवं अशुभ के श्रवण से, भोजन से, स्पर्श से, दर्शन से एवं जानने से, जिस मनुष्य को न तो प्रसन्नता होती है और न ही दुःख होता है, वही मनुष्य शान्त कहलाता है। चन्द्रमा के मण्डल की भाँति जिसका मन सदा स्वच्छ रहता है एवं मरण-काल, मांगलिक उत्सव तथा युद्ध

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

में जिसका मन व्यग्र नहीं होता, वही मनुष्य शान्त कहलाता है। वह (शम प्रधान) पुरुष तपस्वी जनों में, बहुश्रुतों में,याज्ञिकों में,राजाओं में, वन में वास करने वालों में एवं गुणज्ञों में भी शोभायमान होता है॥ २९-३४॥

संतोषामृतपानेन ये शान्तास्तृप्तिमागताः। आत्मारामा महात्मानस्ते महापदमागताः॥ ३५॥
अप्राप्तं हि परित्यज्य संप्राप्ते समतां गतः। अदृष्टखेदाखेदो यः संतुष्ट इति कथ्यते॥ ३६॥
नाभिनन्दत्यसंप्राप्तं प्राप्तं भुङ्क्ते यथेप्सितम्। यः स सौम्यसमाचारः संतुष्ट इति कथ्यते॥ ३७॥
रमते धीर्यथाप्राप्ते साध्वीवाऽन्तःपुराजिरे। सा जीवन्मुक्ततोदेति स्वरूपानन्ददायिनी॥ ३८॥

जो सन्तोषरूपी अमृत को पीकर शान्त एवं सन्तुष्ट हो जाते हैं, वे ही ज्ञानीजन आत्मा में रमण करते हुए महापद (परमात्मपद) को प्राप्त करते हैं। जो प्राप्त न होने वाली वस्तु के प्रति चिन्तित नहीं होता और प्राप्त होने वाली वस्तु के प्रति समान (हर्ष रहित) रहता है, जिसने सुख एवं दुःख का अवलोकन नहीं किया, वास्तव में वही सन्तुष्ट कहा जाता है। जो अप्राप्त वस्तु की कभी आकांक्षा नहीं करता तथा उपलब्ध वस्तु का आवश्यकतानुसार ही उपभोग करता है, वही सौम्य एवं समभाव से श्रेष्ठ आचरण करने वाला व्यक्ति सन्तुष्ट कहा जाता है। अन्तःपुर के प्राङ्गण में जिस तरह साध्वी पत्नी प्रसन्न रहती है, वैसे ही सहज क्रम में प्राप्त वस्तु में जब बुद्धि रमण करने लगती है, तभी वह स्वरूपानंद प्रदायी जीवन्मुक्त स्थिति कहलाती है॥ ३५-३८॥

यथाक्षणं यथाशास्त्रं यथादेशं यथासुखम्। यथासंभवसत्सङ्गमिमं मोक्षपथक्रमम्।
तावद्विचारयेत्प्राज्ञो यावद्विश्रान्तिमात्मनि॥ ३९॥ तुर्यविश्रान्तियुक्तस्य निवृत्तस्य भवार्णवात्।
जीवतोऽजीवतश्चैव गृहस्थस्याथवा यतेः॥ ४०॥ नाकृतेन कृतेनार्थो न श्रुतिस्मृतिविभ्रमैः।
निर्मन्दर इवाम्भोधिः स तिष्ठति यथास्थितः॥ ४१॥

समय एवं देश के अनुसार शास्त्रानुकूल आनन्दपूर्वक यथाशक्ति सत्संग में ही विचरण करते हुए इस मोक्षपथ के क्रम का तब तक ज्ञानीजन चिन्तन करते रहें, जब तक कि उन्हें आत्मिक विश्रान्ति न मिल जाये। सद्गृहस्थ हो अथवा संन्यासी, जो भी व्यक्ति तुरीयावस्था की विश्रान्ति से सम्पन्न है एवं इस संसार सागर से निवृत्त हो गया है, वह चाहे सांसारिक जीवन में व्यस्त रहे अथवा न रहे, उसे कोई भी कार्य करने या न करने से कोई मतलब नहीं है। उसे श्रुति-स्मृति के भ्रमजाल में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। वह तो मन्दराचल से विहीन (शान्त) सागर की भाँति आत्म-स्थित रहते हुए सभी कुछ प्राप्त कर लेता है॥ ३९-४१॥

सर्वात्मवेदनं शुद्धं यदोदेति तदात्मकम्। भाति प्रसृतिदिक्कालबाह्यं चिद्रूपदेहकम्॥ ४२॥
एवमात्मा यथा यत्र समुल्लासमुपागतः। तिष्ठत्याशु तथा तत्र तद्रूपश्च विराजते॥ ४३॥

जब सभी के प्रति शुद्ध आत्मतत्त्व की अनुभूति की तदात्मक (एकत्व) वृत्ति का उदय हो जाता है,तब दिशा एवं काल में विस्तीर्ण हुआ सम्पूर्ण बाह्य जगत्, चिद्रूपात्मक ही प्रतीत होता है। इस तरह आत्मा जहाँ जिस रूप में उल्लास को प्राप्त होता है, वहाँ शीघ्र ही उसी रूप में वह अवस्थित हो जाता है एवं तदनुरूप ही विराजमान हो जाता है॥ ४२-४३॥

यदिदं दृश्यते सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम्। तत्सुषुप्ताविव स्वप्नः कल्पान्ते प्रविनश्यति॥४४॥
ऋतमात्मा परं ब्रह्म सत्यमित्यादिका बुधैः। कल्पिता व्यवहारार्थं यस्य संज्ञा महात्मनः॥ ४५॥
यथा कटकशब्दार्थः पृथग्भावो न काञ्चनात्। न हेम कटकात्तद्वज्जगच्छब्दार्थता परा॥ ४६॥

जो भी कुछ स्थावर एवं जंगम दृश्यरूप यह सम्पूर्ण जगत् परिलक्षित होता है, वह प्रलय के समय में ठीक वैसे ही विनष्ट हो जाता है, जैसे सुषुप्तावस्था में स्वप्न अदृश्य हो जाता है। यह आत्मा ऋत (आदिकारण)

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

रूप है, परब्रह्म परमेश्वर है। वह सत्यरूप है। ये समस्त संज्ञायें विद्वज्जन एवं महान् आत्माओं ने व्यवहार के लिए कल्पित की हैं। जैसे कङ्कण (हाथ का आभूषण) शब्द एवं उसका अर्थ स्वर्ण से अलग अस्तित्व नहीं रखता और कङ्कण से प्रतिष्ठित स्वर्ण कङ्कण से अलग अपना अस्तित्व नहीं रखता, ठीक वैसे ही 'जगत्' शब्द का तात्पर्य भी परब्रह्म ही होता है, इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं॥ ४४-४६॥

तेनेयमिन्द्रजालश्रीर्जगति प्रवितन्यते। द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्तान्तर्बन्ध इत्यभिधीयते॥ ४७॥
द्रष्टा दृश्यवशाद्बद्धो दृश्याभावे विमुच्यते। जगत्त्वमहमित्यादिसर्गात्मा दृश्यमुच्यते॥ ४८॥
मनसैवेन्द्रजालश्रीर्जगति प्रवितन्यते। यावदेतत्संभवति तावन्मोक्षो न विद्यते॥ ४९॥

उस अविनाशी परब्रह्म परमेश्वर ने जगत् के रूप में यह इन्द्रजाल विस्तीर्ण किया है। द्रष्टा का दृश्य श्री सत्ता से अन्तः सम्बद्ध होना 'बन्ध' कहा जाता है। दृश्य के वशीभूत होकर ही द्रष्टा बन्धन में पड़ता है और दृश्य के अभाव में ही वह मोक्ष प्राप्त करता है। यह जगत्, 'मेरा-तेरा' रूप भाव वाली सृष्टि, दृश्य कहलाती है। इस संसार में प्रपञ्चरूपी इन्द्रजाल मन के द्वारा ही प्रबुद्ध होता है। जब तक मन की यह कल्पना समाप्त नहीं होती, तब तक मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होता नहीं दिखलाई पड़ता॥ ४७-४९॥

ब्रह्मणा तन्यते विश्वं मनसैव स्वयंभुवा। मनोमयमतो विश्वं यन्नाम परिदृश्यते॥ ५०॥
न बाह्ये नापि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः। यदर्थं प्रतिभानं तन्मन इत्यभिधीयते॥ ५१॥
संकल्पनं मनो विद्धि संकल्पस्तत्र विद्यते। यत्र संकल्पनं तत्र मनोऽस्तीत्यवगम्यताम्॥ ५२॥
संकल्पमनसी भिन्ने न कदाचन केनचित्। संकल्पजाते गलिते स्वरूपमवशिष्यते॥ ५३॥

यह संसार स्वयंभू ब्रह्मा जी की मानसिक सृष्टि है, अतः दृष्टिगोचर होने वाले इस विश्व को मनोमय ही समझना चाहिए। बाह्य अथवा अन्तःकरण में कहीं पर भी यह मन सद्रूप में अवस्थित नहीं है। विषय वस्तुओं का बोध ही मन कहलाता है। संकल्प-विकल्प होना ही मन का स्वभाव है; क्योंकि वह संकल्प में ही रमण कर रहा है। अतः जो संकल्प है, वही मन है, ऐसा जानना चाहिए। आज तक कोई भी संकल्प और मन को पृथक् नहीं कर सका। समस्त संकल्पों के विनष्ट हो जाने पर आत्मस्वरूप ही शेष रहता है॥ ५०-५३॥

अहं त्वं जगदित्यादौ प्रशान्ते दृश्यसंभ्रमे। स्यात्तादृशी केवलता दृश्ये सत्तामुपागते॥ ५४॥
महाप्रलयसंपत्तौ ह्यसत्तां समुपागते। अशेषदृश्ये सर्गादौ शान्तमेवावशिष्यते॥ ५५॥
अस्त्यनस्तमितो भास्वानजो देवो निरामयः। सर्वदा सर्वकृत्सर्वः परमात्मेत्युदाहृतः॥ ५६॥
यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते। यस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावतः॥५७

'मेरा-तेरा' एवं इस जगत् आदि दृश्य प्रपञ्च (इन्द्रजाल) के शान्त हो जाने पर दृश्य जब सत्ता को अर्थात् परमतत्त्व को प्राप्त कर लेता है, तब तदनुरूप ही वह कैवल्यावस्था को प्राप्त कर लेता है। महाप्रलय की स्थिति आने पर जब सम्पूर्ण दृश्य जगत् अस्तित्व रहित हो जाता है, तब उस समय सृष्टि के पूर्वकाल में केवल प्रशान्त आत्मा मात्र ही शेष रहता है। जो आत्मारूपी सूर्य (सविता) कभी अस्ताचल की ओर गमन नहीं करता, जो अजन्मा एवं सर्वदोषरहित देव है, सदैव सर्वकर्त्ता तथा सर्वरूप है; जहाँ वाक्शक्ति जाकर वापस आ जाती है; जिसे मुक्त पुरुष ही जानते हैं और जिसकी आत्मा आदि संज्ञाएँ कल्पना मात्र हैं, स्वाभाविक नहीं हैं; (वे ही अविनाशी परब्रह्म परमेश्वर कहे जाते हैं)॥ ५४-५७॥

चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम्। द्वाभ्यां शून्यतरं विद्धि चिदाकाशं महामुने॥५८॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ संविदो मध्यमेव यत्। निमेषेण चिदाकाशं तद्विद्धि मुनिपुङ्गव॥ ५९॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

तस्मिन्निरस्तनिःशेषसंकल्पस्थितिमेषि चेत्। सर्वात्मकं पदं शान्तं तदा प्राप्नोष्यसंशयः ॥ ६० ॥
उदितौदार्यसौन्दर्यवैराग्यरसगर्भिणी। आनन्दस्यन्दिनी यैषा समाधिरभिधीयते ॥ ६१ ॥
दृश्यासंभवबोधेन रागद्वेषादितानवे। रतिर्बलोदिता यासौ समाधिरभिधीयते ॥ ६२ ॥
दृश्यासंभवबोधो हि ज्ञानं ज्ञेयं चिदात्मकम्। तदेव केवलीभावं ततोऽन्यत्सकलं मृषा ॥ ६३ ॥

'चित्ताकाश, चिदाकाश एवं (भौतिक) आकाश—ये ही तीन आकाश कहे गये हैं। हे मुने! इन तीनों में से चिदाकाश अति सूक्ष्म बतलाया गया है। हे मुनिश्रेष्ठ! एक देश (विषय) से दूसरे देश (विषय) में गमन करते समय निमेष भर का (वृत्तिशून्य) मध्यकाल आता है, वही चिदाकाश है— ऐसा जानना चाहिए। यदि तुम उस अतिश्रेष्ठ चिदाकाश में सभी संकल्पों को छोड़कर प्रतिष्ठित होते हो, तो निश्चय ही सर्वात्मक शान्त पद को प्राप्त करोगे। चिदाकाश की स्थिति तक पहुँच जाने के बाद जिस सुन्दर, उदार एवं वैराग्यरस से ओत-प्रोत आनन्दमय अवस्था की प्राप्ति होती है, उसे ही सहज समाधि कहा जाता है। जब यह बोध हो जाता है कि दृश्य पदार्थों की सत्ता है ही नहीं और राग-द्वेष आदि समस्त दोषों की समाप्ति हो जाती है; तब उस समय अभ्यास बल के द्वारा जो एकाग्र-रति (आनन्द) प्रादुर्भूत होती है, उसे ही समाधि कहा जाता है। दृश्य जगत् की सत्ता का अभाव जब अन्तःकरण में बोधरूप में आता है, तभी वह संशयरहित ज्ञान का स्वरूप कहलाता है। वह ही चिदात्मक ज्ञेयतत्त्व है, वही आत्म कैवल्य रूप है, इसके सिवाय अन्य सभी कुछ असत्य है॥ ५८-६३ ॥

मत्त ऐरावतो बद्धः सर्षपीकोणकोटरे । मशकेन कृतं युद्धं सिंहौघैरेणुकोटरे ॥ ६४ ॥
पद्माक्षे स्थापितो मेरुर्निगीर्णो भृङ्गसूनुना। निदाघ विद्धि तादृक्त्वं जगदेतद्भ्रमात्मकम्॥ ६५ ॥

जिस प्रकार मदोन्मत्त ऐरावत हाथी का सरसों के एक किनारे के छिद्र में बाँधा जाना असंभव है, एक धूलिकण के बिल में मच्छरों का सिंहों के साथ युद्ध करना शक्य नहीं है और कमल की पंखुड़ी में प्रतिष्ठित सुमेरुपर्वत को भ्रमर के बच्चे द्वारा निगले जाने की कथा मिथ्या है। उसी प्रकार यह विश्व भी अस्तित्व में नहीं आ सकता। अतः हे निदाघ! तुम्हें इसकी सत्ता को भ्रमात्मक ही जानना चाहिए॥६४-६५ ॥

चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशदूषितम्। तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते॥ ६६ ॥
मनसा भाव्यमानो हि देहतां याति देहकः। देहवासनया मुक्तो देहधर्मैर्न लिप्यते॥ ६७ ॥
कल्पं क्षणीकरोत्यन्तः क्षणं नयति कल्पताम्। मनोविलाससंसार इति मे निश्चिता मतिः ॥ ६८
नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ ६९ ॥

राग-द्वेष आदि के विकारों से दूषित चित्त ही जगत् है। वही चित्त समस्त दोषों से मुक्त हो जाता है, तभी इसे जगत् का अन्त यानी मोक्ष की प्राप्ति होना कहा जाता है। मन के द्वारा शरीर की भावना किये जाने पर ही आत्मा देहात्मक बनती है। जब वह शारीरिक वासनाओं से मुक्त होती है, तभी वह (मन) शरीर के धर्मों में लिप्त नहीं होती। यह मन ही कल्प को क्षण बना देता है और क्षण में कल्पत्व भर देता है। अतः मेरी समझ में यह जगत् केवल मनोविलास अर्थात् मन का खेल मात्र ही है। जो मनुष्य दुश्चरित्रता से विलग नहीं हुआ है, एकाग्रचित्त नहीं है और जिसका चित्त अभी शान्त नहीं हुआ है, ऐसे पुरुष को आत्मसाक्षात्कार नहीं होता॥

तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्घनम्। विदित्वा स्वात्मनो रूपं न बिभेति कदाचन॥७० ॥
परात्परं यन्महतो महान्तं स्वरूपतेजोमयशाश्वतं शिवम्। कविं पुराणं पुरुषं सनातनं सर्वेश्वरं सर्वदेवैरुपास्यम्॥ ७१ ॥ अहं ब्रह्मेति नियतं मोक्षहेतुर्महात्मनाम्। द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च। ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते॥ ७२ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

उस आनन्द स्वरूप, द्वन्द्वों से परे, गुणरहित (गुणों से परे), सत् स्वरूप, चिद्घन परब्रह्म को अपना-निज स्वरूप जान लेने के पश्चात् मनुष्य को किञ्चित् भी भय नहीं होता। जो महान् से महानतम एवं श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम, तेजःस्वरूप, शाश्वत, कल्याण-प्रद, सर्वज्ञ, पुराणपुरुष, सनातन, सर्वेश्वर तथा सभी देवगणों के द्वारा सम्पूजित एवं उपास्य है, वह अविनाशी ब्रह्म मैं हूँ- ऐसा निश्चय महात्माओं के लिए मुक्ति का माध्यम होता है। बन्धन एवं मोक्ष के दो ही कारण बनते हैं, जिनमें प्रथम है—ममता एवं द्वितीय ममतारहित होना। ममता के द्वारा जीव बन्धन में पड़ता है और ममता से रहित हो जाने के पश्चात् वह (जीव) मोक्ष को प्राप्त कर लेता है॥ ७०-७२॥

जीवेश्वरादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम्। ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता। जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः॥ ७३॥ त्रिणाचिकादियोगान्ता ईश्वरभ्रान्तिमाश्रिताः। लोकायतादिसांख्यान्ता जीवविभ्रान्तिमाश्रिताः॥ ७४॥ तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः। कार्या किंतु ब्रह्मतत्त्वं निश्चलेन विचार्यताम्॥ ७५॥

जीव रूप एवं ईश्वररूप से ईक्षण अर्थात् ब्रह्म के संकल्प से प्रारम्भ होकर तथा ब्रह्म में प्रवेश के अन्त वाले इस सम्पूर्ण जड़-चेतनात्मक सृष्टि की कल्पना ईश्वर के द्वारा ही की गई है। जाग्रत् अवस्था से लेकर मोक्ष प्राप्ति पर्यन्त सम्पूर्ण जगत् जीव के द्वारा ही कल्पित है। कठोपनिषद् के अन्तर्गत त्रिणाचिकेताग्नि से लेकर श्वेताश्वतर का योगपर्यन्त ज्ञान ईश्वरीय भ्रान्ति के आश्रित है। चार्वाक मत से लेकर कपिल के सांख्यसिद्धान्त तक का दार्शनिक ज्ञान (सांख्य आदि दर्शनों में प्रतिपादित ज्ञान) जीव भ्रान्ति का आधार है। अतः जो पुरुष मुक्ति की आकांक्षा करता है, वह जीव तथा ईश्वर के वाद-विवाद में बुद्धि को भ्रमित न करे, वरन् उसे दृढ़तापूर्वक ब्रह्मतत्त्व का ही निरन्तर चिन्तन करना चाहिए॥ ७३-७५॥

अविशेषेण सर्वं तु यः पश्यति चिदन्वयात्। स एव साक्षाद्विज्ञानी स शिवः स हरिर्विधिः॥७६॥ दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्। दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना॥ ७७॥ उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः। योगिनः सहजावस्था स्वयमेवोपजायते॥ ७८॥ यदा ह्येवैष एतस्मिन्नल्पमप्यन्तरं नरः। विजानाति तदा तस्य भयं स्यान्नात्र संशयः॥ ७९॥ सर्वगं सच्चिदानन्दं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते। अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत्॥ ८०॥ प्रज्ञानमेव तद्ब्रह्म सत्यं प्रज्ञानलक्षणम्। एवं ब्रह्मपरिज्ञानादेव मर्त्योऽमृतो भवेत्॥ ८१॥ भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ ८२॥

ज्ञानवान् पुरुष वही है, जो सम्पूर्ण दृश्य-जगत् को निर्विशेष चित् रूप मानता हो। वही (कल्याणकारी) शिव है, वही ब्रह्मा एवं विष्णु भी वही है। विषय वासनाओं का त्याग अत्यन्त दुर्लभ है, तत्त्वज्ञान को प्राप्त करना भी अत्यन्त कठिन है और सद्गुरु की अनुकम्पा के बिना सहजावस्था को प्राप्त करना भी अत्यधिक दुःसाध्य है। जिसने अपनी बोधात्मिका शक्ति को जाग्रत् कर लिया है और अपने समस्त कर्मों का परित्याग कर दिया है, ऐसा योगी स्वयमेव सहजावस्था को प्राप्त कर लेता है; जब तक व्यक्ति को इसमें थोड़ा भी अन्तर मालूम पड़ता है, तब तक उसके लिए भय है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। सर्वरूप-परब्रह्म परमेश्वर को ज्ञान के नेत्रों से देखा जा सकता है, जिसके पास ज्ञान के नेत्रों का अभाव है, वह अविनाशी ब्रह्म को ठीक वैसे ही नहीं देख सकता, जिस प्रकार अंधे व्यक्ति को प्रकाशमान सूर्य (सवितादेवता) के दर्शन नहीं होते। वह ब्रह्म प्रज्ञान स्वरूप है। सत्य ही प्रज्ञान का लक्षण है। अतः ब्रह्म के परिज्ञान से ही मर्त्य जीव अमरत्व को प्राप्त करता है। उस कार्य-कारण स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार होते ही मनुष्य के हृदय की गाँठें खुल जाती हैं, सभी संशय समाप्त हो जाते हैं और समस्त कर्म (प्रारब्धादि) क्षीणता को प्राप्त हो जाते हैं॥ ७६-८२॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अनात्मतां परित्यज्य निर्विकारो जगत्स्थितौ। एकनिष्ठतयान्तःस्थः संविन्मात्रपरो भव॥ ८३॥
मरुभूमौ जलं सर्वं मरुभूमात्रमेव तत्। जगत्त्रयमिदं सर्वं चिन्मात्रं स्वविचारतः॥ ८४॥
लक्ष्यालक्ष्यमतिं त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत्केवलात्मना। शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्मविदुत्तमः॥ ८५॥
अधिष्ठानमनौपम्यामवाङ्मनसगोचरम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम्॥ ८६॥
सर्वशक्तेर्महेशस्य विलासो हि मनो जगत्। संयमासंयमाभ्यां च संसारः शान्तिमन्वगात्॥८७॥

हे पुत्र निदाघ! अनात्म भाव को त्यागकर, सांसारिक स्थिति में विकाररहित होकर अनन्य निष्ठापूर्वक अन्तः में प्रतिष्ठित होकर आत्म-चैतन्य में ही रमण करते रहो। जिस प्रकार मरुभूमि में भ्रम से दिखाई देने वाला जल मरुस्थल मात्र ही रहता है, उसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्तावस्था से युक्त यह सम्पूर्ण जगत् आत्मविचार से ही चिन्मय जानना चाहिए। जो लक्ष्य एवं अलक्ष्य बुद्धि का परित्याग करके केवल आत्मनिष्ठ हो जाता है, वही श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी एवं स्वयं साक्षात् शिवरूप है। इस जगत् का अधिष्ठान अद्वितीय है, वाणी एवं मन की पहुँच से परे है। नित्य, विभु, सर्वगत, सूक्ष्मातिसूक्ष्म एवं अव्यय स्वरूप से युक्त है। यह विश्व सर्वशक्तिमान् भगवान् महाशिव का मनोविलास मात्र ही है। संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) एवं असंयम (सहज ज्ञान) के द्वारा ये सभी सांसारिक प्रपञ्च शान्ति को प्राप्त होते हैं॥ ८३-८७॥

मनोव्याधेश्चिकित्सार्थमुपायं कथयामि ते। यद्यत्स्वाभिमतं वस्तु तत्त्यजन्मोक्षमश्नुते॥ ८८॥
स्वायत्तमेकान्तहितं स्वेप्सितत्यागवेदनम्। यस्य दुष्करतां यातं धिक्तं पुरुषकीटकम्॥ ८९॥
स्वपौरुषैकसाध्येन स्वेप्सितत्यागरूपिणा। मनः प्रशममात्रेण विना नास्ति शुभा गतिः॥ ९०॥
असंकल्पनशस्त्रेण छिन्नं चित्तमिदं यदा। सर्वं सर्वगतं शान्तं ब्रह्म संपद्यते तदा॥ ९१॥
भव भावनया मुक्तो मुक्तः परमया धिया। धारयात्मानमव्यग्रो ग्रस्तचित्तं चितः पदम्॥ ९२॥

हे निदाघ मुने! मैं तुम्हारे मन में प्रादुर्भूत होते हुए विकारों की चिकित्सा के लिए उपाय बतलाता हूँ। जिन-जिन इच्छित वस्तुओं की प्राप्ति के लिए मन चंचल हो, उन पदार्थों का त्याग ही मानव के मोक्ष-प्राप्ति का साधन है। जिसके लिए अभिलषित सांसारिक पदार्थों के त्याग की भावना, एकान्त प्रिय होना एवं आत्मा की अधीनता दुष्कर हो जाती है, ऐसे उस मनुष्य रूपी कीट (कीड़े) को धिक्कार है। अपनी इच्छित वस्तुओं एवं पदार्थों का प्रयत्नपूर्वक परित्याग करना ही वास्तविक मन की शान्ति का श्रेष्ठ मार्ग है। इसके अतिरिक्त कोई अन्य दूसरी गति नहीं है। सङ्कल्पशून्यता रूपी शस्त्रास्त्रों से जब इस चित्त का कर्तन कर दिया जाता है, तब सर्वस्वरूप सर्वान्तर्यामी, शान्तरूप ब्रह्म की उपलब्धि होती है। इसलिए प्रपञ्च की भावना से रहित होकर प्रज्ञासम्पन्न होकर तथा चित्त को नियन्त्रित करके चिन्मात्र में प्रतिष्ठित हो जाओ॥ ८८-९२॥

परं पौरुषमाश्रित्य नीत्वा चित्तमचित्तताम्। ध्यानतो हृदयाकाशे चिति चिच्चक्रधारया। मनो मारय निःशङ्कं त्वां प्रबध्नन्ति नारयः॥ ९३॥ अयं सोऽहमिदं तन्म एतावन्मात्रकं मनः। तदभावनमात्रेण दात्रेणेव विलीयते॥ ९४॥ छिन्नाभ्रमण्डलं व्योम्नि यथा शरदि धूयते। वातेन कल्पकेनैव तथान्तर्धूयते मनः॥ ९५॥ कल्पान्तपवना वान्तु यान्तु चैकत्वमर्णवाः। तपन्तु द्वादशादित्या नास्ति निर्मनसः क्षतिः॥। ९६॥ असंकल्पनमात्रैकसाध्ये सकलसिद्धिदे। असंकल्पातिसाम्राज्ये तिष्ठावष्टब्धतत्पदः॥ ९७॥

श्रेष्ठ पौरुष रूप अभ्यास एवं वैराग्य का आश्रय प्राप्त करके तथा चित्त को अचित्तावस्था में ले जाकर आकाश रूपी हृदय में चिन्तन करते हुए बराबर चैतन्य तत्त्व में लगे हुए चित्त रूपी चक्र की तीक्ष्ण धार से मन

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

का दमन कर देना चाहिए; ऐसा करते ही तुम्हारी सभी शंकायें निर्मूल हो जायेंगी तथा कामादि रूप शत्रु, बन्धन में न बाँध सकेंगे। यह वह है, मैं यह हूँ, वे समस्त पदार्थ मेरे हैं, यह भावना ही मन है। इन्हीं भावनाओं के त्याग से मन को (काटने के उपकरण द्वारा काटने की तरह) विनष्ट किया जा सकता है। जैसे शरत्-काल के आकाश में छिन्न-भिन्न हुए बादलों के समूह वायु की ठोकरों से विलीन हो जाते हैं, वैसे ही सद्विचारों के द्वारा ही मन अन्तर्हित हो जाता है। चाहे प्रलयंकारी उनचासों पवन एक साथ प्रवाहित हों अथवा सभी सागर एक साथ सम्मिलित होकर एकार्णवरूप हो जायें। चाहे द्वादश आदित्य भी एक साथ मिलकर क्यों न तपने लगें; किन्तु फिर भी मन से विहीन मनुष्य को किसी प्रकार की क्षति नहीं हो सकती। केवल संकल्पहीनता रूपी एक साध्य ही सम्पूर्ण सिद्धियों की प्राप्ति का साधन है। अतः तत्पद का आश्रय ग्रहण करके संकल्पहीनता के विस्तृत साम्राज्य में प्रतिष्ठित हो जाओ॥ ९३-९७॥

न हि चञ्चलताहीनं मनः क्वचन दृश्यते। चञ्चलत्वं मनोधर्मो वह्नेर्धर्मो यथोष्णता॥ ९८॥
एषा हि चञ्चला स्पन्दशक्तिश्चित्तत्वसंस्थिता। तां विद्धि मानसीं शक्तिं जगदाडम्बरात्मिकाम्॥
यत्तु चञ्चलताहीनं तन्मनोऽमृतमुच्यते। तदेव च तपः शास्त्रसिद्धान्ते मोक्ष उच्यते॥ १००॥
तस्य चञ्चलता यैषा त्वविद्या वासनात्मिका। वासनाऽपरनाम्नीं तां विचारेण विनाशय॥ १०१॥

अचञ्चल मन कहीं पर नहीं दीखता, चञ्चलता मन का सहज धर्म है, जैसे अग्नि का सहज धर्म गर्मी प्रदान करना है। यही चञ्चल स्वभाव वाली स्पन्दन शक्ति चित्त का स्वाभाविक धर्म है। इसी मानसिक शक्ति को सांसारिक प्रपञ्च का सहजस्वरूप जानना चाहिए। जो मन अचञ्चल हो जाता है, वही अमृतस्वरूप कहा जाता है, वही तप है। उसे ही शास्त्रीय-सिद्धान्त की दृष्टि से मोक्ष कहते हैं। मन की चञ्चलता ही अविद्या है और वासना उसका स्वरूप है। शत्रुरूपी वासना को सद्विचारों के द्वारा काट देना चाहिए॥ ९८-१०१॥

पौरुषेण प्रयत्नेन यस्मिन्नेव पदे मनः। योज्यते तत्पदं प्राप्य निर्विकल्पो भवानघ॥ १०२॥
अतः पौरुषमाश्रित्य चित्तमाक्रम्य चेतसा। विशोकं पदमालम्ब्य निरातङ्कः स्थिरो भव॥ १०३॥
मन एव समर्थं हि मनसो दृढनिग्रहे। अराज्ञा कः समर्थः स्याद्राज्ञो निग्रहकर्मणि॥ १०४॥
तृष्णाग्राहगृहीतानां संसारार्णवपातिनाम्। आवर्तैरूह्यमानानां दूरं स्वमन एव नौः १०५॥
मनसैव मनश्छित्त्वा पाशं परमबन्धनम्। भवादुत्तारयात्मानं नासावन्येन तार्यते॥ १०६॥

हे निष्पाप मुने! मन को पुरुषार्थ के द्वारा जिस उद्देश्य में स्थिर करो, उसे प्राप्त करके निर्विकल्प समाधि को अर्जित करो। अतएव प्रयासपूर्वक चित्त को चित्त से वशीभूत करके शोकरहित अवस्था के आश्रय से, आतंक से दूर रहकर शान्ति प्राप्त करो। विषय विकारों से रहित मन ही मन का पूर्णरूपेण निरोध करने में समर्थ हो सकता है। किसी राजा को पराजित करने में कोई राजा ही समर्थ होता है। जो तृष्णारूपी ग्राह के द्वारा ग्रसित किये जा चुके हैं, जो संसार-सागर में गिरकर भँवरों के जाल में फँसकर अपने लक्ष्य से दूर भटक गये हैं, उन्हें बचाने के लिए विषय-विकारों से रहित मन ही समर्थ है, वही नौका का रूप धारण करके पार लगा सकता है। हे मुने! इस प्रकार के विकार-रहित मन के द्वारा इस विशाल बन्धनरूपी जाल को विनष्ट कर दो। स्वयमेव संसार-सागर से पार हो जाओ। अन्य और किसी के द्वारा यह संसार रूप सागर नहीं पार किया जा सकता॥

या योदेति मनोनाम्नी वासना वासितान्तरा। तां तां परिहरेत्प्राज्ञस्ततोऽविद्याक्षयो भवेत्॥ १०७॥
भोगैकवासनां त्यक्त्वा त्यज त्वं भेदवासनाम्।भावाभावौ ततस्त्यक्त्वा निर्विकल्पः सुखी भव॥ १०८॥ एष एव मनोनाशस्त्वविद्यानाश एव च। यत्तत्संवेद्यते किंचित्तत्रास्थापरिवर्जनम्।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अनास्थैव हि निर्वाणं दुःखमास्थापरिग्रहः ॥ १०९ ॥ अविद्या विद्यमानैव नष्टप्रज्ञेषु दृश्यते। नाप्नैवाङ्गीकृताकारा सम्यक्प्रज्ञस्य सा कुतः ॥ ११० ॥

जब-जब अन्तःकरण को आच्छादित करने वाली मनरूपी वासना का प्राकट्य हो, तब-तब उसका परित्याग करना ज्ञानी मनुष्य का परम कर्तव्य हो जाता है,क्योंकि ऐसा करने से अविद्या का विनाश हो जाता है। सर्वप्रथम भोगरूपी वासना का त्याग करो, फिर भेदरूपी वासना का त्याग करो,उसके पश्चात् भाव-अभाव दोनों का ही त्याग करके निर्विकल्प होकर पूर्ण सुखी हो जाओ। मन का विनाश ही अविद्या का विनाश कहा गया है। मन द्वारा जो कुछ भी अनुभूति में आता हो, उस-उसमें आस्था कदापि न होने दो। आस्था का परित्याग करना ही निर्वाण है और आस्था के आश्रित रहना ही दुःख है। जो प्रज्ञा से रहित है,उन्हीं में अविद्या प्रतिष्ठित रहती है। सम्यक् प्रज्ञासम्पन्न मनुष्य नाम मात्र के लिए भी कहीं अविद्या को स्वीकार नहीं करते॥ १०७-११०॥

तावत्संसारभृगुषु स्वात्मना सह देहिनम्। आन्दोलयति नीरन्ध्रं दुःखकण्टकशालिषु॥ १११ ॥ अविद्या यावदस्यास्तु नोत्पन्ना क्षयकारिणी। स्वयमात्मावलोकेच्छा मोहसंक्षयकारिणी॥ ११२ ॥ अस्याः परं प्रपश्यन्त्याः स्वात्मनाशः प्रजायते। दृष्टे सर्वगते बोधे स्वयं ह्येषा विलीयते॥ ११३ ॥ इच्छा मात्रमविद्येयं तन्नाशो मोक्ष उच्यते। स चासंकल्पमात्रेण सिद्धो भवति वै मुने॥ ११४॥ मनागपि मनोव्योम्नि वासनारजनीक्षये। कलिका तनुतामेति चिदादित्यप्रकाशनात्॥ ११५ ॥

इस दुःखरूपी कंटक से ओत-प्रोत संसार रूपी भ्रमजाल में तभी तक अविद्या अपने साथ देहधारी को निरन्तर भ्रमाती है, जब तक इसको विनष्ट करने वाली मोहनाशिनी आत्मसाक्षात्कार की आकांक्षा स्वयं ही उत्पन्न नहीं होती। यह अविद्या जब परमात्मतत्त्व की ओर देखती है, तब इसका स्वयं ही नाश हो जाता है। सर्वात्मबोध के दर्शन होते ही अविद्या स्वयं ही लुप्त हो जाती है। केवल इच्छा मात्र ही अविद्या का स्वरूप है और इच्छा का पूरी तरह से नष्ट होना ही मोक्ष कहा गया है। हे मुने! किन्तु इच्छा तभी समाप्त होती है,जब संकल्प का पूर्णरूपेण विनाश हो जाये, अन्यथा इच्छा का नाश असम्भव है। चित् रूपी सूर्य के प्रकाश से कलिरूपी अन्धकार क्षीण हो जाता है॥ १११-११५॥

चैत्यानुपातरहितं सामान्येन च सर्वगम्। यच्चित्तत्वमनाख्येयं स आत्मा परमेश्वरः॥ ११६ ॥ सर्वं च खल्विदं ब्रह्म नित्यचिद्घनमक्षतम्। कल्पनान्या मनोनाम्नी विद्यते नहि काचन॥ ११७॥ न जायते न म्रियते किंचिदत्र जगत्त्रये। न च भावविकाराणां सत्ता क्वचन विद्यते॥ ११८॥ केवलं केवलाभासं सर्वसामान्यमक्षतम्। चैत्यानुपातरहितं चिन्मात्रमिह विद्यते॥ ११९॥ तस्मिन्नित्ये तते शुद्धे चिन्मात्रे निरुपद्रवे। शान्ते शमसमाभोगे निर्विकारे चिदात्मनि॥ १२०॥ यैषा स्वभावाभिमतं स्वयं संकल्प्य धावति। चिच्चैत्यं स्वयमम्लानं मननान्मन उच्यते॥ १२१॥

जब चित्त विषय वासनाओं का त्याग कर देता है तथा सर्वत्र गमन करने वाला बन जाता है, तब उसकी ऐसी अनिर्वचनीय अवस्था ही आत्मा एवं परमात्मा के नाम से अभिहित होती है। अवश्य ही यह सभी कुछ ब्रह्म है। वह नित्य एवं चिद्घनस्वरूप है। वही अव्यय है। इसके अतिरिक्त जो अन्य मन नाम की कल्पना की जाती है, उसका कहीं पर भी अस्तित्व नहीं है। वह तो मात्र भ्रम ही है। इन तीनों लोकों में न तो किसी का जन्म होता है और न ही मृत्यु। ये जो भी भाव-विकार दृष्टिगोचर होते हैं, ये सभी अस्तित्वहीन हैं। एकमात्र केवलाभासरूप, सर्वव्यापी, अव्यय तथा चित्त के विषयों का अनुगमन न करने वाले केवल चिन्मात्र की ही सत्ता यहाँ विद्यमान है। उस नित्य, सर्वत्रव्यापी, शुद्ध, चिन्मात्र, उपद्रव-रहित, शान्तस्वरूप एवं शमरूप में स्थित विकाररहित चिदात्मा में स्वयंचित्त ही स्वभावानुसार संकल्पपूर्वक गमन करता है, चित्त की वही संकल्परूप अवस्था स्वयं निर्दोष होते हुए भी मनन करने के कारण मन कही जाती है॥ ११६-१२१॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अतः संकल्पसिद्धेयं संकल्पेनैव नश्यति। नाहं ब्रह्मेति संकल्पात्सुदृढाद्बध्यते मनः। सर्वं ब्रह्मेति संकल्पात्सुदृढान्मुच्यते मनः॥ १२२॥ कृशोऽहं दुःखबद्धोऽहं हस्तपादादिमानहम्। इति भावानुरूपेण व्यवहारेण बध्यते॥ १२३॥ नाहं दुःखी न मे देहो बन्धः कोऽस्यात्मनि स्थितः। इति भावानुरूपेण व्यवहारेण मुच्यते॥ १२४॥ नाहं मांसं न चास्थीनि देहादन्यः परोऽस्म्यहम्। इति निश्चितवानन्तः क्षीणाविद्यो विमुच्यते॥ १२५॥

इस कारण संकल्प के द्वारा सिद्ध मन संकल्प द्वारा ही विनष्ट हो जाता है 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ' ऐसा सुदृढ़ संकल्प हो जाने से मन बन्धन-ग्रस्त नहीं होता और 'यह सभी कुछ ब्रह्म ही है', ऐसा दृढ़ निश्चयी संकल्प हो जाने पर मन मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। 'मैं क्षीणकाय हूँ, दुःखों से ग्रस्त हूँ, मैं हाथ पैर से युक्त हूँ, इस प्रकार के भावानुकूल व्यवहार से प्राणी बन्धनग्रस्त हो जाता है। मैं दुःखी नहीं हूँ, मेरा शरीर नहीं, आत्मतत्त्व में प्रतिष्ठित मुझमें बन्धन कहाँ?' इस प्रकार के व्यावहारिक जीवन से ओत-प्रोत मन मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। 'मैं मांस नहीं हूँ', अस्थि नहीं हूँ, ऐसा दृढ़ निश्चय कर लेने पर जिसके अन्तस् से अविद्या नष्ट हो गयी है, वही मुक्ति को प्राप्त कर लेता है॥ १२२-१२५॥

कल्पितेयमविद्येयमनात्मन्यात्मभावनात्। परं पौरुषमाश्रित्य यत्नात्परमया धिया। भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा निर्विकल्पः सुखी भव॥ १२६॥ मम पुत्रो मम धनमहं सोऽयमिदं मम। इतीयमिन्द्रजालेन वासनैव विवल्गति॥ १२७॥ मा भवाज्ञो भव ज्ञस्त्वं जहि संसारभावनाम्। अनात्मन्यात्मभावेन किमज्ञ इव रोदिषि॥ १२८॥ कस्तवायं जडो मूको देहो मांसमयोऽशुचिः। यदर्थं सुखदुःखाभ्यामवशः परिभूयसे॥ १२९॥ अहो नु चित्रं यत्सत्यं ब्रह्म तद्विस्मृतं नृणाम्। तिष्ठतस्तव कार्येषु मास्तु रागानुरञ्जना॥ १३०॥ अहो नु चित्रं पद्मोत्थैर्बद्धास्तन्तुभिरद्रयः। अविद्यमाना या विद्या तया विश्वं खिलीकृतम्। इदं तद्वज्रतां यातं तृणमात्रं जगत्त्रयम्॥ १३१॥

आत्म-रहित पदार्थों में आत्मभावना होना ही अविद्या जनित कल्पना है। अभ्यास एवं वैराग्य का आश्रय प्राप्त करके बुद्धिमत्तापूर्वक यत्न से भोग की आकांक्षा को दूर से ही छोड़कर, निर्विकल्प होकर पूर्ण सुखमय जीवन व्यतीत करो। यह 'मेरा पुत्र' 'मेरा धन' 'मैं यह हूँ' 'मैं वह हूँ', 'यह मेरा है' आदि समस्त वासनायें ही प्रपञ्च फैलाकर भिन्न-भिन्न क्रीड़ा कर रही हैं। तुम अज्ञानी मत बनो, ज्ञानवान् बनो, समस्त सांसारिक भावनाओं को विनष्ट कर दो। अनात्म विषयों में आत्मभावना से युक्त होकर मूर्खों की तरह क्यों रो रहे हो? यह मांस का पिण्ड, अशुद्ध, मूक, जड़ शरीर तुम्हारा कौन है, जिसके लिए बलपूर्वक दुःख-सुख से अभिभूत हो रहे हो? अरे! कितना महान् आश्चर्य है कि जो अविनाशी ब्रह्म सत्य है, उसे मनुष्य ने विस्मृत कर दिया है। तुम अपने कर्त्तव्य-कर्मों में सदा लगे रहो। मन को अविद्यादि कर्मों में लिप्त न होने दो। अरे! कितने आश्चर्य की बात है कि कमलनाल के तन्तुओं को रस्सी मानकर उनसे पर्वत आबद्ध कर दिये गये हैं। जो अविद्या अस्तित्व रहित है, उसी के द्वारा यह विविध रूपात्मक जगत् अभिभूत हो रहा है। उस अविद्या के प्रभाव से तृणवत् तुच्छ, जाग्रत्, सुषुप्तावस्था आदि तीनों जगत् वज्र के समान दृढ़ परिलक्षित हो रहे हैं॥ १२६-१३१॥

॥ पञ्चमोऽध्यायः ॥

अथापरं प्रवक्ष्यामि शृणु तात यथायथम्। अज्ञानभूः सप्तपदा ज्ञभूः सप्तपदैव हि॥ १॥ पदान्तराण्यसंख्यानि प्रभवन्त्यन्यथैतयोः। स्वरूपावस्थितिर्मुक्तिस्तद्भ्रंशोऽहंत्ववेदनम्॥ २॥ शुद्धसन्मात्रसंवित्तेः स्वरूपान्न चलन्ति ये। रागद्वेषादयो भावास्तेषां नाज्ञत्वसंभवः॥ ३॥ यः स्वरूपपरिभ्रंशश्चैत्यार्थे चितिमज्जनम्। एतस्मादपरो मोहो न भूतो न भविष्यति॥ ४॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अर्थादर्थान्तरं चित्ते याति मध्ये तु या स्थितिः । सा ध्वस्तमननाकारा स्वरूपस्थितिरुच्यते ॥५ ॥
संशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः । जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥६ ॥
अहन्तांशे क्षते शान्ते भेदनिष्पन्दचित्तता । अजडा या प्रचलति तत्स्वरूपमितीरितम् ॥ ७ ॥

पुनः महर्षि ऋभु ने कहा-हे पुत्र! मेरे द्वारा कहे वचनों को भली प्रकार सुनो। अज्ञान और ज्ञान इन दोनों की सात-सात भूमिकायें हैं। इनके बीच में अनेक दूसरी भूमिकायें उत्पन्न होती हैं। अहंभाव ही मूल स्वरूप से पृथक् करने वाला है। स्वरूप में अवस्थित होना ही मुक्ति है। शुद्ध सत्तारूप बोध ही आत्मा का रूप है, जो उस बोध की अवस्था से हटते नहीं, ऐसे साधकों को अज्ञान से पैदा हुए राग-द्वेषादि दूषित विकार प्रभावित नहीं कर पाते। आत्मस्वरूप से हटकर वासनात्मक स्वरूप में जो चित् का डूबना है, इससे अधिक मोहग्रस्त होना दूसरा नहीं कहा जाएगा और न हो सकता है। एक विषय से दूसरे विषय में प्रवेश करते हुए जो मध्य में मन की अवस्था होती है, उसे 'ध्वस्तमनन' के स्वरूप वाली स्थिति समझा जाता है, लेकिन सभी संकल्पों के पत्थर की शिला के समान भली प्रकार शान्त हो जाने पर निश्चेष्ट अवस्था जिसमें जाग्रत् और स्वप्नावस्था भी प्रायः चेष्टारहित होती है, वही परास्वरूप स्थिति कहलाती है। अहंभाव के क्षीण हो जाने पर शान्त, चेतन तथा भेदभाव से रहित चित्त की स्थिति ही स्वरूप अवस्था कहलाती है ॥ १-७ ॥

बीजजाग्रत्तथा जाग्रन्महाजाग्रत्तथैव च। जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः स्वप्नजाग्रत्सुषुप्तिकम् ॥ ८ ॥
इति सप्तविधो मोहः पुनरेष परस्परम् । श्लिष्टो भवत्यनेकाग्र्यं शृणु लक्षणमस्य तु ॥ ९ ॥

मोह के सात प्रकार कहे गये हैं, जो इस प्रकार हैं-१. बीज जाग्रत् अवस्था, २. जाग्रत् अवस्था, ३. महाजाग्रत् अवस्था ४. जाग्रत्स्वप्नावस्था ५. स्वप्नावस्था ६. स्वप्न जाग्रत् अवस्था, ७. सुषुप्तावस्था। तत्पश्चात् यही परस्पर मिलकर असंख्य रूप धारण कर लेते हैं। अब इन सबके अलग-अलग लक्षण सुनें ॥ ८-९ ॥

प्रथमं चेतनं यत्स्यादनाख्यं निर्मलं चितः । भविष्यच्चित्तजीवादिनामशब्दार्थभाजनम् ॥ १० ॥
बीजरूपस्थितं जाग्रद्बीजजाग्रत्तदुच्यते । एषा ज्ञस्येनवावस्था त्वं जाग्रत्संस्थितिं शृणु ॥ ११ ॥

प्रथम 'बीज जाग्रत् अवस्था' वह है,जो नामरहित शुद्धचेतन की भविष्यत् में घटित होने वाली,चित्त-जीव आदि नाम के शब्दार्थरूप सम्बोधन से युक्त अवस्था है। वह बीजरूप में स्थित जाग्रत्-अवस्था बीज जाग्रत् नाम से प्रसिद्ध है। यह ज्ञाता की नूतन अवस्था है। अब आप जाग्रत् अवस्था की यथार्थ स्थिति सुनें ॥१०-११ ॥

नवप्रसूतस्य परादयं चाहमिदं मम । इति यः प्रत्ययः स्वस्थस्तज्जाग्रत्प्रागभावनात् ॥ १२ ॥
अयं सोऽहमिदं तन्म इति जन्मान्तरोदितः । पीवरः प्रत्ययः प्रोक्तो महाजाग्रदिति स्फुटम् ॥१३ ॥
अरूढमथवा रूढं सर्वथा तन्मयात्मकम्। यज्जाग्रतो मनोराज्यं यज्जाग्रत्स्वप्न उच्यते ॥ १४ ॥
द्विचन्द्रशुक्तिकारूप्यमृगतृष्णादिभेदतः । अभ्यासं प्राप्य जाग्रत्तत्स्वप्नो नानाविधो भवेत् ॥ १५ ॥

नवजात जीव के अन्तरंग में 'यह मैं हूँ, यह मेरा है' अर्थात् मैं और मेरेपन के भावों की स्थिति ही मोह की दूसरी 'जाग्रत् अवस्था' कही जाती है; क्योंकि उससे पूर्व यह भावना नहीं थी। 'महाजाग्रत्' अवस्था वह है, जिसमें 'यह वह व्यक्ति है, यह मैं हूँ, वह मेरी चीज है' आदि भावनाएँ पूर्वजन्मों के संस्कार सहित विदित होती हैं। अप्रचलित (अरूढ़) अथवा प्रचलित (रूढ़) एवं तन्मय होकर जो मन की काल्पनिक रचना जाग्रत् अवस्था में होती है, वह 'जाग्रत्-स्वप्न' कही गयी है। एक चन्द्रमा की जगह दो चन्द्रमाओं का, सीप में चाँदी का तथा मृग-मरीचिका में (बालू में) जल का आभास होना इत्यादि (जाग्रत् अवस्था में) अभ्यास को प्राप्त हुए जाग्रत्-स्वप्न के विभिन्न प्रकार हैं ॥ १२-१५ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अल्पकालं मया दृष्टमेतन्नोदेति यत्र हि। परामर्शः प्रबुद्धस्य स स्वप्न इति कथ्यते॥ १६॥
चिरं संदर्शनाभावादप्रफुल्लं बृहद्वचः। चिरकालानुवृत्तिस्तु स्वप्नो जाग्रदिवोदितः॥ १७॥
स्वप्नजाग्रदिति प्रोक्तं जाग्रत्यपि परिस्फुरत्। षडवस्थापरित्यागे जडा जीवस्य या स्थितिः॥१८॥
भविष्यद्दुःखबोधाढ्य सौषुप्तिः सोच्यते गतिः। जगत्तस्यामवस्थायामन्तस्तमसि लीयते॥ १९॥

'स्वप्नावस्था' वह कहलाती है, जिसमें कुछ समय पूर्व देखा गया दृश्य पुनः दृष्टिगोचर न हो और जागने पर उस दृश्य की मनुष्य को स्मृति मात्र शेष रहे। इसके पश्चात् 'स्वप्न जाग्रत्' अवस्था वह है, जिसमें पूरे विकास को न प्राप्त हुआ स्वप्न जो अनेक क्रिया-कलापों द्वारा देर तक टिके तथा जो जाग्रत् की तरह ही उत्पन्न हो अथवा जागते हुए भी स्वप्न दिखाई दे। इन छः अवस्थाओं को पारकर जब जीव की जड़ात्मक स्थिति में प्रतिष्ठापना होती है, उस बीते हुए दुःखबोध से युक्त अवस्था को ही 'सुषुप्ति' कहा गया है। उस स्थिति में यह संसार आन्तरिक अंधकार में विलीन हो जाता है॥ १६-१९॥

सप्तावस्था इमाः प्रोक्ता मया ज्ञानस्य वै द्विज। एकैका शतसंख्यात्र नानाविभवरूपिणी॥२०॥
इमां सप्तपदां ज्ञानभूमिमाकर्णयानघ। नानया ज्ञातया भूयो मोहपङ्के निमज्जति॥ २१॥

हे ब्रह्मन्! मैंने तुम्हारे प्रति अज्ञानजनित मोह की सात भूमिकाओं को बतलाया। इसमें से प्रत्येक भूमिका विभिन्न ऐश्वर्ययुक्त, विभिन्न अवस्थाओं के रूप में विविध रूप धारण करने वाली है। हे निष्पाप पुत्र! अब मैं तुम्हें ज्ञान की जो सात भूमिकायें हैं, उन्हें सुनाता हूँ, जिन्हें जान लेने पर मनुष्य मोहपङ्क में नहीं फँसता॥ २०-२१॥

वदन्ति बहुभेदेन वादिनो योगभूमिकाः। मम त्वभिमता नूनमिमा एव शुभप्रदाः॥ २२॥
अवबोधं विदुर्ज्ञानं तदिदं साप्तभूमिकम्। मुक्तिस्तु ज्ञेयमित्युक्ता भूमिकासप्तकात्परम्॥ २३॥

ज्ञानीजनों ने योग भूमिकाओं के बहुविध भेद बतलाये हैं, परन्तु मैं तो इन सात भूमिकाओं को ही विशेष लाभप्रद मानता हूँ। इस प्रकार इन सात भूमिकाओं द्वारा उत्पन्न होने वाला अवबोध ही 'ज्ञान' कहलाता है। इन सात भूमिकाओं के अन्तर्गत होने वाली मुक्ति 'ज्ञेय' कही जाती है॥ २२-२३॥

ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता। विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसी॥ २४॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका। पदार्थभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥ २५॥
आसामन्तःस्थिता मुक्तिर्यस्यां भूयो न शोचति। एतासां भूमिकानां त्वमिदं निर्वचनं शृणु॥२६॥

पहली ज्ञान भूमिका को 'शुभेच्छा' नाम दिया गया है। दूसरी 'विचारणा', तीसरी 'तनुमानसी', चौथी 'सत्त्वापत्ति', पाँचवीं 'असंसक्ति', छठवीं 'पदार्थभावना' तथा सातवीं 'तुर्यगा' है। इन भूमिकाओं में पुनः शोकाकुल न होने देने वाली मुक्ति निहित है। अब तुम इन भूमिकाओं का विस्तार सुनो॥ २४-२६॥

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्षेऽहं शास्त्रसज्जनैः। वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः॥२७॥
शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्। सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥ २८॥

मैं भ्रमितमति क्यों हूँ? शास्त्र तथा श्रेष्ठ जनों से मैं इस सम्बन्ध में चर्चा करूँगा-इस प्रकार से वैराग्य धारण करने से पूर्व जो अभिलाषा जागती है, उसे ज्ञानियों ने 'शुभेच्छा' नाम दिया है। इसके बाद शास्त्र तथा श्रेष्ठ जनों के सान्निध्य लाभ से अध्ययन आदि के द्वारा अभ्यास एवं वैराग्य भावना से सदाचार की प्रवृत्तियों का प्राकट्य होता है, उसे ही 'विचारणा' नाम दिया है॥ २७-२८॥

विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेषु रक्तता। यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसी॥ २९॥
भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्ते तु विरतेर्वशात्। सत्त्वात्मनि स्थिते शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता॥ ३०॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

शुभेच्छा और विचारणा द्वारा इन्द्रिय-विषयों के प्रति आसक्ति जब क्षीण हो जाती है, ऐसी अवस्था को 'तनुमानसी' कहा गया है। इन तीन भूमिकाओं के अभ्यास द्वारा वैराग्य भाव के प्राबल्य से जब चित्त निर्मल सत्त्वरूप में स्थित होता है, इसी अवस्था को 'सत्त्वापत्ति' कहते हैं॥ २९-३०॥

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गकला तु या। रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका॥ ३१॥
भूमिकापञ्चकाभ्यासात्स्वात्मारामतया दृढम्। आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात्॥३२॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनावबोधनम्। पदार्थभावना नाम षष्ठी भवति भूमिका॥ ३३॥

इन सभी भूमिकाओं का अभ्यास हो जाने पर चमकने वाली संसर्गहीन कला सत्त्वारूढ़ होती है,वही 'असंसक्ति'कहलाती है। इन पाँचों भूमिकाओं के अभ्यास के फलस्वरूप अपनी चेतना में ही रमते रहने तथा बाह्याभ्यन्तर पदार्थों की भावना के नष्ट होने पर' पदार्थ भावना 'नामक छठी भूमिका में पदार्पण होता है॥३१-३३

भूमिषट्कचिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलम्भनात्। यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः॥ ३४॥
एषा हि जीवन्मुक्तेषु तुर्यावस्थेति विद्यते। विदेहमुक्तिविषयं तुर्यातीतमतः परम्॥ ३५॥

इन छः भूमियों के परिपक्व हो जाने पर भेद-बुद्धि का क्षय हो जाता है और आत्म-भाव में ही साधक की दृढ़निष्ठा हो जाती है, यही 'तुर्यगा' अवस्था कही गयी है। इस तुर्यावस्था को जीवन्मुक्त पुरुष ही उपलब्ध कर पाते हैं। इसके बाद तुर्यातीत अवस्था है, जो विदेह मुक्ति का विषय है॥ ३४-३५॥

ये निदाघ महाभागाः सप्तमीं भूमिमाश्रिताः। आत्मारामा महात्मानस्ते महत्पदमागताः॥ ३६॥
जीवन्मुक्ता न मज्जन्ति सुखदुःखरसस्थिते। प्रकृतेनाथ कार्येण किंचित्कुर्वन्ति वा न वा॥३७॥

हे निष्पाप! जो अति भाग्यवान् पुरुष सप्तमी तुर्यगावस्था को प्राप्त कर लेते हैं, वे आत्मा में रमणशील महात्मा महत्पद (परमपद) को ग्रहण कर चुके हैं। ऐसी जीवन्मुक्त आत्मायें सुख-दुःख के अनुभवों से सर्वथा निर्लिप्त रहती हैं। वे कर्तव्य कर्मों में संलग्न रहकर भी उनसे लिप्त नहीं होतीं॥ ३६-३७॥

पार्श्वस्थबोधिताः सन्तः पूर्वाचारक्रमागतम्। आचारमाचरन्त्येव सुप्तबुद्धवदुत्थिताः॥ ३८॥
भूमिकासप्तकं चैतद्धीमतामेव गोचरम्। प्राप्य ज्ञानदशामेतां पशुम्लेच्छादयोऽपि ये॥ ३९॥
सदेहा वाप्यदेहा वा ते मुक्ता नात्र संशयः। ज्ञप्तिर्हि ग्रन्थिविच्छेदस्तस्मिन्सति विमुक्तता॥ ४०॥

अपने निकटस्थ परिजनों के सचेत किये जाने पर जैसे मनुष्य सोते से जाग पड़ता है,वैसे ही वे ज्ञानीजन सत्कर्मों में संलग्न रहकर सनातन आचरण की परम्परा निभाते हैं। इन सात भूमिकाओं को यदि पशु और म्लेच्छ आदि भी जान लें,तो वे भी देह रहते या देहत्याग के पश्चात् मुक्ति के अधिकारी हो जाते हैं,इसमें सन्देह की गुंजायश नहीं। हृदय-ग्रन्थियों का खुल जाना ही ज्ञान है और ज्ञान प्राप्ति हो जाने पर मुक्ति सुनिश्चित है॥३८-४०

मृगतृष्णाम्बुबुद्ध्यादिशान्तिमात्रात्मकस्त्वसौ। ये तु मोहार्णवात्तीर्णास्तैः प्राप्तं परमं पदम्॥४१॥
ते स्थिता भूमिकास्वासु स्वात्मलाभपरायणाः। मनः प्रशमनोपायो योग इत्यभिधीयते॥४२॥

जैसे मृग-तृष्णा में जल की भ्रान्ति होती है, इसे ही अविद्या कहा गया है, अविद्या का नाश ही मुक्ति है। परमपद के अधिकारी वही हैं, जो मोहरूपी सागर से पार हो चुके हैं। आत्मसाक्षात्कार के प्रयत्नों में संलग्न पुरुष ही इन भूमिकाओं में प्रतिष्ठित होते हैं। मन की पूर्णतया शान्ति के साधन को योग कहा गया है॥ ४१-४२॥

सप्तभूमिः स विज्ञेयः कथितास्ताश्च भूमिकाः। एतासां भूमिकानां तु गम्यं ब्रह्माभिधं पदम्॥४३॥
त्वत्ताऽहन्तात्मता यत्र परता नास्ति काचन। न क्वचिद्भावकलना न भावाभावगोचरा॥ ४४॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सर्वं शान्तं निरालम्बं व्योमस्थं शाश्वतं शिवम्। अनामयमनाभासमनामकमकारणम्॥ ४५॥
न सन्नासन्न मध्यं तं न सर्वं सर्वमेव च। मनोवचोभिरग्राह्यं पूर्णात्पूर्णं सुखात्सुखम्॥ ४६॥
असंवेदनमाशान्तमात्मवेदनमाततम् । सत्ता सर्वपदार्थानां नान्या संवेदनादृते॥ ४७॥

योग की इन सात भूमिकाओं को ज्ञानभूमि के अन्तर्गत ऊपर बतलाया जा चुका है। इन भूमिकाओं का लक्ष्य है—ब्रह्मपद की प्राप्ति। जहाँ तेरा-मेरा और अपने-परायेपन का संकीर्ण भाव मिट जाता है, उस समय न तो भावात्मक बुद्धि अवशेष रहती है और न ही भाव-अभाव का चिन्तन हो पाता है; क्योंकि जागतिक वस्तुओं की सत्ता आत्मसंवेदन मात्र है, इससे अतिरिक्त कुछ नहीं। सर्वथा शान्त, आलम्बन रहित, आकाशस्वरूप, शाश्वत, शिव, दोषरहित, भासमान रहित, अनिर्वचनीय, कारणरहित, न सत्, न असत्, न मध्य, सम्पूर्णतारहित और सम्पूर्ण भी, मन-वाणी से अग्राह्य, पूर्ण से पूर्ण, सुख से सुखतरस्वरूप, संवेदन की पहुँच से परे, पूर्ण शान्त, आत्मानुभूतिरूप तथा व्यापकता यह ब्रह्म का स्वरूप है। सभी पदार्थों की सत्ता के अतिरिक्त यह चैतन्य भिन्न नहीं है और इसकी प्राप्ति का आधार एक मात्र सम्यक् अनुभूति है॥ ४३-४७॥

संबन्धे द्रष्टृदृश्यानां मध्ये दृष्टिर्हि यद्वपुः । द्रष्टृदर्शनदृश्यादिवर्जितं तदिदं पदम्॥ ४८॥
देशाद्देशं गते चित्ते मध्ये यच्चेतसो वपुः। अजाड्यसंविन्मननं तन्मयो भव सर्वदा॥ ४९॥
अजाग्रत्स्वप्ननिद्रस्य यत्ते रूपं सनातनम्। अचेतनं चाजडं च तन्मयो भव सर्वदा ॥ ५०॥
जडतां वर्जयित्वैकां शिलाया हृदयं हि तत्। अमनस्कस्वरूपं यत्तन्मयो भव सर्वदा। चित्तं दूरे परित्यज्य योऽसि सोऽसि स्थिरो भव॥ ५१॥ पूर्वं मनः समुदितं परमात्मतत्त्वात्तेनाततं जगदिदं सविकल्पजालम्। शून्येन शून्यमपि विप्र यथाम्बरेण नीलत्वमुल्लसति चारुतराभिधानम्॥ ५२॥

द्रष्टा और दृश्य का सम्बन्ध हो जाने पर मध्य में दृष्टि का जो स्वरूप परिलक्षित होता है, वह द्रष्टा, दृश्य और दर्शन से भिन्न साक्षात्काररूप स्थिति ही है। चित्त के एक देश से दूसरे में प्रवेश करने के मध्य जो अवस्था होती है, उस जड़तारहित चेतनरूप चिन्तन में निरन्तर तन्मय रहना चाहिए। जाग्रत्-स्वप्न और सुषुप्ति से परे जड़-चेतन विहीन जो सनातनरूप है, उसी में हमेशा स्थित रहो। जड़ता ही हृदय की पाषाणवत् स्थिति है, उसका परित्याग करने पर जो अमनस्क अवस्था है, उसी में सदैव लीन रहो। चित्त को दूर से ही त्यागकर जिस अवस्था में हो, उसी में स्थिर रहो। परमात्म तत्त्व से सर्वप्रथम मन की उत्पत्ति हुई, पश्चात् उसी मन से विकल्पजालरूप यह संसार उत्पन्न हुआ। हे विप्र! शून्य से भी शून्य की उत्पत्ति होती है, जैसे- आकाश शून्य है, परन्तु इसी से मनोहर दिखलाई पड़ने वाली नीलिमा प्रकट होती है॥ ४८-५२॥

संकल्पसंक्षयवशाद्गलिते तु चित्ते संसारमोहमिहिका गलिता भवन्ति।
स्वच्छं विभाति शरदीव खमागतायां चिन्मात्रमेकमजमाद्यमनन्तमन्तः॥ ५३॥

संकल्प के विनष्ट हो जाने पर चित्तवृत्तियाँ गल जाती हैं और इसी के साथ संसार का मोहरूपी कुहरा भी छँट जाता है। ऐसे में शरद्ऋतु के आगमन पर स्वच्छ आसमान की तरह वह अजन्मा, आद्य, अनन्त, एक, चिन्मात्ररूप ब्रह्म ही अन्तिम रूप से सुशोभित होता है॥ ५३॥

अकर्तृकमरङ्गं च गगने चित्रमुत्थितम् । अद्रष्टृकं स्वानुभवमनिद्रस्वप्नदर्शनम् ॥ ५४॥
साक्षिभूते समे स्वच्छे निर्विकल्पे चिदात्मनि। निरिच्छं प्रतिबिम्बन्ति जगन्ति मुकुरे यथा॥५५॥

बिना कर्त्ता और रङ्ग के आकाश चित्रित सा प्रतीत होता है। बिना द्रष्टा के स्वयं अनुभूत निद्राहीन स्वप्न दिखलाई देता है। यह चिदात्मा साक्षिरूप, सम (सबके प्रति समान रहने वाला), स्वच्छ, निर्विकल्प तथा दर्पणवत् है, उसमें बिना किसी आकांक्षा के तीनों लोक प्रतिबिम्बित हो रहे हैं॥ ५४-५५॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

एकं ब्रह्म चिदाकाशं सर्वात्मकमखण्डितम्। इति भावय यत्नेन चेतश्चाञ्चल्यशान्तये॥ ५६॥
रेखोपरेखावलिता यथैका पीवरी शिला। तथा त्रैलोक्यवलितं ब्रह्मैकमिह दृश्यताम्॥ ५७॥

सर्वस्वरूप, चिदाकाशरूप और अखण्डित ब्रह्म एक है, चित्त की चपलता शान्त करने के लिए प्रयत्नपूर्वक ऐसी भावना करनी चाहिए। तीनों लोकों से युक्त ब्रह्म के दर्शन उसी प्रकार करने चाहिए, जैसे एक मोटी पत्थरशिला पर रेखायें-उपरेखाएँ खिंची होती हैं॥ ५६-५७॥

द्वितीयकारणाभावादनुत्पन्नमिदं जगत्। ज्ञातं ज्ञातव्यमधुना दृष्टं द्रष्टव्यमद्भुतम्॥ ५८॥
विश्रान्तोऽस्मि चिरं श्रान्तश्चिन्मात्रान्नास्ति किंचन। पश्य विश्रान्तसंदेहं विगताशेषकौतुकम्॥५९

ब्रह्म से भिन्न किसी अन्य कारण के न होने पर इस जगत् की उत्पत्ति नहीं हुई (खरगोश के सींग की तरह यह त्रिकालबाधित है)। इस प्रकार मैंने (ऋभु का आत्मकथन) जो ज्ञातव्य था, उसे जान लिया, जो विलक्षणता देखनी थी, उसे देख लिया और चिरकाल से थका मैं अब विश्रान्ति को प्राप्त हो चुका हूँ। (हे निदाघ!) इस सम्पूर्ण जागतिक माया से विमुक्त होकर तथा संशयविहीन होकर तुम चिन्मात्र के दर्शन करो। चिन्मात्र के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं, ऐसा समझो॥ ५८-५९॥

निरस्तकल्पनाजालमचित्तत्वं परं पदम्। त एव भूमतां प्राप्ताः संशान्ताशेषकिल्बिषाः॥ ६०॥
महाधियः शान्तधियो ये याता विमनस्कताम्। जन्तोः कृतविचारस्य विगलद्वृत्तिचेतसः॥ ६१॥
मननं त्यजतो नित्यं किंचित्परिणतं मनः। दृश्यं संत्यजतो हेयमुपादेयमुपेयुषः॥ ६२॥
द्रष्टारं पश्यतो नित्यमद्रष्टारमपश्यतः। विज्ञातव्ये परे तत्त्वे जागरूकस्य जीवतः॥ ६३॥
सुप्तस्य घनसंमोहमये संसारवर्त्मनि। अत्यन्तपक्कवैराग्यादरसेषु रसेष्वपि॥ ६४॥
संसारवासनाजाले खगजाल इवाधुना। त्रोटिते हृदयग्रन्थौ शूथे वैराग्यरंहसा॥ ६५॥
कातकं फलमासाद्य यथा वारि प्रसीदति। तथा विज्ञानवशतः स्वभावः संप्रसीदति॥ ६६॥

जिन्होंने संकल्प-बन्धन को काट दिया है, जो चित्तत्वरहित महान् पद पा चुके हैं, ऐसे ही साधक निष्पाप होकर ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। मन को वश में करके जो विमनस्क हो गये हैं, शान्तचित्तता उनकी प्रखर मेधा की परिचायिका है। वेदान्त के विषय में चिन्तनशील मनुष्य, जिनकी चित्तवृत्तियों का क्षय हो चुका है और मानसिक संकल्पों के त्याग में अभ्यस्त होने से जिनका मन सुस्थिर हो चुका है। जो मुमुक्षु पुरुष हेय और उपादेय दोनों तरह के दृश्यों का परित्याग कर रहे हैं, जो नित्य द्रष्टा अर्थात् आत्मज्ञान के साक्षात्कार में संलग्न तथा अद्रष्टा अर्थात् प्रपञ्च को न देखने वाले हैं, जो ज्ञातव्य परमतत्त्व में विशेषरूप से जागरूक रहकर जीवन-यापन करते हैं, जो रसयुक्त तथा रसहीन इन सभी पदार्थों के प्रति अति सुस्थिर वैराग्य भाव से सघन मोहात्मक संसार पथ में सोये हुए हैं। वैराग्य की प्रबल भावना से चूहे द्वारा काटे गये पक्षी के पाश की तरह जिनकी सांसारिक वासना-तृष्णा का पाश कट चुका है और हृदय की ग्रन्थियाँ ढीली पड़ गई हैं, ऐसे साधकों का स्वभाव विशिष्ट ज्ञान से उसी प्रकार परिष्कृत-निर्मल हो जाता है, जिस प्रकार कातक (निर्मली) फल से जल निर्मल हो जाता है॥ ६०-६६॥

नीरागं निरुपासङ्गं निर्द्वन्द्वं निरुपाश्रयम्। विनिर्याति मनो मोहाद्विहङ्गः पञ्जरादिव॥ ६७॥
शान्तसंदेहदौरात्म्यं गतकौतुकविभ्रमम्। परिपूर्णान्तरं चेतः पूर्णेन्दुरिव राजते॥ ६८॥

मन के रागरहित, अनासक्त, द्वन्द्व से रहित तथा निरालम्ब हो जाने पर पिंजड़े से मुक्त हुए पक्षी की तरह ही मोह-बन्धन से मन की मुक्ति हो जाती है। संशयरूप दुरात्मभावना जिनकी शान्त हो चुकी है, जो प्रपञ्च कौतुक से विमुक्त हैं, उनका चित्त पूर्णमासी के चन्द्र के समान विशेष शोभा पाता है॥ ६७-६८॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

नाहं न चान्यदस्तीह ब्रह्मैवास्मि निरामयम्। इत्थं सदसतोर्मध्याद्यः पश्यति स पश्यति॥ ६९॥
अयत्नोपनतेष्वक्षिदृग्दृश्येषु यथा मनः। नीरागमेव पतति तद्वत्कार्येषु धीरधीः॥ ७०॥
परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये। विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम्॥ ७१॥

न मैं स्वयं और न अन्य कुछ ही यहाँ है, मैं तो सभी दोषों से रहित मात्र ब्रह्म हूँ, जिसकी दृष्टि सत्-असत् के मध्य इस प्रकार की है, वही वास्तव में ब्रह्म साक्षात्कार करने वाला है। जिस प्रकार दर्शनीय दृश्यों की तरफ मन स्वाभाविक रूप से बिना आसक्ति के ही खिंच जाता है, उसी प्रकार धीरमति पुरुष कर्त्तव्य कर्मों के निर्वाह में संलग्न रहते हैं। भली प्रकार सोच-समझकर भोगा गया भोग उसी तरह संतुष्टि का निमित्त बनता है, जिस तरह जान-बूझकर सेवा में संलग्न चोर चौर्यकार्य को छोड़कर मित्रता ही निभाता है॥ ६९-७१॥

अशङ्कितापि संप्राप्ता ग्रामयात्रा यथाऽध्वगैः। प्रेक्ष्यते तद्वदेव ज्ञैर्भोगश्रीरवलोक्यते॥ ७२॥
मनसो निगृहीतस्य लीलाभोगोऽल्पकोऽपि यः। तमेवालब्धविस्तारं क्लिष्टत्वाद्बहु मन्यते॥७३॥
बद्धमुक्तो महीपालो ग्रासमात्रेण तुष्यति। परैरबद्धो नाक्रान्तो न राष्ट्रं बहु मन्यते॥ ७४॥

जिस ग्राम में जाने का मन में कभी विचार भी नहीं था,ऐसे ग्राम में अचानक आ जाने पर यात्री जिस आश्चर्य भरी दृष्टि से उसे देखता है,उसी दृष्टि से ज्ञानीपुरुष भोग-ऐश्वर्यों पर दृष्टिपात करता है। बिना श्रम से उपलब्ध हुई स्वल्पमात्र भोग सामग्री को नियन्त्रित मन वाला साधक बहुत अधिक समझते हुए कष्टदायी मानकर त्याग देता है। शत्रु के बन्धन से मुक्त होने पर जो राजा-भोजन के एक ग्रास से सन्तुष्ट हो जाता है,वही राजा शत्रु द्वारा आक्रान्त और आबद्ध न किये जाने पर राज्य के विशाल वैभव को भी तुच्छ ही मानता है॥ ७२-७४॥

हस्तं हस्तेन संपीड्य दन्तैर्दन्तान्विचूर्ण्य च। अङ्गान्यङ्गैरिवाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः॥ ७५॥
मनसो विजयान्नान्या गतिरस्ति भवार्णवे। महानरकसाम्राज्ये मत्तदुष्कृतवारणाः। आशाशरशला-काढ्या दुर्जया हीन्द्रियारयः॥ ७६॥

हाथ से हाथ को मलकर, दाँत से दाँत को पीसकर तथा अङ्गों से अङ्गों को दबाकर अर्थात् स्वकीय सम्पूर्ण पराक्रम और साहस द्वारा मन को जीतने का प्रयास करे। इस संसार सागर में मन पर विजय पाने से बढ़कर अन्य उपाय नहीं है। इस भयंकर नरक रूपी साम्राज्य में दुष्कृत रूपी मतवाले हाथी भ्रमण करते हैं। आशारूपी बाणों और कटारों से सुसज्जित इन्द्रियरूपी वैरियों को जीतना अत्यन्त मुश्किल है॥ ७५-७६॥

प्रक्षीणचित्तदर्पस्य निगृहीतेन्द्रियद्विषः। पद्मिन्य इव हेमन्ते क्षीयन्ते भोगवासनाः॥ ७७॥
तावन्निशीव वेताला वसन्ति हृदि वासनाः। एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः॥ ७८॥
भृत्योऽभिमतकर्तृत्वान्मन्त्री सर्वार्थकारणात्। सामन्तश्चेन्द्रियाक्रान्तेर्मनो मन्ये विवेकिनः॥ ७९॥

जो इन्द्रियरूपी वैरियों को अपने वशीभूत कर चुके हैं तथा जिन्होंने चित्त के अहंभाव को विनष्ट कर दिया है, उनकी भोग लिप्साएँ उसी प्रकार समाप्त हो जाती हैं, जैसे हेमन्त ऋतु में कमल का पौधा सूख जाता है। एकत्व के दृढ़ अभ्यास द्वारा जब तक मन को नियन्त्रित नहीं कर लिया जाता, तब तक ही रात्रि में बेताल की तरह हृदय में वासना टिकी हुई रहती है। विवेकशील व्यक्ति अपने मन को अभीष्ट सिद्धि के लिए सेवक के समान सभी प्रयोजनों की पूर्ति के लिए मन्त्रीरूप तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों को स्वनियन्त्रित करने के लिए सामन्तरूप बना लेते हैं, ऐसा मेरा विचार है॥ ७७-७९॥

लालनात्स्निग्धलालना पालनात्पालकः पिता। सुहृदुत्तमविन्यासान्मनो मन्ये मनीषिणः॥ ८०॥
स्वालोकतः शास्त्रदृशा स्वबुद्ध्या स्वानुभावतः। प्रयच्छति परां सिद्धिं त्यक्त्वात्मानं मनःपिता॥
सुहृष्टः सुदृढः स्वच्छः सुक्रान्तः सुप्रबोधितः। स्वगुणेनोर्जितो भाति हृदि हृद्यो मनोमणिः॥८२॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

एनं मनोमणिं ब्रह्मन्बहुपङ्ककलङ्कितम्। विवेकवारिणा सिद्ध्यै प्रक्षाल्यालोकवान्भव॥ ८३॥

मेरे विचार से मनीषी का मन लालन करने के फलस्वरूप स्नेहमयी ललना-स्वरूप और पालन करने से पितृतुल्य है। शास्त्रानुकूल आचरण से, स्वयं के एकत्रित अनुभवजन्य ज्ञान प्रकाश से तथा विवेक बुद्धि से मनरूपी पिता परमसिद्धि का मार्ग प्रशस्त करता है। अति हृष्ट-पुष्ट, सुदृढ़, निर्मल, स्ववशीभूत, भली प्रकार चैतन्य तथा आत्मिक सद्गुणों से प्रखर-तेजस्विता युक्त सुन्दर मनरूपी मणि हृदय में विराजमान है। हे ब्रह्मन्! बहुविध वासना-तृष्णा के कीचड़ से सने इस मनरूपी मणि को विवेक रूपी जल से निर्मल करके साधन-सिद्धि के लिए चमकदार (परिष्कृत) बनायें॥ ८०-८३॥

विवेकं परमाश्रित्य बुद्ध्या सत्यमवेक्ष्य च। इन्द्रियारीनलं छित्त्वा तीर्णो भव भवार्णवात्॥८४॥

सद्विवेक का अवलम्बन लेकर, बुद्धि से यथार्थ सत्य का अनुसन्धान करके इन्द्रियरूपी वैरियों को तुम छिन्न-भिन्न कर पाओगे, इसी से संसार रूपी भवसागर से तुम पार उतरने में सक्षम हो सकोगे॥ ८४॥

आस्थामात्रमनन्तानां दुःखानामाकरं विदुः। अनास्थामात्रमभितः सुखानामालयं विदुः॥ ८५॥
वासनातन्तुबद्धोऽयं लोको विपरिवर्तते। सा प्रसिद्धातिदुःखाय सुखायोच्छेदमागता॥ ८६॥
धीरोऽप्यतिबहुज्ञोऽपि कुलजोऽपि महानपि। तृष्णया बध्यते जन्तुः सिंहः शृङ्खलया यथा॥८७॥
परमं पौरुषं यत्नमास्थायादाय सूद्यमम्। यथाशास्त्रमनुद्वेगमाचरन्को न सिद्धिभाक्॥ ८८॥

संसार में मात्र आस्था (आशा) ही अनेक कष्टों की उत्पत्ति का कारण है और अनास्था (आशा-अपेक्षारहित जीवन) ही सुख का घर समझना चाहिए। वासनाओं के सूत्र से बँधा हुआ यह संसार पुनः-पुनः उत्पन्न होता है। वह प्रख्यात वासना अति कष्टदायिनी बनकर समस्त सुखों का पूरी तरह से उच्छेदन करने के लिए आती है। जंजीर से सिंह के बाँधने के समान वासना के मोहपाश में धीर, कुलीन, अति बहुश्रुत तथा महान् व्यक्ति भी बँध जाते हैं। शास्त्रानुकूल आचरण करता हुआ, परम पुरुषार्थ का अवलम्बन लेकर और श्रेष्ठ उद्यम करते हुए कौन सिद्धि को प्राप्त नहीं करता?॥ ८५-८८॥

अहं सर्वमिदं विश्वं परमात्माहमच्युतः। नान्यदस्तीति संवित्त्या परमा सा ह्यहंकृतिः॥ ८९॥
सर्वस्माद्व्यतिरिक्तोऽहं वालाग्रादप्यहं तनुः। इति या संविदो ब्रह्मन्द्वितीयाहंकृतिः शुभा॥ ९०॥
मोक्षायैषा न बन्धाय जीवन्मुक्तस्य विद्यते॥ ९१॥

मैं समस्त विश्वरूप हूँ, मैं अच्युत परमात्मस्वरूप हूँ, मेरे अतिरिक्त शेष कुछ भी नहीं-इस तरह के बोधात्मक अहंभाव को उत्तम माना गया है। 'मैं सभी प्रपञ्च से भिन्न हूँ,' मैं बाल के अग्रभाग से कहीं अधिक सूक्ष्म हूँ-इस प्रकार का दूसरा अहं भाव मोक्ष को देने वाला है, बन्धन में फँसाने वाला नहीं। जीवन्मुक्त आत्मायें ही ऐसे अहंभाव से युक्त होती हैं॥ ८९-९१॥

पाणिपादादिमात्रोऽयमहमित्येष निश्चयः। अहंकारस्तृतीयोऽसौ लौकिकस्तुच्छ एव सः॥ ९२॥
जीव एव दुरात्मासौ कन्दः संसारदुस्तरोः। अनेनाभिहतो जन्तुरधोऽधः परिधावति॥ ९३॥
अनया दुरहंकृत्या भावात्संत्यक्तयाचिरम्। शिष्टाहंकारवाञ्जन्तुः शमवान्याति मुक्तताम्॥ ९४॥

मैं हाथ-पैर वाला मात्र स्थूल शरीरधारी हूँ- इस प्रकार की मान्यता जो तीसरे लौकिक अहंकार में होती है, उसे अत्यन्त निकृष्ट कहा गया है। अहंकार से युक्त दुरात्मा प्राणी ही कष्टमय संसार रूपी वृक्ष का मूल कारण है। इससे प्रताड़ित प्राणी निरन्तर पतन की ओर बढ़ता है। इस तृतीय दुःखमय अहंभाव का परित्याग करके लम्बे समय से शुभ अहंभाव में संलग्न प्राणी शान्तचित्त होकर मुक्ति प्राप्त करते हैं॥ ९२-९४॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

प्रथमौ द्वावहंकारावङ्गीकृत्य त्वलौकिकौ। तृतीयाहंकृतिस्त्याज्या लौकिकी दुःखदायिनी ॥९५॥
अथ ते अपि संत्यज्य सर्वाहंकृतिवर्जितः। स तिष्ठति तथात्युच्चैः परमेवाधिरोहति॥ ९६॥

प्रारम्भिक दो अलौकिक अहंकारों को स्वीकार करके तीसरे दुःखप्रद लौकिक अहंकार को त्याग दे। साधन शक्ति की वृद्धि पर इन सब प्रकार के अहंकारों को त्यागकर निरहंकारिता ग्रहण करे, उसी से उत्तमपद की प्राप्ति सम्भव है॥ ९५-९६॥

भोगेच्छामात्रको बन्धस्तत्त्यागो मोक्ष उच्यते। मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः। ज्ञमनो नाशमभ्येति मनोऽज्ञस्य हि शृङ्खला॥ ९७॥ नानन्दं न निरानन्दं न चलं नाचलं स्थिरम्। न सन्नासन्न चैतेषां मध्यं ज्ञानिमनो विदुः॥ ९८॥ यथा सौक्ष्म्याच्चिदाभास्य आकाशो नोपलक्ष्यते। तथा निरंशश्चिद्भावः सर्वगोऽपि न लक्ष्यते॥ ९९॥

भोगेच्छा ही बन्धन कही गयी है और उसका परित्याग ही मोक्ष कहलाता है। मन की प्रगति का कारण उसका नष्ट होना है। मन का नाश सौभाग्यवान् पुरुषों की पहचान है। ज्ञानी पुरुषों के मन का नाश हो जाता है। अज्ञानी के लिए मन बन्धन का कारण है। ज्ञानी पुरुषों के लिए मन न तो आनन्द रूप है और न ही आनन्दरहित है। उनके लिए वह चल, अचल, स्थिर, सत्, असत् भी नहीं है अथवा इसके मध्य की स्थिति वाला भी नहीं है। अखण्ड चेतनसत्ता सर्वव्यापक होते हुए भी उसी प्रकार दृष्टिगोचर नहीं होती, जिस प्रकार चित्त में आलोकित होने वाला आकाश सूक्ष्मता के कारण दिखाई नहीं देता॥ ९७-९९॥

सर्वसंकल्परहिता सर्वसंज्ञाविवर्जिता। सैषा चिदविनाशात्मा स्वात्मेत्यादिकृताभिधा॥ १००॥
आकाशशतभागाच्छा ज्ञेषु निष्कलरूपिणी। सकलामलसंसारस्वरूपैकात्मदर्शिनी॥ १०१॥
नास्तमेति न चोदेति नोत्तिष्ठति न तिष्ठति। न च याति न चायाति न च नेह न चेह चित्॥ १०२

सभी संज्ञाओं से रहित और संकल्पों से रहित यह चिदात्मा अविनाशी तथा स्वात्मा आदि नामों से जाना जाता है। वह समस्त निर्मल संसार के रूप में एकमात्र स्वयं को ही दर्शाता है। ज्ञानियों की दृष्टि में वह आकाश से भी सौ गुना स्वच्छ, निर्मल तथा निष्कलरूप है। वह चेतनसत्ता न तो कभी उदय होती है और न ही अस्त होती है, वह गमन-आगमन से रहित, न उठती और न स्थिर बैठी ही रहती है। वह न तो यहाँ और न ही वहाँ ही है॥ १००-१०२॥

सैषा चिदमलाकारा निर्विकल्पा निरास्पदा॥ १०३॥ आदौ शमदमप्रायैर्गुणैः शिष्यं विशोधयेत्। पश्चात्सर्वमिदं ब्रह्म शुद्धस्त्वमिति बोधयेत्॥ १०४॥ अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्। महानरकजालेषु स तेन विनियोजितः॥ १०५॥

वह चिदात्मा आश्रयहीन, विकल्परहित और शुद्धस्वरूप है। प्रारम्भ में शम-दम आदि गुणों द्वारा शिष्य के अन्तः का परिष्कार करना गुरु के लिए आवश्यक है, तत्पश्चात् उसे बोधस्वरूप यह ब्रह्मज्ञान प्रदान करे-यह सभी कुछ ब्रह्मरूप है और तुम निर्मल ब्रह्मरूप हो। अपरिपक्व बुद्धिवाले और अज्ञानी के समक्ष सब कुछ ब्रह्ममय है, ऐसा कहना उसे मानो घोर नरक में धकेलने की तरह है॥ १०३-१०५॥

[ऋषि कहते हैं कि प्रारम्भ में शिष्य-साधक को अभेद का उपदेश नहीं करना चाहिए। इसे पहले वाञ्छित-अवांञ्छित का भेद बताकर शम-दम आदि द्वारा चित्त शुद्धि करानी चाहिए। जब तक चित्त शुद्ध नहीं हो जाता, तब तक अभेद समझाने के प्रयास में वह अवाञ्छित का त्याग नहीं कर पाता। आज के उपदेशक ऐसी भूल करके साधक को कुपथ्य दे बैठते हैं।]

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

प्रबुद्धबुद्धेः प्रक्षीणभोगेच्छस्य निराशिषः। नास्त्यविद्यामलमिति प्राज्ञस्तूपदिशेद्गुरुः॥ १०६॥
सति दीप इवालोकः सत्यर्क इव वासरः। सति पुष्प इवामोदश्चिति सत्यं जगत्तथा॥ १०७॥

जिसकी भोग कामनाएँ क्षीण हो चुकी हैं, आकांक्षाएँ समाप्तप्राय हैं तथा बुद्धि जागरूक है, उसी को वेदान्त का उपदेश प्राज्ञ गुरु प्रदान करे। अविद्यारूपी विकार का कोई अस्तित्व नहीं। जैसे सूर्योदय होने पर दिवस, दीपक से प्रकाश तथा पुष्प से सुगन्धि की स्थिति का होना निश्चित है, वैसे ही चैतन्य पर संसार विद्यमान है॥ १०६-१०७॥

प्रतिभासत एवेदं न जगत्परमार्थतः। ज्ञानदृष्टौ प्रसन्नायां प्रबोधविततोदये॥ १०८॥
यथावज्ज्ञास्यसि स्वस्थो मद्वाग्वृष्टिबलाबलम्। अविद्ययैवोत्तमया स्वार्थनाशोद्यमार्थया॥ १०९॥
विद्या संप्राप्यते ब्रह्मन्सर्वदोषापहारिणी। शाम्यति ह्यस्त्रमस्त्रेण मलेन क्षाल्यते मलम्॥ ११०॥
शमं विषं विषेणैति रिपुणा हन्यते रिपुः। ईदृशी भूतमायेयं या स्वनाशेन हर्षदा॥ १११॥

वास्तव में यह संसार अस्तित्व रहित है, यह तो मात्र आभासित होता है। जब तुम्हारी ज्ञान-दृष्टि आवरण शून्य हो जायेगी और ज्ञान के प्रकाश से ओत-प्रोत होगी, ऐसे में तुम स्वयमेव अपने स्वरूप में स्थित हो जाओगे। तभी तुम्हें मेरे उपदेश की सत्यता का भली प्रकार बोध होगा। हे ब्रह्मन्! सब दोषों को दूर करने वाली विद्या की प्राप्ति स्वार्थभावना को विनष्ट करने के लिए प्रयत्नशील अविद्या द्वारा ही सम्भव होती है। अस्त्र द्वारा अस्त्र को निस्तेज किया जाता है और मल द्वारा मल धुलता है। विष द्वारा विष का शमन तथा शत्रु द्वारा शत्रु का हनन होता है। यह भूतमाया भी इसी प्रकार की है, जो अपने क्षय पर स्वयं हर्षित होती है॥ १०८-१११॥

न लक्ष्यते स्वभावोऽस्या वीक्ष्यमाणैव नश्यति। नास्त्येषा परमार्थेनेत्येवं भावनयेद्धया॥ ११२॥
सर्वं ब्रह्मेति यस्यान्तर्भावना सा हि मुक्तिदा। भेददृष्टिरविद्येयं सर्वथा तां विसर्जयेत्॥ ११३॥

आसानी से इसका स्वरूप देखने में नहीं आता, परन्तु दिखाई देते ही यह नाश को प्राप्त होती है। भेद दृष्टि का होना ही अविद्या है, इसका सर्वथा त्याग करना ही कल्याणप्रद है। वस्तुतः माया का अस्तित्व है ही नहीं- सब कुछ ब्रह्ममय है, ऐसी दृढ़ निश्चय से की गई आन्तरिक भावना ही मोक्षप्राप्ति का उपाय है॥ ११२-११३॥

मुने नासाद्यते तद्धि पदमक्षयमुच्यते। कुतो जातेयमिति ते द्विज मास्तु विचारणा॥ ११४॥
इमां कथमहं हन्मीत्येषा तेऽस्तु विचारणा। अस्तं गतायां क्षीणायामस्यां ज्ञास्यसि तत्पदम्॥११५॥
यत एषा यथा चैषा यथा नष्टेत्यखण्डितम्। तदस्या रोगशालाया यत्नं कुरु चिकित्सने॥११६॥

हे मुनिश्रेष्ठ! माया द्वारा जो नहीं पाया जाता, वह अक्षय पद के नाम से जाना जाता है। हे द्विज! इस माया की उत्पत्ति किससे हुई, इसके बारे में तुम्हें विचार नहीं करना चाहिए; अपितु विचार यही रहे कि किस प्रकार इसे नष्ट करूँ? इसके क्षीण होकर विनष्ट हो जाने पर तुम क्षयरहित पद को पा सकोगे। इसके प्रकट होने का लक्षण इसका स्वरूप और इसके नष्ट करने के उपाय पर विचार करते हुए इस रोग के मूलकारण के निदान का प्रयास करना चाहिए॥ ११४-११६॥

यथैषा जन्मदुःखेषु न भूयस्त्वां नियोक्ष्यति। स्वात्मनि स्वपरिस्पन्दैः स्फुरत्यच्छैश्चिदर्णवः॥११७॥
एकात्मकमखण्डं तदित्यन्तर्भाव्यतां दृढम्। किंचित्क्षुभितरूपा सा चिच्छक्तिश्चिन्मयार्णवे॥११८
तन्मयैव स्फुरत्यच्छा तत्रैवोर्मिरिवार्णवे। आत्मन्येवात्मना व्योम्नि यथा सरसि मारुतः॥ ११९॥
तथैवात्मात्मशक्त्यैव स्वात्मन्येवैति लोलताम्। क्षणं स्फुरति सा दैवी सर्वशक्तितया तथा॥१२०॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

जिससे यह तुम्हें आवागमन के जन्मचक्र में बारम्बार न डाले और चित् रूपी समुद्र निर्मल आत्म - स्पन्दन से विभासित हो सके। यह चिदात्मा अविभाजित रूप वाली है, अपने भीतर इस प्रकार का दृढ़निश्चय करना चाहिए। यह चिदात्मा चिन्मय सागर में कुछ क्षोभयुक्त हो रही है। सागर में लहरों की तरह निर्मल चिन्मय लहरें उठ रही हैं। आकाश सरोवर में जिस प्रकार वायु स्वयमेव लहराती है, उसी प्रकार अपनी आत्मा में आत्मबल से आत्मा तरंगित होती है। सर्वशक्तिमान् सत्ता द्वारा इस प्रकार की दैवी स्फुरणा क्षण मात्र के लिए होती है॥ ११७-१२०॥

देशकालक्रियाशक्तिर्न यस्याः संप्रकर्षणे। स्वस्वभावं विदित्वोच्चैरप्यनन्तपदे स्थिता॥ १२१॥

जिस चेतनशक्ति को देश, काल और क्रियाशक्ति चलायमान करने में अक्षम है, वही चेतनशक्ति अपनी स्वाभाविक स्थिति को जानकर उच्च अनन्त पद पर प्रतिष्ठित है॥ १२१॥

रूपं परिमितेनासौ भावयत्यविभाविता। यदैवं भावितं रूपं तया परमकान्तया॥ १२२॥
तदैवैनामनुगता नामसंख्यादिका दृशः। विकल्पकलिताकारं देशकालक्रियास्पदम्॥ १२३॥

यह चेतन शक्ति अज्ञान स्थिति में सीमित सी होकर रूप भावना वाली होती है। उस विलक्षण परमसत्ता में जब रूप की भावना समाविष्ट होती है। उस समय उसके साथ नाम और संख्या आदि उपाधियाँ जुड़ जाती हैं॥ १२२-१२३॥

चितो रूपमिदं ब्रह्मन्क्षेत्रज्ञ इति कथ्यते। वासनाः कल्पयन्सोऽपि यात्यहंकारतां पुनः॥ १२४॥
अहंकारो विनिर्णेता कलङ्की बुद्धिरुच्यते। बुद्धिः संकल्पिताकारा प्रयाति मननास्पदम्॥ १२५॥

हे ब्रह्मन्! चेतनशक्ति का वह रूप जो देश, काल और क्रिया का आश्रयरूप है तथा विकल्परूप को ग्रहण करने वाला है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है। पुनः वही वासनात्मक चिन्तन से अहंकाररूप कहा जाता है। जब अहंकार भी निश्चयात्मक और दोषपूर्ण हो जाता है, तो बुद्धि कहलाता है। बुद्धि भी जब संकल्परूप में परिणत हो जाती है, तो मननशील मन का रूप धारण करती है॥ १२४-१२५॥

मनो घनविकल्पं तु गच्छतीन्द्रियतां शनैः। पाणिपादमयं देहमिन्द्रियाणि विदुर्बुधाः॥ १२६॥

मन के गहरे विकल्प में डूबने पर धीरे-धीरे इन्द्रियस्वरूप की झलक मिलती है। मेधावी पुरुष हस्तपाद युक्त स्थूल शरीर को ही इन्द्रिय मानते हैं॥ १२६॥

एवं जीवो हि संकल्पवासनारज्जुवेष्टितः। दुःखजालपरीतात्मा क्रमादायाति नीचताम्॥ १२७॥
इति शक्तिमयं चेतो घनाहंकारतां गतम्। कोशकारक्रिमिरिव स्वेच्छया याति बन्धनम्॥ १२८॥

संकल्प और वासना की रस्सी से बँधा हुआ जीव दुःख-जाल में फँसकर निरन्तर दुर्गति की ओर बढ़ता है। रेशम बनाने वाले कीड़े की तरह शक्तिमय चित् घनीभूत अहंभाव को प्राप्त करके स्वेच्छा से बन्धन में बँधता है॥ १२७-१२८॥

स्वयं कल्पिततन्मात्राजालाभ्यन्तरवर्ति च। परां विवशतामेति शृङ्खलाबद्धसिंहवत्॥ १२९॥

चित्शक्ति अपने ही द्वारा संकल्पित तन्मात्रा रूपी पाश में जकड़कर जंजीर से बँधे हुए सिंह के समान अत्यन्त लाचार हो जाती है॥ १२९॥

क्वचिन्मनः क्वचिद्बुद्धिः क्वचिज्ज्ञानं क्वचित्क्रिया। क्वचिदेतदहंकारः क्वचिच्चित्तमिति स्मृतम्॥
क्वचित्प्रकृतिरित्युक्तं क्वचिन्मायेति कल्पितम्। क्वचिन्मलमिति प्रोक्तं क्वचित्कर्मेति संस्मृतम्॥
क्वचिद्बन्ध इति ख्यातं क्वचित्पुर्यष्टकं स्मृतम्। प्रोक्तं क्वचिदविद्येति क्वचिदिच्छेति संमतम्॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

इसी आत्मा को कहीं मन, कहीं बुद्धि, कहीं ज्ञान, कहीं क्रिया, कहीं अहंकार और कहीं चित्तरूप में जाना जाता है। यही कहीं प्रकृति और कहीं माया कहलाती है। कहीं बन्धन तो कहीं पुर्यष्टक (सूक्ष्मशरीर) कहा जाता है। इसे कहीं अविद्या और कहीं इच्छा नाम से जाना जाता है॥ १३०-१३२॥

इमं संसारमखिलमाशापाशविधायकम्। दधदन्तःफलैर्हीनं वटधाना वटं यथा॥ १३३॥

यह आशा रूपी जाल का रचयिता सम्पूर्ण विश्व को वैसे ही धारण करता है, जैसे फलरहित वट का बीज वटवृक्ष को धारण करता है॥ १३३॥

चिन्तानलशिखादग्धं कोपाजगरचर्वितम्। कामाब्धिकल्लोलरतं विस्मृतात्मपितामहम्॥ १३४॥

यह मन चिन्तारूपी अग्निज्वाला से दग्ध हुआ, क्रोधरूपी अजगर द्वारा काटा गया और कामरूपी सागर के भँवर में फँसा हुआ है, यह अपने पितामह आत्मा को विस्मृत कर चुका है॥ १३४॥

समुद्धर मनो ब्रह्मन्मातङ्गमिव कर्दमात्। एवं जीवाश्रिता भावा भवभावनयाहिताः॥ १३५॥
ब्रह्मणा कल्पिताकारा लक्षशोऽप्यथ कोटिशः। संख्यातीताः पुरा जाता जायन्तेऽद्यापि चाभितः॥
उत्पत्स्यन्तेऽपि चैवान्ये कणौघा इव निर्झरात्। केचित्प्रथमजन्मानः केचिज्जन्मशताधिकाः॥१३७
केचिच्चासंख्यजन्मानः केचिद्द्वित्रिभवान्तराः। केचित्किन्नरगन्धर्वविद्याधरमहोरगाः॥ १३८॥

हे ब्रह्मन्! कीचड़ (दल-दल) में फँसे हाथी के समान ही इस मन का उद्धार करो। जीव के आश्रित भाव ब्रह्म द्वारा लाखों; करोड़ों तथा असंख्य रूपों में कल्पित होकर पहले भी पैदा हो चुके हैं और आज भी पैदा हो रहे हैं तथा निर्झर से जलबिन्दुओं की उत्पत्ति के समान और भी उत्पन्न होते रहेंगे। कुछ प्रथम बार, कुछ सौ से अधिक बार, कुछ असंख्य बार जन्म धारण कर चुके हैं और किन्हीं के तो दो-तीन ही जन्म हुए हैं। कोई किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर एवं नागरूप में उत्पन्न हैं॥ १३५-१३८॥

केचिदर्केन्दुवरुणास्त्र्यक्षाधोक्षजपद्मजाः। केचिद्ब्राह्मणभूपालवैश्यशूद्रगणाः स्थिताः॥१३९॥
केचित्तृणौषधीवृक्षफलमूलपतङ्गकाः। केचित्कदम्बजम्बीरसालतालतमालकाः॥ १४०॥
केचिन्महेन्द्रमलयसह्यमन्दरमेरवः। केचित्क्षारोदधिक्षीरघृतेक्षुजलराशयः॥ १४१॥

कोई सूर्य, चन्द्र, वरुण, हरि, शिव एवं ब्रह्मरूप धारण किये हुए हैं। कुछ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि रूप में स्थित हैं। कोई औषधि, तृण, वृक्ष, फल, मूल एवं पत्ते के रूप में हैं। तो कोई जम्बीर (नींबू), कदम्ब, आम, ताड़ तथा तमाल पेड़ के रूप में हैं। कुछ महेन्द्र, मलय, सह्य, मन्दर, मेरु आदि पर्वतों के रूप में विद्यमान हैं। कोई खारे सागर, कोई दूध, घृत, गन्ने के रस तथा जलराशि के रूप में स्थित हैं॥ १३९-१४१॥

केचिद्विशालाः ककुभः केचिन्नद्यो महारयाः। विहरन्त्युच्चकैः केचिन्निपतन्त्युत्पतन्ति च॥१४२॥
कन्दुका इव हस्तेन मृत्युनाऽविरतं हताः। भुक्त्वा जन्मसहस्राणि भूयः संसारसंकटे॥ १४३॥
पतन्ति केचिदबुधाः संप्राप्यापि विवेकताम्। दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमात्मतत्त्वं स्वशक्तितः॥१४४॥
लीलयैव यदादत्ते दिक्कालकलितं वपुः। तदेव जीवपर्यायवासनावेशतः परम्॥ १४५॥
मनः संपद्यते लोलं कलनाकलनोन्मुखम्। कलयन्ती मनःशक्तिरादौ भावयति क्षणात्॥ १४६॥
आकाशभावनामच्छां शब्दबीजरसोन्मुखीम्। ततस्तद्घनतां यातं घनस्पन्दक्रमान्मनः॥ १४७॥
भावयत्यनिलस्पन्दं स्पर्शबीजरसोन्मुखम्। ताभ्यामाकाशवाताभ्यां दृढाभ्यासवशात्ततः॥ १४८॥

कोई द्रुतवेग वाली नदियों के रूप में प्रवाहित हैं, तो कोई विस्तृत दिशाओं का रूप धारण किये हुए हैं।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

कुछ ऊपर उठते हैं,कुछ नीचे गिरते हैं तथा कुछ पुनः ऊर्ध्वगमन करते हैं। हाथ से गेंद को बार-बार गिराने-उछालने के समान कुछ मृत्यु द्वारा ताड़ित होकर आसमान में उठते और गिरते रहते हैं। अनेक ऐसे हैं जो विवेकवान् होकर भी शुभकर्म करते और हजारों जन्म ग्रहण कर लेने पर भी उनका संसार सागर से आवागमन नहीं मिटता। दिशा और काल से अनवच्छिन्न आत्मतत्त्व जब अपनी सामर्थ्य से शरीर धारण करता है,तब यही जीव वासना के वशीभूत होकर संकल्पों की ओर जाने वाले चञ्चल मन का रूप ग्रहण कर लेता है। वह संकल्प से युक्त मनःशक्ति क्षणमात्र में ही स्वच्छ आकाश की भावना करती है, उसमें शब्दबीज अंकुरित होने लगते हैं। तत्पश्चात् वही मन अधिक सघन होकर घने स्पन्दन के क्रम से वायुस्पन्दन की भावना में लीन होता है॥ १४२-१४८॥

शब्दस्पर्शस्वरूपाभ्यां संघर्षाज्जन्यतेऽनलः। रूपतन्मात्रसहितं त्रिभिस्तैः सह संमितम्॥ १४९॥
मनस्तादृग्गुणगतं रसतन्मात्रवेदनम्। क्षणाच्चेतत्यपां शैत्यं जलसंवित्ततो भवेत्॥ १५०॥

उसमें स्पर्शरूप बीज के अंकुर फूटते हैं। उसके बाद दृढ़ अभ्यास द्वारा शब्द-स्पर्श रूप आकाश एवं वायु के टकराने से अग्नि उत्पन्न होती है। तीनों गुणों से ओत-प्रोत मन रस तन्मात्रा की अनुभूति करता हुआ क्षण भर में जल की ठण्डक का विचार करता है, इससे उसे जल का अनुभव होता है॥ १४९-१५०॥

[आकाश में वायु की गतिशीलता से जो घर्षण क्रिया होती है। उससे विद्युत् विभव (इलैक्ट्रिकल चार्ज) के रूप में अग्नि का उद्भव होता है। वायु के घटकों (हाइड्रोजन+आक्सीजन) को अग्नि संयुक्त करके जल रूप देता है। विज्ञान यह क्रिया स्थूल पदार्थ रूप में ही समझ पाता है, ऋषि इसे सूक्ष्म तन्मात्राओं के रूप में भी अनुभव करते हैं।]

ततस्तादृग्गुणगतं मनो भावयति क्षणात्। गन्धतन्मात्रमेतस्माद्भूमिसंवित्ततो भवेत्॥ १५१॥
अथेत्थंभूततन्मात्रवेष्टितं तनुतां जहत्। वपुर्वह्निकणाकारं स्फुरितं व्योम्नि पश्यति॥ १५२॥

फिर चार गुणों से संयुक्त होकर मन अगले ही क्षण गन्ध तन्मात्रा का भाव कर लेता है, इससे उसे पृथ्वी का अनुभव होने लगता है। इस प्रकार पाँच तन्मात्राओं से युक्त होकर वह मन अपनी सूक्ष्मता त्यागकर आसमान में अग्निकणों की शक्ल में स्फुरित होते हुए शरीर का दर्शन करता है॥ १५१-१५२॥

[ऋषि सूक्ष्म से क्रमशः स्थूल के विकास का चित्रण कर रहे हैं। यहाँ सूक्ष्म मनोमय से अपेक्षाकृत स्थूल अग्निकणों के रूप में प्राणमय कोश के विकास का क्रम बतलाया गया है। यह प्राणमय ही परिपक्व होकर स्थूल काया का रूप लेता है। ऋषि इस क्रिया की उपमा स्वर्णकणों को गलाकर वाञ्छित आकार में ढालने की क्रिया से दे रहे हैं।]

अहंकारकलायुक्तं बुद्धिबीजसमन्वितम्। तत्पुर्यष्टकमित्युक्तं भूतहृत्पद्मषट्पदम्॥ १५३॥
तस्मिंस्तु तीव्रसंवेगाद्भावयद्भासुरं वपुः। स्थूलतामेति पाकेन मनो बिल्वफलं यथा॥ १५४॥

वह शरीर ही अहंकार कलाओं से युक्त और बुद्धि बीज से संयुक्त 'पुर्यष्टक' नाम से जाना जाता है, जो प्राणियों के हृदय कमल में मँडराने वाले भौंरे के सदृश है। पाक (परिपूर्णावस्था) की स्थिति में बिल्वफल की तरह ही तीव्र संवेगात्मक तेजस्वी शरीर की भावना किये जाने पर, मन स्थूल हो जाता है॥१५३-१५४॥

मूषास्थद्रुतहेमाभं स्फुरितं विमलाम्बरे। संनिवेशमथादत्ते तत्तेजः स्वस्वभावतः॥ १५५॥
ऊर्ध्वं शिरः पिण्डमयमधः पादमयं तथा। पार्श्वयोर्हस्तसंस्थानं मध्ये चोदरधर्मिणम्॥ १५६॥
कालेन स्फुटतामेत्य भवत्यमलविग्रहम्। बुद्धिसत्त्वबलोत्साहविज्ञानैश्वर्यसंस्थितः॥ १५७॥

निर्मल आकाश में वह तेज, मूषा (सोना गलाने के पात्र) में पिघले हुए स्वर्ण के समान स्फुरित होकर अपनी प्रकृति के अनुसार गठित होने लगता है। ऊपर से वह सिर की तरह, नीचे से पैरों की तरह, पार्श्वों में

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

भुजाओं की तरह तथा मध्य में उदर की तरह समय आने पर अभिव्यक्ति को प्राप्त होकर पूर्ण शरीर के आकार को प्राप्त हो जाता है। बुद्धि, वीर्य, बल, उत्साह, विज्ञान और वैभव से सम्पन्न हो जाता है ॥१५५-१५७॥

स एव भगवान्ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः। अवलोक्य वपुर्ब्रह्मा कान्तमात्मीयमुत्तमम्॥ १५८॥
चिन्तामभ्येत्य भगवांस्त्रिकालामलदर्शनः। एतस्मिन्परमाकाशे चिन्मात्रैकात्मरूपिणि॥ १५९॥
अदृष्टपारपर्यन्ते प्रथमं किं भवेदिति। इति चिन्तितवान्ब्रह्मा सद्योजातामलात्मदृक्॥ १६०॥

वही शरीर सब लोकों का पितामह भगवान् ब्रह्मा बन जाता है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान के प्रत्यक्ष द्रष्टा भगवान् ब्रह्माजी ने अपनी उत्तम और मनोहर छबि को निहारकर विचार किया कि इस चिन्मात्र आत्मरूपी परमाकाश का कोई आदि-अन्त दृष्टिगोचर नहीं होता। सर्वप्रथम क्या होना चाहिए? इस प्रकार का विचार करते ही तत्काल उन्हें पवित्र आत्मदृष्टि प्राप्त हुई॥ १५८-१६०॥

अपश्यत्सर्गवृन्दानि समतीतान्यनेकशः। स्मरत्यथो स सकलान्सर्वधर्मगुणक्रमात्॥ १६१॥
लीलया कल्पयामास चित्राः संकल्पतः प्रजाः। नानाचारसमारम्भा गन्धर्वनगरं यथा॥ १६२॥
तासां स्वर्गापवर्गार्थं धर्मकामार्थसिद्धये। अनन्तानि विचित्राणि शास्त्राणि समकल्पयत्॥ १६३॥

उन्हें अतीतकाल में हुई सृष्टि के असंख्य सर्ग दिखाई दिये, इससे समस्त धर्मों एवं गुणों के क्रम उनके स्मृति पटल पर उभर आये। उन्होंने माया से ही विभिन्न प्रकार के आचारों से समन्वित अनेक रूप-रंग की प्रजा को अन्तरिक्ष में गन्धर्वलोक के समान ही संकल्प-शक्ति से प्रादुर्भूत कर दिया। उनके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए उन्होंने अनेक चित्र-विचित्र शास्त्रों और स्वर्ग-नरकादि की कल्पना (रचना) कर दी ॥ १६१-१६३॥

विरञ्चिरूपान्मनसः कल्पितत्वाज्जगत्स्थितेः। तावत्स्थितिरियं प्रोक्ता तन्नाशे नाशमाप्नुयात्॥१६४
न जायते न म्रियते क्वचित्किंचित्कदाचन। परमार्थेन विप्रेन्द्र मिथ्या सर्वं तु दृश्यते॥ १६५॥
कोशमाशाभुजङ्गानां संसाराडम्बरं त्यज। असदेतदिति ज्ञात्वा मातृभावं निवेशय॥ १६६॥

ब्रह्मारूपी मन की कल्पना द्वारा संसार की स्थिति होने से ब्रह्मा के जीवन के साथ इसका (मन का) जीवन है। ब्रह्माजी के आयुष्य समाप्ति के साथ इस मन की भी समाप्ति है। हे द्विजश्रेष्ठ! वास्तव में न तो कोई कहीं जन्म ही ग्रहण करता है और न अवसान को ही प्राप्त होता है। यह सब मिथ्या है, जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है। यह प्रपंचात्मक संसार आशारूपी सर्पिणियों की पिटारी है, इसे त्यागना ही उचित है। इसे 'असत्' मानकर मातृभाव में स्थिर होना श्रेयस्कर है॥ १६४-१६६॥

गन्धर्वनगरस्यार्थे भूषितेऽभूषिते तथा। अविद्यांशे सुतादौ वा कः क्रमः सुखदुःखयोः॥ १६७॥
धनदारेषु वृद्धेषु दुःखयुक्तं न तुष्टता। वृद्धायां मोहमायायां कः समाश्वासवानिह॥ १६८॥
यैरेव जायते रागो मूर्खस्याधिकतां गतैः। तैरेव भागैः प्राज्ञस्य विराग उपजायते॥ १६९॥

गन्धर्व नगर चाहे सुसज्जित हो या असुसज्जित, वह कैसा भी क्यों न दिखाई दे, वह तुच्छ ही है। उसी तरह अविद्या के अंशरूप ये पुत्र आदि भी प्रपंचरूप हैं, इनके प्रति आसक्ति होना दुःख का कारण है। धन-स्त्री आदि की वृद्धि के प्रति सुख-दुःख का भाव रखना निरर्थक है। इसमें सन्तोष मानने की कहीं गुंजायश नहीं। मोह-माया की वृद्धि होने पर इस लोक में कौन सुख-शान्ति का अधिकारी बना है। जिन पदार्थों की बहुतायत से अज्ञानी जन सुख अनुभव करते हैं, उन्हीं से ज्ञानी पुरुष विरक्त रहते हैं॥ १६७-१६९॥

अतो निदाघ तत्त्वज्ञ व्यवहारेषु संसृतेः। नष्टं नष्टमुपेक्षस्व प्राप्तं प्राप्तमुपाहर॥ १७०॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अनागतानां भोगानामवाञ्छनमकृत्रिमम्। आगतानां च संभोग इति पण्डितलक्षणम्॥ १७१॥
शुद्धं सदसतोर्मध्यं पदं बुद्ध्वावलम्ब्य च। सबाह्याभ्यन्तरं दृश्यं मा गृहाण विमुञ्च मा॥ १७२॥

हे तत्त्वज्ञानी निदाघ! सांसारिक व्यवहार में जिस-जिसका अभाव होता जाए, उसकी इच्छा न करे और जो-जो सहजता से उपलब्ध हो, उसे स्वीकार करे। अप्राप्त की इच्छा न करना और प्राप्त उपभोग्य सामग्री का उपयोग करना यही पाण्डित्य है। सत् और असत् के बीच शुद्ध पद को जानकर, उसका अवलम्बन ग्रहण कर के बाह्याभ्यन्तरिक दृश्यों को न तो ग्रहण करे और न ही त्यागे॥ १७०-१७२॥

यस्य चेच्छा तथाऽनिच्छा ज्ञस्य कर्मणि तिष्ठतः। न तस्य लिप्यते प्रज्ञा पद्मपत्रमिवाम्बुभिः॥१७३
यदि ते नेन्द्रियार्थश्रीः स्पन्दते हृदि वै द्विज। तदा विज्ञातविज्ञेयः समुत्तीर्णो भवार्णवात्॥१७४॥
उच्चैःपदाय परया प्रज्ञया वासनागणात्। पुष्पाद्गन्धमपोह्यारं चेतोवृत्तिं पृथक्कुरु॥ १७५॥

इच्छा और अनिच्छा को समान मानने वाले ज्ञानी पुरुष कर्म करते हुए भी उसमें उसी प्रकार लिप्त नहीं होते, जैसे कीचड़ में कमलपत्र पड़ा रहकर भी उससे लिप्त नहीं होता। हे द्विज! यदि आपके हृदय में इन्द्रियजन्य विषय हलचल पैदा नहीं करते, तो आप ज्ञातव्य पदार्थ का ज्ञान प्राप्त कर संसार रूपी समुद्र से पार हो गये। विशिष्ट ज्ञानयुक्त होकर वासनारूपी फूलों की सुगन्ध से अपनी चित्तवृत्ति को जल्दी ही दूर कर लिया जाए, तो महान् पद की प्राप्ति हो सकती है॥ १७३-१७५॥

संसाराम्बुनिधावस्मिन्वासनाम्बुपरिप्लुते। ये प्रज्ञानावमारूढास्ते तीर्णाः पण्डिताः परे॥ १७६॥
न त्यजन्ति न वाञ्छन्ति व्यवहारं जगद्गतम्। सर्वमेवानुवर्तन्ते पारावारविदो जनाः॥ १७७॥
अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य सत्तासामान्यरूपिणः। चितश्चेत्योन्मुखत्वं यत्तत्संकल्पाङ्कुरं विदुः॥ १७८॥
लेशतः प्राप्तसत्ताकः स एव घनतां शनैः। याति चित्तत्वमापूर्य दृढं जाड्याय मेघवत्॥ १७९॥

वासनारूपी जल से युक्त इस संसार-सागर में जो सद्ज्ञान रूपी नौका पर आरूढ़ हैं, वे ज्ञानीजन इससे पार हो गये। सांसारिक प्रपञ्च के जानकार पुरुष सांसारिक व्यवहार का न तो परित्याग करते हैं और न ही उसकी कामना करते हैं; अपितु वे उनके प्रति अनासक्ति का ही व्यवहार करते हैं, ज्ञानियों ने संकल्प का अंकुरित होना ही अनन्त आत्मतत्त्वरूप चेतन का विषयासक्त होना माना है। वही संकल्प अल्पमात्र स्थान प्राप्त करके धीरे-धीरे सघन होते हैं; तत्पश्चात् वे मेघ की तरह सुदृढ़ होकर चित्ताकाश को ढककर जड़त्व भाव का संचार करते हैं॥ १७६-१७९॥

भावयन्ति चितिश्चैत्यं व्यतिरिक्तमिवात्मनः। संकल्पतामिवायाति बीजमङ्कुरतामिव॥ १८०॥
संकल्पनं हि संकल्पः स्वयमेव प्रजायते। वर्धते स्वयमेवाशु दुःखाय न सुखाय यत्॥ १८१॥
मा संकल्पय संकल्पं मा भावं भावय स्थितौ। संकल्पनाशने यत्तो न भूयोऽननुगच्छति॥१८२॥

बीज के अंकुरावस्था को प्राप्त करने के समान ही चेतन विषयों को स्वयं से अलग-सा मानते हुए वह संकल्पावस्था को प्राप्त होता है। संकल्प से उसकी क्रिया अपने आप ही प्रकट होती है और स्वयं ही शीघ्रातिशीघ्र वृद्धि को प्राप्त होती है। लेकिन वह दुःख का ही कारण बनती है, सुख देने वाली नहीं होती। चित्त में उत्पन्न होने वाली संकल्प क्रिया को रोके। उसमें पदार्थ भावना न करे, जिसने संकल्प को विनष्ट करने का निश्चय किया है,उसे पुनः उसका अनुगमन करना उचित नहीं॥ १८०-१८२॥

भावनाऽभावमात्रेण संकल्पः क्षीयते स्वयम्। संकल्पेनैव संकल्पं मनसैव मनो मुने॥ १८३॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

छित्त्वा स्वात्मनि तिष्ठ त्वं किमेतावति दुष्करम्। यथैवेदं नभः शून्यं जगच्छून्यं तथैव हि ॥१८४॥
तण्डुलस्य यथा चर्म यथा ताम्रस्य कालिमा। नश्यति क्रियया विप्र पुरुषस्य तथा मलम्॥१८५॥
जीवस्य तण्डुलस्येव मलं सहजमप्यलम्। नश्यत्येव न संदेहस्तस्मादुद्योगवान्भवेत्॥ १८६॥
इति महोपनिषत्॥

भावना का अभाव होते ही संकल्प स्वयमेव समाप्त हो जाता है। हे मुनिश्रेष्ठ! संकल्प द्वारा संकल्प को और मन द्वारा मन को नष्ट कर डाले। आकाश की तरह ही यह जगत् भी शून्य है। हे विप्र! जिस तरह ताँबे की कालिमा और धान का छिलका प्रयत्नपूर्वक क्रिया विशेष से नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार पुरुष का विकार रूपी दोष प्रयत्न से दूर हो जाता है, धान के छिलके के समान जीव पर मल-विकाररूपी दोष प्रकृतिगत हैं, तो भी उनका नष्ट होना निश्चित है-इसमें रत्तीभर सन्देह नहीं। अतएव आत्मस्वरूप में स्थित होकर उद्योगी पुरुष बनने का प्रयत्न करो, इसमें असम्भव जैसी स्थिति है ही नहीं॥ १८३-१८६॥

[चेतन के ऊपर चढ़े विकार की तुलना धान के छिलके से की गई है। विकार हटाये बिना चावल सेवन करने योग्य नहीं होता और पुनः फलित होने के लिए छिलका-विकार आवश्यक है। छिलका-विकार हटते ही वह ज्ञानी के लिए सेव्य है तथा पुनर्जन्म के चक्र की संभावना भी समाप्त हो जाती है।]

॥ षष्ठोऽध्यायः ॥

अन्तरास्थां परित्यज्य भावश्रीं भावनामयीम्। योऽसि सोऽसि जगत्यस्मिल्लीलया विहरानघ ॥१॥
सर्वत्राहमकर्तेति दृढभावनयानया । परमामृतनाम्नी सा समतैवावशिष्यते ॥ २॥

हे निष्पाप! अन्तरंग की आस्था एवं भावनायुक्त भावों की सम्पदा का परित्याग करके आप अपने वास्तविक रूप में संसार में सुखपूर्वक विचरण करें। सभी जगह स्वयं को अकर्त्ता मानें, इस सुदृढ़ भावना से परम अमृत नाम की समता (एकरसता) ही अवशिष्ट रहती है॥ १-२॥

खेदोल्लासविलासेषु स्वात्मकर्तृतयैकया । स्वसंकल्पे क्षयं याते समतैवावशिष्यते ॥ ३॥
समता सर्वभावेषु यासौ सत्यपरा स्थितिः। तस्यामवस्थितं चित्तं न भूयो जन्मभाग्भवेत्॥४॥

दुःख और उल्लास-विलास-ये मनुष्य द्वारा स्वतः उत्पादित हैं। अपने संकल्प के क्षय होने पर समता भाव ही अवशेष रहता है। सभी पदार्थों में समता की वास्तविक स्थिति को चित्त में निष्ठापूर्वक धारण कर लेने पर आवागमन का चक्र समाप्त हो जाता है॥ ३-४॥

अथवा सर्वकर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने। सर्वं त्यक्त्वा मनः पीत्वा योऽसि सोऽसि स्थिरो भव॥५॥
शेषस्थिरसमाधानो येन त्यजसि तत्त्यज। चिन्मनःकलनाकारं प्रकाशतिमिरादिकम्॥ ६॥
वासनां वासितारं च प्राणस्पन्दनपूर्वकम्। समूलमखिलं त्यक्त्वा व्योमसाम्यः प्रशान्तधीः ॥७॥

हे मुने! सभी कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य का त्यागकर,मन का पान कर आप अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिर हों। बाद में समाधिस्थ होकर जिससे आप त्याग किया करते हैं,उसे भी छोड़ दें। चेतन ने ही मानसिक संकल्प का आकार धारण कर रखा है,वही प्रकाश और अंधकार का रूप धारण किये हुए है। अतः प्राणस्पन्दन के साथ-साथ वासना का सम्पूर्ण परित्याग करके आकाश की तरह निर्मल और शान्त मन वाले बनें॥ ५-७॥

हृदयात्संपरित्यज्य सर्ववासनपङ्क्तयः । यस्तिष्ठति गतव्यग्रः स मुक्तः परमेश्वरः ॥ ८॥
दृष्टं द्रष्टव्यमखिलं भ्रान्तं भ्रान्त्या दिशो दश। युक्त्या वै चरतो ज्ञस्य संसारो गोष्पदाकृतिः ॥९॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सबाह्याभ्यन्तरे देहे ह्यध ऊर्ध्वं च दिक्षु च। इत आत्मा ततोऽप्यात्मा नास्त्यनात्ममयं जगत्॥१०॥

मुक्त और शान्त वही है,जो हृदय से सभी वासनाओं को छोड़ देता है,वही परमेश्वर है। वह दसों दिशाओं में घूमते हुए भ्रान्तिवश द्रष्टव्य पदार्थों को देखने में सक्षम है। प्रयत्नपूर्वक आचरणशील ज्ञानीपुरुषों के लिए यह संसार गोष्पद (गाय का खुर) की तरह सहज ही पार उतरने योग्य बन जाता है। शरीर के बाहर-भीतर,ऊपर-नीचे तथा सभी दिशाओं में सर्वत्र आत्मा ही विद्यमान है,उसके निमित्त यह संसार अनात्ममय नहीं होता॥८-१०

न तदस्ति न यत्राहं न तदस्ति न तन्मयम्। किमन्यदभिवाञ्छामि सर्वं सच्चिन्मयं ततम्॥ ११॥
समस्तं खल्विदं ब्रह्म सर्वमात्मेदमाततम्। अहमन्य इदं चान्यदिति भ्रान्तिं त्यजानघ॥ १२॥
ततेे ब्रह्मघने नित्ये संभवन्ति न कल्पिताः। न शोकोऽस्ति न मोहोऽस्ति न जरास्ति न जन्म वा॥

हे निष्पाप! 'यह और है' 'मैं अन्य हूँ', इस प्रकार की भ्रान्त-धारणा का परित्याग कर दे। ऐसा कोई स्थल नहीं, जहाँ मेरा अस्तित्व नहीं, उस वस्तु का अभाव है, जो आत्मरूप न हो। मैं ऐसी कौन सी वस्तु की कामना करूँ? सब में सत् और चिन्मय तत्त्व संव्याप्त है। यह सब कुछ ब्रह्ममय ही है, सबमें आत्मा का ही विस्तार है। सर्वव्यापी और नित्य सच्चिदानन्द घन ब्रह्म में काल्पनिक भावों की सम्भावना नहीं है। यह तत्त्व शोक, मोह, जरा और जन्म से रहित है॥ ११-१३॥

यदस्तीह तदेवास्ति विज्वरो भव सर्वदा। यथाप्राप्तानुभवतः सर्वत्रानभिवाञ्छनात्॥ १४॥
त्यागादानपरित्यागी विज्वरो भव सर्वदा। यस्येदं जन्म पाश्चात्त्यं तमाश्वेव महामते॥ १५॥
विशन्ति विद्या विमला मुक्ता वेणुमिवोत्तमम्। विरक्तमनसां सम्यक्स्वप्रसङ्गादुदाहृतम्॥ १६॥
द्रष्टुर्दृश्यसमायोगात्प्रत्ययानन्दनिश्चयः। यस्तं स्वमात्मतत्त्वोत्थं निष्पन्दं समुपास्महे॥ १७॥
द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह। दर्शनप्रत्ययाभासमात्मानं समुपास्महे॥ १८॥

आत्मतत्त्व में जो विद्यमान है, वही सब कुछ है। अतएव हमेशा सभी जगह किसी पदार्थ की अभिलाषा न करते हुए सहज में जो उपलब्ध हो, उसी का आसक्तिरहित होकर उपभोग करते हुए शोकरहित होकर रहना चाहिए। किसी वस्तु का न तो परित्याग और न ग्रहण- इस प्रकार सन्तापहीन होकर रहना चाहिए। हे महामते! जिस व्यक्ति का यह जन्म आखिरी है (अर्थात् आगे जिसका जन्म नहीं होना है), उसमें शीघ्र ही श्रेष्ठ प्रजाति की मुक्ता के समान निर्मल विद्या प्रविष्ट होती है। जिनके मन में वैराग्य भाव है, ऐसे ज्ञानियों द्वारा अपने अनुभवजन्य ज्ञान से यह अभिव्यक्त किया गया है कि द्रष्टा को दृश्य के माध्यम से जो निश्चयात्मिका सुखानुभूति होती है, वह आत्मतत्त्व से प्रकट हुआ स्पन्दन है, जिसकी हम उत्तम रीति से उपासना करते हैं॥ १४-१८॥

द्वयोर्मध्यगतं नित्यमस्तिनास्तीति पक्षयोः। प्रकाशनं प्रकाशानामात्मानं समुपास्महे॥ १९॥

वासनात्मक चिन्तन के साथ द्रष्टा, दृश्य और दर्शन इन तीनों का परित्याग करके प्रकाशमान आत्मा के हम उपासक हैं। अस्ति-नास्ति के बीच विद्यमान प्रकाशों के भी प्रकाशक सनातन आत्मा के हम उपासक हैं॥

संत्यज्य हृद्गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये। ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्तहस्तस्थकौस्तुभाः॥ २०॥
उत्थितानुत्थितानेतानिन्द्रियारीन्पुनः पुनः। हन्याद्विवेकदण्डेन वज्रेणेव हरिर्गिरीन्॥ २१॥

हमारे हृदय में वह आत्मतत्त्व महेश्वर के रूप में विद्यमान है। जो पुरुष इस आत्मा को त्यागकर अन्य वस्तु की प्राप्ति हेतु यत्नशील हैं, वे अपने हाथ में स्थित कौस्तुभमणि को छोड़कर अन्य रत्न की अभिलाषा करते हैं। इन्द्र द्वारा वज्र से पर्वतों को तहस-नहस करने की तरह इन्द्रियरूपी शत्रु-चाहे बलवान् हों या कमजोर, उन्हें विवेकरूपी दण्डप्रहार से बारम्बार प्रताड़ित करना चाहिए॥ २०-२१॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

संसाररात्रिदुःस्वप्ने शून्ये देहमये भ्रमे । सर्वमेवापवित्रं तद्दृष्टं संसृतिविभ्रमम् ॥ २२ ॥
अज्ञानोपहतो बाल्ये यौवने वनिताहतः । शेषे कलत्रचिन्तार्तः किं करोति नराधमः ॥ २३ ॥
सतोऽसत्ता स्थिता मूर्ध्नि रम्याणां मूर्ध्न्यरम्यता । सुखानां मूर्ध्नि दुःखानि किमेकं संश्रयाम्यहम् ॥२४

संसाररूपी रात्रि के दुःस्वप्नरूप और सर्वथा शून्यवत् इस शरीररूपी भ्रम में जो भी कुछ मायाजाल का प्रसार देखा है, वह सभी पवित्रता से परे है। बाल्यकाल में अज्ञानता से ग्रसित रहा , युवाकाल में वनिता (स्त्री) के द्वारा आहत किया गया और अब अन्तिम अवस्था में यह अधम मनुष्य स्त्री-पुत्रादि की चिन्ता में आर्त्त (दुःखी) होकर आखिर अपना क्या उपकार कर सकता है ? सत् के मूर्द्धा (सिर) पर असत् का बोलबाला है। रमणीकता के ऊपर कुरूपता चढ़ी हुई है। सुखों के ऊपर दुःख प्रतिष्ठित हैं। ऐसी स्थिति में मैं किस एक का अवलम्बन प्राप्त करूँ ?॥ २२-२४ ॥

येषां निमेषणोन्मेषौ जगतः प्रलयोदयौ । तादृशाः पुरुषा यान्ति मादृशां गणनैव का ॥ २५ ॥
संसार एव दुःखानां सीमान्त इति कथ्यते । तन्मध्ये पतिते देहे सुखमासाद्यते कथम् ॥ २६ ॥

जिनके निमेष एवं उन्मेष से इस संसार का विनाश एवं उत्पत्ति निश्चित है। इस प्रकार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष भी जब काल-कवलित हो जाते हैं, तब मुझ जैसे सामान्य पुरुषों की तो गणना ही क्या है। इस नश्वर जगत् को ही दुःखों की अन्तिम परिधि माना गया है, उसमें शरीर के पड़े रहने पर सुखास्वादन किस प्रकार हो सकता है ?॥ २५-२६ ॥

प्रबुद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि दुष्टश्चोरोऽयमात्मनः । मनो नाम निहन्म्येनं मनसास्मि चिरं हृतः ॥२७ ॥
मा खेदं भज हेयेषु नोपादेयपरो भव । हेयादेयदृशौ त्यक्त्वा शेषस्थः सुस्थिरो भव ॥ २८ ॥

मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ, मैं जाग गया हूँ। मेरी आत्मा को चुराने वाला दुष्ट चोर मेरा यह दूषित मन ही है। इसने न जाने मुझे कब अति दीर्घकाल से चुराकर अपने वश में कर लिया है। अब मैं इसे जान गया हूँ। अतः इसको विनष्ट कर डालूँगा। हेय पदार्थों के लिए दुःखित मत हो और उपादेय पदार्थों के प्रति आसक्त मत हो। हेय एवं उपादेय से सम्बन्धित दृष्टि का परित्याग करके शेष में प्रतिष्ठित होकर अवस्थित हो जाओ ॥ २७-२८ ॥

निराशता निर्भयता नित्यता समता ज्ञता । निरीहता निष्क्रियता सौम्यता निर्विकल्पता ॥ २९ ॥
धृतिर्मैत्री मनस्तुष्टिर्मृदुता मृदुभाषिता । हेयोपादेयनिर्मुक्ते ज्ञे तिष्ठन्त्यपवासनम् ॥ ३० ॥
गृहीततृष्णाशबरीवासनाजालमाततम् । संसारवारिप्रसृतं चिन्तातन्तुभिराततम् ॥ ३१ ॥
अनया तीक्ष्णया तात छिन्धि बुद्धिशलाकया । वात्ययेवाम्बुदं जालं छित्त्वा तिष्ठ तते पदे ॥३२ ॥

इस नश्वर जगत् की ओर से निराशा, निर्भयता, नित्यता, अभिज्ञता, समता, निष्कामता, निष्क्रियता, सौम्यता, धृति, निर्विकल्पता, मैत्री, सन्तोष, मृदुता एवं मृदुभाषण आदि गुण वासनारहित तथा हेय (हीन) और उपादेय (उपयोगी) के प्रभाव से रहित प्रज्ञावान् पुरुष में निवास करते हैं। तृष्णारूपिणी भीलनी के द्वारा विस्तीर्ण किये हुए वासना रूपी जाल से तुम आबद्ध किये गये हो, चिन्ता रूपी रश्मियों के द्वारा संसार रूपी मृग-मरीचिकात्मक जल चतुर्दिक् फैला दिया गया है। हे पुत्र निदाघ! जिस तरह बवण्डर से मेघ रूपी जाल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, वैसे ही इस ज्ञानरूपी तीव्र बर्छी से उसे नष्ट करके अपने व्यापक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाओ॥ २९-३२ ॥

मनसैव मनश्छित्त्वा कुठारेणेव पादपम् । पदं पावनमासाद्य सद्य एव स्थिरो भव ॥ ३३ ॥
तिष्ठन्नाच्छन्त्स्वपञ्जाग्रन्निवसन्नुत्पतन्पतन् । असदेवेदमित्यन्तं निश्चित्यास्थां परित्यज ॥ ३४ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

दृश्यमाश्रयसीदं चेत्तत्सच्चित्तोऽसि बन्धवान्। दृश्यं संत्यजसीदं चेत्तदाऽचित्तोऽसि मोक्षवान्॥

जिस प्रकार वृक्ष द्वारा प्रदत्त बेंट का सान्निध्य पाकर कुल्हाड़ी वृक्ष को ही काट डालती है, उसी प्रकार मन के द्वारा ही मन को काटकर परम पावन अविनाशी पद को अतिशीघ्र प्राप्त करके स्थिर हो जाओ। खड़े रहते, चलते, जागते, सोते, निवास करते, बैठते, उठते तथा गिरते समय भी ये सभी कुछ असत् ही है; इस प्रकार का दृढ़ निश्चय रखो। दृश्य पदार्थों से आस्था का परित्याग कर दो; क्योंकि यदि दृश्य पदार्थ का आश्रय प्राप्त करते हो, तो चित्तमय होकर बन्धन में पड़ते हो तथा यदि दृश्य पदार्थ का पूरी तरह से त्याग करते हो, तो चित्त शून्यता के कारण मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी बनते हो॥ ३३-३५॥

नाहं नेदमिति ध्यायंस्तिष्ठ त्वमचलाचलः। आत्मनो जगतश्चान्तर्द्रष्टृदृश्यदशान्तरे॥ ३६॥
दर्शनाख्यं स्वमात्मानं सर्वदा भावयन्भव। स्वाद्यस्वादकसंत्यक्तं स्वाद्यस्वादकमध्यगम्॥ ३७॥
स्वदनं केवलं ध्यायन्परमात्ममयो भव। अवलम्ब्य निरालम्बं मध्येमध्ये स्थिरो भव॥ ३८॥

न मैं स्वयं हूँ और न ही यह संसार है, ऐसा चिन्तन करते हुए तुम पर्वत की भाँति अडिग होकर निवास करो। आत्मा एवं जगत् के मध्य द्रष्टा एवं दृश्य आदि इन दोनों स्थितियों के मध्य अपने आपको सदैव दर्शन स्वरूप आत्मा को ही मानते रहो। स्वादयुक्त पदार्थ एवं उस स्वाद युक्त पदार्थ के चखने वाले 'कर्त्ता' से भिन्न और इन दोनों के बीच में केवल स्वाद का चिन्तन करते हुए परमात्मस्वरूप होकर प्रतिष्ठित हो जाओ। बीच-बीच में अवलम्बन रहित स्थिति का आश्रय प्राप्त करके एक स्थान पर स्थित हो जाओ॥ ३६-३८॥

रज्जुबद्धा विमुच्यन्ते तृष्णाबद्धा न केनचित्। तस्मान्निदाघ तृष्णां त्वं त्यज संकल्पवर्जनात्॥३९॥
एतामहंभावमयीमपुण्यां छित्त्वाऽनहंभावशलाकयैव। स्वभावजां भव्यभवान्तभूमौ भव प्रशान्ताखिलभूतभीतिः॥ ४०॥ अहमेषां पदार्थानामेते च मम जीवितम्। नाहमेभिर्विना किंचिन्न मयैते विना किल॥ ४१॥ इत्यन्तर्निश्चयं त्यक्त्वा विचार्य मनसा सह। नाहं पदार्थस्य न मे पदार्थ इति भाविते॥ ४२॥ अन्तःशीतलया बुद्ध्या कुर्वतो लीलया क्रियाम्। यो नूनं वासनात्यागो ध्येयो ब्रह्मन्प्रकीर्तितः॥ ४३॥

रज्जु (रस्सी) से बँधे हुए लोग तो मुक्त हो जाते हैं, लेकिन तृष्णा से आबद्ध प्राणि-समूह किसी के द्वारा भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कराये जा सकते। इसलिए हे पुत्र निदाघ! तुम संकल्प का त्याग करते हुए तृष्णा को छोड़ने का प्रयास करो। अहंभाव से रहित इस बर्छी के द्वारा अहंभाव से युक्त, स्वभावतः प्रादुर्भूत हुई पापमयी इस तृष्णा को काटकर समस्त प्राणिवर्ग को उत्पन्न होने वाले भय से निर्भय होकर सौन्दर्ययुक्त परमार्थ लोक में भ्रमण करो। मैं इन समस्त पदार्थों का हूँ और ये सभी मेरे जीवन हैं, इनके अभाव में मैं कुछ भी नहीं हूँ और न ही ये मेरे बिना कुछ हैं; अपने अन्तर्मन के द्वारा इस संकल्प को छोड़ दो। मन से विचार करो कि मैं इन पदार्थों का नहीं हूँ और ये पदार्थ मेरे नहीं हैं, इस प्रकार की दृढ़ भावना करो। स्थिर शान्त चित्त से चिन्तन करते हुए विचारपूर्वक अपने कार्यों को सामान्य ढंग से सम्पन्न करते हुए जो वासना का त्याग किया जाता है, हे ब्रह्मन्! वही वास्तविक ध्येय कहा गया है॥ ३९-४३॥

सर्वं समतया बुद्ध्या यः कृत्वा वासनाक्षयम्। जहाति निर्ममो देहं नेयोऽसौ वासनाक्षयः॥४४॥
अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः। तिष्ठति ध्येयसंत्यागी स जीवन्मुक्त उच्यते॥ ४५॥

जो पुरुष समत्व बुद्धि के द्वारा सदैव के लिए वासना का परित्याग करके ममतारहित हो जाता है, उसी से शरीर के बन्धनों का भी त्याग किया जा सकता है। इस कारण वासना का त्याग ही परम कर्त्तव्य है। जो मनुष्य

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अहंकार से युक्त वासना को सहजतापूर्वक त्याग करके, ध्येय वस्तु का सम्यक् रूपेण परित्याग करके प्रतिष्ठित होता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है॥ ४४-४५॥

निर्मूलं कलनां त्यक्त्वा वासनां यः शमं गतः। ज्ञेयं त्यागमिमं विद्धि मुक्तं तं ब्राह्मणोत्तमम्॥४६॥

जो मनुष्य संकल्परूप वासना को मूलसहित छोड़कर परमशक्ति को प्राप्त होता है, उसी का वह श्रेष्ठ त्याग समझने योग्य है। उसी को मुक्त हुआ तथा ब्रह्मवेत्ताओं में अनुपम जानो॥ ४६॥

द्वावेतौ ब्रह्मतां यातौ द्वावेतौ विगतज्वरौ। आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतौ॥ ४७॥
संन्यासियोगिनौ दान्तौ विद्धि शान्तौ मुनीश्वर। ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्यान्तर्वर्तिदृष्टिषु॥४८॥
सुषुप्तवद्यश्चरति स जीवन्मुक्त उच्यते। हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः॥ ४९॥
न हृष्यति ग्लायति यः परामर्शविवर्जितः। बाह्यार्थवासनोद्भूता तृष्णा बद्धेति कथ्यते॥ ५०॥

ये दोनों ही ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करते हैं, ये ही दोनों-सांसारिक ताप से मुक्त हैं। हे मुने! शम-दम से युक्त संन्यासी एवं योगी किसी भी काल में आ पड़ने वाले सुखों व दुःखों से युक्त नहीं होते। जिसके अन्तःकरण में इच्छा एवं अनिच्छा दोनों ही समाप्त हो गई है और जो सुषुप्तावस्था का आचरण करता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है; जो वासनाओं से रहित है, वह हर्ष, अमर्ष, भय, क्रोध, काम एवं कार्पण्य की दृष्टि से न तो आनन्दित होता है और न ही दुःखी होता है। जो तृष्णा बाहर के विषयों की वासना से प्रकट होती है, वह बन्धन डालने वाली कही गयी है॥ ४७-५०॥

सर्वार्थवासनोन्मुक्ता तृष्णा मुक्तेति भण्यते। इदमस्तु ममेत्यन्तमिच्छां प्रार्थनयान्विताम्॥ ५१॥
तां तीक्ष्णशृङ्खलां विद्धि दुःखजन्मभयप्रदाम्। तामेतां सर्वभावेषु सत्स्वसत्सु च सर्वदा॥ ५२॥
संत्यज्य परमोदारं पदमेति महामनाः। बन्धास्थामथ मोक्षास्थां सुखदुःखदशामपि॥ ५३॥
त्यक्त्वा सदसदास्थां त्वं तिष्ठाक्षुब्धमहाब्धिवत्। जायते निश्चयः साधो पुरुषस्य चतुर्विधः॥५४॥
आपादमस्तकमहं मातापितृविनिर्मितः। इत्येको निश्चयो ब्रह्मन्बन्धायासविलोकनात्॥ ५५॥
अतीतः सर्वभावेभ्यो वालाग्रादप्यहं तनुः। इति द्वितीयो मोक्षाय निश्चयो जायते सताम्॥५६॥
जगज्जालपदार्थात्मा सर्व एवाहमक्षयः। तृतीयो निश्चयश्चोक्तो मोक्षायैव द्विजोत्तम॥ ५७॥

जो तृष्णा सभी तरह के विषयों की वासना से रहित होती है, वह मोक्ष प्रदाता होती है। प्रार्थना के द्वारा किसी भी वस्तु के प्राप्ति की कामना ही दुःख, भय एवं जन्म प्रदात्री होती है। उसे घोर बन्धनस्वरूपा जानो। महात्माजन सत्-असत्रूप समस्त पदार्थों की इच्छा-आकांक्षा का हमेशा के लिए पूर्णरूपेण परित्याग करके परमउदार पद को प्राप्त करते हैं। बन्धन की सत्ता में आस्था एवं मोक्ष की आस्था तथा सुख-दुःख स्वरूपा सत् एवं असत् की आस्था-विश्वास का सदैव के लिए त्याग करके प्रशान्त महासागर के सदृश प्रतिष्ठित हो जाओ। हे महात्मन्! पुरुष के चार तरह के निश्चय होते हैं, जिनमें से प्रथम निश्चय यह है कि 'पैर से सिर तक मेरी संरचना मेरे माता-पिता के संयोग से हुई है। हे ब्रह्मन्! अब द्वितीय निश्चय सुनें। बन्धन में दुःखों का अवलोकन कर 'मैं सभी तरह के जागतिक-प्रपञ्चों-विकारों से परे बाल के अग्रभाग से भी अतिसूक्ष्म आत्मा हूँ।' यह निश्चय ज्ञानीजनों को मोक्ष दिलाने वाला कहा गया है। हे विप्रवर! तृतीय निश्चय यह है कि 'मैं सम्पूर्ण चराचर जगत् के पदार्थों की आत्मा हूँ, सर्वरूप एवं क्षयरहित हूँ' इस प्रकार से यह तीसरा निश्चय मनुष्य की मुक्ति का विशेष कारण होता है॥ ५१-५७॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अहं जगद्वा सकलं शून्यं व्योम समं सदा। एवमेष चतुर्थोऽपि निश्चयो मोक्षसिद्धिदः ॥ ५८ ॥
एतेषां प्रथमः प्रोक्तस्तृष्णया बन्धयोग्यया। शुद्धतृष्णास्त्रयः स्वच्छा जीवन्मुक्ता विलासिनः ॥५९
सर्वं चाप्यहमेवेति निश्चयो यो महामते । तमादाय विषादाय न भूयो जायते मतिः ॥६० ॥

अब चौथा निश्चय सुनें, 'मैं या जगत् सभी कुछ आकाश की भाँति शून्य है।' यह चतुर्थ निश्चय पुरुष के लिए मोक्ष प्रदान करने वाला कहा गया है। इनमें से प्रथम निश्चय बन्धन में बाँधने वाला तथा तृष्णा (बन्धनभूता) से युक्त है। शेष तीनों निश्चय स्वच्छ, शुद्ध तृष्णा (बन्धनरहित) से समन्वित होते हैं तथा इन तीनों निश्चयों से युक्त मनुष्य जीवन्मुक्त एवं आत्मतत्त्व में विलास करने वाले होते हैं। हे परमश्रेष्ठ ज्ञानवान् मुने! 'मैं ही सभी कुछ हूँ।' ऐसा जो दृढ़ निश्चय (संकल्प) है, उसे धारण करके बुद्धि पुनः विषाद को प्राप्त नहीं करती॥ ५८-६०॥

शून्यं तत्प्रकृतिर्माया ब्रह्मविज्ञानमित्यपि। शिवः पुरुष ईशानो नित्यमात्मेति कथ्यते॥ ६१ ॥
द्वैताद्वैतसमुद्भूतैर्जगन्निर्माणलीलया। परमात्ममयी शक्तिरद्वैतैव विजृम्भते॥ ६२ ॥
सर्वातीतपदालम्बी परिपूर्णैकचिन्मयः। नोद्वेगी न च तुष्टात्मा संसारे नावसीदति॥ ६३ ॥

आत्मा के नाम से कहा जाने वाला शून्य ही प्रकृति, माया, ब्रह्मज्ञान, पुरुष, ईशान, शिव, नित्य एवं ब्रह्मज्ञान आदि के नाम से जाना जाता है। परमात्मस्वरूपा अद्वैत शक्ति ही द्वैत एवं अद्वैत से प्रादुर्भूत हुए पदार्थों से संसार के निर्माण की लीला करके विकसित हो रही है। जो सभी तरह के मायाजाल से परे आत्मरूपी पद का आश्रय प्राप्त करके एक पूर्णरूपेण चिन्मयस्थिति में रहकर न कोई उद्योग करते हैं और न ही संतुष्ट होते हैं। इस जागतिक शोक में वे कभी नहीं पड़ते॥ ६१-६३॥

प्राप्तकर्मकरो नित्यं शत्रुमित्रसमानदृक्। ईहितानीहितैर्मुक्तो न शोचति न काङ्क्षति॥ ६४॥
सर्वस्याभिमतं वक्ता चोदितः पेशलोक्तिमान्। आशयज्ञश्च भूतानां संसारे नावसीदति॥ ६५॥

हे पुत्र! जो मनुष्य नित्य प्राप्त कर्मों को करता है, शत्रु एवं मित्र को सम्यक् दृष्टि से देखता है और इच्छा-अनिच्छा से मुक्ति प्राप्त कर चुका है, न विषाद करता है, न किसी भी तरह की वस्तुएँ पाने की आकांक्षा करता है, मृदुभाषी है, प्रश्नों के पूछने पर नम्रतापूर्वक उत्तर देता है तथा समस्त प्राणियों के भावों को जानने में सक्षम है; वही मनुष्य इस विश्व में विषाद को प्राप्त नहीं होता॥ ६४-६५॥

पूर्वां दृष्टिमवष्टभ्य ध्येयत्यागविलासिनीम्। जीवन्मुक्ततया स्वस्थो लोके विहर विज्वरः॥ ६६॥
अन्तःसंत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः। बहिःसर्वसमाचारो लोके विहर विज्वरः॥ ६७॥

प्रथम दृष्टि (आत्मदृष्टि) को लक्ष्य करके विलास की कामना का त्याग करके सांसारिक ताप से रहित होकर तथा अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित होकर इस संसार में जीवन्मुक्त की तरह से भ्रमण करो। सभी प्रकार की आशाओं को हृदय से निकाल कर, वीतराग तथा वासना-रहित होकर बाह्य-मन से सभी सांसारिक रीति-रिवाजों का सम्यक् रूप से पालन करते हुए जगत् में तापविहीन होकर निरन्तर प्रवहमान रहो॥ ६६-६७॥

बहिःकृत्रिमसंरम्भो हृदि संरम्भवर्जितः।
कर्ता बहिरकर्तान्तर्लोके विहर शुद्धधीः॥ ६८॥
त्यक्ताहंकृतिराश्वस्तमतिराकाशशोभनः।
अगृहीतकलङ्काङ्को लोके विहर शुद्धधीः॥ ६९॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

बाह्य वृत्ति से बनावटी क्रोध का अभिनय करते हुए एवं हृदय से क्रोधरहित, बाहर से कर्त्ता एवं अन्दर से अकर्त्ता बने रहकर शुद्धभाव से जगत् में सर्वत्र रमण करो। अहं को त्यागकर शान्त चित्त हो, कलङ्क रूपी कालिमा से सदैव के लिए मुक्त हो जाओ। आकाश के सदृश शुद्ध-परिष्कृत जीवन प्राप्त करके पवित्र सद्बुद्धि को धारण करके लोक में विचरण करो॥ ६८-६९॥

उदारः पेशलाचारः सर्वाचारानुवृत्तिमान्। अन्तःसङ्गपरित्यागी बहिःसंभारवानिव॥ ७०॥
अन्तर्वैराग्यमादाय बहिराशोन्मुखेहितः। अयं बन्धुरयं नेति गणना लघुचेतसाम्॥ ७१॥
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्। भावाभावविनिर्मुक्तं जरामरणवर्जितम्॥ ७२॥
प्रशान्तकलनारम्यं नीरागं पदमाश्रय। एषा ब्राह्मी स्थितिः स्वच्छा निष्कामा विगतामया॥७३॥

उदार एवं उत्तम आचरण से सम्पन्न, सभी श्रेष्ठ आचार-विचारों का अनुगमन करते हुए अन्दर से आसक्ति-रहित होते हुए भी बाहर से सतत प्रयत्न करता रहे। अन्तःकरण में पूरी तरह से वैराग्य को धारण करते हुए बाहर से आशावादी बनकर श्रेष्ठ व्यवहार करे। यह मेरा अपना (मित्र) है और वह नहीं है, ऐसे निकृष्ट विचार क्षुद्र मनुष्यों के होते हैं। उदार चरित वालों के लिए तो समस्त वसुधा ही अपना परिवार है। जो व्यक्ति भाव-अभाव से मुक्ति प्राप्त कर सका है, जन्म-मृत्यु से परे है, जहाँ पर सभी संकल्प सम्यक् रूप से शान्ति को प्राप्त हो जाते हैं, ऐसे रागविहीन तथा रमणीक पद का अवलम्बन ग्रहण करो। यह पवित्र, निष्काम, दोषरहित ब्राह्मी स्थिति है॥ ७०-७३॥

आदाय विहरन्नेवं संकटेषु न मुह्यति। वैराग्येणाथ शास्त्रेण महत्त्वादिगुणैरपि॥ ७४॥
यत्संकल्पहरार्थं तत्स्वयमेवोन्नयन्मनः। वैराग्यात्पूर्णतामेति मनो नाशवशानुगम्॥ ७५॥
आशया रक्ततामेति शरदीव सरोऽमलम्। तमेव भुक्तिविरसं व्यापारौघं पुनःपुनः॥ ७६॥
दिवसे-दिवसे कुर्वन्प्राज्ञः कस्मान्न लज्जते। चिच्चैत्यकलितो बन्धस्तन्मुक्तौ मुक्तिरुच्यते॥७७॥

इसको स्वीकार करके विहार करता हुआ मनुष्य विपत्तिकाल में भी मोहग्रस्त नहीं होता। शास्त्रों के ज्ञान से या फिर वैराग्य से और महान् सद्गुणों के द्वारा जिस संकल्प को विनष्ट किया जाता है, उससे मन स्वतः ही उन्नतावस्था को प्राप्त होने लगता है। निराशा के वश में हुआ जो मन वैराग्य के द्वारा पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, वही आशान्वित होने पर शरत्कालीन ऋतु में स्वच्छ सरोवर की भाँति राग युक्त हो जाता है; किन्तु भोगों से विरक्त हुए मन को बार-बार प्रत्येक दिन रागादि व्यापारों में डालते हुए ज्ञानी पुरुष लज्जित क्यों नहीं होते? चित् एवं विषय का योग ही बन्धन कहलाता है। उस योग से छुटकारा प्राप्त करना ही मोक्ष कहलाता है॥ ७४-७७॥

चिदचैत्या किलात्मेति सर्वसिद्धान्तसंग्रहः। एतन्निश्चयमादाय विलोकय धियेद्धया॥ ७८॥
स्वयमेवात्मनात्मानमानन्दं पदमाप्स्यसि। चिदहं चिदिमे लोकाश्चिदाशाश्चिदिमाः प्रजाः॥ ७९॥
दृश्यदर्शननिर्मुक्तः केवलामलरूपवान्। नित्योदितो निराभासो द्रष्टा साक्षी चिदात्मकः॥ ८०॥

निश्चय पूर्वक विषयरहित चित् को ही आत्मा कहा गया है, यही समस्त वेदान्त-सिद्धान्त का सार है। इस विचार को सत्य मानकर प्रदीप्त अन्तःकरण के द्वारा स्वयमेव अपने आप को देखो। इसमें असीम आनन्द पद की प्राप्ति होगी। मैं चित् स्वरूप हूँ। ये समस्त लोक चित् हैं, दिशाएँ एवं ये सभी प्राणि-समुदाय भी चित् स्वरूप हैं। दृश्य एवं दर्शन से छुटकारा प्राप्त करके, मात्र परिष्कृत स्वरूप वाला साक्ष्यरूप चिदात्मा आभासरहित एवं नित्य प्रादुर्भूत होकर द्रष्टा बन रहा है॥ ७८-८०॥

चैत्यनिर्मुक्तचिद्रूपं पूर्णज्योतिःस्वरूपकम्। संशान्तसर्वसंवेद्यं संविन्मात्रमहं महत्॥ ८१॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

संशान्तसर्वसंकल्पः प्रशान्तसकलैषणः। निर्विकल्पपदं गत्वा स्वस्थो भव मुनीश्वर॥ ८२॥

मैं विषय वासनाओं से मुक्त होकर पूर्णरूपेण ज्योतिरूप होकर समस्त संवेदना से पूरी तरह से मुक्त होकर चित्स्वरूप और महान् संवित् (ज्ञानमय) हूँ। हे मुने! सभी संकल्पों को पूर्णरूपेण शान्त करके, सभी कामनाओं को त्यागकर निर्विकल्प पद में प्रविष्ट होकर आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाओ॥ ८१-८२॥

य इमां महोपनिषदं ब्राह्मणो नित्यमधीते। अश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति। अनुपनीत उपनीतो भवति। सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स सूर्यपूतो भवति। स सोमपूतो भवति। स सत्यपूतो भवति। स सर्वपूतो भवति। स सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सर्वैर्देवैरनुध्यातो भवति। स सर्वक्रतुभिरिष्टवान्भवति। गायत्र्याः षष्टिसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति। इतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति। प्रणवानामयुतं जप्तं भवति। आचक्षुषः पङ्क्तिं पुनाति। आसप्तमान्पुरुषयुगान्पुनाति। इत्याह भगवान्हिरण्यगर्भः। जप्येनामृतत्वं च गच्छतीत्युपनिषत्॥८३॥

जो श्रेष्ठ ब्राह्मण इस महोपनिषद् का प्रतिदिन पाठ करता है, वह यदि अश्रोत्रिय होता है, तो श्रोत्रिय हो जाता है। यदि वह उपनीत नहीं है, तो उपनीत (सदृश) हो जाता है। वह अग्नि के समान पवित्र होता है, वायु की भाँति परिष्कृत तथा वह सोमपूत और सत्यपूत हो जाता है। वह सर्वथा पूर्णशुद्ध हो जाता है। वह समस्त देवों में सुपरिचित हो जाता है। उसे सभी तीर्थ-स्थलों के स्नान का फल प्राप्त हो जाता है। वह सभी यज्ञों का अनुष्ठान संकल्प कर लेने में समर्थ हो जाता है। सहस्रों गायत्री महामन्त्र के जप का फल उसे इस उपनिषद् के अध्ययन.से मिल जाता है। सहस्रों इतिहास-पुराण एवं रुद्र पाठ का फल उसे प्राप्त हो जाता है। दस सहस्र प्रणव (ओंकार) के जप का फल उसे प्राप्त हो जाता है। जहाँ तक उसकी दृष्टि जाती है, वहाँ तक उस पंक्ति को वह पवित्र कर देता है। भगवान् हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी ने कहा है कि इस (उपनिषद्) का जप करने मात्र से अमृतत्व की प्राप्ति हो जाती है। यही इस उपनिषद् का रहस्य है॥ ८३॥

ॐ आप्यायन्तु .....इति शान्तिः ॥

॥ इति महोपनिषत्समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ यागकुण्डल्युपानषद्॥

यह योगपरक उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें कुल तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में सर्वप्रथम वायुजय (प्राणायाम सिद्धि) के तीन उपाय- १. मिताहार २. आसन एवं ३. शक्तिचालिनी मुद्रा- बताये गये हैं। तदुपरान्त सरस्वती चालन, प्राणायाम के भेद-सूर्यभेदी,उज्जायी,शीतली,भस्त्रिका आदि, तीन बन्ध-मूलबन्ध,उड्डियान बन्ध तथा जालन्धर बन्ध,योगाभ्यास के विघ्न और उनसे बचाव,योगाभ्यास से कुण्डलिनी जागरण,तीन ग्रन्थियों(ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि तथा रुद्रग्रन्थि)का भेदन करके कुण्डलिनी का सहस्रार चक्र में प्रवेश, प्राणादि का शिवतत्त्व में विलीन होना,समाधि अवस्था में सर्वत्र चैतन्य तत्त्व की अनुभूति और समाधियोग जैसे विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। द्वितीय अध्याय का शुभारम्भ खेचरी मुद्रा के विशद विवेचन से हुआ है। जिसमें खेचरी का स्वरूप, उसकी फलश्रुति,मन्त्र जप से खेचरी की सिद्धि,खेचरी का अभ्यास क्रम आदि का विस्तृत वर्णन है। तृतीय अध्याय में खेचरी मेलन (खेचरी सिद्धि) का मन्त्र उल्लिखित हुआ है,तदुपरान्त अमावस्या, प्रतिपदा और पूर्णिमा के दृष्टान्त से साधक की दृष्टि का उल्लेख है। इसके बाद प्राणायाम के अभ्यास से विराट् के रूप की उत्पत्ति (सिद्धि),अभ्यास के बिना आत्मा का प्रकाश असम्भव, सद्गुरु के उपदेश से ब्रह्म का ज्ञान, ब्रह्म के विविध अधिष्ठान(वाक् वृत्ति,विश्वादि प्रपंच),परात्परब्रह्म का स्वरूप,ब्रह्म प्राप्ति का उपाय- ध्यान तथा अन्त में जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार योग के सभी प्रमुख विषयों को प्रस्तुत करते हुए उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्ष्युपनिषद्)

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः। तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तद्द्वावपि विनश्यतः॥ १ ॥

चित्त (की चंचलता) के दो कारण हैं, वासना अर्थात् पूर्वार्जित संस्कार एवं वायु अर्थात् प्राण; इन दोनों में से एक का भी निरोध हो जाने पर दोनों समाप्त (निरुद्ध) हो जाते हैं॥ १॥

तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा। मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः॥ २॥

दोनों में सबसे पहले वायु अर्थात् प्राण पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। प्राणों पर विजय प्राप्त करने के तीन साधन हैं— १. मिताहार २. आसन एवं ३. शक्तिचालिनी मुद्रा का अभ्यास॥ २॥

एतेषां लक्षणं वक्ष्ये शृणु गौतम सादरम्। सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः॥ ३॥
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते। आसनं द्विविधं प्रोक्तं पद्मं वज्रासनं तथा॥ ४॥

हे गौतम! अब तुम्हें इनका (मिताहार का) लक्षण कहता हूँ, सादर (ध्यानपूर्वक) सुनो। सबसे पहले साधक को चाहिए कि वह स्निग्ध एवं मधुर भोजन (आधा पेट) करे, (उसका आधा भाग पानी) एवं चौथाई भाग (हवा के लिए) खाली रखे। इस तरह से शिव (कल्याण) के निमित्त भोजन करने को मिताहार कहते हैं। (प्राणजय के लिए प्रमुख) आसन दो कहे गये हैं—पहला है पद्मासन, दूसरा है वज्रासन॥ ३-४॥

ऊर्वोरुपरि चेद्धत्ते उभे पादतले यथा। पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम्॥ ५॥

दोनों पैरों की जंघाओं पर एक दूसरे के ऊपर तलवों को सीधा (ऊपर की ओर) करके रखने से सभी पापों का विनाश करने वाला पद्मासन होता है॥ ५॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

वामाङ्घ्रिमूलकन्दाधो ह्यन्यं तदुपरि क्षिपेत्। समग्रीवशिरःकायो वज्रासनमितीरितम्॥ ६ ॥

गर्दन, सिर एवं शरीर को एक सीध में रखकर बायें पैर की एड़ी को सीवन (योनि) स्थान में तथा दायें पैर की एड़ी उसके ऊपर लगाकर बैठने को वज्रासन कहा जाता है॥ ६ ॥

[वैसे तो यह लक्षण सिद्धासन का है, परन्तु हठयोग प्रदीपिका जैसे ग्रन्थों में भी इसे वज्रासन कहा गया है; जबकि वर्तमान में दोनों घुटने मोड़कर दोनों एड़ियों पर बैठने की स्थिति 'वज्रासन' कही जाती है।]

कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु संचालयेद्बुधः। स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते॥ ७

प्रमुख शक्ति कुण्डलिनी कही गई है, बुद्धिमान् साधक उसे चालन क्रिया के द्वारा नीचे से ऊपर दोनों भृकुटियों के मध्य ले जाता है, इसी क्रिया को शक्तिचालिनी कहते हैं॥ ७॥

तत्साधने द्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम्। प्राणरोधमथाभ्यासादृज्वी कुण्डलिनी भवेत्॥८ ॥

मुख्य रूप से कुण्डलिनी चलाने (जगाने) के दो साधन कहे गये हैं, सरस्वती चालन एवं प्राणरोध (प्राणायाम)। प्राणों के निरोध के अभ्यास से लिपटी हुई कुण्डलिनी सीधी हो जाती है॥ ८ ॥

तयोरादौ सरस्वत्याश्चालनं कथयामि ते। अरुन्धत्येव कथिता पुराविद्भिः सरस्वती॥ ९ ॥

इस प्रकार पहले तुमको 'सरस्वती चालन' के बारे में बताता हूँ। प्राचीन काल के विद्वान् इस सरस्वती को अरुंधती भी कहते थे॥ ९ ॥

यस्याः संचालनेनैव स्वयं चलति कुण्डली। इडायां वहति प्राणे बद्ध्वा पद्मासनं दृढम्॥१० ॥

जिस समय इड़ा नाड़ी चल रही हो, उस समय दृढ़तापूर्वक पद्मासन लगाकर इसके (सरस्वती के) भली प्रकार संचालन करने से कुण्डलिनी स्वयं चलने (जाग्रत् होने) लगती है॥ १० ॥

द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यं च अम्बरं चतुरङ्गुलम्। विस्तीर्य तेन तन्नाडीं वेष्टयित्वा ततः सुधीः॥ ११ ॥

फिर उस नाड़ी को द्वादश अंगुल लम्बे और चार अंगुल चौड़े अम्बर (वस्त्र) के टुकड़े से लपेटे॥ ११ ॥

[यहाँ कुण्डलिनी नाड़ी (कन्दस्थान) को १२ अंगुल लम्बे और ४ अंगुल चौड़े वस्त्र से लपेटने का उल्लेख योग-साधना पद्धतियों के अनुकूल किया गया है। घेरंड संहिता तथा हठयोग प्रदीपिका (३.११३) में इसी तरह की बात कही गई है। घेरंड संहिता में इतने स्थान पर श्वेत-कोमल वस्त्र लपेटकर पूरे शरीर में भस्म मलने की बात है और हठयोग प्रदीपिका में उस स्थान को उतने परिमाण से लिपटे वस्त्र जैसा कहा गया है।]

अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां तु हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम्। स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणेन पुनःपुनः॥ १२ ॥

तब दृढ़तापूर्वक दोनों नासा छिद्रों को अङ्गुष्ठ एवं तर्जनी से पकड़कर अपनी (इच्छा) शक्ति से पहले बायें, फिर दायें नासिका के छिद्र से बार-बार रेचक और पूरक करे॥ १२ ॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयाच्चालयेत्सुधीः। ऊर्ध्वमाकर्षयेत्किंचित्सुषुम्नां कुण्डलीगताम्॥ १३ ॥

इस तरह निर्भय होकर दो मुहूर्त (= ४ घटी= ९६ मिनट) तक इसको चलाना चाहिए, साथ ही कुण्डलिनी में स्थित सुषुम्ना नाड़ी को किंचित् मात्र ऊपर खींचे॥ १३ ॥

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं व्रजेत्। जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः॥१४ ॥

इस तरह से (सरस्वती चालन क्रिया से) कुण्डलिनी सुषुम्ना नाड़ी के मुख में प्रवेश करके ऊर्ध्वगामी हो जाती है। इसके साथ ही प्राण अपना स्थान छोड़कर सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगता है॥ १४ ॥

तुन्दे तु ताणं कुर्याच्च कण्ठसंकोचने कृते। सरस्वत्याश्चालनेन वक्षसश्चोर्ध्वगो मरुत्॥१५ ॥

कण्ठ संकोचन के सहित पेट को ऊपर की ओर खींचकर इस सरस्वती चालन से वायु ऊर्ध्वगामी होकर वक्षस्थल से भी ऊपर चला जाता है॥ १५ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सूर्येण रेचयेद्वायुं सरस्वत्यास्तु चालने। कण्ठसंकोचनं कृत्वा वक्षसश्चोर्ध्वगो मरुत्॥ १६॥

सरस्वती चालन करते समय सूर्य नाड़ी (दाहिने स्वर) के द्वारा रेचक करते हुए कण्ठ संकोचन करने से (अधोगत) वायु वक्षस्थल से ऊपर की ओर गमन कर जाता है॥ १६॥

तस्मात्संचालयेन्नित्यं शब्दगर्भां सरस्वतीम्। यस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते॥ १७॥

इसलिए नियमित रूप से शब्दगर्भा (शब्दमयी) सरस्वती संचालन करना चाहिए अर्थात् उक्त 'सरस्वती चालन' क्रिया करनी चाहिए। इसका संचालन करने वाला योगी सभी प्रकार के रोगों से मुक्त हो जाता है॥ १७॥

गुल्मं जलोदरः प्लीहा ये चान्ये तुन्दमध्यगाः। सर्वे तु शक्तिचालेन रोगा नश्यन्ति निश्चयम्॥१८॥

इस शक्तिचालन क्रिया से जलोदर, गुल्म, प्लीहा एवं पेट के समस्त रोग निश्चित ही समाप्त हो जाते हैं॥

प्राणरोधमथेदानीं प्रवक्ष्यामि समासतः। प्राणश्च देहगो वायुरायामः कुम्भकः स्मृतः॥ १९॥

अब प्राणों का निरोध अर्थात् प्राणायाम करने की विधि बतलाते हैं। शरीर में संचरण करने वाली वायु को प्राण कहा जाता है, उसे जब (प्राणायाम के द्वारा) स्थिर किया जाता है, तब उसे कुम्भक कहते हैं॥ १९॥

स एव द्विविधः प्रोक्तः सहितः केवलस्तथा। यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत्॥२०॥

यह कुम्भक दो प्रकार का बताया गया है- १. सहित तथा २. केवल। सहित कुम्भक का अभ्यास तब तक करते रहना चाहिए, जब तक केवल कुम्भक की सिद्धि न हो जाये॥ २०॥

सूर्योज्जायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका। भेदैरेव समं कुम्भो यः स्यात्सहितकुम्भकः॥२१॥

सूर्यभेदन,उज्जायी,शीतली और भस्त्रिका-ये चार कुम्भक के भेद 'सहित कुम्भक' कहलाते हैं॥ २१॥

पवित्रे निर्जने देशे शर्करादिविवर्जिते। धनुः प्रमाणपर्यन्ते शीताग्निजलवर्जिते॥ २२॥
पवित्रे नात्युच्चनीचे ह्यासने सुखदे सुखे। बद्धपद्मासनं कृत्वा सरस्वत्यास्तु चालनम्॥ २३॥

जहाँ पर कंकड़-पत्थर आदि न हो, आस-पास घास, अग्नि, जल और शीत आदि न हो, पवित्र एवं एकान्त स्थान हो, वहाँ पर न अति नीचा, न अति ऊँचा, सुख देने वाला आसन बिछाकर बद्ध पद्मासन लगाकर सरस्वती चालन क्रिया करनी चाहिए॥ २२-२३॥

दक्षनाड्या समाकृष्य बहिष्ठं पवनं शनैः। यथेष्टं पूरयेद्वायुं रेचयेदिडया ततः॥ २४॥

श्वास द्वारा धीरे-धीरे दाहिनी नासिका से बाहरी वायु को खींचकर पर्याप्त मात्रा में उदर में भरे, तत्पश्चात् बायीं नासिका-इड़ा से रेचन करना चाहिए॥ २४॥

कपालशोधने वापि रेचयेत्पवनं शनैः। चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च॥ २५॥

कपालशोधन क्रिया में भी धीरे-धीरे वायु का रेचन करना चाहिए। इस प्रकार करने से चारों तरह के वातदोष तथा कृमिदोष नष्ट हो जाते हैं॥ २५॥

पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम्। मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः॥ २६॥
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम्। पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः॥ २७॥
शीर्षोदितानलहरं गलश्लेष्महरं परम्। सर्वरोगहरं पुण्यं देहानलविवर्धनम्॥ २८॥
नाडीजलोदरं धातुगतदोषविनाशनम्। गच्छतस्तिष्ठतः कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम्॥ २९॥

इस क्रिया का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए, सूर्यभेदन इसी क्रिया का नाम है। (उज्जायी प्राणायाम का का वर्णन) मुँह बंद रखते हुए दोनों नासा छिद्रों से वायु को धीरे-धीरे इस प्रकार खींचना चाहिए कि प्रवेश के साथ श्वास से ध्वनि होती रहे। इस प्रकार हृदय एवं कण्ठ तक वायु को भरे। पुनः पहले की तरह कुम्भक करके

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

बायें नासा छिद्र से रेचन करना चाहिए, इसके करने से सिर की गर्मी, गले का कफ दूर हो जाता है, जठराग्नि बढ़ती है, नाड़ी जलोदर तथा धातुरोग भी समाप्त हो जाते हैं। उज्जायी नामक इस कुम्भक को स्थिर रहते अथवा चलते-फिरते कभी भी करते रहना चाहिए॥ २६-२९ ॥

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भकादनु। शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः॥ ३०॥
गुल्मप्लीहादिकान्दोषान्क्षयं पित्तं ज्वरं तृषाम्। विषाणि शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च॥

शीतली प्राणायाम में जिह्वा के द्वारा वायु को खींचकर पहले की तरह कुम्भक करके नासिका से वायु को धीरे-धीरे निकाले। इसके करने से प्लीहा, गुल्म,पित्त, ज्वर,तृषा आदि रोगों का शमन होता है॥ ३०-३१ ॥

ततः पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरः सुधीः। मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत्॥ ३२॥
यथा लगति कण्ठात्तु कपाले सस्वनं ततः। वेगेन पूरयेत् किंचिद्धृत्पद्मावधि मारुतम्॥ ३३॥
पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः। यथैव लोहकाराणां भस्त्रा वेगेन चाल्यते॥ ३४॥
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं शनैः। यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण पूरयेत्॥ ३५॥
यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु। धारयन्नासिकामध्यं तर्जनीभ्यां विना दृढम्॥ ३६॥
कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिडयानिलम्। कण्ठोत्थितानलहरं शरीराग्निविवर्धनम्॥ ३७॥
कुण्डलीबोधकं पुण्यं पापघ्नं शुभदं सुखम्। ब्रह्मनाडीमुखान्तस्थकफाद्यर्गलनाशनम्॥ ३८॥
गुणत्रयसमुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम्। विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम्॥ ३९॥

भस्त्रिका प्राणायाम के लिए पद्मासन में बैठकर शरीर को गर्दन सहित सीधा करके सर्वप्रथम मुख को बन्द करके नासिका के द्वारा वायु को बाहर निकाले। पुनः इस तरह तीव्रता के साथ वायु को खींचे कि वायु का स्पर्श कण्ठ, तालु, सिर एवं हृदय को मालूम पड़े। फिर उसका रेचन करके पुनः पूरक करे, इस तरह बार-बार वेगपूर्वक लुहार की धौंकनी की तरह वायु को खींचे एवं निकाले। इस प्रकार शरीरस्थ वायु को सावधानी के साथ चलाना चाहिए। जब थकान मालूम पड़े, तब दाहिने (सूर्य) स्वर से वायु को खींचकर तर्जनी को छोड़कर नासिका को कसकर पकड़कर वायु का कुम्भक करे, फिर बायें नासा(इड़ा)छिद्र से निकाल देना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से कण्ठ की जलन मिटती है एवं जठराग्नि की वृद्धि होती है। यह प्राणायाम सुख देने वाला, पुण्यकारी, पापनाशक तथा कुण्डलिनी को जगाने वाला है। सुषुम्ना नाड़ी के मुख पर जो (बाधक) कफ आदि रहता है, इसके अभ्यास से वह सब नष्ट हो जाता है तथा सत, रज, तम इन तीनों गुणों से उत्पन्न तीनों ग्रंथियों का भेदन करता है। इसलिए विशेष रूप से इस भस्त्रिका प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए॥३२-३९ ॥

चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते। बन्धत्रयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः॥ ४०॥

निष्पाप योगी को इन चारों प्रकार के प्राणायामों के कुम्भक के समय तीन प्रकार के बन्ध (मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध एवं जालन्धर बन्ध) भी लगाने चाहिए॥ ४० ॥

प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयणाभिधः। जालन्धरस्तृतीयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते॥ ४१॥

प्रथम को मूलबन्ध, द्वितीय को उड्डियान बन्ध और तीसरे को जालन्धर बन्ध कहते हैं। अब उनके लक्षण अर्थात् साधना की विधि कहते हैं॥ ४१ ॥

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्। आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते॥ ४२॥

शरीर के अधोभाग में विचरण करने वाले अपान वायु को, गुदा को संकुचित करके बलपूर्वक ऊपर उठाने की प्रक्रिया को मूलबन्ध कहते हैं॥ ४२ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अपाने चोर्ध्वगे याते संप्राप्ते वह्निमण्डले। ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता॥ ४३॥
ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्। तेनात्यन्तप्रदीप्तेन ज्वलनो देहजस्तथा॥ ४४॥
तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते। दण्डाहतभुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्॥ ४५॥

अपान वायु ऊर्ध्वगमन करके जब वह्निमण्डल से योग करता है, उस समय वायु से आहत होकर अग्नि बहुत तेज हो जाती है। तत्पश्चात् उष्ण स्वरूप वाले प्राण में अग्नि और अपान के मिल जाने पर, उसके प्रभाव से देहजन्य विकार जल जाते हैं। (इसके बाद) उस अग्नि से तप्त होकर सुप्त कुण्डलिनी जाग्रत् होकर प्रताड़ित की हुई सर्पिणी के समान फुंकारती हुई सीधी हो जाती है॥ ४३-४५॥

बिलप्रवेशतो यत्र ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्। तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा॥४६॥

उस समय यह अग्नि (कुण्डलिनी) विवर में प्रवेश करने की तरह सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्रवेश कर जाती है, इसलिए इस मूलबन्ध का अभ्यास योगियों को सदैव करते रहना चाहिए॥ ४६॥

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः। बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः॥ ४७॥
तस्मादुड्डीयणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः। सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम्॥४८॥
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत्। पश्चिमं ताणमुदरे धारयेद्धृदये गले॥ ४९॥
शनैः शनैर्यदा प्राणस्तुन्दसन्धिं निगच्छति। तुन्ददोषं विनिर्धूय कर्तव्यं सततं शनैः॥ ५०॥

कुम्भक करके जब रेचक करते हैं, उससे पहले उड्डियान बन्ध किया जाता है, जिसके करने से यह प्राण सुषुम्ना नाड़ी के भीतर ऊर्ध्वगमन करता है, इसीलिए योगीजनों द्वारा यह 'उड्डीयाण' कहलाता है। इसके लिए वज्रासन में बैठकर पैरों पर दोनों हाथों को दृढ़ता पूर्वक रखे। जहाँ गुल्फ (टखना) रखा जाता है, उसके समीपस्थ कन्द को दबाते हुए, पेट को ऊपर की ओर खींचते हुए, गला एवं हृदय को भी तनाव देते हुए खींचना चाहिए, इस प्रकार प्राण धीरे-धीरे पेट की सन्धियों में प्रवेश कर जाता है, इससे पेट के समस्त विकार दूर हो जाते हैं। इसलिए इस क्रिया को निरन्तर करते रहना चाहिए॥ ४७-५०॥

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः। कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः॥ ५१॥

पूरक के अन्त में वायु को रोकने के लिए कण्ठ संकोचन क्रिया करते हैं, जिसे जालन्धर बन्ध कहते हैं॥

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते। मध्ये पश्चिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥ ५२॥

मूलबन्ध के द्वारा अधोभाग में गुदा का संकोचन करके कण्ठ संकोचन अर्थात् जालन्धर बन्ध करे, बीच में (पेट में) उड्डियान बन्ध के द्वारा प्राण वायु को खींचना चाहिए। इस तरह प्राण को सब ओर से रोकने से वह सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करके ऊर्ध्वगामी होता है॥ ५२॥

पूर्वोक्तेन क्रमेणैव सम्यगासनमास्थितः। चालनं तु सरस्वत्याः कृत्वा प्राणं निरोधयेत्॥ ५३॥

पूर्व में बतायी गयी विधि से ठीक तरह से आसन पर बैठकर 'सरस्वती चालन' के द्वारा प्राणों का निरोध करना चाहिए॥ ५३॥

प्रथमे दिवसे कार्यं कुम्भकानां चतुष्टयम्। प्रत्येकं दशसंख्याकं द्वितीये पञ्चभिस्तथा॥ ५४॥
विंशत्यलं तृतीयेऽह्नि पञ्चवृद्ध्या दिनेदिने। कर्तव्यः कुम्भको नित्यं बन्धत्रयसमन्वितः॥५५॥

चारों प्रकार के कुम्भक को पहले दिन दस-दस बार किया जाता है, दूसरे दिन पन्द्रह-पन्द्रह बार कुम्भक करे। प्राणायाम के क्रम में तीसरे दिन बीस-बीस बार अभ्यास करे। इस प्रकार प्रतिदिन पाँच-पाँच संख्या में बढ़ाता चले। कुम्भक का अभ्यास तीनों बन्धों के साथ प्रतिदिन करना चाहिए॥ ५४-५५॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

दिवा सुप्तिर्निशायां तु जागरादतिमैथुनात्। बहुसंक्रमणं नित्यं रोधान्मूत्रपुरीषयोः॥ ५६॥
विषमासनदोषाच्च प्रयासप्राणचिन्तनात्। शीघ्रमुत्पद्यते रोगः स्तम्भयेद्यदि संयमी॥ ५७॥

दिन में सोना, रात्रि का जागरण, अतिमैथुन, मल एवं मूत्र के वेग को रोकना, ज्यादा चलना, आसनों का उचित ढंग से अभ्यास न करना, प्राणायाम की क्रिया में बहुत शक्ति लगाना तथा चिन्तित रहना-इन दोषों के कारण साधक शीघ्र रोगी हो जाता है॥ ५६-५७॥

योगाभ्यासेन मे रोग उत्पन्न इति कथ्यते। ततोऽभ्यासं त्यजेदेवं प्रथमं विघ्नमुच्यते॥ ५८॥
द्वितीयं संशयाख्यं च तृतीयं च प्रमत्तता। आलस्याख्यं चतुर्थं च निद्रारूपं तु पञ्चमम्॥ ५९॥
षष्ठं तु विरतिर्भ्रान्तिः सप्तमं परिकीर्तितम्। विषयं चाष्टमं चैव अनाख्यं नवमं स्मृतम्॥ ६०॥
अलब्धिर्योगतत्त्वस्य दशमं प्रोच्यते बुधैः। इत्येतद्विघ्नदशकं विचारेण त्यजेद्बुधः॥ ६१॥

मुझे योगाभ्यास के द्वारा रोग हो गया है, यदि कोई साधक यह कहकर अभ्यास बन्द कर दे, तो समझना चाहिए कि योगाभ्यास का यह पहला विघ्न है। दूसरा विघ्न साधना पर शंका करना अर्थात् विश्वास न होना, तीसरा विघ्न प्रमत्तता है, चौथा विघ्न आलस्य करना, पाँचवाँ विघ्न ज्यादा नींद लेना, छठवाँ विघ्न साधना से प्रेम न होना, सातवाँ विघ्न भ्रान्ति, आठवाँ विघ्न विषय-वासना में अनुरक्ति, नवाँ अनाख्य (अप्रसिद्धि या अनाम) और योग तत्त्व का प्राप्त न होना दसवाँ विघ्न है, इस प्रकार ये दस विघ्न हैं, इन पर विचार करके बुद्धिमान् साधक को इनका त्याग कर देना चाहिए॥ ५८-६१॥

प्राणाभ्यासस्ततः कार्यो नित्यं सत्त्वस्थया धिया। सुषुम्ना लीयते चित्तं तथा वायुः प्रधावति॥६२॥

इसलिए नियमित रूप से सत्त्वमयी बुद्धि से विचार कर प्राणायाम करना चाहिए। इस प्रकार के चिन्तन से चित्त सुषुम्ना नाड़ी में लीन रहता है, जिसके कारण उसमें प्राणों का प्रवाह चलने लगता है॥ ६२॥

शुष्के मले तु योगी च स्यादूतिश्चलिता ततः। अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्॥ ६३॥

मल शोधन होने के बाद जब प्राण प्रवाहित (गतिशील) होने लगे, तभी बलपूर्वक अपान को ऊर्ध्वगामी बनाना चाहिए, उससे पहले नहीं॥ ६३॥

आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते। अपानश्चोर्ध्वगो भूत्वा वह्निना सह गच्छति॥ ६४॥

प्राण को ऊर्ध्वगामी बनाने की प्रक्रिया के लिए गुदा के आकुंचन की क्रिया को मूलबन्ध कहते हैं। इस क्रिया से अपान ऊर्ध्वगामी होकर अग्नि के साथ संयुक्त होकर ऊपर की ओर चल देता है॥ ६४॥

प्राणस्थानं ततो वह्निः प्राणापानौ च सत्वरम्। मिलित्वा कुण्डलीं याति प्रसुप्ता कुण्डलाकृतिः॥
तेनाग्निना च संतप्ता पवनेनैव चालिता। प्रसार्य स्वशरीरं तु सुषुम्ना वदनान्तरे॥ ६६॥

प्राण के स्थान में जब वह अग्नि पहुँचती है और प्राण तथा अपान दोनों मिलकर कुण्डलिनी में मिलते हैं, उस समय उसकी गर्मी से तप्त होकर एवं वायु के बारम्बार दबाव से कुण्डलिनी सीधी होकर सुषुम्ना के मुँह में प्रवेश कर जाती है॥ ६५-६६॥

ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा रजोगुणसमुद्भवम्। सुषुम्नावदने शीघ्रं विद्युल्लेखेव संस्फुरेत्॥ ६७॥
विष्णुग्रन्थिं प्रयात्युच्चैः सत्वरं हृदि संस्थिता। ऊर्ध्वं गच्छति यच्चान्ते रुद्रग्रन्थिं तदुद्भवम्॥६८॥

तब यह कुण्डलिनी शक्ति रजोगुण से उत्पादित ब्रह्मग्रन्थि का भेदन करके विद्युत् शिखा की भाँति सुषुम्ना के मुख में ऊर्ध्वगमन करती है-प्रवेश करती है। (वहाँ से) शीघ्र ही हृदयचक्र में स्थित विष्णुग्रन्थि का भेदन कर उसके भी ऊपर रुद्रग्रन्थि (आज्ञा चक्र) में पहुँच जाती है॥६७- ६८॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

भ्रुवोर्मध्यं तु संभिद्य याति शीतांशुमण्डलम्। अनाहताख्यं यच्चक्रं दलैः षोडशभिर्युतम्॥६९॥

भृकुटियों के मध्य (आज्ञाचक्र) का भेदन करके यह चन्द्र स्थान में पहुँच जाती है, जहाँ पर षोडश दल वाला अनाहतचक्र स्थित है॥ ६९॥

तत्र शीतांशुसंजातं द्रवं शोषयति स्वयम्। चलिते प्राणवेगेन रक्तं पित्तं रवेर्ग्रहात्॥ ७०॥

यह (कुण्डलिनी शक्ति) वहाँ पर चन्द्रमा के द्वारा निःसृत द्रव को सुखाकर प्राणवायु के वेग से गतिशील होकर, सूर्य से मिलकर, रक्त और पित्त को ग्रहण कर लेती है॥ ७०॥

यातेन्दुचक्रं यत्रास्ते शुद्धश्लेष्मद्रवात्मकम्। तत्र सिक्तं ग्रसत्युष्णं कथं शीतस्वभावकम्॥ ७१॥

वहाँ चन्द्र स्थान में जाकर जहाँ शुद्ध श्लेष्मा द्रवस्वरूप रहता है,उस रस पदार्थ को सोखकर उसे गर्म कर देती है, इस तरह वहाँ शीतलता नहीं रह जाती॥ ७१॥

तथैव रभसा शुक्लं चन्द्ररूपं हि तप्यते। ऊर्ध्वं प्रवहति क्षुब्धा तदैवं भ्रमतेतराम्॥ ७२॥

तब यह शुक्ल रूप चन्द्रमा को शीघ्रता से तपा देती है तथा क्षुब्ध होकर ऊर्ध्वगामी हो जाती है॥ ७२॥

तस्यास्वादवशाच्चित्तं बहिष्ठं विषयेषु यत्। तदेव परमं भुक्त्वा स्वस्थः स्वात्मरतो युवा॥७३॥

उस स्थिति में उसे अमृतरस का स्वाद मिल जाता है, इसलिए जो मन पहले बाहरी विषयों में भोगरत रहता था, वह अब अन्तर्मुखी होकर स्वयं में स्थित स्वकीय आत्मा में आनन्द की अनुभूति करने लगता है॥७३॥

प्रकृत्यष्टकरूपं च स्थानं गच्छति कुण्डली। क्रोडीकृत्य शिवं याति क्रोडीकृत्य विलीयते॥७४॥

इस तरह से यह कुण्डलिनी शक्ति अष्टधा प्रकृति (पंच तत्त्व, मन, बुद्धि, अहंकार) से गमन करते हुए शिव से एकाकार होती है और उन्हीं में विलीन हो जाती है॥ ७४॥

इत्यधोर्ध्वरजः शुक्लं शिवे तदनु मारुतः। प्राणापानौ समौ याति सदा जातौ तथैव च॥ ७५॥

इस प्रकार अधोभाग स्थित रज व ऊर्ध्व स्थित शुक्ल(शुक्र),वायु के वेग से शिव में मिल जाते हैं तथा प्राण व अपान भी शिव में विलीन हो जाते हैं; क्योंकि उन्हें समान रूप से उत्पन्न होने वाला कहा गया है॥ ७५॥

भूतेऽल्पे चाप्यनल्पे वा वाचके त्वतिवर्धते। धावयत्यखिला वाता अग्निमूषाहिरण्यवत्॥ ७६॥

जिस प्रकार अग्नि की गर्मी से स्वर्ण गलकर फैल जाता है, ठीक उसी प्रकार यह भौतिक शरीर चाहे छोटा हो या बड़ा (कुण्डलिनी की) उष्णता पाकर वह दिव्यशक्ति पूरे शरीर में फैल जाती है॥ ७६॥

आधिभौतिकदेहं तु आधिदैविकविग्रहे। देहोऽतिविमलं याति चातिवाहिकतामियात्॥ ७७॥

जाड्यभावविनिर्मुक्तममलं चिन्मयात्मकम्। तस्यातिवाहिकं मुख्यं सर्वेषां तु मदात्मकम्॥७८॥

इस दिव्यशक्ति (कुण्डलिनी) के प्रभाव से यह आधिभौतिक शरीर आधिदैविक शरीर के रूप में परिवर्तित हो जाता है तथा शरीर अत्यन्त पवित्र होकर सूक्ष्म शरीर की तरह हो जाता है। वह जड़ता भाव को छोड़कर विशुद्ध चिन्मय स्वरूप हो जाता है, जबकि शेष मनुष्य अज्ञानग्रस्त ही बने रहते हैं॥ ७८॥

जायाभवविनिर्मुक्तिः कालरूपस्य विभ्रमः। इति तं स्वरूपा हि मती रज्जुभुजङ्गवत्॥ ७९॥

मृषैवोदेति सकलं मृषैव प्रविलीयते। रौप्यबुद्धिः शुक्तिकायां स्त्रीपुंसोर्भ्रमतो यथा॥ ८०॥

उस साधक को अपने 'स्व' रूप की जानकारी हो जाती है, तब वह भव-बन्धन अर्थात् आवागमन से मुक्त हो जाता है, वह काल के पाश से मुक्त हो जाता है, रस्सी में सर्प, सीपी में चाँदी एवं स्त्री में पुरुष के भ्रम की तरह अपने स्वरूप का ज्ञान होने पर साधक को अपने शरीर की नश्वरता का बोध हो जाता है॥ ७९-८०॥

पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं लिङ्गसूत्रात्मनोरपि। स्वापाव्याकृतयोरैक्यं स्वप्रकाशचिदात्मनोः॥ ८१॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

इस प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्ड तथा सूक्ष्म शरीर एवं सूत्रात्मा के एकाकार होने पर अपनी आत्मा और परम चैतन्य स्वप्रकाशित परमात्मा की एकता का ज्ञान हो जाता है ॥ ८१ ॥

शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभा शुभा। मूलकन्दं फणाग्रेण दृष्ट्वा कमलकन्दवत् ॥८२ ॥
मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रसमन्विता। पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्च्य साधकः ॥ ८३ ॥
वायुमूर्ध्वगतं कुर्वन्कुम्भकाविष्टमानसः। वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन् ॥ ८४ ॥

कमल के नाल की तरह कुण्डलिनी शक्ति होती है तथा कमलकन्द की तरह ही मूलकन्द को फणाग्र से देखकर,मुँह में अपने पुच्छ भाग को डालकर ब्रह्मरंध्र(सुषुम्ना नाड़ी)के द्वार को ढककर वह सुप्त पड़ी रहती है। इसके जागरण के लिए पद्मासन में बैठकर गुदा को ऊपर की ओर खींचकर कुम्भक करते हुए वायु को ऊपर की ओर ले जाकर वायु के आघात से स्वाधिष्ठानचक्र में स्थित अग्नि को प्रज्वलित करना चाहिए ॥८२-८४ ॥

ज्वलनाघातपवनाघातैरुन्निद्रितोऽहिराट्। ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यतः ॥ ८५ ॥
रुद्रग्रन्थिं च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट्। सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते ॥ ८६ ॥
सैवावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारिणी ॥ ८७ ॥ इति ॥

ऐसा करने से अग्नि और वायु के प्रहार से सुप्त कुण्डलिनी जाग्रत् होकर ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ग्रन्थियों का भेदन करके षट्चक्र का भेदन करती हुई सहस्रार कमल में पहुँच जाती है तथा यहाँ वह शक्ति के रूप में शिव में मिलकर आनन्द प्राप्त करती है। यह अवस्था परमानन्ददायी मुक्तिरूप होती है ॥ ८५-८७ ॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथाहं संप्रवक्ष्यामि विद्यां खेचरिसंज्ञिकाम्। यथा विज्ञानवानस्या लोकेऽस्मिन्नजरोऽमरः ॥१ ॥

अब खेचरी विद्या का वर्णन करते हैं, जिसे जान लेने के बाद व्यक्ति अजर-अमर हो जाता है ॥ १ ॥

मृत्युव्याधिजराग्रस्तो दृष्ट्वा विद्यामिमां मुने। बुद्धिं दृढतरां कृत्वा खेचरीं तु समभ्यसेत् ॥ २ ॥

जो मनुष्य जरा, मृत्यु और रोगों से ग्रसित है, वह दृढ़ निश्चय करके खेचरी विद्या का अभ्यास करे ॥ २ ॥

जरामृत्युगदघ्नो यः खेचरीं वेत्ति भूतले। ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव तदभ्यासप्रयोगतः ॥ ३ ॥
तं मुने सर्वभावेन गुरुं मत्वा समाश्रयेत्। दुर्लभा खेचरी विद्या तदभ्यासोऽपि दुर्लभः ॥ ४ ॥

बुढ़ापा, मृत्यु और रोगों का विनाश करने वाली इस खेचरी को इस पृथ्वी पर जो व्यक्ति ग्रन्थों के द्वारा, उनके भावों के द्वारा जानकर अभ्यास करते हों, इसका ज्ञान रखते हों, उन्हें समर्पित होकर, गुरु मानकर इसकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यह खेचरी विद्या तथा उसका अभ्यास दोनों दुर्लभ हैं ॥ ३-४ ॥

अभ्यासं मेलनं चैव युगपन्नैव सिध्यति। अभ्यासमात्रनिरता न विन्दन्ते ह मेलनम् ॥ ५ ॥

इस खेचरी विद्या का अभ्यास एवं मेलन (साधना) साथ-साथ सिद्ध होता है, केवल अभ्यास करने से 'मेलन' (सिद्धि) की प्राप्ति नहीं हो पाती ॥ ५ ॥

[खेचरी सिद्धि के लिए क्रिया के अभ्यास के साथ-साथ मेलन प्रयोग करने का विधान है। मेलन के अन्तर्गत मंत्र अथवा गुरु के माध्यम से प्राण शक्ति को शिवशक्ति के साथ संयुक्त करने का विधान कहा गया है। आगे (३.१ में) मेलन मंत्र भी दिया गया है।]

अभ्यासं लभते ब्रह्मञ्जन्मजन्मान्तरे क्वचित्। मेलनं तत्तु जन्मनां शतान्तेऽपि न लभ्यते ॥ ६ ॥

हे ब्रह्मन्! किसी जन्म में अभ्यास तो मिल भी जाता है, पर मेलन सैकड़ों जन्मों में भी नहीं मिलता ॥ ६ ॥

अभ्यासं बहुजन्मान्ते कृत्वा तद्भावसाधितम्। मेलनं लभते कश्चिद्योगी जन्मान्तरे क्वचित् ॥७ ॥

भाव के सहित बहुत जन्मों में साधना करने पर किसी जन्म में योगी को मेलन प्राप्त हो जाता है ॥ ७ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

यदा तु मेलनं योगी लभते गुरुवक्त्रतः। तदा तत्सिद्धिमाप्नोति यदुक्ता शास्त्रसंततौ॥ ८॥

साधक जब गुरु के श्रीमुख से 'मेलन' मंत्र ग्रहण करता है एवं शास्त्रीय परम्परानुसार साधना करता है, तब (कहीं) सिद्धि मिलती है॥ ८॥

ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव मेलनं लभते यदा। तदा शिवत्वमाप्नोति निर्मुक्तः सर्वसंसृतेः॥ ९॥

ग्रंथ के निर्देशानुसार अथवा उसके भावानुसार जब विधिवत् जान कर मेलन को प्राप्त कर लेता है , तब साधक संसार-सागर से मुक्त होकर शिवस्वरूप हो जाता है॥ ९॥

शास्त्रं विनापि संबोद्धुं गुरवोऽपि न शक्नुयुः। तस्मात्सुदुर्लभतरं लभ्यं शास्त्रमिदं मुने॥ १०॥

शास्त्र के बिना गुरु भी ज्ञान प्राप्त नहीं करा सकते, इसलिए हे मुने! शास्त्र का प्राप्त होना जरूरी है; क्योंकि यह शास्त्र बहुत महत्त्वपूर्ण है॥ १०॥

यावन्न लभ्यते शास्त्रं तावद्गां पर्यटेद्यतिः। यदा संलभ्यते शास्त्रं तदा सिद्धिः करे स्थिता॥११॥

यति (साधक) को चाहिए कि जब तक 'शास्त्र' की प्राप्ति न हो जाए, तब तक धरती पर घूम-घूम कर उसे ढूँढ़ना चाहिए। सच्चा शास्त्र-ज्ञान प्राप्त हो जाने पर हाथों-हाथ सिद्धि प्राप्त हो जाती है॥ ११॥

न शास्त्रेण विना सिद्धिर्दृष्टा चैव जगत्त्रये। तस्मान्मेलनदातारं शास्त्रदातारमच्युतम्॥ १२॥
तदभ्यासप्रदातारं शिवं मत्वा समाश्रयेत्। लब्ध्वा शास्त्रमिदं मह्यमन्येषां न प्रकाशयेत्॥ १३॥

तीनों लोकों में बिना शास्त्र ज्ञान के सिद्धि नहीं मिल सकती। इसलिए शास्त्र का ज्ञान देने वाला और मेलन(योग)का अभ्यास कराने वाला गुरु भगवान् की प्रतिमूर्ति होता है,उसका अभ्यास कराने वाले को 'शिव' मानकर उसका आश्रय लेना चाहिए। यह ज्ञान प्राप्त करके अन्य(अनधिकारी)के समक्ष न प्रकट करे॥ १२-१३

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गोपनीयं विजानता। यत्रास्ते च गुरुर्ब्रह्मन्दिव्ययोगप्रदायकः॥ १४॥
तत्र गत्वा च तेनोक्तविद्यां संगृह्य खेचरीम्। तेनोक्तः सम्यगभ्यासं कुर्यादादावतन्द्रितः॥ १५॥

इसे हर प्रकार से गोपनीय रखते हुए, जहाँ भी इस दिव्य ज्ञान 'योग' में पारंगत गुरु मिलें, उन्हीं के पास जाकर खेचरी विद्या को ग्रहण कर उनके निर्देशानुसार जागरूक होकर अभ्यास करना चाहिए॥ १४-१५॥

अनया विद्यया योगी खेचरीसिद्धिभाग्भवेत्। खेचर्या खेचरीं युञ्जन्खेचरीबीजपूरया॥ १६॥

इस विद्या से योगी को खेचरी अर्थात् आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त होती है, इसलिए खेचरी का अभ्यास खेचरी बीज (मन्त्र) के योग के साथ करना चाहिए॥ १६॥

खेचराधिपतिर्भूत्वा खेचरेषु सदा वसेत्। खेचरावसथं वह्निमम्बुमण्डलभूषितम्॥ १७॥

इस प्रकार का साधक आकाशगामी देवताओं का अधिपति होकर आकाश में विचरण करता रहता है। खेचरी के बीज मंत्र में खेचर का रूप 'ह' कार, आवसथ अर्थात् धारणा का रूप 'ई' कार, अग्नि का रूप 'र' कार और जल का रूप 'अनुस्वार' अर्थात् बिन्दु है। (इस प्रकार इन सबका योग 'ह्रीं' होता है)॥ १७॥

आख्यातं खेचरीबीजं तेन योगः प्रसिध्यति। सोमांशनवकं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत्॥ १८॥
तस्मात् त्र्यंशकमाख्यातमक्षरं चन्द्ररूपकम्। तस्मादप्यष्टमं वर्णं विलोमेन परं मुने॥ १९॥
तथा तत्परमं विद्धि तदादिरपि पञ्चमी। इन्दोश्च बहुभिन्ने च कूटोऽयं परिकीर्तितः॥ २०॥

खेचरी योग इसी (बीजमन्त्र) से सिद्ध होता है। (इसके आगे) सोमांश चन्द्रबीज 'स' कार होता है, इसके उल्टे गिनने पर नवें अक्षर पर 'भ' है, पुनः चन्द्रबीज 'स' कार है, इसके उल्टे गिनने पर अष्टम अक्षर पर 'म' है, इससे पाँच अक्षर उल्टा गिनने पर 'प' है, पुनः चन्द्रबीज 'स' कार एवं संयुक्त वर्ण युक्त 'क्ष' सबसे अन्तिम अक्षर है। (इस तरह ह्रीं, भं, सं, मं, पं, सं, क्षं खेचरी का मंत्र होता है।) ॥ १८-२०॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

गुरूपदेशलभ्यं च सर्वयोगप्रसिद्धिदम्। यत्तस्य देहजा माया निरुद्धकरणाश्रया॥ २१॥
स्वप्नेऽपि न लभेत्तस्य नित्यं द्वादशजप्यतः। य इमां पञ्च लक्षाणि जपेदपि सुयन्त्रितः॥ २२॥
तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते। नश्यन्ति सर्वविघ्नानि प्रसीदन्ति च देवताः॥ २३॥

गुरु के द्वारा विधिवत् उपदेश लेकर इस मंत्र का जप करने से यह सभी प्रकार की सिद्धियों को देने वाला है। इस मंत्र का प्रतिदिन द्वादश बार जप करने से देह में स्थित माया का स्वप्न में भी प्रभाव नहीं पड़ता। इस मंत्र का जो नियमपूर्वक पाँच लाख जप करता है, उस व्यक्ति की खेचरी स्वयमेव सिद्ध हो जाती है तथा उसके जीवन के सभी विघ्न समाप्त हो जाते हैं एवं उसे देवताओं की प्रसन्नता प्राप्त होती है॥ २१-२३॥

वलीपलितनाशश्च भविष्यति न संशयः। एवं लब्ध्वा महाविद्यामभ्यासं कारयेत्ततः॥ २४॥

शरीर में पड़ी झुर्रियों एवं पके केश जैसे लक्षण समाप्त हो जाते हैं अर्थात् वृद्ध भी युवा हो जाता है, इसमें शंका नहीं करनी चाहिए, इसलिए इस महाविद्या का भली-भाँति अभ्यास करना चाहिए॥ २४॥

अन्यथा क्लिश्यते ब्रह्मन्न सिद्धिः खेचरीपथे। यदभ्यासविधौ विद्यां न लभेद्यः सुधामयीम्॥२५॥
ततः संमेलकादौ च लब्ध्वा विद्यां सदा जपेत्। नान्यथा रहितो ब्रह्मन्न किंचित्सिद्धिभाग्भवेत्॥

हे ब्रह्मन्! ऐसा न करने से इस खेचरी की सिद्धि नहीं होती, उल्टे कष्ट ही उठाना पड़ता है। सम्यक् प्रकार से अभ्यास के बाद भी यदि सिद्धि न मिले, तो भी मार्गदर्शक के द्वारा निर्देशित मार्ग का त्याग न करे। निरंतर इसका जप करना चाहिए, बिना उपयुक्त मार्गदर्शक के सिद्धि सम्भव नहीं॥ २५-२६॥

यदिदं लभ्यते शास्त्रं यदा विद्यां समाश्रयेत्। ततस्तदोदितां सिद्धिमाशु तां लभते मुनिः॥२७॥

यदि यह शास्त्र प्राप्त हो जाये, तो इस विद्या का अभ्यास करे। इस प्रकार भली प्रकार से साधना करने पर साधक को सिद्धि शीघ्र प्राप्त हो जाती है॥ २७॥

तालुमूलं समुत्कृष्य सप्तवासरमात्मवित्। स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोधयेत्॥ २८॥

सबसे पहले साधक गुरु के निर्देशानुसार तालु के मूल स्थान को सात दिनों तक घिसे, जिससे उसका मैल दूर हो जाये॥ २८॥

स्नुहिपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्। समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत्॥ २९॥

इसके बाद थूहर के पत्ते की तरह तीक्ष्णधारयुक्त किसी पवित्र औजार से जिह्वा मूल (नीचे के जबड़े से जीभ को जोड़ने वाले तन्तु) को बाल के बराबर गुरु से कटाये या स्वयं काटे॥ २९॥

हित्वा सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत्। पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत्॥ ३०॥

हरड़ और सेंधा नमक का चूर्ण कटे हुए स्थान पर सात दिन तक बुरकता रहे, इसके बाद पुनः उसी प्रकार बाल मात्र (तनिक सा) काटे॥ ३०॥

एवं क्रमेण षाण्मासं नित्योद्युक्तः समाचरेत्। षाण्मासाद्रसनामूलं सिराबन्धं प्रणश्यति॥ ३१॥

इस तरह लगातार छः महीने प्रयास करने से जीभ का (निचले जबड़े से) सम्बन्ध कट जाता है॥ ३१॥

अथ वागीश्वरीधाम शिरो वस्त्रेण वेष्टयेत्। शनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेलाविधानवित्॥ ३२॥
पुनः षाण्मासमात्रेण नित्यं संघर्षणान्मुने। भ्रूमध्यावधि चाप्येति तिर्यक्कर्णबिलावधि॥ ३३॥
अधश्च चुबुकं मूलं प्रयाति क्रमचारिता। पुनः संवत्सराणां तु तृतीयादेव लीलया॥ ३४॥
केशान्तमूर्ध्वं क्रमति तिर्यक्शाखावधिर्मुने। अधस्तात्कण्ठकूपान्तं पुनर्वर्षत्रयेण तु॥ ३५॥
ब्रह्मरन्ध्रं समावृत्य तिष्ठेदेव न संशयः। तिर्यक् चूलितलं याति अधः कण्ठबिलावधिः॥ ३६॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

तब जिह्वा के आगे वाले हिस्से में वस्त्र लपेटकर धीरे-धीरे बाहर की ओर को दोहन करना चाहिए। इस तरह नियमित रूप से अभ्यास करने पर जिह्वा बढ़कर बाहर भृकुटियों के बीच तक पहुँच जायेगी तथा और ज्यादा अभ्यास होने पर दोनों बगल,कान तक पहुँचने लगेगी। बाहर निकलने पर ठोड़ी तक पहुँच जायेगी। इस अभ्यास को यदि बराबर तीन वर्ष तक बनाये रखा जाये,तो जिह्वा सिर के बालों तक पहुँचने लगेगी। इस प्रकार अभ्यास करते रहा जाए, तो जीभ बगल में कन्धे तक एवं नीचे कण्ठकूप तक पहुँच जाती है। आगे और तीन वर्षों तक यदि अभ्यास किया जाये,तो वह गर्दन के पीछे और नीचे कण्ठ के अन्तिम भाग तक पहुँच जाती है। इस प्रकार जिह्वा सिर के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच कर उसे ढक लेगी, इसमें कोई संशय नहीं है॥ ३२-३६॥

[इस उपनिषद् में खेचरी मुद्रा की हठयोग सम्मत दुस्साध्य विधि का वर्णन किया गया है। युग निर्माण अभियान के अन्तर्गत भावरससिद्धि हेतु खेचरी मुद्रा की जो सर्वसुलभ विधि बताई गई है, वह इससे भिन्न है। उस सर्वसुलभ विधि से खेचरी द्वारा अमृतपान साधना करने वाले साधकों को इससे किसी भ्रम या शंका में नहीं पड़ना चाहिए।]

शनैः शनैर्मस्तकाच्च महावज्रकपाटभित्। पूर्वं बीजयुता विद्या ह्याख्याता याऽतिदुर्लभा॥३७॥
तस्याः षडङ्गं कुर्वीत तया षट्स्वरभिन्नया। कुर्यादेवं करन्यासं सर्वसिद्ध्यादिहेतवे॥ ३८॥

इस तरह क्रमशः अभ्यास करने पर जिह्वा ब्रह्मरन्ध्र का भेदन कर जाती है। सभी बीजाक्षरों की विधि सहित यह विद्या बहुत कठिन है। पूर्व में कहे हुए इन छः बीजाक्षरों से करन्यास एवं षडंगन्यास करने से ही पूरी सिद्धि मिल सकती है॥ ३७-३८॥

शनैरेवं प्रकर्तव्यमभ्यासं युगपन्न हि। युगपद्वर्तते यस्य शरीरं विलयं व्रजेत्॥ ३९॥
तस्माच्छनैः शनैः कार्यमभ्यासं मुनिपुङ्गव। यदा च बाह्यमार्गेण जिह्वा ब्रह्मबिलं व्रजेत्॥४०॥
तदा ब्रह्मार्गलं ब्रह्मन्दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि। अङ्गुल्यग्रेण संघृष्य जिह्वामात्रंनिवेशयेत्॥४१॥

यह अभ्यास बड़ी सावधानी रखते हुए धीरे-धीरे क्रमशः करना चाहिए। जल्दी-जल्दी किया गया अभ्यास शरीर को हानि पहुँचा सकता है। इसलिए इसके अभ्यास में जल्दी नहीं करनी चाहिए। यदि बाह्य (स्थूल) विधि से जिह्वा ब्रह्म विवर में प्रवेश कर जाये, तब अँगुली के अग्रभाग से उठाकर उसे विवर के भीतर कर देना चाहिए॥ ३९-४१॥

[तालु के पीछे नासिका से जुड़ी वायु नली का मार्ग गले में खुलता है। उसे तालुमूल कहा गया है। इस तालुमूल से लगा हुआ लोलचक्र या तालुचक्र कहा गया है। इसका सीधा संबंध मस्तिष्कमध्य में सहस्रारचक्र और ब्रह्मरन्ध्र से है। तालुमूल में खुलने वाले उक्त मार्ग के प्रवेश स्थल को ब्रह्म विवर कहा गया है।]

एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारं प्रविश्यति। ब्रह्मद्वारे प्रविष्टे तु सम्यङ्मथनमाचरेत्॥ ४२॥

तीन वर्ष तक इस तरह अभ्यास करने पर जिह्वा का प्रवेश ब्रह्म द्वार में हो जाता है। जिह्वा के वहाँ प्रवेश कर जाने पर विधिवत् उसके द्वारा मंथन करना चाहिए॥ ४२॥

मथनेन विना केचित्साधयन्ति विपश्चितः। खेचरीमन्त्रसिद्धस्य सिध्यते मथनं विना॥ ४३॥

ऐसे कई योग्य साधक होते हैं, जो मंथन के बिना ही खेचरी सिद्ध कर लेते हैं, परन्तु जिन्होंने खेचरी मंत्र सिद्ध कर लिया है, वे ही मन्थन के बिना सिद्ध कर पाते हैं (अन्य नहीं)॥ ४३॥

जपं च मथनं चैव कृत्वा शीघ्रं फलं लभेत्। स्वर्णजां रौप्यजां वापि लोहजां वा शलाकिकाम्॥४४
नियोज्य नासिकारन्ध्रं दुग्धसिक्तेन तन्तुना। प्राणान्निरुध्य हृदये सुखमासनमात्मनः॥ ४५॥
शनैः सुमथनं कुर्याद्भ्रूमध्ये न्यस्तचक्षुषी। षाण्मासं मथनावस्था भावेनैव प्रजायते॥ ४६॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

जप और मंथन दोनों करने से जल्दी लाभ मिलता है। मंथन हेतु लोहा, चाँदी या स्वर्ण की शलाका के एक सिरे पर दुग्ध लगा हुआ तन्तु लगाए, पुनः उसे नाक में डाल कर सुखासन में बैठ कर प्राण को हृदय में निरोध करके नेत्रों से भौंहों के मध्य देखते हुए उसी शलाका से मंथन करे। इस प्रकार छः मास तक मंथन करने पर इसका प्रभाव दिखलाई देने लगता है॥ ४४-४६॥

यथा सुषुप्तिर्बालानां यथा भावस्तथा भवेत्। न सदा मथनं शस्तं मासे मासे समाचरेत्॥ ४७॥
सदा रसनया योगी मार्गं न परिसंक्रमेत्। एवं द्वादशवर्षान्ते संसिद्धिर्भवति ध्रुवा॥ ४८॥

उस समय साधक की अवस्था सोते हुए बालक की तरह होती है। इस मन्थन को मास में एक बार करे, नित्य न करे। जिह्वा को भी ब्रह्मरन्ध्र में बार-बार प्रविष्ट करे। द्वादश वर्ष तक इसी तरह अभ्यास करने से सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है॥ ४७-४८॥

शरीरे सकलं विश्वं पश्यत्यात्मविभेदतः। ब्रह्माण्डोऽयं महामार्गो राजदन्तोर्ध्वकुण्डली॥ ४९॥

अभ्यास की इस अवस्था में योगी अपने अन्तर में पूरे विश्व का दर्शन कर लेता है; क्योंकि जिह्वा के ब्रह्म विवर में जाने वाले मार्ग में ही ब्रह्माण्ड की स्थिति है॥ ४९॥

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

मेलनमन्त्रः ह्रीं भं सं मं पं सं क्षम्। पद्मज उवाच। अमावास्या च प्रतिपत्पौर्णमासी च शंकर। अस्याः का वर्ण्यते संज्ञा एतदाख्याहि तत्त्वतः॥ १॥

ब्रह्माजी ने कहा! खेचरी का— मेलन मंत्र 'ह्रीं भं सं मं पं सं क्षं' है। हे शंकर जी! कृपा करके आप हमें यह बतायें कि साधक के लिए अमावस्या, प्रतिपदा एवं पूर्णमासी का क्या अभिप्राय है?॥ १॥

प्रतिपद्दिनतोऽकाले अमावास्या तथैव च। पौर्णमास्यां स्थिरीकुर्यात्स च पन्था हि नान्यथा॥२॥

(आत्मदर्शन के समय साधक की दृष्टि का वर्णन—) आत्मानुसंधान की साधना के प्रथम चरण में साधक की दृष्टि एवं स्थिति प्रकाशरहित अमावस्या की, द्वितीय चरण में प्रतिपदा (अल्प प्रकाश की) तथा तृतीय चरण में पूर्णिमा (पूर्ण प्रकाश) की होती है। वही कल्याण की स्थिति है॥ २॥

कामेन विषयाकाङ्क्षी विषयात्काममोहितः। द्वावेव संत्यजेन्नित्यं निरञ्जनमुपाश्रयेत्॥ ३॥

जब मनुष्य कामनाबद्ध होकर विषयों की ओर दौड़ता है, उस समय विषयों को प्राप्त करते हुए कामनाएँ बढ़ती जाती हैं। इसलिए विषय और कामना दोनों से अलग होकर (आत्मा में ध्यान लगाते हुए) ही विशुद्ध परमात्मभाव की प्राप्ति की जा सकती है॥ ३॥

अपरं संत्यजेत्सर्वं यदीच्छेदात्मनो हितम्। शक्तिमध्ये मनः कृत्वा मनः शक्तेश्च मध्यगम्॥ ४॥

अपना हित चाहने वाले को समस्त मिथ्या विषयों को छोड़कर शक्ति (कुण्डलिनी) के मध्य में मन को स्थिर करके उसी में स्थिर रहना चाहिए॥ ४॥

[मन को चेतन सत्ता-शक्ति के मध्य स्थिर करना 'स्व' का चेतन में वास कहा जाता है। जब चेतन में वास होता है, तो शरीर को किन्हीं लौकिक संसाधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती। जब तक शक्ति में 'वास' (पूरी तरह स्थिर होना) न सधे, तब तक यत्नपूर्वक 'उपवास' चेतना में आंशिकरूप से रहने का अभ्यास करना चाहिए। उपवास की स्थिति में शरीर के लिए न्यूनतम आहार देकर भी उसे सक्रिय और संतुष्ट रखा जा सकता है। उपवास साधना को शक्ति में वास की साधना का पूर्वाभ्यास कहा जा सकता है।]

मनसा मन आलोक्य तत्त्यजेत्परमं पदम्। मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्तिस्थितिकारणम्॥ ५॥

मन से मन को देखते हुए उसकी गतिविधियों का निरीक्षण करके उनसे मुक्त होने को ही परम पद कहा गया है। मन ही बिन्दु (ईश्वर) है और वही (जगत्प्रपंच) की उत्पत्ति एवं स्थिति का मुख्य कारण है॥ ५॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम् । न च बन्धनमध्यस्थं तद्वै कारणमानसम्॥ ६ ॥

जिस प्रकार दूध से घी निकलता है, उसी प्रकार मन से बिन्दु प्रकट होता है। जो भी बन्धन हैं, मन में हैं, बिन्दु में नहीं॥ ६ ॥

चन्द्रार्कमध्यमा शक्तिर्यत्रस्था तत्र बन्धनम्। ज्ञात्वा सुषुम्नां तद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम्॥ ७ ॥

जो शक्ति सूर्य और चन्द्र अर्थात् इड़ा-पिंगला नाड़ियों में स्थित है, वही बन्धन कारक है, यह जानकर उन (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ग्रन्थियों) का भेदन करके प्राणवायु को सुषुम्ना में गतिमान् करना चाहिए, जो इन दोनों के मध्य में स्थित है॥ ७ ॥

स्थित्वासौ बैन्दवस्थाने घ्राणरन्ध्रे निरोधयेत्। वायुं बिन्दुं समाख्यातं सत्त्वं प्रकृतिमेव च॥ ८ ॥

बिन्दु स्थान में प्राण को रोककर वायु का निरोध नासिका के द्वारा करना चाहिए। बिन्दु, सत्त्व एवं प्रकृति का विस्तार यह प्राणवायु ही है॥ ८ ॥

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमण्डलम्। मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरं तृतीयकम्॥ ९ ॥
अनाहतं विशुद्धिं च आज्ञाचक्रं च षष्ठकम्। आधारं गुदमित्युक्तं स्वाधिष्ठानं तु लैङ्गिकम्॥१० ॥
मणिपूरं नाभिदेशं हृदयस्थमनाहतम्। विशुद्धिः कण्ठमूले च आज्ञाचक्रं च मस्तकम्॥ ११ ॥

षट्चक्रों को जानकर (उसे भेदकर) सुखमण्डल (सहस्रार चक्र) में प्रवेश करे। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा ये छः चक्र कहे गये हैं। गुदास्थान के समीप मूलाधार, लिंग के समीप स्वाधिष्ठान, नाभिमण्डल में मणिपूर, हृदय में अनाहत, कण्ठमूल में विशुद्धचक्र एवं मस्तक में आज्ञाचक्र स्थित होता है॥ ९-११ ॥

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमण्डले। प्रविशेद्वायुमाकृष्य तथैवोर्ध्वं नियोजयेत्॥ १२ ॥

षट्चक्रों की जानकारी प्राप्त करके प्राण को आकर्षित करके सुखमण्डल अर्थात् परमानन्ददायी सहस्रार चक्र में प्रवेश करे और उसे ऊर्ध्वगामी दिशा में नियोजित करे॥ १२ ॥

एवं समभ्यसेद्वायुं स ब्रह्माण्डमयो भवेत्। वायुं बिन्दुं तथा चक्रं चित्तं चैव समभ्यसेत्॥ १३ ॥
समाधिमेकेन सममृतं यान्ति योगिनः। यथाग्निर्दारुमध्यस्थो नोत्तिष्ठेन्मथनं विना॥ १४ ॥
विना चाभ्यासयोगेन ज्ञानदीपस्तथा न हि। घटमध्यगतो दीपो बाह्ये नैव प्रकाशते॥ १५ ॥
भित्ते तस्मिन्घटे चैव दीपज्वाला च भासते। स्वकायं घटमित्युक्तं यथा दीपो हि तत्पदम्॥१६ ॥
गुरुवाक्यसमाभित्ते ब्रह्मज्ञानं स्फुटीभवेत्। कर्णधारं गुरुं प्राप्य कृत्वा सूक्ष्मं तरन्ति च॥ १७ ॥

इस तरह अभ्यसित होकर प्राण ब्रह्माण्ड में स्थित हो जाता है अर्थात् ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है। समुचित रूप से चित्त, प्राण-वायु, बिन्दु एवं चक्र का अभ्यास हो जाने पर योगियों को परमात्मा से एकाकार होकर समाधि अवस्था में पहुँच कर अमृत-तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है। जिस तरह लकड़ी में अग्नि है, परन्तु बिना रगड़े हुए वह प्रज्वलित नहीं होती, उसी प्रकार बिना निरन्तर अभ्यास किये हुए योगविद्या का प्रकाश बाहर नहीं आ सकता । जिस प्रकार घड़े के भीतर रखा हुआ दीपक बिना उसका भेदन किये बाहर प्रकाश नहीं दे सकता, ठीक उसी तरह शरीररूपी घट के भीतर स्थित ब्रह्मरूपी प्रकाश तब तक बाहर नहीं दिखता, जब तक गुरुमुख होकर इस शरीररूपी घट का भेदन नहीं किया जाता। कर्णधार (नाविक) रूप गुरु ही इस संसार-सागर से पार होने का उपाय है॥ १३-१७ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अभ्यासवासनाशक्त्या तरन्ति भवसागरम्। परायामङ्कुरीभूय पश्यन्त्यां द्विदलीकृता॥ १८॥
मध्यमायां मुकुलिता वैखर्यां विकसीकृता। पूर्वं यथोदिता या वाग्विलोमेनास्तगा भवेत्॥१९॥

अपनी श्रेष्ठ वासना अर्थात् उच्च आदर्शवादी महत्त्वाकांक्षा एवं निरन्तर अभ्यास के द्वारा अर्जित शक्ति के माध्यम से ही भवसागर को पार किया जा सकता है। शरीर में स्थित वाणी परारूप में अङ्कुरित होती, पश्यंती रूप में द्विदल (दो पत्ते) होती, मध्यमा में मुकुलित(खिलती-अग्रगामी) होती और वैखरी रूप में आकर पूर्ण विकसित (प्रकट) हो जाती है। इस वाणी का जिस तरह से प्राकट्य होता है, उसी क्रम में वह विलीन भी हो जाती है॥ १८-१९॥

तस्या वाचः परो देवः कूटस्थो वाक्प्रबोधकः। सोऽहमस्मीति निश्चित्य यः सदा वर्तते पुमान्॥२०
शब्दैरुच्चावचैर्नीचैर्भाषितोऽपि न लिप्यते। विश्वश्च तैजसश्चैव प्राज्ञश्चेति च ते त्रयः॥ २१॥
विराड्हिरण्यगर्भश्च ईश्वरश्चेति ते त्रयः। ब्रह्माण्डं चैव पिण्डाण्डं लोका भूरादयः क्रमात्॥२२॥
स्वस्वोपाधिलयादेव लीयन्ते प्रत्यगात्मनि। अण्डं ज्ञानाग्निना तप्तं लीयते कारणैः सह॥ २३॥

उस वाणी का ज्ञान देने वाला 'मैं ही अन्तःस्थित परम देव हूँ' इस तरह निश्चित रूप से समझ कर जो उसके अनुरूप आचरण करता है, उसे अच्छा या बुरा कोई भी शब्द कह दिया जाए, तो वह व्यक्ति उससे प्रभावित नहीं होता। विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ ये तीन तरह के पिण्ड कहे गये हैं। विराट्, हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर तीन ब्रह्माण्ड एवं भूः, भुवः, स्वः क्रमशः ये तीन लोक कहे गये हैं। ये सभी अपनी उपाधियों के समाप्त होने पर पुनः अपनी पूर्व स्थिति में वापस आ जाते हैं। ज्ञानरूपी अग्नि में तप्त होकर अपने कारणों के मूलस्वरूप में विलीन हो जाते हैं॥ २०-२३॥

परमात्मनि लीनं तत्परं ब्रह्मैव जायते। ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्॥ २४॥

यह (जीव) परमात्मा से एकाकार होकर परम अगाध गम्भीर ब्रह्म स्वरूप हो जाता है, उस समय इसका ऐसा रूप होता है, जिसको न तो प्रकाश कहा जा सकता है, न अंधकार ही कहा जा सकता है॥ २४॥

अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते। ध्यात्वा मध्यस्थमात्मानं कलशान्तरदीपवत्॥ २५॥
अङ्गुष्ठमात्रमात्मानमधूमज्योतिरूपकम्। प्रकाशयन्तमन्तःस्थं ध्यायेत्कूटस्थमव्ययम्॥ २६॥

उस समय एकमात्र नामरहित सत् स्वरूप, अव्यक्ततत्त्व ही शेष रह जाता है। (उस) मध्यस्थ (अन्तःकरण में स्थित) 'आत्मा' का कलश में स्थित दीपक की तरह ध्यान करके (आगे भी निरन्तर) अङ्गुष्ठमात्र, धूमरहित ज्योतिस्वरूप, प्रकाशमान, कूटस्थ (शाश्वत) और अव्यय (अविनाशी) आत्मतत्त्व का अन्तःकरण में ध्यान करते रहना चाहिए॥ २५-२६॥

विज्ञानात्मा तथा देहे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिः। मायया मोहितः पश्चाद्बहुजन्मान्तरे पुनः॥ २७॥
सत्कर्मपरिपाकात्तु स्वविकारं चिकीर्षति। कोऽहं कथमयं दोषः संसाराख्य उपागतः॥ २८॥

मूलतः आत्मा विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) रूप होता है, परन्तु शरीर प्राप्त होने पर वह माया के वशीभूत होकर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं को प्राप्त हो जाता है और उसी माया में मोहित हो जाता है। जब जन्म-जन्मान्तरों के पुण्यकर्म उदित होते हैं, तब मानव अपने दोषों को जानने की इच्छा करता है, तब वह सोचता है कि वास्तव में मैं कौन हूँ एवं दोषरूप यह संसार कैसे प्राप्त हुआ है?॥ २७-२८॥

जाग्रत्स्वप्ने व्यवहरन्त्सुषुप्तौ क्व गतिर्मम। इति चिन्तापरो भूत्वा स्वभासा च विशेषतः॥ २९॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

जाग्रत् एवं स्वप्न अवस्था में तो मैं ही कर्त्ता के रूप में व्यवहार करता हूँ, परन्तु सुषुप्ति अवस्था में मेरी क्या गति होती है ? इस तरह चिन्तन करते हुए अपने रूप पर विचार करता रहता है ॥ २९ ॥

अज्ञानात्तु चिदाभासो बहिस्तापेन तापितः । दग्धं भवत्येव तदा तूलपिण्डमिवाग्निना ॥ ३० ॥

जिस प्रकार रुई का ढेर आग पाते ही जल जाता है, उसी प्रकार चिदाभास के प्रभाव से सांसारिक ताप से तापित अज्ञान समाप्त हो जाता है ॥ ३० ॥

दहरस्थः प्रत्यगात्मा नष्टे ज्ञाने ततः परम् । विततो व्याप्य विज्ञानं दहत्येव क्षणेन तु ॥ ३१ ॥
मनोमयज्ञानमयान्त्सम्यग्दग्ध्वा क्रमेण तु । घटस्थदीपवच्छश्वदन्तरेव प्रकाशते ॥ ३२ ॥

इस तरह सांसारिक बोध के समाप्त होने पर प्रत्यगात्मा (शुद्ध आत्मा) प्रकाशित हो जाता है तथा उससे विज्ञान (संसार का विशेष ज्ञान) भी नष्ट हो जाता है। इस तरह क्रमशः मनोमय तथा विज्ञानमय के पूर्णतः नष्ट हो जाने पर घट के भीतर रखे हुए दीपक की तरह अंतःस्थ प्रकाश रूप आत्मा ही अंतःकरण में प्रकाशित होता रहता है ॥ ३१-३२ ॥

ध्यायन्नास्ते मुनिश्चैवमासुप्तेरामृतेस्तु यः । जीवन्मुक्तः स विज्ञेयः स धन्यः कृतकृत्यवान् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार से नित्य प्रति जो आत्मज्ञानी आत्मा का ध्यान करता है तथा मृत्यु के आने पर भी स्थिर चित्त होकर उस पर ध्यान लगाये रहता है,उसे जीवन (सांसारिकता) से मुक्ति मिल जाती है, वही विज्ञानी है, धन्य है और वह कृत-कृत्य हो जाता है ॥ ३३ ॥

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते । विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥ ३४ ॥

जीवन्मुक्त साधक का अन्तिम समय (मृत्यु) आने पर वह (शरीर रहते हुए जीवन्मुक्त एवं शरीर समाप्त होने पर) उसी प्रकार विदेह मुक्त हो जाता है, जिस प्रकार वायु (उन्मुक्त) आकाश में स्पन्दनरहित होकर प्रवेश कर जाती है ॥ ३४ ॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं तदेव शिष्यत्यमलं निरामयम् ॥ इत्युपनिषत् ॥ ३५ ॥

जो आदि-अंत रहित, नित्य, अव्यय और महान् है तथा जो अटल है एवं शब्द,स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि पंचमहाभूतों से रहित है, वही विकाररहित परमपवित्र ब्रह्म ही अन्त में शेष बचता है, यही उपनिषद् है ॥ ३५ ॥

॥ ॐ सह नाववतु ..... इति शान्तिः ॥

॥ इति योगकुण्डल्युपनिषत्समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ योगचूडामण्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। योग साधना द्वारा आत्मशक्ति जागरण की प्रक्रिया का इसमें समग्र मार्गदर्शन है।

सर्वप्रथम योग के छः अंगों (आसन,प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) का उल्लेख हुआ है। तदुपरान्त योग की सिद्धि के लिए आवश्यक देहतत्त्व का ज्ञान, मूलाधार आदि चक्रों का ज्ञान, योनिस्थान (कुण्डलिनी) में परम ज्योति के दर्शन, नाड़ीचक्र,नाड़ी स्थान,नाड़ियों में संचरित प्राणवायु और उनकी क्रियाएँ, प्राणों के साथ जीव की गतिमयता, अजपा गायत्री का अनुसन्धान, कुण्डलिनी द्वारा मोक्ष द्वार का भेदन, तीन बन्ध (मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध तथा उड्डियानबन्ध), खेचरी मुद्रा, वज्रोली आदि (विशेष योगसाधना) के लक्षण, महामुद्रा का स्वरूप, प्रणव (ॐकार) जप की विशेष प्रक्रिया, प्रणव एवं ब्रह्म की एकरूपता, प्रणव (ॐ) के अवयव (अ, उ, म्) का अर्थ, तुरीयोङ्कार द्वारा अग्रब्रह्म की साधना, प्रणव एवं हंस साधना, कैवल्यबोध-आत्मज्ञान का प्रकाशक प्रणव जप, प्रणव मन्त्रानुष्ठान के साधक के लिए प्राणजय आवश्यक, नाड़ीशुद्धि से प्राणायामसिद्धि, मात्रा नियमपूर्वक प्राणायाम, योगांगों में से प्रत्येक के अलग-अलग फल और उनकी तारतम्यता, षण्मुखी मुद्रा के अभ्यास से नादाभिव्यक्ति, प्राणायाम का अभ्यास, सर्वरोग निवारक, 'प्राण' के निरोधाभ्यास में इन्द्रियों का प्रत्याहार आवश्यक इत्यादि अनेकविध विषयों का बड़ा विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। निःसन्देह इस उपनिषद् के अनुसार साधना करने वाला व्यक्ति योग के क्षेत्र में चूड़ामणि (मुकुट) स्तर का बन सकता है। योगपरक उपनिषदों में इस चूड़ामणि उपनिषद् का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु ..... इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-महोपनिषद्)

योगचूडामणिं वक्ष्ये योगिनां हितकाम्यया। कैवल्यसिद्धिदं गूढं सेवितं योगवित्तमैः ॥ १ ॥

योग चूड़ामणि उपनिषद् को योगियों के हित की कामना से वर्णन करता हूँ, जो योगवेत्ताओं के द्वारा सेवन किया जाने वाला परम गूढ़ तथा कैवल्य (मोक्ष) सिद्धि देने वाला है॥ १ ॥

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा। ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट्॥ २ ॥
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम्। षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्॥ ३ ॥
स्वदेहे यो न जानाति तस्य सिद्धिः कथं भवेत्। चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षड्दलम्॥४ ॥
नाभौ दशदलं पद्मं हृदये द्वादशारकम्। षोडशारं विशुद्धाख्यं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ॥ ५ ॥

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इस प्रकार योग को छः अंगों वाला कहा गया है। दो प्रकार के आसनों का यहाँ वर्णन है, एक सिद्धासन दूसरा पद्मासन। अपने शरीर के भीतर जो साधक षट्चक्र, षोडश-आधार, त्रिलक्ष्य और पाँच आकाशों को नहीं देख पाता, उसे सिद्धि कहाँ मिल सकती है? शरीर में स्थित षट्चक्रों में आधारचक्र (मूलाधार चक्र) चार दल वाला है, स्वाधिष्ठान चक्र में छः दल हैं। दस दल वाला चक्र नाभि में स्थित है, द्वादशदल का पद्मचक्र हृदय में है, विशुद्धचक्र षोडश दल वाला तथा दो दल का चक्र भ्रूमध्य में (आज्ञाचक्र के रूप में) स्थित है॥ २-५ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सहस्त्रदलसंख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथि । आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्॥ ६ ॥
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते। कामाख्यं तु गुदस्थाने पङ्कजं तु चतुर्दलम्॥ ७ ॥
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता। तस्य मध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखं स्थितम्॥८

सहस्त्र दल-कमल ब्रह्मरन्ध्र के महापथ में स्थित है। मूलाधार प्रथम चक्र है तथा स्वाधिष्ठान दूसरा चक्र है। दोनों के बीच में योनि स्थान (कुण्डलिनी) स्थित है। जगत् की उत्पत्ति का कारण होने से उसे कामरूप कहा जाता है। गुदास्थान में चार दल वाला कमल स्थित है, जिसे 'काम' कहा गया है। उसी के बीच सिद्ध पुरुषों के द्वारा वन्दित पश्चिमाभिमुख महालिंग स्थित है॥ ६-८॥

नाभौ तु मणिवद्बिम्बं यो जानाति स योगवित्। तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत्॥ ९ ॥
त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेरधोमेढ्रात्प्रतिष्ठितम्। समाधौ परमं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम्॥ १० ॥

नाभि स्थान में मणि की आकृति वाले मणिपूर चक्र को जानने वाला ही योगी है। तपाये हुए सोने के समान आभा वाला, विद्युत् की तरह प्रकाशमान त्रिकोण युक्त अग्नि मेढ्र में प्रतिष्ठित है। समाधि अवस्था में उस स्थान पर अनन्त विश्वतोमुख (सब ओर प्रकाशित) परमज्योति के दर्शन होते हैं॥ ९-१०॥

तस्मिन्दृष्टे महायोगे यातायातो न विद्यते। स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः॥ ११ ॥
स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मान्मेढ्रमेवाभिधीयते। तन्तुना मणिवत्प्रोतो योऽत्र कन्दः सुषुम्नया॥ १२ ॥

योगाभ्यास के समय उस अग्निमयी ज्वाला के दर्शन क़र लेने पर संसार के आवागमन से मुक्ति मिल जाती है। प्राण का निवास स्वाधिष्ठान चक्र में कहा गया है। प्राण को ही 'स्व' कहते हैं। स्वाधिष्ठान में स्थित होने के कारण उसे 'मेढ्र' भी कहते हैं। जिस प्रकार मणि में तागा पिरोया होता है, उसी प्रकार कन्द (नाड़ी समूह) सुषुम्ना से युक्त है॥ ११-१२॥

तन्नाभिमण्डले चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम्। द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते॥ १३ ॥
तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्त्वं न विन्दति। ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दे योनिः खगाण्डवत्॥१४॥
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्त्राणां द्विसप्ततिः। तेषु नाडीसहस्त्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता॥ १५ ॥
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः। इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयगा॥ १६ ॥
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी। अलम्बुसा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता॥१७॥

नाभि मण्डल में स्थित द्वादशदल युक्त मणिपूर चक्र पाप-पुण्य रहित है, जब तक इसका तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक जीव को संसार चक्र में ही भ्रमण करना पड़ता है। पक्षी के अण्डे के आकार वाली योनि अर्थात् कुण्डलिनी, मेढ्र और नाभि के मध्य स्थित है। बहत्तर हजार नाड़ियों का जाल पूरे शरीर में वहीं से फैला है, उनमें से बहत्तर नाड़ियाँ मुख्य हैं। इनमें भी प्रमुख नाड़ियाँ दस कही गई हैं। १. इड़ा, २. पिंगला, ३. सुषुम्ना, ४. गांधारी, ५. हस्तिजिह्वा, ६. पूषा, ७. यशस्विनी, ८. अलम्बुसा, ९. कुहू और १०. शंखिनी॥ १३-१७॥

एतन्नाडीमहाचक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा। इडा वामे स्थिता भागे दक्षिणे पिङ्गला स्थिता॥१८॥
सुषुम्ना मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि। दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे॥ १९ ॥
यशस्विनी वामकर्णे चानने चाप्यलम्बुसा। कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने तु शङ्खिनी॥ २० ॥

नाड़ियों के इस महाचक्र का ज्ञान योगियों को होना चाहिए। शरीर में इड़ा नाड़ी (नासिका के) बायीं ओर और पिंगला नाड़ी दाहिनी ओर स्थित रहती है। इड़ा-पिंगला के बीच में सुषुम्ना नाड़ी है। दायें नेत्र में हस्तिजिह्वा और बायें नेत्र में गांधारी का निवास है। पूषा तथा यशस्विनी क्रमशः दायें-बायें कान में स्थित हैं। मुँह में अलम्बुसा का निवास है। जननेन्द्रिय में कुहू एवं मूलस्थान में शंखिनी नाड़ी का निवास है॥ १८-२०॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ते नाडयः क्रमात्। इडापिङ्गलासौषुम्नाः प्राणमार्गे च संस्थिताः ॥२१॥

सम्पूर्ण शरीर के भीतर एक-एक द्वार पर एक-एक नाड़ी स्थित है और प्राणमार्ग में इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियाँ स्थित हैं॥ २१॥

सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः। प्राणापानसमानाख्या व्यानोदानौ च वायवः॥ २२॥

नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनंजयः। हृदि प्राणः स्थितो नित्यमपानो गुदमण्डले॥ २३॥

समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः। व्यानः सर्वशरीरे तु प्रधानाः पञ्च वायवः॥ २४॥

सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि देवता प्राणों के वाहक हैं। प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान—ये पाँच प्राणवायु कहे गये हैं। नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त एवं धनञ्जय—ये पाँच उपप्राणवायु कहे गये हैं। शरीर के अन्दर हृदय में (मुख्य) प्राणवायु, गुदा स्थान में अपान, नाभि स्थान में समान, गले में उदान एवं पूरे शरीर में व्यानवायु स्थित रहता है। ये प्रधान प्राणवायु शरीर के पाँच स्थानों में स्थित हैं॥ २२-२४॥

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने तथा। कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे॥ २५॥

ऊर्ध्ववायु (डकार) में नाग नामक उपप्राण, आँखों की पलक झपकने में कूर्मवायु, कृकल छींकने में एवं देवदत्त की स्थिति जँभाई लेने में होती है॥ २५॥

न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनंजयः। एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवजन्तवः॥ २६॥

सम्पूर्ण शरीर में धनञ्जय वायु इस प्रकार से व्याप्त है कि मृत्यु के बाद भी शरीर को नहीं छोड़ता है। इन्हीं नाड़ियों में जीव (प्राण) भ्रमण करते रहते हैं॥ २६॥

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथा चलति कन्दुकः। प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति॥ २७॥

खिलाड़ियों के द्वारा इधर से उधर फेंकी हुई गेंद की तरह जीव भी प्राण, अपान आदि वायुओं से स्थिर नहीं रह पाता अर्थात् सदैव गतिशील रहता है॥ २७॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति। वामदक्षिणमार्गाभ्यां चञ्चलत्वान्न दृश्यते॥२८॥

यह जीव प्राणादि वायुओं के वशीभूत होकर नीचे-ऊपर गमन करता हुआ बायें एवं दायें मार्ग में भी आता-जाता है। गमनचक्र तीव्रता से चलने के कारण वह दिखाई नहीं पड़ता॥ २८॥

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः। गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कर्षति॥ २९॥

रस्सी से बँधा हुआ श्येन पक्षी ऊपर उड़ता हुआ भी जिस प्रकार खींच लिया जाता है, ठीक उसी प्रकार गुणों से आबद्ध यह जीव भी प्राण और अपान वायुओं के द्वारा खींचा जाता है॥ २९॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति। अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति। ऊर्ध्वाधःसंस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित्॥ ३०॥

प्राण अपान को खींचता है एवं अपान प्राण को खींचता है, इसलिए यह जीव प्राण और अपान की इस क्रिया के द्वारा निरंतर ऊपर-नीचे आता जाता रहता है। प्राण एवं जीव की इस अधः एवं ऊर्ध्वगमन प्रक्रिया को जानने वाला ही योगवेत्ता है॥ ३०॥

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः। हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥ ३१॥

श्वास 'स' कार ध्वनि (वायु) के माध्यम से भीतर और 'ह' कार के साथ बाहर आती है। इस तरह यह जीव हंस-हंस (हंसमंत्र) का जप सदैव करता रहता है॥ ३१॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः । एतत्संख्यान्वितं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ ३२ ॥

दिन-रात निरन्तर जप करते रहने से यह जीव इक्कीस हजार छः सौ मंत्र नित्य जपता है ॥ ३२ ॥

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा । अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३३ ॥

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः । अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥ ३४ ॥

योगियों के लिए मुक्ति प्रदात्री यही अजपा गायत्री है । इसके संकल्प मात्र से सभी पापों से मुक्ति मिल जाती है । इसके समान न कोई विद्या, न कोई जप, न कोई ज्ञान पहले हुआ है और न भविष्य में होगा ॥३३-३४ ॥

कुण्डलिन्या समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी । प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥३५

यह गायत्री प्राण को धारण करने वाली प्राणविद्या है-महाविद्या है, जो कुण्डलिनी से उद्भूत है । इस प्रकार जो जान लेता है, वही वेदवेत्ता है ॥ ३५ ॥

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः । ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥ ३६ ॥

कुण्डलिनी शक्ति कन्द के ऊर्ध्वभाग में आठ कुण्डलों की आकृति में व्याप्त होकर ब्रह्म द्वार के मुँह को अपने मुख से ढककर सदैव स्थित रहती है ॥ ३६ ॥

येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारं मनोमयम् । मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ ३७ ॥

जिस मनोमय ब्रह्म द्वार (सुषुम्ना) में प्रवेश किया जाता है, उसी द्वार (मुख) को अपने मुख से ढककर यह परमेश्वरी शक्ति (कुण्डलिनी) सोई रहती है ॥ ३७ ॥

प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह । सूचीवद्गात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ॥ ३८ ॥

वह्नियोग (अग्नियोग) के द्वारा जाग्रत् होकर यह प्रकाश के रूप में मन और प्राणवायु के साथ सुषुम्ना नाड़ी के भीतर होकर सुई की तरह ऊपर की ओर चलती है ॥ ३८ ॥

उद्घाटयेत्कवाटं तु यथा कुञ्चिकया गृहम् । कुण्डलिन्यां तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥ ३९ ॥

कुंजी के द्वारा जिस तरह से घर का किवाड़ (ताला) खोलते हैं, उसी प्रकार कुण्डलिनी के द्वारा योगी लोग मुक्ति का द्वार खोल लेते हैं ॥ ३९ ॥

कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं गाढं वक्षसि संनिधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेष्टितम् ।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥ ४० ॥

दृढ़तापूर्वक पद्मासन लगाकर हाथों को ऊपर-नीचे गोदी में रखकर सम्पुटित करे, पुनः सिर नीचा करके ठोड़ी को छाती से लगाये, इसके बाद ब्रह्म में ध्यान को एकाग्र करके, बार-बार श्वास को भीतर खींचे और बाहर निकाले । प्राणवायु अन्दर ले जाए और अपान वायु ऊपर ले जाए । इस तरह प्राणायाम करने से मनुष्य को अतुल शक्ति की अनुभूति होती है ॥ ४० ॥

अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमसंजातवारिणा । कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ॥ ४१ ॥

इस प्रकार प्राणायाम के अभ्यास के श्रम से जो पसीना निकलता है, उसे शरीर में ही मसल लेना चाहिए तथा नमकीन, खट्टे, कड़ुवे पदार्थों का परित्याग करना चाहिए और दूध एवं दूध से बने भोजन का विशेष रूप से प्रयोग करना चाहिए ॥ ४१ ॥

ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः । अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ ४२ ॥

ब्रह्मचारी और मिताहार वाला योगी यदि योग के अभ्यास में लग जाए, तो एक वर्ष में ही योग की सिद्धि प्राप्त कर लेगा, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए ॥ ४२ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः । भुञ्जते शिवसंप्रीत्या मिताहारी स उच्यते॥ ४३ ॥

योग के साधक को मधुर और स्निग्ध भोजन ही लेना चाहिए,(आधा पेट भोजन,चौथाई पानी तथा) चौथाई भाग खाली रखे। इस प्रकार भगवान् को समर्पित करके जो भोजन करता है,उसे मिताहारी कहते हैं ॥४३

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः । बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा सदा ॥४४ ॥

आठ कुण्डलों वाली कन्द के ऊर्ध्वभाग में जो कुण्डलिनी शक्ति है, वह योगियों के लिए मोक्ष देने वाली तथा अज्ञानियों के लिए बन्धनकारक कही गई है ॥ ४४ ॥

महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्याणं च जलन्धरम्। मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम्॥४५ ॥

महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियान बन्ध, जालन्धर बन्ध और मूलबन्ध को जो जानता है, वह योगी मुक्ति को प्राप्त करता है ॥ ४५ ॥

पार्ष्णिघातेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढम्। अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते ॥ ४६ ॥

एड़ी से दबाव डालकर योनि (सीवन) स्थान को पीड़ित करते हुए दृढ़तापूर्वक संकुचित करे, अपान वायु को ऊपर की ओर खींचने की इस प्रक्रिया को मूलबन्ध कहा जाता है ॥ ४६ ॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः। युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ४७ ॥

इस प्रकार प्राण और अपान को एक में मिलाया जाता है, इससे मल-मूत्र कम हो जाता है। इस प्रकार मूलबन्ध का अभ्यास करने से वृद्ध भी युवा हो जाता है ॥ ४७ ॥

ओड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः। ओड्डियाणं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ४८ ॥

महापक्षी (गिद्ध आदि) जिस प्रकार विश्राम के लिए (आकाश में अत्यधिक ऊँचे) उड़ते हैं, उसी तरह उड्डियान बन्ध का अभ्यास मृत्यु रूपी हाथी को पछाड़ने के लिए सिंह के समान है। (बड़े पक्षियों को एक विशेष प्रकार से उड़ने में विश्राम प्राप्त होता है, जिससे उन्हें शक्ति प्राप्त हो जाती है।) ॥ ४८ ॥

उदरात्पश्चिमं ताणमधोनाभेर्निगद्यते । ओड्याणमुदरे बन्धस्तत्र बन्धो विधीयते ॥ ४९ ॥

पेट को नाभि के नीचे तानना अर्थात् खींचना पश्चिमोत्तान कहलाता है। वहीं पेट में यह उड्डियान बंध भी किया जाता है ॥ ४९ ॥

बध्नाति हि शिरोजातमधोगामि नभोजलम्। ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ ५० ॥

जो शरीर में नीचे की ओर प्रवहमान आकाश-जल (खेचरी मुद्रा द्वारा क्षरित होने वाला) को शिरोभाग में रोककर रखता है, उसे जालंधर बंध कहते हैं, यह दु:खों और कष्टों का नाश कर देता है ॥ ५० ॥

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे । न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥ ५१ ॥

जालन्धर बंध में सामने की ओर सिर झुकाकर गले से नीचे ठोढ़ी को हृदय से स्पर्श करना होता है। इस से अमृत न तो अग्नि की ओर गिरता है और न वायु की ओर गमन करता है, स्थिर हो जाता है ॥ ५१ ॥

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा । भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ५२ ॥

दृष्टि को दोनों भौंहों के मध्य स्थित करे एवं जीभ को गले की ओर पीछे लौटाकर कपाल कुहर (गले के मध्य तालु) में प्रवेश कराये, इस प्रकार की क्रिया को खेचरी मुद्रा कहते हैं ॥ ५२ ॥

न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा। न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ५३ ॥

जो खेचरी मुद्रा को जानता और साधना करता है उसे रोग, मरण, भूख-प्यास और मूर्छा आदि से छुटकारा प्राप्त हो जाता है ॥ ५३ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न स कर्मभिः । बाध्यते न च केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥५४ ॥

खेचरी मुद्रा जानने वाला न तो रोग से कष्ट पाता है और न कर्मों में ही उसकी आसक्ति होती है तथा उसके पास तक कोई विघ्न भी नहीं पहुँच पाते ॥ ५४ ॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे यतः । तेनेयं खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धनमस्कृता ॥ ५५ ॥

जिसकी साधना करने से चित्त और जिह्वा आकाश में विचरण करते हैं, उस खेचरी मुद्रा को सभी सिद्ध लोग प्रणाम करते हैं ॥ ५५ ॥

बिन्दुमूलशरीराणि शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः । भावयन्ती शरीराणि आपादतलमस्तकम् ॥ ५६ ॥

सिर से लेकर पैर तक शरीर के सभी अंगों का जिनके द्वारा पोषण होता है, उन सभी शिराओं का मूल बिन्दु खेचरी मुद्रा ही है ॥ ५६ ॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः । न तस्य क्षीयते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च ॥५७ ॥

खेचरी मुद्रा के द्वारा जिस साधक ने जीभ के ऊपर कपाल कुहर को ढक लिया है, उस साधक का रमणी के आलिंगन से भी बिन्दुपात नहीं हो सकता ॥ ५७ ॥

यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः । यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥ ५८ ॥

जब तक साधक ने खेचरी मुद्रा को बाँध रखा है, तब तक बिन्दु नहीं जाता है और जब तक शरीर में बिन्दु स्थित है, तब तक मृत्यु का क्या भय है ? ॥ ५८ ॥

ज्वलितोऽपि यथा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम् । व्रजत्यूर्ध्वं गतः शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ॥५९ ॥

यदि जाज्वल्यमान अग्नितत्त्व में बिन्दुपात भी हो जाये, तो उसको योनिमुद्रा के द्वारा बलपूर्वक रोका और ऊर्ध्वगामी बनाया जा सकता है ॥ ५९ ॥

स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा । पाण्डरं शुक्लमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः ॥६० ॥

सफेद और लाल दो वर्ण (रंग) का बिन्दु होता है। श्वेत को शुक्ल (शुक्र) नाम दिया गया तथा लाल को महारज कहा गया है ॥ ६० ॥

सिन्दूरव्रातसंकाशं रविस्थानस्थितं रजः । शशिस्थानस्थितं शुक्लं तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ॥ ६१ ॥

सिन्दूर के समान ज्योतित रविस्थान में रज का निवास स्थान है तथा चन्द्रस्थान में शुक्ल का निवास स्थान है। शुक्ल और रज का संयोग बड़ा कठिन होता है ॥ ६१ ॥

बिन्दुर्ब्रह्मा रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः । उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥ ६२ ॥

बिन्दु ब्रह्मारूप है तथा रज शक्तिस्वरूप है, बिन्दु चन्द्ररूप और रज सूर्यरूप है। इन दोनों का योग (मिलन) होने से ही परमपद की प्राप्ति होती है ॥ ६२ ॥

वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं च यथा रजः । याति बिन्दुः सदैकत्वं भवेद्दिव्यवपुस्तदा ॥ ६३ ॥

जब वायु (प्राणायाम) से शक्तिचालिनी मुद्रा के द्वारा गमनशील रज बिन्दु से एकाकार हो जाता है, तब शरीर दिव्य हो जाता है ॥ ६३ ॥

शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संगतम् । तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ॥६४ ॥

रज का संयोग सूर्य में और शुक्ल (शुक्र) का संयोग चन्द्र में जिस प्रकार होता है, उस विषय को और दोनों के एकाकार होने को जानने वाला साधक योगवेत्ता कहा जाता है ॥ ६४ ॥

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः । रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते ॥ ६५ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

जिस साधना के द्वारा नाड़ी-समूह का शोधन किया जाता है तथा सूर्य-चन्द्र को चलाया जाता है एवं रस का शोषण किया जाता है,उसे 'महामुद्रा' कहते हैं ॥ ६५ ॥

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामाङ्घ्रिणा हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम्। आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनै रेचयेत्सेयं व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते ॥ ६६ ॥

बायें पैर से योनि स्थान पर दबाव डालते हुए, ठोढ़ी को छाती से लगाये और दायाँ पैर सीधा फैलाकर दोनों हाथों से पैर की अँगुलियों सहित पैर पकड़कर दोनों कुक्षियों अर्थात् पेट में पूरा श्वास भरकर धीरे-धीरे बाहर निकाले। यह महामुद्रा की क्रिया समस्त प्रकार की व्याधियों को नष्ट करती है ॥ ६६ ॥

चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेनाभ्यसेत्पुनः या तुल्या तु भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥६७॥

अभ्यास क्रम में सर्वप्रथम बायीं नासिका 'चन्द्रअंश' से श्वास खींचकर रेचन करते हुए अभ्यास करे, फिर दायीं नासिका 'सूर्यअंश' से श्वास खींचकर रेचन का अभ्यास करना चाहिए। जब दोनों स्वर (चन्द्र-सूर्य) समान हो जाएँ, तब अभ्यास बन्द करना चाहिए ॥ ६७ ॥

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः। अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥ ६८ ॥

इस 'महामुद्रा' के करने से पथ्य-अपथ्य अथवा सभी तरह का नीरस भोजन सरस हो जाता है। भोजन अधिक कर लेने पर तथा विष भी खा लेने पर वह अमृत के समान पच जाता है ॥ ६८ ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः। तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ ६९ ॥

इस महामुद्रा के अभ्यास करने वाले साधक को इसके प्रभाव से क्षय, कुष्ठ, गुदावर्त (भगन्दर), गुल्म (तिल्ली बढ़ना), अजीर्ण आदि एवं भविष्य में होने वाले सभी रोगों से छुटकारा मिल जाता है ॥ ६९ ॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्। गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ ७० ॥

यह महामुद्रा साधकों को महासिद्धि देने वाली है, इसको हर किसी को (अनधिकारी को) नहीं बताना चाहिए, प्रयत्नपूर्वक गुप्त रखना चाहिए ॥ ७० ॥

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः। नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोंकारमव्ययम् ॥ ७१ ॥

एकान्त स्थान में पद्मासन लगाकर कमर से सिर तक शरीर को सीधा करके नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि को जमाकर अव्यय प्रणव (ॐ) का जप करना चाहिए ॥ ७१ ॥

ॐ नित्यं शुद्धं बुद्धं निर्विकल्पं निरञ्जनं निराख्यातमनादिनिधनमेकं तुरीयं यद्भूतं भवद्भविष्यत् परिवर्तमानं सर्वदाऽनवच्छिन्नं परं ब्रह्म तस्माज्जाता परा शक्तिः स्वयंज्योतिरात्मिका। आत्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। एतेषां पञ्चभूतानां पतयः पञ्च सदाशिवेश्वररुद्रविष्णुब्रह्माणश्चेति। तेषां ब्रह्मविष्णुरुद्राश्चोत्पत्तिस्थितिलयकर्तारः। राजसो ब्रह्मा सात्त्विको विष्णुस्तामसो रुद्र इति एते त्रयो गुणयुक्ताः। ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव। धाता च सृष्टौ विष्णुश्च स्थितौ रुद्रश्च नाशे भोगाय चेन्द्रः प्रथमजा बभूवुः। एतेषां ब्रह्मणो लोका देवतिर्यङ्नरस्थावराश्च जायन्ते। तेषां मनुष्यादीनां पञ्चभूतसमवायः शरीरम्। ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिचित्ताहंकारैः स्थूलकल्पितैः सोऽपि स्थूलप्रकृतिरित्युच्यते। ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिभिश्च

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सूक्ष्मस्थोऽपि लिङ्गमेवेत्युच्यते। गुणत्रययुक्तं कारणम्। सर्वेषामेवं त्रीणि शरीराणि वर्तन्ते। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयाश्चेत्यवस्थाश्चतस्त्रः तासामवस्थानामधिपतयश्चत्वारः पुरुषा विश्वतैजस-प्राज्ञात्मानश्चेति। विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्। आनन्दभुक्तथा प्राज्ञः सर्वसा-क्षीत्यतः परः ॥ ७२ ॥

ॐ निरंजन, निर्विकल्प, नामरहित, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, अनादिनिधन (शाश्वत), एक, तुरीय, भूत, भविष्यत्, वर्तमान में एक रस रहने वाले परब्रह्म से स्वयं प्रकाशरूपी पराशक्ति प्रकट हुई। आत्मा (परमात्मा) से आकाश प्रकट हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी प्रकट हुई। सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा ये पाँच देवता इन पाँच महाभूतों के पाँच स्वामी हैं। इसमें ब्रह्माजी उत्पत्ति करने वाले, विष्णु पालन करने वाले तथा रुद्र संहार करने वाले हैं। सतोगुणरूप विष्णु, रजोगुणरूप ब्रह्मा, तमोगुणरूप रुद्र हैं। देवताओं में पहले ब्रह्माजी की उत्पत्ति हुई। सृष्टि की उत्पत्ति के लिए ब्रह्मा, सृष्टि के पालन अर्थात् विकास करने के लिए विष्णु, सृष्टि के विनाश के लिए रुद्र, भोगों के लिए इन्द्र की उत्पत्ति सर्वप्रथम हुई। लोक, देव, तिर्यक्, नर और स्थावर इन सबकी उत्पत्ति ब्रह्माजी के द्वारा हुई। उनमें मनुष्य आदि का शरीर पंचभूतों के संयोग से बनता है। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, ज्ञान के विषय, प्राण आदि पंच वायु, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार (अपेक्षाकृत) स्थूल रचना होने से (इनके मूल कारण को) स्थूल प्रकृति कहा जाता है। कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, ज्ञान के विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध), पंचवायु, मन और बुद्धि को सूक्ष्म (लिंग) शरीर कहा जाता है। कारण शरीर तीन गुणों से युक्त है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर सबके होते हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय चार अवस्थाएँ होती हैं, तैजस, प्राज्ञ, विश्व और आत्मा ये चार पुरुष इन सब (अवस्थाओं) के अधिपति हैं। विश्व स्थूल का नित्य भोग करने वाला है, तैजस एकान्त का भोग करने वाला है, प्राज्ञ आनन्द का भोगने वाला है और सबका साक्षी (आत्मा) इससे परे कहा जाता है ॥ ७२ ॥

प्रणवः सर्वदा तिष्ठेत्सर्वजीवेषु भोगतः। अभिरामस्तु सर्वासु ह्यवस्थासु ह्यधोमुखः ॥ ७३ ॥

सर्वव्यापी प्रणव (परमात्मा) जीवों की सभी आनन्दमय अवस्थाओं के भोग के समय अधोमुख अर्थात् उदासीन होकर रहता है ॥ ७३ ॥

अकार उकारो मकारश्चेति त्रयो वर्णास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयो गुणास्त्रीण्यक्षराणि त्रयः स्वरा एवं प्रणवः प्रकाशते। अकारो जाग्रति नेत्रे वर्तते सर्वजन्तुषु। उकारः कण्ठतः स्वप्ने मकारो हृदि सुप्तितः ॥ ७४ ॥

(प्रणव ॐ कार में निहित) तीन अक्षर 'अ' कार, 'उ' कार एवं 'म' कार तीन वेद, तीन लोक, तीन गुण, तीन अक्षर और तीन स्वर के रूप में प्रणव (ओंकार ही) प्रकाशमान है। 'अ' कार समस्त जीवधारियों के जाग्रत् अवस्था में नेत्रों में निवास करता है, सोते समय 'उ' कार कण्ठ में निवास करता है और 'म' कार सुषुप्ति अवस्था में हृदय प्रदेश में निवास करता है ॥ ७४ ॥

विराड्विश्वः स्थूलश्चाकारः। हिरण्यगर्भस्तैजसः सूक्ष्मश्च उकारः। कारणाव्याकृतप्राज्ञश्च मकारः। अकारो राजसो रक्तो ब्रह्मा चेतन उच्यते। उकारः सात्त्विकः शुक्लो विष्णुरित्यभिधीयते ॥७५ ॥
मकारस्तामसः कृष्णो रुद्रश्चेति तथोच्यते। प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात्प्रभवो हरिः ॥ ७६ ॥
प्रणवात्प्रभवो रुद्रः प्रणवो हि परो भवेत्। अकारे लीयते ब्रह्मा ह्युकारे लीयते हरिः ॥ ७७ ॥
मकारे लीयते रुद्रः प्रणवो हि प्रकाशते। ज्ञानिनामूर्ध्वगो भूयादज्ञाने स्यादधोमुखः ॥ ७८ ॥
एवं वै प्रणवस्तिष्ठेद्यस्तं वेद स वेदवित्। अनाहतस्वरूपेण ज्ञानिनामूर्ध्वगो भवेत् ॥ ७९ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

यह स्थूल विराट् विश्व 'अ' कार ही है, सूक्ष्म तेजस्वी हिरण्यगर्भ के रूप में 'उ' कार कहा जाता है और 'म' कार अव्याकृत (अप्रकट) कारण प्राज्ञ कहा जाता है। 'अ' कार की प्रकृति राजसी, वर्ण लाल है, उसे सृष्टि-कर्त्ता ब्रह्मा कहा गया है। 'उ' कार की प्रकृति सात्त्विक, वर्ण श्वेत है, उसे पालनकर्त्ता विष्णु कहा गया है। 'म' कार की प्रकृति तामस, वर्ण कृष्ण है, उसे संहारकर्त्ता रुद्र कहा गया है, इस तरह ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र की उत्पत्ति का कारण प्रणव (ॐ) ही कहा गया है। प्रणव ही सबका अनादि कारण परतत्त्व है। 'अ' कार में सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा समाहित हैं, उकार में विष्णु समाहित हैं तथा मकार में रुद्र समाहित हैं। एकमात्र प्रणव ही (सर्वत्र) प्रकाशमान रहता है। यह प्रणव ज्ञानी मनुष्यों में ऊर्ध्वमुख एवं अज्ञानी मनुष्यों में अधोमुख वाला कहा गया है। इस प्रकार सर्वत्र समरूप से प्रणव (ॐ कार) ही प्रतिष्ठित है, इसको इस प्रकार से जो जानता है, वही वेदविद् है। ज्ञानी साधकों में यह प्रणव अनाहत रूप से ऊर्ध्वगति वाला होता है॥ ७५-७९ ॥

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत् । प्रणवस्य ध्वनिस्तद्वत्तदग्रं ब्रह्म चोच्यते॥ ८० ॥

तैलधारवत् अविच्छिन्न, घण्टा के गम्भीर स्वर की तरह प्रणव (ओंकार) की ध्वनि वाला अनाहत नाद होता है, जिसका मूल 'ब्रह्म' कहा जाता है॥ ८० ॥

ज्योतिर्मयं तदग्रं स्यादवाच्यं बुद्धिसूक्ष्मतः। ददृशुर्ये महात्मानो यस्तं वेद स वेदवित्॥ ८१ ॥

महापुरुषों के द्वारा सूक्ष्म बुद्धि से जानने योग्य प्रणव का वह अग्रभाग (मूल) प्रकाशमय और वाणी से परे है, इस प्रकार से जानने वाला महात्मा ही वेदविद् है॥ ८१ ॥

जाग्रन्नेत्रद्वयोर्मध्ये हंस एव प्रकाशते। सकारः खेचरी प्रोक्तस्त्वंपदं चेति निश्चितम्॥ ८२ ॥
हकारः परमेशः स्यात्तत्पदं चेति निश्चितम्। सकारो ध्यायते जन्तुर्हकारो हि भवेद्ध्रुवम्॥८३ ॥

दोनों नेत्रों के बीच जाग्रत् अवस्था में हंस ज्योतित रहता है। 'स' कार खेचरी के रूप में कहा गया है, जो निश्चित रूप से 'त्वं' का स्वरूप है। 'ह' कार पद परमात्मा का द्योतक है, जो निश्चित रूप से 'तत्' पद के रूप में है। जो भी प्राणी 'स' कार का ध्यान करता है, वह निश्चित रूप से 'ह' कार रूप हो जाता है। यही सोऽहम् और तत्त्वमसि की साधना है॥ ८२-८३ ॥

[ऋषि यहाँ 'सोऽहम्' और 'तत् त्वम्' बोध वाक्यों की समानता-एकरूपता प्रदर्शित कर रहे हैं। साधक जब तात्त्विक दृष्टि से 'स्व' की ओर देखता है, तो 'सोऽहमस्मि' का बोध करता है तथा जब बाहर की ओर उसी दृष्टि से देखता है, तो तत्त्वमसि का अनुभव करता है।]

इन्द्रियैर्बध्यते जीव आत्मा चैव न बध्यते। ममत्वेन भवेज्जीवो निर्ममत्वेन केवलः॥ ८४॥

जीव को इन्द्रियाँ बन्धन में बाँधती हैं, आत्मा को इन्द्रियाँ नहीं बाँध सकती हैं। जब तक ममता होती है, वह जीव रहता है, ममता के बन्धन समाप्त हो जाने पर कैवल्य रूप हो जाता है॥ ८४॥

भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः। यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति॥ ८५॥

सूर्य, चन्द्र और अग्नि देवता एवं भूः, भुवः, स्वः लोक जिसकी मात्राओं में स्थित रहते हैं, वह परम प्रकाशरूप ओंकार है ॥ ८५॥

क्रिया इच्छा तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी। त्रिधा मात्रास्थितिर्यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति॥८६ ॥

परम प्रकाशमान ओंकार की तीन मात्राओं में क्रिया, इच्छा और ज्ञान तथा ब्राह्मी, रौद्री एवं वैष्णवी शक्तियाँ विराजमान हैं॥ ८६ ॥

वचसा तज्जपेन्नित्यं वपुषा तत्समभ्यसेत्। मनसा तज्जपेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति॥ ८७॥

सदैव वाणी से उसका जप करे तथा शरीर से उसी के प्रति आचरण करना चाहिए। मन से उसी का जप करते हुए उसी परमप्रकाशरूप ओंकार में स्थिर हो जाए॥ ८७॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत्प्रणवं सदा। न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥ ८८॥

पवित्र या अपवित्र किसी भी अवस्था में ओंकार का जप करने वाला पाप-पंक में नहीं फँसता, संसार में वह जल से अलिप्त पद्मपत्र की तरह निर्लिप्त बना रहता है॥ ८८॥

चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत्। योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत्॥८९

जब तक वायु चलती रहेगी, तब तक बिन्दु भी चलायमान होगा, वायु के स्थिर हो जाने पर योगी स्थिरता (निश्चलता) को प्राप्त हो जाता है। इसलिए वायु की स्थिरता (प्राणायाम) का अभ्यास करना चाहिए॥ ८९॥

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवो न मुञ्चति। मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरुन्धयेत्॥९०॥

शरीर में जब तक वायु विद्यमान है, तब तक शरीर में जीव स्थिर रहेगा। शरीर से वायु निकल जाना ही मृत्यु है, इस कारण वायु का निरोध (प्राणायाम) करना चाहिए॥ ९०॥

यावद्बद्धो मरुत् देहे तावज्जीवो न मुञ्चति। यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः॥९१॥

जीव शरीर से तब तक नहीं निकल सकता, जब तक शरीर में वायु आबद्ध (स्थित) है, जो व्यक्ति दोनों भृकुटियों के बीच में दृष्टि को स्थिर रखता है, वह काल को जीत लेता है, उसे काल का भय कैसा?॥ ९१॥

अल्पकालभयाद्ब्रह्मा प्राणायामपरो भवेत्। योगिनो मुनयश्चैव ततः प्राणान्निरोधयेत्॥ ९२॥

ब्रह्मा भी अल्प काल के भय से (अल्पायु से) मुक्ति पाने के लिए प्राणायाम करते हैं। इसलिए प्राण का निरोध करने के लिए योगियों और मुनियों को प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए॥ ९२॥

षड्विंशदङ्गुलिर्हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः। वामदक्षिणमार्गेण प्राणायामो विधीयते॥ ९३॥

यह प्राण हंस रूप है, जो श्वास के माध्यम से छब्बीस अंगुल बाहर आता है। प्राणायाम नासिका के दोनों छिद्रों अर्थात् बायें-दायें मार्ग से करना चाहिए॥ ९३॥

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम्। तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणक्षमः॥ ९४॥

सभी प्रकार के मलों से नाड़ी चक्र के शुद्ध हो जाने पर योगी प्राणों का निरोध करने (प्राणायाम-सिद्ध होने) में समर्थ हो जाता है॥ ९४॥

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत्। धारयेद्वा यथाशक्त्या भूयः सूर्येण रेचयेत्॥ ९५॥

योग का अभ्यास करने के लिए बद्ध पद्मासन लगाकर चन्द्र नाड़ी (बायें स्वर) के द्वारा वायु को भीतर खींचे-पूरक करे, पुनः कुछ समय भीतर रोके-कुम्भक करे, फिर सूर्य नाड़ी (दायें स्वर) के द्वारा रेचन करे अर्थात् बाहर निकाले॥ ९५॥

अमृतोदधिसंकाशं गोक्षीरधवलोपमम्। ध्यात्वा चन्द्रमसं बिम्बं प्राणायामे सुखी भवेत्॥ ९६॥

प्राणायाम के समय अमृत समुद्र से निकले हुए गो-दुग्ध के समान श्वेत वर्ण के चन्द्रबिम्ब का ध्यान करने से साधक सुखी होता है॥ ९६॥

स्फुरत्प्रज्वलसंज्वालापूज्यमादित्यमण्डलम्। ध्यात्वा हृदि स्थितं योगी प्राणायामे सुखी भवेत्॥

पुनः हृदयकमल में स्थित प्रज्वलित ज्वालासदृश भगवान् सूर्य के ध्यान के साथ प्राणायाम करना योगी के लिए सुखदायी होता है॥ ९७॥

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यथा रेचयेत्पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया। सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिन्दुद्वयं ध्यायतः शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनो मासद्वयादूर्ध्वतः॥ ९८॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

प्राणायाम में सर्वप्रथम इड़ा नाड़ी अर्थात् बायें स्वर से श्वास खींचे (पूरक करे)। पुनः पिंगला नाड़ी अर्थात् दायें स्वर से श्वास का रेचन करे (पुनः इसके विपरीत करे)। इस प्रकार प्राणायाम करते समय चन्द्र और सूर्य दोनों का पूर्व वर्णित तरीके से ध्यान का अभ्यास करने पर मात्र दो महीने में नाड़ीशोधन हो जाता है॥ ९८॥

यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्। नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात्॥ ९९॥

'नाड़ीशोधन प्राणायाम' करने से नाड़ी शुद्ध होने पर वायु को यथेष्ट धारण करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है तथा आरोग्य के लाभ के साथ जठराग्नि प्रबल हो जाती है और दिव्यनाद सुनाई पड़ने लगता है॥ ९९॥

प्राणो देहस्थितो यावदपानं तु निरुन्धयेत्। एकश्वासमयी मात्रा ऊर्ध्वाधो गगने गतिः॥ १००॥

प्राणायाम में कुंभक की स्थिति में जब तक वायु भीतर रुकी रहे, तब तक अपान वायु को भी रोके रखे। इस प्रकार हृदयाकाश में एक श्वास की मात्रा ऊपर और नीचे गमनशील होती है॥ १००॥

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः। प्राणायामो भवेदेवं मात्राद्वादशसंयुतः॥ १०१॥

प्राणायाम की पूरक, कुम्भक और रेचक ये तीनों क्रियाएँ साक्षात् प्रणव का ही रूप हैं (इस चिन्तन के साथ) द्वादश मात्रायुक्त प्राणायाम करना चाहिए॥ १०१॥

मात्राद्वादशसंयुक्तौ दिवाकरनिशाकरौ। दोषजालमबध्नन्तौ ज्ञातव्यौ योगिभिः सदा॥ १०२॥

सूर्य और चन्द्र का यह द्वादश मात्रा वाला प्राणायाम साधक के सभी दोषों को समाप्त कर देता है॥ १०२॥

पूरकं द्वादशं कुर्यात्कुम्भकं षोडशं भवेत्। रेचकं दश चोंकारः प्राणायामः स उच्यते॥ १०३॥

पूरक में द्वादश मात्रा, कुम्भक में षोडश मात्रा और रेचक में दस मात्रा के प्राणायाम को ओंकार प्राणायाम कहा जाता है॥ १०३॥

अधमे द्वादश मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता। उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः॥ १०४॥

यह प्राणायाम द्वादश मात्रा का सामान्य कोटि का, इससे दुगुनी मात्रा का मध्यम स्तर का और उसकी तिगुनी अर्थात् छत्तीस मात्रा का प्राणायाम उत्तम कोटि का होता है॥ १०४॥

अधमे स्वेदजननं कम्पो भवति मध्यमे। उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत्॥ १०५॥

अधम अर्थात् सामान्य प्राणायाम पसीना लाने वाला होता है, मध्यम प्राणायाम में शरीर काँपने लगता है तथा उत्तम कोटि के प्राणायाम में शरीर आसन से ऊपर उठने लगता है, इसलिए इसी तरह का प्राणायाम करना चाहिए॥ १०५॥

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम्। नासाग्रदृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत्॥ १०६॥

योग का अभ्यास करने के लिए एकान्त में बद्धपद्मासन लगाकर बैठे और शिवस्वरूप गुरु को नमस्कार करके नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए॥ १०६॥

द्वाराणां नव संनिरुध्य मरुतं बध्वा दृढां धारणां नीत्वा कालमपानवह्निसहितं शक्त्या समं चालितम्। आत्मध्यानयुतस्त्वनेन विधिना विन्यस्य मूर्ध्नि स्थिरं यावत्तिष्ठति तावदेव महतां सङ्गो न संस्तूयते॥ १०७॥

जिन नव द्वारों से वायु का गमनागमन होता है, उनका निरोध करके वायु को रोके और अपान को अग्नि से मिलाकर ऊर्ध्वगामी बनाकर शक्तिचालिनी मुद्रा द्वारा कुण्डलिनी मार्ग से दृढ़तापूर्वक ऊपर मस्तिष्क में आत्मा के ध्यान के साथ स्थापित करे। जब तक यह स्थिर रहे, तब तक वह (अन्य) महापुरुष की संगति नहीं चाहता अर्थात् वह स्वयं सर्वश्रेष्ठ हो जाता है॥ १०७॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

प्राणायामो भवेदेवं पातकेन्धनपावकः। भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा॥ १०८॥

संसार-सागर से मुक्ति के लिए यह प्राणायाम महासेतु के सदृश है और पाप रूपी ईंधन को जलाने वाले अग्नि की तरह है, ऐसा योगियों द्वारा प्रायः कहा जाता है॥ १०८॥

आसनेन रुजं हन्ति प्राणायामेन पातकम्। विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति॥ १०९॥

योग के आसनों से (शारीरिक) रोग समाप्त होते हैं, प्राणायाम करने से पापों का विनाश होता है तथा प्रत्याहार करने से मानसरोग (विकार) समाप्त होते हैं॥ १०९॥

धारणाभिर्मनोधैर्यं याति चैतन्यमद्भुतम्। समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम्॥११०॥

योग की धारणाशक्ति द्वारा योगी का मन धैर्यवान् बनता है, समाधि से जीव के शुभाशुभ कर्म समाप्त हो जाते हैं तथा मुक्ति मिल जाती है॥ ११०॥

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः। प्रत्याहारद्विषट्केन जायते धारणा शुभा॥ १११॥

धारणा द्वादश प्रोक्तं ध्यानं योगविशारदैः। ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते॥ ११२॥

बारह बार प्राणायाम करने से प्रत्याहार की स्थिति बनती है तथा बारह बार इसी तरह प्रत्याहार करने से शुभफलदात्री धारणा की सिद्धि होती है। इसी प्रकार धारणा की द्वादश आवृत्ति पर ध्यान बनता है तथा द्वादश बार ध्यान होने पर समाधि अवस्था प्राप्त होती है, ऐसा योग के विशारदों का मत है॥१११-११२॥

यत्समाधौ परंज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम्। तस्मिन्दृष्टे क्रियाकर्म यातायातो न विद्यते॥ ११३॥

समाधि की स्थिति में साधक परमप्रकाशरूप अनन्त विश्वतोमुख अर्थात् सर्वत्र समभाव प्राप्त कर लेता है, इस स्थिति को प्राप्त होने पर न तो कुछ करना शेष रहता है, न किये हुए कर्म मनुष्य को बन्धन में डालते हैं, इससे आवागमन से छुटकारा मिल जाता है॥ ११३॥

संबद्धासनमेढ्रमङ्घ्रियुगलं कर्णाक्षिनासापुटद्वाराद्यङ्गुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण वा पूरितम्।
बध्वा वक्षसि बह्वपानसहितं मूर्ध्नि स्थिरं धारयेदेवं याति विशेषतत्त्वसमतां योगीश्वरास्तन्मनाः॥

दोनों पैर की एड़ियों को मेढ्र अर्थात् सीवन स्थान में लगाकर आसन में दृढ़तापूर्वक बैठे, तत्पश्चात् आँख, कान एवं नाक को अँगुलियों से बन्द करे और मुँह से वायु खींचे। पुनः नीचे से अपान वायु को ऊर्ध्वगामी बनाए, फिर दोनों वायुओं को हृदय प्रदेश में रोके। पुनः ऊर्ध्वगामी बनाकर मस्तिष्क में स्थिर करके मन को उसी में लगाए, इस क्रिया से योगियों को विशेष समत्वभाव प्राप्त होता है॥ ११४॥

गगनं पवने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान्। घण्टादीनां प्रवाद्यानां नादसिद्धिरुदीरिता॥ ११५॥

ऊपर और नीचे दोनों ओर से गतिशील वायु जब आकाशमण्डल (हृदय प्रदेश) में स्थिर होती है, तब साधक को महान् ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है, घण्टा आदि वाद्यों की तरह ध्वनि सुनाई पड़ती है तथा नादयोग की सिद्धि होती है॥ ११५॥

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्। प्राणायामवियुक्तेभ्यः सर्वरोगसमुद्भवः॥ ११६॥

विधिवत् प्राणायाम के अभ्यास से सभी प्रकार के रोगों से मुक्ति मिलती है। प्राणायाम के न करने से यह शरीर रोगों का उत्पत्तिस्थान बना रहता है॥ ११६॥

हिक्का कासस्तथा श्वासः शिरःकर्णाक्षिवेदनाः। भवन्ति विविधा रोगाः पवनव्यत्ययक्रमात्॥

वायु के विकृत होने के कारण ही खाँसी, श्वास, हिचकी, सिर, कान, आँख की पीड़ा होती है और नाना प्रकार के रोग पैदा होते हैं॥ ११७॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः। तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम्॥११८॥

हाथी, सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्र पशु जिस प्रकार से धीरे-धीरे अभ्यास के द्वारा वश में होते हैं, उसी तरह प्राणवायु को शनैः-शनैः अभ्यास के द्वारा वश में करे। यदि साधक ऐसा नहीं कर पाता है, तो उसका विनाश हो जाता है॥ ११८॥

युक्तंयुक्तं त्यजेद्वायुं युक्तंयुक्तं प्रपूरयेत्। युक्तंयुक्तं प्रबध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात्॥ ११९॥

समुचित तरीके से प्राणवायु को खींचे, समुचित तरीके से प्राणवायु को बाहर निकाले तथा समुचित तरीके से ही प्राणवायु को रोकने से सिद्धि प्राप्त होती है॥ ११९॥

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्। तत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते॥ १२०॥

आँख आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर भागती हैं, उनको वहाँ से रोकना (और इष्ट साधना में लगाना) प्रत्याहार कहा जाता है॥ १२०॥

यथा तृतीयकाले तु रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम्। तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं हरेत्॥ इत्युपनिषत्॥ १२१॥

जैसे-जैसे तृतीय प्रहर (सायंकाल) होता जाता है, वैसे ही सूर्य अपने प्रकाश को समेटता जाता है और सायंकाल को पूरी तरह समेट लेता है, ठीक उसी प्रकार योगी अपनी साधना का स्तर बढ़ाते हुए (तीन अवस्था, तीन गुण, तीन शरीर से आगे बढ़ते हुए) जब अपने तृतीयांग (उच्च योग के तृतीयांग-समाधि) में स्थित हो जाता है, तो वह अपने मन के समस्त विकारों का शमन कर लेता है। यही उपनिषद् (रहस्य विद्या) है॥ १२१॥

ॐ आप्यायन्तु ..... इति शान्तिः॥

॥ इति योगचूडामण्युपनिषत्समाप्ता॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ यागराजापानषद्॥

यह योगपरक उपनिषद् है। इसके नाम से ही स्पष्ट है कि यह योगपरक उपनिषदों में श्रेष्ठ है, तभी इसे 'योगराज' संज्ञा प्रदान की गई है। इसमें कुल २१ मन्त्र हैं, जिसमें योग विषयक सिद्धान्तों को बड़े सरल शब्दों में व्याख्यायित किया गया है। सर्वप्रथम चार योगों-मन्त्रयोग,लययोग, हठयोग एवं राजयोग का उल्लेख है। इसके बाद योग के प्रमुख चार अंगों-आसन, प्राणसंरोध (प्राणायाम), ध्यान तथा समाधि का विवेचन है। पुनः ९ चक्रों (ब्रह्मचक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, नाभिचक्र, हृदयचक्र,कण्ठचक्र, तालुकाचक्र, भ्रूचक्र, ब्रह्मरन्ध्रचक्र, व्योमचक्र) का वर्णन तथा उनमें ध्यान करने की प्रक्रिया का उल्लेख है। अन्त में चक्रों के ध्यान की फलश्रुति बताते हुए उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

योगराजं प्रवक्ष्यामि योगिनां योगसिद्धये। मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा॥ १ ॥

अब योगियों के योग-सिद्धि के लिए मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग इन चार प्रकार वाले योग से युक्त योगराज उपनिषद् का वर्णन करते हैं॥ १ ॥

योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः। आसनं प्राणसंरोधो ध्यानं चैव समाधिकः ॥२ ॥

योग के तत्त्वदर्शियों ने योग को आसन, प्राणसंरोध, ध्यान तथा समाधिरूप चार प्रकार का कहा है॥

एतच्चतुष्टयं विद्धि सर्वयोगेषु सम्मतम्। ब्रह्मविष्णुशिवादीनां मन्त्रं जाप्यं विशारदैः॥ ३ ॥

ये चारों सर्वयोग-सम्मत कहे गये हैं। विद्वज्जन ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव के मन्त्रों का जप करें॥ ३ ॥

साध्यते मन्त्रयोगस्तु वत्सराजादिभिर्यथा। कृष्णद्वैपायनाद्यैस्तु साधितो लयसंज्ञितः॥ ४ ॥

मन्त्रयोग को सिद्ध करने वाले वत्सराज आदि हैं एवं लययोग को व्यासादि ने सिद्ध किया॥ ४ ॥

नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः। प्रथमं ब्रह्मचक्रं स्यात् त्रिरावृत्तं भगाकृति॥ ५ ॥

नौ प्रकार के चक्रों में लय करके महात्मा लोग योग की सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। तीन बार आवृत्त (घिरा हुआ) 'भग' (त्रिकोण)की आकृति का प्रथम चक्र है, जिसको ब्रह्मचक्र कहा गया है॥ ५ ॥

अपाने मूलकन्दाख्यं कामरूपं च तज्जगुः। तदेव वह्निकुण्डं स्यात् तत्त्वकुण्डलिनी तथा ॥६ ॥

अपान के स्थान में कामरूपी मूलकन्द स्थित है, उसको ही अग्नि कुण्ड एवं तत्त्व कुण्डलिनी कहा है॥६

तां जीवरूपिणीं ध्यायेज्ज्योतिष्ठं मुक्तिहेतवे। स्वाधिष्ठानं द्वितीयं स्याच्चक्रं तन्मध्यगं विदुः ॥७॥

उस ज्योतिस्वरूप जीवरूपिणी का मुक्ति की कामना से ध्यान करना चाहिए। उसी के मध्य में स्वाधिष्ठान नाम का दूसरा चक्र विद्वानों ने कहा है॥ ७॥

पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं प्रवालाङ्कुरसन्निभम्। तत्रोड्रीयाणपीठेषु तं ध्यात्वाकर्षयेज्जगत्॥ ८ ॥

प्रवालाङ्कुर(रक्त वर्ण के अंकुर)के समान प्रकाशमान पश्चिमाभिमुख एक लिङ्ग स्थित है। वहाँ उड्रीयाणपीठ (स्वाधिष्ठान चक्र) के अन्तर्गत उस (प्रकाशमान अंकुर) का ध्यान करते हुए संसार का आकर्षण करे॥ ८ ॥

तृतीयं नाभिचक्रं स्यात्तन्मध्ये तु जगत् स्थितम्। पञ्चावर्तां मध्यशक्तिं चिन्तयेद्विद्युदाकृति ॥९ ॥

तृतीय चक्र नाभि चक्र है, उसके अन्दर संसार की स्थिति कही गयी है। उसके मध्य में पाँच आवृत्ति वाली विद्युत् के समान शक्ति का चिन्तन (ध्यान) करना चाहिए॥ ९ ॥

तां ध्यात्वा सर्वसिद्धीनां भाजनं जायते बुधः। चतुर्थे हृदये चक्रं विज्ञेयं तदधोमुखम्॥ १० ॥

उसका ध्यान करके विद्वान् पुरुष समस्त सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है। चतुर्थ चक्र नीचे की ओर मुँह किये हृदय में स्थित है, ऐसा जानना चाहिए॥ १० ॥

ज्योतीरूपं च तन्मध्ये हंसं ध्यायेत् प्रयत्नतः। तं ध्यायतो जगत् सर्वं वश्यं स्यान्नात्र संशयः ॥११ ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

उसके मध्य में प्रकाश के रूप में हंस का ध्यान प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए। उसका ध्यान करने से सारा संसार वशीभूत हो जाता है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं करना चाहिए॥ ११॥

पञ्चमं कण्ठचक्रं स्यात् तत्र वामे इडा भवेत्। दक्षिणे पिङ्गला ज्ञेया सुषुम्ना मध्यतः स्थिता॥१२॥

पञ्चम चक्र कण्ठचक्र कहा गया है, उसके वाम भाग में इड़ा, दक्षिण भाग में पिङ्गला एवं मध्य में सुषुम्ना की स्थिति कही गई है॥ १२॥

तत्र ध्यात्वा शुचि ज्योतिः सिद्धीनां भाजनं भवेत्। षष्ठं च तालुकाचक्रं घण्टिकास्थान मुच्यते॥

वहाँ पर (कण्ठचक्र में) पवित्र प्रकाश का ध्यान करने से समस्त सिद्धियाँ मिल जाती हैं। छठा 'तालुका' चक्र कहा गया है, जिसे घण्टिका स्थान भी कहते हैं॥ १३॥

दशमद्वारमार्गं तद्राजदन्तं च तज्जगुः। तत्र शून्ये लयं कृत्वा मुक्तो भवति निश्चितम्॥ १४॥

उसे दसवें द्वार का मार्ग एवं राजदन्त भी कहा जाता है। वहाँ पर शून्य में (मन को) लय करने से मनुष्य निश्चित रूप से मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ १४॥

भ्रूचक्रं सप्तमं विद्याद्बिन्दुस्थानं च तद्विदुः। भ्रुवोर्मध्ये वर्तुलं च ध्यात्वा ज्योतिः प्रमुच्यते॥ १५

सप्तम 'भ्रू' चक्र है, उसे विद्या एवं बिन्दुस्थान भी कहते हैं। योगीजन भृकुटि-मध्य में गोलाकार ज्योति का ध्यान करके मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं॥ १५॥

अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं स्यात् परं निर्वाणसूचकम्। तं ध्यात्वा सूतिकाग्रामं धूमाकारं विमुच्यते॥ १६॥

परम निर्वाण का सूचक आठवाँ चक्र 'ब्रह्मरन्ध्र' कहा जाता है। धूम्रवर्ण वाले उस सूतिका ग्राम अर्थात् उद्गमस्थान का ध्यान करके योगी मुक्ति को प्राप्त कर लेता है॥ १६॥

तच्च जालन्धरं ज्ञेयं मोक्षदं नीलचेतसम्। नवमं व्योमचक्रं स्यादश्रैः षोडशभिर्युतम्॥ १७॥

उस नीलवर्ण वाले मोक्षदाता को जालन्धर (जालन्धरपीठ) समझना चाहिए। नौवाँ चक्र सोलह दल वाला व्योमचक्र कहा गया है॥ १७॥

संविद्ब्रूयाच्च तन्मध्ये शक्तिरुद्धा स्थिता परा। तत्र पूर्णा गिरौ पीठे शक्तिं ध्यात्वा विमुच्यते॥१८

उस षोडशदलचक्र के मध्य में जो पराशक्ति अवरुद्ध (स्थित) है, उसे संविद् कहना चाहिए। वहाँ (उस चक्र के मध्य में) पूर्णागिरिपीठ में पूर्णशक्ति का ध्यान करके साधक मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ १८॥

एतेषां नवचक्राणामेकैकं ध्यायतो मुनेः। सिद्धयो मुक्तिसहिताः करस्थाः स्युर्दिने दिने॥ १९॥

जो साधक ऊपर वर्णित इन नौ चक्रों में से क्रमशः एक-एक का ध्यान करता है, उसे मुक्ति के सहित समस्त सिद्धियाँ प्रतिदिन प्राप्त होती जाती हैं॥ १९॥

एको दण्डद्वयं मध्ये पश्यति ज्ञानचक्षुषा। कदम्बगोलकाकारं ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते॥ २०॥

अपने ज्ञाननेत्र से जो साधक कदम्ब के गुच्छक के समान गोलाकार चक्र के मध्य में दो दण्डों का दर्शन करते हैं, वे ब्रह्मलोक प्राप्त कर लेते हैं॥ २०॥

ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन अधःशक्तेर्निकुञ्चनात्। मध्यशक्तिप्रबोधेन जायते परमं सुखं जायते परमं सुखम्। इति॥ २१॥

ऊर्ध्वशक्ति के निपात से एवं अधःशक्ति को संकुचित करने से तथा मध्य की शक्ति को जाग्रत् कर देने से परमसुख प्राप्त हो जाता है। यह निश्चित है॥ २१॥

॥ इति योगराजोपनिषत् समाप्ता॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अकर्तृकमरङ्गं च गगने	महो० ५.५४	अत्रैते श्लोका भवन्ति	त्रि०ब्रा० २.१
अकार उकारो मकारश्चेति	यो०चू० ७४	अथ कस्मादुच्यते	नृ०पूर्व० २.९
अकारे तु लयं प्राप्ते	ध्या०बि० १०	अथ कस्मादुच्यते ज्वलन्तम्	नृ०पूर्व०२.११
अकारोकारमकार	गा०रह० ४	अथ कस्मादुच्यते नामामीति	नृ०पूर्व०२.१७
अक्षसूत्राङ्कुशधरा	सर०रह० ३८	अथ कस्मादुच्यते नृसिंहमिति	नृ०पूर्व०२.१३
अक्ष्यन्तस्तारयोश्चन्द्र	अद्व०ता० ९	अथ कस्मादुच्यते भद्रमिति	नृ०पूर्व०२.१५
अगम्या वचसां शान्ता	अक्षि० २.४१	अथ कस्मादुच्यते भीषणम्	नृ०पूर्व०२.१४
अग्निरूपा अन्नपानादि	सीता० १५	अथ कस्मादुच्यते महाविष्णु...	नृ०पूर्व०२.१०
अग्निवायुसूर्यरूपा	गा०रह० ५	अथ कस्मादुच्यते मृत्युमृत्युम्	नृ०पूर्व०२.१६
अघोरबीजमन्त्रेण	रुद्र०जा० २४	अथ कस्मादुच्यते सर्वतोमुखम्	नृ०पूर्व०२.१२
अङ्गचेष्टार्पणं बलि:	द०मू० २३	अथ कस्मादुच्यतेऽहमिति	नृ०पूर्व०२.१८
अङ्गानां मर्दनं कृत्वा	ध्या०बि० ७१,यो०कुं० ४१	अथ कानि त्रीणि वलयानि	नृ०षट्० ३
अङ्गानि मात्राणि	पा०ब्र० १.१७	अथ कानि नामानि भवन्ति	नृ०षट्० २
अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां तु	यो०कुं० १.१२	अथ कालाग्निरुद्र: प्रोवाच	रुद्र० जा० ४७
अङ्गुष्ठमात्रमात्मानं	यो०कुं० ३.२६	अथ कालाग्निरुद्रं	रुद्र०जा० ४६
अङ्गुष्ठादि स्वावयव....	त्रि०ब्रा० २.१२१	अथ कालाग्निरुद्रं भगवन्तं	काल०रु० २
अङ्गै: प्रथमाऽऽवृति:	सौ०ल० १.६,१०	अथ कालाग्निरुद्रोपनिषद:	काल०रु० १
अचक्षु: श्रोत्रमत्यर्थं	पा०ब्र० २.२९	अथ किं बाह्यं वलयम्	नृ०षट्० ६
अचिरादेव तत्प्राप्ति:	त्रि०ब्रा० २.१४५	अथ किं मध्यमं	नृ०षट्० ५
अजपानाम गायत्री	यो०चू० ३३	अथ किमान्तरं वलयम्	नृ०षट्० ४
अजाग्रत्स्वप्ननिद्रस्य	महो० ५.५०	अथ तां पञ्चभिर्गन्धैरमृतै:	अक्ष० ४
अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य	महो० ५.१०५	अथ तुलस्युपनिषदं	तुलसी० १
अज्ञानात्तु चिदाभासो	यो०कुं० ३.३०	अथ ते अपि संत्यज्य	महो० ५.९६
अज्ञानोपहतो बाल्ये	महो० ६.२३	अथ द्वात्रिंशदरं	नृ०पूर्व० ५.६
अज्ञासिषं पूर्वमेवम्	महो० २.१७	अथ द्वादशारं द्वादशपत्रं	नृ०पूर्व ५.४
अणोरणीयान्महतो	शरभ० २१	अथ ध्यानम् वज्राङ्गं	लांगूल० ३
अण्डाकृति तिरश्चां च	त्रि०ब्रा० २.५९	अथ नारायण:	महो० १.८
अत: पौरुषमाश्रित्य	महो० ४.१०३	अथ नित्यो नारायण:	नारा० २
अत: संकल्पसिद्धेयं	महो० ४.१२२	अथ पञ्चदश ऋगात्मकस्य	सौ०ल०१.३
अतश्चात्मनि कर्तृत्वम्	महो० ४.१४	अथ पुनरुत्थाप्य	अक्ष० १५
अतसीपुष्प संकाशं	ध्या०बि० ३०	अथ पुनरेव नारायण:	महो० १.७
अतिबाह्यं तथा बाह्यम्	महो० २.७३	अथ पुरुषो ह वै	नारा० १
अतिमोहकरी माया मम	शरभ० २४	अथ प्रजापतिर्गुहं	अक्ष० १
अतिशून्यो विमर्दश्च	सौ०ल० २.८	अथ बहिर्लक्ष्यलक्षणं	अद्व० ता० ६
अतीत: सर्वभावेभ्यो	महो० ६.५६	अथ भगवन्तं देवा	सौ०ल० १.१
अतुले त्वतुलायां हि	तुलसी० ५	अथ मध्यलक्ष्यलक्षणं	अद्व०ता० ७
अतो निदाघ तत्त्वज्ञ	महो० ५.१७०	अथ वागीश्वरी धाम	यो०कुं०२.३२
अत्राप्यावृतिनाशेन	सर०रह० ५७	अथवा सर्वकर्तृत्वम्	महो० ६.५
अत्रैते मन्त्ररहस्यश्लोका	द०मू० ६	अथ व्योमानिलानल....	त्रि०ब्रा० १.९

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

परिशिष्ट

परिभाषा-कोश-१०८ उपनिषद्-साधना खण्ड

१. **अक्षर**—द्र०-ज्ञानखण्ड-अक्षरब्रह्म।

२. **अङ्गन्यास**—सामान्यतः न्यास शब्द का अर्थ धारण करना माना जाता है। इसीलिए पूजा आदि कृत्यों में षट्कर्म के अन्तर्गत विभिन्न अङ्गों को पवित्र करने, उनमें देवत्व धारण के निमित्त न्यास की प्रक्रिया सम्पन्न की जाती है। प्रख्यात संस्कृत कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् में अङ्गन्यास इन शब्दों में परिभाषित है-**अङ्गेषु हृदयादिषु मन्त्रभेदस्य न्यासः** अर्थात् हृदयादि अङ्गों में मन्त्र भेद से (देवत्व धारण करना) न्यास कहलाता है। हिन्दी विश्व कोश के अङ्गन्यास प्रकरण में यह उल्लेख इन शब्दों में है-- '**अङ्गेषु अङ्गशुद्धिहेतोरङ्गेषु हृदयादिषु मन्त्रविशेषस्य न्यासः**' जिसका अभिप्राय यह है कि तन्त्रोक्त मन्त्रोच्चार के साथ हाथ द्वारा हृदयादि -अङ्गों को एक-एक करके स्पर्श करना। जैसे- **ॐ क्रां हृदयाय नमः। ॐ क्रीं शिरसे स्वाहा। ॐ क्रूं शिखायै वषट्** आदि मन्त्रों सहित उपर्युक्त अङ्गों का स्पर्श करना अङ्ग न्यास है। यों तो दैनिक पूजा, होम में भी नित्य न्यास कर्म किया जाता है; किन्तु तान्त्रिक प्रयोगों में इस प्रक्रिया का विशेष महत्त्व है। स्थिति भेद से न्यास के कई प्रकार हैं, जैसे-करन्यास, षडङ्गन्यास आदि। हिन्दी विश्वकोश में करन्यास इस प्रकार निर्दिष्ट है—**करे करावयवे न्यासः** अर्थात् तन्त्रोक्त मन्त्रों के उच्चारणपूर्वक अङ्गुष्ठ सहित समस्त अँगुलियों के तल और पृष्ठ भाग पर किए गये न्यास को करन्यास कहते हैं—जैसे- **अं कं खं गं घं ङं आं अङ्गुष्ठाभ्यां नमः, इं चं छं जं झं ञं ईं तर्जनीभ्यां स्वाहा** आदि मन्त्रों के साथ किया गया न्यास करन्यास है। इसी प्रकार षडङ्ग अर्थात् शरीर के छः अङ्गों- दो जङ्घाओं, दो भुजाओं, मस्तक और मध्य भाग पर किये गये न्यास को भी षडङ्ग न्यास कहते हैं। इन सभी न्यासों के पृथक्-पृथक् मन्त्र होते हैं। दक्षिणामूर्त्युपनिषद् में अङ्गन्यास का उल्लेख इस सन्दर्भ के साथ संप्राप्य है- .....**देवता दक्षिणाऽऽस्यः। मन्त्रेणाङ्गन्यासः** (द० मू०६)। योगकुण्डल्युपनिषद् में खेचरी विद्या प्रकरण में ऋषि ने छः बीजाक्षरों से षडङ्ग न्यास और करन्यास करके सम्पूर्ण सिद्धि प्राप्त करने की बात कही है- **शनैः शनैः .....महावज्रकवाटभित्। पूर्वं बीजयुता विद्या ह्याख्याता याऽतिदुर्लभा॥ तस्याः षडङ्गं कुर्वीत .....भिन्नया। कुर्यादेवं करन्यासं सर्वसिद्ध्यादि हेतवे** (२.३७-३८)। इसके अतिरिक्त न्यास शब्द के अन्य भी कई अर्थ मिलते हैं। जैसे-किसी की वह वस्तु भी न्यास कहलायेगी, जो किसी अन्य व्यक्ति के यहाँ इस विश्वास पर रखी है कि वह उसकी रक्षा करेगा और माँगने पर वापस कर देगा। विन्यास, अर्पण, त्याग आदि अर्थों में भी बहुत स्थलों पर न्यास शब्द का प्रयोग होता है।

३. **अग्निष्टोम**—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

४. **अचेतन**—द्र०-ज्ञानखण्ड-जड़-चेतन।

५. **अजपा गायत्री**—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

६. **अजा-अनजा-अज्ञेया**—इस सम्पूर्ण सृष्टि का प्रादुर्भाव परब्रह्म की शक्ति से हुआ है। शक्ति को देवी की मान्यता प्रदान की गई है। प्रकृति-पुरुष, शक्ति-शिव का सदैव युग्म के रूप में नाम लेने पर प्रथम स्त्रीवाचक, शक्ति का ही नामोच्चारण होता है, इसीलिए उसे प्रथम माना गया है। अवतारों में भी अधिकांश युग्म रूप में ही आये हैं और उन्होंने अपनी सहयोगिनी शक्ति के माध्यम से ही महान् कार्य करके युगान्तरकारी परिवर्तन किए। शक्ति की इस प्रधानता के कारण ही परब्रह्म परमेश्वर को माता के रूप में भी माना जाता है। स्थिति और कार्यभेद से उस शक्ति के अनेक नाम भी हुए हैं। कई बार ये शक्तियाँ (देवियाँ) एकाकी भी अवतरित होती हैं, तब उनकी सर्वसमर्थ, सर्वशक्तिमान् रूप में अभ्यर्चना की जाती है। देव्युपनिषद् में उल्लेख है कि देवी दुर्गा के समीप गये देवों द्वारा उनके सम्बन्ध में पूछे जाने पर देवी ने अपने विषय में बताते हुए कहा 'मैं ब्रह्म स्वरूपिणी हूँ।' कार्य-कारण स्वरूप प्रकृति-पुरुषात्मक इस जगत् का प्रादुर्भाव मेरे द्वारा ही हुआ है। अपनी विभिन्न विशेषताएँ बताते हुए उनने कहा मैं वेद-अवेद, विद्या-अविद्या और अजा (जन्म न लेने वाली)-अनजा (आवश्यकता पड़ने पर जन्म धारण कर लेने वाली) भी हूँ-**वेदोऽहमवेदोऽहम्। विद्याऽहमविद्याऽहम्। अजाऽहमनजाऽहम्** (देवी०३)। इसी प्रकार उन देवी के अन्य भी अनेक नाम हैं। जैसे ब्रह्मा आदि के द्वारा भी जिनके पदार्थ रूप को नहीं जाना जा सकता, इस कारण उन्हें (देवी को) अज्ञेया कहते हैं, चेतन होने के कारण उनका कभी अन्त न होने से उन्हें अनन्ता, उनका चेतन स्वरूप दिखाई न पड़ने से उन्हें ही अलक्ष्या कहा जाता

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

के कारण उनका कभी अन्त न होने से उन्हें अनन्ता, उनका चेतन स्वरूप दिखाई न पड़ने से उन्हें ही अलक्ष्या कहा जाता है-**यस्याः स्वरूपं ब्रह्मादयो न जानन्ति तस्मादुच्यतेऽज्ञेया। यस्या अन्तो न विद्यते तस्मादुच्यतेऽनन्ता। यस्या ग्रहणं नोपलभ्यते तस्मादुच्यतेऽलक्ष्या** (देवी० २६)। काल का नियमन करने के कारण इन्हें कालरात्रि, वेदों में स्तुति होने के कारण इन्हें ब्रह्मस्तुता, विष्णु शक्ति होने से इन्हें वैष्णवी भी कहते हैं। इसी प्रकार इन देवी के अन्य भी स्कन्दमाता, सरस्वती, अदिति, दक्षकन्या, पापनाशिनी, कल्याणी और भगवती आदि नाम हैं-**कालरात्रिं ब्रह्मस्तुतां वैष्णवीं स्कन्दमातरम्। सरस्वतीमदितिं दक्षदुहितरं नमामः पावनां शिवाम्** (देवी० ११)।

७. **अणिमा**—द्र०-अष्ट सिद्धि।

८. **अण्डज**—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड-कला।

९. **अतिरात्रयज्ञ**—यज्ञ को भारतीय संस्कृति का पिता और गायत्री को माता कहा जाता है। व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य में तो त्यागपूर्ण जीवन जीने को ही यज्ञ माना जाता है। लोककल्याण के कार्यों को भी यज्ञ की संज्ञा प्रदान की जाती है। जैसे-नेत्रदान यज्ञ, रक्तदान यज्ञ, भूदान यज्ञ आदि। ये तो यज्ञ के दार्शनिक स्वरूप हैं। शास्त्रीय दृष्टि में भी यज्ञ के अनेक प्रकार होते हैं। इन्हें दो वर्गों में विभाजित किया गया है। १. श्रौत यज्ञ २. स्मार्त यज्ञ। श्रुति प्रतिपादित यज्ञों को श्रौत यज्ञ तथा स्मृति प्रतिपादित यज्ञों को स्मार्त यज्ञ कहते हैं। श्रौत यज्ञ में श्रुति निर्दिष्ट मन्त्रों और स्मार्त यज्ञ में वैदिक, पौराणिक और तान्त्रिक मन्त्रों का भी प्रयोग होता है। श्रौत यज्ञों के अन्तर्गत अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग और सोमयाग आते हैं- **स वा एष यज्ञः पञ्चविधः अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि पशुः सोमः** (ऐ० आ० २.३.३)। इनमें सोमलता के रस द्वारा जिन यज्ञों को सम्पादित किया जाता है, उन्हें सोमयाग कहते हैं, जिनमें दूध, दही, घी और पुरोडाश आदि पिष्टक आहुति दी जाती है, उन्हें हविर्यज्ञ कहते हैं। सोमयाग वसन्त ऋतु में सम्पन्न करने का शास्त्रीय विधान है। यद्यपि सामान्यतया यह यज्ञ एक ही दिन में पूर्ण हो जाता है; किन्तु अपने अङ्ग-उपाङ्गों सहित सम्पन्न होने में इसमें पाँच दिन का समय लग जाता है। इस यज्ञ में सोलह ऋत्विक् होते हैं, जो चार वर्गों में विभाजित होते हैं-**षोडशर्त्विजो ब्रह्मोद्गातृ होत्रध्वर्यु .....**(का०श्रौ० ७.१.७) अर्थात् सोलह ऋत्विजों के चार वर्गों में ब्रह्मा, उद्गाता, होता और अध्वर्यु प्रमुख ऋत्विज् कहलाते हैं। इनमें से प्रत्येक के तीन-तीन सहयोगी होते हैं। आश्वलायन श्रौत सूत्र में उल्लेख है-**चत्वारस्त्रिपुरुषाः। तस्य तस्योत्तरे त्रयः** (आ०श्रौ०४.१.४-५)। ब्रह्मा के सहयोगी ऋत्विज्-ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र एवं पोता; अध्वर्यु के सहयोगी ऋत्विज्-प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा और उन्नेता; होता के सहयोगी ऋत्विज्-मैत्रावरुण, अच्छावाक् और ग्रावस्तुत तथा उद्गाता के सहयोगी ऋत्विज्-प्रस्तोता, प्रतिहर्ता एवं सुब्रह्मण्य होते हैं। सोमयाग सात प्रकार के हैं- १.अग्निष्टोम २. अत्यग्निष्टोम ३.उक्थ्य ४.षोडशी ५.वाजपेय ६.अतिरात्र ७.अप्तोर्याम।

६. **अग्निष्टोम**—अग्निष्टोम नामक सोमयाग में सर्वप्रथम सोमरस से आहुति प्रदान की जाती है, तत्पश्चात् सोमरस का पान किया जाता है। इसका काल भी वसन्त ऋतु माना जाता है- **वसन्ते अग्निष्टोमः इति कात्यायनः** (हि०वि०को०खं० १ पृ० १२०)। अग्निष्टोम के सन्दर्भ में शान्तिकुञ्ज द्वारा प्रकाशित १०८ उपनिषद् ब्रह्मविद्या खण्ड के परिभाषा कोश परिशिष्ट में विस्तृत विवरण देखा जा सकता है। अधिक विस्तृत ज्ञान के लिए 'कात्यायन यज्ञ पद्धति विमर्श' द्रष्टव्य है।

१. **अत्यग्निष्टोम**—इसे अग्निष्टोम की विकृति माना जाता है। विकृति का अर्थ यहाँ मूल यज्ञ (प्रकृति) की अनुकरण प्रक्रिया से है। जैसे--सोमयाग के अन्तर्गत मूल यज्ञ अग्निष्टोम है और अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य षोडशी आदि याग अग्निष्टोम की पद्धति का अनुकरण करने वाले होने से इन्हें अग्निष्टोम की विकृति कहा जाएगा और स्पष्टतः कहें तो यों कहेंगे कि अग्निष्टोम यदि प्रकृति है तो अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य आदि इसकी विकृति (विशिष्टकृति) है। इस याग में अन्य क्रिया - कलाप तो अत्यग्निष्टोम की तरह ही सम्पन्न होते हैं; किन्तु यज्ञ समापन पर अग्निष्टोम सामपाठ के उपरान्त षोडशी साम का गान भी होता है। इस याग (यज्ञ) में यजमान सपत्नीक बैठते हैं और षोडश ऋत्विज् यज्ञ कार्य सम्पादित करते हैं।

उक्थ्य याग—यह सोमयाग का उक्थ्य संज्ञा सम्पन्न तृतीय भेद है। इसे भी अग्निष्टोम की विकृति मानते हैं। इस यज्ञ का आयोजन पशु की आकांक्षा से किया जाता है- **उक्थ्येन पशुकामो यजेत** (स० श्रौ०९.७)। इसमें इन्द्र और अग्निदेव के लिए यजन किया जाता है। इन दोनों देवों को एक-एक अज समर्पित करने का विधान है। अज शब्द ओषधि का भी पर्यायवाची है। इन यज्ञों में प्रयोग परीक्षण की दृष्टि से कई प्रकार की वनस्पतियों-ओषधियों का प्रयोग किया जाता था। अतः अज शब्द को पाशविक, हिंसा आदि में प्रयुक्त नहीं मानना चाहिए।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

www.awgp.org | www.akhandjyoti.org

घ. **षोडशी याग**— सोमयागों के क्रम में चतुर्थ याग षोडशी याग है। इसे भी अग्निष्टोम याग की विकृति (विशिष्टकृति) मानते हैं। इसमें कुछ ही विशिष्ट विधान होते हैं, शेष सब प्रकृतिवत् अर्थात् अग्निष्टोम याग के अनुरूप ही होते हैं। याजक इस याग को वीर्यवान् होने की कामना से सम्पन्न करते हैं- **षोडशिना वीर्यकामः** (स०श्रौ० ९.७)। इसके प्रमुख देव अग्नि, इन्द्राग्नी और इन्द्र होते हैं, जिनके लिए क्रमशः दो के लिए अज और एक के लिए मेष समर्पित किया जाता है। वस्तुतः पशु समर्पण का यह रूप वनस्पतियों के समर्पण का मानवीकरण ही है।

ङ. **वाजपेय याग**—सोमयाग की सात संस्थाओं में वाजपेय याग पंचम संस्था है। इसे षोडशीयाग की विकृति रूप मानते हैं। षोडशीयाग से ही इस वाजपेय याग के अधिकांश क्रिया-कलाप सम्बद्ध हैं। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि इसे साम्राज्य प्राप्ति और सम्राट् बनने की कामना से किया जाता है-**वाजपेयेनेष्ट्वा सम्राट् भवति** (श०ब्रा०५.१.१.१४)। इसे ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण के आहिताग्नि यजमान शरद ऋतु में सम्पन्न करते हैं-**यदेनेन बृहस्पतिरयजत। यदेनेनेन्द्रोऽयजत** (श०ब्रा० ५.१.१.११)। **वाजपेयः शरदि** (का०श्रौ० १४.१.१)। वाजपेय याग से पूर्व में एवम् बाद में बृहस्पतिसव नामक यज्ञ सम्पन्न किये जाते हैं। इन यज्ञों को परियज्ञ नाम से जाना जाता है। परियज्ञों को सम्पन्न करने के सम्बन्ध में कई विद्वानों के अलग-अलग मत हैं। जैसे-कुछ विद्वान् मानते हैं कि यदि वाजपेय याग का प्रमुख दिवस (सौत्य दिवस) आश्विन कृष्ण अमावस्या को हो, तो इससे पूर्व का बृहस्पतिसव (परियज्ञ) भाद्रपद पूर्णिमा को होना चाहिए और वाजपेय याग के उपरान्त का बृहस्पतिसव कार्तिक पूर्णिमा को होना चाहिए। कुछ विद्वानों का मानना है कि वाजपेय यज्ञ के परियज्ञ के रूप में बृहस्पतिसव के स्थान पर अग्निष्टोम पर आधारित ज्योतिष्टोम का आयोजन किया जाता है-**बृहस्पतिसवस्थाने, अग्निष्टोमसंस्थो ज्योतिष्टोम एव भवति न बृहस्पतिसवः** (दे०प०पृ० ४३८)। अन्य कुछ विद्वानों का मत है कि वाजपेय याग के पूर्ववर्ती बारह शुक्ल पक्षों में और परवर्ती बारह शुक्ल पक्षों में परियज्ञ के रूप में ज्योतिष्टोम याग सम्पन्न करने चाहिए। कुछ विद्वान् ऐसा मानते हैं कि वाजपेय याग से पूर्व और पश्चात् राजसूय याग में वर्णित अग्निष्टोम पर आधारित नौ प्रकार के सोमयाग सम्पन्न करने चाहिए। इस प्रकार ये चार मत प्रख्यात हैं। साम्राज्य विस्तार और सम्राट होने की दृष्टि से वाजपेय याग का बहुत महत्त्व है और इसके क्रिया-कलाप भी बड़ी संख्या में हैं; किन्तु इसके विधानों में सप्तदश संख्या का विशेष प्रयोग होना बहुत आकर्षक है, जैसे- सप्तदश प्रजापति, सप्तदश दीक्षा, सप्तदश स्तोत्र, सप्तदश सोमग्रह, सप्तदश सुराग्रह, सप्तदश पशु, सप्तदश अन्न, सप्तदश रथ, सप्तदश दुन्दुभि, सप्तदश इषुप्राशन, सप्तदश गज, सप्तदश अज, सप्तदश गौ आदि। इसके क्रियाकलापों में प्रमुखतः सप्तदशरथ-चक्रारोहण, सप्तदश दुन्दुभि वादन, सप्तदश इषुप्रक्षेप, सप्तदश रथ धावन, रथ समर्पण, सुरा समर्पण, यूपारोहण, पुटोत्क्षेपण, अभिषेक, सम्राट् पद प्राप्ति, अवभृथ याग आदि हैं। वाजपेय याग के समूचे क्रिया-कलापों का वर्णन यहाँ स्थानाभाव के कारण सम्भव नहीं है, श्रौत ग्रन्थों में इसे सविस्तार देखा जा सकता है।

च. **अतिरात्रयाग**— सोमयाग की सप्त संस्थाओं के अन्तर्गत अतिरात्र याग षष्ठ संस्था है। इस याग को भी अग्निष्टोम याग की विकृति (विशिष्ट कृति) माना गया है, इसलिए इस याग की मूल प्रकृति अग्निष्टोम ही है। देवयाज्ञिक पद्धति में इसका उल्लेख इस प्रकार है-**उक्थ्य षोडश्यतिरात्राणामग्निष्टोम विकारत्वम्** (दे०प०पृ० ३७९) अर्थात् उक्थ्य, षोडशी और अतिरात्र अग्निष्टोम की विकृति है। अतिरात्र याग का आयोजन ब्रह्मवर्चस की कामना से किया जाता है-**अतिरात्रेण ब्रह्मवर्चसकामः** (स०श्रौ० ९.७)। इस याग के चार देवता प्रमुख होते हैं- अग्नि, इन्द्राग्नी, इन्द्र और सरस्वती। इनमें से प्रत्येक को क्रमशः अज, अज, मेष और मेषी समर्पित की जाती है। पूर्व में भी कहा जा चुका है कि यागों में देवों के निमित्त पशु समर्पण का जो वर्णन मिलता है, वह वनस्पति अथवा उन पशुओं में निहित उन दोषों का समर्पण भी हो सकता है, जो अपने अन्दर विद्यमान हैं। इस याग में निश्चित परिमाण में देवों के प्रति पुरोडाश भी समर्पित किया जाता है। इस याग में तीन रात्रि पर्याय होते हैं। इन तीनों में से प्रत्येक में चार-चार स्तोत्र और शस्त्र भी होते हैं। स्तोत्रों का पाठ उद्गाता सम्पन्न करता है। अवभृथ याग आदि शेष विधान प्रकृतिवत् (अर्थात् अग्निष्टोम याग की तरह) ही सम्पन्न करके अन्त में एक हजार ब्राह्मणों को ब्रह्मभोज कराया जाता है।

छ. **अप्तोर्याम याग**—सोम यागों में यह सातवाँ और अन्तिम याग है। इसे पशुकामना से सम्पन्न किया जाता है-**अप्तोर्यामेण पशुकामः** (स०श्रौ० ९.७)। यह याग अतिरात्र याग की विकृति है- **अतिरात्र विकारोऽप्तोर्यामः** (दे०प०पृ०३७९)। इस याग में ग्रह, स्तोत्र और शस्त्रों की संख्या तैंतीस होती है। इसके देवता अग्नि, इन्द्राग्नी, इन्द्र और सरस्वती होते हैं। जिनमें से प्रत्येक के सवनीय पशु क्रमशः अज, अज, मेष और मेषी होते हैं-**अतिरात्रसंस्थे**

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

आग्नेयैन्द्राग्नैन्द्रसारस्वताश्चत्वारो यथोक्तजातीयाः (दे०प०पृ० ३००)। उपनिषदों में भी इन यागों की महत्ता प्रतिपादित की गई है। नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् में भगवान् नृसिंह के आनुष्टुभ मन्त्र जप को अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और अप्तोर्याम आदि यागों द्वारा यजन कर लेने के समान विवेचित किया गया है-**य एतं मन्त्रराजमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निष्टोमेन यजते स उक्थ्येन यजते स षोडशिना यजते स वाजपेयेन यजते सोऽतिरात्रेण यजते सोऽप्तोर्यामेण यजते.....सर्वैः क्रतुभिर्यजते** (नृ०पूर्व० ५.१७)।

१०. **अद्वय ब्रह्म**— द्र०- ब्रह्मविद्या खण्ड- 'अद्वयानन्द'।

११. **अद्वैत ग्रन्थि**— द्र०- अद्वैतशक्ति।

१२. **अद्वैतभाव**— द्र०-ज्ञानखण्ड- 'अद्वैत'।

१३. **अद्वैतशक्ति**— अद्वैत शब्द की व्युत्पत्ति कोश ग्रन्थों में इस प्रकार वर्णित है-**द्विधा इतं द्वीतं तस्य भावः द्वैतं भेदः, न द्वैतम्, अभावार्थे नञ् -तत्** (हि०वि०को०खं०१पृ०३४३) अर्थात् अभेद, एकत्व, ब्रह्म एवं जीव की अभिन्नता। प्रायः अद्वैत शब्द का प्रयोग जीव और ब्रह्म में एकत्व प्रदर्शित करने के लिए ही किया जाता है। यही मान्यता अद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है। यों तो मूलतः जीव और ब्रह्म में एक ही चेतना संचरित होती है। इसी कारण उस चेतना को अद्वैत कहते हैं; किन्तु जब वही चेतना लौकिक रूप में आकर कार्य करती है, तब वह (जीव और ब्रह्म के रूप में) पृथक् दिखाई पड़ती है। ऐसी स्थिति में ईश्वर और जीव दो तत्त्व अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं। दो तत्त्वों में विश्वास की मान्यता ही द्वैतवाद के नाम से प्रख्यात है। इस मत के प्रतिपादक माधवाचार्य ने मुण्डकोपनिषद् का उद्धरण देते हुए इस तथ्य को स्पष्ट किया है- **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति** (मुण्डक० ३.१.१) अर्थात् शरीर रूपी वृक्ष में ईश्वर और जीव दोनों ही मित्रतापूर्वक निवास करते हैं। दोनों में अन्तर मात्र इतना है कि जीव रूपी पक्षी शरीर रूपी वृक्ष के सुस्वादु फलों का रसास्वादन करता है और ईश्वर रूपी पक्षी उसका भोग न करके मात्र द्रष्टा बनकर देखता रहता है। वस्तुतः ब्रह्म एक ही है; किन्तु समस्त प्राणियों और पदार्थों में विद्यमान है। अन्तर्यामी होने के कारण सभी में अवस्थित होकर साक्षी रूप में उनके व्यवहार का द्रष्टा बना रहता है। इस तथ्य को श्वेताश्वतरोपनिषद् में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है-**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च** (श्वेता० ६.११)। तात्पर्य यह है कि समस्त भूतों का निर्माण करके वह ब्रह्म उन सभी में प्रवेश कर गया है। वह सभी में व्याप्त है तथा उनके अन्तःकरण में विराजमान है, वह सभी के कर्मों का साक्षी है, उनका फल देने वाला है; किन्तु स्वयं निर्गुण है। अद्वैत वेदान्त की मान्यतानुसार ईश्वर, ब्रह्म और जीव में कोई भेद नहीं है; यदि भेद परिलक्षित भी होता है, तो वह औपाधिक है- **जीवो ब्रह्मैव नापरः**। आचार्य शंकर का मत है कि ब्रह्म माया की उपाधि से युक्त होकर जीव स्वरूप धारण कर लेता है और शरीर रूपी पञ्जर में बँध जाता है। मनुष्य में कर्तृत्व और भोक्तृत्व की कल्पना अभ्यासवश होती है। मुण्डकोपनिषद् में उल्लेख है कि जिस प्रकार आग में से निकलने वाली चिनगारियों और आग में अभेद है, उसी प्रकार ब्रह्म और जीव में अभेद है। यही अद्वैतवाद का सिद्धान्त है। महोपनिषद् में अद्वैत शक्ति का निरूपण करते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है कि परब्रह्म से सम्बद्ध होने के कारण अद्वैत शक्ति ही (उपाधि के कारण) द्वैत दिखाई देती है और अद्वैत द्वारा प्रकट पदार्थ से विश्व निर्माण की माया (लीला) करती हुई अग्रगमन करती है-**द्वैताद्वैतसमुद्भूतैर्जगन्निर्माणलीलया। परमात्ममयी शक्तिरद्वैतैव विजृम्भते** (महो० ६.६२)। यज्ञोपवीत प्रकरण में उसके स्वरूप के तात्त्विक विवेचन के क्रम में ब्रह्मग्रन्थि को अद्वैत ग्रन्थि कहा गया है; क्योंकि जिस प्रकार जीव और ब्रह्म मिल जाने पर दोनों एक ही हैं, उसी प्रकार दोनों ओर से आये हुए धागों में जब ब्रह्मग्रन्थि लगाई जाती है, तब उनका द्वित्व समाप्त हो जाता है और वे एक हो जाते हैं, इसीलिए उस ग्रन्थि को अद्वैत (ब्रह्म) ग्रन्थि कहते हैं। पाशुपतब्रह्मोपनिषद् में यह तथ्य इन शब्दों में निर्दिष्ट है-**षण्णवतितत्त्व .....चिद्ग्रन्थिबन्धनम् अद्वैतग्रन्थिः** (पा०ब्र०पू० का० १४)। ब्रह्मयोगी ने अपने भाष्य में इसे और स्पष्ट किया है.....**तदैक्यग्रन्थेः तद्भेदग्रासत्वात् अद्वैतग्रन्थिः अद्वितीयपरमात्मा भवतीत्यर्थः। यथा यज्ञसूत्रब्रह्मग्रन्थिः तदैक्यहेतुः तथा अत्रापीत्यर्थः** (पा०ब्र०पू०का० १४ ब्र०भा०)।

१४. **अधिदेवता**— भारतीय संस्कृति में तैंतीस कोटि देवताओं की मान्यता है। जिसके अनुसार प्रत्येक स्थान, वस्तु, कुल के पृथक्-पृथक् अधिष्ठाता देवता होते हैं। जैसे- ग्राम देवता, कुल देवता, वन देवता, जल देवता, वास्तु देवता आदि।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

www.awgp.org | www.akhandjyoti.org

यों तो सभी में परब्रह्म की चेतना ही सर्वत्र संव्याप्त है, उससे अलग कुछ भी नहीं है; किन्तु उस परब्रह्म की विभिन्न शक्ति धाराएँ हैं, जो देवता कहलाती हैं। शरीर में विद्यमान विभिन्न इन्द्रियों के भी पृथक्-पृथक् अधिष्ठाता देवता होते हैं। जैसे- श्रोत्रेन्द्रिय के देवता दिशाएँ, त्वचा के देवता वायु, चक्षु के अधिष्ठाता देवता सूर्य, रसना के वरुण, नासिका के देवता अश्विनीकुमार, वाणी के अग्नि, हाथों के इन्द्र, पादों के उपेन्द्र, चित्त के देवता मित्र, उपस्थेन्द्रिय के देवता प्रजापति तथा मन के देवता चन्द्र कहलाते हैं। अक्षमालिकोपनिषद् में प्रजापति द्वारा गुह से अक्षों (मोती, माणिक, रुद्राक्ष आदि) के विषय में विभिन्न प्रश्नों के क्रम में अक्षों के अधिदेवता (अधिष्ठाता-देवता) के सम्बन्ध में भी पूछे जाने का उल्लेख है-**अथ प्रजापतिर्गुहं पप्रच्छ-भो भगवन् ..... का प्रतिष्ठा कैषाऽधिदेवता किं फलं चेति** (अक्ष० १)।

१५. **अध्यास**— द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।

१६. **अध्वर्यु**—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।

१७. **अनन्ता**—द्र०-अजा-अनजा-अज्ञेया।

१८. **अनासक्त**—किसी विषय अथवा वस्तु विशेष में अनुरक्ति या अत्यधिक लगाव हो जाने को आसक्ति कहते हैं। हि०वि०को० खं० २ पृ० ७३६ के अनुसार आसक्ति शब्द अन्य विषय को छोड़कर किसी एक ही विषय का अवलम्बन लेना अथवा उससे लगाव रखना है। इसे असङ्ग भी कहते हैं। आसक्ति के 'पथ स्थापन' और 'अभिप्राय पूर्वक' दो अन्य अर्थ भी होते हैं; किन्तु अधिकतर इस शब्द का उपयोग 'लगाव' के अर्थ में ही होता है। आसक्त और अनासक्त शब्द इसी आसक्ति शब्द से जन्मे हैं। जो व्यक्ति किसी विषय अथवा वस्तु के प्रति अत्यधिक अनुरक्त है, वह आसक्त और जो किसी विषय या वस्तु विशेष में अनुरक्त या आसक्त न होकर केवल उसके प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करता है,उसे अनासक्त कहते हैं। साधक को अनासक्त होना अनिवार्य है; क्योंकि आसक्ति ही बन्धन में डालती है। निम्न स्थिति से उच्च स्थिति तक जाने के प्रगति पथ में पूर्व स्थिति के प्रति आसक्ति ही बाधक बनती है। भावी जन्म के निर्धारण में भी पूर्व जन्म में रही अमुक वस्तुओं, व्यक्तियों, स्थितियों के प्रति आसक्ति ही कारण बनती है। हिरन के प्रति आसक्ति ही जड़ भरत के हरिणशावक के रूप में जन्म का कारण बनी थी। आसक्ति श्रेष्ठ और निकृष्ट दोनों ही कर्मों, स्थितियों आदि के प्रति हो सकती है। यदि श्रेष्ठ स्थिति के प्रति आसक्ति रही है, तो भावी जन्म उसी स्थिति के घर में होता है और वहीं से अनुकूल वातावरण प्राप्त कर आगे की यात्रा तय होती है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी इस तथ्य को स्वीकार किया गया है-**तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्। यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन** (गी०६.४३)। मुक्ति अथवा मोक्ष प्राप्ति के इच्छुक साधकों को तो अनासक्त रहने का ही परामर्श उपनिषदों में दिया गया है। जीवित रहते ही कई व्यक्तियों को मुक्ति मिल जाती है, ऐसे लोगों को जीवन्मुक्त कहते हैं। महोपनिषद् में उल्लेख है कि जो सुख-दुःख आदि से न हर्षित होता है और न ग्लानि करता है, वह अनासक्त पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है- **आपतत्सु यथाकालं सुख-दुःखेष्वनारतः। न हृष्यति ग्लायति यः स जीवन्मुक्त उच्यते** (महो० २.४३)।

१९. **अनास्था**—किसी वस्तु, व्यक्ति और सिद्धान्त आदि के प्रति श्रद्धा ही आस्था कहलाती है। किसी के प्रति यदि इस आस्था का अभाव हो, तो इसे अनास्था कहेंगे। कोश ग्रन्थों में तो इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार निर्दिष्ट है-**नास्ति आस्था यस्य** (हि०वि०को०) अर्थात् अनादर, अपमान, बेइज्जती, सम्मान का न होना आदि; किन्तु विशेषतया अनास्था शब्द का उपयोग ईश्वर, धर्म, कर्मफल, उच्च सिद्धान्तों आदि पर विश्वास न होने के अर्थ में ही किया जाता है। इसी कारण आज धर्म-अध्यात्म, ईश्वर से विश्वास उठ जाने को अनास्था का प्रभाव अथवा आस्था संकट कहा जाता है। यदि कहीं आस्था (विश्वास) दीखती भी है, तो वह विकृत रूप में। जैसे-भगवान् की पूजा-पत्री में, अपनी इच्छा पूर्ति करवाने की शर्त पर कुछ फल, मिठाइयाँ, वस्त्रादि चढ़ा देना, संतान प्राप्ति के लिए देवी के समक्ष किसी बालक या पशु की बलि चढ़ा देना आदि। यही आस्था यदि उच्च उद्देश्यों के प्रति, ईश्वर के प्रति-समर्पित हो, तो इसे सही अर्थों में आस्था और जिसके अन्दर वह होगी, उसे आस्तिक माना जायेगा। अक्ष्युपनिषद् में योग की विभिन्न भूमिकाओं के वर्णन में असंसर्ग भूमिका का लक्षण बताते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है कि शास्त्रार्थ समझ लेने के उपरान्त समस्त भोग पदार्थों में अनास्था हो जाती है (अतः वे व्यर्थ प्रतीत होते हैं) और उनके प्रति अभाव की भावना उत्पन्न हो जाती है। इसे सामान्य प्रकार का असंसर्ग कहा गया है-**कालश्च कलनोद्युक्तः सर्वभावाननारतम्। अनास्थयेति भावानां यदभावनमान्तरम्** (अक्षि०२३-२४)। इस प्रकार व्यावहारिक अर्थ में किसी के प्रति श्रद्धा-विश्वास का न होना और उसके प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण होना अनास्था कहलाता है।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

२०. **अनाहतनाद**—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।

२१. **अनाहतशब्द**—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड-अनाहत नाद।

२२. **अनुयाज**—याग, याज और यज्ञ समानार्थक शब्द हैं। सामान्यत: विशिष्ट प्रयोजनों के लिए किए जाने वाले विराट् यज्ञ कई चरणों में सम्पन्न किये जाते हैं। इन यज्ञों के प्रथम चरण में किये जाने वाले क्रिया-कलापों को प्रयाज (अर्थात् यज्ञ के पूर्व की तैयारियाँ) कहते हैं। यज्ञीय कर्मकाण्ड को याज और यज्ञ के पश्चात् के क्रिया-कलापों को अनुयाज कहते हैं। याज शब्द में पूर्व वाची प्र उपसर्ग और पश्चात् वाची अनु उपसर्ग लगने से प्रयाज और अनुयाज शब्द बनते हैं, जो मुख्य यज्ञीय कर्मकाण्ड के पूर्व व पश्चात्वर्ती कार्यों का बोध कराते हैं। प्रख्यात कोश ग्रन्थ हि०वि०को० खं० १४, पृ० ६२० में प्रयाज शब्द दर्श पौर्णमास यज्ञ के अन्तर्गत एक अङ्ग-यज्ञ निरूपित किया गया है। इसी कोशग्रन्थ में अनुयाज इन शब्दों में परिभाषित है- **अनु प्रधानात् पश्चाद् इज्यते;** अर्थात् दर्शपौर्णमास यज्ञ वाले प्रधान अङ्ग के पीछे का अङ्ग, याग का अवशिष्ट अङ्ग। ऐतरेय ब्राह्मण २.१८ में अनुयाज का अर्थ देवता विशेष लिया गया है, इसके ग्यारह देवताओं को अनुयाज माना गया है, इसी प्रकार याज (उपयाज) और प्रयाज के भी ग्यारह-ग्यारह देवता होते हैं- **एकादश प्रयाजा एकादशानुयाजा एकादशोपयाजा एते असोमपाः पशुभाजनाः।** निरुक्तकार यास्क के मतानुसार प्रयाज और अनुयाज शब्द अग्नि देवता के बोधक हैं- **अथ किं देवताः प्रयाजानुयाजाः। आग्नेया इत्येके। आग्नेया वै प्रयाजा आग्नेया अनुयाजा इति च ब्राह्मणम्** (नि० ८.२१)। इस प्रकार प्रयाज और अनुयाज के विभिन्न अर्थ होते हैं; किन्तु प्रचलित अर्थों में प्रयाज और अनुयाज क्रमश: यज्ञ के पूर्व के कृत्य व पश्चात् के कृत्य के रूप में ही जाने जाते हैं। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में शरीर यज्ञ के अन्तर्गत यज्ञ के विभिन्न अङ्गों के अतिरिक्त प्रयाज और अनुयाज भी वर्णित हैं- **अस्य शारीरयज्ञस्य .....के प्रयाजाः के अनुयाजाः केडा .....किमवभृथमिति** (प्रा०हो० २१)। शरीर यज्ञ में कौन प्रयाज व कौन अनुयाज हैं? इस प्रश्न के उत्तर में ऋषि ने पञ्चमहाभूतों को प्रयाज तथा गुणों को अनुयाज कहा है- **महाभूतानि प्रयाजाः गुणा अनुयाजाः जिह्वेडा ..... समाहिताः** (प्रा०हो० २२)।

२३. **अन्तःदृष्टि**—द्र०-अन्तर्मुखी वृत्ति।

२४. **अन्तर्मुखीवृत्ति**—मनुष्य के अन्दर कार्य करने वाली दो वृत्तियाँ प्रमुख हैं, जिनके अनुसार ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्धारण होता है। इन्हें अन्तर्मुखी वृत्ति और बहिर्मुखी वृत्ति के नाम से जानते हैं। इनमें अन्तर्मुखी प्रवृत्ति वह है, जिसे अपनाकर साधक अपने को आत्मतत्त्व, निर्विकार जानकर शरीर को मात्र वस्त्र समझकर धारण किए रहता है और समस्त लोक व्यवहार जल में कमल पत्रवत् असङ्ग रहकर सम्पन्न करता हुआ योगी का जीवनयापन करता है। गीता में उल्लेख है-**ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा** (गी० ५.१०)। श्रीमद्भगवद्गीता में ही भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश प्रदान करते हुए अन्तर्मुखी साधक के लक्षण बताते हुए कहा है- **योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः। स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति** (गी० ५.२४)। जो (अन्तर्मुखी) साधक निश्चित रूप से आत्मा में ही सुख वाला, आत्मा में ही आराम वाला तथा आत्मा में ही ज्ञान वाला है, वह ब्रह्मभूत (सच्चिदानन्द परमात्मा में एकीभाव हुआ) योगी ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में (आध्यात्मिक अथवा भौतिक) सफलताएँ पाने के लिए अन्तर्मुखी वृत्ति होना आवश्यक है। ध्यान योग की विभिन्न क्रियाओं में दृष्टि को अन्दर भ्रूमध्य अथवा हृदयादि में स्थिर करके-अन्तर्दृष्टि करके ध्यान करना अन्तर्मुखी स्थिति की दिशा में बढ़ने का ही एक चरण है। अद्वयतारकोपनिषद् में साधक द्वारा 'चित्स्वरूप' का भाव रखकर भ्रूमध्य के ऊपर अन्तर्दृष्टि करके ध्यान करना वर्णित है- **चित्स्वरूपोऽहमिति .....वाऽन्तर्दृष्ट्या भ्रूदहरादुपरि .....तद्रूपो भवति** (अद्व०ता० २)। रुद्रोपनिषद् में उसी चतुर्वेदज्ञ शिवभक्त को ब्राह्मण कहा गया है, जो अन्तर्मुखी वृत्ति (अर्थात् बाह्य प्रपञ्चों से प्रभावित न होकर आत्मा में ही रमण करने वाला) से युक्त है- **चतुर्वेदज्ञोऽपि शिवभक्त्यान्तर्भवतीति स एव ब्राह्मणः** (रुद्र० १)। जो बाहरी दुनिया के विषय-भोगों का चिन्तन करता हुआ, उन्हीं में रमा रहता है, उसके लिए आत्मदर्शन व ईश्वर दर्शन असम्भव है। ऐसे व्यक्ति को ही बहिर्मुखी वृत्ति वाला कहते हैं। जिसे आत्मदर्शन व ईश्वर दर्शन करके मुक्ति की प्राप्ति करनी हो, उसे बाहर के विषयों को बाहर ही छोड़कर नेत्रों की दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थित करके प्राण और अपान वायु को समान करके जितेन्द्रिय होने का परामर्श गीता में इन शब्दों में निर्दिष्ट है-**स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः। प्राणापानौ .....यः सदा मुक्त एव सः** (गी० ५.२७-२८)।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

२५. **अन्तर्वेदिका**—द्र०-यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।

२६. **अपराशक्ति**—सामान्यत: परा को चेतन और अपरा को जड़ कहा गया है। परमात्मा जिन दो शक्तियों से समूची सृष्टि का निर्माण करता व उसकी व्यवस्था चलाता है, उन्हें ही परा और अपराशक्ति के नाम से जाना जाता है। परा को श्रेष्ठ, सबसे परे, चेतन और उत्तम अर्थ वाला माना जाता है; जबकि अपरा को जड़ और स्थूल अर्थ में लिया जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता के सातवें अध्याय के चौथे और पाँचवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी प्रकृति (शक्ति) को आठ भागों में विभक्त बताया है-**भूमिरापोऽनलो वायु: खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा** (गीता० ७.४) अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ भागों में विभक्त मेरी प्रकृति है। इस अष्टधा प्रकृति को ही उन्होंने अपरा शक्ति कहा है तथा इससे भिन्न चेतन प्रकृति को परा कहा है, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है- **अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्** (गी० ७.५)।

सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष को ही समूची सृष्टि का उत्पादक, पालक और संहारक मानते हैं। वहाँ भी प्रकृति को जड़-स्थूल और प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली अर्थात् व्यक्त माना है तथा पुरुष को चेतन अनश्वर अव्यक्त माना है। शास्त्रों में अपरा और परा शक्तियों के जो लक्षण हैं, वे ही प्रकृति और पुरुष के भी लक्षण हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में जगत् (प्रकृति) को नश्वर और चेतना (पुरुष) को अनश्वर मानकर इन्हीं दोनों के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति, पालन आदि का तथ्य वर्णित है-**संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीश: .....सर्वपाशै:** (श्वेता० १.८)। इसी उपनिषद् में आगे प्रकृति को माया (जो नहीं है) कहा गया है। परब्रह्म जिसे मायापति कहा गया है, वही पुरुष है। इन्हीं के संयोग से यह जगत् संव्याप्त है-**मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तं महेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्** (श्वेता० ४.१०)। इस प्रकार गायत्री को परा और सावित्री को अपरा कहा गया है। इस प्रकार अपरा-परा, प्रकृति-पुरुष, माया-ईश्वर नाम से परब्रह्म की इन्हीं जड़ और चेतन शक्तियों को जाना जाता है। बह्वृचोपनिषद् में चित् शक्ति को ही आदि शक्ति अथवा आद्यशक्ति विवेचित कर उसी को समस्त जगत् की कारण स्वरूपा निर्दिष्ट किया गया है। चित्शक्तिरूपी देवी से ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि से लेकर समूची सृष्टि का आविर्भाव हुआ है-**देवी ह्येकाग्र आसीत्। सैव जगदण्डमसृजत्। .....तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्। विष्णुरजीजनत्। रुद्रोऽजीजनत् ..... मनुष्यमजीजनत्** (बह्वृ० १-२)। इस उपनिषद् में इन देवी को ही सबसे प्रारम्भ में उत्पन्न होने के कारण आद्यशक्ति कहा गया है। वेदमाता गायत्री और सीता इसी चित् शक्ति का प्रतिनिधित्व करने के कारण आदिशक्ति कहलाती हैं। इसी चित् शक्ति को अपराशक्ति कहा गया है- **सैषापरा शक्ति:** (बह्वृ०-३)।

२७. **अप्तोर्याम**—द्र०-अतिरात्र यज्ञ।

२८. **अभिषेक**—द्र०-यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।

२९. **अमनस्क अवस्था**—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड -अमनस्कस्थिति।

३०. **अमरत्व**—द्र०-ज्ञानखण्ड-अमृत मृत्यु।

३१. **अमृत**—द्र०- ज्ञानखण्ड-अमृत मृत्यु।

३२. **अर्धनारीश्वर**—शास्त्रों-पुराणों में स्थितियों व गुणों की दृष्टि से भगवान् शिव के विभिन्न नामों-रूपों का उल्लेख मिलता है। जैसे-अर्धनारीश्वर, नीलकण्ठ, मृत्युञ्जय, पशुपति, विरूपाक्ष और सदाशिव आदि। इनमें अर्धनारीश्वर का रूप बहुत विलक्षण व महिमायुक्त है। पुराणों में वर्णित है कि शक्ति की साधना करते-करते इनका आधा शरीर स्त्री का हो गया था। कारण कि शक्ति से इतना तादात्म्य हो गया कि इनके आधे अंग भी उन्हीं के अनुरूप ढल गये थे। शिव के इस अर्धनारीश्वर स्वरूप का तात्त्विक अर्थ यह है कि ईश्वर के सत्, चित् और आनन्द ये तीन गुण माने जाते हैं, इनमें तीसरा गुण आनन्द शिव का बोधक है अर्थात् सत् और चित् इन दोनों के मिश्रण अर्थात् साम्यावस्था से उत्पन्न जो अक्षुब्ध भाव है, वही आनन्द है। दूसरी दृष्टि से ईश्वर का सत् स्वरूप मातृस्वरूप है तथा चित् स्वरूप पिता का स्वरूप है। इन दोनों स्वरूपों के मिल जाने से आनन्द स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। माता-पिता दोनों के ही गुण शिव के अर्धनारीश्वर स्वरूप में विद्यमान हैं। दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि शिव और शक्ति (शंकर-पार्वती) एक ही शरीर में विद्यमान हैं, उनके इस स्वरूप का ध्यान जन सामान्य को यह प्रेरणा देता है कि नर के बिना नारी अधूरी है और नारी

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

के बिना नर। लौकिक सन्दर्भ में दोनों का परस्पर तालमेल (सामञ्जस्य) ही परिवार में स्वर्गिक परिस्थितियाँ बना सकता है। शिव और शक्ति का समन्वित स्वरूप प्रकृति और पुरुष का प्रतीकात्मक दर्शन है; क्योंकि समूची सृष्टि इन्हीं दोनों से मिलकर बनी है। विभिन्न पुराणों और उपनिषदों में भी शिव के अर्धनारीश्वर रूप की स्तुति की गई है- **नमोर्द्धनारीशहरमसितांगीति नासिकाम्। नम उग्राय लोकेशं लालतात पुनर्भुवौ** (म०पु०-६०-२५)। इसी प्रकार ब्रह्माण्डपुराण में भी अर्धनारीश्वर की स्तुति की गई है- **नमो दिग्वाससे देव किंकिणीध्राय वै नमः। अर्धनारीशरीराय सांख्ययोगप्रवर्तिने** (ब्र०पु०-२.२७.९८)।

रुद्राक्षजाबालोपनिषद् में रुद्राक्ष धारण करने के क्रम में उनकी महत्ता बताते हुए दो मुखी रुद्राक्ष को अर्धनारीश्वर स्वरूप वाले शिव का प्रतीक बताया गया है- **द्विवक्त्रं तु मुनिश्रेष्ठ चार्धनारीश्वरात्मकम्। धारणादर्धनारीशः प्रीयते तस्य नित्यशः** (रुद्र०जा० २८)। ध्यातव्य है कि रुद्राक्ष की उत्पत्ति रुद्र (शिव) के नेत्रों से त्रिपुरासुर वध के समय उनकी बन्द आँखों से पतित जल बिन्दुओं से होने के कारण इसका नाम रुद्राक्ष पड़ा है- **त्रिपुरवधार्थं ..... तेभ्यो जलबिन्दवो भूमौ पतितास्ते रुद्राक्षा जाताः** (रुद्र०जा०-२)। शिव का एक नाम नीलकण्ठ भी है। प्रसिद्ध है कि देवों और असुरों के द्वारा हुए समुद्रमन्थन में निकले चौदह रत्नों में एक विष (जहर) भी निकला था। उस विष से समस्त प्राणियों के नष्ट हो जाने की आशंका थी; उसका शमन करने वाला कोई नहीं था, तब उदारता की प्रतिमूर्ति भगवान् शंकर (शिवजी) ने स्वयं उसका पान कर लिया। चूँकि उसे गले से नीचे नहीं जाने दिया, इसलिए उनका कण्ठ नीला पड़ गया और तभी से वे नीलकण्ठ कहे जाने लगे। नीलरुद्रोपनिषद् में नीलकण्ठ भगवान् शिव की स्तुति इन शब्दों में निर्दिष्ट है- **अपश्यं त्वावरोहन्तं दिवितः पृथिवीमवः। अपश्यं रुद्रमस्यन्तं नीलग्रीवं शिखण्डिनम्** (नी०रुद्रो० १.१)। शिव को जगत् के संहारकर्त्ता के साथ ही मृत्युञ्जय भी कहा जाता है। अभिप्राय यह है, कि उन्होंने मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली थी, इसीलिए उन्हें मृत्युञ्जय कहते हैं। अक्षमालिकोपनिषद् में अक्ष (रुद्राक्ष) माला को धारण करने के क्रम में उसकी स्तुति करते हुए रुद्र से सम्बद्ध होने के कारण उसे भी मृत्युनाशिनी तथा मृत्युञ्जय स्वरूपिणी उपन्यस्त किया गया है- ..... **विश्वामृत्यो मृत्युञ्जयस्वरूपिणि ..... वासयसि** (अक्ष० १५)। निरन्तर लोक कल्याण में प्रवृत्त रहने के कारण शिव को सदाशिव भी कहते हैं। कालाग्निरुद्रोपनिषद् में त्रिपुण्ड्र धारण विधि के सन्दर्भ में त्रिपुण्ड्र की तीनों रेखाओं में द्वितीय रेखा को सदाशिव स्वरूप वाली निरूपित किया गया है- **याऽस्य द्वितीया रेखा .....सदाशिवो देवतेति** (का० रुद्रो०-७)। समस्त पशुओं (प्राणियों) के स्वामी होने के कारण शिव को पशुपति नाम से भी अलंकृत किया गया है। इसके दो कारण हैं- प्रथम यह कि जो सबको अविशेष रूप में देखते हैं, उन्हें भी पशु कहा जा सकता है। इस प्रकार ब्रह्मा से स्थावर पर्यन्त समस्त पशु ही हैं, शिव सबके ज्ञान प्रदाता व अज्ञान से रक्षा करने वाले हैं, इसलिए उन्हें पशुपति कहते हैं-**ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च पशवः परिकीर्तिताः। तेषाम्पतिर्महादेवः स्मृतः पशुपतिः श्रुतौ** (शि०क०पृ०२४०, संस्क० संवत्० २०५२)। द्वितीय कारण यह है कि त्रिपुरासुर वध के उपरान्त समस्त देवगण शिव की पशुता (अधीनता) को प्राप्त हो गये थे, इसलिए उनके स्वामी होने के कारण उन्हें पशुपति अभिधान दिया गया है- **यो लीलयैव त्रिपुरं ददाह ..... सर्वे देवाः पशुतामवापुः स्वयं तस्मात् पशुपतिर्बभूव** (शरभ० १४)। त्रिनेत्र होने के कारण शिव विषम नेत्रों वाले हो गये थे,इसलिए उन्हें विरूपाक्ष भी कहते हैं। रुद्र और विष्णु ऐक्य के वर्णन में रुद्रहृदयोपनिषद् में शिव (रुद्र) को विरूपाक्ष निरूपित किया गया है- **ये द्विषन्ति विरूपाक्षं ते द्विषन्ति जनार्दनम्।** प्राणतत्त्व से पहचाने जाने के कारण शिव को प्राणलिङ्गी भी कहते हैं। **तस्मात्प्राणलिङ्गी शिवः। शिव एव प्राणलिङ्गी** (रुद्र० २)। इनके अतिरिक्त शिव के त्रिनेत्र, कृत्तिवासा, पंचवक्त्र, शितिकण्ठ, खण्डपरशु, प्रमथाधिप, गङ्गाधर, महेश्वर, पितामह, संसार-वैद्य, सर्वज्ञ, परमात्मा,कपाली और भूतनाथ आदि और भी अनेक नाम हैं (रुद्रह०-६)।

३३. **अवभृथस्नान**—द्र०-यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।

३४. **अवेदन**—द्र०-असंसक्ति।

३५. **अष्टदल कमल**—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

३६. **अष्टधाप्रकृति**—द्र०-अपराशक्ति।

३७. **अष्टसिद्धि**—साधना से सिद्धि का सिद्धान्त सर्व विदित है। योग शास्त्रों में विभिन्न प्रकार की साधनाओं का वर्णन मिलता है। यम-नियम, आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रा, जप, ध्यान आदि की साधनाओं के द्वारा जो विभिन्न प्रकार की

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, उन्हें ही सिद्धियाँ कहते हैं। इन्हें प्राप्त कर लेने वाले सिद्ध कहलाते हैं। सिद्धियाँ अनेक प्रकार की होती हैं, जिनमें आठ सिद्धियाँ प्रमुख हैं, इन्हें-अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व के नाम से जाना जाता है। अणिमा सिद्धि के द्वारा शरीर को अणु की तरह सूक्ष्म कर लिया जाता है। महिमा सिद्धि से शरीर बहुत विशाल आकार का बनाया जा सकता है। गरिमा सिद्धि से शरीर को आवश्यकतानुसार भारी किया जा सकता है और लघिमा से शरीर को हल्का किया जा सकता है। प्राप्ति सिद्धि से दूरस्थ पदार्थों को स्पर्श अथवा उन्हें प्राप्त भी किया जा सकता है। प्राकाम्य सिद्धि द्वारा इच्छित कामनाओं की पूर्ति हो जाती है। ईशित्व सिद्धि प्राप्त सिद्धजन शरीर और मन के अन्दर संस्थानों और चक्रों पर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करके संसार के पदार्थों को अपनी इच्छा से प्रयोग कर सकने में समर्थ हो जाते हैं। इसी प्रकार वशित्व सिद्धि से समस्त परिस्थितियों अथवा वस्तु-पदार्थों को अपने वश में कर लिया जाता है। योग दर्शन में जिन अष्ट सिद्धियों का उल्लेख है, उनमें गरिमा सिद्धि का उल्लेख नहीं है वरन् एक अन्य सिद्धि यत्र कामावसायित्व का वर्णन है, शेष उपर्युक्त ही है। यत्र कामावसायित्व सिद्धि का अर्थ है, वह सिद्धि जिसके द्वारा सिद्ध योगी का प्रत्येक सङ्कल्प पूर्ण हो जाता है अर्थात् उसके सङ्कल्प के अनुसार ही भूत पदार्थों के स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है। जैसे- योगी यदि सङ्कल्प कर ले तो वह अमृत के स्थान पर किसी को विषपान कराकर भी जीवन प्रदान कर सकता है। इस प्रक्रिया में योगी के सङ्कल्प से प्रभावित होकर विष के परमाणु अमृत के परमाणुओं में बदल जाते हैं। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि योगियों के सङ्कल्प सदैव जनहित में ही होते हैं अर्थात् सांख्य दर्शन में अष्ट सिद्धियाँ अन्य प्रकार से विवेचित हैं, जिनके सम्बन्ध में यह श्लोक द्रष्टव्य है-**ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः। दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽकुशस्त्रिविधः** (सां०का० ५९) अर्थात् ऊह, शब्द, अध्ययन, तीन दुःख विघात, मित्र प्राप्ति और दान ये आठ सिद्धियाँ हैं। इनमें पूर्वजन्मों के संचित संस्कारों द्वारा स्वयमेव सृष्टि का अवलोकन करके नित्य-अनित्य, जड़-चेतन निर्णय से चौबीस तत्त्वों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लेना ऊह सिद्धि कहलाती है। विवेकशील गुरु से सदुपदेश की प्राप्ति शब्द सिद्धि कहलाती है। वेद शास्त्रों के स्वाध्याय से ज्ञान की प्राप्ति को अध्ययन सिद्धि कहते हैं। अज्ञान निवारण हेतु सतत भ्रमणशील सिद्धजनों में से किसी कृपालु द्वारा ज्ञान प्राप्ति सुहृत्प्राप्ति सिद्धि के नाम से जानी जाती है। तीन दुःख विघात सिद्धि (दुःखत्रय विघात सिद्धि) अर्थात् आध्यात्मिक दुःख विघात (सभी प्रकार के आध्यात्मिक दुःखों का मिट जाना) सिद्धि, आधिभौतिक दुःख विघात (समस्त आधि भौतिक दुःखों का विनष्ट हो जाना) सिद्धि और आधिदैविक दुःख विघात (सभी आधिदैविक दुःखों का नष्ट हो जाना) सिद्धि। इन सभी से दैहिक, दैविक और भौतिक समस्त दुःख समाप्त हो जाते हैं। अन्तिम सिद्धि दानसिद्धि है। लोक कल्याण के कार्यों में निरत रहने वाले योगियों की भोजन आदि की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु दान करके उनसे (योगियों से) ज्ञान लाभ करना दानसिद्धि कहलाती है। गीता १७,२०,२१, २२ में सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार के दानों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इनमें सात्त्विक दान श्रेष्ठ है, क्योंकि यह दाता और गृहीता दोनों को सात्त्विक लाभ प्रदान करता है। कुछ ग्रन्थों में अष्ट सिद्धियाँ इस प्रकार वर्णित हैं- १. आत्मसिद्धि २. विविधा सिद्धि ३. ज्ञानसिद्धि ४. तपसिद्धि ५.क्षेत्र सिद्धि, ६.देव सिद्धि ७.शरीर सिद्धि ८.विक्रिया सिद्धि। शङ्कराचार्य जी ने अन्य ढंग से अष्टसिद्धियाँ मानी हैं जो इस प्रकार हैं- १. जन्मसिद्धि—अर्थात् जन्म से ही (पूर्व प्रारब्धवश) श्रेष्ठ संस्कार तथा वैभव प्राप्त होना। २. शब्दज्ञान सिद्धि-किसी विषय में मात्र सुनकर ही वस्तुस्थिति का आभास हो जाना। ३.शास्त्रज्ञान सिद्धि- शास्त्राध्ययन से असामान्य बुद्धि का विकास। ४.आधिभौतिक ताप सहनशक्ति-भौतिक कष्ट सहने की सामर्थ्य। ५.आध्यात्मिक ताप सहनशक्ति-आत्मिक (आन्तरिक-मानसिक) कष्ट सहिष्णुता। ६.आधिदैविक ताप सहनशक्ति-दैवी आपदाओं को सहने की सामर्थ्य। ७.विज्ञान सिद्धि-अर्थात् अन्तःकरण से तात्त्विक ज्ञान की स्फुरणा होना। ८. विद्या सिद्धि-विद्या से अविद्या के विनाश की सिद्धि।

अन्य ग्रन्थों में अष्ट सिद्धियाँ ये मानी गई हैं-१. परकाया प्रवेश २. जल आदि में असङ्ग होना ३.उत्क्रान्ति ४.ज्वलन (स्थूल रूप से जल जाने पर भी अन्दर से अग्नि का दाह अनुभव न करना) ५. दिव्य श्रवण (दिव्य आवाजों, आकाशवाणी आदि को सुन लेने की शक्ति) ६. आकाश मार्ग गमन ७. प्रकाशावरणक्षय और ८.भूतजय। इस प्रकार विभिन्न विद्वानों के मतों में अष्ट सिद्धियों के कई वर्ग हैं, पर सर्वाधिक प्रख्यात प्रारम्भ में वर्णित अणिमा, गरिमादि अष्ट सिद्धियाँ ही हैं। अक्षमालिकोपनिषद् में अक्ष (रुद्राक्ष) में विभिन्न शक्तियों को प्रतिष्ठित करने के सन्दर्भ में विभिन्न बीज मन्त्रों का उल्लेख करते हुए 'फं' कार को अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों का प्रदाता तथा प्रकाशस्वरूप बताते हुए उससे अड़तीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित होने की प्रार्थना की गई है-**ॐ फंकाराणिमादिसिद्धिप्रद ज्योतीरूपाष्टत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ**

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

www.awgp.org | www.akhandjyoti.org Sadhanakhand

शान्तं तच्छेष्ठासङ्ग उच्यते (अक्षि० २.२५-२६)। संक्षेप में इस तीसरी भूमिका में साधक अद्वैतभाव की गहनता से द्वैत भाव को समाप्त कर देता है और चौथी भूमिका 'स्वप्न' में पहुँचकर जगत् को स्वप्नवत् देखने लगता है। पंचम भूमिका सुषुप्तपद में साधक का चित्त विलीन हो जाता है, तब मात्र सत्त्व ही शेष बचता है, जिससे सांसारिक विकल्प उठने बन्द हो जाते हैं, जिससे अद्वैत स्थिति में आत्मबोध से हर्षित साधक सुषुप्तघन (आनन्दप्रद अवस्था) प्राप्त कर लेता है। इस स्थिति में वह बाह्य व्यवहार करते हुए भी अन्तर्मुखी रहता है। इसके पश्चात् साधक छठी भूमिका तुर्या में प्रवेश करता है, जिसमें सत्-असत्, अहंकार-अनहंकार, कुछ भी नहीं रहता। वह पूर्ण अद्वैत स्थिति में मनन वृत्ति से रहित होकर एकदम निर्भय हो जाता है, उसके समस्त संशय मिट जाते हैं। जीवित रहते हुए भी वह जीवन्मुक्त की स्थिति में रहकर भावशून्यता(भावरहित स्थिति)प्राप्त कर लेता है। सातवीं भूमिका विदेह मुक्ति की स्थिति है। इसमें उसके समस्त प्रारब्ध समाप्तप्राय हो जाते हैं, देह का समापन हो जाता है और वह ब्रह्म में विलीन हो जाता है। उस समय वह ब्रह्मभूत होकर परम शान्ति, ब्रह्मानन्द की अनुभूति करता हुआ पूर्ण पवित्रता एवं शून्यता को प्राप्त कर लेता है। तेजोबिन्दूपनिषद् ४.३३ में यह तथ्य इन शब्दों में निर्दिष्ट है- **ब्रह्मभूतः प्रशान्तात्मा ब्रह्मानन्दमयः सुखी। स्वच्छरूपो महामौनी वैदेही मुक्त एव सः॥** अक्ष्युपनिषद् २.४०-४८ में विदेहमुक्ति भूमिका का विस्तृत वर्णन है, जिसमें भी उपर्युक्त तथ्य ही प्रतिपादित है- **विदेहमुक्तताऽत्रोक्ता सप्तमी योगभूमिका। ..... प्रज्ञानघनमानन्दं ब्रह्मास्मीति विभावयेत्॥** इस प्रकार महोपनिषद् व अक्ष्युपनिषद् में योग की जो सात भूमिकाएँ पृथक्-पृथक् नामों से उपन्यस्त हैं, उनकी स्थिति व क्रम में भले ही कुछ अन्तर हो; पर वस्तुतः प्रारम्भ से लेकर अन्त तक की योग की सभी स्थितियाँ उनमें समाहित हो जाती हैं।

४०. **असंसर्ग**—द्र०- **असंसक्ति**।

४१. **असङ्ग**—द्र०-**असंसक्ति**।

४२. **आकाश**—द्र०-**ज्ञानखण्ड**।

४३. **आचार्य**—हिन्दी विश्वकोश के अनुसार आचार्य शब्द की व्युत्पत्ति आचर-ण्यत् से मानी गई है, जिसके कई अर्थ हैं। प्रथमतः गुरु, मुरशद या उस्ताद को आचार्य कहा गया है। महाराज मनु के अनुसार जो द्विज (ब्राह्मण) शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करके उसे वेदाङ्गों सहित सरहस्य (उपनिषद् सहित) वेद पढ़ाता है, उसे ही आचार्य कहते हैं- **उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः। सांगं च सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते** (मनु० २.१४०)। द्वयोपनिषद् में आचार्य शब्द इस प्रकार उपन्यस्त है- **आचिनोति हि शास्त्रार्थानाचारस्थापनादपि। स्वयमाचरते यस्तु तस्मादाचार्य उच्यते** (द्वयो०३) अर्थात् जो शास्त्र के अर्थों को चुनकर उनकी स्थापना हेतु स्वयं भी (शास्त्रों का) आचरण करता है, उसे आचार्य अथवा गुरु कहते हैं। किसी पात्र व्यक्ति को मंत्र देने वाले गुरु को भी आचार्य कहते हैं। कालान्तर में आचार्य शब्द शिक्षक के लिए रूढ़ हो गया, इसीलिए आज भी शिशु मन्दिरों, विद्यालयों के शिक्षकों को आचार्य कहने लगे। अन्य मतों में मतसंस्थापकों को भी आचार्य कहते हैं, जैसे- आचार्य शङ्कर आदि। यज्ञादि में पौरोहित्य कर्म करने वालों को भी आचार्य कहते हैं। पूज्य मात्र अथवा शिक्षक मात्र को भी आचार्य कहते हैं। नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् में उल्लेख है कि यदि कोई आचार्य किसी अनधिकारी (कुपात्र) को मन्त्रोपदेश करे, तो वह आचार्य अधोगति प्राप्त करता है-**सावित्रीं लक्ष्मीं यजु : प्रणवं ..... स आचार्यस्तेनैव स मृतोऽधो गच्छति** (नृ०पूर्व० १.७)।

४४. **आज्यभाग**— द्र०-**यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ**।

४५. **आज्यस्थाली**—द्र०-**यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ**।

४६. **आत्मचिन्तन**—द्र०-**संवित्**।

४७. **आत्मचैतन्य**—द्र०-**संवित्**।

४८. **आत्मदृष्टि**—द्र०-**संवित्**।

४९. **आत्मसाक्षात्कार**—द्र०- **ज्ञानखण्ड-साक्षात्कार**।

५०. **आदिपुरुष**— सृष्टि के आदि (प्रारम्भ) में केवल उसी परब्रह्म के होने से उसका एक नाम आदिपुरुष भी है। प्रसिद्ध कोशग्रन्थ वाचस्पत्यम् में आदि पुरुष की निष्पत्ति इस प्रकार है- **आदौ पुरिदेहे वसति वस-उषन्, स्वेनात्मना पूरयति जगत् पूर- उषन् .....। आदिजीवे, हिरण्यगर्भे, नारायणे च** (वाच०पृ० ६९७) अर्थात् सृष्टि के आदि में शरीर में निवास करने और अपने द्वारा जगत् को पोषण प्रदान करने के कारण परब्रह्म को आदिपुरुष कहते हैं। आदि जीव,

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

(अक्ष०५)। इसी प्रकार णं कार को समस्त सिद्धियों का प्रदाता मानकर उससे इकतीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित होने की प्रार्थना की गई है- **ॐ णंकार सर्वसिद्धिप्रद मोहकरैकत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ** (अक्ष० ५)। इस प्रकार जीवन साधना के प्रतिफल स्वरूप अनेक सिद्धियाँ हस्तगत होती रहती हैं, पर उनका उपयोग लोकमंगल और लोकहित में ही होना उचित है। आत्मप्रदर्शन अथवा किसी का अनिष्ट करने के लिए इनका दुरुपयोग करना शास्त्र विरुद्ध और निषिद्ध है। यदि ये सिद्धियाँ किसी को साधना के परिणाम स्वरूप मिल भी जाती हैं, तो भी उद्देश्य सच्चा न देखकर लुप्त हो जाती हैं अथवा प्रभावहीन हो जाती हैं।

३८. **अष्टादशाक्षर मन्त्र—द्र०कामबीज।**

३९. **असंसक्ति**—उपनिषदों में योग,ध्यान, प्राणायाम आदि विषयों का सविस्तार वर्णन है। इसी क्रम में अक्ष्युपनिषद् तथा महोपनिषद् में योग की सात भूमिकाएँ उपन्यस्त हैं, जिनके अन्तर्गत एक भूमिका असंसक्ति भी है। महोपनिषद् के अनुसार ये सात भूमिकायें इस प्रकार हैं- १.शुभेच्छा २.विचारणा ३.तनुमानसी ४.सत्त्वापत्ति ५.असंसक्ति ६.पदार्थ भावना ७.तुर्यगा। इनमें प्रथम भूमिका शुभेच्छा उस स्थिति को कहते हैं, जब वैराग्य धारण करने से पूर्व सांसारिक मायाजाल के प्रति ग्लानि का भाव उत्पन्न होकर शास्त्रादि के प्रति जिज्ञासा तथा श्रेष्ठ कर्म करने की इच्छा उत्पन्न होती है। द्वितीय भूमिका-विचारणा वह है, जिसमें सत्संग शास्त्राध्ययनादि द्वारा अभ्यास वैराग्य से युक्त होकर श्रेष्ठाचरण करने की प्रवृत्ति प्रादुर्भूत होती है। इस भूमिका के सम्पन्न हो चुकने पर जब विषयों के प्रति अनुराग क्षीण हो जाता है,तब वह तीसरी भूमिका-तनुमानसी कहलाती है। इन तीनों भूमिकाओं के निरन्तर अभ्यास से वैराग्य प्रबल होकर, चित्त के शुद्ध-सत्त्व स्वरूप में स्थित होने को ही चौथी भूमिका-सत्त्वापत्ति कहते हैं। इन भूमिकाओं के अभ्यास से असंसर्ग कला(विषयों के प्रति असङ्ग भाव या अनासक्ति)सत्त्वारूढ़(ईश्वर तत्त्व के संसर्ग को प्राप्त)होती है,वहीं पाँचवीं भूमिका-'असंसक्ति' के नाम से प्रख्यात है- **दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गकला तु या। रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका** (महो० ५.३१)। उपर्युक्त पाँचों भूमिकाओं को पार करते-करते आत्मा में निरन्तर रमण होने लगता है, जिसके कारण बाह्य पदार्थ भावना विनष्ट हो जाती है(अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, ऐसा भाव विकसित हो जाता है), इसी भूमिका को पदार्थ भावना कहते हैं। इन सबके पश्चात् अन्तिम भूमिका तुर्यगा आती है, जिसमें साधक की भेदबुद्धि समाप्त प्राय हो जाती है और वह आत्मभाव में एकनिष्ठ हो जाता है। ऐसे जीवन्मुक्त साधक को ही यह स्थिति प्राप्त होती है। इन सातों भूमिकाओं के बाद ही विदेहमुक्ति वाली तुर्यातीत स्थिति आती है। इन्हीं सातों भूमिकाओं से मिलती-जुलती योग की सात भूमिकाएँ अक्ष्युपनिषद् में वर्णित हैं; किन्तु स्थिति में कुछ अन्तर होने से उनके नाम कुछ परिवर्तित हैं। ये भूमिकाएँ हैं-१.अवेदन २.विचार ३.असंसर्ग ४. स्वप्न ५. सुषुप्तपद ६. तुर्या ७. विदेह मुक्ति। इनमें प्रथम अवेदन भूमिका जिसे योग की प्रारम्भिक स्थिति भी कह सकते हैं, इस प्रकार है- इसमें साधक दिनानुदिन वासनात्मक चिन्तन से दूर होता जाता है और निरन्तर पारमार्थिक कार्यों में संलग्न होकर हर्षित रहता हुआ किसी की अश्लील चेष्टाओं से घृणा करते हुए किसी के समक्ष प्रकट नहीं करता। पाप से भयभीत रहकर भोग साधनों की आकांक्षा त्याग देता है। सबके प्रति मधुर व्यवहार रखते हुए स्वाध्याय और सत्संग करते हुए सतत भवसागर (संसाररूपी समुद्र) से पार जाने की अभिलाषा सँजोये रहता है। दूसरी भूमिका विचार कहलाती है। इस भूमिका से युक्त साधक उन श्रेष्ठ विद्वज्जनों का आश्रय ग्रहण करता है, जो श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा और ध्यानादि की तर्कसंगत व्याख्या के लिए प्रख्यात हों। वह शास्त्रों में पारंगत, कर्तव्य-अकर्तव्य के निर्णय में कुशल, शास्त्र, गुरु और सत्पुरुषों के सेवा-सहयोग से गूढ़ रहस्य युक्त ज्ञान को पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त कर लेता है। इसके बाद तीसरी भूमिका असंसर्ग प्रारम्भ होती है। इसमें साधक शास्त्र अभिमतों में अपनी बुद्धि को स्थिर करके तपस्वियों के आश्रम में निवास करता हुआ, अध्यात्म शास्त्रों का स्वाध्याय करता हुआ, कठोर भूमि पर शयन करता हुआ आयु व्यतीत करता है। विषयोपभोग आसक्ति से नहीं सहज रूप में करता है अर्थात् उनका संसर्ग करते हुए भी उनके प्रति असंसर्गवान् रहता है। असंसर्ग भी दो प्रकार का है अ. सामान्य ब. श्रेष्ठ। सामान्य असंसर्ग की भूमिका में स्थित साधक अपने को कर्त्ता, भोक्ता, बाध्य, बाधक कुछ भी न मानकर सब कुछ कर्माधीन और ईश्वराधीन जानकर विषयों के प्रति अनासक्त रहता है। श्रेष्ठ असंसर्ग की भूमिका में स्थित साधक अपने को अकर्त्ता, ईश्वर और पूर्वकृत अपने कर्मों को ही कर्त्ता मानता हुआ शब्द और अर्थ के भावों को विसर्जित करके मौन (मन और इन्द्रियों को नियंत्रित करना), आसन (अन्तर में स्थित होना) और शान्त भाव (बाह्यभावों के विस्मरण) को प्राप्त कर लेता है- **नाहं कर्तेश्वरः कर्ता कर्म वा प्राक्तनं मम। कृत्वा दूरतरे नूनमिति शब्दार्थभावनम्। यन्मौनमासनं**

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

www.awgp.org | www.akhandjyoti.org Sadhanakhand

हिरण्यगर्भ और नारायण के लिए भी आदिपुरुष शब्द प्रयुक्त होता है। गीता में भगवान् के विराट् रूप का दर्शन करके, उनकी स्तुति करते हुए अर्जुन ने उन्हें आदिदेव और सनातन पुरुष कहा है, जिससे भी उनके आदिपुरुष होने का स्वर ध्वनित होता है- **त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।.....विश्वमनन्तरूप** (गीता०११.३८)। वेदों में भी इस समूची सृष्टि को उस आदि पुरुष से उत्पन्न निरूपित किया गया है- **पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति** (ऋ० १०.९०.२)। उस विराट् और आदि पुरुष से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि जातियाँ प्रकट हुईं। उसके किन अङ्गों से कौन उपजे? इसका उल्लेख इस ऋचा में मिलता है- **ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत** (ऋ० १०.९०.१२)। इसी प्रकार उस आदिपुरुष के अन्य अङ्गों से चन्द्र, सूर्य, अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, द्यौः, भूमि, दिशाएँ और लोक उत्पन्न हुए बताये गये हैं। कलिसंतरणोपनिषद् में ब्रह्मा-नारद संवाद के अन्तर्गत ब्रह्मा ने कलि के दोषों के शमन का उपाय बताते हुए आदिपुरुष भगवान् श्री नारायण के नाम के संकीर्तन का परामर्श दिया है- ..... **भगवत आदि पुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारणमात्रेण निर्धूतकलिर्भवतीति** (कलि० १)।

५१. **आद्यशक्ति**—द्र०-**अपराशक्ति**।

५२. **आनुष्टुभ मन्त्र**—द्र०- **महाचक्र-सुदर्शन चक्र**।

५३. **आर्य**—कोश ग्रन्थों में आर्यशब्द इस प्रकार निष्पन्न बताया गया है- **आर्यते गम्यते पूजा** (हि०वि०को०)। इसके कई अर्थ हैं- जैसे- महाकुल, कुलीन, सभ्य, सज्जन, साधु या वफादार इंसान आदि। इसी प्रकार अन्य अर्थों में आर्य को पूज्य, श्रेष्ठ, शान्तचित्त, स्वामी, वैश्य और वेदोक्त जाति विशेष माना गया है। पाश्चात्य विद्वान् 'अर्' धातु से अर्य शब्द की निष्पत्ति बताते हैं, जिसका अर्थ भूमि जोतना है। उनका मत है कि प्रधानतः कृषि कार्य करने के कारण आर्य नाम हुआ है। इसीलिए इस कृषि प्रधान देश भारत में रहने वाले लोगों को आर्य और भारत को आर्यावर्त कहा जाता था; किन्तु अध्ययन से विदित होता है कि आर्य नाम केवल कृषि कार्य प्रधान होने से ही नहीं, वरन् अन्य कारणों से भी पड़ा है। जैसे कुलीन वंशोत्पन्न, श्रेष्ठ, सभ्य, सज्जन आदि गुणों के कारण भी आर्य नाम पड़ा होगा और बाद में वह जाति विशेष बन गई। आर्य शब्द का प्रयोग वैदिक काल से ही होता रहा है, इसका अर्थ यह है कि आर्य अति प्राचीन जाति (कर्मानुसार) रही है। वैदिक काल में आर्य और दस्यु ये दो ही जातियाँ थीं। आर्यों को श्रेष्ठ और दस्युओं को शूद्र जाति माना जाता था। विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में कई स्थानों पर आर्यों के संरक्षण और दस्युओं के प्रतिकार के लिए देवों से प्रार्थना की गई है- .....**विद्वान्वज्रिन्दस्यवे हेतिमस्यार्यं सहो वर्धया द्युम्नमिन्द्र** (ऋ० १.१०३.३)। एक अन्य स्थल पर ऋग्वेद में ही इन्द्रदेव से प्रार्थना की गई है कि हे इन्द्रदेव! आप आर्यों और दस्युओं (अनार्यों) को पहचानें, व्रतहीनों (दस्युओं) को वशीभूत करके यज्ञ करने वालों के लिए उन्हें नष्ट करें- **विजानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।.....ते सधमादेषु चाकन** (ऋ०१.५१.८)। उपर्युक्त उदाहरणों से आर्य जाति का श्रेष्ठ व धार्मिक होना स्पष्ट है। आचार्य सायण ने अपने ऋग्वेद भाष्य में आर्य शब्द के विज्ञ अनुष्ठाता, विज्ञ स्तोता, अरणीय अथवा सर्वगन्तव्य, उत्तमवर्ण त्रैवर्णिक, मनु और कर्मानुष्ठान से श्रेष्ठ आदि अर्थ बताये हैं। शुक्ल यजु०संहिता में आचार्य महीधर ने आर्य शब्द को स्वामी और वैश्य वाचक माना है। आर्य के सम्बन्ध में सायण के अरणीय अथवा सर्वगन्तव्य अर्थ और महीधर के वैश्य अर्थ दोनों समान हैं। सम्भवतः व्यापार आदि के निमित्त सर्वत्र गमन करने वाले आर्य वैश्य कहलाये होंगे। निरुक्तकार यास्क ने आर्य शब्द की व्याख्या में आर्य को ईश्वर पुत्र कहा है- **आर्यः ईश्वरपुत्रः** (नि० ६.५.३)। निघण्टु २/२२ में ईश्वर के लिए 'अर्य' शब्द व्यवहृत हुआ है, जिससे अपत्यार्थ प्रत्यय में आर्य शब्द बनता है, ईश्वर के बल, तेज, दया, क्षमा, पराक्रम आदि गुणों से युक्त होने के कारण मानव जाति में श्रेष्ठ समुदाय को आर्य कहा गया। उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट होता है कि आर्य श्रेष्ठ, ज्ञानवान् भ्रमण करने वाले और यज्ञादि अनुष्ठान करने वाले धार्मिकों की जाति थी, जो अतिप्राचीन है। उपनिषदों में भी आर्य जाति का उल्लेख हुआ है। अक्ष्युपनिषद् में योग की भूमिकाएँ बताते हुए उपनिषद्कार ने कहा है-**एवं विचारवान् यः स्यात् संसारोत्तारणं प्रति। स भूमिकावानित्युक्तः शेषस्त्वार्य इति स्मृतः** (अक्षि० २.९.१०) अर्थात् भवसागर से पार हो जाने की इच्छा से इस विचार में जो सतत लगा रहता है, उसे भूमिकावान् कहते हैं, शेष आर्य नाम से जाने जाते हैं। अभिप्राय यह है कि योग की विभिन्न भूमिकाओं में जाने के लिए तो विशेष प्रकार की साधनाएँ करनी होती हैं। उन-उन साधनाओं को करने वाला साधक तो भूमिकावान् है और इन भूमिकाओं से पूर्व की स्थिति आर्य (श्रेष्ठमानव) की है। ध्यातव्य है कि आर्य सामान्य मनुष्यों (जो घिसा-पिटा शिश्नोदर परायण जीवन जीते हैं) से तो श्रेष्ठ हैं, पर भूमिकावान् नहीं हैं ।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

५४. **आवागमन चक्र**—द्र०- ज्ञानखण्ड।

५५. **आश्रम**—द्र०-ज्ञानखण्ड-चतुराश्रम।

५६. **इड़ा**—द्र०- ज्ञानखण्ड-सुषुम्नानाड़ी।

५७. **इष्ट**—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।

५८. **ईशान**—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।

५९. **ईश्वर**—द्र०-ज्ञानखण्ड-ईश्वर जीव।

६०. **उक्थ्ययाग**—द्र०-अतिरात्रयज्ञ।

६१. **उड्डियान बन्ध**— द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।

६२. **उद्गाता**— द्र०- ब्रह्मविद्या खण्ड-अध्वर्यु।

६३. **उद्भिज्ज**— द्र०- ब्रह्मविद्या खण्ड-कला।

६४. **उपपातक**— द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड-महापातक।

६५. **ऊर्ध्वरेता**— द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।

६६. **ऋत**— द्र०-ज्ञानखण्ड-ऋत-सत्य।

६७. **कपालशोधन क्रिया**— योग की विभिन्न क्रियाओं के अन्तर्गत यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त हठयोग प्रदीपिका में छ: क्रियाओं का उल्लेख भी मिलता है- **धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा। कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते** (ह०यो०प्र० २.२२) अर्थात् धौति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक और कपालभाति-इन छ: क्रियाओं को (शरीर शोधन हेतु) सम्पन्न करना चाहिए। इनमें छठी और अन्तिम क्रिया कपालभाति है, यह एक विशिष्ट प्रकार का प्राणायाम है, जो कफ आदि दोषों का नाशक है। हठयोग प्रदीपिका, द्वितीय उपदेश के मन्त्र क्र० ३५ में कपालभाति इन शब्दों में परिभाषित है-**भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ। कपालभातिर्विख्याता कफदोष विशोषिणी** (हठ० प्र० २.३५) अर्थात् लुहार की धौंकनी के समान शीघ्रतापूर्वक किया गया रेचक और पूरक प्राणायाम कपालभाति क्रिया कहलाती है, जो कफदोष विनाशक है। घेरण्ड संहिता में कपालभाति क्रिया के प्राय: तीन प्रकार बतलाये गये हैं-(क) वातकर्म कपाल भाति (ख) व्युत्कर्म कपाल भाति- (ग) शीतकर्म कपाल भाति। इनमें प्रथम वातकर्म कपालभाति की तीन विधियाँ हैं- प्रथम विधि के अनुसार सुखासन में बैठकर दायें नथुने को बन्द करके बायें से बलपूर्वक वायु को खींचकर बिना रोके दायें नथुने से बाहर निकाला जाता है, इसी प्रकार दायें से वायु खींचकर बायें से बाहर निकालते हैं। द्वितीय विधि में दोनों नथुनों से एक साथ वायु खींचकर बाहर निकालते हैं तथा तृतीय विधि में-दायें नथुने को बन्द करके बायें से पूरक-रेचक करते हैं तथा बायें नथुने को बंद करके दायें से पूरक-रेचक करते हैं। सम्भवत: वातकर्म कपालभाति की दूसरी तीसरी विधि के प्रकार से मिलती-जुलती कपालशोधन क्रिया अथवा कपालसोधनी है; क्योंकि इसमें भी श्री चरणदास के अनुसार बायें से धीरे-धीरे रेचक करने की बात कही गई है- **बायें सेती रेचिये हौरे-हौरे जान। कपाल सोधनी जानिये चरणदास पहिचान** (हि०श०सा०पृ० ७८२)। इस प्रक्रिया से मस्तिष्क और आमाशय की शुद्धि होती है। इसी कारण कपाल शोधन इसका नामकरण हुआ है। योगकुण्डल्युपनिषद् में सूर्यभेदन क्रिया के अन्तर्गत कपाल शोधन क्रिया का इन शब्दों में उल्लेख हुआ है- **दक्षनाड्या समाकृष्य बहिष्ठं पवनं शनै:। यथेष्टं पूरयेद्वायुं रेचयेदिडया तत:॥ कपाल शोधने वाऽपि रेचयेत्पवनं शनै:। चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च** (यो०कु०१.२४-२५) अर्थात् दायीं नासिका से शनै:-शनै: बाहर की वायु को खींचकर बायीं नासिका से रेचक करे। कपालशोधन क्रिया में भी वायु को धीरे-धीरे बाहर निकाले, इस प्रक्रिया से चारों प्रकार के वातदोष और कृमिदोष विनष्ट हो जाते हैं। इससे अधिक कपालशोधन क्रिया का कहीं उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

६८. **करन्यास**— द्र०-अङ्गन्यास।

६९. **कला**— द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

७०. **कलियुग**— द्र०-ज्ञानखण्ड-चतुर्युग।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

७१. **कल्पवृक्ष—** कल्पवृक्ष एक ऐसे पेड़ का नाम है, जो मनचाही वस्तु दे सकन में सक्षम माना जाता है। हि०वि०को० के कल्पतरु प्रकरण में इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है-**कल्पश्चासौ तरुश्चेति अथवा कल्पस्य तरुः राहोः शिरः इत्यादिवत्** जिसके कई अभिप्राय हैं। प्रथमतः देवलोक का वृक्ष विशेष जो याचना करने पर समस्त पदार्थ प्रदान करता है-**निगम कल्पतरोर्गलितं फलम्** (भाग० १.१.३)। द्वितीयतः स्मृतिशास्त्र विशेष को भी कल्पतरु कहते हैं। कल्पवृक्ष के और भी अनेक नाम हैं, जैसे- कल्पद्रु, कल्पद्रुम, कल्पतरु, कल्पलतिकी, कल्पलता, कल्पमहीरुह, कल्पवल्ली, कल्पविटप आदि। इसी प्रकार सुपारी, इमली, बहेड़ा और छोटे अमलतास के वृक्ष को भी कल्पवृक्ष या कल्पद्रुम कहते हैं। इच्छित वस्तु प्रदान करने की क्षमता के कारण ही किसी उदार पुरुष को भी कल्पतरु कहने लगते हैं। इस प्रकार लोक में कई प्रकार से कल्पवृक्ष और उसके पर्यायवाची शब्दों का व्यवहार होता है। पौराणिक मान्यता है कि कल्पद्रुम वा कल्पवृक्ष देवासुर संग्राम के बाद दोनों के सामूहिक पुरुषार्थ-समुद्र मंथन से चौदह रत्नों के क्रम में निकला था-**श्री मणि रम्भा वारुणी अमिय शंख गजराज। कल्पद्रुम शशि धेनु-धनु धन्वन्तरि विष बाजि।** इसके सम्बन्ध में मान्यता है कि यह कल्पान्त पर्यन्त जीवन वाला होता है। गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद् में भगवान् गोविन्द (श्रीकृष्ण) की स्तुति में उन्हें वृन्दावन में कल्पवृक्ष के नीचे रत्नखचित सिंहासन पर सतत विराजमान निरूपित किया गया है- **तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं पञ्चपदं वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनं सततं समरुद्गणोऽहं परमया स्तुत्या स्तोष्यामि** (गो०पूर्व० ३३)। इच्छित पदार्थ प्रदान करने के लिए ही कामधेनु भी प्रख्यात है। हि०वि०को० में कामधेनु प्रकरण में कामधेनु इस प्रकार प्रतिपादित है- **कामप्रतिपादिका धेनुः** अर्थात् एक गो विशेष, इस गाय से याचना करने पर इच्छित पदार्थ प्राप्त होते हैं। इसे भी स्वर्ग-लोक की धेनु कहा जाता है। स्वर्ग की गाय को सुरभि कहते हैं। उसे ही कामधेनु कहा गया है, जिसका वर्ण श्वेत और चतुर्वेद चार पाद स्वरूप हैं। उसके चारों स्तनों से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष स्वरूप दुग्ध धाराएँ निःसृत होती हैं। शिववाहन वृषभ कामधेनु से ही उद्भूत हुआ था। सुरभि वंशजा होने के कारण कई स्थानों पर कामधेनु के लिए सुरभि शब्द भी प्रयुक्त होता देखा जाता है। गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद् में ब्रह्मा द्वारा कृष्ण के अष्टादशाक्षर मंत्र से सृष्टि के उत्पादन के क्रम में मंत्र के **'गोविन्दाय'** पद से सुरभि (कामधेनु) के सृजन का तथ्य उल्लिखित है- .....**कृष्णादाकाशं खाद्वायुरुत्तरात् सुरभिविद्याः प्रादुरकार्षमकार्षमिति .....सकलमिदमिति** (गो०पूर्व० २५)। कामधेनु कुलोत्पन्ना नन्दिनी जो महर्षि वशिष्ठ की गाय मानी जाती है। जिसकी सेवा करके महाराज दिलीप ने रघु जैसा पुत्र रत्न प्राप्त किया, उसे भी कामधेनु ही कहा जाता है। कामधेनु का प्राकट्य भी समुद्र मन्थन से निकले चौदह रत्नों में माना जाता है, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। साधना क्षेत्र में गायत्री को भी कामधेनु कहा जाता है; क्योंकि उनकी साधना से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है- **गायत्री सर्वकामधुक्।**

७२. **कामकला—** कोशग्रन्थों में कामकला शब्द के कई अर्थ मिलते हैं, जैसे-**कामस्य कलाप्रिया।** षष्ठी तत्पुरुष समास युक्त होने के कारण इसका अर्थ हुआ कामदेव की कला (प्रिया या पत्नी) रति। चन्द्रमा की सोलह कलाओं तथा तन्त्रोक्त विधि विशेष को भी कामकला नाम से जाना जाता है। लौकिक क्षेत्र में कामक्रीड़ा विज्ञान को भी कामकला कहते हैं। आध्यात्मिक सन्दर्भ में कामकला सृष्टि निर्माण की आदि कारण एक देवी को कहते हैं। तन्त्र ग्रन्थों में उल्लेख है कि आदि सृष्टि का मूल कारण शिव (कल्याणकारी ब्रह्म) और शक्ति (ब्रह्म की चित्शक्ति) दो बिन्दु रूप हैं। शिवबिन्दु श्वेत और शक्ति बिन्दु रक्त वर्ण वाला है। दोनों बिन्दुओं के संयोग का नाम 'काम' है। शिवशक्ति बिन्दु से अक्षर भाषा एवं पञ्चभूतों की उत्पत्ति वर्णित है। अकार शिव और इकार शक्ति का बोधक है। शिव बिन्दु, शक्ति बिन्दु और नाद इन्हीं तीनों से अहंकार का प्रादुर्भाव होता है, इसी को कामकला कहा गया है। बह्वृचोपनिषद् में चित्शक्ति को आदि देवी मानकर उन्हीं से सम्पूर्ण सृष्टि का आविर्भाव विवेचित है। इन्हीं देवी को कामकला, शृंगारकला आदि कहा जाता है- **ॐ देवी ह्येकाऽग्र आसीत्। सैव जगदण्डमसृजत्। कामकलेति विज्ञायते। शृङ्गारकलेति विज्ञायते** (बह्वृ० १)। इस तथ्य से यह प्रमाणित होता है कि परब्रह्म की **एकोऽहं बहु स्याम्** की कामना और उसके अनुसार अपनी चित् शक्ति से ब्रह्माण्ड का सृजन ही 'कामकला' है, जिसे देवी मानकर कामकला नाम दिया गया है। निराकार ब्रह्म का व्यक्त रूप ओंकार माना गया है। इसी प्रणव से प्रकृति का प्राकट्य हुआ है और यही प्रकृतित्व देवी का स्वरूप है- .....**परापरब्रह्मरूपेण यद्वस्तु तत् ओं इत्योंकारार्थरूपं तस्योंकारस्य .....प्रकृतत्वात् देवीप्रकृतित्वमुच्यते, 'प्रणवत्वेन प्रकृतित्वं वदन्ति ब्रह्मवादिनः' 'इति श्रुतेः'** (बह्व०१ ब्र०भा०)। कामना के उत्पत्ति स्थल (ब्रह्म) को कामयोनि और कामना की क्रिया को कामकला कहकर दोनों को एक ही तत्त्व निरूपित कर परब्रह्म की चित् शक्ति का

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

परिचय दिया गया है। अपने उपर्युक्त भाष्य के अन्दर ही ब्रह्मयोगी जी इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- **'कामो योनिः कामकला' इति श्रुत्या ईंकारस्य कामकलात्वेन वर्णितत्वात्।** इसी चित्शक्ति को शृङ्गार कला भी कहा गया है। यहाँ शृङ्गार का अभिप्राय साहित्य जगत् के शृङ्गार रस से न होकर किसी भी मंत्र के पूर्व में उच्चारण किये जाने वाले ओंकार से है, जो 'शृंग' स्वरूप अकार, उकार और मकार तथा अर्धमात्रा के रूप में मंत्र के प्रारम्भ में विद्यमान रहता है। इसीलिए इस चित्शक्ति को कामकला के साथ ही शृङ्गार कला भी कहते हैं। प्राणिमात्र के शरीरत्रय (स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर) में विद्यमान रहने के कारण इसी चित्शक्ति को त्रिपुर सुन्दरी और महात्रिपुर सुन्दरी नाम प्रदान किया गया है-**सैव पुरत्रयं शरीरत्रयं व्याप्य ..... महात्रिपुरसुन्दरी वै प्रत्यक् चितिः** (बह्व० ४)। त्रिपुरोपनिषद् और देव्युपनिषद् में कामयोनि, कामकला, वज्रपाणि, गुहा, मातरिश्वा, सकला, माया आदि के रूप में उसी चित्शक्ति की वन्दना की गई है- **कामो योनिः कामकला वज्रपाणिर्गुहा .....पुरूच्येषा विश्वमाताऽऽदिविद्योम्** (देवी० १४-त्रिपुरा० ८)। त्रैपुर (त्रिपुर अर्थात् तीन पुरों समष्टि और व्यष्टिगत स्थूल-सूक्ष्म और कारण शरीरों) में निवास करने वाली चित् शक्ति ही त्रिपुरा कही गई है। इसे अजरा, पुराणी, (चिरंतन-प्राचीन) महान् महिमा से युक्त देवताओं में श्रेष्ठ कहा गया है-**अजरा पुराणी महत्तरा महिमा देवतानाम्** (त्रिपुरा० १)। यह चित्शक्ति और भगवान् (अर्थात् षडैश्वर्य से सम्पन्न) कामेश या कामेश्वर (समस्त कामनाओं के नियन्त्रक ब्रह्म) निष्काम उपासक को ब्रह्मपद (परमपद) की प्राप्ति करा देते हैं- **भगः शक्तिर्भगवान् काम ईश उभा दाताराविह सौभगानाम्** (त्रिपुरा० १४)। कहीं-कहीं सच्चिदानन्द घन परमात्मा को कामेश्वरी देवता भी कहा गया है। भावनोपनिषद् में शरीर में श्रीचक्रत्व सिद्धि के कारणों का विवेचन करते हुए अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार, कामेश्वरी, वज्रेश्वरी तथा भगमालिनी को आन्तरिक त्रिकोण के अग्रभाग में स्थित देवता कहा गया है। यहाँ आद्या प्रधान कामेश्वरी को सत्, चित् और आनन्दस्वरूप एवं पूर्ण ब्रह्म (पूर्ण पुरुष) और आत्मा की ऐक्यरूपा देवता विवेचित किया गया है- **अव्यक्तं .....कामेश्वरी वज्रेश्वरी ..... तयोः कामेश्वरी सदानन्दघना परिपूर्णस्वात्मैक्यरूपा देवता** (भाव० २)।

७३. **कामधेनु**— द्र०-कल्पवृक्ष।

७४. **कामबीज**— तन्त्र ग्रन्थों में कामबीज को कामनापूर्ति करने वाला बीज मंत्र बताया गया है। बीज मंत्र को मूल मंत्र भी कहते हैं। इसीलिए विशिष्ट प्रयोजनों के निमित्त उनके लिए निर्धारित मन्त्रों के साथ बीज मंत्र (ह्रीं, क्लीं आदि) लगाते हैं; ताकि वे और अधिक सशक्त होकर वाञ्छित प्रभाव डालकर अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध कर सकें। गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद् में 'क्लीं' को कामबीज कहा गया है। भगवान् कृष्ण की प्राप्ति के लिए जपे जाने वाले 'क्लीं' संयुक्त १८ अक्षर वाले मन्त्र को अष्टादशाक्षर अथवा अष्टादशार्ण मन्त्र कहते हैं। इसमें प्रारम्भ में 'क्लीं' बीजमन्त्र है। इसका जप करने से साधक शीघ्र ही पूर्णकाम होकर श्रीकृष्ण की प्राप्ति करता है। यह मन्त्र इस प्रकार है- **क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।** इस मन्त्र में पाँच पद होने से यह पञ्चपदी मन्त्र भी कहलाता है। गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद् के मन्त्र क्रमाङ्क १२-१३ में यह तथ्य इस प्रकार उपन्यस्त है- **पञ्चपदं जपन् पञ्चाङ्गं ..... ब्रह्म संपद्यते ब्रह्म संपद्यत इति। तदेष श्लोकः-क्लीमित्येतदादावादाय कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजन वल्लभायेति ..... स्यादिति** (गो०पूर्व० १२-१३)। इस प्रकार कामबीज सहित मन्त्र जप आप्तकाम बनाकर परमानन्द की प्राप्ति कराता है।

७५. **कामेश**—द्र०-कामकला।

७६. **कामेश्वरी**—द्र०-कामकला।

७७. **कालरात्रि**—द्र०-अजा- अनजा-अज्ञेया।

७८. **कालाग्नि**— कोशग्रन्थों में कालाग्नि का स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट है- **कालः सर्वसंहारकःअग्निः** (हि०वि०को०खं० ४ पृ० ५७७) अर्थात् सबका विनाश करने वाली अग्नि ही कालाग्नि है। इस अर्थ के अनुसार प्रलयाग्नि ही कालाग्नि है; क्योंकि प्रलयकाल में सर्वप्रथम अग्नि की तेज लपटें उठती हैं, तदुपरान्त पृथ्वी का जल वाष्पीभूत होकर घनघोर वर्षा होती है, जिससे सम्पूर्ण पृथिवी जलमग्न हो जाती है और सब कुछ विनष्ट हो जाता है, इसे ही महाप्रलय कहते हैं। चूँकि संहार के देवता रुद्र हैं, इसलिए रुद्र का एक नाम कालाग्नि भी है। पञ्चमुखी रुद्राक्ष को भी कालाग्नि कहते हैं, कारण यह है कि यह शिव को अतिप्रिय है। **पञ्चवक्त्रं स्वयं रुद्रः कालाग्निर्नाम नामतः** (हि०वि०को० खं० ४ पृ० ५७७)।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

www.awgp.org | www.akhandjyoti.org

कालाग्नि की तरह ही प्रलयाग्नि के लिए एक शब्द संवर्तक अग्नि भी प्रयुक्त होता है। संवर्त का अभिप्राय प्रलय और कल्पान्त से है, इसी से निर्मित संवर्तक शब्द के कई अर्थ हैं- **संवर्त्तयतीति** से निर्मित संवर्तक को प्रलय-कालीन मेघ की अग्नि कहते हैं। भगवान् कृष्ण के अग्रज बलदेव जी तथा उनके अस्त्र को भी संवर्तक कहते हैं। बड़वानल भी संवर्तक अग्नि है, जिसे समुद्र में स्थित अग्नि कहा जाता है। इस प्रकार कालाग्नि और संवर्त्तकाग्नि दोनों सृष्टि विनाशक अग्नियाँ ही हैं। कालाग्निरुद्रोपनिषद् में कालाग्नि को देवता और संवर्त्तकाग्नि को ऋषि रूप में विवेचित कर इन दोनों अग्नियों का मानवीकरण प्रस्तुत किया गया है-**अथ कालाग्निरुद्रोपनिषदः संवर्तकोऽग्निर्ऋषिरनुष्टुप्छन्दः श्रीकालाग्निरुद्रो देवता ..... विनियोगः** (काला०रु०-१)। इस मन्त्र के भाष्य में ब्रह्मयोगी ने कालाग्नि को सब कुछ विनष्ट करने वाला परमेश्वर कहा है-**स्वाज्ञानतत्कार्यं कालयति नाशयति निःशेषं भस्मीकरोतीति कालाग्निः परमेश्वरः .....** (काला०रु० १ ब्र०भा०) इस प्रकार इन्होंने संवर्त्तक अग्नि को प्रलय काल का सूर्य विवेचित किया है, जो अविद्या के समूह को भस्म करने में कुशल है- **तस्य संवर्तकोऽग्निः स्वाविद्याऽण्ड भस्मीकरणपटुः प्रळयकाल सूर्य .....** (काल०रु० १ ब्र०भा०)।

७९. **कालातीत**— कालातीत का अभिप्राय सामान्यतया समय के निकल जाने या टल जाने से है। प्रख्यात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् में इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार उल्लिखित है- **कालस्यातीतमत्ययः ..... कालातिक्रमे .....** अर्थात् काल का अतिक्रमण कर जाना-निकल जाना। उदाहरणार्थ समय निकल जाने पर संध्या उसी प्रकार व्यर्थ जाती है, जिस प्रकार बन्ध्या स्त्री से संगम व्यर्थ होता है अर्थात् कोई फल नहीं देता-**कालातीते वृथा सन्ध्या बन्ध्यस्त्री मैथुनं यथा** (हि०वि०को०खं० ४ पृ० ५७८)। विशिष्ट अर्थ में 'कालातीत' परब्रह्म की एक संज्ञा है। जो तीनों कालों भूत, भविष्यत् और वर्तमान से परे हैं अर्थात् जो भूत-भविष्य को वर्तमान की तरह ही देखते और जानते हैं, वे कालातीत हैं। इस प्रकार की क्षमता से युक्त देवों के लिए भी कई बार यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। गणपत्युपनिषद् में भगवान् गणेश को भी देहत्रयातीत, गुणत्रयातीत और कालत्रयातीत (कालातीत) कहा गया है- .....**त्वं गुणत्रयातीतः। त्वं देहत्रयातीतः। त्वं कालत्रयातीतः .....सुवरोम्** (गण०६)। परब्रह्म के लिए उसके गुणों के अनुसार विभिन्न सम्बोधन प्रयुक्त किए जाते हैं, जैसे द्वन्द्व रहित (एक मात्र) रहने से द्वन्द्वातीत या अद्वन्द्व, सदैव से और सदा रहने के कारण सनातन ब्रह्म, सभी का मूल कारण होने से कारण ब्रह्म, सभी विशेषताओं से परे होने से निर्विशेष ब्रह्म (निर्गुण ब्रह्म या कारण ब्रह्म) निर्गुण निराकार होने से-सभी प्रकार के आरोपों-प्रत्यारोपों, अविद्या आदि दोषों से परे होने के कारण निष्कलंक (.....**निष्कलंको निरञ्जनो .....शिरोऽधीते**-नारा० २) नाम उसी परब्रह्म का है। यही ब्रह्म जब अपनी विशिष्टताओं से समन्वित होकर विश्वब्रह्माण्ड के सृजन-पालन-संहार में प्रवृत्त होता है, तो वह सविशेष ब्रह्म (सगुण ब्रह्म या कार्य ब्रह्म) कहलाने लगता है। भगवान् रुद्र की ब्रह्म से एकात्मता के कारण उन्हें भी द्वन्द्वातीत और सनातन ब्रह्म निरूपित किया गया है-**सर्वाधिष्ठानमद्वन्द्वं परं ब्रह्म सनातनम्। सच्चिदानन्दरूपं तदवाङ्मनसगोचरम्** (रुद्रह० २६)। पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् में महेश्वर रुद्रशिव को ब्रह्म का मानस ब्रह्म कहा गया है-**मानसं ब्रह्म महेश्वरं ब्रह्म** (पू०का० ११)। मानस ब्रह्म का रूप हंसः अथवा सोऽहम् को बताते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है-**मानसो हंसः सोऽहम् इति** (पू०का० १२)। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण को भी पूर्ण पुरुष और सनातन ब्रह्म अर्थात् शाश्वत ब्रह्म कहा गया है; किन्तु उन्होंने अपनी माया विग्रह (लीला विग्रह) से अर्थात् माया से ही मंच पर नाटक करने के समान गोपवेष धारण किया है। वस्तुतः वे पूर्ण पुरुष परब्रह्म अर्थात्; साक्षात् श्री हरि ही हैं। श्रीकृष्णोपनिषद् में इसका उल्लेख इस प्रकार है-**गोपरूपो हरिः साक्षान्मायाविग्रहधारणः। .....शेषनागोऽभवद्रामः कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम्** (कृष्ण० १०-१२)।

८०. **कुण्डलिनी शक्ति**—द्र०-**ब्रह्मविद्या खण्ड-कुण्डलिनी।**

८१. **कृत्या**— कृत्या का अभिप्राय उस क्रिया विशेष से होता है, जो अभिचार के अन्तर्गत की जाती है और जिसका उद्देश्य सम्बन्धित व्यक्ति को क्षतिग्रस्त अथवा विनष्ट करना होता है। वाचस्पत्यम् में यह तथ्य इस प्रकार संप्राप्य है- **कृत्या .....अभिचारक्रियाजन्ये अभिचारोद्देश्यनाशके** (वाच०पृ० २१८९)। प्रख्यात कोश ग्रन्थ हिन्दी विश्वकोश में कृत्या इन शब्दों में निर्दिष्ट है- **कृत्या .....कृ भावे क्यप् तुगागमः टाप् च।** जिसका प्रथम अर्थ क्रिया या काम है और दूसरा अर्थ अभिचारादि कार्य, जादू-टोना है तथा तीसरा अर्थ अभिचार आदि के लिए आराधित कोई देवता (देवी) है। माना जाता है कि अभिचार आदि कार्य के समय ही कृत्या उत्पन्न होती है तथा जिसके विनाश के लिए भेजी जाती है, उसे विनष्ट करके ही समाप्त होती है। यदि किसी कारण वह निर्दिष्ट व्यक्ति को नहीं मार पाती, तो वह लौटकर प्रयोक्ता पर

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

www.awgp.org | www.akhandjyoti.org

ही आक्रमण करके उसे समाप्त कर देती है। वेदों में भी (विशेषतया अथर्ववेद में) कृत्या को देवता मानकर उसकी स्तुति की गई है। अथर्ववेद में कृत्यादूषण और कृत्या परिहरण सूक्तों के अन्तर्गत इस प्रकार के मंत्र हैं, जिनसे प्रयुक्त की गई कृत्या को खदेड़ने तथा उसे प्रयोक्ता के पास वापस लौटकर उसी को नष्ट करने का तथ्य स्पष्ट होता है। यथा- **अघमस्त्वघकृते शपथः शपथीयते। प्रत्यक् प्रतिप्रहिण्मो यथा कृत्याकृतं हनत्** (अथर्व० १०.१.५) अर्थात् हिंसक पाप (कृत्या) और शपथरूप शाप प्रयोगकर्त्ता के पास पहुँचे। हम अभिचार कर्म (कृत्या को इस प्रकार भेजते हैं, जिससे वह प्रयोक्ताओं को विनष्ट करे। अक्षमालिकोपनिषद् में अक्ष (मोती स्फटिक अथवा रुद्राक्ष आदि का मनका) धारण करने के क्रम में अ वर्ण से लेकर क्ष वर्ण तक प्रत्येक अक्षर के अनुसार प्रत्येक अक्ष में विभिन्न देवताओं का मन्त्रों से आवाहन करके उनमें इन्हें स्थापित करने का विधान है। प्रत्येक मंत्र में उस-उस देवता की शक्ति का वर्णन भी निर्दिष्ट है। इसी क्रम में २४ वें अक्षर 'जकार' के बीज मंत्र जं को २४ वें अक्ष में प्रतिष्ठित होने की भावना की गई है, जो कृत्या आदि शक्तियों का विनाशक और दुर्धर्ष है-.....**ॐ जङ्कार कृत्यादिनाशकर दुर्धर्षचतुर्विंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ** (अक्ष० ५)। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामान्यतः तो कृत्या कोई भूतनी या डाकिनी प्रतीत होती है; किन्तु यह एक मारक या हानिकारक आभिचारिक शक्ति है, जिसे यदि अनुपयुक्त व्यक्ति पर अनुचित ढंग से प्रयुक्त किया गया, तो वह प्रयोग करने वाले को ही विनष्ट कर देती है।

८२. **कैवल्य**—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।

८३. **क्षेत्रज्ञ**—द्र०-ज्ञान खण्ड।

८४. **क्षेत्रपाल**—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।

८५. **खेचरी विद्या (खेचरीमुद्रा)**—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड -मुद्रा।

८६. **गन्धर्व**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

८७. **गरिमा**—द्र०-अष्टसिद्धि।

८८. **गुरु**—द्र०-ज्ञानखण्ड —गुरु-शिष्य, ब्रह्मविद्या खण्ड —सद्गुरु।

८९. **चाक्षुषी विद्या**— उपनिषदों में विभिन्न प्रकार की आध्यात्मिक और गूढ़ विद्याओं का वर्णन मिलता है। इनमें अधिकांश तो आत्मिक उन्नति के लिए हैं; किन्तु कुछ ऐसी भी हैं, जो भौतिक समृद्धि, शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। चाक्षुषोपनिषद् में नेत्ररोगों को दूर करने के मंत्र निर्दिष्ट हैं, उनके पाठ की विधि भी वर्णित है। चक्षुओं (नेत्रों) के रोग दूर करने अथवा उन्हें रोगग्रस्त न होने देने की विद्या के कारण इसे चाक्षुषी विद्या कहते हैं। इस विद्या के ऋषि अहिर्बुध्न्य, छन्द गायत्री और देवता सूर्य हैं। चक्षुरोग निवृत्ति के लिए इसका विनियोग किया जाता है। चाक्षुषोपनिषद् में इस तथ्य का उल्लेख इस प्रकार है- **चक्षूरोगाः सर्वतो नश्यन्ति। .....तस्याश्चाक्षुषी विद्याया अहिर्बुध्न्य ऋषिः। गायत्री छन्दः। सूर्यो देवता। चक्षूरोगनिवृत्तये जपे विनियोगः। ॐ चक्षुः चक्षुः चक्षुः तेजः स्थिरो भव .....** (चा०१) आदि मंत्र के नियमित पाठ पूर्वक सूर्य ध्यान से चक्षुरोग विनष्ट हो जाते हैं तथा उसके कुल में कोई अन्धा नहीं होता, ऐसा चाक्षुषोपनिषद् में उल्लेख है- **य इमां चाक्षुष्मतीविद्यां ब्राह्मणो नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो भवति। न तस्य कुले अन्धो भवति** (चा०१)। इसी विद्या को चाक्षुष्मती विद्या भी कहते हैं, जिसका उल्लेख अक्ष्युपनिषद् में इस प्रकार हुआ है कि एक बार भगवान् (ऋषि) सांकृति आदित्य लोक में गये और (चाक्षुषी) विद्या द्वारा सूर्यदेव की वन्दना की (अक्ष्युपनिषद् वर्णित वन्दना के मंत्र चाक्षुषोपनिषद् में वर्णित मंत्रों से कुछ पाठभेदयुक्त हैं)। इससे प्रसन्न होकर भगवान् सूर्यदेव ने कहा इस विद्या का जो ब्राह्मण (साधक) नित्य पाठ करता है, उसे न तो चक्षुरोग होता है और न ही उसके कुल में कोई अन्धा होता है। आठ साधकों को इस विद्या को ग्रहण करा देने पर इसकी सिद्धि हो जाती है। जो इसे जानता है, वह महान् हो जाता है-**एवं चाक्षुष्मतीविद्यया स्तुतः सूर्यनारायणः सुप्रीतोऽब्रवीत् चाक्षुष्मतीविद्यां ब्राह्मणो यो नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो भवति .....अष्टौ ब्राह्मणान् ग्राहयित्वाथ विद्यासिद्धिर्भवति। य एवं वेद स महान् भवति** (अक्षि०प्र०ख)। चाक्षुषोपनिषद् ही चक्षुरुपनिषद् चक्षूरोगोपनिषद्; नेत्रोपनिषद् आदि नामों से भी जानी जाती है।

९०. **चाक्षुष्मती विद्या**—द्र०- चाक्षुषी विद्या।

९१. **चिदात्मा**—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

९२. **चिरंतन**—द्र०-कामकला।

९३. **चौंसठकला-विद्या**—'**कलयति कलते वा कर्त्तरि अच्, कल्यते ज्ञायते कर्मणि अच् वा**' आदि वाचस्पत्यम् में वर्णित कला की परिभाषा के अनुसार कला उसे कहते हैं, जो किसी के कर्म अथवा स्थिति को द्योतित करती है। किसी के अंश या भाग तथा गुण को भी कला कहते हैं। जैसे चन्द्रमा की (स्थिति अनुसार) षोडश कलाएँ होती हैं। सूर्य की द्वादश कलाएँ होती हैं। अवतारों में भी कलाएँ होती हैं, उन्हीं के अनुसार उनकी शक्ति का आकलन किया जाता है। जैसे-राम बारह कला और कृष्ण सोलह कला के अवतार थे। जीव मात्र में एक-दो कलाएँ तो रहती ही हैं। जैसे-जैसे चेतना का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे कलाएँ बढ़ती जाती हैं। कलाओं सम्बन्धी विस्तृत विवरण शान्तिकुञ्ज द्वारा प्रकाशित १०८ उपनिषद् ब्रह्मविद्या खण्ड के परिभाषा कोश परिशिष्ट में 'कला' शीर्षक के अन्तर्गत लिखा जा चुका है। षोडश, द्वादश आदि कलाओं के अतिरिक्त चौंसठ कलाओं का उल्लेख भी शास्त्रों में मिलता है। जीवन के चार पुरुषार्थ धर्म,अर्थ,काम और मोक्ष हैं। काम और अर्थ, धर्म तथा मोक्ष की सीमा में ही रखे गये हैं। जहाँ आध्यात्मिक उन्नति और मानव जीवन के चरम लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति को धर्म और मोक्ष पुरुषार्थों की फलश्रुति माना गया है, वहीं धर्म, अर्थ और काम की फलश्रुति भौतिक सफलता व समृद्धि को माना गया है। मोक्ष शास्त्र का मूल वेदों के ज्ञान और उपासना काण्ड तथा सभी उपनिषद् व दर्शनों को तथा काम या कलाशास्त्र का मूल सामवेद, गान्धर्ववेद, धनुर्वेद, स्थापत्य और इनके अन्तर्गत समस्त कला साहित्य को माना गया है। कामशास्त्र और तन्त्र शास्त्र में जीवन को व्यवस्थित और विकसित बनाने वाली ६४ कलाओं का वर्णन मिलता है। इन्हें ६४ कलाएँ अथवा ६४ महाविद्याएँ भी कहते हैं। इनके अन्दर जीवन व्यवहार, विनय, शिष्टाचार, काव्यलेखन, वक्तृता, छन्दज्ञान, भाषाज्ञान, शिल्प, चित्रकारी आदि विभिन्न विद्याओं का समावेश है। ये चौंसठ कलाएँ— विद्याएँ इस प्रकार हैं- १.गीत (गायन), २. वाद्य (बजाना), ३. नृत्य (नाचना), ४. नाट्य (अभिनय करना), ५. आलेख्य (चित्रकारी), ६. विशेष कच्छेद्य (तिलक के साँचे बनाना), ७.तण्डुल कुसुमावलि विकार (चावल के फूलों का चौक पूरना), ८. पुष्पास्तरण (पुष्पों की सेज बनाना), ९. दशन वसनांग राग (दाँतों, कपड़ों और अंगों को रँगना अथवा दाँतों के लिए मंजन, मिस्सी आदि, वस्त्रों के लिए रंग और रँगने की सामग्री तथा अङ्ग लेपन हेतु चन्दन, केसर, मेंहदी, महावर आदि बनाना और उसकी विधि का ज्ञान), १०. मणिभूमिका कर्म (ऋतु के अनुसार गृह सज्जा), ११. शयन रचना (बिछावन बिछाना), १२. उदक वाद्य (जलतरंग बजाना), १३. उदकघात (पानी के छींटे आदि मारने और पिचकारी आदि मारने से काम लेने की कला), १४. चित्रयोग अवस्था परिवर्तन कर देना अर्थात् वृद्ध को युवा और युवा को वृद्ध कर देना। १५. माल्यग्रन्थ-विकल्प (देवपूजन आदि के लिए माला गूँथना), १६. केश-शेखरापीड़-योजन (शिर के बालों में अनेक प्रकार के पुष्प गूँथकर सज्जित करना), १७. नेपथ्य योग (देश, काल, परिस्थिति के अनुसार वस्त्र, आभूषण आदि पहनना), १८. कर्ण पत्रभङ्ग कानों हेतु कर्णफूल आभूषण आदि निर्मित करना), १९. गन्धयुक्ति (सुगन्धित पदार्थ इत्र, तेल-फुलेल आदि बनाना), २०. भूषण योजन, २१. इन्द्रजाल, २२. कौचुमार अथवा कौमार योग (विभिन्न पदार्थों के प्रयोग से कुरूप को सुन्दर बना देना), २३. हस्तलाघव (हाथ की सफाई, फुर्ती), २४. चित्रशाकापूप भक्ष्य-विकार-क्रिया (अनेक प्रकार के पक्वान्न बनाने की कला), २५. पानक रस रागासव योजन (अनेक प्रकार के पेय शर्बत, मदिरा आदि बनाना)। २६. सूची कर्म (सिलना, पिरोना) २७. सूत्र कर्म (कपड़े बुनना, रफूगरी, कसीदा और तरह-तरह के बेलबूटे काढ़ना), २८.प्रहेलिका (पहेलियाँ कहना व पूछना), २९. प्रतिमाला (अन्त्याक्षरी करना), ३०. दुर्वाचक योग (कठिन शब्दों का तात्पर्य निकालना), ३१. पुस्तक वाचन (उचित प्रकार से पुस्तक पढ़ना), ३२. नाटिकाख्यायिका दर्शन (नाटक देखना या दिखाना) ३३. काव्य समस्या पूर्ति, ३४. पट्टिकावेत्रवाण विकल्प (निवाड़, बेंत आदि से चारपाई बुनना), ३५. तर्कु कर्म (तकुआ सम्बन्धी समस्त कार्य, कुछ विद्वानों ने इसे तर्क कर्म अर्थात् दलील देकर तथ्य स्पष्ट करना माना है,) ३६. तक्षण (बढ़ई का काम), ३७. वास्तु विद्या (मकान आदि बनाना), ३८. रूप्यरत्न परीक्षा (धातु और रत्नों का परीक्षण)३९. धातुवाद (कच्ची धातुओं की सफाई या मिली हुई धातुओं को पृथक्-पृथक् करना), ४०. मणिरागज्ञान (रत्नों के रंगों की जानकारी), ४१. आकर ज्ञान (खानों की विद्या), ४२. वृक्षायुर्वेदयोग (वृक्षों का ज्ञान, चिकित्सा और उन्हें लगाने-करने की विधि), ४३. मेष- कुक्कुटलावक-युद्ध विधि (मेढ़ा, मुर्गा, बटेर, बुलबुल आदि को लड़ाने की विद्या), ४४. शुकसारिका प्रलापन (तोता-मैना को पढ़ाना), ४५. उत्सादन (उबटन आदि लगाना तथा हाथ, पैर, शिर आदि दबाना), ४६. केश मार्जन कौशल (बालों का मलना और तेल लगाना), ४७. अक्षर मुष्टि का कथन (करपलई), ४८. म्लेच्छित कला विकल्प (विदेशी भाषाओं का ज्ञान), ४९.

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

www.awgp.org | www.akhandjyoti.org Sadhanakhand

देशभाषा ज्ञान (प्राकृतिक बोलियों को जानना), ५०. पुष्प शकटिका निमित्त ज्ञान (दैवी लक्षण जैसे बादल आदि देखकर आगामी भविष्य की भविष्यवाणी करना), ५१. यन्त्र मातृका (समस्त यंत्रों को बढ़ाना), ५२. धारण मातृका (स्मरण बढ़ाना) ५३. सम्पाद्य (दूसरे को पढ़ते हुए सुनकर उसी प्रकार पढ़ देना), ५४. मानसी काव्य क्रिया (अभिप्राय देखकर तुरन्त मन में काव्य निर्माण व उसे पढ़ते जाना), ५५. क्रिया विकल्प (क्रिया के प्रभाव को उलट देना), ५६. छलितक योग (छल अथवा ऐयारी करना), ५७. अभिधानकोश छन्दोज्ञान, ५८. वस्त्रगोपन (वस्त्रों की रक्षा करना) ५९. द्यूत विशेष (जुआ खेलना) ६०. आकर्षण क्रीड़ा (खींचने-फेंकने वाली समस्त क्रीड़ाएँ), ६१. बाल क्रीड़ा कर्म (बच्चा खिलाना), ६२. वैनायिकी विद्याज्ञान (विनय और शिष्टाचार), ६३. व्यायामिकी विद्या-ज्ञान (शत्रु पर विजय पाने का कौशल), ६४. वैतालिकी विद्याज्ञान (कुछ विद्वानों ने इसे व्यायामिकी विद्या ज्ञान मानकर खेल, कसरत, आसन, प्राणायाम आदि व्यायाम की कला कहा है)। उपर्युक्त ६४ कलाओं का वर्णन, शिवतंत्र, कामशास्त्र, हिन्दी विश्वकोश, हिन्दी शब्दसागर तथा हिन्दू धर्मकोश के अन्तर्गत लिखित 'हिन्दुत्व' ग्रन्थ में भी संप्राप्य है। अक्षमालिकोपनिषद् में अक्षमाला धारण करते समय विभिन्न देवों को नमन के साथ उन्हें उसमें प्रतिष्ठित होने की कामना की गई है, उसी क्रम में लोक में वर्णित सात कोटि महामन्त्रों तथा ६४ कला विद्या को भी नमन करके उनसे उस अक्षमाला में प्रतिष्ठित होने की प्रार्थना की गई है-**अथोवाच ये मन्त्रा या विद्यास्तेभ्यो नमस्ताभ्यश्चोंनमस्तच्छक्तिरस्याः प्रतिष्ठापयति** (अक्ष० ९)। इसे ब्रह्मयोगी ने अपने भाष्य में इस प्रकार लिखा है- **अस्मिन् लोके ये सप्तकोटि महामन्त्रा विद्यन्ते याश्च चतुष्षष्टिकला विद्या विद्यन्ते ताभ्यो नमः** (अक्ष०९ ब्र० भा०)।

९४. **जरायुज**—द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड-कला।

९५. **जालन्धरबन्ध**—द्र०- ब्रह्मविद्या खण्ड।

९६. **जीव**—द्र०-ज्ञानखण्ड-ईश्वर-जीव।

९७. **जीवन्मुक्त**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

९८. **तत्त्वनिष्ठ**—द्र०- संवित्।

९९. **तनुमानसी**—द्र०-असंसक्ति।

१००. **तर्पण**—द्र०-श्राद्ध।

१०१. **तारक ब्रह्म**—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड-तारकब्रह्म-तारक मन्त्र।

१०२. **तारक मन्त्र**—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड - तारकब्रह्म-तारक मन्त्र।

१०३. **तुर्यगा**- द्र०-असंसक्ति।

१०४. **तुर्या**- द्र०-असंसक्ति।

१०५. **तैजस**—द्र०- ज्ञानखण्ड -प्राज्ञ।

१०६. **त्रिगुणमयी माया**- वेदों, शास्त्रों और उपनिषदों आदि में ब्रह्म की शक्ति माया का कई बार विभिन्न रूपों में उल्लेख हुआ है, जिसे कई नामों से अभिहित किया गया है, जैसे- माया, अविद्या, अज्ञान, अव्यक्त, प्रकृति, अलौकिकशक्ति, दैवीशक्ति, महद्ब्रह्म आदि। माया की बहुप्रचलित व्युत्पत्ति 'मा' अर्थात् नहीं, 'या' अर्थात् जो के अनुसार जो तत्त्वतः नहीं है और दिखाई पड़ती है, यही माया है। कुछ विद्वानों ने माया की परिभाषा अन्य प्रकार से करते हुए उसे अन्य नाम भी दिये हैं, जैसे- आचार्य सायण ने **मिमीते जानीते, कर्ममीयतेऽनयेति वा माया** (ऋ०३.२७.७ सा०भा०) अर्थात् जिस शक्ति के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है या कर्म विधान का ज्ञान प्राप्त होता है वह माया है। निरुक्तकार यास्क ने माया को 'प्रज्ञा' कहा है-**एतां मायां प्रज्ञां** (नि०७.७.२७ दु०वृ०)। श्रीमद्भगवद्गीता में ईश्वर की प्रकृति के लिए माया तथा अज्ञान शब्द प्रयुक्त हुआ है। गीता ५.१५ में इसके लिए अज्ञान शब्द प्रयुक्त हुआ है-**अज्ञानेनावृतं ज्ञानं ते न मुह्यन्ति जन्तवः**। भगवान् श्रीकृष्ण ने माया को त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुण युक्त कहा है, जिसे पार करना दुष्कर बताया है-**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते** (गी० ७.१४)। गीता में ही १४ वें अध्याय के तीसरे श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने त्रिगुणमयी माया को महद्ब्रह्म कहकर उसे योनि कहा है, जिसमें चेतनस्वरूप बीज के आरोपण अर्थात् जड़ प्रकृति और चेतन ब्रह्म के संयोग से समस्त भूतों

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

(प्राणियों) की उत्पत्ति बताई है- **मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्। संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत** (गी० १४.३)। इस प्रकार उन्होंने महद्ब्रह्म अर्थात् अपनी त्रिगुणमयी प्रकृति अथवा माया गर्भधात्री और अपने को (ब्रह्म को) सबका पिता कहा है। सत, रज और तम तीनों इसी माया से ही समुद्भूत हैं, जो जीव को देह से बाँधते हैं- **सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः। ..... देहिनमव्ययम्** (गी० १४.५)। कृष्णोपनिषद् में त्रिगुणात्मक होने के कारण ही माया को त्रिविधा कहा गया है। इस त्रिविधा माया में सात्विकी माया रुद्रदेव में विद्यमान है, राजसी माया ब्रह्मा में तथा असुरों में तामसी माया समाविष्ट है- **माया सा त्रिविधा प्रोक्ता सत्त्वराजसतामसी। प्रोक्ता..... राजसी। तामसी दैत्यपक्षेषु माया त्रेधा ह्युदाहृता** (कृष्ण० ४-५)। विवेक चूड़ामणि में आचार्य शंकर ने भी माया को परमेश्वर की अव्यक्त शक्ति कहकर उसे त्रिगुणमयी विवेचित किया है- **अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा। कार्यानुमेया सुधियैव माया, यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते** (वि०चू० ११०)। ऋग्वेद में इन्द्र को माया द्वारा विभिन्न स्वरूप धारण करने वाला विवेचित किया गया है अर्थात् माया वह शक्ति है, जिससे अनेक रूप धारण किये जा सकते हैं- **इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते** (ऋ० ६.४७.१८)। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि माया त्रिगुणमयी है, जो ईश्वर की शक्ति ही है, दोनों के संयोग से सृष्टि निर्माण होता है। रामपूर्वतापिन्युपनिषद् में ४७ अक्षर वाले मन्त्र '**ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय..... नमः ॐ**' से साधकों को त्रिगुणात्मक माया से मुक्ति पाने का तथ्य निर्दिष्ट है- **सप्तचत्वारिंशद्वर्णगुणान्तः सगुणः स्वयम्। ..... लिखेत्** (रामपूर्व० ४.६४)।

कृष्णोपनिषद् में उपर्युक्त तीनों गुणों वाली माया के अतिरिक्त वैष्णवी माया का भी उल्लेख है, जिसे अजेया तथा देवकी के रूप में अवतरित बताया गया है- **अजेया वैष्णवी माया जप्येन च सुता पुरा। देवकी ब्रह्मपुत्रा सा या वेदैरुपगीयते** (कृष्ण० ५-६)। इस वैष्णवी माया को ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त और किसी कर्मयोगादि साधन से न जीता जा सकने वाला बताते हुए ब्रह्मयोगी ने अपने भाष्य में लिखा है- **सेयं वैष्णवी माया ब्रह्मज्ञानेतर मन्त्रादि जप्येन च शब्दात् कर्मयोगादिसाधनेनाप्यजेया ब्रह्मज्ञानेन जेतुं शक्येति** (कृष्ण० ५- ब्र०भा०)। देवकी को ब्रह्मप्रणव अर्थात् ओंकार का ही अवतार बताते हुए उस ओंकार को ही वैष्णवी माया कहा गया है; क्योंकि ब्रह्मज्ञान का आदि स्रोत ओंकार ही है। समस्त वेदों में इसी की स्तुति की गई है। इसे किसी के द्वारा जीता जा सकना भी संभव नहीं है अर्थात् यह अजेय है। यह ओंकार रूप ब्रह्मविद्या ही ब्रह्मपुत्रा (ब्रह्म की पुत्री) देवकी है, जिसे वैष्णवी माया कहकर निरूपित किया गया है '**ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं,**' '**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**' **इत्यादिवेदैः तुरीयोङ्काररूपेण या उपगीयते सेयं ब्रह्मपुत्रा पुत्री ब्रह्मप्रणवविद्या देवकी भवति** (कृष्ण० ६- ब्र०भा०)। इसी प्रकार सीतोपनिषद् में भगवती सीता को भी प्रकृति का मूल कारण होने से मूल प्रकृति कहा गया है। प्रणव 'ॐ' (ओंकार) प्रकृति स्वरूप होने से सीता जी प्रकृति कहलाती है। त्रिवर्णात्मक नाम वाली और ॐकार स्वरूपा होने से सीता साक्षात् मायामयी अर्थात् योगमाया निरूपित हैं- **मूलप्रकृतिरूपत्वात्सा सीता प्रकृतिः स्मृता। प्रणव प्रकृतिरूपत्वात्सा सीता प्रकृतिरुच्यते। सीता इति त्रिवर्णात्मा साक्षान्मायामयी भवेत्** (सीता० १-३)।

१०७. त्रिणाचिकेताग्नि—द्र०- ज्ञानखण्ड 'नाचिकेताग्नि'।

१०८. त्रिपुरा—द्र०-कामकला।

१०९. त्रिवृत् स्तोम— वेदों, शास्त्रों में स्तोम शब्द का कई बार प्रयोग हुआ है, जिसके स्तुति, गुणगान, यज्ञ, समूह, राशि आदि कई अर्थ हैं; किन्तु प्रायः स्तोम का अर्थ स्तुतिपरक ही लिया जाता है। सामगान के अन्तर्गत स्तुतिपरक छन्द ही स्तोम हैं। जैमि० १.४३.६ में यह तथ्य इन शब्दों में उपन्यस्त है- **यद्ऋचि तद्वेत्था३ इति स्तोमो वा एष तस्य साम्नो यद्वयं सामोपास्मह इति।** कालान्तर में स्तुति की विशेष पद्धति को स्तोम माना जाने लगा। तैत्ति०सं० ३.१.२४ तथा वाज०सं० ९.३३,१०.१० अदि में इसका उल्लेख हुआ है। श्री कुन्दनलाल शर्मा द्वारा लिखित यजुर्वेद तथा सामवेद संहिताएँ, नामक ग्रन्थ में 'स्तोम' की परिभाषा इस प्रकार विवेचित है- 'सामगायकों द्वारा यज्ञ में प्रयोज्य तृचों (तीन-तीन मन्त्रों) की तीन-तीन आवृत्ति से सम्पादित अभीष्ट संख्या वाले मंत्र समूह को स्तोम संज्ञा से स्मरण किया जाता है।' तीन ऋचाओं की अभीष्ट आवृत्तियों की एक प्रक्रिया पर्याय कहलाती है, तीन पर्याय मिलकर अभीष्ट स्तोम की रचना करते हैं। इन स्तोमों की संख्या सम्पादन प्रक्रिया 'विष्टुति' कहलाती है। स्तोम प्रायः ९ प्रकार के होते हैं, जो इस प्रकार हैं- **त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश, चतुर्विंश, चतुश्चत्वारिंश, अष्टाचत्वारिंश।** इनमें त्रिवृत् का अर्थ है तीन बार मोड़ा हुआ। इसीलिए अथर्ववेद में यह शब्द उस प्रकार (तीन प्रकार मोड़कर) बने रक्षा

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

कवच या मणि के लिए प्रयुक्त हुआ है। बृहत् हिन्दीकोश में करधनी जो तीन धागों से बनती है, को भी त्रिवृत् कहा है। एक प्रकार के योगफल का नाम भी त्रिवृत् है- **मखं वै त्रिवृत् स्तोमानाम्** (तां० ब्रा० १७.३.२)। ताण्ड्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में तेज, ब्रह्म, ब्रह्मवर्चस आदि को त्रिवृत् कहा है-**तेजो वै त्रिवृत्** (तां०ब्रा० २.१७.२), **ब्रह्मवर्चसं वै त्रिवृत्'** (तै०ब्रा०२७.१.१) तथा **'ब्रह्म वै त्रिवृत्'** (तां० ब्रा० २.१६.४)। मन्त्रों में भी कई बार, कई पद्धतियों से उच्चारण करके तेज, शक्ति भर देने को त्रिवृत् कहा गया है। त्रिवृत् स्तोम उसे कहते हैं, जिस स्तोम में मन्त्रों की आवृत्ति उनके अध्ययन क्रम से ही तीन बार करके नौ मंत्रों की संख्या सम्पन्न की जाती है। त्रिवृत् स्तोम में ३ विष्टुतियाँ (स्तोम में संख्या सम्पादन की प्रक्रियाएँ) होती हैं, जो उद्यती, परिवर्तिनी और कुलायनी नामों से जानी जाती हैं। इन्हीं प्रक्रियाओं से त्रिवृत् स्तोम का पाठ किया जाता है। गरुडोपनिषद् में गरुड़देव के शिर को त्रिवृत् स्तोम और नेत्रों को गायत्र अर्थात् साम की संज्ञा प्रदान कर इनका मानवीकरण किया गया है-**सुपर्णोऽसि गरुत्मान्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुः स्तोम आत्मा साम .....सुवः पत** (गरुड०-११)।

११०. **त्रैपुर**—द्र०-कामकला।

१११. **त्र्यक्षरी विद्या**— आध्यात्मिक साधनाओं की विभिन्न विद्याएँ और पद्धतियाँ हैं। अभीष्ट प्रयोजनों के लिए पृथक्-पृथक् शक्तियों की अलग-अलग ढंगों से साधना, पूजा, अर्चना एवं क्रिया भी की जाती है। इन पूजा अर्चनाओं और क्रियाओं की उन-उन विधियों को ही साधना क्षेत्र में विद्या कहते हैं। ये विद्याएँ हैं-त्र्यक्षरी विद्या, श्रीविद्या, महाविद्या, सनातनी विद्या, सौभाग्यलक्ष्मी विद्या आदि। सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् में त्र्यक्षरी विद्या, श्रीविद्या सौभाग्यलक्ष्मी (वैभव-धन-धान्य) प्राप्त करने के लिए विहित विद्या को ही 'सौभाग्यलक्ष्मी विद्या' कहा गया है। इस विद्या के अन्तर्गत ही 'श्री' सूक्त के वैभवशाली अक्षरों को आधार मानकर (लक्ष्मी) देवी के ध्यान, मन्त्र,चक्र आदि को प्रकट किया गया है। उपनिषद् के प्रारम्भ में ही देवों ने भगवान् श्री नारायण से सौभाग्य लक्ष्मी विद्या जानने की जिज्ञासा करते हुए निवेदन किया है-**अथ भगवन्तं देवा ऊचुर्हे भगवन्नः कथय सौभाग्यलक्ष्मीविद्याम्** (सौ०ल०१.१)। तदुपरान्त भगवान् ने पूरे उपनिषद् में इस विद्या को समझाया है, जो विस्तार से वहाँ द्रष्टव्य है। भगवती सौभाग्यलक्ष्मी की पूजा में बीज कोश में श्री बीज (जिसे श्रीं) कहा गया है, के लेखन मन्त्रलेखन तथा दशाङ्ग युक्त श्रीचक्र जिसमें प्रणव, षट्कोण, भूवृत्त, अष्टदल, भूवृत्त, द्वादशदल, भूवृत्त, षोडशदल, भूवृत्त तथा निर्भूवृत्त होते हैं, का निर्माण करने का विधान है- **तत्पीठकर्णिकायां ससाध्यं श्रीबीजम्। .....मातृकया च श्रियं यन्त्राङ्गदशकं च विलिख्य श्रियमावाहयेत्** (सौ०ल० १.५)। सौभाग्यलक्ष्मी प्राप्त करने की विद्या ही 'श्रीविद्या' अथवा लक्ष्मी विद्या कहलाती है, जो उच्चस्थिति के निष्काम साधकों (अनुचित कामना विहीन साधकों) को प्राप्त होती है- **निष्कामानामेव श्रीविद्यासिद्धिः** (सौ०ल० १.११)। बह्वृचोपनिषद् में आदिशक्ति-देवी को ही 'षोडशी' श्रीविद्या और ब्रह्मानन्द कला (अर्थात् ब्रह्मानन्दस्वरूप कला) कहा गया है- **.....सैषा षोडशी श्रीविद्या .....ब्रह्मानन्दकलेति** (बह्व० ८)।

इसी प्रकार तीन अक्षरों वाली विद्या को कोशग्रन्थों में त्र्यक्षरी विद्या कहा गया है। वैसे तो त्र्यक्षर अकार, उकार और मकार (ॐ) को कहते हैं; किन्तु तन्त्रोक्त त्रिवर्णात्मक मन्त्र अथवा उस यन्त्र को भी त्र्यक्षर कहते हैं, जिसमें तीन अक्षर हों। सौभाग्य लक्ष्मी उपनिषद् में 'श्रीं, ह्रीं, श्रीं' की पूजन विधि को त्र्यक्षरी विद्या कहकर उसी के समान एकाक्षरी विद्या का पूजन बताया है और श्री, लक्ष्मी, वरदा, विष्णुपत्नी, वसुप्रदा आदि नाम मंत्रों द्वारा शक्ति की पूजा करने का निर्देश दिया गया है- **श्री लक्ष्मीर्वरदा विष्णुपत्नी वसुप्रदा ..... द्विजतृप्तिः** (सौ०ल० १.११)। विभिन्न विद्याओं की उपादेयता, गुणों और क्रिया की दृष्टि से उन्हें विशेषण प्रदान किये जाते हैं; जैसे-प्राण संवर्धक और संरक्षण की विद्या को गायत्री महाविद्या, सूर्य सम्बन्धी कल्याणकारी विद्या को सावित्री महाविद्या कहते हैं। इसी प्रकार योगकुण्डल्युपनिषद् में खेचरीमुद्रा या खेचरीविद्या (जिसका वर्णन १०८ उपनिषद् ब्रह्मविद्याखण्ड के परिभाषाकोश परिशिष्ट में किया जा चुका है) को महाविद्या कहा गया है, क्योंकि इसकी सिद्धि से क्षुधा, निद्रा, तृष्णा, मूर्छा आदि से त्राण मिलता है और साधना क्षेत्र के समस्त विघ्न समाप्त हो जाते हैं। साधकों को चेतावनी दी गई है कि वे इस महाविद्या को विधिवत् जानकर ही अभ्यास करें-**तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते। नश्यन्ति सर्वविघ्नानि प्रसीदन्ति च देवताः। वलीपलितनाशश्च भविष्यति न संशयः। एवं लब्ध्वा महाविद्यामभ्यासं कारयेत्ततः**(यो०कुं०२.२३-२४)।

११२. **दक्षिणा**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

११३. **दिग्बन्ध**— अनुष्ठान, यज्ञ तथा विशिष्ट साधना सम्बन्धी कृत्यों में प्रायः आसुरी शक्तियों द्वारा विघ्न भी प्रस्तुत किये

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

जाते रहे हैं, जिसके कारण वे पूर्ण नहीं हो पाते और मध्य में ही छोड़ने पड़ते हैं। इस स्थिति से निपटने के लिए ऋषियों ने मन्त्रों अथवा विशिष्ट शक्तियों द्वारा दिशाओं को बाँध देने के लिए 'रक्षा विधान' की व्यवस्था की थी। सभी दिशाओं को कीलित कर देने अथवा बाँध देने की प्रक्रिया ही दिग्बन्ध या दिग्बन्धन कहलाती है। गरुडोपनिषद् में भूः, भुवः, स्वः तथा ॐ से दिग्बन्धन की क्रिया सम्पन्न करने का निर्देश है-**भूर्भुवः सुवरोमिति दिग्बन्धः** (गरुड०४)। इसी प्रकार लाङ्गूलोपनिषद् में पाशुपत मंत्र से दिग्बन्ध करना निर्दिष्ट है-.....**पाशुपतेन दिग्बन्धः** (लाङ्गूल०२)।

११४. **दिग्बन्धन**—द्र०- **दिग्बन्ध**।

११५. **दैवी स्फुरणा**—दैवी स्फुरणा में दैवी और स्फुरणा दो शब्द हैं, जिनमें दैवी का अर्थ है— देवता सम्बन्धी, ईश्वरीय अथवा आकस्मिक और स्फुरणा (स्फुरण) का अर्थ काँपना, हिलना, फड़फड़ाना और मन में यकायक कोई विचार आना आदि हैं। इनमें इन दोनों शब्दों के योग करने पर प्रायः इसका अर्थ अचानक मन में किसी दैवी विचार, संदेश, प्रेरणा, इलहाम आदि आने के रूप में लिया जाता है; किन्तु जिन साधकों का अन्तःकरण शुद्ध, निर्मल, निर्विकार होता है, उनको विशेष समयों पर विशिष्ट उद्देश्य के लिए इस प्रकार के संदेश-स्फुरण आते रहते हैं, जो कभी-कभी भयंकर संकट से मुक्ति दिलाते हैं तथा महान् कार्य करने की प्रेरणा भी प्रदान करते हैं। महोपनिषद् में निर्मल आत्मा में दैवी स्फुरणा उत्पन्न होने का संकेत इन शब्दों में द्रष्टव्य है- **तथैवात्मात्मशक्त्यैव स्वात्मन्येवैति लोलताम्। क्षणं स्फुरति सा दैवी सर्वशक्तितया तथा** (महो० ५.१२०)।

११६. **द्युलोक**— द्युलोक का अभिप्राय स्वर्गलोक से है, जिसकी परिभाषा हिन्दी विश्वकोश में इस प्रकार विवेचित है- **द्यौरेव लोकः** अर्थात् स्वर्ग लोक। द्युलोक के लिए दिव शब्द का उपयोग भी होता है, जिसे कई बार दिन के अर्थ में भी लिया जाता है। द्युलोक के देवता द्यौ हैं, इसीलिए द्यौ को द्युलोक भी कहते हैं। द्युलोक का उल्लेख चारों वेदों में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में द्यौ शब्द ५०० बार प्रयुक्त हुआ है। इनमें कई बार स्थूल आकाश के रूप में इसका प्रयोग हुआ है। पृथ्वी को मातृस्वरूप और द्यौ को पिता स्वरूप माना गया है- **द्यौष्पितः पृथिविमातरधृक्** .....(ऋ० ६.५१.५), **मधु द्यौरस्तु नः पिता** (ऋ० १.९०.७)। उपर्युक्त अर्थों के अतिरिक्त 'द्यु' के आकाश, अग्नि, तीक्ष्णता आदि अर्थ भी होते हैं। नृसिंह पूर्वतापिन्युपनिषद् में मन्त्रराज अनुष्टुप् से सृष्टि संरचना का उल्लेख करते हुए उस मन्त्र के द्वितीय चरण से यक्ष, गन्धर्व और अप्सराओं से सेवित अन्तरिक्ष और तृतीय चरण से वसु, रुद्र और आदित्यादि देवताओं से सेवित द्युलोक का निर्माण बताया गया है-**यक्षगन्धर्वाप्सरोगणसेवितमन्तरिक्षं तत्साम्नो द्वितीयं पादं जानीयाद्वसुरुद्रादित्यैः सर्वैर्देवैः सेवितं दिवं तत्साम्नस्तृतीयं पादं जानीयात्** (नृ०पूर्व० १.३)।

११७. **द्रोण कलश**—द्र०- **यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ**।

११८. **द्वन्द्वातीत**—द्र०- **कालातीत**।

११९. **धर्म**—द्र०-**ज्ञानखण्ड-धर्म-अधर्म**।

१२०. **धिष्ण्य**—द्र०-**यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ**।

१२१. **नवचक्र**—यौगिक ग्रन्थों तथा योग सम्बन्धी उपनिषदों में शरीरान्तर्गत सूक्ष्म रूप से स्थित विभिन्न चक्रों का वर्णन है। वैसे तो षट्चक्र और सप्तचक्र सबसे अधिक प्रख्यात हैं, जिनका वर्णन १०८ उपनिषद् ज्ञानखण्ड परिभाषाकोश परिशिष्ट में किया जा चुका है। कुछ उपनिषदों में चक्रों का और सूक्ष्म उल्लेख है, जिसके अनुसार चक्रों की संख्या नौ मानी गई है। योगराजोपनिषद् तथा सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् में कुछ ही पाठभेद से नौ चक्रों का उल्लेख है। प्रथम चक्र 'ब्रह्मचक्र' कहलाता है, जो भग-योनि (योनि-त्रिकोण) आकृति का है- **नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः। प्रथमं ब्रह्मचक्रं स्यात् त्रिरावृत्तं भगाकृति** (यो०रा० ५)। अपान के स्थान पर कामरूपी मूलकन्द है, इसी को मूलाधार चक्र कहते हैं, जिसे अग्निकुण्ड एवं तत्त्व कुण्डलिनी भी कहते हैं- **अपाने मूलकन्दाख्यं कामरूपं च तज्जगुः। तदेव वह्निकुण्डं स्यात् तत्त्वकुण्डलिनी तथा** (यो०रा०६)। उसी के बीच स्वाधिष्ठान नामक द्वितीय चक्र है- .....**स्वाधिष्ठानं द्वितीयं स्याच्चक्रं तन्मध्यगं विदुः** (यो०रा० ७)। तीसरा चक्र नाभिचक्र है, इसके अन्दर संसार की स्थिति निरूपित है। इसे ही मणिपूर चक्र कहते हैं। चतुर्थ चक्र हृदय में अधोमुख रूप में है, इसे हृदयचक्र या अनाहत चक्र के नाम से जाना जाता है। पाँचवाँ कण्ठ चक्र है, जिसे विशुद्धाख्य चक्र भी कहते हैं, इसके वाम भाग में इड़ा, दक्षिण में पिङ्गला एवं मध्य में सुषुम्ना नाड़ी की स्थिति कही गई है-**पञ्चमं कण्ठचक्रं स्यात् तत्र वामे इडा भवेत्। दक्षिणे पिङ्गला ज्ञेया**

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

www.awgp.org | www.akhandjyoti.org

सुषुम्ना मध्यतः स्थिता (यो०रा०१२)। छठा तालुका चक्र है, जिसे घण्टिका स्थान भी कहते हैं। सातवाँ भ्रूचक्र है, जिसे विद्या एवं बुद्धि स्थल भी कहते हैं, इसी को आज्ञाचक्र भी कहा जाता है-**सप्तमं भ्रूचक्रमङ्गुष्ठमात्रम्.....भवत्याज्ञाचक्रम्** (सौ०ल० ३.७)। निर्वाण सूचक आठवाँ चक्र ब्रह्मरन्ध्र कहलाता है- **अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं स्यात् परं निर्वाणसूचकम्। .....विमुच्यते** (यो०रा० १६)। सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् में इस अष्टम ब्रह्मरन्ध्र को निर्वाण चक्र एवं परब्रह्म चक्र भी कहा गया है- **ब्रह्मरन्ध्रं निर्वाणचक्रम्। ..... भवतीति परब्रह्मचक्रम्** (सौ०ल० ३.८)। नवाँ चक्र षोडशदल वाला व्योम चक्र कहलाता है, इसे ही आकाश चक्र, शून्य चक्र, महाशून्य चक्र आदि नामों से अभिहित किया गया है- **नवमं व्योमचक्रं स्यादश्रैः षोडशभिर्युतम्** (यो०रा० १७)। सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् में इसे इस प्रकार कहा गया है- **नवममाकाशचक्रम्। तत्र षोडशदलपद्ममूर्ध्वमुखं** (सौ०ल० ३.९)। इसी उपनिषद् के द्वितीय खण्ड के नवें मन्त्र में प्राणवायु द्वारा चक्रवेधन की प्रक्रिया में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक आदि चक्रों को वेधने के पश्चात् महाशून्य (आकाश चक्र) में प्रवेश करने और तदुपरान्त चित्तानन्द की स्थिति में पहुँचने व उसे भी भेदकर समस्त पीठों (कामरूप, उड्रीयाण या उड्डियान, जालन्धर एवं पूर्णगिरि आदि पीठों-चक्रों के मध्य स्थित शक्ति केन्द्रों) में गतिशील होने का उल्लेख है- **महाशून्यं ततो याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम्। चित्तानन्दं ततो भित्त्वा सर्वपीठगतानिलः** (सौ०ल० २.९)। उपर्युक्त नवचक्रों के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन योगराजोपनिषद् एवं सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् में देखा जा सकता है- अन्य योग ग्रन्थों व उपनिषदों में भी इनका वर्णन है।

१२२. नाद- द्र०- **ज्ञानखण्ड**।

१२३. नारसिंह मन्त्र- द्र०- **महाचक्र-सुदर्शन चक्र**।

१२४. नारायण- द्र०- **ज्ञानखण्ड**।

१२५. निरंजन-द्र०- **ब्रह्मविद्या खण्ड**।

१२६. निरहंकारिता -द्र०- **ब्रह्मविद्या खण्ड**।

१२७. निर्विकल्पक समाधि-द्र०-**ज्ञान खण्ड -समाधि**।

१२८. निर्विशेषब्रह्म- द्र०- **कालातीत**।

१२९. निवृत्ति-द्र०-**ज्ञानखण्ड-मुक्तिमोक्ष**।

१३०. निष्कलंक-द्र०-**कालातीत**।

१३१. नीलकण्ठ-द्र० -**अर्धनारीश्वर**।

१३२. पञ्च आकाश- द्र०-**ब्रह्मविद्याखण्ड-व्योम पञ्चक** ।

१३३. पञ्च तन्मात्राएँ -द्र० - **पञ्चभूत (पञ्चतत्त्व) पंचीकरण**।

१३४. पञ्चभूत (पञ्चतत्त्व) पंचीकरण— सम्पूर्ण सृष्टि पञ्च तत्त्वों अथवा पञ्चमहाभूतों से निर्मित मानी जाती है। यह शरीर भी पंचतत्त्वों का ही है। ये पाँच तत्त्व पृथिवी, जल, अग्नि, आकाश और वायु हैं। प्रख्यात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् में इस सन्दर्भ में उल्लेख है-**पञ्चानां तत्त्वानां समाहारः। पञ्चसु भूतेषु स्वरोदयः**। तन्त्र ग्रन्थों में पञ्च मकार-मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन को पञ्चतत्त्व कहा गया है- **मद्यं मांसं तथा मत्स्यो मुद्रा मैथुनमेव च। पञ्च तत्त्वमिदं प्रोक्तं देवि! निर्वाणहेतवे** (तन्त्रसार संग्रह)। अन्य तन्त्र ग्रन्थों में गुरुतत्त्व, मनस्तत्त्व, मन्त्रतत्त्व, देवतत्त्व और ध्यानतत्त्व इन्हें पञ्चतत्त्व माना गया है- **गुरुतत्त्वं पञ्चतत्त्वं मनस्तत्त्वं सुरेश्वरि! देवतत्त्वं ध्यानतत्त्वं मन्त्रतत्त्वं प्रकीर्तितम्** (निर्वाण तन्त्र)। सृष्टि में विद्यमान जिन पञ्च तत्त्वों का वर्णन है, वे पृथिवी आदि पञ्चतत्त्व हैं। रामचरित मानस के किष्किन्धा काण्ड में एक चौपाई में इन तत्त्वों का उल्लेख इन शब्दों में हुआ है- **छिति जल पावक गगन समीरा। पञ्च रचित अति अधम सरीरा॥** त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में इस अखिल जगत् की उत्पत्ति के क्रम में भी पञ्चतत्त्वों का उल्लेख मिलता है-**ब्रह्मणोऽव्यक्तम्। अव्यक्तान्महत्। महतोऽहंकारः। अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि। पञ्चतन्मात्रेभ्यःपञ्चमहाभूतानि। पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत्** (त्रि०ब्रा०३) अर्थात् सर्वप्रथम ब्रह्म से अव्यक्त उत्पन्न हुआ, अव्यक्त से महत् तत्त्व, महत्तत्त्व से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्राएँ, पञ्च तन्मात्राओं से पञ्च महाभूत (पञ्चभूत-पञ्चतत्त्व) और पञ्चमहाभूतों से यह अखिल विश्व उत्पन्न हुआ। सांख्य मत में यह क्रम इस प्रकार है-

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्राएँ और पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूतों (पञ्चतत्त्वों) का आविर्भाव हुआ, जिनसे यह सम्पूर्ण जगत् बना। पञ्च तन्मात्राएँ पञ्चमहाभूतों के ही सूक्ष्मरूप हैं। पञ्चतत्त्वों के विषय -शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पञ्च तन्मात्राएँ हैं। मोटे तौर पर आकाश का विषय-शब्द, वायु का स्पर्श, अग्नि (तेज) का रूप, जल का रस और पृथिवी का विषय गन्ध है;किन्तु यदि और सूक्ष्मावलोकन करें तो प्रत्येक तत्त्व में अन्य तत्त्व और उनकी तन्मात्राएँ समाहित होती हैं, इससे उसके गुणों में भी वृद्धि हो जाती है। जैसे- आकाश की तन्मात्रा शब्द है, इसमें शब्द तन्मात्रा का आधिक्य है। इसीलिए उसका गुण भी शब्द है। वायु में शब्द और स्पर्श तन्मात्रा का आधिक्य होने से उसके गुण शब्द, स्पर्श हैं। तेज (अग्नि) में शब्द, स्पर्श और रूप तन्मात्राओं का प्राचुर्य है, अतः यही इसके गुण हैं। जल (अप्) तत्त्व में शब्द, स्पर्श, रूप और रस तन्मात्राएँ अधिक हैं, इसीलिए ये ही इसके गुण हैं तथा पृथिवी तत्त्व में शब्द, स्पर्श, रूप , रस और गन्ध तन्मात्राओं की प्रचुरता होने से ये सभी पृथिवी के गुण हैं। वेदान्तमत के पञ्चीकरण सिद्धान्त के अनुसार पाँच तत्त्वों में प्रत्येक प्रमुख तत्त्व का आधा(१/२) भाग तथा शेष सभी तत्त्वों का अष्टमांश (१/८ भाग) मिश्रित होने पर ही वह तत्त्व बनता है। इस प्रकार सभी तत्त्व मिलने पर यह स्थूल शरीर या जगत् निर्मित होता है। इस विषय में वेदान्त का यह श्लोक प्रसिद्ध है- **द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः। स्वस्वेतर द्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते** (वे०वि०पृ० ८८) अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्त्वों के प्रत्येक के पहले दो भाग करके प्रत्येक के द्वितीयांश के ४-४ भाग किये जाते हैं। तदुपरान्त उन सबको प्रत्येक तत्त्व के दूसरे वाले अर्धभाग में मिला देने से प्रत्येक तत्त्व में अन्य सभी चार तत्त्वों के १/८, १/८ भाग मिलकर (पाँच तत्त्व वाला) एक पूर्ण तत्त्व बन जाता है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् के इस मन्त्र में पञ्चीकरण की प्रक्रिया द्रष्टव्य है- **अथ व्योमानिलानलजलान्नानां पञ्चीकरणमिति** (त्रि०ब्रा०१.९)। पंचीकरण की यह अवधारणा त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषद् में दूसरे शब्दों में भी दी गई है। वहाँ कहा गया है कि ये पंचभूत १६ कलाओं से विनिर्मित हैं- **पृथग्भूते षोडशकलाः स्वार्ध भागान्पराङ्क्रमात्। ..... रसपायुनभः क्रमात्** (त्रि०ब्रा० २.१) अर्थात् प्रत्येक (सूक्ष्म) तत्त्व के अर्धभाग से तथा दूसरे तत्त्वों -अन्तःकरण (आकाश), व्यान (वायु), नेत्र (अग्नि), रस (जल) एवं गुदा (पृथिवी) आदि के संयोग से १६ कलायुक्त (स्थूल) आकाशादि बने हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पंचीकरण के अंतर्गत उक्त धारणा में जहाँ १/२ (आधा) एक तत्त्व तथा शेष चार के १/८ अंश मिलकर पूरा तत्त्व बनता है, वहीं यहाँ एक तत्त्व का १/२ तथा शेष के २/१६ अंश मिलकर पूरा तत्त्व बनाते हैं। सारांशतः कह सकते हैं कि दोनों स्थानों में शब्द का अंतर है, तथ्य का अंतर नहीं है। देव्युपनिषद् में देवी ने अपने पञ्चभूत और अपञ्चभूत अर्थात् पाँच तत्त्वों का सम्मिलित रूप और पाँच तत्त्वों का स्वतंत्र रूप कहा है। इससे इसी पञ्चीकरण सिद्धान्त की पुष्टि होती है, जिसमें पाँच स्वतन्त्र तत्त्व या भूत उपर्युक्त अनुपात में मिलकर एक तत्त्व बनने की मान्यता है-**अहं पञ्च भूतान्यपञ्च भूतानि** (देवी० ३)। जाबालदर्शनोपनिषद् में शरीर स्थित अङ्ग विशेषों में तत्त्वों की प्रधानता के सन्दर्भ में इस प्रकार उल्लेख है- **देहमध्यगते व्योम्नि बाह्याकाशं तु धारयेत्। प्राणे बाह्यानिलं तद्वत् ज्वलने चाग्निमौदरे। ..... आकाशांशस्तथा प्राज्ञ मूर्धांशः परिकीर्तितः** (८.१-५) अर्थात् तत्त्वाधिक्य की दृष्टि से पाँव से घुटने तक का भाग (पृथिवी तत्त्व के आधिक्य के कारण) पृथिवी तत्त्व का भाग कहलाता है, घुटने से गुदा तक जलीय अंश, गुदा से हृदय तक अग्न्यंश, हृदय से भौंहों तक वाय्वंश तथा मस्तक क्षेत्र आकाशांश कहा गया है। इन तत्त्वों में देवों के ध्यान के सन्दर्भ में वर्णन है कि पृथिवी तत्त्वांश में ब्रह्मा का, जल तत्त्वांश में विष्णु का, अग्नितत्त्वांश में महेश का, वायु तत्त्वांश में ईश्वर का तथा आकाशतत्त्वांश में सदाशिव का ध्यान करना चाहिए-**ब्रह्माणं पृथिवी भागे विष्णुं तोयांशके तथा। अग्न्यंशे च महेशानमीश्वरं चानिलांशके। आकाशांशे महाप्राज्ञ धारयेत्तु सदाशिवम्** (जा०दर्शन० ८.५-६)।

१३५. पदार्थ भावना - द्र०-असंसक्ति।

१३६. परम गति- द्र०- ज्ञानखण्ड।

१३७. परम ज्योति - द्र०- ब्रह्मविद्या खण्ड।

१३८. परम पद - द्र०-ज्ञानखण्ड।

१३९. परम व्योम - द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

१४०. परमहंस - द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

१४१. परमाकाश - द्र०- **ब्रह्मविद्याखण्ड-व्योमपञ्चक।**

१४२. परमेश्वरी शक्ति - द्र०- **ब्रह्मविद्याखण्ड-कुण्डलिनी।**

१४३. परलोक - द्र०- **ज्ञानखण्ड-लोक, परलोक, सप्तलोक।**

१४४. परा-अपरा विद्या - द्र०- **ज्ञान खण्ड।**

१४५. परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी —विचारों और भावनाओं को अभिव्यक्त करने की प्रक्रिया वाणी द्वारा सम्पन्न होती है। हि०वि०को० में वाणी के अर्थ में सरस्वती, वचन, मुँह से निकले हुए सार्थक शब्द, वाक्शक्ति, वागिन्द्रिय आदि शब्द उल्लिखित हैं। उपर्युक्त अर्थों से वाणी के मुखर स्वरूप की ही पुष्टि होती है, जिससे शब्द स्पष्टत: सुनाई पड़ते हैं। यह वाणी का अत्यन्त स्थूल रूप है। आर्ष ग्रन्थों में वाणी के चार रूपों का उल्लेख है। ये हैं- परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक वाणियाँ। इनमें परा वाणी मूलाधार चक्र से उठने वाले नाद को कहते हैं। इसे पश्यन्ती वाणी तब कहते हैं, जब वह नाद मूलाधार चक्र से उठकर हृदय में पहुँच जाता है। यही नाद जब आगे बढ़कर बुद्धि से संयुक्त होता है, तब मध्यमा वाणी कहलाता है। इसका उल्लेख अलंकार कौस्तुभ नामक ग्रन्थ का सन्दर्भ देते हुए हि०वि०को० खं० १३ पृ० १६५ में इस प्रकार है-**मूलाधारात्प्रथममुदितो यस्तु तार: पराख्य:। पश्चात्पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धियुङ्मध्यमाख्य:।** यही नाद जब कण्ठ में आकर वागिन्द्रिय द्वारा प्रस्फुटित होकर सबके सुनने योग्य होता है, तब इसे ही वैखरी वाणी कहते हैं। वेदों में कई मंत्रों में वाक् (वाणी) अथवा सरस्वती की स्तुति की गयी है। निरुक्तकार यास्कमुनि ने वाक् के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है- **वाक् कस्मात् ? .....वचे:** (नि० २३)। **स च वाक् शब्द: 'वच् परिभाषणे'** (नि०दु०वृ०२.२३) अर्थात् वाक् शब्द वच् धातु से निष्पन्न है, जिसका प्रयोग परिभाषण-बोलने के अर्थ में होता है। आचार्य सायण ने भी वाक् (वाणी) के उपर्युक्त चार प्रकारों का उल्लेख अपने अथर्ववेद भाष्य में किया है-**सर्वा हि वाक् परापश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपचतुरवस्थापन्ना** (अथर्व० ७.४४.१ सा०भा०)। निरुक्तकार ने वाणी के चार प्रकारों में मध्यमा वाणी को वाक् की संज्ञा प्रदान की है- .....**तस्मान्माध्यमिकां वाचं मन्यन्ते** (नि० ११.२७)। माध्यमिका या मध्यमा को सरस्वती भी कहा गया है-**सरस्वती माध्यमिका वाक्** (नि०११.२७)। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए अपने को वाक् (वाणी) भी कहा है- **मृत्यु: सर्वहरश्चाहं .....श्रीर्वाक्च ..क्षमा** (गीता० १०.३४)। यहाँ भी वाक् से अभिप्राय परा आदि चार वाणियों से है। अक्षमालिकोपनिषद् में अक्षमालिका को परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी स्वरूप मानकर उसे नमन किया गया है- **नमस्ते पारारूपे नमस्ते पश्यन्तीरूपे नमस्ते मध्यमारूपे नमस्ते वैखरीरूपे ..... नमस्ते नमस्ते** (अक्ष० १५)। कई साधक आहार नियमन तथा निरन्तर सत्य बोलने के अभ्यास से वाक् सिद्धि कर लेते हैं, तब उनके मुख से जो भी निकल जाये, वह सत्य ही होता है। इसके लिए कई यौगिक क्रियाएँ भी होती हैं। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में उल्लेख है कि ब्राह्ममुहूर्त में जिह्वा द्वारा वायु को खींचकर पीने से तीन मास में वाक् सिद्धि हो जाती है तथा छ: मास में महारोग (आयुर्वेद में वर्णित आठ भारी रोग-उन्माद, क्षय, दमा, कोढ़, मधुमेह, पथरी, उदररोग और भगंदर महारोग कहलाते हैं) से मुक्ति मिल जाती है- **नासाग्रे .....ब्राह्मे मुहूर्ते संप्राप्ते वायुमाकृष्य जिह्वया। पिबतस्त्रिषु मासेषु वाक्सिद्धिर्महती भवेत्। अभ्यासतश्च षण्मासान्महारोगविनाशनम्** (त्रि०ब्रा० २.१११-११२)। ध्यातव्य है कि ये यौगिक साधनाएँ किसी समर्थ गुरु के प्रत्यक्ष संरक्षण में ही करनी चाहिए, केवल पुस्तकों में पढ़कर प्रारम्भ कर देने से लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक आशंका रहती है।

१४६. पर्जन्य—द्र०-**ज्ञानखण्ड।**

१४७. पशुपति—द्र०-**अर्धनारीश्वर।**

१४८. पिंगला—द्र०-**ज्ञानखण्ड-सुषुम्नानाड़ी।**

१४९. पितृगण—द्र०-**ज्ञानखण्ड-पूर्वज-गोत्रज।**

१५०. पुण्यकर्म—द्र०-**ज्ञानखण्ड-पाप-पुण्य।**

१५१. पुरश्चरण— पुरश्चरण शब्द दो पदों से मिलकर बना है-पुर:+चरण=पुरश्चरण। पुर: का अर्थ है पूर्व को अर्थात् आगे की ओर तथा चरण का अर्थ है चलना। चलने से पूर्व (पहले) की जो तैयारी है, उसे पुरश्चरण कहते हैं। प्रख्यात हिन्दी विश्वकोश में पुरश्चरण की व्युत्पत्ति इस प्रकार विवेचित है-**'पुरस् चर भावे ल्युट्'** अर्थात् अग्रत आचरण। इसका

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

तात्पर्य भी यही हुआ कि किसी कार्य की सिद्धि के लिए पहले से ही उपाय सोचना और अनुष्ठान करना। इस आगे चलने की प्रक्रिया (पुरश्चरण) के तीन चरण हैं। १. गति २.आगति, ३. स्थिति। गति बढ़ने, आगति लौटने और स्थिति ठहरने को कहते हैं। पुरश्चरण में यह तीनों प्रक्रियाएँ इस प्रकार सम्पन्न होती हैं-किसी विशिष्ट अभीष्ट की प्राप्ति हेतु जो साधना की जाती है, उसके साथ -साथ उन दोषों को लौटाया भी जाता है, जो प्रगति का मार्ग अवरुद्ध करते हैं। इस गति-आगति से पूर्व शक्ति को स्फुटित करने के लिए जिस स्थिति को अपनाया जाता है, वही पुरश्चरण है। सवालक्ष या न्यूनाधिक मन्त्रों का अनुष्ठान सर्वसुलभ और लोक-कल्याण-आत्मकल्याण परक साधना है; किन्तु पुरश्चरण किसी उद्देश्य विशेष के लिए किया जाता है, इसका विधान भी जटिल होता है, जो किसी उच्च पुरोहित, समर्थ गुरु के प्रत्यक्ष मार्गदर्शन और संरक्षण में ही करना चाहिए, तभी इसके वाञ्छित परिणाम मिलते हैं, अन्यथा लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक सम्भावना रहती है। पुरश्चरण के प्रमुख क्रिया-कलाप इस प्रकार हैं- १. नित्यकर्म २. सन्ध्या ३.पूजन (कवच, न्यास, ध्यान, स्तोत्र आदि) ४. शापमोचन ५. हवन ६. तर्पण ७. मार्जन-अभिषेक ८. मुद्रा ९. विसर्जन १०. ब्राह्मणभोजन। पुरश्चरण में निर्धारित देवता के मंत्र का जप सवालक्ष, चौबीस लक्ष, एक करोड़, सवा करोड़ अथवा कम से कम चौबीस हजार की संख्या में किया जाता है।

पुरश्चरण के विषय में कुलार्णव तन्त्र, वाराही तन्त्र, गौतमीय तन्त्र, वीर तन्त्र, योगिनी हृदय, नारदीय तन्त्र, मुण्डमाला तन्त्र, रामार्चन चन्द्रिका और रुद्रयामल आदि ग्रन्थों में विस्तार से वर्णन है। स्थानाभाव से यहाँ पूरा विवरण दे सकना कठिन है। सारांश यह है कि पुरश्चरण पूरी पवित्रता के साथ समस्त नियमोपनियमों का पालन करते हुए करना चाहिए, जैसे-मिथ्या भाषण, अब्रह्मचर्य का परित्याग और बाह्याभ्यन्तर शुचिता तथा कुशशय्या शयन नितान्त आवश्यक है- **शयीत कुशशय्यायां शुचिवस्त्रधरः सदा। .....शय्यामेकाकी निर्भयः स्वपेत्॥ असत्यभाषणं वाचं कुटिलां परिवर्जयेत्। वर्जयेद्गीतवाद्यादि श्रवणं नृत्यदर्शनम् .....देवप्रपूजनम्** (हि०वि०को०खं० १३ पृ० ६४८)। नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् १.१६ में तारक मंत्र रूपी साम के जपपूर्वक पुरश्चरण करने से साधना के सफल होने तथा महाविष्णुरूप हो जाने का उल्लेख है- **य एतां महोपनिषदं वेद स कृतपुरश्चरणो महाविष्णुर्भवति महाविष्णुर्भवति** (नृ०पूर्व० १.१६)।

१५२. **पुराण पुरुष**—द्र०- **ब्रह्मविद्याखण्ड**।

१५३. **पुर्यष्टक**—द्र०-**ब्रह्मविद्याखण्ड**।

१५४. **पूर्णपुरुष**—द्र०-**कामकला, कालातीत**।

१५५. **पूषा**— पूषा पोषण के देवता हैं। इन्हें चारों वेदों में देवत्व प्राप्त हुआ है। पूषा (पूषन्) शब्द संस्कृत की पुष् धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ पोषक अथवा पुष्ट करने वाला है। ऋग्वेद में पूषा सूर्य की 'मानव पुष्टि प्रदात्री' तथा 'मानव कल्याणकारी शक्ति' के रूप में उपन्यस्त हैं। यास्क मुनि ने पूषा की परिभाषा करते हुए कहा है- **अथ यद्रश्मिपोषं पुष्यति तत्पूषा भवति** (नि० १२.१६) अर्थात् जो पोषण हेतु रश्मियों (किरणों) को पोषकत्व से भर देता है, वह पूषा है। यजुर्वेद में पूषा देवता सूर्य की प्रेरणा से ही विचरण करने वाला बताया गया है- **तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्** (यजु० १७.५८)। तैत्तिरीय ब्राह्मण में पूषा को दीर्घायु और वर्चस् प्रदाता बताया गया है- **पूष्णः पोषेण मह्यं दीर्घायुत्वाय शत शारदाय शतं शरद्भ्यः आयुषे वर्चसे** (तैत्ति० ब्रा० १.२.१.१९)। गायत्री रहस्योपनिषद् में पूषा को गायत्री मंत्र के बारहवें अक्षर का देवता विवेचित किया गया है-**द्वादशं पौष्णं** (गा०रह० ५)।

१५६. **प्रज्ञा**—द्र०-**ज्ञानखण्ड-प्रज्ञा-प्रज्ञान**।

१५७. **प्रज्ञानघन**—द्र०-**संवित्**।

१५८. **प्रणव**—द्र०-**ब्रह्मविद्याखण्ड**।

१५९. **प्रतिप्रस्थाता**—द्र०-**अतिरात्रयज्ञ**।

१६०. **प्रतिष्ठा**—द्र०-**ज्ञानखण्ड**।

१६१. **प्रदक्षिण (प्रदक्षिणा)**— कोश ग्रन्थों में प्रदक्षिण जिसे लोक भाषा में प्रदक्षिणा भी कहते हैं, की व्युत्पत्ति इस प्रकार विवेचित है- **प्रगतं दक्षिणमिति** (हि०वि०को० खं० १४ पृ० ५७५) अर्थात् देवपूजन आदि के अवसर पर देवमूर्ति आदि को दाहिनी ओर करके दायें से श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उसके चारों ओर घूमना-परिक्रमा करना प्रदक्षिण

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

www.awgp.org | www.akhandjyoti.org Sadhanakhand

कहलाता है। देवता भेद से ये परिक्रमाएँ भिन्न-भिन्न संख्या में की जाती हैं। जैसे स्त्री देवता (देवी) की एक बार, रवि की सात बार, विनायक की तीन बार, केशव की चार बार और शिव की अर्ध परिक्रमा (प्रदक्षिणा) करने का विधान 'कर्मलोचन' ग्रन्थ में इस प्रकार निर्दिष्ट है- **एकं देव्यां रवौ सप्त त्रीणि कुर्याद्विनायके। चत्वारि केशवे कुर्यात् शिवे चार्द्धप्रदक्षिणम्॥**

कालिका पुराण में प्रदक्षिण-के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है कि दक्षिण हस्त को फैलाकर, सिर झुकाकर देवता को दाहिनी ओर कर एक अथवा तीन बार उनकी जो परिक्रमा की जाती है, वह प्रदक्षिण है। इससे समस्त देवगण तुष्ट होते हैं, जो मनुष्य देवी की एक सौ आठ बार प्रदक्षिण करता है, उसके समस्त मनोरथ पूर्ण होते हैं। हरिभक्ति विलास में प्रदक्षिणा (प्रदक्षिण) महिमा इस प्रकार वर्णित है- **'प्रदक्षिणां ये कुर्वन्ति भक्तियुक्तेन चेतसा। न ते यमपुरं यान्ति यान्ति पुण्यकृतां गतिम्'** अर्थात् जो नर भक्तिपूर्वक देव प्रदक्षिणा करते हैं, वे यमपुर न जाकर पुण्यकर्मियों की गति को प्राप्त करते हैं। अक्षमालिकोपनिषद् में अक्षमाला-मन्त्र मातृका की प्रदक्षिणा करके नमन करने का निर्देश इन शब्दों में हैं- **अथ पुनरुत्थाप्य प्रदक्षिणी कृत्यों नमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमाले .....नमस्ते** (अक्ष० १५)।

१६२. प्रयाज—द्र०-अनुयाज।

१६३. प्रसविता—द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड-सूर्य।

१६४. प्रस्तोता—द्र०-ज्ञानखण्ड-ऋत्विज्।

१६५. प्राज्ञ—द्र०-ज्ञानखण्ड।

१६६. प्राणलिङ्गी—द्र०-अर्धनारीश्वर।

१६७. बन्ध—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

१६८. बला-अतिबला— यों तो बला शब्द का प्रयोग किसी आपत्ति, आफत, कष्ट, दुःख, भूत-प्रेत, व्याधि और रोगादि के लिए होता है तथा एक ओषधि-वनस्पति के लिए भी होता है- **अतिशयितं बलं यस्याः .....। अत्यन्त बलाधायिकायां .....इति ख्यातायां लतायां .....** (वाच०पृ० १०१)। जो (बला, अतिबला, महाबला और नागबला नाम से चार प्रकार की होती है) शीतवीर्य, मधुर, बलवर्द्धक, कान्तिकारक, स्निग्धधारक, वायु, रक्तपित्त, रक्तदोष और क्षतविनाशक मानी गई है; किन्तु विशिष्ट अर्थ में यह एक प्रकार की विद्या है (जो ब्रह्म कन्या मानी जाती है)। ऋषि विश्वामित्र ने इस बला और अतिबला नामक विद्या की शिक्षा रामचन्द्र को दी थी। इस सन्दर्भ में वाचस्पत्यम् में उल्लेख है- **विश्वामित्रेण रामाय दत्ते अस्त्रविद्याभेदे** (वाच० पृ० १०१)। इस विद्या के प्रभाव से युद्ध के समय योद्धा को भूख-प्यास नहीं लगती, न थकान आती है और न अङ्ग विकृति होती है। वाल्मीकि रामायण के सन्दर्भ में प्रख्यात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् में इसके विषय में इस प्रकार उल्लेख है- **गृहाण द्वे इमे विद्ये बलामतिबलां तथा। न ते श्रमो जरावाभ्यां भविता नाङ्गवैकृतम्॥ ..... बलामतिबलां चैव ज्ञानविज्ञान मातरौ। क्षुत्पिपासे च ते राम! नात्यर्थं पीडयिष्यतः** (वाच०पृ० १०१-१०२)। राम और लक्ष्मण दोनों ने इस विद्या को सीखा था इसका भी रामायण में उल्लेख है-**जयत्वतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबल** इति रामा०। सावित्र्युपनिषद् में बला और अतिबला विद्याओं के ऋषि विराट् पुरुष, छन्द गायत्री और देवता भी गायत्री ही वर्णित हैं-**बलातिबलयोर्विराट् पुरुष ऋषिः। गायत्री छन्दः। गायत्री देवता .....** (सावि० १४-१५)। यह विद्या तन्त्र प्रयोग के अन्तर्गत एक गूढ़ विद्या है।

१६९. बिन्दु—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

१७०. बुद्धिगुहा—द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड-लक्ष्यत्रय।

१७१. ब्रह्मग्रन्थि—द्र०-रुद्रग्रन्थि।

१७२. ब्रह्मज्ञान—द्र०-ज्ञानखण्ड-ब्रह्मविद्या।

१७३. ब्रह्मद्वार—द्र०-वह्नियोग।

१७४. ब्रह्मनाड़ी—द्र०-ज्ञानखण्ड-सुषुम्नानाड़ी।

१७५. ब्रह्मपद—द्र०-कामकला।

१७६. ब्रह्मयज्ञ—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

१७७. **ब्रह्मविद्या**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

१७८. **ब्रह्मसन्ध्या**— कोशग्रन्थों में सन्ध्या शब्द का अर्थ इस प्रकार बताया गया है- **सं सम्यक् ध्यायत्यस्यामिति** (श०क०खं० ५ पृ० २४१) अर्थात् जिस उपासना में ध्यान सम्यक् रूप से लगे, वह सन्ध्या है। सन्ध्या शब्द सन्धि से बना है, जिसके कई अर्थ हैं, जैसे-दो समयों, दो वर्णों, दो राजाओं, दो युगों की सन्धि आदि। सन्धि काल में ईश्वरोपासना विधिवत् सम्पन्न करने का विधान शास्त्रों में वर्णित है, इसीलिए त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल) सन्ध्या-ईश्वर उपासना की जाती है। आरुण्युपनिषद् में संन्यासी को त्रिकाल सन्ध्याओं में स्नान करके समाधिस्थ होकर आत्मा में रमण करने का निर्देश दिया गया है- **त्रिसंध्यादौस्नानमाचरेत्। संधिं समाधावात्मन्याचरेत्** (आरुणि० २)। सन्धिकाल में ईश्वरोपासना के लिए ब्रह्मसन्ध्या शब्द भी प्रयुक्त होता है। पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् में ब्रह्मसंध्या को मानसिक यज्ञ क्रिया और सन्ध्या क्रिया को मानसिक यज्ञ का लक्षण कहा गया है-**ब्रह्मसंध्याक्रिया मनोयागः। संध्याक्रिया मनोयागस्य लक्षणम्** (पा०ब्र०पू०का० १८)। इसका भाष्य करते हुए ब्रह्मयोगी ने **तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि** आदि महावाक्यों का अनुसरण करते हुए आत्मा-परमात्मा की एकता की अनुभूति की मानसिक क्रिया को ब्रह्मसंध्या कहा है- **'तत् त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इति प्रत्यक्परब्रह्मणोरैक्यमेव सन्ध्याक्रिया मनोयागः उच्यते।** जीव और परमात्मा के ऐक्य की सन्ध्या क्रिया को ही मनोयाग का लक्षण कहा है- **मनोयागस्य लक्षणं इत्यत्र- जीवात्मपरमात्मनोः एकत्वज्ञानेन तयोः भेद एव विभग्नः, सा सन्ध्येति-नोदकैर्जायते सन्ध्या न मन्त्रोच्चारणेन तु। सन्धौ जीवात्मनोरैक्यं सा सन्ध्या सद्भिरुच्यते** (पा०ब्र०पू० का० १८ ब्र०भा०) अर्थात् सन्ध्या जल प्रयोग और मन्त्रोच्चारण से नहीं होती। जीवात्मा और परमात्मा में सन्धि होना, दोनों मिलकर एक हो जाना ही सन्ध्या है।

१७९. **ब्रह्मसम्पत्ति** — द्र०-संवित्।

१८०. **ब्रह्मसायुज्य**— द्र०-ज्ञानखण्ड -पञ्चविध मुक्ति।

१८१. **ब्रह्माण्ड**— द्र०-ज्ञानखण्ड।

१८२. **ब्रह्मानन्द**— द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड -अद्वयानन्द।

१८३. **ब्रह्मानन्दकला**— द्र०-त्र्यक्षरी विद्या।

१८४. **ब्राह्मणाच्छंसी**— द्र०-ज्ञानखण्ड-ऋत्विज्।

१८५. **ब्राह्मीस्थिति**— योगी की विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं। स्थिति भेद से इन्हें अलग-अलग नाम दिये जाते हैं। महोपनिषद् तथा अक्ष्युपनिषद् में कुछ ही नाम भेद से योग की सात भूमिकाओं का उल्लेख है, जिनका वर्णन इसी परिभाषा कोश परिशिष्ट में असंसक्ति शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है। इन्हीं भूमिकाओं में जो पदार्थभावना, तुर्यगा, सुषुप्तपद तथा तुर्या नाम वाली अवस्थाएँ हैं, उनसे युक्त साधक जीवन्मुक्त की स्थिति प्राप्त कर लेता है। फिर वह बाह्याचरण करते हुए समस्त लोक-व्यवहारों का निर्वाह करके भी ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं देखता। स्वयं को ब्रह्म में लीन अनुभव करता हुआ वह सदैव ब्राह्मी स्थिति में रहता है। महोपनिषद् ६.६६-७३ में ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की ब्राह्मीस्थिति का सविस्तार वर्णन है। उसमें साधक को निर्देश दिया गया है कि वह आत्मदृष्टि को लक्ष्य करके भोग वासना को त्याग दे और सांसारिक ताप से विमुक्त होकर अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित होकर जीवन्मुक्त की तरह भ्रमण करे। ब्राह्मीस्थिति वाले साधक के लिए लोक व्यवहार यथावत् करने का निर्देश देते हुए उपनिषद्कार ने कहा है- **बहिः कृत्रिमसंरम्भो हृदि संरम्भवर्जितः। कर्ता बहिरकर्तान्तर्लोके विहर शुद्धधीः॥ त्यक्ताहं कृतिरा .....शुद्धधीः** (महो० ६.६८-६९) अर्थात् बाह्य वृत्ति से बनावटी क्रोध का अभिनय करते हुए हृदय से क्रोधरहित, बाहर से कर्ता एवं अन्दर से अकर्ता बने रहकर शुद्ध भाव से जगत् में सर्वत्र भ्रमण करना चाहिए। इस स्थिति का आगे वर्णन करते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है, वह उदात्त एवं उत्तम आचरण करते हुए, अनासक्त रहकर बाहर से सतत कर्मरत रहे, अन्तः में पूर्णरूपेण वैराग्य धारण करके बाहर से आशावादी बना रहे। उसका कोई मित्र, कोई शत्रु न हो, भाव-अभाव से मुक्त होकर संकल्पों को शान्त करके रागविहीन (वीतराग) होकर सदा आनन्दित रहे, यही ब्राह्मीस्थिति है-**उदारः पेशलाचारः सर्वाचारानुवृत्तिमान्।.....एषा ब्राह्मी स्थितिः स्वच्छा निष्कामा विगतामया** (महो० ६.७०-७३)। श्रीमद्भगवद्गीता में भी ईश्वर (ब्रह्म) को प्राप्त पुरुष का लक्षण १२.१३-२० तक विस्तार से बताया गया है। यथा-**अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥ समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।**

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः (गीता० १२.१३-१८) अर्थात् जो समस्त प्राणियों में द्वेषभाव से रहित सबका प्रेमी और दयालु है। ममता और अहंकार से रहित तथा सुख-दुःखों की प्राप्ति में समान भाव वाला तथा क्षमावान् है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है। इसी प्रकार जो मान-अपमान,सर्दी-गर्मी,सुख-दुःख में समान और संसार के प्रति आसक्ति से रहित है, ऐसा(ब्राह्मी स्थिति सम्पन्न)भक्त मुझे प्रिय है।

१८६. भवसागर— द्र०-असंसक्ति।

१८७. भावनायोग— भावना अन्तःकरण का विषय है। चिन्तन, क्रिया और भावना में भावना उत्पन्न होने का स्थान हृदय अर्थात् अन्तःकरण है। जबकि चिन्तन और क्रियाएँ क्रमशः मस्तिष्क और शरीर द्वारा सम्पन्न होती हैं। यदि हमारा अन्तःकरण पवित्र और निर्मल हो, तो भावनाएँ शुद्ध ही उठती हैं और तदनुसार ही विचारणा एवं क्रियाएँ बनती हैं। देवों के आवाहन का मूल शुद्ध भावना ही है। यदि अन्तः पुकार सच्ची है, तो भगवान् भी दौड़े चले आते हैं। ध्रुव, प्रह्लाद, मीरा आदि के उदाहरण इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं, इसीलिए शास्त्रकारों ने भावना को भी योग कहा है अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा और परमात्मा का योग (मिलन) हो जाये, वह तत्त्व भाव (भावना) ही है। भावनोपनिषद् में दैवीशक्तियों के आवाहन, आसन, पूजा, उपचार विधि में 'भावनायोग' को ही उपचार अथवा पूजा कहा गया है- **.....कर्तव्यमकर्तव्यमिति भावनायुक्त उपचारः**(भाव०३)। आगे बाहर-भीतर के रूप ग्रहण की योग्यता को ही देवावाहन, बाह्याभ्यन्तर इन्द्रियों के एकरूप होकर विषय ग्रहण करने को ही आसन, सतोगुण और तमोगुण के एकीकरण को पाद्य और सतत आनन्द स्थिति में रहने तथा इस (ब्रह्मज्ञान) के दान को ही अर्घ्य कहा गया है-**तस्य बाह्याभ्यन्तःकरणानामेकरूपविषय-ग्रहणमासनम्। रक्तशुक्लपदैकीकरणं पाद्यम्।..... अर्घ्यम्** (भाव० ३)। उपर्युक्त सभी क्रियाओं का आधार स्थूल न होकर भावनात्मक ही है; अतः भावना की महत्ता स्पष्ट ही है। भावना को योग के अन्तर्गत रखकर उपनिषद्कार द्वारा उसे 'भावनायोग' की संज्ञा प्रदान करना सर्वथा उचित ही है। इस उपनिषद् में देवपूजन में समस्त क्रियायें भावनापूर्वक करने का निर्देश है, भावना की महत्ता यहाँ तक बताई गई है कि यदि कोई मनुष्य (योगी साधक) तीन मुहूर्त तक भावना परायण रहता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है- **एवं मुहूर्तत्रयं भावनापरो जीवन्मुक्तो भवति** (भाव०४)।

१८८. भावशून्यता— द्र०-असंसक्ति।

१८९. भौतिक शरीर (स्थूलशरीर)— द्र०-ज्ञानखण्ड -त्रयशरीर।

१९०. मन्त्रयोग— द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

१९१. महाचक्र-सुदर्शन चक्र— नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् में मन्त्रराज आनुष्टुभ द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि की रचना विवेचित है। यह मंत्र अनुष्टुप् छन्द में है, जिसमें चार चरण तथा प्रत्येक चरण में आठ-आठ अक्षर होते हैं, इस प्रकार इसमें कुल बत्तीस अक्षर होते हैं। उपनिषद् में मंत्र के विभिन्न खण्डों की पृथक्-पृथक् विवेचना की गई है। जो संकेत दिये गये हैं, उस आधार पर मंत्रराज आनुष्टुभ या नारसिंह मंत्र (प्रणव सहित) इस प्रकार बनता है-**ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्** (नृ०पूर्व०२.६ टि०)। देवों द्वारा प्रजापति ब्रह्मा से महाचक्र के विषय में प्रश्न करने पर उन्होंने बताया कि 'महाचक्र' मंत्रराज आनुष्टुभ-नारसिंह मंत्र से ही बनता है। इसी को सुदर्शन चक्र भी कहते हैं, जिसे भगवान् विष्णु का चक्र भी माना जाता है। पद्म पुराण के उत्तर खण्ड १४५ वें अध्याय में वर्णित है कि सुदर्शन चक्र शिव ने निर्मित करके विष्णु को दिया था-**सुदर्शनचक्रं च सर्वदेवतेजोभिः शिवेन निर्माय विष्णवे दत्तं यथोक्तं .....** (वाच०पृ० ५३१२)। समय-समय पर विभिन्न प्रयोजनों की पूर्ति व दुष्टदलन हेतु वे इसी चक्र का प्रयोग करते हैं। भगवान् नृसिंह विष्णु के ही अवतार हैं, इसलिए यह चक्र उन्हीं का माना जाता है। भिन्न-भिन्न अक्षर खण्डों से ये अलग-अलग शक्ति वाला बनता है। इसके विभिन्न अरे इसकी शक्ति के परिचायक हैं। छः अरों (छः अक्षरों) वाले 'सुदर्शन चक्र-महाचक्र' में छः ऋतुएँ ही छः अरे हैं। यह सम्पूर्ण चक्र माया द्वारा आवेष्टित है- **स होवाच प्रजापतिः षडक्षरं वा एतत्सुदर्शनं महाचक्रं तस्मात्षडरं भवति षट्पत्रं चक्रं भवति षड् वा ऋतव ऋतुभिः .....तस्मान्मायया बहिर्वेष्टितं भवति** (नृ०पूर्व० ५.२)। इसके पश्चात् आठ अरों वाला अष्टाक्षर मंत्र का चक्र, बारह अरों वाला द्वादशाक्षर मंत्र का चक्र, सोलह अरों वाला षोडशाक्षर मंत्र का चक्र और बत्तीस अरों वाला द्वात्रिंशदक्षर मंत्र का महाचक्र सुदर्शनचक्र बनता है। ये सभी चक्र मायारूपी नेमि से आवेष्टित रहते हैं। महाचक्र-सुदर्शन के अरे वेद, पत्ते छन्द बताये गये हैं । बत्तीस दलों-अरों वाला महाचक्र जो सुदर्शन चक्र के नाम से भी प्रख्यात है, के नाभि स्थल में

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

www.awgp.org | www.akhandjyoti.org Sadhanakhand

एकाक्षरी 'ॐ' मंत्र के न्यास, चक्र के छः पत्रों-दलों में षडक्षरी मंत्र- सुदर्शन मंत्र 'सहस्रार हुं फट्'; चक्र के अष्टदलों में अष्टाक्षरी नारायण मंत्र 'ॐ नमो नारायणाय' चक्र के द्वादश दलों में द्वादशाक्षरी वासुदेवमंत्र 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'; चक्र के सोलह दलों में वर्णमाला के सोलह स्वराक्षरों (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ,ओ, औ, अं, अः) और चक्र के बत्तीस दलों में बत्तीस अक्षर वाले उपर्युक्त आनुष्टुभ मंत्र के न्यास का विधान वर्णित है- **एतत्सुदर्शनं महाचक्रं तस्य मध्ये नाभ्यां तारकं ..... द्वात्रिंशत्सु पत्रेषु द्वात्रिंशदक्षरं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं भवति** (नृ०पूर्व० ५.८)। इस मंत्रराज आनुष्टुभ रूपी महाचक्र-सुदर्शन चक्र के नियमित जप से समस्त सिद्धियों की प्राप्ति, लोकों पर विजय तथा अन्त में परमधाम की प्राप्ति तक का माहात्म्य सविस्तार वर्णित है।

१९२. **महात्रिपुरसुन्दरी**— द्र०-कामकला।

१९३. **महापातक**— द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड।

१९४. **महाप्रलय**— द्र०-कालाग्नि।

१९५. **महामुद्रा**— द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड- मुद्रा।

१९६. **महारोग**— द्र०-परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी।

१९७. **महाविद्या**— द्र०-त्र्यक्षरी विद्या।

१९८. **महाशून्यचक्र**— द्र०-नवचक्र।

१९९. **महिमा**— द्र०-अष्टसिद्धि।

२००. **मानसब्रह्म**— द्र०-कालातीत।

२०१. **मायाजाल**— द्र०-ज्ञानखण्ड-अविद्या, माया, अज्ञान।

२०२. **मायामयी**— द्र०-त्रिगुणमयी माया।

२०३. **मार्जन**— द्र०-श्राद्ध।

२०४. **मुक्ति**— द्र०-ज्ञानखण्ड-मुक्ति-मोक्ष।

२०५. **मुदिता**— योग शास्त्रों में आध्यात्मिक उन्नति की विभिन्न साधनाएँ वर्णित हैं। पातञ्जल योग दर्शन में समाधि पाद के तैंतीसवें सूत्र में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा गुणों के द्वारा चित्त की निर्मलता व प्रसन्नता प्रतिपादित है- **मैत्रीकरुणा मुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्** (पा०यो०स०पा० ३३) अर्थात् सुखी-दुःखी, पुण्यात्मा-पापी पुरुषों के सन्दर्भ में क्रमशः मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना रखने से चित्त निर्मल और प्रसन्न रहता है। यहाँ मैत्री का अर्थ मित्रता (प्रेम), करुणा का दया (दूसरों के दुःखों को निवृत्त करने की आकांक्षा), मुदिता का हर्ष और उपेक्षा का अर्थ उदासीनता है। उपर्युक्त गुणों को व्यावहारिक धरातल पर धारण करने का अभिप्राय हुआ कि किसी को सुखी समझकर उसके साथ मित्रता (प्रेम) करे, न कि ईर्ष्या। किसी को दुःखी देखकर उसके प्रति करुणा (दया) का भाव जाग्रत् करे कि इसका दुःख कैसे दूर हो, न कि घृणा और तिरस्कार करे। पुण्यात्माओं में उनके श्रेष्ठ कृत्यों, पुण्यों को देखकर उनके प्रति मुदिता (हर्ष-प्रसन्नता) व्यक्त करे। इसी प्रकार पापियों के विषय में उनके पाप कृत्यों के प्रति उपेक्षा (उदासीनता) का भाव करे, न कि उनसे द्वेष करने लगे। किसी सन्त ने कहा भी है— **'पाप से घृणा करो पापी से नहीं।'** तात्पर्य यह है कि यदि किसी ने अपने से कुछ अनुचित व्यवहार किया है, तो उस व्यक्ति के प्रति उपेक्षा न करके उसके उस कृत्य की उपेक्षा करे, उसके प्रति द्वेष या घृणा करके अपने मन और चित्त को प्रदूषित क्यों किया जाए? भगवान् कृष्ण ने गीता में अर्जुन को भक्त के लक्षण बताते हुए इन गुणों की ओर संकेत किया है- **अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी** (गी० १२.१३)। महोपनिषद् में भी ऋभु-निदाघ संवाद में ऋभु ने निदाघ को सत्त्वगुण में स्थित प्राणी की स्थिति बताते हुए उसे इन्हीं मैत्री आदि गुणों को धारण करने की सलाह दी है- .....**ते नित्यमेवाभ्युदिता मुदिताः ख इवेन्दवः। .....आकृत्यैव विराजन्ते मैत्र्यादिगुणवृत्तिभिः .....भास्करा इव** (महो० ४.१७-२०)।

२०६. **मुमुक्षु**— द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड-मुनि।

२०७. **मूर्ततारक-अमूर्ततारक**— सामान्यतया मूर्त का अर्थ शरीरधारी, मूर्तिमान्, निश्चित आकार की कोई वस्तु, आकृति

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

www.awgp.org | www.akhandjyoti.org Sadhanakhand

आदि होता है। इसी अर्थ में मूर्ति शब्द का प्रयोग भी होता है। इसी प्रकार इसके निषेधात्मक अर्थ, आकारहीन, अशरीरी, निराकार आदि के लिए अमूर्त अथवा अमूर्ति शब्द प्रयोग किया जाता है; किन्तु अद्वयतारकोपनिषद्, अथर्वशिर, अथर्वशिख, मंडलब्राह्मण आदि उपनिषदों में तारक ब्रह्म प्रकरण के अन्तर्गत तारक ब्रह्म की दर्शन विधि में मूर्त और अमूर्त शब्दों का प्रयोग विशिष्ट अर्थों में किया गया है। तारक ब्रह्म का स्वरूप तो १०८ उपनिषद् ब्रह्मविद्या खण्ड के परिभाषाकोश परिशिष्ट में **'तारक ब्रह्म-तारक यंत्र'** शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है। उसके दर्शन की विधि दो प्रकार की बताई गई है- **(अ) मूर्त तारक (ब) अमूर्त तारक।** इन तारक विधियों को समझने से पूर्व तारक शब्द के अर्थ को समझ लेना आवश्यक है। प्रथम तो समस्त दु:खों से तारने वाले ब्रह्म को तारक कहते हैं और द्वितीय आँखों (नेत्रों) की पुतलियों (तारों) को भी तारक कहते हैं। जिस प्रकार हम नेत्रों की पुतलियों (तारकों) से ब्रह्माण्ड स्थित सूर्य और चन्द्र आदि का दर्शन करते हैं, उसी प्रकार अपने सिर रूपी ब्रह्माण्ड के मध्य में विद्यमान सूर्य एवं चन्द्र का निर्धारण कर उनका अन्त: दृष्टि से दर्शन करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। यही तारक अनुसन्धान कहलाता है- **अक्ष्यन्तस्तारयोश्चन्द्रसूर्यप्रतिफलनं ..... तस्मादन्तर्दृष्ट्या तारक एवानुसंधेय:** (अद्वयता० ९)। इसी पुरुषार्थ को तारक योग कहते हैं। तारक योग पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध भेद से दो प्रकार का है। पूर्वार्द्ध तारक और उत्तरार्द्ध को अमनस्क (मन:शून्य अवस्था) कहते हैं- **तत्तारकं द्विविधं पूर्वार्धतारकमुत्तरार्धममनस्कं चेति** (अद्वयता०८)। पूर्वार्द्ध 'तारक' के पुन: दो भेद हैं-१.मूर्त तारक २. अमूर्त तारक (जिनका संकेत ऊपर किया जा चुका है)। इनमें मूर्त या मूर्ति तारक (तारक दर्शन की विधि) वह है, जिसमें इन्द्रियों के अन्त (मनश्चक्षु) में तारक ब्रह्म-प्रकाश का ध्यान किया जाता है तथा अमूर्त या अमूर्ति तारक वह है, जिनमें दोनों भृकुटियों के बाहर एक निश्चित दूरी पर उसका दर्शन किया जाता है- **तत्तारकं द्विविधं मूर्तितारकममूर्तितारकं चेति। यदिन्द्रियान्तं तन्मूर्तिमत्। यद्भ्रूयुगातीतं तदमूर्तिमत्** (अद्वयता० १०)। अन्त: दृष्टि (मनश्चक्षु,) से दर्शन करते समय व बाहर भ्रूयुगल से कुछ दूरी पर, दोनों स्थितियों में मन को संयुक्त रखना पड़ता है। मूर्त तारक में मन सहित नेत्रों की अन्तर्दृष्टि से देखा जाता है और अमूर्त तारक में मन सहित भ्रूयुगल से बाहर (एक निश्चित दूरी पर) उस तारक प्रकाश रूप ब्रह्म के दर्शन का अभ्यास किया जाता है-**उभयमपि मनोयुक्तमभ्यसेत्। मनोयुक्तान्तरदृष्टिस्तारकप्रकाशाय भवति** (मं०ब्रा०उ० १.३.२)। यह तारक योग का पूर्वार्द्ध हुआ। तारक योग का उत्तरार्द्ध तो अमनस्क स्थिति में किया जाता है। इन स्थितियों को अन्तर्लक्ष्य, बहिर्लक्ष्य और मध्यलक्ष्य कहते हैं। जिनका वर्णन १०८ उपनिषद् ब्रह्मविद्या खण्ड के परिभाषा कोश परिशिष्ट में **'लक्ष्यत्रय'** शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है, वहाँ देखा जा सकता है।

२०८. मूलकन्द—द्र०-नवचक्र।

२०९. मूलबन्ध—द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड -बन्ध।

२१०. मृगतृष्णा-मृगमरीचिका—मृगतृष्णा और मृगमरीचिका शब्दों का प्रयोग परस्पर पर्यायवाची शब्दों के रूप में होता है। कोश ग्रन्थों में इसको इस प्रकार परिभाषित किया गया है- **मृगतृष्णा ..... जलाभासत्वात् मृगाणां तृष्णा विद्यतेऽस्यां** (हि०वि०को०खं० १८ पृ० २४४) अर्थात् जल अथवा जल की लहरों की वह मिथ्या प्रतीति मृगतृष्णा है, जो कभी-कभी मरुभूमि में कड़ी धूप (सूर्य की तीव्र रश्मियाँ-मरीचिकाएँ) पड़ने से प्रतीत होती है। गर्मी के समय में वायु की तहों का घनत्व उष्णता के कारण असमान हो जाता है, तब पृथिवी के निकट की वायु अधिक गर्मी पाकर ऊपर को उठना चाहती है; किन्तु ऊपरी तहें उसे उठने नहीं देतीं। इसलिए वायु की लहरें पृथिवी के समानान्तर बहने लगती हैं, यही लहरें दूर से जल धारावत् दृश्यमान होती हैं। मृग इसे देखकर उसी प्रकार भ्रमित हो जाते हैं, जिस प्रकार कोई रज्जु में सर्प का (अज्ञान के आवरण और विक्षेप शक्तियों द्वारा) आभास पाकर भयभीत हो जाते हैं। मृग उसे जल समझकर पीने के लिए दूर-दूर तक दौड़ते हैं; किन्तु वहाँ जाने पर निराशा ही मिलती है। इसीलिए इसे मृग-तृष्णा या मृग-मरीचिका कहते हैं। इसकी संगति बिठाते हुए प्राय: लौकिक भोग-सुखों को मृगमरीचिका कहते हैं; क्योंकि उनके प्राप्त होने पर भी शाश्वत शान्ति नहीं मिलती, वरन् मन और अधिक पाने की लालसा में अशान्त हो जाता है। महोपनिषद् में ऋभु-निदाघ संवाद में निदाघ कहते हैं— हे पिता! हे गुरु! मृगमरीचिका के सरोवर में खड़े होकर भी मुझमें भोग-लिप्सा की स्फुरणा नहीं हो रही है। अत: आप मुझे अतिशीघ्र तत्त्वज्ञानात्मक बोध करायें-**स्फुरन्ति हि न भोगाशा मृगतृष्णासर:स्वपि। अतो मां .....वै गुरो** (महो० ३.५६)।

२११. मृत्युञ्जय—द्र०-अर्धनारीश्वर।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

२१२. मेधा—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२१३. यज्ञसूत्र—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२१४. यज्ञस्तोम—द्र०-यज्ञीय उपकण एवं क्रियाएँ।

२१५. यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ-

क. अन्तर्वेदिका— श्रौत यज्ञों के अन्तर्गत प्राय: सभी में यज्ञशाला के अन्दर के निर्माण में विभिन्न प्रकार के कुण्ड, विभिन्न अग्नियों के लिए स्थान, होता, अध्वर्यु, ब्राह्मणाच्छंसी, ब्रह्मा, उद्गाता आदि ऋत्विजों के लिए स्थान के अतिरिक्त 'वेदि' का निर्माण भी किया जाता है। यह प्राय: यज्ञशाला के मध्य में होती है। यज्ञ वैभिन्य से इसका परिमाप पृथक्-पृथक् होता है, जैसे-अग्नि चयन याग सुपर्णचिति में वेदि का अग्रभाग पूर्व दिशा में और पीछे का भाग पश्चिम दिशा में होता है। वेदि की कल्पना एक सुन्दर नारी के रूप में की गई है, इसलिए उसके अंगों की संरचना में सौन्दर्य का विशेष ध्यान रखा जाता है- **योषा वै वेदि:** (श०ब्रा० १.२.५.१५)। इसका पूर्वी सिरा कम चौड़ा होता है। पश्चिम छोर को अंस कहते हैं। पूर्वी छोर के मध्य-बिन्दु से लेकर उत्तरी भाग के अन्तिम बिन्दु पर्यन्त मध्य के भाग को उत्तर अंस कहते हैं। इसी प्रकार दक्षिण भाग के अन्तिम बिन्दु पर्यन्त मध्य स्थल को दक्षिण अंस की संज्ञा प्रदान की गई है। इस वेदि (वेदिका) के अन्दर के भाग को अन्तर्वेदि या अन्तर्वेदिका कहते हैं; किन्तु इसके विषय में कहीं विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं होता। श्रौत कोश में अग्निष्टोम याग के अन्तर्गत अन्तर्वेदि का उल्लेख इन शब्दों में है- **तस्यार्धमन्तर्वेदि स्यादर्धं बहिर्वेदि ..... अथो अपि सर्वमेवान्तर्वेदि स्यात्** (श्रौ०को०खं० २ पृ० १७३)। हिन्दी विश्वकोश में अन्तर्वेदि को इन शब्दों में परिभाषित किया गया है-'**अन्तर्गता वेदिर्यज्ञभूमिर्यस्मिन् देशे**' अर्थात् अपने मध्य परिष्कृत बहुयज्ञ भूमि रखने वाला देश। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में शरीर यज्ञ के अन्तर्गत विभिन्न यज्ञीय क्रियाओं व यज्ञ भूमि स्थलों का आलङ्कारिक उल्लेख करते हुए उपनिषद्कार ने शरीर को वेदि और नासिका को अन्तर्वेदि कहा है- ..... **समानो मैत्रावरुण: शरीरं वेदि: नासिकाऽन्तर्वेदि: .....समाहिता:** (प्रा०हो० २२)।

ख. अभिषेक— अभिषेक शब्द सामान्यत: जल छिड़कने के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जो विभिन्न प्रयोजनों के लिए छिड़का जाता है, जैसे- किसी राजा के सिंहासनारूढ़ होने के समय किया जाने वाला अभिषेक राज्याभिषेक कहलाता है। यज्ञादि के अन्त में शान्ति के लिए किया जाने वाला अभिषेक या स्नान, शान्ति अभिषिञ्चन या शान्ति अभिषेक कहलाता है। शिवलिङ्ग पर दुग्धादि द्वारा अभिषेक करने को रुद्राभिषेक कहते हैं। हिन्दी विश्वकोश खण्ड २ पृ० १४ में अभिषेक शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार निर्दिष्ट है-'**अभिषेचनं अभि-सिच-भावे घञ्**' अर्थात् शास्त्रीय विधानपूर्वक शान्ति के लिए सेचन, अधिकार पाने के लिए स्नान, मन्त्र से सिर पर जल छिड़क कर मार्जन, कर्तव्य कर्म के अन्त में शान्ति स्नान, पुरश्चरण के अन्तर्गत मन्त्र द्वारा सिर पर जल छिड़कने का तीसरा काम तथा मन्त्र दीक्षा ग्रहण करते समय दस प्रकार के संस्कारों में पाँचवाँ संस्कार अभिषेक कहलाता है। वाजपेय, सौत्रामणी आदि यागों में अभिषेक का वर्णन प्राप्त होता है। का०श्रौ०सू० १९.४.१४ में सौत्रामणी याग के अन्तर्गत वसाहोम के पश्चात् अवशिष्ट वसा से यजमान का अभिषेक करने का निर्देश इन शब्दों में उल्लिखित है- **सर्वसुरभ्युन्मृदितम्, शेषैरभिषिञ्चति।** इसी प्रकार वाजपेय याग में भी हवन के उपरान्त अवशिष्ट चरु से अभिषेक का विधान शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है- **अथैनं परिशिष्टेनाभिषिञ्चति** (श०ब्रा० ५.२.१.१२)। उपनिषदों में शिवलिङ्ग पर (रुद्राभिषेक) अभिषेक करने तथा गुरु अभिषेक और महेश्वर के चरणामृत से समस्त पापों के धुल जाने का वर्णन है- **लिङ्गाभिषेकं निर्माल्यं गुरोरभिषेकतीर्थं महेश्वरपादोदकं जगन्मालिन्यं क्षालयन्ति** (रुद्र०)।

ग. अवभृथ स्नान— किसी यज्ञ के अन्त में किये जाने वाले स्नान को अवभृथ स्नान कहते हैं,इसमें कुछ कर्मकाण्ड भी समाविष्ट रहते हैं। इसे प्रायश्चित्त स्नान भी कहते हैं। हिन्दी विश्वकोश खण्ड २ पृ० २९० में अवभृथ शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार निरूपित है- '**अव अवसाने बिभर्ति पोषयति यज्ञम्**' अर्थात् प्रधान यज्ञ समाप्त होने पर दूसरे यज्ञ का आरम्भ, दीक्षान्त यज्ञ, होम विशेष, इसे ही अवभृथ इष्टि भी कहते हैं। यह अवभृथ इष्टि या याग जलाशय पर यजमान द्वारा सपत्नीक सम्पन्न किया जाता है, जिसे अध्वर्यु आदि ऋत्विज् सम्पन्न कराते हैं, तत्पश्चात् अध्वर्यु यजमान दम्पति को जलाशय में स्नान के लिए उतारता है। वहाँ उनके स्नान करते समय भी मन्त्रोच्चारणपूर्वक विभिन्न क्रियाएँ सम्पन्न कराता है, यही अवभृथ स्नान है। अभिप्राय यह है कि अवभृथ याग अथवा अवभृथ इष्टि के समय किया जाने वाला स्नान

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

www.awgp.org | www.akhandjyoti.org

अवभृथ स्नान कहलाता है। अवभृथ स्नान के उपरान्त वस्त्र धारण करते हैं-**अवभृथवत्स्नात्वा वासोऽपासनम्** (का०श्रौ० १९.५.१६)। इसके पश्चात् यजमान यज्ञशाला में आकर आहवनीय में और पत्नी गार्हपत्य में समिधाधान करते हैं- **समिधमादायाहवनीयेऽभ्यादधाति** (का०श्रौ० १५.९.१९)। तत्पश्चात् यजमान आदित्येष्टि, मैत्रावरुणी पयस्येष्टि, सान्तपनीयेष्टि आदि विहित इष्टियाँ सम्पन्न करके यज्ञ के शेष कार्य सम्पन्न करते हैं। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में शरीर यज्ञ का वर्णन करते हुए शरीर के इन्द्रियों व गुणों आदि को ही यज्ञ की विभिन्न क्रियाएँ-उपकरण निरूपित किया गया है, जैसे- अहिंसा को इष्टकाएँ, त्याग को दक्षिणा तथा मृत्यु को ही अवभृथ स्नान कहा है- **अहिंसा इष्टयः त्यागो दक्षिणा अवभृथं मरणात् ..... समाहिताः** (प्रा०हो० २२)।

घ. **आज्यभाग**— कोशग्रन्थों में आज्य भाग शब्द की व्याख्या इस प्रकार निर्दिष्ट है- '**आज्यस्य भागः**' अर्थात् घृत का एक देश, घी का कोई हिस्सा, घृत की वैदिक आहुति आदि। आज्य की वैदिक आहुति का व्यावहारिक स्वरूप यह है कि ऋग्वेदी जिस आज्य आहुति को स्रुवा द्वारा उत्तराभिमुख होकर अग्नि के निमित्त समर्पित करते हैं, उसे आज्य भाग कहते हैं। दक्षिण की ओर सोमदेव के निमित्त प्रदान की जाने वाली आहुति भी आज्य भाग ही कहलाती है। यजुर्वेदी लोग अग्नि के उत्तर-पूर्वार्द्ध में 'अग्नये स्वाहा' कहकर तथा दक्षिण- पूर्वार्द्ध में 'सोमाय स्वाहा' कहकर जो आहुति प्रदान करते हैं, उसे भी आज्य भाग ही कहा जाता है। इन दोनों मन्त्रों के अन्त में इदमग्नये, इदं सोमाय का उच्चारण पात्र में आज्य भाग रखते हुए किया जाता है। कात्यायन श्रौत सूत्र में पौर्णमास याग के क्रम में उल्लेख है कि आज्य भाग (आज्याहुति) होतृवरण और पञ्च प्रयाज के बाद ही किया जाता है। इसके पश्चात् प्रधान याग स्विष्टकृद्याग आदि सम्पन्न किये जाते हैं। आज्य भाग की विस्तृत प्रक्रिया कात्यायन यज्ञ पद्धति विमर्श १९८८ संस्करण के पृ० ११४ पर देखी जा सकती है। आज्य रखने के पात्र को आज्यस्थाली कहते हैं। आज्याहुति हेतु आज्यस्थाली में से चार स्रुवा आज्य (घृत) जुहू में, आठस्रुवा उपभृत में और चार स्रुवा ध्रुवा में भरने का उल्लेख भी कात्यायन श्रौत सूत्र ग्रन्थ में है- **स्रुवेणाज्यग्रहणं चतुर्जुह्वा .....। अष्टावुपभृति .....। ध्रुवायाञ्च जुहूवत्** (का०श्रौ० २.७.९-१०,१५)। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में शरीर यज्ञ के अन्तर्गत दाहिने हाथ को स्रुवा और बायें हाथ को आज्यस्थाली कहा गया है- **दक्षिणहस्तः स्रुवः सव्य आज्यस्थाली .....** (प्रा०हो० २२)। इसी प्रकार नेत्रों को आज्य भाग तथा गले (गर्दन) को धारा कहा गया है- **चक्षुषी आज्यभागौ ग्रीवाधारा ..... समाहिताः** (प्रा०हो० २२)।

ङ. **आज्यस्थाली**—द्र०-आज्यभाग।

च. **द्रोणकलश**— यज्ञीय कार्यों में विभिन्न प्रकार के पात्र-उपकरण प्रयुक्त होते हैं। द्रोणकलश का प्रयोग प्रायः उन यज्ञों में होता है, जिनमें सोम का उपयोग किया जाता है। द्रोणकलश विकङ्कत काष्ठ (जिसे कटाई, किंकिणी और बंज कहते हैं, जिसके फल बेर के समान खट्टे-मीठे, पत्तियाँ व डालें कँटीली होती हैं, जिससे स्रुवा का निर्माण भी होता है।) से निर्मित एक आयताकार पात्र होता है, जो मध्य में गर्तवाला और चारों ओर परिधि वाला होता है। इसकी लम्बाई अठारह अङ्गुल और चौड़ाई बारह अङ्गुल होती है- **अतिरिक्तं वा एतत् पात्राणां यद् द्रोणकलशः** (कपि०क०सं० ४४.९)। इसी प्रकार कात्यायन श्रौत सूत्र में भी द्रोण कलश के सोमपात्र होने का संकेत है- **आहवनीयं गच्छन्त्यादाय ग्रावद्रोणकलशसोमपात्राणि** (का०श्रौ० ८.७.४)। द्रोणकलश नामक पात्र में सोमरस छाना जाता है। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में शरीर यज्ञ के अन्तर्गत यज्ञीय क्रियाओं और उपकरणों के आलंकारिक वर्णन में उपनिषद्कार ने मूर्धा को द्रोणकलश की संज्ञा प्रदान की है- **शरीरं वेदिः नासिकाऽन्तर्वेदिः मूर्धाद्रोणकलशः पादो रथः .....समाहिताः** (प्रा०हो० २२)।

छ. **यूप**— श्रौत यागों में विभिन्न प्रयोजनों के अनुसार यूप का प्रयोग किया जाता है। पशु यागों में पशु बन्धन के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। जबकि अग्निष्टोम में यजमान दीक्षा प्रकरण में यूपच्छेदन क्रिया की जाती है- **दीक्षासु यूपच्छेदनं, दीक्षासु महावीर संभरणं ..... प्रथम दिन एव** (दे०प०पृ० २४७)। यूप पलाश (ढाक), बिल्व, खदिर, देवदारु आदि काष्ठों के बनाये जाते हैं, जो ३, ५ से लेकर २१ अरत्नि (हाथ) तक लम्बे होते हैं। उपर्युक्त अग्निष्टोम याग में प्रयुक्त होने वाला यूप पलाश या खदिर का होता है, जिसकी लम्बाई ५ अरत्नि (हाथ) होती है- **.....पालाशं बहुलपर्णमशुष्काग्रमूर्ध्वसकलशाखं .....करोत्युपरवर्जम्** (का०श्रौ० ६.१.८,२६)। वाजपेय यज्ञ में यजमान और यजमान पत्नी द्वारा नेष्टा और अध्वर्यु के सहयोग से यूपारोहण करने का विधान है। यजमान यूप की इतनी ऊँचाई तक चढ़ता है कि उसका सिर यूप से अधिक ऊँचा हो जाये-**शिरसायूपमुज्जिहीते** (का०श्रौ० १४.५.१०)। अश्वमेध यज्ञ में इक्कीस यूप प्रयुक्त होते हैं- **एकविंशतिर्यूपाः** (का०श्रौ० २०.४.१६)। प्रत्येक यूप २१ अरत्नि लम्बा

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

www.awgp.org | www.akhandjyoti.org Sadhanakhand

होना चाहिए। प्रत्येक यूप में एक-एक पशु नियोजन और प्रोक्षण होता है। अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता को यूप के निकट पशु लाने का प्रैष (आदेश) करते हैं, पशु आने पर अध्वर्यु उसका यूप में नियोजन और प्रोक्षण करते हैं- **पशवे वै यूपमुच्छ्रयन्ति** (शत०ब्रा० ३.७.२.४)। यूप के खण्ड को यूप शकल कहते हैं, जिसे वज्ररूप कहा जाता है-**वज्रो वै यूपशकलः** (शत०ब्रा०३.८.१.५)। यूप की महत्ता बताते हुए यूप लक्षण परिशिष्टकार ने लिखा है- **यथैवात्मा तथा यूपो यूपे ह्यात्माप्रतिष्ठितः। आत्मा वै यजमानस्य यूपत्वमनुगच्छति** (यू०प० ४)। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में शरीर यज्ञ के अन्तर्गत ओंकार को यूप की संज्ञा प्रदान की गई है-**ओंकारो यूपः आशा रशना** (प्रा०हो० २२)।

ज. **स्रुवा**— इससे यज्ञाग्नि में आज्य (घृत) की आहुति प्रदान की जाती है। इसे स्रुव और स्रुवा भी कहते हैं। यह एक अरत्नि लम्बा और आगे घृत लेने हेतु अङ्गुष्ठ पर्वमात्र गर्त वाला होता है। यह विकङ्कत काष्ठ से निर्मित होता है। विकङ्कत काष्ठ से स्रुवा बनने के कारण अमरकोश में इस काष्ठ का एक नाम स्रुवा वृक्ष भी है। इसके अन्य पर्यायवाची शब्दों में स्वादुकण्टक, ग्रन्थिल, मधुपर्णी, किङ्किणी, व्याघ्रपात्, स्रुवाद्रुम आदि हैं। प्रख्यात कोश ग्रन्थ शब्द कल्पद्रुम में इसे बदरीसदृश सूक्ष्मफलवृक्ष कहा गया है, जिससे यह बेर की प्रजाति का प्रतीत होता है। भाव प्रकाश में इसे सर्वदोषजित् काष्ठ ओषधि रूप में वर्णित करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है- **स एव यज्ञवृक्षश्च कण्टकी व्याघ्रपादपि। विकङ्कतफलं पक्वं मधुरं सर्वदोषजित्** (श०क०खं० ४ पृ० ३७०)। स्रुवा खदिर काष्ठ से भी निर्मित होता है। इसका उल्लेख का०श्रौ० में इस प्रकार है-**खादिरः स्रुवः** (का०श्रौ० १.३.३३)। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् (२२) में शरीर यज्ञ के अन्तर्गत दक्षिण हस्त को स्रुव या स्रुवा कहा गया है- **पादो रथः दक्षिणहस्तः स्रुवः**।

झ. **सूक्तवाक्**— दर्शपौर्णमास आदि श्रौत यागों में (स्वस्तिवाचन-कल्याणकारी वाचन क्रियाओं के अन्तर्गत) सूक्तवाक् और शंयोर्वाक् या शंयुवाक् पाठ किये जाते हैं। आहवनीय कुण्ड के निकट अध्वर्यु पलाश समिधा से बनी पश्चिमी परिधि को स्पर्श करके आग्नीध्र से आश्रावण (संवाद) करता है। तदुपरान्त अध्वर्यु होता को सूक्तवाक् मंत्र- **इदं द्यावापृथिवी** .....(हौ०प० १.१३) आदि पाठ करने की प्रैष (आज्ञा) देता है। इसके पश्चात् होता सूक्तवाक् का पाठ करता है। इसी प्रकार आग्नीध्र और अध्वर्यु के क्रमशः 'संवदस्व' और 'आगानग्गीत' कहने पर अध्वर्यु होता को शंयुवाक् अथवा शंयोर्वाक् (शुभवचन) पढ़ने का प्रैष करता है- **संवदस्वागानग्गीदगञ्छावय श्रौषट्** (का०श्रौ० ३.६.१५), **तच्छंयोरावृणीमहे** (शां० श्रौ० १.१४.२१)। होता इस मंत्र 'तच्छंयो०' से शंयोर्वाक् पाठ करता है। यह मंत्र शंयुवाक् संज्ञक है। कात्यायन श्रौत सूत्र में यह उल्लेख इस प्रकार है-**शंय्वन्तं भवति** (का०श्रौ० ३.७.१०) प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में शरीर यज्ञ प्रकरण के अन्तर्गत दाँत और ओष्ठों को सूक्तवाक् और तालु को शंयोर्वाक् बताया गया है-**दन्तोष्ठौ सूक्तवाकः तालुः शंयोर्वाकः ..... समाहिता** (प्रा०हो० २२)।

ञ. **शंयोर्वाक्**—द्र०-सूक्तवाक्।

ट. **यज्ञस्तोम**— स्तोम शब्द प्रायः स्तुति के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। इसी कारण वैदिक संहिताओं में देवों के प्रति स्तोम (स्तुतियाँ) ही संगृहीत हैं। वैसे स्तुति के अतिरिक्त इसके पर्यायवाची शब्द-गुणगान, यज्ञ, समूह और राशि आदि भी हैं। सामगान के अन्तर्गत स्तुतिपरक छन्दों को स्तोम कहा जाता है-**यदृचि तद्वेत्था३इति स्तोमो वा एष तस्य साम्नो यद्वयं सामोपास्महे इति** (जै०ब्रा० १.४.३.६)। यज्ञों में देवों के निमित्त किये जाने वाले गुणगान और स्तुतियों को यज्ञस्तोम कहा जाता है। महोपनिषद् में उल्लेख है कि सृष्टि के प्रारम्भ में एकमात्र नारायण ही थे। उनको एकाकी रहना उचित न लगा, तब उन्होंने अपने ही अन्दर स्थित विराट् पुरुष का संकल्प पूर्वक ध्यान किया, वह ध्यान ही यज्ञस्तोम हुआ।....**एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा.....। स एकाकी न रमते। तस्य ध्यानान्तःस्थस्य यज्ञस्तोममुच्यते** (महो० १.१-४)। अभिप्राय यह है कि सृष्टि यज्ञ-सृष्टि विस्तार में यह ध्यान रूपी स्तुति ही यज्ञस्तोम कहलाई।

ठ. **धिष्ण्य**—कोशग्रन्थों में धिष्ण्य इस प्रकार परिभाषित है- **धिष्ण्य ..... धृष्णीति प्रगल्भो भवतीति** (हि०वि०को०खं० ११ पृ० २३१)। इसके अनुसार धिष्ण्य के कई अर्थ हैं, जैसे-स्थान, जगह, गृहधर, अग्नि, नक्षत्र, शक्ति, उल्काभेद, प्राणाभिमानी देव आदि। उपर्युक्त अर्थों में से स्थान, गृह, अग्नि वाले अर्थों में ही धिष्ण्य शब्द प्रयुक्त हुआ है। कात्यायन श्रौतसूत्र, शतपथ ब्राह्मण, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, तैत्तिरीय संहिता आदि ग्रन्थों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि 'धिष्ण्य' प्राचीन अग्निष्टोम आदि यागों में यज्ञशालान्तर्गत सदोमण्डप में विशिष्ट खर स्वरूप (कुण्डस्वरूप) बनाये जाते थे। अग्निचयन आदि यागों में इन पर ईंटों (इष्टकाओं) का चयन भी किया जाता था-**धिष्ण्यान्निवपति** (श०ब्रा० ९.४.३.१)। धिष्ण्य आठ प्रकार के थे-आग्नीध्रीय, होत्रीय, प्रशास्त्रीय, ब्राह्मणाच्छंसीय, पौत्रीय, नेष्ट्रीय,

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

अच्छावाकीय और मार्जालीय। इनमें महावेदि के उत्तरी एवं दक्षिणी ओर आग्नीध्रीय और मार्जालीय धिष्ण्य निर्मित किया जाता है। सदोमण्डप के पूर्वी द्वार की पश्चिम दिशा में एक प्रक्रम (कदम) स्थान छोड़ने के उपरान्त पृष्ठ्या के ऊपर होत्रीय धिष्ण्य निर्मित किया जाता है। इसी के उत्तर में क्रमशः इसी के समानान्तर ब्राह्मणाच्छंसीय,पौत्रीय, नेष्टीय और अच्छावाकीय धिष्ण्यों का निर्माण किया जाता है। होत्रीय धिष्ण्य के उत्तर में चार अरत्नि और डेढ़पग की दूरी पर प्रशास्त्रीय (अथवा मैत्रावरुणीय) धिष्ण्य बनाया जाता है। समस्त धिष्ण्यों का परिमाप अठारह अंगुल चतुष्कोण अथवा मण्डलाकार तथा छः अंगुल ऊँचा होता है। प्रत्येक दो धिष्ण्यों की दूरी अठारह अंगुल होनी चाहिए। ब्राह्मण ग्रन्थों में धिष्ण्य के रूप में बने स्थल-वेदी या कुण्ड विशेष पर विशिष्ट आहुतियाँ प्रदान करने का भी विधान मिलता है। शतपथ ब्राह्मण ४.३.४.७ में अग्निष्टोम याग के अन्तर्गत उल्लेख है कि अध्वर्यु आग्नीध्रीयशाला की धिष्ण्या (धिष्ण्य) पर आज्य से आहुति प्रदान करके शेष आज्य से अन्य धिष्ण्याओं पर आहुति दे- .....**प्रचरणीति स्रुग्भवति। तस्यां चतुर्गृहीतमाज्यं गृहीत्वाऽध्वर्युः शालाकैर्धिष्ण्यान्व्याघारयति।** गरुडोपनिषद् में गरुड़देव की स्तुति करते हुए उनके नखों और खुरों को धिष्ण्य स्थित अग्नि की संज्ञा प्रदान की गई है- **सुपर्णोऽसि ..... धिष्णिया शफा यजूंषि नाम-** (गरुड० ११)।

२१६. **यन्त्र**—सामान्यतः यन्त्र शब्द का प्रयोग उपकरण के अर्थ में किया जाता है और इसी अर्थ में यह शब्द सर्वाधिक प्रचलित भी है; किन्तु कोश ग्रन्थों में इसके कई अर्थ हैं। हिन्दी विश्वकोश में यन्त्र की व्युत्पत्ति इस प्रकार उपन्यस्त है- **यन्त्र .....यच्छत्यत्रेति यम .....इति त्र।** इसके अनुसार यन्त्र शब्द- पात्रभेद, नियन्त्रण, अग्नियन्त्र, (तोप या बन्दूक) दारुयन्त्रादि, लकड़ी की कल (मशीन) और देवादि अधिष्ठान आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। आध्यात्मिक प्रयोजनों में यन्त्र देवता का अधिष्ठान (स्थापन) करके ही देवता की पूजा करनी चाहिए। यन्त्र सोने, चाँदी, ताम्र और भोजपत्रों पर उस-उस देवता के मन्त्र के बीज मन्त्रों आदि से लिखे जाते हैं। भिन्न-भिन्न देवताओं के अनुसार यन्त्र लेखन की सामग्री बदल जाती है। जैसे-केशर, गोलोचन (गोरोचन), अंगूर, कस्तूरी और चन्दन आदि द्रव्यों द्वारा स्वर्ण कलम से यन्त्र लिखने का विधान है-**काश्मीररोचना द्राक्षा मृगेभमदचन्दनैः। विलिखेद्धेमलेखन्या यन्त्राणि तानि देशिकः** (तन्त्रसार से संकलित-हि०वि०को० खं० १८ पृष्ठ ४८९)। उपयोगिता के आधार पर यन्त्र के दो भेद निर्दिष्ट हैं- १. यन्त्र धारण २. पूजायन्त्र। जो यन्त्र लिखकर पहनते हैं, उसे धारण यन्त्र तथा जिस यन्त्र को अंकित कर उससे देवता की पूजा की जाती है, उसे पूजा यन्त्र कहते हैं। यन्त्र बनाते समय उसके कई संस्कार करने होते हैं, जिनका विस्तृत वर्णन तन्त्रसार जैसे तन्त्र ग्रन्थों में है। ये यन्त्र-दुर्गा यन्त्र, लक्ष्मी यन्त्र, त्रिपुरा यन्त्र, श्रीविद्या यन्त्र, गणेश यन्त्र, गोपाल यन्त्र, शिव यन्त्र, मृत्युञ्जय यन्त्र, नृसिंह यन्त्र, काली यन्त्र, तारा यन्त्र, स्वस्तिक यन्त्र, गायत्री वीसा यन्त्र और राम यन्त्र आदि होते हैं।

रामपूर्वतापिन्युपनिषद् में राम की अर्चना यन्त्र के पूजनपूर्वक करने का उल्लेख है; क्योंकि यन्त्र के बिना की गई पूजा से देवता प्रसन्न नहीं होते-**सोऽभयस्यास्य देवस्य विग्रहो यन्त्रकल्पना। विना यन्त्रेण चेत्पूजा देवता न प्रसीदति** (रामपूर्व० १.१३)। आयुर्वैदिक औषधियों के निर्माण में भी कई प्रकार के यन्त्रों का प्रयोग होता है; पर ये यन्त्र लिखे हुए नहीं, वरन् उस प्रक्रिया के द्योतक हैं, जिनसे विभिन्न औषधियाँ तैयार की जाती हैं- जैसे बालुका यन्त्र, दोला यन्त्र, स्वेदन यन्त्र, भूधर यन्त्र आदि। इसीप्रकार खगोल विज्ञान में ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति देखने के लिए विभिन्न यन्त्रों का निर्माण किया जाता है, जैसे- गोल यंत्र, स्वयंबाहगोल यन्त्र, शंकु यन्त्र, यष्टि यन्त्र, नाड़ीवलय यन्त्र, फलक यन्त्र, धनुर्यन्त्र आदि।

२१७. **यूप**—द्र०- यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।

२१८. **योग**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२१९. **योगनिद्रा**—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

२२०. **योगात्मा**—द्र०-ज्ञानखण्ड-योग।

२२१. **योगी**—द्र०-ज्ञानखण्ड-योग।

२२२. **राजयोग**—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।

२२३. **रुद्र**—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड-त्र्यम्बक।

२२४. **रुद्रग्रन्थि**—योगशास्त्रों में कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रियाएँ विस्तार से वर्णित हैं। योग कुण्डल्युपनिषद् में योगाभ्यास से कुण्डलिनी बोध प्रकरण में प्राण प्रवाह के ऊर्ध्वगामी बनने और प्राण-अपान दोनों के कुण्डलिनी में मिलने से उसकी

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

www.awgp.org | www.akhandjyoti.org Sadhanakhand

उष्णता से तप्त होकर वायु के निरन्तर दबाव से कुण्डलिनी के सीधी होकर सुषुम्ना मुख में प्रवेश करने का वर्णन है- **प्राणस्थानं ततो वह्निः प्राणापानौ च सत्वरम्। मिलित्वा कुण्डलीं याति .....सुषुम्ना वदनान्तरे** (१.६५-६६)। इसके उपरान्त कुण्डलिनी शक्ति ग्रन्थित्रय भेदन करके सहस्रार में गमन करती है। ये तीन ग्रंथियाँ ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि नामों से जानी जाती हैं। कुण्डलिनी क्रमशः इन तीनों का भेदन करके ऊर्ध्वगमन करती है। सर्वप्रथम वह 'ब्रह्मग्रन्थि' जिसे मूलाधार चक्र या ब्रह्मचक्र में स्थित मानते हैं एवं जो रजोगुण से उत्पादित है, का भेदन करके सुषुम्ना के मुख में विद्युत् शिखा की भाँति तीव्रता से ऊर्ध्वगमन करती है- **ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा रजोगुणसमुद्भवम्। सुषुम्ना वदने शीघ्रं विद्युल्लेखेव संस्फुरेत्** (यो०कुं० १.६७)। योगराजोपनिषद् में भी प्रथम चक्र जिसमें ब्रह्मग्रन्थि विद्यमान है, को मूलाधार या ब्रह्मचक्र कहा गया है- **प्रथमं ब्रह्मचक्रं स्यात् त्रिरावृत्तं भगाकृति** (यो०रा०५)। इसके पश्चात् कुण्डलिनी हृदय चक्र (अथवा अनाहत चक्र) स्थित 'विष्णुग्रन्थि' का भेदन करती है- **विष्णुग्रंथिं प्रयात्युच्चैः सत्वरं हृदि संस्थिता** (यो०कुं० १.६८)। विष्णुग्रन्थि भेदन के उपरान्त साधक को परमानन्द की अनुभूति होने लगती है। यह तथ्य सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् में इस प्रकार है- **विष्णुग्रन्थेस्ततो भेदात्परमानन्दसम्भवः** (सौ०ल० २.७)। इसके पश्चात् कुण्डलिनी शक्ति ऊर्ध्वगमन करती हुई रुद्रग्रन्थि जो दोनों भौंहों के बीच आज्ञाचक्र में विद्यमान है, का भेदन करती हुई चन्द्र स्थान में पहुँच जाती है- **ऊर्ध्वं गच्छति यच्चान्ते रुद्रग्रन्थिं तदुद्भवम्। भ्रुवोर्मध्यं तु संभिद्य याति शीतांशुमण्डलम्** (यो०कुं० १.६८-६९)। इस प्रकार इन तीनों ग्रन्थियों में क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की शक्तियों का वास माना गया है। जो उत्पादन, पालन और संहार के देवता हैं। जो साधक उपर्युक्त क्रियाएँ करता है, उसके अन्दर सत्प्रवृत्तियों का उत्पादन, उनका पालन-संवर्धन और दुष्प्रवृत्तियों का दमन स्वाभाविक ढंग से होता रहता है।

गीताप्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित 'नित्यकर्म पूजा प्रकाश' ग्रन्थ में प्राणायाम प्रक्रिया के अन्तर्गत पूरक, कुम्भक और रेचक करते समय क्रमशः चतुर्भुज विष्णु का ध्यान नाभिक्षेत्र में, चतुर्मुख ब्रह्मा का ध्यान हृदय क्षेत्र में और श्वेत वर्ण शंकर का ध्यान ललाट क्षेत्र में करने का सचित्र उल्लेख है। यद्यपि उपर्युक्त कुण्डलिनी द्वारा ग्रन्थित्रय भेदन के क्रम में और इस प्राणायाम प्रक्रिया में देवों के स्थल व नाम के क्रम में कुछ भेद तो अवश्य है; पर इतना निश्चित है कि शरीर में इन तीनों शक्तियों का वास तो है ही । यौगिक क्रियाओं द्वारा इनका लाभ तो लिया ही जा सकता है।

२२५. **रुद्राक्ष**—द्र०-अर्धनारीश्वर।

२२६. **लक्ष्यत्रय**—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

२२७. **लययोग**—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

२२८. **लीलाविग्रह**—द्र०-कालातीत।

२२९. **वषट्**—द्र०-ज्ञानखण्ड -वषट्कार-हन्तकार।

२३०. **वह्नियोग**—भारतीय योग शास्त्र में विभिन्न प्रकार की साधनाओं का वर्णन है, जिनमें कुण्डलिनी जागरण की साधना अति महत्त्वपूर्ण है। इसकी सिद्धि से साधक सर्व समर्थ हो जाता है। कुण्डलिनी महाशक्ति की साधना में साधक को विभिन्न आयामों से गुजरना पड़ता है, जिनमें विविध आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्राएँ आदि सम्मिलित हैं। इसी क्रम में वह्नियोग (अग्नियोग) की सिद्धि को कुण्डलिनी साधना में महत्त्वपूर्ण सोपान माना गया है। योगचूड़ामण्युपनिषद् में उपनिषद्कार ने लिखा है- कुण्डलिनी महाशक्ति कन्द (उपस्थ के ऊपर और नाभि से नीचे) के ऊपर आठ कुण्डलियों की आकृति में व्याप्त होकर (अष्ट प्रकृति वाली होकर) ब्रह्म द्वार (सुषुम्ना) के मुख को ढक कर वहीं प्रसुप्तावस्था में रहती है, जो अग्नियोग (प्राणायाम प्रक्रिया) द्वारा जाग्रत् होकर प्रकाश रूप में मन और प्राण वायु के साथ सुषुम्ना नाड़ी के अन्दर होकर सुई की तरह ऊर्ध्वगमन करती है-**कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः। .....येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम्। मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी। प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह। सूचीवद् गात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया .....** (यो०चू० ३६-३९)। उक्त मन्त्रों में वर्णित 'वह्नियोग' सम्भवतः सूर्यभेदी प्राणायाम की प्रक्रिया ही है; क्योंकि इसमें सूर्यचक्र जाग्रत् होकर आन्तरिक अग्नि प्रदीप्त होती है। सूर्यभेदी प्राणायाम में भी यही भावना की जाती है कि नाभिस्थित सूर्यचक्र से अग्नि के समान तेज लपटें उठ रही हैं, वे सुषुम्ना नाड़ी (ब्रह्मद्वार), फेफड़ों, हृदय और कण्ठ आदि अवयवों को तेजस्वी बना रही हैं। चूँकि कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मद्वार (सुषुम्ना) के मुख को अवरुद्ध करके उस पर प्रसुप्त है और उसके जागरण में वह्नियोग (अग्नियोग) की भूमिका महत्त्वपूर्ण है,

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

इससे स्पष्ट है कि सूर्यभेदी प्राणायाम ही अग्नियोग सिद्ध करने का माध्यम है। हठयोग प्रदीपिका में कुण्डलिनी साधना के अन्तर्गत भानु के आकुञ्चन और अग्नि के वशवर्ती होने का उल्लेख है-**भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः। .....कुतः** (हठ०प्र० ३.११६)।

२३१. **वह्निशिखा—** वह्निशिखा का सामान्य अर्थ अग्नि की शिखा अर्थात् अग्नि की ज्योति अथवा ज्वाला है। कोशग्रन्थों में वह्निशिखा की व्युत्पत्ति इस प्रकार विवेचित है-**वह्निरिव शिखा यस्याः** (हि०वि०को० खं० २१ पृ० २३)। इसके अनुसार वह्निशिखा लाङ्गलिया, कलिहारी (कलियारी नामक विष), धातकी, धव का पेड़, प्रियङ्गु, गजपिप्पली या गजपीपल आदि को कहते हैं; किन्तु औपनिषदिक सन्दर्भ में इसका प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया गया है। चतुर्वेदोपनिषद् में ऋग्, यजु, साम और अथर्ववेद की उत्पत्ति विराट् पुरुष द्वारा विवेचित है। उस सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष विराट् पुरुष की स्थिति शरीर में बताते हुए उपनिषद्कार ने वह्निशिखा को इस प्रकार निरूपित किया है- विराट्पुरुष, कमलकोश के समान हृदय में अधोमुख होकर एक कोश के रूप में लटका है, जो शक्ति सम्पन्न है, उसके मध्य में श्रेष्ठ अग्नि (ज्योति-प्रकाश) स्थित है, जिसकी ज्वाला चतुर्मुखी है, उसके ही बीच में '**वह्नि शिखा**' (अग्नि की ज्योति) है, जो अणीय पर अवस्थित है, उसी अग्नि ज्योति अथवा वह्निशिखा अथवा श्रेष्ठ शिखा के मध्य में वह विराट् पुरुष परब्रह्म स्थित है- **पद्मकोशप्रतीकाशं लम्बत्याकोशसन्निभम्। हृदये चाप्यधोमुखं .....तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता। तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः** (च०वेद० ४-६)। ऐसा प्रतीत होता है कि यह वह्निशिखा हृदय स्थित परम ज्योति ही है, जिसे परमात्मा-परब्रह्म आदि कहते हैं।

२३२. **वाक्सिद्धि —द्र०-परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी।**

२३३. **वाजपेय यज्ञ—द्र०- अतिरात्र यज्ञ।**

२३४. **वाणी—द्र०-परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी।**

२३५. **विचारणा—द्र०-असंसक्ति।**

२३६. **विचारभूमिका—द्र०-असंसक्ति।**

२३७. **विदेहमुक्ति—द्र०-असंसक्ति।**

२३८. **विनियोग—द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड।**

२३९. **विरजा—** हिन्दी विश्वकोश में विरजा को वृक्ष, प्रेमिका, तीर्थ एवं नाड़ी के रूप में विवेचित किया गया है, यथा-१. कपित्थानी नामक वृक्ष २. ययाति की माता का नाम विरजा ३. शुक के पुत्र ऋक्ष वानर की पत्नी, जो विरजा प्रजापति की पुत्री थी। इसने सूर्य एवं इन्द्र से सुग्रीव एवं बाली को जन्म दिया। ४.श्रीकृष्ण की एक प्रेमिका। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार-एकबार श्री कृष्ण राधा को न देखकर विरजा के पास चले गये। यह सूचना मिलते ही राधा वहाँ पहुँचीं। श्री कृष्ण तो अन्तर्धान हो गये, विरजा को शाप देकर राधा ने नदी बना दिया। नदी के रूप में यह दाक्षिणात्य के महिसुर राज्य के अन्तर्गत महिसुर जिले की एक नदी के रूप में है। कावेरी नदी के दाहिने किनारे वालमुरि बाँध द्वारा इसका अस्तित्व प्रकट हुआ है। इसे कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् (अध्याय १.४) में भी नदी के रूप में विवेचित किया गया है- .....**स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति** अर्थात् वह (साधक) विरजा नदी के तट पर आकर उस नदी को भी संकल्प मात्र से लाँघ जाता है। गायत्री रहस्योपनिषद् में इसे गायत्री महामन्त्र की चौबीस शक्तियों में से एक शक्ति के रूप में कहा गया है- **प्रह्लादिनी प्रज्ञा विश्वभद्रा विलासिनी प्रभा शान्ता मा कान्तिः स्पर्शा दुर्गा सरस्वती विरूपा विशालाक्षी शालिनी व्यापिनी विमला तमोऽपहारिणी सूक्ष्मावयवा पद्मालया विरजा विश्वरूपा भद्रा कृपा सर्वतोमुखीति चतुर्विंशतिशक्तयो निगद्यन्ते** (गा०रह० ६)। क्षुरिकोपनिषद् के मं०क्र० १६ में इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि नाड़ियों के सदृश इसे भी नाड़ी के रूप में कहा गया है-'**सुषुम्ना तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी**' अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी परम तत्त्व में लीन रहती है और विरजा नाड़ी तो ब्रह्मरूपा है। इस प्रकार से उपनिषदों में यह 'विरजा' नदी, नाड़ी एवं गायत्री की चौबीस शक्तियों में से एक शक्ति के रूप में प्रतिपादित है।

२४०. **विराट्—द्र०- स्वराट्-विराट्।**

२४१. **विरूपाक्ष—द्र०-अर्धनारीश्वर।**

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

२४२. **विश्व**—द्र०-ज्ञानखण्ड-प्राज्ञ एवं ब्रह्मविद्याखण्ड-विज्ञानात्मा।

२४३. **विष्णुग्रन्थि**—द्र०-रुद्रग्रन्थि।

२४४. **वीतराग**— साधना की एक उच्चतम स्थिति, जिसमें राग-द्वेषादि समस्त वासनाओं का समापन हो जाता है। प्रख्यात कोशग्रन्थ हिन्दी विश्वकोश में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार वर्णित है- **'वीतो रागो विषयवासना यस्य'** (हि०वि०को० खं० २१ पृ० ७५५) अर्थात् जिसकी रागादि समस्त विषयवासनाएँ समाप्त हो गयी हैं, वह वीतरागी है। जिसने राग या आसक्ति का सम्यक् रूप से परित्याग कर दिया हो, उसे ही वीतराग योगी कहा गया है। भगवान् बुद्ध को भी वीतराग के नाम से जाना जाता है। जैनों के प्रधान महावीर का नाम भी वीतराग है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन को समझाते हुए कहा है- जो मनुष्य राग, भय एवं क्रोधादि से रहित अनन्यभाव से मेरे आश्रित हो जाते हैं, ऐसे वे ज्ञानरूप तप से पवित्र हुए मेरे ही स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। यथा- **वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः। बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः** (गी०४.१०)। योग सम्बन्धी उपनिषदों में भी उपनिषद्कार ने वीतराग का विस्तृत विवेचन किया है। जाबालदर्शनोपनिषद् में इसकी इस प्रकार विवेचना की गयी है- ..... **क्षीणेऽज्ञाने महाप्राज्ञ रागादीनां परिक्षयः। रागाद्यसंभवे प्राज्ञ पुण्यपापविमर्दनम्। तयोर्नाशे शरीरेण न पुनः संप्रयुज्यते** (जा०दर्श० ६.५०-५१) अर्थात् अज्ञान के नष्ट हो जाने पर राग-द्वेषादि का भी विनाश हो जाता है। राग आदि विषयों के न रहने पर पाप-पुण्य का भी विलय हो जाता है और पुण्य-पाप के न रहने से ज्ञानी मनुष्य को पुनः शरीर नहीं धारण करना पड़ता है। महोपनिषद् के छठे अध्याय के ६७ वें मन्त्र में वीतराग का विवेचन इस प्रकार किया गया है- **''अन्तः संत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः। बहिः सर्वसमाचारो लोके विहर विज्वरः''** अर्थात् (हे मनुष्यो!) सभी तरह की आशाओं को हृदय से निकालकर वीतराग तथा वासनारहित होकर बाह्य मन से सभी सांसारिक रीति-रिवाजों का सम्यक्रूप से पालन करते हुए जगत् में तापविहीन होकर विचरण करो। इस प्रकार हम देखते हैं कि साधना आत्मसाक्षात्कारयोग की चरम स्थिति की प्राप्ति के लिए साधक में वीतराग का गुण नितान्त आवश्यक है। 'वीतरागी' बने बिना कोई भी जीवन के इस चरमलक्ष्य (भगवत्साक्षात्कार) को नहीं प्राप्त कर सकता। महोपनिषद् के छठे अध्याय में वीतराग का विस्तार से विवेचन किया गया है।

२४५. **वेदत्रयी**— वेद ज्ञान के असीम भाण्डागार कहे गये हैं। वेद विश्व के सर्वाधिक प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। वर्तमान में इनकी संख्या चार-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद है। पूर्वकाल में 'वेद' शब्द का प्रयोग संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् सहित सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय के लिए होता था; किन्तु अब केवल संहिता के लिए ही वेद शब्द का प्रयोग होता है। संहिता अर्थात् मंत्र भाग भी पहले एक ही था। इसके पश्चात् इस मंत्र भाग के यज्ञों की आवश्यकतानुसार तीन विभाग किये गये, जो 'वेदत्रयी' कहलाये। स्तुतिपरक मंत्रों के संग्रह का नाम 'ऋग्वेद संहिता' यज्ञों की व्यवस्था से सम्बन्धित गद्यमय मंत्र अथवा वाक्यों के संग्रह का नाम 'यजुर्वेद संहिता' और उच्चस्वर में गायन किये जाने वाले मन्त्रों के संग्रह का नाम 'सामवेद संहिता' कहा गया। यही वेदों की तीन धाराओं के रूप में प्रख्यात हैं। इस प्रकार स्तुतिपरक (**ऋच्यते स्तूयते इति ऋचा**), गद्यात्मक (**गद्यात्मको यजुः**) एवं गायन परक (**गीतिषु सामाख्या**) होने से तीन धाराओं के रूप में विभाजित ये वेदत्रयी के रूप में प्रख्यात हैं। कालान्तर में प्रतिपाद्य विषय क्रम के अनुसार वेदव्यास जी ने वेदों को चार भागों में प्रविभक्त किया (**वेदान् विव्यास इति वेदव्यासः**) वे चार विभाग हैं- देवपरक स्तुतियाँ, यज्ञ, सामगान और सुखशान्तिदायी विविध प्रयोग। इन्हीं को आधार मान कर ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का नामकरण हुआ। इसी को वेद चतुष्टयी कहा गया। सीतोपनिषद् के मन्त्र क्रमांक ३२ में वेदत्रयी को भगवान् विष्णु की वाणी के रूप में व्यक्त किया गया है, जो वैखानस ऋषि के हृदय से प्रादुर्भूत हुई, यथा- **वैखानस ऋषेः पूर्वं विष्णोर्वाणी समुद्भवेत्। त्रयीरूपेण संकल्प्य इत्थं देही विजृम्भते।**

२४६. **वेदान्त**—द्र०-ज्ञानखण्ड-वेद-वेदान्त।

२४७. **वैराग्य**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२४८. **वैश्वदेव**—बृहत् हिन्दी कोश में वैश्वदेव का अर्थ इस प्रकार अभिहित किया गया है- सभी देवों से सम्बन्ध रखने वाला, विश्वदेव के उद्देश्य से किया हुआ होम, यज्ञ; उत्तराषाढ़ा-नक्षत्र। प्रसिद्ध कोश ग्रन्थ हिन्दी विश्व कोश के खण्ड २२ में इस प्रकार कहा गया है-**विश्वदेवस्यायं विश्वदेव-अण्। विश्वदेव-सम्बन्धीय होमादि ।**

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मनुस्मृति के तृतीय अध्याय में मनु ने कहा है- द्विजों को प्रत्येक दिन संस्कृत अग्नि में वैश्वदेव के उद्देश्य से सिद्ध अर्थात् पके हुए अन्न के द्वारा विधिपूर्वक हवन करना चाहिए। इसी अध्याय में वैश्वदेव होम की विधि का विस्तृत विवेचन भी किया गया है। गायत्री रहस्योपनिषद् के अन्तर्गत पाँचवीं कण्डिका में वैश्वदेव को गायत्री महामन्त्र के बीसवें अक्षर 'न:' का देवता कहा गया है-..... **विंशं वैश्वदेवम् .....।**

२४९. **वैष्णवी माया—** द्र०-त्रिगुणमयी माया।

२५०. **व्योमचक्र—** द्र०-नवचक्र।

२५१. **शंयोर्वाक्—** द्र०-यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।

२५२. **शक्तिचालिनी मुद्रा—**योगशास्त्रों में मुद्राओं की संख्या दस (**इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्**-हठ०प्र० ३.७) बतलाई गई है। इन मुद्राओं का यौगिक क्रियाओं के जागरण में महत्त्वपूर्ण स्थान है। शक्तिचालिनी मुद्रा इन्हीं के अन्तर्गत आती है। इसका उपयोग योगीजन कुण्डलिनी महाशक्ति को जाग्रत् करने में करते हैं। 'पातञ्जल योग प्रदीप' में इस मुद्रा को इस तरह विवेचित किया गया है- 'सिद्ध या पद्मासन से बैठकर हाथों की हथेलियाँ पृथ्वी पर जमा दे। बीस-पच्चीस बार धीरे-धीरे दोनों नितम्बों को पृथ्वी से उठा-उठा कर ताड़न करे। तत्पश्चात् मूलबन्ध लगाकर नासिका के दोनों छिद्रों से अथवा वाम से या फिर जो स्वर चल रहा हो, उस नासिका छिद्र से पूरक करके प्राणवायु को अपान वायु से संयुक्त करके जालन्धरबन्ध लगाकर शक्ति के अनुसार कुम्भक करे। कुम्भक के समय अश्विनी मुद्रा करे अर्थात् गुदा प्रदेश का आकर्षण-विकर्षण करता रहे। इसके बाद जालन्धरबन्ध खोलकर यदि दोनों नासिका छिद्रों से पूरक किया हो, तो दोनों से अथवा पूरक से विपरीत नासिका छिद्र से रेचक करे और विकाररहित हो एकाग्रतापूर्वक स्थित हो जाये।' घेरण्ड संहिता में इस मुद्रा को करते समय उक्त क्रिया के साथ बालिश्त-भर चौड़ा, चार अङ्गुल लम्बा, कोमल, श्वेत एवं सूक्ष्म वस्त्र नाभि पर कटि सूत्र से आबद्ध कर समस्त शरीर पर भस्म मलने का उल्लेख है। प्रख्यात योग ग्रन्थ हठयोग प्रदीपिका के तृतीय उपदेश के श्लोक संख्या १०४ से लेकर ११३ तक में शक्तिचालिनी का विशद विवेचन किया गया है। इसमें शक्तिचालिनी को कुण्डलिनी का पर्याय कहा है। यहाँ पर कुण्डलिनी के सात पर्याय शब्द इस प्रकार कहे गये हैं- कुटिलाङ्गी, कुण्डलिनी, भुजङ्गी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरुन्धती। योगकुण्डल्युपनिषद् में उपनिषद्कार ने यौगिक क्रियाओं द्वारा इसी कुण्डलिनी को जाग्रत् करने का वर्णन किया है। इस उपनिषद् में शक्तिचालिनी मुद्रा को कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत् करने में सहायक कहा है। सरस्वती चालन को भी इसी का पर्याय कहा गया है अर्थात् सरस्वती चालन द्वारा भी कुण्डलिनी जागरण की वही प्रक्रिया सम्पन्न होती है, जो शक्तिचालिनी मुद्रा द्वारा सम्पन्न होती है। इसी तथ्य का उल्लेख योगकुण्डल्युपनिषद् (१.१०) में इस प्रकार किया गया है- **'यस्याः संचालनेनैव स्वयं चलति कुण्डली'** अर्थात् जिस (सरस्वती चालन) के संचालन से कुण्डलिनी स्वयं गतिशील हो जाती है। इसी उपनिषद् के मन्त्र क्रमांक ९ में सरस्वती चालन को कुछ विद्वज्जनों ने अरुन्धती कहा है-**'अरुन्धत्येव कथिता पुराविद्भिः सरस्वती'**। इस मुद्रा के सिद्ध होने पर योगी के समस्त रोगों का शमन एवं उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति हो जाती है। यह मुद्रा कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत् करने में अत्यधिक सहायक कही गयी है।

२५३. **शब्द ब्रह्म—**द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

२५४. **शाम्भवव्रत—**द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

२५५. **शाम्भवीमुद्रा—**द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

२५६. **शिव-शक्ति—**द्र०-अर्धनारीश्वर।

२५७. **शीतलीप्राणायाम—**योगदर्शन में प्राणायाम की महत्ता का वर्णन विस्तार से मिलता है। योग ग्रन्थों में प्राणायाम की संख्या लगभग ९६ बतलायी गई है, उनमें से प्रमुख ९ प्राणायाम ही आजकल प्रचलित हैं। इन्हीं ९ प्राणायामों के अन्तर्गत शीतली प्राणायाम का भी उल्लेख मिलता है। उनके नाम इस प्रकार हैं लोम-विलोम, सूर्यभेदन, उज्जायी, शीतकारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा एवं प्लाविनी प्राणायाम। शीतली प्राणायाम का उल्लेख गोरक्ष संहिता व घेरण्ड संहिता में कुम्भक के रूप में इस प्रकार किया गया है- **सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा। भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाष्टकुम्भकाः** (गोरक्ष सं० १९५, घेर०सं०) अर्थात् क्रिया भेद से कुम्भक प्राणायाम के आठ भेद इस प्रकार हैं- सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा एवं केवली। शीतली प्राणायाम में

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

सर्वप्रथम दोनों नथुनों को बन्द करते हैं। ओठों को कौए की चोंच के समान बनाकर जिह्वा को उनमें से थोड़ा सा बाहर निकालते हैं। इसके बाद मुख द्वारा शनैः-शनैः वायु अन्दर खींचते हैं। यथाशक्ति कुम्भक करके दोनों नथुनों से धीरे-धीरे वायु बाहर निकाल देते हैं। यही शीतली प्राणायाम कहा गया है। यह शीतल प्रकृति का होता है। रूप-लावण्य में वृद्धि करता है। योग के प्रख्यात ग्रन्थ हठयोग प्रदीपिका के द्वितीय उपदेश के ५७-५८ वें श्लोक में भी शीतली प्राणायाम की क्रिया व गुणों का वर्णन मिलता है।

योगकुण्डल्युपनिषद् के २१ वें मन्त्र में उपनिषद्कार ने इस शीतली प्राणायाम को कुम्भक के अन्तर्गत इस प्रकार कहा है- **'सूर्योज्जायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका। भेदैरेव समं कुम्भो यः स्यात्सहितकुम्भकः'** अर्थात् सूर्य भेदन, उज्जायी, शीतली एवं भस्त्रिका इन चार प्रकार के भेद से युक्त कुम्भक 'सहित कुम्भक' कहलाता है। इसी उपनिषद् के ३०-३१ वें मन्त्र में इसके गुणों एवं विधि का उल्लेख इस प्रकार किया गया है- **'जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भकादनु। शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः। गुल्मप्लीहादिकान्दोषान्क्षयं पित्तं ज्वरं तृषाम्। विषाणि शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च'** अर्थात् शीतली प्राणायाम में जिह्वा द्वारा वायु को खींचकर पूर्व की भाँति कुम्भक करके नासिका से वायु को धीरे-धीरे निकालना चाहिए। इसके करने से प्लीहा, गुल्म, पित्तज्वर, तृषा आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।

२५८. **शुभेच्छा**—द्र०-असंसक्ति।

२५९. **शृंगार कला**—द्र०-कामकला।

२६०. **श्रद्धा**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२६१. **श्राद्ध**— कोश ग्रन्थों में श्राद्ध शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार निर्दिष्ट है-**श्रद्धा प्रयोजनमस्य** (हि०वि०को०खं० २३ पृ० २८५)। जिसका अभिप्राय यह है कि शास्त्रविधानोक्त पितृकर्म (पितरों के निमित्त जो कार्य किया जाता है) को श्राद्ध कहते हैं अर्थात् श्रद्धापूर्वक पितरों के उद्देश्य से अन्नादि का दान ही श्राद्ध है। श्राद्ध तत्त्व नामक ग्रन्थ में इसका उल्लेख इन शब्दों में है- **'संस्कृतव्यञ्जनाढ्यञ्च पयोदधिघृतान्वितम्। श्रद्धया दीयते यस्मात् श्राद्धं तेन निगद्यते'** (श्रा० त०, हि०वि०को०खं० २३ पृ० २८५)अर्थात् संस्कृत(शुद्ध)अन्न व्यञ्जनादि को दुग्ध, दही और घी से संयुक्त करके पितरों के उद्देश्य से (उन्हें आत्मिक शान्ति प्रदान करने के लिए)श्रद्धापूर्वक दिया जाता है, इसलिए यह श्राद्ध, कर्म कहलाता है। स्थिति भेद से यह बारह प्रकार का होता है,जिसे नित्य श्राद्ध,नैमित्तिक श्राद्ध,काम्य श्राद्ध,वृद्धिश्राद्ध, सपिण्ड श्राद्ध, पार्वण श्राद्ध, गोष्ठीश्राद्ध, शुद्ध्यर्थ श्राद्ध, कर्माङ्गश्राद्ध, दैविक श्राद्ध, यात्रार्थ श्राद्ध (अथवा तीर्थ श्राद्ध) और पुष्ट्यर्थ श्राद्ध नामों से जाना जाता है। इनमें प्रतिदिन किये जाने वाले श्राद्ध को **नित्य श्राद्ध** , किसी उद्देश्य विशेष से किये जाने वाले श्राद्ध को **नैमित्तिक श्राद्ध,** किसी विशिष्ट कामना के लिए किये गये श्राद्ध को **काम्य श्राद्ध,** वृद्धि(धनादि में वृद्धि)के उद्देश्य से किये जाने वाले को **वृद्धि श्राद्ध,** पिण्ड और अर्घ्य मिश्रित कर किये जाने वाले श्राद्ध को **सपिण्डश्राद्ध,** अमावस्या अथवा किसी निश्चित पर्व विशेष में किये जाने वाले श्राद्ध को **पार्वण श्राद्ध,** पितरों की तृप्ति के निमित्त गोष्ठ में किये जाने वाले श्राद्ध को **गोष्ठी श्राद्ध,** शुद्धि के निमित्त किये जाने वाले श्राद्ध को **शुद्ध्यर्थश्राद्ध,** गर्भाधान-सीमान्तोन्नयन आदि संस्कारों में जो श्राद्ध करते हैं, उसे **कर्माङ्ग श्राद्ध,** देवताओं के उद्देश्य से किये जाने वाले श्राद्ध को **दैविक श्राद्ध,** तीर्थादि देशान्तर भ्रमण के समय किये जाने वाले श्राद्ध को **यात्रार्थ श्राद्ध** (अथवा तीर्थ श्राद्ध) तथा शरीर की पुष्टि और अर्थोपार्जन के लिए किये जाने वाले श्राद्ध को **पुष्ट्यर्थ श्राद्ध** कहते हैं। श्राद्ध की तरह तर्पण भी एक तृप्तिकारक क्रिया है। हिन्दी विश्वकोश में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार विवेचित है **'तर्पण ....तृप-प्रीणने'** अर्थात् तृप्ति, प्रीणन सन्तुष्ट होने की क्रिया। इसके और भी कई अर्थ हैं; पर इसका प्रयोग प्रायः जलदान देकर, देवर्षि, पितृ, मनुष्य आदि को तृप्त करने के अर्थ में किया जाता है। स्नान के तीन प्रकार नित्य, नैमित्तिक और काम्य होते हैं। तर्पण भी उसका आवश्यक अंग है। तीनों स्नान करते समय तर्पण आवश्यक है। श्राद्ध और तर्पण का नाम प्रायः एक साथ आता है, इसका कारण यही है कि दोनों ही तृप्त- सन्तुष्ट करने वाली क्रियाएँ हैं। श्राद्ध-तर्पण की तरह ही मार्जन भी एक क्रिया है,जो अन्तर्बाह्य परिष्करण के लिए की जाती है। मार्जन का सीधा अर्थ है धो-माँजकर साफ करना, शोधन करना। इसीलिए पूजा अनुष्ठानादि में कुशादि से जल छिड़ककर मंत्र पढ़ते हुए मार्जन क्रिया करके दोषक्षालन किया जाता है। तुलस्युपनिषद् में वर्णन है कि बिना तुलसी के यज्ञ, दान, जप, तीर्थ, श्राद्ध, तर्पण, मार्जन तथा देवार्चन आदि नहीं करना चाहिए- **यज्ञं दानं जपं तीर्थं श्राद्धं वै देवतार्चनम्। तर्पणं मार्जनं चान्यत्र कुर्यात्तुलसीं विना** (तुलसी०- १४)।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

२६२. **श्रीचक्र**—द्र०-त्र्यक्षरीविद्या।

२६३. **श्रीबीज**—द्र०-त्र्यक्षरीविद्या।

२६४. **श्रीविद्या**—द्र०-त्र्यक्षरीविद्या।

२६५. **षट्चक्र**—द्र०-ज्ञानखण्ड-सप्तचक्र।

२६६. **षडंगन्यास**—द्र०-अङ्गन्यास।

२६७. **षड्गुण-षट्सम्पत्ति**—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड-उपरति।

२६८. **षोडशी याग**—द्र०-अतिरात्र यज्ञ।

२६९. **संवत्सर**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२७०. **संवर्तक अग्नि**—द्र०-कालाग्नि।

२७१. **संवित्**—सम्-विद्- क्विप् से निर्मित संवित् शब्द बहुअर्थी है, जिसके अङ्गीकार ज्ञान, सम्भाषा, क्रियाकारी, आचार, संकेत आदि कई अर्थ होते हैं। आध्यात्मिक सन्दर्भ में यह प्राय: चेतनता, चैतन्य ज्ञान और सम्यक् आध्यात्मिक ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। महोपनिषद् में सच्चिदानन्द परब्रह्म के दर्शन करने का साधन बताते हुए उपनिषद्कार ने जगत् में रहते हुए निर्विकार भाव से अनात्मा (आत्मा के अतिरिक्त सभी) का परित्याग करके सदैव आत्म चैतन्य (निरन्तर चैतन्य ज्ञान- संवित्) में रमण करने का निर्देश दिया है- **अनात्मतां परित्यज्य निर्विकारो जगत्स्थितौ। एकनिष्ठतयाऽन्त:स्थ:संविन्मात्रपरो भव।** (महो० ४.८३)। इसका उदाहरण देते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार मरुस्थल में भ्रमपूर्वक दिखाई देने वाला जल वस्तुत: स्थल ही रहता है, ठीक उसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति से युक्त इस संसार को आत्मचिन्तन (सर्वत्र आत्मदर्शन) के द्वारा चिन्मय (चैतन्य) ही समझना चाहिए- **मरुभूमौ ..... सर्वं चिन्मात्रं स्वविचारत:** (महो० ४.८४)। इस चैतन्य रूप संवित् (ज्ञान) की अखण्डाकार वृत्ति का जो अभ्युदय होता है अर्थात् उस चैतन्य ज्ञान की अनवरत अनुभूति होती है, उसी को 'ब्रह्म सम्पत्ति' भी कहा गया है, जैसा कि पाशुपतब्रह्मोपनिषद् के भाष्य में उल्लिखित है-**'स्वेन रूपेण .....स्वमात्रमवशिष्यत इति या संविदखण्डाकारवृत्तिरुदेति सेयं ब्रह्मसम्पत्तिं करोतीति** .....(पा०ब्र०उ०का० १ ब्र०भा०)। इसी उपनिषद् में यज्ञांग को भी 'ब्रह्म सम्पत्ति' कहा गया है। यहाँ यज्ञांग का तात्पर्य परमात्मतत्त्व के अनुसन्धान में संलग्न अन्तर्यज्ञ नामक 'सम्यक् ज्ञान' है- यही ब्रह्म सम्पत्ति का हेतु है। जैसा कि उपनिषद् भाष्यकार ब्रह्मयोगी जी ने कहा है— **(तद्ब्रह्म) अनुसन्धानात्मकान्तर्यज्ञाभिधानाङ्गं सम्यक् ज्ञानमंगिब्रह्मसम्पत्तिहेतु: .....** (पा०ब्र०पू०का०२२ ब्र०भा०)। **सर्वं खल्विदं ब्रह्म** आदि महावाक्यों का यही तत्त्वार्थ है कि सबको (जड़-चेतन सभी को) परमात्मा और आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी न समझे। यही आत्मदृष्टि है। इसी से **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** का तथ्य व्यवहार में उतरता है और सबसे अपने समान अर्थात् वैसा ही व्यवहार किया जाता है, जैसा हम औरों से अपने लिए चाहते हैं। फिर-**'सीय राम मय सब जग जानी, करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी'** का तत्त्वदर्शन गले उतरता है और ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दीखता। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को सब भूतों में अपने को स्थित बताकर इस तथ्य की पुष्टि की है-**सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थित:। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते** (गी० ६.३१)। इसी से एक श्लोक पूर्व में उन्होंने अपने को सबमें और सबको अपने में देखने वाले के लिए कहा है कि मैं कभी उसके लिए अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता- **यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।**(गी० ६.३०)। इस प्रकार उस परमात्मा को तत्त्वत: जानने वाले तत्त्वनिष्ठ सर्वत्र उसे ही देखते हैं। उसके जन्म और कर्मों को दिव्य मानते हुए देह त्यागकर पुन: जन्म नहीं लेते-**जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वत:। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन** (गी० ४.९)। गीता के अनुसार भगवान् को तत्त्व से जानने का अर्थ उनकी अष्टधा प्रकृति (जिसका वर्णन अलग से अपराशक्ति शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है) और अपराशक्ति (चैतन्यशक्ति) से ही इस सृष्टि का आविर्भाव हुआ है। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यह समझना और उसी के अनुसार व्यवहार करना है। अक्ष्युपनिषद् में वर्णित है कि प्रकृति से निर्मित समस्त प्रपञ्च जड़ हैं और आदि, मध्य तथा अन्तवाला होने से दु:खदाई है, अत: अपने को सदैव चैतन्य आत्मा (चिदात्मा) मानकर तत्त्वनिष्ठ रहना चाहिए अथवा तत्त्वज्ञान में अवस्थित रहना चाहिए-**आदिमध्यावसानेषु दु:खं सर्वमिदं यत:। तस्मात् सर्वं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवानघ** (अक्षि० २.४६.४७)।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

इसी उपनिषद् में योग की सातवीं भूमिका विदेहमुक्ति की चर्चा करते हुए उपनिषद्कार ने कहा है कि तत्त्वनिष्ठ बनकर स्वयं को अन्धकार से अतीत, समस्त आभासों से रहित, आनन्दस्वरूप, निर्मल, शुद्ध मन, वाणी से अगोचर,प्रज्ञानघन [(घनप्रज्ञ जीव की तीन संज्ञाओं विश्व, प्राज्ञ और तैजस में विश्व, बहिष्प्रज्ञ, तैजस अन्त:प्रज्ञ और प्राज्ञ घन प्रज्ञ है) अर्थात् अज्ञानोपहित चैतन्य, आनन्द की अनुभूति करने वाला चैतन्य आत्मा] आनन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ, ऐसी भावना करे- **आनन्दममलं शुद्धं मनोवाचामगोचरम्। प्रज्ञानघनमानन्दं ब्रह्मास्मीति विभावयेत्** (अक्षि० ४८)।

२७२. **संस्कार**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२७३. **सच्चिदानन्द**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२७४. **सत्त्वापत्ति**—द्र०-असंसक्ति।

२७५. **सदाशिव**—द्र०-अर्धनारीश्वर।

२७६. **सद्गुरु**—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

२७७. **सनातन ब्रह्म**—द्र०-कालातीत।

२७८. **सन्ध्या**—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

२७९. **सरस्वती चालन**—द्र०-शक्तिचालिनी मुद्रा।

२८०. **सर्वान्तर्यामी**—यह शब्द ईश्वर के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है। हिन्दी विश्व कोश के अनुसार-जो सबके अन्तर्मन की बात जानते हैं, जो समस्त भूत-प्राणियों के अन्त:करण में विद्यमान रहते हैं, उन्हें ही सर्वान्तर्यामी कहते हैं। गीता में भी भगवान् ने अर्जुन को संबोधित करते हुए कहा है कि मैं (ईश्वर) ही समस्त भूतों (प्राणियों) के हृदय क्षेत्र में प्रतिष्ठित रहता हूँ। यथा- **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया** (गी० १८.६१) इसी तरह श्वेताश्वतर उपनिषद् के अध्याय ६ के ग्यारहवें मन्त्र में सर्वत्र संव्याप्त रहने वाली ईश्वर की सत्ता को सभी प्राणियों के अन्त:करण में स्थित कहा है- **'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च** (६.११) अर्थात् सम्पूर्ण भूतों में वह एक ही देव प्रतिष्ठित है, वह सर्वव्यापक, सर्वभूतान्तरात्मा, सबके कर्मों का अधिष्ठाता, सभी प्राणियों में वास करने वाला, सबका साक्षी, पूर्ण चैतन्य, विशुद्धरूप एवं निर्गुण स्वरूप वाला ईश्वर है। नृसिंह पूर्वतापिन्युपनिषद् के १.१२ में भी यही शब्द ऋत एवं सत्य स्वरूप भगवान् नृसिंह के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया गया है। यहाँ पर नृसिंह भगवान् को परब्रह्म पुरुष, सर्वान्तर्यामी एवं सर्वव्यापी परमात्मा के रूप में विवेचित किया गया है।

२८१. **सविकल्पक समाधि**—द्र०-ज्ञानखण्ड -समाधि।

२८२. **सविता**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२८३. **सविशेष ब्रह्म**—द्र०-कालातीत।

२८४. **सहजसमाधि**— योग के ग्रन्थों में समाधि के दो रूपों का वर्णन मिलता है। प्रथम अष्टाङ्ग योग की चरमावस्था वाली स्थिति जो सविकल्प और निर्विकल्प दो रूपों में बताई गई है। द्वितीय इस औपचारिक साधना से भिन्न सहज ढंग से प्राप्य समाधि। जो कि सामान्य जीवन क्रम को अपनाकर कोई असामान्य साधना उपक्रम न करते हुए, साधारण कार्यों को नियमित रूप से करते हुए जीवन लक्ष्य को प्राप्त कर लेना। कबीरदास जी ने इसी अवस्था को जीवन में अनुभव करते हुए कहा है-**'साधो सहज समाधि भली'**। इसी सहजावस्था का उल्लेख महोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के ६१ वें एवं ६२ वें मन्त्र में इस प्रकार किया गया है-**'उदितौदार्यसौन्दर्यवैराग्यसगर्भिणी। आनन्दस्यन्दिनी यैषा समाधिरभिधीयते॥ दृश्यासंभवबोधेन रागद्वेषादितानवे। रतिर्बलोदिता याऽसौ समाधिरभिधीयते'** अर्थात् जो सुन्दर औदार्य एवं वैराग्य-रस से ओत-प्रोत आनन्दमय अवस्था की प्राप्ति होती है, उसे ही समाधि कहा जाता है। जब यह ज्ञात हो जाता है कि दृश्य पदार्थों की सत्ता है ही नहीं और राग-द्वेष आदि सम्पूर्ण दोषों की समाप्ति पूरी तरह से हो जाती है, तब उस समय अभ्यास बल के द्वारा जो एकाग्र-रति (आनन्द) प्रकट होती है, उसे ही समाधि कहते हैं। इन दोनों मन्त्रों में समाधि की जो अवस्था वर्णित है, वह अष्टाङ्गयोग में प्रतिपादित समाधि से भिन्न है। यहाँ समाधि की जिस स्थिति का उल्लेख किया गया है, उसे 'सहज समाधि' की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। सामान्य साधक के लिए यह सहज समाधि ही श्रेष्ठ है। समाधि की औपचारिक प्रक्रिया का विशद वर्णन १०८ उपनिषद् 'ज्ञानखण्ड' के परिशिष्ट में किया जा चुका है।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

२८५. सहजावस्था— सामान्य जीवन क्रम को व्यवस्थित बनाने के लिए योग का प्रादुर्भाव हुआ। योग-साधना की पराकाष्ठा ही सहजावस्था कहलाती है। यह योग की ऐसी अवस्था है, जिसमें साधक हर स्थिति में समान बना रहता है, जैसे- मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, खान-पान, रहन-सहन, जाति-पाँति, जीवन-क्रम के हर उतार-चढ़ाव में। यह अवस्था साधक के पूर्व जन्म के श्रेष्ठ संस्कारों व इस जन्म में महान् पुरुषों और गुरुकृपा से ही प्राप्त होना संभव है। गीता क। समत्व योग, ब्राह्मी स्थिति एवं स्थित- प्रज्ञ आदि इस सहजावस्था के उदाहरण हैं। उपनिषद्कार ने महोपनिषद् में इस अवस्था का विशद विवेचन किया है। वहाँ कहा गया है कि बन्धन एवं मोक्ष के दो ही कारण हैं; पहला ममता युक्त होना, दूसरा ममता हीन होना- **द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च। ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते** (महो० ४.७२)। जब व्यक्ति मोह-ममता से परे हो जाता है, उसमें बोध (ज्ञानप्राप्ति) की क्षमता उत्पन्न हो जाती है और समस्त कर्मों (काम्यकर्मों) से विरत हो जाता है, तब वह स्वयमेव सहजावस्था प्राप्त कर लेता है-**उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनि:शेषकर्मण:। योगिन: सहजावस्था स्वयमेवोपजायते** (महो० ४.७८)। इस अवस्था को अत्यधिक दुर्लभ बतलाया गया है। उच्चतम योग की स्थिति होने पर अथवा महान् गुरु की जब कृपा हो, तभी सहजावस्था की स्थिति बनती है- **'दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरो: करुणां विना'** (महो० ४.७७) अर्थात् सद्गुरु की अनुकम्पा के अभाव में सहजावस्था को प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है। उनकी करुणा से ही इस अवस्था की प्राप्ति संभव है।

२८६. सहस्त्रदल कमल—द्र०-ज्ञानखण्ड -सप्तचक्र।

२८७. सामीप्य—द्र०-ज्ञानखण्ड -पञ्चविध मुक्ति।

२८८. सायुज्य—द्र०-ज्ञानखण्ड -पञ्चविध मुक्ति।

२८९. सारूप्य—द्र०-ज्ञानखण्ड -पञ्चविध मुक्ति।

२९०. सालोक्य—द्र०-ज्ञानखण्ड -पञ्चविध मुक्ति।

२९१. सावित्री—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२९२. सावित्री विद्या—द्र०-ज्ञानखण्ड -सावित्री।

२९३. सिद्ध-सिद्धि—द्र०- अष्टसिद्धि।

२९४. सुदर्शनचक्र—द्र०-महाचक्र-सुदर्शनचक्र।

२९५. सुषुप्तघन—द्र०-असंसक्ति।

२९६. सुषुप्त पद भूमिका—द्र०-असंसक्ति।

२९७. सुषुम्ना—द्र०-ज्ञानखण्ड-सुषुम्ना नाड़ी।

२९८. सूक्तवाक्—द्र०-यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।

२९९. सूक्ष्म शरीर—द्र०-ज्ञानखण्ड-त्रय-शरीर।

३००. सूर्याकाश—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड-व्योमपञ्चक।

३०१. सौभाग्यलक्ष्मी विद्या—द्र०-त्र्यक्षरी विद्या।

३०२. स्तोम—द्र०-त्रिवृत् स्तोम।

३०३. स्थूल प्रकृति—स्थूल प्रकृति को जानने से पूर्व प्रकृति को जानना आवश्यक है। कोशग्रन्थों के अनुसार-प्रकृति के मुख्य अर्थ निम्नवत् हैं- स्वभाव, मूल अथवा प्रधान गुण जो सदैव बना रहे। भगवान् की मायाख्या शक्ति को भी प्रकृति कहा गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में परा एवं अपरा भेद से दो प्रकार की प्रकृति का वर्णन मिलता है। सत्त्व, रज एवं तमोगुण की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है। सांख्य दर्शन के अनुसार-प्रकृति ही जगत् का मूल अथवा बीज है। प्रकृति द्वारा ही विश्वब्रह्माण्ड का प्राकट्य हुआ। शास्त्रानुसार-आत्मा (पुरुष) से भिन्न आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त समस्त जगत् प्रकृति है। योगचूड़ामण्युपनिषद् में परमात्मा की इसी स्थूल प्रकृति के द्वारा शरीर रूपी जगत् के प्राकट्य का उल्लेख मिलता है। यहाँ स्थूल प्रकृति के रूप में उन घटकों को स्वीकार किया गया है, जो स्थूल शरीर के निर्माण और उसकी सक्रियता में विशेष भूमिका निभाते हैं, यथा- ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय, ज्ञान के विषय, पंच-प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

आदि। उपनिषद्कार लिखते हैं-**पंचभूतसमवायः शरीरम्। ज्ञान कर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपंचवायुमनो-बुद्धिचित्ताहंकारैः स्थूलकल्पितैः सोऽपि स्थूलप्रकृतिरित्युच्यते** (यो०चू० ७२)।

३०४. **स्रुवा**—द्र०-यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।

३०५. **स्वप्न भूमिका**—द्र०-असंसक्ति।

३०६. **स्वयंभुव**—द्र०-ज्ञानखण्ड-स्वयम्भू-परिभू।

३०७. **स्वर**—वेदों में तीन प्रकार के स्वरों का उल्लेख है- प्रथम उदात्त, द्वितीय अनुदात्त और तृतीय स्वरित। ध्वनित या शब्दित होने के कारण इन्हें स्वर कहते हैं। उपनिषदों के अन्तर्गत छान्दोग्य २.२२.५ एवं तैत्तिरीय १.२.१ में स्वर अ, आ आदि ध्वनियों का बोधक कहा गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे आदित्य, प्राण, पशु, श्री, प्रजापति एवं अनन्त के रूप में वर्णित किया गया है, यथा-'**य आदित्यः स्वर एव सः**' (जै०उ०ब्रा० ३.३३.१), '**प्राणाः स्वरः**' (तां० ब्रा० ७.१.१०) इत्यादि। हिन्दी वर्णमाला में ११ स्वर इस प्रकार हैं- अ, आ,इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ, ओ एवं औ। संगीत शास्त्र के अन्तर्गत भी सात स्वरों का वर्णन मिलता है। ये सात स्वर इस प्रकार हैं- षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत एवं निषाद्। उपनिषद् (योग चूड़ामणि उपनिषद्) में जिस 'स्वर' का विवेचन है, वह एक अलग विषय है। वह है साधना के क्षेत्र में 'स्वर' (श्वास-प्रश्वास) प्रक्रिया का विशेष योगदान। इसका प्रचलित नाम प्राणायाम है। प्राणायाम की क्रिया नासिका के बायें-दायें छिद्रों से श्वास ग्रहण करने, रोकने और निकालने से सम्पन्न होती है। नासिका के बायें-दायें छिद्र से श्वास-प्रश्वास पर विशेष नियन्त्रण करना स्वर-साधना कहा जाता है। बायें छिद्र से ग्रहण की गई वायु 'चन्द्र स्वर' तथा दायें स्वर से ग्रहण की गई वायु 'सूर्य स्वर' के अन्तर्गत मानी जाती है। इसी को क्रमशः इड़ा स्वर और पिंगला स्वर भी कहा जाता है। योग के ग्रन्थों में स्वर-साधना का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। योग चूड़ामणि उपनिषद् के रचयिता ने भी इसका उल्लेख करते हुए कहा है-अभ्यास क्रम में सर्वप्रथम बायीं नासिका 'चन्द्रअंश' से श्वास खींचकर रेचक करते हुए अभ्यास करे, फिर दायीं नासिका 'सूर्यअंश' से श्वास खींचकर रेचन का अभ्यास करना चाहिए। जब दोनों स्वरों की संख्या (चन्द्र-सूर्य) समान हो जाए, तब अभ्यास बन्द कर देना चाहिए-**चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेनाभ्यसेत् पुनः। या तुल्या तु भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत्** (यो०चू० ६७)।

३०८. **स्वराट्-विराट्**— जो स्वयं दीप्तिमान्, प्रकाशमान हो और निरन्तर दूसरों को आलोकित करता हो, वही स्वराट् है तथा जो सबसे विशाल हो, जिसमें सबका समावेश हो जाए, उसे 'विराट्' कहा जा सकता है; परन्तु ये दोनों शब्द यहाँ 'छन्द' के प्रकरण में प्रयुक्त हुए हैं। छन्दः शास्त्र के अनुसार-वैदिक छन्दों के अन्तर्गत स्वराट् एवं विराट् की भी गणना होती है। ये दोनों वैदिक छन्द विशेष के रूप में प्रख्यात हैं। जिस छन्द के प्रत्येक द्विपाद में आठ अक्षर एवं एक पाद में दशाक्षर हों, उसे ही स्वराट् (स्वराज्) कहते हैं (हि०वि०को०पृ० सं० ५९५)। छन्दः शास्त्र के तृतीय अध्याय के पृष्ठ १९ में विराट् का लक्षण इस प्रकार से वर्णित है- '**दशकास्त्रयो विराट्**' (ऋ० सर्वा० ६) अर्थात् दश अक्षरों के तीन पादों वाले वैदिक छन्द का नाम विराट् (विराज्) है। वेद-उपनिषदादि ग्रन्थों में 'विराट्' की एक समग्र एवं विशिष्ट अवधारणा भी है। जिसे 'विराट् पुरुष' के नाम से जाना जाता है। प्रसिद्ध पुरुषसूक्त (ऋ० १०.१९०; यजु० ३१वें अध्याय) में उस विराट् पुरुष का व्यापक स्वरूप प्रकट हुआ है। १०८ उपनिषद् 'ज्ञानखण्ड' के परिशिष्ट में इसका विस्तृत विवरण देखा जा सकता है। गायत्री रहस्योपनिषद् के चौथे-पाँचवें मन्त्र में इन दोनों छन्दों को परब्रह्म के रूप में विवेचित किया गया है- .....**स्वराट् विराट् वषट् ब्रह्मरूपेति** (गा०रह० ४-५)।

३०९. **स्वाधिष्ठान चक्र**—द्र०-नवचक्र।

३१०. **स्वेदज**—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड -कला।

३११. **हठयोग**—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

३१२. **हिरण्यगर्भ**—द्र०-ज्ञानखण्ड।

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अथ षोडशारं षोडशपत्रं	नृ०पूर्व० ५.५	अधमे द्वादश मात्रा	यो०चू० १०४
अथ सनत्कुमारः पप्रच्छ	काल०रु० ४	अधमे व्याधिपापानां	त्रि०ब्रा० २.१०६
अथ सावित्री गायत्र्या	नृ०पूर्व० ४.८	अधमे स्वेदजननं	यो०चू० १०५
अथ सूर्याथर्वाङ्गिरसं	सूर्य० १	अधश्च चुबुकं मूलं	यो०कुं०२.३४
अथ ह वै स्वयंभूर्ब्रह्मा	पा०ब्र० १.१	अधस्तात्कुञ्चनेनाशु	यो०कुं० १.५२
अथ ह सांकृतिरादित्यं	अक्षि० २.१	अधिष्ठानं समस्तस्य	रुद्रह० ४८
अथ ह सांकृतिर्भगवान्	अक्षि० १.१	अधिष्ठानमनौपम्यम्	पा०ब्र०२.२८
अथ हैतानि नामानि	राधा० ३	अधिष्ठानमनौपम्याम...	महो० ४.८६
अथ हैनं कालाग्निरुद्रं	रुद्र०जा० १	अधोगतिमपानं वै	यो०कुं०१.४२
अथ हैनं देवा ऊचुर्नव	सौ०ल०३.१	अध्यात्म ब्रह्मकल्प	पा०ब्र०२.२
अथ हैनं देवा ऊचुस्तुरीयया	सौ०ल०२.१	अध्यात्ममधिदैवं च	सर०रह० १६
अथ हैनं पैप्पलादो	शरभ० १	अध्यात्मरतिरासीनः	महो० २.४७
अथ हैनं भगवन्तं	रुद्र०जा०२६	अनन्तवासुकितक्षक	गरुड० २४
अथाकाशोऽन्तःकरण ...	त्रि०ब्रा०१.५	अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य	महो० ५.१७८
अथातःसर्वोपनिषत्सारं	प्रा० हो० १	अनन्योद्वेगकारीणि	अक्षि० २.६
अथातो गायत्री.....	गा०रह०२	अनया तीक्ष्णया तात	महो० ६.३२
अथातोऽद्वय तारको	अद्व०ता०१	अनया दुरहंकृत्या	महो० ५.९४
अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति	सीता० ९	अनया विद्यया योगी	यो०कुं० २.१६
अथातो महोपनिषदं	महो० १.१	अनया सदृशं पुण्यं	ध्या०बि० ६५
अथातो वीरशक्तिश्चतुर्भुजा	सीता० ३७	अनया सदृशी विद्या	यो०चू०३४
अथात्मनिर्णयं	ध्या०बि० ९३-१	अनाख्यत्वादगम्यत्वान्मनः	महो० २.३
अथापरं प्रवक्ष्यामि	महो० ५.१	अनाख्यमनभित्यक्तं	यो०कुं०३.२५
अथापिधानमस्यमृतत्वा	प्रा०हो० १३	अनागतानां भोगानाम्	महो० ५.१७१
अथाष्टारमष्टपत्रं	नृ०पूर्व० ५.३	अनात्मतां परित्यज्य	महो० ४.८३
अथाहं संप्रवक्ष्यामि	यो०कुं०२.१	अनावित्येष बाह्यात्मा	प्रा०हो० १७
अथेत्थं भूततन्मात्रवेष्टितं	महो० ५.१५२	अनाहतं तु यच्छब्दं	ध्या०बि० ३
अथैवं स्तुतिभिः	गो०पूर्व० ४६	अनाहतं विशुद्धिं च	यो०कुं० ३.१०
अथो य इषुधिस्तवारे	नी०रुद्र० २.८	अनिरुद्धं हरिं योगी	त्रि०ब्रा० २.१४३
अथो ये अस्य सत्वानः	नी०रुद्र० २.३	अनुपनीतशतमेकमेकेन	नृ०पूर्व० ५.१९
अथोवाच याश्च मृत्योः	अक्ष० १३	अनुरक्तिः परे तत्त्वे	त्रि०ब्रा० २.२९
अथोवाच ये देवाः	अक्ष० ६	अनेकाकारखचितम्	त्रि०ब्रा० २.१५४
अथोवाच ये देवा अन्तरिक्ष ..	अक्ष० ७	अनेजदेकं मनसो	गो०पूर्व० ४८
अथोवाच ये देवा दिविषदः	अक्ष० ८	अनेन क्रमयोगेन	अक्षि० २.२५
अथोवाच ये ब्रह्मविष्णु ...	अक्ष० १०	अनेशन्नस्येषव	नी०रुद्र० २.७
अथोवाच ये मन्त्रा या	अक्ष०९	अन्तः प्रणवनादाख्यो	पा०ब्र० २.३
अथोवाच ये शैवा वैष्णवाः	अक्ष० १२	अन्तःशीतलया बुद्ध्या	महो० ६.४३
अथोवाच ये सांख्यादितत्त्व..	अक्ष० ११	अन्तः संव्यक्तसर्वाशो	महो० ६.६७
अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष	देवी० १३	अन्तरात्मा भवेद्ब्रह्मा	रुद्रह० १२
अदृष्टपारपर्यन्ते प्रथमं	महो० ५.१६०	अन्तरास्थां परित्यज्य	महो० ६.१
अद्वैतं परमानन्दं	रुद्रह० ४७	अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं	सर०रह० ५३
अद्वैते स्थैर्यमायाते	अक्षि० २.३१	अन्तर्बाह्यलक्ष्ये दृष्टौ	अद्व०ता० १२

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अन्तर्मुखतया तिष्ठन्बहिर्वृत्ति..	अक्षि० २.३६	अरुणकमलसंस्था	सौ०ल० १.४
अन्तर्याम्यात्मना	सर०रह० १९	अरूढमथवा रूढं	महो० ५.१४
अन्तर्लक्ष्यजलज्योतिः	अद्व०ता० १३	अरेषु भ्रमते जीवः	त्रि०ब्रा० २.६१
अन्तर्वैराग्यमादाय	महो० ६.७१	अरैर्वा एतत्सुबद्धं	नृ०पूर्व० ५.७
अन्तश्चरसि भूतेषु	प्रा०हो० ८	अर्थादर्थान्तरं चित्ते	महो० ५.५
अन्तेऽनन्तं समारोप्य	सौ०ल० २.११	अर्धचन्द्रसमाकारं	त्रि०ब्रा० २.१३७
अन्ते पञ्चाक्षराण्येवं	रामपूर्व० ४.४६	अर्धमात्रात्मकं कृत्वा	ध्या०बि० ३९
अन्नपतेऽन्नस्य नो	प्रा०हो० ६	अलब्धियोंगतत्त्वस्य	यो०कुं० १.६१
अन्यथा क्लिश्यते	यो०कुं० २.२५	अल्पं कालं मया दृष्टम्	महो० ५.१६
अपमृत्युमतिक्रम्य	त्रि०ब्रा० २.१०४	अल्पकालभयाद्ब्रह्मन्	यो०चू० ९२
अपरं संत्यजेत्सर्वं	यो०कुं० ३.४	अल्पमूत्रोऽल्पविष्ठश्च	त्रि०ब्रा० २.१०७
अपश्यं ...अवरोहन्तं	नी०रुद्र० २.१	अवकाश विधूत दर्शन	त्रि०ब्रा० १.७
अपश्यं त्वावरोहन्तं	नी०रुद्र० १.१	अव त्वं माम्। अव	गण० ४
अपश्यत्सर्गवृन्दानि	महो० ५.१६१	अवबोधं विदुर्ज्ञानं	महो० ५.२३
अपानप्राणयोरैक्यं	यो०चू० ४७	अवष्टभ्य धरां सम्यक्	त्रि०ब्रा० २.४७
अपानमूर्ध्वमुत्कृष्य	ध्या०बि० ७५	अविद्या यावदस्यास्तु	महो० ४.११२
अपानाद् द्व्यङ्गुलाद्	त्रि०ब्रा० २.६६	अविद्या विद्यमानैव	महो० ४.११०
अपाने चोर्ध्वगे याते	यो०कुं० १४३	अवृक्षवृक्षरूपासि	तुलसी० ४
अपाने मूलकन्दाख्यं	यो०रा० ६	अवेदनं विदुर्योगं	अक्षि० २.३
अपुत्राणां पुत्रदं च	रामपूर्व० ४.६६	अशंकितापि संप्राप्ता	महो० ५. ७२
अपेक्ष्य नामरूपे द्वे	सर०रह० ५९	अशब्दमस्पर्शमरूपम्	यो०कुं० ३.३५
अप्यब्धिपानान्महतः	महो० ३.२०	अशूरेण हताः शूरा	महो० ३.५४
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं	ध्या०बि० १५	अशेषेण परित्यागो	महो० २.३९
अप्राप्तं हि परित्यज्य	महो० ४.३६	अशेषेण सर्वं तु यः	महो० ४.७६
अब्जकाण्डं जगद्बीजं	कृष्ण० २४	अश्रुतो बुध्यते ग्रन्थः	सर०रह० ४५
अब्जपत्रमधः पुष्पम्	ध्या०बि० ३३	अश्वमेधो महायज्ञकथा	पा०ब्र० १.३१
अब्धिवद्धृतमर्यादा	महो० ४.२०	अष्टपत्रं तु हृत्पद्मं	ध्या०बि० २६
अभक्ष्यस्य निवृत्त्या	पा०ब्र० २.३६	अष्टप्रकृतिरूपा सा	त्रि०ब्रा० २.६३
अभ्यासं बहुजन्मान्ते	यो०कुं० २.७	अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं	यो०रा० १६
अभ्यासं मेलनं चैव	यो०कुं० २.५	अष्टाक्षरः प्रथमः पादो	नृ०पूर्व० २.३
अभ्यासं लभते	यो०कुं० २.६	अष्टादशामी कथिता	रामपूर्व० १.९
अभ्यासवासनाशक्त्या	यो०कुं० ३.१८	अष्टावष्टसहस्रे द्वे	कृष्ण० १३
अमुं पञ्चपदं मन्त्रमावर्तयेत्	गो०पूर्व० ४७	अष्टोत्तरशतैर्मालामुपवीतं	रुद्र०जा० १९
अमूर्तो वर्तते नादो	ध्या०बि० १०२	असंकल्पनमात्रैकसाध्ये	महो० ४.९७
अमृतमस्यमृतोपस्तरणम्	प्रा०हो० १०	असंकल्पनशास्त्रेण छिन्नं	महो० ४.९१
अमृतेऽमृतरूपासि	तुलसी० २	असंवेदनमाशान्तम्	महो० ५.४७
अमृतोदधि संकाशं	यो०चू० ९६	असंसर्गाभिधामन्यां	अक्षि० २.१५
अम्बितम इति मन्त्रस्य	सर०रह० ३३	असङ्गः सच्चिदानन्दः	सर०रह० ६२
अयं सोऽहमिदं	महो० ४.९४	असङ्गसुखसौख्येन	अक्षि० २.१८
अयं सोऽहमिदं तन्म इति	महो० ५.१३	असौ यस्ताम्रो अरुण	नी०रुद्र० १.९
अयन्नोपनतेष्वक्षि	महो० ५.७०	अस्तितालक्षणा सत्ता	पा०ब्र०२.४४

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अस्ति भाति प्रियं रूपं	सर०रह० ५८	आजानुपादपर्यन्तं	त्रि०ब्रा० २.१३५
अस्त्यनस्तमितो	महो० ४.५६	आत्मानं परमात्मान ...	रुद्रह० ११
अस्य जीवत्वमारोपात्	सर०रह० ५५	आत्मानमरणिं कृत्वा	ध्या०बि० २२
अस्य त्रैलोक्य वृक्षस्य	रुद्रह० १३	आदाय मैथिलीमद्य	रामपूर्व० ४.२५
अस्य बीजं तम:पिण्डं	त्रि०ब्रा० २.८	आदाय विहरन्नेवं	महो० ६.७४
अस्य मध्येऽस्ति हृदयं	त्रि०ब्रा० २.७	आदिक्षान्तान्केसरेषु	रामपूर्व० ४.४८
अस्य शारीरयज्ञस्य	प्रा०हो० २२	आदित्याद्वायुर्जायते	सूर्य० ५
अस्य शारीर...यूप ...	प्रा०हो० २१	आदेहमध्यकट्यन्तम्	त्रि०ब्रा० २.१३८
अस्या: परं प्रपश्यन्त्या:	महो० ४.११३	आदौ शमदमप्रायैर्गुणै:	महो० ५.१०४
अस्या: श्रीमहागरुडब्रह्म ..	गरुड० २	आधिभौतिकदेहं तु	यो०कुं० १.७७
अस्या: संकल्पमात्रेण	ध्या०बि० ६४	आनन्दममलं शुद्धं	अक्षि० २.४८
अहंकारकलायुक्तं	महो० ५.१५३	आनुष्टुभो मन्त्रराज:	द०मू० १८
अहंकारमयीं व्यक्त्वा	महो० ६.४५,२.४५	आ नो दिव इति	सर०रह० ९
अहंकारवशादापद.....	महो० ३.१६	आप: पुनन्तु पृथिवीं	प्रा०हो० ९
अहंकारवशाद्यद्यन्मया	महो० ३.१७	आपः तु यथाकालं	महो० २.४३
अहंकाराभिमानेन जीव:	त्रि०ब्रा० २.१६	आपद: क्षणमायान्ति	महो० ३.५३
अहंकारो विनिर्णेता	महो० ५.१२५	आपादमस्तकमहं	महो० ६.५५
अहं जगद्वा सकलं	महो० ६.५८	आपो वा इदमासन्	नृ०पूर्व० १.१
अहं त्वं जगदित्यादौ	महो० ४.५४	आयु: पल्लवकोणाग्र...	महो० ३.९
अहं पञ्च भूतान्यपञ्च	देवी० ३	आवेदितोऽसौ याष्टीकै:	महो० २.२१
अहं ब्रह्मेति नियतं	महो० ४.७२	आशया रक्ततामेति	महो० ६.७६
अहंभावं परित्यज्य	सौ०ल० २.१३	आशाव्याशास्वप्यथ	रामपूर्व० ५.५
अहं रुद्रेभिर्वसुभि:	देवी० ४	आश्रिते जठरद्वारे	त्रि०ब्रा० २.१२६
अहं सर्वमिदं विश्वं	महो० ५.८९	आसनं प्राणसंरोध:	ध्या०बि०४१,यो०चू० २
अहं सोमं त्वष्टारं	देवी० ५	आसनानि च तावन्ति	ध्या०बि० ४२
अहन्तांशे क्षते शान्ते	महो० ५.७	आसनेन रुजं हन्ति	यो०चू० १०९
अहमेव जगत्त्रयस्यैक:	पा०ब्र० १.५	आसामन्त:स्थिता	महो० ५.२६
अहमेषां पदार्थानामेते	महो० ६.४१	आस्थामात्रमनन्तानां	महो० ५.८५
अहश्च रात्रिं पक्षं	त्रि०ब्रा० २.१२०	इच्छामात्रमविद्येयं	महो० ४.११४
अहो न चित्रं यत्सत्यं	महो० ४.१३०	इच्छाशक्तिस्त्रिविधा	सीता० १२,३५
अहो तु चित्रं पद्मोत्थै:	महो० ४.१३१	इडया वायुमापूर्य	ध्या०बि० २०
अहोरात्रादयो मत्संवर्धिता:	पा०ब्र० १.७	इडा च पिङ्गला चैव	त्रि०ब्रा० २.७०
आकाशं बाह्यशून्यत्वात्	महो० २.५	इडापिङ्गलासुषुम्ना:	ध्या०बि० ५५
आकाशभावनामच्छां	महो० ५.१४७	इतरेषां तुन्दमध्ये	त्रि०ब्रा० २.६७
आकाशमेकं सम्पूर्णं	रुद्रह०५१,पा०ब्र० २.३५	इतश्चेतश्च सुव्यग्रं	महो० ३.१८
आकाशशत भागाच्छा	महो० ५.१०१	इति तस्य पुना रसनमिति	गो०पूर्व० ११
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मल...	यो०कुं० १.६४	इति मानसोपचारै:	लांगूल० ४
आकृत्यैव विराजन्ते	महो० ४.१९	इति शक्तिमयं चेतो	महो० ५.१२८
आक्षिप्तो भुजदण्डेन	यो० वू० २७	इति सप्तविधो मोह:	महो० ५९
आख्यातं खेचरीबीजं	यो०कुं० २.१८	इत्थंभूतमति: शास्त्रगुरु ...	अक्षि० २.१४
आचार्यो वेदसम्पन्नो	अद्व० ता० १४	इत्यधोर्ध्वरज: शुक्लं	यो०कुं० १.७५

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
इत्यन्तर्निश्चयं त्यक्त्वा	महो० ६.४२	उभयोः संगमादेव	ध्या०बि० ८९
इत्यादिचेष्टनं प्राणः	त्रि०ब्रा० २.८४	उभाभ्यामकरं नमो	नी०रुद्र० २.४
इत्याह भगवान्	तुलसी० १६	उमारुद्रात्मिकाः सर्वाः	रुद्रहृ० ९
इत्येवं निश्चयं विप्राः	सर०रह० ४६	उमाशंकरयोगो यः स	रुद्रहृ० १०
इदं रहस्यं परममीश्वरेणापि	रामपूर्व० ४.६७	ॐ अग्निरिति भस्म	रुद्र० २
इदं वस्त्विति विश्वासं	महो० २.१३	ॐ अथातश्चाक्षुषी	चा० १
इदं सर्वात्मकं यन्त्रं	रामपूर्व० ४.६५	ॐ अथातो महोपनिषदमेव	च०वेद० १
इदमथर्वशीर्षं योऽधीते	देवी० २९	ॐ अस्य श्री अनन्तघोर	लांगूल० १
इदमथर्वशीर्षमशिष्याय	गण० १७	ॐ आत्मा परशिवद्वयो	रुद्र० ३
इन्द्रियैर्बध्यते जीवः	यो०चू० ८४	ॐ आदौ नम उच्चार्य	द०मू० ७
इमं संसारमखिलम्	महो० ५.१३३	ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म	सूर्य० ७
इमां कथमहं हन्मि	महो० ५.११५	ॐ क्षिप स्वाहा	गरुड० ८
इमां विज्ञाय सुधया	त्रिपुरा० ७	ॐ देवा ह वै सत्यं	नृ०षट्० १
इमां सप्तपदां ज्ञानभूमिं	महो० ५.२१	ॐ नमो भगवते	गरुड० ३,१०
इमामस्य प्राशं जहि	नी०रुद्र० ३.४	ॐ नमो भगवते आदित्याय	चा० ३
इयं महोपनिषत्त्रैपुर्या	त्रिपुरा० १६	ॐ नमो भगवते कालाग्नि...	लांगूल० ८
इयमस्मिन् स्थितोदारा	महो० ३.८	ॐ नमो भगवते चण्डप्रताप	लांगूल० ५
ईकाररूपिणी सोमामृता	सीता० ५	ॐ नमो भगवते चिन्तामणि	लांगूल० ६
ईप्सितानीप्सिते न स्तो	महो० २.४६	ॐ नमो विश्वस्वरूपाय	गो०पूर्व० ३४
उकारः सात्त्विकः शुक्लो	ध्या०बि० १३	ॐ नित्यं शुद्धं बुद्धं	यो०चू० ७२
उकारे तु लयं प्राप्ते	ध्या०बि० ११	ॐ नृसिंहाय विद्महे	नृ०पूर्व० ४.१३
उग्रं प्रथमस्याद्यं	नृ०पूर्व० १.९	ॐ प्रणो देवी सरस्वती	सर०रह० ८
उच्चैःपदाय परया	महो० ५.१७५	ॐ प्रणो देवीस्यस्य	सर०रह० ६
उड्डियाणं तदेव स्यात्तत्र	ध्या०बि० ७६	ॐ ब्रह्मावर्ते महाभाण्डीर	द०मू० १
उड्डियाणोऽप्ययं बन्धो	ध्या०बि० ७७	ॐ भूः नमो भगवते	लांगूल० २
उत त्व इति मन्त्रस्य	सर०रह० ३०	ॐ भूर्भुवः सुवः	सूर्य० २
उत त्वा विश्वा भूतानि	नी०रुद्र० २.२	ॐ भूर्लक्ष्मीर्भुवर्लक्ष्मीः	नृ०पूर्व० ४.११
उत्थितानुत्थितात्	महो० ६.२१	ॐ विश्वरूपं घृणिनं	चा० २
उत्पत्स्यन्तेऽपि चैवान्ये	महो० ५.१३७	ॐ श्रां श्रीं श्रूं श्रैं श्रौं श्रः	लांगूल० ९
उत्पन्नशक्तिबोधस्य	महो० ४.७८	ॐ स्वस्ति सिद्धम्	गा०रह० १
उदग्दक्षिणयोः स्वस्य	रामपूर्व० ४.३२	ॐ ह्रीं ॐ ह्रीमित्युपनिषद्	त्रिपुरा० १७
उदरात्पश्चिमं	यो०चू० ४९	ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ग्लां	लांगूल० ७
उदारः पेशलाचारः	महो० ६.७०	ऊर्ध्वं शिरः पिण्डम्	महो० ५.१५६
उदारचरितानां तु	महो० ६.७२	ऊर्ध्वज्वलज्ज्वलनं	त्रिपुरा० ४
उदितौदार्यसौन्दर्य ..	महो० ४.६१	ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन	यो०रा० २१
उद्गारे नाग आख्यातः	यो०चू० २५	ऊर्ध्वोरुपरि चेद्धत्ते	यो०कुं०१.५
उद्घाटयेत्कवाटं तु	यो०चू० ३९	ऊर्वोरुपरि वै धत्ते	त्रि०ब्रा०२.३९
उद्वेगानन्दरहितः	महो० २.५७	ऋग्यजुः सामाथर्वाणः	नृ०पूर्व० १.४
उपवीतलक्षणसूत्रब्रह्मगा	पा०ब्र० १.१६	ऋचो अक्षरे परमे	बह्वृ० ९
उपाङ्गमयनं चैव	सीता० २८	ऋजुकायः समासीनः	त्रि०ब्रा० २.५०
उपादेयानुपतनं	महो० ४.२४	ऋतं सत्यं परं ब्रह्म	नृ०पूर्व० १.१२

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ऋतमात्मा परं ब्रह्म	महो० ४.४५	एवं पुनः पुनः कार्यं	त्रि०ब्रा० २.९८
ऋषयः ऊचुः कथं	सर०रह० ३	एवं पृष्टेन मुनिना	महो० २.१६
ऋषयो ह वै	सर०रह० १	एवं प्रकारेण बहुधा	शरभ० १६
एकं चरणमन्यस्मिन्	त्रि०ब्रा० २.३७	एवंभूतं जगदाधारभूतं	रामपूर्व० ५.८
एकं ब्रह्म चिदाकाशं	महो० ५.५६	एवं मुहूर्तत्रयं	भाव० ४
एकं वा सर्वयत्नेन	महो० ४.३	एवं रूपपरिज्ञानं	रुद्रह० ५०
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं	यो०चू० ३	एवं रूपा परा विद्या	पा०ब्र० २.३२
एक एव शिवो नित्यस्ततो	शरभ० ३३	एवं वर्षत्रयं कृत्वा	यो०कुं० २.४२
एकदन्तं चतुर्हस्तं	गण० ११	एवं विद्वान् कृतकृत्यो	सावि० १५
एकदन्ताय विद्महे	गण० १०	एवं विशोध्य तत्त्वानि	त्रि०ब्रा० २.१६३
एकदा सोऽमलप्रज्ञो	महो० २.१४	एवं वै प्रणवस्तिष्ठेद्यस्तं	यो०चू० ७९
एकात्मकमखण्डं तदित्यन्तः	महो० ५.११८	एवं समभ्यसेद्वायुं	यो०कुं० ३.१३
एकादशपदा वा	नृ०पूर्व० २.७	एवं सर्वाणि भूतानि	ध्या०बि० ६
एकादशमुखं त्वक्षं	रुद्र०जा० ३९	एवं स्वरूपविज्ञानं	पा०ब्र० २.३४
एका स आसीत्प्रथमा	त्रिपुरा० ३	एवमङ्गीकरोच्छिवः	शरभ० १८
एकाहमात्रं कुर्वाणः	त्रि०ब्रा० २.१०२	एवमात्मा यथा यत्र	महो० ४.४३
एकोदण्डद्वयं मध्ये	यो०रा० २०	एवमादीन्यरिष्टानि	त्रि०ब्रा० २.१२८
एको विष्णुर्महद्भूतं	शरभ० २७	एवमुद्देशतः प्रोक्तं	रामपूर्व० ४.४०
एतच्चतुष्टयं विद्धि	यो०रा० ३	एवमेकाक्षरं मंत्रं यतयः	देवी० २१
एतत्पैप्पलादं महाशास्त्रं	शरभ० ३९	एष एत्यवीरहा रुद्रो	नी०रुद्र० १.३
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं	ध्या०बि०६३	एष एव मनोनाशः	महो० ४.१०९
एतत्सुदर्शनं महाचक्रं	नृ०पूर्व० ५.८	एषात्मशक्तिः। एषा	देवी० १५
एतदथर्वशिरो योऽधीते	गण० १६	एषा वै हरेः सर्वेश्वरी	राधा० २
एतद्विज्ञानमात्रेण	पा०ब्र० २.७	एषा हि चञ्चलास्पन्द...	महो० ४.९९
एतद्विष्णोः परमं पदं	गो०पूर्व० २१	एषा हि जीवन्मुक्तेषु	महो० ५.३५
एतन्नाडीमहाचक्रं	यो०चू० १८	एषा हि परिमृष्टान्तः	अक्षि० २.२८
एतस्मा एव पञ्चपदाद्	गो०पूर्व० २४	ऐं अम्बितमे नदीतमे	सर०रह० ३५
एतस्यैव यजनेन	गो०पूर्व० २६	ऐं चत्वारि वाक् परिमिता	सर०रह० २३
एतामहंभावमयीम्	महो० ६.४०	ओंकारं यो न जानाति	ध्या०बि० १४
एते नाडीसहस्रेषु वर्तन्ते	ध्या०बि०५८	ओंकारध्वनिनादेन	ध्या०बि० २३
एतेषां नवचक्राणामेकैकं	यो०रा०१९	ओंकारप्रभवा देवा	ध्या०बि० १६
एतेषां प्रथमः प्रोक्तः	महो० ६.५९	ओङ्कारेणान्तरितं ये	गो०पूर्व० २३
एतेषां लक्षणं वक्ष्ये	यो०कुं० १.३	ओड्याणं कुरुते	यो०चू० ४८
एनं मनोमणिं ब्रह्मन्	महो० ५.८३	ओमङ्कार मृत्युंजय	अक्ष० ५
एवं क्रमेण षाण्मासं	यो०कुं० २.३१	ओमथोर्ध्वं मन्थिन	राधा० १
एवं जीवो हि	महो० ५.१२७	ओमित्यग्रे व्याहरेत्	नारा० ३
एवं त्रिपुण्ड्रविधिं भस्मना	काल०रु० ९	ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म	ध्या०बि० ९
एवं द्वादशाङ्गानि	त्रि०ब्रा० १.८	ओमित्येतदक्षरमिदं	नृ०पूर्व० ४.३
एवं द्वारं समाश्रित्य	यो०चू० २१	ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं	नृ०पूर्व० २.५
एवं ध्यायति यो नित्यं	गण० १४	ओमीं ब्रह्मविद्याममावास्यायां	गरुड० १२
एवं नाडीमयं चक्रं	ध्या०बि० ५४	ओमीं सचरति	गरुड० ९

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ओमीमों नमो भगवते	गरुड० ६	कामेन विषयाकाङ्क्षी	यो०कुं० ३.३
क: सविता का सावित्री	सावि० १	कामो योनि: कामकला	देवी० १४,त्रिपुरा०८
क: सविता का सावित्री आदित्य:	सावि०६	कारणत्वेन चिच्छक्त्या	रामपूर्व० २.२
क: सविता का सावित्री चन्द्र:	सावि०७	कार्यं विष्णु: क्रिया	रुद्रह० १४
क: सविता का सावित्री पुरुष:	सावि० ९	कालरात्रिं ब्रह्मस्तुता	देवी० ११
क: सविता का सावित्री मन:	सावि०८	कालश्च कलनोद्युक्त:	अक्षि० २.२४
क: सविता का सावित्री यज्ञ:	सावि० ४	कालिन्दी जलकल्लोल..	गो०पूर्व० १०
क: सविता का सावित्री वरुण:	सावि० २	कालेन स्फुटतामेत्य	महो० ५.१५७
क: सविता का सावित्री वायुरेव	सावि०३	किं तत्परमरहस्यशिव..	द०मू० ३
क: सविता.....स्तनयित्नु:	सावि०५	किं ध्यानं किं दैवतं	नृ०पूर्व० १.५
कंसवंश विनाशाय	गो०पूर्व० ३८	किमप्यव्यपदेशात्मा	महो० २.६७
कट्वम्ललवणं तिक्तममृष्टं	महो०२.५४	कुक्कुटासनबन्धस्थो	त्रि०ब्रा० २.४२
कण्ठचक्रं चतुरङ्गुलम्	सौ०ल० ३.५	कुक्षिमेहनपार्श्वे च	त्रि०ब्रा० २.१२५
कण्ठसंकोचनं कृत्वा	ध्या०बि०१.१	कुण्डलिन्या तया योगी	ध्या०बि० ६८
कथितेयं महामुद्रा	यो०चू० ७०	कुण्डलिन्या समुद्भूता	यो० चू० ३५
कदम्बगोलकाकारं	त्रि०ब्रा० २.१५७	कुण्डलीबोधकं पुण्यं	यो०कुं० १.३८
कनिष्ठिकाङ्गुल्याङ्गुष्ठेन	प्रा०हो० ११	कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां	यो०कुं० १.७
कन्दमध्ये स्थिता नाडी	त्रि०ब्रा० २.६८	कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा	यो०कुं० १.३७
कन्दस्थानं मनुष्याणां	त्रि०ब्रा० २.५८	कुम्भकान्ते रेचकादौ	यो०कुं०१.४७
कन्दुका इव हस्तेन	महो० ५.१४३	कुम्भकेन हृदि स्थाने	ध्या०बि० ३१
कन्दोर्ध्वकुण्डली शक्ति:	ध्या०बि० ७३	कुरुद्वयं च तत्पार्श्वे	रामपूर्व० ४.४२
कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्ति:	यो०चू० ३६,४४	कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां	अक्षि० २.३७
कपालकुहरे जिह्वा	यो०चू० ५२	कृकर: क्षुतयो: कर्ता	त्रि०ब्रा० २.८७
कपालशोधने वापि	यो०कुं० १.२५	कृत्वा दूरतरे नूनमिति	अक्षि० २.२६
कम्पनं वपुषो यस्य	त्रि०ब्रा० २.१०५	कृत्वा मृदुलशूक्ष्ण	रामपूर्व० ५.२
कम्बुकण्ठी सुताम्रोष्ठी	सर०रह० ३९	कृत्वा संपुटितौ करौ	ध्या०बि०६९,यो०कुं० ४०
करणानि समाहृत्य	त्रि०ब्रा० २.११५	कृपया भगवान्विष्णुं	शरभ० ८
कर्मणा वर्तते कर्मी	त्रि०ब्रा० २.१५	कृपार्थे सर्वभूतानां	कृष्ण० १९
कलेवरमहंकारगृहस्थस्य	महो० ३.२८	कृशोऽहं दु:खबद्धोऽहं	महो० ४.१२३
कल्पं क्षणीकरोत्यन्त:	महो० ४.६८	कृषिर्भूवाचक: शब्दो	गो०पूर्व० १
कल्पान्तपवना वान्तु	महो० ४.९६	कृष्णं तं विप्रा बहुधा	गो०पूर्व० १५
कल्पितेयमविद्येयम्	महो० ४.१२६	केचिच्चासंख्यजन्मान:	महो० ५.१३८
कल्पो व्याकरणं शिक्षा	सीता० २७	केचित्तद्योगत: पिण्डा	त्रि०ब्रा० २.६
कश्यपोलूखल: ख्यातो	कृष्ण० २१	केचित्तृणौषधीवृक्ष	महो० ५.१४०
कस्तवायं जडो मूको	महो०४.१२९	केचिदर्केन्दुवरुणा:	महो० ५.१३९
कस्य शुश्रूषणान्नित्यं	रुद्रह० २	केचिद्विशाला: ककुभ:	महो० ५.१४२
कातकं फलमासाद्य	महो० ५.६६	केचिन्महेन्द्रमलय ...	महो० ५.१४१
कामनाम्ना किरातेन	महो० ३.४५	केन नवरन्ध्ररूपो	भाव० २
कामाद्याश्चित्तगा	सर०रह० ६१	केयूरकटके सूत्रं	रुद्र०जा० २१
कामिका कामका	रामपूर्व० ४.६२	केवलं केवलाभासं	महो० ४.११९
कामिका पञ्चमूलान्त ...	रामपूर्व० ४.६१	केवलं साक्षिरूपेण	रुद्रह० ४२

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
केवलं सुसमः स्वच्छो	महो० २.२७	गायत्रीत्रिष्टुब्जगत्य ..	गा०रह० ६
केशकज्जलधारिण्यो	महो० ३.४३	गायत्री वा इदं सर्वं	नृ०पूर्व० ४.१२
केशव क्लेशहरण	गो०पूर्व० ४५	गारुडब्रह्मविद्यां	गरुड० १
केशान्तमूर्ध्वं क्रमति	यो०कुं० २.३५	गुणत्रयसमुद्भूतग्रन्थि	यो०कुं० १.३९
केसरे चाष्टपत्रे च	रामपूर्व० ४.४५	गुदं नियम्य गुल्फाभ्यां	यो०कुं० २.३८
कोशमाशाभुजङ्गानां	महो० ५.१६६	गुरुभक्ताय दान्ताय	शरभ० ३७
कोऽहं कथमिदं चेति	महो० ४.२१	गुरुभक्तिसमायुक्तः	अद्व०ता० १५
क्रिया इच्छा तथा ज्ञानं	यो०चू० ८६	गुरुरेव परं ब्रह्म	अद्व०ता० १७
क्रियाकर्मेज्यकर्तृणां	रामपूर्व० १.१२	गुरुरेव पराकाष्ठा	अद्व०ता० १८
क्रियायोगमथेदानीं	त्रि०ब्रा० २.२४	गुरुवाक्यसमाभिन्ने	यो०कुं० ३.१७
क्रियाशक्ति स्वरूपं	सीता० २०	गुरुशास्त्रोक्तमार्गेण	महो० ४.२५
क्रीडते बालको भूत्वा	कृष्ण० १८	गुरुस्तस्मै परां विद्यां	रुद्रह० ३६
क्रूरेण जडतां याता	महो० ३.१९	गुरूपदेशलभ्यं च	यो०कुं० २.२१
क्रोधं क्रोणाग्रान्तरेषु	रामपूर्व० ४.४४	गुल्फौ च वृषणस्याधः	त्रि०ब्रा०२.४५
क्लीं यद्वाग्वदन्ति	सर०रह० २६	गुल्फं जलोदरः प्लीहा	यो०कुं० १.१८
क्वचित्प्रकृतिरित्युक्तं	महो० ५.१३१	गुल्मदेशसमीपे च	यो०कुं० १.४९
क्वचिद्बन्धः इति ख्यातं	महो० ५.१३२	गुल्मप्लीहादिकान्दोषान्क्षयं	यो०कुं० १.३१
क्वचिद्वा विद्यते यैषा	महो० ३.३७	गुशब्दस्त्वन्धकारः	अद्व०ता० १६
क्वचिन्मनः क्वचिद्बुद्धिः	महो० ५.१३०	गृहीततृष्णाशबरी	महो० ६.३१
क्वैतानि न्यस्यानि	नृ०षट्० ७	गोकुलं वनवैकुण्ठं	कृष्ण० ९
क्षणमायाति पातालं	महो० ३.२४	गोपगोपाङ्गनावीतं	गो०पूर्व० ९
क्षमा धृतिर्मिताहारः	त्रि०ब्रा० २.३३	गोपरूपो हरिः	कृष्ण० १०
क्षयकुष्ठ गुदावर्त	यो०चू० ६९	गोप्यो गाव ऋचस्तस्य	कृष्ण० ९
क्षीरोदार्णवशायिनं	नृ०पूर्व० १.१०	ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव	यो०कुं० २.९
क्षुधा क्रोधिन्यमोघा	रामपूर्व० ४.५९	ग्रहणे विषुवे चैवमयने	रुद्र०जा० ४४
खगरज्जुवदित्येतद्यो	ध्या०बि० ६१	ग्राम्यासु जडचेष्टासु	अक्षि० २.५
खेचराधिपतिर्भूत्वा	यो०कुं० २.१७	ग्राह्यभावे मनः प्राणो	त्रि०ब्रा० २.१६४
खेचर्या मुद्रितं येन	यो०चू० ५७	घटाकाशमठाकाशौ	रुद्रह० ४३
खेदोल्लासविलासेषु	महो० ६.३	घटिकाविंशतिस्तस्माद्	त्रि०ब्रा० २.१४१
गकारः पूर्वरूपम्	गण० ९	चक्षुः पश्यति	पा०ब्र० २.९
गगनं पवने प्राप्ते	यो०चू० ११५	चतुरस्रमुपर्यग्रेरधो	ध्या०बि० ४७
गगनो मम त्रिशक्ति	पा०ब्र० १.९	चतुर्णामपि भेदानां	यो०कुं० १.४०
गणक ऋषिः निचृद्गायत्री	गण० ९	चतुर्दशमुखं चाक्षं	रुद्र०जा० ४२
गणादिं पूर्वमुच्चार्य	गण० ७	चतुर्भिः क्लेशनं	त्रि०ब्रा० २.९५
गदा च कालिका साक्षात्	कृष्ण० २३	चतुर्भिश्च द्वाभ्यां	शरभ० २८
गन्धर्वनगरस्यार्थे	महो० ५.१६७	चतुर्मुखं तु रुद्राक्षं	रुद्र०जा० ३०
गमागमास्थं गमनादि	ध्या०बि० २४	चतुर्मुखमुखाम्भोजवनहंस..	सर०रह०३६
गर्भजन्मजरामरण	अद्व०ता० ३	चतुष्पथ समायुक्त...	ध्या०बि०९४
गलितद्वैतनिर्भासो	अक्षि० २.३५	चत्वारि वागिति मन्त्रस्य	सर०रह० २१
गाढतामिस्रसंशान्त्यै	द०मू० २९	चन्द्रमण्डल संकाश....	गरुड० ७
गान्धारी हस्तिजिह्वा	ध्या०बि० ५३,यो०चू० १७	चन्द्रांशेन समभ्यस्य	यो०चू० ६७

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
चन्द्रार्कमध्यमा	यो०कुं० ३.७	जडतां वर्जयित्वैकां	महो० ५.५१
चरतां चक्षुरादीनां	यो०चू० १२०	जनको नाम भूपालो	महो० २.१९
चरन्ति दशनाडीषु	त्रि०ब्रा० २.७८	जन्तोर्यथावदेवेयं	अक्षि० २.१९
चले वाते चलो	यो०चू० ८९	जन्मपल्वलमत्स्यानां	महो० ३. ४६
चातुर्होत्रप्रधानत्वात्	सीता० २३	जन्मस्थितिविनाशेषु	महो० २.५९
चितश्चिन्न चिदाकाराद्विद्यते	रुद्रह्र० ४५	जन्मान्तरघ्ना विषया	महो० ३.५५
चितो रूपमिदं ब्रह्मन्	महो० ५.१२४	जपं च मथनं चैव कृत्वा	यो०कुं० २.४४
चित्तं कारणमर्थानां	महो० ३.२१	जयन्तीसम्भवो वायुश्चमरो	कृष्ण० २०
चित्तं चरति खे	यो०चू० ५५	जरा मरणमापच्च राज्यं	महो० २.५५
चित्तमेव हि संसारो	महो० ४.६६	जरामृत्युगदघ्नो यः	यो०कुं० २.३
चित्तशुद्धौ क्रमाज्ज्ञानं	पा०ब्र० २.३७	जागरितस्थानो बहिः प्रज्ञः	नृ०पूर्व० ४.४
चित्तस्य निश्चलीभावो	त्रि०ब्रा० २.३१	जाग्रतः प्रत्ययाभावं	महो० २.१०
चित्ताकाशं चिदाकाशम्	महो० ४.५८	जाग्रत्स्वप्ने व्यवहरन्तु	यो०कुं० ३.२९
चित्ते तदेकतानता	द०मू० २२	जाग्रद्वृत्तिं विजानीयात्	त्रि०ब्रा० २.१५०
चित्स्वरूपवत्तन्मयं	पा०ब्र० १.२१	जाग्रन्नेत्रद्वयोर्मध्ये	यो०चू० ८२
चित्स्वरूपोऽहमिति	अद्व० ता० २	जाड्यभावविनिर्मुक्तममलं	यो०कुं० १.७८
चिदचैत्या किलात्मेति	महो० ६.७८	जातास्त एवं जगति	महो० ३.१४
चिदणोः परमस्यान्तःकोटि	महो० २.४	जानकी देहभूषाय	रामपूर्व० ४. १४
चिन्तानलशिखा दग्धं	महो० ५.१३४	जानन्ति तेऽमृतफलकाः	पा०ब्र० १.२६
चिन्तानिचयचक्राणि	महो० ३.७	जानूपरि ललाटं तु	त्रि०ब्रा० २.५१
चिन्तामभ्येत्य भगवान्	महो० ५.१५९	जायते म्रियते लोको	महो० ३.४
चिन्मयस्याद्वितीयस्य	रामपूर्व० १.७	जायाभवविनिर्मुक्तिः	यो०कुं० १.७९
चिन्मयेऽस्मिन्महाविष्णौ	रामपूर्व० १.१	जालन्धरे कृते बन्धे	यो०चू० ५१
चिन्मात्रं चैत्यरहितम्	महो० २. ६८	जिज्ञासार्थं शुकस्य	महो० २.२२
चरं संदर्शनाभावात्	महो० ५.१७	जिह्वया वायुमाकृष्य	यो०कुं० १.३०
चेतनोऽसौ प्रकाशत्वात्	महो० २.६	जिह्वाग्रादर्शने त्रीणि	त्रि०ब्रा० २.१२७
चेतसा संपरित्यज्य	महो० ४.८	जिह्वामर्कटिकाक्रान्त...	महो० ३.३०
चेतसो यदकर्तृत्वं	महो० ४.७	जीव एव दुरात्मासौ	महो० ५.९३
चैत्यानिर्मुक्तचिद्रूपं	महो० ६.८२	जीवन्मुक्तपदं व्यक्त्वा	महो०२.६३,यो०कुं०३.३४
चैत्यानुपातरहितं	महो० ४.११६	जीवन्मुक्ता न मज्जन्ति	महो० ५.३७
चोदयित्रीति मन्त्रस्य	सर०रह० १५	जीवला नघारिषां	प्रा०हो० ५
छित्त्वाऽविद्यामहाग्रन्थिं	रुद्रह्र० ३७	जीववाची नमो नाम	रामपूर्व० ४.१
छित्त्वा स्वात्मनि	महो० ५.१८४	जीवस्य तण्डुलस्येव	महो० ५.१८६
छिन्नाभ्रमण्डलं व्योम्नि	महो० ४.९५	जीवात्मनः परस्यापि	त्रि०ब्रा० २.१६१
जगज्जालपदार्थात्मा	महो० ६.५७	जीवेश्वरादिरूपेण	महो० ४.७३
जगत्प्राणायात्मनेऽस्मै	रामपूर्व० ३.२	ज्ञात्वा यतेत कैवल्य	त्रि०ब्रा०२.१२२
जगत्सर्वमिदं मिथ्या	त्रि०ब्रा० २.३०	ज्ञानं देहि पदं पश्चाद्वह्निजायां	द०मू० १२
जगदात्मतया भाति	पा०ब्र० २.४१	ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या	महो० ५.२४
जगदादित्यो रोचते	पा०ब्र १.२८	ज्ञानयोगः स विज्ञेयः	त्रि०ब्रा० २.२७
जगाम शिखरं मेरोः	महो० २.७५	ज्ञानसंकल्प निश्चय ...	त्रि०ब्रा० १.६
जगामागर्जदनूजो	रामपूर्व० ४.२३	ज्ञानेनैव हि संसार विनाशो	रुद्रह्र० ३५

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ज्योतिरूपं च तन्मध्ये	यो०रा० ११	तत्र त्रयीमयं शास्त्रमाद्यं	सीता० २१
ज्योतिर्मयं तदग्रं	यो०चू० ८१	तत्र ध्यात्वा शुचि ज्योतिः	यो०रा० १३
ज्योतिषं च यथा	रुद्रहृ० ३०	तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः	ध्या०बि०५१,यो०चू० १५
ज्वलतामतिदूरेऽपि सरसा	महो० ३.४४	तत्र वर्षसहस्राणि	महो० २.७६
ज्वलनाघातपवनाघातैः	यो०कुं० १.८५	तत्र शीतांशुसंजातं	यो०कुं० १.७०
ज्वलितोऽपि यथा बिन्दुः	यो०चू० ५९	तत्र सूर्योऽग्निर्नाम	प्रा०हो० १९
तं गुहः प्रत्युवाच	अक्ष०२	तत्रात्मायं तुरीयस्य	त्रि०ब्रा० २.१५२
तं मुने सर्वभावेन	यो०कुं० २.४	तत्राश्रुबिन्दवो जाता	रुद्र०जा० ५
तं होवाच भगवान्	रुद्र०जा०२,काल०रु० ३	तत्रैते श्लोका भवन्ति	रुद्र०जा० ३,२७
तच्च जालन्धरं ज्ञेयं	यो०रा० १७	तत्रोन्मदाभिः कान्ताभिः	महो० २.२५
तज्जपाल्लभते पुण्यं	रुद्र०जा० ८	तत्साधने द्वयं मुख्यं	यो०कुं० १.८
तडित्सु शरदभ्रेषु	महो० ३.३२	तत्सिद्धयै लक्ष्यत्रयानुसंधानः	अद्व०ता० ४
तण्डुलस्य यथा चर्म	महो० ५.१८५	तत्सुखासनमित्युक्तम्	त्रि०ब्रा० २.५२
ततः कालवशादेव	त्रि०ब्रा० २.१८	तत्स्त्र्यम्। यद्यनन्तक	गरुड० १३
ततः पद्मासनं बद्धा	यो०कुं० १.३२	तथा तत्परमं विद्धि	यो०कुं०२.२०
ततः प्रवर्तते वाणी	सर०रह० ४४	तथाऽऽदिशन्त्याभिचार	सीता० २४
ततः प्रवेशयामास	महो० २.२४	तथा ध्यानेन वैराग्यम्	रामपूर्व० १.५
ततः प्रवेशयामास जनकः	महो० २.२३	तथा सति कथं माया	पा०ब्र० २.१७
ततः संमेलकादौ च	यो०कुं० २.२६	तथा सर्गब्रह्मणोश्च	सर०रह० ५६
ततः सहस्रदृग्वह्निः	रामपूर्व० ४.३८	तथेत्यवोचद्भगवान्	सौ०ल० १.२
ततः सिंहासनस्थः	रामपूर्व० ४.३०	तथैव तस्य मन्त्रस्य	रामपूर्व० ४.११
ततः स्तिमितगम्भीरं	महो० २.६५	तथैव रभसा शुक्लं	यो०कुं० १.७२
ततः ओषधयोऽन्नं च	त्रि०ब्रा० २.५	तथैव रामबीजस्थं	रामपूर्व० २.३
ततस्तादृग्गुणगतं	महो० ५.१५१	तथैव स्वशरीरस्थं	यो०कुं० १.३५
तते ब्रह्मघने नित्ये	महो० ६.१३	तथैवात्मात्मशक्त्यैव	महो० ५.१२०
ततो जालन्धरो बन्धः	ध्या०बि० ७८	तथैवान्नमये कोशे	त्रि०ब्रा० २.१२
ततो देवः प्रीतो भवति	नृ०पूर्व० ४.१६	तदक्षमुत्तमं विद्यात्तद्धार्यं	रुद्र०जा० १७
ततो यातौ वह्न्यपानौ	यो०कुं० १.४४	तदखिलं किमिति	त्रि०ब्रा० १.४
ततो विशुद्धं विमलं	गो०पूर्व० ३२	तदत्र गाथाः -यस्य	गो०पूर्व० ३०
तत्किमेतन्महाभाग	महो० २.३५	तदधस्तौ तालवृन्तकरौ	रामपूर्व० ४.३४
तत्तद्रूपमनुप्राप्य ददाति	पा०ब्र० २.१४	तदभेदेन मन्त्राम्रेडनं	द०मू० २१
तत्तारकं द्विविधं	अद्व०ता० ८,१०	तदभ्यासप्रदातारं	यो०कुं० २.१३
तत्त्वतश्च शिवः साक्षात्	रुद्रहृ० ४४	तदात्मा राजते तत्र	ध्या०बि० १०४
तत्त्वदृष्ट्या तु नास्त्येव	पा०ब्र० २.१९	तदा दुःखादिभेदो	पा०ब्र० २.२४
तत्त्वावबोध एवासौ	महो० ४.१२	तदा प्राणापानयोरैक्यं	ध्या०बि० ९३-१५
तत्त्वाविचारपाशेन	द०मू० ३०	तदा ब्रह्मार्गलं	यो०कुं० २.४१
तत्पीठकर्णिकायां	सौ०ल० १.५	तदा रामः क्रोधरूपी	रामपूर्व० ४.२७
तत्पीठम्। अष्टपत्रं	सौ०ल० १.९	तदासौ प्रथमामेका	अक्षि० २.९
तत्पुरुषं पुरुषो	महो० १.६	तदाहुरेके यस्य	गो०पूर्व० २९
तत्र गत्वा च तेनोक्तविद्यां	यो०कुं०२.१५	तदाहुरेको ह वै	महो० १.२
तत्र चक्रं द्वादशारं	त्रि०ब्रा० २.६०	तदिह श्लोका भवन्ति	गो०पूर्व० ८,१९

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
तदु होचुः कः कृष्णः	गो०पूर्व० ४	तस्मान्नित्यमकर्त्ताहमिति	महो० ४.१६
तदु होवाच ब्राह्मणः	गो०पूर्व० ३	तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव	महो० ४.७५
तदु होवाच हैरण्यो	गो०पूर्व० ७	तस्मिंस्तु तीव्रसंवेगाद्	महो० ५.१५४
तदेतत्सुदर्शनं महाचक्रं	नृ०पूर्व० ५.१०	तस्मिन्दृष्टे महायोगे	यो०चू० ११
तदेतदृचाभ्युक्तं	नृ०पूर्व०४.९,५.९,२१	तस्मिन्नित्ये तते शुद्धे	महो० ४.१२०
तदेतदृषिणोक्तं निदर्शनं	नृ०पूर्व० ३.४,६	तस्मिन्निरस्तनिःशेष	महो० ४.६०
तदेष श्लोकः क्लीमित्ये ..	गो०पूर्व० १३	तस्मिन् पुरुषाश्चतुर्दश	महो० १.५
तदैवैनामनुगता	महो० ५.१२३	तस्मिन्सुविदिते सर्वं	रुद्रह्र० २७
तद्बहिर्द्वादशदलं	रामपूर्व० ४.४७	तस्मै स होवाच	शरभ० २
तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं	महो० ४.७०	तस्य कोटिशतं पुण्यं	रुद्र० जा० ७
तद्भक्ता ये लब्धकामाश्च	रामपूर्व० ५.१०	तस्य चञ्चलता यैषा	महो० ४.१०१
तद्भामात्रमिदं विश्वमिति	महो० २.७	तस्य ध्यानान्तःस्थस्य	महो० १.४
तद्वद्राक्षे वाग्विषये	रुद्र०जा० ४८	तस्य मध्यगतं देवं	ध्या०बि० २८
तद्वा एतत् परमं	नृ०पूर्व ५.२०	तस्य मध्ये महानर्चिः	महो० १.१३
तद्विष्णोः परमं पदं	गो०पूर्व० २७	तस्य मध्ये वह्निशिखा	च०वेद० ५
तन्नाभिमण्डलं चक्रं	ध्या०बि० ४९	तस्य श्रीखेचरी सिद्धिः	यो०कुं० २.२३
तन्नाभिमण्डले चक्रं	यो०चू० १३	तस्य संवत्सरादूर्ध्वं	त्रि०ब्रा० २.१२३
तन्मध्ये प्रोच्यते	यो०चू० ८	तस्य ह वा उग्रं प्रथमं	नृ०पूर्व० २.६
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः	ध्या०बि० ४५	तस्य ह वै प्रणवस्य	नृ०पूर्व० २.२
तन्मध्ये बीजमालिख्य	रामपूर्व० ४.४१	तस्य हैतस्य पञ्चाङ्गानि	नृ०पूर्व० २.४
तन्मूला बहवो नाड्यः	त्रि०ब्रा० २.७५	तस्याः शिखाया मध्ये	महो० १.१४,च०वेद० ६
तपः प्रभृतिना यस्मै	महो० २.४२	तस्याः षडङ्गं कुर्वीत	यो०कुं० २.३८
तपस्विषु बहुज्ञेषु	महो० ४.३४	तस्या एव द्वितीयः पादो	सावि० ११
तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्द..	गो०पूर्व० ३३	तस्या एव प्रथमः पादो	सावि० १०
तमो मायात्मको रुद्रः	पा०ब्र० १.१०	तस्या एव ब्रह्मा	बह्वृ० २
तया त्वं विश्वतो	नी०रुद्र० २.९	तस्या एष तृतीयः पादः	सावि० १२
तयोरादौ समीरस्य	यो०कुं० १.२	तस्या वाचः परो देवः	यो०कुं० ३.२०
तयोरादौ सरस्वत्याश्चालनं	यो०कुं० १.९	तस्यास्वादवशाच्चित्तं	यो०कुं० १.७३
तरवोऽपि हि जीवन्ति	महो० ३.१३	तस्यैवं स्तुवतो नित्यं	सर०रह० ४३
तर्कतश्च प्रमाणाच्च	रुद्रह्र० ४६	तां जीवरूपिणीं	यो०रा० ७
तस्माच्छनैः शनैः	यो०कुं० २.४०	तां तीक्ष्णशृंखलां विद्धि	महो० ६.५२
तस्मात्कृष्ण एव परमो	गो०पूर्व० ४९	तां दृष्ट्वा तदधीशेन	रामपूर्व० ४.२८
तस्मात् त्र्यंशकमाख्यातं	यो०कुं०२.१९	तां ध्यात्वा सर्वसिद्धीनां	यो०रा० १०
तस्मात्संचालयेन्नित्यं	यो०कुं० १.१७	तानुवाच ब्रह्मा यत्तस्य	गो०पूर्व० १८
तस्मात्सर्वं परित्यज्य	अक्षि० २.४७	तानुवाच ब्राह्मणः	गो०पूर्व० ५
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन	यो०कुं० २.१४	तापत्रयसमुद्भूतजन्ममृत्यु	शरभ० १७
तस्मादन्योन्यमाश्रित्य	त्रि०ब्रा० २.४	तापापहारिणीं देवीं	देवी० १९
तस्मादभ्यासयोगेन	त्रि०ब्रा० २.२२	तामग्निवर्णां तपसा	देवी० ९
तस्मादिदं साममध्यगं	नृ०पूर्व० १.१६	तामसी दैत्यपक्षेषु	कृष्ण० ५
तस्मादुड्डीयणाख्योऽयं	यो०कुं० १.४८	तालुचक्रं तन्नामृतधारा	सौ०ल०३.६
तस्मादेनं नित्यमावर्तयेत्	गो०पूर्व० २८	तालुमूलं च मूलं च	त्रि०ब्रा० २.१३२

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
तालुमूलं समुत्कृष्य	यो०कुं० २.२८	तैलधारामिवाच्छिन्न	ध्या०बि० ३७
तावज्जीवो भ्रमत्येवं	यो०चू०१४,ध्या०बि० ५०	त्यक्ताहंकृतिराश्वस्त ...	महो० ६.६९
तावत्संसारभृगुषु	महो० ४.१११	त्यक्त्वा सदसदास्थां	महो० ६.५४
तावदासनमुत्सेधे	त्रि०ब्रा०२.९१	त्यागादानपरित्यागी	महो० ६.१५
तावन्तं च पुनः कालं	त्रि०ब्रा० २.११९	त्रयोदशमुखं त्वक्षं	रुद्र०जा० ४१
तावन्निशीव वेताला	महो० ५.७८	त्रिकोणं तत्पुरं	यो०चू० १०
तासां स्वर्गापवर्गार्थं	महो० ५.१६३	त्रिणाचिकादियोगान्ता	महो० ४.७४
तिलानां तु यथा तैलं	ध्या०बि० ७	त्रिधा रेखा भवत्याललाटात्	काल०रु० ५
तिष्ठन्गच्छन्	महो० ६.३४	त्रिमुखं चैव रुद्राक्षम्	रुद्र०जा० २९
तिस्रः पुरस्त्रिपथा	त्रिपुरा० १	त्रियंगानि शिखा त्रीणि	पा०ब्र० २.५
तिस्रश्च नाडिकास्तासु	त्रि०ब्रा०२.११८	त्रिशतं त्वधमं पञ्चशतं	रुद्र०जा० २२
तुन्दस्थजलमन्नं च	त्रि०ब्रा० २.८३	त्रिशिखी ब्राह्मणः	त्रि०ब्रा० १.१
तुन्दे तु ताणं कुर्याच्च	यो०कुं० १.१५	त्रिस्थानं च त्रिमार्गं च	ध्या०बि० ३६
तुर्यविश्रान्तियुक्तस्य	महो० ४.४०	त्रीणि धामानि कालः	द०मू० २४
तुर्यातीतं परंब्रह्म	त्रि०ब्रा० १.१५१	त्वं वाङ्मयस्त्वं	गण० ५
तुलसी दारुमणिभिः	तुलसी० १५	त्वङ्मांसरक्तबाष्पाम्बु	महो० ३.४०
तुलसीपत्रमुत्सृज्य	तुलसी० १३	त्वत्ताहन्तात्मता	महो० ५.४४
तुषारकरबिम्बाच्छं मनो	महो० ४.३३	त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि	गण० २
तूष्णीमेकामेक ऋचा	प्रा०हो० १२	त्वमेव सुरसंसेव्या	तुलसी० ६
तृणं पांशुं महेन्द्रं च	महो० ३.३८	त्वमैश्वर्यं दापयाथ	रामपूर्व० ४.१६
तृतीयं नाभिचक्रं	यो०रा०९,सौ०ल०३.३	दक्षनाड्या समाकृष्य	यो०कुं० १.२४
तृतीय रेखा वलयं कृत्वा	ध्या०बि० ९३-१४	दक्षिणे लक्ष्मणेनाथ	रामपूर्व० ४.१०
तृष्णाग्राहगृहीतानां	महो० ४.१०५	दण्डो नीतिश्च वार्ता	सीता० ३१
तृष्णाविषूचिकामन्त्रः	महो० ३.२६	दया च रोहिणी माता	कृष्ण० १५
ते देवा अब्रुवन् नमो	देवी० ८	दर्शनाख्यं स्वमात्मानं	महो० ६.३७
ते द्वे ब्रह्मणि विन्देत	महो० ४.१५	दशमद्वारमार्गं	यो०रा० १४
तेन कुण्डलिनी तस्याः	यो०कुं० १.१४	दशवक्त्रं तु रुद्राक्षं	रुद्र०जा० ३८
तेन कुण्डलिनी सुप्ता	यो०कुं० १.४५	दशवारं पठेद्यस्तु	देवी० ३१
तेन चित्प्रतिबिम्बेन	सर०रह० ४८	दशाचतुष्टयाभ्यासाद्	महो० ५.३१
तेन स्वयं त्वया ज्ञातं	महो० २.७१	दहरस्थः प्रत्यगात्मा	यो०कुं० ३.३१
तेनाग्निना च संतप्ता	यो०कुं० १.६६	दाम्भिकाय नृशंसाय	शरभ० ३६
तेनासौ स्वविवेकेन	महो० २.२	दासाः पुत्राः स्त्रियश्चैव	महो० ३.३५
तेनेयमिन्द्रजालश्रीर्जगति	महो० ४.४७	दिव उग्रोऽवारुक्षत्	नी०रुद्र० १.२
तेनैषा खेचरी नाम	ध्या०बि० ८३	दिवसे दिवसे कुर्वन्	महो० ६.७७
ते पप्रच्छुस्तदु होवाच	गो०पूर्व० २५	दिवा सुप्तिर्निशायां	यो०कुं०१.५६
ते भोगास्तानि भोज्यानि	महो० २.२६	दिव्यवर्ष सहस्राणि	रुद्र०जा० ४
ते स्थिता भूमिकास्वासु	महो० ५.४२	दिशोऽपि नहि दृश्यन्ते	महो० ३.४९
ते ह पुनः श्रद्दधानास्तं	द०मू० २६	दीर्घभाजि षडस्रे	रामपूर्व० ४.४३
ते होचुः किं तद्रूपं	गो०पूर्व० ६	दुग्धसिन्धौ समुत्पन्नौ	कृष्ण० १७
ते होचुरुपासनमेतस्य	गो०पूर्व० १७	दुर्जया सा सुरैः	कृष्ण० ११
तैलधारामिवाच्छिन्न	यो०चू०८०,ध्या०बि० १८	दुर्लभो विषयत्यागो	महो० ४.७७

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
दृढासनो भवेद्योगी	सौ०ल०२.७	द्वितीयं संशयाख्यं	यो०कुं० १.५९
दृश्यं नास्तीति बोधेन	महो० २.३८	द्वितीयं स्वाधिष्ठानचक्रं	सौ०ल० ३.२
दृश्यदर्शननिर्मुक्तः	महो० ६.८०	द्वितीयकारणाभावाद्	महो० ५.५८
दृश्यमाश्रयसीदं	महो० ६.३५	द्वित्रिवर्णसहिता	पा०ब्र० १.४
दृश्यसंभवबोधेन	महो० ४.६२	द्विप्रकारमसंसर्गं	अक्षि० २.२०
दृश्यासंभव बोधो	महो० ४.६३	द्विवक्त्रं तु मुनिश्रेष्ठ	रुद्र०जा० २८
दृष्टं द्रष्टव्यमखिलं	महो० ६.९	द्विसप्ततिसहस्राणि	ध्या०बि० ९८
देवकी ब्रह्मपुत्रा सा	कृष्ण० ६	द्वे विद्ये वेदितव्ये हि	रुद्रह० २८
देवा ह वै प्रजापतिम्	सीता०१, नृ०पूर्व० २.८, ४.१,४.१४, ५.१,५.११	द्वेषाश्चाणूरमल्लोऽयं	कृष्ण० १४
		द्वैताद्वैतसमुद्भूतैः	महो० ६.६२
देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्	नृ०पूर्व० ३.१	द्वौ सुपर्णौ शरीरेऽस्मिन्	रुद्रह० ४१
देवा ह वै मृत्योः	नृ०पूर्व० २.१	धनदारेषु वृद्धेषु	महो० ५.१६९
देवा ह वै स्वर्गं	च०वेद० ८	धनुस्तारं शरो ह्यात्मा	रुद्रह० ३८
देवीं वाचमजनयन्त	देवी० १०	धर्माधर्मौ सुखं दुःखं	महो० २.५६
देवीं वाचमिति मन्त्रस्य	सर०रह० २७	धर्मो रुद्रो जगद्विष्णुः	रुद्रह० १५
देवी ह्येकाग्र आसीत्	बह्वृ० १	धारणा द्वादश प्रोक्तं	यो०चू० ११२
देशकालक्रियाशक्तिर्न	महो० ५.१२१	धारणाभिर्मनो धैर्यं	यो०चू० ११०
देशाद्देशं गते चित्ते	महो० ५.४९	धीरेऽप्यतिबहुज्ञोऽपि	महो० ५.८७
देशाद्देशान्तर प्राप्तौ	महो० ४.५९	धृतिर्मैत्री मनस्तुष्टिः	महो० ६.३०
देहमध्ये ब्रह्मनाडी	अद्व०ता० ५	ध्यानम्। मुद्रापुस्तक....	द०मू० १९
देहमध्ये शिखिस्थानं	त्रि०ब्रा० २.५६	ध्यानम्। स्फटिकरजतवर्णं	द०मू० ८
देहमानं स्वाङ्गुलिभिः	त्रि०ब्रा० २.५४	ध्यानम्। स्वस्तिको	गरुड० ५
देहस्थमखिलं देह....	त्रि०ब्रा० २.५५	ध्यानस्य विस्मृतिः	त्रि०ब्रा० २.३२
देहाभिमाने गलिते	सर०रह० ६६	ध्यायतो योगिनः सर्व	त्रि०ब्रा० २.१५६
दैन्य दोषमयी दीर्घा	महो० ३.३६	ध्यायतो योगिनो यस्तु	त्रि०ब्रा० २.१६०
द्रष्टा दृश्यवशाद्बद्धो	महो० ४.४८	ध्यायन्नास्ते मुनिश्चैवम्	यो०कुं० ३.३३
द्रष्टारं पश्यतो नित्यम्	महो० ५.६३	न किंचन द्वेष्टि तथा	महो० २.६०
द्रष्टुर्दृश्य समायोगात्	महो० ६.१७	न गच्छन्ति स्वयं ज्योतिः	पा०ब्र० २.१५
द्रष्टृदर्शनदृश्यानां	महो० २.६९	न च मूर्च्छा भवेत्तस्य	ध्या०बि० ८१
द्रष्टृदर्शनदृश्यानि	महो० ६.१८	न जहाति मृतं वापि	यो०चू० २६
द्वयोः समरसीभावं	ध्या०बि० ९१	न जायते न म्रियते	महो० ४.११८,५.१६५
द्वयोर्मध्यगतं नित्यम्	महो० ६.१९	न तत्पश्यति चिद्रूपं	पा०ब्र०२.२५
द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यं च	यो०कुं० १.११	न तत्र चन्द्रार्कवपुः	रुद्रह० ४०
द्वादशान्तपदं	द०मू० २५	न तदस्ति न यत्राहं	महो० ६.११
द्वादशेनांश्च धातारं	रामपूर्व० ४.५२	न तस्य धर्मोऽधर्मश्च	पा०ब्र० २.२३
द्वापरान्ते नारदो ब्रह्माणं	कलि० १	न त्यजन्ति न वाञ्छन्ति	महो० ५.१७७
द्वाराणां नव संनिरुध्य	यो०चू० १०७	न धनान्युपकुर्वन्ति न	महो० ४.२८
द्वारोपेतं च राश्यादिभूषितं	रामपूर्व० ४.५३	न पीयूषं पतत्यग्नौ	ध्या०बि० ७९
द्वावेतौ ब्रह्मतां यातौ	महो० ६.४७	नमः कमलनेत्राय	गो०पूर्व० ३६
द्विचन्द्रशुक्तिका	महो० ५.१५	नमः पापप्रणाशाय	गो०पूर्व० ४१
द्वितीयं वासुदेवाद्यैः	रामपूर्व० ४.३५	नमस्त आदित्य	सूर्य० ४

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
नमस्ते अस्तु भगवति	देवी० १७	नाभिनन्दत्यसंप्राप्तं	महो० ४.३७
नमस्ते गणपतये	गण० १	नाभौ तु मणिवद्बिम्बं	यो०चू० ९
नमस्ते नारदनुते	तुलसी० ९	नाभौ दशदलं पद्मं	यो०चू० ५
नमस्ते भवभामाय	नी०रुद्र० १.४	नामजात्यादिभिर्भेदैरष्टधा	सर०रह० २५
नमस्ते शारदे देवि	सर०रह० ३७	नामरूपात्मकं सर्वं	सर०रह० ३४
नमामि त्वामहं देवीं	देवी०२५	नारदः पुनः पप्रच्छ	कलि० २
नमामि यामिनीनाथ	सर०रह० ४१	नारसिंहं च वाराहं	रामपूर्व० ४.५५
नमो मित्राय भानवे	सूर्य० ६	नारायणात्मकः कालः	रामपूर्व० ४.६३
नमो विज्ञानरूपाय	गो०पूर्व० ३५	नारायणेन संयुक्तो	देवी० २३
नमो वेदादिरूपाय	रामपूर्व० ४.१३	नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो	महो० ४.६९
नमो व्रातपतये नमो	गण० १५	नासाग्रन्यस्तनयनो	त्रि०ब्रा० २.१४६
न रसायनपानेन न	महो० ४.३१	नासाग्रे धारणाद्दीर्घमायुः	त्रि०ब्रा० २.१११
न रोगो मरणं तस्य	यो०चू० ५३	नास्तमेति न चोदेति	महो० ५.१०२
न लक्ष्यते स्वभावोऽस्या	महो० ५.११२	नास्ति देहसमः शोच्यो	महो० ३.२७
न वक्त्रं तु रुद्राक्षं	रुद्र० जा० ३७	नाहं कर्त्ता न भोक्ता च	अक्षि० २.२१
नव प्रसूतस्य परादयं	महो० ५.१२	नाहं दुःखी न मे देहो	महो० ४.१२४
नवममाकाशचक्रम्	सौ०ल० ३.९	नाहं न चान्यदस्तीह	महो० ५.६९
नवयोनीर्नवचक्राणि	त्रिपुरा० २	नाहं नेदमिति	महो० ६.३६
नवसूत्रान्परिचर्चितान्	पा०ब्र० १.२७	नाहं मांसं न चास्थीनि	महो० ४.१२५
नवस्वेव हि चक्रेषु	यो०रा० ५	निःशेषितजगत्कार्यः	महो० २.२९
न शास्त्रेण विना सिद्धिर्दृष्टा	यो०कुं०२.१२	नित्यं ऋतं वच्मि	गण० ३
न शून्यं नापि चाकारो	महो० २.६६	नित्यं विभुं सर्वगतं	रुद्रह० ३२
न स जीवो न च	पा०ब्र० २.२२	नित्यप्रबुद्धचित्तस्त्वं	महो० ४.११
न सन्नासन्न मध्यान्तं	महो० ५.४६	नित्यो नित्यानां	गो०पूर्व० २०
न सम्यग्ज्ञानिनः	पा०ब्र० २.३८	निदाघ तव नास्त्यन्यज्ज्ञेयं	महो० ४.१
न ह वा एतस्यर्चा	नृ०पूर्व ४.१०	निदाघ शृणु सत्त्वस्था	महो० ४.१७
न हि चञ्चलताहीन...	महो० ४.९८	निदाघो नाम मुनिराट्	महो० ३.१
नहि पथ्यमपथ्यं	यो०चू० ६८	निबन्धाः सर्वशाखा	सीता० २९
न हृष्यति ग्लायति	महो० ६.५०	नियोज्य नासिकारंध्रं	यो०कुं०२.४५
नाकर्मसु नियोक्तव्यं	महो० ४.२२	निरस्तकल्पनाजालम्	महो० ५.६०
नाकृतेन कृतेनार्थो	महो० ४.४१	निराशता निर्भयता	महो० ६.२९
नागः कूर्मः कृकरको	ध्या०बि० ५७	निरिच्छे संस्थिते रत्ने	महो० ४.१३
नागः कूर्मोऽथ कृकरो	यो०चू० २३	निर्ग्रंथिः शान्त संदेशो	अक्षि० २.३९
नाडीजलोदरं	यो०कुं० १.२९	निर्मूलं कलनां त्यक्त्वा	महो० ६.४६
नाडीभेदं मरुद्भेदं	त्रि०ब्रा० २.८८	निवातदीपसदृशम्	त्रि०ब्रा० २.१५८
नानन्दं न निरानन्दं	महो० ५.९८	निशीर्य शल्यानां मुखा	नी० रुद्र० २.६
नानायोनिशतं गत्वा	त्रि०ब्रा० २.१७	निष्कलाय विमोहाय	गो०पूर्व० ४२
नानावर्णधरं देवं	त्रि०ब्रा० २.१५५	निष्कामानामेव	सौ०ल० १.१२
नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं	नृ०पूर्व० ४.७	निष्ठा वेदान्त वाक्यानाम्	महो० २.११
नापदि ग्लानिमायान्ति	महो० ४.१८	निष्पत्तौ वैणवः	सौ०ल० २.१०
नाभिकन्दे च नासाग्रे	त्रि०ब्रा० २.१०९	निहत्य राघवो राज्ये	रामपूर्व० ४.२४

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
नीरागं निरुपासङ्गं	महो० ५.६७	पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं	यो०रा० ८
नीला च मुखविद्युन्मालिनी	सीता० १८	पाणिपादादिमात्रो	महो० ५.९२
नीहारहारघनसारसुधा	सर०रह० ५	पाण्डरं शुक्रमित्याहुः	ध्या०बि०८७
नो चेन्मौनं समास्थाय	महो० ३.५७	पादाङ्गुष्ठमिति	त्रि०ब्रा० २.८०
पङ्क्तिबद्धेन्द्रियपशुं	महो० ३.२९	पादाङ्गुष्ठावधिः कन्दाद्	त्रि०ब्रा० २.७४
पञ्चपदं जपन्पञ्चाङ्गं	गो०पूर्व० १२	पादाङ्गुष्ठौ तु पाणिभ्यां	त्रि०ब्रा० २.४३
पञ्च ब्रह्मभिरङ्गैश्च	रुद्र० जा० २५	पार्श्वस्थ बोधिताः सन्तः	महो० ५.३८
पञ्चमं कण्ठचक्रं	यो०रा० १२	पार्ष्णिघातेन संपीड्य	यो०चू० ४६
पञ्चमादम्बरोत्पत्ति	गो०पूर्व० ३१	पावका न इति मन्त्रस्य	सर०रह० १२
पञ्चमीं भूमिकामेत्य	अक्षि० २.३४	पिङ्गला चोत्थिता तस्मात्	त्रि०ब्रा०२.७१
पञ्चरूपपरित्यागाद्	बह्वृ० ६	पिण्ड ब्रह्माण्डयोरैक्यं	यो०कुं० १.८१
पञ्चवक्त्रः तु रुद्राक्षं	रुद्र०जा० ३१	पित्रेत्युक्तः शुकः प्रायात्	महो० २.२०
पतन्ति केचिदबुधाः	महो० ५.१४४	पिबतस्त्रिषु मासेषु	त्रि०ब्रा०२.११२
पदं करोत्यलङ्घ्येऽपि	महो० ३.२३	पीड्यते न च रोगेण	यो०चू० ५४
पदान्तराण्यसंख्यानि	महो० ५.२	पुनः पुनरिदं कार्यं	यो०कुं० १.२६
पदार्थप्रविभागज्ञः	अक्षि० २.१२	पुनः षाण्मासमात्रेण	यो०कुं० २.३३
पदार्थभावना दार्ढ्यं	महो० २.४१	पुनरेतस्यां सर्वात्मकत्वं	अक्ष० १४
पद्मकोशप्रतीकाशं	महो०१.१२, च०वेद०४	पुनर्नारदः पप्रच्छ	कलि० ३
पद्मस्योद्घाटनं कृत्वा	ध्या०बि०३५	पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च	यो०कुं०१.३४
पद्माक्षे स्थापितो मेरुः	महो० ४.६५	पुरं हन्त्रीमुखं	त्रिपुरा० १०
पद्मासनं ....जानूर्वोरन्तरे	त्रि०ब्रा० २.४१	पुरतः पृष्ठतस्तस्य	त्रि०ब्रा० २.७२
पद्मासनं समारुह्य	यो०चू० ७१	पुष्पमध्ये यथागन्धः	ध्या०बि० ५
पद्मासनं सुसंस्थाप्य	त्रि०ब्रा० २.४०	पूजितो वायुपुत्रेण	रामपूर्व० ४.२०
पद्मासनस्थितो योगी	ध्या०बि० ७०	पूरकं द्वादशं कार्यात्कुम्भकं	यो०चू० १०३
परं पौरुषमाश्रित्य	महो० ४.९३	पूरकान्ते तु कर्तव्यो	यो०कुं० १.५१
परप्रयुक्तेन चिरं	महो० ५.३३	पूरणान्नाड्यः सर्वाः	त्रि०ब्रा० २.९९
परमं पौरुषं यत्नम्	महो० ५.८८	पूरितं कुम्भयेत्	त्रि०ब्रा० २.६७
परमरहस्य शिवतत्त्वज्ञानेनेति	द०मू०२	पूर्वं मनः समुदितं	महो० ५.५२
परमात्मनि लीनं	यो०कुं० ३.२४	पूर्वदले विश्रमते	ध्या०बि० ९३-२
परमात्मस्वरूपो	पा०ब्र० १.१३	पूर्वा दृष्टिमवष्टभ्य	महो० ६.६६
परमानन्दसंदोहो	अक्षि० २.४६	पूर्वोक्तत्रिकोणस्थानात्	ध्या०बि०९५
परमेष्ठ्यपि निष्ठावान्हीयते	महो० ३.५१	पूर्वोक्तेन क्रमेणैव	यो०कुं० १.५३
परात्परं यन्महतो महान्तं	महो० ४.७१	पैप्पलादं महाशास्त्रं	शरभ० ३५
परात्परतरं ब्रह्म	शरभ० ३२	पोषणादि शरीरस्य	त्रि०ब्रा० २.८६
परिज्ञातस्वभावं तं शुकं	महो० २.२८	पौरुषेण प्रयत्नेन	महो० ४.१०२
परिज्ञायोपभुक्तो हि	महो० ५.७१	प्रकाश एव सततं	पा०ब्र० २.२०
परितः कन्दपार्श्वे तु	त्रि०ब्रा० २.६४	प्रकाश एव सततं तस्मान्मौनं	पा०ब्र०२.२१
परिसृतं झषमाजं	त्रिपुरा० १२	प्रकृतित्वं ततः	सर०रह० ४७
परिसृता हविषा	त्रिपुरा० १५	प्रकृत्यष्टकरूपं च	यो०कुं०१.७४
पवित्रे नात्युच्चनीचे	यो०कुं०१.२३	प्रकृत्या सहितः श्यामः	रामपूर्व० ४.७
पवित्रे निर्जने देशे	यो०कुं०१.२२	प्रक्षीणचित्तदर्पस्य	महो० ५.७७

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
प्रज्ञानं ब्रह्मेति वा	बह्वृ० ७	प्रातर्माध्यन्दिने सायम्	त्रि०ब्रा० २.१०१
प्रज्ञानमेव तद्ब्रह्म	महो० ४.८१	प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं	महो० २.७२
प्रणव: सर्वदातिष्ठेत्सर्वजीवेषु	यो०चू० ७३	प्राप्तकर्मकरो नित्यं	महो० ६.६४
प्रणवात्प्रभवो रुद्र:	यो०कुं०७७	प्राप्यं संप्राप्यते येन	महो० ३.१२
प्रतिपद्दिनतोऽकाले	यो०कुं०३.२	प्रायश्चित्तयस्त्वधस्तात्	प्रा०हो० २०
प्रतिभासत एवेदं न	महो० ५.१०८	प्रोवाच पुन: स्वयंभुवं	पा०ब्र० १.२३
प्रत्यगानन्दं ब्रह्मपुरुषं	नारा० ४	बदरीफलमात्रं तु	रुद्र०जा० ९
प्रत्यगानन्दरूपात्मा	त्रि०ब्रा०२.९	बद्धपद्मासनो योगी	यो०चू० ९५,१०६
प्रथमं चेतनं यत्	महो० ५.१०	बद्धमुक्तो महीपालो	महो० ५.७४
प्रथमा शब्दब्रह्ममयी	सीता० ६	बद्ध्वा प्रागासनं	त्रि०ब्रा० २.९२
प्रथमे दिवसे कार्यं	यो०कुं० १.५४	बध्नन्कराभ्यां श्रोत्रादि	त्रि०ब्रा० २.११६
प्रथमो मूलबन्धस्तु	यो०कुं० १.४१	बध्नाति हि शिरोजातम्	यो०चू० ५०
प्रथमौ द्वावहंकारौ	महो० ५.९५	बध्यते न च कालेन	ध्या०बि० ८२
प्रद्युम्नमग्नौ वाय्वंशे	त्रि०ब्रा० २.१४४	बन्धनं मनसो नित्यं	त्रि०ब्रा० २.२६
प्रधाना: प्राणवाहिन्यो	ध्या०बि०५२, यो०चू०१६	बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च	नी०रुद्र० ३.२
प्रबुद्धबुद्धे: प्रक्षीण ..	महो० ५.१०६	बर्हापीडाभिरामाय	गो०पूर्व० ३७
प्रबुद्धा वह्नियोगेन	यो०चू० ३८	बलं ज्ञानं सुराणां वै	कृष्ण० १२
प्रबुद्धोऽस्मि	महो० ६.२७	बलातिबलयोर्विराट्	सावि० १४
प्रभाशून्यं मन: शून्यं	सौ०ल०२.१७	बहि:कृत्रिमसंरम्भो	महो० ६.६८
प्रभाहीनास्तथा कृत्वा	रामपूर्व० १.४	बहिस्तदायुधै: पूज्यो	रामपूर्व० ४.३९
प्रभुं वरेण्यं पितरं	शरभ० ४	बहूनि पुण्यानि कृतानि	शरभ०३
प्रशान्तकलनारम्यं	महो० ६.७३	बाह्ये नापि हृदये	महो० ४.५१
प्रसन्नवदनो जेता	रामपूर्व० ४.८	बिन्दु: क्षरति नो यस्य	ध्या०बि०८४
प्रसीद परमानन्द	गो०पूर्व० ४३	बिन्दुमूलशरीराणि	यो०चू० ५६
प्राक्कर्मनिर्मितं सर्वं	अक्षि० २.२२	बिन्दुर्ब्रह्मा रज:	यो०चू० ६२
प्राज्ञो मकार इत्येवं	अक्षि० २.४४	बिल प्रवेशतो यत्र ब्रह्म	यो०कुं० १.४६
प्राणं चेदिडया	यो०चू० ९८	बीजजाग्रत्तथा जाग्रत्	महो० ५.८
प्राण एवाथवा ज्येष्ठो	त्रि०ब्रा० २.७९	बीजरूपस्थितं जाग्रत्	महो० ५.११
प्राणरोधमथेदानीं	यो०कुं० १.१९	बीजशक्तिं न्यसेद्दक्षवामयो:	रामपूर्व० ४.४
प्राणस्थानं ततो वह्नि:	यो०कुं०१.६५	बीजाक्षरं परं बिन्दुं	ध्या०बि०२
प्राणापानवशो जीवो	यो०चू० २८,३०	ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा	यो०कुं०१.६७
प्राणापानसमाक्षिप्त:	ध्या०बि० ६०	ब्रह्मचारी मिताहारी	ध्या०बि०७२,यो०कुं० ४२
प्राणापानादिचेष्टादि	त्रि०ब्रा० २.८५	ब्रह्मणा कल्पिताकारा	महो० ५.१३६
प्राणापानौ समानश्च	त्रि०ब्रा० २.७७	ब्रह्मणा तन्यते विश्वं	महो० ४.५०
प्राणाभ्यासस्तत: कार्यो	यो०कुं० १.६२	ब्रह्मणो विवरं यावत्	त्रि०ब्रा० २.६९
प्राणायामद्विषट्केन	यो०चू० १११	ब्रह्मणोऽव्यक्तम्	त्रि०ब्रा० १.३
प्राणायामेन युक्तेन	यो०चू० ११६	ब्रह्मपुत्र: प्रोवाच	पा०ब्र० १.३२
प्राणायामो भवेदेवं	यो०चू० १०८	ब्रह्मरन्ध्रं निर्वाणचक्रम्	सौ०ल० ३.८
प्राणाविरूढश्चरति	त्रि०ब्रा० २.६२	ब्रह्मरन्ध्रं समावृत्य	यो०कुं०२.३६
प्राणो देहस्थितो	यो०चू० १००	ब्रह्मविज्ञान सम्पन्न:	पा०ब्र०२.४६
प्रातरधीयानो रात्रिकृतं	अक्ष०१६, देवी०३२,नारा० ५	ब्रह्मविद् ग्रसति	पा०ब्र०२.३९

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ब्रह्मविष्णुमयो रुद्र	रुद्रह्र० ८	भूयाद्भूयो द्विपद्माभय...	सौ०ल० १.८
ब्रह्मसंध्या क्रिया	पा०ब्र० १.१८	भूर्भुवः सुवरोमिति	गरुड०४
ब्रह्मसूत्रपदं ज्ञेयं	पा०ब्र० २.६	भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः	यो०चू० ८५
ब्रह्मादीनां वाचकोऽयं	रामपूर्व० १.११	भृत्योऽभिमतकर्तृत्वान्	महो० ५.७९
ब्रह्मापूरक इत्युक्तो	ध्या०बि०२१	भेदाभेदस्तथा	पा०ब्र० २.२६
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ	शरभ० २९	भोगशक्तिर्भोगरूप	सीता० ३६
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च	महो० ३.५२	भोगाभोगो महारोगाः	अक्षि० २.२३
ब्रह्मैव विद्यते	पा०ब्र० २.२७	भोगेच्छामात्रको बन्धः	महो० ५.९७
ब्रह्मैवेदममृतं	पा०ब्र०२.३०	भोगैकवासनां व्यक्त्वा	महो० ४.१०८
ब्रह्मोपनिषदो ब्रह्म	पा०ब्र० १.३०	भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुदा	ध्या०बि० ८०
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः	रुद्र०जा० १०	भ्रुवोर्मध्यं तु संभिद्य	यो०कुं०१.६९
ब्राह्मणो बिभृयाच्छ्वेता	रुद्र०जा० १२	भ्रुवोर्मध्ये ललाटे	ध्या०बि०४०
ब्लूं चोदयित्री सूनृतानां	सर०रह० १७	भ्रूचक्रं सप्तमं	यो०रा० १५
भक्तानां धारणात्	रुद्र०जा० ६	भ्रूयुगमध्यबिले	अद्व०ता० ११
भक्तानुकम्पिनं देवं	गण० १३	मकारस्तामसः	यो०चू० ७६
भक्तिरस्य भजनम्	गो०पूर्व० १४	मकारे तु लयं प्राप्ते	ध्या०बि०१२
भगः शक्तिर्भगवान्काम	त्रिपुरा० १४	मकारे लीयते रुद्रः	यो०चू० ७८
भरताधस्तु सुग्रीवं	रामपूर्व० ४.३३	मणिपूरं नाभिदेशं	यो०कुं० ३.११
भवताप्येष एवार्थः	महो० २.३३	मतिविज्ञान संपत्तिशुद्धये	रुद्र०जा० ३३
भवभावनया मुक्तो	महो० ४.९२	मत्त ऐरावतो बद्धः	महो० ४.६४
भविष्यद्दुःखबोधाढ्या	महो० ५.१९	मथनेन विना केचित्	यो०कुं०२.४३
भस्मव्यापाण्डराङ्गः	द०मू० १३	मदन्तिका मानिनी	त्रिपुरा० ६
भारो विवेकिनः शास्त्रं	महो० ३.१५	मदाभिमानमात्सर्य....	अक्षि० २.१३
भावनाऽभावमात्रेण	महो० ५.१८३	मद्यं मांसं च लशुनं	रुद्र०जा० ४३
भावयत्यनिलस्पन्दं	महो० ५.१४८	मध्यमायां मुकुलिता	यो०कुं० ३.१९
भावयन्ति चितिश्चैत्यं	महो० ५.१८०	मध्यमूर्वोश्च मूलं च	त्रि०ब्रा० २.१३१
भावेष्वरतिरायाता	महो० ३.६	मध्ये क्रमादर्कविध्वग्नि	रामपूर्व० ५.४
भिद्यते हृदयग्रन्थिः	सर०रह० ६७	मनः संपद्यते लोलं	महो० ५.१४६
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते	महो० ४.८२	मनः स्वात्मनि चाध्यस्तं	पा०ब्र०२.१२
भिन्ने तस्मिन्घटे चैव	यो०कुं०३.१६	मन एव समर्थं हि	महो० ४.१०४
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै	यो०कुं० १.४	मननं त्यजतो नित्यं	महो० ५.६२
भूतादिकं शोधयेद्द्वारपूजां	रामपूर्व० ५.१	मनसा कर्मणा वाचा	अक्षि० २.८
भूतेऽल्पे चाप्यनल्पे	यो०कुं० १.७६	मनसा परमात्मानं	त्रि०ब्रा० २.१२९
भूदेवी ससागराम्भः	सीता० १७	मनसा भाव्यमानो हि	महो० ४.६७
भूमावुत्तारितं सर्वं	कृष्ण० २६	मनसा मन आलोक्य	यो०कुं० ३.५
भूमिकात्रितयं जाग्रच्चतुर्थी	अक्षि० २.३२	मनसैव मनश्छित्त्वा	महो० ४.१०६, ६.३३
भूमिकात्रितयाभ्यासा...	अक्षि० २.३०	मनसैवेन्द्रजालश्रीर्जगति	महो० ४.४९
भूमिकात्रितयाभ्यासात्	महो० ५.३०	मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा	यो०कुं०३.६
भूमिकापञ्चकाभ्यासात्	महो० ५.३२	मनसो धारणं यत्तद्युक्तस्य	त्रि०ब्रा० २.१३४
भूमिकासप्तकं चैतद्	महो० ५.३९	मनसो धारणादेव	त्रि०ब्रा० २.११४
भूमिषटकचिराभ्यासाद	महो० ५.३४	मनसो निगृहीतस्य	महो० ५.७३

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
मनसो विजयान्नान्या	महो० ५.७६	मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं	ध्या०बि० ६६
मनस्तादृग्गुणगतं	महो० ५.१५०	मुख्यात्पूर्वोत्तरैर्भागैः	त्रि०ब्रा० २.२
मनागपि मनोव्योम्नि	महो० ४.११५	मुख्यादूर्ध्वे परा ज्ञेया	त्रि०ब्रा० २.३
मनोघनविकल्पं तु	महो० ५.१२६	मुद्रां ज्ञानमयीं याम्ये	रामपूर्व० ४.३१
मनोमयज्ञानमयान्	यो०कुं० ३.३२	मुद्रां भद्रार्थदात्रीं	द०मू० १०
मनोवशात्प्राणवायुः	त्रि०ब्रा० २.११७	मुनयो ह वै ब्राह्मणमूचुः	गो०पूर्व० २
मनोविकल्प संजातं	महो० २.३४	मुने नासाद्यते तद्धि	महो० ५.११४
मनोव्याधेश्चिकित्सार्थं	महो० ४.८८	मुहूर्तद्वयपर्यन्तं	यो०कुं० १.१३
मन्त्राणां मातृका देवी	देवी० २७	मूर्धा ब्रह्मा शिखान्तो	गा०रह० ७
मन्त्रेण न्यासः	द०मू० ११,१४	मूर्ध्न्यार्धायात्मनः	त्रि०ब्रा० २.१९
मन्त्रेण न्यासः। आदौ	द०मू० ९	मूलं च करयोर्मूलं	त्रि०ब्रा०२.१३३
मन्त्रोऽयं वाचको रामो	रामपूर्व० ४.२	मूषास्थद्रुतहेमाभं	महो० ५.१५५
मम पुत्रो मम धनमहं	महो० ४.१२७	मृगतृष्णाम्बुबुद्ध्यादि ..	महो० ५.४१
मम योनिरप्स्वन्तः	देवी० ७	मृत्युव्याधि जराग्रस्तो	यो०कुं० २.२
मम रूपा खेस्तेजः	पा०ब्र० १.८	मृषैवोदेति सकलं	यो०कुं० १.८०
मम वशानि सर्वाणि	पा०ब्र० १.६	मेरुशृङ्गतरोल्लासि	महो० ३.४१
ममापि विष्णोर्जनकं	शरभ० ५	मेलनमन्त्रः ह्रीं भं सं	यो०कुं० ३.१
मयि जीवत्वमीशत्वं	सर०रह० ६८	मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः	महो० ४.२
मरुभूमौ जलं सर्वं	महो० ४.८४	मोक्षायैषा न बन्धाय	महो० ५.९१
मस्तके मणिवद्भित्रं यो	ध्या०बि० ४६	मोदितास्ते सुराःसर्वे	कृष्ण० ३
महती ज्ञानसम्पत्तिः	रुद्र०जा० ३५	मोहजालकसंघातो	त्रि०ब्रा० २.१६५
महाधियः शान्तधियो	महो० ५.६१	मोहान्धकारे निःसारे	द०मू० २८
महानवोऽयं पुरुषो	प्रा०हो० १६	मौनमुद्रा। सोऽहमिति	द०मू० २०
महापद्मश्च शङ्खश्च	रामपूर्व०४.५४	मौनवान्निरहंभावे	महो० २.५०
महाप्रथमान्तार्धस्य	नृ०पूर्व० १.१३	यः कवित्वं निरातङ्कं	सर०रह० ४२
महाप्रलयसंपत्तौ	महो० ४.५५	यः सकृदुच्चारयति	अद्व०ता० १९
महामुद्रा नभोमुद्रा	यो०चू० ४५	यः सदाहरहर्जपति स	सूर्य० ८
महालक्ष्मीश्च विद्महे	देवी० १२	यः समस्तार्थजालेषु	महो० २.६२
महाशून्यं ततो याति	सौ०ल० २९	यः सर्वज्ञः सर्वविद्यो	रुद्रह्र० ३३
महो अर्ण इति मन्त्रस्य	सर०रह० १८	यः सर्वोपरमे काले	द०मू० ५
मांसपाञ्चालिकायास्तु	महो० ३.३९	यः स्वजनान्नीलग्रीवो यः	नी०रुद्र० ३.१
मा खेदं भज हेयेषु	महो० ६.२८	यः स्वरूपपरिभ्रंशः	महो० ५.४
मातरीव परं यान्ति	महो० ४.३०	य इदं गायत्रीरहस्य	गा०रह० ८
मात्रा द्वादशसंयुक्तौ	यो०चू० १०२	य इमां परमरहस्य	द०मू० ३३
मनसो हंसः सोऽहं	पा०ब्र० १.१२	य इमां ब्रह्मविद्याममावा..	गरुड० २५
मा भवाज्ञो भव ज्ञस्त्वं	महो० ४.१२८	य इमां महोपनिषदं	महो० ६.८३,च०वेद० ७
मायावशादेव देवा	शरभ० ३१	य इमां रुद्राक्षजाबालो	रुद्र०जा० ४९
माया सा त्रिविधा	कृष्ण० ४	य एतं ...अधीते	नृ०पूर्व० ५.१७
मा संकल्पय संकल्पं	महो० ५.१८२	य एतं ....आनुष्टुभं	नृ०पूर्व० ५.१५
मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनो	नृ०पूर्व० ३.३	य एतं ...नारसिंहम्	नृ०पूर्व० ५.१४
मुखेन पुच्छं संगृह्य	यो०कुं० १.८३	य एतं ...नित्यमधीते	नृ०पूर्व० ५.१६

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
य एतं मन्त्रराजं	नृ०पूर्व ५.१३	यदन्नमग्निर्बहुधा	प्रा०हो० ७
य एतं.. स ऋचो	नृ०पूर्व० ५.१८	यदस्तीह तदेवास्ति	महो० ६.१४
य एवं वेद पुरुष:	ध्या०बि० १०६	यदस्यान्तरं सूत्रं	अक्ष० ३
य एवं वेद स शोकं	देवी० १६	यदाऽऽग्नेयदले विश्रमते	ध्या०बि०९३-३
यज्ञं दानं जपं तीर्थं	तुलसी० १४	यदा तु मेलनं योगी	यो०कुं० २.८
यज्ञ साधारणाङ्गं	पा०ब्र० १.१५	यदा दक्षिणदले विश्रमते	ध्या०बि० ९३-४
यज्ञसूत्रप्रणवब्रह्मयज्ञ	पा०ब्र० १.१९	यदा नेत्रश्रमो भवति	ध्या०बि० ९३-१२
यज्ञाङ्गं ब्रह्मसम्पत्ति:	पा०ब्र० १.२२	यदा नैर्ऋतदले विश्रमते	ध्या०बि० ९३-५
यत एषा यथा चैषा	महो० ५.११६	यदा पश्चिमदले विश्रमते	ध्या०बि०९३-६
यतो वाचो निवर्तन्ते	महो० ४.५७, शरभ० २०	यदाभानेन रूपेण	पा०ब्र० २.४२
यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रं	रुद्रह्र० ३१	यदा मध्ये तिष्ठति	ध्या०बि० ९३-११
यत्तु चञ्चलताहीनं	महो० ४.१००	यदा वायव्यदले विश्रमते	ध्या०बि०९३-७
यत्तु पौरुषयत्नेन	रुद्र०जा० १५	यदा संक्षीयते प्राणो	सौ०ल० २.१५
यत्पादाम्भोरुहद्वन्द्वं	शरभ० १९	यदा संधिसंधिषु	ध्या०बि० ९३-१०
यत्र नासन्नसद्रूपो	अक्षि० २.३८	यदा ह्येवैष एतस्मिन्	महो० ४.७९
यत्र निशितासिशत	महो० ४.५६	यदि कर्कोटकदूतोऽसि	गरुड० १६
यत्र यत्र धृतो वायुरङ्गे	त्रि०ब्रा० २.११३	यदि गुलिकदूतोऽसि	गरुड० २०
यत्र यत्र भवेत्सार्धमिमं	रुद्रह्र० २५	यदि तक्षकदूतोऽसि	गरुड० १५
यत्र यत्र मनो याति	सौ०ल० २.१९	यदि ते नेन्द्रियार्थश्री:	महो० ५.१७४
यत्र सुप्तो न कंचन	नृ०पूर्व० ४.६	यदिदं दृश्यते सर्वं	महो० ४.४४
यत्संकल्पहरार्थं	महो० ६.७५	यदिदं लभ्यते शास्त्रं	यो०कुं० २.२७
यत्संयोगो द्विजश्रेष्ठ	त्रि०ब्रा० २.२५	यदि नागकदूतोऽसि	गरुड० २२
यत्समत्वं तयोरत्र	सौ०ल०२.१६	यदि पद्मकदूतोऽसि	गरुड० १७
यत्समाधौ परंज्योति:	यो०चू० ११३	यदि पौण्ड्रकालिकदूतोऽसि	गरुड० २१
यथा कटकशब्दार्थ:	महो० ४.४६	यदि महापद्मकदूतोऽसि	गरुड० १८
यथाक्षणं यथाशास्त्रं	महो० ४.३९	यदि लूतानां प्रलूतानां	गरुड० २३
यथा तृतीयकाले तु	यो०चू० १२१	यदि वासुकिदूतोऽसि	गरुड० १४
यथा नामी वाचकेन	रामपूर्व० ४.३	यदि शङ्खकदूतोऽसि	गरुड० १९
यथा रसाशये फेनं	त्रि०ब्रा० २.१४	यदि शैलसमं पापं	ध्या०बि० १
यथा लगति कण्ठात्तु	यो०कुं०१.२७,३३	यदेशानदले विश्रमते	ध्या०बि० ९३-९
यथावच्छास्त्रवाक्यार्थे	अक्षि० २.१६	यदोत्तरदले विश्रमते	ध्या०बि० ९३-८
यथावज्ज्ञास्यसि	महो० ५.१०९	यद्वाग्वदन्तीति मन्त्रस्य	सर०रह० २४
यथावदखिलं प्रोक्तं	महो० २.३१	यद्वा मण्डलाद्वा स्तन...	त्रिपुरा० ११
यथा सिंहो गजो व्याघ्रो	यो०चू० ११८	यद्विज्ञानात्पुमान्सद्यो	महो० २.३७
यथा सुषुप्तिर्बालानां	यो०कुं० २.४७	यन्मनस्त्रिजगत्	ध्या०बि० २५
यथा सौक्ष्म्याच्चिदाभास्य	महो० ५.९९	यमैश्च नियमैश्चैव	त्रि०ब्रा० २.५३
यथेष्टधारणं	यो०चू० ९९	यशस्विनी वामकर्णे	यो०चू० २०
यथैवोत्पलनालेन	ध्या०बि० ३८	यस्त्वेतद्वाधीते	काल०रु० १०
यथैषा जन्मदु:खेषु	महो० ५.११७	यस्य चेच्छा तथाऽनिच्छा	महो० ५.१७३
यथोदरं भवेत्पूर्णं	यो०कुं० १.३६	यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा	महो० ३.४८
यदग्रे वेदशास्त्राणि	तुलसी० ८	यस्या: परतरं नास्ति	देवी० २८

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
यस्या: संचालनेनैव	यो०कुं०१.१०	येषामप्सु सदस्कृतं	नी०रुद्र० २.११
यस्या: स्वरूपं ब्रह्मादयो	देवी० २६	यैरेव जायते रागो	महो० ५.१६९
यस्योपसेचनं मृत्युस्तं	पा०ब्र० २.४०	यैषा स्वभावाभिमतं	महो० ४.१२१
या: फलिनीर्या अफला	प्रा०हो० ४	योगकालेन मरुता	त्रि०ब्रा० २.६५
यां यामहं मुनिश्रेष्ठ	महो० ३.२२	योगचूडामणिं वक्ष्ये	यो०चू० १
यां विदित्वाखिलं बन्धं	सर०रह० ३१	योगज्ञानपरो नित्यं	त्रि०ब्रा० २.२०
या ओषधय: सोमराज्ञीर्बह्वी:	प्रा०हो० ३	योगप्रकाशकं योगै:	त्रि०ब्रा० २.२१
या त इषु: शिवतमा	नी०रुद्र० १.७	योगराजं प्रवक्ष्यामि	यो०रा० १
यातेन्दुचक्रं यत्रास्ते	यो०कुं० १.७१	योगश्चतुर्विध: प्रोक्तो	यो०रा० २
या ते रुद्र शिवा	नी०रुद्र० १.८	योगसिद्धो भवेद्योगी	त्रि०ब्रा० २.१०३
यानि दु:खानि या तृष्णा	महो० ४.२९	योगाङ्गद्रव्यसंपूर्णं	त्रि०ब्रा० २.९०
या प्रत्यग्दृष्टिभिर्जीवै:	सर०रह० २२	योगाभ्यासेन मे रोग:	यो०कुं० १.५८
यामिषुं गिरिशन्त	नी०रुद्र० १.५	योगिनामात्मनिष्ठानां	पा०ब्र० २.४५
या योदेति मनोनाम्नी	महो० ४.१०७	योगेन योगं संरोध्य	सौ०ल० २.१२
यावती दृश्यकलना	महो० २.५३	यो घोरं वेषमास्थाय	शरभ० ६
यावद्बद्धा नभोमुद्रा	ध्या०बि०८५	यो दक्षयज्ञे सुरसङ्घान्	शरभ० १३
यावद्बद्धो मरुत् देहे	यो०चू० ९१	योनिस्थानं तयोर्मध्ये	ध्या०बि० ४४
यावद्बिन्दु: स्थितो देहे	यो०चू० ५८	योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये	यो०चू० ७
यावद्वायु: स्थितो देहे	यो०चू० ९०	यो नृसिंह: समाख्यातो	रामपूर्व० ४.५६
यावन्ति देवरूपाणि	कृष्ण० २२	यो ब्रह्माणं विदधाति	गो०पूर्व० २२
यावन्न लभ्यते शास्त्रं	यो०कुं० २.११	यो मत्स्यकूर्मादिवराह	शरभ० १५
या वर्णपदवाक्यार्थ	सर०रह० १३	यो लीलयैव त्रिपुरं	शरभ० १४
या वेदान्तार्थतत्त्वैक	सर०रह० ७	यो वा एतं नारसिंहं	नृ०षट्० ८
याश्च ते हस्त इषव:	नी०रुद्र० २.५	यो वा एतां सावित्रीमेव	सावि० १३
या श्रद्धा धारणा मेधा	सर०रह० ४०	यो वामपादार्चितविष्णु	शरभ० १३
या साङ्गोपाङ्गवेदेषु	सर०रह० १०	यो वामपादेन जघान	शरभ० ११
यास्तिस्रो रेखा:	त्रिपुरा० ५	यो विस्फुलिङ्गेन ललाटजेन	शरभ० १०
यास्य तृतीय रेखा	काल०रु० ८	योऽहमस्मीति वा	बह्वृ० ८
यास्य द्वितीय रेखा	काल०रु० ७	रक्तं लम्बोदरं शूर्पकर्णकं	गण० १२
यास्य प्रथमा रेखा	काल०रु० ६	रक्तं मांसमयस्यास्य	महो० ३.३१
युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं	यो०चू० ११९	रज्जुबद्धा विमुच्यन्ते	महो० ६.३९
युज्यते वेष्टनं वायो:	महो० ३.११	रज्जुबद्धो यथा श्येनो	यो०चू० २९
युवो भवति वृद्धोऽपि	ध्या०बि० ७४	रमते धीर्यथाप्राप्ते	महो० ४.३८
ये अन्तरिक्षे ये दिवि	नी०रुद्र० २.१०	रमन्ते योगिनोऽनन्ते	रामपूर्व० १.६
ये द्विषन्ति विरूपाक्षं	रुद्रह० ६	रविणैकत्वमायाति	ध्या०बि० ९०
येन द्वारेण गन्तव्यं	यो०चू० ३७	रसनां तालुनि न्यस्य	त्रि०ब्रा० २.९३
येन धर्ममधर्मं च	महो० २.५२	रसानां शोषणं सम्यङ्	ध्या०बि०९२
ये नमस्यन्ति गोविन्दं	रुद्रह० ५	रागद्वेषौ सुखं दु:खं	महो० २.४९
ये निदाघ महाभागा:	महो० ५.३६	रामनाम भुवि ख्यातम्	रामपूर्व० १.३
ये शुद्धवासना भूयो	महो० २.४०	रामभद्र महेष्वास	रामपूर्व० ४.१५
येषां निमेषणोन्मेषौ	महो० ६.२५	रुद्रग्रन्थिं च भित्त्वैव	यो०कुं०१.८६

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
रुद्रः सूर्य उमा छाया	रुद्रह०१९	वामदक्षिणमार्गेण	ध्या०बि० ५९
रुद्राक्षं द्वादशमुखं	रुद्र०जा० ४०	वामपार्श्वे उमादेवी विष्णुः	रुद्रह० ४
रुद्राक्षमूलं तद्ब्रह्मा	रुद्र०जा० ४५	वामबाहु दक्षिणकट्योरन्तः	पा०ब्र० १.२५
रुद्रात्प्रवर्तते बीजं	रुद्रह०७	वामाङ्घ्रिमूलकन्दाधो	यो०कुं० १.६
रुद्रादीनां वचः श्रुत्वा	कृष्ण० २	वामेन वामाङ्गुष्ठं तु	त्रि०ब्रा० २.४९
रुद्रेण संयुक्ता	रामपूर्व० ४.५८	वायुना शक्तिचालेन	यो०कुं० ६३
रुद्रो दिवा उमा रात्रिस्तस्मै	रुद्रह०२०	वायुमूर्ध्वगतं कुर्वन्	यो०कुं० १.८४
रुद्रो नर उमा नारी	रुद्रह० १७	वायुर्यथैको भुवनं	गो०पूर्व० १६
रुद्रो ब्रह्मा उमा वाणी	रुद्रह० १८	वाराणस्यां मृतो वापि	प्रा०हो० २३
रुद्रो वह्निरुमा स्वाहा	रुद्रह० २१	वालाग्रशतसाहस्रं	ध्या०बि० ४
रुद्रोऽर्थ अक्षरः सोमा	रुद्रह० २३	वासनां वासितारं च	महो० ६.७
रुद्रो वृक्ष उमा वल्ली	रुद्रह० २२	वासनातन्तु बद्धोऽयं	महो० ५.८६
रूपं परिमितेनासौ	महो० ५.१२२	वास्तुवेदो धनुर्वेदो	सीता० ३०
रूपस्थानां देवतानां	रामपूर्व० १.८	विंशत्यलं तृतीयेऽह्नि	यो०कुं० १.५५
रेचकः पूरकश्चैव	यो०चू० १०१	विघ्नेशं दुर्गां क्षेत्रपालं	रामपूर्व० ५.३
रेचकं पूरकं मुक्त्वा	त्रि०ब्रा० २.१०८	विचारणा शुभेच्छाभ्याम्	महो० ५.२९
रेचकेन तु विद्यात्मा	ध्या०बि० ३२	विचित्रघोष संयुक्ता	सौ०ल० २.५
रेखोपरेखा वलिता	महो० ५.५७	विचेरतुस्तदा भूमौ	रामपूर्व० ४.१९
लकारं पृथिवीरूपं व्यानं	ध्या०बि०९६	विजयश्च सुराष्ट्रश्च	रामपूर्व० ४.३७
लक्ष्यं सर्वगतं चैव	रुद्रह० ३९	विज्ञानमानन्द ब्रह्म	महो० २.९
लक्ष्यालक्ष्यमतिं	महो० ४.८५	विज्ञानात्मा तथा देहे	यो०कुं० ३.२७
लालनात्स्निग्धललना	महो० ५.८०	विदेहमुक्तो नोदेति	महो० २.६४
लीलया कल्पयामास	महो० ५.१६२	विद्या संप्राप्यते ब्रह्मन्	महो० ५.११०
लीलयैव यदादत्ते	महो० ५.१४५	विनष्टदिग्भ्रमस्यापि	महो० ४.२७
लेशतः प्राप्तसत्ताकः	महो० ५.१७९	विना चाभ्यासयोगेन	यो०कुं० ३.१५
वक्त्रेणापूर्य वायुं	सौ०ल० २.३	विना तर्कप्रमाणाभ्यां	पा०ब्र० २.१६
वक्षोन्यस्तहनुः	ध्या०बि० ९३	विनाशं कालतो याति	शरभ० २६
वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य	यो०चू० ६६	विना श्री तुलसीं विप्रा	तुलसी० १२
वचसा तज्जपेन्नित्यं	यो०चू० ८७	विभीषणं लक्ष्मणं	रामपूर्व० ४.३६
वदन्ति बहुभेदेन	महो० ५.२२	वियदाकारसंयुक्तं	देवी० २०
वर्ण्यन्ते स्वस्तिकं	त्रि०ब्रा० २.३५	विरञ्चिरूपान्मनसः	महो० ५.१६४
वर्मास्त्रनतिसंयुक्तं	रामपूर्व० ४.४९	विरागमुपयात्यन्त	अक्षि० २.४
वलीपलितनाशश्च	यो०कुं० २.२४	विराड्हिरण्य गर्भश्च	यो०कुं०३.२२
वल्लवीवदनाम्भोज	गो०पूर्व० ४०	विराड्विश्वः स्थूलश्चाकारः	यो०चू० ७५
वसिष्ठवैयासकिवामदेव	शरभ० २२	विरूपाक्षेण बभ्रुणा	नी०रुद्र० ३.३
वसिष्ठाद्यैर्मुनिभिर्नील	रामपूर्व० ५.७	विलिखेन्मन्त्रराजार्णान्	रामपूर्व० ४.५१
वस्वष्टकप्रियं चैव	रुद्र०जा० ३६	विवेकं परमाश्रित्य	महो० ५.८४
वागीशाय ततः	द०मू० १७	विशन्ति विद्या विमला	महो० ६.१६
वाङ्माया ब्रह्मभूस्तस्मात्	देवी० २२	विशश्राम शुकस्तूष्णीं	महो० २.७४
वाच्यावाचकताभेदा	अक्षि० २.४३	विश्रान्तोऽस्मि चिरं	महो० ५.५९
वाजपेयः पशुहर्ता	पा०ब्र० १.२९	विश्वमयो ब्राह्मणः शिवं	रुद्र०१

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
विश्वमेवेदं पुरुषं तं	च०वेद० ३	शनैः समस्तमाकृष्य	ध्या०बि०१००
विश्वमेवेदं पुरुषस्तद्	महो० १.११	शनैः सुमथनं कुर्याद्भ्रूमध्ये	यो०कुं० २.४६
विश्वरूपस्य देवस्य	त्रि०ब्रा० २.१५९	शनैरेवं प्रकर्तव्यमभ्यासं	यो०कुं०२.३९
विश्वव्यापी राघवो	रामपूर्व० ५.९	शब्दस्पर्शस्वरूपाभ्यां	महो० ५.१४९
विश्वसृज एतेन वै	नृ०पूर्व० १.१४	शब्दैरुच्चावचैर्नीचैः	यो०कुं० ३.२१
विश्वोऽसि वैश्वानरो	प्रा०हो० १५	शमं विषं विषेणैति	महो० ५.१११
विषमाशन दोषाच्च	यो०कुं १.५७	शमो मित्रः सुदामा च	कृष्ण० १६
विषयाशीविषासङ्ग	महो० ३.१०	शरा जीवास्तदङ्गेषु भाति	शरभ० ३०
विष्णुं प्रथमान्त्यं मुखं	नृ०पूर्व० १.१५	शरीरमस्थि मांसं च	महो० ४.२३
विष्णु ऋषिरनुष्टुप्छन्दः	द०मू० १६	शरीरे सकलं विश्वं	यो०कुं०२.४९
विष्णुग्रन्थिं प्रयात्युच्चैः	यो०कुं० १.६८	शशिमध्यगतो वह्निः	ध्या०बि०२७
विष्णुमुरुक्रमं	देवी० ६	शशिस्थाने वसेत्	ध्या०बि०८८
विष्णुर्विश्वजगद्योनिः	शरभ० २५	शान्तसंदेह दौरात्म्यं	महो० ५.६८
वीणां करैः पुस्तकमक्षमालां	द०मू० १५	शान्तसंसार कलनः	महो०२.६१
वीरं प्रथमस्याद्यार्धान्त्यं	नृ०पूर्व० १.११	शास्त्रं विनापि संबोद्धुं	यो०कुं० २.१०
वृक्षं तु सकलं विद्यात्	ध्या०बि० ८	शास्त्रसज्जन संपर्क	महो० ५.२८
वृत्तं विहङ्गमानां	त्रि०ब्रा० २.५७	शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा	अक्षि० २.४२
वृन्दा भक्तिः क्रियाबुद्धिः	कृष्ण० २५	शास्त्रैः सज्जनसम्पर्कपूर्वकैश्च	महो० ४.४
वेणुवादनशीलाय	गो०पूर्व० ३९	शिखा ज्ञानमयी वृत्तिः	त्रि०ब्रा० २.२३
वेदान्तश्रवणं चैव	त्रि०ब्रा० २.३४	शिरसीशानमंत्रेण कण्ठे	रुद्र०जा० २३
वेदिकाकारवद्भ्रूो	त्रि०ब्रा० २.१४०	शिलाशय्याऽऽसनासीनो	अक्षि० २.१७
वैखानसऋषेः पूर्वं	सीता० ३२	शिव एव सदा ध्येयः	शरभ० ३४
वैखानसमतस्तस्मिन्नादौ	सीता० २६	शिवशक्त्यात्मकं	पा०ब्र० २.४
वैश्रवणो ब्रह्मपुत्रो	पा०ब्र० १.२	शिवेन वचसा त्वा	नी०रुद्र० १.६
व्यक्ताव्यक्तगिरः सर्वे	सर०रह० २८	शीर्षोदितानलहरं	यो०कुं०१.२८
व्यापगतकलनाकलङ्क शुद्धः	महो० २.७७	शुको नाम महातेजाः	महो० २.१
व्यानः श्रोत्रोरुकट्यां	त्रि०ब्रा० २.८२	शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तरजः	यो०चू० ६४
व्यासोऽपि भगवान्बुद्ध्वा	महो० २.१८	शुचिर्वाऽप्यशुचिर्वाऽपि	यो०कुं० ८८
व्योमरन्ध्रगतो नादो	ध्या०बि० १०३	शुद्धं सदसतोर्मध्यं	महो० ५.१७२
व्योम्नि मारुतमारोप्य	त्रि०ब्रा०२.१४२	शुद्धसत्त्वप्रधानायां	सर०रह० ४९
व्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छक्त्या	ध्या०बि० ८६	शुद्धसन्मात्रसंवित्तेः	महो० ५.३
व्रणयुक्तमयुक्तं च	रुद्र०जा० १४	शुद्धस्फटिकसंकाशं	ध्या०बि०२९
शक्तिः कुण्डलिनी नाम	यो०कुं०१.८२	शुद्धिमेति यदा सर्वं	यो०चू० ९४
शक्तिद्वयं हि मायाया	सर०रह० ५२	शुद्धौ यतेत नाडीनां	त्रि०ब्रा० २.८९
शक्तिसेना कल्पना च	रामपूर्व० १.१०	शुष्के मले तु योगी	यो०कुं०१.६३
शतं च नव शाखासु	सीता० २५	शुष्यन्त्यपि समुद्राश्च	महो० ३.५०
शतलक्षं प्रजप्त्वापि	देवी० ३०	शून्यं तत्प्रकृतिर्माया	महो० ६.६१
शतारं शतपत्राढ्यं	ध्या०बि० ३४	शृणु तावदिदानीं	महो० २.३६
शनैः शनैरथ बहिः	त्रि०ब्रा०२.९६	शेमुषी दक्षिणा प्रोक्ता	द०मू० ३१
शनैःशनैर्मस्तकाच्च	यो०कुं० २.३७	शेषस्थिरसमाधानो	महो० ६.६
शनैः शनैर्यदा प्राणः	यो०कुं० १.५०	शैशवे गुरुतो भीतिर्मातृतः	महो० ३.३३

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
शोधनं नाडिजालस्य	यो०चू० ६५	संन्यासियोगिनौ दान्तौ	महो० ६.४८
श्मशानेषु दिगन्तेषु स	महो० ३.४२	संपूजयेद्विमलादीश्च	रामपूर्व० ५.६
श्रमनिर्हरणार्थं द्वितीय..	ध्या०बि०९३-१३	संबद्धासनमेढ्रमङ्घ्रि	यो०चू० ११४
श्रवणमुखनयननासा	सौ०ल० २.४	संबन्धे द्रष्टृदृश्यानां	महो० ५.४८
श्रीं पावका नः सरस्वती	सर०रह० १४	संयमेच्चेन्द्रियग्रामम्	त्रि०ब्रा २.१४७
श्रीकृष्ण रुक्मिणीकान्त	गो०पूर्व० ४४	संविद्ब्रूयाच्च तन्मध्ये	यो०रा० १८
श्री गुरुः सर्वकारणभूता	भाव० १	संवेद्येन हृदाकाशे	महो० २.४८
श्री देवी त्रिविधं रूपं	सीता० १६	संशान्त सर्वसंकल्पः	महो० ६.८२
श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्द	कृष्ण० १	संशान्त सर्व संकल्पा	महो० ५.६
श्रीरामचन्द्र उवाच	लांगूल० १०	संसार एव दुःखानां	महो० ६.२६
श्रीराम सान्निध्यवशात्	सीता० ७	संसार रात्रि दुःस्वप्ने	महो० ६.२२
श्री रुद्र रुद्र रुद्रेति	रुद्रह० १६	संसारवासनाजाले	महो० ५.६५
श्री लक्ष्मीर्वरदा विष्णुपत्नी	सौ०ल० १.११	संसाराडम्बरमिदं	महो० २.१५,३०
श्री सखित्वं सदानन्दे	तुलसी० ३	संसाराम्बुनिधावस्मिन्	महो० ५.१७६
श्रुतिस्मृति सदाचार	अक्षि० २.११	स एकाकी न रमते	महो० १.३
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा	महो० ४.३२	स एको रुद्रो ध्येयः	शरभ० ९
श्रेष्ठा सर्वगता ह्येषा	अक्षि० २.२९	स एव द्विविधः प्रोक्तः	यो०कुं० १.२०
श्रोत्रमात्मनि चाध्यस्तं	पा०ब्र० २.११	स एव भगवान्ब्रह्मा	महो० ५.१५८
श्वेतास्तु ब्राह्मणा ज्ञेयाः	रुद्र०जा० ११	स एव विदितादन्यः	पा०ब्र० २.१३
षट् चक्राणि परिज्ञात्वा	यो०कुं० ३.९,१२	सकारः सत्यममृतं	सीता० ४
षट्त्रिंशतं गले दध्याद्वाहोः	रुद्र०जा० १८	स च किं गोत्रा कत्यक्षरा	गा०रह० ३
षट् शतानि दिवारात्रौ	यो०चू० ३२	सततं प्राणवाहिन्यः	यो०चू० २२
षड्वक्त्रमपि रुद्राक्षं	रुद्र०जा० ३२	स तपोऽतप्यत स	नृ०पूर्व० १.२
षड्विंशदङ्गुलिर्हंसः	यो०चू० ९३	सति दीप इवालोकः	महो० ५.१०७
षण्णवतितत्त्वतन्तु	पा०ब्र०१.१४	स तु रामे शङ्कितः	रामपूर्व० ४.२१
षण्मासावधिरेतस्य	त्रि०ब्रा०२.१२४	सतोऽसत्ता स्थिता	महो० ६.२४
षष्ठं तु विरतिर्भ्रान्तिः	यो०कुं०१.६०	सत्कर्म परिपाकात्तु	यो०कुं०३.२८
षष्ठं सप्तममथ	त्रिपुरा० ९	सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी	महो० ५.२५
षष्ठ्यां भूमावसौ	अक्षि० २.४०	सत्त्वावशेष एवास्ते	अक्षि० २.३३
सं उत त्वः पश्यन्न ददर्श	सर०रह० ३२	सत्यवद्भाति तत्सर्वं	रुद्रह० ३४
संकल्पनं मनो विद्धि	महो० ४.५२	सत्यो नित्यः सर्वसाक्षी	शरभ० २३
संकल्पनं हि संकल्पः	महो० ५.१८१	स त्वनुष्णगुविश्वश्चेद्	रामपूर्व० ४.६
संकल्पमनसी भित्त्वे न	महो० ४.५३	सदा रसनया योगी	यो०कुं० २.४८
संकल्प संक्षयवशाद्गलिते	महो० ५.५३	सदेहा वाप्यदेहे वा	महो० ५.४०
संकल्पाशानुसंधानवर्जनं	महो० ४.६	सन्धिनी तु धामभूषण	राधा० ४
संख्यातुं नैव शक्यन्ते	त्रि०ब्रा० २.७६	स पुनर्द्विविधो बिन्दुः	यो०चू० ६०
संख्यारूपेण संकल्प्य	सीता० ३३	सप्तचत्वारिंशद्वर्णगुणान्तः	रामपूर्व० ४.६४
संतोषामृतपानेन	महो० ४.३५	सप्तजन्मार्जितं पापं	त्रि०ब्रा० २.१४९
संतोषामोदमधुरा	अक्षि० २.२७	सप्तभूमिः स विज्ञेयः	महो० ५.४३
संत्यज्य परमोदारं	महो० ६.५३	सप्तमं भ्रूचक्रमङ्गुष्ठमात्रम्	सौ०ल० ३.७
संत्यज्य हृद्गुहेशानं	महो० ६.२०	सप्तवक्त्रं तु रुद्राक्षं	रुद्र०जा० ३४

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
सप्त सालान्विभिद्याशु	रामपूर्व० ४.२२	सर्वदेवात्मकं रुद्रं	रुद्रह० २४
सप्तावस्था इमाः प्रोक्ता	महो० ५.२०	सर्वदेवात्मको रुद्रः	रुद्रह० ३
स प्रतिष्ठा ह्लादिनी	रामपूर्व० ४.६०	सर्वदेशेष्वनुस्यूतः	त्रि०ब्रा० २.११
स बाह्याभ्यन्तरे देहे	महो० ६.१०	सर्वमेकमजं शान्तमनन्तं	अक्षि० २.२
स भूमिकावानित्युक्तः	अक्षि० २.१०	सर्वरोगैर्विनिर्मुक्तो	त्रि०ब्रा० २.११०
समता सर्वभावेषु	महो० ६.४	सर्वशक्तेर्महेशस्य	महो० ४.८७
समन्ताद्देवताः सर्वाः	तुलसी० ७	सर्वसंकल्प रहिता	महो० ५.१००
समस्तं खल्विदं ब्रह्म	महो० ६.१२	सर्वसंसारदुःखानां	महो० ३.२५
समस्त भुवनस्याधोभागे	सीता० १९	सर्वस्माद्व्यतिरिक्तोऽहं	महो० ५.९०
समस्तयागानां रुद्रः	पा०ब्र० १.११	सर्वस्याभिमतं वक्ता	महो० ६.६५
समाः स्निग्धा दृढाः	रुद्र०जा० १३	सर्वातीतपदालम्बी	महो० ६.६३
समाधिः स तु विज्ञेयः	त्रि०ब्रा० २.१६२	सर्वात्मवेदनं शुद्धं	महो० ४.४२
समाधिमेकेन	यो०कुं० ३.१४	सर्वाधिष्ठानमद्वन्द्वं	रुद्रह० २६
समानः सर्वगात्रेषु	त्रि०ब्रा० २.८१	सर्वापदां पदं पापाः	महो० ३.५
समानप्राण एकस्तु	ध्या०बि०९९	सर्वार्थवासनोन्मुक्ता	महो० ६.५१
समानो नाभिदेशे तु	यो०चू० २४	सर्वावयवसंपूर्णे	तुलसी० १०
समापय्य निद्रां सुजीर्णे	सौ०ल० २.२	सर्वेच्छाः सकलाः	महो० २.५८
समुद्धर मनो ब्रह्मन्	महो० ५.१३५	सर्वे वै देवा देवीमुपतस्थुः	देवी० १
समुन्नत शिरः पादं	त्रि०ब्रा० २.४८	सर्वेषां तु मनस्तेन	पा०ब्र० २.८
सम्पूर्णहृदयः शून्ये	सौ०ल० २.६	सर्वेषां दोषरत्नानां	महो० ३.४७
स याति परमं श्रेयो	त्रि०ब्रा० २.२८	सर्वेषां वा एतद्भूतानामाकाशः	नृ०पूर्व० ३.५
स यो ह वै तत्परमं	रुद्रह० ५२	सर्वेषामपि पापानां	तुलसी० ११
सरस्वती दशश्लोक्या	सर०रह० २	सर्वेषामेव मन्त्राणामेष	रामपूर्व० ४.५
सराणां सप्तकं वापि	रुद्र०जा०२०	सलिलमिति सौहित्यकारणं	भाव० ३
स राम इति लोकेषु	रामपूर्व० १.२	सलिले सैन्धवं	सौ०ल०२.१४
स रावण इति ख्यातो	रामपूर्व० ४.१८	सविकल्पो निर्विकल्पः	सर०रह० ६०
सर्गादिकाले भगवान्	द०मू० ३२	सविकारस्तथा जीवो	त्रि०ब्रा० २.१३
सर्वं किंचिदिदं दृश्यं	महो० ४.१०	सव्येतरश्रुत्यवधि	त्रि०ब्रा० २.७३
सर्वं च खल्विदं ब्रह्म	महो० ४.११७	सव्ये दक्षिणगुल्फं	त्रि०ब्रा० २.३६
सर्वं चाप्यहमेवेति	महो० ६.६०	सव्ये प्राणावाऽऽपो	प्रा०हो० १४
सर्वं जगदिदं त्वत्तो	गण० ६	स सर्वविद्भवति	गण० १९
सर्वं प्रशान्तमजमेकम्	महो० ४.९	स सागरां सपर्वतां	नृ०पूर्व० १.३
सर्वं ब्रह्मेति यस्यान्तर्भावना	महो० ५.११३	सहस्रदलसंख्यातं	यो०चू० ६
सर्वं शान्तं निरालम्ब	महो० ५.४५	सहस्रशीर्षं देवं	महो० १.१०
सर्वं समतया बुद्ध्या	महो०६.४४	सहस्रशीर्षं देवं सहस्राक्षं	च०वेद० २
सर्वगः सर्व सम्बन्धो	महो० २.८	सहस्रावर्तनाद्यं यं	गण० १८
सर्वगं सच्चिदानन्दं	महो० ४.८०	स होवाच प्रजापतिः	नृ०पूर्व०१.६, ४.२,४.१५, ५.२
सर्वगात्रेण सौम्येन	रुद्र०जा० १६		
सर्वत्र वर्तते जाग्रत्स्वप्नं	त्रि०ब्रा० २.१०	स होवाच प्रजापतिः अग्निर्वै	नृ०पूर्व १.८
सर्वत्र विगतस्नेहो	महो० २.५१	स होवाच प्रजापतिः सा	सीता० २
सर्वत्राहमकर्तेति	महो० ६.२	स होवाच प्रजापतिर्माया	नृ०पूर्व० ३.२

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
स होवाच प्रजापतिर्य:	नृ०पूर्व ५.१२	सैवावस्था परा ज्ञेया	यो०कुं० १.८७
स होवाच। ये दक्षिणामुख:	द०मू० ४	सैषा चिदमलाकारा	महो० ५.१०३
स होवाच वैराग्यतैलसंपूर्णे	द०मू० २७	सैषाऽपरा शक्ति:। सैषा	बह्वृ० ३
स होवाच सर्वमिदं	त्रि०ब्रा० १.२	सैषाष्टौ वसव:	देवी० १८
स होवाचाश्वलायन:	सर०रह० ४	सोऽध्यायत्। पूर्वाभिमुखो	महो० १.९
साक्षाच्छक्तिर्भगवत:	सीता० ३४	सोऽभयस्यास्य	रामपूर्व० १.१३
साक्षिण: पुरतो भातं	सर०रह० ५४	सोमात्मिका ओषधीनां	सीता० १३
साक्षिभूते समे स्वच्छे	महो० ५.५५	सौ: देवीं वाचमजनयन्त	सर०रह० २९
सात्त्विकत्वात्समष्टित्वात्	सर०रह० ५१	सौ: महो अर्ण: सरस्वती	सर०रह०२०
सा देवी त्रिविधा	सीता० ११	सौभाग्यरमैकाक्षर्या	सौ०ल० १.७
साध्यते मन्त्रयोगस्तु	यो०रा० ४	सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषदं	सौ०ल०३.१०
साब्रवीदहं ब्रह्मस्वरूपिणी	देवी० २	स्तब्धीभावो रसास्वादात्	सर०रह० ६५
सामवेदस्तथाथर्ववेद:	रुद्रह० २९	स्तुतिं चक्रुश्च जगत:	रामपूर्व० ४.१२
सा माया स्ववशोपाधि:	सर०रह० ५०	स्तुवते सततं यस्तु	कृष्ण० ७
सार्धत्रिकोटितीर्थेषु	महो० ३.२	स्तुवन्त्येवं हि	रामपूर्व० ४.१७
सार्धत्रिकोटि ....स्नान	महो० ३.३	स्थानात्स्थानं	त्रि०ब्रा० २.१३०
सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं	नृ०पूर्व० १.७	स्थित: किं मूढ एवास्मि	महो० ५.२७
सा सर्ववेदमयी	सीता० १०	स्थित्वासौ बैन्दवस्थाने	यो०कुं०३.८
सिद्धं भद्रं तथा सिंहं	ध्या०बि०४३	स्थूलसूक्ष्म क्रमात्सर्वं	अक्षि० २.४५
सिन्दूरव्रातसंकाशं	यो०चू० ६१	स्नुहिपत्रनिभं शस्त्रं	यो०कुं०२.२९
सीतां दृष्ट्वाऽसुरान्हत्वा	रामपूर्व० ४.२६	स्नेहप्रणयगर्भाणि	अक्षि० २.७
सीता इति त्रिवर्णात्मा	सीता० ३	स्फुरत्प्रज्वलसंज्वाला	यो०चू० ९७
सीता भगवती ज्ञेया	सीता० ८	स्फुरन्ति हि न भोगाशा	महो० ३.५६
सीतारामौ तन्मयावत्र	रामपूर्व० ३.१	स्मर्तव्या पञ्चघटिका:	त्रि०ब्रा० २.१३६
सीवनीं गुल्फदेशाभ्यां	त्रि०ब्रा०२.४४	स्मर्तव्या नाडिका: प्राणं	त्रि०ब्रा० २.१३९
सीवनीपार्श्वमुभयं	त्रि०ब्रा० २.४६	स्वं स्वं विषयमुद्दिश्य	पा०ब्र० २.१०
सुपर्णोऽसि गरुत्मान्	गरुड० ११	स्वचित्तबिलसंस्थेन	महो०३.३४
सुप्तस्य घनसंमोहमये	महो० ५.६४	स्वदनं केवलं	महो० ६.३८
सुषुप्तवद्यश्चरति	महो० ६.४९	स्वदेहे यो न जानाति	यो०चू० ४
सुषुम्ना मध्यदेशे तु	ध्या०बि०५६,यो०चू० १९	स्वपौरुषैकसाध्येन	महो० ४.९०
सुस्निग्धमधुराहार:	यो०कुं० ४३	स्वप्नजाग्रदिति प्रोक्तं	महो० ५.१८
सुहृष्ट: सुदृढ:	महो० ५.८२	स्वप्नस्थानोऽन्त: प्रज्ञ:	नृ०पूर्व० ४.५
सूचिवद्गुणमादाय	ध्या०बि०६७	स्वप्नेऽपि न लभेत्तस्य	यो०कुं०२.२२
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च	सूर्य० ३	स्वप्रकाशैक संसिद्धे	पा०ब्र० २.१८
सूर्यकोटिद्युतिधरं	त्रि०ब्रा०२.१५३	स्वभक्तायैव दातव्यम्	शरभ० ३८
सूर्यादिसकलभुवन...	सीता० १४	स्वयं कल्पित तन्मात्रा	महो० ५.१२९
सूर्येण रेचयेद्वायुं	यो०कुं०१.१६	स्वयंभूरुवाच	पा०ब्र० १.३
सूर्योज्जायी शीतली	यो०कुं० १.२१	स्वयमुच्चलिते देहे	सौ०ल० २.१८
सृण्येव सितया विश्व	त्रिपुरा० १३	स्वयमेव त्वया ज्ञातं	महो० २.७०
सैव पुरत्रयं	बह्वृ० ४	स्वयमेव मया पूर्वम्	महो० २.३२
सैवात्मा ततोऽन्यदसत्य	बह्व० ५	स्वयमेवात्मनात्मानम्	महो० ६ ७९

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
स्वयैव सूक्ष्मया बुद्ध्या	महो० २.१२	हत्वा विभीषणं तत्र	रामपूर्व० ४.२९
स्वरूपव्याप्तरूपस्य	त्रि०ब्रा० २.१४८	हरिं हरन्तं पादाभ्याम्	शरभ० ७
स्वर्भूर्ज्योतिर्मयो	रामपूर्व० २.१	हर्षामर्षभय क्रोध ...	महो० २.४४
स्वशरीरे यज्ञं	प्रा०हो० १८	हस्तं हस्तेन संपीड्य	महो० ५.७५
स्वशरीरे स्वयं ज्योतिः	पा०ब्र० २.३३,रुद्रह० ४९	हस्तौ यथोक्तविधिना	त्रि०ब्रा०२.९४
स्वस्वरूपं स्वयं	पा०ब्र० २.४३	हिक्का कासस्तथा	यो०चू० ११७
स्वस्वोपाधिलयादेव	यो०कुं० ३.२३	हित्वा सैन्धवपथ्याभ्यां	यो०कुं० २.३०
स्वात्मन्येव स्वयं	पा०ब्र० २.३१	हुंकारं चात्र रामस्य	रामपूर्व० ४.५७
स्वात्मानं पुरुषं	ध्या०बि०१०५	हृत्पद्मकर्णिकामध्ये	ध्या०बि०१९
स्वाधिष्ठानं ततश्चक्रं	ध्या०बि० ४८	हृत्पुण्डरीकमध्यस्थां	देवी० २४
स्वाधिष्ठानाश्रयाद्	यो०चू० १२	हृदयं कुण्डली भस्मरुद्राक्ष	रुद्रह० १
स्वानुभूतिरसावेशादृश्य	सर०रह० ६३	हृदयचक्रमष्टदलं	सौ०ल० ३.४
स्वानुभूतेश्च शास्त्रस्य	महो० ४.५	हृदयात्संपरित्यज्य	महो० ६.८
स्वायत्तमेकान्तहितं	महो० ४.८९	हृदयाम्भोरुहं चापि	त्रि०ब्रा० २.१००
स्वालोकतः शास्त्रदृशा	महो० ५.८१	हृदीव बाह्यदेशेऽपि	सर०रह० ६४
स्वेन विधिनात्रं भूमौ	प्रा०हो० २	हृद्यादित्यमरीचीनां	पा०ब्र० १.२४
हंसस्य प्रार्थनास्त्रिकालाः	पा०ब्र०१.२०	हेतुद्वयं हि चित्तस्य	यो०कुं०१.१
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं	ध्या०बि० ६२	[हेतुना] कार्यसिद्धेन	सीता० २२
हंसात्ममालिका ...	पा०ब्र० २.१	हेमाभया द्विभुजया	रामपूर्व० ४.९
हकारः परमेशः स्यात्तत्पदं	यो०चू०८३	ह्रं स्त्रं भ्रं व्रं लं	रामपूर्व० ४.५०
हकारं वियत्स्वरूपं	ध्या०बि०९७	ह्रस्वो दहति पापानि	ध्या०बि०१७
हकारेण बहिर्याति	यो०चू० ३१	ह्रीं आ नो दिवो	सर०रह०११

॥ इति मन्त्रानुक्रमणिका समाप्ता ॥

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

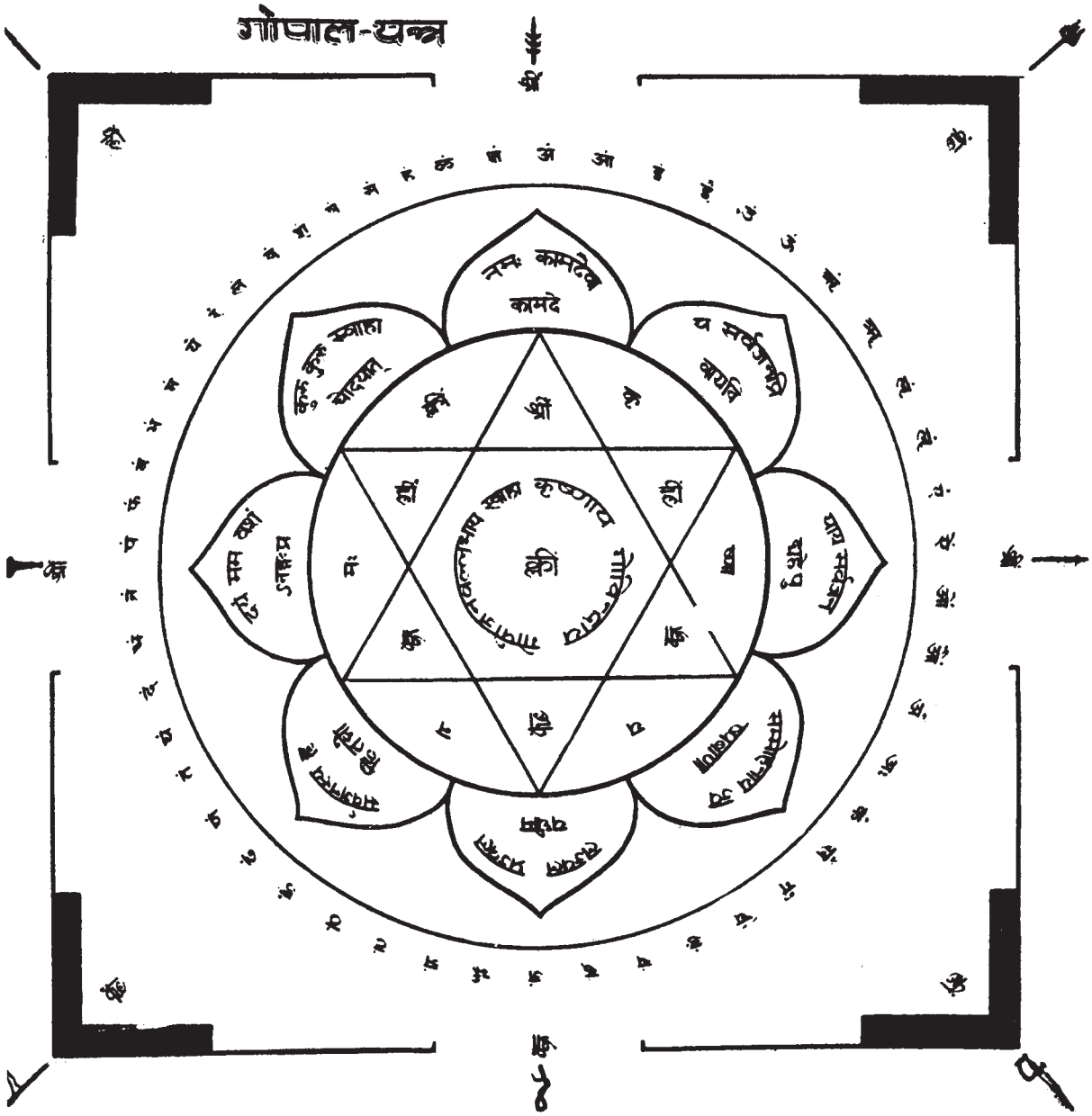

विशेष विवरण 'गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्' पृ० ५२ पर देखें।

(कल्याण से साभार)

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

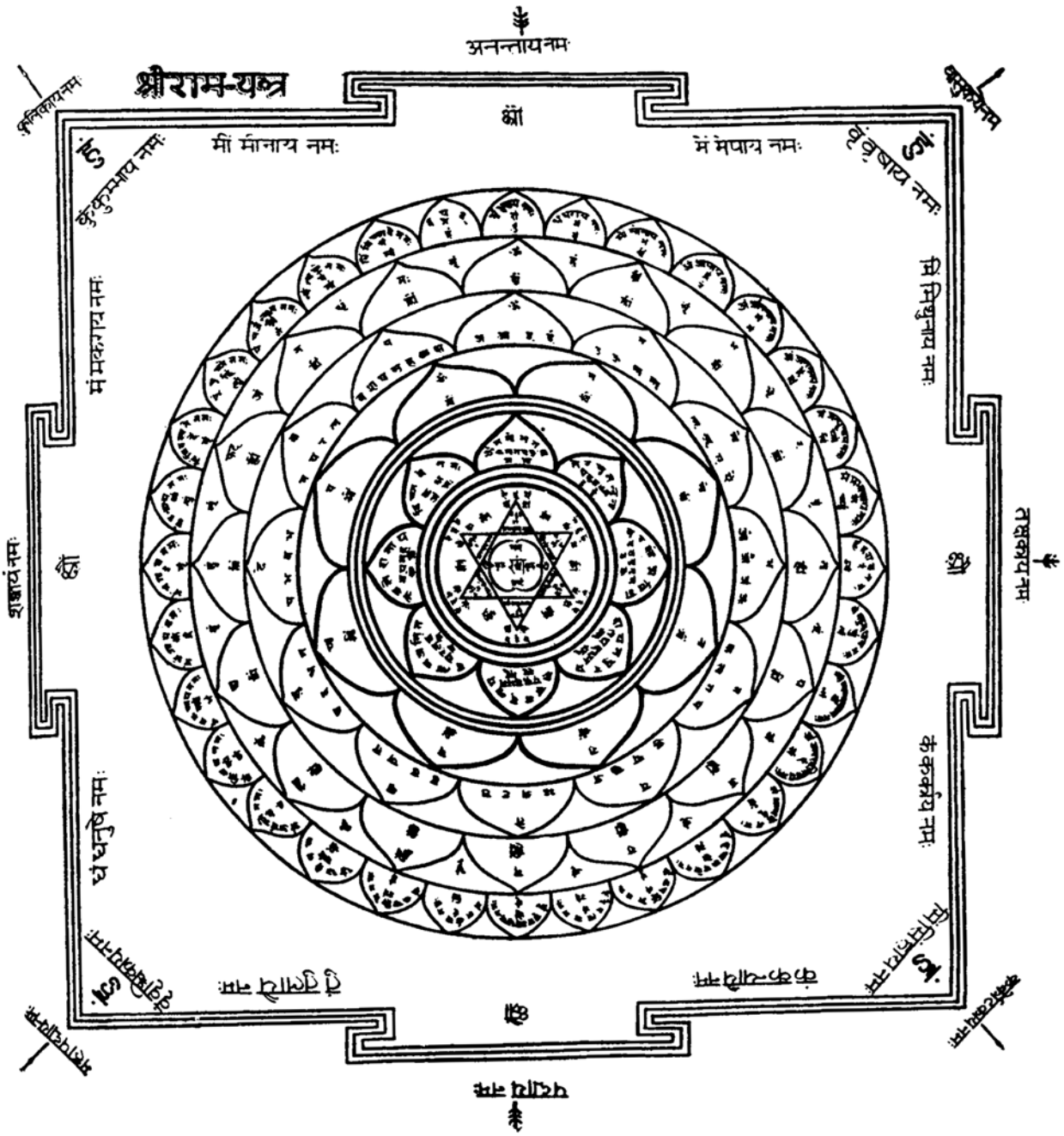

विशेष विवरण 'रामपूर्वतापिन्युपनिषद्' पृ० २३२-२३४ पर देखें।

(कल्याण से साभार)

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

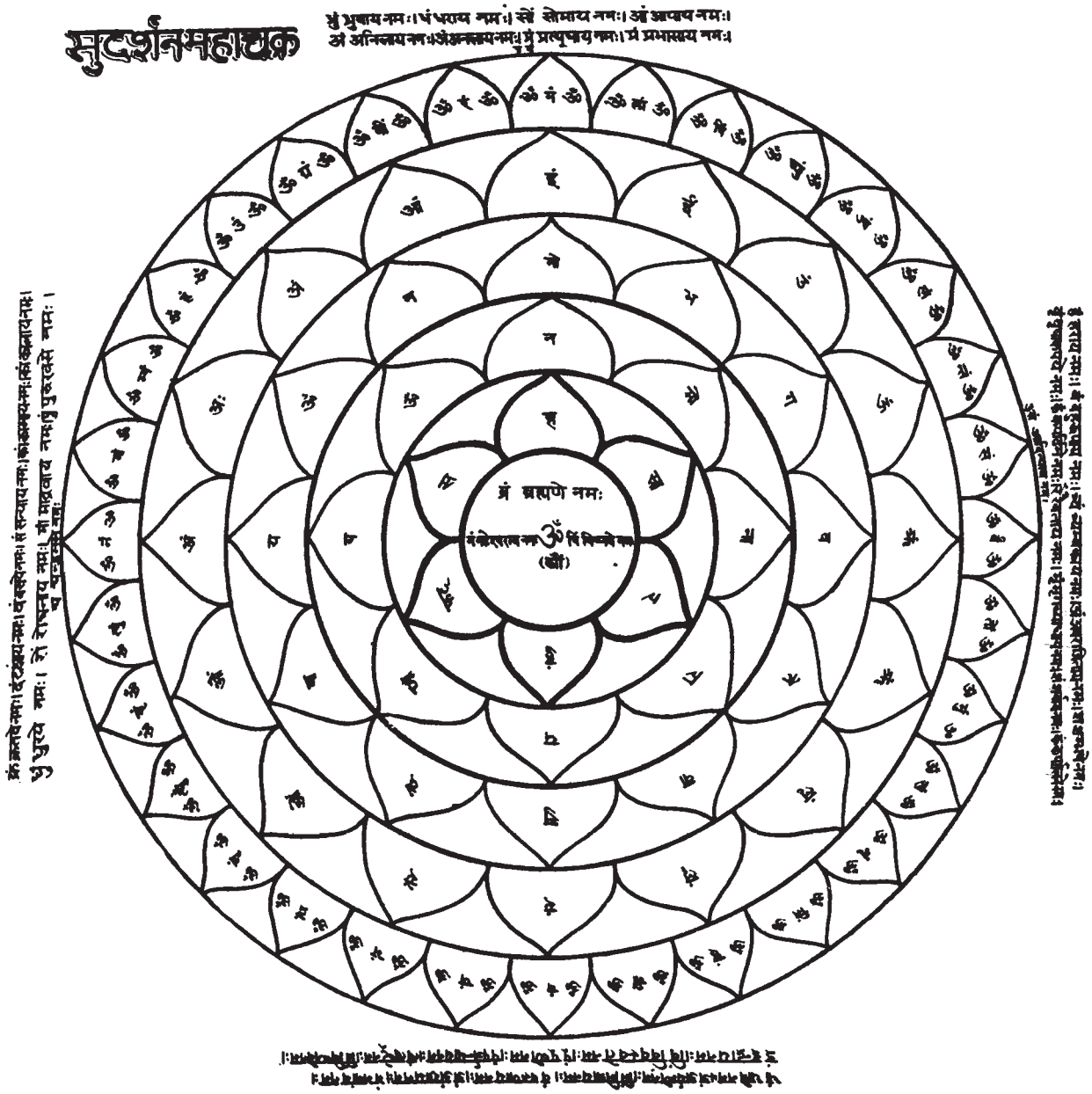

विशेष विवरण 'नृसिंहपूर्व तापिन्युपनिषद्' पृ० १२२-१२३ पर देखें।

(कल्याण से साभार)

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.

॥ श्रीयन्त्रम् ॥

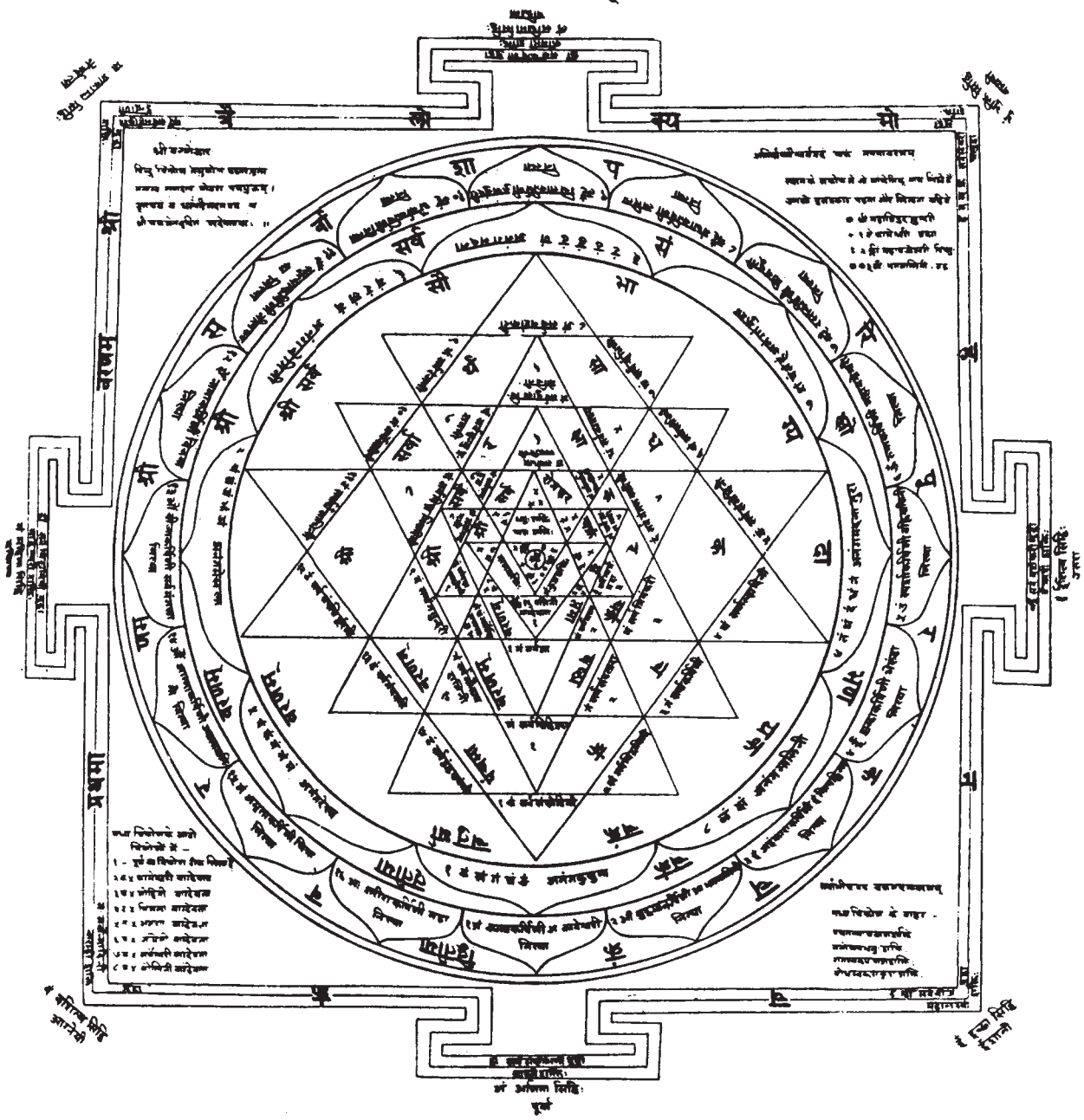

विशेष विवरण 'भावनोपनिषद्' (पृ० १४६) तथा त्रिपुरोपनिषद् (पृ० ६४) में देखें।

(कल्याण से साभार)

Disclaimer / Warning: All literary and artistic material on this website is copyright protected and constitutes an exclusive intellectual property of the owner of the website. Any attempt to infringe upon the owners copyrights or any other form of intellectual property rights over the work would be legally dealt with. Though any of the information (text, image, animation, audio and video) present on the website can be used for propagation with prior written consent.